श्री अभिधान राजेन्द्र कोष

(द्वितीय भागः)

रचयिताः

प्रभु श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी म.

प्रकाशकः

अभिधान राजेन्द्रकोष प्रकाशन संस्था.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

णमो समणस्स भगवओ महावीरस्स
श्री सौधर्मबृहत्तपागच्छीय विश्वपूज्य
प्रातः स्मरणीय प्रभु श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरीश्वर पट्टप्रभावक चर्चाचक्रवर्ती परमपूज्य
आचार्यदेव श्रीमद् विजय धनचन्द्रसूरीश्वर साहित्यविशारद विद्याभूषण
श्रीमद् विजय भूपेन्द्रसूरीश्वर व्याख्यानवाचस्पति श्रीमद् विजय
यतीन्द्रसूरीश्वर, शान्तमूर्ति कविरत्न श्रीमद् विजय
विद्याचन्द्रसूरीश्वर गुरुभ्यो नमः
सकलागम रहस्यवेदी कलिकाल सर्वज्ञकल्प–विद्वन्मान्य प्रातःस्मरणीय
प्रभु श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरीश्वर निर्मित

श्री अभिधान राजेन्द्र कोष

卐 द्वितीय भागः 卐

[द्वितीय संस्करण]

—ः प्रकाशक ः—
शांतमूर्ति आचार्यदेव श्रीमद्विजय विद्याचन्द्रसूरीश्वर पट्टालंकार
परमपूज्य तीर्थप्रभावक साहित्यमनीषी आचार्यदेव
श्रीमद्विजय जयन्तसेनसूरीश्वरजी महाराज
एवं संयमवयःस्थविर मुनिराजश्री शान्तिविजयजी महाराज
के उपदेश से
अ. भा. श्री सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय जैन श्वेताम्बर त्रिस्तुतिक संघ
प्रदत्त द्रव्यसहाय से
श्री अभिधान राजेन्द्र कोष प्रकाशन संस्था, अहमदाबाद.
卐
श्री वीर संवत २५१३ प्रति : १०५० श्री राजेन्द्रसूरि संवत ७८
ईस्वी सन १९८६
मूल्य : संपूर्ण सेट (७ भागका) २५०१
(दो हजार पांचसो एक रुपये)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राप्तिस्थान

श्री अभिधान राजेन्द्रकोष प्रकाशन संस्था
C/o. श्री राजेन्द्रसूरि जैन ज्ञान मन्दिर,
रतनपोल, श्री राजेन्द्रसूरि चोक, अहमदाबाद.

मुद्रक : पं. मफतलाल झवेरचंद गांधी
नयन प्रि. प्रेस, का. २–६१
गांधीरोड, ढींकवाबाडी, अहमदाबाद–१

अभिधान राजेन्द्रकोषस्य रचना तु सर्वथा अपूर्वैवाऽस्ति

पण्डित शितिकण्ठशास्त्री

श्री अभिधान राजेन्द्रकोष!

शब्दकोशोंकी परंपरा में 'अभिधानराजेन्द्र' यथार्थमें एक विशिष्ट उपलब्धि है।

श्रीमद् की जीवनसाधनाका यह अत्यंत उदाहरण है। जब इस कोषका पहिला अक्षर लिखा गया तब वे तिरसठ वर्ष के थे।

सात भागों में तथा दस हजार पांचसो छियासठ पृष्ठों में प्रकाशित यह कोश वस्तुतः एक विश्वकोष के समान है। जिसमें जिनागमों तथा विभिन्न दार्शनिक ग्रन्थों के उद्धरण संकलित कर विस्तृत विवेचन किया गया हैं

— वसंतीलाल जैन

अभिधानराजेन्द्र कोष जैसे अतिविशाल ग्रन्थरत्नकी रचना उनके सम्यग् ज्ञानके सर्वांगी समर्पणकी साहजिक निष्पत्ति हैं। अन्यथा असंभव सा यह कार्य उनसे होता ही नहीं। अभिधानराजेन्द्र कोष सामान्य शब्दकोष नहीं हैं। किन्तु शास्त्रवचनोंकी समीचीन अभिव्यक्ति और अर्थघटनका सर्वश्रेष्ठ सहायक माध्यम है।

— रमेश आर. जवेरी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुविहितसूरिशक्रचक्रचूडामणि–कलिकालसर्वज्ञकल्प–परमयोगिराज

जगत्पूज्य–गुरूदेव–प्रभुश्रीमद्–विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज ।

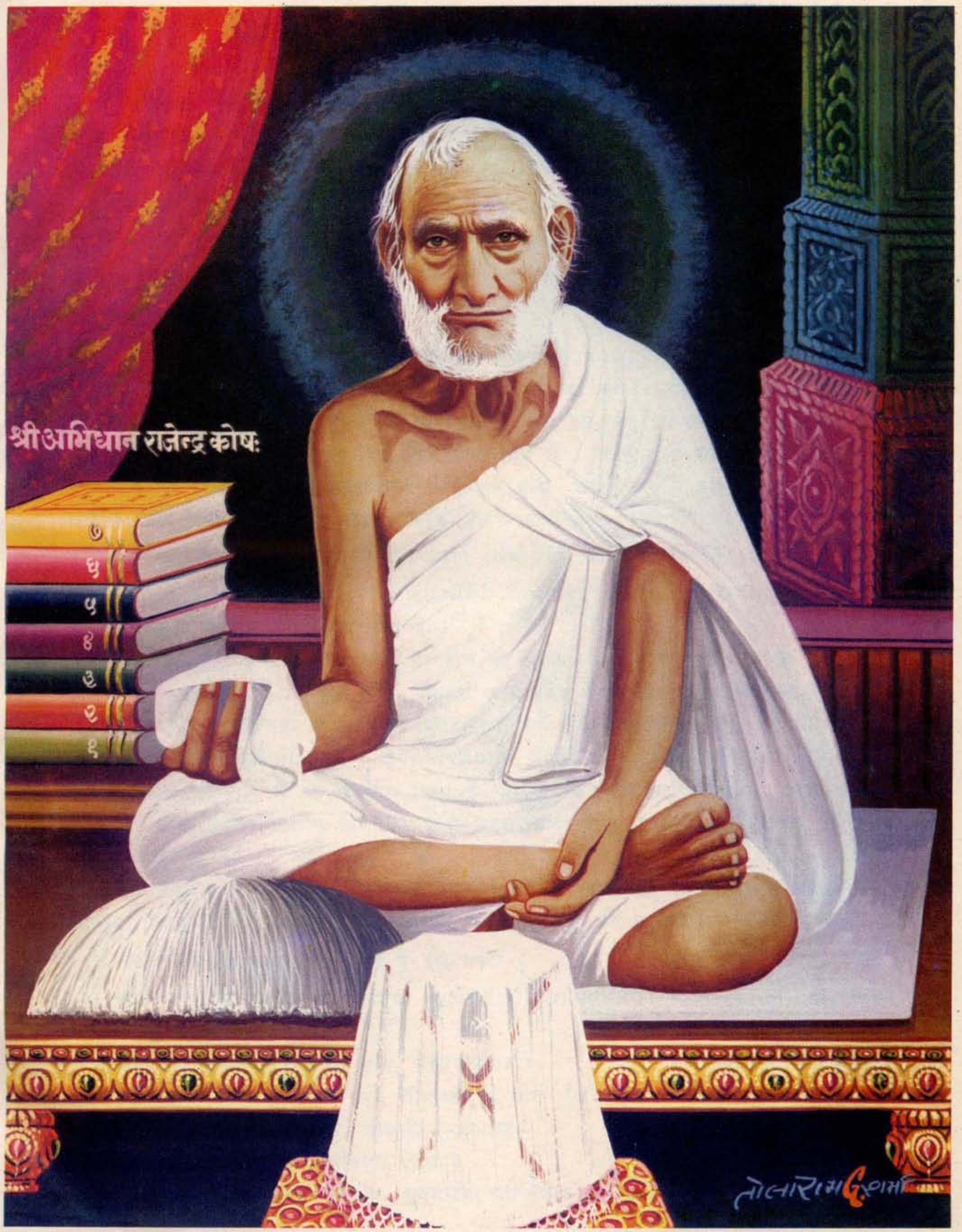

दृप्तभ्रान्तविपक्षदन्तिदमने पञ्चाननग्रामणी–राजेन्द्राभिधकोशसंप्रणयनात्सन्दीप्तजैनश्रुत : ।
सङ्घस्योपकृतिप्रयोगकरणे नित्यं कृती तादृशः, कोऽन्यः सूरिपदाङ्कितो विजयराजेन्द्रात्परः पुण्यवान् ? ।। १ ।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जन्म सं. १८८३ भरतपुर (य. पी.) पंन्यासपद सं. १९०९ उदयपुर (मेवाड) क्रियोद्धार सं. १९२५ जावरा (मालवा)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकाशकीय निवेदन

कलिकाल सर्वज्ञकल्प, सकलागमरहस्यवेदी, विश्वपूज्य, परमयोगीन्द्र, परमकृपालु, पूज्यपाद गुरुदेव **प्रभु श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराजने** अपने तप, जप, एवं ज्ञान, ध्यान की आत्मोन्नतिकारिणी प्रवृत्ति में अप्रमत्त भाव से रममाण होते हुए जिन प्रवचन में निर्दिष्ट सत्य वस्तु तत्त्व का जीवनभर प्रचार, प्रसार किया। साथ ही अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया–ग्रन्थ सम्पदा का सर्जन किया। एक विशाल ग्रन्थागार सम उन की जो सर्वोत्तम, और सर्वतोमुखी रचना हैं **श्री अभिधान राजेन्द्र** कोश ! इस अलौकिक कृति के निर्माण द्वारा श्रीमद्ने विश्व के सभी विद्वज्जनों को युगों युगों के लिये अद्भुत प्रेरणा प्रदान की है।

बीसवीं शताब्दी के संध्याकाल में इस ग्रन्थराज की प्रथम आवृत्ति श्री सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय श्री जैन प्रभाकर प्रिन्टींग प्रेस, रतलाम (म. प्र.) से प्रकाशित की गई थी। प्रथमावृत्ति की प्रतियां समाप्त प्रायः हो जाने के कारण यह ग्रन्थ दुर्लभ हो गया था। विश्व इस की द्वितियावृत्ति का इन्तेजार कर रहा था और हम भी इस के पुनः प्रकाशन के लिये प्रयत्नशील थे। अ. भा. श्री सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय त्रिस्तुतिक जैन संघ का श्रीमांडवपुरतीर्थ पर विराट अधिवेशन हुआ और उस में इस ग्रन्थराज के प्रकाशन का निर्णय लिया गया। तदनुसार प्रकाशन कार्य प्रारंभ हुआ।

इस महान कार्य में परमपूज्य शान्तमूर्ति आचार्यदेव श्रीमद् विजय **विद्याचंद्रसूरीश्वरजी महाराज** के पट्टप्रभावक परमपूज्य तीर्थप्रभावक साहित्यमनिषी आचार्यदेव श्रीमद् विजय जयन्तसेनसूरीश्वरजी महाराज का श्रम साध्य सहयोग हमें प्राप्त हुआ है।

वर्षो के बाद पुनः एक बार इस ग्रन्थराज का प्रकाशन हम सब के लिये परम आनन्ददायक है। इस के पुनः प्रकाशन में परमपूज्य तीर्थ प्रभावक आचार्यदेव श्रीमद् विजय जयन्तसेनसूरीश्वरजी महाराज संयमवयःस्थविर मुनिराजश्री शान्तिविजयजी महाराज, मुनिराज श्री पुण्यविजयजी, मुनिश्री विनयविजयजी, मुनिश्री नित्यानन्द विजयजी, मुनिश्री जयरत्नविजयजी मुनिश्री जयानन्दविजयजी आदि मुनि मण्डल, एवं साध्वी–मण्डल की ओर से जो सहयोग मिला है उस के लिये हम हार्दिक आभार प्रकट करते हैं :

श्री सौधर्मबृहत्तपागच्छीय त्रिस्तुतिक संघ–अहमदाबाद के ट्रस्टी मंडल का भी इस कार्य में पूर्ण सहयोग मिला हैं।

इस प्रकाशन में हमें जिन जिन ग्राम नगरों के श्री संघ एवं महानुभावों का जो अनमोल आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ है। नियमानुसार उनका नाम निर्देश करते हुए हमें अत्यन्त आनन्द का अनुभव हो रहा है।

उन की मंगल नामावली प्रस्तुत है इस प्रकार।

१ साध्वीजी श्री सुन्दरश्रीजी, विदुषी साध्वीजी श्री गंभीरश्रीजी के उपदेश से श्री मालवदेशीय त्रिस्तुतिक संघ।

२ श्री जैन श्वेताम्बर त्रिस्तुतिक संघ, चोराउ (राज.)

३ श्री महावीर जैन श्वेताम्बर पेढ़ी, श्रीमाण्डवपुर तीर्थ (राज.)

४ श्री भेंसवाड़ा सिल्क मिल्स, भीवंडी (महाराष्ट्र)

५ श्री वस्तीमलजी हेमाजी, जीवाणा (राज.)

६ शाह नेमिचन्द देवीचन्द फूलचन्द, शुकनराज, कान्तिलाल, राजु बेटापोता श्री लखमाजी वलदरिया, कोशेलाव (राज.)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७ श्री जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक (त्रिस्तुतिक) संघ थराद (उ. गुजरात)
८ श्री सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय त्रिस्तुतिक संघ अने थराद जैन युवक मंडल, अहमदाबाद
९ श्री सौधर्मबृहत्तापोगच्छीय त्रिस्तुतिक संघ दाधाल
१० श्री सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय त्रिस्तुतिक संघ–सुराणा
११ श्री जैन श्वेताम्बर त्रिस्तुतिक संघ–धानेरा
१२ श्री जैनश्वेताम्बर त्रिस्तुतिक संघ थराद जैन मित्रमण्डल, बम्बई।
१३ श्री जैन श्वेताम्बर सकल संघ, नेनावा (गुजरात)
१४ श्री जैन श्वेताम्बर त्रिस्तुतिक संघ, मेंगलवा (राज.)
१५ श्री जैन श्वेताम्बर त्रिस्तुतिक संघ, सियाणा (राज.)
१६ श्री जैन श्वेताम्बर त्रिस्तुतिक संघ, आकोली (,,)
१७ श्री राजेन्द्रसूरि जैन ज्ञानमन्दिर, राणीस्टेशन (,,)
१८ श्री मांगीलाल, फूटरमल, शान्तिलाल, किशोरचन्द्र बेटा पोता शेषमलजी खसाजी रामाणी, गुड़ाबालोतान् (राज.)
१९ श्री दरजमल, उकचन्द, हस्तिमल, तगराज हीराणी, रेवतड़ा (राज)
२० श्री चेतनकुमार अशोककुमार, कन्हैयालालजी काश्यप, रतलाम (म. प्र.)
२१ श्री चीमनलाल भीखालाल लाधाणी वासणवाला, धानेरा (गुजरात)
२२ शा. जेठमल, जुहारमल, लक्ष्मणराज, पृथ्वीराज, वीरचन्द, गौतमचन्द, अशोककुमार, रतनलाल, गणपतराज, बेटापोता केनाजी मेंगलवा, (राजस्थान)
२३ श्री अमरचन्द देशमल तिलोकचन्द मीठालाल ओटमल धरमाजी पटियात (धाणसा)
२४ शाह मगराज सुखराज एन्ड् कं. मद्रास
२५ शाह सरेमलजी हरखचन्दजी तिलोकचन्दजी बेटा पोता हांसाजी रतनपुराबोरा, मोदरा (राज.)

इन के अतिरिक्त गाँव नगरें के महानुभावोंने लाभ लिया है उन के नाम हैं.

भीनमाल, जोधपुर, मेंगलवा, सायला, सुराणा, मद्रास, नल्लोर, विजयवाडा, मांडवला, धाणसा, आहोर, भेंसवाडा, सुरा, सियाणा, कोमता, सुराणा, दाधाल, रेवतडा, उनडो, पांथेडी, बम्बई, सुमेरपुर, सांचोर, तखतगढ, कोशेलाव, थराद, अहमदावाद, लोवाणा, दूधवा, आणंद, वासणा, डीसा, लाखणी, बाखी, धानेरा, कलोल, झाबुआ, टांडा, पारा, रिंगणोद, (धार)

इस प्रकार गुरु कृपा से एवं पू. आचार्यश्री के सतत प्रयत्न से यह प्रकाशन हो रहा है, यह प्रसन्नता का विषय है, शुभम्।

निवेदक

श्री राजेन्द्रसूरि जैन ज्ञानमन्दिर
रतनपोल, श्री राजेन्द्रसूरि चौक
पो. अहमदाबाद
२०४२ पोष सुद ७ (गुरुसप्तमी)

श्री अभिधान राजेन्द्र कोश प्रकाशन संस्था
अहमदाबाद

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वितीयावृत्ति

प्रस्तावना

अनादि से प्रवहमान है श्री वीतराग परमात्मा का परम पावन शासन! अनादि मिथ्यात्व से मुक्त हो कर आत्मा जब सम्यक्त्व गुण प्राप्त करता है, तब आत्मिक उत्क्रान्ति का शुभारंभ होता है। सम्यग्दर्शन की उपलब्धि के पश्चात् ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का क्रम आत्मा में परिलक्षित होता है।

मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान दोनों ही इन्द्रिय तथा मन से ग्राह्य हैं, अतः इनका समावेश परोक्षज्ञान में होता है; परन्तु अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान एवं केवलज्ञान आत्म ग्राह्य हैं; अतः ये ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान में समाविष्ट हैं।

सम्यक्त्व का सूर्योदय होते ही मिथ्यात्व का घना अन्धेरा दूर हो जाता है और आत्मा संपूर्णता की ओर गतिमान होता है। यही सम्यक्त्व आत्मा को परोक्ष ज्ञान से प्रत्यक्ष ज्ञान की ओर अग्रसर करता है। प्रत्यक्ष ज्ञान की उपलब्धि के लिए यह आवश्यक है कि आत्मा लौकिक भावों से अलग हो कर लोकोत्तर भावों की चिन्तनधारा में स्वयं को डुबो दे। 'जिन खोजा तिन पाइयाँ गहरे पानी पठा।'

संसार परिभ्रमण का प्रमुख कारण है आस्रव और बन्ध। दुःख से मुक्ति के लिए इनको दूर करना आवश्यक है तथा इसके साथ ही संवर और निर्जरा भी आवश्यक है। बन्धन सहज है, पर यदि उसके कारण भाव एवं कारण स्थिति से स्वयं को अलग रखा जाये तो अवश्य ही हम निर्बन्ध अथवा अपुनर्बन्धक अवस्था को प्राप्त कर सकते हैं।

जिनागम में अध्यात्म समाया हुआ है। सहज स्थिति की कामना करनेवालों को चाहिये कि वे जिनवाणी का श्रवण, अध्ययन, चिन्तन, अनुशीलन आदि करते रहें।

कर्म और आत्मा का अनादि से घना रिश्ता है; अतः कर्म आत्मा के साथ ही लगा रहता है; जैसे खान में रहे हुए सोने के साथ मिट्टी लगी हुई होती है। मिट्टी सुवर्ण की मलिनता है और कर्म आत्मा की। प्रयोग के द्वारा मिट्टी सुवर्ण से अलग की जा सकती है। जब दोनों अलग अलग होते हैं तब मिट्टी मिट्टी रूप में और सुवर्ण सुवर्ण के रूप में प्रकट होता है। मिट्टी को कोई सुवर्ण नहीं कहता और न ही सुवर्ण को कोई मिट्टी कहता है। ठीक उसी प्रकार सम्यग्दर्शन प्राप्त आत्मा सम्यग्ज्ञान के उज्ज्वल आलोक में सम्यक् चारित्र के प्रयोग द्वारा अपने पर से कर्म रज पूरी तरह झटक देती है और अपनी मलिनता दूर करके उज्ज्वलता प्रकट कर देती है।

कर्म की आठों प्रकृतियाँ अपने अपने स्वभावानुसार सांसारिक प्रवृत्तियों में रममाण आत्मा को कर्म भुगतान के लिए प्रेरित करती रहती हैं। जिन्हें स्वयं का ख्याल नहीं है और जो असमंजस स्थिति में हैं; ऐसे संसारी जीवों का ये कर्म प्रकृतियाँ विभाव परिणमन करा लेती हैं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञानावरणीय कर्म आँखों पर रही हुई पट्टी के समान है। नजर चाहे जितनी सूक्ष्म हो, पर यदि आंखों पर कपडे की पट्टी लगी हो, तो कुछ भी दिखाई नहीं देता; ठीक इसी प्रकार आत्मा की निर्मल ज्ञानदृष्टि को ज्ञानवरणीय कर्म आवृत्त कर लेता है। इससे ज्ञानदृष्टि पर आवरण छा जाता है। यह कर्म जीव को उल्टी चाल चलाता है।

दर्शनावरणीय कर्म राजा के पहरेदार के समान है। जिस प्रकार पहरेदार दर्शनार्थी को राजदर्शन से वंचित रखता है, उसे महल में प्रवेश करने से रोकता है; उसी प्रकार दर्शनावरणीय कर्म जीव को आत्मदर्शन से वंचित रखता है। यह जीव को प्रमत्त भाव में आकण्ठ डुबो देता है; अतः जीव अप्रमत्त भाव से सर्वथा दूर रह जाता है। यह जीव के आत्मदर्शन के राजमार्ग को अवरुद्ध कर देता है और जीव को उन्मार्गगामी बनाता है।

मधुलिप्त असि धार के समान है वेदनीय कर्म। यह जीव को क्षणभंगुर सुख का लालची बना कर उसे अनन्त दुःख समुद्र में धकेल देता है। साता का वेदन तो यह अत्यल्प करवाता है, पर असाता का वेदन यह अत्यधिक करवाता है। शहद लगी तलवार की धार को चाटनेवाला शहद की मधुरता तो पाता है और सुख का अनुभव भी करता है; पर जीभ कट जाते ही असह्य दुःख का अनुभव भी उसे करना पडता है। इस प्रकार वेदनीय कर्म सुख के साथ अपार दुःख का भी वेदन कराता है।

मोहनीय कर्म मदिरा के समान है। मदिरा प्राशन करनेवाला मनुष्य अपने होश-हवास खो बैठता है; इसी प्रकार मोहनीय कर्म से प्रभावित जीव अपने आत्म-स्वरुप को भूल जाता है और पर पदार्थों को आत्म स्वरुप मान लेता है। यही एकमेव कारण है उसके संसार परिभ्रमण का। 'मोह महामद पियो अनादि, भूलि आपकुं भरमत बादि।' यह जीव के सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र के मार्ग में रुकावट डालता है।

जो मनुष्य इस मोहनीय कर्म के स्वरुप से अनभिज्ञ रहता है और जो इसकी स्थिति का अनुभव नहीं करता; वह अपने जीवन में आत्म विकास से वंचित रह जाता है। अहंकार और ममकार जब तक हममें विद्यमान हैं; तब तक हम मोहनीय कर्म के बन्धन में जकडे हुए ही हैं। अहंकार और ममकार जितना-जितना घटता जाता है; उतना ही मोहनीय कर्म का बन्धन शिथिल होता जाता है। यह मोहनीय कर्म समस्त कर्मसत्ता का अधिपति है और सबसे लम्बी उम्र वाला है। इस मोहराजा के निर्देशन में ही कर्म सेना आगेकूच करती है। जीव को भेदविज्ञान से वंचित रखनेवाला यही कर्म है। इसने ही जीव को संसार की भूलभुलैया में अटकाये रखा है।

और बेडी के समान है आयुष्य कर्म। इसने जीव को शरीर रुपी बेडी लगा दी है; जो अनादि से आज तक चली आ रही है। एक बेडी टूटती है; तो दूसरी पुनः तुरन्त लग जाती है। सजा की अवधि पूरी हुए बिना कैदी मुक्त नहीं होता; इसी प्रकार जब तक जीव की जन्म जन्म की कैद की अवधि पूरी नहीं होती; तब तक जीव मुक्ति की मौज नहीं पा सकता।

नाम कर्म का स्वभाव है चित्रकार के समान। चित्रकार नाना प्रकार के चित्र पट पर अंकित करता है; ठीक इसी प्रकार नाम कर्म चतुर्गति में भ्रमण करने विविध जीवों को भिन्न भिन्न नाम प्रदान करता है। इसके प्रभाव से जीव इस संसार पट पर नाना प्रकार के नाम धारण करके देव, मनुष्य तिर्यंच और नरक गति में भ्रमण करता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गोत्र कर्म का स्वभाव कुम्हार के समान है। कुम्हार अनेक प्रकार के छोटे बडे बर्तन बनाता है और उन्हें विभिन्न आकार प्रदान करता है। गोत्र कर्म भी जीव को उच्च और नीच गोत्र प्रदान करता है, जिससे जीव को उच्च या नीच गोत्र में जन्म धारण करना पडता है।

इसी प्रकार अन्तराय कर्म है–राजा के खजाँची के समान। खजाने में माल तो बहुत होता है, पर कुञ्जी खजाँची के हाथ में होती है; अतः खजाने में से याचक कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकता। यही कार्य अन्तराय कर्म करता हैं। इसके प्रभाव से जीव को इच्छित वस्तु उपलब्ध नहीं हो पाती। दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य (आत्मशक्ति) के विषय में अन्तराय कर्म के उदय से जीव किसी प्रकार का लाभ प्राप्त नहीं कर सकता। संक्षेप में यह है जैन दर्शन का कर्मवाद।

इसी प्रकार जिनागमों में आत्मवाद, अनेकान्तवाद, षद्द्रव्य, नवतत्त्व, मोक्ष मार्ग आदि अनेक ऐसे विषयों का समावेश है; जो जीव के आत्म विकास में परम सहायक हैं। द्वादशांगी जिनवाणी का विस्तार है। आत्म कल्याण की कामना करनेवालों के लिए द्वादशांगी का गहन अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है ।

संसारस्थ प्रत्येक जीव को स्वस्वरूप अर्थात् ईश्वरत्व प्राप्त करने का अधिकार केवल जैन धर्म दर्शन ही देता है, अन्य कोई नहीं। 'सर्व धर्मान् परित्यज्य, मामेकं शरणं व्रज।', 'बुद्धं शरणं गच्छामि......धम्मं सरणं गच्छामि।' और 'केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि। इन तीनों पक्षों के सूक्ष्म एवं गहन अध्ययन से यही निष्कर्ष निकलता है कि अन्तिम पक्ष जीव के लिए केवलीप्रणीत धर्म के दरवाजे खुले रखता है। इस धर्म में प्रवेश करके जीव स्वयं अनन्त ऐश्वर्यवान केवलज्ञान सम्पन्न बन जाता है। जीव अपने पुरुषार्थ के बल पर परमात्म पद प्राप्त कर सकता है। अन्य समस्त धर्म दर्शनों में जीव को परमात्मप्राप्ति के बाद भी परमात्मा से हीन माना गया है; जब कि जैनधर्मदर्शन में परमात्म पद प्राप्ति के पश्चात् जीव को परमात्म स्वरुप ही माना गया है। यह जैन धर्म की अपनी अलग विशेषता है।

परमज्ञानी परमात्मा की पावन वाणी जीव की इस अनुपम एवं असाधारण स्थिति का स्पष्ट बोध कराती है। प्रमाण, नय, निक्षेप, सप्तभंगी एवं स्याद्वाद शैली से संवृत्त जिनवाणीमय जिनागमों के गहन अध्ययन के लिए विभिन्न सन्दर्भ ग्रन्थों का अनुशीलन अत्यन्त आवश्यक है।

आज से सौ साल पूर्व उचित साधनों के अभाव में जिनागमों का अध्ययन अत्यन्त दुष्कर था। विश्व के विद्वान जिनागम की एक ऐसी कुञ्जी तलाश रहे थे; जो सारे रहस्य खोल दे और उनकी ज्ञानपिपासा बुझा सके।

ऐसे समय में एक तिरसठ वर्षीय वयोवृद्ध त्यागवृद्ध, तपोवृद्ध एवं ज्ञानवृद्ध दिव्य पुरुष ने यह काम अपने हाथ में लिया। वे दिव्य पुरुष थे-उत्कृष्ट चारित्र क्रिया पालक गुरुदेवप्रभु श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज। उन्होंने जिनागम की कुञ्जी निर्माण करने का जटिल कार्य सियाणा नगरस्थ श्री सुविधिनाथ जिनालय की छत्र छाया में अपने हाथ में लिया। कुञ्जीनिर्माण की यह प्रक्रिया पूरे चौदह वर्ष तक चलती रही और सूरत में कुञ्जी बन कर तैयार हो गयी। वह कुञ्जी है–'अभिधान राजेन्द्र'। यह कहना जरा भी अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि आगमों का अध्ययन करते वक्त 'अभिधान राजेन्द्र' पास में हो तो और कोई ग्रन्थ पास में रखने की कोई आवश्यकता नहीं है। जैनागमों में निर्दिष्ट

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वस्तुतत्त्व जो 'अभिधान राजेन्द्र' में है, वह अन्यत्र हो या न हो; पर जो नहीं हैं; वह कहीं नहीं है। यह महान ग्रन्थ जिज्ञासु की तमाम जिज्ञासाएँ पूर्ण करता है।

भारतीय संस्कृति में इतिहास पूर्व काल से कोश साहित्य की परंपरा आज तक चली आ रही है। निघंटु कोश में वेद की संहिताओं का अर्थ स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। 'यास्क' की रचना 'निरुक्त' में और पाणिनी के 'अष्टाध्यायी' में भी विशाल शब्दसंग्रह दृष्टिगोचर होता है। ये सब कोश गद्य लेखन में हैं।

इसके पश्चात् प्रारंभ हुआ पद्य रचनाकाल। जो कोश पद्य में रचे गये, वे दो प्रकार से रचे गये। एक प्रकार है, एकार्थक कोश और दूसरा प्रकार है—अनेकार्थक कोश।

कात्यायन की 'नाममाला', वाचस्पति का 'शब्दार्णव', विक्रमादित्य का 'शब्दार्णव' भागुरी का 'त्रिकाण्ड' और धन्वन्तरी का निघण्टु; इनमें से कुछ प्राप्य हैं और कुछ अप्राप्य। उपलब्ध कोशों में अमरसिंह का 'अमरकोश' बहु प्रचलित है।

धनपाल का 'पाइय लच्छी नाम माला' २७९ गाथात्मक है और एकार्थक शब्दों का बोध कराता है। इसमें ९९८ शब्दों के प्राकृत रूप प्रस्तुत किये गये हैं। आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरिजीने 'पाइयलच्छी नाम माला' पर प्रामाणिकता की मुहर लगाई है।

धनञ्जयने 'धनञ्जय नाम माला' में शब्दान्तर करने की एक विशिष्ट पद्धति प्रस्तुत की है। 'धर' शब्द के योग से पृथ्वी वाचक शब्द पर्वत वाचक बन जाते हैं—जैसे भूधर, कुधर, इत्यादि। इस पद्धति से अनेक नये शब्दों निर्माण होता हैं।

इसी प्रकार धनञ्जयने 'अनेकार्थ नाममाला' की रचना भी की है।

कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य के 'अभिधान चिन्तामणि', 'अनेकार्थ संग्रह', 'निघण्टु संग्रह' और 'देशी नाममाला' आदि कोश ग्रन्थ सुप्रसिद्ध हैं।

इसके अलावा 'शिलोंछ कोश', 'नाम कोश', 'शब्द चन्द्रिका', 'सुन्दर प्रकाश शब्दार्णव', 'शब्दभेद नाममाला', 'नाम संग्रह', 'शारदीय नाममाला', 'शब्द रत्नाकर', 'अव्ययैकाक्षर नाममाला', 'शेष नाममाला', 'शब्द सन्दोह संग्रह', 'शब्द रत्न प्रदीप', 'विश्वलोचन कोश', 'नानार्थ कोश', 'पंचवर्ग संग्रह नाम माला', 'अपवर्ग नाम माला', 'एकाक्षरी-नानार्थ कोश', 'एकाक्षर नाममालिका', 'एकाक्षर कोश', 'एकाक्षर नाममाला', 'द्वयक्षर कोश', 'देश्य निर्देश निघण्टु', 'पाइय सद्दमहण्णव', 'अर्धमागधी डिक्शनरी', 'जैनागम कोश', 'अल्पपरिचित सैद्धान्तिक कोश', 'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश' इत्यादि अनेक कोश ग्रन्थ भाषा के अध्ययनार्थ रचे गये हैं।

इनमें से कई कोश ग्रन्थ 'अभिधान राजेन्द्र' के पूर्व प्रकाशित हुए हैं और कुछ पश्चात् भी। 'अभिधान राजेन्द्र' की अपनी अलग विशेषता है। इसी विशेषता के कारण यह आज भी समस्त कोश ग्रन्थों का सिरमौर बना हुआ है। सच तो यह है कि जिस प्रकार सूर्य को दिया दिखाने की आवश्यकता नहीं होती; उसी प्रकार इस महा ग्रन्थ को प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं है। सूर्य स्वयमेव प्रकाशित है और यह ग्रन्थराज भी स्वयमेव प्रमाणित है; फिर भी इसकी कुछ विशेषताए प्रस्तुत करना अप्रासंगिक तो नहीं होगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरपट्टप्रभाकर–चर्चाचक्रवर्ति–आगमरहस्यवेदी–श्रुतस्थविरमान्य

श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छीय–श्रीमद्विजयधनचन्द्रसूरिजी महाराज ।

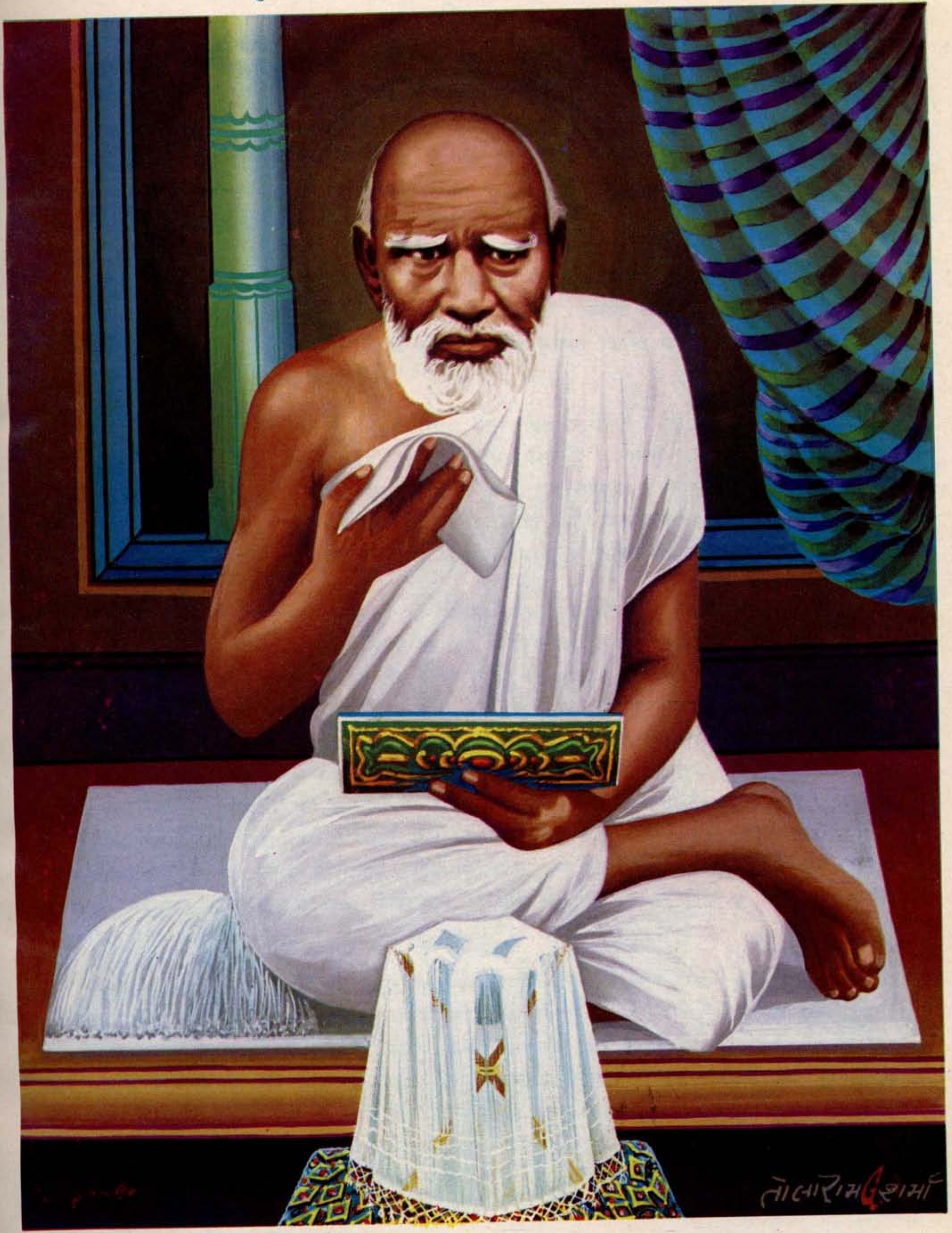

विद्वच्चकोरजनमोदकरं प्रसन्नं, शुभ्रव्रतं सुकविकैरवसद्विलासम् ।
हृद्ध्वान्तनाशकरणे प्रसरत्प्रतापं, वन्दे कलानिधिसमं धनचन्द्रसूरिम् ॥ १ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जन्म सं. १८९६ किसनगढ (मेवाड़) दीक्षोपसंवत् सं. १९२५ जावरा (मालवा) सूरिपद सं. १९६५ जावरा (मालवा)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'अभिधान राजेन्द्र' अर्धमागधी प्राकृत भाषा का कोश है। भगवान महावीर के समय में प्राकृत लोक भाषा थी। उन्होंने इसी भाषा में आम आदमी को धर्म का मर्म समझाया। यही कारण है कि जैन आगमों की रचना अर्धमागधी प्राकृत में की गई है। इस महाकोश में श्रीमद् ने प्राकृत शब्दों का मर्म 'अ' कारादि क्रम से समझाया है; यह इस महाग्रन्थ की वैज्ञानिकता है। उन्होंने मूल प्राकृत शब्द का अर्थ स्पष्ट करते वक्त उसका संस्कृत रूप, लिंग, व्युत्पत्ति का ज्ञान कराया है; इसके अलावा उस शब्द के तमाम अर्थ सन्दर्भ सहित प्रस्तुत किये हैं।

वैज्ञानिकता के अलावा इसमें व्यापकता भी है जैनधर्म-दर्शन का कोई भी विषय इससे अछूता नहीं रह गया है। इसमें तथ्य प्रमाण सहित प्रस्तुत किये गये हैं। इसमें स्याद्वाद, ईश्वरवाद सप्तनय, सप्तभंगी, षड्दर्शन, नवतत्त्व, अनुयोग, तीर्थ परिचय आदि समस्त विषयों की सप्रमाण जानकारी है। सत्तानवे सन्दर्भ ग्रन्थ इसमें समाविष्ट हैं।

वैज्ञानिक और व्यापक होने के साथ साथ यह सुविशाल भी है। सात भागों में विभक्त यह विश्वकोश लगभग दस हजार रोयल पेजी पृष्ठों में विस्तारित है। इसमें धर्म-संस्कृति से संबंधित लगभग साठ हजार शब्द सार्थ व्याख्यायित हुए हैं। उनकी पुष्ट-सप्रमाण व्याख्या के लिए इसमें चार लाख से भी अधिक श्लोक उद्धृत किये गये हैं। इसके सातों भागों को यदि कोई सामान्य मनुष्य एक साथ उठाना चाहे; तो उठाने के पहले उसे कुछ विचार अवश्य ही करना पड़ेगा।

इस महाग्रन्थ के प्रारंभिक लेखन की भी अपनी अलग कहानी है। जिस जमाने में यह महाग्रन्थ लिखा गया; उस समय लेखन साहित्य का पूर्ण विकास नहीं हुआ था। श्रीमद् गुरुदेव ने रात के समय लेखन कभी नहीं किया। कहते हैं, वे कपड़े का एक छोटा सा टुकडा स्याही से तर कर देते थे और उसमें कलम गीली करके लिखते थे। एक स्थान पर बैठ कर उन्होंने कभी नहीं लिखा। चातुर्मास काल के अलावा वे सदैव विहार-रत रहे। मालवा, मारवाड, गुजरात के प्रदेशों में उन्होंने दीर्घ विहार किये; प्रतिष्ठा-अंजनशलाका, उपधान, संघप्रयाण आदि अनेक धार्मिक व सामाजिक कार्य संपन्न किये; जिज्ञासुओं की शंकाओं का समाधान किया और प्रतिपक्षियों द्वारा प्रदत्त मानसिक सन्ताप भी सहन किये। साथ साथ ध्यान और तपश्चर्या भी चलती रही। ऐसी विषम परिस्थिति में केवल चौदह वर्ष में एक व्यक्ति द्वारा इस 'जैन विश्वकोश' का निर्माण हुआ; यह एक महान आश्चर्य है। इस महाग्रन्थ के प्रणयन ने उन्हें विश्वपुरुष की श्रेणी में प्रतिष्ठित कर दिया है और विश्वपूज्यता प्रदान की है।

श्रीमद् विजय यशोदेवसूरिजी महाराज 'अभिधान राजेन्द्र' और इसके कर्त्ता के प्रति अपना भावोल्लास प्रकट करते हुए लिखते हैं—आज भी यह (अभिधान राजेन्द्र) मेरा निकटतम सहचर है। साधनों के अभाव के जमाने में यह जो महान कार्य सम्पन्न हुआ है; इसका अवलोकन करके मेरा मन आश्चर्य के भावों से भर जाता है और मेरा मस्तक इसके कर्ता के इस भगीरथ पुण्य पुरुषार्थ के आगे झुक जाता है। मेरे मन में उनके प्रति सन्मान का भाव उत्पन्न होता है; क्योंकि इस प्रकार के (महा) कोश की रचना करने का आद्य विचार केवल उन्हें ही उत्पन्न हुआ और उस विकट समय में अपने विचार पर उन्होंने अमल भी किया। यदि कोई मुझसे यह पूछे कि जैन साहित्य के क्षेत्र में बीसवीं सदी की असाधारण घटना कौनसी है; तो मेरा संकेत इस कोश की ओर ही होगा; जो बड़ा कष्ट साध्य एवं अर्थसाध्य है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रस्तुत बृहद् विश्वकोश को पुनः प्रकाशित करने को हलचल और हमारा दक्षिण विहार दोनों एक साथ प्रारम्भ हुए। बंबई चातुर्मास में हमारा अनेक मुनिजनों और विद्वानों से साक्षात्कार हुआ। जो भी मिला, उसने यही कहा कि 'अभिधान राजेन्द्र' जो कि दुर्लभ हो गया है, उसे पुनः प्रकाशित करके सर्वजन सुलभ किया जाये। हमें यह भी सुनना पड़ा कि यदि आपके समाज के पास वर्तमान में इसके प्रकाशन की कोई योजना न हो; तो हमें इसके प्रकाशन का अधिकार दीजिये। हमने उन्हें आश्वस्त करते हुए कहा कि त्रिस्तुतिक जैन संघ इस मामले में सम्पन्न एवं समर्थ है। 'अभिधान राजेन्द्र' यथावसर शीघ्र प्रकाशित होगा।

श्रीमद् पूज्य गुरुदेव की यह महती कृपा हुई कि हम क्रमशः विहार करते हुए मद्रास पहुँच गये। तामिलनाडु राज्य की राजधानी है यह मद्रास। दक्षिण में बसे हुए दूर दूर के हजारों श्रद्धालुओं ने इस चातुर्मास में मद्रास की यात्रा की। मद्रास चातुर्मास आज भी हमारे लिए स्मरणीय है। चातुर्मास समाप्ति के पश्चात् पोष सुदी सप्तमी के दिन मद्रास में गुरु सप्तमी उत्सव मनाया गया। गुरु सप्तमी प्रातःस्मरणीय पूज्य गुरुदेव श्री राजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज साहब का जन्म और स्मृति दिन है। गुरु सप्तमी के पावन अवसर पर एक विद्वद् गोष्ठी का आयोजन किया गया। उपस्थित विद्वानों ने अपने प्रवचन में पूज्य गुरुदेवश्री के महान कार्यों की प्रशस्ति करते हुए उनकी समीचीनता प्रकट की और प्रशस्ति में 'अभिधान राजेन्द्र' का उचित मूल्यांकन करते हुए इसके पुनर्मुद्रण की आवश्यकता पर जोर दिया।

इस ग्रन्थराज का प्रकाशन एक भगीरथ कार्य है। इस महत्त्वपूर्ण कार्य का बीड़ा उठाने का आह्वान मैंने मद्रास संघ को किया। आह्वान होते ही संघ हिमाचल से गुरुभक्ति गंगा उमड़ पड़ी। इस महत्कार्य के लिए भरपूर सहयोग का हमें आश्वासन प्राप्त हुआ। ग्रन्थ की छपाई गतिमान हुई; पर 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि' की उक्ति के अनुसार हमे यह पुनीत कार्य स्थगित करना पड़ा। कोई ऐसा अवरोध इसके प्रकाशन मार्ग में उपस्थित हो गया कि उसे दूर करना आसान नहीं था। प्रकाशन की स्थगिति सबके लिए दुःखद थी; पर मैं मजबूर था। आंतरिक विरोध को जन्म दे कर कार्य करना मुझे पसन्द नहीं है।

हमारी इस मजबूरी से नाजायज लाभ उठाया–दिल्ली की प्रकाशन संस्थाओंने .... । उन्होंने इस पुनीत ग्रन्थ को शुद्ध व्यवसायिक दृष्टि से चुपचाप प्रकाशित कर दिया। श्रीमद् ने जो भी लिखा, स्वान्तःसुखाय और सर्वजन हिताय लिखा; व्यवसायियों के लिये नहीं। यही कारण है कि इसकी प्रथम आवृत्ति में यह स्पष्ट कर दिया गया कि 'इसके पुनःप्रकाशन का अधिकार त्रिस्तुतिक सकल संघ को है।' त्रिस्तुतिक समाज की इस अनमोल धरोहर को प्रकाशित करने से पहले त्रिस्तुतिक समाज को इसके प्रकाशन से आगाह करना आवश्यक था। ऐसा न करके इसके अन्य प्रकाशकों ने एक तरह से नैतिकता का भंग ही किया है।

श्री भाण्डवपुर तीर्थ पर अखिल भारतीय श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छीय श्रीजैन श्वेताम्बर त्रिस्तुतिक संघ का विराट अधिवेशन सम्पन्न हुआ। देश के कोने कोने से गुरुभक्त उस अधिवेशन के लिए उपस्थित हुए। पावनपुण्यस्थल श्री भाण्डवपुर भक्तजनों के भक्तिभाव की स्वर लहरियों से गूंज उठा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अधिवेशन प्रारम्भ हुआ । संयमयःस्थविर मुनिप्रवर श्री शान्तिविजयजी महाराज साहब आदि मुनि मण्डल की सान्निध्यता में मैंने संघ के समक्ष विश्व की असाधारण कृति इस 'अभिधान राजेन्द्र' के पुनःप्रकाशन का प्रस्ताव रखा । श्री संघने हार्दिक प्रसन्नता व अपूर्व भावोल्लास के साथ मेरा प्रस्ताव स्वीकार किया और उसी जाजम पर श्रीसंघ ने इसे प्रकाशित करने की घोषणा कर दी । परमकृपालु श्रीमद् गुरुदेव के प्रति श्री संघ की यह अनन्य असाधारण भक्ति सराहनीय है।

और आज अखिल भारतीय श्री सौधर्म बृहत्तपोगच्छीय श्री जैन श्वेताम्बर त्रिस्तुतिक संघ के द्वारा यह कोश ग्रन्थ पुनर्मुद्रित हो कर विद्वज्जनों के समक्ष प्रस्तुत हो रहा है; यह हम सब के लिए परम आनन्द का विषय है ।

इस महाग्रन्थ के पुनर्मुद्रण हेतु एक समिति का गठन किया गया है; फिर भी इस प्रकाशन में अपना अमूल्य योगदान देनेवाले श्रेष्ठिवर्य संघवी श्री गगलभाई अध्यक्ष अ. भा. सौ. बृ. त्रिस्तुतिक संघ गुजरात विभागीय अध्यक्ष श्री हीराभाई, मंत्री श्री हिम्मतभाई एवं स्थानीय समस्त कार्यकर्ताओं की सेवाओं को कभी भी भुलाया नहीं जा सकता। इनकी सेवाएं सदा स्मरणीय हैं।

इस कार्य में हमें पंडित श्री मफतलाल झवेरचन्द का स्मरणीय योगदान मिला है। प्रेसकार्य, प्रूफरीडिंग एवं प्रकाशन में हमें उनसे अनमोल सहायता मिली है । हम उन्हें नहीं भूल सकते ।

त्रिस्तुतिक संघ के समस्त गुरुभक्तों ने इस प्रकाशन हेतु जो गुरुभक्ति प्रदर्शित की है, वह इतिहास में अमर हो गयी हैं । वे सब धन्यवाद के पात्र हैं, जिन्होंने इस कार्य में भाग लिया है । शुभम् ।

नेनावा (बनासकांठा)
दिनांक २-१२-८५

आचार्य जयन्तसेनसूरि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्री सौधर्म बृहत्तपागच्छीय पट्टावली

श्रीमहावीरस्वामीशासननायक

१ श्रीसुधर्मास्वामी
२ श्रीजम्बूस्वामी
३ श्रीप्रभवस्वामी
४ श्रीसय्यंभवस्वामी
५ श्रीयशोभद्रसूरि
६ श्रीसंभूतविजयजी
  श्रीभद्रबाहुस्वामी
७ श्रीस्थूलभद्रस्वामी
८ श्रीआर्यसुहस्तीसूरि
  श्रीआर्यमहागिरि
९ श्रीसुस्थितसूरि
  श्रीसुप्रतिबद्धसूरि
१० श्रीइन्द्रदिन्नसूरि
११ श्रीदिन्नसूरि
१२ श्रीसिंहगिरिसूरि
१३ श्रीवज्रस्वामीजी
१४ श्रीवज्रसेनसूरिजी
१५ श्रीचन्द्रसूरिजी
१६ श्रीसामन्तभद्रसूरि
१७ श्रीवृद्धदेवसूरि
१८ श्रीप्रद्योतनसूरि
१९ श्रीमानदेवसूरि
२० श्रीमानतुङ्गसूरि
२१ श्रीवीरसूरि
२२ श्रीजयदेवसूरि
२३ श्रीदेवानन्दसूरि
२४ श्रीविक्रमसूरि
२५ श्रीनरसिंहसूरि
२६ श्रीसमुद्रसूरि
२७ श्रीमानदेवसूरि
२८ श्रीविबुधप्रभसूरि
२९ श्रीजयानन्दसूरि
३० श्रीरविप्रभसूरि
३१ श्रीयशोदेवसूरि
३२ श्रीप्रद्युम्नसूरि
३३ श्रीमानदेवसूरि
३४ श्रीविमलचन्द्रसूरि
३५ श्रीउद्योतनसूरि
३६ श्रीसर्वदेवसूरि
३७ श्रीदेवसूरि
३८ श्रीसर्वदेवसूरि
३९ श्रीयशोभद्रसूरि
  श्रीनेमिचन्द्रसूरि
४० श्रीमुनिचन्द्रसूरि
४१ श्रीअजितदेवसूरि
४२ श्रीविजयसिंहसूरि
४३ श्रीसोमप्रभसूरि
  श्रीमणिरत्नसूरि
४४ श्रीजगच्चन्द्रसूरि
४५ श्रीदेवेन्द्रसूरि
  श्रीविद्यानन्दसूरि
४६ श्रीधर्मघोषसूरि
४७ श्रीसोमप्रभसूरि
४८ श्रीसोमतिलकसूरि
४९ श्रीदेवसुन्दरसूरि
५० श्रीसोमसुन्दरसूरि
५१ श्रीमुनिसुन्दरसूरि
५२ श्रीरत्नशेखरसूरि
५३ श्रीलक्ष्मीसागरसूरि
५४ श्रीसुमतिसाधुसूरि
५५ श्रीहेमविमलसूरि
५६ श्रीआनन्दविमलसूरि
५७ श्रीविजयदानसूरि
५८ श्रीहीरविजयसूरि
५९ श्रीविजयसेनसूरि
६० श्रीविजयदेवसूरि
  श्रीविजयसिंहसूरि
६१ श्रीविजयप्रभसूरि
६२ श्रीविजयरत्नसूरि
६३ श्रीविजयक्षमासूरि
६४ श्रीविजयदेवेन्द्रसूरि
६५ श्रीविजयकल्याणसूरि
६६ श्रीविजयप्रमोदसूरि
६७ श्रीविजयराजेन्द्रसूरि
६८ श्री विजयधनचन्द्रसूरि
६९ श्री विजयभूपेन्द्रसूरि
७० श्री विजययतीन्द्रसूरि
७१ श्री विजयविद्याचन्द्रसूरि
७२ वर्तमानाचार्य
  श्री विजयजयन्तसेनसूरि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International
For Private & Personal Use Only
www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रस्तावना

इह हि खलु भारतवर्षे संस्कृतभाषायामनेकशोऽकारादिवर्णानुक्रमेण सङ्कलिताः कोशाः समुपलभ्यन्ते देशान्तरेषु च तत्तद्देशभाषया, परमद्यापि प्राचीनसमये मातृभाषात्वेन राष्ट्रभाषात्वेन च सकलभारतभूमिलब्धास्पदायां केवलिभाषायां कोऽपि कोषः संकलितोऽस्ति । किमत्राप्रस्तुतया प्राकृतभाषाप्रशंसया स्वरूपमेवात्मस्तुतिं विधास्यति । इयमेव उत्सर्पिण्यवसर्पिणीकाले समजनि, समादृता च सर्वज्ञैर्गणधरैश्चेयमेव । कतिचिद्वर्णेषु सुसिद्धकृत्सु च भेदमापन्नेयमेव संस्कृतभाषात्वेन परिणता । किं बहुना सर्वज्ञकथिता मर्मग्राहिणः पदार्थाः जैनदर्शनमूलसूत्राणि चास्यामेव भाषायामित्यस्या वर्णानुक्रमणिकया सङ्कलनमत्यावश्यकमिति वाढं सानुनयं सकलसंघेन संप्रार्थितः परमकारुणिकः सर्वतन्त्रस्वतन्त्रः श्रीभट्टारकश्रीश्री १००८श्रीविजयराजेन्द्रसूरिरभिधानेषु श्रेष्ठतममिममभिधानराजेन्द्रनामकं कोषं निरमास्त । श्रेष्ठतमत्वमस्यावलोकनत एवोह्यमलमत्र काकदन्तपरीक्षया ।

किञ्च–अस्यां भारतभूमौ पञ्चमारके मनुष्येषु मनःपर्यायकेवलयोः परिपूर्णश्रुतावधिज्ञानयोश्च विच्छेदेन अपूर्णज्ञानयुक्तं सकलसङ्घमवलोक्येमं कोशं संग्रहतया ग्रथितवान् यथा–सूर्याद्वृत्त्यादीनां वर्णनम् ‘ आइच्च ’ शब्दे श्रोत्रादीन्द्रियविषयकं वृत्तम् ‘ इंदिय ’ शब्दे ऋतुविषयकम् ‘ उउ ’ शब्दे एवं यथायथं वर्णितमनुपदमेव स्पष्टतया दर्शयिष्यामः । अयं कोशः संस्कृतभाषासु बह्वादराणां द्रव्याभावेनासंग्रहितान्यकोशानां कामधुगेवोपकारं करोतीति नात्रार्थवादः । जैनरहस्यजिज्ञासूनां कृते स्थूलघटरूपज्ञाने चक्षुरिव विस्मृतपदार्थमार्गणे साक्षात्पदार्थप्रापकमिवेतस्ततो विकीर्णपदार्थानामेकत्रोपलम्भकमिमं संगृहीतमवलोक्य सर्वेऽपि सन्तः सन्तोषमेष्यन्तीति वाढं निश्चिनुमः ।

भो भो विदेशीया जैनदर्शनजिज्ञासवो बौद्धेभ्यो भेदममन्यमाना विलोकयन्तु जैनदर्शनरहस्यम्, अवगच्छन्तु बौद्धदर्शनतस्तारतम्यम्, सर्वदर्शनमुकुटायमानमिमं जैनदर्शनमवलोक्य सूक्ष्मेक्षिकया विदांकुर्वन्तु जीवाजीवादितत्वम्, प्राप्नुवन्तु परमोत्साहं सर्वविषयकसमुदायस्तत्तच्छब्दे एवोपलभ्यते इति नात्र भवतां श्रमलेशसंभवः ।

अपि च प्रचलिताद्यश्वीनभाषा (हिन्दी) शब्दपरावृत्तिजिज्ञासवोऽपि कस्माच्छब्दात्परावृत्य संस्कृते शब्दः प्रचलितः आधुनिककालापेक्षया संस्कृता (हिन्दी)दत्र वा इत्येतदप्येतद्ग्रन्थानुभवनेन सुखेनैव बोधिष्यन्तीति निर्विवादम् । अत एव अभिधानराजेन्द्र इति यौगिकं नाम यथाहि राजा निष्पक्षपातं शत्रुमित्रोदासीनेषु नियमान्नियुङ्क्ते एवमयमपि पदार्थविज्ञानरूपनियमं जैन–बौद्ध–सांख्य–योगादिदर्शनश्रद्धालुषु पदार्थसंशोधकेषु संस्कृतप्राकृतभाषारसिकेषु च सममेव प्रवर्त्तयतीति ।

विषयसूचना–

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु ।
युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः ॥ १ ॥

इत्यनुरुन्धानेन विशेषतो दर्शनीया शब्दास्तत्रस्था विषयाश्च लेशमात्रतो विज्ञप्यन्ते, यथा–‘आउ’ शब्दे आयुषो भेदान्निरूप्य तस्यातिप्रियत्वं प्रतिपादितमत एव तत्पुष्टिकारणानि प्रतिपादितानि, न खलु गतमायुः पुनरावर्त्तत इति च स्वल्पतः सूचितम् । आयुषोऽनित्यत्वं निरूप्य वर्षशतस्याप्यल्पत्वमेवेति वाढं विभावितम् । निरूपितानि च तत्रैव सोदाहरणानि सर्वसिद्धान्ताविरुद्धानि सप्तायुःक्षयकारणानि अपि च सोपक्रमनिरुपक्रमादिना भेदं निरूप्य आयुषोऽल्पत्वकारणं दीर्घायुष्कारणं शुभदीर्घायुरशुभदीर्घायुष्कादिना भेदास्तेषां कारणानि च दर्शितानि । आयुष्कर्मणो जीवितहेतुत्वं जीवानामिहभवपरभविकायुस्तत्र नैरयिकादीनां परभविकायुर्बन्धश्च प्रतिपादितः । प्रत्याख्यानादिना निर्वर्त्तितायुष्कत्वं सप्रमाणं निरूप्य अनन्तरोपपन्नकनैरयिकादीनामायुर्बन्धश्चेति निपुणं विभावितम् । असञ्ज्ञजीवानामेकान्तबालैकान्तपण्डितबालपण्डितानां क्रियावाद्यादीनामायुर्वर्णयित्वा नैरयिकादिष्वापद्यमानानां भविकजीवानां सायुष्कत्वमायुष्करणसंवेदनादि न्यरूपि ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एवमाउकाय शब्दे–अप्कायिकानां भेदं निरूपयन् तेषां शरीरादि न्यरूपयत्। भवति चाप्कायिकस्य जीवितमिति सयुक्तिकं निरूपितमत एव सचित्ताचित्तमिश्रविवेकश्च कृतः। तीव्रोदकस्याचित्तत्वमप्कायशस्त्राणि प्रतिपाद्य सचित्ताप्कायपरिभोगविचारः प्रायुङ्क्त। तत्राप्कायपरिभोगकारणानि अप्कायसमारम्भव्यावृत्तस्यैव मुनित्वं शाक्यादिमुनयो नियमतोऽप्कायिकांस्तदाश्रितजीवांश्च विहिंसन्तीति युक्त्या प्रतिपाद्य अप्कायस्पर्शनिषेधं शीतोदकस्पर्शनिषेधं च कृतवान्।

एवमाउट्टिशब्दे सूर्यस्य कति कस्यामृतावावृत्तयो केन च नक्षत्रेण युक्ताः प्रथमादयो भवन्तीति पुनः पुनर्भावयन् सुबोधमेव निरूपितम्। अथ कस्मात्स्थानादेकेन्द्रिया आएन्द्रजाश्च जीवाः समागच्छन्तीति पृथ्वीकायिकानां पुनरपि गत्यागती भवतो जीवानां गत्यागतिपरिज्ञानेऽनेकशो मिथ्यादृष्टीनां सिद्धान्ता निपुणं निरूपिताः।

अथ आगमशब्दे स्वशैल्या भेदप्रतिपादनपूर्वकमागमस्य परतः प्रामाण्यं तत्र च प्रामाणिकपुरुषप्रणीतत्वेन प्रामाण्यं प्रतिपाद्य दृढतरयुक्तिभिरपौरुषेयत्वं निराकृतम्। स्वीकृतं च संभवरूपस्यैवागमस्य मूलागमैकदेशभूतस्य आम्नायान्तरस्य च प्रामाण्यं न तु वेदस्यैव। प्रमाणान्तराविषय एव पदार्थो नागमेन बोध्यते किं तु प्रमाणान्तरविषयोऽपि इति निरूप्य कणादमते शब्दप्रामाण्यस्यानुमानान्तर्भावमभिधाय सर्वमतसंवादिशब्दप्रामाण्यं प्रत्यपादि। शब्दस्य वाह्यार्थे प्रामाण्यम् अपोहः शब्दार्थ इति बौद्धमतं च निरूप्य अर्थस्वरूपं वाच्यवाचकभावं शब्दस्य वाचकताविचारं चाकार्षीत्। स्फोटः शब्दः इति वैयाकरणमतं स्फोटयित्वा स्वमते शब्दस्य वाचकत्वं शब्दस्य नित्यत्वविचारः शब्दार्थयोः संबन्धश्च हेतुवादाहेतुवादभेदादागमस्य द्वैविध्यमागमस्य च सर्वव्यवहारनियामकत्वं च प्रतिपादितम्। धर्ममार्गे मोक्षमार्गे चागमस्यैव प्रामाण्यम् जिनागमस्यैव सत्यत्वम्, इत्यादयो मर्मग्राहिण आगमविषयिणो बहवो विषयाः समुपलभ्यन्ते। एवम् " आणा " शब्दे परलोके आज्ञाया एव प्रामाण्यम् आज्ञाप्रवर्तमानोऽप्यप्रवर्तमान एव तीर्थकराज्ञाऽन्यथाकरणे दोषाः प्रायश्चित्तं चेत्यादिकानपरांश्च तद्विषयकान् विषयान् वर्णयित्वा आज्ञाव्यवहारो निरूपितः। एवं आयरियशब्दे व्युत्पत्त्यादिप्रदर्शनपुरस्सरमाचार्यपदभेदमभिधाय कलाचार्यादिनाऽऽचार्यस्य त्रैविध्यं तेषां विनयकरणं च प्रदर्शितम्। निरूपितं चेहलोकोपकारिपरलोकोपकारिणोराचार्ययोः स्वरूपं तद्धेयोपादेयत्वं च। प्रव्राजनाचार्योपस्थापनाचार्याभ्यां द्वैविध्यं, लक्षणं चाचार्यस्य, आचार्यस्य गुणाः यद्विरहितो गुरुर्न भवतीति भ्रष्टाचारत्वं पराहितकारित्वं दुर्गुणमाचार्यस्य निरूप्य प्रमादिनमाचार्यं शिष्यो बोधयेत्। आचार्यस्य विनयः गुरुविनये वैद्यदृष्टान्तं च प्रदर्श्य केन कर्मविपाकेन गच्छाधिपतिर्भवतीति वर्णितम्। आचार्यस्यातिशया निर्ग्रन्थिनामप्याचार्य इति यथायथं निरूपितम्। आचार्ये कालगते अवधाविते वा आचार्यान्तरस्थापनं तत्र " सुत्तत्थे णिम्माओ " इत्यादिना लक्षणं च प्रतिपादितम्। आचार्यस्य परीक्षां गुरोराचार्यपदे स्थापनाविधिं च तत्र स्थविराः प्रष्टव्याः इति प्रतिपाद्य सपरिच्छदस्यैवाचार्यत्वमिति निरूपितम्। एवम् आणुपुव्वीशब्दे आनुपूर्वीविषयकनिरूपणम्। एवं स्वस्वविषयकसकलविषयपूर्णाः चतुरस्रतो रमणीयाः विपक्षपक्षनिरूपणपूर्वकं युक्तियुतस्वपक्षस्थापननिरूपणगर्भाः पूर्वोक्ता अपरे चेमे शब्दास्तेऽवश्यं विलोकनीयास्तानेवाह। " आता, आधाकम्म, आभिणिबोहिय, आरम्भ, आराधक, आलोयणा, आसातना, आहार, इंद, इंदभूई, इंदिय, इत्थिलिंगसिद्ध, इत्थी, ईसर, उउ, उग्गम, उग्गह, उदय, उद्देस, उद्देसिय, उप्पत्तिया, उप्पाय, उरब्भ, उवओग, उवट्टवणा, उववाय, उवसंपया, उवसग्ग, उवहाण, उवहि, उवासगपडिमा, उसभ, उसुयार" एते शब्दा अस्मिन् ग्रन्थे विशेषतो दर्शनीयाः रमणीयविषयपरिपूर्णाश्चेति सूचानिकया निरूपिताः॥

(ग्रन्थनिर्दिष्टप्रकरणानां सङ्केतः)

१	अङ्ग०	अङ्गचूलिका–
२	अनु०	अनुयोगद्वार–
३	अने०	अनेकान्तजयपताका–
४	अन्त०	अन्तगडदशा–
५	अष्ट०	अष्टकयशोविजयकृत–
६	आचा०	आचाराङ्गसूत्र–
७	आ० चू०	आवश्यकचूर्णी–
८	आ० म० प्र०	आवश्यकमलयगिरिप्रथमखण्ड–
९	आ० म० द्वि०	आवश्यकमलयद्वितीयखण्ड–
१०	आतु०	आतुरप्रत्याख्यान–
११	आ० क०	आवश्यककथा–
१२	आव०	आवश्यकबृहद्वृत्ति–
१३	उवा०	औपपातिकसूत्रवृत्ति–
१४	उत्त०	उत्तराध्ययनसूत्र–
१५	उपा०	उपासकदशाङ्ग–
१६	उत्त० नि०	उत्तराध्ययननिर्युक्ति–
१७	एका०	एकाक्षरीकोश–
१८	ओघ०	ओघनिर्युक्ति–
१९	कर्म०	कर्मग्रन्थ–
२०	क० प्र०	कर्मप्रकृति–

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२१	कल्प०	कल्पसुबोधिका–
२२	ग०	गच्छाचारपयन्ना–
२३	गा०	गायत्रीव्याख्या–
२४	चं०प्र०	चन्द्रप्रज्ञप्ति–
२५	जं०	जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति–
२६	ज्ञा०	ज्ञाताधर्मकथा–
२७	जीत०	जीतकल्प–
२८	जी०	जीवाभिगम–
२९	जीवा०	जीवानुशासन–
३०	जैन०	जैन इतिहास–
३१	ज्यो०	ज्योतिष्करण्ड–
३२	ढुं०	प्राकृत (ढुण्ढी) टीका–
३३	तं०	तन्दुलवयाली–
३४	तित्थु०	तित्थुगाली–
३५	दशा०	दशाश्रुतस्कन्ध–
३६	दर्श०	दर्शनशुद्धि–
३७	दश०	दशवैकालिकाध्ययन–
३८	द०प०	दशपयन्ना–
३९	द्रव्या०	द्रव्यानुयोगतर्कणा–
४०	द्वा०	द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका (बत्तीसबत्तीसी)–
४१	द्वी०	द्वीपसागरप्रज्ञप्ति–
४२	दे०ना०	देशीनाममाला–
४३	धर्म०	धर्मसंग्रह–
४४	ध० र०	धर्मरत्नप्रकरण–
४५	नयो०	नयोपदेश–
४६	नं०	नन्दीसूत्रवृत्ति–
४७	नि०	निरयावलि–
४८	नि० चू०	निशीथचूर्णि–
४९	पं० चू०	पञ्चकल्पचूर्णि–
५०	पं० भा०	पञ्चकल्पभाष्य–
५१	पञ्चा०	पञ्चाशकसटीक–
५२	पं० व०	पञ्चवस्तुकटीका–
५३	पं० सं०	पञ्चसंग्रह–
५४	पं० सू०	पञ्चसूत्रमूल–
५५	प्रव०	प्रवचनसारोद्धार–
५६	प्रति०	प्रतिमाशतक–
५७	प्रश्न०	प्रश्नव्याकरण–
५८	प्रज्ञा०	प्रज्ञापनासूत्र–
५९	पिं०	पिण्डनिर्युक्तिवृत्ति–
६०	पिं०मू०	पिण्डनिर्युक्तिमूल–
६१	पा०	पाक्षिकसूत्रसटीक–
६२	प्रा०	प्राकृतव्याकरण–
६३	प्रा० ना०	प्राकृतनाममाला–
६४	भ०	भगवतीसूत्र–
६५	महा०	महानिशीथसूत्र–
६६	मण्ड०	मण्डलप्रकरण–
६७	यो० बि०	योगबिन्दु–
६८	रत्ना०	रत्नावतारिकावृत्ति–
६९	ल०	ललितविस्तरावृत्ति–
७०	लघु०	लघुप्रवचनसार–
७१	व्य० अ०	व्यवहारअक्षरार्थ–
७२	वाच०	वाचस्पतिकोश–
७३	व्य० प्र०	व्यवहारसूत्रवृत्तिप्रथमखण्ड–
७४	व्य० द्वि०	व्यवहारसूत्रवृत्तिद्वितीयखण्ड–
७५	ती०	विविधतीर्थकल्प–
७६	बृ०	बृहत्कल्पवृत्ति–
७७	विशे०	विशेषावश्यकवृत्ति–
७८	विपा०	विपाकसूत्र–
७९	श्रा०	श्रावकधर्मप्रज्ञप्ति–
८०	षो०	षोडशकप्रकरणसटीक–
८१	स०	समवायाङ्गसूत्र–
८२	संथा०	संस्तारकपयन्ना–
८३	संस० नि०	संसक्तनिर्युक्तिमूल–
८४	संघा०	सङ्घाचारभाष्य–
८५	सत्त०	सत्तरिसयठाणावृत्ति–
८६	सम्म०	सम्मतितर्क–
८७	स्था०	स्थानाङ्गसूत्र–
८८	स्या०	स्याद्वादमञ्जरी–
८९	सू० प्र०	सूर्यप्रज्ञप्तिः सटीक–
९०	सूत्र०	सूत्रकृताङ्गसूत्र–
९१	सेन०	सेनप्रश्नसंस्कृत–
९२	हा०	हारिभद्राष्टक–
९३	ही०	हीरप्रश्नसंस्कृत–

अ०	अध्ययन–
अधि०	अधिकार–
अध्या०	अध्याय–
अष्ट०	अष्टक०–
द्वा०	द्वार०–
पाहु०	पाहुडा–
श्रु०	श्रुतस्कन्ध–
वक्ष०	वक्षस्कार–

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ठा०	ठाणा–	उल्ला०	उल्लास–
उ०	उद्देश–	प्र०	प्रश्न–
प्रति०	प्रतिपत्ति–	सं०	संवरद्वार–
वित्र०	विवरण–	अध०	अधर्मद्वार–
पद–	पद–	पुं०	पुंल्लिङ्ग–
परि०	परिच्छेद–	स्त्री०	स्त्रीलिङ्ग–
सम०	समवाय–	न०	नपुंसकलिङ्ग–
		त्रि०	त्रिलिङ्ग–

संकेतसूचना–

सर्वत्र हि सङ्केतज्ञानमन्तरेण न कश्चिदपि सङ्केतितपरिज्ञाने प्रभवतीति सङ्केतसूचनं क्रियते यत्रास्मिन् ग्रन्थे टीकारहिता गाथा उदाहरणपतितानि प्राकृतवाक्यानि संस्कृतश्लोका वा तत्राद्यान्तयोरेन " " चिह्नम्। मूलटीकयोः स्थूलसूक्ष्माक्षरैरेव भेदः प्रदर्शितः कचिदनुपयुक्ता टीका न संगृहीता किं तु मूलमात्रमेव स्थूलाक्षरैः प्रकाशितम् । सप्तम्यन्तत्वेन प्रदर्शितस्यार्थस्याधोभागे एत, चिह्नं दत्तम्, यत्रैकस्यानूद्यस्य प्राकृतशब्दस्य द्वित्राः संस्कृतेऽनुवादकशब्दास्तत्र द्वितीयोऽनुवादष्टीकासमपङ्क्तिष्वेव निहितः। अनूद्याः प्राकृतशब्दा अनुवादकाश्च संस्कृतशब्दाः इति गौणमुख्यभावोऽपि प्रदर्शित एव । अनूद्यानुवादकयोर्मध्ये एत–चिह्नमस्ति । येभ्यो ग्रन्थेभ्यः पाठः संगृहीतस्तत्र नामैकदेशे नामग्रहणमिति न्यायमनुश्रित्य ग्रन्थस्य पुंल्लिङ्गादीनां च पूर्णं नामधेयमनुक्त्वा एकं द्वे वा अक्षराणि प्रदर्शितानि एवमध्ययनशतकोद्देशादिखण्डेषु च एक एव वर्णः प्रदर्शितस्तत्र च शून्याकाररूपमेतः० चिह्नमपि निहितमस्ति ।

विशेषसूचना—

एतत्पुस्तकसंशोधनेऽस्मत्सतीर्थ्ययोर्मुनिश्रीदीपविजय–यतीन्द्रविजययोर्महान् श्रम इति नात्र दृये किन्त्वमुद्रितपुस्तकानामतिजीर्णत्वेन प्रतिपुस्तकमेकैकमत्युपलब्ध्या च कचिद्गाथादौ टीकावलम्बनैकशरणेन प्रकरणविषयाविरोधेन च बहुतरं पर्यालोच्य निहितपदैः पूरितगाथासु कदाचिदेव कचिदेव पाठभेदः स्यात्स स्वयमेव सद्भिः संस्करणीयः । किञ्च यदि कचिद्यन्त्रदोषेण वर्णानां घर्षणेन च अनुत्थितेषु षकारादिषु दृष्टिदोषादिना वा अशुद्धिः स्यात्सा विद्वद्भिः शोधनीया इत्यादि सर्वं विज्ञपयन्ति ।

श्री श्री १०८ श्री उपाध्याय–मुनिप्रवर मोहनविजयाः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ॐ

वृन्दारककल्पवादिवृन्दवन्दितचरणकमल–सर्वतन्त्रस्वतन्त्र–कलिकाल–
सर्वज्ञकल्प–जङ्गमयुगप्रधान–श्रीसौधर्मबृहत्तपागच्छीय–जैन-
श्वेताम्बराचार्य–श्रीमद्भट्टारक–श्री श्री १००८ श्री
श्री–विजयराजेन्द्रसूरिविरचितः

अभिधानराजेन्द्रः ।

तस्याऽऽकारादिशब्दसङ्कलने द्वितीयो भागः ।

स च

श्रीसर्वज्ञप्ररूपितगणधरनिर्वर्तिताद्यश्रीनोपलभ्यमानाशेष–सूत्र–
तद्वृत्ति–भाष्य–निर्युक्ति–चूर्ण्यादिनिहितसकलदार्शनिक–
सिद्धान्तेतिहास–शिल्प–वेदान्त–न्याय–वैशेषिक–
मीमांसादिप्रदर्शितपदार्थयुक्तायुक्तत्वनिर्णायकः ।
श्रीमुनिदीपविजय––श्रीयतीन्द्रविजयाभ्यां संशोधितः

समस्तजैनश्वेताम्बरसङ्घेन महता परिश्रमेण प्राकाश्यं नीतः ।

* * * श्री जैनप्रभाकर प्रिंटिंग प्रेस रतलाम. * * *

श्रीवीर संवत् २४३६
श्रीराजेन्द्रसूरि संवत् ४

श्रीविक्रमाब्दः १९६७
खिस्ताब्दः १९१०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रीवर्द्धमानो जयति ।

अभिधानराजेन्द्रः ।

सिरिवद्धमाणवाणिं, पणमिअ जत्तीइ अक्खरक्कमसो ।
सद्दे तेसु य सव्वं, पवयणवत्तव्वयं वोच्छं ॥ १ ॥

आकार

आ- आ -अव्य० । आप्-क्विप्-पृषो० पलोपः । वाक्ये, (पूर्वमित्थं नो अमंस्थाः, इदानीं त्वेवं मन्यसे इत्येवं वाक्यस्यान्यथात्वद्योतने,) स्मृतौ, (आ एवं मन्यसे इत्येवं विस्मृतस्य स्मृतौ,) अङितो निपातत्वात् प्रगृह्यसंज्ञा । ङितस्तु न । " निपात एकाजनाङ् " ॥ १ । १ । १४ ॥ इति सूत्रात् । अत एवोक्तम्-" मर्यादायामभिविधौ. क्रियायोगेषदर्थयोः । य आकारः स ङित् प्रोक्तो, वाक्यस्मरणयोरङित् ॥ १ ॥ " वाच० । अभिविधौ. (व्याप्तौ,) " आगमसत्थग्गहणं " ॥ २१ + ॥ आ-अभिविधिना—सकलश्रुतव्याप्तिरूपेण. मर्यादया वा । आ० म० १ अ० । " आङोऽभिविहीए० " (१२७६×) अभिविधौ, । विशे० । " आगरा० ॥ ८+ ॥ " मर्यादया अभिविधिना वा । ओघ० । मर्यादायाम् . (सीम्नि,) प्रज्ञा० ३६ पद ४६ सूत्र । आ० म० । प्रव० । विशे० । भ० । ओघ० । सूत्र० । समन्तादित्यर्थे, उत्त० १ अ० १३ गाथा । स० । रा० । सूत्र० । अवागर्थे, (अधोभूमौ,) प्रज्ञा० २ पद ४६ सूत्र । ईषदर्थे, " आङः मर्यादेषदर्थत्वात् । विशे० १२३४ गाथा । आचा० । एका० । सूत्र० । (अत्राऽङिल्लक्षण एव तात्पर्यम् , ङिदंशे मर्यादायामित्यादयस्तूदाहरणमात्रमत एव अन्यत्रापि ङित्प्रयुज्यते) अमर्षे, आभिमुख्ये, रा० । अनुकम्पायाम् , समुच्चये, अङ्गीकारे, कोपे, पिडायाम् , एका० । आः किमेतदित्येवम् विस्मये, स्था० ५ ठा० ३ उ० ३६४ सूत्र० । एका० । सन्तोषे, सुखतनौ, चिरे, लघुवस्तुनि, परिताप, विधौ, सलिले, स्त्रेये, एका० । स्वयंभुवि, पुं० । एका । आचार्ये च । स च नामैकदेश नाममात्रग्रहणात्-ओमितिपदे आशब्दः आचार्यं बोधयतीति । गा० ।

आअ-(आगअ)-आगत-त्रि० । आयाते, उपस्थिते, प्राप्ते च । आगमने, न० । वाच० । "व्याकरणप्राकाराऽऽगते क-गोः" ॥ ८ । १ । २६८ ॥ इति हैमप्राकृतव्याकरणसूत्रेण वैकल्पिको गकारस्य सस्वरस्य लुक् । प्रा० ।

आ(अं-)अरिस-आदर्श-पुं० । दर्पणे, वाच० । "र्श-र्ष-तप्त-वज्रे वा " ॥ ८ । २ । १०५ ॥ इति हैमप्राकृतसूत्रेणान्त्यव्यञ्जनात्पूर्व इकारो वैकल्पिकः । प्रा० ।

आअड्ड-व्यापृ-धा० । वि-आ-पृ । व्यापारे, तुदा० आत्म० अनिट् । " व्याप्रेराअड्डः " ॥ ८ । ४ । ८१ ॥ इति हैमप्राकृतसूत्रेण वैकल्पिक आअड्ड इत्यादेशः । आअड्डइ । वावारेइ । व्याप्रियत इत्यर्थः । प्रा० ।

आअरिअ-आचार्य-पुं० । गुरौ, वाच० । "स्याद्भव्य-चैत्य-चौर्य-समेषु यात् " ॥ ८ । २ । १०७ ॥ इति हैमप्राकृतसूत्रेण यकारात्पूर्व इकारः । प्रा० । " आचार्ये चोऽच्च " ॥८।१।७३॥ इति हैमप्राकृतसूत्रेण अत् । प्रा० ।

आइ-आदि-पुं० । आदीयते-(गृह्यते) इति आदिः-प्रथमः । प्रव० ७१ द्वार १ गाथा । आ-दा-कि आदि । "क ग च ज त-द-प-य-वां-प्रायो लुक्" ॥८।१।१७७॥ इति द्लुक् । प्रथमे, प्रा० । यस्मात्परमस्ति,न पूर्वं स आदिः। अनु० ७४ सूत्र । मूलकारणे, प्रज्ञा०११ पद १६५ सूत्र । मूलमादिरित्यनर्थान्तरमिति । आ० चू० १ अ० । प्रथमोत्पत्तौ , सूत्र० २ श्रु० ५ अ० २ गाथा । प्राथम्ये , उत्त० १ अ० ३३ गाथा । प्रधाने , आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ४ उ० २२ सूत्र । उत्सेधाख्ये नाभेरधस्तन देहभागे, स्था० ६ ठा० ३ उ० ४६५ सूत्र । भेदे, (प्रकारे,) नि० चू० १ उ० । सामीप्ये, व्यवस्थायाम् , अवयवे च । आह च-" सामीप्ये च, व्यवस्थायां, प्रकारेऽवयवे तथा । चतुर्ष्वर्थेषु मेधावी, ह्यादिशब्दं तु लक्षयेत् ॥ १ ॥ " प्रश्न० १ आश्र० द्वार ३ सूत्र ।

अस्य चतुर्विधो निक्षेपः नामस्थापना द्रव्यभावभेदात् ,तद्यथा-

णामादी ठवणादी , दव्वादी चेव होति भावादी ।
दव्वादी पुण दव्व-स्स, जो सभावो सए ठाणे ॥१३४॥

' णामादी ' त्यादि, आदेर्निक्षेपं कर्तुकाम आह-आदेर्नामादिकश्चतुर्धा निक्षेपः। नाम-स्थापने सुगमत्वादनादृत्य द्रव्यादि दर्शयति-द्रव्यादिः पुनर्द्रव्यस्य परमाण्वादेर्यः स्वभावः-परि-

णतिविशेषः स्वके स्थाने-स्वकीये पर्याये प्रथमम्-आद्यो भवति स द्रव्यादिः द्रव्यस्य-दध्यादेर्य आद्यः परिणतिविशेषः क्षीरस्य विनाशकालसमकालीन एवमन्यस्यापि-परमाण्वादेर्द्रव्यस्य 'जो' यः परिणतिविशेषः प्रथममुत्पद्यते स सर्वोऽपि द्रव्यादिरेवमेव भवति । ननु च कथं क्षीरविनाशसमये एव दध्युत्पादः । तथाहि-उत्पादविनाशौ भावाभावरूपौ वस्तुधर्मौ वर्तेते न च धर्मो धर्मिणमन्तरेण भवितुमर्हति, अत एकस्मिन्नेव क्षणे तद्धर्मिणोर्दधिक्षीरयोः सत्तामाप्नोत्येतच्च दृष्टेष्टबाधितमिति, नैष दोषः । यस्य हि वादिनः क्षणमात्रं वस्तु तस्यायं दोषो, यस्य तु पूर्वोत्तरक्षणानुगतमन्वयि द्रव्यमस्ति तस्यायं दोष एव न भवति । तथाहि-तत्परिणामि द्रव्यमेकस्मिन्नेव क्षणे एकेन स्वभावेनोत्पद्यते परेण विनश्यत्यनन्तधर्मात्मकत्वाद्वस्तुन इति । यत्किञ्चिदेतत् । तदेवं द्रव्यस्य विवक्षितपरिणामेनापरिणमतो य आद्यः समयः स द्रव्यादिरिति स्थितं, द्रव्यस्य प्राधान्येन विवक्षितत्वादिति ।

सांप्रतं भावादिमधि कृत्याह—

आगम णोआगमओ, भावादी तं दुहा उवदिसंति ।
णोआगमओ भावो, पंचविहो होइ णायव्वो ॥ १३५ ॥
आगमओ पुण आदी, गणिपिडगं होइ वारसंगं तु ।
गंथसिलोगो पदपा-दअक्खराइं च तत्थादी ॥ १३६ ॥

'आगम' इत्यादि, भावः-अन्तःकरणस्य परिणतिविशेषस्तं बुद्धाः-तीर्थकर-गणधरादयो व्यपदिशन्ति-प्रतिपादयन्ति । तद्यथा-आगमतो, नोआगमतश्च । तत्र नोआगमतः प्रधानपुरुषार्थतयाचिन्त्यमानत्वात्पञ्चविधः-पञ्चप्रकारो भवति । तद्यथा-प्राणातिपातविरमणादीनां पञ्चानामपि महाव्रतानामाद्यः प्रतिपत्तिसमय इति । तथा-'आगमओ' इत्यादि, आगममाश्रित्य पुनरादिरेवं द्रष्टव्यः । तद्यथा-यदेतद्गणिन-आचार्यस्य पिटकं-सर्वस्वमाधारो वा तद्-द्वादशाङ्गं भवति । तुशब्दात्-अन्यदप्युपाङ्गादिकं द्रष्टव्यम् । तस्य प्रवचनस्यादिभूतो यो ग्रन्थस्तस्याप्याद्यः श्लोकस्तस्याप्याद्यं पदं तस्यापि प्रथममक्षरम् एवंविधो बहुप्रकारो भावादिर्द्रष्टव्य इति । तत्र सर्वस्यापि प्रवचनस्य सामायिकमादिस्तस्यापि करोमीति पदं तस्याऽपि ककारः । द्वादशानां त्वङ्गानामाचाराङ्गम् आदिस्तस्यापि शस्त्रपरिज्ञाध्ययनमस्यापि च जीवोद्देशकस्तस्यापि 'सुयं' ति पदं तस्यापि सुकार इति पदमादिरिति । अस्य च प्रकृताङ्गस्य समयाध्ययनमस्यापि आद्युद्देशक-लोक-पाद-पद-वर्णादिर्द्रष्टव्य इति । सूत्र० १ श्रु० १५ अ० । " ओयम्मि उ गुणकारे, अब्भिंतर मंडले हवइ आई । जुग्गम्मि य गुणकारे, बाहिरगे मण्डले आई " ॥ ४ ॥ अस्यार्थः-ओजोरूपेण-विषमलक्षणेन गुणकारो भवति ततः आदिः अभ्यन्तरं मण्डलं द्रष्टव्यः । युग्मे तु-समे तु गुणकारे आदिः बाह्ये मण्डले अवसेयः । सू० प्र० १० पाहु० २० पाहु०पाहु० ५६ सूत्र ।

आजि-स्त्री० । अजन्त्यस्यामिति, अज्-इण् । संग्रामे, संथा० ६७ गाथा । समरभूमौ, मर्यादायाम् वा ङीप् । क्षणे, मार्गे, पुं० । भावे इण् । आक्षेपे च । वाच० ।

आति-पुं० । अत् इण् । शरारिपक्षिणि, सततगन्तरि, त्रि० । वाच० ।

आइ (दिं) अंतियमरण-आत्यन्तिकमरण-न० । अत्यन्तं भवमात्यन्तिकं तच्च तन्मरणं चेति कर्मधारयः । भ० १२ श० ६ उ० ४१ सूत्र । तृतीये मरणविशेषे, प्रव० ।

आत्यन्तिकमरणमाह—

एमेव आइअंतिय-मरणं न वि मरइ ताणि पुणो ॥२३॥

आर्षत्वादित्यर्थं निर्देशः । एवमेव-अवधिमरणवदात्यन्तिकमरणमपि द्रव्यादिभेदतः पञ्चविधं, विशेषः पुनरयम्-'न वि मरइ ताणि पुणो' त्ति-अपिशब्दस्यैवकारार्थत्वान्नैव तानिद्रव्यादीनि पुनर्म्रियन्ते । अयमर्थः-यानि नारकाद्यायुष्कतया कर्मदलिकान्यनुभूय म्रियन्ते मृताश्च न पुनस्तान्यनुभूय मरिष्यन्तीत्येवं यन्मरणं तद् द्रव्यापेक्षया अत्यन्तभावित्वादात्यन्तिकमिति । एवं क्षेत्रादिष्वपि वाच्यम् । प्रव० १५७ द्वार । उत्त० । स० ।

तद्भेदा यथा—

आदिंतियमरणे णं, पुच्छा, गोयमा ! पंचविहे पण्णत्ते ।
तं जहा-दव्वादिंतियमरणे,खेत्तादिंतियमरणे० जाव भावादिंतियमरणे । (सूत्र ४६५×) भ० १३ श० ७ उ० ।

(एषां भेदाः ' मरण ' शब्दे षष्ठ भागे वक्ष्यन्ते)

आइइल्ल-आदिम-त्रि० । आद्य, अनु०* । " डिल्ल-डुल्लौ भवे " ॥ ८ । २ । १६३ ॥ इति इल्ल । प्रा० ।

आइं-आइं-अव्य० । वाक्यालङ्कार, प्रश्न० ३ संव० द्वार २६ सूत्र । 'आइं' ति निपातः । भ० १५ श० १ उ० ५५० सूत्र । "तक्करं एवं वयासी-अवि-आइं अहं विजया !" (सूत्र ४०×) 'अपिः' संभावने 'आइं' ति भाषायाम् । ज्ञा० १ श्रु० २ अ० ।

आइकाडिल्ल-आदिकडिल्ल-न० । आद्यगहने, तच्चादिकडिल्लमुद्गमोत्पादनैषणारूपं ज्ञानादिरूपम् । वृ० १ उ०* । "कंटगमादीसु जधा, आदिकडिल्ले तधा जयंतस्स " ॥ ३१३ × ॥ नि० चू० ४ उ० ।

आइक्ख-आङ् ख्या-धा० । अदा० पर० सेट् । सामान्येन, कथने, "आइक्खइ ।" समान्येन भाषते इत्यर्थः । औ० २७ सूत्र । सामान्येनाचष्टे । विपा० २ श्रु० १ अ० ३३ सूत्र ।

आख्येय-त्रि० । कथनीये, स्था० ४ ठा० २ उ० ३१७ सूत्र ।

आइक्खग(य)-आख्यायक-पुं० । शुभाशुभमाख्याय जीविकां कुर्वत्या जीविकाविशेषे, जं० २ वक्ष० ३० सूत्र ।

आइक्खण-आख्यान-न० । सामान्यतः कथने, संहिताकर्षणपूर्वककथनं च । औ० २७ सूत्र । "संहियकड्ढणमादिक्खणं तु" ॥ ८७ × ॥ इह संहितायाः अस्खलितपदोच्चारणरूपाया यदाकर्षणं तत् आख्यानमुच्यते, तद्यदम् व्रतसामितिकषायाणां धारणरक्षणविनिग्रहाः सम्यक् दण्डभयश्चोपरमो धर्मः पञ्चेन्द्रियदमश्चैवं भिक्षां याते गृहस्थानां धर्मकथनार्थं संहिताकर्षणं करोति । चू० ३ उ० ।

आइक्खमाण-आचक्षाण-त्रि० । कथयति, " आइक्खमाणे " ॥ १५ + ॥ सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

आइक्खिय-आख्यायिक-न० । पापश्रुतविशेषे, सा च मातङ्गविद्या यदुपदेशादतीतादि कथयतीति । स्था० ६ ठा० ३ उ० ६७८ सूत्र ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आइक्खित्तए-आख्यातुम्-अव्य० । कथयितुमित्यर्थे, सू० २ उ० २३ सूत्र ।

आइगर-आदिकर-त्रि० । आदिं करोति अर्हत्वादावपि टः । स्त्रियां ङीप्, । प्रथमकारके, प्राक्सत्ताकर्त्तरि, वाच० । " तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे आइगरे " (सूत्र-१०×) औ० । "ते सव्वे पावाउया आदिगरा धम्माणं" (सूत्र-४१×) । सूत्र०२ श्रु०२ अ० । आदौ-प्रथमतः श्रुतधर्म्माचारादिग्रन्थात्मकं कर्म करोति तदर्थप्रणायकत्वेन प्रणयतीत्येवं शीलः । भ० १ श० १ उ० ५ सूत्र । आदिः-श्रुतधर्मस्य प्रथमा प्रवृत्तिस्तत्करणशीलः । रा० । स्वस्वतीर्थापेक्षया धर्मस्येति । कल्प०१ अधि०२ क्षण १५ सूत्र । जी० । तत्करणहेतुर्वा । ध० २ अधि० ६१ श्लोक । श्रुतधर्मस्य प्रथमप्रवृत्तिकारके तीर्थकरे च । आव० ५ अ० १ गाथा । स० । " नमोत्थु णं अरिहंताणं भगवंताणं आदिगराणं तित्थगराणं " । रा० । इहाऽऽदौ करणशीला आदिकरा अनादावपि भवे तदा तदा तत्तत्कर्माण्वादिसम्बन्धयोग्यतया विश्वस्यात्मादिगामिनो जन्मादिप्रपञ्चस्येति हृदयम् , अन्यथा-अधिकृतप्रपञ्चाऽसंभवः, प्रस्तुतयोग्यता वैकल्ये प्रक्रान्तसंबन्धाऽसिद्धेः अतिप्रसङ्गदोषव्याघातात् , मुक्तानामपि जन्मादि प्रपञ्चस्याऽऽपत्तेः । प्रस्तुतयोग्यताऽभावेऽपि प्रक्रान्तसम्बन्धाऽविरोधादिति परिभावनीयमेतत् । न च तत्तत्कर्माण्वादेरेव तत्स्वभावतयाऽऽत्मनस्तथा सम्बन्धसिद्धिः, द्विष्ठत्वेन अस्योभयोस्तथास्वभावापेक्षितत्वात् , अन्यथा कल्पनाविरोधात् , न्यायानुपपत्तेः, न हि कर्माण्वादिस्तथाकल्पनायामप्यलोकाकाशेन, सम्बन्धः, तस्य तत्संबन्धस्वभावत्वायोगात् , अतत्स्वभावे चाऽऽलोकाकाशे विरुध्यते कर्माण्वादेस्तत्स्वभावताकल्पनेति न्यायानुपपत्तिः, तत्स्वभावताङ्गीकरणे चास्यास्मदभ्युपगतापत्तिः, न चैवं स्वभावमात्रवादसिद्धिः, तदन्यापेक्षित्वेन सामग्र्याः फलहेतुत्वात् , स्वभावस्य चतदन्तर्गतत्वेनेष्टत्वात् । निर्लोठितमेतदन्यत्र इति आदिकरत्वसिद्धिः ॥३॥ ल० । " यद्यप्येषा द्वादशाङ्गी न कदाचिन्नासीन्न कदाचिन्न भवति, न कदाचिन्न भविष्यति । अभूच्च, भवति च, भविष्यति च " इति वचनात् नित्या द्वादशाङ्गी, तथाप्यर्थापेक्षया नित्यत्वं, शब्दापेक्षया तु स्वस्वतीर्थे श्रुतधर्मादिकरत्वमविरुद्धम् । ध० २ अधि० ६० श्लोक ।

आइगुण-आदिगुण-पुं० । आदौ गुणः सप्तमीतत्पुरुषः । सहभाविनि गुणे, आव० ४ अ० १२७३ गाथा । (सिद्धानामादिगुणा एकत्रिंशत् , ते च 'सिद्धाइगुण' शब्दे सप्तमभागे द्रष्टव्याः)

आइग्घ- आ घ्रा-धा० । आङ्. घ्रा-भ्वा० पर० अनिट् । गन्धोपादाने, तृप्तौ च । वाच० । "आघ्रेराइग्घः" ॥८।४।१३॥ इति हैमप्राकृतसूत्रेणाऽऽजिघ्रतेर्वैकल्पिक आइग्घाऽऽदेशः । आइग्घइ । आग्घाअइ । जिघ्रतीत्यर्थः । प्रा० ।

आइच्च-आदित्य-पुं० । कृष्णराज्यवकाशान्तरस्थलोकान्तिकसंज्ञकार्चिर्मालिविमानस्थे लोकान्तिकदेवविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० ४ अ० ७७ सूत्र । स्था० । भ० । ग्रैवेयकविमानविशेषे , तन्निवासिनि वैमानिकदेवविशेषे च । प्रव० २६७ द्वार । समयावलिकादीनामादौ भवे, बहुलवचनात् त्यप्रत्ययः । सू० प्र० २० पाहु० १०५ सूत्र । भ० । सूर्ये, आव० ४ अ० ।

सूर्यस्यादित्यसंज्ञा यथा—

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-सूरे आइच्चे !, सूरे आइच्चे गोयमा ! सूरादिया णं समयाइ वा आवलियाइ वा ०जाव उस्सप्पिणीइ वा अवसप्पिणीइ वा से तेणट्ठेणं गोयमा ! ०जाव आइच्चे सूरे आइच्चे सूरे । (सूत्र०४५५)

अथादित्यशब्दस्यान्वर्थाभिधानायाह—' सेकेणमित्यादि ' ' सूराइय ' त्ति—सूरः—आदिः—प्रथमो येषां ते सूरादिकाः के, ? इत्याह-'समयाइ व' त्ति-समयाः-अहोरात्रादिकालभेदानां निर्विभागा- अंशाः , तथाहि—सूर्योदयमवधिं कृत्वा अहोरात्रारम्भकः समयो गण्यते आवलिकामुहूर्त्तादयश्च ' से तेणमि ' त्यादि, अथ तेनार्थेन सूरः-आदित्य इत्युच्यते इति आदौ अहोरात्रसमयादीनां भवः आदित्यः इति व्युत्पत्तेः । त्यप्रत्ययश्चेहाऽऽर्षत्वादिति । भ० १२ श० ६ उ० । सू० प्र० । चं० प्र० ।

आदित्यस्यास्तित्वम्—

णाऽऽइच्चो उएइ , ण अत्थमेइ ॥ ७ × ॥

सर्वशून्यवादिनो-ह्यक्रियावादिनः सर्वाध्यक्षामादित्योद्गमनादिकामेव क्रियां तावन्निरुन्धन्तीति दर्शयति-आदित्यो हि सर्वजनप्रतीतो जगत्प्रदीपकल्पो दिवसादिकालविभागकारी स एव तावन्न विद्यते , कुतस्तस्योद्गमनमस्तमयनं वा ? यच्च जाज्वल्यमानं तेजोमण्डलं दृश्यते तद् भ्रान्तमतीनां द्विचन्द्रादिप्रतिभासमृगतृष्णिकाकल्पं वर्त्तते । (सूत्र०।) अथैतन्मतस्य निराकरणम्-तथाहि-आगोपालाङ्गनादिप्रतीतः समस्तान्धकारक्षयकारी कमलाकरोद्घाटनपटीयानादित्योद्गमः प्रत्यहं भवन्नुपलक्ष्यते । तत्क्रिया च देशाद्देशान्तरावाप्त्याऽन्यत्र देवदत्तादौ प्रतीताऽनुमीयत इति । सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । सूर्याधिष्ठिते गगने दिवानिशं बम्भ्रम्यमाणे लोकप्रकाशकरे तेजोमण्डले, "अग्नौ प्रस्ताऽऽहुतिः सम्य-गादित्यमुपतिष्ठते । आदित्याज्जायते वृष्टि-र्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः" ॥ १ ॥ इति । मनुना अग्निहुतद्रव्याणां हविराज्यादीनां परमाणुमात्रतयाऽवस्थितानां दग्धशेषाणां सूर्यरश्मिकर्षणेन सूर्यलोकप्राप्त्या वृष्टिहेतुत्वमुक्तम् , तच्च मण्डलार्थपरत्व एव सम्भवति । वाच० । अर्कवृक्षे , पुं । आदित्यस्यापत्यम् ण्यः यलोपः आदित्यापत्ये , पुं० स्त्री० । वाच० । " आइच्चो य होई बोधव्वो " ॥ १५ ॥ (भाष्यगा०) । आदित्यास्यायमादित्यः पत्युत्तरपदयमादित्यदितेरिति ञ्याऽपवादस्त्यक् । आदित्यस्याऽयम् । आदित्यः । ("अनिदमि अणपवादे च दित्यदित्यादित्ययमपत्युत्तरपदात् ञ्यः" ॥६।१।१५॥ एभ्यः प्राग्जितीयेऽर्थे इदं वर्जे अपत्याद्यर्थे यः अणोऽपवादः तद्विषये च ञ्यः स्यात् । इति ञ्यः*)"ञ्यञनात्पञ्चमान्तस्थाथाः सरूपे वा " ॥१।३।४७॥ इति पाक्षिक एकस्य यकारस्य लोपः । आदित्यचारनिष्पन्नत्वादुपचारतो मासोऽप्याऽदित्यः (व्य०) । आदित्यसम्बन्धिनि तच्चारनिष्पन्ने मासादौ, स चैकस्य दक्षिणायनस्योत्तरायणस्य वा त्र्यशीत्यधिकदिनशतप्रमाणस्य षष्ठभागमानः । यदि वा-आदित्यचारनिष्पन्नत्वादुपचारतो मासोऽप्यादित्यः । व्य०१ उ० । "जस्स जओ आइच्चो, उएइ सा भवइ तस्स पुव्वदिसा" ॥ (४७×) । आचा०१ श्रु०१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अ० १ उ० । ('दिसा' शब्दे चतुर्थभागे व्याख्या द्रष्टव्या)

आइच्चगय-आदित्यगत-त्रि० । सूर्याऽऽक्रान्ते नक्षत्रादौ, " आइच्चगए अनिव्वाणी " ॥ रविगते नक्षत्रे शुभप्रयोजने प्रारभ्यमाणेऽसुखम् । बृ० १ उ० *।

आइच्चजस-आदित्ययशस्-पुं० । ऋषभदेववंशजे भरतात्मजे नृपभेदे, आ० चू० १ अ० । " राया आइच्चजसे० " ॥३६३॥ आ० म० १ अ० । स्था० । स च पुण्डरीकशिखरे सिद्धः । ती० १ कल्प । आदित्ययशःप्रभृतयो भगवन्नाभेयवंशजाः त्रिखण्डभरतार्द्धमनुपाल्य पर्यन्ते पारमेश्वरीं दीक्षामतिगृह्य तत्प्रभावतः सकलकर्मक्षयं कृत्वा सिद्धिमगमन्निति । नं० ४६ सूत्र ।

आइच्चपीढ-आदित्यपीठ-न० । गजपुरस्थे श्रेयांसेन कारिते आदितीर्थकरस्य रत्नमये पादपीठे, आ० म० ।

तद्वक्तव्यता यथा-

" सेज्जंसो वि तत्थ ठितो भयवं पडिलाभितो ताणि पयाणि पाएहिं मा अक्कमिस्सामि त्ति भत्तीए तत्थ रयणमयं पीढं करेइ तिसंझं च पूएइ । पव्वदिवसे विसेसेण पूइऊण भुंजइ । लोगो पुच्छइ । किमेयं-सेज्जंसो भणइ-"आइतित्थयरमणलं" ततो लोगेण वि जत्थ जत्थ भयवं ठितो तत्थ तत्थ पीढं कयं । कालेण य " आइच्चपीढं " जायं ॥ (३४५ गाथाटी०) अक्षरगमनिका क्रियाध्याहारतः कार्या । यथा गजपुरं नगरमासीत् , तत्र श्रेयांसः सोमयशसो राज्ञः पुत्रः, तेन-क्षुरसदानं भगवते कृतम् । तत्रार्द्धत्रयोदशहिरण्यकोटी वसुधारा निपतिता । पीठमिति यत्र भगवता पारितं तत्र तत्पादयोर्मा कश्चिदाक्रमणं कार्षीदिति श्रेयांसेन भक्त्या रत्नमयं पीठं कारितं गुरुपूजेति तदर्चनं कृतवान् । आ० म० १ अ० ।

आइच्चमास-आदित्यमास-पुं० । आदित्यस्यायमादित्यः । आदित्यचारनिष्पन्नत्वादुपचारतो वाऽऽदित्यः स चासौ मासश्च कर्मधारयसमासः । आदित्यचारनिष्पन्ने मासभेदे, स चैकस्य दक्षिणायनस्योत्तरायणस्य वा त्र्यशीत्यधिकशत-दिनप्रमाणस्य षष्ठभागप्रमाणः । व्य० १ उ० ४५ गाथा ।

आइच्चे णं मासे एक्कतीसं राइंदियाणं किंचि विसेसूणाई राइंदियेणं पण्णत्ते । (सूत्र ३१×) ।

आदित्यमासो-येन कालेनादित्यो राशिं भुङ्क्ते ' किंचि वि-सेसूणाइं ' ति-अहोरात्रार्द्धेन न्यूनानीति । स० ३१ स० ।

आइच्चो खलु मासो, तीसं अद्धं च ॥३७×॥

आदित्यसंवत्सरसम्बन्धी खलु मासो भवति त्रिंशद्रात्रि-न्दिवानि एकस्य च रात्रिंदिवसस्यार्धम् । तथाहि-सूर्यसं-वत्सरस्य परिमाणं त्रीणि शतानि षट्षष्ठ्यधिकानि रात्रि-दिवानि, द्वादशभिश्च मासैः संवत्सरस्तत्त्रयाणां शतानां षट्षष्ट्यधिकानां द्वादशभिर्भागे हृते यथोक्तं मासपरिमाणं भवति । ज्यो० २ पाहु० ।

आइच्चवण्ण-आदित्यवर्ण-त्रि० । भास्वरे, षो० १४ विव० १४ श्लोक ।

आइच्चसंवच्छर-आदित्यसंवत्सर-पुं० । प्रमाणसंवत्सराणां-मध्ये चतुर्थे संवत्सरविशेषे, यावता कालेन षडपि प्रावृ-डादय ऋतवः परिपूर्णा आवृत्ता भवन्ति तावान् कालविशेष आदित्यसंवत्सरः । उक्तं च-" छप्पि उऊ परियट्टा, एसो संवच्छरो उ आइच्चो" तत्र यद्यपि लोके षष्ट्यहोरात्रप्रमाणः प्रावृडादिक ऋतुः प्रसिद्धः, तथापि परमार्थतः स एकषष्ट्य-होरात्रप्रमाणो वेदितव्यः तथैवात्तरकालमव्यभिचारदर्शनात् अत एवास्मिन् संवत्सरे त्रीणि शतानि षट्षष्ट्यधिकानि रात्रिंदिवानां भवन्ति । चं० प्र० १० पाहु० २० पाहु० पाहु० । तत्र त्र्यशीत्यधिकशततमोऽहोरात्रः प्रथमस्य षण्मासस्य पर्यवसानम् । षट्षष्ट्यधिकत्रिशततमोऽहोरात्रो द्वितीयस्य षण्मासस्य पर्यवसानम् । एष एवंप्रमाण आदित्यसंवत्सरः । चं० प्र० १ पाहु० । (एतस्य वक्तव्यता ' अहोरत्त ' शब्दे प्रथमभागे गता ।) ('संवच्छर' शब्द सप्तमभागे च वक्ष्य-ते ।) (अयमेव लक्षणप्रधानतया लक्षणसंवत्सरान्त-र्गतोऽपि ।)

तल्लक्षणं यथा—

पुढविदगाणं च रसं, पुप्फफलाणं च देइ आइच्चो ।
अप्पेण वि वासेण वि, सम्मं निप्पज्जए सस्सं ॥ ४ ॥

पृथिव्या उदकस्य तथा पुष्पाणां फलानां च रसमादित्य-संवत्सरो ददाति, तथा अल्पेनापि-स्तोकेनापि वर्षेण वृष्टया सस्यं निष्पद्यते, अन्तर्भूतण्यर्थत्वात् सस्यं निष्पादयति । किमुक्तं भवति-यस्मिन् संवत्सरे पृथिवी तथाविधोदक-संपर्कादतीव सरसा भवति । उदकमपि परिणामसुन्दर-रसोपेतं परिणमते । पुष्पाणां च मधूकादिसंबन्धिनां फलानां च चूतफलादीनां रसः प्रचुरः संभवति । स्तोकेनापि वर्षेण धान्यं सर्वत्र सम्यक् निष्पद्यते तम्-आदित्यसंवत्सरं पूर्वर्षयः उपदिशन्ति । सू० प्र० १० पाहु० २० पाहु० पाहु० । स्था० ।

आइजिण-आदिजिन-पुं० । ऋषभदेवे, हेम० । वाच० ।

" नमिऊण तमाइजिणं, जस्सीसे सोहए जडामउडो ।
कप्पाकप्पवियारं, पच्चक्खाणे भणिस्सामि ॥ १ ॥ "

ल० प्र० ॥

आइ (दे) ज्ज-आदेय-त्रि० । आ-दा-यत् । ग्राह्ये, जं० २ वक्ष० । उपादेये, उत्त० १ अ० ।

आइ (दे) ज्जमाण-आद्रियमाण-त्रि० । आर्द्रीक्रियमाणे, आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ० ।

आइ (दे) ज्जवक्क-आदेयवाक्य-त्रि० । ग्राह्यवाक्ये, " स सुद्धसुत्ते उवहाणवं, धम्मं च जे विन्दति तत्थ तत्थ ॥ आदेज्जवक्के० " ॥२७×॥ एतद्गुणसम्पन्नश्चादेयवाक्यो भव-ति । सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

आइ (दे) ज्जवयण-आदेयवचन-त्रि० । सकलजनग्राह्य-वाक्ये, दशा० १ अ० । उत्त० । स्था० ।

आइ (दे) ज्जवयणया-आदेयवचनता-स्त्री० । सकलजन-ग्राह्यवाक्यताया ग्राह्यवचनतारूपे वचनसम्पद्भेदे, उत्त० १ अ० । स्था० ।

आइञ्छ-कृष-धा० । तुदा० आ० प० भ्वा० पर० अनिट्च । आकर्षणे, विलेखने च । वाच० । " कृषः कड्ढ-साअड्ढाञ्चाण-च्छायञ्छाइञ्छाः " ॥ ८ । ४ । १८७ ॥ इति वा कृषेराइञ्छा-देशः । आइञ्छइ । पक्षे-करिसइ । कृषते कर्षति वा । प्रा० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर्ष–पुं०। भावे घञ्। आकर्षणे, विलेखने च। वाच०।

आइट्ठ–आतिष्ठ–न०। अति–स्था–क–षत्वम्। आतिष्ठस्तस्य भावः अण्। अतिक्रम्य स्थितौ, उत्कर्षे, वाच०।

आदिष्ट–न०। आ–दिश्। भावे, आज्ञायाम्, उपदेशे च। कर्मणि क्तः। उपदिष्टे, व्याकरणप्रसिद्धे स्थानिजाते वर्णे च। त्रि०। यथा इकः स्थाने यण् आदिश्यते इति इको यणादिष्ट इत्युच्यते। आज्ञप्ते, उच्छिष्टे, अनुशिष्टे, त्रि०। वाच०। चोदिते, त्रि०। सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ०। आदेशे, भ० १२ श० १० उ०। विशेषरूपेण निर्दिष्टे, त्रि०। यथाऽयं देवदत्तोऽयं यज्ञदत्त इति। सू०४ उ०। आविष्टे, अधिष्ठिते, त्रि०। स्था० ५ ठा० २ उ०।

आइट्ठि–आदिष्टि–स्त्री०। धारणायाम्, स्था० ७ ठा० ३ उ०।

आइड्ढि–आत्मर्द्धि–स्त्री०। आत्मन ऋद्धिः षष्ठीतत्पुरुषः। स्वकीयशक्तौ, आत्मलब्धौ च। भ० १० श० ३ उ०।

आइड्ढिय–आत्मर्द्धिक–पुं०। आत्मान एव ऋद्धिर्यस्य ६ बहु०। स्वकीयशक्तिसम्पन्ने, स्वकीयलब्धिसम्पन्ने च। भ०।

आइड्ढीए णं भंते! देवे ०जाव चत्तारि पंच देवावासंतराइं वीइक्कंते, तेण परं परिड्ढीए?, हंता गोयमा! आइड्ढीए णं तं चेव०, (जाव) एवं असुरकुमा रे वि, णवरं असुरकुमारावासंतराइं सेसं तं चेव, एवं एएणं कमेणं०जाव थणियकुमारेऽवि, एवं वाणमंतरजोइसिए वेमाणिए०जाव तेण परं परिड्ढिए। (सूत्र ४४१+)

'आइड्ढिए णं' ति–आत्मर्ध्या–स्वकीयशक्त्या। अथवा–आत्मनः एव ऋद्धिः यस्याऽसौ आत्मर्द्धिकः। 'देवे' त्ति–सामान्यः, 'देवावासंतराइं' ति–देवाऽऽवासविशेषान्। 'वीइक्कंते' त्ति–व्यतिक्रान्तः लङ्घितवान्। क्वचिद्–व्यतिव्रजतीति पाठः। भ० १ श०३ उ०। (अधिकम् 'इड्ढि' शब्दे) ऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते।

आइणाह–आदिनाथ–पुं०। ऋषभदेवे, आ० म० १ अ०। (वृत्तम्–'उसह' शब्देऽ–स्मिन्नेव भागे वक्ष्यते)

आइणियंठ–आदिनिर्ग्रन्थ–पुं०। प्रथमनिर्ग्रन्थ पुलाके, प्रति०।

"डिट्ठट्ठाणट्ठिओ वि, पावयणिगणिट्ठयाइ अधरे उ।
कडओगि जं णिसेवइ, आइणियंठु व्व सो पुज्जो ॥१॥"

अस्यार्थः—अधरे–आत्यन्तिके कार्ये समुत्पन्ने कृतयोगी–कृताभ्यासः आदिनिर्ग्रन्थः–पुलाकः अधस्तनस्थानस्थितस्यैव पुष्टालम्बनेऽपि वैक्रियाद्यधिकारित्वं न तु तत्करणप्रयोज्याधस्तनस्थानस्थितिरिति परमार्थः। प्रति० ८ श्लोक।

आइण्ण–आकीर्ण–त्रि०। व्याप्ते (युक्ते) रा०। आकीर्णे, समाकुले, सू० १ उ०। संकीर्णे, औ०। संकुले, आचा० २ श्रु ०१ चू० १ अ० ३ उ० १७ सूत्र। "आइण्णोमाणविवज्जणा य"। आकीर्णावमानवर्जना च विहारचर्या प्रशस्ता। दश० २ चू०। आकीर्यते–व्याप्यते विनयादिगुणैरिति। जात्ये अश्वविशेषे च। स च जवविनयादिगुणैर्युक्तः। स्था० ४ ठा० ३ उ०। "आइण्णवरतुरगसुसंपउत्ते" भ०७श०८उ०। जात्यवरतुरंग, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। "कसं व दट्ठुमाइण्णे पावगं परिवज्जए" उत्त० १ अ०। पुरुषविशेषे च। स च विनयादिगुणोपेतः। स्था० ४ ठा० ३ उ०। जवादिगुणयुक्ते अश्वे, ज्ञा० १ श्रु० १७ अ०। स्था०। विक्षिप्ते च। वाच०।

आचीर्ण–त्रि०। आचर्यते इति। कल्पनीये, नि० चू०१ उ०। आसेविते, दर्श० १ तत्त्व। आइण्णं णाम जं साहूहिं आयरियं विणा वि ओमादिकारणेहिं गरहइ। नि० चू० १५ उ०। आचीर्णम्–आसेवितं, तच्च नामदि पोढा, तद् व्यतिरिक्तं द्रव्याऽऽचीर्णं सिंहादेस्तृणादिपरिहारेण पिशितभक्षणम्. क्षेत्राऽऽचीर्णं वाल्हीकेषु सक्तवः। कोङ्कणेषु पेयाः। कालाचीर्णं त्विदम्–"सरसीचंदणपंको, अग्घइ सरसा य गंधकासाई। पाडलिसिरीसमल्लिय, पेयाइं काले निदाहम्मि ॥१॥" भावाचीर्णं तु ज्ञानादिपञ्चकं, तत्प्रतिपादकश्चाचारग्रन्थः। "आइण्णं जं पुण अणुन्नायं।" आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ०। अनुज्ञाते, नि० चू० १५ उ०। (आचीर्णलक्षणादि 'जीयव्ववहार' शब्दे। चतुर्थभागे वक्ष्यते)

आइण्णजणमणुस्स–आकीर्णजनमनुष्य–त्रि०। मनुष्यजनेनाकीर्णः–संकीर्णं इति मनुष्यजनाकीर्णेति वाच्ये राजदन्तादि (३।१।१४६। हैम०) दर्शनात्परनिपातः। मनुष्यजनसंकुल, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। औ०।

आइण्णट्ठाण–आकीर्णस्थान–न०। हिरण्यादिवस्तुव्याप्तं स्थानं, "आइण्णाईण वज्जए ठाणे।" (+४२४ गाथा) भिक्षार्थं प्रविष्टः साधुः आकीर्णादिस्थानं परिवर्जयेत्। यत्र हिरण्यादिविक्षिप्तमास्ते तदाकीर्णस्थानं तच्च साधुना वर्जनीयम्। ओघ०।

आइण्णणायज्झयण–आकीर्णज्ञाताध्ययन–न०। ज्ञाताङ्गस्य सप्तदशेऽध्ययने, आ० चू० ४ अ०। आव०। स०।

आइण्णमणाइण्णकप्प–आचीर्णाऽनाचीर्णकल्प–पुं०। आसेविताऽनासेविते आचारे, पं० भा०।

तद्वर्णनं यथा—

आइण्णमणाइण्णे, कप्पं तु गुरूवदेसेणं ॥
आहारचउक्के करण, फासणे खेत्तकालउवगरणे।
आइण्णे आइण्णं, तव्विवरीए अणाइण्णं ॥
आहारचउक्कं खलु, असणादीयं तु होति णायव्वं।
करणं आयरणं तु, तस्स तु जं जत्थ आइण्णं ॥
पिसितं सिंधूविसए, वाति पुण उत्तरावहाऽऽइण्णं।
तंबोलं दमि(वि)ले(डे)सु, एमादी खेत्तमाइण्णं ॥
काले दुब्भिक्खादिसु, व(प)लंबमादी तु सव्वमाइण्णं।
उवगरणे आइण्णं, वोच्छामि अतो समासेणं ॥
सिंधू आयलियाइं, काला कप्पा सुरट्ठविसयम्मि।
दुग्गुल्ल दिपुंडवद्धण, महरट्ठेसुं च जलपूरा ॥
एवं जत्थाऽऽइण्णं, तहियं तु कप्पतीति आयरिउं।
इतरत्थ कारणम्मि, फासणगहणं च परिभोगो ॥
आइण्णे चउवग्गो, ण य पीलाकारओ पवयणस्स।
ण य मइलणा पवयणे, आइण्णं आयरे कप्पं ॥
आहारउवहिसेज्जा, सेहा चउवग्गो होति णायव्वो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पवयणपीलुवघातो, पिसिया ताइ मजया इति ॥
चोदेइ का मइलणा, भणति परिसहियाणं जे सेवे ।
सा होति मइलणा तु, जो पुण सुपरिट्ठिओ चरणे ॥
तणहो तु सलाहंती, धणति गुणेहिं य एसु जुत्तो त्ति ।
मुद्धकरे तप्पाहितं, जो पुण करणे अजुत्तो उ ॥
तं दट्ठुं संदेहो, उप्पज्जति किंणु एस सच्छंदो ।
आऊणं उवएसो, एरिसओ देसिओ समए ॥
आह जिणकप्पियाण वि, आइस्सं किंचि अत्थि अह णत्थि
भणति णत्थि किं पुण, आयरियजिणकप्पिताऽऽइस्सं ॥
आहारउवहिदेहे, णिरविक्खो णवरि णिज्जरापेही ।
संघयणविरियजुत्तो, आइस्सं आयरति कप्पं । पं० भा० ५ कल्प ।

इयाणि आइएण-मणाइएणकप्पा समं चेव जंति । गाहा-आहार चउक्के—आहारो चउव्विहो जत्थाऽऽइएणो तत्थ नऽत्थि दोसो । जहा-सिंधुए-पोग्गलं । उत्तरावहे-वियडं । तंबोलं-दमिलेसु (द्रविडेषु) । फासुओ वत्थादि । आइएण-मणाइएणे । एवं खेत्ते, काले वि । आमोयरियाए सव्वाइं आइएणाइं । उवगरणे जहा-सिंधूए-अलाउ । पोंडवद्धणे दुकूला । सुरट्ठाए-कालकंबलीओ । महारट्ठाणं-जलपूरगा । एवमाइ जत्थाऽऽइएणाणि तत्थ कप्पो । इयरथा कारणेण कप्पन्ति । गाहा—' आइएणं च उ ' आइएणे पुण ' चउवग्गो ' त्ति-अणाइएणा य पवयणपीला भवइ । विपरिणामण-अणाइएहं पुण वियडाइ अणुणाइसु मइलणा । एए वियडमत्ता मिहत्था वियरंति अप्पणा अणिविता । तहा पोग्गले जत्थ ण चिंत तत्थ भणइ लोगो-एयंसि नइपाढियम्मि हत्थे वारेंति मा पोग्गलं खाह । अहिंसगा य होह । सव्वमएसि केयवं । असउभादियाणं एसा पीला । गाहा-का ? मइलणा प्रवचने उच्यते सूत्रार्थः-प्रतिषेधमाचरिते सा मइलणा । करणजुत्तेसु पुण एवं नो भवइ । अहो सुट्ठु एयं । साहू अकरणजुत्तो पुण संसओ भवइ । किमेस अप्पच्छंदेण करेइ ?, उवएसो एरिसो । एवं संसओ भवइ । आह-जिणकप्पे किंचि आइएहमत्थि । गाहा—' आहारोवहि । ' उच्यते-आहारोवहिदेहेसु सो भयवं निरवेक्खो, न केवलं निज्जरा, मोक्खो बलविरियसंघयणजुत्तो आइएहं कप्पमेव आयरइ । सइ वि आइएहं जिणकप्पियपाउग्गं तं आयरइ । एस आइएहकप्पो । पं० चू० ५ कल्प ।

आइसहय-आकीर्णहय-पुं० । आकीर्णो-गुणैर्व्याप्तः स चासौ हयश्च आकीर्णहयः । क० स० । जात्योऽश्वविशेषे, स च जवविनयादिगुणोपेतः । " आइएणहेय व्व निरुवलेवे " यथा जात्याऽश्वो मूत्रपुरीषाद्यनुपलिप्तगात्रः । जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

आइतित्थयर-आदितीर्थकर-पुं० । ऋषभदेवस्वामिनि, " भगवओ उसहसामिस्स आइतित्थयरस्स " । नं० ४३ सूत्र ।

आइतित्थयरमंडल-आदितीर्थकरमण्डल-न० । श्रेयांसन कारित आदितीर्थकरस्य पीठे, आ० म० १ अ० ३४५ गाथा-टी० । (' आउअपीढ ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे विशेषो गतः)

आइत्त-आदीप्त-त्रि० । ईषद्दीप्ते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

आइत्ता-आदाता-त्रि० । गृहीतरि, स्था० ७ ठा० ३ उ० ।

आइत्तु-आदाय-अव्य० । गृहीत्वेत्यर्थे, आचा० १ श्रु० ४ अ० १ उ० १२७ सूत्र ।

आइद्ध-आविद्ध-त्रि० । आ-व्यध-क्त । प्रेरिते, दर्श० ४ तत्त्व । ताडिते, विद्धे, छिद्रिते, क्षिप्ते च । वाच० ।

आदिग्ध-त्रि० । व्याप्ते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

आइदाण-आदान-न० । ग्रहणे, प्रश्न० * ।

आइधम्मिय-आदिध (धा) र्मिक-पुं० । एतत्संज्ञया प्रसिद्धे अपुनर्बन्धकापरपर्याये प्रथमारब्धस्थूलधर्माचारे, ध० । (धर्मसंग्रहे गृहस्थधर्मानुक्त्वैतल्लक्षणादि प्रतिपादितम् ।)

अथ पूर्वोक्तगुणवत एव संज्ञाविशेषविधिं, तदवस्थाविशेषविधिं चाऽऽह—

स आदिधार्मिकश्चित्र-स्तत्तत्तन्त्रानुसारतः ।
इह तु स्वागमापेक्षं, लक्षणं परिगृह्यते ॥ १७ ॥

सः-पूर्वोक्तगुणैरुत्तरोत्तरगुणवृद्धियोग्यतावान् आदिधार्मिकः-प्रथममेवारब्धस्थूलधर्माचारत्वेनादिधार्मिकसंज्ञया प्रसिद्धः, स च तानि तानि तन्त्राणि-शास्त्राणि तदनुसारतश्चित्रो-विचित्राचारो भवति । भिन्नाचारस्थितानामप्यन्तःशुद्धिमतामपुनर्बन्धकत्वाऽविरोधात्, अपुनर्बन्धकस्य हि नानास्वरूपत्वात् तत्तत्तन्त्रोक्ताऽपि मोक्षार्था क्रिया घटते । तदुक्तं योगबिन्दौ-"अपुनर्बन्धकस्यैवं, सम्यग्नीत्योपपद्यते । तत्तत्तन्त्रोक्तमखिल-मवस्थाभेदसंश्रयात् ॥२५१॥" इति (अस्य व्याख्या ' अणुट्ठाण ' शब्दे प्रथमभागे ३७७ पृष्ठ गता) । इह तु प्रक्रमे स्वागमापेक्षं-स्वागमानुसारि 'लक्षणं'-व्यञ्जकं प्रक्रमादादिधार्मिकस्य ' परिगृह्यते '-आश्रीयते । यो ह्यन्यैः शिष्टबोधिसत्त्वनिवृत्तप्रकृत्यधिकारादिशब्दैरभिधीयते स एवास्माभिरादिधार्मिकापुनर्बन्धकादिशब्दैरिति भावः । लक्षणमित्यत्रैकवचनं जात्यपेक्षं, तल्लक्षणसंपादनविधिश्चायमुक्तो ललितविस्तरायाम्-" परिहर्त्तव्योऽकल्याणमित्रयोगः । सेवितव्यानि कल्याणमित्राणि । न लङ्घनीयोचितस्थितिः, । अपेक्षितव्यो लोकमार्गः, । माननीया गुरुसंहतिः भवितव्यमतत्तन्त्रेण , प्रवर्तितव्यं दानादौ, । कर्त्तव्योदारपूजा भगवताम् । निरूपणीयः साधुविशेषः । श्रोतव्यं विधिना धर्मशास्त्रम् । भावनीयं महायत्नेन । प्रवर्तितव्यम्-विधानतः । अवलम्बनीयं धैर्यम् । पर्यालोचनीया आयतिः । अवलोकनीयो मृत्युः । भवितव्यं परलोकप्रधानेन । सेवितव्यो गुरुजनः । कर्त्तव्यं योगपटदर्शनम् । स्थापनीयं तद्रूपादि चेतसि । निरूपयितव्या धारणा । परिहर्तव्यो विक्षेपमार्गः । यतितव्यं योगसिद्धौ । कारयितव्या भगवत्प्रतिमाः । लेखनीयं भुवनेश्वरवचनम् । कर्तव्यो मङ्गलजापः । प्रतिपत्तव्यं चतुःशरणम् । गर्हितव्यानि दुष्कृतानि । अनुमोदनीयं कुशलम् । पूजनीया मन्त्रदेवताः । श्रोतव्यानि सच्चेष्टितानि । भावनीयमौदार्यम् । वर्त्तितव्यमुत्तमज्ञाने(ते)न । एवंभूतस्य येह प्रवृत्तिः सा सर्वैव साध्वी । मार्गानुसारी ह्ययं नियमादपुनर्बन्धकादिः । तद-

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

स्यैवंभूतगुणसम्पदाऽ (दोऽ) भावात्, अत आदित आरभ्यास्य प्रवृत्तिः सत्प्रवृत्तिरेव नैगमानुसारेण चित्रापि प्रस्थकप्रवृत्तिकल्पा । तदेतदधिकृत्याहुः—"कु" र्यादिप्रवृत्तिरपि रूपनिर्माणप्रवृत्तिरेव " तद्वदादिधार्मिकस्य धर्म्मे कात्स्न्येन तद्गामिनी न तद्बाधिनीति हार्दम् । तस्याविरोधकं हृदयमस्य, ततः समन्तभद्रता, तन्मूलत्वात्सकलचेष्टितस्य, एवमतोऽपि विनिर्गतं तत्तद्दर्शनानुसारतः सर्वमिह योऽयं सुसमण्डितप्रबोधदर्शनादि । न ह्येवं प्रवर्त्तमानो नेष्टसाधक इति । अन्तोऽप्येतद्यालिङ्गोऽपुनर्बन्धक इति तं प्रत्युपदेशसाफल्यम् । " नानिवृत्ताधिकारायां प्रकृतावेवंभूतः " इति कापिलाः । ' नाऽनवाप्तभवविपाक ' इति च सौगताः । ' अपुनर्बन्धकास्त्वेवंभूता ' इति जैनाः इति । ध० १ अधि० । ल० ।

अथोक्तस्वरूपस्यादिधार्मिकस्य सद्धर्मदेशनायोग्यत्वं दर्शयति—

स धर्मदेशनायोग्यो, मध्यस्थत्वाज्जिनैर्मतः ।
योगदृष्टयुदयात्सार्थं, यद्गुणस्थानमादिमम् ॥ १८ ॥

सः-पूर्वोक्तगुणसंपत्त्या प्रसिद्ध आदिधार्मिकः धर्मदेशनायोग्यः—लोकोत्तरधर्मप्रज्ञापनार्हः जिनैः—अर्हद्भिर्मतः-उपदिष्टः । कालतश्चायं चरमावर्त्तवर्त्येवेत्यनुक्तमपि ज्ञेयम् । यत उक्तम् (हरिभद्रसूरिरचिते) उपदेशपदे-

घणमिच्छत्तो कालो, एत्थ अकालो उ होइ णायव्वो ।
कालो उ अपुणबंधग,-पभिई धीरेहिं णिद्दिट्ठो ॥ १ ॥
णिच्छयओ पुण एसो, विन्नेओ गंठिभेअकालम्मि ।
एयम्मि विहिसयपा-लणाउ आरोग्गमेयाओ ॥ २ ॥"

एतद्वृत्तिर्यथा-घनं-मिथ्यात्वं यत्र स तथा कालोऽचरमावर्त्तलक्षणः 'अत्र' वचनौषधप्रयोगे ' अकालस्तु ' अनवसर एव भवति—विज्ञेयश्चरमावर्त्तलक्षणस्तु तथाभव्यत्वपरिपाकतो बीजाधानबीजोद्भेदबीजपोषणादिषु स्यादपि काल इति । अत एवाह—'कालस्तु' अवसरः पुनरपुनर्बन्धकप्रभृतिस्तत्रादिशब्दान्मार्गाभिमुखमार्गपतितौ गृह्येते । तत्र मार्गः—चेतसोऽवक्रगमनं भुजङ्गनलिकाऽऽयामतुल्यो विशिष्टगुणस्थानावाप्तिप्रवणः स्वरसवाही क्षयोपशमविशेषो हेतुस्वरूपफलशुद्धयभिमुख इत्यर्थः, तत्र पतितो भव्यविशेषो मार्गपतित इत्युच्यते । तदादिभावापन्नश्च मार्गाभिमुख इति । एतौ चरमयथाप्रवृत्तकरणभागभाजावेव ज्ञेयौ । अपुनर्बन्धकोऽपुनर्बन्धककालः प्रभृतिर्यस्य स तथा, धीरैर्निर्दिष्टो व्यवहारत इति ॥ १ ॥ निश्चयतस्तु कालो ग्रन्थिभेदकाल एव, यस्मिन् कालेऽपूर्वकरणानिवृत्तिकरणाभ्यां ग्रन्थिर्भिन्नो भवति तस्मिन्नेवेत्यर्थः । यतोऽस्मिन् विधिनाऽवस्थोचितकृत्यकरणलक्षणेन सदा-सर्वकालं या पालना-वचनौषधस्य तया कृत्वाऽऽरोग्यं संसारव्याधिरोधलक्षणम्, एतस्माद्-वचनौषधप्रयोगाद्भवति । अपुनर्बन्धकप्रभृतिषु वचनप्रयोगः क्रियमाणोऽपि न तथा सूक्ष्मबोधविधायकोऽनाभोगबहुलत्वात्तत्कालस्य । भिन्नग्रन्थ्यादयस्तु व्यावृत्तमोहत्वेनातिनिपुणबुद्धितया तेषु तेषु कृत्येषु वर्त्तमानास्तत्कर्मव्याधिसमुच्छेदका जायन्त इति । ध० १ अधि० । ननु "गलमच्छभवविमोअग-विसन्नभोईण जारिसो एसो । मोहासुहो वि असुहो, तप्फलओ एवमेसो त्ति ॥१॥" श्रीहरिभद्रवचनानुसारेण विपर्यासयुक्तत्वान्मिथ्यादृशां शुभपरिणामोऽपि फलतोऽशुभ एवेति कथमादिधार्मिकस्य देशनायोग्यत्वमित्याशङ्कायामाह—' मध्यस्थत्वात् ' इति-रागद्वेषरहितत्वात् पूर्वोक्तगुणयोगादेव माध्यस्थ्योपसंपत्तेरित्यर्थः । मध्यस्थस्यैव चागमेषु धर्मार्हत्वप्रतिपादनात्, यतः-" रत्तो १ दुट्ठो २ मूढो ३, पुव्विं वुग्गाहिओ ४ अ चत्तारि । एए धम्माऽणरिहा, धम्मे अरिहो उ मज्झत्थो, " ॥ १ ॥ त्ति श्रीहरिभद्रवचनं तु कदाग्रहग्रस्ताभिग्राहिकमाश्रित्येति न विरोधः । इदमत्र हृदयम्-यः खलु मिथ्यादृशामपि केषांचित्स्वपक्षनिबद्धो दुरनुबन्धानामपि प्रबलमोहत्वे सत्यपि कारणान्तरादुपजायमानो रागद्वेषमन्दतालक्षण उपशमो भूयानपि दृश्यते स पापानुबन्धिपुण्यहेतुत्वात्पर्यन्तदारुण एवं, तत्फलसुखव्यामूढानां तेषां पुण्याभासकर्मोपरमे नरकादिपातावश्यंभावादित्यसत्प्रवृत्तिरेवायम् । यश्च गुणवत्पुरुषप्रज्ञापनार्हत्वेन जिज्ञासादिगुणयोगान्मोहापकर्षप्रयुक्तरागद्वेषशक्तिप्रतिघातलक्षण उपशमः, स तु सत्प्रवृत्तिहेतुरेवाग्रहनिवृत्तेः सदर्थपक्षपातसारत्वादिति । नन्वेवमपि स्वागमानुसारिण आदिधार्मिकस्योपपन्नं माध्यस्थ्यं परं तस्य विचित्राचारत्वेन भिन्नाचारस्थितानां तेषां स्वस्वमतनिष्ठानां कथं तदुपपद्यते ? तदभावे च कथं देशनायोग्यत्वमित्यत्राह-' योगे ' त्यादि-यद्यस्माद्धेतोः, तस्येति शेषः, ' योगदृष्टयुदयात् '-योगदृष्टिप्रादुर्भावात् । ' आदिमं ' 'गुणस्थानं ' ' सार्थम् '-अन्वर्थं भवति । अयं भावः-मिथ्यादृष्टयोऽपि परमार्थगवेषणपराः सन्तः पक्षपातं परित्यज्याद्वेषादिगुणस्थाः खेदादिदोषपरिहाराद्यदा संवेगतारतम्यमाप्नुवन्ति । तदा मार्गाभिमुख्यात्तथामिक्षुरसकक्क(क)गुडकल्पा मित्रा तारा बला दीप्रा चेति चतस्रो योगदृष्टय उल्लसन्ति, भगवत्पतञ्जलिभदन्तभास्करादीनां तदभ्युपगमात् । (ध०) मिथ्यादृष्टीनामपि माध्यस्थ्यादिगुणमूलकमित्राद्यदृष्टियोगेन तस्य गुणस्थानकत्वसिद्धेस्तथा प्रवृत्तेरनाभिग्राहिकस्य संभवादनाभिग्राहिकत्वमेव तस्य देशनायोग्यत्वे शोभननिबन्धनमित्यापन्नम् । ' इत्थं चानाभोगतोऽपि मार्गगमनमेवपङ्ग्वन्धन्यायेनेत्यध्यात्मचिन्तका ' इति ललितविस्तरावचनानुसारेण यद्यनाभोगवान् मिथ्यादृष्टिरपि मिथ्यात्वमन्दताद्भूतमाध्यस्थ्यतत्त्वजिज्ञासादिगुणयोगान्मार्गमेवानुसरति तर्हि तद्विशेषगुणयोगादनाभिग्राहिके तु सुतरां धर्मदेशनायोग्यत्वमिति भावः । ध० १ अधि० १८ श्लोक ।

आइबंभ-आदिब्रह्मन्-न० । सकलजगदुत्पत्तिकारणे ब्रह्मणि, कल्प० १ अधि० ६ क्षण ।

आइबंभझुणि-आदिब्रह्मध्वनि-स्त्री० । आदिब्रह्मणः शब्दे, " आदिब्रह्मध्वनिः किं वा, वीरवेन्दुध्वनिर्बभौ " कल्प० १ अधि० ६ क्षण ।

आइम-आदिम-त्रि० । आदौ भवः । आदि-डिमच् । आदिभवं, वाच० । "पश्चादाद्यन्ताग्रादिमः" ॥ ६ । ३ । ७५ ॥ इति सूत्रेण इमप्रत्यये टिलोपः । प्रथमे, आव० ५ अ० । प्रव० । कर्म० ।

आइमगणहर-आदिमगणधर-पुं० । प्रथमगणधरे, प्रव० १ द्वार ।

आइमज्झंतकल्लाण-आदिमध्यान्तकल्याण-त्रि० । आदिमध्यावसानेषु सुन्दरे, धर्मप्रशंसामुपक्रम्योक्तम्-" सर्वागमपरिशुद्धं , यदादिमध्यान्तकल्याणम् " । षो० ३ विव० ।

आइमुहुत्त-आदिमुहूर्त्त-न० । प्रथमे मुहूर्त्ते, स० ।

तत्प्रमाणं यथा—

अब्भिंतरओ आइमुहुत्ते छण्णउइअंगुलच्छाए पण्णत्ते । (सूत्र-९६+)

अभ्यन्तराद्-अभ्यन्तरमण्डलमाश्रित्येत्यर्थः, आदिमुहूर्त्तः षण्णवत्यङ्गुलच्छायः प्रज्ञप्तः । अयमत्र भावार्थः-सर्वाभ्यन्तरमण्डले यत्र दिने सूर्यश्चरति तस्य दिनस्य प्रथमो मुहूर्त्तो द्वादशाङ्गुलमानं शङ्कुमाश्रित्य षण्णवत्यङ्गुलच्छायो भवति । तथा हि-तद्दिनमष्टादशमुहूर्त्तप्रमाणं भवतीति मुहूर्त्तोऽष्टादशभागो दिनस्य भवति , ततश्च छायागणितप्रक्रियया छेदेनाष्टादशलक्षणेन द्वादशाङ्गुलः शङ्कुर्गुणयत इति ततो द्वे शते षोडशोत्तरे भवतः- २१६, तयोरर्द्धे-कृतयोरष्टोत्तरं शतं भवति-१०८, ततश्च शङ्कुप्रमाणे द्वादशापनीते षण्णवतिः-९६ अङ्गुलानि लभ्यन्ते इति । स०९६ सम० ।

आइमूल-आदिमूल-न० । प्रधानकारणे भावमूलभेदे , आचा० ।

यथा मोक्षस्याऽऽदिमूलं विनयः, संसारस्य विषय इति । तत्र मोक्षस्यादिमूलं ज्ञानदर्शनचारित्रतपः औपचारिकरूपः पञ्चधा विनयस्तन्मूलत्वान्मोक्षावाप्तेस्तथाचाह-

" विणया णाणं णाणाउ, दंसणं दंसणाहि चरणं तु ।
चरणाहिंतो मोक्खो , मोक्खे सुक्खं अणाबाहं ॥ १ ॥"
"विनयफलं शुश्रूषा, शुश्रूषायाः फलं श्रुतज्ञानम् ।
ज्ञानस्य फलं विरतिः, विरतेः फलं चाश्रवनिरोधः ॥ २ ॥
संवरफलं तपोबल-मथ तपसो निर्जराफलं दृष्टम् ।
तस्मात् क्रियानिवृत्तिः , क्रियानिवृत्तेरयोगित्वम् ॥ ३ ॥
योगनिरोधाद् भवस-न्ततिक्षयः संततिक्षयान्मोक्षः ।
तस्मात्कल्याणानां, सर्वेषां भाजनं विनयः ॥ ४ ॥"

इत्यादि । संसारस्य त्वादिमूलं विषयकषायाः । आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

आइमोक्ख-आदिमोक्ष-पुं० । आदिः—संसारस्तस्मान्मोक्षः आदिमोक्षः । संसारविमुक्तौ, सूत्र० । धर्मकारणानां शरीरं तावदादिभूतं तस्य मोक्षः-तद्विमुक्तिर्यावज्जीवमित्यर्थः । शरीरपरित्यागे च । "वियंड णं जीविजं य आदिमोक्खं (२२+)" यावज्जीवम् । सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । आदौ-प्रथमं मोक्षोऽस्येति । मोक्षायते साधौ, आदि-प्रधानं मोक्षोऽस्येति । मोक्षैकताने साधौ च । सूत्र० ।

इत्थीओ जे ण सेवंति, आइमोक्खा हि ते जणा ॥९+॥

ये महासत्त्वाः कटुविपाकोऽयं स्त्रीप्रसङ्ग इत्येवमवधारणतया स्त्रियः सुगतिमार्गार्गलाः-संसारवीथीभूताः सर्वाऽविनयराजधान्यः कपटजालशताकुला-महामोहनशक्तयो 'न सेवन्ते'-न तत्प्रसङ्गमभिलषन्ति त एवंभूता जनाः-इतरजनातीताः साधव आदौ-प्रथमं मोक्षोऽशेषद्वन्द्वोपरमरूपो येषां ते आदिमोक्षाः । दुरवधारणे आदिमोक्षा एव तेऽवगन्तव्याः । इदमुक्तं भवति-सर्वाविनयास्पदभूतः स्त्रीप्रसङ्गो यैः परित्यक्तस्त एवादिमोक्षाः प्रधानभूतमोक्षस्य पुरुषार्थोद्यता आदिशब्दस्य प्रधानवाचित्वात् । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० ।

आइय-आचित-त्रि० । आ-चि-क्त-आप्नोते, (व्याप्ते,) सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । गुम्फिते, ग्रथिते , "तुलापलशतं तासां , विंशत्याभार आचित" इत्युक्तेभारात्मके द्विसहस्रपलमाने, "आचितं दश भाराः स्यात् , शाकटो भार आचितः" इत्युक्ते दशभारमाने , न० । शाकटभारे , पुं० । परिमाणवाचकत्वात्तन्मितेऽपि । संगृहीते, छन्ने च । वाच० ।

आइयण-आदान-न० । ग्रहणे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । वाच० ।

आइयत्तिय-आदियात्रिक-पुं० । आदौ यात्राऽस्येति सार्थवाहादीनामारक्षके, सू० ।

तस्याष्टौ भेदा यथा—

पुराणसावगसम्म-द्दिट्ठि, अहाभद्द दाणसड्ढे य ।
अणभिग्गहिए मिच्छे,अभिग्गहे अन्नतित्थी य ॥९२३॥

सू० १ उ० । (अस्याः व्याख्या ' सत्थवाह ' शब्दे सप्तमभाग वक्ष्यते) (एतस्याष्टौ भङ्गकाः सार्थवाहवत् ते च ' विहार ' शब्दे षष्ठे भागे ३२ अधिकाराङ्के द्रष्टव्याः)

आइ (दि) यावण-आदापन-न० । ग्राहणे, " आदियावेंति" आदापयन्ति-ग्राहयन्ति । सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

आइराय-आदिराज-पुं० । ऋषभदेवे, स्था० ६ ठा० ३ उ० । (अस्य वृत्तम् ' उसह ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते ।)

आइल-आविल-त्रि० । आ-विल् । भेदने, क० । अस्वच्छे, कालुष्ययुक्ते, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । अस्वच्छस्य हि जलादेः सम्यग्दृष्टिप्रसारभेदनात्तथात्वम् । भेदके, त्रि० । वाच० ।

आइल्ल-आदिम-त्रि० । आद्ये, आ० २८ गाथा । स० । सू० प्र० ।

आइल्लचन्द-आदिमचन्द्र-पुं० । उत्तरोत्तरद्वीपसमुद्रचन्द्रापेक्षया पूर्वपूर्वद्वीपसमुद्रचन्द्रे, सू० प्र० ।

तस्य तथात्वम्—

धातइसंडपभितिसु, उद्दिट्ठा तिगुणिता भवे चंदा ।
आदिल्लचंदसहिता, अणंतराणंतरे खेत्ते ॥ २३ ॥

सू०प्र० १९ पाहु० १०० सूत्र ।

(अस्याः व्याख्या ' जोइसिय ' शब्दे ४ भागे वक्ष्यते)

आइल्लसूर-आदिमसूर्य-पुं० । उत्तरोत्तरद्वीपसमुद्रसूर्यापेक्षया पूर्वपूर्वद्वीपसमुद्रसूर्ये सू० प्र० १८ पाहु० । (अस्य तथात्वमत्रैव ' आइल्लचंद ' शब्दे गतम् ।)

आई (त्री) (दी) ण-आजिन-न० । मूषकादिचर्मनिष्पन्ने वस्त्रे, आचा० २ श्रु० २ अ० ६ उ० । द्वीपविशेषे, समुद्रविशेषे च । पुं० । जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

आदीन-न० । आ-समन्तादीनम् । अत्यन्तदीनतायाम् , सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

आईणग-आजिनक-न० । चर्ममये वस्त्रविशेषे, रा० । तच्च स्वभावादतिकोमलं भवति । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । परिकर्मितकर्मणि, कर्म० २ कर्म० । ज्ञा० । आ० म० । नि० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जी० । " आईणगरूयसूरणवणीयसूलफासे " भ० ११ श० ११ उ० । " आईणाणि वा आईणपवराणि वा० " (सूत्र-१०-११-१२ +) " अजिणं चम्मं तम्मि जं कीरंति ते ' आईणाणि ' त्ति । नि० चू० ७ उ० ।

आईणभद्द-आजिनभद्र-पुं०। आजिने द्वीपे, आजिनभद्राजिनमहाभद्रौ । आजिनद्वीपस्थे देवे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

आई (दी) णभोइ (न्)-आदीनभोजिन्-पुं० । पतितपिण्डोपजीविनि, सूत्र० ।

आदीणभोई वि करेति पावं,
मंता उ एगंतसमाहिमाहु ॥ ६ ॥

आदीनभोज्यपि पापं करोतीति । उक्तं च-" पिंडोलगेव दुस्सीले, णरगाओ ण मुच्चई " सः कदाचित् शोभनमाहारमलभमानो ऽत्यार्तरौद्रध्यानोपगतोऽधः-सप्तम्यामप्युत्पद्यते, तद्यथा-असावेव राजगृहनगरोत्सवनिर्गतजनसमूहवैभारगिरिशिलापातनोद्यतः स दैवात्स्वयं पतितः पिण्डोपजीवीति, तदेवमादीनभोज्यपि पिण्डोलकादिवज्जनः पापं कर्म करोतीत्येवं मत्वा-अवधार्य एकान्तेनात्यन्तेन च यो भावरूपो ज्ञानादिसमाधिस्तमाहुः संसारोत्तरणाय तीर्थकरगणधरादयः । सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

आईणमहाभद्द-आजिनमहाभद्र-पुं० । आजिनद्वीपस्थे देवे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

आईणमहावर-आजिनमहावर-पुं० । आजिनसमुद्रस्थे देवे, आजिनवरसमुद्रस्थे देवे च । जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

आईणवर-आजिनवर-पुं० । द्वीपविशेषे, समुद्रविशेषे च । आजिनसमुद्रस्थे देवे, आजिनवरसमुद्रस्थे देवे च । जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

आईणवरभद्द-आजिनवरभद्र-पुं० । आजिनवरद्वीपस्थे देवे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

आईणवरमहाभद्द-आजिनवरमहाभद्र-पुं०। आजिनवरद्वीपस्थे देवे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

आईणवरोभास-आजिनवरावभास-पुं० । द्वीपविशेषे, समुद्रविशेषे च । जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

आईणवरोभासभद्द-आजिनवरावभासभद्र-पुं० । आजिनवरावभासद्वीपस्थे देवे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

आईणवरोभासमहाभद्द-आजिनवरावभासमहाभद्र-पुं० आजिनवरावभासद्वीपस्थे देवे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

आईणवरोभासमहावर-आजिनवरावभासमहावर-पुं० । आजिनवरावभाससमुद्रस्थे देवे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

आईणवरोभासवर-आजिनवरावभासवर-पुं० । आजिनवरावभाससमुद्रस्थे देवे जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

आई (दी) णवित्ति-आदीनवृत्ति-पुं० । आ-समन्ताद्दीनाकरुणास्पदा वृत्तिः-अनुष्ठानं यस्य कृपणवनीपकादेरित्यर्थः । अत्यन्तदीनवृत्तिके कृपणवनीपकादौ, सूत्र० ।

आदीणवित्तीव करेति पावं,
मंता उ एगंतसमाहिमाहु ॥६॥

' आदीणवित्ती ' त्यादि, आदीनवृत्तिरपि पापं कर्म करोतीत्येवं मत्वा एकान्तेन भावसमाधिमाहुः संसारोत्तरणाय तीर्थकरगणधरादयः । सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

आई (दी) णिय-आदीनिक-पुं० । आ-समन्ताद्दीनमादीनं तद्विद्यते यस्मिन्नसौ । अत्यन्तदीनसत्त्वाश्रये, सूत्र० ।

आदीणियं दुक्कडियं पुरत्था ॥६×॥

आदीनिकं दुष्कृतिकं पुरस्तात्-पूर्वजन्मनि यन्नरकगमनयोग्यं चरितं कृतं तत्प्रतिपादयिष्ये । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० ।

आईरण- आजीरण-त्रि० । आजिः-संग्रामस्तमीरयति-प्रेरयति क्षिपति जयतीति यावत् । राज्यावस्थायां संग्रामजेतरि, संथा० ६६ गाथा ।

आईल-आचील-पुं०। उद्गाले, ताम्बूलसंबन्धिनमुद्गालम्-आचीलं तत्र मुञ्चति । चीलस्य जिनमन्दिरे परित्यागे तीर्थकृदाशातना भवति । प्रव० ३८ द्वार ।

आईवमाण-आदीप्यत्-त्रि० । प्रकाशमाने, महा० २ अ० ।

आउ-अप्-स्त्री० । बहुव० आप्-क्विप्-ह्रस्वः । वाच० । "गोणादयः" ॥८।२।१७४॥ इति हैमप्राकृतसूत्रेण निपातितः । प्रा० । द्रवलक्षणे महाभूतविशेषे, " आप्त्वयोगादापस्ताश्च रूपरसस्पर्शसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वगुरुत्वस्वाभाविकद्रवत्वस्नेहवगवत्यस्तासु च रूपं शुक्लमेव, रसो मधुर एव, स्पर्शः शीत एव " इति वैशेषिकाः सूत्र०) । "रसतन्मात्रादापो रसरूपस्पर्शवत्य" इति. श्लक्ष्णास्नुग्द्रवलक्षणा आपः" इति च सांख्याः । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । (एतन्निराकरणं 'महाभूय-' शब्दे षष्ठे भागे करिष्यते) "अपां स्थानं रसनं " रसनेन्द्रियमिति । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । तासां जीवत्वम्-"सात्मकमम्भो भौमं, भूमिखनने स्वाभाविकसंभवाद्, दर्दुरवत्" । अथवा-"सात्मकमन्तरिक्षोदकं स्वभावतो व्योमसंभूतस्य पातात्, मत्स्यवत्" । आह च-" भूमिक्खय साभाविय—संभवओ दद्दुरो व्व जलमुत्तं । (सात्मकत्वेनेति) अहवा-मच्छो व्व सहा-वयोमसंभूयपायाओ " ॥ १ ॥ इति । स्था० १ ठा० । " आऊ त्ति जीवा " ॥ ७× ॥ आपश्च-द्रवलक्षणा जीवाः । सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । (७ गाथायाः व्याख्या ' कुसील ' शब्दे ३ भागे ६०६ पृष्ठे करिष्यते) (अत्र यद्वक्तव्यं तत् ' आउकाइय ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे द्रष्टव्यम्) जलनामके देवविशेषे, तदधिष्ठातृके पूर्वाषाढानक्षत्रे च । आपो जलनामा देवस्तेन पूर्वाषाढानामयमिति प्रसिद्धम् । जं० ७ वक्ष० । स्था० । " पुव्वासाढा आउदेवताए " (सूत्र-४६ ×) । सू० प्र० १० पाहु० १२ पाहु० पाहु० । ननु स्वस्वामिभावसम्बन्धप्रतिपादकभावमन्तरेण कथं देवतानाम्ना नक्षत्रनाम संपद्यते ?, उच्यते-अधिष्ठातरि अधिष्ठेयस्योपचाराद् भवतीति । जं० ७ वक्ष० । " दो आऊ " (सूत्र-६०×) स्था० २ ठा० ३ उ० ।

आतु-पुं० । अत् उण् । भेलके, उडुपे, वाच० ।

आकु (गु)-पुं० । अभिलाषायाम् , आ०क० १ अ० । (' इक्खाग ' शब्देऽस्मिन्नेव भागेऽस्य व्युत्पत्तिः)

आयुम्-न० । प्रतिसमयं भोग्यत्वेनायातीत्यायुः । नि० चू० ११

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उ० । स्वकीयावसरं एति च, आयाति चेत्यायुः । स्था० ४ ठा० २ उ० । उत्त० । एति-गच्छत्यनेन गत्यन्तरमित्यायुः, यद्वा-एति-आगच्छति प्रतिबन्धकतां स्वकृतकर्मावाप्तनरकादिदुर्गतेर्निष्क्रमितुमनसोऽपि जन्तोरित्यायुः । उभयत्राप्यौणादिकोऽत्युस्प्रत्ययः । यद्वा-आयाति भवाद्भवान्तरं संक्रमतां जन्तूनां निश्चयेनोदयमागच्छतीति पृषोदरादित्वादायुःशब्दसिद्धिः । यद्यपि च सर्वं कर्मोदयमायाति तथाऽप्यस्यायुषो विशेषो, यतः शेषं कर्मबद्धं सत्किञ्चित्तस्मिन्नेव भवे उदयमायाति, किञ्चित्तु-प्रदेशोदयभुक्तं जन्मान्तरेऽपि स्वविपाकेन उदयमागच्छत्येव इत्युभयथाऽपि व्यभिचारः आयुषि त्वयं नास्ति बद्धस्य तस्मिन्नेव भवे वेदनात् जन्मान्तरसंक्रान्तौ तु स्वविपाकतोऽवश्यं वेदनादिति विशिष्टस्यैवोदयागमनस्य विवक्षितत्वात्तस्य चायुष्येव सद्भावात्तस्यैवैतन्नाम । अथवा आयान्त्युपभोगाय तस्मिन्नुदिते सति तद्भवप्रायोग्याणि सर्वाण्यपि शेषकर्माणीत्यायुः । कर्म० १ कर्म० । प्रव० । अथवा-आ-समन्तादेति-गच्छति भवाद्भवान्तरसंक्रान्तौ जन्तूनां विपाकोदयमित्यायुः । पं०सं० २ द्वार । दशा० । जीवितविपाकवेद्ये भवोपग्राहिणि कर्मविशेषे, जं० ४ वक्ष० । उत्त० । विशे० । एतद्रूपं च-" दुक्खं न देइ आऊ. न वि य सुहं देइ चउसु वि गईसु । दुक्खसुहाणाऽऽधारं, धरेइ देहट्ठियं जीवं ॥ १ ॥ " इति । स्था० २ ठा० ४ उ० । आयुर्भवस्थितिहेतवः कर्मपुद्गलाः । आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० । जीविते, स्था० ८ ठा० ३ उ० । तच्च चिरकालं शरीरसंबन्धः । तं० । स्था० ।

विषयसूचनार्थमधिकाराङ्काः—

(१) आयुषो नामादिभेदतो दशविधत्वम् ।

(२) आयुषः अतिप्रियत्वम् ।

(३) आयुषः पुष्टिर्गतायुषः पुनरनागमनं च ।

(४) सर्वेषामायुषः अल्पत्वमनित्यत्वं च ।

(५) आयुषः सप्तधा भेदनं तदुदाहरणानि च ।

(६) आयुषः सोपक्रमनिरुपक्रमभेदाद् द्वैविध्यम् ।

(७) आयुषोऽल्पदीर्घशुभादिभेदाद्बहुविधत्वं,तत्कारणानि च ।

(८) आयुष्कर्मणो जीवितहेतुत्वम् ।

(९) आयुषो द्विविधत्वं प्रकारान्तरेण ।

(१०) प्रत्याख्याना-प्रत्याख्यानतदुभयनिर्वर्तितायुष्कत्वं जीवानाम् ।

(११) जीवानामाभोगाऽनाभोगनिर्वर्तितायुष्कत्वमायुषश्चातुर्विध्यं च ।

(१२) अनन्तरोपपन्नकादीनां नैरयिकादीनामायुः ।

(१३) असंज्ञिजीवानामायुः ।

(१४) एकान्तबालैकान्तपण्डितबालपण्डितानामायुः ।

(१५) क्रियावाद्यादिजीवानां सलेश्यादिजीवानां चायुः ।

(१६) कृष्णपाक्षिकादिसम्यग्दृष्ट्यादिक्रियावाद्यादिजीवानामायुः ।

(१७) ज्ञानिनामज्ञानिनां विभङ्गज्ञानिनां सवेदकावेदकक्रियावाद्यादिजीवानां, क्रियावाद्यादिनैरयिकादीनां चाऽऽयुः ।

(१८) अनन्तरोपपन्नकाऽऽदिक्रियावाद्यादीनामायुः ।

(१९) भविकजीवानां नैरयिकादिषूपपद्यमानानां सायुष्कत्वम् ।

(२०) भविकजीवानां नैरयिकादिषूपपद्यमानानामायुष्कारणप्रतिसंवेदनादि ।

(२१) अनन्तरमुद्वर्त्योत्पद्यमाननैरयिकादीनामयुःप्रतिसंवेदनादि ।

(१) तत्रायुर्नामादिभेदतो दशधा । तद्यथा—

"नामं ठवणा दविए,
ओहे भव तब्भवे य भोगे य ।
संजमे जस अ कित्ती,
जीवियं च तं भणइ दसहा ॥ १ ॥"

तत्र नामस्थापने सुगमे । 'दविए' त्ति-द्रव्यमेव सचेतनादिभेदं जीवितव्यहेतुत्वाज्जीवितं द्रव्यजीवितम् । ओघजीवितम् नारकादिविशेषितायुर्द्रव्यमात्रं सामान्यजीवितं भवति, नारकादिभवविशिष्टं जीवितं भवजीवितं नारकजीवितमित्यादि, 'तब्भवेय' त्ति-तस्यैव पूर्वभवस्य समानजातीयतया सम्बन्धिजीवितं तद्भवजीवितम्, यथा मनुष्यस्य सतो मानुषत्वेनोत्पन्नस्येति, भोगजीवितं चक्रवर्त्यादीनाम्, संयमजीवितं साधूनां, यशोजीवितं-कीर्त्तिजीवितं च यथा महावीरस्येति, जीवितश्चायुरेवेति । स्था० १ ठा० १ सूत्र टी० ।

(२) आयुश्च सर्वेषामतिप्रियं तदेवोक्तम्—

" तृणायापि न मन्यन्ते, पुत्रदारार्थसम्पदः ।
जीवितार्थे नरास्तेन, तेषामायुरतिप्रियम् ॥१॥" इति । स्था० १ ठा० १ सूत्र टी० । संथा० ।

सव्वे पाणा पियाउया सुहसाया दुक्खपडिकूला अप्पियवहा पियजीविणो जीविउकामा सव्वेसिं जीवियं पियं । (सूत्र-८०+)

प्राणशब्दनाश्रभेदोपचारागतान्तव एव गृह्यन्ते सर्वे प्राणिनो जन्तवः प्रियायुषः प्रियमायुर्येषां ते प्रियायुषः । ननु च सिद्धैर्व्यभिचारः, न हि ते प्रियायुषस्तदभाव त्; नैष दोषः यतो मुख्यजीवादिशब्दव्युदासेन प्राणशब्दस्योपचरितस्य ग्रहणं संसारिप्राण्युपलक्षणार्थमिति । यत्किञ्चिदेतत् । (आचा०) 'जीविउकामा' यत एव प्रियजीविनोऽत एव दीर्घकालं जीवितुकामा दीर्घकालमायुष्काभिलाषिणो दुःखाभिभूता अप्यन्त्यां दशामापन्ना जीवितमेवाभिलषन्ति, उक्तञ्च-"रमइ विहवी विसेसे, ठिइमेत्तं थेव वित्थरो महइ । मग्गइ सरीरमहणो, रोगी जीयं अवयत्थो ॥१॥ " तदेवं सर्वोऽपि प्राणी सुखजीविताभिलाषी । (आचा०) कस्य कियदायुरिति जिज्ञासायां चतुर्थभागस्थः 'ठिइ' शब्दो वीक्षणीयः) प्राणिनां जीवितमत्यर्थं दयितमित्यतो भूयो भूयस्तदेवापदिश्यत इत्यत आह- सव्वेसिं ' त्यादि-सर्वेषामविशेषेण 'जीवितम्' असंयमजीवितं प्रियं दयितम । आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

जीवियं पुढो पियं इहमेगेसिं माणवाणं खेत्तवत्थुममायमाणाणं आरत्तं विरत्तं मणिकुंडलं सह हिरण्णेण इत्थियाउ परिगिज्झ तत्थेव रत्ता ण एत्थ तवो वा दमो वा णियमो वा दिस्सइ संपुण्णं बाले जीविउकामे लालप्पमाणे मूढे विप्परियासमुवेति (सूत्र-७९+)

'जीवितम्'-आयुष्कानुपरमलक्षणमसंयमजीवितं वा पृथगिति प्रत्येकं प्रतिप्राणि प्रियं-दयितं वल्लभम् 'इह' त्ति-अस्मिन् संसारे एकेषाम्-अविद्योपहतचेतसां मानवानामिति उपलक्ष-

शार्थत्वात् प्राणिनां, तथाहि-दीर्घजीवनार्थं नाना रसायनादिकाः स्वस्थापघातकारिणीः क्रियाः कुर्वते । आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

(३) आयुःपुष्टिश्च यथा भवति तथा—

सिद्धमधुरेहि अन्नो, चउरंति देहिदिया मेहा ।

अत्थंति जत्थ सत्थंति, सहुतिसु वीहगादीया ॥२४८॥

चोदक आह-कथमायुषः पुष्टिः ?, आचार्य आह । यथा देवकुरूत्तरासु क्षेत्रस्य स्निग्धगुणत्वादायुषो दीर्घत्वं सुषमसुषमायां च कालस्य स्निग्धत्वाद् दीर्घत्वमायुषस्तथा-इहापि स्निग्धमधुराहारत्वात् पुष्टिरायुषो भवति । सा च न पुद्गलवृद्धेः, किंतु-युक्तमात्रग्रहणात्; क्रमेण भोगेनेत्यर्थः । नि० चू० ११ उ० ।

गतं चायुर्न पुनरावर्त्तते । उक्तं च-

" भवकोटीभिरसुलभं, मानुष्यं प्राप्य कः प्रमादो मे ।

न च गतमायुर्भूयः, प्रत्येत्यपि देवराजस्य " ॥ १ ॥

' नो ' नैव संसारे सुलभं-सुप्रापं संयमप्रधानं जीवितं, यदि वा-जीवितम्-आयुस्त्रुटितं सत् नैव संधातुं न शक्यते, इति वृत्तार्थः । सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

(४) अल्पमनित्यं चायुः सर्वेषाम् । तत्रानित्यत्वं यथा-

दुमपत्तए पंडुरए, जह निवडइ राइगणाण अच्चए ।

एवं मणुआण जीवियं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१॥

(अस्या गाथाया व्याख्या ' जीविय ' शब्दे चतुर्थभागे १४६ पृष्ठे वक्ष्यते) उत्त० १० अ० ।

जीवशतब्देन शरीरमुच्यते । यदाह निर्युक्तिकारः—

परियट्टिय लावन्नं, चलंतसंधिं मुअंतविंटग्गं ।

पत्तं च वसणपत्तं, कालप्पत्तं भणइ गाहं ॥ २०७ ॥

जह तुब्भे तह अम्हे, तुब्भे वि अ होहिहा जहा अम्हे ।

अप्पाहेइ पडंतं, पंडुअपत्तं किसलयाणं ॥ २०८ ॥

न वि अत्थि न वि अ होही, उल्लावो किसलपंडुपत्ताणं ।

उवमा खलु एस कया, भवियजणविबोहणट्ठाए ॥२०६॥

उत्त० पाई० १० अ० ।

(आसां गाथानां व्याख्या 'दुमपत्त' शब्दे चतुर्थभागे द्रष्टव्या ।) यथा हि किशलयानि पाण्डुपत्रेण अनुशिष्यन्ते तथा अन्योऽपि यौवनगर्वितोऽनुशासनीयः ।

अथाऽऽयुषोऽनित्यत्वमाह—

कुसग्गे जह ओसबिंदुए, थोवं चिट्ठइ लंबमाणए ।

एवं मणुयाण जीवियं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥२॥

हे गौतम ! समयमात्रमपि मा प्रमादीः । तत्र हेतुमाह । यथा-कुशस्याग्रे अवश्यायबिन्दुर्लम्बमानः सन् स्तोकं-स्तोककालं तिष्ठति वातादिना प्रेर्यमाणः सन् पतति तथा मनुष्याणां जीवितम्-आयुरस्थिरं स्वल्पम् । एवं आयुषोऽनित्यत्वं ज्ञात्वा धर्मे प्रमादो न विधेय इत्यर्थः । उत्त० १ अ० ।

" आयुषि बहूपसर्गे, वाताहतसलिलबुद्बुदानित्ये । उच्छ्वस्य निश्वसिति यः, सुप्तो वा विबुध्यते तच्चित्रम् " ॥१॥ पं० सू० ३ सूत्र टी० ।

आयुषः अल्पत्वं यथा—

अप्पं च खलु आउयं इहमेगेसिं माणवाणं । (सूत्र ६२+)

अल्पं-स्तोकं चशब्दोऽधिकवचनः, खलुरवधारणे, आयुरिति—भवस्थितिहेतवः कर्मपुद्गलाः । ' इह ' ति-संसारे मनुष्यभवे वैकेषां-केषांचिदेव मानवानां-मनुजानामिति पदार्थो, वाक्यार्थः—' इह ' अस्मिन् संसारे केषांचिन्मनुजानां क्षुल्लकभवोपलक्षितान्तर्मुहूर्त्तमात्रमल्पं स्तोकमायुर्भवति । यच्छब्दादुत्तरोत्तरसमयादिवृद्ध्या पल्योपमत्रयावसानेऽप्यायुषि तत्र खलुशब्दस्यावधारणार्थत्वात्संयमजीवितमल्पमेवेति । तथा हि-अन्तर्मुहूर्त्तादारभ्य देशोनपूर्वकोटिं यावत्संयमायुष्कं तत्राल्पमेवेति । अथवा-त्रिपल्योपमस्थितिकमप्यायुरल्पमेव, यतस्तदप्यन्तर्मुहूर्त्तमपहाय सर्वमपवर्त्तते । उक्तञ्च—

" अद्धा जोगुक्कोसे, बंधित्ता भोगभूमिए सुलद्धं ।

सव्वप्पजीवियं व-ज्जइ तु उव्वट्टिया दोण्हं ॥ १ ॥ "

अस्यायमर्थः-उत्कृष्टे योगे-बन्धाध्यवसायस्थाने आयुषो यो बन्धकालोऽद्धा समयः उत्कृष्ट एव तं बध्वा च भोगभूमिकेषु देवकुर्वादिजेषु, तस्य स्थितिमेव सर्वाल्पमायुर्वर्जयित्वा द्वयोः-तिर्यग्मनुष्ययोरपवर्त्तिका अपवर्त्तनं भवति, एतत्पर्याप्तकान्तर्मुहूर्त्तानन्तरमेव, तत ऊर्ध्वमनपवर्त्तनमेवेति । (आचा०) उक्तञ्च—

"स्वतोऽन्यत इतस्ततोऽभिमुखधावमानापदा-

महो निपुणता नृणां क्षणमपीह यज्जीवितम् ।

सुखं फलमतिक्षुधा स्तरसमत्र मायोजितं ,

कियच्चिरमचर्वितं दशनयन्त्रकटाक्ष्ये स्थितम् ? ॥ १ ॥

उच्छ्वासावधयः प्राणाः, स चोच्छ्वासः समीरणात् ।

समीरणं च चलनात्, क्षणध्वंस्यायुरद्भुतम् ॥ २ ॥ "

इत्यादि । येऽपि दीर्घायुष्कस्थितिका उपक्रमणकारणाभावे आयुःस्थितिमनुभवन्ति तेऽपि मरणादप्यधिकां जराभिभूतविग्रहा जघन्यतरामवस्थामनुभवन्ति । आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

वर्षशतायुष्कस्यायुषोऽल्पत्वमेव । तद्यथा—

आउसो से जहानामए केइ पुरिसे ण्हाए कयबलिकम्मे कयकोउयमंगलपायच्छित्ते सिरसि ण्हाए कंठे मालाकडे आविद्धमणिसुवन्ने अहयसुमहग्घवत्थपरिहिए चंदणोक्किन्नगायसरीरे सरससुरहिगंधगोसीसचंदणाणुलित्तगत्ते सुइमालावन्नगविलेवणे कप्पियहारद्धहारतिसरयपालंबपलंबमाणे कडिसुत्तयसुकयसोहे पिणद्धगेविज्जअंगुलिज्जगललियंगयललियकयाभरणे नाणामणिकणगरयणकडगतुडियथंभियभुए अहियरूवसस्सिरीए कुंडलुज्जोवियाणणे मउडदित्तसिरए हारुत्थयसुकयरइयवच्छे पालंबपलंबमाणसुकयपडउत्तरिज्जे मुद्दियापिंगलंगुलिए नाणामणिकणगरयणविमलमहरिहनिउणोवियमिसिमिसंतविरइयसुसिलिट्ठविसिट्ठलट्ठआविद्धवीरवलए । किं बहुणा कप्परुक्खो विव अलंकियविभूसिए सुइपयए भवित्ता अम्मापियरो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अभिवादइज्जा । तए णं तं पुरिसं अम्मापियरो एवं वइआ-जीव पुत्ता ! वाससयंति तं पियाइं तस्स नो बहुयं भवइ कम्हा वाससयं जीवंतो वीसं जुगाइं जीवइ १, वीसं जुगाइं जीवंतो दो अयणसयाइं जीवइ २, दो अयणसयाइं जीवंतो छ उऊसयाइं जीवइ ३, छ उऊसयाइं जीवंतो बारसमाससयाइं जीवइ ४, बारसमाससयाइं जीवंतो चउवीसं पक्खसयाइं जीवइ ५, चउवीसं पक्खसयाइं जीवंतो छत्तीसं राइंदिअसहस्साइं जीवति छत्तीसं राइंदियसहस्साइं जीवंतो दस असीयाइं मुहुत्तसयसहस्साइं जीवइ ६, दस असीयाइं मुहुत्तसयसहस्साइं जीवंतो चत्तारि ऊसासकोडिसए सत्त य कोडिओ अडयालीसं च सयसहस्साइं चत्तालीसं च सहस्साइं जीवइ ७ । (सूत्र-१६+)

अथ यदि तस्य पुत्रस्य वर्षशतप्रमाणमायुः स्यात्तदा सजीवति; नाऽन्यथेति, तदपि न आयुः 'आइं' ति-अलंकारे. तस्य वर्षशतायुःपुरुषस्य न बहुकं वर्षशताधिकं भवति, कस्मात्? यस्माद्वर्षशतं जीवन् विंशतियुगानि एव जीवति, निरुपक्रमायुष्कत्वात् १. विंशतियुगानि जीवन् पुरुषो द्वे अयनशते जीवति २. द्वे अयनशते जीवन् जीवः षडृतुशतानि जीवति ३, षडृतुशतानि जीवन् जन्तुः द्वादश मासशतानि जीवति ४. द्वादश मासशतानि जीवन् प्राणी चतुर्विंशतिपक्षशतानि २४०० जीवति ५, चतुर्विंशतिपक्षशतानि जीवन् षट्त्रिंशदहोरात्रसहस्राणि ३६००० जीवति सत्त्वः ६. षट्त्रिंशदहोरात्रसहस्राणि जीवन् असुमान् दश मुहूर्तलक्षाणि अशीतिमुहूर्तसहस्राणि १०८०००० जीवति ७. दशलक्षमुहूर्तानि अशीतिमुहूर्तसहस्राणि जीवन् देहधारी चत्वारि उच्छ्वासकोटिशतानि सप्तकोटिः अष्टचत्वारिंशच्च शतसहस्राणि चत्वारिंशत्सहस्राणि च ४०७४८४०००० जीवति देहभृत् ८ । तं० ।

(५) आयुश्च सप्तधा भिद्यते । तद्यथा—

अज्झवसाणनिमित्ते, आहारे वेयणापराघाए ।
फासे आणापाणू, सत्तविहं भिज्जए आउं ॥ २०४१ ॥

अतिहर्षविषादाभ्यामधिकमवसानं चिन्तनमध्यवसानं तस्माद्भिद्यते-खण्ड्यते-उपक्रम्यते आयुः-अतिशयेन हृदयसंक्षोभात् । अथवा-रागस्नेहभयभेदादध्यवसानं त्रिधा, तस्मादायुर्भिद्यते (विशे०) निमित्तं दण्डकशादिकं प्रस्तुति, तत्र च सत्यायुर्भिद्यते । तथा-आहारे समधिके अत्यल्पे वा, वेदनायां, चातिशयवत्यां, शिरोऽक्षिकुक्ष्यादिप्रभवायां, पराघाते च गर्त्तपातादिसमुत्थे, तथा-स्पर्शे भुजङ्गादिसंबन्धिनि, तथा-प्राणापानयोश्च निरोधे सत्यायुर्भिद्यते । इति एवं सप्तविधं-सप्तभिः प्रकारैः प्राणिनामायुर्भिद्यते-उपक्रम्यते इति । विशे० ।

एतेषां क्रमेणोदाहरणानि । तत्र रागाध्यवसानेन क्षीयते आयुः—

" एकस्य कस्यचिद् गावो, ह्रियन्ते स्म मलिम्लुचैः ।
पालनाय गवां जग्मुः, पश्चात्तस्करानन्तु ॥ १ ॥
वालता वालयित्वा गा-स्तत्रैकस्तरुणः पुमान् ।
गृहीतात्र इवानल-स्तृषितो ग्राममध्यगात् ॥ २ ॥
तत्रैका ग्रामतरुणी, तमथीप्यत्पयः परम् ।
शिरो धूनयतोऽप्यस्य, नितृप्त्यै न न्यवर्त्तत ॥ ३ ॥
स उत्थाय युवा यासी-त्सा तु तद्रूपमोहिता ।
अनुरागमहाधूर्त-क्षिप्तचूर्णेव तद्दृशा ॥ ४ ॥
निर्ध्यायन्ती तमेवास्थात्, तन्मयत्वमिवेयुषी ।
अदृश्यत्वं गते तस्मि-स्तस्याः प्राणास्तमन्वगुः ॥ ५ ॥"

स्नेहाध्यवसानेनाप्यायुः क्षीयते—

"एकस्य वणिजो यूनः, प्रथमी प्रौढयौवना ।
द्वयोरपि तयोः स्नेहः, कोऽपि वाचामगोचरः ॥ १ ॥
स वाणिज्याय गत्वाऽथ, प्रत्यावृत्तः समेष्यति ।
एकाहेन निजावासं, यावत्तावत्पुरस्परम् ॥ २ ॥
वयस्याश्चिन्तयामासुः, स्नेहः सत्योऽनयोर्न वा ।
पृथगेकस्ततो गत्वा, तस्य कान्तामथोचत ॥ ३ ॥
मृतस्तव पतिर्भद्रे !, श्रुत्वा वज्राहतेव सा ।
सत्यं सत्यमिदमिति, पृष्ट्वा वाक्त्रयं मृता ॥ ४ ॥
तत्स्वरूपं च वणिजे, कथितं सोऽपि तत्क्षणात् ।
एकोऽपि प्राप पञ्चत्व-मेवं प्रेम्णाऽयुषः क्षयः ॥ ५ ॥"

भयाध्यवसानेनाऽप्यायुः क्षीयते, यथा—

"नगरी द्वारवत्यासी-त्सर्वा स्वर्णमयालया ।
अन्तःसमुद्रमीर्वाग्नि-र्भेजे यत्प्रान्तविस्तृताम् ॥ १ ॥
तत्र पौराङ्गनास्यन्दून्, यत्र स्वप्रतिपन्थिनः ।
स चन्द्रमेनश्चन्द्रोऽस्थात्, शालशीर्षावलीमिषात् ॥ २ ॥
वासुदेवोऽभवत्तत्र, वसुदेवनृपाङ्गज
देवकीकुक्षिकासार-कलहंसः क्षितीश्वरः ॥ ३ ॥
कृष्ण पौरुषवन्तोऽपि, षड्लैरश्वमाः कृताः ।
सुलसापत्यकरणा-जिजीर्ण सूत्राणि तैः स्फुटम् ॥ ४ ॥
सूनुं स्तनंधयं धाय-यन्तीं स्त्रीं वीक्ष्य काश्चन ।
अधृतिं देवकी चक्रे, पृष्टा रिष्टारिणा क्षणात् ॥ ५ ॥
अधृतिं किं विधत्सेऽम्ब !, तयोक्तं जात जातु मे ।
तनूजेन न वक्षोज—पयः केनाप्यपीयत ॥ ६ ॥
वासुदेवोऽवदन्मातः !, मा कार्षीस्त्वमिहाधृतिम् ।
कारयिष्यामि ते पुत्र-प्राप्तिमाराध्य देवताम् ॥ ७ ॥
देवताऽऽराधिताऽवादी-द्दिव्यः सूनुर्भविष्यति ।
अभूच्च तनुभूस्तस्या, नान्यथा देवतावचः ॥ ८ ॥
गजसुकुमाल इति, नाम चक्रे कृतोत्सवम् ।
सुतां सोमिलविप्रस्य, स युवा पर्यणाय्यत ॥ ९ ॥
सोऽन्यदा स्वामिनो नेमेः, श्रुत्वा धर्ममभूद् व्रती ।
विजहे स्वामिना सार्द्धं, सोमिलस्तस्य समभूद् द्विजः ॥ १० ॥
क्रमेण प्रभुभिः साकं, द्वारिकां पुनरागमत् ।
प्रभुं पृष्ट्वा पितृवने, कायोत्सर्गेण संस्थितः ॥ ११ ॥
तथास्थं तत्र दृष्ट्वा तं, रुष्टो दुष्टो द्विजस्ततः ।
निवेश्य कण्टकं मूर्ध्नि, चिताङ्गारैरपूरयत् ॥ १२ ॥
तत्कष्टं सहमानस्यो-त्पन्नं केवलमुज्ज्वलम् ।
अन्तकृत्केवलित्वेन, तदैव प्राप निर्वृतिम् ॥ १३ ॥
विष्णुः प्रातः प्रभुं नत्वा, साधूनापृच्छदच्छधीः ।
क्व मे बन्धुः प्रभुः स्माह, निःश्रेयसमगात्स वा बहिः ॥ १४ ॥
वासुदेवो गतस्तत्र, परासुमवलोक्य तम् ।

कुपितः प्रभुमशार्ची-त्केनामारि प्रभुर्जगौ ॥ १५ ॥
विशन्तं स्वां पुरीं दृष्ट्वा, यस्य शीर्षं स्फुटिष्यति ।
कुटुम्बं प्रेष्य विप्रोऽपि, स्वयं यावन्निरेति सः ॥ १६ ॥
तावद् दृष्टो विशन् विष्णु-स्ततोऽतिभयसंभ्रमात् ।
ययौ पतितवत्कुम्भ-स्तन्मुण्डं शतखण्डताम् ॥ १७ ॥
आ० क० १ अ० । आ० म० । (विस्तरतो गजसुकुमारकथा-'गजसुकुमाल' शब्दे तृतीयभागे वक्ष्यते)

निमित्तादप्यायुः क्षीयते, तच्चानेकधा—

दंड-कस-सत्थ-रज्जू, अग्गी-उदगपडणं विसं वाला ।
सीउण्हं अरइ भयं, खुहा पिवासा य वाही अ ॥७२५॥
मुत्तपुरीसनिरोहे, जिण्णाजिण्णे अ भोअणे बहुसो ।
घसण घोलण पीलण, आउस्स उवक्कमा एए ॥७२६॥

दण्ड कष शस्त्र रज्जवः अग्न्युदकयोः पतन विषं व्यालाः-सर्पाः शीतोष्णम् अरतिभयं क्षुत्पिपासा च व्याधिश्च मूत्रपुरीषनिरोधः जीर्णाजीर्णे च भोजन बहुशः घर्षणं चन्दनस्येव घोलनं अङ्गुष्ठाङ्गुलिभ्यां यूकाया इव पीडनमिक्ष्वादेरिव आयुष उपक्रमरूपत्वादुपक्रमा एते । कारणे कार्योपचाराद् यथा तण्डुलान्वर्षति पर्जन्यः, यथा च-आयुर्घृतम् । (आ०क० १ अ०) कथं दण्डादय उपक्रमहेतव इति चेत्, उच्यते-दण्डेन गाढमभिघाते, कशया-शस्त्रखड्गादिना, रज्ज्वा गलादौ बन्धे, अग्निना परिदाहे, उदके सर्वस्रोतसामन्तः पूरणे, विषे भक्षिते, व्यालाः-सर्पास्तैर्दशने, शीतोष्णेन च संस्पर्शतः, अरत्या भयेन चान्तर्मनसि पीडासमुत्पत्तौ, क्षुधया अभक्षणे, पिपासया हृदयगलतालुशोषणे, मूत्रपुरीषनिरोधे शरीरक्षोभतः, जीर्णाजीर्णे नाम अर्द्धजीर्णे तस्मिन् सति अनेकशो भोजने रसोपचयात्, घर्षणं-चन्दनस्येव घोलनम्-अङ्गुष्ठकाङ्गुलिगृहीतचाल्यमानयूकाया इव तस्मिन्, पीडनमिक्ष्वादेस्तस्मिन्नपि सति, भिद्यते आयुरित्येते सर्वेऽप्युपक्रमहेतवः । (आ० म० १ अ० ॥७२५॥७२६॥ गाथाटी०) नन्वध्यवसानादीन्यपि निमित्तान्येवायुषोऽपक्रमस्य तत्कोऽत्र भेदः ? सत्यं, किं (त्वान्त) रितरेतरविचित्रोपाधिभेदेन भेदाश्रितस्तत्प्रियविनयानुग्रहार्थत्वाच्च न दोषः । विशे० २०४३ गाथाटी० ।

आहारादिभिरप्यायुर्भिद्यते—

"बटुरेको दिने कृत्वा, बारानष्टादशाशनम् ।
शूलेन म्रियते स्माशु, मृतश्चान्यः क्षुधा पुनः ॥ १ ॥
दृग्वेदनादिभिर्जाता, भूयांसोऽपि गतायुषः ।
विद्युदाद्युपघाताच्च, श्रूयन्ते बहवो मृताः ॥ २ ॥
स्पर्शोऽप्यायुःक्षयाय स्या-द्यथा त्वग्विषभोगिनः ।
स्त्रीरत्नस्येव संस्पर्शो, यदि वा चक्रवर्त्तिनः ॥ ३ ॥
ब्रह्मदत्ते मृतिं प्राप्ते, द्वादशे चक्रवर्त्तिनि ।
स्त्रीरत्नं तत्सुतोऽवादी-द्भोगान् भुङ्क्ष्व मया सह ॥ ४ ॥
तयोक्तं न मम स्पर्शः, सह्यस्ते चाक्रिणं विना ।
तं प्रत्याययितुं वाजी, मुखाद्यावत् कटिं तया ॥ ५ ॥
स्पृष्टः करेण तत्कालं, गलद्रेतः क्षयान्मृतः ।
तथाऽप्यप्रत्ययं तस्य, कृत्वा लोहमयं नरम् ॥ ६ ॥
परिरेभे स्मरन्ते च, दैवादाशु व्यलीयत ।
ततोऽभूत्प्रत्ययस्तस्य, दृष्टं को वा न मन्यते ॥ ७ ॥
प्राणापानानुरोधेऽपि मृत्युर्भवति देहिनाम् ।
यज्ञाऽऽदौ मार्यमाणानां, छागानामिव याज्ञिकैः ॥ ८ ॥"
आ० क० १ अ० ।

आह—जति आउयबंधो उवक्कमिज्जति । तेण कयविप्पणासो, अकयब्भागमो य होइ । कहं जेण वाससयं आउयं बद्धं सो तं सव्वं आउबंधं न भुंजति, जहा तेण कयविप्पणासो तस्स य तत्थ मारिज्जए जं उवमउगति तेण अकयब्भागमो भवति । एस यदि दोसो भवति तो णत्थि मोक्खो मोक्खगया वि पडंतु । उच्यते नाणस्स कथमुपालंभः एक्को वि दोसो न भवति । कहं जेण तं सव्वं वेदेति । कहं पलालवट्टिदिट्ठंतसाहणा, जहा-पलालवट्टी हत्थसयदीहा अंते पदीविया चिरेण डज्झति । पुंजिया तक्खणा चेव डज्झति । एसो से उवणतो । अहवा-अग्निकव्याधिनिदर्शनात् फलपाचननिदर्शनाच्चेति । आ० चू० १ अ० । यथा वर्षशतोपभोगाय कल्पितं धान्यं भस्मकव्याधिपीडितस्याल्पेनापि कालेनापि भुञ्जानस्य न कृतनाशो, नाप्यकृताभ्यागमस्तद्वदत्रापीति । तथा चाह भाष्यकारः—

"कम्मोवक्कामिज्जइ, अपत्तकालम्मि जइ ततो पत्ता ।
अकयागमकयनासा, मोक्खाणासासया दोसा ॥ २०४७ ॥
न य दीहकालियस्स वि, नासो तस्साणुभूइओ खिप्पं ।
बहुकालाहारस्स व, दुयमग्गियरोगिणो भोगो ॥ २०४८ ॥
सव्वं च पदेसतया, भुज्जइ कम्ममणुभावतो भइयं ।
तेणावसाणुभवे, के कयनासादयो तस्स ॥ २०४९ ॥
किंचिदकाले वि फलं, पाविज्जइ पच्चए य कालेणं ।
तह कम्मं पाइज्जइ, कालेण य पच्चए अन्नं ॥ २०५० ॥
जह वा दीहा रज्जू, डज्झइ कालेण पुंजिया खिप्पं ।
वितता पडओ सुस्सइ, पिंडीभूतो उ कालेणं ॥ २०५१ ॥ "

(विशे०) (असां गाथानां व्याख्या 'उवक्कमकाल' शब्देऽस्मिन्नेव भागे करिष्यते) इत्यादि, ततो यथोक्तदोषानुपपत्तिरिति । आ० म० १ अ० । आयुश्च सोपक्रमायुषामेव भिद्यते, न निरुपक्रमायुषाम् । आ० चू० १ अ० । आव० । (आयुर्हि द्विविधम्)-सोपक्रमायुषां सोपक्रमम्, निरुपक्रमायुषां निरुपक्रमम् । यदा ह्यसुमान् स्वायुषस्त्रिभागे त्रिभागत्रिभागे वा जघन्यत एकेन द्वाभ्यां चोत्कृष्टतः सप्तभिरष्टभिर्वा वर्षैरन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणेन कालेनात्मप्रदेशरचनानाडिकान्तर्वर्त्तिनः आयुष्ककर्मवर्गणापुद्गलान् प्रयत्नविशेषेण विधत्ते तदा निरुपक्रमायुर्भवतीति, अन्यदा तु-सोपक्रमायुष्क इति । आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० ६३ सूत्र । (आयुष्कोपक्रमस्याऽपि यथायुष्कोपक्रमकालताम् 'उवक्कमकाल' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते)

(सोपक्रमायुषो निरुपक्रमायुषश्च यथा)—

जीवा णं भंते ! किं सोवक्कमाउया, णिरुवक्कमाउया ? गोयमा ! जीवा सोवक्कमाउया वि, णिरुवक्कमाउया वि । णेरइया णं पुच्छा, गोयमा ! णेरइया णो सोवक्कमाउया, णिरुवक्कमाउया वि । एवं० जाव थणियकुमारा पुढवीकाइया जहा जीवा । एवं ० जाव मणुस्सा वाणमंतर जोइसियवेमाणिया: जहा णेरइया । (सूत्र ६८५)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'जीवाणमि' त्यादि-'सोवक्कमाउय' त्ति-उपक्रमणमुपक्रमः-अप्राप्तकालस्यायुषो निर्जरणं तेन सह यत्तत्सोपक्रमं तदेवं विधमायुर्येषां ते तथा। तद्विपरीतास्तु निरुपक्रमायुषः। इह गाथे-"देवा नेरइया वि य, असंखवासाउया य तिरिमणुया।
उत्तमपुरिसा य तहा, चरिमसरीरा य निरुवकमा॥ १॥
सेसा संसारत्था, हवेज्ज सोवक्कमा य इयरे य।
सोवक्कमनिरुवक्कम-भेओ भणिओ समासेणं॥ २॥"
भ० २० श० १० उ०।

नेरइया देवा असंखेज्जवासाउया तिरिया मणुया य उत्तमपुरिसा 'चरिमसरीर' त्ति-सेसा भविया देवा णारया। 'असंखेज्जवासाउया य' छम्मासंसेसाउया आउगाणि बंधंति। परभविआयुआणि सेसतिभागे सेसाउया जे निरुवक्कमा जे ते सोवक्कमा मत्ते सिय तिभागसेसाउया परभविआयुयं पकरेंति। सिय तिभागतिभागावसेसाउया सिय तिभागसेसाउया पकरेंति। कोऽनयोः प्रतिविशेषः। इमाणं संनिवायो तिव्वो इमाणं सो सिढिलो सोवक्कमस्स उवक्कमेत्तस्स आरद्धं अत्थ रुज्झति तत्थ उवट्ठिज्जति। निरुवक्कमेणं अवस्सं तं ठाणं पावियव्वं तिभागो वीप्सार्थः अणेगे तिभागा होंति, याव तिपाहिं आयुयं भागं देति जो एगम्मि भाए वट्टति तत्थ अभायतो जं जीविअसंखेज्जपविट्ठ सव्वनिरुद्धो स आउतो स सव्वमहंतीए आउयबंधगद्धाए तीसे णं आउयबंधगद्धाए चरिमकालसमयम्मि वट्टमाणे जहट्ठियं सो अपज्जत्तगनिव्वत्ति निव्वत्तेति। एयस्स भागस्स हट्ठा ण तरति आउयं। बंधिउं तेण य सव्वजीवाणं आउबंधो। अणाभोगाभिनिव्वित्तिउं तण्सो अंतोमुहुत्तिओ आवलियाए वि। आ० चू० १ अ०।

(७) आयुषोऽल्पायुर्दीर्घायुरशुभदीर्घायुः शुभदीर्घायुरित्यादिका बहवो भेदास्तेषां कारणानि च। तत्राल्पायुष्कारणानि यथा—

कहं णं भंते! जीवाः अप्पाउयत्ताए कम्मं पगरेंति गोयमा!। (सूत्र २०४+) (भ० ५ श० ६ उ०) तिहिं ठाणेहिं जीवा अप्पाउअत्ताए कम्मं पगरेंति, तं जहा-पाणे अइवाइत्ता भवइ, मुसंवइत्ता भवइ, तहारूवं समणं वा माहणं वा अफासुएणं अणेसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं पडिलाभित्ता भवइ, इच्चेएहिं तिहिं ठाणेहिं जीवा अप्पाउअत्ताए कम्मं पगरेंति। (सूत्र-१२५ ×) स्था० ३ ठा० १ उ०।

'अप्पाउयत्ताए' त्ति-अल्पायुष्कतायै अल्पजीवितव्यनिबन्धनमित्यर्थः। (भ०) अथवा-अल्पमायु-र्जीवितं यस्यासावल्पायुष्कस्तद्भावस्तत्ता तया कर्मायुर्लक्षणं प्रकुर्वन्ति बध्नन्तीत्यर्थः। तद्यथा-प्राणान्-प्राणिनोऽतिपातयितेति शीलार्थस्तृजन्तमिति कर्मणि द्वितीयेति प्राणिनां विनाशनशील इत्यर्थः। एवम्भूतो यो भवति, एवं मृषावादवक्ता यश्च भवति, तथा-तत्प्रकारं रूपं-स्वभावो नेपथ्यादि वा यस्य स तथारूपो दानोचित इत्यर्थः। (स्था०) ('समण' इति पदानां व्याख्या स्वस्व शब्दे) प्रतिलम्भयिता लाभवन्तं करोतीत्येवं शीलो यश्च भवति। (स्था०) 'पडिलाभित्त' त्ति-प्रतिलभ्य लाभवन्तं कृत्वा (भ०) तेऽल्पायुष्कतया कर्म कुर्वन्तीति प्रक्रमः 'इच्चेएहिं' ति-इत्येतैः प्राणातिपातादिभिरुक्तप्रकारैस्त्रिभिः स्थानैर्जीवा अल्पायुष्कतया कर्म प्रकुर्वन्तीति निगमनमिति। इह च प्राणातिपातयित्रादिपुरुषनिर्देशेऽपि प्राणातिपातादीनामेवाल्पायुर्बन्धनिबन्धनत्वेन तत्कारणत्वमुक्तं द्रष्टव्यमिति। इयं चास्य सूत्रस्य भावना-अध्यवसायविशेषेण एतत्त्रयं यथोक्तफलं भवतीति (स्था०) अथवेहापेक्षिकी अल्पायुष्कता ग्राह्या, यतः किल जिनागमाभिसंस्कृतमतयो मुनयः प्रथमवयसं भोगिनं कञ्चन मृतं दृष्ट्वा वक्तारो भवन्ति। नूनमनेन भवान्तरे किञ्चिदशुभं प्राणिघातादि चासेवितमकल्प्यं वा मुनिभ्यो दत्तं येनायं भोग्यप्यल्पायुः संवृत्तः इति। (भ०) अथ वा-यो हि जीवो जिनादिगुणपक्षपाततया तत्पूजाद्यर्थं पृथिव्याद्यारम्भेण न्यासापहारादिना च प्राणातिपातादिषु वर्तते तस्य सरागसंयमनिरवद्यदाननिमित्तायुष्कापेक्षयेयमल्पायुष्टा समवसेयेति। अथ-नैतदेवं निर्विशेषणत्वात् सूत्रस्य अल्पायुष्कस्य क्षुल्लकभवग्रहणरूपस्यापि प्राणातिपातादिहेतुना युज्यमानत्वाद्, अतः कथमभिधीयते सविशेषणप्राणातिपातादिवर्ती जीव आपेक्षिकी चाल्पायुष्कतेति ?, उच्यते-अविशेषणत्वेऽपि सूत्रस्य प्राणातिपातादेर्विशेषणमवश्यं वाच्यं यत इतस्तृतीयसूत्रे प्राणातिपातादित एवाशुभदीर्घायुष्टां वक्ष्यति। न हि समानहेतोः कार्यवैषम्यं युज्यते, सर्वत्रानाश्वासप्रसङ्गात्। तथा-" समणोवासयस्स णं भंते! तहारूवं समणं वा माहणं वा अफासुएणं अणेसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं पडिलाभमाणस्स किं कज्जइ ?, गोयमा! बहुतरिया से निज्जरा कज्जइ, अप्पतराए से पावे कम्मे कज्जइ" इति भगवतीवचनश्रवणादवसीयते। नैवेयं क्षुल्लकभवग्रहणरूपाऽल्पायुष्टा, न हि स्वल्पपापबहुनिर्जरानिबन्धनस्यानुष्ठानस्य क्षुल्लकभवग्रहणनिमित्तता सम्भाव्यते जिनपूजाद्यनुष्ठानस्यापि तथा प्रसङ्गात्। अथाऽप्रासुकदानस्य भवतुकाल्पायुष्टा, प्राणातिपातमृषावादयोस्तु क्षुल्लकभवग्रहणमेव फलमिति, नैतदेवम्-एकयोगप्रवृत्तत्वाद्, अविरुद्धत्वाच्चेति। अथ मिथ्यादृष्टिश्रमणब्राह्मणानां यदप्रासुकदानं ततो निरुपचरितैवाल्पायुष्टा युज्यते, इतराभ्यां तु का विचार इति ?, नैवम्, अप्रासुकेनेति तत्र विशेषणस्यानर्थकत्वात्। प्रासुकदानस्याप्यल्पायुष्कफलत्वाविरोधात्, उक्तञ्च-भगवत्याम्-"समणोवासयस्स णं भंते! तहारूवं असंजय अविरय अप्पडिहय अपच्चक्खाय पावकम्मं फासुएण वा अफासुएण वा एसणिज्जेण वा अणेसणिज्जेण वा असणं पाणं खाइमं साइमं पडिलाभेमाणस्स किं कज्जइ?, गोयमा! एगंतसो पावे कम्मे कज्जइ नो से काइ निज्जरा कज्जइ" त्ति। यच्च पापकर्मणः एव कारणं तदल्पायुष्टाया अपि कारणमिति, नन्वेवं-प्राणातिपातमृषावादावप्रासुकदानं च कर्त्तव्यमापन्नमिति ?, उच्यते-आपद्यतां नाम भूमिकापेक्षया को दोषः। (स्था०) यतो यतिधर्माशक्तस्य गृहस्थस्य द्रव्यस्तवद्वारेण प्राणा-

नोट—१-(देवा नैरयिका अपि, चासंख्यवर्षायुषश्च तिर्यग्मनुजा उत्तमपुरुषाश्च तथा चरमशरीरश्च निरुपक्रमाः॥ १॥ शेषाः संसारस्था भवेयुः सोपक्रमाःपुन इतरे च सोपक्रमनिरुपक्रमभेदो भणित समासेन॥ २॥)

१-भ० ५ श० ६ उ० २०३ सूत्रटी०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निपातादिकमुक्तमेव प्रवचने (भ०) " अधिकारिवशाच्छास्त्रे, धर्मसाधनसंस्थितिः । व्याधिप्रतिक्रिया तुल्या, विज्ञेया गुणदोषयोः ॥ १ ॥ " । तथा च गृहिणं प्रति जिनभवनकारणफलमुक्तम् । " एतदिह भावयज्ञः, सद्गृहिणो जन्मफलमिदं परमम् । अभ्युदयाविच्छित्त्या, नियमादपवर्गबीजमिति " ॥ १ ॥ तथा-" भण्णइ जिणपूयाए, कायवहो जइ वि होइ उ कहिं वि । तह वि तहिं परिसुद्धा, गिहीण कूवाऽऽहरणजोगा ॥ १ ॥ असदारंभपवत्ता, जं च गिही तेण तेसि विन्नेया । तन्निव्वित्तिफलच्चिय, एसा परिभावणीयमिदं " ॥ २ ॥ इति । दानाधिकारे तु श्रूयते हि द्विविधाः श्रमणोपासकाः-संविग्नभाविता, लुब्धकदृष्टान्तभाविताश्चेति । यथोक्तम्- " संविग्गभावियाणं, लोद्धयदिट्ठंतभावियाणं च । मुत्तूण खेत्तकाले, भावं च कहिंति सुद्धत्थं " ॥ १ ॥ इति । तत्र लुब्धकदृष्टान्तभाविता यथा कथञ्चिद्ददति संविग्नभावितास्त्वौचित्येनेति । तच्चेदम्-"संथरणम्मि असुद्धं, दोण्ह वि गिण्हंतयाण हियं । आउरदिट्ठंतेणं, तं चेव हियं असंथरणे " ॥ १ ॥ इति । तथा-"नायगयाणं कप्पणिज्जाणं अन्नपाणाईणं दव्वाणं देसकालसद्धासक्कारजमसुद्धं" इत्यादि.क्वचित्"पाणे अइवाइत्ता मुसं वइत्ता " इत्येवं भवति शब्दवर्ज्या वाचना, तत्रापि स एवार्थः, क्त्वाप्रत्ययान्तता व्याख्येया, प्राणानतिपात्य मृषोक्त्वा श्रमणं प्रतिलम्भ्य अल्पायुष्टया कर्म बध्नन्तीति प्रक्रमः । शेषं तथैव । (स्था०) अथ यद्वाऽप्रासुकदानमल्पायुष्कतायां मुख्यं कारणम्, इतरे तु सहकारिकारणे इति व्याख्येयं प्राणातिपातनमृषावादनयोर्दानविशेषणत्वात्, तथाहि-(भ०) प्राणानतिपात्याधाकर्मादिकरणतो मृषोक्त्वा भोः साधो ! स्वार्थसिद्धमिदम्भक्तादि कल्पनीयमकल्पनीयं वा न शङ्का कार्येत्यादि, ततः प्रतिलम्भ्य तथा कर्म कुर्वन्तीति प्रक्रमः । इह च द्वयस्य विशेषणत्वेनैकस्य विशेष्यत्वेन त्रिस्थानकत्वमवगन्तव्यम् । गम्भीरार्थश्चेदं सूत्रमतोऽन्यथाऽपि भावनीयमिति । स्था० ३ ठा० १ उ० । भ० ५ श० ६ उ० ।

दीर्घायुष्कारणानि यथा—

तिहिं ठाणेहिं जीवा दीहाउअत्ताए कम्मं पगरेंति, तं जहा-णो पाणे अइवाइत्ता भवइ, णो मुसं वइत्ता भवइ, तहारूवं समणं वा माहणं वा फासुएसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं पडिलाभेत्ता भवइ, इच्चेएहिं तिहिं ठाणेहिं जीवा दीहाउअत्ताए कम्मं पगरेंति। (सूत्र-१२५×)। (स्था० ३ ठा० १ उ०)

अल्पायुष्कताकारणान्युक्तानि.अधुना तद्विपर्ययस्यैतान्येव विपर्यस्ततया कारणान्याह-'तिहिं' इत्यादि. प्राग्वदवसेयं. नवरं ' दीहाउअत्ताए ' त्ति-शुभदीर्घायुष्टायै शुभदीर्घायुष्टया वेति प्रतिपत्तव्यम् ! (स्था०) 'कहन्नमि' त्यादि. भवति हि जीवदयादिमतो दीर्घमायुर्यतोऽत्रापि तथैव भवन्ति दीर्घायुषं दृष्ट्वा वक्तारो जीवदयादि पूर्वं कृतमनेन तेनायं दीर्घायुः संवृत्तस्तथा सिद्धमेव यथाहिंविरतेर्दीर्घमायुः (भ०) प्राणातिपातविरत्यादीनां दीर्घायुषः शुभस्यैव निमित्तत्वात् । उक्तञ्च-

" महव्वय अणुव्वएहिं, बालतवा कामनिज्जराए य । देवाउयं निबंधइ, सम्मद्दिट्ठी य जो जीवो " ॥ १ ॥ तथा"पयईए तणुकसाओ, दाणरओ सीलसंयमविहूणो । मज्झिमगुणेहिं जुत्तो, मणुयाउयं बंधए जीवो " ॥ २ ॥ देवमनुष्यायुषी च शुभे इति । तथा भगवत्यां दानमुद्दिश्योक्तम्- 'समणोवासयस्स णं भंते ! तहारूवं समणं वा माहणं वा फासुएसणिज्जेणं असणं पाणं खाइमं साइमं पडिलाभेमाणस्स किं कज्जइ, गोयमा ! एगंतसो निज्जरा कज्जइ, णो से केइ पावे कम्मे कज्जइ" त्ति । यच्चनिर्जराकारणं तन्न शुभदीर्घायुष्कारणतया न विरुद्धं महाप्रतवदिति । स्था० ३ ठा० १ उ० ।

अशुभदीर्घायुष्कारणानि यथा—

तिहिं ठाणेहिं जीवा असुभदीहाउअत्ताए कम्मं पगरेंति ?, तं जहा-पाणे अइवाइत्ता भवइ, मुसंवइत्ता भवइ, तहारूवं समणं वा माहणं वा हीलेत्ता निंदित्ता खिंसेत्ता गरिहित्ता अवमाणित्ता अन्नयरेणं अमणुन्नेणं अपीइकारएणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिलाभेत्ता भवइ । इच्चेएहिं तिहिं ठाणेहिं जीवा असुभदीहाउअत्ताए कम्मं पगरेंति । (सूत्र-१२५ +)

अन्तरमायुषो दीर्घताकारणान्युक्तानि, तच्च शुभाशुभमिति तत्रादौ तावदशुभायुर्दीर्घताकारणान्याह-' तिहिं ' इत्यादि-प्राग्वद्, नवरम् । अशुभदीर्घायुष्टायै इति-नारकायुष्कायेति भावः । तथाहि-अशुभं च तत् पापप्रकृतिरूपत्वात् दीर्घं च तस्य जघन्यतोऽपि दशवर्षसहस्रस्थितिकत्वादुत्कृष्टतस्तु त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमरूपत्वात् अशुभदीर्घं तदेवंभूतमायुर्जीवितं यस्मात्कर्मणस्तदशुभदीर्घायुस्तद्भावस्तत्ता तस्यै तथा चेति प्राण न् प्राणिन इत्यर्थोऽतिपातयिता भवति मृषावादी च वक्ता भवति, तथा श्रमणब्राह्मणादीनां हीलनादि कृत्वा प्रतिलम्भयिता भवतीत्यक्षरघटना । हीलना तु जात्याद्युद्घट्टनतो निन्दनं मनसा खिसनं जनसमक्षं गर्हणं तत्समक्षम् अपमाननमनभ्युत्थानादिभिः अन्यतरेण-बहूनां मध्ये एकतरेण कचिच्चन्यतरेणेति न दृश्यते, अमनोज्ञेन-स्वरूपतोऽशोभनेन कदन्नादिना अत एवाप्रीतिकारकेण भक्तिमतस्त्वमनोज्ञमपि मनोज्ञमेव तत्फलत्वादार्यचन्दनाया इव । आर्यचन्दनया हि कुल्माषाः सूर्पकोणकृता भगवते महावीराय पञ्चदिनानषण्मासिकक्षपणपारणके दत्तास्तदैव च तस्या लोहनिगडानि हेममयनूपुरौ सम्पन्नौ केशाः पूर्ववदेव जाताः पञ्चवर्णविविधरत्नराशिसमृद्धं भूतं सेन्द्रदेवदानवनरनायकैरभिनन्दिता कालेनावाप्तचारित्रा च सिद्धिसौधशिखरमुपगतेति । इह च सूत्रे अशनादिप्रासुकाऽप्रासुकत्वादिना न विशेषितं हीलनादिकर्तुः प्रासुकादिविशेषणस्य फलविशेषं प्रत्यकारणत्वान्मत्सरजनितहीलनादिविशेषणानामेव प्रधानतया तत्कारणत्वादिति । स्था० ३ ठा० १ उ० । वीरस्य भगवतः पारणाकारणात् आर्यचन्दनया कृतपुण्याहमित्यादि आर्यचन्दनायाः वृत्तम् ' अज्जचंदणा ' शब्दे प्रथमभागे गतम्) वाचनान्तरे तु-" अफासुएणं अणेसणिज्जेणं " ति-दृश्यते तत्र च प्रासुकदानमपि हीलनादिविशेषितमशुभदीर्घायुष्कारणम्, अप्रासुकदानं तु विशेषित इत्युपदर्शयता "अ-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

फासुएणे" त्याद्युक्तमिति प्राणातिपातमृषावादनयोर्दानविशेषणपक्षव्याख्यानमपि घटत एव अवज्ञादानेऽपि प्राणातिपातादेर्दृश्यमानत्वादिति । भवति च प्राणातिपातादेरशुभदीर्घायुस्तेषां नरकगतिहेतुत्वाद्, यदाह-" मिच्छद्दिट्ठिमहारंभ-परिग्गहो तिव्वलोभनिस्सीलो । नरयाऽऽउयं निबंधइ, पावमई रोद्दपरिणामो " ॥ १ ॥ नरकगतौ च विवक्षया दीर्घमेवायुः । भ० ५ श० ६ उ० २०४ सूत्रटी० ।

शुभदीर्घायुष्कारणानि यथा—

तिहिं ठाणेहिं जीवा सुभदीहाउअत्ताए कम्मं पगरेंति, तं जहा-णो पाणे अइवाइत्ता भवइ, णो मुसंवइत्ता भवइ, तहारूवं समणं वा माहणं वा वंदित्ता नमंसित्ता सक्कारेत्ता सम्माणेत्ता कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासेत्ता मणुन्नेणं पीइकारएणं असणपाणखाइमसाइमेणं पडिलाभेत्ता भवइ, इच्चेएहिं तिहिं ठाणेहिं जीवा सुहदीहाउअत्ताए कम्मं पगरेंति । (सूत्र-१२५ +)

उक्तविपर्ययेणाधुनेतरदाह । 'तिहिं ठाणेहिं' इत्यादि पूर्ववत् इहापि प्रासुकाऽप्रासुकतया दानं न विशेषितं पूर्वसूत्रविपर्ययत्वादस्य पूर्वसूत्रस्य वा विशेषणतया प्रवृत्तत्वादिति । न च प्रासुकाऽप्रासुकदानयोः फलं प्रति न विशेषोऽस्ति पूर्वसूत्रयोस्तस्य प्रतिपादितत्वात्तस्मादिह प्रासुकैषणीयस्य कल्पप्राप्तविनरस्य चेदं फलमवसेयम् । (स्था० ३ ठा० १ उ० ।) वाचनान्तरे-तु 'फासुएणमि' त्यादि दृश्यत एवेति (भ० ५ श० ६ उ० सूत्र-२०४) अथवा—भावप्रकर्षविशेषादनेषणीयस्यापीदं फलं न विरुध्यते, अचिन्त्यत्वाच्चित्तपरिणतेः सा हि बाह्यस्यानुगुणनयैव न फलानि साधयति भरतादीनामिवेति । इह च प्रथममल्पायुःसूत्रं, द्वितीयं तद्विपक्षः, तृतीयमशुभदीर्घायुःसूत्रं, चतुर्थं तद्विपक्ष इति; न पुनरुक्ततेति । स्था० ३ ठा० १ उ० ।

अत्राऽपरं सूत्रम्—

समणोवासए णं भंते! तहारूवं समणं वा फासुएसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं पडिलाभेमाणे किं लब्भइ?, गोयमा! समणोवासएणं तहारूवं समणं वा ०जाव पडिलाभेमाणे तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा समाहिं उप्पाएइ, समाहिकारएणं तमेव समाहिं पडिलभइ । समणोवासए णं भंते! तहारूवं समणं वा०जाव पडिलाभेमाणे किं चयइ!, गोयमा! जीवियं चयइ, दुच्चयं चयइ, दुक्करं करेइ, दुल्लहं, लहइ बोहिं बुज्झइ, तओ पच्छा सिज्झइ, ०जाव अंतं करेइ । (सूत्र-२६४)

'किंचयइ' त्ति-किं ददातीत्यर्थः 'जीवियं चयइ' त्ति-जीवितमिव ददात्यन्नादि द्रव्यं यच्छन् जीवितस्यैव त्यागं करोतीत्यर्थः । जीवितस्यवान्नादिद्रव्यस्य दुस्त्यजत्वादेतदेवाह-'दुच्चयं चयइ' त्ति-दुस्त्यजमेतत्त्यागस्य दुष्करत्वादेवाह-दुष्करं करोतीति । अथवा-किं त्यजति-किं विरहयति । उच्यते-जीवितमिव जीवितं कर्मणो दीर्घां स्थितिं 'दुच्चयं' ति-दुष्टं कर्म द्रव्यसंचयम् 'दुक्करं' ति-दुष्करमपूर्वकरणतो ग्रन्थिभेदं, ततश्च-'दुल्लभं लभइ' ति-अनिवृत्तिकरणं लभते । ततश्च-'बोहिं बुज्झइ' त्ति-बोधिं-सम्यग्दर्शनं बुध्यते-अनुभवति । इह च श्रमणोपासकः साधूपासनामात्रकारी ग्राह्यस्तदपेक्षयैवास्य सूत्रार्थस्य घटमानत्वात् 'तओ पच्छ' त्ति-तदनन्तरं सिध्यतीति ग्राम्यत्, अन्यत्राप्युक्तं दानविशेषस्य बोधिगुणत्वं, यदाह-" अणुकंपकामणिज्जरबालतवेदाणविणए " त्यादि । तथा-" केई तेणेव भवेण णिव्वुया, सव्वकम्मओ मुक्का । केई तइयभवेणं, सिज्झिस्संति जिणसगासे ॥ १ ॥" इति । भ० ७ श० १ उ० ।

मध्यमायुर्बलदेवादीनां यथा—

तओ मज्झिममाउयं पालयंति, तं जहा-अरहंता, चक्कवट्टी, बलदेववासुदेवा । (सूत्र-१४३×)

'मज्जिमं' त्ति-मध्यमायुः पालयन्ति वृद्धत्वाभावात् । स्था० ३ ठा० १ उ० ।

(८) आयुष्कर्मणो जीवितहेतुत्वं यथा ।

यावदायुष्कर्म विजृम्भते तावद्दोषैरतिपीडितोऽपि जीवत्यायुष्कर्मक्षये च दोषाणामविकृतावपि म्रियते । नं० १ गाथा टी० " सुरनरतिरिनरयाऊ हडिसरिसं " (२३ गाथा +) एतच्चायुर्हडिसदृशं भवति । तत्र हडिः-खोडकस्तेन सदृशं तत्तुल्यं, यथा हि राजादिना हडौ क्षिप्तः कश्चिच्चौरादिस्ततो निर्गमनमनोरथं कुर्वाणोऽपि विवक्षितं कालं यावत्तया म्रियते तथा नारकादिस्ततो निष्क्रमितुमना अपि तदायुषा म्रियते इति हडिसदृशमायुः । कर्म० १ कर्म० । (अत्र विशेषतो व्याख्यानम् 'आउकम्म' शब्देऽस्मिन्नेव भागे करिष्यते) आयाति स्वकीयावसरं इत्यायुः गतेर्निस्सरितुमिच्छन्नपि जीवो निर्गन्तुं न शक्नोति यस्मिन्सति निगडबद्ध इव तिष्ठतीत्यायुषः स्वभावः । उत्त० ३३ अ० २ गाथा ।

(९) द्विविधमायुर्यथा—

दुविहे आउए पण्णत्ते, तं जहा-अद्धाउए चेव, भवाउए चेव१९ । (सूत्र-८५×)

'दुविहे' त्यादि, अद्धा-कालः तत्प्रधानमायुः-कर्मविशेषोऽद्धायुः, भवात्ययेऽपि कालान्तरानुगामीत्यर्थः, यथा-मनुष्यायुः, कस्यापि भवात्यय एव नापगच्छत्यपि तु सप्ताष्टभवमात्रं कालमुत्कर्षतोऽनुवर्तेत इति, तथा-भवप्रधानमायुर्भवायुः, यद्भवात्यये अपगच्छत्येव न कालान्तरमनुयाति, यथा-देवायुरिति, १९ । स्था० २ ठा० ३ उ० । (यथायुष्कं पालयन्ति इति 'आउय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते) यथायुष्कवक्तव्यता 'अहाउय' शब्दे प्रथमभागे द्रष्टव्या) (द्वयोः अद्धायुष्कमिति 'अद्धाउय' शब्दे प्रथमभागे गतम्) (द्वयोः भवायुष्कमिति 'भवाउय' शब्दे पञ्चमभागे वक्ष्यते) (द्वौ यथायुष्कं पालयन्ति इति 'अहाउय' शब्दे प्रथमभागे दर्शितम्) (द्वयोः आयुष्कसंवर्तः इति 'आउयसंवट्टय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे द्रष्टव्यम्)

जीवानामिह भविकायुः, परभविकायुर्यथा । तत्र कियति पूर्वभवायुषि शेषे पारभविकमायुर्बद्धमिति संशयानः पृच्छति—

नेरइया णं भंते! कइभागावसेसाऽऽउया परभवियाऽऽउयं पकरेंति ?, गोयमा ! नियमा छम्मासाऽवसेसाउया परभ-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तिआउयं, पकरंति । एवं असुरकुमाराऽवि ०जाव थणियकुमारा वि । पुढवीकाइया णं भंते ! कइभाग.वसेसाऽऽउया परभवियाउयं पकरेंति ?, गोयमा ! पुढवीकाइया दुविहा पन्नत्ता, तं जहा-सोवक्कमाउया य, निरुवक्कमाउया य । तत्थ णं जे ते निरुवक्कमाउया ते नियमा तिभागावसेसाउया परभवियाउयं पकरेंति । तत्थ णं जे ते सोवक्कमाउया ते सिय तिभागावसेसाउया परभवियाउयं पकरेंति; सिय तिभागतिभागावसेसाउया परभवियाउयं पकरेंति; सिय तिभागतिभागतिभागावसेसाउया परभवियाउयं पकरेंति । आउ-तेउ-वाउ-वणस्सइकाइयाणं, बेइंदिय-तेइंदिय-चउरिंदियाण वि एवं चेव ॥ पंचिंदियतिरिक्खजोणिया णं भंते ! कइभागावसेसाउया परभवियाउयं पकरंति ?, गोयमा ! पंचिंदियतिरिक्खजोणिया दुविहा पन्नत्ता, तं जहा-संखेज्जवासाउया य, असंखेज्जवासाउया य । तत्थ णं जे ते असंखेज्जवासाउया ते नियमा छम्मासावसेसाउया परभवियाउयं पकरेंति । तत्थ णं जे ते संखिज्जवासाउया ते दुविहा पन्नत्ता, तं जहा-सोवक्कमाउया य, निरुवक्कमाउया य । तत्थ णं जे ते निरुवक्कमाउया ते नियमा तिभागावसेसाउया परभवियाउयं पकरेंति । तत्थ णं जे ते सोवक्कमाउया ते णं सिय तिभागावसेसाउया परभवियाउयं पकरंति; सिय तिभागतिभागे परभवियाउयं पकरंति; सिय तिभागतिभागतिभागावसेसाउया परभवियाउयं पकरेंति। एवं मणुस्सा वि, वाणमंतर-जोइसिय-वेमाणिया जहा नेरइया । दारं । (सूत्र-१४४)

नेरइया णं भंते ! कइभागावसेसाउया परभवियाउयं बंधं (पकरें) ति' इत्यादि । पाठसिद्धं, नवरं यद्भागावशेषेऽनुभूयमानभवायुषि पारभविकमायुर्बध्नन्ति तत्प्रतिपादितम् । प्रज्ञा० ६ पद । भ० ।

नैरयिकादीनां परभविकायुर्बन्धो यथा—

णेरइया णियमा छम्मासावसेसाऽऽउया परभवियाऽऽउयं पगरेंति । एवमसुरकुमाराऽवि. ०जाव थणियकुमारा । असंखेज्जवासाउया सन्निपंचिंदियतिरिक्खजोणिया णियमं छम्मासावसेसाउया परभवियाउयं पगरेंति । असंखेज्जवासाउया सन्निमणुस्सा णियमं ०जाव पगरेंति । वाणमंतरजोइसिया वेमाणिया जहा णेरइया । (सूत्र--५३६)

'नियम' त्ति अवश्यंभावादित्यर्थः । 'छम्मासावसेसाउय' त्ति-षण्मासा अवशेषा--अवशिष्टा यस्य तत्तथा तदायुर्येषां ते षण्मासावशेषायुष्काः । परभवो भिन्ने यस्मिन्नसौ पारभविकं तच्च तदायुश्चेति परभविकायुः प्रकुर्वन्ति—बध्नन्ति । असंख्येयानि वर्षाणि आयुर्येषां ते तथा ते च ते संज्ञिनश्च समनस्काः पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाश्चेत्यसंख्येयवर्षायुष्कसंज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाः । इह च संज्ञिग्रहणमसंख्येयवर्षायुष्काः संज्ञिन एव भवन्तीति नियमदर्शनार्थं न त्वसंख्येयवर्षायुषामसंज्ञिनां व्यवच्छेदार्थं, तेषामसंभवादिति । इह च गाथे—

" निरइसुरअसंखाऊ, तिरिमणुया सेसए उ छम्मासे ।
इगविगला निरुवक्कम-तिरिमणुया आउयतिभागे ॥ १ ॥
अवसेसा सोवक्कम-तिभागनवभागसत्तवीसइमे ।
बंधंति परभवाऊं, नियभवे सव्वजीवा उ" ॥ २ ॥ इति ।

इदमेवान्यैरित्थमुक्तम्-इह तिर्यग्मनुष्या आत्मीयायुषस्तृतीयत्रिभागे परभवायुषो बन्धयोग्या भवन्ति, देवनारकाः पुनः षण्मासे शेषे । तत्र तिर्यग्मनुष्यैर्यदि तृतीयत्रिभागे आयुर्न बद्धं ततः पुनस्तृतीयत्रिभागस्य तृतीयत्रिभागे शेषे बध्नन्ति एवं तावत् संक्षिपन्त्यायुर्यावत्सर्वजघन्य आयुर्बन्धकाल उत्तरकालश्च शेषास्तिष्ठति । इह तिर्यग्मनुष्या आयुर्बध्नन्त्ययं वा संक्षेपकाल उच्यते । तथा देवनैरयिकैरपि यदि षण्मासे शेषे आयुर्न बद्धं तदा आत्मीयस्यायुषः षण्मासशेषं तावत्संक्षिपन्ति यावत्सर्वजघन्य आयुर्बन्धकाल उत्तरकालश्चावशेषोऽवतिष्ठते इह परभवायुर्देवनैरयिका बध्नन्तीत्ययमसंक्षेपकालः । स्था० ६ ठा० ३ उ० । (परभविकायुष्प्रकारः 'उववाय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे निरूपयिष्यते)

(१०) प्रत्याख्यानाऽप्रत्याख्यानतदुभयनिर्वर्तिताऽऽयुष्कत्वं जीवानाम्—

जीवा णं भंते ! किं पच्चक्खाणनिव्वत्तियाऽऽउया, अपच्चक्खाणणिव्वत्तियाऽऽउया, पच्चक्खाणाऽपच्चक्खाणणिव्वत्तियाउया ? । गोयमा ! जीवा य, वेमाणिया य, पच्चक्खाणणिव्वत्तियाउया । तिणि वि अवसेसा अपच्चक्खाणनिव्वत्तियाउया । गाहा-

" पच्चक्खाणं जाणइ, कुव्वंति तेणेव आउनिव्वत्ती ।
सपएसुद्देसम्मि य, एमेए दंडगा चउरो ॥१॥"(सूत्र-२४०)

जीवपदे जीवाः प्रत्याख्यानादित्रयनिबद्धायुष्का वाच्या, वैमानिकपदे च वैमानिका अप्येवं प्रत्याख्यानादित्रयवतां तेषूत्पादात् ' अवसेस ' त्ति-नारकादयोऽप्रत्याख्याननिर्वृत्तायुषो, यतस्तेषु तत्त्वेनाविरता एवोत्पद्यन्त इति । उक्तार्थसंग्रहगाथा-' पच्चक्खाण ' मित्यादि, प्रत्याख्यानमिति एतदर्थ एको दण्डकः, एवम्-अन्ये त्रयः । भ० ६ श० ४ उ० ।

(११) जीवानामाभोगानाभोगनिर्वर्तितायुष्कत्वं यथा—

जीवा णं भंते ! किं आभोगनिव्वत्तियाउया, अणाभोगनिव्वत्तियाउया ? । गोयमा ! नो आभोगनिव्वत्तियाउया; अणाभोगनिव्वत्तियाउया । एवं नेरइया वि, एवं०जाव वेमाणिया । (सूत्र-२८४) । भ० ७ श० ६ उ० ।

तच्चतुर्विधम्—

चउव्विहे आउए पण्णत्ते, तं जहा -णेरइयाऽऽउए, ०जाव देवाऽऽउए ॥ (सूत्र-२६४X)

एति च; याति चेति आयुः-कर्मविशेष इति, तत्र येन निरयभवे प्राणी ध्रियते तन्निरयायुरेवमन्यान्यपि । स्था० ४ ठा० २ उ० ।

अस्यैता एवोत्तरप्रकृतयः—

नेरइय तिरिक्खाओ, मणुस्साओ तहेव य ।

देवाओ य चउत्थं तु, आउकम्मं चउव्विहं ॥ १२ ॥

उत्त० ३३ अ० । प्रज्ञ० । (अस्या गाथाया व्याख्या 'कम्म' शब्दे तृतीयभागे १६ अधिकाराङ्के करिष्यते) ।

(१२) अनन्तरोपपन्नकादीनां नैरयिकादीनामायुस्तद्बन्धश्च– णेरइया णं भंते ! किं अणंतरोववरणगा, परंपरोववरणगा, अणंतरपरंपरअणुववरणगा ?। गोयमा ! णेरइया णं अणंतरोववरणगा वि, परंपरोववरणगा वि, अणंतरपरंपरअणुववरणगा वि । से केणऽट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ ०जाव अणंतरपरंपरअणुववरणगा वि ?। गोयमा ! जेणं णेरइया पढमसमओववरणगा तेणं णेरइया अणंतरोववरणगा । जेणं णेरइया अपढमसमओववरणगा तेणं णेरइया परंपरोववरणगा । जेणं णेरइया विग्गहगइसमावरणगा तेणं णेरइया अणंतरपरंपरअणुववरणगा । से तेणऽट्ठेणं ०जाव अणुववरणगा वि । एवं णिरंतरं ०जाव वेमाणिया । अणंतरोववरणगा णं भंते ! णेरइयाउयं पकरेंति, तिरिक्खमणुस्सदेवाउयं पकरेंति ?, गोयमा ! णो णेरइयाउयं पकरेंति ०जाव णो देवाउयं पकरेंति । परंपरोववरणगा णं भंते ! णेरइया किं णेरइयाउयं पकरेंति ०जाव देवाउयं पकरेंति ?, गोयमा ! णो णेरइयाउयं पकरेंति, तिरिक्खजोणियाउयं पि पकरेंति, मणुस्साउयं पि पकरेंति, णो देवाउयं पकरेंति । अणंतरपरंपरअणुववरणगा णं भंते ! णेरइया किं णेरइयाउयं पुच्छा, गोयमा ! णो णेरइयाउयं पकरेंति, ०जाव णो देवाउयं पकरेंति. एवं ०जाव वेमाणिया । णवरं पंचिंदियतिरिक्खजोणिया मणुस्सा य परंपरोववरणगा चत्तारि वि आउयं (पकरेंति) बंधंति सेसं तं चेव २ ॥

'नेरइया णमि' त्यादि, 'अणंतरोववरणग' त्ति–न विद्यतेऽन्तरं समयादिव्यवधानमुपपन्ने–उपपाते येषां ते अनन्तरोपपन्नकाः ' परंपरोववरणग ' त्ति—परम्परा–द्वित्रादिसमयता उपपन्ने–उपपाते येषां ते परंपरोपपन्नकाः । ' अणंतरपरंपरअणुववरणग ' त्ति–अनन्तरम्–अव्यवधानं परंपरं च द्वित्रादिसमयरूपमविद्यमानम्–उपपन्नम्–उत्पादो येषां ते तथा । एते च विग्रहगतिकाः, विग्रहगतौ द्विविधस्याप्युत्पादस्याविद्यमानत्वादिति ॥ अथानन्तरोपपन्नादीनाश्रित्याऽऽयुर्बन्धमभिधातुमाह–' अणंतरे ' त्यादि. इह चानन्तरोपपन्नानामनन्तरपरम्परानुपपन्नानां च चतुर्विधस्याप्यायुषः प्रतिषेधोऽध्येतव्यः । तस्यामवस्थायां तथाविधाध्यवसायस्थानाभावेन सर्वजीवानामायुषो बन्धाभावात् स्वायुषस्त्रिभागादौ च शेषे बन्धसद्भावात्परम्परोपपन्नकास्तु स्वायुषः षण्मासे शेषे मतान्तरेणोत्कर्षतः षण्मासे जघन्यतश्चान्तर्मुहूर्ते शेषे भवप्रत्ययात्तिर्यङ्मनुष्यायुषी एव कुर्वन्ति; नेतरे इति ' एवं ०जाव वेमाणिय ' त्ति—अनेनोक्तालापकत्रययुक्तश्चतुर्विंशतिदण्डकोऽध्येतव्य इति सूचितम् । यश्चात्र विशेषस्तं दर्शयितुमाह–' नवरं पंचिंदिए ' त्यादि ।

अथानन्तरनिर्गतत्वादिना अपरं दण्डकमाह—

णेरइया णं भंते ! किं अणंतरणिग्गया, परंपरणिग्गया, अणंतरपरंपरअणिग्गया ?। गोयमा ! णेरइया णं अणंतरणिग्गया वि ०जाव अणंतरपरंपरअणिग्गया वि । से केणऽट्ठे णं भंते ! ०जाव अणिग्गया वि ?, गोयमा ! जे णं णेरइया पढमसमयणिग्गया ते णं णेरइया अणंतरणिग्गया । जे णं णेरइया अपढमसमयणिग्गया ते णं णेरइया परंपरणिग्गया । जे णं णेरइया विग्गहगइसमावण्णगा ते णं अणंतरपरंपरअणिग्गया । से तेणऽट्ठेणं गोयमा ! ०जाव अणिग्गया वि, एवं ०जाव वेमाणिया ३ ॥

'णेरइया णं' इत्यादि, तत्र निश्चितं स्थानान्तरप्राप्त्या गतं–गमनं निर्गतम्–अनन्तरं समयादिना निर्व्यवधानं निर्गतं येषां तेऽनन्तरनिर्गतास्ते च येषां नरकादुद्वृत्तानां स्थानान्तरप्राप्तानां प्रथमसमयो वर्त्तते, तथा परम्परेण–समयपरंपरया निर्गतं येषां ते तथा, ते च येषां नरकादुद्वृत्तानामुत्पत्तिस्थानप्राप्तानां द्व्यादयः समयाः । अनन्तरपरम्परानिर्गतास्तु ये नरकादुद्वृत्ताः सन्तो विग्रहगतौ वर्त्तन्ते, न तावदुत्पादक्षेत्रमासादयन्ति तेषामनन्तरभावेन; परम्परभावेन चोत्पादक्षेत्रप्राप्तत्वेन निश्चयेनानिर्गतत्वादिति ।

अथानन्तरनिर्गतादीनाश्रित्यायुर्बन्धमभिधातुमाह—

अणंतरणिग्गया णं भंते ! णेरइया किं णेरइयाऽऽउयं पकरेंति ०जाव देवाऽऽउयं पकरेंति ?, गोयमा ! णो णेरइयाउयं पकरेंति ०जाव णो देवाउयं पकरेंति । परंपरणिग्गया णं भंते ! णेरइया किं णेरइयाउयं पि पकरेंति ०जाव देवाउयं पकरेंति पुच्छा , गोयमा ! णेरइयाऽऽउयं पकरेंति ०जाव देवाउयं पि पकरेंति । अणंतरपरअणिग्गया णं भंते ! णेरइयपुच्छा, गोयमा ! णो णेरइयाउयं पकरेंति ०जाव णो देवाउयं पकरेंति । एवं निरवसेसं ०जाव वेमाणिया ४ ॥

' अणंतरे ' त्यादि, इह च परम्परानिर्गता नारकाः सर्वाण्यायूंषि बध्नन्ति । यतस्ते मनुष्याः पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्च एव च भवन्ति । ते च सर्वायुर्बन्धका एवेति । एवं सर्वेऽपि परम्परनिर्गता वैक्रियजन्मानः, औदारिकजन्मानोऽप्युद्वृत्ताः । केचिन्मनुष्यपञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चो भवन्त्यतस्तेऽपि सर्वायुर्बन्धका एवेति अनन्तरं निर्गता उक्तास्ते च कश्चिदुत्पद्यमानाः सुखेनोत्पद्यन्ते दुःखेन वेति दुःखोत्पन्नकानाश्रित्याह—' नेरइये ' त्यादि ।

अनन्तरखेदोपपन्नकपरम्परखेदोपपन्नकानन्तरपम्परखेदोपपन्नकानां नैरयिकादीनामायुः—

णेरइया णं भंते ! किं अणंतरखेदोववरणगा, परंपरखेदोववरणगा. अणंतरपरम्परखेदाऽणुववरणगा ?। गोयमा ! णेरइया ०एवं एएणं अभिलावेणं ते चेव चत्तारि दंडगा भाणियव्वा । (सूत्र–५०२X)

त एव पूर्वोक्ता उत्पन्नदण्डकादयः खेदशब्दविशेषिताश्चत्वारो दण्डका भणितव्यास्तत्र च प्रथमः–खेदोपपन्नदण्डको,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वितीयस्तदायुष्कदण्डकः, तृतीयः खेदनिर्गतदण्डकः, चतुर्थस्तु तदायुष्कदण्डक इति । भ० १४ श० १ उ० ।

(१३) असञ्ज्ञिजीवानामायुः—

कइविहे णं भंते ! असण्णियाउए पण्णत्ते ?, गोयमा ! चउव्विहे असण्णियाउए पण्णत्ते , तं जहा-णेरइयअसण्णियाउए , तिरिक्खजोणियअसण्णियाउए , मणुस्सअसण्णियाउए, देवअसण्णिआउए ॥ असण्णी णं भंते ! जीवे किं णेरइयाउयं पकरेइ, तिरिक्खजोणियाउयं पकरेइ, मणुस्सदेवाउयं पकरेइ ? । गोयमा ! णेरइयाउयं पकरेइ, तिरिक्खमणुस्सदेवाउयं पकरेइ । णेरइयाउयं पकरेमाणे जहण्णेणं दसवाससहस्साइं उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं पकरेइ, तिरिक्खजोणियाउयं पकरेमाणे जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं; उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं पकरेइ, मणुस्साउए वि एवं चेव । देवाउए जहा णेरइयाउए । एयस्स णं भंते ! णेरइयअसण्णिआउयस्स तिरिक्खजोणियअसण्णिआउयस्स मणुस्सअसण्णिआउयस्स देवअसण्णिआउयस्स कयरे कयरेहिंतो ०जाव विसेसाहिए वा ?, गोयमा ! सव्वत्थोवे देवअसण्णियाउए, मणुस्सअसण्णियाउए संखेज्जगुणे, तिरियअसण्णियाउए असंखेज्जगुणे, णेरइयअसण्णिआउए असंखेज्जगुणे । (सूत्र-२६+)

'कइविहेणमि' त्यादि, व्यक्तं नवरं 'असण्णिआउए' त्ति-असञ्ज्ञी सन् यत्परभवप्रायोग्यमायुर्बध्नाति तदसंज्ञ्यायुः । 'नेरइयअसण्णिआउए' त्ति—नैरयिकप्रायोग्यमसंज्ञ्यायुर्नैरयिकासंज्ञ्यायुरेवमन्यान्यपि, एतच्चासंज्ञ्यायुः सम्बन्धमात्रेणापि भवति । यथा भिक्षोः पात्रमतस्तत्कृतत्वलक्षणसम्बन्धविशेषनिरूपणायाह-'असण्णी' त्यादि, व्यक्तं नवरं 'पकरेइ' त्ति-बध्नाति 'दसवाससहस्साइं' ति-रत्नप्रभाप्रथमप्रतरमाश्रित्य 'उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं' ति-रत्नप्रभाचतुर्थप्रतरे मध्यमस्थितिकं नारकमाश्रित्येति, कथं यतः प्रथमप्रस्तटे दशवर्षाणां सहस्राणि जघन्या स्थितिरुत्कृष्टा नवतिः सहस्राणि । द्वितीये तु दशलक्षाणि जघन्या इतरा तु नवतिर्लक्षाणि । एवैव तृतीये जघन्या इतरा पूर्वकोटी । एवैव चतुर्थे जघन्या इतरा तु सागरोपमस्य दशभागा । एवञ्चात्र पल्योपमाऽसंख्येयभागो मध्यमायुःस्थितिर्भवति । तिर्यक्सूत्रे यदुक्तम्-" पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं ति " तन्मिथुनकतिरश्चोऽधिकृत्येति 'मणुस्साउए वि एवं चेव' त्ति-जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तम् ; उत्कर्षतः पल्योपमासंख्येयभाग इत्यर्थः, तत्र चासंख्येयभागो मिथुनकनरानाश्रित्य । 'देवा जहा नेरइय' त्ति-'देवा' इति असञ्ज्ञिविषयं देवायुरुपचारतया वाच्यम् 'जहा णेरइय' त्ति-यथा असञ्ज्ञिविषयं नारकायुस्तच्च प्रतीतमेव, नवरं भवनपतिव्यन्तरानाश्रित्य तदवसेयमिति । भ० १ श० २ उ० । प्रज्ञा० ।

(१४) एकान्तबालैकान्तपण्डितबालपण्डितानामायुर्यथा-

एगंतबाले णं भंते ! मणूसे किं नेरइयाउयं पकरेइ तिरिआउयं पकरेइ मणुयाउयं पकरेइ देवाउयं पकरेइ ! नेरइयाउयं किच्चा नेरइएसु उववज्जइ । तिरियाउयं किच्चा तिरिएसु उववज्जइ । मणुयाउयं किच्चा मणुएसु उववज्जइ । देवाउयं किच्चा देवलोएसु उववज्जइ ? । गोयमा ! एगंतबाले णं मणुया नेरइयाउयं पि पकरेइ, तिरियाऽऽउयं पि पकरेइ, मणुयाऽऽउयं पि पकरेइ, देवाउयं पि पकरेइ । नेरइयाउयं पि किच्चा नेरइएसु उववज्जइ । तिरियाऽऽउयं किच्चा तिरिएसु उववज्जइ । मणुयाऽऽउयं किच्चा मणुएसु उववज्जइ । देवाउयं किच्चा देवलोएसु उववज्जइ । (सूत्र-६३)

एगंतपंडिए णं भंते ! मणुस्से किं नेरइयाउयं पकरेइ ०जाव देवाउयं किच्चा देवलोएसु उववज्जइ ?, गोयमा ! एगंतपंडिए णं मणुस्से आउयं सिय पकरेइ; सिय णो पकरेइ । जइ पकरेइ णो णेरइयाउयं पकरेइ, णो तिरियाउयं पकरेइ, णो मणुयाउयं पकरेइ । देवाउयं पकरेइ, णो णेरइयाउयं किच्चा णेरइएसु उववज्जइ, णो तिरियाउयं किच्चा तिरिएसु उववज्जइ, णो मणुयाउयं किच्चा मणुएसु उववज्जइ । देवाउयं किच्चा देवेसु उववज्जइ । से केणऽट्ठेणं ०जाव देवाउयं किच्चा देवेसु उववज्जइ ?, गोयमा ! एगंतपंडियस्स णं मणुस्सस्स केवलमेव दो गईओ पण्णायंति, तं जहा-अंतकिरिया चेव, कप्पोववत्तिया चेव । से तेणऽट्ठेणं गोयमा ! ०जाव देवाउयं किच्चा देवेसु उववज्जइ ।

बालपंडिए णं भंते ! मणूसे किं नेरइयाउयं पकरेइ ०जाव देवाउयं किच्चा देवेसु उववज्जइ ?, गोयमा ! णो णेरइयाउयं पकरेइ ०जाव देवाउयं किच्चा देवेसु उववज्जइ । से केणऽट्ठेणं ०जाव देवाउयं किच्चा देवेसु उववज्जइ ?, गोयमा ! बालपंडिए णं मणूसे तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा अंतिए एगमवि आरियं धम्मियं सुवयणं सोच्चा निसम्म, देसं उवरमइ, देसं णो उवरमइ, देसं पच्चक्खाइ, देसं णो पच्चक्खाइ, से तेणं देसोवरमइ, देसपच्चक्खाणेणं णो णेरइयाउयं पकरेइ ०जाव देवाउयं किच्चा देवेसु उववज्जइ । से तेणऽट्ठेणं ०जाव देवेसु उववज्जइ । (सूत्र-६४)

'एगंतबाले' त्यादि, एकान्तबालो मिथ्यादृष्टिरविरतो वा, एकान्तग्रहणेन मिश्रतां व्यवच्छिनत्ति । यच्चैकान्तबालत्वे समानेऽपि नानाविधायुर्बन्धनं तन्महारम्भाद्युन्मार्गदेशनादितनुकषायत्वाऽऽद्यकामनिर्जरादितद्धेतुविशेषवशादिति, अत एव बालत्वे समानेऽप्यविरतसम्यग्दृष्टिर्मनुष्यो देवायुरेव प्रकरोति; न शेषाणि, एकान्तबालप्रतिपक्षत्वादेकान्तपण्डितसूत्रं तत्र च-'एगन्तपण्डिए णं' ति-एकान्तपण्डितः साधुः'मणुस्से' त्ति-विशेषणं स्वरूपज्ञानार्थमेव, अमनुष्यस्यैकान्तपण्डितत्वायोगात्तद्योगश्च सर्वविरतेरन्यस्याभावादिति । 'एगंतपंडिए

णं मणुस्से आउयं सिय पकरेइ सिय नो पकरेइ ' त्ति—सम्यक्त्वसप्तके क्षपिते न बध्नात्यायुः साधुः, अर्वाक् पुनर्बध्नातीत्यत उच्यते , स्यात्प्रकरोतीत्यादि केवलमेव ' दो गईओ पन्नायंति ' त्ति-केवलशब्दः सकलार्थस्तेन साकल्येनैव द्वे गती प्रज्ञायेते-अवबुध्येते केवलिना तयोरेव सत्त्वादिति ' अंतकिरियं ' त्ति-निर्वाणम् ' कप्पोववत्तियं ' त्ति-कल्पेषु-अनुत्तरविमानान्तदेवलोकेषूपपत्तिः-उत्पत्तिर्या सैव कल्पोपपत्तिका इह च कल्पशब्दः सामान्येनैव वैमानिकदेवाऽऽवासाभिधायक इति । एकान्तपण्डितो द्वितीयस्थानवर्त्तित्वाद् बालपण्डितस्य बालपण्डितसूत्रम् । तत्र च-' बालपंडिए णं ' ति-श्रावकः ' देसं उवरमइ ' त्ति—विभक्तिविपरिणामात् देशादुपरमते-विरतो भवति, ततो देशं स्थूलप्राणातिपातादिकं प्रत्याख्याति, वर्जनीयतया प्रतिजानीते । भ० १ श० ६ उ० ।

(१५) क्रियावाद्यादिजीवानामायुर्यथा—

किरियावादी णं भंते ! जीवा किं णेरइयाउयं पकरेंति, तिरिक्खजोणियाउयं, मणुस्साउयं पकरेंति ? । गोयमा ! णो णेरइयाउयं पकरेंति, णो तिरिक्खजोणियाउयं पकरेंति। मणुस्साऽऽउयं पकरेंति, देवाउयं पि पकरेंति। जइ देवाउयं पकरेंति । किं भवणवासिदेवाउयं ०जाव वेमाणियदेवाउयं पकरेंति ?, गोयमा ! णो भवणवासिदेवाउयं पकरेंति, णो वाणमंतरदेवाउयं पकरेंति, णो जोइसियदेवाउयं, पकरेंति वेमाणियदेवाउयं पकरेंति ॥ अकिरियावादी णं भंते ! जीवा किं णेरइयाउयं पकरेंति, तिरिक्ख पुच्छा, गोयमा ! णेरइयाउयं पि पकरेंति, ०जाव देवाउयं पि पकरेंति । एवं अण्णाणियवादी वि, वेणइयवादी वि ।

' किरिये ' त्यादि, ' मनुस्साउयं पि पकरेंति देवाउयं पि पकरेंति ' त्ति-तत्र ये देवा नारका वा क्रियावादिनस्ते मनुष्यायुः प्रकुर्वन्ति, ये तु मनुष्याः पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चो वा ते देवायुरिति।

सलेश्यादीनां जीवानां क्रियावादीनामायुर्यथा—

सलेस्सा णं भंते ! जीवा किरियावादी किं णेरइयाउयं पकरेंति पुच्छा , गोयमा ! णो णेरइयाउयं एवं जहेव जीवा तहेव सलेस्सा वि चउहिं वि समोसरणेहिं भाणियव्वा । कण्हलेस्सा णं भंते ! जीवा किरियावादी किं णेरइयाउयं पकरेंति पुच्छा, गोयमा ! णो णेरइयाउयं पकरेंति, णो तिरिक्खजोणियाउयं पकरेंति मणुस्साउयं पकरेंति, णो देवाउयं पकरेंति ॥ अकिरिया-अण्णाणिय-वेणइयवादी य चत्तारि वि आउयं पकरेंति । एवं णीललेस्सा वि । काउलेस्सा वि ॥ तेउलेस्सा णं भंते ! जीवा किरियावादी किं णेरइयाउयं पकरेंति ? पुच्छा, गोयमा ! णो णेरइयाउयं पकरेंति, णो तिरिक्खजोणियाउयं पकरेंति, मणुस्साउयं पि पकरेंति, देवाउयं पि पकरेंति, जइ देवाउयं पकरेंति तहेव, तेउलेस्सा णं भंते ! जीवा अकिरियावादी किं णेरइयाउयं पुच्छा, गोयमा ! णो णेरइयाउयं पकरेंति, तिरिक्खजोणियाउयं पि पकरेंति, मणुस्साउयं पि पकरेंति, देवाउयं पि पकरेंति । एवं अण्णाणियवादी वि वेणइयवादी वि जहा तेउलेस्सा । एवं पम्हलेस्सा वि । सुक्कलेस्सा वि णेयव्वा ॥ अलेस्सा णं भंते ! जीवा किरियावादी किं णेरइयाउयं पुच्छा ?, गोयमा ! णो णेरइयाउयं पकरेंति णो तिरिक्खजोणियाउयं पकरेंति णो मणुस्साउयं पकरेंति णो देवाउयं पकरेंति ।

' कण्हलेस्सा णं भंते ! जीवा ' इत्यादौ ' मणुस्साउयं पकरेंति ' त्ति-यदुक्तं तन्नारकासुरकुमारादीनाश्रित्यावसेयम् । यतो ये सम्यग्दृष्टयो मनुष्याः पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चश्च ते मनुष्यायुर्न बध्नन्तीत्येव वैमानिकायुर्बन्धकत्वात्तेषामिति । ' अलस्सा णं भंते ! जीवा किरियावाई ' इत्यादि, अलश्याः-सिद्धाः अयोगिनश्च ते चतुर्विधमप्यायुर्न बध्नन्तीति । भ० ३० श० १ उ० ।

(१६) कृष्णपाक्षिकादीनां क्रियावाद्यादीनां जीवानामायुर्यथा-

कण्हपक्खिया णं भंते ! जीवा अकिरियावादी किं णेरइयाउयं पुच्छा, गोयमा ! णेरइयाउयं पि पकरेंति । एवं चउव्विहं पि । एवं अण्णाणियवादी वि, वेणइयवादी वि ॥ सुक्कपक्खिया जहा सलेस्सा ॥

सम्यग्दृष्ट्यादिक्रियावाद्यादीनां जीवानामायुर्यथा—

सम्मद्दिट्ठी णं भंते ! जीवा किरियावादी किं णेरइयाउयं पुच्छा, गोयमा ! णो णेरइयाउयं पकरेंति, णो तिरिक्खजोणियाउयं पकरेंति । मणुस्साउयं पि पकरेंति, देवाउयं पि पकरेंति । मिच्छादिट्ठी जहा कण्हपक्खिया ॥ सम्ममिच्छादिट्ठी णं भंते ! अण्णाणियवादी किं णेरइयाउयं पकरेंति जहा अलेस्सा । एवं वेणइयवादी वि ॥

सम्यग्मिथ्यादृष्टिपदे-' जहा अलेस्स ' त्ति—समस्तायूंषि न बध्नन्तीत्यर्थः । नारकदण्डके-' किरियावाईणमि ' त्यादौ यन्नैरयिकायुर्देवायुश्च न प्रकुर्वन्ति क्रियावादिनारकास्तन्नारकभवानुभावादेव । यच्च तिर्यगायुर्न प्रकुर्वन्ति तत्क्रियावादानुभावादित्यवसेयम् । अक्रियावादादिसमवसरणत्रयं तु नारकाणां सर्वपदेषु तिर्यग्मनुष्यायुषी एव भवतः । सम्यग्मिथ्यात्वे पुनर्विशेषोऽस्तीति तद्दर्शनायाह-नवरं ' सम्मे' त्यादि, सम्यग्मिथ्यादृष्टिनारकाणां द्वे एवान्तिमे समवसरणे स्तः तेषां चायुर्बन्धो नास्त्येव गुणस्थानकस्वभावादतस्ते तयोर्न किंचिदपि आयुः प्रकुर्वन्तीति ।

(१७) ज्ञानिनाम् ; अज्ञानिनां; विभङ्गज्ञानिनाञ्च क्रियावाद्यादिजीवानामायुर्यथा—

णाणी आभिणिबोहियणाणी य, सुअणाणी य, ओहिणाणी य जहा सम्मद्दिट्ठी ॥ मणपज्जवणाणी णं भंते ! पुच्छा, गोयमा ! णो णेरइयाउयं पकरेंति, णो तिरिक्खजोणियाऽऽउयं पकरेंति, णो मणुस्साउयं पकरेंति । देवाउयं पकरेंति । जइ देवाउयं पकरेइ किं भवणवासी पुच्छा,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गोयमा ! णो भवणवासी देवाउयं पकरेंति, णो वाणमंतर-देवाऽऽउयं पकरेंति, णो जोइसियवेमाणियदेवाउयं पकरेंति। केवलणाणी जहा अलेस्सा। अण्णाणी ०जाव विभंगणाणी जहा कण्हपक्खिया॥

सञ्ज्ञिकादीनां क्रियावाद्यादिजीवानामायुर्यथा—

सण्णासु चउसु वि ०जाव सलेस्सा णो सण्णोवउत्ता जहा मणपज्जवणाणी॥

सवेदकावेदकसकषायाकषायिसयोग्ययोगिसाकारोपयुक्तानाकारोपयुक्तानां क्रियावाद्यादिजीवानामायुर्यथा—

सवेदगा ०जाव णपुंसगवेदगा जहा सलेस्सा॥ अवेदगा जहा अलेस्सा॥ सकसाई ०जाव लोभकसाई जहा सलेस्सा॥ अकसाई जहा अलेस्सा॥ सजोगी ०जाव कायजोगी जहा सलेस्सा॥ अजोगी जहा अलेस्सा॥ सागारोवउत्ता य, अणागारोवउत्ता य जहा सलेस्सा॥ (सूत्र-८२४)

क्रियावाद्यादिनैरयिकादीनामायुर्यथा—

किरियावादी णं भंते ! णेरइया किं णेरइयाउयं पुच्छा, गोयमा ! णो णेरइयाउयं, णो तिरिक्खजोणियाउयं पकरेइ, मणुस्साउयं पकरेइ, णो देवाउयं पकरेइ॥ अकिरियावादी णं भंते ! णेरइया पुच्छा, गोयमा ! णो णेरइयाउयं पकरेइ, तिरिक्खजोणियाउयं पकरेइ, मणुस्साउयं पि पकरेइ, णो देवाउयं पि पकरेइ॥ एवं अण्णाणियवादी वि॥ वेणइयवादी वि॥ सलेस्सा णं भंते ! णेरइया किरियावादी किं णेरइयाउयं, एवं सव्वेऽवि णेरइया, जे किरियावादी ते मणुस्साउयं एगं पकरेंति। जे अकिरियावादी अण्णाणियवादी वेणइयवादी वि ते सव्वट्ठाणेसु वि णो णेरइयाउयं पकरेंति। तिरिक्खजोणियाउयं पकरेंति, मणुस्साउयं पि पकरेंति, णो देवाउयं पि पकरेंति, णवरं सम्मामिच्छत्ते उवरिल्लेहिं दोहिं समोसरणेहिं न किंचि वि पकरेंति, जहेव जीवपदे। एवं ०जाव थणियकुमारा जहेव णेरइया॥ अकिरियावादी णं भंते ! पुढवीकाइया पुच्छा, गोयमा ! णो णेरइयाउयं पकरेइ, तिरिक्खजोणियाउयं पकरेइ, मणुस्साउयं पकरेइ, णो देवाउयं पकरेइ॥ एवं अण्णाणियवादी वि॥ सलेस्सा णं भंते ! एवं जं जं पदं अत्थि पुढवीकाइयाणं तहिं तहिं मज्झिमेसु दोसु समोसरणेसु एवं चेव दुविहं आउयं पकरेंति, णवरं तेउलेस्साए किं पि पकरेंति॥ एवं आउकाइयाण वि, एवं वणस्सइकाइयाण वि, तेउकाइया, वाउकाइया सव्वट्ठाणेसु मज्झिमेसु दोसु समोसरणेसु णो णेरइयाउयं पकरेइ, तिरिक्खजोणियाउयं पकरेइ, णो मणुस्साउयं पकरेइ, णो देवाउयं पकरेइ-बेइंदिय-तेइंदिय-चउरिंदिया णं जहा पुढवीकाइया णं णवरं सम्मत्ते णाणेसु ण एक्कं पि आउयं पकरेंति॥ किरियावादी णं भंते ! पंचिंदियतिरिक्खजोणिया किं णेरइयाउयं पकरेंति, पुच्छा, गोयमा ! जहा मणपज्जवणाणी अकिरियावादी अण्णाणियवादी वेणइयवादी चउव्विहं पि पकरेंति। जहा ओहिया तहा सलेस्सा वि॥ कण्हलेस्सा णं भंते ! किरियावादी पंचिंदियतिरिक्खजोणिया किं णेरइयाउयं पुच्छा, गोयमा ! णो णेरयाउयं पकरेंति, णो तिरिक्खजोणियाउयं पकरेंति, णो मणुस्साउयं पकरेंति, णो देवाउयं पकरेंति॥ अकिरियावादी, अण्णाणियवादी, वेणइयावादी चउव्विहं पि पकरेंति। जहा कण्हलेस्सा। एवं णीललेस्सा वि। काउलेस्सा वि। तेउलेस्सा जहा सलेस्सा। णवरं अकिरियावादी; अण्णाणियवादी; वेणइयवादी; णो णेरयाउयं पकरेंति, तिरिक्खजोणियाउयं पि पकरेंति, मणुस्साउयं पि पकरेंति, देवाउयं पि पकरेंति। एवं पम्हलेस्सा वि। एवं सुक्कलेस्सा वि भाणियव्वा। कण्हपक्खिया तिहिं समोसरणेहिं चउव्विहं पि आउयं पकरेंति। सुक्कपक्खिया जहा सलेस्सा। सम्मद्दिट्ठी जहा मणपज्जवणाणी तहेव वेमाणियाउयं पकरेंति॥ मिच्छद्दिट्ठी जहा कण्हपक्खिया॥ सम्मामिच्छादिट्ठी णं एक्कं पि आउयं पकरेंति जहेव, णेरइया णाणी ०जाव ओहिणाणी जहा सम्मद्दिट्ठी अण्णाणी ०जाव विभंगणाणी जहा कण्हपक्खिया। सेसा ०जाव अणागारोवउत्ता, सव्वे जहा सलेस्सा तहा चेव भाणियव्वा। जहा पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं वत्तव्वया भणिया एवं मणुस्साण वि भाणियव्वा, णवरं मणपज्जवणाणी णो सण्णोवउत्ता य जहा सम्मद्दिट्ठी तिरिक्खजोणिया तहेव भाणियव्वा। अलेस्से केवलणाणी अवेदक-अकसाई अजोगी य एए एक्कं पि आउयं ण पकरेंति, जहा ओहिया जीवा। सेसं तं चेव। वाणमंतरजोइसियवेमाणिया जहा असुरकुमारा। (सूत्र-८२५+)

'पुढविकाइये' त्यादौ 'दुविहं आउयं' त्ति-मनुष्यायुस्तिर्यगायुश्चेति 'तेओलेस्साए न किं पि पकरेंति' त्ति-अपर्याप्तकावस्थायामेव, पृथिवीकायिकानां तद्भावात्तद्विगम एव चायुषो बन्धादिति 'सम्मत्तनाणेसु न एक्कं पि आउयं पकरेंति' त्ति-द्वीन्द्रियादीनां सम्यक्त्वज्ञानकालात्यय एवायुर्बन्धो भवत्यल्पत्वात्तत्कालस्येति नैकमप्यायुर्बध्नन्ति तयोस्तं इति। पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकदण्डके। 'कण्हलेस्साणमि' त्यादि, यदा पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चः सम्यग्दृष्टयः कृष्णलेश्यात्रयपरिणता भवन्ति तदायुरेकमपि न बध्नन्ति सम्यग्दृशां वैमानिकायुर्बन्धकत्वेन तेजोलेश्यादित्रय एव बन्धनादिति, 'तेओलेस्सा जहा सलेस्स' त्ति-अनेन च क्रियावादिनो वैमानिकायुरेव इतरे तु त्रयश्चतुर्विधमप्यायुः प्रकुर्वन्तीति प्राप्तं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सलेश्यानामेवंविधस्वरूपतयोक्तत्वादिह तु यदनभिमतं तन्नि-षेधनायाऽऽह-'नवरं अकिरियावाई' त्यादि, शेषं तु प्रतीतार्थत्वान्न व्याख्यातमिति । भ० ३० श० १ उ० ।

(१८) अनन्तरोपपन्नकादिक्रियावाद्यादीनामायुर्यथा—

किरियावादी णं भंते ! अणंतरोववण्णगा णेरइया किं णेरइयाउयं पकरेंति पुच्छा, गोयमा ! णो णेरइयाउयं णो तिरिक्खजोणियाऽऽउयं पकरेंति । मणुयाऽउयं पकरेंति । णो देवाउयं पकरेंति । एवं अकिरियावादी वि । अण्णाणियवादी वि । वेणइयवादी वि । सलेस्सा णं भंते ! किरियावादी अणंतरोववण्णगा णेरइया किं णेरइयाउयं पुच्छा, गोयमा ! णो णेरइयाउयं ०जाव णो देवाउयं पकरेंति । एवं ०जाव वेमाणिया । एवं सव्वट्ठाणेसु अणंतरोववण्णगा णेरइया ण किंचि वि आउयं पकरेंति, ०जाव अणागारोवउत्ते त्ति । एवं ०जाव वेमाणिया । णवरं जं जस्स अत्थि तं तस्स भाणियव्वं । (सूत्र-८२६+)। भ० ३० श० १ उ० ।

(१९) भविकजीवानां नैरयिकादिपूपपद्यमानानां सायुष्कत्वं यथा–

जीवे णं भंते ! जे भविए नेरइएसु उववज्जित्तए से णं भंते ! किं साऽऽउए संकमइ; निराउए संकमइ ?, गोयमा ! साउए संकमइ, नो नेराउए संकमइ। से णं भंते ! आउए कहिं कडे, कहिं समाइण्णे ? । गोयमा ! पुरिमे भवे कडे, पुरिमे भवे समाइण्णे, एवं ०जाव वेमाणियाणं दंडओ। से णूणं भंते ! जे जं भविए जोणिं उववज्जित्तए से तमाउयं पकरेइ, तं जहा–नेरइयाउयं वा ०जाव देवाउयं वा ? हंता गोयमा ! जे जं भविए जोणिं उववज्जित्तए से तमाउयं पकरेइ । तं जहा-नेरइयाउयं वा; तिरियमणुयदेवाउयं वा । नेरइयाउयं पकरेमाणे सत्तविहं पकरेइ, तं जहा–रयणप्पभापुढवीनेरइयाउयं वा ०जाव अहे सत्तमापुढवीनेरइयाउयं वा तिरिक्खजोणियाउयं पकरेमाणे पंचविहं पकरेइ, तं जहा-एगिंदियतिरिक्खजोणियाउयं वा भेदो सव्वो भाणियव्वो मणुस्साउयं दुविहं पकरेइ, देवाउयं चउव्विहं पकरेइ । (सूत्र-१८४ +)

'जीवे णमि' त्यादि, 'से णं भंते' त्ति-अथ तद्भदन्त ! 'कहिं कडे ' त्ति-क भवे बद्धम् । 'समाइण्णे' त्ति-समाचरितं तद्धेतुसमाचरणात् ' जं जं भविए जोणिं उववज्जित्तए ' त्ति-विभक्तिविपरिणामाद्यो यस्यां योनावुत्पत्तुं योग्य इत्यर्थः, 'मणुस्साउयं दुविहं ' ति-संमूर्च्छिम-गर्भव्युत्क्रान्तिकभेदाद् द्विधा ' देवाउयं चउव्विहं ' ति—भवनपत्यादिभेदात् । भ० ५ श० ३ उ० ।

(२०) भविकजीवानां नैरयिकादिषूपपद्यमानानामायुस्करणप्रतिसंवेदनादि यथा—

रायगिहे ०जाव एवं वयासी-जीवे णं भंते ! जे भविए नेरइएसु उववज्जित्तए से णं भंते ! किं इह गए नेरइयाउयं पकरेइ, उववज्जमाणे नेरइयाउयं पकरेइ, उववण्णे नेरइयाउयं पकरेइ ?, गोयमा ! इह गए नेरइयाउयं पकरेइ, नो उववज्जमाणे नेरइयाउयं पकरेइ, नो उववन्ने नेरइयाउयं पकरेइ । एवं असुरकुमारेसु वि। एवं ०जाव वेमाणिएसु । जीवे णं भंते ! जे भविए नेरइएसु उववज्जित्तए से भंते ! किं इह गए नेरइयाउयं पडिसंवेदेइ, उववज्जमाणे नेरइयाउयं पडिसंवेदेइ, उववन्ने नेरइयाउयं पडिसंवेदेइ ?, गोयमा ! नो इह गए नेरइयाउयं पडिसंवेदेइ, उववज्जमाणे नेरइयाउयं पडिसंवेदेइ, उववन्ने वि नेरइयाउयं पडिसंवेदेइ, एवं ०जाव वेमाणिएसु । (सूत्र–२८३+) । भ० ७ श० ६ उ० ।

(२१) अनन्तरमुद्वृत्योपपद्यमानानां नैरयिकादीनामायुष्प्रतिसंवेदनादि यथा—

णेरइया णं ! अणंतरं उव्वट्टित्ता जे भविए पंचिंदियतिरिक्खजोणिएसु उववज्जित्तए से णं भंते ! कयरं आउयं पडिसंवेदेइ ?, गोयमा ! णेरइयाउयं पडिसंवेदेइ । पंचिंदियतिरिक्खजोणियाउए से पुरओ कडे चिट्ठइ । एवं मणुस्से वि । णवरं मणुस्साउए से पुरओ कडे चिट्ठइ । असुरकुमारा णं भंते ! अणंतरं उव्वट्टित्ता जे भविए पुढवीकाइएसु उववज्जित्तए पुच्छा , गोयमा ! असुरकुमाराउयं पडिसंवेदेइ , पुढवीकाइयाउए से पुरओ कडे चिट्ठइ । एवं जो जहिं भविओ उववज्जित्तए तस्स तं पुरओ कडे चिट्ठति, तत्थ ठिओ तं पडिसंवेदेइ ०जाव वेमाणिया, णवरं पुढवीकाइओ पुढवीकाइएसु उववज्जति, पुढवीकाइयाउयं पडिसंवेदेइ अण्णे य से पुढवीकाइयाउए पुरओ कडे चिट्ठइ , एवं ०जाव मणुस्सो सट्ठाणे उववातेयव्वो परट्ठाणे तहेव । (सूत्र–६२८) भ० १८ श० ५ उ० ।

(चतुर्गत्यायुःस्थितिः 'कम्म' तृतीयभागे (२६) अधिकाराङ्के दर्शयिष्यते) (आयुषो गुणस्थानेषु बन्धोदयसत्तास्थानानां परस्परसंबन्धेन भङ्गाः " अट्ठच्छला० " ४७ गाथया ' कम्म ' शब्दे तृतीयभागे दर्शयिष्यते)

आहोस्वित्–अव्य० । आहो च स्विच्च द्वं० । विकल्पे , प्रश्ने च ।" आहोस्वित् शाश्वतं स्थानं, तेषां तत्र द्विजोत्तम ! । " द्विपदमित्येके । "किं देवाणं वयणं, गेज्झं आउ जिणवराणं" ॥३०५॥ 'आउ' त्ति–आर्षत्वात्–आहोस्विदिति । उत्त०१ अ० ।

आउंचण-आकुञ्चन–न० । संकोचात्मके क्रियाभेदे , जङ्घादेः सङ्कोचने , ध० २ अधि० । गात्रसंकोचने, आव० ४ अ० । पञ्चा०। ऋजुद्रव्यस्य कुटिलत्वकारणं च कर्म आकुञ्चनं यथा ऋजुनोऽङ्गुल्यादिद्रव्यस्य येऽवयवास्तेषामाकाशादिभिः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वसंयोगिभिर्विभागे सति मूलप्रदेशैश्च संयोगे सति येन कर्मणाङ्गुल्यादिरवयवी कुटिलः संपद्यते तदाकुञ्चनम् । सम्म० ३ काण्ड ४६ गाथाटी० ।

आउंचणपट्टग-आकुञ्चनपट्टक-न० । पर्यस्तिकापट्टे, बृ० ।

तत्र निर्ग्रन्थीनां धारयितुं कल्पते (सूत्रम्)—

नो कप्पइ निग्गंथीणं आकुंचणपट्टगं धारित्तए वा परिहरित्तए वा ॥ ३६ ॥ कप्पइ निग्गंथाणं आकुंचणपट्टगं धारित्तए वा परिहरित्तए वा ॥३७॥

एवं यावद्दारुदण्डकसूत्रम् ।

अथामीषां सूत्राणां सम्बन्धमाह—

बंभवयपालणट्ठा, तहेव पट्टायियाउ समणीणं ।
बिइयपएण जईणं, पीढगफलए विवज्जित्ता ॥ २८५ ॥

यथा ब्रह्मव्रतपालनार्थमचेलत्वादीनि न कल्पन्ते । तथा ब्रह्मचर्यरक्षणार्थमेव श्रमणीनां पट्टादयोऽपि वा संदण्डकान्ता न कल्पन्ते । द्वितीयपदे तु यतीनां कल्पन्ते, परं पीठफलकानि वर्जयित्वा तानि साधूनामपवादमन्तरेणापि कल्पन्त एवेत्यर्थः। अत एतेषां सूत्राणामारम्भः । अनेन संबन्धेनायातानाममीषां (३६) प्रथमसूत्रस्य व्याख्या-नो कल्पते निर्ग्रन्थीनामाकुञ्चनपट्टं-पर्यस्तिकापट्टं धारयितुं वा परिहर्तुं वा ॥ ३६ ॥ कल्पते निर्ग्रन्थानामाकुञ्चनपट्टं धारयितुं वा परिहर्तुं वेति सूत्रार्थः ॥ ३७ ॥

अथ भाष्यम्-

गव्वो अवाउडत्तं, अणुवधिपलिमन्थुपरिवाओ ।
पट्टमतोलियदोसा, गिलाणियाए उ जयणाए ॥ २८६ ॥

पर्यस्तिकापट्टं परिदधानामार्यिकां दृष्ट्वा लोको ब्रूयात्-अहो अस्याः कियान् गर्वो यदेवं महिलाभवन्ती पर्यस्तिकां करोति अप्रावृता वा पर्यस्तिकां वा कुर्वाणा भवेत् । ' अणुवहि-त्ति ' य उपकारे वर्त्तते स उपधिरुच्यते । स च तासामुपकारं नायातीति कृत्वा अनुपधिरुभयकालं प्रत्युपेक्ष्यमाणे च तस्मिन् सूत्रार्थपरिमन्थः । शास्तुश्च-तीर्थकृतः परिवादो यथा नूनमसर्वज्ञोऽसौ येनेतः स पर्यस्तिकापट्टो न प्रतिषिद्धः । द्वितीयपदे यः संयती स्थविरो ग्लानतया यतनया अल्पसागारिकपर्यस्तिकापट्टः परिधातव्यः उपरि चान्यत्प्रावरणीयं कारणे च गृह्यमाणे योऽजालिको-जालरहितः स गृहीतव्यो जालसदृशेषु चिरदोषः एवं निर्ग्रन्थानामप्यकारणे पर्यस्तिकां कुर्वाणानां चतुर्लघु गुर्वादयश्च त एव दोषाः ।

कारणे पुनरयं विधिः—

थेरे व गिलाणे वा, सुत्तकाउमुवरिं तु पाउरणं ।
वसमए व चेट्ठो पुव्व--कतमसारिए वाए ॥ २८७ ॥

सूत्रपौरुषीम् ; उपलक्षणत्वादर्थपौरुषीं च कर्तुं; शिष्याणां दातुमित्यर्थः । स्थविरो ग्लानो वाचनाचार्यः पर्यस्तिकां कृत्वा परिप्रावृणुयात् । उत्तरार्द्धं पश्चाद् व्याख्यास्यते ।

स च पर्यस्तिकापट्टः कीदृश इत्याह-

फलो अचित्तो अह आविओ वा,
चउरंगुलो वित्थडओ असंधिमो ।
विस्सामहेउं तु सरीरगस्स,
दोसा अवट्ठंभगया य एवं ॥ २८८ ॥

फलाज्जातः फालः;सौत्रिक इत्यर्थः । आविकः-अकुर्वरः । अथ सौत्रिको न प्राप्यते तत आविको वा स च चतुरङ्गुलविस्तृतः । स्थूलोऽसंधिमश्चापान्तराले संधिरहितः एवंविधः पर्यस्तिकापट्टः शरीरस्य विश्रामहेतोर्गृह्यते ये वाऽवष्टम्भगताः " अंबरकुंथुहहिय " इत्यादिका दोषाः तथैवमाकुञ्चनपट्टे परिधीयमाने न भवन्ति । बृ० ४ उ० ।

आउंच-(ट) णा-आकुञ्चना-स्त्री० । आकुञ्चनं-गात्रसंकोचनं तदेवाकुञ्चना । सङ्कोचे, ध० ३ अधि० ।

आउंटण-आकुंचन-न० । ' आर्षेऽन्यदपि दृश्यते ' इति प्राकृतव्याकरणाच्चस्य टः । संकोचने, आव० ४ अ० । आउंटणं गात्रसंखेवो । आ० चू० ४ अ० । आवर्जने च । पञ्चा० ७ विव० ।

आउंटणपसारण-आकुञ्चनप्रसारण-न० । आकुञ्चनं जङ्घादेः संकोचनं, प्रसारणं च तस्यैव जङ्घादेः सङ्कुचितस्य ऋजुकरणं आकुञ्चन-प्रसारणे च । जङ्घादिसङ्कोचनाकुञ्चितजङ्घादृजुकरणयोस्तदात्मके, एकासनप्रत्याख्यानस्याकारविशेषे च । प्रव० । " अण्णत्थ आउंटणपसारणेणं " आकुञ्चनप्रसारणे चाऽसहिष्णुतया क्रियमाणे यत्किञ्चिदासनं चलति ततोऽन्यत्र प्रत्याख्यानं तस्मिन् हि क्रियमाणे न प्रत्याख्यानभङ्गः । प्रव० ४ द्वार । ध० । हत्थं वा पायं वा सीसं वा पसारे आउंटेज्ज वा पसारेज्ज वा ण भज्जेति । आ० चू० ६ अ० ।

आकुण्टनादिप्रस्तावादिदमाह—

देवे णं भंते ! महिड्ढिए०जाव महेसक्खे लोगंते ठिच्चा पभू अलोगंसि हत्थं वा०जाव ऊरूं वा आउंटावेत्तए वा पसारेत्तए वा ?, णो इणट्ठे समट्ठे, से केणऽट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ देवे णं महिड्ढिए०जाव महेसक्खे लोगंते ठिच्चा णो पभू अलोगंसि हत्थं वा ०जाव पसारेत्तए वा ?, गोयमा ! जीवा णं आहारोवचिया पोग्गला बोंदिचिया पोग्गला कडेवरचिया पोग्गला पोग्गला चेव पप्प जीवाण य अजीवाण य गइपरियाये आहिज्जइ, अलोए णं णेवऽत्थि जीवा णेवऽत्थि पोग्गला से तेणऽट्ठेणं ०जाव पसारेत्तए वा सेवं भंते ! भंते त्ति । (सूत्र-५८६)

'देवे णमि' त्यादि,'जीवा णं आहारोवचिया पोग्गल'त्ति-जीवानां; जीवानुगता इत्यर्थः। आहारोपचिता-आहाररूपतयोपचिताः । ' बोंदिचिया पोग्गल ' त्ति-अव्यक्तावयवशरीररूपचिताः 'बोंदिचिया पोग्गल' त्ति-अव्यक्तावयवशरीररूपतया चिताः ' कडेवरचिया पोग्गल ' त्ति-शरीररूपतया चिताः उपलक्षणत्वाच्चास्योच्छ्वासचिताः पुद्गला इत्याद्यपि द्रष्टव्यम् अनेन चेदमुक्तं-जीवानुगामिस्वभावाः पुद्गला भवन्ति ततश्च यत्रैव क्षेत्रे जीवास्तत्रैव पुद्गलानां गतिः स्यात्तथा 'पोग्गला चेव पप्प'त्ति-पुद्गलानेव प्राप्य-आश्रित्य जीवानां च 'अजीवाण य'त्ति-पुद्गलानां च गतिपर्यायो-गतिधर्मः 'आहिज्जइ'त्ति-आख्यायते । इदमुक्तं भवति-यत्र क्षेत्रे पुद्गलास्तत्रैव जीवानां पुद्गलानां च गतिर्भवति,एवं चालोके नैव सन्ति जी-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वा नैव च सन्ति पुद्गला इति तत्र जीवपुद्गलानां गतिर्नास्ति तदभावाच्चालोके देवो हस्ताद्याकुण्टयितुं प्रसारयितुं वा न प्रभुः । भ० १६ श० ८ उ० ।

आउअकरण-आयुष्करण-न०। आयुषः करणमिति । जीवितविपाकवेद्यस्यायुष्कर्मविशेषस्य निर्वर्तने, "आउअकरणं" (२०५× गा०) 'आयुःकरणम्' इति-आयुषः-पञ्चमकर्मप्रकृत्यात्मकस्य करणं-निर्वर्तनम्-आयुःकरणम् । उत्त०पाई० ४ अ० । (अत्र विस्तरः 'असंखय' शब्दे प्रथमभागे गतः ।)

आउकम्म-आयुष्कर्मन्-न० । एति-याति चेत्यायुस्तन्निबन्धनं कर्मायुष्कर्म । कर्मविशेषे, उत्त० १ अ० (तद्वक्तव्यता 'आउ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गता)

आउकम्मे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा-अद्धाउए चेव, भवाउए चेव । (सूत्र-१०५+) स्था० २ ठा० ४ उ० । (व्याख्या स्वस्वस्थाने)

इदानीं पञ्चविधमायुष्कर्म व्याचिख्यासुराह—

सुरनरतिरिनरयाऊ, हडिसरिसं ॥२३×॥

आयुःशब्दः प्रत्येकं योज्यते, ततश्च सुष्ठु राजन्ते इति सुराः। यद्वा-'सुरत्'ऐश्वर्यदीप्त्योः,सुरन्ति-विशिष्टमैश्वर्यमनुभवन्ति दिव्याभरणकान्त्या सहजशरीरकान्त्या च दीप्यन्त इति सुराः। यदिवा-सुष्ठु रान्ति-ददति प्रणतानामीप्सितमर्थं लवणाधिपसुस्थित इव लवणजलधौ मार्गं जनार्दनस्येति सुरा देवास्तेषामायुः सुरायुर्येन तत्त्ववस्थितिर्भवति १। नृणन्ति-निश्चिन्वन्ति वस्तुतत्त्वमिति नराः-मनुष्यास्तेषामायुर्नरायुस्तद्भवावस्थितिहेतुः २। 'तिरि' त्ति—प्राकृतत्वात्तिरोऽञ्चन्ति-गच्छन्तीति तिर्यञ्चः व्युत्पत्तिनिमित्तं चैतत्, प्रवृत्तिनिमित्तं तु तिर्यग्गतिनाम, एते चैकेन्द्रियादयः, ततस्तिरश्चामायुस्तिर्यगायुर्येनैतेषु स्थीयते । नरान् उपलक्षणत्वात् तिरश्चोऽपि प्रभूतपापकारिणः कायन्तीवाऽऽह्वयन्तीवेति नरकाः-नरकावासाः तत्रोत्पन्ना जन्तवोऽपि नरकाः, नरको वा विद्यते येषां ते "अभ्रादिभ्यः" ॥ ७ । २ । ४६ ॥ इत्यप्रत्यये नरकास्तेषामायुर्नरकायुर्येन ते तेषु ध्रियन्ते । "एतच्चायुर्हडिसदृशं भवति । कर्म० १ कर्म० (हडिदृष्टान्तः 'आउ' शब्देऽस्मिन्नेवभागे (८) अधिकाराङ्के गतः)

आउकाइय-अप्कायिक-पुं० । आपो—द्रवास्ता एव कायः शरीरं यस्येति अप्काय एवाप्कायिकः स्वार्थे इकप्रत्ययः । एकेन्द्रियसंसारसमापन्नजीवविशेषे, प्रज्ञा० १ पद । (अत्रस्था सर्वा वक्तव्यता 'आउकाय' शब्दादवगन्तव्या)

आउकाय-अप्काय-पुं० । आपः कायो यस्येति । एकेन्द्रियसंसारसमापन्नजीवभेदे, षट्कायभेदे च जीविनि, प्रज्ञा० १ पद । स० ।

विषय-सूची—

(१) अप्कायिकानां द्वैविध्यम् ।
(२) अप्कायिकस्य शरीरादिवर्णनम् ।
(३) सचित्ता-ऽचित्त-मिश्रविवेकः ।
(४) तीव्रोदकस्याऽचित्तत्वम् ।
(५) अप्कायशस्त्रनिरूपणम् ।
(६) सचित्ताऽप्कायपरिभोगविचारः ।
(७) अप्कायपरिभोगकारणानि ।
(८) अप्कायसमारम्भव्यावृत्तस्यैव मुनित्वम् ।
(९) शाक्याऽऽदिमुनयो नियमतः अप्कायिकांस्तदाश्रितजीवांश्च विहिंसन्ति ।
(१०) अप्कायविहंसननिषेधः ।
(११) अप्कायस्पर्शनिषेधः ।
(१२) शीतोदकाऽऽदिपरिसेवननिषेधः ।

(१) संप्रत्यप्कायिकप्रतिपादनार्थमाह-ते च द्विविधाः-

से किं तं आउका (का) इया ?, आउकाइया दुविहा पन्नत्ता । तं जहा-सुहुमआउकाइया य, बादर आउकाइया य । से किं तं सुहुमआउकाइया ?, सुहुमआउकाइया दुविहा, पन्नत्ता, तं जहा-पज्जत्तसुहुमआउकाइया य, अपज्जत्तसुहुमआउकाइया य । सेत्तं सुहुमआउकाइया ॥ से किं तं बादरआउकाइया ?, बादरआउकाइया अणेगविहा पण्णत्ता, तं जहा-ओसा, हिमए, महिया, करए, हरतणुए, सुद्धोदए, सीतोदए, उसिणोदए, खारोदये, खट्टोदए, अंबिलोदए, लवणोदए, वारुणोदए, खीरोदए, घओदए, खोदोदए, रसोदए, जेयावण्णे, तहप्पगारा । ते समासओ दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-पज्जत्तगा य, अपज्जत्तगा य । तत्थ णं जे ते अपज्जत्तगा ते णं असंपत्ता । तत्थ णं जे ते पज्जत्ता एतेसि णं वण्णाऽऽदेसेणं गंधादेसेणं रसादेसेणं फासादेसेणं सहस्सग्गसो विहाणाइं संखेज्जाइं जोणिप्पमुहसयसहस्साइं, पज्जत्तगणिस्साए अपज्जत्तगा वक्कमंति । जत्थ एगो तत्थ नियमा असंखेज्जा । सेत्तं बादरआउकाइया । सेत्तं आउकाइया । (सूत्र-१६)

'उस्सा' इत्यवश्यायः स्नेहः, 'हिमं' स्त्यानोदकं, 'महिका' गर्भमासेषु सूक्ष्मवर्षः, करको-घनोपलः, हरतनुर्यो भुवमुद्भिद्य गोधूमाङ्कुरतृणाग्रादिषु बद्धो बिन्दुरुपजायते, 'शुद्धोदकम्' अन्तरिक्षसमुद्भवं नद्यादिगतं च, तच्च स्पर्शरसादिभेदादनेकभेदं, तदेवानेकभेदत्वं दर्शयति-शीतोदकं-नदीतडागाऽवटवापीपुष्करिण्यादिषु शीतपरिणामम्, उष्णोदकंस्वभावत एव क्वचिन्निर्झरादावुष्णपरिणामं क्षारोदकम्-ईषल्लवणस्वभावं यथा लाटदेशादौ केषुचिदवटेषु, खट्टोदकम्-ईषदम्लपरिणामम्, अम्लोदकं-स्वभावत एवाम्लपरिणामं काञ्जिकवत्, लवणोदकं लवणसमुद्रे, वारुणं वारुणसमुद्रे, क्षीरोदकं क्षीरसमुद्रे, क्षोदोदकं इक्षुसमुद्रे, रसोदकं पुष्करवरसमुद्रादिषु, येऽपि चान्ये तथाप्रकाराः-रसस्पर्शादिभेदभिन्ना घृतोदकादयो बादरा अप्कायिकाः ते सर्वे बादराप्कायिकतया प्रतिपत्तव्याः, 'ते समासओ' इत्यादि प्राग्वत्, नवरं सङ्ख्येयानि योनिप्रमुखाणि शतसहस्राणि इत्यत्रापि सप्त वेदितव्यानि । उक्ता अप्कायिकाः । प्रज्ञा० १ पद ।

आउस्स वि दाराइं, ताइं जाइं हवंति पुढवीए ।
नाणत्तीउ विहाणे, परिमाणुवभोगसत्थे य ॥ १०६ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अप्कायस्यापि तान्येव द्वाराणि भवन्ति; यानि पृथिव्याः प्रतिपादितानीति , नानात्वं भेदरूपं विधानपरिमाणोपभोगशस्त्रविषयं द्रष्टव्यं , चशब्दाल्लक्षणविषयं च, तुशब्दोऽवधारणार्थः, एतद्गतमेव नानात्वं; नाऽन्यगतमिति ।

तत्र विधानं-प्ररूपणा , तद्गतं नानात्वं प्रदर्शयितुमाह—

दुविहा य आउजीवा , सुहुमा तह बायरा य लोयम्मि ।
सुहुमा य सव्वलोए , पंचेव य बायरविहाणा ॥१०७॥

स्पष्टा ।

तत्र पञ्च बादरविधानानि दर्शयितुमाह—

सुद्धोदए य ओसा-हिमे य महिया तरतणू चेव ।
बायरआउविहाणा , पंचविहा वणिणया एए ॥ १०८ ॥

शुद्धोदकं तडागसमुद्रनदीह्रदावटादिगतमवश्यायादिरहितमिति, अवश्यायो-रजन्यां यस्नेहः पतति , हिमं तु-शिशिरसमये शीतपुद्गलसम्पर्काज्जलमेव कठिनीभूतमिति , गर्भमासादिषु सायं प्रातर्वा धूमिकापातो महिकेत्युच्यते , वर्षाशरत्कालयोर्हरिताङ्कुरमस्तकस्थितो जलबिन्दुर्भूमिस्नेहसम्पर्कोद्भूतो हरतनुशब्देनाभिधीयते ,एवमेते पञ्च बादराप्कायविधयो व्यावर्णिताः । एते बादराप्कायाः समासतो द्विधा पर्याप्तका, अपर्याप्तकाश्च । तत्रापर्याप्तका-वर्णादीनाम्, संप्राप्तपर्याप्तकास्तु-वर्णगन्धरसस्पर्शादेशैः सहस्राग्रशो भिद्यन्ते ततश्च संख्येयानि योनिप्रमुखाणि शतसहस्राणि भवन्ति भेदानामित्यवगन्तव्यम् । संवृतयोनयश्चैते सा च योनिः सचित्ताऽचित्त-मिश्रभेदात् त्रिधा । पुनश्च शीतोष्णोभयभेदात् त्रिधैव । एवं गण्यमानाः योनीनां सप्त लक्षा भवन्ति इति प्ररूपणानन्तरं परिमाणद्वारमाह—

जे बायरपज्जत्ता , पयरस्स असंखभागमेत्ता ते ।
सेसा तिन्नि वि रासी , वीसुं लोगा असंखेज्जा ॥ १०९ ॥

'जे बायरे' त्यादि, ये बादराप्कायपर्याप्तकास्ते संवर्तितलोकप्रतरासंख्येयभागप्रदेशराशिपरिमाणाः । शेषास्तु त्रयोऽपि विष्वक्-पृथगसंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिपरिमाणा इति । विशेषश्चायम्-बादरपृथिवीकायपर्याप्तकेभ्यो बादराप्कायपर्याप्तका असंख्येयगुणाः,बादरपृथिवीकायाऽपर्याप्तकेभ्यो बादराप्कायिकाऽपर्याप्तका असंख्येयगुणाः, सूक्ष्मपृथिवीकायाऽपर्याप्तकेभ्यः सूक्ष्माप्कायाऽपर्याप्तका विशेषाधिकाः, सूक्ष्मपृथिवीकायपर्याप्तकेभ्यः सूक्ष्माप्कायपर्याप्तका विशेषाधिकाः । आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

भौमान्तरिक्षभेदाद् द्विविधत्वम् । अप्कायद्वारमाह—

आउकाओ दुविहो , भोमो तह अन्तलिक्खो य ॥२८॥

अप्कायो द्विविधः-भौमः, आन्तरिक्षश्च ।

इदानीं प्रत्यासत्तिन्यायादान्तरिक्षस्तावदुच्यते, तत्रान्तरिक्षमपि द्विविधम्-

मिहिया वासं पुण अं-तलिक्खअं० ॥ २९+ ॥

सोऽन्तरिक्षजो द्विविधः-महिका--धूमिकारूपोऽप्कायः 'वासं ' ति-वर्षारूपश्चाप्कायः । ओघ० । (भौमाप्कायिकव्याख्यानमग्रे १७५७ गाथया करिष्यते)

(२) अप्कायिकस्य शरीरादि यथा—

तेसि णं भंते ! जीवाणं कति सरीया पण्णत्ता ?, गोयमा ! तओ सरीरया पण्णत्ता , तं जहा- ओरालित्ते , तेयत्ते , कम्मत्ते, जहेव सुहुमपुढविकाइयाणं । नवरं थिवुगसंठिया पण्णत्ता , सेसं तं चेव ०जाव दुगतिया दुआगतिया परित्ता असंखेज्जा पण्णत्ता । सेत्तं सुहुमआउकाइया । (सूत्र-१६×) । से किं तं बायरआउकाइया ?, बायरआउकाइया अणेगविहा पण्णत्ता, तं जहा-उसा हिमे ०जाव जे यावन्ने तहप्पगारा । ते समासओ दुविहा पण्णत्ता , तं जहा-पज्जत्ता य, अपज्जत्ता य । तं चेव सव्वं । नवरं थिवुगसंठिया , चत्तारि लेसाओ, आहारो नियमा छद्दिसिं , उववाओ तिरिक्खजोणियमणुस्सदेवेहिं , ठिती-जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं , उक्कोसेणं सत्तवाससहस्साइं । सेसं तं चेव । जहा-बायरपुढविकाइया णं ०जाव दुगतिया तिआगतिया परित्ता असंखेज्जा पन्नत्ता समणाउसो ! । सेत्तं बायरआउकाइया । सेत्तं आउकाइया । (सूत्र--१७)

' ते समासतो ' इत्यादि, प्राग्वद् , नवरं संख्येयानि योनिप्रमुखाणि शतसहस्राणीत्यत्रापि सप्त वेदितव्यानि " तेसि णं भंते ! जीवाणं कइ सरीरगा " इत्यादि, द्वारकलापचिन्तायामपि बादरपृथिवीकायिकगमोऽनुगन्तव्यो, नवरं संस्थानद्वारे-शरीरकाणि स्तिबुकसंस्थानसंस्थितानि वक्तव्यानि । स्थितिद्वारे-जघन्यतः स्थितिरन्तर्मुहूर्तम् , उत्कर्षतः सप्तवर्षसहस्राणि । शेषं तथैव । जी० १ प्रति० ।

अप्कायिकस्य जीवत्वं यथा-सांप्रतं परिमाणद्वारानन्तरं चशब्दसूचितलक्षणद्वारमाह—

जह हत्थिस्स सरीरं, कललाऽवत्थस्स अहुणोववन्नस्स ।
होइ उदगंडगस्स य, एसुवमा आउजीवाणं ॥११०॥

अथवा-पर आक्षिपति-नाप्कायो जीवः, तल्लक्षणायोगात् , प्रश्रवणादिवदित्यस्य हेतोरसिद्धताद्भावनार्थं दृष्टान्तद्वारेण लक्षणमाह-' जह ' त्यादि, यथा हस्तिनः शरीरं कललाऽवस्थायामधुनोत्पन्नस्य द्रवं, चेतनञ्च दृष्टमेवमप्कायोऽपीति । यथा वा-उदकप्रधानमण्डकमुदकाण्डकम् ; अधुनोत्पन्नमित्यर्थः, तन्मध्यव्यवस्थितं रसमात्रमसंजातावयवमनभिव्यक्तचञ्च्वादिप्रविभागञ्चेतनावद् दृष्टम् । एषा एवोपमाऽप्कायजीवानामपीति । हस्तिशरीरकललग्रहणञ्च महाकायत्वात्तद्बहु भवतीत्यतः सुखेन प्रतिपाद्यते । अधुनोपपन्नग्रहणं सप्ताहपरिग्रहार्थं, यतः सप्ताहमेव कललं भवति, परतस्त्वर्बुदादि । अण्डकेऽप्युदकग्रहणमेवमेव, प्रयोगश्चायम्-सचेतना आपः शस्त्रानुपहतत्वे सति द्रवत्वात् , हस्तिशरीरोपादानभूतकललवत् , विशेषणोपादानात्प्रश्रवणादिव्युदासः । तथा सात्मकं तोयम् , अनुपहतत्वादण्डकमध्यस्थितकललवदिति । तथा आपो जीवशरीराणि छेद्यत्वाद् भेद्यत्वादुत्क्षेप्यत्वाद्भोज्यत्वाद्भोग्यत्वाद् घ्रेयत्वाद्रसनीयत्वात् स्पर्शनीयत्वात् दृश्यत्वात् द्रव्यत्वादेवं सर्वेऽपि शरीरधर्माः हेतुत्वेनोपन्यसनीयाः गगनवर्जभूतधर्माः स्वरूपवत्त्वाकारवत्त्वादयः । सर्वत्रायं दृष्टान्तः-सास्नाविषाणादिसंघातवदिति । ननु च रूपवत्त्वाऽऽकारवत्त्वादयो भूतधर्माः परमाणु-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्यपि दृष्टा इत्यनैकान्तिकता, नैतदेवं यदत्र छेद्यत्वादिहेतुत्वेनोपन्यस्तं तत्सर्वमिन्द्रियव्यवहारानुपाति, न तथा परमाणवोऽतः प्रकरणादनीन्द्रियपरमाणुव्यवच्छेदः । यदि वा-नैवासौ विपक्षः सर्वस्य पुद्गलद्रव्यस्य द्रव्यशरीराभ्युपगमात्, जीवसहितासहितत्वं तु विशेषः, उक्तञ्च-" तणवो णुभातिविगार-मुत्तजाइत्तउणिलं ता उ । सत्थासत्थहयाओ, निज्जीवसजीवरूवाओ ॥ १ ॥ " एवं शरीरत्वे सिद्धे सति प्रमाणम् । सचेतना हिमादयः, क्वचित् अप्कायत्वादितरोदकवत् इति । तथा सचेतना आपः, क्वचित् खातभूमिस्वाभाविकसम्भवत्वाद्दर्दुरवत् । अथवा-सचेतना अन्तरिक्षाद्भवा आपः; स्वाभाविकव्योमसंभूतसंपातित्वात्मत्स्यवत्, अत एते एवंविधलक्षणभाक्त्वाज्जीवा भवन्त्यप्कायाः । आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

भौमाऽप्कायः—

भूमिक्खयसाभाविय--संभवओ दद्दुरो व्व जलमुत्तं ।

अहवा मच्छो व्व सभा--ववोमसंभूयपायाओ ॥१७५७॥

विशे० । (अस्या गाथायाः व्याख्यानं ' सचेयण ' शब्दे सप्तमे भागे करिष्यते) भौमं जलं सचित्तं, भूमिखाते स्वाभाविकसंभवात्, दर्दुरवदिति प्रयोगः । यथा-दर्दुरस्य भूमिखनने स्वाभाविकः संभवो जायते, तथा जलस्यापि भूमिखाते स्वाभाविकसंभव इति । अथवा-सात्मकमन्तरिक्षोदकं, स्वभावतो व्योमसंभूतस्य पातान्मत्स्यवत्, यथा मत्स्यस्य स्वभावेन व्योम्नि संभूतस्य पातो दृश्यते तथाऽन्तरिक्षजलस्यापि, इति सिद्धं जीवत्वं जलस्य । ध० ३ अधि० ३८ श्लोक । सूत्र० ।

आउकाइया, (दश०) आऊ चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढो सत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं । (सूत्र-१+) दश० ४ अ० ।

कललंऽडरसादीया, जह जीवा तहेव आउ जीवाऽवि ॥ ७५+ ॥

यथा कललं गर्भप्रथमाऽवस्थारूपम् अण्डरसः इत्येवमाद्यो जीवा अपि प्रतिपत्तव्याः, प्रयोगः अप्कायिका जीवा अनुपहतत्वे सति द्रवत्वात् कललाण्डरसादिवद् । व्य० १० उ० ।

इहं च खलु भो अणगाराणं उदयजीवा वियाहिया (सूत्र-२४) ।

उदकरूपा जीवाः । आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

उदकाश्रिताश्च जीवाः सन्ति । तथा चाह—

संति पाणा उदगणिस्सिया जीवा अणेगे ।(सूत्र-२३+)

' संति पाणा ' इत्यादि, पूर्ववत्, कियन्तः पुनस्त इति दर्शयति-' जीवा अणेगे ' पुनर्जीवोपादानमुदकाश्रितप्रभूतजीवभेदज्ञापनार्थं, ततश्चेदमुक्तं भवति-एकैकस्मिन् जीवभेदे उदकाश्रिता अनेके-असंख्येयाः प्राणिनो भवन्ति । आचा० १ श्रु०१ अ०३ उ० । यद्येवम्-उदकमेव जीवास्ततोऽवश्यं तत्परिभोगे सति प्राणातिपातभाजः साधव इति, अत्रोच्यते-नैव तदेवं यतो वयं त्रिविधमप्कायमाचक्ष्महे-सचित्तं, मिश्रम्, अचित्तं च । आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

(३) सचित्ताऽचित्तमिश्रविवेकः—

आउकाओ तिविहो, सचित्तो मीसओ य अचित्तो ।

सच्चित्तो पुण दुविहो, निच्छय ववहारओ चेव ॥१६॥

अप्कायस्त्रिविधः, तद्यथा-सचित्तो, मिश्रः, अचित्तश्च । तत्र सचित्तो द्विधा-निश्चयतो, व्यवहारतश्च ।

एतदेव सचित्तस्य निश्चयव्यवहाराभ्यां द्वैविध्यमुपदर्शयति-

घणउदही घणवलया, करगसमुद्दद्दहाण बहुमज्झे ।

अह निच्छयसचित्तो, ववहारनयस्स अवडाई ॥१७॥

घनोदधयो-नरकपृथ्वीनामाधारभूताः कठिनतोयाः समुद्राः, घनवलयास्तासामेव नरकपृथिवीनां पार्श्ववर्तिवृत्ताकारतोयाः ये च ' करका ' घनोपलास्तथा समुद्रह्रदानां-लवणादिसमुद्रपद्मादिह्रदानां बहुमध्यभागेऽप्कायाः 'अह' त्ति-एष सर्वोऽपि अप्कायो निश्चयसचित्तः-एकान्तसचित्तः, शेषस्तु अवटाऽऽदिः-अवटवापीतडागादिस्थः । इह अवटादिस्थोऽवटादिशब्देन उक्तस्तात्स्थ्येन तद्व्यपदेशप्रवृत्तेः यथा मञ्चाः क्रोशन्तीत्यादौ, तत्रावटः-कूपस्तदादिगतोऽप्कायो व्यवहारनयस्य व्यवहारनयमतेन सचित्तः । उक्तः सचित्तोऽप्कायः ।

सम्प्रति मिश्रमाह—

उसिणोदगमणुवत्ते, दंडे वासे य पडियमत्तम्मि ।

मोत्तूणाऽऽदेसतिगं, चाउलउदगं बहुपसन्नं ॥ १८ ॥

अनुद्वृत्ते दण्डे, अत्र च जातावेकवचनं, ततोऽयमर्थः-अनुद्वृत्तेषु त्रिषु दण्डेषु उत्कालेषु यदुष्णोदकं तन्मिश्रमिति प्रस्तावादवगम्यते, तथा हि-प्रथमे दण्डे जायमाने कश्चित्परिणमति कश्चिन्नेति मिश्रः, द्वितीये प्रभूतः परिणमति स्तोकोऽवतिष्ठते, तृतीये तु सर्वोऽप्यचित्तो भवति । ततोऽनुद्वृत्तेषु त्रिषु दण्डेषु उष्णोदकं मिश्रमत्र सम्भवति । तथा वर्षे-वृष्टौ पतितमात्रं यज्जलं ग्रामनगरादिषु प्रभूततिर्यग्मनुष्यप्रचारसंभविषु भूमौ वर्तते तद्यावन्नाद्याप्यचित्तीभवति तावन्मिश्रमवगन्तव्यम् । ग्रामनगरादिभ्योऽपि बहिस्तावद्यदि स्तोकं मेघजलं निपतति तदानीं तदपि पतितमात्रं मिश्रमवसेयम् । पृथिवीकायसम्पर्कतस्तस्य परिणममानत्वात् यदा्यतिप्रभूतं जलं मेघो वर्षति तदाऽपि प्रथमतो निपतत् पृथिवीकायसंपर्कतः परिणममानं मिश्रं, शेषं तु पश्चान्निपतत्सचित्तमिति, तथा-मुक्त्वा-परिहृत्य आदेशत्रिकं-मतत्रिकं तदुक्ता मिश्रता न प्राप्नोति भावार्थः । चाउलोदकम्-तण्डुलोदकम् अबहुप्रसन्नं नातिस्वच्छीभूतं मिश्रमिति गाथार्थः । अबहुप्रसन्नमित्यत्रादावकारलोप आर्षत्वात् । (आदेशत्रिकम् ' चाउलोदग ' शब्दे तृतीयभागे दर्शयिष्यते ।)

अचित्तमिश्राऽप्कायमाह—

सीउण्हखारखत्ते, अग्गीलोणूसअंबिले नेहे ।

वुक्कंतजोणिएणं, पओयणं तेणिमं होइ ॥ २२ ॥

इयं गाथा प्रागिव व्याख्येया । नवरं पृथिवीकायस्थाने अप्कायाभिलापः कर्तव्यः । इह या स्वकायपरकायशस्त्रयोजना द्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षया वा अचित्तत्वभावना साऽपि प्रागिव यथा योगमप्कायेऽपि भावनीया । तथा-यदा दधितैलादिसत्केषु घटेषु क्षिप्तस्य शुद्धजलादेरुपरि दध्याद्यवयवसत्का तरी जायते तदा सा यदि परिस्थूरा तर्हि एकया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पौरुष्या तत्परिणमति । मध्यमभावा चेत्तर्हि द्वाभ्यां पौरुषीभ्यां, स्तोका चेत्तर्हि तिसृभिः पौरुषीभिरिति ।

इह तावद् व्युत्क्रान्तयोनिकेनाप्कायेनेदं प्रयोजनमित्युक्तम्, अनस्तदेव दर्शयति-

परिसेयपियणहत्था-इधोवणं चीरधोवणं चेव ।
आयमणभाणधुवणं, एमाइपओयणं बहुहा ॥ २३ ॥

परिषेको—दुष्टव्रणादेरुत्थितस्योपरि पानीयेन सेचनम् । पानम्—तृडपनोदाय जलस्याभ्यवहरणम् । हस्तादिधावनं-करचरणप्रभृतिशरीरावयवानां कारणमुद्दिश्य प्रक्षालनम्, चीवरधावनं-वस्त्रप्रक्षालनम् । अस्य भिन्नविभक्तिनिर्देशो न सदैव साधुनोपधिप्रक्षालनं कर्त्तव्यमिति प्रदर्शनार्थः । आचमनम्-पुरीषोत्सर्गानन्तरं शौचकरणम्, 'भाणधुवणं' तिपात्रकादिभाजनप्रक्षालनम् । एवमादिकमादिशब्दात्-ग्लानकार्यादिपरिग्रहः । अचित्तेनाप्कायेन प्रयोजनं बहुधा-बहुप्रकारं द्रष्टव्यम् । पिं० । ओघ० । ध० ।

(४) तीव्रोदकस्याचित्तत्वम्—

" सिव्वोदगस्स गहणं, केइ भायणेसु असुइपडिसेहो ।
गिहिभायणेसु गहणं, ठिअवासे मीसगं छारो ॥ १ ॥ "

(अस्या गाथाया व्याख्या ' अचित्त ' शब्दे प्रथमभागे गता) ध० २ अ० । तत्र योऽचित्तोऽप्कायस्तेनोपयोगविधिः साधूनां, नेतराभ्यां, कथं पुनरसौ भवत्यचित्तः, किं स्वभावाद्, आहोस्विच्छस्त्रसम्बन्धात्, उभयथापीति । तत्र यः स्वभावादेवाचित्तीभवति न बाह्यशस्त्रसम्बन्धात्तमचित्तं जानाना अपि केवलमनःपर्यायावधिश्रुतज्ञानिनो न परिभुञ्जते अनवस्थाप्रसङ्गभीरुतया । यतोऽनुश्रूयते भगवता किल श्रीवर्द्धमानस्वामिना विमलसलिलसमुल्लसत्तरङ्गः शैवलपटलत्रसादिरहितो महाह्रदो व्यपगताशेषजलजन्तुकोऽचित्तवारिपूर्णः स्वशिष्याणां तृड्बाधितानामपि पानाय नानुज्ञेः । तथा अचित्ततिलशकटस्थण्डिलपरिभोगानुज्ञा नाऽनवस्थादोषसंरक्षणाय भगवता न कृतेति श्रुतज्ञानप्रामाण्यज्ञापनार्थश्च । तथाहि—सामान्यश्रुतज्ञानी बाह्येन्धनसम्पर्कादुषितस्वरूपमेवाचित्तमिति व्यवहरति, जलं, न पुनर्निरिन्धनमेवेति । अतो यद्-बाह्यशस्त्रसम्पर्कात्परिणामान्तरापन्नं वर्णादिभिस्तदचित्तं साधुपरिभोगाय कल्पते । आचा०१ श्रु० १ अ० ३ उ० २४ सूत्रटी० ।

(५) किम्पुनस्तच्छस्त्रमित्यत आह—

उस्सिंचणगालणधो-यणे य उवकरणकोसभंडे य ।
बायर आउकाए, एवं तु समासओ सत्थं ॥ ११३ ॥
किंची सकायसत्थं, किंची परकायतदुभयं किंची ।
एयं तु दव्वसत्थं, भावे य असंजमो सत्थं ॥ ११४ ॥

उस्सिंचणे ' त्यादि, शस्त्रं द्रव्यभावभेदात् द्विधा । द्रव्यशस्त्रमपि समास-विभागभेदात् द्विधैव । तत्र समासतो द्रव्यशस्त्रमिदमूर्ध्वसेचनम् उत्सेचनं-कूपादेः कोशादिनोत्क्षेपणमित्यर्थः । गालनं-घनमसृणवस्त्राद्यन्तेन । धावनं-वस्त्राद्युपकरणचर्मकोशघटादिभाण्डकविषयम्, एवमादिकं बादराप्काय । एतत्पूर्वोक्तं समासतः-सामान्येन शस्त्रम्, तुशब्दो विभागापेक्षया विशेषणार्थः ॥११३॥ विभागतस्त्विदम्-' किंची ' त्यादि, किञ्चित् स्वकायशस्त्रं नादेयं तडागस्य । किञ्चित्परकायशस्त्रं मृत्तिकास्नेहक्षारादि । किंचिदुभयम्-उदकमिश्रा मृत्तिकोदकस्य । आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

सत्थं चेत्थं अणुवीइपासा पुढो सत्थं पवेइयं । (सूत्र-२५)

शस्यन्ते-हिंस्यन्ते अनेन प्राणिन इति शस्त्रं तच्चोत्सेचनगालनोपकरणधावनादि स्वकायादि च वर्णाद्यापत्तयो वा पूर्वावस्थाविलक्षणाः शस्त्रम् । तथा हि-अग्निपुद्गलानुगतत्वादीषत्पिङ्गलं जलं भवत्युष्णं गन्धतोऽपि धूमगन्धि रसतो विरसं, स्पर्शत उष्णम् । तच्चोद्धृतत्रिदण्डमेवंविधावस्थं यदितत: कल्पते, नान्यथा । तथा कचवरकरीषगोमूत्रोपादीन्धनसम्बन्धात् स्तोकं स्तोकमध्यबहुभेदात्, स्तोकं स्तोकं प्रक्षिप्यतीत्यादिचतुर्भङ्गिकाभावना कार्या । एवमेतत्त्रिविधं शस्त्रं चशब्दोऽवधारणार्थः । अन्यतमशस्त्रसम्पर्कविध्वस्तमेव ग्राह्यं नान्यथेति । ' एत्थं ' ति-एतस्मिन्नप्काये प्रस्तुते अनुविचिन्त्य-विचार्य-इदमस्य शस्त्रमित्येवं ग्राह्यम् । पश्येत्यनेन शिष्यस्य चोदनेति । तदेवं नानाविधं शस्त्रमप्कायस्यास्तीति प्रतिपादितम्, एतदेव दर्शयति—'पुढो सत्थं पवेदितं' पृथग्विभिन्नमुत्सेचनादिकं शस्त्रं प्रवेदितम्-आख्यातं भगवता, पाठान्तरं वा-'पुढोऽपासं पवेदितं' एवं पृथग्विभिन्नं लक्षणेन शस्त्रेण परिणामितमुदकग्रहणमपाशं संप्रवेदितम्—आख्यातं भगवता, अपाशः-अबन्धनं शस्त्रपरिणामितोदकग्रहणमबन्धनमाख्यातमिति यावदेवं तावत्साधूनां सचित्तमिश्राप्कायपरित्यागेनाचित्तपयसा परिभोगः प्रतिपादितः । आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

(६) सचित्ताप्कायपरिभोगविचारः ।

इच्छिज्जइ जत्थ सया, बीयपएणाऽवि फासुयं उदयं ।
आगमविहिणा निउणं, गोयमा! गच्छं तयं भणियं ॥७८॥

इष्यते-वाञ्छ्यते यत्र गणे सदा-नित्यम् उत्सर्गपदापेक्षया द्वितीयपदम्-अपवादपदं तेनापि किं पुनरुत्सर्गपदेनेत्यपि शब्दार्थः । प्रगता असवः-प्राणा यस्मात्तत्प्रासुकं, किम् ? उदकं-जलं तच्च उत्कालप्रयोत्कलनादिप्रकारेण प्रासुकीस्यात्; न तु तप्तमात्रम् । यत उक्तं दशवैकालिके—

" गिहिणो वेयावडियं, जायआजीववत्तिया !
तत्तानिव्वुडभोइत्तं, आउरस्सरणाणि य ॥ १ ॥ "

तप्तानिर्वृतभोजित्वं-तप्तं च तदनिर्वृतं चात्रिदण्डोद्वृत्तं च । ' उदकमि ' ति विशेषणान्यथानुपपत्त्या गम्यते, तद्भोजित्वं मिश्रसचित्तोदकभोजित्वमित्यर्थः । आगमविधिना-सिद्धान्तोक्तप्रकारेण निपुणं यथा स्यात्तथा हे गौतम ! स गच्छो भणितः । ग० २ अधि० ।

सचित्तस्य तु बिन्दुमात्रस्यापि परिभोगो न कल्पते—

जत्थ य बाहिरपाणिय, बिंदूमित्तं पि गिम्हमाईसु ।
तिण्हासोसियपाणा, मरणे वि मुनी न गिण्हंति ॥७७॥

हे गौतम ! यत्र—गच्छे बाह्यपानीयबिन्दुमात्रमपि-सचित्तजललेशमात्रमपि ग्रीष्मादिषु कालेषु तृष्णया—द्वितीयपरीषहेण शोषिता-ग्लानिं प्रापिताः प्राणा-इन्द्रियादयो येषां ते तृष्णाशोषितप्राणाः मरणान्तेऽपि मुनयः-साधवो न गृह्णन्ति क्षुल्लकवत् ! तथाहि—" उज्जेणी नयरी । तत्थ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धणमित्तो नाम वाणियओ। तस्स पुत्तो धणसम्मा नाम। सो धणमित्तो पुत्तेण सह पव्वइओ। अन्नया य ते साहू विहरंता मज्झण्हसमये एलगच्छ (त्थ) पुरपहे पडिया। सो वि खुड्डओ तिसाए अभिभूओ सणिअं सणिअं एइ, सोऽवि से खंतओ सिणेहाणुरागेण पच्छा उ एइ। साहुणो वि पुरओ वच्चंति। अंतरा य नई समावडिया खंतएण भणियं—एहि पुत्ता ! पियसु पाणियं नित्थरसु आवइं, पच्छा आलोइज्जासि, सो न इच्छति। खंतो नइं उत्तिण्णो, चिंतइ-अओ सरामि मणागं जाव एस खुड्डगो पाणियं पियइ। मा ममासंकाए न पाही। एगंते पडिच्छइ ०जाव खुड्डो पत्तो नई वड्ढन्नयाए सत्तसारयाए ण पीयं। अन्ने भणंति-अइवाहिओ हंत पिबामि पाणियं पच्छा गुरुमूले पायच्छित्तं पडिवज्जिस्सामि त्ति उक्खित्तो जलंजली। अह से चिंता जाया। कहमेए हलहलए-जीवे पियामि, जओ-

"एक्कम्मि उदगबिंदुम्मि, जे जीवा जिणवरेहिँ पन्नत्ता।
ते पारेवयमित्ता, जंबुद्दीवे न माएज्जा ॥ १ ॥
जत्थ जलं तत्थ वणं, जत्थ वणं तत्थ निच्छओ तेऊ।
तेऊवाउसहगओ, तसा य पच्चक्खया चेव ॥ २ ॥
ता हंतूण परपा-णे य अप्पाणं जो करेइ सप्पाणं।
अप्पाणं दिवसाणं, कएण नासेइ अप्पाणं" ॥ ३ ॥

(ग०) एवं भावेतेण अइसंविग्गेण न पीयं उत्तिन्नो नई आसाए छिन्नाए नमोक्कारं भायंतो सुहपरिणामो कालगओ देवेसु उववन्नो। ओहिपउत्तो ०जाव खुड्डगसरीरं पासइ तहिमणुपविट्ठो खंतमणुगच्छइ खंतो वि एइ त्ति पंथिओ। पच्छा देवेण अणुकंपाए साहूणं गोकुलाणि विउव्वियाणि। साहू वि तासु वइगासु तक्काईणि गिण्हंति वइया परंपरएण जणवयं पत्ता। पच्छिमाए वइयाए देवेण विंटिया पम्हुसाविया जाणावणनिमित्तं, एगो य साहू नियत्तो तयवत्थं पेच्छइ विंटियं नऽत्थि वइया, आगंतूण समाहियं तेण, पच्छा नायं तेहिं सा दिव्वं ति। इत्थंतरे देवेण साहू वंदिया, खंतो न वंदिओ। तेहिं पुच्छिओ किमेयं न वंदसि। तओ सव्वं परिकहेइ नियवइअरं, भणइ य-अहं एएण परिचत्तो वयलोवेण दोग्गइभायणं कओ आसि तुममेयं पियाहि जंपंतेण जइ तं पाणियं पियंतो तो संसारं भमंतो, देवो पडिगउ" त्ति। हे गौतम ! स गच्छो भय इति शेषः। गाथाच्छन्दः। ग० २ अधि०।

(७) अप्कायपरिभोगकारणानि यथा—

ण्हाणे पियणे तह धो-यणे य भत्तकरणे य सेए य।
आउस्स उ परिभोगो, गमणागमणे य जीवाणं ॥१११॥

स्नान-पान-धावन-भक्त-करणसेकयानपात्रोडुपगमनाऽगमनादिरुपभोगः। एतत्परिभोगाभिलाषिणो जीवा एतानि कारणान्युद्दिश्याऽप्कायवधे प्रवर्त्तन्त इति दर्शयति-

एएहिँ कारणेहिं, हिंसंति आउकाइए जीवे।
सायं गवेसमाणा, परस्स दुक्खं उदीरेंति ॥ ११२ ॥

एभिः-स्नानावगाहनादिकैः कारणैरुपस्थितैर्विषयविषमोहितात्मानो निष्करुणा अप्कायिकान् जीवान् हिंसन्ति-व्यापादयन्ति, किमर्थमित्याह-सातं-सुखं तदात्मनोऽन्वेषयन्तः-प्रार्थयन्तः हिताहितविचारशून्यमनसः कतिपयदिवसस्थायिरम्ययौवनदर्पाध्मातचेतसः सन्तः सद्विवेकरहितास्तथा विवेकिजनसंसर्गविकलाः परस्य- अपांदर्जन्तुगणस्य दुःखम्-असातलक्षणं तत् उदीरयन्ति; सातवेदनीयमुत्पादयन्तीत्यर्थः। आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ०।

(८) अप्कायसमारम्भव्यावृत्तस्यैव मुनित्वम्—

से बेमि जहा अणगारे उज्जुकडे नियागपडिवण्णे अमायं कुव्वमाणे वियाहिए। (सूत्र-१८)

स यथा पृथिवीकायसमारम्भव्यावृत्त्युत्तरकालं सम्पूर्णोऽनगाराख्यपदभाग् भवति तदहं ब्रवीमि। अपिः समुच्चये, स यथा चानगारो न भवति तथा च ब्रवीमि 'अणगारामो त्ति एगे पवयमाणे' त्यादि, नेति, न विद्यते अगारं-गृहमेषामित्यनगारा इह च यत्यादिशब्दव्युदासेनानगारशब्दोपादानेनैतदाचष्टे-गृहपरित्यागः प्रधानं मुनित्वकारणं, तदाश्रयत्वात्सावद्यानुष्ठानस्य, निरवद्यानुष्ठायी च मुनिरिति दर्शयति-'उज्जुकडे' त्ति-ऋजुः-अकुटिलः संयमो-दुष्प्रणिहितमनोवाक्कायनिरोधः सर्वसत्त्वसंरक्षणप्रवृत्तत्वाद्-ऐकरूपः-सर्वत्राकुटिलगतिरिति यावत्। यदि वा-मोक्षस्थानगमनर्जुश्रेणिप्रतिपत्तिः सर्वसंचारसंयमात्। कारणे कार्योपचारं कृत्वा संयम एव सप्तदशप्रकार ऋजुस्तं करोतीति ऋजुकृत्; ऋजुकारीत्यर्थः। अनेन चेदमुक्तं भवति-अशेषसंयमानुष्ठायी सम्पूर्णानगार एवंविधश्चेद्भवतीति दर्शयति-'नियागपडिवन्ने' त्ति—यजनं यागः नियतो निश्चितो वा यागो नियागो मोक्षमार्गः, सङ्गताऽर्थत्वाज्ज्ञानोः सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्रात्मतया गतं सङ्गतमिति। तं नियागं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मकं मोक्षमार्गप्रतिपन्नो नियागप्रतिपन्नः। पाठान्तरं वा-" निकायप्रतिपन्नो " निर्गतः काय औदारिकादिर्यस्माद्यस्मिन्वा सति स निकायो मोक्षः तं प्रतिपन्नो निकायप्रतिपन्नस्तत्कारणस्य सम्यग्दर्शनादेः स्वशक्त्यानुष्ठानात् स्वशक्त्यानुष्ठानं वा मायाविनो भवतीति दर्शयति-'अमायं कुव्वमाणे' त्ति—माया-सर्वत्र स्ववीर्यनिगूहनम्, न माया अमाया तां कुर्वाणोऽनिगूहितबलवीर्यः संयमानुष्ठाने पराक्रममाणोऽनगारो व्याख्यात इति, अनेन तज्जातीयोपादानादशेषकषायापगमोऽपि द्रष्टव्य इति। उक्तञ्च-"सोही य उज्जुयभूयस्स, धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ" त्ति।

तदेवमसावुद्धृतसकलमायावल्ली-
वितानः किं कुर्यादित्याह-

जाए सद्धाए निक्खंतो तमेव अणुपालिआ विजहित्तु विसोत्तियं (पाठान्तरे)-पुव्वसंजोयं। (सूत्र-१९)

'जाए सद्धाए' इत्यादि. यया श्रद्धया प्रवर्द्धमानानुष्ठानकरणरूपया निष्क्रान्तः प्रव्रज्यां गृहीतवाँस्तामेव श्रद्धामश्रान्तो यावज्जीवमनुपालयेद्; रक्षेदित्यर्थः। प्रव्रज्याकाले च प्रायशः प्रवृद्धपरिणाम एव प्रव्रजति, पश्चात्तु संयमश्रेणीं प्रपन्नो वर्द्धमानपरिणामो वा हीयमानपरिणामो वा अवस्थितपरिणामो वेति, तत्र वृद्धिकालो हानिकालो वा समयाद्युत्कर्षेणान्तर्मौहूर्तिकः, नाऽतः परं संक्लेशविशुद्धयद्धे भवतः। उक्तं च-"नान्तर्मुहूर्तकाल-मतिवृत्य शक्यं हि जग-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ति संक्रेष्टुम् । नापि विशोढुं शक्यं, प्रत्यक्षो ह्यात्मनः सोऽर्थः ॥ १ ॥ उपयोगद्वयपरिवृत्तिः, सा निर्हेतुकस्वभावत्वात् । आत्मप्रत्यक्षो हि स्व-भावो ह्यर्थाश्च हेतूक्तिः ॥ २ ॥ " अवस्थितिकालश्च द्वयोर्वृद्धिहानिलक्षणयोर्यवमध्ययवमध्ययोरष्टौ समयाः; तत ऊर्ध्वमवश्यं पातात् । अयं च वृद्धिहान्यवस्थितरूपपरिणामः केवलिनां निश्चयेन गम्यो, न छद्मस्थानामिति । यद्यपि च-प्रव्रज्याभिगमोत्तरकाले श्रुतसागरमवगाहमानः संवेगवैराग्यभावनाभावितान्तरात्मा कश्चित् प्रवर्द्धमानमेव परिणामं भजते । तथा चोक्तम्-" जह जह सुयमवगाहइ, अइ मयरसपसरसंजुयमउव्वं । तह तह पल्हाइ मुणी, नवनवसंवेगसंघाते ॥ १ ॥ " तथापि स्तोक एव तादृक् बहवश्च परिपतन्त्यतोऽभिधीयते-' तामेवानुपालयेदिति ' । कथं पुनः कृत्वा श्रद्धामनुपालयेदित्यत आह-' विजहे ' त्यादि, विहाय परित्यज्य विस्रोतसिकां-शङ्काम् । सा च द्विधा-सर्वशङ्का, देशशङ्का च । तत्र सर्वशङ्का-किमस्त्यार्हतो मार्गो न वेति, देशशङ्का तु-किं विद्यन्तेऽप्कायादयो जीवा विशिष्टप्रवचनेऽभिहितत्वात् स्पष्टचेतनात्मलिङ्गाभावाच्च विद्यन्ते इति वा, इत्येवमादिकामारेकां विहाय संपूर्णाननगारगुणान् पालयेत् । यदि वा-विस्रोतांसि द्रव्यभावभेदाद् द्विधा-तत्र द्रव्यविस्रोतांसि नद्यादिस्रोतसां प्रतीतापगमनानि भावविस्रोतांसि तु मोक्षं प्रति सम्यग्दर्शनादिस्रोतसा प्रस्थितानां विरूपाणि प्रतिकूलानि गमनानि भावविस्रोतांसि तानि विहाय संपूर्णानगारगुणभाग्भवति श्रद्धां वा अनुपालयेदिति । पाठान्तरं वा—" विजहित्ता पुव्वसंयोगं " पूर्वसंयोगः-मातापित्रादिरस्य चोपलक्षणार्थत्वात्पश्चात्संयोगोऽपि श्वशुरादिकृतो ग्राह्यस्तं विहाय-त्यक्त्वा श्रद्धामनुपालयेदिति मीलनीयम् । तत्र यस्यायमुपदेशो दीयते यथा ' विहाय विस्रोतांसि तदनु श्रद्धानुपालनं कार्यं ' स एवाभिधीयते-न केवलं भवानेवापूर्वमिदमनुष्ठानमेवंविधं करिष्यति, किं त्वन्यैरपि महासत्त्वैः कृतपूर्वमिति दर्शयितुमाह—

पणया वीरा महावीहिं । (सूत्र--२०)

प्रणताः—प्रह्वाः वीराः—परिषहोपसर्गकषायसेनाविजयात् वीथिः-पन्थाः महांश्चासौ वीथिश्च-महावीथिः-सम्यग्दर्शनादिरूपो मोक्षमार्गो जिनेन्द्रचन्द्रादिभिः सत्पुरुषैः प्रहतस्तं प्रति प्रह्वा-वीर्यवन्तः संयमानुष्ठानं कुर्वन्ति, ततश्चोत्तमपुरुषप्रहतोऽयं मार्ग इति प्रदर्श्य तज्जनितमार्गविश्रम्भो विनेयः संयमानुष्ठाने सुखेनैव प्रवर्तयिष्यते ।

उपदेशान्तरमाह-'लोगं चे' त्यादि, अथ वा-यद्यपि भवतो मतिर्न क्रमतेऽप्कायजीवविषयेऽसंस्कृतत्वात् , तथापि भगवदाज्ञयमिति श्रद्धातव्यमित्याह—

लोगं च आणाए अभिसमेच्चा अकुओभयं । (सूत्र--२१)

अत्राधिकृतत्वादप्कायलोको लोकशब्देनाभिधीयते, तमप्कायलोकं चशब्दादन्यांश्च पदार्थान् आज्ञया-मौनीन्द्रवचनेनाभिमुख्येन सम्यग् ज्ञात्वा, यथा-अप्कायादयो जीवा, इत्येवमवगम्य न विद्यते कुतश्चिद्धेतोः-केनापि प्रकारेण जन्तूनां भयं यस्मात्सोऽयमकुतोभयः-संयमस्तमनुपालयेदिति सम्बन्धः । यद्वा-अकुतोभयोऽप्कायलोको, यतोऽसौ न कुतश्चिद् भयमिच्छति, मरणभीरुत्वात् , तमाज्ञयाऽभिसमेत्यानुपालयेत् ; रक्षेदित्यर्थः ।

अप्कायलोकमाज्ञयाऽभिसमेत्य यत्कर्तव्यं तदाह—

से बेमि णेव सयं लोगं अब्भइक्खिज्जा, णेव अत्ताणं अब्भाइक्खिज्जा, जे लोयं अब्भाइक्खइ से अत्ताणं अब्भाइक्खइ से लोयं अब्भाइक्खइ । (सूत्र--२२)

' से बेमी ' त्यादि, सोऽहं ब्रवीमि 'से'शब्दस्य युष्मदर्थत्वाद् त्वां वा ब्रवीमि, न स्वयम्-आत्मना लोकोऽप्कायलोकोऽभ्याख्यातव्यः । अभ्याख्यानं नामासदभियोगः, यथा-अचौरं चौरमित्याह । इह तु जीवा न भवन्त्यापः केवलमुपकरणमात्रं घृततैलादिवत् । एषोऽसदभियोगः हस्त्यादीनामपि जीवानामुपकरणत्वात् स्यादारेका, नन्वेतदेवाभ्याख्यानं यदजीवानां जीवत्वापादनं नैतदस्ति, प्रसाधितमपां प्राक् सचेतनत्वम् । यथा ह्यस्य शरीरस्याहंप्रत्ययादिभिर्हेतुभिरधिष्ठातात्मा व्यतिरिक्तः प्राक् प्रसाधित एवमप्कायोऽप्यव्यक्तचेतनतया सचेतन इति प्राक् प्रसाधितः । न च प्रसाधितस्याभ्याख्यानं न्याय्यम् , अथापि स्यादात्मनोऽपि शरीराधिष्ठातुरभ्याख्यानं कर्तव्यम् , न च तत्क्रियमाणं घटामियर्तीति दर्शयति-' नेव अत्ताणं अब्भाइक्खेज्जा ' नैवाऽऽत्मानं-शरीराधिष्ठातारमहंप्रत्ययसिद्धं ज्ञानाभिन्नगुणं प्रत्यक्षं प्रत्याचक्षीत-अपह्नुवीत, ननु चैतदेव कथमवसीयते शरीराधिष्ठातात्मास्तीति , उच्यतेविस्मरणशीलो देवानांप्रिय उक्तमपि भाणयति । तथा ह्यात्तमिदं शरीरं केनचिदभिसंधिमता, कफरुधिराङ्गोपाङ्गादिपरिणतेरन्नादिवत्सथोत्सृष्टमपि केनचिदभिसम्बन्धिमतैव, आहृतत्वाद् , अन्नमलवदिति । तथा न ज्ञानोपलब्धिपूर्वकः परिस्पन्दो भ्रान्तिरूपः परिस्पन्दत्वात्त्वदीयवचनपरिस्पन्दवत् । तथा विद्यमानाधिष्ठातृव्यापारभाञ्जीन्द्रियाणि , करणत्वाद्दात्रादिवत् । एवं कुतर्कमार्गानुसारिहेतुमालोच्छेदः स्याद्वादपरशुना कार्यः अत एवंविधोपपत्तिसमधिगतमात्मानं शुभाशुभफलभाजं न प्रत्यचक्षीत । एवं च सति यो ह्यज्ञः कुतर्कतिमिरोपहतज्ञानचक्षुरप्कायलोकमभ्याख्याति-प्रत्याचष्टे स सर्वप्रमाणसिद्धमात्मानमभ्याख्याति, यश्चात्मानमभ्याख्याति-नास्म्यहं स सामर्थ्यादप्कायलोकमभ्याख्याति । यतो ह्यात्मनि पाणिपादाद्यवयवोपेतशरीराधिष्ठायिनि प्रस्पष्टलिङ्गेऽभ्याख्याते सत्यव्यक्तचेतनालिङ्गोऽप्कायलोकस्तेन सुतरामभ्याख्यातः । एवमनेकदोषोपपत्तिं विदित्वा नायमप्कायलोकोऽभ्याख्यातव्यः इत्यालोच्य साधवो नाप्कायविषयमारम्भं कुर्वन्तीति ।

(६) शाक्यादयस्त्वन्यथोपस्थिता इति दर्शयितुमाह—

लज्जमाणा पुढो पास अणगारा मो त्ति एके पवयमाणा जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं उदयकम्मसमारंभेणं उदयसत्थं समारंभमाणे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ, तत्थ खलु भगवता परिण्णा पवेदिता इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदणमाणणपूयणाए जाईमरणमोयणाए दुक्खपडिघायहेउं से सयमेव उदयसत्थं समारंभति अण्णेहिं वा उदयसत्थं समा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रंभावेति अरणे उदयसत्थं समारंभंते समणुजाणाति तं से अहियाए तं से अबोहीए । से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाए सोच्चा भगवओ अणगाराणं अंतिए इहमेगेसिं णाणं भवति-एस खलु गंथे एस खलु मोहे एस खलु मारे एस खलु णरए, इच्चत्थं गढिए लोए जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं उदयकम्मसमारंभेणं उदयसत्थं समारंभमाणे अणणे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ ।

'लज्जमाणे' त्यादि, लज्जमानाः-स्वकीयं प्रव्रज्याभासं कुर्वाणाः, यदि वा-सावद्यानुष्ठानेन लज्जमानाः-लज्जां कुर्वाणाः पृथग्विभक्ताः शाक्योलूककणभुक्कपिलादिशिष्याः । पश्येति शिष्यचोदना, अविवक्षितकर्मका अपि अकर्मका भवन्ति, यथा-'पश्य मृगो धावति' द्वितीयार्थे वा प्रथमा, सुप् व्यत्ययेन द्रष्टव्या । ततश्चायमर्थः-शाक्यादीन् गृहीतप्रव्रज्यानपि सावद्यानुष्ठानरतान् पृथग्विभक्तान् पश्य, किंस्तैरसदाचरितं येनैवं प्रदर्श्यन्त इति दर्शयति-" अनगारा वयम् " इत्येके शाक्यादयः प्रवदन्तो यदिदं तत्तत्काका दर्शयन्ति-विरूपरूपैरुत्सेचनाग्निविध्यापनादिशस्त्रैः स्वकायपरकायभेदभिन्नैरुदककर्म समारभन्ते । उदककर्मसमारम्भेण च उदके शस्त्रम् उदकमेव वा शस्त्रं समारभन्ते । तच्च समारभमाणोऽनेकरूपान्वनस्पतिद्वीन्द्रियादीन्विविधं हिनस्ति । तत्र खलु भगवता परिज्ञा प्रवेदिता, यथाऽस्यैव जीवितव्यस्य परिवन्दनमाननपूजनार्थं जातिमरणमोचनार्थं दुःखप्रतिघातहेतुं यत् करोति-तद्दर्शयति-स स्वयमेवोदकशस्त्रं समारभते, अन्यैश्चोदकशस्त्रं समारम्भयति, अन्यांश्चोदकशस्त्रं समारभमाणान् समनुजानीते । तच्चोदकसमारम्भणं तस्याऽहिताय भवति । तथा तदेवाबोधिलाभाय भवति । स एतत्सम्बुध्यमान आदानीयं सम्यग्दर्शनादि सम्यगुत्थाय-अभ्युपगम्य-श्रुत्वा भगवतोऽनगाराणां वान्तिके इहैकेषां साधूनां ज्ञातं भवति तद्दर्शयति-एषो-ऽप्कायसमारम्भो ग्रन्थः-एष खलु मोहः, एष खलु मारः, एष खलु नरक इत्येवमर्थं गृद्धो लोको यदिदं विरूपरूपैः शस्त्रैः उदककर्मसमारम्भेणोदकशस्त्रं समारभमाणोऽन्याननेकरूपान् प्राणिनो विविधं हिनस्तीत्येतत्प्राग्वद् व्याख्येयम् ।

पुनरप्याह—

से बेमि संति पाणा उदयनिस्सिया जीवा अणेगे ।(सूत्र-२३)

इहं च खलु भो ! अणगाराणं उदयजीवा वियाहिया । (सूत्र-२४)

'से' शब्द आत्मनिर्देशे, सोऽहमेवमुपलब्धानेकाऽप्कायतत्त्ववृत्तान्तो ब्रवीमि, सन्ति-विद्यन्ते प्राणिन उदकनिश्रिताः-पूतरकमत्स्यादयो यानुदकारम्भप्रवृत्तो हन्त्यादिति । अथवा-अपरः सम्बन्धः प्रागुक्तमुदकशस्त्रं समारभमाणोऽन्यानप्यनेकरूपान् जन्तून् विविधं हिनस्तीति, तत्कथमेतच्छ्रद्धेयमभ्युपगन्तुमित्यत आह-' संति पाणा ' इत्यादिपूर्ववत्, कियन्तः पुनस्त इति दर्शयति-' जीवा अणेगा ' इति-पुनर्जीवोपादानमुदकाश्रितप्रभूतजीवभेदज्ञापनार्थम् । ततश्चेदमुक्तं भवति-एकैकस्मिन् जीवभेदे उदकाश्रिता अनेके-असंख्येयाः प्राणिनो भवन्ति, एवम्-अप्कायविषयारम्भभाजः पुरुषास्ते तन्निश्रितप्रभूतसत्त्वव्यापत्तिकारिणो द्रष्टव्याः । शाक्यादयस्तूदकाश्रितानेव द्वीन्द्रियादीन् जीवानिच्छन्ति नादकम् * इत्येतदेव दर्शयति-खलु शब्दोऽवधारणे, इहैव ज्ञातपुत्रीयप्रवचने द्वादशाङ्गे गणिपिटके अनगाराणां साधूनामुदकरूपा जीवाश्चशब्दात्तदाश्रिताश्च पूतरकच्छेदनकलोद्दणकभ्रमरकमत्स्यादयो जीवा व्याख्याताः, अवधारणफलं च नान्येषामुदकरूपा जीवाः प्रतिपादिताः । आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । * जीवाः इति ।

ये पुनः शाक्यादयोऽप्कायोपभोगप्रवृत्तास्ते नियमत एवाऽप्कायं विहिंसन्ति तदाश्रितांश्चान्यानिति । तत्र न केवलं प्राणातिपातापत्तिरेव तेषां किमन्यदित्यत आह—

अदुवा अदिन्नादाणं । (सूत्र-२६)

अथवेति-पक्षान्तरोपन्यासद्वारेणाभ्युच्चयोपदर्शनार्थः, अशस्त्रोपहताप्कायोपभोगकारिणां न केवलं प्राणातिपातोऽपि किंतु-अदत्तादानमपि तत्तेषाम् । यतो यैरप्कायजन्तुभिर्यानि शरीराणि निर्वर्त्तितानि तैरदत्तानि, ते तान्युपभुञ्जन्ते, यथा कश्चित् पुमान् सचित्तशाक्यभिक्षुकशरीरकात् खण्डमुत्कृत्य गृह्णीयाददत्तं हि तस्य तत्परपरिगृहीतत्वात् । परकीयगवाद्यादानवत् । एवं तानि शरीराण्यप्जीवपरिगृहीतानि गृह्णतोऽदत्तादानमवश्यम्भावि । स्वाम्यनुस्वाम्यनुज्ञानाभावादिति ननु यस्य तत्तडागकूपादि तेनानुज्ञातं स्वकृत्तत्पथ इति । ततश्च नाऽदत्तादानं, स्वामिनाऽनुज्ञातत्वात् परानुज्ञानपश्वादिघातवत् । नन्वेतदपि साध्यावस्थामेवोपन्यस्तं, यतः पशुरपि शरीरप्रदानविमुख एव भिक्षार्थमर्थादैरारटन्नपशस्यते,ततश्च कथमिव नाऽदत्तादानं स्यात् । न चान्यदीयस्यान्यः स्वामी दृष्टः परमार्थचिन्तायाम् । नन्वेवमशेषलोकप्रसिद्धगोदानादिव्यवहारस्त्रुट्यति, त्रुट्यतु नामैवंविधः पापसम्बन्धः तद्धि देयम् यद्धि दुःखितं स्वयं न भवति । दासीबलीवर्दादिवत् । न चान्येषां दुःखोत्पत्तेः कारणं हलखड्गादिवत् । एतद्व्यतिरिक्तं दातृपरिगृहीत्रोरेकान्तत एवोपकारकं देयं प्रतिजानते जिनेन्द्रमतावलम्बिनः । उक्तञ्च-" यत् स्वयमदुःखितं स्या-न्न च परदुःखे निमित्तभूतमपि । केवलमुपग्रहकरं, धर्मकृते तद्भवेद्देयम् " ॥१॥ इति । तस्मादवस्थितमेतत्तेषां तददत्तादानमपीति ।

सांप्रतमेतद्दोषद्वयं स्वसिद्धान्ताभ्युपगमद्वारेण परः परिजिहीर्षुराह—

कप्पइ णे कप्पइ णे पाउं अदुवा विभूसाए । (सूत्र-२७)

अशस्त्रोपहतोदकारम्भिणो हि चोदिताः सन्त एवमाहुः-यथा नैतत्स्वमनीषिकातः समारम्भयामो वयं; किंत्वागमे निर्जीवत्वेनानिषिद्धत्वात् कल्पते-युज्यते नः-अस्माकं पातुम्-अभ्यवहर्तुमिति वीप्सया च नानाविधप्रयोजनविषयः उपभोगोऽभ्यनुज्ञातो भवति । तथाहि-"आजीविकभस्मस्नाय्यादयो वदन्ति पातुमस्माकं कल्पते, न स्नातुं वारिणा " शाक्यपरिव्राजकादयस्तु-स्नानपानावगाहनादि सर्वं कल्पते इति प्रभाषन्ते ; एतदेव स्वनामग्राहं दर्शयति-अथवोदकं विभूषार्थमनुज्ञातं न समये, विभूषा—करचरणपायूपस्थमुखप्रक्षालनादिका वस्त्रभाण्डकादिप्रक्षालनात्मिका वा, एवं स्नानादिशौचानुष्ठायिनां नास्ति कश्चिद्दोष इति ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एवं ते परिफल्गुवचसः परिव्राजकादयो निजराद्धान्तोपन्यासेन मुग्धमतीन्विमोह्य किं कुर्वन्तीत्याह—

पुढो सत्थेहिं विउट्टंति । (सूत्र–२८)

पृथग्—विभिन्नलक्षणैर्नानारूपैरुत्सेचनादिशस्त्रैस्तेऽनगारायमाणाः 'विउट्टंति' त्ति-अप्कायजीवान् जीवनाद् व्यावर्त्तयन्ति ; व्यपरोपयन्तीत्यर्थः । यदि वा—पृथग् विभिन्नैः शस्त्रैरप्कायिकान् विविधं कुट्टन्ति ; छिन्दन्तीत्यर्थः, कुट्ट-धातोः छेदनार्थत्वात् ।

अधुनैषामागमानुसारिणामागमाऽसारत्वप्रतिपादनायाह–

एत्थ वि तेसिं नो निकरणाए । (सूत्र–२६)

एतस्मिन्नपि-प्रस्तुते स्वागमानुसारेणाभ्युपगमे सति "कप्पइ णे कप्पइ णे पाउं, अदुवा विभूसाए (२६)" त्ति-एवं रूपस्तेषामयमागमो यद्बलादप्कायपरिभोगे ते प्रवृत्ताः स स्याद्वादयुक्तिभिरभ्याहतः सन् 'नो निकरणाए' त्ति-नो निश्चयं कर्तुं समर्थो भवति, न केवलं तेषां युक्तयो न निश्चयायाऽलम्, अपि स्वागमोऽपीत्यपिशब्दः । कथं पुनस्तेषामागमो निश्चयाय नालमिति, अत्रोच्यते-त एवं प्रष्टव्याः-कोऽयमागमो नाम? यदादेशः कल्पते भवतामप्कायारम्भः,त आहुः-प्रतिविशिष्टानुपूर्वीविन्यस्तवर्णपदवाक्यसंघात आप्तप्रणीत आगमः नित्योऽकर्तृको वा?, तत्रश्चैवमभ्युपगते यो येन प्रतिपन्न आप्तः स निराकर्त्तव्यः । अनाप्तोऽसावप्कायजीवाऽपरिज्ञानात्तद्वधानुज्ञानाद्वा भवानिव । जीवत्वं चापां प्राक् प्रसाधितमेव । ततस्तत्प्रणीतागमोऽपि सद्धर्मचोदनायामप्रमाणम्, अनाप्तप्रणीतत्वात्, रथ्यापुरुषवाक्यवत् । अथ नित्योऽकर्तृकः समयोऽभ्युपगम्यते ततो नित्यत्वं दुष्प्रतिपादम् । यतः शक्यते वक्तुं-भवदभ्युपगतः समयः, सकर्तृको वर्णपदवाक्यात्मकत्वात्, विधिप्रतिषेधात्मकत्वात्, उभयसम्मतसकर्तृकग्रन्थसन्दर्भवदिति । अभ्युपगम्य वा ब्रूमः-अप्रमाणमसौ, नित्यत्वादाकाशवत्, यच्च प्रमाणं तदनित्यं दृष्टं प्रत्यक्षादिवदिति । तथा विभूषासूत्रावयवेऽपि पृष्टा न प्रत्युत्तरदाने क्षमाः, यतियोग्यं स्नानं न भवति, कामाङ्गत्वात्, मण्डनवत् । कामाङ्गता च सर्वजनप्रसिद्धा । तथाचोक्तम्-"स्नानं मददर्पकरं, कामाङ्गं प्रथमं स्मृतम् । तस्मात्कामं परित्यज्य, नैव स्नान्ति दमे रताः" ॥ १ ॥ शौचार्थोऽपि न पुष्कलो वारिणा बाह्यमलापनयनमात्रत्वात् ह्यन्तर्व्यवस्थितकर्ममलक्षालनसमर्थं वारि न दृष्टं, तस्माच्छरीरवाङ्मनसामकुशलप्रवृत्तिनिरोधो भावशौचमेव कर्मक्षयायाऽलम् । तच्च वारिसाध्यं न भवति, कुतः?, अन्वयव्यतिरेकसमधिगम्यत्वात्सर्वभावानाम् । न हि मत्स्यादयः तत्र स्थिता मत्स्यत्वादि कर्मक्षयभाक्त्वे नाप्यभ्युपगम्यन्ते, विना च वारिणा महर्षयो विचित्रतपोभिः कर्म क्षपयन्तीति अतः स्थितमेतत्तत्समयो न निश्चयाय प्रभवतीति ।

तदेवं निःसपत्नमपां जीवत्वं प्रतिपाद्य तत्प्रवृत्तिनिवृत्तिविकल्पफलप्रदर्शनद्वारेणोपसंजिहीर्षुः सकलमुद्देशार्थमाह–

एत्थ सत्थं समारंभमाणस्स इच्चेए आरंभा अपरिण्णाया भवंति । एत्थ सत्थं असमारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाया भवंति । तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं उदयसत्थं समारंभेज्जा, णेवन्नेहिं उदयसत्थं समारंभावेज्जा, उदयसत्थं समारंभंतेऽवि अन्ने ण समणुजाणेज्जा जस्सेते उदयसत्थसमारंभा परिण्णाया भवंति से हु मुणी परिण्णातकम्मेत्ति बेमि । (सूत्र–३०)

एतस्मिन्नप्काये शस्त्रं द्रव्यभावरूपं समारभमाणस्यैते समारम्भा बन्धकारणत्वेनाऽपरिज्ञाता भवन्ति । अत्रैवाऽप्काये शस्त्रमसमारभमाणस्यैते आरम्भा ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाता भवन्ति । प्रत्याख्यानपरिज्ञया च परिहृता भवन्ति, तामेव प्रत्याख्यानपरिज्ञां विशेषतो ज्ञपरिज्ञापूर्विकां दर्शयति-तदुदकारम्भणं बन्धार्थत्वेवं परिज्ञाय मेधावी-मर्यादाव्यवस्थितो नैव स्वयमुदकशस्त्रं समारभेत, नैवान्यैरुदकशस्त्रं समारम्भयेत् । नैवाऽन्यानुदकशस्त्रं समारभमाणान् समनुजानीयात्, यस्यैते उदकशस्त्रसमारम्भा द्विधा परिज्ञाता भवन्ति स एव मुनिः परिज्ञातकर्मा भवति । ब्रवीमीति पूर्ववत् । आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

(१०) अप्कायविहिंसननिषेधः—

आउकायं न हिंसंति, मणसा वयसा कायसा ।
तिविहेण करणजोएणं, संजया सुसमाहिया ॥ २६ ॥
आउकायं विहिंसंतो, हिंसई उ तयस्सिए ।
तसे अ विविहे पाणे, चक्खुसे य अचक्खुसे ॥ ३० ॥
तम्हा एयं वियाणित्ता, दोसं दुग्गइवड्ढणं ।
आउकायसमारंभं, जावजीवाइ वज्जए ।३१। दश०६अ०।

(११) अप्कायस्पर्शादिनिषेधः—

से भिक्खू वा, भिक्खुणी वा संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे दिया वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा से उदगं वा ओसं वा हिमं वा महियं वा करगं वा हरितणुगं वा सुद्धोदगं वा उदउल्लं वा कायं उदउल्लं वा वत्थं ससणिद्धं वा कायं ससणिद्धं वा वत्थं न आमुसेज्जा न संफुसेज्जा न विलेज्जा न पविलेज्जा न अक्खोडेज्जा न पक्खोडेज्जा न आयाविज्जा न पयाविज्जा, अन्नं न आमुसावेज्जा न संफुसावेज्जा न विलावेज्जा न पविलावेज्जा न अक्खोडावेज्जा न पक्खोडावेज्जा न आयावेज्जा न पयावेज्जा, अन्नं आमुसंतं वा संफुसंतं वा आविलंतं वा पविलंतं वा अक्खोडंतं वा पक्खोडंतं वा आयावंतं वा पयावंतं वा न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि । तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि । (सूत्र–११)

'से भिक्खू वा' इत्यादि, 'जावजागरमाणेव' त्ति-पूर्ववदेव 'से उदगं वे'त्यादि, तद्यथा-उदकं वा अवश्यायं वा हिमं वा महिकां वा करकं वा हरतनुं शुद्धोदकं वा । (दश०) (उदकादिपदानां व्याख्या अस्मिन्नेव शब्दे आदौ उक्ता)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तथा उदकार्द्रं वा कायं उदकार्द्रं वा वस्त्रम् उदकार्द्रता चेह गलद्बिन्दुतुषारानन्तरोदितोदकभेदसम्मिश्रिता । तथा-सस्निग्धं वा कायं सस्निग्धं वस्त्रम् अत्र स्नेहनं स्निग्धमिति भावे निष्ठाप्रत्ययः स्निग्धेन सह वर्त्तते इति सस्निग्धं सस्निग्धता चेह बिन्दुरहितानन्तरोदितोदकभेदसम्मिश्रिता (अस्य सूत्रस्य संपूर्णा टीका ' महव्वय ' शब्दे षष्ठे भागे दर्शयिष्यते) दश० ४ अ० ।

(१२) शीतोदकादिपरिषेवणनिषेधः—

सीओदकं न सेविज्जा, सिलावुट्ठं हिमाणि य ।
उसिणोदगं तत्तफासुयं, पडिगाहिज्ज संजए ॥ ६ ॥

शीतोदकं-पृथिव्युद्भवसचित्तोदकं न सेवेत । तथा-शिलावृष्टं हिमानि च न सेवेत । तत्र शिलाग्रहणेन करकाः परिगृह्यन्ते । वृष्टं-वर्षणं,हिमं प्रतीतं, प्राय उत्तरापथे भवति । यद्येवं कथमयं वर्तेतेत्याह-उष्णोदकं-क्वथितोदकं तप्तप्राशुकं तप्तं सत्प्राशुकं त्रिदण्डोद्वृत्तं नोष्णोदकमात्रं प्रतिगृह्णीयाद्वृत्त्यर्थं संयतः-साधुः । एतच्च सौवीराऽऽद्युपलक्षणमिति सूत्रार्थः ।

तथा—

उदउल्लं अप्पणो कायं , नेव पुंछे न संलिहे ।
समुप्पेह तहाभूयं , नो णं संघट्टए मुणी ॥ ७ ॥

नदीमुत्तीर्णो भिक्षां प्रविष्टो वा वृष्टिहतः उदकार्द्रम्-उदकबिन्दुचितमात्मनः कायं-शरीरं स्निग्धं वा नैव पुञ्छयेत्-वस्त्रतृणादिभिर्न संलिखेत् पाणिना, अपि तु-संप्रेक्ष्य-निरीक्ष्य तथाभूतमुदकार्द्रादिरूपं नैव कायं संघट्टयेत् मुनिर्मनागपि न स्पृशेदिति सूत्रार्थः । दश० ८ अ० (उदकतीरे निवासाऽऽदिनिषेधः ' दगतीर ' शब्दे चतुर्थभागे वक्ष्यते) (अप्कायस्य-बहुवक्तव्यता 'पाणग' शब्दे पञ्चमभागे वक्ष्यते) (अप्कायस्य दर्पिका कल्पिका च ' मूलगुणपडिसेवणा ' शब्दे षष्ठे भागे वक्ष्यते) (वस्त्रधावनेऽप्कायप्रतिसेवनाया वक्तव्यता 'धावण' शब्दे चतुर्थभागे वक्ष्यते) (उदकसन्तरणेऽप्कायप्रतिसेवनाया वक्तव्यता 'मूलगुणपडिसेवणा' शब्दे षष्ठे भागे वक्ष्यते)

आउक्कायविहिंसग-अप्कायविहिंसक-त्रि० । सचित्तजलविराधके, । ग० १ अधि० ।

आउकाल-आयुष्काल-पुं० । मृत्युकाले , आचा० १ श्रु०८ अ० ८ उ० ।

आउक्खय-आयुःक्षय-पुं०। आयुष्कर्मपुद्गलनिर्जरणे, स्था० ८ ठा० ३ उ० । आयुर्दलिकनिर्जरणे, नि० १ श्रु० ५ वर्ग १ अ० । कर्मद्रव्यनिर्जरणे, विपा० २ श्रु० १ अ० । कर्मणो दलिकनिर्जरणे, औ० । भ० (आयुःक्षयनिमित्तान्यध्यवसायादीनि ' आउ ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गतानि ,

क्षीणमायुर्जिनेन्द्रैरपि न वर्द्धयितुं शक्यम् , तथा चाह—

शक्रेण स्वामी विज्ञप्तो , यत् क्षणमायुर्वर्द्धयत येन भवत्सु जीवत्सु भवज्जन्मनक्षत्रं संक्रान्तो भस्मराशिग्रहो भवच्छासनं पीडयितुं न शक्नोति, ततोऽवश्यं प्रभुणोक्तम्-न खलु शक्र ! कदाचिदपीदं भूतपूर्वं यत् क्षीणमायुर्जिनेन्द्रैरपि वर्द्धयितुं शक्यते । कल्प० १ अधि० २ क्षण ।

आयुषः क्षये चावश्यं जीवितनाशः—

("ताले जह" (६ गा०) इत्यादिकस्यार्थः 'अणिच्चया' शब्दे प्रथमभागे विशेषतो दर्शितः । सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

डहरा वुड्ढा य पासह , गब्भत्था वि चयंति माणवा ।
सेणे जह वट्टयं हरे , एवमाउक्खयम्मि तुट्टती ॥ २ ॥

डहरा-बाला एव केचन जीवितं त्यजन्ति । तथा-वृद्धाश्च गर्भस्था अप्येतत्पश्यत यूयं , के ते ? मानवाः-मनुष्यास्तेषामेवोपदेशदानार्हत्वात् मानवग्रहणम् बहुपायत्वादायुषः सर्वास्वप्यवस्थासु प्राणी प्राणांस्त्यजतीत्युक्तं भवति । तथाहि-त्रिपल्योपमायुष्कस्यापि पर्याप्त्यनन्तरमन्तर्मुहूर्तेनैव कस्यचिन्मृत्युरुपतिष्ठतीति । अपि च-गर्भस्थम्-जायमानमित्यादि, अत्रैव दृष्टान्तमाह-यथा श्येनः-पक्षिविशेषो वर्त्तकं-तित्तिरजातीयं हरेत्-व्यापादयेदेवं प्राणिनः प्राणान् मृत्युरुपहरेत् , उपक्रमकारणमायुष्कमुपक्रामेत् । तदभावे वा आयुष्यक्षये त्रुट्यति-व्यवच्छिद्यते; जीवानां जीवितमिति शेषः । सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

आयुषः क्षयमजानन्त आरम्भे प्रवर्त्तन्ते—

आउक्खयं चेव अबुज्झमाणे ,
ममेति से साहसकारि मंदे ।
अहो य राओ परितप्पमाणे ,
अट्टेसु मूढे अजरामरे व्व ॥ १८ ॥

आयुषो-जीवनलक्षणस्य क्षय आयुष्कक्षयस्तम्-आरम्भप्रवृत्तः छिन्नहृदमत्स्यवदुदकक्षये सत्यवबुध्यमानोऽतीव ' मम ' इति ममत्ववानिदं मे अहमस्य स्वामीत्येवं स मन्दः-अज्ञः साहसं कर्तुं शीलमस्येति साहसकारीति । तद्यथा-कश्चिद्वणिक् महाक्लेशेन महार्घाणि रत्नानि समासाद्योज्जयिन्या बहिरावासितः । स च राजचौरदायादभयाद्रात्रौ रत्नान्येवमेवं च प्रवेशयिष्यामीत्येवं पर्यालोचनाऽऽकुलो रजनीक्षयं न ज्ञातवान् अहन्येव रत्नानि प्रवेशयन् राजपुरुषै रत्नेभ्यश्च्यावित इति । एवमन्योऽपि किंकर्तव्यताकुलः स्वायुषः क्षयमबुध्यमानः परिग्रहेष्वारम्भेषु च प्रवर्तमानः साहसकारी स्यादिति । तथा कामभोगतृषितोऽह्नि रात्रौ च परि-समन्तात् द्रव्यार्थी परितप्यमानो मम्मणवणिग्वदार्तध्यायी कायेनापि क्लिश्यते । तथा चोक्तम्-"अजरामरवद्बालः, क्लिश्यते धनकाम्यया । शाश्वतं जीवितं चैव, मन्यमानो धनानि च" ॥१॥ तदेवमार्तध्यानोपहतः " कइया वच्चइ सत्थो, किं भंडं कत्थ कित्तिया भूमी " इत्यादि । तथा-" उक्खणइ खणइ णिहणइ, रत्तिं न सुयइ दिया वि य ससंको " इत्यादि । चित्तसंक्लेशात्तुष्टु मूढो वणिग्वदजरामरवदात्मानं मन्यमानोऽपगतशुभाध्यवसायोऽहर्निशमारम्भे प्रवर्तते । सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

अहर्निशमायुषः क्षयमवबुध्य धर्मे यतितव्यम्—

पिच्छह आउस्स खयं,
अहोनिसं झिज्जमाणस्स ॥ १८ ॥ (७३)
राइंदिएण तीसं तु,
मुहुत्ता नवसयाइँ मासेणं ।

१-मम्मणवणिग्वृत्तं ' मम्मण ' शब्दे षष्ठे भागे दर्शयिष्यते ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हायंति पमत्ताणं,
न य णं अबुहा वियाणंति ॥ १६ ॥ (७४)
तिन्नि सहस्से सगले,
छच सए उडुवरो हरइ आउं ।
हेमंते गिम्हासु य,
वासासु य होइ नायव्वं ॥ २० ॥ (७५)
वाससयं परमाउं,
इत्तो पन्नास हरइ निद्दाए ।
इत्तो विसए हायइ,
बालत्ते वुड्ढभावे य ॥ २१ ॥ (७६)
सीउण्हपंथगमणे,
खुहा पिवासा भयं च सोगे य ।
नाणाविहा य रोगा,
हवंति तीसाइ पच्छद्धे ॥ २२ ॥ (७७)
एवं पंचासीई,
नट्ठा पएणरसमेव जीवंति ।
जे हुंति वाससइया,
न य सुलहा वाससयजीवा ॥ २३ ॥ (७८)
एवं निस्सारे मा-
णुसत्तणे जीविए अहिवडंते ।
न करेह चरणधम्मं,
पच्छा पच्छाऽणुतप्पिहह हा ॥ २४ ॥ (७६)

'पिच्छह' त्ति-भो भव्याः ! यूयं पश्यत-ज्ञानचक्षुषा विलोकयत आयुषः क्षयमहोरात्रं क्षीयमाणस्य समये समये आवीचीमरणेन त्रुट्यमानस्येति ॥१८॥ 'राई' त्ति-अहोरात्रेण त्रिंशन्मुहूर्त्ता भवन्ति, मासेन नवशतानि ६०० मुहूर्त्तानि, तानि प्रमत्तानां—मद्यादिप्रमादयुक्तानां सुभूम—ब्रह्मदत्तादीनामिव हीयन्ते न चाऽबुधा-मूर्खा विजानन्तीति ॥१६॥ 'तिन्नि' त्ति-त्रीणि सहस्राणि षट्शताधिकानि[3] सकलानि-संपूर्णानि मुहूर्त्तानि हेमन्ते-शीतकाले भवन्ति । एतत्प्रमाणमायुर्जीवानां हेमन्ते उडुवरः-सूर्यो हरति, एवं ग्रीष्मे वर्षासु च ज्ञातव्यं भवति ॥ २० ॥ (तं०) 'वास' त्ति—सांप्रतं जीवानां परमायुः-उत्कृष्टजीवितं वर्षशतं प्रवाहेण ज्ञातव्यम् । इतो वर्षशतात् निद्रया पञ्चाशद्वर्षाणि ५० हरति-गमयति, जीवः इतः-शेषपञ्चाशद्वर्षतः विंशतिवर्षाणि २० हीयन्ते यान्ति-प्रमादिनाम् कथम् ?-बालत्वे दशकं १०, वृद्धत्वे दशकं १० चेति ॥२१॥ 'सीउ' त्ति-शीतोष्णपथगमनानि, तथा क्षुधा पिपासा भयं च शोकश्च नानाविधा रोगाश्च भवन्ति, त्रिंशतः पश्चार्द्धे त्रिंशत्पश्चार्द्ध-पञ्चदशवर्षरूपं तस्मिन् को भावः ?-शेषत्रिंशतः पञ्चदश १५ वर्षाणि जीवानां शीतोष्णपथगमनादिभिर्मुधा यान्तीति ॥ २२ ॥ एवं पूर्वोक्तप्रकारेण पञ्चाशीतिवर्षाणि नष्टानि ८५, धर्मं विना विकथानिद्रालस्यवतां मुधा गतानि, कथम् ?-निद्रया पञ्चाशद्वर्षाणि (५०), बालत्वे दश (१०), वृद्धभावे दश (१०), शीतादिभिः पञ्चदश (१५), एवं सर्वाणि पञ्चाशीतिवर्षाणि (८५), इति ये जीवा वर्षशतिकाः—वर्षशतप्रमाणा भवन्ति ते जीवा पञ्चदश १५ वर्षाणि जीवन्ति, अन्यानि मृतप्रायत्वात् । न च वर्षशतजीविनो जीवाः प्राप्यन्ते । किंभूताः सुखेन-अनायासेन लभ्यन्ते इति सुलभाः सर्वथा सुखिन इत्यर्थः । उक्तं च-" आयुर्वर्षशतं नृणां परिमितं रात्रौ तदर्द्धं गतं, तस्यार्द्धस्य परस्य चार्द्धमपरं बालत्ववृद्धत्वयोः । शेषं व्याधिवियोगदुःखसहितं सेवादिभिर्नीयते, जीवे वारितरङ्गचञ्चलतरे सौख्यं कुतः प्राणिनाम् " ॥ १ ॥ २३ ॥ एवम्-उक्तप्रकारेण निस्सारे असारे मानुषत्वे-मनुजत्वे तथा जीविते आयुषि रत्नकोटिकोटिभिरपि अप्राप्ये अधिपतति; समये समये क्षयं गच्छति सतीत्यर्थः न कुरुत यूयं चरणधर्म्म-ज्ञानदर्शनपूर्वकं देशसर्वचारित्रं 'हा' इति—महाखेदे, पश्चाद्-आयुःक्षयानन्तरम्-आयुःक्षयचरमक्षणे वा पश्चात्तापं कायवाङ्मनोभिर्महाखेदं करिष्यथ नरकस्थशशिराजवदिति ॥ २४ ॥ तं० ॥ " समस्तसत्त्वसंघानां क्षयत्यायुरनुक्षणम् । आममल्लकवारीव, किं तथापि प्रमाद्यसि " ॥ १ ॥ पञ्चा० १ विव० । मरणे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । उत्त० ।

आउक्खेम-आयुःक्षेम-न० । आयुषः क्षेममिति । आयुषः सम्यक्पालने, जीविते च । आचा० ।

जं किंचि वुक्कमं जाणे, आउक्खेमस्स मप्पणो ।
तस्सेव अंतरऽद्धाए, खिप्पं सिक्खेज्ज पंडिए ॥ ६ ॥

एतदुक्तं भवति-आत्मायुषो यत्क्षेमं-प्रतिपालनोपायं जानीत तं क्षिप्रमेव शिक्षेत् । (आचा०) यद्वा-आत्मनः आयुःक्षेमस्य-जीवितस्य । आचा० १ श्रु० ८ अ० ८ उ० ।

आउजीव-अब्जीव-पुं० । आप एव जीवः । स्थावरजीवविशेषे, अबाश्रितो वा जीवः । उदकाश्रिते जीवे च । सूत्र० १ श्रु० ११अ० ।

तद्भेदा यथा—

दुविहा आउजीवाओ, सुहुमा बायरा तहा ।
पज्जत्तमपज्जत्ता, एवमेए दुहा पुणो ॥ ८४ ॥
बायरा जे उ पज्जत्ता, पंचहा ते पकित्तिया ।
सुद्धोदये य उस्से य, हरितणु महिया हिमे ॥ ८५ ॥
एगविहमनाणत्ता, सुहुमा तत्थ वियाहिया ।
सुहुमा सव्वलोयम्मि, लोगदेसे य बायरा ॥ ८६ ॥

तिसृणां गाथानामर्थः-अब्जीवास्तु द्विविधाः-सूक्ष्माः, तथा बादरा अपि । पर्याप्ता, अपर्याप्ताश्च । एवमेते द्विविधाः पुनर्वर्त्तन्ते इति शेषः ॥ ८४ ॥ अथ पुनर्बादरा ये पर्याप्ता अब्जीवास्ते पञ्चधा प्रकीर्त्तिताः । (उत्त०) तत्र सूक्ष्मा अप्कायजीवा एकविधा अनानात्वात्तीर्थकरैर्व्याख्याताः । तत्र सूक्ष्मा अप्कायजीवाः सर्वस्मिन्—चतुर्दशरज्ज्वात्मके लोके वर्त्तन्ते, बादरा अप्कायजीवा लोकस्यैकदेशे वर्त्तन्ते ॥ ८६ ॥

१—'सुभूम' वृत्तान्तं 'माण' शब्दे षष्ठ भागे विस्तरतो करिष्यते ।
२—ब्रह्मदत्तवृत्तं 'बंभदत्त' शब्दे पञ्चमभागे करिष्यते । ३—३६०० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संतइं पप्पऽणाईया , अपज्जवसिया वि य ।
ठिइं पडुच्च साऽऽईया , सपज्जवसिया वि य ॥ ८७ ॥

सन्तति-प्रवाहमार्गमाश्रित्य अप्कायजीवा अनादिकाः पुनरपर्यवसिता अपि स्थिति-भवस्थितिं, कायस्थितिं चाश्रित्य सादिकास्तथा सपर्यवसिताः अवसानसहिता अपि वर्त्तन्त ॥ ८७ ॥

सत्तेव सहस्साइं , वासाणुक्कोसिया भवे ।
आउठिई आऊणं , अंतोमुहुत्तं जहन्नियं ॥ ८८ ॥

अपाम्-अप्कायजीवानां सप्तैव सहस्राणि वर्षाण्युत्कृष्टा आयुषः स्थितिर्भवेत् , जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्तं भवेत् ॥ ८८ ॥

असंखकालमुक्कोसं , अंतोमुहुत्तं जहन्निया ।
कायठिई आऊणं , तं कायं तु अमुंचओ ॥ ८९ ॥

अपाम्-अप्काजीवानां तं स्वकायमर्थात्-अप्कायममुञ्चतामुत्कृष्टा कायस्थितिः असंख्यकाले भवति जघन्या कायस्थितिरन्तर्मुहूर्त्तं भवति ।

अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं ।
विजढम्मि सए काए, आउजीवाण अंतरं ॥ ९० ॥

अब्जीवानां स्वकीये काये त्यक्ते सति अपरस्मिन् काये उत्पद्य पुनः स्वकीये काये उत्पत्तिः स्यात्तदा उत्कृष्टमन्तरमनन्तकालं भवति । जघन्यकमन्तरम्-अन्तर्मुहूर्तं भवति । वनस्पतिकाये जीवोऽनन्तकालं तिष्ठति तदा अनन्तकालमन्तरं भवति, इति भावः ।

एएसिं वन्नओ चेव, गंधओ रसफासओ ।
संठाणाऽऽदेसओ वा वि, विहाणाइं सहस्ससो ॥ ९१ ॥

एतषाम्-अप्कायजीवानां वर्णतो गन्धतः रसतः स्पर्शतः संस्थानाऽऽदेशनश्चापि-संस्थाननामतश्चापि सहस्रशो-बहवो भेदा भवन्ति ॥ ९१ ॥ उत्त० ३६ अ० । अब्जीवानां च प्रत्येकशरीरिता । " पुढोसत्ता आउजीवा " प्रत्येकशरीरत्वा त्पृथक्-प्रत्येकं सत्त्वाः-प्रत्येकशरीरिणोऽवगन्तव्याः । सूत्र० । १ श्रु० ११ अ० ।

आउज्ज-आतोद्य--न० । आ-समन्तात् तुद्यते । आ-तुद-ण्यत् । वीणादौ वाद्ये, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० । स्था० ० । अनु० । आव० । जी० । तच्च द्विविधम्-ततविततभेदात् । तत-विते अपि द्विविधे-घन-शुषिरभेदात् । स्था० २ ठा० ३ उ० । चतुर्विधम्-ततविततघनशुषिरभेदात् । बृ० १ उ० । "ततं वीणादिकं ज्ञेयं !, विततं पटहादिकम् । घनं तु कांस्यतालादि, वंशादि शुषिरं मतम् " ॥ १ ॥ इति विवक्षाप्राधान्याच्च न विरोधो मन्तव्यः । स्था० २ ठा० ३ उ० । आचा० ।

आतोद्यस्य ४९ भेदाः—

तते णं से सूरियाभे देवे अट्ठसयं संखाणं विउव्वति । अट्ठसयं संगाणं विउव्वइ । अट्ठसयं संखियाणं विउव्वइ । अट्ठसयं खरमुहीणं विउव्वइ । अट्ठसयं पेयाणं विउव्वइ । अट्ठसयं पिरिपिरियाणं विउव्वति । एवमाइयाणं एगोणवणं आउज्जविहाणाइं विउव्वति ।

'एवमाइयाणं' ति-आदिशब्देन- * पणव ६ पटह ७ भम्भा ८ होरम्भा ९ भेरी १० झल्लरी ११ दुन्दुभी १२ मुरज १३ मृदङ्ग १४ नन्दीमृदङ्ग १५ आलिङ्ग १६ कुस्तुम्ब १७ गोमुखी १८ मर्दल १९ विपञ्ची २० वल्लकी २१ भ्रामरी २२ भ्रामरी २३ परिवादिनी २४ चव्वीसा २५ सुघोषा २६ नन्दीघोषा २७ महती २८ कच्छपी २९ चित्रवीणा ३० आमोद ३१ झञ्झा ३२ नकुल ३३ तूणा ३४ तुम्बवीणा ३५ मुकुन्द ३६ हुडुक्क ३७ विचिकी ३८ करटी ३९ डिण्डिम ४० किणित ४१ कडम्बा ४२ दर्दरक ४३ दर्दरिका ४४ कुसुम्बर ४५ कलशिका ४६ तल ४७ ताल ४८ कांस्यताल ४९ रिंगिसिका ५० मङ्गरिका ५१ शुशुमारिका ५२ वंश ५३ वाली ५४ वेणु ५५ पिरिली ५६ बद्धकाः ५७ प्रदर्शिताः । *) अव्याख्यातास्तु भेदाः लोकतः प्रत्येतव्याः एवमादीनि बहून्यातोद्यानि विकुर्वन्ति सर्वसंख्यया तु मूलभेदापेक्षया आतोद्यभेदा एकोनपञ्चाशत् । शेषास्तु भेदास्तेष्वेवान्तर्भवन्ति यथा वंशातोद्यविधाने वालीवेणुपिरिलीबद्धकाः । रा० । * 'णट्ट' शब्दे ४ भागे विशेषः ।

आवज्जे-पुं० । आवर्जनमावर्जः । अभिमुखीकरणे, आवर्ज्यतेऽभिमुखीक्रियते मोक्षोऽनेनेति—शुभमनोवाक्कायव्यापारविशेषे च । उक्तञ्च-" आवज्जणमुवओगो वावारो वा " (३०५१ + विशे०) इति. आवर्ज्यते-अभिमुखीक्रियत, इति घञ् । अभिमुखीकर्त्तव्ये, त्रि० । प्रज्ञा० ३६ पद ।

आवज्ज-त्रि० । आवर्ज्यत इति ण्यत् । अभिमुखीकर्त्तव्ये, आ० म० १ अ० ।

आउज्जण-आवर्जन-न० । अभिमुखीकरणे, शुभमनोवाक्कायव्यापारे च । प्रज्ञा० ३६ पद । विशे० ।

आउज्जसद्द-आतोद्यशब्द-पुं० । नोभाषाशब्दविशेषे, स्था० २ ठा० ३ उ० । स च वणुवीणामृदङ्गादीनां यो शब्दः । जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

तद्भेदादि—

आउज्जसद्दे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—तते चेव,वितते चेव । तते दुविहे पण्णत्ते, तं जहा-घणे चेव, सुसिरे चेव । एवं वितते वि । (सूत्र-८१ +)

(ततविततादिकमातोद्यभेदः ' आउज्ज ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे प्रदर्शितः) तज्जनितः शब्दस्ततो घनः शुषिरश्चेति व्यपदिश्यते । स्था० २ ठा० ३ उ० । (अस्य चतुर्विधत्वम् चतुर्विधातोद्यजनितत्वात् । आतोद्यस्य बहवो भेदाः ' आउज्ज ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे अनुपदमेव दर्शिताः) ।

आउज्जिय-आयोगिक-पुं० । उपयोगवति ज्ञानिनि, । भ० । २ श० ५ उ० ।

आवर्जित-त्रि० । आ-वृज् णिच् क्त । अभिमुखीकृते. तथा च लोके वक्तारः-आवर्जितोऽयं मया: सम्मुखीकृत इत्यर्थः । प्रज्ञा० ३६ पद । पं० सं० । दत्ते, त्यक्ते, निम्नीकृते च । वाच० ।

आउज्जियकरण-आवर्जितकरण-न० । आवर्जितस्य करणमिति केवलिसमुद्घातात्पूर्वं क्रियमाणे शुभयोगव्यापारणे, तत्र भव्यत्वेनावर्जितस्य मोक्षगमनं प्रत्यभिमुखीकृतस्य शुभयोगव्यापारणम् । प्रज्ञा० ३६ पद । पं० सं० । (अत्रत्या वक्तव्यता ' आउज्जीकरण ' शब्देऽग्रे वक्ष्यते)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आउज्जिया-आयोजिका–स्त्री० । भावे वुञ् । व्यापारणे, आ० म० १ अ० ।

आउज्जियाकरण-आयोजिकाकरण–न० । आङ्—मर्यादया केवलिदृष्टया योजन-शुभानां योगानां-व्यापारणम् । भावे वुञ् । तस्य करणमिति । केवलिसमुद्घातात्पूर्वं क्रियमाणे शुभव्यापारात्मके क्रियाविशेषे, प्रज्ञा० ३६ पद । आ० म० । पं० सं० ।

आउज्जीकरण-आवर्जीकरण–न० । आवर्जनमावर्जः तस्य करणमिति विवक्षायां च्विप्रत्ययः । केवलिसमुद्घातात्पूर्वं क्रियमाणे आत्मानं प्रति मोक्षस्याभिमुखीकरणेनात्मनो मोक्षं प्रत्युपयोजनकरणे, आवर्ज्यतेऽभिमुखीक्रियते मोक्षोऽनेनेति आवर्जस्तस्य करणमिति विवक्षायां च्विप्रत्ययः । केवलिसमुद्घातात्पूर्वं क्रियमाणे शुभमनोवाक्कायव्यापारविशेषकरणे, प्रज्ञा० ३६ पद । आवर्ज्यते इत्यावर्जः घञ्, तस्य करणमिति च्विः । केवलिसमुद्घातात्पूर्वं क्रियमाणे मोक्षं प्रत्यभिमुखीकर्त्तव्यस्य करणे, तच्चान्तर्मौहूर्त्तिक उदयावलिकायां कर्म्मपुद्गलप्रक्षेपव्यापाररूप उदीरणाविशेषः । आ० म० १ अ० । औ० । स्था० । कर्म्म० । पं० सं० ।

आवर्जीकरणञ्च—

कइसमइए णं भंते ! आउज्जीकरणे पण्णत्ते, गोयमा ! असंखिज्जसमइए, अंतोमुहुत्तिए आउज्जीकरणे पण्णत्ते । (सूत्र-३४६)

सर्वोऽपि केवली केवलिसमुद्घातं गच्छन् प्रथमत आवर्जीकरणम् उपगच्छति । तथा च—केवलिसमुद्घातप्रक्रियां विभणिषुः समुद्घातशब्दव्याख्यानपुरस्सरमाह भाष्यकारः (प्रज्ञा० ३६ पद ।)—

तत्थाउयसेसा हिय-कम्मसमुग्घायणं समुग्घाओ ।
तं गंतुमणा पुव्वं, आउज्जीकरणमब्भेइ ॥ २०५० ॥
आवज्जणमुवओगो, वावारो वा तदत्थमाईए ।
अंतोमुहुत्तमेत्तं, काउं कुरुए समुग्घायं ॥ २०५१ ॥

तत्रायुःशेषाणाम्-अधिकस्थितिकानां वेदनीयादिकर्म्मणां समुद्घातनं समुद्घातः, तं च गन्तुमनाः-प्रारिप्सुः पूर्वमावर्जीकरणमभ्येति-विदधाति । कथंभूतं तदिति ?, उच्यते-तदर्थम्-समुद्घातकरणार्थमादौ केवलिन उपयोगो मया अधुनेदं कर्त्तव्यमित्येवंरूप उदयावलिकायां कर्म्मप्रक्षेपरूपो व्यापारो वा आवर्जनमुच्यते । तस्यैवंभूतस्य करणमावर्ज्जीकरणं तदन्तर्मुहूर्त्तमात्रं कालं कृत्वा ततः समुद्घातं कुरुते । विशे० ।

आउज्जोवण-अब्योजन–न० । अप्काययन्त्रयोजने, ओघ० ।

तेषां हि सशब्दं भृजतामेते दोषाः—

आउज्जोवणवणिए, अगणि कुडुंबीकुकम्मकुमरीए ।
तेणे मालागारे, उब्भामगपंथि एजंते ॥ ६० ॥

ते हि यदि सशब्दं व्रजन्ति ततश्च लोको विबुध्यते, विबुद्धश्च सन् 'आउज्जोवण' त्ति—अप्कायमन्त्राणि योज्यन्ते वहनाय सज्जीक्रियन्ते । ओघ० । असंजएहिं सद्धं वसंताणं आउज्जोवणवणियादिदोसा भवंति । नि० चू० २ उ० ।

आउट्ट-आउट्ट–पुं० । करणे, अयमेतादृश एव सैद्धान्तिको धातुः । कल्प० ३ अधि० १ क्षण। आउट्टन्ति णाम करेंति । नि० चू० ३ उ० ।

आकुट्ट–पुं० । आकुट्टनमाकुट्टः । आ-कुट्ट-घञ् । छेदने, हिंसायां च । सा चात्र प्राण्यवयवानां छेदनभेदनादिरूपो व्यापारः । सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

आतुष्ट–त्रि० । सन्तुष्टे, नि० चू० १ उ० ।

आवृत्त–त्रि० । आ-समन्ताद् वृत्त इति । समन्ताद् व्यवस्थिते आचा० १ श्रु० ७ अ० ४ उ० । परावृत्ते, प्रतिनिवृत्ते च । पञ्च० । " आउट्ट " ०(२१ गाथा) आवृत्ते-आवृत्तपरिणामे साधाविति । पंचा० १६ विव० ॥ समन्तात् हिंसायां प्रवृत्ते, 'आउट्टामो' प्रवर्तामहे । हिंसायाम् । आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० । पुनः पुनरभ्यासे, आवर्त्यमाने च । वाच० ।

आउट्टंत-आउट्टत्–त्रि० । कुर्वति, कल्प० ३ अधि० १ क्षण। नि० चू० ।

आउट्टण-आउट्टन–न० । करणे, कल्प० ३ अधि० १ क्षण। नि० चू० ।

आकुट्टन–न० । हिंसायाम्, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० । आ० म० ।

आवर्तन–न० । अभिलाषायाम्, आचा० २ श्रु० ७ अ० १ उ० । आराधनायाम्, व्य० "कहणाऽऽउट्टण आगमण-पुच्छणं दीवणा य कज्जस्स " (५१×गाथा) । आवर्तनम्-आकम्पनं राज्ञो भक्तीभवनम् । व्य० २ उ० । नि० चू० । आवर्जने, व्य० १० उ० । अभिमुखीभूय वर्त्तने, नं० ३२ सूत्र । निवर्तने, सूत्र० १ श्रु० १० अ० । आवर्तते पूर्वभावतो निवृत्त्यान्यभावप्रतिपत्त्यभिमुखो वर्तते येन बोधपरिणामेन स आवर्तः । पुं । तथावर्तनं, ईहातो निवृत्त्यापायभावप्रतिपत्त्यभिमुखीभूय वर्तनस्य हेतौ, बोधपरिणामे च । नं० ३२ सूत्र ।

आउट्टणया-आवर्तनता–स्त्री० । आवर्त्ततेऽभिमुखीभूय वर्त्तते येन स तथा तद्भावस्तत्ता । आभिनिबोधिकज्ञानविशेषस्यापायस्य नामधेयविशेषे, सा चेहातो निवृत्त्यापायभावप्रतिपत्त्यभिमुखीभूय वर्त्तते, हेतुभूता बोधपरिणामता । नं० ३२ सूत्र ।

आउट्टणा-आवर्त्तना–स्त्री० । आराधनायाम्; नि० चू० २ उ० । आकम्पने, व्य० २ उ० । आवर्जने, " आउट्टऊण अत्तीकरेइ" आवर्त्य-आवर्ज्यात्मीकरोति । व्य० १० उ० ।

आउट्टावण-आवर्त्तन–न० । अभिमुखीकरणे, आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० १ उ० ।

आउट्टि-आउट्टि–स्त्री० । करणे, " आउट्ट त्ति णाम करेंति " 'आउट्टि' धातुः करणार्थे सैद्धान्तिकः । कल्प० ३ अधि० १ क्षण । नि० चू० ।

आकुट्टि–स्त्री० । हिंसायाम्, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० । इदं करोमीत्येवं बुध्वोपेत्य करणे, जीत० । स० । ध० । प्रव० । पं० व० । आव० । 'आउट्टिया' नाम आभोगे जानान इत्यर्थः । बृ० ३ उ० । (आकुट्यां धर्मरुचेरुदाहरणम्-'आता' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आवृत्ति–स्त्री० । आ-वृत्-क्तिन् । समन्तात्प्रवर्त्तने, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ३ उ० । अभिलाषायाम् , आचा० २ श्रु० २ चू० ६ अ० । आराधनायाम् , राज्ञां भक्तीभवनम् । व्य० २ उ० । नि० चू० । आवर्जने, । व्य० १० उ० । अभिमुखीभूय वर्तते, नं० । निवर्त्तने, सूत्र० १ श्रु० १० अ० । पुनः पुनरभ्यासे, भूय एकजातीयक्रियाकरणे, "आवृत्तिः सर्वशास्त्राणां, बोधादपि गरीयसी " । प्रत्यावृत्तौ, पुनरागतौ, वाच० । सूर्यस्य चन्द्रस्य च भूयो भूयो दक्षिणोत्तरगमने, सू० प्र० १२ पाहु० । चं० प्र० । ज्यो० । आवृत्तयो द्विधा । तद्यथा-एकाः सूर्यस्यावृत्तयः, अपराश्चन्द्रमसः । तत्र युगे सूर्य्यस्यावृत्तयो दश भवन्ति, चतुस्त्रिंशच्छतमावृत्तीनां चन्द्रमसः । सू० प्र० १२ पाहु० । चं०प्र० ।

तत्र (५ वर्षात्मके युगे) सूर्यस्य दशाऽऽवृत्तयः—

तत्थ खलु इमातो पंच वासिक्कीओ, पंच हेमन्तीओ आउट्टीओ पएणत्ताओ । (सूत्र-७६ +)

'तत्थ खलु' इत्यादि-तत्र युगे खलु इमा-वक्ष्यमाणस्वरूपाः पञ्च वार्षिक्यः, पञ्च हैमन्त्यः-शीतकालभाविन्यः सर्वसंख्यया दश आवृत्तयः सूर्य्यस्य प्रज्ञप्ताः । सू०प्र० १२ पाहु० । चं० प्र० ।

एतस्योपपत्तिं वक्तुकाम आह—

एत्तो आउट्टीओ, वोच्छं जह य कमेण सूरस्स ।
चंदस्स य लहुकरणं, जह दिट्ठं सव्वदंसीहिं ॥ २३१ ॥

इतः-अयनविभागप्रतिपादनानन्तरं सूर्यस्य चन्द्रस्य च आवृत्तीर्भूयो भूयो दक्षिणोत्तरगमनरूपा यथाक्रमेण-परिपाट्या वक्ष्यामि, तासां चाऽऽवृत्तीनां प्रतिनियतप्रथमदिवसपरिज्ञानाय यथा दृष्टं सर्वदर्शिभिः-सर्वज्ञैस्तथा करणम्-लघूपायं वक्ष्ये ।

प्रतिज्ञातमर्थं निर्वाहयितुकामः प्रथमत आवृत्तीः प्रतिपादयति—

**सूरस्स य अयणसमा, आउट्टीओ जुगम्मि दस होंति ।
चंदस्स य आउट्टी, सयं च चोत्तीसयं चेव ॥ २३२ ॥**

सूर्यस्य—आदित्यस्य युगे च चन्द्रचन्द्राभिवर्द्धित—चन्द्राभिवर्द्धितसंवत्सरपञ्चकपरिमाणे आवृत्तयः यथोदितस्वरूपा अयनसमा भवन्ति । अयनप्रथमप्रवृत्तेरावृत्तिशब्दवाच्यत्वात् , ताश्च कति संख्याः ? इत्याह-दश ।

तथा चन्द्रस्यावृत्तीनां शतं चतुस्त्रिंशदधिकम्,१३४ अयनानां हि प्रथमाः प्रवृत्तय आवृत्तिशब्दवाच्याश्चन्द्रस्य वा अयनान्येतावन्त्यो भवन्ति, तदावृत्तयोऽप्येतावत्य एव । अथैकस्मिन् युगे सूर्यस्य दशायनानि भवन्तीति, कथमवसीयते सूर्यस्याऽऽवृत्तयो युगे दश भवन्ति, चन्द्रमसश्चाऽऽवृत्तीनां चतुस्त्रिंशच्छतमिति १३४, उच्यते-उक्तं नाम आवृत्तयस्तयोर्दक्षिणोत्तरगमरूपाः ततः सूर्यस्य चन्द्रमसो वा यावन्त्ययनानितावत्य आवृत्तयः, सूर्यस्य चायनानि दश, एतच्चावसीयते त्रैराशिकबलात् , तथाहि-यदि दिवसेन त्र्यशीत्यधिकेन शतेन एकमयनं भवति ततोऽष्टादशभिः शतैः त्रिंशदधिकैः कति अयनानि लभ्यन्ते, राशित्रयस्थापना-(१८३)(१)(१८३०) अत्रान्त्येन राशिना मध्यमस्य राशेर्गुणनम् , एकस्य च गुणने तदेव भवतीति जातान्यष्टादशशतानि त्रिंशदधिकानि-(१८३०)तेषामाद्येन राशिना त्र्यशीत्यधिकेन शतेन भागहरणं, लब्धा दश १० । आगतं युगमध्ये सूर्यस्य दश १० अयनानि भवन्तीति आवृत्तयोऽपि दश १० । तथा यदि त्रयोदशभिर्दिवसैश्चतुश्चत्वारिंशता च सप्तषष्टिभागैरेकं चन्द्रस्यायनं भवति ततोऽष्टादशभिर्दिवसशतैस्त्रिंशदधिकैः कति चन्द्रायनानि भवन्ति ?, राशित्रयस्थापना-१३, ४४ । ६७ (१)।(१८३०)। तत्राद्य राशौ सवर्णनाकरणार्थं त्रयोदशाऽपि दिनानि सप्तषष्ट्या गुणयित्वा चोपरितनाः चतुश्चत्वारिंशत् सप्तषष्टिभागाः प्रक्षिप्यन्ते, जातानि नव शतानि पञ्चदशोत्तराणि (९१५) यानि चाष्टादशशतानि त्रिंशदधिकानि-(१८३०) तान्यपि सवर्णनाकरणार्थं सप्तषष्ट्या ६७ गुण्यन्ते, जातानि द्वादश लक्षाणि द्व सहस्रे षट् शतानि दशोत्तराणि (१२०२६१०) तत्रैवंरूपेणानेन राशिना मध्यमस्य राशेरेककरूपस्य गुणनम् , एकस्य च गुणने तदेव भवतीत्येतावानेव राशिर्जातः, तस्य नवभिः शतैः पञ्चदशोत्तरैः-९१५ भागो ह्रियते लब्धं चतुस्त्रिंशं शतम् १३४ एतावन्ति चन्द्रायणानि युगमध्ये भवति, एत्येतावत्यः१३४ चन्द्रमस आवृत्तयः। ज्यो०१२पाहु०।चं०प्र०।सू०प्र०।

संप्रति का सूर्यस्यावृत्तिः कस्यां तिथौ भवतीति. चिन्तायां यत्पूर्वाचार्यैरुपदर्शितं करणं तदुपदर्श्यते (सू० प्र० १२ पाहु०)—

**आउट्टीहिं एगुणियाहिं , गुणियं सयं तु तेसीयं ।
जेण गुणियं तं तिगुणं , रूवाहियं पक्खिवे तत्थ ॥२३६॥
पन्नरसलाइयम्मि उ, जं लद्धं तं तेसु होइ पव्वेसु ।
जे अंसा ते दिवसा , आउट्टी एत्थ बोधव्वा ॥ २४० ॥**

अनयोर्व्याख्या- आवृत्तिभिरेकोनिकाभिर्गुणितं शतं त्र्यशीत्यधिकम् , । किमुक्तं भवति-या आवृत्तिर्विशिष्टतिथियुक्ता ज्ञातुमिष्टा तत्संख्या एकोनिका क्रियते । ततस्तया-त्र्यशीत्यधिकं शतं गुण्यते , गुणयित्वा च येनाऽङ्केन गुणितं त्र्यशीत्यधिकं शतं तदङ्कस्थानं त्रिगुणं कृत्वा रूपाधिकं सत्तत्र-पूर्वराशौ प्रक्षिप्यते , ततः पञ्चदशभिर्भागो ह्रियते , हृते च भागे यल्लब्धं तत्तेषु तावत्संख्याकेषु पर्वस्वतिक्रान्तेषु सा विवक्षिता आवृत्तिर्भवति, ये त्वंशाः पश्चादुद्व(द्ध)रितास्ते दिवसाः ज्ञातव्याः । तत्र तेषु दिवसेषु मध्ये चरमदिवसे आवृत्तिर्भवतीति भावः, इहावृत्तीनामेवं क्रमो-युगे-प्रथमा आवृत्तिः श्रावणे मासे, द्वितीया माघे मासे, तृतीया भूयः श्रावणे मासे, चतुर्थी माघमासे , पुनरपि पञ्चमी श्रावणे, षष्ठी माघमासे, भूयः सप्तमी श्रावणे, अष्टमी माघमासे, नवमी श्रावणमासे, दशमी माघमासे इति । तत्र प्रथमा किल आवृत्तिः कस्यां तिथौ भवतीति यदि जिज्ञासा तदा प्रथमावृत्तिस्थाने एकको ध्रियते सा रूपोना क्रियते इति न किमपि पश्चाद्रूपं प्राप्यते, ततः पाश्चात्ययुगभाविनी या दशमी आवृत्तिस्तत्संख्या दशकरूपा ध्रियते, तया त्र्यशीत्यधिकं शतं गुण्यते, जातान्यष्टादश शतानि त्रिंशदधिकानि-१८३०, दशकेन किल गुणितं त्र्यशीत्यधिकं शतमिति । ततःते दश१०त्रिगुणीक्रियन्ते,जातास्त्रिंशत्३०। सा रूपाधिका

Jain Education International　　For Private & Personal Use Only　　www.jainelibrary.org

विधेया , जाता एक त्रिंशत् , सा पूर्वराशौ प्रक्षिप्यते' जातान्यष्टादशशतान्येकषष्ट्यधिकानि-१८६१ , तेषां पञ्चदशभिर्भागो ह्रियते लब्धं चतुर्विंशतिशतं शेषं तिष्ठति एकं रूपम् आगतम् चतुर्विंशत्यधिकपर्वशतात्मके पाश्चात्ये युगे अतिक्रान्ते, अभिनवे युगे प्रवर्त्तमाने प्रथमावृत्तिः प्रथमायां तिथौ प्रतिपदि भवतीति । तथा कस्यां तिथौ द्वितीया माघमासभाविनी आवृत्तिर्भवतीति यदि जिज्ञासा ततो द्विको ध्रियते स रूपोनः कृत इति जातः एककस्तेन त्र्यशीत्यधिकं शतं गुण्यते , 'एकेन च गुणितं तदेव भवति' इति जातं त्र्यशीत्यधिकमेव शतम् १८३, एकेन गुणितं किल त्र्यशीत्यधिकं शतमिति । एकः त्रिगुणीक्रियते,जातस्त्रिकः स रूपाधिकः क्रियते जाताश्चत्वारः४, ते ४ पूर्वराशौ प्रक्षिप्यन्ते जातं सप्ताशीत्यधिकं शतम् १८७,तस्य पञ्चदशभिर्भागो ह्रियते लब्धा द्वादश, शेषास्तिष्ठन्ति सप्त, आगतं युगे द्वादशपर्वस्वतिक्रान्तेषु माघमासे बहुलपक्षे सप्तम्यां तिथौ द्वितीया माघमासे-माघमासभाविनीनां तु मध्ये प्रथमा आवृत्तिरिति । तथा तृतीया आवृत्तिः कस्यां तिथौ भवतीति जिज्ञासायां त्रिको ध्रियते, स रूपोनः क्रियते इति जातो द्विकस्तेन त्र्यशीत्यधिकं शतं१८३ गुण्यते जातानि षट्षष्ट्यधिकानि त्रीणि शतानि (३६६) द्विकेन किल गुणितं त्र्यशीत्यधिकशतमिति । द्विकस्त्रिगुणीक्रियते जाताः षट् ते रूपाधिकाः क्रियन्ते, जाताः सप्त, ते पूर्वराशौ प्रक्षिप्यन्ते, जातानि त्रीणि शतानि त्रिसप्तत्यधिकानि-३७३ तेषां पञ्चदशभिर्भागो ह्रियते लब्धाश्चतुर्विंशतिः२४; शेषास्तिष्ठन्ति त्रयोदश-१३अंशाः, आगतं युगे तृतीयावृत्तिः श्रावणमासभाविनीनां तु मध्ये द्वितीया चतुर्विंशतिपर्वात्मके प्रथमे संवत्सरेऽतिक्रान्ते श्रावणमासे बहुलपक्षे (ज्यो० १२ पाहु०) त्रयोदश्यां तिथौ भवतीति, एवमन्यास्वप्यावृत्तिषु करणवशाद्विवक्षितास्तिथयः आनेतव्याः; ताश्चमाः युगे चतुर्थी माघमासभाविनीनां तु मध्ये द्वितीया शुक्लपक्षे चतुर्थ्यां पञ्चमी । श्रावणमासभाविनीनां तु मध्ये तृतीया, श्रावणमासे शुक्लपक्षे दशम्यां षष्ठी, माघमासभाविनीनां तु मध्ये तृतीया माघमासे बहुलपक्षे प्रतिपदि सप्तमी । श्रावणमासभाविनीनां तु मध्ये चतुर्थी श्रावणमासे बहुलपक्षे सप्तम्यामष्टमी । माघमासभाविनीनां तु मध्ये चतुर्थी माघमासे बहुलपक्षे त्रयोदश्यां नवमी । श्रावणमासभाविनीनां तु मध्ये पञ्चमी, श्रावणमासे शुक्लपक्षे चतुर्थ्यां दशमी । माघमासभाविनीनां तु मध्ये पञ्चमी माघमासे शुक्लपक्षे दशम्याम् तथा चैता एव पञ्चानां श्रावणमासभाविनीनां पञ्चमीनां तु माघमासभाविनीनां तु तिथयोऽन्यत्राप्युक्ताः । चं० प्र० १२ पाहु० ७६ सूत्रटी० ।

सम्प्रति या सूर्यस्यावृत्तिर्यस्मिन् दिने भवति तां तथा प्रतिपादयति—

पढमा बहुलपडिवए, बिइया बहुलस्स तेरसीदिवसे ।
सुद्धस्स य दसमीए, बहुलस्स य सत्तमीए उ ॥ २३३ ॥
सुद्धस्स चउत्थीए, पवत्तए पंचमी उ आउट्टी ।
एया आउट्टीओ, सव्वाओ सावणे मासे ॥ २३४ ॥

इह सूर्यस्य दशावृत्तयो भवन्ति, एतच्चानन्तरमेव भावितं, तत्र पञ्च आवृत्तयः श्रावणे मासे भवन्ति, तासां मध्ये प्रथमा बहुलपक्षे प्रतिपदि १, द्वितिया-बहुलस्य-बहुलपक्षस्य सम्बन्धिनि त्रयोदशीरूपे दिवसे२, तृतीया-शुद्धस्य-शुक्लपक्षस्य दशम्याम्३,चतुर्थी-बहुलपक्षस्य सप्तम्याम्४,शुद्धस्य-शुक्लपक्षस्य चतुर्थ्यां प्रवर्त्तते पंञ्चमी-आवृत्तिः ५, एता सर्वा अप्यावृत्तयः श्रावणे मासे वेदितव्याः । ज्यो० १२ पाहु०।

अधुना माघमासे भाविन्य आवृत्तयो यासु तिथिषु भवन्ति तर अभिदधाति—

बहुलस्स सत्तमीए, पढमा सुद्धस्स तो चउत्थीए ।
बहुलस्स य पाडिवए, बहुलस्स य तेरसी दिवसे ॥२३६॥
सुद्धस्स य दशमीए पवत्तए पंचमी उ आउट्टी ।
एया आउट्टीओ, सव्वाओ माघमासम्मि ॥ २३७ ॥

माघमासे प्रथमा आवृत्तिः-बहुलस्य--कृष्णपक्षस्य सप्तम्यां भवति १, द्वितीया-शुद्धस्य-शुक्लपक्षस्य चतुर्थ्याम् २, तृतीया-बहुलपक्षस्य प्रतिपदि ३, चतुर्थीः-बहुलपक्षस्य त्रयोदशीदिवसे भवति ४, पञ्चमी शुक्लपक्षस्य दशम्यां प्रवर्तते ५, एताः सर्वा अप्यावृत्तयो माघमासे भवन्ति । ज्यो० १२ पाहु० ।

एतासु सूर्यावृत्तिषु चन्द्रनक्षत्रयोगपरिज्ञानार्थं करणमभिधित्सुस्तद्विषयं ध्रुवराशिमाह—

पंचसया पडिपुण्णा, तिसुत्तरा नियमसो मुहुत्ताणं ।
छत्तीस विसट्ठिभागा, छच्चेव य चुण्णिया भागा ॥२४१॥

ज्यो० १२ पाहु० ।

पञ्चशतानि त्रिसप्ततानि-त्रिसप्तत्यधिकानि परिपूर्णानि मुहूर्त्तानां भवन्ति षट्त्रिंशच्च द्वाषष्टिभागाः । षट् चैव चूर्णिका भागाः एकस्य द्वाषष्टिभागस्य सत्काः षट्सप्तषष्टिभागाः इत्यर्थः एतावान् विवक्षितकरणे ध्रुवराशिः । कथमस्योत्पत्तिरिति चेत् ?, उच्यते-इह यदि दशभिः सूर्यायनैः सप्तषष्टिश्चन्द्रनक्षत्रपर्याया लभ्यन्ते तत एकेन सूर्याऽयनेन किं लभामहे ?, राशित्रयस्थापना-(१०) (६७) (१) अत्रान्त्येन राशिना एककेन मध्यस्यराशेः सप्तषष्टिलक्षणस्य गुणने "एकेन च गुणितं तदेव लब्धं भवतीति" जाता सप्तषष्टिः (६७) तस्य दशभिर्भागहारे लब्धाः षट् ६ पर्यायाः, एकस्य च पर्यायस्य सप्तदश १७ भागा ये च सप्तमस्य पर्यायस्यसप्तदशभागा १७ तद्गतमुहूर्तप्रमाणमधिकृतगाथायामुपन्यस्तम् । अथ कथमेतदवसीयते एतावन्तस्तत्र मुहूर्त्ता भवन्ति ? इति चेदुच्यते-त्रैराशिककर्मचिन्तावलात्तथा हिंयदि दशभिर्भागैः सप्तविंशतिर्दिनानि एकस्य च दिनस्य एकविंशतिः सप्तषष्टिभागा लभ्यन्ते ततः सप्तभिर्भागैः किं लभामहे ?, राशित्रयस्थापना-(१०-२७, $\frac{२१}{६७}$ । ७) अत्रान्त्येन राशिना सप्तक ७ लक्षणेन मध्यस्य राशेः सप्तविंशति १७ दिनानि गुण्यन्ते जातं नवाशीत्यधिकं शतं (१८९) तस्याद्येन राशिना दशक १० लक्षणेन भागं हृतं लब्धा अष्टादश (१८) दिवसास्ते च मुहूर्त्तानयनाय त्रिंशता ३० गुण्यन्ते जातानि पञ्चशतानि चत्वारिंशदधिकानि-५४०, मुहूर्त्तानां, शेषा उपरि तिष्ठन्ति नव ९, ते मुहूर्तकरणार्थं त्रिंशता गुण्यन्ते जाते द्विशते सप्तत्यधिके-२७०, त्रयोदशभि १३ भागं हृते लब्धाः सप्तविंशतिर्मुहूर्त्ताः२७, ते पूर्वस्मिन् मुहूर्तराशौ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रक्षिप्यन्ते, जातानि पञ्चशतानि सप्तषष्ट्यधिकानि-५६७, येऽपि च एकविंशतिः सप्तषष्टिभागा दिनस्य तेऽपि मुहूर्त्त-भागकरणार्थं त्रिंशता३० गुण्यन्ते,जातानि षट्शतानि त्रिंशदधिकानि-६३०, तानि सप्तभि ७ गुण्यन्ते जातानि दशोत्तराणि चतुश्चत्वारिंशच्छतानि-४४१०, तेषां दशभि १० र्भागे हृते लब्धानि चत्वारि शतानि एकचत्वारिंशदधिकानि-४४१, तेषां सप्तषष्ट्या६७भागे हृते लब्धाः षट्६मुहूर्त्ताः,ते पूर्वमुहूर्त्तराशौ प्रक्षिप्यन्ते, जातानि मुहूर्त्तानां पञ्च शतानि त्रिसप्तत्यधिकानि-५७३, शेषाश्चोद्धरिता एकोनचत्वारिंशत् ३९, सा द्वाषष्ट्या६२ गुण्यते, जातानि चतुर्विंशतिशतानि अष्टादशाधिकानि-२४१८, तेषां सप्तषष्ट्या ६७भागे हृते लब्धाः षट्त्रिंशत् द्वाषष्टिभागाः, शेषास्तिष्ठन्ति षट् ६। ते एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सत्काः सप्तषष्टिभागा, एते चातिश्लक्ष्णरूपा भागा इति चूर्णिका भागा इति व्यपदिश्यन्ते तदेवमुक्तो ध्रुवराशिः। सू० प्र० १२ पाहु० ७६ सूत्रटी० । चं० प्र० १२ पाहु० । ज्यो०।

सम्प्रति करणमाह—

आउट्टीहि एगुणियाहिं, गुणिओ हविज्ज धुवरासी ।
एयं मुहुत्तगणियं, एत्तो वोच्छामि सोहणगं ॥ २४२ ॥

ज्यो० १२ पाहु० ।

'आउट्टीहि' इत्यादि, यस्यां यस्यामावृत्तौ नक्षत्रयोगो ज्ञातुमिष्यते तया तया आवृत्त्या एकोनिकया-एकरूपहीनया गुणितोऽनन्तरोक्तस्वरूपो ध्रुवराशिर्भवेत् यावान् एतन्मुहूर्त्तगुणितं मुहूर्त्तपरिमाणम् , अत ऊर्ध्वं वक्ष्यामि शोधनकम् ॥ २४२ ॥

तत्र प्रथमतोऽभिजितो नक्षत्रस्य शोधनकमाह (सू०प्र०)—

अभिइस्स नव मुहुत्ता , बिसट्ठिभागा उ होंति चउवीसं ।
छावट्ठी य समग्गा, भागा सत्तट्ठिछेयकया ॥ २४३ ॥
उगुणट्ठं पोट्ठवया , तिसु चेव नवोत्तरेसु रोहिणिया ।
तिसु नवनउएसु भवे , पुणव्वसू उत्तराफग्गू ॥ २४४ ॥
पंचेव अउणपन्ना , सयाइँ एगुणत्तराइँ छच्चेव ।
सोज्झाइँ विसाहाणं , मूले सत्तेव चोयाला ॥ २४५ ॥
अट्ठसयमुगुणवीसा , सोहणगं उत्तराअसाढाणं ।
चउवीसं खलु भागा , छावट्ठी चुण्णिया भागा ॥ २४६ ॥

ज्यो० १२ पाहु० ।

'अभिइस्से' त्यादि, अभिजितः-अभिजिन्नक्षत्रस्य शोधनकं नव९मुहूर्त्ताःएकस्य च मुहूर्त्तस्य चतुर्विंशतिद्वाषष्टिभागा एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सत्काः सप्तषष्टिच्छेदकृताः समग्राः-परिपूर्णाः षट्षष्टिभागाः ६६। कथमेतस्योत्पत्तिरिति चेदुच्यते-इहाभिजितोऽहोरात्रसत्काः एकविंशतिः सप्तषष्टिभागाश्चन्द्रेण योगः। ततोऽहोरात्रे त्रिंशन्मुहूर्त्ताः ३० इति मुहूर्त्त-भागकरणार्थमेकविंशतिः २१, त्रिंशता ३० गुण्यते जातानि षट्शतानि त्रिंशदधिकानि (६३०) तेषां सप्तषष्ट्या भागो हियते लब्धा नव९मुहूर्त्ताः. शेषास्तिष्ठन्ति सप्तविंशतिः। ते द्वाषष्टि६२भागकरणार्थं द्वाषष्ट्या ६२ गुण्यन्ते,जातानि षोडशशतानि चतुःसप्तत्यधिकानि(१६७४)तेषां सप्तषष्ट्या ६७ भागो ह्रियते लब्धाश्चतुर्विंशतिर्द्वाषष्टिभागाः, शेषास्तिष्ठन्ति षट्षष्टिः (६६)। ते च द्वाषष्टिभागस्य सत्काः सप्तषष्टिभागाः ॥२४३॥ सम्प्रति शेषनक्षत्राणां शोधनकानि उच्यन्ते-' उगुणट्ठमि ' त्यादिगाथात्रयम् । एकोनषष्टिमेकोनषष्ट्यधिकं शतं प्रोष्ठपदा-उत्तरभाद्रपदा किमुक्तं भवति-एकोनषष्ट्यधिकेन शतेनाभिजिदादीन्युत्तरभाद्रपदान्तानि नक्षत्राणि शुद्ध्यन्ति । तथाहि-नव९ मुहूर्त्ता अभिजितः,त्रिंशच्छ्रवणस्य, त्रिंशद्धनिष्ठायाः, पञ्चदश शतभिषजः, त्रिंशत्पूर्वभाद्रपदायाः, पञ्चचत्वारिंशदुत्तरभाद्रपदाया इति शुद्ध्यन्ति। एकोनषष्ट्यधिकेन शतेनोत्तरभाद्रपदान्तानि नक्षत्राणि तथा त्रिषु नवोत्तरेषु शतेषु रोहिणिकान्तानि शुद्ध्यन्ति। तथाह्येकोनषष्ट्यधिकेन-शतेनोत्तरभाद्रपदान्तानि शुद्ध्यन्ति । ततस्त्रिंशन्मुहूर्त्तैः ३० रेवती, त्रिंशता ३० अश्विनी, पञ्चदशभिर्भरणी त्रिंशता कृत्तिका, पञ्चचत्वारिंशता ४५ रोहिणिकेति, तथा त्रिषु नवनवत्यधिकेषु शतेषु पुनर्वस्वन्तानि शुद्ध्यन्ति। तत्र त्रिभिः शतैर्नवोत्तरैः रोहिणिकान्तानि शुद्ध्यन्ति, ततस्त्रिंशता ३० मुहूर्त्तैः मृगशिरः , पञ्चदशभिरार्द्रा, पञ्चचत्वारिंशता ४५ पुनर्वसू इति। तथा पञ्चशतान्येकोनपञ्चाशदधिकानि उत्तरफाल्गुनीपर्यन्तानि। किमुक्तं भवति—पञ्चभिः शतैरेकोनपञ्चाशदधिकैरुत्तरफाल्गुन्यन्तानि नक्षत्राणि शुद्ध्यन्ति। तथाहि-त्रिभिः शतैर्नवनवत्यधिकैः पुनर्वस्वन्तानि शुद्ध्यन्ति । ततस्त्रिंशता ३० मुहूर्त्तैः पुष्यः, पञ्चदशभिरश्लेषा त्रिंशता ३० मघा, त्रिंशता ३० पूर्वफाल्गुनी, पञ्चचत्वारिंशता-उत्तरफाल्गुनीति , तथा-षट्शतानि एकोनसप्ततानि-एकोनसप्तत्यधिकानि विशाखानां-विशाखान्तानां नक्षत्राणां शोध्यानि, तथाहि-उत्तरफाल्गुन्यन्तानां पञ्चशतान्येकोनपञ्चाशदधिकानि शोध्यानि। ततस्त्रिंशन्मुहूर्त्ता३०हस्तस्य, त्रिंशत् ३०चित्रायाः, पञ्चदश १५ स्वातेः, पञ्चचत्वारिंशद्विशाखाया, इति । तथा मूले-मूलनक्षत्रे शोध्यानि सप्तशतानि चतुश्चत्वारिंशदधिकानि (७४४) तत्र षट् शतानि एकोनसप्तत्यधिकानि (६६९) विशाखान्तानां नक्षत्राणां शोध्यानि, ततः त्रिंशन्मुहूर्त्ताः अनुराधायाः, पञ्चदश ज्येष्ठायाः, त्रिंशत् मूलस्येति , तथा अष्टौ शतानि समाहृतानि अष्टशतमेकोनविंशत्यधिकम् । किमुक्तं भवति-अष्टौ शतान्येकोनविंशत्यधिकानि उत्तराषाढानाम्-उत्तराषाढान्तानां नक्षत्राणां शोधनकम्। तथाहि-मूलान्तानां नक्षत्राणां शोध्यानि सप्तशतानि चतुश्चत्वारिंशदधिकानि(७४४) ततः त्रिंशन्मुहूर्त्ताः ३० पूर्वाषाढानक्षत्रस्य पञ्चचत्वारिंशदुत्तराषाढानामिति। तथा यथासंभवं सर्वेषामपि चामीषां शोधनकानामुपरि अभिजितः संबन्धिनः चतुर्विंशतिद्वाषष्टिभागाः शोध्याः एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सत्काः षट्षष्टिश्चूर्णिका भागाः ॥ २४४ ॥ २४५ ॥ २४६ ॥

एयाइँ सोहइत्ता , जं सेसं तं हवेज्ज नक्खत्तं ।
चंदेण समाउत्तं , आउट्टीए उ बोधव्वं ॥ २४७ ॥

' एयाइं ' इत्यादि. एतानि-अनन्तरोदितानि शोधनकानि यथासंभवं शोधयित्वा यत् शेषमुद्धरति तत्र यथायोगमपान्तरालवर्तिषु नक्षत्रेषु शोधितेषु यन्नक्षत्रं न शुद्ध्यति तन्नक्षत्रं चन्द्रेण समायुक्तं विवक्षितायामावृत्तौ वेदितव्यम् । तत्र प्रथमायामावृत्तौ प्रथमतः प्रवर्त्तमानायां केन नक्षत्रेण युक्तश्चन्द्र इति यदि जिज्ञासा तत्प्रथमावृत्तिस्थाने एकको १ ध्रियते स रूपोनः क्रियत इति न किमपि पश्चात् रूपमवतिष्ठते। ततः पाश्चात्ययुगभाविनीनामावृत्तीनां मध्ये या दशमी आवृत्तिस्तत्संख्या दशक१०रूपा ध्रियते तया प्राचीनः सम-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्तोऽपि ध्रुवराशिः पञ्चशतानि त्रिसप्तत्यधिकानि मुहूर्त्तानामेकस्य च मुहूर्त्तस्य षट्त्रिंशत् द्वाषष्टिभागा एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट् सप्तषष्टिभागाः (५७३) (३६।६२ ६।६७) इत्येवं प्रमाणो गुण्यते । तत्र मुहूर्त्तराशौ दशभिर्गुणिते जातानि सप्तपञ्चाशत् शतानि त्रिंशदधिकानि (५७३०) येऽपि च षट्त्रिंशद्-द्वाषष्टिभागास्तेऽपि दशभिर्गुणिते जातानि त्रीणि शतानि षष्ट्यधिकानि (३६०) तेषां द्वाषष्ट्या भागे हृते लब्धाः पञ्च ५ मुहूर्त्तास्ते पूर्वराशौ प्रक्षिप्यन्ते जातः पूर्वराशिः-सप्तपञ्चाशच्छतानि पञ्चत्रिंशदधिकानि (५७३५) शेषास्तिष्ठन्ति द्वाषष्टिभागाः पञ्चाशत् (५०) येऽपि च षट् चूर्णिकाभागास्तेऽपि दशभि १०र्गुणिता जाता षष्टिः ६०, तत एतस्मात् शोधनकानि शोध्यन्ते । तत्रोत्तराषाढान्तानां नक्षत्राणां शोधनकमष्टौ शतान्येकोनत्रिंशत्यधिकानि (८२९) एतानि किल यथोदितराशेः सप्तकृत्वः शुद्धिमाप्नुवन्तीति सप्तभिर्गुण्यन्ते जातानि सप्तपञ्चाशच्छतानि त्रयस्त्रिंशदधिकानि (५७३३) तानि पञ्चाशच्छतेभ्यः पञ्चत्रिंशदधिकेभ्यः पात्यन्ते स्थितौ पश्चात् द्वौ २ मुहूर्त्तौ द्वाषष्टिभागकरणार्थं द्वाषष्ट्या ६२ गुण्येते जातं चतुर्विंशत्यधिकं शतं (१२४) द्वाषष्टिभागानाम् ततः प्राक्तने पञ्चाशल्लक्षणे द्वाषष्टिभागराशौ प्रक्षिप्यते जातं चतुःसप्तत्यधिकं शतम् (१७४) द्वाषष्टिभागानां, तथापि ये अभिजितः संबन्धिनश्चतुर्विंशतिर्द्वाषष्टिभागाः शोध्यास्ते सप्तभिर्गुण्यन्ते जातमष्टषष्ट्यधिकं शतम् (१६८) तत् चतुःसप्तत्यधिकात् शतात् शोध्यते स्थिताः शेषाः षट् द्वाषष्टिभागाः । ते च चूर्णिकाभागकरणार्थं सप्तषष्ट्या गुण्यन्ते गुणयित्वा च ये प्राक्तनाः षष्टिः सप्तषष्टिभागाः ते तत्र प्रक्षिप्यन्ते जातानि चत्वारि शतानि द्वाषष्ट्यधिकानि (४६२) ततो ये अभिजितः संबन्धिनः षट् षष्टिश्चूर्णिकाभागाः शोध्याः ते सप्तभिर्गुण्यन्ते जातानि चत्वारि शतानि द्वाषष्ट्यधिकानि (४६२) तान्यनन्तरोदितराशेः शोध्यन्ते, स्थितं पश्चात् शून्यम्०। तत आगतं-साकल्येनोत्तराषाढानक्षत्रे चन्द्रेण भुक्ते सति तदनन्तरस्याभिजितो नक्षत्रस्य प्रथमसमये युगे प्रथमा आवृत्तिः प्रवर्त्तते । ज्यो० १२ पाहु० । चन्द्र० १२ पाहु० । सू० प्र० ।

अथ श्रावणमासभाविनीनामावृत्तीनां चन्द्रनक्षत्रस्य संग्रहणीं गाथामाह—

पढमा होइ अभिइणा, संठाणाहि य तहा विसाहाहिं ।
रेवतीए उ चउत्थी, पुव्वहि फग्गुणीहि तहा ॥ २३५ ॥

श्रावणमासभाविनीनामनन्तरोदितस्वरूपाणां पञ्चानामावृत्तीनां मध्ये प्रथमा आवृत्तिरभिजिता नक्षत्रेण युता भवति, द्वितीया ' संठाणाहिं ' ति-मृगसिरसा, तृतीया विशाखाभिः, चतुर्थी रेवत्या, पञ्चमी पूर्वफाल्गुनीभिः । ज्यो० १२ पाहु० ।

सम्प्रति वार्षिकीणामेवाऽऽवृत्तीनां नक्षत्रयोगं प्रश्नरीत्या प्रतिपादयति—

ता एएसि णं पंचण्हं संवच्छराणं पढमं वासिकिं आउट्टिं चंदे केणं णक्खत्तेणं जोगं जोएति?, ता अभिइणा, अभिजिस्स पढमसमएणं, तं समयं च णं सूरे केणं णक्खत्तेणं जोगं जोएति ?, ता पूसेणं, पुस्सस्स एगूणवीसं मुहुत्ता तेतालीसं च बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिहा छेत्ता तेतालीसं चुण्णिया भागा सेसा, (सूत्र ७६+)

'ता एएसि णमि' त्यादि, एतेषाम्-अनन्तरोदितानां पञ्चानां चन्द्रादीनां संवत्सराणां मध्ये प्रथमां वार्षिकीं-वर्षाकालसंबन्धिनीं, श्रावणमासभाविनीमित्यर्थः । आवृत्तिं चन्द्रः केन नक्षत्रेण युनक्ति ?-केन नक्षत्रेण सह योगमुपागतः सन् प्रवर्त्तयति ?, एवं गौतमेन प्रश्ने कृते भगवानाह-' ता अभिजिणा ' इत्यादि, अभिजिता नक्षत्रेण युनक्ति, एतदेव विशेषत आचष्टे-अभिजितो नक्षत्रस्य प्रथमसमये युनक्ति, तदेवं चन्द्रनक्षत्रमवबुध्य सूर्यनक्षत्रविषयं प्रश्नमाह-' तं समयं च णमि ' त्यादि, तस्मिंश्च समये णमिति वाक्यालङ्कारे, सूर्यः केन नक्षत्रेण युनक्ति-केन नक्षत्रेण सह सूर्यो योगमुपागतः सन् तां प्रथमामावृत्तिं-प्रवर्त्तयतीति ? । भगवानाह-' ता पूसेणमि ' त्यादि, ता इति पूर्ववत् , पुष्येण युक्तस्तां प्रथमामावृत्तिं युनक्ति, एतदेव सविशेषमाचष्टेतदानीं पुष्यस्य एकोनविंशति १९ मुहूर्त्तास्त्रिचत्वारिंशत् ४३ च द्वाषष्टिभागा मुहूर्त्तस्य एकं च द्वाषष्टिभागं सप्तषष्टिधा छित्त्वा तस्य सत्कास्त्रयस्त्रिंशत् ३३ चूर्णिकाभागाः शेषाः । कथमेतदवसीयत इति चेत् , उच्यते-त्रैराशिकबलात् , तथाहि-यदि दशभिरयनैः पञ्च सूर्यकृतान्नक्षत्रपर्यायान् लभामहे तत एकेनायनेन किं लभामहे ?, राशित्रयस्थापना-१० । ५ । १ । अत्रान्त्येन राशिना एकक १ लक्षणेन मध्यमस्य राशेः पञ्चक ५ रूपस्य गुणने जाताः पञ्चैव ५, तेषां दशभि १० र्भागो ह्रियते लब्धमर्धं पर्यायस्य तत्र नक्षत्रपर्यायः सप्तषष्टिभागरूपोऽष्टादशशतानि त्रिंशदधिकानि (१८३०) तथाहि-षट् नक्षत्राणि शतभिषक्प्रभृतीनि अर्द्धक्षेत्राणि ततस्तेषां प्रत्येकं सार्द्धत्रयस्त्रिंशत् सप्तषष्टिभागास्ते सार्द्धास्त्रयस्त्रिंशत् षड्भिर्गुण्यन्ते जाते द्वे शते एकोत्तरे (२०१) षट् नक्षत्राण्युत्तरभाद्रपदादीनि द्व्यर्द्धक्षेत्राणि, ततस्तेषां प्रत्येकमेकं शतं सप्तषष्टिभागानामेकस्य च सप्तषष्टिभागस्यार्द्धम् एतत् षड्भिर्गुण्यते जातानि षट्शतानि त्र्युत्तराणि-(६०३)शेषाणि पञ्चदश १५ नक्षत्राणि समक्षेत्राणि तेषां प्रत्येकं सप्तषष्टिभागाः ततः सप्तषष्टिः पञ्चदशभिर्गुण्यते जातं पञ्चोत्तरं सहस्रम् (१००५) एकविंशतिश्चाभिजितः सप्तषष्टिभागाः सर्वसंख्यया सप्तषष्टिभागानामष्टादशशतानि त्रिंशदधिकानि (१८३०) एष परिपूर्णः सप्तषष्टिभागात्मको नक्षत्रपर्यायः एतस्यार्द्धं नव शतानि पञ्चदशोत्तराणि (९१५) तेभ्य एकविंशतिरभिजितः संबन्धिनी शुद्धा, शेषाणि तिष्ठन्त्यष्टौ शतानि चतुर्नवत्यधिकानि (८९४) तेषां सप्तषष्ट्या६७भागो ह्रियते लब्धास्त्रयोदश (१३) शेषास्तिष्ठन्ति त्रयोविंशतिः२३, त्रयोदशभिश्च पुनर्वस्वन्तानि नक्षत्राणि शुद्धानि, ये च शेषास्तिष्ठन्ति त्रयोविंशतिः २३ भागाः ते मुहूर्त्तकरणार्थं त्रिंशता ३० गुण्यन्ते, जातानि षट् शतानि नवत्यधिकानि(६९०)तेषां सप्तषष्ट्या६७भागो ह्रियते लब्धा दश(१०)मुहूर्त्ताः, शेषास्तिष्ठन्ति विंशतिः २०, सा २० द्वाषष्टिभागकरणार्थं द्वाषष्ट्या ६२ गुण्यते जातानि द्वादशशतानि चत्वारिंशदधिकानि (१२४०) तेषां सप्तषष्ट्या६७भागो ह्रियते,लब्धा अष्टादश द्वाषष्टिभागाः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शेषास्तिष्ठन्ति चतुस्त्रिंशत् द्वाषष्टिभागस्य सप्तषष्टिभागास्ततः आगतं पुष्यस्य दशसु मुहूर्तेष्वेकस्य च मुहूर्त्तस्याष्टादशसु द्वाषष्टिभागेष्वेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य चतुस्त्रिंशत्सप्तषष्टिभागेषु गतेषु एकोनविंशतौ च मुहूर्तेष्वेकस्य च मुहूर्तस्य त्रिचत्वारिंशति द्वाषष्टिभागेष्वेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रयस्त्रिंशति सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु प्रथमा १ श्रावणमासभाविन्यावृत्तिः प्रवर्त्तते इति ।

अथ श्रावणमासभाविद्वितीयाऽऽवृत्तिविषयं प्रश्नसूत्रमाह—

ता एएसि णं पंचण्हं संवच्छराणं दोच्चं वासिकिं आउट्टिं चंदे केणं नक्खत्तेणं जोगं जोएति । पुच्छा, ता संठाणाहिं संठाणाणं सो चेव अभिलावो-एक्कारस मुहुत्ते ऊतालीसं च बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिधा छेत्ता तेपसं चेव चुण्णिता भागा सेसा । तं समयं च णं सूरे केणं णक्खत्तेणं जोगं जोएति पुच्छा, ता पूसेणं, पूसस्स णं तं चेव जं पढमाए, (सूत्र-७६×)

'ता एएसि णमि' त्यादि, ता इति पूर्ववत् , एषाम्-अनन्तरोदितानां चन्द्रादीनां पञ्चानां संवत्सराणां मध्ये द्वितीयां वार्षिकीं श्रावणमासभाविनीमावृत्तिं चन्द्रः केन नक्षत्रेण युनक्ति-केन नक्षत्रेण युक्तः सन् चन्द्रो द्वितीयामावृत्तिं प्रारम्भयति?, एवं प्रश्ने कृते सति भगवानाह-' ता संठाणाहिं ' इत्यादि, ता इति पूर्ववत् , संस्थानाभिः-संस्थानाशब्देन मृगशिरोनक्षत्रमभिधीयते । तथा प्रवचने प्रसिद्धेः, ततो मृगशिरोनक्षत्रेण युक्तश्चन्द्रमा द्वितीयां श्रावणमासभाविनीमावृत्तिं प्रवर्त्तयति तदानीं च मृगशिरोनक्षत्रस्य एकादश मुहूर्त्ता एकस्य च मुहूर्त्तस्य एकोनचत्वारिंशद् द्वाषष्टिभागा एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रिपञ्चाशत् सप्तषष्टिभागाः शेषाः । तथा हि-इह या द्वितीया श्रावणमासभाविन्यावृत्तिः सा प्राक्प्रदर्शितक्रमापेक्षया तृतीया ततस्तत्स्थाने त्रिको ध्रियते स रूपोनः क्रियते इति जातो द्विकः २, तेन २ प्राक्तनो ध्रुवराशिः पञ्च शतानि त्रिसप्तत्यधिकानि मुहूर्त्तानाम् एकस्य च मुहूर्त्तस्य षट्त्रिंशत् द्वाषष्टिभागा एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्सप्तषष्टिः ५७३।$\frac{३६}{६२}$।$\frac{६६}{६७}$ भागाः इत्येवंप्रमाणो गुण्यते जातानि एकादश शतानि षट्चत्वारिंशदधिकानि मुहूर्त्तानां [११४६] द्वासप्ततिः ७२ एकस्य मुहूर्त्तस्य सत्का द्वाषष्टिभागाः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य द्वादश सप्तषष्टिभागाः $\frac{१२}{६७}$ तत एतेभ्यो मुहूर्त्तानामष्टभिः शतैरेकोनविंशत्यधिकैरेकस्य मुहूर्त्तस्य चतुर्विंशत्या द्वाषष्टिभागैरेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्ट्या सप्तषष्टिभागैरेकः परिपूर्णो नक्षत्रपर्यायः शुद्धः । स्थितानि पश्चात् मुहूर्त्तानां त्रीणि शतानि सप्तविंशत्यधिकानि एकस्य च मुहूर्त्तस्य सप्तचत्वारिंशद् द्वाषष्टिभागा, एकस्य द्वाषष्टिभागस्य त्रयोदश सप्तषष्टिभागाः ३२७।$\frac{४७}{६२}$।$\frac{१३}{६७}$ । तत एतेभ्यस्त्रिभिर्मुहूर्त्तशतैर्नवोत्तरैरेकस्य च मुहूर्त्तस्य चतुर्विंशत्या द्वाषष्टिभागैः ६२ एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्ट्या सप्तषष्टिभागैः ६७ अभिजिदादीनि रोहिणिकापर्यन्तानि नक्षत्राणि शुद्धानि,तेषु चैव नवोत्तरेषु "रोहिणिया" इत्यादि प्रागुक्तवचनात् , ततः स्थिताः पश्चाद्-अष्टादश मुहूर्त्ता एकस्य च मुहूर्त्तस्य द्वाविंशतिर्द्वाषष्टिभागा एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य चतुर्दश सप्तषष्टिभागाः १८।$\frac{२२}{६२}$।$\frac{१४}{६७}$ एतावता च मृगशिरो न शुद्ध्यति, ततः आगतं मृगशिरोनक्षत्रमेकादशसु मुहूर्त्तेष्वेकस्य च मुहूर्त्तस्य एकोनचत्वारिंशद् द्वाषष्टिभागेषु एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रिपञ्चाशत् सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु द्वितीयां श्रावणमासभाविनीमावृत्तिं प्रवर्त्तयति । संप्रति सूर्यनक्षत्रविषयं प्रश्नसूत्रं निर्वचनसूत्रं चाह-' तं समयं च णमि ' त्यादि, तस्मिंश्च समये सूर्यः केन नक्षत्रेण सह योगमुपागतस्तां द्वितीयां वार्षिकीमावृत्तिं युनक्ति ? भगवानाह-' ता पूसेणमि'त्यादि, ता इति पूर्ववत् , पुष्येण युक्तः "तं चेव" इति-वचनसामर्थ्यादिदं द्रष्टव्यम्-"पुस्सस्स एगुणवीसं मुहुत्ता तेयालीसं च बावट्ठीभागा मुहुत्तस्स बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिहा छेत्ता तत्तीसं चुण्णिया भागा सेसा" इति इह सूर्यस्य दशभिरयनैः पञ्च सूर्यनक्षत्रपर्याया लभ्यन्ते द्वाभ्यां चायनाभ्यामेकः, तत्रोत्तरायणं कुर्वन् सर्वदैवाभिजिता नक्षत्रेण सह योगमुपागच्छति, दक्षिणायनं कुर्वन् पुष्येण,तस्य च पुष्यस्य एकोनविंशतौ मुहूर्तेष्वेकस्य च मुहूर्त्तस्य त्रिचत्वारिंशति द्वाषष्टिभागेष्वेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रयस्त्रिंशति सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु, तथा चोक्तम् । (चं० प्र० १२ पाहु०)-

अब्भितराहिँ निंतो, आइच्चो पुस्सजोगमुवगयस्स ।
सव्वा आउट्टीओ , करेइ सो सावणे मासे ॥ २४८ ॥

श्रावणे मासे सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलान् निष्क्रामन् सूर्यः सर्वा अप्यावृत्तीः करोति पुष्येण सह योगमुपागम्य, नान्यथा, तत्रापि पुष्यस्य त्रयोविंशतिं सप्त षष्टिभागान् भुक्त्वा, (ज्यो०) ते किल—" जं रिक्खं जावइए, वच्चइ चंदेण भागसत्तट्ठी । तं पण भागे राई-दियस्स सूरेण तावइए " ॥ १ ॥ इति वचनप्रामाण्यात् सूर्यमधिकृत्य रात्रिंदिवस्य पञ्च ५ भागा द्रष्टव्याः, ततस्त्रयोविंशतेः २३ पञ्चभि ५ र्भागो ह्रियते, लब्धाश्चत्वारो दिवसास्त्रयश्च पञ्च भागा रात्रिंदिवस्य, तत्रैकैकस्मिन् पञ्चभागे षट्मुहूर्ता लभ्यन्ते, अहोरात्रो हि त्रिंशन्मुहूर्त्तप्रमाणस्ततस्तस्य पञ्चमो भागः षण्मुहूर्त्तप्रमाणो भवतीति,त्रिभिश्च पञ्चभागैरष्टादश १८ मुहूर्ताः, त्रयाणां षट्कानामष्टादशप्रमाणत्वात् तत आगतं चतुर्षु दिवसेषु अष्टादशमुहूर्तेषु पुष्यनक्षत्रस्य भुक्तेषु सर्वाभ्यन्तरान् मण्डलाद्बहिः सूर्यो निष्क्रामति । ज्यो० १२पाहु० ।

तदेवाह—

अठारस य मुहुत्ते , चत्तारि य केवले अहोरत्ते ।
पुस्सस्स विसयमइगतो,बहिया अभिनिक्खमइ सूरो ।२५०।

अष्टादश १८ मुहूर्तान् चतुरश्च ४ कवलान् परिपूर्णान् अहोरात्रान् पुष्यनक्षत्रस्य विषयमतिगतः—प्राप्तः सन् ' बहिया अभिनिक्खमइ ' सूर्यः सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलाद्बहिर्निष्क्रामति । ज्यो० १२ पाहु० ।

सम्प्रति श्रावणमासभावितृतीयावृत्तिविषयं प्रश्नसूत्रमाह-

ता एएसि णं पंचण्हं संवच्छराणं तच्चं वासिकिं आउट्टिं चंदे केणं णक्खत्तेणं जोगं जोएति ?, ता विसाहाहिं विसाहाणं तणं चेव अभिलावेणं तेरस १३ मुहुत्ता चउप्पण्णं च

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वावट्ठिभागा मुहुत्तस्स वावट्ठिभागं च सत्तट्ठिधा छेत्ता । चत्तालीसं ४४ चुण्णिया भागा सेसा, तं समयं च णं सूरे केणं णक्खत्तेणं जोगं जोएति ? ता पूसेणं, पूसस्स णं तं चेव,

'ता एएसि णमि' त्यादि, सुगमं, भगवानाह-'ता विसाहाहिं' इत्यादि, 'ता' इति पूर्ववत्, विशाखाभिः-विशाखानक्षत्रेण युक्तः सन् चन्द्रमास्तृतीयां श्रावणमासभाविनीमावृत्तिं प्रवर्त्तयति, तदानीं च तृतीयाऽऽवृत्तिप्रवर्त्तनसमये विशाखानां-विशाखानक्षत्रस्य त्रयोदश १३ मुहूर्त्ताः एकस्य १ च मुहूर्त्तस्य चतुःपञ्चाशद् द्वाषष्टिभागा एकं च द्वाषष्टिभागं सप्तषष्टिधा छित्त्वा तस्य सत्काश्चत्वारिंशच्चूर्णिकाभागाः शेषाः, तथा हि—तृतीया श्रावणमासभाविन्यावृत्तिः पूर्वप्रदर्शितक्रमापेक्षया पञ्चमी ५, ततस्तस्थाने पञ्चको ५ ध्रियते स रूपोनः कार्य इति जातश्चतुष्कः ४ तेन ४ प्राक्तनो ध्रुवराशिः-५७३।३६।६ गुण्यते जातानि द्वात्रिंशति शतानि द्विनवत्यधिकानि मुहूर्त्तानां चतुश्चत्वारिंशं शतं मुहूर्त्तगतानां द्वाषष्टिभागानामेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य चतुर्विंशतिः सप्तषष्टिभागाः-२२९२।१४४।२४। तत एतेभ्यः षोडशभिर्मुहूर्त्तशतैरष्टात्रिंशदधिकैरष्टाचत्वारिंशता च द्वाषष्टिभागैर्मुहूर्त्तस्य द्वाषष्टिभागगतानां च सप्तषष्टिभागानां द्वात्रिंशेन शतेन द्वौ परि पूर्णौ नक्षत्रपर्यायौ शुद्धौ, स्थितानि पश्चात् षट् शतानि चतुःपञ्चाशदधिकानि मुहूर्त्तानां; मुहूर्त्तगतानां च द्वाषष्टिभागानां चतुर्नवतिरेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तविंशतिः सप्तषष्टिभागाः-६५४।९४।२६। तत एतेभ्यः पञ्चभिः शतैरेकोनपञ्चाशदधिकैर्मुहूर्त्तानामेकस्य च मुहूर्त्तस्य चतुर्विंशत्या द्वाषष्टिभागैरेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्ट्या सप्तषष्टिभागैरभिजिदादीन्युत्तरफाल्गुनीपर्यन्तानि नक्षत्राणि शुद्धानि। स्थितम् पश्चात् पञ्चोत्तरं मुहूर्त्तशतं मुहूर्त्तगतानां च द्वाषष्टिभागानामेकोनसप्ततिरेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तविंशतिः सप्तषष्टिभागाः, तत्र द्वाषष्ट्या द्वाषष्टिभागैरेको १ मुहूर्त्तो लब्धः, स्थिताः पश्चात् सप्तद्वाषष्टिभागाः, लब्धश्च मुहूर्त्तो मुहूर्त्तराशौ प्रक्षिप्यते, जातं षडुत्तरं मुहूर्त्तशतं १०६ ७/६२ २७/६७ ततः पञ्चसप्तत्या मुहूर्त्तैः हस्तादीनि स्वातिपर्यन्तानि त्रीणि नक्षत्राणि शुद्धानि, स्थिताः शेषाः एकत्रिंशन्मुहूर्त्ताः ३१; आगतं विशाखानक्षत्रस्य त्रयोदशसु मुहूर्त्तेष्वेकस्य च मुहूर्त्तस्य चतुःपञ्चाशद् द्वाषष्टिभागेष्वेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य चत्वारिंशति सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु चन्द्रस्तृतीयां श्रावणमासभाविनीमावृत्तिं प्रवर्त्तयति।

सम्प्रति सूर्यनक्षत्रविषयं प्रश्नसूत्रं निर्वचनसूत्रं चाह-'तं समयं च णमि' त्यादि, सुगमम्। चं० प्र० १२ पाहु०।

सम्प्रति श्रावणमासभावि (ज्यो०) चतुर्थ्यावृत्तिविषयं प्रश्नसूत्रमाह—

ता एएसिणं पंचण्हं संवच्छराणं चउत्थि ४ वासिकिं आउट्टिं चंदे केणं णक्खत्तेणं जोएति ता, रेवतीहिं रेवतीणं पणवीसं मुहुत्ता बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिहा छेत्ता बत्तीसं चुण्णिया भागा सेसा, तं समयं च णं सूरे केणं णक्खत्तेणं जोएति ?, ता पूसेणं पूसस्स णं तं चेव। (सूत्र-७६ +) ॥

'ता एएसि णमि' त्यादि, सुगमं, भगवानाह-'ता रेवईहिं' इत्यादि, रेवत्या युक्तश्चन्द्रः चतुर्थीं श्रावणमासभाविनीमावृत्तिं प्रवर्तयति, तदानीं च रेवतीनक्षत्रस्य पञ्चविंशतिर्मुहूर्त्ता द्वात्रिंशत् द्वाषष्टिभागा मुहूर्त्तस्य एकं च द्वाषष्टिभागं सप्तषष्टिधा छित्त्वा तस्य सत्काः षड्विंशतिश्चूर्णिकाभागाः शेषाः, तथाहि-प्रागुपदर्शितक्रमापेक्षया श्रावणमासभाविनी चतुर्थ्यावृत्तिः, सप्तमी ततः सप्तको ७ ध्रियते, स रूपोनः कार्य इति जातः षट्कः ६, तेन ६ प्राक्तनो ध्रुवराशिः ५७३। ३६। ६। गुण्यते, जातानि चतुस्त्रिंशच्छतानि अष्टात्रिंशदधिकानि (३४३८) मुहूर्त्तानां, मुहूर्त्तगतानां च द्वाषष्टिभागानां द्वे शते षोडशोत्तरे (२१६) एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्त्रिंश (३६) त्सप्तषष्टिभागाः तत एतेभ्यो द्वात्रिंशता शतैः षण्णवत्यधिकैर्मुहूर्त्तानां, मुहूर्त्तगतानां च द्वाषष्टिभागानां षण्णवत्या द्वाषष्टिभागसत्कानां च सप्तषष्टिभागानां द्वाभ्यां शताभ्यां चतुःषष्टिसहिताभ्यां चत्वारो नक्षत्रपर्यायाः शुद्धाः, स्थितं पश्चादेकं द्वाषष्ट्यधिकं मुहूर्त्तशतं मुहूर्त्तगतानां च द्वाषष्टिभागानां षोडशोत्तरं शतम् एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य चत्वारिंशत् सप्तषष्टिभागाः (१६२) (११६) ४०। तत्र एकोनषष्ट्यधिकेन मुहूर्त्तशतेन एकस्य च मुहूर्त्तस्य चतुर्विंशत्या द्वाषष्टिभागैरेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्ट्या सप्तषष्टिभागैः १५९। २४। ६६। अभिजिदादीन्युत्तरभद्रपदापर्यन्तानि नक्षत्राणि भूयः शुद्धानि, स्थिताः पश्चात् त्रयो मुहूर्त्ताः मुहूर्त्तगतानां च द्वाषष्टिभागानामेकनवतिरेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य एकचत्वारिंशत् सप्तषष्टिभागाः द्वाषष्ट्या च द्वाषष्टिभागैरेको मुहूर्त्तो लब्धः, स मुहूर्त्तराशौ प्रक्षिप्यते, जाताश्चत्वारो ४ मुहूर्त्ताः, एकस्य च मुहूर्त्तस्य एकोनत्रिंशद् द्वाषष्टिभागाः (एकस्य च द्वाषष्टिभागस्यैकचत्वारिंशत् सप्तषष्टिभागाः) ४। २९। ४१। तत आगतं-रेवतीनक्षत्रं पञ्चविंशतौ मुहूर्त्तेष्वेकस्य च मुहूर्त्तस्य द्वात्रिंशति द्वाषष्टिभागेष्वेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षड्विंशतौ सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु चतुर्थीं श्रावणभाविनीमावृत्तिं प्रवर्त्तयति, 'तं समयं च णमि' त्यादि, सूर्यनक्षत्रविषयं प्रश्नसूत्रं निर्वचनसूत्रं च प्राग्वद्भावनीयम्।

साम्प्रतं पञ्चमं श्रावणमासभाविपञ्चमावृत्तिविषयं प्रश्नसूत्रमाह—

ता एएसि णं पंचण्हं संवच्छराणं पंचमीं वासिकिं आउट्टिं चंदे केणं णक्खत्तेणं जोगं जोएत्ति ?, ता पुव्वाहिं फग्गुणीहिं पुव्वाणं फग्गुणीणं बारस १२ मुहुत्ता सत्तालीसं च बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिहा छेत्ता. तेरस १३ चुण्णिया भागा सेसा, तं समयं च णं सूरे केणं णक्खत्तेणं जोगं जोएति ?, ता पूसेणं पूसस्स णं तं चेव।

(सूत्र-७६ +) ॥

'ता एएसि णमि' त्यादि, सुगमं, भगवानाह-'ता पुव्वाहिं फग्गुणीहिं' इत्यादि, 'ता' इति पूर्ववत्, पूर्वाभ्यां फाल्गुनीभ्यां युक्तश्चन्द्रः पञ्चमीं ५ श्रावणमासभाविनीमावृत्तिं प्रवर्त्तयति तदानीं च तस्य पूर्वफाल्गुनीनक्षत्रस्य द्वादश १२ मुहूर्त्ताः एकस्य च मुहूर्त्तस्य सप्तचत्वारिंशद् ४७ द्वाषष्टिभागाः-

११

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६२ एकं च द्वाषष्टि ६२ भागं सप्तषष्टिधा ६७ छित्त्वा तस्य सत्कास्त्रयोदश १३ चूर्णिकाभागाः शेषाः । तथा हि-पञ्चमी श्रावणमासभाविन्यावृत्तिः प्राक्प्रदर्शितक्रमापेक्षया नवमी ६ ततः तत्स्थाने नवको ६ ध्रियते । स रूपोनः कार्य इति, जाता अष्टौ ८, तैः प्रागुक्तो ध्रुवराशिः ५७३ । ३६/६२ । ६/६७ गुण्यते जातानि पञ्चचत्वारिंशच्छतानि चतुरशीत्यधिकानि मुहूर्त्तानां, मुहूर्त्तगतानां च द्वाषष्टि ६२ भागानां द्वे शते अष्टाशीत्यधिके एकस्य च द्वाषष्टिभागस्याष्टाचत्वारिंशत् सप्तषष्टिभागाः ४५८४।२८८।४८। तत एतेभ्यश्चत्वारिंशता मुहूर्त्तशतैः पञ्चनवत्यधिकैर्मुहूर्त्तगतानां च द्वाषष्टिभागानां विंशत्यधिकेन शतेन एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सत्कानां सप्तषष्टिभागानां त्रिंशदधिकैस्त्रिभिः शतैः पञ्च ५ नक्षत्रपर्यायाः शुद्धाः, स्थितानि पश्चान्मुहूर्त्तानां चत्वारि शतानि एकोननवत्यधिकानि मुहूर्त्तगतानां च द्वाषष्टिभागानां शतं त्रिषष्ट्यधिकम् एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रिपञ्चाशत् सप्तषष्टिभागाः—४८६ । १६३ । ५३ । तत एतेभ्यो भूयः त्रिभिः शतैर्नवत्यधिकैर्मुहूर्त्तानामेकस्य च मुहूर्त्तस्य चतुर्विंशत्या द्वाषष्टिभागैरेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्ट्या सप्तषष्टिभागैरभिजिदादीनि पुनर्वसुपर्यन्तानि नक्षत्राणि शुद्धानि स्थिताः पश्चान्मुहूर्त्तानां नवतिः मुहूर्त्तगतानां द्वाषष्टिभागानामष्टात्रिंशदधिकं शतम् एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य चतुःपञ्चाशत् सप्तषष्टिभागाः ९०।१३८।५४। तत्र चतुर्विंशत्यधिकेन द्वाषष्टिभागशतेन द्वौ मुहूर्त्तौ लब्धौ पश्चात् स्थिता द्वाषष्टिभागाश्चतुर्दश, लब्धौ च मुहूर्त्तौ मुहूर्त्तराशौ प्रक्षिप्येते जाता मुहूर्त्तानां द्विनवतिः-९२।१४।५४। तत्र पञ्चसप्तत्या ७५ मुहूर्त्तैः पुष्यादीनि मघापर्यन्तानि त्रीणि नक्षत्राणि शुद्धानि, स्थिताः पश्चात् सप्तदश मुहूर्त्ताः—१७।१४।५४। न चैतावता पूर्वफाल्गुनी शुध्यति तत आगतं पूर्वफाल्गुनीनक्षत्रस्य द्वादशसु १२ मुहूर्त्तेष्वेकस्य च मुहूर्त्तस्य सप्तचत्वारिंशद् द्वाषष्टिभागेषु एकस्य च द्वाषष्टि ६२ भागस्य त्रयोदशसु सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु पञ्चमी ५ श्रावणमासभाविनी आवृत्तिः प्रवर्त्तते । सूर्यनक्षत्रविषयं प्रश्नसूत्रं निर्वचनसूत्रं च प्राग्वद्भावनीयम् । चन्द्र० १२ पाहु० । सू० प्र० । ज्यो० ।

तदेवं चन्द्रनक्षत्रयोगविषये, सूर्यनक्षत्रयोगविषये च पञ्चापि वार्षिकीरावृत्तीः प्रतिपाद्य, संप्रति हैमन्तीः प्रतिपिपादयिषुः (चं० प्र० १२ पाहु०) आदौ चन्द्रनक्षत्रविषयकसंग्रहणीगाथामाह—

हत्थेण होइ पढमा, सयभिसयाहि य ततो य पुस्सेणं ।
मूलेण कत्तियाहि य, आउट्टीओ य हेमंते ॥ २३८ ॥

हेमन्ते-माघमासे प्रथमा १ आवृत्तिर्भवति हस्तेन-हस्तनक्षत्रेण युजा, द्वितीया २ शतभिषजा, तृतीया ३ पुष्येण, चतुर्थी ४ मूलेन, पञ्चमी ५ कृत्तिकाभिः । ज्यो० १२ पाहु० ।

प्रथमावृत्तिः—

ता एएसि णं पंचण्हं संवच्छराणं पढमं हेमंतिं आउट्टिं चंदे केणं णक्खत्तेणं जोगं जोएति ?, ता हत्थेणं, हत्थस्स णं पंच मुहुत्ता पण्णासं च बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिधा छेत्ता सट्ठि चुण्णिया भागा सेसा, तं समयं च णं सूरे केणं णक्खत्तेणं जोगं जोएति ?, उत्तराहिं आसाढाहिं, उत्तराणं आसाढाणं चरिमसमए १ ॥

'ता एएसि णं' मित्यादि, ता इति पूर्ववत्, एतेषाम्-अनन्तरोदितानां चन्द्रादीनां पञ्चानां संवत्सराणां मध्ये प्रथमां हेमन्तीमावृत्तिं चन्द्रः केन नक्षत्रेण युनक्ति ?, केन नक्षत्रेण सह योगमुपागतः सन् प्रवर्त्तयतीति भावः, भगवानाह— 'ता हत्थेणं' इत्यादि, ता इति पूर्ववत्, हस्तेन—हस्तनक्षत्रेण युक्तश्चन्द्रः प्रवर्त्तयति, तदानीं च हस्तनक्षत्रस्य पञ्च ५ मुहूर्त्ता एकस्य च मुहूर्त्तस्य पञ्चाशत् द्वाषष्टिभागाः एकं च द्वाषष्टिभागं सप्तषष्टिधा छित्त्वा तस्य सत्काः षष्टिश्चूर्णिकाभागाः शेषाः, तथाहि-हैमन्ती प्रथमा आवृत्तिः प्रागुक्तक्रमापेक्षया द्वितीया ततस्तत्स्थाने द्विको ध्रियते, स रूपोनः कार्य इति जात एककः१ तेन १ प्रागुक्तो ध्रुवराशिः-५७३। ३१/६२ । १/६७ । गुण्यते, 'एकेन च गुणितं तदेव भवती' ति जातस्तावानेव ध्रुवराशिः, तत एतस्मात् पञ्चभिः शतैरेकोनपञ्चाशदधिकैर्मुहूर्त्तानामेकस्य च मुहूर्त्तस्य चतुर्विंशत्या द्वाषष्टिभागैरेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्ट्या सप्तषष्टिभागैरभिजिदादीन्युत्तरफाल्गुनीपर्यन्तानि नक्षत्राणि शुद्धानि स्थिताः पश्चाच्चतुर्विंशतिर्मुहूर्त्ता एकस्य च मुहूर्त्तस्य एकादश द्वाषष्टिभागाः एकस्य च ६२ भागस्य सप्त सप्तषष्टिभागाः २४ । ११ । ७ । तत आगतं हस्तनक्षत्रस्य पञ्चसु मुहूर्त्तेषु एकस्य च मुहूर्त्तस्य पञ्चाशति द्वाषष्टिभागेष्वेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षष्टौ सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु प्रथमां हैमन्तीमावृत्तिं चन्द्रः प्रवर्त्तयतीति । सूर्यनक्षत्रविषयं प्रश्नसूत्रमाह—'तं समयं च णं' मित्यादि, तस्मिंश्च समये सूर्यः केन नक्षत्रेण युक्तस्तां प्रथमां हैमन्तीमावृत्तिं युनक्ति—प्रवर्त्तयति ?, भगवानाह—'ता उत्तराहिं' इत्यादि, उत्तराभ्यामाषाढाभ्यां तदानीं चोत्तराषाढायाश्चरमसमयः, समकालमुत्तराषाढानक्षत्रमुपभुज्याभिजिन्नक्षत्रस्य प्रथमसमये प्रथमां हैमन्तीमावृत्तिं सूर्यः प्रवर्त्तयतीति भावः, तथाहि—यदि दशभिरयनैः पञ्च सूर्यकृतान्नक्षत्रपर्यायान् लभामहे तत एकेनायनेन किं लभामहे ?, राशित्रयस्थापना-१० । ५ । १ । अत्रान्त्येन राशिना एककलक्षणेन मध्यमस्य पञ्च ५ करूपस्य राशेर्गुणनं जाताः पञ्चैव तेषां दशभिर्भागे हृते लब्धमेकमर्द्धं पर्यायस्य, अर्द्धं च पर्यायस्य सप्तषष्टिभागरूपं नव शतानि पञ्चदशोत्तराणि ९१५,तत्र ये विंशतिः, सप्त०६७ भागाः पाश्चात्ये अयने पुष्यस्य गताः शेषाश्चतुश्चत्वारिंशत्सप्तषष्टिभागाः स्थिताः ते साम्प्रतमितो राशेः शोध्यन्ते स्थितानि शेषाण्यष्टौ शतान्येकसप्तत्यधिकानि ८७१, तेषां सप्तषष्ट्या भागे हृते लब्धास्त्रयोदश पश्चान्न किमपि तिष्ठति, त्रयोदशभिश्चाश्लेषादीन्युत्तराषाढापर्यन्तानि शुद्धानि, तत आगतम्-अभिजितः प्रथमसमये माघमासभाविनी १ आवृत्तिः प्रवर्त्तते, एवं सर्वा अपि माघमासभाविन्य आवृत्तयः सूर्यनक्षत्रयोगमधिकृत्य वेदितव्याः, उक्तं च—"बाहिरओ पविसंतो आइच्चो अभिइजोगमुवयम्मि । सव्वा आउट्टीओ करेइ सो माघमासंमि ॥ १ ॥"

द्वितीयहैमन्ताऽऽवृत्तिविषयं प्रश्नसूत्रमाह—

ता एएसि णं पंचण्हं संवच्छराणं दोच्चं हेमंतिं आउट्टिं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चंदे केणं णक्खत्तेणं जोगं जोएति ?, ता सतभिसयाहिं, सतभिसयाणं दुन्नि मुहुत्ता अट्ठावीसं च बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिधा छेत्ता छत्तालीसं चुण्णिया भागा सेसा, तं समयं च णं सूरे केणं णक्खत्तेणं जोगं जोएति ?, ता उत्तराहिं आसाढाहिं, उत्तराणं आसाढाणं चरिमसमए २॥

'ता एएसि णं' मित्यादि सुगमं भगवानाह 'ता सयभिसयाहिं' इत्यादि. ता इति पूर्ववत् , शतभिषजा युक्तश्चन्द्रो द्वितीयां हैमन्तीमावृत्तिं प्रवर्त्तयति , तदानीं च शतभिषजो नक्षत्रस्य द्वौ मुहूर्त्तावेकस्य च मुहूर्त्तस्याष्टाविंशतिर्द्वाषष्टिभागा एकं च द्वाषष्टिभागं सप्तषष्टिधा छित्त्वा तस्य सत्काः षट्चत्वारिंशच्चूर्णिकाभागाः शेषाः, तथाहि-प्रागुपदर्शितक्रमापेक्षया द्वितीया माघमासभाविन्यावृत्तिश्चतुर्थी ततस्तस्याः स्थाने चतुष्कोऽ४ ध्रियते स४रूपोनः कार्य इति जातस्त्रिकः ३ तेन ३ प्राक्तनो ध्रुवराशिः ५७३ ।३६। ६ । गुण्यते जातानि सप्तदश शतान्येकोनविंशत्यधिकानि मुहूर्त्तानां मुहूर्त्तगतानां च द्वाषष्टिभागानामष्टोत्तरं शतमेकस्य च द्वाषष्टिभागस्याष्टादश सप्तषष्टिभागाः १७१९ । १०८ । १८ । तत एतेभ्यः षोडशभिः शतैरष्टात्रिंशदधिकैर्मुहूर्त्तानामेकस्य च मुहूर्त्तस्याष्टचत्वारिंशता द्वाषष्टिभागैरेकद्वाषष्टिभागसत्कानां च सप्तषष्टिभागानां द्वात्रिंशदधिकेन शतेन द्वौ नक्षत्रपर्यायौ शुद्धौ, स्थिताः पश्चादेकाशीतिर्मुहूर्त्तानामेकस्य च मुहूर्त्तस्याष्टपञ्चाशत् द्वाषष्टिभागा एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य विंशतिः सप्तषष्टिभागाः ८१ । ५८ । २० । ततो भूयो नवभिर्मुहूर्त्तैरेकस्य च मुहूर्त्तस्य चतुर्विंशत्या द्वाषष्टिभागैरेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्ट्या सप्तषष्टिभागैरभिजिन्नक्षत्रं शुद्धं, स्थिताः पश्चाद् द्वासप्ततिर्मुहूर्त्ता एकस्य च मुहूर्त्तस्य त्रयस्त्रिंशत् द्वाषष्टिभागा एकस्य च द्वाषष्टिभागस्यैकविंशतिः सप्तषष्टिभागाः ७२ । ३३ । २१ । ततस्त्रिंशता मुहूर्त्तैः श्रवणः शुद्धस्त्रिंशता धनिष्ठा पश्चादवतिष्ठन्ते द्वादश १२ मुहूर्त्ताः, शतभिषक्च नक्षत्रं चार्द्धनक्षत्रं, तत आगतं शतभिषजो नक्षत्रस्य द्वयोर्मुहूर्त्तयोरेकस्य च मुहूर्त्तस्याष्टाविंशतौ द्वाषष्टिभागेषु एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्चत्वारिंशति सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु द्वितीया २ हैमन्ती आवृत्तिः प्रवर्त्तते । सूर्यनक्षत्रयोगविषयं प्रश्नसूत्रं निर्वचनसूत्रं च सुगमं, प्रागेव भावितत्वात् ।

अधुना तृतीयमाघमासभाव्यावृत्तिविषयं प्रश्नसूत्रमाह—

तेसि णं पंचण्हं संवच्छराणं तच्चं हेमंतिं आउट्टिं चंदे केणं णक्खत्तेणं जोगं जोएति ?, ता पूसेणं, पूसस्स एकूणवीसं मुहुत्ता तेतालीसं च बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिधा छेत्ता तेत्तीसं चुण्णिया भागा सेसा, तं समयं च णं सूरे केणं णक्खत्तेणं जोगं जोएति ?, ता उत्तराहिं आसाढाहिं, उत्तराणं आसाढाणं चरिमसमए ३ ॥

' ता एएसि णं ' मित्यादि, सुगमं, भगवानाह-' ता पूसेणं ' मित्यादि, ता इति प्राग्वत् पुष्येण युक्तश्चन्द्रस्तृतीयां माघमासभाविनीमावृत्तिं प्रवर्त्तयति, तदानीं च पुष्यस्य एकोनविंशतिर्मुहूर्त्ता एकस्य च मुहूर्त्तस्य त्रिचत्वारिंशद् द्वाषष्टिभागा एकं च द्वाषष्टिभागं सप्तषष्टिधा छित्त्वा तस्य सत्कास्त्रयस्त्रिंशच्चूर्णिकाभागाः शेषाः, तथाहि-प्रागुपदर्शितक्रमापेक्षया तृतीया माघमासभाविन्यावृत्तिः षष्ठी ततस्तस्याः स्थाने षट्को ध्रियते स रूपोनः कार्य इति जातः पञ्चकस्तेन स प्राक्तनो ध्रुवराशिः ५७३ । ३६ । ६ । गुण्यते जातान्यष्टाविंशतिः शतानि पञ्चषष्ट्यधिकानि मुहूर्त्तानां मुहूर्त्तगतानां च द्वाषष्टिभागानामशीत्यधिकं शतम् एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रिंशत् सप्तषष्टिभागाः २८६५ । १८० । ३० । तत एतेभ्यः सप्तपञ्चाशदधिकैः चतुर्विंशतिशतैर्मुहूर्त्तानामेकमुहूर्त्तगतानां च द्वाषष्टिभागानां द्विसप्तत्या एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सत्कानां सप्तषष्टिभागानामष्टानवत्यधिकेन शतेन २४५७ । ७२ । १९८ । त्रयो नक्षत्रपर्यायाः शुद्धाः, स्थितानि पश्चात् चत्वारि मुहूर्त्तशतान्यष्टोत्तराणि मुहूर्त्तगतानां च द्वाषष्टिभागानां पञ्चोत्तरं शतमेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य चतुस्त्रिंशत्सप्तषष्टिभागाः ४०८ । १०५ । ३४ । तत एतेभ्यस्त्रिभिः शतैर्नवनवत्यधिकैर्मुहूर्त्तानामेकस्य च मुहूर्त्तस्य चतुर्विंशत्या द्वाषष्टिभागैरेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्ट्या सप्तषष्टिभागैरभिजिदादीनि पुनर्वसुपर्यन्तानि नक्षत्राणि शुद्धानि, स्थिताः पश्चान्नव ९ मुहूर्त्ता मुहूर्त्तगतानां च द्वाषष्टिभागानामशीतिः एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य चतुस्त्रिंशत्सप्तषष्टिभागाः द्वाषष्ट्या च द्वाषष्टिभागैरेको मुहूर्त्तो लब्धः स मुहूर्त्तराशौ प्रक्षिप्यते जाता दश मुहूर्त्ताः शेषास्तिष्ठन्ति द्वाषष्टिभागा अष्टादश-१० । १८ । ३४ । तत आगतं—पुष्यस्य एकोनविंशतौ मुहूर्त्तेष्वेकस्य च मुहूर्त्तस्य त्रिचत्वारिंशति द्वाषष्टिभागेष्वेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रयस्त्रिंशति सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु तृतीया माघमासभाविन्यावृत्तिः प्रवर्त्तते । सूर्यनक्षत्रयोगविषयं प्रश्नसूत्रं निर्वचनसूत्रं च सुगमम् ।

चतुर्थमाघमासभाव्यावृत्तिविषयं प्रश्नसूत्रमाह-

ता एतेसि णं पंचण्हं संवच्छराणं चउत्थिं हेमंतिं आउट्टिं चंदे केणं णक्खत्तेणं जोगं जोएति ?, ता मूलेणं, मूलस्स छ मुहुत्ता अट्ठावन्नं च बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिधा छेत्ता वीसं चुण्णिया भागा सेसा, तं समयं च णं सूरे केणं णक्खत्तेणं जोगं जोएति ?, ता उत्तराहिं आसाढाहिं, उत्तराणं आसाढाणं चरिमसमए ४ ॥

'ता एएसि णं'मित्यादि सुगमं भगवानाह'ता मूलेणं'मित्यादि, ता इति प्राग्वत् , मूलेन युक्तश्चन्द्रः चतुर्थीं४ हैमन्तीमावृत्तिं प्रवर्त्तयति, तदानीं च मूलस्य-मूलनक्षत्रस्य षट् मुहूर्त्ता एकस्य च मुहूर्त्तस्याष्टापञ्चाशत् द्वाषष्टिभागा एकं च द्वाषष्टिभागं सप्तषष्टिधा छित्त्वा तस्य सत्का विंशतिश्चूर्णिकाभागाः शेषाः, तथाहि-चतुर्थी माघमासभाविन्यावृत्तिः पूर्वप्रदर्शितक्रमापेक्षया अष्टमी तस्याः स्थाने अष्टकोऽ८ ध्रियते स८रूपोनः कार्य इति जातः सप्तकः७ तेन७ स प्राक्तनो ध्रुवराशिः ५७३ । $\frac{३६}{६२}$ । $\frac{६}{६७}$ । गुण्यते जातान्येकादशोत्तराणि चत्वारिंशन्मुहूर्त्तशतानि मुहूर्त्तगतानां च द्वाषष्टिभागानां द्वे शते द्विपञ्चाशदधिके एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य द्वाचत्वारिंशत् सप्तषष्टिभागाः-४०११ । २५२ । ४२ । तत एतेभ्यः षट्सप्तत्यधिकैर्द्वात्रिंशच्छतैर्मुहूर्त्तानां मुहूर्त्तगतानां च द्वाषष्टिभागानां षण्ण-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वत्या द्वाषष्टिभागसत्कानां च सप्तषष्टिभागानां द्वाभ्यां शताभ्यामष्टषष्ट्यधिकाभ्यां चत्वारो ४ नक्षत्रपर्यायाः शुद्धाः, स्थितानि पश्चान्मुहूर्त्तानां सप्तशतानि पञ्चत्रिंशदधिकानि मुहूर्त्तानां, मुहूर्त्तगतानां च द्वाषष्टिभागानां द्विपञ्चाशदधिकं शतम् एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्चत्वारिंशत्सप्तषष्टिभागाः-७३५। १५२। ४६। तत एतेभ्यो भूयः षड्भिः शतैः मुहूर्त्तानामेकोनसप्तत्यधिकैरेकस्य च मुहूर्त्तस्य चतुर्विंशत्या द्वाषष्टिभागैरेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्ट्या सप्तषष्टिभागैरभिजिदादीनि विशाखापर्यन्तानि नक्षत्राणि शुद्धानि, स्थिताः पश्चात् षट्षष्टिर्मुहूर्त्ता मुहूर्त्तगतानां च द्वाषष्टिभागानां सप्तविंशत्यधिकं शतम् एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तचत्वारिंशत्सप्तषष्टिभागाः, चतुर्विंशत्यधिकेन च द्वाषष्टिभागशतेन द्वौ मुहूर्त्तौ लब्धौ, तौ २ मुहूर्त्तराशौ प्रक्षिप्येते जाताः अष्टषष्टिर्मुहूर्त्ताः, शेषास्तिष्ठन्ति द्वाषष्टिभागास्त्रयः ६८। ३। ४७। ततः पञ्चचत्वारिंशता मुहूर्त्तैरनुराधाज्येष्ठे शुद्धे, शेषाः स्थितास्त्रयोविंशतिर्मुहूर्त्ताः २३। ३। ४७। तत आगतं मूलस्य षट्सु मुहूर्त्तेष्वेकस्य च मुहूर्त्तस्याष्टापञ्चाशति द्वाषष्टिभागेष्वेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य विंशतौ सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु चतुर्थी ४ माघमासभाविन्यावृत्तिः प्रवर्त्तते। सूर्यनक्षत्रयोगविषयं प्रश्नसूत्रं निर्वचनसूत्रं च सुगमम्।

इह तावद् माघमासभाविपञ्चम्यावृत्तिविषयं प्रश्नसूत्रमाह-

ता एएसि णं पंचराहं संवच्छराणं पंचमं हेमंतिं आउट्टिं चंदे केणं णक्खत्तेणं जोगं जोएति?, ता कत्तियाहिं कत्तियाणं अट्ठारस मुहुत्ता, छत्तीसं च बावट्ठिभागा, मुहुत्तस्स बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिहा छेत्ता छ चुण्णिया भागा सेसा, तं समयं च णं सूरे केणं णक्खत्तेणं जोगं जोएति?, ता उत्तराहिं आसाढाहिं उत्तराणं आसाढाणं चरिमसमए ५॥ (सूत्र-७७+)

'ता एएसि णमि' त्यादि, सुगमं, भगवानाह-'ता कत्तियाहिं' इत्यादि। 'ता' इति पूर्ववत्, कृत्तिकाभिर्युक्तश्चन्द्रः पञ्चमीं५ हैमन्तीमावृत्तिं प्रवर्त्तयति, तदानीं च कृत्तिकानक्षत्रस्याष्टादश १८ मुहूर्त्ता एकस्य १ च मुहूर्त्तस्य षट्त्रिंशद्द्वाषष्टिभागा एकं च द्वाषष्टिभागं सप्तषष्टिधा छित्त्वा तस्य सत्काः षट् ६ चूर्णिकाभागाः शेषाः, तथाहि-पञ्चमी ५ माघमासभाविन्यावृत्तिः—प्रागुपदर्शितक्रमापेक्षया-दशमी १०, ततस्तस्याः स्थाने दशको १० ध्रियते, स रूपोनः कार्य इति जातो नवकः ६, तेन ६ प्राक्तनो ध्रुवराशिः-५७३। ३६। ६। गुण्यते जातान्येकपञ्चाशच्छतानि सप्तपञ्चाशदधिकानि मुहूर्त्तानां; मुहूर्त्तगतानां च द्वाषष्टिभागानां त्रीणि शतानि चतुर्विंशत्यधिकानि एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य चतुःपञ्चाशत् सप्तषष्टिभागाः-५१५७। ३२४। ५४। तत एतेभ्य एकोनपञ्चाशच्छतैर्मुहूर्त्तैः चतुर्दशाधिकैः मुहूर्त्तगतानां च द्वाषष्टिभागानां चतुश्चत्वारिंशदधिकेन शतेन द्वाषष्टिभागगतानां च सप्तषष्टिभागानां त्रिभिः शतैः षण्णवत्यधिकैः षट्६ नक्षत्रपर्यायाः शुद्धाः, स्थिते पश्चान्मुहूर्त्तानां द्वे शते त्रिचत्वारिंशदधिके मुहूर्त्तगतानां च द्वाषष्टिभागानां चतुःसप्तत्यधिकं शतमेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षष्टिः सप्तषष्टिभागाः-२४३।१७४।६०। तत एकोनषष्ट्यधिकेन मुहूर्त्तशतेन एकस्य च मुहूर्त्तस्य चतुर्विंशत्या द्वाषष्टिभागैरेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्ट्या सप्तषष्टिभागैरभिजिदादीन्युत्तरभद्रपदापर्यन्तानि नक्षत्राणि शुद्धानि, स्थितानि पश्चान्मुहूर्त्तानां चतुरशीतिः; मुहूर्त्तगतानां च द्वाषष्टिभागानां शतमेकोनपञ्चाशदधिकम् एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य एकषष्टिः सप्तषष्टिभागाः-८४। १४९। ६१। ततो द्वाषष्टिभागानां चतुर्विंशत्यधिकेन शतेन द्वौ मुहूर्त्तौ लब्धौ पश्चात् स्थिताः पञ्चविंशतिः २५ द्वाषष्टिभागाः, लब्धौ च मुहूर्त्तौ मुहूर्त्तराशौ प्रक्षिप्येते जाता षडशीतिर्मुहूर्त्तानां ततः पञ्चसप्तत्या मुहूर्त्तानां रेवत्य-श्विनी-भरण्यः शुद्धाः, स्थिताः पश्चादेकादश मुहूर्त्ताः, शेषं तथैव ११। २५। ६१। तत आगतम्-कृत्तिकानक्षत्रस्याष्टादशसु मुहूर्त्तेष्वेकस्य च मुहूर्त्तस्य षट्त्रिंशति द्वाषष्टिभागेष्वेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्सु सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु पञ्चमी ५ हैमन्ती आवृत्तिः प्रवर्त्तते, सूर्यनक्षत्रयोगविषये च प्रश्ननिर्वचनसूत्रे सुगमे,तदेवमुक्ताः १०दशापि नक्षत्रयोगमधिकृत्य सूर्यस्याऽऽवृत्तयः॥ सम्प्रति चन्द्रस्य वक्तव्याः। तत्र यस्मिन्नेव नक्षत्रे प्रवर्त्तमानः सूर्यो दक्षिणाः, उत्तरा वा आवृत्तीः करोति तस्मिन्नेव नक्षत्रे प्रवर्त्तमानश्चन्द्रोऽपि दक्षिणा-उत्तरा वा आवृत्तीः कुरुते, ततो या उत्तराभिमुख्य आवृत्तयो युगे चन्द्रस्य दृष्टास्ताः सर्वा अपि नियतमभिजिता नक्षत्रेण सह योगे द्रष्टव्याः, यास्तु दक्षिणाभिमुखास्ताः पुष्येण चन्द्रयोगे, उक्तं च (ज्योतिष्करण्डके द्वादशे १२ प्राभृते)-"चंदस्स वि नायव्वा, आउट्टीओ जुगम्मि जा दिट्ठा। अभिईए पुस्सेण य, नियमं नक्खत्तसेसेणं" ॥२५२॥ अत्र-"नक्खत्तसेसेणं' त्ति-नक्षत्रार्द्धमासेन शेषं सुगमम्। तत्राभिजित्युत्तराभिमुखा आवृत्तयो भाव्यन्ते, यदि चतुस्त्रिंशदधिकेनायनशतेन चन्द्रस्य सप्तषष्टिनक्षत्रपर्याया लभ्यन्ते ततः प्रथमे अयने किं लभ्यते?, राशित्रयस्थापना-। १३४। ६७। १। अत्रान्त्येन राशिना—एककलक्षणेन मध्यमस्य राशेः सप्तषष्टि६७रूपस्य गुणनं जाता सप्तषष्टिरेव ६७, "एकेन गुणितं तदेव भवती" ति वचनात्, तस्याश्च सप्तषष्टेः ६७ चतुस्त्रिंशदधिकेन शतेन १३४ भागे हृते लब्धमेकमर्द्धं पर्यायस्य; तस्मिंश्चार्द्धे नव शतानि पञ्चदशोत्तराणि सप्तषष्टिभागानां भवन्ति, तत्र त्रयोविंशतौ सप्तषष्टिभागेषु पुष्यनक्षत्रस्य भुक्तेषु दक्षिणाऽऽयनं चन्द्रः कृतवान्, ततः शेषाश्चतुश्चत्वारिंशत् सप्तषष्टिभागा अनन्तरोदितराशेः शोध्यन्ते, स्थितानि शेषाणि अष्टौ शतान्येकसप्तत्यधिकानि-(८७१) तेषां सप्तषष्ट्या ६७ भागो ह्रियते. इह कानिचित् नक्षत्राण्यर्द्धक्षेत्राणि तानि च सार्द्धत्रयस्त्रिंशत्सप्तषष्टिभागप्रमाणानि,कानिचित् समक्षेत्राणि तानि परिपूर्णसप्तषष्टिभागप्रमाणानि कानिचिच्च द्व्यर्द्धक्षेत्राणि तान्यर्द्धभागाऽधिकशतसंख्यसप्तषष्टिभागप्रमाणानि मात्रं त्वधिकृत्य सप्तषष्ट्या शुद्ध्यन्ति इति ततः सप्तषष्ट्या भागहरणे लब्धास्त्रयोदश १३ राशिश्चोपरितनो निर्लेपतः शुद्धस्तैश्च त्रयोदशभिः १३ अश्लेषादीनि उत्तराषाढापर्यन्तानि नक्षत्राणि शुद्धानि तत आगतमभिजितो नक्षत्रस्य प्रथमसमये चन्द्र उत्तरायणं करोति, एवं सर्वाण्यपि चन्द्रस्योत्तरायणानि वेदितव्यानि, उक्तं च-"प-

सरणे उ मुहुत्ते, जोइत्ता उत्तराश्रसाढा उ। एके च अहोरत्ते, पविसइ अब्भिंतरे चंदो ॥ १ ॥" अधुना पुष्ये दक्षिणा आवृत्तयो भाव्यन्ते-यदि चतुस्त्रिंशदधिकेनायनशतेन सप्तषष्टिश्चन्द्रस्य पर्याया लभ्यन्ते तत एकेनायनेन किं लभामहे ?।, राशित्रयस्थापना-१३४।६७।१। अत्रान्त्येन राशिना एकक १लक्षणेन मध्यमस्य राशेः सप्तषष्टि ६७ रूपस्य गुणनं जाताः सप्तषष्टिरेव ६७, तस्याः ६७ चतुस्त्रिंशदधिकशतेन१३४भागहरणं लब्धमेकमर्द्धं पर्यायस्य तच्च सप्तषष्टिभागरूपाणि नव शतानि पञ्चदशोत्तराणि-६१५, तत एकविंशतिः २१ अभिजितः संबन्धिनः सप्तषष्टिभागाः शोध्यन्ते स्थितानि पश्चादष्टौ शतानि चतुर्नवत्यधिकानि—८९४ तेषां सप्तषष्ट्या भागो ह्रियते लब्धास्त्रयोदश १३ तैश्च त्रयोदशभिः १३ पुनर्वस्वन्तानि नक्षत्राणि शुद्धानि,शेषा तिष्ठति त्रयोविंशतिः२३, एते च किल सप्तषष्टिभागा अहोरात्रस्य ततो मुहूर्त्तभागकरणार्थं त्रिंशता गुण्यन्ते जातानि षट् शतानि नवत्यधिकानि-६९०। तेषां सप्तषष्ट्या ६७ भागे हृते लब्धा दश १० मुहूर्त्ताः, शेषास्तिष्ठन्ति विंशतिः सप्तषष्टिभागास्तत इदमागतं पुनर्वसुनक्षत्रे सर्वात्मना भुक्ते पुष्यस्य च दशसु मुहूर्त्तेष्वेकस्य च मुहूर्त्तस्य विंशतौ सप्तषष्टिभागेषु भुक्तेषु सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलाद्बहिर्निष्क्रामति चन्द्रः एवं सर्वाण्यपि दक्षिणायनानि भावनीयानि , उक्तं च (" ज्योतिष्करण्डके द्वादशे १२ प्राभृते)-"दस १० य मुहुत्ते सगले, मुहुत्तभागे य वीसई चेव। पुस्सविसयमइगश्रो, बहिया अभिनिक्खमइ चंदो" ॥ २५३ ॥ चं० प्र० १२ पाहु०।

साम्प्रतं येन नक्षत्रेण युक्तश्चन्द्रमा अभ्यन्तरं प्रविशन् बहिर्वा निष्कामन् आवृत्तीः करोति तत्प्रतिपादनार्थमाह—

चंदस्स वि नायव्वा, आउट्टीओ जुगम्मि जा दिट्ठा।
अभिईए पुस्सेण य, निययं नक्खत्तसेसेणं ॥ २५२ ॥

यस्मिन्नेव नक्षत्रे वर्त्तमानस्य चन्द्रमसोऽपि नक्षत्रशेषेण-नक्षत्रार्द्धमासेन या उत्तराभिमुखा आवृत्तयो युगे दृष्टास्ता नियतमभिजिता नक्षत्रेण युगे द्रष्टव्याः, याश्च युगे दृष्टा दक्षिणाभिमुखा आवृत्तयस्ताः पुष्येण योगे, तत्राभिजित्युत्तराभिमुखा आवृत्तयो भाव्यन्ते-यदि चतुस्त्रिंशदधिकेनायनशतेन चन्द्रस्य सप्तषष्टिर्नक्षत्रपर्याया लभ्यन्ते ? ततः प्रथमे अयने किं लभ्यते?, राशित्रयस्थापना-१३४। ६७।१। अत्रान्त्येन राशिना एकक१लक्षणेन मध्यमस्य राशेः सप्तषष्टि६७लक्षणस्य गुणनम् , जाता सप्तषष्टिरेव ६७, तस्याः ६७ चतुस्त्रिंशदधिकशतेन भागहरणं लब्धमेकमर्द्धं पर्यायस्य, तच्च सप्तषष्टिभागरूपाणि नव शतानि पञ्चदशोत्तराणि-(९१५) तत एकविंशतिः २१ अभिजितः संबन्धिनः सप्तषष्टिभागाः ६७ शोध्यन्ते स्थितानि पश्चादष्टौ शतानि चतुर्नवत्यधिकानि-(८९४) तेषां सप्तषष्ट्या ६७ भागो ह्रियते लब्धाः त्रयोदश १३, तैश्च त्रयोदशभिः १३ पुनर्वस्वन्तानि नक्षत्राणि शुद्धानि, शेषास्तिष्ठन्ति त्रयोविंशतिः २३, एते च किल सप्तषष्टिभागा अहोरात्रस्य; ततो मुहूर्त्तभागकरणार्थं ते त्रिंशता ३० गुण्यन्ते जातानि षट्शतानि नवत्यधिकानि—६९० तेषां सप्तषष्ट्या ६७ भागे हृते लब्धा दश १० मुहूर्त्ताः,

शेषास्तिष्ठन्ति विंशतिः २०, आगतं पुनर्वसु नक्षत्रे सर्वात्मना भुक्ते पुष्यस्य दशसु १० मुहूर्त्तेषु एकस्य च मुहूर्त्तस्य विंशतौ सप्तषष्टिभागेषु भुक्तेषु सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलाद्बहिर्निष्क्रामति चन्द्रः । तथा चाह (चं० प्र० १२ पाहु०।)-

दस १० य मुहुत्ते सगले,मुहुत्तभागे य वीसई २०चेव।
पुस्सस्स विसयमभिगश्रो , बहिया अभिनिक्खमइ चंदो ॥ २५३ ॥

दश १० च सकलान्-परिपूर्णान् मुहूर्त्तान्-मुहूर्त्तभागान् सप्तषष्टि ६७ रूपान् विंशतिः २० पुष्यविषयमभिगतः सन् सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलाद्बहिर्निष्क्रामति चन्द्रः । ज्यो० १२ पाहु० । सू० प्र० ।

आउट्टि(न्)-आकुट्टिन्-त्रि०। यो हि जानन्-अवगच्छन् प्राणिनो हिनस्ति स आकुट्टी । 'कुट्ट' छेदने । आकुट्टनमाकुट्टः स विद्यते यस्येति । छेदनभेदनादिव्यापारवति, सूत्र० । " जाणं कायेणऽणाउट्टी " (२५ × गाथा) । सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० । ज्ञानपूर्वकव्यापारवति, । अनापद्यप्यकार्यकारके च । " आउट्टियाए पाणाइवायं करेमाणे सबले ॥ १२ ॥ " 'आउट्टीति '-यो जानन् करोत्यपद्दहितो वा करोति । दशा० २ अ० । सूत्र० ।

आवर्तिन्-त्रि० । आ०+वृत्-णिनि । पुनः पुनर्वर्त्तनशीले, वाच० ।

आउट्टिऊण आवर्त्य-अव्य० । आवर्ज्येत्यर्थे , व्य० १० उ० ।

आउट्टिज्जमाण-आकोट्यमान-त्रि० । संकोच्यमाने , सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

आउट्टित्तए-आउट्टितुम्-अव्य०। कारयितुमित्यर्थे, 'आउट्ट' एतादृश एवायं धातुस्सैद्धान्तिकः करणार्थः । कल्प० १ अधि० ६ क्षण ।

आउट्टिम-आकोट्टिम-न० । उत्कीर्णे, " आउट्टिमं उक्किन्नं " (१६७×) आकोट्टिमं जधा रूवओ हेट्ठा वि उवरिं वि मुहं काऊण आउट्टिज्जति। दश० २ अ० ।

आउट्टिय-आउट्टित-त्रि० । कृते , कल्प० ३ अधि० ६ क्षण ।

आकुट्टित-त्रि० । छिन्ने, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० । ज्ञानपूर्वककृते , दशा० २ अ० ।

आउट्टिया-आउट्टिका-स्त्री०। करणे, कल्प० १ अधि०६ क्षण।

आकुट्टिका-स्त्री० । छेदनभेदनादिव्यापारे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० । ज्ञानपूर्वकव्यापारे , दशा० २ अ० । जीत० । स० । प्रव० । आभोगे , नि० चू० १२ उ० ।

आवृत्तिका-स्त्री० । समन्तात्प्रवर्त्तने, अभिलाषायां च । आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ३ उ० । आराधनायाम् , व्य० २ उ० । नि० चू० । आवर्जने , व्य० १० उ० । अभिमुखीभूय वर्तने, नं० ३२ सूत्र । निवर्तने, सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

आउट्टीकम्म-आकुट्टीकर्म्मन्-न० । आकुट्या कृतं कर्म आगमोक्तकारणमन्तरेणोपेत्य प्राण्युपमर्द्दनेन विहिते कर्मणि, आचा० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आकुट्टीकृतकर्मणि तु यद्विधेयं तदाह—

जं आउट्टीकम्मं,तं परिण्णाय विवेगमेइ। (सूत्र-१५८X)

'जं आउट्टी' इत्यादि, यत्तु पुनः कर्माऽऽकुट्या कृतमागमोक्तकारणमन्तरेणापेत्य प्राण्युपमर्दनेन विहितं तत्परिज्ञाय ज्ञपरिज्ञया विवेकमेति-विविच्यते ऽनेनेति विवेकः-प्रायश्चित्तं दश१०विधं तस्यान्यतरभेदमुपैति तद्विवेकं वा-अभावाख्यमुपैति तत्करोति येन कर्मणोऽभावो भवति। आचा० २ श्रु० ५ अ० ४ उ०।

आउड-आवृत्-स्त्री०। आ-वृत्-सम्प० क्विप्। आवर्त्तने, भ्रामणे, पुनः पुनश्चालने, पुनःपुनरेकजातीयक्रियाकरणे, आधारे क्विप्। परिपाट्याम्, अनुक्रमे, इति कर्त्तव्यताप्रकारे, संस्कारे, तूष्णीम्भावे च। कर्तरि क्विप्। आवर्तमाने, त्रि०। वाच०।

आवृत-त्रि०। आ-वृ-क्त। कृतावरणे,अप्रकाशावृते,आच्छादिते, स्था० ३ ठा० ३ उ०। संकीर्णवर्णभेदे, पुं०। स्त्री०। स्त्रियां जातित्वात् ङीप्। वाच०।

आउडावेइत्ता-आखोटय-अव्य०। प्रवेशयित्वेत्यर्थे, विपा० १ श्रु० ६ अ०।

आउडिज्जमाण-आजोडयमान-त्रि०। सम्बध्यमाने, 'जुड' बन्धने इति वचनात्। भ० ५ श० ४ उ० १८५ सूत्र।

आकुट्यमान-त्रि०। परस्परेणाभिहन्यमाने, भ०। "छउमत्थे णं भंते! मणूसे आउडिज्जमाणाई सद्दाई सुणेइ" आउडिज्जमाणाइ' त्ति-जुड बन्धने इति वचनात्, आजोड्यमानेभ्यः-सम्बध्यमानेभ्यो मुखहस्तदण्डादिना सह शङ्खपटहझल्लर्यादिभ्यो वाद्यविशेषेभ्य आकुट्यमानेभ्यो वा, एभ्य एव ये जाताः शब्दास्त आजोड्यमाना एव आकुट्यमाना एव वा उच्यन्ते, अतस्तानाजोड्यमानानाकुट्यमानान्वा, शब्दान् शृणोति। इह च प्राकृतत्वेन शब्दशब्दस्य नपुंसकनिर्देशः। अथवा-'आउडिज्जमाणा' इति—आकुट्यमानि परस्परेणाभिहन्यमानानि। भ०५ श० ४ उ०।

आउडिय-आकुट्टित-त्रि०। अङ्किते; अनु० १४८ सूत्र।

आउडेमाण आकुट्टयत्-त्रि०। ताडयति, भ० ६ श १ उ०।

आउड्ड-मस्ज-धा०। स्नाने, तुदा०पर०अकर्मक अनिट्। "मस्जेराउड्ड णिउड्ड बुड्ड खुप्पाः"॥८।४।१०१॥ इति हैमप्राकृतसूत्रेण मस्जेः आउड्ड इत्यादेशः। आउड्डइ। मज्जइ। मज्जतीत्यर्थः। प्रा०।

आउत्त-आगुप्त-त्रि०। संरक्षिते, स्था० ३ ठा० १ उ०। संयते, पुं०। संयतसम्बन्धिनि गमनादौ च। त्रि०। "आउत्तं गमणं" (सूत्र-८०२X) आगुप्तस्य-संयतस्य संबन्धि यत् तदागुप्तमेवेति। भ० २५ श० ७ उ०।

आयुक्त-न०। आ युज् क्त। उपयोगे, भ०। "आउत्तं वत्थपडिग्गहकंबलपायपुंछणं गेण्हमाणस्स"। (सूत्र-१५३+) उपयोगपूर्वकमित्यर्थः। भ० ३ श० ३ उ०। उपयोगवति, संथा०। उपयुक्ते, स्था० २ ठा० १ उ०। ध०। सूत्र०।

प्रशस्तकायविनयभेदानुद्दिश्योक्तम्—

आउत्तं गमणं,आउत्तं ठाणं, आउत्तं णिसीयणं,आउत्तं तुयट्टणं, आउत्तं उल्लंघणं, आउत्तं पल्लंघणं, आउत्तं सव्विंदियजोगजुंजणया। (सूत्र-५८५X)

आयुक्तं गमनम् आयुक्तस्य—उपयुक्तस्य संलीनयोगस्य। स्था० ७ ठा० ३ उ०। भ०। समन्तादुपयुक्ते, आ०म० १ अ०। प्रयत्नपरे,ओघ० ८०७ गाथा। शिक्षित चारित्रे०। "असिकंटकविसमादीसुं, गच्छंतो सिक्खिओ वि अंतरं। चुक्केइ एमेव मुणी, छलिज्जती अप्पमत्तो वि" ॥१००॥ सिक्खिओ विआउत्तो वि छलिज्जति। नि० चू०१ उ०। संयमार्थिनि च। संजमट्ठाए त्ति वा.आउत्तो त्ति वा,अविधिपरिहारि त्ति वा, एगट्ठा इति। आ० चू० १ अ०। आ युज् कर्मणि क्तः। सम्यग्व्यापारिते, भावे क्तः। सम्यग्नियोजने,न०। आयुक्तमनेन। इष्टा० इनिः। आयुक्ती। सम्यग्नियोजनकर्त्तरि, त्रि०। स्त्रियां ङीप्। वाच०।

आउपरिणाम-आयुःपरिणाम-पुं०। आयुषः-कर्मप्रकृतिविशेषस्य परिणामः-स्वभावः। आयुषः स्वभावे,स्था०१०ठा०१ उ०। तस्य भेदाः—

नवविहे आउपरिणामे पण्णत्ते, तं जहा-गइपरिणामे,१ गइबन्धणपरिणामे२, ठिइपरिणामे३, ठिइबन्धणपरिणामे४, उड्ढंगारवपरिणामे५, अहेगारवपरिणामे६, तिरियंगारवपरिणामे ७, दीहंगारवपरिणामे ८, हस्संगारवपरिणामे। (सूत्र-६८६)

'नवविहे' त्यादि, 'आउपरिणामे' त्यादि, आयुषः-कर्मप्रकृतिविशेषस्य परिणामः-स्वभावः-शक्तिर्द्धर्म-इत्यायुःपरिणामः। तत्र गतिर्देवादिका तां नियतां येन स्वभावेनायुर्जीवं प्रापयति स आयुषो गतिपरिणामः१, तथा-येनायुःस्वभावेन प्रतिनियतगतिकर्मबन्धो भवति, यथा नारकायुःस्वभावेन मनुष्यतिर्यग्गतिनामकर्म बध्नाति न देवनारकगतिनामकर्मेति स गतिबन्धनपरिणामः२, तथा-आयुषो यान्तर्मुहूर्त्तादित्रयस्त्रिंशत्सागरोपमान्ता स्थितिर्भवति स स्थितिपरिणामः ३, तथा-येन पूर्वभवायुःपरिणामेन परभवायुषो नियतां स्थितिं बध्नाति स स्थितिबन्धनपरिणामः, यथा-तिर्यगायुःपरिणामेन देवायुष उत्कृष्टतोऽप्यष्टादशसागरोपमाणीति, तथा-येन आयुःस्वभावेन जीवस्योर्ध्वदिशि गमनशक्तिलक्षणपरिणामो भवति स ऊर्ध्वगौरवपरिणामः५,इह गौरवशब्दो गमनपर्यायः। एवमितरौ द्वावपि ६।७। तथा येन आयुःस्वभावात् जीवस्य दीर्घं-दीर्घगमनतया लोकान्तात् लोकान्तं यावद्गमनशक्तिर्भवति स दीर्घगौरवपरिणामः८, एवं च यस्मात् ह्रस्वं गमनं स ह्रस्वगौरवपरिणामः, सर्वत्र प्राकृतत्वादनुस्वार इति अन्यथाऽप्यूह्यमतादिति। स्था० ९ ठा० ३ उ०।

आउबहुल-अब्बहुल-त्रि०। प्रचुरजलोपेते, स० ८० सम०। "नो चेवणं आउबहुले भविस्सइ" (सूत्र-२८८ +)। बह्वप्कायमित्यर्थः। भ० ७ श० ६ उ०।

आउबहुलकंड-अब्बहुलकाण्ड-न०। प्रचुरजलोपेते रत्नप्रभायास्तृतीये काण्डे, स०।

१-उड्ड। २-बुड्ड। पुस्तकान्तरे पञ्चादेशाः, षड् वा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत्प्रमाणादि—

आउबहुले णं कंडे असीइजोयणसहस्साइं ८०००० बाहल्लेणं पण्णत्ते । (सूत्र-८०)

रत्नप्रभाया अशीत्युत्तरयोजनलक्षबाहल्यायास्त्रीणि काण्डानि भवन्ति । तत्र प्रथमं रत्नकाण्डं षोडशविधरत्नमयं षोडशसहस्रबाहल्यम् , द्वितीयं पङ्ककाण्डं चतुरशीतिसहस्रमानम् । तृतीयमब्बहुलकाण्डमशीतिर्योजनसहस्राणीति । स० ८० सम० ।

आउब्भेय-आयुर्भेद-पुं० । आयुषो-जीवितस्य भेद-उपक्रमः आयुर्भेदः । स्था० ७ ठा० ३ उ० । आयुष उपघाते, आ० चू० १ अ० । आ० म० । (तन्निमित्तानि ' आउ ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गतानि)

स च सप्तविधनिमित्तत्वात्सप्तविधः—

सत्त विहे आउभेदे पण्णत्ते, तं जहा—
" अज्झवसाणनिमित्ते, आहारे वेयणा पराघाए ।
फासे आणापाणू, सत्तविधं भिज्जए आऊ ॥ १॥ "
(सूत्र-५६१)

अध्यवसानं-रागस्नेहभयात्मकोऽध्यवसायो निमित्तं दण्डकशाशस्त्रादीति समाहारद्वन्द्वस्तत्र सति आयुर्भिद्यत इति संबन्धः, तथा आहारे-भोजनेऽधिके सति, तथा वेदना-नयनादिपीडा पराघातो-गर्त्तपातादिसमुत्थः, इहापि समाहारद्वन्द्व एव तत्र सति, तथा स्पर्शे-तथाविधभुजङ्गादिसंबन्धिनि सति, तथा ' आणापाणु ' त्ति—उच्छ्वासनिःश्वासौ निरुद्धावाश्रित्येति—एवं च सप्तविधं यथा भवति तथा भिद्यते आयुरिति । अथवा-अध्यवसानमायुरुपक्रमकारणमिति शेषः, एवं निमित्तमित्यादि यावत् 'आणापाणु' त्ति-व्याख्येयं, प्रथमैकवचनान्तत्वाद् अध्यवसानादिपदानामेवं सप्तविधत्वादायुर्भेदहेतूनां सप्तविधं यथा भवति तथा भिद्यते आयुः । स्था० ७ ठा० ३ उ० ।

आउय-आयुष्क-न० । जीविते, उत्त० ३ अ० । संथा० । आ० म० । भवस्थितिहेतौ, कर्मपुद्गले च । आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

तओ अहाउयं पालेंति, तं जहा-अरहंता, चक्कवट्टी, बलदेववासुदेवा । ३१ । (सूत्र-१४३×) स्था० ३ ठा० १ उ० ।

आयुषा कायति , कै । आयुषा प्रकाशमाने प्रशस्तायुष्के । वाच० ।

आवुक-पुं० । अवति-रक्षति । अव्-धा० । उण् संज्ञायां कन् । नाट्योक्तौ, जनके , वाच० । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

आउयपरिहाणि-आयुष्कपरिहानि-स्त्री० । प्रतिक्षणायुष्कक्षये, पञ्चा० १ विव० ।

आउयबंध-आयुष्कबन्ध-पुं० । आयुषो बन्ध इति । स्था० ६ ठा० ३ उ० । आयुषो निषेके, स० । स च प्रतिसमयं बहुहीनहीनतरस्य दलिकस्यानुभवनार्थं रचना । स० ।

तद्भेदाः—

कइविहे णं भंते ! आउयबंधे पण्णत्ते ?, गोयमा ! छव्विहे आउयबंधे पण्णत्ते, तं जहा-जाइनामनिहत्ताऽऽउए १, गइनामनिहत्ताउए २, ठिइनामनिहत्ताउए ३, ओगाहणानामनिहत्ताउए ४, पएसनामनिहत्ताउए ५, अणुभागनामनिहत्ताउए ६, दंडओ ०जाव वेमाणियाणं । (सूत्र-२५०+)

(जाइनामनिहत्ताउय त्ति १) जातिरेकेन्द्रियजात्यादिः पञ्चधा, सैव नाम इति-नामकर्मण उत्तरप्रकृतिविशेषो जीवपरिणामो वा तेन सह निधत्तं-निषिक्तम् । भ० ६ श० ८ उ० । अनुभवनार्थं बहुस्वाल्पतरक्रमेण व्यवस्थापितं(स०)(यद् भ०) य आयुस्तज्जातिनामनिधत्तायुः (स०-१५४ सूत्रटी०) निषेकश्च कर्मपुद्गलानां प्रतिसमयमनुभवनार्थं रचना । भ० ६ श० ८ उ० । उक्तं च-" मोत्तूण सगमबाहं , पढमाए ठिईए बहुतरं दव्वं । सेसे विसेसहीणं , जावुक्कोस्संति सव्वासिं " ॥१॥ इति । स्था० ६ ठा० ३ उ० । (गइनामनिहत्ताउए त्ति २)-गतिः-नारकगत्यादिभेदाच्चतुर्धा-तल्लक्षणं नाम कर्म तेन सह निधत्तं निषिक्तमायुर्गतिनामनिधत्तायुः । स० १५४ सम० । (ठिइनामनिधत्ताउए त्ति ३-स्थितिरिति यत्स्थातव्यं;केनचिद्विवक्षितभवे जीवेनायुःकर्मणा वा सैव नाम परिणामो धर्मः स्थितिनामस्तेन विशिष्टं निधत्तं यदायुर्दलिकरूपं तत्स्थितिनामनिधत्तायुः । अथवा-इह सूत्रे जातिनामगतिनामावगाहनानामग्रहणाज्जातिगत्यवगाहनानां प्रकृतिमात्रमुक्तं , स्थितिप्रदेशानुभागनामग्रहणात्तु तासामेव स्थित्यादय उक्ताः , ते च जात्यादिनामसम्बन्धित्वान्नामकर्मरूपा एवेति, नामशब्दः सर्वत्र कर्मार्थो घटत इति , स्थितिरूपं नामकर्मस्थितिनाम तेन निधत्तं यदायुस्तत्स्थितिनामनिधत्तायुः । स्था० ६ ठा० ३ उ० । यत्-यस्मिन् भवे उदयमागमनमवतिष्ठते तद्गतिजातिशरीरपञ्चकादिव्यतिरिक्तं स्थितिनामावसेयमिति भावः , गत्यादीनां वर्जनं तेषां स्वपदैः ' गइनामनिहत्ताउए ' (१४५+ सूत्रटी०) इत्यादिभिरुपात्तत्वात् । प्रज्ञा० ६ पद । (ओगाहणानामनिधत्ताउए त्ति ४) । अवगाहते यस्यां जीवः सा अवगाहना-शरीरम् औदारिकादि तस्या नाम औदारिकादिशरीरनामकर्मेत्यवगाहनानाम । (अवगाहनारूपो वा, नामः परिणामोऽवगाहनानामः) तेन सह यन्निधत्तमायुस्तदवगाहनानामनिधत्तायुः । (पएसनामनिहत्ताउए त्ति ५)-प्रदेशानाम्-आयुःकर्मद्रव्याणां नाम-तथाविधा परिणतिः प्रदेशनाम, प्रदेशरूपं वा, नामकर्मविशेष इत्यर्थः, प्रदेशनाम । भ० ६ श० ८ उ० । प्रदेशाः कर्मपरमाणवस्ते च प्रदेशाः सङ्क्रमतोऽप्यनुभूयमानाः परिगृह्यन्ते, तत्प्रधानं नाम प्रदेशनाम, किमुक्तं भवति-यत् यस्मिन् भवे प्रदेशतोऽनुभूयते तत्प्रदेशनामेति अनेन विपाकोदयमप्राप्तमपि नाम परिगृहीतम् । प्रज्ञा० ६ पद । प्रदेशानां प्रमितपरिणामानामायुःकर्मदलिकानां नामपरिणामो यः तथाऽऽत्मप्रदेशेषु सम्बन्धनं स प्रदेशनामो जातिगत्यवगाहनाकर्मणां वा यत्प्रदेशरूपं नामकर्म तत्प्रदेशनाम । स० १५४ सम० । तेन सह यन्निधत्तमायुस्तत्प्रदेशनामनिधत्तायुरिति । (अणुभागनामनिधत्ताउए त्ति ६) । अनुभाग आयुर्द्रव्याणामेव विपाकः । भ० ३ श० ८ उ० । तीव्रादिभेदो रसः । स० १५४ सम० । तल्लक्षण एव नाम । परिणामोऽनुभागनामोऽनुभागरूपं वा नामकर्मानुभागनाम । भ० ६ श० ८ उ० । स चेह प्रकर्षप्राप्तः परिगृह्यते तत्प्रधानं

नाम अनुभावनाम यत् यस्मिन् भवे तीव्रविपाकं नामकर्मानुभूयते यथा नारकायुषि अशुभवर्णगन्धरसस्पर्शोपघाताऽनादेयदुःस्वराऽयशोकीर्त्यादिनामानि तदनुभावनाम। प्रज्ञा० ६ पद । अथवा-गत्यादीनां नामकर्म्मणामनुभागबन्धरूपो भेदोऽनुभागनाम । स० १४४ सम० । तेन सह निधत्तं यदायुस्तदनुभागनामनिधत्तायुरिति । अथ किमर्थं जात्यादिनामकर्म्मभिरायुर्विशिष्यते ?, उच्यते-आयुष्कस्य प्राधान्योपदर्शनार्थं यस्मान्नारकाद्यायुरुदये सति जात्यादिनामकर्म्मणामुदयो भवति । भ० ६ श० ८ उ० । नान्यथेति भवस्यायुषः प्रधानता । प्रज्ञा० ६ पद ।

नारकादिभवोपग्राहकं चायुरेव, यस्मादुक्तमिहैव—

" नेरइए णं भंते ! नेरइएसु उववज्जइ, अनेरइए नेरइएसु उववज्जइ ?, गोयमा ! नेरइए नेरइएसु उववज्जइ, नो अनेरइए नेरइएसु उववज्जइ " त्ति । एतदुक्तंभवति—नारकायुःप्रथमसमयसंवेदन एव नारका उच्यन्ते तत्सहचारिणाश्च पञ्चेन्द्रियजात्यादिनामकर्म्मणामप्युदय इति । इह चायुर्बन्धस्य षड्विधत्वे उपक्षिप्ते यदायुषः षड्विधत्वमुक्तं तदायुषो बन्धाव्यतिरेकाद्बन्धस्यैव चायुर्व्यपदेशविषयत्वादिति । ' दंडओ ' त्ति-नेरइयाणं भंते ! कइविहे आउयबंधे पन्नत्ते' इत्यादिः वैमानिकान्तश्चतुर्विंशतिदण्डको वाच्योऽत एवाह—' जाव वेमाणियाणं ' ति । भ० ६ श० ८ उ० २५० सूत्रटी० । प्रज्ञा० । स० । स्था० ।

अथ कर्मविशेषाधिकारात्तद्विशेषितानां जीवादिपदानां द्वादशदण्डकानाह—

जीवा णं भंते ! किं जाइनामनिहत्ता, ०जाव अणुभागनामनिहत्ता ?, गोयमा ! जाइनामनिहत्ता वि ०जाव अणुभागनामनिहत्ता वि, दंडओ ०जाव वेमाणियाणं । जीवाणं भंते ! किं जाइनामनिहत्ताउया ०जाव अणुभागनामनिहत्ताउया ?, गोयमा ! जाइनामनिहत्ताउया वि ०जाव अणुभागनामनिहत्ताउयावि, दंडओ ०जाव वेमाणियाणं। एवं एए दुवालस १२ दंडगा भाणियव्वा। जीवा णं भंते। किं जाइनामनिहत्ता १, जाइनामनिहत्ताउया २, जाइनामनिउत्ता ३, जाइनामनिउत्ताउया ४, जाइगोयनिहत्ता ५, जाइगोयनिहत्ताउया ६, जाइगोयनिउत्ता ७, जाइगोयनिउत्ताउया ८, जाइनामगोयनिहत्ता ९, जाइनामगोयनिहत्ताउया १०, जाइनामगोयनिउत्ता ११, जाइनामगोयनिउत्ताउया १२, ०जाव अणुभागनामगोयनिउत्ताउया?। गोयमा ! जाइनामगोयनिउत्ताउयावि ०जाव अणुभागनामगोयनिउत्ताउयावि दंडओ ०जाव वेमाणियाणं । (सूत्र-२५० +)

'जाइनामनिहत्त'त्ति-जातिनाम निधत्तं-निषिक्तं विशिष्टबन्धं वा कृतं यैस्ते जातिनामनिधत्ताः । एवं गतिनामनिधत्ताः । यावत्करणात्—" ठिइनामनिहत्ता, ओगाहणानाम निहत्ता, पएसनामनिहत्ता, अनुभागनामनिहत्ता " इति दृश्यम् । व्याख्या तथैव नवरं जात्यादिनाम्ना या स्थितिर्ये च प्रदेशा यश्चानुभागस्तत्स्थित्यादिनाम अवगाहनानाम शरीरनामेति । अयमेको दण्डको वैमानिकान्तः, तथा-'जाइनामनिहत्ताउय' त्ति- । जातिनाम्ना सह निधत्तमायुर्यैस्ते जातिनामनिधत्तायुषः, एवमन्यान्यपि पदानि अयमन्यो दण्डकः २, एवमेते 'दुवालस दंडग' त्ति-अमुना प्रकारेण द्वादश दण्डका भवन्ति, तत्र द्वावाद्यौ दर्शितावपि संख्यापूरणार्थं पुनर्दर्शयति-जातिनामनिधत्ता इत्यादिरेकः, 'जाइनामनिहत्ताउया' इत्यादिर्द्वितीयः , जीवा णं भंते ! किं जाइनामनिउत्ता इत्यादिस्तृतीयः, तत्र जातिनामनियुक्तं नितरां युक्तं सम्बद्धं निकाचितं वेदने वा नियुक्तं यैस्ते जातिनामनियुक्ताः, एवमन्यान्यपि ५, 'जाइनामनिउत्ताउया' इत्यादिश्चतुर्थः । तत्र जातिनाम्ना सह नियुक्तं निकाचितं वेदयितुमारब्धं वाऽऽयुर्यैस्ते । तथा एवमन्यान्यपि ५ 'जाइगोयनिहत्ता' इत्यादिः पञ्चमः । तत्र जातेरेकेन्द्रियादिकाया यदुचितं गोत्रं नीचैर्गोत्रादि तज्जातिगोत्रं तन्निधत्तं यैस्ते जातिगोत्रनिधत्तायुष एवमन्यान्यपि ५ ' जाइगोयनिउत्ताउया' इत्यादिरष्टमः, तत्र जातिनामगोत्रं च निधत्तं यैस्ते तथा एवमन्यान्यपि ५, ' जाइगोयनिहत्ताउया ' इत्यादिः , दशमः । तत्र जातिनाम्ना गोत्रेण च सह निधत्तमायुर्यैस्ते तथा एवमन्यान्यपि ५, 'जाइनामगोयनिउत्ता' इत्यादिरेकादशः । तत्र जातिनामगोत्रञ्च नियुक्तं यैस्ते तथा एवमन्यान्यपि ५, 'जीवा णं भंते ! किं जाइनामगोयनिउत्ताउया' इत्यादिर्द्वादशः । तत्र जातिनाम्ना गोत्रेण च सह नियुक्तमायुर्यैस्ते तथा एवमन्यान्यपि ५, इह च जात्यादिनामगोत्रयोरायुषश्च भवोपग्रहे प्राधान्यख्यापनार्थं यथायोगं जीवा विशेषिता वाचनान्तरे चाद्या एवाष्टौ दण्डका दृश्यन्त इति । भ० ६ श० ८ उ० ।

अथ जात्यादिनामविशिष्टमायुः कियद्भिराकर्षैर्बध्नातीति जिज्ञासुर्जीवादिदण्डकक्रमेण पृच्छति अल्पबहुत्वं च—

जीवा णं भंते ! जातिनामनिहत्ताउयं कतिहिं आगरिसेहिं पकरेंति ?, गोयमा ! जहन्नेणं एक्केण दोहिं वा तिहिं वा उक्कोसेणं अट्ठहिं , नेरइया णं भंते ! जातिनामनिहत्ताउयं कतिहिं आगरिसेहिं पकरेंति ? गोयमा ! । (सूत्र-१४५+) प्रज्ञा० ६ पद । सिय १ एकेणं सिय २।३।४।५।६ ७ सिय ८ अट्ठहिं, नो चेवं णं नवहिं । (सूत्र१५४×)स०१५४ सम०। जहन्नेणं एकेण वा दोहिं वा तिहिं वा उक्कोसेणं अट्ठहिं । (सूत्र-१४५×) प्रज्ञा० ६ पद । स० । एवं ०जाव वेमाणिया । एवं गतिनामनिहत्ताउए वि । ठितिनामनिहत्ताउए वि । ओगाहणानामनिहत्ताउएवि । पदेसनामनिहत्तउए वि । अणुभावनामनिहत्ताउए वि । एतेसि णं भंते ! जीवाणं जातिनामनिहत्ताउयं जहन्नेणं एको वा दोहिं वा तिहिं वा उक्कोसेणं अट्ठहिं आगरिसेहिं पकरेमाणा णं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ?, गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा जातिनामनिहत्ताउयं अट्ठहिं आगरिसेहिं पकरेमाणा, सत्तहिं आगरिसेहिं पकरेमाणा संखेज्जगुणा एएहिं आगरिसेहिं पकरेमाणा संखेज्जगुणा, एवं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पचहिं संखेज्जगुणा, तिहिं संखेज्जगुणा, चउहिं संखेज्जगुणा, दोहिं संखेज्जगुणा, एगेणं आगरिसेणं पकरेमा‌णा संखेज्जगुणा। एवं एतेणं अभिलावेणं ०जाव अणुभावनिहत्ताउयं। एव एते छप्पि अप्पा-बहुदण्डगा जीवादिया भाणियव्वा। (सूत्र--१४५+)

'आगरिसेहिं पगरंती' त्यादि, आकर्षो नाम तथाविधेन प्रयत्नेन कर्मपुद्गलोपादानं यथा गौः पानीयं पिबन्ती भयेन पुनः पुनराघोटयति एवं जीवोऽपि यदा तीव्रेणायुर्बन्धाध्यवसायेन जातिनामनिधत्तायुरन्यद्वा बध्नाति तदा एकेन। प्रज्ञा० ६ पद। मन्देन द्वाभ्यामाकर्षाभ्यां मन्दतरेण त्रिभिर्मन्दतमेन चतुर्भिः पञ्चभिः षड्भिः सप्तभिरष्टाभिर्वा न पुनर्नवभिरेवं शेषाण्यपि 'आउगाणि' त्ति—गतिनामनिधत्तायुरादीनि वाच्यानि यावद्वैमानिका इति अयञ्चैकाद्याकर्षनियमो जात्यादीनां कर्मणामायुर्बन्धकाल एव। स० १५४ सम०। आयुषा सह बध्यमाननामबसातव्यो न शेषकालं कासांचित्प्रकृतीनां ध्रुवबन्धिनीत्वादपरासां परावर्त्तमानत्वात्। प्रभूनकालमपि बन्धसम्भवेनाकर्षानियमात्। प्रज्ञा० ६ पद। आयुर्बन्धपरिसमाप्तेरुत्तरकालमपि बन्धोऽस्त्येवैषां ध्रुवबन्धिनीनाञ्च ज्ञानावरणादिप्रकृतीनां प्रतिसमयमेव बन्धनिवृत्तिर्भवत्येनास्तु परावृत्यावध्यन्ते। स० १५४ सम०। (नारक-तिर्यग्-मनुष्य-देवायुर्बन्धकारणानि बहुप्रकारेण 'बन्धहेउ' शब्दे पञ्चमभागे विस्तरतः प्रतिपादयिष्यते) तथा देवनैरयिकैरपि यदि षण्मासे शेषे आयुर्न बद्धं तत आत्मीयस्यायुषः षण्मासशेषं तावत्संक्षिपन्ति यावत्सर्वजघन्य आयुर्बन्ध उत्तरकालश्चावशेषोऽवतिष्ठते। इह परभवायुर्देवनैरयिका बध्नन्तीत्ययमसंक्षेपकाल इति श्रीस्थानांगषष्ठाध्ययनतृतीयसूत्रान्ते प्रोक्तमस्तीति "परं बंधंति देवनारयअसंखतिरिनरछंमाससेसाउ" इत्यादिवचसां कथं संवाद इति प्रश्ने, अत्रोत्तरम्-'बंधंति देवनारये' त्यादिवचनं प्रायिकं तेन केषांचिद्देवनारकाणां शेषेऽन्तर्मुहूर्तेऽप्यायुर्बन्धो भवतीति मतान्तरमवसीयते इति न कोऽपि विसंवाद इति। ॥ ३१ ॥ सेन०। (आयुषो बन्धकान् 'कम्म' शब्दे तृतीयभागे दर्शयिष्यते) (आयुर्बन्धकानां कर्मप्रकृतिबन्धः 'कम्मपयडि' शब्दे तृतीयभागे दर्शयिष्यते) (आयुर्बन्धस्थितिरायुर्बन्धकानां कर्मवेदना आयुर्वेदकानां कर्मप्रकृतिबन्धश्च 'कम्म' शब्दे तृतीयभागे दर्शयिष्यते)

आउयसंवट्टय-आयुष्कसंवर्त्तक-पुं०। संवर्त्तनम्-अपवर्त्तनं संवर्त्तः स एव संवर्त्तकः; उपक्रम इत्यर्थः, आयुषः संवर्त्तक आयुःसंवर्त्तकः। आयुष उपक्रमे, स्था०।

(आयुःसंवर्तकमाह)—

दोएहं आउयसंवट्टए पण्णत्ते, तं जहा-मणुस्साणं चेव, पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं चेव २४। (सूत्र-८५)

स्था० ३ ठा० ३ उ०।

आउयसंवेदन-आयुःसंवेदन-न०। आयुःकर्मोदयविपाकाऽनुभवने, भ० ३५ श०।

आउयसदव्वया-आयुस्सद्रव्यता-स्त्री०। आयुः-प्रदेशकर्म तस्य द्रव्यैस्सह मानता-आयुस्सद्रव्यता। जीवस्यायुष्कर्मद्रव्यसहचारितायाम्, "आउयसदव्वयभवे ओघो"। आयुस्सद्रव्यता-ओघजीवितं सामान्यजीवितमिदं च सकलसंसारिणामविशेषेण सर्वदाभावीति। आ० म० १ अ०।

आउयाय-अप्काय-पुं०। एकेन्द्रियसंसारसमापन्नजीवविशेषे, प्रज्ञा० १ पद। भ०। (एतस्य वक्तव्यता 'आउक्काय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गता)

आउर-आतुर-त्रि०। ईषदर्थे, आ-अत्-उरच्। वाच०। ग्लाने, (रोगिणि) स्था० १० ठा० ३ उ०। सू०। विविधदुःखोपद्रुते, (रोगादिपीडिते) सू० १ उ० २ प्रक०। उत्त०। क्षुधादिभिः पीडिते, आ० १ श्रु० १ अ०। अस्वस्थमनसि, "तत्थ तत्थ पुढो पास आतुरा परितावंति" 'तत्थतत्थे' त्यादि-तत्र तत्र तेषु तेषु कारणेषूत्पन्नेषु वक्ष्यमाणेषु शरीरचर्मशोणितादिषु च पृथग्विभिन्नेषु प्रयोजनेषु पश्येति शिष्यचोदना किं तत्पश्येति दर्शयति-मांसभक्षणादिगृद्धाः आतुराः-अस्वस्थमनसः परि-समन्तात्तापयन्तिपीडयन्ति। आचा०। किंकर्त्तव्यतामूढे, "पासिय आतुरए पाणे अप्पमत्तो परिव्वए" (सूत्र १०६ +)। 'पासिय' इत्यादि, स हि भावजागरस्तैर्भावः जागरस्वापजनितैः शारीरमानसैर्दुःखैरातुरान्-किंकर्त्तव्यतामूढान् दुःखसागरावगाढान् प्राणान्-भेदोपचारात् प्राणिनो दृष्ट्वा ज्ञात्वा अप्रमत्तः परिव्रजेत्-उद्युक्तः सन् संयमानुष्ठानं विदध्यात्। आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ०। आकुलतनौ, उत्त० २ अ०। क्वचिदपि स्वास्थ्यमलभमाने सत्याकुले, जी० ३ प्रति० १ अधि०। उत्सुके, सू० १ उ० ३ प्रक०। व्याकुले, आ० १ श्रु० १ अ०। "आउरं लोयमायाए" (सूत्र-१८१ +)। 'आउरं' इत्यादि, लोकं मातापितृपुत्रकलत्रादिकं तमातुरं स्नेहानुषक्ततया वियोगात्कार्यावसादेन वा। यदि वा-जन्तुलोकं कामरोगातुरमादाय ज्ञानेन परिगृहीत्वा परिच्छिद्य। आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ०। क्लिष्टे, "केषाञ्चिद्विषयज्वराकुलमहो" केषाञ्चिज्जीवानां चित्तं-मनः विषया-इन्द्रियाभिलाषा एव ज्वरस्तेन आतुरं-क्लिष्टं मनो यस्य। अष्ट०३२ अष्ट०। दुःस्थे, भ० १६ श० ४ उ०। प्रथमद्वितीयपरीषहाभ्यां जिते, (क्षुत्पिपासापीडिते) चिकित्साक्रियाव्यपेते, मरणचिह्नान्युपलभ्याकुले च। नं०। व्य०। पा०। "आउराण य अणगाइयाणं मच्छमंसाइं उवदिसइ" (सूत्र-२८×) 'आउराणं' तिचिकित्सायामविषयभूतानाम्। विपा० १ श्रु० ७ अ०। (एतस्य बहुवक्तव्यता 'गिलाण' शब्दे तृतीयभागे करिष्यते) आतुरत्वे च। (क्षुत्पिपासाव्याधिभिरभिभूतत्वे) "संकिए सहसागारे, उभयाउरे आवतीसु य" (१०० ×) भावप्रधानश्चायं निर्देशस्ततोऽयमर्थः। व्य०१ उ०। 'संभमभयाउरावइ'' 'आउर' त्ति—भावप्रधानत्वान्निर्देशस्यातुरपीडितत्वं क्षुत्पिपासाद्यैः। जीत०। लुप्तभावप्रत्ययत्वाद्वा। स्था० ६ ठा० ३ उ०। कार्यार्त्तिमं, वाच०। अशक्नुवति, व्य० ४ उ०।

आउरचिन्न-आतुरचीर्ण-त्रि०। आतुरः-चिकित्साया अविषयभूतो रोगी तस्य मर्तुकामस्य पथ्यापथ्यविवेकेन दीय-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

माने मनोज्ञाहारे, उत्त० ८ अ०। ('उरब्भ' शब्दे भावयिष्यते)

आउरपच्चक्खाण-आतुरप्रत्याख्यान-न०। आतुरः-क्रियातीतो ग्लानस्तस्य प्रत्याख्यानमातुरप्रत्याख्यानम्। चिकित्सकक्रियाऽव्यपेतस्य ग्लानस्य प्रत्याख्याने,नं०। आतुरः-चिकित्स्यक्रियाऽव्यपेतस्तस्य प्रत्याख्यानं यत्राध्ययने विधिपूर्वकमुपवर्ण्यते तदातुरप्रत्याख्यानम्। उत्कालिकश्रुतविशेषे च। विधिश्चातुरप्रत्याख्यानदानविषये चूर्णिकृतैवमुपदर्शितः-" गिलाणं किरियातीयं नाउं गीयत्था पच्चक्खावेंति दिणे दिणे दव्वहासं करेत्ता अंते य सव्वदव्वदायणाए भत्तंवरग्गं जाणि (ण) त्ता भत्ते वि (नि) तिएहस्स भवचरिमपच्चक्खाणं कारवेंति " नं० ४३ सूत्र। पा०।

आउरपडिसेवणा-आतुरप्रतिसेवना-स्त्री०। प्रतिसेवनाविशेषे, " दप्प-पमायऽणाभोगे, आउरे आवईसु य "। आतुरे-ग्लाने सति तत्प्रतिजागरणार्थमिति भावः, । अथवा-आत्मन एवातुरत्वे सति लुप्तभावप्रत्ययत्वादयमर्थः-क्षुत्पिपासाव्याधिभिरभिभूतः सन् यां करोति। उक्तं च-" पढमबीयद्दुवाहिओ व जं सेव आउराए साइत्ति "। स्था० १० ठा० ३ उ०। (विशेषतः व्याख्या 'पडिसेवणा' शब्दे पञ्चमभागे द्रष्टव्या)

आउरभेसज्जीय-आतुरभैषज्यीय-न०। अवितर्कितसम्भवितुल्ये यादृच्छिकन्याये, आचा०(यथा-आतुरभवनभैषज्योपकारश्चाबुद्धिपूर्विकैव, नाऽऽतुरस्य बुद्धिरस्ति मह्यं भैषज्यमुपकरिष्यति नापि भैषज्यस्यैतादृशी बुद्धिरस्ति आतुरायोपकरिष्यामीति, अथ तत्तथैव भवत्येवं सर्वं जातिजरामरणादिकं लोकं यादृच्छिकमिति यदृच्छावादिनः)। आचा०१ श्रु० १ अ० १ उ०।

आउरसरण-आतुरशरण-न०। दोषातुरस्याश्रयदाने, दश० ३ अ०।

आतुरस्मरण-न०। क्षुधाद्यातुराणां पूर्वोपभुक्तस्मरणे, दश० " आउरस्सरणाणि य " ॥ ६ ॥ तथाऽऽतुरस्मरणानि च क्षुधाद्यातुराणां पूर्वोपभुक्तस्मरणानि च अनाचरितानि। आतुरशरणानि वा दोषातुराश्रयदानानि। दश०३ अ०। रोगादिपीडितस्य हा तात! हा मातः! इत्यादिरूपे स्मरणे च। "आउरे सरणं तिगिच्छियं च तं परिणाय परिव्वए स भिक्खू" 'आउरे सरणं' ति-सुब्व्यत्ययादातुरस्य रोगादिपीडितस्य शरणं-स्मरणं हा तात! हा मातः! इत्यादिरूपम्। उत्त० १५ अ०।

आउल-आकुल-त्रि०। व्याप्ते, औ०। ज्ञा०। "कलुसाऽऽउलं चित्तं" कलुषयन्ति आत्मानमिति कलुषाः-कषायास्तैराकुलं-व्याप्तं यत्तथोच्यते। आव० ४ अ०। जनाऽऽकीर्णे, बृ० १ उ०। प्रचुरे, भ० १ श० ६ उ०। क्षुब्धे, " जत्थऽत्थमिए अणाउले (१४×)" भिक्षुर्यत्रैवास्तमुमेति सविता; तत्रैव कायोत्सर्गादिना तिष्ठतीति। यत्रास्तमितस्तथाऽनाकुलः-समुद्रचक्रकादिभिः परीषहोपसर्गैरक्षुभ्यन्। सूत्र० १ श्रु० १ अ०। अभिभूते, " तह तिव्वकोहलोहाउलस्स " तीव्रावुत्कटौ च तौ क्रोधलोभौ च ताभ्यामाकुलोऽभिभूतस्तस्य। आव०४ अ०। व्याकुले, (विह्वले) आ० म० १ अ०। व्यग्रे, आव० ४ अ०। व्याप्ते, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०। संकीर्णे च। " किमिजालाउलसंसत्ते " (सूत्र-६७+) कृमिजालैराकुलैः-व्याकुलैराकुलं वा संकीर्णं यथा भवतीत्येवं संसक्तं यत्तथा । आ० १ श्रु० ८ अ०। " अट्ठारसवंजणाउलं " (सूत्र-१०६×) जं० प्र० २० वाहु०। राजगृहाक्रन्दजनाकुलवदाकुलः। भावस्कन्धविशेषे च। अनु०।

आउलतर-आकुलतर-त्रि०। अतिशयेनाकुले, तथा च षष्ठपृथिवीनरकापेक्षया सप्तमपृथिवीनारकाणां वर्णनमुपक्रम्योक्तम्-" णो आउलतरा चेव " (सूत्र-४७५×) 'आउलतरा चेव' त्ति-अतिकर्कश्यतया य आकुला-नारकलोकास्तेषामतिशयेन योगादाकुलतराः। स्था० ३ श० ४ उ०।

आउलमण-आकुलमनस्-त्रि०। आकुलं व्यग्रं मनः-अन्तःकरणं यस्य स तथा। व्यग्रान्तःकरणे, "तप्पडियाराउलमणस्स" तत्प्रतीकारे-वेदनाप्रतीकारे चिकित्सायामाकुलं-व्यग्रं मनो यस्य स तथा। आव० ४ अ०।

आउलमाउला-आकुलाऽऽकुला-स्त्री०। निद्राप्रमादाभिभूतस्य मूलगुणानामुत्तरगुणानां वा या नानाविधोपरोधक्रिया तदात्मिकायाम्, अथवा-आकुलं-नानाविधरूपं विवाहसंगमादिषु दृष्टमाचरितं वा पुनरपि आकुलास्तादृशा बहवो दृष्टा व्यापारास्तदात्मिकायां स्वप्नान्तिकक्रियायाम्, आव०। सुप्तस्य दैवसिकमतिचारमधिकृत्योक्तम्-

आउलमाउलाए सोयणवत्तियाए इत्थीविप्परियासिए दिट्ठिविप्परियासियाए मणविप्परियासियाए पाणभोयणविप्परियासियाए जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ॥ (सूत्र)

'आउलमाउलाए' त्ति-आकुलाकुलया-स्त्र्यादिपरिभोगविवाहयुद्धादिसंस्पर्शननानाप्रकारया स्वप्नप्रत्ययया स्वप्ननिमित्तया विराधनया योऽतिचारः। आव० ४ अ०। " आउलमाउलताए सोवणंतियाए निद्दप्पमायाभिभूतस्स मूलगुणाणं उत्तरगुणाणं वा उवरोधकिरिया जा णाणाविधा सोवणंतिया सा आउलमाउला॥ अहवा-आउलं-णाणाविहं रूवं विवाहसंगमादिसु दिट्ठं आयरितं वा पुणो वि आउला तारिसा बहवो वारा दिट्ठा एसा आउलमाउला॥ केई-पुण-आउलमाउलाए सोयणवत्तियाए एतं आलावगं एत्थ जातो सेसाओ आउलमाउलाओ॥ सोमणंतियाओ इत्थी दिट्ठाओ निद्दापमादाभिभूतेण तस्स मिच्छा मि दुक्कडंति पुव्वभणितं॥ आ० चू०४ अ०।

आउलवाय-आकुलवाद-पुं०। परस्परसंकीर्णवादे, आकुलवाद इति। सदसत्त्वयोः परस्परसंकीर्णवादे, अने० १ अधि०।

आउलि-आतुलि-स्त्री०। पीतपुष्पके, (तडउडा) नामके वनस्पतिजातिविशेषे, "तडउडाकुसुमेइ वा"तडउडा-आउली। आ० म०१ अ०। आउलिविशेष इत्यर्थः। स्था० ४ ठा०१ उ०। एतत्काष्ठनिष्पादिते दन्ते दोषा भवन्ति। आउलिसत्कदन्तकाष्ठे केचिद्बहु दोषं वदन्ति तत्सत्यमसत्यं वा तथा बब्बरीबब्बूलदन्तकाष्ठस्य आउलिदन्तकाष्ठे जीवाः किमल्पा बहवस्तु- त्या वेति प्रज्ञापनायां प्रथमपदे गुच्छाधिकारे आउलिसत्कमूलकन्दस्कन्धत्वक्शाखाप्रवालेषु प्रत्येकमसंख्येयजीवा-

स्मकता प्रोक्ताऽस्ति तदनुसारेण बदरीजम्बूलयोरपि यद्यपि स्थानपसंख्याता जीवाः संभाव्यन्ते; नतु न्यूनाधिकजीवाः ॥ ४१ ॥ सेन० ।

आकुलि-पुं० । आ कुल इन् । व्याकुलत्वे, वाच० ।

आउलीकरण-आकुलीकरण-न० । प्रचुरीकरणे , भ० ।
जीवानां संसाराकुलीकरणकारणम् लघुत्वकारणप्रतिपाद्योक्तम्—

कह णं भंते ! जीवा लहुयत्तं हव्वमागच्छंति ?, गोयमा! पाणाइवायवेरमणेणं०जाव मिच्छादंसणसल्लवेरमणेणं एवं खलु गोयमा ! जीवा लहुयत्तं हव्वमागच्छंति एवं संसारं आउलीकरेंति । (सूत्र-७२×)

' एवं आउलीं करेंति ' त्ति-इहैवंशब्दः पूर्वोक्ताभिलापसंसूचनार्थः, स चैवम्-"कहं णं भंते ! जीवा संसारं आउलीकरेंति ?, गोयमा ! पाणाइवाएणंमि " त्यादि , । एवं उत्तरत्रापि, तत्र ' आउलीकरेंति ' त्ति-प्रचुरीकुर्वन्ति; कर्मभिरित्यर्थः । भ० १ श० ६ उ० ।

आउलीभूय-आकुलीभूत-त्रि० । आ-कुल-च्वि । भूते क्त । स्वयं तथाभूते , वाच० । आ० म० १ अ० ।

आउवज्जिय-आयुर्वर्जित-त्रि० । आयुष्कर्मविरहिते, । पञ्चा० १६ विव० ।

आउविज्जा-आयुर्विद्या-स्त्री० । वैद्यके पापश्रुतविशेषे , आव० ४ अ० ।

आउविवागदसा-आयुर्विपाकदशा-स्त्री० । प्रतिसमयभोगत्वेनायातीत्यायुः विपचनं विपाकः; आयुषोऽपरिहाणिरित्यर्थः । अनुभागेन युक्तो विभागो दशा इत्युच्यते आयुर्विपाकस्य दशा आयुर्विपाकदशा । आयुर्विपाकविभागे, " जं जम्मि काल आउयं उक्कोसं दसधा विभत्तं दस आउविवागदसा भवन्ति " ततो य दसाओ दसवरिसपमाणाओ वरिससयाउसो भवन्ति । नि० चू० ११ उ० । (दशाभेदादिकम् ' दसा ' शब्दे चतुर्थभागे वक्ष्यते)

आउव्वेय-आयुर्वेद-पुं० । आयुः-जीवितं तद्विदन्ति-रक्षितुमनुभवन्ति चोपक्रमरक्षणेन विदन्ति वा लभन्ते यथाकालं तेन तस्मात्तस्मिन्वेत्यायुर्वेदः । चिकित्साशास्त्रे, स्था० ८ ठा० ३ उ० । वैद्यकशास्त्रे , विपा० १ श्रु० ७ अ० ।

तच्चाऽष्टविधम्—

अट्ठविहे आउव्वेए पण्णत्ते, तं जहा-कुमारभिच्चे १, कायतिगिच्छा २, सालाइयं ३, सल्लहत्ता ४, जंगोली ५, भूयविज्जा ६, खारतंते ७, रसायणे ८ । (सूत्र-६११)

' कुमारभिच्च' ति-कुमाराणां-बालकानां भृतौ-पोषणे साधुः कुमारभृत्यं तद्धि तन्त्रं कुमारभरणक्षीरदोषसंशोधनार्थं दुष्टस्तन्यनिमित्तानां व्याधीनामुपशमनार्थं चेति १ । कायस्य ज्वरादिरोगग्रस्तस्य चिकित्साप्रतिपादकं तन्त्रं कायचिकित्सातन्त्रं; तद्धि मध्याङ्गसमाश्रितानां ज्वरातीसाररक्तशोषोन्मादप्रमेहकुष्ठादीनां शमनार्थमिति २ । शलाकायाः कर्म शालाक्यं तत्प्रतिपादकं तन्त्रं शालाक्यं तद्धि ऊर्ध्वमनुगतानां रोगाणां श्रवणवदननयनघ्राणादिसमाश्रितानामुपशमनार्थमिति ३ । शल्यस्य हत्या-हननम्-उद्धारः शल्यहत्या तत्प्रतिपादकं तन्त्रमपि शल्यहत्येत्युच्यते, तद्धि तृणकाष्ठपाषाणपांसुलोहलोष्ठास्थिनखप्रायोऽङ्गान्तर्गतशल्योद्धरणार्थमिति ४ । 'जागौली'ति-विषविघाततन्त्रम् ; अगदतन्त्रमित्यर्थः । तद्धि सर्पकीटलूतादष्टविषविनाशार्थं विविधविषसंप्रयोगोपशमनार्थं चेति ५ । भूतादीनां निग्रहार्थं विद्यातन्त्रं भूतविद्या साहि देवाऽसुरगन्धर्वयक्षराक्षसपितृपिशाचनागग्रहाद्युपसृष्टचेतसां शान्तिकर्मबलिकरणादिग्रहोपशमनार्थमिति ६ । क्षारतन्त्रमिति—क्षरणं क्षारः शुक्रस्य तद्विषयं तन्त्रं यत् तत्तथा, इदं हि सुश्रुतादिषु वाजीकरणतन्त्रमुच्यते । स्था० ८ ठा० ३ उ० । तथा च विपाकश्रुते-धन्वन्तरिवर्णने-" अट्ठंगाऽऽउव्वेदपाढए- तं जहा-कोमारभिच्चं १, सालागे २, सल्लगहत्ते ३, कायतिगिच्छा ४, जंगोले ५, भूयवेज्जे ६, रसायणे ७, वाजीकरणे ८ । (सूत्र-२८+) । विपा० १ श्रु० ७ अ० । अवाजिनो वाजीकरणं रेतोवृद्ध्या अश्वस्येव करणमित्यनयोः शब्दार्थः सम एवेति तत्तन्त्रं हि अल्पक्षीणविशुष्करेतसामाप्यायनप्रसादोपजननिमित्तं प्रहर्षजननार्थमिति ७ । रसः-अमृतरसस्तस्यायनं-प्राप्ती रसायनं तद्धि वयःस्थापनमायुर्मेधाकरणं रोगापहरणसमर्थं च तत्प्रतिपादकं शास्त्रं रसायनतन्त्रमिति । कृतरसायनश्च देववच्चिररूपक्रमायुर्भवति ८ । स्था० ८ ठा० ३ उ० ।

आउस (स्स)-आक्रोश-पुं० । "मृतोऽसि त्वम्" इत्यादिभिरसभ्यवचनरूपैः शापैरभिशापे, " अप्पेगइए आउसिहिंति । (सूत्र-५५६+) आक्रोशान्दास्यति, भ० १५ श० । " भंते ! अहं णं पुरिसं आउसेज्जा वा" (सूत्र-४२५) 'आउसेज्जा व' त्ति-आक्रोशयामि वा-मृतोऽसि त्वमित्यादिभिः शापैरभिशपामि । उपा० ७ अ० । दण्डमुष्ट्यादिभिर्हननव्यापारे च । सूत्र० ।

परतीर्थिकानुद्दिश्योक्तम्—

रागदोसाभिभूऽयप्पा , मिच्छत्तेण अभिद्दुता ।
आउस्ससरणं जंति, टंकणा इव पव्वयं ॥ १८ ॥

' रायद्दोस्सा ' इत्यादि , रागश्च प्रीतिलक्षणो द्वेषश्च तद्विपरीतलक्षणस्ताभ्यामभिभूत आत्मा येषां परतीर्थिकानां ते तथा मिथ्यात्वेन विपर्यस्तावबोधेनातत्त्वाध्यवसायरूपेणाभिद्रुता व्याप्ताः सद्युक्तिभिर्वादं कर्तुमसमर्थाः क्रोधानुगा आक्रोशान्-असभ्यवचनरूपांस्तथा दण्डमुष्ट्यादिभिश्च हननव्यापारं यान्ति-आश्रयन्ते । अस्मिन्नेवार्थे प्रतिपाद्य दृष्टान्तमाह-यथा टङ्कणा-म्लेच्छविशेषा दुर्जया यदा परेण बलिना ऽनीकादिनाभिद्रूयन्ते तदा ते नानाविधैरप्यायुधैर्योद्धुमसमर्थाः सन्तः पर्वतं शरणमाश्रयन्त्येवं तेऽपि कुतीर्थिका वादपराजिताः क्रोधाद्युपहतदृष्टय आक्रोशादिकं शरणमाश्रयन्ते । न च ते इदमाकलय्य प्रत्याकोष्टव्याः , तद्यथा-"अक्कोसहणणमारणधम्मब्भंसाण बालसुलभाणं । लाभं मन्नइ धीरो, जहुत्तराणं अभावंमि" ॥ १ ॥ सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

आउसंत-आजुषमाण-त्रि० । प्राकृतत्वेन तिङ्व्यत्ययः । प्रीतिप्रवणमनसि , स० १ सम० । " सुयं मे आउसंतेणं " श्रवणविधिमर्यादया गुरूनासेवमानेन । स्था० १ ठा० । उत्त० । दशा० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आयुष्मत्-त्रि० । आयुरस्यास्तीति । दशा० १ अ० । दश० । जीवति, (प्राणधारणधर्मवति) स्था० १ ठा० । चिरजीविनि , उत्त० २ अ० । आयुः-जीवितं तत्संयमप्रधानतया प्रशस्तं प्रभूतं वा विद्यते यस्यासावायुष्मान् । स्था० १ ठा० । चिरप्रशस्तजीविते , भ० १६ श० ६ उ० । चिरायुः-(दीर्घायुः) आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । लक्षणगुणवति च शिष्यादौ, स्था० १ ठा० । सकलगुणाधारभूतत्वेनायुश्च प्रधानो गुणः सति तस्मिन्नव्यवच्छित्तिभावात् । दशा० १ अ० । दश० । एतच्च शिष्यामन्त्रणे पुत्रादेरामन्त्रणे च प्रयुज्यते । उत्त० २ अ० । दश० । दशा० । " अयमाउसो " (सूत्र-१०७+) आयुष्मन्निति पुत्रादेरामन्त्रणम् । भ० २ श० ५ उ० । दशा० । परार्थप्रवृत्त्यादिना प्रशस्तमायुर्द्धारयति ; न तु मुक्तिमवाप्यापि तीर्थनिकारादिदर्शनात्पुनरिहायातेनाभिमानादिभावतोऽप्रशस्तमिति । तीर्थकरे , पुं० । उत्त० २ अ० । दशा० । स्था० । यथोच्यते कैश्चित्-"ज्ञानिनो धर्मतीर्थस्य , कर्त्तारः परमं पदम् । गत्वा गच्छन्ति भूयोऽपि, भवं तीर्थनिकारतः ॥ १॥" एवं ह्यनुमूलितरागादिदोषत्वात्तद्वचसोऽप्रमाण्यमेव स्यान्निःशेषोन्मूलनं हि रागादीनां कुतः पुनरिहागमनसम्भवः । स्था० १ ठा० । "सुयं मे आउसंतेणं भगवया एवमक्खायं " (सूत्र-१×) । आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । स० । दश० । दशा० । विष्कुम्भावधिके तृतीये योगे , पुं० । विष्कुम्भः प्रीतिरायुष्मान् । ज्यो० ति० । वाच० ।

आउसुह-आयुःशुभ-न० । तीर्थकरादिसम्बन्धिनि शुभे आयुष्कर्मणि. दश० १ अ० ।

आउसोय-अप्शौच-न० । अद्भिः शौचमप्शौचम् । प्रक्षालनात्मके शौचभेदे, " जलशौचं तु पञ्चमम् " इति । स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

आउस्सिय-आवश्यक-न० । अवश्यं भावः मनोज्ञा० । वुञ् । अवश्यंभावे, प्रज्ञा० ३६ पद । आ० म० ।

आउस्सियकरण-आवश्यककरण-न० । आवश्यकेन-अवश्यंभावेन करणमावश्यककरणम् केवलिसमुद्घातात्पूर्वं केवलिनामवश्यकर्त्तव्ये व्यापारविशेषे, तथाहि-समुद्घातकेऽपि कुर्वन्ति केचिच्च न कुर्वन्ति इदमावश्यककरणं सर्वेऽपि केवलिनः कुर्वन्तीति (अत्र विशेषः ' आउज्जीकरण ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गतः ।) प्रज्ञा० ३६ पद । आ०.म० । वाच० ।

आउह-आयुध-न० । आयुध्यतेऽनेन । रा० । जी० । आयुध् करणे घञर्थे कः । वाच० । अर्शआद्यच्च । औ० । ज्ञा० । प्रहरणे. विशे० १८६६ गाथा । "गहियाउहप्पहरणाणं"(३१ सूत्र-) गृहीतान्यायुधानि खड्गादीनि प्रहरणाय यैस्ते तथा तेषाम् । अथवा-आयुधान्यक्षेप्याणि, प्रहरणानि तु क्षेप्याणीति विशेषः । औ० । ज्ञा० । शस्त्रमात्रे, तस्य भेदाः समासतस्त्रिधा-प्रहरण-हस्तमुक्त-यन्त्रमुक्तभेदात् । तत्र हस्तस्थितैर्यैः प्रहियते तानि प्रहरणानि यथा खड्गादीनि, हस्तमुक्तानि चक्रादीनि, यन्त्रमुक्तानि शरादीनि, तेषां सर्वेषां युद्धसाधनत्वादायुधत्वम् । वाच० ।

आउहघर-आयुधगृह-न० । प्रहरणशालायाम् , जं० ३ वक्ष० ।

आउहघरसाला-आयुधगृहशाला-स्त्री० । प्रहरणगृहशालायाम् , जं० ३ वक्ष० ।

आउहघरिय-आयुधगृहिक-पुं० । आयुधाध्यक्षे, । " तए णं से आउहघरिए " (सूत्र-४३+) ततः-चक्ररत्नोत्पत्तेरनन्तरं सः-आयुधगृहिको यो भरतेन राज्ञाऽऽयुधाध्यक्षः कृतोऽस्तीति गम्यम् । जं० ३ वक्ष० ।

आउहागार-आयुधागार-न० । षष्ठी ६ त० । प्रहरणशालायाम् , औ० । ज्ञा० । (प्रहरणकोशे), स्था० ६ ठा० ३ उ० । तच्च राज्ञां प्रहरणस्थापनार्थं गृहम् । वाच० ।

आउहि (न्)-आयुधिन्-त्रि० । आयुधं प्रहरणमस्त्यस्य । शस्त्रधारके, वाच० । विशे० १८६६ गाथा ।

आऊसिय-आयूषित-त्रि० । आ-यूष्-क्त । वाच० । प्रविष्टे, " आऊसियवयणगंडदेसं " (सूत्र-६६×) 'आऊसिय' त्ति-प्रविष्टौ वदने गण्डदेशौ-कपोलभागौ यस्य तत्तथा । संकुचिते, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । " आऊसियअक्खचम्मओट्ठगंडदेसं " ' आऊसिय ' त्ति-संकुचितं यदक्षचर्म्म जलापकर्षणकोशस्तद्वत् ' उट्ठ ' त्ति-अपकृष्टौ-अपकर्षवतौ संकुटितौ गण्डदेशौ यस्य स तथा तम् । ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

आमूषित-त्रि० । संकुटिते, " आऊसियअक्खचम्मओट्ठगंडदेसं" अन्ये त्वाहुः-आमूषितानि-संकुटितानि अक्षाणि-इन्द्रियाणि चर्म्म ओष्ठौ च गण्डदेशौ च यस्य स तथा तम् । ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

गाहा—

रक्खाभूसणहेउं, भक्खणहेउं च मट्टियागहणं ।

दीहाहिभक्खइए, इमाए जतणाए णायव्वं ॥ १७० ॥

दीहादिणा खइए मंतेणाभिमंतिऊण कडगबंधेण रक्खा कज्जति, मट्टियं वा मुहे बेइडंको आऊसिज्जति-आलिप्पति वा । नि० चू० १ उ० ।

आए(दे)ज्ज-आदेय-त्रि० । आ-दा-यत् । आकाङ्क्षणीये, जं०२ वक्ष० । उपादेये, जी०३ प्रति०४ अधि० । प्राह्य, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० । " आएज्जलदहसुविभत्तजायसोयसोभत्तरुइलरोमराई" । आदेया-दर्शनपथप्राप्ता सती उपादेया-सुभगा । जी० ३ प्रति० ४ अधि० । आदेया-दर्शनपथमुपगता सती पुनः पुनराकाङ्क्षणीया । जं० २ वक्ष० ।

आए (दे) ज्जवक्क-आदेयवाक्य-पुं० । ग्राह्यवाक्ये , सूत्र०

से सुद्धसुत्ते उवहाणवं च ,

धम्मं च जे विंदति तत्थ तत्थ ।

आदेज्जवक्के कुसले वियत्ते,

स अरिहइ भासिउं तं समाहिं ॥ २७ ॥

स-सम्यग्दर्शनस्यालूषको यथावस्थितागमस्य प्रणेताऽनुविचिन्त्य भाषकः शुद्धमवदानं यथावस्थितवस्तुप्ररूपणतोऽध्ययनतश्च सूत्रं-प्रवचनं यस्यासौ शुद्धसूत्रः । तथोपधानं-तपश्चरणं यद्यस्य सूत्रस्याभिहितमागमे तद्विद्यते यस्यासावुपधानवान् , तथा धर्मं श्रुतचारित्राख्यं यः सम्यक् वेत्ति विदन्ते वा सम्यक् लभते तत्र तत्रेति य आज्ञाग्राह्योऽ

र्थः स आज्ञयैव प्रतिपत्तव्यो हेतुनस्तु सम्यग्घेतुना । यदि वा-स्वसमयसिद्धोऽर्थः स्वसमये व्यवस्थापनीयः पर(समय) सिद्धश्च परस्मिन्। अथवा- उत्सर्गापवादयोर्व्यवस्थितोऽर्थस्ताभ्यामेव यथास्वं प्रतिपादयितव्य एतद्गुणसंपन्नआदेयवाक्यो-ग्राह्यवाक्यो भवति । सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

आए (दे) ज्जणाम-आदेयनाम-न० । नामकर्मभेदे, प्रव० २१६ द्वार । तत्र-" आएज्जा सव्वलोयगिज्झवओ" (५० +) आदेयाद् देयनामोदयेन सर्वलोकेन-समस्तजनेन ग्राह्यमादेयं वचो-वचनं यस्य स तथा । कर्म०१ कर्म०। यथा यदुदयवशात् यच्चेष्टते भाषते वा तत्सर्वं लोकः प्रमाणीकरोति दर्शनसमनन्तरमेव च जनोऽभ्युत्थानादि समाचरति तदादेयनाम । पं० सं० ३ द्वार । श्रा० । कर्म० ।

आए (दे) ज्जवयण-आदेयवचन-त्रि० । ग्राह्यवचने , दशा० ४ अ० । उत्त० ।

आए (दे) ज्जवयणया-आदेयवचनता-स्त्री० । सकलजनग्राह्यवाक्यतारूपे वचनसम्पद्भेदे , दशा० ४ अ० । स्था० ।

आए (दे) स-आदेश-पुं० आ-दिश् । भावे घञ् । उपदेशे, आम्नाये , वाच० । आदिश्यते-आज्ञाप्यते संभ्रमेण परिजनो यस्मिन्नागते तदातिथेयाय । तदासनदानादिव्यापारे , स आदेशः । सूत्र० २ श्रु० १ अ० । आचा० । उत्त० । आदिशतीत्यादेशः । आयासकरे , व्य० ६ उ० । अभ्यर्हिते, उत्त० ६ अ० । नायकादौ प्राघूर्णके , उत्त० ६ अ० । " आएसो पाहुणगं " । आदेशं करोतीत्यादेशः । नि० चू० १ उ० । ध० । आचा० । आ० म० । "सागारियस्स आएसे" (सूत्र-१-२-३-४-+) " सागारिकपिण्डस्य प्रतिपादकं यत् आदिमं सूत्रं तस्य संबन्धः, अनेन संबन्धेनायातस्यास्य व्याख्या-सागारिको नाम-शय्यातरस्तस्याऽऽदेश आयासकर आदेशः। यदि वा-आदेशितः-आदेशः । अथवा-आदेशत इति शब्दसंस्कारस्तस्य व्युत्पत्तिमग्रे वक्ष्यामः । स च नायको मित्रं प्रभुः परतीर्थिको वा द्रष्टव्यः । व्य० ६ उ० ।

आदेशमनापृच्छ्य त्रिरात्रात्परं यतः प्रायश्चित्तं संवासवक्तव्यता—

जे भिक्खू बहियावासियं आएसं परं तिरायाउ अवकालेत्ता संवसावेइ संवसावेंतं वा साइज्जइ ॥ १४ ॥

आगतो आदेशं करोतीति आएसः, प्राघूर्णकमित्यर्थः । सो य अण्णगच्छवासी बहियावासी-भण्णति । तमागतं परतो तिरायतो परतो 'तिण्हदिणाणं' ति-अविफालियविप्फलणा णाम-पिपुच्छणा किं णिमित्तं आगता अणवज्जंतो वा भवंत ! कतो आगया, कहिं वा वच्चह, एवं अविफालेंतस्स चउत्थदिणे चउगुरुं भवति, आणादिणो य दोसा ।

गाहा—

बहियासगच्छवासी, आदेसं आगयं तु जो संतं ।

तिण्हदिवसाण परतो, ण पुच्छती संवसाणादी ॥१५७॥

गतार्था । गतो आरतो अविफालेंतस्स दोसा ।

गाहा—

पढमदिण बितिएँ ततिए, लहुगुरुलहुगा य सुत्त तेण परं ।

संविग्गमणुण्णितरे, व होंतदपुट्ठे इमे दोसा ॥ १५८ ॥

पढमदिणे अविफालेंतस्स मासलहुं । बितियदिणे मासगुरुं । ततियदिणे चउलहुं । ' तेण परं' ति-चउत्थदिणे सुत्तणिवातो; चउगुरुमित्यर्थः । संविग्गो उज्जमंतो मणुण्णो संभवति तो पासत्थादिणो वा एए जइ अपुच्छिते संवासेति तो ता इमे दोसा भवंति ।

गाहा—

उवचरगअहिमरे वा, छेवतितो तेण मेधुणऽट्ठी वा ।

रायादवकारी वा, पउत्त अत्ता व तेणो वा ॥ १५६ ॥

कत्ताइ सो तेण वेसग्गाहेण उवचरो-भंडितो गच्छति, अहिमरो-यदि गच्छति छवति-असंविग्गो हि तो भण्णति संपक्क परिक्खातेणिंतुमागतो तेणगो वा गच्छति, मेहुणं सेवेतुमागतो मेहुणट्ठी वा गच्छति, रण्णो वा अवकारं काउमागतो, रण्णो वा अवकारकारणाए गच्छति, वा विकप्पे आयरियस्स वा उदाइमारकवत् । भावे ' तेणो' सिद्धं ताव हरणट्ठताए केणति पउत्तो आगतो, अप्पणा वा, गोविंदवाचकवत् । एवमादिदोसा भवति अपुट्ठ पुच्छितो वा इमं भणे ।

गाहा—

उवसंपयावराहे, कज्जे कारणिएँ अट्ठजाते वा ।

बहिताउ गच्छवासि-स्साऽऽदेसेण एवमादीहिं ॥१६०॥

कज्जे भत्तपरिण्णा, गिलाण राया य धम्मकहि वादी ।

छम्मासा उक्कोसा, तेसिं तु वइक्कमे गुरुगा ॥ १६१ ॥

तुब्भे चेव उवसंपज्जणियव्वा आगतो,अवराहाऽऽलोयणं वा दायणं वा दाहामि त्ति आगतो, कुलगणसंघकज्जेण वा आगतो, असिवादीहिं वा कारणेहिं आगतो, अट्ठजायणिमित्तेण वा आगतो इसो बहिया गच्छवासी विप्फालितो एवमादीकारणं दीवेज्जा आयरिओ वि विप्फालितो, एवमाइकारणं सुहं जाणंति कारणं तिण्हदिणाणं परतो न विप्फाले आलोयणं वा न पडिच्छे, कुलगणसंघकज्जेण आयरिओ वा वडो न विप्फालेति, भत्तपरिभत्ती अणसणोवचिट्ठो तत्थ वा वाउलो, गिलाणकज्जेण वा वडो दिणं वा सव्वं, रण्णो धम्ममाइक्खति, परवादिणा वा सद्धिं वादं करेति, एवमादिकारणेहिं तिण्हदिणाणं परतो अविफालेंतो विसुद्धो, उक्कोसेण जाव छम्मासा । छम्मासातिक्कमपढमदिणे अविफालेंतस्स च गुरुगा ।

गाहा—

आसेण पडिच्छावे, तस्साऽसति संतं पडिच्छते रत्तिं ।

उत्तरवीमंसासुं, खिप्पो द खिप्पिं पि ण पडिच्छे ॥१६२॥

तिरातिक्कमे अण्णं वि आलोयणं'पडिच्छावे'ति-अण्णस्स वा आलोयणारीहयस्साऽसति सयमेव 'रातो' पडिच्छति अह एसो वि परवादुत्तरवीमंसाए वा वडो दिवा वादकारणेण खिप्पो वीमंसंता एतो वि ण पडिच्छति एवं छम्मासा एत्ता छम्मासं ते वि अण्णं पडिच्छावति एसेव भावत्यर्थः ।

गाहा—

दोहिं तिहिं व दिणेहिं, जतिअच्छति तो न होति पच्छित्तं ।

तेण परमणुण्णवणा, कुलाइँ रण्णो व दीवेंति ॥ १६३ ॥

छण्हं मासाणं परतो दोहिं तिहिं कज्जं ण समप्पति तो कुलगणसंघस्स रण्णो वा णिवेदेति जेहिं वा वडो भविस्सामि तेण णागमिस्सं कारणेण विप्फालेज्जा ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाहा—

वितियपदमणप्पज्झे, अंतगणादागयं ण विप्फाले ।

अप्पज्झं च गिलाणं, अच्छितुकामं च वयंतं ॥ १६४ ॥

अणवज्झो ण विफालेति, ण विफालिज्जति वा, अवज्झो गिलाणेण पुच्छिज्जति गिलाणं वा वड्डो वा सो वा आदेसो । गिलाणो ण पुच्छिज्जति गिलाणं वा वड्डो वा आएसो न पुच्छिज्जति । अहवा-तेण अपुच्छिएण चेव कहियं,जहा-तुब्भ सगासे अच्छिउकामो आगतो, अहवा-अपुच्छिएण चेव कहियं इहाहं वसितुं इमिणो कारणेण गच्छामि चेव,' एवं अविफालंतो सुद्धो ।

सूत्रम्—

जे भिक्खू साहिगरणं अविउसवियं पाहुणगं अकडपायच्छित्तं परं तिरायाओ विप्फालियं अविप्फालियं संभुंजइ संभुंजंतं वा साइज्जइ ॥ १५ ॥

'जति' णिद्देसे, भिक्खू-पुव्वावणितो, 'सह'-अधिकरणे, कषायभावशुभभावाधिकरणसहितेत्यर्थः । विविधं विविधेहिं वा पगारेहिं उसवियं-उवसामियं किं तं पाहुडं; कलहमित्यर्थः । ण वि ओसवियं अविओसवियं पाहुडं तंमि पाहुडकरणे जं पच्छित्तं भंडं जेण सो कडपच्छित्तो अ, मा, नो, ना, प्रतिषेधे, । तत्कृतं प्रायश्चित्तमकृतप्रायश्चित्तं-जो तं संभुजणसंभोएण संभुंजति । एगमंडलीए संभुंजति त्ति वुत्तं भवति । अहवा-दाणग्गहणे संभोएणं भुंजति, तस्स चउगुरुगा, आणादिणो य दोसा । नि० चू० १० उ० । आज्ञापने, बृ० १ उ० ३ प्रक० । स्था० । आज्ञायाम् , ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० । आदेशिते, आदिश्यते-सत्कारपुरस्सरमाकार्य्यत इत्यादेशः इति व्युत्पत्तेः । व्य० ६ उ० । आदेशनमादेशः । उपचारे, (व्यवहार) । स्था० ४ ठा० २ उ० । विशे० । आ० म० । उपचारेऽर्थे, (आदेशवक्तव्यता ' आएससव्व ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते) उद्गमदोषविशेषस्यौद्देशिकस्य तृतीये भेदे च । स च निर्ग्रन्थशाक्यतापसगैरिकाजीविकानां श्रमणानां कृते चादेशाख्यमिति । आदिश्यते-ज्ञाप्यते इत्यादेशः । (कर्मकरादिके) यः कस्याँचित् क्रियायां नियोज्यते कर्मकरादिः । आचा० २ श्रु० २ चू० ६ अ० । प्रकारे, नि० चू० १ उ० । " गहियाऽगहियम्मि आदेसे " (८२ ×) गृहीतागृहीतविषये आदेशः-प्रकारश्चतुर्भङ्ग्यात्मकः । व्य० २ उ० ।

दव्वओ १, खेत्तओ २, कालओ ३, भावओ ४ । दव्वओ णं आभिणिबोहियनाणी आएसेणं सव्वदव्वाइं जाणइ, पासइ । खेत्तओ णं आभिणिबोहियनाणी आएसेणं सव्वखेत्तं जाणइ, पासइ । एवं कालओ, भावओ वि । (सूत्र-३२१ +)

आदेशः-प्रकारः सामान्यविशेषरूपस्तत्रादेशेनोघतो द्रव्यमात्रतया नतु तद्गतसर्वविशेषापेक्षयेति भावः । अथवा-देशेन श्रुतपरिकर्मिततया सर्वद्रव्याणि—धर्मास्तिकायादीनि जानाति अवायधारणापेक्षयाऽवबुध्यते; ज्ञानस्यावायधारणारूपत्वात् । भ० ८ श० २ उ० । आदेशः-प्रकारः । स च द्विधा-सामान्यरूपो, विशेषरूपश्चेति । नं० ।

कोऽयमादेश इत्याह—

आएसो त्ति पगारो , ओहादेसेण सव्वदव्वाइं ।

धम्मत्थि आइयाइं, जाणइ, न उ सव्वभेदेणं ॥४०३॥

इह आदेशो नाम-ज्ञातव्यवस्तुप्रकारः, स च द्विविधः-सामान्यप्रकारो, विशेषप्रकारश्च । तत्रौघादेशेन-सामान्यप्रकारेण; द्रव्यसामान्येनेत्यर्थः, सर्वद्रव्याणि-धर्मास्तिकायादीनि जानाति असंख्येयप्रदेशात्मको लोकव्यापकोऽमूर्त्तः प्राणिनां पुद्गलानां च गत्युपष्टम्भहेतुर्धर्मास्तिकाय इत्यादिरूपेण कियत्पर्यायविशिष्टानि षडपि द्रव्याणि सामान्येन मतिज्ञानी जानातीत्यर्थः । विशे० । " अन्नो वि य आएसो " अन्यो वाऽऽदेशः प्रकारः । बृ० ३ उ० । आदिश्यत इत्यादेशः-आचार्यपारम्पर्यश्रुत्याऽऽयातो वृद्धवादोऽयमैतिह्यमाचक्षते, स आदेशः । वृद्धवादाऽऽयाते दृष्टान्ते, आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ० । आदिश्यत इत्यादेशः निर्देशे, नि० चू० १ उ० । आदिश्यत इत्यादेशः । व्यापारनियोजने , आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० १ उ० । प्रतिपादने , " धुयमादिसंति " धूतम्-मोक्षम् आदिशन्ति-प्रतिपादयन्ति । सूत्र० १ श्रु० १ अ० । प्रतिवचने , विशे० । मते, " मोत्तूणादेसतिगं " मुक्त्वा परिहृत्यादेशत्रिकं-मतत्रिकम् । पिं० । विकल्पे , " आदेसा इमे होंति " आदेशाः-विकल्पाः । नि० चू० १ उ० । आज्ञति-मर्य्यादया विशेषरूपानतिक्रमात्मिकया आदिश्यते-कथ्यत इत्यादेशः । विशेषे, उत्त० ।

.... आएसे चेवऽणाएसे ॥ ४७ ॥

आदिट्ठो आएसं-मि बहुविहे सरिससाणचरणगते ।

सामित्तपव्वयाइं-मि चेव किंचित्तओ वोच्छं ॥ ४७ ॥

आज्ञति-मर्यादया विशेषरूपानतिक्रमात्मिकया आदिश्यते-कथ्यत इति आदेशो-विशेषस्तस्मिन् तदन्यस्त्वनादेशः सामान्यं पूर्वत्र चैवशब्दयोः समुच्चयावधारणार्थयोर्भिन्नक्रमत्वात्तस्मिंश्चैव तत्र क्षेत्रविषयोऽनादेशे यथा जम्बूद्वीपजोऽयम् , आदेशे तु-यथा भारतोऽयं, कालविषयोऽनादेशे यथा-ग्रैष्मिकोऽयम् , आदेशे तु-वासन्तिकोऽयं, भावविषयोऽनादेशे भाववानयम् , आदेशे त्वौदयिकादिभाववानिति । सामान्यावगमपूर्वकत्वाद्विशेषावगमस्यैवमुदाह्रियते । निर्युक्तौ तु विपर्ययाभिधानं जम्बूद्वीप इति सामान्यमपि लोकापेक्षया विशेषो भरतमिति, विशेषोऽपि मगधाद्यपेक्षया सामान्यमित्यादिरूपेण सर्वत्र सामान्यविशेषयोरनियतत्वख्यापनार्थम् । उत्त० १ अ० ।

आएसो पुण दुविहो , अप्पियववहारणप्पितो चेव ।

एक्केको पुण तिविहो , अप्पाण परे तदुभए य ॥४८॥

आदेशोऽभिहितरूपः पुनःशब्दो विशेषणे , द्विविधो-द्विभेदः, कथमित्याह-'अप्पिअववहाराणप्पिओ चेव' त्ति-व्यवहारशब्दोऽत्र डमरुकमणिन्यायेनोभयत्र संबध्यते, ततश्चार्पितो व्यवहारो यस्मिन्सोऽयमर्पितव्यवहारः, मयूरव्यंसकादित्वात्समासः अनर्पितव्यवहारस्तु तद्विपरीतस्तत्रार्पितो नाम क्षायिकादिर्भावः स्वाधारे-भाववति ज्ञातोऽयमित्यादिरूपेण ज्ञानमस्येत्यादिरूपेण वा वचनव्यापारेण वक्त्रा स्थापितः , अनर्पितस्तु वस्तुतः साधारत्वेऽपि निराधारप्ररूपणार्थे विवक्षितो यथा-सर्वभावप्रधानः क्षायिको भा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वोऽनयोरपि भेदानाह-एकैक इति अर्पितव्यवहारः, अनर्पितव्यवहारश्च । पुनस्त्रिविधः, कथमित्याह-'अत्ताए' त्ति-आकर्षस्यादात्मनि परस्मिन् तयोरात्मपरयोरुभयं तदुभयं तस्मिंश्च विषयसप्तम्यश्चैताः, ततो विषयत्रैविध्येनानयोस्त्रैविध्यम् । उत्त०१ अ० ।(आदेशाऽनादेशयोर्बहुवक्तव्यता 'संजोग' शब्दे सप्तमभागे कथयिष्यते) व्यपदेशे, आचा० ।

एश्रोवम आएसो, वाए ऽसंतेऽवि रूवंमि ॥ १६७ ॥

एतदुपमानो वायावपि भवति आदेशो-व्यपदेशः । आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ० ।

केसिंचिय आएसो, दंसण, णाणेहिँ वट्टए तित्थं(५५+)

केषांचिद्-दुर्विदग्धबुद्धीनां ज्ञानलवाध्मातचेतसां-कदाग्रहग्रस्तमनसाम् आदेशो-व्यपदेशः गुरुणेति यावत् दर्शनज्ञानाभ्यां वर्त्तते । दर्श० ४ तत्त्व । श्रुतपरिकर्मिततायाम् , भ० ८ श० २ उ० । श्रुतपरिकर्मणायाम् , भ० ८ श० २ उ० । सूत्रे च । " आदेशो ण उववज्जतीति अणवट्ठो होति " भवति आदेशः; सूत्रादित्यर्थः । नि० चू० १ उ० ।

तत्थ दव्वओ णं आभिणिबोहियनाणी आएसेणं सव्वाइं दव्वाइं जाणइ, न पासइ । (सूत्र-२६ +)

अथवा-आदेश इति-सूत्रादेशस्तस्मात्सूत्रादेशात्सर्वद्रव्याणि धर्मास्तिकायादीनि जानाति, नतु साक्षात्सर्वाणि पश्यति । नं० ।

आएसो त्ति व सुत्तं, सुओवलद्धेसु तस्स मइनाणं ।
पसरइ तब्भावणया, विणा सुत्ताणुसारेणं ॥ ४०५ ॥

अथवा-आदेशः सूत्रमुच्यते, तेन सूत्रादेशेन सूत्रोपलब्धेष्वर्थेषु तस्य मतिज्ञानिनः सर्वद्रव्यादिविषयं मतिज्ञानं प्रसरति । विशे० ।

अङ्गोपाङ्गादिसूत्रेष्वबद्धा ये भावाः—पदार्था ज्ञानिभिः प्रकाशिताश्च ते कस्य तीर्थकरस्य समये कियन्त आदेशा उच्यते-

एवं बद्धमबद्धं, आएसाणं हवंति पंच सया ।
जह एगा मरुदेवा, अच्चंतं थावरा सिद्धा ॥१०२३॥

एवम्-अनन्तरोक्तप्रकारं सर्वं(बद्धं)लोकोत्तरं श्रुतम् । लौकिकं त्वारण्यकादि द्रष्टव्यम् । अबद्धं पुनरादेशानां भवन्ति पञ्च शतानि, किंभूतानीत्यत आह-यथैका-तस्मिन् समये अद्वितीया मरुदेवी-ऋषभजननी अत्यन्तस्थावरा-अनादिवनस्पतिराशेरुद्धृत्य सिद्धा-निष्ठितार्था संजाता । उपलक्षणमेतत् अन्येषामपि स्वयंभूरमणजलधिमत्स्यपद्मपत्राणां वलयव्यतिरिक्तसकलसंस्थानसंभवादीनामिति, लौकिकमप्यनिबद्धं वेदितव्यम् । अड्डिकाप्रत्यड्डिकादिकरणं ग्रन्थाऽनिबद्धत्वात् । अत्र वृद्धसंप्रदायः-

"आरुहए पवयणे पंच आएससयाणि जाणि अणिबद्धाणि, तत्थेगं मरुदेवा णवि अंगे ण उवंगे पाढो अत्थि, जहा-अच्चंतं थावरा होइऊण सिद्धत्ति, बिइयं सयंभुरमणे समुद्दे मच्छाणं पउमपत्ताण य सव्वसंठाणाणि अत्थि वलयसंठाणं मोत्तुं, तइयं विण्हुस्स सातिरेगजोयणसयसहस्सविउव्वणं, चउत्थं करडओकुरुडा दोसट्टियरुवज्झाया, कुणालाणयरीए निद्धमणमूले वसही, वरिसासु देवयाणुकंपणं, नागरेहिं निच्छुहणं, करडेण रूसिएण वुत्तं-' वरिस देव ! कुणालाए, ' उक्कुरुडेण भणियं-' दस दिवसाणि पंच य ' पुणरवि करडेण भणियं-' मुट्ठिमेत्ताहिं धाराहिं ' उक्कुरुडेण भणियं-' जहा रत्तिं तहा दिवं ' एवं वोत्तूणमवक्कंता, कुणालाएवि पण्णरसदिवसअणुबद्धवरिसेणेणं सजाणवया (सा) जलेण उक्कंता तओ ते तइयवरिसे साएए णयरे दोऽवि कालं काऊण अहे सत्तमाए पुढवीए काले णरगे बावीससागरोवमट्ठिईआ णेरइया संवुत्ता । कुणालाणयरीविणासकालाओतेरसमे वरिसे महावीरस्स केवलणाणसमुप्पत्ती । एवं अनिबद्धं, एवमाइ पंचाऽऽएससयाणि अबद्धाणि । एवं लोइयं अबद्धकरणं बत्तीसं अड्डियाओ बत्तीसं पच्चड्डियाओ सोलस करणाणि, लोगप्पवाहे पंचट्ठाणाणि,तंजहा-आलीढं, पच्चालीढं,वइसाहं मंडलं, समपयं । तत्थालीढं दाहिणं पायं अग्गओहुत्तं काउं वामपायं पच्छओहुत्तं ओसारेइ, अंतरं दोण्हवि पायाणं पंचपाया, एवं चेव विवरीयं पच्चालीढं, वइसाहं पण्हीओ अब्भितराहुत्तीओ समसेढीए करेइ, अग्गिमयलो बाहिराहुत्तो, मंडलं दोवि पाए दाहिणवामहुत्ता ओसारेत्ता ऊरुणोवि आउंटावेइ जहा मंडलं भवइ, अंतरं चत्तारि पया, समपायं दोवि पाए समं निरंतरं ठवेइ, एयाणि पंचट्ठाणाणि, लोगप्पवाए (छ) सयणकरणं छट्ठं ठाणं, इत्यलं विस्तरेण । आव० १ अ० । (सूत्रस्यादेशत्वे बहुवक्तव्यता 'आभिणिबोहियणाण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते)

एष्य—त्रि० । आगमिष्यति , सूत्र० । "आएसा वि भवंति सुव्वया " (२०×) । आगमिष्यांश्च ये भविष्यन्ति । सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

आवेश—पुं० । आविशतीत्यावेशः यस्मिन् स्थाने प्रविष्टे सागारिकस्याऽऽयासो जन्यते स आवेशः। ज्ञातिके, स्वजने, सुहृदि , प्रभौ , परतीर्थिके च । व्य० ।

भाष्यकृदादेशशब्दव्याख्यानमाह—

आयासकरो आए-सितो उ आवेसणं व आविसइ ।
सो नायगो सुही वा,पभू व परतित्थितो वाऽवि ॥ २ ॥

आयासकर आदेशः आदिशतीत्यादेश इति व्युत्पत्तेः, आदिशितो वा आदेशः । आदिश्यते सत्कारपुरस्सरमाकार्यत इत्यादेशव्युत्पत्तेः । अथवा-आवेश इति संस्कारस्तत्र व्युत्पत्तिमाह—आवेशनं वाशब्दः शब्दसंस्कारापेक्षया विकल्पने , आविशतीत्यावेशः आवेशनं नाम यस्मिन् स्थाने प्रविष्टेन सागारिकस्याऽऽयासो जन्यते, स आदेशः,आवेशो वा नाम ज्ञातिकः-स्वजनः सुहृद्वा-मित्रं प्रभुर्वा-नायकः परतीर्थिको वाऽपि । व्य० ६ उ० । आ-विश-घञ् । अहङ्कारभेदे, संरम्भे, अभिनिवेशे, आसक्ते, अनुप्रवेशे, यथा भूताऽऽवेशः । ग्रहभेद, भूताद्यावेशरोगे च । वाच० ।

आएसकारिन्—आदेशकारिन्—पुं । आज्ञाकारिणि , कौटुम्बिकादौ , " कोडुंबियपुरिसे सद्दावेंति " (सूत्र-१२×) कौटुम्बिकपुरुषान्-आदेशकारिणः । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आएसग (य)-आदेशक-त्रि०। आदिशति । आ-दिश् धा०-ण्वुल् । आदेशकारके, आज्ञाकारके, वाच० । आदिश्यते-यस्मिन्नागते संभ्रमेण परिजनस्तदासनदानादिव्यापारं स आदेशकः । प्राघूर्णके, सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

आएसग्ग-आदेशाग्र-न० । आदिश्यत इत्यादेशो-व्यापार-नियोजना । अग्रशब्दोऽत्र परिमाणवाची, तत्र च यत्र परिमितानामादेशः दीयते तदादेशाग्रम् । (आचा०) । आदिश्यते इत्यादेशो निर्देश इत्यर्थः आदेशनामाग्रं आदेशाग्रम् । नि० चू० १ उ० । परिमितानामादेशे, तद्यथा-त्रिभिः पुरुषैः कर्म्म कारयन्ति तान्वा भोजयति । आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० १ उ० ।

गाहा—

आदेसग्गं पंचंगु-लादि जं पच्छिमं तु आदिसति ।
पुरिसाण व जोयंते, भोयणकम्मादिकज्जेसु ॥ ५२ ॥

आदिश्यते इति आदेशो; निर्देश इत्यर्थः । तेण आदेसेण अग्गं आदेसग्गं, तस्सुदाहरणं पंचंगुलादि; पंचएहं अंगुलीदव्वाण कम्मट्ठिताण जदि पच्छिमं आदिसति तं आदेसग्गं भवति आदेसकारणं इमं भोयणकाले जहा सत्तट्ठाणे बहुआण कम्मट्ठिताण इमं बहुयं भोजयसु त्ति (आदिसति) एवं कम्मादिकज्जेसु वि नेयं । गयं आदेसग्गं । नि० चू० १ उ० ।

आवेशन-न० । आ-विश आधारे ल्युट् । वाच० । लोहकारादिशालायाम् । आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० २ उ० । तानि चायस्कारकुम्भकारादिस्थानानि येषु लोका आविशन्ति । औ० । शिल्पशालायाम्, तत्र हि मनोऽभिनिवेशेन च कार्यकरणात्तस्यास्तथात्वम् । भूतावेशादिरोगे, कोपादौ, वाच० ।

आएसपर-आदेशपर-त्रि० । आदिश्यते-आज्ञाप्यते इत्यादेशः यः कस्यांचित्क्रियायां नियोज्यते कर्म्मकरादिः स चासौ परश्चादेशपरः । कस्यांचित्क्रियायां नियुक्ते कर्म्मकरादौ, आचा० २ श्रु० २ चू० ६ अ० ।

भोअणपिंसणमादी-सु एगखेत्तट्ठियं तु जं पच्छा ।
आदिसइ भुंजऊणसु, व आएसपरो हवइ तत्थ ॥५८३॥

एतद्भोजनं प्रतीतं, पेषणं-व्यापारणं तदादिषु कारणेषु यं कञ्चन पुरुषमेकस्मिन्क्षेत्रे स्थितमपि पश्चात्पर्यन्ते आदिशति-यथा, भुङ्क्ष्व-भोजनं विधेहि, कुरु वा कृष्यादिकर्म्म, एष आदेशपरो भवति आदेश-आज्ञापनं तदाश्रित्य परः पाश्चात्य आदेशपरः । सू० १ उ० ३ प्रक० ।

आएसभत्त-आदेशभक्त-न० । आएसो-पाहुणगो आगतो तस्स भत्तं आदेशभक्तम् । प्राघूर्णकभक्ते । नि० चू० ६ उ० । ('एतद्वक्तव्यता' 'भत्त' शब्दे ५ पञ्चमे भागे करिष्यते)

आएससव्व-आदेशसर्व-पुं० । आदेशनमादेशः-उपचारो व्यवहारः । स च बहुतरे प्रधाने वाऽऽदिश्यते, देशेऽपि यथा-विवक्षिते घृतमर्भस्ममीक्ष्य बहुतरे भुक्ते; स्तोके च शेषे उपचारः क्रियते-"सर्वं घृतं भुक्तं" प्रधानेष्वुपचारः क्रियते, यथा-ग्रामप्रधानेषु गतेषु पुरुषेषु "सर्वो ग्रामो गतः" इति व्यपदिश्यत इति । आदेशतः सर्वमादेशसर्वमुपचारसर्वमित्यर्थः । स्था० ४ ठा०२ उ० । उपचारेण सर्वस्मिन्, स्था०४ ठा०२ उ० । आ०म० ।

आदेशसर्वस्य स्वरूपम्—

आएसो उवयारो, सो बहुतरए पहाणतरए वा ।
देसे वि जहा सव्वं, भत्तं भुत्तं गओ गामो ॥ २४८८ ॥

आदेशः-उपचारः स च बहुतरे-प्रधानतरे वा आदेशोऽपि सर्वतया प्रवर्त्तते, तद्यथा-परिगृहीते भक्तमध्याद्बहुतरे भुक्ते सति आदिश्यते-सर्वमनेन भुक्तमिति । प्रधानेनराऽऽदेशे च कतिपयपुरुषेषु गतेषु शेषेष्ववतिष्ठमानेष्वप्यादिश्यते, लोके यथा-"गतः सर्वो ग्रामः" । विशे० ।

आएसिन्-आदेशिन्-त्रि० । आदिशति । आ-दिश् णिनि । आदेशकारके, वाच० । अभिलाषिणि, "वएणादेसी णारभे कंचण (सूत्र-१५४ ×) । वर्णः-साधुकारस्तदादेशी वर्णादेशी-वर्णाभिलाषी- सन्नारभते कञ्चन । आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ० ।

आएसिय-आदेशिक त्रि० । उपदेष्टरि, सूत्र० ।

(सम्यग्ज्ञानवतामुपदेष्टॄणां गुणानाविर्भावयन्नाह)—

लोयं विजाणंति इ केवलेणं,
पुन्नेण णाणेण समाहिजुत्ता ।
धम्मं समत्तं च कहंति जे उ,
तारंति अप्पाण परं च तिन्ना ॥ ५० ॥

सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । (अस्या गाथाया व्याख्या 'अद्दगकुमार' शब्दे १ प्रथमभागे ५५६ पृष्ठे गता) आदेशितो वा आदेशः आदेशात्सत्कारपुरस्सरमाकार्यते इत्यादेश इति व्युत्पत्तेः । (व्य०) आदेशे, (नायकादौ प्राघूर्णके) । व्य० ६ उ० ।

आओग-आयोग-पुं० । आ युज घञ् । गन्धमाल्योपहारे, व्यापारे, रोधे, सम्यक् सम्बन्धे च । वाच० । द्विगुणादिलाभे, स्था० ८ ठा० ३ उ० । द्विगुणादिवृद्ध्याऽर्थप्रदाने च । भ० २ श० ५ उ० । परिकरे, "भीमसंगामि आओगे" (सूत्र) । भीमः-सांग्रामिक आयोगः-परिकरो यस्य । ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० ।

आओगपओग-आयोगप्रयोग-पुं० । आयोगस्य-अर्थलाभस्य प्रयोगा-उपायाः । औ० । अथवा आयोगेन द्विगुणादिलाभेन द्रव्यस्य प्रयोगोऽधमर्णानां दानम् । स्था० ८ ठा० ३ उ० । द्रव्योपार्जनोपायविशेषे, स्था० ६ ठा० ३ उ० । द्विगुणादिवृद्ध्याऽर्थप्रदाने, कालान्तरे प्रयोगे च । भ० २ श० ५ उ० ।

आओगपओगसंपउत्त-आयोगप्रयोगसम्प्रयुक्त-त्रि० । आदानविसर्जनकुशले, रा० । आयोगो द्विगुणादिवृद्ध्यार्थप्रदानं प्रयोगश्च कालान्तरितौ सम्प्रयुक्तौ व्यापारितौ यैस्ते तथा । भ० २ श० ५ उ० । आयोगप्रयोगा-द्रव्योपार्जनोपायविशेषाः सम्प्रयुक्ताः-प्रवर्त्तिता येन स तथा, स्था० ६ ठा० । आयोगस्य-अर्थलाभस्य प्रयोगा-उपायाः संप्रयुक्ताः-व्यापारिता येन तेषु वा सम्प्रयुक्तो व्यापृतो यः स । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । औ० । प्रवर्त्तितद्रव्योपार्जनोपायविशेषे, स्था० ६ ठा० ३ उ० । द्रव्योपार्जनोपायविशेषेषु प्रवृत्ते च । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । आयोगेन द्विगुणादिलाभेन द्रव्यस्य प्रयोगः-अधमर्णानां दानम् तत्र संप्रयुक्तानि-व्यापृतानि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तेन वा संप्रयुक्तानि-संगतानीति । स्था० ८ ठा० ३ उ० । द्विगुणादिलाभेन द्रव्यप्रयोगेषु व्यापृते, द्विगुणादिलाभार्थम् द्रव्यप्रयोगेण संगते च । स्था० ८ ठा० ३ उ० ।

आंबुरिग्गाम-आंबुरिग्राम-पुं० । अशीतितीर्थजिनान्तर्गतश्रीमतिदेवजिनाधिष्ठिते ग्रामविशेषे, आंबुरिग्रामे श्रीमतिदेवः । ती० ४३ कल्प ।

आकंखा-आकाङ्क्षा-स्त्री० । आ-काङ्क्ष-अङ् । अभिलाषे, न्यायमते , वाक्यार्थज्ञानहेतौ, यत्पदं विना यत्पदस्यानन्वयस्तत्पदे तत्पदवत्त्वरूपे संबन्धे, पदान्तरव्यतिरेकेणान्वयाभावे च । वाच० । वाञ्छायाम्, षो०१५ विव० । (अभिलाषायाम्) आचा० १ श्रु० ५ अ० ६ उ० । "तत्तत्थं यद् दृष्ट्वा, निवर्त्तते दर्शनाऽऽकाङ्क्षा" ॥१२॥ दर्शनाकाङ्क्षा-दर्शनवाञ्छा । षो० १५ विव० ।

आकंदमाण-आक्रन्दत्-त्रि० । आक्रन्दशब्दं कुर्वति, विपा० १ श्रु० ६ अ० ।

आकंप-आकम्प-पुं० । आवर्जने, स्था० १० ठा० ३ उ० । व्य० । ध० । आराधने , व्य० १ उ० । आ-ईषदर्थे, कपि घञ् । ईषत्कम्पे , वाच० ।

आकंपइत्ता-आकम्प्य-अव्य० । आराध्येत्यर्थे, व्य० १ उ० । आवर्ज्येत्यर्थे, ध० २ अधि० । स्था० । (आकम्पालोचनो हि आलोचकस्य दशसु दोषेषु प्रथमो दोषः ' आलोयणा ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे द्रष्टव्यः)

आकंपइत्तु-आकम्प्य-अव्य० । आवर्ज्येत्यर्थे , स्था० १० ठा० ३ उ० ।

आकंपण-आकम्पन-न० । आराधने , आवर्जने च । व्य० १ उ० । ध० । आकम्पते , आ-कपि-युच् । ईषत्कम्पनशीले , त्रि० । भावे ल्युट् । ईषत्कम्पे, न० । आ-कपि-णिच्-ल्यु० । ईषच्चालके , त्रि० । तत एव भावे ल्युट् । ईषच्चालने , न० वाच० ।

आकड्ढ-आकर्ष-पुं० । अभिमुखमाकर्षणे, प्रश्न०१ आश्र०द्वार । नि० चू० ।

आकड्ढण-आकर्षण-न० । अभिमुखं कर्षणमाकर्षणम् । अभिमुखकर्षणे, प्रश्न० १ आश्र०द्वार । "आकड्ढणमाकसणं" अप्पणो तेण आगड्ढणमागसणं " । नि० चू० १८ उ० ।

आकड्ढविकड्ढ-आकर्षविकर्ष-पुं० । द्वि० । अभिमुखकर्षणविपरीतकर्षणयोः, "आकड्ढविकड्ढ" (सूत्र-४४) । आ-कृष अभिमुखं कर्षणं कुरु । वि-कृष विपरीतं कर्षणं कुरु । प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

आकड्ढविकड्ढिया-आकर्षविकर्षिका-स्त्री० । अभिमुखमाकृष्टस्य विपरीतकर्षणे , प्रश्न० १ आश्र० द्वार । " आकड्ढविकड्ढिं करेमाणे " (सूत्र-५५६+) । भ० १५ श० । नि० चू० ।

आकण्णन-आकर्णन-न० । श्रवणे , आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । ध०र० । (एतद्वक्तव्यता ' सवण ' शब्दे सप्तमे भागे द्रष्टव्या) आ-कर्ण-ल्युट् । श्रवणे, " मुदा तदाकर्णनतत्परोऽभूत् ।" नैष० । वाच० ।

आकण्णिय-आकर्णित-त्रि० । श्रुते, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

आकम्हिय-आकस्मिक-त्रि० । अकस्मादित्यव्ययं कारणाभाव. कारणं विना भवः । विनया० ठक् टिलोपः । अकस्माद्भव , स्त्रियां ङीष् । वाच० । अकस्मादेव यद्भवति तदाकस्मिकम् । विशे० । निर्युक्तिके, आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ० । अहेतुके , विशे० ।

वज्झनिमित्ताभावा , जं भयमाकम्हियं तं ति ॥३४५१॥

यत्तु बाह्यनिमित्ताभावात्-अकस्मादेव भवति तदाकस्मिकम् । विशे० । (एतद्वक्तव्यता 'सभाव' शब्दे सप्तमभागे करिष्यते)

आकि(गि)इ-आकृति-स्त्री० । आ-कृञ्-क्तिन् । "इत्कृपादौ " ॥ ८ । १ । १२८ ॥ इति हैमप्राकृतसूत्रेणेत्वम् । प्राकृतत्वात्तकारलोपः । प्रा० । आक्रियते—व्यज्यते जातिरनया । करणे क्तिन् । जातिव्यञ्जकेऽवयवसंस्थानभेदे, " आकृतिग्रहणा जातिः " महाभा० । जात्याकृतिव्यक्तयस्तु पदार्थाः । गौ० सू० ॥ वाच० । आकारे, आ० म० १ अ० । ज्ञा० । संस्थाने, नंदी० । ' आगार त्ति वा आग त्ति वा संठाणं ति वा एगट्ठा ' आ० चू० १ अ० । आकृतिशब्देन प्राण्यवयवानां पाण्यादीनां तदवयवानां चाङ्गुल्यादीनां संयोगोऽभिधीयते । तथा च सूत्रम्-" आकृतिर्जातिलिङ्गाख्या " (न्यायद० अ० २ आ० २ सू० ६७) इति अस्य भाष्यम् । (सम्म० १ काण्ड २ गाथाटी० । (' सह ' शब्दे सप्तमे भागे विस्तरतः प्रतिपादयिष्यते) (अस्याः शब्दार्थत्वविचार ' आगम ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे करिष्यते) रूपे, " यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति " आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

आकिइमंत-आकृतिमत्-त्रि० । प्रशस्तस्वरूपोपेते, " जो वि अगीतो वि आगइमंतो " । ६७४) । अगीतार्थोऽपि आकृतिमान्-रूपेण मकरध्वजतुल्यः स गणधरपदे निवेश्यते । व्य० ३ उ० ।

आकिंचणिय-आकिंचन्य-न० । अकिञ्चनस्य भावः ष्यञ् । दरिद्रतायाम् । वाच० । नाऽस्य किञ्चन द्रव्यमस्तीत्यकिञ्चनस्तस्य भाव आकिञ्चन्यम् । प्रव० ६६ द्वार । षो० । ध० । कनकादिरहिततायाम् , पञ्चा० ११ विव० । आकिंचणियंनत्थि जस्स किंचण सो अकिंचणो तस्स भावो आकिंचणियं, कंमनिज्जरट्ठं संदेहादिसु विणस्समेण भवितव्वं । आ० चू० ४ अ० ।

आकिंचणियव्वय-आकिञ्चन्यव्रत-न० । पञ्चमे महाव्रते, ध० ।

परिग्रहस्य सर्वस्य, सर्वथा परिवर्जनम् ।
आकिञ्चन्यं व्रतं प्रोक्त-मर्हद्भिर्हितकाङ्क्षिभिः ॥ ४४ ॥

सर्वस्य-सचित्ताऽचित्तादिविषयस्य द्रव्यक्षेत्रकालभावविषयस्य वा परिग्रहस्य-मूर्च्छाभावस्य सर्वथा त्रिविधं त्रिविधेन परिवर्जनं-त्यागः तत् आकिञ्चन्यव्रतं, न विद्यते किंचन द्रव्यं यस्यासावकिञ्चनस्तस्य भाव आकिञ्चन्यं तच्च तद्व्रतं चेति समासः; अपरिग्रहव्रतमित्यर्थः । प्रोक्तंप्रज्ञप्तं कैरर्हद्भि-र्जिनैः, किंविशिष्टैस्तै-र्हितकाङ्क्षिभि- र्हितेच्छुभिरिति शब्दार्थः । ध०३ अधि० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आकीलवास-आक्रीडावास-पुं०। गौतमद्वीपस्थसुस्थितलवणाधिपतेरत्यर्थक्रीडावासे भौमेयविहारे, जी०। (तद्वक्तव्यता 'गोयमदीव' शब्दे तृतीये भागे वक्ष्यते)। जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

आकुट्ठ-आक्रुष्ट-त्रि०। आ-क्रुश-क्त। कृताक्रोशे, यं प्रति आक्रोशः कृतस्तस्मिन्, शब्दिते, निन्दिते च। भावे क्त। पुरुषभाषणे, न०। "मार्जारमूषिकास्पर्शे आकुष्टे क्रोधसम्भवे"। कात्या०। आक्रुष्ट, परुषभाषणे, वाच०। वाग्भिराक्रुष्ट, आचा०१ श्रु०६ अ०३ उ०। "आक्रुष्टेन मतिमता तत्त्वार्थविचारणे मतिः कार्या॥ यदि सत्यं कः कोपः, स्यादनृतं किं नु कोपेन॥ १॥" सूत्र० १ श्रु० १४ अ०।

आकूय-आकूत-न०। आ-कू-भावे क्त। आशये, अभिप्राये, वाच०। अभिप्रेते वस्तुनि, विशे०। भावे च। विशे०।

आकेवलिय-आकेवलिक-पुं०। न केवलमकेवलं तत्र भवा आकेवलिकाः। सद्वन्द्वे, (सम्मतिपक्षे) असम्पूर्णे च। "आकेवलिएहिं" (सूत्र-२८२+)। आचा०१ श्रु० ६ अ०२उ०।

आकोसायंत-आकोशायमान-त्रि०। आकोशायत इत्याकोशायमानम्। विकचीभवति कमलादौ, जी०। "आकोसायंतपउमगंभीरवियडा" (सूत्र-१५७x)। आकोशायते इत्याकोशायमानं, विकचीभवदित्यर्थः। पद्मं तद्वद्गम्भीरा विकटा च नाभिर्येषां ते। जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

आखंडल-आखण्डल-पुं०। आखण्डयति भेदयति पर्वतान् आ-खडि-डलच् डस्य नेत्त्वम्। इन्द्रे, वाच०। "अ (आखं) खंडलो सुरवइ, पुरंदरो वासवो सुणासीरो।" (२३+) पाइ० ना० २३ गाथा। (अस्य वक्तव्यता 'सक्क' शब्दे सप्तमभागे वक्ष्यते)।

आगइ-आगति-स्त्री०। आगमनमागतिः नारकत्वादेरेव प्रज्ञापकप्रत्यासन्नस्थाने प्रतिनिवृत्तौ, (आगमने) स्था० १ ठा०। कल्प०। "गई च जो जाणइ ऽणागई च" (२०+)। यश्च जीवानामागतिम्-आगतम् कुतः समागता नारकास्तिर्यञ्चा मनुष्या देवाः। सूत्र० २ श्रु० १२ अ०। "एगस्स जंतो गतिरागती य।" (१८x)। आगतिः-आगमनं भवान्तरादुपजायते कर्मसहायस्यैव। सूत्र० २ श्रु० १३ अ०। उत्पत्तौ, स्था० ७ ठा० ३ उ०। "एगा आगती" (सूत्र-४३+)। आगनम्-आगतिर्नारकत्वादेरेव प्रतिनिवृत्तिस्तदेकत्वं गतेरिवेति। स्था० १ ठा०।

नैरयिकाणां दण्डकक्रमेण गत्यागती—

नेरइया दुगइया दुयागइया पन्नत्ता, तं जहा–नेरइए नेरइएसु उववज्जमाणे मणुस्सेहिंतो वा पंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो वा उववज्जेज्जा। से चेव णं से नेरइए नेरइयत्तं विप्पजहमाणे मणुस्सत्ताए वा पंचिंदियतिरिक्खजोणियत्ताए वा गच्छेज्जा। एवं असुमाराणं वि, णवरं चेव णं से असुरकुमारे असुरकुमारत्तं विप्पजहमाणे माणुस्सत्ताए वा तिरिक्खजोणियत्ताए वा गच्छेज्जा। एवं सव्वदेवा, पुढविकाइया दुगइया दुयागइया पन्नत्ता, तं जहा–पुढविकाइए पुढविकाइएसु उववज्जमाणे पुढविकाइएहिंतो वा णो पुढविकाइएहिंतो उववज्जेज्जा। स चेव णं से पुढविकाइयत्तं विप्पजहमाणे पुढविकाइयत्ताए वा णो पुढविकाइयत्ताए वा गच्छेज्जा, एवं ०जाव मणुस्सा। (सूत्र-७८)

दण्डकः कण्ठ्यो नवरं नैरयिका-नारका द्वयोः-मनुष्यगति-तिर्यग्गतिलक्षणयोर्गत्योरधिकरणभूतयोर्गतिर्येषां ते तथा, द्वाभ्यामेताभ्यामेवाऽवधिभूताभ्यामागतिः-आगमनं येषां ते तथा, उदितनारकायुर्नारक एव व्यपदिश्यते, अत उच्यते- 'नेरइए नेरइएसु' त्ति-नारकेषु मध्ये इत्यर्थः। इह चोद्देशक्रमव्यत्ययात् प्रथमवाक्येनागतिरुक्ता, 'से चेव णं से' त्ति-यो मानुषत्वादितो नरकं गतः स एवाऽसौ नारको नाऽन्यः, अनेनैकान्ताऽनित्यत्वं निरस्तमिति। 'विप्पजहमाणे' त्ति-विप्रजहन्-परित्यजन्, इह च भूतभावतया नारकव्यपदेशः, अनेन वाक्येन गतिरुक्ता, इत्थञ्च व्याख्यानं तेजस्कायिकाद्यागतस्तिर्यङ्मनुष्यापेक्षया एकगतस्तिर्यगपेक्षयेति वाक्यमुपजीव्यति, 'एवं असुरकुमारावि' त्ति-नारकवद्वक्तव्या इत्यर्थः, 'नवरं' ति-केवलमयं विशेषः-तिर्यक्षु न पञ्चेन्द्रियेष्वेवोत्पद्यन्ते। पृथिव्यादिष्वपि तदुत्पत्तेरित्यतः सामान्यत आह-'से चेव णं से' इत्यादि ०जाव तिरिक्खजोणियत्ताए वा गच्छेज्ज' त्ति-'एवं सव्वदेव' त्ति-असुरवद् द्वादशाऽपि दण्डकदेवपदानि वाक्यानि तेषामप्येकेन्द्रियेषूत्पत्तेरिति। 'नो पुढविकाएहिंतो' त्ति-अनेन पृथ्वीकायिकनिषेधद्वारेणाप्कायिकादयः सर्वे गृहीता द्विस्थानकानुरोधादिति, तेभ्यो वा-नारकवर्जेभ्यः समुत्पद्यते। 'नोपुढविकाइयत्ताए' त्ति-देवनारकवर्जाऽप्कायादितया गच्छेदिति, 'एवं ०जाव मणुस्से' त्ति-यथा पृथ्वीकायिका "दुगइया" इत्यादिभिरभिलापैरुक्ताः, एवमेभिरेवाप्कायिकादयो मनुष्याऽवसानाः पृथ्वीकायिकशब्दस्थानेऽप्कायादिकव्यपदेशं कुर्वाद्भिरभिधातव्या इति। व्यन्तरादयस्तु पूर्वमतिदिष्टा एवेति। स्था० २ ठा० २ उ०। ('उववाय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे आगतिः कुत उत्पद्यत इत्यादि वक्ष्ये)

एकेन्द्रियादीनां गत्यागती—

एगिंदिया पंचगइया पंचाऽऽगइया पण्णत्ता, तं जहा–एगिंदिए एगिंदिएसु उववज्जमाणे एगिंदिएहिंतो वा ०जाव पंचेंदिएहिंतो वा उववज्जेज्जा। से चेव णं से एगिंदिए एगिंदियत्तं विप्पजहमाणे एगिंदियत्ताए वा ०जाव पचेंदियत्ताए वा गच्छेज्जा। बेइंदिया पंचगइया पंचाऽऽगइया एवं चेव। एवं ०जाव पंचेंदिया पंच गइया, पंचाऽऽगइया पण्णत्ता, तं जहा–पंचेंदिया ०जाव गच्छेज्जा। (सूत्र-४५८+) स्था० ५ ठा० ३ उ०।

पृथ्वीकायिकादीनां गत्यागती—

पुढविकाइया छ गइया, छ आगइया पन्नत्ता, तं जहा–पुढविकाइए पुढविकाइएसु पुढविकाइएहिंतो वा ०जाव तसकाइएहिंतो वा गच्छेज्जा णो चेव णं से पुढविकाइए पुढ-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विकाइयत्तं विप्पजहमाणे पुढविकाइयत्ताए वा ०जाव तसकाइयत्ताए वा गच्छेज्जा । (सूत्र-४८३ ×) । स्था० ६ ठा० ३ उ० ।

अण्डजाऽऽदीनां गत्यागतिप्रतिपादनाय सूत्रम्—

अंडगा सत्तगइया सत्ताऽऽगइया पण्णत्ता, तं जहा-अंडगे अंडगेसु उववज्जमाणे अंडगेहिंतो वा पोयएहिंतो वा ०जाव उब्भिएहिंतो वा उववज्जेज्जा, से चेव णं से अंडए अंडगत्तं विप्पजहमाणे अंडयत्ताए वा पोययत्ताए वा ०जाव उब्भियत्ताए वा गच्छेज्जा । पोयया सत्तगइया सत्ताऽऽगइया एवं चेव सत्तण्ह वि गइरागई भाणियव्वा ०जाव उब्भियत्ति । (सूत्र-५५३) ।

'अंडये'त्यादि सूत्रसप्तकम्, तत्र सूतानां सप्तगतयः अण्डजादियोनिलक्षणा येषां ते सप्त गतयः सप्तभ्य एवाण्डजादियोनिभ्यः आगतिरुत्पत्तिर्येषां ते सप्ताऽऽगतयः । 'एवं चेव' त्ति-यथाऽण्डजानां सप्तविधे गत्यागती भणिते तथा पोतजादिभिः सह सप्तानामप्यण्डजादिजीवभेदानां गतिरागतिश्च भणितव्या । 'जाव उब्भिय' त्ति-सप्तमसूत्रं यावदिति, शेषं सुगमम् । स्था० ७ ठा० ३ उ० ।

अंडया अट्ठगइया अट्ठाऽऽगइया पण्णत्ता, तं जहा-अंडए अंडएसु उववज्जमाणे अंडएहिंतो वा ०जाव उववाइएहिंतो वा उववज्जिज्जा । से चेव णं से अंडए अंडगत्तं विप्पजहमाणे अंडगत्ताए वा पोयगत्ताए वा ०जाव उववाइयत्ताए वा गच्छेज्जा । एवं पोयया वि । जराउया वि । सेसाणं गइरागई नऽत्थि । (सूत्र-५९५+)

'अट्ठविहे' त्यादि, सूत्रचतुष्टयं सुगमं, नवरमौपपातिका देवनारकाः, 'सेसाणं' ति-अण्डजपोतजजरायुजवर्जितानां रसजादीनां गतिरागतिश्च नास्तीत्यष्टप्रकारेति शेषः, यतो रसजादयो नोपपातिकेषु सर्वेषूत्पद्यन्ते, पञ्चेन्द्रियाणामेव तत्रोत्पत्तेः । नाप्यौपपातिका रसजादिषु सर्वेष्वप्युत्पद्यन्ते पञ्चेन्द्रियैकेन्द्रियेष्वेव तेषामुत्पत्तेरिति अण्डजपोतजजरायुजसूत्राणि त्रीण्येवेव भवन्तीति । स्था० ८ ठा० ३ उ० ।

पृथ्वीकायिकादीनां पुनरपि गत्यागती—

पुढविकाइया नवगइया नवआगइया पण्णत्ता, तं जहा-पुढविकाइए पुढविकाइएसु उववज्जमाणे पुढविकाइएहिंतो वा ०जाव पंचिंदिएहिंतो वा उववज्जेज्जा, से चेव णं से पुढविकाइए पुढविकाइयत्तं विप्पजहमाणे पुढविकाइयत्ताए ०जाव पंचिंदियत्ताए वा गच्छेज्जा । २ ॥ एवं आउकाइयाऽवि ॥ ३ ॥ ०जाव पंचिंदियत्ति ॥ १० ॥ (सूत्र-६६६×) स्था० ६ ठा० ३ उ० ।

गत्यागतिपरिज्ञानेन कर्मक्षयम्—

आगतिं गतिं परिण्णाय दोहि वि अंतेहिं अदिस्समाणेहिं से ण छिज्जति, ण भिज्जति, ण डज्झति, ण हण्णति कंचणं सव्वलोए । (सूत्र-११६×)

आगमनमागतिः, सा च तिर्यग्मनुष्ययोश्चतुर्धा चतुर्विधनरकादिगमनसद्भावाद्, देवनारकयोर्द्विधा-तिर्यङ्मानुष्यगतिभ्यामेवागमनसद्भावादेवं देवगतिरपि मनुष्येषु तु पञ्चधा, तत्र मोक्षगतिसद्भावाद् अतस्तामागतिं गतिं वा परिज्ञाय संसारचक्रवालेऽरघट्टघटीयन्त्रन्यायं वेत्य मनुष्यत्वे मोक्षगतिसद्भावमाकलय्यान्ते हेतुत्वादन्तौ रागद्वेषौ ताभ्यां द्वाभ्यामन्ताभ्यामदृश्यमानाभ्यामनपदिश्यमानाभ्यां वा, कत्वाप्रत्ययस्योत्तरक्रियामाह-'से' इत्यादि 'से'-आगतिगतिपरिज्ञाता रागद्वेषाभ्यामनपदिश्यमानो न छिद्यते असत्यादिना, न भिद्यते कुन्तादिना, न दह्यते पावकादिना, न हन्यते नरकगत्यानुपूर्व्यादिना बहुशः । अथवा-रागद्वेषाभावात्सिध्यत्येव, तदवस्थस्य चैतानि छेदनादीनि विशेषणानि, 'कंचण' मिति—विभक्तिविपरिणामात् केनचित् सर्वस्मिन्नपि लोके न छिद्यते, नापि भिद्यते रागद्वेषोपशमादिति, तदेवमागतिगतिपरिज्ञानाद्रागद्वेषपरित्यागः, तदभावाच्च छेदनादिसंसारदुःखाऽभावः ।

अपरे च सांप्रतेक्षिणः कुतो वयमागताः ?, क्व यास्यामः ?, किं वा तत्र न संपत्स्यते ?, नैवं भावयन्त्यतः संसारभ्रमणपात्रतामनुभवन्तीति दर्शयितुमाह—

अवरेण पुव्विं न सरंति एगे,
किमस्स तीयं किं वाऽऽगमिस्सं ॥
भासंति एगे इह माणवाओ,
जमस्स तीयं व तमागमिस्सं ॥ १ ॥
नाऽईयमट्ठं न य आगमिस्सं,
अट्ठं नियच्छन्ति तहाऽऽगया उ ।
विहूयकप्पे एयाणुपस्सी,
निज्झोसइत्ता खवगे महेसी ॥ २ ॥

'अवरेण' इत्यादिरूपकम्, अपरेण-पश्चात्कालभाविना सह पूर्वमतिक्रान्तं न स्मरन्ति अन्ये-मोहाज्ञानावृतबुद्धयो, यथा किमस्य जन्तोर्नरकादिभवोद्भूतं बालकुमारादिवयोपचितं वा दुःखायतीतं किं वाऽऽगमिष्यति आगामिनि काले किमस्य सुखाभिलाषिणो दुःखद्विषो भावीति । यदि पुनरतीताऽऽगामिपर्यालोचनं स्यात्र तर्हि संसारे रतिः स्यादिति, उक्तं च-" केण ममेत्थुप्पत्ती, कहं इओ तह पुणो वि गंतव्वं । जो एत्तियं पि चिंतइ, इत्थं सो को न निव्विण्णो " ॥ १ ॥ एके-पुनर्महामिथ्याज्ञानिनो भाषन्ते-इहास्मिन्संसारे-मनुष्यलोके वा मानवा-मनुष्या यथा यदस्य-जन्तोरतीतं स्त्रीपुंनपुंसकसुभगदुर्भगश्वगोमायुब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्रादिभेदावेशात्पुनरप्यन्यजन्मानुभूतं तदेवागमिष्यम्-आगामीति । यदि वा-न विद्यते परः-प्रधानोऽस्मादित्यपरः संयमस्तेन वासितचित्ताः सन्तः पूर्वं-पूर्वानुभूतं विषयसुखोपभोगादि न स्मरन्ति-न तदनुस्मृतिं कुर्वते, एके-रागद्वेषविप्रमुक्ताः, तथा नाऽऽगतदिव्याङ्गनाभोगमपि नो काङ्क्षन्ति, किञ्च-अस्य जन्तोरतीतं सुखदुःखादि किं वाऽऽगमिष्यम्-आगामीति एतदपि न स्मरन्ति, यदि वा-कियान् कालोऽतिक्रान्तः कियानेष्यति लोकोत्तरास्तु भाषन्ते-एके-रागद्वेषरहिताः केवलिनश्चतुर्दशपूर्वविदो वा यदस्य-जन्तोरनादिनिधनत्वा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्कालशरीरसुखाद्यतीतमागामिन्यपि तदेवेति, अपरे तु पठन्ति-"अवरेण पुव्वं किह से अतीतं, किह आगमिस्सं न स (म)रंति एगे। भासंति एगे इह माणवाओ, जह से अईयं तह आगमिस्सं" ॥१॥ (अस्याः १ व्याख्या)-अपरेण-जन्मादिना सार्द्धं पूर्वम्-अतिक्रान्तं जन्मादि न स्मरन्ति, कथं वा केन प्रकारेणाऽतीतं-सुखदुःखादि कथं वैष्यमित्येतदपि न स्मरन्ति, एके भाषन्ते-किमत्र ज्ञेयम्?, यथैकस्य रागद्वेषमोहसमुत्थैः कर्मभिर्बध्यमानस्य जन्तोस्तद्विपाकांश्चानुभवतः संसारस्य यदतिक्रान्तमागाम्यपि तत्प्रकारमेवेति। यदि वा-प्रमादविषयकषायादिना कर्माण्युपचित्येष्टानिष्टविषयाननुभवतः सर्वज्ञवाक्सुधास्वादासंविदो यथा संसारोऽतिक्रान्तस्तथाऽऽगाम्यपि यास्यति ॥ १ ॥ ये तु पुनः संसारार्णवतीरभाजस्ते पूर्वोत्तरविदिन इत्येतद्दर्शयितुमाह-'णाऽईयमि' त्यादि, तथैव-अपुनरावृत्त्यागतं गमनं येषां ते तथागताः-सिद्धाः, यदि वा-यथैव ज्ञेयं तथैव गतं-ज्ञानं येषां ते तथागताः-सर्वज्ञाः, ते तु नाऽतीतमर्थमनागतरूपतयैव नियच्छन्ति-अवधारयन्ति नाप्यनागतमतिक्रान्तरूपतयैव, विचित्रत्वात्परिणतेः। पुनरर्थग्रहणं पर्यायरूपार्थं, द्रव्यार्थतया त्वेकत्वमेवेति। यदि वा-नाऽतीतमर्थं-विषयभोगादिकं नाऽप्यनागतं-दिव्याङ्गनासङ्गादिकं स्मरन्ति, अभिलषन्ति वा, के?, तथागताः-रागद्वेषाभावात्पुनरावृत्तिरहिताः, तुशब्दो विशेषमाह-यथा मोहोदयादेके-पूर्वमागामि चाभिलषन्ति, सर्वज्ञास्तु नैवमिति, तन्मार्गानुयाय्यप्येवंभूत एवेति दर्शयितुमाह-'विहूयकप्पे' इत्यादि, विविधम्-अनेकधा धूतमपनीतमष्टप्रकारं कर्म येन स विधूतः कोऽसौ कल्पः-आचारः। विधूतः कल्पो यस्य साधोः स विधूतकल्पः। स एतदनुदर्शी भवति; अतीतानागतसुखाभिलाषी न भवतीति यावत्, एतदनुदर्शी च किं गुणो भवतीत्याह-'निज्झोसइत्ता' इत्यादि, पूर्वोपचितकर्मणां निर्झोषयिता-क्षपकः; क्षपयिष्यति वा तृजन्तमेतल्लुडन्तं वा।

कर्मक्षपणायोद्यतस्य च धर्मध्यायिनः शुक्लध्यायिनो वा महायोगीश्वरस्य निरस्तसंसारसुखदुःखविकल्पाऽऽभासस्य यत्स्यात्तद्दर्शयति-

का अरई के आणंदे? इत्थं पि अग्गहे चरे। (सूत्र-११७×)

इष्टाऽप्राप्तिविनाशोत्थो मानसो विकारो रतिः,अभिलषिताऽर्थावाप्तावानन्दः योगिनश्चित्तस्य तु धर्मशुक्लध्यानावशावष्टब्धध्येयान्तरावकाशस्यारत्यानन्दयोरुपादानकारणाऽभावादनुत्थानमेव इत्यतोऽपदिश्यते-कयमरतिर्नाम को वाऽऽनन्द इति?, नास्त्येवैतरजनगुणोऽयं विकल्प इति। एवं तद्धारतिरसंयमे संयमे चाऽऽनन्द इत्येतदप्यत्रानुमतमनेनाभिप्रायेण न विधेयमित्येतदनिच्छतोऽप्यापन्नमिति चेत्, न,अभिप्रायापरिज्ञानात्; यतोऽत्राऽरतिरतिविकल्पाध्यवसायो निषिषित्सितो, न प्रसङ्गायते अप्यरत्यरती, तदाह'-एत्थं पी' त्यादि। अत्राप्यरत्यावानन्दे चोपसर्जनप्राये न विद्यते ग्रहो गार्द्ध्यं तात्पर्यं यस्य सो अग्रहः स एवंभूतश्चरेदवतिष्ठेत, इदमुक्तं भवति-शुक्लध्यानादरतौ रत्यानन्दौ कुतश्चिन्निमित्तादायातौ तदाग्रहग्रहरहितस्तावप्यनुचरेदिति। आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ०। परस्परं द्वयोर्द्वयोः पदयोरत्र विशेषणविशेष्यतया प्रत्यावृत्त्या-प्रातिकूल्येन गमनमागतिः। लक्षणविशेषे, विशे०। यथा "देवो जीव" इत्यत्र देवत्वमनूद्य जीवत्वं पृच्छयते इतीह प्रत्यावृत्त्या देवपदाज्जीवपदे आगतिः। विशे० २१५६ गाथा। आ० म०। (अस्याः भेदादिकम् 'गइरागइलक्खण' शब्दे तृतीयभागे वक्ष्यते)

आगइगइविण्णाण-आगतिगतिविज्ञान-न०। शुभाशुभपूर्वजन्मानागतजन्मनां निर्णये,आगत्या-आगमनेनास्खलिततरादियुक्तेन गतिविज्ञानम्,आगामिभवविज्ञानम्,आगतिविज्ञानम्। स्खलितास्खलितागमनेनागामिभवविज्ञाने च। पञ्चा०। "आगइगइविण्णाणं" ॥२५॥ आगतिगतिविज्ञानं-शुभाशुभपूर्वजन्मानागतजन्मनां निर्णयेन कार्यम्, अथवा-गत्या-गमननाऽस्खलिततरादियुक्तेन गतिविज्ञानम्, आगामिभवज्ञानमागतिविज्ञानम्, इह व्याख्याने समासितमपि गतिविज्ञानमित्येतत्पदं प्राकृतत्वेनोत्तरत्र संबन्धनीयम्। पञ्चा०२ विव०।

आगंतगार-आगन्तागार-पुं० न०। आगन्तुकानां कार्पटिकादीनामावासार्थे गृहे, सूत्र०। "आगंतगारे आरामगारे, समणे उ भीते ण उवेति वासं।" (२५+)। आगंतुकानां कार्पटिकादीनामगारमागन्तागारम्। सूत्र० २ श्रु० ६ अ०।

आगंता-आगन्तृ-त्रि०। आ समंताद् गन्ता। आगन्ता। सूत्र० १श्रु०२अ०१उ०। आगमनशीले, स्था०३ठा०२उ०।"आगंतारो महब्भयं" (३१×)। महाभयं पौनःपुन्येन संसारपर्यटनतया नारकादिस्वभावं दुःखमागन्तारः-आगमनशीला भवन्ति। सूत्र० २ श्रु० ११ अ०।

आगंतार-आगन्ताऽऽगार-पुं० न०। ग्रामबाह्याऽऽवासे, नि० चू०।"आगंतारो जत्थ" आगत्य विहरंतीति आगंतारो जत्थ आगारा आगंतु विहरंति तं आगंतागारं गामपरिसट्ठाणंति वुत्तं भवति। आगंतुगाण वा कयं अगारं आगंतागारं बाहियावासो त्ति। नि० चू०३ उ०। आगमा-रुक्खा तेहिं कतं अगारं आगंतु जत्थ चिट्ठंति आगारा तं आगंतागारं परिसमेतागारं गिहमावगतत्यर्थः। पज्जाओपव्वज्जा सो य चरगपरिव्वायगसक्कआजीवगमादि ऽण्णविधो। नि० चू०३ उ०। ('अण्णउत्थिय' शब्दे प्रथमभागे पृष्ठ ४६४ विस्तरो गतः)

आगन्तार-पुं०। न०। यत्र ग्रामादेर्बहिरागत्याऽऽगत्य पथिकादयस्तिष्ठन्ति तान्यागन्तागाराणि। आचा० २ श्रु०१ चू०२ अ०२ उ०। पत्तनाद्बहिर्गृहे आचा०२ श्रु०१ चू०१ अ०८ उ०। प्रसङ्गायाता आगत्य वा यत्र तिष्ठन्ति तदागन्तारं तत्पुनर्ग्रामान्तनगराद्बहिः स्थानम्। आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ०। औ०। (तत्र अन्ययूथिकगृहस्थेभ्योऽशनादिदाननिषेधः 'अण्णउत्थिय' शब्दे प्रथमभागे गतः)

आगंतारट्ठिय-आगन्तुकागारस्थित-त्रि०। आगन्तुकागारोषिते प्राघूर्णकादौ, बृ०।

आगंतारट्ठियाणं, कज्जे आदेसमाइणा केइ।
वसिउं विस्समिउं वा,छड्डिउं गया अणाभोगा ॥१०७१॥

इह यत्रागारिण आगत्याऽऽगत्य तिष्ठन्ति तदागन्तुकागारं तत्र कार्ये कारणविशेषतः स्थितानां प्रकृतस्तत्र अवतरति, कथमित्याह—आदेशप्राघूर्णकस्तथा कश्चित्पथिका आगन्तुकागारे रजन्यां वा समुपगता यावद् भोजनाय विश्राम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कृतवन्तः तत उषित्वा विश्रम्य वा किंचित् द्रव्यजातमनाभोगात्परित्यज्य गताः। बृ० ३ उ०। (तत्र कर्तव्यता 'वसहि' शब्दे षष्ठ भागे वक्ष्यते।)

आगंतु (ग) य-आगन्तुक-त्रि०। अन्यत आगते, बृ० ४ उ०। कार्पटिकादौ, सूत्र०।

उपसर्गमधिकृत्य—

आगंतुगो य पीला-करो य जो सो उवस्सग्गो ॥ ४५ ॥

अपरस्माद्-दिव्यादेरागच्छतीत्यागन्तुको योऽसावुपसर्गो भवति स च देहस्य संयमस्य वा पीडाकारी। सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ०। व्रणभेदमधिकृत्य- " आगंतुको य नाव्वो " आगन्तुकः-कण्टकादिप्रभवः। आव० ५ अ०।

आगच्छमाण-आगच्छत्-त्रि०। प्रतिनिवर्तिनि, भ० १२ श० ६ उ०।

आगम-आगम-पुं०। आ-गम्-घञ्। आगतौ, प्राप्तौ च। वाच०। " जण आगमो होइ " ॥ ३२ × ॥ आगमो भवति-प्राप्तिर्भवति। दश० १ अ०। उत्पत्तौ, सामाद्युपाये च। आगम्यते स्वत्वमनेन। स्वत्वप्रापके क्रयप्रतिग्रहादौ, वाच०। ज्ञाने, " आगमित्ता आणवेज्जा " (सूत्र-१५६ ×)। ज्ञात्वाऽऽज्ञापयेत्। आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ०। " लाघवं आगममाणा" (सूत्र-१८५ ×)। लाघवम् आगमयन्-अवबुध्यमानः। आचा० १ श्रु० ६ अ० ३ उ०।

नायं आगमियं ति, एगट्ठं जस्स सो परायत्तो।
सो पारोक्खो वुच्चइ, तस्स पएसा इमे हुन्ति ॥ २०८ ॥

ज्ञानमागमितमित्येकार्थमेवं च ज्ञानमागम इत्येकार्थमापतितम्, तत्र यस्य स आगमोऽपराधीनः स प्रत्यक्ष उच्यते सचाऽवध्यादिरूपः। यस्य तु परायत्तः स परोक्ष उच्यते स च चतुर्दशपूर्वादि समुत्थस्तस्य परोक्षस्यागमस्य प्रदेशाः; प्रतिभागा भेदा इत्यर्थः। व्य० १ उ०। (ते च 'आगमववहार' शब्देऽस्मिन्नेव भागे दर्शयिष्यते) आप्तवचनादाविर्भूतमर्थसंवेदनमागमः। उपचारादाप्तवचनं चेति। स्या० ३८ श्लोकटी०।

आप्तवचनादाविर्भूतमर्थसंवेदनमागमः इति ॥ १ ॥

आप्तः प्रतिपादयिष्यमाणस्वरूपः तद्वचनाज्जातमर्थज्ञानमागमः। आगम्यन्ते-मर्यादयावबुध्यन्तेऽर्थाः अनेनेत्यागमः। रत्ना० ४ परि०। शब्दार्थपरिज्ञाने, नयो० ८६ श्लोक। आ-अभिविधिना सकलश्रुतविषयव्याप्तिरूपेण, मर्यादया वा यथावस्थितप्ररूपणारूपया गम्यन्ते-परिच्छिद्यन्ते अर्था येन स आगमः। पुन्नाम्नि घः ॥ ५। ३। १३० ॥ इति करणे घप्रत्ययः। आ० म० १ अ० २१ गाथा। आणज्जंति अत्था जेण सो आगमो त्ति। आ० चू० १ अ० २१ गाथा। केवलमनः-पर्यायावधिज्ञाने, स्था० ५ ठा० २ उ० ४२१ सूत्र। पञ्चा०। आ० म०। नं०। व्य०। ध०। जी०। आ-समन्तात् गम्यन्ते वस्तुतत्त्वमनेनेत्यागमः। श्रुतज्ञाने, आ० म० १ अ० १ गाथा। आ० चू०। सर्वज्ञप्रणीतोपदेशे, आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० १६३ सूत्र। व्यो०। प्रतिविशिष्टवर्णानुपूर्वीविन्यस्तवर्णपदवाक्यसंघातात्मके आप्तप्रणीते (आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० २६ सूत्र।) गणधरादिविरचिते (दर्श० ३ तत्त्व ६ गाथा) द्वादशाङ्गादिरूपे (सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०) सिद्धान्ते, आ० म० १ अ०। ध० र०। पञ्चा०। सूत्र०। दर्श०। प्रश्न०। इहापारसंसारान्तर्गतेनाऽसुमताऽवाप्याऽतिदुर्लभं मनुजत्वं सुकुलोत्पत्तिसमग्रेन्द्रियसामग्र्याद्युपेतेनाऽर्हद्दर्शनमशेषकर्मोच्छित्तये यतितव्यम्। कर्मोच्छेदश्च सम्यग्विवेकसव्यपेक्षोऽसावप्याप्तोपदेशमन्तरेण न भवति, आप्तश्चात्यन्तिकाद्दोषक्षयात्, सचार्हन्नेव, अतस्तत्प्रणीतागमपरिज्ञाने यत्नो विधेयः। आगमश्च द्वादशाङ्गादिरूपः, सोऽप्यार्यरक्षितमिश्रैरैदंयुगीनपुरुषानुग्रहबुद्ध्या चरणकरणद्रव्यधर्मकथागणितानुयोगभेदाच्चतुर्धा अवस्थापितः। सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०।

आप्तवचनादाविर्भूतमर्थसंवेदनमागमः इति ॥१॥

रत्ना० ४ परि०। (अस्य सूत्रस्य व्याख्याऽस्मिन्नेव शब्दे प्रागता) उपचारादाप्तवचनं, रत्ना०।

ननु यद्यर्थसंवेदनमागमः तर्हि कथमाप्तवचनात्मकोऽसौ सिद्धान्तविदां सिद्ध इत्याशङ्क्याहुः—

उपचारादाप्तवचनं चेति ॥ २ ॥

प्रतिपाद्यज्ञानस्य ह्याप्तवचनं कारणमिति कारणे कार्योपचारात्तदप्यागम इत्युच्यते। रत्ना० ४ परि०। स्या०। अनु०। दर्श०। दश०। आ० चू०। वचने, यो० वि०। सूत्रे, आगमश्च वन्दनकसूत्रादिकम्। आव० ४ अ०। श्रुतिस्मृत्यादिके, उत्त० २५ अ०। आ-मर्यादाभिविधिभ्यां परिच्छिद्यन्ते अर्था अनेनेत्यागमः। चतुर्दशकदशकनवमपूर्वे च। पञ्चा० १६ विव०। शेषं-श्रुतमाचारप्रकल्पादिकं श्रुतं नवादिपूर्वाणां श्रुतत्वेऽप्यतीन्द्रियार्थज्ञानहेतुत्वेन सातिशयत्वादागमव्यपदेशः केवलवद्। स्था० ५ ठा० २ उ०।

आगमव्यवहारिणमधिकृत्योक्तम्—

केवलमणो हि चोद्दस, दस नव पुव्वी उ नायव्वो ॥ १३५ ॥ व्य० १ उ०।

(चतुर्दशक दशक नवमपूर्वस्यागमत्वं, तदितरस्य श्रुतत्वं) श्रुतव्यवहाराश्चाचाराङ्गादीनामष्टपूर्वान्तानामेव यदुक्तम्-'आयारपकप्पाई, सेसं सव्वं सुयं विणिद्दिट्ठं।" अत्राह कश्चित्-किमष्टपूर्वान्तमेव श्रुतं, नवमपूर्वादीनां न श्रुतत्वम्, उच्यते-आगम्यन्ते-परिच्छिद्यन्ते अतीन्द्रियाः पदार्था येन स आगम इति व्युत्पत्तेः, नवमपूर्वादीनां श्रुतत्वाविशेषे केवलज्ञानादिवदतीन्द्रियार्थेषु विशिष्टज्ञानहेतुत्वेन सातिशयत्वादागमत्वेनैव व्यपदेशः शेषश्रुतस्य तु नाऽतीन्द्रियार्थेषु तथाविधोऽवबोधस्ततोऽस्मिन्श्रुतव्यवहारः। जीत०। व्य०। आगम्यन्ते परिच्छिद्यन्ते अर्था अनेनेत्यागमः। प्रमाणभेदे, स्था०। स च आप्तवचनसम्पाद्यो विप्रकृष्टार्थप्रत्ययः। उक्तञ्च-

" दृष्टेष्टाव्याहताद्वाक्यात्, परमार्थाभिधायिनः।
तत्त्वग्राहितयोत्पन्नं, मानं शाब्दं प्रकीर्तितम् ॥ १ ॥
आप्तोपज्ञमनुल्लङ्घ्य-मदृष्टेष्टविरोधकम्।
तत्त्वोपदेशकृत्सार्वं, शास्त्रं कापथघट्टनम् " ॥ २ ॥ इति। स्था० ४ ठा० ३ उ०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषयसूचनार्थमधिकाराङ्काः—

(१) आगमभेदाः ।
(२) आगमस्य स्वतः प्रामाण्यम् ।
(३) आगमस्य पौरुषेयत्वम् ।
(४) आगमआऽऽप्तप्रणीत एव प्रमाणम् ।
(५) सर्वज्ञस्यैवाऽऽगमस्य प्रामाण्यं, न वेदस्यैव ।
(६) मूलाऽऽगमप्रामाण्यम् , नेतराऽऽगमप्रामाण्यम् ।
(७) प्रमाणान्तराविषय एवाऽऽगमविषयः ।
(८) आगमप्रमाणस्यानुमानप्रमाणेऽन्तर्भावः ।
(९) आगमप्रामाण्ये संवादित्वम् ।
(१०) शब्दस्य बाह्यार्थप्रामाण्यम् ।
(११) अपोहः शब्दार्थ इति बौद्धाः ।
(१२) अर्थः किंस्वरूपः ।
(१३) वाच्यवाचकभावः ।
(१४) वाचकरूपस्य शब्दस्य विचारः ।
(१५) स्फोटः शब्दः। (इति 'फोड' शब्दे ५ भागे वक्ष्यते ।)
(१६) जैनानां वाचकः शब्दः ।
(१७) शब्दनित्यत्वविचारः ।
(१८) शब्दार्थयोः सम्बन्धः ।
(१९) शब्दार्थयोर्वाच्यवाचकभावः सम्बन्धः ।
(२०) आगमद्वैविध्यम् हेतुवादाऽहेतुवादभेदात् ।
(२१) आगमस्य सर्वव्यवहारानियामकत्वम् ।
(२२) आगमस्यैव प्रामाण्यम् धर्ममार्गे, मोक्षमार्गे च ।
(२३) जिनाऽऽगमस्यैव सत्यत्वम् ।
(२४) जिनाऽऽगमपूजासत्कारः ।
(२५) आगमशब्दस्य अर्थान्तराणि ।

(१) आगमभेदाः—

से किं तं आगमे ?. आगमे दुविहे पएणत्ते, तं जहा–लोइए अ, लोउत्तरिए अ । से किं तं लोइए ?, लोइए जएणं इमं अएणाणिएहिं मिच्छादिट्ठीएहिं सच्छंदबुद्धिमइविगप्पियं । तं जहा–भारहं, रामायणं ०जाव चत्तारि वेआ संगोवंगा । से तं लोइए आगमे । से किं तं लोउत्तरिए ?, लोउत्तरिए–जएणं इमं अरिहंतेहिं भगवंतेहिं उप्पएणणाणदंसणधरेहिं तीयपच्चुप्पएणमणागयजाणएहिं तिलुक्कवहिअमहिअपूइएहिं सव्वएणूहिं सव्वदरसीहिं पणीअं दुवालसंगं गणिपिडगं, तं जहा–आयारो ०जाव दिट्ठिवाओ । (सूत्र–१४७ ×)

'से किं तं आगमे' इत्यादि, गुरुपारंपर्येणागच्छतीत्यागमः, आ–समन्ताद्गम्यन्ते–ज्ञायन्ते जीवादयः पदार्था अनेनेति वा आगमः, अयं च द्विधा प्रज्ञप्तः । अनु० । भ०। ज्ञा० ।

अहवा आगमे तिविहे पएणत्ते, तं जहा–सुत्ताऽऽगमे, अत्थाऽऽगमे, तदुभयाऽऽगमे । (सूत्र–१४७ +)

'अहवा आगमे तिविहे' इत्यादि, तत्र सूत्रमेव सूत्रागमः, तदभिधेयश्च अर्थ एवाऽर्थागमः, सूत्रार्थोभयरूपस्तु तदुभयागमः ।

अहवा–आगमे तिविहे पएणत्ते, तं जहा–अत्ताऽऽगमे १, अणंतराऽऽगमे २, परंपराऽऽगमे ३ । तित्थगराणं अत्थस्स अत्तागमे, गणहराणं सुत्तस्स अत्तागमे, अत्थस्स अणंतरागमे । गणहरसीसाणं सुत्तस्स अणंतरागमे, अत्थस्स परंपरागमे । तेणं परं सुत्तस्स वि अत्थस्स वि णो अत्तागमे, णो अंतरागमे, परंपरागमे । (सूत्र–१४७ +)

अथवा–अनेन प्रकारेणागमस्त्रिविधः प्रज्ञप्तः, तद्यथा–'आत्मागम' इत्यादि, तत्र गुरूपदेशमन्तरेणात्मन एव आगम आत्मागमो—यथा, तीर्थकराणामर्थस्यात्मागमः, स्वयमेव केवलोपलब्धेः, गणधराणां तु सूत्रस्यात्मागमः स्वयमेव ग्रथितत्वात् , अर्थस्यानन्तरागमोऽनन्तरमेव तीर्थकरादागतत्वात् , उक्तं च–'अत्थं भासइ अ (रि) रहा, सुत्तं गंथंति गणहरा निउणमि' त्यादि । गणधरशिष्याणां जम्बूस्वामिप्रभृतीनां सूत्रस्याऽनन्तरागमः–अव्यवधानेन गणधरादेव श्रुतेः, अर्थस्य परंपरागमः–गणधरेणैव व्यवधानात् । तत ऊर्ध्वं प्रभवादीनां सूत्रस्यार्थस्य च नात्मागमो नानन्तरागमस्तल्लक्षणायोगात् ; अपि तु परंपरागम एव । अनेन आगमस्य तीर्थकरादिप्रभवत्वभणनेनैकान्ताऽपौरुषेयत्वं निवारयति । पौरुषताल्वादिव्यापारमन्तरेण नभसीव विशिष्टशब्दानुपलब्धेस्ताल्वादिभिरभिव्यज्यत एव शब्दो न तु क्रियत इति चेत् , ननु यद्येवं तर्हि सर्ववचसामपौरुषेयत्वप्रसङ्गस्तेषां भाषापुद्गलनिष्पन्नत्वाद् भाषापुद्गलानां च लोके सर्वदैवावस्थानतो वर्ण्यक्रियमाणता अयोगेन ताल्वादिरभिव्यक्तिमात्रस्यैव निर्वर्त्तनात् । न च वक्तव्यं वचनस्य पौद्गलिकत्वमसिद्धं महाध्वनिपटलपूरितश्रवणबाधिर्यकुड्यस्खलनाद्यन्यथानुपपत्तेः, तस्मान्नैकान्तेनाऽपौरुषेयमागमवचस्ताल्वादिव्यापाराभिव्यङ्ग्यत्वाद्वचसादिवाक्यवादित्याद्यन्यत्र बहुवक्तव्यं, तत्तु नोच्यते स्थानान्तरनिर्णीतत्वादिति । 'सत्तं लोगुत्तरिए' इत्यादि निगमनत्रयम् । अनु० । भ० । अङ्ग० । नि० चू० । सूत्र० । " आगमो दुविहो–लोइओ, लोउत्तरिओ य । लोइओ चोद्दसविज्जाट्ठाणाणि " " अङ्गानि चतुरो वेदा, मीमांसा न्यायविस्तरः । धर्मशास्त्रं पुराणं च. विद्याश्चैताश्चतुर्दश ॥१॥" (अस्य श्लोकस्य व्याख्या)–तत्राऽङ्गानि षट् ६,तद्यथा–शिक्षा१, कल्पो२, व्याकरणं ३, छन्दो ४, निरुक्तं ५, ज्योतिषं ६, चेति । "लोउत्तरो दुवालस१२, अंगा, चोद्दस१४,पुव्वाणि य" । आ० चू० १ अ० । आ० म० । ('सुय' शब्दे सप्तमे भागे प्रकारान्तरेण निक्षेपः)

(२) आगमस्य च स्वतः प्रामाण्यम्—

सिद्धं सिद्धट्ठाणं ठाणमणोवमसुहमुवगयाणं ।
कुसमयविसासणं सा–सणं जिणाणं भवजिणाणं ॥१॥

अस्याश्च समुदायार्थ एतत्पातनिकयैव प्रकाशितः. अवयवार्थस्तु प्रकाश्यते–शास्यन्ते जीवादयः पदार्था यथावस्थितत्वेनानेनेति शासनं–द्वादशाङ्गम् , तच्च सिद्धं–प्रतिष्ठितं–निश्चितप्रामाण्यमिति यावत् , स्वमहिम्नैव नाऽतः प्रकरणात्प्रतिष्ठाप्यम् । सम्म० १ काण्ड ।

शब्दसमुत्थस्य त्वभिधेयविषयज्ञानस्य यदि प्रामाण्यमभ्युपगम्यते तदा–अपौरुषेयत्वस्यासंभवाद् गुणवत्पुरुषप्र–

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

णीतस्तदुत्पादकः शब्दोऽभ्युपगन्तव्यः, अथ तत्प्रणीतत्वं नाऽभ्युपगम्यते तदा तत्समुत्पन्नज्ञानस्य प्रामाण्यमपि न स्यादित्यभिप्रायवानाचार्यः प्राह-जिनानां रागद्वेषमोहलक्षणान् शत्रून् जितवन्त इति जिनास्तेषां शासनं तदभ्युपगन्तव्यमिति प्रसङ्गसाधनम् । ननु चाऽत्रेदं प्रेर्य-यदि जिनशासनं जिनप्रणीतत्वेन सिद्धं निश्चितप्रामाण्यमभ्युपगमनीयम् ; अन्यथा प्रमाण्यस्याप्यनभ्युपगमनीयत्वादिति प्रसङ्गसाधनमत्र प्रतिपाद्यत्वेनाभिप्रेतं तत्किमिति बौद्धयुक्त्यपहस्तेन त्वया स्वतः प्रामाण्यनिरासोऽभिहितः ?, यतः सर्वसमयसमूहात्मकत्वमेवाऽऽचार्येण प्रतिपादयितुमभिप्रेतम् । बहुवस्यस्यैव प्रकरणस्य परिसमाप्तौ, यथा-" भद्दं मिच्छद्दंसणसमूहमइयस्स अमयसारस्स । जिणवयणस्स भगवओ, संविग्गसुहाहिगम्मस्स " ॥ ७० ॥ (अस्यैव ग्रन्थस्य तृतीयकाण्डगाथेयम्) इत्यादि । अयमेवार्थो बौद्धयुक्त्युपन्यासेन समर्थितः, अन्यत्राप्यन्यमतोऽपक्षेपेणान्यमतनिरासेऽयमेवाभिप्रायो द्रष्टव्यः, सर्वनयानां परस्परसापेक्षाणां सम्यग्मतत्वेन, विपरीतानां विपर्ययत्वेनाचार्यस्येष्टत्वात्, अत एवोक्तमनेनैव (चतुर्थ) द्वात्रिंशिकायाम्-"उदधाविव सर्वसिन्धवः, समुदीर्णास्त्वयि नाथ ! दृष्टयः । न च तासु भवान् प्रदृश्यते, प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधिः ॥ १ ॥" सम्म० १ काण्ड १ गाथाटी० ।

(३) आगमस्य पौरुषेयत्वम्—

स हि पौरुषेयो वा स्यादपौरुषेयो वा ? । पौरुषेयश्चेत्सर्वज्ञकृतः, तदितरकृतो वा ?। आद्यपक्षे-युष्मन्मतव्याहतिः। तथा च भवत्सिद्धान्तः-" अतीन्द्रियाणामर्थानां, साक्षाद् द्रष्टा न विद्यते । नित्येभ्यो वेदवाक्येभ्यो, यथार्थत्वविनिश्चयः॥ १ ॥" द्वितीयपक्षे तु-तत्र दोषवत्कर्तृकत्वेनाऽनाश्वासप्रसङ्गः । अपौरुषेयश्चेन्न सम्भवत्येव स्वरूपनिराकरणात् ; तुरङ्गशृङ्गवत्। तथाहि- " उक्तिर्वचनमुच्यते " इति चेति पुरुषक्रियानुगतं रूपमस्य । एतत्क्रियाभावे कथं भवितुमर्हति । नचैतत्केवलं क्वचिद्ध्वनदुपलभ्यते उपलब्धावप्यदृश्यवक्त्राशङ्कासम्भवात् तस्माद्यद्वचनं तत्पौरुषेयमेव , वर्णात्मकत्वात् कुमारसम्भवादिवचनवत् । वचनात्मकश्च वेदः, तथाचाहुः-"ताल्वादिजन्मा न तु वर्णवर्गो , वर्णात्मको वेद इति स्फुटश्च । पुंसश्च ताल्वादि ततःकथं स्या-दपौरुषेयोऽयमिति प्रतीतिः " ॥ १ ॥ इति । श्रुतेरपौरुषेयत्वमुररीकृत्यापि तावद्भवद्भिरपि तदर्थव्याख्यानं पौरुषेयमेवाङ्गीक्रियते । अन्यथा-"अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः " इत्यस्य स्वमांसं भक्षयेदिति किं नार्थो नियामकाभावात्, ततोऽवरं सूत्रमपि पौरुषेयमभ्युपगतम्। अस्तु वा अपौरुषेयस्तथाऽपि तस्य न प्रामाण्यम् आप्तपुरुषाधीना हि वाचां प्रमाणतेति । स्या० ११श्लोक।

जयइ सुयाणं पभवो, (२+गाथा)

श्रुतानां-स्वदर्शन-परदर्शनानुगतसकलशास्त्राणां प्रभवन्ति सर्वाणि शास्त्राणि अस्मादिति प्रभवः-प्रथममुत्पत्तिकारणं, तदुपदिष्टमर्थमुपजीव्य सर्वेषां शास्त्राणां प्रवर्त्तनात् , परदर्शनशास्त्रेष्वपि हि यः कश्चित्समीचीनोऽर्थः संसारासारतास्वर्गापवर्गादिहेतुः प्राण्यहिंसादिरूपः स भगवत्प्रणीतशास्त्रेभ्य एव समुद्धृतो वेदितव्यो , न खल्वतीन्द्रियार्थपरिज्ञानमन्तरेणातीन्द्रियः प्रमाणाबाधितोऽर्थः पुरुषमात्रेणोपदेष्टुं शक्यते , अविषयत्वात् । नच-अतीन्द्रियार्थपरिज्ञानं परतीर्थिकानामस्तीत्येतदग्रे वक्ष्यामः । ततस्ते भगवत्प्रणीतशास्त्रेभ्यो मौलं समीचीनमर्थलेशमुपादाय पश्चादभिनिवेशवशतः स्वस्वमत्यनुसारेण तास्ताः स्वप्रक्रियाः प्रपञ्चितवन्तः॥ उक्तं च स्तुतिकारेण-" सुनिश्चितं नः परतन्त्रयुक्तिषु , स्फुरन्ति याः काश्चन सूक्तिसम्पदः । तवैव ताः पूर्वमहार्णवोत्थिताः, जगत्प्रमाणं जिनवाक्यविप्रुषः ॥१॥" शाकटायनोऽपि यापनीययतिग्रामाग्रणीः स्वोपज्ञशब्दानुशासनवृत्त्यादौ भगवतः स्तुतिमेवमाह-" श्रीवीरममृतं ज्योतिर्-नत्वादिं सर्ववेदसाम् " अत्र च न्यासकृतो व्याख्या-'सर्ववेदसां'-सर्वज्ञानानां-स्वपरदर्शनसम्बन्धिसकलशास्त्रानुगतपरिज्ञानानाम् ' आदिं ' प्रभवं प्रथममुत्पत्तिकारणमिति । अत एव चेह श्रुतानामित्यत्र बहुवचनम् , अन्यथैकवचनमेव प्रयुज्यते प्रायः श्रुतशब्दस्य केवलद्वादशाङ्गमात्रवाचिनः सर्वत्रापि सिद्धान्ते एकवचनान्ततया प्रयोगदर्शनात् , सर्वश्रुतकारणत्वेन च भगवतः स्तुतिप्रतिपादने इदमप्यावेदितं द्रष्टव्यम्-सर्वाण्यपि श्रुतानि पौरुषेयाण्येव , न किमप्यपौरुषेयमस्ति , असंभवात् । तथाहि-शास्त्रं वचनात्मकम् । वचनं च ताल्वोष्ठपुटपरिस्पन्दादिरूपपुरुषव्यापारान्वयव्यतिरेकानुविधायि , तत्कथं तदभावे भवति ?, न खलु पुरुषव्यापारमन्तरेण वचनमाकाशे ध्वनदुपलभ्यते । अपि च—तदपौरुषेयं वचनमकारणत्वान्नित्यमभ्युपगम्यते, ' सदकारणवन्नित्य ' मिति वचनप्रामाण्यात् । ततश्च—अत्र विकल्पयुगलमवतरीयते, तदपौरुषेयं वचः किमुपलभ्यस्वभावम् ; उताऽनुपलभ्यस्वभावं वा ? । तत्र यद्यनुपलभ्यस्वभावं तर्हि तस्य नित्यत्वेनाभ्युपगमात्कदाचिदपि स्वभावाऽप्रच्युतेः सर्वदैवोपलम्भाभावप्रसङ्गः, अथोपलम्भस्वभावं तर्हि सर्वदानुपरमेणोपलभ्येत, अन्यथा-तत्स्वभावताहानिप्रसङ्गात् , अथोपलभ्यस्वभावमपि सहकारिप्रत्ययमपेक्ष्योपलम्भमुपजनयति तेन न सर्वदोपलम्भप्रसङ्गः । तदयुक्तम् , एकान्तनित्यस्य सहकार्यपेक्षया अयोगात् , ततो विशेषप्रतिलम्भलक्षणा हि तस्य तत्रापेक्षा, यदाह-धर्मकीर्तिः-' अपेक्षाया विशेषप्रतिलम्भलक्षणत्वात् ' इति । न च नित्यस्य विशेषप्रतिलम्भोऽस्ति,अनित्यत्वापत्तेः । तथाहि-स विशेषप्रतिलम्भः तस्यात्मभूतः,ततो विशेषे जायमाने स एव पदार्थस्तेन रूपेण जातो भवति, प्राक्तनं च विशिष्टावस्थालक्षणं रूपं विनष्टमित्यनित्यत्वापत्तिः । अथोच्येत-स विशेषप्रतिलम्भो न तस्यात्मभूतः किं तु व्यतिरिक्तः कथमनित्यत्वापत्तिः ?, यद्येवं तर्हि कथं स तस्य सहकारी न हि तेन सहकारिणा तस्य वचनस्य किमप्युपक्रियते, भिन्नविशेषकरणात् , अथ भिन्नोऽपि विशेषतस्तस्य संबन्धी तेन तत्संबन्धिविशेषकरणात् तस्याप्युपकारी द्रष्टव्य इति सहकारी व्यपदिश्यते, ननु विशेषेणापि सह तस्य वचनस्य कः संबन्धो न तावत् 'तादात्म्यं'भिन्नत्वेनाभ्युपगमात् , नापि तदुत्पत्तिः, विकल्पद्वयानतिक्रमात् , तथाहि-किं वचनेन विशेषो जन्यते ?; उत विशेषेण वचनं ?, तत्र न तावदाद्यः पक्षः; विशेषस्य सहकारिणोऽभावात् , नापि द्वितीयः व-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चनस्य नित्यतया कर्त्तुमशक्यत्वात्, अथ मा भूद् वचन-
विशेषयोर्जन्यजनकभावः, 'आधाराऽऽधेयभावो' भविष्यति,
तदप्यसमीचीनम्, आधाराऽऽधेयभावस्यापि परस्परोपका-
र्योपकारकभावाविनाभावित्वात्, तथाहि-बदरं पतनधर्मकं स-
त्कुण्डेन स्वानन्तरदेशस्थायितया परिणामि जन्यते, तत-
स्तयोराधाराधेयभाव उपपद्यते; वचनेन तु विशेषो जन्यते,
तस्यान्यतो भावात्, ततः कथमनयोराधाराधेयभावः ?।
अथ तेन विशेषेण वचनस्योपकारः कश्चित् क्रियते ततः स
तस्य संबन्धी, न तु स उपकारस्ततो भिन्नः, अभिन्नो वे-
त्यादि तदेवावर्तते इत्यनवस्था। अपि च-कुतः प्रमाणाद्वचन-
स्यापौरुषेयत्वाभ्युपगमः, कर्त्तुरस्मरणादितिचेत्, न, तस्या-
प्यसिद्धत्वात्, तथाहि-स्मरन्ति-जिनप्रणीतागमतत्त्ववेदिनो
वेदस्य कर्तॄन् पिप्पलादप्रभृतीन् सकर्तृस्मरणवादस्तेषां मि-
थ्यारूप इति चेत्, क इदानीमेवं सति पौरुषेयः सर्वस्या-
प्यपौरुषेयत्वप्रसक्तेः। तथाहि-कालिदासादयोऽपि कुमार-
संभवादिष्वात्मानमन्यं वा प्रणेतारमुपदिशन्त एवं प्रतिक्षेप्तुं
शक्यन्ते मिथ्यात्वमात्मानमन्यं वा कुमारसंभवादिषु प्रणे-
तारमुपदिशन्तीति। ततः कुमारसंभवादयोऽपि ग्रन्थाः स-
र्वेऽप्यपौरुषेया भवेयुः, तथा च-कः प्रतिविशेषो वेदे ?
येन स एव प्रमाणतयाभ्युपगम्यते; न शेषाऽऽगमाः। अपि च-
यौष्माकीणैरपि पूर्वमहर्षिभिः सकर्तृकत्वं वेदस्याभ्युपगत-
मेव, तथा च-तद्ग्रन्थः-" ऋग्गिराबृचश्चक्रुः सामानि
सामगिराविति"। अथ तत्र करोतिः स्मरणे वर्त्तते, न निष्पा-
दने, दृष्टश्च करोतिरर्थान्तरेऽपि वर्तमानो, यथा संस्का-
रे, तथा च लोके वक्तारः-'पृष्ठं मे कुरु पादौ मे कुर्विति'
अत्र हि संस्कार एव करोतिर्वर्तते, नापूर्वनिर्वर्त्तने संभ-
वति अशक्यक्रियत्वात्, ततोऽन्यथानुपपत्त्या संस्कार एव
करोतिर्वर्त्तते, वेदविषये तु नान्यथानुपपन्नत्वं किमपि निब-
न्धनमस्ति। ततः कथं तत्र स्मरणे वर्तयितुं शक्यते ?, स्या-
देतत्-यदि वेदविषये करोतिः स्मरणेन वर्तेत तर्हि वेद-
स्य प्रामाण्यं न स्याद्, अथ च प्रामाण्यमभ्युपगम्येत,
तच्चापौरुषेयत्वादेव, अन्यथा सर्वागमानामपि प्रामाण्य-
प्रसक्तेः। ततोऽत्रापि करोतिः प्रामाण्यान्यथानुपपत्त्या स्म-
रणे वर्त्य इति, तदेतदसत्, इतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गात्,
तथाहि-प्रामाण्ये सिद्धे सति तदन्यथानुपपत्त्या करोतेः
स्मरणे वर्त्तनं, करोतेः स्मरणे वृत्तौ चापौरुषेयत्वसिद्धितः
प्रामाण्यमित्येकाऽसिद्धावन्यतराऽसिद्धिः, अनैकान्तिकं च
कर्त्तुरस्मरणं, 'वटे वटे वैश्रवणः' इत्यादिशब्दानां पौरुषेया-
णामपि कर्त्तुरस्मृतेः यत्नवान् तत्कर्तारमुपलभत एवेति चेत्,
नावश्यं तदुपलम्भसंभवः, नियमाभावात्, किं च-पौरुषे-
यत्वेनाभ्युपगतस्य वेदस्य कर्त्ता नैवास्ति कश्चित् पौरुषे-
यत्वेनाभ्युपगतस्य च वटे वटे वैश्रमण इत्यादिरस्तीति न प्र-
माणात् कुतश्चिद्विनिश्चयः, किं तु-परोपदेशात्, स च भ-
वतो न प्रमाणं, परस्य रागादिपरीतत्वेन यथावद्वस्तु-
तत्त्वापरिज्ञानात्, ततः कर्तृभावसंदेह इति संदिग्धासि-
द्धोऽप्ययं हेतुः, एतेन यदन्यदपि साधनमवादीत् वेद-
वादी-'वेदाध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकं' वेदाध्ययनत्वाद्,
अधुनातनवेदाध्ययनवदिति। तदपि निरस्तमवसेयम्।

एवमपौरुषेयत्वसाधने सर्वस्याप्यपौरुषेयत्वप्रसक्तेः, त-
थाहि—कुमारसंभवाध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकं, कु-
मारसंभवाध्ययनत्वात्, इदानीतनकुमारसंभवाध्ययनवदि-
ति कुमारसंभवादीनामध्ययनाऽनादितासिद्धेरपौरुषेयत्वं दु-
र्निवारम्, न च तेषामपौरुषेयत्वं स्वयं करणपूर्वकत्वेनापि
तदध्ययनस्य भावाद् एवं वेदाध्ययनमपि किंचित् स्वयं
करणपूर्वकमपि भविष्यतीति वेदाध्ययनत्वादिति व्यभि-
चारी हेतुः, स्यादेतत्, वेदाऽध्ययनम् स्वयं करणपू-
र्वकं न भवति, वेदानां स्वयं कर्तुमशक्तेः। तथा चात्र
प्रयोगः- पूर्वेषां वेदरचनायामशक्तिः, पुरुषत्वाद्, इदा-
नींतनपुरुषवदिति, तदप्ययुक्तम् अत्रापि हेतोर्व्यभिचारात्,
तथाहि--भारतादिष्विदानींतनपुरुषाणामशक्तावपि कस्य-
चित्पुरुषस्य व्यासादेः शक्तिः श्रूयते, एवं वेदविषयेऽपि,
संप्रति पुरुषाणां कर्तुमशक्तावपि कस्यचित्प्राक्तनस्य पुरु-
षविशेषस्य शक्तिर्भविष्यतीति। अपि च-यथाग्निसामान्य-
स्य ज्वालाप्रभवत्वमरणिनिर्मथनप्रभवत्वं च परस्परमबाध्य-
बाधकत्वान्न विरुध्यते, को ह्यत्र विरोधः अग्निश्च स्यात् क-
दाचिदरणिनिर्मथनपूर्वकः कदाचित् ज्वालान्तरपूर्वकश्च।
ततो यथाऽऽद्योऽपि पथिककृतोऽग्निर्ज्वालान्तरपूर्वको
नारणिनिर्मथनपूर्वकः पथिकाऽग्नित्वाद् आद्यानन्तराग्नि-
वदित्ययं हेतुर्व्यभिचारी, विपक्षे वृत्तिसंभवात्, तथा वे-
दाध्ययनमपि विपक्षे वृत्तिसंभवात् व्यभिचार्येव, तथाहि-
वेदाध्ययने स्वयंकरणपूर्वकत्वमध्ययनान्तरपूर्वकत्वं च प-
रस्परमबाध्यबाधकत्वादविरुद्धं, ततश्च वेदाध्ययनमपि
स्यात्किंचित् स्वयंकरणपूर्वकमपीति, यदा त्वेवं विशिष्यते-
यस्तु तथाविधः स्वयं कृत्वा अध्येतुमसमर्थः तस्य वेदा-
ध्ययनमध्ययनान्तरपूर्वकमिति तदा न कश्चिद्दोषः, यथा
यादृशोऽग्निर्ज्वालाप्रभवो दृष्टः तादृशः सर्वोऽपि ज्वालाप्रभव
इति, अस्तु वा सर्वं वेदाऽध्ययनमध्ययनान्तरपूर्वकं, तथाऽ-
प्येवमनादिता सिद्ध्येद्वेदस्य; नापौरुषेयत्वम्, अथाऽत एवा-
नादितामात्रादपौरुषेयत्वसिद्धिरिष्यते तर्हि डिम्भकपांशु-
क्रीडादेरपि पुरुषव्यवहारस्याऽपौरुषेयतापत्तिः, तस्यापि
पूर्वपूर्वदर्शनप्रवृत्तित्वेनाऽनादित्वात्।

अपि च-स्युरपौरुषेया वेदा यदि पुरुषाणामादिः स्या-
द्वेदाध्ययनं चानादि, तदाप्याद्यपुरुषस्याध्ययनमध्ययनान्तर-
पूर्वकं न सिद्ध्यति, अध्यापयितुरभावात्, न च पुरुषस्य
ताल्वादिकरणग्रामव्यापाराभावात् स्वयं शब्दा ध्वनन्ति
ततो वेदस्य प्रथमोऽध्येता कर्त्तैव वेदितव्यः, अपि च-
यद्वस्तु यद्धेतुकमन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रसिद्धं तज्जातीयमन्य-
दप्यदृष्टहेतुकं ततो हेतोर्भवतीति संप्रतीयते, यथेन्धनादेको
वह्निर्दृष्टस्ततस्तत्समानस्वभावोऽपरोऽप्यदृष्टहेतुकः तत्स-
मानहेतुकः संप्रतीयते, लौकिकेन च शब्देन समानधर्मा
सर्वोऽपि वैदिकः शब्दराशिः, ततो लौकिकवद्वैदिकोऽपि
शब्दराशिः पौरुषेयः सम्प्रतीयताम्। स्यादेतद्वैदिकेषु शब्देषु
यद्यपि न पुरुषो हेतुः, तथापि पौरुषेयाभिमतशब्दसमाना-
ऽवाशिष्टपदवाक्यरचना भविष्यति ततः कथं तत्समान-
धर्मतामवलोक्य पुरुषहेतुकता तेषामनुमीयते, तदेतद्
बालिशजल्पितं पदवाक्यरचना हि यदि हेतुमन्तरेणापी-
ष्यते तत आकस्मिकी सा भवेत् ततश्चाकाशादावपि सा
सर्वत्र संभवेत्, अहेतुकस्य देशादिनियमायोगात्, न च

सा सर्वथाऽपि संभवति, तस्मात् पुरुष एव तस्या हेतुरित्यवश्यं प्रतिपत्तव्यम्, अन्यच्च पुरुषस्य रागादिपरीतत्वेन यथावद् वस्तुपरिज्ञानाऽभावात् तत्प्रणीतं वाक्यमयथार्थमपि संभाव्यते इति संशयहेतुः पुरुषोऽपकीर्णः, स च संशयोऽपौरुषेयत्वाभ्युपगमेऽपि वेदवाक्यानां तदवस्थ एव, तथाहि-स्वयं तावत्पुरुषो वेदस्यार्थं नाऽवबुध्यते, रागादिपरीतत्वात्, नाऽप्यन्यतः-पुरुषान्तरात्, तस्यापि रागादिपरीतत्वेन यथा तत्त्वमपरिज्ञानाद्, अथ जैमि(म)निश्चिरतरपूर्वकालभावी पटुप्रज्ञः सम्यग्वेदार्थस्य परिज्ञातासीत् ततः परिज्ञानमभूदिति, न हि सर्वेऽपि पुरुषाः समानाः प्रज्ञामेधादिगुणैरिति वक्तुं शक्यं, संप्रत्यपि प्रतिपुरुषं प्रज्ञादेस्तारतम्यस्य दर्शनात्, ननु स जैमि(म)निः पुरुषो वेदस्यार्थं यथावस्थितमवगच्छति-स्मेति कुतो निश्चयः?, प्रमाणेन संवादादिति चेत् नन्वतीन्द्रियेष्वर्थेषु न प्रमाणस्यावतारो यथाऽग्निहोत्रवचनस्य स्वर्गसाधनत्वे, बहवश्चातीन्द्रियार्था वेदे व्यावर्ण्यन्ते, तत्कथं तत्र संवादः?, अथ येष्वर्थेष्वस्मादृशां प्रमाणसंभवः तद्विषये प्रमाणसंवाददर्शनादतीन्द्रियाणामप्यर्थानां स सम्यक् परिज्ञाताऽभ्युपगम्यते,तदप्ययुक्तम्, रागादिकलुषिततया तस्याऽतीन्द्रियार्थपरिज्ञानाऽसंभवाद्, अन्यथा सर्वेषामप्यतीन्द्रियार्थदर्शित्वप्रसक्तिः ततस्तत्कृतातीन्द्रियार्थव्याख्या मिथ्यैव।

अपिच--आगमोऽर्थतः परिज्ञातः सन् प्रेक्षावतामुपयोगविषयो भवति, नापरिज्ञातार्थो शब्दगडुमात्रं, ततोऽर्थः प्रधानः, स चेत्पुरुषप्रणीतः किं शब्दमात्रस्याऽपौरुषेयत्वपरिकल्पनेन निरर्थकत्वात्, तथाऽन्यतोऽपि वेदार्थस्य सम्यगग्रहमः। नाऽपि वेदः स्वकीयमर्थमुपदेशमन्तरेण स्वयमेव साक्षादुपदर्शयति, ततो वेदस्येष्टार्थप्रतिपत्त्युपायाऽभावाद् 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इत्यत्र श्रुतौ यथा वेदप्रामाणिकैरयमर्थः परिकल्प्यते घृताऽऽद्याहुतिं प्रक्षिपेत् स्वर्गकाम इति। तथाऽयमप्यर्थः तैः किं न कल्प्यते-खादेत् श्वमांसं स्वर्गकामः इति, नियामकाऽभावात्,

उक्तं च—

" स्वयं रागाऽऽदिमान्नाऽर्थं, वेत्ति वेदस्य नाऽन्यतः।
न वेदयति वेदोऽपि, वेदार्थस्य कुतो गतिः ॥ १ ॥
तेनाऽग्निहोत्रं जुहुयात्, स्वर्गकाम इति श्रुतौ।
खादेत्श्वमांसमित्येष, नाऽर्थ इत्यत्र का प्रमा ॥ २ ॥ "

अथ य एव शाब्दो व्यवहारो लोके प्रसिद्धः स एव वेदवाक्यार्थनिश्चयनिबन्धनं, न च लोकेऽग्निहोत्रशब्दस्य श्वमांसं वाच्यम्, नाऽपि जुहुयादित्यस्य भक्षणं, तत्कथमयमर्थः परिकल्प्यते?, तदयुक्तं, नानाऽर्था हि लोके शब्दा रूढा यथा गोशब्दः।

अपि च-सर्वे शब्दाः प्रायः सर्वार्थानां वाचका देशादिभेदतो द्रुतविलम्बितादिभेदेन, तथाप्रतीतिदर्शनात्, तथाहि-द्रविडस्यार्यदेशमुपागतस्य मारिशब्दात्-झगि(टि)ति वर्षविषया प्रतीतिरुपजायते विलम्बिना सोपसर्गविषया, यद्वा-आर्यदेशोत्पन्नस्य द्रविडदेशमधिगतस्य शीघ्रमुपसर्गविषया प्रतीतिर्विलम्बिना च वर्षविषया एवमनया दिशा सर्वेषामपि शब्दानां सर्वार्थवाचकत्वं परिभावनीयम्,

न च वाच्यम् एवं सति घटशब्दमात्रश्रवणादखिलार्थप्रतीतिप्रसङ्गो, यथा क्षयोपशममवबोधप्रवृत्तेः, क्षयोपशमश्च संकेतापेक्ष इति तदभावे न भवति. ततोऽग्निहोत्रादिशब्दस्य श्वमांसादिवाचकत्वेऽप्यविरोध इति लौकिकशाब्दव्यवहारानुसरणेऽपि न वैदिकवाक्यानामभिलषितनियतार्थप्रतिपत्तिः। किं च-लोकप्रसिद्धेनैव शाब्देन व्यवहारेण वयं वेदवाक्यानां प्रतिनियतमर्थं निश्चेतुमुद्युक्ताः, लौकिकश्च शाब्दो व्यवहारोऽनेकधा परिप्लवमानो दृष्टः संकेतवशतः प्रायः सर्वेषामपि शब्दानां सर्वार्थप्रतिपादनशक्तिसंभवात्, ततो लौकिकेनैव शाब्देन व्यवहारेणास्माकमाशङ्कोदपादि कोऽत्रार्थः स्यात्? किं घृताद्याहुतिं प्रक्षिपेत् स्वर्गकाम इति उताहो श्वमांसं खादेदिति?, तत्कथं तत एव निश्चयः कर्तुं युज्यते?। न हि योऽत्र संशयहेतुः स तत्र निश्चयमुत्पादयितुं शक्त इति।

अपि च-नैकान्तेन वेदे लौकिकशब्दव्यवहारानुसरणं स्वर्गोर्वश्यादिशब्दानामरूढार्थानामपि तत्र व्याख्यानात्, यथा स्वर्गः-सुखविशेषः, उर्वशी तु अरणिरिति। तथा शब्दान्तरेष्वप्यरूढार्थकल्पना किं न संभविनी?, उक्तं च-" स्वर्गोर्वश्यादिशब्दस्य, दृष्टा रूढार्थवाचकः। शब्दाऽन्तरेषु तादृक्षु, तादृश्येवाऽस्तु कल्पना ॥ १ ॥ " स्यादेतत् अग्निहोत्रादिवाक्यस्य श्वमांसभक्षणप्रसक्तो न युक्ते, वेदे नैवान्यत्र तस्यान्यथा व्याख्यानात् तदयुक्तम्, तत्राऽपि वाक्यार्थस्य निर्णयाभावाद्यथोक्तं प्राक्-न हि अप्रसिद्धार्थस्य वाक्यस्याऽप्रसिद्धार्थमेव वाक्यान्तरं नियतार्थप्रसाधनायालं, तुल्यदोषत्वात्। अथेत्थमब्रवीथाः यत्रार्थे न काचित्प्रमाणबाधा सोऽर्थो ग्राह्यो, न चाग्निहोत्रादिवाक्यस्य घृताऽऽद्याहुतिप्रक्षेपरूपेऽर्थे प्रमाणबाधामुत्पश्यामः, तत्कथं तमर्थं न गृह्णीमः। तदितरश्वमांसभक्षणलक्षणेऽप्यर्थे समानं न हि तत्रापि काञ्चित् प्रमाणबाधामीक्षामहे।

अपि च—यदि प्रमाणबलात्प्रवृत्तिमभीहसे तर्हि पौरुषेयमेव वचस्त्वयोपादेयं तस्य लोकप्रतीत्यनुसारितया संप्रदायतोऽधिगतार्थतया च प्रायो युक्तिविषयत्वात्, नाऽपौरुषेयम्, विपरीततया तत्र युक्त्यसंभवात्, तथाहि—काऽत्र युक्तिः? यया श्वमांसभक्षणात्स्वर्गप्राप्तिर्बाध्यते, न घृताद्याहुतिप्रक्षेपादिति?, घृताऽऽद्याहुतिप्रक्षेपादीनां स्वर्गप्रापणादिशक्तेरतीन्द्रियत्वेन प्रत्यक्षाद्यगोचरत्वात्, संप्रदायस्य चार्थनैत्यकारिणोऽसंभवात्, एतच्चानन्तरमेव वक्ष्यामः।

अथाऽऽगमार्थाऽऽश्रया युक्तिः श्वमांसभक्षणतः स्वर्गप्राप्तेर्बाधिका भविष्यति,तदयुक्तम्, आगमार्थस्याऽद्याप्यनिश्चयात्। अनिश्चितार्थस्य च बाधकत्वाऽयोगात्, अथ संप्रदायादर्थनिश्चयो भविष्यति, तथा हि-"प्रथमतो वेदेन जैमिनये स्वार्थ उपदर्शितः पश्चात्तेनास्मभ्यमुपदिष्ट" इति, तदप्यसत्, वेदस्य हि यदि स्वार्थोपदर्शनशक्तिस्ततोऽस्मभ्यमपि स्वार्थं किं नोपदर्शयति?, तस्माज्जैमिनयेऽपि न तेन स्वार्थो दर्शितः, किन्तु-स वेदमुखेनात्मानमेवार्थनियमस्रष्टारमुपदर्शितवान्, यथा कश्चित्केनचित्पृष्टः-'को मार्गः पाटलिपुत्रस्य?' स प्राह-एष स्थाणुर्दृश्यमानो वक्ति-'अयं मार्गः पाटलिपुत्रस्य', तत्र न स्थाणोर्वचनशक्तिः. केवलं स्थाणुमुखेन स एवात्मानं मार्गोपदेष्टारं कथयति. एवं वेदस्यापि न स्वाऽर्थोपदर्शनशक्तिः.ततस्तन्मुखेन जैमि(म)निरात्मानमेवार्थनियमस्रष्टारमुपदर्शितवान्, तत्र लौकिकशब्दव्यवहारानु-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्मरणमपि युक्तेर्नापि च संप्रदायाद्वेदस्यार्थनिश्चयो, नापि तस्याऽपौरुषेयत्वसाधकं किमपि प्रमाणमित्यसंभव्यपौरुषेयम्; उक्तं च-"वान्ध्येयखरविषाणतुल्यमपौरुषेयमि" ति। ननु यदि वान्ध्येयखरविषाणतुल्यमपौरुषेयं भवेत्तर्हि न वेदवचोऽपौरुषेयतया शिष्टाः प्रतिगृह्णीयुः।

अथ च-सर्वेष्वपि देशेषु शिष्टाः प्रतिगृह्णन्तो दृश्यन्ते, तस्मादसंभव्यपौरुषेयं, तदत्र पृच्छामः-के शिष्टाः?। ननु किमत्र प्रष्टव्यम्?, ये ब्राह्मणयोनिसंभविनो वेदोक्तविधिसंस्कृताः वेदप्रणीताचारपरिपालनैकनिषण्णचेतसस्ते शिष्टाः तदेतदयुक्तं; विचाराक्षमत्वात्, तथा हि-किमिदं नाम ब्राह्मणत्वं यद्योनिसंभवाच्छिष्टत्वं भवेत्?, ब्रह्मणोऽपत्यत्वमिति चेत् तथा हि-ब्रह्मणोऽपत्यं ब्राह्मण इति व्यपदिशन्ति पूर्वेऽपि न एवं सति चाण्डालस्यापि ब्राह्मणत्वप्रसक्तिः, तस्याऽपि ब्रह्मतनोः समुत्पन्नत्वात्। उक्तं च-"ब्रह्मणोऽपत्यतामात्रात्, ब्राह्मणोऽतिप्रसज्यते। न कश्चिदब्रह्मतनो-रुत्पन्नः क्वचिदिष्यते ॥१॥" यदप्युक्तम्-'वेदोक्तविधिसंस्कृता वेदप्रणीताचारपरिपालनैकनिषण्णचेतसः' इति, तदप्ययुक्तम्, इतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गात्। तथाहि-वेदस्य प्रामाण्ये सिद्धे सति तदुक्तविधिसंस्कृतास्तदर्थसमाचरणाच्छिष्टा भवेयुः शिष्टत्वे च तेषां सिद्धे सति तत्परिग्रहाद्वेदप्रामाण्यमित्येकाभावेऽन्यतरस्याऽप्यभावः।

आह च-"शिष्टैः परिगृहीतत्वा-द्वेदस्योऽन्यसमाश्रयः। वेदार्थाचरणाच्छिष्टा-स्तदाचाराच्च स प्रमा ॥१॥" स्यादेतत् -भवतोऽपि तत्त्वतोऽपौरुषेयं वचनमिष्टमेव, तथाहि-'सर्वोऽपि सर्वज्ञो वचनपूर्वको भवतीत्यवेष्यते' "तप्पुव्विया अरिहया" इति वचनप्रामाण्यात्, ततोऽनादित्वात्सिद्धं वचनस्यापौरुषेयत्वमिति, तदयुक्तम्, अनादितायामप्यपौरुषेयत्वायोगात्, तथाहि-सर्वज्ञपरम्परापेक्षाऽनादिरिष्यते, ततः पूर्वैः पूर्वैः सर्वज्ञैः प्राक्तनसर्वज्ञप्रणीतवचनपूर्वकोऽभवच्च विरुध्यते, किं च-वचनं द्विधा-शब्दरूपम्, अर्थरूपं च। तत्र शब्दरूपवचनापेक्षया नायमस्माकं सङ्गरः, यदुतं-'सर्वोऽपि सर्वज्ञो वचनपूर्वक' इति, मरुदेव्यादीनां तदन्तरेणाऽपि सर्वज्ञत्वश्रुतेः, किं त्वर्थरूपापेक्षया, ततः कथं शब्दाऽपौरुषेयत्वाभ्युपगमप्रसङ्गः। नन्वर्थपरिज्ञानमपि शब्दमन्तरेण नोपपद्यते तत्कथं न शब्दरूपापेक्षयाऽपि सङ्गरः, तदसत्, शब्दमन्तरेणापि विशिष्टक्षयोपशमादिभावतोऽर्थपरिज्ञानस्य सम्भवात्, तथा हि-दृश्यन्ते तथाविधक्षयोपशमभावतो मार्गानुसारिबुद्धेर्वचनमन्तरेणापि तदर्थप्रतिपत्तिरिति कृतं प्रसङ्गेन। नं० २ गाथाटी०।

ये तु श्रोत्रियाः श्रुतेरपौरुषेयत्वेऽपौरुषेयीं स्फो(र)टयांचक्रुः, ते कीदृशीं श्रुतिममूमास्थाय-किं वर्णरूपाम्: आनुपूर्वीरूपां वा?। यदि प्राचिकीं, तदसपत्नम् उपरिष्टात्" अकारादिः पौद्गलिको वर्णः" इत्यत्र विस्तरिष्यमाणत्वादस्याः। अथोर्दीचीनां, तर्हि तत्र तत्प्रतीतौ प्रत्यक्षम्, अनुमानम्, अर्थापत्तिः, आगमो वा प्रमाणं प्रगिणयेत। न प्रत्यक्षम्, अस्य तात्कालिकभावस्वभावाऽवभासमात्रचरित्रपवित्रत्वात्, "संबद्धं वर्तमानं च, गृह्यते चक्षुरादिना" इति वचनात्। यैव श्रुतिर्मया प्रागध्यगायि, सैवेदानीमपीति प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षमनुमेयं लक्ष्यते एवास्याः सदात्वमवद्योतयदिति चेत्, नन्वसौ-"समुदयमात्रमिदं कलेवरम्" इत्यादिलोकायतागमस्याप्येकरसैवास्तीति तेऽपि तथा स्युः, तथा च-तत्पठितानुष्ठाननिष्ठापरिष्ठतां विप्राणामपि प्राप्नोति, अन्यथा प्रत्यवायसंभवात्। अथाऽयमभिधानान्तरानुपलम्भेन बाध्यते, किं न श्रुतावपि?। अभिव्यञ्जकभावसंभवी तदानीमनुपलम्भः श्रुतौ नाभावनिबन्धन इति चेत्, किं न नास्तिकसिद्धान्तेऽप्येवम्, इति सकलं समानम्।

किं च-अनुभवानुसरणचतुरं प्रत्यभिज्ञानम्, अनुभवश्च प्रायेण प्रत्यभिज्ञां ताद्भविकीं, जातिस्मृत्यादिमतः कस्यापि कतिपयभवविषयां च प्रभावयितुं प्रभुः इति कथमनादौ काले केनापि नेयं श्रुतिः सृष्टा इतिप्रकटयितुं पटीयसीयं स्यात्?। तन्न तत्र प्रत्यक्षं क्षमते। नाऽप्यनुमानं, तद्धि कर्त्रस्मरणं, वेदाध्ययनवाच्यत्वं, कालत्वं वा तन्नैतेषु सर्वेष्वपि प्रत्यक्षाऽनुमानाऽऽगमबाधितत्वं तावत्पक्षदोषः। तत्र प्रत्यक्षबाधस्तावत्, तथाविधमठपीठिकाप्रतिष्ठशठवठराध्वर्यूद्गातृहोतृप्रायप्रचुरखण्डिकेषु यजुःसामर्चं उच्चैस्तरां युगपत्पूत्कुर्वत्सु कोलाहलममी कुर्वन्तीति प्रत्यक्षं प्रादुरस्ति, तेन चापौरुषेयत्वपक्षो बाध्यते। अभिव्यञ्जकसद्भावादेवेयं प्रतीतिरिति चेत्, तर्हि हंसपक्ष्मादिहस्तकेष्वपि किं नेयं तथा? इति तेऽपि नित्याः स्युः। वर्णयिष्यमाणवर्णव्यक्तिव्यपाकरणं चेहाऽप्यनुसंधानीयम्। 'श्रुतिः पौरुषेयी' वर्णात्मकत्वात्, कुमारसंभवादिवद्, इत्यनुमानबाधः। पुरुषा हि परिभाव्याभिधेयभावस्वभावं तदनुगुणां ग्रन्थवार्थी ग्रथ्नाति, तदभावे कौतस्कुतीयं संभवेत्?। यदि हि शङ्खसमुद्रमेघादिभ्योऽपौरुषेयेभ्योऽपि कदाचित्तदात्मकं वाक्यमुपलभ्येत, तदाऽत्राऽपि संभाव्येत, न चैवम्। अथ वर्णात्मकत्वमात्रं हेतुर्विवक्षितं चेत्, तदानीमप्रयोजकं, वल्मीकस्य कुलालपूर्वकत्वे साध्ये मृद्विकारत्ववद्। अथ लौकिकश्लोकादिविलक्षणं तत्तर्हि विरुद्धं; साधनशून्यं च कुमारसंभवादिनिदर्शने, तत्रैव साध्ये विशिष्टमृद्विकारत्ववत्, कुटदृष्टान्तवच्चेति चेत्। नैतच्चतुरस्रम्। यतस्तन्मात्रमेव हेतुः; न चाऽप्रयोजकं विशिष्टवर्णाऽऽत्मकत्वस्यैव काऽप्यसंभवाद्। दुःश्रवणदुर्गमत्वादिस्तु श्रुतिविशेषस्य। "नाणुस्त्वाष्ट्रारिराष्ट्रेण, भाष्ट्रेणादंष्ट्रिणो जनाः। धार्तराष्ट्राः सुराष्ट्रेण, महाराष्ट्रे तु नाष्ट्रिणः ॥१॥" इत्यादौ लौकिकश्लोके सांकेशस्य सद्भावाद् अभ्यर्थि(धि)ष्महि च-"यत्कौमारकुमारसंभवभवाद्वाक्याच्च किंचिद्भवे-द्वैशिष्ट्यं श्रुतिषु स्थितं तत इमाः स्युः कर्तृशून्याः कथम्" इति।" प्रजापतिर्वेदमेकमासीत्, न अहः आसीत्, न रात्रिः आसीत्; स तपोऽतप्यत, तस्मात्तपनः; तपनाच्चत्वारो वेदा अजायन्त" इति स्वकर्तृप्रतिपादकागमबाधः। ननु नाऽयमागमः प्रमाणं भूतार्थाभिधायकत्वात्, कार्ये एव ह्यर्थे वाचां प्रामाण्यम्, अन्वयव्यतिरेकाभ्यां लोके कार्यान्वितेषु पदार्थेषु पदानां शक्त्यवगमादिति चेत् नदृश्लीलं कुशलादर्कसंपर्ककर्कशः साधूपास्याप्रसङ्ग इत्यादिभूतार्थस्यापि शब्दस्य लोके प्रयोगोपलम्भात्। अथाऽत्रापि कार्यार्थतैव, तस्मादत्र प्रवर्तितव्यमित्यवगमादिति चेत्, स तर्ह्यवगम औपदेशिक औ-

पदेशिकार्थकृतो वा भवेत् । न तावदाद्यः, तथाविधोपदेशाऽश्रवणात् । द्वितीयस्तु स्यात्; न पुनस्तत्रोपदेशस्य प्रामाण्यम्, अस्य स्वार्थप्रथामात्रचरितार्थत्वात् । प्रतिपादकत्वेनैव प्रमाणानां प्रामाण्यात् । अन्यथा प्रवृत्ताविव तत्साध्यार्थेऽपि प्रामाण्यप्रसङ्गात् । प्रत्यक्षस्य च विवक्षितार्थवत्तत्साध्यार्थक्रियापि प्रमेया भवेत्, तस्मात्पुरुषेच्छाप्रतिबद्धवृत्तिप्रवृत्तिरस्तु । मा वा भूत्, प्रमाणेन पदार्थपरिच्छेदश्चाकारः, तावतैव प्रेक्षावतोऽपेक्षाबुद्धेः पर्यवसानात्, पुरुष प्रामाण्यमस्यावसेयम् । यद्वा-अस्तु तस्मादत्र प्रवर्तितव्यमित्यवगमात्कुशलोदर्केत्यादिवाक्यानां प्रामाण्यं, किं तु-तद्वदत्र वेदे कर्तृप्रतिपादकाऽऽगमस्यापि प्रामाण्यं प्रासादादिवेति सिद्ध आगमबाधोऽपि ।

यत्तु कर्त्रस्मरणं साधनम्, तद्विशेषणं सविशेषणं वा वर्णेत । प्राक्तने, तावत्पुराणकूपप्रासादारामविहारादिभिर्व्यभिचारि, तेषां कर्त्रस्मरणेऽपि पौरुषेयत्वात् । द्वितीयं तु संप्रदायाव्यवच्छेदे सति कर्त्रस्मरणादिति व्यधिकरणाऽसिद्धम्, कर्त्रस्मरणस्य श्रुतेः अन्यत्राश्रये पुंसि वर्तनात् । अथाऽपौरुषेयी श्रुतिः; संप्रदायाव्यवच्छेदे सत्यस्मऽर्यमाणकर्तृकत्वात्, आकाशवद् इत्यनुमानरचनायामनवकाशाव्यधिकरणासिद्धिः । नैवम् । एवमपि विशेषणं संदिग्धाऽसिद्धताऽऽपत्तेः । तथाहि-आदिमतामपि प्रासादादीनां संप्रदायो व्यवच्छिद्यमानो विलोक्यते, अनादेस्तु श्रुतेरव्यवच्छेदी संप्रदायोऽद्यापि विद्यत इति मूलकमुष्टिबन्धमन्वकार्षीत्; तथा च-कथं न संदिग्धाऽसिद्धं विशेषणम् ? । विशेष्यमप्युभयाऽसिद्धं, वादिप्रतिवादिभ्यां तत्र कर्तुः स्मरणात् । ननु श्रोत्रियाः श्रुतौ कर्तारं स्मरन्तीति मृषाद्य श्रोत्रियापसदाः खल्वमी इति चेत् ननु यूयमाम्नायमाम्नासिष्ट तावत्ततः-"यो वै वेदांश्च प्रहिणोति" इति, "प्रजापतिः सोमं राजानमन्वसृजत ततस्त्रयो वेदा अन्वसृजन्त" इति च स्वयमेव स्वस्य कर्तारं स्मारयन्तीं श्रुतिं विश्रुतामश्रुतामिव गणयन्तो यूयमेव श्रोत्रियाऽपसदाः किन्न स्यात् ? । किं च-कण्व-माध्यन्दिनि-तित्तिरिप्रभृतिमुनिनामाङ्किताः काश्चन शाखास्तत्कृतत्वादेव मन्वादिस्मृत्य इवत् । उत्सन्नानां तासां कल्पादौ तैर्दृष्टत्वात्, प्रकाशितत्वाद्वा तन्नामचिह्न अनादौ कालेऽनन्तमुनिनामाऽङ्कितत्वं तासां स्यात् । जैनाश्च-कालाऽसुरमेतत्कर्तारम् स्मरन्ति । कर्तृविशेषे विप्रतिपत्तेरप्रमाणमेवैतत्स्मरणमिति चेत् । नैवम् । यतो यत्रैव विप्रतिपत्तिः, तदेवाऽप्रमाणमस्तु, न पुनः कर्तृमात्रस्मरणमपि ।

"वेदस्याऽध्ययनं सर्वं, गुर्वध्ययनपूर्वकम् ।
वेदाध्ययनवाच्यत्वा-दधुनाऽध्ययनं यथा ॥ १ ॥
अतीताऽनागतौ कालौ, वेदकारविवर्जितौ ।
कालत्वात्तद्यथा कालो, वर्तमानः समीक्ष्यते ॥ २ ॥"

इति कारिकोक्तः वेदाध्ययनवाच्यत्वकालत्वेऽपि हेतुः 'कुरङ्गश्रृङ्गभङ्गुरं कुरङ्गाक्षीणां वचः' इति वाक्याध्ययनं गुर्वध्ययनपूर्वकम् एतद्वाक्याध्ययनवाच्यत्वाद्, अधुनातनाध्ययनवद् अतीतानागतौ कालौ प्रक्रान्तवाक्यकर्तृवर्जितौ कालत्वात्, वर्तमानकालवत्, इतिवदप्रयोजकत्वाद्, अनाकर्णनीयौ सकर्णानाम् । अथाऽर्थाऽऽपत्तेरपौरुषेयत्वनिर्णयो वेदस्य । तथाहि-संवाद-विसंवाददर्शनाऽदर्शनाभ्यां तावदत्र निःशेषपुरुषैः प्रामाण्येन निरणायि । तन्निर्णयश्चास्य पौरुषेयत्वे दुरापः । यतः-

"शब्दे दोषोद्भवस्ताव-द्वक्त्रधीन इति स्थितिः ।
तदभावः क्वचित्तावद्, गुणवद्वक्तृकत्वतः ॥ १ ॥
तद्गुणैरपकृष्टानां, शब्दे संक्रान्त्यसंभवात् ।
वेदे तु गुणवान् वक्ता, निर्णेतुं नैव शक्यते ॥ २ ॥
ततश्च दोषाभावोऽपि, निर्णेतुं शक्यतां कथम् ।
वक्त्रभावे तु सुज्ञानो, दोषाभावो विभाव्यते ॥ ३ ॥
यस्माद्वक्तुरभावेन, न स्युर्दोषा निराश्रयाः" ।

ततः प्रामाण्यनिर्णयान्यथाऽनुपपत्तेरपौरुषेयोऽयमिति । अस्तु तावदत्र कृपणपशुपरंपराप्राणव्यपरोपणप्रगुणप्रगुरोपदेशाऽपवित्रत्वादप्रमाणमेवैषः इत्यनुत्तरोत्तरप्रकारः । प्रामाण्यनिर्णयोऽप्यस्य न साध्यसिद्धिः, विरुद्धत्वाद्, गुणवद्वक्तृकतायामेव वाक्येषु प्रामाण्यनिर्णयोपपत्तेः । पुरुषो हि यथा रागादिमान् मृषावादी, तथा सत्यशौचादिमान् अवितथवचनः समुपलब्धः । श्रुतौ तु तदुभयाभावेनैरर्थक्यमेव भवेत् । कथं वक्तुर्गुणित्वनिश्चयश्छन्दसीति चेत्, कथं पितृपितामहप्रपितामहादेरप्यसौ ते स्यात् ? येन तदुक्तस्यस्तादृक्श्रेणेः पारंपर्योपदेशस्य वाऽनुसारेण प्राग्देयनिधानादौ निःशङ्कः प्रवर्तेथाः । क्वचित्संवादाच्चेद्, अत एवान्यत्रापि प्रतीहि । कारीर्यादौ संवाददर्शनात् । कदाचित्-क्वचित्संवादस्तु सामग्रीवैगुण्यात्त्वयाऽपि प्रतीयत एव, प्रतीताप्तमन्त्रोपदिष्टमन्त्रवत् । प्रतिपादितश्च प्राक् रागद्वेषाज्ञानशून्यपुरुषविशेषनिर्णयः । किं च-अस्य व्याख्यानं तावत्पौरुषेयमेव, अपौरुषेयत्वे भावनानियोगादिविरुद्धव्याख्याभेदाभावप्रसङ्गात्, तथा च को नामाऽत्र विश्रम्भो भवेत् ? । कथं चैतद् ध्वनीनामर्थनिर्णीतिः ? लौकिकध्वन्यनुसारेणेति चेत्, किं न पौरुषेयत्वनिर्णीतिरपि ?, तत्रोभयस्याऽपि विभावनाद् । अन्यथा स्वर्द्धजरतीयम् । न च लौकिकाऽर्थानुसारेण मदीयोऽर्थः स्थापनीय इति श्रुतिरेव स्वयं वक्ति, न च जैमिन्यादावपि तथा कथयति प्रत्यय इत्यपौरुषेयवचसामर्थोऽप्यन्य एव कोऽपि संभाव्येत । पौरुषेयीणामपि म्लेच्छार्यवाचामैकार्थ्यं नाऽस्ति, किं पुनरपौरुषेयवाचाम् । ततः परमकृपापीयूषप्लावितान्तःकरणः कोऽपि पुमान् निर्दोषः प्रसिद्धार्थैः ध्वनिभिः स्वाध्यायं विधाय व्याख्याति, इदानींतनग्रन्थकारवत्, इति युक्तं पश्यामः । अवोचाम च-"छन्दः स्वीकुरुषे प्रमाणमथ चतद्वाच्यनिश्चायकं, कंचिद्विश्वविदं न जल्पसि ततो ज्ञातोऽस्य मूल्यक्रयी" इति ।

आगमोऽपि नापौरुषेयत्वमाख्याति । पौरुषेयत्वाविष्कारिण एवास्योक्तत्सद्भावात् । अपि च-इयमानुपूर्वी पिपीलिकादीनामिव देशकृताङ्कुरपत्रकन्दलकाण्डादीनामिव कालकृता वा वर्णानां वेदे न संभवति तेषां नित्यव्यापकत्वात् । क्रमेणाऽभिव्यक्तेः सा संभवतीति चेत्, तर्हि कथमियमपौरुषेयी भवेद्, अभिव्यक्तेः पौरुषेयत्वात् इति सिद्धा पौरुषेयी श्रुतिः । रत्ना० ४ परि० ।

(४) आगमस्य चाप्तप्रणीतस्यैव प्रामाण्यं; नतु विरुद्धार्थस्य-आगमानां च येषां पूर्वापरविरुद्धार्थत्वं तेषामप्रामाण्यमेव

यस्त्वाप्तप्रणीत आगमः स प्रमाणमेव कषच्छेदतापलक्षणोपाधित्रयविशुद्धत्वात्। कषाऽऽदीनां च स्वरूपं पुरस्ताद्वक्ष्यामः। न च वाच्यम्-आप्तः क्षीणसर्वदोषस्तथाविधं चाऽऽप्तत्वं कस्याऽपि नाऽस्तीति; यतो रागाऽऽदयः कस्यचिदत्यन्तं छिद्यन्ते अस्मदादिषु तदुच्छेदप्रकर्षाऽपकर्षोपलम्भात् सूर्याऽऽद्यावारकजलदपटलवत्। तथा चाऽऽहुः-"देशतो नाशिनो भावा दृष्टा निखिलनश्वराः। मेघपङ्क्त्यादयो यद्वदेवं रागाऽऽदयो मताः" ॥१॥ इति। यस्य च निरवयवतयैते विलीनाः स एवाऽऽप्तो भगवान् सर्वज्ञः।

अथाऽऽनादित्वाद्रागाऽऽदीनां कथं प्रक्षय इति चेत्?, न; उपायतत्सद्भावात्, अनादेरपि सुवर्णमलस्य क्षारमृत्पुटपाकादिना विलयोपलम्भात्। तद्वदेवाऽनादीनामपि रागाऽऽदिदोषाणां प्रतिपक्षभूतरत्नत्रयाऽभ्यासेन विलयोपपत्तेः। क्षीणदोषस्य च केवलज्ञानाऽव्यभिचारात् सर्वज्ञत्वम्। तत्सिद्धिस्तु ज्ञानतारतम्यं क्वचिद्विश्रान्तं तारतम्यत्वात् आकाशपरिमाणतारतम्यवत्। तथा-सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः कस्यचित्प्रत्यक्षाऽनुमेयत्वात् क्षितिधरकन्धराधिकरणधूमध्वजवत्। एवं चन्द्रसूर्योपरागादिसूचकज्योतिर्ज्ञानाविसंवादार्थानुपपत्तिप्रभृतयोऽपि हेतवो वाच्यास्तदेवमाप्तेन सर्वविदा प्रणीत आगमः प्रमाणमेव; तदप्रामाण्यं हि प्रणायकदोषनिबन्धनं "रागाद्वा द्वेषाद्वा, मोहाद्वा वाक्यमुच्यते ह्यनृतम्। यस्य तु नैते दोषा-स्तस्याऽनृतकारणं किं स्यात्" ॥ १ ॥ इति। स्या० १७ श्लोक।

न च-आगमानां परस्परविरुद्धार्थतया सर्वेषामप्यप्रामाण्यमभ्युपेयं, सर्वज्ञमूलस्याऽवश्यं प्रमाणत्वेनाभ्युपगमार्हत्वाद्, अन्यथा-सम्यक् प्रमाणाऽप्रमाणविभागाऽपरिज्ञानेः प्रेक्षावत्तात्क्षतिप्रसङ्गात्, अथ कथमेतत्प्रत्येयं यथा-अयमागमः सर्वज्ञमूल इति ?, उच्यते-यदुक्तोऽर्थः प्रत्यक्षेणाऽनुमानेन च न बाध्यते नाऽपि पूर्वाऽपरव्याहतः सोऽवसीयते। सर्वज्ञप्रणीतोऽन्यस्य तथारूपत्वाऽसंभवात्, ततस्तस्याप्तसिद्धम् तत्सर्वं सुसिद्धम्, उक्तं च-"दिट्ठेणं इट्ठेण य, जम्मि विरोहो न जुज्जइ कहिंचि। सो आगमो ततो जं, नाणं तं सम्मनाणं ति ॥ १ ॥" (धर्म० ५१६) आ० म० १ अ० ६०० गाथाटी०।

जैनाऽऽगमस्य च सर्वज्ञप्रणीतत्वम्—

"सव्वण्णु विहाणम्मि वि, दिट्ठेट्ठाबाहिया उ वयणाओ। सव्वण्णू होइ जिणो, सेसा सव्वं असव्वन्नू ॥ १ ॥" एतेन यदुक्तं-भवतु वा वर्द्धमानस्वामी सर्वज्ञस्तथाऽपि तस्य सत्कोऽयमाचारादिक उपदेश इति कथं प्रतीयते इति, तदपि दूराऽपास्तम्, अन्यस्येत्थंभूतदृष्टेष्टाबाधितवचनप्रवृत्तेरसंभवात्, यदप्युक्तं भवत्वेषोऽपि निश्चयो यथाऽयमाचारादिक उपदेशो वर्द्धमानस्वामिन इति, तथाऽपि तस्योपदेशस्याऽयमर्थो नाऽन्य इति न शक्यं प्रत्येतुमित्यादि, तदप्ययुक्तं, भगवान् हि वीतरागस्ततो न विप्रतारयति विप्रतारणाहेतुरागाऽऽदिदोषगणाऽसंभवात्। तथा सर्वज्ञत्वेन विपरीतं सम्यग्वार्थमवबुध्यमानं शिष्यं जानाति ततो यदि विपरीतमर्थमवबुध्यते श्रोता तर्हि निवारयेत्, न च निवारयति, न च विप्रतारयति, करोति च देशनां कृतकृत्योऽपि तीर्थकरनामकर्मोदयात्, ततो ज्ञायते एष एवाऽस्योपदेशस्याऽर्थ इति। उक्तं च—

"नाए वि तदुवएसे, एसेवत्थो भओ त्ति से एवं।
नज्जइ पवत्तमाणं, जं न निवारेइ तह चेव ॥ १ ॥
अन्नह य पवत्तं तं, निवारइ न य तओ पवंचेइ।
जम्हा स वीयरागो, कहणे पुण कारणं कम्मं ॥ २ ॥"

एवं च भगवद्विवक्षायाः परोक्षत्वेऽपि सम्यगुपदेशस्यार्थनिश्चये जाते। यदुक्तम्—'गौतमादिरपि छद्मस्थ' इत्यादि, तदप्यसारमवसेयं, छद्मस्थस्याऽप्युक्तप्रकारेण भगवदुपदेशार्थनिश्चयोपपत्तेः। तथा चित्रार्था अपि शब्दाः भगवतैव समर्थितास्ते च प्रकरणाद्यनुरोधेन तत्तदर्थप्रतिपादकाः प्रतिपादितास्ततो न कश्चिद्दोषः, तत्तत्प्रकरणाद्यनुरोधेन तत्तदर्थनिश्चयोपपत्तेः। भगवताऽपि च तथा तथाऽर्थावगमे प्रतिषेधाऽकरणादिति.एवं च तदानीं गौतमादीनां सम्यगुपदेशार्थस्यावगतावाचार्यपरंपरात इदानीमपि तदर्थावगमो भवति। नचाऽऽचार्यपरम्परा न प्रमाणम् अविपरीतार्थव्याख्यातृत्वेन तस्याः प्रामाण्यस्याऽपाकर्तुमशक्यत्वात्। अपि च-भवद्दर्शनमपि किमागममूलम्, अनागममूलं वा ?, यद्यागममूलं तर्हि कथमाचार्यपरंपरामन्तरेण ?, आगमार्थस्याऽवबोद्धुमशक्यत्वात्, अथाऽनागममूलं तर्हि न प्रमाणम्, उन्मत्तकविरचितदर्शनवत्। नं० ४६ सूत्रटी०।

(५) संभवद्रूपस्यैव वचनस्य प्रामाण्यं, नत्वसंभवद्रूपस्येति-

एयं पि ण जुत्तिखमं,
ण वयणमित्ताउ होइ एवमियं।
संसारमोअगाण वि,
धम्मो दोसप्पसंगाओ ॥१२३३॥ पं०व०।

एतदपि न युक्तिक्षमं यदुक्तं परेण, कुत इत्याह—न वचनमात्रादनुपपत्तिकाद्भवत्येवमेतत्सर्वं, कुत इत्याह—संसारमोचकानामपि वचनात् हिंसाकारिणां धर्मस्य, दुःखिनो हन्तव्या इत्यस्याऽदोषप्रसङ्गाददुष्टतापत्तेरित्यर्थः ॥१२४॥प्रति०।

सिय त ण सम्मवयणं,
इयरं सम्मवयणंति किं माणं ?।
अह लोगो च्चिय सेयं,
तहा अपाढा विगाणा य ॥१२३४॥ पं०व०।

स्यात्-'तत्-' संसारमोचकवचनं, न सम्यग्वचनमित्याशङ्क्याह-'इतरद्' वैदिकं सम्यग् वचनमिति किं मानम्? अथ लोक एव मानमित्याशङ्क्याह—नैतत्तथा, लोकस्य प्रमाणतया अपाठात्, अन्यथा प्रमाणस्य षट्संख्याविरोधात्। तथाविगानाच्च, नहि वेदवचनं प्रमाणमित्येकवाक्यता लोकानामिति ॥ १२५ ॥ प्रति०।

अह पाढोऽभिमओ च्चिय,
विगाणमवि एत्थ थो(थे)वगाणं तु।
इत्थं पि णप्पमाणं,
सव्वेसि विदंसणाओ उ ॥१२३५॥ पं०व०।

अथ पाठोऽभिमत एव लोकस्य प्रमाणमध्ये, दशणामुप-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लक्षणत्वात् , विगानमप्यत्र-वेदवचनाप्रामाण्ये स्तोकानामेव लोकानामित्येतदाशङ्क्याह-अन्नाऽपि-कल्पनायां न प्रमाणं, सर्वेषां लोकानामदर्शनाद् , अल्पबहुत्वानिश्चयाऽभावादित्यर्थः ॥ १२६ ॥ प्रति० ।

किं तेसि दंसणेणं,
अप्पबहुत्तं जहित्थ तह चेव ।
सव्वत्थ समवसेयं,
णेवं वभिचारभावाओ ॥१२३६॥ पं० व० ।

किं तेषां सर्वेषां लोकानां दर्शनेन?,अल्पबहुत्वं यथा इह-मध्यदेशाऽऽदौ वेदवचनप्रामाण्यं प्रति तथैव सर्वत्र देशान्तरेष्वपि समवसेयं, लोकत्वादिहेतुभ्यः, इत्यत्राऽऽह-नैवं, व्यभिचारभावात्कारणात् ॥ १२७ ॥

एतदेवाह (प्रति० ।)—

अग्गाऽऽहारे बहुगा,
दीसंति दिया तहा ण सुद्द त्ति ।
ण य तद्दंसणओ च्चिय,
सव्वत्थ इमं हवइ एवं ॥१२३७॥पं० व० ।

अग्राऽऽहारे बहवो दृश्यन्ते द्विजा-ब्राह्मणास्तथा न शूद्रा इति,ब्राह्मणवद् बहवो दृश्यन्ते । न च तद्दर्शनादेवाऽग्राऽऽहारे बहुद्विजदर्शनादेव सर्वत्र भिल्लपल्ल्यादावप्येतद्भवत्येव द्विजबहुत्वमिति गाथार्थः ॥ १२८ ॥ प्रति० ।

उपपत्त्यन्तरमाह—

ण य बहुगाण वि(ए)इत्थं,
अविगाणं सोहणं ति णियमोऽयं ।
न य णो थेवाणं पि हु,
मूढेयरभावजोएणं ॥१२३८॥ पं०व० ।

न च बहूनामप्यत्र-लोके अविगानम्-एकवाक्यतारूपं शोभनमिति नियमः नच स्तोकानामपि न शोभनं मूढेतरभावयोगेन मूढानां बहूनामपि न शोभनममूढस्य त्वेकस्यैवेति भावः ॥ १२९ ॥ प्रति० ।

ण य रागाऽऽइविरहिओ,
को वि पमाया विसेसकारि त्ति ।
जं सव्वे वि य पुरिसा,
रागाऽऽइजुआ उ परपक्खे ॥१२३९॥ पं०व० ।

न च रागादिविरहितः कोऽपि माता-प्रमाता विशेषकारी-विशेषकृत् यत् सर्वेऽपि पुरुषा रागादियुताः परपक्षे-परनये मीमांसकस्य सर्वज्ञाऽनभ्युपगन्तृत्वात् ॥१३०॥

दोषान्तरमाह (प्रति० ।)—

एवं च वयणमित्ता,
धम्मादोसा ति मिच्छगाणं पि ।
घाएंताण दियवरं,
पुरओ नणु चंडिगाऽऽईणं ॥ १२४० ॥ पं०व० ।

एवं च प्रमाणविशेषाऽपरिज्ञाने सति वचनमात्रात् सकाशात् धर्मादिदोषौ प्राप्नुत, म्लेच्छादीनामपि-भिल्लादीनामपि घातयतां द्विजवरम्-ब्राह्मणमुख्यं पुरतो ननु चण्डिकाऽऽदीनां देवताविशेषाणाम् ॥ १३१ ॥ प्रति० ।

ण य तेसिं पि ण वयणं,
एत्थ णिमित्तं ति जं न सव्वे उ ।
तं तह घायंति सया,
असुअतच्चोअणावक्का ॥ १२४१ ॥ पं०व० ।

न च तेषामपि म्लेच्छानां न वचनमत्र निमित्तमिह द्विजघाते किंतु वचनमेव, कुत इत्याह-यन्न सर्व एव म्लेच्छास्ते द्विजवरं घातयन्ति अश्रुतं तच्चोदनावाक्यं द्विजवरघातविधिवचनं यैस्ते तथा ॥ १३२ ॥ प्रति० ।

अह तं ण एत्थ रूढं,
एयं पि ण तत्थ तुल्लमेवेयं ।
अह तं थो (थे) वमणुचियं,
इमम्मि एयारिसं तेसिं ॥१२४२॥ पं०व० ।

अथ तन्म्लेच्छप्रवर्त्तकवचनं नाऽत्र रूढं लोके इत्याशङ्क्य।-इदमेतदपि वैदिकं न तत्र भिल्लमते रूढमिति तुल्यमन्यतरारूढत्वम् , अथ तन्म्लेच्छप्रवर्त्तकं वचनं स्तोकमनुचितमसंस्कृतमित्याशङ्क्याह-इदमप्येतादृशं तेषां म्लेच्छप्रवर्त्तकमेव वचनं वेदेऽस्ति न द्विजप्रवर्त्तकं श्रवणमात्रस्याऽतन्त्रत्वात् अश्रवणस्योच्छिन्नशाखत्वेनोपपत्तेरिति तैरपि वक्तुं शक्यत्वादिति ॥ १३३ ॥

अन्याऽपि कल्पना ब्राह्मणपरिगृहीतत्वादिरूपा भिल्लपरिगृहीतत्वादितुल्यत्वेन दुष्टेत्याह (प्रति०)-

अह तं वेअंगं खलु,
न तं पि एमेव इत्थ वि ण माणं ।
अह तत्थाऽसवणमिणं,
सि एअमुच्छिन्नसाहं तु ॥ १२४३ ॥
ण य तव्वयणाओ च्चिय,
तदुभयभावो त्ति तुल्लभणिईओ ।
अन्ना वि कप्पणेवं,
साहम्मविहम्मओ दुट्ठा ॥ १२४४ ॥

अथ तद्वेदाङ्गं खलु द्विजप्रवर्त्तकमित्याशङ्क्याह-न तदपि म्लेच्छप्रवर्तकमवमेव वेदे इत्यत्रापि न मानम् , अथ तत्र वेदे अश्रवणमिदम्-मानम् , न हि तद् वेदे श्रूयत इत्याशङ्क्याह-स्यादेतत्-उत्सन्न(च्छि)न्नशाखमेवैतदपि सम्भाव्यतइति गाथार्थः ॥ १२४३ ॥ न च तद्वचनाद्-वेदवचनादेव तदुभयभावो-धर्मादोषभाव इति, कुत इत्याह-भणितेः, म्लेच्छवचनादप्येतदुभयमित्यपि वक्तुं शक्यत्वादित्यर्थः, अन्याऽपि कल्पना ब्राह्मणपरिगृहीतत्वादिरूपा एवम्-उक्तवत् भिल्लपरिगृहीतत्वादिना प्रकारेण साधर्म्यवैधर्म्यतः कारणात् दुष्टेति गाथार्थः ॥ १२४४ ॥ पं० व० ।

यस्मादेवम् (प्रति०)—

तम्हा ण वयणमित्तं,
सव्वत्थ विसेसओ बुहजणेणं ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एत्थ पवित्तिणिमित्तं,

ति एय दट्ठव्वयं होइ ॥ १२४५ ॥ पं० व० ।

तस्माद्वचनमात्रमुत्पत्तिशून्यं सर्वत्राऽविशेषतः कारणात् बुधजनेन—विद्वज्जनेन अत्र लोके प्रवृत्तिनिमित्तमेवं द्रष्टव्यं भवति ॥ १३६ ॥ प्रति० ।

किं पुण विसिट्ठगं चिय,

जं दिट्ठिट्ठाहि णो खलु विरुद्धं ।

तह संभवंस(त)रूवं,

वियारिउं सुद्धबुद्धीए ॥ १२४६ ॥ पं० व० ।

किं पुनः विशिष्टमेव वचनं प्रवृत्तिनिमित्तमिह द्रष्टव्यं, किं भूतं यत् दृष्टेष्टाभ्यां न खलु विरुद्धं; तृतीयस्थानसंक्रान्तमित्यर्थः । तथा संभवत्स्वरूपं यत्, न पुनरत्यन्ताऽसंभवि विचार्य शुद्धबुद्ध्या मध्यस्थयेति गाथार्थः ॥ १३७ ॥ प्रति० ।

जिनागमस्यैव च सम्भवद्रूपत्वं, तदितरस्य चाऽसम्भवद्रूपत्वम्—

तह संभवंतरूवं,

सव्वं सव्वन्नुवयणओ एयं ।

तं णिच्छियं हि आगम-

पउत्तगुरुसंपदायाहिं ॥१२७७॥ पं०व० ।

तथा संभवद्रूपं सर्वं सर्वज्ञवचनत एतत्, तन्निश्चितं हिताऽऽगमप्रयुक्तगुरुसंप्रदायेभ्यः ॥ १६८ ॥ प्रति० ।

वेयवयणं तु णेवं,

अपोरुसेयं तु तं मयं जेणं ।

इयमच्चंतविरुद्धं,

वयणं च अपोरिसेयं च ॥१२७८॥ पं०व० ।

वेदवचनं तु नैवं संभवत्स्वरूपम्, अपौरुषेयमेव तन्मतम् इदमत्यन्तविरुद्धं वर्तते, यदुत वचनं चाऽपौरुषेयं चेति गाथार्थः ॥ १६९ ॥

एतद्भावनायाऽऽह (प्रति०)—

जं वुच्चइ त्ति वयणं,

पुरिसाभावे उ णेयमेयंति ।

ता तस्सेवाऽभावो,

णियमेण अपोरुसेयत्ते ॥१२७९॥

यत्-यस्मात् उच्यत इति वचनम् इत्यन्वर्थसंज्ञा पुरुषाऽभावे तु नैवमेतत्; नोच्यत इत्यर्थः तत्तस्यैव वचनस्याऽभावो नियमेनाऽपौरुषेयत्वे सत्यापद्यते ॥१७०॥ प्रति० ।

तव्वावारविरहियं,

ण य कत्थइ सुव्वइ इह तं वयणं ।

सवणे वि य णाऽऽसंका,

अदिस्सकत्तुब्भवाऽवेइ ॥१२८०॥ पं०व० ।

तद्व्यापारविरहितं न च कदाचित् श्रूयते इह च लोके, श्रवणेऽपि च नाऽऽशङ्का अदृश्यकर्त्रुद्भवापैति, प्रमाणाभावादिति गाथार्थः ॥ १७१ ॥ प्रति० ।

अदिस्सकत्तिगं णो,

अण्णं सुव्वइ कहं णु आसंका ? ।

सुव्वइ पिसायवयणं,

कयाइ एयं तु ण सदेव ॥१२८१॥ पं०व० ।

अदृश्यकर्तृकम् 'नो' नैवान्यत् श्रूयते कथं त्वाशङ्केति विपक्षाद्दोषेरित्यर्थः । अत्राह-श्रूयते पिशाचवचनं, कथंचन-कदाचित् लौकिकमेतत् वैदिकमपौरुषेयं न सदैव श्रूयते ॥१७२॥

यथाऽभ्युपगमदूषणमाह (प्रति०)—

वण्णा य पोरसेयं,

लोइयवयणाण ऽवीह सव्वेसिं ।

वेयम्मि को विसेसो,

जेण तहिं एस ऽसग्गाहो ॥१२८२॥ पं०व० ।

वर्णाद्यपौरुषेयं लौकिकवचनानामपीह सर्वेषां, वर्णत्वादिवाच्यत्वादेः पुरुषैरकरणात्, वेदे को विशेषो येन तत्रैषोऽसद्ग्राहोऽपौरुषेयत्वासद्ग्रह इति ॥ १७३ ॥ प्रति० ।

ण य णिच्छओ वि हु तओ,

जुज्जइ पायं कहं चि सण्णाया ॥

जं तस्सत्थपगासण-

विसएह अइंदिया सत्ती ॥ १२८३ ॥ पं० व० ।

न च निश्चयोऽपि ततो वेदवाक्यात् युज्यते प्रायः कश्चिद्वस्तुनि सन्न्यायात् यत्-यस्मात्तस्य वेदवचनस्यार्थप्रकाशनविषयेह्यपरमेऽतीन्द्रियाशक्तिरिति गाथार्थः ॥१७४॥ प्रति० ।

णो पुरिसमित्तगम्मा,

तदतिसओ वि हु ण बहुमओ तुम्हं ।

लोइयवयणेहिंतो,

दिट्ठं च कहिंचि वेहम्मं ॥ १२८४ ॥ पं०व० ।

न पुरुषमात्रगम्या एषा तदतिशयोऽपि न बहुमतो युष्माकम् अतीन्द्रियदर्शी लौकिकवचनेभ्यः सकाशात् दृष्टं च कथंचिद्वैधर्म्यं वेदवचनानामिति गाथार्थः ॥ १७५ ॥ प्रति० ।

ताणि ह पोरुसेयाणि,

अपोरुसेयाणि वेयवयणाणि ।

सग्गुव्वसिपमुहाणं,

दिट्ठो तह अत्थभेओऽवि ॥ १२८५ ॥ पं०व० ।

तानीह पौरुषेयाणि लौकिकानि अपौरुषेयाणि वेदवचनानीति वैधर्म्यं, स्वर्गोर्वश्यप्रमुखानां शब्दानां दृष्टः स्वार्थभेदोऽपि, एवं च 'य एव लौकिकास्त एव वैदिकाः, स एवैषामर्थः' इति यत् किंचिदेतत् ॥ १७६ ॥ प्रति० ।

ण य तं सहावओ चिय,

सत्थपगासणपरं पईवो व्व ।

समयविभेयाऽजोगा,

मिच्छत्तपगासजोगा य ॥ १२८६ ॥ पं०व० ।

न च तद्वेदवचनं स्वभावत एव स्वार्थप्रकाशनपरं प्रदीपवत्, कुत ?, इत्याह—समयविभेदाऽयोगात्-संकेतभेदाऽभावात्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मिथ्यात्वप्रकाशयोगाच्च, कचिदेतदापत्तेरिति भावः ॥१७७॥
तथाह (प्रति०)—

इंदीवरंमि दीवो,
पगासई रत्तयं असंतं पि ।
चंदो वि पीयवत्थं,
धवलं ति न णिच्छओ तत्तो ॥१२८७॥ पं० व० ।

इन्दीवरे दीपः प्रकाशयति रक्ततामसतीमपि चन्द्रोऽपि पीतवस्त्रं धवलमिति प्रकाशयति न निश्चयस्ततो वेदवचनाद् व्यभिचारित्व इति गाथार्थः ॥ १७८ ॥ प्रति० ।

एवं सो कहियाऽऽगम-
पओगगुरुसंपयायभावोऽवि ।
जुज्जइ सुहो इहं खलु,
नाएणं छिन्नमूलत्ता ॥ १२८८ ॥ पं० व० ।

एवं न कथिताऽऽगमप्रयोगगुरुसंप्रदायभावोऽपि प्रभूतयक्ष-भूतो युज्यते यत इह खलु वेदवचने न्यायेन, 'छिन्नमूलत्वात्' तथाविधवचनासंभवादिति गाथार्थः ॥१७९॥ प्रति० ।

ण कयाइ इओ कस्सइ,
इह णिच्छयमो कहिं चि वत्थुम्मि ।
जाओ त्ति कहइ एवं,
जं सो तत्त स वामोहो ॥ १२८९ ॥ पं० व० ।

न कदाचिदतो-वेदवचनात् कस्यचिदिह निश्चय एव कचि-द्वस्तुनि जात इति कथयति एवं सति यदसौ वैदिकस्तत्त्वं स व्यामोहः स्वतोऽप्यज्ञात्वा कथनात् ॥ १८० ॥ प्रति० ।

तत्तो अ आगमो जो,
विणेयसत्ताण सो वि एमेव ।
तस्स पओगो चेवं,
अणिवारणं च णियमेणं ॥१२९०॥ पं० व० ।

ततश्च वैदिकादर्थादागमो यो व्याख्यारूपः विनेयसत्त्वानां संबन्धी सोऽप्येवमेव-व्यामोह एव तस्याऽऽगमार्थस्य प्रयो-गोऽप्येवमेव-व्यामोह एव अनिवारणं च नियमेन व्यामोह एवेति गाथार्थः ॥ ८१ ॥ प्रति० ।

णेवं परंपराए,
माणं एत्थ गुरुसंपयाओ वि ।
रूवविसेसद्दवणे,
जह जच्चंधाण सव्वेसिं ॥ १२९१ ॥ पं० व० ।

नैवं परंपरायां मानम् , अत्र च व्यतिकरे गुरुसंप्रदायोऽपि निदर्शनमाह-सितेतरादिरूपविशेषस्थापने यथा जात्यन्धानां सर्वेषामनादिमताम् ॥ १८२ ॥
पराऽभिप्रायमाह (प्रति०)—

भवतो वि य सव्वन्नू,
सव्वो आगमपुरस्सरो जेणं ।
ता सो अपोरुसेओ,
इयरो वाऽणागमा जो उ ॥ १२९२ ॥ पं० व० ।

भवतोऽपि च सर्वज्ञः सर्व आगमपुरस्सरः येन कारणेन सर्गकेवलार्थिना तपोध्यानादिकर्त्तव्यमित्यागमः अतः प्रवृत्ते-रिति, तदसावपौरुषेयः, इतरः अनादिमत् सर्वज्ञोऽनागमा-देव कस्यचित्तमन्तरेणापि भावादितिगाथार्थः ॥ १८३ ॥ प्रति० ।

णोभयमवि जमणाई,
बीयंऽकुरजीवकम्मजोगसमं ।
अहवऽत्थतो उ एवं,
ण वयणओ वत्तहीणं तं ॥ १२९३ ॥ पं० व० ।

अत्रोत्तरम्-'नो'नैतदेवमुभयमप्यागमः सर्वज्ञश्च यदस्मादना-दिबीजाङ्कुरजीवकर्मयोगसमं न ह्यत्रेदं पूर्वमिदं नेति व्यवस्था ततश्च यथोक्तदोषाभावः, अथवा-अर्थत एव बीजाऽङ्कुरादि-न्यायः सर्व एव कथंचिदागममासाद्य सर्वज्ञो जातः तदर्थश्च तत्साधक इति न वचनतो-न वचनमेवाधित्य मरुदेव्यादी-नां प्रकारान्तरेणापि भावात् । तद्वचनं वक्त्रधीनं नत्वनाद्य-पि वक्तारमन्तरेण वचनप्रवृत्तेरयोगात् । तदर्थप्रतिपत्तिस्तु क्षयोपशमादेरविरुद्धा, तथा दर्शनादेतत्सूक्ष्मधिया भावनी-यम् ॥ १८४ ॥ प्रति० ।

वेयवयणम्मि सव्वं,
णाएणासंभवंतरूवं जं ।
ता इयरवयणसिद्धं,
वत्थु कहं सिज्झई तत्तो ॥१२९४॥ पं० व० ।

वेदवचने सर्वमागमादिन्यायेनाऽसंभवद्रूपं यत्—यस्मात् तत्-तस्मादितरवचनात्सिद्धं सद्रूपवचनसिद्धं वस्तु हिंसा-दोसादि कथं सिध्यति ततो--वेदवचनादिति गाथार्थः ॥ १८५ ॥ प्रति० ।

(आगमस्य च स्वरूपप्रतिपादकस्यापि प्रामाण्यम्)—

नच स्वरूपप्रतिपादकानामप्रामाण्यम् , प्रमाणजनकत्वस्य सद्भावात् । तथाहि-प्रमाजनकत्वेन प्रमाणस्य प्रामाण्यं न प्रवृ-त्तिनिवृत्तिजनकत्वेन तच्चेहास्त्येव प्रवृत्तिनिवृत्ती तु पुरुषस्य सुखदुःखसाधनत्वाध्यवसाये समर्थस्यार्थित्वाद्भवत इति । अथ विधावङ्गत्वादमीषां प्रामाण्यं न स्वरूपार्थत्वादिति चेत् , तदसत् , स्वार्थप्रतिपादकत्वेन विध्यङ्गत्वात् , तथाहि-स्तुतेः स्वार्थप्रतिपादकत्वेन प्रवर्त्तकत्वं,निन्दायास्तु निवर्त्तकत्वमि-ति । अन्यथा हि-तदर्थापरिज्ञाने विहितप्रतिषिद्धेष्वविशेषेण प्रवृत्तिर्निवृत्तिर्वा स्यात्तथाविधिवाक्यस्यापि स्वार्थप्रतिपा-दनद्वारेणैव पुरुषप्रेरकत्वं दृष्टम् एवं स्वरूपपरेष्वपि वाक्येषु स्यात् , वाक्यस्वरूपतायाः अविशेषात् विशेषहेतोश्चाऽभा-वादिति । तथा-स्वरूपार्थानामप्रामाण्ये " मेध्या आपो दर्भाः पवित्रम् , अमेध्यमशुची" त्येवंस्वरूपापरिज्ञाने विध्य-ङ्गतायामप्यविशेषेण प्रवृत्तिनिवृत्तिप्रसङ्गः, न चैतदस्ति; मेध्येष्वेव प्रवर्त्तते अमेध्येषु च निवर्त्तत इत्युपलम्भात् । तदेवं स्वरूपार्थेभ्यो वाक्येभ्योऽर्थस्वरूपावबोधे सति इष्टे प्रवृत्ति-दर्शनात् अनिष्टे च निवृत्तेरिति ज्ञायते-स्वरूपार्थानां प्रमा-जनकत्वेन प्रवृत्तौ निवृत्तौ वा विधिसहकारित्वमिति, अप-रिज्ञानात्तु प्रवृत्तावतिप्रसङ्गः । अथ स्वरूपार्थानां प्रामाण्ये "ग्रावाणः प्लवन्ते" इत्येवमादीनामपि यथाऽर्थता स्यात् , नः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुख्ये बाधकोपपत्तेः। यत्र हि मुख्ये बाधकं प्रमाणमस्ति तत्रोपचारकल्पना, तदभावे तु प्रामाण्यमेव। न चेश्वरसद्भावप्रतिपादनेषु किञ्चिदस्ति बाधकमिति स्वरूपे प्रामाण्यमभ्युपगन्तव्यम्। सम्म० १ काण्ड १ गाथाटी०।

(मूलाऽऽगमैकदेशभूतस्य चाऽऽगमान्तरस्यापि प्रामाण्यम्)-

ऐदंपर्यं शुध्यति, यत्रासावागमः सुपरिशुद्धः।
तदभावे तद्देशः, कश्चित्स्यादन्यथा ग्रहणात् ॥ १२ ॥

ऐदंपर्यं-तात्पर्यं पूर्वोक्तं शुध्यति-स्फुटीभवति यत्राऽऽगमे-असावागमः सुपरिशुद्धः-प्रमाणभूतस्तदभावे-ऐदंपर्यशुध्यभावे तद्देशः-परिशुद्धाऽऽगमैकदेशः कश्चिद्-अन्य आगमः स्यान्नतु मूलागम एव अन्यथाग्रहणात् मूलाऽऽगमैकदेशस्य सतो विषयस्यान्यथा प्रतिपत्तेर्यतः समतामवलम्बमानास्तेऽपि तथेच्छन्ति।

मूलाऽऽगमव्यतिरिक्ते तदेकदेशभूत आगमेऽन्यथा परिगृहीते द्वेषो विधेयो न वेति, तदभावप्रतिपादनायाह—

तत्राऽपि च न द्वेषः, कार्यो विषयस्तु यत्नतो मृग्यः।
तस्याऽपि न सद्वचनं, सर्वं यत्प्रवचनादन्यत् ॥ १३ ॥

तत्रापि च-तदेकदेशभूत आगमान्तरे न द्वेषः कार्यो-न द्वेषो विधेयो विषयस्त्वभिधेयज्ञेयरूपो यत्नतो-यत्नेन मृग्यः-अन्वेषणीयो यद्येवं सर्वमेव तद्वचनं किं न प्रमाणीक्रियत इत्याह-तस्याप्यागमान्तरस्य न सत्-शोभनं वचनं सर्वम्-अखिलं यत्प्रवचनात्-मूलाऽऽगमादन्यत् यत्तु तदनुपाति तत्सदेवेति।

कस्मात्पुनस्तत्राऽद्वेषः क्रियत इत्याह—

अद्वेषो जिज्ञासा, शुश्रूषा श्रवणबोधमीमांसाः।
परिशुद्धा प्रतिपत्तिः, प्रवृत्तिरष्टाङ्गिकी तत्त्वे ॥ १४ ॥

अद्वेषः-अप्रीतिपरिहारस्तत्त्वविषयस्तत्पूर्विका ज्ञातुमिच्छा-जिज्ञासा तत्त्वविषया ज्ञानेच्छा तत्त्वजिज्ञासा सा पूर्विका बोधाम्भःस्रोतसः शिराकल्पा श्रोतुमिच्छा शुश्रूषा तत्त्वविषयैव। तत्त्वशुश्रूषानिबन्धनं श्रवणम्-आकर्णनं तत्त्वविषयमेव बोधः-अवगमः परिच्छेदो विवक्षितार्थस्य श्रवणनिबन्धनस्तत्त्वविषय एव मीमांसा सद्विचाररूपा-बोधानन्तरभाविनी तत्त्वविषयैव। श्रवणं च बोधश्च मीमांसा च श्रवणबोधमीमांसाः। परिशुद्धा-सर्वतो भावविशुद्धा प्रतिपत्तिर्मीमांसोत्तरकालभाविनी निश्चयाकारा परिच्छित्तिरिदमिदमेवेति तत्त्वविषयैव। प्रवर्त्तनं प्रवृत्तिरनुष्ठानरूपा परिशुद्धाप्रतिपत्त्यनन्तरभाविनी तत्त्वविषयैव, प्रवृत्तिशब्दो द्विरावर्त्यते तेनायमर्थो भवति। तत्त्वे प्रवृत्तिरष्टाभिरङ्गैर्निर्वृत्ताष्टाङ्गिकी एभिरद्वेषादिभिरष्टभिरङ्गैस्तत्त्वप्रवृत्तिः संपद्यते तनाऽऽगमान्तरे मूलाऽऽगमैकदेशभूते न द्वेषः कार्य इति। षो० १६ विव०।

(७) प्रमाणान्तराविषय एव पदार्थो नाऽऽगमेन बोध्यते किन्तु प्रमाणान्तरविषयोऽपि-

" न ह्यागमसिद्धाः पदार्थाः " इति, प्रलक्षस्यापि प्रतिक्षेपो युक्तः। यदपि प्रत्यक्षानुमानाविषये चार्थे आगमप्रामाण्यवादिभिस्तस्य प्रामाण्यमभ्युपगम्यते-तदुक्तम्-" आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्। " (जैमि० १-२-१।) इति तदप्ययुक्तम्; यतो यथाप्रत्यक्षप्रतीतेऽप्यर्थे विप्रतिपत्तिविषयेऽनुमानमपि प्रवृत्तिमासादयतीति प्रतिपादितम्। तथा प्रत्यक्षानुमानप्रतिपक्षेऽप्यात्मलक्षणेऽर्थे तस्य वा प्रतिनियतकर्मफलसंबन्धलक्षणे किमित्यागमस्य प्रवृत्तिर्नाभ्युपगमस्य विषयः?। नचाऽऽगमस्य तत्राप्रामाण्यमिति वक्तुं युक्तं, सर्वज्ञप्रणीतत्वेन तत्प्रामाण्यस्य व्यवस्थापितत्वात्। सम्म० १ काण्ड १ गाथाटी०।

आगमप्रमाणञ्च प्रमाणान्तरे नान्तर्भवति तथा चाऽत्र शङ्कितम्-

आगमोऽपि नाऽनुमानाद् भिद्यते, परमार्थतस्तस्याप्यनुमानत्वात्तथाहि-'शाब्दं प्रमाणमागमः' उच्यते-शब्दश्च द्विविधो दृष्टार्थविषयः,अदृष्टार्थविषयश्च। तत्र दृष्टार्थविषया शब्दाद् या प्रतीतिः, सा वस्तुतोऽनुमानसमुत्थैव, यतः क्वचित्प्रथमं पृथुबुध्नोदरोर्ध्वकुण्डलोष्ठायतवृत्तग्रीवादिमति घटपदार्थे घटशब्दं प्रयुज्यमानं दृष्ट्वा तदुत्तरकालं क्वापि घटमानयेत्यादिशब्दं श्रुत्वा पृथुबुध्नोदरादिमदर्थ एव घट उच्यते, तथाभूतपदार्थे एव घटशब्दप्रयोगप्रवृत्तेः, यथा पूर्वं कुम्भकारापणादौ घटशब्दश्चायमिदानीमपि श्रूयते तस्मात्तथाभूतस्यैव पृथुबुध्नोदरादिमतः पदार्थस्य मया आनयनादिक्रिया कर्त्तव्या इत्यनुमानं विधाय प्रमाता घटानयनादिक्रियां करोति, इत्येवं दृष्टार्थविषयं शाब्दं प्रमाणं वस्तुतो नानुमानाद्भिद्यते। विशे० १५५२ गाथाटी०।

(८) आगमप्रमाणस्यानुमानप्रमाणेऽन्तर्भावः—

काणादाः—शब्दोऽनुमानं व्याप्तिग्रहणबलेनार्थप्रतिपादकत्वाद्धूमवदिति। तत्र हेतोरामुखे कूटाऽकूटकार्षापणनिरूपणप्रवणप्रत्यक्षेण व्यभिचारस्तथाभूतस्यापि तत्प्रत्यक्षस्यानुमानरूपताऽपायात्। आः कथं प्रत्यक्षं नाम भूत्वा व्याप्तिग्रहणपुरस्सरं पदार्थं परिच्छिन्द्यात्? उन्मीलितं हि चक्षुस्तनं जातमेव परीक्षकाणां कूटाकूटविवेकेन प्रत्यक्षमिति क्व व्याप्तिग्रहणावसर इति चेत्, तदेवान्यत्रापि प्रतीहि। तथाहि-समुच्चारितश्चेद्ध्वनिः, जातमेव जनस्य शब्दार्थसंवेदनमिति क्व व्याप्तिग्रहणावकाश इति। एवं तर्हि नालिकेरद्वीपवासिनोऽपि पनसशब्दात्तदर्थसंवित्तिः स्यादिति चेत्, किं नापरीक्षकस्यापि कार्षापणे कूटाकूटविवेकेन प्रत्यक्षोत्पत्तिः?। अथ यावानेतादृशविशेषसमाकलितकलेवरः कार्षापणः तावानेष कूटोऽकूटो वा निष्टङ्कनीयस्त्वया; इत्युपदेशसाहाय्यकापेक्षं चक्षुरादि तद्विवेके कौशलं कलयति; नचापरीक्षकस्यायं प्राक्प्रावर्त्तिष्टेति चेत् तर्हि शब्दोऽपि यावान् पनसशब्दस्तावान् पनसार्थवाचक इति संवित्तिसहायस्तत्प्रतिपादने पटीयान्; न च नालिकेरद्वीपवासिनः प्रागियं प्रादुरासीदिति कथं तस्य तत्प्रतीतिः स्यात्?। अथैतादृशसंवेदनं व्याप्तिसंवेदनरूपमेव, तदपेक्षायां च शब्दार्थज्ञानमनुमानमेव भवेदिति चेत्, कूटाकूटकार्षापणविवेकप्रत्यक्षमपि किं न तथा। तत्रापि तथाविधोपदेशस्य व्याप्त्युल्लेखस्वरूपत्वात्। अथ व्याप्तेः प्राक् प्रवृत्तावपि तदानीमभ्याससदशापन्नस्यनानपेक्षणात्प्रत्यक्षमेवैतत्तदपेक्षायां तु भवत्येवैतदनुमानं, कूटोऽयं कार्षापणः, तथाविधविशेषसमन्वितत्वात्प्राक्परीक्षितकार्षापणवत्, इति चेत्, एतदेव समस्तमन्यत्रापि तुल्यं विदांकरोतु भवान्। न खल्वभ्यासदशायां कोऽपि व्याप्तिं शब्देऽप्यपेक्षते, सहसैव तज्ज्ञानोत्पत्तेः। अनभ्या-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से तु को नाम नानुमानतां मन्यते, । यथा कस्यचिद्विस्मृतसंकेतस्य कालान्तरे पनसशब्दश्रवणे, यः पनसशब्दः स आमूलफले प्रदिदिष्टपिविशेषवाचकः, यथा दत्तदत्तोक्तः ग्राक्तनस्तथा चायमपि देवदत्तोक्त इति । एवं च पक्षैकदेशे सिध्यसाध्यता , शब्दोऽनुमानमित्यत्र सकलवाचकानां पक्षीकृतानामेकदेशस्यानुमानरूपतया स्वीकृतत्वात् । वस्त्वागमरूपतया स्वीकृतः शब्दस्तत्राऽस्यासद्दशापन्नत्वेन व्याप्तिग्रहणापत्त्यैव नास्ति । अन्यथा कूटाऽकूटकार्षापणप्रत्यक्षेण व्यभिचारापत्तेः तथा च हेतोरसिद्धिः । एवं च (शब्दत्वस्य व्याप्तिग्रहणानपेक्षत्वे सिद्धे) विवादास्पदः शब्दो नानुमानं, तद्विभिन्नसामग्रीकत्वात्, कूटाऽकूटकार्षापणविवेकप्रत्यक्षवदिति सिद्धम् ।

किं च-वाचामनुमानमानतामातन्वानोऽसौ कथं पक्षधर्मत्वादिकमादर्शयेत् ? । चैत्रः ककुदादिमदर्थविवक्षावान् गोशब्दोच्चारणकर्तृत्वात्, अहमिव इतीत्थमिति चेत्, नन्वेवं विवक्षामात्रस्यैव प्रतीतिः स्यात्, तथा च कथमर्थे प्रवृत्तिर्भवेत् ?। विवक्षातोऽर्थसिद्धिरिति चेत् । मैवम् । अस्याः तद्व्यभिचारात् नासन्नामन्यथापि तदुपलब्धेः । अथ यथाप्रेक्षाऽचक्षुष्मत्तथाप्तविवक्षातोऽनुरणैवार्थसिद्धिर्भविष्यतीति चेत्, सत्यम् । किं प्रतीतिपराहतैवेयं परम्परा,शब्दश्रुतौ सत्यां प्रतीत्यन्तराव्यवहितस्यैवार्थस्य संवेदनात्, यथा लोचनव्यापारे सति रूपस्य । अपि च-अप्रातीतिकैतादृक्कल्पनामहापातकं क्रियतां नाम, यदि नान्या गतिः स्यात् अस्ति चेयं शब्दस्य स्वाभाविकवाच्यवाचकभावसंबन्धद्वारेणार्थप्रत्यायकत्वोपपत्तेः । एतच्च " स्वाभाविकसामर्थ्यसमयाभ्यामि " त्यादिसूत्रे निर्णेष्यते ।

उदाहरन्ति—

समस्त्यत्र प्रदेशे रत्ननिधानं, सन्ति रत्नसानुप्रभृतय इति ॥ ३ ॥

वक्ष्यमाणलौकिकजनकादिलोकोत्तरतीर्थकराद्यपेक्षया क्रमेणोदाहरणोभयी । रत्ना० ४ परि० ।

अत्राह मीमांसकः- " शब्दज्ञानादसन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिः शाब्दम् "-(१-१-५ । शाबरभा०) इति वचनात् " शब्दादुदेति यद् ज्ञान-मप्रत्यक्षेऽपि वस्तुनि । शाब्दं तदिति मन्यन्ते, प्रमाणान्तरवादिनः"॥१॥ इतिलक्षणलक्षितस्य प्रमाणान्तरस्य सद्भावात्, कथं द्वे एव प्रमाणे ? । न चास्य प्रत्यक्षप्रमाणता सविकल्पकत्वात्, नाप्यनुमानता त्रिरूपलिङ्गाप्रभवत्वात् अनुमानगोचराविषयत्वाच्च । तदुक्तम्-" तस्मादननुमानत्वं, शाब्दे प्रत्यक्षवद्भवेत् । त्रैरूप्यरहितत्वेन, तादृग्विषयवर्जनात्" (श्लो० वा० शब्दप० ६८)। तथाहि-न शब्दस्य पक्षधर्मत्वं धर्मिणोऽयोगात् । नचार्थस्य धर्मित्वं तेन तस्य संबन्धासिद्धेः । नचाप्रतीतेऽर्थे तद्धर्मतया शब्दस्य प्रतीतिः संभविनी प्रतीते चार्थे न तद्धर्मतापरिपत्तिः शब्दस्योपयोगिनी तामन्तरेणाप्यर्थस्य प्रागेव प्रतीतेः अन्यथा तस्य तद्धर्मतया प्रतीत्ययोगात् । भवतु वाऽर्थो धर्मी तथाऽपि किं तत्र साध्यमिति वक्तव्यं ?, सामान्यमितिचेत्, न; तस्य धर्मिपरिच्छेदकाल एव सिद्धत्वात् । तदपरिच्छेदे धर्मिपरिच्छेदाऽयोगाद्"नागृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धिः" इति न्यायात् । न च सामान्यं धर्मि अर्थविशेषस्तत्र साध्यो धर्मः उक्तदोषानतिक्रमात् । विशेषस्य चानन्वयाद् । अथ-शब्दो धर्मी अर्थवानिति साध्यो धर्मः शब्द एव च हेतुः, न; प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वप्रसङ्गः । अथ शब्दत्वं हेतुरिति न प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वं दोषः, न; शब्दत्वस्यागमकत्वात् गोशब्दत्वस्य च निषेत्स्यमानत्वेनासिद्धत्वात् । अत एवानुमानतुल्यविषयताऽपि न शाब्दे संभवति । तदुक्तम्—

" सामान्यविषयत्वं हि , पदस्य स्थापयिष्यते ।
धर्मी धर्मविशिष्टश्च, लिङ्गीत्येतच्च साधितम् ॥
न तावदनुमानं हि , यावत्तद्विषयं न तत् ।
अथ शब्दोऽर्थवत्त्वेन , पक्षः कस्मान्न कल्प्यते ।
प्रतिज्ञार्थैकदेशो हि हेतुस्तत्र प्रसज्यते ।
पक्षे धूमविशेषे हि , सामान्यं हेतुरिष्यते ।
शब्दत्वं गमकं नात्र , गोशब्दत्वं निषेत्स्यते ।
व्यक्तिरेव विशेष्याऽतो, हेतोश्चैका प्रसज्यते " इति ।(श्लो० वा० शब्दप० ५५-५६-, ६२-,६४ ।) शब्दस्य चार्थेन संबन्धाभावतो यथा न पक्षधर्मत्वं तथाऽन्वयोऽपि प्रमेयेण व्यापाराभावतोऽसङ्गत एव । तदुक्तम्-

" अन्वयो न च शब्दस्य, प्रमेयेण निरूप्यते ।
व्यापारेण हि सर्वेषा-मन्वेतृत्वं प्रतीयते ।
यत्र धूमोऽस्ति तत्राग्ने-रस्तित्वेनान्वयः स्फुटः ।
नत्वेवं यत्र शब्दोऽस्ति, तत्रार्थोऽस्तीति निश्चयः ।
न तावत् यत्र देशेऽसौ , न तत्कालेऽवगम्यते ।
भवेन्नित्यविभुत्वाच्चेत् , सर्वार्थेष्वपि तत्समम् ।
तेन सर्वत्र दृष्टत्वाद् ,व्यतिरेकस्य चागतेः ।
सर्वशब्दैरशेषार्थ-प्रतिपत्तिः प्रसज्यते"(श्लो० वा० शब्दप० ८५-८८) अन्वयाभावे व्यतिरेकस्याप्यभावः, उक्तं च-"अन्वयेन विना तस्मा-द्व्यतिरेकः कथं भवेत्-?" इति तदेवमनुमानलक्षणाभावात् शाब्दं प्रमाणान्तरमेव । सम्म० २ काण्ड १ गाथाटी० ।

अत्र प्रतिविधीयते-यत्तावत् शाब्दस्य त्रैरूप्यरहितत्वेन तादृग्विषयाभावाच्चानुमानानन्तर्भावप्रतिपादनमभ्यधायि तद्युक्तमेव न ह्यप्रमाणस्यानुमानेऽन्तर्भावो युक्तः । कुतः पुनः शब्दाद्भवस्य ज्ञानस्याप्रामाण्यं ?, शब्दस्यार्थप्रतिबन्धाभावात् । न हि शब्दोऽर्थस्य स्वभावः अत्यन्तभेदात् नापि कार्यं तेन विनाऽपि भावात् । न च तादात्म्यतदुत्पत्तिव्यतिरिक्तः संबन्धो गमकत्वनिबन्धनमस्ति । न च संकेतबलाद्धास्तवप्रतिपक्षिशक्तियुक्तानां प्रदीपानामिवार्थप्रकाशकत्वं संभवति । न च व्यवस्थितैवार्थप्रतिपादनयोग्यता संकेतेन शब्दस्याभिव्यज्यत इति वक्तव्यं पुरुषेच्छावशादन्यत्रार्थे शब्दस्य समयाद्प्रवृत्तिप्रसक्तेः । दृश्यते च पुरुषेच्छावशादन्यत्रापि विषये शब्दानां प्रवृत्तिः । न च पुरुषेच्छावृत्तिः समयो वस्तुप्रतिबद्धः तदभावेऽपि तस्य प्रवृत्तेः । न च संकेतमन्तरेण शब्दस्य वस्तुप्रत्यायकत्वं संकेताभावप्रसक्तेः । आप्तप्रणीतशब्दानां पुनरर्थाव्यभिचारेऽप्याप्तप्रणीतत्वानिश्चयादेवाप्रामाण्यं न पुनराप्तस्यैवासंभवात् । तदसंभवबाधकप्रमाणाभावात् । ततो बाह्ये विषये शब्दानां प्रतिबन्धाभावतः प्रमाण्यमत्र न संभवति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पक्षधर्मत्वाद्यसंभवादनुमानत्वाभावप्रतिपादनं युक्तमेवेति स्थितम् । यत्र तु वक्त्रभिप्रायसूचने प्रामाण्यमस्य तत्रानुमानलक्षणयुक्तस्यैव नान्यादृग्भूतस्येति न प्रमाणान्तरत्वम् । सम्म० २ काण्ड १ गाथाटी० ।

(६) आगममधिकृत्योक्तम्—

तस्य च जीवाऽजीवादिलक्षणे दृष्टविषये वस्तुतत्त्वे सर्वदा अविसंवादात् अदृष्टविषयेऽप्येकवाक्यतया प्रवर्तमानस्य च प्रामाण्यं प्रतिपत्तव्यम् । न च वक्त्रधीनत्वात् तस्य अप्रामाण्यं वक्त्रधीनत्वप्रमाणत्वयोर्विरोधाभावाद्वक्त्रधीनस्यापि प्रत्यक्षस्य प्रामाण्योपलब्धेः न चाक्षजत्वाद्वस्तुप्रतिबद्धत्वेन तत्र प्रामाण्यं न शाब्दस्य विपर्ययादिति वक्तव्यं शाब्दस्य अत एव प्रमाणान्तरत्वोपपत्तेः अन्यथा अनुमानादविशेषप्रसङ्गात् । तथाहि-गुणवद्वक्तृप्रयुक्तशब्दप्रभवत्वादेव शाब्दम् अनुमानज्ञानाद्विशिष्यते अन्यथा बाह्यार्थप्रतिबन्धस्यात्रापि सद्भावात् नानुमानादस्य विशेषः स्यात् । यदा च परोक्षेऽपि विषयेऽस्य प्रामाण्यमुक्तन्यायात् तदा गुणवद्वक्तृप्रयुक्तत्वेनास्य प्रामाण्यम् अतश्च गुणवद्वक्तृप्रयुक्तत्वमितीतरेतराश्रयदोषोऽपि नाऽत्राऽवकाशं लभते यथोक्तसंवादादस्य प्रामाण्यनिश्चये । कुतोऽयमस्यात्र संवादः इत्यपेक्षायाम् आप्तप्रणीतत्वादित्यवगमो न पुनः प्रथममेव तत्प्रणीतत्वनिश्चयादस्यार्थप्रतिपादकत्वे प्रतिबन्धनिश्चयादनुमानस्येव नापि दृष्टविषयाविसंवादिवाक्यैकवाक्यतां विरहय्य अदृष्टार्थवाक्यैकदेशस्यान्यतः कुतश्चित्प्राक् संवादित्वनिबन्धनस्य प्रामाण्यस्य निश्चयोऽभ्यासावस्थायां तु आप्तप्रणीतत्वनिश्चयात् प्रवृत्तिरदृष्टार्थवाक्यान्नवार्येत इति कुत इतरेतराऽऽश्रयाऽवकाशः ?,

(एकान्तिकं वाच्यस्वरूपं निरसितुं लडादेरर्थविचारपक्षाः)—

एकान्तवादिवाक्यात्तु दृष्टार्थेऽपि विसंवादिनः सर्वथा अप्रवृत्तिरेव निश्चितविसंवादात्कुल्यग्रहस्तियूथशतप्रतिपादकवाक्यादिवत् नह्येकान्तवादिवचनानां वाच्यं संभवीत्युक्तम् । यतः सामान्यं वा तद्वाच्यं भवेत् , विशेषो वा,उभयम् , अनुभयं वेति विकल्पाः । न तावत्सामान्यं तस्येतरव्यावृत्तप्रतिनियतैकवस्तुरूपत्वायोगात् । शब्दवाच्यत्वे घटाद्यानयनाय प्रेरितः सर्वत्र प्रवर्त्तेत न वा क्वचिद् भेदनिबन्धनत्वात् प्रवृत्तेः सामान्यस्य अनर्थक्रियाकारितया च प्रवृत्तिनिबन्धनत्वायोगात् । अथापि स्याद्यदाऽयं प्रतिपत्ता वाक्यमश्रुतपूर्वं शृणोति तदा पदानां संकेतकालानुभूतानामर्थं सामान्यलक्षणमेव प्रतिपद्यते या तु वाक्यार्थप्रतिपत्तिः सा अपेक्षासन्निधानाभ्यां विशेषणविशेष्यभावात्पदार्थप्रतिपत्तिनिबन्धना न पुनस्ततो वाक्यात् तथाविधस्य तस्य स्वार्थेन सह संबन्धाप्रतिपत्तेः वाक्यमेव च प्रवृत्तिनिवृत्तिव्यवहारक्षमं न पदं तस्यानर्थक्रियाकारिसामान्यप्रतिपादकत्वेनाऽप्रवृत्त्यङ्गत्वाद् । अत एव न विवक्षाप्रतिभासनमप्यर्थं प्रतिपादयन्तः शब्दा अनुमानतामासादयन्ति अगृहीतप्रतिबन्धादपि वाक्यविशेषात् यथोक्तन्यायतो वाक्यार्थप्रतिपत्तेः । अनेनैवाभिप्रायेण सौगता वाक्यगतां चिन्तामनादृत्य पदमेवानुमाने अन्तर्भावितवन्तः । उक्तं च मीमांसकैः—

"वाक्यार्थे तु पदार्थेभ्यः, संबन्धानुगमादृते ।
बुद्धिरुत्पद्यते तस्मा-द्भिन्ना साऽप्यक्षबुद्धिवत् ॥"
(श्लो० वा० शब्द प० श्लो० १०६) तथा—
"वाक्येष्वदृष्टपूर्वेष्वपि सार्थकेषु
पदार्थचिन्मात्रतया प्रतीतिम् ।
दृष्ट्वाऽनुमानव्यतिरेकभीताः ।
क्लिष्टाः पदाभेदविचारणायाम् ।"
(श्लो० वा० शब्दप० श्लो० १११) इति ।

असदेतत् ; एवं कल्पनायां पदार्थानामपि वाक्यार्थप्रतिपत्तिहेतुत्वासंभवात् । तथा हि-'घटः पटः कुम्भः' इत्यादिपदेभ्यो यथाऽन्योन्याननुगतस्वतन्त्रसामान्यात्मकार्थप्रतिपत्तिस्तथासंबद्धपदसमूहश्रवणादपि किं न तथाभूतसामान्यप्रतिपत्तिर्भवेत् ? नहि ततः सामान्यमात्राऽधिगमे तत्परित्यागतो विशिष्टार्थप्रतिपत्तौ निमित्तमस्ति न चापेक्षा-सन्निधानादिकं पदार्थानां तत्प्रतिपत्तौ निमित्तं पदार्थस्य पदार्थान्तरं प्रत्युत्पत्तौ प्रतिपत्तौ वाऽपेक्षादेरयोगात् तस्य सामान्यात्मकत्वेनोत्पत्तेरसंभवात् स्वपदस्य एव प्रतिपत्तेस्तत्रापि पदार्थान्तरापेक्षाद्यनुपपत्तेः । अर्थशक्तित एव ततो विशेषप्रतिपत्तिरितिचेत् तर्हि पदार्थानामेकार्थसंभवा प्रतिपत्तिर्यस्य तस्यापि ततस्तत्प्रतिपत्तिर्भवेत् । न च सामान्यत्यागे किञ्चिन्निबन्धनं बाधकाभावात् सत्यर्थित्वे उभयप्रतिपत्ति-प्रवृत्ती स्याताम् । न च वाक्यार्थप्रत्यय एव बाधकस्तेन तस्य विरोधाभावात् सामान्यविशेषयोः साहचर्यात् सामान्यप्रत्ययस्य च विशेषप्रतिपत्तिं प्रति निमित्तत्वाभ्युपगमात् निमित्तस्य च निमित्तिना अबाध्यत्वाद् अन्यथा तस्य तन्निमित्तत्वायोगाद् । अथ प्रागप्येवमयं व्युत्पादितः-यत्र पदार्थानामेकद्रव्यसंभवस्तत्र पदार्थसामान्यत्यागाद्विशेषः प्रतिपत्तव्यो यथा नीलोत्पलादौ, नन्वेवं सर्ववाक्यान्यस्य व्युत्पादितान्येव भवन्ति । तथाहि-यः कश्चित् संभवदेकद्रव्यार्थनिवेशः पदसमूहः स संकेतसमयावगतसामान्यात्मकावयवार्थपरित्यागतस्तेषामेव विशेषणविशेष्यभावेन विशिष्टाऽर्थगोचरः प्रतिपत्तव्यो, यथा 'नीलोत्पलं पश्य' इत्यादिपदसंघातः, तथा चायमपूर्ववाक्यात्मकः पदसमुदाय इति संकेतमनुसृत्य यदा ततस्तथाभूतमर्थं प्रत्येति तदा कथं न विशिष्टार्थवाचकं वाक्यम् ? अनेनैव च क्रमेण शब्दविदां समयव्यवहार उपलभ्यते । यथा-'धात्वादिः क्रियादिवचनः, कर्त्रादिवचनश्च लडादिः' इति समयपूर्वकं 'प्रकृति-प्रत्ययौ प्रत्ययार्थं सह ब्रूत' इति व्युत्पादितोऽनर्थक्रियाकारित्वेन सामान्यमात्रस्य विशेषनिरपेक्षस्य प्रतिपादयितुमनिष्टेः तत्परित्यागेन व्यवहारकाले विशेषमवगच्छति व्यवहारी । न च प्रकृतिप्रत्ययार्थावेवात्र पदार्थं प्रतिपादयतो न पदमिति मन्तव्यम् ।

"अशाब्दे वाऽपि वाक्यार्थे, न पदार्थेष्वशाब्दता ।
वाक्यार्थस्येव नैतेषां, निमित्तान्तरसंभवः ॥" (श्लो० वा० वाक्याधि० श्लो० २३०) इत्यस्य विरोधप्रसङ्गः । न च वाक्यस्य वाक्यार्थे संकेतकरणेऽनुमानात् शाब्दस्याऽविशेषप्रतिपत्तिः, विशेषस्य प्राक् प्रतिपादितत्वात् । केवलस्य च पदस्य प्रयोगानर्हत्वाद्वाक्यस्य तु प्रयोगार्हस्य सामान्यानभिधायकत्वात् कथं सामान्यं शब्दार्थः स्यात् ? ।

यस्तु पूर्वपदाऽनुरञ्जितं पदमेव वाक्यं पदार्थ एव पदार्था-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न्तरविशेषितो वाक्यार्थोऽभ्युपगतः। तथाहि-'दण्डी' 'छत्री'-त्यादिव्यपदेशं यथा पुरुष एव समासादयति नान्यस्तद्व्यतिरिक्तः तथा 'अपाक्षीत्' 'पचति' 'पक्ष्यति' इत्याद्यतीतकालाद्यवच्छिन्नः क्रियाविशिष्टश्च देवदत्त एव प्रतीयते-'अपाक्षीद्' इत्यादिशब्दानां देवदत्तशब्देन सामानाधिकरण्यात्-न तु तद्व्यतिरिक्तोऽर्थः अथ यद्यत्र कालाद्यवच्छिन्नपुरुष एव प्रतीयते तदा 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' 'ग्रामं गच्छ' 'स्वाध्यायः कर्त्तव्य' इति लिङ्-लोट्-कृत्य-प्रयोगेषु कस्यार्थस्य प्रतीतिः ? अत्रापि कर्मणि नियुक्तः क्रियाविशिष्टोऽध्ययनादिविशिष्टश्च देवदत्त एव प्रतीयते केवलं वर्त्तमानादिकालो न विशेषणत्वेनाऽत्रावतिष्ठते।

अथ यदि वाक्यार्थानेकान्तावगतिर्भावसंपादने कथं पुरुषः प्रवर्त्तते ? यथा हि देवदत्तः पचति इत्यादिवाक्यात्प्रवर्त्तते तथा 'जुहुयाद्' इत्यस्मादपि नैव प्रवर्त्तेत प्रवृत्तिनिमित्तस्यानवबोधात्, असदेतत्; 'जुहुयाद्'इत्यादिवाक्यजनितविज्ञानस्यैव प्रवर्त्तकत्वात् प्रवृत्तेस्तद्भावभावित्वेनोपलम्भाद् एतद्वाक्यसमुत्थं ज्ञानं पुरुषं स्वर्गादिसाधने नियोजयदुपलभ्यते न 'पचति' आदिवाक्यसमुत्थम्। तथाहि-विध्यादिवाक्यजनितज्ञानानन्तरमिच्छा तदनन्तरं प्रयत्नः तदनन्तरं च पुरुषस्य स्वर्गादिफलार्थः परिस्पन्दस्ततोऽपि फलपर्यन्ता स्वर्गफलावाप्तिः इत्यभिधानात्। तेऽपि अयुक्तिकारिणः एकान्तपक्षे विशेषण-विशेष्ययोरत्यन्तभेदे अभेदे वा विशेषणानुरागस्य पद-पदार्थेषु असंभवाद्वाक्यार्थकल्पनाद्यनुपपत्तेः अत एव 'अपाक्षीद्देवदत्तः' इत्यादौ न कालक्रियाविशिष्टपुरुषप्रतिपत्तिः क्रियादेः पुरुषाद्भेदे संबन्धाऽसिद्धितो व्यवच्छेदकत्वानुपपत्तेः अभेदेऽप्येकस्य तात्त्विकविशेषणविशेष्यरूपतासंगतेः। अन्यथाऽतिप्रसङ्गात्। कल्पनारचितस्य तद्रूपत्वस्य सर्वत्राविशेषात् विशिष्टप्रत्ययोत्पत्तेश्च अन्यनिमित्तत्वात् विरोधादिदोषस्य च तत्र प्रागेव प्रतिविहितत्वादेतेन लिङादियुक्तवाक्यजनितविज्ञानस्य प्रवर्त्तकत्वमेकान्तवादिप्रकल्पितं प्रतिक्षिप्तं तद्भावभावित्वस्य अन्यथासिद्धत्वप्रतिपादनात्। सम्म० ३ काण्ड ६३ गाथाटी०।

(१०) (शब्दस्य बाह्यार्थे प्रामाण्ये शास्त्रप्रयोजनमधिकृत्योक्तम्)—

यदि प्रेक्षावतां प्रवृत्त्यर्थं प्रयोजनप्रतिपादनायादिवाक्यमुपादीयते तदा ते प्रेक्षापूर्वकारित्वादप्रमाणकं नैव प्रवृत्तिं विदधति। न च प्रयोजनप्रतिपादकमादिवाक्यं तत्प्रभवं वा ज्ञानं प्रमाणम् अनक्षजत्वेनाध्यक्षत्वायोगात्।

नाऽप्यनुमानं स्वभावकार्यलिङ्गसमुत्थं तद्भावत्वेन तत्कारणत्वेन वा तत्प्रत्याय्यस्य प्रयोजनस्य प्रमाणतोऽप्रतिपत्तेः तदुत्थापकस्य लिङ्गस्य तत्कार्यत्वानवगमाद्, अन्यस्य च स्वसाध्याप्रतिबन्धाद् अप्रतिबद्धस्य च स्वसाध्यव्यभिचारेणागमकत्वात्, तत्त्वे वाऽतिप्रसङ्गात्; तत्प्रतिबद्धत्वेऽप्यनिश्चितप्रतिबन्धस्यातिप्रसङ्गत एव अगमकत्वात्।

न च वाक्यमिदं प्रवर्त्तमानं स्वमहिम्नैव स्वार्थं प्रत्याययतीति शब्दप्रमाणरूपत्वात्तस्याभिधेयप्रयोजनप्रतिपादने प्रमाणम्, शब्दस्य बाह्येऽर्थे प्रतिबन्धासंभवेनाप्रामाण्यात्; विवक्षायां प्रामाण्येऽपि तस्या बाह्यार्थाविनाभावित्वायोगात्। नाऽपि ये यमर्थं विवक्षन्ति ते तथैवं तं प्रतिपादयन्ति, अन्यविवक्षायामप्यन्यशब्दोच्चारणदर्शनाद्विवक्षायाश्च बाह्यार्थप्रतिबद्धत्वानुपपत्तेरेकान्ततः। तत्र शब्दादपि प्रमाणादादिवाक्यरूपात् प्रयोजनविशेषोपायप्रतिपत्तिः तदप्रतिपत्तौ च तेषां ततः प्रवृत्तौ प्रेक्षापूर्वकारिताव्यावृत्तिप्रसङ्गात्। प्रयोजनविशेषोपायसंशयोत्पादकत्वेन प्रवृत्त्यङ्गत्वादादिवाक्यस्य सार्थकत्वम्। तथाहि-अर्थसंशयादपि प्रवृत्तिरुपलभ्यते, यथा कृषीबलादीनां कृष्यादावनवगतशस्यावाप्तिफलानाम्। अथ अबीजादिविवेकेनावधृतबीजादिभावतया निश्चितोपायाः। तदुपेयशस्यावाप्त्यनिश्चयेऽपि तत्र तेषां प्रवृत्तिर्युक्ता न पुनः शास्त्रश्रवणादावुपेयप्रयोजनविशेषानिश्चयवत्तदुपायाभिमतादिवाक्यप्रत्याय्योपायनिश्चयस्याप्यसंभवाद्, अयुक्तमेतत्; यतो यथा शस्यसंपत्त्यादौ फले कृषीबलादेः संदेहः तथा तदुपायाभिमतबीजादावपि, अनिर्वर्त्तितकार्यस्य कारणस्य तथाभावनिश्चयायोगात्। तत्र यथा कृष्यादिकं संशय्यमानोपायभावं प्रवृत्तिकारणं तथा शास्त्रमप्यादिवाक्यादनिश्चितोपायभावं किं न प्रवृत्तिकारणमभ्युपगम्येत इति चेद्, असदेतत् आदिवाक्योपन्यासः शास्त्रप्रयोजनविषयसंशयोत्पादनार्थं संशयोऽपि च निश्चयविरुद्धः—अनुत्पन्ने च निश्चये-तत्राप्रतिबद्धप्रवृत्तिहेतुतया प्रादुर्भवन् केन वार्येत आदिवाक्योपन्यासमन्तरेणापि ?,

अथाश्रुतप्रयोजनवाक्यानां प्रयोजनसामान्ये तत्सत्त्वेतराभ्यां संशयो जायेत-'किमिदं चिकित्साशास्त्रवत्सप्रयोजनम् उत काकदन्तपरीक्षावन्निष्प्रयोजनम्' ततश्च संशयादनुपन्यस्ते प्रयोजनवाक्ये प्रयोजनसामान्यार्थिनः प्रवर्त्तन्तां प्रयोजनविशेषे तु कथमश्रुतप्रयोजनवाक्यानां संशयोत्पत्तिः ? प्रायेण च प्रयोजनविशेषविषयस्यैव संशयस्य प्रवृत्तिकारणत्वात् तदुत्पादनायादिवाक्यमुपादेयम् अतश्च प्रयोजनसामान्यविशेषेषु संशयानाः 'किमिदं सप्रयोजनं उत निष्प्रयोजनं सप्रयोजनत्वेऽपि किमभिलषितेनैव प्रयोजनेन तद्वद्' इति पक्षपरामर्शं कुर्वाणाः प्रवर्त्तन्ते असदेतत्; कुतश्चिच्छास्त्रादनुभूतप्रयोजनविशेषं श्रोतारं प्रति प्रयोजनवाक्यस्यानुपयोगात्-स हि किंचिच्छास्त्रमुपलभ्य प्रागनुभूतप्रयोजनविशेषेण शास्त्रेणास्य वाक्यात्मकत्वेन साधर्म्यमवधार्येदमपि निष्प्रयोजनम् उत-अनभिमतप्रयोजनवद् उताऽभीष्टप्रयोजनवद्वा इत्याशङ्कमानः प्रयोजनवाक्यमन्तरेणापि प्रवर्त्तत एव अननुभूतप्रयोजनविशेषस्तु प्रयोजनवाक्यादपि नैव प्रवर्त्तेत, तं प्रति तस्यापि तदुत्पादकत्वायोगात्-न हि प्रागननुभूतशास्त्रप्रयोजनविशेषः 'प्रयोजनप्रतिपादकं वाक्यमेतदर्थमि' त्यपि प्रतिपत्तुं समर्थोऽपरयत्नमन्तरेण। नाप्यनुभूतविस्मृतप्रयोजनविशेषः प्रयोजनवाक्यात्संस्मृत्य तद्विशेषं संशयानः प्रवर्त्तते, तद्रहितशास्त्रादपि तद्विशेषे स्मृतिसंभवात् नियमेन तु नोभाभ्यामपि तदनुस्मरणं भवति, तथाऽपि प्रयोजनवाक्यस्य ततः स्मृतिहेतुत्वेन उपन्यासे अन्यस्यापि तद्धेतोः किं नोपन्यासः ? सामान्यविशेषयोश्च दर्शनाऽदर्शनाभ्यां विशेषस्मरणसहकारिभ्यां संशयाः, न च प्रयोजनवाक्यं प्रयोजनविशेषस्य भावाऽभावयोः सामान्यम्। अथ विवक्षापरतन्त्रत्वात् स्वार्थतथाभावाऽतथाभावयोरपि प्रयोगसंभवात्सामान्यमेव वाक्यं,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शास्त्रमपि तर्हि शास्त्रान्तरसादृश्यात्प्रयोजननिर्वृत्युपायत्वाऽनुपायत्वयोः सामान्यम्-अन्यतरनिश्चयनिमित्ताभावात्ततः संशयानः प्रवर्त्ततां किमकिंचित्करप्रयोजनवाक्येन ? न च सामान्यस्य विशेषस्य च दर्शनाऽदर्शनाभ्यामेव यथोक्ताभ्यां संशयः, किं तु-साधक-बाधकप्रमाणावृत्तावपि; सा च प्रयोजनवाक्योपन्यासाऽनुपन्यासयोरपि संभवत्येव।

मा भूत्संशयोत्पादनेन वाक्यस्य शास्त्रश्रवणादिप्रवृत्तौ सामर्थ्यं, किं तु-प्रकरणारम्भप्रतिषेधाय 'नारब्धव्यमिदं प्रकरणम्, अप्रयोजनत्वात्, काकदन्तपरीक्षावद्' इति व्यापकानुपलब्धेरसिद्धतोद्भावनाय तदुपन्यास इति चेत्, एतदप्यसत्; यतः शास्त्रप्रयोजनं वाक्येनाप्रदर्शयता तत्सिद्धिरुद्भावयितुमशक्या, वाक्यस्याऽप्रमाणतया प्रयोजनविशेषसद्भावप्रकाशनसामर्थ्याभावात्। न च सप्रयोजनत्वेतरयोः परस्परपरिहारस्थितयोः कुतश्चित्प्रमाणादेकभावाप्रतिपत्तावितराभावप्रतिपत्तिः-अतिप्रसङ्गात्-येन वाक्यमात्रस्योपक्षेपेण हेतोरसिद्धिः स्यात्। नाऽपि कुतश्चित्प्रयोजनविशेषमुपलभ्यमानेन स्वयमुपलब्धप्रयोजनविशेषोपलम्भोपायमप्रदर्शयता कर्तुमशक्या असिद्धतोद्भावना वाक्यस्याप्रमाणस्य हेतुप्रतिपक्षभूतार्थोपस्थापना अशक्तस्योपन्यासमात्रेणासिद्धेरयोगात्। नाऽप्यनिबन्धना प्रतिपत्तिः, अतिप्रसङ्गात्।

अथ यद्यप्यप्रमाणत्वाद्विपरीतार्थोपस्थापनमुखेनासिद्धतामिदं नोद्भावयति। तथापि शास्त्रस्य निष्प्रयोजनता संदिग्धा अतः, संदिग्धनिष्प्रयोजनत्वस्य शास्त्रस्य प्रयोजनाभावं निश्चित्य प्रेक्षावदारम्भप्रतिषेधहेतुं प्रयुञ्जानोऽनेन वाक्येन प्रतिक्षेप्तुमिष्टः न पुनः प्रयोजनविषयनिश्चय एवोत्पादयितुमिष्टः, नहि प्रतिपक्षोपदर्शनेनैव साधनधर्माणामसिद्धिः अपि तु स्वग्राहिज्ञानविकलतया संदिग्धधर्मिसंबन्धित्वमप्यसिद्धत्वमेव, तस्मात्संदिग्धासिद्धतोद्भावनाय वाक्यप्रयोग इति, तदप्यनुपपन्नम्; यथाहि-सप्रयोजनत्वे संदेहोत्पादने वाक्यस्यानुपयोगित्वं-शास्त्रमात्रादपि भावात्-तथा निष्प्रयोजनत्वेऽपि; एवं ह्यनेन वाक्येन हेतोरसिद्धतोद्भाविता भवति यदि तत्सत्तासंदेहनिबन्धनानि कारणान्यपि तदैव प्रकाशितानि भवन्ति। न च विपर्यस्तपुरुषसंदेहोत्पादने तद्वाक्यं प्रभवति, अदर्शनात्। न च प्रस्तुतशास्त्रस्य प्रयोजनवत् शास्त्रान्तरेण कथंचित्साम्यात्साधक-बाधकप्रमाणाप्रवृत्तितश्चान्यानि संदेहकारणानि संभवन्ति, वाक्यमप्येतावन्मात्रप्रकाशनपरं हेतोः संदिग्धासिद्धतामुद्भावयेत्, तच्च तथाप्रकाशनमनुपन्यस्तेऽपि वाक्ये शास्त्रमात्रादपि दर्शनात् प्रमाणद्वयावृत्तेश्च भवतीति कस्तस्योपयोगः ? अनुपन्यस्ते कथं नाहेति चेत्, उपन्यस्तेऽपि कथं नहि तदुपन्यासाऽनुपन्यासाऽवस्थयोः संदिग्धत्वात्प्रस्तुतात्कथंचन विशेषं पश्यामः ? असिद्धतोद्भावनमनेन न्यायेन सर्वमेवासङ्गतमिति चेत्, नैतत्; नह्यनेन प्रकारेणासिद्धतोद्भावनमेव प्रतिक्षिप्यते, किंतु प्रमाणरहिताद्वाङ्मात्रादसिद्धता नोद्भावयितुं शक्येति प्रदर्श्यते। तत्र प्रयोजनवाक्यं हेत्वसिद्धतोद्भावनार्थमपि युक्तम्।

नच परोपन्यस्ते साधने प्रयोजनवाक्येनासिद्धतामुद्भाव्य कथमसिद्धिः साधनस्येति प्रत्यवस्थानवन्तं शास्त्रपरिसमाप्तेः प्रयोजनमवगमयन् शास्त्रं श्रावयति। ततः समधिगते प्रयोजने तदुपन्यस्तस्य साधनस्याऽसिद्धिरिति वक्तुं शक्यं, शास्त्रश्रवणतः प्रयोजनावगमे शास्त्रस्यादौ तद्वाक्योपन्यासस्य वैयर्थ्यप्रसङ्गः। अत एव "शास्त्रार्थप्रतिज्ञाप्रतिपादनपरः आदिवाक्योपन्यासः" (   ) इत्याद्यपि प्रतिक्षिप्तम्, अप्रमाणादादिवाक्यात्तदसिद्धेः। तथा-संबन्धाभिधेयप्रत्यायनपराण्यपि वाक्यानि शास्त्रादौ वाङ्मात्रेण निश्चयायोगात्सप्रयोजनानि प्रतिक्षिप्तान्येव, उक्तन्यायस्य समानत्वात्। तद्युक्तम् 'समय' इत्याद्यभिधेयप्रयोजनप्रतिपादकं-(अस्य काण्डस्य द्वितीयं) गाथासूत्रम्।

(उत्तरपक्षः-आदिवाक्योपन्यासस्य सार्थकत्वसमर्थनम्)-

अत्र-प्रतिविधीयते-यदुक्तं न प्रत्यक्षमनुमानं वा शब्दः तत्र सिद्धसाध्यता, प्रत्यक्षानुमानलक्षणायोगात्तत्र। यच्च 'नापि' शब्दः प्रमाणं बहिरर्थे तस्य प्रतिबन्धवैकल्येन, विवक्षायां तु प्रतिबन्धेऽपि यथाविवक्षमर्थासंभवात्, तदप्यसारम्, बाह्यार्थेन शब्दप्रतिबन्धस्य प्रसाधयिष्यमाणत्वात् तत्रैव च प्रतिपत्ति-प्रवृत्त्यादिव्यवहारस्योपलभ्यमानत्वाद्बाह्यार्थे एव शब्दस्य प्रामाण्यमभ्युपगन्तव्यम् प्रत्यक्षवत्। न चार्थाऽव्यभिचारित्वप्रामाण्यनिश्चयवतां ततः प्रवर्त्तमानानां प्रेक्षापूर्वकारिताक्षतिः। न चाऽनाप्तप्रणीत 'सरित्तटपर्यस्तगुडशकट' पटुवाक्यविशिष्टतानवगमात्ततः प्रवृत्तिः प्रत्यक्षाभासात्प्रत्यक्षस्येवानाप्तप्रणीतवाक्यादस्य विशिष्टतावसायात्; यस्य तु न तद्विशिष्टतावसायो नासावतः प्रवर्त्तेत अनवधृतहेत्वाभासविवेकाद्धेतोरिवानुमेयार्थक्रियार्थी। न चाप्तानां परहितप्रतिबद्धप्रयासानां प्रमाणभूतत्वात्स्ववाङ्मात्रेण प्रवर्त्तयितुं प्रभवतां प्रयोजनवाक्योपन्यासवैयर्थ्यं सुनिश्चिताप्तप्रणीतवाक्यादपि प्रतिनियतप्रयोजनार्थिनां तदुपायानिश्चये तत्र प्रवृत्त्ययोगात् नच प्रयोजनविशेषप्रतिपादकवाक्यमन्तरेणाऽऽप्तप्रणीतशास्त्रस्यापि तद्विशेषप्रतिपादकत्वनिश्चयः येन तत, एव तदर्थिनां तत्र प्रवृत्तिः स्यात् तदनभिमतप्रयोजनप्रतिपादकानामपि तेषां संभवात्।

अतः-"यत्र खल्वाप्तैः 'इदं कर्त्तव्यम्' इति पुरुषाः प्रतीततदाप्तभावा नियुज्यन्ते तत्रावधीरिततत्प्रेरणाऽन्यथाभावविषयविचारास्तदभिहितं वाक्यमेव बहु मन्यमाना अनाहतप्रयोजनपरिप्रश्नाः एव प्रवर्त्तन्ते विनिश्चिततदाप्तभावानां प्रत्यवस्थानासंभवात्" (   ) इति निरस्तम्, आप्तप्रवर्त्तितप्रतिनियतप्रयोजनार्थिजनप्रेरणावाक्यस्यैव प्रयोजनवाक्यत्वनिश्चयाद् अन्यथाऽभिमतफलार्थिजनप्रेरकवाक्यस्याप्तप्रयुक्तत्वमेवानिश्चितं स्याद् अनभिमतार्थप्रेरकस्याप्यवगताप्तवाक्यत्वे चातिप्रसङ्गः, न चाप्तवाक्यादपि प्रतिनियतप्रयोजनार्थिनस्तदवगमे तत्र प्रवर्त्तितुमुत्सहन्ते, अतिप्रसङ्गादेवेति सुप्रसिद्धम्। अर्थसंशयोत्पादकत्वेन चादिवाक्यस्य प्रवर्त्तकत्वप्रतिक्षेपे सिद्धसाधनम्, व्यापकानुपलब्धेस्त्वसिद्धतोद्भावनमादिवाक्यान्निश्चितबाह्यार्थप्रामाण्यात् युक्तमेव, यथा च तत्र तस्या(तस्य)प्रामाण्यं तथा प्रतिपादयिष्यामः। अत एव-"आप्ताभिहितत्वासिद्धेरविसंवादकत्वायोगादप्रमाणत्वाद्भावाविनिश्चयनिमित्ताभावादप्रवर्त्तकत्वं प्रयोजनवाक्यस्य प्रेक्षापूर्वकारिणः प्रति" (   ) इति। यदुच्यते तदपि प्रतिव्यूढं द्रष्टव्यम्। सम्म० १ काण्ड २ गाथाटी०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(११) अपोहः शब्दार्थ इति बौद्धाः—

ननु च—'समयपरमार्थविस्तर'-इत्यनेनाऽऽगमस्याकल्पितो बाह्योऽर्थः प्रतिपाद्यत्वेन शब्दार्थयोश्च वास्तवः संबन्धो निर्दिष्टः, द्वितयमप्येतदयुक्तं प्रमाणबाधितत्वाद् इति बौद्धाः। तथाहि-शब्दानां न परमार्थतः किंचिद्वाच्यं वस्तुस्वरूपमस्ति; सर्व एव हि शाब्दप्रत्ययो भ्रान्तः, भिन्नेष्वर्थेष्वभेदाकाराध्यवसायेन प्रवृत्तेः। यत्र तु पारंपर्येण वस्तुप्रतिबन्धस्तत्रार्थसंवादो भ्रान्तत्वेऽपि, तत्र यत्तदारोपितं विकल्पबुद्ध्याऽर्थेष्वभिन्नं रूपं तदन्यव्यावृत्तपदार्थानुभवबलायातत्वात्स्वयं चान्यव्यावृत्ततया प्रतिभासनाद् भ्रान्तैश्चाऽऽन्यव्यावृत्तार्थेन सहैक्येनाध्यवसितत्वात् अन्यापोढपदार्थाधिगतिफलत्वाच्च अन्याऽपोह इत्युच्यते। अतः अपोहः शब्दार्थ इति प्रसिद्धम्।

('विधिरेव शब्दस्यार्थः' इति विधिवादिमतस्य संक्षिप्य प्रतिस्थापनम्)—

अत्र विधिवादिनः प्रेरयन्ति-यदि भवतां द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्यादिलक्षणानि विशेषणानि शब्दप्रवृत्तिनिमित्तानि परमार्थतो न सन्ति कथं लोके 'दण्डी' इत्याद्यभिधानप्रत्ययाः प्रवर्तन्ते द्रव्याद्युपाधिनिमित्ताः, तथा हि-'दण्डी' 'विषाणी' इत्यादिधीध्वनी लोके द्रव्योपाधिकौ प्रसिद्धौ, 'शुक्लः' 'कृष्णः' इति गुणोपाधिकौ, 'चलति' 'भ्रमति' इति कर्मनिमित्तौ, 'अस्ति' 'विद्यते' इति सत्तानिमित्तकौ, 'गौः' 'अश्वः' इति सामान्यविशेषोपाधी, 'इह तन्तुषु पटः' इति समवायनिमित्तः। (तौ)। तत्रैषां द्रव्यादीनामभावे 'दण्डी' इत्यादिप्रत्यय-शब्दौ निर्विषयौ स्याताम्। न चानिमित्तावेतौ युक्तौ, सर्वदा तयोरविशेषेण प्रवृत्तिप्रसङ्गात्। नचावधिभागेन तयोः प्रवृत्तिरस्ति, तस्मात्सन्ति द्रव्यादयः पारमार्थिकाः प्रस्तुतप्रत्ययशब्दविषयाः।

प्रमाणयन्ति चात्र-ये परस्परासंकीर्णप्रवृत्तयस्ते सनिमित्ताः, यथा श्रोत्रादिप्रत्ययाः, असंकीर्णप्रवृत्तयश्च 'दण्डी,' इत्यादिशब्दप्रत्यया इति स्वभावहेतुः। अनिमित्तत्वे सर्वत्राऽविशेषेण प्रवृत्तिप्रसङ्गो बाधकं प्रमाणम्।

(विधिवादिमतं सविस्तरं दूषयताम् अपोहवादिनां मतस्य निर्देशः)—

अत्र यदि पारमार्थिकबाह्यविषयभूतेन निमित्तेन सनिमित्तत्वमेषां साधयितुमिष्टं तदा अनैकान्तिकता हेतोः; साध्यविपर्यये बाधकप्रमाणाभावात्। अथ येन केनचिन्निमित्तेन सन्निमित्तत्वमिष्यते तदा सिद्धसाध्यता। तथाहि--अस्माभिरपीष्यत एवैषामन्तर्जल्पवासनाप्रबोधो निमित्तं नतु विषयभूतम्, भ्रान्तत्वेन सर्वस्य शा(श)ब्दप्रत्ययस्य निर्विषयत्वात्। तदुक्तम्-"येन येन हि नाम्ना वै, यो यो धर्मोऽभिलप्यते। न स संविद्यते तत्र, धर्माणां सा हि धर्मता" (   ) इति।

नच शाब्दप्रत्ययस्य भ्रान्तत्वाऽविषयत्वयोः किं प्रमाणमिति वक्तव्यम्, भिन्नेष्वभेदाध्यवसायेन प्रवर्तमानस्य प्रत्ययस्य भ्रान्तत्वात्। तथाहि-यः 'अतस्मिंस्तद्' इति प्रत्ययः स भ्रान्तः, यथा मरीचिकायां जलप्रत्ययः, तथा चायं भिन्नेष्वर्थेष्वभेदाध्यवसायी शाब्दः प्रत्यय इति स्वभावहेतुः। न च सामान्यं वस्तुभूतं ग्राह्यमस्ति येनासिद्धतास्य हेतोः स्यात्, तस्य निषिद्धत्वात्। सम्म० १ काण्ड २ गाथाटी०। (इतोऽग्रे 'सद्द' शब्दे सप्तमे भागे ३४० पृष्ठे द्रष्टव्यम्)

इतश्च-स्वलक्षणव्यपदेश्यं शब्दबुद्धौ तस्याः प्रतिभासनात्। यथाहि-उष्णाद्यर्थविषयेन्द्रियबुद्धिः स्फुटप्रतिभासानुभूयते न तथा उष्णादिशब्दप्रभवा नह्युपहतनयनादयो मातुलिङ्गादिशब्दश्रवणात्तद्रूपाद्यनुभाविनो भवन्ति यथानुपहतनयनादयः अक्षबुद्ध्यानुभवन्तः। यथोक्तम्-"अन्यथैवाग्निसंबन्धा-द्दाहं दग्धोऽभिमन्यते। अन्यथा दाहशब्देन, दाहार्थः संप्रतीयते"॥ (वाक्यप० द्वि० का० श्लो० ४२५)

न च यो यत्र न प्रतिभाति स तद्विषयोऽभ्युपगन्तुं युक्तः अतिप्रसङ्गात्। तथा च प्रयोगः-यो यत् कृतप्रत्यये न प्रतिभासते न स तस्यार्थः यथा रूपशब्दजनिते प्रत्यये रसः, न प्रतिभासते च शाब्दप्रत्यये स्वलक्षणम् इति व्यापकानुपलब्धिः। अत्र चातिप्रसङ्गो बाधकं प्रमाणम्। तथाहि-शब्दस्य तद्विषयज्ञानजनकत्वमेव तद्वाचकत्वमुच्यते नान्यत्, नच यद्विषयं ज्ञानं यदाकारशून्यं तत्तद्विषयं युक्तमतिप्रसङ्गात्। न चैकस्य वस्तुनो रूपद्वयमस्ति-स्पष्टम् अस्पष्टं च येनाऽस्पष्टं वस्तुगतमेव रूपं शब्दैरभिधीयते-एकस्य द्वित्वविरोधात्। भिन्नसमयस्थायिनां च परस्परविरुद्धस्वभावप्रतिपादनात् न शब्दगोचरः स्वलक्षणम्। सम्म० १ काण्ड २ गाथाटी०।

(१२) शब्दार्थविचारः

अत्थो किं हुज्ज सुई, विसाणं वत्थुभेओ वा॥१६००॥
जाई दव्वं किरिया, गुणोऽहवा संसओ तओ जुत्तो।
अयमेवेति न वा यं, न वत्थुधम्मो जओ जुत्तो॥१६०१॥
सव्वं चिय सव्वमयं, सपरप्पज्जायओ जओ नियमं।
सव्वमसव्वमयं पि य, विचित्तरूवं विवक्खाओ॥१६०२॥
सामण्णविसेसमओ, तेण पयत्थो विवक्खया जुत्तो।
वत्थुस्स विस्सरूवो, पज्जाया-वेक्खया सव्वो॥१६०३॥

अर्थः श्रुतिः-शब्दो भवेत्, यथा भेरी-पटह-ढक्कादीनां शब्दस्य शब्द एवार्थः; अथवा-यद् घटादिशब्दे समुच्चारिते तदभिधेयार्थविषयं विज्ञानं भवद्-दृश्यते तदेषामर्थः; किं वा-घटशब्दे समुत्कीर्तिते 'पृथुबुध्नोदराद्याकारवान् घटलक्षणोऽर्थोऽनेनोक्तो, नतु पटादिः' इत्येवं यो वस्तुभेदः प्रतीयते स एषामर्थः; यदि वा-किं जातिरमीषामर्थो, यथा गोशब्दे समुच्चारिते गोजातिरवसीयते; यदि वा-किं द्रव्यमेषामर्थो यथा दण्डीत्यादिषु दण्डादिमद् द्रव्यं किं वा धावतीत्यादीनामिव धावनादिक्रिया अमीषामर्थः; अथवा-किं शुक्लादीनामिव शुक्लादिगुण एतेषामर्थ इति?। अयं च संशयस्तवाऽयुक्तः. यस्माद्-'अयमेव, नैव वाऽयमि'त्येवं कस्यापि वस्तुनो धर्मोऽवधारयितुं न युक्तः। शब्दोऽपि वस्तुविशेष एव, ततः 'एवंभूतस्यैवार्थस्यायमभिधायको, नैव वा इत्थंभूतस्यार्थस्यायं प्रतिपादकः' इत्येवमेतद्धर्मस्याप्यवधारणमयुक्तमेव। कुतः? इत्याह-'सव्वं चिये'त्यादि, यस्मात्सर्वमपि वाच्यवाचकादिकं वस्तु नियतं-निश्चितं स्व-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परपर्यायैः सर्वात्मकमेव सामान्यविवक्षायामित्यर्थः । तथा-सर्वमसर्वमयमप्यस्ति भिन्नरूपं सर्वतो व्यावृत्तम् । कया? इत्याह- विवक्षया, केवलस्वपर्यायापेक्षयेत्यर्थः, विशेषविवक्षयेति तात्पर्यार्थः । तस्मात्सर्वेषामपि पदानां विवक्षावशतः सामान्यमयो विशेषमयश्च पदार्थो युक्तः, न पुनरेकान्तेनेत्थंभूत एव, अनित्थंभूत एव वेति कुतः ? इत्याह- वत्थुस्सेत्यादि, ' यस्मात्सर्वोऽपि वाच्यस्य वाचकस्य वा वस्तुनः स्वभावः पर्यायापेक्षया विश्वरूपो नानाविधो वर्त्तते । ततश्च सामान्यविवक्षायां घटशब्दः सर्वात्मकत्वात्सर्वेषामपि द्रव्यगुणक्रियाद्यर्थानां वाचकः विशेषविवक्षया तु प्रतिनियतरूपत्वात् य एवास्येह पृथुबुध्नोदराद्याकारवानर्थो वाच्यतया रूढस्तस्यैव वाचकः । एवमन्योऽपि शब्दो विशेषविवक्षया यो यत्र देशादौ यस्यार्थस्य वाचकतया रूढः स तस्य वाचको द्रष्टव्यः । सामान्यविवक्षया तु ' सर्वः सर्वस्य वाचकः सर्वं सर्वस्य वाच्यमि ' त्यनया दिशा सकलं स्वधिया भावनीयमिति । विशे० ।

(१३) अथ स्वाभिमतसामान्यविशेषोभयात्मकवाच्यवाचकभावसमर्थनपुरस्सरं तीर्थान्तरीयप्रकल्पितत्रेकान्तगोचरवाच्यवाचकभावनिरासद्वारेण तेषां प्रतिभावैभवाऽभावमाह—

> अनेकमेकात्मकमेव वाच्यं,
> द्वयात्मकं वाचकमप्यवश्यम् ।
> अतोऽन्यथा वाचकवाच्यक्लृप्ता-
> वतावकानां प्रतिभाप्रमादः ॥ १४ ॥

व्याख्या-वाच्यम्-अभिधेयं चेतनम् अचेतनं च वस्तु एवकारस्याप्यर्थत्वात् सामान्यरूपतया एकात्मकमपि व्यक्तिभेदेन अनेकम्-अनेकरूपम् । अथवा-अनेकरूपमपि एकात्मकम् अन्योन्यसंवलितत्वादित्थमपि व्याख्याने न दोषः । तथा च-वाचकमभिधायक शब्दरूपं तदप्यवश्यं निश्चितं द्वयात्मकं; सामान्यविशेषोभयात्मकत्वादेकानेकात्मकमित्यर्थः । (उभयत्र वाच्यलिङ्गत्वेऽप्यव्यक्तत्वान्नपुंसकत्वम् । अवश्यमिति पदं वाच्यवाचकयोरुभयोरप्यनेकात्मकत्वं निश्चिन्वत्तदेकान्तं व्यवच्छिनत्ति) अत उपदर्शितप्रकारादन्यथा सामान्यविशेषैकान्तरूपेण प्रकारेण ' वाचकवाच्यक्लृप्तौ '- वाच्यवाचकभावकल्पनायाम्, 'अतावकानाम्'- अत्वदीयानाम्-अन्ययूथ्यानाम् 'प्रतिभाप्रमादः'-प्रज्ञास्खलितम्, इत्यक्षरार्थः । (अत्र चाल्पस्वरत्वेन वाच्यपदस्य प्राग्निपाते प्राप्तेऽपि यदादौ वाचकग्रहणं तत्प्रायोऽर्थप्रतिपादनस्य शब्दाधीनत्वेन वाचकस्याऽभ्यर्हितत्वज्ञापनार्थम्) । तथा च शाब्दिकाः- " न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके, यः शब्दानुगमादृते । अनुविद्धमिव ज्ञानं, सर्वं शब्देन भासते " ॥ १ ॥ इति । भावार्थस्त्वयम्-एके तीर्थिकाः सामान्यरूपमेव वाच्यतया शब्दार्थमभ्युपगच्छन्ति ते च द्रव्यास्तिकनयानुपातिनो मीमांसकभेदा, अद्वैतवादिनः, सांख्याश्च । केचिच्च विशेषरूपमेव वाच्यं निर्वदन्ति । ते च पर्यायास्तिकनयानुसारिणः सौगताः । अपरे च-परस्परनिरपेक्षपदार्थपृथग्भूतसामान्यविशेषयुक्तं वस्तु वाच्यत्वेन निश्चिन्वते । ते च नैगमनयानुरोधिनः काणादा आक्षपादाश्च । स्या० १४ श्लोक ।

एवं वाचकमपि शब्दाख्यं द्वयात्मकम् सामान्य-विशेषात्मकम्) । सर्वशब्दव्यक्तिष्वनुयायि शब्दत्वमेकं शाङ्खशार्ङ्गतीव्रमन्दोदात्तानुदात्तस्वरितादिविशेषभेदादनेकम् । शब्दस्य हि सामान्यविशेषात्मकत्वं पौद्गलिकत्वाद्व्यक्तमेव, तथाहि-पौद्गलिकः शब्दः, इन्द्रियार्थत्वाद्रूपादिवत् यच्चास्य पौद्गलिकत्वनिषेधाय स्पर्शशून्याश्रयत्वादतिनिविडप्रदेशे प्रवेशनिर्गमयोरप्रतिघातात्पूर्वं पश्चाच्चावयवानुपलब्धेः सूक्ष्ममूर्त्तद्रव्यान्तराप्रेरकत्वाद्गगनगुणत्वाच्चेति पञ्च हेतवो यौगैरुपन्यस्तास्ते हेत्वाभासाः, तथाहि-शब्दपर्यायस्याश्रयो भाषावर्गणा न पुनराकाशं तत्र च स्पर्शो निर्णीयत एव । यथा शब्दाश्रयः स्पर्शवान् ; अनुवातप्रतिवातयोर्विप्रकृष्टनिकटशरीरिणोपलभ्यमानानुपलभ्यमानेन्द्रियार्थत्वात्तथाविधगन्धाऽऽधारद्रव्यपरमाणुवत् । इत्यसिद्धः प्रथमः ।

द्वितीयस्तु गन्धद्रव्येण व्यभिचारादनैकान्तिकः वर्त्तमानजात्यकस्तूरिकादिगन्धद्रव्यं हि पिहितद्वारापवरकस्यान्तर्विशति, बहिश्च निर्याति । नचापौद्गलिकम् । अथ तत्र सूक्ष्मरन्ध्रसंभवान्नातिनिबिडत्वम् । अतस्तत्र तत्प्रवेशनिष्क्रमौ कथमन्यथोद्घाटितद्वारावस्थायामिव न तदेकार्णवत्वं ? सर्वथा नीरन्ध्रे तु प्रदेशे न तयोः संभवः । इति चेत्तर्हि शब्देऽप्येतत्समानम् । इत्यसिद्धो हेतुः । तृतीयस्तु तडि(विद्यु)दुल्कादिभिरनैकान्तिकः । चतुर्थोऽपि तथैव; गन्धद्रव्यविशेषसूक्ष्मरजोधूमादिभिर्व्यभिचारात् । नहि गन्धद्रव्यादिकमपि नासायां निविशमानं तद्विवरद्वारदेशोद्भिन्नश्मश्रुप्रेरकं दृश्यते ।

पञ्चमः पुनरसिद्धः । तथाहि-न गगनगुणः शब्दः ; अस्मदादिप्रत्यक्षत्वाद्रूपादिवद् । इति सिद्धः पौद्गलिकत्वात्सामान्यविशेषात्मकः शब्द इति । नच वाच्यम्-" आत्मन्यपौद्गलिकेऽपि कथं सामान्यविशेषात्मकत्वं निर्विवादमनुभूयते , इति; यतः संसार्यात्मनः प्रतिप्रदेशमनन्तानन्तकर्मपरमाणुभिः सह वह्नितापितघनकुट्टितनिर्विभागपिण्डीभूतसूचीकलापवल्लोलीभावमापन्नस्य कथंचित्पौद्गलिकत्वाभ्यनुज्ञानादिति । यद्यपि स्याद्वादवादिनां पौद्गलिकम् अपौद्गलिकं च सर्वं वस्तु सामान्यविशेषात्मकं तथाप्यपौद्गलिकेषु धर्माधर्माकाशकालेषु तदात्मकत्वमर्वाग्दृशां न तथा प्रतीतिविषयमायाति पौद्गलिकेषु पुनस्तत्साध्यमानं तेषां सुश्रद्धानम् । इत्यप्रस्तुतमपि शब्दस्य पौद्गलिकत्वं सामान्यविशेषात्मकत्वं साधनायोपन्यस्तमिति ।

अथापि नित्यशब्दवादिसंमतः शब्दैकत्वैकान्तोऽनित्यशब्दवाद्यभिमतः शब्दानेकत्वैकान्तश्च प्राग्दर्शितदिशा प्रतिक्षेप्यः । अथवा-वाच्यस्य घटादेरर्थस्य सामान्यविशेषात्मकत्वे तद्वाचकस्य ध्वनेरपि तत्त्वम् ; शब्दार्थयोः कथंचित्तादात्म्याभ्युपगमात् । यथाहुर्भद्रबाहुस्वामिपादाः-

> " अभिहाणं अभिहेआउ , होइ भिन्नं अभिन्नं च ।
> खुर अग्गिमोयगुच्चा-रणंमि जम्हा उ वयणसवणाणं ॥ १ ॥
> न विच्छेओ न वि दाहो, न पूरणं तेण भिन्नं तु ।
> जम्हा य मोयगुच्चा-रणंमि तत्थेव पच्चओ होइ ॥ २ ॥
> ण य होइ स अन्नत्थे , तेण अभिन्नं तदत्थाउ । "

एतेन-

"विकल्पयोनयः शब्दा, विकल्पाः शब्दयोनयः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कार्यकारणता तेषां, नार्थं शब्दाः स्पृशन्त्यपि " ॥ १ ॥

इति प्रत्युक्तम् "अर्थाभिधानप्रत्ययास्तुल्यनामधेया " इति वचनात् , शब्दस्य ह्येतदेव तत्त्वं यदभिधेयं तादात्म्येनाऽसौ प्रतिपादयति । स च तत्तथा प्रतिपादयन् वाच्यस्वरूपपरिणामपरिणत एव वक्तुं शक्तो नान्यथाऽतिप्रसङ्गात् , घटाभिधानकाले पटाद्यभिधानस्यापि प्राप्तेरिति । अथवा-भङ्ग्यन्तरेण सकलं काव्यमिदं व्याख्यायते-वाच्यं वस्तु घटादिकमेकात्मकमनेकस्वरूपमपि सदनेकम् (अनेकस्वरूपम्) अयमर्थः । प्रमाता तावत् प्रमेयस्वरूपं लक्षणेन निश्चिनोति । तच्च सजातीयविजातीयव्यवच्छेदादात्मलाभं लभते । यथा घटस्य सजातीया मृन्मयपदार्था विजातीयाश्च पटादयस्तेषां व्यवच्छेदस्तल्लक्षणम् । पृथुबुध्नोदराद्याकारः कम्बुग्रीवो जलधारणाहरणादिक्रियासमर्थः पदार्थविशेषो घट इत्युच्यते । तेषां च सजातीयविजातीयानां स्वरूपं तत्र बुद्ध्या आरोप्य व्यवच्छिद्यते , अन्यथा-प्रतिनियततत्स्वरूपपरिच्छेदानुपपत्तेः सर्वभावानां हि भावाऽभावात्मकं स्वरूपम् एकान्तभावात्मकत्वे वस्तुनो वैश्वरूप्यं स्याद् एकान्ताऽभावात्मकत्वे च निःस्वभावता स्यात् , तस्मात्स्वरूपेण सत्त्वात्पररूपेण चाऽसत्त्वाद्भावाभावात्मकं वस्तु. यदाह—" सर्वमस्ति स्वरूपेण, पररूपेण नास्ति च । अन्यथा सर्वसत्त्वं स्यात् , स्वरूपस्याप्यसंभवः " ॥ १ ॥ ततश्चैकस्मिन् घटे सर्वेषां घटव्यतिरिक्तपदार्थानामभावरूपेण वृत्तेरनेकात्मकत्वं घटस्य सूपपादकम् । एवं चैकस्मिन्नर्थे ज्ञाते सर्वेषामर्थानां ज्ञानं सर्वपदार्थपरिच्छेदमन्तरेण तन्निषेधात्मन एकस्य वस्तुनो विविक्ततया परिच्छेदासंभवात् । आगमोऽप्येवमेव व्यवस्थितः—" जे एगं जाणइ, से सव्वं जाणइ । जे सव्वं जाणइ, से एगं जाणइ " । तथा-" एको भावः सर्वथा येन दृष्टः, सर्वे भावाः सर्वथा तेन दृष्टाः । सर्वे भावाः सर्वथा येन दृष्टा, एको भावः सर्वथा तेन दृष्टः " ॥ १ ॥ ये तु सौगताः परासत्त्वं नाङ्गीकुर्वते तेषां घटादेः सर्वात्मकत्वप्रसङ्गः । तथाहि—यथा घटस्य स्वरूपादिना सत्त्वं तथा यदि पररूपादिनापि स्यात्तथा च सति स्वरूपादिसत्त्ववत्पररूपादिसत्त्वप्रसक्तेः कथं न सर्वात्मकत्वं भवेत् ? परासत्त्वेन तु प्रतिनियतोऽसौ सिद्ध्यति ।

अथ न नाम नास्ति परासत्त्वं किं तु स्वसत्त्वमेव तदिति चेदहो वैदग्धी न खलु यदेव सत्त्वं तदेवासत्त्वं भवितुमर्हति विधिप्रतिषेधरूपतया विरुद्धधर्माध्यासेनानयोरैक्यायोगात् । अथ युष्मत्पक्षेऽप्येवं विरोधस्तदवस्थ एवेति चेदहो वाचाटता देवानांप्रियस्य* न हि वयं येनैव प्रकारेण सत्त्वं तेनैवाऽसत्त्वं येनैव चाऽसत्त्वं तेनैव सत्त्वमभ्युपेमः, किंतु-स्वरूपद्रव्यक्षेत्रकालभावैः सत्त्वं पररूपद्रव्यक्षेत्रकालभावैस्त्वसत्त्वम् । तदा क्व विरोधावकाशः ?, यौगास्तु प्रगल्भन्ते-" सर्वथा पृथग्भूतपरस्पराभावाभ्युपगममात्रेणैव पदार्थप्रतिनियमसिद्धेः किं तेषामसत्त्वात्मकत्वकल्पनया " इति, तदसत् , यदा हि-पटाद्यभावरूपो घटो न भवति तदा घटः पटादिरेव स्यात् । यथा च घटाभावाद्भिन्नत्वाद् घटस्य घटरूपता तथा पटादेरपि स्याद् घटाभावाद्भिन्नत्वादेव इत्यलं विस्तरेण ॥ *मूर्खस्य ।

एवं वाचकमपि शब्दरूपं द्व्यात्मकम् एकात्मकमपि सदनेकमित्यर्थः, यथोक्तन्यायेन शब्दस्यापि भावाऽभावात्मकत्वात् अथवा—एकविषयस्यापि वाचकस्याऽनेकविषयत्वोपपत्तेः । यथा किल घटशब्दः संकेतवशात्पृथुबुध्नोदराद्याकारवति पदार्थे प्रवर्त्तते वाचकतया तथा देशकालाद्यपेक्षया तद्वशादेव पदार्थाऽन्तरेष्वपि तथा वर्त्तमानः केन वार्यते ?, भवन्ति हि वक्तारो योगिनः शरीरं प्रति घट इति; संकेतानां पुरुषेच्छाधीनतयाऽनियतत्वात् । यथा चौरशब्दोऽन्यत्र तस्करे रूढोऽपि दाक्षिणात्यानाम्-ओदने प्रसिद्धः । यथा च कुमारशब्दः पूर्वदेशे आश्विनमासे रूढः , एवं कर्कटीशब्दादयोऽपि तत्तद्देशापेक्षया योन्यादिवाचका ज्ञेयाः । कालापेक्षया पुनर्यथा जैनानां प्रायश्चित्तविधौ धृतिश्रद्धासंहननादिमति प्राचीनकाले षड्गुरुशब्देन शतमशीत्यधिकमुपवासानामुच्यते स्म । सांप्रतकाले तु तद्विपरीते तेनैव षड्गुरुशब्देनोपवासत्रयमेव संकेत्यते जीतकल्पव्यवहारानुसारात् ।

शास्त्रापेक्षया तु यथा पुराणेषु द्वादशीशब्देनैकादशी त्रिपुरार्णवे च अलिशब्देन मदिराभिषिक्ताऽन्नं च मैथुनशब्देन मधुसर्पिषोर्ग्रहणमित्यादि । न चैवं संकेतस्यैवार्थप्रत्यायने प्राधान्यं ; स्वाभाविकसामर्थ्यसाचिव्यादेव तत्र तस्य प्रवृत्तेः सर्वशब्दानां सर्वार्थप्रत्यायनशक्तियुक्तत्वात् यत्र च देशकालादौ यदर्थप्रतिपादनशक्तिसहकारिसंकेतस्तत्र तमर्थं प्रतिपादयति । तथा च-निर्जितदुर्जयपरप्रवादाः श्रीदेवसूरिपादाः-" स्वाभाविकसामर्थ्यसमयाभ्यामर्थबोधनिबन्धनं शब्दः " । अत्र शक्तिपदार्थसमर्थनं ग्रन्थान्तरादवसेयम् , 'अतोऽन्यथे' त्यादि उत्तरार्द्धं पूर्ववत् । प्रतिभाप्रमादस्तु तेषां सदसदेकान्ते वाच्यस्य प्रतिनियतार्थविषयत्वे च वाचकस्योक्तयुक्त्या दोषसद्भावाद् व्यवहारानुपपत्तेः । तदयं समुदायार्थः सामान्यविशेषात्मकस्य भावाऽभावात्मकस्य च वस्तुनः सामान्यविशेषात्मको भावाभावात्मकश्च ध्वनिर्वाचक इति अन्यथा प्रकारान्तरैः पुनर्वाच्यवाचकभावव्यवस्थामातिष्ठमानानामन्यवादिनां प्रतिभैव प्रमाद्यति न तु तद्भणितयो युक्तिस्पर्शमात्रमपि सहन्ते । कानि तानि वाच्यवाचकभावप्रकारान्तराणि परवादिनामिति चेद्ते ब्रूमः । अपोह एव शब्दार्थ इत्येके " अपोहशब्दलिङ्गाभ्यां, न वस्तुविधिनोच्यते " इति वचनात् । अपरे सामान्यमात्रमेव शब्दानां गोचरः, तस्य क्वचित् प्रतिपन्नस्यैकरूपतया सर्वत्र संकेतविषयतोपपत्तेः, न पुनर्विशेषाः, तेषामानन्त्यतः कार्त्स्न्येनोपलब्धुमशक्यतया तद्विषयतानुपपत्तेः विधिवादिनस्तु विधिरेव वाक्यार्थोऽप्रवृत्तप्रवर्त्तनस्वभावत्वात्तस्येत्याचक्षते । विधिरपि तत्तद्वादिविप्रतिपत्त्याऽनेकप्रकारः, तथाहि-वाक्यरूपः शब्द एव प्रवर्त्तकत्वाद्विधिरित्येके तद्व्यापारो भावनाऽपरपर्यायो विधिः इत्यन्ये । नियोग इत्यपरे । प्रैषादय इत्येके तिरस्कृततदुपाधिप्रवर्त्तनामात्रमित्यन्ये । एवं फलतदभिलाषकर्मादयोऽपि वाच्याः एतेषां निराकरणं सपूर्वोत्तरपक्षं न्यायकुमुदचन्द्रादवसेयमिति काव्यार्थः । स्या० १४ श्लोक । (इतोऽग्रे ' सद्द ' शब्दे सप्तमभागे विशेषः)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(१४) (शब्दस्य वाचकताविचारः)—
('अत्र वैयाकरणाः प्राहुः' इत्याद्यारभ्य स्फोटविचारः 'फोड' शब्दे ५ पञ्चमे भागे द्रष्टव्यः ।)

(१५) अथ गकाराद्यानुपूर्वीविशिष्टोऽन्त्यो वर्णो विशिष्टानुपूर्विका वा गकारौकारविसर्जनीयाः शब्दाः। तथा च मीमांसकाः प्राहुः—"यावन्तो यादृशा ये च, यदर्थप्रतिपादकाः। वर्णाः प्रज्ञातसामर्थ्यास्ते तथैवाऽवबोधकाः" (श्लो० वा० स्फोट० वा० श्लो० ६९) ॥ इति। एतदपि न सम्यक्; यतः। आनुपूर्वी यद्यनर्थान्तरभूतास्तदा वर्णा एव नानुपूर्वी, ते च व्यस्ताः समस्ता वा अर्थप्रत्यायका न भवन्तीत्यावेदितम्। अथार्थान्तरभूता तदा वक्तव्यं सा नित्या, अनित्या वा?, न तावदनित्या स्वसिद्धान्तविरोधात्-वैदिकानुपूर्व्या नित्यत्वेनाभ्युपगमात्। "वक्ता न हि क्रमं कश्चित्, स्वातन्त्र्येण प्रपद्यते" (श्लो० वा० शब्दनित्य० श्लो० २८८) इत्याद्यभिधानात्। नापि नित्या स्फोटपक्षोदितसमस्तदोषप्रसङ्गः। नच वैदिकवर्णाद्यानुपूर्वी नित्या, लौकिकतदानुपूर्व्यविशेषात्। तथाहि-वैदिकवर्णाद्यानुपूर्वी अनित्या, पदानुपूर्वीशब्दवाच्यत्वात् लौकिकवर्णाद्यानुपूर्वीवत्।

न च लौकिकानुपूर्व्या विलक्षणेयं, वैलक्षण्यासिद्धेः। तथाहि-किमपौरुषेयत्वमस्याः वैलक्षण्यम्, आहोस्विद्वैचित्र्यरूपता?, न तावदाद्यः पक्षः अपौरुषेयत्वस्य निरस्तत्वात्। नापि वैचित्र्यं-तस्यानित्यत्वेनाविरोधात् तत्सद्भावेऽपि नित्यत्वासाधकत्वाल्लौकिकवाक्येष्वपि वैचित्र्यस्योपलब्धेश्च। नच वर्णानां नित्यव्यापिनामानुपूर्वी संभवति। देश-कालकृतक्रमानुपपत्तेः। नचाभिव्यक्त्यानुपूर्वी तेषां संभविनी। अभिव्यक्तेः प्राग्निरस्तत्वात्। 'पूर्ववर्णसंवित्प्रभवसंस्कारसहितः तत्स्मृतिसहितो वा अन्त्यो वर्णः पदम्' इत्यभ्युपगमोऽपि न युक्तिसङ्गतः। संस्कारस्मरणादेरनुपलभ्यमानस्य तदा सहकारित्वकल्पनायां प्रमाणाभावात्।

नचार्थप्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्तिस्तत्कल्पनायां प्रमाणं, तत्प्रतिपत्तेरन्यथासिद्धत्वात्। न चानुपूर्वीसंभवेऽपि पदपदे वर्णा अर्थप्रतीतिहेतुतया संभवन्ति, तेषां तत्प्रतिपत्तिजननस्वभावत्वे सर्वदा तत्प्रतिपत्तिप्रसङ्गस्तज्जननस्वभावस्य सर्वदा भावात्। अतज्जननस्वभावत्वे न कदाचिदप्यर्थप्रतिपत्तिं जनयेयुः अनपगताऽतज्जननस्वभावत्वात्। नच सहकारिसन्निधानेऽपि तेषामतज्जननस्वभावता व्यपगच्छति अनित्यताप्रसक्तिदोषापत्तेः। नित्याश्च परैस्ते अभ्युपगता इत्यभ्युपगमविरोधश्च।

(१६) (वाच्यवाचकयोः संबन्धस्य नित्यत्वं निषिध्य तस्य कृतकत्वव्यवस्थापनम्)--

नच नित्यसंबन्धवादिनस्तदपेक्षा वर्णा अर्थप्रत्यायकाः संभवन्ति, नित्यस्यानुपकारकत्वेनापेक्षणीयत्वायोगात्। न नित्यः संबन्धः शब्दार्थयोः प्रमाणेनावसीयते। प्रत्यक्षेण तस्याननुभवात्। तदभावेनानुमानेनापि, तस्य तत्पूर्वकत्वाभ्युपगमात्। न च शब्दार्थयोः स्वाभाविकसंबन्धमन्तरेण गोशब्दश्रवणानन्तरं ककुदादिमदर्थप्रतिपत्तिर्न भवेद् अस्ति च सा इति शब्दस्य वाचिका शक्तिरवगम्यत इति वाच्यम्, अनवगतसंबन्धस्यापि ततस्तदर्थप्रतिपत्तिप्रसक्तेः।

न च संकेताभिव्यक्तः स्वाभाविकः संबन्धोऽर्थप्रतिपत्तिं जनयतीति नायं दोषः संकेतादेवार्थप्रतिपत्तेः स्वाभाविकसंबन्धपरिकल्पनावैयर्थ्यप्रसक्तेः। तथाहि-संकेताद् व्युत्पाद्याः 'अनेन शब्देनेत्थंभूतमर्थं व्यवहारिणः प्रतिपादयन्ति' इत्यवगत्य व्यवहारकाले पुनस्तथाभूतशब्दश्रवणात्। संकेतस्मरणे तत्सदृशं तं चार्थं प्रतिपद्यन्ते न पुनः स्वाभाविकं संबन्धमवगत्य पुनस्तत्स्मरणे अर्थमवगच्छन्ति।

न च वाच्यवाचकसंकेतकरणे स्वाभाविकसंबन्धमन्तरेणानवस्थाप्रसक्तिः वृद्धव्यवहारात् प्रभूतशब्दानां वाच्यवाचकस्वरूपावधारणात्। तथाहि-एको व्युत्पन्नव्यवहारः तथाभूताय 'गामभ्याज शुक्लां देवदत्त! दण्डेन' इति यदा व्यपदिशति द्वितीयस्तु तद्व्यपदेशानन्तरं तथैव विदधाति तदा अव्युत्पन्नसंकेतः शिशुस्तं तथा कुर्वाणमुपलभ्यैवमवधारयति-'अनेन गोशब्दाद्गवार्थः प्रतिपन्नः अभ्याजाऽऽदिशब्दादभ्याजिक्रियादिकः अन्यथा कथमपरनिमित्ताभावेऽपि गोपिण्डाऽऽनयनादिकं वाक्यश्रवणानन्तरं विदध्याद्' एवमपोद्धारकल्पनयाऽव्युत्पन्नानां संकेतग्रहणसंभवान्नानवस्थादोषः।

न च प्रथमसंकेतविधायिनः स्वाभाविकसंबन्धव्यतिरेकेण वाच्यवाचकयोः कुतो वाच्यवाचकरूपावगतिरिति वक्तव्यम्, अनादित्वादस्य व्यवहारस्यापरापरसंकेतविधायिपूर्वकत्वेन निर्दोषत्वात्।

न च वाच्यवाचकसंबन्धस्य पुरुषकृतत्वे शब्दवदर्थस्यापि वाचकत्वम् अर्थवच्छब्दस्यापि वाच्यत्वं प्रसक्तमिति वक्तव्यम्। योग्यतानतिक्रमेण संकेतकरणात्। न च स्वाभाविकसंबन्धव्यतिरेकेण प्रतिनियतयोग्यताया अभावः, कृतकत्वेऽपि प्रतिनियतयोग्यतावतां भावानामुपलब्धेः। तथाहि-यत्र लोहत्वं छेदिकाशक्तिस्तत्रैव क्रियमाणा दृष्टा न जलादौ, यत्रैव तन्तुत्वमस्ति तत्रैव निष्पाद्यते पटोत्पादनशक्तिस्तु वीरणादौ तत्र तन्तुत्वाभावाद् एवं च यथोपलभ्यते तत्तथैवाभ्युपगन्तव्यम्। दृष्टाऽनुमितानां नियोगप्रतिषेधानुपपत्तेः तेन यत्रैव वर्णत्वादिकं निमित्तं तत्रैव वाचिका शक्तिः संकेतेनोत्पाद्यते यत्र तु तन्नियतं निमित्तं नास्ति तत्र न वाचिका शक्तिरिति न नित्यवाच्यवाचकसंबन्धपरिकल्पनया प्रयोजनम्। एकान्तनित्यस्य तु ज्ञानजनकत्वे सर्वदा ज्ञानोत्पत्तिः तदजननस्वभावत्वेन कदाचिदपि ज्ञानोत्पत्तिरिति प्राक् प्रतिपादितम्। समयबलेन तु शब्दादर्थप्रतिपत्तौ यथासंकेतं विशिष्टसामग्रीतः कार्योत्पत्तौ न कश्चिद्दोषः।

(अनुमानात् शब्दस्य प्रमाणान्तरत्वप्रसाधनम्)—
अत एवानुमानात् प्रमाणान्तरं शाब्दम्। अनुमानं हि पक्षधर्मत्वान्वयव्यतिरेकवल्लिङ्गबलादुदयमासादयति। शाब्दं तु संकेतसव्यपेक्षशब्दोपलम्भात् प्रत्यक्षानुमानागोचरेऽर्थे प्रवर्त्तते। स्वसाध्याऽव्यभिचारित्वमप्यनुमानस्य त्रिरूपलिङ्गोद्भूतत्वेनैव निश्चीयते। शाब्दस्य त्वाप्तोक्तत्वनिश्चये सति शब्दस्योत्तरकालमिति। किं च-शब्दो यत्र यत्रार्थे प्रतिपादकत्वेन पुरुषेण प्रयुज्यते तं तमर्थं यथासंकेतं प्रतिपादयति, नत्वेवं धूमादिकं लिङ्गं पुरुषेच्छावशेन जलादिकं प्रतिपादयतीत्यनुमानात् प्रमाणान्तरं सिद्धः शब्दः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न च शब्दादर्थप्रतिपत्तौ शब्दस्य त्रैरूप्यमस्ति। यतो न तस्य पक्षधर्मता यत्रार्थस्तत्र धर्मिणि शब्दस्यावृत्तेर्गोपिण्डाधारेण प्रदेशेन शब्दस्याऽऽश्रयाऽऽश्रयिभावस्य जन्यजनकभावनिबन्धनस्याऽभावाद् अतः-'गोपिण्डवानयं देशो गोशब्दवत्त्वात्' इति नाऽभिधातुं शक्यम्। नापि गोपिण्डे गोशब्दो वर्त्तते। आधाराधेयवृत्त्या जन्यजनकभावेन वा गोपिण्डाऽभावेऽपि गोशब्दस्य दर्शनात्। नच-गम्यगमकभावेन तत्रासौ वर्त्तते पक्षधर्मत्वाभावे तस्यैवानुपपत्तेः वाच्यवाचकभावेन वृत्तावनुमानात् प्रमाणान्तरत्वम्। तेन 'गोपिण्डो गोत्ववान् गोशब्दवत्त्वाद्' अयमपि प्रयोगोऽनुपपन्न एव नापि गोत्वे गोपिण्डविशेषणे वर्त्तते। तत्सामान्येनाश्रयाश्रयिभावस्य जन्यजनकभावस्य वा अस्याभावाद्। अतः 'गोत्वं गोपिण्डवत् गोशब्दवत्त्वाद्' इत्यपि वक्तुमशक्यम्। विशेषे च साध्येऽनन्वयश्चात्र पक्षे दोषः। नच-'गोशब्दो गवार्थवान् गोशब्दत्वात्' इति प्रयोगो युक्तः तथा प्रतीत्यभावात्। नहि 'गौर्गच्छति' इत्युक्ते गमनक्रियाविशिष्टगवार्थप्रतीतिमन्तरेण गोपिण्डेन तद्वान् शब्दो लोकेनाऽवगम्यते।

नच-गोशब्दो गवार्थवाचकत्वेन गोशब्दत्वादनुमीयते, किंतु-गवार्थप्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्त्या गवार्थवाचकत्वं तस्य गम्यते। प्रतिनियतपदार्थनिवेशिनां तु देवदत्तादिशब्दानां नान्वयः नापि पक्षधर्मत्वं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभेदे चानुमानप्रवृत्तेः। नच-शाब्दं स्वभावलिङ्गजमनुमानं शब्दस्यार्थस्वभावत्वासिद्धेराकारभेदात् प्रतिनियतकरणग्राह्यत्वाद्वाचकस्वभावत्वाच्च तस्य। नापि कार्यलिङ्गजम् अर्थाभावेऽपीच्छातः शब्दस्योत्पत्तेः। नच-न बाह्यार्थविषयत्वेन शब्दस्यानुमानता सौगतैरभ्युपगम्यते अपि तु विवक्षाविषयत्वेनेति वक्तव्यम्, यतो यथा न तदर्थो विवक्षा तथा शब्दप्रामाण्यप्रतिपादनेऽभिहितं न पुनरुच्यते।

(परकल्पितां वर्णानां नित्यतां तत्पदादिप्रक्रियां च प्रदूष्यानेकान्तदृष्ट्या शब्द-तदर्थसंबन्धयोस्स्वरूपनिरूपणम्)- न च-मीमांसकाभिप्रायेण वर्णानां वाचकत्वम् अभिव्यक्तानभिव्यक्तपक्षद्वयेऽपि दोषाद् अनभिव्यक्तानां ज्ञानजनकत्वे सर्वपुरुषान् प्रति सर्वे सर्वदा ज्ञानजनकाः स्युः केनचित् प्रत्यासत्तिविप्रकर्षाभावाद् अभिव्यक्तानां ज्ञानजनकत्वे एकवर्णाऽऽवरणापाये सर्वेषां समानदेशत्वेनाभिव्यक्तत्वाद्युगपत् सर्वश्रुतिप्रसक्तिरित्युक्तं प्राक्। इन्द्रियसंस्कारपक्षेऽपि पूर्वप्रतिपादितमेव दूषणमनुसर्त्तव्यम्। किं च-यद्यनवगतसंबन्धा वर्णा अर्थप्रत्यायकास्तदा नारिकेरद्वीपवासिनोऽप्युपलभ्यमाना अर्थावगतिं विदध्युः। अर्थावगतसंबन्धास्तथा सति पदस्य स्मारकत्वमेव स्यान्न वाचकत्वं तथा चानधिगतार्थाधिगमहेतुत्वाभावान्न प्रमाणता भवेत्, यदुक्तम्-"पदं त्वभ्यधिकाभावात्, स्मारकान्न विशिष्यते। अथाऽधिकं भवेत्किंचित्, स पदस्य न गोचरः"॥ (श्लो० वा० शब्दप० श्लो० १०७) इति, तन्न मीमांसकमतेनापि वर्णानां शब्दत्वम्। कथं तर्हि वर्णाः शब्दरूपतां प्रतिपद्यन्ते? उक्तमत्र परिमितसङ्ख्यानां पुद्गलद्रव्योपादानपरित्यागेनैव परिणतानामश्रावणस्वभावपरित्यागावाप्तश्रावणस्वभावानां विशिष्टानुक्रमयुक्तानां वर्णानां वाचकत्वात् शब्दत्वम्; अन्यथोक्तदोषानतिवृत्तेः। वैशेषिकपरिकल्पितपदादिप्रक्रिया त्वनुभवबाधितत्वादयुक्ता।

न च-निरन्वयविनाशिनां विज्ञानहेतुता संभवतीत्यसकृत्प्रतिपादितम्। षट्क्षणावस्थायित्वलक्षणमप्यनित्यत्वं तत्परिकल्पितं निरन्वयविनाशपक्षे अर्थक्रियानिर्वर्त्तनानुपयोगि तेषाम्। नच षट्क्षणावस्थानमपि संभवति, प्रथमक्षणसत्ताया द्वितीयक्षणसत्ताऽनुप्रवेशे तत्क्षणसत्ताया अप्युत्तरक्षणसत्तानुप्रवेशपरिकल्पनायां क्षणिकत्वमेव। अननुप्रवेशेऽपि परस्पराविविक्तत्वात्। क्षणस्थिनीनां तदेव क्षणिकत्वमिति कुतः षट्क्षणावस्थानमेकस्य? अक्षणिकत्वे चार्थक्रियाविरोधः प्रतिपादित एवेति। न पदादिपरिकल्पना वैशेषिकपक्षे युक्तियुक्तेति स्थितम्। ननु भवत्पक्षेऽपि क्रमस्य वर्णेभ्यो व्यतिरेके न वर्णविशेषणत्वम् अव्यतिरेके वर्णा एव केवलास्ते च न व्यस्तसमस्ता अर्थप्रतिपादका इति पूर्वमेव प्रतिपादितमिति न शब्दः कश्चिदर्थप्रत्यायकः, असदेतत्; वर्णव्यतिरिक्ताऽव्यतिरिक्तस्य क्रमस्य प्रतिपत्तेः। तथाहि-न वर्णेभ्योऽर्थान्तरमेव क्रमः वर्णानुविद्धतया तस्य प्रतीतेः। नापि वर्णा एव क्रमः। तद्विशिष्टतया तेषां प्रतिपत्तेः। नच तद्विशेषणत्वेन प्रतीयमानस्य क्रमस्याऽपह्नवो युक्तिसङ्गतो वर्णेष्वपि तत्प्रसक्तेः।

नच-भ्रान्तिरूपा प्रतिपत्तिरियं, वर्णानां तद्विशिष्टतया बाधिताध्यक्षगोचरतया प्रसाधितत्वाद् अर्थप्रतिपत्तिकारणत्वेऽनुमितत्वाच्च। न चाऽभावः कस्यचिद्भावाध्यवसायि तस्य विशेषणं नाऽप्यर्थप्रतिपत्तिहेतुर्नच क्रमोऽप्यहेतुः तथात्मकवर्णेभ्योऽर्थप्रतीतेः। ततो भिन्नाऽभिन्नानुपूर्वीविशिष्टा वर्णा विशिष्टपरिणतिमन्तः शब्दः स च पद-वाक्यादिरूपतया व्यवस्थितः तेन विशिष्टानुक्रमवन्ति तथाभूतपरिणतिमन्त्यपि पदान्येव वाक्यमभ्युपगन्तव्यम्। तद्व्यतिरिक्तस्य तस्य पदवदनुपपद्यमानत्वात्। सम्म० १ काण्ड ३२ गाथाटी०।

(१७-१८) शब्दस्य नित्यत्वाऽनित्यत्वविचारः, शब्दार्थेतरसम्बन्धविचारश्च-

अकारादिः पौद्गलिको वर्णः इति ॥ ६ ॥

पुद्गलैः-भाषावर्गणापरमाणुभिरारब्धः पौद्गलिकः। अत्र याज्ञिकाः प्रज्ञापयन्ति- वर्णस्यानित्यत्वमेव तावद् दुरुपपादं कुतस्तरां पुद्गलारब्धत्वमस्य स्यात्?। तथाहि-स एवायं गकार इति प्रत्यभिज्ञा, शब्दो नित्यः श्रावणत्वाच्छब्दत्ववद् इत्यनुमानम्, शब्दो नित्यः परार्थं तदुच्चारणान्यथानुपपत्तेरित्यर्थापत्तिश्चेति प्रमाणानि दिनकरकरनिकरनिरन्तरप्रसरपरामर्शोपजातजृम्भारम्भाम्भोजानीव मनःप्रसादमस्य नित्यत्वमेव द्योतयन्ति। तदवद्यम्। यतः प्रत्यभिज्ञानं तावत्कथंचिदनित्यत्वेनैवाविनाभावमाभेजानम्, एकान्तैकरूपतायां ध्वनेः स एवायमित्याकारोभयगोचरत्वविरोधात्। कथमात्मनि तद्रूपेऽपि स एवाहमिति प्रत्यभिज्ञेति चेत्। तदवश्यम्। तस्यापि कथंचिदनित्यस्यैव स्वीकारात्। प्रत्यभिज्ञाभासश्चायम्, प्रत्यक्षानुमानाभ्यां बाध्यमानत्वात्, प्रदीपप्रत्यभिज्ञावत्। प्रत्यक्षं हि तावदुत्पन्ना विपन्ना च वागियमिति प्रवर्त्तते।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नच-प्रत्यभिज्ञानेनैवेदं प्रत्यक्षं बाधिष्यत इत्यभिधानीयम्, अस्याऽन्यथा सिद्धत्वात् । अभिव्यक्तिभावाभावाभ्यामेवेयं प्रतीतिरितिचेत् कुटकटकटाहकटाहादावपि किं नेयं तथा ?। कुम्भकारमुद्गरादिकारणकलापव्यापारोपलम्भात्तदुत्पत्तिविपत्तिस्वीकृतौ, तालुयानादिहेतुव्यापारप्रेक्षणाद्वर्णेष्वपि तत्स्वीकारोऽस्तु । तालुयानादेरभिव्यञ्जकत्वे कुम्भस्याप्यभिव्यक्तिमात्रहेतुत्वे कुलालादेरपि तदस्तु । नचाभिव्यक्तिभावाऽभावाभ्यां तथा प्रतीतिरुपपादि । दिनकरमरीचिराजीव्यज्यमाने, घनतरतिमिरनिकराकीर्यमाणे च कुम्भादावुदपादि व्यपादि चायमिति प्रतीत्यनुत्पत्तेः । तिमिरावरणवेलायामपि स्पार्शनप्रत्यक्षेणास्योपलम्भाच्च तथेयमिति चेत्, यदा तर्हि नोपलम्भस्तदा किं वक्ष्यसि ?। अथ क्वापि तिमिरादेस्तत्सत्त्वाविरोधित्वावधारणात्सर्वज्ञानाभिव्यक्तिदशायां तत्सत्त्वं निश्चीयत इति चेत्, तत्किमावृतावस्थायां शब्दस्य सत्त्वनिर्णायकं न किञ्चित्प्रमाणमस्ति ?। ओमिति चेत्तर्हि साधकप्रमाणाभावादसत्त्वमस्तु । अस्त्येव प्रत्यभिज्ञादिकं तदिति चेत् । न । अस्य प्रत्यक्षबाधितत्वेनोन्मज्जनमशक्तेः । उन्मज्जनेऽपि व्यक्तिभावाभावयोः कुम्भादाविवात्राप्युदयव्ययाध्यवसायो न स्याद् । अस्ति चायम्, तस्मादनन्यथासिद्धप्रत्यक्षप्रतिबद्ध एवेति निश्चीयते । अनित्यः शब्दस्तीव्रमन्दतादिधर्मोपेतत्वात्, सुखदुःखादिवदित्यनुमानबाधः । व्यञ्जकाश्रितास्तीव्रतादयस्तत्राभान्तीति चेत्, किं तत्र व्यञ्जकम् ?। कोष्ठवायुविशेषा ध्वनय इति चेत्कथं तर्हि तद्धर्माणां तेषां श्रावणप्रत्यक्षे प्रतिभासः स्यात् ?। ध्वनीनामश्रावणत्वेन तद्धर्माणामप्यश्रावणत्वात् । न खलु मृदुसमीरलहरीतरङ्ग्यमाणनिष्पङ्कपयोभाजनादौ प्रतिबिम्बितमुखादिगतत्वेन तरलत्वमिव माधुर्यमप्यचाक्षुषं चक्षुःप्रत्यक्षेण प्रेक्ष्यते । श्रोत्रग्राह्य एव कश्चिदर्थः शब्दस्य व्यञ्जकः, स्तीव्रत्वादिधर्मवान् अनित्यश्चेष्यत इति चेत् । न । तस्यैव शब्दत्वात् । श्रोत्रग्राह्यत्वं हि शब्दलक्षणं; तल्लक्षणयुक्तस्य च तस्य ततोऽर्थान्तरत्वमयुक्तम् ।

किं च-कस्य किं कुर्वन्तोऽमी व्यञ्जका ध्वनयो भवेयुः ?। शब्दस्य, श्रोत्रस्योभयस्य वा । संस्कारमिति चेत्, कोऽयं संस्कारोऽत्र रूपान्तरोत्पत्तिः आवरणविपत्तिर्वा । आद्यश्चेत्, कथं न शब्दश्रोत्रयोरनित्यत्वं स्यात् ? स्वभावान्यत्वरूपत्वात्तस्य । अथ रूपं धर्मः; धर्मधर्मिणोश्च भेदात्, तदुत्पत्तावपि न भावस्वभावान्यत्वमिति चेत्, ननु धर्मान्तरोत्पादेऽपि भावस्वभावोऽजनयद्रूपस्वरूपस्ताद्दगेव चेत्; तदा पटादिनेव श्रोत्रेण घटादेरिव ध्वनेर्नोपलम्भः संभवेत् । तत्संबन्धिनस्तस्य करणाददोष इति चेत्, स तावत्संबन्धो न संयोगः, तस्याऽद्रव्यत्वात् । समवायस्तु कथञ्चिदविष्वग्भावाद्नान्यो भवितुमर्हतीति तदात्मकधर्मोत्पत्तौ धर्मिणोऽपि कथञ्चिदुत्पत्तिरनिवार्या । आवरणापगमः संस्कारः स्तमकार इति चेत्, स तर्हि शब्दस्यैव संभाव्यते. ततश्चैकत्रावरणविगमे समग्रवर्णाऽऽकर्णनं स्यात् । प्रतिवर्णं पृथगावरणमिति यस्यैवाऽऽवरणविगमः, तस्यैवोपलब्धिरिति चेत्, तत्राविनथम् । अपृथग्देशवर्त्तमानैकेन्द्रियग्राह्याणां प्रतिनियतावरणावार्यत्वविरोधात् । यत् खलु प्रतिनियतावरणावार्यं तत्पृथग्देशे वर्त्तमानम्, अनेकेन्द्रियग्राह्यं च दृष्टं, यथा घटपटौ, यथा वा रूपरसाविति । अपृथग्देशवर्त्तमानैकेन्द्रियग्राह्यश्चायं च नास्य प्रतिनियतव्यञ्जकव्यङ्ग्यत्वमपि । अस्तु वैतत्तथाप्ययमभिव्यज्यमानः सामस्त्येन, प्रदेशतो वा व्यज्येत । नाद्यः पक्षः क्षमङ्करः । सकलशरीरिणां युगपत्तदुपलम्भापत्तेः । द्वितीयविकल्पे तु कथं सकर्णस्यापि संपूर्णवर्णाऽऽकर्णनं भवेत् ?। न खलु निखिलावृनाङ्गराजाङ्गनानामपट्टपवनापनीयमानवसनाञ्चलत्वेन चलनाङ्गुलिकोटिप्रकटतायां विकस्वरशिरीषकुसुमसुकुमारसमग्रविग्रहयष्टिनिष्टङ्कनं विशिष्टक्षणानामर्णादयते । प्रदेशाभिव्यक्तौ चास्य सप्रदेशत्वं प्रसज्यते । ततो व्यञ्जकस्य कस्यचिच्छब्दे संभवाऽभावात् । तद्गता एव तीव्रतादय इति नासिद्धो हेतुः । यदपि श्रावणत्वादित्यनुमानं, तदपि-" कान्तकीर्त्तिप्रथाकामः, कामयेत स्वमातरम् । ब्रह्महत्यां च कुर्वीत, स्वर्गकामः सुरां पिबेत् ॥ १ ॥ " इत्याद्यानुपूर्व्या सव्यभिचारम् । नित्यैवेयमिति चेत् तर्हि प्रेरणात्वप्रामाण्यप्रसङ्गः, तदर्थानुष्ठानाश्रद्धाने च प्रत्यवायाऽऽपत्तिः । उदात्तस्वरितनीव्रमन्दसुस्वरविस्वरत्वादिधर्मैश्च व्यभिचारः, तेषां नित्यत्वे सदाप्येकाकारप्रत्ययप्रसङ्गः । नित्यत्वेऽप्यमीषामभिव्यक्तिः कादाचित्कीतिचेत्, तदचारु । परस्परविरुद्धानामेकत्र समावेशासंभवात् । प्रभाकरेण शब्दत्वाऽस्वीकारादुभयविकलश्च तं प्रत्यत्र दृष्टान्तः ।

अथ भट्ट एवेत्थमनुमानयति । प्रभाकरस्तु देशकालभिन्ना गोशब्दव्यक्तिबुद्धय एकगोशब्दगोचराः, गौरित्युत्पद्यमानत्वाद्, अद्योच्चारितगोशब्दव्यक्तिबुद्धिवदिति वदतीति चेत् । तदप्यनवदातम् । अत्र प्रतिबन्धाभावात्, तद्वित्तनुनित्यत्वसिद्धावप्येवंविधानुमानस्य कर्तुं शक्यत्वात् । याऽप्यर्थाऽऽपत्तिः प्रत्यपादि, तत्रायमर्थः-अनित्यत्वे सति यो गृहीतसंबन्धः शब्दः, स तदैव दध्वंसे इति व्यवहारकालेऽन्य एवाऽगृहीतसंबन्धः कथमुच्चार्येत ? उच्चार्यते च तस्मान्नित्य एवायमिति । तदयुक्तम् । अनेन न्यायेनार्थस्याऽपि नित्यतैकतापत्तेः, अन्यथा बाहुलेये गृहीतसम्बन्धोऽपि गोशब्दः शाबलेयादिष्वगृहीतसम्बन्धः कथं प्रतिपत्तिं कुर्यात् ?। सामान्यस्यैव शब्दार्थत्वाददोष इति चेत् । न । लम्बकम्बलः ककुद्मान्, वृत्तशृङ्गश्चायं गौरिति सामानाधिकरण्याभावप्रसङ्गः । ततः सामान्यविशेषाऽऽत्मैव शब्दार्थः, स च नैकान्तेनाऽन्वेतीति न नित्यैकरूपोऽभ्युपेयः स्यात् । कथं च धूमव्यक्तिः पर्वते पावकं गमयेत् ?' धूमत्वसामान्यमेव गमकमिति चेत्, वाचकमपि सामान्यमेवास्तु । अथ शब्दत्वं, गोशब्दत्वं, क्रमाभिव्यज्यमानगत्वौत्वादिकं वा तद्भवेत् । आद्यपक्षे प्रतिनियतार्थप्रतिपत्तिर्न स्यात्, सर्वत्र शब्दत्वस्याऽविशेषात् । गोशब्दत्वं तु नाऽस्त्येव, गोशब्दव्यक्तेरेकस्याः कस्याश्चित्तदाधारभूताया असंभवात्, क्रमेण व्यज्यमानं हि वर्णद्वयमेवैतत् । क्रमाभिव्यज्यमानत्वादिपक्षोऽप्यसंभवी, गत्वाऽऽदिसामान्यस्याविद्यमानत्वात्, सर्वत्र गकारादेरेकत्वात् । अत्रोच्यते-अस्तु तार्तीयीकः कल्पः; नच गकारादेरैक्यं, गर्गभर्गवर्गस्वर्गमार्गादिषु भूयांसोऽमी गकारा इति तद्भेदोपलम्भात् । व्यञ्जकभेदादयमिति चेद्, अकाराद्यशेषवर्णेष्वप्येषोऽस्त्वित्येक एव वर्णः स्यात् । अथ य-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

था अयमपि गकारः, अयमपि गकारः, इत्येकाकारा प्रतीतिः, तथा नाकाराद्यशेषवर्णेषु अपीति चेत्। नैवम्। अयमपि वर्णः, अयमपि वर्णः, इत्येकप्रत्ययवमर्शोत्पत्तेः। सामान्यनिमित्तक एवायमितिचेत्, तर्हि गकारादावपि तथाऽस्तु। अथाकारेकारादौ विशेषोऽनुभूयते, ननु गर्गादिगकारेषु, तेषां तुल्यस्थानाऽऽस्यप्रयत्नादित्वादिति चेदेवं तर्हि "सहर्षे हेमन्ते हरिहरिति हम्मीरहरयः" इत्यादिहकारात्कण्ठ्याद्वह्निजिह्मादिहकारस्य, ह "उरस्यो वह्निजिह्मादौ, वर्गपञ्चमसंयुतः" इति वचनादुरस्यत्वेन स्थानभेदप्रतीतेः। ततो भिन्नोऽयं वर्णो भवेत्।

नच गकारे नास्ति विशेषावभासः, तीव्रोऽयं मन्दोऽयं गकार इति तीव्रतादिविशेषस्फुरणात् व्यञ्जकगतास्तीव्रतादयस्तत्र स्फुरन्तीति चेत्, कृतोत्तरमेतत्। अकारेकारादावप्यनुभूयमानः स विशेषस्तद्गत एवाऽस्तु, तथा चैक एव वर्णः किन्न भवेत्?। मा भून्ना विशेषावभासो गकारेषु भेदावभासस्तु विद्यत एव, बहवोऽमी गकारा इति प्रतीतेः। भवति च विशेषावभासं विनापि भेदस्फूर्त्तिः, सर्षपराशौ गुरुलाघवादिविशेषावाभासं विनाऽपि तद्भेदप्रतिभासवद्। इति सिद्धो गकारभेदः। तथाच-तदादिवर्णवर्त्तिसामान्यानामेव वाचकत्वमस्तु तत्त्वतस्तुगोशब्दत्वमेव सदृशपरिणामात्मकं वाचकं क्रमाभिव्यज्यमानं वर्णद्वयमेवैतत्, नैका गोशब्दव्यक्तिरिति च न वाच्यम्। नित्यत्वाप्रसिद्धावप्यस्योत्तरस्य कूर्परकोटिसंटङ्कितगुडायमानत्वात्। तस्मात्क्रमोत्पन्नेष्वु तत्तद्गकारादिपर्यायोपहितभाषाद्रव्यात्मको गोशब्द एव सदृशपरिणामात्मा वाचकोऽस्तु। तथा च क्षीणाऽर्थाऽऽपत्तिः।

अस्तु अनित्यो ध्वनिः, किंतु-नाऽयं पौद्गलिकः संगच्छत इति यौगाः संगिरमाणाः सप्रणयप्रणयिनीनामेव गौरवार्हाः। यतः कोऽत्र हेतुः; स्पर्शशून्याश्रयत्वम्, अतिनिविडप्रदेशे प्रवेशनिर्गमयोरप्रतिघातः, पूर्वं पश्चाच्चाऽवयवानुपलब्धिः। सूक्ष्ममूर्त्तद्रव्यान्तराऽप्रेरकत्वं,गगनगुणत्वं वा?। नाद्यः पक्षः। यतः शब्दपर्यायस्याश्रये भाषावर्गणारूपे स्पर्शाभावो न तावदनुपलब्धिमात्रात्प्रसिध्यति, तस्य सव्यभिचारत्वात्। योग्यानुपलब्धिस्त्वसिद्धा, तत्र स्पर्शस्यानुभूतत्वेनोपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वाभावात्, उपलभ्यमानगन्धाऽऽधारद्रव्यवत्। अथ घनसारगन्धसाराऽऽदौ गन्धस्य स्पर्शाव्यभिचारनिश्चयादत्रापि तन्निर्णयेऽप्यनुपलम्भादनुद्भूतत्वं युक्तं, नेतरत्र, तन्निर्णायकाभावाद्, इति चेत्, मा भूत्तावत्तन्निर्णायकं किंचित्। किंतु-पुद्गलानामुद्भूतानुद्भूतस्पर्शानामुपलब्धेः शब्देऽपि पौद्गलिकत्वेन परैः प्रणिगद्यमाने बाधकाभावे च सति संदेह एव स्यात्, नत्वभावनिश्चयः, तथा च संदिग्धाऽसिद्धो हेतुः। नच नास्ति तन्निर्णायकम्। तथाहि-शब्दाश्रयः स्पर्शवान्, अनुवातप्रतिवातयोर्विप्रकृष्टनिकटशरीरिणोपलभ्यमानानुपलभ्यमानेन्द्रियार्थत्वात्,तथाविधगन्धाऽऽधारद्रव्यवद्, इति। द्वितीयकल्पेऽपि गन्धद्रव्येण व्यभिचारः। वर्त्तमानजात्यकस्तूरिकाकर्प्पूरकश्मीरजादिगन्धद्रव्यं हि पिहितकपाटसंपुटापवरकस्यान्तर्विशति, बहिश्च निस्सरति, नचापौद्गलिकम्। अथ तत्र सूक्ष्मरन्ध्रसंभवेनातिनिविडत्वाभावात्तत्प्रवेशनिष्काशौ; अत एव तदल्पीयस्तौ, नत्वपावृतद्वारदशायामिव तदेकार्णवत्वं, सर्वथा नीरन्ध्रे तु प्रदेशे नैतौ संभवत इति चेद्, एवं तर्हि शब्देऽपि सर्वस्य तुल्ययोगक्षेमत्वादसिद्धता हेतोरस्तु। पूर्वं पश्चाच्चावयवानुपलब्धिः, सौदामिनीदामोल्कादिभिरनैकान्तिकी। सूक्ष्ममूर्त्तद्रव्यान्तराप्रेरकत्वमपि गन्धद्रव्यविशेषसूक्ष्मरजोधूमाऽऽदिभिर्व्यभिचारि। न हि गन्धद्रव्यादिकमपि नासिनिविशमानं तद्विवरद्वारदेशोद्भिन्नश्मश्रुप्रेरकं प्रेक्ष्यते। गगनगुणत्वं त्वसिद्धम्। तथाहि-न गगनगुणः शब्दः अस्मदादिप्रत्यक्षत्वात्, रूपादिवदिति। पौद्गलिकत्वसिद्धिः पुनरस्य, शब्दः पौद्गलिकः इन्द्रियार्थत्वात्, रूपादिवदेवेति। रत्ना० ४ परि०।

अथ संकेतमात्रेणैव शब्दोऽर्थं प्रतिपादयति; नतु स्वाभाविकसंबन्धवशादिति गदतो नैयायिकान्, समयादपि नार्थं वस्तु वदतीति वदतः सौगतांश्च पराकुर्वन्ति—

स्वाभाविकसामर्थ्यसमयाभ्यामर्थबोधनिबन्धनं शब्दः इति ॥ ११ ॥

स्वाभाविकम्-सहजम्। सामर्थ्यं-शब्दस्यार्थप्रतिपादनशक्तिः; योग्यतानाम्नी। समयश्च-संकेतः ताभ्यामर्थप्रतिपत्तिकारणं शब्द इति। तत्र नैयायिकान्प्रत्येवं विधेयानुवाद्यभावः, योऽयम् अर्थबोधनिबन्धनं शब्दः अभ्युपगतोऽस्ति,स स्वाभाविकसामर्थ्यसमयाभ्यां-द्वाभ्यामपि. न पुनः समयादेव केवलात्। समयो हि पुरुषाऽऽयत्तवृत्तिः; नच-पुरुषेच्छया वस्तुनियमो युज्यते। अन्यथा तदिच्छाया अव्याहतप्रसरत्वादर्थोऽपि वाचकः, शब्दोऽपि वाच्यः स्यात्। अथ गत्वौत्वादिसामान्यसंबन्धो यस्य भवति, स वाचकत्वे योग्यः, इतरस्तु वाच्यत्वे, यथा द्रव्यत्वाविशेषेऽप्यग्नित्वादिसामान्यविशेषवत् एव दाहजनकत्वं, न जलत्वादिसामान्यविशेषवत् इति चेत्। तदयुक्तम्। अतीन्द्रियां शक्तिं विनाऽग्नित्वादेरपि कार्यकारणभावनियामकत्वानुपपत्तेः। अग्नित्वं हि दाहवह्निजातीयकारणजन्यकार्येष्वपि तुल्यरूपम्। नहि दाहं प्रत्येवाऽग्नेरग्नित्वं, यथा पुत्रापेक्षं पितुः पितृत्वम्। ततश्चाग्निर्दाहवत्पिपासापनोदमपि विदध्यादिति नातीन्द्रियां शक्तिमन्तरेणाग्नित्वादीनां कार्यकारणभावव्यवस्थाहेतुत्वं, तद्वदेव च गत्वौत्वादिसामान्यानामपि न वाच्यवाचकभावनियमहेतुत्वमिति नियामिका शक्तिः स्वीकर्त्तव्यैव। अथ किमनेनातीन्द्रियशक्तिकल्पनाक्लेशेन?। करतलानलसंयोगादिसहकारिकारणनिकरपरिकरितं कृपीटयोनिस्वरूपं हि स्फोटघटनपाटवं प्रकटयिष्यति, किमवशिष्टं यदनया करिष्यते। तथा च जयन्तः-" स्वरूपादुद्भवत्कार्यं, सहकार्युपबृंहितात्। नहि कल्पयितुं शक्तं, शक्तिमन्यामतीन्द्रियाम् ॥ १ ॥ " यत्तूक्तम्-अग्निर्दाहवत्पिपासापनोदमपि विदध्यादिति। तन्न सत्। नहि वयमद्य कश्चिदभिनवं भावानां कार्यकारणभावमुत्थापयितुं शक्नुमः किंतु यथा प्रवृत्तमनुसरन्तो व्यवहरामः। नह्यस्मदिच्छया आपः शीतं शमयन्ति कृशानुर्वा पिपासां, किंतु तत्र दाहादावन्वयव्यतिरेकाभ्यां वा वृद्धव्यवहाराद्वा ज्वलनादेरेव कारणत्वमवगच्छाम इति तदेव तदर्थिन उपादध्महे, न जलादि। तदेतदतथ्यम्। यतो यथाभूतादेव विभावसोर्दाहोत्पत्तिः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रतीयते, तथाभूतादेव मणिमन्त्रयन्त्रतन्त्रौषधादिसन्निधाने सति न प्रतीयते। यदि हि दृष्टमेव रूपं स्फुटं स्फोटं घटयेत्, तदा तदानीं तस्य समस्तस्य सद्भावात्तदनुत्पादो न स्याद्। अस्ति चासौ, ततो दृष्टरूपस्य व्यभिचारं प्रपश्यन्नतीन्द्रियायाः शक्तेः सत्त्वं समर्थ(र्प)यति। तथा च- "स्वरूपात्क्वाऽप्यनुवृत्त-रसहकार्युपबृंहितात्। किं न कल्पयितुं शक्तं, शक्तिमन्यामतीन्द्रियाम् ॥ १ ॥ यत्तूक्तम्— "दाहादावन्वयव्यतिरेकाभ्यां वृद्धव्यवहाराद्वा ज्वलनादेरेव कारणत्वमवगच्छामः" इति। तदुक्तिमात्रमेव। यत एव हि दाह-दहनयोः कार्यकारणभावनियमः प्रसिद्धिपद्धतिप्रतिबद्ध एव, तत एव प्रसङ्गः प्रवर्तते। यदि कृशानुः स्वरूपमात्रादेव दाहमुत्पादयेत्, तर्हि तदविशेषादुदन्यापनोदमपि विदध्यादिति।

अथ न मणिमन्त्रादिप्रतिबन्धकनैकट्ये सति स्फोटानुत्पत्तिरदृष्टं रूपमाक्षिपति, यथा ह्यन्वयव्यतिरेकाभ्यामवधृतसामर्थ्यो दहनो दाहहेतुः, तथा प्रतिबन्धकाभावोऽपि। स च प्रतिबन्धकयोगे विनिवृत्त इति सामग्रीवैगुण्यादेव दाहस्यानुत्पत्तिः, नतु शक्तिवैकल्यादिति चेत् तदयुक्तम्। यतः प्रतिबन्धकाभावो भावादेकान्तव्यतिरिक्तः कथं किंचित्कार्यं कुर्यात्? कूर्मरोमराजीवत्। ननु नित्यानां कर्मणामकरणात्प्रागभावस्वभावात्प्रत्यवाय उत्पद्यते, अन्यथा नित्याऽकरणे प्रायश्चित्तानुष्ठानं न स्यात्, वैयर्थ्यात्। तन्न तथ्यम्। नित्याकरणस्वभावात्क्रियान्तरकरणादेव प्रत्यवायोत्पत्तेरभ्युपगमात्, त्वन्मतस्य तस्य तद्धेतुत्वाऽसिद्धेः। यदप्युच्यते—"सुखदुःखसमुत्पत्ति-रभावे शत्रुमित्रयोः ॥ कण्टकाऽभावमालक्ष्य, पादः पथि निधीयते" ॥२॥ तत्राऽप्यमित्रमित्रकण्टकाभावज्ञानानामेव सुखदुःखाङ्घ्रिनिधानकार्यकारित्वं, नत्वभावानाम्। तज्ज्ञानमप्यमित्रमित्रकण्टकविविक्तप्रतियोगिवस्त्वन्तरसंपादितमेव, नतु त्वदभिमताभावकृतम्। अथ भाववदभावोऽपि भावजननसमर्थोऽस्तु; को दोषः। न हि निःशेषसामर्थ्यरहितत्वमभावलक्षणम्; अपि तु-नास्तीति ज्ञानगम्यत्वम्। सत्प्रत्ययगम्यो हि भाव उच्यते, असत्प्रत्ययगम्यस्त्वभाव इति चेत्। तदयुक्तम्। त्वदभ्युपगताभावस्य भावात्सर्वथा पार्थक्येन स्थितस्य भावोत्पादत्वविरोधात्। तथाहि-विवादास्पदीभूतोऽभावो भावोत्पादको न भवति, भावादेकान्तव्यतिरिक्तत्वात्, यदेवं तदेवं यथा तुरङ्गशृङ्गम्। तथा चायं तस्मात्तथा। प्रागभावप्रध्वंसाभावपरस्पराभावस्वभावो ह्यभावो वस्तुनो व्यतिरिक्तमूर्तिर्भावोत्पादकः परैरिष्टः, सोऽत्र विवादपदशब्दितः। अन्यथा-जैनस्य भावाविष्वग्भूताभावैर्भावोत्पादकत्वेनाङ्गीकृतैर्बाधा स्यात्। यौगस्य चात्यन्ताभावेन भावानुत्पादकेन सिद्धसाध्यता भवेत्। नन्वयं धर्मित्वेनोपात्तोऽभावो भवद्भिः प्रतिपन्नो न वा। यदि प्रतिपन्नः; किं प्रत्यक्षाद्, अनुमानात्, विकल्पाद्वा; उपमानादेरत्रानुचितत्वात्। यदि प्रत्यक्षात्; तदा कथमभावस्य भावोत्पादनापवादस्सूपपादः स्यात्? प्रत्यक्षस्यैवोत्पादितत्वात्। अथानुमानात्तत्प्रतिपत्तौ; तत्राप्यभावधर्मिणः प्रतीतिरनुमानान्तरादेव, इत्यत्राऽनवस्थादौस्थ्यस्थेमा। विकल्पादपि तत्प्रतीतिः; प्रमाणमूलात्, तन्मात्रादेव वा। न प्रथमात्; प्रमाणप्रवृत्तेस्तत्र तिरस्कृतत्वात्। विकल्पमात्रात्तु तत्प्रतीतिरसत्कल्पा, ततः कस्यापि प्रतिपत्तेरनुपपत्तेः। अन्यथा-प्रामाणिकानां प्रमाणपर्येषणमरमणीयं स्यात्। तथा चाश्रयासिद्धो हेतुः। अथाप्रतिपन्नः, तर्हि कथं धर्मितयोपात्तोऽयम्?। उपात्ते चास्मिन् हेतुराश्रयासिद्ध एव। अत्रोच्यते-विकल्पमात्रादेव तत्प्रतिपत्तिं ब्रूमहे। नचाश्रयासिद्धिः, अवस्तुनि विकल्पात्प्रसिद्धेरवश्याश्रयणीयत्वाद्। अन्यथा वन्ध्यास्तनन्धयादिशब्दानुच्चारणप्रसङ्गात्। नच-नोच्चार्यत एवायं मयेति वाच्यम्। वान्ध्येयोऽस्ति, नास्ति वेति। पर्यनुयोगे पृथ्वीपतिपरिषद्यवश्यं विधिनिषेधान्यतराभिधायिवचनस्यावकाशात्। तूष्णीं पुष्णतोऽस्याप्रतिपित्सितं, किंचिदुच्चारयतो वा पिशाचकित्वप्रसङ्गात्। तथाविधवचनोच्चारणे च कथमेतदिति प्रमाणगवेषणे अनुमानमुच्चार्यमाणमाश्रयासिद्धिग्रस्तम्। समस्तं निष्प्रमाणकं वचनमात्रं प्रेक्षावता प्रश्नकृताऽनपेक्षितमेव। न चोभयाभावोऽभिधातुं शक्यः। विधिनिषेधयोर्भावाभावस्वभावत्वात्, एकनिषेधेनापरविधानात्। विधिप्रतिषेधो हि निषेधः, निषेधप्रतिषेधश्च विधिः। अस्तु वोभयप्रतिषेधप्रतिज्ञाहेतोस्तु तत्रापादीयमानस्य नाश्रयासिद्धिपरिहारः। तदुक्तम्-"धर्मस्य कस्यचिदवस्तुनि मानसिद्धा-बाधाविधिव्यवहृतिः किमिहास्ति नो वा। अस्त्येव चेत्कथमियन्ति न दूषणानि, नास्त्येव चेत् स्ववचनप्रतिरोधसिद्धिः ॥ १ ॥ (अस्य व्याख्या)-अवस्तुनि बाधाविधिव्यवहारो नास्तीत्येतदनेनैव स्ववचनेन प्रतिरुध्यते; नास्तीति प्रतिषेधस्य स्वयं कृतत्वाद्, इत्यन्त्यपादस्यार्थः। तुरङ्गशृङ्गदृष्टान्तोऽपि विकल्पादेव प्रसिद्धः स्वीकर्तव्यः। तत्र च यस्त्वेकान्तव्यतिरेके सति भावानुत्पादकत्वमपि प्रतीतम्, इति नास्य साध्यसाधनोभयवैकल्यम्। ननु जैनैर्भावादभिन्नस्याभावस्याभ्युपगमात् वाद्यसिद्धो हेतुरिति चेत्, तदसत्। पराभ्युपगताभावस्य धर्मीकृतत्वात्, तस्य च भावादेकान्तेन पृथग्भूततया जैनैरपि स्वीकारात्। न खल्ववस्तु वस्तुभूताद्भावादभिन्नमिति मन्यन्ते जैनाः। ततो नाभावो भावोत्पादकस्तवास्तीति सिद्धम्॥ किंच-यदा प्रतिबन्धकाभावो विभावसुस्वरूपादेकान्तभिन्नोऽभ्युपागामि, तदा विभावसुः प्रतिबन्धकस्वभावस्स्वीकृतः स्यात्, प्रतिबन्धकाभावाद्व्यावर्तमानत्वान्मणिमन्त्रादिप्रतिबन्धकस्वरूपवत्। तथा च कथं कदाचिद्दाहादिकार्योत्पादो भवेत्? विभावसोरेव प्रतिबन्धकत्वात्। अथ कथं विभावसुः प्रतिबन्धकः स्यात्? तत्र प्रतिबन्धकप्रागभावस्य विद्यमानत्वात्। तदनवदातम्। एतावता हि तत्र वर्त्तमानः प्रतिबन्धकप्रागभाव एव प्रतिबन्धकस्वभावो मा भूत्, विभावसुस्वरूपं तु तदभावाद्व्यावर्त्तमानं प्रतिबन्धकतां कथं न कलयेत्?। यथाहि—प्रतिबन्धकः स्वभावाद्व्यावर्त्तमानः प्रतिबन्धकतां दधाति, तथा-तनूनपादपि प्रतिबन्धकाभावाद्व्यावर्त्तमानमूर्तिः कथं न प्रतिबन्धरूपतां प्रतिपद्येत?। स्याद्वादिनां तु भावाऽभावोभयात्मकं वस्त्विति प्रतिबन्धकाभावात्मनः कृष्णवर्त्मनो न प्रतिबन्धकरूपता। किं च-प्रतिबन्धकाभावस्य कारणत्वे, प्रतिबन्धकस्य कस्यचिन्नैकट्येऽपि प्रतिबन्धकाभावान्तराणामनेकेषां भावात्कथं न कार्योत्पादः?। नहि कुम्भकारकारणः कुम्भः कुम्भकारस्यैकस्याभावेऽपि कुम्भकारान्तरव्यापाराद्भवति। नचैक एव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कश्चित्प्रतिबन्धकाभावः कारणं, यदभावात्तदानीं न कार्यं जायते, तद्वदेव त्वन्मतेन सर्वेषामवधृतसामर्थ्यत्वात् ।

अथ सर्वे प्रतिबन्धकाभावाः समुदिता एव कारणं; न पुनरेकैकशः कुम्भकारवत्, तर्हि कदाचिदपि दाहादिकार्योत्पत्तिर्न स्यात्, तेषां सर्वेषां कदाचिदभावात्, भुवने मणिमन्त्रतन्त्रादिप्रतिबन्धकानां भूयसां संभवात् । अथ ये प्रतिबन्धकास्तं तनूनपातं प्रतिबद्धुं प्रसिद्धसामर्थ्याः, तेषामेवाऽभावाः सर्वे कारणं, नतु सर्वेषां; सर्वशब्दस्य प्रकारकार्त्स्न्ये वर्त्तमानस्य स्वीकारात्, इति चेत् । ननु प्रसिद्धसामर्थ्या इति सामर्थ्यशब्दस्यातीन्द्रिया शक्तिः, स्वरूपं वा प्रतिबन्धकानां वाच्यं स्यात् । प्राच्यपक्षकक्षीकारे, क्षीणः क्षणनावयोः कण्ठशोषः; अतीन्द्रियशक्तिस्वीकारात् । द्वितीयपक्षे तु त एव तं प्रति प्रतिबन्धकाः नापरे, इति कौतस्कुती नीतिः ? । स्वरूपस्योभयेषामपि भावात् । न खलु मणिमन्त्रादेः कश्चिदेव जातवेदसमाश्रित्य तत्स्वरूपं, न पुनर्जातवेदोऽन्तरमिति । तथा न प्रतिबन्धकस्यात्यन्ताऽभावस्तावत्कारणतया वक्तुं युक्तः, तस्याऽसत्त्वाद्, अन्यथा-जगति प्रतिबन्धककथा प्रत्यस्तमयप्रसङ्गात् ।

अपरे पुनः प्रतिबन्धकाभावा एकैकशः सहकारितां वृधीरन्, द्विशो वा । प्रथमपक्षे; प्रागभावः, प्रध्वंसाऽभावः, परस्पराऽभावः, यः कश्चिद्वा सहकारी स्यात् । न प्रथमः, प्रतिबन्धकप्रध्वंसेऽपि पावकस्य प्लोषकार्योपलम्भात् । न द्वितीयः, प्रतिबन्धकप्रागभावेऽपि दहनस्य दाहोत्पादकत्वात् । न तृतीयः, प्रतिबन्धकसंबन्धबन्धोरपि धनञ्जयस्य स्फोटघटनप्रसङ्गात्, तस्य तदानीमपि भावात् । न चतुर्थः, प्ररूपयिष्यमाणानियतहेतुकत्वदोषानुषङ्गात् । द्विशःप्रतिबन्धकाभावभेदे तु किं प्रागभावप्रध्वंसाऽभावौ, प्रागभावपरस्पराऽभावौ, प्रध्वंसाऽभावपरस्पराऽभावौ, त्रयोऽपि वा हेतवो भवेयुः । नाद्यः पक्षः, उत्तम्भकवैकट्ये तावन्तरेणापि पावकस्य प्लोषकार्याऽर्ज्जनदर्शनात् । न द्वितीयतृतीयतुरीयाः, प्रतिबन्धकपरस्पराऽभावस्य प्राक् तदकारणत्वेन वर्णितत्वात्, भेदत्रयस्यापि चास्य परस्पराभावसंवलितत्वात् । अथ प्रागभावप्रध्वंसाभावोत्तम्भकमणिमन्त्रतन्त्रादयो यथायोगं कारणमिति चेत् । तदस्फुटम् । स्फोटादिकार्यस्यैवमनियतहेतुकत्वप्रसङ्गात्, । अनियतहेतुकं-चाऽहेतुकमेव । तथाहि-अन्वयव्यतिरेकावधार्यः कार्यकारणभावो भावानाम्, धूम-धूमध्वजयोरिव । प्रस्तुते तु प्लोषादि यदेकदैकस्मादुत्पद्यमानमाभिलाप्यमासे, तदन्यदा यदन्यतोऽपि स्यात्, तर्हि तत्कारणकमेव तन्न भवेदिति कथं नाऽहेतुकं स्यात् ? ।

अथ गोमयात्, वृश्चिकाच्च वृश्चिकोत्पादः प्रेक्ष्यते । न च तत्रानियतहेतुकत्वं स्वीकृतं त्वयापीति चेत् । तदपि अपापात्रम् । सर्वत्र हि शालूकगोमयादौ वृश्चिकाडिम्भारम्भशक्तिरकास्तिइति यानि तच्छक्तियुक्तानि तानि तत्कार्योत्पादकानि, इति नायं नः कलङ्कः सङ्क्रामति । भवतां पुनरद्याप्ययं प्रादुर्भवन् दुष्प्रतिषेधः, येषां वृश्चिकगोमयसाधारणमेकं किंचिन्नास्तीति । नच प्रागभावप्रध्वंसाभावोत्तम्भकादीनामप्येकं किंचित्तुल्यं रूपं वर्त्तते । इति नानियतहेतुकत्वेन दुर्विधदैवेनेवाऽमी मुच्यन्ते । एतेन 'भावस्वभावोऽप्यभाव एवास्तु हेतुर्नत्वतीन्द्रियशक्तिस्वीकारः सुन्दरः' इत्यप्युच्यमानमपास्तम् । उक्ताभावविकल्पानामत्राप्यविशेषात् ।

अथ शक्तिपक्षप्रतिक्षेपदीक्षिता " आक्षपादा " एवं सालेपमाचक्षते-ननु भवत्पक्षे प्रतिबन्धकोऽकिंचित्करः किंचित्करो वा भवेत् । अकिंचित्करप्रकारेऽतिप्रसङ्गः, मृद्धकृम्भृङ्गाराऽऽदेरप्यकिंचित्करस्य प्रतिबन्धकत्वप्रसङ्गात् । किंचित्करस्तु किंचिदुपचिन्वन् अपचिन्वन्वा स्यात् । प्राचिपक्षे, किं दाहकशक्तिप्रतिकूलां शक्तिं जनयेत्, तस्या एव धर्मान्तरं वा । न प्रथमः, प्रमाणाभावात् । दाहाऽभावस्तु, प्रतिबन्धकसंनिधिमात्रेणैव चरितार्थ इति न तामुपपादयितुमीश्वरः । धर्मान्तरजनने तदभावे सत्येव दाहोत्पाद इत्यभावस्य कारणत्वस्वीकारः, त्वदुक्ताशेषप्रागभावाऽऽदिविकल्पाऽवकाशश्च ।

अपचयपक्षे तु प्रतिबन्धकस्तां शक्तिं विकुट्टयेत्, तद्धर्मं वा । प्रथमप्रकारे-कुतस्त्यं कृपीटयोनेः पुनः स्फोटघटनपाटवम् । तदानीमन्यैव शक्तिः संजातेति चेत् । ननु सा संजायमाना किमुत्तम्भकात्प्रतिबन्धकाभावात् देशकालादिकारकचक्रात् अतीन्द्रियार्थान्तराद्वा जायेत । आद्यभिदायाम्, उत्तम्भकाभावेऽपि प्रतिबन्धकाभावमात्रात्कौतस्कुतं कार्याऽर्जनं जातवेदसः ।

द्वितीयभेदे-तत एव स्फोटोत्पत्तिसिद्धेः शक्तिकल्पनावैयर्थ्यम् । तृतीये-देशकालादिकारकचक्रस्य प्रतिबन्धकालेऽपि सद्भावेन शक्त्यन्तरप्रादुर्भावप्रसङ्गः । चतुर्थे-अतीन्द्रियार्थान्तरनिमित्तकल्पने तत एव स्फोटः स्फुटं भविष्यति, किमनया कार्यम् ? । तन्न शक्तिनाशः श्रेयसः । तद्वदेव तद्धर्मनाशपक्षोऽपि प्रतिक्षेपणीयः । अत्राभिदध्महे । एतेषु शक्तिनाशपक्ष एव कक्षीक्रियत इत्यपरविकल्पशिल्पकल्पनाजल्पाकता कण्ठशोषायैव वः संबभूव । यत्तूक्तम्-कुतः पुनरसावुत्पद्येतेति । तत्र शक्त्यन्तरसहकृता कृपीटयोनेरेवेति ब्रूमः । ननु प्रतिबन्धकदशायां सा शक्तिरस्ति; न वा । नास्ति चेत्, कुतः पुनरुत्पद्येत । शक्त्यन्तरसहकृतादग्नेरेवेति चेत्, तर्हि साऽपि शक्त्यन्तरसध्रीचस्तस्मादेवोन्मज्जेदित्यनवस्था । अथाऽस्ति, तदानीमपि स्फोटोत्पादिकां शक्तिं संपादयेत् ततोऽपि स्फोटः स्फुटं स्यादेवेति । अत्रोच्यते-प्रतिबन्धकावस्थायामप्यस्त्येव शक्त्यन्तरं, घटयति च स्फोटघटनलम्पटां शक्तिं तदापि । यस्तु तदा स्फोटानुत्पादः, स प्रतिबन्धकेनोत्पन्नोत्पन्नायास्तस्याः प्रध्वंसात् । प्रतिबन्धकापगमे तु स्फोटः स्फुटीभवत्येवेत्यतीन्द्रियशक्तिसिद्धिः । अत्राऽऽशङ्कान्तरपरिहारप्रकारमौक्तिककणप्रचयावचायः स्याद्वादरत्नाकरात् तार्किकैः कर्त्तव्यः । एवं च स्वाभाविकशक्तिमान् शब्दः अर्थं बोधयतीति सिद्धम्, अथ तदङ्गीकारे तत एवार्थसिद्धेः संकेतकल्पनाऽनर्थिकैव स्यादिति चेत्, मैवम् । अस्य सहकारितया स्वीकाराद्; अङ्कुरोत्पत्तौ पयःपृथिव्यादिवत् । अथ स्वाभाविकसंबन्धाभ्युपगमे देशभेदेन शब्दानामर्थभेदो न भवेत् भवतिचायम्, चौरशब्दस्य दाक्षिणात्यैरोदने प्रयोगादिति चेत् । तदशस्यम् । सर्वशब्दानां सर्वार्थप्रत्यायनशक्तियुक्तत्वात् । यत्र च देशे यदर्थप्रतिपादनशक्तिसहकारी संकेतः, स तमर्थं तत्र प्रतिपादयतीति सर्वमवदातम् । सौगतास्तु प्रत्यवात्रिधेयानुवाद्यभावः योऽयं शब्दा

वर्णात्मा आवयोः प्रसिद्धः, स स्वाभाविकसामर्थ्यसमयाभ्यां कृत्वा अर्थबोधनिबन्धनमेवेति ।

अथ स्वाभाविकसामर्थ्यसमयाभ्यां शब्दस्यार्थे सामान्यरूपे, विशेषलक्षणे, तदुभयस्वभावे वा वाचकत्वं व्याक्रियेत । न प्रथमे, सामान्यस्यार्थक्रियाकारित्वाभावेन नभोऽम्भोजसन्निभत्वात् । न द्वैतीयीके, विशेषस्य स्वलक्षणलक्षणस्य वैकल्पिकविज्ञानागोचरत्वेन संकेतास्पदत्वाऽसंभवात् । तत्संभवेऽपि विशेषस्य व्यवहारकालाननुयायित्वेन संकेतनैरर्थक्यात् । तार्त्तीयीके तु स्वतन्त्रयोः, तादात्म्यापन्नयोर्वा सामान्यविशेषयोस्तद्गोचरता संगीर्येत । नाद्यः पक्षः, प्राचिकविकल्पोपदर्शितदोषानुषङ्गात् । न द्वितीयः, सामान्यविशेषयोर्विरुद्धधर्माध्यासितत्वेन तादात्म्याऽयोगादिति नार्थो वाच्यो वाचाम्, अपि तु परमार्थतः सर्वतो व्यावृत्तस्वरूपेषु स्वलक्षणेष्वेकार्थकारित्वेन, एककारणत्वेन चोपजायमानैकप्रत्यवमर्शरूपविकल्पस्याकारो बाह्यत्वेनाभिमन्यमानो बुद्धिप्रतिबिम्बव्यपदेशभाक् अपोहः; शब्दश्रुतौ सत्यां तादृशोल्लेखशेखरस्यैव वेदनस्योत्पादात् । अपोहत्वं चास्य स्वाकारविपरीताकारोन्मूलकत्वेनावसेयम् । अपोह्यते स्वाकाराद्विपरीत आकारोऽनेनेत्यपोह इति व्युत्पत्तेः। तत्त्वतस्तु न किंचिद्वाच्यं वाचकं वा विद्यते, शब्दार्थतया कथिते बुद्धिप्रतिबिम्बात्मन्यपोहे कार्यकारणभावस्यैव वाच्यवाचकतया व्यवस्थापितत्वात् ।

" अथ श्रीमदनेकान्त-समुद्घोषपिपासितः । अपोहमापिबामि प्राग्, वीक्षन्तां भिक्षवः क्षणम् " ॥ १ ॥ इह तावद्विकल्पानां तथाप्रतीतिपरिहृतविरुद्धधर्माध्यासकथंचित्तादात्म्यापन्नसामान्यविशेषस्वरूपवस्तुलक्षणात् गोचरादीक्षितत्वं प्राक्प्राकट्यत । ततस्तत्त्वतः शब्दानामपि तत्प्रसिद्धमेव । यतोऽजल्पि युष्मदीयैः " स एव शब्दानां विषयो यो विकल्पानाम् " इति कथम् अपोहः शब्दार्थः स्यात् । अस्तु वा तथाऽप्यनुमानवत्किं न शब्दः प्रमाणमुच्यते । अपोहगोचरत्वेऽपि परंपरया पदार्थे प्रतिबन्धात्प्रमाणमनुमानमिति चेत् तत एव शब्दोऽपि प्रमाणमस्तु अतीतानागताम्बरसरोजादिष्वसत्स्वपि शब्दोपलम्भान्नार्थप्रतिबन्ध इति चेत्, तर्ह्यभूद् वृष्टिः, गिरिनदीवेगोपलम्भात्, भावीभरण्युदयः, रेवत्युदयात्, नास्ति रासभशृङ्गं समग्रप्रमाणैरनुपलम्भात् इत्यादेरर्थाभावेऽपि प्रवृत्तेरनुमानेऽपि नार्थप्रतिबन्धः स्यात् । यदि वचोवाच्याऽपोहोऽपि पारंपर्येण पदार्थप्रतिष्ठः स्यात् । तदानीम्-अलाबूनि मज्जन्तीत्यादिविप्रतारकवाक्याऽपोहोऽपि तथा भवेदिति चेद्, अनुमयाऽपोहेऽपि तुल्यमेतत् प्रमेयत्वादिहेत्वनुमेयाऽपोहेऽपि पदार्थप्रतिष्ठताप्रसङ्गः । प्रमेयत्वं हेतुरेव न भवति, विपक्षासत्त्वलक्षणाभावादिति कुतस्त्या तदपोहस्य तन्निष्ठेति चेत्, तर्हि विप्रतारकवाक्यमप्यागम एव न भवति आप्तोक्तत्वलक्षणाभावादित्यादि समस्तं समानम् । यस्तु "नाप्तोक्तत्वं वचसि विवेचयितुं शक्यम्" इति "शाक्यो" वक्ति स पर्यनुयोज्यः । किमाप्तस्यैव कस्याप्यभावादेवमभिधीयेत, भावेऽप्यभावस्य निश्चयाभावात्, निश्चयेऽपि मौनव्रतिकत्वात्, वक्तृत्वेऽप्यनाप्तवचनात्, तद्वचसो विवेकावधारणाभावाद्वा । सर्वमप्येतत् "चार्वाका" दिवाचां प्रपञ्चात् । मातापितृपुत्रभ्रातृगुरुसुगतादिवचसां विशेषमानिष्टमानैरप्रकटनीयमेव ।

नच-नाऽस्ति विशेषस्वीकारः, तत्पठितानुष्ठानघटनायामेव प्रवृत्तेर्निर्निबन्धनत्वाऽऽपत्तेः । अथानुमानिक्यवाऽस्य शब्दादर्थप्रतीतिः; कथम् ?, " पादपार्थविवक्षावान्, पुरुषोऽयं प्रतीते । वृक्षशब्दप्रयोक्तृत्वात्, पूर्वावस्थास्वहं यथा" ॥१॥ इति विवक्षामनुमाय, सत्या विवक्षेयम्; आप्तविवक्षात्वात्, मद्विवक्षावदिति वस्तुनो निर्णयादिति चेत्, तदचतुरस्रम् । अमुष्य व्यवस्थाया अनन्तरोक्तवैशेषिकपक्षप्रतिक्षेपेण कृतनिर्वचनत्वात् । किंच-शाखादिमति पदार्थे वृक्षशब्दसंकेते सत्येतद्विवक्षानुमानमातन्येत, अन्यथा वा । न तावदन्यथा । केनचित्कक्षे वृक्षशब्दं संकेत्य तदुच्चारणात्, उन्मत्तसुप्तशुकसारिकादिना गोत्रस्खलनवता चान्यथाऽपि तत्प्रतिपादनाच्च हेतोर्व्यभिचारापत्तेः । संकेतपक्षे तु यद्येष तपस्वी शब्दस्तद्वशाद्वस्त्वेव वदेत्तदा किंनाम सूनं स्यात् । न खल्वेषोऽर्थाद्विभेति । विशेषलाभश्चैवं सति यदेवंविधानुभूयमानपारंपर्यपरित्याग इति । यदकथि-'परमार्थतः सर्वतोऽव्यावृत्तस्वरूपेषु स्वलक्षणेष्वेकार्थकारित्वेन' इत्यादि । तदवद्यम् । यतोऽर्थस्य वाहदोहादेरेकत्वम्, अभिन्नरूपत्वं, समानत्वं वा विवक्षितम् । न तावदाद्यः पक्षः-षण्डमुण्डादौ कुण्डकाण्डभाण्डादिवाहादेरर्थस्य भिन्नस्यैव संदर्शनात् ।

द्वितीयपक्षेऽपि सदृशपरिणामास्पदत्वम् अन्यव्यावृत्त्यधिष्ठितत्वं वा समानत्वं स्यात् । न प्राच्यः प्रकारः, सदृशपरिणामस्य सौगतैरस्वीकृतत्वात् । न द्वितीयः, अन्यव्यावृत्तेरतात्त्विकत्वेन वान्ध्येयस्येव स्वलक्षणेऽधिष्ठानासंभवात् । किंच-अन्यतः सामान्येन विजातीयाद्वा व्यावृत्तिरन्यव्यावृत्तिर्भवेत् । प्रथमपक्षे, न किंचिदसमानं स्यात्, सर्वस्यापि सर्वतो व्यावृत्तत्वात् द्वितीये तु विजातीयत्वं वाजिकुञ्जरादिकार्याणां वाहादिसजातीयत्वे सिद्धे सति स्यात्, तच्चान्यव्यावृत्तिरूपमन्येषां विजातीयत्वे सिद्धे सति, इतिस्पष्टं परस्पराश्रयत्वमिति । एवं च कारणैक्यं प्रत्यवमर्शैक्यं च विकल्प्य दूषणीयम् । अपि च-यदि बुद्धिप्रतिबिम्बात्मा शब्दार्थः स्यात्तदा कथमतो बहिरर्थे प्रवृत्तिः स्यात् ? । स्वप्रतिभासेऽनर्थेऽर्थाध्यवसायाच्चेत् । ननु कोऽयमर्थाध्यवसायो नाम अर्थसमारोप इति चेत्, तर्हि सोऽयमर्थानर्थयोरग्निमाणवकयोरिव तद्विकल्पविषयभावे सत्येव समुत्पत्तुमर्हति नच समारोपविकल्पस्य स्वलक्षणं कदाचन गोचरतामञ्चति ।

यदि चाऽनर्थेऽर्थसमारोपः स्यात्, तदा वाहदोहाद्यर्थक्रियार्थिनः सुतरां प्रवृत्तिर्न स्यात् । नहि दाहपाकाद्यर्थी समारोपितपावकत्वे माणवके कदाचित्प्रवर्त्तते । रजतरूपतावभासमानशुक्तिकायामिव रजतार्थिनोऽर्थक्रियार्थिनो विकल्पात्तत्र प्रवृत्तिरिति चेत् । भ्रान्तिरूपस्तर्ह्ययं समारोपः, तथा च कथं ततः प्रवृत्तोऽर्थक्रियार्थी कृतार्थः स्यात् । यथा शुक्तिकायां प्रवृत्तो रजतार्थक्रियार्थीति । यदपि प्रोक्तं कार्यकारणभावस्यैव वाच्यवाचकतया व्यवस्थापितत्वादिति । तदप्ययुक्तम् । यतो यदि कार्यकारणभाव एव वा वाच्यवाचकभावः स्यात्, तदा श्रोत्रज्ञाने प्रतिभासमानः शब्दः स्वप्रतिभासस्य भवत्येव कारणमिति तस्याऽप्यसौ वा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चकः स्यात् । यथा च विकल्पस्य शब्दः कारणम् , एवं परंपरया स्वलक्षणमपि, अतस्तदपि वाचकं भवेदिति प्रतिनियतवाच्यवाचकभावव्यवस्थानं प्रलयपद्धतिमनुधावेत् , ततः शब्दः सामान्यविशेषात्मकार्थावबोधनिबन्धनमेवेति स्थितम् ।

स्वाभाविकसामर्थ्यसमयाभ्यामर्थबोधनिबन्धनं शब्दः इत्युक्तम् । अथ किमस्य शब्दस्य स्वाभाविकं रूपं, किंच परापेक्षमिति विवेचयन्ति—

अर्थप्रकाशकत्वमस्य स्वाभाविकं प्रदीपवद्यथाऽर्थत्वाऽयथाऽर्थत्वे पुनः पुरुषगुणदोषावनुसरतः इति ॥ १२ ॥

अर्थप्रकाशकत्वम्-अर्थावबोधसामर्थ्यम् । अस्य-शब्दस्य स्वाभाविकम्-पराऽनपेक्षम् । प्रदीपवत्-यथा हि प्रदीपः प्रकाशमानः शुभम् अशुभं वा यथासन्निहितं भावमवभासयति, तथा शब्दोऽपि वक्त्रा प्रयुज्यमानः श्रुतिवर्तिनीमवतीर्णः सत्ये अनृते वा, समन्विते असमन्विते वा, सफले निष्फले वा, सिद्धे साध्ये वा; वस्तुनि प्रतिपत्तिमुत्पादयतीति तावदेवास्य स्वाभाविकं रूपम् । अयं पुनः प्रदीपाच्छब्दस्य विशेषः-यदसौ संकेतव्युत्पत्तिमपेक्षमाणः पदार्थप्रतीतिमुपजनयति , प्रदीपस्तु तन्निरपेक्षः । यथाऽर्थत्वाऽयथार्थत्वे-सत्यार्थत्वाऽसत्यार्थत्वे पुनः प्रतिपादकनराधिकरणशुद्धत्वाऽशुद्धत्वे अनुसरतः; पुरुषगुणदोषापेक्षे इत्यर्थः । तथाहि-सम्यग्दर्शिनि शुचौ पुरुषे वक्तरि यथार्था शाब्दी प्रतीतिः अन्यथा तु मिथ्यार्थेति । स्वाभाविके तु याथार्थ्ये मिथ्यार्थत्वे चाऽस्याः स्वीक्रियमाणे विप्रतारकतरपुरुषप्रयुक्तवाक्येषु व्यभिचाराऽव्यभिचारनियमो न भवेत् । पुरुषस्य च करुणादयो गुणा, द्वेषादयो दोषाः प्रतीता एव । तत्र च यदि पुरुषगुणानां प्रामाण्यहेतुत्वं नाभिमन्यते जैमिनीयैस्तर्हि दोषाणामप्यप्रामाण्यनिमित्तता मा भूत् । दोषप्रशमनचरितार्था एव पुरुषगुणाः, प्रामाण्यहेतवस्तु न भवन्तीत्यत्र च कोशपानमेव शरणं श्रोत्रियाणामिति । रत्ना० ४ परि० ।

(१९) (शब्दाऽर्थयोर्वाच्यवाचक भाव एव सम्बन्धः इति'णिद्देस'शब्दे चतुर्थभागे १४३० विशेषावश्यकगाथाव्याख्यावसरे वक्ष्यते)संबन्धस्त्वभिधेयेन सह वाच्यवाचकभावलक्षणःशास्त्रस्यावश्यंभावी, इत्यनुक्तोऽपि अर्थात् गम्यते, इति संबन्धराहित्याऽऽशङ्कानुत्थानोपहतैवेति। रत्ना०१ परि०१सूत्रटी०। (सम्मतितर्क—स्याद्वादमञ्जरी-रत्नाकरावतारिकादिग्रन्थेभ्यो विशेषोऽवगन्तव्यः) । (शब्दस्य पौद्गलिकत्वं नाऽऽकाशगुणत्वमिति ' सद्द शब्दे ७ सप्तमे भागे दर्शयिष्यते)

(२०) (आगमस्य हेतुवादाऽहेतुवादभेदेन द्वैविध्यम् ' अहेउवाय ' शब्दे प्रथमभागे ८६१ पृष्ठे अहेतुवादस्वरूपं , तत्रैव हेतुवादलक्षणमपि गतम्)

"जीवाऽजीवाऽऽश्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्" (तत्त्वार्थसू० १-४) इत्युभयवाऽऽदागमप्रतिपाद्यान् भावांस्तथैवासंकीर्णरूपान् प्रतिपादयन् सैद्धान्तिकः पुरुषः, इतरस्तु तद्विराधक इत्याह—

जो हेउवायपक्ख-म्मि हेउओ आगमे य आगमिओ ।
सो स समयपण्णवओ, सिद्धंतविराहओ अन्नो ॥ ४५ ॥

यो हेतुवादाऽऽगमविषयमर्थं हेतुवादाऽऽगमेन, तद्विपरीतागमविषयं चार्थमागममात्रेण प्रदर्शयति वक्ता स स्वसिद्धान्तस्य-द्वादशाङ्गस्य प्रतिपादनकुशलः, अन्यथाप्रतिपादयंश्च-तदर्थस्य प्रतिपादयितुमशक्यत्वात् तत्प्रतिपादके वचसि अनास्थाऽऽदिदोषमुत्पादयन्-सिद्धान्तविराधको भवति सर्वज्ञप्रणीतागमस्य निःसारताप्रदर्शनात् ; तत्प्रत्यनीको भवतीति यावत् ।

तथाहि-पृथिव्यादेर्मनुष्यपर्यन्तस्य षड्विधजीवनिकायस्य जीवत्वमागमेनाऽनुमानादिना च प्रमाणेन सिद्धं तथैव प्रतिपादयन् स्वसमयप्रज्ञापकः, अन्यथा तद्विराधकः । यतः प्रत्यक्षत्वेतने त्रसनिकाये चैतन्यलक्षणं जीवत्वं स्वसंवेदनाध्यक्षतः स्वात्मनि प्रतीयते, परत्र तु अपरेण-अनुमानतः । वनस्पतिपर्यन्तेषु पृथिव्यादिषु स्थावरेषु त्वनुमानतश्चैतन्यप्रतिपत्तिः। तथाहि-वनस्पतयश्चेतनाः, वृक्षायुर्वेदाभिहितप्रतिनियतकालायुष्कविशिष्टौषधप्रयोगसंपादितवृद्धिहानिक्षतभग्नसंरोहणप्रतिनियतवृद्धिषड्भावविकारोत्पादनाशावस्था - नियतविशिष्टशरीररसस्निग्धत्वरूक्षत्वविशिष्टदौहृदबालकुमार - वृद्धावस्थाप्रतिनियतविशिष्टरसवीर्यविपाकप्रतिनियतप्रदेशाहारग्रहणादिमत्त्वान्यथानुपपत्तेः,विशिष्टस्त्रीशरीरवदित्याद्यनुमानं भाष्यकृत्प्रभृतिभिर्विस्तरतः प्रतिपादितं तच्चैतन्यप्रसाधकमित्यनुमानतस्तेषां चैतन्यमात्रं सिद्ध्यति । साधारणप्रत्येकशरीरत्वादिकस्तु भेदः (जीवविचारगाथा)—

" गूढशिरसंधिपव्वं, समभंगमहीरगं च छिन्नरुहं ।
साहारणं सरीरं, तव्विवरीयं च पत्तेयं ॥१२॥ "

इत्याद्यागमप्रतिपाद्य एव । जीवलक्षणव्यतिरिक्तलक्षणास्त्वजीवा धर्माऽधर्माऽऽकाशपुद्गलभेदेन पञ्चविधाः । तत्र पुद्गलास्तिकायव्यतिरिक्तानां स्वतो मूर्त्तिमद्द्रव्यसंबन्धमन्तरेणात्मद्रव्यवदमूर्त्तत्वादनुमानप्रत्ययावसेयता । तथाहि— "गतिस्थित्यवगाहलक्षणं पुद्गलास्तिकायादिकार्यं" विशिष्टकारणप्रभवं, विशिष्टकार्यत्वात् , शाल्यङ्कुरादिकार्यवत् , यश्चासौ कारणविशेषः स धर्माऽधर्माऽऽकाशलक्षणो यथासंख्यमवसेयः । कालस्तु विशिष्टपरापरप्रत्ययादिलिङ्गानुमेयः । पुद्गलास्तिकायस्तु प्रत्यक्षानुमानलक्षणप्रमाणद्वयगम्यः यस्तेषां धर्मादीनां संख्येयप्रदेशात्मकत्वादिको विशेषस्तत्प्रदेशानां च सूक्ष्म-सूक्ष्मतरत्वादिको विभागः सः-"कालो य होइ सुहुमो" इत्याद्यागमप्रतिपाद्य एव नाऽऽगमनिरपेक्षयुक्त्यवसेयः । एवमाश्रवादिष्वपि तत्त्वेषु युक्त्या आगमगम्येषु युक्तिगम्यमंशं युक्तित एव, आगमगम्यं केवलाऽऽगमत एव प्रतिपादयन् तु स्वसमयप्रज्ञापकः, इतरस्तु तद्विराधक इति प्रज्ञापकलक्षणमवगन्तव्यम् । सम्म० ३ काण्ड ।

(२१) आगमस्य सर्वव्यवहारनियामकत्वम्—

आगमात्सर्व एवाऽयं, व्यवहारः स्थितो यतः ।
तत्रापि हार्दिको यस्तु, हन्ताऽज्ञानां स शेखरः ॥२३९॥

आगमाद्-गुरुवचनप्रत्ययरूपात्सर्व एव-निखिलोऽप्ययम्-योगमार्गोपयोगी व्यवहारो—हेयोपादेययोर्हानोपादानरूपः स्थितः-प्रतिष्ठितो यतः-यस्मादतीन्द्रियफलत्वात्तस्यातीन्द्रि-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यफलषु चानुष्ठानेषु शास्त्रस्यैव प्रतीतिहेतुत्वात् ततस्तत्रा-प्यागमाधीने व्यवहारे किं पुनरितररूपे इत्यपि शब्दार्थः । 'हाडिकः' स्वविकल्पप्रवृत्त्यागमनिरपेक्षत्वेन बलात्कारचारी । यस्तु-यः पुनर्योगी हन्तेति संनिहितसभ्यामन्त्रणमज्ञानाम्-अबुद्धिमतां स शेखरः-शिरोमणिर्वर्त्ततेऽनुपायप्रवृत्तत्वात्तस्य।

किंच—

तत्कारी स्यात्स नियमात्, तद्द्वेषी चेति यो जडः ।
आगमाऽर्थे तमुल्लङ्घ्य, तत एव प्रवर्त्तते ॥ २४० ॥

तत्कारी-तत्करणशीलः स्याद्-भवेत्स नियमादवश्यंभावेन तद्द्वेषी च-स्वयमेव क्रियमाणवस्तुद्वेषवांश्चेत्येतत्स्वरूपः संपद्यते यः-कश्चिज्जडो-मन्दः, आगमार्थे-आगमविहिते चैत्य-वन्दनादौ विधातुमिष्टे । तम्-आगममुल्लङ्घ्य-अतिक्रम्य ' तत एव'-आगमादेव प्रवर्त्तते-आगमनिरूपितविधिनिरपेक्षितया आगमार्थमनुतिष्ठन्नपि न तद्भक्तः । किंतु-तद्द्विष एव द्वेषमन्तरेण तदुल्लङ्घनाभावादिति भावः । यो० बिं० ।

(अतीन्द्रियार्थप्रत्यायकस्त्वागम एव)—

" आगमश्चोपपत्तिश्च, संपूर्णं दृष्टिलक्षणम् ।
अतीन्द्रियाणामर्थानां, सद्भावप्रतिपत्तये ॥ १ ॥
आगमो ह्याप्तवचन-माप्तं दोषक्षयाद्विदुः ।
वीतरागोऽनृतं वाक्यं, न ब्रूयाद्धेत्वसंभवात् " ॥ २ ॥

दश० ४ अ० । अनु० ।

तथा च—

शास्त्रस्यैवावकाशो च, कुतर्काऽऽग्रहतस्ततः ।
शीलवान् योगवानत्र, श्रद्धावाँस्तत्त्वविद्भवेत् ॥ १३ ॥

अत्र-अतीन्द्रियार्थसिद्धौ शास्त्रस्यैवावकाशस्तस्यातीन्द्रि-यार्थसाधनसमर्थत्वाच्छुष्कतर्कस्यातथात्वात्, तदुक्तम्-"गो-चरस्त्वागमस्यैव, ततस्तदुपलब्धितः । चन्द्रसूर्योपरागादि-संवाद्यागमदर्शनात् ॥१॥" द्वा० २३ द्वा०। (श्लोकार्थः 'कुतर्क' शब्दे तृतीयभागे ५८५ पृष्ठे करिष्यते)

अस्थानं रूपमन्धस्य, यथा सन्निश्चयं प्रति ।
तथैवातीन्द्रियं वस्तु, छद्मस्थस्यापि तत्त्वतः ॥ २५ ॥
हस्तस्पर्शसमं शास्त्रं, तत एव कथंचन ।
अत्र तन्निश्चयोऽपि स्या-त्तथाचन्द्रोपरागवत् ॥ २६ ॥

द्वा० १६ द्वा० । (अनयोरर्थः ' इस्सर ' शब्देऽस्मिन्नेवभागे विस्तरतः दर्शयिष्यते)

(आगमस्य परलोकादिसाधकत्वम्)—

आगमप्रमाणबलाद्धि सकलमपि परलोकादिपरस्वरूपं य-थावदनुगम्यते नान्यतस्तेन यदुच्यते प्रज्ञाकरगुप्तेन-" दी-र्घकालसुखादृष्टा-विच्छा तत्र कथं भवेत् " इति तदपास्त-मवसेयम् आगतो दीर्घकालसुखस्य दर्शनात् । न चागमस्य न प्रामाण्यं तदप्रामाण्ये सकलपरलोकानुष्ठानप्रवृत्त्यनुपपत्तेः उपायान्तराऽभावात् । नं० ३ गाथाटी० ।

शास्त्रमासन्नभव्यस्य, मानमामुष्मिके विधौ ।
सेव्यं यद्विचिकित्सायां, समाधिप्रतिकूलता ॥ ३० ॥

द्वा० १४ द्वा० । (अस्य श्लोकस्यार्थः ' जोग ' शब्दे चतु-र्थभागे १६३२ पृष्ठे दर्शयिष्यते)

(२२) धर्ममार्गे चाऽऽगमस्यैव प्रामाण्यम् , कुशीलानामा-गमाऽप्रमाण्यम्)—

जम्हा न धम्ममग्गे, मोत्तूणं आगमं इह पमाणं ।
विज्जइ छउमत्थाणं, तम्हा एत्थेव जइअव्वं ॥ १७०७ ॥

यस्माद्धर्ममार्गे-परलोकगामिनि मुक्त्वा आगममेकं परमार्थत इह प्रमाणं-प्रत्याख्यानादि विद्यते छद्मस्थानां प्रा-णिनां, तस्मादत्रैवागमे कुग्रहान्विहाय यतितव्यम् । जिज्ञा-साऽऽश्रवणश्रवणानुष्ठाने यत्नः कार्यो नागीतार्थजनाचरणप-रेण भवितव्यमिति गाथार्थः ।

प्रत्यपायप्रदर्शनद्वारेणैतदेवाह—

सुअबज्झायरणरया, पमाणयंता तहाविहं लोअं ।
भुअणगुरुणो वरागा, पमाणयं नावगच्छंति ॥१७०८॥

श्रुतबाह्याचरणरताः—आगमबाह्यानुष्ठानसक्ताः प्रमाण-यन्तः—सन्तः केनचिच्चोदनायां क्रियमाणायां तथाविधं लो-कं-श्रुतबाह्यमेधाऽगीतादिकं, किमित्याह-भुवनगुरोः-भगव-तस्तीर्थकरस्य वराकास्तेऽप्रमाणतामर्थापत्तिसिद्धां नावग-च्छन्ति, तथाहि-यदि ते सूत्रबाह्यस्य कर्त्तारः प्रमाणं भगवां-स्तर्हि तद्विरुद्धसूत्रार्थवक्ता अप्रमाणमिति महामिथ्यात्वं बलादापद्यत इति गाथार्थः ।

अत एव प्रक्रमाद्धर्मानधिकारिणमाह—

सुत्तेण चोइओ जो, अन्नं उद्दिसिअ तरण पडिवज्जे ।
सो तत्तवायबज्झो, न होइ धम्मंमि अहिगारी ॥१७०९॥

सूत्रेण चोदितः-इदमित्थमुक्तम् एवं, यः सत्त्वः अन्यं-प्रा-णिनं मुद्दिश्यात्मतुल्यमुदाहरणतया तत्र प्रतिपद्यते । सौत्र-मुक्तं, स-एवंभूतः-तत्त्ववादबाह्यः, परलोकमङ्गीकृत्य परमार्थ-वादबाह्यो , न भवति , धर्मे सकलपुरुषार्थहेतावधिकारी सम्यग्विवेकाभावादिति गाथार्थः ।

अत्रैव प्रक्रमे किमित्याह—

तीअबहुस्सुयणायं , तक्किरिआदरिसणा कह पमाणं ।
वोच्छिज्जंती अइमा , सुद्धा इह दीसई चेव ॥ १७१० ॥

तीतबहुश्रुतज्ञातम् , अतीता अप्याचार्या बहुश्रुता एव, तैः कस्मादिदं वन्दनं कायोत्सर्गादि नानुष्ठितमित्येवंभूतं-किमित्याह—तत्क्रियादर्शनाद् तीतबहुश्रुतसंबन्धिक्रियाद-र्शनात्कारणात्कथं प्रमाणं नैव प्रमाणं , न ज्ञायते ते कथं वन्दनादिक्रियां कृतवन्त इति । नन्विदानींतनसाधुमात्रगत-क्रियानुसारतः तत्तथातावगम इत्याह- व्यवच्छिद्यमाना चेयं क्रिया शुद्धा आगमानुसारिणी इह लोके सांप्रतमपि दृश्यत एव , कालदोषादिति गाथार्थः ।

उपसंहरन्नाह—

आगमपरतंतेहिं , तम्हा णिच्चं पि सिद्धिकंखीहिं ।
सव्वमणुट्ठाणं खलु, कायव्वं अप्पमत्तेहिं ॥ १७११ ॥

यस्मादेवम्-आगमपरतन्त्रैः-सिद्धान्तायत्तैः तस्मान्नित्यम-पि-सर्वकालमपि सिद्धिकाङ्क्षिभि-र्भव्यसत्त्वैः सर्वमनुष्ठानं खलु वन्दनादि कर्त्तव्यमप्रमत्तैः-प्रमादरहितैरिति गाथार्थः । पं०व० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मोक्षमार्गे चाऽऽगमस्यैव प्रामाण्यम्—

जम्हा न मोक्खमग्गे, मोत्तूणं आगमं इह प्रमाणं ।
विज्जइ छउमत्थाणं, तम्हा तत्थेव जइयव्वं ॥ ३७ ॥

यस्मान्न नैव मोक्षमार्गे-मोक्षे साध्ये; मोक्षागमशास्त्रं परित्यज्येत्यर्थः 'इह' ति-धर्मविचारे प्रमाणम्-आलम्बनमित्यर्थः, विद्यते छद्मस्थानाम्, अतिशयवतां हि कथं चेत्स्वेवातिशयवशात्प्रवर्त्तमानानामपि निर्जरालाभ एवावसीयते, तद्रहितैः पुनः सर्वथा शास्त्रमेव प्रमाणीकर्त्तव्यम् । तस्मात्तत्रैव यतितव्यम्-उद्यमः कार्य इति गाथार्थः । दर्श० ५ तत्त्व ।

"धर्माऽधर्मव्यवस्थायां, शास्त्रमेव नियामकम् ।
तदुक्तासेवनाद्धर्म-स्त्वधर्मस्तद्विपर्ययात् ॥ १ ॥" षो०टी० १ विव० ।

(आगमावलम्बनस्यैवैहिकामुष्मिकफलसिद्धिहेतुत्वम्) धर्मार्थिना-धर्ममार्गे प्रवर्त्तमानेन आगमावलम्बनेनैव प्रवर्त्तितव्यं तस्यैवैकस्यैहिकामुष्मिकफलसिद्धिहेतुतयोपादेयत्वात् अन्यस्य पुरुषमात्रस्यावलम्बने तदुच्छेदः स्यादित्येतद्दर्शयन्निदमाह—

किं वा देइ वराओ, मणुओ सुट्ठु वि धणी वि भत्तो वि ।
आणाइक्कमं पुण, तयं पि अणंतदुहहेऊ ॥ ८२ ॥

किं वा न किञ्चिद्ददाति-प्रयच्छति वराकः-अत्यन्तशक्तिरहितो मनुजो-नरः सुष्ठ्वपि-अतिशयेन धन्यपि-धान्यादिसंपदुपेतः भक्तोऽपि—भक्तपानवस्त्रपात्रादिदानसमर्थ एव स्यात्; पुनः सुगतः, आज्ञातिक्रमणं-भगवदाज्ञोल्लङ्घनं पुनः परापेक्षयापि तनुकमपि-स्वल्पमपि आस्तां तावद् बहुत्वपिशब्दार्थः, अनन्तदुःखहेतुः; अनन्तसंसारनिबन्धनमित्यर्थः, अपेक्षया सर्वविदाज्ञोल्लङ्घनं क्रियते स हि आहारादिदानमात्र एव समर्थः, न पुनः कुगतिरक्षणक्षमः, अतः किं तदपेक्षया भगवदाज्ञोल्लङ्घनेनानन्तसंसारनिवर्त्तनेनेति गाथार्थः । दर्श० ४ तत्त्व ।

(युक्त्युपपन्नस्यैव सदागमत्वम्) नाऽऽगममात्रमेवाऽर्थप्रतिपत्तिहेतुर्भवतीति दर्शयन्नाह—

जुत्तीए अविरुद्धो, सदागमो साऽवि तयविरुद्ध त्ति ।
इय अण्णोण्णाऽणुगयं, उभयं पडिवत्तिहेउ त्ति ॥४५॥

व्याख्या-युक्त्या-उपपत्त्याऽविरुद्धः-अबाधितः सदागमः-सोऽत्सिद्धान्तो भवति । साऽपि-युक्तिरपि, तदविरुद्धा-सिद्धान्ताऽविरुद्धा स्यात्तदन्या त्वयुक्तिरेव, इतिः वाक्यार्थसमाप्तौ, इति-एवम् अन्योऽन्यानुगतं-परस्परानुयायि, उभयम्-युक्तिसदागमरूपं द्वयं प्रतिपत्तिहेतुः-अर्थप्रतीतिकारणम्, इतिशब्दः समाप्तौ, इति गाथार्थः । पञ्चा० १८ विव० ।

वचनाऽऽराधनया खलु, धर्मस्तद्बाधया त्वधर्म इति ।
इदमत्र धर्मगुह्यं, सर्वस्वं चैतदेवाऽस्य ॥ १२ ॥

'वचने' त्यादि वचनाराधनया-आगमाराधनयैव खलुशब्द एवकारार्थः । धर्मः-श्रुतचारित्ररूपः संपद्यते । षो०२ विव० ।
('धम्मदेसणा' शब्दे चतुर्थभागेऽत्र २७२२ पृष्ठे विशेषव्याख्यानम्)

(२३) जिनाऽऽगमस्यैव सत्यत्वम्—

एकाऽप्यनाद्याऽखिलतत्त्वरूपा,
जिनेशगीर्विस्तरमाप तर्कैः ।
तत्राऽप्यसत्यं त्यज सत्यमङ्गी-
कुरु स्वयं स्वीयहिताऽभिलाषिन् ! ॥ १ ॥

'एकेति' एकापि जिनेशगीः-अर्हद्वाणी अर्हन्मुखाभिर्गच्छमाना अद्वितीया यथाभाषितं तथाश्रूयमाणा तथा अनाद्या-आदिरहिता एकेन तीर्थकृता यदुपदिष्टं तदनेकेषां पूर्वपूर्वतरतीर्थकृतामपि तथैव निरूप्यमाणत्वात् आदररहिता । पुनः कीदृशी-अखिलतत्त्वरूपा-समस्ततत्त्वमपि वितर्कैः-विचारैर्विस्तरं-बहुभेदतां प्राप्य बहुप्रकारैर्बहुधा विस्तृता, यतो दिग्वाससां मतमपि जिनमतं धृत्वा एतादृशनयानाम् अनेकाकारतां प्रवर्त्तयन्ति, अतस्तन्मतेऽपि यद्विमृश्यमानं सत्यं जायते तदेवाऽङ्गीकुरु, यच्चाऽसत्यं तत्सर्वमपि त्यज, स्वयम्-आत्मना हे स्वीयहिताभिलाषिन् !-निजहितकाङ्क्षिन् ! शब्दान्तरत्वेन तन्मतमपि न द्वेषविषयीकर्त्तव्यं सर्वमपि अर्थैकत्वविवक्षया असमञ्जसमेवेति । द्वा०१ अध्या० ।

सेवं भंते सेवं भंते ! "तमेव सच्चं णिस्संकं, जं जिणेहिं पवेइयं" । हंता जंबू !-" तमेव सच्चं निस्संकं, जं जिणेहिं पवेइयं" । कहं आगासमंडलाओ निवडिआ इव भासइ । अम्मापिऊणं संजोए संताणे भवति । किं अम्हा वि भवति पवेइयं हंता जंबू ! " तमेव सच्चं निस्संकं जं जिणेहिं पवेइयं" । अंग० ।

से णूणं भंते !-" तमेव सच्चं नीसंकं, जं जिणेहिं पवेइयं ।" हंता गोयमा !-तमेव सच्चं नीसंकं, एवं ०जाव पुरिसक्कारपरक्कमेइ वा । (सूत्र-३७×) । भ० १ श० ३ उ० ।

(जिनागमस्य सिद्धत्वम्)—
" जिणवयण सिद्धं" ४६ इत्यादिगाथया ' धम्म ' शब्दे चतुर्थभागे २६८४ पृष्ठे प्रतिपादयिष्यते ।

(परप्रवादानां मत्सरित्वम् जिनागमस्यामत्सरित्वम्) अधुना परदर्शनानां परस्परविरुद्धार्थसमर्थकतया मत्सरित्वं प्रकाशयन् सर्वज्ञोपज्ञसिद्धान्तस्यान्योन्याम्यानुगतसर्वनयमयतया मात्सर्याभावमाविर्भावयति—

अन्योऽन्यपक्षप्रतिपक्षभावात्,
यथा परे मत्सरिणः प्रवादाः ।
नयाऽनशेषानविशेषमिच्छन्,
न पक्षपाती समयस्तथा ते ॥ ३० ॥

स्या० ३० श्लोक० । (श्लोकार्थः 'णय' शब्दे चतुर्थभागे १८६६ पृष्ठे दर्शयिष्यते)

(२४) (जिनागमप्रशंसा) जिनागमो हि कुशास्त्रजनितसंस्कारविषसमुच्छेदनमन्त्रायमाणो धर्माऽधर्मकृत्याऽकृत्यभक्ष्याऽभक्ष्यपेयाऽपेयगम्याऽगम्यसाराऽसारादिविवेचनाहेतुः संतमसे दीप इव, समुद्रे द्वीपमिव, मरौ कल्पतरुरिव, संसारे दुरापः, जिनादयोऽप्येतत्प्रामाण्यादेव निर्णीयन्ते यदूचुः स्तुतिषु श्रीहेमसूरयः—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

" यदीयसम्यक्त्वबलात्प्रतीमो,
भवादृशानां परमाप्तभावम् ।
कुवासनापाशविनाशनाय,
नमोऽस्तु तस्मै जिनशासनाय ॥१॥"

जिनागमबहुमानिनां च देवगुरुधर्मादयोऽपि बहुमता भवन्ति । किंच-केवलज्ञानादपि जिनागम एव प्रामाण्येनातिरिच्यते, यदाहुः-" ओहेसु उवउत्तो, सुअनाणी जइ हु गिण्हइ असुद्धं । तं केवली वि भुंजइ, अपमाणसुअं भवे इहरा ॥ १ ॥ " एकमपि च जिनागमवचनं भविनां भवनाशहेतुः, यदाहुः-" एकमपि च जिनवचना-द्यस्मान्निर्वाहकं पदं भवति । श्रूयन्ते चानन्ताः, सामायिकमात्रपदसिद्धाः ॥ १ ॥ " यद्यपि च मिथ्यादृष्टिभ्य आतुरेभ्य इव पथ्याऽन्नं न रोचते जिनवचनं तथापि नान्यत्स्वर्गापवर्गमार्गप्रकाशनसमर्थमिति सम्यग्दृष्टिभिरत्यादरेण श्रद्धातव्यं, यतः कल्याणभागिन एव जिनवचनं भावतो भावयन्ति, इतरेषां तु कर्णशूलकारित्वेनामृतमपि विषायते, यदि चेदं जिनवचनं नाभविष्यत्तदा धर्माऽधर्मव्यवस्थाशून्ये महान्धकारे भुवनमपतिष्यत्, यथा च-" हरीतकीं भक्षयद्विरेककामः " इति वचनाद्धरीतकीभक्षणप्रभवविरेकलक्षणेन प्रत्ययेन सकलस्याप्यायुर्वेदस्य प्रामाण्यमवसीयते, तथाऽष्टाङ्गनिमित्तकेवलिकाचन्द्रार्कग्रहचारधातुवादरसरसायनादिभिरप्यागमोपदिष्टैर्दृष्टार्थवाक्यानां प्रामाण्यनिश्चयेनाऽदृष्टार्थानामपि वाक्यानां प्रामाण्यं मन्दधीभिर्निश्चेतव्यम् । ध० २ अधि० । (जिनागमलेखनफलम् 'पोत्थग' शब्दे पञ्चमभागे दर्शयिष्यते) (जिनागमलिखितपुस्तकानां दानफलम् 'णाण' शब्दे चतुर्थभागे वर्णयिष्यते) " आगमं आयरंतेणं, अत्तणो हियकंखिणो । तित्थनाहो सयंबुद्धो सव्वे ते बहुमन्निया ॥ १ ॥ " अष्ट० २४ अष्ट० । " आगम चक्खू साहू " अष्ट० २४ अष्ट० ।

आगम्यते परिच्छिद्यतेऽर्थोऽनेनेत्यागमः । केवलमनःपर्यायावधिपूर्वचतुर्दशकदशकनवकरूपे व्यवहारभेदे, स्था० ५ ठा० २ उ० । व्यवहारता चास्य व्यवहारहेतुत्वाद् । पञ्चा० १६ विव० । तन्निबन्धनत्वात् ज्ञानविशेषोऽपि व्यवहारः । स्था० ५ ठा० २ उ० । (विस्तरत आगमव्यवहारस्य वक्तव्यता 'आगमववहार' शब्देऽस्मिन्नेव भागे आगमिष्यति) । प्राप्तौ, दश० १ अ० । (लाभे,) स्था० २ ठा० ४ उ० ।

(२५) आगमस्याऽर्थान्तराणि—

आतो त्ति आगमो त्ति य, लाभो त्ति य होंति एगट्ठा ॥६॥

आय इति, आगम इति च, लाभ इति च, भवन्त्येकार्थिकाः । उत्त० पाइ० १ अ० । " आगमं " लाभम् । लाभ. बृ० ३ उ० । पुरुषद्वासप्ततिकलान्तर्गते कलाभेदे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण । आगच्छति-प्रकृतिप्रत्ययावनुपहत्य उत्पद्यते कर्त्तरि संज्ञायां घः । व्याकरणोक्ते प्रकृतिप्रत्ययानुपघातके अट् इट् इत्यादौ शब्दे, आगमादेशयोर्मध्ये बलीयानागमो विधिः " व्याकरणान्तरपरिभाषा "यदागमास्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते" "आगमशास्त्रमनित्यम्" इति च परिभा० । "आगमाः आद्युदात्ताः" "आगमा अविद्यमानवद्भवन्तीति", च । का वा । वाच० ।

(आगमनिष्पन्नं नामाधिकृत्याह)—

से किं तं आगमेणं आगमेणं पद्मानि पयांसि कुण्डानि-सेत्तं आगमेणं । (सूत्र-१२५×)

आगच्छतीत्यागमः न्यागमादिस्तेन निष्पन्नं नाम यथा 'पद्मानि' त्यादि, "धुटस्वराद् घुटि नुः" (का० रू० २५) इत्यनेनात्र न्यागमस्य विधानाद् उपलक्षणमात्रं चेदं, संस्कार उपस्कार इत्यादेरपि सुडागमनिष्पन्नत्वादिति । अनु० । (' सत्थ ' शब्दे सप्तमभागे विस्तारो द्रष्टव्यः)

आगमकुसल-आगमकुशल-त्रि० । आगमनिपुणे, आतु० । " आगमकुसला सदारस्या ॥ ४६४ ॥ " आगमः-श्रुतिस्मृत्यादिरूपस्तस्मिन् कुशलावागमकुशलाविति । उत्त० २५ अ० ।

आगमण-आगमन-न० । आ+गम् भावे ल्युट् । क्रियेशावधिकविभाजनक्रियायामागतौ, । वाच० । गमनं स्वस्थानादन्यत्र यानम् । आगमनञ्च तद्व्यत्ययः । ध० ३ अधि० । अन्यतः स्थानात् प्रज्ञापकसम्मुखं यदागम्यते तदागमनम् । बृ० १ उ० ३ प्रक० । व्य० । उत्पत्तौ । वाच० । प्राप्तौ, वाच० ।

आगमणगहियविणिच्छय-आगमनगृहीतविनिश्चय-त्रि० । आगमने गृहीतः-कृतो विनिश्चयो-निर्णयो येन स तथा । आगमनाय कृतनिश्चये, भ० ६ श० ३३ उ० ।

आगमणगिह-आगमनगृह-न० । पथिकादीनामागमनेनोपेतं, तदर्थं वा गृहमागमनगृहम् । बृ० २ उ० । सभाप्रपादौ, सूत्र० । " आगमणगिहंसि वा " (सूत्र-१६१*) स्था० ३ ठा० ४ उ० । आगमनगृहमागन्तुकागारं यत्र कार्पटिकादय आगत्य वसन्तीति । पञ्चा० १८ विव० ।

(आगमनगृहं व्याचष्टे)—

आगंतुऽगारत्थजणो जहिं तु,
संठाइ जं वाऽऽगमणंमि तेसिं ।
तं आगमोकं तु विदू वयंति,
सभा-पवा-देउलमाइयं वा ॥ १६३ ॥

आगन्तुकः-पथिकः 'अगारस्थजनो' यत्र-आगत्य संतिष्ठते यद्वा तेषां पथिकादीनाम् आगमने वर्त्तते तदागमौकः-आगमनगृहं विद्वांसः-श्रुतधरा वदन्ति, तच्च सभा वा, प्रपा वा, देवकुलादिकं वा मन्तव्यम् । बृ० २ उ० । स्था० । (अत्र च निवासे दोषा ' वसहि ' शब्दे षष्ठभागे वर्णयिष्यते ।)

आगमणपह-आगमनपथ-पुं० । आगमनमार्गे, नि० चू० । आगमणपहंसि जणं पहेण पक्खियादिसु आगच्छंति तंमि पहे । नि० चू० ४ उ० । (निर्ग्रन्थीनामागमनपथे दण्डादिस्थापने दोषा 'उवहि' शब्देऽस्मिन्नेव भागे दर्शयिष्यते)

आगमणागमणपविभत्ति-आगमनागमनप्रविभक्ति-न० । नाट्यविधिविशेषे, रा० । " आगमणागमणपविभत्तिणामं दिव्वं णट्टविहिं उवदंसेति " (सूत्र-×) रा० । चन्द्रागमनप्रविभक्तियुक्तमागमनप्रविभक्तिनाम सप्तमं नाट्यविधिमुपदर्शयन्ति । रा० ।

आगमणीइ-आगमनीति-स्त्री० । आगमन्याये, पञ्चा० । " एसा पवयणणीई " (सूत्र-१४+) एषा-अनन्तरोक्ता प्रव-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चननीतिः-आगमन्यायो वर्त्तते। पञ्चा० ६ विव०। सिद्धान्तभणिताऽऽचारे, "मग्गो आगमणीई" (८०+)। आगमनीतिः-सिद्धान्तभणिताचारः। ध० र० ३ अधि० १ लक्ष०। ध०। (तस्य मार्गत्वम् 'मग्ग' शब्दे ६ षष्ठे भागे प्रतिपादयिष्यते)

आगमतंत-आगमतन्त्र-त्रि०। आगमपरतन्त्रे, आगमानुसारिणि. षो०।

आगमतन्त्रः सततं, तद्वद्भक्त्यादिलिङ्गसंसिद्धः।
चेष्टायां तत्स्मृतिमान्, शस्तः खल्वाशयविशिष्टः॥१३॥

आगमतन्त्रः-आगमपरतन्त्रः;आगमानुसारी। षो०७विव०। (अत्र विशेषव्याख्या 'चेइय' शब्दे तृतीयभागे १२६६ पृष्ठे दर्शयिष्यते)

आगमतत्त-आगमतत्त्व-न०। आगमपरमार्थे, षो०।

आगमतत्त्वं तु बुधः, परीक्षते सर्वयत्नेन॥ २॥

आगमतत्त्वं तु-आगमपरमार्थमिदं पर्यवरूपं बुधो-विशिष्टविवेकसंपन्नः परीक्षते-समीचीनमवलोकयति सर्वयत्नेन-सर्वादरेण धर्म्माऽधर्म्मव्यवस्थाया आगमनिबन्धनत्वात् यत उक्तम् "धर्म्माऽधर्म्मव्यवस्थायां, शास्त्रमेव नियामकम्। तदुक्तासेवनाद्धर्म-स्त्वधर्मस्तद्विपर्ययात्॥१॥" षो० १ विव०। (अत्रार्थे 'धम्म' शब्दे चतुर्थभागे २६६४ पृष्ठे विशेषो दर्शयिष्यते)

आगमदिट्ठि-आगमदृष्टि-स्त्री०। आगमः-आप्तवचनं स एव दृष्टिर्हिताऽहितपदार्थप्रकाशकत्वादागमदृष्टिः। आप्तवचनात्मिकायां दृष्टौ, दर्श० ३ तत्त्व।

आगमदिट्ठिदिट्ठसुन्नायमग्ग-आगमदृष्टिदृष्टसुज्ञातमार्ग-पुं०। आगमः-आप्तवचनं स एव दृष्टिर्हिताऽहितप्रकाशकत्वात् आगमदृष्टिस्तया दृष्टम्-अवलोकितमागमदृष्टिदृष्टं तेन शोभनप्रकारेण ज्ञातो मार्गो ज्ञानादिको यैस्ते आगमदृष्टिदृष्टसुज्ञातमार्गाः। आगमदृष्ट्या सम्यगवलोकितदर्शनादिके, दर्श० ३ तत्त्व।

आगमपरतंत-आगमपरतन्त्र-त्रि०। सिद्धान्तपरतन्त्रे, पं०व०।

एत्थ वि मूलं णेअं, एगंतेणेव भव्वसत्तेहिं।
सिद्धाइभावओ खलु, आगमपरतंतया णवरं॥१७०६॥

अत्रापि-आराधनायतने मूलं-कारणं ज्ञेयमेकान्तेनैव भव्यसत्त्वैः-भव्यप्राणिभिः, किमित्यत्राह-श्रद्धादिभावतः खलु-श्रद्धादिभावादेव कारणादागमपरतन्त्रता-सिद्धान्तपारतन्त्र्यं नवरं, नान्यन्मूलमिति गाथार्थः। पं०व० ४ द्वार।

आगमपह-आगमपथ-पुं०। ज्ञानमार्गे, स्था० २ ठा० ४ उ०।

आगमबलिय-आगमबलिक-पुं०। आगमज्ञानविशेषवति केवल्यादिके, भ०। "आगमबलिया समणा णिग्गंथा" (सूत्र-३४० +) आगमबलिका उक्तज्ञानविशेषबलवन्तः श्रमणा-निर्ग्रन्थाः केवलिप्रभृतयः। भ० ८ श० ८ उ०।

आगममलारहियय-आगममलारहृदय-पुं०। आगमार्थप्रतिपत्त्यसमर्थहृदये, (आगमार्थकुण्ठितबुद्धौ) सम्म०।

समयपरमत्थवित्थर-विहाडजणपज्जुवासणसयण्हो।
आगममलारहियओ, जह होति तमत्थमन्नेसु॥ २॥
सम्म० १ काण्ड।

अत्र च-'आगममलारहृदय इत्यनुवादेन समयपरमार्थविस्तरविहाटजनपर्युपासनसकर्णो यथा भवति तमर्थमुन्नेष्ये' इति-विधिपरा पदघटना कर्त्तव्या। पदार्थस्तु मलमिवारा-प्राजनकविभागो यस्यासौ मलारो-गौर्गलिः आगमे तद्वत्कुण्ठं हृदयं यस्य तदर्थप्रतिपत्त्यसामर्थ्यादसौ तथा मन्दधीः, सम्यग् ईयन्ते-परिच्छिद्यन्तेऽनेनार्था इति समयः-आगमस्तस्य परमः-अकलिततत्त्वासावर्थः समयपरमार्थस्तस्य विस्तरो-रचनाविशेषः शब्दार्थयोश्च भेदेऽपि पारमार्थिकसंबन्धप्रतिपादनायाऽभेदविवक्षया 'प्रथने वावशब्दे' (पाणि० । ३। ३। ३३।) इति घञ् न कृतः तस्य विहाट इति-दीप्यमानान् श्रोतृबुद्धौ प्रकाशमानानर्थान् दीपयति-प्रकाशयति विहाटश्चासौ जनश्चचतुर्दशपूर्वविदादिलोकः। तस्य पर्युपासनं-'कारणे कार्योपचारात्' सेवाजनिततद्व्याख्यानम्। तत्र सह कर्णाभ्यां वर्त्तत इति सकर्णः तद्व्याख्यातार्थावधारणसमर्थः। यथा इति-येन प्रकारेण भवति तं तथाभूतमर्थम् उन्नेष्ये-लेशतः प्रतिपादयिष्ये। यथाभूतेनार्थेन प्रतिपादितेनातिकुण्ठधीरपि श्रोतृजनो विशिष्टागमव्याख्यातृप्रतिपादितार्थावधारणपटुः संपद्यते। तमर्थमनेन प्रकरणेन प्रतिपादयिष्यामीति यावत्। सम्म० १ काण्ड।

आगममाण-आगमयत्-त्रि०। आपादयति, "लाघवियं आगममाणे" (सूत्र-२१३+)। लाघविकमात्मानमागमयन्-आपादयन्। आचा० १ श्रु० ८ अ० ४ उ०। आगमयति, (अवबुध्यमाने) "लाघवं आगममाणा" (१८५४)। आगमयन्-अवगमयन् अवबुध्यमानः। आचा० १ श्रु० ६ अ० ३ उ०।

आगमलोयणीइ-आगमलोकनीति-स्त्री०। जिनप्रवचनन्यायलौकिकन्याययोः, षो०।

जिणबिंबपइट्ठाए, विहिमागमलोयणीतीए॥ १॥

जिनबिम्बप्रतिष्ठायाः प्रतीतायाः विधिं-विधानमागमलोकनीत्या-जिनप्रवचनन्यायेन; लौकिकन्यायेन चेत्यर्थः। लोकग्रहणेन चेदं दर्शयति-लोकनीतिरपि क्वचिज्जिनमतविरुद्धाश्रयणीया अत एव प्रासादादिलक्षणं तदुक्तमप्याश्रीयत इति गाथार्थः। पञ्चा० ८ विव०।

आगमवयण-आगमवचन-न०। आर्षवचने, षो०।

सर्वज्ञवचनमागम-वचनं यत् परिणते ततस्तस्मिन्।
नासुलभमिदं सर्वं, ह्युभयमलपरिक्षयात् पुंसाम्॥ ११॥

सर्वज्ञवचनम्-आगमवचनं यद्-यस्मात् परिणते ततस्तस्मिन्-आगमवचने नासुलभमिदं-न दुर्लभमिदं किंतु सुलभमेव भवति सर्वं हि-पूर्वोक्तमुभयमलपरिक्षयात् क्रियामलभावमलपरिक्षयात् पुंसां पुरुषाणाम्। षो० ५ विव०।

आगमवयणपरिणइ-आगमवचनपरिणति-स्त्री०। आगमवचनस्य विषयविभागेन चेतसि व्यवस्थितौ, षो०

किमित्यागमवचनपरिणामः प्रशस्यत इत्याह—

आगमवचनपरिणति-र्भवरोगसदौषधं यदनपायम्।

तदिह परः सद्बोधः, सदनुष्ठानस्य हेतुरिति ॥ ६ ॥

आगमवचनपरिणतिर्यथावत् तत्प्रकाशरूपा भवरोगसदौषधं-भवरोगस्य-संसारामयस्य सदौषधं तदुच्छेदकारित्वेन यद्-यस्मात्, अनपायम्-अपायरहितं-निर्दोषं वर्त्तते तदिह परः सद्बोधस्तत्त्वं भवरोगसदौषधम्-आगमवचनपरिणत्याख्यं, परः-प्रधानः सद्बोधः-सम्यग्ज्ञानं वर्त्तते सदनुष्ठानस्य-सुन्दरानुष्ठानस्य हेतुः-कारणमिति कृत्वा । षो० ५ विव० ।

आगमववहार-आगमव्यवहार-पुं० । आ-मर्यादाऽभिविधिभ्यां गम्यन्ते-परिच्छिद्यन्तेऽर्था येनासावागमः केवलमनःपर्य्यायावधिचतुर्दशदशनवपूर्वलक्षणे व्यवहारभेदे, पञ्चा० । व्यवहारता चास्य व्यवहारहेतुत्वात् । पञ्चा० १६ विव० । स्था० । ध० । (एतेषां च यथा आगमत्वं तथा 'आगम' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गतम्)

आगमव्यवहारभेदाः—

आगमतो ववहारो, सुणह जहा धीरपुरिसपन्नत्तो ।
पच्चक्खो य परोक्खो, सोऽवि य दुविहो मुणेयव्वो ॥२०१॥

तत्र-आगमतो व्यवहारो यथा धीरपुरुषैः प्रज्ञप्तस्तथा शृणुत, स-आगमतो व्यवहारो द्विविधो ज्ञातव्यः, तद्यथा-प्रत्यक्षः, परोक्षश्च ।

पच्चक्खो वि य दुविहो, इंदियजो चेव नो य इंदियजो ।
इंदियपच्चक्खो वि य, पंचसु विसएसु नेयव्वो ॥ २०२ ॥

प्रत्यक्षोऽपि द्विविधः, तद्यथा-इन्द्रियजो, नोइन्द्रियजश्च । तत्र इन्द्रियजः प्रत्यक्षः पञ्चसु रूपादिषु विषयेषु ज्ञातव्यः ।

नोइंदियपच्चक्खो, ववहारो सो समासतो तिविहो ।
ओहिमणपज्जवेया, केवलनाणे य पच्चक्खे ॥ २०३ ॥

यस्तु-नोइन्द्रियजः प्रत्यक्षो व्यवहारः स समासतस्त्रिविधः, तद्यथा-अवधिप्रत्यक्षं, मनःपर्यवप्रत्यक्षं, केवलज्ञानप्रत्यक्षम् ।

तत्राऽवधिप्रत्यक्षमाह—

ओही गुणपच्चइए, जे वट्टंती सुयंगवी धीरा ।
ओहिविसयनाणत्थे, जाणसु ववहारसोहिकरे ॥ २०४ ॥

अवधिर्द्विधा-भवप्रत्ययजो, गुणप्रत्ययजश्च । तत्र संयतानां गुणप्रत्ययज एव; न भवप्रत्ययजः, तत आह-अवधौ गुणप्रत्यये ये वर्त्तन्ते श्रुताङ्गविदो धीरास्तान् अवधिविषयज्ञानस्थान् जानीत व्यवहारशोधिकरान्-शुद्धव्यवहारकारिणः ।

उज्जुमती विउलमती, जे वट्टंती सुयंगवी धीरा ।
मणपज्जवनाणत्थे, जाणसु ववहारसोहिकरे ॥ २०५ ॥

ये ऋजुमतौ विपुलमतौ वा मनःपर्यवज्ञाने श्रुताङ्गविदो धीरा वर्त्तन्ते तान् मनःपर्यवज्ञानस्थान् जानीत व्यवहारशोधिकरान्-शुद्धव्यवहारकारिणः ।

आदिगरा धम्माणं, चरित्तवरनाणदंसणसमग्गा ।
सव्वत्तगनाणेणं, ववहारं ववहरंति जिणा ॥ २०६ ॥

ये धर्मयोः-श्रुतधर्मस्य चारित्रधर्मस्य चादिकराः-तत्प्रथमतया प्रवर्त्तनशीलाश्चारित्रवरज्ञानदर्शनसमग्रास्ते जिनाः सर्वत्रगज्ञानेन व्यवहारं व्यवहरन्ति उक्तः प्रत्यक्षः ।

संप्रति परोक्षमाह—

पच्चक्खागमसरिसो, होति परोक्खोऽवि आगमो जस्स ।
चंदमुही विव सो वि हु, आगमो ववहारवं होइ॥२०७॥

यद्यपि पूर्वादिकं श्रुतं तथापि यस्याऽऽगमश्चतुर्दशपूर्वादिकः परोक्षोऽपि प्रत्यक्षाऽऽगमसदृशः । प्रत्यक्षावध्यादितुल्यरूपो भवति सोऽप्यागमव्यवहारवान् वक्तव्यो भवति । यथा चन्द्रसदृशमुखी कन्या चन्द्रमुखीति, एतदुक्तं भवति-यद्यपि पूर्वाणि श्रुतं नाऽऽगमतुल्यानीति (तदपि) तैर्व्यवहरन् आगमव्यवहारवानुच्यते इति । व्य० १० उ० । (आगमस्य व्याख्यानम् 'आगम' शब्देऽस्मिन्नेव भागे प्राग् गतम्)

आगमभेदाः—

पारोक्खं ववहारं, आगमतो सुयधरा ववहरंति ।
चोद्दस दस पुव्वधरा, नवपुव्विय गंधहत्थी य ॥२०८॥

ये श्रुतधराश्चतुर्दशपूर्वधरा दशपूर्वधरा नवपूर्विणो वा गन्धहस्तिनो-गन्धहस्तिसमानाः ते आगमतः परोक्षं व्यवहारं व्यवहरन्ति ।

अत्राक्षेपपरिहारावभिधित्सुराह—

किह आगमववहारी, जम्हा जीवाऽऽदयो पयत्था उ ।
उवलद्धा तेहिं तु, सव्वेहिं नयविगप्पेहिं ॥ २१० ॥

कथं-केन प्रकारेण साक्षात् श्रुतेन व्यवहरन्तः आगमव्यवहारिणः प्रोच्यन्ते, सूरिराह-यस्मात् जीवादयः पदार्थास्तैः चतुर्दशपूर्वधरादिभिः सर्वैः-नयविकल्पैः-नैगमादिनयभेदैरुपलब्धाः ।

एतदेव सविशेषमाह--

जह केवली वि जाणइ, दव्वं खेत्तं च कालभावं वा ।
तह चउलक्खणमेवं, सुयनाणी चेव जाणाति ॥२११॥

यथा केवली केवलज्ञानेन सर्वं द्रव्यं सर्वं क्षेत्रं सर्वं कालं सर्वं भावं च सर्वात्मना स्वपरपर्यायभेदभिन्नं जानाति । एवं श्रुतज्ञान्यपि चतुर्लक्षणं द्रव्यक्षेत्रकालभावरूपं श्रुतबलेन जानाति ।

तत एतेऽप्यागमव्यवहारिण उच्यन्ते, एतदेवं प्रस्तुतं प्रायश्चित्तशुद्ध्यधिकारमधिकृत्य योजयति--

पणगं मासविवड्डी, मासगहाणी य पणगहाणी य ।
एगाऽहे पंचाऽहं, पंचाहे चेव एगाऽहं ॥ २१२ ॥
रागद्दोसविवड्डिं, हाणिं वा नाउं देंति पच्चक्खी ।
चोद्दसपुव्वादी वि हु, तह नाउं देंति हीणऽहियं॥२१३॥

यथा प्रत्यक्षिणः-प्रत्यक्षागमज्ञानिनस्तुल्येऽप्यपराधे पञ्चकपञ्चकयोग्ये एकस्य पञ्चकं ददति । अपरस्य-रागद्वेषविवृद्धिमुपलभ्य मासेन मासाभ्यां मासैर्वा वृद्धिं प्रयच्छन्ति । उपलक्षणमेतत्-मूलम् अनवस्थाप्यं पाराञ्चितं वा प्रयच्छन्ति । तथा तुल्येऽपि पाराञ्चितयोग्याऽपराधे एकस्य पाराञ्चितम्, अपरस्य अनवस्थाप्यं मूलं छेदं मासेन मासाभ्यां मासैर्वा हान्या तपो वा चशब्दात्-पञ्चकं यावदन्ते नमस्कारसहितं हा दुष्ठु कृतं, हा दुष्कारितं, हा दुष्ठु अनुमोदितमित्येवं वैराग्यभावनातो रागद्वेषहानिं भूयसीम्-अतिभूयस्तरामुपलभ्य प्रयच्छन्ति, तथा कस्यचित् मासिकप्रतिसेवना-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यामलणं राग-द्वेषहानिमुपलभ्य पञ्चकहान्या मासिकं ददति; पञ्चविंशतिं दिनानि ददतीत्यर्थः । तथा एकाहं नाम--अभक्तार्थे प्रतिसेविते पञ्चाहं ददति; पञ्चाहे वा प्रतिसेविते एकाहम्; उपलक्षणत्वादाचाम्लम् एकाशने पूर्वार्द्धे निर्विकृतं पौरुषीं नमस्कारसहितां वा प्रयच्छन्ति । एवं चतुर्दशपूर्वादयोऽपि 'हु' निश्चितं रागद्वेषहानिवृद्धी उपलभ्य हीनमधिकं वा प्रायश्चित्तं ददति ।

अत्र परस्य प्रश्नमुदीरयति—

चोयगपुच्छा पच्च-क्खनाणिणो थोवं कह बहुं देंति ।
दिट्ठंतो वाणिएण, जिणचोद्दसपुव्विए धमए ॥ २१४ ॥

चोदकस्यात्र पृच्छा-प्रत्यक्षज्ञानिनो जिनादयः स्तोके अपराधे कथं बहु प्रयच्छन्ति प्रायश्चित्तम् उपलक्षणमेतत् भूयसि वा अपराधे स्तोकम् ?, अत्र सूरिराह-दृष्टान्तोऽत्र वणिजा द्रष्टव्यः, तथा भूयः परस्य पृच्छा ?-जिनादयः केवलज्ञानादिबलेन परस्य भावं जानते चतुर्दशपूर्विणस्तु कथं येन स्तोकेऽपि बहु बह्वपि-स्तोकं ददति । सूरिराह-अत्र धमको दृष्टान्तः ।

तत्र प्रथमतो वणिग्दृष्टान्तं भावयति—

जं जह मोल्लं रयणं, तं जाणइ रयणवाणितो निउणो ।
थोवं तु महल्लस्स वि, कासइ अप्पस्स वि बहुं तु ॥ २१५ ॥

यथा निपुणो रत्नवणिक् यत् रत्नं यथामूल्यं तत्तथा सम्यक् जानाति, ज्ञात्वा च कस्यचित् महतोऽपि रत्नस्य स्तोकं मूल्यं ददाति, कस्यचिदल्पस्याऽप्यद्भुतगुणोपेतस्य बहु ।

इमामेव तद्दृष्टान्तभावनां प्रकारान्तरेणाह—

अहवा कायमणिस्स उ, सुमहल्लस्स वि उ कागणी मोल्लं ।
वइरस्स उ अप्पस्स वि, मोल्लं होती सयसहस्सं ॥ २१६ ॥

अथवेति-प्रकारान्तरे रत्नपरीक्षको वणिक् काचमणेः सुमहतोऽपि मूल्यम् काकिणीं करोति, वज्रस्य तु-रत्नस्याल्पस्यापि मूल्यं तेन क्रियमाणं शतसहस्रं भवति ।

अत्रोपनयमाह—

इय मासाण बहूण वि, रागद्दोसप्पयाए थोवं तु ।
रागद्दोसोवचया, पणगे वि उ तो बहुं देंति ॥ २१७ ॥

इति '-अमुना दृष्टान्तप्रकारेण बहूनामपि-मासानां योग्ये अपराधे वैराग्यभावनाछलतो रागद्वेषाल्पतया स्तोकं प्रायश्चित्तं ददति । सिंहव्यापादकस्येव रागद्वेषोपचयात् पञ्चकेऽप्यपराधे बहु प्रायश्चित्तं ददति ।

अधुना "जिनचोद्दसपुव्विए धमए" (२१४)
इत्यस्य व्याख्यानमाह—

पच्चक्खी पच्चक्खं, पासइ पडिसेवगस्स सो भावं ।
किह जाणइ पारोक्खी, नायमिणं तत्थ धमएणं ॥२१८॥

प्रत्यक्षी-जिनादिः प्रत्यक्षं प्रतिसेवकस्य भावं जानाति, परोक्षी-चतुर्दशपूर्व्यादिः कथं जानाति येन सोऽपि तथैव व्यवहरति, सूरिराह-तत्र तस्मिन्विषये ज्ञातम्-उदाहरणमिदं-वक्ष्यमाणं धमकेन-शङ्खध्मात्रा ।

तदेव दर्शयति—

नालीधमएण जिणा, उवसंहारं करेंति पारोक्खं ।
जह सो कालं जाणइ, सुएण सोहिं तहा सोउं ॥ २१९ ॥

जिनाः-तीर्थकृतः परोक्षे आगमे उपसंहारं नालीधमकेन-कुर्वन्ति, इयमत्र भावना-नाडिकायां गलन्त्यामुदकगलनपरिमाणतो जानाति एतावत्युदके गलितयामो दिवसस्य रात्रेर्वा गत इति ततोऽन्यस्य परिज्ञानाय शङ्खं धमति तत्र यथा सोऽन्यो जनः शङ्खस्य शब्देन श्रुतेन कालं यामलक्षणं जानाति, तथा परोक्षागमज्ञानिनोऽपि शोधिम्-आलोचनां श्रुत्वा तस्य यथाऽवस्थितं भावं जानन्ति; ज्ञात्वा च तदनुसारेण प्रायश्चित्तं ददति । व्य० १० उ० ।

आगमतो ववहारं, परसोच्चा संकियंमि उ चरित्ते ।
आलोइयंमि आरा-हणा अणालोइए भयणा ॥२२२॥

आगमतः प्रत्यक्षज्ञानी वा परे-परस्मिन् व्यवहारं करोति । परस्यालोचनां श्रुत्वा नान्यथा । तत्र यदि कलुषितचारित्रतया न सम्यगालोचयति, किंतु आलोचनामर्यादामतिक्रम्य वर्त्तते तदा शङ्कितमिति वा भिन्नमिति वा कलुषितमिति वा एकार्थे, चारित्रे सति न सम्यगनेनालोचितमिति ज्ञात्वा तं ब्रूते-अन्यत्र गत्वा शोधिं कुरु, यदि पुनः सम्यगालोचयति तदा ददाति प्रायश्चित्तम् । अथ यदि प्रत्यक्षागमज्ञानिनः परोक्षाऽऽज्ञानिनो वा सर्वभावविषयपरिज्ञानात् ततः कस्मात्तस्य पुरत आलोच्यते । किंतु—तस्य समीपमुपगम्य वक्तव्यम्-अपराधं मे भवन्तो जानते तस्य शोधिं प्रयच्छत. तत आह-'आलोई' त्यादि, आलोचिते बहुगुणसंभवतः सम्यगाराधना भवति, अनालोचिते आराधनाया भजना—विकल्पना कदाचिद्भवति कदाचिन्नेति एतच्चाग्र भावयिष्यते ।

तत्र " आगमतो ववहारं, परसोच्चा "
(२२२) इति व्याख्यानयति—

आगमववहारी छ-व्विहो वि आलोयणं निसामेत्ता ।
देति ततो पच्छित्तं, पडिवज्जइ सारिओ जइ य ॥२२३॥

आगमव्यवहारी षड्विधोऽपि परस्यालोचनां निशम्य ततः प्रायश्चित्तं ददाति, यदि च-कमप्यपराधं विस्मृतं स्मारितः सन् सम्यक् प्रतिपद्यते तदा स्मारयति च । अन्यथा तस्याऽऽलोचनामेव न ददाति ।

सांप्रतमुत्तरार्द्धं (२२२) व्याख्यानयति—

आलोइय पडिक्कंत-स्स होइ आराहणा सुनियमेणं ।
अणालोइयंमि भयणा, किह पुण भयणा हवइ तस्स ।२२४

पूर्वमपराधजातमालोचितं ततस्तस्मात्प्रतिक्रान्तस्य अपुनःकारणतया प्रतिनिवृत्तस्य नियमेन पर्यन्ते सम्यगाराधना भवति । अनालोचिते पुनर्भजना । आह-कथं पुनरनालोचिते तस्याराधनाविषये भजना भवति ।

अत्राऽऽह--

कालं कुव्वेज्ज सयं, अमुहो वा हुज्ज अहव आयरिओ ।
अप्पत्ते पत्ते वा, आराहणा तह वि भयणेवं ॥ २२५ ॥

कोऽपि आलोचनां प्रदास्यामीत्यालोचनापरिणामपरिणत आलोचनाप्रदानाय संप्रस्थित आलोचनार्हसमीपं, स च तमप्राप्त एवापान्तराले स्वयं कालं कुर्यात्, यदि वा-

२७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राप्तोऽपि रोगवशादमुखो जातः। अथवा-तस्याप्राप्तवत एव स आलोचनार्ह आचार्यः कालगतः, यदि वा-प्राप्तवतोऽप्य-मुखो जातः ततः स एवमालोचनापरिणतः आलोचनायाः अलंभवेऽपि कालं कुर्वन्नाराधकः, यदि पुनर्न सम्यगालो-चनापरिणामपरिणतस्तदा सोऽनाराधकः, स च तथा-कालगतो दीर्घसंसारी भवति। एवमाराधना आलोचना हि प्राप्ते अप्राप्ते वा भजनया भवति।

संप्रत्यागमव्यवहारिणामपि पुरत आलो-चनायां गुणानुपदर्शयति—

अवराहं वियाणंति, तस्स सोहिं च जइवि।
तहाऽवि आलोयणावुत्ता, आलोयंते बहू गुणा ॥२२६॥

यद्यप्यागमव्यवहारिणस्तथाप्यालोचकस्यापराधं विजानन्ति शोधिं च तथाऽपि तेषामपि पुरत आलोचना दातव्या उक्ता तीर्थकरगणधरैर्यत आलोचयति (सति) बहवो गुणास्तथा ह्यालोचनाऽऽचार्येण स आलोचकः प्रोत्साह्यते यथा वत्स! त्वं धन्यस्त्वं सभाग्यः। यदेवं मानं निहत्याऽऽत्महिताथतया स्वरहस्यानि प्रकटयसि महादुष्करमेतत्, एवं स प्रोत्साहितः सन् प्रवर्द्धमानपरिणामः सम्यग् निःशल्यो भूत्वा यथाव-स्थितमालोचयति। शोधिं च सम्यक् प्रतिपद्यते। ततः प-र्यन्ते आराधना स्तोककालेन च मोक्षगमनमिति।

अथ च कथमागमिनो व्यवहारं प्रयुञ्जते, तत आह—

दव्वेहिं पज्जवेहि य, कम-खेत्त-काल-भावपरिसुद्धं।
आलोयणं सुणेत्ता, तो ववहारं पउंजंति ॥ २२७ ॥

द्रव्यैः सचित्तादिभिः, पर्यायैः-तेषामेव सचित्तादिद्रव्या-णामेव स्थानविशेषैः-परिणामविशेषैः, तथा क्रमतः, क्षेत्रतः, कालतो, भावतश्च परिशुद्धामालोचनां श्रुत्वा ततस्तदन-न्तरं व्यवहारं-शोधिव्यवहारं प्रयुञ्जते, नान्यथा, तत्र यदि सचित्तं सेवित्वा सचित्तमेवालोचयति तदा द्रव्यशुद्धा सा आलोचना, यदा तु सचित्तं प्रतिसेव्य अचित्तमालोचयति तदा द्रव्याऽशुद्धा। तथा यामवस्थामुपगतं सचित्तं प्रति-सेव्य तामेवावस्थागतं तदालोचयति तदा सा आलोचना पर्यायशुद्धा; यदा त्वन्यामवस्थामुपगतं प्रतिसेव्यान्यामव-स्थामालोचयति तदा पर्यायाऽशुद्धा। तथा यदि प्रतिसेवना-नुलोममालोचयति तदा सा क्रमशुद्धा, उत्क्रमेणाऽऽलोचयतः क्रमाऽशुद्धा। तथा यद्यत्र जनपदे अध्वनि वा प्रतिसेवितं तत्तथैवालोचयतः क्षेत्रशुद्धा आलोचना, जनपदे प्रतिसेवित-मध्वनि कथयतः क्षेत्राऽशुद्धा। यथा यत् यदा दुर्भिक्षे सु-भिक्षे वा दिवा रात्रौ वा प्रतिसेवितं तत्तदाऽऽलोचयतः का-लशुद्धा, सुभिक्षे प्रतिसेव्य दुर्भिक्षे कथयतो रात्रौ वा प्रति-सेव्य दिवसे कथयतः कालाऽशुद्धा, तथा-येन अनाभो-गादिना सेवितं तं भावं कथयतो भावशुद्धा, उपेत्य प्रति-सेव्याऽनाभोगादिना कथयतो भावाऽशुद्धा।

संप्रति भावमेवोपदर्शयति—

सहसा अन्नाणेण व, भीएण व पेल्लिएण व परेण।
वसणेण पमादेण व, मूढेण व रागदोसेहिं ॥ २२८ ॥

तेन-प्रतिसेवकेन सहसा अज्ञानेन वा परेण वा प्रेरितेन वा व्यसनेन वा-द्यूतादिना प्रमादेन वा मूढेन वा रागद्वेषाभ्यां वा प्रतिसेव्य यदि तथैवाऽऽलोच्यते प्रायश्चित्ताय मे ददाति नान्यथेति वाक्यशेषः।

संप्रति "सहसे" (२२८) त्यस्य व्याख्यानमाह—

पुव्वं अपासिऊणं, (उ) च्छूढे पायंमि जं पुणो पासे।
न य तरइ नियत्तेउं, पायं सहसाकरणमेयं ॥ २२९ ॥

पूर्वम्-अग्रतनप्रदेशे कुलिङ्गिनमदृष्ट्वा उत्क्षिप्ते-उत्पाटिते पादे यत्पुनः पश्यति कुलिङ्गिनं समापतितं न पादं निवर्तयितुं शक्नोति। तत एवं यस्तस्य व्यापादनमेतत्सहसाकरणम्।

सांप्रतमज्ञानमाह—

अन्नयरपमाएणं, असंपउत्तस्स नोवउत्तस्स।
इरियाइसुं भूयत्थे, अवट्टतो एयमण्णाणं ॥ २३० ॥

पञ्चानां प्रमादानाम्-अन्यतरेणाऽपि प्रमादेनाऽसंप्रयुक्तस्याऽऽक्रोडीकृतः स्यात्, एवम् ईर्यादिषु समितिषु भूतार्थेन तत्त्वतो वर्त्तमानस्य यद्वचनम् एतदज्ञानम्।

अधुना "भीएण व पेल्लिएण व परेण" (२२८ ×) इत्यस्य व्याख्यानमाह—

भीतो पलायमाणो, अभियोगभएण वाऽवि जं कुज्जा।
पडितो वाऽपडितो वा, पेल्लिजउ पेल्लिओ पाणे ॥२३१॥

अभियोगभयेन भीतः पलायमानो यत् कुर्यात्प्राणव्यपरो-पणादि तत् भीतेनेति द्रष्टव्यं, तथा परेण प्रेरितः सन्पति-तोऽपतितो वा प्राणान् द्वीन्द्रियाऽऽदीन् एकेन्द्रियादीन् वा प्रेरयेत।

संप्रति व्यसनाऽऽदिपदानि व्याचष्टे—

जूयादि होइ वसणं, पंचविहो खलु भावपमादो उ।
मिच्छत्तभावणा उ, मोहो तह रागदोसा य ॥ २३२ ॥

द्यूताऽऽदि भवति व्यसनं-प्रमादः खलु मद्यादिभेदाद्भवति पञ्चविधः मिथ्यात्वभावना मोहः रागद्वेषाः सुप्रतीताः।

एएसिं ठाणाणं, अन्नयरे कारणे समुप्पन्ने।
तो आगमवीमंसं, करेंति अत्ता तदुभयेणं ॥ २३३ ॥

एतेषामनन्तरोदितानां सहसा प्रभृतीनां स्थानानामन्यतरस्मिन्कारणे समुत्पन्ने सति आलोचनायां प्रदत्तायामागम-विमर्शमाप्ता उभयेन सूत्रार्थलक्षणेन कुर्वन्ति। यथाऽयं सहोऽ यमसहः अयमेतावता शोत्स्यति अयं नेति। अथवा-किमनेन सम्यगालोचितं, किं वा नेति।

सांप्रतमागमविमर्शमेव व्याख्यानयति—

जइ आगमो य आलो-यणा य दोण्णि वि समं तु निवयंति।
एसा खलु वीमंसा, जो व सहो जेण वा सुज्झे ॥२३४॥

यद्यागमश्चालोचना च एते द्वे अपि समकं-परस्परमविसं-वादितया निपततो यथैव तस्याऽऽगमस्तथैवेतरस्याऽऽलो-चना। यथैव तस्याऽऽलोचना तथैवागमिन आगमः। एष खलु आगमविमर्श उच्यते, अस्मिन् सति शोधिं ददाति नाऽन्यथा, यदि वा-यः सहोऽसहो वा येन वा यः शुद्ध्यति। एतत् परिभावनमागमविमर्शः। व्य० १० उ०।

("नाणमादीणि अत्ताणि" (२३५) गाथा 'अत्त' शब्दे १ प्रथमभागे गता तत्रैव व्याख्याता च)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संप्रति 'उभय' शब्दव्याख्यानार्थमाह—

सुत्तं अत्थो उभयं, आलोयण आगमो वयंति उभयं ।
जं तदुभयंति वुत्तं, तत्थ इमा होति परिभासा ॥२३६॥

सूत्रम्, अर्थः इत्युभयं तेनागमविमर्शं कुर्वन्ति किमयं सह इत्यादि, अथवा-आलोचनमागमविमर्शो विद्यते । यथा किं यथावस्थिताऽस्याऽऽलोचना, किं वा नेति । तत्र यत्तदुभयमित्युक्तं तत्र इयं वक्ष्यमाणा परिभाषा भवति ।

तामेवाह—

पडिसेवणाइयारे, जइ नाउट्टइ जहकमं सव्वे ।
न हु देंती पच्छित्तं, आगमववहारिणो तस्स ॥२३७॥

यदि प्रतिसेवनातिचारान् यथाक्रमं सर्वान् यदि नाकुट्टयति-नाऽऽलोचयति तदा तस्यागमव्यवहारिणः प्रायश्चित्तं न ददति । यदि पुनः प्रतिसेवनातिचारान् यथाक्रमं सर्वान् आकुट्टयति-आलोचयति तदा तस्यागमव्यवहारिणः प्रायश्चित्तं ददति ।

कहे(हि)सु सव्वं जो वुत्तो, जाणमाणोऽवि गूहति ।
न तस्स दिंति पच्छित्तं, बिंति अन्नत्थ सोहय ॥२३८॥

यान् सर्वानालोचयन् कथय सर्वं मा निगूहय इति य उक्तः सन् जानानोऽपि गूहयति तस्य प्रायश्चित्तमागमव्यवहारिणो न ददति, किंतु ब्रुवते-अन्यस्य समीपे गत्वा शोधय-शोधिं गृहाण ।

न संभरति जो दोसे, सब्भावा न य मायया ।
पच्चक्खी साहए ते उ, माइणो उ न साहए ॥२३९॥

यो दोषान् सद्भावतो न स्मरति न मायया तस्य प्रत्यक्षी-प्रत्यक्षागमज्ञानी कथयति ।

जइ आगमतो आलो-यणा व दोऽवि विसमं निवइयाइं ।
न हु देंति य पच्छित्तं, आगमववहारिणो तस्स ॥२४०॥

यद्यागम आलोचना च एते द्वे अपि विषमं निपतिते यथा तेनालोचितं तथागमज्ञानी तस्यातीचारं न प्रेक्षते किंत्वन्यादृशम्, ऊनमधिकं वा इत्यर्थः। तदा तस्याऽऽगमव्यवहारिणः प्रायश्चित्तं न ददति ।

जइ आगमो य आलो-यणा य दोन्नि वि समं निवडियाइं।
देंति ततो पच्छित्तं, आगमववहारिणो तस्स ॥ २४१ ॥

यद्यागम आलोचना च एते द्वे अपि समं निपतिते; यथाऽपराधमालोचनामागमज्ञानी पश्यतीत्यर्थः । ततस्तस्यागमव्यवहारिणः प्रायश्चित्तं ददति । व्य० १० उ० ।

आलोचनार्हस्याष्टादश स्थानानि षट्त्रिंशत्स्थानान्युक्त्वा प्रतिपादितम्—

छत्तीसेयाणि ठाणाणि, भणियाणाणुपुव्वसो ।
जो कुसलो एएहिं, ववहारी सो समक्खातो ॥ ३२८ ॥

एतानि अनन्तरोदितानि स्थानानि षट्त्रिंशत् आनुपूर्व्या-क्रमशः-क्रमेण भणितानि यस्तेषु कुशलः स व्यवहारी-आगमव्यवहारी समाख्यातः ।

पुनरपि यादृशा आगमव्यवहारिणस्तादृशानाह—

अट्ठहिँ अट्ठारसहिं,
दसहि य ठाणेहिँ जे अपरोक्खा ।
आलोयणदोसेहिं,
छहियं ठाणेहिं जे अपरोक्खा ॥ ३२९ ॥
आलोयणठाणेहिं,
छहियं ठाणेहिँ जे अपरोक्खा ।
पंचहिँ नियंठेहिं,
पंचहि य चरित्तमंतेहिं अट्ठसु ॥ ३३० ॥

अष्टसु आचारवत्त्वप्रभृतिषु स्थानेषु अष्टादशसु व्रतषट्कप्रमुखेषु दशसु च प्रायश्चित्तस्थानेषु ये अपरोक्षाः-प्रत्यक्षज्ञानिनः, तथा-दशसु आलोचनादोषेषु वा ये अपरोक्षविज्ञानाः—प्रत्यक्षविज्ञानिनः, तथा—दशस्वालोचनागुणेषु षट्सु च स्थानेषु अनन्तरभाविषु ये अपरोक्षाः-साक्षाज्ज्ञानिनःस्तथा पञ्चसु निर्ग्रन्थेषु पुलाकादिषु पञ्चसु चारित्रवत्सु-सामायिकादिसंयमवत्सु ये प्रत्यक्षज्ञानिनस्ते आगमव्यवहारिणः । व्य० १० उ० ।

आगमव्यवहारिणश्च यावदार्यरक्षितमेवाऽभूवन्—

तो जाव अज्जरक्खिय, आगमववहारिणो वियाखित्ता ।
न भविस्सति दोसो त्ति, तो वायंती उ छेदसुयं ॥६२॥

यावदार्यरक्षितास्तावदागमव्यवहारिणोऽभूवन् ते चाऽऽगमव्यवहारबलेन विज्ञाय यथा एतस्याश्छेदश्रुतवाचनायां दोषो न भविष्यतीति संयतीमपि छेदश्रुतं वाचयन्ति स्म ।

आरेणागमरहिया, मा विद्दाहिंति तो न वाएंति ।
तेण कहं कुव्वंतु, सोहिं तु अयाणमाणी ती ॥ ६३ ॥

आर्यरक्षितादारतः आगमरहितास्ततस्ते मा छेदश्रुताध्ययनतः संयत्यो विद्रास्यन्ति-विनङ्क्ष्यन्तीति हेतोश्छेदश्रुतानि संयतीर्न वाचयन्तीति, अत्राह-तेन छेदश्रुताध्ययनाभावेन कथं ताः संयत्योऽजानानाः शोधिं कुर्वन्तु,

अत्राऽऽचार्य आह—

तो जाव अज्जरक्खिय, सट्ठाणे पगासयंसु वइणीतो ।
असतीए विवक्खंमि वि, एमेव य होंति समणाऽवि ।६४।

यतः पूर्वमागमव्यवहारिणः स्युश्छेदश्रुतं च संयत्यः अधीयेरन् ततो यावदार्यरक्षितास्तावद् व्रतिन्यः स्वस्थाने-स्वपक्षे संयतीनां प्रकाशनामकार्षुः, स्वपक्षाभावे विपक्षेऽप्यालोचितवत्यः श्रमण्य एवमेव श्रमणा अपि भवन्ति ज्ञातव्याः । किमुक्तं भवति-श्रमणाः, अपि स्वपक्षे आलोचितवन्तः, तदलाभे विपक्षेऽपि; श्रमणीनां पार्श्वे इत्यर्थः दोषाभावात्, आगमव्यवहारिभिर्हि दोषाभावमवबुध्य छेदश्रुतवाचना संयतीनां दत्ता नान्यथेति । आर्यरक्षितादारतः पुनः श्रमणानामेव समीपे आलोचयन्ति श्रमण्योऽपि; श्रमणानामागमव्यवहारच्छेदात् । व्य० ५ उ० ।

आगमववहारि(न्)-आगमव्यवहारिन्-पुं० । प्रत्यक्षज्ञानिनि, व्य० ।

आगम-सुय ववहारी, आगमतो छव्विहो उ ववहारी ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

केवलि मणोहि चोद्दस,-दस-नवपुव्वी उ नायव्वो॥१२५॥

तत्राऽऽगमतो व्यवहारी षड्विधः, तद्यथा-केवली-केवलज्ञानी 'मणोहि' त्ति-पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् मनःपर्यायज्ञानी, अवधिज्ञानी, 'चोद्दसदसनवपुव्वी' त्ति-पूर्वि-शब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते चतुर्दशपूर्वी दशपूर्वी नवमपूर्वी च ज्ञातव्या एते चागमव्यवहारिणः प्रत्यक्षज्ञानिन उच्यन्ते; चतुर्दशादिपूर्वबलसमुत्थस्यापि ज्ञानस्य प्रत्यक्षतुल्यत्वात्। व्य० १ उ०। जी०। (विस्तरतः आगमव्यवहारिणः 'आगमववहार' शब्देऽस्मिन्नेव भागेऽनुपदमेवोक्ताः)

आगमविहि-आगमविधि-पुं०। आगमो-गणधरादिविरचितशास्त्रपद्धतिस्तस्य विधिः। आगमन्याये, दर्श०।

जावज्जीवं आगम-विहिणा चारित्तपालणं पढमो॥(६)

तत्र यावज्जीवं-यावत्प्राणधारणं; नतु परपरिकल्पितन्यायेनेत्यर्थः। आगमो-गणधरादिविरचितशास्त्रपद्धतिस्तस्य विधिस्तेन-आगमन्यायेनेत्यर्थः। वयोरिक्तीकरणं चारित्रं तस्य पालनं यत्तत्सकलसमितिगुप्तिप्रत्युपेक्षणाद्यनुष्ठानकरणं, तत्किमित्याह-प्रथमः-आद्यस्तस्य मुख्यवृत्त्यैव समस्तसमीहितप्रापकत्वेन प्रधानत्वात्। दर्श० ३ तत्त्व।

आगमवीमंस-आगमविमर्श-पुं०। आगमपरिभावने, व्य० १० उ०। (आगमविमर्शस्वरूपं विस्तरतः "अह आगमो० ॥ २३४ ॥" इत्यादि व्यवहारदशमोद्देशगाथया 'आगमववहार' शब्देऽस्मिन्नेव भागेऽनुपदमेवोक्तम्)

आगमसंपण्ण-आगमसम्पन्न-पुं०। विशिष्टश्रुतधरे, दश०। १ अ०।

आगमसज्जोग-आगमसद्योग-पुं०। आगमनमागमः-सम्यक्परिच्छेदस्तेन सद्योगः-सद्व्यापारः आगमसहितो वा यः सद्योगः सत्क्रिया। सम्यक्परिच्छेदात्मके सद्व्यापारे, आगमसहितायां सत्क्रियायाञ्च। षो०।

रागादयो मलाः ख-ल्वागमसद्योगतो विगम एषाम्।
तदयं क्रियात एव हि, पुष्टिः शुद्धिश्च चित्तस्य ॥ ३ ॥

षो० ३ विव०।

(अस्य व्याख्या 'धम्म' शब्दे चतुर्थभागे २६६६ पृष्ठे वक्ष्यते)

आगमसत्थ-आगमशास्त्र-न०। आ-अभिविधिना सकलश्रुतिविषयव्याप्तिरूपेण, मर्य्यादया वा यथावस्थितप्ररूपणारूपया गम्यन्ते-परिच्छिद्यन्तेऽर्था येन स आगमः। नं०। शिष्यते शिक्ष्यते-बोध्यतेऽनेनेति शास्त्रम् आगमरूपं शास्त्रम् आगमशास्त्रम्। श्रुतज्ञाने, विशे०।

अत्र भाष्यम्—

सासिज्जइ जेण तयं,
सत्थं तं वा विसेसियं नाणं।
आगम एव य सत्थं,
आगमसत्थं तु सुयनाणं ॥ ५५९ ॥ विशे०।
आगमसत्थग्गहणं,
जं बुद्धिगुणेहिँ अट्ठहिं दिट्ठं।
बेंति सुयनाणलंभं,
तं पुव्वविसारदा धीरा ॥१८३॥ (सूत्र ५८+)

आ-अभिविधिना सकलश्रुतिविषयव्याप्तिरूपेण मर्यादया वा यथाऽवस्थितप्ररूपणारूपया गम्यन्ते-परिच्छिद्यन्ते अर्थाः येन स आगमः। नं०। "पुंनाम्नि घः" ॥ ५ । ३ । १३० ॥ (सिद्धहे०) इति करणे घः। आ० म० १ अ० २१ गाथा टी०। स चैवं व्युत्पत्त्या अवधिकेवलादिलक्षणोऽपि भवति ततस्तद्व्यवच्छेदार्थं विशेषणान्तरमाह-शास्त्रमिति-शिष्यतेऽनेनेति शास्त्रम् आगमरूपं शास्त्रम् आगमशास्त्रम् आगमग्रहणेन षष्टितन्त्रादिकुशास्त्रव्यवच्छेदः, तेषां यथावस्थितार्थप्रकाशनाभावतोऽनागमत्वात् आगमशास्त्रस्य ग्रहणमागमशास्त्रग्रहणं यद् बुद्धिगुणैर्वक्ष्यमाणैः कारणभूतैरष्टभिर्दृष्टं, तदेव ग्रहणं श्रुतज्ञानस्य लाभं ब्रुवते पूर्वेषु विशारदाः विपश्चितः धीरा-व्रतपालने स्थिराः, किमुक्तं भवति-यदेव जिनप्रणीतप्रवचनार्थपरिज्ञानं तदेव परमार्थतः श्रुतज्ञानं; न शेषमिति। नं०। विशे०। आ० म०। आ० चू०।

आगमसिद्ध-आगमसिद्ध-पुं०। आगमो-द्वादशाङ्गं प्रवचनम् तत्रासाधारणार्थावगमात् सिद्ध आगमसिद्धः। सिद्धभेदे, आ० २ अधि०।

आगमसिद्धो सव्वंऽ-गपारओ गोयमो व्व गुणरासी।

आगमसिद्धः सर्वाङ्गपारगो-द्वादशाङ्गवित् अयं च महातिशयवानेव, यत उक्तम्—" संखाता ते वि भवे साहइ, " इत्यादि इयं, च गौतम! अत्र गुणराशिरवगन्तव्यः अत्र भूयांसः सातिशयचेष्टिता उदाहरणम्। आ० म० १ अ०। भावार्थः कथानकादवसेयः, तच्चेदम्-"तस्थाऽऽगमसिद्धो किर सयंभूरमणे वि मच्छादीया। जं चिट्ठंति स भयवं उवउत्तो जाणइ।" आ० म० १ अ०।

आगमसुद्ध-आगमशुद्ध-त्रि०। आगमः--आप्तवचनं तेन शुद्धः-तदुक्तार्थानुवादेन निर्दोष आगमशुद्धः। आगमाऽनुवादेन निर्दोषे, पञ्चा०।

स्तवविधिमधिकृत्य--

थवविहिमागमसुद्धं, सपरेसिमणुग्गहट्ठाए ॥ १ ॥

आगमः-स्तवपरिज्ञानादिकमाप्तवचनं तेन शुद्धः-तदुक्तानुवादेन निर्दोष आगमशुद्धस्तं, किमर्थमित्याह-स्वपरयोरात्मतदन्ययोरनुग्रहः-उपकारस्तल्लक्षणो योऽर्थः-पदार्थः प्रयोजनं वा सोऽनुग्रहार्थस्तस्मै अनुग्रहार्थाय, तत्र स्वानुग्रहः प्रावचनिकार्थानुवादे निर्मलबोधभावात् परोपकारद्वारायातकर्मक्षयाच्च। परानुग्रहस्तु परेषां निर्मलबोधः तत्पूर्वकक्रियासंपादनात्परंपरया निर्वाणसंपादनाच्चेति गाथार्थः। पञ्चा० ६ विव०।

आगमाऽऽभास-आगमाऽऽभास-पुं०। अनाप्तवचनसमुत्थे ज्ञाने, रत्ना०।

आगमाऽऽभासमाहुः—

अनाप्तवचनप्रभवं ज्ञानमागमाभासमिति ॥ ८३ ॥

अभिधेयं वस्तु यथाऽवस्थितं यो जानीते, यथाज्ञानं चाभिधत्ते स आप्त उक्तः। तद्विपरीतोऽनाप्तः। तद्वचनसमुत्थं ज्ञानम्-आगमाऽऽभासं ज्ञेयम्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अत्रोदाहरन्ति—

यथा मेकलकन्यकायाः कूले तालहिन्तालयोर्मूले सुलभाः पिण्डखर्जूराः सन्ति, त्वरितं गच्छत गच्छत शावकाः इति ॥ ८४ ॥

रागाऽऽक्रान्तो ह्यनाप्तः पुरुषः क्रीडापरवशः सन् आत्मनो विनोदार्थं किञ्चन वस्त्वन्तरमलभमानः शावकैरपि समं क्रीडाभिलाषेणेदं वाक्यमुच्चारयति । रत्ना० ६ परि० ।

आगमिय-आगमिक–त्रि० । आगमादागतः ठञ् । आगमप्राप्ते, वाच० । आगमगम्ये च । पं० व० । "आगमिअमागमेणं ॥६६१॥ " आगमिकं वस्त्वागमेन, यथा-स्वर्गे अप्सरस, उत्तराः कुरवः इति । पं० व० ४ द्वार ।

आगमित–त्रि० । अधीते । वाच० । गृहीते, "उवचारो चि वा अहीतंति वा आगमियंति वा गृहीतंति वा एगट्ठा" नि० चू० १ उ० । ज्ञाते, वाच० । "नायं आगमियं च एगट्ठं" ०॥२०८×॥ ज्ञातम् आगमितमित्येकार्थम् । व्य० १० उ० । पठिते, प्रेरणे, णिच् क्त । यापिते, प्रापिते च । वाच० ।

आगमिस्स(त्)-आगमिष्यत्–त्रि० । आगामिनि, "जे य आगमिस्सा अरहंता भगवंतो" (सूत्र-१२६+) । ये चागामिनः । आचा० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । आगामिनि काले, "किमस्सऽतीतं किंवाऽऽगमिस्सं०" ॥१॥ (सूत्र-११७+) । किंवाऽऽगमिष्यति-आगामिनि काले सुखाभिलाषिणो दुःखद्विषो भावीति । आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । "सिज्झिस्सइ आगमिस्से णं" (सूत्र-६७२+) । आगमिष्यति काले सेत्स्यति । स्था० ६ ठा० ३ उ० । "सो आगमिस्साए जिणो भविस्सइ" 'आगमिस्साए' आयत्याम् । आगामिनि काले, आव० ३ अ० । "आगमिस्सा वि सुव्वया०" (२५+) आगामिनि चानन्ते काले तथाभूताः सत्संयमानुष्ठायिनो भविष्यन्ति । सूत्र० १ श्रु० १५ अ० । "आगमिस्सं च पावगं०" (२१×) आगामिनि काले यत्करिष्यते तत्सर्वमिति । सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । "हवइ पुणो आगमिस्साणं" (५१×) 'आगमिस्साणं' ति-एष्यत्काले इत्यर्थः, प्राकृतत्वाद्व्यापि विभक्तिव्यत्ययः । आतु० । "आगमिस्सेण होक्खइ" ॥ (१+) (सूत्र-५५६+) आगमिष्यता कालेन हेतुना भविष्यतीत्यर्थः । स्था० ७ ठा० ३ उ० । उत्तरकालभाविनि च । "पडिक्कमे आगमिस्साणं" (॥४२॥+) आगमिष्याणाम्-उत्तरकालभाविनाम् । आतु० ।

आग(म्म)मित्ता-आग(म्य)त्य–अव्य० । आ-गम-ल्यप् वा मोलोपे तुक् । आगमनं कृत्वेत्यर्थे । वाच० । ज्ञात्वेत्यर्थे, "आगमेत्ता आणविज्जा" (सूत्र-१५६+) ज्ञात्वा-आज्ञापयेदिति । आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० । "आगम्मुक्कुडुओ संतो" ॥ २२ × ॥ आगत्योत्कुटुकः त्यक्तासन इति । उत्त० १ अ० ।

आगमेयव्व-आगमयितव्य–त्रि० । आगमनम्-आगमनपरिज्ञानम् । तद्गोचरत्वमानयितव्ये, वृ० १ उ० २ प्रक० ।

आगमेसि(त्)-आगमिष्यत्–त्रि० । आगामिनि, स्था० ८ ठा० ३ उ० । कल्प० । आगमिष्यति काले, प्रश्न० १ संव० द्वार ।

आगमेसिभद्द-आगमिष्यद्भद्र–न० । आगमिष्यति काले भद्रं कल्याणं यत्तदागमिष्यद्भद्रम् । आगमिष्यत्कालभाविनि कल्याणे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । आगमिष्यद्भद्रं यस्यासौ । आगमिष्यत्कालभाविकल्याणवति, स्था० ।

समणस्स णं भगवओ महावीरस्स अट्ठ सया अणुत्तरोववाइयाणं गइकल्लाणाणं०जाव आगमेसिभद्दाणं उक्कोसिया अणुत्तरोववाइसंपया होत्था ॥ १ ॥ (सूत्र-६५३)

आगमिष्यत्भद्रं—निर्वाणलक्षणं येषां ते तथा । स्था० ८ ठा० ३ उ० । आगामिभवे सेत्स्यमानत्वात् । कल्प० १ अधि० ६ क्षण ।

आगमिष्यद्भद्रकर्मकारणान्याह—

दसहिं ठाणेहिं जीवा आगमेसिभद्दत्ताए कम्मं पगरेंति, तं जहा-अनिदाणयाए १, दिट्ठिसंपन्नयाए २, जोगवाहियाए ३, खंतिखमणयाए ४, जिइंदियाए ५, अमाइल्लयाए ६, अपासत्थयाए ७, सुसामन्नयाए ८, पवयणवच्छल्लयाए ९, पवयणउब्भावणयाए १० ।(सूत्र-७५८)

'दसहिं' इत्यादि, आगमिष्यद्-आगामिभवान्तरे भावि भद्रं-कल्याणं; सुदेवत्वलक्षणमनन्तरं सुमानुषत्वप्राप्त्या मोक्षप्राप्तिलक्षणं च येषां ते आगमिष्यद्भद्रास्तेषां भावः आगमिष्यद्भद्रता तस्यै आगमिष्यद्भद्रतायै; तदर्थमित्यर्थः, आगमिष्यद्भद्रतया वा-कर्म शुभप्रकृतिरूपं प्रकुर्वन्ति-बध्नन्ति, तद्यथा-निदायते-लूयते ज्ञानाद्याराधनालता आनन्दरसोपेतमोक्षफला येन परशुनेव देवेन्द्रादिगुणर्द्धिप्रार्थनाऽध्यवसानेन तन्निदानम्-अविद्यमानं तद्यस्य सोऽनिदानस्तद्भावस्तत्ता तया हेतुभूतया, निरुत्सुकतयेत्यर्थः । १ । दृष्टिसम्पन्नतया-सम्यग्दृष्टितया । २ । योगवाहितया-श्रुतोपधानकारितया, योगेन वा-समाधिना सर्वत्रानुत्सुकत्वलक्षणेन वहतीत्येवंशीलो योगवाही तद्भावस्तत्ता तया । ३ । क्षान्त्या क्षमते इति क्षान्तिक्षमणः क्षान्तिग्रहणमसमर्थतालक्षणव्यवच्छेदार्थं यतः-असमर्थोऽपि क्षमत इति क्षान्तिक्षमणस्य भावस्तत्ता तया । ४ । जितेन्द्रियतया—करणनिग्रहेण । ५ । 'अमाइल्लयाए' त्ति- माइल्लो-मायावांस्तत्प्रतिषेधेनामायावांस्तद्भावस्तत्ता तया । ६ । तथा-पार्श्वे बहिर्ज्ञानादीनां देशतः सर्वतो वा तिष्ठतीति पार्श्वस्थः, (स्था०) (पार्श्वस्थलक्षणम् 'पासत्थ' शब्दे पञ्चमभागे दर्शयिष्यते) पार्श्वस्थस्य भावः पार्श्वस्थता न सा अपार्श्वस्थता तया । ७ । तथा-शोभनः पार्श्वस्थादिदोषवर्जिततया मूलोत्तरगुणसम्पन्नतया च स चासौ श्रमणश्च साधुः सुश्रमणस्तद्भावस्तत्ता तया । ८ । तथा-प्रकृष्टं-प्रशस्तं; प्रगतं वा वचनम्-आगमः-प्रवचनं-द्वादशाङ्गं तदाधारो वा सङ्घस्तस्य वत्सलता हितकारिता प्रत्यनीकत्वादिनिरासेनेति प्रवचनवत्सलता तया । ९ । तथा-प्रवचनस्य-द्वादशाङ्गस्योद्भावनम्-प्रभावनं प्रावचनिकत्वधर्मकथावादादिलब्धिभिर्वर्णवादजननं प्रवचनोद्भावनं तदेव प्रवचनोद्भावनता तयेति । १० । स्था० १० ठा० ३ उ० ।

आगय-आगत–त्रि० । आ-गम्-क्त । आयाते, । विशे० । भ० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वाच० । ज्ञाते, ज्ञा० १ श्रु० ७ अ० । उत्पन्ने, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

आगयमिवागयं तं, तत्तो जत्तो समुब्भवो जस्स ।
सपरंपरओ य जओ, तमागयमिओ तदुवयारो ॥१०८४॥

'जत्तो' त्ति-यतो यस्मात् रूपकादेर्घटादेर्वा सकाशाद्यस्य भोजनादेः रूपादिविज्ञानस्य वा समुद्भवः-उत्पत्तिः 'तं' ति-तद्भोजनादिकं रूपादिज्ञानं वा वस्तु 'तत्तो' त्ति-ततो रूपकादेर्घटादेर्वा सकाशादागतमिवागतमुच्यते; हिमवतः समागतगङ्गाप्रवाहस्येव तस्य तद्धेतुकत्वादित्यर्थः। (विशे० ।) आगतशब्दश्चेहोत्पत्तिवचनो, बोधवचनो मन्तव्यः—इदमत्र हृदयम्-यस्य वस्तुनो यस्माद्वस्तुनः सकाशात्समुद्भवस्त-द्वस्तुन आगतमिवागतं व्यपदिश्यते । यथा कार्षापण-रूपकादिभ्यः समुद्भूतं धान्यभोजनादि, घटादेः समुद्भूतं रूपादिज्ञानं वा ततः समागतमित्युच्यते । विशे० । उपस्थिते, वाच० । "आगयसमए" (सूत्र-८२ +) । आ-सन्नीभूतोऽवसरो यस्य स इत्यर्थः । ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० । ज्ञाते, "अभिसमन्नागया" (सूत्र-१०६ +) । आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । प्राप्ते, वाच० । "सिरीअतुलमागया" ॥१६ +॥ (सूत्र-३० +) श्रीः-लक्ष्मीरतुलाऽसाधारणाऽऽगता-प्राप्तेति । स० ३० सम० । भावे क्त । आगमने, न० । वाच० ।

आगयगंध–आगतगन्ध–त्रि० । जातसुरभिगन्धे, ज्ञा० १ श्रु० ७ अ० ।

आगयपन्न–आगतप्रज्ञ–त्रि० । आगता-उत्पन्ना प्रज्ञा यस्या-सावागतप्रज्ञः। संजातकर्त्तव्याऽकर्त्तव्यविवेके, सूत्र०। "समितीसु गुत्तीसु य आगयपण्णे" ॥ ५ ×॥ सूत्र०१ श्रु०१४ अ०।

आगयपण्णाण–आगतप्रज्ञान–त्रि० । आगतं-स्वीकृतं प्रज्ञानम् सदसद्विवेको यस्य स तथा । स्वीकृतसदसद्विवेके, "सया आगयपण्णाणं" (सूत्र-१२६ +) । आचा०१ श्रु०४ अ० २ उ० । "आगयपण्णाणाणं किसा बाहा भवंति" (सूत्र-१८६ ×) । आगतं प्रज्ञानं पदार्थाविर्भावकं येषां ते तथा तेषामागतप्रज्ञानानां तपसा परिषहातिसहनेन च कृशा बाहवो भुजा भवन्ति । यदि वा-सत्यपि महोपसर्गपरिषहाद्यावागतप्रज्ञानत्वाद् बाधाः-पीडाः कृशा भवन्ति । आचा० १ श्रु० ६ अ० ३ उ० ।

आगयपण्हया–आगतप्रश्रवा–स्त्री० । आयातप्रश्रवायाम्, "तएणं सा देवाणंदा माहणी आगयपण्हया" (सूत्र-३८२×) आयातप्रश्रवा; पुत्रस्नेहादागतस्तनमुखस्तन्येत्यर्थः । भ० ९ श० ३३ उ० । अन्त० ।

आगयभम–आगतभ्रम–त्रि० । उत्पन्नभ्रमणे, कल्प० १ अधि० ३ क्षण ।

आगयसमय–आगतसमय–त्रि० । आसन्नीभूतोऽवसरो यस्य सः । आसन्नीभूतावसरे, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० ।

आगर–आकर–पुं० । आकुर्वन्त्यस्मिन्नित्याकरः । उत्त० ३० अ० । आगत्य तस्मिन् कुर्वन्तीत्याकरः । आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । (अस्यैकार्थिकानि 'आयारंग' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते) । खनौ, "धाउमणिसिलप्पवालरयणागरे य साहिंति" (सूत्र-७ +) । धातुमणिशिलाप्रवालरत्नानामाकराः-खनयस्तान् साधयतीति । प्रश्न० १ आश्र० द्वार । "गुणआगरं" ॥ ५ + ॥ गुणानां-ज्ञानदर्शनचारित्राणामाकरं खनिमिति । उत्त० १९ अ० । निधाने, "गुणसयाऽऽगरो संघो" ॥ २४४ + ॥ गुणशतानामनेकेषां गुणानामाकरो-निधानम् गुणशताकरः संघः । व्य० २ उ० । सू० । मर्यादयाऽभिविधिना वाऽऽक्रियन्ते वज्रादीनि तेष्विति । ओघ० । हिरण्याकरादौ, व्य० १ उ० । जी० । प्रज्ञा० । आव० । रा० । स च हिरण्याद्युत्पत्तिभूमिः । ज्ञा० १ श्रु० १७ अ० । ओघ० । उत्त० । ताम्रादेरुत्पत्तिस्थानम् । आचा० १ श्रु० १ चू० १ अ० २ उ० । लोहाद्युत्पत्तिभूमिः । स्था० २ ठा० ४ उ० । लौहाद्युत्पत्तिस्थानम् । अनु० । प्रश्न० । भ० । लौहादिधातुजन्मभूमिः । ग० १ अधि० । लवणाद्युत्पत्तिभूमिः । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । औ० । लवणाद्युत्पत्तिस्थानमिति । प्रश्न० ४ आश्र०द्वार । यत्र सन्निवेशे लवणाद्युत्पद्यते । स्था० ६ ठा० ३ उ० । रूप्यसुवर्णाद्युत्पत्तिस्थानम् । नं० । भ० । आकीर्यन्ते धातवोऽत्र कृ-अप् । रत्नाद्युत्पत्तिस्थाने, वाच० । "अयमाइआगरा खलु" ॥ २८४ × ॥ अयो-लोहं तदादय आकरा उच्यन्ते यत्र पाषाणं धातुधमनादिना लोहमुत्पाद्यते स अयआकरः, आदिशब्दात्-ताम्ररूप्याद्याकर-परिग्रहः । बृ० १ उ० २ प्रक० । "वइरे कणगे य रयय-लोहे य । चत्तारि आगरा खलु" ॥ ८ + ॥ वज्राणि-रत्नानि तेषामाकरः-खनिर्वज्राकरः, "चित्तालोहागरिए" त्ति इत्यतः सिंहावलोकितन्यायेनाऽऽकरग्रहणं संबध्यते एतेन कारणेन 'होइ उ' त्ति-इत्यस्माद्भवति क्रिया सर्व्वत्र मीलनीयेति, कनकं-सुवर्णं तस्याऽऽकरो भवति द्वितीयः, रजतं-रूप्यं तद्विषयः तृतीयः आकारो भवति, चशब्दः समुच्चये, अनेकभेदभिन्नं रूप्याकरं समुच्चिनोति, 'लोहे य' त्ति-लोहमयस्तस्मिन् लोहे लोहविषयश्चतुर्थ आकरो भवति, चशब्दो मृदुकठिनमध्यलोहसमुच्चायकः । चत्वार इति संख्याः आक्रियन्ते एतेष्वित्याकरास्तथा च मर्यादया अभिविधिना वा क्रियन्ते वज्रादीनि तेष्विति, खलुशब्दो विशेषणे । ओघ० । (एतेषां प्राधान्याऽप्राधान्यविवेकः 'अणुओग' शब्दे १ भागे ३५७ पृष्ठे गतः)।

आकरशब्दस्य चतुर्धा निक्षेपः—नामादिस्तत्र व्यतिरिक्तो रजतादिः, भावाऽऽकरोऽयमेव ज्ञानादिः, तत्प्रतिपादकश्चाय-मेव ग्रन्थो, निर्जरादिरत्नानामत्र लाभात् । आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । उत्पत्तिभूमौ, अनु० । "कमलाऽऽगरनलिणी-खंडबोहए" (सूत्र-१९×) कमलानामाकराः-उत्पत्तिभूमयो ह्रदादिजलाशयविशेषास्तेषु यानि नलिनीखण्डानि तेषां बोधको यः स तथेति । अनु० ।

अयाऽऽगरेइ वा, तंबागरेइ वा, तउआगरेइ वा, सीसागरेइ वा, रुप्पागरेइ वा सुवण्णागरेइ वा । (सूत्र-५९७×)

अयआकरा-लोहाकरा यत्र लोहं ध्मायते । स्था०८ठा०३उ०।

तत्थ णं बहवे हिरण्णागरा य, सुवण्णागरा य, रयणागरा य, वइरागरा य । (सूत्र-१३२×)

हिरण्याऽऽकरांश्च, सुवर्णाकरांश्च, रत्नाकरांश्च, वैराकरांश्च; तत्तदुत्पत्तिभूमीरित्यर्थः । ज्ञा० १ श्रु० १७ अ० । स्थानमात्रे च । व्य० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत्थ न कप्पइ वासो, गुणाऽऽगरा जत्थ नऽत्थि पंच इमे ।
आयरियउवज्झाए, पवत्तिथेरे य गीयत्थे ॥ ३२४ ॥

वणिज इव राजाद्यभावे साधोरपि तत्र गच्छे वासो न कल्पते, यत्र इमे-वक्ष्यमाणा गुणानामाकराः-स्थानानि गुणाकराः पञ्च न सन्ति, के ते इत्याह-आचार्यः, उपाध्यायः, प्रवृत्तिः, स्थविरो, गीतार्थश्च । व्य० १ उ० । आकुर्वन्ति, संघीभूय कुर्वन्ति व्यवहारमत्र आ-कृ-घः । समूहे, श्रेष्ठे च । वाच० । अरघट्टादिसमीपस्थे प्रदेशे, अरघट्टादिसमीपे, प्रभूना यत्र तुषा भवन्ति स आकर उच्यते । बृ० ५ उ० । को पुण आगरो भण्णति—जत्थ घरट्टादिसमीवे सुवहं अवभुसुट्ठं; सो, आगरो भण्णति । नि० चू० १ उ० । भिल्लपल्ल्यादौ, यत्राऽलाबूनि भवन्ति । "आगरपल्लीमाई" ॥ ३४६ × ॥ आकरो नाम-भिल्लपल्ली, भिल्लकोट्टं वा तत्र प्रायोऽलाबूनि प्राप्यन्ते । बृ० ३ उ० ।

आगर-पुं० । आगीर्यते-उद्गमितुमारभ्यते चन्द्रमा अत्र । गृ आधारे अप् । अमावास्यायाम् , वाच० ।

आगरणिवेस-आकरनिवेश-पुं० । आकरस्थाने , "आगररनिवेससु" (सूत्र-३५×) । प्रश्न० १ पद ।

आगरणी-आकरणी-स्त्री० । लोहकराम्बरीषायाम् , स्था० ८ ठा० ३ उ० ।

आगरपल्ली-आकरपल्ली-स्त्री० । स्वर्णाद्युत्पत्तिस्थानस्थिते वृत्तवंशादिगहनाश्रिते प्रान्तजनस्थाने , उत्त० । "निगमे य आगर पल्ली" ॥ १६+ ॥ आकरः-स्वर्णाद्युत्पत्तिस्थानं तस्मिन् आकारे । पल्ली वृत्तवंशादिगहनाश्रिता प्रान्तजनस्थानम् । तस्यां पल्ल्याम् , उत्त० ३० अ० ।

आगरमुत्ति-आकरमुक्ति-स्त्री० । चिक्कणिकायाम् , सा च नो कर्म्मद्रव्यलोभः । आव० १ अ० । आ०म० । अण्णे भणंतिणो कम्मे आकरमोत्ती एवमादि आकरमोत्ति चिक्कणिकेति । आ० चू० १ अ० । (एतद्वक्तव्यता 'लोभ' शब्दे षष्ठभागे वक्ष्यते) ।

आगरि(न्)-आकरिन्-त्रि० । आकरः-उत्पत्तिस्थानं प्राशस्त्येनाऽस्त्यस्येति इनि स्त्रियां ङीप् । प्रशस्ताकरजाते, "दधतमाकरिभिः करिभिः क्षतैः" किरा० । वाच० । आकरवति, प्रश्न० २ आश्र०द्वार ।

आगरिस-आकर्ष-पुं० । आकर्षणमाकर्षः आ-कृष् घञ् । "र्श-र्ष-तप्त-वज्रे वा" ॥८।२।१०५॥ इति हैमप्राकृतसूत्रेणेकारः । प्रा० । उपादाने, आकर्षो नाम कर्मपुद्गलोपादानमिति । स० । आकर्षो नाम-तथाविधेन प्रयत्नेन कर्मपुद्गलोपादानम् । प्रज्ञा० ६ पद ७ द्वार । (आयुष्कर्माकर्षाः 'आउबंध' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गताः) ग्रहणे, आ० म० १ अ० । विशे० । प्रथमतया ग्रहणे, मुक्तस्य ग्रहणे च । आ० म० १ अ० । विशे० । ग्रहणमोचनयोः, आकर्षणमाकर्षः । ग्रहणमोचनमित्यर्थः । आ० चू० १ अ० । स च द्विविधः-एकभविको, नानाभविकश्चेति । प्रव० १२२ द्वार । आ० चू० । विशे० । अनु० । आ०म० । (सामायिकस्याकर्षाः 'सामाइय' शब्दे सप्तमभागे वक्ष्यते) प्राप्तौ, भ० ।

पुलागस्स णं भंते ! एगभवग्गहणिया केवइया आगरिसा पण्णत्ता, जहण्णेणं एक्को, उक्कोसेणं तिण्णि । (सूत्र-७७८+)

आकर्षणमाकर्षः-चारित्रस्य प्राप्तिरिति । भ० २५ श० ६ उ० । (बकुलाऽऽदीनामाकर्षाः 'णियंठ' शब्दे चतुर्थभागे २०४१ पृष्ठे वक्ष्यते)

आगरिसग-आकर्षक-पुं० । आकर्षति सन्निकृष्टस्थं लौहम् आ-कृष्-ण्वुल् । (चुम्बक) इतिख्याते अयस्कान्ते, आकर्षणकर्त्तरि, त्रि० । आकर्षे नियुक्तः आकर्षादि० कन् । आकर्षनियुक्त, "आकषः निकषोपल" इति रेफरहितः पाठो युक्तः सि० कौ० । वाच० । आ० म० १ अ० ।

आगरिसण-आकर्षण-त्रि० । आ-कृष् ल्युट् । अन्यत्र स्थितस्य वस्तुनः बलेन अन्यत्र नयने,"योषिदाकर्षणे चैत्र-विनियोगः प्रकीर्त्तितः।" आकृष्यते अनेन करणे ल्युट् । आकर्षणसाधने तन्त्रोक्ते षट्कर्मान्तर्गते विधानभेदे च । वाच० । आकृष्यत-इति आकर्षणम् । द्रविणे, आकृष्यत इति आगरिसणं तं च दविणं । नि० चू० २ उ० । प्रेरणे , आकड्ढणमाकरिसणं अण्णस्स तस्स । आघट्टणमागस्सस्स उदगगतेन प्रेरणमिति । नि० चू० १८ उ० ।

आगलण--आकलन--न० । अध्यवसाये , "धणुबलं वा आगलेंति" (सूत्र-१४२×) 'आगलेंति' त्ति-आकलयन्ति-जेष्याम इत्यध्यवस्यन्तीति । भ० ३ श० २ उ० ।

आगलिय--आगलित--त्रि० । निवारिते, श्रा० १ श्रु० ६ अ० ।

आगल्ल-आगल्ल-त्रि० । ग्लाने, "तेण एस आगल्लो" ॥४३६×॥ तेनाऽयमागल्लो-ग्लानः संजातः । बृ० ४ उ० ।

आगाढ-आगाढ--त्रि० । अत्यन्तदुर्भेदे, व्य० । "आगाढपण्हेसु य संथवेसु" ॥ २६६+ ॥ आगाढप्रश्नेषु चाऽत्यन्तदुर्भेदप्रश्नेषु परिचयेसु सत्स्विति । व्य० १ उ० । कर्कशे, बृ० । "आगाढे अहिगरणे" ॥ ५७२× ॥ आगाढे-कर्कशेऽधिकरणे उत्पन्ने । बृ० १ उ० ३ प्रक० । कारणे , नि० चू० ६ उ० ।

अद्धाणविवित्ताणं, आगाढं सेसऽणागाढं ॥ ८४ ॥

अद्धाणे विवित्ताणं आगाढकारणं । सेसं अद्धाणं तंमि उवगरणाभावे आगाढं ण भण्णइ । नि०चू० ५ उ० । आगाढेहिं वा कारणेहिं बोलेंति । नि० चू० २ उ० । "आगाढकारणेहिं" ॥ ३५० + ॥ आगाढैः-कुलादिभिः कारणैः । बृ० १ उ० २ प्रक० । आगाढं-प्रत्यनीकस्तेनादिरूपं यत्कारणम् । बृ० १ उ० ३ प्रक० । अशिवादिके कारणे, बृ० ।

असिवे ओमोदरिए, रायदुट्ठे भए अ आगाढे ।
गेलन्न उत्तिमट्ठे, णाणे तह दंसणचरित्ते ॥ ६१८ ॥

आगाढशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते, आगाढे-अशिवे, अवमौदर्ये, राज्यद्विष्टे, बोधिकस्तेनादिभये च यथा आगाढं नाम शैक्षसागारिकादिमन्यतमकारणं तदा ग्लान उत्तमार्थप्रतिपन्नो वा कश्चिद्देशान्तरे श्रुतः अपान्तराले च तत्र छिन्नः पन्था अतस्तत्परिचरणार्थं गन्तव्यम् , उत्तमार्थं वा प्रतिपित्सुः संविग्नगीतार्थसमीपछिन्नेनापि पथा गच्छति ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञानमाचाराऽऽदि, दर्शनं दर्शनविशुद्धिकारकाणि शास्त्राणि तदर्थमध्वानं गच्छेत् , चारित्रार्थं नाम-यत्र देशे स्त्रीदोषा वा भवन्ति तं परित्यज्य देशान्तरं गन्तव्यम् ।

एएहिं कारणेहिं, आगाढेहिं तु गम्ममाणेहिं ।
उवगरणपुव्वं गहिऊ-ण पडिलेहिएण गंतव्वं ॥६१६॥

एतैः-अशिवादिभिः कारणैरागाढैरेव गम्यमानैः-प्राप्यमाणैः उपकरणमध्वप्रायोग्यं गृहीत्वा पूर्वं गमनात् प्राक् प्रत्युपेक्षितः सम्यक् शुद्धाऽशुद्धतया निरूपितो यः स सार्थस्तेन सह गन्तव्यम् । बृ० १ उ० ३ प्रक० ।

(ग्लानवैयावृत्यमधिकृत्योक्तम्)-आगाढे कारणजाते सति वैयावृत्यं कुर्यादपि, परित्यजेद्वा ग्लानं, किं पुनस्तत्कारणजातम् । बृ० १ उ० २ प्रक० । इति ' गिलाण ' शब्दे तृतीयभागे ८६३ पृष्ठे वक्ष्यते ।)

अणुवसमंते निग्गमो , लिंगविवेगेण होइ आगाढे ।
देसंतरसंकमणं, भिक्खुगमादी कुलिंगेणं ॥ २७० ॥

अनुपशमयति-उपशममकुर्वति राज्ञि निर्गमो भवति । कथमित्याह-लिङ्गविवेकेन—लिङ्गपरित्यागेन ; गृहस्थलिङ्गेनेत्यर्थः । अथ तथाऽपि न मुञ्चति गाढकोपावेशात् , तत आह-आगाढम् अत्यन्तप्रकोपतो गाढममोक्षणे भिक्षुकादिलिङ्गेन देशान्तरसंक्रमणं कर्त्तव्यम् । अशिवाऽऽदौ वा कारणे समुपस्थिते देशान्तरगमनं किल कर्त्तव्यम् । व्य० १ उ० । (" असिवं० " इत्यादिगाथाभिः ' आगाढ ' स्वरूपं ' कालकप्प ' शब्दे तृतीयभागे ४८६ पृष्ठे वक्ष्यते)

आगाढे अन्नलिंगं, कालक्खेवो य होति गमणं वा ।६६०४।

आगाढे-राजाद्विष्टे । बृ० १ उ० ३ प्रक० ।

(आहारमधिकृत्याऽऽगाढस्य भेदाः) किं पुण आगाढं, अणागाढं वा । तत्थिमं आगाढं समासतो चउव्विहं । गाहा—

अद्धाणे ओमे वा, गेलन्न-परिन्न-दुल्लभे दव्वे ।
आगाढं नायव्वं, मुत्तूण होंति ऽणागाढा ॥ १६० ॥

इमं खेत्ताऽऽगाढं अद्धाणपडिवन्नगाढं सव्वं जाहे असंथरणं तं गाढं । इमं कालाऽऽगाढं ओमकाले जं असंथरणं तं गाढं । इमे गिलाणपरिन्ना दोऽवि भावाऽऽगाढं गिलाणस्स तद्दिवसे पायोग्गं जति न लब्भंति तो गिलाणो गाढं परिताणस्स असमाधाणे उप्पण्णे दिया रातो वा परिणाऽऽगाढं गिलाणस्स तद्दिवसं पायोग्गं इह रातीं अहिगारो । इमं दव्वाऽऽगाढं 'दुल्लभदव्वे'ति-सतपाग-सहस्सपागं,घयं,तेल्लं तेण साहुणो कज्जं तंमि अलभंते दुल्लभदव्वाऽऽगाढं । एवंविधं आगाढं नायव्वं । पडिपक्खे अणागाढं । नि० चू० ११ उ० ।

(विस्तरेणाऽऽगाढस्य भेदाः)—

दव्वे खेत्ते काले, भावे पुरिसे तिगिच्छे असहाए ।
एतेहिं कारणेहिं, सत्तविहं होइ आगाढं ॥

पं० भा० ४ कप्प० । नि० चू० ।

दव्वे ताव वेज्जो पुच्छियव्वो । जाव इयाणि दव्वाणि उवइसइ ताव इयाणि न पडिसेविज्जंति । जहा एयं अम्ह न कप्पइ । ताहे उवइट्ठाणि, ताहे ओमत्थइ परिहाणीए भण्णइ । पं०चू० ।

(द्रव्याऽऽगाढम्)—

एगादीयवड्डीए, एगुत्तरिया य होति दव्वाणं ।
ओमत्थगपरिहाणी, दव्वागाढं वियाणाहि ॥
जंयेति पुणो वेज्जो, सच्चित्तं दुल्लभं च दव्वं वा ।
अप्पाडिहणंतो अच्छति, उद्दिसिउं जाव सो ठाति ॥
जाहे उद्दिट्ठाणी, ताहे ओमत्थहाणिए भणति ।
अम्हे करेमो जोग्गं, अलंभे एयस्स किं कुणिमो ॥
एवं तु हावयंता, खेत्तं कालं च भावमासज्ज ।
ता जूहंती जाव उ, लंभे जेसिं तु दव्वाणं ॥
अह पुण भणेज्ज एवं, अवस्समेतेहि कज्जदव्वेहिं ।
एतं दव्वाऽऽगाढं तहिं जए पणगहाणीए ॥

पं० भा० ।

एगाइयवड्डीए अम्हे करेमु जोगं मग्गसु तं चेव जाव कलमसाली । खेत्तकालगाढा । तहेव य जहिं लाभो तहिं ठायंति । अहवा-भणेज्जा अवस्सिमाणि दव्वाणि जाणि दव्वाणि दुल्लहाणि परित्ताणइ स तेल्लमाईणि वा तहि तं दव्वाऽऽगाढं पणगपरिहाणीए जयंति जाव चउगुरुएण वि गेण्हंति । पं० चू० ।

खेत्ताऽऽगाढमियाणि गाहा—

खेत्ताऽऽगाढं इणमो, असती खेत्ताण मासजोग्गाणं ।
असिवं वा अन्नत्थ, णदी व य वा होज्ज सद्दा तु ॥
आयरियादि अहारग, अहवा अन्नत्थ सावत्ता होज्ज ।
अंतर जहिं च गम्मति, वाला ताहे ण खुत्तियं वा ॥
एतेहि कारणेहिं, खेत्ताऽऽगाढंमि पुरिसे य ।
तो अत्थंति असढभावा, एगखेत्ते वि जयणाए ॥

पं० भा० ।

खेत्तस्स वा अलंभे असइ मासपाउग्गाणं खेत्ताणं एगत्थ अत्थंति असिवं वा अनत्थ नई वा तीरंति गंतूण अकारगं वा आयरियाणं अन्नत्थ सावया वा तत्थ अंतरा वा दिव्वजाइया वा अन्नंमि देसे अंतरा वा ताहे एगत्थ अत्थंति अहवा-खेत्ताऽऽगाढं । पं० चू० ।

(कालाऽऽगाढम्)—

कालस्स वाऽवि असती, वासावासे वियारणा णऽत्थि ।
एतेहिं कारणेहिं, कालाऽऽगाढं वियाणाहि ॥
वासाजोगं खेत्तं, पडिलेहे तं तु कालेणं बहुतो ।
वच्चंताण य अंतर-वासं तु णिवडितुं पवत्तं ॥
डहरं वंतरखेत्तं, ताहे तं चेव पुव्वखेत्तं तु ।
गंतू वसती वासं, समतीते वा ति दस रातं ॥पं० भा०॥

कालओ कालेण बहुत्तो वासावासपाउग्गं खेत्तं वच्चंताणं अंतरावासं पडियं तं च अंतराखेत्तं । संनिसन्नगं ताहे तं चेव पुव्वपडिलेहियं खेत्तं । जं निउच्छंता वि अइत्थिरा वा वासावासे जइ वासइ मग्गसिरे दस राया तिण्णि होंति

उक्कोसेण ओमोयरियाए वा जा जयणा आहाराइसु एवं कालाऽऽगाढं । पं० चू० ।

इयाणि भावाऽऽगाढं—

अतिउक्कडं च दुक्खं, अप्पा वा वेदणा भवे आसुं ।
एतेहिँ कारणेहिं, भावाऽऽगाढं वियाणाहि ॥
अच्चुक्कडसूलादी, अहिडक्काई तु वेदणा अप्पा ।
तत्थऽग्गि तावणादी, दाहच्छेदोवगाढादी ॥ पं० भा० ॥

'अइउक्कडं च' अइउक्कडंति-विसूइयाइ अहिदट्ठविसं अप्पा वा वयणा हिययसूलाइ तत्थ अग्गी कंदाइं वा परित्ताणं ताइ दायव्वं एवं भावाऽऽगाढं । पं० चू० ।

(पुरुषाऽऽगाढम्)—

जंमि विणट्ठे गच्छ-स्स विणासो तह य णाणचरणाणं ।
एतेहिँ कारणेहिं, पुरिसाऽऽगाढं वियाणाहि ॥
तस्स तु सुद्धालंभे, जावज्जीवं पि होत सुद्धेणं ।
कायव्वं तु य णियमा, पुरिसाऽऽगाढं भवे एतं ॥
जेण कुलं आयत्तं, तं पुरिसं आदरेण रक्खाहि ।
ण हु तुंबुंमि विणट्ठे, अरया साहारगा होंति । पं० भा० ।

पुरिसाऽऽगाढे-जंमि विणट्ठे गच्छस्स विणासो नाणदरिसणचरित्ताईणं विणासो । न हु तुंबुंमि विणट्ठे गाहा—ताहे तस्स असुद्धेणावि कीरइ जाव जीवइ एवं पुरिसाऽऽगाढं । पं० चू० ।

(चिकित्साऽऽगाढम्)—

संजोगदिट्ठपाढी, फासुगउवदेसणासु जो कुसलो ।
एतारिसस्स असती, णायव्वं तिगिच्छमागाढं ॥
मज्जणतूलिविभासा, अरणे पाउरणए य पाणे य ।
केवडियाण पहाणे, अवध वत्तो गिलाणो तु ॥
पं० भा० ।

संयोगदिट्ठपाढी-वेज्जस्स वा संयोगदिट्ठपाढिस्स असइ गीयत्थसंविग्गस्स । ताहे गीयत्थवेज्जस्स जा पाहुडिया कीरइ-पहाणभोयणचोयणाइ तं सद्दहइ । एवं तिगिच्छाऽऽगाढं । पं० चू० ।

सहायाऽऽगाढम्—

हुज्ज व सहायरहितो, अव्वत्ता वाऽवि अहव असमत्था ।
एय सहायाऽऽगाढं, तम्हा णु मुणी ण विहरेज्जा । पं० भा० ४ कल्प० ।

होज्ज व सहायसहाया वासावासे नत्थि अवसव्वया सुत्तेण वा दोसा य हिंडमाणस्स वा एगागियस्स ताहे एगत्थ अत्थइ एगं अत्थंतो अणायच्छिन्नो जाव सहाए न लभइ पाउग्गे, एवं सहायाऽऽगाढं । पं० चू० ४ कल्प । आशुघातिनि अहिदंशनादिके कारणे च । बृ० ।

अहिडक्कविसविसूइय-सज्जक्खयसूलमागाढं ॥ १४६ ॥

अहिना-सर्पेण दष्टः कश्चित्साधुः, विषं वा केनचित्क्काद्रिमिश्रं दत्तं, विसूचिका वा कस्यापि जाता, सद्यः क्षयकारि वा कस्यापि शूलमुत्पन्नम् एवमादिकमाशुघाति सर्वमप्यागाढम् । एतद्विपरीतं तु चिरघाति कुष्ठादिरोगात्मकम्-अनागाढम् । बृ० १ उ० २ प्रक० । नि० चू० । ग० । ('गच्छसारणा' शब्दे तृतीय भागेऽत्र विस्तरो वक्ष्यते) अवश्यकर्त्तव्ये कार्ये, ग० ।

अणगाढे आगाढं, करंति आगाढेँ अणगाढं ॥११६॥

आगाढम्-अवश्यकर्त्तव्यं ग्लानप्रतिजागरणादिकं न आगाढम् अनागाढं तस्मिन् अनागाढे; कार्ये इति शेषः । आगाढम्-अवश्यकर्त्तव्यमिति कृत्वा कुर्वन्तीत्यर्थः । तथा-आगाढे-अवश्यकर्त्तव्य कार्ये । अनागाढं कार्यं येन कृतेन विनाऽपि सरति; तत्कार्यं कुर्वन्तीत्यर्थः । अथवा-अनागाढयोगानुष्ठाने वर्त्तमाने; आगाढयोगानुष्ठानं कुर्वन्ति । तथा-आगाढयोगानुष्ठाने अनागाढयोगानुष्ठानं कुर्वन्ति स्वच्छन्दाः । ग० ३ अधि० । औत्पत्तिके कार्ये च । आगाढं तु किंचिदौत्पत्तिकं कार्यम् । बृ० १ उ० ३ प्रक० । "आगाढमुसावाई" ॥३७२×॥ आगाढे-कुलकार्ये संघकार्ये वेति । व्य० ३ उ० ।

करणे य विवचासं, करेइ आगाढेँ ऽणागाढं ॥ ७२२×॥

आगाढे-ग्लानादिकार्ये अनागाढं त्रिः कृत्वा परिभ्रमणादिलक्षणम्, अनागाढे वा आगाढं सद्यः प्रतिसेवनात्मकं करोति । बृ० १ उ० १ प्रक० । आगाढे-राजद्विष्टादिककार्ये । बृ० १ उ० ३ प्रक० । अभिगृहीतमिथ्यादर्शने, पुं० । आगाढः-अभिगृहीतमिथ्यादर्शनः । बृ० १ उ० २ प्रक० ।

आगाढजोग-आगाढयोग-पुं० । योगभेदे, नि० चू० ।

आगाढमणागाढे, दुविहे जोगे समासतो होति ॥२६+॥

जोगो दुविहो-आगाढो य, अनागाढो य । आगाढं तु राजंमि जोगे जतणा सो आगाढो यथा "भगवती" त्यादि । नि० चू० १ उ० । बृ० । (अत्र विशेषव्याख्यानम् 'अज्जा' शब्दे प्रथमभागे २२० पृष्ठे गतम् ।)

आगाढपण्ण-आगाढप्रज्ञ-न० । शास्त्रे, व्य० । "आगाढपण्णेसु य भावियप्पा" ॥ ३७× ॥ आगाढप्रज्ञानि-शास्त्राणि तेषु भावितात्मा-तात्पर्यग्राहितया लब्धातीवनिपुणमतिः । व्य० ३ उ० ।

आगाढपण्ह-आगाढप्रश्न-पुं० । अत्यन्तदुर्भेदप्रश्ने, व्य० । "आगाढपण्हेसु य संथवेसु" ॥२७०+॥ आगाढप्रश्नेषु वाऽत्यन्तदुर्भेदप्रश्नेषु परिचयेषु सत्स्विति । व्य० १ उ० ।

आगाढपरियावण-आगाढपरितापन-न० । बहुतमपीडोत्पादनात्मके परितापे, जीत० । "आगाढपरियावणुद्दवणे" ॥२०×॥ बहुतमपीडोत्पादनं चाऽऽगाढम् । जीत० ।

आगाढमुसावाइ-(न्)-आगाढमृषावादिन्-त्रि० । आगाढे-कुलकार्ये, गणकार्ये, संघकार्ये वा अनाभाव्यस्य आभाव्यस्य वा (नाभाव्यस्य वा) ज्ञानतया रागद्वेषाज्ञानस्य वा भणनात् मृषावदतीत्येवंशील आगाढमृषावादी । कार्ये सति मृषावादिनि, व्य० ।

आगाढमुसावादी, बितियतइए उ लोवेति वए उ ।३७२+।

आगाढे मृषावादी द्वितीयमृषावादादत्तादानविरतिरूपे व्रते लोपयति । व्य० ३ उ० । ('उद्देस' शब्देऽस्मिन्नेव भागेऽत्र विस्तरं वक्ष्यामि)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आगाढवयण–आगाढवचन–न० । अत्यर्थं गाढम् आगाढम् । " गाढुत्तगूहणकरं, गाहेउं व तेण आगाढं " (३+) । गाढं उक्तं गाढुत्तं तं केरिसं गूहणकरं अन्यस्याख्यातुं न शक्यते । अथवा-शरीरस्योष्मा येनाङ्गेन जायते तमागाढम् इत्युक्तलक्षणे वचने, । नि० चू० १० उ० ।

सूत्रम्—

जे भिक्खू भदंतं आगाढं वयइ वदंतं वा साइज्जइ ॥ १ ॥

आगाढवचन-परुषवचना-ऽऽगाढपरुषवचननिषेधः—

मा भुंज रायपिंडं–ति चोदितो तत्थ मुच्छितो गिद्धो ।
खुज्जाती माल वचह, आगाढं च उप्पती दसमे ॥ १ ॥

गुरुणा चेतितो मुच्छियो गिद्धो एकार्थवचनं, अहवा—तं भुंजतो संजमाऽसंजमं ण जाणइ, मूर्च्छितवत् मूर्च्छितो अभिलाषमात्रगृद्धः, अहवा—खुज्जादियाणमालयं वच्चहति चोदितो आगाढवयणं भणेज्ज । एस उप्पत्ती आगाढवयणस्स दसमुद्देसगस्स एस संबंधो । (१ सूत्र व्याख्या)– ' जे ' इति णिद्देसे भिक्खू पुव्ववणियओ, ' भदि ' कल्याणे, सुखे च । दीप्ति-स्तुति-सौख्येषु वा, माहात्मस्य सिलोकः। भदंतो-आचार्यो अत्यर्थम्-आगाढं, ' वद ' व्यक्तायां वाचि, अएणं वा वदति-अणुमोदति ।

णिज्जुत्तीगाहा—

आगाढं पि य दुविधं, होइ असूआए तह य सूयाए ।
एएसिं पत्तेयं, दोएहं पि पडूवणं वोच्छं ॥ २ ॥

आगाढं द्विविधम्-असूताये, सूताए वा । आगाढफरुसोभयसुसाणं तिएह वि इमं सई वा ।

गाहा—

गाढुत्तगूहणकरं, गाहेउं व तेण आगाढं ।
णेहरहितं तु फरुसं, उभए संजोयणा णवरं ॥ ३ ॥

गाढम्-उक्तं गाढुत्तं, तं केरिसं-गूहणकरं-अन्यस्याख्यातुं न शक्यते । अहवा-शरीरस्योष्मा येनाङ्गेन जायते तमागाढं, नेहरहियं णिप्पिवासं, फरुसं भएणति । गाढफरुसं-उभयं ततियसुत्ते जोगो दोएह वि, सूयाऽसूयवयणाणं इमेहिं दारेहिं सरूवं जाणियव्वं ।

गाहा—

जातिकुलरूवभासा, धणबलपरियागजसत्तवेलाभे ।
सत्तवयबुद्धिधारण, उग्गहसीले समायारी ॥ ४ ॥
अम्हे 'मो जातिहीणा, जातीमंतेहिँ को विरोहेण ।
एस असूया सूयां, तु णवरं परवत्थुणिद्देसो ॥ ५ ॥

लोकप्रसिद्धं उल्लिंघितवचनं तव अत्र तादृशं न गृहीतव्यम् । इह तु परं दोषेण सूचयति; स्पष्टमेव दोषं भासतीत्यर्थः । परवत्थुणिद्देसो णामं—' भदंतं ' चेव भएणति, तुमं जातिहीणो त्ति ।

गाहा—

अम्हे 'मो कुलहीणा, को कुलपुत्तेहिँ सह विरोहेणं ।
एस असूया सूया, तु णवरं परवत्थुणिद्देसो ॥ ६ ॥
अम्हे 'मो रूवहीणा, सरूवदेहेसु को विरोहेण ।
एस असूया सूया, तु णवरं परवत्थुणिद्देसो ॥ ७ ॥
अम्हे मो अकतमुहा, अलं विवाएण णेकत्तमुहेहिं ।
एस असूया सूया, तु णवरं परवत्थुणिद्देसो ॥ ८ ॥

वाग्मीकृतमुखभासाए द्वितीयव्याख्यानम् ।

गाहा—

खरफरुसणिट्ठुरं णे, वक्कं तुज्झं मो महुरगंभीरं ।
एस असूया सूया, तु णवरं परवत्थुणिद्देसो ॥ ९ ॥

सरोसवणियमिश्रकंतं खरं प्रकुर्यन हणि तएहं फरुसं-जगारादियं अणुवयारं णिट्ठुरं । ' मो ' इत्यात्मनिर्देशे, अक्खरेहिं मितं अत्थमभिधाणेहिं मधुरं सरेण गंभीरं ।

गाहा—

अम्हे मो धणहीणा, आसि अगारंमि इड्डिमं तुज्झे ।
एस असूया सूया, तु णवरं परवत्थुणिद्देसो ॥ १० ॥
एमेव सेसएसु वि, जोएयव्वा असूय–सूयाओ ॥
अत्तगता तु असूया, सूया पुण पागडं भणिया ॥११॥

अप्पणो दोसं भासति, ण परस्स, एसा असूया । ण अप्पणो परस्स फुडमेव दोसं भासति एसा सूया । सूयतीव सूया । औरसबलयुक्तो बलवान् । परियाओ-प्रव्रज्याकालः । सड्ढो वा सड्ढः-प्रथमे वयसि वर्त्तमानः, त्रिदशवत् वयोवर्जो वा जंमि वए ठितो तस्स तदा गुणवासंति उप्पत्तियादिबुद्धिजुत्तो बुद्धिमं धारणा दृढस्मृतिः बहुबहुविधक्षिप्रानिश्रिताः-संदिग्धे ध्रुवाणां उग्गहं करेति, अक्कोहादिणा सालवे चक्कवालसामायारीपज्जुत्तो कुसलो वा एते अत्था सव्वे सूयाऽसूएहिं भाणियव्वा ।

गाहा—

एक्केका सा दुविधा, संतमसंता य अत्तणि परे य ।
पच्चक्खपरोक्खाऽवि य, असंतपच्चक्खदोसयरा ॥१२॥

आत्मगता असूया । परगता सूया । असूया-संता, असंता य । सूया वि-संता, असंता य । जहत्थेण ठियं संतं अभूतार्थं अनृतं, असंतं-परस्स जं पभासति पच्चक्खं महंतदोसतरं भवति, अहवा-इमेहिं अप्पाणं, परं वा, पसंसति, णिंदति वा ।

गाहा—

गणि वायते बहुसुते, सेहा वाऽऽयरियधम्मकहिवादी ।
अप्पकमाए थूले, तणुए दीहे य मडहे य ॥ १३ ॥
अम्हे खमणा ण गणी, को गणवसभेहिँ सह विरोहेण ।
एस असूया सूया, तु णवरं परवत्थुणिद्देसो ॥१४॥
अगणिं तु हासमादीहिँ अगणिं व गणिं पूयागणिं च ।
एवं सेसपएसु वि, सप्पडिपक्खं तु नेयव्वं ॥ १५ ॥

सेसा पादा बहुसुतादीया निवित्तं, बहुयं च सुयं बहुस्सुतो, तिविधो-मेहावी-गहणधारणमेधावी य, आयरियोगच्छाहिवती, तत्थेवं भासति-अम्हे के ? आयरियत्तस्स जं सामायारिं पि ण याणामो । अहवा-भणति-तुमं को आयरियत्तस्स जो सामायारिं पि ण याणसि, चतुव्विहाए अक्खेवणियमादियाए धम्मकहाए लद्धीए जुत्तो ससमय-

१–' मो ' इत्यात्मनिर्देशे, (६) गाथा निवरणे नव्याये चूर्णिकारः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परसमयसु गतागमो उप्पएणपइतो वादी बहु अल्पकषायः कियासु दक्षः स्थूरः तनुर्दृक्षः समापूरदेहाको तणुदेहे हीणेण सह विरोधो घट्टमो णिरं उवरिं मडहसरीरेहिं को विरोहेण, णिदं च करेंति, थुती य, परमप्पणो कहतरं णाउं परवयणपयोगवसा पुव्वुत्तरमप्पणो देति एतेसामन्नतरं आगाढं जो वदति तस्सिमा सोही।

गाहा—

छेदादी आरोवण, नेयव्वा जाव मासियं लहुगं।
आयरिए वसभंमि य, भिक्खुंमि य खुड्डुए चेव ॥१६॥
आयरिओ आयरियं, आगाढं वयति पावई छेयं।
वसभे छग्गुरु भिक्खु–म्मि छल्लहू खुड्डुए गुरुगा॥१७॥

आयरिओ आयरियं आगाढं वदंत-छेदो, आयरिओ वसभं ङ, आयरिओ भिक्खु ङ, आयरिओ खुले ङ।

गाहा—

वसभे छग्गुरुगाई, छल्लहुगा भिक्खुखुड्डे गुरुगाई।
अंता पुण सिं चउ लहु, मासगुरू मासलहुओ य ॥१८॥

वसभो आयरियं आगाढं वदति ङ, खुलो वसभं ङ, खुलो खुलं, अहवा अन्यथा प्रायश्चित्तक्रमः।

गाहा—

पंचएहापरियारइ, छेया एक्केक्कहासणा अहवा।
राइंदियवीसंऽतं, चउण्ह चत्तारि अविसिट्ठा ॥ १६ ॥

आयरियवसभभिक्खुवरो खुलो यच्छेदादी वीसए रातिंदियाइं अंतेणं चेव वारावणप्पओगेणं वारयव्वं, जत्थ जत्थ चउगुरुगं तत्थ तत्थ सुत्तणिवाओ दट्ठव्वो, अहवा-पुव्वुत्ताण चउण्हं चउगुरुगं तव-कालविसेसियं, अहवा-सव्वेसिं अविसिट्ठं चउ।

गाहा—

जं चेव परट्ठाणे, आसायंताण पावए ओमं।
तं चेव य ओमो वि य, आसाइंतो वि राइणियं ॥२०॥

परट्ठाणं परप्रधानं, ज्येष्ठमित्यर्थः। जं सो ओमं आसादेंतो पावति ओमे वि तं चेव जेट्ठं आसादेंतो पावति।

गाहा—

एएसामन्नयरं, आगाढं जो वदे भयंतारं।
सो आणाअणवत्थं, मिच्छत्तविराधणं पावे ॥२१॥

असंखडादयो दोसा पक्खाऽपक्खगहणे य गच्छभेदाः कारणे भणेज्जाऽवि। नि० चू० १० उ०।

ण य णिच्छयमावसिया, छट्ठं वल्ली फलाऽवि संबद्धा।
इति हरिसगमणचोदण-आगाढं चोदितो भणति ॥१॥

कारणे-वासावासे भायं णाणं कसेणं कतेणं वसित्ता पासति। तं बीओ जायपुत्त भंडाओ ताहे सो हरिसितो भणति-ण णिच्छयामो वसित्ता मम वादेसु अतीव वल्लीओ पसारिता ण केवलं पसारिता तो पभूता फलाधि संबद्धा न केवलं संबद्धा प्रायशो निष्पन्ना। अभिस्समो पादे तं एवं भणंतं कोऽवि साधू पडिचोएज्जा। मा अज्जो! एवं भणाहि ण वट्टति। ततो सो पडिचोदणाए रुट्ठो फरुसं वदेज्ज।

तत्प्रतिषेधार्थमिदं सूत्रमारभ्यते—

जे भिक्खू भिक्खूणं आगाढं वदइ वदंतं वा साइज्जइ॥१॥
जे भिक्खू भिक्खूणं फरुसं वदइ वदंतं वा साइज्जइ ॥२॥
जे भिक्खू भिक्खूणं आगाढफरुसं-वदइ वदंतं वा साइज्जइ ॥ ३ ॥

आगाढ-फरुस-मीसग-दसमुद्देसंमि वणिणयं पुव्वं।
तं चेव विवज्जंतो, सो पावति आणमादीणि ॥ ४ ॥

नि० चू० १५ उ०।

जे भिक्खू अएणउत्थियं वा गारत्थियं वा आगाढं वदइ वदंतं वा साइज्जइ ॥ ६ ॥

जे भिक्खू अएणउत्थियं वा गारत्थियं वा फरुसं वदइ वदंतं वा साइज्जइ ॥ १० ॥

जे भिक्खू अएणउत्थियं वा गारत्थियं वा आगाढफरुसं वदइ वदंतं वा साइज्जइ ॥ ११ ॥ नि०चू०-१३ उ०।

आगाढफरुसमीसग-दसमुद्देसंमि वणिणतं पुव्वं।
गिहिअएणतित्थिएहि व, ते चेव य होंति तेरसमे ॥२५॥

जहा दसमुद्देसे भदंतं प्रति आगाढफरुसमीसगसुत्ता भणिता, तहा इहं गिहत्थ अएणउत्थियं प्रति वक्तव्या, इमेहिं आतिमक्खिएहिं गिहत्थं अएणतित्थियं वा ऊणतरं परिभवंतो आगाढं फरुसं वा भणति। नि० चू० १३ उ०।

आगाढसुय-आगाढश्रुत-न०। श्रुतभेदे, नि०चू०। आगाढसुयं भगवतीमाइ. अणागाढं आयारमाति त्ति। नि० चू० १ उ०। "आगाढे पढमत्थे वि" ॥२४+॥ आगाढे तु-उत्तराध्ययन-भगवत्यादिके श्रुते। जीत०।

आगाढाऽऽगाढकारण-आगाढाऽऽगाढकारण-न०। तथाविधे प्रयोजने, " अएणत्थ आगाढाऽऽगाढेहिं "(सूत्र-६६+)। अन्यत्र-तथाविधप्रयोजनात्। आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० १ उ०।

भिक्खू य बहुस्सुए बब्भागमे बहुआगाढाऽऽगाढेसु कारणेसु माई मुसावाई। (सूत्र-२३ ×)

(इदं संपूर्णं सूत्रम् ' उद्देस ' शब्दे अस्मिन्नेव भागे व्याख्यासहितं दर्शयिष्यते।) कुलप्राप्तं गणप्राप्तं संघप्राप्तं यत् सचित्तादिकं व्यवहारेण छेत्तव्यं कार्यं वा आगाढाऽऽगाढं कारणं तेषु आगाढाऽऽगाढेषु। व्य० ३ उ०।

आगाढाऽऽगाढकारणादीनि पदानि व्याचिख्यासुराह (भाष्यकृत्)—

कुलगणसंघप्पत्तं, सच्चित्तादी तु कारणागाढं ॥२८५×॥

सचित्तनिमित्तोऽचित्तनिमित्तो वा यो व्यवहारः कुले छिन्नो यथेदं सचित्तादिकं विवादास्पदीभूतं कुलेन छेत्तव्यमिति तत्कुलप्राप्तमेवं गणप्राप्तं सङ्घप्राप्तं भावनीयम्, यत्र यत्सचित्तादिकं विवादास्पदीभूतं व्यवहारेण छेद्यतया कुलप्राप्तं वा गणप्राप्तं वा तत्कारणाऽऽगाढं कारणम्। व्य० ३ उ०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आगामि(न्)-आगामिन्-त्रि०। आगन्तुके, भविष्यत्कालवृत्तौ च। वाच०। लब्धव्ये,। स्था० २ ठा० ४ उ०।

आगामिपह-आगामिपथ-पुं०। आगामिनो-लब्धव्यस्य वस्तुनः पन्थाः आगामिपथः। लब्धव्यवस्तुमार्गे, स्था० २ ठा० ४ उ०।

आगामिय-आकामिक-त्रि०। अनभिलषणीये, स्था० ५ ठा० २ उ०।

अग्रामिक-त्रि०। ग्रामरहिते, स्था०। " अत्थेगइया णिग्गंथा य णिग्गंथीओ य एगमहं आगामियं छिन्नावायं दीहमद्धमडविमणुप्पविट्ठा " (सूत्र-४१७ +)। स्था० ५ ठा० २ उ०।

आगार-आकार-पुं०। आ-कृ-घञ्। आकृतौ, आ० म० १ अ०। कल्प०। ज्ञा०। स्था०। भ०। रा०। संस्थाने, औ०। " सिंगारागारचारुवेसाए " (सूत्र-) श्रृङ्गारो-मण्डनभूषणाटोपस्तत्प्रधान आकारः—आकृतिर्यस्याः सा तथा। तथा चारु वेशो-नेपथ्यो यस्याः सा तथा, ततः कर्मधारयः। रा०। औ०। सन्निवेशविशेषे, श्रृङ्गारः—श्रृङ्गाररसपोषकः आकारः—सन्निवेशविशेषो यस्य। चं०प्र० २० पाहु०। " आगारविगारं तह प्पयासंति " ॥ १२१ + ॥ आकारं-मुखनयनस्तनाद्याकृतिः, विकारं च मुखनयनादिविकृतिः। यद्वा-आकारस्य स्वाभाविकाकृतेर्विकारो विकृतिस्तं तथा प्रकाशयन्ति। ग० ३ अधि०। आगारो णाम-आगारो त्ति वा, आगति त्ति वा, संठाणं ति वा, एगट्ठा। आ० चू० १ अ०। स्वरूपे, ध० ३ अधि०। " कइयागयस्स आगारा " (सूत्र-५५३ +) आकारा-आकृतयः; स्वरूपाणीत्यर्थः। स्था० ७ ठा० ३ उ०। रूपमाकारश्चक्षुर्विषयः। स्था० १ ठा०। प्रतिवस्तुनियते ग्रहणपरिणामे च। " आगारो उ विसेसो, " इति वचनादिति। जी० १ प्रति०। सह आकारेण वर्त्तत इति साकारं विशेषग्रहणप्रवणम्। दर्श० ५ तत्त्व।

(सर्वस्य च वस्तुन आकारवत्त्वम्)—

आगारो च्चिय मइस-द्दवत्थुकिरिया फलाभिहाणाइं।
आगारमयं सव्वं, जमणागारं तयं नऽत्थि ॥ ६४ ॥
न पराणुमयं वत्थुं, आगाराऽभावओ खपुप्फं व।
उवलंभव्ववहारा ऽ-भावाओ नाणऽऽगारं च ॥ ६५ ॥

विशे०। (अनयोर्गाथयोरर्थः 'ठवणाणय' शब्दे चतुर्थभागे वर्णयिष्यते) आक्रियते-आकल्प्यतेऽभिमतं मनोविकल्पितं वस्त्वनेनेत्याकारः। आ-कृ-करणे घञ्। बाह्यचेष्टायाम्, विशे०। आ० म०। आकारः-स्थूलधीसंवेद्यः प्रस्थानादिभावाऽभिव्यञ्जको दिगवलोकनादिः। आह च—

" अवलोयणं दिसाणं, वियंभणं साडयस्स संठवणं।
आसणसिढिलीकरणं,पट्ठियलिंगाइँ एयाइं। उत्त० पाई० १ अ०।

यदुक्तम्—

अवलोकनं दिशानां, विजृम्भणं शाटकस्य संवरणम्।
आसनशिथिलीकरणं,प्रस्थितलिङ्गानि चैतानि।१। उत्त.१ अ.।

"आगारेहिँ सरेहि य"॥१४०×॥ आकाराः-शरीरगता भावविशेषाः। व्य० १ उ० (विस्तरोऽस्य 'आगारलक्खण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते)। भावे घञ्। हृद्गतभावावेदने, इङ्गिते च। वाच०। आक्रियन्त इत्याकारा आगृह्यन्त इति भावना। सर्वथा कायोत्सर्गापवादे, आव० ५ अ०। ल०। कायोत्सर्गाकारानभिधायोक्तम्-"एवमाइएहिं आगारेहिं अभग्गो अविराहिओ हुज्ज मे काउस्सग्गो" (सूत्र-३+) त्ति। ल०। आव० (ते च 'काउस्सग्ग' शब्दे तृतीयभागे वर्णयिष्यन्ते)। आ-मर्यादया मर्यादाख्यापनार्थम् आक्रियन्ते-विधीयन्ते प्रत्याख्यानभङ्गपरिहारार्थमित्याकाराः। प्रत्याख्यानापवादहेतावनाभोगादिके, स्था० १० ठा० ३ उ०। प्रव०। पञ्चा०। आव०। " आगारेहिँ विसुद्धं " ॥५०५+॥ आकारैः-अनाभोगादिभिः। पं०व० २ द्वार। " गहणे आगारेसुं " ॥ ५+॥ आकारेषु—प्रत्याख्यानापवादेषु। पञ्चा० ५ विव०। " दो चेव नमुक्कारे आगारा " ॥ ५०८+॥ आकारो हि नाम-प्रत्याख्यानाऽपवादहेतुः। पं०व० २ द्वार।

(कस्य प्रत्याख्यानस्य कत्याकाराः)—

नवकारपोर (रि) (रु) सीए,
पुरिमड्ढेकासणेगठाणे अ।
आयंबिलऽभत्तट्ठे,
चरिमे अ अभिग्गहे विगई ॥ ५०६ ॥
दो छच्च सत्त अट्ठ य,
सत्तऽट्ठ य पंच छच्च पाणम्मि।
चउ पंच अट्ठ नवए,
पत्तेअं पिंडए नवए ॥ ५०७ ॥

' नमस्कार ' इति-उपलक्षणत्वात् नमस्कारसहिते पौरुष्यां पुरिमार्द्धे एकासने एकस्थाने च आयाम्ले अभक्तार्थे चरमे च अभिग्रहे विकृतौ, किं ?-यथासङ्ख्यमेते आकाराः, द्वौ षट् सप्त अष्टौ च सप्त अष्टौ च पञ्च षट् (पाने) चतुः पञ्च नवाऽष्टौ प्रत्येकं, पिण्डके नवक इति गाथाद्वयाक्षरार्थः॥५०६॥५०७॥

भावार्थमाह—

दो चेव नमुक्कारे, आगारा छच्च पोरिसीए उ।
सत्तेव य पुरिमड्ढे, एकासणगम्मि अट्ठेव ॥ ५०८ ॥
सत्तेकट्ठाणस्स उ, अट्ठेवाऽऽयंबिलस्स आगारा।
पंच अभत्तट्ठस्स उ, छप्पाणे चरिम चत्तारि ॥ ५०९ ॥
पंच चउरो अभिग्गह, निव्विइए अट्ठ नव य आगारा।
अप्पावरणे पंच उ, हवंति सेसेसु चत्तारि ॥ ५१० ॥
नवणी उग्गाहिमए, अद्दवदहि पिसिअ घय गुले चेव।
नव आगारा तेसिं, सेसदवाणं च अट्ठेव ॥ ५११ ॥

द्वावेव नमस्कार आकारौ, इह नमस्कारग्रहणात् नमस्कारसहितं गृह्यते, तत्र द्वावेवाकारौ, आकारो हि नाम-प्रत्याख्यानापवादहेतुः, इह च सूत्रम्-" सूरे उग्गए नमुक्कारसहिअं पच्चक्खाइ चउव्विहंपि आहारं-असणं,पाणं,खाइमं, साइमं, अण्णत्थणाभोगेणं सहसागारेणं वोसिरइ " सूत्रार्थः प्रकट एव, आकारार्थस्त्वयम्-आभोगनमाभोगः न आभोगोऽनाभोगः; अत्यन्तविस्मृतिरित्यर्थः तेन, अनाभोगं मुक्त्वेत्यर्थः, अथ सहसा करणं सहसाकारः ; अतिप्रवृत्तयोगानिवर्त्तनमित्यर्थः, 'षट् च पौरुष्यां तु' इह पौरुषीनाम-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत्याख्यानविशेषः, तस्यां पञ्चाकारा भवन्ति इह चेदं सूत्रम्-"पोरुसिं पच्चक्खाइ सूरे उग्गए चउव्विहं पि आहारं असणमित्यादि, अन्नत्थणाभोगेणं सहसागारेणं पच्छन्नकालेणं दिसामोहेणं साहुवयणेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरइ" अनाभोगसहसाकारौ पूर्ववत्, प्रच्छन्नकालादीनां त्विदं स्वरूपम्—"पच्छन्नाओ दिसाओ रएण रेणुना पव्वएण वा अंतरितो सूरो ण दीसइ, पोरुसी पुण्णत्तिकाउं च पारितो, पच्छा णायं ताहे ठाइयव्वं, न भग्गं, जइ भुंजइ तो भग्गं, एवं सव्वेहिऽवि, दिसामोहेण कस्सइ पुरिसस्स कम्हिवि खित्ते दिसामोहो भवइ, सो पुरिमं दिसं न जाणइ, एवं सो दिसामोहेण अइरुग्गयंपि सूरं दट्ठुं उस्सूरीहूयंति मण्णइ, बाए ठाति। 'साहुवयणेणं' साहुणो भणंति-उग्घाडा पोरुसी, ताहे सो पजिमितो, पारित्ता मिणइ, अण्णो वा मिणति, तेण से भुंजंतस्स कहियं ण पूरति, ताहे ठाइयव्वं। समाही णाम तेण पोरुसी पच्चक्खाया आसुकारियं च दुक्खं जायं, अण्णस्स वा, ताहे तस्स पसमणनिमित्तं पाराविज्जइ ओसहं वा दिज्जइ, एत्थंतरा णाए तहेव विवेगो। सप्तैव तु पुरिमार्द्धे, पुरिमार्द्ध—प्रथमप्रहरद्वयकालावधिप्रत्याख्यानं गृह्यते तत्र सप्ताऽऽकारा भवन्ति, इह चेदं सूत्रम्-'सूरे उग्गए' इत्यादि पूर्वसदृशं 'मयहराऽऽगारेणं' ति विशेषः, अस्य चायमर्थः-अयं च महान् अयं च महान् अयमनयोरतिशयेन महान् महत्तरः आकिथत इत्याकारः, एतदुक्तं भवति-महल्लं पयोयणं, तेण अब्भत्तट्ठो पच्चक्खातो, ताहे आयरिएहिं भण्णइ-अमुगं गामं गंतव्वं, कहइ जहा मम अज्ज अब्भत्तट्ठो, जदि ताव समत्थो करेउ जाउ, य, ण तरइ अण्णो भत्तट्ठिओ अभत्तट्ठिओ वा जो तरइ सो वच्चउ, णऽत्थि अण्णो तस्स कज्जस्स समत्थो ताहे तस्स चेव अब्भत्तट्ठियस्स गुरू विसज्जिंति, एरिसस्स तं जेमंतस्स अणभिलासस्स अब्भत्तट्ठियनिज्जरा जा सा से भवइ, एवमादिमयहरागारो। एकाशने अष्टावेव, एकाशनं नाम सकृदुपविष्टपुताचालनेन भोजनं, तत्राष्टावाकारा भवन्ति, इह चेदं सूत्रम्—एक्कासणगमित्यादि, ते च अण्णत्थणाभोगेणं १ सहसागारेणं २ सागारिआगारेणं ३ आउट्टणपसारणागारेणं ४ गुरुअब्भुट्ठाणेणं ५ पारिट्ठावणियागारेणं ६ मयहरागारेणं ७ सव्वसमाहिवत्तियागारेणं ८ वोसिरति, अणाभोगसहसाकारा तहेव, सागारिअं अद्धसमुद्दिट्ठस्स आगयं, जइ बोलेइ पडिच्छइ, अह थिरं ताहे सज्झायवाघाउ त्ति उट्ठउं अण्णत्थ गंतूणं समुद्दिसइ, हत्थं वा पायं वा सीसं वा आउंटिज्ज वा पसारिज्ज वा ण भज्जइ, अब्भुट्ठाणारिहो आयरिओ पाहुणगो वा आगओ अब्भुट्ठेयव्वं तस्स एवं समुद्दिट्ठस्स उट्ठियस्स ण भज्जइ, पारिट्ठावणिया जइ होज्ज कप्पइ, मयहरागारसमाहीओ तहेव त्ति गाथार्थः ॥ ५०८ ॥ 'सप्तैकस्थानस्य तु' एकस्थानं नाम प्रत्याख्यानं, तत्र सप्ताऽऽकारा भवन्ति, इहेदं सूत्रम्-'एगट्ठाणं' मित्यादि, एगट्ठाणए जं जहा अंगोवंगं ठविअं तेण तहाठिएण चेव समुद्दिसियव्वं, आगारा से सत्त, आउंटपसारणा नऽत्थि, सेसं जहा एक्कासणए। अष्टावाऽऽयामाम्लस्याऽऽकाराः, अणाभोगा० १ सहसागारेणं २ लेवालेवेणं ३ उक्खित्तविवेगेणं ४ गिहत्थसं-

सट्ठेणं ५ पारिट्ठावणियागारेणं ६ मयहरागारेणं ७ सव्वसमाहिवत्तियागारेणं ८ वोसिरति, अणाभोगसहसकारा तहेव, लेवालेवो वा, जइ भाणे पुव्वं लेवाडगं गहिअं समुद्दिट्ठं संलिहियं च जइ तेण आणेति ण भज्जइ, उक्खित्तविवेगो जइ आयंबिले पडइ विगतिमादि उक्खिवित्ता विकिंचउ, मा णवरि गलउ, अण्णं वा आयंबिलस्स अपाउग्गं जइ उद्धरिउं तीरइ उद्धरिए ण उवहम्मइ, गिहत्थसंसट्ठेऽवि जइ गिहत्थो डोवलियं भायणं वा लेवालेवाडं कुसणाईहिं तेण इसित्ति लेवाडाईहि देंति ण भज्जइ, जइ रसो आलक्खिज्जइ बहुओ ताहे ण कप्पइ, पारिट्ठावणियमयहरगसमाहीओ तहेव। पञ्चाऽभक्तार्थस्य तु, न भक्तार्थोऽभक्तार्थः; उपवास इत्यर्थः, तस्य पञ्चाऽऽकारा भवन्ति, इहेदं सूत्रम्-'सूरे उग्गए' इत्यादि, तस्स पंच आगारा-अणाभोग-सहसाकार-पारिट्ठावण-मयहर-समाहि त्ति, जइ तिविहस्स पच्चक्खाइ तो विकिंचणिया कप्पइ, जइ चउव्विहस्स पच्चक्खाइ पाणगं च नऽत्थि न वट्टइ, जइ पुण पाणगंपि उव्वरियं ताहे से कप्पइ, जइ तिविहस्स पच्चक्खाइ ताहे से पाणगस्स छ आगारा कीरंति-लेवाडेण वा, अलेवाडेण वा, अच्छेण वा, बहलेण वा, ससित्थेण वा, असित्थेण वा, वोसिरइ" प्रकटार्थो एते छप्पि। एतेन षड् पान इत्येतदपि व्याख्यातमेव। 'चरमे चत्वार' इत्यत्र चरिमं दुविहं-दिवसचरिमं भवचरिमं च, दिवसचरिमस्स चत्तारि-अण्णत्थअणाभोगा सहस मयहर सव्वसमाहि, भवचरिमं-जावज्जीवियं, तस्सवि एए चत्तारि त्ति गाथार्थः ॥५०९॥ पञ्च चत्वारश्चाभिग्रहे निर्विकृतौ अष्टौ नव वाऽऽकाराः 'अप्रावरण' इत्यप्रावरणाभिग्रहे पञ्चैवाकारा भवन्ति शेषेष्वभिग्रहेषु-दण्डकप्रमाजनादिषु चत्वार इति गाथार्थः ॥५१०॥ भावार्थस्तु-'अभिग्गहेसु अवाउडत्तणं कोइ पच्चक्खाइ तस्स पंच-अणाभोगा सहसा चोलपट्टगाऽऽगारा मयहर समाहि, सेसेसु चोलपट्टगागारो णत्थि, निव्विगईए अट्ठ नव य आगारा' इत्युक्तं, अत्र विकृतयः पूर्वोक्ताः, अधुना प्रकृतमुच्यते-क्वाष्टौ क वा नवाऽऽकाराः? इति, तत्र-नवनीते उद्ग्राहिमके अद्रवदधिनः गालित इत्यर्थः, 'पिशिते'-मांसे कृते गुडे चैव, अद्रवग्रहणं सर्वत्राभिसंबन्धनीयं, नवाकारा अमीषां विकृतिविशेषाणां भवन्ति, शेषाणां द्रवाणां-विकृतिविशेषाणामष्टावेवाकारा भवन्ति, उत्क्षिप्तविवेको न भवतीति गाथार्थः ॥ ५११ ॥ इह चेदं सूत्रम्-'निव्विगतीयं पच्चक्खाइ' इत्यादि, अण्णत्थ १ सहसा २ लेवालेव ३ गिहत्थसंसट्ठ ४ उक्खित्तविवेग ५ पडुच्चमक्खिएणं ६ पारिट्ठावणिया ७ मयहर ८ सव्वसमाहिवत्तियागारेणं ९ वोसिरइ, तत्थ अणाभोग-सहसाकारा लेवालेवा तहेव दट्ठव्वा, गिहत्थसंसट्ठस्स उ इमा विही-खीरेण जइ कुसणिओ कूरो लब्भइ, तस्स जइ कुंडगस्स ओदणाउ चत्तारि अंगुलाणि दुद्धं ताहे निव्विगइयस्स कप्पइ, पंचमं त्वारब्धं विगतीयं, एवं दहिस्सवि, वियडस्सवि, केसुवि विसएसु वियडेण मीसिज्जइ ओदणो ओगाहिमगो वा, फाणियगुलस्स तिल्लघयाण य एएहिं कुसिणिए जइ अंगुलं उवरिं अच्छइ तो वट्टइ, परेण न वट्टइ, महुस्स पोग्गलरसगस्स य अद्धअंगुलेण संसट्ठं होइ, पिंडगुलस्स नवणीयस्स य अ(द्द) मलमित्तं संसट्ठं, जइ वि बहूणि एतप्पमाणाणि कप्पंति, एगं पि वट्टं न

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कप्पइ, उक्खित्तविवेगो जहा आयंबिलये उद्धरिउं तीरइ सेसेसु णऽत्थि, पडुच्च मक्खियं पुण जइ अंगुलिए गहाय मक्खइ तिम्मण वा घएण वा ताहे निव्विगइयस्स कप्पइ, अह धाराए छुभइ मणागं पि न कप्पइ, पारिट्ठावणियागारो उ लेसओ भणिओ एव-इति वृद्धसम्प्रदायः, कृतं प्रसङ्गेन, प्रकृतं प्रस्तुमः-आह इह आकारा एव किमर्थमित्याह—

वयभंगे गुरुदोसो, थेवस्सऽवि पालणा गुणकरी अ ।
गुरुलाघवं च नेअं, धम्मम्मि अओ उ आगारा ॥५१२॥

व्रतभङ्गो गुरुर्दोषः भगवदाज्ञाविराधनात्, स्तोकस्यापि पालना व्रतस्य गुणकारिणी च, विशुद्धकुशलपरिणामरूपत्वात्, गुरुलाघवं च विज्ञेयं धर्मे, एकान्तग्रहस्य प्रभूतापकारित्वेनाशोभनत्वात्, यत एतदेवमतः-अस्मात् कारणादाकारा इति गाथार्थः ॥ ५१२ ॥ गृहं, आगमेहिं कतमागारं, आगमा—रुक्खा तेहिं कतं आगारं ति । नि० चू० ३ उ० ।

आगारगोवणा-आकारगोपना-स्त्री० । स्त्रीणां द्वासप्ततिकलान्तर्गते कलाभेदे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण।

आगारचरित्तधम्म-आगारचरित्रधर्म-पुं० । अगारं गृहं तद्योगादागारा-गृहिणस्तेषां यश्चारित्रधर्मः-सम्यक्त्वमूलाणुव्रतादिपालनरूपः स तथा। चारित्रधर्मभेदे, स्था० २ ठा० १ उ० ।

आगारभाव-आकारभाव-पुं० । आकारस्य-आकृतेर्भावाः-पर्य्यायाः । भ० ६ श० ७ उ० । आकृतिलक्षणपर्याये, भ० १ श० ४ उ० । आकारभावः स्वरूपविशेषः । जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

आगारभावपडोयार-आकारभावप्रत्यवतार-पुं० । आकारस्य-आकृतेर्भावाः-पर्य्यायाः । अथवा-आकाराश्च भावाश्च आकारभावास्तेषां प्रत्यवतारः-अवतरणमाविर्भावः आकारभावप्रत्यवतारः । भ० ६ श० ७ उ० । आकारभावस्य-आकृतिलक्षणपर्य्यायस्य प्रत्यवतारः-अवतरणमाकारभावप्रत्यवतारः । भ० ६ श० ७ उ० । आकृतिलक्षणपर्यायस्याविर्भावे, जी० ।

किमागारभावपडोयारा णं भंते ! दीवसमुद्दा पण्णत्ता । (सूत्र-१२३+)

आकारभावः-स्वरूपविशेषः कस्याऽऽकारभावस्य प्रत्यवतारो येषां ते किमाकारभावप्रत्यवताराः, बहुलग्रहणाद्वैयधिकरण्येऽपि समासः । णमिति पूर्ववत्, द्वीपसमुद्राः किंस्वरूपं द्वीपसमुद्राणामिति भावः । जी० ३ प्रति० ४ अधि० १ उ० । (अत्र विस्तरः ' दीवसमुद्द ' शब्दे चतुर्थभागे २५४३ पृष्ठे दर्शयिष्यते)

आगारलक्खण-आकारलक्षण-न० । आक्रियते-अभिप्रेतं ज्ञायतेऽनेनेत्याकारो-बाह्यचेष्टारूपः स एवान्तरोद्गमकत्वाल्लक्षणमाकारलक्षणम् । लक्षणविशेषे, आन्तरोद्गमकता चाकारस्य सुप्रसिद्धा । आ० म० १ अ० ।

" आगारे " त्ति (२१४६) । आकारलक्षणम् (भाष्यकारः) व्याचिख्यासुराह—

बाहिरचिट्ठागारो, लक्खिज्जइ तेण माणसाकूतं ।
आहारादिच्छाइ-त्थवयणनेत्ताइसयणाहिं ॥ २१५५ ॥

आक्रियते-आकल्यते ज्ञायतेऽभिप्रेतं मनोविकारोऽनेनेत्याकारो—बाह्यचेष्टारूपः । तेन च मानसमाकूतम्-अभिप्रेतं वस्तु लक्ष्यते इति लक्षणमसावुच्यते । तथाहि-राजादीनामाहारादीच्छाहस्तवदननेत्रादिसंज्ञाभिलक्ष्यत एव विचक्षणैः । उक्तं च-"आकारैरिङ्गितैर्गत्या, चेष्टया भाषणेन च । नेत्रवक्त्रविकारैश्च, लक्ष्यतेऽन्तर्गतं मनः" ॥१॥ इति । विशे० ।

(तच्चानेकविधं दर्शितं यथा)—

" आगारलक्खणं अणेगविहं—गंतुमागारे देति, भोत्तुमागारं देति, सोतुमागारं देति । एवं वत्तुं, द्रष्टुमित्यादि, कहं गंतुं० । "अवलोयणदिसाणं, वियंभणं साडगस्स संठवणं । आसणसिढिलीकरणं, पट्ठितलिंगाणि चत्तारि ॥ १ ॥ भोत्तुमिच्छातिभोक्खणविधिं वदणं पस्संदते य से बहुसो दिट्ठी य भमति तत्थेव पडति छायस्स लिंगाणि तप्पणं क्किरियत्त ॥ तत्तो वुत्तं वा पुलएति । सोतुं जहा उदीरते य णिद्दाति तस्स वि य सइयकामयतस्स दुहियस्स उ मिलाइवमसत्यवीयरागस्स गाथा । द्रष्टुं जह आगारेहिं सुणं मोणी वओहिं चक्खुरागेहिं जणमणुरत्तं विरत्तं पहट्ठचित्तं च पदुट्ठं " आकारैरिङ्गितैर्भावैः, क्रियाभिर्भाषितेन च । नेत्रवक्त्रविकारैश्च, गृह्यतेऽन्तर्गतं मनः " ॥१॥ अत्थीणि चेव जाणंति रुट्ठस्स खरा दिट्ठीओ । उप्पलधवला पसन्नचित्तस्स दुहियस्स उ गिलायंति गंतुमणस्सुस्सुया होति । आ० चू० १ अ० ।

आगारविगार-आकारविकार-पुं० । आकृतेर्विकृतौ, ग० ।

गइविब्भमाइएहिं, आगारविगार तह पयासंति ।

स्वच्छन्दः श्रमणो गतिभ्रमादिकैः । 'आगारविगार' त्ति-अत्र विभक्तिलोपः प्राकृतत्वात् । तत आकारं मुखनयनस्तनाद्याकृतिः, विकारं च मुखनयनादिविकृतिः। यद्वा-आकारस्य-स्वाभाविकाऽऽकृतेः विकारो-विकृतिस्तम्, तथा प्रकाशयन्ति । ग० ३ अधि० ।

आगारसुद्धि-आकारशुद्धि-स्त्री० । आकारशुद्धिस्तु राजाभियोगादिप्रत्याख्यानापवादमुत्कलीकरणात्मिका । शुद्धिभेदे, ध० २ अधि० ।

आगारिय-आकारिक-त्रि० । आकारे कुशलः ठञ्, आकारिकः । तत्र नियुक्ते, वाच० ।

आकारित-त्रि० । उत्सारिते, " आरिओ आगारिओ आससारिओ वा एगट्ठं नि,, । आव० ४ अ० ।

आगारिक-न० । अगा-वृक्षास्तैः कृतमगारं गृहं तदस्यास्तीति मतुब्लोपादगारो गृहस्थस्तस्येदमागारिकम् । विशे० ।

दुविहं चेव चरित्तं, अगारमणगारियं चेव ॥ ७८६ ॥

अगाः-वृक्षास्तैः कृतत्वाद् आ-समन्तात् राजते इति आगारम्-गृहम्, " क्वचित् " ॥ ५ । १ । १७१ इति डप्रत्ययः, तदस्यास्तीति । "अभ्रादिभ्यः" ॥ ७ । २ । ४६ ॥ इति मत्वर्थीयः अकारप्रत्ययः । अगारः-गृही तस्मिन् भवम् आगारिकम् । " अध्यात्मादिभ्य इकण् " ॥ ६ । ३ । ७८ ॥ इति इकण्प्रत्ययः, चारित्रसामायिकभेदे, आ० म० १ अ० । विशे० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आगारेऊण-आकार्य-अव्य० । रे क्व यास्यसीदानीमित्येवमाकार्येत्यर्थे, आव० ।

आगारेऊण परं, रणि व्व जइ सो करिज्ज उस्सग्गं ॥ १४५५× ॥

'आगारेऊण' त्ति—आकार्य रे रे क्व यास्यसीदानीम्, एवं परम्-अन्यं कञ्चन 'रणि' व्व संग्राम इव यदि सः कुर्यात्कायोत्सर्गम् । आव० ५ अ० ।

आगाल-आगाल-पुं० । आगालनमागालः । समप्रदेशावस्थाने, आचा० । सोऽपि चतुर्धा-व्यतिरिक्त उदकादेर्निम्नप्रदेशावस्थानम्, भावागालो ज्ञानादिक एव तस्यात्मनि रागादिरहितेऽवस्थानमिति कृत्वा । आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । उदीरणाविशेषे च । प्रथमस्थितौ च । यत्पुनर्द्वितीयस्थितेः सकाशादुदीरणाप्रयोगेणैव दलिकं समाकृष्योदये प्रक्षिपति सा उदीरणाऽपि पूर्वसूरिभिर्विशेषप्रतिपत्त्यर्थमागाल इत्युच्यते । कर्म० ५ कर्म० । (अधिकम् 'उवसमसेढि' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते)

आगास-आकाश-पुं० । न० । आकाशन्ते-दीप्यन्ते स्वधर्मोपेता आत्मादयो यत्र । तस्मिन्, दश०१अ० । आ-समन्तात् सर्वाण्यपि द्रव्याणि काशन्ते दीप्यन्ते अत्र व्यवस्थितानि । जी० १ प्रति० । आ-मर्यादयाऽभिविधिना वा सर्वेऽर्थाः काशन्ते-प्रकाशन्ते स्वस्वभावं लभन्ते यत्र तदाकाशम् । भ० २ श० १ उ० । आङिति मर्यादया स्वस्वभावापरित्यागरूपया काशन्ते—स्वरूपेण प्रतिभासन्तेऽस्मिन् व्यवस्थिताः पदार्था इत्याकाशम्, यदा त्वभिविधावाङ् तदा आङिति सर्वभावाभिव्याप्त्या काशत इत्याकाशम् । (सूत्र- टी० ३) प्रज्ञा०१पद । उत्त० । सर्वभावावकाशनादाकाशम् । आ—मर्यादया तत्संयोगेऽपि स्वकीयस्वकीयरूपेऽवस्थानतः सर्वथा तत्स्वरूपत्वाप्राप्तिलक्षणया काशन्ते स्वभावलाभेनावस्थितिकरणेन च दीप्यन्ते पदार्थसार्था यत्र तदाकाशमिति । अथवा-अभिविधिना सर्वात्मना तत्संयोगानुभवलक्षणेन काशन्ते दीप्यन्ते पदार्थाः यत्र तदाकाशम् । अनु० ६७ सूत्रटी० । सर्वद्रव्यस्वभावानाकाशयति-आदीपयति तेषां स्वभावलाभेऽवस्थानदानादित्याकाशम् । आङ्-मर्यादाऽभिविधिवाची, तत्र मर्यादायाम्-आकाशे भवन्तोऽपि भावाः स्वात्मन्येवासते नाकाशतां यान्तीत्येवं तेषामात्मसात्करणाद् अभिविधौ तु-सर्वभावव्यापनादाकाशमिति । स्था० २ ठा० १ उ० ७४ सूत्रटी० । आ-समन्तात् काशतेऽवगाहदानतया प्रतिभासत इत्याकाशम् । कर्म० ४ कर्म० । लोकालोकव्याप्यनन्तप्रदेशात्मकाऽमूर्तद्रव्यविशेषे, अनु० । आकाशं तु जीवादिपदार्थानामाधारान्यथानुपपत्तेरस्तीति श्रद्धेयम् । न च धर्माधर्मास्तिकायावेव तदाधारौ भविष्यत इति वक्तव्यं, तयोस्तद्गतिस्थितिसाधकत्वेनोक्तत्वात्, न चान्यसाध्यं कार्यमन्यः प्रसाधयत्यतिप्रसङ्गादिति । अनु० । ६७ सूत्रटी० । " जीवानां पुद्गलानां च, धर्माधर्मास्तिकाययोः । बादराणां घटादीना-माकाशमवकाशदम् ॥ १ ॥ " इति । आव० ४ अ० । जीवानां पुद्गलानां धर्माधर्मास्तिकाययोर्बादरघटादीनां चोपग्रहवदवकाशदम् । दर्श० ४ तत्त्व।

अथाऽऽकाशद्रव्यस्य लक्षणमाविष्करोति—

योऽदत्ते सर्वद्रव्याणां, साधारण्यावगाहनम् ।
लोकालोकप्रकारेण, द्रव्याकाशः स उच्यते ॥ ८ ॥

यः-आकाशास्तिकायः सर्वद्रव्याणां साधारणावगाहनम्-सामान्यावकाशं दत्ते स द्रव्याकाशो लोकालोकप्रकारेण उच्यते इति । यतः सर्वद्रव्याणां यः सर्वदा साधारणावकाशदाता सः अनुगत एक आकाशास्तिकायः कथितः सर्वाऽऽधार इति । यथा पक्षिणो गगनमिवेति व्यवहारनयदेशभेदेन भवेत्, तद्देशीयानुगत आकाश एव पर्यवसन्नः स्यात् । तथा च-तत्तद्देशावच्छेदभागावच्छिन्नमूर्ताभावादिना तद्व्यवहारोपपत्तिरिति वर्द्धमानाद्युक्तं नाऽनवद्यम् । तस्याभावादिनिष्ठत्वेनानुभूयमानद्रव्याधारांशापलापप्रसङ्गात्तावद्गतिसन्धानेऽपि लोकव्यवहारेणाकाशदेशप्रतिसंधितयोक्तव्यवहाराच्च । द्रव्या० १० अध्या० ।

भायणं सव्वदव्वाणं, नहं ओगाहलक्खणं ॥ ९ ॥

यत्पुनः सर्वद्रव्याणां-जीवादीनां भाजनम्-आधाररूपं नभः-आकाशम् उच्यते । तच्च नभः अवगाहलक्षणं अवगाढुं प्रवृत्तानां जीवानां पुद्गलानां आलम्बो भवति इति । अवगाहः-अवकाशः स एव लक्षणं यस्य तत् अवगाहलक्षणं नभ उच्यते । उत्त० २८ अ० ।

(आकाशस्य नित्यत्वं द्रव्यत्वञ्च)-

आकाशावधैकान्तनित्य-द्रव्यप्रसिद्धये शब्दं गुणत्वाल्लिङ्गत्वेन प्रतिपादयन्ति । तथा च परेषां प्रयोगः-ये विनाशित्वोत्पत्तिमत्त्वादिधर्माध्यासितास्ते क्वचिदाश्रिताः, यथा घटादयः, तथा च-शब्दास्तस्मादेभिराश्रितैः क्वचिद् भवितव्यं, यश्चैषामाश्रयः स पारिशेष्यादाकाशः, तथाहि-नायं शब्दः पृथिव्यादीनां वायुपर्यन्तानां गुणः, अप्रत्यक्षग्राह्यत्वे सत्यकारणगुणपूर्वकत्वात्, ये तु पृथिव्यादीनां चतुर्णां गुणास्ते बाह्येन्द्रियाऽप्रत्यक्षत्वे सति-अकारणगुणपूर्वका न भवन्ति, यथा रूपादयो, न च तथा शब्दः एवम्-'अयावद्द्रव्यभावित्वाद्' 'आश्रयाद्ब्रव्यादेरन्यत्रोपलब्धेश्च' इत्यादयो हेतवो द्रष्टव्याः । स्पर्शवतां यथोक्तविपरीता गुणा उपलब्धाः । 'प्रत्यक्षत्वे सति' इति च विशेषणं परमाणुगतैः पाकजैरनैकान्तिकत्वं मा भूदित्युपात्तम् । न च-आत्मगुणः अहंकारेण विभक्तग्रहणाद् बाह्येन्द्रियाध्यक्षत्वात् आत्मान्तरग्राह्यत्वाच्च, बुद्ध्यादीनामात्मगुणानां तद्वैपरीत्योपलब्धेः । न दिक्-काल-मनसां श्रोत्रग्राह्यत्वात् । अतः पारिशेष्यात् गुणो भूत्वा आकाशस्य लिङ्गम् आकाशं च शब्दलिङ्गाविशेषात् विशेषलिङ्गाभावाच्च एकं विभु च सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वात् समवायित्वे सत्यनाश्रितत्वाच्च. द्रव्यम्, अकृतकत्वान्नित्यम् । सम्म० ३ काण्ड ४६ गाथाटी० ।

(आकाशस्य सावयवत्वम्)—

न च सावयवत्वमसिद्धं प्रदेशव्यवहारस्याऽऽकाशे दर्शनात् । न च-'आकाशस्य प्रदेशाः' इति व्यवहारो मिथ्या, मिथ्यात्वनिमित्ताभावात् । न च संयोगस्याव्याप्यवृत्तित्वनिमित्तः सावयवत्वाध्यारोपो मिथ्यात्वकारणं निरवयवे अव्याप्यवृत्तिः संयोगाधारत्वस्याध्यारोपनिमित्तस्यैवानुपपत्तेः । यदि च-सावयवं नभो न भवेत् तदा श्रोत्राकाश-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समवेतस्यैव शब्दस्य ब्रह्मभाषितस्याप्युपलम्भोऽस्मदादि(द्दे)र्भवेत् निरवयवैकाकाशश्रोत्रसमवेतत्वात् । अथ धर्माधर्माभिसंस्कृतकर्णशष्कुल्यवरुद्धाकाशदेश एव श्रोत्रं तत्र न च ब्रह्मभाषितस्यासमवायान्नाऽस्मदादिभिः श्रवणम् । नन्वेवमप्यैव सावयवत्वप्रसक्तिः श्रोत्राकाशप्रदेशात् ब्रह्मशब्दाधाराकाशदेशस्यान्यत्वात् । यदि च-सावयवमाकाशं न भवेत्, शब्दस्य नित्यत्वं सर्वगतत्वं च स्याद् आकाशैकगुणत्वात्तन्महत्त्ववत् । अथ क्षणिकैकदेशवृत्तिविशेषगुणत्वस्य शब्दे प्रमाणतः प्रतिसिद्धेर्नायं दोषः । नन्वेवमेकदेशवृत्तिविशेषगुणत्वाभ्युपगमे कथं न शब्दाधारस्याकाशस्य सावयवत्वप्रसिद्धिः ? ' न हि निरवयवत्वे तस्यैकदेश एव शब्दो वर्त्तते न सर्वत्र ' इति व्यपदेशः संगच्छते । न च संयोगस्याव्याप्यवृत्तित्वनिबन्धनोऽयं यत आकाशं व्याप्य संयोगो न वर्त्तत इति तदेकदेशे वर्त्तते इत्यभ्युपगमप्रसक्तिः । व्याप्यवृत्तित्वं हि सामस्त्यवृत्तित्वं, तत्प्रतिषेधश्च पर्युदासपक्षे एकदेशवृत्तित्वमेव, प्रसज्यपक्षे तु वृत्तिप्रतिषेध एव; नन्वासौ युक्तः संयोगस्य गुणत्वेन द्रव्याश्रितत्वात् । तदभावे च तदभावात् । न च निरवयवत्वे आकाशस्य सन्तानवृत्त्या आगतस्य शब्दस्य श्रोत्रेणाप्युपलब्धिः संभवति अन्याऽन्याकाशदेशोत्पत्तिद्वारेण तस्य श्रोत्रसमवेतत्वानुपपत्तेः । जलतरङ्गन्यायेनाऽपराऽपराऽऽकाशदेशादावपरापरशब्दोत्पत्तिप्रकल्पनायां कथं नाऽऽकाशस्य सावयवत्वम् ?, किं च-आकाशं शब्दोत्पत्तौ समवायिकारणमभ्युपगम्यते, यच्च समवायिकारणं तत्सावयवं, यथा-तन्त्वादि, समवायिकारणं च । परेण शब्दोत्पत्तावाकाशमभ्युपगतम् । न च परमाण्वात्मादिना व्यभिचारः तस्यापि सावयवत्वात्; अन्यथा-द्व्यणुकबुद्ध्यादेस्तत्कार्यस्य सावयत्वं न स्यात् न च बुद्ध्यादेः सावयवत्वमसिद्धम् आत्मनः सावयवत्वेन साधितत्वात् तद्विशेषगुणत्वेन बुद्ध्यादेः कथंचित्तादात्म्यसिद्धितः सावयवत्वोपपत्तेः ।

नन्व यत एव प्रमाणादणवः सिद्धास्तेषां निरवयवत्वमपि तत एव सिद्धमिति तद्ग्राहकप्रमाणबाधितत्वात् सावयवत्वानुमानस्याप्रामाण्यं प्रमाणतः परमाणूनामसिद्धावाश्रयासिद्धितः सावयवत्वानुमानस्याप्रवृत्तिरिति वाच्यं, यतः सावयवकार्यस्य सावयवकारणपूर्वकत्वे साध्ये न पूर्वोक्तदोषावकाशः । न च कार्यकारणयोरात्यन्तिको भेदः, समवायनिषेधे हि हिमवद्-विन्ध्ययोरिव भेदे विशिष्टकार्यकारणरूपतानुपपत्तेः । ततो द्व्यणुकादेः परमाणुकार्यस्य सावयवत्वात् तदात्मभूताः परमाणवः कथं न सावयवा इति न परमाण्वादिभिर्व्यभिचारः ।

अपि च-सावयवमाकाशं तद्विनाशान्यथानुपपत्तेः । नचाऽऽकाशस्य विनाशित्वमसिद्धम् । तथाहि-अनित्यमाकाशं, तद्विशेषगुणाभिमतशब्दविनाशान्यथानुपपत्तेः । यतो न तावदाश्रयविनाशाच्छब्दविनाशोऽभ्युपगतस्तन्नित्यत्वाभ्युपगमविरोधात्; न विरोधिगुणप्रादुर्भावात्, तन्महत्त्वादेरकार्थसमवायित्वेन रूपरसयोरिव विरोधिताऽसिद्धेः । विरोधित्वे वा श्रवणसमयेऽपि तद्भावप्रसङ्गः तदापि तन्महत्त्वस्य सद्भावात् । नापि संयोगादिर्विरोधिगुणस्तस्य तत्कारणत्वात् । नाऽपि संस्कारः तस्य गुणत्वेन शब्देऽसंभवात्संभवे वा शब्दस्य द्रव्यत्वप्रसक्तिः आकाशस्य द्रव्यत्वेन तत्संभवेऽपि तस्याभावे आकाशस्याप्यभावप्रसक्तिः तस्य तदव्यतिरेकात् व्यतिरेके वा ' तस्य ' इति संबन्धायोगात् । नापिशब्दोपलब्धिप्रापकधर्माद्यभावात् तदभावः तस्य विभिन्नाश्रयस्यानेन विनाशयितुमशक्यत्वात् । शक्यत्वे वा तदाधारस्यापि विनाशप्रसक्तिस्तस्य तदव्यतिरेकात् ततोऽम्बरविशेषगुणत्वे शब्दस्य तद्विनाशान्यथानुपपत्त्या तस्यापि विनाशित्वं, ततोऽपि सावयत्वम् । न च बुद्ध्यादिभिर्व्यभिचारः उक्तोत्तरत्वात् ।

किंच-आश्रितविनाशे आश्रयत्वस्यापि विनाशः आश्रितत्वनिबन्धनत्वात् तस्य धर्मस्य च धर्मिणः कथंचिदव्यतिरेकात् । तथा आकाशस्य विनाशित्वात्सावयवत्वं घटादेरिवोपपन्नम् । किं च-सावयवमाकाशम्, हिमवद्विन्ध्यावरुद्धविभिन्नदेशत्वात् तदवष्टब्धदेशभूभागवद्, अन्यथा तयोरूपरसयोरिवैकदेशाकाशस्थितिप्रसक्तिः, न चैतद् दृष्टमिति सर्वं वस्तूत्पादविनाशस्थित्यात्मकत्वात्कथंचित्सावयवं सिद्धम् । सम्म० ३ काण्ड २३ गाथाटी० ।

(आकाशस्य निरालम्बनत्वम्)-" आगासं चेव निरालंबे " (सूत्र-२६४) आकाशमिव निरालम्बो यथाऽऽकाशमनालम्बनं तथा साधुर्न किञ्चिदालम्बते । प्रश्न० ५ संव० द्वार ।

(आकाशं द्विविधम्)—

दुविहे आगासे पएणत्ते, तं जहा-लोगागसे चेव, अलोगागासे चेव । (सूत्र-७४+)

तत्र लोको यत्राकाशदेशे धर्मास्तिकायादिद्रव्याणां वृत्तिरस्ति स एवाकाशं लोकाकाशमिति । (स्था०) लोकाऽलोकभेदेनाऽऽकाशद्वैविध्यमुक्तम् । स्था० २ ठा० १ उ० ।

(एतमेवार्थं मीमांसयन्नाह)—

धर्मादिसंयुतो लोको-ऽलोकस्तेषां वियोगतः ।
निरवधिः स्वयं तस्या-ऽवधित्वं तु निरर्थकम् ॥ ६ ॥

धर्मास्तिकायादिसंयुक्त आकाशो लोकः, तदितरस्त्वलोकः । स च पुनर्निरवधिः-अपारः अलोकः, तस्य-अलोकस्य स्वयम्-आत्मनाऽवधित्वमनर्थकं इति । कश्चिदाहात्र-यथा लोकस्य पार्श्वे अलोकस्यापि पारोऽस्ति; तथैवाग्रेऽपि द्वितीयतट पारो भविष्यतीति ब्रुवाणमुत्तरयन्ति-लोकस्तु भावरूपोऽस्ति, तस्यावधित्वं घटते, परं तु अत्र अलोकस्य केवलमभावात्मकस्याऽवधित्वं कथं कल्पते शशशृङ्गवत् । यथा असद्-अविद्यमानं शशशृङ्गं न कुत्रापि निगद्यमानं विद्यमानवदाभाति तथैवैतस्याप्यलोकस्य अविद्यमानस्यावधित्वं न घटामाटीकते । अथ भावरूपात्मकत्वमङ्गीक्रियते तदा तु षड्तिरिक्तमन्यद् द्रव्यं नास्तीति व्यवहारात् आकाशदेशरूपस्य तु तदन्तत्वं कथयन्ती बुद्ध्या घातो जायते । तस्मादलोकाकाशस्तु अनन्त एव मन्तव्य इति । आकाशो यथा साऽन्तः शंसितो धर्माऽधर्मानुभावात् तस्य भावस्तदभावात्तदभावः । अलोकाकाशोऽपि सान्तो धर्माधर्मानुभावी भवन् अतिरिक्तद्रव्यत्वमापत्स्यते । तस्माद्यथोक्तमेव न्याय्यम् । यावता आकाशेन तद्धर्माधर्मौ व्याप्य स्थितौ तावता

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

तस्यारिमाऽवशालिना आकाशेनापि भवितव्यं तयोरभावात्-स्याप्यभावः सुपरिशीलनीयः इति । द्रव्या० १० अध्या० ।

(लोकाऽलोकाऽऽकाशौ विस्तरेण)—

कइविहे णं भंते ! आगासे पण्णत्ते ?, गोयमा ! दुविहे आगासे पण्णत्ते, तं जहा-लोयाऽऽगासे य, अलोयाऽऽगासे य।

'कतिविहे णं भंते !' इत्यादि, तत्र लोकाऽलोकाऽऽकाशयोर्लक्षणमिदम्-" धर्मादीनां वृत्ति-द्रव्याणां भवति यत्र तत् क्षेत्रम् । तैर्द्रव्यैः सह लोक-स्तद्विपरीतं ह्यलोकाख्यम् " ॥ १ ॥ इति ।

लोयाऽऽगासे णं भंते ! किं जीवा, जीवदेसा, जीवपएसा, अजीवा, अजीवदेसा, अजीवपएसा ?, गोयमा ! जीवा वि, जीवदेसा वि, जीवपदेसा वि, अजीवा वि, अजीवदेसा वि, अजीवपदेसा वि । जे जीवा ते नियमा एगिंदिया बेइंदिया तेइंदिया चउरिंदिया पंचिंदिया अणिंदिया, जे जीवदेसा ते नियमा एगिंदियदेसा० जाव अणिंदियदेसा, जे जीवपदेसा ते नियमा एगिंदियपदेसा० जाव अणिंदियपदेसा । जे अजीवा ते दुविहा पण्णत्ता, तं जहा-रूवी य, अरूवी य । जे रूवी ते चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा-खंधा, खंधदेसा, खंधपदेसा, परमाणुपोग्गला । जे अरूवी ते पंचविहा पण्णत्ता, तं जहा-धम्मत्थिकाए, नो धम्मत्थिकायस्स देसे, धम्मत्थिकायस्स पदेसा । अधम्मत्थिकाए नो अधम्मत्थिकायस्स देसे, अधम्मत्थिकायस्स पदेसा । अद्धासमए । (सूत्र-१२१)

'लोगागासेणं'मित्यादौ षड् प्रश्नाः । तत्र लोकाकाशेऽधिकरणे 'जीव' त्ति-सम्पूर्णानि जीवद्रव्याणि 'जीवदेस' त्ति-जीवस्यैव बुद्धिपरिकल्पिता द्व्यादयो विभागाः । 'जीवप्पएस' त्ति-तस्यैव बुद्धिकृता एव प्रकृष्टा देशाः प्रदेशा निर्विभागा भागा इत्यर्थः । 'अजीव' त्ति-धर्मास्तिकायादयः, ननु लोकाकाशे जीवा अजीवाश्चेत्युक्ते तद्देशप्रदेशास्तत्रोक्ता एव भवन्ति, जीवाद्यव्यतिरिक्तत्वाद्देशादीनां, ततो जीवाजीवग्रहणे किं देशादिग्रहणेनेति ?, नैवम्-निरवयवा जीवादय इति मतव्यवच्छेदार्थत्वादस्येति । अथोत्तरम्-' गोयमा ! जीवा वि' इत्यादि, अनेन चाद्यप्रश्नत्रयस्य निर्वचनमुक्तम् । अथान्त्यस्य प्रश्नत्रयस्य निर्वचनमाह-' रूवीय ' त्ति-मूर्ताः पुद्गला इत्यर्थः । ' अरूवीय ' त्ति-अमूर्ताः धर्मास्तिकायादय इत्यर्थः, ' खंध ' त्ति-परमाणुप्रचयात्मकाः स्कन्धाः-स्कन्धदेशा द्व्यादयो विभागाः स्कन्धप्रदेशास्तस्यैव निरंशा अंशाः परमाणुपुद्गलाः स्कन्धभावमनापन्नाः परमाणव इति, ततो लोकाकाशे रूपिद्रव्यापेक्षया ' अजीवा वि अजीवदेसा वि अजीवप्पएसा वि ' इत्येतदर्थतः स्यादणूनां स्कन्धानाञ्चाजीवग्रहणेन ग्रहणात् , ' जे अरूवी ते पंचविहे ' इत्यादि-अन्यत्राप्यरूपिणो दशविधा उक्ताः, तद्यथा-आकाशास्तिकायस्तद्देशस्तत्प्रदेशश्चेत्येवं धर्माधर्मास्तिकायौ समयश्चेति दश इह तु सम्बन्धस्याकाशस्याधारत्वेन विवक्षितत्वात्तद्भेदाः सप्त वक्तव्या भवन्ति, न च तेऽत्र विवक्षिताः वक्ष्यमाणकारणात् . ये तु विवक्षितास्तानाह-पञ्चेति. कथमित्याह-' धम्मत्थिकाये ' त्यादि-इह जीवानां पुद्गलानां च बहुत्वादेकस्यापि जीवस्य पुद्गलस्य वा, स्थाने सङ्कोचादि तथाविधपरिणामवशाद् बहवो जीवाः पुद्गलाश्च तथा तद्देशास्तत्प्रदेशाश्च सम्भवन्तीति कृत्वा जीवाश्च जीवदेशाश्च जीवप्रदेशाश्च. तथा रूपिद्रव्यापेक्षया अजीवाश्चाजीवदेशाश्चाजीवप्रदेशाश्चेति सङ्गतम् , एकत्राप्याश्रये भेदवतो वस्तुत्रयस्य सद्भावात् । धर्मास्तिकायादौ तु त्रितयमेव युक्तं, यतो यदा सम्पूर्णं वस्तु विवक्ष्यते तदा धर्मास्तिकायादीत्युच्यते, तद्देशविवक्षायां तु तत्प्रदेशा इति तेषामवस्थितरूपत्वात् , तद्देशकल्पना त्वयुक्ता, तेषामनवस्थितरूपत्वादिति । यद्यपि चानवस्थितरूपत्वं जीवादिदेशानामप्यस्ति तथापि तेषामेकत्राश्रये भेदेन सम्भवः प्ररूपणाकारणम् इह तु तत्रास्तिकायादेरेकत्वादसङ्कोचादिधर्मकत्वाच्चेति । अत एव धर्मास्तिकायादिदेशनिषेधायाह-" नो धम्मत्थिकायस्स देसे " तथा-" नो अधम्मत्थिकायस्स देसे " त्ति, चूर्णिकारोऽप्याह-' अरूविणो दव्वा समुदयसद्देण भणंति । तीसिसा पएसेहिं वा तीसिसा भणेज्जा, नो देसेणं तस्स अणवट्ठियपमाणत्तणओ. तेण न देसेण निद्देसो, जो पुण देससद्दो एएसु कओ सो सविसयमयववहारत्थं परदव्वफुसणादिगयववहारत्थं चेति, तत्र स्वविषये धर्मास्तिकायादिविषये यो देशस्य व्यवहारो यथा-धर्मास्तिकायः स्वदेशेनोर्ध्वलोकाकाशं व्याप्नोतीत्यादि तदर्थं. तथा परद्रव्येण ऊर्ध्वलोकाकाशादिना यः स्वस्य स्पर्शनादिगतो व्यवहारो यथा ऊर्ध्वलोकाकाशेन धर्मास्तिकायस्य देशः स्पृश्यते इत्यादिः तदर्थमिति ' अद्धासमए ' त्ति-अद्धाकालस्तल्लक्षणः समयः—क्षणोऽद्धासमयः , स चैक एव वर्तमानक्षणलक्षणः, अतीतानागतयोरसत्त्वादिति, । इति लोकाकाशगतप्रश्नषट्कस्य निर्वचनम् ।

अथाऽलोकाऽऽकाशं प्रति प्रश्नयन्नाह—

अलोगाऽऽयाकासे णं भंते ! किं जीवा ? पुच्छा तह चेव, गोयमा ! नो जीवा० जाव नो अजीवप्पदेसा । एगे अजीवदव्वदेसे अगुरुयलहुए अणंतेहिं अगरुयलहुयगुणेहिं संजुत्ते सव्वाऽऽगासे अणंतभागूणे । (सूत्र-१२२)

' पुच्छा तह चेव ' त्ति—यथा लोकाकाशप्रश्ने, तथाहि—' अलोकाकासे णं भंते ! किं जीवा जीवदेसा जीवप्पएसा अजीवा अजीवदेसा अजीवप्पएस ' त्ति— निर्वचनं त्वेषां षण्णामपि निषेधस्तथा—' एगे अजीवदव्वदेसे ' त्ति—अलोकाकाशस्य देशत्वं लोकालोकरूपाकाशद्रव्यस्य भागरूपत्वात् 'अगरुअलहुए' त्ति-गुरुलघुत्वाव्यपदेश्यत्वात् ' अणंतेहिं अगुरुयलहुयगुणेहिं ' ति-अनन्तैः स्वपर्यायपरपर्यायरूपैर्गुणैः अगुरुलघुस्वभावैरित्यर्थः । 'सव्वागासे अणंतभागूणे ' त्ति—लोकाकाशस्यालोकाकाशापेक्षयाऽनन्तभागरूपत्वादिति । भ० २ श० १० उ० । (एकैकस्याकाशप्रदेशस्यागुरुलघुपर्याया अनन्ता इति ' अगरुलहुय ' शब्दे प्रथमभागे द्रष्टव्यम् ।) आकाशस्य पर्यायाः-नभो-व्योमा-ऽ-न्तरिक्षाऽऽ-काशादयः । विशे० । आकाशं नभस्तारापथो व्यो-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

माऽम्बरमित्यादि । अनु० । स्था० । (अस्य बहवः पर्य्याया 'आगासत्थिकाय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वर्णयिष्यन्ते)। अव-गाहदानलक्षणे सर्वद्रव्याधारभूते महाभूतविशेषे च। सूत्र० २ श्रु० १ अ० । शब्दतन्मात्रादाकाशं सुषिरलक्षणम् । सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । " शब्दतन्मात्रादाकाशं गन्धरसरूपस्पर्श-वर्जितमुत्पद्यत " इति च सांख्याः । सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । आकाशमिति पारिभाषिकी संज्ञा एकत्वाक्तस्य । तच्च-"सं-ख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागशब्दाख्यैः षड्भिर्गुणैर्गु-णवत् शब्दलिङ्गञ्च" ति । (वैशेषिकाः ।) सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । (शब्दस्याकाशगुणत्वनिराकरणम् 'आगम' शब्दे अस्मिन्नेव भागे गतम्) (आकाशस्य वर्णगन्धादि 'अ-त्थिकाय' शब्दे प्रथमभागे द्रष्टव्यम्) अनावृते स्थाने च । आकाशमनावृतं स्थानम् । प्रश्न० ४ संव० द्वार । छिद्र , गणितादिप्रसिद्धे सूत्राङ्के च । वाच० ।

आगासग-आकाशग-त्रि० । आकाशगामिनि , वाच० । स-नामख्याते भूतविशेषे , प्रज्ञा० १ पद ।

आगासगमा-आकाशगमा-स्त्री० । गमनं गमः आकाशेन ग-मो यस्याः सा आकाशगमा । विद्याविशेषे, आ० म०१ अ० । तथा चार्य्यवज्रस्वामिकथायाम्)—" पदानुसारिणा तेन, स्वामिना प्रस्मृता सती । महापरिज्ञाध्ययना-द्विद्यो-द्धे नभोगमा " ॥ १ ॥ आ० क० १ अ० । " तेण भगवया पयाणुसारित्तणओ पढुट्ठा महापरिन्नातो अज्झयणातो आ-गासगामिणी विज्जा उद्धरिया , तीए ममणलद्धिसंपन्नो भ-यवं ति ।

उक्तमर्थं सग्रगाथयाऽऽह—

जेणुद्धरिया विज्जा , आगासगमा महापरिण्णातो ।
वंदामि अज्जवइरं , अपच्छिमो जो सुयधराणं ॥७६६॥

येनोद्धृता विद्या 'आगासगम' त्ति-गमनं गमः आकाशेन गमो यस्यां सा आकाशगमा महापरिज्ञातो-महापरिज्ञाना-मकादध्ययनात् तमार्यवज्रम् आरात्—सर्वहेयधर्मेभ्यो जा-तः-प्राप्तः सर्वैरुपादेयगुणैरित्यार्यः, सचासौ वज्रश्चेति आ-र्यवज्रस्तं वन्दे, अपश्चिमो यः श्रुतधराणाम् दशपूर्वविदाम् ।

सांप्रतमन्येभ्योऽधिकृतयाश्चानिषेधख्यापनाय प्रदान-
निराचिकीर्षुस्तदनुवादतावत् ; इदमाह—

भणइ य आहिंडिज्जा, जंबुदीवं इमाइ विज्जाए ।
गंतूण माणुसनगं, विज्जाए एस मे विसओ ॥ ७७० ॥

भणति च वर्त्तमाननिर्देशप्रयोजनं प्राग्वत् । आहिण्डेत् । पाठान्तरं वा-' आभर्णिसु य हिंडिज्जा ' इति, कभाण. हिण्डेत्-पर्यटेत् जम्बूद्वीपमनया विद्यया, तथा गत्वा च मा-नुषनगं-मानुषोत्तरपर्वतं; तिष्ठेयमिति वाक्यशेषः, विद्याया एष मे विषयो-गोचरः ।

भणइ य धारेयव्वा, न हु दायव्वा इमा मए विज्जा ।
अप्पड्ढिया उ मणुया, होहिंति अतो परं अन्ने ॥७७१॥

'भणति चे'ति पूर्ववत् । धारयितव्या प्रवचनोपकाराय, न पुनर्दातव्या इयं मया विद्या । हुशब्दः पुनःशब्दार्थः, किमित्यत आह-अल्पर्द्धय एव, तुशब्द एवकारार्थः, भवि-ष्यन्त्यतः परमन्ये भविष्यत् कालभाविनः । आ० म० १ अ० ।

आगासगय-आकाशक-त्रि० । प्रकाशके, स० ३४ सम० ।

आकाशगत-त्रि० । व्योमवर्त्तिनि, स० ३४ सम० । औ० । " आगासगएणं चक्केणं आगासगएणं छत्तेणं " (सूत्र-१०+) आकाशवर्त्तिना चक्रेण । औ० ।

छत्रातिशेषानधिकृत्येत्याह—

आगासगयं चक्कं, आगासगयं छत्तं, आगासगयाओ सेयचामराओ । (सूत्र-३४×)

आकाशगतं-व्योमवर्ति आकाशग (कं) तं वा; प्रकाश-मित्यर्थः; चक्रं धर्मचक्रमिति षष्ठः ॥ ६ ॥ एवमाकाशगं छत्रम् ; छत्रत्रयमित्यर्थः इति सप्तमः ॥ ७ ॥ आकाशके— प्रकाशे श्वेतवरचामरे प्रकीर्णके इत्यष्टमः ॥ ८ ॥ स० ३४ सम० । अत्यर्थे तुङ्ग. च । स० ।

आगासगओ कुडभीसहस्सपरिमंडियाभिरामो इंदज्झ-ओ पुरओ गच्छइ । (सूत्र-३४+)

'आगासगओ' त्ति-आकाशगतः-अत्यर्थन्तुङ्गमित्यर्थः । स० ३४ सम० ।

आगासगामि (न्)-आकाशगामिन्-त्रि० । आकाशगे प-क्ष्यादौ, आचा० । "आगासगामिणो पाणा पाणे किलेसंति" (सूत्र-१७७+) अपरे त्वाकाशगामिनः-पक्षिण इत्येवं सर्वे-ऽपि प्राणाः-प्राणिनोऽपरान् प्राणिन आहाराद्यर्थं मत्सरादि-ना वा क्लेशयन्ति-उपतापयन्ति । आचा०१ श्रु०६ अ०१ उ० । सम्प्राप्ताकाशगमनलब्धिषु, चतुर्विधदेवनिकायविद्याधर-वायुषु च । " आगासगामि य पुढोसिया जे " ॥ १२ ॥ ये केचनाऽऽकाशगामिनः—संप्राप्तगमनलब्धयश्चतुर्विधदेवनि-कायविद्याधरपक्षिवायवः । सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

आगासत्थिकाय-आकाशास्तिकाय-पुं० । अस्तयश्चेह-प्रदे-शास्तेषां कायः-सङ्घातः " गणकायनिकाय खंध वग्ग तहेव रासी य" इति वचनात् , अस्तिकायः; प्रदेशसंघात इत्यर्थः । प्रज्ञा० १ पद । स० । कर्म० । उत्त० । आकाशं च तदस्ति-कायश्चेत्याकाशास्तिकायः । प्रज्ञा० १ पद । जी० । लोका-लोकव्याप्यनन्तप्रदेशात्मकामूर्त्तद्रव्यविशेषे, अनु० ।

आगासे तस्स देसे य, तप्पएसे य आहिए ॥ ६+ ॥

आकाशम्-आकाशास्तिकायः जीवपुद्गलयोरवकाशदा-यकाकाशमिति सप्तमो भेदोऽरूप्यजीवस्येति । उत्त० ३६ अ० ।

(आकाशास्तिकायस्य पर्यायाः)—

आगासत्थिकायस्स णं पुच्छा, गोयमा ! अणेगा अ-भिवयणा पण्णत्ता, तं जहा-आगासेइ वा आगासत्थिका-एति वा गगणत्ति वा नभेइ वा समेति वा विसमेति वा खहेति वा विहेति वा वीयीत्ति वा विवरेति वा अंबरेति वा अंबरसेति वा छिड्डेति वा झुसिरेति वा मग्गेति वा विमुहेति वा अ(द्द)ट्टेति वा वियट्टे(द्दे)ति वा आधारेति वा वोमेति वा भायणेति वा अंतरिक्खेति वा सामेति वा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उवासंतरेति वा अगमेति वा फलिहेति वा अणंतेति वा, जेयावण्णे तहप्पगारा सव्वे ते आगासत्थिकायस्स अभिवयणा । (सूत्र-६६४+)

'आगासे' त्ति—आ-मर्यादया, अभिविधिना वा; सर्वेऽर्थाः काशन्ते-प्रकाशन्ते स्वस्वभावं लभन्ते यत्र तदाकाशम्, 'गगणे' त्ति—अतिशयगमनविषयत्वाद्गगनं निरुक्तिवशात्, 'नभे' त्ति-न भाति-न दीप्यत इति नभः 'समे' त्ति-निम्नोन्नतत्वाभावात्समम्, 'विसमे' त्ति-दुर्गमत्वाद् विषमम्, 'खहे' त्ति-खनने भुवो हाने च त्यागे यद्भवति तत्खहमिति निरुक्तिवशात्, 'विहे' त्ति-विशेषेण हीयते-त्यज्यते तदिति विहायः, अथवा-विधीयते—क्रियते कार्यजातमस्मिन्निति विहम्, 'वीइ' त्ति-वचनाद्विविक्तस्वभावत्वाद्वीचिः 'विवरं' त्ति-विगतवरणतया विवरम्, 'अंबरे' त्ति-अंबेव-मातेव जननसाधर्म्यादम्बा-जलं तस्य राणाद्-दानादिरुक्तितोऽम्बरम्, 'अंबरसे' त्ति—अम्बा—पूर्वोक्तयुक्त्या जलं तद्रूपो रसो यस्मान्निरुक्तितोऽम्बरसम्, 'छिड्डे' त्ति-छिद्रश्छेदनस्यास्तित्वाच्छिद्रम् 'झुसिरे' त्ति-झुषः शुषेः शोषस्य दानाच्छुषिरम्, 'मग्गे' त्ति-पथिरूपत्वान्मार्गः 'विमुहे' त्ति—मुखस्यादेरभावाद्विमुखम्, 'अद्दे' त्ति-अर्धते-गम्यते, अट्यते वा-अतिक्रम्यतेऽनेनेति अर्द्दः अट्टो वा, 'विय (द्दे) द्दे' त्ति-स एव विशिष्टो व्यर्द्दो व्यट्टो वा । 'आहारे' त्ति-आधारणादाधारः 'वोमे' त्ति—विशेषेणावनात्—व्योम, 'भायणे' त्ति-भाजनात्-विश्वस्याश्रयणाद्भाजनम्, 'अंतलिक्खे' त्ति-अन्तः-मध्ये ईक्षा-दर्शनं यस्य तदन्तरीक्षम्, 'सामे' त्ति-श्यामवर्णत्वाच्छ्यामम्, 'उवासंतरे' त्ति-अवकाशरूपमन्तरं न विशेषादिरूपमित्यवकाशान्तरम्, 'अगमे' त्ति-गमनक्रियारहितत्वेनागम्, 'फलिहे' त्ति—स्फटिकमिव स्वच्छत्वात्स्फटिकम्, 'अणंते' त्ति-अन्तवर्जितत्वात् । भ० २० श० २ उ० । (आकाशस्य वर्णगन्धादिकम् 'अत्थिकाय' शब्दे प्रथमभागे गतम्)

आकाशास्तिकायस्य जीवाजीवद्रव्याधारत्वम्—

आगासत्थिकाए णं भंते ! जीवाणं, अजीवाणं य किं पवत्तइ ?, गोयमा ! आगासत्थिकाए णं जीवदव्वाण य अजीवदव्वाण य भायणभूए-" एगेण वि से पुण्णे, दोहि वि पुन्ने सयं पि माएज्जा । कोडिसएण वि पुण्णे, कोडिसहस्सं पि माएज्जा ॥ १ ॥" अवगाहणालक्खणेणं आगासत्थिकाए । (४८१+)

'आगासत्थिकाए णं' त्यादि । जीवद्रव्याणां चाजीवद्रव्याणां च भेदेन भाजनभूतः अनेन चेदमुक्तं भवति-एतस्मिन्सति जीवादीनामवगाहः प्रवर्तते एतस्यैव प्रश्नितत्वादिति, भाजनभावमेवास्य दर्शयन्नाह-'एगेण वी' त्यादि, एकेन परमाण्वादिना । 'से' त्ति- असौ आकाशास्तिकायप्रदेश इति गम्यते, पूर्णो भृतस्तथा द्वाभ्यामपि ताभ्यामसौ पूर्णः, कथमेतद् ?, उच्यते-परिणामभेदात्, यथा-अपवरकाऽऽकाशमेकप्रदीपप्रभापटलेनाऽपि पूर्यते, द्वितीयमपि तत्तत्र माति यावच्छतमपि तेषां तत्र माति, तथौषधिविशेषापादितपरिणामादेकत्र पारदकर्षे सुवर्णकर्षशतं प्रविशति, पारदकर्षीभूतं च सदौषधिसामर्थ्यात्पुनः पारदस्य कर्षः सुवर्णस्य च कर्षशतं भवति विचित्रत्वात्पुद्गलपरिणामस्येति, 'अवगाहणालक्खणेणं' ति-इहाऽवगाहनाश्रयभावो 'जीवत्थिकाएण' मित्यादि, जीवास्तिकायेनेति अन्तर्भूतभावप्रत्ययत्वाज्जीवास्तिकायत्वेन, जीवतयेत्यर्थः । भ० १३ श० ४ उ० ।

आगासत्थिकायदेस-आकाशास्तिकायदेश-पुं० । आकाशास्तिकायस्य बुद्धिकल्पिते द्व्यादिप्रदेशात्मके विभागे, प्रज्ञा० १ पद । जी० । अस्यारूप्यजीवत्वम्- " आगासे तस्स देसे य, तप्पएसे य आहिए ॥ ६ + ॥ " आकाशस्य देशः कतमो विभागः आकाशास्तिकायदेश इत्यष्टमो भेदोऽरूप्यजीवस्य । उत्त० ३६ अ० ।

आगासत्थिकायप्पएस-आकाशास्तिकायप्रदेश-पुं० । आकाशास्तिकायस्य निर्विभागे भागे, प्रज्ञा० १ पद । जी० । अस्यारूप्यजीवत्वम्- । " आगासे तस्स देसे य, तप्पएसे य आहिए " ॥ ६+ ॥ तस्याकाशास्तिकायस्य निरंशो देशस्तत्प्रदेश आकाशास्तिकायप्रदेश इति नवमो भेदोऽरूप्यजीवस्येति । उत्त० ३६ अ० ।

आगासथिग्गल-आकाशथिग्गल न० । शरत्कालिके मेघविनिर्मुक्त आकाशखण्डे, । कृष्णमणिवर्णनमधिकृत्य-" आगासथिग्गलेइ वा " (सूत्र-१२६+) आकाशथिग्गलं-शरदि मेघविनिर्मुक्तमाकाशखण्डं तद्धि कृष्णमतीव प्रतिभातीति तदुपादानम् । जी० ३ प्रति० ४ अधि० १ उ० । जं० । आ० म० ।

(तच्च केन स्पृष्टमित्याह)—

आगासथिग्गले णं भंते ! किणा फुडे कइहिं वा काएहिं फुडे किं धम्मत्थिकाएणं फुडे धम्मत्थिकायस्स देसेणं फुडे धम्मत्थिकायस्स पदेसेहिं फुडे, एवं अधम्मत्थिकाएणं आगासत्थिकाएणं एएणं भेदेणं ०जाव पुढवीकाएणं फुडे ०जाव तसकाएणं फुडे अद्धा समएणं फुडे ?, हंता गोयमा ! धम्मत्थिकाएणं फुडे, नो धम्मत्थिकायस्स देसेहिं फुडे, धम्मत्थिकायस्स पदेसेहिं फुडे, एवं अधम्मत्थिकायेण वि नो आगासत्थिकाएणं फुडे आगासत्थिकायस्स देसेणं फुडे आगासत्थिकायस्स पदेसेहिं फुडे ०जाव वणस्सइकाएणं फुडे, एवं तसकाइएणं सिय फुडे, सिय नो फुडे, अद्धा समएणं देसेणं फुडे । (१८८×)

'आगासथिग्गले णं भन्ते' इत्यादि. आकाशथिग्गलम्-लोकः स हि महता-बहिराकाशस्य वितनपटस्य थिग्गलमिव प्रतिभाति . भदन्त ! केन स्पृष्टो व्याप्तः, एतत् सामान्येन स्पृष्टमतदेव विशेषतः प्रश्नयति-कतिभिः कियत्संख्याकैः कायैः स्पृष्टः वाशब्दः पक्षान्तरद्योतनार्थः प्रकारान्तरं च सामान्याद्विशेषतः तान् कायान् प्रत्येकं पृच्छन्ति-'किं धम्मत्थिकाएणं फुडे' इत्यादि, सुगमं, भगवानाह-हे गौतम ! धर्मास्तिकायेन स्पृष्टः धर्मास्तिकायस्य सर्वात्मना तत्रावगाढत्वात्, अत एव नाधर्मास्तिकायस्य देशेन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्पृष्टो यो हि येन सर्वात्मना व्याप्तो नासौ तस्यैव देशेन व्याप्तो भवति—विरोधात्, प्रदेशैस्तु व्याप्तः। सर्वेषामपि धर्मास्तिकायप्रदेशानां तत्रावगाढत्वात्, एवमधर्मास्तिकायविषयेऽपि, निर्वचनं वाच्यम्। तथा नो आकाशास्तिकायेन सकलेन द्रव्येण स्पृष्टः, आकाशास्तिकायदेशमात्रत्वाल्लोकस्य, किन्तु-देशेन व्याप्तः। प्रदेशैश्च पृथिव्यादयोऽपि सूक्ष्माः सकललोकापन्ना वर्त्तन्ते ततस्तैरपि सर्वात्मना व्याप्तः, 'तसकाइएणं सिय फुडे' इति, यदा केवली समुद्घातं गतः सन् चतुर्थे समये वर्त्तते तदा तेन स्वप्रदेशैः सकललोकपूरणात् त्रसकायेन स्पृष्टः केवलिनस्त्रसकायत्वात्, शेषकालं तु न स्पृष्टः सर्वत्र त्रसकायनामभावात्। प्रज्ञा० १५ पद १ उ०।

आगासपइट्ठिय-आकाशप्रतिष्ठित-त्रि०। आकाशं-व्योम तत्र प्रतिष्ठितो-व्यवस्थित आकाशप्रतिष्ठितः। आकाशव्यवस्थिते, "आगासपइट्ठिए वाए" (सूत्र-२८६×)। स्था० ३ ठा० १ उ०। भ०। "तप्पइट्ठिओ लोगो" ॥१२३+॥ तत्प्रतिष्ठितो लोकस्तत्—इत्यनेनाकाशपरामर्शस्ततश्चाकाशप्रतिष्ठितस्तत्प्रतिष्ठितः; प्रकर्षेण स्थितवानित्यर्थः। दश०१ अ०।

आगासपंचम-आकाशपञ्चम-पुं०। आकाशं-सुषिरलक्षणम्। तत्पञ्चमं येषां तानि। पृथिव्यादिके पञ्चमहाभूते, सूत्र०। "पुढवी आउ तेऊ, वाउ आगासपंचमा" ॥ ७ ॥ सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०।

आगासपय-आकाशपद-न०। सिद्धश्रेणिकपरिकर्मश्रुतभेदे, स० १४७ सूत्र।

आगासप्पएस-आकाशप्रदेश-पुं०। आकाशस्य निर्विभागे भागे, प्रज्ञा० १ पद। धोडशाकाशप्रदेशाः। सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०।

आगासफालिह (फालिय)-आकाशस्फटिक-पुं०। आकाशमिव यदत्यन्तमच्छं-स्फटिकमाकाशस्फटिकम्। स० ३४ सम०। अतिस्वच्छे स्फटिकविशेषे। "आगासफालिहामएणं सपायपीढेणं सीहासणेणं" (सूत्र-५ + टी०)। आकाशस्फटिकमतिस्वच्छं स्फटिकविशेषस्तन्मयेनोपलक्ष्यत इति गम्यम्। भ० १ श० १ उ०। जं०। रा०। आकाशे भवः स्फटिक इव वर्षोपले करकाख्ये संहतजलखण्डे तदुत्पादविलयौ श्रीपतिराह-" उद्धूतैः पांसुभिर्भूमेः, प्रचण्डपवनोत्थयात्। मेघमण्डलमानीते-र्मालिन्यपरिवर्जितैः ॥ १ ॥ मिश्रणाज्जलबिन्दूनां, पिण्डभावो भवेदिह। इयद्धि निपतन्त्येते, द्रवन्ते च पुनः क्षितौ ॥ २ ॥" वाच०।

आगास (फलिह) फालियसरिसप्पह-आकाशस्फटिकसदृशप्रभ-त्रि०। आकाशस्फटिकयोराकाशरूपस्फटिकस्य वा सदृशी प्रभा येषां तानि तथा। आकाशस्फटिकतुल्ये, औ०।

आगास (फलिहा) फालियामय-आकाशस्फटिकमय-त्रि०। अतिस्वच्छस्फटिकविशेषमये, भ० १ श० १ उ०। "आगासफालियामयं सपायपीढं सीहासणं" (सूत्र-३४+)। आकाशमिव यदत्यन्तमच्छं स्फटिकं तन्मयं सिंहासनं सपादपीठम्। स० ३४ सम०। रा०। आकाशतुल्यं स्वच्छत्वात् यत् स्फटिकं तन्मयेन सपादपीठेन सिंहासनेनेति। औ०।

आगासमग्ग-आकाशमार्ग-पुं०। द्रव्यमार्गभेदे, सूत्र० १ श्रु० ११ अ०। आकाशमार्गो विद्याधरादीनाम्। सूत्र० १ श्रु० ११ अ०।

आगासातिवाइ (न्)-आकाशातिपातिन्-पुं०। आकाशम्-व्योम अतिपततीति। आकाशगामिविद्याप्रभावात् पादलेपादिप्रभावाद्वा आकाशमतिक्रामति, आकाशाद्वा हिरण्यवृष्ट्यादिकमिष्टमनिष्टं वा अतिशयेन पातयतीत्येवंशीले च। औ० १५ सूत्र०।

आकाशादिवादिन्-पुं०। अमूर्त्तानामपि पदार्थानां साधनसमर्थवादिनि, औ०। "अप्पेगइया विउलमइविउव्विणिड्डिपत्ता चारणा विज्जाहरा आगासातिवाइणो" (सूत्र-१५+) 'आगासातिवाइ' त्ति—आकाशं-व्योमातिपतन्ति-अतिक्रामन्ति। आकाशगामिविद्याप्रभावात् पादलेपादिप्रभावाद्वा आकाशाद्वा हिरण्यवृष्ट्यादिकमिष्टमनिष्टं वा अतिशयेन पातयन्तीत्येवंशीला आकाशातिपातिनः। आकाशादिवादिनो वा। अमूर्त्तानामपि पदार्थानां साधनसमर्थवादिन इति भावः। औ०।

आगासिउं-आक्रष्टुम्-अव्य०। हठात्समाकृष्यात्मनः समीपमानेतुमित्यर्थे, विशे०।

आगासिय-आकर्षित-त्रि०। आकृष्टे, उत्पाटिते, औ०।

आकाशित-त्रि०। आकाशम्-अम्बरम् इतः-प्राप्तः। आकाशं गते, "आगासियाहिं सेअचामराहिं। (सूत्र-१०+) आकाशम्-अम्बरमिताभ्यां-प्राप्ताभ्याम्, आकर्षिताभ्यां वा; आकृष्टाभ्याम्-उत्पाटिताभ्यामित्यर्थः। औ०।

आगिइतिग-आकृतित्रिक-न०। आकृतयः-संस्थानानि षट् संहननानि षट् जातयः पञ्चेत्येवं सप्तदशके आयुरुपलक्षिते त्रिके, कर्म० ५ कर्म०।

आगु-आकु-(गु)-पुं०। 'अक' 'अग' कुटिलायां गतौ, उण् अभिलाषायाम्, आव०। "सक्को वंसट्ठवणा इक्खुअगू तेण हुंति इक्खागा" 'अक' 'अग' कुटिलायां गतौ, अनकार्थत्वाद्धातूनाम्। अकुघातोरौणादिके उणप्रत्यये आगुशब्दोऽभिलाषार्थः, ततः स्वामी इक्षोः आकुना-अभिलाषेण करं प्रासारयत् शक्र आर्पयत् तेन कारणेन भवन्ति इक्ष्वाकुवंशभवा ऐक्ष्वाकाः। आ० क० १ अ०।

आग्घाण-आघ्राण-त्रि०। आ-घ्रा-क्त। प्रहीतगन्धे पुष्पादौ, नासिकया यस्य गन्धज्ञानं जातम्। तस्मिन्, तृप्ते च। भावे क्त। गन्धग्रहणे, तृप्तौ च। न०। वाच०। "आघ्रेराइग्घः" ॥८।४।१३॥ इति आइग्घादेशः। आइग्घइ। आग्घाइ। प्रा०।

आघं-आख्यातवत्-त्रि०। कथयितरि, सूत्र०। "आघं मईमं अणुवीय धम्मं" ॥ १५ ॥ 'आघं' ति-आख्यातवान्। सूत्र० १ श्रु० १० अ०।

आघवअज्झयण-आख्यातवदध्ययन-न०। सूत्रकृताङ्गप्रथमश्रुतस्कन्धस्य समाध्यध्ययनापरनामधेये दशमेऽध्ययने, सूत्र०। निर्युक्तिकृदाह-" आयाणपदेणाऽऽघं, गोण्णं णामं पुणो समाहि त्ति" ॥१०४॥ आदीयते-गृह्यते प्रथममादौ यत्-

दादानम् आदानं च तत्पदं च सुवन्तं तिङन्तं वा तदादान-पदं तेनाऽऽख्यान्ति नामास्याध्ययनस्य यस्मादध्ययनादावियं सूत्रम् । सूत्र० १ श्रु० १० अ० । (अत्र विशेषः दृष्टान्तश्च 'समाहि ' शब्दे सप्तमे भागे दर्शयिष्यते ।)

आघंसण-आघर्षण-न० । भावे ल्युट् । मर्दने, वाच० । ईषत् घर्षणे, " आघंसेज्ज वा " (सूत्र-६७×) । ईषत्पुनः पुनर्वा घर्षयेत् । आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० १ उ० ।

जे भिक्खू अप्पणो दंतं आघंसेज्ज वा पघंसेज्ज वा आघसंतं वा पघसंतं वा साइज्जइ ॥ ४७ ॥

एकदिणं-आघंसणं, दिणे दिणे पघंसणं ति । नि० चू० ३ उ० ।

आघवत्ता-आख्यातृ-त्रि० । आख्यायके, (प्रज्ञापके) स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

आघवण-आख्यान-न० । सामान्यविशेषाभ्यां कथने, "आघविज्जंति " (सूत्र-१३७×) । प्राकृतशैलया-आख्यायन्ते सामान्यविशेषाभ्यां कथ्यन्ते इत्यर्थः । स० । आव० । आख्यापने , सामान्यविशेषरूपेण कथने,-" दुवालसंगं गणिपिडगं आघवेइ"(सूत्र-७५०×)। सामान्यविशेषरूपेण आख्यापयतीति । स्था० १० ठा० ३ उ० ।

आग्रहण-न० । आदानं , अनु० ।

आग्राहण-न० । आदापने , भ० ६ श० ३१ उ० ।

अर्थापन-न०। प्रतिपादनतः पूजाप्रापणे, भ०। "केवलिपन्नत्तं धम्मं आघवेज्ज वा " (सूत्र-३६८×) । आग्राहयेच्छिष्या-नर्थापयेद्वा प्रतिपादनतः पूजां प्रापयेदिति । भ०६ श०३१ उ०।

आघवणा-आख्यापना-स्त्री० । आख्याने, उपा० । " बहूहिं आघवणाहि य " (सूत्र-४४×) । ' आघवणाहि य ' त्ति-आख्यानैः । उपा० ७ अ० । तत्र सामान्यतः प्रतिपादनम्-" आघवणाहि य " (सूत्र-८३+)। आख्यापनाभिश्च-सामान्यतः प्रतिपादनैः । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । नि० । म० ।

आघवित्तए-आख्यातुम्-अव्य० । भणितुमित्यर्थे, अन्त० १ श्रु० ३ वर्ग ८ अ० । म० ।

आघविय-आख्यात-त्रि० । आ-ख्या-कर्मणि-क्त । कथिते, वाच० । " भगवया महावीरेणं आघविए " (सूत्र-७४×) । 'आघविए' त्ति-आर्षत्वादाख्यात इति । उत्त० २९ अ० ।

आगृहीत-त्रि० । आदत्ते, " आवस्सए त्ति पयं आघवियं पन्नवियं परूवियं " ग० २ अधि० । ' आघवियं ' त्ति-प्राकृतशैलया छान्दसत्वाच्च गुरोः सकाशादागृहीतम् । अनु० ।

आग्राहित-त्रि० । आदापिते, भ० ६ श० ३१ उ० ।

अर्थापित-त्रि० । प्रतिपादनेन पूजां प्रापिते, " केवलिपन्नत्तं धम्मं आघवेज्ज वा " (सूत्र-३६८) । आग्राहयेच्छिष्यान् , अर्थापयेद्वा-प्रतिपादनतः पूजां प्रापयेद् । भ० ६ श० ३१ उ० ।

आघवेमाण-आख्यात्-त्रि० । कथयति, आव० ३ अ० ।

आघसंत-आघर्षण-त्रि० । ईषद्घर्षणं कुर्वति, नि० चू० १७ उ० ।

आघसावण-आघर्षण-न० । ईषद्घर्षणे, नि० चू० ।

जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स दंते अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा आघसावेज्ज वा पघसावेज्ज वा आघसंतं वा पघसंतं वा साइज्जइ ॥ ५३ ॥ नि० चू० १७ उ० ।

आघाण-आख्यान-न० । कथने,-आचा०" आघाइ णाणी " (सूत्र-१३१×)। ज्ञानी आख्याति-आचष्टे । आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

आघाय-आख्यात-त्रि० । आ-ख्या-कर्मणि क्त । कथिते, वाच० । " आघायं तु सोच्चा" (सूत्र-१८८×)। आख्यातमेवैतत् कुशीलविपाकादिकं श्रुत्वा निशम्येति । आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० । भावे क्त । आशये च । न० । " आघायं पुण एगेसिं " (॥ १+ ॥) । नियतिवादिनां पुनरेकेषामेतदाख्यातम् , अत्र च-" अविवक्षितकर्मका अपि अकर्मका भवन्तीति " ख्यातेर्धातोर्भावे निष्ठाप्रत्ययस्तद्योगे कर्त्तरि षष्ठी; ततश्चायमर्थः—तैर्नियतिवादिभिः पुनरिदमाख्यातं; तेषामयमाशय इत्यर्थः । सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

आघात-पुं० । आ-हन्-घञ् । वधे, आहनने, ताडने च । आधारे घञ् । वधस्थाने, वाच० । आहन्यन्ते-अपनयन्ति विनाश्यन्ते प्राणिनां दशप्रकारा अपि प्राणा यस्मिन् स आघातः । मरणे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

आघायकिच्च-आघातकृत्य-न० । अग्निसंस्कारजलाञ्जलिप्रदानपितृपिण्डादिके मरणकृत्ये, सूत्र० ।

आघायकिच्चमाहेउं, नाइओ विसएसिणो ।
हरंति अन्ने तं वित्तं, ॥ ४× ॥

आहन्यन्ते—अपनयन्ति; विनाश्यन्ते प्राणिनां दशप्रकारा अपि प्राणा यस्मिन् स आघातो मरणं, तस्मै तत्र वा कृतमग्निसंस्कारजलाञ्जलिप्रदानपितृपिण्डादिकमाघातकृत्यं तदाधातुम्-आधाय-कृत्वा पश्चात् ज्ञातयः-स्वजनाः; पुत्रकलत्रभ्रातृव्यादयः, किम्भूताः?-विषयानन्वेष्टुं शीलं येषां ते, अन्येऽपि विपर्यैषिणः सन्तस्तस्य दुःखाऽर्जितं वित्तं-द्रव्यजातम्-अपहरन्ति-स्वीकुर्वन्ति । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

आ (घ) घायण-आघातन-न० । वधस्थाने , वाच० । " तत्थ णं महं एगं आघातणं पासंति " (सूत्र-८×) । 'आघायणं' ति-वधस्थानम् । ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० । " आघायणपडिदुवारसंपाविया " (सूत्र-१२×) । आघातनस्य वध्यभूमिमण्डलस्य प्रतिद्वारं संप्रापिता । प्रश्न० ३ आश्र०द्वार । " असिवो मा० " ॥ १४५६+ ॥ आघायणंति जत्थ दा महासंगाममया बहू । आ० चू० ४ अ० । आव० । भावे ल्युट् । हनने, वाच० ।

आघुम्मिय-आघूर्णित-त्रि० । आ-घूर्ण-क्त । " घूर्णेर्घुल-घोल-घुम्म-पहल्लाः " ॥ ८ । ४ । ११७ ॥ इति हैमप्राकृतसूत्रेणैत चत्वार आदेशाः । प्रा० । चलिते, भ्रान्ते च । वाच० । घुलइ । घोलइ । घुम्मइ । पहल्लइ । प्रा० ४ पाद ।

आघुलिय-आघूर्णित-त्रि० । ' आघुम्मिय ' शब्दार्थे, प्रा० ४ पाद ।

आघोलिय-आघूर्णित-त्रि० । ' आघुम्मिय ' शब्दार्थे, प्रा० ४ पाद ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचंदसूरिय-आचन्द्रसूर्य-न० । यावच्चन्द्रसूर्यौं तावदित्यर्थे. पञ्चा० ।

आचन्दसूरियं तह, होइ इमा सुप्पतिट्ठ त्ति ॥३४॥

आचन्द्रसूर्यं-चन्द्रसूर्यौ यावत्तावद् भवतु-अस्तु, इयम्-अधिकृता सुप्रतिष्ठा-शोभनावस्थानम् । पञ्चा० ८ विव० ।

आचेलक-आचेलक्य-त्रि० । न विद्यते चेलं-वस्त्रं यस्य सः-अचेलकस्तस्य भाव आचेलक्यम् । विगतवस्त्रत्वे, कल्प० १ अधि० १ क्षण । तदात्मके कल्पभेदे च । आचेलक्यधर्मोपेतत्वादाचेलक्यः । चारित्रलक्षणे धर्मे च । पुं० । "आचेलक्को धम्मो, पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स" ॥१०+॥ पञ्चा० १७ विव० । (भेदादिबहुवक्तव्यता 'अचेल (ग)' शब्दे प्रथमभागे गता)

आचोक्ख-अचोक्ष-पुं० । अष्टमे पिशाचनिकाये, प्रज्ञा० १ पद ।

आजम्म-आजन्मन्-अव्य० । यावज्जीवमित्यर्थे, " वसिज्ज तत्थ आजम्मं, गोयमा ! संजए मुणी " ॥ ७॥ आजन्म-जीवितकालमभिव्याप्य; यावज्जीवमित्यर्थः । ग० १ अधि० ।

आज (य) वंजवीभाव-आजवंजवीभाव-पुं० । पुनः पुनर्गमनागमने, " आरंभसत्ता पकरंति संगं " (सूत्र ६० +)। संगा च पुनरपि संसार-आजवंजवीभावरूपः । आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ० । " एस मरणा पमुच्चइ " (सूत्र-१११×) मरणाद्-आयुःक्षयलक्षणान्मुच्यते आयुषो बन्धनाभावात्, यदि वा-आजवंजवीभावात्, आवीचिमरणाद्वा सर्व एव संसारो मरणं तस्मात्प्रमुच्यते । आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

आजा (या) इ-आजाति-स्त्री० । आ-जन् क्तिन् । आजननमाजातिः । स्था० १० ठा० ३ उ० । " आइणाऽऽजाइ " ॥ ७ × ॥ आजायन्ते तस्यामित्याजातिः । आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । (कतिविधा सा आजातिः इति 'आयारंग' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते ।) आजनने, जन्मनि, " ताडयित्वा तृणेनापि, संवादान्मतिपूर्वकम् । एकविंशतिमाजातीः, पापयोनिषु जायते " ॥ १ ॥ " साक्ष्येऽनृतं वदन् पाशै-र्बध्यते वारुणैर्भृशम् । विवशः शतमाजाती-स्तस्मात् साक्ष्ये वदेदृतम् " ॥ १ ॥ इति च मनुः । वाच० । आजननमाजातिः । सम्मूर्छनगर्भोपपाततो जन्म । स्था० १० ठा० ३ उ० । आजातिः-ततश्च्युतस्य मनुष्यजन्म । स्था० ८ ठा० ३ उ० । आजायन्ते तस्यामित्याजातिः, सा अपि चतुर्धा-र्व्यातिरिक्ता, मनुष्यादिजातिः, भावाऽऽजातिस्तु, ज्ञानाद्याचारप्रसूतिरयमेव ग्रन्थ इति । आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

आयाति-स्त्री० । आगतौ, आजाति-र्जन्म । आयातिः-आगतिः । स्था० ३ ठा० ३ उ० । आयातिः-गर्भान्निष्क्रमः । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

आजीव-आजीव-पुं० । आजीवनमाजीवः । भावे घञ् । जीविकायाम्, प्रव० ६७ द्वार । आजीवनार्थमालम्बने, वाच० । आ-समन्ताज्जीवन्त्यनेनेति आजीवः । अर्थनिचये, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । आजीविकायाम्, व्य० १ उ० । आत्मवर्त्तनोपाये, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । वाच० ।

आजीवमेयं तु अबुज्झमाणो,
पुणो पुणो विप्परियासुवेंति ॥ १२ ॥

आजीवम्-आजीविकाम्, आत्मवर्त्तनोपायं कुर्वाणः पुनः पुनः संसारकान्तारे विपर्यासम्-जन्मजरामरणरोगशोकोपद्रवम् उपैति-गच्छति तदुत्तरणायाभ्युद्यतो वा तत्रैव निमज्जतीत्ययं विपर्यासः । सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

आजीवनं—जातिकुलगणकर्मशिल्पानां भृशस्वम्माभिधानत उपजीवनम्-आजीवः । उत्पादनादोषविशेषे, पञ्चा० १३ विव० । जात्यादिकथनाद् आजीवनम् आजीवः । ग० १ अधि० ।

आजीवस्य भेदादिकमाजीवपिण्डदोषस्य स्वरूपादिकञ्च—

जाई-कुल-गणकम्मे, सिप्पे आजीवणा उ पंचविहा ।
सूयाए असूयाए, व अप्पाणं कहेहि एक्केक्के ॥ ४३७ ॥

आजीवना पञ्चविधा, तद्यथा-जातिविषया; जातिमाजीवतीं करोतीत्यर्थः, एवं-कुलविषया, गणविषया, कर्मविषया, शिल्पविषया च । सा चाजीवना एकैकस्मिन् भेदे द्विधा, तद्यथा-सूचया आत्मानं कथयति । असूचया च, तत्र सूचा-वचनभङ्गिविशेषेण कथनम्, असूचा स्फुटवचनेन ।

तत्र जात्यादीनां लक्षणमाह—

जाई कुले विभासा, गणो उ मल्लाइ कम्म किसिमाई ।
तूणादि सिप्पणाव-ज्जगं च कम्मं य आवज्जं ॥ ४३८ ॥

जातिकुले विभाषा-विविधं भाषणं कार्यं, तच्चैवम्-जातिः-ब्राह्मणादिका, कुलम्-उग्रादि । अथवा-मातृसमुत्था जातिः, पितृसमुत्थं कुलम् । गणो-मल्लादिवृन्दम् । कर्म-कृष्यादि, शिल्पं-तूर्णादि; तूर्णनसीवनप्रभृति । अथवा-अनावर्जकम्-अप्रीत्युत्पादकं कर्म, इतरत्तु आवर्जकं प्रीत्युत्पादकं शिल्पम्, अन्ये त्वाहुः-अनाचार्योपदिष्टं कर्म, आचार्योपदिष्टं तु शिल्पमिति । पिं० । (तत्र जातिलक्षणम्, तद्व्यवस्था च 'जाइ' शब्दे चतुर्थे भागे दर्शयिष्यते ।) (कुललक्षणम्, तद्भेदाः, तद्व्यवस्था च 'कुल' शब्दे तृतीयभागे वक्ष्यते ।) (आदिजिनो भगवान् प्रथमम् उग्र-भोग-राजन्य-क्षत्रियलक्षणानि चत्वारि कुलानि स्थापितवान् इति 'उसभ (ह)' शब्देऽस्मिन्नेव भागे दर्शयिष्यते ।) (कुलकर्तारोऽन्येऽपि सन्तीति 'कुलगर' शब्दे तृतीयभागे विस्तरतो दर्शयिष्यते ।) (गणलक्षणम्, तद्व्यवस्था च 'गण' शब्दे तृतीयभागे दर्शयिष्यते ।) (कर्मलक्षणम्, तद्विस्तरश्च 'कम्म' शब्दे ३ भागे दर्शयिष्यते । तत् प्रकृतयश्च 'कम्मपयडि' शब्दे तस्मिन्नेव ३ भागे दर्शिता भविष्यन्ति ।) (शिल्पलक्षणम्, तस्य पञ्च मूलभेदाः, पुनस्तेषां प्रत्येकं विंशतिः विंशतिः भेदाः सन्तीति प्रतिपादनम् 'सिप्प' शब्दे सप्तमभागे वक्ष्यते ।) शिल्पशतभेदाः कालनिधौ विस्तरतः 'भरह' शब्दे षष्ठे भागे दर्शयिष्यते ।)

तत्र यथा साधुः सूचया स्वजातिप्रकटनाज्जातिमुपजीवति तथा दर्शयति—

होमायवितहकरणे, नज्जइ जह सोत्तियस्स पुत्तो त्ति ।
वसिओ वेस गुरुकुले, आयरियगुणे व सूएइ ॥ ४३९ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साधुर्भिक्षार्थमटन् ब्राह्मणगृहे प्रविष्टः सन् तस्य पुत्रं होमादिक्रियाः कुर्वाणं दृष्ट्वा तदभिमुखं प्रति स्वजातिप्रकटनाय जल्पति- होमादिक्रियाणामवितथकरण एव एव पुत्रो ज्ञायते-यथा श्रोत्रियस्य पुत्र इति । यदि वा-उपित एव सम्यग् गुरुकुले इति ज्ञायते । अथवा-सूचयति-एष तव पुत्र आत्मन आचार्यगुणान् ततो नियमादेव महानाचार्यो भविष्यतीति । तत एवमुक्ते स ब्राह्मणो वदति साधो ! त्वमवश्यं ब्राह्मणो येनेत्थं होमादीनामवितथत्वं जानासि, साधुश्च मौनेनाऽवतिष्ठते, एतच्च सूचया स्वजातिप्रकटनम् . अत्र च अनेके दोषाः, तथाहि-यदि स ब्राह्मणो भद्रकस्तर्हि स्वजातिपक्षपातात्प्रभूतमाहारादिकं दापयति । तदपि च जात्युपजीवनतो निमित्तमिति भगवता प्रतिषिद्धम् . अथ प्रान्तस्तर्हि अहोऽयं पापोऽस्मान् ब्राह्मणान् पाखण्ड्यामीति विचिन्त्य स्वगृहान्निष्काशनादि करोति . असूचया तु जात्या जीवनं पृष्टोऽपृष्टो वा आहारार्थं स्वजातिं प्रकटयति- यथा-'अहं ब्राह्मण' इति, तत्राऽप्यनन्तरोक्ता एव दोषाः, एवं क्षत्रियाऽऽदिजातिष्वपि, मदिष्टोऽपि, एवं कुलादिष्वपि भावनीयम् । पिं० । प्रव० ।

एतदेव किंचिद् व्यक्तीकुर्वन्नाह—

सम्ममसम्मा किरिया, अणेण ऊणाहिया व विवरीया।
समिहामंताहुइट्ठा-णजागकाले य घोसाई ॥ ४४० ॥

साधुर्भिक्षार्थमटन् कस्यचित् ब्राह्मणगृहे प्रविष्टः सन् तस्य पुत्रं होमाऽऽदिक्रियाः कुर्वाणं दृष्ट्वा पितरं स्वजातिप्रकटनाय जल्पति अनेन तव पुत्रेण सम्यक् असम्यग्वा होमादिका क्रिया कृता, तत्राऽसम्यक् त्रिधा, तद्यथा-न्यूना, अधिका, विपरीता वा । सम्यक् समिधादीन् घोषादींश्च यथावस्थितानाश्रित्य तत्र समिधः-अश्वत्थादिवृक्षाणां प्रतिशाखाखण्डानि, मन्त्राः—प्रणवप्रभृतिका अक्षरपद्धतयः, आहुतिः-अग्नौ घृतादेः प्रक्षेपः, स्थानम्-उत्कुटादि, यागः अश्वमेधादिः, कालः-प्रभातादिः, घोषाः उदात्तादयः, आदिशब्दात्—ह्रस्वदीर्घादिधर्मपरिग्रहः, एवं चोक्ते स साधुं ब्राह्मणं जानाति । तथा च सति भद्रे, प्रान्ते वा पूर्ववत् दोषा वक्तव्याः । उक्तं जात्युपजीवनम् ।

अथ कुलाद्युपजीवनमाह—

उग्गाइकुलेसु वि एवा-मेव गणिमंडलप्पवेसाइ ।
देउलदरिसणभासा-उवणयणे दंडमाईया ॥ ४४१ ॥

एवमेव-जात्यादिवत्कुलादिष्वपि उग्रादिषूपजीवनमवगन्तव्यम्, यथा कोऽपि साधुरुग्रकुले भिक्षार्थं प्रविष्टस्तत्र च तत्पुत्रं पदातीन् यथावदारक्षककर्मसु नियुञ्जानं दृष्ट्वा तत्पितरमाह-योऽयं 'ते' तव पुत्रोऽप्रवर्दितोऽपि यथायोगं पदातीनां नियोजनेनोग्रकुले सम्भूत इति । ततः स जानाति एषोऽपि साधुरुग्रकुलसमुत्पन्न इति. इदं तु सूचया स्वकुलप्रकाशनम्, यदा तु स्फुटं वा चैव स्वकुलमावेदयति-यथाहमुग्रकुलो भोगकुल इत्यादि । तदा असूचया प्रकटनं तेषां भद्रप्रान्तत्वे पूर्वोक्तानुसारेण दोषा वक्तव्याः । तथा-'गणे'-गणविषये मण्डलप्रवेशादि इहाऽक्षखलके प्रविष्टस्यैकस्य मल्लस्य यल्लभ्यं भूखण्डं तन्मण्डलं तत्र वर्तमानस्य प्रतिद्वन्द्विनो मल्लस्य विबाधाय यः प्रवेशस्तदादिशब्दात्-ग्रीवाग्रहादिपरिग्रहः, तथा देवकुलदर्शनं युद्धप्रदेशे चामुण्डाप्रतिमाप्रणमनं, भाषापतनं प्रतिमल्लाह्वानाय तथा तथा वचनढौकनं दण्डादिकाः धर्मोपायनस्तुमाङ्कयुद्धप्रभृतयः, एतान् गुणान् गृहे प्रविष्टः सन् तत्पुत्रस्य प्रशंसति, तथा च सति तेन ज्ञायते-यथैषोऽपि साधुर्मल्ल इत्यादि प्राग्वत् ।

कर्म-शिल्पयोराजीवनमाह—

कसरि पओयणाधे-वस्तवत्थुबहुवित्थरेसु एमेव ।
कम्मेसु य सिप्पेसु य, सम्ममसम्मेसु सू इयरा ॥४४२॥

कर्मसु, शिल्पेषु च एवमेव-कुलादाविवोपजीवनं वक्तव्यम्, कथमित्याह-'कसरि' कर्मणां शिल्पानां च विधायके, उपलक्षणमेतद्विधापयके च वणिजादौ, सप्तमी चात्र षष्ठ्यर्थे, ततोऽयमर्थः-कर्तुः कारापकस्य च प्रयोजनापेक्षेषु भूमिविलेखनादिप्रयोजननिमित्तं ध्रियमाणेषु हलादिषु वस्तुषु सूत्रे चात्र विभक्तिलोप आर्षत्वात् । बहुविस्तारेषु-प्रभूतेषु नानाविधेषु च सम्यक् असम्यगिति वा क्रियमाणेषु शोभनानि अशोभनानीति वा कथ्यमानेषु यदात्मनि कर्मणि शिल्पे वा कौशलज्ञापनं तत्तयोरुपजीवनम् . इयमत्र भावना-भिक्षार्थं प्रविष्टः सन् साधुः कृष्यादेः कर्तुः कारापकस्य वा तत्प्रयोजनोपक्षणीयानि नानारूपाणि हलादीनि बहूनि वस्तूनि तानि दृष्ट्वा आत्मनः कर्मणि शिल्पे वा कौशलज्ञापनाय शोभनान्यशोभनानीति वा यत् वक्ति तत्कर्मशिल्पयोराजीवनम् । अनेन च प्रकारेण कौशलज्ञापनं, सूचा स्फुटवचनेन च कौशलकथनम् असूचा । पिं० । नि० चू० ।

आजीविकापिण्डग्रहणे दोषाः । सूत्रम्-

जे भिक्खू आजीवियं पिंडं भुंजइ भुंजंतं वा साइज्जइ॥६२॥

जातिमातिमाव उवजीवति त्ति आजीवणपिंडो ।

गाहा—

जे भिक्खू जीवपिंडं, गेण्हेज्ज सयं तु अहवा सातिज्जे ।
सो अ णाअणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं पावे ॥ १४८ ॥

स्वयं हरहति, अण्णं वा गेण्हावेति, अणुजाणाति वा, तस्स आणादिया य दोषा, चउलहुं च पच्छित्तं । नि० चू० १३ उ० । आजीवति, कर्त्तरि अच् । आजीवनकारिणि, कर्माजीवनृपाजीव इत्यादौ तु आजीव अण् उप० स० इति भेदः । वाच० । कुशीलभेद, प्रव० २ द्वार । स्था० । आजीवनम्-उपजीवनं जातिकुलगणशिल्पादिना करोतीति । दर्श० ४ तत्त्व ।

स च पञ्चविधः—

पंचविहे आजीवे पण्णत्ते, तं जहा-जाइआजीवे, कुलाऽऽजीवे, कम्माऽऽजीवे, सिप्पाऽऽजीवे, लिंगाऽऽजीवे ।
(सूत्र-४०७)

कुशीलभेदे, स्था० ।

(अस्य सप्त भेदाः)—

जाती कुले गणे वा, कम्मे सिप्पे तवे सुए चेव ।
सत्तविहं आजीवं, उवजीवइ जो कुसीलो उ ॥२५३॥

जातिर्मातृकी, कुलं पैतृकं, गणो मल्लगणादिः, कर्म-अनाचार्यकम्, आचार्योपदेशजं शिल्पम् । तपः-श्रुते, प्रतीते । एवं सप्तविधम् आजीवं य उपजीवति-जीवनार्थमाश्रयति, त-

यथा-जातिं कुलं वाऽऽत्मीयं लोकेभ्यः कथयति । येन जाति-पूज्यतया कुलपूज्यतया वा भक्तपानादिकं प्रभूतं लभेयमिति, अनयैव बुद्ध्या मल्लगणादिभ्यो गणेभ्यो गणविद्याकुशलत्वं कर्म्मशिल्पकुशलेभ्यः कर्म्मशिल्पकौशलं कथयति । तपसः उपजीवना तपः कृत्वा क्षपकोऽहमिति जनेभ्यः कथयति श्रुतोपजीवना बहुश्रुतोऽहमिति सः कुशीलः । व्य० १ उ० ।(कुशीलानां बहवो भेदाः ते च ' कुसील ' शब्दे तृतीय-भागे विस्तरतो वक्ष्यते । आजीवस्य प्रायश्चित्तं च तत्रैव ।) श्रमणभेदे च । ये गोशालकमतमनुसरन्ति भण्यन्ते ते तु आजीवकाः इति । एते ऽपि लोके श्रमणा इति व्यपदिश्यन्त इति । प्रव० ६४ द्वार ।

आजीवग-आजीवक-पुं० । आ-जीव-कर्त्तरि ण्वुल् । आ-जीवनकर्त्तरि । वाच०। श्रमणभेदे, । प्रव० ६५ द्वार । आचा०।

आजीवग-पुं० । आ-समन्ताज्जीवन्त्यनेनेत्याजीवः-अर्थ-निचयस्तं गच्छति-आश्रयत्यसौ-आजीवगः । अर्थमदे,सूत्र०। " आजीवगं चेव चउत्थमाहु, से पंडिए उत्तमपोग्गले से" ॥ १५ ॥ आ-समन्ताज्जीवन्त्यनेनेत्याजीवोऽर्थनिचयस्तं ग-च्छत्याश्रयत्यसौ आवाजीगः-अर्थमदस्तं च चतुर्थं नामयेत् चशब्दाच्छेषानपि मदान्नामयेत् तन्नामनाच्चासौ पण्डितः-तत्त्ववेत्ता भवति । सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

आजीवण-आजीवन-न० । आजीवत्यनेन, करणे ल्युट् । वृत्त्युपाये, भावे ल्युट् । वृत्त्यर्थमुपायग्रहणे, वाच० । जात्या-द्याजीवनेनोत्पादिते आहारशय्यादिके, " वणीमगाऽऽजीव-णनिकाए " ॥ १६४ + ॥ आजीवनं यदाहारशय्यादिकं जा-त्याद्याजीवनेनोत्पादितम् । व्य० ३ उ० ।

आजीवणा-आजीवना-स्त्री० । परोपजीवने , दर्श० १ तत्त्व ।

आजीवणापिंड-आजीवनापिण्ड- पुं० । उत्पादनादोषविशेष-स्पृष्टे जातिकुलगणकर्मशिल्पैरात्मनो गृहस्थस्य च तु-ल्यरूपताख्यापनेन लब्धजीवनापिण्डे , जीत० ।

आजीवणाभय-आजीवनाभय-न० । आजीवना-परोपजी-वनं सैव भयम् आजीवनाभयम् । भयभेदे , यथा राजामा-त्यादिपदातिआजीवनाभयात्संग्रामादौ मरणमध्यवस्यति । दर्श० १ तत्त्व ।

आजीवदिट्ठंत-आजीवदृष्टान्त-पुं० । आ-सकलजगदाभि-व्याप्य जीवानां यो दृष्टान्तः-परिच्छेदः स आजीवदृष्टान्तः । सकलजीवनिदर्शने , आह च मूलटीकाकारः- ' आजीव-दृष्टान्तेन-सकलजीवनिदर्शनेन । जी० ३ प्रति० २ अधि० १ उ० । (आजीवदृष्टान्तेन तिर्यग्योनिकानां जातिकु-लकोटिविचारः 'तिरिक्खजोणिय' शब्दे चतुर्थभागे करिष्यते)

आजीवपिंड-आजीवपिण्ड-पुं० । जातिकुलगणकर्मशिल्पा-दिप्रधानेभ्य आत्मनस्तद्गुणत्वारोपणं भिक्षार्थमाजीवपिण्ड इत्युक्तलक्षणे उत्पादनादोषभेदे, ध० ३ अधि० । आचा० । प-श्चा० । "जच्चाइणा जीवे"-जात्यादिना जातिकुलगणकर्मशि-ल्पादिकमाजीवेद्-उपजीवति यस्तस्य तत्कथनमुपजीवनं चो-त्पादनादोषः । पञ्चा० १३ विव० । (अस्य वक्तव्यता ' आ-जीव ' शब्देऽस्मिन्नेव भागेऽनुपदमेव गता ।)

आजीववित्तिया-आजीववृत्तिता-स्त्री० । जातिकुलगणक-र्मशिल्पानामाजीवनमाजीवस्तेन वृत्तिस्तद्भाव आजीववृ-त्तिता । जात्याद्याजीवनेनात्मपालनायाम् , " जा य आजी-ववित्तिया " ॥ ६+ ॥ इयं चानाचरिता । दश० ३ अ० ।

आजीवि(न्)-आजीविन्-पुं० । गोशालकशिष्ये, उपा० १ अ० ।

आजीविय-आजीविक-पुं० । नाग्न्यधारिणि पाखण्डिविशेषे , अविवेकिलोकतो लब्धिपूजाख्यात्यादिभिस्तपश्चरणादी-न्याजीवति , भ० १ श० २ उ० । श्रमणभेदे, आचा० २ श्रु० २ चू० १ अ० १ उ० । स्था० । ते च गोशलकशिष्याः (स्था० । ४ ठा० २ उ० । उपा० ।) गोशालकप्रवर्त्तिता आजीविकाः पाखण्डिनः । नं० । "आजीवियाणं' (सूत्र-२५×) पाखण्डि-विशेषाणां नाग्न्यधारिणां , गोसालकशिष्याणामित्यन्ये । आजीवन्ति वा ये अविवेकिलोकतो लब्धिपूजाख्यात्या-दिभिस्तपश्चरणादीनि ते आजिविकास्तित्वेनाऽऽजीविका अ-तस्तेषाम् भ० १ श० २ उ० ।

आजीविकाः-निह्नवा अनाराधकाः तेषामुपपत्तिगतिस्थि-तयो यथा—

से जे इमे गामागर ०जाव सन्निवेसेसु आजीवका भवंति । तं जहा—दुघरंतरिया तिघरंतरिया सत्तघरंतरिया उप्प-लवेंटिया घरसमुदाणिया विज्जुअंतरिया उट्टिया समणा, ते णं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणे बहूइं परियायं पाउ-णित्ता कालमासे कालं किच्चा उक्कोसेणं अच्चुए कप्पे देवत्ताए उववत्तारो भवंति । तेहिं तेसिं गती बावीसं सा-गरोवमाइं ठिती, अणाराहका सेसं तं चे व ॥ १७ ॥ (सूत्र-४१×)

आजीविका-गोशालकमतानुवर्त्तिनः, ' दुघरंतरिय ' त्ति-एकत्र गृहे भिक्षां गृहीत्वा येऽभिग्रहविशेषाद् गृहद्वयमति-क्रम्य पुनर्भिक्षां गृह्णन्ति; न निरन्तरमेकान्तरं वा ते द्विगृहा-न्तरिकाः द्वे गृहे अन्तरं भिक्षाग्रहणे येषामस्ति ते द्विगृहा-न्तरिकाः इति निर्वचनम् । एवं त्रिगृहान्तरिकाः सप्तगृहा-न्तरिकाश्च 'उप्पलवेंटिय'त्ति-उत्पलवृन्तानि नियमविशेषात् प्राह्यतया भैक्षत्वेन येषां सन्ति ते उत्पलवृन्तिकाः । 'घरसमु-दाणिय'त्ति-गृहसमुदाने-प्रतिगृहं भिक्षाया येषां ग्राह्यतया-ऽस्ति ते गृहसमुदानिकाः । ' विज्जुयंतरिय'त्ति—विद्युति सत्याम् अन्तरं भिक्षाग्रहणस्य येषामस्ति ते विद्युदन्तरिकाः; विद्युत्सम्पाते भिक्षां नाटन्तीति भावार्थः । ' उट्टियासमण ' त्ति—उष्ट्रिका—महान्मृण्मयो भाजनविशेषस्तत्र प्रविष्टा ये श्राम्यन्ति तपस्यन्तीत्युष्ट्रिकाश्रमणाः । एषां च पदानामु-त्प्रेक्षया व्याख्या कृतेति ॥ १७ ॥ औ० । कुशीलभेदे च । आव० ३ अ० । (तस्य भेदादि ' आजीव ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे दर्शिताः ।) सामायिककृतः श्रावकस्य कोऽपि भाण्डमपहरेत्तत्कस्येति आजीविकपृच्छा ' सामाइयकथ ' शब्दात्सप्तमभागादवगन्तव्या)

आजीवियभय-आजीविकाभय-न० । निर्द्धनः कथं दुर्भिक्षा-दावात्मानं धारयिष्यामीत्येवंरूपे भयभेदे, आव० ४ अ० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आजीवियभयगत्था, मूढा णो साहुणो खेया ॥ ५१ ॥

आजीवनमाजीविका-निर्वाहस्तद्भावनया यद् भयं-भीतिस्मदाजीविकाभयं तेन ग्रस्ता-अभिभूता ये तथा गृहस्थैर्भिक्षानिर्गुणत्वादनादिविरहिता वा; कथं निर्वहयाम इत्यभिप्रायवन्त इत्यर्थः । मूढाः-मुग्धाः परलोकसाधनवैमुख्येनेहलोकप्रतिबद्धत्वात् । 'नो' नैव साधवो ज्ञेया-ज्ञातव्याः । पञ्चा० १७ विव० ।

आजीवियसमय-आजीविकसमय-पुं० । गोशालकसिद्धान्ते, भ० ।

आजीवियसमयस्स णं अयमट्ठे पण्णत्ते, अक्खीणपडिभोइणो सव्वे सत्ता से हंता छेत्ता भेत्ता लुंपित्ता विलुंपित्ता उद्दवइत्ता आहारमाहरेंति । (सूत्र-३३०+)

आजीविकसमयस्य-गोशालकसिद्धान्तस्य ' अयमट्ठे 'त्ति-इत्यभिधेयम्-'अक्खीणपरिभोइणो सव्वसत्त'त्ति-अक्षीणम् अक्षीणायुष्कम्-अप्रासुकं परिभुञ्जत इत्येवंशीला अक्षीणपरिभोगिनः, अथवा-इन्प्रत्ययस्य स्वार्थिकत्वादक्षीणपरिभोगाः अनपगताहारभोगा सक्रयः इत्यर्थः, सर्वे सत्त्वाः असंयताः सर्वे प्राणिनः यद्येवं ततः किमित्याह-' से हंते ' त्यादि, 'से'त्ति-ततः । ' हन्ते' त्ति-हत्वा लगुडादिनाऽभ्यघहार्यं प्राणिजातं छित्वा-असिपुत्रिकादिना द्विधा कृत्वा 'भित्त्वा' शूलादिना भिन्नं कृत्वा ' लुप्त्वा ' पक्षादिलोपनेन 'विलुप्य' त्वचो विलोपनेन 'अपद्राव्य' विनाश्य आहारमाहारयन्ति । भ० ८ श० ५ उ० ।

आजीवियसुत्त-आजीविकसूत्र-न० । गोशालकप्रवर्तितपाखण्डसूत्र, स० । "आजीवियसुत्तपरिवाडीए" (सूत्र-१४७×) गोशालकप्रवर्तितपाखण्डसूत्रपरिपाट्या । स० १४७ सम० । (एतद्वक्तव्यता विशेषतः 'सुत्त' शब्दे सप्तमभागे वक्ष्यते ।)

आजीविया-आजीविका-स्त्री० । आजीवयति आ-जीव णिच्-ण्वुल् । जीविकायाम्, वृत्तौ, जीवनार्थे व्यापारे, वाच० । आजीवनमाजीविका । निर्वाहे, पञ्चा० १७ विव० । आजीविका च सप्तभिरुपायैः स्याद्-वाणिज्येण १ विद्यया २ कृष्या ३ शिल्पेन ४ पाशुपाल्येन ५ सेवया ६ भिक्षया ७ च । तत्र वाणिज्येन वणिजाम् १, विद्यया वैद्यादीनाम् २, कृष्या कौटुम्बिकादीनाम् ३, पाशुपाल्येन गोपालादीनाम् ४, शिल्पेन चित्रकारादीनाम् ५, सेवया सेवकानाम् ६, भिक्षया भिक्षाचराणाम् । ७ । (६४ श्लोकटी०) । ध० २ अधि० ।

आजीवियादोस-आजीविकादोष-पुं० । चतुर्थे उत्पादनादोषे, उत्त० । यदा गृहस्थस्य ज्ञातिं कुलं ज्ञात्वा आत्मीयमपि साधुस्तमेव ज्ञातिं तदेव कुलं स्वकीयं प्रकाश्याऽऽहारं गृह्णाति तदाऽऽजीविकादोषश्चतुर्थः । उत्त० २४ अ० ।

आजीवियोपासग-आजीविकोपासक-पुं० । आजीविकागोशालकशिष्यास्तेषामुपासक आजीवोपासकः । उत्त० २४ अ० । गोशालकशिष्यश्रावके, भ० ।

आजीविकसमयमधिकृत्य दर्शिनाः—

तत्थ खलु इमे दुवालस आजीवियोवासगा भवंति. तं जहा-ताले १, तालपलंबे २, उव्विहे ३, संविहे ४, अवविहे ५, उदए ६, नामुदए ७, णमुदए ८, अणुवालए ९, संखवालए १०, अयंबुले ११, कायरिए १२, इच्चेए दुवालस आजीवियोवासगा अरहंतदेवयागा अम्मापिउसुस्सूसगा पंचफलपडिक्कंता, तं जहा-उउंबरेहिं वडेहिं बोरेहिं सतरेहिं पिलक्खूहिं पलंडुल्हसुणकंदमूलविवज्जगा अणिल्लंछिएहिं अणक्कभिण्णेहिं गोणेहिं तसपाणविवज्जिएहिं वित्तेहिं वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति । एए वि ताव एवं इच्छंति किमंग ! पुण जे इमे समणोवासगा भवंति तेसिं णो कप्पंति इमाइं पण्णरसकम्माऽऽदाणाइं सयं करेत्तए वा कारवेत्तए वा करेंतं वा अण्णं ण समणुजाणेत्तए, तं जहा-इंगालकम्मे वणकम्मे साडीकम्मे भाडीकम्मे फोडीकम्मे दंतवाणिज्जे लक्खवाणिज्जे केसवाणिज्जे रसवाणिज्जे विसवाणिज्जे जंतपीलणकम्मे निल्लंछणकम्मे दवग्गिदावणया सरदहतलावपरिसोसणया असईपोसणया इच्चेए समणोवासगा सुक्का सुक्काभिजाइया भविया भवित्ता कालमासे कालं किच्चा अण्णयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति । (सूत्र-३३० +)

' तत्थ ' त्ति-तत्र—एवं स्थितेऽसंयतसत्त्ववर्गे ; हननादिदोषपरायणे इत्यर्थः, आजीविकसमये वा ऽधिकरणभूते द्वादशेति विशेषानुष्ठानत्वात् पारगामिता आनन्दादिश्रमणोपासकवदन्यथा बहवस्ते, ' ताले ' त्ति-तालाभिधान एकः, एवं तालप्रलम्बादयोऽपि. ' अरहंतदेवयाग ' त्ति-गोशालकस्य तत्कल्पनमाऽऽर्हत्वात् ' पंचफलपडिक्कंत ' त्ति-फलपञ्चकाग्निवृत्ता उदुम्बरादीनि च पञ्च पदानि पञ्चभाबहुवचनान्तानि प्रतिकान्तशब्दानुस्मरणादिति । ' अनिल्लंछिएहिं ' त्ति-अवर्धितकैः, ' अणक्कभिन्नेहिं ' त्ति-अनासितैः ' एए वि ताव एवं इच्छंति ' त्ति-एतेऽपि तावत ; विशिष्टयोग्यताविकला इत्यर्थः, ' एवं इच्छंति ' अमुना प्रकारेण वाञ्छन्ति धर्ममिति गम्यम् ' किमंग ! पुण ' इत्यादि, किं पुनर्ये इमे श्रमणोपासका भवन्ति ते नेच्छन्तीति गम्यम् ; इच्छन्त्येवेति विशिष्टतरदेवगुरुमत्वचनसमाश्रितत्वात्तेषाम् । भ० ८ श० ५ उ० ।

आजुत्त-आयुक्त-त्रि० । अप्रमत्ते, " अग्गत्थं जुत्तो आजुत्तो वा " अप्रमत्त इत्यर्थः । नि० चू० १ उ० ।

आडंबर-आडंबर-पुं० । आड×वि । दर्पे, अरन् । हर्षे, दर्पे, तूर्यस्वने, आरम्भे, संरम्भे, अतिलोभिन, घनगर्जिते, आयोजने च, मत्वर्थे इनि । आडम्बरिन् । तद्युक्ते, त्रि० । वाच० । पटहे, " आडम्बरो पवरंयं " (सूत्र-५५३+) । स्था० ७ ठा० ३ उ० । अनु० । यक्षे, " पाणाडंबरे अरुहे पाणत्ति मायगा तेसिं आडम्बरो जक्खो हरिमिक्को वि भणंतीति । आव० ४ अ० । आ० चू० । यक्षायतने, " आडंबरे य " ॥ ३.४+॥ आडम्बर—आडम्बरयक्षायतने, व्य० ७ उ० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आडहण-आदहन-न० । आ-दह भावे ल्युट् । आ-समन्ताद्दहने, "थूलं वियासं मुहे आडहंति" ॥ २४ ॥ मुखे विकाशं कृत्वा स्थूलं बृहत्तप्तायोगोलादिकं प्रक्षिपन्त आ-समन्ताद्दहन्ति । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० । दाहे, हिंसायां, कुत्सने च । आदह्यतेऽत्र आधारे ल्युट् । श्मशाने वाच० ।

आडोव-आटोप-पुं० । आ-तुप घञ्—पृषो० टत्वम् । दर्पे, संरम्भे, । वाच० । आडम्बरे च । उत्त० २ अ० । स्फारतायाम्, आ० १ श्रु० १ अ० । वातजन्ये उदरशब्दभेदे, वाच० ।

आढई-आढकी-स्त्री० । आढौकते अच् पृषो० गौ० ङीष् । गुल्मात्मके वनस्पतिभेदे, प्रज्ञा० १ पद । "आढकी तुवरी रूक्षा, मधुरा शीतला लघुः । ग्राहिणी वातजननी, वर्ण्या पित्तकफास्रजित्" ॥१॥ भावप्र० । फले, अस्य पुंस्त्वमपि "आढकांश्च मधुरांश्च, कोद्रवान् लवणं त्यजेत् । काशी० स्त० । वैश्वदेवे, वर्जने, वाच० ।

आढग(य)—आढक-पुं० । आढौकते आ-ढौकृ-घञ्-पृ० । चतुष्प्रस्थात्मके धान्यप्रमाणविशेषे, अनु० । "चउपत्थमाढयं" (सूत्र-३८+टी०) । औ० । ज्यो० । आ० म० । ज्ञा० । उत्त० । चतुर्भिः प्रस्थैराढकः । तं० । "तंदुलाणाऽऽढयं कलमा" ॥ ५८३ ॥ तन्दुलानां कलमा इति प्राकृतशैल्या कलमानाम् आढकम्-चतुःप्रस्थप्रमाणम् । आ० म० १ अ० । "आढकं तंदुलाणं सिद्धं ति" । आ० चू० १ अ० । "अष्टमुष्टिर्भवेत् कुञ्चिः, कुञ्चयोऽष्टौ तु पुष्कलम् । पुष्कलानि च चत्वारि, आढकः परिकीर्तितः" ॥ १ ॥ वाच० ।

आढत्त-(आरद्ध)-आरब्ध-त्रि० । आ-रभ-क्त । "मलिनोभयशुक्तिछुप्तारब्धपदातिमेहलावहसिप्पिछिक्काऽऽढत्तपाइक्कं" ॥ ८ । २ । १३८ ॥ इति हैमप्राकृतसूत्रेण आढत्त इत्यादेशो वा । पक्षे-आरद्ध । प्रा० । कृतारम्भणे, भावे क्त । आरम्भे, न० । अवरुद्धे, वाच० । "सा दाउं आढत्ता" ॥१३४॥ सा संघाटं दातुं प्रवृत्ता; परावर्तयितुं, व्याख्यातुं च; प्रवृत्तत्यर्थः । व्य० ५ उ० ।

आढप्प आरभ्य-"आरभेराढप्पः" ॥ ८ । ४ । २५४ ॥ इति इति हैमप्राकृतसूत्रेणाङ्पूर्वस्य रभेः कर्मभावे आढप्प इत्यादेशो वा यक्लुक् च । आढप्पइ । पक्षे-आढवीअइ । प्रा० ।

आढव-आरंभ-पुं० । आ-रभ—भावे घञ् । "आङो रभेः रम्भ-ढवौ" ॥ ८ । ४ । १५५ ॥ इति हैमप्राकृतसूत्रेण रभेः रम्भढव इत्यादेशौ वा । प्रा० । आरम्भणे, वाच० । आरम्भइ । आढवइ । आरभइ । प्रा० ४ पाद ।

आढाइत्ता-आ.दृत्य-अव्य० । आ-दृ-ल्यप् । सम्मान्येत्यर्थे. वाच० । "एयमट्ठं णो आढाइ" (सूत्र-३८६४) नाद्रियते तत्रार्थेऽनादरवान् भवति । भ० ६ श० ३३ उ० । स्था० ।

आढायमाण-आद्रियमाण त्रि० । आदरक्रियाविषयीक्रियमाणे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । "परं आढायमाणे" (सूत्र-१६७४) परम्—अत्यर्थमाद्रियमाणः इति अत्यर्थमादरवान् । आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ० ।

आढिय-आदृत-त्रि० । आ-दृ—कर्त्तरि क्त । "आदृतेः ढिः" ॥ ८ । १ । १४३ ॥ इति हैमप्राकृतसूत्रेण ढिरादेशः । प्रा० । सादरे, कृतादरे, कर्मणि क्त । यस्यादरः कृतस्तस्मिन्, वाच० । आदरक्रियाविषयीकृते, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । सम्मानिते, पूजिते च । वाच० । आदरे, न० । आव० ३ अ० ।

आण-आण(न)-पुं० । उच्छ्वासक्रियायाम्, प्रज्ञा० ७ पद ।

स च नैरयिकादिदण्डकक्रमेण दर्शितः—

णेरइया णं भंते ! केवइकालस्स आणमंति वा पाणमंति वा ऊससंति वा नीससंति वा ?, गोयमा ! सततं संतयामेव आणमंति वा पाणमंति वा ऊससंति वा नीससंति वा । (सूत्र-१४६+)

'नेरइया णं भंते !' इत्यादि, नैरयिका णमिति वाक्यालंकारे, 'भदन्त ! केवइकालस्स' इति-प्राकृतशैल्या पञ्चम्यर्थे तृतीयार्थे षष्ठी, ततोऽयमर्थः-कियतः कालात्-कियता वा कालेन आणमन्ति 'आनंति-'अन' प्राणने इति धातुपाठात्, मकारोऽलाक्षणिकः, एवमन्यत्रापि यथायोगं परिभावनीयम् 'पाणमंति वा'-प्राणन्ति वाशब्दौ समुच्चयार्थौ, एतदेव पदद्वयं क्रमेणार्थतः स्पष्टयति-' ऊससंति वा नीससंति वा '-यदेवोक्तम्-आनन्ति तदेवोक्तमुच्छ्वसन्ति तथा यदेवोक्तं प्राणन्ति तदेवोक्तं-निःश्वसन्ति, अथवा-आनमन्ति प्राणमन्ति इति-'णम्' प्रह्वत्वे शब्दे इत्यस्य द्रष्टव्यम्; धातूनामनेकार्थतया श्वसनार्थत्वस्याप्यविरोधः । अपरे व्याचक्षते-आनन्ति प्राणन्तीत्यनेनान्तः स्फुरन्ति उच्छ्वासनिःश्वासक्रिया परिगृह्यते उच्छ्वसन्ति निःश्वसन्तीत्यनेन तु बाह्याः, एवं गौतमेन प्रश्ने कृते भगवानाह गौतम! सततम्-अविरहितं अतिदुःखिता हि नैरयिकाः, दुःखितानां च निरन्तरमुच्छ्वासनिःश्वासौ, तथा लोके दर्शनात्, तत्र सततं प्रायो वृत्त्याऽपि स्यादत आह-'संतयामेव'-सततमेव-अनवरतमेव नैकोऽपि समयस्तद्विरहकालो, दीर्घत्वं प्राकृतत्वात्, आनमन्तीत्यादेः पुनरुच्चारणं शिष्यवचने आदरोपदर्शनार्थं गुरुभिराद्रियमाणवचना हि शिष्याः सन्तोषवन्तो भवन्ति, तथा च सति पौनःपुन्येन प्रश्नश्रवणार्थं निर्णयादिषु घटन्ते, लोके आदेयवचना भवन्ति एवं प्रभूतभव्योपकारस्तीर्थाभिवृद्धिश्च ।

असुरकुमारा णं भंते ! केवइकालस्स आणमंति वा पाणमंति वा ऊससंति वा नीससंति वा ?, गोयमा ! जहन्नेणं सत्तण्हं थोवाणं, उक्कोसेणं सातिरेगस्स पक्खस्स आणमंति वा ०जाव नीससंति वा ।

नागकुमारा णं भंते ! केवइकालस्स आणमंति वा पाणमंति वा ऊससंति वा नीससंति वा ?, गोयमा ! जहन्नेणं सत्तण्हं थोवाणं, उक्कोसेणं मुहुत्तपुहुत्तस्स ।

एवं जाव थणियकुमारा णं । (सूत्र-१४६ +)

असुरकुमारसूत्रे ' उक्कोसेणं सातिरेगस्स पक्खस्स ' इति-इह देवेषु यस्य यावन्ति सागरोपमाणि स्थितिस्तस्य तावत् पक्षप्रमाण उच्छ्वासनिःश्वासक्रियाविरहकालः । असुरकुमाराणां चोत्कृष्टा स्थितिरेकं सातिरेकं सागरोपमम् " चमरबलिसारमहियं " मिति वचनात्, ततः-' साति-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रेगस्स पक्खस्स' इत्युक्तं सातिरेकात्पक्षादूर्ध्वमुच्छ्वसन्तीत्यर्थः, । प्रज्ञा० ७ पद । भ० । 'सत्तएहं थोवाणं' ति-सप्तानां स्तोकानामुपरीति गम्यते,स्तोकलक्षणं चेदमाचक्षते-
"हट्ठस्स अणवगल्लस्स, निरुवकिट्ठस्स जंतुणो । एगे ऊसासणीसासे, एस पाणु त्ति वुच्चइ" ॥ १ ॥ सत्त पाणूणि से थोवे, सत्त थोवाणि या लवे । लवाणं सत्तहत्तरिए, एस मुहुत्ते वियाहिए ॥ २ ॥" इति । इदं जघन्यमुच्छ्वासादिमानं सजघन्यस्थितिकानाभित्यावगन्तव्यम्, उत्कृष्टं चोत्कृष्टस्थितिकानाश्रित्येति । भ० १ श० १ उ० । 'मुहुत्तपुहुत्तस्स' त्ति-मुहूर्त्तं उक्तलक्षण एव, पृथक्त्वं तु द्विप्रभृतिरानवभ्यः संख्याविशेषः, समयो प्रसिद्धः । भ० १ श० १ उ० ।

पुढवीकाइया णं भंते ! केवइकालस्स आणमंति वा ०जाव नीससंति वा ?, गोयमा ! वेमायाए आणमंति वा ०जाव नीससंति वा । एवं ०जाव मणुस्सा ।

वाणमंतरा जहा नागकुमारा । (सूत्र-१४६ +)

पृथिवीकायिकसूत्रे 'वेमायाए' इति-विषमा मात्रा तथा, किमुक्तं भवति—अनियतविरहकालमात्रप्रमाणा तेषामुच्छ्वासनिःश्वासक्रिया । प्रज्ञा० ७ पद ।

जोइसिया णं भंते ! केवइकालस्स आणमंति वा ०जाव नीससंति वा ?, गोयमा ! जहन्नेणं मुहुत्तपुहुत्तस्स उक्कोसेण वि मुहुत्तपुहुत्तस्स ०जाव नीससंति वा (सूत्र-१४६+)

उच्छ्वासस्तेषां न नागकुमारसमानः, किंतु-वक्ष्यमाणः, तथा चाह-'जहन्नेणं मुहुत्तपुहुत्तस्से' त्यादि, पृथक्त्वं द्विप्रभृतिरानवभ्यस्तत्र यज्जघन्यं मुहूर्त्तपृथक्त्वं तद् द्वित्रा मुहूर्त्ताः, यच्चोत्कृष्टं तदष्टौ नव वेति । भ० १ श० १ उ० ।

वेमाणिया णं भंते ! केवइकालस्स आणमंति वा० जाव नीससंति वा ?, गोयमा ! जहन्नेणं मुहुत्तपुहुत्तस्स उक्कोसेणं तेत्तीसाए पक्खाणं ०जाव नीससंति वा ।

सोहम्मदेवा णं भंते ! केवइकालस्स आणमंति वा ०जाव नीससंति वा ?, गोयमा ! जहन्नेणं मुहुत्तपुहुत्तस्स उक्कोसेणं दोएहं पक्खाणं ०जाव नीससंति वा ।

ईसाणगदेवा णं भंते ! केवइकालस्स आणमंति वा ०जाव नीससंति वा ?, गोयमा ! जहन्नेणं सातिरेगस्स मुहुत्तपुहुत्तस्स उक्कोसेणं सातिरेगाणं दोएहं पक्खाणं ०जाव नीससंति वा ।

सणंकुमारदेवा णं भंते ! केवइकालस्स आणमंति वा ०जाव नीससंति वा ?, गोयमा ! जहन्नेणं दोएहं पक्खाणं उक्कोसेणं सत्तएहं पक्खाणं ०जाव नीससंति वा ।

माहिंदगदेवा णं भंते ! केवइकालस्स आणमंति वा ०जाव नीससंति वा ?, गोयमा ! जहन्नेणं सातिरेगं दोएहं पक्खाणं, उक्कोसेणं सातिरेगं सत्तएहं पक्खाणं ०जाव नीससंति वा ।

बंभलोयदेवा णं भंते ! केवइकालस्स आणमंति वा ०जाव नीससंति वा ?, गोयमा ! जहन्नेणं सत्तएहं पक्खाणं, उक्कोसेणं दसएहं पक्खाणं ०जाव नीससंति वा ।

लंतगदेवा णं भंते ! केवइकालस्स ०जाव नीससंति वा ?, गोयमा ! जहन्नेणं दसएहं पक्खाणं, उक्कोसेणं चउद्दसएहं पक्खाणं ०जाव नीससंति वा ।

महासुक्कदेवा णं भंते ! केवइकालस्स आणमंति वा ?, गोयमा ! जहन्नेणं चोदसएहं पक्खाणं उक्कोसेणं सत्तरसएहं पक्खाणं ०जाव नीससंति वा ।

सहस्सारगदेवा णं भंते ? केवइकालस्स आणमंति वा ०जाव नीससंति वा ?, गोयमा ! जहन्नेणं सत्तरसएहं पक्खाणं उक्कोसेणं अट्ठारसएहं पक्खाणं ०जाव नीससंति वा।

आणयदेवा णं भंते ! केवइकालस्स ०जाव नीससंति वा ?, गोयमा ! जहन्नेणं अट्ठारसएहं पक्खाणं उक्कोसेणं एगूणवीसाए पक्खाणं ०जाव नीससंति वा ।

पाणयदेवा णं भंते ! केवइकालस्स ०जाव नीससंति वा?, गोयमा ! जहन्नेणं एगूणवीसाए पक्खाणं उक्कोसेणं वीसाए पक्खाणं ०जाव नीससंति वा ।

आरणदेवा णं भंते ! केवइकालस्स ०जाव नीससंति वा ?, गोयमा ! जहन्नेणं वीसाए पक्खाणं उक्कोसेणं एक्कवीसाए पक्खाणं ०जाव नीससंति वा ।

अच्चुयदेवा णं भंते ! केवइकालस्स ०जाव नीससंति वा?, गोयमा ! जहन्नेणं एक्कवीसाए पक्खाणं उक्कोसेणं बावीसाए पक्खाणं ०जाव नीससंति वा ।

हेट्ठिमहेट्ठिमगेविज्जदेवा णं भंते ! केवइकालस्स ०जाव नीससंति वा ?, गोयमा ! जहन्नेणं बावीसाए पक्खाणं उक्कोसेणं तेवीसाए पक्खाणं ०जाव नीससंति वा ।

हेट्ठिममज्झिमगेविज्जदेवा णं भंते ! केवइकालस्स ०जाव नीससंति वा ?, गोयमा ! जहन्नेणं तेवीसाए पक्खाणं उक्कोसेणं चउव्वीसाए पक्खाणं ०जाव नीससंति वा ।

हेट्ठिमउवरिमगेविज्जगा णं देवा णं भंते ? केवइकालस्स ०जाव नीससंति वा ?, गोयमा ! जहन्नेणं चउव्वीसाए पक्खाणं, उक्कोसेणं पणवीसाए पक्खाणं ०जाव नीससंति वा ।

मज्झिमहेट्ठिमगेविज्जगा णं देवा णं भंते ! केवइकालस्स ०जाव नीससंति वा ?, गोयमा ! जहन्नेणं पणवीसाए पक्खाणं उक्कोसेणं छव्वीसाए पक्खाणं० जाव नीससंति वा ।

मज्झिममज्झिमगेविज्जगा णं देवा णं भंते ! केवइकालस्स ०जाव नीससंति वा ?, गोयमा ! जहन्नेणं छ-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्वीसाए पक्खाणं उक्कोसेणं सत्तावीसाए पक्खाणं०जाव नीससंति वा।

मज्झिमउवरिमगेविज्जगा णं देवा णं भंते ! केवइकालस्स ०जाव नीससंति वा ?, गोयमा ! जहन्नेणं सत्तावीसाए पक्खाणं उक्कोसेणं अट्ठावीसाए पक्खाणं ०जाव नीससंति वा।

उवरिमहेट्ठिमगेविज्जगा णं देवा णं भंते ! केवइकालस्स ०जाव नीससंति वा ?, गोयमा ! जहन्नेणं अट्ठावीसं पक्खाणं उक्कोसेणं एगूणतीसाए पक्खाणं०जाव नीससंति वा।

उवरिममज्झिमगेविज्जगा णं देवा णं भंते ! केवइकालस्स आणमंति वा० जाव नीससंति वा ?. गोयमा ! जहन्नेणं एगूणतीसाए पक्खाणं उक्कोसेणं तीसाए पक्खाणं०जाव नीससंति वा।

उवरिमउवरिमगेविज्जगा णं भंते ! देवा णं केवइकालस्स० जाव नीससंति वा ?, गोयमा ! जहन्नेणं तीसाए पक्खाणं, उक्कोसेणं एकतीसाए पक्खाणं०जाव नीससंति वा।

विजय-वेजयंत-जयंत-अपराजितविमाणेसु णं भंते ! देवा णं केवइकालस्स०जाव नीससंति वा ?, गोयमा ! जहन्नेणं एकतीसाए पक्खाणं, उक्कोसेणं तेत्तीसाए पक्खाणं० ०जाव नीससंति वा।

सव्वट्ठगसिद्धदेवा णं भंते ! केवइकालस्स०जाव नीससंति वा ?, गोयमा ! अजहन्नमणुक्कोसेणं तेत्तीसाए पक्खाणं०जाव नीससंति वा (सूत्र-१४६×)

तथा देवेषु यो यथा महायुः स तथा सुखी, सुखितानां च यथोत्तरं महान् उच्छ्वासनिःश्वासक्रियाविरहकालो, दुःखरूपत्वादुच्छ्वासनिःश्वासक्रियायास्ततो यथा यथाऽऽयुषः सागरोपमवृद्धिस्तथा तथोच्छ्वासनिःश्वासक्रियाविरहप्रमाणस्यापि पक्षवृद्धिः। प्रज्ञा० ७ पद।

(सागरादिविमानेषु देवतयोपपन्नानामानप्राणादि)—

जे देवा सागरं सुसागरं सागरकंतं भवं मणुं माणुसोत्तरं लोगहियं विमाणं देवत्ताए उववन्ना। (स०) ते णं देवा एगस्स अद्धमासस्स आणमंति वा पाणमंति वा उस्ससंति वा नीससंति वा। (सूत्र-१ +)

ये देवा सागरं-सागराऽभिधानम्, एवम्-सुसागरम्, सागरकान्तम्, भवम्, मनुम्, मानुषोत्तरम्, लोकहितम्, (स०) विमानम्-देवनिवासविशेषम् आसाद्येति शेषः, देवत्वेन (स०) उत्पन्नाः जाताः ते देवाः (स०) अर्द्धमासस्यान्ते आनन्ति, प्राणन्ति, एतदेव क्रमेण व्याख्यानयन्नाह-उच्छ्वसन्ति, निःश्वसन्ति। स० १ सम०।

जे देवा सुभं सुभकंतं सुभवण्णं सुभगंधं सुभलेसं सुफासं सोहम्मवडिंसगं विमाणं देवत्ताए उववण्णा (स०) ते णं देवा दोण्हं अद्धमासाणं आणमंति वा पाणमंति वा ऊससंति वा नीससन्ति वा। (सूत्र-२ ×) स० २ सम०।

जे देवा आभंकरं पभंकरं आभंकरपभंकरं चंदं चंदावत्तं चंदप्पभं चंदकंतं चंदवण्णं चंदलेसं चंदज्झयं चंदसिंगं चंदसिट्ठं चंदकूडं चंदुत्तरवडिंसगं विमाणं देवत्ताए उववण्णा। (स०) ते णं देवा तिण्हं अद्धमासाणं आणमंति वा पाणमंति वा ऊससन्ति वा नीससन्ति वा। (सूत्र-३ ×)

आभंकरम्, प्रभङ्करम्, आभङ्करप्रभङ्करम्, चन्द्रम्, चन्द्रावर्तम्, चन्द्रप्रभम्, चन्द्रकान्तम्, चन्द्रवर्णम्, चन्द्रलेश्यम्, चन्द्रध्वजम्, चन्द्रशृङ्गम्, चन्द्रसृष्टम्, चन्द्रकूटम्, चन्द्रोत्तराऽवतंसकं विमानम्। स० ३ सम०।

जे देवा किट्ठिं सुकिट्ठिं किट्ठियावत्तं किट्ठिप्पभं किट्ठिजुत्तं किट्ठिवण्णं किट्ठिलेसं किट्ठिज्झयं किट्ठिसिंगं किट्ठिसिट्ठं किट्ठिकूडं किट्ठुत्तरवडिंसगं विमाणं देवत्ताए उववण्णा। (स०) ते णं देवा चउण्हऽद्धमासाणं आणमंति वा पाणमन्ति वा ऊससंति वा नीससन्ति वा। (सूत्र-४ +) स० ४ सम०।

जे देवा वायं सुवायं वायावत्तं वायप्पभं वायकन्तं वायवण्णं वायसिंगं वायसिट्ठं वायकूडं वाउत्तरवडिंसगं, सूरं सुसूरं सूरावत्तं सूरप्पभं सूरकंतं सूरवण्णं सूरलेसं सूरज्झयं सूरसिंगं सूरसिट्ठं सूरकूडं सूरुत्तरवडिंसगं विमाणं देवत्ताए उववण्णा। (स०) ते णं देवा अद्धमासाणं आणमन्ति वा पाणमंति वा ऊससंति वा नीससंति वा। (सूत्र-५ +) स० ५ सम०।

जे देवा सयंभुं सयंभूरमणं घोसं सुघोसं महाघोसं किट्ठिघोसं वीरं सुवीरं वीरगतं वीरावत्तं वीरप्पभं वीरकंतं वीरवण्णं वीरलेसं वीरज्झयं वीरसिंगं वीरसिट्ठं वीरकूडं वीरुत्तरवडिंसगं विमाणं देवत्ताए उववण्णा (स०) ते णं देवा छण्हं अद्धमासाणं आणमंति वा पाणमंति वा ऊससंति वा नीससंति वा। (सूत्र-६+) स० ६ सम०।

जे देवा समं समप्पभं महापभं पभासं भासुरं विमलं कञ्चनकूडं सणंकुमारवडिंसगं विमाणं देवत्ताए उववण्णा। (स०) ते णं देवा सत्तण्हं अद्धमासाणं आणमंति वा पाणमंति वा ऊससंति वा नीससंति वा। (सूत्र-७+) स० ७ सम०।

जे देवा अच्चिं, अच्चिमालिं वइरोयणं पभंकरं चंदाऽऽभं सूराऽऽभं सुपइट्ठाऽऽभं अग्गिच्चाऽऽभं रिट्ठाऽऽभं अरुणा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऽऽभं अरुणुत्तरवडिंसगं विमाणं देवत्ताए उववरणा। (स०) ते णं देवा अट्ठएहं अद्धमासाणं आण नति वा पाणमंति वा ऊससंति वा नीससंति वा (सूत्र-८+) स० ८ सम०।

जे देवा पम्हं सुपम्हं पम्हावत्तं पम्हप्पभं पम्हकंतं पम्हवएणं पम्हलेसं पम्हज्झयं पम्हसिंगं पम्हसिट्ठं पम्हकूडं पम्हुत्तरवडिंसगं सुज्जं सुसुज्जं सुज्जविचं सुज्जपभं सुज्जकंतं सुज्जवएणं सुज्जलेसं सुज्जज्झयं सुज्जसिंगं सुज्जसिट्ठं सुज्जकूडं सुज्जुत्तरवडिंसगं (रुइल्लं) रुइल्लावत्तं रुइल्लप्पभं रुइल्लकंतं रुइल्लवएणं रुइल्ललेसं रुइल्लज्झयं रुइल्लसिंगं रुइल्लसिट्ठं रुइल्लकूडं रुइल्लुत्तरवडिंसगं विमाणं देवत्ताए उववएणा (स०) ते णं देवा नवएहं अद्धमासाणं आणमंति वा पाणमंति वा ऊससंति वा नीससंति वा। (सूत्र-६+) स० ६ सम०।

जे देवा घोसं सुघोसं महाघोसं नंदिघोसं सुस्सरं मणोरमं रम्मं रम्मगं रमणिज्जं मंगलाऽऽवत्तं बंभलोगवडिंसगं विमाणं देवत्ताए उववएणा। (स०) ते णं देवा दसएहं अद्धमासाणं आणमंति वा पाणमंति वा ऊससंति वा नीससंति वा। (सूत्र-१०+) स० १० सम०।

जे देवा बंभं सुबंभं बंभावत्तं बंभप्पभं बंभकंतं बंभवएणं बंभलेसं बंभज्झयं बंभसिंगं बंभसिट्ठं बंभकूडं बंभुत्तरवडिंसगं विमाणं देवत्ताए उववएणा। (स०) ते णं देवा एक्कारसएहं अद्धमासाणं आणमंति वा पाणमंति वा ऊससंति वा नीससंति वा। (सूत्र-११×) स० ११ सम०।

जे देवा महिंदं महिंदज्झयं कंबुं कंबुग्गीवं पुंखं सुपुंखं महापुंखं पुंडं सुपुंडं महापुंडं नरिंदं नरिंदकंतं नरिंदुत्तरवडिंसगं विमाणं देवत्ताए उववएणा (स०) ते णं देवा बारसएहं अद्धमासाणं आणमंति वा पाणमंति वा उस्ससंति वा नीससंति वा। (सूत्र-१२×) स० १२× सम०।

जे देवा वज्जं सुवज्जं वज्जावत्तं वज्जप्पभं वज्जकंतं वज्जवएणं वज्जलेसं वज्जरूवं वज्जसिंगं वज्जसिट्ठं वज्जकूडं वज्जुत्तरवडिंसगं वइरं वइरावत्तं वइरप्पभं वइरकंतं वइरवएणं वइरलेसं वइररूवं वइरसिंगं वइरसिट्ठं वइरकूडं वइरुत्तरवडिंसगं लोगं लोगाऽऽवत्तं लोगप्पभं लोगकंतं लोगवएणं लोगलेसं लोगरूवं लोगसिंगं लोगसिट्ठं लोगकूडं लोगुत्तरवडिंसगं विमाणं देवत्ताए उववएणा। (स०) ते णं देवा तेरसहिं अद्धमासेहिं आणमंति वा पाणमंति वा उस्ससंति वा निस्ससंति वा। (सूत्र-१३+) स० १३ सम०।

जे देवा सिरिकंतं सिरिमहिअं सिरिसोमनसं लंतयं काविट्ठं महिंदकंतं महिंदुत्तरवडिंसगं विमाणं देवत्ताए उववएणा। (स०) ते णं देवा चउद्दसहिं अद्धमासेहिं आणमंति वा पाणमंति वा उस्ससंति वा नीससंति वा। (सूत्र-१४+) स० १४ सम०।

जे देवा णंदं सुणंदं णंदावत्तं णंदप्पभं णंदकंतं णंदवएणं णंदलेसं णंदज्झयं णंदसिंगं णंदसिट्ठं णंदकूडं णंदुत्तरवडिंसगं विमाणं देवत्ताए उववएणा। (स०) ते णं देवा पएणरसएहं अद्धमासाणं आणमंति वा पाणमंति वा उस्ससंति वा नीससंति वा। (सूत्र-१५+) स० १५ सम०।

जे देवा आवत्तं विआवत्तं नंदिआवत्तं महाणंदिआवत्तं अंकुसं अंकुसपलंबं भद्दं सुभद्दं महाभद्दं सव्वओभद्दं भद्दुत्तरवडिंसगं विमाणं देवत्ताए उववएणा। (स०) ते णं देवा सोलसहिं अद्धमासाणं आणमंति वा पाणमंति वा उस्ससंति वा नीससंति वा। (सूत्र-१६+) स० १६ सम०।

जे देवा सामाणं सुसामाणं महासामाणं पउमं महापउमं कुमुदं महाकुमुदं नलिणं महानलिणं पोंडरीअं महापोंडरीअं सुक्कं महासुक्कं सीहं सीहकंतं सीहवीअं भाविअं विमाणं देवत्ताए उववएणा। (स०) ते णं देवा सत्तरसहिं अद्धमासेहिं आणमंति वा पाणमंति वा उस्ससंति वा नीससंति वा। (सूत्र-१७×) स० १७ सम०।

जे देवा कालं सुकालं महाकालं अंजणं रिट्ठं सालं समाणं दुमं महादुमं विसालं सुसालं पउमं पउमगुम्मं कुमुदं कुमुदगुम्मं नलिणं नलिणगुम्मं पुंडरीअं पुंडरीयगुम्मं सहस्सारवडिंसगं विमाणं देवत्ताए उववएणा। (स०) ते णं देवा अट्ठारसेहिं अद्धमासेहिं आणमंति वा पाणमंति वा ऊससंति वा नीससंति वा। (सूत्र-१८ ×) स० १८ सम०।

जे णं देवा आणतं पाणतं णतं विणतं घणं सुसिरं इंदं इंदोकंतं इंदुत्तरवडिंसगं विमाणं देवत्ताए उववएणा। (स०) ते णं देवा एगूणवीसाए अद्धमासाणं आणमंति वा पाणमंति वा उस्ससंति वा नीससंति वा। (सूत्र-१६ +) स० १६ सम०।

जे देवा सायं विमायं सुविमायं सिद्धत्थं उप्पलं भित्तिलं तिगिच्छं दिसासोवत्थियं पलंबं रुइलं पुप्फं सुपुप्फं पुप्फावत्तं पुप्फपभं पुप्फकंतं पुप्फवएणं पुप्फलेसं पुप्फज्झयं पुप्फसिंगं पुप्फसिद्धं पुप्फुत्तरवडिंसगं विमाणं देवत्ताए उववएणा। (स०) ते णं देवा वीसाए अद्धमासाणं आणमंति वा पाणमंति वा उस्ससंति वा नीससंति वा। (सूत्र-२०+) स० २० सम०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जे देवा सिरिवच्छं सिरिदामकंडं मल्लं किट्टं चावोण्णतं अरएणवडिंसगं विमाणं देवत्ताए उववएणा । (स०) ते णं देवा एकवीसाए अद्धमासाणं आणमंति वा पाणमंति वा उस्ससंति वा नीससंति वा । (सूत्र-२१ ×) स० २१ सम० ।

जे देवा महियं विसहियं विमलं पभासं वणमालं अच्चुतवडिंसगं विमाणं देवत्ताए उववएणा । (स०) ते णं देवा बावीसाए अद्धमासाणं आणमंति वा पाणमंति उस्ससंति वा नीससंति वा । (सूत्र-२२ ×) स० २२ सम० ।

द्वीन्द्रियाऽऽदीनामानप्राणाद्यस्तित्वं यथा—

जे इमे भंते ! बेइंदिया तेइंदिया चउरिंदिया पंचेंदिया । जीवा एएसि णं आणामं वा पाणामं वा उस्सासं वा निस्सासं वा जाणामो पासामो, जे इमे पुढविकाइया ०जाव वणप्फइकाइया एगिंदिया जीवा एएसि णं आणामं वा पाणामं वा उस्सासं वा निस्सासं वा ण जाणामो, ण पासामो । एएसि णं भंते ! जीवा आणमंति वा पाणमंति वा उस्ससंति वा निस्ससंति वा ?, हंता गोयमा ! एए वि य णं जीवा आणमंति वा पाणमंति वा उस्ससंति वा निस्ससंति वा । (सूत्र-८४ ×)

' जे इमे ' इत्यादि, यद्यप्येकेन्द्रियाणामागमादिप्रमाणाज्जीवत्वं प्रतीयते तथापि तदुच्छ्वासादीनां साक्षादनुपलम्भाज्जीवच्छरीरस्य च निरुच्छ्वासादेरपि कदाचिद्दर्शनात् पृथिव्यादिषूच्छ्वासादिविषया शङ्का स्यादिति तन्निरासाय तेषामुच्छ्वासादिकमस्तीत्येतस्यागमप्रमाणप्रसिद्धस्य प्रदर्शनपरमिदं सूत्रमवगन्तव्यमिति ।

उच्छ्वासाद्यधिकाराज्जीवादिषु पञ्चविंशतौ पदेषूच्छ्वासादिद्रव्याणां स्वरूपनिर्णयाय प्रश्नयन्नाह—

किएणं भंते ! एते जीवा आणमंति वा पाणमंति वा उस्ससंति वा निस्ससंति वा ?, गोयमा ! दव्वओ णं अणंतपएसियाइं दव्वाइं, खित्तओ असंखेज्जपएसोगाढाइं, कालओ अएणयरट्ठिइयाइं, भावओ वएणमंताइं गंधमंताइं रसमंताइं फासमंताइं आणमंति वा पाणमंति वा उस्ससंति वा निस्ससंति वा । जाइं भावओ वएणमंताइं आणमंति वा पाणमंति वा उस्ससंति वा निस्ससंति वा ताइं किं एगवएणाइं आणमंति वा पाणमंति वा उस्ससंति वा निस्ससंति वा ?, आहारगमो नेयव्वो ०जाव पंचदिसं ।

' किएणं भंते ! जीवे ' त्यादि , किमित्यस्य सामान्यनिर्देशत्वात्कानि ; किंविधानि द्रव्याणीत्यर्थः, ' आहारगमो नेयव्वो ' त्ति; प्रज्ञापनाया अष्टाविंशतितमाहारपदोक्तसूत्रपद्धतिरिहाध्येयेत्यर्थः, सा चेयम्-" दुवएणाइं तिवएणाइं ०जाव पंचवएणाइं पि जाइं वएणओ कालाइं ताइं किं एगगुणकालाइं ०जाव अणंतगुणकालाइं पि " इत्यादिरिति ।

किएणं भंते ! णेरइया आणमंति वा पाणमंति वा उस्ससंति वा निस्ससंति वा तं चेव ०जाव नियमा छद्दिसिं आणमंति वा पाणमंति वा उस्ससंति वा नी०वा, जीवा एगिंदिया वाघाया निव्वाघाया भाणियव्वा, सेसा नियमा छद्दिसिं ।

' जीवेगिंदिए ' त्यादि, जीवा एकेन्द्रियाश्च ' वाघाय-निव्वाघाय ' त्ति-मतुब्लोपाद् व्याघातनिर्व्याघातवन्तो भणितव्याः इह चैवं पाठोऽपि निर्व्याघातशब्दः पूर्वं द्रष्टव्यस्तदभिलापस्य सूत्रे तथैव दृश्यमानत्वात्, तत्र जीवा निर्व्याघाताः सव्याघाताः सूत्र एव दर्शिताः , एकेन्द्रियास्त्वेवम्-' पुढविकाइया णं भंते ! कइ दिसिं आणमंति ? गोयमा ! निव्वाघाए णं छद्दिसिं वाघायं पडुच्च सिय तिदिसि ' मित्यादि, एवमप्कायादिष्वपि तत्र निर्व्याघातेन षड्दिशं षड्दिशो यत्रानमनादौ तत्तथा । व्याघातं प्रतीत्य स्यात् त्रिदिशं, स्याच्चतुर्दिशं , स्यात्पञ्चदिशं , आनमन्ति यतस्तेषां लोकान्तवृत्तावलोकेन स्यात्किंचिदुच्छ्वासादिपुद्गलानां व्याघातः सम्भवतीति ' सेसा नियमा छद्दिसिं ' इति-शेषा नारकादित्रसाः षड्दिशमानमन्ति तेषां हि त्रसनाड्यन्तर्भूतत्वात् षड्दिशमुच्छ्वासादिपुद्गलग्रहोऽस्त्येवेति । अथैकेन्द्रियाणामुच्छ्वासादिभावादुच्छ्वासादेश्च वायुरूपत्वात् किं वायुकायिकानामप्युच्छ्वासादिना वायुनैव भवितव्यम् ? उत अन्येन केनापि पृथिव्यादीनामिव तद्विलक्षणेनेत्याशङ्कायां प्रश्नयन्नाह—

वाउयाए णं भंते ! वाउयाए चेव आणमंति वा पाणमंति वा उस्ससंति वा नीससंति वा ? हंता गोयमा ! वाउयाए णं ०जाव नीससंति वा । (सूत्र-८५)

' वाउयाए णमि ' त्यादि; अथोच्छ्वासस्यापि वायुत्वादन्येनोच्छ्वासवायुना भाव्यम् , तस्याप्यन्येनैवमनवस्था, नैवमचेतनत्वात्तस्य, किञ्च-योऽयमुच्छ्वासवायुः स वायुत्वेऽपि न वायुसम्भाव्यौदारिकवैक्रियशरीररूपः तदीयपुद्गलानामानप्राणसंज्ञितानामौदारिकवैक्रियशरीरपुद्गलेभ्योऽनन्तगुणप्रदेशत्वेन सूक्ष्मतया एतच्छरीराव्यपदेश्यत्वात् , तथा च प्रत्युच्छ्वासादीनामभाव इति नाऽनवस्था । भ० २ श० १ उ० । संख्येयावलिकाप्रमाणे एकोच्छ्वासात्मके कालविशेषे च । संख्येया आवलिकाः-" आण त्ति " (सूत्र-११४+) आणः-एक उच्छ्वास इत्यर्थः, अनु० । जी० । कर्म० । ज्ञा० । स्था० । भ० ।

पुढविकाइया णं भंते ! पुढविकाइयं चेव आणमंति वा पाणमंति वा ऊससंति वा नीससंति वा ?, हंता गोयमा ! पुढवीकाइया पुढवीकाइयं चेव आणमंति वा०जाव नीससंति वा । पुढवीकाइए णं भंते ! आउकाइयं आणमंति वा०जाव नीससंति वा ?, हंता गोयमा ! पुढवीकाइया णं आउकाइयं आणमंति वा० जाव नीससंति वा, एवं तेउकाइय-वाउकाइयं, एवं वणस्सइकाइयं । आउकाइए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

णं भन्ते ! पुढविकाइयं आणमंति वा पाणमंति वा ?, एवं चेव, आउकाइए णं भंते ! आउकाइयं चेव आणमंति वा, एवं चेव, एवं तेऊवाऊवणस्सइकाइयं । तेऊकाइए णं भन्ते ! पुढवीकाइयं आणमंति वा एवं ०जाव वणस्सइकाइए णं भन्ते ! वणस्सइकाइयं चेव आणमंति वा तहेव ।

'पुढविकाइया णं भंते !' इत्यादि, इह पूज्यव्याख्या । यथा वनस्पतिरन्यस्योपर्यन्यः स्थितस्तत्तेजोग्रहणं करोति एवं पृथिवीकायिकादयोऽप्यन्योन्यसम्बद्धत्वात्तद्रूपं प्राणापानादि कुर्वन्तीति, तत्रैकः पृथिवीकायिकोऽन्यं स्वसम्बद्धं पृथिवीकायिकम्, अनिति—तद्रूपमुच्छ्वासं करोति यथोदरस्थितकर्पूरः पुरुषः कर्पूरस्वभावमुच्छ्वासं करोति एवमप्कायादिकानित्येवं पृथिवीकायिकसूत्राणि पञ्च एवमेवाप्कायादयः प्रत्येकं पञ्च सूत्राणि लभन्त इति पञ्चविंशतिः सूत्राण्येतानीति ।

पुढवीकाए णं भंते ! पुढवीकाइयं चेव आणममाणे वा पाणममाणे वा ऊससमाणे वा नीससमाणे वा कइकिरिए ?, गोयमा ! सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए सिय पंचकिरिए । पुढवीकाइए णं भन्ते ! आउकाइयं आणममाणे वा एवं चेव, एवं ०जाव वणस्सइकाइयं, एवं आउकाइएण वि सव्वे वि भाणियव्वा, एवं तेउकाइएण वि, एवं वाउकाइएण वि, ०जाव वणस्सइकाइए णं भंते ! वणस्सइकाइयं चेव आणममाणे वा पुच्छा, गोयमा ! सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए सिय पंचकिरिए ।(सूत्र-३६२)। वाउकाइए णं भन्ते ! रुक्खस्स मूलं पचालेमाणे वा पवाडेमाणे वा कइकिरिए ?, गोयमा ! सिय तिकिरिए, सिय चउकिरिए, सिय पंचकिरिए । एवं कंदं एवं ०जाव मूलं वीयं पचालेमाणे वा पुच्छा ?, गोयमा ! सिय तिकिरिए सिय पंचकिरिए, सेवं भन्ते ! भंते त्ति । (सूत्र-३६३)

क्रियासूत्राण्यपि पञ्चविंशतिस्तत्र 'सिय किरिए' त्ति-यदा पृथिवीकायिकादिः पृथिवीकायिकादिरूपमुच्छ्वासं कुर्वन्नपि न तस्य पीडामुत्पादयति स्वभावविशेषात्तदाऽसौ कायिक्यादित्रिक्रियः स्यात् । यदा तु तस्य पीडामुत्पादयति तदा पारितापनिकक्रियाभावाच्चतुष्क्रियः, प्राणातिपातिसद्भावे तु पञ्चक्रिय इति । क्रियाधिकारादेवेदमाह—'वाउकाइए णमि' त्यादि, इह च वायुना वृक्षमूलस्य प्रचलनं प्रपातनं वा तदा सम्भवति यदा नदीभित्त्यादिषु पृथिव्याऽनावृतं तत्स्यादिति । अथ कथं प्रपातेन त्रिक्रियात्वं परितापादेः सम्भवात्-उच्यते-अचेतनमूलापेक्षयेति । भ० ६ श० ३४ उ० ।

आणंतरिय-आनन्तर्य-न० । अनन्तरमेव चतुर्व० स्वार्थे ष्यञ् । अव्यवहिते, अनन्तरस्य भावे ष्यञ् । अव्यवधाने, वाच० । अनुक्रमे, "आणंतरियं णाम-आणंतरियंति वा अणुपरिवाडि त्ति वा अणुक्कमेत्ति वा एगट्ठा" आ० चू० १ अ० ।

आणंद-आनन्द-पुं० । आ-नन्द-घञ् । चित्ताह्लादे, औ० । सुखे, स्था० ३ ठा० ४ उ० । सुखविशेषे, पं० सू० ५ सूत्र । हर्षे, दश० २ चू० । अभिलषितार्थावाप्तिजन्ये, मानसे विकारे, " क आणंदे " (सूत्र-११७+) अभिलषितार्थावाप्तावानन्दः । आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । (अस्य विशेषव्याख्यानम् 'आणद' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गतम्) दुःखाभावे ब्रह्मणि, अर्थआदित्वादच् । आनन्दवति, त्रि० । वाच० । अहोरात्रमध्ये त्रिंशन्मुहूर्त्तान्तर्गते स्वनामख्याते षोडशे मुहूर्त्ते, ज्यो० २ पाहु० । कल्प० । जं० । चं०प्र० । (गणनया एकादशो मुहूर्त्त आनन्दः) स० ३० सम० । स्वनामख्याते षष्ठे बलदेवे, (८४ गाथा) स० (१५६ सूत्र×) (तद्वक्तव्यता 'दसारमंडल' शब्दे चतुर्थभागे २४८५ पृष्ठे दर्शयिष्यते) स्वनामख्याते शीतलजिनस्य प्रथमशिष्ये च । " पुण आणंदे० " ॥४०+॥ स० । (सूत्र-१५८+) (तद्वृत्तम् 'तित्थयर' शब्दे चतुर्थभागे २२६१ पृष्ठे दर्शयिष्यते) भगवत ऋषभदेवस्य शतपुत्रान्तर्गते स्वनामख्याते पुत्रे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण । स्वनामख्याते भगवतो महावीरस्यान्तेवासिनि, स्था० १० ठा० ३ उ० । "समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी आणंदे णामं थेरे" (सूत्र-५४७×) भ० १५ श० । (तद्वक्तव्यता 'गोसालग' शब्दे तृतीयभागे दर्शयिष्यते) धरणस्य नागेन्द्रस्य नागराजस्य स्वनामख्याते रथानीकाधिपतौ, (सूत्र-४०४×) स्था० ५ ठा० १ उ० । गन्धमादनवक्षस्कारपर्वतस्थे स्वनामख्याते देवे, जं० ४ वक्ष० । पुष्करवरद्वीपार्द्धस्थितमानुषोत्तरपर्वतस्थे स्वनामख्याते सुवर्णकुमारे, द्वी० । स्वनामख्याते पितृसेनकृष्णाङ्गजे, तद्वक्तव्यता प्रतिबद्धे निरयावलिकोपाङ्गे द्वितीयवर्गस्य कल्पावतंसिकाभिधस्य नवमेऽध्ययने च । नि० १ श्रु० २ वर्ग ६ अ० । (तद्वक्तव्यता यथा पितृसेनकृष्णाङ्गजो नवमः वर्षद्वयं व्रतपर्यायपरिपालनं कृत्वा प्राणतदेवलोके दशमे उत्पद्य एकोनविंशतिसागरोपमाख्यायुरनुपाल्य ततश्च्युतो विदेहे सेत्स्यतीति) वाणिजग्रामस्थे स्वनामख्याते श्रावके, उपा० १ अ० । नि० । संथा० । " अट्ठ य वीसाऽऽणन्दे० " ॥ ४६६× ॥ आनन्दस्य गृहे, आ० म० १ अ० । म० । आनन्दाभिधानोपासकवक्तव्यता प्रतिबद्धमध्ययनमानन्दः । उपा० ३ अ० । आनन्दो वाणिजग्रामाभिधाननगरवासी महर्द्धिको गृहपतिर्महावीरेण बोधित एकादशोपासकप्रतिमाः कृत्वोत्पन्नावधिज्ञानो मासिक्या संलेखनया सौधर्ममगमदिति वक्तव्यता प्रतिबद्धे उपासकदशायाः प्रथमेऽध्ययने च । स्था० १० ठा० ३ उ० ।

(तद्वक्तव्यता यथा)—

पढमस्स णं भंते ! ०जाव संपत्ते णं के अट्ठे पण्णत्ते ?, (सूत्र-२ ×) एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं वाणियग्गामे णामं णयरे होत्था । वण्णओ । तस्स णं वाणियग्गामस्स णयरस्स बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए दूयपलासे चेइए । तत्थ णं वाणियग्गामे जिय-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सत्तू राया, वण्णओ। तत्थ णं वाणियग्गामे आणंदे णामं गाहावई परिवसइ, अड्ढे ०जाव अपरिभूए, तस्स णं आणंदस्स गाहावइस्स चत्तारि हिरण्णकोडीओ णिहाणपत्ताओ चत्तारि हिरण्णकोडीओ वुड्ढिपत्ताओ चत्तारि हिरण्णकोडीओ पवित्थरपत्ताओ, चत्तारि वया, दस गोसाहस्सीएणं वएणं होत्था। से आणंदे गाहावई बहूणं ईसर ०जाव सत्थवाहाणं बहूसु कज्जेसु य कारणेसु य मंतेसु य कुडुंबेसु य गुज्झेसु य रहस्सेसु य निच्छएसु य ववहारेसु य आपुच्छणिज्जे पडिपुच्छणिज्जे सयस्स वि य णं कुडुंबस्स मेढीभूए आहारे आलंबणं चक्खुमेढिभूये सव्वकज्जवड्ढावए यावि होत्था। तस्स णं आणंदस्स गाहावइस्स "सिवाणंदा" णामं भारिया होत्था, अहीण ०जाव सुरूवा। आणंदस्स गाहावइस्स इट्ठा आणंदेणं गाहावइणा सद्धिं अणुरत्ता अविरत्ता इट्ठा सद्द ०जाव पंचविहे माणुस्सए कामभोए पच्चणुब्भवमाणी विहरइ। तस्स णं वाणियग्गामस्स बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए एत्थ णं "कोल्लागए" णामं सन्निवेसे होत्था। रिद्धित्थमिए ०जाव पासादीए ४, तत्थ णं कोल्लागए सन्निवेसे आणंदस्स गाहावइस्स बहूए मित्तणाइणियगसयणसंबंधिपरिजणे परिवसइ। अड्ढे ०जाव अपरिभूए। तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे ०जाव समोसरिए परिसा निग्गया कोणिए राया जहा, तहा जियसत्तू राया णिग्गच्छति निग्गच्छित्ता ०जाव पज्जुवासइ, तए णं से आणंदे गाहावई इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे एवं खलु समणे भगवं ०जाव विहरइ। तं महाफलं ०जाव गच्छामि णं ०जाव पज्जुवासामि। एवं संपेहेइ संपेहित्ता, एहाये सुद्धप्पावेसाइं ०जाव अप्पमहग्घाभरणालंकियसरीरे। साओ गिहाओ पडिनिक्खमइ पडिनिक्खमित्ता स कोरंटमल्लदामेणं छत्तेणं धरिज्जमाणेणं माणुस्सवग्गुरापरिक्खित्ते पायविहारचारेणं वाणियग्गामं णयरं मज्झं मज्झेणं णिगच्छइ णिग्गच्छित्ता जेणामेव दूयपलासे चेइए जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छति उवागच्छित्ता तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेइ आया० करित्ता वंदइ णमंसइ ०जाव पज्जुवासइ।(सूत्र-३)

तए णं समणे भगवं महावीरे आणंदस्स गाहावइस्स तीसे य महइ महालियाए ०जाव धम्मकहा, परिसा पडिगया, राया ऽवि य गओ। (सूत्र-४) तए णं से आणंदे गाहावई समणस्स भगवओ अंतिए धम्मं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठ ०जाव एवं वयासी-सद्दहामि णं भंते! णिग्गंथं पावयणं, पत्तियामि णं भंते! णिग्गंथं पावयणं, रोएमि णं भंते! णिग्गंथं पावयणं, एवमेयं भंते!, तहमेयं भंते!, अवितहमेयं भंते!, इच्छियमेयं भंते!, पडिच्छियमेयं भंते!, इच्छियपडिच्छियमेयं भंते!, से जहेयं। तुब्भे वयहत्तिकट्टु जहा णं देवाणुप्पियाणं अंतिए बहवे राईसरतलवरमाडंबियकोडुंबियसेट्ठिसत्थवाहप्पभिइया मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइया ०जाव पव्वइत्ता। णो खलु तहा अहं संचाएमि मुंडे ०जाव पव्वइत्तए, अहसं देवाणुप्पियाणं अंतिए पंचाणुव्वयं सत्तसिक्खावयं दुवालसविहं गिहिधम्मं पडिवज्जिस्सामि। जहासुहं देवाणुप्पिया! मा पडिबंधं करेह। (सूत्र-५)

तए णं से आणंदे गाहावइस्स समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए तप्पढमयाए थूलगं पाणाइवायं पच्चक्खामि। (उपा०) (तत्स्वरूपम् 'पाणाइवायवेरमण' शब्दे ५ भागे वक्ष्यते।) तयाणंतरं च णं थूलगं मुसावायं पच्चक्खा(मि) इ जावज्जीवाए दुविहं तिविहेणं-ण करेमि, ण कारवेमि, मणसा, वयसा, कायसा। (उपा०) (स्थूलमृषावादस्वरूपम् 'मुसावायवेरमण' शब्दे षष्ठभागे दर्शयिष्यते।) तदाणंतरं च णं थूलगं आदिण्णादाणं पच्चक्खामि। (उपा०)(तत्स्वरूपम् 'अदत्तादाणवेरमण' शब्दे १ भागे गतम्।) तयाणंतरं च णं सदारसंतोसिए परिमाणं करेइ णण्णत्थ एकाए सिवाणंदाए भारियाए अवसेसं सव्वं मेहुणविहिं पच्चक्खामि (तत्स्वरूपं प्रतिषेधरूपेण 'मेहुण' शब्दे षष्ठे भागे. 'हत्थकम्म' शब्दे सप्तमभागे च वक्ष्यते) (उपा०) तयाणंतरं च णं इच्छापरिमाणं करेइ, हिरण्णसुवण्णविहिपरिमाणं करेइ, णण्णत्थ चउहिं हिरण्णकोडीहिं णिहाणपउत्ताहिं चउहिं वुड्ढिपउत्ताहिं चउहिं पवित्थरमाणपत्ताहिं अवसेसं सव्वं हिरण्णसुवण्णविहिं पच्चक्खामि दुविहं ण करेमि, ण कारवेमि, तिविहेणं मणसा वयसा, कायसा, तयाणंतरं च णं चउप्पयविहिपरिमाणं करेइ, णण्णत्थ चउहिं वएहिं दसगोसाहस्सिएणं वएणं अवसेसं सव्वं च(उ)तुप्पयविहिं पच्चक्खामि, दुविहं तिविहेणं-मण० ३. तयाणंतरं च णं खेत्तवत्थुपरिमाणं करेइ णण्णत्थ पंचहिं हलसएहिं णियत्तणसइएणं हलेणं अवसेसं सव्वं खेत्तवत्थुं पच्चक्खामि, दुविहं तिविहेणं मण० ३, तयाणंतरं च णं सगडविहिपरिमाणं करेइ, णण्णत्थ पंचहिं सगडसएहिं दिसाजत्तिएहिं पंचहिं सगडीसएहिं संवाहणिएहिं अवसेसं सव्वं सगडविहिं पच्चक्खामि०३, तयाणंतरं च णं वाहणविहिपरिमाणं करेइ, णण्णत्थ चउहिं वाहणेहिं दिसाजत्तिएहिं चउहिं वाहणेहिं संवाहणिएहिं अवसेसं सव्वं वाहणविहिं पच्चक्खामि० ३, (सूत्र०५)। तयाणंतरं च णं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उवभोगपरिभोगविहिं पच्चक्खामि (उपा०।) (अस्य विधेः स्वरूपम् 'उवभोगपरिभोगपरिमाण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते।) तयाणंतरं च णं ण्हाणमाणे उल्लणियाविहिपरिमाणं करेइ, णण्णत्थ एगाए गंधकासाईए अवसेसं सव्वं उल्लणियाविहिं पच्चक्खामि दुविहं तिविहेणं मणसा, वयसा, कायसा।

तयाणंतरं च णं दंतवणविहिपरिमाणं करेइ, णण्णत्थ एगेणं अल्ललट्ठीमहुएणं, अवसेसं दंतवणविहिं पच्चक्खामि०३, तयाणंतरं च णं फलविहिपरिमाणं करेइ णण्णत्थ एगेणं खीरामलएणं अवसेसं सव्वं फलविहिं पच्चक्खामि०३, तयाणंतरं च णं अब्भंगणविहिपरिमाणं करेइ, णण्णत्थ सयपागसहस्सपागेहिं तेल्लेहिं, अवसेसं अब्भंगणविहिं पच्चक्खामि०३, तयाणंतरं च णं उव्वट्टणविहिपरिमाणं करेइ, णण्णत्थ एगेणं सुरभिणा गंधवट्टएणं अवसेसं उव्वट्टणविहिं पच्चक्खामि० ३, तयाणंतरं च णं मज्जणविहिपरिमाणं करेइ, णण्णत्थ अट्ठहिं उट्टिएहिं उदगस्स घडएहिं अवसेसं मज्जणविहिं पच्चक्खामि०३, तयाणंतरं च णं वत्थविहिपरिमाणं करेइ, णण्णत्थ एगेणं खोमयजुयलेणं अवसेसं वत्थविहिं पच्चक्खामि०३, तयाणंतरं च णं विलेवणविहिपरिमाणं करेइ, णण्णत्थ अगरुकुंकुमचंदणमाइएहिं अवसेसं विलेवणविहिं पच्चक्खामि०३, तयाणंतरं च णं पुप्फविहिपरिमाणं करेइ, णण्णत्थ एगेणं सुद्धपउमेणं मालतिकुसुमदामेणं वा, अवसेसं पुप्फविहिं पच्चक्खामि०३, तयाणंतरं च णं आभरणविहिपरिमाणं करेइ, णण्णत्थ मट्ठकण्णेज्जएहिं णाममुद्दिएहिं, अवसेसं आभरणविहिं पच्चक्खामि०३, तयाणंतरं च णं धूवणविहिपरिमाणं करेइ, णण्णत्थ अगरुतुरुक्कधूवमाइएहिं, अवसेसं धूवणविहिं पच्चक्खामि० ३, तयाणंतरं च णं भोयणविहिपरिमाणं करेमाणे पेज्जविहिपरिमाणं करेइ, णण्णत्थ एगाए कट्ठपेज्जाए, अवसेसं पेज्जविहिं पच्चक्खामि मण० ३, तयाणंतरं च णं भक्खणविहिपरिमाणं करेइ, णण्णत्थ एगेहिं घयपुण्णेहिं खंडखज्जएहिं वा, अवसेसं भक्खणविहिं पच्चक्खामि० ३, तयाणंतरं च णं ओयणविहिपरिमाणं करेइ, णण्णत्थ कलमसालिओदणेणं, अवसेसं ओदणविहिं पच्चक्खामि० ३, तयाणंतरं च णं सूवविहिपरिमाणं करेइ, णण्णत्थ कलायसूवेण वा मुग्गमाससूवेण वा अवसेसं सूवविहिं पच्चक्खामि० ३, तयाणंतरं च णं घयविहिपरिमाणं करेइ, णण्णत्थ सारइएणं गोघयमंडेणं, अवसेसं घयविहिं पच्चक्खामि० ३, तयाणंतरं च णं सागविहिपरिमाणं करेइ, णण्णत्थ वत्थुसाएणं वा सोत्थियसाएण वा मंडुक्कियसाएणं वा, अवसेसं सागविहिं पच्चक्खामि० ३, तयाणंतरं च णं माहुरयविहिपरिमाणं करेइ, णण्णत्थ एगेणं पालंगामाहुरएणं, अवसेसं माहुरयविहिं पच्चक्खामि० ३, तयाणंतरं च णं जेमणविहिपरिमाणं करेइ, णण्णत्थ सेहंबदालियंबेहिं अवसेसं जेमणविहिं पच्चक्खामि० ३, तयाणंतरं च णं पाणियविहिपरिमाणं करेइ, णण्णत्थ एगेणं अंतलिक्खोदएणं अवसेसं पाणियविहिं पच्चक्खामि० ३, तयाणंतरं च णं मुहवासविहिपरिमाणं करेइ, णण्णत्थ पंचसोगंधिएणं तंबोलेणं, अवसेसं मुहवासविहिं पच्च०३, (सूत्र-६)

तयाणंतरं च णं चउव्विहं अणत्थदंडं पच्चक्खामि तं जहा-अवज्झाणाचरियं पमायाचरियं हिंसप्पयाणं पावकम्मोवएसे दुविहं तिविहेणं मणसा, वयसा, कायसा (सूत्र७)

इह खलु आणंदाइ समणे भगवं महावीरे आणंदं समणोवासगं एवं वयासी--एवं खलु आणंदाइ समणोवासएणं अभिगयजीवाजीवेणं उवलद्धपुण्णपावेणं आसवसंवरनिज्जरकिरियाअहिगरणबंधमुक्खकुसलेणं असहिज्जदेवासुरनागसुवण्णजक्खरक्खसकिंनरकिंपुरिसगरुलगंधव्वमहोरगाइएहिं देवगणेहिं निग्गंथाओ पावयणाओ अणतिक्कमणिज्जेणं सम्मत्तस्स पंच अइयारा पेयाला जाणियव्वा, न समायरियव्वा, तं जहा-संका, कंखा, वितिगिच्छा, परपासंडपसंसा, परपासंडसंथवो। तयाणंतरं च णं थूलयस्स पाणाइवायवेरमणस्स समणोवासएणं पंच अइयारा पेयाला जाणियव्वा, न समायरियव्वा, तं जहा-वहे, बंधे, छविच्छेए अइभारे, भत्तपाणवोच्छेए, तयाणंतरं च णं थूलगस्स मुसावायवेरमणस्स पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, तं जहा-सहसाऽब्भक्खाणे, रहस्साऽभक्खाणे, सदारमंतभेए, मोसोवएसे, कूडलेहकरणे य २। (उपा०) (स्थूलकाऽदत्तादानस्य अतिचाराः 'अदिण्णादाणवेरमण' शब्दे १भागे गताः)। (स्वदारसंतोषविषयाऽतिचाराः 'परदारगमण' शब्दे पञ्चमभागे दर्शयिष्यन्ते।) (इच्छापरिमाणातिचारस्वरूपम् 'इच्छापरिमाण' शब्दे अस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते।) तयाणंतरं च णं दिसि विदिसि पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, तं जहा-उड्ढदिसि परिमाणाइक्कमे अहोदिसि परिमाणाइक्कमे, चउदिसि परिमाणाइक्कमे, खेत्तवुड्ढिस्स अंतरद्धा। (उपा०) (उपभोग-परिभोगपरिणामस्याऽतिचाराः 'उवभोगपरिभोग परिमाण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यन्ते।) (अनर्थदण्डविरमणविषयातीचाराः 'अणट्ठादंडवेरमण' शब्दे प्रथमभागे गताः।) (सामायिकविषयातिचाराः 'सा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

माइय' शब्दे दर्शयिष्यते) (देशाऽवकाशिकविषयाऽतिचाराः 'देसाऽवगासिय' शब्दे चतुर्थभागे वक्ष्यते) (पौषधोपवासविषयाऽतिचाराः 'पोसह' शब्दे पञ्चमभागे वक्ष्यते)(अतिथिसंविभागविषयातिचाराः 'अइहिसंविभाग' शब्दे प्रथमभागे गताः) (अपश्चिममारणान्तिकसंलेखनाजोषणाऽऽराधनताविषयाऽतिचाराः 'अपच्छिममारणन्तियसंलेहणाभूसणाऽऽराहणता' शब्दे प्रथमभागे गताः।)

तए णं से आणंदे गाहावई समणस्स भगवतो महावीरस्स अंतिए पंचाणुव्वइयं सत्तसिक्खावइयं दुवालसविहं सावगधम्मं पडिवज्जइ पडिवज्जित्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ णमंसइ वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी-णो खलु मे भंते! कप्पइ अज्जप्पभिइ अण्णउत्थिए वा अण्णउत्थियदेवयाणि वा अण्णउत्थियपरिग्गहियाणि वा अरिहंतचेइयाइं वंदित्तए वा णमंसित्तए वा, पुव्विं अणालत्तेणं आलवित्तए वा संलवित्तए वा, तेसिं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा दाउं वा अणुप्पयाउं वा णण्णत्थ रायाभिओगेणं गणाभिओगेणं बलाभिओगेणं देवयाभिओगेणं गुरुनिग्गहेणं वित्तिकंतारेणं, कप्पइ मे समणे निग्गंथे फासुएणं एसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं वत्थपडिग्गहकंबलपायपुंछणेणं पीढफलगसेज्जासंथारएणं ओसहभेसज्जेण य पडिलाभेमाणस्स विहरित्तए त्तिकट्टु। इमं एयाणुरूवं अभिग्गहं अभिगिण्हइ २ त्ता, पसिणाइं पुच्छइ पुच्छित्ता, अट्ठाइं आइयइ२त्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो वंदइ वंदित्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियाओ दूइपलासाओ चेइयाओ पडिणिक्खमइ २ त्ता जेणेव वाणियगामे णयरे जेणेव सए गिहे तेणेव उवागच्छइ २ त्ता सिवाणंदं भारियं एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिए! समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मे णिसंते, से वि य धम्मे मे इच्छिए पडिच्छिए अभिरुइए तं गच्छ णं तुमं देवाणुप्पिए! समणं भगवं महावीरं वंदाहि०जाव पज्जुवासाहि समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं पंचाणुव्वतियं सत्तसिक्खावतियं दुवालसविहं गिहिधम्मं पडिवज्जाहि। (सूत्र-८)

तए णं सा "सिवाणंदा" भारिया आणंदेणं समणोवासएणं एवं वुत्ता समाणा हट्ठतुट्ठा कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ २ त्ता एवं वयासी-खिप्पामेव लहुकरणं०जाव पज्जुवासति। तए णं समणे भगवं महावीरे सिवाणंदाए भारियाए। तीसे य महइ०जाव धम्मं कहेइ, तए णं सा सिवाणंदा समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं धम्मं सुच्चा णिसम्म हट्ठा०जाव गिहिधम्मं पडिवज्जइ २ त्ता तमेव धम्मियं जाणपवरं दुरूहइ २ त्ता जामेव दिसिं पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगया। (सूत्र-९) भंतेत्ति, भयवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदइ वंदित्ता एवं वयासी-पहू णं भंते! आणंदे समणोवासए देवाणुप्पियाणं अंतिए मुंडे०जाव पव्वइत्तए, णो इणट्ठे समट्ठे, गोयमा! आणंदे णं समणोवासए बहूइं वासाइं समणोवासगपरियायं पाउणिहिइ २ त्ता ०जाव सोहम्मे कप्पे अरुणाभे विमाणे देवत्ताए उववज्जिहिति तत्थ णं अत्थेगइयाणं देवाणं चत्तारि पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता, तत्थ णं आणंदस्स वि समणोवासगस्स चत्तारि पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता। तते णं समणे भगवं महावीरे अण्णया कयाइ बहिया०जाव विहरति। (सूत्र-१०)

ततेणं से आणंदे समणोवासए जाए अभिगयजीवाजीवे०जाव पडिलाभेमाणे विहरइ। तए णं सा सिवाणंदा भारिया समणोवासिया जाया०जाव पडिलाभेमाणी विहरइ (सूत्र-११)। तए णं तस्स आणंदस्स समणोवासगस्स उच्चावएहिं सीलव्वयगुणवेरमणपच्चक्खाणपोसहोववासेहिं अप्पाणं भावेमाणस्स चोद्दससंवच्छराइं वीइक्कंताइं पण्णरसमस्स संवच्छरस्स अंतरा वट्टमाणस्स अण्णया कयाइ पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि धम्मजागरियं जागरमाणस्स इमेयारूवे अज्झत्थिए चिंतिए पत्थिए मणोगए संकप्पे समुप्पज्जे-एवं खलु अहं वाणियग्गामे नयरे बहूणं ईसर०जाव सयसावियकुडुंबस्स ०जाव आधारे, तं एतेणं विक्खेवेणं अहं णो संचएमि समणस्स भगवतो महावीरस्स अंतियं धम्मपण्णत्तिं उपसंपज्जित्ता णं विहरित्तए। तं सेयं खलु ममं कल्लं०जाव जलंते विपुलं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा जहा पूरणो०जाव जेट्ठपुत्तं कुडुंबे ठविचा तं मित्त०जाव जेट्ठपुत्तं च आपुच्छित्ता कोल्लाए संनिवेसे णायकुलंसि। पोसहसालं पडिलेहित्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं धम्मपण्णत्तिं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए। एवं संपेहेइ संपेहित्ता कल्लं विउलं तहेव जिमितभुत्तुत्तरागए तं मित्त० जाव विउलेणं पुप्फ-पीढ-फलग-सेज्जा-संथारएणं सक्कारेइ संमाणेइ२ त्ता तस्सेव मित्त०जाव पुरओ जेट्ठपुत्तं सद्दावेइ २ त्ता, एवं वयासी-एवं खलु पुत्ता! अहं वाणियग्गामे बहूणं ईसर जहा चिंतियं ०जाव विहरित्तए। तं सेयं खलु मम इयाणिं तुमं सयस्स कुडुंबस्स आलंबणं०४ ठावित्ता०जाव विहरइ। तए णं जेट्ठपुत्ते आणंदस्स समणोवासगस्स तह त्ति एयमट्ठं विणएणं पडि-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुणेइ । तए णं से आणंदे समणोवासए तस्सेव मित्त० जाव पुरओ जेट्ठपुत्तं कुडुंबे ठवेइ २ त्ता । एवं वयासी-मा णं देवाणुप्पिया ! तुब्भे अज्जप्पभिइं केइ ममं बहूसु कज्जेसु०जाव आपुच्छउ वा पडिपुच्छउ वा ममं अट्ठाए असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा उवक्खडेउ वा उवकरेउ वा । तए णं से आणंदे समणोवासए जेट्ठपुत्तं मित्तणाइं आपुच्छइ २ त्ता सयाओ गिहाओ पडिणिक्खमइ २ त्ता वाणियग्गामं णयरं मज्झं मज्झेणं णिग्गच्छइ २ त्ता जेणेव कोल्लाए सण्णिवेसे जेणेव नायकुले जेणेव पोसहसाला तेणेव उवागच्छइ २ त्ता पोसहसालं पमज्जइ २ त्ता उच्चारपासवणभूमिं पडिलेहइ २ त्ता दब्भसंथारं संथरइ २ त्ता दब्भसंथारयं दूरूहइ २ त्ता पोसहसालाते पोसहिते दब्भसंथारोवगये समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं धम्मपण्णत्तिं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ । (सूत्र-१२) ।

तए णं से आणंदे समणोवासए पढमं उवासगपडिमं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ । पढमं उवासगपडिमं अहासुत्तं अहाकप्पं अहामग्गं अहातच्चं सम्मं काएणं फासेइ ०जाव आराहेइ । तए णं से आणंदे समणोवासए दोच्चं उवासगपडिमं,अहासु०।एवं-तच्चं उवा०,चउत्थं उ०पंचमं उ०छट्ठं उ० सत्तमं उ० अट्ठमं उ० नवमं उ० दशमं उ० एक्कारसमं उ० ०जाव आराहेइ (सूत्र-१३)। तए णं से आणंदे समणोवासए इमेणं एयारूवेणं उरालेणं विउलेणं पयत्तेणं पग्गहिएणं तवोकम्मेणं सुक्के०जाव किसे धमणिसंतते जाए । तए णं तस्स आणंदस्स समणोवासगस्स अण्णया कयाइ पुव्वरत्ता ०जाव धम्मजागरियं जागरमाणस्स अयं अज्झत्थिए चिंतिए पत्थिए मणोगए संकप्पे समुप्पन्ने. एवं खलु अहं इमेणं०जाव धमणिसंतए जाए तं अत्थि ता मे उट्ठाणे कम्म-बल-वीरिए पुरिसकारपरक्कमे सद्धा धिई संवेगे। तं० जाव तामे अत्थि उट्ठाणे सद्धा धिई संवेगे ०जाव मे धम्मायरिए धम्मोवएसए समणे भगवं महावीरे जिणे सुहत्थी विहरइ, ताव ता मे सेयं कल्लं०जाव जलंते अपच्छिममारणंतियसंलेहणाझूसणाझूसितस्स भत्तपाणपडियाइक्खियस्स कालं अणवकंखमाणस्स विहरित्तए । एवं संपेहेइ संपेहित्ता कल्लं पाउ०जाव अपच्छिमं० जाव कालं अणवकंखमाणे विहरइ । तए णं तस्स आणंदस्स समणोवासगस्स अण्णया कयाइ सुभेणं अज्झवसाणेणं सुभेणं परिणामेणं लेसाहिं वि सुज्झमाणीहिं णाणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमेणं ओहिनाणे समुप्पन्ने पुरच्छिमे णं लवणसमुद्दे पंचजोयणसइयं खेत्तं जाणइ पासइ । एवं दक्खिणेणं पच्चत्थिमेण य उत्तरेणं ०जाव चुल्लहिमवंतं वासधरपव्वतं जाणइ पासइ । उड्ढं ०जाव सोहम्मं कप्पं जाणइ पासइ अहे ०जाव इमी से रयणप्पभाए पुढवीए लोलुयं अच्चुयं णरयं चउरासीइवाससहस्सट्ठितियं जाणइ पासइ (सूत्र-१४) ।

तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे समोसरिए परिसा निग्गया ०जाव पडिगया । तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अंतेवासी इंदभूईणामं अणगारे गोयमगोत्तेणं सत्तुस्सेहे समचउरंससंठाणसंठिए वज्जरिसहनारायसंघयणे कणगपुलगनिघसपम्हगोरे उग्गतवे दित्ततवे तत्ततवे घोरतवे महातवे उराले घोरगुणे घोरतवस्सी घोरबंभचेरवासी उच्छूढसरीरे संखित्तविउलतेउलेसे जियकोहे जियमाणे जियमाए जियलोभे जाइसंपन्ने कुलसंपण्णे बलसंपन्ने रूवसंपण्णे ०जाव तेयंसी छट्ठं छट्ठेणं अणिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ । तए णं से भगवं गोयमे छट्ठक्खमणपारणगंसि पढमाए पोरिसीए सज्झायं करेइ बीआए पोर(रु)सीए झाणं झियाइ, तईयाए पोरिसीए अतुरियमचवलमसंभंताए मुहपत्तियं पडिलेहइ २ त्ता । भायणवत्थाइं पडिलेहेइ २ त्ता । भायणवत्थाइं पमज्जइ २ त्ता भायणाइं उग्गाहेइ २ त्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ २ त्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ २ त्ता एवं वयासी-इच्छामि णं भंते ! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए छट्ठक्खमणपारणगंसि वाणियग्गामे णयरे उच्चनीयमज्झिमाइं कुलाइं घरसमुदाणस्स भिक्खायरियाए अडित्तए अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं करेह । तए णं गोयमे समणेणं भगवया महावीरेणं अब्भणुण्णाए समाणे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियाओ दूइपलासाओ चेइयाओ पडिनिक्खमइ २ त्ता अतुरियमचवलमसंभंते जुगंतरपरिलोयणाए दिट्ठीए पुरओ इरियं सोहमाणे जेणेव वाणियग्गामे णयरे तेणेव उवागच्छइ २ त्ता वाणियग्गामे णगरे उच्चनीयमज्झिमाइं कुलाइं घरसमुदाणस्स भिक्खायरियाए अडइ । तए णं से भगवं गोयमे वाणियग्गामे नगरे जहा पण्णत्तीए तहा ०जाव भिक्खायरियाए ०जाव अडमाणे अहापज्जत्तं भत्तपाणं सम्मं पडिगाहेइ २ त्ता वाणियगामाओ पडिणिग्गच्छइ २ त्ता कोल्लायस्स सण्णिवेसस्स अदूरसामंते णं वीतीवयमाणे बहुजणसद्दं णिसामेइ बहुजणो अण्णमण्णस्स एवमाइक्खइ० ४ एवं खलु देवाणुप्पिया ! समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी

आणंदे णामं समणोवासए पोसहसालाए अपच्छिममार० जाव अणवकंखमाणे विहरइ, तए णं तस्स गोयमस्स बहुजणस्स अंतिए एतमट्ठं सोचा णिसम्म अयमेयारूवे अब्भत्थिए चिंतिए पत्थिए मणोगए संकप्पे समुप्पन्ने. तं गच्छामि णं आणंदं समणोवासयं पासामि, एवं संपेहेइ संपेहित्ता जेणेव कोल्लाए संनिवेसे जेणेव आणंदे समणोवासए जेणेव पोसहसाला तेणेव उवागच्छइ । तए णं से आणंदे समणोवासए भगवं गोयमं एज्जमाणं पासइ, पासेत्ता हट्ठ ०जाव हियए, भगवं गोयमं वंदति णमंसति २ त्ता एवं वयासी-एवं खलु भंते ! अहं इमेणं उरालेणं ०जाव धमणिसंतते जाए, णो संचाएमि देवाणुप्पियस्स अंतियं पाउब्भवित्ता णं तिक्खुत्तो मुद्धाणेणं पाए अभिवंदित्तए, तुब्भे णं भंते ! इच्छाकारेणं अणभिओएणं इतो चेव (एह) एवं जएणं देवाणुप्पियाणं तिक्खुत्तो मुद्धाणेणं पाएसु वंदामि णमंसामि । तए णं से भगवं गोयमे जेणेव आणंदे समणोवासए तेणेव उवागच्छइ (सूत्र-१५)।

तए णं से आणंदे समणोवासए भगवओ गोयमस्स तिक्खुत्तो मुद्धाणेणं पाएसु वंदति णमंसति २ त्ता एवं वयासी-अत्थि णं भंते ! गिहिणो गिहिमज्झावसंतस्स ओहिणाणे णं समुपज्जइ । हंता अत्थि, जइ णं भंते ! गिहिणो ०जाव समुप्पज्जइ । एवं खलु भंते ! मम वि गिहिणो गिहिमज्झावसंतस्स ओहिनाणे समुप्पण्णे पुरच्छिमेणं लवणसमुद्दे पंच जोयणसयाइं ०जाव लोलुयच्चुयं णरयं जाणामि पासामि । तए णं से भगवं गोयमे आणंदं समणोवासयं एवं वयासी-अत्थि णं आणंदा ! गिहिणो ०जाव समुप्पज्जइ, णो चेव णं एव महालए तं णं तुमं आणंदा ! एतस्स ठाणस्स आलोएहि ०जाव तवोकम्मं पडिवज्जाहि । तए णं से आणंदे समणोवासए भगवं गोयमं एवं वयासी-अत्थि णं भंते ! जिणवयणे संताणं तच्चाणं तहियाणं सब्भूयाणं भावाणं आलोइज्जइ ०जाव पडिवज्जिज्जइ ?, णो इणट्ठे समट्ठे । जइ णं भंते ! जिणवयणे संताणं ०जाव भावाणं णो आलोएज्जइ ०जाव तवोकम्मं णो पडिवज्जिज्जइ । तं णं भंते ! तुब्भे चेव एयस्स ठाणस्स आलोएह ०जाव पडिवज्जह । तए णं से भगवं गोयमे आणंदेणं समणोवासएणं एवं वुत्ते समाणे संकिए कंखिए वितिगिच्छासमावण्णे आणंदस्स अंतियाओ पडिनिक्खमइ २ त्ता जेणेव दूइपलासे चेइए जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ २ त्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामंते गमणागमणाए पडिक्कमइ २ त्ता । एस णं समणे आलोएइ २ त्ता भत्तपाणं पडिदंसेइ २ त्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ २ त्ता । एवं वयासी-एवं खलु भंते ! अहं तुम्हेहिं अब्भणुण्णाए तं चेव सव्वं कहेइ ०जाव तए णं पडिदंसेइ । अहं संकिते कंखिए वितिगिच्छासमावण्णे आणंदसस्स समणोवासगस्स अंतिए पडिणिक्खमामि २ त्ता जेणेव इहं तेणेव हव्वमागए तं णं भंते ! किं आणंदे णं समणोवासए णं तस्स ठाणस्स आलोएयव्वं ०जाव पडिवज्जेयव्वं । उदाहु मए ?, गोयमाइसमणे भगवं महावीरे भगवं गोयमं एवं वयासी-गोयमा ! तुमं चेव णं तस्स ठाणस्स आलोएहि ०जाव पडिवज्जेहि, आणंदं समणोवासयं एयमट्ठं खामेहि । तए णं से भगवं गोयमे समणस्स भगवओ महावीरस्स तह त्ति एयमट्ठं विणएणं पडिसुणेइ २ त्ता तस्स ठाणस्स आलोएइ ०जाव पडिवज्जइ । आणंदं च समणोवासयं एयमट्ठं खामेइ २ त्ता तए णं से समणे भगवं महावीरे बहिया अण्णया कयाइ बहिया जणवयविहारं विहरइ (सूत्र-१६+)। तए णं से आणंदे समणोवासए बहूहिं सीलव्वएहिं ०जाव अप्पाणं भावेइ २ त्ता वीसं वासाइं समणोवासयपरियायं पाउणित्ता एक्कारस य उवासगपडिमाओ सम्मं काएणं फासित्ता मासियाए संलेहणाए अत्ताणं झूसित्ता सट्ठिं भत्ताइं अणसणाए छेदेत्ता आलोइयपडिक्कंते समाहिपत्ते कालमासे कालं किच्चा सोहम्मे कप्पे सोहम्मवडिंसयस्स महाविमाणस्स उत्तरपुरच्छिमेणं अरुणे विमाणे देवत्ताए उववण्णे । तत्थ णं अत्थेगइयाणं देवाणं चत्तारि पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता, तत्थ णं आणंदस्स वि देवस्स चत्तारि पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता । आणंदे णं भंते ! देवे ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं भवक्खएणं ठिइक्खएणं अणंतरं चुओ चुइत्ता कहिं गच्छिहिति कहिं उववज्जिहिति । गोयमा ! महाविदेहे वासे सिज्झिहिति, णिक्खेवो । सत्तमस्स अंगस्स उवासगदसाणं पढमं अज्झयणं समत्तं । (सूत्र-१७) ।

उपा० १ अ० । आचू० । आ० म० । भाविन्यामुत्सर्पिण्याम-रकद्विके व्यतिक्रान्ते तृतीयारके आनन्दजीवः पेढालस्तीर्थ-कृद्भविष्यति । ती० २० कल्प । भाविन्या उत्सर्पिण्यास्तृती-यारके, "पढालं अट्ठमयं, आणंदजीयं नमंसामि" ॥ ४६६ ॥ पेढालमष्टमकम् आनन्दजीवं नमस्यामि । प्रव० ४६ द्वार । अनुत्तरोपपातिकदशायाः तृतीयेऽध्ययने च । एतच्च वाच्य-न्तरापेक्षया ननूपलभ्यमानवाचनापेक्षया । स्था० १० ठा० ३ उ० ।

१-टी० । सन्तानपिन्थादयः शब्दा एकार्थाः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आणंदअंसुपाय-आनन्दाऽश्रुपात-पुं०। हर्षाश्रुमोक्षणे, "आणंदअंसुपायं कासि सिज्जंभवा तहिं थेरा" ॥३७१×॥ आनन्दाश्रुपातम्-अहो आराधितमनेनेति हर्षाश्रुविमोक्षणम्। दश० २ चू०।

आणंदकूड-आनन्दकूट-न०। आनन्दनाम्नो देवस्य कूटमानन्दकूटम्। गन्धमादनवक्षस्कारपर्वतस्थे कूटभेदे, जं० ४ वक्ष०।

आणंदचंदण-आनन्दचन्दन-न०। स्वरूपानुभवानन्दचन्दने, अष्ट०। "वेष्टनं भयसर्पाणां, न तदानन्दचन्दने" ॥५॥ अष्ट० १७ अष्ट०।

आणंदजीव-आनन्दजीव-पुं०। आनन्दस्यात्मनि, भाविन्या उत्सर्पिण्यास्तृतीयारके, वेढालम् अष्टकम् आनन्दजीवं नमस्यामि। "आणंदजी (वं)वं" ॥४६६×॥ प्रव० ४६ द्वार।

आणंदज्झयण-आनन्दाध्ययन-न०। आनन्दवक्तव्यताप्रतिबद्धे उपासकदशायाः प्रथमेऽध्ययने, उपा० १ अ०। स्था०। अनुत्तरोपपातिकदशायाः सप्तमेऽध्ययने, स्था० १० ठा० ३ उ०। निरयावलिकोपाङ्गद्वितीयवर्गस्य कल्पावतंसिकाभिधस्य नवमेऽध्ययने च। नि० १ श्रु० २ वर्ग २ अ०। (एतेषां वक्तव्यता 'आणंद' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ऽनुपदमेव गता।)

आणंदण-आनन्दन-न०। आनन्दयत्यनेन आ-नदि-णिच् करणे ल्युट्। यातायातकाले, मित्रादेः आरोग्यस्वागतादिप्रश्ने, तत्कालिकालिङ्गने च। भावे ल्युट्। सुखजनने, वाच०। भगवत ऋषभदेवस्य शतपुत्रान्तर्गते स्वनामख्याते पुत्रे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण। वक्षस्कारपर्वतस्थे स्वनामख्याते कूटे च। स्था० ७ ठा० ३ उ०।

आणंदणंदण-आनन्दनन्दन-न०। आनन्दः-आत्मानन्दस्तदेव नन्दनमानन्दनन्दनम्। आनन्दात्मके नन्दनवने, "निर्भयः शक्रवद्योगी, नन्दत्यानन्दनन्दने ॥ ७ ॥" अष्ट० ५ अष्ट०।

आणंदणकूड-आनन्दनकूट-न०। गन्धमादनवक्षस्कारपर्वतस्थे स्वनामख्याते कूटभेदे, स्था० ७ ठा० ३ उ०।

आणंदपुर-आनन्दपुर-न०। स्वनामख्याते नगरे, "आणंदपुरं नगरं जितारी राया" । बृ०४ उ०। (जितारिराज्ञः वृत्तम् 'मूढ' शब्दे षष्ठे भागे दर्शयिष्यते।) "आणंदपुरे मरुआ" आ० म० १ अ०। बृ०। "वीरात्त्रिनन्दाङ्क (६६३) शरद्यचीकरत्त्वच्चैत्यपूते ध्रुवसेनभूपतिः। यस्मिन्महैः संसदि कल्पवाचना-माद्यां तदानन्दपुरं न कः स्तुते " ॥ १ ॥ कल्प० १ अधि० ६ क्षण।

आणंदमेरु-आनन्दमेरु-पुं०। राजमल्लाभ्युदयनाममहाकाव्यकृतः पद्मसुन्दरस्य परमगुरोः पद्ममेरोर्गुरौ, जै० इ०।

आणंदरक्खिय-आनन्दरक्षित-पुं०। स्वनामख्याते स्थविरे, "तत्थ णं आणंदरक्खिए नामं थेरे," । (सूत्र-११० +) भ० २ श० ५ उ०।

आणंदविमलसूरि-आनन्दविमलसूरि-पुं०। स्वनामख्याते सूरिविशेषे, " आनन्दनन्दैर्विमलाभिधानै-रिहोद्धृता सूरिभिरुग्रचर्या " ॥ ६ ॥ प्रति०। स च हेमविमलसूरेः शिष्यः।

इतश्च—

" श्रीहेमविमलसूरि-र्दूरीकृतकल्मषः स सूरिगुणम्।
ज्ञात्वा योग्यं मुख्यं, धर्मस्याभ्युदयसंसिद्धैः ॥ ४४ ॥
सौभाग्यपूर्णसंवेग-तरङ्गनीरनिधिम्।
आनन्दविमलसूरिं, स्वपट्टे स्थापयामास ॥ ४५ ॥ युग्मम्।
धन्या नागरसंकाशा-स्तपोभिर्दुस्तपैर्भृशम्।
स्थूलभद्रोपमा यस्य, ब्रह्मचर्यगुणैरपि ॥ ४६ ॥
श्रीमदानन्दविमल-प्रभवः शासनाद् गुरोः।
शश्वत् शुद्धां क्रियां कर्तुमकुर्वं निश्चलं मनः ॥४७॥ "
ग० ३ अधि०।

आणंदवीर-आनन्दवीर-पुं०। आवश्यकप्रतिक्रमं भाष्यकृतः रत्नशेखरसूरेर्गुरोरुदयवीरगणिनः परमगुरौ, जै० इ०।

आणंदसूरि-आनन्दसूरि-पुं०। नागेन्द्रगच्छीये सिद्धराजेन राज्ञा व्याघ्रशिशुकेति नाम्ना प्रख्यापिते बृहद्गच्छीये स्वनामके आचार्ये च। जै० इ०।

आणंदहियभाव-आनन्दहृदयभाव-पुं०। आनन्दलक्षणे भावे, " आणंदहिययभावनंदणकरा " (सूत्र-१५ +) आनन्दलक्षणो यो भावस्तस्य नन्दकराः-वृद्धिकरा ये ते तथा। प्रश्न० ४ आश्र० द्वार।

आणंदा-आनन्दा-स्त्री०। आनन्दयति सेवनात् आ+नदि णिच् अच्। विजयायाम्, (सिद्धि) राजनि०। वाच०। पौरस्त्यायां स्वनामख्यातायां दिक्कुमार्याम्, आ० म० १ अ०। जी०। जं०। स्था०। ती०। आ० चू०। आ० क०। लवणद्वीपस्थपौरस्त्यां जनकपर्वतस्थायां स्वनामख्यातायां नन्दापुष्करिण्याम्, स्था० ४ ठा० २ उ०।

आणंदिय-आनन्दित-त्रि०। आ-नदि क्त० हर्षयुक्ते, वाच०। प्रमोदं प्राप्ते, जं० ३ वक्ष०। सुखिनि, आ-नदि-णिच्-क्त यस्यानन्दो जनितस्तस्मिन् अभिनन्दिते, त्रि०। वाच०। स्फीतीभूते, 'टुनदि' समृद्धाविति वचनात्। आ० म०१ अ०। जी०। रा०। ईषन्मुखसौम्यतादिभावैस्समृद्धिमुपगते, " हट्ठतुट्ठचित्तमाणंदिए " (सूत्र-११×)। औ०।

आणग्गहण-आणग्रहण-न०। प्राणापानयोग्यपुद्गलोपादाने, " समयं आणग्गहणं " ॥ ६५+ ॥ (सूत्र-२६+) समकं च प्राणापानग्रहणं-प्राणापानयोग्यपुद्गलोपादानम्। प्रज्ञा० १ पद।

आणट्ठाकिइ-आज्ञार्थाकृति-त्रि०। आज्ञाऽऽगमोऽर्थशब्दस्य हेतुवचनस्यापि दर्शनादर्थो-हेतुरस्याः सा तथाविधाऽऽकृतिरर्थान्मुनिवेषात्मिका यत्र तदाज्ञार्थाकृति। उत्त०। मुनिवेषाकृतिमति, उत्त०। " आणट्ठाकिइ पव्वए " (॥४६+॥) आज्ञार्थाकृति यथाभवत्येवं प्राव्राजीदिति। उत्त० १८ अ०।

आणण-आनन-न०। अनित्यनेन आ+अन-करणे ल्युट्। मुखे, मुखेन हि जलपानादिना प्राणादेः स्थितिरतस्तस्य तथात्वम्। " क्षितीश्वरः, नृपस्य कान्तं पिबतः सुताननम् " इति च रघुः। वाच०। " कुंडलउज्जोइयाऽऽणणे " (सूत्र-४३+) कुण्डलाभ्यामुद्योतिनम् आननं-मुखं यस्य स तथेति। जं० ३ वक्ष०। तं०। रा०। हैं०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आणणकोडुंबिय--आननकौटुम्बिक--त्रि० । मुखस्य सहायके, कल्प० । "आणणकोडुंबिएणं" (सूत्र-३६४) । आननस्य-मुखस्य कौटुम्बिकेनेव यथा राजा कौटुम्बिकैः-सेवकैः शोभते एवं श्रीदेव्याः आननं तेन शोभासमुदयेनेति । कल्प० १ अधि० २ क्षण ।

आणत्त--आज्ञप्त--त्रि० । आ ज्ञा-णिच् पुक् क्त ह्रस्वः । आदिष्टे, कृतादेशे, वाच० । प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । नि० चू० । आव० ।

आनर्त--पुं० । आनृत्यत्यत्र-आधारे घञ् । नृत्यशालायाम्, युद्धे च । तत्र हि वीरैर्हर्षात् नृत्यमिव क्रियते इति तस्य तथात्वम् । सूर्यवंश्ये राजभेदे, "शर्यातेर्मिथुनं त्वासीदानर्तो नामविश्रुतः" । हरिवं १० अ० । तत्कृते देशभेदे, वाच० । तद्देशवासिजनेषु, तद्राजेषु च । चन्द्रवंश्ये राजभेदे, पुं० । आनृत्यतीति कर्त्तरि अच् । जलेन तस्य तरङ्गरूपेण नृत्यस्येव करणात्तथात्वम् । नर्तके, त्रि० । भावे घञ् । नर्तने, वाच० ।

अन्यत्व--न० । परस्परं भिन्नत्वे, "तेसिं णिज्जरापोग्गलाणं किं आणत्तं वा" (सूत्र-१६६+) । प्रज्ञा० १५ पद १ उ० ।

आणत्ति--आज्ञप्ति--स्त्री० । आ-ज्ञा-णिच्-पुक्-क्त ह्रस्वः । आज्ञायाम्, वाच० । आदेशे, "आणत्तियं पच्चप्पिणह" (सूत्र-१२+) आज्ञप्तिम्-आदेशं, प्रत्यर्पयत । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । प्रज्ञा० ।

आणत्तिकिंकर--आज्ञप्तिकिङ्कर--पुं० । यथादेशकारिणि, "आणत्तिकिंकरेहिं" (सूत्र-१२+) आज्ञप्तिकिंकरैर्यथादेशकारिकिंकुर्वाणैः । प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

आणत्तिया--आज्ञप्तिका--स्त्री० । आज्ञायाम्, "आणत्तिअं पच्चप्पिणह" (सूत्र-३०४) आज्ञप्तिकाम्-आज्ञां प्रत्यर्प्य-सफलाथ; मम निवेदयत्यर्थः । औ० । "एतमाणत्तिअं खिप्पमेव पच्चप्पिणाहिह" (सूत्र-४६+) एतामाज्ञप्तिकां क्षिप्रं प्रत्यर्पयतेति । जं० ३ वक्ष० ।

आणप्प--आज्ञाप्य--त्रि० । आज्ञापनीये, सूत्र० । "आणप्पा हवंति दासा वा" (॥ १५ ॥) स्त्रीणाम्पुरुषाः स्ववशीकृता दासा इव-क्रयक्रीता इव आज्ञाप्या-आज्ञापनीया भवन्ति । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

आणम (व) णी--आज्ञापनी--स्त्री० । असत्यामृषाभाषाभेदे. आज्ञापनी कार्ये प्रवर्त्तनी (परस्य प्रवर्त्तनं-यथेदं कुर्विति) । भ० १० श० ३ उ० । प्रज्ञा० । ध० ।

आणय--आनत--त्रि० । आ+नम्--क्त । कृतप्रणामे, अधोमुखे, विनयेन नते च । वाच० । विमानविशेषे, अनु० । सकलविमानप्रधानावतंसकविमानविशेषोपलक्षित आनतः । कल्पभेदे, ऊर्ध्वदेवलोकभेदे. अनु० । स च वैमानिकदेवलोकः । प्रव० १६४ द्वार । विशे० । स० । आनते भवा आनताः । कल्पोपगवैमानिकदेवभेदे, "आणया" ॥१३+॥ उत्त० ३६ अ० ।

आनय--पुं० । आ+नी-भावे अच् । देशात् देशान्तरनयने, आनीयते वेदाद्यध्ययनायाऽत्र आधारे अच् । उपनयनसंस्कारे, हेम० । भावे ल्युट् । आनयनमप्युभयत्र । न० । वाच० ।

आणयण--आनयन--न० । विवक्षितक्षेत्राद्बहिःस्थितस्य सचेतनादिद्रव्यस्य विवक्षितक्षेत्रे प्रापणे, "आणणं" ॥२८६॥ प्रव० ६ द्वार । ध० । पञ्चा० । आनीयतेऽनेनेत्यानयनम्-आनयनसाधने, त्रि० । उत्त० ३६ अ० ।

आण (व) यणप्पओग--आनयनप्रयोग--पुं० । आनयने विवक्षितक्षेत्राद्बहिर्वर्तमानस्य सचेतनादिद्रव्यस्य विवक्षितक्षेत्रप्रापणे प्रयोगः आनयनप्रयोगः । देशावकाशिकद्वितीयव्रतस्यातिचारभेदे, स च स्वयं गमने व्रतभङ्गभयादन्यस्य संदेशकादिना व्यापारणम् । पञ्चा० १ विव० । उपा० । ध० । प्रव० ।

आणवण--आज्ञापन--न० । आदेशे, स्था० २ ठा० १ उ० । प्रतिबोधने, "आगमेत्ता आणवेज्जा" (सूत्र-२१०+) आगम्य ज्ञात्वा तं गृहपतिमाज्ञापयेत्प्रतिबोधयेदिति । आचा० १ श्रु० ८ अ० ४ उ० । प्रवर्त्तने, "आणवयंति भिक्खकहाहिं" ॥७४॥ आज्ञापयन्ति-प्रवर्त्तयन्ति स्ववशं ज्ञात्वा कर्मकरवदाज्ञां कारयन्ति । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । प्रा० ।

आनायन--न० । प्रापणे, स्था० २ ठा० १ उ० ।

आणवणिया--आज्ञापनकी--(आनायनी)--स्त्री० । आज्ञापनस्यादेशनस्येयमाज्ञापनमेवेत्याज्ञापना सैवाज्ञापनिका तज्जः कर्मबन्ध आदेशनमेवेति. आनायनं वा । आनायनीक्रियाभेदे, स्था० २ ठा० १ उ० ।

आणवणिया किरिया दुविहा । जीवआणवणिया, अजीवआणवणिया य । जीवाऽऽणवणी जीवं आज्ञापयति परेण, अजीवं च आणवेइ । आव० ४ अ० ।

जीवमाज्ञापयत आनायतो वा परेण जीवाज्ञापनी, जीवानयनी वा । एवमेवाजीवविषया अजीवाज्ञापनी, अजीवानायनी वा । स्था० २ ठा० १ उ० । आ० चू० ।

आणा--आज्ञा--स्त्री० । आ-ज्ञा-अङ् । अनुष्ठाने । विशे० ५६५ गाथा । आदेशे, आदेशश्च निकृष्टस्य भृत्यादेः कृत्यादौ प्रवृत्त्यर्थो व्यापारभेदः । वाच० । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । पञ्चा० । "आणाउववायवयणनिद्देसे चिट्ठंति" (सूत्र-१३७। १४०+) आज्ञा-कर्त्तव्यमेवेदमित्याद्यादेशः । उपपातः- सेवा । वचनम्-अभियोगपूर्वक आदेशः, निर्देशः-प्रश्निते कार्ये नियतार्थमुत्तरम् । भ० ३ श० १ उ० । विधिविषयक आदेश आज्ञा । स्था० ७ ठा० ३ उ० । आज्ञायोगेषु प्रवर्त्तनालक्षणा । स्था० ५ ठा० २ उ० ।

आणाबलाभियोगो, निग्गंथाणं न कप्पए ॥

आज्ञापनमाज्ञा भवतेदमित्येवंरूपा तथा विवक्षितं कार्यमाज्ञापि यस्याप्यकुर्वतो बलात्कारेण नियोजनं बलाभियोगः एतौ द्वावपि निर्ग्रन्थानां न कल्पेते कर्त्तुम् । आ० म० १ अ० । (अपवादतस्त्वाज्ञाबलाभियोगावपि दुर्विनीते प्रयोक्तव्यौ इति 'इच्छाकार' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते) । उपदेशे, "अणाणाए एगे सोवट्ठाणा" (सूत्र-१६६ +) । आचा० १ श्रु० ५ अ० ६ उ० । "एसा आणा नियंठिया" ॥ २६ + ॥ एषाऽऽज्ञा-अयमुपदेशो निर्ग्रन्थो भगवांस्तस्य । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । आज्ञाप्यत इत्याज्ञा-हितप्राप्तिपरिहाररूपतयोपदेशे, आचा० १ श्रु० २ अ० २ उ० । कल्प० । पञ्चा० । तीर्थकर-

गणधरोपदेशे , । दश० १० अ० । तीर्थकरोपदेशप्रणीते सदाचारे, " आणाए एगे निरुवट्ठाणा " (सूत्र-१६६×) आचा० १ श्रु० ५ अ० ६ उ० । निर्देशे, (४१७ गाथा टी० ।) " उववातो णिद्देसो , आणा विणओ अ होंति एगट्ठा " ॥ व्य० १ उ० । वचने, पञ्चा० ५विव० । आसामस्त्येनानन्तधर्मविशिष्टतया ज्ञायन्ते-अवबुध्यन्ते जीवादयः पदार्था यया सा आज्ञा । स्या० २१ श्लोक । आ-समन्तात् ज्ञाप्यन्ते-बोध्यन्ते सुकृतकर्माणोऽनयेत्याज्ञा । आगमे, (प्रवचने) दर्श० ४ तत्त्व । आङिति स्वस्वभावावस्थानात्मिकया मर्यादयाऽभिव्याप्त्या वा ज्ञायन्तेऽर्था अनयेत्याज्ञा । उत्त०१ अ०। स्था०। भगवदभिहितागमे , उत्त० १ अ० । आप्तप्रवचने , स्था० ४ ठा० १ उ० । " आणाए अभिसमेच्चा " (सूत्र-१३०×) आज्ञया-तीर्थकृत्प्रणीतागमेनेति । आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ०। आज्ञया मौनीन्द्रप्रवचनेनेति । आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । " आणाए मामगं धम्मं " (सूत्र-१८४+) आज्ञायतेऽनयेत्याज्ञा तया मामकं धर्म्मं सम्यगनुपालय तीर्थकर एवमाहेति । आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ० । आज्ञाप्यते जन्तुगणो हितप्रवृत्तौ यया साऽऽज्ञा । द्वादशाङ्गे , नं० । मोक्षार्थमाज्ञाप्यन्त प्राणिनोऽनयेत्याज्ञा । श्रुते, अनु० । विशे० । सर्वज्ञवचने, स्था० १० ठा० ३ उ० । उत्त० । बोधौ, (सम्यक्त्वे) " आणाए लंभो णऽत्थि " (सूत्र-१३८×) आज्ञायास्तीर्थकरोपदेशस्य लाभो नास्ति, यदि वा-आज्ञा-बोधिः; सम्यक्त्वम् । आचा० १ श्रु० ४ अ०३ उ० । सूत्रार्थे, "आगमउववसाऽऽणा" । आगमः-सूत्रमेतदनुसारेण कथनमुपदेश आज्ञा त्वर्थ इति । आव० १ अ०। निर्युक्त्यादिके सूत्र व्याख्याने च । स्था०४ ठा० १ उ०।

विषयसूचना—

(१) आज्ञानिक्षेपः ।
(२) आज्ञामनुचिन्तयेत् ।
(३) सदाऽऽज्ञाराधकः स्यात् ।
(४) परलोके आज्ञाया एव प्रामाण्यम् ।
(५) आज्ञया प्रवर्त्तमानोऽप्यप्रवर्त्तमानः ।
(६) अपुनर्बन्धकादिभ्या एव देयैषाऽऽज्ञा ।
(७) तीर्थकराऽऽज्ञाऽन्यथाकरणे दोषाः ।
(८) आज्ञाऽऽराधन-विराधने ।
(९) आज्ञाऽऽराधकत्वे वज्राऽऽचार्यः ।
(१०) आज्ञाभङ्गे प्रायश्चित्तम् ।
(११) आज्ञारहितस्य चारित्रमपि न भवति ।
(१२) आज्ञाव्यवहारः ।

(१) आज्ञाया निक्षेपः—

कडकरणं दव्वे सा-सणं तु दव्वे व दव्वओ आणा ।
दव्वनिमित्तं अहवयं, दुम्मि वि भावे इमं चेव ॥१८७॥

नोआगमतो द्रव्यशासनं व्यतिरिक्तं कृतकरणं; मुद्रा इत्यर्थः । आज्ञाऽपि द्रव्यतो नोआगमतो व्यतिरिक्ता सैव मुद्रा । अथवा-द्रव्यनिमित्तं-द्रव्योत्पादननिमित्तं यत् उभयं शासनम्--आज्ञा तद्द्रव्यशासनम्—सा द्रव्याज्ञा, द्वे अपि च शासनाऽऽज्ञे भवत इदमेवाध्ययनम् , किमुक्तं भवति—नोआगमतो भावशासनं भावाज्ञा च इदमेव कल्पाख्यमध्ययनं, तथाहि-य एतस्याऽऽज्ञां न करोति सोऽनेकानि मरणाऽऽदीनि प्राप्नोति । बृ० १ उ० २ प्रक० । दर्श० ।

(२) आज्ञामनुचिन्तयेत्—

सुनिउणमणाइणिहणं, भूयहियं भूयभावणमहग्घं ।
अमियमजियं महत्थं, महाणुभावं महाविसयं ॥ ४५ ॥

व्याख्या—सुष्ठु-अतीव निपुणा—कुशला सुनिपुणा ताम् , आज्ञामिति योगः. नैपुण्यं पुनः सूक्ष्मद्रव्याद्युपदर्शकत्वात्तथा मत्यादिप्रतिपादकत्वाच्च. उक्तं च-' सुयनाणंमि नेउणं, केवले तयणंतरं । अप्पणो सेसगाणं च, जम्हा तं परिभावगं ॥ १ ॥' इत्यादि , इत्थं सुनिपुणां ध्यायेत् , तथा ' अनाद्यनिधनाम् ' अनुत्पन्नशाश्वतामित्यर्थः , अनाद्यनिधनत्वं च द्रव्याद्यपेक्षयेति , उक्तं च-" द्रव्यार्थादेशादित्येषा द्वादशाङ्गी न कदाचिन्नासी " दित्यादि , तथा ' भूतहिता ' मिति इह भूतशब्देन प्राणिन उच्यन्ते तेषां हितां-पथ्यामिति भावः , हितत्वं पुनस्तदनुपरोधिनीत्वात्तथा हितकारिणीत्वाच्च, उक्तं च-' सर्वे जीवा न हन्तव्या ' इत्यादि, एतत्प्रभावाच्च भूयांसः सिद्धा इति, ' भूतभावनाम् ' इत्यत्र भूतं-सत्यं भाव्यतेऽनयेति भूतस्य वा भावना भूतभावना, अनेकान्तपरिच्छेदात्मिकेत्यर्थः , भूतानां वा-सत्त्वानां भावना भूतभावना, भावना वासनेत्यनर्थान्तरम् , उक्तं च-'कूराविसहावयं, रागविसवसाणुगावि होऊणं । भावियजिणवयणमणा, तेलुक्कसुहावहा होंति ॥ १ ॥' श्रूयन्ते च चिलातीपुत्रादय एवंविधा बहव इति, तथा ' अनर्घ्याम् ' इति सर्वोत्तमत्वादविद्यमानमूल्यामिति भावः , उक्तं च-" सव्वेऽवि य सिद्धंता, सद्दव्वरयणासया सतेलोक्का । जिणवयणस्स भगवओ, न मुल्लमित्तं अणग्घेणं ॥ १ ॥ " तथा स्तुतिकारेणाप्युक्तम्-" कल्पद्रुमः कल्पितमात्रदायी, चिन्तामणिश्चिन्तितमेव दत्ते । जिनेन्द्रधर्मातिशयं विचिन्त्य, द्वयेऽपि लोको लघुतामवैति ॥ १ ॥ " इत्यादि, अथवा ' ऋणघ्ना ' मित्यत्र ऋणं—कर्म तद्घ्नामिति, उक्तं च-" जं अन्नाणी कम्मं, खवेइ बहुयाहि वासकोडीहिं । तं नाणी तिहिँ गुत्तो, खवेइ ऊसासमित्तेणं ॥ १ ॥ " इत्यादि, तथा ' अमिताम् ' इत्यपरिमिताम् , उक्तं च-" सव्वनदीणं जा हो-ज्ज वालुया सव्वउदहीण जं उदयं । एत्तोवि अणंतगुणो, अत्थो एगस्स सुत्तस्स ॥ १ ॥ " अमृतां वा मृष्टां वा पथ्यां वा, तथा चोक्तम्-" जिणवयणमोदगस्स उ, रत्तिं च दिवा य खज्जमाणस्स । तित्तिं बुहो न गच्छइ, हेउसहस्सोवगूढस्स ॥१॥ नरनारयतिरियसुरगण-संसारियसव्वदुक्खरोगाणं । जिणवयणमेगमोसह-मपवग्गसुहक्खयं फलयं ॥ २ ॥" सजीवां वाऽमृतामुपपत्तिक्षमत्वेन सार्थिकामिति भावः, न तु यथा-' तेषां कटतटभ्रष्टै-र्गजानां मदबिन्दुभिः । प्रावर्तत नदी घोरा, हस्त्यश्वरथवाहिनी ॥ १ ॥' इत्यादिवन्मृतामिति, तथा 'अजिता' मिति शेषप्रवचनाज्ञाभिरपराजितामित्यर्थः, उक्तं च-'जीवाइवत्थुचिंतण-कोसल्ल--गुणेणऽण्णणसरिसेणं । सेसवयणेहिँ अजियं, जिणिंदवयणं महाविसयं ॥ १ ॥' तथा 'महार्था' मिति, महान्-प्रधानोऽर्थो यस्याः सा तथाविधा तां, तत्र पूर्वापराविरोधित्वादनुयोगद्वारात्मकत्वान्नयगर्भत्वाच्च प्रधानां, महत्स्थां वा अत्र महान्तः—सम्यग्दृष्टयो भव्या एवोच्यन्ते ततश्च महत्सु

Jain Education International   For Private & Personal Use Only   www.jainelibrary.org

स्थिता महत्स्था तां च; प्रधानप्राणिस्थितामित्यर्थः, महास्थां वेत्यत्र महापूजोच्यते तस्यां स्थिता महास्था तां, तथा चोक्तम्-' सव्वसुरासुरमाणुस-जोइसवंतरसुपूइयं णाणं । जेणेह गणहराणं, छुहंति चुण्णे सुरिंदावि ॥ १ ॥ ' तथा 'महानुभावा' मिति तत्र महान्-प्रधानः प्रभूतो वाऽनुभावः-सामर्थ्यादिलक्षणो यस्याः सा तथा तां, प्राधान्यं चास्याश्चतुर्दशपूर्वविदः सर्वलब्धिसम्पन्नत्वात्, प्रभूतत्वं च प्रभूतकार्यकरणाद्, उक्तं च-' पभू णं चोद्दसपुव्वी घडाओ घडसहस्सं करित्तए ' इत्यादि, एवमिहलोके, परत्र तु जघन्यतोऽपि वैमानिकोपपातः, उक्तं च-' उववाओ लंतगंमि, चोद्दसपुव्वीस्स होइ उ जहण्णो । उक्कोसो सव्वट्ठे, सिद्धिगमो वा अकम्मस्स ॥ १ ॥' तथा 'महाविषया' मिति महद्विषयत्वं तु सकलद्रव्यादिविषयत्वाद्, उक्तं च-'दव्वओ सुयनाणी उवउत्ते सव्वदव्वाइं जाणई'-त्यादि कृतं विस्तरेणेति गाथार्थः ।

झाइज्जा निरवज्जं, जिणाणमाणं जगप्पईवाणं ।
अणिउणजणदुन्नेयं, नयभंगपमाणगमगहणं ॥ ४६ ॥

व्याख्या-'ध्यायेत्' चिन्तयेदिति सर्वपदक्रिया, 'निरवद्या' मिति अवद्यं—पापमुच्यते निर्गतमवद्यं यस्याः सा तथा ताम्, अनृतादिद्वात्रिंशद्दोषावद्यरहितत्वात्, क्रियाविशेषणं वा, कथं ध्यायेत्?-निरवद्यम्-इहलोकाद्याशंसारहितमित्यर्थः, उक्तं च-' नो इहलोगट्ठयाए नो परलोगट्ठयाए नो परपरिभवओ अहं नाणी ' त्यादिकं निरवद्यं ध्यायेत्, 'जिनानां' प्राग्निरूपितशब्दार्थानाम् ' आज्ञां ' वचनलक्षणां कुशलकर्मण्याज्ञाप्यन्तेऽनया प्राणिन इत्याज्ञा तां, किंविशिष्टां ?-जिनानां-केवलालोकेनाशेषसंशयतिमिरनाशनाज्जगत्प्रदीपानामिति, आज्ञैव विशेष्यते-' अनिपुणजनदुर्ज्ञेयां ' न निपुणः अनिपुणः; अकुशल इत्यर्थः जनः—लोकस्तेन दुर्ज्ञेयामिति-दुरवगमां, तथा ' नयभङ्गप्रमाणगमगहनाम् ' इत्यत्र नयाश्च भङ्गाश्च प्रमाणानि च गमाश्चेति विग्रहस्तैर्गहना-गह्वरा तां, तत्र नैगमादयो नयास्ते चानेकभेदाः, तथा भङ्गाः क्रमस्थानभेदभिन्नाः, तत्र क्रमभङ्गा यथा एको जीव एक एवाजीव इत्यादि, स्थापना-स्थानभङ्गास्तु यथा प्रियधर्मा नामैकः, नो दृढधर्मेत्यादि, तथा प्रमीयते ज्ञेयमेभिरिति प्रमाणानि-द्रव्यादीनि, यथा-ऽनुयोगद्वारेषु गमाः-चतुर्विंशतिदण्डकादयः, कारणवशतो वा किञ्चिद्विसदृशाः सूत्रमार्गा यथा षड्जीवनिकाऽऽदाविति कृतं विस्तरेणेति गाथार्थः ॥

।ऽ	।ऽ
ऽ।	ऽ।
ऽऽ	ऽऽ

ननु, या एवंविशेषणविशिष्टा सा बोद्धुमपि न शक्यते मन्दधीभिः, आस्तां तावद्ध्यातुं, ततश्च यदि कथञ्चिन्नावबुध्यते तत्र का वार्तेत्यत आह—

तत्थ य मइदोब्बलेणं, तव्विहाऽऽयरियविरहओ वाऽवि ।
णेयगहणत्तणेण य, णाणावरणोदएणं च ॥ ४७ ॥

व्याख्या—' तत्र ' तस्यामाज्ञायां, चशब्दः प्रस्तुतप्रकरणानुकर्षणार्थः, किं ?-जडतया चलत्वेन वा मतिदौर्बल्येन-बुद्धेः; सम्यगर्थानवधारणेनेत्यर्थः, तथा ' तद्विधाचार्यविरहतोऽपि ' तत्र तद्विधः—सम्यगविपरीततत्त्वप्रतिपादनकुशलः आचर्यतेऽसावित्याचार्यः सूत्रार्थावगमार्थं मुमुक्षुभिरासेव्यत इत्यर्थः, तद्विधश्चासावाचार्यश्च तद्विधाचार्यः तद्विरहतः-तदभावतश्च, चशब्दः अबोधे द्वितीयकारणसमुच्चयार्थः, अपिशब्दः क्वचिदुभयवस्तूपपत्तिसम्भावनार्थः, तथा ' ज्ञेयगहनत्वेन च ' तत्र ज्ञायत इति ज्ञेयं-धर्मास्तिकायादि तद्गहनत्वेन-गह्वरत्वेन, चशब्दोऽबोध एव तृतीयकारणसमुच्चयार्थः, तथा ' ज्ञानावरणोदयेन च ' तत्र ज्ञानावरणं प्रसिद्धं तदुदयेन तत्काले तद्विपाकेन, चशब्दश्चतुर्थाबोधकारणसमुच्चयार्थः, अत्राह-ननु ज्ञानावरणोदयादेव मतिदौर्बल्यं तथा तद्विधाचार्यविरहो ज्ञेयगहनाप्रतिपत्तिश्च, ततश्च तदभिधाने न युक्तममीषामभिधानमिति, न, तत्कार्यस्यैव संक्षेपविस्तरत उपाधिभेदेनाभिधानादिति गाथार्थः ।

तथा—

हेऊदाहरणासं-भवे य सइ सुट्ठु जं न बुज्झेज्जा ।
सव्वण्णुमयमवितहं, तहावि तं चिंतए मइमं ॥ ४८ ॥

व्याख्या-तत्र हिनोति-गमयति जिज्ञासितधर्मविशिष्टानर्थानिति हेतुः-कारको व्यञ्जकश्च, उदाहरणं-चरितकल्पितभेदं, हेतुश्चोदाहरणं च हेतूदाहरणे तयोरसंभवः, कञ्चन पदार्थं प्रति हेतूदाहरणासम्भवात्, तस्मिंश्च, चशब्दः पञ्चमषष्ठकारणसमुच्चयार्थः, 'सति' विद्यमाने, किं ?-'यद्' वस्तुजातं ' न सुष्ठु बुध्येत ' नातीवावगच्छेत् ' सर्वज्ञमतमवितथं तथापि तच्चिन्तयेन्मतिमा ' निति तत्र सर्वज्ञाः-तीर्थकरास्तेषां मतं सर्वज्ञमतं-वचनं, किं ?-वितथम्-अनृतं न वितथम्-अवितथं; सत्यमित्यर्थः, ' तथापि ' तदबोधकारणे सत्यनवगच्छन्नपि ' तत् ' मतं वस्तु वा ' चिन्तयेत् ' पर्यालोचयेत् ' मतिमान् ' बुद्धिमानिति गाथार्थः ।

किमित्येतदेवमित्यत आह—

अणुवकयपराणुग्गह-परायणा जं जिणा जगप्पवरा ।
जियरागदोसमोहा, य णण्णहावादिणो तेणं ॥ ४९ ॥

आव० ४ अ० । दर्श० । (अस्या गाथाया व्याख्या ' जिण ' शब्दे चतुर्थे भागे १४६२ पृष्ठे वक्ष्यते ।)

(३) आज्ञाग्राहकेण च सदैव भवितव्यम्—

सयाऽऽणागाहगे सिया, सयाणाभावगे सिया, सयाणापरितंते सिया, आणा हि मोहविसपरममंतो, जलं रोसाइजलणस्स, कम्मवाहितिगिच्छासत्थं, कप्पपायवो सव्वफलस्स । (सूत्र-२+)

सदाज्ञाग्राहकः स्यात्, अध्ययनश्रवणाभ्याम्, आज्ञा—आगम उच्यते । सदाज्ञाभावकः स्यात्, अनुप्रेक्षाद्वारेण सदाज्ञापरतन्त्रः स्यादनुष्ठानं प्रति । किमेवमित्याह—आज्ञा हि मोहविषपरममन्त्रः तदपनयनेन । जलं, द्वेषादिज्वलनस्य, तद्विध्यापनेन । कर्मव्याधिचिकित्साशास्त्रं, तत्क्षयकारणत्वेन कल्पपादपः सर्वफलस्य, तदवन्ध्यसाधकत्वेन । पं० सू० २ सूत्र । (आज्ञाग्राह्यार्थस्याज्ञयैव व्याख्यानमिति ' वक्खाण ' शब्दे षष्ठभागे वक्ष्यते)

(यत्राऽऽज्ञा न स्खलति स एव गच्छः)—

जत्थ य उसभाऽऽदीणं, तित्थयराणं सुरिंदमहियाणं ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कम्मऽट्ठविप्पमुक्काणं, आणं न खलिज्जइ स गच्छो ।
महा० १ अ० ।

(मोक्षार्थिनाऽऽज्ञयैव सर्वत्र यतितव्यम् इति 'चेइय' शब्दे तृतीये भागे १२६८ पृष्ठे वक्ष्यते)

(आज्ञास्थितानामेव साधुत्वम्) तीर्थकराज्ञास्थितानेव स्वरूपत आह—

ते पुण समिया गुत्ता, पियदढधम्मा जिइंदियकसाया ।
गंभीरा धीमंता, पण्णवणिज्जा महासत्ता ॥ ४० ॥

व्याख्या-तीर्थकराज्ञास्थिताः, साधवः, पुनरिति विशेषणार्थः । समिताः समितिपञ्चकेन गुप्ता—गुप्तित्रयेण, प्रियः प्रीतिस्थानं दृढश्च स्थिरो विपत्स्वपि अविमोचनाद् धर्मः श्रुतचारित्रात्मको येषां ते प्रियदृढधर्माणः । जितेन्द्रियकषायाः-स्वकृतकरणकोपादिभावाः । गम्भीरा अलक्ष्यमाणहर्षदैन्यादिभावाः । गाम्भीर्यलक्षणं चेदम्—"यस्य प्रभावादाकाराः,क्रोधहर्षभयादिषु । भावेषु नोपलभ्यन्ते, तद् गाम्भीर्यमुदाहृतम् ॥ १ ॥" इति । धीमन्तो—बुद्धिमन्तः प्रज्ञापनीया-सुखावबोध्याः, महासत्त्वाः-अवैकल्ययाऽध्यवसायवन्तः । "आपत्सु अवैक्लव्यकरमध्यवसानकरं सत्त्वम्" इत्युक्तः. इति गाथार्थः ।

उस्सग्गववायाणं, वियाणगा सेवगा जहासत्ति ।
भावविसुद्धिसमेता, आणारुइणो य सम्मं ति ॥४१॥

व्याख्या-उत्सर्गापवादयोः—सामान्योक्तविशेषोक्तविध्योः, विज्ञायकाः-विज्ञाः, तथा सेवकाः-अनुष्ठानरताः, तयोरेव । यथाशक्ति-शक्त्यनिगूहनेन, भावविशुद्धिसमेताः-परिणामविशुद्धितान्विताः . आज्ञारुचयः-आगमबहुमानिनः, चशब्दः समुच्चये, सम्यग्-अविपरीततया, न पुनः स्वाग्रहानुसारेण, इतिशब्दः समाप्तौ इति गाथार्थः । पञ्चा० ११ विव० ।

(आज्ञासारमेव सम्यगनुष्ठानं साधुधर्मः)—

धम्मो पुण एसऽसिह, सम्माणुट्ठाणपालणारूवो ।
विहिपडिसेहजुयं तं, आणासारं मुणेयव्वं ॥ ८ ॥

व्याख्या-एष तावत्साधुकक्षो धर्मः पुनर्दुर्गतिगमनधारणस्वभावः एतस्य साधोः इह-साधुधर्मविचारे, सम्यक्-समीचीनं, यदनुष्ठानं-प्रत्युपेक्षणादिक्रिया, तस्य या अनुपालना-सेवा सम्यग् वा याऽनुष्ठानपालना सैव रूपं-स्वभावो यस्यासौ सम्यगनुष्ठानपालनारूपः, सम्यगनुष्ठानमेव किमुच्यते ?, इत्याह-विधिप्रतिषेधयुक्तं-ध्यानादिर्हिंसादिवर्जा-सेवापरिहारान्वितं, तत्सम्यगनुष्ठानम् आज्ञासारमाप्तवचनप्रधानम् 'मुणेयव्वं' ति-विज्ञेयम् । इति गाथार्थः । पञ्चा० ११ विव० ।

अथ कस्मादाज्ञासारमेव सम्यगनुष्ठानं साधुधर्म इत्युक्तमित्याशङ्क्याह—

आणारुइणो चरणं, आणाए च्चिय इमंति वयणाओ ।
एत्तोऽणाभोगम्मि वि, पण्णवणिज्जो इमो होइ ॥ १२ ॥

व्याख्या—आज्ञारुचेः-आप्तोपदेशाभिलाषयुक्तस्य । न त्व-(न्य) स्य चरणं चारित्रं भवतीति शब्दं, कुत एवं सिद्धमित्याह-'आणाए च्चिय' त्ति—आज्ञयैव—आप्तोपदेशेनैव; नाऽन्यथा, 'इदं चरणं भवती' ति वचनात्-आगमवाक्यात्, तथाहि-"आणाए च्चिय चरणं तब्भंगे जाण किं न भग्गं ति । आणं च अइक्कंतो, कस्साएसा कुणइ सेसं" ॥ १ ॥ अथाज्ञारुचेरप्यनाभोगाच्चरणविघातो भविष्यतीत्याशङ्क्याह-'एत्तो' त्ति-इतः अस्मादाज्ञारुचित्वात्प्रज्ञापनीयो भवतीति योगः । अनाभोगेऽपि-अज्ञानेऽपि अनाभोगजनिते; सदसत्प्रवृत्तावपीत्यर्थः । अनाभोगस्तस्य प्रायो न संभवतीति ख्यापनार्थोऽपिशब्दः । प्रज्ञापनीयः-सुखसंबोध्यः, अयमाज्ञारुचिः, भवति-स्यात्, ततश्चाज्ञारुचित्वात्प्रज्ञापनीयत्वेनाऽस्य चरणं भवतीत्याज्ञासारं तदुक्तम् । इति गाथार्थः । पञ्चा० ११ विव० ।

(४) परलोके चाऽऽज्ञाया एव प्रामाण्यम्—

आणा इत्थ पमाणं,विसेओ सव्वहा उ परलोए ॥१३८४+॥

आज्ञा अत्र प्रमाणं विज्ञेया, सर्वथैव परलोके । पं०व०४ द्वार।

धर्ममूलं चाऽऽज्ञैव—

आणामंगाउ च्चिय, धम्मो आणाए पडिबद्धो ॥ १८ ॥

आज्ञाभङ्गादेव-सर्वविदामागमोल्लङ्घनादेव । (दर्श०) धर्मः-द्रव्यस्तवरूपः आज्ञायाम्-आप्तवचने प्रतिबद्धः-नियमाद् वर्तते । दर्श० १ तत्त्व ।

आज्ञोल्लङ्घनेऽपि कथं धर्माऽभाव इत्याह—

तित्थगराणामूलं, नियमा धम्मस्स तीऍ वा घाए ।
किं धम्मो किमहम्मो, मूढा नेयं वियारिंति ॥ १९ ॥

तीर्थकराज्ञैव-सर्वविदुपदेश एव मूलं प्रथमारोहणरूपं नियमो-निश्चयो न धर्मस्य । महामहीसहस्याविकलसकलसुखफलसंसाधकस्य तस्याः तीर्थकरस्याज्ञाया विघाते-विनाशे किं धर्मः शुभस्वभावः सुखसंदोहसंपादको वा किम्, अथवा-धर्मः पुण्याभावस्वभावः सदा दौर्हृदसंदोहदुःखदानदुर्ललितः । मूढा-मिथ्यात्वमहामोहमोहितान्तःकरणा हिताऽहितविवेकविकला नेदं विचारयन्ति नेदं पर्यालोचयन्ति यदुत-सर्वविदुपदेशोल्लङ्घनेन स्वबुध्या सुन्दरमप्यनुष्ठानं विधीयमानं किं कर्माऽभावाय-कर्मबन्धाय भविष्यतीति गाथार्थः ।

तर्हि सत्पर्यालोचनेऽपि किं वृत्तमित्याह—

आराहणाए तीए, पुण्णं पावं विराहणाए उ ।
एयं धम्मरहस्सं, विएणेयं बुद्धिमंतेहिं ॥ २० ॥

आराधनया तस्याः-आज्ञायाः सर्वविदुपदेशस्य पुण्यं-शुभं सर्वज्ञाऽऽज्ञापालनजनितशुभभावकुशलानुष्ठायिनो हि शुभभावादेव शुभानुबन्धि पुण्यबन्धो भवत्येव, पापमशुभंचे-विराधनया सर्वविदाज्ञोल्लङ्घनेन, तुशब्दः पुनरर्थस्ततोऽयमर्थः-स यद्यपि स्वाग्रहवशाद्-गतानुगतप्रवाहदर्शनाद् बोधकुशलबुध्या धर्मादिष्वपि प्रवर्तते तथाऽपि जिनागमोक्तमार्गोल्लङ्घनजनितं पापमेव भवति, यतः-"धर्मार्थी खलु शुद्धबुद्धिविभवः सर्वत्र कृत्येषु वा, प्राणिप्राणविघातवर्जित सततं जैनेषु पूजादिषु । स्वाभिप्रायवशो गतानुगतिकप्रायप्रवाही सदा, दत्ते धर्मधियाऽपि पापमतुलं तीर्थाधिपाज्ञां विना ॥१॥" अन्यैरप्युक्तम्-"जिणआणाए कुणंताणं, नूणं निव्वाणसाहणं । सुंदरं पि सबुद्धीए, सव्वं भवनिबंधणं" ॥ १ ॥ एतद्धर्मरहस्यं-धर्मसर्वस्वं विज्ञेयम्-अवबोद्धव्यम् । बुद्धिमद्भिः-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हिताहितविवेकविकलैरिति गाथार्थः । दर्श० १ तत्त्व ।

(५) (आज्ञया प्रवर्त्तमानस्याऽप्रवर्त्तमानत्वम् सर्वज्ञवचन एवाज्ञायाः सर्वहितकारकत्वं च ।)—

आणा परतंतो सो , सा पुण सव्वण्णुवयणओ चेव ।
एगंतहिया वेज्जग-णातेणं सव्वजीवाणं ॥ १६ ॥

व्याख्या-आज्ञापरतन्त्रः-आप्तवचनाधीनः , स-प्रस्तुतसाधुः , सा पुनः-आज्ञा पुनः , सर्वज्ञवचनत्वादेव-आप्तप्रणीतत्वादेव , इह भावप्रत्ययो लुप्तो द्रष्टव्यः । एकान्तहिता-सर्वथोपकारिणी , वैद्यकज्ञातेन-आयुर्वेदोदाहरणेन , सर्वजीवानां विवक्षया-समस्ताङ्गिनां , यथा हि-वैद्यशास्त्रं नैकस्य कस्यचिदेवातुरस्य स्वस्थस्य वा वैद्यस्य तत्पुत्रस्य तदन्यस्य वा उपकारकम् , एवमाज्ञापि न केषांचिदेवोपकारिणी । इति गाथार्थः । पञ्चा० १४ विव० । पं० व० ।

(६) (आज्ञा वा पुनर्बन्धकातिरिक्तेभ्यो न प्रदेया)—

एसा आणा इह भगवओ समंतभद्दा तिकोडिपरिसुद्धीए अपुणबंधगाइगम्मा । एअप्पिअत्तं खलु इत्थ लिंगं ओचित्तपवित्तिविन्नेयं संवेगसाहगं निअमा । न एसाऽन्नेसिं देया । लिंगविवज्जयाओ तप्परिन्ना । तयणुग्गहट्ठयाए आमकुंभोदगनासनाएणं एसा करुणा त्ति वुच्चइ , एगंतपरिसुद्धा अविराहणाफला तिलोगनाहबहुमाणेणं निस्सेअसमाहिग त्ति । (सूत्र-५+) पं० सू० । (अस्य व्याख्या-' पवज्जा ' शब्दे पञ्चमभागे ७६० पृष्ठे वक्ष्यते)

आज्ञायां च प्रमादो न विधेयः—

लद्धूण माणुसत्तं, संजमसारं च दुल्लभं जीवा ।
आणाऍ पमाएणं, दुग्गइभयवड्ढणा होंति ॥ ६२ ॥

लब्ध्वा—प्राप्य मानुषत्वं, तथा संयम एव सारः-प्रधानं मोक्षाङ्गं तं च दुर्लभं-महावारिधिनिमग्नानर्घ्यरत्नमिव दुष्प्रापं लब्ध्वा ये जीवा भागवत्या आज्ञाया-विधिप्रतिषेधरूपाया प्रमादेन कालं गमयन्ति । ते ' दुर्गतिभयवर्धना भवन्ति '-आत्मनो देवादिदुर्गतिपरिभ्रमणजनितं भयं वर्द्धयन्तीति भावः । बृ० ३ उ० ।

(७) (तीर्थकराऽऽज्ञाया अन्यथाकरणे दोषः)—

तित्थगराणं आणा, सम्मं विहिणा उ होइ कायव्वा ।
तस्सऽन्नहा उ करणे, मोहादतिसंकिलेसो त्ति ॥ ६ ॥

व्याख्या-तीर्थकराणां-जिनानामाज्ञोपदेशः सम्यग्भावतः-विधिना तु—वक्ष्यमाणविधानेनैव भवति—स्यात् कर्त्तव्या, विधिविपर्ययदोषमाह-तस्या-जिनाज्ञाया अन्यथा तु करणेअविधिविधाने, पुनः कुत इत्याह-मोहाद्-अज्ञानात् , किमित्याह-अतिसंक्लेशम्-आत्यन्तिकं चित्तमालिन्यं भवति । पञ्चा० १५ विव० ।

(८) जिनाज्ञारहितस्य सुन्दरस्यापि स्वबुद्धिकल्पितस्य भवकारणत्वम् , यत उक्तम्—

" जिणआणाए कुणंताणं, नूणं निव्वाणकारणं ।
सुन्दरं पि सबुद्धीए, सव्वं भवनिबंधणं ॥१॥" दर्श० ३ तत्त्व ।

आज्ञाराधन-विराधनयोर्दोषगुणौ—

जह चेव उ मोक्खफला, आणा आराहिआ जिणिंदाणं ।
संसारदुक्खफलया , तह चेव विराहिया होइ ॥ ११६ ॥

व्याख्या-यथैव तु मोक्षफला भवतीति योगः, आज्ञा आराधिता-अखण्डिता सती जिनेन्द्राणां संबन्धिनीति । संसारदुःखफलदा तथैव च विराधिता-खण्डिता भवतीति गाथाऽर्थः । पं० व० १ द्वार ।

(आज्ञाराधकानाराधकौ तयोर्दोषाऽदोषौ वासाऽर्हमवासाऽर्हगच्छमधिकृत्योक्तम्)—

से भयवं ! किमेस वासेज्जा ?, गोयमा ! अत्थेगे जेणं वासेज्जा, अत्थेगे जेणं नो वासेज्जा । से भयवं ? केणं अट्ठेणं एवं वुच्चइ ? । जहा णं गोयमा ! अत्थेगे जेणं वासेज्जा, अत्थेगे जेणं नो वासज्जा । गोयमा ! अत्थेगे जेणं आणाएठिए । अत्थे(ट्ठे)गे जेणं आणाविराहगे । जेणं आणाठिए । से णं सम्मद्दंसणनाणचरित्ताराहगे, जेणं सम्मद्दंसणनाणचरित्ताराहगे से णं गोयमा ! अच्चंतविऊ सुपवरकडुच्छुए मोक्खमग्गे । जे य उण आणाविराहगे से णं अणंताणुबंधी कोहे माणे अणंताणुबंधी माणे से णं अणंताणुबंधी कइयावसेणं अणंताणुबंधी लोभे । जेणं अणंताणुबंधी कोहाइकसायचउक्के से णं घणरागदोसमोहमिच्छत्तपुंजे जेणं घणरागदोसमोहमिच्छत्तपुंजे से णं अणुत्तरघोरसंसारसमुद्दे । जेणं अणुत्तरघोरसंसारसमुद्दे से णं पुणो पुणो जंमे, पुणो पुणो जरा, पुणो पुणो मच्चू । जेणं पुणो पुणो जम्मजरामरणे से णं पुणो पुणो बहुभवंतरवत्ते । से णं पुणो पुणो चुलसीइजोणिलक्खमाहिंडणं । जेणं पुणो पुणो चुलसीइलक्खजोणिमाहिंडणं से णं पुणो पुणो सुदूसहे घोरतिमिसंऽधयारे रुहिरविलिविलेवसवसपूयवंतपित्तसिंभचिक्खिल्लदुग्गंधाऽसुइविलीणजंबालकेयकिट्टिसखरनपडिपुन्ने । अणिट्ठउव्वियणिज्जअइघोरचंडमहारोद्ददुक्खदारुणगब्भपरंपरापवेसे । जेणं पुणो पुणो दारुणो गब्भपरम्परापवेसे णं दुक्खो से णं केसे णं रोगायंके सेयं सेयं सेणं सोगसंतावुव्वेगे से णं अणणे वुत्ती जेणं अणणे वुत्ती से णं जहट्ठिमणोरहाणं असंपत्ती । से णं नोवपंचप्पयारअणंतरायकंमोदए जत्थ णं पंचोपयारअंतराकंमोदए तत्थ णं सव्वदुक्खाणं अग्गणीभूए पढमे ताव दरिद्दे जेणं दारिद्दे से णं अयसभक्खाणं अकित्तीकलंकरासीणं मेलावगामे । से णं सयलजणलज्जणिज्जनिंदणिज्जे गरहणिज्जे खिंसणिज्जे दुगुंछणिज्जे सव्वपरिभूए जीविए, जेणं सव्वपरिभूए जीविया से णं सम्मद्दंसणनाणचरित्ताइगुणेहिं सुदूरयरेणं विप्प-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुक्के चेव मणुयजंमे। अन्नहा वा सव्वपरिभूए चेव णं भवेज्जा।। जेणं सम्मद्दंसणनाणचारित्ताइगुणेहिं सुदूरयरेणं विप्पमुक्के चेव णिभवे। से णं अणिरुद्धा सदारत्ते चेव जेणं अणिरुद्धा सव्वचारित्ते चेव से णं बहूणं लघूणं पावकम्मायणे जेणं बहूण लघूण पावकंमागमे से णं बंधी से णं वंदी से णं गुत्ती स णं चारगे से णं सव्वमकल्लाणममंगलजाले । दुन्निमोक्खे कक्खडघणबद्धपुट्ठनिगाइयकंमगंठी जेणं कक्खडघणबद्धपुट्ठनिगाइयकंमगंठी से णं एगेंदियत्ताए बेइंदियत्ताए तेइंदियत्ताए चउरिंदियत्ताए पंचिंदियत्ताए नारयतिरिच्छकुमाणुसेसुं अणेगविहं सारीरमाणसं दुक्खमणुभवमाणं वेइयव्वे । एएणं अट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ—जहा अत्थेगे जेणं वालेज्जा से भयवं किमित्थ तेणं उच्छाइए केइ गच्छे भवेज्जा गोयमा ! जेणं से आणाविराहगे गच्छे भवेज्जा से णं निच्छयओ चेव मिच्छत्तेणं उच्छाइयगच्छे भवेज्जा । से भयवं ? कयराओ ण सा आणाजीविए गच्छे आराहगे भवेज्जा ?, गोयमा ! संखाइएहिं ठाणंतरेहिं गच्छे सं णं आणापन्नत्तीए ठिए गच्छे आराहगे भवेज्जा । से भयवं ? किं तेसिं संखातीताणं गच्छमेरा ठाणंतराणं । अत्थि केई अन्नयरे थाणंतरे णं जेणं उस्सग्गेण वा अववाएण वा कई वि पमायदोसेणं असई अइक्कमेज्जा अइक्कंतेणं वा आराहगे भवेज्जा ? । गोयमा ! णिच्छयओ नत्थि। से भयवं ? केणं अट्ठेणं एवं वुच्चइ जहा णं निच्छयओ नऽत्थि। गोयमा ! तित्थयरेणं ताव तित्थयरे तित्थं पुण चाउवन्ने समणसंघे से णं गच्छे सुपइट्ठिए गच्छेसु पुण सम्मद्दंसणनाणचरित्तपइट्ठिए ते य सम्मद्दंसणनाणचारित्ते परमपुज्जेणं परमपुज्जयरे। परमसरन्नाणं सरन्ने परमसच्चाणं सच्चयरे ताइं च जत्थ णं गच्छे अन्नयरे ठाणे कत्थइ विराहिज्जंति से णं गच्छे समग्गपणासए उम्मग्गदेसए जेणं गच्छे समग्गणासगे उम्मग्गदेसए से णं निच्छओ चेव अणाराहगे, एएणं अट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ जहा णं संखादीयाणं गच्छमेरा ठाणंतराणं जेणं गच्छे एगयरट्ठाणं अइक्कमेज्जा से णं एगंतेणं चेव अणाराहगे ।। महा० ५ अ० ।

(आज्ञाऽऽराधन-विराधनयोः फलं ' सुय' शब्दे सप्तम भाग वक्ष्यते) (भगवदाज्ञाराधनकृतसेवादोषा भगवदाज्ञाखण्डनकृतमेव दोषं च इति ' आहाकम्म ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे व्याख्यास्यते)

एगंते मिच्छत्तं, जिणाण आणा य होइऽणेगंता ।

एगं पि असद्दहाउ,मिच्छद्दिट्ठी जमालि व्व १२०२ ति०।

(सावद्याचार्यकथां 'सावज्जायरिय'शब्दे सप्तमे भागे कथयिष्यामि)

तित्थयरसमो सूरी, सुज्ज य कम्मठुमल्लपडिमल्ले ।
आणं अइक्कमंते, ते कापुरिसे न सप्पुरिसे ।।
भट्ठाऽऽयारो सूरी, भट्ठायाराणुसिक्खिओ सूरी ।
उम्मग्गट्ठिओ सूरी, तिन्नि वि मग्गं पणासेंति ।।
उम्मग्गट्ठिए सूरि-म्मि निच्छयं भव्वसत्तसंघाए ।
जम्हा तं मग्गमणु-सरंति तम्हा ण तं जुत्तं। महा० ६ अ०।

(कीदृशेन गणिना भाव्यमिति ' गणि ' शब्दे तृतीयभागे ८२३ पृष्ठे वक्ष्यते)

तम्हा गणिणं समस-त्तुमित्तपक्खेण परहियरएणं ।
कल्लाणकंखुणा अ-प्पणो वि आणा ण लंघेया ।।
महा० ६ अ० ।

(जिनस्याऽऽचार्यादेश्चाऽऽज्ञाया अतिक्रमे आराधकाऽनाराधकत्वं, वज्राऽऽचार्यदृष्टान्तश्च)—

से भयवं ! जइ णं गणिणो अच्चंतविसुद्धपरिणामस्स वि कइ दुस्सीले सच्छंदत्ताए जइ गारवत्ताएइ वा जायाइमयत्ताए वा आणं अइक्कमेज्जा से णं किमाराहगे भवेज्जा ?, गोयमा ! जे णं गुरुसमसत्तुमित्तपक्खो गुरुगुणेसु ठिए सयं सुत्ताणुसारेणं चेव विसुद्धासए विहरेज्जा तस्साऽऽणामइक्कंतेहिं णवणउएहिं चउहिं सएहिं साहूणं जहा तहा चेव अणाराहगे भवेज्जा । से भयवं ! कयरे णं ते पंचसए कविवज्जिए साहूणं जेहिं च णं तारिसगणोववेयस्स महाणुभागस्स गुरुणो आणं अइक्कमिय णाराहियं गोयमा ! णं इमाए चेव उसभे चउवीसगाए अतीताए तेवीसइमाए चउवीसगाए जाव णं परिनिव्वुडे चउवीसं इमे अरहा ताव णं अइक्कंतेणं केवइ णं कालेणं गुणनिप्फन्ने कमसेलमसुसूरणं महायसे महासत्ते महाणुभागे सुग्गहियनामधिज्जे "वइरे" णाम गच्छाहिवई भूए, तस्स णं पंचसयं गच्छं निग्गंथाइं विणा निग्गंथीहिं समं दो सहस्से अहेसिं ता गोयमा ! ताओ निग्गंथीओ अच्चंतपरलोगभीरुयाओ सुविसुद्धनिम्मलंतकरणाओ खंताओ दंताओ मुत्ताओ जिइंदियाओ अच्चंतभणिरीओ नियसरीरस्सवि य छकायवच्छलाओ जहोवइट्ठअच्चंतघोरवीरतवचरणसोसियसरीराओ जहा णं तित्थयरेणं पन्नवियं तहा चेव अदीणमणसाओ मायामयमहंकारममकार इतिहासखेडकंदप्पणादवायविप्पमुक्काओ तस्साऽऽयरियस्स सगासमन्नमणुचरंति । ते य साहुणा सव्वे वि गोयमा ! न तारिसे भणगे अहन्नया गोयमा ! ते साहुणो तं आयरियं भणंति जहा णं जइ भणियं च तुमं आणवेहिताणं अम्हेहिं तित्थयत्तं कारिया चंदप्पहसामियं वंदिया धम्मचक्कं गंतूण मा गच्छामो ताहे गोयमा ! अदीणमणसा अणुत्तालगंभीरमहुराए

भारतीए भणियं तेणाऽऽयरिएणं जहा इच्छायारेणं न कप्पइ तित्थयत्तं गंतुं सुविहियाणं ता ०जाव णं बोलेइ जत्तं ताव णं अहं तुम्हे चंदप्पहं वंदावेहामि, अन्नं च जत्ताए गएहिं असंजमे पडिज्जइ ,एएणं कारणेणं तित्थयत्ता पडिसेहिज्जइ। तओ तेहिं भणियं-जहा भयवं! केरिसओ णं तित्थयत्ताए गच्छमाणाणं असंजमो भवइ, सो पुण इच्छायारेणं विइज्जवारपरिसंउलावेज्जा बहुजणेणं वाउलगो भन्निहिसि ताहे गोयमा! चिंतियं तेणं आयरिएणं जहा णं मम वइक्कमिय निच्छयओ एए गच्छिहिंति तेणं तु मए समयं च उत्तरेहिं चयंति अह अन्नया सुबहुं मणसा संधारेउ णं चेव भणियं तेणं आयरिएणं-जहा णं तुब्भे किंचि वि सुत्तत्थं वियाणह णच्चियासु तारिसं तित्थजत्ताए गच्छमाणाणं असंजमं भवइ। तारिसं सयमेव वा वियाणेह किंचि एत्थ बहुविलंबिएणं अन्नं च चिंदियं तुम्हेहिं पि संसारसहावजीवाइपयत्थं तत्थं वा अहन्नया बहुउवाएहिं णं विणिवारितस्स वि तस्साऽऽयरियस्स मन्नए चेव। तं साहुणो णं कुट्ठणं कयं तेणं परिए तित्थयत्ताए तेसिं च गच्छमाणाणं कत्थइ णेसणं कत्थइ हरियकायसंघट्टणं कत्थइ बीयक्कमणं कत्थइ पिवीलियादीणं तसाणं संघट्टणं परितावणोद्दवणाइं संभवं कत्थइ वि इट्ठपडिक्कमणं कत्थइ ण कीरिए चेव वाउकाइयं सज्झायं कत्थइ ण संपडिलेहेज्जा मत्तभंडोवगरणस्स विहीए उभयकालं पेहपक्खेज्जा ण पडिलेहणपडणं किं बहुणा गोयमा! कित्तियं भन्निहियं अट्ठारसण्हं सीलंगसहस्साणं सत्तरस्स वि सहस्साणं संजमस्स दुवालसविहस्स णं सब्भितरबाहिरस्स तवस्स ०जाव णं खंताइ अहिंसालक्खणस्स वयस्स दसविहमहस्साऽणगारधम्मस्स जत्थेक्केक्कपयं चेव सुबहुएणं पि कालेणं थिरपडिचिएण दुवालसंगमहासुयक्खंधेणं बहुभंगसयं संघत्तणाए दुक्खनिरइयारं परिवालिऊणं। जे एयं च सव्वं जहा भणियं निरइयारमणुट्ठयंति एवं संभारिऊण चिंतियं तेण गच्छाहिवइणा जहा णं मे विप्परुक्खेणं ते दुट्ठसीसे सज्झं अणाभोगमविणएणं सुबहुं असंजमं काहेंति। तं च सव्वमपच्छंतियं होही। जओ णं हं तेसिं गुरू ताहं तेसिं पट्ठिए गंतूणं पडिजागरामि जणाहमित्थपए पायच्छित्तेणं णो संवज्जत्ति विथप्पिऊणं गओ सो आयरिओ तेसिं पट्ठीए ०जाव ण दिट्ठे तेणं असमंजसेणं गच्छमाणं ताहे गोयमा! सुमहुरमंजुलालावेणं भणियं तेणं गच्छाहिवइणा जह भो! भो! उत्तमकुलनिम्मलवंसविहूसणा! असुगयसुरगइमहासत्ता! साहूउ पाडिवन्नाणं पंचमहव्वयाहिया! तं णूणं महाभागाणं साहूणं साहुणीणं सत्तावीसं सहस्साइं थंडिलाणं सव्वदंसीहिं पन्नत्ताइं ते य सुओवउत्तेहिं विसोहिज्जंति ण उण अन्नोवउत्तेहिं ता किमेयं सुन्नासुन्नीए अणणोवउत्तेहिं गम्मइ इच्छायारेणं उवओगं देहि अन्नं इणमो सुत्तत्थं। किं तुम्हाणं वि समरिओ भवेज्जा। जं सारं सव्वपरमतत्ताणं जहा एगो वेदिये पाणी एगं सयमेव। हत्थेण वा पाएण वा अन्नयरेण वा सलागाइअहिगरणभूओ चरणजाएणं जेणं केइ संघट्टावेज्जा पासघट्टियं वा अपरं समणुजाणेज्जा से णं तकम्मं जया उदिण्णं भवेज्जा तया जहा उच्छुखंडाइं जंते तहा निपीडिज्जमाणो छम्मासेणं खवेज्जा, एवं गाढे दुवालसेहिं संवच्छरेहिं तं कम्मं वेदेज्जा, एवं आगाढपरियावणे वाससहस्सं, गाढपरियावणे दसवाससहस्सं, एवं आगाढकिलावणे वासलक्खं, गाढकिलावणे दसवासलक्खाइं, उद्दवणे वासकोडी. एवं तेइंदियाइसुं पि णेयं ता एवं च वियाणमाणो मा तुम्हे मुज्झह त्ति। एवं च गोयमा! सुत्ताणुसारेणं सारयंतस्सवि तस्साऽऽयरियस्स ते महापावकम्मे गमगमहल्लफलेणं हल्लाहलीभूएणं तं आयरियाणं असेसपावकम्मट्ठदुक्खविमोयगे णो बहुकम्मट्ठदुक्खविमोयगे णो बहु मन्नंति ताहे गोयमा! मुणियंतेणाऽऽयरिएणं जहा निच्छियओ उम्मग्गपट्ठिए सव्वपगारेहिं चेव इमे पावमई दुट्ठसीसे ता किमट्ठमहमिमेसिं पट्ठीए लल्लीवागरणं करेमाणो अणुगच्छमाणो य सुक्खाए गयजलाए णदीए उवुज्झए गच्छदसदुवारेहिं। अहयं तु ताबाऽऽयहियमेवाऽणुचिट्ठेमो किमज्झपक्खपणं सुगूहं तेणावि पुत्तपक्भरेणं थेवमवि किं वि परित्ताणं भवेज्जा अपरक्कमेणं चेव आगजुत्ततवसंजमाणुट्ठाणेणं भवोयही तरेयव्वो एस उण तित्थयराऽऽएसो, जहा-

" अप्पहियं कायव्वं, जइ सक्का परहियं च पयरेज्जा।
अत्तहिय-परहियाणं, अत्तहियं चेव कायव्वं ॥ १ ॥"

अन्नं च—

"जइ एते तवसंजम-किरियं अणुपालियं होंति तओ।
एएसिं ववसेयं, होइ जेहिं ण करेहिंति ॥ १ ॥"

तओ एएसिं चेव दुग्गइगमणमणुत्तरं हविज्जा। नवरं तहा वि मम गच्छो समप्पिओ गच्छाहिवई अहयं भणामि। अन्नं च जे तित्थयरेहिं भगवंतेहिं छत्तीसं आयरियगुणे समाइट्ठे। तेसिं तु अह यं एक्कमवि णाइक्कमामि। जइ वि पाणोवरमं भवेज्जा जं वाऽऽगमे इहपरलोगविरुद्धं तं णाऽऽयरामि, ण कारयामि, न कज्जमाणं समणुजाणामि। तमेरिसगुणजुत्तस्सऽवि जइ भणियं ण करेंति ताहमिमेसिं वेसग्गहणा उद्दालेमि एवं समए पन्नत्ती, जहा जे केई साहू

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साहुणी वा वायामित्ते णो वि असंजममणुचेट्ठेज्जा। से णं सारेज्जा से णं सारिज्जंते वा वारिज्जंते वा चोइज्जंते वा पडिचोइज्जंते वा। जस्स तं वयणमवमन्निय कज्जाइमाणे वा अभिनिविट्ठेइ वा तह त्ति पडिवज्ज इत्थं पउंजित्ताणं तत्थ आणापडिक्कमेज्जा से णं तस्स वेसग्गहणं उद्दालेज्जा। एवं तु आगमुत्तणाएणं गोयमा! जाव तेणायरिए एगस्स सेहस्स वेसग्गहणं उद्दालियं ताव णं अवसेसे विदिसो दिसिं पणट्ठे ताहे गोयमा! सो आयरिओ सणियं सणियं तेसिं पट्ठिए जातुमारद्धो णो णं तुरियं तुरियं से भयवं किमट्ठं तुरियं तुरियं णो पयाइ, गोयमा! खाराए भूमीए जा महुरं संकमेज्जा महुराए खारं किण्हाए पीयं पीयाओ किण्हं जलाउ थलं थलाओ जलं संकमेज्जा। तेणं विहीए पाए पमज्जिज्ज संकामियव्वं णो पमज्जेज्जा तओ दुवालससंवच्छरियपच्छित्तं भवेज्जा एएणमट्ठेणं। गोयमा! सो आयरिओ ण तुरियं तुरियं गच्छं अहन्नया सुयाउत्तविहीए थंडिलजलसंकमणं करेमाणस्स णं गोयमा! तस्सायरियस्स आगओ बहुवासरखुहापरिगयसरीरे वियडदाढविकरालयं तं भासुरोपलयकालमिथघोररूवो केसरी। भणियं च तेण महाणुभागेणं गच्छाहिवइणा जहा जेयं दुग्गं गच्छेज्जा इमस्स णवरं दुग्गं गच्छमाणेणं असंजमं तत्र सरीरवोच्छेयं च असंजमपवचणं ति चिंतिऊण विहीए उवट्ठियस्स सहसा जमुद्दालियं वेसग्गहणं तं दाऊण ठिओ णिप्पडिकम्मपायपोवगमणाणं से एण सो विसोही तहेव अहऽन्नया अच्चंतविसुद्धंतकरणे पंचमंगलायारे सुहज्झवसायत्ताए दुविधगोयमवाईए तेण सीहेणं अंतगडे केवली जाए। अट्ठप्पयारमलकलंकविप्पमुक्के सिद्धे य ते पुण गोयमा! एकूणे पंचसए साहूणं तक्कम्मदोसेणं जं दुक्खमणुभवमाणे चिट्ठंति जं वाऽणुभूयं जं वाऽणुभविहिंति अणंतसंसारसागरं परिभमंते तं कालं केवलियं अणंतेणं भणिउं समत्थो। एते गोयमा! एगूणे पंचसए साहूणं जहिं च णं तारिसगुणोववेयस्स णं महाणुभागस्स गुरुणो आणं अइक्कमिय णो आराहियं अणंतसंसारियं जाए, से भयवं! किं तित्थयरसंतियं आणं णाइक्कमेज्जा, उयाहु आयरियसंतियं?, गोयमा! चउव्विहा आयरिया भवंति, तं जहा-नामाऽऽयरिया, ठवणाऽऽयरिया, दव्वाऽऽयरिया, भावाऽऽयरिया, तत्थ णं जे ते भावायरिया ते तित्थयरसमा चेव दट्ठव्वा, तेसिं संतियाऽऽणं णाइक्कमेज्जा। महा० ४ अ०।

(आज्ञाभङ्गे दण्डो यथा)—

तित्थकरआणा य एसा अणुपालियव्व त्ति जहा रण्णो अप्पणो रज्जे जं माणं प्रतिष्ठापितं जा ततो माणतो अतिरेगभूयाणं वा करति सो अवराही डंडिज्जति, एवं जो तित्थकराणं आणं कोवेत्ति सो दीहसंसारी (१८६ गाथाचूर्णिः) नि० चू० २० उ०। व्य० १ उ० २ प्रक० २२० गाथाटी०। "तंमि य आणाभंगे चउगुरुयं पच्छित्तं ति"। नि० चू० ५ उ० ६४ गाथा।

(१०) (प्रलम्बग्रहणमधिकृत्य)—भगवता प्रतिषिद्धं यत्प्रलम्बं-न कल्पते तद्ग्रहणं कुर्वता भगवतामाज्ञाभङ्गः कृतो भवति, तस्मिंश्चाज्ञाभङ्गे चतुर्गुरुकाः।

अत्र परः प्राह—

अवराहे लहुगतरो, आणाभंगम्मि गुरुतरो किह णु।
आणाए च्चिय चरणं, तब्भंगे किं न भग्गं तु ॥११८॥

अपराधे-चारित्रातिचारे लघुतरो दण्डो भवद्भिः पूर्वं भणितः, तथाहि—अचित्ते प्रलम्बे मासलघु, इह पुनराज्ञाभङ्गे चतुर्गुरुकामिति गुरुतरो दण्डः, कथं-कस्मात् तुरिति वितर्के, अपि च-अपराधे जीवोपघातो दृश्यते, तेन तत्र गुरुतरो दण्डो युक्तियुक्तः, आज्ञायां पुनर्नास्ति जीवोपघात इति लघुतर एवात्र भणितुमुचित इति। आचार्यः आह-आज्ञायामेव भागवत्यां चरणं-चारित्रं व्यवस्थितम्; अतस्तद्भङ्गे-तस्या आज्ञाया भङ्गे किं तन्मूलं उत्तरगुणादिकं वस्तु न भग्नम्; अपि तु सर्वमपि भग्नमिति, अनाज्ञायां गुरुतरो दण्डः।

उच्यते अस्यैवाचार्यस्य प्रसाधनार्थं दृष्टान्तमाह—

सोऊण य घोसणयं, अपरिहरंता विणासँ जह पत्ता।
एवं अपरिहरंता, हियसव्वस्साउ संसारे ॥ ११९ ॥

राज्ञा कारितां घोषणां श्रुत्वा घोषणायां च निवारितमर्थमपरिहरन्तो यथा द्रव्यापहारलक्षणं विनाशं प्राप्ता एवं तीर्थकरनिषिद्धं प्रलम्बग्रहणमपरिहरन्तो हृतसर्वस्वाः-अपहृतसंयमरूपसर्वसाराः संसारे दुःखमवाप्नुवन्ति एषा "भद्रबाहुस्वामि" विरचिता गाथा।

अथाऽस्या एवं भाष्यकारो व्याख्यानं करोति—

छप्पुरिसा मज्झपुरे, जो आसादेज्ज ते आजावो।
तं दंडेमि अकंडे, सुणे तु पुरओ जणवया य ॥ १२० ॥
आभामिय परिहरंता, निद्दोसा सेसगा न निद्दोसा।
जिणआणागमचारी, अदोस इयरे भवे दंडो ॥१२१॥

"जहा केइ नरवई सो छहिं पुरिसेहिं अन्नतरे कज्जे तोसितो इमेणऽत्थेण घोसणं करेइ-इमे छप्पुरिसा। मज्झपुरि अप्पणो इच्छाए विहरमाणा महाजणेणं अदिट्ठपुव्वा अणुवलद्धविभवत्था अच्छंति। जो ते छिवइ वा पीडेइ वा मारेइ वा तस्स उग्गं दंडं करेमि, एअं घोसणत्थं सोऊण ते पउरजणवया य दंडभीया ते पुरिसे पयत्तेण वज्जणवाईहिं विधेहिं आगमिऊण पीडापरिहारकयबुद्धी तेसिं छण्हं पुरिसाणं पीडं परिहरंति ते निद्दोसा। जे पुण अणायारमंता न परिहरंति घोसस्साऽवराहदंडेण दंडिया। एस दिट्ठंतो। अयमत्थोवणओ—रायत्थाणीया तित्थयरा, पुरत्थाणीओ लोगो, छप्पुरिसत्थाणीया छक्काया, घोसणाथाणीया छक्कायरक्खणपरूवणपरा छज्जीवणियादओ आगमा, विवक्खाइत्था-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

णीया संघट्टणादी, पउरजणवयत्थाणीया साहू. दंडत्थाऽऽणीओ संसारो, तत्थ जे पयत्तेण छण्हं कायाणं सरूवं रक्खणे वायं च आगमेऊण जहुत्तविहीए पीडं परिहरंति ते कम्मबंधदंडेणं न दंडिज्जंति, इयरे पुण संसारे पुणो पुणो सारीरमाणसेहिं दुक्खलयसहस्सेहिं दंडिज्जंति त्ति ।

अथाऽक्षरगमनिका-षट्पुरुषा मम पुरे वर्तन्ते यस्तानजानन्नपि आशातयेत् तमहं दण्डयाम्यकाण्डे-अकाले श्रृण्वन्तु एतत्पौराः—पुरवासिनो जनपदाश्च—ग्रामवासिनो लोका, इति, राज्ञा कारितां घोषणां श्रुत्वा तान् पुरुषानामस्योपलक्ष्य परिहरन्तः सन्तो निर्दोषाः शेषाः पुनर्ये पीडां न परिहरन्ति ते न निर्दोषा इति दण्डिताः । एवमत्रापि जिनाज्ञया यः षट्कायानामागमः—परिज्ञानं तत्पूर्वकचारित्रः—संयमाध्वगामिनः सन्तोऽदोषाः, इतरेषां भव-संसार शारीरमानसिकदुःखलक्षणो दण्डः । गतमाज्ञाद्वारम् । बृ० १ उ० २ प्रक० । नि० चू० ।

(अपराधपदमधिकृत्याऽपि उक्तम्)—

अपराधपदं वर्तमानस्तीर्थंकृतामाज्ञाभङ्गं करोति तत्र चतुर्गुरुरिति । बृ० १ उ० २ प्रक० ।

अत्र नोदकः प्राह—

अवराहे लहुगयरो, किं णु हु आणाए गुरुतरो दंडो ।
आणाए चिय चरणं, तब्भंगे किं न भग्गं तु ॥२५१॥

जघन्यके अपरिगृहीते वा तिष्ठति प्राजापत्यपरिगृहीते जघन्यमसंनिहितमदृष्टं प्रतिसेवितं उभयत्रापि चतुर्लघु, एवं स्थानतः प्रतिसेवनेन यश्चापराधे लघुकतरो दण्ड उक्त आज्ञाभङ्गे चतुर्गुरुकमित्यतः 'किमि' ति परिप्रश्ने, 'नुरि' ति वितर्के, 'हुरि' ति गुर्वामन्त्रणे, किमेवं भगवदाज्ञायां भग्नायां गुरुतरो दण्डो दीयते । सूरिराह-आज्ञयैव चरणं व्यवस्थितं तस्य भङ्गे कृते सति किं न भग्नं; चरणस्य सर्वमपि भग्नमेवेति भावः । अपि च-लौकिका अप्याज्ञाभङ्गे गुरुतरं दण्डं प्रवर्त्तयन्ति ।

तथा चाऽत्र पूर्वोद्दिष्टं मौर्यदृष्टान्तमाह—

भत्तमदाणमडंते, अणवट्ठाणं अंबच्छेत्तु वंसवती ।
गविसणपहदरिसिए, पुरिसवइग्गालडहणं च ॥ २५२ ॥

"पाडलिपुत्ते नयरे चंदगुत्तो राया, सो य मोरपोसगपुत्तो त्ति जे खत्तिया अभिजाणंति ते तस्स आणं परिभवंति । चाणक्कस्स चिंता जाया, आणाहीणो केरिसो राया । तम्हा जम्हा एयस्स आणाभिक्खा भवइ तहा करेमि त्ति तस्स य चाणक्कस्स कप्पडियत्ते भिक्खं अडंतस्स एगंमि गामे भत्तं न लद्धं तत्थ य गामे बहुअं वा, वं सा य अत्थि । तेउं तस्स गामस्स पडिनिविट्ठेणं आणाढवणानिमित्तं इमेरिसो लेहो पेसिओ-आम्रान् छित्वा वंशानां वृत्तिः शीघ्रं कार्यते तहिं गामेगेहिं दुल्लिहियं ति काउं वंसे छेत्तुं अंबाण वई कया गवेसावियं चाणक्केणे किकयं तओ तत्थागंतूण उवालद्धा भे गामेयगा एते वंसगा रोहगादिसु उवउज्जंति कीस भे छिन्ना दंसियं लेहचीरियं अत्र संदिट्ठं. अन्नं चेव करेह त्ति. तओ पुरिसेहिं अधोसिरेहिं वयं काउं सो गामो सव्वो दड्ढो ।

अथ गाथाऽक्षरगमनिका—चाणक्यस्य भिक्षामटनः क्वापि ग्रामे भक्तस्यादानं; भिक्षा न लब्धेत्यर्थः । तत आज्ञास्थापनानिमित्तमयं लेखः प्रेषितः-'अम्बं छेत्तु वंसवइं' त्ति आम्रान् छित्त्वा वंशानां वृत्तिः कर्तव्या ततो गवेषणे कृते ग्रामेण च पथिदर्शिते अन्यदादिष्टं मया, अन्यदेव च भवद्भिः कृतमित्युपालभ्य तैः पुरुषैः वृत्तिं कारयित्वा सबालवृद्धस्य ग्रामस्य दहनं कृतम् । एष दृष्टान्तः ।

अर्थोपनयस्त्वेवम्—

एगमरणं तु लोए, आणतिअ उत्तरे अणंताइं ।
अवराहरक्खणट्ठा, तेणाऽऽणा उत्तरे बलिया ॥२५३॥

लोके आज्ञाया अतिचारे-अतिक्रमे एकमेव मरणमवाप्यते, लोकोत्तरे पुनराज्ञाया अतिचारे अनन्तानि जन्ममरणानि प्राप्यन्ते तेन कारणेन अपराधरक्षणार्थं लोकोत्तरे आज्ञा बलीयसी । बृ० १ उ० ३ प्रक० । (आज्ञाभङ्गे सति दण्डे दृष्टान्तः ' असज्झाइय ' शब्दे प्रथमभागे ८२७ पृष्ठे गतः)

(आज्ञाभङ्गस्य दुःखकारणत्वम्)—

ता जत्थ दुक्खविक्खिरणं, एगंतसुहपावणं ।
सा आणा नो खंडेज्जा, आणाभंगे कओ ? सुहो ॥ १ ॥ महा० ४ अ०

(११) (आज्ञारहितस्य चारित्रमपि न भवति)—

दुप्पसहं तं चरणं, जं भणियं भगवया इहं खेत्ते ।
आणाजुत्ताणमिणं, न होइ अहुणो त्ति वामोहो ॥५७॥

दर्श० ४ तत्त्व । (गाथार्थः ' दुप्पसह ' शब्दे चतुर्थभागे दर्शयिष्यते)

(तीर्थकराऽऽज्ञानिन्दकस्य निन्दा)—

प्रतिक्षणोत्पादविनाशयोगि ,
स्थिरैकमध्यक्षमपीक्षमाणः ।
जिन ! त्वदाज्ञामवमन्यते यः ,
स वातकी नाथ ! पिशाचकी वा ॥ २१ ॥

त्वदाज्ञा आ-सामस्त्येनानन्तधर्मविशिष्टतया ज्ञायन्तेऽवबुध्यन्ते जीवादयः पदार्था यया सा आज्ञा-आगमः; शासनं तवाऽऽज्ञा त्वदाज्ञा तां त्वदाज्ञां) भवत्प्रणीत"स्याद्वादमुद्रां," यः-कश्चिदविवेकी अवमन्यते-अवजानाति (जात्यपेक्षमेकवचनमवज्ञया वा) स पुरुषपशुः वातकी, पिशाचकी वा । स्या० । (' अस्य विशेषतः व्याख्यानम् ' अणेगंतवाय ' शब्दे प्रथमभागे ४२५ पृष्ठे गतम् ।) (तीर्थकराऽऽज्ञारहितधर्मस्य फलाऽफलत्वविचारः ' आणाखण्डण ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते)

(जिनाऽऽज्ञास्थित्यवधिश्च)—

से भयवं ! केवइयं कालं जाव एस आणा पवेइया?, गोयमा ! जाव णं महायसे महासत्ते महाणुभागे सिरिप्पभे अणगारे । से भयवं ! केवइएणं कालेणं से सिरिप्पभे अणगारे भवेज्जा । गोयमा ! ? होही दुरंतपंतलक्खणे अदव्वे रोद्दे चंडे उग्गे पयंडदंडे निम्मेरे निक्किवे निग्घिणे नित्तिंसे कूरयरपावमई अणारिए मिच्छदिट्ठी "कक्की" नाम रायाणो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(ख) से णं पावे पाहुडियं भमाडिउकामे सिरिसमणसंघं कयत्थेज्जा जाव णं कयत्थे ताव णं गोयमा! जे केइ तत्थ सलिद्धी महाणुभागो अवलियसत्ते तवोवहाणे अणगारे। तेसिं च पाडिहेरियं कुज्जा सोहम्मे कुलिसपाणी एरावणगामी सुरवरिंदे एवं च गोयमा! देविंदवंदिए दिट्ठपच्चए णं सिरिसमणसंघेज्जा खिट्ठिज्जा कुणए पासंडधम्मे ०जाव णं गोयमा! एगे अविइज्जे। अहिंसालक्खणं खंतादिदसविहधम्मे। एगे अरहा देवाहिदेवे एगे जिणालये एगे वंदे पूए दक्खे सक्कारे संमाणे महाजसे महासत्ते महाणुभागे दढसीलव्वयनियमधारए तवोवहाणे साहु तत्थ णं चंदमिव सोमलेसे सूरिए इव तवतेयरासी पुढवी इव परिसहोवसग्गसहे मेरुमंदरधरे इव निप्पकंपे ठिए अहिंसालक्खणखंतादिदसविहे धम्मे। से णं सुसमणगणपरिवुडे । निरब्भगयणामलकोमुइजोगजुत्ते इव गहरिक्खपरिवारिए गहवई चंदे अहिययरं विराहेज्जा गोयमा! से णं सिरिप्पभे। अणगारे भो गोयमा! एवतियं कालं ०जाव एसा आणा पवेइया से भयवं उड्ढं पुच्छा गोयमा! तओ परेणं उड्ढं हायमाणे कालसमये तत्थ णं जे केई छक्कायसमारंभविवज्जए। से णं धन्ने पुन्ने वंदे पूए पसंसणिज्जे। जीवियं सुजीवियं तेसिं। महा० ४ अ०।

(१२) आज्ञाव्यवहारः—

आज्ञायते-आदिश्यते इत्याज्ञा । व्यवहारभेदे , स्था० ५ ठा० २ उ० । भ० । व्य० । पञ्चा० । दशान्तरस्थितयोर्द्वयोर्गीतार्थयोर्गूढपदैरालोचनातिचारनिवेदनम्-आज्ञाव्यवहारः, एतदुक्तं भवति-यदा द्वावप्याचार्यावासेवितसूत्रार्थतयाऽतिगीतार्थौ क्षीणजङ्घाबलौ विहारक्रमानुरोधतो दूरतरदेशान्तरव्यवस्थितावत एव परस्य समीपे गन्तुमसमर्थावभूतां तदाऽन्यतरप्रायश्चित्ते समापतिते सति तथाविधयोग्यगीतार्थशिष्याऽभावे मतिधारणाकुशलमगीतार्थमपि शिष्यं समयभाषया गूढार्थान्यतिचारासेवनपदानि कथयित्वा प्रेषयति, तेन च गत्वा गूढपदेषु कथितेषु स आचार्यो द्रव्यक्षेत्रकालभावसंहननधृतिबलादिकं परिभाव्य स्वयं च तत्राऽऽगमनं करोति, शिष्यं वा तथाविधं योग्यं गीतार्थं प्रज्ञाप्य प्रेषयति। तदभावे तस्यैव प्रेषितस्य गूढार्थमतिचारशुद्धिं कथयतीति। प्रव० १२६ द्वार। व्य०।

(तथा च)—

पढमस्स य कज्जस्स य, पढमेण पएण सेवियं जं तु।
पढमे छक्के अब्भिं-तरं उ पढमं भवे ठाणं ॥ १ ॥

अत्र प्रथमं कार्यं दर्पः , तत्र प्रथमं पदं दर्शननिमित्तं प्रथमं षट्कं व्रतषट्कं तत्राभ्यन्तरम्-अन्तर्गतं प्रथमस्थानं प्राणातिपातः।

पढमस्स य कज्जस्स य, पढमेण पएण सेवियं जं तु।
पढमे छक्के अब्भिं-तरं तु बीयं भवे ठाणं ॥ २ ॥

अत्र द्वितीयं स्थानं मृषावादः, एवमदत्तादानादिष्वपि भावनीयम्।

पढमस्स य कज्जस्स य, पढमेण पएण सेवियं जं तु।
बिइए छक्के अब्भिं-तरं तु पढमं भवे ठाणं ॥ ३ ॥

अत्र द्वितीयं षट्कं कायषट्कमित्यादि। एवं तेन कथितेन आचार्यो द्रव्यक्षेत्रकालभावसंहननधृतिबलादिकं परिभाव्य स्वयं वा गमनं करोति। शिष्यं वा तथाविधं योग्यं गीतार्थं प्रज्ञाप्य प्रेषयति, तदभावे तस्यैव प्रेषितस्य गूढार्थमतिचारविशुद्धिं कथयति। व्य० १ उ०।

आणाए ववहारं, सुण वच्छ जहक्कमं वुच्छं ॥ ६०९ ॥

आज्ञया व्यवहारं यथाक्रमं यथा वक्ष्ये तं च वक्ष्यमाणं वत्स ! शृणु।

समणस्स उत्तमट्ठे, सल्लुद्धरणकरणे अभिमुहस्स।
दूरत्था जत्थ भवे, छत्तीसगुणा उ आयरिया ॥६१०॥

श्रमणस्य उत्तमार्थे-भक्तप्रत्याख्याने व्यवसितस्य यत्किमपि सत्यमनुद्धृतमस्ति तदुद्धरणकरणे अभिमुखस्य। 'दूरत्था जत्थ भवे छत्तीसगुण' त्ति-यत्र प्रायश्चित्तव्यवहारे षट्त्रिंशद्गुणा आचार्या दूरस्था भवेयुस्तत्राऽऽज्ञया व्यवहारः।

कथमित्याह—

अपरक्कमो सि जाओ, गंतुं जे कारणं च उप्पन्नं।
अट्ठारसमन्नयरे, वसणगतो इच्छिमो आणं ॥ ६११ ॥

स आलोचयितुकामश्चिन्तयति-सांप्रतमहमपराक्रमो जातोऽस्मि ततस्तेषां समीपं गन्तुं न शक्नोमि। कारणं च मम तत्राभिगमननिमित्तं समुत्पन्नम्। यतोऽष्टादशानां व्रतषट्कादीनाम् अन्यतरस्मिन्नतीचारे व्यसनगतः-पतितस्तस्मादिच्छाम्याज्ञाव्यवहारमिति।

एतदेव सविशेषं भावयति—

अपरक्कमो तवस्सी, गंतुं जो सोहिकारगसमीवं।
आगंतुं न वाएई, सो सोहिकरो वि देसाउ ॥ ६१२ ॥

सः-आलोचयितुकामस्तपस्वी शोधिकारकसमीपे गन्तुम् अपराक्रमो यस्य शोधिः कर्त्तव्या सोऽपि देशादालोचयितुं समीपमागन्तुं न शक्नोति।

अह पट्ठवेइ सीसं, देसंतरगमणनट्ठचेट्ठागो।
इच्छामज्जो काउं, सोहिं तुब्भं सगासम्मि ॥ ६१३ ॥

अथ—अनन्तरमालोचयितुकामो देशान्तरगमननष्टचेष्टक आलोचनाऽऽचार्यस्य समीपे शिष्यम्, आर्य! युष्माकं सकाशे शोधिं कर्तुमिच्छामीत्येतत्कथयित्वा प्रेषयति।

सो वि अपरक्कमग-सीसं पेसेइ धारणाकुसलं।
एयस्स दाणि पुरओ, करेहि सोहिं जहावत्तं ॥ ६१४ ॥

सोऽपि आलोचनाऽऽचार्योऽपराक्रमगतिर्न विद्यते पराक्रमो गतौ यस्येति विग्रहः। शिष्यं धारणाकुशलं प्रेषयति। यस्त्वालोचयितुकामेन प्रेषितस्तस्य संदेशं कथयति, त्वमिदानीमेतस्य पुरतो यथावृत्तं शोधिं कुरु।

अपरक्कमो अ सीसं, आणापरिणामगं परिच्छेज्जा।
रुक्खे य बीयकाए, सुत्ते वा मोहणाधारी ॥ ६१५ ॥

सः-आलोचनाचार्योऽपराक्रमः शिष्यमाज्ञापरिणामकं परीक्षेत; किमेष आज्ञापरिणामकः, किं वा नेति ? । आज्ञापरीणामको नाम-यत् आज्ञाप्यते तत्कारणं न पृच्छति "किमर्थमेतदिति" किंत्वाज्ञया एव कर्त्तव्यतया श्रद्दधाति, यदत्र कारणं तत्पूज्या एव जानन्ति एवं यः परिणामयति स आज्ञापरीणामकस्तत्परीक्षा च वृक्षे बीजकाये च वक्ष्यमाणरीत्या कर्त्तव्या । आज्ञापरिणामित्वं परीक्ष्य; पुनरिदं परीक्षणीयं यथा किमेषोऽवग्रहणे समर्थो धारणासमर्थश्च किं वा नेति । तत्राध्ययनादिपरीक्षया सूत्रे चशब्दात्-अर्थे वा अमोहनं-मोहरहितं समस्तम् आ-समन्ताद्धारयतीत्येवं शीलः अमोहधारी तं परीक्षेत ।

तत्र वृक्षेणाऽऽज्ञापरिणामित्वपरीक्षामाह—

दट्ठुमहं ते भक्खो, गणिओ रुक्खो विलग्गिउं डेव ।
अपरिणयं नेति तहिं, न वट्टइ रुक्खे वि आरोढुं ॥६१६॥
किं वा मारेयव्वो, अहियंतो वेह रुक्खओ डेव ।
अतिपरिणामो भणति, इय हेऊ अम्ह वेसिच्छा ॥६१७॥

दृष्ट्वा महतो महीरुहान् गणिकः-आचार्यो ब्रूते-अस्मिन्नुच्चैस्त्वेन तालप्रमाणे वृक्षे विलग्य तत आत्मानं (डिप) क्षिप्रपातं कुर्वित्यर्थः, एवमुक्ते तत्र-आज्ञापरिणामको ब्रूते-न वर्त्तते वृक्षे विलगितुं साधोः सचित्तत्वाद्वृक्षस्य प्रपाते च कुर्वन् आत्मविराधना भवति । सा च भगवता निषिद्धा, किंतु-अमुनोपायेन मारयितव्योऽभिप्रेतो ब्रूथ वृक्षादात्मानं डेपति । अतिपरिणामकः पुनरिदं भणति-इत्येव भवतु, करोमि प्रपातमिति भावः अस्माकमप्येषा इच्छा वर्त्तते ।

वेइ गुरू अह तंतू, अपरिच्छियत्थे पभाससे एवं ।
किं च मए तं भणितो, आरुहरुक्खे (य) सच्चित्ते ॥६१८॥

अथ-अनन्तरं तमतिपरिणामकं शिष्यं ब्रूते-अपरीक्षिते-अपराभाविते मद्वचनस्यार्थे त्वमेवमुक्तप्रकारेण प्रभाषसे यथा करोमि प्रपातमस्माकमप्येषेच्छा वर्त्तते । अपरिणामकमधिकृत्य ब्रूते-त्वं वा मया किमेवं भणितो यथा सचित्तं वृक्षमारोढाय नोद्यते न वर्त्तते साधोः वृक्षे विलगितुमिति किंतु-तन्मयोक्तम् ।

तत्रैवाऽऽह—

तवनियमनाणरुक्खं, आरुहिउं भवमहण्णवाऽऽवण्णं ।
संसारग(ड्ड)त्तकूलं, डेवे हंत मए भणितो ॥ ६१९ ॥

तपोनियमज्ञानमयं वृक्षं भवार्णवापन्नं-भवसमुद्रमध्यप्राप्तमारुह्य संसारगर्त्ताकूलं 'डिप' उल्लङ्घय इति मया भणितः ।

जो पुण परिणामो खलु, आरुह भणितो वि सो विचिंतेइ ।
नेच्छंति पावमेते, जीवाणं थावरा(दी)णं(पि) ॥६२०॥
किं पुण पंचेंदीणं, तं भणियव्वेत्थ कारणेणं तु ।
आरुहणववसियं तु, वारेइ गुरुववत्थंतो ॥ ६२१ ॥

यः पुनः खलु परिणामः-आज्ञापरिणामकः स आरोहेति भणितश्चिन्तयति-नेच्छन्ति पापमेते मदीया गुरवो जीवानां स्थावराणामपि; किं पुनः पञ्चेन्द्रियाणां तस्मादत्र कारणेन भवितव्यम् , एवं विचिन्त्य आरोहणे व्यवसितः । तमारोहणव्यवसितं गुरुरवष्टभ्य—बाहौ धृत्वा वारयति । यदेवमुक्तं वृक्षे परीक्षणम् ।

अधुना बीजेषु तदाह—

एवाऽऽणेह य बीयाइं, भणितो पडिसेहे अपरिणामो ।
अइपरिणामो पोट्टल, बंधूणं आगतो तहियं ॥ ६२२ ॥

एवम्-अमुना प्रकारेण बीजानि अनायत इत्युक्ते अपरिणामः प्रतिषेधयति-न कल्पन्ते बीजानि गृहीतुमिति , यस्त्वतिपरिणामकः स बीजानां पोट्टलं बद्धा तत्र गुरुसमीपे समागतः ।

ते वि भणिया गुरूणं , भणिया नेह अमलिबीयाइं ।
न विरोहसमत्थाइं, सच्चित्ताइं व भणियाइं ॥ ६२३ ॥

तावत् यः अपरिणामको गुरुणा भणितो मया भणितमानय अम्लिकाबीजानि-काञ्जिकनीबीजानि , यदि वा-सचित्तानि-विध्वस्तयोनिमयानि, यानि न विरोहसमर्थानि तान्यानयेति भणितानि ।

तत्थ वि परिणामो तू , भणती आणेसि केरिसाइं तु ।
कत्तियमित्ताइं वा , विरोहमविरोहजोग्गाइं ॥ ६२४ ॥

तत्रापि यः परिणामकः स भणति-कीदृशानि बीजान्यानयामि । विरोहयोग्यानि, अविरोहयोग्यानि वा, कियन्मात्राणि वा ।

सो वि गुरूहिं भणितो, न ताव कज्जं पुणो भणीहामि ।
हसितो व मए तासिं, वीमंसत्थं व भणितो सि ॥६२५॥

सः-अप्याज्ञापरिणामको गुरुभिर्भणितो न तावदिदानीं कार्यं यदा तु कार्यं भविष्यति तदा पुनर्भणिष्यामः । अथवा-हसितोऽसि मया तावदिदानीं न पुनर्बीजैः प्रयोजनं, यदि वा-विमर्शार्थं तव-विमर्शपरीक्षणार्थं त्वमेवं भणितोऽसि ।

संग्रत्यमोहनाधारिपरीक्षामाह—

पयमक्खरमुद्देसं , संधीसु तत्थ तदुभयं चेव ।
अक्खरवंजणसुद्धं , जह भणितं सो परिकहेइ ॥ ६२६ ॥

पदमक्षरमुद्देशं सन्धिम्-अधिकारविशेषं सूत्रमर्थं तदुभयं च अक्षरव्यञ्जनशुद्धं पूर्वमवग्राहयति किमेष ग्रहणधारणायोग्यः किं वा नेति अवग्राह्य, ततो ब्रूते-उच्चारय प्रेक्ष किमपि गृहीतं न वा किं त्वगृहीतमपि किं स्मृतं किं वा नेति । तत्र यदि यथा भणितं तथा सर्वं परिकथयन्ति तदा ज्ञातव्य एव ग्रहणधारणे कुशल इति ।

एवं परिच्छिऊणं , जोग्गं नाऊण पेसये तं तु ।
वच्चाहि तस्सगासं , सोहिं सोऊण आगच्छ ॥ ६२७ ॥

एवं परीक्ष्य-योग्यं ज्ञात्वा तं प्रेषयेत् संदिशति च व्रज तस्य-साधोरालोचयितुकामस्य शोधिम्-आलोचनां श्रुत्वा पुनरत्राऽऽगच्छ ।

अह सो गतो उ तहियं, तस्स सगासंमि सो करे सोहिं ।
दुगतिचउविसुद्धं , तिविहे काले विगटभावो ॥ ३२८ ॥

अथ-प्रेषणानन्तरं यत्राऽऽलोचयितुकामो विद्यते । तत्र गतस्तस्याऽऽगतस्य समीपे आलोचयितुकामः प्रशस्तेषु द्रव्यादिषु शोधिम्-आलोचनां करोति । कथमित्याह-द्विकदर्शना-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तिचारं; चारित्राचारमालोचयन्नीत्यर्थः । दर्शनग्रहणे ज्ञानग्रहणमपीति ज्ञानातिचारं चत्यपि द्रष्टव्यम् । चारित्रातिचारालोचनऽपि च द्विभेदा-मूलगुणातिचारविषया, उत्तरगुणविषया च । तां करोति । पुनस्त्रिकाम्-आहारोपधिशय्यां भेदन एकैकां त्रिप्रकाराम्, चतुर्विशुद्धां-प्रशस्तद्रव्यक्षेत्रकालभावोपेतां, त्रिविधे काले—अतीते, प्रत्युत्पन्ने च यत्संविनम्, अनागते च यत्सेविष्ये इत्यध्यवसिते विकटभावः-प्रकटभावः; अप्रतिकुञ्चन इत्यर्थः । व्य० १० उ० ।

(आज्ञाव्यवहारसाधकः)—

दव्वे भावे आणा, खलु सुयं जिणवराणं ।
सम्मं ववहरमाणो, उ तीए आराहओ होति ॥ ५६ ॥

आज्ञा द्विविधा-द्रव्ये, भावे च । तत्र द्रव्याज्ञा-राजादीनामाज्ञा, भावाज्ञा खलु श्रुतं जिनवराणाम् । तत्र सम्यक् पञ्चविधान्यतमेव व्यवहारेण-प्रागुक्तनीत्या व्यवहरन् तस्याः-आज्ञाया आराधको भवति । व्य० ३ उ० ।

आणाअविराहग-आज्ञाऽविराधक-पुं० । आज्ञाया आराधके, पं०सू० २ सूत्र ।

आणाआराहण-आज्ञाऽऽराधन-न० । आप्तोपदेशानुपालने, पञ्चा० । "आणा आराहणाओ" ॥ (५+) ॥ आज्ञाऽऽराधनात्-आप्तोपदेशानुपालनान्निर्निदानतामेव हि जिना मन्यन्ते । पञ्चा० ६ विव० ।

आणाआराहणजोग-आज्ञाऽऽराधनयोग-पुं० । आप्तोपदेशानुपालनसम्बन्धे, पञ्चा० १२ विव० ।

आणाइत्त-आज्ञावत्-त्रि० । आप्तोपदेशवर्तिनि, पञ्चा० १५ विव० ।

आणाईसर-आज्ञेश्वर-पुं० । आज्ञया आज्ञाया वा ईश्वर आज्ञेश्वरः । जी० ३ प्रति० ४ अधि० । आ० म० । आज्ञाप्रधाने ईश्वरे, जं० १ वक्ष० । औ० ।

आणाईसरसेणावच्च-आज्ञेश्वरसेनापत्य-न० । आज्ञाया ईश्वर आज्ञेश्वरः । (जी० ३ प्रति० ४ अधि० । आ० म० ।) सेनायाः पतिः सेनापतिः आज्ञेश्वरश्चासौ सेनापतिश्च आज्ञेश्वरसेनापतिस्तस्य कर्म आज्ञेश्वरसेनापत्यम् । जी० ३ प्रति० ४ अधि० । आज्ञाप्रधानो यः सेनापतिः-सैन्यनायकः तस्य भावः कर्म वा आज्ञेश्वरसेनापत्यम् । औ० । स्वसैन्यं प्रत्यद्भुतं आज्ञाप्राधान्ये, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । "आणाईसरसेणावच्चं कारेमाणे पालेमाणे" ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । विपा० । भ० । प्रज्ञा० ।

आणाकंखिन्-आज्ञाकाङ्क्षिन्-पुं० । आज्ञामाकाङ्क्षितुं शीलमस्येत्याज्ञाकाङ्क्षी । सर्वज्ञोपदेशानुष्ठायिनि, आचा० । "इह आणाकंखी पंडिए" (सूत्र १४३×) इह-अस्मिन् मौनीन्द्रे प्रवचने व्यवस्थितः सन् आज्ञां तीर्थकृतोपदेशमाकाङ्क्षितुं शीलमस्येत्याज्ञाकाङ्क्षी आगमानुसारप्रवृत्तिकः कश्चैवंभूतः पण्डितः-सदसद्विवेकज्ञः । आचा० १ श्रु० ४ अ० ३ उ० ।

आणाकरण-आज्ञाकरण-न० । आगमवचनासेवने, पञ्चा० । सौत्रविधिसम्पादने, पं० व० ।

ता एअम्मि वि काले, आणाकरणे अमूढलक्खेहिं ।
सत्तीए जइयव्वं, एत्थ विही हंदि एसो अ ॥१०००॥

यस्मादेवं तस्मादेतस्मिन्नपि काले-दुःखमारूपे आज्ञाकरणे-सौत्रविधिसम्पादने अमूढलक्षैः-सद्भिः शक्त्या यतितव्यमुपलक्षणत्वात्, अत्र विधिरेव व्याख्यानकरणे हन्दीत्युपप्रदर्शने, एष च वक्ष्यमाणलक्षणः । इति गाथार्थः । पं० व० ४ द्वार ।

आणाका(गा)रि(न्)-आज्ञाकारिन्-पुं० । आप्तोपदेशवर्तिनि, पञ्चा० ८ विव० । आप्तोपदेशविधायिनि, पञ्चा० ।

तथा च—

एयस्स फलं भणियं, इय आणाकारिणो उ सड्ढस्स ॥४४+॥

एतस्य-समस्तजिनभवनविधानस्य फलम्-प्रयोजनं भणितम्-उक्तम् इत्येवम्-उक्तनीत्या । आज्ञाकारिणस्तु-आप्तोपदेशविधायिन एव श्राद्धस्य-श्रद्धावतः; श्रावकस्येत्यर्थः । पञ्चा० ७ विव० ।

आणाखंडण-आज्ञाखण्डन-न० । आज्ञाभङ्गे, "आणा नो खंडज्जा, आणाभंगे कओ सुहो" । महा० ४ अ० ।

(आज्ञाखण्डनकरधर्मस्य विचारे पण्डितश्रीकल्याणकुशलगणिकृतप्रश्ना यथा)—

"आणाखंडणकारी य, सव्वं पि निरत्थयं तस्स ।
आणारहिओ धम्मो, पलालपूलु व्व पडिहाइ ॥१॥"

"कलं नग्घइ सोलसिमि" त्यादि वचनालम्बनेन साङ्ख्यादिदर्शनान्तरेषु यद्बालतपःकष्टानुष्ठानं समाचरन्ति तत्सर्वं सर्वथा निष्फलमेव, न कापि कर्मनिर्जरा भवति कथाञ्चित्संमतं, कर्षांचित्तु तेषामपि तारतम्येन स्वल्पमपि फलं स्वीकार्यं न तु निष्फलता । अत्राऽऽगमः-"जं अन्नाणी कम्मं, खवेइ बहुयाइँ वासकोडीहिं । तं नाणी तिहिं गुत्तो, खवेइ ऊसासमित्तेणं ॥ १ ॥" पं० भा० । "कलं नग्घइ सोलसिं पलालपूलु व्व" इत्याद्यर्थापदमेव तात्पर्यम्-"अविरयमाइसुराउं, बालतवोकामनिज्जरा जयइ"-त्ति, "सरागसंजमेणं बालतवेणं" ति, "चरगपरिव्वायगबंभलोगो जा" । इत्यपि अत एव बालतपस्विनामपि कौडिन्यदिन्नसेवालिनाम्नां स्वीयस्वीयतपोऽनुसारेणैव सोपानप्राप्तिः, सर्वथा विफलतायां तु सर्वेषामप्राप्तिः प्रसज्यते कथं च कर्मलाघवमन्तरेण मिथ्यात्विन एव ग्रन्थिदेशं यावदागच्छन्ति न वा कामनिर्जरामात्रमेव तत्र हेतुः कारणान्तराणामपि विबाधः प्रज्ञप्तिवृत्त्यावुक्तत्वात्, तथाहि-

"अणुकंपकामनिज्जर-बालतवे दाणविणयविभंगे ।
संजोगविप्पओगे, वसणूसवइड्ढिसक्कारे" ॥ १ ॥

दृश्यते चैतदर्थसंवादः साक्षादेवं महानिशीथे नागिलाधिकारे, तद्यथा-"अकामनिज्जराए वि किंचि कम्मक्खयं भवइ । किं पुण जं बालतवेणं, एवं सति निरत्थयं तस्स ॥ १ ॥" इत्यादीनां का गतिरिति वक्तव्यम्, सर्वाणि चैतानि उत्सर्गसूत्राणि ततोऽत्र "उत्सर्गादपवादो बलीयान्" अयमेव न्यायोऽनुसर्तव्यः, ततः सिद्धं तेषामपि तारतम्येन किञ्चित् २ फलमिति समाधत्त ३ । तथा कश्चित् महानिशीथगतम्-"जं थाने निक्खमणे अनुकूलं मासिज्जा" इत्यादि पञ्चिआलापकमुपपश्य चक्रार । भवन्ति । तथाहि-ये

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पक्षान्तरीयविहितं यतजिनप्रासादादिपरित्राणमाचार्योपाध्यायादीनामपरिवारणं साधुमुद्दिश्य दानसत्कारादिकं चानुमन्यन्ते तेषां महत्पातकं जायते, सम्यक्त्वमपि प्रतिहन्यते, तेन मतान्तरायत्तं तं युगप्रधानाचार्यभक्त्यादिकमपि सर्वथा नानुमोदनीयमेवेति, केचित्तु-तानपि प्रतिवदन्ति। यथा-नयसाधनश्रेष्ठिलिंगमात्रीनां मिथ्यात्वभाजामपि दानं बहुषु ग्रन्थेषु परंपरया चानुमोद्यमानं दृश्यते, तथा सर्वतीर्थकृत्सातिशयसाधुपारणासु पञ्चदिव्यावसरे अहो दानमहो दानमित्युद्घोषोऽपि यदनुमोदनीयं न तत्कार्यते, कथं दृश्यन्ते च भवदादयः सर्वेऽपि मार्गं प्रतिपन्नाः। कारयन्तो यथा देहि भोः किंचिदस्मभ्यं तत्र भूयान् लाभो भावीति, यदि च प्रदत्ते तदा सन्तुष्टिरपि जायते इति स्वयमनुभूयमानस्यार्थस्य विलोपः कर्तुं सतां नोचित इत्याशयतयैव सूत्रकारेणाभ्यधायि, "अहवा सव्वं चिय वियरायं" इत्यादि अत्र सम्यग्दृष्टिपर्यन्तानां पूर्वमुक्तत्वान्मिथ्यात्विनामपि किंचित्करणीयमनुमोदनीयमित्यापतितम्, तच्च विचार्यमाणं जिनाजिनबिम्बजिनालयाचार्योपाध्यायसाधुश्रावकादीनां वास्तवाराध्यानामशनपानप्रदानादि भक्तिवर्णनसंज्वलनाऽऽपत्परित्राणादिकं दृश्यते चानुमोदितं साक्षादप्याचाराङ्गादौ, साधुना साग्निशकटीपुरस्करणे मम न कल्पते भावना। पुनः पुण्यप्राग्भाराऽऽजनमकरीत्यादि कथं च जिनशासनप्रभावनाकारिणो म्लेच्छा अप्यनुमोद्यन्ते इत्याद्यनाग्रहबुद्ध्या पर्यालोचनीयमिति ॥४॥ ह्री०। तथा तृतीय-चतुर्थप्रश्नप्रतिवचनं तु द्वादशजल्पपट्टकादवसेयं, किंच-"सव्वं पि निरत्थयं तस्स" इत्यादिवचनस्यापेक्षिकत्वान्नैकान्तवादः। अपेक्षा च मोक्षफलाभावलक्षणेति भावः। अन्यच्च महानिशीथप्रसिद्धालापकमुपष्टभ्य एकान्तेन परपाक्षिकप्रशंसानिषेधः। सोऽपि न संगच्छते यतस्तस्मिन्नेवालापके-" अविमुहमुद्धपरिसामज्झगए सलाहेज्जा" इति वचनेनाभिमुखमुग्धपरिषद्विशेषमध्य एव तत् श्लाघाया निषेधः प्रतिपादितोऽस्ति, न तु सामान्यपर्षदीति, किंचाऽत्रार्थे-ऊह-प्रत्यूहादिबहुवक्तव्यमस्ति तत्तु साक्षान्मिलने एव समीचीनतामञ्चतीति ॥ ३ ॥ ४ ॥ ह्री० १ प्रका०।

आणागाहग-आज्ञाग्राहक-पुं०। आगमग्राहके, " सयाऽऽणागाहगे सिया"(सूत्र-२+)। सदाज्ञाग्राहकः स्यात्, अध्ययनश्रवणाभ्याम्। पं०सू० २ सूत्र।

आणागिज्झ-आज्ञाग्राह्य-त्रि०। आगमविनिश्चये, पं०व०।

आणागिज्झो अत्थो,
आणाए चेव सो कहेयव्वो ॥ ६६२+ ॥

पं० व० ४ द्वार।

आज्ञा-आगमस्तद्ग्राह्यस्तद्विनिश्चेयोऽर्थोऽनागतातिक्रान्तप्रत्याख्यानादिराज्ञयैव-आगमेनैवासौ कथयितव्य इति। यद्वा-सामान्येनैवाज्ञाग्राह्योऽर्थः-सौधर्मादिः, आज्ञयैवासौ कथयितव्यो, न दृष्टान्तेन तस्य तत्र वस्तुतोऽसम्भवात्। आव० ६ अ०। (इत्यादिबहुवक्तव्यता 'पच्चक्खाण' शब्दे षष्ठे भागे करिष्यते।)

आणाजुत्त-आज्ञायुक्त-त्रि०। आगमोपेते, दर्श०।

चारित्रमुद्दिश्य-" आणाजुत्ताणमिणं, न होइ अहुणो त्ति वामोहो " ॥ ५७ ॥ आज्ञायुक्तानामपि न केवलमाज्ञाबाह्यानामिदं प्रस्तुतं चारित्रं न भवति-न जायते। दर्श० ४ तत्त्व।

आणाजोग (य)-आज्ञायोग-पुं०। आज्ञा-नियोगः शासनं यथा राजाऽऽज्ञा-राजशासनम् तस्यां योग-उत्साहः तया वाऽऽज्ञया योगः-सम्बन्धः। दत्ताया अविफलीकरणे, षो० १३ विव०। आप्तवचनसम्बन्धे च। पञ्चा० १३ विव०। सूत्रव्यापारे, पं० व०।

पावं विसाइतुल्लं, आणाजोगो अ मंतसमो ॥ ६६६ ॥

सर्वमपि पापं निन्द्यम्; विषादितुल्यं, विपाकदारुणत्वाद् आज्ञायोगश्च-सूत्रव्यापारश्च अत्र मन्त्रसमः तद्दोषापनयनात्। पं० व० ४ द्वार।

आणाणिद्देस-आज्ञानिर्देश-पुं०। भगवदभिहितागमस्योत्सर्गापवादाभ्यामिदमित्थं विधेयमिदमित्थं चेत्येवमात्मके प्रतिपादने, उत्त० १ अ०।

आणाणिद्देसयर-आज्ञानिर्देशकर-त्रि०। भगवदभिहितागमप्रतिपादनकरणशीले, भगवदभिहितागमानुलोमानुष्ठायिनि च। उत्त० १ अ०।

आज्ञानिर्देशतर-त्रि०। गुरुवचनस्येदमित्थमेवं करोमीति निश्चयाभिधानेन भवाम्भोधिस्तरणशीले, उत्त० १ अ०।

तथा च विनीतशिष्यमधिकृत्य—

आणाणिद्देसकरे ॥ ३+ ॥

आङिति स्वस्वभावावस्थानात्मिकया मर्यादयाभिव्याप्त्या वा ज्ञायतेऽर्थो अनयेत्याज्ञा-भगवदभिहितागमरूपा तस्या निर्देश-उत्सर्गापवादाभ्यां प्रतिपादनम्, आज्ञानिर्देश इदमित्थं विधेयमिदमित्थं चेत्येवमात्मकं तत्करणशीलस्तदनुलोमानुष्ठाता वा आज्ञानिर्देशकरः। यद्वा—आज्ञा-सौम्य! इदं कुरु, इदं च मा कार्षीरिति गुरुवचनमेव, तस्या निर्देशः-इदमित्थमेव करोमीति निश्चयाभिधानं तत्करः। आज्ञानिर्देशेन वा तरति भवाम्भोधिमित्याज्ञानिर्देशतर इति, इत्यादयोऽनन्तगमपर्यायत्वाद् भगवद्वचनस्य व्याख्याभेदाः संभवन्तोऽपि मन्दमतीनां व्यामोहहेतुतया बालाऽबलादिबोधोत्पादनार्थत्वाच्चास्य प्रयासस्य न प्रतिसूत्रं प्रदर्शयिष्यन्ते। उत्त० १ अ०।

आज्ञाऽनिर्देशकर-पुं०। आज्ञाविराधके, उत्त०।

अविनीतशिष्यमधिकृत्य-" आणाऽनिद्देसकरे ॥३॥" स शिष्योऽविनीत इत्युच्यते य आज्ञायाः-तीर्थकरवाक्यस्य, गुरोर्वाक्यस्य चाऽनिर्देशकरः-अप्रमाणकर्त्ता आज्ञाविराधकः। उत्त० १ अ०।

आणाणिप्फादय-आज्ञानिष्पादक-पुं०। आज्ञासाधके, पं० सू० २ सूत्र।

आणाऽणुग-आज्ञाऽनुग-त्रि०। आज्ञामनुगच्छति, अनु० गम-ड ६ त०। आदेशानुसारेण गन्तरि दासादौ, क्त आज्ञानुगतोऽप्यत्र। त्रि०। वाच०। आज्ञानुसारिणि, दर्श० ४ तत्त्व। आगमानुसारिणि, पञ्चा०।

सुहभावा तल्लिंगमो, सो वि य आणाणुगो नियोगेण ॥ २६+ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शुभभावात्-प्रशस्ताध्यवसायात्तद्विगमः-अशुभकर्मविगमो भवति 'सो चि य' त्ति- स पुनः शुभभावः आज्ञानुगः-आगमानुसारी भवति नियोगेन—नियमेन अनाज्ञाऽनुगम्यशुभ एवेति भावः । पञ्चा० १६ विव० ।

आणाऽणुगामि-(न्)- आज्ञाऽनुगामिन्-त्रि० । आज्ञामनुगच्छति. अनु० । गम—णिनि ६ त० स० । आज्ञानुगते, स्त्रियां ङीप् । वाच० ।

आणापडिच्छय-आज्ञाप्रतीच्छक-पुं० । आज्ञाप्रतीच्छाकारके. पं०सू० २ सूत्र ।

आणापरतंत- आज्ञापरतन्त्र-पुं० । आप्तवचनाधीने, पञ्चा० १४ विव० । (आज्ञापरतन्त्रा प्रवृत्तिरप्रवृत्तिर्वेति ' आणा ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे उक्तम् ।)

आणापरिणामग-आज्ञापरिणामक-पुं० । यदाज्ञाप्यते तत्करोति तत्कारणाय पृच्छति;-किमर्थमेतदिति किंत्वाज्ञयैव कर्त्तव्यतया श्रद्धातीत्येवंलक्षणे परिणामकभेदे. व्य० १० उ० । (एतस्य लक्षणाऽऽदिबहुवक्तव्यता ' परिणामग ' शब्दे पञ्चमभागे वक्ष्यते) (एतस्य परीक्षाप्रकार आज्ञाव्यवहारनिरूपणावसरे ' आणा ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गतः)

आणापवित्ति-आज्ञाप्रवृत्ति-स्त्री० । आप्तोपदेशपरतन्त्रप्रवर्त्तने, पञ्चा० ।

आज्ञाप्रवृत्तिकश्च शुद्ध एव । तथाच बिम्बविधिमधिकृत्य-

आणापवित्तिउ च्चिय, सुद्धो एसो ण अण्णहा णियमा ।
तित्थगरे बहुमाणो, तदभावाओ य णायव्वो ॥ १२ ॥

आज्ञाप्रवृत्तित एव-आप्तोपदेशपरतन्त्रप्रवर्त्तनादेव शुद्धो-विशुद्धः । एष परिणामो बिम्बविधायको वा भव इति योगः । पञ्चा० ८ विव० । (अत्र विशेषः 'चेइय' शब्दे तृतीयभागे १२६८ पृष्ठे वक्ष्यते)

आणापवित्तिय-आज्ञाप्रवृत्तिक-पुं० । आप्तोपदेशपरतन्त्रप्रवृत्तिमति , पञ्चा० ८ विव० ।

आणापहाण-आज्ञाप्रधान-पुं० । आगमपरतन्त्रे , ध० २ अधि० ।

आणापाणपज्जत्ति-आनप्राणपर्याप्ति-स्त्री० । पर्याप्तिभेदे , मया पुनरुच्छ्वासप्रायोग्यवर्गणादलिकमादायोच्छ्वासरूपतया परिणमय्य आलम्ब्य च मुञ्चति सा प्राणापानपर्याप्तिरिति । प्रव० २३२ द्वार ।

आणापाणवग्गणा-आनप्राणवर्गणा-स्त्री० । उच्छ्वासनिश्वासयोग्यायां पुद्गलवर्गणायाम् , कर्म० ५ कर्म० । (वक्तव्यता ' वग्गणा ' शब्दे षष्ठ भागे वक्ष्यते)

आणापाणु-आनप्राण-पुं० । कालविशेषे , जी० ३ प्रति० ४ अधि० । अनु० । स्था० । ज्ञा० । कर्म० ।

आणुप्राणु-त्रि० । प्र अन् उण् । वाच० ।

(सूर्यप्रज्ञप्त्यानप्राणकालपरिमाणम्)—

" आवलियाति वा आणापाणू ति वा । (सूत्र-१०५+) असङ्ख्येया आवलिका एक आनप्राणः, "द्विपञ्चाशदधिकास्त्रिचत्वारिंशच्छतान्यङ्क्यावलिकाप्रमाणो एक आनप्राणः " इति वृद्धसंप्रदायः ।

तथा चोक्तम्—

"एगो आणापाणू , तेयालीसं (सयालीसं) सया उ बावन्ना ।
आवलियपमाणेणं, अणंतनाणीहिँ निद्दिट्ठो ॥ १ ॥ "

सप्ताऽऽनप्राणप्रमाणः स्तोकः । सू०प्र० २० पाहु० ।

आणाबज्झ-आज्ञाबाह्य-त्रि० । आप्तोपदेशशून्ये , पञ्चा० ।

आज्ञाबाह्यायाश्च स्वमतिप्रवृत्तेर्भवनिबन्धनत्वम्—

समितिपवित्ती सव्वा, आणाबज्झ त्ति भवफला चेव ।
तित्थगरुद्देसेण वि, ण तत्तओ सा तदुद्देसा ॥ १३ ॥

स्वमतिप्रवृत्तिः-आत्मबुद्धिपूर्विका चेष्टा सर्वा-समस्ता द्रव्यस्तव-भावस्तवविषया आज्ञाबाह्या-आप्तोपदेशशून्या इति हेतोर्भवफलैव-संसारनिबन्धनमेव आज्ञाया एव भवोत्तारहेतुषु प्रमाणत्वात् । पञ्चा० ८ विव० । (विशेषः ' चेइय ' शब्दे तृतीयभागे १२६८ पृष्ठे वक्ष्यते ।) आप्तवचनबहिष्कृते च । पञ्चा० ।

आणाबज्झत्तणओ, न होइ मोक्खंगया णवरं ।

आज्ञाबाह्यत्वाद्-आप्तवचनबहिष्कृतत्वाद्यदाज्ञाबाह्यं तन्मोक्षाङ्गं न भवति । पञ्चा० ६ विव० ।

आणाबलाभिओग-आज्ञाबलाभियोग-पुं० । आज्ञापनम्-आज्ञा; भवतेदं कार्यमेव तदकुर्वतो बलात्कारणम् बलाभियोगस्ततश्चाऽऽज्ञया सह बलाभियोग आज्ञाबलाभियोगः आज्ञाबलयोरभियोगो-व्यापारणमिति समासः । आज्ञाबलयोर्व्यापारणे, पञ्चा० ।

आणाबलाऽभियोगो, णिग्गंथाणं ण कप्पते काउं ।
इच्छा पउंजियव्वा, सेहे तह चेव राइणिए ॥ ८ ॥

आज्ञाबलाऽभियोगो निर्ग्रन्थानां-साधूनां न कल्पते-न युज्यते कर्त्तुं-विधातुं परपीडोत्पादकत्वादात्मनश्चाभियोगिककर्मबन्धहेतुत्वात्तस्येत्यादि-(बहुवक्तव्यता ' इच्छाकार ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते) पञ्चा० १२ विव० ।

आणाभंग-आज्ञाभङ्ग-पुं० । आज्ञाया-आदेशस्य भङ्गः-स्वविषयेषु प्रसाराभावः, आदेशस्याऽकरणेन आदिष्टविषयेषु प्रचाराऽभावे, वाच० । आप्तोपदेशाननुपालने, पञ्चा० १५ विव० । सर्वविदागमोल्लङ्घने च । दर्श० १ तत्त्व । (एतद्वक्तव्यता ' आणा ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गता)

आणाभावग- आज्ञाभावक-पुं० । आज्ञाया भावयितरि, पं० सू० । "सयाणाभावगे सिया" (सूत्र-२+) । सदाऽऽज्ञाभावकः स्यादनुप्रेक्षाद्वारेणेति । पं० सू० २ सूत्र ।

आणामिय- आनामित-त्रि० । ईषन्नामिते, उपा० २ अ० । तं० । प्रश्न० । जी० । " आणामियचावरुइलकिण्हचिउरराइसुसंठियसंगयआययसुजायभुमया " (सूत्र-१४ +) । (आनामितं चापरुचिरकृष्णचिकुरराजिसुसंस्थितसंगतायतसुजातभ्रूकाः) आनामितम्-ईषन्नामितं यच्चापं-धनुस्तद्वद्रुचिरे-शोभने कृष्णचिकुरराजिसुसंस्थिते कुत्रापि-कृष्णा भ्रूराजिसुसंस्थिते संगते आयते-दीर्घे सुजाते-सुनिष्पन्ने भ्रुवौ येषां ते तथा । तं० । प्रश्न० । " आणामियचावरुइलतणुकसिणनिद्धभुमया " (सूत्र-१४७ +) । आनामितम्-ईषन्नामितम्-आरोपितमिति भावः, यच्चापं-धनुस्तद्वत् रुचिरे-संस्थानविशेषभावतो रमणीये तनू-तनुः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्लक्ष्णपरिमितवालपङ्क्त्यात्मकत्वात् कृष्णे-परमकालिमोपेते स्निग्धे-स्निग्धच्छाये भ्रुवौ येषां ते आनामितचापरुचिरतनुकृष्णस्निग्धभ्रूकाः । जी० ३ प्रति० ४ अधि० २ उ० । (हस्तिवर्णकमधिकृत्य)-" आणामियचावललितसंवेल्लिनऽग्गसोंडं " (सूत्र-२१×) । आनामितम्-ईषन्नामितं यच्चापं धनुस्तद्वद् ललिता च-विलासवती संवेल्लिता च-वेल्लन्ती संकोचिता वा अग्रशुण्डा-शुण्डाग्रं यस्य तत्तथा । उपा० २ अ० ।

आणामेत्त-आज्ञामात्र-न० । आप्तवचनमात्रे, " आणामेत्तंमि सव्वहा जुत्तो " ॥ २८ + ॥ आज्ञामात्रे, आप्तवचन एव सर्वथा सर्वप्रकारैर्युक्तः-उद्यतः । पञ्चा० १४ विव० ।

आणारुइ-आज्ञारुचि-स्त्री० । आज्ञा-सूत्रव्याख्यानं; निर्युक्त्यादि, तत्र तया वा रुचिः श्रद्धानम् सा आज्ञारुचिः । स्था० ४ ठा० १ उ० । भ० । निर्युक्त्यादिस्तत्त्वश्रद्धाने, ग० १ अधि० । औ० । " आणारुई तित्थगराणं आणं पसंसति " । आ० चू० ४ अ० १२४८ गाथा । रागद्वेषरहितस्य पुंस आज्ञयैव धर्मानुष्ठानगता-रुचिराज्ञारुचिः । तृतीये सम्यग्दर्शनभेदे, ध० २ अधि० । आज्ञा-सर्वज्ञवचनात्मिका तया रुचिर्यस्य सः । स्था० १० ठा० ३ उ० । उत्त० । आप्तोपदेशाभिलाषयुक्ते, पञ्चा० । " आणारुइणो चरणं " ॥ १२ + ॥ आज्ञारुचेः-आप्तोपदेशाभिलाषयुक्तस्य चरणं—चारित्रम् । पञ्चा० ११ विव० । आगमबहुमानिनि च । पञ्चा० १६ विव० । " आणारुइणो य सम्मं ति " ॥ ४१ + ॥ आज्ञारुचयः-आगमबहुमानिनः । पञ्चा० ११ विव० । तदात्मके तृतीये सरागसम्यग्दर्शिनि च । स्था० १० ठा० ३ उ० । उत्त० । यो हि प्रतनुरागद्वेषमिथ्याज्ञानतयाऽऽचार्यादीनामाज्ञैव कुग्रहाभावाज्जीवादितथेति रोचयते माषतुषादिवत् स आज्ञारुचिः । स्था० १० ठा० ३ उ० ।

(तल्लक्षणं यथा)—

रागो दोसो मोहो, अन्नाणं जस्स अवगयं होइ ।
आणाए रोयंतो, सो खलु आणारुई नाम ॥ २० ॥

स खलु निश्चयेन आज्ञारुचिर्नाम इति प्रसिद्धो भवति, स इति कः ?-यस्य रागः-स्नेहः, द्वेषः-अप्रीतिः,मोहः-शेषमोहनीयप्रकृतयः , अज्ञानं-मिथ्यात्वरूपम् एतत्सर्वं नष्टं भवति अस्य देशतोऽपगतं गम्यते; न सर्वतोऽपगतशब्दस्य प्रत्येकं संबन्धः । यस्य रागो द्वेषोऽपगतः, यस्य द्वेषोऽपि देशतोऽपगतः, यस्य मोहोऽपि देशतोऽपगतः, यस्य अज्ञानं देशतोऽपगतम् , एतेषां अपगमात् आज्ञया आचार्याद्युपदेशेन रोचमानजीवादितत्त्वं तथैवेति प्रतिपद्यमानो यो भवति सः; आज्ञारुचिरित्यर्थः । अत्र माषतुषदृष्टान्तः-मा रूस मा तुस इति स्थाने माषतुष इति दृष्टान्तोऽस्ति ॥२०॥ उत्त० २८ अ० । प्रव० । स्था० । "आणाई" ॥११५+॥ आज्ञा-सर्वज्ञवचनात्मिका तस्यां रुचिः-अभिलाषो यस्य स आज्ञारुचिः । सरागसम्यग्दर्शनाऽऽर्यभेदे, जिनाज्ञैव मे तत्त्वं; न शेषं युक्तिजातमिति योऽभिमन्यते स आज्ञारुचिः । (३७ सूत्र टी०) प्रज्ञा० १ पद ।

(आज्ञारुचिमाह)—

जो हेउमयाणंतो, आणाए रोयए पवयणं तु ।
एमेव णऽसहत्ति य, एसो आणारुई नाम॥११६॥(सूत्र-३७)

यो हेतुम्-विवक्षितार्थगमकमजानानः प्रवचनमाज्ञयैव तुशब्द एवकारार्थः, केवलया रोचते, कथमित्याह-एवमेतत् ; प्रवचनोक्तमर्थजातं, नान्यथेति एष आज्ञारुचिर्नाम । प्रज्ञा० १ पद ।

आणाल-आलान-न० । आ-लीयतेऽत्र आ-ली-ल्युट् । "आलाने ल-नोः" ॥८।२।११७॥ इति हैमप्राकृतसूत्रेण ल-नोर्व्यत्ययः । प्रा० । गजबन्धनस्तम्भे, करणे ल्युट् । तद्बन्धनरज्ज्वाम् , भावे ल्युट् । बन्धनमात्रे च । वाच० ।

आणालक्खंभ-आलानस्तम्भ-पुं० । गजबन्धनस्तम्भे, प्रा० २ पाद । वाच० ।

आणावं-आज्ञावत्-त्रि० । आप्तोपदेशवर्त्तिनि, ध० २ अधि० ।

आणावट्टि(न्)-आज्ञावर्त्तिन्-त्रि० । भगवत्प्रणीतवचनानुसारिणि, आचा० ।

आणाववहार-आज्ञाव्यवहार-पुं० । व्यवहारभेदे, ध० २ अधि० । व्य० । प्रव० । पञ्चा० । (वक्तव्यता 'आणा' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गता ।)

आणाविजय-आज्ञाविच (ज) य-पुं० । आ-अभिविधिना ज्ञायन्तेऽर्था यया सा-प्रवचनं; सा विचीयते-निर्णीयते ; पर्यालोच्यते वा यस्मिंस्तदाज्ञाविचयं-धर्मध्यानमिति , प्राकृतत्वेन-विजयमिति । स्था० ४ ठा० १ उ० । आज्ञा-जिनप्रवचनं तस्या विचयो-निर्णयो यत्र तदाज्ञाविचयम्, प्राकृतत्वात्-आणाविजयम् । औ० । ग० । आज्ञा वा विजीयते-अधिगमद्वारेण परिचितीक्रियते यस्मिन्नित्याज्ञाविजयम् । स्था० ४ ठा० १ उ० । आज्ञागुणानुचिन्तनात्मके धर्मध्यानभेदे, औ० । ग० । भ० । स च आज्ञाया अनन्तत्वपूर्वापराविरोधित्वादिस्वरूपे चमत्कारपूर्वकश्चित्तविश्रामः-आज्ञाविचयः । अष्ट० ६ अष्ट० । अतीन्द्रियत्वाद्धेतूदाहरणादिसद्भावेऽपि बुध्यतिशयशक्तिविकलैः परलोकबन्धमोक्षधर्माधर्मादिभावेष्वत्यन्तदुःखावबोधेष्वाप्तप्रामाण्यात्तद्विषयं तद्वचनं तथैवेत्याज्ञाविचयम् । सम्म० ३ काण्ड ६३ गाथाटी० । धर्म्यमपि ज्ञानदर्शनचारित्रवैराग्यभावनाभिः कृताभ्यासस्य नयादिभिरतिगहनं न बुध्यते तुच्छमतिना परं सर्वज्ञमतं सत्यमेवेति चिन्तनमाज्ञाविचयः । ध० ३ अधि० ।

(एतत्स्वरूपम्)—

(१२८४ गाथा) तत्थ आणाविजये आणं विचेएति । जधा पंचत्थिकाए छज्जीवनिकाए अट्ठ पवयणमाता , अरणे य सुत्तनिबद्धे भावे, अबद्धे य पच्छ, कह आणाए परियाणिज्जंति ? एवं चिंतेति , भासति य । तधा पुरिसादिकारणं पडुच्च किच्छासज्झेसु हेतुविसया तीतेसु वि वत्थुसु वि सव्वण्णादिट्ठेसु एवमेव संतीति चिंतेंतो भासंतो य आणा विधेयेति । आ० चू० ४ अ० ।

आणाविराहणा-आज्ञाविराधना-स्त्री० । आप्तोपदेशाननुपालने, पञ्चा० १६ विव० । (आज्ञोपदेशाऽननुपालने किं भवतीति ' आणा ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गतम्)

आणाविराहणाऽणुग-आज्ञाविराधनाऽनुग-त्रि० । आप्तोपदेशाऽननुपालनानुसारिणि, पञ्चा० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तथा च अशुभाऽध्यवसानमधिकृत्य—

आणाविराहणाणुग-मेयं पि य होति दट्ठव्वं ''॥ २८ ॥

इदं पुनरशुभाध्यवसानम्—आज्ञाविराधनाम्-आप्तोपदेशाननुपालनाम्-अनुगच्छति-अनुसरतीत्याज्ञाविराधनानुगं भवति स्याद् द्रष्टव्यम्-ज्ञेयम् । पञ्चा० १६ विव० ।

आणाविवरीय-आज्ञाविपरीत-त्रि० । आप्तवचनविपर्यस्ते, पञ्चा० । " आणाविवरीयमेव जं किंचि "॥ ६+ ॥ आज्ञाविपरीतमेव-आप्तवचनविपर्यस्तमपि । पञ्चा० ६ विव० ।

आणावेतव्व-आज्ञापयितव्य-त्रि० । आदेशनीये, आचा० ।

आणासार-आज्ञासार-त्रि० । आप्तवचनप्रधाने, " आणासारं मुणेयव्वं "॥ ८+ ॥ आज्ञासारम्-आप्तवचनप्रधानम् । पञ्चा० ११ विव० ।

आणासिद्ध--आज्ञासिद्ध--त्रि० । आप्तवचनसिद्धे. सूत्र० । "पुराणं मानवो धर्मः, साङ्गो वेदश्चिकित्सितम् । आज्ञासिद्धानि चत्वारि, न हन्तव्यानि हेतुभिः ॥ १ ॥ इति परतीर्थिकाः । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

आणिज्जंत--आनीयमान-त्रि० । प्राप्यमाणे, " णिज्जंताऽऽणिज्जंता" ॥ ६४२ ॥ 'आणिज्जंतो ' त्ति-गृहपतिः गृहादानीयमानो वा । बृ० ३ उ० ।

आणि (णी) य-आनीत-त्रि० । आ-नी--कर्मणि क्त । " पानीयादिष्वित् ॥ ८ । १ । १०१ ॥ " इति हैम प्राकृतसूत्रेण-इत्वम् । प्रा० । देशाद्देशान्तरं नीते, वाच० । आहृते, प्रव० ६ द्वार ।

आणील-आनील--पुं० । ईषदर्थे, आङ् । प्रा० स० । ईषन्नीलवर्णे. सामस्त्येन नीलवर्णे च ।"आणीलं च वत्थं रयावेहि" ॥ ६ ॥ वस्त्रम-अम्बरं परिधानार्थं गुलिकादिना रञ्जय आनीलम्-ईषन्नीलं सामस्त्येन नीलं भवति । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । तद्वति, त्रि० । नीलघोटके, पुं० । हेम० । तज्जातिस्त्रियाम् . स्त्री० । ङीप् । वाच० ।

आणुकंपिय-आनुकम्पिक-त्रि० । अनुकम्पया चरतीत्यानुकम्पिकः । भ० १५ श० । कृपावति, भ० ३ श० १ उ० । प्रति० ।

आणुगामिय-आनुगामिक-त्रि० । गच्छन्तं पुरुषम् आसमन्तादनुगच्छत्येवंशीलः आनुगामि.आनुगाम्येवानुगामिकं स्वार्थे कप्रत्ययः । अथवा-अनुगमः प्रयोजनं यस्य तदानुगामिकम् । अनुशतिकादिपाठादुभयपदवृद्धिः । आ० म० १ अ० । नं० । स्था० । अनुगन्तरि, (अनुगमनशीले) । ध० ३ अधि० । " आणुगामियं ति येमि" (सूत्र-२१७ +) । आनुगामिकं तदार्जितपुण्यानुगमनाद् । आचा० १ श्रु० ८ अ० ५ उ० । सह गन्तरि, सूत्र० । " स एगईओ आणुगामियभावं पडिसंधाय " (सूत्र-३१ ×) । आनुगामुकभावं प्रतिसंधाय-सहगन्तृभावेनानुकूल्यं प्रतिपद्य । सूत्र० २ श्रु० २ अ० । अवधिज्ञानविशेषे, देशान्तरगतमपि ज्ञानिनमनुगच्छति लोचनवत्तदवधिज्ञानमानुगामि । कर्म० १ कर्म० ।

आणुगामिओऽणुगच्छइ ,

गच्छंतं लोअणं जहा पुरिसं ॥ ७१४+ ॥विशे० ।

नं० स्था० । (एतद्व्याख्याम् 'ओहि' शब्दे तृतीयभागे १४१ पृष्ठे करिष्यते ।)

(आनुगामिकानानुगामिकमिश्रावधिज्ञानस्वरूपम्)—

आणुगामिओ य ओही, नेरइयाणं तहेव देवाणं ।

अणुगामि अणाणुगामी, मीसो य मणुस्सतेरिच्छे॥७१४॥

अनुगमनशील आनुगामुकः । (सर्वोऽप्यवधिज्ञानविषयः ' ओहि ' शब्दे तृतीयभागे १४१ पृष्ठे दर्शयिष्यते) (विशे० ।) त्रिविधोऽप्यवधिर्मनुष्येषु तिर्यक्षु च भवतीति निर्युक्तिगाथार्थः । विशे० । तत्रेहान्तगतो न ग्राह्यो, देवनारकाणामभ्यन्तरावधित्वात्, किन्तु-मध्यगतः, सोऽप्यन्त (न्त्य) व्याख्यानविशिष्टो देवनारकाणां स्वावधिद्योतितक्षेत्रमध्यवर्तित्वात्, तुशब्द एवकारार्थः, स चावधारणे. आनुगामिक एव यथोक्तरूपो नान्य इति, केषामित्याह-नरान् कायन्ति शब्दयन्ति योग्यतानाह्वयन्तीति नरकाः तेषु भवा नारकास्तेषां तथा दीव्यन्ति-यथेच्छया क्रीडन्तीति देवाः तेषां मनुष्याश्च तिर्यञ्चश्च मनुष्यतिर्यञ्चः तस्मिन्मनुष्यतिरश्चि जात्येकवचनं, ततोऽयमर्थः-मनुष्येषु तिर्यक्षु आनुगामिक उक्तशब्दार्थः, अनानुगामिकः-अवस्थितः शृङ्खलादिनियन्त्रितप्रदीप इव यो गच्छन्तं पुरुषं नानुगच्छति. आह च भाष्यकृत्-" अणुगामिओऽणुगच्छइ, गच्छंतं लोयणं जहा पुरिसं । इयरो उ नाणुगच्छइ, ठियप्पदीवो व्व गच्छंतं " (विशे० ७१४) । यस्य तु एकस्यावधेर्देशो व्रजति स्वामिना सह अपरश्च देशः प्रदेशान्तरचालितपुरुषस्योपहतैकलोचनवदन्यत्र न व्रजति स मिश्र उच्यते, उक्तं च-" उभयसहावो मीसो. देसो जस्साऽणुजाइ नो अन्नो । कासइ गयस्स कत्थइ, एगं उवहम्मइ जहऽच्छि " (विशे० ७१५) एष च भवति गाथासंक्षेपार्थः । देवनारकाणां सर्वान्मप्रदेशजाभ्यन्तरावधिरूपमध्यगत आनुगामिकोऽवधिः, तिर्यङ्मनुष्याणां सर्वप्रभेदः-आनुगामिकः, अनानुगामिको, मिश्रश्चेति । आ० म० १ अ० ।

एतस्य भेदाः—

से किं तं आणुगामियं ओहिनाणं ?, आणुगामियं ओहिनाणं दुविहं पण्णत्तं; तं जहा-अंतगयं; मज्झगयं च । (सूत्र-१०+)

' से किं तमि ' त्यादि. अथ किं तदानुगामिकमवधिज्ञानम् ?। आनुगामिकमवधिज्ञानं द्विविधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा-अन्तगतं च, मध्यगतं च । नं० । (अन्तगताऽवधिज्ञानस्वरूपम् 'अन्तगय' शब्दे प्रथमभागे गतम् ।) (मध्यगताऽवधिज्ञानस्वरूपम् ' मज्झगय ' शब्दे षष्ठ भागे वक्ष्यते ।)

(अन्तगत-मध्यगतयोर्विशेषः)—

अंतगयस्स मज्झगयस्स य को पइविसेसो ?, पुरओ अंतगएणं ओहिनाणेणं पुरओ चेव संखिज्जाणि वा असंखिज्जाणि वा जोयणाइं जाणइ पासइ, मग्गओ अंतगएणं ओहिनाणेणं मग्गओ चेव संखिज्जाणि वा असंखिज्जाणि वा जोयणाइं जाणइ पासइ, पासओ अंतगएणं ओहिनाणेणं पासओ चेव संखिज्जाणि वा असंखिज्जाणि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वा जोयणाइं जाणइ पासइ, मज्झगएणं ओहिनाणेणं सव्वओ समंता संखिज्जाणि वा असंखिज्जाणि वा जोयणाइं जाणइ पासइ । (सूत्र-१० +)

अन्तगतस्य मध्यगतस्य च परस्परं कः प्रतिविशेषः? -प्रतिनियतो विशेषः सूरिराह-पुरतोऽन्तगतेनावधिज्ञानेन पुरत-एवाग्रत एव संख्येयानि-एकादीनि, शीर्षप्रहेलिकापर्यन्तान्यसङ्ख्येयानि वा योजनानि; एतावत्सु योजनेष्ववगाढं; द्रव्यमित्यर्थः, जानाति-पश्यति ज्ञानं विशेषग्रहणात्मकं, दर्शनं सामान्यग्रहणात्मकम् । तदेवं पुरतोऽन्तगतस्य शेषावधिज्ञानेभ्यो भेदः । एवं शेषाणामपि परस्परं भावनीयः । 'नवरं सव्वओ समंता' इति-सर्वतः सर्वासु दिग्विदिक्षु समन्तात्सर्वैरेवात्मप्रदेशैः सर्वैर्वा विशुद्धस्पर्द्धकैः, उक्तं च चूर्णौ-" सव्वउ त्ति सव्वासु दिसि विदिसासु समंता इति सव्वायप्पएसेसु सव्वेसु वा विसुद्धफड्डगेसु " इति । अत्र 'सव्वायप्पएसेसु' इत्यादौ तृतीयार्थे सप्तमी भवति च तृतीयार्थे सप्तमी, यदाह पाणिनिः स्वप्राकृतलक्षणे-"व्यत्ययोऽप्यासा" मित्यत्र सूत्रे-'तृतीयार्थे सप्तमी' यथा-" तिसु तेसु अलंकिया पुहवी " इति । अथवा-समन्ता इत्यत्र स अवधिज्ञानी परामृश्यते, मन्ता इति ज्ञाता, शेषं तथैव । नं० । साध्यमसाध्यमन्न्यादिकमनुगच्छति साध्याभावेन भवति यो धूमादिहेतुः सोऽनुगामी ततो जातमानुगामिकम् अनुमानं तद्रूपो व्यवसायोऽपि आनुगामिक एव । अनुमाने, तदात्मक व्यवसायविशेषे च । स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

आणुगामियत्ता-आनुगामिकता-स्त्री० । परम्पराशुभानुबन्ध, " आणुगामियत्ताए भविस्सइ " (सूत्र-३८० ×) आनुगामिकत्वाय: शुभानुबन्धायेत्यर्थः । भ० ६ श० ३३ उ० । " आणुगामियत्ताए अब्भुट्ठेत्ता भवति " ॥ १६ + ॥ आनुगामिकतायै-परम्पराशुभानुबन्धायेति । दशा० ४ अ० । स्था० । भवपरम्परासु, सानुबन्धसुखे च । " आणुगामियत्ताए भविस्सइ ॥ ११ + ॥ " आनुगामिकत्वाय-भवपरम्परासु सानुबन्धसुखाय भविष्यति । दशा० १० अ० । नि० ।

आणुधम्मिय-आनुधार्मिक-त्रि० । अन्यैरपि तद्धार्मिकैस्समाचीर्णे, आचा० । भगवतो महावीरस्य विहारसमये इन्द्रप्रक्षिप्तवस्त्रधारणमधिकृत्य-" एवं खु आणुधम्मियं तस्स " (सूत्र-२ +) । एतद्वस्त्रावधारणं तस्य भगवतोऽनु पश्चाद्धार्मिकमानुधार्मिकमन्येत्यपरैरपि तीर्थकृद्भिः समाचीर्णमित्यर्थः । आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

आणुपुव्व-आणुपूर्व्य-न० । पूर्वस्य पश्चादनुपूर्वं तस्य भावः इत्यर्थे । " गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः " (पाणि० ५ । १ । १२-६) कर्माणि चेति ष्यञ् । उत्त० १ अ० । अनु० । क्रमे, औ० । परिपाट्याम् , ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । विशिष्टरचनायाम् , सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

आणुपुव्वट्ठिय- आनुपूर्व्यस्थित-त्रि० । विशिष्टरचनया स्थिते, सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

आणुपुव्व-(व्वि) सुजाय-आनुपूर्व्य (र्वी) सुजात-त्रि० । परिपाट्या सुष्ठुजाते, । तथा च वृक्षवर्णनमुपक्रम्य-" आणुपुव्वसुजायरुइलवट्टभावपरिणया" (सूत्र- २ टी०) आनुपूर्व्येण-मूलादिपरिपाट्या सुष्ठु जाता रुचिराः वृत्तभावं च परिणता ये ते तथा । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । आनुपूर्व्या-मूलादिपरिपाट्या जन्मदोषरहितं यथा भवति एवं जात आनुपूर्वीसुजातः । रा० । जं० । तथा च ह्रदवर्णनमुपक्रम्य-" आणुपुव्वसुजायवप्पगंभीरसीयजले " (सूत्र-५१+) आनुपूर्व्येण-परिपाट्या सुष्ठु जाता वप्राः-तटा यत्र स तथा गम्भीरम्-अगाधं शीतलं जलं यत्र स तथा ततः पदद्वयस्य कर्मधारयः । ज्ञा० १ श्रु० ४ अ० । " आणुपुव्वसुसंहयंगुलीए "(सूत्र-१०+) आनुपूर्व्येण-क्रमेण वर्द्धमाना हीयमाना वा इति गम्यम् , सुसंहता-सुष्ठु अविरला अङ्गुल्यः पादाग्रावयवा यस्य स तथा । औ० ।

आणुपुव्विग-आनुपूर्वीग-त्रि० । आनुपूर्वी-क्रमस्तं गच्छतीत्यानुपूर्वीगः । क्रमवति , आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० । " आणुपुव्विगमा एसा पव्वज्जासुत्तअत्थकरणं च " ॥ २-६८+ ॥ आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ० ।

आणुपुव्विगंठिय-आनुपूर्वीग्रन्थित-त्रि० । परिपाट्या गुम्फिते, भ० । अन्ययूथिकानधिकृत्य-" आणुपुव्विगंठिया " (सूत्र-१८३×) आनुपूर्व्या-परिपाट्या ग्रन्थिता-गुम्फिता आयुचितग्रन्थीनामादौ विधानादन्तोचितानां च क्रमेणान्त एव करणाद् । भ० ५ श० ३ उ० ।

आणुपुव्विणाम-आनुपूर्वीनामन्-न० । वृषभनासिकान्यस्तरज्जुसंस्थानीयाः कर्मसंहत्या विशिष्टं स्थानं प्राप्यते असौ यया चोर्द्धोत्तमाङ्गाधश्चरणादिरूपो नियमतः शरीरविशेषो भवति सा अनुपूर्वीति । आव० १ अ० । कूर्परलाङ्गलगोमूत्रिकाकाररूपेण यथाक्रमं द्वित्रिचतुःसमयप्रमाणेन विग्रहेण भवान्तरोत्पत्तिस्थानं गच्छतो जीवस्यानुश्रेणिनियता गमनपरिपाटी आनुपूर्वी, तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि , कारणे कार्योपचारादानुपूर्वी । पंचा० ७ विव० । कूर्परलाङ्गलगोमूत्रिकाकाररूपेण यथाक्रमं द्वित्रिचतुःसमयप्रमाणेन विग्रहेण भवान्तरोत्पत्तिस्थानं गच्छतो जीवस्य-अनुश्रेणिगमनमानुपूर्वी, तन्निबन्धनं नाम आनुपूर्वीनाम । कर्म० ६ कर्म० । नामकर्मभेदे , यदुदयादन्तराले गतो जीवो याति तदानुपूर्वीनाम । स०४२ सम० । तच्चतुर्विधम्-नारकानुपूर्वीनाम १ , तिर्यगानुपूर्वीनाम २ , मनुष्यानुपूर्वीनाम ३, देवानुपूर्वीनाम ४ , । कर्म० ६ कर्म० । " आणुपुव्वी चउभेया " ॥ १२८३× ॥ आनुपूर्वी चतुर्द्धा-नारक-तिर्यग्मनुष्यदेवानुपूर्वीभेदाद् । प्रव० २१६ द्वार । कर्म० । चतुर्द्धा गतिरिवानुपूर्वी प्रागुक्तरूपा भवति , कोऽर्थः-गत्यभिधानव्यपदेश्यमानुपूर्वीनाम , ततो निरयानुपूर्वीतिर्यगानुपूर्वीमनुष्यानुपूर्वीदेवानुपूर्वीभेदात्-आनुपूर्वीनाम चतुर्द्धेति तात्पर्यम् । तत्र नरकगत्या नाम कर्मप्रकृत्या सहचरितानुपूर्वी नरकगत्यानुपूर्वी तत्समकालं चास्या वेद्यमानत्वात्सहचरितत्वम् । एवं तिर्यग्मनुष्यदेवानुपूर्व्योऽपि वाच्याः । कर्म०१ कर्म० । ननु आनुपूर्व्या उदयो नरकादिषु किमृजुगत्या गच्छत आहोस्विद्वक्रगत्येत्याशङ्क्याऽऽह-'पुव्वीउदओ वक्के' त्ति-पूर्व्या आनुपूर्व्या वृषभस्य नासिकारज्जुकल्पाया उदयो-विपाको वक्र एव भवति । अयमर्थः—नरके द्विसमयादिवक्रेण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गच्छतो जीवस्य नरकानुपूर्व्या उदयः, तिर्यक्षु-द्विसमयादिवक्रेण जीवस्य गच्छतस्तिर्यगानुपूर्व्या उदयः, मनुष्येषु द्विसमयादिवक्रेण गच्छतो जीवस्य मनुष्यानुपूर्व्या उदयः, देवेषु द्विसमयादिवक्रेण गच्छतो जीवस्य देवानुपूर्व्या उदयः। उक्तं च बृहत्कर्मविपाके—

" नरयाउयस्स उदए, नरए वक्केण गच्छमाणस्स।
नरयाणुपुव्वियाए, तहिँ उदओ अन्नहिं नऽत्थि ॥ १ ॥
एवं तिरिमणुदेवे, तेसु वि वक्केण गच्छमाणस्स।
तासिमाणुपुव्वियाणं, तहिँ उदओ अन्नहिं नत्थि ॥ २ ॥
कर्म० १ कर्म० ४२ गाथाटी०।

आणुपुव्विविहारि (न्) - आनुपूर्वीविहारिन्-पुं०। प्रव्रज्यादिक्रमेण विहारिणि, आचा०।

(आह निर्युक्तिकारः)—

आणुपुव्विविहारीणं, भत्तपरिण्णा य इंगिनीमरणं।
पायवगमणं च तहा, अहियारो होइ अट्ठमए ॥ २५७॥

अष्टमके तु अयमर्थाधिकारः,तद्यथा-आनुपूर्वीविहारिणाम्-प्रतिपालितदीर्घसंयमानाम् ;शास्त्रार्थग्रहणप्रतिपादनोत्तरकालमवसीदत्संयमाऽध्ययनाऽध्यापनक्रियाणां निष्पादितशिष्याणामुत्सर्गतो द्वादशसंवत्सरसंलेखनाक्रमसंलिखितदेहानां भक्तपरिज्ञेङ्गितमरणं,पादपोपगमनं वा यथा भवति तथोच्यते। आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ०।

तत्रैवानुपूर्वीविहारिणां मरणमधिकृत्य सूत्रम्—

आणुपुव्वेण विमोहाइं, जाइं धीरा समासज्ज ॥ १ + ॥

आनुपूर्वी क्रमः,-तद्यथा-प्रव्रज्याशिक्षासूत्रार्थग्रहणपरिनिष्पन्नस्यैककालिकविहारित्वमित्यादि, यदि वा-आनुपूर्वी-संलेखनाक्रमश्चत्वारि विकृष्टानीत्यादि, तया आनुपूर्व्या यान्यभिहितानि। आचा० १ श्रु० ८ अ० ८ उ०।

आणुपुव्वियसंखाए, कम्मणाओ तिउट्टइ ॥ २ ॥

आनुपूर्व्या-प्रव्रज्यादिक्रमेण संयममनुपाल्य मम जीवतः कश्चिद् गुणो नाऽस्तीत्यतः शरीरमोक्षावसरः प्राप्तस्तथा कस्मै मरणाय समर्थोऽहमित्येवं संख्याय-ज्ञात्वा आरम्भणमारम्भः-शरीरधारणायाऽन्नपानाद्यन्वेषणात्मकस्तस्मात् त्रुट्यति; अपगच्छतीत्यर्थः सुब्व्यत्ययेन पञ्चम्यर्थे चतुर्थी, पाठान्तरं वा-" कम्मुणाओ तिउट्टइ " कर्माष्टभेदं तस्मात् त्रुटिष्यतीति त्रुट्यति, "वर्त्तमानसामीप्ये वर्त्तमानवद्वा" (पाणि० ३।३।१३१। इत्यनेन भविष्यत्कालस्य वर्त्तमानता। आचा० १ श्रु० ८ अ० ८ उ०।

आणुपुव्वी-आनुपूर्वी-स्त्री०। पूर्वस्य पश्चादनुपूर्वं तस्य भावः इत्यर्थे " गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः " (पाणि० । ५ । १ । १२४ ।) कर्मणि चेति ष्यञ् तस्य च षित्करणसामर्थ्यात् स्त्रीत्वे " षिद्गौरादिभ्यः श्च" (पाणि० । ४ । १ । ४१) इति ङीषि आनुपूर्वी। क्रमे, परिपाट्याम्, उत्त० १ अ०। आचा०। रा०। विशे०। पं० सं०। जं०। आनुपूर्वी, अनुक्रमः, अनुपरिपाटीति पर्यायाः;त्र्यादिवस्तुसंघ इत्यर्थः। अनु०। " आणुपुव्वं पाणेहिं संजए " (सूत्र-१३ ×)। आनुपूर्व्या-श्रमणधर्मप्रतिपत्त्यादिलक्षणया प्राणिषु यथाशक्त्या सम्यक् यतः संयतः। सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ०। " आणुपुव्वियसंखाए " सूत्र-२ +) आनुपूर्व्या-प्रव्रज्यादिक्रमेण। आचा० १ श्रु० ८ अ० ८ उ०। विशिष्टरचनायाम्, सूत्र० २ श्रु० १ अ०। तदात्मके शास्त्रीयोपक्रमभेदे, प्रकारान्तरेण शास्त्रभावोपक्रमभेदे च। अनु०।

विषयसूत्रार्थमधिकाराङ्काः—

(१) आनुपूर्व्याः सामान्यतो भेदाः।
(२) आनुपूर्व्याः द्रव्यादिना भेदाः।
(३) नैगमव्यवहारसम्मताया द्रव्यानुपूर्व्या निरूपणम्।
(४) प्रसङ्गप्राप्तस्यानुगमस्य निरूपणम्।
(५) आनुपूर्व्याः संग्रहनयमतेन निरूपणम्।
(६) प्रागुद्दिष्टाया औपनिधिक्या द्रव्याऽऽनुपूर्व्या निरूपणम्
(७) प्रागुद्दिष्टक्षेत्राऽऽनुपूर्व्या निरूपणम्।
(८) क्रमप्राप्तकालाऽऽनुपूर्व्या निरूपणम्।
(९) उत्कीर्तनाऽऽनुपूर्व्या निरूपणम्।
(१०) गणनाऽऽनुपूर्व्या निरूपणम्।
(११) प्रागुद्दिष्टसंस्थानाऽऽनुपूर्व्या निरूपणम्।
(१२) भावाऽऽनुपूर्व्या निरूपणम्।

(१) आनुपूर्वीस्वरूपनिरूपणगर्भं भेदमाह—

से किं तं आणुपुव्वी ?, आणुपुव्वी दसविहा पण्णत्ता, तं जहा- नामाऽऽणुपुव्वी १, ठवणाऽऽणुपुव्वी २, दव्वाऽऽणुपुव्वी ३, खेत्ताऽऽणुपुव्वी ४, कालाणुपुव्वी ५, उक्कित्तणाऽऽणुपुव्वी ६, गणणाऽऽणुपुव्वी ७, संठाणाऽऽणुपुव्वी ८, सामाआरियाणुपुव्वी ९, भावाऽऽणुपुव्वी १० (सूत्र-७१) नामट्ठवणाओ गयाओ । (सूत्र-७२+)

'से किं तमि' त्यादि, अथ किं तदानुपूर्वी वस्त्विति प्रश्नार्थः। अत्र निर्वचनम्-' आणुपुव्वी दसविहे 'त्यादि, इह हि पूर्वं प्रथमम्, आदिः, इति पर्यायाः। पूर्वस्य अनु-पश्चादनुपूर्वं, "तस्य भाव" इति यणप्रत्यये स्त्रियामीकारे चानुपूर्वी, अनुक्रमो, अनुपरिपाटीति पर्यायाः ; त्र्यादिवस्तुसंहतिरित्यर्थः। इयमानुपूर्वी दशविधा-दशप्रकारा प्रज्ञप्ता, तद्यथा-नामाऽऽनुपूर्वी, स्थापनाऽऽनुपूर्वी, द्रव्याऽऽनुपूर्वी, क्षेत्राऽऽनुपूर्वी, कालाऽऽनुपूर्वी, उत्कीर्तनाऽऽनुपूर्वी, गणनाऽऽनुपूर्वी, संस्थानाऽऽनुपूर्वी, सामाचार्यानुपूर्वी, भावानुपूर्वीति ॥७१॥ अत्र नामस्थापनानुपूर्वीसूत्रे नामस्थापनावश्यकसूत्रव्याख्यानुसारेण व्याख्येये ॥ ७२× ॥

(२) द्रव्यादिना आनुपूर्वीभेदमाह—

से किं तं दव्वाणुपुव्वी ?, दव्वाणुपुव्वी दुविहा पण्णत्ता, तं जहा-आगमतो अ, नो आगमतो (ओ) अ। से किं तं आगमओ दव्वाणुपुव्वी ?, २ जस्स णं आणुपुव्वि त्ति पदं सिक्खि (अं) तं ठितं जितं मितं परिजितं०जाव नो अणुप्पेहाए कम्हा अणुवओगो दव्वम्मि निकट्टु णेगमस्स णं एगो अणुवउत्तो आगमतो एगा दव्वाणुपुव्वी०जाव कम्हा जति जाणए अणुवउत्ते न भवति। सेत्तं आगमओ दव्वाणुपुव्वी ॥ से किं तं नोआगमतो दव्वाणुपुव्वी ?, नो-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आगमतो दव्वाणुपुव्वी तिविहा पण्णत्ता ?, तं जहा-जाणगसरीरदव्वाणुपुव्वी, भवियसरीरदव्वाणुपुव्वी, जाणगसरीरभविअसरीरव्वतिरित्ता दव्वाणुपुव्वी । से किं तं जाणगसरीरदव्वाणुपुव्वी ?, जाणगसरीरदव्वाणुपुव्वी पदत्थाहिगारजाणयस्स जं सरीरयं ववगतचुतचावितचत्तदेहं, सेसं जहा दव्वाऽऽवस्सए तहा भाणिअव्वं०जाव सेतं जाणगसरीरदव्वाणुपुव्वी । से किं तं भविअसरीरदव्वाणुपुव्वी ?, भविअसरीरदव्वाणुपुव्वी जे जीवे जोणीजम्मणनिक्खंते, सेसं जहा दव्वावस्सए०जाव से(तं)त्तं भविअसरीरदव्वाणुपुव्वी । से किं तं जाणयसरीरभविअसरीरवतिरित्ता दव्वाणुपुव्वी ?, जाणयसरीरभविअसरीरवतिरित्ता दव्वाणुपुव्वी दुविहा पण्णत्ता ?, तं जहा-उवणिहिआ य, अणोवणिहिआ य । तत्थ णं जा सा उवणिहिआ सा ठप्पा, (सूत्र-७२+)

द्रव्यानुपूर्वीसूत्रमपि द्रव्यावश्यकवदेव भावनीयम् यावत्-" जाणगसरीरभवियसरीरवइरित्ता दव्वाणुपुव्वी दुविहे " त्यादि, तत्र निधानं, निधिः, निक्षेपो, न्यासः, विरचना, प्रस्तारः, स्थापना, इति पर्यायाः । तथा च लोके—निधेहीदं निहितमिदमित्यत्र निपूर्वस्य धागो निक्षेपाऽर्थः प्रतीत एव, उप-सामीप्येन निधिरुपनिधिः एकस्मिन्विवक्षितेऽर्थे पूर्वं व्यवस्थितापिते तत्समीप एवापरापरस्य वक्ष्यमाणपूर्वानुपूर्व्यादिक्रमेण यन्निक्षेपणं स; उपनिधिरित्यर्थः । उपनिधिः प्रयोजनं यस्या आनुपूर्व्याः सा औपनिधिकीति, प्रयोजनार्थे इकण् प्रत्ययः । सामायिकाध्ययनादिवस्तूनां वक्ष्यमाणपूर्वानुपूर्व्यादिप्रस्तारप्रयोजनानुपूर्वी औपनिधिकीत्युच्यते इति तात्पर्यम् । अनुपनिधिः वक्ष्यमाणपूर्वानुपूर्व्यादिक्रमेणाविरचनं प्रयोजनमस्या इत्यनौपनिधिकी; यस्यां वक्ष्यमाणपूर्वानुपूर्व्यादिक्रमेण विरचना न क्रियते सा द्व्यादिपरमाणुनिष्पन्नस्कन्धविषया आनुपूर्वीति अनौपनिधिकीत्युच्यते इति भावः । आह नन्वानुपूर्वी परिपाटिरुच्यते भवता च द्व्यणुकादिकोऽनन्ताणुकावसान एकैकस्कन्धः अनौपनिधिक्यानुपूर्वीत्वेनाभिप्रेतो न च स्कन्धगतद्व्यादिपरमाणूनां नियता काचित्परिपाटिरस्ति विशिष्टैकपरिणामपरिणतत्वात्तेषां तत्कथमिहानुपूर्वीत्वं, सत्यम् , किंतु-द्व्यादिपरमाणूनामादिमध्यावसानभावेन नियतपरिपाट्या व्यवस्थापनयोग्यताऽस्तीति योग्यतामाश्रित्यात्राप्यानुपूर्वीत्वं न विरुध्यते । ' तत्थ णमि ' त्यादि, तत्र या सा औपनिधिकी द्रव्यानुपूर्वी सा स्थाप्या सा न्यासिकी तिष्ठतु तावदल्पतरवक्तव्यत्वेन तस्या उपरि वक्ष्यमाणत्वादिति भावः ।

अनौपनिधिकी तु पश्चान्निर्दिष्टाऽपि बहुतरवक्तव्यत्वेन प्रथमं व्याख्यायते । बहुतरवक्तव्ये हि वस्तुनि प्रथममुच्यमानेऽल्पतरवक्तव्यवस्तुगतः कश्चिदर्थस्तन्मध्येऽप्युक्त एव लभ्यते इति गुणाधिक्यं पर्यालोच्य सूत्रकारोऽनौपनिधिक्याः स्वरूपं विवरीषुराह—

तत्थ णं जा सा अणोवनिहिआ सा दुविहा पण्णत्ता, तं जहा-नेगमववहाराणं, संगहस्स य ॥ (सूत्र-७२+)

' तत्थ णमि ' त्यादि, तत्र याऽसावनौपनिधिकी द्रव्यानुपूर्वी सा नयवक्तव्यताश्रयणात्-द्रव्यास्तिकनयमतेन द्विविधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा-नैगमव्यवहारयोः, संग्रहस्य च । नैगमव्यवहारसंमता संग्रहसंमता, चेत्यर्थः । अयमत्र भावार्थः-इहौघतः सप्त नया भवन्ति नैगमादयः, उक्तं च-नैगम-संग्रह-व्यवहार-ऋजुसूत्र-शब्द-समभिरूढै-वंभूता नया एते च द्रव्यास्तिकपर्यायास्तिकलक्षणनयद्वयेऽन्तर्भाव्यन्ते द्रव्यमेव परमार्थतोऽस्मिन् पर्याया इत्यभ्युपगमपरः द्रव्यास्तिकः, पर्याया एव वस्तुतः सन्ति न द्रव्यमित्यभ्युपगमपरः पर्यायास्तिकः, तत्राद्यास्त्रयो द्रव्यास्तिकाः, शेषास्तु पर्यायास्तिकाः । पुनर्द्रव्यास्तिकोऽपि सामान्यतो द्विविधः-विशुद्धः, अविशुद्धश्च । तत्र नैगमव्यवहाररूपः अविशुद्धः, संग्रहरूपस्तु विशुद्धः । कथं यतो नैगमव्यवहारावनन्तपरमाण्वनन्तद्व्यणुकाद्यनेकव्यक्त्यात्मकं कृष्णाद्यनेकगुणाधारं त्रिकालविषयं वा विशुद्धं द्रव्यमिच्छतः संग्रहश्च परमाण्वादिकं-परमाण्वादिसाम्यादिकं तिरोभूतगुणकलापमविद्यमानपूर्वापरविभागं नित्यं सामान्यमेव द्रव्यमिच्छति, एतच्च किलानेकताद्यभ्युपगमकलङ्केनाकलङ्कितत्वाच्छुद्धम् , ततः शुद्धद्रव्याभ्युपगमपरत्वादयमेव शुद्धः । अत्र च द्रव्यानुपूर्व्येव विचारयितुं प्रक्रान्ता अतः शुद्धाऽशुद्धस्वरूपं द्रव्यास्तिकमतेनैवासौ दर्शयिष्यते न पर्यायास्तिकमतेन पर्यायविचारस्यानुपक्रान्तत्वात् , इत्यलं विस्तरेण ।

(३) तत्र नैगमव्यवहारसम्मतामिमां दर्शयितुमाह—

से किं तं नेगमववहाराणं अणोवनिहिआ दव्वाऽऽणुपुव्वी ?, नेगमववहाराणं अणोवनिहिआ दव्वाऽऽणुपुव्वी पंचविहा पण्णत्ता, तं जहा-अट्ठपयपरूवणया १, भंगसमुक्कित्तणया २, भंगोवदंसणया ३, समोआरे ४, अणुगमे ५ (सूत्र-७३)

अत्र निर्वचनम् । ' नैगमववहाराणं अणोवणिहिया दव्वाणुपुव्वी पंचविहे' त्यादि, अर्थपदप्ररूपणतादिभिः पञ्चभिः प्रकारैर्विचार्यमाणत्वात्पञ्चविधा-पञ्चप्रकारा प्रज्ञप्ता, तद्यथा-अर्थपदप्ररूपणता , भङ्गसमुत्कीर्त्तनता , भङ्गोपदर्शनता, समवतारः, अनुगमः , एभिः पञ्चभिः प्रकारैर्नैगमव्यवहारनयमतेन अनौपनिधिक्या द्रव्यानुपूर्व्याः स्वरूपं निरूप्यते इतीह तात्पर्यम् । तत्र-अर्यते इति अर्थः-द्व्यणुकस्कन्धादिस्तद्युक्तं तद्विषयं वा पदमानुपूर्व्यादिकं तस्य प्ररूपणं-कथनं तद्भावोऽर्थपदप्ररूपणता इयमानुपूर्व्यादिका संज्ञा अयं च तदभिधेयस्त्र्यणुकादिरर्थः । संज्ञीत्येवं संज्ञासंज्ञिसंबन्धकथनमात्रं प्रथमं कर्त्तव्यमिति भावार्थः । तेषामेवानुपूर्व्यादिपदानां समुदितानां वक्ष्यमाणन्यायेन संभविनो विकल्पाः-भङ्गा उच्यन्ते-विभज्यन्ते; विकल्प्यन्ते इति कृत्वा , तेषां समुत्कीर्त्तनं-समुच्चारणं भङ्गसमुत्कीर्त्तनं , तद्भावो भङ्गसमुत्कीर्त्तनता , आनुपूर्व्यादिपदनिष्पन्नानां प्रत्येकभङ्गानां द्व्यादिसंयोगभङ्गानां च समुच्चारणमित्यर्थः, तेषामेव सूत्रमात्रतया अनन्तरसमुत्कीर्तितभङ्गानां प्रत्येकं स्वाभिधेयेन त्र्यणुकाद्यर्थेन सहोपदर्शनं-भङ्गोपदर्शनं तद्भावो भङ्गोपद-

र्शनता । भङ्गसमुत्कीर्त्तने भङ्गकविषयं सूत्रमेव केवलमुच्चारणीयम्, भङ्गोपदर्शने तु तदेव स्वविषयभूतेनार्थेन सहोच्चारयितव्यमिति विशेषः । तथा तेषामेवानुपूर्व्यादिद्रव्याणां स्वस्थानपरस्थानान्तरभावचिन्तनप्रकारः समवतारः । तथा तेषामेव आनुपूर्व्यादिद्रव्याणां सत्पदप्ररूपणादिभिरनुयोगद्वारैरनुगमनं-विचारणमनुगमः ।

तत्राऽऽद्यभेदं विवरीषुराह—

से किं तं नेगमववहाराणं अट्ठपयपरूवणया?, नेगमववहाराणं अट्ठपयपरूवणया तिपएसिए आणुपुव्वी, चउप्पएसिए आणुपुव्वी ०जाव दसपएसिए आणुपुव्वी, संखेज्जपएसिए आणुपुव्वी, असंखिज्जपएसिए आणुपुव्वी, अणंतपएसिए आणुपुव्वी, परमाणुपोग्गले अणाणुपुव्वी, दुपएसिए अवत्तव्वए, तिपएसिआ आणुपुव्वीओ, ०जाव अणंतपएसिआओ आणुपुव्वीओ, परमाणुपोग्गला अणाणुपुव्वीओ, दुपएसिआइं अवत्तव्वयाइं सेत्तं णेगमववहाराणं अट्ठपयपरूवणया । (सूत्र-७४)

अथ कथं नैगम-व्यवहारयोः सम्मता अर्थपदप्ररूपणता? इति । अत्रोत्तरमाह । 'नेगमववहाराणमि' त्यादि, तत्र त्रयः प्रदेशाः परमाणुत्रयलक्षणा यत्र स्कन्धे स त्र्यणुकानुपूर्वीत्युच्यते, एवं यावदनन्ता अणवो यत्र सः अनन्ताणुकः सोऽप्यानुपूर्वीत्युच्यते । 'परमाणुपोग्गले' त्ति—एकः परमाणुः परमाण्वन्तरासंसक्तोऽनानुपूर्वीत्यभिधीयते । द्वौ प्रदेशौ यत्र स द्विप्रदेशिकः स्कन्धोऽवक्तव्यकमित्याख्यायते बहवस्त्रिप्रदेशिकादयः स्कन्धाः आनुपूर्व्यो, बहवश्चैकाकिपरमाणवोऽनानुपूर्व्यः, बहूनि च द्व्यणुकस्कन्धद्रव्याण्यवक्तव्यकानि । आनुपूर्व्यां प्रक्रान्तायामनानुपूर्व्यवक्तव्यकयोः प्ररूपणमसङ्गतमिति चेत्, न, तत्प्रतिपक्षत्वात्तयोरपि प्ररूपणीयत्वात्, प्रतिपक्षपरिज्ञाने च प्रस्तुतवस्तुनः सुखावसेयत्वादिति भावार्थः । इहानुपूर्वी अनुपरिपाटिरिति पूर्वमुक्तं सा च यत्रैवादिमध्यान्तलक्षणः संपूर्णो गणनानुक्रमोऽस्ति तत्रैवोपपद्यते; नान्यत्र, एतच्च त्रिप्रदेशिकादिस्कन्धेष्वेव । तथा हि-" यस्मात्परमस्ति न पूर्वं स आदिः, यस्मात् पूर्वमस्ति न परं सोऽन्तः, तयोश्चान्तरं मध्यमुच्यते, " अयं च संपूर्णो गणनानुक्रमस्त्रिप्रदेशादिस्कन्ध एव, न परमाणौ; तस्यैकद्रव्यत्वेनाऽऽदिमध्यान्तव्यवहाराभावाद्, अत एवायमनानुपूर्वीत्वेनोक्तः, नापि द्व्यणुकस्कन्धः, तत्रापि मध्याभावेन संपूर्णगणनानुक्रमाऽभावाद्, अत्राऽऽह-ननु पूर्वस्यानु-पश्चादनुपूर्वं तस्य भाव आनुपूर्वीति पूर्वं व्याख्यातम्, एतच्च द्व्यणुकस्कन्धेऽपि घटत एव परमाणुद्वयस्यापि परस्परापेक्षया पूर्वपश्चाद्भावस्य विद्यमानत्वात्ततः संपूर्णगणनानुक्रमाभावेऽपि कस्मादयमप्यानुपूर्वी न भवति? नैतदेवं, यतो यथा मर्यादिके कचित्पदार्थे मध्ये अवधौ व्यवस्थापिते लोके पूर्वादिविभागः प्रसिद्धस्तथा यत्रापि स्यात्तदा स्यादेवं न चैवमत्रास्ति, मध्येऽवधिभूतस्य कस्यचिदभावतोऽसाङ्कर्येण पूर्वपश्चाद्भावस्यासिद्धत्वात्, यद्येवं परमाणुवत् द्व्यणुकस्कन्धोऽप्यनानुपूर्वीत्येव कस्मान्नोच्यते सत्यं, किंतु—परस्परापेक्षया पूर्वपश्चाद्भावमात्रस्य सद्भावादेवमप्यभिधातुमशक्योऽसौ तस्मादानुपूर्व्यनानुपूर्वीप्रकाराभ्यां वक्तुमशक्यत्वादवक्तव्यकमेव द्व्यणुकस्कन्धः, तस्माद्व्यवस्थितमिदम् आदिमध्यान्तभावेनाऽवधिभूतं मध्यवर्त्तिनमपेक्ष्याऽसांकर्येण मुख्यस्य पूर्वपश्चाद्भावस्य सद्भावात् त्रिप्रदेशादिस्कन्धः एवानुपूर्वी, परमाणुस्तूक्तयुक्त्या अनानुपूर्वी द्व्यणुकोऽवक्तव्यकः, इत्येवं संज्ञासंज्ञिकसंबन्धकथनरूपा अर्थपदप्ररूपणा कृता भवति । यद्येवं त्रिप्रदेशिका आनुपूर्व्य इत्यादि बहुवचननिर्देशः किमर्थः?, एकत्वमात्रेणैव संज्ञासंज्ञिसंबन्धकथनस्य सिद्धत्वात्, सत्यम्, किन्त्वानुपूर्व्यादिद्रव्याणां प्रतिभेदमनन्तव्यक्तिख्यापनार्थो नैगमव्यवहारयोरित्थंभूताभ्युपगमप्रदर्शनार्थश्च बहुत्वनिर्देश इत्यदोषः । अत्राह- नन्वनानुपूर्वीद्रव्यमेकेन परमाणुना निष्पद्यते, अवक्तव्यकद्रव्यं परमाणुद्वयेन आनुपूर्वीद्रव्यं तु जघन्यतोऽपि परमाणुत्रयेण इत्थं द्रव्यवृद्ध्या पूर्वानुपूर्वीक्रममाश्रित्य प्रथममनानुपूर्वी ततः अवक्तव्यकम् ततश्चानुपूर्वीत्येवं निर्देशो युज्यते, पश्चानुपूर्वीक्रमाश्रयणे तु व्यत्ययेन युक्तस्तत्कथं क्रमद्वयमुल्लङ्घ्यान्यथा निर्देशः कृतः?, सत्यमेतद्, किन्त्वनानुपूर्व्यपि व्याख्याङ्गमिति ख्यापनार्थः । यद्वा-त्र्यणुकचतुरणुकादीन्यानुपूर्वीद्रव्याण्यनानुपूर्व्यवक्तव्यकद्रव्येभ्यो बहूनि तेभ्योऽनानुपूर्वीद्रव्याण्यल्पानि तेभ्योऽप्यवक्तव्यकद्रव्याण्यल्पतराणीत्यत्रैव वक्ष्यते, ततश्चेत्थं द्रव्यहान्या पूर्वानुपूर्वीक्रमनिर्देश एवायमिति । अलं विस्तरेण । 'सेत्तमि' त्यादि निगमनम् ।

एआए णं नेगमववहाराणं अट्ठपयपरूवणयाए किं पओअणं?, एआए णं नेगमववहाराणं अट्ठपयपरूवणयाए भंगसमुक्कित्तणया कज्जइ । (सूत्र-७५)

'एताए णमि' त्यादि, एतया अर्थपदप्ररूपणतया किं प्रयोजनमिति, अत्राऽऽह—एतया अर्थपदप्ररूपणतया भङ्गसमुत्कीर्त्तना क्रियते, इदमुक्तं भवति-अर्थपदप्ररूपणतायां संज्ञासंज्ञिव्यवहारो निरूपितस्तस्मिंश्च सत्येवं भङ्गकाः समुत्कीर्त्तयितुं शक्यन्ते, नाऽन्यथा, संज्ञामन्तरेण निर्विषयाणां भङ्गानां प्ररूपयितुमशक्यत्वात् तस्माद्युक्तमुक्तम् एतया अर्थपदप्ररूपणतया भङ्गसमुत्कीर्त्तना क्रियते इति ।

तामेव भङ्गसमुत्कीर्त्तनां निरूपयितुमाह—

से किं तं नेगमववहाराणं भंगसमुक्कित्तणया?, नेगमववहाराणं भंगसमुक्कित्तणया-अत्थि आणुपुव्वी १, अत्थि अणाणुपुव्वी २, अत्थि अव्वत्तव्वए ३, अत्थि आणुपुव्वीओ ४, अत्थि अणाणुपुव्वीओ ५, अत्थि अव्वत्तव्वयाइं ६, इक्कसंयोगी छ भंगा । द्विकसंयोगीभंगा-अहवा-अत्थि आणुपुव्वी अ अणाणुपुव्वी अ १, अहवा-अत्थि आणुपुव्वी अ अणाणुपुव्वीओ अ २, अहवा-अत्थि आणुपुव्वीओ अ अणाणुपुव्वी अ ३, अहवा-अत्थि आणुपुव्वीओ अ अणाणुपुव्वीओ अ ४, अहवा-अत्थि आणुपुव्वी अ अव्वत्तव्वए अ ५, अहवा-अत्थि आणुपुव्वी अ अव्वत्तव्वयाइं च ६, अहवा-अत्थि आणुपुव्वीओ अ अव्वत्तव्वए अ ७, अहवा-अत्थि आणुपुव्वीओ अ अवत्तव्वाइं च ८, अहवा-अत्थि अणाणुपुव्वी अ अवत्तए अ ९, अहवा-अत्थि अणाणु-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुव्वी अ अवत्तव्वयाइं च १०, अहवा-अत्थि अणाणुपुव्वीओ अ अवत्तव्वए अ ११, अहवा-अत्थि अणाणुपुव्वीओ अ अवत्तव्वयाइं च १२ ॥ त्रिकसंयोगी भङ्गा-अहवा-अत्थि आणुपुव्वी अ अणाणुपुव्वी अ अवत्तव्वए अ १, अहवा-अत्थि आणुपुव्वी अ अणाणुपुव्वी अ अवत्तव्वयाइं च २, अहवा-अत्थि आणुपुव्वी अ अणाणुपुव्वीओ अ अवत्तव्वए अ ३, अहवा-अत्थि आणुपुव्वी अ अणाणुपुव्वीओ अ अवत्तव्वयाइं च ४, अहवा-अत्थि आणुपुव्वीओ अ अणाणुपुव्वी अ अवत्तव्वए अ ५, अहवा-अत्थि आणुपुव्वीओ अ अणाणुपुव्वी अ अवत्तव्वयाइं च ६, अहवा-अत्थि आणुपुव्वीओ अ अणाणुपुव्वीओ अ अवत्तव्वए अ ७, अहवा-अत्थि आणुपुव्वीओ अ अणाणुपुव्वीओ अ अवत्तव्वयाइं च ८, त्रिकसंयोगी एए अ(ड)ट्ठ भंगा। एवं सव्वेऽवि छव्वीसं भंगा। सेत्तं नेगमववहाराणं भंगसमुक्कित्तणया।(सूत्र-७६)

प्रश्न अत्र चानुपूर्व्यादिपदत्रयेणैकवचनान्तेन त्रयो भङ्गा भवन्ति। बहुवचनान्तेनापि तेन त्रय एव भङ्गाः, एवमेते असंयोगतः प्रत्येकं भङ्गाः षड् भवन्ति, संयोगपक्षे तु पदत्रयस्यास्य त्रयो द्विकसंयोगाः, एकैकस्मिंस्तु द्विकसंयोगे एकवचनबहुवचनाभ्यां चतुर्भङ्गीसद्भावतः त्रिष्वपि द्विकसंयोगेषु द्वादशभङ्गाः संपद्यन्ते, त्रिकसंयोगस्त्वेक एव, तत्र च (एकवचनान्तास्त्रयः एते बहुवचनान्तास्त्रयः) एकवचनबहुवचनाभ्यामष्टौ भङ्गाः सर्वेऽप्यमी षड्विंशतिः, अत्र स्थापना चेयम्—

इत्येकवचनान्तास्त्रयः	बहुवचनान्तास्त्रयः
आनुपूर्वी १	आनुपूर्व्यः ३
अनानुपूर्वी १	अनानुपूर्व्यः ३
अवक्तव्यकः १	अवक्तव्यकाः ३

१ द्विकयोगे चतुर्भङ्गी।

आनुपूर्वी १	अनानुपूर्वी १
आनुपूर्वी १	अनानुपूर्व्यः ३
आनुपूर्व्यः ३	अनानुपूर्वी १
आनुपूर्व्यः ३	अनानुपूर्व्यः ३

२ द्विकयोग ४।

आनुपूर्वी १	अवक्तव्यकः १
आनुपूर्वी १	अवक्तव्यकाः ३
आनुपूर्व्यः ३	अवक्तव्यकः १
आनुपूर्व्यः ३	अवक्तव्यकाः ३

३ द्विकयोगे ४।

अनानुपूर्वी १	अवक्तव्यकः १
अनानुपूर्वी १	अवक्तव्यकाः ३
अनानुपूर्व्यः ३	अवक्तव्यकः १
अनानुपूर्व्यः ३	अवक्तव्यकाः ३

त्रिकसंयोगेऽष्टौ भङ्गाः

आनुपूर्वी १	अनानुपूर्वी १	अवक्तव्यकः १
आनुपूर्वी १	अनानुपूर्वी १	अवक्तव्यकाः ३
आनुपूर्वी १	अनानुपूर्व्यः ३	अवक्तव्यकः १
आनुपूर्वी १	अनानुपूर्व्यः ३	अवक्तव्यकाः ३
आनुपूर्व्यः ३	अनानुपूर्वी १	अवक्तव्यकः १
आनुपूर्व्यः ३	अनानुपूर्वी १	अवक्तव्यकाः ३
आनुपूर्व्यः ३	अनानुपूर्व्यः ३	अवक्तव्यकः १
आनुपूर्व्यः ३	अनानुपूर्व्यः ३	अवक्तव्यकाः ३

सर्वेऽपि षड्विंशतिरेव एते चोत्तरं प्रयच्छता अनेनैव क्रमेण सूत्रेऽपि लिखिताः सन्तीति भावनीयाः। अथ किमर्थं भङ्गकसमुत्कीर्त्तनं क्रियत इति चेत्, उच्यते-इहानुपूर्व्यादिभिस्त्रिभिः पदैरेकवचनान्तबहुवचनान्तैः प्रत्येकचिन्तया संयोगचिन्तया च षड्विंशतिर्भङ्गाः जायन्ते, तेषु च मध्ये येन केनचिद्भङ्गेन वक्ता द्रव्यं वक्तुमिच्छति तेन प्रतिपादयितुं सर्वाणि प्रतिपादनप्रकाराननेकरूपान्नैगमव्यवहारनयाविच्छत इति प्रदर्शनार्थं भङ्गकसमुत्कीर्त्तनमिति। 'सेत्तमि' त्यादि निगमनम्। उक्ता भङ्गसमुत्कीर्त्तनता।

अथ भङ्गोपदर्शनतां प्रतिपिपादयिषुराह—

एआए णं नेगमववहाराणं भंगसमुक्कित्तणयाए किं पओअणं ?, एआए णं नेगमववहाराणं भंगसमुक्कित्तणयाए नेगमववहाराणं भंगोवदंसणया कीरइ। (सूत्र-७७)

'एताए णमि' इत्यादि, एतया भङ्गसमुत्कीर्त्तनतया किं प्रयोजनमिति ?, अत्रोत्तरमाह-'एताए णमि' त्यादि, एतया भङ्गसमुत्कीर्त्तनया भङ्गोपदर्शनता क्रियते, इदमुक्तं भवति-भङ्गसमुत्कीर्त्तनतायां भङ्गकसूत्रमुक्तं, भङ्गोपदर्शनतायां तस्यैव वाच्यं त्र्यणुकस्कन्धादिकं कथयिष्यते। तच्च सूत्रे समुत्कीर्त्तिते एव कथयितुं शक्यते, वाचकमन्तरेण वाच्यस्य कथयितुमशक्यत्वाद् अतो युक्तं भङ्गकसमुत्कीर्त्तनतायां भङ्गोपदर्शनताप्रयोजनम्, अत्राह-ननु भङ्गोपदर्शनतायां वाच्यस्य त्र्यणुकस्कन्धादेः कथनकाले आनुपूर्व्यादिसूत्रं पुनरप्युत्कीर्त्तयिष्यति तत् किं भङ्गसमुत्कीर्त्तनतया प्रयोजनमिति, सत्यं, किंतु-भङ्गसमुत्कीर्तनता सिद्धस्यैव सूत्रस्य भङ्गोपदर्शनतायां वाच्यवाचकभावसुखप्रतिपत्त्यर्थं प्रसङ्गतः पुनरपि समुत्कीर्त्तनं करिष्यते; न पुनरनर्थेत्यदोषः। यथाहि-" संहिता च पदं चैव " इत्यादि व्याख्याक्रमे सूत्रं संहिताकाले समुच्चारितमपि पदार्थकथनकाले पुनरप्यर्थकथनार्थमुच्चार्यते तद्वदत्रापीति भावः।

अथ केयं पुनर्भङ्गोपदर्शनतेति प्रश्नपूर्वकं तामेव निरूपयितुमाह—

से किं तं नेगमववहाराणं भंगोवदंसणया ?, नेगमववहाराणं भंगोवदंसणया ?, तिपएसिए आणुपुव्वी १, परमाणुपोग्गले अणाणुपुव्वी १, दुपएसिए अवत्तव्वए २, अहवा-तिपएसियाणुपुव्वीओ परमाणुपोग्गला अणाणुपुव्वीओ दुपएसिया अव्वत्तव्वयाइं ३, अहवा-तिपएसिए अ परमाणुपोग्गले अ आणुपुव्वी अ अणाणुपुव्वी अ ४, चउभंगो। अहवा-दुपयसिए य तिपएसिए अ आणुपुव्वी अ अव्वत्तव्वए य चउभंगो, अहवा-दुपएसिए य परमाणुपोग्गले अ अवत्तव्वए य आणुपुव्वी अ, अहवा-तिपएसिआ य परमाणुपोग्गला य आणुपुव्वीओ अ अणाणुपुव्वीओ अ ४, अहवा-तिपएसिए अ दुपएसिए अ आणुपुव्वी अ अवत्तव्वए अ ५, अहवा-तिपएसिए अ दुपएसिआ य आणुपुव्वी अ अवत्तव्वयाइं च ६, अहवा-तिपएसिआ य आणुपुव्वी अ अवत्तव्वयाइं च ७; अ-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हवा-तिपएसिआ य दुपएसिए अ आणुपुव्वीओ अ अवत्तव्वए अ , अहवा-तिपएसिआ य दुपएसिआ " आणुपुव्वी अ अवत्तव्वए अ, अहवा-तिपएसिआ य दुपएसिआ य आणुपुव्वी अ अवत्तव्वयाइं च ८, अहवा-परमाणुपोग्गले अ दुपएसिए अ अणाणुपुव्वी अ अवत्तव्वए अ ९, अहवा-परमाणुपोग्गले अ दुपसिएआ य अणाणुपुव्वी अ अवत्तव्वयाइं च १० , अहवा-परमाणुपोग्गला य दुपएसिए अ अणाणुपुव्वी अ अवत्तव्वए अ ११ , अहवा-परमाणुपोग्गला य दुपएसिआ य अणाणुपुव्वी अ अवत्तव्वयाइं च १२ ,

अहवा-तिपएसिए अ परमाणुपोग्गले अ दुपएसिए अ आणुपुव्वी अ अणाणुपुव्वी अ अवत्तव्वए अ १ , अहवा-तिपएसिए अ परमाणुपोग्गले य दुपएसिआ य आणुपुव्वी अ अणाणुपुव्वी अ अवत्तव्वयाइं च २ , अहवा-तिपएसिए अ परमाणुपोग्गला अ दुपएसिआ य आणुपुव्वी अ अणाणुपुव्वीओ अ अवत्तव्वए अ ३, अहवा-तिपएसिए अ परमाणुपोग्गला य दुपएसिया अ आणुपुव्वी अ अणाणुपुव्वीओ अ अवत्तव्वए अ ४ , अहवा-तिपएसिए अ परमाणुपोग्गला य दुपएसिआ य आणुपुव्वी अ अणाणुपुव्वीओ अ अवत्तव्वए अ ५, अहवा-तिपएसिआ य परमाणुपोग्गले अ दुपएसिए अ आणुपुव्वीओ अ अणाणुपुव्वीओ अ अवत्तव्वयाइं च ६ , अहवा-तिपएसिआ य परमाणुपोग्गले अ दुपएसिआ य आणुपुव्वीओ अ अणाणुपुव्वी अवत्तव्वआ ७, अहवा-तिपएसिआ य परमाणुपोग्गले अ दुपएसिआ य आणुपुव्वीओ अ अणाणुपुव्वीओ अ अवत्तव्वयाइं च ८ । सेत्तं नेगमववहाराणं भंगोवदंसणया । (सूत्र-७८)

' से किं तमि ' त्यादि , 'तिपएसिए आणुपुव्वी ' त्ति-त्रिप्रदेशिकोऽर्थः आनुपूर्वीत्युच्यते; त्रिप्रदेशिकस्कन्धलक्षणेनार्थेनानुपूर्वीति भङ्गका निष्पद्यत इत्यर्थः । एवं परमाणुपुद्गललक्षणोऽर्थः अनानुपूर्वीत्युच्यते, द्विप्रदेशिकस्कन्धलक्षणोऽर्थोऽवक्तव्यकमुच्यते, एवं बहवस्त्रिप्रदेशिका आनुपूर्व्यः, बहवः परमाणुपुद्गला अनानुपूर्व्यः बहवो द्विप्रदेशिकस्कन्धा अवक्तव्यकानीति एतेषां प्रत्येकभङ्गानामर्थकथनम् । एवं त्रिकसंयोगेऽपि त्रिप्रदेशिकस्कन्धः परमाणुपुद्गलआनुपूर्व्यनानुपूर्वीत्वेनोच्यते , यदा त्रिप्रदेशिकस्कन्धः परमाणुपुद्गलश्च प्रतिपादयितुमभीष्टो भवति । तदा ' अत्थि आणुपुव्वी अ अणाणुपुव्वी अ ' इत्येवं भङ्गो निष्पद्यत इत्यर्थः , एवमर्थकथनपुरस्सराः शेषभङ्गा अपि भावनीयाः । अत्राह-नन्वर्थोऽप्यानुपूर्व्यादिपदानां त्र्यणुकस्कन्धादिकोऽर्थपदप्ररूपणतालक्षणे प्रथमद्वारे कथित एव तत्किमनेन ?, सत्यम् ?, किंतु तत्र पदार्थमात्रमुक्तम् ; अत्र तु तेषामेवानुपूर्व्यादिपदानां भङ्गकरचनासमादिष्टानामर्थः कथ्यत इत्यदोषः, नयमतवैचित्र्यप्रदर्शनार्थं वा पुनरित्थमर्थोपदर्शनमिति । अलं विस्तरेण । ' सेत्तमि ' त्यादि निगमनम् । उक्ता भङ्गोपदर्शनता ।

अथ समवतारं विभणिषुराह—

से किं तं समोआरे ?, समोआरे नेगमववहाराणं आणुपुव्वीदव्वाइं कहिं समोअरंति ?, किं आणुपुव्विदव्वेहिं समोअरंति ?, अणाणुपुव्विदव्वेहिं समोअरंति ?, अवत्तव्वयदव्वेहिं समोअरंति ?, नेगमववहाराणं आणुपुव्वीदव्वाइं आणुपुव्वीदव्वेहिं समोअरंति, नो अणाणुपुव्वीदव्वेहिं समोअरंति, नो अवत्तव्वयदव्वेहिं समोअरंति, नेगमववहाराणं अणाणुपुव्विदव्वाइं कहिं समोअरंति ?, किं आणुपुव्विदव्वेहिं समोअरंति ? अणाणुपुव्विदव्वेहिं समोअरंति ? अवत्तव्वयदव्वेहिं समोअरंति ?, नो आणुपुव्विदव्वेहिं समोअरंति, अणाणुपुव्विदव्वेहिं समोअरंति, नो अवत्तव्वयदव्वेहिं समोअरंति । नेगमववहाराणं अवत्तव्वयदव्वाइं कहिं समोअरंति ?, किं आणुपुव्विदव्वेहिं समोअरंति ? अणाणुपुव्विदव्वेहिं समोअरंति ?, अवत्तव्वयदव्वेहिं समोअरंति, नो आणुपुव्विदव्वेहिं समोअरंति; नो अणाणुपुव्विदव्वेहिं समोअरंति; अवत्तव्वयदव्वेहिं समोअरंति । सेत्तं समोआरे । (सूत्र-७९)

अथ कोऽयं समवतार इति प्रश्ने सत्याह-' समोयारे' त्ति-अयं समवतार उच्यत इति शेषः, कः समवतार इत्याह—'नेगमववहाराणं आणुपुव्वीदव्वाइं कहिं समोयरंती ' त्यादि प्रश्नः, अत्रोत्तरम्- ' नेगमववहाराणं आणुपुव्वी ' इत्यादि, आनुपूर्वीद्रव्याणि आनुपूर्वीद्रव्यलक्षणायां स्वजातावेव वर्त्तन्ते; न स्वजात्यतिक्रमणेत्यर्थः, इदमुक्तं भवति—सम्यग्-अविरोधेनावतरणं-वर्त्तनं समवतारः अविरोधवृत्तिता प्रोच्यते, सा च स्वजातिवृत्तावेव स्यात् परजातिवृत्तेर्विरुद्धत्वात् ततो नानादेशादिवृत्तीन्यपि सर्वाण्यानुपूर्वीद्रव्याणि आनुपूर्वीद्रव्येष्वेव वर्त्तन्ते इति स्थितम् । एवमनानुपूर्व्यादीनामपि स्वस्थानावतारो भावनीयः । ' सेत्तमि ' त्यादि निगमनम् । उक्तः समवतारः ।

(४) अथाऽनुगमं विभणिषुरुपक्रमते—

से किं तं अणुगमे ?, अणुगमे नवविहे पण्णत्ते, तं जहा—

" संतपयपरूवणया १,
दव्वपमाणं च २. खित्त ३ फुसणा य ४ ।
कालो य ५ अंतरं ६ भा-
ग ७ भाव ८ अप्पाबहुं चेव ९ ॥ १ ॥" (सूत्र-८०)

अत्रोत्तरम्-'अणुगमे नवविहे'इत्यादि, तत्र सूत्रार्थस्यानुकूलमनुरूपं वा गमनं, व्याख्यानमनुगमः । अथवा-सूत्रपठनादनु-पश्चाद् गमनं व्याख्यानमनुगमः । यदि वा—अनुसूत्रमर्थो गम्यते-ज्ञायते अनेनेत्यनुगमो-व्याख्यानमेवेत्याद्यप्यदपि वस्त्वविरोधेन स्वधिया वाच्यमिति । स च नवविधो-नवप्रकारो भवति । तदेव नवविधत्वं दर्शयति,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तथेत्युपदर्शनार्थः। 'संतपयगाहा'-सदर्थविषयं पदं सत्पदं तस्य प्ररूपणं-प्रज्ञापनं सत्पदप्ररूपणं तस्य भावः सत्पदप्ररूपणता सा प्रथमं कर्त्तव्या। इदमुक्तं भवति-इह स्तम्भकुम्भादीनि पदानि सदर्थविषयाणि दृश्यन्ते खरशृङ्गव्योमकुसुमादीनि त्वसदर्थविषयाणि दृश्यन्ते तत्रानुपूर्व्यादिपदानि किं स्तम्भादिपदानीव सदर्थविषयाणि आहोस्वित् खरविषाणादिपदवत् असदर्थगोचराणि इत्येतत्प्रथमं पर्यालोचयितव्यं, तथा आनुपूर्व्यादिपदाभिधेयद्रव्याणां प्रमाणं संख्यास्वरूपं प्ररूपणीयम्, चः समुच्चये, एवमन्यत्रापि तथा तेषामेव क्षेत्रं तदाधारस्वरूपं प्ररूपणीयं; कियति क्षेत्रे तानि भवन्तीति चिन्तनीयमित्यर्थः। तथा स्पर्शना च वक्तव्या; कियत्क्षेत्रं तानि स्पृशन्तीति चिन्तनीयमित्यर्थः। तथा कालश्च तत्स्थितिलक्षणो वक्तव्यः, तथा अन्तरं-विवक्षितस्वभावपरित्यागे सति पुनस्तद्भावप्राप्तिविरहलक्षणं प्ररूपणीयं, तथा आनुपूर्वीद्रव्याणि शेषद्रव्याणां कतिभागे वर्त्तन्ते इत्यादिलक्षणो भागः प्ररूपणीयः, तथा आनुपूर्व्यादिद्रव्याणि कस्मिन् भावे वर्त्तन्ते इत्येवंरूपो भावः प्ररूपणीयः, तथा अल्पबहुत्वं चानुपूर्व्यादिद्रव्याणां द्रव्यार्थप्रदेशार्थोभयार्थताश्रयेण परस्परं स्तोकबहुत्वचिन्तालक्षणं प्ररूपणीयम् एवकारोऽवधारणे, एतावत्प्रकार एवानुगम इति गाथासमासार्थः। विस्तरा(व्यासा)र्थं तु ग्रन्थकारः स्वयमेव विभणिषुराद्यावयवमधिकृत्याह-

नेगमववहाराणं आणुपुव्विदव्वाइं किं अत्थि णऽत्थि ?, णियमा अत्थि। नेगमववहाराणं अणाणुपुव्वीदव्वाइं किं अत्थि णऽत्थि ?, नियमा अत्थि। नेगमववहाराणं अवत्तव्वगदव्वाइं किं अत्थि णऽत्थि, नियमा अत्थि। (सूत्र-८१)

नैगमव्यवहारयोरानुपूर्वीशब्दाभिधेयानि द्रव्याणि त्र्यणुकस्कन्धादीनि किं सन्ति; न इति(च) प्रश्नः, अत्रोत्तरं-नियमा 'अत्थि' इति, एतदुक्तं भवति-नेदं खरशृङ्गादिवदानुपूर्वीपदमसदर्थगोचरम्, अतो नियमात्सन्ति तदभिधेयानि द्रव्याणि तानि च त्र्यणुकस्कन्धादीनि पूर्वं दर्शितान्येव, एवमनानुपूर्व्यवक्तव्यकपदद्वयेऽपि वाच्यम्। कृता सत्पदप्ररूपणा।

अथ द्रव्यप्रमाणमभिधित्सुराह-

नेगमववहाराणं आणुपुव्विदव्वाइं किं संखिज्जाइं असंखिज्जाइं अणंताइं ?, नो संखिज्जाइं नो असंखिज्जाइं, अणंताइं, एवं अणाणुपुव्विदव्वाइं, अवत्तव्वगदव्वाइं च अणंताइं भाणिअव्वाइं। (सूत्र-८२)

'नेगमववहाराणं आणुपुव्विदव्वाइं किं संखेज्जाइंमि' त्यादि, अयमत्र निर्वचनभावार्थः-इहानुपूर्व्यनानुपूर्व्यवक्तव्यकद्रव्याणि प्रत्येकमनन्तान्येकैकस्मिन्नप्याकाशप्रदेशे प्राप्यन्ते, किं पुनः सर्वलोके, अतः संख्येयाऽसंख्येयप्रकारद्वयनिषेधेन त्रिष्वपि स्थानेष्वानन्त्यमेव वाच्यमिति। न च वक्तव्यं कथमसंख्येये लोके अनन्तानि द्रव्याणि तिष्ठन्ति ?, अचिन्त्यत्वात् पुद्गलपरिणामस्य, शक्तिर्दृश्यते चैकगृहान्तर्वर्त्त्याकाशप्रदेशेष्वेकप्रदीपप्रभापरमाणुव्याप्तेष्वप्यनेकाऽपरप्रदीपप्रभापरमाणूनां तत्रैवावस्थानं, नचाऽविशिष्टेऽप्यर्थेऽनुपपत्तिः अतिप्रसङ्गादिति। अलं प्रपञ्चेन।

इदानीं क्षेत्रद्वारमुच्यते-

नेगमववहाराणं आणुपुव्वीदव्वाइं लोअस्स किं संखिज्जइभागे होज्जा असंखिज्जइभागे होज्जा संखेज्जेसु भागेसु होज्जा असंखेज्जेसु भागेसु होज्जा सव्वलोए होज्जा ?, एगं दव्वं पडुच्च संखेज्जइ भागे वा होज्जा असंखिज्जइ भागे वा होज्जा संखेज्जेसु भागेसु वा होज्जा असंखिज्जेसु भागेसु वा होज्जा सव्वलोए वा होज्जा, णाणादव्वाइं पडुच्च नियमा सव्वलोए होज्जा। नेगमववहाराणं अणाणुपुव्विदव्वाइं किं लोअस्स किं संखिज्जइभागे होज्जा ०जाव सव्वलोए वा होज्जा ?, एगं दव्वं पडुच्च नो संखेज्जइभागे होज्जा, असंखिज्जइभागे होज्जा, नो संखेज्जेसु भागेसु होज्जा, नो असंखेज्जेसु भागेसु होज्जा, नो सव्वलोए होज्जा, णाणादव्वाइं पडुच्च नियमा सव्वलोए होज्जा, एवं अवत्तव्वगदव्वाइं भाणिअव्वाइं। (सूत्र-८३)

आनुपूर्वीद्रव्याणि किं लोकस्यैकस्मिन् संख्याततमे भागे 'होज्ज' त्ति। आर्षत्वात् भवन्ति अवगाहन्त इति यावत्। यदि वा-एकस्मिन्नसंख्याततमे भागे भवन्ति उत बहुषु संख्येयेषु भागेषु भवन्ति आहोस्विद्बहुष्वसंख्येयेषु भागेषु भवन्ति अथ सर्वलोके भवन्तीति पञ्च प्रश्नस्थानान्यत्र निर्वचनसूत्रस्येयं भावना-इहानुपूर्वीद्रव्याणि त्र्यणुकस्कन्धादीन्यनन्ताणुस्कन्धपर्यवसानान्युक्तानि तत्र च सामान्यत एकं द्रव्यमाश्रित्य तथाविधपरिणामवैचित्र्यात् किंचिल्लोकस्यैकस्मिन् संख्याततमे भागे भवति एकं तत्संख्यातभागमवगाह्य तिष्ठतीत्यर्थः, अन्यत्तु तदसंख्येयभागमवगाहते, अपरस्तु-बहूंस्तत्संख्येयान् भागानवगाह्य वर्त्तते, अन्यच्च बहून् तदसंख्येयभागानवगाह्य तिष्ठतीति, 'सव्वलोए वा होज्ज त्ति' इहानन्तानन्तपरमाणुप्रचयनिष्पन्नं प्रज्ञापनादिप्रसिद्धाचित्तमहास्कन्धलक्षणमानुपूर्वीद्रव्यं समयमेकं सकललोकावगाहि प्रतिपत्तव्यमिति। कथं पुनरयमचित्तमहास्कन्धः सकललोकावगाही स्याद् ?, उच्यते-समुद्घातवर्त्तिकेवलिवत्। तथाहि-लोकमध्यव्यवस्थितोऽसौ प्रथमसमये तिर्यगसंख्यातयोजनविस्तरं संख्यातयोजनविस्तरं वा ऊर्ध्वमधस्तु चतुर्दशरज्ज्वायतं विश्रसापरिणामेन वृत्तं दण्डं करोति द्वितीये कपाटम्, तृतीये मन्थानं,चतुर्थे लोकव्याप्तिं प्रतिपद्यते। पञ्चमे अन्तराणि संहरति षष्ठे मन्थानं सप्तमे कपाटमष्टमे तु दण्डं संहृत्य खण्डशो भिद्यत इत्येके, अन्येत्वन्यथापि व्याचक्षते; तत्तु विशेषावश्यकादवसेयमिति 'वा' शब्दः समुच्चये एवं यथासंभवमन्यत्रापि। 'नाणा दव्वाइं पडुच्च'त्यादि नानाद्रव्याण्यानुपूर्वीपरिणामवन्ति प्रतीत्य प्रकृत्य वा; अधिकृत्येत्यर्थः, नियमात् नियमेन सर्वलोके भवन्ति, न संख्येयादिभागेषु यतः सर्वलोकाकाशस्य स प्रदेशोऽपि नास्ति यत्र सूक्ष्मपरिणामवन्त्यनन्तान्यानुपूर्वीद्रव्याणि न सन्तीति अनानुपूर्व्यवक्तव्यकद्रव्येषु त्वेकं द्रव्यमाश्रित्य लोकस्याऽ-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संख्येयभाग एव वृत्तिर्न संख्येयभागादिषु यतोऽनानुपूर्वी तावत्परमाणुरुच्यते, स चैकाकाशप्रदेशाऽवगाढ एव भवति, अवक्तव्यकं तु द्व्यणुकस्कन्धः, स चैकाकाशप्रदेशावगाढो द्विप्रदेशावगाढो वा स्यादिति यथोक्तभागवृत्तितैवेति, नानाद्रव्यभावना पूर्ववदिति । उक्तं क्षेत्रद्वारम् ।

साम्प्रतं स्पर्शनाद्वारमुच्यते—

नेगमववहाराणं आणुपुव्विदव्वाइं लोगस्स किं संखेज्जइ भागं फुसंति असंखेज्जइभागं फुसंति संखेज्जे भागे फुसंति असंखेज्जे भागे फुसंति सव्वलोअं फुसंति?, एगं-दव्वं पडुच्च लोगस्स संखेज्जइभागं वा फुसंति० जाव सव्वलोगं वा फुसंति णाणादव्वाइं पडुच्च निअमा सव्वलोगं फुसंति । णेगमववहाराणं अणाणुपुव्विदव्वाइं लोअस्स किं संखेज्जइभागं फुसंति० जाव सव्वलोगं फुसंति । एगं दव्वं पडुच्च नो संखिज्जइभागं फुसंति असंखिज्जइभागं फुसंति नो संखिज्जे भागे फुसंति नो असंखेज्जे भागे फुसंति नो सव्वलोअं फुसंति, नाणादव्वाइं पडुच्च निअमा सव्वलोअं फुसंति, एवं अवत्तव्वगदव्वाइं भाणिअव्वाइं । (सूत्र-८४)

भावना तु क्षेत्रद्वारवदेव कर्तव्या, नवरं क्षेत्रस्पर्शनयोरयं विशेषः क्षेत्रम् अवगाहाक्रान्तप्रदेशमात्रं, स्पर्शना तु षड्भिर्दिक्कैः प्रदेशैस्तद्बहिरपि भवति, तथा च—परमाणुद्रव्यमाश्रित्य तावदवगाहनास्पर्शनयोरन्यत्रोक्तो भेदः । 'एगपएसोगाढं सत्त पएसा य से फुसण'त्ति-अस्यार्थः-परमाणुद्रव्यमवगाढं तावदेकस्मिन्नेवाकाशप्रदेशे, स्पर्शना तु (स) तस्य सप्त प्रदेशा भवन्ति, षड्दिग्व्यवस्थितान् षट्प्रदेशान् यत्र चावगाढस्तं च स्पृशतीत्यर्थः,एवमन्यत्रापि क्षेत्रस्पर्शनयोर्भेदो भावनीयः । अत्र सौगताः प्रेरयन्ति-यदि परमाणोः षड्दिग्स्पर्शना अभ्युपगम्यते तदैकत्वमस्य हीयते, तथा हि-प्रष्टव्यमत्र, किं येनैव स्वरूपेणासौ पूर्वाद्यन्यतरदिशा सम्बद्धस्तेनैवान्यदिग्भिः, उत स्वरूपान्तरेण ?, यदि तेनैव तदाऽयं पूर्वदिक्संबन्धोऽयं चापरदिक्संबन्ध इत्यादि विभागो न स्यात् एकस्वरूपत्वात्, विभागाभावे च षड्दिक्संबन्धवचनमुपप्लवत् एव, अथाऽपरो विकल्पः कल्प्यते तर्हि तस्य षट्स्वरूपाऽऽपत्त्या एकत्वं विशीर्यते, उक्तं च-'दिग्भागभेदो यस्याऽस्ति तस्यैकत्वं न युज्यत' इति । अत्र प्रतिविधीयते-इह परमाणुद्रव्यमादिमध्याऽन्त्यादिविभागरहितं निरंशमेकस्वरूपमिष्यते अतः सांशवस्तु संभवित्वात्परोक्तं विकल्पद्वयं निरास्पदमेव, अथानभ्युपगम्यमानाऽपि परमाणोः सांशता अनन्तरोक्तविकल्पबलेनापाद्यते, ननु भवन्तोऽपि तर्हि प्रष्टव्याः-क्वचिद्विज्ञानसंताने विवक्षितः कश्चिद्विज्ञानलक्षणक्षणः स्वजनकपूर्वक्षणस्य कार्यं स्वजन्योत्तरक्षणस्य कारणमित्यत्र सौगतानां तावदविप्रतिपत्तिः, तत्रेहापि विचार्यते—किमसौ येन स्वरूपेण पूर्वक्षणस्य कार्यं तेनैवोत्तरक्षणस्य कारणम् ; उत स्वरूपान्तरेण ?, यद्याद्यः पक्षस्तर्हि यथा पूर्वापेक्षयाऽसौ कार्यं तथोत्तरापेक्षयापि स्यात् यथा वा उत्तराऽपेक्षया कारणं तथा पूर्वापेक्षयापि स्याद्, एकस्वरूपत्वात्तस्येति, अथ द्वितीयः पक्षस्तर्हि तस्य सांशत्वप्रसङ्गोऽत्राऽपि दुर्वारः स्याद् अथ निरंश एवासौ ज्ञानलक्षणक्षणोऽकार्याकारणरूपः तत्तद्वस्तुव्यापृतत्वात् । तथा तथा व्यपदिश्यते, न पुनस्तस्यानेकस्वरूपत्वमस्ति , नन्वस्माकमपि नेदमुत्तरमतिदुर्लभं स्यात् , यतो द्रव्यतया निरंश एव परमाणुस्तथाविधाऽचिन्त्यपरिणामत्वाद् द्विकषट्केन सह नैरन्तर्येणावस्थितत्वात्तस्य स्पर्शकमुच्यते, न पुनस्तदंशैः काचित् स्पर्शना समस्तीति, अत्र बहुवक्तव्यं; तत्तु नोच्यते, स्थानान्तरेषु चर्चितत्वादिति । अलं विस्तरेण । उक्तं स्पर्शनाद्वारम् ।

इदानीं कालद्वारं विभणिषुराह—

णेगमववहाराणं आणुपुव्विदव्वाइं कालओ केवच्चिरं होइ ?, एगं दव्वं पडुच्च जहण्णेणं एगं समयं उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं, णाणादव्वाइं पडुच्च णिअमा सव्वऽद्धा अणाणुपुव्विदव्वाइं अवत्तव्वगदव्वाइं च एवं चेव भाणिअव्वाइं । (सूत्र-८५)

नैगमव्यवहारयोरानुपूर्वीद्रव्याणि कालतः—कालमाश्रित्य कियच्चिरं-कियन्तं कालं भवन्ति-आनुपूर्वीत्वपर्यायेणावतिष्ठन्ते ?, अत्रोत्तरम्-'एगं दव्वमि' त्यादि , इयमत्र भावना-परमाणुद्वयादेरपरैकादिपरमाणुमीलने अपूर्वं किञ्चिदानुपूर्वीद्रव्यं समुत्पन्नम् , ततः समयादूर्ध्वं पुनरप्येकाद्यणौ वियुक्तेऽपगतस्तद्भाव इत्येकमानुपूर्वीद्रव्यमधिकृत्य-जघन्यतः समयः—अवस्थितिकालः, यदा तु तदेवासंख्यातं कालं सद्भावेन स्थित्वाऽनन्तरोक्तस्वरूपेण वियुज्यते तदा उत्कृष्टतोऽसंख्येयोऽवस्थितिकालः प्राप्यते, अनन्तं कालं पुनर्नावतिष्ठते उत्कृष्टाया अपि पुद्गलसंयोगस्थितेरसंख्येयकालत्वादिति । नानाद्रव्याणि बहूनि पुनरानुपूर्वीद्रव्याण्यधिकृत्य सर्वाऽद्धास्थितिर्भवति, नाऽस्ति सः कश्चित्कालो यत्रानुपूर्वीद्रव्यविरहितोऽयं लोकः स्यादिति भावः । अनानुपूर्व्यवक्तव्यकद्रव्येष्वपि जघन्यादिभेदभिन्न एतावानेवावस्थितिकालः, तथाहि-कश्चित्परमाणुरेकं समयमेकाकीभूत्वा ततः परमाण्वादिना अन्येन सह संयुज्यत इत्यमेकमनानुपूर्वीद्रव्यमधिकृत्य जघन्यतः समयः-अवस्थितिकालः, यदा तु स एवासंख्यातं कालं तद्भावेन स्थित्वा अन्येन परमाण्वादिना सह संयुज्यते तत उत्कृष्टतोऽसंख्येयोऽवस्थितिकालः संप्राप्यते, नानाद्रव्यपक्षस्तु पूर्ववदेव भावनीयः । अवक्तव्यकद्रव्यमपि परमाणुद्वयलक्षणं यदा समयमेकं संयुक्तं स्थित्वा ततो वियुज्यते तदवस्थमेव वाऽन्येन परमाण्वादिना संयुज्यते तदा तस्याऽवक्तव्यकद्रव्यतया जघन्यतः समयोऽवस्थानं लभ्यते, यदा तु तदेवाऽसंख्यातं कालं तद्भावेन स्थित्वा विघटते तदवस्थमेव वाऽ(चा)न्येन परमाण्वादिना संयुज्यते तदोत्कृष्टतः अवक्तव्यकद्रव्यतया असंख्यातं कालमवस्थानं प्राप्यते, नानाद्रव्यपक्षस्तु तथैव भावनीय इति । उक्तं कालद्वारम् ।

अथाऽन्तरद्वारं प्रतिपिपादयिषुराह—

णेगमववहाराणं आणुपुव्विदव्वाणं अंतरं कालओ केवच्चिरं होइ ?, एगं दव्वं पडुच्च जहण्णेणं एगं समयं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उक्कोसेणं अणंतं कालं, नाणादव्वाइं पडुच्च णऽत्थि अंतरं। णेगमववहाराणं अणाणुपुव्वीदव्वाणं अन्तरं कालओ केवच्चिरं होइ ?, एगं दव्वं पडुच्च जहएणेणं एगं समयं उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं, नाणादव्वाइं पडुच्च णऽत्थि अन्तरं । णेगमववहाराणं अवत्तव्वगदव्वाणं अन्तरं कालओ केवच्चिरं होइ ?, एगं दव्वं पडुच्च जहएणेणं एगं समयं उक्कोसेणं अणंतं कालं । नाणादव्वाइं पडुच्च णऽत्थि अन्तरं । (सूत्र-८६)

नैगमव्यवहारयोरानुपूर्वीद्रव्याणामन्तरं कालतः कियच्चिरं भवतीति प्रश्नः, अन्तरम्-व्यवधानं, तच्च क्षेत्रतोऽपि भवति, यथा भूतलसूर्ययोरष्टौ योजनशतान्यन्तरमित्यतस्तद्व्यव च्छेदार्थमुक्तं कालतः-कालमाश्रित्य, तदयमत्रार्थः-आनुपूर्वीद्रव्याण्यानुपूर्वीस्वरूपतां परित्यज्य कियता कालेन तान्येव पुनस्तथा भवन्ति; आनुपूर्वीत्वपरित्याग-पुनर्लाभयोरन्तरे कियान् कालो भवतीत्यर्थः । अत्र निर्वचनम्-' एगं दव्वमि ' त्यादि, इयमत्र भावना-इह विवक्षितं त्र्यणुकस्कन्धादिकं किमप्यानुपूर्वीद्रव्यं विश्रसापरिणामात्प्रयोगपरिणामाद्वा खण्डशो वियुज्य परित्यक्तानुपूर्वीभावं संजातं एकस्माच्च समयादूर्ध्वं विश्रसादिपरिणामात्पुनस्तैरेव परमाणुभिस्तथैव तन्निष्पन्नमित्येवं जघन्यतः सर्वस्तोकतया एकं द्रव्यमाश्रित्याऽऽनुपूर्वीत्वपरित्याग-पुनर्लाभयोरन्तरे समयः प्राप्यते, उत्कृष्टतः सर्वबहुतया पुनरन्तरमनन्तं कालं भवति, तथाहि-तदेव विवक्षितं किमप्यानुपूर्वीद्रव्यं तथैव भिन्नं भित्वा च ते परमाणवोऽन्येषु परमाणुद्व्यणुकत्र्यणुकादिषु अनन्ताणुकस्कन्धपर्यन्तेषु अनन्तस्थानेषूत्कृष्टान्तराधिकारादसकृत्प्रतिस्थानमुत्कृष्टां स्थितिमनुभवन्तः पर्यटन्ति, कृत्वा चेत्थं पर्यटनं कालस्यानन्तत्वाद्विश्रसादिपरिणामतो यदा तैरेव परमाणुभिस्तदेव विवक्षितमानुपूर्वीद्रव्यं निष्पद्यते, तदाऽनन्त उत्कृष्टान्तरकालः प्राप्यते, नानाद्रव्याण्यधिकृत्य पुनर्नाऽस्त्यन्तरम् , नहि स कश्चित्कालोऽस्ति यत्र सर्वाण्यप्यानुपूर्वीद्रव्याणि युगपदानुपूर्वीभावं परित्यजन्ति, अनन्तानन्तैरानुपूर्वीद्रव्यैः सर्वदैव लोकस्याऽशून्यत्वादिति भावः । अनानुपूर्वीद्रव्यान्तरकालचिन्तायाम्-'एगं दव्वं पडुच्च जहन्नेणं एकं समयं'ति-इह यदा किञ्चिदनानुपूर्वीद्रव्यं परमाणुलक्षणमन्येन परमाणुद्व्यणुकत्र्यणुकादिना केनचित् द्रव्येण सह संयुज्य समयादूर्ध्वं वियुज्य पुनरपि तथा स्वरूपमेव भवति तदा समयलक्षणो जघन्यान्तरकालः प्राप्यते, 'उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं' ति-तदयाऽनानुपूर्वीद्रव्यं यदा अन्येन परमाणुद्व्यणुकत्र्यणुकादिना केनचिद् द्रव्येण सह संयुज्यते तत् संयुक्तं चाऽसंख्येयं कालं स्थित्वा वियुज्य पुनस्तथास्वरूपमेव भवति तदा असंख्यात उत्कृष्टान्तरकालो लभ्यते । अत्राह-ननु अनानुपूर्वीद्रव्यं यदा अनन्ताऽनन्तपरमाणुप्रचितस्कन्धेन सह संयुज्यते तत्संयुक्तं चासंख्येयं कालमवतिष्ठते, ततोऽसौ स्कन्ध उद्भिद्यते भिन्ने च तस्मिन् यस्तस्माल्लघुस्कन्धो भवति तेनापि सह संयुक्तमसंख्यातं कालमवतिष्ठते, पुनस्तस्मिन्नपि भिद्यमाने यः तस्माल्लघुतरः स्कन्धो भवति तेनापि संयुक्तमसंख्येयं कालमवतिष्ठते, पुनस्तस्मिन्नपि भिद्यमाने यस्तस्माल्लघुतमः स्कन्धो भवति तेनापि संयुक्तमसंख्येयं कालमवतिष्ठते इत्येवं तत्र भिद्यमाने क्रमेण कदाचिदनन्ता अपि स्कन्धाः संभाव्यन्ते, तत्र च प्रतिस्कन्धसंयुक्तमनानुपूर्वीद्रव्यं यदा यथोक्तां स्थितिमनुभूय तत एकाक्येव भवति तदा तस्य यथोक्तानन्तस्कन्धस्थित्यपेक्षया अनन्तोऽपि कालोऽन्तरं प्राप्यते, किमित्यसंख्येय एवोक्तः, अत्रोच्यते-स्यादेवं, हन्त यदि संयुक्तोऽणुरनाक्रान्तं कालं तिष्ठेत्तच्च नास्ति, पुद्गलसंयोगस्थितेरुत्कृष्टतोऽप्यसंख्येयकालत्वादित्युक्तमेव, अथ ब्रूयात्-यस्मिन्नेव स्कन्धे संयुज्यते असौ परमाणुः स चेत् स्कन्धः असंख्येयकालाद् भिद्यते तर्ह्येतावतैव चरितार्थः पुद्गलसंयोगाऽसंख्येयकालनियमो , विवक्षितपरमाणुद्रव्यस्य तु वियोगो मा भूदपीति, नैतदेवं, यस्या अन्येन संयोगो जातस्तस्यासंख्येयकालाद्वियोगश्चिन्त्यते, यदि च परमाण्वाश्रयः स्कन्धो वियुज्यते तर्हि परमाणोः किमायातं ?, तस्यान्यसंयोगस्य तदवस्थत्वात् , तस्मादणुत्वेनासौ संयुक्तोऽसंख्येयकालादणुत्वेनैव वियोजनीय इति यथोक्त एवान्तरकालो नत्वनन्त इति, कथं पुनरणुत्वेनैव तस्य वियोगश्चिन्तनीय इति चेत् सूत्रप्रामाण्यात् , प्रस्तुतसूत्रे व्याख्याप्रज्ञप्त्यादिषु च परमाणोः पुनः परमाणुभवने संख्येयरूपस्यैवान्तरकालस्योक्तत्वाद् इत्यलं विस्तरेण । 'नाणादव्वाइं पडुच्च ' त्यादि, पूर्ववद्भावनीयम् । अवक्तव्यकद्रव्याणामन्तरचिन्तायाम् 'एगं दव्वं पडुच्च' त्यादि । अत्र भावना-इह कश्चिद् द्विप्रदेशिकः स्कन्धो विघटितः स्वतन्त्रं परमाणुद्वयं जातं, समयं चैकं तथा स्थित्वा पुनस्ताभ्यामेव परमाणुभ्यां द्विप्रदेशिकः स्कन्धो निष्पन्नः, अथवा-विघटित एव द्विप्रदेशिकः स्कन्धोऽन्येन परमाण्वादिना संयुज्य समयादूर्ध्वं पुनस्तथैव वियुक्त इत्यवक्तव्यकस्य पुनरप्यवक्तव्यकभवने उभयथाऽपि समयोऽन्तरे लभ्यते, ' उक्कोसेणं अणंतं कालं' इति कथम् ?, अत्रोच्यते--अवक्तव्यकद्रव्यं किमपि विघटितं विशकलितपरमाणुद्वयं जातं तच्चानन्तैः परमाणुभिरनन्तैर्द्व्यणुकस्कन्धैरनन्तैस्त्र्यणुकस्कन्धैर्यावदनन्तैरनन्ताणुकस्कन्धैः सह क्रमेण संयोगमासाद्य उत्कृष्टान्तराधिकाराच्च प्रतिस्थानमसकृदुत्कृष्टां संयोगस्थितिमनुभूय कालस्यानन्तत्वात् यदा पुनरपि तथैव द्व्यणुकस्कन्धतया संयुज्यते तदा अवक्तव्यकैकद्रव्यस्य पुनस्तथाभवने अनन्तोऽन्तरकालः प्राप्यते नानाद्रव्यपक्षभावनालोके सर्वदैव तद्भावात् पूर्ववद्भावनीया । उक्तमन्तरद्वारम् ।

साम्प्रतं भागद्वारं निर्दिदिक्षुराह—

णेगमववहाराणं आणुपुव्वीदव्वाइं सेसदव्वाणं कति भागे होज्जा ?, किं संखिज्जइ भागे होज्जा असंखिज्जइ भागे होज्जा संखेज्जेसु भागेसु होज्जा असंखेज्जेसु भागेसु होज्जा?, नो संखिज्जइ भागे होज्जा नो असंखिज्जइ भागे होज्जा नो संखेज्जेसु भागेसु होज्जा, नियमा असंखेज्जेसु भागेसु होज्जा । णेगमववहाराणं अणाणुपुव्विदव्वाइं सेसदव्वाणं कति भागे होज्जा ?। किं संखिज्जइ भागे होज्जा असंखिज्जइ भागे होज्जा संखेज्जेसु भागेसु होज्जा असंखेज्जेसु भागेसु होज्जा ?, नो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संखेज्जइ भागे होज्जा नो असंखिज्जइ भागे होज्जा नो संखेज्जेसु भागेसु होज्जा, असंखेज्जेसु भागे होज्जा । एवं अवत्तव्वगदव्वाणि वि भाणिअव्वाणि । (सूत्र-८७)

नैगमव्यवहारयोस्त्र्यणुकस्कन्धादीन्यनन्ताणुकस्कन्धपर्यन्तानि सर्वाण्यप्यानुपूर्वीद्रव्याणि शेषद्रव्याणां समस्तानानुपूर्व्यवक्तव्यकद्रव्यलक्षणानां 'कति भागे होज्ज' त्ति-कति भागे भवन्तीत्यर्थः, किं संख्याततमभागे भवन्ति, यथा असत्कल्पनया शतस्य विंशतिमिताः किमसंख्याततमे भागे भवन्ति ?, यथा शतस्यैव दश, अथ संख्यातेषु भागेषु भवन्ति ?, यथा शतस्यैव चत्वारिंशत्षष्टिर्वा, किमसंख्यातेषु भागेषु भवन्ति यथा शतस्यैवाशीतिरिति प्रश्नः, अत्र निर्वचनम्-' नो संखेज्जइभागे होज्जा ' इत्यादि, नियमात् 'असंखेज्जेसु भागेसु होज्ज' त्ति—इह तृतीयार्थे सप्तमी, ततश्चानुपूर्वीद्रव्याणि शेषेभ्योऽनानुपूर्व्यवक्तव्यकद्रव्येभ्योऽसंख्येयैर्भागैरधिकानि, भवन्तीति वाक्यशेषो द्रष्टव्यः, ततश्चायमर्थः प्रतिपत्तव्यः-आनुपूर्वीद्रव्याणि शेषद्रव्येभ्योऽसंख्येयगुणानि, शेषद्रव्याणि तु तदसंख्येयभागे वर्त्तन्ते, न पुनः शतस्याशीतिरिवानुपूर्वीद्रव्याणि शेषेभ्यः स्तोकानीति, कस्मादेवं ? व्याख्यायते—स्तोकान्यपि तानि भवन्त्विति चेत् नैतदेवम् , अघटमानकत्वात् , तथाहि-अनानुपूर्व्यवक्तव्यकद्रव्येषु एकाकिनः परमाणुपुद्गला द्व्यणुकाश्च स्कन्धा इत्येतावन्त्येव द्रव्याणि लभ्यन्ते, शेषाणि तु त्र्यणुकस्कन्धादीन्यनन्ताणुकस्कन्धपर्यन्तानि द्रव्याणि समस्तान्यप्यानुपूर्वीरूपाण्येव तानि च पूर्वेभ्योऽसंख्येयगुणानि, यदुक्तम्-"एएसि णं भंते ! परमाणुपोग्गलाणं संखिज्जपएसियाणं असंखिज्जपएसियाणं अणंतपएसियाण य खंधाण कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ?, गोयमा ! सव्वत्थोवा अणंतपएसिया खंधा, परमाणुपोग्गला अणंतगुणा, संखिज्जपएसिया खंधा संखिज्जगुणा, असंखिज्जपएसिया खंधा असंखिज्जगुणा" तदत्र सूत्रे पुद्गलजातेः सर्वस्यापि सकाशादसंख्यातप्रदेशिकाः स्कन्धा असंख्यातगुणा उक्तास्ते चानुपूर्व्यामन्तर्भवन्ति, अतः तदपेक्षया आनुपूर्वीद्रव्याणि शेषात्समस्तादपि द्रव्यादसंख्यातगुणानि, किं पुनरनानुपूर्व्यवक्तव्यकद्रव्यमात्रात् , ततो यथोक्तमेव व्याख्यानं कर्त्तव्यमित्यलं विस्तरेण । ' अणाणुपुव्विदव्वाइमि ' त्यादि । इहानानुपूर्वीद्रव्याण्यवक्तव्यकद्रव्याणि च शेषद्रव्याणां यथा असंख्याततम एव भागे भवन्ति, न शेषभागेषु तथा अनन्तरोक्तन्यायादेव भावनीयमिति । उक्तं भागद्वारम् ।

साम्प्रतं भावद्वारमाह—

णेगमववहाराणं आणुपुव्वीदव्वाइं कतरंमि भावे होज्जा ?, किं उदइए भावे होज्जा उवसमिए भावे होज्जा खइए भावे होज्जा खओवसमिए भावे होज्जा पारिणामिए भावे होज्जा संनिवाइए भावे होज्जा ?, णिअमा सादिपारिणामिए भावे होज्जा, अणाणुपुव्विदव्वाणि, अवत्तव्वगदव्वाणि अ ; एवं चेव भाणिअव्वाणि । (सूत्र-८८)

' नेगमववहाराणमि ' त्यादि प्रश्नः, अत्र चौदयिकादिभावानां शब्दार्थो भावार्थश्च विस्तरेणोपरिष्टात् स्वस्थान एव वक्ष्यते, अत्र निर्वचनसूत्रे नियमा ' साइपारिणामिए भावे होज्ज ' त्ति-परिणमनं-द्रव्यस्य तेन तेन रूपेण वर्त्तनं-भवनं परिणामः, स एव पारिणामिकः तत्र भवस्तेन वा निर्वृत्त इति वा पारिणामिकः, स च द्विविधः-सादिः, अनादिश्च । तत्र धर्मास्तिकायाद्यरूपि द्रव्याणामनादिपरिणामोऽनादिकालात्तद्द्रव्यत्वेन तेषां परिणतत्वाद् , रूपिद्रव्याणां तु सादिः परिणामः, अभ्रेन्द्रधनुरादीनां तथा परिणतेरनादित्वाभावाद् , एवं च स्थिते नियमाद्-अवश्यंतया आनुपूर्वीद्रव्याणि सादिपारिणामिक एव भावे भवन्ति, आनुपूर्वीत्वपरिणतेरनादित्वासंभवात् , विशिष्टैकपरिणामेन पुद्गलानामसंख्येयकालमेवावस्थानादिति भावः । अनानुपूर्व्यवक्तव्यकद्रव्येष्वपीत्थमेव भावना कार्या इति । उक्तं भावद्वारम् ।

इदानीमल्पबहुत्वद्वारं विभणिषुराह—

एएसि णं भंते ! णेगमववहाराणं आणुपुव्वीदव्वाणं अणाणुपुव्विदव्वाणं अवत्तव्वगदव्वाण य दव्वट्ठयाए पएसट्ठयाए दव्वट्ठपएसट्ठयाए कतरे कतरेहिंतो अप्पा वा बहुआ वा तुल्ला वा विसेसाहिआ वा ?, गोयमा ! सवत्थोवाइं णेगमववहाराणं अवत्तव्वगदव्वाइं दव्वट्ठयाए अणाणुपुव्विदव्वाइं दव्वट्ठयाए विसेसाहियाइं आणुपुव्विदव्वाइं दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणाइं पएसट्ठयाए णेगमववहाराणं सव्वत्थोवाइं अणाणुपुव्विदव्वाइं अपएसट्ठयाए अवत्तव्वगदव्वाइं पएसट्ठयाए विसेसाहिआइं आणुपुव्विदव्वाइं पएसट्ठयाए अणंतगुणाइं दव्वट्ठपएसट्ठयाए सव्वत्थोवाइं णेगमववहाराणं अवत्तव्वगदव्वाइं दव्वट्ठयाए अणाणुपुव्विदव्वाइं दव्वट्ठयाए अपएसट्ठयाए विसेसाहिआइं अवत्तव्वगदव्वाइं पएसट्ठयाए विसेसाहिआइं आणुपुव्विदव्वाइं दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणाइं ताइं चेव पएसट्ठयाए अनंतगुणाइं । सेत्तं(तं)अणुगमे। सेत्तं (तं) णेगमववहाराणं अणोवणिहिआ दव्वाणुपुव्वी । (सूत्र-८९)

द्रव्यमेवार्थो द्रव्यार्थस्तस्य भावो द्रव्यार्थता तया; द्रव्यत्वेन इत्यर्थः, प्रकृष्टो-निरंशो देशः प्रदेशः स चासावर्थश्च प्रदेशार्थस्तस्य भावः प्रदेशार्थता तया, परमाणुत्वेनेति भावः, द्रव्यार्थप्रदेशार्थतया तु यथोक्तोभयरूपतयेति भावः, तदयमर्थः एतेषां आनुपूर्व्यादिद्रव्याणां मध्ये ' कयरे कयरेहिंतो' त्ति-कतराणि कान्याश्रित्य द्रव्यापेक्षया प्रदेशापेक्षया उभयापेक्षया वाऽल्पानि विशेषहीनत्वादिना बहूनि असंख्येयगुणत्वादिना तुल्यानि समसंख्यत्वेन विशेषाधिकानि किंचिदाधिक्येनेति वाशब्दाः पक्षान्तरसूचिद्योतकाः, इति पृष्टे वाचः क्रमवर्त्तित्वाद् द्रव्यार्थतापेक्षया तावदुत्तरमुच्यते, तत्र-' सव्वत्थोवाइं नेगमववहाराणं अवत्तव्वगदव्वाइं दव्वट्ठयाए ' त्ति-नैगमव्यवहारयोः द्रव्यार्थतामपेक्ष्य तावदवक्तव्यकद्रव्याणि सर्वेभ्योऽप्येभ्यः स्तोकानि सर्वस्तो-

कानि अनानुपूर्वीद्रव्याणि तु द्रव्यार्थतामेवापेक्ष्य विशेषाधिकानि कथम् ?, वस्तुस्थितिस्वभावात्, उक्तं च–"एएसि णं भंते ! परमाणुपोग्गलाणं दुपएसियाणं खंधाणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा० ?, गोयमा ! दुपएसिएहिंतो खंधेहिंतो परमाणुपोग्गला बहुग" त्ति–तेभ्योऽपि आनुपूर्वीद्रव्याणि द्रव्यार्थतयैवासंख्येयगुणानि, यतोऽनानुपूर्वीद्रव्येष्वेव वक्तव्यकद्रव्येषु च परमाणुलक्षणं द्व्यणुकस्कन्धलक्षणं चैकैकमेव स्थानं लभ्यते, आनुपूर्वीद्रव्येषु तु त्र्यणुकस्कन्धादीन्येकोत्तरवृद्ध्यानन्ताणुकस्कन्धपर्यन्तान्यनन्तानि स्थानानि प्राप्यन्ते, अतः स्थानबहुत्वादानुपूर्वीद्रव्याणि पूर्वेभ्योऽसंख्यातगुणानि । ननु यदि तेषु स्थानान्यनन्तानि तर्ह्यनन्तगुणानि पूर्वेभ्यस्तानि कस्मान्न भवन्तीति चेत्, नैवम्, यतोऽनन्ताणुकस्कन्धाः केवलानानुपूर्वीद्रव्येभ्योऽप्यनन्तभागवर्तित्वात् स्वभावादेव स्तोका इति न किञ्चित्तैरिह वर्द्धते अतो वस्तुवृत्त्या किलासंख्यातान्येव तेषु स्थानानि प्राप्यन्ते तदपेक्षया त्वसंख्यातगुणान्येव तानि एतच्च पूर्वं भागद्वारे लिखितप्रज्ञापनासूत्रात्सर्वं भावनीयमित्यलं विस्तरेण । उक्तं द्रव्यार्थतया अल्पबहुत्वम्, इदानीं प्रदेशार्थतया तदेवाह–'पएसट्ठयाए सव्वत्थोवाइं नेगमववहाराणमि' त्यादि, नैगमव्यवहारयोः प्रदेशार्थतया अल्पबहुत्वे चिन्त्यमाने अनानुपूर्वीद्रव्याणि सर्वेभ्यः स्तोकानि, कुत इत्याह–' अपएसट्ठयाए ' त्ति–प्रदेशलक्षणस्यार्थस्य तेष्वभावादित्यर्थः, यदि हि तेषु प्रदेशाः स्युस्तदा द्रव्यार्थतायामिव प्रदेशार्थतायामप्यवक्तव्यकापेक्षयाधिकत्वं स्यात्, नचैतदस्ति "परमाणुरप्रदेश" इति वचनात् अतः सर्वस्तोकान्येतानि, ननु यदि प्रदेशार्थता तेषु नास्ति तर्हि तया विचारोऽपि तेषां न युक्त इति चेत्, न, एतदेवम्–प्रकृष्टः–सर्वसूक्ष्मः पुद्गलास्तिकायस्य देशो–निरंशो भागः–प्रदेश इति व्युत्पत्तेः प्रतिपरमाणुप्रदेशार्थताभ्युपगम्यत एव आत्मव्यतिरिक्तप्रदेशान्तरापेक्षया त्वप्रदेशार्थेत्यदोषः, अवक्तव्यकद्रव्याणि प्रदेशार्थतयाऽनानुपूर्वीद्रव्येभ्यो विशेषाधिकानि, यतः किलासत्कल्पनया अवक्तव्यकद्रव्याणां षष्टिः अनानुपूर्वीद्रव्याणां तु शतम्, ततो द्रव्यार्थताविचारे एतानीतरापेक्षया विशेषाधिकान्युक्तानि, अत्र तु प्रदेशार्थताविचारे अनानुपूर्वीद्रव्याणां निष्प्रदेशत्वात्तदेव शतमवस्थितम् अवक्तव्यकद्रव्याणां त्विह प्रत्येकं द्विप्रदेशत्वाद् द्विगुणितानां विंशत्युत्तरं प्रदेशशतं जायते इति तेषामितरेभ्यः प्रदेशार्थतया विशेषाधिकत्वं भावनीयम् । आनुपूर्वीद्रव्याणि प्रदेशार्थतया अवक्तव्यकद्रव्येभ्योऽनन्तगुणानि भवन्ति, कथम् ?, यतो द्रव्यार्थतयापि तावदेतानि पूर्वेभ्योऽसंख्यातगुणान्युक्तानि, यदा तु संख्यातप्रदेशिकस्कन्धानामसंख्यातप्रदेशिकस्कन्धानामनन्ताणुकस्कन्धानां च सम्बन्धिनः सर्वेऽपि प्रदेशा विवक्ष्यन्ते तदा महानसौ राशिर्भवतीति प्रदेशार्थतयाऽमीषां पूर्वेभ्योऽनन्तगुणत्वं भावनीयम् । उक्तं प्रदेशार्थतयाऽल्पबहुत्वम् । इदानीमुभयार्थतामाश्रित्य तदाह–' दव्वट्ठपएसट्ठयाए ' इत्यादि, इहोभयार्थताधिकारेऽपि यदेवाल्पं तदेवाऽऽदौ दर्श्यते–अवक्तव्यकद्रव्याणि च सर्वाऽल्पानि इति प्रथमं तावदुक्तम्, ' सव्वत्थोवाइं नेगमववहाराणं अवत्तव्वगदव्वाइं दव्वट्ठयाए ' त्ति–अपरं चोभयार्थताधिकारेऽपि–" अणाणुपुव्विदव्वाइं दव्वट्ठयाए " इत्यादि यदुक्तम्–' अपएसट्ठयाए ' त्ति–तदात्मव्यतिरिक्तप्रदेशान्तराभावतोऽनानुपूर्वीद्रव्याणामप्रदेशिकत्वादिति मन्तव्यम् । ततश्चेदमुक्तं भवति–द्रव्यार्थतया अप्रदेशार्थतया च विशिष्टान्यनानुपूर्वीद्रव्याण्यवक्तव्यकद्रव्येभ्यो विशेषाधिकानि, शेषभावना तु प्रत्येकचिन्तावत्सर्वा कार्या । आह–यद्येवं प्रत्येकचिन्तायामेव प्रस्तुतोऽर्थः सिद्धः किमनयोभयार्थताचिन्तयेति चेत्, नैवम्, यत आनुपूर्वीद्रव्येभ्यस्तत्प्रदेशाः कियताप्यधिका इति प्रत्येकचिन्तायां न निश्चितम्, अत्र तु–' ताइं चेव पएसट्ठयाए अणंतगुणाइं " इत्यनेन तन्निर्णीतमेव ततोऽनवगतार्थप्रतिपादनार्थत्वात्प्रत्येकावस्थातो भिन्नैवोभयावस्था वस्तूनामिति दर्शनार्थत्वाच्च युक्तमेवोभयार्थताचिन्तनमित्यदोषः । तदेवमुक्तो नवविधोऽप्यनुगम इति निगमयति । ' से तं अणुगमे ' त्ति । तद्भणने च समर्थिता नैगमव्यवहारयोरनौपनिधिकी द्रव्यानुपूर्वी इति निगमयति । 'से तं नेगमे' त्यादि, व्याख्याता नैगमव्यवहारनयमतेन अनौपनिधिकी द्रव्यानुपूर्वी ।

(४) साम्प्रतं संग्रहनयमतेन तामेव व्याचिख्यासुराह–

से किं तं संगहस्स अणोवणिहिआ दव्वाणुपुव्वी ?, संगहस्स अणोवणिहिआ दव्वाणुपुव्वी पंचविहा पण्णत्ता, तं जहा–अट्ठपयपरूवणया १, भंगसमुक्कित्तणया २, भंगोवदंसणया ३, समोआरे ४, अणुगमे ५ । (सूत्र–९०)

सामान्यमात्रसंग्रहणशीलः संग्रहो नयः, अथ तस्य संग्रहनयस्य किं तद्वस्त्वनौपनिधिकीद्रव्यानुपूर्वीति प्रश्नः, आह–ननु "नेगमसंगहववहारे" त्यादिसूत्रक्रमप्रामाण्यान्नैगमानन्तरं संग्रहस्योपन्यासो युक्तः, तत्किमिति व्यवहारमपि निर्दिश्य ततोऽयमुच्यत इति, सत्यम्, किं तु–नैगमव्यवहारयोरत्र तुल्यमतत्वाल्लाघवार्थं युगपत्तन्निर्देशं कृत्वा पश्चात्संग्रहो निर्दिष्ट इत्यदोषः, अत्र निर्वचनमाह–' संगहस्स अणोवणिहिया दव्वाणुपुव्वी पंचविहा पण्णत्ता ' त्ति–संग्रहनयमतेनाप्यनौपनिधिकी द्रव्यानुपूर्वी प्राक्प्ररूपितशब्दार्था पञ्चभिरर्थपदप्ररूपणतादिभिः प्रकारैर्विचार्यमाणत्वात् पञ्चविधा–पञ्चप्रकारा प्रज्ञप्ता, तदेव दर्शयति–' तं जहे ' त्यादि, अत्र व्याख्या पूर्ववदेव ।

से किं तं संगहस्स अट्ठपयपरूवणया ?, संगहस्स अट्ठपयपरूवणया तिपएसिए आणुपुव्वी चउप्पएसिए आणुपुव्वी ०जाव दसपएसिए आणुपुव्वी संखिज्जपएसिए आणुपुव्वी असंखिज्जपएसिए आणुपुव्वी अणंतपएसिए आणुपुव्वी, परमाणुपुग्गले अणाणुपुव्वी, दुपएसिए अवत्तव्वए । सेत्तं(तं)संगहस्स अट्ठपयपरूवणया । (सूत्र–९१)

यावत् ' तिपएसिए आणुपुव्वी ' इत्यादि–इह पूर्वमेकस्त्रिप्रदेशिक आनुपूर्वी अनेके त्रिप्रदेशिका आनुपूर्व्य इत्याद्युक्तम्, अत्र तु संग्रहस्य सामान्यवादित्वात्सर्वेऽपि त्रिप्रदेशिका एकैवानुपूर्वी इमां चात्र युक्तिमयमभिधत्ते–त्रिप्रदेशिकाः स्कन्धास्त्रिप्रदेशिकत्वसामान्याद्व्यतिरेकिणः, अव्यतिरेकिणो वा?, यद्याद्यः पक्षस्तर्हि ते त्रिप्रदेशिकाः स्कन्धाः त्रिप्रदेशिका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एव न भवन्ति, तत्सामान्यव्यतिरिक्तत्वात्, द्विप्रदेशिकादिवदिति । अथ चरमः पक्षस्तर्हि सामान्यमेव ते तदव्यतिरेकात्तत्स्वरूपवत्सामान्यं चैकस्वरूपमेवेति सर्वेऽपि त्रिप्रदेशिका एकैवानुपूर्वी एवं चतुःप्रदेशिकत्वसामान्याऽव्यतिरेकात्सर्वेऽपि चतुःप्रदेशिका एकैवानुपूर्वी, एवं यावदनन्तप्रदेशिकत्वसामान्याऽव्यतिरेकात्सर्वेऽप्यनन्तप्रदेशिका एकैवानुपूर्वी इत्यविशुद्धसंग्रहनयमतं विशुद्धसंग्रहनयमतेन तु सर्वेषां त्रिप्रदेशिकादीनामनन्ताणुकपर्यन्तानां स्कन्धानामानुपूर्वीत्वसामान्याव्यतिरेकात् व्यतिरिक्ते चानुपूर्वीत्वाभावप्रसङ्गात्सर्वाऽप्येकैवानुपूर्वीति । एवमनानुपूर्वीत्वसामान्याव्यतिरेकात्सर्वेऽपि परमाणुपुद्गला एकैवानानुपूर्वी, तथा अवक्तव्यकत्वसामान्याव्यतिरेकात्सर्वेऽपि द्विप्रदेशिकस्कन्धा एकमेवावक्तव्यकमिति सामान्यवादित्वेन सर्वत्र बहुवचनाभावः। 'सेत्तमि' त्यादि, निगमनम् ।

भङ्गसमुत्कीर्त्तनतां निर्दिदिक्षुराह—

एआए णं संगहस्स अट्ठपयपरूवणयाए किं पओअणं ?, एआए णं संगहस्स अट्ठपयपरूवणयाए संगहस्स भंगसमुक्कित्तणया कज्जइ । से किं तं संगहस्स भंगसमुक्कित्तणया ?, संगहस्स भंगसमुक्कित्तणया अत्थि आणुपुव्वी १, अत्थि अणाणुपुव्वी २, अत्थि अवत्तव्वए ३, अहवा-अत्थि आणुपुव्वी अ, अणाणुपुव्वी अ ४, अहवा-अत्थि आणुपुव्वी अ, अवत्तव्वए अ ५, अहवा-अत्थि अणाणुपुव्वी अ, अवत्तव्वए अ ६, अहवा-अत्थि आणुपुव्वी अ अणाणुपुव्वी अ अवत्तव्वए अ ७, एवं सत्तभंगा । सेत्तं संगहस्स भंगसमुक्कित्तणया । एआए णं संगहस्स भङ्गसमुक्कित्तणयाए किं पओअणं ?, एआए णं संगहस्स भंगसमुक्कित्तणयाए संगहस्स भंगोवदंसणया कीरइ । (सूत्र-९२)

'एयाए णमि' त्यादि, अत्रापि व्याख्या कृतैव द्रष्टव्या यावत् 'अत्थि आणुपुव्वी' त्यादि, इहैकवचनान्तास्त्रय, एव प्रत्येकभङ्गाः, सामान्यवादित्वेन व्यक्तिबहुत्वाभावतो बहुवचनाभावाद् आनुपूर्व्यादिपदत्रयस्य च त्रयो द्विकयोगा भवन्ति, एकैकस्मिँश्च द्विकयोगे एकवचनान्त एक एव भङ्गः, त्रिकयोगेऽपि एक एवैकवचनान्त इति, सर्वेऽपि सप्त भङ्गाः संपद्यन्ते, शेषास्त्वेकोनविंशतिर्बहुवचनसंभवित्वान्न भवन्ति । अत्र स्थापना-आनुपूर्वी १ अनानुपूर्वी १ अवक्तव्यक १ इति त्रयः प्रत्येकभङ्गाः, आनुपूर्वी १ अनानुपूर्वी १ इति प्रथमो द्विकयोगः, आनुपूर्वी १ अवक्तव्यक १ इति द्वितीयो द्विकयोगः । अनानुपूर्वी अवक्तव्यक इति तृतीयो द्विकयोगः । आनुपूर्वी १ अनानुपूर्वी १ अवक्तव्यक १ इति त्रिकयोगः, एवमेते सप्त भङ्गाः । 'सेत्तमि' त्यादि निगमनम् ।

भङ्गोपदर्शनतां विभणिषुराह—

से किं तं संगहस्स भंगोवदंसणया ?, संगहस्स भंगोवदंसणया तिपएसिया आणुपुव्वी परमाणुपोग्गला अणाणुपुव्वी दुपएसिया अवत्तव्वए, अहवा-तिपएसिया अ परमाणुपोग्गला य आणुपुव्वी य, अणाणुपुव्वी य, अहवा-तिपएसिया य दुपएसिया अ आणुपुव्वी य अवत्तव्वए य, अहवा-परमाणुपोग्गला अ दुपएसिया य अणाणुपुव्वी य अवत्तव्वए य, अहवा-तिपएसिया य परमाणुपोग्गला य दुपएसिया य आणुपुव्वी य अणाणुपुव्वी य अवत्तव्वए य । सेत्तं संगहस्स भंगोवदंसणया । (सूत्र-९३)

अत्राऽपि सप्त भङ्गास्त एवाऽर्थकथनपुरस्सरा भावनीयाः, भावार्थस्तु सर्वः पूर्ववत्, 'सेत्तमि' त्यादि निगमनम् ।

अथ समवताराऽभिधित्सया प्राऽऽह—

से किं तं संगहस्स समोआरे ?, संगहस्स समोआरे संगहस्स आणुपुव्विदव्वाइं कहिं समोयरंति ?, किं आणुपुव्विदव्वेहिं समोयरंति ?, अणाणुपुव्विदव्वेहिं समोयरंति ?, अवत्तव्वगदव्वेहिं समोयरंति ?, संगहस्स आणुपुव्विदव्वाइं आणुपुव्विदव्वेहिं समोयरन्ति, णो अणाणुपुव्विदव्वेहिं समोयरंति, णो अवत्तव्वगदव्वेहिं समोयरंति, एवं दोण्णि वि सट्ठाणे सट्ठाणे समोयरंति । सेत्तं (तं) समोयारे । (सूत्र-९४)

'से किं तं संगहस्स समोयारे' इत्यादि । इदं च द्वारं पूर्ववन्निखिलं भावनीयम् ।

अथाऽनुगमं व्याचिख्यासुराह—

से किं तं अणुगमे ?, अणुगमे अट्ठविहे पण्णत्ते, तं जहा—
संतपयपरूवणया १
दव्वपमाणं च २ खित्त ३ फुसणा य ४ ।
कालो य ५ अंतरं ६ भा-
ग ७ भावे ८ अप्पाबहुं णऽत्थि ॥ १ + ॥"

'से किं तं अणुगमे' त्ति—अत्रोत्तरम् 'अणुगमे अट्ठविहे पण्णत्ते' इति पूर्वं नवविध उक्तोऽत्र त्वष्टविध एव, अल्पबहुत्वद्वाराभावात्तदष्टविधत्वं दर्शयति-सद्यथत्वपदर्शनार्थः 'संतपयगाहा' इयं पूर्वं व्याख्यातैव नवरम् 'अप्पाबहुं नऽत्थि' संग्रहस्य सामान्यवादित्वात्सामान्यस्य च सर्वत्रैकत्वादल्पबहुत्वविचारोऽत्र न संभवतीत्यर्थः ।

तत्र सत्पदप्ररूपणताभिधानार्थमाह—

संगहस्स आणुपुव्विदव्वाइं किं अत्थि ?, नऽत्थि ? । नियमा अत्थि, एवं दोण्णि वि ×।

'संगहस्से' त्यादि, ननु संग्रहविचारे प्रक्रान्ते आनुपूर्वीद्रव्याणि सन्तीत्यनुपपन्नम् आनुपूर्वीसामान्यस्यैवैकस्य तेनास्तित्वाभ्युपगमात् सत्यं मुख्यरूपतया सामान्यमेवास्ति, गुणभूतं च व्यवहारमात्रनिबन्धनं द्रव्यबाहुल्यमप्यसौ वर्ततीत्यदोषः शेषभावना पूर्ववदिति ।

संगहस्स आणुपुव्विदव्वाइं किं संखेज्जाइं, असंखेज्जाइं,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अणंताइं ?। नो संखिजाइं, नो असंखिजाइं. नो अणंताइं। निअमा एगो रासी, एवं दोण्णि वि +।

द्रव्यप्रमाणद्वारे यदुक्तं निश्रमा 'एगो रासि' त्ति-अत्राह-ननु यदि संख्येयासंख्येयानन्तस्वरूपाण्येतानि न भवन्ति तर्ह्येको राशिरित्यपि नोपपद्यते, द्रव्यबाहुल्ये सति तस्यापद्यमानत्वाद्, व्रीह्यादिराशिषु तथैव दर्शनात्, सत्यं किंत्वेको राशिरिति वदतः कोऽभिप्रायः, बहूनामपि तेषामानुपूर्वीत्वसामान्येनैकेन क्रोडीकृतत्वादेकत्वमेव, किं च यथा त्रिंशदेकपरिणामपरिणते स्कन्धे तदारम्भकाऽवयवानां बाहुल्येऽप्येकतैव मुख्या, तद्वदत्राऽऽनुपूर्वीद्रव्यबाहुल्येऽपि तत्सामान्यस्यैकरूपत्वादेकत्वमेव मुख्यमसौ नयः प्रतिपद्यते, तद्दर्शनेन तेषामानुपूर्वीत्वसिद्धेः, अन्यथा तदभावप्रसङ्गात्, तस्मान्मुख्यस्यैकत्वस्याऽनेन कक्षीकृतत्वात्संख्येयरूपतादिनिषेधो गुणभूतानि तु द्रव्याण्याश्रित्य राशिभावोऽपि न विरुध्यते, एवमन्यत्रापि भावनीयमित्यलं प्रपञ्चेन।

संगहस्स आणुपुव्विदव्वाइं लोगस्स कइ भागे होज्जा ?। किं संखेज्जइभागे होज्जा असंखेज्जइभागे होज्जा। संखेज्जेसु भागेसु होज्जा असंखेज्जेसु भागेसु होज्जा सव्वलोए होज्जा ?, नो संखिज्जइभागे होज्जा नो असंखेज्जइभागे होज्जा नो संखेज्जेसु भागेसु होज्जा णो असंखेज्जेसु भागेसु होज्जा; णिअमा सव्वलोए होज्जा, एवं दोण्णि वि। संगहस्स आणुपुव्विदव्वाइं लोगस्स किं संखेज्जइभागं फुसंति असंखेज्जइभागं फुसंति। संखेज्जे भागे फुसंति असंखेज्जे भागे फुसंति सव्वलोअं फुसंति, नो संखेज्जइभागं फुसंति नो असंखेज्जइभागं फुसंति। नो संखेज्जे भागे फुसंति नो असंखेज्जे भागे फुसंति। णिअमा सव्वलोगं फुसंति। एवं दोण्णि वि +।

क्षेत्रद्वारे-'नियमा सव्वलोए होज्ज' त्ति—आनुपूर्व्यासामान्यस्यैकरूपत्वाद् सर्वलोकव्यापित्वाद्भवतीति भावनीयम्, (एकत्वमेव मुख्यमसौ नयः प्रतिपद्यते, तद्दर्शनेन तेषामानुपूर्वीद्वाराण्येव) एवमितरद्वयेऽप्यभ्यूह्यमिति स्पर्शनाद्वारमप्येवमेव चिन्तनीयमिति।

संगहस्स आणुपुव्विदव्वाइं कालओ केवच्चिरं होन्ति?, णिअमा सव्वद्धा, एवं दोण्णि वि। संगहस्स आणुपुव्विदव्वाणं कालओ केवचिरं अन्तरं होइ ?, नऽत्थि अंतरं, एवं-अणाणुपुव्वीदव्वाणं, अवत्तव्वगदव्वाण वि +।

कालद्वारेऽपि तत्सामान्यस्य सर्वदा अव्यवच्छिन्नत्वात् त्रयाणामपि सर्वाऽद्धावस्थानं भावनीयमिति, अत एवाऽन्तरद्वारे नास्त्यन्तरमित्युक्तं, तद्भावव्यवच्छेदस्य कदाचिदप्यभावादिति।

संगहस्स आणुपुव्विदव्वाइं सेसदव्वाणं कति भागे होज्जा ?, किं संखेज्जइ भागे होज्जा असंखेज्जइभागे होज्जा, संखेज्जेसु भागेसु होज्जा असंखेज्जेसु भागेसु होज्जा ?। नो संखेज्जइभागे होज्जा नो असंखेज्जइभागे होज्जा नो संखेज्जेसु भागेसु होज्जा नो असंखेज्जेसु भागेसु होज्जा णियमा तिभागे होज्जा, एवं दोण्णि वि ×।

भागद्वारे-'नियमा तिभागे होज्ज' त्ति—त्रयाणां राशीनामेको राशिस्त्रिभाग एव वर्त्तत इति भावः, यत्तु राशिगतद्रव्याणां पूर्वोक्तमल्पबहुत्वं तदत्र न गण्यते, द्रव्याणां प्रस्तुतनयमते व्यवहारसंवृत्तिमात्रेणैव सत्त्वादिति।

संगहस्स आणुपुव्विदव्वाइं कतरम्मि भावे होज्जा ?, णिअमा साइपारिणामिए भावे होज्जा, एवं दोण्णि वि+।

भावद्वारे—'सादिपारिणामिए भावे होज्ज' त्ति—यथा आनुपूर्व्यादिद्रव्याणामेतद्भाववर्तित्वं पूर्वं भावितं, तथाऽत्रापि भावनीयम्, तेषां यथास्वं सामान्याद्व्यतिरिक्तत्वादिति।

संगहस्स अप्पाबहुं नऽत्थि। सेत्तं अणुगमे। सेत्तं संगहस्स अणोवणिहिया दव्वाणुपुव्वी। सेत्तं अणोवणिहिया दव्वाणुपुव्वी। (सूत्र ९५)

अल्पबहुत्वद्वाराऽसंभवस्तु उक्त एव, इति समर्थितोऽनुगमः, तत्समर्थने च समर्थिता संग्रहनयमतेनानौपनिधिकी द्रव्यानुपूर्वी, तत्समर्थने च व्याख्याता सर्वथाऽपीयम्, अतः 'सेत्तमि' त्यादि, निगमनत्रयम्। गता अनौपनिधिकी द्रव्यानुपूर्वी।

(६) साम्प्रतं प्रागुद्दिष्टामेवौपनिधिकीं द्रव्यानुपूर्वीं व्याचिख्यासुराह—

से किं तं उ(ओ)वणिहिया दव्वाणुपुव्वी ?, उवणिहिया दव्वाणुपुव्वी तिविहा पण्णत्ता. तं जहा--पुव्वाणुपुव्वी, पच्छाणुपुव्वी, अणाणुपुव्वी य। (सूत्र--९६)

'से किं तमि' त्यादि, अथ केयं प्राग्निर्णीतशब्दार्थमात्रा औपनिधिकी द्रव्यानुपूर्वीति प्रश्नः, अत्र निर्वचनम्-औपनिधिकी द्रव्यानुपूर्वी त्रिविधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा-पूर्वानुपूर्वीत्यादि, उपनिधिर्निक्षेपो विरचनं प्रयोजनमस्या इत्यौपनिधिकी द्रव्यविषया आनुपूर्वी-परिपाटिर्द्रव्यानुपूर्वी सा त्रिप्रकारा, तत्र विवक्षितधर्मास्तिकायादिद्रव्यविशेषस्तत्समुदाये यः पूर्वः-प्रथमः तस्मादारभ्यानुपूर्वी-अनुक्रमः-परिपाटिर्निक्षिप्यते-विरच्यते यस्यां सा पूर्वानुपूर्वी तत्रैव यः पाश्चात्यः-चरमस्तस्मादारभ्य व्यत्ययेनैवानुपूर्वी-परिपाटिर्विरच्यते यस्यां सा निरुक्तविधिना पश्चानुपूर्वी न आनुपूर्वी अनानुपूर्वी। यथोक्तप्रकारद्वयातिरिक्तस्वरूपेत्यर्थः।

तत्राऽऽद्यभेदं तावन्निरूपयितुं प्रश्नमाह—

से किं तं पुव्वाणुपुव्वी ?, पुव्वाणुपुव्वी छव्विहा पण्णत्ता, तं जहा-धम्मत्थिकाए अधम्मत्थिकाए आगासत्थिकाए जीवत्थिकाए पोग्गलत्थिकाए अद्धासमए। सेत्तं पुव्वाणुपुव्वी +।

(धर्मास्तिकायपदव्याख्या 'धम्मत्थिकाय' शब्दे चतुर्थे भागे वक्ष्यते) (अधर्मास्तिकायव्याख्या 'अध(ह)म्मत्थिकाय'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्दे प्रथमभागे ४६७ पृष्ठे गता) (विशेषतः स्वरूपम् ' अ-त्थिकाय ' शब्दे प्रथमभागे ५१२ पृष्ठे गतम्) (आकाशास्तिकायव्याख्या ' आगासत्थिकाय ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे प्राग् गता) अत्र च जीवपुद्गलानां गत्यन्यथाऽनुपपत्तेर्धर्माऽस्तिकायस्य तेषामेव स्थित्यन्यथानुपपत्तेरधर्मास्तिकायस्य सत्त्वं प्रतिपत्तव्यम् । अनु० । (जीवास्तिकायव्याख्या ' जीवत्थिकाय ' शब्दे चतुर्थभागे व-क्ष्यते) पुद्गलास्तिकायस्य तु घटादिकार्यान्यथानुपपत्तेः कालोऽप्यस्ति बकुलाशोकचम्पकादिषु पुष्पफलप्रदानस्यानियमेनादर्शनात्, यस्तु तत्र नियामकः स काल इति, स्वभावादेव तु तद्भवने " नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा० " इत्यादिदूषणप्रसङ्गः, अत्र बहु वक्तव्यं तत्तु नोच्यते ग्रन्थगुरुत्वगमनाभयादिति । आह—धर्मास्तिकायस्य प्राथम्यम् अधर्मास्तिकायादीनां तु तदनन्तरं क्रमेणेत्थं निर्देशः कुतः सिद्धः ?, येनात्र पूर्वानुपूर्वीरूपता स्यादिति, अत्रोच्यते-आगमे-इत्थमेव पठितत्वात्तत्रापि कथमित्थमेव पाठ इति चेत्, उच्यते-धर्मास्तिकाय इत्यत्र यदाद्यं 'धर्मे' ति पदं तस्य माङ्गलिकत्वाद्धर्मास्तिकायस्य प्रथममुपन्यासः, ततस्तत्प्रतिपक्षत्वाद्धर्मास्तिकायस्य ततस्तदाधारत्वादाकाशास्तिकायस्य ततः स्वाभाविकाऽमूर्तत्वसाम्याज्जीवास्तिकायस्य ततस्तदुपयोगित्वात्पुद्गलास्तिकायस्य ततो जीवाजीवपर्यायत्वात्तदनन्तरमद्धासमयस्योपन्यास इति पूर्वानुपूर्वीसिद्धिरिति ।

अथ पश्चानुपूर्वीं निरूपयितुमाह—

से किं तं पच्छाणुपुव्वी ?, पच्छाणुपुव्वी, छव्वि० तं०—अद्धासमए पोग्गलत्थिकाए जीवत्थिकाए, आगासत्थिकाए अहम्मत्थि काए धम्मत्थिकाए । सेत्तं पच्छा(णु)णुपुव्वी ।

' से किं तं पच्छाणुपुव्वी' इत्यादि, पाश्चात्यादारभ्य प्रतिलोमं व्यत्ययेनैव आनुपूर्वी-परिपाटीः क्रियते यस्यां सा पश्चानुपूर्वी, अत्रोदाहरणमुत्क्रमेण, इदमेवाह-' अद्धासमये ' त्यादि, गतार्थमेव ।

अथाऽनानुपूर्वीं पूर्वं निरूपयति—

से किं तं अणाणुपुव्वी ?, अणाणुपुव्वी एआए चेव एगाइआए एगुत्तरिआए छगच्छगयाए सेढीए अन्नमन्नब्भासो दू(दु)रूवूणो । सेत्तं अणाणुपुव्वी । (सूत्र-६७)

' से किंतमि ' त्यादि, अत्र निर्वचनम्—' अणाणुपुव्वी एत्ताए चेव ' इत्यादि, न विद्यते आनुपूर्वी-यथोक्तपरिपाटिरूपा यस्यां सा अनानुपूर्वी, विवक्षितपदानामनन्तरोक्तक्रमद्वयमुल्लङ्घ्य परस्पराऽसदृशैः संभवद्भिर्भङ्गकैर्यस्यां विरचना क्रियते साऽनानुपूर्वीत्यर्थः । का पुनरियमित्याह—' अन्नमन्नब्भासो ' त्ति–अन्योन्यम्-परस्परमभ्यासो गुणनम् अन्योन्याऽभ्यासः 'दू(दु)रूवूणो' त्ति-द्विरूपन्यून आद्यन्तरूपरहितः अनानुपूर्वीति संटङ्कः । कस्यां विषये योऽसावभ्यास इत्याह-श्रेण्याम्-पङ्क्तौ, कस्यां पुनः श्रेण्यामित्याह-' एत्ताए चेवे ' ति-अस्यामेवाऽनन्तराधिकृतधर्मास्तिकायादिसंबन्धिन्याम् कथंभूतायामित्याह-एक आदिर्यस्यां सा एकादिकी एकैक उत्तरः प्रवर्द्धमानो यस्यां सा एकोत्तरा तस्याम्, पुनः कथंभूतायामित्याह-' छगच्छगताए ' त्ति-षण्णां गच्छः-समुदायः षड्गच्छस्तं गता-प्राप्ता षड्गच्छगता तस्यां धर्मास्तिकायादिवस्तुषट्कविषयायामित्यर्थः । आदौ व्यवस्थापितैककायाः पर्यन्ते न्यस्तषट्काया धर्मास्तिकायादिवस्तुषट्कविषयायाः पङ्क्तेर्या परस्परगुणने भङ्गकसंख्या भवति सा आद्यन्तभङ्गकद्वयरहिता अनानुपूर्वीति भावार्थः तत्रोर्ध्वाधः किलैककादयः षट्पर्यन्ताः अङ्काः स्थापिताः, तत्र चैककेन द्विके गुणिते जातौ द्वावेव, ताभ्यां त्रिको गुणितो जाताः षट्, तैरपि चतुष्को गुणितो जाता चतुर्विंशतिः, पञ्चकस्य तु तद्गुणने जातं विंशं शतं, षट्कस्य तद्गुणने जातानि विंशत्यधिकानि सप्तशतानि, स्थापना ६-५-४-३-२-१, आगतम्-७२०, अत्राद्यो भङ्गः पूर्वानुपूर्वी, अन्त्यश्च (स्तु) पश्चानुपूर्वीति तदपगमे शेषाण्यष्टादशोत्तराणि सप्तभङ्गकशतान्यनानुपूर्वीति मन्तव्यानि । अत्र च भङ्गकस्वरूपानयनार्थं करणगाथा—

" पुव्वाणुपुव्विहिट्ठा, समयाभेएण कुरु जहा जेट्ठं ।
उवरिमतुल्लं पुरओ, निसेज्ज पुव्वक्कमो सेसे ॥ १ ॥" इति ।

व्याख्या इह विवक्षितपदानां क्रमेण स्थापना पूर्वानुपूर्वीत्युच्यते, तस्याः ' हेट्ठ ' त्ति-अधस्तात्-द्वितीयादिभङ्गकान् जिज्ञासुः ' कुरु ' त्ति—स्थापय एकादीनि-पदानीति शेषः, कथमित्याह-ज्येष्ठस्यानतिक्रमेण यथाज्येष्ठं यो यस्यादौ स तस्य ज्येष्ठः, यथा द्विकस्यैको ज्येष्ठः त्रिकस्य त्वेककोऽनुज्येष्ठश्चतुष्कादीनां तु स एव ज्येष्ठानुज्येष्ठ इति, एवं त्रिकस्य द्विको ज्येष्ठः स एव चतुष्कस्यानुज्येष्ठः पञ्चकादीनां तु स एव ज्येष्ठानुज्येष्ठः इत्यादि, एवं च सति उपरितनाङ्कस्य अधस्ताज्ज्येष्ठो निक्षिप्यते, तत्राऽलभ्यमाने अनुज्येष्ठः, तत्राप्यलभ्यमाने ज्येष्ठानुज्येष्ठ इति यथाज्येष्ठं निक्षेपं कुर्यात्, कथमित्याह-समयाऽभेदेनेति समयः-सङ्केतः प्रस्तुतभङ्गकरचनव्यवस्था तस्य अभेदः-अनतिक्रमः, तस्य च भेदस्तदा भवति यदा तस्मिन्नेव भङ्गके निक्षिप्ताङ्कसदृशोऽपरोऽङ्कः पतति, ततो यथोक्तं समयभेदं वर्जयन्नेव ज्येष्ठाद्यङ्कनिक्षेपं कुर्यात्, उक्तं च-" अहियम्मि उ निक्खित्ते, पुणरवि सो चेव होइ कायव्वो । सो होइ समयभेओ, वज्जेयव्वो पयत्तेणं ॥ १ ॥" निक्षिप्तस्याङ्कस्य यथासंभवं ' पुरउ ' त्ति-अग्रतः उपरितनाङ्कतुल्यंसदृशं यथा भवत्येवं न्यसेत्, उपरितनाङ्कसदृशानेवाङ्कान्निक्षिपेदित्यर्थः, ' पुव्वक्कमो सेसे ' त्ति—स्थापितशेषानङ्कान्निक्षिप्ताङ्कस्य यथासंभवं पृष्ठतः-पूर्वक्रमेण स्थापयेदित्यर्थः, यः संख्यया लघुरेककादिः स प्रथमं स्थाप्यते वस्तुतया महान् द्विकादिः स पश्चादिति पूर्वक्रमः, पूर्वानुपूर्विलक्षणे प्रथमभङ्गके इत्थमेव दृष्टत्वादिति भावः इत्यक्षरघटना । भावार्थस्तु दिङ्मात्रदर्शनार्थं सुखाधिगमाय च त्रीणि पदान्याश्रित्य तावत् दर्श्यते, तेषां च परस्पराभ्यासे षड् भङ्गका भवन्ति, ते चैवमानीयन्ते-पूर्वानुपूर्वीलक्षणस्तावत्प्रथमो भङ्गः, तद्यथा-१-२-३ अस्याश्च पूर्वानुपूर्व्या अधस्ताद्भङ्गकरचने क्रियमाणे एककस्य तावज्ज्येष्ठ एव नास्ति, द्विकस्य तु विद्यते एकः, स तदधो निक्षिप्यते, तस्य चाग्रतस्त्रिको दीयते, " उवरिमतुल्लमि " त्यादिवचनात्, पृष्ठ-

तस्तु स्थापितशेषो द्विको दीयते, ततोऽयं द्वितीयो भङ्गः २-१-३ अत्र च द्विकस्य विद्यते एकको ज्येष्ठः, परं नासौ तदधस्तान्निक्षिप्यते, अग्रतः सदृशाङ्कपातेन समयभेदप्रसङ्गात्, एकस्य तु ज्येष्ठ एव नास्ति, त्रिकस्य तु विद्यते द्विको ज्येष्ठः, स तदधस्तान्निक्षिप्यते, अत्र चाग्रभागस्य तावत्संभव एव पृष्ठतस्त्वस्थापितशेषावेककत्रिकौ क्रमेण स्थाप्येते " पुव्वक्कमो सेसे त्ति " वचनात्, ततस्तृतीयोऽयं भङ्गः १-३-२, अत्राप्येककस्य ज्येष्ठ एव नास्ति त्रिकस्य तु ज्येष्ठोऽस्ति द्विको न च क्षिप्यते अग्रे सदृशाङ्कपातेन समयभेदापत्तेस्ततोऽस्यैवानुज्येष्ठ एककः स्थाप्यते, अग्रतस्तु द्विकः " उवरिमतुल्लमि " त्यादिवचनात्, पृष्ठतस्तु स्थापितशेषस्त्रिको दीयते इति चतुर्थोऽयं भङ्गः ३-१-२ एवमनया दिशा पञ्चमषष्ठावप्यभ्यूह्यौ, सर्वेषां चामीषामियं स्थापना-१-२-३ अत्राप्याद्यभङ्गस्य पूर्वानुपूर्वीत्वादन्त्यस्य च पश्चानुपूर्वीत्वान्मध्यमा एव चत्वारोऽनानुपूर्वीत्वेन मन्तव्याः एवमनया दिशा, १-२-३ चतुरादिपदसंभाविनोऽपि भङ्गाः भावनीयाः, भूयांसश्चोत्तराध्ययनटीकादिनिर्दिष्टाः प्रस्तुतभङ्गानयनोपायाः १-३-२। सन्ति नचोच्यन्ते अतिविस्तरभयात्, तदर्थिना तु तत एवावधारणीयाः। तदिदमत्र तात्पर्यं ३-१-२ पूर्वानुपूर्व्यां तावद्धर्मास्तिकायस्य प्रथमत्वमेव तदनुक्रमेणाधर्मास्तिकायादीनां द्वितीयादित्वं पश्चानुपूर्व्यां २-३-१, त्वद्धासमयस्य प्रथमत्वं, पुद्गलास्तिकायादीनां तु प्रतिलोमतया द्वितीयादित्वं अनानुपूर्व्यां त्वनियमेन कस्मिन्नङ्के ३-२-१, कस्यचित्प्रथमादित्यलं विस्तरेण 'सेत्तमि' त्यादि, निगमनं, तदेवमत्र एते धर्मास्तिकायादीनि षडपि द्रव्याणि पूर्वानुपूर्व्यादित्वेनोदाहृतानि।

साम्प्रतं त्वेकमेव पुद्गलास्तिकायमुदाहर्तुमाह—

अहवा–उवनिहिआ दव्वाऽऽणुपुव्वी, तिविहा पण्णत्ता, तं जहा–पुव्वाणुपुव्वी, पच्छाणुपुव्वी, अणाणुपुव्वी। से किं तं पुव्वाणुपुव्वी ?, पुव्वाणुपुव्वी परमाणुपोग्गले दुपएसिए तिपएसिए०जाव दसपएसिए संखिज्जपएसिए असंखिज्जपएसिए अणंतपएसिए। सेत्तं पुव्वाणुपुव्वी। से किं तं पच्छाणुपुव्वी, पच्छाणुपुव्वी अणंतपएसिए असंखिज्जपएसिए संखिज्जपएसिए ०जाव दसपएसिए०जाव तिपएसिए दुपएसिए परमाणुपोग्गले। सेत्तं पच्छाणुपुव्वी।

'अहवा' इत्यादि, अत्र चौपनिधिक्या द्रव्यानुपूर्व्या आलमपि त्रैविध्यं यत्पुनरप्युपन्यस्तं तत्प्रकारान्तरभणनप्रस्तावादेवेति मन्तव्यम्।

से किं तं अणाणुपुव्वी ?, अणाणुपुव्वी एआए चेव एगाइआए एगुत्तरिआए अणंतगच्छगयाए सेढीए अन्नमन्नब्भासो दुरूवूणो। सेत्तं अणाणुपुव्वी। सेत्तं उवणिहिआ दव्वाणुपुव्वी। सेत्तं जाणगवतिरित्ता दव्वाणुपुव्वी। सेत्तं नोआगमओ दव्वाणुपुव्वी। सेत्तं दव्वाणुपुव्वी। (सूत्र–९८)

'अणंतगच्छगताए' त्ति–अत्रैकोत्तरवृद्धिमत्स्कन्धानामनन्तत्वादनन्तानां गच्छः–समुदायोऽनन्तगच्छस्तं गता अनन्तगच्छगता तस्याम्, अत एव भङ्गाः अत्राऽनन्ता एवाऽवसेया इति। शेषभावना च सर्वा पूर्वोक्तानुसारतः स्वयमप्यवसेयेति। आह—ननु यथैकः पुद्गलास्तिकायो निर्धार्य पुनरपि पूर्वानुपूर्व्यादित्वेनोदाहृतः, एवं शेषा अपि प्रत्येकं किमिति नोदाह्रियन्ते ?, अत्रोच्यते–द्रव्याणां क्रमः परिपाट्यादिलक्षणः पूर्वानुपूर्व्यादिविचारः इह प्रक्रान्तः, स च द्रव्यबाहुल्ये सति सम्भवति, धर्माऽधर्माऽऽकाशास्तिकायेषु च पुद्गलास्तिकायवन्नाऽस्ति प्रत्येकं द्रव्यबाहुल्यम्; एकैकद्रव्यत्वात्तेषाम्, जीवास्तिकाये त्वनन्तजीवद्रव्यात्मकत्वादस्ति द्रव्यबाहुल्यं केवलं परमाणुद्विप्रदेशिकादिद्रव्याणामिव जीवद्रव्याणां पूर्वानुपूर्व्यादित्वनिबन्धनः प्रथमपाश्चात्यादिभावो नाऽस्ति, प्रत्येकमसंख्येयप्रदेशत्वेन सर्वेषां तुल्यप्रदेशत्वात्परमाणुद्विप्रदेशिकादिद्रव्याणां तु विषमप्रदेशिकत्वादिति अद्धासमयस्यैकत्वादेव तदसम्भव इत्यलमतिचर्चितेन, तदेवं समर्थिता औपनिधिकी द्रव्यानुपूर्वी। तत्समर्थने च समर्थिता प्रागुद्दिष्टा द्विःप्रकाराऽपि द्रव्यानुपूर्वी। ततः 'सेत्तमि' त्यादि निगमनानि, इति द्रव्यानुपूर्वी समाप्ता; उक्ता द्रव्यानुपूर्वी।

(७) अथ प्रागुद्दिष्टामेव क्षेत्रानुपूर्वीं व्याचिख्यासुराह–

से किं तं खेत्ताऽऽणुपुव्वी?, खेत्ताणुपुव्वी दुविहा पण्णत्ता, तं जहा–उवणिहिआ य, अणोवणिहिआ य। (सूत्र–९९) तत्थ णं जा सा उवणिहिआ सा ठप्पा।

'से किं तं खेत्ताणुपुव्वि' त्ति–इह क्षेत्रविषयानुपूर्वी क्षेत्रानुपूर्वी, का पुनरियमित्यत्र निर्वचनं–क्षेत्रानुपूर्वी द्विविधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा–औपनिधिकी, पूर्वोक्तशब्दार्था अनौपनिधिकी च। तत्र या सा औपनिधिकी सा स्थाप्या; अल्पवक्तव्यत्वादुपरि वक्ष्यत इत्यर्थः।

तत्थ णं जा अणोवणिहिया सा दुविहा पण्णत्ता, तं जहा–णेगमववहाराणं, संगहस्स य। (सूत्र–१००)

तत्र या असौ अनौपनिधिकी सा नयवक्तव्यताश्रयणाद् द्विविधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा—नैगमव्यवहारयोः, संग्रहस्य च; सम्मतेति शेषः।

तत्र नैगमव्यवहारसम्मतां तावद्दर्शयितुमाह—

से किं तं णेगमववहाराणं अणोवनिहिआ खेत्ताऽऽणुपुव्वी ?, नेगमववहाराणं अणोवणिहिया खेत्ताणुपुव्वी पंचविहा पण्णत्ता, तं जहा–अट्ठपयपरूवणया १, भंगसमुक्कित्तणया २, भंगोवदंसणया ३, समोआरे ४, अणुगमे ५। से किं तं णेगमववहाराणं अट्ठपयपरूवणया ?, णेगमववहाराणं अट्ठपयपरूवणया तिपएसोगाढे आनुपुव्वी ०जाव दसपएसोगाढे आनुपुव्वी ०जाव संखिज्जपएसोगाढे आनुपुव्वी असंखिज्जपएसोगाढे आनुपुव्वी, एगपएसोगाढे अणानुपुव्वी, दुपएसोगाढे अवत्तव्वए, तिपएसोगाढा आनुपुव्वीओ ०जाव दसपएसोगाढा आनुपुव्वीओ, ०जाव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

असंखिज्जपएसोगाढा आनुपुव्वीओ, एगपएसोगाढा अणानुपुव्वीओ, दुपएसोगाढा अवत्तव्वगाइं। सेत्तं णेगमववहाराणं अट्ठपयपरूवणया। एआए णं णेगमववहाराणं अट्ठपयपरूवणयाए किं पओअणं ?, एआए णेगमववहाराणं अट्ठपयपरूवणयाए णेगमववहाराणं भंगसमुक्कित्तणया कज्जइ। से किं तं णेगमववहाराणं भंगसमुक्कित्तणया ?, णेगमववहाराणं भंगसमुक्कित्तणया अत्थि आनुपुव्वी, अत्थि अणानुपुव्वी, अत्थि अवत्तव्वए, एवं दव्वानुपुव्विगमेणं खेत्तानुपुव्वीएऽवि ते चेव छव्वीसं भंगा भाणिअव्वा, ०जाव सेत्तं णेगमववहाराणं भंगसमुक्कित्तणया। एआए णं णेगमववहाराणं भंगसमुक्कित्तणयाए किं पओअणं ?, एआए णं णेगमववहाराणं भंगसमुक्कित्तणयाए णेगमववहाराणं भंगोवदंसणया कज्जइ। से किं तं णेगमववहाराणं भंगोवदंसणया ?, णेगमववहाराणं भंगोवदंसणया तिपएसोगाढे आनुपुव्वी, एगपएसोगाढे अणानुपुव्वी, दुपएसोगाढे अवत्तव्वए, तिपएसोगाढा आणुपुव्वीओ, एगपएसोगाढा अणानुपुव्वीओ, दुपएसोगाढा अवत्तव्वगाइं, अहवा-तिपएसोगाढे अ, एगपएसोगाढे अ, आणुपुव्वी अ, अणाणुपुव्वी अ। एवं तहा चेव दव्वाणुपुव्विगमेणं छव्वीसं भंगा भाणिअव्वा ०जाव सेत्तं णेगमववहाराणं भंगोवदंसणया। से किं तं समोआरे ?, समोआरे णेगमववहाराणं आणुपुव्विदव्वाइं कहिं समोतरंति ?, किं आणुपुव्विदव्वेहिं समोतरंति ?, अणाणुपुव्विदव्वेहिं समोतरंति ?, अवत्तव्वगदव्वेहिं समोतरंति ?, आणुपुव्विदव्वाइं आणुपुव्विदव्वेहिं समोतरंति, णो अणाणुपुव्विदव्वेहिं समोतरन्ति णो अवत्तव्वगदव्वेहिं समोतरन्ति, एवं तिण्णि वि सट्ठाणे समोअरंति त्ति भाणिअव्वं, सेत्तं समोतारे। से किं तं अणुगमे ?, अणुगमे नवविहे पण्णत्ते, तं जहा-"संतपयपरूवणया ०जाव अप्पा बहुं चेव" १, णेगमववहाराणं आणुपुव्विदव्वाइं किं अत्थि नऽत्थि ?, णिअमा अत्थि, एवं दोण्णि वि +।

'से किं तमि' त्यादि, इह व्याख्या-यथा द्रव्यानुपूर्व्यां तथैव कर्त्तव्या, विशेषं तु वक्ष्यामः, तत्र 'तिपएसोगाढे आणुपुव्वि' त्ति-त्रिषु नभःप्रदेशेष्ववगाढः-स्थितः त्रिप्रदेशावगाढः त्र्यणुकादिकोऽनन्ताणुकपर्यन्तो द्रव्यस्कन्ध एवानुपूर्वी, ननु यदि द्रव्यस्कन्ध एवानुपूर्वी कथं तर्हि तस्य क्षेत्रानुपूर्वीत्वं ?, सत्यं, किन्तु—क्षेत्रप्रदेशत्रयावगाहपर्यायविशिष्टोऽसौ द्रव्यस्कन्धो गृहीतो नाविशिष्टः, ततोऽत्र क्षेत्रानुपूर्व्यधिकारात् क्षेत्रावगाहपर्यायस्य प्राधान्यात्सोऽपि क्षेत्रानुपूर्वीति न दोषः, प्रदेशत्रयलक्षणस्य क्षेत्रस्यैवात्र मुख्यं क्षेत्रानुपूर्वीत्वं तदधिकारादेव, किन्तु तदवगाढं द्रव्यमपि तत्पर्यायस्य प्राधान्येन विवक्षितत्वात् क्षेत्रानुपूर्वीत्वेन न विरुध्यत इति भावः, यद्येवं तर्हि मुख्यं क्षेत्रं परित्यज्य किमिति तदवगाढद्रव्यस्यानुपूर्व्यादिभावश्चिन्त्यते ?, उच्यते—'सन्तपयपरूवणये' त्यादिवक्ष्यमाणबहुतरविचारविषयत्वेन द्रव्यस्य शिष्यमतिव्युत्पादनार्थत्वात् क्षेत्रस्य तु नित्यत्वेन सदावस्थितमानत्वान्निश्चलत्वाच्च प्रायो वक्ष्यमाणविचारस्य सुप्रतीतत्वेन तथाविधशिष्यमतिव्युत्पत्त्यविषयत्वात्, एवमन्यदपि कारणमभ्यूह्यमित्यलं विस्तरेण। एवं चतुःप्रदेशावगाढादिष्वपि भावना कार्या, यावदसङ्ख्यातप्रदेशावगाढा आनुपूर्वीति, असंख्यातप्रदेशेषु चावगाढोऽसंख्याताणुकोऽनन्ताणुको वा द्रव्यस्कन्धो मन्तव्यो, यतः पुद्गलद्रव्याणामवगाहमित्थं जगद्गुरवः प्रतिपादयन्ति-परमाणुराकाशस्यैकस्मिन्नेव प्रदेशेऽवगाहते, द्विप्रदेशिकादयोऽसंख्यातप्रदेशिकान्तास्तु स्कन्धाः प्रत्येकं जघन्यत एकस्मिन्नाकाशप्रदेशेऽवगाहन्ते, उत्कृष्टतस्तु यत्र स्कन्धे यावन्तः परमाणवो भवन्ति स तावत्स्वेव नभःप्रदेशेष्ववगाहते, अनन्ताणुकस्कन्धस्तु जघन्यतस्तथैव उत्कृष्टतस्त्वसंख्येयेष्वेव नभःप्रदेशेष्ववगाहते, नाऽनन्तेषु, लोकाकाशस्यैवासंख्येयप्रदेशत्वात्, अलोकाकाशे च द्रव्यस्याऽवगाहाऽभावादित्यलं प्रसङ्गेन, प्रकृतमुच्यते-तत्रानुपूर्वीप्रतिपन्नत्वादनानुपूर्व्यादिस्वरूपमाह-'एगपएसोगाढे अणाणुपुव्वि' त्ति-एकस्मिन्नभःप्रदेशेऽवगाढः स्थितः एकप्रदेशाऽवगाढः परमाणुसङ्घातस्स्कन्धसङ्घातश्च क्षेत्रतोऽनानुपूर्वीति मन्तव्यः, 'दुपएसोगाढे अवत्तव्वए' त्ति-प्रदेशद्वयेऽवगाढो द्विप्रदेशिकादिस्कन्धः क्षेत्रतोऽवक्तव्यकं, शेषो बहुवचननिर्देशादिको ग्रन्थो यथाऽधस्ताद् द्रव्यानुपूर्व्यां व्याख्यातस्तथेहापि तदुक्तानुसारतो व्याख्येयः यावत् द्रव्यप्रमाणद्वारं।

णेगमववहाराणं आणुपुव्विदव्वाइं किं संखिज्जाइं असंखिज्जाइं अणंताइं ?, नो संखिज्जाइं, असंखिज्जाइं, णो अणंताइं, एवं दोण्णि वि। * नेगमववहाराणं आणुपुव्विदव्वाइं अणंताइं, नो संखिज्जाइं, असंखिज्जाइं, नो अणंताइं एवं तिण्णि वि ×।

'णेगमववहाराणं आणुपुव्विदव्वाइं किं संखेज्जाइं' इत्यादिप्रश्नः, अत्रोत्तरम्-'नो संखेज्जाइमि' त्यादि त्र्यादिप्रदेशविभागावगाढानि द्रव्याणि क्षेत्रत आनुपूर्वीत्वेन निर्दिष्टानि, त्र्यादिप्रदेशविभागाश्चासङ्ख्यातप्रदेशात्मके लोकेऽसङ्ख्याता भवन्ति, अतो द्रव्यतया बहूनामपि क्षेत्रावगाहमेपक्ष्य तुल्यप्रदेशावगाढानामेकत्वात् क्षेत्रानुपूर्व्यामसङ्ख्यातान्येवानुपूर्वीद्रव्याणि भवन्तीति भावः, एवमेकप्रदेशावगाढं बह्वपि द्रव्यं क्षेत्रत एकैवाऽनानुपूर्वीत्युक्तम्। लोके च प्रदेशा असङ्ख्याता भवन्ति अतस्तत्तुल्यसङ्ख्यत्वादनानुपूर्वीद्रव्याण्यप्यसङ्ख्येयानीति, एवं प्रदेशद्वयेऽवगाढं बह्वपि द्रव्यं क्षेत्रत एकमेवावक्तव्यकमुक्तं द्विप्रदेशात्मकाश्च विभागा लोकेऽसङ्ख्याता भवन्त्यतस्तान्यप्यसंख्येयानीति।

क्षेत्रद्वारे निर्वचनसूत्रे—

नेगमववहाराणं आनुपुव्विदव्वाइं लोगस्स किं संखिज्जइभागे होज्जा असंखिज्जइभागे होज्जा ०जाव सव्वलोए

होज्जा ?, एगं दव्वं पडुच्च लोगस्स संखिज्जइभागे वा होज्जा असंखिज्जइभागे वा होज्जा संखेज्जेसु भागेसु वा होज्जा असंखेज्जेसु भागेसु वा होज्जा देसूणे वा लोए होज्जा, नाणादव्वाइं पडुच्च निअमा सव्वलोए होज्जा, नेगमववहाराणं अणाणुपुव्विदव्वाणं पुच्छा—एगं दव्वं पडुच्च नो संखिज्जइभागे होज्जा, असंखिज्जइभागे होज्जा, नो संखेज्जेसु नो असंखेज्जेसु नो सव्वलोगे होज्जा, नाणादव्वाइं पडुच्च निअमा सव्वलोए होज्जा, एवं अवत्तगदव्वाणि वि भाणिअव्वाणि ×।

'एगं दव्वं पडुच्च लोगस्स संखेज्जइभागे वा होज्जे' त्यादि' इह स्कन्धद्रव्याणां विचित्ररूपत्वात् कश्चित् स्कन्धो लोकस्य संख्येयं भागमवगाह्य तिष्ठति, अन्यस्त्वसंख्येयम्, अन्यस्तु संख्येयांस्तद्भागानवगाह्य वर्त्तते, अन्यस्त्वसंख्येयान् इत्यतस्तत्स्कन्धद्रव्यापेक्षया सङ्ख्येयाऽऽदिभागवर्त्तित्वं भावनीयम्, विशिष्टक्षेत्रावगाहोपलक्षितानां स्कन्धद्रव्याणामेव क्षेत्रानुपूर्वीत्वेनोक्तत्वादिति भावः। 'देसूणे वा लोए होज्ज' त्ति-देशोने वा लोके आनुपूर्वीद्रव्यं भवेदिति, अत्राह—नन्वचित्तमहास्कन्धस्य सर्वलोकव्यापकत्वं पूर्वमुक्तं तस्य च समस्तलोकवर्त्यसंख्येयप्रदेशलक्षणायां क्षेत्रानुपूर्व्यामवगाढत्वात्परिपूर्णस्यापि क्षेत्रानुपूर्वीत्वं न किंचिद्विरुध्यते, अतः तदपेक्षं सतोऽप्यानुपूर्वीद्रव्यं सर्वलोकव्यापि प्राप्यते, किमिति देशोनलोकव्यापिता प्रोच्यते ?, सत्यं, किन्तु लोकोऽयमानुपूर्व्यनानुपूर्व्यवक्तव्यकद्रव्यैः सर्वदैवाऽशून्य एवेष्यते इति समयस्थितिः, यदि चात्रानुपूर्व्याः सर्वलोकव्यापिना निर्दिश्येत तदाऽनानुपूर्व्यवक्तव्यकद्रव्याणां निरवकाशतया अभावः प्रतीयेत, ततः—अचित्तमहास्कन्धपूरितेऽपि लोके जघन्यतोऽप्येकः प्रदेशोऽनानुपूर्वीविषयत्वेन प्रदेशद्वयं चाऽवक्तव्यकविषयत्वेन विवक्ष्यते, आनुपूर्वीद्रव्यस्य तत्र सत्त्वेऽप्यप्राधान्यविवक्षणादनानुपूर्व्यवक्तव्यकयोस्तु प्राधान्यविवक्षणादिति भावः, ततोऽनेन प्रदेशत्रयलक्षणेन देशेन हीनोऽत्र लोकः प्रतिपादित इत्यदोषः, उक्तं च पूर्वमुनिभिः—"महखंधा पुणे वि, अवत्तव्वगणाणुपुव्विदव्वाइं। जहेसोगाढाइं, तद्देसूणे स लोगुणो ॥ १ ॥" ननु यद्येवं तर्हि द्रव्यानुपूर्व्यामपि सर्वलोकव्यापित्वमानुपूर्वीद्रव्यस्य यदुक्तं तदसङ्गतं प्राप्नोति, अनानुपूर्व्यवक्तव्यकद्रव्याणामनवकाशत्वेन तत्राप्यभावप्रतीतिप्रसङ्गात्, सर्वकालं च तेषामप्यवस्थितिप्रतिपादनात्, नैतदेवं, यतो द्रव्यानुपूर्व्यां द्रव्याणामेवानुपूर्व्यादिभाव उक्तो, न क्षेत्रस्य, तस्य तत्रानधिकृतत्वाद्, द्रव्याणां चानुपूर्व्यादीनां परस्परभिन्नानामप्येकत्रापि क्षेत्रेऽवस्थानं न किंचिद्विरुध्यते, एकाऽपवरकान्तर्गताऽनेकप्रदीपप्रभावस्थानदृष्टान्तादिसिद्धत्वात्, अतो न तत्र कस्याप्यनवकाशः, अत्र तु द्रव्याणामौपचारिक एवानुपूर्व्यादिभावो मुख्यस्तु क्षेत्रस्यैव क्षेत्रानुपूर्व्यधिकारात्, ततो यदि लोकप्रदेशाः सामस्त्येनैवानुपूर्व्या क्रोडीकृताः स्युस्तदा किमन्यदनानुपूर्व्यवक्तव्यकतया प्रतिपद्येत. यस्त्विहैव येष्वाकाशप्रदेशेष्वानुपूर्व्यस्तेष्वेवेतरयोरपि सद्भावः कथयिष्यते स द्रव्यावगाहभेदेन क्षेत्रभेदस्य विवक्षणात्, अत्र तु तदविवक्षणादिति, तस्मादनानुपूर्व्यवक्तव्यकविषयप्रदेशत्रयलक्षणेन देशेन लोकस्योनता विवक्षितेति। अथवा-आनुपूर्वीद्रव्यस्य स्वावयवरूपा देशाः कल्प्यन्ते यथा पुरुषस्याङ्गुल्यादयः, ततश्च विवक्षिते कस्मिंश्चिद्देशे देशिनोऽसद्भावो विवक्ष्यते, यथा पुरुषस्यैवाङ्गुलीदेशे देशित्वस्यैव तत्र प्राधान्येन विवक्षितत्वादिति भावः, न च वक्तव्यं देशिनो देशा न कश्चिद्भिन्नो दृश्यते, एकान्ताभेदे देशमात्रस्य देशिमात्रस्य चाभावप्रसङ्गात्, ततश्च समस्तलोकक्षेत्रावगाहिपर्यायस्य प्राधान्याश्रयणादत्राचित्तमहास्कन्धस्यानुपूर्वीत्वेऽपि देशोन एव लोकः, स्वकीयैकस्मिन्देशे तस्याऽभावविवक्षणात्, तस्मिंश्चानुपूर्व्यभावदेशे इतरयोरवकाशः सिद्धो भवतीति भावः। न च देशदेशिभावः कल्पनामात्रं सम्मत्यादिन्यायनिर्दिष्टयुक्तिसिद्धत्वात् इत्यलं प्रसङ्गेन। 'नाणादव्वाइंमि' त्यादि, त्र्यादिप्रदेशावगाढद्रव्यभेदतोऽत्रानुपूर्वीणां नानात्वं, तैश्च त्र्यादिप्रदेशावगाढैः द्रव्यभेदैः सर्वोऽपि लोको व्याप्त इति भावः। अत्रानानुपूर्वीचिन्तायामेकद्रव्यं प्रतीत्य लोकस्यासंख्येयभागवर्त्तित्वमेव, एकप्रदेशावगाढस्यैवानानुपूर्वीत्वेन प्रतिपादनात्, एकप्रदेशस्य च लोकाऽसंख्येयभागवर्त्तित्वादिति, 'नाणादव्वाइं पडुच्च नियमा सव्वलोए होज्ज' त्ति-एकैकप्रदेशावगाढैरपि द्रव्यभेदैः समस्तलोकव्याप्तेरिति एवम्-'अवत्तव्वगदव्वाणि वि' त्ति-अवक्तव्यकद्रव्यमप्येकं लोकासंख्येयभाग एव वर्त्तते, द्विप्रदेशावगाढस्यैवाऽवक्तव्यकत्वेनाभिधानात्, प्रदेशद्वयस्य च लोकाऽसंख्येयभागवर्त्तित्वादिति, तथा प्रत्येकं द्विप्रदेशावगाढैरपि द्रव्यभेदैः समस्तलोकव्याप्तैर्नानाद्रव्याणामत्रापि सर्वलोकव्यापित्वमवसेयमिति। अत्राऽऽह-नन्वानुपूर्व्यादिद्रव्याणि त्रीण्यपि सर्वलोकव्यापीनीत्युक्तानि, ततश्च येष्वेवाकाशप्रदेशेष्वानुपूर्वी तेष्वेवेतरयोरपि सद्भावः प्रतिपादितो भवति कथं चैतत्परस्परविरुद्धं भिन्नविषयं व्यपदेशत्रयमेकस्य स्यात् ?, अत्रोच्यते-इह त्र्यादिदेशावगाढात् द्रव्याद्भिन्नमेव तावदेकप्रदेशावगाढं ताभ्यां च भिन्नं द्विप्रदेशावगाढं, ततश्चाधेयस्यावगाहकद्रव्यस्य भेदादाधारस्याप्यवगाह्यस्य भेदः स्यादेव, तथा च व्यपदेशभेदो युक्त एव, अनन्तधर्माध्यासिते च वस्तुनि तत्तत्सहकारिसन्निधानात्तत्तद्धर्माभिव्यक्तौ दृश्यत एव समकालं व्यपदेशभेदो, यथा खड्गकुन्तकवचादियुक्ते देवदत्ते खड्गी कुन्ती कवचीत्यादिरिति। इह क्वचिद्वाचनान्तरे-'अणाणुपुव्विदव्वाइं अव्वत्तव्वगदव्वाणि य जहेव हिट्ठ' त्ति-अतिदेश एव दृश्यते तत्र 'हिट्ठ' त्ति-यथाऽधस्ताद् द्रव्यानुपूर्व्यामनयोः क्षेत्रमुक्तं तथाऽत्रापि ज्ञातव्यमित्यर्थः, तच्च व्याख्यातमेव, इत्येवमन्यत्रापि यथासंभवं वाचनान्तरमवगन्तव्यमिति। गतं क्षेत्रद्वारम्।

णेगमववहाराणं आणुपुव्विदव्वाइं लोगस्स किं संखेज्जइभागं फुसन्ति असंखिज्जइभागं फुसंति संखिज्जे भागे फुसंति०जाव सव्वलोगं फुसंति ?, एगं दव्वं पडुच्च संखिज्जइभागं वा फुसइ संखिज्जइ भागे असंखिज्जइ भागे संखेज्जे भागे वा असंखेज्जे भागे वा देसूणं वा लोगं फु-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सइ, नाणादव्वाइं पडुच्च णिअमा सव्वलोगं फुसंति, अणाणुपुव्वीदव्वाइं अवत्तव्वगदव्वाइं च जहा खेत्तं नवरं फुसणा भणिअव्वा + ।

स्पर्शनाद्वारमपि चेत्थमेव निखिलं भावनीयं, नवरमत्र कस्याश्चिद्वाचनाया अभिप्रायेणानुपूर्व्यामेकद्रव्यस्य संख्येयभागादारभ्य यावद्देशोनलोकस्पर्शना भवतीति ज्ञायते, अन्यस्यास्त्वभिप्रायेण असंख्येयभागादारभ्य यावत्सम्पूर्णलोकस्पर्शना स्यादित्यवसीयते, एतच्च द्वयमपि युज्यत एव, यतो यदि मुख्यतया क्षेत्रप्रदेशानामानुपूर्वीत्वमङ्गीक्रियते तदा अनानुपूर्व्यवक्तव्यकयोर्निरवकाशताप्रसङ्गात्पूर्ववद्देशोनता लोकस्य वाच्या, अथाऽऽनुपूर्वीरूपे क्षेत्र अवगाढत्वादचित्तमहास्कन्धस्यैवानुपूर्वीत्वं तर्हि द्रव्यानुपूर्व्यामिवात्रापि संपूर्णता लोकस्य वाच्यति नचात्रानुपूर्व्या सकलस्यापि लोकस्य स्पृष्टत्वादितरयोरवकाशाभाव इति वक्तव्यम्, एकैकप्रदेशरूपे द्विद्विप्रदेशरूपे च क्षेत्रेऽवगाढानां प्रत्येकमसंख्येयानां द्रव्यभेदानां सद्भावतस्तयोरपि प्रत्येकमसंख्येयभेदयोः लोके सद्भावाद्, द्रव्यावगाहभेदेन च क्षेत्रभेदस्येह विवक्षितत्वादिति भावः, वृद्धबहुमतश्चायमपि पक्षो लक्ष्यते, तत्त्वं तु केवलिनो विदन्ति । क्षेत्रस्पर्शनयोस्तु विशेषः प्राग्निदर्शित एवेति । गतं स्पर्शनाद्वारम् ।

अथ कालद्वारम्—

णेगमववहाराणं आणुपुव्वीदव्वाइं कालओ केवचिरं होइ ?, एवं तिण्णि वि, एगं दव्वं पडुच्च जहन्नेणं एगं समयं उक्कोसेणं असंखिज्जं कालं, नाणादव्वाइं पडुच्च निअमा सव्वद्धा × ।

तत्र क्षेत्राऽवगाहपर्यायस्य प्राधान्यविवक्षया त्र्यादिप्रदेशावगाढद्रव्याणामेवाऽऽनुपूर्व्यादिभावः पूर्वमुक्तः, अनन्तरमेवाऽवगाहस्थितिकालं चिन्तयन्नाह—' एगं दव्वं पडुच्च ' त्यादि, अत्र भावना-इह त्रिप्रदेशावगाढस्य वा एकप्रदेशावगाढस्य वा द्रव्यस्य परिणामवैचित्र्यात्प्रदेशत्रयाद्यवगाहभवने आनुपूर्वीव्यपदेशः संजातः, समयं चैकं तद्भावमनुभूय पुनस्तथैव द्विप्रदेशावगाढमेकप्रदेशावगाढं वा तद् द्रव्यं संजातमित्यानुपूर्व्याः समयो जघन्याऽवगाहस्थितिः, यदा तु तदेव द्रव्यमसंख्येयं कालं तद्भावमनुभूय पुनस्तथैव द्विप्रदेशावगाढमेकप्रदेशावगाढं वा जायते तदा उत्कृष्टतया असंख्येयोऽवगाहस्थितिकालः सिध्यति, अनन्तस्तु न भवति, विवक्षितैकद्रव्यस्यैकावगाहेनोत्कृष्टतोऽप्यसंख्यातकालमेवावस्थानादिति, नानाद्रव्याणि तु सर्वाऽद्धा—सर्वकालमेव भवन्ति त्र्यादिप्रदेशावगाढद्रव्यभेदानां सदैवाऽवस्थानादिति, एवं यदा समयमेकं किंचिद् द्रव्यमेकस्मिन् प्रदेशे अवगाढं स्थित्वा ततो द्व्यादिप्रदेशावगाढं भवति तदा अनानुपूर्व्याः समयो जघन्यावगाहस्थितिः, यदा तु तदेवाऽसंख्यातं कालं तद्रूपेण स्थित्वा ततो द्व्यादिप्रदेशावगाढं भवति तदोत्कृष्टतोऽसंख्येयोऽवगाहस्थितिकालः नानाद्रव्याणि तु सर्वकालम् एकप्रदेशावगाढद्रव्यभेदानां सर्वदैव सद्भावादिति, अवक्तव्यकस्य तु द्विप्रदेशावगाढस्य समयादूर्ध्वमेकस्मिस्त्र्यादिषु वा प्रदेशेष्ववगाहप्रतिपत्तौ जघन्यः समयोऽवगाहस्थितिः, असंख्येयकालादूर्ध्वं द्विप्रदेशावगा(ह)ढं परित्यजत उत्कृष्टतोऽसंख्येयोऽवगाहस्थितिकालः सिध्यति, नानाद्रव्याणि तु सर्वकालं, द्विप्रदेशावगाढद्रव्यभेदानां सदैव भावादिति, एवं समानवक्तव्यत्वादतिदिशति एवं ' दोण्ण वि ' त्ति ।

इदानीमन्तरद्वारम्—

णेगमववहाराणं आणुपुव्वीदव्वाणं अंतरं कालओ केवचिरं होइ ?, तिण्हं पि एगं दव्वं पडुच्च जहण्णेणं एकं समयं उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं, नाणादव्वाइं पडुच्च नऽत्थि अंतरं × ।

' जहण्णेणं एगं समयं ' ति—अत्र भावना इह यदा त्र्यादिप्रदेशावगाढं किमप्यानुपूर्वीद्रव्यं समयमेकं तस्माद्विवक्षितक्षेत्रादन्यत्रावगाह्य प्रतिपद्य पुनरपि केवलमन्यद्रव्यसंयुक्तं वा तेष्वेव विवक्षितत्र्याद्याकाशप्रदेशेष्ववगाहते । तदैकानुपूर्वीद्रव्यस्य समयो जघन्योऽन्तरकालः प्राप्यते, ' उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं ' ति-तदेव यदाऽन्येषु क्षेत्रप्रदेशेष्वसंख्येयं कालं परिभ्रम्य केवलमन्यद्रव्यसंयुक्तं वा समागत्य पुनरपि तेष्वेव विवक्षितत्र्याद्याकाशप्रदेशेष्ववगाहते तदोत्कृष्टतोऽसंख्येयोऽन्तरकालः प्राप्यते, न पुनर्द्रव्यानुपूर्व्यामिवानन्तः, यतो द्रव्यानुपूर्व्यां विवक्षितद्रव्यादन्ये द्रव्यविशेषा अनन्ताः प्राप्यन्ते, तैश्च सह क्रमेण संयोगे उक्तोऽनन्तः कालः । अत्र तु विवक्षितावगाहक्षेत्रादन्यत्क्षेत्रमसंख्येयमेव, प्रतिस्थानं चावगाहनामाश्रित्य संयोगस्थितिरत्राप्यसंख्येयकालैव । ततश्च-असंख्येये क्षेत्रे परिभ्रमता द्रव्येण पुनरपि केवलेनान्यसंयुक्तेन वाऽसंख्येयकालात्तेष्वेव नभःप्रदेशेष्वागत्यावगाहनीयम्, न च वक्तव्यमसंख्येयेऽपि क्षेत्रे पौनःपुन्येन तत्रैव परिभ्रमणे कस्मादनन्तोऽपि कालो नोच्यत इति ?, यत इहासंख्येयक्षेत्रे असंख्येयकालमेवान्यत्र तेन पर्यटितव्यम् तत ऊर्ध्वं पुनस्तस्मिन्नेव विवक्षितक्षेत्रे नियमादवगाहनीयं, वस्तुस्थितिस्व(स्वा)भावा(द्या)दिति, तावदेकीयं व्याख्यानमादर्शितम्, अन्ये तु व्याचक्षते-यस्मात् त्र्यादिप्रदेशलक्षणाद्विवक्षितक्षेत्रात्तदानुपूर्वीद्रव्यमन्यत्र गतं, तस्य क्षेत्रस्य स्वभावादेवासंख्येयकालादूर्ध्वं तेनैवानुपूर्वीद्रव्येण वर्णगन्धरसस्पर्शसंख्यादिधर्मैः सर्वथा तुल्येनान्येन वा तथाविधाऽऽधेयेन संयोगे सति नियमात्तथाभूताधारतोपपत्तेरसंख्येय एवान्तरकाल इति, तत्त्वं तु केवलिनो विदन्ति, गम्भीरत्वात् सूत्रप्रवृत्तेरिति । ' नाणादव्वाइं ' इत्यादि, नहि त्र्यादिप्रदेशावगाढानुपूर्वीद्रव्याणि युगपत्सर्वाण्यपि तद्भावं विहाय पुनस्तथैव जायन्त इति कदाचिदपि संभवति, असंख्येयानां तेषां सर्वदैवोक्तत्वादिति भावः । अनानुपूर्व्यवक्तव्यकद्रव्येष्वप्येवमेवैकानेकद्रव्याश्रया अन्तरकालवक्तव्यता केवलमनानुपूर्वीद्रव्यस्यैकप्रदेशावगाढस्यावक्तव्यकद्रव्यस्य तु द्विप्रदेशावगाढस्य पुनस्तथाभवने अन्तरकालश्चिन्तनीयः, शेषा तु व्याख्याद्वयभावना सर्वाऽपि तथैवेति । उक्तमन्तरद्वारम् ।

साम्प्रतं भागद्वारमुच्यते—

णेगमववहाराणं आणुपुव्विदव्वाइं सेसदव्वाणं कइ—

भागे होज्जा ?, तिसु वि जहा दव्वाणुपुव्वीए × ।

तत्र च यथा द्रव्यानुपूर्व्यां तथाऽत्राऽप्यानुपूर्वीद्रव्याणि अनानुपूर्व्यवक्तव्यकलक्षणेभ्यः शेषद्रव्येभ्योऽसंख्येयैर्भागैरधिकानि, शेषद्रव्याणि तु तेषामसंख्येयभागे वर्त्तन्त इति । अत्राह-ननु त्र्यादिप्रदेशावगाढानि द्रव्याण्यानुपूर्व्य एकैकप्रदेशावगाढान्यनानुपूर्व्यो द्विद्विप्रदेशावगाढान्यवक्तव्यकानीति प्राक् प्रतिज्ञातम्, एतानि चानुपूर्व्यादीनि सर्वस्मिन्नपि लोके सम्यतो युक्त्या विचार्यमाणान्यानुपूर्वीद्रव्याण्येव स्तोकानि प्राप्यन्ते, तथाहि-असत्कल्पनया किल लोके त्रिंशत्प्रदेशाः, तत्र चानानुपूर्वीद्रव्याणि त्रिंशदेव, अवक्तव्यकानि तु पञ्चदश आनुपूर्वीद्रव्याणि तु यदि सर्वस्तोकतया त्रिप्रदेशनिष्पन्नानि गण्यन्ते तथापि दशैव भवन्तीति, शेषेभ्यः स्तोकान्येव प्राप्नुवन्ति, कथमसंख्येयगुणानि स्युरिति ?, अत्रोच्यते-एकस्मिन्नानुपूर्वीद्रव्ये ये नभःप्रदेशाः उपयुज्यन्ते ते यद्यन्यस्मिन्नपि नोपयुज्येरँस्तदा स्यादेवं, तच्च नास्ति यत एकस्मिन्नपि प्रदेशत्रयनिष्पन्ने आनुपूर्वीद्रव्ये ये त्रयः प्रदेशास्त एवाऽन्यान्यरूपतयाऽवगाढेनाधेयद्रव्येणाऽऽक्रान्ताः सन्तः प्रत्येकमनेकेषु त्रिकसंयोगेषु गण्यन्ते, प्रतिसंयोगमाधेयद्रव्यस्य भेदात्, तद्भेदे चाधारभेदादिति भावः । एवमन्यान्यपि चतुःप्रदेशावगाढाद्याधेयेनाध्यासितत्वात् त एवानेकेषु चतुष्कसंयोगेष्वनेकेषु पञ्चकसंयोगेषु यावदनेकेष्वसंख्येयकसंयोगेषु प्रत्येकमुपयुज्यन्ते, एवं चतुरादिप्रदेशनिष्पन्नेष्वप्यानुपूर्वीद्रव्येषु ये चतुरादयः प्रदेशास्तेषामप्यन्यान्यसंयोगोपयोगिता भावनीया, तस्मादसंख्येयप्रदेशात्मकेऽप्यस्थित्या व्यवस्थिते लोके यावन्तस्त्रिकसंयोगादयोऽसंख्येयकसंयोगपर्यन्ताः संयोगा जायन्ते तावन्त्यानुपूर्वीद्रव्याणि भवन्ति, प्रतिसंयोगमाधेयद्रव्यस्य भेदेनावस्थितिसद्भावाद्, आधेयभेदे चाधारभेदात्, नहि नभःप्रदेशा येनैव स्वरूपेणैकस्मिन्नाधेये उपयुज्यन्ते तेनैव स्वरूपेणाधेयान्तरेऽपि, आधेयैकताप्रसङ्गाद्, एकस्मिन्नाधारस्वरूपे तदवगाहाभ्युपगमात्, घटे तत्स्वरूपवत्, तस्मात् त्र्यादिसंयोगानां लोके बहुत्वादानुपूर्वीणां बहुत्वं भावनीयम् । अवक्तव्यकानि तु स्तोकानि द्विकसंयोगानां तत्र स्तोकत्वाद्, अनानुपूर्व्योऽपि स्तोका एव लोकप्रदेशसंख्यमात्रत्वाद् अत्र सुखप्रतिपत्त्यर्थं लोके किल पञ्चाकाशप्रदेशाः कल्प्यन्ते, तद्यथा- ⁙ अनानुपूर्व्यस्तावत्पञ्चैव प्रतीताः, अवक्तव्यकानि त्वष्टौ, द्विकसंयोगानामिहाष्टानामेव संभवाद्, आनुपूर्व्यस्तु षोडश संभवन्ति, दशानां त्रिकसंयोगानां पञ्चानां चतुष्कसंयोगानामेकस्य तु पञ्चकयोगस्येह लाभाद्, दश त्रिकयोगाः कथमिह लभ्यन्ते ? इति चेत्, उच्यते-षड् तावत् मध्यव्यवस्थापितेन सह लभ्यन्ते चत्वारस्तु त्रिकसंयोगा दिग्व्यवस्थापितैश्चतुर्भिरेव केवलैरिति, चतुष्कयोगास्तु चत्वारो मध्यव्यवस्थापितेन सह लभ्यन्ते, एकस्तु तमन्तरेण दिग्व्यवस्थितैरेवेति सर्वे पञ्च, पञ्चकयोगस्तु प्रतीत एवेति, तदेवं प्रदेशपञ्चकप्रस्तारेऽप्यानुपूर्वीणां बाहुल्यं दृश्यते, अत एव तदनुसारेण सद्भावतोऽसंख्येयप्रदेशात्मके लोकेऽप्यानुपूर्वीद्रव्याणां शेषेभ्योऽसंख्यातगुणत्वं भावनीयमित्यलं विस्तरेण । उक्तं भागद्वारम् ।

साम्प्रतं भावद्वारमाह—

णेगमववहाराणं आणुपुव्वीदव्वाइं कत(य)रंमि भावे होज्जा ?, तिण्णि वि णिअमा साऽऽदिपारिणामिए भावे होज्जा ॥ एवं दोण्णि वि × ।

तत्र च द्रव्याणां त्र्यादिप्रदेशावगाहपरिणामस्य एकप्रदेशावगाहपरिणामस्य द्विप्रदेशावगाहपरिणामस्य च सादिपारिणामिकत्वात् त्रयाणामपि सादिपारिणामिकभाववर्त्तित्वं भावनीयमिति ।

अल्पबहुत्वद्वारे—

एएसि णं भंते ! णेगमववहाराणं आणुपुव्विदव्वाणं अणाणुपुव्विदव्वाणं अवत्तव्वगदव्वाण य दव्वट्ठयाए पएसट्ठयाए कतरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुआ वा तुल्ला वा विसेसाहिआ वा, जहा दव्वाणुपुव्वीए तहा भाणिअव्वं, णवरं अणंतगं नऽत्थि ॥ (गोयमा ! सव्वत्थोवाइं णेगमववहाराणं अवत्तव्वगदव्वाइं दव्वट्ठयाए अणाणुपुव्वीदव्वाइं दव्वट्ठयाए विसेसाहियाइं आणुपुव्वीदव्वाइं दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणाइं, पएसट्ठयाए सव्वत्थोवाइं णेगमववहाराणं अणाणुपुव्वीदव्वाइं अपएसट्ठयाए अवत्तव्वगदव्वाइं पएसट्ठयाए विसेसाहियाइं आणुपुव्वीदव्वाइं पएसट्ठयाए असंखेज्जगुणाइं, दव्वट्ठपएसट्ठयाए सव्वत्थोवाइं णेगमववहाराणं अवत्तव्वगदव्वाइं दव्वट्ठयाए अणाणुपुव्वीदव्वाइं दव्वट्ठयाए अपएसट्ठयाए विसेसाहियाइं अवत्तव्वगदव्वाइं पएसट्ठयाए विसेसाहियाइं आणुपुव्वीदव्वाइं दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणाइं ताइं चेव पएसट्ठयाए असंखेज्जगुणाइं ।) सेत्तं अनुगमो (मे) । सेत्तं णेगमववहाराणं अणोवणिहिआ खेत्ताणुपुव्वी । (सूत्र-१०१)

इह द्रव्यगणनं द्रव्यार्थता, प्रदेशगणनं प्रदेशार्थता, उभयगणनं तूभयार्थता, तत्रानुपूर्व्यो विशिष्टद्रव्यावगाहोपलक्षितास्त्र्यादिनभःप्रदेशसमुदायास्तावद् द्रव्याणि । समुदायारम्भकास्तु प्रदेशाः अनानुपूर्व्यो त्वेकैकप्रदेशावगाहिद्रव्योपलक्षिताः सकलनभःप्रदेशाः प्रत्येकं द्रव्याणि, प्रदेशास्तु न संभवन्ति, एकैकप्रदेशद्रव्ये हि प्रदेशान्तरायोगाद्, अवक्तव्यकेषु तु यावन्तो लोके द्विकयोगाः संभवन्ति तावन्ति प्रत्येकं द्रव्याणि तदारम्भकास्तु प्रदेशा इति, शेषा त्वत्र व्याख्या द्रव्यानुपूर्वीवत्कर्त्तव्येति 'नवरं सव्वत्थोवाइं णेगमववहाराणं अवत्तव्वगदव्वाइमि' त्यादि, अत्राह-ननु यदा पूर्वोक्तयुक्त्या एकैको नभःप्रदेशोऽनेकेषु द्विकसंयोगेषूपयुज्यते तदा अनानुपूर्वीद्रव्येभ्योऽवक्तव्यकद्रव्याणामेव बाहुल्यमवगम्यते, यतः पूर्वोक्तायामपि पञ्चप्रदेशनभःकल्पनायामवक्तव्यकद्रव्याणामेवाऽष्टसंख्योपेतानां पञ्चसंख्येभ्योऽनानुपूर्वीद्रव्येभ्यो बाहुल्यं दृष्टं, तत्कथमत्र व्यत्ययः प्रतिपाद्यते ?, सत्यम्, अस्त्येतत् केवलं लोकमध्ये, लोकपर्यन्तवर्त्तिनिष्कुटगतास्तु ये कगडुकाकृतया विश्रेण्या निर्गता एकाकिनः प्रदेशास्ते विश्रेणिव्यवस्थितत्वादवक्तव्यक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्याऽयोग्या इत्यनानुपूर्वीसङ्ख्यायामेवान्तर्भवन्ति, अतो लोकमध्यगतां निष्कुटगतां च प्रस्तुतद्रव्यसंख्यां मीलयित्वा यदा केवली चिन्तयति तदा अवक्तव्यकद्रव्याण्येव स्तोकानि, अनानुपूर्वीद्रव्याणि तु तेभ्यो विशेषाधिकतां प्रतिपद्यन्ते, अत्र निष्कुटस्थापना-'४४४', अत्र विश्रेणिलिखितौ द्वौ अवक्तव्यकायोग्यौ द्रष्टव्याविति, एवंभूताश्च किलामी सर्वलोकपर्यन्तेषु बहवः सन्तीत्यनानुपूर्वीद्रव्याणां बाहुल्यमित्यलं विस्तरेण । आनुपूर्वीद्रव्याणां तु तेभ्योऽसंख्यातगुणत्वं भावितमेव. शेषं द्रव्यानुपूर्व्यनुसारेण भावनीयम्, नवरमुभयार्थताविचारे आनुपूर्वीद्रव्याणि स्वद्रव्येभ्यः प्रदेशार्थतयाऽसंख्येयगुणानि कथम्?, एकैकस्य तावद् द्रव्यस्य त्र्यादिभिरसंख्येयान्तैर्नभःप्रदेशैरारब्धत्वात्, नभःप्रदेशानां च समुदितानामप्यसंख्येयत्वादिति ।' सत्तमि ' त्यादि निगमनद्वयम् । उक्ता नैगमव्यवहारनयमतेन अनौपनिधिकी क्षेत्रानुपूर्वी ।

अथ तामेव संग्रहमतेन विभणिषुराह—

से किं तं संगहस्स अणोवणिहिआ खेत्ताऽऽणुपुव्वी ?, संगहस्स अणोवणिहिया खेत्ताऽऽणुपुव्वी पंचविहा पण्णत्ता, तं जहा-अट्ठपयपरूवणया१, भंगसमुक्कित्तणया२, भंगोवदंसणया३, समोतारे४, अणुगमे५ । से किं तं संगहस्स अट्ठपयपरूवणया ?, संगहस्स अट्ठपयपरूवणया तिपएसोगाढे आणुपुव्वी चतुप्पएसोगाढे आणुपुव्वी०जाव दसपएसोगाढे आणुपुव्वी संखिज्जपएसोगाढे आणुपुव्वी असंखिज्जपएसोगाढे आणुपुव्वी, एगपएसोगाढे अणाणुपुव्वी, दुपएसोगाढे अवत्तव्वए । सेत्तं संगहस्स अट्ठपयपरूवणया । एआए णं संगहस्स अट्ठपयपरूवणयाए किं पओअणं ?, एआए णं संगहस्स अट्ठपयपरूवणयाए संगहस्स भंगसमुक्कित्तणया कज्जइ । से किं तं संगहस्स भंगसमुक्कित्तणया ?, संगहस्स भंगसमुक्कित्तणया अत्थि आ(णु)नुपुव्वी अत्थि अणानुपुव्वी अत्थि अवत्तव्वए, अहवा-अत्थि आनुपुव्वी अ अणाणुपुव्वी अ । एवं जहा दव्वानुपुव्वीए संगहस्स तहा भाणिअव्वं ०जाव सेत्तं संगहस्स भंगसमुक्कित्तणया । एआए णं संगहस्स भंगसमुक्कित्तणयाए किं पओअणं ?, एआए णं भंगसमुक्कित्तणयाए संगहस्स भंगोवदंसणया कज्जइ । से किं तं संगहस्स भंगोवदंसणया ?, संगहस्स भंगोवदंसणया तिपएसोगाढे आनुपुव्वी एगपएसोगाढे अणानुपुव्वी दुपएसोगाढे अवत्तव्वए, अहवा-तिपएसोगाढे अ एगपएसोगाढे अ आनुपुव्वी अ अणानुपुव्वी अ । एवं जहा दव्वानुपुव्वीए संगहस्स तहा खेत्तानुपुव्वीए वि भाणिअव्वं ०जाव सेत्तं संगहस्स भंगोवदंसणया । से किं तं समोआरे ?, समोआरे संगहस्स आनुपुव्विदव्वाइं कहिं समोतरंति ?, किं आनुपुव्विदव्वेहिं समोतरंति अणाणुपुव्विदव्वेहिं समोअरंति अवत्तव्वगदव्वेहिं समोअरंति ?, तिण्णि वि सट्ठाणे समोतरंति । सेत्तं समोआरे । से किं तं अणुगमे ? अणुगमे अट्ठविहे पण्णत्ते, तं जहा-" संतपयपरूवणया, ०जाव अप्पाबहुं नऽत्थि " ॥ १ ॥ संगहस्स आनुपुव्विदव्वाइं किं अत्थि नऽत्थि निअमा अत्थि । एवं तिण्णि वि सेसगदाराइं जहा दव्वाणुपुव्वीए संगहस्स तहा खेत्तानुपुव्वीए वि भाणिअव्वाइं; ०जाव सेत्तं अनुगमे । सेत्तं संगहस्स अणोवणिहिआ खेत्तानुपुव्वी । सेत्तं अणोवनिहिआ खेत्ता(णु)पुव्वी । (सूत्र १०२)

' से किं तमि ' त्यादि, इह संग्रहाभिमतद्रव्यानुपूर्व्यनुसारेण निखिलं भावनीयम् । नवरं क्षेत्रप्राधान्यादत्र ' तिपएसोगाढा आणुपुव्वी०जाव असंखज्जपएसोगाढा आणुपुव्वी, एगपएसोगाढा अणाणुपुव्वी, दुपएसोगाढा अवत्तव्वए' इत्यादि वक्तव्यं, शेषं तथैवेति । उक्ता अनौपनिधिकी क्षेत्रानुपूर्वी ।

अथौपनिधिकीं तां निर्दिदिक्षुराह—

से किं तं उवनिहिआ खेत्तानुपुव्वी ?, उवणिहिया खेत्ताणुपुव्वी तिविहा पण्णत्ता, तं जहा-पुव्वाणुपुव्वी१, पच्छानुपुव्वी२, अणानुपुव्वी ३ । से किं तं पुव्वाणुपुव्वी ?, पुव्वाणुपुव्वी अहोलोए तिरिअलोए उड्ढलोए । सेत्तं पुव्वानुपुव्वी । से किं तं पच्छानुपुव्वी ?, पच्छाणुपुव्वी उड्ढलोए तिरिअलोए अहोलोए । सेत्तं पच्छानुपुव्वी । से किं तं अणानुपुव्वी ?, अणाणुपुव्वी, एआए चेव एगाइआए एगुत्तरिआए तिगच्छगयाए सेढीए अन्नमन्नब्भासो दुरूवूणो । सेत्तं अणाणुपुव्वी ।

' से किं तं उवणिहिये'त्यादि । अत्र व्याख्या पूर्ववत्कर्त्तव्या, नवरं तत्र द्रव्यानुपूर्व्यधिकाराद्धर्मास्तिकायादिद्रव्याणि पूर्वानुपूर्व्यादित्वेनोदाहृतानि, अत्र तु क्षेत्रानुपूर्व्यधिकारादधोलोकादिक्षेत्रविशेषा इति, (अनु०) (अधोलोकव्याख्या ' अहोलोय ' शब्दे प्रथमभागे ८६२ पृष्ठे गता) (तिर्यग्लोकव्याख्या ' तिरियलोय ' शब्दे चतुर्थभागे २३२२ पृष्ठे दर्शयिष्यते) (ऊर्ध्वलोकव्याख्या 'उड्ढलोग' शब्दे अस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते) अत्र च जघन्यपरिणामवद् द्रव्ययोगतो जघन्यतया गुणस्थानकेषु मिथ्यादृष्टेरिवादावेवाऽधोलोकस्योपन्यासः, तदुपरि मध्यमद्रव्ययोगान्मध्यमतया तिर्यग्लोकस्य तदुपरिष्टादुत्कृष्टद्रव्ययोगादूर्ध्वलोकस्योपन्यास इति पूर्वानुपूर्वीत्वसिद्धिः, पश्चानुपूर्वी तु व्यत्ययेन प्रतीतैव, अनानुपूर्व्यां तु पदत्रयस्य षड् भङ्गा भवन्ति, ते च पूर्वं दर्शिता एव, शेषभावना त्विह प्राग्वदेवेति । अत्र च क्वचिद्वाचनान्तरे—एकप्रदेशावगाढादीनामसंख्यातप्रदेशावगाढान्तानां प्रथमं पूर्वानुपूर्व्यादिभाव उक्तो दृश्यते, सोऽपि क्षेत्रानुपूर्व्यधिकारादविरुद्ध एव, सुगमत्वाच्चोक्तानुसारेण भावनीय इति ।

१-अस्मिन्नेव भागे १४७ पृष्ठे ६५ पंक्तौ जावशब्दसंग्रहीतं गतम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साम्प्रतं वस्त्वन्तरविषयत्वेन पूर्वानुपूर्व्यादिभावं दिदर्शयिषुरधोलोकादीनां च परिभेदज्ञाने शिष्यव्युत्पत्तिं पश्यन्नाह—

अहोलोअखेत्तानुपुव्वी तिविहा पमत्ता, तं जहा-पुव्वानुपुव्वी, पच्छानुपुव्वी, अणानुपुव्वी । से किं तं पुव्वानुपुव्वी ?, पुव्वाणुपुव्वी रयणप्पभा सक्करप्पभा वालुअप्पभा पंकप्पभा धूमप्पभा तमप्पभा तमतमप्पभा । सेत्तं पुव्वानुपुव्वी । से किं तं पच्छानुपुव्वी ?, पच्छाणुपुव्वी तमतमा ०जाव रयणप्पभा । सेत्तं पच्छानुपुव्वी । से किं तं अणानुपुव्वी ?, अणाणुपुव्वी एआए चेव एगाइआए एगुत्तरिआए सत्तगच्छगयाए सेढीए अण्णमण्णब्भासो दुरूवूणो । सेत्तं अणानुपुव्वी + ।

'अहोलोयखेत्ताणुपुव्वी तिविहे' त्यादि । अधोलोकक्षेत्रविषया आनुपूर्वी, आनुपूर्वी औपनिधिकीति प्रक्रमाल्लभ्यते, सा त्रिविधा प्रज्ञप्ता, 'तद्यथे' त्यादि, शेषं पूर्ववद्भावनीयम् । यावद्रत्नप्रभेत्यादि (अनु०) । रत्नप्रभायाः व्याख्यां 'रयणप्पभा' शब्दे षष्ठे भागे दर्शयिष्यामि) (शर्कराप्रभायाः सर्वो वृत्तान्तः 'सक्करप्पभा' शब्दे सप्तमे भागे वक्ष्यते) (वालुकाप्रभाविस्तरः 'वालुयप्पभा' शब्दे षष्ठे भागे कथयिष्यते) (पङ्कप्रभायाः सर्वं वृत्तम् 'पंकप्पभा' शब्दे पञ्चमे भागे वक्ष्यते) (धूमप्रभायाः व्याख्यानम् 'धूमप्पभा' शब्दे चतुर्थे भागे करिष्यते) (तमःप्रभाकीदृशीति 'तमप्पभा' शब्दे चतुर्थे भागे वक्ष्यते) (तमस्तमःप्रभायाः सर्वो विषयः 'तमतमप्पभा' शब्दे चतुर्थे भागे करिष्यते ।) अत्र प्रज्ञापकप्रत्यासत्त्येति रत्नप्रभाया आदावुपन्यासः कृतः, ततः परं व्यवहितव्यवहिततरादित्वात् क्रमेण शर्कराप्रभादीनामिति पूर्वाऽऽनुपूर्वीत्वं, व्यत्ययेन पश्चानुपूर्वीत्वम् , अमीषां च सप्तानां पदानां परस्पराभ्यासे पञ्चसहस्राणि चत्वारिंशदधिकानि भङ्गानां भवन्ति तानि चाद्यन्तभङ्गकद्वयरहितान्यनानुपूर्व्यो द्रष्टव्यानि इति, शेषभावना पूर्ववदिति ।

तिरिअलोअखेत्तानुपुव्वी तिविहा पमत्ता, तं जहा-पुव्वाणुपुव्वी १, पच्छाणुपुव्वी २, अणाणुपुव्वी ३ । सेकिं तं पुव्वाणुपुव्वी ?, पुव्वाणुपुव्वी—

"जंबुद्दीवे लवणे, धायइ कालोअ पुक्खरे वरुणे ।
खीर घय खोअ नंदी, अरुणवरे कुंडले रुअगे ॥ १ ॥
आभरणवत्थगंधे, उप्पलतिलए अ पुढविनिहिरयणे ।
वासहर-दह-नईओ, विजया वक्खार-कप्पिंदा ॥ २ ॥
कुरुमंदरआवासा, कूडा नक्खत्तचंदसूरा य ।
देवे नागे जक्खे, भूए अ सयंभुरमणे अ ॥ ३ ॥
सेत्तं पुव्वाणुपुव्वी ।

से किं तं पच्छाणुपुव्वी ?, पच्छाणुपुव्वी सयंभूरमणे अ ०जाव जंबुद्दीवे । सेत्तं पच्छाणुपुव्वी । से किं तं अणाणुपुव्वी ?, अणाणुपुव्वी एआए चेव एगाइआए एगुत्तरिआए असंखेज्जगच्छगयाए सेढीए अण्णमण्णब्भासो दुरूवूणो । सेत्तं अणाणुपुव्वी । (सूत्र-१०३)

तिर्यग्लोके क्षेत्रानुपूर्व्यां 'जंबुद्दीवे' इत्यादि गाथाव्याख्या-द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां स्थानदातृत्वाहाराद्युपष्टम्भहेतुत्वलक्षणाभ्यां प्राणिनः पान्तीति द्वीपाः—जन्त्वावासभूतक्षेत्रविशेषाः, सह मुद्रया-मर्यादया वर्त्तन्त इति समुद्राः-प्रचुरजलोपलक्षिताः क्षेत्रविशेषा एव, एते च तिर्यग्लोके प्रत्येकमसंख्येया भवन्ति, तत्र समस्तद्वीपसमुद्राभ्यन्तरभूतत्वेनादौ तावज्जम्बूवृक्षेणोपलक्षितो द्वीपो जम्बूद्वीपस्ततस्तं परिक्षिप्य स्थितो लवणरसास्वादनीरपूरितः समुद्रो लवणसमुद्रः एकदेशेन समुदायस्य गम्यमानत्वात् , एवं पुरस्तादपि यथासम्भवं द्रष्टव्यं 'धायइकालोय' त्ति—ततो लवणसमुद्रं परिक्षिप्य स्थितो धातकीवृक्षखण्डोपलक्षितो द्वीपो धातकीखण्डस्तत्परितोऽपि शुद्धोदकरसास्वादः कालोदधिसमुद्रः, तं च परिक्षिप्य स्थितः पुष्करैः-पद्मवरैरुपलक्षितो द्वीपः पुष्करवरद्वीपः, तत्परितोऽपि शुद्धोदकरसास्वाद एव पुष्करोदः समुद्रः, अनयोश्च द्वयोरप्येकेनैव पदेनात्र संग्रहो द्रष्टव्यः 'पुक्खरे' त्ति-एवमुत्तरत्रापि ततः-'वरुणो' त्ति-वरुणवरो द्वीपस्ततो वारुणीरसास्वादो वारुणोदः समुद्रः 'खीर' त्ति-क्षीरवरो द्वीपः क्षीररसास्वादः क्षीरोदः समुद्रः 'घय' त्ति-घृतवरो द्वीपः घृतरसास्वादो घृतोदः समुद्रः 'खोय' त्ति-इक्षुवरो द्वीपः इक्षुरसास्वाद एवेक्षुरसः समुद्रः, इत ऊर्ध्वं सर्वेऽपि समुद्राः द्वीपसदृशनामानो मन्तव्याः, अपरं च-स्वयंभूरमणवर्जाः सर्वेऽपीक्षुरसास्वादाः, तत्र द्वीपनामान्यमूनि, तद्यथा-नन्दी-समृद्धिस्तस्या ईश्वरो द्वीपो नन्दीश्वरः, एवम्-अरुणवरः, अरुणावासः, कुण्डलवरः, शङ्खवरः, रुचकवरः, इत्येवं षड् द्वीपनामानि चूर्णौ लिखितानि दृश्यन्ते; सूत्रे तु-'नन्दी अरुणवरे कुण्डले रुयगे' इत्येतस्मिन् गाथादले चत्वार्येव तान्युपलभ्यन्ते अतश्चूर्णिलिखितानुसारेण रुचकस्त्रयोदशः, सूत्रलिखितानुसारतस्तु स एवैकादशो भवति, तत्त्वं तु केवलिनो विदन्तीति गाथार्थः । इदानीमनन्तरोक्तद्वीपसमुद्राणामवस्थितिस्वरूपप्रतिपादनार्थं शेषाणां तु नामाभिधानार्थमाह—

" जंबुद्दीवाओ खलु, निरंतरा सेसया असंखइमा ।
भुयगवरकुसवरा वि य, कोंचवराऽऽभरणमाई य" ॥१॥ इति ।

(अस्याः गाथायाः) व्याख्या-एते-पूर्वोक्ताः सर्वेऽपि जम्बूद्वीपादारभ्य निरन्तरा नैरन्तर्येण व्यवस्थिताः, न पुनरमीषामन्तरे अपरो द्वीपः कश्चनापि समस्तीति भावः, ये तु शेषकाः भुजगवरादय इत ऊर्ध्वं वक्ष्यन्ते ते प्रत्येकमसंख्याततमा द्रष्टव्याः, तथा हि-'भुयगवरे' त्ति-पूर्वोक्ताद् रुचकवराद् द्वीपादसंख्येयान् द्वीपसमुद्रान् गत्वा भुजगवरो नाम द्वीपः समस्ति । 'कुसवर' त्ति-ततोऽप्यसंख्येयाँस्तान् गत्वा कुशवरो नामद्वीपः समस्ति, अपिचेति समुच्चये 'कोंचवर' त्ति-ततोऽप्यसंख्येयांस्तानतिक्रम्य क्रौञ्चवरो नाम द्वीपः समस्ति 'आभरणमाई य' त्ति-एवमसंख्येयान् द्वीपसमुद्रानुल्लङ्घ्याऽऽभरणाऽऽदयश्च-आभरणादिनामसदृशनामानश्च द्वीपा वक्तव्याः, समुद्रास्तु तत्सदृशना-

मान एव भवन्तीत्युक्तमेवेति गाथार्थः । इयं च गाथा कस्याश्चिद्वाचनायां न दृश्यत एव, केवलं काऽपि वाचनाविशेषे दृश्यते टीकाचूर्ण्योस्तु तद्व्याख्यानमुपलभ्यत इत्यस्माभिरपि व्याख्यातेति । तान्येवाऽऽभरणादीनाह-"आभरणवत्थे" त्यादि गाथाद्वयम् , असंख्येयानां संख्येयानां द्वीपानामन्ते आभरणवस्त्रगन्धोत्पलतिलकादिपर्यायसदृशनामक एकैकोऽपि द्वीपस्तावद्वक्तव्यो यावदन्ते स्वयंभूरमणो द्वीपः शुद्धोदकरसः स्वयंभूरमण एव समुद्र इति गाथाद्वयभावार्थः । ननु यद्येवं तदसंख्येयान् द्वीपानतिक्रम्य ये वर्त्तन्ते तेषामेव द्वीपानामेतानि नामान्याख्यातानि; ये त्वन्तरालेषु द्वीपास्ते किंनामका इति वक्तव्यम् ?, सत्यम् लोके पदार्थानां शङ्खध्वजकलशस्वस्तिकश्रीवत्सादीनि यावन्ति शुभनामानि तैः सर्वैरप्युपलक्षितास्तेषु द्वीपाः प्राप्यन्त इति स्वयमेव दृष्टव्यं, यत उक्तम्-" दीवसमुद्दा णं भंते ! केवइया नामधिज्जेहिं पण्णत्ता ?, गोयमा ! जावइया लोए सुभा नामा सुभा रूवा सुभा गंधा सुभा रसा सुभा फासा एवइया णं दीवसमुद्दा नामधिज्जेहिं पण्णत्ता" इति । संख्या तु सर्वेषामसंख्येयस्वरूपा "उद्धारसागराणं अड्ढाइज्जाण जत्तिया समया । दुगुणा दुगुणपवित्थरदीवोदहिरज्जु एवइया ॥ १ ॥ " इति गाथा प्रतिपादिता द्रष्टव्या, तदेवमत्र क्रमोपन्यासे पूर्वानुपूर्वीव्यत्ययेन पश्चानुपूर्वी, अनानुपूर्वी त्वममीषामसंख्येयानां पदानां परस्पराभ्यासे येऽसंख्येया भङ्गा भवन्ति भङ्गकद्वयोना तत्स्वरूपा द्रष्टव्येति ।

उड्ढलोअखेत्ताणुपुव्वी तिविहा पण्णत्ता, तं जहा-पुव्वाणुपुव्वी, पच्छाणुपुव्वी, अणाणुपुव्वी । से किं तं पुव्वाणुपुव्वी ?, पुव्वाणुपुव्वी-सोहम्मे ईसाणे सणंकुमारे माहिंदे बंभलोए लंतए महासुक्के सहस्सारे आणए पाणए आरणे अच्चु(ए)ते गेवेज्जविमाणे अणुत्तरविमाणे ईसिपब्भारा । सेत्तं पुव्वाणुपुव्वी । से किं तं पच्छाणुपुव्वी ?, पच्छाणुपुव्वी ईसिप्पब्भारा ०जाव सोहम्मे । सेत्तं पच्छाणुपुव्वी । से किं तं अणाणुपुव्वी ?, अणाणुपुव्वी एआए चेव एगाइआए एगुत्तरिआए पण्णरसगच्छगयाए सेढीए अण्णमण्णब्भासो दुरूवूणो । सेत्तं अणाणुपुव्वी । अहवा-उवनिहिआ खेत्ताऽऽणुपुव्वी तिविहा पण्णत्ता, तं जहा-पुव्वाणुपुव्वी, पच्छाणुपुव्वी, अणाणुपुव्वी । से किं तं पुव्वाणुपुव्वी ?, पुव्वाणुपुव्वी-एगपएसोगाढे दुपएसोगाढे दसपएसोगाढे संखिज्जपएसोगाढे ०जाव असंखिज्जपएसोगाढे । सेत्तं पुव्वाणुपुव्वी ॥ से किं तं पच्छाणुपुव्वी ?, पच्छाणुपुव्वी-असंखिज्जपएसोगाढे संखिज्जपएसोगाढे ०जाव एगपएसोगाढे । सेत्तं पच्छाणुपुव्वी ॥ से किं तं अणाणुपुव्वी ?, अणाणुपुव्वी-एआए चेव एगाइआए एगुत्तरिआए असंखिज्जगच्छगयाए सेढीए अण्णमण्णब्भासो दुरूवूणो । सेत्तं अणाणुपुव्वी । सेत्तं उवनिहिआ खेत्ताणुपुव्वी । सेत्तं खेत्ताणुपुव्वी । (सूत्र-१०४)

ऊर्ध्वलोकक्षेत्रानुपूर्व्याम्-'सोहम्मे' त्यादि । सकलविमानप्रधानसौधर्मावतंसकाभिधानविमानविशेषोपलक्षितत्वात्सौधर्मः एवं सकलविमानप्रधानेशानावतंसकविमानविशेषोपलक्षित ईशानः, एवं तत्तद्विमानावतंसकप्राधान्येन तत्तन्नाम वाच्यं, यावत्सकलविमानप्रधानाच्युतावतंसकाभिधानविमानविशेषोपलक्षितोऽच्युतः, लोकपुरुषस्य ग्रीवाविभागे भवानि विमानानि ग्रैवेयकानि, नैषामन्यान्युत्तराणि विमानानि सन्तीत्यनुत्तरविमानानि, ईषद्भाराक्रान्तपुरुषवन्नता अन्ते ईषत्प्राग्भारेति । अत्र प्रज्ञापकप्रत्यासत्तेः आदौ सौधर्मस्योपन्यासः, ततो व्यवहितादिरूपत्वात् क्रमेणेशानादीनामिति पूर्वानुपूर्वीत्वं, शेषभावना तु पूर्वोक्तानुसारतः कर्त्तव्येति । क्षेत्रानुपूर्वी समाप्ता । उक्ता क्षेत्रानुपूर्वी ।

(८) साम्प्रतं प्रागुद्दिष्टामेव क्रमप्राप्तां कालानुपूर्वी व्याचिख्यासुराह—

से किं तं कालाणुपुव्वी?, कालाणुपुव्वी दुविहा पण्णत्ता, तं जहा-उवनिहिआ य, अणोवणिहिआ य ।(सूत्र-१०५)। तत्थ णं जा सा उवनिहिआ सा ठप्पा । तत्थ णं जा सा अणोवणिहिआ सा दुविहा पण्णत्ता, तं जहा-णेगमववहाराणं, संगहस्स य । (सूत्र-१०६) । से किं तं नेगमववहाराणं अणोवनिहिआ कालाणुपुव्वी ?, अणोवणिहिया कालाणुपुव्वी पंचविहा पण्णत्ता, तं जहा-अट्ठपयपरूवणया १, भंगसमुक्कित्तणया २, भंगोवदंसणया ३, समोआरे ४, अणुगमे ५ । (सूत्र-१०७) । से किं तं णेगमववहाराणं अट्ठपयपरूवणया ?, णेगम० तिसमयट्ठिइए आणुपुव्वी ०जाव दससमयट्ठिईए आणुपुव्वी संखिज्जसमयट्ठिईए आणुपुव्वी असंखिज्जसमयट्ठिइए आणुपुव्वी एगसमयट्ठिईए अणाणुपुव्वी दुसमयट्ठिईए अवत्तव्वए, तिसमयट्ठिइयाओ आणुपुव्वीओ एगसमयट्ठिइआओ अणाणुपुव्वीओ दुसमयट्ठिइआ अवत्तव्वगाइं । सेत्तं नेगमववहाराणं अट्ठपयपरूवणया । एआए णं णेगमववहाराणं अट्ठपयपरूवणयाए किं पओयणं ?, एयाए णं णेगमववहाराणं अट्ठपयपरूवणयाए नेगमववहाराणं भंगसमुक्कित्तणया कज्जइ, (सूत्र-१०८) । से किं तं णेगमववहाराणं भंगसमुक्कित्तणया ?, णेगम० अत्थि आणुपुव्वी, अत्थि अणाणुपुव्वी, अत्थि अवत्तव्वए, एवं दव्वाणुपुव्वीगमेणं कालाणुपुव्वीए वि ते चेव छव्वीसं २६ भंगा भाणिअव्वा ०जाव सेत्तं णेगमववहाराणं भंगसमुक्कित्तणया । एआए णं णेगमववहाराणं भंगसमुक्कित्तणयाए किं पओअणं ?, एआए णं णेगमववहाराणं भंगसमुक्कित्तणयाए णेगमववहाराणं भंगोवदंसणया कज्जइ, (सूत्र-१०९) । से किं तं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

णेगमववहाराणं भंगोवदंसणया ?, णेगमव० तिसमयट्ठिईए आणुपुव्वी, एगसमयट्ठिईए अणाणुपुव्वी, दुसमयट्ठिईए अवत्तव्वए, तिसमयट्ठिईआ आणुपुव्वीओ, एगसमयट्ठिइआ अणाणुपुव्वीओ, दुसमयट्ठिईआ अवत्तव्वगाइं। अहवा-तिसमयट्ठिईए अ एगसमयट्ठिईए अ आणुपुव्वी अ अणाणुपुव्वी अ, एवं तहा चेव दव्वाणुपुव्वीगमेणं छव्वीसं २६ भंगा भाणिअव्वा०जाव सेत्तं नेगमववहाराणं भंगोवदंसणया, (सूत्र-११०)। से किं तं समोतारे ?, समोआरे णेगमववहाराणं आणुपुव्वीदव्वाइं कहिं समोतरंति ?, किं आणुपुव्वीदव्वेहिं समोतरंति अणाणुपुव्वीदव्वेहिं, एवं तिण्णि वि सट्ठाणे समोतरंति इति भाणिअव्वं। सेत्तं समोतारे। (सूत्र-१११)।

से किं तं अणुगमे ?, अणुगमे णवविहे पण्णत्ते, तं जहा-
" संतपयपरूवणया ०जाव अप्पाबहुं चेव " ॥ १ ॥
(सूत्र-११२ ×)

'से किं तं कालाणुपुव्वी' त्यादि । अत्राक्षरगमनिका यथा द्रव्यानुपूर्व्यां तथा कर्त्तव्या, यावत्—' तिसमयट्ठिईए आणुपुव्वी' त्यादि, त्रयः समयाः स्थितिर्यस्य परमाणुद्व्यणुकत्र्यणुकाद्यनन्ताणुकस्कन्धपर्यन्तस्य द्रव्यविशेषस्य सः त्रिसमयस्थितिर्द्रव्यविशेष आनुपूर्वीति । आह—ननु यदि द्रव्यविशेष एवात्राप्यानुपूर्वी कथं तर्हि तस्य कालानुपूर्वीत्वम् ?, नैतदेवम्—अभिप्रायाऽपरिज्ञानात् ,यतः समयत्रयलक्षणकालपर्यायविशिष्टमेव द्रव्यं गृहीतं, ततश्च पर्यायपर्यायिणोः कथञ्चिदभेदात्कालपर्यायस्य चेह प्राधान्येन विवक्षितत्वाद् द्रव्यस्यापि विशिष्टस्य कालानुपूर्वीत्वं न दुष्यति, मुख्यं समयत्रयस्यैवात्रानुपूर्वीत्वं, किन्तु-तद्विशिष्टद्रव्यस्यापि तदभेदोपचारात्तदुक्त इति भावः । एवं चतुःसमयस्थित्यादिष्वपि वाच्यं, यावद्दश समयाः स्थितिर्यस्य परमाण्वादिद्रव्यसङ्घातस्य स तथा । संख्येयाः समयाः स्थितिर्यस्य परमाण्वादेः स तथा । असंख्येयाः समयाः स्थितिर्यस्य परमाण्वादेः स तथा, " अनन्तास्तु समया द्रव्यस्य स्थितिरेव न भवति" स्वाभाव्यादित्युक्तमेवेति, शेषा बहुवचननिर्देशादिभावना पूर्ववदेव एकसमयस्थितिकं परमाण्वाद्यनन्ताणुकस्कन्धपर्यन्तं द्रव्यमनानुपूर्वी, द्विसमयस्थितिकं तु तदवक्तव्यकमिति, शेषं पूर्वोक्तानुसारेण सर्वं भावनीयम् ।

णेगमववहाराणं आणुपुव्वीदव्वाइं किं अत्थि णऽत्थि ?, नियमा तिण्णि वि अत्थि । नेगमववहाराणं आणुपुव्वीदव्वाइं किं संखिज्जाइं ?, असंखेज्जाइं ?, अणंताइं ? । तिण्णि वि नो संखिज्जाइं, असंखिज्जाइं, नो अणंताइं × ।

यावद् द्रव्यप्रमाणद्वारे—'नो संखेज्जाइं, असंखेज्जाइं, नो अणंताइं' इति । अस्य भावना इह त्र्यादिसमयस्थितिकानि परमाण्वादिद्रव्याणि लोके यद्यपि प्रत्येकमनन्तानि प्राप्यन्ते तथाऽपि समयत्रयलक्षणायाः स्थितेरेकस्वरूपत्वात् काल(स्य चेह) स्यैवेह प्राधान्येन द्रव्यबहुत्वस्य गुणीभूतत्वात् त्रिसमयस्थितिकैरनन्तैरप्येकमेवानुपूर्वीद्रव्यम् , एवं चतुःसमयलक्षणायाः स्थितेरेकत्वादनन्तैरपि चतुःसमयस्थितिकद्रव्यैरेकमेवानुपूर्वीद्रव्यम् , एवं समयवृद्धया तावन्नेयं यावदसंख्येयसमयलक्षणायाः स्थितेरेकत्वादनन्तैरप्यसंख्येयसमयस्थितिकैर्द्रव्यैरेकमेवानुपूर्वीद्रव्यमिति, एवमसंख्येयान्येवात्रानुपूर्वीद्रव्याणि भवन्ति, एवमनानुपूर्व्यवक्तव्यकद्रव्याण्यपि प्रत्येकमसंख्येयानि वाच्यानि, अत्राह—नन्वेकसमयस्थितिकद्रव्यस्यानानुपूर्वीत्वं द्विसमयस्थितिकस्य त्ववक्तव्यकत्वमुक्तम् , तत्र यद्यप्येकद्विसमयस्थितीनि परमाण्वादिद्रव्याणि लोके प्रत्येकमनन्तानि लभ्यन्ते तथाऽप्यनन्तरोक्तत्वादुक्तयुक्त्यैव समयलक्षणाया द्विसमयलक्षणायाश्च स्थितेरेकैकरूपत्वाद् द्रव्यबाहुल्यस्य च गुणीभूतत्वादेकमेवानानुपूर्वीद्रव्यमेकमेव चाऽवक्तव्यकद्रव्यं वक्तुं युज्यते, न तु प्रत्येकमसंख्येयत्वम् , अथ द्रव्यभेदेन भेदोऽङ्गीक्रियते तर्हि प्रत्येकमानन्त्यप्रसङ्गः एकसमयस्थितीनां द्विसमयस्थितीनां च द्रव्याणां प्रत्येकमनन्तानां लोके सद्भावादिति,सत्यमेतत् , किन्त्वेकसमयस्थितिकमपि यदवगाहभेदेन वर्त्तते तदिह भिन्नं विवक्ष्यते, एवं द्विसमयस्थितिकमप्यवगाहभेदेन भिन्नं चिन्त्यते, लोके च असंख्येया अवगाहभेदाः सन्ति । प्रत्यवगाहं चैकद्विसमयस्थितिकाऽनेकद्रव्यसम्भवादनानुपूर्व्यवक्तव्यकद्रव्याणामाधारक्षेत्रभेदात् प्रत्येकमसंख्येयत्वं न विहन्यत इति अनया दिशा अतिगहनमिदं सूक्ष्मधिया पर्यालोचनीयमिति ।

क्षेत्रद्वारे—

नेगमववहाराणं आणुपुव्वीदव्वाइं लोगस्स किं संखिज्जइभागे होज्जा ? असंखिज्जइभागे होज्जा ? संखेज्जेसु भागेसु वा होज्जा ? असंखेज्जेसु भागेसु वा होज्जा ? सव्वलोए वा होज्जा ?। एगं दव्वं पडुच्च लोगस्स संखेज्जइभागे वा होज्जा असंखेज्जइभागे वा होज्जा ? संखेज्जेसु वा भागेसु होज्जा ? असंखेज्जसु वा भागेसु होज्जा ? देसूणे वा लोए होज्जा ?, णाणादव्वाइं पडुच्च नियमा सव्वलोए होज्जा, एवं अणाणुपुव्वीदव्वं, आएसंतरेण वा सव्वपुच्छासु होज्जा, एवं अवत्तव्वगदव्वाणि वि भाणिअव्वाणि जहा खेत्ताणुपुव्वीए। फुसणा कालाणुपुव्वीए वि तहा चेव भाणिअव्वा। (सूत्र-११२ +)

" एगं दव्वं पडुच्च लोगस्स संखेज्जइभागे वा होज्जा ०जाव देसूणे वा लोगे होज्ज ' त्ति—इह त्र्यादिसमयस्थितिकद्रव्यस्य तत्तदवगा(ह)हसंभवतः संख्येयादिभागवर्त्तित्वं भावनीयम् , यदा त्र्यादिसमयस्थितिकः सूक्ष्मपरिणामः स्कन्धो देशोने लोकेऽवगाहते तदेकस्यानुपूर्वीद्रव्यस्य देशोनलोकवर्त्तित्वं भावनीयम् , अन्ये तु-" पदेसूणे वा लोगे होज्ज " त्ति पाठं मन्यन्ते, तत्राप्ययमेवार्थः, प्रदेशस्यापि विवक्षया देशत्वादिति, संपूर्णेऽपि लोके कस्मादिदं न प्राप्यत इति चेद् , उच्यते-सर्वलोकव्यापी अचित्तमहास्कन्ध एव प्राप्यते, स च तद्व्यापितया एकमेव समयमव-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तिष्ठेत, तत ऊर्ध्वमुपसंहारस्योक्तत्वात् । नचैकसमयस्थिति-कमानुपूर्वीद्रव्यं भवितुमर्हति, त्र्यादिसमयस्थितिकत्वेन त-स्योक्तत्वात्, तस्मात् त्र्यादिसमयस्थितिकमेव तत् द्रव्यं नि-यमादेकनाऽपि प्रदेशेनान एव लोकेऽवगाहत इति प्रतिपत्त-व्यम्। अत्राह- नन्वचित्तमहास्कन्धोऽप्येकसमयस्थितिको न भवति, दण्डाद्यवस्थासमयगणनेन तस्याप्यष्टसमयस्थि-तिकत्वात्, एवं च सति तस्याप्यानुपूर्वीत्वात् संपूर्णलोक-व्यापित्वं युज्यतेऽत्र वक्तुमिति, नैतदेवम्, अवस्थाभेदेन वस्तुभेदस्येह विवक्षितत्वाद्दण्डाद्यश्च परस्परं दण्डकपाटाद्य-वस्थाः, ततस्तद्भेदेन (स्कन्धभेदेन) वस्तुनोऽपि भेदाद्, अन्यदेव दण्डकपाटाद्यवस्थाद्रव्येभ्यः सकललोकव्याप्य-चित्तमहास्कन्धद्रव्यं, तच्चैकसमयस्थितिकमिति, न त-स्यानुपूर्वीत्वम् एतच्चानन्तरमेव पुनर्वक्ष्यते इत्यलं विस्तरेण। अथवा—यथा क्षेत्रानुपूर्व्या वक्ष्यमाणः सर्वलोकव्या-पिनोऽप्यचित्तमहास्कन्धस्य विवक्षामात्रमाश्रित्य एकस्मि-न्नभःप्रदेशे त्वप्रधान्यादेशेन लोकवर्तित्वं वाच्यम्, एकस-मयस्थितिकत्वेनानुपूर्वीद्रव्यस्य द्विसमयस्थितिकावक्तव्य-कस्य च तत्र प्रदेशे प्रधान्याश्रयणादिति भावः। एवमन्य-दपि आगमाऽविरोधतो वक्तव्यमिति। 'नाणादव्वाइं पडुच्च नियमा सव्वलोए होज्ज' त्ति—त्र्यादिसमयस्थितिकद्रव्याणां सर्वलोकेऽपि भावादिति भावनीयम्। अनानुपूर्वीद्रव्यचि-न्तायां यथा क्षेत्रानुपूर्व्या तथा अत्राप्येकद्रव्यं लोकस्या-संख्येयभाग एव वर्तते, कथमिदम्? उच्यते- यत् कालत एकसमयस्थितिकं तत् क्षेत्रतोऽप्येकप्रदेशावगाढमेवेहाना-नुपूर्वीत्वेन विवक्षयते, तच्च लोकासंख्येयभाग एव भवति। "आएसंतरेण वा सव्वपुच्छासु होज्जा" त्ति- अस्य भावना- इहाचित्तमहास्कन्धस्य दण्डाद्यवस्थाः परस्परं भिन्नाः, आकारादिभेदात्, द्विविन्यतुःप्रदेशकादिस्कन्धवत्, तथा ता एकैकसमयवृत्तित्वात् पृथगनानुपूर्वीद्रव्याणि तेषु च मध्ये किमपि कियत्यपि क्षेत्रे वर्तत इत्यनया विवक्षया कि-लैकमनानुपूर्वीद्रव्यं मतान्तरेण संख्येयभागादिकासु पञ्च-स्वपि पृच्छासु लभ्यते, एतच्च सूत्रेषु प्रायो न दृश्यते, टीकाचूर्ण्योस्त्वेवं व्याख्यानमुपलभ्यत इति, नानाद्रव्याणि तु सर्वस्मिन्नपि लोके भवन्ति, एकसमयस्थितिकद्रव्याणां सर्वत्र भावादिति। अवक्तव्यकद्रव्यचिन्तायां क्षेत्रानुपूर्व्या-मिवैकद्रव्यं लोकस्यासंख्येयभाग एव वर्तते, कथमिति, उच्यते—यत्कालतो द्विसमयस्थितिकं तत् क्षेत्रतो द्विप्रदे-शावगाढमेवेहावक्तव्यकत्वेन गृह्यते, तच्च लोकासंख्येयभाग एव स्यात्, अथवा—द्विसमयस्थितिकं द्रव्यं स्वभावादेव लोकस्यासंख्येयभाग एवावगाहते न परतः, आदेशान्तरेण वा—" महाखंधवज्जमन्नदव्वेसु आइल्लचउपुच्छासु होज्ज " त्ति—अस्य हृदयम्—मतान्तरेण किल द्विसमयस्थिति-कमपि द्रव्यं किञ्चिल्लोकस्य संख्येयभागेऽवगाहते कि-ञ्चित्त्वसंख्येये अन्यत्तु संख्येयेषु तद्भागेष्ववगाहते अपरं त्वसंख्येयेष्विति महास्कन्धं वर्जयित्वा शेषद्रव्याण्याश्रित्य यथोक्तस्वरूपास्वाद्यासु चतसृषु पृच्छास्वेकमवक्तव्यकद्रव्यं लभ्यते, महास्कन्धस्य त्वष्टसमयस्थितित्वेनोक्तत्वात् द्वि-समयस्थितिकत्वसंभव इति तद्वर्जनम्, अत एव सर्वलो-कव्यापिलक्षणायाः पञ्चमपृच्छाया अत्राऽसंभवः महास्क-न्धस्यैव सर्वलोकव्यापकत्वात्तस्य चावक्तव्यकत्वायोगा-दिति। एतदपि सूत्रे वाचनान्तरे क्वचिदेव दृश्यते। नानाद्रव्याणि तु सर्वलोके भवन्ति द्विसमयस्थितीनां सर्वत्र भावादिति। गतं क्षेत्रद्वारम्। स्पर्शनाद्वारमप्येवमेव भावनीयम्।

कालद्वारे—

णेगमववहाराणं आणुपुव्वीदव्वाइं कालओ केवचिरं होन्ति ?, एगं दव्वं पडुच्च जहन्नेणं तिन्नि समया, उक्को-सेणं असंखेज्जं कालं। नाणादव्वाइं पडुच्च सव्वऽद्धा। णेगमववहाराणं अणाणुपुव्विदव्वाइं कालओ केवचिरं होइ ?, एगं दव्वं पडुच्च अजहन्नमणुक्कोसेणं एक्कं समयं ना-णादव्वाइं पडुच्च नियमा सव्वऽद्धा। अवत्तव्वगदव्वाणं पुच्छा, एगं दव्वं पडुच्च अजहन्नमणुक्कोसेणं एक्कं समयं नाणादव्वाइं पडुच्च नियमा सव्वऽद्धा+।

'एगं दव्वं पडुच्च जहन्नेणं तिन्नि समय' त्ति—जघन्यतो-ऽपि त्रिसमयस्थितिकस्यैवानुपूर्वीत्वेनोक्तत्वादिति भावः। 'उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं' ति- असंख्येयकालात्परत एकेन परिणामेन द्रव्यावस्थानस्यैवाभावादिति हृदयम्। नाना-द्रव्याणि तु सर्वकालं भवन्ति, प्रतिप्रदेशं लोकस्य सर्वदा तैरशून्यत्वादिति। अनानुपूर्व्यवक्तव्यकचिन्तायाम् 'अज-हन्नमणुक्कोसेणं' ति—जघन्योत्कृष्टचिन्तामुत्सृज्येत्यर्थः, न हि एकसमयस्थितिकस्यैवानानुपूर्वीत्वे द्विसमयस्थितिक-स्यैव चावक्तव्यकत्वेऽभ्युपगम्यमाने जघन्योत्कृष्टचिन्ता समवतरतीति भावः, नानाद्रव्याणि तूभयत्रापि सर्वकालं भवन्ति, प्रतिप्रदेशं तैरपि सर्वदा लोकस्याशून्यत्वादिति।

अन्तरद्वारे—

णेगमववहाराणं आणुपुव्विदव्वाणमंतरं कालओ केव-चिरं होइ ?, एगं दव्वं पडुच्च जहन्नेणं एगं समयं उक्को-सेणं दो समया नाणादव्वाइं पडुच्च नऽत्थि अंतरं। णे-गमववहाराणं अणाणुपुव्वीदव्वाणमंतरं कालओ केवचिरं होइ ?, एगं दव्वं पडुच्च जहन्नेणं दो समया, उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं, णाणादव्वाइं पडुच्च णऽत्थि अंतरं। नेगमववहाराणं अवत्तव्वगदव्वाणुपुव्विदव्वाणं पुच्छा एगं दव्वं पडुच्च जहन्नेणं एगं समयं, उक्कोसेणं असंखे-ज्जं कालं, णाणादव्वाइं पडुच्च नऽत्थि अंतरं+।

'एगं दव्वं पडुच्च जहन्नेणं एक्कं समयं' ति-अत्र भावना- इह त्र्यादिसमयस्थितिकं विवक्षितं किञ्चिदेकमानुपूर्वीद्रव्यं तं परिणामं परित्यज्य यदा परिणामान्तरेण समयमेकं स्थित्वा पुनस्तेनैव परिणामेन त्र्यादिसमयस्थितिकं जा-यते तदा जघन्यतया समयोऽन्तरं लभ्यते, 'उक्कोसेणं दो समय' त्ति-तदेव यदा परिणामान्तरेण द्वौ समयौ स्थित्वा पुनस्तमेव त्र्यादिसमयस्थितियुक्तम् प्राक्तनं परिणाममासादयति तदा द्वौ समयावुत्कृष्टतोऽन्तरं भ-वतः, यदि पुनः परिणामान्तरेण क्षेत्रादिभेदतः समय-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वयात् परतोऽपि तिष्ठेत्तदा तत्राप्यानुपूर्वीत्वमनुभवेत्, ततोऽन्तरमेव न स्यादिति भावः। नानाद्रव्याणां तु नाऽस्त्यन्तरं सर्वदा लोकस्य तदशून्यत्वादिति । अनानुपूर्वीचिन्तायाम् 'एगं दव्वं पडुच्च जहण्णेणं दो समया' त्ति-एकसमयस्थितिकं द्रव्यं यदा परिणामान्तरेण समयद्वयमनुभूय पुनस्तमेवैकसमयस्थितिकं परिणाममासादयति तदा समयद्वयं जघन्योऽन्तरकालः, यदि तु-परिणामान्तरेणाऽप्येकमेव समयं तिष्ठेत्तदा अन्तरमेव न स्यात्, तत्राप्यनानुपूर्वीत्वाद्, अथ समयद्वयात्परतस्तिष्ठेत्तदा जघन्यत्वं न स्यादिति भावः। 'उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं' ति-तदेव यदा परिणामान्तरेणासंख्येयकालमनुभूय पुनरेकसमयस्थितिकं परिणाममनुभवति तदोत्कृष्टतोऽसंख्येयोऽन्तरकालः प्राप्यते। आह-ननु यदि च अन्यान्यद्रव्यत्वसम्बन्धे तस्यानन्तोऽपि कालोऽन्तरे लभ्यते किमित्यसंख्येय एवोक्तः ?, सत्यम्, किन्तु-कालानुपूर्वीप्रक्रमात्कालस्यैवेह प्राधान्यं कर्त्तव्यम्, यदि त्वन्यान्यद्रव्यत्वसम्बन्धतोऽन्तरकालबाहुल्यं क्रियते तदा तद्द्वारेणैवान्तरकालस्य बहुत्वकरणात्तयोर्द्वयोरेव प्राधान्यमाश्रितं स्यान्न कालस्य तस्मादेकस्मिन्नेव परिणामान्तरे यावान् कश्चिदुत्कृष्टः कालो लभ्यते स एवान्तरे चिन्त्यते, स चासंख्येय एव ततः परमेकेन परिणामेन वस्तुनोऽवस्थानस्यैव निषिद्धत्वादित्येवं भगवतः सूत्रस्य विवक्षावैचित्र्यात्सर्वं पूर्वमुत्तरत्र चागमाऽविरोधेन भावनीयमिति। नानाद्रव्याणां तु नास्त्यन्तरं प्रतिप्रदेशं लोके सर्वदा तद्भावादिति। अवक्तव्यकद्रव्यचिन्तायाम् 'जहण्णेणं एगं समयं' त्ति-द्विसमयस्थितिकं किञ्चिदवक्तव्यकद्रव्यं परिणामान्तरेण समयमेकं स्थित्वा यदा पूर्वानुभूतमेव द्विसमयस्थितिकपरिणाममासादयति तदा समयो जघन्यान्तरकालः । 'उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं' ति--तदेव यदा परिणामान्तरेणासंख्येयं कालं स्थित्वा पुनस्तमेव पूर्वानुभूतं परिणाममासादयति तदाऽसंख्यात उत्कृष्टोऽन्तरकालो भवति, आक्षेपपरिहारावत्राप्यनानुपूर्वीवत् द्रष्टव्याविति । नानाद्रव्यान्तरं तु नास्ति सर्वदा लोके तद्भावादिति । उक्तमन्तरद्वारम् ।

भागद्दारे—

भाग-भाव अप्पा बहुं चेव जहा खेत्ताणुपुव्वीए तहा भाणिअव्वाइं, ०जाव सेत्तं अणुगमे । सेत्तं नेगमववहाराणं अणोवनिहिआ कालाणुपुव्वी । (सूत्र- ११२ ×)

भागद्वारे तु यथा द्रव्य-क्षेत्रानुपूर्व्योस्तथैवानुपूर्वीद्रव्याणि शेषद्रव्येभ्योऽसंख्येयैर्भागैरधिकानि व्याख्येयानि, शेषद्रव्याणि त्वानुपूर्वीद्रव्याणामसंख्येयभाग एव वर्त्तन्ते इति, भावना त्वित्थं कर्त्तव्या-इहानानुपूर्व्यामेकसमयस्थितिलक्षणमेकमेव स्थानं लभ्यते, अवक्तव्यकेऽपि द्विसमयस्थितिलक्षणमेकमेव तल्लभ्यते, आनुपूर्व्यां तु त्रिसमयचतुःसमयपञ्चसमयस्थित्यादीन्येकोत्तरवृद्ध्याऽसंख्येयसमयस्थित्यन्तान्यसंख्येयानि स्थानानि लभ्यन्ते, इत्यानुपूर्वीद्रव्याणामसंख्येयगुणत्वम्, इतरयोस्तु तदसंख्येयभागवर्त्तित्वमिति । भावद्वारं-सादिपारिणामिकभाववर्त्तित्वं त्रयाणामपि पूर्ववद्भावनीयम् । अल्पबहुत्वद्वारम्-सर्वस्तोकान्यवक्तव्यकद्रव्याणि द्विसमयस्थितिकद्रव्याणां स्वभावत एव स्तोकत्वात्, अनानुपूर्वीद्रव्याणि तु तेभ्यो विशेषाधिकानि, एकसमयस्थितिकद्रव्याणां निसर्गत एव पूर्वेभ्यो विशेषाधिकत्वाद्, आनुपूर्वीद्रव्याणां तु पूर्वेभ्योऽसंख्यातगुणत्वं भागद्वारे भावितमेव, शेषं तु क्षेत्रानुपूर्व्युक्तानुसारतः सर्वं वाच्यमिति अत एव कथुचिद्वाचनान्तरेषु भागादिद्वारत्रयं क्षेत्रानुपूर्व्यतिदेशेनैव निर्दिष्टं दृश्यते, नतु विशेषतो लिखितमिति । 'सत्तमि' त्यादि निगमनम्। उक्ता नैगमव्यवहारनयमतेनानौपनिधिकी कालानुपूर्वी ।

अथ संग्रहनयमतेन तामेव व्याचिख्यासुराह—

से किं तं संगहस्स अणोवनिहिआ कालाऽऽनुपुव्वी ?, संगहस्स अणोवणिहिया कालाणुपुव्वी पंचविहा पण्णत्ता, तं जहा-अट्ठपयपरूवणया १, भंगसमुक्कित्तणया २, भंगोवदंसणया ३, समोतारे ४, अणुगमे ५ । (सूत्र-११३) । से किं तं संगहस्स अट्ठपयपरूवणया ?, संगहस्स अट्ठपयपरूवणया एआइं पंच वि दाराइं जहा खेत्ताणुपुव्वीए संगहस्स तहा कालाणुपुव्वीए वि भाणिअव्वाइं, णवरं ठिई, अभिलावो, ०जाव सेत्तं अणुगमे । सेत्तं संगहस्स अणोवनिहिआ कालाणुपुव्वी । सेत्तं अणोवनिहिआ कालाणुपुव्वी, (सूत्र-११४) ।

'से किं तमि' त्यादि । यथा क्षेत्रानुपूर्व्यामियं संग्रहमतेन प्राग्निर्दिष्टा तथाऽत्रापि वाच्या, 'नवरं तिसमयठिइया आनुपुव्वी ०जाव असंखेज्जसमयट्ठिइया आणुपुव्वी' त्यादि अभिलापः कार्यः, शेषं तु तथैवेति । उक्ता संग्रहमतेनाप्यनौपनिधिकी कालानुपूर्वी, तथा च सति अवसितः तद्विचारः ।

इदानीं प्रागुद्दिष्टामेवौपनिधिकीं तां निर्दिदिक्षुराह—

से किं तं उवनिहिआ कालाणुपुव्वी उवणिहिआ कालाणुपुव्वी तिविहा पण्णत्ता, तं जहा-पुव्वाणुपुव्वी, पच्छाणुपुव्वी, अणाणुपुव्वी, से किं तं पुव्वानुपुव्वी ?, पुव्वाणुपुव्वी । (अनु०) ।

एगसमयट्ठिइए, दुसमयट्ठिइए, तिसमयट्ठिइए ०जाव दससमयट्ठिइए संखिज्जसमयट्ठिइए असंखिज्जसमयट्ठिइए । सेत्तं पुव्वानुपुव्वी । से किं तं पच्छानुपुव्वी ?, पच्छाणुपुव्वी असंखिज्जसमयट्ठिइए०जाव एगसमयट्ठिइए । सेत्तं पच्छानुपुव्वी । से किं तं अणानुपुव्वी ?, अणाणुपुव्वी-एआए चेव एगाइआए एगुत्तरिआए असंखिज्जगच्छगयाए सेढीए अण्णमण्णब्भासो दुरूवूणो । सेत्तं अणानुपुव्वी ।

'से किं तमि' त्यादि । एकः समयः स्थितिर्यस्य द्रव्यविशेषस्य स तथा, एवं यावदसंख्येयाः समयाः स्थितिर्यस्य स तथेति पूर्वानुपूर्वी, शेषभावना त्वत्र पूर्वोक्तानुसारेण सुकरैव ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अथ कालविचारस्य प्रस्तुतत्वात्समयादेश्च कालत्वेन प्रसिद्धत्वादनुषक्तो विनेयानां समयादिकालपरिज्ञानदर्शनाय तद्विषयत्वेनैव प्रकारान्तरेण तामाह—

अहवा उवणिहिआ कालाणुपुव्वी तिविहा पण्णत्ता, तं जहा-पुव्वाणुपुव्वी पच्छाणुपुव्वी अणाणुपुव्वी। से किं तं पुव्वाणुपुव्वी ?, पुव्वाणुपुव्वी। (अनु०)

समए १, आवलिआ २, आण ३, । ४ । पाणू ५, थोवे ६, लवे ७, मुहुत्ते ८, अहोरत्ते ६, पक्खे १०, मासे ११, उऊ १२, अयणे १३, संवच्छरे १४, जुगे १५. वाससए १६, वाससहस्से १७, वाससयसहस्से १८, पुव्वंगे १६, पुव्वे २०, तुडिअंगे २१, तुडिए २२, अडडंगे २३, अडडे २४, अववंगे २५, अववे २६, हुहुअंगे २७, हुहुए २८ उप्पलंगे २६, उप्पले ३०, पउमंगे ३१, पउमे ३२, णलिणंगे ३३, णलिणे ३४, अत्थनिउरंगे ३५, अत्थनिउरे ३६, अउअंगे ३७ अउए ३८, नउअंगे ३६, नउए ४०, पउअंगे ४१, पउए ४२, चूलिअंगे ४३, चूलिआ ४४, सीसपहेलिअंगे ४५, सीसपहेलिआ ४६ पलिओवमे ४७, सागरोवमे ४८, ओसप्पिणी ४६, उस्सप्पिणी ५०, पोग्गलपरिअट्टे ५१, अतीतद्धा ५२ अणागतद्धा ५३, सव्वऽद्धा ५४। सेत्तं पुव्वाणुपुव्वी। से किं त पच्छाणुपुव्वी ?, पच्छाणुपुव्वी सव्वद्धा अणागतद्धा ०जाव समए, से तं पच्छाणुपुव्वी। से किं तं अणाणुपुव्वी ?, अणाणुपुव्वी एआए चेव एगाइआए एगुत्तरिआए अणंतगच्छगयाए सेढीए अन्नमन्नब्भासो दुरूवूणो, से तं अणाणुपुव्वी॥ सेत्तं उवणिहिआ कालाणुपुव्वी। सेत्तं कालाणुपुव्वी। (सूत्र-११५)।

'अहवे' त्यादि, तत्र समयो-वक्ष्यमाणस्वरूपः सर्वसूक्ष्मः कालांऽशः, स च सर्वप्रमाणानां प्रभवत्वात् प्रथमं निर्दिष्टः (१)। तैरसङ्ख्येयैर्निष्पन्ना आवलिका (२)। सङ्ख्येया आवलिकाः 'आण' त्ति—आणः; एक उच्छ्वास इत्यर्थः (३)। ता एव सङ्ख्येया निःश्वासः, अयं च सूत्रेऽनुक्तोऽपि द्रष्टव्यः, स्थानान्तरप्रसिद्धत्वादिति (४)। द्वयोरपि कालः 'पाणु' त्ति-एकः प्राणुरित्यर्थः (५)। सप्तभिः प्राणुभिः स्तोकः (६)। सप्तभिः स्तोकैर्लवः (७)। सप्तसप्तत्या लवानां मुहूर्तः (८)। त्रिंशता मुहूर्तैरहोरात्रम् (६)। तैः पञ्चदशभिः पक्षः (१०)। ताभ्यां द्वाभ्यां मासः (११)। मासद्वयेन ऋतुः (१२)। ऋतुत्रयमानमयनम् (१३)। अयनद्वयेन संवत्सरः (१४)। पञ्चभिस्तैर्युगम् (१५)। विंशत्या युगैर्वर्षशतम् (१६)। तैर्दशभिर्वर्षसहस्रम् (१७)। तेषां शतेन वर्षशतसहस्रम्; लक्षमित्यर्थः (१८)। चतुरशीत्या च लक्षैः पूर्वाङ्गं भवति (१६)—८४००००० । तदपि चतुरशीतिलक्षैर्गुणितं पूर्वं भवति (२०), तच्च सप्ततिकोटिलक्षाणि षट्पञ्चाशच्च कोटिसहस्राणि वर्षाणाम्, उक्तं च—

"पुव्वस्स उ परिमाणं, सयरिं खलु हुंति कोडिलक्खाउ। छप्पण्णं च सहस्सा, बोद्धव्वा वासकोडीणं॥ १॥" स्थापना—७०५६००००००००००[1]। इदमपि चतुरशीत्या लक्षैर्गुणितं त्रुटिताङ्गं भवति (२१)—५६२७०४००००, अग्र दश १० शून्यानि अन्यानि स्थापनीयानि। एतदपि चतुरशीत्या लक्षैर्गुणितं त्रुटितं भवति (२२)-४६७८९१३६००००० अग्रे पञ्चदश १५ शून्यानि अन्यानि स्थापनीयानि। तदपि चतुरशीत्या लक्षैर्गुणितमडडाङ्गम् (२३)—४१८२११६४२ ४००००० अग्र विंशतिः २० शून्यानि अन्यानि स्थापनीयानि। एतदपि तेनैव गुणकारेण गुणितमडडम् (२४)—३५१२६८०३१६१६००००० अग्र पञ्चविंशतिः २५ शून्यानि अन्यानि स्थापनीयानि। एवं सर्वत्र पूर्वः पूर्वो राशिश्चतुरशीतिलक्षस्वरूपेण गुणकारेण गुणित उत्तरोत्तरराशिरूपतां प्रतिपद्यत इति प्रतिपत्तव्यं, ततश्च-अववाङ्गम् (२५)—२६५०६०३४६५५७४४००००० अग्र त्रिंशत् ३० शून्यानि अन्यानि स्थापनीयानि। अववम् (२६)-२४७८७५८६११०८-२४६६००००० अग्र पञ्चत्रिंशत् ३५ शून्यानि अन्यानि स्थापनीयानि। हुहुकाङ्गम् (२७)-२०८२१५७४८५३०६२६६६-४००००० अग्र चत्वारिंशत् ४० शून्यानि अन्यानि स्थापनीयानि। हुहुकम् (२८)-१७४६०१२२८७६५६८०६१७७६००००० अग्र पञ्चचत्वारिंशत् ४५ शून्यानि अन्यानि स्थापनीयानि। उत्पलाङ्गम् (२६)-१४६६६१७०३२१६३४ ३६७०६१८४००००० अग्र पञ्चाशत् ५० शून्यानि अन्यानि स्थापनीयानि। उत्पलम् (३०)-१२३४१०३०७०१७७६१३५५७१४५६००००० अग्र पञ्चपञ्चाशत् ५५ शून्यानि अन्यानि स्थापनीयानि। पद्माङ्गम् (३१)—१०३६६४६५७८६४५११ ६५३८८००२३०४००००० अग्र षष्टिः ६० शून्यानि अन्यानि स्थापनीयानि। पद्मम् (३२)-८७०७८३१२६३१३६००४१२५-६२११६३५३६००००० अग्र पञ्चषष्टिः६५शून्यान्यन्यानि स्थाप०। नलिनाङ्गम् (३३)—७३१४५७८२६१०३६७६३४६५७७४४-२५७०२४००००० अग्र सप्ततिः ७० शून्यानि अन्यानि स्थापनीयानि। नलिनम् (३४)-६१४४२४५७३६२७०८८१३-११२५०५१७५६००१६००००० अग्र पञ्चसप्ततिः ७५ शून्यानि अन्यानि स्थापनीयानि। अर्थनिपुराङ्गम् (३५)-५१६-११६६४२०६८७५४०३०१४५०४३४७७५६१३४४००००० अग्र अशीतिः ८० शून्यानि अन्यानि स्थापनीयानि। अर्थनिपुरम् (३६)-४३३५३७६७६३६२६५३३८५३२१८३६५२११५१५२८६-६००००० अग्र पञ्चाशीतिः ८५ शून्यानि अन्यानि स्थापनीयानि। अयुताङ्गम् (३७)-३६४१७१६०२६६४८८०८४३६-७०३४२६७७७६७२८४३२६४००००० अग्र नवतिः ६० शून्यानि अन्यानि स्थापनीयानि। अयुतम् (३८)-३०५६०४३६८-२३८४६६६०८६८३०८७८४६३२४५१८८३४१७६००००० अग्र पञ्चनवतिः ६५ शून्यानि अन्यानि स्थापनीयानि। नयुताङ्गम् (३६)—२५६६५६६६४५२०३२६६६२३२६३७६३७६३४३२-५६५८२०७०७८४००००० अग्र शत१००शून्यानि अन्यानि स्थापनीयानि। नयुतम् (४०)-२१५८४६१४३३६७०८५५३५५-६६७८६७८६४८३३८०४८६३६४५८५६००००० अग्र पञ्चाधि-

१- चतुर्थाङ्के टीकाद्रष्टव्या।

[1] अङ्कस्थापना-स्पष्टावबोधार्थं कोशकारेण दर्शिता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कशत १०५ शून्यानि अन्यानि स्थापनीयानि । प्रयुताङ्गम् (४१)—१८२३१०७६०४५३५५१८४६८७६१००६००६४६०३६६-११०६१४५१६०४००००००० अग्रे दशाधिकशत११०शून्यानि अन्यानि स्थापनीयानि । प्रयुतम् (४२)—१५२३०१०३८७८-०६८३५५३८६५६२४७५६५४२६७३२७३३१६८१६५६६३६०००-०० अग्रे पञ्चदशाधिकशत११५शून्यानि अन्यानि स्थापनीयानि । चूलिकाङ्गम् (४३)-१२७६३२८७२५७६०२६१८५२-७२५७६७६५४६५८३५५४६५८६१२८३६३४६२४००००० अग्रे विंशत्यधिकशत १२० शून्यानि अन्यानि स्थापनीयानि । चूलिका (४४)-१०७३६३६१२६६३८६१६६५६२८६६४५०६११-६५१०२६१६५३३४७७३१३०८३१६००००० अग्रे पञ्चविंशत्यधिकशत१२५शून्यानि अन्यानि स्थापनीयानि । शीर्षप्रहेलिकाङ्गम् (४५)-६०२६६४३४८८६६४०७६३२८३३०१८५-१३७८६८६११६७८७६७२१०२६६६०६६४५००००० अग्रे त्रिंशदधिकशत १३० शून्यानि अन्यानि स्थापनीयानि ।) एवमेते राशयश्चतुरशीतिलक्षस्वरूपेण गुणकारेण यथोत्तरं वृद्धा द्रष्टव्यास्तावद् यावदिदमेव शीर्षप्रहेलिकाङ्गम् चतुरशीत्या लक्षैर्गुणितं शीर्षप्रहेलिका भवति (४६) अस्याः स्वरूपमङ्कतोऽपि दर्शयते-७५८२६३२५३०७३०१०२४११५७६७३५५५१-५८०६६४०६२१८६६५६६२६७२१८३२६६ अग्रे च चत्वारिंशं शून्यशतम् १४०, तदेवं शीर्षप्रहेलिकायां सर्वाण्यमूनि चतुर्नवत्यधिकशतसंख्यानि१६४अङ्कस्थानानि भवन्ति, अनेन चैतावता कालमानेन केषांचिद् रत्नप्रभानारकाणां भवनपतिव्यन्तरसुराणां सुषमदुःषमारकसंभाविनां नरतिरश्चां च यथासंभवमायूंषि मीयन्ते, एतस्माच्च परतोऽपि संख्येयः कालोऽस्ति, किन्त्वनतिशयिनामसंव्यवहार्यत्वात्सर्षपाद्युपमयाऽत्रैव वक्ष्यमाणत्वाच्च नेहोक्तः, किं तर्हि ?, उपमामात्रप्रतिपाद्यानि पल्योपमादीन्येव, तत्र पल्योपम-सागरोपमे ४७, ४८, अत्रैव वक्ष्यमाणस्वरूपे. दशसागरोपमकोटाकोटिमाना त्ववसर्पिणी४९, तावन्मानैवोत्सर्पिणी५०, अनन्ता उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः पुद्गलपरावर्तः५१, अनन्तास्तेऽतीताद्धा५२, तावन्मात्र-वाऽनागताद्धा५३, अतीतानागतवर्त्तमानकालस्वरूपा सर्वाऽद्धेति ५४, एषा पूर्वानुपूर्वी । शेषभावना तु पूर्वोक्तानुसारतः सुकरैव. यावत्कालानुपूर्वी समाप्ता ।

(६) साम्प्रतं प्रागुद्दिष्टमेवोत्कीर्तनानुपूर्वी विभणिषुराह—

से किं तं उक्कित्तणाणुपुव्वी ?, उक्कित्तणाणुपुव्वी तिविहा पण्णत्ता, तं जहा-पुव्वानुपुव्वी, पच्छानुपुव्वी, अणानुपुव्वी । से किं तं पुव्वानुपुव्वी ?, पुव्वाणुपुव्वी-उसभे १, अजिए २, संभवे ३, अभिणंदणे ४, सुमती ५, पउमप्पहे ६, सुपासे ७, चंदप्पहे ८, सुविही ९, सीतले १०, सेजंसे ११, वासुपुज्जे १२, विमले १३, अणंते १४, धम्मे १५, संती १६, कुंथू १७,अरे १८, मल्ली१९, मुणिसुव्वते २०, नमी २१, अरिट्ठनेमी २२, पासे २३, वद्धमाणे २४, । सेत्तं पुव्वानुपुव्वी । से किं तं पच्छाणुपुव्वी ?, पच्छाणुपुव्वी-वद्धमाणे ०जाव उसभे । सेत्तं पच्छाणुपुव्वी । से किं तं अणाणुपुव्वी ?, अणाणुपुव्वी-एआए चेव एगाइआए एगुत्तरिआए चउवीसगच्छगयाए सेढीए अन्नमन्नब्भासो दुरूवूणो सेत्तं । अणाणुपुव्वी । सेत्तं उक्कित्तणाणुपुव्वी । (सूत्र-११६)

'से किं तमि' त्यादि । उत्कीर्त्तनं-संशब्दनम्-अभिधानोच्चारणम्, तस्यानुपूर्वी—अनुपरिपाटिः सा पूर्वानुपूर्व्यादिभेदेन त्रिविधा, तत्र ऋषभः प्रथममुत्पन्नत्वात्पूर्वमुत्कीर्त्यते, तदनन्तरं क्रमेण अजितादय इति पूर्वानुपूर्वी, शेषभावना तु पूर्ववत् । अत्राह—ननु औपनिधिक्या द्रव्यानुपूर्व्या अस्याश्च को भेदः ?, उच्यते-तत्र द्रव्याणां विन्यासमात्रमेव पूर्वानुपूर्व्यादिभावेन चिन्तितम्, अत्र तु तेषामेव तथैवोत्कीर्त्तनं क्रियते, इत्येतावन्मात्रेण भेद इति, भवत्वेवं, किन्त्वावश्यकस्य प्रस्तुतत्वादुत्कीर्तनमपि सामायिकाद्यध्ययनानामेव युक्तम्, किमित्यप्रक्रान्तानाम् ऋषभादीनां, तद्विहितमिति ?, सत्यं, किंतु-सर्वव्यापकं प्रस्तुतशास्त्रमित्यादावेवोक्तं, तद्दर्शनार्थमृषभादिसूत्रान्तरोपादानं भगवतां च तीर्थप्रणेतृत्वात्तत्स्मरणस्य समस्तश्रेयःफलकल्पपादपत्वात् युक्तं तन्नामोत्कीर्तनं, तद्विषयत्वेन चोक्तमुपलक्षणत्वादन्यत्रापि द्रष्टव्यमिति, शेषं भावितार्थं यावत् ' सेत्तमि ' त्यादि निगमनम् ।

इदानीं पूर्वोद्दिष्टामेव गणनाऽऽनुपूर्वीमाह—

से किं तं गणणाऽऽणुपुव्वी ?, गणणाऽऽणुपुव्वी तिविहा पण्णत्ता, तं जहा-पुव्वाणुपुव्वी१, पच्छाणुपुव्वी२, अणाणुपुव्वी३ । से किं तं पुव्वाणुपुव्वी ?, पुव्वाणुपुव्वी-एगो, दस, सतं, सहस्सं, दससहस्साइं, सतसहस्सं, दससतसहस्साइं कोडी, दसकोडीओ, कोडिसयं, दसकोडिसयाइं । सेत्तं पुव्वाणुपुव्वी । से किं तं पच्छाणुपुव्वी ?, पच्छाणुपुव्वी-दसकोडीसयाइं०जाव एक्को । सेत्तं पच्छाणुपुव्वी । से किं तं अणाणुपुव्वी ?, अणाणुपुव्वी-एआए चेव एगाइआए एगुत्तरिआए दसकोडिसतगच्छगयाए सेढीए अन्नमन्नब्भासो दुरूवूणो । सेत्तं अणानुपुव्वी । सेत्तं गणनाणुपुव्वी । (सूत्र-११७)

'से किं तमि' त्यादि, गणनं-परिसंख्यानम्-एकं, द्वे त्रीणि, चत्वारि इत्यादि, तस्य आनुपूर्वी-परिपाटिर्गणनानुपूर्वी, अत्रोपलक्षणमात्रमुदाहर्तुमाह-' एग ' त्यादि सुगमम्, उपलक्षणमात्रं चेदमतोऽन्येऽपि संभविनः संख्याप्रकारा अत्र द्रष्टव्याः । उत्कीर्तनानुपूर्व्यां नाममात्रोत्कीर्तनमेव कृतम्, अत्र त्वेकादिसंख्याभिधानमिति भेदः । ' सेत्तमि ' त्यादि निगमनम् ।

अथ प्रागुद्दिष्टामेव संस्थानानुपूर्वीमाह—

से किं तं संठाणानुपुव्वी ?, संठाऽऽणाणुपुव्वी तिविहा पण्णत्ता, तं जहा-पुव्वाणुपुव्वी, पच्छाणुपुव्वी, अणाणुपुव्वी । से किं तं पुव्वाणुपुव्वी?, पुव्वाणुपुव्वी-समचउरंसे निग्गोहमंडले, सादी, खुज्जे, वामणे, हुंडे । सेत्तं पुव्वाणुपुव्वी । से किं तं पच्छाणुपुव्वी ? पच्छाणुपुव्वी हुंडे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

०जाव समचउरंसे । सेत्तं पच्छाणुपुव्वी । से किं तं अणाणुपुव्वी ?, अणाणुपुव्वी-एआए चेव एगाइआए एगुत्तरिआए छगच्छगयाए सेढीए अन्नमन्नब्भासो दुरूवूणो । सेत्तं अणाणुपुव्वी । सेत्तं संठाणाणुपुव्वी । (सूत्र-११८) (१०) * अधिकाराङ्कः ।

'से किं तमि' त्यादि, आकृतिविशेषाः-संस्थानानि; तानि च जीवाऽजीवसंबन्धित्वेन द्विधा भवन्ति, तत्रेह जीवसंबन्धीनि, तत्रापि पञ्चेन्द्रियसंबन्धीनि चक्रुमिष्टानि, अतः तान्याह--' समचउरंसे ' त्यादि, तत्र समाः-शास्त्रोक्तलक्षणाविसंवादिन्यश्चतुर्दिग्वर्तिन्यः अवयवरूपाश्चतस्रोऽस्रयो यत्र तत्समचतुरस्रं प्रत्यर्थ समचतुरस्रं संस्थानं, तुल्यारोहपरिणाहः संपूर्णलक्षणोऽपि साङ्गोपाङ्गावयवः स्वाङ्गुलाष्टाधिकशताच्छ्रयः सर्वसंस्थानप्रधानः पञ्चेन्द्रियजीवशरीराकारविशेष इत्यर्थः १ । नाभेरुपरि न्यग्रोधवन्मण्डलम्-आद्यसंस्थानलक्षणयुक्तत्वेन विशिष्टाकारं न्यग्रोधमण्डलं, न्यग्रोधो-वटवृक्षः, यथा चायमुपरि वृत्ताकारतादिगुणोपेतत्वेन विशिष्टाकारो भवति; अधस्तु न तथा एवमेतदपीति भावः२। सह आदिना नाभेरधस्तनकायलक्षणेन वर्त्तते इति सादि, ननु सर्वमपि संस्थानं आदिना सहैव वर्त्तते ततो निरर्थकं सादित्वविशेषणम्, सत्यम्, किं तु-अत एव विशेषणवैफल्यप्रसङ्गादाद्यसंस्थानलक्षणयुक्त आदिरिह गृह्यते, ततस्तथाभूतेन आदिना सह यद्वर्त्तते नाभेरुपरितनकाये आद्यसंस्थानलक्षणविकलं तत्सादीति तात्पर्यम् ३। यत्र पाणिपादशिरोग्रीवं समग्रलक्षणपरिपूर्णम्; शेषं तु हृदयोदरपृष्ठलक्षणं कोष्ठम्-लक्षणहीनं तत् कुब्जम् ४ । यत्र तु हृदयोदरपृष्ठं सर्वलक्षणोपेतम्; शेषं तु हीनलक्षणं तद्वामनम्; कुब्जविपरीतमित्यर्थः ५ । यत्र सर्वेऽप्यवयवाः प्रायो लक्षणविसंवादिन एव भवन्ति तत्संस्थानं-हुण्डमिति ६ । अत्र च सर्वप्रधानत्वात्समचतुरस्रस्य च प्रथमत्वम्, शेषाणां तु यथाक्रमं हीनत्वाद् द्वितीयादित्वमिति पूर्वानुपूर्वीत्वं, शेषभावना पूर्ववदिति । आह-यदीत्थं संस्थानानुपूर्वी प्रोच्यते तर्हि संहननवर्णरसस्पर्शाऽऽद्यानुपूर्व्योऽपि वक्तव्याः स्युः, तथा च सत्यानुपूर्वीणामियत्तैव विशीर्येत, ततो निष्फल एव प्रागुपन्यस्तो दशविधत्वसंख्यानियम इति, सत्यम्, किन्तु-सर्वासामपि तासां वक्तुमशक्यत्वादुपलक्षणमात्रमेवायं सङ्ख्यानियमः, एतदनुसारेणाऽन्या अप्येता अनुसर्त्तव्या इति तावल्लक्षयामः, सुधिया त्वन्यथापि वाच्यं, गम्भीरार्थत्वात् परममुनिप्रणीतविवक्षायाः, एवमुत्तरत्रापि वाच्यम्, इत्यलं विस्तरेण ।

(११) सामाचार्यानुपूर्वी विवक्षुराह--

से किं तं सामायारीआणुपुव्वी ?, समायारीआणुपुव्वी तिविहा पएणत्ता, तं जहा-पुव्वाणुपुव्वी १, पच्छाणुपुव्वी २, अणाणुपुव्वी ३ । से किं तं पुव्वाणुपुव्वी ?, पुव्वाणुपुव्वी-

" इच्छा १, मिच्छा २, तहक्कारो ३,
आवस्सिआ य ४, निसीहिआ ५ ।
आपुच्छणा य ६ पडिपुच्छा ७,
छंदणा य ८, निमंतणा ९ ॥ १ ॥
उवसंपया य १० काले,
सामायारी (भवे) दसविहा उ ।

सेत्तं पुव्वाणुपुव्वी । से किं तं पच्छाणुपुव्वी ?, पच्छाणुपुव्वी उवसंपया ०जाव इच्छागारो । सेत्तं पच्छाणुपुव्वी । से किं तं अणाणुपुव्वी ?, अणाणुपुव्वी-एआए चेव एगाइआए एगुत्तरिआए दसगच्छगयाए सेढीए अन्नमन्नब्भासो दुरूवूणो । सेत्तं अणाणुपुव्वी । सेत्तं सामायारीआणुपुव्वी । (सूत्र-११९)

(सामाचारीव्याख्यानम् ' सामायारी ' शब्दे सप्तम भागे करिष्यते) इह धर्मस्यापरोपतापमूलत्वादिच्छाकारस्याज्ञाबलाभियोगलक्षणपरोपतापवर्जकत्वात्प्राधान्यात्प्रथममुपन्यासः अपरोपतापकेनापि च कथंचित् स्खलने मिथ्यादुष्कृतं दातव्यमिति, तदनन्तरं मिथ्याकारस्य, एतौ च गुरुवचनप्रतिपत्तावेव ज्ञातुं शक्यौ, गुरुवचने च तथाकारकरणेन सम्यक् प्रतिपन्नं भवतीति तदनन्तरं तथाकारस्य प्रतिपन्नगुरुवचनेन चोपाश्रयाद्बहिर्निर्गच्छता गुरुपृच्छापूर्वकं निर्गन्तव्यमिति । तथाकारानन्तरं तत्पृच्छारूपाया आवश्यक्याः बहिर्निर्गतेन च नैषेधिकीपूर्वकं पुनः प्रवेष्टव्यमिति तदन्तरं नैषेधिक्याः, उपाश्रयप्रविष्टेन च गुरुमापृच्छ्य सकलमनुष्ठेयमिति तदनन्तरमापृच्छनायाः, आपृष्ट च निषिद्ध पुनः प्रष्टव्यमिति तदनन्तरं प्रतिपृच्छनायाः, प्रतिप्रश्ने चानुज्ञातेनाऽशनाद्यानीय तत्परिभोगाय साधव उत्साहनीया इति तदनन्तरं छन्दनायाः, एषा च गृहीत एवाऽशनादौ स्याद् अगृहीते तु निमन्त्रणैवेति तदनन्तरं निमन्त्रणायाः, इयं च सर्वाऽपि निमन्त्रणापर्यन्ता सामाचारी गुरूपसंपदमन्तरेण न ज्ञायते इति तदनन्तरमुपसम्पद उपन्यास इति पूर्वानुपूर्वीत्वसिद्धिरिति । शेषं पूर्ववदिति ।

(१२) अथ भावाऽऽनुपूर्वीमाह--

से किं तं भावाणुपुव्वी ?, भावाणुपुव्वी तिविहा पएणत्ता, तं जहा-पुव्वाणुपुव्वी १, पच्छाणुपुव्वी २, अणाणुपुव्वी ३। से किं तं पुव्वाणुपुव्वी ?, पुव्वाणुपुव्वी-उदइए, उवसमिए, खाइए, खओवसमिए, पारिणामिए, सन्निवाइए । सेत्तं पुव्वाणुपुव्वी । से किं तं पच्छाणुपुव्वी ?, पच्छाणुपुव्वी सन्निवाइए, ०जाव उदइए । सेत्तं पच्छाणुपुव्वी । से किं तं अणाणुपुव्वी ?, अणाणुपुव्वी एआए चेव एगाइआए एगुत्तरिआए छगच्छगयाए सेढीए अन्नमन्नब्भासो दुरूवूणो । सेत्तं अणाणुपुव्वी । सेत्तं भावाणुपुव्वी । सेत्तं आणुपुव्वी आणुपुव्वि त्ति पदं समत्तं । (सूत्र--१२०)

'से किं तमि' त्यादि, इह तेन तेन रूपेण भवनानि भावा-वस्तुपरिणामविशेषाः-औदयिकादयः, अथवा-तेन तेन रूपेण भवन्तीति भावास्त एव, यद्वा भवन्ति तेस्तेभ्यस्तेषु

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वा सन्तु प्राणिनस्तेन तेन रूपेणेति भावा यथोक्ता एव तेषामानुपूर्वी परिपाटिर्भावानुपूर्वी, औदयिकादीनां तु स्वरूपं पुरस्तात् स्वस्थाने वक्ष्यते, अत्र च नारकादिगतिरौदयिको भाव इति वक्ष्यते, तस्यां च सत्यां शेषा भावाः सर्वेऽपि यथासम्भवं प्रादुर्भवन्तीति शेषभावाऽऽधारत्वेन प्रधानत्वादौदयिकस्य प्रथममुपन्यासः, ततश्च शेषभावपञ्चकस्य मध्ये औपशमिकस्य स्तोकविषयत्वात् स्तोकतया प्रतिपादयिष्यत इति तदनन्तरमौपशमिकस्य, ततो बहुविषयत्वात् क्षायिकस्य, ततो बहुतरविषयत्वात् क्षायोपशमिकस्य, ततो बहुतमविषयत्वात्पारिणामिकस्य, ततोऽप्येषामेव भावानां द्विकादिसंयोगसमुत्थत्वात्सान्निपातिकस्योपन्यास इत्येवं पूर्वानुपूर्वीक्रमसिद्धिरिति। शेषं पूर्वोक्तानुसारेण भावनीयम्। तदेवमुक्ताः प्रागुद्दिष्टा दशाप्यानुपूर्वीभेदाः, तद्भणने चोपक्रमप्रथमभेदलक्षणा आनुपूर्वी समाप्ता। अनु०।

आणोह-आज्ञौघ-पुं०। सम्यग्दर्शनविकले आज्ञामात्रे, प्रश्न०। " आणोहेणाऽणंता, मुक्का " ॥ ७८४॥ पञ्चा०। आज्ञाया- आप्तोपदेशस्यौघः-सामान्यमाज्ञौघः सम्यग्दर्शनविकलमाज्ञामात्रमित्यर्थः। तेन सताऽपीति गम्यम् अवन्तानि अनन्तसंख्यानि मुक्तानि-त्यक्तानीति। पञ्चा० १४ विव०।

आतं (यं) क-आतङ्क-पुं०। 'तकि' कृच्छ्रजीवने, आतङ्कनमातङ्कः। आ-तकि-घञ्। कृच्छ्रजीवने, (दुःखे) आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ०। नरकादिदुःखे च। आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ०। तच्च द्विविधम्-शारीरं, मानसं च। तत्राद्यम्-कटुकत्तारशस्त्रगण्डलूतादिसमुत्थम्, मानसं प्रियविप्रयोगाऽप्रियसंप्रयोगेप्सिताऽलाभदारिद्र्यदौर्मनस्यादिकृतम्। आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ०। यद्वा-आतङ्को द्वेधा-द्रव्यभावभेदात्। (स च 'आतं(यं)कदंसि' शब्देऽस्मिन्नेव भागेऽनुपदमेव दर्शयिष्यते) रोगे, स्था० ५ ठा० ३ उ०। उत्त०। को०। अनु०। आङिति सर्वात्मप्रदेशाऽभिव्याप्त्या तङ्कयन्ति-कृच्छ्रजीवितमात्मानं कुर्वन्तीत्यातङ्काः। सद्योघातिनि रोगविशेषे, उत्त० १० अ०। " आयङ्को जरमाइ " ॥ १४३२+॥ आतङ्का-ज्वरादयः सद्यो घाती रोगः। पं०व०४ द्वार। उत्त०। " आसुआई आतंका " आव० ४ अ०। स्था०। पं० सू०। आ० चू०। जी०। उत्त०। प्रव०। रा०। आ० म०। दर्श०। " आतंका विविहा फुसंति " ॥२८८+॥ आतङ्काः-रोगपरीषहाः स्पृशन्ति। उत्त० २१ अ०। आतङ्कः-कृच्छ्रजीवितकारी ज्वरादिकः। भ० १६ श० २ उ०। " उयाहु ते आतंका फुसंति " (सूत्र-१४७४)। आतङ्का-आशुजीवितापहारिणः शूलादयो-व्याधिविशेषाः स्पृशन्ति-अभिभवन्ति-पीडयन्ति। आचा० १ श्रु० ५ अ० २ उ०। उत्त०। भ०। ज्ञा०। सूत्र०। स्था०। " दीहकालिएणं रोगातंकेणं " (सूत्र-१३५+)। आतङ्कः- कृच्छ्रजीवितकारी सद्योघाती शूलादिः। स्था० ३ ठा० १ उ०। ज्ञा०। प्रश्न०। आतङ्काः-सद्योघातिनः शूलादिका रोगाः। संथा०। भ०। ' आयंके से वहाय होइ ॥१॥ " (सूत्र-१५)। आतङ्कः-सद्योघाती विशूचिकादिको रोगस्तस्य गृहिणो धर्मबन्धुरहितस्य वधाय-विनाशाय भवति। दश० १ चू०।

ते चोत्तराध्ययने दर्शिता यथा—

अरई गंडं विसूइया, आयंका विविहा फुसंति ते।
विवडइ विद्धंसइ ते सरीरयं,समयं गोयम ! मा पमायए।२७।

हे गौतम ! 'ते' तव विविधाः-नानाप्रकारा आतङ्का-रोगाः शरीरं स्पृशन्ति ते केवल आतङ्का अरतिश्चतुर्थीतिविशिधवातादद्भूतचित्तोद्वेगो; वातप्रकोप इत्यर्थः। गण्ड-रुधिरप्रकोपोद्भूतस्फोटकः। विशूचिका—अजीर्णोद्भूतवमनाधमातविरेचादि सद्यो मृत्युकृत् रुक्. इत्यादयो रोगा-आतङ्का देहं पीडयन्ति, तैः रोगैः पीडिते शरीरे सति धर्माराधनं दुष्करं ते शरीरं रोगाभिभूतं सत् विपतति, विशेषेण बलापचयात् नश्यति, पुनः शरीरं 'ते' तव विध्वस्यते जीवमुक्तं सत् विशेषेण अधः पतति, अत्र सर्वत्र यद्यपि 'ते' तव इत्युक्तं गौतमे च केशपाण्डुरत्वादि इन्द्रियाणां हानिश्च न संभवति तथापि तन्निश्रया अपरशिष्यादिवर्गप्रतिबोधार्थमुक्तं ... न भवति, तथा च प्रमादो न विधेयः। उत्त० १० अ०। रोगाः-अकालमहाव्याधय आतङ्कास्त एव सद्योघातिन इति। औ०। आतङ्क-, रोगयोर्विशेषो यथा—स्यात् केरिसो रोगो, केरिसो वा आतङ्कस्तत उच्यते।

गाहा—

गंडी कोढ खइयादी, रोगा कासादितो तु आतंको।
दीहरुया वा रोगो, आतङ्को आसुघाती य॥ २१६॥

(अस्याः गाथायाः व्याख्या ' पलंब ' शब्दे पञ्चमभागे दर्शयिष्यते। बृ० १ उ० २ प्रक०।)। नि० चू०। आतङ्को ज्वरादिस्तद्योगादातङ्किनोऽप्यातङ्काः। आतङ्किनि, पिं०। संतापे, सन्देहे, मुरजशब्दे, भये च। वाच०।

आतं (यं) कदंसि (न्)-आतङ्कदर्शिन्-पुं०। ' तकि ' कृच्छ्रजीवने, आतङ्कनमातङ्कः कृच्छ्रजीवनं-दुःखं. तच्च द्विविधम्-शारीरं, मानसं च। तत्राद्यं-कटुकक्षारशस्त्रगण्डलूतादिसमुत्थम्, मानसं प्रियसंप्रयोगेप्सितालाभदारिद्र्यदौर्मनस्यादिकृतम्। एतदुभयमातङ्कं पश्यति तच्छीलश्चेत्यातङ्कदर्शी। अवश्यमेतदुभयमपि दुःखमभ्यापततीत्येवं ज्ञाता आचा०।

(तथा च वायुकायसमारम्भमधिकृत्य)—

आयंकदंसी अहियंति णच्चा। (सूत्र-५६ +)

अवश्यमेतदुभयमपि दुःखमापतति मय्यनिवृत्तवायुकायसमारम्भे ततश्च तद्वायुकायसमारम्भमातङ्कहेतुभूतमहितमिति ज्ञात्वैतस्मान्निवर्त्तते प्रभुर्भवतीति। यदि वा-आतङ्को द्वेधा-द्रव्य-भावभेदात्। तत्र द्रव्यातङ्के इदमुदाहरणम्-

"जंबुद्दीवे दीवे, भारहवासम्मि अत्थि सुपसिद्धं।
बहुणयरगुणसमिद्धं. रायगिहं णाम णयरं ति॥ १॥
तत्थासि गरुयदरिया-रिमद्दणो भुयणविक्खायपयावो।
अभिगयजीवाजीवो, राया णामेण जियसत्तू॥ २॥
अणवरयगरुयसंवे-गभाविओ धम्मघोसपामूले।
सो अन्नयाकयाई, पमाइणं पासए सेहं॥ ३॥
सोऽइज्जंतमभिक्खं. अवराहं तं पुणो वि कुणमाणं।
तस्स हिअट्ठं राया, वेज्जाण य रक्खणट्ठाए॥ ४॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आणारियाणुगणाए, आणावइ सो उ णियगपुरिसेहिं ।
तिव्वुक्कडदव्वेहिं, संधिय पुव्वं तहिं खारं ॥ ५ ॥
पक्खित्तो जत्थ णरो, णवरं दोणाहमेत्तकालेण ।
णिज्जिरणमंसलोणिय-अट्ठिव्वसेसत्तणमुवेइ ॥ ६ ॥
दो ताहे पुव्वभए, पुरिसे आणावए तहिं पया ।
एगं गिहत्थवेसं, बीयं पासंडिणेवत्थं ॥ ७ ॥
पुव्वं चि य सिक्खविए, ते पुरिसे पुच्छए तओ राया ।
अवराहो एयस्सि, भणंति आणं अइक्कमइ ॥ ८ ॥
पासंडिओ उहुत्ते-ण वट्टई अत्तणो य आयारं ।
पक्खिवइ खारमज्झे, खित्ता गोदोहमेत्तस्स ॥ ९ ॥
दट्ठूणऽट्ठिऽवसेसं, तं पुरिसं अलियरोसरत्तऽच्छो ।
सेहं आलोयंतो, राया तो भणइ आयरियं ॥ १० ॥
तुम्ह वि कोऽवि पमादी,
सासेमि य तं पि णऽत्थि भणइ गुरू ।
जइ होहिइ तो साहे,
तुम्हे चिय तस्स जाणिहिह ॥ ११ ॥
सेहो गए णिवंमि, भणइ ते साहुणो उण पुण ति ।
हा हं पमायसीलो; तुब्भे सरणागओ धणियं ॥ १२ ॥
जइ पुण होज्ज पमाओ, पुणो ममं सञ्झभावरोहयस्स ।
तुम्हे गुणेहिं सुविहिय, ता सावगरक्खसामुहो ॥ १३ ॥
आयंकभउव्विग्गो, ताहे सो सिक्खउज्जुओ जाओ ।
कोवियमती य समए, इओ वरिसाणिओ पच्छा ॥ १४ ॥
दव्वायंकाऽऽदंसी, अत्ताणं सव्वहा णियत्तेइ ।
अहियारंभा उ सया, जह सीसो धम्मघोसस्स ॥ १५ ॥"

भावातङ्काऽऽदर्शी तु नरकातिर्यग्मनुष्यामरभवेषु प्रियविप्रयोगादिशारीरमानसाऽऽतङ्कभीत्या न प्रवर्त्तते, वायुसमारम्भं । अपि तु-अहितमेतद्वायुसमारम्भणमिति मत्वा परिहरति । आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ० ।

आयंकदंसी न करइ पावं ॥४+॥ (सूत्र-१११)

आतङ्को-नरकादिदुःखं तद्द्रष्टुं शीलमस्येत्यातङ्कदर्शी स 'पापं' पापानुबन्धि कर्म न करोति, उपलक्षणार्थत्वान्न कारयति, नानुमन्यत इति । आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

आतं (यं) कविब्भास-आतङ्कविपर्यास-पुं० । आगाढे अनागाढकरणे । आयंकविब्भासो नाम-आगाढे अहिदट्ठाइ, अणागाढं करेइ त्ति । पं० चू० ४ कल्प ।

आतं (यं) कसंपओगसंपउत्त-आतङ्कसंप्रयोगसंप्रयुक्त-त्रि० । आतङ्को-रोगस्तस्य सम्प्रयोगः-संबन्धस्तेन संप्रयुक्तः संबन्धो यः स तथा । आतङ्कसंबद्धे, "आतंकसंपओगसंपउत्ते तस्स विप्पओगे सति समरणागए यावि भवइ ३ ।" (सूत्र-४४७+) (अयं चार्त्तध्यानस्य तृतीयो भेदस्तद्व्याख्या 'अ(ट्ट)त्तज्झाण' शब्दे प्रथमभागे गता) स्था० ४ ठा० १ उ० । ग० । औ० ।

आतं (यं) कि (न्)-आतङ्किन्-पुं० । रोगिणि, स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

आतं (यं)चणिया-आतंचनिका-स्त्री० । कुम्भकारभाजने, भ० । " आयंचणिओदएणं गायाइं परिसिंचमाणे विहरइ " (सूत्र-५५३+) । 'आयंचणिओदएणं' ति-इह आतञ्चनिकोदकं-कुम्भकारस्य भाजने स्थितं तेमनाय मृन्मिश्रं जलं तेन । भ० १५ श० ।

आतं(यं)तकर-आत्मान्तकर-पुं० । आत्मनोऽन्तम्-अवसानं भवस्य करोतीत्यात्मान्तकरः । प्रत्येकबुद्धादिके, स्था० ४ ठा० २ उ० । आत्मनोऽन्तं-मरणं करोतीत्यात्मान्तकरः । आत्मवधके, स्था० ४ ठा० २ उ० । " आयंतकरे णाममेगे णो परंतकरे" (सूत्र-२८७) स्था० ४ ठा० २ उ० ।

आतं (यं)तम-आत्मतम-पुं० । आत्मानं तमयति-खेदयतीत्यात्मतमः । आचार्यादिके आत्मखेदयितरि, स्था० । आत्मैव तमः-अज्ञानं क्रोधो वा यस्य स आत्मतमाः अज्ञानात्मनि, क्रोधात्मनि च । स्था० । " आयंतमे णाममेगे णो परंतमे " (सूत्र-२८७+) स्था० ४ ठा० २ उ० ।

आतं (यं) दम-आत्मदम-पुं० । आत्मानं दमयति-शमवन्तं करोति-शिक्षयति, वेत्यात्मदमः । आचार्ये, स्था० । अश्वदमकादौ च । "आयंदमे णाममेगे णो परंदमे" (सूत्र-२८७+)। स्था० ४ ठा० २ उ० ।

आतं (यं) व-आताम्र-त्रि० । ईषद्रक्ते, जं० २ वक्ष० । औ० । "आयंवतलिणसुइरुइलनिद्धनक्खा" (सूत्र-१४७) । आताम्राः—ईषद्रक्तास्तलिनाः—प्रतलाः शुचयः—पवित्रा रुचिरा दीप्ता स्निग्धा-अरूक्षा नखाः-कररुहाः येषां ते आताम्रतलिनशुचिरुचिरास्निग्धनखाः । जी० ३ प्रति०४ अधि०२ उ० ।

आतं (यं) वज्झयण-आताम्राऽध्ययन-न० । सूर्यस्याग्रमहिष्या आताम्राया वक्तव्यताप्रसिद्धे ज्ञाताधर्मकथाया द्वितीयश्रुतस्कन्धसप्तमवर्गस्य द्वितीयेऽध्ययने, ज्ञा० २ श्रु० ७ वर्ग १ अ० ।

आतं (यं) भरि-आत्मम्भरि-त्रि० । आत्मानं बिभर्त्ति भृ-खि-मुम्-च उप० स० । स्वोदरमात्रपूरके, । देवतातिथ्यनादरेणात्मपोषकत्वात्तस्य तथात्वम् । " आत्मम्भरिस्त्वं पिशितैर्नराणाम् " भट्टिः । वाच० । आत्मानं बिभर्ति-पुष्णातीति आत्मम्भरिः । स्वार्थकारके, स्था० । " आयंभरे णाममेगे णो परंभरे " (सूत्र-३२७ +) । आत्मम्भरिः प्राकृतत्वात् 'आयंभरे' । स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

आत (य) कम्म(न्)-आत्मकर्मन्-त्रि० । ६ त० । आत्मनः-स्वस्य कर्त्तव्य कार्ये, " आत्मकर्मक्षमं देहं क्षात्रो धर्म इवाश्रितः ?। " रघु० । वाच० । ज्ञानावरणादिके आत्मकृतकर्मणि, भ० "किं आयकम्मुणा उववज्जंति ?, परकम्मुणा उववज्जंति " (सूत्र-६८६ +) । भ० २० श० १० उ० ।

आत (य) गवेसय-आत्मगवेषक-त्रि० । आत्मानं कर्ममलापहारेण शुद्धं गवेषयतीत्यात्मगवेषकः । उत्त० १५ अ० । आत्मानं कर्मविगमाच्छुद्धस्वरूपं गवेषयति-कथमयमित्थंभूतो भवेदित्यन्वेषयते यः स आत्मगवेषकः । कर्मविगमाच्छुद्धस्वरूपस्यात्मनोऽन्वेषके, उत्त०पाई० १५ अ० । " सहिए आयगवेसए स भिक्खू " ॥ ५ ॥ उत्त० १५ अ० ।

आत (य) गय-आत्मगत-त्रि० । आत्मनि गतमात्मगतम् । आत्मगे, सूत्र० ।

संलोकणिज्जमणगारं, आयगयं निमंतणे णाहंसु ॥३०+॥

संलोकनीयं-संदर्शनीयमाकृतिमन्तं कञ्चनाऽनगारं-साधुमात्मनि, गतमात्मगतम्; आत्मज्ञमित्यर्थः । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

आत (य) गुत्त-आत्मगुप्त-त्रि० । आत्मा-शरीरम् आत्मशब्दस्य शरीरवचनस्यापि दर्शनात्, उक्तं हि-" धर्मधृत्यग्निधीन्द्वर्क—स्वकनस्वस्वार्थदेहिषु । शीलाऽनिलमनोयत्नै-कर्यैष्वात्मनः स्मृतिः ॥ १ ॥" इति. तेन गुप्त आत्मगुप्तो न यतस्ततः करचरणादिविक्षेपकृत्, इतस्ततः करचरणाऽविक्षेपक, यद्वा—गुप्तो रक्षितोऽसंयमस्थानेभ्य आत्मा येन स तथा । उत्त०पाइ० १५ अ० । असंयमस्थानेभ्यो रक्षितात्मनि, आत्मा गुप्तो यस्य स आत्मगुप्तः । सूत्र० २ श्रु० २ अ० । मनोवाक्कायैरात्मा गुप्तो यस्य सः आत्मगुप्तः । सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । मनोवाक्कायगुप्त, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । इन्द्रिय-नोइन्द्रियात्मना गुप्त आत्मगुप्तः । आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । आत्मना-मनोवाक्कायरूपेण गुप्त आत्मगुप्तः । सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । मनोवाक्कायात्मना गुप्त, " आयगुत्ते सयावी(धी)र ॥१+॥ (सूत्र-११६×) । " आयगुत्त सया दंते " ॥ सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ।

(आत्मगुप्तस्य फलमाह)—

कडं च कज्जमाणं च, आगमिस्सं च पावगं ।
सव्वं तं णाणुजाणंति, आयगुत्ता जिइंदिया ॥ २१ ॥

साधूद्देशेन यद् अपरैः-अनार्यकल्पैः कृतम्-अनुष्ठितं पापकं कर्म तथा वर्तमाने च काले क्रियमाणं तथाऽऽगामिनि च काले यत्करिष्यते तत्सर्वं मनोवाक्कायकर्मभिर्नानुजानन्ति नानुमोदन्ते तदुपभोगपरिहारेणेति भावः । यद्यप्यात्मार्थं पापकं कर्म परैः कृतं, क्रियते, करिष्यते च । तद्यथा-शत्रोः शिरश्छिन्नं, छिद्यते, छेत्स्यते वा, तथा चौरो हतो, हन्यते, हनिष्यते वा, इत्यादिकं परानुष्ठानं नाऽनुजानन्ति-न च बहु मन्यन्ते, तथाहि । यदि परः कश्चिदशुद्धेनाहारेणोपनिमन्त्रयेत्तमपि नानुमन्यत इति । क एवंभूता भवन्तीति दर्शयति-आत्माऽकुशलमनोवाक्कायनिरोधेन गुप्तो येषां ते तथा, जितानि-वशीकृतानि इन्द्रियाणि-श्रोत्रादीनि यैस्ते तथा एवंभूताः पापकर्म नाऽनुजानन्तीति स्थितम् । सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

गुप्तात्मन्-त्रि० । गुप्तः-असंयमस्थानेभ्यो रक्षित आत्मा येन स गुप्तात्मा प्राकृतत्वाद्विपर्ययः । असंयमस्थानेभ्यो रक्षितात्मनि, उत्त० १५ अ० । आत्मना गुप्तः । स्वशक्त्यैव रक्षिते लताभेदे, स्त्री० । तस्याः स्पर्शेन हि अतिकण्डूयनं दुःखं भवति तद्भयात्कान्यैर्न सा स्पृश्यत इति तस्या आत्मगुप्तत्वम् । वाच० ।

आत (य) छट्ठवाइ (न्)-आत्मषष्ठवादिन्-पुं० । आत्मा षष्ठो येषां तान्यात्मषष्ठानि भूतानि विद्यन्त इत्येवं वादिनि सांख्यादौ, सूत्र० ।

सांप्रतमात्मषष्ठवादिमतं पूर्वपक्षयितुमाह—

संति पंचमहाभूया, इह मेगेसि आहिया ।
आयछट्ठो पुणो आहु, आया लोगे य सासए ॥१५॥

शाश्वतत्वमेव भूयः प्रतिपादयितुमाह—

दुहओ ण विणस्संति, नो य उप्पज्जए असं ।
सव्वे वि सव्वहा भावा, नियतीभावमागया ॥ १६ ॥

सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । (अनयोर्गाथयोर्व्याख्यानम् ' अत्तछट्ठ ' शब्दे प्रथमभागे ५०२ पृष्ठे गतम् ।)

आत (य) जस (स्)-आत्मयशस्-न० । आत्मसंबन्धिनि यशसि, यशोहेतुभूते संयमे च । भ० । "जीवा किं आयजसेणं उववज्जंति " (सूत्र-८६७+) । ' आयजसेणं ' त्ति-आत्मनः संबन्धि यशो यशोहेतुत्वाद्यशः-संयम आत्मयशस्तेन (भ०) ' आयजसं उवजीवंति ' त्ति-आत्मयशः-आत्मसंयममुपजीवन्ति-आश्रयन्ति; विदधतीत्यर्थः । भ०४१ श० ।

आत (य) जोगि (न्)-आत्मयोगिन्-पुं० । आत्मनो योगः कुशलमनःप्रवृत्तिरूप आत्मयोगः स यस्यास्ति । सदा धर्मध्यानावस्थिते, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

आत (य) ट्ठ (अप्पणट्ठ)-आत्मार्थ-पुं० । आत्महिते, "आयट्ठं " (सूत्र-६१ + टी०) । आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० । आत्मनोऽर्थ आत्मार्थः । ज्ञानदर्शनचारित्रेषु, आत्मने हितम्-प्रयोजनमात्मार्थम् । चारित्रानुष्ठाने, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

आयतट्ठ(अप्पणट्ठ)-आयतार्थ-पुं० । आयतः-अपर्यवसानान्मोक्ष एव स चासावर्थश्चायतार्थः । मोक्षात्मके प्रयोजने, आयतो-मोक्षः अर्थः-प्रयोजनं यस्य सः । मोक्षप्रयोजनके दर्शनादिके, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० । आत्मनिमित्त, " अप्पणट्ठा परट्ठा वा " (सूत्र-१३ +) । आत्मार्थमात्मनिमित्तम् । दश० ६ अ० २ उ० ।

(आत्मार्थआवश्यमुपासनीयः)—

अप्पं च खलु आउयं इहमेगेसिं माणवाणं ॥ ६२ ॥

आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० । (अस्य व्याख्या ' आउ ' शब्दे अस्मिन्नेव भागे प्राग् दर्शिता)

येऽपि दीर्घायुष्कस्थितिका उपक्रमणकारणाभावे आयुःस्थितिमनुभवन्ति तेऽपि मरणादप्यधिकां जराभिभूतविग्रहा जघन्यतरामवस्थामनुभवन्तीति तद्यथेत्यादिना दर्शयति-

तं जहा-सो य परिण्णाणेहिं परिहायमाणेहिं चक्खुपरिण्णाणेहिं परिहायमाणेहिं घाणपरिण्णाणेहिं परिहायमाणेहिं रसणपरिण्णाणेहिं परिहायमाणेहिं फासपरिण्णाणेहिं परिहायमाणेहिं अभिक्कंतं च खलु वयं सपेहाए तओ से एगदा मूढभावं जणयंति ॥ ६३ ॥

'सो य परिण्णाणेहिं' इत्यादि । ततः स एकदा मूढभावं जनयंतीति । यावत् शृणोति भाषापरिणतान् पुद्गलानिति श्रोत्रं, तच्च कदम्बपुष्पाऽऽकारं द्रव्यतो, भावतो भाषाद्रव्यग्रहणलब्ध्युपयोगस्वभावमिति, तेन श्रोत्रेण परिः-समन्ताद् घटपटशब्दाऽऽदिविषयाणि ज्ञानानि-परिज्ञानानि तैः श्रोत्रपरिज्ञानैर्जराप्रभावात्परिहीयमानैः सद्भिस्ततोऽसौ प्राणी एकदा-वृद्धावस्थायाम्-रोगाद्यवसरे वा मूढभावम्-मूढतां कर्त्त-

१-नोइन्द्रियशब्देन मनः गृह्यते ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्था ऽकर्त्तव्यज्ञानामिन्द्रियपाटवाभावादात्मनो जनयति; हिताऽहितप्राप्तिपरिहारविवेकशून्यतामापद्यत इत्यर्थः । जनयन्तीति विवक्षवचनावसरे " तिर्डा तिङो भवन्ति " इति बहुवचनमकारि, अथवा-तानि वा श्रोत्रविज्ञानानि परिहीयमाणान्यात्मनः सदसद्विवेकशून्यतामापादयन्तीति, श्रोत्रादिविज्ञानानां च तृतीया प्रथमार्थे सुव्यत्ययेन द्रष्टव्येति, एवं चक्षुरादिविज्ञानेष्वपि योज्यम् । अत्र च करणत्वमिन्द्रियाणामेव सर्वत्र द्रष्टव्यम्—श्रोत्रेणात्मनो विज्ञानानि चक्षुषाऽऽत्मनो विज्ञानानीति । (आचा०) अत्र च ' सोयपरिण्णाणेहिं परिहायमाणेहिं ' त्यादि , य उत्पत्तिं प्रति व्यत्ययेनेन्द्रियाणामुपन्यासः स एवमर्थं द्रष्टव्यः-इह संज्ञिनः पञ्चेन्द्रियस्य उपदेशदानेनाधिकृतत्वादुपदेशश्च श्रोत्रेन्द्रियविषय इति कृत्वा तत्पर्याप्तौ च सर्वेन्द्रियपर्याप्तिः सूचिता भवति । श्रोत्रादिविज्ञानानि च वयोऽतिक्रमे परिहीयन्ते, तदाह—'अभिक्कंतं' मित्यादि. अथवा-श्रोत्रादिविज्ञानैरपचितैः करणभूतैः सद्भिः ' अभिक्कंतं च खलु वयं सपेहाए ' तत्र प्राणिनां कालकृता शरीरावस्था-यौवनादिर्वयः तज्जरामभि मृत्युं वा क्रान्तमभिक्रान्तम् , इह हि चत्वारि वयांसि कुमारयौवनमध्यमवृद्धत्वानि, उक्तं च—" प्रथमे वयसि नाधीतं, द्वितीये नार्जितं धनम् । तृतीये न तपस्तप्तं, चतुर्थे किं करिष्यति " ॥ १ ॥ तत्राद्यवयोद्वयातिक्रमे जराभिमुखमभिक्रान्तं वयो भवति, अन्यथा वा त्रीणि वयांसि कौमारयौवनस्थविरत्वभेदाद् , उक्तं च-" पिता रक्षति कौमारे, भर्ता रक्षति यौवने । पुत्राश्च स्थाविरे भावे, न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥१॥ " अन्यथा वा त्रीणि वयांसि बालमध्यमत्ववृद्धत्वभेदाद् , उक्तं च-"आषोडशाद्भवेद् बालो, यावत् क्षीराभवर्तकः । मध्यमः सप्ततिं याव-त्परतो वृद्ध उच्यते ॥१॥" एतेषु वयस्सु सर्वेष्वपि या उपचयवत्यवस्था तामतिक्रान्तोऽतिक्रान्तवया इत्युच्यते, चः समुच्चये, न केवलं श्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनविज्ञानैर्व्यस्तसमस्तैर्देशतः सर्वतो वा परिहीयमानैर्वा मौढ्यमापद्यते, वयश्चातिक्रान्तं प्रेक्ष्य—पर्यालोच्य, ' स ' इति-प्राणी, खलुरिति विशेषणे विशेषेण अत्यर्थं मौढ्यमापद्यत इति, आह च-'ततो से' इत्यादि,'तत' इति-तस्मादिन्द्रियविज्ञानापचयाद् वयोऽतिक्रमणाद्वा 'स' इति-प्राणी 'एकदे' ति-वृद्धावस्थायां मूढभावो-मूढत्वं किंकर्तव्यताभावमात्मनो जनयति, अथवा-'से' तस्याऽसुभृतः श्रोत्रादिविज्ञानानि परिहीयमाणानि मूढत्वभावं जनयन्तीति ।

स एवं वार्द्धक्ये मूढस्वभावः सन् प्रायेण लोकावगीतो भवतीत्याह—

जेहिं वा सद्धिं संवसति ते वि णं एगदा णियगा पुव्विं परिवयंति, सोऽवि ते णियए पच्छा परिवएज्जा, णाऽलं ते तव ताणाए वा सरणाए वा, तुमं पि तेसिं णाऽलं ताणाए वा सरणाए वा, से ण हासाय ण किड्डाए ण रतीए ण विभूसाए । (सूत्र- ६४)

'जेहिं व' त्यादि. वाशब्दः पक्षान्तरद्योतकः । यास्तां तावत् अपरे लोका यैः पुत्रकलत्रादिभिः सार्द्धं सह संवसति स एव भार्यापुत्रादयो णमिति वाक्यालङ्कारेण एकदेति-वृद्धावस्थायां ' णियगा ' आत्मीया ये तेन समर्थावस्थायां पूर्वमेव पोषितास्ते तं ' परिवदन्ति ' परि-समन्ताद्वदन्ति-यथाऽयं न म्रियते, नापि मञ्चकं ददाति, यदि वा-परिवदन्ति-परिभवन्तीत्युक्तं भवति, अथ वा-किमनेन वृद्धेनेत्येवं परिवदन्ति, न केवलमेषां तस्यात्मापि तस्यामवस्थायामवगीतो भवतीति, आह च-" वलिसंततमस्थिशेषितं, शिथिलस्नायुधृतं कडे(ले)वरम् । स्वयमेव पुमान् जुगुप्सते, किमु कान्ता कमनीयविग्रहा " ॥ १ ॥ गोपालबालाङ्गनादीनां च दृष्टान्तद्वारेणोपन्यस्तोऽर्थो बुद्धिमधितिष्ठतीत्यतस्तद्विभावनाय कथानकम्-कौशाम्ब्यां नगर्यामर्थवान् बहुपुत्रो धनो नाम सार्थवाहस्तेन चैकाकिना नानाविधैरुपायैः स्वापतेयमुपार्जितम् , तथाशेषदुःखितबन्धुजनस्वजनमित्रकलत्रपुत्रादिभोग्यतां निन्ये, ततोऽसौ कालपरिपाकवशाद् वृद्धभावमुपगतः सन् पुत्रेषु सम्यक्पालनोपचितकलाकुशलेषु समस्तकार्यचिन्ताभारं निचिक्षेप । तेऽपि वयमनेनेदृशीमवस्थां नीताः सर्वजनाग्रे "सदा विदिता" इति कृतोपकाराः सन्तः कुलपुत्रतामवलम्बमानाः स्वतः कश्चित् कार्यव्यासङ्गात् स्वभार्याभिस्तमकरोत् वृद्धं प्रत्यजजागरन् ता अभ्युद्वर्त्तनस्नानभोजनादिना यथाकालमनुगुणं विहितवत्यस्ततो गच्छत्सु दिवसेषु वर्द्धमानेषु पुत्रभाण्डेषु प्रौढीभवत्सु भर्तृषु जरद्वृद्धे च विवशकरणपरिचारे सर्वाङ्गकम्पनि गलद्देशपथेऽनिसि सति शनैः शनैरुचितमुपचारं शिथिलतां निन्युः , असावपि मन्दप्रतिजागरणतया चित्ताभिमानविश्रम्भया च सुतरां दुःखसागरावगाढः सन् पुत्रेभ्यः स्नुषाणामुपचारान्या ऽऽचचक्षे ताश्च स्वभर्तृभिर्खिद्यमानाः सुतरामुपचारं परिहृतवत्यः सर्वाश्च पर्यालोच्यैकवाक्यतया स्वभर्तॄनभिहितवत्यः क्रियमाणेऽप्ययं प्रतिजागरणे वृद्धभावाद्विपरीतबुद्धितयाऽपह्नुते , यदि भवतामप्यस्माकमुपर्यविश्रम्भस्ततोऽन्येन विश्वसनीयेन निरूपयत तेऽपि तथैव चक्रुः, तास्तु तस्मिन्नवसरे सर्वा अपि सर्वाणि कार्याणि यथावसरं विहितवत्यः, असावपि पुत्रैः पृष्टः पूर्वविरूढितवचनास्तथैव ता अपवदति नैता मम किञ्चित्सम्यक् कुर्वन्ति, तैस्तु प्रत्ययैकवचनादवगततत्त्वैर्यथावदुपचर्यमाणोऽपि वार्द्धक्याद् रोरुद्यते, ततस्तैरप्यवधीरितोऽन्येषामपि यथाऽवसरं तत्खण्डनस्वभावतामचचक्षिरे । ततोऽसौ पुत्रैरवधीरितः स्नुषाभिः परिभूतः परिजनेनावगीतो वाङ्मात्रेणापि केनचिदप्यननुवर्त्यमानः सुखितेषु दुःखितः कष्टतरामायुःशेषामवस्थामनुभवतीति, एवमन्योऽपि जराभिभूतविग्रहस्तृणकुब्जीकरणेऽप्यसमर्थः सन् कार्यैकनिष्ठलोकात्परिभवमाप्नोतीति, आह-" गात्रं संकुचितं गतिर्विगलिता दन्ताश्च नाशं गता, दृष्टिर्भ्रश्यति रूपमेव ह्रसते वक्त्रं च लालायते । वाक्यं नैव करोति बान्धवजनः पत्नी न शुश्रूषते, धिक्कष्टं जरयाऽभिभूतपुरुषं पुत्रोऽप्यवज्ञायते" ॥१॥ इत्यादि, तदेवं जराभिभूतं निजाः परिवदन्त्यसावपि परिभूयमानस्तद्विरक्तचेतास्तदपवादान् जनायाऽऽचष्टे , आह च-' सो वा ' इत्यादि, वाशब्दः पूर्वापेक्षया पक्षान्तरं दर्शयति-ते वा निजास्तं परिवदन्ति, स वा जराजर्जरितदेहस्तान्निजान् अनेकदोषोद्घट्टनतया परिवदेत्-निन्देद् ,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अथ वा-खिद्यमानार्थतया तानलावश्रगायति; परिभवतीत्यर्थः । येऽपि पूर्वकृतधर्म्मवशात्तं वृद्धं न परिवदन्ति तेऽपि तद्दुःखाऽपनयनसमर्था न भवन्ति, आह च— 'नालमि' त्यादि-नाऽलं-न समर्थास्ते पुत्रकलत्रादयस्तवेति । प्रत्यक्षभावमुपगतं वृद्धमाह—त्राणाय शरणाय वेति, तत्रापत्तरणसमर्थं त्राणमुच्यते, यथा महाश्रोतोऽभिरुह्यमानः सुकर्णधाराऽधिष्ठितं प्लवमासाद्याऽऽपस्तरतीति, शरणं पुनर्यद्वपुष्मानभिर्भयैः स्थीयते तदुच्यते, तत्पुनर्दुर्ग-पर्वतः पुरुषो वेति, एतदुक्तं भवति--जराभिभूतस्य न कश्चित् त्राणाय, शरणाय वा, त्वमपि तेषां नालं त्राणाय शरणाय वेति, उक्तञ्च-" जन्मजरामरणभयै-रभिद्रुते व्याधिवेदनाग्रस्ते । जिनवरवचनादन्य-त्र नास्ति शरणं क्वचिल्लोके ॥ १ ॥" इत्यादि, स तु तस्यामवस्थायां किंभूतो भवतीत्याह-' से ण हस्साए ' इत्यादि, स जराजीर्णविग्रहो न हास्याय भवति, तस्यैव हसनीयत्वात्; न परान् हसितुं योग्यो भवतीत्यर्थः । स च समक्षं परोक्षं वा एवमभिधीयते जनैः- किं किलास्य हसितेन हास्यास्पदस्येति । न च क्रीडायै न च लङ्घनवल्गनास्फोटनक्रीडानां योग्योऽसौ भवति, नापि रत्यै भवति रतिरिह विषयगता गृह्यते सा पुनर्ललनावगूहनादिका, तथाभूतोऽप्यवजुगुहिषुः स्त्रीभिरभिधीयते- न लज्जते भवान्न पश्यति-आत्मानं नावलोकयति शिरःपलितभस्मावगुण्डितं मां दुहितृभूतामेवं गूहितुमिच्छसीत्यादिवचसामास्पदत्वान्न रत्यै भवति, न विभूषायै, यतो विभूषितोऽपि प्रततचर्म्मवलिकः स नैव शोभते, उक्तञ्च—

" न विभूषणमस्य युज्यते, न च हास्यं कुत एव विभ्रमः?।
अथ तेषु च वर्त्तते जनो, ध्रुवमायाति परां विडम्बनाम्"॥१॥
" जं जं करेइ तं तं, न सोहए जोव्वणे अतिक्कंते ।
पुरिसस्स महिलियाए, एक्कं धम्मं पमुत्तूणं " ॥ २ ॥

गतमप्रशस्तं मूलस्थानम् । सांप्रतं प्रशस्तमुच्यते—

इच्चेवं समुट्ठिए अहोविहाराए अंतरं च खलु इमं संपेहाए धीरे मुहुत्तमवि णो पमायए वओ अच्चेति जोव्वणं व । (सूत्र-६५)

अर्थैवा-यत एवं ते सुहृदो नाऽलं त्राणाय शरणाय वा अतः किं विदध्यादित्याह-'इच्चेवमि' त्यादि. इतिरुपप्रदर्शने, अप्रशस्तमूलगुणस्थाने वर्त्तमानो जराभिभूतो न हास्याय न क्रीडायै न रत्यै न विभूषायै प्रत्येकं च शुभाशुभकर्म्मफलं प्राणिनामित्येवं मत्वा, समुत्थितः—सम्यगुत्थितः शस्त्रपरिज्ञोक्त मूलगुणस्थानमधितिष्ठन् 'अहो' इत्याश्चर्ये, विहरणं विहार आश्चर्यभूतो विहारोऽहोविहारो यथोक्तसंयमानुष्ठानं तस्मै अहोविहारायोत्थितः सन् क्षणमपि नो प्रमाद्येदित्युत्तरेण सण्टङ्कः । किं च-' अन्तरं चे ' त्यादि, अन्तरमिति-अवसरस्तच्चार्यक्षेत्रसुकुलोत्पत्तिबोधिलाभसर्वविरत्यादिकं, चः समुच्चये, खलुरवधारणे, इममिति अनेनेदमाह-विनेयस्तपःसंयमादाववसीदन् प्रत्यक्षभावापन्नमार्यक्षेत्रादिकमन्तरमवसरमुपदर्श्याभिधीयते--तवायमेवंभूतोऽवसरोऽनादौ संसारे पुनरतीव सुदुर्लभ एवेति, अतस्तमवसरं संप्रेक्ष्य-पर्यालोच्य धीरः सन् मुहूर्त्तमप्येकं नो प्रमादयेत्-नो प्रमादवशगो भूयादिति. संप्रेक्ष्येत्यत्र अनुस्वारलोपश्छान्दसत्वादिति , अन्यदप्यलातात्ताणिकमेवंजातीयमस्मादेव हेतोरवगन्तव्यमिति, । आन्तर्मौहूर्त्तिकत्वाच्च छाद्मस्थिकोपयोगस्य मुहूर्त्तमित्युक्तम् , अन्यथा समयमप्येकं न प्रमादयेदिति वाच्यं, तदुक्तम्-

" संप्राप्य मानुषत्वं, संसारासारतां च विज्ञाय ।
हे जीव ! किं प्रमादा-न्न चेष्टसे शान्तये सततम् ॥ १ ॥
ननु पुनरिदमतिदुर्लभ-मगाधसंसारजलधिविभ्रष्टम् ।
मानुष्यं खद्योतक-तडिल्लताविलसितप्रतिमम् " ॥ २ ॥

इत्यादि, किमर्थञ्च नो प्रमादयेदित्याह-'वयो अच्चेइ' त्ति—वयः-कुमारादि 'अत्येति' अतीव एति-याति अत्येति, अन्यच्च-"जोव्वणं व" त्ति-अत्येत्यनुवर्त्तते, यौवनं वाऽत्येति-अतिक्रामति, वयोग्रहणेनैव यौवनस्यावगतत्वात्तदुपादानं प्राधान्यख्यापनार्थं, धर्मार्थकामानां तन्निबन्धनत्वात् सर्ववयसां यौवनं साधीयः; तदपि त्वरितं यातीति. उक्तं च-"नईवेगसमं चवलं, च जीवियं जोव्वणञ्च कुसुमसमं । सोक्खं च जं अणिच्चं, तिण्णि वि तुरमाणभोज्जाइं " ॥ १ ॥ तदेवं मत्वा अहो विहारायोत्थानं श्रेय इति ।

ये पुनः संसाराभिष्वङ्गिणोऽसंयमजीवितमेव बहु मन्यन्ते ते किंभूता भवन्तीत्याह—

जीविए इह जे पमत्ता से हंता छेत्ता भेत्ता लुंपित्ता विलुंपित्ता उद्दवित्ता उत्तासइत्ता, अकडं करिस्सामि त्ति मण्णमाणे, जेहिं वा सद्धिं संवसइ ते वा णं एगया नियगा तं पुव्विं पोसेंति, सो वा ते नियगे पच्छा पोसिज्जा नाऽलं ते तव ताणाए वा सरणाए वा, तुमं पि तेसिं नाऽलं ताणाए वा सरणाए वा । (सूत्र-६६)

' जीविए ' इत्यादि, ये तु वयोऽतिक्रमणं नावगच्छन्ति, ते ' इह ' इति-अस्मिन्नसंयमजीविते प्रमत्ता अभ्युपपन्ना विषयकषायेषु प्रमाद्यन्ति प्रमत्ताश्चाहर्निशं परितप्यमानाः कालाऽकालसमुत्थायिनः सन्तः सत्त्वोपघातकारिणीः क्रियाः समारम्भन्त, इति, आह च-' से हंता ' इत्यादि, ' से ' इत्यप्रशस्तगुणमूलस्थानवान्विषयाभिलाषी प्रमत्तः सन् स्थावरजङ्गमानामसुमतां हन्ता भवतीति, अत्र च बहुवचनप्रक्रमेऽपि जात्यपेक्षयैकवचननिर्देश इति, तथा छेत्ता कर्णनासिकादीनां भेत्ता-शिरोनयनोदरादीनां लुम्पयिता ग्रन्थिच्छेदनादिभिर्विलुम्पयिता ग्रामघातादिभिरपद्रावयिता प्राणव्यपरोपको विषशस्त्रादिभिरपद्रावयिता वा उत्त्रासको लोष्ठप्रक्षेपादिभिः स किमर्थं हननादिकाः क्रियाः करोतीत्याह-' अकडं ' इत्यादि, अकृतमिति, यदन्येन नानुष्ठितं तदहं करिष्यामीत्येवं मन्यमानोऽर्थोपार्जनाय हननादिक्रियासु प्रवर्त्तते स एवं क्रूरकर्म्मा-अतिशयकारी समुद्रलङ्घनादिकाः क्रियाः कुर्वन्नप्यलाभोदयादपगतसर्वस्वः किंभूतो भवतीत्याह-' जेहिं वा ' इत्यादि । वाशब्दो भिन्नक्रमः पक्षान्तरद्योतको, यैर्मातापितृस्वजनादिभिः सार्द्धं संवसत्यसौ त एव वा णमिति वाक्यालङ्कारे, एकदेति-अर्थनाशाद्यापदि शैशवे वा निजा आत्मीया बान्धवाः सुहृदो वा

Jain Education International   For Private & Personal Use Only   www.jainelibrary.org

'पुव्विं' पूर्वमेव तं सर्वोपायक्षीणं पोषयन्ति स वाऽप्राप्तमनोरथलाभः संस्तान्निजान् पश्चात्पोषयन्दर्थदानादिना सम्मानयतीति । ते च पोषकाः-पोष्या वा तथापन्नस्य न त्राणाय भवन्तीत्याह-'नालं' इत्यादि । ते निजा मातापित्रादयस्तत्युपदेशविषयापन्ना, उच्यते-त्राणाय-आपद्रक्षणार्थं शरणाय-निर्भयस्थित्यर्थं नालं-न समर्थाः, त्वमपि तेषां त्राण-शरणे कर्तुं नालमिति ; तदेवं तावत् स्वजनो न त्राणाय भवतीत्येतत्प्रतिपादितम् ।

अर्थोऽपि महता क्लेशेनोपात्तो रक्षितश्च न त्राणाय भवतीत्येतत्प्रतिपिपादयिषुराह—

उवादितसेसं तेण वा संणिहिसंणिचओ किज्जइ, इहमेगेसिं असंजयाणं भोयणाए, तओ से एगया रोगसमुप्पाया समुप्पज्जंति, जेहिं वा सद्धिं संवसति, ते वा णं एगया णियगा तं पुव्विं परिहरंति, सो वा ते णियए पच्छा परिहरेज्जा, णालं ते तव ताणाए वा सरणाए वा तुमं पि तेसिं णालं ताणाए वा सरणाए वा, (सूत्र-६७)

'उवादिते' ति-'अद्' भक्षणे इत्येतस्मादुपपूर्वान्निष्ठाप्रत्ययः, तत्र बहुलं छन्दसीति डागमः, उपादितम्-उपभुक्तं, तस्य शेषमुपभुक्तशेषं, तेन वा वाशब्दादनुपभुक्तशेषेण वा सन्निधानं सन्निधिस्तस्य सन्निचयस्सन्निधिसन्निचयः; अथ वा-सम्यङ्निधीयते-स्थाप्यत उपभोगाय योऽर्थः स संनिधिस्तस्य सन्निचयः-प्राचुर्यम् ;उपभोग्यद्रव्यनिचय इत्यर्थः,स इहास्मिन् संसारे एकेषाम्-असंयतानां; संयताऽऽभासानां वा केषांचिद्भोजनाय-उपभोगार्थं क्रियते-विधीयत इति, असावपि यदर्थमनुष्ठितोऽन्तरायोदयात्तत्संपत्तये न प्रभवतीत्याह-'तओ से' त्यादि, ततो द्रव्यसंनिधिसंनिचयादुत्तरकालमुपभोगाऽवसरे से तस्य बुभुक्षोरेकदेति द्रव्यक्षेत्रकालभावनिमित्ताविर्भावितवेदनीयकर्मोदये रोगसमुत्पादाः-ज्वरादिप्रादुर्भावाः 'समुत्पद्यन्त' इति—आविर्भवन्ति । स च तैः कुष्ठराजयक्ष्मादिभिरभिभूतः सन् भग्ननासिको गलत्पाणिपादोऽविच्छेदप्रवृत्तश्वासाऽऽकुलः, किंभूतो भवति इत्याह—'जेहिं' इत्यादि, यैस्मातापित्रादिभिर्निजैः सार्द्धं संवसति त एव वा निजा एकदा-रोगोत्पत्तिकाले पूर्वमेव तं परिहरन्ति, स वा तान्निजान् पश्चात्परिभवोत्थापितविवेकः परिहरेत् त्यजेत्तन्निरपेक्षः; सेढुकवत्स्यादित्यर्थः, ते च स्वजनादयो रोगोत्पत्तिकाले परिहरन्तो अपरिहरन्तो वा न त्राणाय भवन्तीति दर्शयति-'नालं' इत्यादि, पूर्ववद् ,

रोगाद्यभिभूतान्तःकरणेन-चाऽपगतत्राणेन न च किमालम्ब्य सम्यक्करणेन रोगवेदनाः सोढव्या इति आह—

जाणित्तु दुक्खं पत्तेयं सायं ।(सूत्र-६८)

'जाणित्तु' इत्यादि, ज्ञात्वा प्रत्येकं प्राणिनां दुःखं तद्विपरीतं सातं वा दीनमानसेन ज्वरादिवेदनोत्पत्तिकाले स्वकृतकर्मफलमवश्यमनुभवनीयमिति मत्वा न वैक्लव्यं कार्यमिति, उत्युक्तं च-"सह कले(डे)वर ! दुःखमचिंतयन् , स्ववशता हि पुनस्तव दुर्लभा । बहुतरं च सहिष्यसि जीव हे !, परवशो न च तत्र गुणोऽस्ति ते "॥ १ ॥

यावच्च श्रोत्रादिभिर्विज्ञानैरपरिहीयमानैर्जराजीर्णं न निजाः परिवदन्ति, यावच्चानुकम्पया न पोषयन्ति रोगाभिभूतं च न परिहरन्ति तावदात्मार्थोऽनुष्ठेय इत्येतद्दर्शयति-

अणभिक्कंतं च खलु वयं संपेहाए।(सूत्र-६९)

'अणभिक्कंतञ्च' इत्यादि, चशब्दः आधिक्ये, खलु शब्दः पुनःशब्दार्थे, पूर्वमभिक्रान्तं वयः समीक्ष्य मूढभावं व्रजतीति प्रतिपादितम् , अनभिक्रान्तं च पुनर्वयः संप्रेक्ष्य 'आयट्ठं सम्मं समणुवासज्जासि' (सूत्र-७१)। इत्युत्तरेण संबन्धः, आत्मार्थम् आत्महितं समनुवासयेत् ; कुर्यादित्यर्थः ।

किमनतिक्रान्तवयसैवात्महितमनुष्ठेयमुतान्येनापीति ?, परेणापि लब्धावसरेणात्महितमनुष्ठेयमित्येतद् दर्शयति—

खणं जाणाहि पंडिए ।(सूत्र-७०)

क्षणः-अवसरो धर्मानुष्ठानस्य स चार्यक्षेत्रसुकुलोत्पत्त्यादिकः परिवादपोषणपरिहारदोषदुष्टानां जराबालभावरोगाणामभावे सति, तं क्षणं जानीहि-अवगच्छ पण्डित !-आत्मज्ञ ! अथ वा-अवसीदन् शिष्यः प्रोत्साह्यते-हे अनतिक्रान्तयौवन ! परिवादादिदोषत्रयास्पृष्टपण्डित ! द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदभिन्नं क्षणम्-अवसरमवंभूतं जानीहि-अवबुध्यस्व । आचा०।(क्षणस्वरूपम् 'खण' शब्दे ३ भागे दर्शयिष्यते)

एवंभूतमवसरमवाप्यात्मार्थं समनुवासयेदित्युत्तरेण सम्बन्धः ।

किञ्च—

०जाव सोत्तपरिण्णाणा अपरिहीणा णेत्तपरिण्णाणा अपरिहीणा घाणपरिण्णाणा अपरिहीणा रसणपरिण्णाणा अपरिहीणा फासपरिण्णाणा अपरिहीणा इच्चेतेहिं विरूवरूवेहिं पण्णाणेहिं अपरिहायमाणेहिं आयट्ठं सम्मं समणुवासेज्जासि त्ति बेमि । (सूत्र-७१)

'जाव' इत्यादि, यावदस्य—विशरारोः कायापसदस्य श्रोत्रविज्ञानानि जरसा रोगेण वा अपरिहीनानि भवन्ति एवं नेत्रघ्राणरसनस्पर्शविज्ञानानि न विषयग्रहणस्वभावतया मान्द्यं प्रतिपद्यन्ते. इत्येतैर्विरूपरूपैः-इष्टानिष्टरूपतया नानारूपैः प्रज्ञानैः-प्रकृष्टैर्ज्ञानैरपरिहीयमाणैः सद्भिः किं कुर्यात् , इत्याह-'आयट्ठं' इत्यादि, आत्मनोऽर्थः आत्मार्थः, स च ज्ञानदर्शनचारित्रात्मकः, अन्यस्त्वनर्थ एव । अथवा-आत्मने हितं प्रयोजनमात्मार्थं, तच्च चारित्रानुष्ठानमेव । अथ वा-आयतः—अपर्यवसानान् मोक्ष एव स चासावर्थश्चायतार्थोऽतस्तम् , यदि वा-आयत्तो-मोक्षः अर्थः-प्रयोजनं यस्य दर्शनादित्रयस्य तत्तथा 'समनुवासयेद्' इति-'वस' निवासे, इत्यस्माद्धेतुमण्णिजन्तात्लिङ् (सिप्) सम्-सम्यग्-यथोक्तानुष्ठानेन अनु-पश्चादनभिक्रान्तं वयः संप्रेक्ष्य क्षणम्-अवसरं प्रतिपद्य श्रोत्रादिविज्ञानानां वा अहीणतामधिगम्य तत आत्मार्थं समनुवासयेः-आत्मनि विदध्याः । अथ वा-अर्थवशाद्विभक्तिपुरुषविपरिणाम इति कृत्वा तेन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वा आत्मार्थेन ज्ञानदर्शनचारित्रात्मकेनात्मानं समनुवासयेद्-भावयेद्-रञ्जयेत्, आयतार्थे वा मोक्षाख्यं सम्यक् अपुनरागमनेना अन्विति-यथाज्ञानुष्ठानात्पश्चादात्मना समनुवासयेद्-अधिष्ठापयेत्, इतिः परिसमाप्तौ. ब्रवीमीति सुधर्मस्वामी जम्बूस्वामिनमिदमाह-यद्भगवता श्रीवर्द्धमानस्वामिनाऽर्थतोऽभ्यधायि तदेवाहं सूत्रात्मना वच्मीति। आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ०।

आत (य) ट्ठि (न्) -आत्मार्थिन्-पुं०। आत्मनोऽर्थः आत्मार्थः स विद्यते यस्य स तथा। आत्मवति, "एवं से भिक्खू आत(य)ट्ठी" (सूत्र-४२ ×)। यो ह्यन्यमपायेभ्यो रक्षति स आत्मार्थी-आत्मवानित्युच्यते। सूत्र०२ श्रु०२ अ०।

आत (य) निप्फेडय-आत्मनिस्फोटक-पुं०। आत्मानं सम्यग्दर्शनादिकेनानुष्ठानेन संसारचारकान्निस्सारके, सूत्र०। "आयनिप्फेडए आयाणमेवं पडिसाहरेज्जासि" (सूत्र-४८+)। आत्मानं सम्यग्दर्शनादिकेनानुष्ठानेन संसारचारकान्निस्सारयतीति। सूत्र० २ श्रु० २ अ०।

आत (य) ण्ण-आत्मज्ञ-पुं०। आत्मज्ञानिनि, सूत्र०।

अत्ताण जो जाणति जो य लोगं। (सूत्र० २० ×)

यो ह्यात्मानं परलोकयायिनं शरीराद्व्यतिरिक्तं सुखदुःखाधारं जानाति यश्चात्महितेषु प्रवर्त्तते स आत्मज्ञो भवति। येन चात्मा यथावस्थितस्वरूपोऽहंप्रत्ययग्राह्योऽभिज्ञातो भवति नैवायं सर्वोऽपि लोकः प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपो विदितो भवति, स एव चात्मज्ञोऽस्तीत्यादिक्रियावादं भाषितुमर्हतीति। सूत्र० १ श्रु० १२ अ०।

आत (य) तंत-आत्मतन्त्र-त्रि०। आत्मायत्ते, स्था० ४ ठा० २ उ०।

आत (य) तंतकर-आत्मतन्त्रकर-पुं०। आत्मतन्त्रः सन् कार्याणि करोतीत्यात्मतन्त्रः। आत्मायत्ते जिनादौ, आत्मतन्त्रमात्मायत्तं धनम्-गच्छादि करोतीत्यात्मतन्त्रकरः। आत्माऽऽयत्तस्य धनस्य गच्छादिकस्य कारके च। स्था० ४ ठा० २ उ०।

आत (य) तत्त-आत्मतत्त्व-न०। आत्मनस्तत्त्वम्। आत्मनो यथार्थस्वरूपे, चैतन्यरूपे मतभेदे, कर्तृत्वादिरूपे, आत्मैव तत्त्वम्परमपदार्थे, आत्मरूपे परमपदार्थे च, वाच०। ज्ञानदर्शनचारित्रात्मके तत्त्वे च। परमार्थतस्तो ज्ञानदर्शनचारित्रात्मकमात्मतत्त्वं विहायान्यत्सर्वं शरीराद्यपि पराक्यमेवेति। आचा०।

आत [य] तत्तपगास-आत्मतत्त्वप्रकाश-पुं०। आत्मधर्मप्रागभावे, अष्ट०।

गुरुत्वं स्वस्य नोदेति, शिक्षासात्म्येन यावता।
आत्मतत्त्वप्रकाशेन, तावत्सेव्यो गुरूत्तमः॥ ५॥

अष्ट० ८ अष्ट०। वाच०।

आत (य) तरग-आत्मतरक-पुं०। आत्मानं केवलं तारयतीत्यात्मतराः, स्वार्थिकप्रत्ययविधानात् आत्मतरकाः। व्य०। प्रायश्चित्तार्हे पुरुषविशेष, व्य०। "आयतरगा०" ये पुनस्तपोबलिष्ठा वैयावृत्त्यलब्धिहीनास्ते तप एव यथोक्तरूपं कुर्वन्ति न वैयावृत्त्यमाचार्यादीनामित्यात्मानं केवलं तारयन्तीत्यात्मतराः, स्वार्थिकप्रत्ययविधानात् आत्मतरकाः। व्य० १ उ०।

आत (य) तुला-आत्मतुला-स्त्री०। आत्मौपम्ये, सूत्र० २ श्रु० २ अ०। आत्मतुल्यतायाम्, सूत्र० १ श्रु० २ अ०३ उ०।

कम्हा णं तुब्भे पाणिं पडिसाहरह ?, पाणिनो डहिज्जा, दड्ढे किं भविस्सइ ?, दुक्खं ति मन्नमाणा पडिसाहरह, एस तुला एस पमाणे एस समोसरणे। (सूत्र०४१+)

अवश्यमग्निदाहभयात्कश्चिदभ्यभिमुखं पाणिं ददातीत्येतत्परोऽयं दृष्टान्तः। पाणिना दग्धेनापि किं भवतो भविष्यतीति? दुःखमिति चेत् यद्येवं भवन्तो दाहापादिनदुःखभीरवः सुखलिप्सवः, तदेवं सति सर्वेऽपि जन्तवः संसारोदरविवरवर्तिन एवंभूता एवेत्येवम् आत्मतुलया—आत्मौपम्येन यथा मम नाभिमतं दुःखमित्येवं सर्वजन्तूनामित्यवगम्याऽहिंसैव प्राधान्येनाश्रयणीया, तदेतत्प्रमाणम्, यथा युक्तिः "आत्मवत्सर्वभूतानि, यः पश्यति स पश्यति"। सूत्र० २ श्रु० २ अ०।

एवं सहिते हियासए, आयतुलं पाणेहिं संजए॥१२×॥

'एवम्' अनन्तरोक्तरीत्या परिवर्त्तमानः सह हितेन वर्तत इति सहितो ज्ञानादियुक्तो वा संयतः-प्रव्रजितोऽपरप्राणिभिः सुखार्थिभिरात्मतुलाम्-आत्मतुल्यतां दुःखाऽप्रियत्वसुखप्रियत्वरूपामधिकं पश्येत् आत्मतुल्यान् सर्वानपि प्राणिनः पालयेत्। सूत्र० १ श्रु० २ अ०। "आयतुले पयासु" ॥३×॥ प्रजायन्त इति प्रजाः पृथिव्यादयो जन्तवस्तास्वात्मतुल्यः; आत्मवत्सर्वप्राणिनः पश्यतीत्यर्थः, एवंभूत एव साधुर्भवतीति, तथा चोक्तम्—"जह मम ण पियं दुक्खं, जाणिय एमेव सव्वजीवाणं। ण हणइ ण हणावेइ य, सममणई तेण सो समणो"॥ १॥ सूत्र० १ श्रु० १ अ०।

डहरे य पाणे बुड्ढे य पाणे,
ते आतओ पासइ सव्वलोए॥ १८+॥

ये केचन 'डहरे'त्ति-लघवः-कुन्थ्वादयः सूक्ष्मा वा ते सर्वेऽपि प्राणाः प्राणिनो ये च वृद्धा बादरशरीरिणस्तान्सर्वानप्यात्मतुल्यान्-आत्मवत्पश्यति-सर्वस्मिन्नपि लोके यावत्प्रमाणं मम तावदेव कुन्थोरपि यथा वा मम दुःखमनभिमतमेवं सर्वलोकस्यापि-सर्वेषामपि प्राणिनां दुःखमुत्पद्यते, दुःखाद् वोद्विजन्ते। सूत्र० १ श्रु० १२ अ०।

आत (य) त्त-आत्मत्व-न०। आत्मनो भावे, आत्मधर्मे, वाच०।

अह पास तेहिं कुलेहिं, आयत्ताए जाया। (सूत्र-१७२×)

'अथ' इति-वाक्योपन्यासार्थे, पश्य त्वं तेषूच्चावचेषु कुलेषु आत्मत्वाय-आत्मीयकर्मानुभवनाय जाताः, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ०।

अशेषकर्मकलङ्करहितत्वे मोक्षभावे, संयमभावे च। सूत्र०।

आरंभं तिरियं कट्टु, आतत्ताए परिव्वए॥ ७॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आरम्भम्-सावद्यानुष्ठानरूपं, तिर्यक्कृत्वा-अपहस्तयित्वा आत्मनो भाव आत्मत्वम्-अशेषकर्मकलङ्करहितत्वं तस्मै आत्मत्वाय । यदि वा-आत्मा-मोक्षः; संयमो वा तद्भावस्तस्मै तदर्थं परि-समन्ताद् व्रजेत्; संयमानुष्ठानक्रियायां दत्तावधानो भवेदित्यर्थः । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

आत (य) दंड--आत्मदण्ड--पुं० । आत्मानं दण्डयतीत्यात्मदण्डः । आत्मन उपघातके, " बीयाइ अस्संजय आयदण्डे " ॥ ६ + ॥ असंयतो-गृहस्थः, प्रव्रजितो वा तत्कर्मकारी गृहस्थ एव । स च हरितच्छेदं विदधात्यात्मानं दण्डयतीत्यात्मदण्डः । स हि परमार्थतः परोपघातेनाऽऽत्मानमेवोपहन्ति । सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । " एतेसु कापसु य आयदण्डे " ॥ २ + ॥ यथैभिः कायैः-समारभ्यमाणैः; पीड्यमानैरात्मा दण्ड्यते; तत्समारम्भादात्मदण्डो भवतीत्यर्थः । सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । " णिस्सिय, आयदण्डा " ॥ २३ × ॥ आत्मैव दण्ड्यतीति दण्डो येषां ते भवन्त्यात्मदण्डा असदाचारप्रवृत्तेरिति । सूत्र० २ श्रु० ६ अ० ।

आत (य) दण्डसमायार--आत्मदण्डसमाचार--त्रि० । आत्मा दण्ड्यते-हितात् भ्रश्यते येन स आत्मदण्डः समाचारः-अनुष्ठानं येषामनार्याणां ते । आत्महितानुष्ठातरि, सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० । " आयदण्डसमायारे " ॥१४+॥ सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

आत (य) दरिस--आत्मदर्श--पुं० । आत्मा-देहः दृश्यतेऽस्मिन् आधारे घञ् । दर्पणे, आदर्शे, को० । घञ् ६ त० । आत्मनो दर्शने, आत्मसाक्षात्कारे, वाच० ।

आत (य) पएस--आत्मप्रदेश--पुं० । जीवांशे, पञ्चा० १४ विव० ।

आत (य) परिणइ--आत्मपरिणति--स्त्री० । आत्मनो-जीवस्य परिणतिरात्मपरिणतिः । जीवस्यानुष्ठानविशेषसम्पादके परिणामविशेषे, द्वा० ।

विषयप्रतिभासं चा-त्मपरिणतिमत्तथा ।
तत्त्वसंवेदनं चैव, ज्ञानमाहुर्महर्षयः ॥ १ ॥

आत्मनो-जीवस्य परिणतेः-अनुष्ठानविशेषसंपाद्यः परिणामविशेषः, सैव ज्ञेयतया यस्मिन्नस्ति ज्ञानेन पुनस्तद्रूपप्रवृत्तिनिवृत्ती अपि तदात्मपरिणतिमत् । द्वा० ६ अष्ट० ।

विषयप्रतिभासाख्य--मात्मपरिणतिमत्तथा ।
तत्त्वसंवेदनं चैव, त्रिधा ज्ञानं प्रकीर्तितम् ॥ २ ॥

तथा-आत्मनः-स्वस्य परिणामः-अर्थानर्थप्रतिभासात्मा विद्यते यत्र तत्, आत्मनो-जीवस्य परिणामः-अनुष्ठानविशेषसंपाद्यो विद्यते यत्रेति येन सम्यक्त्वलाभप्रयोज्यवस्तुविषयतावत्त्वमर्थो लभ्यते । द्वा० ६ द्वा० ।

आत (य) पसंसा--आत्मप्रशंसा--स्त्री० । आत्मस्तुतौ, अष्ट० ।

(आत्मप्रशंसा च न कार्या) आत्मस्वरूपध्यानी सर्वं परम्--अनात्मत्वेन जानाति । सः आत्मवित् प्रशंसां न करोति, तदेवाऽऽह--

गुणैर्यदि न पूर्णोऽसि, कृतमात्मप्रशंसया ।
गुणैरेवाऽसि पूर्णश्चेत्, कृतमात्मप्रशंसया ॥ १ ॥

व्या०--गुणैरिति--' यदि गुणैः ' केवलज्ञानादिभिः पूर्णः न असि तर्हि ' आत्मप्रशंसया ' व्यर्थात्मस्तुत्या ' कृतं ' नाम-अलं निर्गुणात्मनः का प्रशंसा ?, पौद्गलिकोपाधिजा गुणा इति मूढा वदन्ति तैर्न प्रशंसा ' चेद् ' यदि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतपोरूपैः साधनगुणैः क्षायिकज्ञानदर्शनचारित्ररूपैः सिद्धगुणैः पूर्णः तर्हि वाचकात्मकप्रशंसया कृतम्; अलमित्यर्थः, प्राग्भाविता गुणाः स्वत एव प्रकटीभवन्ति नेक्षुयष्टिः पलालावृता चिरकालं तिष्ठति इति का स्वमुखात्स्वगुणप्रशंसना ।

पुनर्व्यवहारेण दर्शयति--

श्रेयोद्रुमस्य मूलानि, स्वोत्कर्षाम्भःप्रवाहतः ।
पुण्यानि प्रकटीकुर्वन्, फलं किं समवाप्स्यसि ? ॥ २ ॥

व्या०--' श्रेयोद्रुम ' इति-भो भद्र ? ' पुण्यानि ' पवित्राणि ' श्रेयोद्रुमस्य मूलानि ' कल्याणवृक्षस्य मूलानि ' स्वोत्कर्षाम्भःप्रवाहतः ' स्वस्य उत्कर्षः-औत्सुक्यं स एव अम्भःप्रवाहः तस्मात् ' प्रकटीकुर्वन् ' व्यक्तं कुर्वन्, किं फलं समवाप्स्यसि ?; अपि तु नैव, यस्य द्रुमस्य मूलम् उत्खातं तेन फलोत्पत्तिर्न भवति ।

आलम्बिता हिताय स्युः, परैः स्वगुणरश्मयः ।
अहो स्वयं गृहीतास्तु, पातयन्ति भवोदधौ ॥ ३ ॥

व्या०--' आलम्बिता ' इति-' स्वगुणरश्मयः ' आत्मीयगुणरज्जवः ' परैः ' अन्यैः ' आलम्बिताः ' स्मरणचिन्तनेन गृहीताः ' हिताय ' कल्याणाय स्युः, स्वसुखाय भवन्ति, ' अहो ' इति-आश्चर्ये स्वगुणाः स्वयं गृहीता भवोदधौ पातयन्ति, स्वमुखेन स्वगुणोत्कर्षः न कार्यः ।

उच्चत्वदृष्टिदोषोत्थ--स्वोत्कर्षज्वरशान्तिकम् ।
पूर्वपुरुषसिंहेभ्यो, भृशं नीचत्वभावनम् ॥ ४ ॥

व्या०--' उच्चत्वदोष ' इति-अभ्यासात्प्राप्तज्ञानविनयतपोरूपगुणान्तर्ज्वलितमहामोहोदयेन आत्मनि उच्चत्वम् अहं गुणी मया प्राप्तमिदं, ज्ञानं विनयगुणवानहमिति उच्चत्वदृष्टिदोषेण उत्थो यः स्वोत्कर्षः स एव ज्वरः तस्य ' शान्तिकम् ' उपशमकारणं ' पूर्वपुरुषाः ' अर्हदादयः ते एव सिंहाः तेभ्यः ' आत्मन्यूनत्वभावनं ' मानोदयतापनिर्वापणं ज्ञेयम् ।

" धन्नो धन्नो वयरो, सालिभद्दो य थूलभद्दो अ ।
जेहिं विसयकसाया, चत्ता रत्ता गुणे नियए ॥ १ ॥ "

(अस्या गाथाया व्याख्या)-धन्याः पूर्वपुरुषा ये वान्ताश्रवाः--अनादिभुक्तपरभावास्वादनरामणीयकं त्यजन्ति, सदुपदेशज्ञातसत्तासुखप्सया आत्मधर्मश्रवणसुखम् अनुभूयमानाः चक्रिसंपदो विपद इव मन्यन्ते, स्वगुणेषु धन्यः स्थूलभद्रः यो ह्यत्यातुररक्त, कोशा[1]प्रार्थनाऽकम्पितपरिणामस्तु--" अहो स्वयं गृहीतास्तु, पातयन्ति भवोदधौ ॥ ३ ॥
उच्चत्वदृष्टिदोषोत्थः, स्वोत्कर्षज्वरशान्तिकम् ।
पूर्वपुरुषसिंहेभ्यो, भृशं नीचत्वभावनम् ॥ ४ ॥
शरीररूपलावण्य-ग्रामारामधनादिभिः ।

१-कोशानाम्नीवेश्या २ मूलमेव टीकाकारेण संगृहीतम् ।

४६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्कर्षः परपर्यायै-श्चिदानन्दघनस्य कः ॥ ५ ॥"
अहं तु निरर्थककुविकल्पैः चिन्तयामि विषयविशेषोपायान् ।
उक्तं च-"संतेवि कोवि उज्झइ, को वि असंते वि अहिलसइ । भोए चय इयरच्चयेण वि, दट्ठुं पभवेण अह जंबू ॥१॥"
इत्यादिभावनया स्वदोषचिन्तनेन आत्मोत्कर्षपरिणामो निवार्यः ।

शरीररूपलावण्य-ग्रामाऽऽरामधनादिभिः ।
उत्कर्षः परपर्यायै-श्चिदानन्दघनस्य कः ॥ ५ ॥

व्या०-'शरीरे'ति-'चिदानन्दघनस्य' चिद्-ज्ञानम् आनन्दः-सुखं ताभ्यां घनस्य-आत्मनः परपर्यायैः-संयोगसंभवैः पुद्गलसंनिकर्षोद्भवैः क उत्कर्षः-उन्मादः कैरिति शरीराणि-औदारिकादीनि विनाशिस्वभावानि रूपं-संस्थाननिर्माण-वर्णनामकर्मोद्भवं लावण्यं-चातुर्यं सौभाग्यनामोदयनिष्पन्नं वेदादिमोहसंनिकर्षसंभवं ग्रामः-जननिवासलक्षणः, आरामाः-वनोद्यानभूमयः, धनं-गणिमधरिमादि तेषां द्वन्द्वः तैः क उत्कर्षः परत्वात् कर्मबन्धनिबन्धनात् स्वस्वरूपरोधकात् तत्संयोगः निन्द्य एव तर्हि क उत्कर्षः ?, उक्तं च उत्तराध्ययने—

" धणेण किं धम्मधुराहिगारे,
सयणेण वा कामगुणेहिं चेव ।
समणा भविस्सामो गुणोहधारी,
बहिं विहारा अभिगम्म भिक्खुं ॥ १ ॥
न तस्स दुक्खं विभयंति णाइओ,
न मित्तवग्गा न सुआ न बंधवा ।
इक्को सयं पच्चणुहोइ दुक्खं,
कत्तारमेवं अणुजाइ कम्मं" ॥ २ ॥

अतः आत्मगुणानन्दपरिणतानां कर्मोपाधिसंभवे उत्कर्षो न भवति ।

शुद्धाः प्रत्यात्मसाम्येन, पर्यायाः परिभाविताः ।
अशुद्धाश्चाप्रकृष्टत्वात् ,स्वोत्कर्षाय महामुनेः ॥ ६ ॥

व्या०-'शुद्धाः प्रत्यात्म' इति-तथा मुनेः-निर्ग्रन्थस्य पाकोत्कीर्णजात्यकार्त्तस्वरगृहीतात्मस्वरूपस्य शुद्धाः—पर्यायाः सम्यग्ज्ञानचरणध्यानप्राग्भावरूपा आत्मपर्याया न उत्कर्षाय भवन्ति । कथं न भवन्तीत्याह—प्रत्यात्मसाम्येन परिभाविता आत्मानम् आत्मानं प्रति प्रत्यात्म तत्र साम्येन तुल्यत्वेन भाविताः । भावना च किमाधिक्यं मम जातं ?, तेन एते ज्ञानादयो गुणाः सर्वात्मनि सन्त्येव सर्वसाधारणे क उत्कर्षः ? इति भाविताशयः सर्वजीवानां ज्ञानाद्यनन्तपर्यायत्वं तुल्यं सिद्ध-संसारस्थयोः न सत्ताभेदः । उक्तं च संवेगरङ्गशालायाम्—

"नाणाइणंतगुणोवेयं, अरूवमणहं च लोगपरिमाणं ।
कत्ता भोत्ता जीवं, मयहु सिद्धाण तुल्लमिणं ॥ १ ॥"

श्रीपूज्यैश्च-" जीवा गुणपडिवन्ना, न जस्स दव्वट्ठियस्स सामइयं " । तथा ठाणांगे-'एगे आया' (सूत्र-२ । स्था० १ ठा०) इत्यादिपाठात् सर्वत्र तुल्यत्वं आत्मनः सद्गुणप्राकट्ये क उत्कर्षः अशुद्धाः पर्यायाः औदयिकाः शक्रत्वादयः अपकृष्टत्वात् तुच्छत्वाद् दोषत्वाद् गुणघातकत्वज्ञानरमणोपघातत्वात् शोकरोगपुष्टत्वचव उत्कर्षाय भवन्ति, किमेभिः पुद्गलोपचयरूपैः परोपाधिजैः संसर्गैश्च मे कदा निवृत्तिः भव्य इति संवेगनिर्वेदपरिणतानां नोन्माद इति ।

पुनः आत्मानमुपदिशति—

क्षोभं गच्छन्समुद्रोऽपि, स्वोत्कर्षपवनेरितः ।
गुणौघान् बुद्बुदीकृत्य, विनाशयसि किं मुधा ॥ ७ ॥

व्या०-'क्षोभं गच्छन्नि' ति-हे हंस ! स्वतत्त्वजलपूर्णस्वरूपमानसनिवासरसिकः त्वं 'समुद्रोऽपि' मुद्रा-साधुलिङ्गरूपा तया युक्तोऽपि ' स्वोत्कर्षपवनेरितः ' साऽहंकारपवनप्रेरितः क्षोभं गच्छन् अध्यवसायैः चलमेव भवन् गुणौघान् अध्यात्मोत्पन्नान् श्रुतचरव्रतचरलक्षणान् आमर्षौषधिरूपान् बुद्बुदीकृत्य ' मुधा ' व्यर्थं किं विनाशयसि प्राप्तगुणगम्भीरो भव, स्वगुणाः स्वस्यैव हितहेतवः तत्र, किं परदर्शनेन मानोपहतस्य गुणाः तुच्छीभवन्ति, अतो न मानो विधेयः ।

निरपेक्षाऽनवच्छिन्ना-नन्तचिन्मात्रमूर्तयः ।
योगिनो गलितोत्कर्षा-पकर्षानल्पकल्पनाः ॥ ८ ॥

व्या०-' निरपेक्षा ' इति-योगिनो-यमनियमाद्यष्टाङ्गयोगाभ्यासोत्पन्नरत्नत्रयीलक्षणस्वयोगसिद्धा ईदृशा भवन्ति, ' निरपेक्षाः ' निर्गता अपेक्षा-अपेक्षणं येभ्यस्ते निरपेक्षाः अपेक्षारहिता इत्यर्थः । ' अनवच्छिन्ना ' अवच्छेदरहिता । अनन्तचिन्मात्रमूर्त्तयः ' अनन्तं प्रान्तरहितं चिद्-ज्ञानं तन्मात्रा ज्ञानमात्रा मूर्तिः येषां ते अनन्तचिन्मात्रमूर्त्तयः इत्यनेन परभावानुगतचेतनाविकलाः स्वच्छस्वरूपानुगतचिन्तनपरिणताः ' गलितोत्कर्षापकर्षाः ' गलितः उत्कर्षः-उन्मादः अपकर्षः-दीनता तयोः अनल्पाः-कल्पनाः विकल्पजालपटलानि येषां एवंविधा योगिनः ज्ञानपरिणताः ज्ञानैकरसाः तिष्ठन्ति ते एव तत्त्वसाधनचिन्मया इति अतो मानोन्मादजनकः स्वोत्कर्षो निवार्यः । अष्ट० १८ अष्ट० ।

अहाहु से आयरियाण सयंसे,
जो लावएज्जा असणस्स हेऊ ॥ २४ ॥

अथाऽऽचार्यगुणानां शतांऽशे वर्तते शतग्रहणमुपलक्षणं सहस्रांऽशादेरप्यधो वर्तते इति 'यो' ह्यशनस्य हेतुम्-भोजननिमित्तमपरवस्त्रादिनिमित्तं वा आत्मगुणान् परेणालापयेद्-भाणयेत् असावप्याचार्यगुणानां सहस्रांशे वर्त्तते । किमङ्ग ! पुनर्यः स्वत एवाऽऽत्मप्रशंसां विदधातीति । सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

आत (य) प्पओग-आत्मप्रयोग-पुं० । आत्मव्यापारे , " आयप्पओगेणं उववज्जंति, णो परप्पओगेणं उववज्जंति" (सूत्र-६८६४) भ० २० श० १० उ० ।

आत (य) प्पओगणिव्वत्तिय-आत्मप्रयोगनिर्वर्तित-त्रि० । " आयप्पओगणिव्वत्तिए " (सूत्र-४६४ +) । आत्मनः प्रयोगेण-मनःप्रभृतिव्यापारेण निर्वर्तितं निष्पादितं यत्तत्तथा । आत्मना मनःप्रभृतिव्यापारेण निष्पादिते, भ० १६ श० १ उ० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत (य) प्पमाण–आत्मप्रमाण–त्रि० । सार्द्धहस्तत्रय-प्रमाणे, प्रव० २ द्वार ।

आत (य) प्पवाय–आत्मप्रवाद–न० । आत्मानं जीवमनेकधा नयमतभेदेन यत्प्रवदति तदात्मप्रवादम् । नं० । यत्राऽऽत्मा-जीवोऽनेकनयैः प्रोच्यते तदात्मप्रवादम् । स० १४ सम० । आत्माऽनेकधा यत्र नयदर्शनैर्वर्ण्यते तदात्मप्रवादम् । (स० १४७ सूत्रटी०) पूर्वगतश्रुतविशेषे, (स० १४७ सूत्रटी०) तस्य पदप्रमाणं षड्विंशतिपदकोट्यः । नं० । स० ।

आयप्पवायपुव्वस्स णं सोलस१६ वत्थू पण्णत्ता । नं० ।

आत्मप्रवादपूर्वस्य सप्तमस्य । स० १६ सम० ।

आयप्पवायपुव्वं, अहिज्जमाणस्स तीसगुत्तस्स ।
नयमयमयाणमाणस्स, दिट्ठीमोहो समुप्पन्नो ॥२३३५॥

आत्मप्रवादनामकं पूर्वमधीयानस्य । विशे० । (अस्या गाथायाः व्याख्या 'जीवपएसिय' शब्दे चतुर्थभागे १५५४ पृष्ठे वक्ष्यते)

आयप्पवायपुव्वा, निज्जूढा होइ धम्मपन्नत्ती ॥१६+॥

इह आत्मप्रवादपूर्वं-यत्राऽऽत्मनः संसारिमुक्ताद्यनेकभेदभिन्नस्य प्रवदनमिति तस्मान्निर्यूढा भवति धर्मप्रज्ञप्तिः; षड्जीवनिकेत्यर्थः । दश० १ अ० ।

आत (य) प्पियसंबंधणसंयोग–आत्मार्पितसम्बन्धनसंयोग–पुं० । संयोगभेदे, उत्त० १ अ० । (तद्वक्तव्यता 'संजोग' शब्दे सप्तमे भागे वक्ष्यते)

आत (य) बल--आत्मबल--न० । आत्मनो बलम् शक्त्युपचय आत्मबलम् । आत्मनः शक्त्युपचये, आचा० १ श्रु० २ अ०२ उ० । बहुलाधिकारात् । पा वः ॥ ८ । १ । २३१ ॥ अस्य वैकल्पिकत्वात् ।

आत (य) बोध--आत्मबोध--पुं० । आत्मज्ञाने, अष्ट० ।

आत्मबोधो न वः पाशो, देहगेहधनादिकम् ।
यः क्षिप्तोऽप्यात्मना तेषु, स्वस्य बन्धाय जायते ॥ ६ ॥

भो भव्या ! वः-युष्माकम् आत्मबोधः-आत्मज्ञानं न पाशः-न बन्धहेतुः तेषु देहगृहधनादिषु यः आत्मना क्षिप्तः स पाशः-रागपरिणामः स्वस्य-आत्मनः एव बन्धाय जायते इत्यनेन देहगृहादिषु यः रक्तः स सर्वैः भवपाशैर्बध्नाति स्वस्य बन्धहेतुः इत्यनेन परभावा-रागादयः आत्मनो बन्धवृद्धिहेतवः । अष्ट० १४ अष्ट० ।

आत (य) भाव–आत्मभाव–पुं० । अनादिभवाभ्यस्ते मिथ्यात्वादिके विषयगृध्नुतायाम् , " विणइज्ज ओ सव्वउ आयभावं " ॥ २१ + ॥ आत्मभावः-अनादिभवाभ्यस्तो मिथ्यात्वादिकस्तमपनयेत् । यदिवा-आत्मभावो-विषयगृध्नुता, अतस्तमपनयेद् । सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । स्वाभिप्राये च । भ० २ श० ५ उ० ।

आत (य) भाववंकणया–आत्मभाववङ्कनता–स्त्री० । आत्मभावस्याऽप्रशस्तस्य वङ्कनता-वक्रीकरणं प्रशस्ततत्त्वोपदर्शनतात्मभाववङ्कनता । मायाप्रत्ययिकीक्रियाभेदे. वङ्कनानां च बहुत्वविवक्षायां भावप्रत्ययो न विरुद्धः सा च क्रियाव्यापारत्वात् । स्था० २ ठा० १ उ० । " अप्पणो च्चियं भावं गूहति नियडिमंतो उज्जगभावं दरिसेइ संजमादिसिढिलो वा करणफला जो डोमं दरिसेइ । " आव० ४ अ० ।

आत (या) भाववत्तव्वया–आत्मभाववक्तव्यता–स्त्री० । आत्मभाव एव-स्वाभिप्राय एव न वस्तुतत्त्वं वक्तव्यो-वाच्यो ऽभिमानाद् येषां ते आत्मभाववक्तव्यास्तेषां भाव आत्मभाववक्तव्यता । अहंमानितायाम् । भ० २ श० ५ उ० । " सच्चेणं एस अट्ठे नो चेव णं आयभाववत्तव्वयाए " (सूत्र-१११ ×) । नैवात्मभाववक्तव्यतयाऽयमर्थः न वयमहंमानितयैव ब्रूमः; अपि तु-परमार्थ एवायमेवंविधः इति भावना । भ० २ श० ५ उ० ।

आत (य) भू–आत्मभू–पुं० । आत्मनो-मनसो, देहाद्वा भवति, भू-क्विप्-५-त० । मनोभवे कामे, देहभवे पुत्रे, कन्यायाम् , वाच० ।

" नार्य्याः कुत्राऽपि कस्याश्चि-द्दारकौ द्वौ बभूवतुः ।
सपत्नीतनुभूरेको, द्वितीयश्चात्मभूर्द्वयोः " ॥ १ ॥

आ० क० ६ अ० । बुद्धौ च । स्त्री० । आत्मनैव भवति । भू-क्विप् । शिवे, विष्णौ च । वाच० ।

आत (य) रक्ख–आत्मरक्ष–त्रि० । अङ्गरक्षके, औ० । आत्मानं रागद्वेषादेरकृत्योद्भवकूपाद्वा रक्षन्तीत्यात्मरक्षाः । रागद्वेषादेरकृत्याच्चात्मनो रक्षके, स्था० ।

ते च—

तओ आयरक्खा पन्नत्ता, तं जहा-धम्मियाए पडिचोयणाए पडिचोएत्ता भवइ १, तुसिणीए वा सिया २, उट्ठित्तु वा आयाए एगंतमवक्कमेज्जा ३। (सूत्र-१७२ +)

' धम्मियाए पडिचोयणाए ' त्ति-आत्मना एवं धार्मिकोपदेशेन नेदं भवादृशां विधातुमुचितमित्यादिना प्रेरयिता-उपदेष्टा भवतीति अनुकूलेतरोपसर्गकारिणः ततोऽसावुपसर्गकरणान्निवर्तते ततोऽकृत्यासेवा न भवतीत्येवं आत्मा रक्षितो भवतीति १, तूष्णीको वा-वाचंयमः; उपेक्षक इत्यर्थः, स्यादिति २, प्रेरणाया अविषये उपेक्षणासामर्थ्ये च ततः स्थानादुत्थाय ' आय ' त्ति-आत्मना एकान्तम्-विजनम् अन्तं भूमिभागमवक्रामेत्-गच्छेत् । स्था० ३ ठा० ३ उ० । विमानाधिपतेः सूर्याभस्य देवस्यात्मानं रक्षयन्तीत्यात्मरक्षाः । कर्मणोऽण् ॥ ५ । ३ । १४ ॥ इत्यण्प्रत्ययः । रा० । देवविशेषे, रा० । सूर्याभस्य वर्णकमधिकृत्य-" सोलसेहिं आयरक्खदेवसाहस्सीणं " (अस्य सूत्रांशस्य व्याख्या)-षोडशभिरात्मरक्षदेवसहस्रैरिति विमानाधिपतेः सूर्याभस्य देवस्यात्मानं रक्षयन्तीत्यात्मरक्षाः । कर्मणोऽण् । ५ । ३ । १४ । इत्यण्प्रत्ययः । ते च शिरस्त्राणकल्पाः, यथा हि शिरस्त्राणं-शिरस्याविद्धप्राणरक्षकं भवति तथा तेऽप्यात्मरक्षका गृहीतधनुर्दण्डादिप्रहरणाः समन्ततः सप्तानीकाधिपतेरग्रतश्चावस्थायिनो विमानाधिपतेः सूर्याभस्य देवस्य प्राणरक्षकाः । देवानामपायाभावात् तेषां तथाग्रहणपुरस्सरमवस्थानं निरर्थकमिति चेतराणां स्थितिमात्रपरिपालनहेतुत्वात् प्रीतिप्रकर्षहेतुत्वाच्च, तथा हि-ते समन्ततः-सर्वासु दिक्षु गृहीतप्रहरणा ऊर्ध्वस्थिता अवतिष्ठमानाः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वनायकशरीररक्षणपरायणाः स्वनायकैकनिषण्णहृदयः परेषामसहमानानां क्षोभमुत्पादयन्ति-जनयन्ति स्वनायकस्य परां प्रीतिम्। रा० ।

(तथा च)-

चमरस्स णं भंते ! असुरिंदस्स असुररणो कइ आयरक्खदेवसहस्सीओ पण्णत्ताओ ?, गोयमा ! चत्तारि चउसट्ठीओ आयरक्खदेवसाहस्सीओ पण्णत्ताओ, एए णं आयरक्खवण्णओ । एवं सव्वेसिं इंदाणं जस्स जत्तिया आयरक्खा ते भाणियव्वा । (१६४ +)

'वण्णओ' त्ति-आत्मरक्षदेवानां वर्णको वाच्यः, स चायम्- " सन्नद्धबद्धवम्मियकवया उप्पीलियसरासणपट्टिया पिणद्धगेवेज्जा बद्धआविद्धविमलवरचिंधपट्टा गहियाउहपहरणा तिणयाइं तिसंधियाइं वइरामयकोडीणि धणूइं अभिगिज्झ पयओ परमाइयकंडकलावा नीलपाणिणो पीयपाणिणो रत्तपाणिणो एवं चारुचावचम्मदंडखग्गपासपाणिणो नीलपीयरत्तचारुचावचम्मदंडखग्गपासवरधरा आयरक्खा रक्खोवगया गुत्ता गुत्तपालिया जुत्ता जुत्तपालिया पत्तेयं पत्तेयं समयओ विणयओ किंकरभूया इव चिट्ठंति " त्ति, अस्यायमर्थः--संनद्धा-सन्नहनिकया कृतसन्नाहाः बद्धः कशाबन्धनतः वर्मितश्च वर्मीकृतः शरीरारोपणतः कवचः कङ्कटो यैस्ते तथा, ततः सन्नद्धशब्देन कर्मधारयः । तथा उत्पीडिता प्रत्यञ्चाऽऽरोपणेन शरासनपट्टिका धनुर्यष्टिर्यैस्ते तथा, अथ वा—उत्पीडिता बाहौ बद्धा शरासनपट्टिका धनुर्यष्टिर्यैस्ते तथा । पिनद्धं परिहितं ग्रैवेयकं ग्रीवाभरणं यैस्ते तथा, तथा बद्धो ग्रन्थिदानेन आविद्धश्च शिरस्यारोपणेन विमलो वरश्च चिह्नपट्टो योधतासूचको नेत्रादिवस्त्ररूपः सौवर्णो वा पट्टो यैस्ते तथा, तथा गृहीतान्यायुधानि प्रहरणाय यैस्ते तथा, अथ वा-गृहीतान्यायुधानि क्षेप्यास्त्राणि प्रहरणानि च यैस्ते तथा, तथा त्रिनतानि मध्यपार्श्वद्वयलक्षणस्थानत्रयेऽवनतानि त्रिसन्धितानि त्रिषु स्थानेषु कृतसन्धिकानि; नैकाङ्किकानीत्यर्थः । वज्रमयकोटीनि धनूंष्यभिगृह्य वदतः पदे मुष्टिस्थाने तिष्ठन्तीति सम्बन्धः । परिमात्रिकः सर्वतो मात्रावान् काण्डकलापो येषां ते तथा । नीलपाणय इत्यादिषु नीलादिवर्णयुक्तत्वान्नीलादयो बाणभेदाः सम्भाव्यन्ते । चारुचापपाणय इत्यत्र च चापं-धनुरेवानारोपितज्यमतो न पुनरुक्तता, चर्मपाणय इत्यत्र चर्मशब्देन स्फुरक उच्यते, दण्डादयः प्रतीताः, उक्तमेवार्थं संग्रहणेनाह-'नीलपीए' त्यादि अथ वा-नीलादीन् सर्वानेव युगपत्कैश्चिद्धारयन्ति देवशक्तेरिति दर्शयन्नाह-'नीलपीए'त्यादि, ते चात्मरक्षा न संज्ञामात्रेणैवेत्याह आत्मरक्षाः; स्वाम्यात्मरक्षा इत्यर्थः, त एव विशेष्यन्ते रक्षोपगता रक्षामुपगताः; सततं प्रयुक्तरक्षा इत्यर्थः । एतदेव कथमित्याह—गुप्ताः अभेदवृत्तयः, तथा-गुप्तपालीकाः तदन्यतो व्यावृत्तमनोवृत्तिकाः मण्डलीका, युक्ताः परस्परसम्बद्धाः, युक्तपालीकाः निरन्तरमण्डलीकाः, प्रत्येकमेकैकशः समयतः पदातिसमाचारेण विनयतो-विनयेन किंकरभूता इव-प्रेष्यत्वं प्राप्ता इवेति, अयं च पुस्तकान्तरे साक्षाद् दृश्यत एवेति । ' एवं सव्वेसिमिंदाणं ति-'एवमि'ति-चरमवत्सर्वेषामिन्द्राणां सामानिकचतुर्गुणा आत्मरक्षा वाच्याः, ते चार्थत एवम्-सर्वेषामिन्द्राणां सामानिकचतुर्गुणा आत्मरक्षाः, तत्र चतुःषष्टिसहस्राणि चमरस्येन्द्रसामानिकानाम्, बलेस्तु षष्टिः, शेषभवनपतीन्द्राणां प्रत्येकं षट् षट् सहस्राणि, शक्रस्य चतुरशीतिः, ईशानस्याऽशीतिः सनत्कुमारस्य द्विसप्ततिः, माहेन्द्रस्य सप्ततिः, ब्रह्मणः षष्टिः, लान्तकस्य पञ्चाशत्, शुक्रस्य चत्वारिंशत्, सहस्रारस्य त्रिंशत्, प्राणतस्य विंशतिः, अच्युतस्य दशसहस्राणि सामानिकानामिति, यदाह—

" चउसट्ठी सट्ठी खलु, छच्च सहस्सा उ असुरवज्जाण ।
सामाणिया उ एए, चउग्गुणा आयरक्खाउ ॥ १ ॥
चउरासीइ असीई, बावत्तरि सत्तरी य सट्ठी य ।
पन्ना चत्तालीसा, तीसा वीसा दससहस्सा" ॥ २ ॥ इति । भ० ३ श० ६ उ० ।

आत [य] रक्खि [न्]-आत्मरक्षिन्–त्रि० । आत्मानं रक्षत्यपायेभ्यः—कुगतिगमनादिभ्य इत्येवंशीलः आत्मरक्षी । कुगतिगमनादिभ्य आत्मनो रक्षणशील,, उत्त०पाइ० ४ अ०। " अप्पाणरक्खी चरमप्पमत्तो " ॥ १०+ ॥ उत्त० ४ अ० ।

आत (य) रक्खिय-आत्मरक्षित–त्रि० । आत्माऽपायेभ्यो-दुर्गतिगमनादिभ्यो रक्षितो येन स तथा । दुर्गतिगमनहेतुनिबन्धनात्सावद्यानुष्ठानान्निवृत्त, सूत्र० । " आयपरक्कम आयरक्खिए " (सूत्र० ४२ +) । दुर्गतिगमनहेतुनिबन्धनस्य सावद्यानुष्ठानस्य निवृत्तत्वाद् । सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

अरइं पिट्ठओ किच्चा, विरए आयरक्खिए ॥ १५ × ॥

आत्मरक्षितो दुर्गतिहेतोरपध्यानादेरनेनेत्यात्मरक्षितः । आहिताग्न्यादिषु ॥३।१।१५३॥ दर्शनात् क्तान्तस्य परनिपातः (हैम व्याकरण सूत्रेण) उत्त० २ अ० ।

आत (य) वं-आत्मवत्–त्रि० । " आयवं " (सूत्र-१० ×) । आत्मा ज्ञानादिकोऽस्यास्तीत्यात्मवान् । ज्ञानादिमति, आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

आत्मा-चित्तं वश्यतयाऽस्त्यस्य मतुप् । मस्य वः स्त्रियां ङीप् । वश्यचित्ते, निर्विकारचित्ते च । आत्मा प्रकाश्यतया विद्यतेऽस्य आत्मप्रकाशके शास्त्रे, आत्मना तुल्यक्रियावति, आत्मतुल्यक्रियायाम् , अव्य० । वाच० ।

आतव-आतप–पुं० । आ-समन्तात्तपति संतापयति जगदित्यातपः । उत्त० १ अ० । आ-तप*घ । उद्योते, कर्म० २ कर्म० । स चोद्योतो यद्यपि लोके भेदेन प्रसिद्धो-यथा, सूर्यगत आतपः, चन्द्रगतः प्रकाश इति । तथाप्यातपशब्दः चन्द्रप्रभायामपि वर्त्तते, यदुक्तम्-" चन्द्रिका कौमुदी ज्योत्स्ना, तथा चन्द्रातपः स्मृतः " ॥ १ ॥ इति । सू० प्र० ३ पाहु० । "आतवाइ वा" (सूत्र-६५×) आतप इति वा । आतप आदित्यस्येति । स्था० २ ठा० ४ उ० । घर्मे, उत्त० २ अ० । "आयवताणनिमित्तं" ॥ ६६× ॥ उष्णेन परितापना । व्य० ८ उ० । आतप्यते-पीड्यते शरीरमनेनेत्यातपः । तृणपाषाणादौ, " आयवस्स निवाएणं, अउला हवइ वेयणा " ॥ ३५× ॥ उत्त० २ अ० । निविडकिरणे, रौद्रे च प्रकाशे, वाच० । स्वनामख्याते अहोरात्रभवे चतुर्विंशतितमे मुहूर्ते च । स०३० सम०। चं० प्र०। *पा० वा०।८।१।२३१। इतिपरस्यवः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आतवणाम (न्)-आतपनामन्-न० नामकर्मभेदे, आ०। यदुदयादातपवान् भवति। पृथिवीकाये, आदित्यमण्डलादिवत्। आ० । यदुदयाज्जन्तुशरीराणि स्वरूपेणानुष्णान्यपि उष्णप्रकाशलक्षणमातपं कुर्वन्ति तदातपनाम । तद्विपाकश्च भानुमण्डलगतभूकायिकेष्वेव, न वह्नौ, प्रवचनप्रतिषेधात्; तत्रोष्णत्वमुष्णस्पर्शनामोदयात् , उत्कटलोहितवर्णनामोदयाच्च प्रकाशकत्वमिति । पं० सं० ३ द्वार । यदुदयवशाज्जन्तुशरीराणि भानुमण्डलगतपृथ्वीकायिकरूपाणि स्वरूपेणानुष्णान्यपि उष्णप्रकाशलक्षणमातपं कुर्वन्ति तदातपनाम । आतपनामोदयश्च वह्निशरीरे न भवति सूत्रे प्रतिषेधात् । तत्रोष्णत्वमुष्णस्पर्शनामोदयात् । उत्कटलोहितवर्णनामोदयाच्च प्रकाशकत्वम् । कर्म० ६ कर्म० ।

रविबिंबे उ जियंगं, तावजुयं आयवाउ न उ जलणे ।
जमुसिणफासस्स तहिं, लोहियवण्णस्स उदउ त्ति ॥४४॥

आतपाद्-आतपनामोदयाज्जीवानामङ्ग-शरीरम् तापयुतं स्वयमनुष्णमपि उष्णप्रकाशयुक्तं भवति । आतपस्य पुनरुदयो रविबिम्ब एव। तुशब्द एवकारार्थः । भानुमण्डलादिपार्थिवशरीरेष्वेव; न पुनर्ज्वलने-हुतभुजि । अत्र युक्तिमाह-यद्-यस्मात्कारणात् तत्र-ज्वलने-ज्वलनजन्तुशरीरे; तेजस्कायशरीरे इत्यर्थः, उष्णस्पर्शस्योदयः, तथा-'लोहितवर्णस्योदय' इति-तेजस्कायशरीराण्येवोष्णस्पर्शोदयेनोष्णानि, लोहितवर्णनामोदयात्तु प्रकाशयुक्तानि भवन्ति, न त्वातपोदयादिति भावः । तदुदयाज्जन्तुशरीराण्यात्मनानुष्णान्यप्युष्णप्रकाशरूपमातपं कुर्वन्ति, तदातपनामेत्यर्थः। कर्म० १ कर्म० ।

आत(य)वणिवाय-आतपनिपात-पुं० । आतपस्य-घर्मस्य नितरां पातो निपातः । घर्मस्य नितरान्पाते, उत्त० ।

आयवस्स निवाएणं, अउला हवइ वेयणा ॥ ३५× ॥

आतपस्य निपातेन-घर्मस्य संयोगेन अतुला वेदना भवति, तापशीतवर्षावातादिपीडाऽस्माभिः सोढुं न शक्यते। अथ वा-आतप्यते-पीड्यते शरीरमनेनेत्यातपः तृणपाषाणादिरप्युच्यते तस्य संगेनास्मच्छरीरे महती वेदना भवति । उत्त० २ अ० ।

आत (य) वतत्त-आतपतप्त--त्रि० । घर्मतप्ते, " आतवतत्ते वहे अहव " ॥ २०१ × ॥ आयवतत्तं अप्पोदगं अवहं घेप्पंति । असइ आयवतत्तं वहं घिप्पति । नि० चू०१ उ० ।

आत (य) वं (त्)--आतपवत्--त्रि० । आतपोऽस्त्यत्र मतुप् । मस्य वः । आतपयुक्ते, " शृङ्गाणि यस्यातपवन्ति सिद्धाः " वाच० । अहोरात्रभवे स्वनामख्याते चतुर्विंशे मुहूर्ते, जं० ७ वक्ष० । कल्प० ।

आत (य) वाल-आत्मपाल--त्रि० । आत्मानमेव पालयतीत्यात्मपालः । आत्मनः पालके, आ० १ श्रु० १ अ० ।

आतवालोय-आतपालोक--पुं०। हुतवहतापदर्शने, आ०।"आतवालोयमहंततुंबइयपुण्णकरणे " (सूत्र-२७ ×) । आ० १ श्रु० १ अ० ।

आत (य) वस-आत्मवश-त्रि० । आत्मनो वशः-आयत्तता यत्र । आत्माधीने, " यद्यदात्मवशं तु स्यात्तत्तत्सेवेत यत्नतः । सर्वं परवशं दुःखं, सर्वमात्मवशं सुखम् " ॥१॥ मनु० । वाच० ।

सव्वत्थेसु विमुत्तो, साहू सव्वत्थ होइ अप्पवसो ।६८+।

सर्वार्थेषु विमुक्तः-सर्वपदार्थेषु ममतारहितः साधुः-मोक्षसाधकः सर्वत्रात्मवशो भवति; न कुत्रापि परवशः । ग० २ अधि० ।

आत (य) वायपत्त-आत्मवादप्राप्त-त्रि० । आत्मन उपयोगलक्षणस्य जीवस्यासंख्येयप्रदेशात्मकस्य संकोचविकाशभाजः स्वकृतफलभुजः प्रत्येकसाधारणतया व्यवस्थितस्य द्रव्यपर्यायतया नित्यानित्याद्यनन्तधर्मात्मकस्य वा वाद आत्मवादस्तं प्राप्त आत्मवादप्राप्तः । सम्यग् यथावस्थितात्मस्वतत्त्ववेदिनि , सूत्र० । " आयवायपत्ते विऊ " (सूत्र० ४ ×) । सूत्र० १ श्रु० १६ अ० ।

आत (य) वि (दु)-आत्मविद्-त्रि० । पाठान्तरे-" आयवी " (सूत्र-१०७ ×) । आत्मानं श्वभ्रादिपतनरक्षणद्वारेण वेत्तीत्यात्मवित् । आत्मनो रक्षके, आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । आत्मानं यथार्थरूपेण वेत्ति, विद्—क्विप्—६ त० । आत्मस्वरूपज्ञे, आत्मानं स्वपक्षं वेत्ति क्विप् । स्वपक्षज्ञातरि, । वाच० ।

आत (य) वीरिय-आत्मवीर्य-न० । वीर्यभेदे, नि० चू० । आयविरियं दुविहं—विओगायवीरियं च, अविओगायवीरियं च । विओगायवीरियं जहा—संसारावत्थस्स जीवस्स मणमादिजोगा वियोगजा भवन्ति, अविओगाऽऽयवीरियं पुण-उवओगो असंखेज्जा पप्प एसत्तणं । नि० चू० १ उ० ।

आत (य) विसोहि-आत्मविशुद्धि-स्त्री० । उत्कालिकश्रुतविशेषे, नं० । आत्मनो-जीवस्यालोचना प्रायश्चित्तप्रतिपत्तिप्रभृतिप्रकारेण विशुद्धिः कर्मविगमनलक्षणा प्रतिपाद्यते यस्यां ग्रन्थपद्धतौ सा आत्मविशुद्धिः । नं० । आत्मनो जीवस्यालोचनादिप्रायश्चित्तप्रतिपत्त्यादिप्रकारेण विशुद्धिः कर्मविगमनलक्षणा प्रतिपाद्यते यत्र तदध्ययनमात्मविशुद्धिः । पा० ।

आत (य) वेयावच्चकर-आत्मवैयावृत्त्यकर-त्रि० । अलसे, विसम्भोगिके च । स्था० ।

आयवेयावच्चकरे नाममेगे, णो परवेया वच्चकरे ।
(सूत्र-३२०×)

आत्मवैयावृत्त्यकरः-अलसो, विसम्भोगिको वा । स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

आतसंचेयणिज्ज-आत्मसंचेतनीय-पुं० । आत्मना संचेत्यन्ते क्रियन्त इत्यात्मसंचेतनीयाः । स्था० ४ ठा० ४ उ० । उपसर्गभेदे, स्था० ४ ठा० ४ उ० । (अस्य भेदोदाहरणादिवक्तव्यता 'उवसग्ग' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते)

आत (य) संजम-आत्मसंयम-पुं० । आत्मनः—शरीरस्य संयमः । संवृताङ्गोपाङ्गेन्द्रियत्वे, पा० । आत्मनो—मनसः संयमः । चित्तसंयमने, वाच० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत (य) संयमपर–आत्मसंयमपर–त्रि० । आत्मनः–शरीरस्य संयमः संवृताङ्गोपाङ्गेन्द्रियत्वम् तत्परं–तत्प्रधानम् । संवृताङ्गोपाङ्गेन्द्रियत्वप्रधाने, पो० ६ विव० ।

आत (य)संयमोवाय–आत्मसंयमोपाय–पुं० । संयमनं संयम आत्मनः संयम आत्मसंयमस्तदुपायः । आत्मसंयमनोपाये, दश० । उक्तं च—" तस्यात्मा संयतो यो हि, सदाचारे रतस्सदा । स एव धृतिमान् धर्म–स्तस्यैव च जिनो हितः " ॥ १ ॥ इति । दश० १ अ० ।

आत(य)संवेयण–आत्मसंवेदन–न० । द्रव्योपसर्गभेदे, सूत्र० । तथा च उपसर्गमधिकृत्य—

दव्वे चउव्विहो दे–वमणुयतिरियायसंवेतो ॥ ४७ ॥

आत्मसंवेदना अपि चतुर्विधा, तद्यथा–घट्टनातः, लेशनातः, अङ्गुलाद्यवयवसंश्लेषरूपाया स्तम्भनातः, प्रपाताच्च । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

आत (य) संवेयणिज्ज–आत्मसंवेदनीय–पुं० । आत्मना क्रियन्त इत्यात्मसंवेदनीयाः । द्रव्योपसर्गभेदे, आ० चू० १ अ० । (एतस्य भेदादिबहुवक्तव्यता 'उवसग्ग' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते) ।

आत(य) सक्खि (न्)–आत्मसाक्षिन्–त्रि० । आत्मनः बुद्धिवृत्तेः साक्षी–प्रकाशकः वेदान्तादिमतसिद्धे बुद्धिवृद्धिप्रकाशके चैतन्ये, वाच० । आत्मा–स्वजीवः स्वस्वसंचितप्रत्यक्षविरतिपरिणामपरिणतः साक्षी यत्र तदात्मसाक्षिकम् । स्वजीवसाक्षिके, पा० ।

आत (य) (अप्प)सत्तम–आत्मसप्तम–त्रि० । आत्मना सप्तमः–सप्तानां पूरण आत्मा वा सप्तमो यस्यासावात्मसप्तमः । सप्तानां पूरण आत्मा यस्य । तस्मिन् , स्था० । " मल्लीसं अरहा अप्पसत्तमे मुंडे भवित्ता " (सूत्र–५६४+) स्था० ७ ठा० ३ उ० ।

आत(य)समप्पण–आत्मसमर्पण–न० । आत्मनिवेदने, पञ्चा० ।

गुरवे चात्मनिवेदनं महते फलाय—

अह तिपयाहिणपुव्वं, सम्मं सुद्धेण चित्तरयणेण ।
गुरुणोऽणुवेयणं स–व्वहेव दढमप्पणा एत्थ ॥ २६ ॥

अथ तदात्मनिवेदनं गुरुः प्रतिपद्यते न वा, यदि न प्रतिपद्यते तदा न युक्तं निष्फलत्वात्तस्येत्याशङ्कां परिहरन्नाह–

एसा खलु गुरुभत्ती, उक्कोसो एस दाणधम्मो उ ।
भावविसुद्धीएँ दढं, इहरा वि य बीयमेयस्स ॥ ३० ॥

कथमिदं भावविशुद्ध्याभावपूर्वकमात्मनिवेदनमुत्कृष्टदानधर्मबीजं भवतीत्याह—

जं उत्तमचरियमिणं, सोउं पि अणुत्तमाण पारे त्ति ।
ता एयमगामाओ, उक्कोसो होइ एयस्स ॥ ३१ ॥

अथ यदि तदात्मनिवेदनं गुरुः प्रतिपद्यते तदाऽधिकरणदोषो गुरोः स्यादित्याशङ्कां परिहरन्नाह—

गुरुणो वि णाऽहिगरणं, ममत्तरहियस्स एत्थ वत्थुम्मि ।
तब्भवसुद्धिहेउं, आणाएँ पयत्तमाणस्स ॥ ३२ ॥

पञ्चा० २ विव० ।

(एतासां गाथानां व्याख्या ' पवज्जा ' शब्दे पञ्चमेभागे करिष्यते ।)

आत(य)समया–आत्मसमता–स्त्री० । आत्मौपम्ये, आचा० ।

सर्वत्रात्मौपम्यं समाचरेदित्याह—

आतवो बहिया पास, तम्हा ण हंता ण विघायए ।
(सूत्र–११५×) ।

यथा ह्यात्मनः सुखमिष्टमितरत्त्वन्यथा तथा बहिरपि–आत्मनो व्यतिरिक्तानामपि जन्तूनां सुखप्रियत्वमसुखाप्रियत्वं च पश्य–अव धारय, तदेवमात्मसमतां सर्वप्राणिनामवधार्य किं कर्तव्यमित्याह–' तम्हा ' इत्यादि । यस्मात्सर्वेऽपि जन्तवो दुःखद्विषः सुखलिप्सवस्तस्मात्तेषां न हन्ता–न व्यापादकः स्यात् , नाप्यपरैस्तान् जन्तून् विविधैर्नानाप्रकारैरुपायैर्घातयेत्–विघातयेदिति । आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

आत (य) समोयार–आत्मसमवतार–पुं० । ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तद्रव्यसमवतारभेदे, अनु० ।

सव्वदव्वा वि णं आयसमोआरेणं आयभावे समोअरंति । (सूत्र–१५३+)

ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तो द्रव्यसमवतारस्त्रिविधः प्रज्ञप्तः, तद्यथा–आत्मसमवतार इत्यादि । तत्र सर्वद्रव्याण्यप्यात्मसमवतारेण चिन्त्यमानान्यात्मभावे—स्वकीयस्वरूपे समवतरन्ति—वर्तन्ते तदव्यतिरिक्तत्वात्तेषाम् । अनु० । (अत्र बहुवक्तव्यता ' समोयार ' शब्दे सप्तमे भागे करिष्यते)

आत (य) सरीरखेत्तोगाढ–आत्मशरीरक्षेत्रावगाढ–त्रि० । स्वशरीरक्षेत्रव्यवस्थिते, भ० । "आयसरीरखेत्तोगाढे पोग्गले अत्तमायाए आहारेन्ति " (सूत्र–२५८+) । स्वशरीरे व्यवस्थितानित्यर्थः । भ० ६ श० १० उ० ।

आत (य) साय–आत्मसात–न० । आत्मसुखे, सूत्र० । " भूताइँ जे हिंसति आयसाते ॥५॥ " अभूवन् भवन्ति भविष्यन्तीति भूतानि–प्राणिनस्तानि आत्मसुखार्थं हिनस्ति–व्यापादयति । सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

आत (य) सायाणुगामि (न्)–आत्मसातानुगामिन्–पुं० । स्वसुखलिप्सौ, सूत्र० ।

हंता छेत्ता पगब्भित्ता, आयसायाणुगामिणो ॥ ५ ॥

आत्मसातानुगामिनः–स्वसुखलिप्सवः । सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

आत(य)सुह–आत्मसुख–न० । शरीरसुखे, सूत्र० । " आयसुहं पडुच्च " ॥ ४ + ॥ आत्मसुखप्रतीत्य–स्वस्य शरीरसुखकृते । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । जे छिंदंति आयसुहं पडुच्च ॥ ८ × ॥ सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । जीवसुखे, द्रव्या० ।

अर्हत्क्रमाऽम्भोजयुगोपयोगि,
चेतः कुरुष्वाऽऽत्मसुखं लभस्व ॥ ७ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्मनो-जीवस्य सुखं-निराबाधानुभवं लभस्व-प्राप्नुहि नयज्ञानात् जीवादीन् परीक्ष्य कर्मभ्य आत्मानं वियोज्याऽनन्तसुखभाक् भव इत्यर्थः । द्रव्या० ८ अध्या० । आत्मैव सुखमस्य आत्मलाभमात्रेण सुखिनि, त्रि० । आत्मैव सुखं सच्चिदानन्दरूपत्वात् । आत्मरूपे परमानन्दे, न० । वाच० ।

आत (य) सोहि–आत्मशुद्धि–स्त्री० । आत्मनो-देहस्य, मनसो वा शुद्धिः । देहशुद्धौ, चित्तशुद्धौ च । वाच० । कर्मक्षयोपशमक्षये च । " आयय‍जोगमायसोहीए " ॥ १४४ ॥ आत्मशुध्या-कर्मक्षयोपशमक्षयलक्षणयाऽऽयतयोगं-सुप्रणिहितमनोवाक्कायात्मकं विधाय । आचा० १ श्रु० ८ अ० ४ उ० ।

आत (य) हित–आत्महित–त्रि० । स्वहिते, सूत्र० । "आयहियाए सन्निसेज्जाओ" ॥१६४॥ आत्महिताय स्वहितं मन्यमानाः । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । शरीराय हिते, " आयट्ठीणं आयहिताणं " (सूत्र-१+॥) आत्महितानां हितमिव हितम् आत्महितं च शरीरे आत्मनि च भवति । तत्र शरीरे हिताऽहितं पथ्याऽपथ्याहारादिकम् । आत्मनि तु हिंसादिप्रवृत्तिनिवृत्ती । अथवा-आत्मनो हितानि त्रीणि त्रिषष्ठानि पाखण्डिकशतानि तदपनयनं तद्धितं येषां ते आत्महिताः । दशा० ५ अ० । अहिताचाराश्च चौरादयः, अयं त्वात्महित ऐहिकामुष्मिकापायभीरुत्वाद् । सूत्र० २ श्रु० २ अ० । "आयहिए अणियाणसंवुडे" (सूत्र-२०१)। सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

आयहेउ–आत्महेतु–पुं० । आत्मनिमित्ते, दश० । "आयहेउ परउभये" ॥३३६+॥ आत्महेतोः-आत्मनिमित्तम् । दश० १० अ० । "केइ पुरिसे आयहेउं वा णाइहेउं वा" (सूत्र-१७+) । आत्मनिमित्तम्-आत्मार्थम् । सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

आता (अप्पा)–स्त्री० । आत्मन्–पुं० । अत-मनिण् । स्वरूपे, वाच० । भ० । भस्माऽऽत्मनोः पो वा ॥८।२।५१॥ इति हैमप्राकृतसूत्रेण भस्माऽऽत्मनोः संयुक्तस्य पो वा । अप्पा । अप्पाणो । पक्षे-अत्ता । प्रा० । पुंस्यन आणो राजवच्च ॥ ८ । ३ । ५६ ॥ इति हैमप्राकृतसूत्रेण पुंलिङ्गे वर्त्तमानस्याऽन्तस्य स्थाने आण इत्यादेशो वा भवति । पक्षे यथादर्शनं राजवत् च कार्यं भवति । आणादेशे च-" अतः सेर्डोः " ॥ ८ । ३ । २ ॥ इत्यादयः प्रवर्तन्ते । पक्षे तु-राजवत्-अप्प शस् । जस्शस्ङसिङसां णो ॥ ८ । ३ । ५० ॥ टो णा ॥ ८ । ३ । ५१ ॥ इणममामा ॥ ८ । ३ । ५३ ॥ इति प्रवर्तन्ते । अप्पाणो । अप्पाणा, प्रथमा । अप्पाणं । अप्पाणे, द्वितीया । अप्पाणेण । अप्पाणेहिं, तृतीया । अप्पाणाओ । अप्पाणासुन्तो, पञ्चमी । अप्पाणस्स । अप्पाणाण, षष्ठी । अप्पाणम्मि । अप्पाणेसु, सप्तमी । अप्पाण कयं । पक्षे राजवत् । अप्पा । अप्पो प्रथ० । हे अप्पा ! । हे अप्प !, संबोधनम् । अप्पाणो चिट्ठंति । अप्पाणो पेच्छ । अप्पाणा, अप्पेहिं । अप्पाणो । अप्पाओ । अप्पाउ । अप्पाहि । अप्पाहिन्तो । अप्पा । अप्पासुन्तो । अप्पाणो धणं । अप्पाणं । अप्पे । अप्पेसु । प्रा० । " आत्मनष्टो णिआ णइआ " ॥ ८ । ३ । ५७ ॥ आत्मनः परस्याष्टायाः स्थाने णिआ णइआ इत्यादेशौ वा भवतः । अप्पणिआ पाउसे उवगअम्मि । अप्पणिआ अविअड्डिखाणिआ। अप्पणइआ । पक्षे-अप्पाणेण । प्रा० । यत्ने, वाच० । स्वस्मिन् , " आयाए एगंतमंतं अवक्कमंति " (सूत्र-१४२ +) । ' आयाए ' त्ति—आत्मना, स्वयमित्यर्थः । भ० ३ श० २ उ० ।

दोहिं ठाणेहिं आया सरीरं फुसित्ता णं णिज्जाति, तं जहा-देसेण वि आया सरीरं फुसित्ता णं णिज्जाति, सव्वेण वि आया सरीरगं फुसित्ता णं णिज्जाति, एवं फुरित्ता णं, एवं फुडित्ता, एवं संवट्टित्ता, निव्वट्टित्ता । (सूत्र-६७)

' दोहिं ' इत्यादिकं कण्ठ्यम् । नवरं द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां ' देसेण वि ' त्ति-देशेनापि कतिपयप्रदेशलक्षणेन केषांचित्प्रदेशा वा इलिकागत्योत्पादस्थानं गच्छता जीवेन शरीराद्-बहिः क्षिप्तत्वात् , आत्मा-जीवः, शरीरम्-देहं स्पृष्ट्वा-श्लिष्ट्वा निर्याति शरीरान्मरणकाले निस्सरतीति, ' सव्वेण वि ' त्ति-सर्वेण-सर्वात्मना सर्वैर्जीवप्रदेशैः कन्दुकगत्योत्पादस्थानं गच्छता शरीराद् बहिःप्रदेशानामक्षिप्तत्वादिति । अथवा-देशेनाऽपि-देशतोऽपि अपिशब्दः सर्वेणापीत्यपेक्षः । आत्मा-शरीरं कोऽर्थः ? शरीरदेशं-पादादिकं स्पृष्ट्वा अवयवान्तरेभ्यः प्रदेशसंहारान्निर्याति, स च संसारी । सर्वेणापि-सर्वतयाऽपि, अपिः देशेनापीत्यपेक्षः सर्वमपि शरीरं स्पृष्ट्वा निर्यातीति भावः, स च सिद्धो, वक्ष्यति च-" पायणिज्जाणा निरएसु उववज्जंती " त्यादि, यावत्-" सव्वंगनिज्जाणा सिद्धेसु " त्ति । आत्मना शरीरस्य स्पर्शने सति स्फुरणं भवतीति, इत्यत उच्यते-'एवमि' त्यादि, 'एवमि' ति 'दोहिं ठाणेहिं ' इत्याद्यभिलापसंसूचनार्थः, तत्र देशेनापि कियद्भिरप्यात्मप्रदेशैरिलिकागतिकाले ' सव्वेण वि ' त्ति सर्वैरपि गेन्दुकगतिकाले शरीरम् । ' फुरित्ता णं ' ति-स्फोरयित्वा सस्पन्दं कृत्वा निर्याति, अथवा-शरीरकं देशतः; शरीरदेशमित्यर्थः, स्फोरयित्वा पादादिनिर्याणकाले सर्वतः शरीरं स्फोरयित्वा सर्वाङ्गनिर्याणावसर इति । स्फुरणाच्च सात्मकत्वं स्फुटं भवतीत्याह-' एवमि ' त्यादि-' एवमि ' तितथैव देशेनात्मदेशेन शरीरकम् ' फुडित्ता णं ' ति-सचेतनतया स्फुरणलिङ्गतः स्फुटं कृत्वा इलिकागतौ सर्वेण-सर्वात्मना स्फुटं कृत्वा गेन्दुकगताविति, अथवा-शरीरकं देशतः सात्मकतया स्फुटं कृत्वा पादादिना निर्याणकाले सर्वतः सर्वाङ्गनिर्याणप्रस्ताव इति, अथवा-'फुडित्ता' स्फोटयित्वा विशीर्णं कृत्वा तत्र देशतोऽक्ष्यादिविघातेन, सर्वतः सर्वविशरणेन देवदीपादिजीववदिति शरीरकं सात्मकतया स्फुटीकुर्वंस्तत्संवर्त्तनमपि कश्चित्करोतीत्याह-' एवमि ' त्यादि , ' एवमि ' ति, तथैव ' संवट्टइत्ता णं ' ति-संवर्त्य-संकोच्य शरीरकं देशेनेलिकागतौ शरीरस्थितप्रदेशैः सर्वेण—सर्वात्मना गेन्दुकगतौ सर्वात्मप्रदेशानां शरीरस्थितत्वान्निर्यातीति , अथवा—शरीरकं शरीरिणमुपचाराद्दण्डयोगाद्दण्डपुरुषवत् , तत्र देशतः संवर्तनं संसारिणो म्रियमाणस्य पादादिगतजीवप्रदेशसंहारात्सर्वतस्तु निर्वाणं गन्तुरिति । अथवा-शरीरकं देशतः संवर्त्य हस्तादिसङ्कोचनेन सर्वतः-सर्वशरीरसङ्कोचनेन पिपीलिकादिवदिति । आत्मनश्च संवर्त्तनं कुर्वन् शरीरस्य निवर्तनं करोतीत्याह-एवं ' निवट्टइत्ता णं ' ति-तथैव निवर्त्य-जीवप्रदे-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शेभ्यः; शरीरकं पृथक् कृत्वेत्यर्थः,तत्र देशेनेलिकागतौ सर्वेण गेन्दुकगतौ, अथवा-प्रदेशतः शरीरकं निवर्त्यात्मनः पादादिनिर्याणवान् , सर्वतः सर्वाङ्गनिर्याणवानिति, अथवा-पञ्चविधशरीरसमुदयापेक्षया देशतः शरीरम्—औदारिकादि निवर्त्य, तैजसकार्म्मणे त्वादायैव, तथा सर्वेण सर्वं शरीरसमुदायं निवर्त्य निर्यातिः, सिद्ध्यतीत्यर्थः,

अनन्तरं सर्वनिर्याणमुक्तं, तच्च परम्परया धर्मश्रवणलाभादिषु ते च यथा स्युस्तथा दर्शयन्नाह—

दोहिं ठाणेहिं आता केवलिपन्नत्तं धम्मं लभेज्जा सवणताते, तं जहा-खतेण चेव, उवसमेण चेव, एवं ०जाव मणपज्जवनाणं उप्पाडेज्जा, तं जहा-खतेण चेव, उवसमेण चेव। (सूत्र-६८)

'दोही'त्यादि, कण्ठ्यं, नवरम्'खएण चेव' त्ति-ज्ञानावरणीयस्य दर्शनमोहनीयस्य च कर्मण उदयप्राप्तस्य क्षयेण-निर्जरणेन, अनुदितस्य चोपशमेन-विपाकानुभवनेन क्षयोपशमेनेत्युक्तं भवति, यावत्करणात्–" केवलं बोहिं बुज्झेज्जा मुंडेभवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वएज्जा केवलं बंभचेरवासमावसेज्जा केवलेणं संजमेणं संजमेज्जा केवलेणं संवरेणं संवरेज्जा केवलमाभिणिबोहियनाणमुप्पाडेज्जा " इत्यादि दृश्यम् , एवं यावन्मनःपर्यवज्ञानमुत्पादयेदिति, केवलज्ञानं तु क्षयादेव भवतीति तन्नोक्तम्। इह च यद्यपि बोध्यादयः सम्यक्त्वचारित्ररूपत्वात्केवलेन क्षयेण, उपशमेन च, भवन्ति। तथाप्येते क्षयोपशमेनापि भवन्ति। श्रवणाभिनिबोधिकादीनि तु क्षयोपशमेन भवन्तीति सर्वसाधारणः क्षयोपशम उक्तः। स्था० २ ठा० ४ उ०। देहे, उत्त०। उक्तं हि–"धर्मधृत्यग्निधीन्द्वर्के-त्वकृतत्वसूर्यदेहेषु। शीलानिलमनोयत्नै-कवीर्येऽप्यात्मनः स्मृतिः" ॥१॥ इति। उत्त० १५ अ०।

तथा च—

जंमि णं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं लोगस्स कम्मसमारम्भा कज्जंति, तं जहा-अप्पणो से पुत्ताणं। (८६+)

'तं जहा अप्पणो' इत्यादि, तद्यथेत्युपप्रदर्शनार्थं नोक्तमात्रमेवान्यदप्येवंजातीयकं मित्रादिकं द्रष्टव्यम् (से) तस्यारम्भारिप्सोर्य आत्मा-शरीरं तस्मै अर्थं तदर्थं कर्मारम्भाः पाकादयः क्रियन्ते। आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ०। मनसि; बुद्धिस्थे निजे स्वभावे, बुद्धौ च। वाच०। देहावच्छिन्ने चैतन्ये च। अन्तःकरणे, वाच०। ज्ञाने, प्रकाशस्वरूपे बुद्धौ आत्मनि, बुद्धिर्हि मनआदिकरणानि प्राप्नोत्यात्मा तेषां प्रत्यभिज्ञानम्। वाच०। अर्के, वह्नौ, वायौ, वाच०। अततीत्यात्मा। विशे० २२५६ गाथा। अतति-सततं गच्छति अपरापरान् स्वपरपर्यायानित्यात्मा। अथवा-अतधातोर्गमनार्थत्वेन ज्ञानाऽर्थत्वादतति—सततमवगच्छत्युपयोगलक्षणत्वादित्यात्मा। भ० १० श० १२ उ०। अनति—सातत्येन गच्छति तांस्तान् ज्ञानदर्शनसुखादिपर्यायानित्यात्मात्मादिशब्दव्युत्पत्तिनिमित्तसंभवात् , उक्तञ्च–" एवं जीवो जीवो, संसारी पाणधारणाणुगओ। सिद्धो पुणरज्जीवो, जीवणपरिणामरहिओ त्ति " आ० म० १ अ०।

को ह्यात्मा भगवानाह-योऽहमित्यभिमन्यते, स कीदृक् सूक्ष्मोऽसौ?, किं तत्सूक्ष्मं-यन्न गृह्णीमः,न तु शब्दगन्धानिलाः, किं तु ते इन्द्रियग्राह्याः, तेन ग्रहणमात्मा न तु ग्राहयिता हि सः। आ० चू० १ अ०।

विषयसूचना—

(१) एकविधः आत्मा।
(२) एकविधोऽप्यात्मा त्रिविधः।
(३) निक्षेप आत्मनः।
(४) अष्टविध आत्मा।
(५) आत्मानः-सूक्ष्मा, बादराश्च नवविधाश्च।
(६) आत्मनः लक्षणम्।
(७) परिभोगोपभोगकषायद्वाराणि।
(८) इन्द्रियाण्यात्मनः।
(९) चित्तादीनि आत्मनः।
(१०) आत्मनः अस्तित्वम्।
(११) अभ्याख्यानमात्मनः।
(१२) आत्मनोऽस्तित्वमिन्द्रभूतिं प्रति।
(१३) अभौतिकत्वमात्मनः।
(१४) कस्या दिश आगतोऽहम्।
(१५) अन्यत्वम् , अमूर्त्तत्वम् , अनित्यत्वं च आत्मनः।
(१६) कर्त्तृत्वमात्मनः।
(१७) विभुत्वमात्मनः।
(१८) परिमाणमात्मनः।
(१९) विस्तरत एकत्वमात्मनः।
(२०) क्रियावत्त्वमात्मनः।
(२१) ज्ञानमात्मनो भिन्नम् , अभिन्नं च।
(२२) द्वाभ्यां स्थानाभ्यामात्मा जानाति।
(२३) आत्मनिरूपणे स्फुटगाथाः।
(२४) क्षणिकत्वमात्मनः।
(२५) रत्नप्रभादिभावानामात्मत्वम्।
(२६) गाथाः-" अप्पा णई वेयरणी " ति।

(१) एकविध आत्मा।

एगे आता (या)। (सूत्र-२)

एको; न द्व्यादिरूपःआत्मा-जीवः कथञ्चिदिति गम्यते। स्था० १ ठा०। (अस्य सूत्रस्य विस्तरतो व्याख्या (१९) ऊनविंशे अधिकाराङ्के करिष्यते) ('आत्मत्वमेव जीवत्वम्' अस्याग्रे विवेचनं भविष्यति द्विविधत्वम् जीवस्य ' जीव ' शब्दे चतुर्थभाग १५२२ पृष्ठ करिष्यते)

(२) एकविधोऽपि स च (आत्मा) त्रिविधः—

बाह्यात्मा चान्तरात्मा च, परमात्मेति च त्रयः।
कायाधिष्ठायकध्येयाः, प्रसिद्धा योगवाङ्मये ॥ १७॥

बाह्यात्मा चेति-कायः स्वात्मधिया प्रतीयमानः अहं स्थूलः, अहं कृश इत्याद्युल्लेखनाधिष्ठायकः कायचेष्टाजनकप्रयत्नवान् ध्येयश्च ध्यानभाव्य एते त्रयः-'बाह्यात्मा च अन्तरात्मा च परमात्मा चे'ति-योगवाङ्मये-योगशास्त्रे प्रसिद्धाः। द्वा०२० द्वा०। यस्य देहमनोवचनादिषु आत्मत्वभासः देह एवात्मा एवं सर्वपौद्गलिकप्रवर्त्तनेषु आत्मनिष्ठेषु आत्मत्वबुद्धिः स बाह्यात्मा १, मिथ्यादृष्टिः एषः। पुनः स कर्मावस्थायाम-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पि आत्मनि ज्ञानाद्युपयोगलक्षणे शुद्धचैतन्यलक्षणे महानन्दस्वरूपे निर्विकाराऽमृताऽबाधरूपे समस्तपरभावमुक्ते आत्मबुद्धिः, अन्तरात्मा-सम्यग्दृष्टिगुणस्थानकतः क्षीणमोहं यावत् अन्तराऽऽत्मा उच्यते २, यः केवलज्ञानदर्शनोपयुक्तः शुद्धसिद्धः स परमात्मा-सयोगी अयोगी केवली सिद्धश्च स परमाऽऽत्मा उच्यते । अष्ट० १५ अष्ट० । (अस्य वक्तव्यता ('जोग' शब्दे चतुर्थभागे १६३१ पृष्ठे वक्ष्यते) ("आत्मत्वमेव जीवत्वम्" ॥ ४६ × ॥ इत्यादि श्लोकविवरणं 'जीव' शब्दे चतुर्थभागे १५५१ पृष्ठे वक्ष्यते)

(३) अधुना जीवपद (निक्षेप) माह—

जीवस्स उ निक्खेश्रो, परूवणा लक्खणं च अत्थित्तं ।
अन्नामुत्तत्तं नि-च्चकारगो देहवावित्तं ॥ २२० ॥
गुणिउड्ढगइत्ते या, निम्मयसाफल्लता य परिमाणे ।
जीवस्स तिविहिकालं-मि परिक्खा होइ कायव्वा ।२२१।

[दो दारगाहाओ] एतद् द्वारगाथाद्वयम् , अस्य व्याख्या०-जीवस्य तु निक्षेपो नामाऽऽदिः प्ररूपणा द्विविधाश्च भवन्ति जीवा इत्यादिरूपा लक्षणं चाऽऽदानादि अस्तित्वं सत्त्वं शुद्धपदवाच्यत्वादिना अन्यत्वं देहात् , अमूर्तत्वं स्वतः, नित्यत्वं विकारानुपलम्भेन, कर्तृत्वं-स्वकर्मफलभोगात् , देहव्यापित्वं-तत्रैव तल्लिङ्गोपलब्ध्या , गुणित्वं योगादिना, ऊर्ध्वगतित्वमगुरुलघुभावेन, निर्मायता विकाररहितत्वेन, सफलता च कर्मणः, परिमाणं लोकाकाशमात्र इत्यादि, एवम्-'जीवस्य त्रिविधकाल' इति-त्रिकालविषया, परीक्षा भवति-कर्त्तव्या । इति द्वारगाथाद्वयसमासार्थः । व्यासार्थस्तु भाष्यादवसेयः ।

तथा च निक्षेपमाह—

नामं ठवणा जीवो, दव्वजीवो य भावजीवो य ।
ओहभवग्गहणंमि य, तब्भवजीवे य भावम्मि ॥ २२२ ॥

व्या०-'नामस्थापनाजीव' इति-जीवशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते, नामजीवः स्थापनाजीव इति । तथा द्रव्यजीवश्च भावजीवश्च वक्ष्यमाणलक्षणः । तत्रौघ इति ओघजीवः, भवग्रहणे चेति भवजीवः, तद्भवजीवश्च-तद्भव एवोत्पन्नः, भावे भावजीव इति गाथासमासार्थः ।

व्यासार्थं त्वाह [भाष्यकारः]—

नामं ठवणाोगयाओ, दव्वे गुणपज्जवेहि रहिओ त्ति ।
तिविहो य होइ भावे, ओहे भवतब्भवे चेव ॥ ६ ॥

व्या०-नामस्थापने गते क्षुण्णत्वादिति भावः । 'द्रव्ये' इति-द्रव्यजीवो गुणपर्यायाभ्यां चैतन्यमनुष्यत्वादिलक्षणाभ्यां रहितः । बुद्धिपरिकल्पितो, न त्वसावित्थंविधः संभवतीति । त्रिविधश्च भवति 'भाव' इति—भावजीवत्रैविध्यमाह-ओघजीवो भवजीवस्तद्भवजीवश्चेति । प्राग्गाथोक्तमप्येतदित्थंविधभाष्यकारशैलीप्रामाण्यतोऽदुष्टमेवेति । अन्ये तु पठन्ति-" भावे उ तिहा भणिओ, सं पुण संखेवओ वोच्छं " 'भाव' इति-भावजीवः, त्रिधेति-त्रिप्रकारो भणितो निर्युक्तिकारेण ओघजीवादिः, तमपि च भावार्थमधिकृत्य संक्षेपतो वक्ष्य इति गाथार्थः ।

तत्रौघजीवमाह [भाष्यकारः]—

संते आउयकम्मे, धरई तस्सेव जीवई उदए ।
तस्सेव निज्जराए, मओ त्ति सिद्धो नयमएणं ॥ ७ ॥

व्या०—सति—विद्यमाने आयुष्ककर्मणि सामान्यरूपे म्रियते सामान्येनैव तिष्ठति भवोदधौ कथमित्थमवस्थानमात्राज्जीवत्वमस्येत्याशङ्क्याऽत्रैवान्वर्थयोजनामाह-तस्यैव-ओघायुष्ककर्मणः 'जीवत्युदये' उदये सति जीवत्यासंसारं प्राणान् धारयत्यतो जीवनाज्जीव इति । तस्यैवौघायुष्ककर्मणो निर्जरया क्षयेण 'मृत इति' सर्वथा जीवनाभावात् , स च सिद्धो मृतो नान्यः, विग्रहगतावपि तथा जीवनसद्भावात् , नयमतेनेति सर्वनयमतेनैव मृत इति गाथार्थः । * जीवत्यनेनेति जीवः ओघेन सामान्येन जीवः ओघजीवितविशिष्टो जीवः मध्यपदोत्तरपदलोपादित्थं भवति उक्त ओघजीवितविशिष्ट ओघजीवः । * अधिकः पाठः ।

सांप्रतं भवजीवं तद्भवजीवं चाह (भाष्यकारः)—

जेण य धरइ भवगओ, जीवो जेण य भवाउ संकमइ ।
जाणाहि तं भवाऽऽउं, चउव्विहं तब्भवे दुविहं ॥ ८ ॥
निक्खेओ त्ति गयं ।

व्या०—येन च-नारकाद्यायुष्केण म्रियते तिष्ठति भवगतो नारकादिभवस्थितो जीवः, तथा येन च मनुष्याद्यायुष्केण भवान्नारकादिलक्षणात् संक्रामति-याति, मनुष्यादिभवान्तरमिति सामर्थ्याद्गम्यते, जानीहि-विद्धि । तदित्थंभूतं भवायुर्भवजीवितं चतुर्विधं नारकतिर्यङ्मनुष्यामरभेदेन तथा तद्भव तद्भवविषयम् आयुरिति वर्तते, तच्च द्विविधम् तिर्यक्त्वतद्भवायुः, मनुष्यत्वतद्भवायुश्च । यस्मात्तावेव मृतौ सन्तौ भूयस्तस्मिन्नेव भव उत्पद्येते; नान्ये, तद्भवजीवितं च तस्मान्मृतस्य तस्मिन्नेवोत्पन्नस्य यत्तदुच्यते इति । अत्रापि च भावजीवाधिकारात्तद्भवजीवितविशिष्टश्च जीव एव ग्राह्यः, जीवितं तु तद्विशेषणत्वादुक्तमिति गाथार्थः । उक्तो निक्षेपः । दश०४ अ० । (चतुर्विध-पञ्चविध-षड्विध-सप्तविधत्वं 'जीव' शब्दे चतुर्थभागे १५२४ पृष्ठे दर्शयिष्यते)

(४) आत्मनोऽष्टविधनिक्षेपः—

कइविहा णं भंते ! आता पण्णत्ता ?, गोयमा ! अट्ठविहा आता पण्णत्ता, तं जहा-दवियाऽऽता १, कसायाऽऽता २, जोगायाऽऽता ३, उवओयाऽऽता ४, णाणऽत्ता ५, दंसणाऽऽया ६, चरित्ताऽऽया ७, वीरियाऽऽता ८ ।

'कइ विहा ण' मित्यादि, 'आय' त्ति—अतति-सततं गच्छति अपरापरान् स्वपरपर्यायानित्यात्मा, अथवा-अत धातोर्गमनार्थत्वेन ज्ञानार्थत्वादतति-सततमवगच्छत्युपयोगलक्षणत्वादित्यात्मा, प्राकृतत्वाच्च सूत्रे स्त्रीलिङ्गनिर्देशः, तस्य चोपयोगलक्षणत्वात्सामान्येनैकविधत्वेऽप्युपाधिभेदादष्टधात्वं, तत्र 'दवियाय' त्ति-द्रव्यं त्रिकालानुगाम्युपसर्जनीकृतकषायादिपर्यायं तद्रूप आत्मा द्रव्यात्मा सर्वेषां जीवानाम् १, 'कसायाय' त्ति-क्रोधादिकषायविशिष्ट आत्मा कषायात्मा, अक्षीणानुपशान्तकषायाणाम् २, 'जोगाय' त्ति-योगा मनःप्रभृतिव्यापारास्तत्प्रधान आत्मा योगात्मा ,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

योगवतामिव ३, 'उवओगाय' त्ति-उपयोगः साकारानाकारभेदस्तत्प्रधान आत्मा उपयोगात्मा, सिद्धसंसारिस्वरूपः सर्वजीवानाम् । अथवा-विवक्षितवस्तूपयोगापेक्षयोपयोगात्मा ४, 'नाणाय' त्ति-ज्ञानविशेषित उपसर्जनीकृतदर्शनादिरात्मा ज्ञानात्मा, सम्यग्दृष्टेः ५, एवं दर्शनात्मादयोऽपि नवरं दर्शनात्मा सर्वजीवानाम् ६, चारित्रात्मा विरतानाम् ७, वीर्यम्-उत्थानादि तदात्मा सर्वसंसारिणामिति । उक्तं च—

जीवानां द्रव्यात्मा, ज्ञेयः स कषायिणां कषायात्मा ।
योगः सयोगिनां, पुनरुपयोगः सर्वजीवानाम् ॥ १ ॥
ज्ञाने सम्यग्दृष्टे-र्दर्शनमथ भवति सर्वजीवानाम् ।
चारित्रं विरतानां, तु सर्वसंसारिणां वीर्यम् ॥२॥ इति, ८ ॥

एवमष्टधात्मानं प्ररूप्य अथ यस्यात्मभेदस्य यदन्यदात्मभेदान्तरे युज्यते यच्च न युज्यते तस्य तद्दर्शयितुमाह—

जस्स णं भन्ते ! दवियाऽऽता तस्स णं कसायाता, जस्स कसायाता तस्स दवियाता ?, गोयमा ! जस्स दवियाता तस्स कसायाता सिय अत्थि सिय णत्थि, जस्स पुण कसायाता तस्स दवियाता णियमं अत्थि ।

'जस्स णमि' त्यादि, इहाष्टौ पदानि स्थाप्यन्ते तत्र प्रथमपदं शेषैः सप्तभिः सह चिन्त्यते-तत्र यस्य जीवस्य द्रव्यात्मा-द्रव्यात्मत्वं ; जीवत्वमित्यर्थः , तस्य कषायात्मा स्यादस्ति कदाचिदस्ति सकषायावस्थायां स्यान्नास्ति कदाचिन्नास्ति क्षीणोपशान्तकषायावस्थायां, यस्य पुनः कषायात्माऽस्ति तस्य द्रव्यात्मत्वं जीवत्वं नियमादस्ति, जीवत्वं विना कषायाणामभावादिति ।

जस्स णं भंते ! दवियाऽऽता तस्स जोगाता ?, एवं जहा दवियाता कसायाता भणिया तहा दवियाता जोगायाया वि भाणियव्वा ।

तथा यस्य द्रव्यात्मा तस्य योगात्माऽस्ति योगवतामिव नास्ति चायोगिसिद्धानामिव, तथा यस्य योगात्मा तस्य द्रव्यात्मा नियमादस्ति जीवत्वं विना योगानामभावादेतदेव पूर्वसूत्रोपमानेन दर्शयन्नाह-' एवं जहा दवियाये' त्यादि ।

जस्स णं भंते ! दवियाऽऽया तस्स उवओगाता एवं सव्वत्थ पुच्छा भाणियव्वा, गोयमा ! जस्स दवियाता तस्स उवओगाया णियमं अत्थि, जस्स वि उवओगाता तस्स वि दवियाता णियमं अत्थि, जस्स दवियाता तस्स णाणाता भयणाए, जस्स पुण णाणाता तस्स दवियाता णियमं अत्थि । जस्स दवियाता तस्स दंसणाता णियमं अत्थि, जस्स वि दंसणाता तस्स दवियाता णियमं अत्थि, जस्स दवियाता तस्स चरित्ताया भयणाए, जस्स पुण चरित्ताता तस्स दवियाता णियमं अत्थि । एवं वीरियाताए वि समं ।

तथा यस्य जीवस्य द्रव्यात्मा तस्य नियमादुपयोगात्मा यस्याप्युपयोगात्मा तस्य नियमाद् द्रव्यात्मा, एतयोः परस्परेण अविनाभूतत्वाद्यथा सिद्धस्य, तदन्यस्य च द्रव्यात्मास्त्युपयोगात्मा चोपयोगलक्षणत्वाज्जीवानाम् , एतदेवाह-' जस्स दवियाये ' त्यादि, तथा ' जस्स दवियाता तस्स नाणाया भयणाए, जस्स पुण नाणाया तस्स दवियाया नियमं अत्थि ' त्ति-यस्य जीवस्य द्रव्यात्मा तस्य ज्ञानात्मा स्यादस्ति यथा सम्यग्दृष्टीनां, स्यान्नास्ति यथा मिथ्यादृष्टीनामित्येवं भजना, यस्य तु ज्ञानात्मा तस्य द्रव्यात्मा नियमादस्ति, यथा सिद्धस्येति । तथा ' जस्स दवियाया तस्स दंसणाया नियमं अत्थि ' त्ति-यथा सिद्धस्य केवलदर्शनम् । ' जस्स वि दंसणाया तस्स दवियाया नियमं अत्थि ' त्ति-यथा चक्षुर्दर्शनादिदर्शनवतां जीवत्वमिति, तथा ' जस्स दवियाया तस्स चरित्ताया भयणाए ' त्ति-यतः सिद्धस्याविरतस्य वा द्रव्यात्मत्वे सत्यपि चारित्रात्मा नास्ति विरतानां चास्तीति भजनेति 'जस्स पुण चरित्ताया तस्स दवियाया नियमं अत्थि' त्ति-चारित्रिणां जीवत्वाव्यभिचारित्वादिति, एवं 'वीरियायाए वि समं' ति— यथा द्रव्यात्मनश्चारित्रात्मना सह भजनोक्ता, नियमश्चैवम्-वीर्यात्मनापि सहेति, तथाहि—यस्य द्रव्यात्मा तस्य वीर्यात्मा नास्ति, यथा सकरणवीर्यापेक्षया सिद्धस्य, तदन्यस्य त्वस्तीति भजना, वीर्यात्मनस्तु द्रव्यात्मास्त्येव यथा संसारिणामिति ॥ ७ ॥

अथ कषायात्मनः सहान्यानि पदानि चिन्त्यन्ते-

जस्स णं भंते ! कसायाऽऽता तस्स जोगाया पुच्छा ?, गोयमा ! जस्स कसायाता तस्स जोगाता णियमं अत्थि, जस्स पुण जोगाया तस्स कसायाता सिय अत्थि सिय णत्थि, एवं उवओगाए वि समं कसायाता णेयव्वा, कसायाता णाणाता य परोप्परं दोवि भइयव्वाओ, जहा कसायाया य उवओगाया य तहा कसायाया य दंसणाता य कसायाता चरित्ताता य दोऽवि परोप्परं भइयव्वाओ, जहा कसायाता य जोगाता तहा कसायाता य वीरियाया य भाणियव्वाओ एवं जहा कसायायाए वत्तव्वया भणिया तहा जोगायाए वि उवरिमाहिं समं भाणियव्वाओ ।

'जस्स णमि'त्यादि यस्य कषायात्मा तस्य योगात्माऽस्त्येव न हि सकषायोऽयोगी भवति यस्य तु योगात्मा तस्य कषायात्मा स्याद्वा न वा । सयोगानां सकषायाणामकषायाणां च भावादिति । एवम्-' उवओगायाए वी 'त्यादि, अयमर्थः-यस्य कषायात्मा तस्योपयोगात्मावश्यं भवत्युपयोगरहितस्य कषायाणामभावात् यस्य पुनरुपयोगात्मा तस्य कषायात्मा भजनया, उपयोगात्मतायां सत्यामपि कषायिणामेव कषायात्मा भवति । निष्कषायाणां तु नासाविति भजनेति, तथा-' कसायाया य नाणाया य परोप्परं दोवि भइयव्वाओ ' त्ति-कथं ?, यस्य कषायात्मा तस्य ज्ञानात्मा स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, यतः कषायिणः सम्यग्दृष्टेर्ज्ञानात्मास्ति मिथ्यादृष्टेस्तु तस्य नास्त्यसाविति भजना । तथा यस्य ज्ञानात्मास्ति तस्य कषायात्मा स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, ज्ञानिनां कषायभावात् तदभावाच्चेति भजनेति । ' जहा कसायाया उवओगाया तहा कसायाया य दंसणाया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

य ' त्ति-अतिदेशः, तस्मादेवेदं लब्धम्-' जस्स कसायाया तस्स दंसणाया नियमं अत्थि ' दर्शनरहितस्य घटादेः कषायात्मनोऽभावात् ' जस्स पुण दंसणाया तस्स कसायाया सिय अत्थि सिय नऽत्थि' दर्शनवतां कषायसद्भावात्तदभावाच्चेति, दृष्टान्तार्थस्तु प्राक् प्रसिद्ध एवेति 'कसायाया य चरित्ताया य दोवि परोप्परं भइयव्वाओ' त्ति-भजना चैवम्-यस्य कषायात्मा तस्य चारित्रात्मा स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, कथं कषायिणां चारित्रस्य सद्भावात्, प्रमत्तयतीनामिव तदभावाचासंयतानामिवेति, तथा यस्य चारित्रात्मा तस्य कषायात्मा स्यादस्ति स्यान्नास्ति, कथं सामायिकादिचारित्रिणां कषायाणां भावाद्यथाख्यातचारित्रिणां च तदभावादिति । ' जहा कसायाया य जोगाया य तहा कसायाया य वीरियाया य भाणियव्वाओ ' त्ति-दृष्टान्तः प्राक् प्रसिद्धः, दार्ष्टान्तिकस्त्वेवम्-यस्य कषायात्मा तस्य वीर्यात्मा नियमादस्ति, न हि कषायवान् वीर्यविकलोऽस्ति, यस्य पुनर्वीर्यात्मा तस्य कषायात्मा भजनया, यतो वीर्यवान् सकषायोऽपि स्याद्यथाऽसंयतः अकषायोऽपि स्याद्यथा केवलीति ॥६॥ अथ योगात्माऽग्रेतनपदैः पञ्चभिः सह चिन्तनीयस्तत्र च लाघवार्थमतिदिशन्नाह-' एवं जहा कसायायावत्तव्वया भणिया तहा जोगायाए वि उवरिमाहिं समं भाणियव्व ' त्ति-सा चैवम्-यस्य योगात्मा तस्योपयोगात्मा नियमात् यथा सयोगानां,यस्य पुनरुपयोगात्मा तस्य योगात्मा स्यादस्ति यथा सयोगानां स्यान्नास्ति यथा-अयोगिनां सिद्धानां चेति, तथा यस्य योगात्मा तस्य ज्ञानात्मा स्यादस्ति सम्यग्दृष्टीनामिव, स्यान्नास्ति मिथ्यादृष्टीनामिव, यस्य ज्ञानात्मा तस्यापि योगात्मा स्यादस्ति, योगिनामिव, स्यान्नास्ति अयोगिनामिवेति, तथा यस्य योगात्मा तस्य दर्शनात्मास्त्येवेति योगिनामिव, यस्य च दर्शनात्मा तस्य योगात्मा स्यादस्ति योगवतामिव स्यान्नास्त्ययोगिनामिव, तथा यस्य योगात्मा तस्य चारित्रात्मा स्यादस्ति विरतानामिव, स्यान्नास्त्यविरतानामिव, यस्यापि चारित्रात्मा तस्य योगात्मा स्यादस्ति सयोगचारित्रवतामिव, स्यान्नास्त्ययोगिनामिवेति, वाचनान्तरे पुनरिदमेवं दृश्यते-' जस्स चरित्ताया तस्स जोगाया नियमं ' ति-तत्र च चारित्रस्य प्रत्युपेक्षणादिव्यापाररूपस्य विवक्षितत्वात्तस्य च योगाविनाभावित्वाद्यस्य चारित्रात्मा तस्य योगात्मा नियमादित्युच्यते इति, तथा यस्य योगात्मा तस्य वीर्यात्मास्त्येव योगसद्भावे वीर्यस्यावश्यं भावात्, यस्य तु वीर्यात्मा तस्य योगात्मा भजनया यतो वीर्यविशेषवान् सयोग्यपि स्यात् यथा सयोगिकेवल्यादिरयोग्यपि स्याद्यथाऽयोगिकेवलीति ॥ ५ ॥

अथोपयोगात्मना सहान्यानि चत्वारि चिन्त्यन्ते । तत्रातिदेशमाह—

जहा दवियाताए वत्तव्वया भणिया तहा उवओगाताए वि उवरिल्लाहिं समं भाणियव्वा ।

एवं च भावना कार्या यस्योपयोगात्मा तस्य ज्ञानात्मा स्यादस्ति यथा सम्यग्दृशां, स्यान्नास्ति यथा मिथ्यादृशां, यस्य च ज्ञानात्मा तस्यावश्यमुपयोगात्मा सिद्धानामिवेति १, तथा यस्योपयोगात्मा तस्य दर्शनात्मास्त्येव, यस्यापि दर्शनात्मा तस्योपयोगात्मास्त्येव यथा सिद्धादीनामिति २, तथा यस्योपयोगात्मा तस्य चारित्रात्मा स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, यथा संयतानाम्, असंयतानां च, यस्य तु चारित्रात्मा तस्योपयोगात्मास्त्येव यथा संयतानां ३, तथा यस्योपयोगात्मा तस्य वीर्यात्मा स्यादस्ति संसारिणामिव स्यान्नास्ति सिद्धानामिव, यस्य पुनर्वीर्यात्मा तस्योपयोगात्मास्त्येव संसारिणामिवेति ४।

अथ ज्ञानात्मना सहान्यानि त्रीणि चिन्त्यन्ते—

जस्स णाणाऽऽया तस्स दंसणाया णियमं अत्थि, जस्स पुण दंसणाया तस्स णाणाया भयणाए, जस्स णाणाया तस्स चरित्ताया सिय अत्थि सिय णत्थि, जस्स पुण चरित्ताया तस्स णाणाया णियमं अत्थि, णाणाता वीरियाता दो वि परोप्परं भयणाए ।

तत्र यस्य ज्ञानात्मा तस्य दर्शनात्मास्त्येव सम्यग्दृशामिव, यस्य च दर्शनात्मा तस्य ज्ञानात्मा स्यादस्ति यथा सम्यग्दृशां, स्यान्नास्ति यथा मिथ्यादृशामत एवोक्तम्-' भयणाए ' त्ति, १, तथा ' जस्स नाणाया तस्स चरित्ताया सिय अत्थि ' त्ति । संयतानामिव । ' सिय नत्थि ' त्ति, असंयतानामिव ' जस्स पुण चरित्ताया तस्स नाणाया नियमं अत्थि ' त्ति, ज्ञानं विना चारित्रस्याभावादिति २, तथा-' णाणाये ' त्यादि । अस्यार्थः-यस्य ज्ञानात्मा तस्य वीर्यात्मा स्यादस्ति केवल्यादीनामिव, स्यान्नास्ति सिद्धानामिव, यस्यापि वीर्यात्मा तस्य ज्ञानात्मा स्यादस्ति, सम्यग्दृष्टेरिव, स्यान्नास्ति मिथ्यादृश इवेति ३ ।

अथ दर्शनात्मना सह द्वे चिन्त्येते—

जस्स दंसणाया तस्स उवरिमाओ दो वि भयणाए, जस्स पुण ताओ तस्स दंसणाया णियमं अत्थि । जस्स चरित्ताया तस्स वीरियाता णियमं अत्थि, जस्स पुण वीरियाता तस्स चरित्ताया सिय अत्थि सिय णत्थि ।

' जस्स दंसणाये ' त्यादि, भावना चास्य—यस्य दर्शनात्मा तस्य चारित्रात्मा स्यादस्ति संयतानामिव, स्यान्नास्त्यसंयतानामिव, यस्य च चारित्रात्मा तस्य दर्शनात्मास्त्येव साधूनामिवेति, तथा यस्य दर्शनात्मा तस्य वीर्यात्मा स्यादस्ति संसारिणामिव, स्यान्नास्ति सिद्धानामिव, यस्य च वीर्यात्मा तस्य दर्शनात्मास्त्येव संसारिणामिवेति ॥ २ ॥ अथान्तिमपदयोर्योजना-' जस्स चरित्ते ' त्यादि, यस्य चारित्रात्मा तस्य वीर्यात्मास्त्येव वीर्यं विना चारित्रस्याभावात्, यस्य पुनर्वीर्यात्मा तस्य चारित्रात्मा स्यादस्ति साधूनामिव, स्यान्नास्ति असंयतानामिवेति ।

अधुनैषामेवात्मनामल्पबहुत्वमुच्यते—

एयासि णं भंते ! दवियाऽऽताणं कसायाऽऽताणं ०जाव वीरियायाणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा ०जाव विसेसाहिया वा ?, गोयमा ! सव्वत्थोवा चरित्तायाओ णाणायाओ अणंतगुणाओ, कसायायाओ अणंतगुणाओ जोगायाओ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विसेसाहियाओ, वीरियाताओ वि उवयोगदवियदंसणाया-ओ तिन्नि वि तुल्लाओ, विसेसाहियाओ । (सूत्र-४६७)

तत्र च ' सव्वत्थोवाओ चारित्तायाओ ' त्ति-चारित्रिणां संख्यातत्वात् । ' नाणायाओ अणंतगुणाओ ' त्ति-सिद्धादीनां सम्यग्दृशां चारित्रिभ्योऽनन्तगुणत्वात् । ' कसायायाओ अणंतगुणाओ ' त्ति, सिद्धेभ्यः कषायोदयवतामनन्तगुणत्वात् ' जोगायाओ विसेसाहियाओ ' त्ति-अपगतकषायोदयैर्योगवद्भिरधिका इत्यर्थः, ' वीरियायाओ विसेसाहियाओ ' त्ति-अयोगिभिरधिका इत्यर्थः, अयोगिनां वीर्यवत्त्वादिति, ' उवओगदवियदंसणायाओ तिरिण वि तुल्लाओ विसेसाहियाओ ' त्ति-परस्परापेक्षया तुल्याः सर्वेषां सामान्यजीवरूपत्वात् , वीर्यात्मभ्यः सकाशादुपयोगद्रव्यदर्शनात्मानो विशेषाधिकाः, यतो वीर्यात्मनः सिद्धाश्च मीलिता उपयोगाद्यात्मानो भवन्ति, ते च वीर्यात्मभ्यः सिद्धराशिनाऽधिका भवन्तीति । भवन्ति चात्र गाथाः-

" कोडिसहस्सपुहुत्तं, जईण तो थोवियाउ चरणाया ।
नाणायाणंतगुणा, पडुच्च सिद्धे य सिद्धाओ ॥ १ ॥
होंति कसायायाओ-ऽणंतगुणा जेण ते सरागाणं ।
जोगायाभणियाओ, अजोगिवज्जाण तो अहिया ॥ २ ॥
जं सेलेसिगयाण वि, लद्धी विरियं तओ समहियाओ ।
उवओगदवियदंसण-सव्वजियाणं तवो अहिया" ॥ ३ ॥
इति । भ० १२ श० १० उ० ।

(५) जीवाः सूक्ष्माः, बादराश्च (नवविधाश्च) ।
यथा सन्ति तथाऽऽह भाष्यकारः—

दुविहा य हुंति जीवा, सुहुमा तह बायरा य लोगम्मि ।
सुहुमा य सव्वलोए, दो चेव य बायरविहाणे ॥ ९ ॥

व्या०-द्विविधाश्च—द्विप्रकाराश्च, चशब्दात्—नवविधाश्च पृथिव्यादिद्वीन्द्रियादिभेदेन भवन्ति जीवाः, द्वैविध्यमाह-सूक्ष्मा, तथा बादराश्च । तत्र सूक्ष्मनामकर्मोदयात् सूक्ष्माः, बादरनामकर्मोदयाच्च बादरा इति, 'लोके' इति लोकग्रहणमलोके जीवभवनव्यवच्छेदार्थं तत्र सूक्ष्माश्च सर्वलोक इति चशब्दस्यावधारणार्थत्वात् सूक्ष्मा एव सर्वलोकेषु न बादराः । क्वचित्तेषामसंभवात् ' द्वे एव च ' पर्याप्तकाऽपर्याप्तकलक्षणे ' बादरविधाने ' बादरविधौ चशब्दात् सूक्ष्मविधाने च । तेषामपि पर्याप्तकाऽपर्याप्तकरूपत्वादिति गाथार्थः ।

एतदेव स्पष्टयन्नाह (भाष्यकारः)—

सुहुमा य सव्वलोए, परियावन्ना भवंति नायव्वा ।
दो चेव बायराणं, पज्जत्तियरे अ नायव्वा ॥ १० ॥

व्या०-सूक्ष्मा एव पृथिव्यादयः सर्वलोके-चतुर्दशरज्ज्वात्मके पर्यायापन्ना भवन्ति-ज्ञातव्याः, 'पर्यायापन्ना' इति-तमेव सूक्ष्मपर्यायमापन्ना भावसूक्ष्मा, न तु भूतभाविनो द्रव्यसूक्ष्मा इति भावः । तथा द्वौ भेदौ बादराणां पृथिव्यादीनां चशब्दात्सूक्ष्माणां च पर्याप्तकेतरौ ज्ञातव्यौ पर्याप्तकाऽपर्याप्तकाविति गाथार्थः । दश० ४ अ० ।

(६) (लक्षणद्वारम् 'लक्खण' शब्दे षष्ठे भागे वक्ष्यते) ।
तत्रादानादीनां दृष्टान्तानाह (भाष्यकारः)—

अयगारकूरपरसू, अग्गिसुवन्ने य खीरनरवासी ।
आहारो दिट्ठंता, आयाणाईण जहसंखं ॥ १३ ॥

व्या०-अयस्कारः कूरस्तथा परशुरग्निः सुवर्णं च क्षीरनरवाश्यः तथा आहारो दृष्टान्ता आदानादीनां प्रक्रान्तानां यथासंख्यं प्रतिज्ञाद्युपन्यासेन चैतदभिधानं परोक्षार्थप्रतिपत्तिं प्रति प्रायः प्रधानाङ्गताख्यापनार्थमिति गाथार्थः ।

सांप्रतं प्रयोगानाह (भाष्यकारः)—

देहिंदियाइरित्तो, आया खलु गज्झगाहगपओगा ।
संडासा अयपिंडो, अयकाराइ व्व विन्नेओ ॥ १४ ॥

व्या०-देहेन्द्रियातिरिक्त आत्मा । खलुशब्दो विशेषणार्थः, कथंचित् , न सर्वथा अतिरिक्त एव तदसंवेदनादिप्रसङ्गादिति अनेन प्रतिज्ञार्थमाह, प्रतिज्ञा पुनः अर्थेन्द्रियाण्यादेयादानानि विद्यमानादातृकाणि, कुतः इत्याह-ग्राह्यग्राहकप्रयोगात् । ग्राह्या-रूपादयः । ग्राहकाणीन्द्रियाणि तेषां प्रयोगः-स्वफलसाधनव्यापारस्तस्माच्च ह्यमीषां कर्मकरणभावः कर्तारमन्तरेण स्वकार्यसाधनप्रयोगः संभवत्यनेनापि हेत्वर्थमाह । हेतुश्चादेयादानरूपत्वादिति । दृष्टान्तमाह-संदंशादादानात्-अयःपिण्डादादेयात् ' अयस्कारादिवत् ' लोहकारवद्विशेयः अतिरिक्तो विद्यमान आदानत्यनेनापि दृष्टान्तार्थमाह-दृष्टान्तस्तु संदंशकायःपिण्डवत् । यस्तु तदनतिरिक्तः न ततो ग्राह्यग्राहकप्रयोगः । यथा देहादिभ्य एवेति व्यतिरेकार्थः, व्यतिरेकस्तु यानि विद्यमानादातृकाणि न भवन्ति तान्यादानादेयरूपाण्यपि न भवन्ति । यथा मृतकद्रव्येन्द्रियादीनीति गाथार्थः । उक्तमादानद्वारम् ।

(७) अधुना (भाष्यकारः) परिभोगद्वारमाह—

देहो सभोत्तिओ खलु, भोज्जत्ता ओयणाइथालं व ।
अन्नप्पउत्तिगा खलु, जोगा परसु व्व करणत्ता ॥१५॥

व्या०-देहः सभोक्तृकः खल्विति प्रतिज्ञा, भोग्यत्वादिति हेतुः ओदनादिस्थालवत्-स्थालस्थितौदनवदिति दृष्टान्तः । भोग्यत्वं च देहस्य जीवेन तथानिवसतोपभुज्यमानत्वादिति । उक्तं परिभोगद्वारम् । अधुना योगद्वारमाह-अन्यप्रयोक्तृकाः खलु योगाः, योगाः-साधनानि मनःप्रभृतीनि करणानीति प्रतिज्ञार्थः, करणत्वादिति हेतुः, परशुवदिति दृष्टान्तः । भवति च विशेषे पक्षीकृते सामान्यं हेतुः, यथा अनित्यो वर्णात्मकः शब्दः, शब्दत्वात् मेघशब्दवदिति गाथार्थः । उक्तं योगद्वारम् ।

साम्प्रतम् (भाष्यकारः) उपयोगद्वारमाह—

उवओगा नाभावो, अग्गि व्व सलक्खणा परिच्चागा ।
सकसाया णाभावो, पज्जयगमणा सुवन्नं व ॥ १६ ॥

व्या०-उपयोगात्-साकारानाकारभेदभिन्नात् ' नाभावो ' जीव इति गम्यते, कुत इत्याह-स्वलक्षणापरित्यागादुपयोगलक्षणासाधारणात्मीयलक्षणाऽपरित्यागात् अग्निवद्यथाऽग्निरौष्ण्यादिस्वलक्षणापरित्यागान्नाभावस्तथा जीवोऽपीति प्रयोगार्थः, प्रयोगस्तु सन्नात्मा स्वलक्षणापरित्यागाद् , अग्निवदिति । उक्तमुपयोगद्वारम् ।

अधुना कषायद्वारमाह-सकषायत्वाद् अचेतनविलक्षणक्रोधादिपरिणामोपेतत्वादित्यर्थः । नाभावो जीवः । कुत

इत्याह-पर्यायगमनात् क्रोधमानादिपर्यायप्राप्तेः । सुवर्णवत् कटकादिपर्यायगमनोपेतसुवर्णवदिति प्रयोगार्थः प्रयोगस्तु, सत्रात्मा, पर्यायगमनात्सुवर्णवदिति गाथार्थः । उक्तं कषायद्वारम् ।

इदानीं (भाष्यकारः) लेश्याद्वारमाह—

लेसाओ णाऽभावो, परिणामणसभावाओ य खीरं व ।
उस्सासा णाभावो, समसब्भावा खउ व्व नरो ॥१७॥

व्या०-लेश्यातो लेश्यासद्भावेन न अभावो जीवः, किं तु-भाव इति, कुत इत्याह-परिणमनस्वभावत्वात्कृष्णादिद्रव्यसांनिध्येन प्रसूतादकादिदृष्टान्तसिद्धतथाविधपरिणामधर्मत्वात्, क्षीरवदिति प्रयोगार्थः, प्रयोगस्तु सन्नात्मा परिणामित्वात् क्षीरवदिति । गतं लेश्याद्वारम् ।

प्राणापानद्वारमाह-उच्छ्वासादिति अचेतनधर्मविलक्षणप्राणापानसद्भावान्नाऽभावो जीवः , किन्तु-भाव एव इति,श्रमसद्भावेन परिस्पन्दोपेतपुरुषवदिति प्रयोगार्थः । प्रयोगस्तु पुनरत्र व्यतिरेकी द्रष्टव्यः । सात्मकं जीवच्छरीरं प्राणादिमत्त्वात् यत्तु सात्मकं न भवति तत्प्राणादिमदपि न भवति, यथाऽऽकाशमिति गाथार्थः । उक्तं प्राणापानद्वारम् ।

(८) (भाष्यकारेण) अधुनेन्द्रियद्वारमुच्यते—

अक्खाणेयाणि पर-त्थगाणि वासाइ व्व करणत्ता ।
गहवेयणनिज्जराओ, कम्मस्सन्नो जहाहारो ॥ १८ ॥

व्या०-अक्षाणीन्द्रियाणि एतानीति लोकप्रसिद्धानि देहाश्रयाणि परार्थानि-आत्मप्रयोजनानि वास्यादिवदिह करणत्वादिहलोके वास्यादिवदिति प्रयोगार्थः । आह-भवनान्येवेन्द्रियाणि तत्किमर्थं भेदोपन्यासः ?, उच्यते-बिल्व्युपकरणद्वारेण द्वैविध्यख्यापनार्थं ततश्च तत्रोपकरणस्य ग्रहणमिह तु विज्ञेयमिति, प्रयोगस्तु-परार्थाश्चक्षुरादयः संघातत्वाच्छयनासनादिवत् न चायं विशेषविरुद्धः, कर्मसंबद्धस्यात्मनः संघातरूपत्वाभ्युपगमात् । उक्तमिन्द्रियद्वारम् ।

इदानीं (अधुना) बन्धादिद्वाराण्याह—ग्रहणवेदकनिर्जरकः कर्मणोऽन्यो, 'यथाहार'इति-तत्र ग्रहणं-कर्मणो बन्धः वेदनम्-उदयः निर्ज्जरा-क्षयः, 'यथाहारं' इति-आहारविषयाणि ग्रहणादीनि न कर्त्रादिव्यतिरेकेण तथा कर्मणोऽपीति प्रयोगार्थः । प्रयोगस्तु विद्यमानभोक्तृकमिदं कर्मग्रहणवेदनानिर्ज्जरणसद्भावात् , आहारवदिति गाथार्थः । उक्तानि बन्धादिद्वाराणि । व्याख्याता च प्रथमा प्रतिद्वारगाथा ।

(६) सांप्रतं द्वितीयामधिकृत्य चित्तादिस्वरूपव्याचिख्यासयाऽऽह—

चित्तं तिकालविसयं, चेयणपच्चक्खसन्नमणुसरणं ।
विन्नाणणेगभेयं, कालमसंखेयरं धरणा ॥ १६ ॥

व्या०-चित्तं त्रिकालविषयम् ओघतोऽतीतानागतवर्त्तमानग्राहि चेतनं चेतना सा प्रत्यक्षवर्त्तमानार्थग्राहिणी । संज्ञानं संज्ञा सा अनुस्मरणम् इदं तदिति ज्ञानम्, विविधं ज्ञानं विज्ञानमनेकभेदम्-अनेकप्रकारम्, अनेकधर्मिणि वस्तुनि तथा तथाऽध्यवसाय इत्यर्थः । 'कालमसंख्येयतरम्' असंख्येयं संख्येयं वा धारणा अविच्युतिस्मृतिवासनारूपा, तत्र वासनारूपा संख्येयवर्षायुषामसंख्येयम्, संख्येयवर्षायुषां च संख्येयमिति गाथार्थः ।

(भाष्यम्)—

अत्थस्स ऊह बुद्धी, ईहा चेट्ठत्थअवगमो उ मई ।
संभावणत्थतक्का, गुणपच्चक्खा घडो व्व ऽत्थि ॥२०॥

व्याख्या-अर्थस्येहा बुद्धिः संज्ञिनः परनिरपेक्षार्थपरिच्छेद इति भावः, ईहा-चेष्टा किमयं स्थाणुः किं वा पुरुष इति, सद्भूतपर्यालोचनरूपा, अर्थावगमस्तु अर्थपरिच्छेदस्तु शिरःकण्डूयनादिधर्मोपपत्तेः पुरुषः एवायमित्येवंरूपा मतिः 'संभावणत्थतक' त्ति-प्राकृतशैल्या अर्थसंभावना । एवमेव चायमर्थ उपपद्यत इत्यादिरूपा तर्कः । इत्थं द्वाराणि व्याख्याय सर्वे एते चित्तादयो गुणा वर्त्तन्त इति जीवाख्यगुणप्रतिपादकेव प्रयोगार्थेनोपसंहरन्नाह—गुणप्रत्यक्षत्वाद्धेतोः घटवदस्ति जीव इति गम्यते । एष गाथार्थः ।

(भाष्यकारः) एतदेवस्फुटयति—

जम्हा चित्ताईया, जीवस्स गुणा हवंति पच्चक्खा ।
गुणपच्चक्खत्तणओ, घडु व्व जीवो अओ अत्थि ॥२१॥

व्याख्या-यस्माच्चित्तादयोऽनन्तरोक्ता जीवस्य गुणाः, नाऽजीवस्य, शरीरादिगुणविधर्मत्वात् । एते च भवन्ति प्रत्यक्षाः, स्वसंवेद्यत्वात् , यतश्चैवम्-गुणप्रत्यक्षत्वाद्धेतोर्घटवज्जीवः । अतोऽस्तीति प्रयोगार्थः । प्रयोगस्तु सन्नात्मा गुणप्रत्यक्षत्वात् घटवत्नायं घटवदात्मनोऽचेतनत्वापादनेन विरुद्धः "विरुद्धोऽसति बाधने" इति वचनात् , एतच्चैतन्यं प्रत्यक्षेणैव बाधनमिति गाथार्थः । व्याख्यातं मूलद्वारगाथाद्वये प्रतिद्वारद्वयेन लक्षणद्वारम् ।

(१०) इदानीमस्तित्वद्वारावसरः,तथा चाह भाष्यकारः—

अत्थि त्ति दारमहुणा, जीवस्सइ अत्थि विजए नियमा ।
लोआयवमयघाय-त्थमुच्चए तत्थिमो हेऊ ॥ २२ ॥

व्याख्या-अस्तीति द्वारमधुना सांप्रतमवसरप्राप्तम् तदेतदुच्यते-जीवः सन् , पृथिव्यादिविकारदेहमात्ररूपः सन्निति सिद्धिसाध्यता । न तु ततोऽन्योऽस्तीत्याशङ्कापनोदायाह-अस्त्यन्यश्चैतन्यरूपस्तदपि मातृचैतन्योपादानं भविष्यति परलोकयायी तु न विद्यत इति मोहापोहायाह-विद्यते नियमात्-नियमेन, तथा चाह-लोकायतमतघातार्थम्-नास्तिकाभिप्रायनिराकरणार्थमुच्यते एतत् , तस्य चानन्तरोदित एवाभिप्राय इति सफलानि विशेषणानि तत्र-लोकायतमतविघाते कर्त्तव्ये अयम्-वक्ष्यमाणलक्षणो हेतुः; अन्यथानुपपत्तिरूपो युक्तिमार्ग इति गाथार्थः ।

(भाष्यम्)-

जो चिंतेइ सरीरे, नऽत्थि अहं स एव होइ जीवो त्ति ।
नहु जीवम्मि असंते, संसय उप्पायओ अन्नो ॥ २३ ॥

व्याख्या-यश्चिन्तयति शरीरे अत्र लोकप्रतीते नास्त्यहं स एव चिन्तयिता भवति ' जीव इति ' कथमेतदेवमित्याह-न यस्माज्जीवे असति मृतदेहादौ संशयोत्पादकः अन्यः-प्राणादिः, चैतन्यरूपत्वात्संशयस्येति गाथार्थः ।

एतदेव (भाष्यकारः) भावयति—

जीवस्स एस धम्मो, जा ईहा अत्थि नऽत्थि वा जीवो ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

खाणुमणुस्साणुगया, जह ईहा देवदत्तस्स ॥ २४ ॥

व्या०-जीवस्यैव स्वभावः-एष धर्मः या ईहा सदर्थपर्यालोचनात्मिका, किं विशिष्टेत्याह-अस्ति, नाऽस्ति वा जीव इति। लोकप्रसिद्धं निदर्शनमाह-स्थाणुमनुष्यानुगता-किमयं स्थाणुः ?, किं वा पुरुष ?, इत्येवंरूपा या ईहा-देवदत्तस्य जीवतो धर्मः । इति गाथार्थः ।

(भाष्यकारः) प्रकारान्तरेणैतदेवाह—

सिद्धं जीवस्स अत्थित्तं, सद्दादेवाणुमीयए ।
नासओ भुवि भावस्स, सद्दो हवइ केवलो ॥ २५ ॥

व्या०—सिद्धम्-प्रतिष्ठितं जीवस्योपयोगलक्षणस्यास्तित्वं, कुत इत्याह-शब्दादेव जीव इत्यस्मादनुमीयते, कथमेतदेवमित्याह-' नाऽसत ' इति-न असतः-अविद्यमानस्य भुवि पृथिव्यां भावस्य पदार्थस्य शब्दो भवति वाचक इति, खरविषाणादिशब्दैर्व्यभिचारमाशङ्क्याह-केवलः शुद्धः-अन्यपदासंसृष्टः, खरादिपदसंसृष्टाश्च विषाणादिशब्दा इति गाथार्थः ।

एतद्विवरणायैवाह भाष्यकारः—

अत्थि त्ति निव्विगप्पो, जीवो नियमाउ सद्दओ सिद्धो ।
कम्हा सुद्धपयत्ता, घडखरसिंगाणुमाणाओ ॥ २६ ॥

व्या०—अस्तीति निर्विकल्पो जीवः 'निर्विकल्प' इति-निःसंदिग्धः नियमात् नियमेनैव प्रतिपत्त्रपेक्षया शब्दतः सिद्धिः वाच्यवाचकप्रतीतेः । एतदेव प्रश्नद्वारेणाह-कस्मात्कुत एतदेवमिति ? आह-शुद्धपदत्वात्-केवलपदत्वाज्जीवशब्दस्य घटखरशृङ्गानुमानादनुमानशब्दो दृष्टान्तवचनः घटखरशृङ्गदृष्टान्तादिति प्रयोगार्थः , प्रयोगस्तु-मुख्येनार्थेनार्थवान् जीवशब्दः, शुद्धपदत्वात् घटशब्दवत् , यस्तु मुख्येनार्थेनार्थवान्न भवति स शुद्धपदमपि न भवति, यथा खरशृङ्गशब्द इति गाथार्थः ।

पराभिप्रायमाशङ्क्य परिहरन्नाह (भाष्यकारः)—

चोयग ! सुद्धपयत्ता, सिद्धी जइ एव सुन्नसिद्धि अम्हं पि ।
तं न भवइ संतेणं, जं सुन्नं सुन्नगेहं व ॥ २७ ॥

व्या०-उक्तवच्छुद्धपदत्वात्सिद्धिर्यदि जीवस्य एवं तर्हि शून्यसिद्धिरस्माकमपि, शून्यनष्टशब्दस्यापि शुद्धपदत्वादित्यभिप्रायः। अत्रोत्तरमाह- तन्न भवति यदुक्तं परेण । कुत इत्याह-सता विद्यमानेन पदार्थेन यद्-यस्मात् शून्यं शून्यमुच्यते। किंवदित्याह-शून्यगृहमिव, तथा हि-देवदत्तेन रहितं शून्यगृहमुच्यते । निवृत्तो-घटो नष्ट इति, न त्वनयोऽर्जीवशब्दस्य जीववदवशिष्टं वाच्यमस्तीति गाथार्थः ।

प्रकारान्तरेणास्तित्वपक्षमेव समर्थयन्नाह (भाष्यकारः)—

मिच्छा भवेउ सव्वऽत्था, जे केई पारलोइया ।
कत्ता चेवोपभोत्ता य, जइ जीवो न विज्जइ ॥ २८ ॥

व्या०—मिथ्या भवेयुः-अनृताः स्युः सर्वेऽर्था ये केचन पारलौकिका दानादयः, यदि किमित्याह-कर्त्ता चैव कर्मणः उपभोक्ता च तत्फलस्य, यदि जीवो न विद्यते परलोकयायीति गाथार्थः ।

एतदेवाव्युत्पन्नशिष्यानुग्रहार्थं स्पष्टतरमाह(भाष्यकारः)-

पाणिदया-तव-नियमा, बम्भं दिक्खा य इंदियनिरोहो ।
सव्वं निरत्थमेयं, जइ जीवो न विज्जई ॥ २९ ॥

व्या०—प्राणिदया-तपो-नियमाः-करुणोपवासहिंसाविरत्यादिरूपाः, तथा—ब्रह्म—ब्रह्मचर्यम् , दीक्षा च योगलक्षणा इन्द्रियनिरोधः-प्रव्रज्याप्रतिपत्तिरूपः सर्वं निरर्थकं-निष्फलमेतत् , यदि जीवो न विद्यते परलोकयायीति गाथार्थः ।

किंच शिष्टाचरितो मार्गः शिष्टैरनुगन्तव्य इति ।

तन्मार्गख्यापनायाह (भाष्यकारः)—

लोइया वेइया चेव, तहा सामाइया विऊ ।
निच्चो जीवो पिहो देहा, इइ सव्वे ववत्थिया ॥३०॥

व्या०-लोके भवा लोके वा विदिता इति लौकिका-इतिहासादिकर्त्तारः । एवं वैदिकाश्च-त्रैविद्यवृद्धास्तथा सामायिकाः त्रिपिटकादिसमयवृत्तयो विद्वांसः—पण्डिताः नित्यो जीवो नानित्यः । एवं पृथग् देहात्-शरीरादित्येवं सर्वे व्यवस्थिता नान्यथेति गाथार्थः ।

एतदेव व्याचष्टे (भाष्यकारः)—

लोगे अच्छेज्ज भेज्जो, वेए सपुरीसदद्धगसियालो ।
समए अहमासि गओ, तिविहो दिव्वाइसंसारो ॥३१॥

व्या०-लोके अच्छेद्योऽभेद्य आत्मा पठ्यते, यथोक्तं गीतासु-"अच्छेद्योऽयमभेद्योऽय-मविकार्योऽयमुच्यते। नित्यः सर्वगतः स्थाणु-रचलोऽयं सनातनः ॥१॥" इत्यादि । तथा वेदे-"सपुरीषो दग्धः शृगालः पठ्यते " इति, यथोक्तम्-" शृगालो वै एष जायते यः सपुरीषो दह्यते "-अथाऽपुरीषो दह्यते "आक्रोधुका अस्य प्रजाः प्रादुर्भवन्ती" त्यादि । तथा समये "अहमासीद्गजः" इति पठ्यते, तथा च बुद्धवचनम्-"अहमासं भिक्षवो हस्ती, षड्दन्तः शङ्खसंनिभः । शुकः पञ्जरवासी च, शकुन्तो जीवजीवकः " ॥ १ ॥ इत्यादि । तथा त्रिविधो दिव्यादिसंसारः कैश्चिदिष्यते । देवमानुषतिर्यग्भेदेन , आदिशब्दाच्चतुर्विधः—कैश्चिन्नारकाधिक्येनेति गाथार्थः ।

अत्रैव प्रकारान्तरेण तदस्तित्वमाह (भाष्यकारः)—

अत्थि सरीरविहाया, पइनिययागारयाइभावाओ ।
कुंभस्स जह कुलालो, सो मुत्तो कम्मजोगाओ ॥३२॥

व्या०-अस्ति शरीरस्यौदारिकादेर्विधाता विधातेति-कर्त्ता । कुत इत्याह-'प्रतिनियताकारादिसद्भावात् ;' आदिमत्प्रतिनियताकारत्वादित्यर्थः । दृष्टान्तमाह—कुम्भस्य यथा कुलालो विधाता कुलालवदेवमसावपि मूर्त्तः प्राप्नोतीति विरुद्धमाशङ्क्य परिहरन्नाह-स आत्मा यः शरीरविधाता असौ मूर्त्तः कर्मयोगादिति-मूर्तकर्मसंबन्धादिति गाथार्थः ।

(भाष्यकारः) अत्रैव शिष्यव्युत्पत्तये अन्यथा तद्ग्रहणविधिमाह—

फरिसेण जहा वाऊ, गिज्झई कायसंसिओ ।
नाणाईहिं तहा जीवो, गिज्झई कायसंसिओ ॥३३ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्या०-स्पर्शेन-शीतादिना यथा वायुर्गृह्यते कायसंस्थूतो-देहसङ्गतः अदृष्टोऽपि तथा ज्ञानादिभिर्ज्ञानदर्शनेच्छादिभि-र्जीवो गृह्यते कायसंस्थूतो देहसङ्गत इति गाथार्थः।

असकृदनुमानादस्तित्वमुक्तं जीवस्य, अनुमानं च प्रत्यक्ष-पूर्वकं न चैनं कश्चन पश्यन्तीति ततश्चाशोभनमेतदित्याश-ङ्क्याह (भाष्यकारः)—

अणिंदियगुणं जीवं, दुन्नेयं मंसचक्खुणा।
सिद्धा पासंति सव्वन्नू, नाणसिद्धा य साहुणो ॥३४॥

व्या०-अनिन्द्रियगुणम्—अविद्यमानरूपादीन्द्रियग्राह्यगुणं जीवम्-अमूर्त्तत्वादिधर्म्मकं दुर्ज्ञेयं-दुर्लक्ष्यं मांसचक्षुषा-छद्-मस्थेन पश्यन्ति, सिद्धाः-सर्वज्ञा अज्ञानसिद्धादिव्यवच्छेदार्थं सर्वज्ञग्रहणं; ततश्च ऋषभादय इत्यर्थः, ज्ञानसिद्धाश्च साध-वो-भवस्थकेवलिन इति गाथार्थः।

सांप्रतमागमादस्तित्वमाह (भाष्यकारः)—

अत्तवयणं उ सत्थं, दिट्ठा य तत्तो अइंदियाणं पि।
सिद्धी गहणाईणं, तहेव जीवस्स विन्नेया ॥ ३५ ॥

व्या०—आप्तवचनं तु शास्त्रम् आप्तो रागादिरहितः तु-शब्दोऽवधारणे, आप्तवचनमेव अनेन अपौरुषेयव्यवच्छेद-माह, तस्याऽसंभवादिति। दृष्टा च तत इत्युपलब्धा च तत आप्तवचनशास्त्रात् अतीन्द्रियाणामपि इन्द्रियगोचरातिक्रान्तानामपि, सिद्धिर्ग्रहणादीनामिति उपलब्धिभ्रंशोपरागादीनामित्यर्थः, तथैव जीवस्य विज्ञेयेति। अतीन्द्रियस्याप्याप्तवचनप्रामाण्यादिति गाथार्थः। मूलद्वारगाथायां व्याख्यातमस्तित्वद्वारम्। दश० ४ अ०।

(११) अभ्याख्यानम्। आत्मनोऽस्तित्वे—

णेव सयं लोगं अब्भाइक्खेज्जा. णेव अत्ताणं अब्भाइ-क्खेज्जा। जे लोयं अब्भाइक्खइ से अत्ताणं अब्भाइक्खइ, जे अत्ताणं अब्भाइक्खइ से लोयं अब्भाइक्खइ। (सूत्र-३१ +)

नैवात्मानं शरीराधिष्ठातारं ज्ञानगुणं प्रत्यात्मसंवेद्यं प्रत्याचक्षीत तस्य शरीराधिष्ठातृत्वेनाङ्गनमिदं शरीरं केनचिद-भिसंधिमता, तथा त्यक्तमिदं शरीरं केनचिदभिसन्धिमतेत्ये-वमादिभिर्हेतुभिः प्रसाधितत्वात्, न च साधितसाधनं पिष्ट-पेषणवत् विद्वज्जनमनांसि रञ्जयति। आचा०१ श्रु०१अ०४उ०।

अन्यच्च—

आत्मा न विद्यते; तस्य प्रत्यक्षाऽऽदिभिरनुपलभ्यमानत्वात्, तथाहि-न प्रत्यक्षग्राह्योऽसावतीन्द्रियत्वात्, नाप्यनुमानग्राह्यः, अनुमानस्य लिङ्गलिङ्गिनोः साक्षात्सम्बन्धदर्शनेन प्रवृत्तेरिति, आगमगम्योऽपि नाऽसौ, आगमानामन्योऽन्यं विसंवादादिति, अत्रोच्यते-कथमनुपलभ्यमानता ?, कि-मेकपुरुषाश्रिता ?, सकलपुरुषाश्रिता वा ?, यद्येकपुरुषाश्रिता न तयाऽऽत्माऽभावः सिध्यति सत्यपि वस्तुनि तस्याः सम्भवात्, न हि कस्यचित् पुरुषविशेषस्य घटाद्यर्थग्राहकं प्रमाणं न प्रवृत्तमिति सर्वत्र सर्वदा तदभावो निर्णेतुं शक्य इति, नहि प्रमाणनिवृत्तौ प्रमेयं विनिवर्त्तते, प्रमेयकार्य-त्वात् प्रमाणस्य न च कार्याभावे कारणाभावो दृष्ट इत्यनै-कान्तिकताऽनुपलम्भहेतोः, सकलपुरुषाश्रितानुपलम्भस्त्व-सिद्ध इत्यसिद्धो हेतुः, न ह्यसर्वज्ञेन सर्वे पुरुषाः सर्वदा सर्वत्रात्मानं न पश्यन्तीति वक्तुं शक्यमिति, किञ्च-विद्यते आत्मा, प्रत्यक्षादिभिरुपलभ्यमानत्वात्, घटवदिति न चा-यमसिद्धो हेतुः, यतोऽस्मदादिप्रत्यक्षेणाप्यात्मा तावद्गृह्यत एव, आत्मा हि ज्ञानादनन्यः, आत्मधर्म्मत्वात् ज्ञानस्य, तस्य च स्वसंविदितरूपत्वात्, स्वसंविदितत्वे च ज्ञानस्य नीलज्ञानमुत्पन्नमासीदित्यादिस्मृतिदर्शनात् न ह्यस्वसंविदिते ज्ञाने स्मृतिप्रभवो युज्यते, प्रमाणान्तरज्ञानस्यापि स्मृति-गोचरत्वप्रसङ्गादिति, तदेवं तदव्यतिरिक्तज्ञानगुणप्रत्यक्षत्वे आत्मा गुणी प्रत्यक्ष एव, रूपगुणप्रत्यक्षत्वे घटगुणीप्रत्यक्ष-त्ववदिति, उक्तञ्च विशेषावश्यके—

" गुणपच्चक्खत्तणओ, गुणी वि जीवो घडो व्व पच्चक्खो।
घडओ व्व घिप्पइ गुणी, गुणमित्तग्गहणओ जम्हा।१५५८।"

तथा—

"अन्नोऽणन्नो व गुणी, होज्ज गुणेहिं ? जइ णाम सोऽणन्नो।
णणुगुणमित्तग्गहणे, घिप्पइ जीवो गुणी सक्खं ॥ १५५६ ॥
अह अन्नो तो एवं, गुणिणो न घडादयो वि पच्चक्खा।
गुणमित्तग्गहणाओ, जीवंमि कुतो विआरोयं ॥१५६०॥ "

इति, ये तु सकलपदार्थसार्थस्वरूपाविर्भावनसमर्थज्ञानवन्त-स्तेषां सर्वात्मनैव प्रत्यक्ष इति। तथाऽनुमानगम्योऽप्यात्मा, तथाहि-विद्यमानकर्तृकमिदं शरीरं भोग्यत्वाद्, ओदनादिवत् व्योमकुसुमं विपक्षः स च कर्त्ता जीव इति, नन्वोदनकर्तृ-वन्मूर्त आत्मा सिद्ध्यतीति साध्यविरुद्धो हेतुरिति नैव, संसारिणो मूर्त्तत्वेनाप्यभ्युपगमात्, आह च-" जो कत्ता सो जीवो, सज्झविरुद्धो त्ति ते मई होज्जा। मुत्ताइ य सं-गाओ, तत्तो संसारिणो दोसो " ॥ १ ॥ इति। न चायमे-कान्तो; यदुत-लिङ्गयविनाभूतलिङ्गोपलम्भव्यतिरेकेणानु-मानस्यैव एकान्ततोऽप्रवृत्तिरिति हसितादिलिङ्गविशेषस्य ग्रहाख्यलिङ्गयविनाभावग्रहणमन्तरेणापि ग्रहगमकत्वदर्श-नात्। न च देह एव ग्रहो येनाऽन्यदेहे दर्शनमविनाभाव-ग्रहणनियामकं भवतीति, उक्तञ्च(विशे०)-"सो नगंतो जम्हा, लिंगेहिं समं अदिट्ठपुव्वो वि। गहलिंगदरिसणाओ, ग-होऽणुमेओ सरीरम्मि ॥ १५६६ ॥ " इत्यागमगम्यत्व स्वा-त्मनः-' एगे आया ' अत एव वचनात्, न चास्यागमा-न्तरैर्विसंवादः सम्भावनीयः। सुनिश्चिताप्तप्रणीतत्वादस्ये-ति, बहुवक्तव्यमत्र नन्तु स्थानान्तरादवसेयमिति। किञ्च—आत्माभावे जातिस्मरणादयस्तथा प्रेतीभूतपितृपितामहादि कृतानुग्रहोपघातौ च न प्राप्नुयुरिति। स्था० १ ठा०।

(१२) इन्द्रभूतिमुद्दिश्य भगवता महावीरेणोक्तं विस्तरतः जीवास्तित्वम्—

जीवे तुह संदेहो, पच्चक्खं जं न घिप्पइ घडो व्व।
अच्चंता पच्चक्खं, च नऽत्थि लोए खपुप्फं व ॥१५४६॥

आयुष्मन्! इन्द्रभूते! तवैष संदेहः। किमयमात्मा-अस्ति?, नास्ति वा ?, उभयहेतुसद्भावात्, तत्र नास्तित्वहेतवोऽमी-नास्त्यात्मा, प्रत्यक्षेणात्यन्तमगृह्यमाणत्वात्, इह यदत्य-न्ताऽप्रत्यक्षं तल्लोके नास्त्येव, यथा-खपुष्पं, यत्त्वस्ति त-त्प्रत्यक्षेण गृह्यत एव, यथा—घटः इत्यसौ व्यतिरेकदृष्टा-

न्तः। अणवोऽपि ह्यप्रत्यक्षाः, किंतु-घटादिकार्यतया परिणतास्ते प्रत्यक्षत्वमुपयान्ति, न पुनरेवमात्मा कदाचिदपि भावप्रत्यक्षमुपगच्छत्यतोऽत्रात्यन्तविशेषणमिति।

एवं च मन्यसे त्वं किमित्याह-

न य सोऽणुमाणगम्मो, जम्हा पच्चक्खपुव्वयं तं पि।
पुव्वोवलद्धसंबं-धसरणओ लिंगलिंगीणं ॥ १५५० ॥

न चासावात्मानुमानगम्यः यस्मात्तदप्यनुमानं प्रत्यक्षपूर्वकं प्रवर्त्तते, कुत इत्याह-'पुव्वोवलद्धे' त्यादि लिङ्ग्यते-गम्यतेऽतीन्द्रियार्थोऽनेनेति लिङ्गम्; अथ वा-लीनं-तिरोहितमर्थं गमयतीति लिङ्गं धूमकृतकत्वादिकं, तदस्यास्तीति लिङ्गी वह्नयनित्यत्वादिस्तयोर्लिङ्गलिङ्गिनोर्यः पूर्वं महानसादौ प्रत्यक्षादिना उपलब्धकार्यकारणभावादिकः संबन्धस्तस्य यत् स्मरणं तस्मादिति। इदमुक्तं भवति-पूर्वं महानसादावग्निधूमयोर्लिङ्गिलिङ्गयोरन्वयव्यतिरेकवन्तमविनाभावमध्यक्षतो गृहीत्वा तत उत्तरकालं क्वचित्कान्तारपर्वतनितम्बाऽऽदौ गगनाऽवलम्बिनीं धूमलेखामवलोक्य प्राग्गृहीतं संबन्धमनुस्मरति, तद्यथा-"यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र प्रागहं वह्निम् अद्राक्षं" यथा-महानसादौ, धूमश्चात्र दृश्यते तस्माद्वह्निनापीह भवितव्यम् इत्येवं लिङ्गग्रहणसंबन्धस्मरणाभ्यां तत्र प्रमाता हुतभुजमवगच्छति; न चैवमात्मना लिङ्गिना सार्द्धं कस्यापि लिङ्गस्य प्रत्यक्षेण संबन्धः सिद्धोऽस्ति, यतः तत्संबन्धमनुस्मरतः पुनस्तल्लिङ्गदर्शनाज्जीवे संप्रत्ययः स्यात्। यदि पुनर्जीवलिङ्गयोः प्रत्यक्षतः संबन्धसिद्धिः स्यात्तदा जीवस्यापि प्रत्यक्षत्वात्तस्यानुमानवैयर्थ्यं स्यात्तत एव तत्सिद्धेरिति।

एतदेवाह—

न य जीवलिंगसंबं-धदरिसणमभू जओ पुणो सरओ।
तल्लिंगदरिसणाओ, जीवे संपच्चओ होज्जा ॥१५५१॥

गतार्था। न च वक्तव्यं सामान्यतो दृष्टात् अनुमानात् आदित्यादिगतिवज्जीवः सिध्यति, यथा-गतिमानादित्यो, देशान्तरप्राप्तेः देवदत्तवदिति, यतो हन्त देवदत्ते दृष्टान्तधर्मिणि सामान्येन देशान्तरप्राप्तिं गतिपूर्विकां प्रत्यक्षेणैव निश्चित्य सूर्येऽपि तां तथैव प्रमाता साधयतीति युक्तम्, न चैवमत्र क्वचिदपि दृष्टान्ते जीवसत्त्वेनाविनाभूतः कोऽपि हेतुरध्यक्षेणोपलक्ष्यते इति। अतो न सामान्यतो दृष्टादप्यनुमानात्सङ्गतिरिति।

न चाऽऽगमगम्योऽपि जीव इति दर्शयति—

नाऽऽगमगम्मो वि तओ, भिज्जइ जं नागमोऽणुमाणाओ।
न य कासइ पच्चक्खो, जीवो जस्साऽऽगमो वयणं ॥१५५२॥

न चागमगम्योऽपि तकोऽसौ जीवो, यद्-यस्मादागमोऽपि अनुमानाद् न भिद्यते (इत्यादिगाथार्द्धव्याख्यानं 'आगम' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गतम्)। न चैवमसौ आत्मशब्दः शरीराद् ऋते--अन्यत्र प्रयुज्यमानः क्वचिदुपलब्धो, यत्र तत्त्वात्मशब्दश्रवणाद् आत्मा इति प्रत्ययो भवेदिति। यदपि स्वर्गनरकाद्यदृष्टार्थविषयं शाब्दं प्रमाणं, तदपि तत्त्वतोऽनुमानं, नातिवर्तते। तथाहि-प्रमाणं स्वर्गनरकाद्यदृष्टार्थविषयं वचनम्, अविसंवादिवचनाप्तप्रणीतत्वाच्चन्द्रार्कोपरागादिवचनवदित्येवमनुमानादेव तत्र प्रमाणता। न चैवं भूतमाप्तं कमपि पश्यामो, यस्यात्मा प्रत्यक्ष इति तद्वचनमागम इति प्रतिपद्येमहि इति शेषः।

किं च--

जं चाऽऽगमा विरुद्धा, परोप्परमओ वि संजुत्तो।
सव्वप्पमाणविसया-इओ जीवो त्ति तो बुद्धी ॥१५५३॥

यतश्च तीर्थिकानां संबन्धिनः सर्वेऽप्यागमाः परस्परविरोधिनः खल्वतोऽपि संशय एवात्मनो युक्तो; न तु निश्चयः, तथाहि-केचिदागमा आत्मनो नास्तित्वमेव प्रतिपादयन्ति, यदाहुर्नास्तिकाः—"एतावानेव लोकोऽयं यावानिन्द्रियगोचरः। भद्रे! वृकपदं पश्य, यद्वदन्ति बहुश्रुताः" ॥ १ ॥ इत्यादि, भट्टोऽप्याह-"विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न च प्रेत्य संज्ञास्ति"। सुगतस्त्वाह-"न रूपं भिक्षवः पुद्गलः" इत्यादि। आत्मास्तित्ववचनान्यप्यागमेषु श्रूयन्ते, तथा च वेदः-"न ह वै सशरीरस्य प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति, अशरीरं वा वसन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशत" इति। तथा-"अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः" इत्यादि। कापिलागमे तु प्रतिपाद्यते-"अस्ति पुरुषः अकर्ता निर्गुणो भोक्ता चिद्रूपः" इत्यादि। तस्मादागमानां परस्परविरुद्धत्वान्नागमप्रमाणादप्यात्मसत्त्वसिद्धिः। इदं च वैशेषिकमतेन प्रत्यक्षानुमानागमलक्षणं प्रमाणत्रयमुपन्यस्तम्॥ एतच्च स्वयं द्रष्टव्यम्—उपमाप्रमाणगम्योऽपि जीवो न भवति। तत्र हि 'यथा गौस्तथा गवय' इत्यादावेव सादृश्यमसन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिमुत्पादयति। न चेहाऽन्यः कश्चित् त्रिभुवनेऽप्यात्मसदृशः पदार्थोऽस्ति, यद्दर्शनादात्मानमवगच्छामः। कालाऽऽकाशदिगादयो जीवतुल्या विद्यन्ते इति चेत्?, न, तेषामपि विवादास्पदीभूतत्वेन तदंहि(द्धि)वद्धत्वात्। अर्थापत्तिसाध्योऽपि जीवो न भवति, न हि दृष्टः श्रुतो वा कोऽप्यर्थ आत्मानमन्तरेण नोपपद्यते, यद्बलात्तं साधयामः, तस्मात्सर्वप्रमाणविषयातीतो जीव इति तव बुद्धिः, भावोपलम्भप्रमाणपञ्चकविषयातीतत्वात् प्रतिषेधसाधकाऽभावाख्यषष्ठप्रमाणविषय एव जीव इत्यर्थः। इति पूर्वपक्षः।

अथैतत्प्रतिविधानमाह—

गोयम! पच्चक्खो च्चिय, जिवो जं संसयाइविन्नाणं।
पच्चक्खं च न सज्झं, जह सुह-दुक्खा सदेहम्मि ॥१५५४॥

गौतम! भवतोऽपि प्रत्यक्ष एवायं जीवः, किमन्येन प्रमाणान्तरोपन्यासेन?, कोऽयं जीवो मम प्रत्यक्ष? इति चेत्, उच्यते—यदेतत्—तवैव संशयादिविज्ञानं स्वसंवेदनसिद्धं हृदि स्फुरति। स एव जीवः, संशयादिज्ञानस्यैव तदनन्यत्वेन जीवत्वात्। यच्च प्रत्यक्षं तद् न प्रमाणान्तरेण साध्यं, तथा-स्वशरीर एवात्मसंवेदनसिद्धाः सुखदुःखादयः, प्रत्यक्षसिद्धमपि सग्रामनगरं विश्वं शून्यवादिनं प्रति साध्यत एवेति चेत्, नैवम्, निरालम्बनाः सर्वे प्रत्ययाः, प्रत्ययत्वात्, स्वप्नप्रत्ययवद्, इत्यादेस्तदुद्भावितबाधकप्रमाणस्यैव तत्र निराकरणाद्, अत्र त्वात्मग्राहके प्रत्यक्षे बाधकप्रमाणाऽभावादिति।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इतश्चायं प्रत्यक्षो जीवः कुत ? इत्याह—

कयवं करेमि काहं, वाहमहं पच्चया इमाऊ य ।
अप्पा स पच्चक्खो, तिकालकज्जोवएसाओ ॥१५५५॥

'वा' इति-अथवा—कृतवानहं, करोम्यहं, करिष्याम्यहम्, उक्तवानहं, ब्रवीम्यहं, वक्ष्याम्यहं, ज्ञातवानहं, जानेऽहं, ज्ञास्याम्यहम्, इत्यादिप्रकारेण योऽयं त्रैकालिकः कार्यव्यपदेशस्तद्विषयप्रयुज्यमानतया तत्समुत्थो योऽयम्—'अहंप्रत्यय' एतस्मादपि प्रत्यक्ष एवायमात्मेति प्रपद्यस्व, अयं 'अहंप्रत्ययो' नानुमानिकः, अलैङ्गिकत्वात् नाप्यागमादिप्रमाणसंभवः, तदनभिज्ञानानां बालगोपालादीनामप्यन्तर्मुखतया आत्मग्राहकत्वेन स्वसंविदितस्य तस्योत्पादाद् घटादौ चानुत्पादादिति ।

अपि च—

कह पडिवन्नमहं ति य,किमत्थि नऽत्थि त्ति संसओ कह णु।
सइ संसयंमि वायं, कस्साऽहंपच्चओ जुत्तो ॥१५५६॥

हन्त कथमसति जीवे 'अहमिति' प्रतिपन्नं त्वया विषयाभावे विषयिणोऽनुत्थानप्रसङ्गाद्देह एवास्य प्रत्ययस्य विषय इति चेत्, न, जीवविप्रमुक्तेऽपि देहे तदुत्पत्तिप्रसङ्गात्, सति च जीवविषये अस्मिन्नहंप्रत्यये किमहमस्मि नास्मीति भवतः संशयः कथं केन प्रकारेणोपजायते ?, अहंप्रत्ययग्राह्यस्य जीवस्य सद्भावाद् अस्म्यहमिति निश्चय एव युज्यते इति भावः । सति वा अस्मिन्नात्मास्तित्वसंशये कस्यायम् 'अहंप्रत्ययो' युज्यते निर्मूलत्वेन तदनुत्थानप्रसङ्गादिति ।

जीवाभावे संशयविज्ञानमपि न युज्यत एवेति तद्दर्शयन्नाह—

जइ नऽत्थि संसय च्चिय,किमत्थि नऽत्थि त्ति संसओ कस्स।
संसइए व सरूवे, गोयम ! किमसंसयं होज्जा ॥१५५७॥

यदि संशयी जीव एवादौ नास्ति, तर्ह्यस्ति नास्तीति संशयः कस्य भवतु । संशयो हि विज्ञानाख्यो गुण एव, न च गुणिनमन्तरेण गुणः संभवति । देहोऽत्र गुणीति चेत्, न देहस्य मूर्त्तत्वाज्जडत्वाच्च ज्ञानस्य चामूर्त्तत्वाद् बोधरूपत्वाच्च न चाननुरूपाणां गुणगुणिभावो युज्यते, आकाशरूपादीनामपि तद्भावापत्त्या अतिप्रसङ्गप्राप्तेः । 'संसइए वे' त्यादि, 'वा' इति-अथवा संशयिते स्वरूपे गौतम ! किमसंशयं शेषं भवेद् ? । इदमुक्तं भवति—किमस्मि नास्म्यहमित्येवं यः स्वरूपेऽपि संशेते-आत्मनिश्चयोऽपि यस्य नास्तीत्यर्थः, तस्य शेषं कर्मबन्धमोक्षादिकं घटपटादिकं च किमसंशयम्-असंदिग्धं स्यात् ? न किंचित्सर्वसंशय एव तस्य स्यादित्यर्थः, आत्मास्तित्वनिश्चयमूलो हि शेषवस्तुनिश्चय इति भावः । अहंप्रत्ययग्राह्यं च प्रत्यक्षमात्मानं निह्नुवानस्य अश्रावणः शब्द इत्यादिवत्प्रत्यक्षविरुद्धो नाम पक्षाऽऽभासः, तथा-वक्ष्यमाणात्मास्तित्वानुमानसद्भावात्-अनित्यः शब्द इत्यादिवदनुमानविरुद्धोऽपि । तथा-अहमस्मि संशयीति प्रागभ्युपगम्योत्तरत्र नास्मीति प्रतिजानानस्य साङ्ख्यस्य अनित्यः कर्त्ता अचेतनः आत्मेत्यादिवदभ्युपगमविरोधः । बालगोपालाङ्गनादिप्रसिद्धं चात्मानं निराकुर्वतः अचन्द्रः शशी इत्यादिवल्लोकविरोधः, अहं नाहं चेति वदतो 'माता मे वन्ध्या' इत्यादिवत्स्ववचनव्याहतिः । एवं च प्रत्यक्षादिबाधितेऽस्मिन् पक्षे अपक्षधर्मतया हेतुरप्यसिद्धः । हिमवत्पलपरिमाणादौ पिशाचादौ च प्रमाणपञ्चकाभावस्य प्रवृत्तेरनैकान्तिकोऽपि वक्ष्यमाणानुमानप्रमाणसिद्धे चात्मनि विपक्ष एव वृत्तेर्विरुद्धश्चेति ।

प्रकारान्तरेणाप्यात्मनः प्रत्यक्षसिद्धतामाह—

गुणपच्चक्खत्तणओ, गुणी वि जीवो घडो व्व पच्चक्खो ।
घडओ वि घेप्पइ गुणी,गुणमित्तग्गहणओ जम्हा१५५८।

प्रत्यक्ष एव गुणी जीवः स्मृतिजिज्ञासाचिकीर्षाजिगमिषासंशीत्यादिज्ञानविशेषाणां तद्गुणानां स्वसंवेदनप्रत्यक्षसिद्धत्वात्, इह यस्य गुणाः प्रत्यक्षाः स प्रत्यक्षो दृष्टो, यथा घटः, प्रत्यक्षगुणश्च जीवः, तस्मात्प्रत्यक्षः यथा घटोऽपि गुणी रूपादिगुणप्रत्यक्षत्वादेव प्रत्यक्षस्तद्वद्विज्ञानादिगुणप्रत्यक्षत्वाद्दात्मापीति । आह—अनैकान्तिकोऽयं यस्मादाकाशगुणः शब्दः प्रत्यक्षोऽस्ति, न पुनराकाशमिति । तदयुक्तम्, यतो नाकाशगुणः शब्दः, किं तु पुद्गलगुणः, ऐन्द्रियकत्वात्, रूपादिवदिति ।

गुणानां प्रत्यक्षत्वे गुणिनस्तद्रूपतायां किमायातम् ?, इति चेद्, उच्यते—

अन्नोऽणन्नो व गुणी, होज्ज गुणेहिं जइ नाम सोऽणन्नो ।
ननु गुणमेत्तग्गहणे, घेप्पइ जीवो गुणी सक्खं ।१५५९।
अह अन्नो तो एवं, गुणिनो न घडादओ वि पच्चक्खा।
गुणमेत्तग्गहणाओ, जीवम्मि कओ वियारोऽयं ॥१५६०॥

ननु भवता गुणेभ्यो गुणी किमर्थान्तरभूतोऽभ्युपगम्यते, अनर्थान्तरभूतो वा ? । यदि नाम-सोऽनन्यस्तेभ्योऽनर्थान्तरभूतः तर्हि ज्ञानादिगुणग्रहणमात्रादेव गुणी जीवः प्रत्यक्षेण गृह्यत इति सिद्धमेव । प्रयोगः-यो यस्मादनर्थान्तरं स तद्ग्रहणेन गृह्यते, यथा वाससि रागो, गुणेभ्योऽनर्थान्तरं च गुणी, तस्माद् गुणग्राहकप्रत्यक्षेण सोऽपि गृह्यत एवेति । अथ गुणेभ्योऽन्योऽर्थान्तरभूत एव गुणी, तत एवं सति घटादयोऽपि गुणिनः न प्रत्यक्षास्तदर्थान्तरभूतस्य रूपादिगुणमात्रस्यैव ग्रहणात् । इह यद्-यस्मादर्थान्तरभूतं तद्ग्रहणेऽपि नेतरस्य ग्रहणं, यथा घटे गृहीते पटस्य, अर्थान्तरभूताश्च गुणिनो गुणा इष्यन्ते अतो गुणग्रहणेऽपि न गुणिग्रहणम् । अतो घटादीनामपि समानेऽग्रहणदोषे कोऽयं नाम भवतः केवलजीवे विचारो नास्तित्वविवक्षा, येनोच्यते-"पच्चक्खं जं न घिप्पइ घडो व्व" इत्यादि, अथ द्रव्यविरहिताः केऽपि न सन्त्येव गुणाः, इत्यतस्तद्ग्रहणद्वारेण गृह्यन्त एव घटादयः । नन्वेतदात्मन्यपि समानमत्र । किं च-गुणिनो गुणानामर्थान्तरत्वे अभ्युपगम्यमाने गुणीभवतु, मा भूद्वा प्रत्यक्षः, तथापि ज्ञानादिगुणेभ्यः पृथगात्मा गुणी त्वदभ्युपगमेनापि सिद्ध्यत्येवेति ।

अत्र पराभिप्रायमाशङ्कमानः प्राह—

अहमन्नसि अत्थि गुणी, न य देहत्थंतरं तओ। किं तु ।
देहे नाणाइगुणा, सो च्चिय तेसिं गुणी जुत्तो ॥१५६१।

अथ मन्यसे अस्त्येव ज्ञानादिगुणानां गुणिनैव तं प्रत्या-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चक्ष्महे. एतत्तु नाभ्युपगच्छामो यद्देहादर्थान्तरं तको ऽसौ इति,किन्तु-देह एव ज्ञानादयो गुणाः समुपलभ्यन्ते अतः स एव तेषां गुणी युक्तो, यथा रूपादीनां घटः प्रयोगः देहगुणा एव ज्ञानादयः, तत्रैवोपलभ्यमानत्वाद्गौरकृशस्थूलतादिवदिति ।

अत्रोत्तरमाह-

नाणादओ न देहस्स, मुत्तिमत्ताइओ घडस्सेव ।
तम्हा नाणाइगुणा, जस्स स देहाहिओ जीवो ॥१५६२॥

प्रयोगो देहस्य संबन्धिनो ज्ञानादयो गुणा न भवन्त्येव तस्य मूर्तिमत्त्वात्, चाक्षुषत्वाद्वा, घटवत् । न च द्रव्यरहितो गुणः समस्ति ततो यो ज्ञानादिगुणानामनुरूपः अमूर्तः, अचाक्षुषश्च गुणी स देहातिरिक्तो जीवो ज्ञातव्यः । आह— ज्ञानादयो न देहस्येति प्रत्यक्षबाधितमिदम्, देह एव ज्ञानादिगुणानां प्रत्यक्षेणैव ग्रहणात् । तदयुक्तम्, अनुमानबाधितत्वादस्य प्रत्यक्षस्य, तथा हि-इहेन्द्रियातिरिक्तो विज्ञाता, तदुपरमेऽपि तदुपलब्धार्थानुस्मरणात्, यो हि यदुपरमेऽपि यदुपलब्धमर्थमनुस्मरति स तस्मादर्थान्तरं दृष्टः, यथा-पञ्चवातायनोपलब्धार्थानुस्मर्ता देवदत्त इत्यादि वायुभूतिप्रश्ने । वक्ष्याम इति ॥

उपसंजिहीर्षुराह—

इय तुह देसेणाऽयं, पच्चक्खो सव्वहा महं जीवो ।
अविहयनाणत्तणओ, तुह विन्नाणं व पडिवज्जा ।१५६३।

'इति'-एवम्-उक्तप्रकारेण स्वशरीरे तथापि देशतः प्रत्यक्षोऽयमात्मा छद्मस्थत्वेन भवतः सर्वस्यापि वस्तुनो देशविषयत्वात्, घटवत्, तथाहि-सर्वमपि स्व-परपर्यायतोऽनन्तपर्यायं वस्तु छद्मस्थश्च प्रत्यक्षेण साक्षात् तद्देशमेव गृह्णाति । प्रत्यक्षेण च प्रदीपादिप्रकाशेनैव देशतः प्रकाशिता अपि घटादयो व्यवहारतः प्रत्यक्षा उच्यन्त एव । सर्वात्मना च केवली प्रत्यक्षमेव वस्तु प्रकाशयति अतो मम ऽप्रतिहताऽनन्तज्ञानत्वेन सर्वात्मनाऽपि प्रत्यक्षोऽयं जीवो यथाऽतीन्द्रियमपि त्वत्संशयविज्ञानमिति प्रतिपद्यस्वेति ।

परशरीरे तर्हि कथमित्याह—

एवं वि य परदेहे, ऽणुमाणओ गिण्ह जीवमत्थि त्ति ।
अणुवित्तिनिवित्तीओ, विन्नाणमयं सरूवे व्व ॥१५६४॥

यथा स्वदेहे, एवं परदेहेऽपि गृहाण जीवमनुमानतः कथम् ? इत्याह— अस्ति—विद्यते इति । कथंभूतं जीवम् ? इत्याह- विज्ञानमयं-विज्ञानात्मकम् अनुमानमेव सूचयन्नाह- 'अणुवित्तिनिवित्तीओ' 'सरूवे व' त्ति—इदमुक्तं भवति- परशरीरेऽप्यस्ति जीवः । इष्टानिष्टयोः प्रवृत्तिनिवृत्तिदर्शनात् यथा-स्वरूपे स्वात्मनि इह यत्रेष्टानिष्टयोः प्रवृत्तिनिवृत्ती दृश्येते तत्सात्मकं दृष्टं यथा स्वशरीरं तथा च प्रवृत्तिनिवृत्ती दृश्येते परशरीरे, अतस्तदपि सात्मकम् आत्माभावे चेष्टानिष्टप्रवृत्तिनिवृत्ती न भवतो, यथा घटे. इत्यनुमानात्परशरीरेऽपि जीवसिद्धिः ।

अत्र परमतमाशङ्क्योत्तरमाह—

जं च न लिंगेहिँ समं, मन्नसि लिंगी पुरा जओ गहिओ ।
संगं ससेण व समं, न लिंगओ तोऽणुमेगं सो ॥१५६५॥

सोऽणेगंतो जम्हा, लिंगेहिँ समं न दिट्ठपुव्वो वि ।
गहलिंगदरिसणाओ,गहोऽणुमेओ सरीरम्मि ॥१५६६॥

यच्च न य जीवलिङ्गसंबन्धदरिसणमभू० ।१५५१। ' इत्यादि पूर्वोक्तपूर्वपक्षानुसारेण मन्यसे त्वम् । किमित्याह—ततो न लिङ्गतो-लिङ्गादनुमेयोऽसौ जीवः । यतः, किमित्याह-यतो न खलु लिङ्गैः कैश्चिदपि समं लिङ्गी जीवः क्वापि केनापि पुरा पूर्वं गृहीतः, किंवदित्याह—शृङ्गमिव शशकेन समं ततो लिङ्गलिङ्गिनोः पूर्वं संबन्धाग्रहणान्न लिङ्गाज्जीवोऽनुमीयत इति यन्मन्यसे त्वं, तत्र प्रतिविधीयते-सोऽनेकान्तः यस्माल्लिङ्गैः समम् अदृष्टपूर्वोऽपि ग्रहो-देवयोनिविशेषतः, शरीरे हसनगानरोदनकरचरणभ्रूविक्षेपादिविकृतमहालिङ्गदर्शनादनुमीयत इति बालानामपि प्रतीतमेवेति ॥

अनुमानान्तरमप्यात्मसाधकमाह—

देहस्सऽत्थिविहाया, पइनिययागारओ घडस्सेव ।
अक्खाणं च करणओ, दंडाईणं कुलालो व्व ॥१५६७॥

देहस्यास्ति विधाता-कर्त्तेति प्रतिज्ञा, आदिमत्प्रतिनियताकारत्वाद्, घटवत्, यत्पुनरकर्तृकं तदादिमत्प्रतिनियताकारमपि न भवति, यथा अभ्रविकारः, यश्च देहस्य कर्ता स जीवः । प्रतिनियताऽऽकारत्वं मेर्वादीनामप्यस्ति, न च तेषां कश्चिद्विधाता, इति तैरनैकान्तिको हेतुः स्याद्, अतोऽनुक्तमप्यादिमत्त्वविशेषणं द्रष्टव्यमिति । तथा अक्षाणाम्—इन्द्रियाणामस्त्यधिष्ठाता इत्यध्याहारः, करणत्वात् यथा चक्रचीवरमृत्सूत्रदण्डादीनां कुलालः, यच्च निरधिष्ठातृकं तत्करणमपि न भवति, यथा आकाशं, यश्चेन्द्रियाणामधिष्ठाता स जीव इति ।

तथा—

अत्थिंदियविसयाणं, आयाणादेयभावओऽवस्सं ।
कम्मार इवादाया, लोए संडासलोहाणं ॥ १५६८ ॥

इह यत्रादानादेयभावस्तत्रावश्यमादाता समस्ति, यथा लोके संदंशकलोहानां कर्मारोऽयस्कारः विद्यते चेन्द्रियविषयाणामादानादेयभावः, अतस्तेषामप्यस्त्यादाता, स च जीवः, यत्र त्वादाता नास्ति, तत्रादानादेयभावोऽपि न विद्यते यथा आकाश इति ।

तथा—

भोत्ता देहाईणं, भोज्जत्तणओ नरो व्व भत्तस्स ।
संघायाइत्तणओ, अत्थि य अत्थी घरस्सेव ॥१५६९॥

इह देहादीनां भोक्ता समस्ति, भोग्यत्वात्, यथा शाल्यादिभक्तवस्त्रादीनां नरः, यस्य च भोक्ता नास्ति तद्भोग्यमपि न भवति, यथा खरविषाणं, भोग्यं च शरीरादिकं, ततो विद्यमानभोक्तृकमिति । तथा- अर्थी-स्वामी । ततश्च देहादीनां विद्यते स्वामी, संघातरूपत्वाद् आदिशब्दात्- मूर्तिमत्त्वात् ऐन्द्रियकत्वाच्चाक्षुषत्वाद् इत्यादयोऽप्यनैकान्तिकत्वपरिहारार्थं संभवद्विहितविशेषणा हेतवो योजनीयाः, यथा गृहादीनां सूत्रधारादय इति दृष्टान्तः, यत् पुनरस्वामिकं तत्संघातादिरूपमपि न भवति, यथा गगनकुसुमं, संघातादिरूपं च देहादिकं तस्माद्विद्यमानस्वामिकमिति ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आह-ननु " देहस्सऽत्थि विहाया (१५६७) " इत्यादिना शरीरादीनां कर्त्रादय एव सिध्यन्ति ! न तु प्रस्तुतो जीवः, इत्याशङ्क्यांऽपरमाक्षेपपरिहारौ चाह—

जो कत्ताइ स जीवो, सज्झविरुद्धो त्ति ते मई होज्जा ।
मुत्ताइपसंगाओ, तं न संसारिणो दोसो ॥ १५७० ॥

यश्चायमनन्तरं देहेन्द्रियादीनां कर्त्ता; अधिष्ठाता, आदाता, भोक्ता, अर्थी, चोक्तः स सर्वोऽपि जीव एव, अन्यस्येश्वरादेर्युक्त्यक्षमत्वेन कर्तृत्वाद्यसंभवादिति । अथ साध्यविरुद्धसाधकत्वाद्विरुद्धा एते हेतव इति तव मतिर्भवेत् तथा हि-घटादीनां कर्त्रादिरूपाः कुलालादयो मूर्तिमन्तः संघातरूपा अनित्यादिस्वभावाश्च दृष्टा इत्यतो जीवोऽप्येवंविध एव सिध्यति, एतद्विपरीतश्च किलास्माकं साधयितुमिष्टः, इत्येवं साध्यविरुद्धसाधकत्वं हेतूनामिति, तदेतदयुक्तत्वाच्च, यतः खलु संसारिणो जीवस्य साधयितुमिष्टस्याऽदोषोऽयं, स हि अष्टकर्मपुद्गलसंघातोपगूढत्वात् सशरीरत्वाच्च कथंचिन्मूर्त्तत्वादिधर्मयुक्त एवेति भावः ।

अपरमप्यात्मसाधकमनुमानमाह—

अत्थि च्चिय ते जीवो, संसयओ सोम्म ! थाणुपुरिसो व्व ।
जं संदिद्धं गोयम !, तं तत्थऽन्नत्थ वत्थु(त्थि)धुवं ।१५७१।

हे सौम्य ! गौतम ! अस्त्येव तव जीवः संशयतः-संशयसद्भावात्, यत्र यत्र संशयस्तत्तदस्ति यथा स्थाणुपुरुषौ, संशयश्च तव जीवे, तस्मादस्त्येवायं, तथाहि-स्थाणुपुरुषयोरूर्ध्वत्वारोहपरिणाहाद्युभयसाधारणधर्मप्रत्यक्षतायां चलनशिरःकण्डूयनवयोनिलयनवल्ल्यारोहणाद्युभयगतविशेषधर्माप्रत्यक्षतायां चोभयगतैतद्धर्मानुस्मरणे च सत्येकतरविशेषनिश्चयचिकीर्षोः किमिदमिति विमर्शरूपः संशयः प्रादुरस्ति । एवंभूते च स्थाणुपुरुषादिगतसंशये तत्स्थाणुपुरुषादिकं वस्त्वस्त्येव, अवस्तुनि संशयायोगात् एवमात्मशरीरयोरपि प्रागुपलब्धसामान्यविशेषधर्मस्य प्रमातुस्तयोः सामान्यधर्मप्रत्यक्षतायां विशेषधर्माऽप्रत्यक्षत्वेऽपि च तद्विषयानुस्मृतौ सत्यामेकतरविशेषोपलिप्सोः ' किमयमात्मा किं वा शरीरमात्रमिदम् ' इति, विमर्शरूपः संशयो जायते । अयं चात्मशरीरयोः सत्त्व एवोपपद्यते, नैकतरस्याप्यभावे-अतोऽस्ति जीवः । अथैवं ब्रूषे-अरण्यादिषु स्थाणुपुरुषसंशये तत्र विवक्षितप्रदेशे अनयोरेकतर एव भवति, न पुनरुभयमपि तत्कथमुच्यते-विद्यमान एव वस्तुनि संशयो भवति इति ?, तदयुक्तम् , अभिप्रायाऽपरिज्ञानात् , न हि वयमेवं ब्रूमस्तत्रैव प्रदेशे तदुभयमप्यस्ति इति, किं तु यद्गतसंदेहः तद्वस्तु तत्राऽन्यत्र वा प्रदेशे ध्रुवमस्त्येव, अन्यथा-षष्ठभूतविषयोऽपि संशयः स्यादेतदेवाह-' जं संदिद्धमि ' त्यादितस्मात् संशयविषयत्वादस्त्येव जीव इति स्थितम् ।

अथ पूर्वपक्षमाशङ्क्य परिहरन्नाह—

एवं नाम विसाणं, खरस्स पत्तं न तं खरे चेव ।
अन्नत्थ तदत्थि च्चिय, एवं विवरीयगाहे वि ॥१५७२॥

हन्त; यदि यत्र संशयस्तेनाऽवश्यमेव भवितव्यम् , एवं ततः खरविषाणमप्यस्तीति प्राप्तं, तथापि कस्यचित्संशयसद्भावाद् उच्यते-नन्वभिहितमत्र यदुत तत्राऽन्यत्र वा विद्यमान एव वस्तुनि संशयो भवति, नाविद्यमाने । खरस्य विषाणं खरविषाणं नास्तीत्यत्र च कोऽर्थः इत्याह-' न तं खरे चेव ' त्ति-खर एव तद्विषाणं नास्ति, अन्यत्र गवादौ-वस्त्येवेति; न कश्चिद् व्यभिचारः । एवं ' विवरीयगाहे वि ' त्ति-इदमुक्तं भवति-यदा विपर्यस्तः कश्चित्स्थाणौ पुरुष एवायमित्यादिविपरीतग्रहं करोति तदाप्ययमेव न्यायो वाच्यः-सोऽपि विपरीतग्रहो विपरीते पुरुषादिके वस्तुनि सत्येवोपपद्यते; नाविद्यमान इत्यर्थः । एवं भवदभिप्रायेण योऽस्मादृशां शरीरे आत्मास्तित्वाभिमानो , नायमात्मनः सर्वथा नास्तित्वे युज्यते इति ।

इतोऽप्यस्ति जीवः कुत ?, इत्याह—

अत्थि अजीवविवक्खो, पडिसेहाओ घडोऽघडस्सेव ।
नऽत्थि घडो त्ति व जीव-त्थित्तपरो नऽत्थि सद्दोयं ।१५७३।

अत्र प्रयोगः-प्रतिपक्षवानयमजीवः, अत्र व्युत्पत्तिमच्छुद्धपदप्रतिषेधाद् यत्र व्युत्पत्तिमतः शुद्धपदस्य प्रतिषेधो दृश्यते स प्रतिपक्षवान् दृष्टो, यथा घटोऽघटप्रतिपक्षवान् , अत्र ह्यघटप्रयोगे शुद्धस्य व्युत्पत्तिमतश्च पदस्य प्रतिषेधः, अतोऽवश्यं घटलक्षणेन प्रतिपक्षेण भवितव्यम् । यस्तु न प्रतिपक्षवान् न तत्र शुद्धस्य व्युत्पत्तिमतश्च पदस्य प्रतिषेधः, यथा—अखरविषाणम् , ' अडित्थ ' इति—अखरविषाणमित्यत्र खरविषाणलक्षणस्याऽशुद्धस्य सामासिकपदस्य प्रतिषेध इति, अतोऽत्र खरस्य विषाणं खरविषाणमित्यादिव्युत्पत्तिमत्त्वे सत्यपि खरविषाणलक्षणो विपक्षो नास्ति ' अडित्थ ' इत्यत्र तु व्युत्पत्तिरहितस्य डित्थस्य-डित्थपदस्य प्रतिषेध इति समासरहितत्वेन शुद्धत्वे सत्यपि नावश्यमवस्थितो डित्थलक्षणः कोऽपि पदार्थो जीववद्विपक्षभूतोऽस्तीति ।

' नऽत्थि घडो त्ति व ' इत्यादि पश्चार्धम् । ' नास्त्यात्मा ' इति च योऽयमात्मनिषेधध्वनिः स जीवास्तित्वे नान्तरीयक एव, यथा नास्त्यत्र घट इति शब्दोऽन्यत्र घटास्तित्वाविनाभाव्येव । प्रयोगः-यस्य निषेधः क्रियमाणो दृश्यते तत् क्वचिदस्त्येव, यथा घटादिकम् , निषिध्यते च भवता ' नास्ति जीवः ' इति वचनात् जीवः, तस्मादस्त्येव असौ, यच्च सर्वथा नास्ति तस्य निषेधो न दृश्यत एव, यथा खरविषाणकल्पानां पञ्चभूतातिरिक्तभूतानां निषिध्यते च त्वया जीवः, तस्मान्निषेध एवायं तत्सत्त्वसाधक इति ।

अनैकान्तिकोऽयं हेतुः; असतोऽपि खरविषाणादेर्निषेधदर्शनादित्याशङ्क्याह—

असओ नऽत्थि निसेहो, संजोगाइपडिसेहओ सिद्धं ।
संजोगाइचउक्कं, पि सिद्धमत्थंतरे निययं ॥ १५७४ ॥

असतः-अविद्यमानस्य नास्ति-न संभवत्येव निषेध इति सिद्धम् । कुत इत्याह संयोगादिप्रतिषेधाद् , आदिशब्दात्-समवायसामान्यविशेषपरिग्रहः । एतदुक्तं भवति-इह यत्किञ्चित्क्वचित् देवदत्तादिकं निषिध्यते तस्यान्यत्र सत एव विवक्षितस्थाने कस्मिंश्चित्संयोग-समवाय-सामान्य-विशेषलक्षणं चतुष्टयमेव निषिध्यते, न तु सर्वथैव देवदत्तादेर-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावः प्रतिपाद्यते । तत्र 'नास्ति गृहे देवदत्त' इत्यादिषु गृहदेवदत्तादीनां सतामेव संयोगमात्रं निषिध्यते, न तु तेषां सर्वथैवास्तित्वमपाक्रियते । तथा-'नास्ति खरविषाणम्' इत्यादिषु खरविषाणादीनां सतामेव समवायमात्रं निराक्रियते । तथा-'नास्त्यन्यश्चन्द्रमाः' इत्यादिषु विद्यमानस्यैव चन्द्रमसोऽन्यचन्द्रनिषेधाच्चन्द्रसामान्यमात्रं निषिध्यते, न तु सर्वथा चन्द्राभावः प्रतिपाद्यते । तथा-'न सन्ति घटप्रमाणा मुक्ता' इत्यादिषु घटप्रमाणतामात्ररूपो विशेषो मुक्तानां निषिध्यते, न तु मुक्ताभावः, ख्याप्यत इति, एवं च सति 'नास्त्यात्मा' इत्यत्र विद्यमानस्यैवात्मनो यत्र क्वचन येन केनचित्सह संयोगमात्रमेव त्वया निषेद्धव्यम्, यथा 'नास्त्यात्मा वपुषी' त्यादि, न तु सर्वथाऽऽत्मनः सत्त्वमिति । अत्राह कश्चित्-ननु यदि यन्निषिध्यते तदस्ति, तर्हि मत्त्रिलोकेश्वरताप्यस्ति, युष्मदादिभिर्निषिध्यमानत्वात्; तथा—चतुर्णां समवायादिप्रतिषेधानां पञ्चमोऽपि प्रतिषेधप्रकारोऽस्ति त्वयैव निषिध्यमानत्वात्, तदयुक्तम्-त्रिलोक्यैश्वरताविशेषमात्रं भवतो निषिध्यते, यथा घटप्रमाणत्वं मुक्तानां, न तु सर्वथैवेश्वरता, स्वशिष्यादीश्वरतायास्तवापि विद्यमानत्वात् । तथा-प्रतिषेधस्यापि पञ्चसंख्याविशिष्टत्वमपाक्रियते, न तु सर्वथा प्रतिषेधस्याभावः, चतुःसंख्याविशिष्टस्य तस्य सद्भावात् । ननु सर्वमप्यसंबद्धमिदम्, तथाहि-मत्त्रिलोकेश्वरत्वं तावदसदेव निषिध्यते, प्रतिषेधस्यापि पञ्चसंख्याविशिष्टत्वमविद्यमानमेव निवार्यते, तथा संयोग समवाय-सामान्य-विशेषाणामपि गृहदेवदत्तखरविषाणादिष्वसतामेव प्रतिषेधः, इत्यतः 'यन्निषिध्यते तदस्त्येव' इत्येतत्कथं न भवते इत्याशङ्क्याह-'संयोगाइचउक्कं पी' त्यादि, इदमुक्तं भवति-देवदत्तादीनां संयोगादयो गृहादिष्वेवाऽसन्तो निषिध्यन्ते । अर्थान्तरे तु तेषां ते विद्यन्त एव; तथाहि-गृहेणैव सह देवदत्तस्य संयोगो न विद्यते, अर्थान्तरेण तु क्षेत्रहट्टग्रामादिना सह तस्यासौ समस्त्येव, गृहस्यापि देवदत्तेन सह संयोगो नास्ति, खट्वादिना तु सह तस्यासौ विद्यत एव, एवं विषाणस्यापि खर एव समवायो नास्ति गवादावस्त्येव; सामान्यमपि द्वितीयचन्द्राभावाच्चन्द्र एव नास्ति, अर्थान्तरे तु घटगवादावस्त्येव; घटप्रमाणत्वमपि मुक्तासु नास्ति, अर्थान्तरे तु-कूष्माण्डादावस्त्येव । त्रिलोकेश्वरताऽपि भवत एव नास्ति, तीर्थकरादावस्त्येव, पञ्चसंख्याविशिष्टत्वमपि प्रतिषेधे नाऽस्ति, अर्थान्तरे त्वनुत्तरविमानादावस्त्येव, इत्यनया विवक्षया ब्रूमः-'यन्निषिध्यते तत्सामान्येनाऽस्त्येव, नत्वेवं प्रतिजानीमहे-यद् यत्र निषिध्यते तत्तत्रैवास्ति, इति, येन व्यभिचारः स्यात् । वयमपि शरीरे जीवं निषेधयामो नान्यत्रेति चेत् साधूक्तम्, अस्मत्समीहितस्य सिद्धत्वात्, जीवसिद्ध्यर्थमेव हि यतामहे वयं, स चेत्सिद्धः, तर्हि तत्सिद्ध्यन्यथानुपपत्तेरेव तदाश्रयः सेत्स्यति किं तया चिन्तया ? । न च शरीरमन्तरेण जीवस्याश्रयान्तरमुपपद्यते, तत्रैव तदवस्थानलिङ्गोपलब्धेः, न च वक्तव्यम्-शरीरमेव जीवो, 'जीवति, मृतो, मूर्च्छित' इत्यादिव्यवस्थानुपपत्तेः, इत्यादेरभिधास्यमानत्वादिति ।

जीवसिद्धाविवोपपत्त्यन्तरमाह—

जीवो त्ति सत्थयमिणं, सुद्धत्तणओ घडाभिहाणं व ।
जेणऽत्थेण सदत्थं, सो जीवो अह मई होज्ज ॥ १५७५ ॥
अत्थो देहो च्चिय, से नो पज्जायवयणभेयाओ ।
नाणाइगुणो य जओ, भणिओ जीवो न देहो त्ति ।१५७६।

जीव इत्येतद्वचनं सार्थकमिति प्रतिज्ञा, व्युत्पत्तिमत्त्वे सति शुद्धपदत्वात्, इह यद् व्युत्पत्तिमत्त्वे सति शुद्धपदं तदर्थवद् दृष्टं, यथा घटादिकं, तथा च जीवपदं, तस्मात्सार्थकं, यत्तु सार्थकं न भवति तद्व्युत्पत्तिमच्छुद्धपदं च न भवति, यथा डित्थादिकं, खरविषाणादिकं च, न च तथा जीवपदं, तस्मात्सार्थकम् । यद्व्युत्पत्तिमन्न भवति तच्छुद्धपदमपि सद् न सार्थकम् । यथा डित्थादिपदम्, इति हेतोरनैकान्तिकतापरिहारार्थं व्युत्पत्तिमत्त्वविशेषणं द्रष्टव्यम् । यदपि शुद्धपदं न भवति किं तु सामासिकं, तदपि व्युत्पत्तिमत्त्वे सत्यपि सार्थकं न भवति, यथा खरविषाणादिकम्, इति शुद्धत्वविशेषणम् । अथ मन्यसे देह एवास्य जीवपदस्यार्थो न पुनरर्थान्तरम्, उक्तं च-"देह एवायमनुप्रयुज्यमानो दृष्टो, यथैष जीवः, एनं न हिनस्ति" इति अतो देह एवास्यार्थो युक्त इति । तदेतन्न, कुतः ? इत्याह-देहजीवयोः पर्यायवचनभेदात्, यत्र हि पर्यायवचनभेदस्तत्रान्यत्वं दृष्टम्, यथा घटाकाशयोः तत्र घटकुटकुम्भकलशादयो घटस्य पर्यायाः, नभोव्योमान्तरिक्षाऽऽकाशादयस्तु आकाशपर्यायाः । प्रस्तुते च जीवो जन्तुरसुमान्प्राणी सत्त्वो भूत इत्यादयो जीवपर्यायाः, शरीरं वपुः कायो देहः कलेवरमित्यादयस्तु शरीरपर्यायाः । पर्यायवचनभेदेऽपि च वस्त्वेकत्वे सर्वैकत्वप्रसङ्गोऽत्र बाधकम् । यत्पुनरिदमुक्तम्-"देह एवायमनुप्रयुज्यमानो दृष्टः" इत्यादि, तच्छरीरसहचरणावस्थानादितः शरीरे जीवोपचारः क्रियते । किं च-इत्थमपि श्रूयत एव-'गतः स जीवः, दह्यतामिदं शरीरम्' इति । किं च—'नाणाइ' इत्यादि, यस्माच्च ज्ञानादिगुणयुतो जन्तुः, जडश्च देहः, तत्कथं देह एव जीवः । प्रागिहैव चोक्तम्-न ज्ञानादिगुणो देहः, मूर्तिमत्त्वाद्, घटवत्; तथा-देहेन्द्रियातिरिक्त आत्मा, तदुपरमेऽपि तदुपलब्धार्थानामनुस्मरणात्, वातायनपुरुषवदिति ।

तदप्यप्रतिबुध्यमाने इन्द्रभूतौ भगवानाह—

जीवोऽत्थि वओ सच्चं, मव्वयणाओऽवसेसवयणं व ।
सव्वण्णुवयणओ वा, अणुमयसव्वण्णुवयणं व ।१५७७।

'जीवोऽस्ति' इत्येतद्वचः सत्यं, मद्वचनत्वात्, भवत्संशयविषयावशेषवचनवत्, यच्च सत्यं न भवति तद् मदीयवचनमपि न भवति, यथा कूटसाक्षिवचनम् । अथ वा-सत्यं 'जीवोऽस्ति' इतिवचनं सर्वज्ञवचनत्वाद्भवदनुमतसर्वज्ञवचनवदिति ।

यदि वा—

भयरागदोसमोहा-भावाओ सच्चमणइवाइं च ।
सव्वं चिय मे वयणं, जाणयमज्झत्थवयणं व ॥१५७८॥

सर्वमपि मद्वचनं सत्यम् अनतिपाति च बोद्धव्यं, भयरागद्वेषाज्ञानरहितत्वात् इह यद्भयादिरहितस्य वचनं त-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्सत्यं दृष्टम्, यथा मार्गज्ञस्य भयरहितस्य प्रष्टुरि राग-द्वेषरहितस्य मार्गोपदेशवचनम्, तथा च मद्वचः, त-स्मात्सत्यमनतिपाति चेति ।

अत्र गौतममाशङ्क्य भगवानुत्तरमाह—

कह सव्वएणु त्ति मई, जेणाहं सव्व संसयच्छेई ।
पुच्छसु व जं न जाणसि, जेण व ते पच्चओ होज्जा ।।१५७६।।

कथं नाम 'त्वं सर्वज्ञः' इति ते मतिः? एवं त्वं मन्यसे, तथा भयरागद्वेषमोहाभावश्चासिद्ध इति मन्यसे, तदयुक्तम्, येनाहं सर्वसंशयच्छेदी, यश्च सर्वसंशयच्छेत्ता स सर्वज्ञ एव । दृष्टान्ताभावेनान्वयासिद्धेरनैकान्तिकोऽयं हेतुरिति चेत्, न, सर्वसंशयच्छेत्तृत्वानुपपत्तिरेवेह विपर्यये बाधकं प्रमाणं, किमिहान्वयान्वेषणेन? । यदि वा-पृच्छ्यतां यत्त्रैलोक्यान्तर्गतं, वस्तु त्वं न जानासि, येन सर्वज्ञत्वप्रत्ययस्तव जायते । भयाद्यभावोऽपि तल्लिङ्गादर्शनात् मयि सिद्ध एवेति स्वयमेव द्रष्टव्यम् । कदाचिदपि लिङ्गादर्शने लिङ्गिनोऽस्तित्वशङ्कायामतिप्रसङ्ग इति ।

अथोपसंहरन्नाह—

एवमुवओगलिंगं, गोयम ! सव्वप्पमाणसंसिद्धं ।
संसारीयरथावर-तसाइभेयं मुणे जीवं ।। १५८० ।।

एवम्—उक्तेन प्रकारेण जीवम्—आत्मानं गौतम ! मुण-प्रतिपद्यस्वेति संबन्धः । कथंभूतम्? । उपयोग एव लिङ्गं यस्य स तथा, सर्वैः प्रत्यक्षानुमानागमप्रमाणैः संसिद्धम्-प्रतिष्ठितम्, तथा संसारीतरस्थावरत्रसादिभेदम् । संसारिणश्च इतरे-सिद्धाः । आदिशब्दाच्च सूक्ष्मबादरपर्याप्तापर्याप्तादिभेदपरिग्रह इति । विशे० । (जीवस्यैकत्वनिराकरणयुक्तिः 'एगावाइ' शब्दे तृतीयभागे ३४ पृष्ठे वक्ष्यते)

अथ "विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति; न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति" इत्यादिवेदवाक्यार्थमनुभावयतस्त्यजतोऽपि मम संशयोऽतिविरोधिताहित इव पृष्ठं न मुञ्चति, तत्किं करोमि? इति चेत्तदयुक्तं कुतः? इत्याह-

गोयम ! वेयपयाणं, इमाण अत्थं च तं न याणासि ।
जं विन्नाणघणो च्चिय, भूएहिंतो समुत्थाय ।।१५८८।।
मन्नसि मज्जंगेसु व, मयभावो भूयसमुदउब्भूओ ।
विण्णाणमेत्तमाया, भूएऽणुविणस्सइ सब्भूओ ।।१५८९।।
अत्थि न य पेच्च सण्णा, जं पुव्वभवेऽभिहाणममुगो त्ति ।
जं भणियं न भवाओ, भवंतरं जाइ जीवो त्ति ।।१५९०।।

गौतम ! इत्यामन्त्रणम्, वेदपदानाम्-श्रुतिवाक्यानाममीषां "विज्ञानघन एवैतेभ्यः" इत्यादीनां चेतसि वर्तमानानामर्थं यथास्थितं त्वं न जानासि-नावबुध्यसे । किमिति? अत आह-यद्यस्मात्त्वमात्माभिप्रायेणैवंभूतमिहार्थं मन्यसे-विकल्पयसीति संबन्धः । कथंभूतम्? इत्याह-' विण्णाणघणो च्चिय ' त्ति-पृथिव्यादिभूतानां विज्ञानलवसमुदायो विज्ञानघनः; पृथिव्यादिविज्ञानांशानां पिण्ड इत्यर्थः, अवधारणं त्वात्मवादिपरिकल्पितस्य भूतसमुदायातिरिक्तस्य ज्ञानदर्शनादिगुणाश्रयस्यात्मनो निरासार्थम् । भूतेभ्यः-पृथिव्यादिभ्यः समुदितेभ्यो न तु व्यस्तेभ्यो, ज्ञानस्य तत्समुदायपरिणामाङ्गीकारादिति भावः, मद्याङ्गेषु-मद्यकारणेषु धातक्यादिषु मदभाव इव, कथंभूतो विज्ञानघनः? इत्याह-' भूयसमुदउब्भूओ विण्णाणमेत्तमाय ' त्ति-भूतसमुदायादुद्भूतस्तदैव जातो न तु परभावात्कश्चिदायातो; विज्ञानमात्ररूप आत्मेत्यर्थः, समुत्थाय-उत्पद्य ततस्तान्येव-पृथिव्यादिभूतानि विनाशमश्नुवानान्यनु-लक्षीकृत्य भूयः-पुनरपि स विज्ञानघनो-विज्ञानमात्ररूपः आत्मा विनश्यति, न त्वात्मवादिनामिवान्यभवं याति । अत एव न प्रेत्य भवे-परभवे संज्ञास्ति, यत्पूर्वभवे नारकादिजन्मन्यभिधानमासीत्तत्परभवे नास्ति, यदुत-अमुको नारको देवो वा भूत्वा इदानीं मनुष्यः संवृत्त इत्यादि, नारकादेः प्रागेव सर्वनाशं नष्टत्वादिति भावः । किमिह वाक्ये तात्पर्यवृत्त्या प्रोक्तं भवति?, इत्याह-' जं भणियमि' त्यादि सर्वथात्मनः समुत्पद्य विनष्टत्वान्न भवाद्भवान्तरं कोऽपि यातीत्युक्तं भवति ।

यद्येवंभूतमस्य वेदवाक्यस्यार्थमहम—
वगच्छामि ततः किम्? इत्याह—

गोयम ! पयत्थमेवं, मन्नंतो नऽत्थि मन्नसे जीवं ।
वक्कंतरेसु य पुणो, भणिओ जीवो जमत्थि त्ति ।।१५९१।।
अग्गिहवणाइकिरिया-फलं च तो संसयं कुणसि जीवे ।
मा कुरु न पयत्थोऽयं, इमं पयत्थं निसामेहि ।।१५९२।।

गौतम ! अस्य वाक्यस्य दर्शितरूपमेव पदार्थं मन्यमानस्त्वं 'नास्ति' इत्येवं जीवं मन्यसे । यस्माच्च पुनः "न ह वै सशरीरस्य प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति, अशरीरं वा वसन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः" इत्यादिषु वेदवाक्यान्तरेषु 'अस्ति' इत्येवं जीवो भणितः-प्रतिपादितः, तथा-"अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः" इत्यादिवचनादग्निहवनादिक्रियायाः फलं च पारभविकं श्रूयते । न चेदं भवान्तरयायिनमात्मानमनन्तरेणोपपद्यते । अतः किं जीवः अस्ति, नास्ति वा इत्येवं संशयं जीवे करोषि त्वम्; तदमुं मा कृथाः, यस्माद्-"विज्ञानघन एव" इत्यादिवाक्यस्य नाऽयमर्थो यं भवानध्यवस्यति; किं त्वमुम्-वक्ष्यमाणं पदार्थमिह निशमय-आकर्णयेति ।

तमेव दर्शयति—

विण्णाणाओऽणण्णो, विण्णाणघणो त्ति सव्वओ वाऽवि ।
स भवइ भूएहिंतो, घडविण्णाणाइभावेण ।। १५९३ ।।
ताइं चिय भूयाइं, सोऽणुविणस्सइ विणस्समाणाइं ।
अत्थंतरोवओगे, कमसो विण्णेयभावेणं ।। १५९४ ।।

इह विज्ञानघनो जीव उच्यते । कथम्? इति चेत्, उच्यते-विशिष्टं ज्ञानं विज्ञानं; ज्ञानदर्शनोपयोग इत्यर्थः, तेन विज्ञानेन सहानन्यभूतत्वादेकतया घनत्वं निविडत्वमापन्नो विज्ञानघनो जीवः उच्यते । यदि वा-'सव्वओ वा वि' त्ति-सर्वतः-प्रतिप्रदेशमनन्तानन्तविज्ञानपर्यायसंघातघटितत्वाद्विज्ञानघनो जीवः । एवकारेण तु विज्ञानघन एवासौ, न तु नैयायिकादीनामिव 'स्वरूपेण निर्विज्ञानत्वाज्जडोऽसौ, बुद्धिस्तु तत्र समवैतैव' इति नियम्यते । स भवति उद्यत इति क्रिया । केभ्य?, इत्याह-' भूएहिंतो ' त्ति-भूतानीह घटपटादिज्ञेयवस्तुरूपाण्यभिप्रेतानि, तेभ्यो ज्ञेय-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावेन परिणतेभ्यः । केन भवति ? इत्याह-'घटोऽयं' 'घटोऽयमि' त्यादिविज्ञानभावेन—घटादिज्ञानपर्यायेण । ततः किम् ? इत्याशङ्क्य तान्येवानुविनश्यतीत्यस्यार्थमाह—' ताई चिय ' त्यादि, तान्येव-ज्ञानालम्बनभूतानि-घटादिभूतानि क्रमशः—कालक्रमेण व्यवधानस्थगनाऽन्यमनस्कत्वादिनाऽर्थान्तरोपयोगे सति विलयभावेन-ज्ञानाविषयभावेन विनाशमश्नुवानानि अनु-पश्चात्-तद्बोधपर्यायेण, स विज्ञानघनो विनश्यतीति संबन्धः । ज्ञानपर्यायेण घटादिभ्यो भयभूतेभ्यो जीवः समुत्थाय कालक्रमाद् व्यवधानादिनाऽर्थान्तरोपयोगे सति क्षयभावेन तान्येव विनाशमश्नुवानान्यनुविनश्यतीति तात्पर्यार्थः ।

किमित्थं सर्वथाऽयमात्मा विनश्यति ?, न इत्याह—

पुव्वावरविण्णाणो-वओगओ विगमसंभवसहाओ ।
विण्णाणसन्तईए, विण्णाणघणोऽयमविनासी ॥१५६५॥

एक एवायमात्मा त्रिस्वभावः । कथम् ? इत्युच्यते-अर्थान्तरोपयोगकाले पूर्वविज्ञानोपयोगेन तावदयं विगमस्वभावो-विनश्वररूपः, अपरविज्ञानोपयोगतस्तु संभवस्वभाव उत्पादस्वरूपः, अनादिकालप्रवृत्तसामान्यविज्ञानमात्रसंतत्या पुनरयं विज्ञानघनो जीवः अविनष्ट एवावतिष्ठते । एवमन्यदपि सर्वं वस्तूत्पादव्ययध्रौव्यस्वभावमेवावगन्तव्यम् , न पुनः किमपि सर्वथोत्पद्यते विनश्यति चेति ।

' न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति ' इत्येतद्व्याचिख्यासुराह—

न य पेच्च नाणसन्ना-ऽवतिट्ठए संपओवओगाओ ।
विण्णाणघणाभिक्खो, जीवोऽयं वेयपयभिहिओ॥१५६६।

न च प्रत्येति-न चान्यवस्तूपयोगकाले प्राक्तनी ज्ञानसंज्ञाऽस्ति कुतः ? सांप्रतवस्तुविषयोपयोगात् । इदमुक्तं भवति-यदा घटोपयोगनिवृत्तौ पटोपयोग उत्पद्यते, तदा घटोपयोगसंज्ञा नास्ति, तदुपयोगस्य निवृत्तत्वात् ; किं तु-पटोपयोगसंज्ञैवास्ति, तदुपयोगस्यैव तदानीमुत्पन्नत्वात् । तस्माद्विज्ञानघनाऽभिख्यो वेदपदेष्वभिहितोऽयं जीवः । ततो गौतम ! प्रतिपद्यस्व एनमिति ।

पुनरपीह प्रेर्यमाशङ्क्य परिहरन्नाह—

एवं पि भूयधम्मो, नाणं तब्भावभावओ बुद्धी ।
तन्नो तदभावम्मि वि, जं नाणं वेयसमयम्मि ॥१५६७॥
अत्थमिए आइच्चे, चंदे संतासु अग्गिवायासु ।
किं जोइरयं पुरिसो, अप्पजोइ त्ति निद्दिट्ठो ॥ १५६८ ॥

' बुद्धी ' ति स्याद् बुद्धिः प्रेरकस्य-एवमपि ' स भवइ भूएहिंतो ' इत्यादिना युष्मद्व्याख्यानप्रकारेणापीत्यर्थः, पृथिव्यादिभूतधर्म एव ज्ञानं भूतस्वभावात्मकमेव ज्ञानमिति भावः । कुत इत्याह-' तब्भावभावओ ' त्ति-एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यतीति वचनाद्भूतसद्भावे ज्ञानस्य भावात् ; तदभावे चाभावादित्यर्थः, यस्य च भावे एव यद्भवति, अभावे च न भवति तत्तस्यैव धर्मो, यथा चन्द्रमसश्चन्द्रिका, तथा च ज्ञानमनुविदधाति भूतान्वयव्यतिरेकौ , तस्मात्तद्भूतधर्म एव । तदयुक्तम् , विशिष्टमेव हि नीलपीतादिभूतग्राहकं ज्ञानं तदन्वयव्यतिरेकावनुविदधाति न तु सामान्यं ज्ञानमात्रम् , यस्माद् भूताभावेऽपि वेदलक्षणे समये सिद्धान्ते ' सामान्यज्ञानं भणितमेव ' इति शेषः । केन वाक्येन इत्याह-' अत्थमिए ' इत्यादि, अस्तमिते आदित्ये, याज्ञवल्क्यश्चन्द्रमस्यस्तमिते, शान्तेऽग्नौ, शान्तायां वाचि, किं ज्योतिरेवायं पुरुषः, आत्मज्योतिः सम्राडिति होवाच, ' ज्योति ' रिति-ज्ञानमाह । आदित्याऽस्तमयादौ किं ज्योतिः ? इत्याह-' अयं पुरुष ' इति, पुरुषः; आत्मेत्यर्थः । अयं च कथंभूत ?, इत्याह-' अप्पजोइ ' त्ति-आत्मैव ज्योतिरस्य सोऽयमात्मज्योतिः-ज्ञानात्मक इति हृदयम् , निर्दिष्टो वेदविद्भिः कथितः, ततो न ज्ञानं भूतधर्म इति स्थितम् ।

इतश्च न ज्ञानं भूतधर्मः । कुत ?, इत्याह—

तदभावे भावाओ, भावे चाभावओ न तद्धम्मो ।
जह घडभावाऽभावे, विवज्जयाओ पडो भिन्नो ॥१५६९॥

न भूतधर्मो ज्ञानम् , मुक्त्यवस्थायां भूताभावेऽपि भावात् , मृतशरीरादौ तद्भावेऽपि चाभावात् , यथा घटस्य धर्मः पटो न भवति, किं तु तस्माद्भिन्न एव । कुतः ?, इत्याह-घटभावाभावे विपर्ययात्-घटभावेऽप्यभावात् ; तदभावेऽपि च भावादित्यर्थः । विशे० । आ० म० । आव० । कल्प० । (विशेषस्तात्र सम्मतितर्कग्रन्थादवसेयः)

(१३) अभौतिकत्वमात्मनः—

(पञ्चभूताद् व्यतिरिक्तो गन्धरसोरूपस्पर्शशब्दरूपः भिन्नो न कश्चित् पदार्थः)—

एए पंच महब्भूया, तेब्भो एगो त्ति आहिया ।
अह तेसिं विणासेणं, विणासो होइ देहिणो ॥ ८ ॥

' एए पञ्च महब्भूया' इत्यादि, एतानि-अनन्तरोक्तानि पृथिव्यादीनि पञ्चमहाभूतानि यानि तेभ्यः कायाकारपरिणतेभ्यः एकः कश्चिच्चिद्रूपो भूताऽव्यतिरिक्त आत्मा भवति; न भूतेभ्यो व्यतिरिक्तोऽपरः कश्चित्परः-परकल्पितः परलोकानुयायी सुखदुःखभोक्ता जीवाख्यः पदार्थोऽस्तीत्येवमाख्यातवन्तस्ते, तथाहि-एवं प्रमाणयन्ति-न पृथिव्यादिव्यतिरिक्त आत्मास्ति, तद्ग्राहकप्रमाणाभावात् , प्रमाणं चात्र प्रत्यक्षमेव, नानुमानादिकम् , तत्रेन्द्रियेण साक्षादर्थस्य संबन्धाभावाद्व्यभिचारसंभवः । सति च व्यभिचारसंभवे सदृशे च बाधासंभवे तल्लक्षणमेव दूषितं स्यादिति सर्वत्रानाश्वासः । तथाचोक्तम्—" हस्तस्पर्शादिवान्धेन, विषमे पथि धावता । अनुमानप्रधानेन, विनिपातो न दुर्लभः " ॥ १ ॥ अनुमानं चात्रोपलक्षणमागमादीनामपि । साक्षादर्थसंबन्धाभावाद्धस्तस्पर्शेनेव प्रवृत्तिरिति । तस्मात्प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणं, तेन च भूतव्यतिरिक्तस्यात्मनो न ग्रहणम् । यत्तु चैतन्यं तेषूपलभ्यते तद्भूतेष्वेव कायाकारपरिणतेष्वभिव्यज्यते मद्याङ्गेषु समुदितेषु मदशक्तिवदिति । तथा न भूतव्यतिरिक्तं चैतन्यं तत्कार्यत्वाद् घटादिवदिति तदेवं भूतव्यतिरिक्तस्यात्मनोऽभावाद् भूतानामेव चैतन्याभिव्यक्तिर्जलस्य बुद्बुदाभिव्यक्तिवदिति । कथंचिल्लोकायतिकानामाकाशस्यापि भूतत्वेनाभ्युपगमाद्भूतपञ्चकोपन्यासो न दोषायेति । ननु च यदि भूतव्य-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तिरिक्तोऽपरः कश्चिदात्माख्यः पदार्थो न विद्यते कथं तर्हि मृत इति व्यपदेश इत्याशङ्क्याह-अथैषां कायाऽऽकारपरिणतौ चैतन्याभिव्यक्तौ सत्यां तदूर्ध्वं तेषामन्यतमस्य विनाशे-अपगमे वायोस्तेजसश्च, उभयोर्वा देहिनो-देवदत्ताख्यस्य विनाशः-अपगमो भवति, ततश्च मृत इति व्यपदेशः प्रवर्तते, न पुनर्जीवापगम इति भूताऽव्यतिरिक्तचैतन्यवादिपूर्वपक्ष इति ।

अत्र प्रतिसमाधानार्थं निर्युक्तिकृदाह-

पंचण्हं संजोए, अण्णगुणाणं च चेयणाइगुणो ।
पंचिंदियठाणाणं, ण अण्णमुणियं मुणइ अण्णो ॥३३॥

'पंचण्हं संजोए' इत्यादि, पञ्चानां पृथिव्यादीनां भूतानां संयोगे-कायाकारपरिणामे चैतन्यादिकः । आदिशब्दात्-भाषाचङ्क्रमणादिकश्च गुणो न भवतीति प्रतिज्ञा, अन्यादयस्त्वत्र हेतुत्वेनोपात्ताः । दृष्टान्तस्त्वभ्यूह्यः, सुलभत्वात्तस्य नोपादानम् । तत्रेदं चार्वाकः प्रष्टव्यः-यदेतद्भूतानां संयोगे चैतन्यमभिव्यज्यते तत्किं तेषां संयोगेऽपि स्वातन्त्र्य एव, आहोस्वित् परस्परापेक्षया पारतन्त्र्ये इति । किंचातः ?, न तावत्स्वातन्त्र्ये, यत आह-'अन्नगुणाणं च' ति—चैतन्यादन्ये गुणा येषां तान्यन्यगुणानि, तथाहि-आधारकाठिन्यगुणा पृथिवी, द्रवगुणा आपः, पक्तृगुणं तेजः, चलनगुणो वायुः, अवगाहदानगुणमाकाशमिति । यदि वा-प्रागभिहिता गन्धादयः पृथिव्यादीनामेकैकपरिहाण्याऽन्ये गुणाश्चैतन्यादिति, तदेवं पृथिव्यादीन्यन्यगुणानि, चशब्दो द्वितीयविकल्पवक्ष्यमाणसूचनार्थः, चैतन्यगुणे साध्ये पृथिव्यादीनामन्यगुणानां सतां चैतन्यगुणस्य पृथिव्यादीनामेकैकस्याप्यभावान्न तत्समुदायाच्चैतन्याख्यो गुणः सिद्ध्यतीति, प्रयोगस्तत्र भूतसमुदायः स्वातन्त्र्ये सति धर्मित्वेनोपादीयते, न तस्य चैतन्याख्यो गुणोऽस्तीति साध्यो धर्मः, पृथिव्यादीनामन्यगुणत्वात्, यो योऽन्यगुणानां समुदायस्तत्र तत्राऽपूर्वगुणोत्पत्तिर्न भवतीति, यथा सिकतासमुदाये स्निग्धगुणस्य तैलस्य नोत्पत्तिरिति, घटपटसमुदाये वा न स्तम्भाद्याविर्भाव इति, दृश्यते च काये चैतन्यं, तदात्मगुणो भविष्यति, न भूतानामिति । अस्मिन्नेव साध्ये हेत्वन्तरमाह-' पंचिंदियठाणाणं' ति-पञ्च च तानि स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राख्यानीन्द्रियाणि तेषां स्थानानि-अवकाशास्तेषां चैतन्यगुणाभावान्न भूतसमुदाये चैतन्यम् । इदमत्र हृदयम्-लोकायतिकानां हि अपरस्य द्रष्टुरनभ्युपगमादिन्द्रियाण्येव द्रष्टृणि । तेषां च यानि स्थानान्युपादानकारणानि तेषामचिद्रूपत्वान्न भूतसमुदाये चैतन्यमिति, इन्द्रियाणां चामूनि स्थानानि । तद्यथा—श्रोत्रेन्द्रियस्याकाशं सुषिरात्मकत्वात्, घ्राणेन्द्रियस्य पृथिवी तदात्मकत्वात्, चक्षुरिन्द्रियस्य तेजस्तद्रूपत्वात्, एवं रसनेन्द्रियस्याऽऽपः, स्पर्शनेन्द्रियस्य वायुरिति । प्रयोगश्चात्र-नेन्द्रियाण्युपलब्धिमन्ति तेषामचेतनगुणाऽऽरब्धत्वात्, यद्यदचेतनगुणाऽऽरब्धं तत्तदचेतनम्, यथा घटपटादीनि । एवमपि च भूतसमुदाये चैतन्याभाव एव साधितो भवति, पुनर्हेत्वन्तरमाह—'ण अण्णमुणियं मुणइ अण्णो' त्ति-इहेन्द्रियाणि प्रत्येकं भूतात्मकानि तान्येवापरस्य द्रष्टुरभावाद् द्रष्टृणि तेषां च प्रत्येकं स्वविषयग्रहणादन्यविषये चाप्रवृत्तेर्नान्यदिन्द्रियज्ञातमन्यदिन्द्रियं जानातीत्यतो मया पञ्चापि विषया ज्ञाता इत्येवमात्मकः संकलनाप्रत्ययो न प्राप्नोति, अनुभूयते चायं, तस्मादेकेनैव द्रष्ट्रा भवितव्यम्, तस्यैव च चैतन्यं न भूतसमुदायस्येति, प्रयोगः पुनरेवम्-न भूतसमुदाये चैतन्यं, तदारब्धेन्द्रियाणां प्रत्येकविषयग्राहित्वे सति संकलनाप्रत्ययाभावात्, यदि पुनरन्यगृहीतमप्यन्यो गृह्णीयाद्देवदत्तगृहीतं यज्ञदत्तेनापि गृह्येत नचैतद् दृष्टमिष्टं चेति । ननु च स्वातन्त्र्यपक्षेऽयं दोषः । यदा पुनः परस्परसापेक्षाणां संयोगपारतन्त्र्याभ्युपगमेन भूतानामेव समुदितानां चैतन्याख्यो धर्मः संयोगवशादाविर्भवति, यथा किण्वोदकादिषु मद्याङ्गेषु समुदितेषु प्रत्येकमविद्यमानापि मदशक्तिरिति तदा कुतोऽस्य दोषस्यावकाश इति । अत्रोत्तरम्-गाथोपात्तचशब्दाऽऽक्षिप्तमभिधीयते-यत्तावदुक्तं यथा भूतेभ्यः परस्परसव्यपेक्षसंयोगभाग्भ्यश्चैतन्यमुत्पद्यते, तत्र विकल्पयामः-किमसौ संयोगः संयोगिभ्यो भिन्नः अभिन्नो ? वा भिन्नश्चेत्षष्ठभूतप्रसक्तो नचान्यत्पञ्चभूतव्यतिरिक्तसंयोगाख्यभूतग्राहकं भवतां प्रमाणमस्ति प्रत्यक्षस्यैवैकस्याभ्युपगमात्तेन च तस्याग्रहणात् प्रमाणान्तराभ्युपगमे च तेनैव जीवस्यापि ग्रहणमस्तु तथाऽभिन्नो भूतेभ्यो भूतानामेव संयोगस्तत्राप्येतावच्चिन्तनीयं किं भूतानि प्रत्येकं चेतनावन्ति, अचेतनावन्ति वा, यदि चेतनावन्ति तदा एकेन्द्रियसिद्धिस्तदा समुदायस्य पञ्चप्रकारचैतन्यापत्तिः, अथ-अचेतनानि तत्रोक्तो दोषो न हि यद्यत्र प्रत्येकमविद्यमानं तत्समुदाये भवदुपलभ्यते सिकतासु तैलवदित्यादिना । यदप्यत्रोक्तम्—यथा मद्याङ्गेष्वविद्यमानाऽपि प्रत्येकं मदशक्तिः समुदाये प्रादुर्भवतीति । तदप्ययुक्तम्, यतस्तत्र किण्वादिषु या च यावती शक्तिरुपलभ्यते, तथाहि-किण्वे बुभुक्षापनयनसामर्थ्यं भ्रमिजननसामर्थ्यं चोदकस्य तृडपनयनसामर्थ्यमित्यादिनेति, भूतानां प्रत्येकं चैतन्याऽनभ्युपगमे दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरसाम्यम् । किं च-भूतचैतन्याभ्युपगमे मरणाऽभावो, मृतकायेऽपि पृथिव्यादीनां भूतानां सद्भावात्, नैतदस्ति, तत्र-मृतकाये वायोस्तेजसो वा अभावान्मरणसद्भाव इत्यशिक्षितस्योल्लापः । तथाहि—मृतकाये शोफोपलब्धेर्न वायोरभावः, कोथस्य च पक्तिस्वभावस्य दर्शनान्नाग्नेरिति, अथ सूक्ष्मः कश्चिद्वायुविशेषोऽग्निर्वा ततोऽपगत इति मतिरित्येवं च जीव एव नामान्तरेणाभ्युपगतो भवति, यत् किंचिदेतत् । तथा न भूतसमुदायमात्रेण चैतन्याविर्भावः । पृथिव्यादिष्वेकत्र व्यवस्थापितेष्वपि चैतन्यानुपलब्धेः । अथ कायाकारपरिणतौ सत्यां तदभिव्यक्तिरिष्यते, तदपि न यतो लेप्यमयप्रतिमायां समस्तभूतसद्भावेऽपि जडत्वमेवोपलभ्यते । तदेवमन्वयव्यतिरेकाभ्यामालोच्यमानो नायं चैतन्याख्यो गुणो भूतानां भवितुमर्हति, समुपलभ्यते चायं शरीरेषु । तस्मात् पारिशेष्यात् जीवस्यैवायमिति स्वदर्शनपक्षपातं विहायाङ्गीक्रियतामिति । यच्चोक्तं प्राग् न पृथिव्यादिव्यतिरिक्त आत्माऽस्ति, तद्ग्राहकप्रमाणाभावात्, प्रमाणं चात्र प्रत्यक्षमेवैकमित्यादि, तत्र प्रतिविधीयते-यत्तावदुक्तम्—' प्रत्यक्षमेवैकं

Jain Education International   For Private & Personal Use Only   www.jainelibrary.org

प्रमाणं नानुमानादिकम् ' इत्येतदनुपासितगुरोर्वचः । तथाहि—अर्थाऽविसंवादकं प्रमाणमित्युच्यते, प्रत्यक्षस्य च प्रामाण्यमेवं व्यवस्थाप्यते। काश्चित्प्रत्यक्षव्यक्तीर्धर्मित्वेनोपादाय प्रमाणयति—प्रमाणमेता अर्थाऽविसंवादकत्वादनुभूतप्रत्यक्षव्यक्तिवत् । न च ताभिरेव प्रत्यक्षव्यक्तिभिः स्वसंविदिताभिः परं व्यवहारयितुमयमीशस्तासां स्वसन्निविष्टत्वान्मूकत्वाच्च । प्रत्यक्षस्य नानुमानं प्रमाणमित्यनुमानेनैवानुमाननिरासं कुर्वंश्चार्वाकः कथं नोन्मत्तः स्यात् ?, एवं ह्यसौ तदप्रामाण्यं प्रतिपादयेत् । यथा नानुमानं प्रमाणं विसंवादकत्वादनुभूतानुमानव्यक्तिवदित्येतच्चानुमानम् , अथ परप्रसिध्यैतदुच्यते तदप्ययुक्तम् , यतस्तत्परप्रसिद्धमनुमानं भवतः प्रमाणम् ; अप्रमाणं वा ? । प्रमाणं चेत्कथमनुमानमप्रमाणमित्युच्यते, अथाऽप्रमाणं कथमप्रमाणेन सता तेन परः प्रत्याय्यते ?, परेण तस्य प्रामाण्येनाभ्युपगतत्वादिति चेतदप्यसांप्रतम् , यदि नाम परो मौढ्यादप्रमाणमेव प्रमाणमित्यध्यवस्यति किं भवताऽतिनिपुणेनापि तेनैवाऽसौ प्रतिपाद्यते ?, यो ह्यज्ञो गुडमेव विषमिति मन्यते किं तस्य मारयितुकामेनापि बुद्धिमता गुड एव दीयते ?, तदेवं प्रत्यक्षानुमानयोः प्रामाण्याप्रामाण्ये व्यवस्थापयतो भवतोऽनिच्छतोऽपि बलादायातमनुमानस्य प्रामाण्यम् । तथा स्वर्गापवर्गदेवतादेः प्रतिषेधं कुर्वन् भवान् केन प्रमाणेन करोति ?, न तावत्प्रत्यक्षेण प्रतिषेधः कर्तुं पार्यते, यतस्तत्प्रत्यक्षं प्रवर्त्तमानं वा तन्निषेधं विदध्यान्निवर्तमानं वा ?।, न तावत्प्रवर्तमानं, तस्याऽभावविषयत्वविरोधात् , नापि निवर्तमानम् , । यतस्तच्च नास्ति तेन च प्रतिपत्तिरित्यसङ्गतम् । तथाहि-व्यापकविनिवृत्तौ व्याप्यस्यापि निवृत्तिरिष्यते, न चार्वाकदर्शितप्रत्यक्षेण समस्तवस्तुव्याप्तिः संभाव्यते, तत्कथं प्रत्यक्षविनिवृत्तौ पदार्थव्यावृत्तिरिति ? । तदेवं स्वर्गाऽऽदेः प्रतिषेधं कुर्वता चार्वाकेणाऽवश्यं प्रमाणान्तरमभ्युपगतम् । तथाऽन्याभिप्रायविज्ञानाभ्युपगमादत्र स्पष्टमेव प्रमाणान्तरमभ्युपगतम् । अन्यथा कथं परावबोधाय शास्त्रप्रणयनमकारि चार्वाकेणेत्यलमतिप्रसङ्गेन । तदेवं प्रत्यक्षादन्यदपि प्रमाणमस्ति तेनात्मा सेत्स्यति किं पुनस्तदिति चेत् , उच्यते-अस्त्यात्मा, असाधारणतद्गुणोपलब्धेः, चक्षुरिन्द्रियवत् । चक्षुरिन्द्रियं हि न साक्षादुपलभ्यते । स्पर्शनादीन्द्रियाऽसाधारणरूपविज्ञानोत्पादनशक्त्या त्वनुमीयते। तथाऽऽत्मापि पृथिव्याद्यसाधारणचैतन्यगुणोपलब्धेरस्तीत्यनुमीयते, चैतन्यं च तस्यासाधारणगुण इत्येतत्पृथिव्यादिभूतसमुदाये चैतन्यस्य निराकृतत्वादवसेयम् । तथाऽस्त्यात्मा समस्तेन्द्रियोपलब्धार्थसंकलनाप्रत्ययसद्भावात् । पञ्चगवाक्षान्तर्योपलब्धार्थसंकलनाविधायैकदेवदत्तवत् , तथाऽत्माऽर्थद्रष्टा नेन्द्रियाणि । तद्विगमेऽपि तदुपलब्धार्थस्मरणात् , गवाक्षोपरमेऽपि तद्द्वारोपलब्धार्थस्मर्तृदेवदत्तवत् । तथाऽर्थापत्त्याप्यात्माऽस्तीत्यवसीयते, तथाहि—सत्यपि पृथिव्यादिभूतसमुदाये लेप्यकर्मादौ न सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नादिक्रियाणां सद्भाव इत्यतः सामर्थ्यादवसीयते । अस्ति भूतातिरिक्तः कश्चित्सुखदुःखेच्छादीनां क्रियाणां समवायिकारणं पदार्थः, स चात्मेति, तदेवं प्रत्यक्षानुमानादिपूर्विकाऽप्यर्थापत्तिरभ्यूह्या । तस्यास्त्विदं लक्षणम्—" प्रमाणषट्कविज्ञातो, यत्राऽर्थो नाऽन्यथाभवन् । अदृष्टं कल्पयेदन्यं, सार्थापत्तिरुदाहृता " ॥१॥ तथाऽऽगमादप्यस्तित्वमवसेयम् । स चायमागमः-" अत्थि मे आया उववाइए" इत्यादि । यदि वा-किमत्राऽपरप्रमाणचिन्तया ?, सकलप्रमाणज्येष्ठेन प्रत्यक्षेणैवात्माऽस्तीत्यवसीयते । तद्गुणस्य ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वात् । ज्ञानगुणस्य च गुणिनोऽनन्यत्वात् प्रत्यक्ष एवाऽऽत्मा, रूपादिगुणप्रत्यक्षत्वेन घटाऽऽदिप्रत्यक्षवत् , तथाहि-अहं सुखी अहं दुःखी एवमाद्यहंप्रत्ययग्राह्यश्चात्मा प्रत्यक्षः, अहंप्रत्ययस्य स्वसंविद्रूपत्वादिति । ममेदं शरीरं पुराणं कर्मेति च शरीराद्भेदेन निर्दिश्यमानत्वादित्यादीन्यन्यान्यपि प्रमाणानि जीवसिद्धावभ्यूह्यानीति । तथा यदुक्तम्-न भूतव्यतिरिक्तं चैतन्यं तत्कार्यत्वात् घटादिवदिति, एतदप्यसमीचीनम् , हेतोरसिद्धत्वात् , तथाहि-न भूतानां कार्यं चैतन्यं, तेषामतद्गुणत्वात् भूतकार्यचैतन्ये संकलनाप्रत्ययासंभवाच्च इत्यादिनोक्तप्रायम् , अतोऽस्त्यात्मा भूतव्यतिरिक्तो ज्ञानाधार इति स्थितम् । ननु च किं ज्ञानाधारभूतेनात्मना ज्ञानाक्रान्तेनाश्रितेन ?, यावता ज्ञानादेव सर्वसंकलनाप्रत्ययादिकं सेत्स्यति, किमात्मनान्तर्गडुकल्पेनेति । तथाहि-ज्ञानस्यैव चिद्रूपत्वाद् भूतैरचेतनैः कायाकारपरिणतैः सह संबन्धे सति सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नक्रियाः प्रादुष्यन्ति तथा संकलनाप्रत्ययो भवान्तरगमनं चेति । तदेवं व्यवस्थिते किमात्मना कल्पितेनेति ?, अत्रोच्यते-न ह्यात्मानमेकमाधारभूतमन्तरेण संकलनाप्रत्ययो घटते, तथाहि-प्रत्येकमिन्द्रियैः स्वविषयग्रहणे सति परविषये चाप्रवृत्तेरेकस्य च परिच्छेत्तुरभावात् । मया पञ्चापि विषयाः परिच्छिन्ना इत्यात्मकस्य संकलनाप्रत्ययस्याभाव इति । आलयविज्ञानमेकमस्तीति चेत् , एवं सत्यात्मन एव नामान्तरं भवता कृतं स्यात् । न च ज्ञानाख्यो गुणो गुणिनमन्तरेण भवतीत्यवश्यम्-आत्मना गुणिना भाव्यमिति । सूत्र० १ श्रु० १ अ० । सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः कस्यचित्प्रत्यक्षा अनुमेयत्वात् क्षितिधरकन्धराधिकरणधूमध्वजवत् । एवं चन्द्रसूर्योपरागादिसूचकज्योतिर्ज्ञानाविसंवादान्यथाऽनुपपत्तिप्रभुनयोऽपि हेतवो वाच्याः । तदेवमाप्तेन सर्वविदा प्रणीत आगमः प्रमाणमेव । तदप्रामाण्यं हि प्रणायकदोषनिबन्धनम् ; " रागाद्वा द्वेषाद्वा, मोहाद्वा वाक्यमुच्यते ह्यनृतम् । यस्य तु नैते दोषा-स्तस्यानृतकारणं किं स्यात् " ॥ १ ॥ इति वचनात् । प्रणेतुश्च निर्दोषत्वमुपपादितमेव । इति सिद्ध आगमादप्यात्मा-" एगे आया " इत्यादिवचनात् । तदेवं प्रत्यक्षानुमानागमैः सिद्धः प्रमाता । स्या० १७ श्लोक ।

१-अन्यथा स्थितस्य वस्तुनः अन्यथा कथनम्-विसंवादः ।

प्रमाता प्रत्यक्षादिप्रसिद्ध आत्मा ॥ ५५ ॥

अतति-परापरपर्यायान् सततं गच्छतीत्यात्मा-जीवः । रत्ना० ७ परि० । (अस्य टीका रत्नाकरावतारिकाग्रन्थादवसेया) (शून्यवादनिराकरणपूर्विकाऽऽत्मत्वसिद्धिः विस्तरतः स्याद्वादमञ्जरीग्रन्थादवसेया)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(१४) साम्प्रतं कस्या दिश आगतोऽहमिति प्रकृतमनुस्त्रियते । यो हि ' सोऽहम् ' इत्यनेनाहङ्कारज्ञानेनात्मोल्लेखिन पूर्वादिदिश आगतमात्मानमवच्छिन्नसन्ततिपतितं द्रव्यार्थतया नित्यम् ; पर्यायार्थतया त्वनित्यं जानाति स परमार्थेन आत्मवादीति । सूत्रकृद्दर्शयति—

अत्थि मे आया उववाइये, जो इमाओ दिसाओ अणुदिसाओ वा अणुसंचरइ, सव्वाओ दिसाओ अणुदिसाओ, सोहं । (सूत्र-४×) आचा० १ श्रु०१ अ०१ उ० ।

(अस्य सूत्रस्य व्याख्या चतुर्थभागात्-२५२६ पृष्ठे करिष्यमाणादवगन्तव्या)

से आयावादी, लोगावादी, कम्मावादी, किरियावादी । (सूत्र-५)

' से ' इति-यो भ्रान्तः पूर्वं नारकतिर्यङ्नरामराद्यासु भावदिक्षु पूर्वाद्यासु च प्रज्ञापकदिक्षु अक्षणिकामूर्तादिलक्षणोपेतमात्मानमवैति स इत्थंभूत आत्मवादीति आत्मानं वदितुं शीलमस्येति । यः पुनरेवंभूतमात्मानं नाभ्युपगच्छति । सोऽनात्मवादी; नास्तिक इत्यर्थः । योऽपि सर्वव्यापिनं नित्यं क्षणिकं वाऽऽत्मानमभ्युपैति; सोऽप्यनात्मवाद्येव यतः सर्वव्यापिनो निष्क्रियत्वाद्भवान्तरसंक्रान्तिर्न स्यात्सर्वथा नित्यत्वेऽपि अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावं नित्यमिति कृत्वा मरणाऽभावेन भवान्तरसंक्रान्तिरेव न स्यात् , सर्वथा क्षणिकत्वेऽपि । निर्मूलविनाशात् सोऽहमित्यनेन पूर्वोत्तरानुसंधानं न स्यात् । य एव चात्मवादी स एव परमार्थतो लोकवादी । यतो-लोकयतीति लोकः-प्राणिगणस्तं वदितुं शीलमस्येत्यनेन चात्माद्वैतवादिनिरासेनात्मबहुत्वमुक्तम् , यदि वा-लोकाऽऽपतीति लोकः-चतुर्दशरज्ज्वात्मकः, प्राणिगणो वा, तत्राऽऽपतितुं शीलमस्येत्यनेन च विशिष्टाकाशखण्डस्य लोकसंज्ञा वेदिता, तत्र च जीवास्तिकायस्य संभवेन जीवानां गमनागमनमावेदितं भवति । य एव च दिगादिगमनपरिज्ञानेनात्मवादी लोकवादी च संवृत्तः स एवासुमान् कर्मवादी कर्म-ज्ञानावरणीयादि तद्वदितुं शीलमस्य यतो हि प्राणिनो मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगैः पूर्वं गत्यादियोग्यानि कर्माण्याददते, पश्चात्तासु तासु विरूपरूपासु योनिषूत्पद्यन्ते । कर्म च प्रकृतिस्थित्यनुभावप्रदेशात्मकमवसेयमिति । अनेन च कालयदृच्छानियतीश्वरात्मवादिनो निरस्ता द्रष्टव्याः । तथा य एव कर्मवादी; स एव क्रियावादी । यतः कर्म योगनिमित्तं बध्यते; योगश्च व्यापारः, स च क्रियारूपः, अतः कर्मणः कार्यभूतस्य वदनात्तत्कारणभूतायाः क्रियायाः अप्यसावेव परमार्थतो वादीति क्रियायाश्च कर्मनिमित्तत्वं प्रसिद्धमागमे, स चायमागमः-" जाव णं भंते ! एस जीवे सया समियं एयइ वेयइ चलति फंदति घट्टति तिप्पति जाव तं तं भावं परिणमति ताव(वं)च णं अट्ठविहबंधए वा सत्तविहबंधए वा छव्विहबंधए वा एकविहबंधए वा णो णं अबंधए " त्ति । एवं च कृत्वा य एव कर्मवादी स एव क्रियावादीति । अनेन च साङ्ख्याभिमतमात्मनोऽक्रियावादित्वं निरस्तं भवति ।

सांप्रतं पूर्वोक्तां क्रियामात्मपरिणतिरूपां विशिष्टकालाभिधायिना तिङ्प्रत्ययेनाभिदधदहंप्रत्ययसाध्यस्यात्मनस्तत्त्वमेवावधिमनःपर्यायकेवलज्ञानजातिस्मरणव्यतिरेकेणैव त्रिकालसंस्पर्शिना मतिज्ञानेन सद्भावावगमं दर्शयितुमाह—

अकरिस्सं च हं कारवेसुं च हं करओ आवि समणुन्ने भविस्सामि । (सूत्र-६)

इह भूतवर्त्तमानभविष्यत्कालापेक्षया कृतकारितानुमतिभिर्नवविकल्पाः संभवन्ति, ते चामी-अहमकार्षमचीकरमहं कुर्वन्तमन्यमनुज्ञासिषमहं करोमि कारयाम्यनुजानाम्यहमिति करिष्याम्यहं कारयिष्याम्यहं कुर्वन्तमन्यमनुज्ञास्याम्यहमिति, एतेषां च मध्ये आद्यन्तौ सूत्रेणैवोपात्तौ तदुपादानाच्च तन्मध्यपातिनां सर्वेषां ग्रहणम् , अस्यैवार्थस्याविष्करणाय द्वितीयो विकल्पः । " कारवेसुं चऽहमिति " सूत्रेणोपात्तः, एते च चकारद्वयोपादानादपिशब्दोपादानाच्च मनोवाक्कायैश्चिन्त्यमानाः सप्तविंशतिः २७ भेदा भवन्ति, अयमत्र भावार्थः-अकार्षमहमित्यत्राहमित्यनेनात्मोल्लेखिना विशिष्टक्रियापरिणतिरूप आत्मा अभिहितस्तत्रश्चायं भावार्थो भवति-स एवाऽहं येन मयास्य देहादेः पूर्वं यौवनावस्थायामिन्द्रियवशगेन विषयविषमोहितान्धचेतसा तत्तदकार्यानुष्ठानपरायणेनानुकूल्यमनुष्ठितम् । उक्तञ्च-" विहवावलेवनडिएहिं , जाइं कीरंति जोव्वणमएणं । वयपरिणामे सरियाइं, ताइं हियए खुडुक्कंति" ॥ १ ॥ तथा अचीकरमहमित्यनेन परोपकार्यादौ प्रवर्त्तमानो मया प्रवृत्तिं कारितः, तथा कुर्वन्तमन्यमनुज्ञातवानित्येवं कृतकारितानुमतिभिर्भूतकालाभिधानं, तथा करोमीत्यादिना वचनत्रिकेण वर्त्तमानकालोल्लेखः, तथा करिष्यामि कारयिष्यामि कुर्वतोऽन्यान्प्रति समनुज्ञापरायणो भविष्यामीत्यनागतकालोल्लेखः, अनेन च कालत्रयसंस्पर्शेन देहेन्द्रियातिरिक्तस्यात्मनो भूत-वर्तमान-भविष्यत्कालपरिणतिरूपस्यास्तित्वावगतिरावेदिता भवति, सा च-नैकान्तक्षणिकनित्यवादिनां संभवतीत्यतोऽनेन ते निरस्ताः क्रियापरिणामेनात्मनः परिणामित्वाभ्युपगमादिति, एतदनुसारेणैव संभवानुमानादतीतानागतयोरपि भवयोरात्मास्तित्वमवसेयम् । यदि वा— अनेन क्रियाप्रबन्धप्रतिपादनेन कर्मण उपादानभूतायाः क्रियायाः स्वरूपमावेदितमिति ।

अथ किमेतावत्य एव क्रिया ; उतान्या अपि सन्तीत्येतावेत्याह—

एयावंति सव्वावंति लोगंसि कम्मसमारंभा परिजाणियव्वा भवंति । (सूत्र-७)

एतावन्तः सर्वेऽपि लोके प्राणिसंघाते कर्मसमारम्भाःक्रियाविशेषा ये प्रागुक्ताः अतीतानागतवर्त्तमानभेदेन कृतकारितानुमतिभिश्चाशेषक्रियानुयायिना च करोतिना सर्वेषां संग्रहादित्येतावन्त एव परिज्ञातव्या भवन्ति; नान्ये इति । परिज्ञा च ज्ञप्रत्याख्यानभेदाद् द्विधा, तत्र ज्ञपरिज्ञयात्मनो बन्धस्य चास्तित्वमेतावद्भिरेव सर्वैः कर्मसमारम्भैर्ज्ञातं भवति प्रत्याख्यानपरिज्ञया च सर्वे पापोपादानहेतवः—कर्मसमारम्भाः प्रत्याख्यातव्या इति । इयता सामान्येन जीवास्तित्वं प्रसाधितम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अधुना तस्यैवात्मनो दिगादिभ्रमणहेतूपदर्शनपुरस्सरमपायान् प्रदर्शयितुमाह-यदि वा-यस्तावदात्मकर्मादिवादी स दिगादिभ्रमणान्मोच्यते इतरस्य तु विपाकान्दर्शयितुमाह—

अपरिणायकम्मा खलु अयं पुरिसे जो इमाओ दिसाओ अणुदिसाओ अणु संचरइ, सव्वाओ दिसाओ सव्वाओ अणुदिसाओ साहेति । (सूत्र-८)

'अपरिण्णाये' त्यादि, योऽयं पुरि शयनात्पूर्णः सुखदुःखानां वा पुरुषो जन्तुर्मनुष्यो वा, प्राधान्याच्च पुरुषस्योपादानम्, उपलक्षणं चैतत्, सर्वोऽपि चतुर्गत्यापन्नः प्राणी गृह्यते दिशोऽनुदिशो वा अनुसञ्चरति, सः अपरिज्ञातकर्मा-अपरिज्ञातं कर्माऽनेनेत्यपरिज्ञातकर्मा, खलुरवधारणे, अपरिज्ञातकर्मैव दिगादौ भ्राम्यति नेतर इति, उपलक्षणं चैतद् अपरिज्ञाताऽऽत्मा अपरिज्ञातक्रियश्चेति यश्चापरिज्ञातकर्मा स, सर्वा दिशः सर्वाश्चानुदिशः 'साहेति' स्वयंकृतेन कर्मणा सहानुसञ्चरति, सर्वग्रहणं सर्वासां प्रज्ञापकदिशां भावदिशां च उपसंग्रहार्थम् ।

स यदाप्नोति तद्दर्शयति—

अणेगरूवाओ जोणीओ संधेइ, विरूवरूवे फासे पडिसंवेदेइ । (सूत्र-९)

आचा० । (कति जीवोत्पत्तिस्थानानि इति 'जोणि' शब्दे चतुर्थभागे वक्ष्यते ।) एताश्चानेकरूपा योनीर्दिगादिषु पर्यटन्नपरिज्ञातकर्माऽसुमान् 'संधेइ' त्ति-सन्धयति सन्धिं करोत्यात्मना सहाऽविच्छेदेन संघट्टयतीत्यर्थः, "सन्धावइ" त्ति-पाठान्तरं, सन्धावति; पौनःपुन्येन तासु गच्छतीत्यर्थः, तत्सन्धाने च यदनुभवति तद्दर्शयति- विरूपं बीभत्समननोज्ञं रूपं स्वरूपं-येषां स्पर्शानां दुःखोपनिपातानां ते तथा स्पर्शाश्रिता दुःखोपनिपाताः स्पर्शा इत्युक्तास्तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेश इति कृत्वा उपलक्षणं चैतन्मानस्योऽपि वेदना ग्राह्या अतस्तानेवंभूतान् स्पर्शान् प्रतिसंवेदयति-अनुभवति प्रतिग्रहणात्प्रत्येकं शारीरान्मानसांश्च दुःखोपनिपातानुभवतीत्युक्तं भवति स्पर्शग्रहणं चेह सर्वसंसारान्तर्वर्तिजीवराशिसंग्रहार्थं, स्पर्शनेन्द्रियस्य सर्वजीवव्यापित्वात्, अथेदमपि वक्तव्यं, सर्वान्विरूपरूपान् रसगन्धरूपशब्दान् प्रतिसंवेदयतीति विरूपरूपत्वञ्च स्पर्शानां कार्यभूतानाम् विचित्रकर्मोदयात् कारणभूताद्भवतीति वेदितव्यं, विचित्रकर्मोदयाच्चापरिज्ञातकर्मा संसारी स्पर्शादीन्विरूपरूपांस्तेषु तेषु योन्यन्तरेषु विपाकतः परिसंवेदयतीति, आह च—

"तैः कर्मभिः स जीवो, विवशः संसारचक्रमुपयाति ।
द्रव्यक्षेत्राद्धाभा-वभिन्नमावर्त्तते बहुशः ॥ १ ॥
नरकेषु देवयोनिषु, तिर्यग्योनिषु च मनुजयोनिषु च ।
पर्यटति घटीयन्त्रव-दात्मा विभ्रच्छरीराणि ॥ २ ॥
सततानुबद्धमुक्तं, दुःखं नरकेषु तीव्रपरिणामम् ।
तिर्यक्षु भयक्षुत्तृड्-बधादिदुःखं सुखं चाल्पम् ॥ ३ ॥
सुखदुःखे मनुजानां, मनःशरीराश्रये बहुविकल्पे ।
सुखमेव हि देवानां, दुःखं स्वल्पं च मनसि भवम् ॥ ४ ॥
कर्मानुभावदुःखित, एवं मोहान्धकारगहनवति ।
अन्ध इव दुर्गमार्गे, भ्रमति हि संसारकान्तारे ॥ ५ ॥
दुःखप्रतिक्रियार्थं, सुखाभिलाषाच्च पुनरपि तु जीवः ।
प्राणिवधादीन् दोषा-नधितिष्ठति मोहसंछन्नः ॥ ६ ॥
बध्नाति ततो बहुविध-मन्यत्पुनरपि नवं सुबहु कर्म ।
तेनाथ पच्यते पुन-रग्नेरग्निं प्रविश्यैव ॥ ७ ॥
एवं कर्माणि पुनः, पुनः सम्बध्नंस्तथैव मुञ्चंश्च ।
सुखकामो बहुदुःखं, संसारमनादिकं भ्रमति ॥ ८ ॥
एवं भ्रमतः संसा-रसागरे दुर्लभं मनुष्यत्वम् ।
संसारस्य महत्त्वं, त्वधर्मदुष्कर्मबाहुल्यैः ॥ ९ ॥
आर्यो देशः कुलरूप-सम्पदायुश्च दीर्घमारोग्यम् ।
यतिसंसर्गः श्रद्धा, धर्मश्रवणं च मतितैक्ष्ण्यम् ॥ १० ॥
एतानि दुर्लभानि, प्राप्तवतोऽपि दृढमोहनीयस्य ।
कुपथाकुलेऽर्हदुक्तोऽ-तिदुर्लभो जगति सन्मार्गः" ॥ ११ ॥

यदि वा-योऽयं पुरुषः सर्वा दिशोऽनुदिशश्चानुसञ्चरति तथा-अनेकरूपा योनीः सन्धावति विरूपविरूपांश्च स्पर्शान् प्रतिसंवेदयति 'सोऽविज्ञातकर्मा' अविज्ञातम्-अविदितं कर्म क्रिया-व्यापारो मनोवाक्कायलक्षणः, अकार्षमहं, करोमि, करिष्यामीत्येवंरूपः जीवोपमर्दात्मकत्वेन बन्धहेतुः सावद्यो येन सोऽयमविज्ञातकर्मा, अविज्ञातकर्मत्वेन च तत्र तत्र कर्मणि जीवोपमर्दादिके प्रवर्त्तते येन येनास्याष्टविधकर्मबन्धो भवति, तदुदयाच्चानेकरूपयोन्यनुसन्धानं विरूपरूपस्प ... भवश्च भवतीति ।

यद्येवं ततः किमित्यत आह—

तत्थ खलु भगवता परिण्णा पवेइया । (सूत्र-१०)

(अस्य सूत्रस्य व्याख्या 'परिण्णा' शब्दे पञ्चमे भागे करिष्यते) आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अमुमेवार्थं निर्युक्तिकृदाह—

तत्थ अकारि करिस्सं-ति बंधचिंता कया पुणो होइ ।
सहसंमइया जाणइ, कोऽई पुण हेउजुत्तीए ॥ ६७ ॥

तत्र—कर्मणि—क्रियाविशेषे, किम्भूत इत्याह—' अकारि करिस्संति ' अकार्षीति-कृतवान् 'करिस्संति' करिष्यामीत्यनेनातीतानागतोपादानेन तन्मध्यवर्तिनो वर्तमानस्य कारितानुमत्योश्चोपसंग्रहात्-नवापि भेदा आत्मपरिणामत्वेन योगरूपा उपात्ता द्रष्टव्याः, तत्रानेनात्मपरिणामरूपेण क्रियाविशेषेण बन्धचिन्ता कृता भवति, बन्धस्योपादानमुपात्तं भवति, "कर्मयोगनिमित्तं बध्यत" इति वचनात्, एतच्च कश्चिज्जानाति आत्मना सह या सन्मतिः स्वमतिर्वाऽवधिमनःपर्यायकेवलिजातिस्मरणरूपा तया जानाति, कश्चिच्च पक्षधर्माऽन्वयव्यतिरेकलक्षणया हेतुयुक्त्येति ।

अथ किमर्थमसौ कटुकविपाकेषु कर्माश्रवहेतुभूतेषु क्रियाविशेषेषु प्रवर्त्तत इत्याह—

इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदणमाणणपूयणाए जाईमरणमोयणाए दुक्खपडिघायहेउं । (सूत्र-११)

तत्र जीवितमिति-जीवन्त्यनेनायुष्कर्मणेति जीवितं-प्राणधारणं, तच्च प्रतिप्राणि स्वसंविदितमिति कृत्वा प्रत्यक्षासन्नवाचिना इदमा निर्दिशति चशब्दो वक्ष्यमाणजात्यादिसमुच्चयार्थः, एवकारोऽवधारणे, अस्यैव जीवितस्यार्थे परि-

फल्गुसारस्य तडिल्लताविलसितचञ्चलस्य बहपायस्य दीर्घसुखार्थं क्रियासु प्रवर्तते । तथा हि-जीविष्याम्यहमरोगः सुखेन भोगान् भोक्ष्ये ततो व्याध्यपनयनार्थं स्नेहापानलावकपिशितभक्षणादिषु क्रियासु प्रवर्तते, तथा अल्पस्य सुखस्य कृतेऽभिमानग्रहाकुलितचेता बह्वारम्भपरिग्रहाद् बह्वशुभं कर्माऽऽदत्ते, उक्तञ्च—

" द्वे वाससी प्रवरयोषिदपायशुद्धा,
शय्यासनं करिवरस्तुरगो रथो वा ।
काले भिषग्नियमिताशनपानमात्रा,
राज्ञः पराक्यमिव सर्वमवेहि शेषम् ॥ १ ॥
पुष्ट्यर्थमन्नमिह यत्प्रणिधिप्रयोगैः,
संत्रासदोषकलुषो नृपतिस्तु भुङ्क्ते ।
यन्निर्भयः प्रशमसौख्यरतिश्च भैक्षं,
तत् स्वादुतां भृशमुपैति न पार्थिवाऽन्नम् ॥ २ ॥
भृत्येषु मन्त्रिषु सुतेषु मनोरमेषु,
कान्तासु वा मधुमदाङ्कुरितेक्षणासु ।
विश्रम्भमेति न कदाचिदपि क्षितीशः,
सर्वाभिशङ्कितमतेः कतरत्तु सौख्यम् " ॥ ३ ॥

तदेवमनवबुद्धतरुणकिशलयपलाशचञ्चलजीवितरतयः कर्माऽऽश्रवेषु जीवितापमर्दादिरूपेषु प्रवर्त्तन्ते. तथा अस्यैव जीवितस्य परिवन्दनमाननपूजनार्थं हिंसादिषु प्रवर्तन्ते । तथा परिवन्दनम्-संस्तवः; प्रशंसा तदर्थमाचेष्टते, तथाहि-अहं मयूरादिपिशिताशनाद्बली तेजसा देदीप्यमानो देवकुमार इव लोकानां प्रशंसास्पदं भविष्यामीति माननम्-अभ्युत्थानासनदानाञ्जलिप्रग्रहादिरूपं तदर्थं वा चेष्टमानः कर्माऽऽचिनोति, तथा पूजनं-पूजा द्रविणवस्त्रान्नपानसत्कारप्रणामसेवाविशेषरूपं तदर्थं च प्रवर्त्तमानः क्रियासु कर्माश्रवैरात्मानं सम्भावयति, तथाहि-वीरभोग्या वसुन्धरेति मत्वा पराक्रमते, दण्डभयात्सर्वाः प्रजा बिभ्यतीति दण्डयति, इत्येवं राज्ञामन्येषामपि यथासम्भवमायोजनीयम्, अत्र च वन्दनादीनां द्वन्द्वसमासं कृत्वा तादर्थ्ये चतुर्थी विधेया, परिवन्दनमाननपूजनाय जीवितस्य कर्माश्रवेषु प्रवर्त्तन्त इति समुदायार्थः । न केवलं परिवन्दनाद्यर्थमेव कर्मादत्ते, अन्यार्थमप्यादत्त इति दर्शयति—जातिश्च मरणञ्च मोचनञ्च जातिमरणमोचनमिति समाहारद्वन्द्वात्तादर्थ्ये चतुर्थी, एतदर्थं च प्राणिनः क्रियासु प्रवर्तमानाः कर्मादद्रते, तत्र जात्यर्थं क्रौञ्चारिवन्दनादिकाः क्रिया विधत्ते; तथा यान् यान् कामान् ब्राह्मणादिभ्यो ददाति तांस्तानन्यजन्मनि पुनर्जातो भोक्ष्यते, तथा मनुनाऽप्युक्तम्-" वारिदस्तृप्तिमाप्नोति, सुखमक्षयमन्नदः । तिलप्रदः प्रजामिष्टामायुष्कमभयप्रदः" ॥१॥ अत्र चैकमेव सुभाषितम्-अभयप्रदानमिति; तुषमध्ये कणिकावदिति एवमादिकुमार्गोपदेशात् हिंसादौ प्रवृत्तिं विदधाति, तथा मरणार्थमपि पितृपिण्डदानादिषु क्रियासु प्रवर्त्तते, यदि वा-ममानेन सम्बन्धी व्यापादितस्तस्य वैरनिर्यातनार्थं वधबन्धादौ प्रवर्त्तते, यदि वा-मरणनिवृत्त्यर्थमात्मनो दुर्गाद्युपयाचितमजादिना बलिं विधत्ते, यशोधर इव पिष्टमयकुक्कुटेन, तथा मुक्त्यर्थमज्ञानावृतचेतसः पञ्चाग्नितपोऽनुष्ठानादिकेषु प्राण्युपमर्दकारिषु प्रवर्त्तमानः कर्माऽऽददते, यदि वा-जातिमरणयोर्विमोचनाय हिंसादिकाः क्रियाः कुर्वते, " जाइमरणभोयणाए " त्ति-पाठान्तरम्, तत्र भोजनार्थं कृष्यादिकर्मसु प्रवर्त्तमाना वसुधाजलज्वलनपवनवनस्पतिद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियव्यापत्तये व्याप्रियन्त इति । तथा दुःखप्रतिघातमुररीकृत्यात्मपरित्राणार्थमारम्भानासेवन्ते, तथा हि-व्याधिवेदनार्ता लावकपिशितमदिराद्यासेवन्ते, तथा वनस्पतिमूलत्वक्पत्रनिर्यासादिसिद्धशतपाकादितैलार्थमग्न्यादिसमारम्भेण पापं कुर्वन्ति, स्वतः कारयन्त्यन्यैः कुर्वतोऽन्यान् समनुजानत इत्येवमतीतानागतकालयोरपि मनोवाक्काययोगैः कर्माऽऽदानं विदधतीत्यायोजनीयम् । तथा दुःखप्रतिघातार्थमेव सुखोत्पत्त्यर्थं च कलत्रपुत्रगृहोपस्कराद्यादद्रते तल्लाभपालनार्थं च तासु तासु क्रियासु प्रवर्तमानाः पापकर्माऽऽसेवयन्त इति । उक्तञ्च-"आदौ प्रतिष्ठाधिगमे प्रयासो, दारेषु पश्चाद् गृहिणः सुतेषु । कर्तुं पुनस्तेषु गुणप्रकर्षं, चेष्टा तदुच्चैः पदलङ्घनाय " ॥ १ ॥ तदेवंभूतैः क्रियाविशेषैः कर्मोपादाय नानादिक्ष्वनुसञ्चरन्ति अनेकरूपासु च योनिषु सन्धावन्ति विरूपरूपांश्च स्पर्शान् प्रतिसंवेदयन्ति, इत्येतज्ज्ञात्वा क्रियाविशेषनिवृत्तिर्विधेयेति ।

एतावन्त एव च क्रियाविशेषा इति दर्शयितुमाह—

एयावन्ति सव्वावन्ति लोगंसि कम्मसमारम्भा परिजाणियव्वा भवन्ति । (सूत्र- १२)

' एतावंती ' त्यादि ' एआवन्ति सव्वावन्ति ' इति-एतौ शब्दौ मागधदेशीभाषाप्रसिध्या एतावन्तः सर्वेऽपीत्येतत्पर्यायौ एतावन्त एव सर्वस्मिन् लोके-धर्माऽधर्मास्तिकायावच्छिन्ने नभःखण्डे ये पूर्वं प्रतिपादिताः कर्मसमारम्भाः-क्रियाविशेषाः नैतेभ्योऽधिकाः केचन सन्तीत्येवं परिज्ञातव्या भवन्ति, सर्वेषां पूर्वत्रोपादानादिति भावः, तथाहि-आत्मपरोभयैहिकामुष्मिकाऽतीताऽनागतवर्तमानकालकृतकारिताऽनुमतिभिरारम्भाः क्रियन्ते, ते च सर्वेऽपि प्रागुपात्ता यथा सम्भवमायोज्या इति ।

एवं सामान्येन जीवास्तित्वं प्रसाध्य तदुपमर्दकारिणां च क्रियाविशेषाणां बन्धहेतुत्वं प्रदर्श्योपसंहारद्वारेण विरतिं प्रतिपादयन्नाह—

जस्सेते लोगंसि कम्मसमारंभा परिण्णाया भवन्ति से हु मुणी परिण्णायकम्मे त्ति बेमि । (सूत्र-१३)

' जस्से ' त्यादि, भगवान् समस्तवस्तुवेदी केवलज्ञानेन साक्षादुपलभ्यैवमाह-यस्य-मुमुक्षोरेते-पूर्वोक्ताः कर्मसमारम्भाः क्रियाविशेषाः कर्मणो वा ज्ञानावरणीयाद्यष्टप्रकारस्य समारम्भा-उपादानहेतवस्ते च-क्रियाविशेषा एव परिसमन्तात् ज्ञाताः-परिच्छिन्नाः कर्मबन्धहेतुत्वेन भवन्ति, हुरवधारणे, मनुते मन्यते वा जगतस्त्रिकालावस्थामिति मुनिः स एव मुनिर्ज्ञपरिज्ञया परिज्ञातकर्मा प्रत्याख्यानपरिज्ञया च प्रत्याख्यातकर्मबन्धहेतुभूतसमस्तमनोवाक्काययव्यापार इति अनेन च मोक्षाङ्गभूते ज्ञानक्रिये उपात्ते भवतो, न ह्याभ्यां विना मोक्षो भवति, यत उक्तम्-" ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः " इति । इतिशब्द एतावानयमात्मपदार्थ-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विचारः कर्मबन्धहेतुविचारश्च सकलोद्देशकेन परिसमापित इति प्रदर्शकः, यदि वा-'इति'-एतदहं ब्रवीमि यत्प्रागुक्तं यच्च वक्ष्ये तत् सर्वं भवगदन्तिके साक्षात् श्रुत्वेति । आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । (आत्माऽस्तित्वे बहुभङ्गाः क्रियावादिनः, अक्रियावादिनः, ते च 'अकिरियावाइ' शब्दे प्रथमभागे दर्शिताः । 'किरियावाइ' शब्दे तृतीयभागे च दर्शयिष्यामि ।)

आत्मास्तित्वं विस्तरेण—

सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं-इहमेगेसिं णो सएणा भवइ । (सूत्र-१) । तं जहा-पुरच्छिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, दाहिणाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, पच्चच्छिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, उत्तराओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, उड्ढाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, अहोदिसाओ वा आगओ अहमंसि, अएणयरीओ वा दिसाओ अणुदिसाओ वा आगओ अहमंसि, एवमेगेसिं णो णायं भवति । (सूत्र-२)

आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । (अनयोः सूत्रयोर्व्याख्यानं 'सएणा' शब्दे सप्तमभागे करिष्यते) (अत्रस्थनिर्युक्तिगाथाव्याख्यानम् 'दिसा' शब्दे चतुर्थभागे करिष्यते) अत्र च सामान्यदिग्ग्रहणेऽपि यस्यां दिशि जीवानामविगानेन गत्यागती स्पष्टे सर्वत्र संभवतस्तयैवेहाधिकार इति तामेव निर्युक्तिकृत्साक्षाद्दर्शयति भावदिग्भावेन भाविनी सामर्थ्यादधिकृतैव यतस्तदर्थमन्वादिशश्चिन्तयन्नाह । आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ । तत्रेह-'एवमेगेसिं णो णायं भवइ' इत्यनेन केषांचिदेव संज्ञानिषेधात्केषांचित्तु भवतीत्युक्तं भवति । तत्र सामान्यसंज्ञायां प्रतिप्राणि सिद्धत्वात्तत्कारणपरिज्ञानस्य चेहाकिञ्चित्करत्वाद्विशिष्टसंज्ञायास्तु केषांचिदेव भावात्तस्याश्च भवान्तरगात्म्यात्मनः स्पष्टप्रतिपादने सोपयोगित्वाद् सामान्यसंज्ञाकारणप्रतिपादनमनादृत्य विशिष्टसंज्ञायाः कारणं सूत्रकृद्दर्शयितुमाह—

से जं पुण जाणेज्जा सह संमइयाए परवागरणेणं अन्नेसिं अंतिए वा सोच्चा, तं जहा-पुरत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, ०जाव अएणयरीओ दिसाओ अणुदिसाओ वा आगओ अहमंसि, एवमेगेसिं जं णायं भवति-अत्थि मे आया उववाइए, जो इमाओ दिसाओ अणुदिसाओ वा अणुसंचरइ, सव्वाओ दिसाओ अणुदिसाओ, सोऽहं । (सूत्र-४)

आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । (अस्य सूत्रस्य व्याख्यानम् 'दिसा' शब्दे चतुर्थभागे करिष्यते)

इममेवार्थं निर्युक्तिकृद्दर्शयितुमना गाथात्रितयमाह—

जाणइ सयं मतीए, अन्नेसिं वाऽवि अंतिए सोच्चा ।
जाणगजणपएणविओ, जीवं तह जीवकाए वा ॥६४॥
एत्थ य सह सम्मइय-त्ति जं एयं तत्थ जाणना होइ ।
ओहीमणपज्जवना-णकेवले जाइसरणे य ॥ ६५ ॥
परवइवागरणं पुण, जिणवागरणं जिणा परं नऽत्थि ।
अएणेसिं सोच्चं ति य, जिणेहिँ सव्वो परो अन्नो ॥६६॥

'जाणइ' त्यादि, 'एत्थये' त्यादि, 'परे' त्यादि, कश्चिदनादिसंसृतौ पर्यटन्नवध्यादिकया चतुर्विधया स्वकीयया मत्या जानाति । अनानुपूर्वीन्यायप्रकटनार्थं पश्चादुपात्तमप्यन्येषामित्येतत्पदं तावदाचष्टे अन्येषां वाऽतिशयज्ञानिनामन्तिके श्रुत्वा जानाति, तथा-'जाणगजणपएणविओ' इत्यनेन परव्याकरणमुपात्तं, तेनायमर्थो-ज्ञापकस्तीर्थकृत् तत्प्रज्ञापितश्च जानाति यज्जानाति तत्स्वत एव दर्शयति—सामान्यतो 'जीवमि' ति-अनेन चाधिकृतोद्देशकस्यार्थाधिकारमाह, तथा-'जीवकायांश्च' पृथ्वीकायादीन् इत्यनेन चोत्तरेषां षण्णामप्युद्देशकानां यथाक्रममधिकारार्थमाहेति, अत्र च—'सहस्मइए'त्ति-सूत्रे यत् पदं, तत्र 'जाणण' त्ति-ज्ञानमुपात्तं भवति. 'मन' ज्ञानं, मननं मतिरिति कृत्वा, तच्च किंभूतमिति दर्शयति—अवधिमनःपर्यायकेवलजातिस्मरणरूपमिति, तत्रावधिज्ञानी संख्येयानसंख्येयान्वा भवान् जानाति, एवं मनःपर्यायज्ञान्यऽपि, केवली तु नियमतोऽनन्तान् , जातिस्मरणस्तु नियमतः संख्येयानिति, शेषं स्पष्टम् अत्र च-सहसन्मत्यादिपरिज्ञाने सुखप्रतिपत्त्यर्थं त्रयो दृष्टान्ताः प्रदर्श्यन्ते, तद्यथा-वसन्तपुरे नगरे जितशत्रू राजा, धारणी महादेवी, तयोर्द्धर्मरुच्यभिधानः सुतः । स च राजाऽन्यदा तापसत्वेन प्रव्राजितुमिच्छुर्द्धर्मरुचिं राज्ये स्थापयितुमुद्यतः, तेन च जननी पृष्टा किमिति तातो राज्यश्रियं त्यजति ?, तयोक्तं किमनया चपलया नारकादिसकलदुःखहेतुभूतया स्वर्गापवर्गमार्गार्गलयाऽवश्यमपायिन्या परमार्थत इह लोकेऽप्यभिमानमात्रफलयेत्यतो विहायैनां सकलसुखसाधनं धर्मं कर्त्तुमुद्यतः; धर्मरुचिस्तदाकर्ण्योक्तवान्यद्येवं किमहं तातस्यानिष्टो यनैवंभूतां सकलदोषाश्रयणीं मयि नियोजयति, सकलकल्याणहेतोर्द्धर्मात्प्रच्यावयतीत्यभिधाय पित्राऽनुज्ञातस्तेन सह तापसाश्रममगात्, तत्र च सकलास्तापसक्रिया यथोक्ताः पालयन्नास्ते । अन्यदामावास्यायाः पूर्वाह्णे केनचित्तापसेनोक्तं यथा भोः भोः तापसाः श्वोऽनाकुट्टिर्भविता अतोऽद्यैव समित्कुसुमकुशकन्दफलमूलाद्याहरणं कुरुतैतच्चाकर्ण्य धर्मरुचिना जनकः पृष्टस्तात ! कथमनाकुट्टिरिति तेनोक्तं-पुत्र ! कन्दफलादीनामच्छेदनं तच्चामावास्यादिके विशिष्टे पर्वदिवसे न वर्त्तते, सावद्यत्वाच्छेदनादिक्रियायाः । श्रुत्वा चैतदसावचिन्तयत्-यदि सर्वदानाकुट्टिः स्याच्छोभनं भवेद् , एवमध्यवसायिनस्तस्यामावास्यायां तपोवनासन्नपथेन गच्छतां साधूनां दर्शनमभूत्तं च तेनाभिहिताः किमद्य भवतामनाकुट्टिर्न सञ्जाता येनाटवीं प्रस्थिताः , तैरप्यभिहितं यथाऽस्माकं यावज्जीवमनाकुट्टिः; इत्यभिधायातिक्रान्ताः साधवस्तस्य च तदाकर्ण्येहापोहविमर्शेन जातिस्मरणमुत्पन्नं-यथाहं जन्मान्तरे प्रव्रज्यां कृत्वा देवलोकसुखमनुभूयेहागत इति एवं तेन विशिष्टदिगागमनं स्वमत्या जातिस्मरणरूपया विज्ञातं, प्रत्येकबुद्धश्च जातः, एवमन्येऽपि वल्कलचीरिश्रेयांसप्रभृतयोऽत्र योज्या

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इति । परव्याकरणे त्विदमुदाहरणम्-गौतमस्वामिना भगवान्वर्द्धमानस्वामी पृष्टो-भगवन् ! किमिति मे नोत्पन्नं केवलज्ञानं ?, भगवता व्याकृतम्-भो गौतम ! भवतोऽतीव ममोपरि स्नेहोऽस्ति तद्वशात् तेनोक्तम्-भगवन्नेवमेवं, किंनिमित्तः पुनरसौ मम भगवदुपरि स्नेहः ?, ततो भगवता तस्य बहुषु भवान्तरेषु पूर्वसंबन्धः समावेदितः " चिरसंसिट्ठो सि मे परिचिओ सि मे गोयमा " इत्येवमादि, तच्च तीर्थकृद्व्याकरणमाकर्ण्य गौतमस्वामिनो विशिष्टदिगागमजाति विज्ञानमभूदिति । अन्यश्रवणे त्विदमुदाहरणम्-मल्लिस्वामिना षण्णां राजपुत्राणामुद्वाहार्थमागतानामवधिज्ञानेन तत्प्रतिबोधनार्थं यथा जन्मान्तरे सहितैरेव प्रव्रज्या कृता, यथा च तत्फलं देवलोके जयन्ताभिधानविमानेऽनुभूतं तथाऽऽख्यातं, तच्चाकर्ण्य ते लघुकर्मत्वात्प्रतिबुद्धा विशिष्टदिगागमनविज्ञानं च सञ्जातम् , उक्तञ्च-" किं च तयं पम्हुट्ठं. जं च तया भो ! जयंतपवरंमि । वुत्था समयनिबद्धं, देवा ! तं संभरह जाति " इति गाथात्रयतात्पर्यार्थः । आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

(१४) (भाष्यकारः) अन्यत्वादिद्वारत्रयव्याचिख्यासुराह-

अण्णत्तममुत्तत्तं, णिच्चत्तं चेव भन्नए समयं ।
कारणअविभागाई-हेऊहिं इमाहिँ गाहाहिं ॥ ३६ ॥

व्याख्या-अन्यत्वं देहात् अमूर्तत्वं स्वरूपेण नित्यत्वं चैव-परिणामिनित्यत्वं भण्यते । समकम्-एकैकेन हेतुना त्रितयमपि युगपदिति; एककालमित्यर्थः, कारणाविभागादिभिः-वक्ष्यमाणलक्षणैर्हेतुभिः इमाभिस्तिसृभिर्निर्युक्तिगाथाभिरेवेति गाथार्थः ।

कारणविभागकारण-विणासबंधस्स पच्चया भावा ।
विरुद्धस्स य अत्थस्साऽ-पाउब्भावाऽविणासा य ।२२५।

व्याख्या-कारणविभागकारणविनाशबन्धस्य प्रत्ययाभावादिति-अत्राऽभावशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते कारणविभागाभावाच्च खलु जीवस्य पटादेरिव तन्त्वादिकारणविभागोऽस्ति कारणाभावादेव । एवं कारणविनाशाभावेऽपि योज्यम् , तथा बन्धस्य ज्ञानाऽऽवरणादिपुद्गलयोगलक्षणस्य प्रत्ययाभावात्-हेतुत्वानुपपत्तेः, बन्धस्येति बध्यमानव्यतिरिक्तबन्धज्ञापनार्थमसमासः । व्यतिरेकी चायमन्वयव्यतिरेकावर्थसाधकाविति दर्शनार्थमिति, तथा विरुद्धस्य चार्थस्य घटादिनाशे भस्मादेरिव अप्रादुर्भावाद् अविनाशाच्च अप्रादुर्भावे-अनुत्पत्तौ सत्यामविनाशाच्च हेतोर्जीवस्य नित्यत्वम् , नित्यत्वादमूर्तत्वम् , अमूर्तत्वाच्च देहादन्यत्वमिति प्रतिपत्त्यानुगुण्यतो व्यत्ययेन साध्यनिर्देशः । वक्ष्यति च निर्युक्तिकारः-" जीवस्स सिद्धमेवं, णिच्चत्तममुत्तमण्णत्तं " इति गाथासमासार्थः ।

व्यासार्थस्तु भाष्यादवसेयः , तत्राव्युत्पन्नविनेयासंमोहनिमित्तं यथोपन्यासं तावद् द्वाराणि व्याख्याय पश्चान्निर्युक्तिकाराभिप्रायेण मीलयिष्यतीत्यत आह—

अन्न त्ति दारमहुणा, अन्नो देहा गिहाउ पुरिसो व्व ।
तज्जीवतस्सरीरिय-मयघायत्थं इमं भणियं ॥ ३७ ॥

व्याख्या—अन्यो देहादिति द्वारमधुना तदेतद्व्याख्यायते-अन्यो देहाज्जीव इति गम्यते, गृहादिगतपुरुषवदिति दृष्टान्तः, तद्भावेऽपि तत्र अनियमतोऽभावादिति हेतुरभ्यूह्यः, न चासिद्धोऽयम् , मृतदेहे अदर्शनात् , प्रयोगफलमाह-तज्जीवतच्छरीरवादिमतविघातार्थमिदं प्रयोगरूपं भणितमिति गाथार्थः ।

(भाष्यकारः) प्रयोगान्तरमाह—

देहिंदियाऽइरित्तो, आया खलु तदुवलद्धअत्थाणं ।
तव्विगमेऽवि सरणाओ,गेहगवक्खेहिँ पुरिसो व्व ॥३८॥

व्याख्या-खलुशब्दो विशेषणार्थत्वात् कथंचिद्देहेन्द्रियातिरिक्त आत्मेति प्रतिज्ञार्थः, तदुपलब्धार्थानामिति सम्भवतः परामर्शत्वात् इन्द्रियोपलब्धार्थानाम् तद्विगमेऽपि-इन्द्रियविगमेऽपि स्मरणादिति हेत्वर्थः, स्मरन्ति चान्धबधिरादयः पूर्वानुभूतं रूपादीति गेहगवाक्षैः पुरुषवदिति दृष्टान्तः । प्रयोगस्तु कथंचिद्देहेन्द्रियातिरिक्त आत्मा तद्विगमेऽपि तदुपलब्धार्थानुस्मरणात् , पञ्चवातायनोपलब्धार्थानुस्मर्तृदेवदत्तवदिति गाथार्थः ।

(भाष्यकारः) इन्द्रियोपलब्धिमत्त्वाशङ्कापोहायाह—

न उ इंदियाइँ उवल-द्धिमंति विगएसु विसयसंभरणा ।
जह गेहगवक्खेहिं, जो अणुसरिया स उवलद्धा ॥३९॥

व्याख्या-न पुनरिन्द्रियाण्येवोपलब्धिमन्ति द्रष्टृणि, कुत इत्याह-विगतेष्विन्द्रियेषु विषयसंस्मरणात्—तद्गृहीतरूपाद्यनुस्मृतेरन्धबधिरादीनामिति । निदर्शनमाह-यथा गेहगवाक्षैः करणभूतैर्दृष्टानर्थाननुस्मरन् योऽनुस्मर्ता स उपलब्धा, न तु गवाक्षा एवमत्रापीति गाथार्थः । उक्तमेकम प्रकारेणान्यत्वद्वारम् ।

अधुना अमूर्त्तद्वारावसर इत्याह भाष्यकारः—

संपयममुत्तदारं, अइंदियत्ता अछेयभेयत्ता ।
रूवाइविरहओ वा, अणाइपरिणामभावाओ ॥ ४० ॥

व्याख्या—सांप्रतममूर्त्तद्वारम् , तद्व्याख्यायते-अमूर्त्तो जीवः अतीन्द्रियत्वाद् द्रव्येन्द्रियाग्राह्यत्वात् , अच्छेद्याभेद्यत्वात्-खड्गशूलादिना, रूपादिविरहितश्च; अरूपत्वादित्यर्थः । तथा अनादिपरिणामभावादिति स्वभावतोऽनाद्यमूर्तपरिणामत्वादिति गाथार्थः ।

(भाष्यम्)—

छउमत्थाणुवलंभा, तहेव सव्वन्नुवयणओ चेव ।
लोयाइपसिद्धीओ, जीवोऽमुत्तो त्ति नायव्वो ॥ ४१ ॥

व्याख्या-छद्मस्थानुपलम्भात् । अवधिज्ञानिप्रभृतिभिरपि साक्षादगृह्यमाणत्वात् , तथैव सर्वज्ञवचनाच्चैव; सत्यवक्तृवीतरागवचनादित्यर्थः, लोकादिप्रसिद्धेः लोकादावमूर्तत्वेन प्रसिद्धत्वात् , आदिशब्दाद्वेदसमयपरिग्रहः । " अमूर्त्तो जीव " इति ज्ञातव्यः, सर्वत्रैवेयं प्रतिज्ञेति गाथार्थः । उक्तममूर्तद्वारम् । दश० ४ अ० । तस्य चानादिकर्मसंबद्धस्य कदाचिदपि सांसारिकस्यात्मनः स्वरूपेऽनवस्थानात् सत्यप्यमूर्तत्वे मूर्तेन कर्मणा संबन्धो न विरुध्यते, कर्मसंबन्धाच्च सूक्ष्मबादरैकेन्द्रियद्वित्रिचतुःपञ्चे-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न्द्रियपर्याप्ताऽपर्याप्ताद्यवस्थाः बहुविधाः प्रादुर्भवन्ति । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

इदानीं नित्यत्वद्वारावसरस्तथा चाह भाष्यकारः—

णिच्चो त्ति दारमहुणा, णिच्चो अविणासि सासओ जीवो ।
भावत्ते सइ जम्माऽ–भावाउ नहं व विन्नेओ ॥ ४२ ॥

व्याख्या–' नित्य इति '–नित्यद्वारमधुना–अवसरप्राप्तं तद्व्याचिख्यासुराह—नित्यो जीव इति–एतावत्युच्यमाने परैरपि सन्तानस्य नित्यत्वाभ्युपगमात्सिद्धसाध्यतेति । तन्निराकरणायाह—अविनाशी–क्षणापेक्षयापि न निरन्वयनाशधर्मा, एवमपि परिमितकालावस्थायी कैश्चिदिष्यते–" कप्पट्ठाइ पुढवी भिक्खू वा " इति वचनात्तदपोहायाह–शाश्वत इति–सर्वकालावस्थायी, कुत इत्याह—भावत्वे सति; वस्तुत्वे सतीत्यर्थः, जन्माऽभावात्–अनुत्पत्तेर्नभोवद्–आकाशवद्विज्ञेयः भावत्वे सतीति विशेषणं खरविषाणादिव्यवच्छेदार्थमिति गाथार्थः ।

(भाष्यकारः) हेत्वन्तराण्याह—

संसाराओ आलो–यणाओ तह पच्चभिन्नभावाओ ।
खणभंगविघायट्ठं, भणियं तेलोक्कदंसीहिं ॥ ४३ ॥

व्याख्या–संसारादिति–संसरणं संसारस्तस्मात्, स एव नारकः स एव तिर्यगादिरिति नित्यः, आलोचनादिति आलोचनं–करोम्यहं, कृतवानहं, करिष्येऽहमित्यादिरूपं त्रिकालविषयमिति नित्यः; तथा प्रत्यभिज्ञाभावात् स एव इति प्रत्यभिज्ञाप्रत्यय आविद्वदङ्गनादिसिद्धस्तदभेदग्राहीति नित्य इति, उक्ताभिधानफलमाह–क्षणभङ्गविघातार्थं—निरन्वयक्षणिकवस्तुवादविघातार्थं भणितं त्रैलोक्यदर्शिभिः–तीर्थकरैः एतत्–अदनन्तरोदितं न पुनरेष एव परमार्थ इति गाथार्थः ।

एतदेव (भाष्यकारः) दर्शयति—

लोगे वेए समये, निच्चो जीवो विभासओ अम्हं ।
इहरा संसाराई, सव्वं पि न जुज्जए तस्स ॥ ४४ ॥

व्याख्या–लोके–" नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि " इत्यादिवचनप्रामाण्यात्, वेदे–"स एष अक्षयोऽज" इत्यादि श्रुतिप्रामाण्यात्, समये–" न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुष " इति वचनप्रामाण्यात्, किमित्याह—नित्यो जीवः–अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावः, एकान्तनित्य एव, न चैतन्न्याय्यम् एकस्वभावतया संसरणादिव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गादिति वक्ष्यति अत आह–विभाषयाऽस्माकं विकल्पनेन भजनया स्यान्नित्य इत्यादिरूपया द्रव्यार्थादेशान्नित्यः पर्यायार्थादेशादनित्य इत्यर्थः, इतरथा–यद्येवं नाभ्युपगम्यते ततः संसारादि–संसारालोचनादि सर्वमेव न युज्यते तस्यात्मनः स्वभावान्तरानापत्त्या एकस्वभावतया वार्तमानिकभावातिरेकेण भावान्तरानापत्तेः, एवममूर्तत्वाऽन्यत्वयोरपि विभाषा वेदितव्या, अन्यथा व्यवहाराभावप्रसङ्गात्, एकान्तामूर्तस्य एकान्तदेहभिन्नस्य चातिपाताद्यसंभवादित्यत्र बहु वक्तव्यं तत्तु नोच्यते.अक्षरगमनिकामात्रत्वात्प्रारम्भस्येति गाथार्थः।

एवमन्यत्वादिद्वारत्रयं व्याख्यायाधिकृतनिर्युक्तिगाथां (भाष्यकारः) व्याचिख्यासुराह—

कारणअविभागाओ, कारणअविणासओ य जीवस्स ।
निच्चत्तं विन्नेयं, आगासपडाऽणुमाणाओ ॥ ४५ ॥

व्याख्या–कारणाविभागात्पटादेस्तन्त्वादेरिव; कारणविभागाभावादित्यर्थः, कारणाविनाशतश्च कारणाविनाशश्च कारणानामेवाभावात्, किमित्याह–जीवस्य–आत्मनो नित्यत्वं विज्ञेयं कुत इत्याह–आकाशपटानुमानाद् अत्रानुमानशब्दो दृष्टान्तवचनः । आकाशपटदृष्टान्तात् । तत्रश्चैवं प्रयोगः–नित्य आत्मा स्वकारणविभागाभावाद् आकाशवत्, तथा कारणविनाशाभावाद् आकाशदेव यस्त्वनित्यस्तस्य कारणविभागभावः कारणविनाशभावो वा यथा पटस्येति व्यतिरेकः, पटाद्धि तन्तवो विभज्यन्ते विनश्यन्ति चेति नित्यत्वसिद्धिः नित्यत्वादमूर्तः, अमूर्तत्वाद्देहादन्य इति गाथार्थः । दश० ४ अ० । तस्य चैकान्तेन क्षणिकत्वे ध्यानाऽध्ययनश्रमप्रत्यभिज्ञानाद्यभावः, एकान्तनित्यत्वे च नारकतिर्यङ्मनुष्यामरगतिपरिणामाभावः स्यात्, तस्मात्स्यादनित्यः स्यान्नित्य आत्मेति अलमतिप्रसङ्गेन । सूत्र० १ श्रु० १ अ० ।

दव्वादिएहिं निच्चो, एगंतेणेव जेसि अप्पा उ ।
होइ अभावो तेसिं, सुहदुहसंसारमोक्खाणं ॥ ५६ ॥

व्याख्या–द्रव्यादिभिः–द्रव्यक्षेत्रकालभावैर्नारकत्वविशिष्टक्षेत्रवयोऽवस्थितत्वाऽप्रसन्नत्वादिभिर्नित्यः–अविचलितस्वभावः एकान्तेनैव–सर्वथैव येषां वादिनामात्मा–जीवः तुशब्दादन्यच्च वस्तु भवति–संजायते, अभावः–असंभवस्तेषां वादिनां केषां सुखदुःखसंसारमोक्षाणां तत्राह्लादानुभवरूपं लग्णं सुखं, तापानुभवरूपं दुःखं, तिर्यङ्नरनारकाऽमरभवसंसरणरूपः संसारः, अष्टप्रकारकर्मबन्धवियोगो मोक्षः, तत्र कथं पुनस्तेषां वादिनां सुखाद्यभावः ?, आत्मनोऽप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावाद्, अन्यथात्वापरिणतेः, सदैव नारकत्वादिभावाद्, अपरित्यक्ताप्रसन्नत्वे पूर्वरूपस्य च प्रसन्नत्वेनाभवनाद् एवं शेषेष्वपि भावनीयमिति गाथार्थः ।

ततश्चैवम्—

सुहदुक्खसंपओगो, न विज्जई निच्चवायपक्खम्मि ।
एगंतच्छेअंमि अ, सुहदुक्खविगप्पणमजुत्तं ॥ ६० ॥

व्याख्या–सुखदुःखसंप्रयोगः सम्यक्संगतो वा प्रयोगः संप्रयोगः; अकल्पित इत्यर्थः । न विद्यते नास्ति; न घटत इत्यर्थः, क–नित्यवादपक्षे–नित्यवादाभ्युपगमे संप्रयोगो न विद्यते, कल्पितस्तु भवत्येव, यथाऽऽहुर्नित्यवादिनः—" प्रकृत्युपधानतः पुरुषस्य सुखदुःखे स्तः, स्फटिके रक्तादिवद् बुद्धिप्रतिबिम्बाद्वाऽन्ये " इति. कल्पितत्वं चास्य आत्मनस्तत्त्वत एव तथा परिणतिमन्तरेण सुखाद्यभावानुपधानसन्निधावप्यन्धोपले रक्तादिवत् तदभ्युपगमे चाभ्युपगमक्षतिः, बुद्धिप्रतिबिम्बपक्षेऽप्यविचलितस्यात्मनः सदैवैकस्वभावत्वात् । सदैवैकरूपप्रतिबिम्बाऽऽपत्तेः । स्वभावभेदाभ्युपगमे चानित्यत्वप्रसङ्ग इति । मा भूदनित्यैकान्तग्रह इत्यत आह–एकान्तेन सर्वथा उत्—प्राबल्येन छेदो–विनाशः एकान्तोच्छेदः; निरन्वयो नाश इत्यर्थः । अस्मिंश्च किं सुखदुःखयोर्विकल्पनं सुखदुःखविकल्पनम्, अयुक्तम्–अघटमानकम् । अयमत्र भावार्थः–एकान्तोच्छेदेऽपि सुखाद्यनुभवितुस्तत्क्षण एव सर्वथोच्छेदादहेतुकत्वा–

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सदुत्तरलक्षणस्योत्पत्तिरपि न युज्यते, कुतः पुनस्तद्विकल्पानामिति गाथार्थः। दश० ४ अ०।

पूर्वं भावितमपीदं पुनरपि स्मारयन्नाह—

एक्कं पि सव्वकारग-परिणामाणज्ञभावयामेइ।
नाया णाणाऽणन्नो, जह विन्नेयाइपरिणामं ॥३५३८॥

विशे०। (अस्याः गाथायाः व्याख्या 'सामाइय' शब्दे सप्तमे भागे करिष्यते)

इदानीं देहव्यापित्वद्वारावसर इत्याह भाष्यकारः—

वावि त्ति दारमहुणा, देहव्वावी मओऽग्गिउण्हं व।
जीवो न उ सव्वगओ, देहे लिंगोवलंभाओ ॥ ५१ ॥

व्याख्या-व्यापीति द्वारमधुना तदेतद्व्याख्यायते, देहव्यापी-शरीरमात्रं व्याप्तुं शीलमस्येति तथा मतः-इष्टः प्रवचनज्ञैर्जीवः; न तु सर्वग इति योगः, तुशब्दस्यावधारणार्थत्वान्न चाण्वादिमात्रः, कुत इत्याह-देह लिङ्गोपलम्भात् शरीर एव सुखादितल्लिङ्गोपलब्धेः अग्न्यौष्ण्यवत् उष्णत्वं ह्यग्निलिङ्गं नान्यत्राग्नेर्नैव नाग्नावितिति (गाथा) प्रयोगार्थः। प्रयोगस्तु शरीरनियतदेश आत्मा परिमितदेशे लिङ्गोपलब्धेरग्न्यौष्ण्यवदिति गाथार्थः। व्याख्याता प्रथमा मूलद्वारगाथा। दश० ४ अ०।

आत्मानमधिकृत्य—

स च न सर्वव्यापी; तद्गुणस्य सर्वत्रानुपलभ्यमानत्वात्, घटवत्। नापि श्यामाकतण्डुलमात्रः, अङ्गुष्ठपर्वमात्रो वा तावन्मात्रस्योपात्तशरीराव्यापित्वात्, त्वक्पर्यन्तशरीरव्यापित्वेन चोपलभ्यमानगुणत्वात्। तस्मात्स्थितमिदम्-उपात्तशरीरत्वक्पर्यन्तशरीरव्याप्यात्मा। सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०।

अथ ते वादिनः कायप्रमाणत्वमात्मनः स्वयं संवेद्यमानमप्युपलभ्य तादृशकुशास्त्रसंपर्कविनष्टसदृदृष्टयस्तस्य विभुत्वं मन्यन्ते। अतस्तत्रोपलम्भमाह—

यत्रैव यो दृष्टगुणः स तत्र,
कुम्भादिवन्निष्प्रतिपक्षमेतत्।
तथाऽपि देहाद्बहिरात्मतत्त्व-
मतत्त्ववादोपहताः पठन्ति ॥ ९ ॥

यत्रैव-देशे यः पदार्थो, दृष्टगुणो दृष्टाः-प्रत्यक्षादिप्रमाणतोऽनुभूता गुणा-धर्मा यस्य स तथा स पदार्थः तत्रैव-विवक्षितदेश एवोपपद्यत इति क्रियाध्याहारो गम्यः, पूर्वस्यैवकारस्यावधारणार्थस्यात्राप्यऽभिसंबन्धात्तत्रैव-नान्यत्रेत्यन्ययोगव्यवच्छेदः। अमुमेवार्थं दृष्टान्तेन दृढयति—कुम्भादिवदिति-घटादिवत्। यथा कुम्भादेर्यत्रैव देशे रूपादयो गुणा उपलभ्यन्ते तत्रैव तस्यास्तित्वं प्रतीयते; नान्यत्र। एवमात्मनोऽपि गुणाश्चैतन्यादयो देह एव दृश्यन्ते न बहिः तस्मात्तत्प्रमाण एवायमिति। यद्यपि पुष्पादीनामवस्थानदेशादन्यत्रापि गन्धादिगुण उपलभ्यते तथाऽपि तेन न व्यभिचारः। तदाश्रया हि गन्धादिपुद्गलास्तेषां च वैस्रसिकया प्रायोगिकया वा गत्या गतिमत्त्वेन तदुपलम्भकघ्राणाद्विदेशं यावदागमनोपपत्तेरिति। अत एवाह-'निष्प्रतिपक्षमेतदिति'-एतन्निष्प्रतिपक्षं-बाधकरहितं न हि दृष्टेऽनुपपन्नं नामेति न्यायात्। ननु मन्त्रादिना भिन्नदेशस्थानामप्याकर्षणोच्चाटनादिको गुणो योजनशतादेः परतोऽपि दृश्यत इत्यस्ति बाधकमिति चेत्। मैवं वोचः। स हि न खलु मन्त्रादीनां गुणः, किं तु-तदधिष्ठातृदेवतानां तासां चाऽऽकर्षणीयोच्चाटनीयादिदेशगमने कौतुकताऽयमुपालम्भः। न जातु गुणा गुणिनमतिरिच्य वर्तन्त इति। अथोत्तरार्द्धं व्याख्यायते—'तथापी'त्यादि, तथापि-एवं निःसपत्ने व्यवस्थितेऽपि तत्त्वे अतत्त्ववादोपहता अनाचार इत्यत्रेव नञः कुत्सार्थत्वात्, कुत्सिततत्त्ववादेन तदभिमताप्ताभासपुरुषविशेषप्रणीतेन तत्त्वाभासप्ररूपणेनोपहता-व्यामोहिता देहाद् बहिः शरीरव्यतिरिक्तेऽपि देशे आत्मतत्त्वम्—आत्मस्वरूपं पठन्ति; शास्त्ररूपतया प्रणयन्ते इत्यक्षरार्थः। भावार्थस्त्वयम्-आत्मा सर्वगतो न भवति, सर्वत्र तद्गुणानुपलब्धेः। यो यः सर्वत्रानुपलभ्यमानगुणः स स सर्वगतो न भवति। यथा घटः; तथा चायम् तस्मात्तथा व्यतिरेके व्योमादि न चायमसिद्धो हेतुः। कायव्यतिरिक्तदेशे तद्गुणानां बुद्ध्यादीनां वादिना प्रतिवादिना वाऽनभ्युपगमात्। तथा च भट्टः श्रीधरः-"सर्वगतत्वेऽप्यात्मनो देहप्रदेशे ज्ञातृत्वं नान्यत्र शरीरस्योपभोगायतनत्वात्। अन्यथा तस्य वैयर्थ्यादिति"। अथाऽस्त्यदृष्टमात्मनो विशेषगुणस्तच्च सर्वोत्पत्तिमतां निमित्तं सर्वव्यापकं च। कथमितरथा द्वीपान्तरादिष्वपि प्रतिनियतदेशवर्तिपुरुषोपभोग्यानि कनककस्तूरचन्दनाङ्गनादीनि तेनोत्पाद्यन्ते। गुणश्च गुणिनं विहाय न वर्तते अतोऽनुमीयते सर्वगत आत्मेति। नैवम्। अदृष्टस्य सर्वगतत्वसाधने प्रमाणाभावात्। अथाऽस्त्येव प्रमाणं वह्नेरूर्ध्वज्वलनं वायोस्तिर्यक्पवनं चादृष्टकारितमिति चेत्-न, तयोस्तत्स्वभावत्वादेव तत्सिद्धेः दहनस्य दाहशक्तिवत् साप्यदृष्टकारिता चेत्तर्हि जगत्त्रयवैचित्रीसूत्रणेऽपि तदेव सूत्रधारायतां किमीश्वरकल्पनया। तन्नायमसिद्धो हेतुः। न चानैकान्तिकः साध्यसाधनयोर्व्याप्तिग्रहणेन व्यभिचाराभावात्। नाऽपि विरुद्धः। अत्यन्तं विपक्षव्यावृत्तत्वात्, आत्मगुणाश्च बुद्ध्यादयः शरीरे एवोपलभ्यन्ते, ततो गुणिनापि तत्रैव भाव्यम्, इति सिद्धः कायप्रमाण आत्मा। अन्यच्च त्वयात्मनां बहुत्वमिष्यते "नानाऽऽत्मानो व्यवस्थातः" इति वचनात्, ते च व्यापकास्तेषां प्रदीपप्रभामण्डलानामिव परस्परानुवेधे तदाश्रितशुभाऽशुभकर्मणामपि परस्परं सङ्करः स्यात्, तथा चैकस्य शुभकर्मणा अन्यः सुखी भवेत् इतरस्याशुभकर्मणा चाऽन्यो दुःखीत्यसमंजसं समापद्येत। अन्यच्च—एकस्यैवात्मनः सोपात्तशुभकर्मविपाकेन सुखित्वं परोपार्जिताऽशुभकर्मविपाकसंबन्धेन च दुःखित्वमिति युगपत् सुखदुःखसंवेदनप्रसङ्गः। अथ स्वावष्टब्धभोगायतनमाश्रित्यैव शुभाऽशुभयोर्भोगस्तर्हि स्वोपार्जितमप्यदृष्टं कथं भोगायतनाद् बहिर्निष्क्रम्य वह्नेरूर्ध्वज्वलनादिकं करोतीति चिन्त्यमेतत्। आत्मनां च सर्वगतत्वे एकैकस्य सृष्टिकर्तृत्वप्रसङ्गः सर्वगतत्वेनेश्वरान्तरनुप्रवेशस्य संभावनीयत्वात्। ईश्वरस्य वा तदन्तरनुप्रवेशे

१-निवर्तकत्वात्।

तस्यापि अकर्तृत्वापत्तिः । न हि क्षीरनीरयोरन्योन्यसंबन्धे एकतरस्य पानादिक्रिया अन्यतरस्य न भवतीति युक्तं वक्तुम्, किञ्च-आत्मनः सर्वगतत्वे नरनारकादिपर्यायाणां युगपदनुभवानुषङ्गः, अथ भोगायतनाभ्युपगमान्नायं दोष इति चेन्ननु स भोगायतनं सर्वात्मनाऽवष्टभ्नीयादेकदेशेन वा सर्वात्मना-चेदस्मदभिमताऽङ्गीकारः एकदेशेन चेत्सावयवत्वप्रसङ्गः परिपूर्णभोगाऽभावश्च । अथाऽऽत्मनो व्यापकत्वाभावे दिग्देशान्तरवर्तिपरमाणुभिर्युगपत् संयोगाभावादाद्यकर्माभावस्तदभावादन्त्यसंयोगस्य तन्निमित्तशरीरस्य तेन तत्संबन्धस्य चाभावादनुपायसिद्धः सर्वदा सर्वेषां मोक्षः स्यात् । नैवम् । यद् येन संयुक्तं तदेव तं प्रत्युपसर्पतीति नियमाऽसंभवात् । अयस्कान्तं प्रत्ययसस्तेनाऽसंयुक्तस्याप्याकर्षणोपलब्धेः । अथासंयुक्तस्याप्याकर्षणे तच्छरीरारम्भं प्रत्येकमुखीभूतानां त्रिभुवनोदरविवरवर्तिपरमाणूनामुपसर्पणप्रसङ्गान्न जाने तच्छरीरं कियत्प्रमाणं स्यादिति चेत् संयुक्तस्याप्याकर्षणे कथं स एव दोषो न भवेत् । आत्मनो व्यापकत्वेन सकलपरमाणूनां तेन संयोगात् । अथ तद्भावाविशेषेऽप्यदृष्टवशाद् विवक्षितशरीरोत्पादनानुगुणा नियता एव परमाणव उपसर्पन्ति तदितरत्रापि तुल्यम् । अथाऽस्तु यथाकथंचिच्छरीरोत्पत्तिस्तथापि सावयवं शरीरं, प्रत्यवयवमनुप्रविशन्नात्मा सावयवः स्यात्, तथा चास्य पटादिवत्कार्यत्वप्रसङ्गः कार्यत्वे चासौ विजातीयैस्सजातीयैर्वा कारणैरारभ्येत । न तावद्विजातीयैस्तेषामनारम्भकत्वात् नहि तन्तवो घटमारभन्ते । न च सजातीयैर्यत आत्मत्वाभिसंबन्धादेव तेषां कारणानां सजातीयत्वम् । पार्थिवादिपरमाणूनां विजातीयत्वात् । तथा चात्मभिरात्माऽऽरभ्यत इत्यायातं, तच्चायुक्तम्-एकत्र शरीरेऽनेकात्मनामात्मारम्भकाणामसंभवात् संभवे वा प्रतिसंधानाऽनुपपत्तिः । न ह्यन्येन दृष्टमन्यः प्रतिसंधातुमर्हति अतिप्रसङ्गात् । तदारभ्यत्वे चास्य घटवदवयवक्रियातो विभागात्संयोगविनाशाद्विनाशः स्यात् । तस्माद्व्यापक एवात्मा युज्यते कायप्रमाणतायामुक्तदोषसद्भावात् इति चेत्-न, सावयवत्वकार्यत्वयोः कथंचिदात्मन्यभ्युपगमात् । तत्र सावयवत्वं तावदसंख्येयप्रदेशात्मकत्वात् । तथा च द्रव्यालङ्कारकारौ[1]- " आकाशोऽपि सदेशः सकृत् सर्वमूर्ताभिसंबन्धाऽर्हत्वात् " इति । यद्यप्यवयवप्रदेशयोर्गन्धहस्त्यादिषु भेदोऽस्ति तथापि नात्र सूक्ष्मेक्षिका चिन्त्या । प्रदेशेष्वप्यवयवव्यवहारात् कार्यत्वं तु वक्ष्यामः । नन्वात्मनां कार्यत्वे घटादिवत्प्राक्प्रसिद्धसमानजातीयावयवारभ्यत्वप्रसक्तिः अवयवा ह्यवयविनमारभन्ते यथा तन्तवः पटमिति चेन्न वाच्यम् । न खलु घटादावपि कार्ये प्राक्प्रसिद्धसमानजातीयकपालसंयोगारभ्यत्वं दृष्टम् । कुम्भकारादिव्यापारान्वितान्मृत्पिण्डात्प्रथममेव पृथुबुध्नोदराद्याकारस्याऽस्योत्पत्तिप्रतीतेः । द्रव्यस्य हि पूर्वाकारपरित्यागेनोत्तराकारपरिणामः कार्यत्वं तच्च बहिरिवान्तरप्यनुभूयत एव । ततश्चात्मापि स्यात् कार्यः । न च पटादौ स्वावयवसंयोगपूर्वककार्यत्वोपलम्भात्सर्वत्र तथाभावो युक्तः काष्ठे लोहलेख्यत्वोपलम्भात् वज्रेऽपि तथाभावप्रसङ्गात् । प्रमाणबाधनमुभयत्रापि तुल्यम्, न च-उक्तलक्षणकार्यत्वाभ्युपगमेऽप्यात्मनोऽनित्यत्वानुषङ्गात्प्रतिसन्धानाभावोऽनुषज्यते । कथंचिदनित्यत्वे सत्येवास्योपपद्यमानत्वात् । प्रतिसन्धानं हि यमहमद्राक्षं तमहं स्मरामि इत्यादिरूपं तच्चैकान्तनित्यत्वे कथमुपपद्यते अवस्थाभेदात् अन्या ह्यनुभवावस्था अन्या च स्मरणावस्था । अवस्थाभेदे चाऽवस्थावतोऽपि भेदादेकरूपत्वक्षतेः कथंचिदनित्यत्वं युक्त्याऽऽयातं केन वार्यताम् । अथाऽऽत्मनः शरीरपरिमाणत्वे मूर्तत्वानुषङ्गाच्छरीरेऽनुप्रवेशो न स्यान्मूर्ते मूर्तस्यानुप्रवेशविरोधात्ततो निरात्मकमेवाखिलं शरीरं प्राप्नोतीति चेत् किमिदं मूर्तत्वं नाम असर्वगतद्रव्यपरिमाणत्वं रूपादिमत्त्वं वा । तत्र नाद्यः पक्षो दोषाय । संमतत्वात् । द्वितीयस्त्वयुक्तः व्याप्त्यभावात्, न हि यदसर्वगतं तन्नियमेन रूपादिमदित्यविनाभावोऽस्ति । मनसोऽसर्वगतत्वेऽपि भवन्मते तदसंभवात् । आकाशकालदिगात्मनां सर्वगतत्वं परममहत्त्वं सर्वसंयोगिसमानदेशत्वं चेत्युक्त्वा मनसो वैधर्म्यात्सर्वगतत्वप्रतिषेधनात् । अतो नात्मनः शरीरेऽनुप्रवेशानुपपत्तिर्येन निरात्मकं तत्स्यात् असर्वगतद्रव्यपरिमाणलक्षणमूर्तत्वस्य मनोवत्प्रवेशाऽप्रतिबन्धकत्वात् । रूपादिमत्त्वलक्षणमूर्तत्वोपेतस्यापि जलादेर्वालुकादावनुप्रवेशो न निषिध्यते । आत्मनस्तु तद्रहितस्यापि तत्रासौ प्रतिषिध्यत इति महच्चित्रम् । अथात्मनः कायप्रमाणत्वे बालशरीरपरिमाणस्य सतो युवशरीरपरिमाणस्वीकारः कथं स्यात् । किं तत्परिमाणपरित्यागात्तदपरित्यागाद्वा । परित्यागाच्चेत्तदा शरीरवत्तस्याऽनित्यत्वप्रसक्तात्परलोकाद्यभावानुषङ्गः । अथाऽपरित्यागात् । तन्न । पूर्वपरिमाणाऽपरित्यागे शरीरवत्तस्योत्तरपरिमाणोत्पत्त्यनुपपत्तेः । तदयुक्तम् । युवशरीरपरिमाणावस्थायामात्मनो बालशरीरपरिमाणपरित्यागे सर्वथा विनाशाऽसंभवात् । विफणावस्थोत्पादे सर्पवत् । इति कथं परलोकाभावोऽनुषज्यते पर्यायतस्तस्याऽनित्यत्वेऽपि द्रव्यतो नित्यत्वात् । अथ आत्मनः कायप्रमाणत्वे तत्खण्डने खण्डनप्रसङ्ग इति चेत्कः किमाह । शरीरस्य खण्डने कथंचित् तत्खण्डनस्येष्टत्वात् । शरीरसंबद्धात्मप्रदेशेभ्यो हि कतिपयात्मप्रदेशानां खण्डितशरीरप्रदेशेऽवस्थानादात्मनः खण्डनं तच्चात्र विद्यत एव । अन्यथा शरीरात् पृथग्भूतावयवस्य कम्पोपलब्धिर्न स्यात् । न च खण्डितावयवानुप्रविष्टस्यात्मप्रदेशस्य पृथगात्मत्वप्रसङ्गस्तत्रैवानुप्रवेशात् । न चैकत्र सन्तानेऽनेके आत्मानः अनेकार्थप्रतिभासिज्ञानानामेकप्रमात्राधारतया प्रतिभासाऽभावप्रसङ्गात् शरीरान्तरव्यवस्थितानेकज्ञानावसेयार्थसंवित्तिवत् । कथं खण्डितावयवयोः संघट्टनं पश्चादिति चेत् एकान्तेन छेदानभ्युपगमात् पद्मनालतन्तुवच्छेदस्यापि स्वीकारात् । तथाभूतादृष्टवशात्तत्संघट्टनमविरुद्धमेवेति तनुपरिमाण एवात्माङ्गीकर्तव्यो न व्यापकः, तथा च-आत्मा व्यापको न भवति चेतनत्वात् यत्तु व्यापकं न तच्चेतनम् । यथा व्योम चेतनश्चाऽऽत्मा । तस्मान्न व्यापकः अव्यापकत्वे चास्य तत्रैवोपलभ्यमानगुणत्वेन सिद्धा कायप्रमाणता । यत् पुनरष्टसमयसाध्यकेवलिसमुद्घातदशायामार्हतानामपि चतुर्दशरज्ज्वात्मकलोकव्यापित्वेनात्मनः सर्वव्यापकत्वं तत् कादाचि-

१ हेमचन्द्र-गुणचन्द्रौ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्कमिति; न तेन व्यभिचारः । स्याद्वादमन्त्रकवचावगुण्ठितानां च नेदृशविभीषिकाभ्यो भयमिति काव्यार्थः । स्या० ।

(१६) इदानीं कर्तृद्वारावसरस्तथा चाह (भाष्यकारः)—

कत्त त्ति दारमहुणा, सकम्मफलभोइणो जओ जीवा ।
वाणियकिसीवला इव, कविलमयनिसेहणं एयं ॥५०॥

व्याख्या-कर्तेति द्वारमधुना तदेतद्व्याख्यायते-स्वकर्मफलभोगिनो यतो जीवास्ततः कर्तार इति, वणिक्कृषीवलादय इव, न ह्यमी अकृतमुपभुञ्जन्त इति प्रयोगार्थः, प्रयोगस्तु-कर्तात्मा, स्वकर्मफलभोक्तृत्वात्, कर्षकादिवत् । ऐदंपर्यमाह—कपिलमतनिषेधमेतत्-सांख्यमतनिराकरणमेतत्, तत्राऽकर्तृवादप्रसिद्धेरिति गाथार्थः । मूलद्वारगाथाद्वयं व्याख्यातं कर्तृद्वारम् । दश० ४ अ० ।

जेसिं पि अत्थि आया, वत्तव्वा ते वि अम्ह वि स अत्थि ।
किं तु अकत्ता न भवइ, वेययइ जेणं सुहदुक्खं ॥७५॥

व्याख्या-येषामपि द्रव्यास्तिकादिनयमतावलम्बिनां तन्त्रान्तरीयाणां किम् ? अस्ति-विद्यते आत्मा जीवः वक्तव्यास्तेऽपि तन्त्रान्तरीयाः साध्वेतदस्माकमप्यस्ति सः, तदभावे सर्वक्रियावैफल्यात्, किन्तु-अकर्त्ता न भवति—सुकृतदुष्कृतानां कर्मणामकर्त्ता न भवति—अनिष्पादको न भवति, किं तु-कर्त्तैव, अत्रैवोपपत्तिमाह-वेदयते-अनुभवति येन कारणेन, किम् ?-सुखदुःखं-सुकृतदुष्कृतकर्मफलमिति भावः । न चाकर्तुरात्मनस्तदनुभावो युज्यते, अतिप्रसङ्गान्मुक्तानामपि सांसारिकसुखदुःखवेदनापत्तेः, अकर्तृत्वाविशेषात्, प्रकृत्यादिवियोगस्याप्यनाधेयातिशयमेकान्तेनाकर्त्तारमात्मानं प्रत्यकिंचित्करत्वात्, अलं विस्तरेणेति गाथार्थः । दश० ४ अ० ।

(आत्मनः सक्रियत्वं साधयन्नाह)—

कत्ताइत्तणओ वा, सकिरिओऽयं मओ कुलालो व्व ।
देहप्फन्दणओ वा, पच्चक्खं जंतपुरिसो व्व ॥ १८४६ ॥

पराशङ्कां प्रतिविधानं चाऽऽह—

देहप्फंदणहेऊ, होज्ज पयत्तो त्ति सो वि नाकिरिए ।
होज्जा दिट्ठो व मई, तदरूवत्ते नणु समाणं ॥ १८४७ ॥
रूवित्तम्मि सदेहो, वच्चो तप्फंदणे पुणो हेऊ ।
पइनियपरिप्फंदण-मचेयणाणं न वि य जुत्तं ॥१८४८॥

विशे० । (आसां गाथानां व्याख्यानम् 'बन्धमोक्खसिद्धि' शब्दे पञ्चमे भागे वक्ष्यते)

सांख्यमते आत्मनोऽक्रियत्वम्—

" अमूर्तश्चेतनो भोगी, नित्यः सर्वगतोऽक्रियः ।
अकर्ता निर्गुणः सूक्ष्मः, आत्मा कापिलदर्शने " ॥ १ ॥ इति । स्या० १५ श्लोक ।

(एतन्मतनिराकरणम्)—

जे केइ लोगंमि उ अकिरियआया,
अन्नेण पुट्ठा धुयमादिसंति ।
आरंभसत्ता गढिता य लोए,
धम्मं ण जाणंति विमुक्खहेउं ॥ १६ ॥

सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

(अस्य सूत्रस्य व्याख्यानम् 'अकिरियाआय' शब्दे प्रथमभागे गतम्)

(१७) (आत्मनो विभुत्वविचारः)—

न च-आत्मनो विभुत्वमसिद्धम्, अनुमानात् तत्सिद्धेः । तथाहि-बुद्ध्यधिकरणं द्रव्यं विभु, नित्यत्वे सत्यस्मदाद्युपलभ्यमानगुणाधिष्ठानत्वात्; यद्यन्नित्यत्वे सत्यस्मदाद्युपलभ्यमानगुणाधिष्ठानं तत्तद्विभु, यथा आकाशम्, तथा च-बुध्यधिकरणं द्रव्यं, तस्माद्विभु-नच बुद्धेर्गुणत्वासिद्धेर्हेतुविशेषणासिद्धता हेतोरसिद्धिरभिधातुं शक्या, बुद्धिगुणत्वस्यानुमानात्सिद्धेः । सम्म० १ काण्ड १ गाथाटी० ।

(बुद्धेर्गुणत्वाऽसाधनम् 'बुद्धि' शब्दे पञ्चमे भागे वक्ष्यते)

आत्मनः प्रदेशत्वाऽप्रदेशत्वविचारः—

न च-आत्मनः प्रदेशास्सन्ति येन प्रदेशवृत्तित्वं ज्ञानस्य सिद्धं स्यात् । कल्पिततत्प्रदेशाभ्युपगमे च तद्वृत्तित्वमपि हेतुः कल्पित इति न कल्पितात्साधनात्साध्यसिद्धिर्युक्ता, सर्वतः सर्वसिद्धिप्रसङ्गात् । संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वं च हेतोर्विपर्यये बाधकप्रमाणाभावस्यात्राऽपि समानमिति ।

तथा-स्वदेहमात्रव्यापकत्वेन हर्षविषादाद्यनेकविवर्तात्मकस्याहमिति स्वसंवेदनप्रत्यक्षसिद्धत्वादात्मनो विभुत्वसाधकत्वेनोपन्यस्यमानः सर्व एव हेतुः प्रत्यक्षबाधितकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तत्वेन कालात्ययापदिष्टः । सप्रतिपक्षश्चायं हेतुरित्यसत्प्रतिपक्षत्वमप्यस्य लक्षणमसिद्धम् । स्वदेहमात्रात्मप्रसाधकश्च प्रतिपक्षहेतुरत्रैव प्रदर्शयिष्यते । तन्नातोऽपि हेतोरात्मनो विभुत्वसिद्धिः ।

यदप्यात्मनो विभुत्वसाधनं कैश्चिदुपन्यस्तम्-" अदृष्टं स्वाश्रयसंयुक्ते आश्रयान्तरे कर्मारभते एकद्रव्यत्वे सति क्रियाहेतुगुणत्वात्, यो यः एकद्रव्यत्वे सति क्रियाहेतुगुणः स स स्वाश्रयसंयुक्ते आश्रयान्तरे कर्मारभते यथा वेगः, तथा च-अदृष्टं, तस्मात्तदपि स्वाश्रयसंयुक्ते आश्रयान्तरे कर्मारभत इति । न चासिद्धं क्रियाहेतुगुणत्वम्, 'अग्नेरूर्द्धज्वलनं वायोस्तिर्यक्पवनम्, अणु-मनसोश्चाद्यं कर्म देवदत्तविशेषगुणकारितम्, कार्यत्वे सति देवदत्तस्योपकारकत्वात्, पाण्यादिपरिस्पन्दवत् एकद्रव्यत्वं चैकस्यात्मनस्तदाश्रयत्वात् एकद्रव्यमदृष्टं विशेषगुणत्वात्, शब्दवत् । एकद्रव्यत्वादित्युच्यमाने रूपादिभिर्व्यभिचारस्तन्निवृत्त्यर्थं क्रियाहेतुगुणत्वादित्युक्तम् । क्रियाहेतुगुणत्वादित्युच्यमाने मुसलहस्तसंयोगेन स्वाश्रयासंयुक्तस्तम्भादिचलनाहेतुना व्यभिचारः, तन्निवृत्त्यर्थमेकद्रव्यत्वे सति, इति विशेषणम् । 'एकद्रव्यत्वे सति क्रियाहेतुत्वात्' इत्युच्यमाने स्वाश्रयासंयुक्तलोहादिक्रियाहेतुनाऽयस्कान्तेन व्यभिचारः, तन्निवृत्त्यर्थं गुणत्वादित्यभिधानम्." एतदपि प्रत्यक्षबा-

१-" देहस्पन्दनहेतुर्भवेत् प्रयत्न इति सोऽपि नाक्रिये ।
भवेददृष्टो वा मतिस्तदरूपत्वे ननु समानम् ॥ १८४७ ॥
२-रूपित्वे स देही वाच्यस्तत्स्पन्दने पुनर्हेतुः ।
प्रतिनियतपरिस्पन्दनमचेतनानां नापि च युक्तम् ॥ १८४८ ॥

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

धितप्रतिज्ञासाधकत्वेनैकशाखाप्रभवत्वानुमानवदनुमानाभासम्। 'एकद्रव्यत्वे' इति च विशेषणं किमेकस्मिन्द्रव्ये संयुक्तत्वाद्, उत—तत्र समवायात्? तत्र यद्याद्यः पक्षः, स न युक्तः; संयोगगुणेनादृष्टस्य गुणवत्त्वात् द्रव्यत्वप्रसक्तेः 'क्रियाहेतुगुणत्वाद्' इत्येतस्य बाधाप्रसङ्गाद्। अथ द्वितीयस्तदा द्रव्येण सह कथंचिदेकत्वमदृष्टस्य प्राप्तम्, न ह्यन्यस्यान्यत्र समवायः घट-रूपादिषु तस्य तथानुभूतस्यैवोपलब्धेः। न हि घटाद्रूपादयः, तेभ्यो वा घटः तदन्तरालवर्ती समवायश्च भिन्नः प्रतीतिगोचरः, अपि तु-कथंचित् रूपाद्यात्मकाश्च घटपटादयः तदात्मकाश्च रूपादयः प्रतीतिगोचरचारिणोऽनुभूयन्ते; अन्यथा गुणगुणिभावेऽतिप्रसङ्गात् घटस्याऽपि रूपादयो पटस्य स्युः। 'तेषां तत्राप्यप्रतीतेरितरेषां तु प्रतीतेः' इत्यादिकं प्रतिविहितत्वान्नाशोद्घोष्यम्। तेन समवायेनैकत्रात्मनि वर्त्तनाददृष्टस्यैकद्रव्यत्वं वादिप्रतिवादिनोरसिद्धम्, एकान्तभेदे समवायाभावेनैकद्रव्यत्वस्यासिद्धेः।

अथ गुणिनो गुणानामनर्थान्तरत्वे गुण-गुणिनोरन्यतर एव स्याद्, अर्थान्तरत्वे परपक्ष एव समर्थितः स्यादिति समवायः सिद्धः। कथंचिद्भेदोऽपि न युक्तः; अनवस्थादिदोषप्रसङ्गाद्, अयुक्तमेतत्; पक्षान्तरेऽप्यस्य समानत्वात्। तथाहि-द्वित्वसंख्या-संयोगादिकमनेकेन द्रव्येणाभिसंबध्यमानं यदि सर्वात्मनाभिसंबध्यते द्वित्वसंख्यादिमात्रं द्रव्यमात्रं वा स्याद्, एकेनैव वा द्रव्येण सर्वात्मनाभिसंबन्धान्न द्रव्यान्तरेण तत्प्रतीतिः। अथैकेन देशेनैकत्र वर्त्तते अन्येनान्यत्र, तेऽपि देशा यदि ततो भिन्नास्तेष्वपि स तथैव वर्त्तते इत्यनवस्था। अभिन्नाश्चेदुक्तो दोषः। कथंचित्पक्षे परवाद एव समर्थितः स्यादित्यात्मना सहाऽदृष्टस्य कथंचिदनन्यभावः एव एकद्रव्यत्वमित्यविभुत्वाद् गुणानां तद्व्यतिरिक्तस्यात्मनोऽप्यविभुत्वमिति विपक्षसाधकत्वादेकद्रव्यत्वलक्षणस्य हेतुविशेषणस्य विरुद्धत्वम्। 'क्रियाहेतुगुणत्वात्' इत्यत्रापि यदि देवदत्तसंयुक्तात्मप्रदेशे वर्त्तमानमदृष्टं द्वीपान्तरवर्त्तिषु मुक्ताफलादिषु देवदत्तं प्रत्युपसर्पणवत्सु क्रियाहेतुः, तदयुक्तम्; अतिदूरत्वेन द्वीपान्तरवर्त्तिभिस्तैस्तस्यानभिसंबन्धित्वेन तत्र क्रियाहेतुत्वाऽयोगात्, तथाऽपि तद्धेतुत्वे सर्वत्र स्याद्, अविशेषात्। अथाऽनभिसंबन्धाविशेषेऽपि यदेव योग्यं तदेव तेनाकृष्यते न सर्वमिति नातिप्रसङ्गः, न; चक्षुषः अप्राप्यकारित्वेऽपि यदेव योग्यं तदेव तद्ग्राह्यमिति यदुक्तं परेण-"अप्राप्यकारित्वे चक्षुषोर्दूरव्यवस्थितस्याऽपि ग्रहणप्रसङ्गः" इत्ययुक्तं स्याद्। अथ स्वाश्रयसंयोगसंबन्धसंभवाद् 'अनभिसंबन्धाद्' इत्यसिद्धम्। तथाहि-यमात्मानमाश्रितमदृष्टं तेन संयुक्तानि देशान्तरवर्त्तिमुक्ताफलादीनि देवदत्तं प्रत्याकृष्यमाणानि, न; सर्वस्याकर्षणप्रसङ्गात्तेनाभिसंबन्धाविशेषात्। न च-यददृष्टेन यज्जन्यते तत्तेनाकृष्यत इति कल्पना युक्तिमती, देवदत्तशरीरारम्भकपरमाणूनां तददृष्टाजन्यत्वेनाऽनाकर्षणप्रसङ्गात्; तथाऽप्याकर्षणे अति प्रसङ्गः प्रतिपादित एव। यथा च कारणत्वाविशेषे घटदेशादौ संनिहितमेव दण्डादिकं घटादिकार्यं जनयत्यदृष्टं त्वन्यथेत्यभ्युपगमः तथा चक्षुरिन्द्रियत्वाऽविशेषेऽपि त्वगिन्द्रियं प्राप्तमर्थमवभासयति, लोचनं त्वन्यथेत्यभ्युपगमः किन्न युक्तः?, नापि द्वीपान्तरवर्त्तिमुक्तादिसंयुक्ताऽऽत्मप्रदेशे वर्तमानं तं प्रत्युपसर्पणहेतुः, विकल्पानुपपत्तेः। तथाहि-यथा वायुः स्वयं देवदत्तं प्रत्युपसर्पणवान् अन्येषां तृणादीनां तं प्रत्युपसर्पणहेतुः तथा यद्यदृष्टमपि तं प्रत्युपसर्पत् स्वयमन्येषां तं प्रत्युपसर्पणहेतुः, तथा सत्यदृष्टस्येव मुक्तादेरपि तथैव तं प्रत्युपसर्पणाविरोधाद् व्यर्थमदृष्टपरिकल्पनम्। तथाभ्युपगमे च 'यद्देवदत्तं प्रत्युपसर्पति तद्देवदत्तगुणाकृष्टं तं प्रत्युपसर्पणाद्' इति हेतुरनैकान्तिकः अदृष्टेनैव वायुवत् सक्रियत्वमदृष्टस्य गुणत्वं बाधते। शब्दवच्चापरापरस्योत्पत्तावपरमदृष्टं निमित्तकारणं तदुत्पत्तौ प्रसक्तं. तत्राप्यपरमित्यनवस्था; अन्यथा शब्देऽपि किमदृष्टलक्षणनिमित्तपरिकल्पनया? अदृष्टान्तरात्तस्य तं प्रत्युपसर्पणे तदप्यदृष्टान्तरं तं प्रत्युपसर्पत्यदृष्टान्तरात् तदपि तदन्तरादित्यनवस्था।

अथ तत्रस्थमेव तत्तेषां तं प्रत्युपसर्पणे हेतुः, तदपि न युक्तम्; अन्यत्र प्रयत्नादावात्मगुणे तथा अदर्शनात्, न हि प्रयत्नो ग्रासादिसंयुक्ताऽऽत्मप्रदेशस्थ एव हस्तादिसंचलनहेतुर्ग्रासादिकं देवदत्तमुखं प्रति प्रापयन् दृष्टः, अन्तरालप्रयत्नवैफल्यप्रसङ्गात्। अथ प्रयत्नवैचित्र्यदृष्टेऽदृष्टेऽप्यन्यथा कल्पनम्। तथाहि-कश्चित् प्रयत्नः स्वयमपरापरदेशवान् परत्र क्रियाहेतुर्यथाऽन्तरोदितः; अपरश्चाऽन्यथा यथा शरासनाध्यासपदसंयुक्तात्मप्रदेशस्थ एव शरीरादीनां लक्षप्रदेशप्राप्तिक्रियाहेतुः। यद्येवम्, इयं चित्रता एकद्रव्याणां क्रियाहेतुगुणानां स्वाश्रयसंयुक्ताऽसंयुक्तद्रव्यक्रियाहेतुत्वेन किं नेष्यते विचित्रशक्तित्वाद्भावानां? तथा दृष्टेरिति नोत्तरम्, अयस्कान्ताख्यामकस्पर्शगुणस्यैकद्रव्यस्य स्वाश्रयाऽसंयुक्तलोहद्रव्यक्रियाहेतुत्वे अप्याकर्षकाख्यद्रव्यविशेषव्यवस्थितस्य तथाविधस्यैव तस्य स्वाश्रयसंयुक्तलोहद्रव्यक्रियाहेतुत्वदर्शनात्। अथ द्रव्यं क्रियाकारणं न स्पर्शादिर्गुणः, द्रव्यरहितस्य क्रियाहेतुत्वादर्शनात्, न; वेगस्य क्रियाहेतुत्वं, क्रियायाश्च संयोगनिमित्तत्वं तस्य च द्रव्यकारणत्वं तत एव न स्यात्, तथा च वेगवदिति दृष्टान्ताऽसिद्धिः। अथ द्रव्यस्य तत्कारणत्वे वेगादिरहितस्यापि तत्प्रसक्तिः, स्पर्शादिरहितस्यायस्कान्तस्यापि स्पर्शस्याऽकारणत्वेऽन्यत्र क्रियाहेतुत्वप्रसक्तिः। तद्रहितस्य तस्यादृष्टेर्नायं दोषस्तर्हि लोहद्रव्यक्रियोत्पत्तावुभयं दृश्यत इत्युभयं तदस्तु, अविशेषात्। एवं सति 'एकद्रव्यत्वे सति क्रियाहेतुगुणत्वाद्' इति व्यभिचारी हेतुः। एतेन यदुक्तं परेण-"अदृष्टमेवायस्कान्तेनाकृष्यमाणलोहदर्शने सुखवत्पुंसो निःशल्यत्वेन तत्क्रियाहेतुः" इति तन्निरस्तम्, सर्वत्र कार्यकारणभावे अस्य न्यायस्य समानत्वात् अदृष्टमेव कारणं स्यात्, यस्य शरीरं सुखं दुःखं चोत्पादयति तददृष्टमेव तत्र हेतुरिति न तदारम्भकाऽवयवक्रियासंयोगादयः। अपि च-तददृष्टस्य कथं तद्धेतुत्वं? तस्य भावे भावादभावे अभावादिति चेत् किं पुनरयस्कान्तस्पर्शाद्यभाव एव तत्क्रिया दृष्टा येनैषां तत्र कारणत्वाक्लृप्तिः? ततो न दृष्टानुसारेण तत्रस्थस्यैवाऽदृष्टस्य तं प्रति तत्क्रियाहेतुत्वम्। प्रयत्नवैचित्र्याभ्युपगमे च हेतोरनैकान्तिकत्वम्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अथ सर्वत्राऽदृष्टस्य वृत्तिस्तर्हि सर्वद्रव्यक्रियाहेतुत्वम् । यददृष्टं यद् द्रव्यमुत्पादयति तत् तत्रैव क्रियामुपरचयतीत्यभ्युपगमे शरीरारम्भकेषु परमाणुषु ततः क्रिया न स्यादित्युक्तम् । न च गुणत्वमप्यदृष्टस्य सिद्धमिति ' क्रियाहेतुगुणत्वात् ' इत्यसिद्धो हेतुः । अथ ' अदृष्टं गुणः, प्रतिषिध्यमानद्रव्य-कर्मभावे सति सत्तासंबन्धित्वात् रूपादिवत् ' । न च प्रतिषिध्यमानद्रव्यत्वमसिद्धम् । तथाहि—' न द्रव्यमदृष्टम्, एकद्रव्यत्वात्, रूपादिवत् ' इति, असंदतत्; एकद्रव्यत्वस्याऽसिद्धताप्रतिपादनात्, सत्तासंबन्धित्वस्य चेति । यदपि तद्गुणत्वसाधनमुक्तम् ' देवदत्तं प्रत्युपसर्पन्तः पश्वादयो देवदत्तविशेषगुणाकृष्टास्तं प्रत्युपसर्पणवत्त्वात् ग्रासादिवत् ' इति, तदप्ययुक्तं; यतो यथा तद्विशेषगुणेन प्रयत्नाख्येन समाकृष्टास्तं प्रत्युपसर्पन्तो ग्रासाऽऽदयः समुपलभ्यन्ते तथा नयनाञ्जनादिद्रव्यविशेषेणाऽपि समाकृष्टाः स्त्र्यादयस्तं प्रत्युपसर्पन्तः समुपलभ्यन्त एव, ततः ' किं प्रयत्नसधर्मणा केनचिदाकृष्टाः पश्वादयः, उत नयनाञ्जनादिसधर्मणा ' इति संदेहः, शक्यते ह्येवमनुमानमारचयितुं परेणापि—' नयनाञ्जनादिसधर्मणा विवादगोचरचारिणः पश्वादयः समाकृष्टा देवदत्तं प्रत्युपसर्पन्ति, तं प्रत्युपसर्पणवत्त्वात् स्त्र्यादिवत् ' । अथ तदभावेऽपि प्रयत्नादपि तद्दृष्टेरनैकान्तिकत्वं प्रयत्नसधर्मणो गुणस्याभावेऽप्यञ्जनादेरपि तद्दर्शनेऽभवदीयहेतोरनैकान्तिकत्वम् । न चात्रानुमीयमानस्य प्रयत्नसधर्मणो हेतोः सद्भावादव्यभिचारः, अन्यत्राप्यञ्जनादिसधर्मणोऽनुमीयमानस्य सद्भावेनाव्यभिचारप्रसङ्गात् । तत्र प्रयत्नसामर्थ्यादस्य वैफल्येऽन्यत्राप्यञ्जनादिसामर्थ्यात् वैफल्यं समानम् । अथाऽञ्जनादेस्तत्र हेतुत्वे सर्वस्य तद्वतः स्त्र्याद्याकर्षणप्रसक्तिः, न चाऽञ्जनादौ सत्यप्यविशिष्टे तद्वतः सर्वान्प्रति तदागमनं ततोऽवसीयते 'तदविशेषेऽपि यद्वैकल्यात्तन्नेति तदपि कारणं नाञ्जनादिमात्रम्' इति । तदेतत्प्रयत्नकारणेऽपि समानं; न हि सर्वं प्रयत्नवन्तं प्रति ग्रासादय उपसर्पन्ति, तदपहारादिदर्शनात् । ततोऽत्राप्यन्यत्कारणमनुमीयताम्; अन्यथा न प्रकृतेऽपि, अविशेषात् । ततः प्रयत्नवदञ्जनादेरपि तं प्रति तदाकर्षणहेतुत्वात्कथं न संदेहः ? अञ्जनादेः स्त्र्याद्याकर्षणप्रत्यक्षकारणत्वे गन्धादिवत्तदर्थिनां न तदुपादानम् । न च दृष्टसामर्थ्यस्याप्यञ्जनादेः कारणत्वव्याप्तिपरिहारेणान्यकारणत्वकल्पने भवताऽनवस्थामुक्तिः । अथाऽञ्जनादिकमदृष्टसहकारित्वात्तत्कारणं न केवलमिति; नन्वेवं सिद्धमदृष्टवदञ्जनादेरपि तत्र कारणत्वं, ततः संदेह एव ' किं ग्रासादिवत्प्रयत्नसधर्मणाऽऽकृष्टाः पश्वादयः, किं वा-' स्त्र्यादिवदञ्जनादिसधर्मणा तत्संयुक्तेन द्रव्येण' इति संदिग्धं ' गुणत्वात्' इत्येतत्साधनं सपरिस्पन्दात्मप्रदेशमन्तरेण ग्रासाद्याकर्षणहेतोः प्रयत्नस्यापि देवदत्तविशेषगुणस्य परं प्रत्यसिद्धत्वात् साध्यविकलता चात्र दृष्टान्तस्य । यच्च 'यद् देवदत्तं प्रत्युपसर्पन्ति' इत्युक्तं तत्र कः पुनरसौ देवदत्तशब्दवाच्यः ? यदि शरीरं तदा शरीरं प्रत्युपसर्पणात् शरीरगुणाकृष्टाः पश्वादयः इति आत्मविशेषगुणाकृष्टत्वे साध्ये शरीरगुणाकृष्टत्वस्य साधनाद्विरुद्धो हेतुः । अथाऽऽत्मा, तस्य समीकृष्यमाणपदार्थदेश-कालाभ्यां सदाभिसंबन्धात् न तं प्रति कस्यचिदुपसर्पणम्—अन्यदेशं प्रत्यन्यदेशस्योपसर्पणदर्शनात् अन्यकालं प्रत्यन्यकालस्य च, यथाऽङ्कुरं प्रति अपरापरशक्तिपरिणामप्राप्तबीजादेः । न चैतदुभयं नित्यव्यापित्वाभ्यामात्मनि सर्वत्र सर्वदा सन्निहिते संभवति 'अतो देवदत्तं प्रत्युपसर्पन्त' इति धर्मिविशेषणं, 'देवदत्तगुणाकृष्टाः' इति साध्यधर्मः, ' देवदत्तं ' प्रत्युपसर्पणवत्त्वाद् ' इति साधनधर्मः परस्य स्वर्गावविरचितमेव । नच शरीरसंयुक्त आत्मा सह तस्यापि नित्यव्यापित्वेन तत्र सन्निधानेनाऽनिवारणात्, न हि घटयुक्तमाकाशं मेर्वादौ न सन्निहितम् । अथ शरीरसंयुक्त आत्मप्रदेशो देवदत्तः स काल्पनिकः, पारमार्थिको वा ?, काल्पनिकत्वे ' काल्पनिकात्मप्रदेशगुणाकृष्टाः पश्वादयः, तथाभूतात्मप्रदेशं प्रत्युपसर्पणवत्त्वाद् ' इति तद्गुणानामपि काल्पनिकत्वं साधयेत् । तथा च सौगतस्येव तद्गुणकृतः प्रेत्यभावोऽपि न पारमार्थिकः स्यात्, न हि कल्पितस्य पावकस्य रूपादयस्तत्कार्यं वा दाहादिकं पारमार्थिकं दृष्टम् । पारमार्थिकाश्चेदात्मप्रदेशाः, तेऽपि यदि ततोऽभिन्नास्तदाऽऽत्मैव ते इति न पूर्वोक्तदोषपरिहारः, भिन्नाश्चेत्तर्हि तद्विशेषगुणाकृष्टाः पश्वादय इति तेषामेवाऽऽत्मत्वप्रसक्तिरित्यात्मपरिकल्पना व्यर्था । तेषां च न द्वीपान्तरवर्तिभिर्मुक्तादिभिः संयोग इति ' अदृष्टं स्वाश्रयसंयुक्तेऽन्यत्र क्रियाहेतुः ' इति व्याहतम् । संयोगे वाऽऽत्मवदित्यनिवृत्तो व्याघातः । अथ तेषामप्यपरे शरीरसंयुक्ताः प्रदेशाः देवदत्तशब्दवाच्याः, तत्राप्यनन्तरदूषणमनवस्थाकारि । अथात्मानमन्तरेण कस्य ते प्रदेशाः स्युरिति तत्प्रदेशवानपर आत्मेत्यभ्युपगमनीयम् । नन्वर्थान्तरभूतत्वे आत्मनः कथं तस्य ते इति व्यपदेशः ? अथ तेषु तस्य वर्तनात्तथा व्यपदेशः, न संदेत्; तथाऽभ्युपगमेऽवयविपक्षभाविदूषणावकाशात् । यथा च तेषां सद्रूपत्वं तथा प्रतिपादितम्, प्रतिपादयिष्यते च-त्यास्तां तावत् । तत्र परस्य देवदत्तशब्दवाच्यः कश्चिदस्ति यं प्रत्युपसर्पणवन्तः पश्वादयः स्वक्रियाहेतोर्गुणत्वं साधयेयुः । अतो नैतदपि साधनमात्मनो विभुत्वप्रसाधकम् ।

यदपि ' सर्वगत आत्मा, सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वाद्, आकाशवद् ' इति साधनं, तदप्यचारु; यतो यदि ' स्वशरीरे सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वाद् ' इति हेतुस्तथा सति तत्रैव ततस्तस्य सर्वगतत्वसिद्धेर्विरुद्धो हेत्वाभासः । अथ स्वशरीरवत्परशरीरेऽन्यत्र चोपलभ्यमानगुणत्वं हेतुस्तदा असिद्धः, तथोपलम्भाभावात् नहि बुद्ध्यादयस्तद्गुणास्तथोपलभ्यन्ते, अन्यथा सर्वस्य सर्वज्ञताप्रसङ्गः । अथैकनगर उपलब्धा बुद्ध्यादयो नगरान्तरेऽप्युपलभ्यन्ते, मनुष्यजन्मवज्जन्मान्तरेऽपीति कथं न सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वं ? न; वायोरपि स्पर्शविशेषगुण एकत्रैकदा उपलब्धोऽन्यत्रान्यदोपलभ्यमानः तस्यापि सर्वगतत्वं प्रसाधयेद्, अन्यथा तेनैव हेतोर्व्यभिचारः । अथ तांस्तान् देशान् क्रमेण गतस्य तस्य तद्गुण उपलभ्यते, आत्मनोऽपि तथैव तद्गुणस्योपलम्भः इति समानं पश्यामः । न च तद्वत्तस्यापि सक्रियत्वप्रसक्तेरयुक्तमेवं कल्पनमिति वाच्यम्, इष्टत्वात् । अथ लोष्टवत् ततो मूर्तत्वप्रसङ्गस्तस्य दोषः । ननु केयं मूर्तिः ?। असर्वगतद्रव्यपरिमाणं सति चेत् नाऽयं दोषः, असर्वगतात्मवादिनो-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भीष्टत्वात् । रूप-रस-गन्ध-स्पर्शवत्त्वं सति चेत्, न तादृशीं मूर्त्तिमात्मनः सक्रियत्वं साधयति, व्याप्त्यभावात्; रूपादिमन्मूर्त्त्यभावे सक्रियत्वात् । 'यो यः सक्रियः स रूपादिमन्मूर्त्तिमान्, यथा शरः, तथा चाऽऽत्मा, तस्माद्रूपादिमन्मूर्त्तिमान्' इति कथं न व्याप्तिसंभवः ? असदेतत्; मनसाऽपि व्यभिचारात् । न च तस्याऽपि पक्षीकरणं, 'रूपादिविशेषगुणाऽनधिकरणं सद् मनोऽर्थं प्रकाशयति, शरीराद्यर्थान्तरत्वे सति सर्वत्र ज्ञानकारणत्वाद्, आत्मवद्' इत्यनुमानविरोधप्रसङ्गात् । न च सक्रियत्वं रूपादिमन्मूर्त्त्यभावेन विरुद्धं यतस्ततस्तन्निवर्त्तमानमात्मनि तथाविधां मूर्त्तिं साधयेत् । न च तथाविधमूर्त्तिरहितेऽम्बरादौ तददर्शनात्सिद्धो विरोधः, एकशाखाप्रभवत्वस्याप्यन्यत्र पक्षे अदर्शनाद्विरोधसिद्धिप्रसङ्गः । पक्ष एव व्यभिचारदर्शनात्सा तत्र नेति चेत्, न; सक्रियत्वस्याऽपि तथा व्यभिचारः समानः, पक्षीकृत एवाऽऽत्मनि रूपादिमन्मूर्त्तिरहिते तद्दर्शनात् । अनेनैव च तत्साधनाच्च व्यभिचारः इत्येकशाखाप्रभवत्वाऽनुमानेऽपि समानम् । प्रत्यक्षबाधितकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तत्वेन कालात्ययापदिष्टत्वमुभयत्र तुल्यम् । तन्न सक्रियत्वमात्मनो रूपादिमन्मूर्त्तित्वं साधयतीति व्यवस्थितम् ।

अथ सक्रियत्वे तस्यानित्यत्वम् । तथा हि-'यत्सक्रियं तदनित्यं, यथा लोष्टादि, तथा चाऽऽत्मा, तस्मादनित्यः' इति, एतदपि न सम्यक्; परमाणुभिरनैकान्तिकत्वात्; कथंचिदनित्यत्वाभ्युपगमात् सिद्धसाधनं च । सर्वात्मना अनित्यत्वस्य लोष्टादावप्यसिद्धत्वात्साध्यविकलता दृष्टान्तस्य । तन्न सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वमात्मनः सिद्धम् ।

अपरे—सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वमात्मनोऽतोऽनुमानात्साधयन्ति-"देवदत्तोपकरणभूतानि मणिमुक्ताफलादीनि द्वीपान्तरसंभूतानि देवदत्तगुणकृतानि कार्यत्वे सति देवदत्तोपकारकत्वात्, शकटादिवत् । न च तद्देशे असन्निहिता एव तद्गुणास्तान् व्युत्पादयितुं समर्थाः; न हि पटदेशे असन्निधानवन्तस्तन्तु-तुरी-कुविन्दादयः पटमुत्पादयितुं क्षमाः । आत्मगुणानां च तद्देशसन्निधानं न तद्गुणिसंनिधिमन्तरेण संभवि, अगुणत्वप्राप्तेः, ततस्तस्यापि तद्देशत्वम्" असदेतत्; तत्कार्यत्वेऽपि तेषां न 'अवश्यतया कार्यदेशसन्निधिमद् निमित्तकारणम्' इति नियम उपलब्धिगोचरः, अन्यदेशस्याऽपि ध्यानादेरन्यस्थितविषापनयनकार्यकर्तृत्वस्योपलब्धिविषयत्वात् तन्न अतोऽपि सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वसिद्धिः इत्यसिद्धो हेतुः ।

एतेन 'विभुत्वान्महानाकाशः तथा चात्मा' इति निरस्तम्, विभुत्वस्यात्मन्यसिद्धेः । तथा हि-"सर्वमूर्त्तैर्युगपत्संयोगो विभुत्वम्" । न च सर्वमूर्त्तिमद्भिर्युगपत्संयोगस्तस्य सिद्धः । अथैकदेशवृत्तिविशेषगुणाधारत्वात्तस्य सर्वमूर्त्तैर्युगपत्संयोग आकाशस्येव सिद्धः, असदेतत्; एकदेशवृत्तिविशेषगुणाधिष्ठानत्वस्य साधनस्य सर्वमूर्त्तिमत्संयोगाऽऽधारत्वस्य च साध्यस्याकाशेऽप्यसिद्धेरुभयविकलो दृष्टान्तः । न चाऽऽत्मदृष्टान्तादाकाशे साध्यसाधनोभयधर्मसंबन्धित्वं सिद्धमिति शक्यं वक्तुम्, इतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गात् । यदपि 'विभुरात्मा, अणुपरिमाणानधिकरणत्वे सति नित्यद्रव्यत्वात्, यद्यदणुपरिमाणानधिकरणत्वे सति नित्यद्रव्यं तत्तद् विभु, यथा-आकाशं, तथा चाऽऽत्मा, तस्माद्विभुः' इति, तदप्यसारं तन्नित्यत्वाऽसिद्धेर्हेतोरसिद्धत्वाद् अणुपरिमाणानधिकरणत्वस्य च विशेषणस्यात्मनो द्रव्यत्वासिद्धेरसिद्धिः, तदसिद्धिश्च इतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गः । तथाहि-अणुपरिमाणान्यगुणस्य गुणत्वे सिद्धे अनाधारस्य तस्यासंभवादात्मनो गुणवत्त्वेन द्रव्यत्वसिद्धिः, तत्सिद्धौ च तदाश्रितत्वेनाणुपरिमाणान्यगुणस्य गुणत्वसिद्धिरिति व्यक्तमितरेतराश्रयत्वम् । न चाऽऽकाशस्याप्यणुपरिमाणानधिकरणत्वे सति नित्यद्रव्यत्वं विभुत्वं च सिद्धमिति साध्य-साधनविकलो दृष्टान्तः । न चाऽऽत्मदृष्टान्तबलात्तस्य तदुभयधर्मयोगित्वं सिद्धमिति वक्तुं युक्तम्, अत्रापीतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गस्य व्यक्तत्वात् । अपि च-अणुपरिमाणानधिकरणत्वे सति नित्यद्रव्यत्वं च भविष्यत्यविभुत्वं च, विपक्षे हेतोर्बाधकप्रमाणाऽसत्त्वेन ततो व्यावृत्त्यसिद्धेः सन्दिग्धानैकान्तिकश्च हेतुः। न च विपक्षे हेतोरदर्शनं बाधकं प्रमाणम्, सर्वात्मसंबन्धिनस्तस्यासिद्धानैकान्तिकत्वप्रतिपादनाद् । अपि च-आत्मनः स्वदेहमात्रव्यापकत्वेन सुखदुःखादिपर्यायाक्रान्तस्य स्वसंवेदनाध्यक्षसिद्धत्वात्तद्विभुत्वसाधकस्य हेतोरध्यक्षबाधितपक्षानन्तरप्रयुक्तत्वेन कालात्ययापदिष्टत्वम् । अन्यस्य च 'अहम्' इत्यध्यक्षासिद्धस्य प्रमाणाविषयत्वेनाऽसत्त्वादाश्रयासिद्धो हेतुरिति । अनया दिशा अन्येऽपि तद्विभुत्वसाधनायोपन्यस्यमाना हेतवो निराकर्तव्याः, अस्य निराकरणप्रकारस्य सर्वेषु तत्साधकहेतुषु समानत्वात् । तत् न आत्मनः कुतश्चित् विभुत्वसिद्धिः ।

अथापि स्यात् यथाऽस्माकं तद्विभुत्वसाधकं प्रमाणं न संभवति तथा भवतामपि तदविभुत्वसाधकप्रमाणाभाव इति नाऽनुपमसुखस्थानोपगतिस्तेषां सिद्ध्यति तदवस्थं चोद्यं; न हि परपक्षे दोषोद्भावनमात्रतः स्वपक्षाः सिद्धिमुपगच्छन्ति अन्यत्र स्वपक्षसाधकत्वलक्षणपरप्रयुक्तहेतुविरुद्धतोद्भावनात्, न चासौ भवता प्रदर्शितेति, न सम्यगेतत्; तद्भावासिद्धेः । तथाहि-'देवदत्तात्मा देवदत्तशरीरमात्रव्यापकः, तत्रैव व्याप्त्योपलभ्यमानगुणत्वात्, यो यत्रैव व्याप्त्योपलभ्यमानगुणः स तन्मात्रव्यापकः, यथा देवदत्तस्य गृहे एव व्याप्त्योपलभ्यमानभास्वरत्वादिगुणः प्रदीपः, देवदत्तशरीर एव व्याप्त्योपलभ्यमानगुणस्तदात्मा' इति । तदात्मनो हि ज्ञानाऽऽदयो गुणास्ते च तद्देह एव व्याप्त्योपलभ्यन्ते, न परदेहे, नाप्यन्तराले ।

अत्र केचिद्धेतोरसिद्धतामुद्भावयन्तः "शरीरान्तरेऽपि तदङ्गनासंबन्धिनि तद्गुणा उपलभ्यन्ते इत्यभिदधति । तथाहि-'देवदत्ताङ्गनाङ्गं देवदत्तगुणपूर्वकं, कार्यत्वे सति तदुपकारकत्वाद्, ग्रासादिवत्' । कार्यदेशे च सन्निहितं कारणं तज्जनने व्याप्रियते अन्यथातिप्रसङ्गादिति तदङ्गनाङ्गप्रादुर्भावदेशे तत्कारणात्तद्गुणसिद्धिः । तथा-तदन्तराले च प्रतीयन्ते । तथाहि-अग्नेरूर्ध्वज्वलनं, वायोस्तिर्यग् पवनम् तद्गुणपूर्वकं, कार्यत्वे सति तदुपकारकत्वाद्, वस्त्रादिवत् । यत्र च तद्गुणास्तत्र तद्गुण्यप्यनुमीयते इति, 'स्वदेह एव देवदत्ताऽऽत्मा' इति प्रतिज्ञा अनुमानबाधिता । ततोऽनुमानबाधितकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तत्वेन कालाऽत्य-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सापदिष्टो हेतुः "। ननु कोऽत्र देवदत्तात्मगुणा ये तदङ्गनाङ्गसदन्तराले न प्रतीयन्ते ? यदि ज्ञान-दर्शन-सुखवीर्यस्वभावाः-" सह वर्तिनो गुणाः " इति वचनाद्-इति मतः, स न युक्तः; ज्ञान-दर्शन-सुखानि संवेदनरूपाणि न तदङ्गनाङ्गजन्मनि व्याप्रियमाणानि प्रतीयन्ते; नापि सत्तामात्रेण तद्देशे प्रतीतिगोचराणि । वीर्यं तु शक्तिः क्रियानुमेया, साऽपि तद्देह एवानुमीयते, तत्रैव तल्लिङ्गभूतपरिस्पन्ददर्शनात् तस्याश्च तदङ्गनादेहनिष्पत्तौ देवदत्तस्य भार्या दुहिता स्यात् । ततस्तज्ज्ञानादेस्तद्देह एव तत्कार्यजननाभिमुखस्य प्रतीतेः प्रत्यक्षतस्तद्बाधितकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तत्वेन कालात्ययापदिष्टः ' कार्यत्वे सति तदुपकारकत्वाद् ' इति हेतुः ।

अथ धर्माधर्मौ तदङ्गनादिकार्यनिमित्तं तद्गुणः, तदयुक्तः न धर्माधर्मौ तदात्मनो गुणौ अचेतनत्वात्, शब्दादिवत् । न सुखादिना व्यभिचारः, तत्र हेतोरवर्तनात्-तद्विरुद्धेन स्वसंवेदनलक्षणचैतन्येन तस्य व्याप्तत्वात् अभिमतपदार्थसंबन्धसमये एव स्वसंवेदनरूपाह्लादस्वभावस्य तदात्मनोऽनुभवात्, अन्यथा सुखादेः स्वयमननुभवात् अनवस्थादोषप्रसङ्गाद् अन्यज्ञानेनाप्यनुभवे सुखस्य परलोकवत्परतापत्तेः । प्रसाधितं चैतत् प्राक् ।

न च-असिद्धता 'अचेतनत्वाद्' इति हेतोः । तथाहि—अचेतनौ तौ, अस्वसंविदितत्वात्, कुम्भवत् । न बुद्ध्या अस्य व्यभिचारः, अस्याः स्वसंवेदनसाधनात् 'स्वग्रहणात्मिका बुद्धिः, अर्थग्रहणात्मकत्वात्, यत्स्वग्रहणात्मकं न भवति न तद् अर्थग्रहणात्मकं, यथा घटः, इति व्यतिरेकी हेतुः ।

न च धर्माऽधर्मयोर्ज्ञानरूपत्वाद्बौद्धदृष्ट्या ज्ञानस्य च स्वग्रहणात्मकत्वादसिद्धो हेतुरिति वक्तव्यं, तयोः स्वरूपग्रहणात्मकत्वे सुखादाविव विवादाभावप्रसङ्गः । अस्ति चासौ अनुमानोपन्यासान्यथानुपपत्तेः तत्र । न च लौकिकपरीक्षकयोः प्रत्यक्षं कर्मेति व्यवहारसिद्धम् । न चाविकल्पबोधविषयत्वात्स्वग्रहणात्मकत्वेऽपि तयोर्विवादः क्षणिकत्वादिवत्, तथा अनिश्चयात् तद्विषयेऽतिप्रसङ्गात् । तथाहि-अविकल्पकाध्यक्षविषयं जगज्जन्तुमात्रस्य; तथा—अनिश्चयस्तु क्षणिकत्ववत् निर्विकल्पकाध्यक्षविषयत्वात् । न च मूषिकालर्कविषविकारवत्तदनन्तरं तत्फलादर्शनाच्च तद्दर्शनव्यवहारः इति, स्वसत्तासमये स्वकार्यजननसामर्थ्ये तस्य तदैव तत्कार्यमिति तदन्तरं तद्दर्शनप्रसङ्गः अन्यदा तु स एव नास्तीति कुतस्ततस्तस्य भावः ?

अथ तयोरचेतनत्वेऽपि तदात्मगुणत्वे को विरोधः अचेतनस्य चेतनात्मगुणत्वमेव । चेतनश्च तदात्मा स्वपरप्रकाशकत्वात् अन्यथा तदयोगात् कुड्यादिवत् । न च धर्माधर्मयोरभावादाश्रयासिद्धो हेतुः, अनुमानतस्तयोः सिद्धेः । तथाहि-चेतनस्य स्वपरज्ञस्य तदात्मनो हीनमातृगर्भस्थानप्रवेशस्तत्संबन्धान्यनिमित्तः, अनन्यनेयत्वे सति तत्प्रवेशात्, मत्तस्याशुचिस्थानप्रवेशवत्, योऽसावन्यः स द्रव्यविशेषो धर्मादिरिति । न च कस्यचित्पूर्वशरीरत्यागेन शरीरान्तरगमनाभावात्तत्प्रवेशोऽसिद्धः, अनुमानात्तत्सिद्धेः । तथाहि-तदहर्जातस्य स्तनादौ प्रवृत्तिस्तदभिलाषपूर्विका, प्रवृत्तित्वात्, मध्यदशावत् । यथा च परलोकाऽऽगाम्यात्मा अनुमानात्सिद्धिमुपगच्छति तथा प्राक् प्रतिपादितम् । सुखसाधनजलादिदर्शनानन्तरोद्भूतस्मरणसहायेन्द्रियप्रभवप्रत्यभिज्ञानक्रमोपजायमानाभिलाषादेर्व्यवहारस्यैकैकपूर्वकत्वेन प्राक् प्रसाधितत्वात् नाऽत्र प्रयोगे व्याप्त्यसिद्धिः । अत एव स्तनादिप्रवृत्तेरभिलाषः सिद्धिमासादयन् सङ्कलनाज्ञानं गमयति तदपि स्मरणम्, तच्च सुखादिसाधनपदार्थदर्शनम् । ' कारणव्यतिरेकेण कार्योत्पत्तौ तस्य निर्हेतुकत्वप्रसक्तिः ' इति अत्र विपर्ययबाधकं प्रमाणं व्याप्तिनिश्चायकं प्रदर्शितम् । अपूर्वप्राणिप्रादुर्भावे च सर्वोऽप्ययं व्यवहारः प्रतिप्राणिप्रसिद्धः उत्सीदेत्, तज्जन्मनि सुखसाधनदर्शनादेरभावात्, न हि मातुरुदर एव स्तनादेः सुखसाधनत्वेन दर्शनम् । यतः प्रत्यग्रजातस्य तत्र स्मरणादिव्यवहारः संभवेदिति पूर्वशरीरसम्बन्धोऽप्यात्मनः सिद्धः ।

न च मध्यावस्थायां सुखसाधनदर्शनादिक्रमेणोपजायमानोऽपि प्रवर्त्यन्तो व्यवहारो जन्मादावन्यथा कल्पयितुं शक्यः । विजातीयादपि गोमयादेः कारणाच्छालूकादेः कार्यस्योत्पत्तिदर्शनादिति वक्तुं शक्यं, जलपाननिमित्ततृषाच्छेदादावप्यनलानिमित्तत्वसंभावनया तदर्थिनः पावकादौ प्रवृत्तिप्रसङ्गात् सर्वव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गः ।

अथ ' देहिनो देहाद्देहान्तरानुप्रवेशस्तदभिलाषपूर्वकः गृहाद् गृहान्तरानुप्रवेशवद् ' इत्यतोऽन्यथासिद्धो हेतुरिति न द्रव्यविशेषं साधयति । तदुक्तं सौगतैः-" दुःख विपर्यासमति-स्तृष्णा वाऽवन्ध्यकारणम् । जन्मिनो यस्य ते न स्तो, न स जन्माधिगच्छति " ॥ १ ॥ इति, असदेतद्; इह जन्मनि प्राणिनां तदभिलाषस्य परलोकेऽभावात् न ततस्स इति युक्तम् । नापि मनुष्यजन्मा हीनशूकरादिगर्भसंभवमभिलषति यतस्तत्र तत्संभवः स्यात् । तदेवं धर्माऽधर्मयोस्तदात्मगुणत्वनिषेधात्तन्निषेधानुमानबाधितमेतत् 'पावकादूर्ध्वज्वलनादि देवदत्तगुणकारितम् ' इति ।

यत्पुनरुक्तम्-'गुणवद् गुणि अप्यनुमानतस्तद्देशे अस्तीत्यनुमानबाधितस्वदेहमात्रव्यापकाऽऽत्मकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तत्वेनाद्यो हेतुः कालात्ययापदिष्ट' इति, तदपि निरस्तं; तत्र तत्सद्भावासिद्धेः । यच्चान्यत्कार्यत्वे ' सति तदुपकारकत्वाद्' इति, तत्र किं तद्गुणपूर्वकत्वाभावेऽपि तदुपकारकत्वं दृष्टं येन कार्यत्वे सति इति विशेषणमुपादीयते सति संभवे व्यभिचारे च विशेषणोपादानस्यार्थवत्त्वात् ? कालेश्वरादौ दृष्टमिति चेत्, न; कालेश्वरादिकमतद्गुणपूर्वकमपि यदि तदुपकारकं कार्यमपि किंचिदन्यपूर्वकं तदुपकारकं स्यादिति संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वादनैकान्तिको हेतुः । सर्वज्ञत्वाभावसाधने वागादिवद्भिर्विशेषणस्यैव तस्याभिधाने को दोषः ? व्यभिचारः कालेश्वरादिनेति चेत्, न; नित्यैकस्वभावात्कस्यचिदुपकाराभावाद् । अपि च—शत्रुशरीरप्रध्वंसाभावस्तद्विपक्षस्योपकारको भवति सोऽपि तद्गुणनिमित्तः स्यात् । तदभ्युपगमे वा तत्र कार्यत्वासंभवेन सविशेषणस्य हेतोरवर्तनाद्भागाऽसिद्धो हेतुः । अतद्गुणनिमित्तत्वे तस्यान्यदप्यतद्गुणपूर्वकं तदुपकारकं तद्वदेव स्यादिति न तद्गुणसिद्धिः ।

यत्पुनर्ग्रासादिवद् इति निदर्शनं, तत्र यदि तदात्मगुणो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्मादिर्हेतुः, साध्यवत्प्रसङ्गः। प्रयत्नश्चेत्, न; तत्स्वरूपासिद्धेः—शरीरावयवव्यवस्थितानामात्मप्रदेशानां परिस्पन्दस्य चलनलक्षणक्रियारूपत्वाच्च गुणत्वं, सत्त्वे वा गमनादेरपि तत्त्वाच्च कर्मपदार्थसद्भावः कश्चिदपीति न युक्तं क्रियावद् इति द्रव्यलक्षणं निष्क्रियस्यात्मनो न स इति चेत्, कुतस्तस्य निष्क्रियत्वम् अमूर्तत्वादिति चेत् प्रत्यक्षनिराकृतमेतत्-प्रत्यक्षेण हि देशाद्देशान्तरं गच्छन्तमात्मानमनुभवति लोकः। तथा च व्यवहारः-अहमद्य योजनमात्रं गतः, न च मनः शरीरं वा तद्व्यवहारविषयः, तस्याऽहं प्रत्ययाविषयत्वात्। तदेवं परस्य साध्यविकलं निदर्शनमिति स्थितम्। तेन यदुक्तम्-'यस्मात्तदात्मनो गुणा अपि दूरदेशभाविनि तदङ्गनाङ्गे अन्तराले चोपलभ्यन्ते तस्मात्सिद्धं तस्य सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वम्, अतः 'सर्वगत आत्मा, सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वात् आकाशवद्' इत्यनुमानबाधिता तदात्मस्वशरीरमात्रप्रतिज्ञा' इति, तन्निरस्तं; सर्वेषां सर्वगतात्मप्रसाधकहेतूनां पूर्वमेव निरस्तत्वाद्। अतो न स्वदेहमात्रव्यापकात्मप्रसाधकहेतोरसिद्धिः। नाऽप्यनुमानेन तत्पक्षबाधा। न च तद्देहव्यापकत्वेनैवोपलभ्यमानगुणोऽपि तदात्मा सर्वगतो निजदेहैकदेशवृत्तिर्वा स्यात् अविरोधात्संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वादनैकान्तिको हेतुः इति युक्तं; वाय्वादावपि तथाभावप्रसक्तेः प्रतिनियतदेशसंबद्धपदार्थव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गः। तथाहि—यद्यथा प्रतिभाति तत्तथैव सद्व्यवहारपथमवतरति, यथा प्रतिनियतदेशकालाकारतया प्रतिभासमानो घटादिकोऽर्थः, अन्यथा प्रतिभासमाननियतदेशकालाकारस्पर्शविशेषगुणोऽपि वायुः सर्वगतः स्यात्। न चात्र प्रत्यक्षबाधः, परेण तस्य परोक्षत्वोपवर्णनात्। यदि च-स्वदेहैकदेशस्थितः, कथं तत्र सर्वत्र सुखादिगुणोपलब्धिः? इतरथा सर्वत्रोपलभ्यमानगुणोऽपि वायुरेकपरमाणुमात्रः स्यात्। न च क्रमेण सर्वदेहभ्रमणात्तस्य तथा तत्रोपलब्धिः, युगपत्तत्र सर्वत्र सुखादेर्गुणस्योपलम्भात्। न चाऽऽशुवृत्तेर्यौगपद्याभिमानः, अन्यत्रापि तथा प्रसक्तेः—शक्यं हि वक्तुं घटादिरप्येकावयववृत्तिः आशुवृत्तेर्युगपत्सर्वेष्ववयवेषु प्रतीयत इति। अत एव सौगतोऽपि तत्रैकं निरंशं ज्ञानं कल्पयन्निरस्तः, प्रत्यवयवमनेकसुखादिकल्पने सन्तानान्तरवत् परस्परमसंक्रमात् अनुस्यूतैकप्रतीतिविलोपः सर्वत्र शरीरे मम सुखम् इति। अथ युगपद्भाविभिरेकशरीरवर्त्तिभिरनेकनिरंशक्षणिकसुखसंवेदनैरेकपरामर्शविकल्पजननाद्यमदोषः, असदेतत्; अनेकोपादानस्य परामर्शविकल्पस्यैकत्वसंभवे चार्वाकाभिमतैकशरीरव्यपदेशभागनेकपरमाणूपादानानेकविज्ञानभावेऽपि तद्विकल्पसंभवात्। ततो यदुक्तं धर्मकीर्तिना तं प्रति-"अनेकपरमाणूपादानमनेकं चेद्विज्ञानं सन्तानान्तरवदेकपरामर्शाभावः" इति, तत्तस्य न सुभाषितं स्यात्।

यच्च 'सावयवं शरीरं प्रत्यवयवमनुप्रविशंस्तदात्मा सावयवः स्यात्, तथा-पटवत् समानजातीयारब्धत्वाच्च तद्वद्विनाशवांश्च स्याद्' इति, तदपि न सम्यक्; घटादिना व्यभिचारात् घटादिर्हि सावयवोऽपि न तन्तुवत्प्राक्प्रसिद्धसमानजातीयकपालसंयोगपूर्वकः, मृत्पिण्डात्प्रथममेव स्वावयवरूपाद्यात्मनः प्रादुर्भावादिति निरूपयिष्यमाणत्वाद् अपि च-यदि तदात्मनः कथंचिद्विनाशः प्रतिपादयितुमिष्टः समानजातीयावयवारब्धत्वात् तदा सिद्धसाधनं, तदभिन्नसंसार्यवस्थाविनाशेन तद्रूपतया तस्यापि नष्टत्वात्। अथ सर्वात्मना सर्वथा नाशः, स घटादावप्यसिद्ध इति साध्यविकलो दृष्टान्तः। यदि च-तदहर्जातबालाऽऽत्मा प्रागेकान्तनाशस्तथा अवयवैरारभ्यते तदा स्तनादौ प्रवृत्तिर्न स्यात्, तदभिलाषप्रत्यभिज्ञान-स्मरण-दर्शनादेरभावात्। तदारम्भकावयवानां प्राक्तनं विषयदर्शनादिकमिति चेत् तर्हि तेषामेव तदहर्जातवेलायां तन्वन्तराणामिव तत्र प्रवृत्तिः स्यान्नात्मनः, स्मरणाद्यभावात्। कारणगमने तस्यापि सर्वत्र सा स्यात्, "कारणसंयोगिना कार्यमवश्यं संयुज्यते" इति वचनात् न तस्य विषयानुभवाभावः, भेदैकान्ते चास्याः प्रक्रियायाः समवायनिषेधेन निषेधात्।

अथ कारणगुणप्रक्रमेण तत्र दर्शनादयो गुणा वर्ण्यन्ते, तेऽपि प्रागसन्त एव जायन्त इति, एवमपि न किंचित् परिहृतम्। एतेन "अवयवेषु क्रिया, क्रियातो विभागः, ततस्संयोगविनाशः, ततोऽपि द्रव्यविनाशः" इति परस्याऽऽकूतं पूर्वभवाऽन्ते तथा तद्विनाशे आदिजन्मनि स्मरणाद्यभावप्रसङ्गान्निरस्तम्। न चायमेकान्तः-कटकस्य केयूरभावे कुतश्चिद्भागेषु क्रिया, विभागः, संयोगविनाशः, द्रव्यनाशः, पुनस्तदवयवाः केवलाः; तदनन्तरं कर्म-संयोगक्रमेण केयूरभावः प्रमाणगोचरचारी। केवलं सुवर्णकारव्यापारात्कटकस्य केयूरीभावं पश्यामः, अन्यथाकल्पने प्रत्यक्षविरोधः। न हि पूर्वं विभागस्ततः संयोगविनाश इति, तद्भेदानुपलक्षणाच्चैतन्य-बुद्धिवद्। नचैकान्तेन तस्याः क्षणिकत्वे सुखसाधनदर्शनादयः संभवन्तीत्यसकृदावेदितमावेदयिष्यते चेत्यास्तां तावत्। ततो नाऽनैकान्तिको हेतुः, विपक्षेऽसंभवात्। अत एव न विरुद्धोऽपीति भवत्यतः सर्वदोषरहितात् केशनखादिरहितशरीरमात्रव्यापकस्य विवादाध्यासितस्याऽऽत्मनः सिद्धिरिति साधूक्तम्-"ठाणमणोवमसुहमुवगयाणं" इति। सम्म० १ काण्ड १ गाथाटी०।

जीवानां नानात्वं व्यवस्थाप्य, भवतु तर्हि जीवानां नानात्वं, किंत्वेकैको जीवः सर्वजगद्व्यापकोऽस्त्विति नैयायिकादिमतमपाकुर्वन्नाह—

जीवो तणुमेत्तत्थो, जह कुंडो तग्गुणोवलंभाओ।
अहवाऽणुवलंभाओ, भिन्नम्मि घडे पडस्सेव ॥१५८६॥

तनुमात्रस्थो जीव इति प्रतिज्ञा, तत्रैव तद्गुणोपलब्धेः, यथा घटः; स्वात्ममात्रे इति शेषः। 'अहवा' इत्यादि, अथवा-यो यत्र प्रमाणैर्नोपलभ्यते तस्य तत्राभाव एव, यथा भिन्ने घटे पटस्य, नोपलभ्यते च शरीराद् बहिर्जीवः, तस्मात्तस्य तत्राऽभाव एवेति। विशे०।

सांप्रतं द्वितीयद्वारगाथा व्याख्यायते तत्र गुणीत्याद्यद्वारम्, तद्व्याचिख्यासयाऽऽह भाष्यकारः—

अहुणा गुणि त्ति दारं, होइ गुणेहिं गुणि त्ति विन्नेओ।
ते भोगजोगउवओ-गमाइरूवाइ व घडस्स ॥ ५२ ॥

व्याख्या-अधुना गुणीति द्वारं तदेतद्व्याख्यायते-भवति गुणैर्हि गुणी, न तद्व्यतिरेकेण इति एवं विज्ञेयः, अनेन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गुणगुणिनोर्भेदाऽभेदमाह, ते भोगयोगोपयोगादयो गुणा इति आदिशब्दादमूर्तत्वादिपरिग्रहः, निदर्शनमाह-रूपादय इव घटस्य गुणा इति गाथार्थः । व्याख्यातं मूलद्वारगाथायां गुणद्वारम् ।

अधुनोर्ध्वगतिद्वारावसर इत्याह भाष्यकारः—

उड्डुं गइ त्ति अहुणा, अगुरुलहुत्ता सभाव उड्डुगई ।
दिट्ठतलाउएणं, एरंडफलाइएहिं च ॥ ५३ ॥

व्याख्या—ऊर्ध्वगतिरित्यधुना द्वारम्—तदेतद्व्याख्यायते, अगुरुलघुत्वात्कारणात्स्वभावतः कर्मविप्रमुक्तः सन्नूर्ध्वगतिः जीव इति गम्यते, यद्येवं तर्हि कथमधो गच्छति ?, अत्राह-दृष्टान्तः-अलाबुना-तुम्बकेन, यथा तत्स्वभावत ऊर्ध्वगमनरूपमपि मृल्लेपाज्जलेऽधो गच्छति तदपगमादूर्ध्वमाजलान्तादेवमात्मापि कर्मलेपादधो गच्छति तदपगमादूर्ध्वमालोकान्तादिति । एरण्डफलादिभिश्च दृष्टान्त इति, अनेन दृष्टान्तबाहुल्यं दर्शयति, यथा—चैरण्डफलमपि बन्धनपरिभ्रष्टमूर्ध्वं गच्छति, आदिशब्दाद्वह्न्यादिपरिग्रह इति गाथार्थः । व्याख्यातं द्वितीयमूलद्वारगाथायामूर्ध्वगतिद्वारम् ।

साम्प्रतं निर्मयद्वारव्याचिख्यासयाऽऽह (भाष्यकारः)—

अमओ य होइ जीवो, कारणविरहा जहेव आगासं ।
समयं च हो अनिच्चं, मिम्मयघडतंतुमाईयं ॥ ५४ ॥

व्याख्या-अमयश्च भवति जीवः; न किम्मयोऽपीत्यर्थः, कुत इत्याह-कारणविरहात्-अकारणत्वात्, यथैवाकाशम्; आकाशवदित्यर्थः । समयं च वस्तु भवत्यनित्यम्, एतदेव दर्शयति-मृन्मयघटतन्त्वादि, यथा मृन्मयो घटः, तन्तुमयः पट इत्यादि, न पुनरात्मा, नित्य इति दर्शितम् । आह—अस्मिन् द्वारे सति 'अमयो; न तु मृन्मय इव घट' इति प्रागुक्तमर्थमुक्तमिति, उच्यते-अत एव द्वारादनुग्रहार्थमुक्तमिति लक्ष्यते, भवति चासकृच्छ्रवणादकृच्छ्रेण परिज्ञानमित्यनुग्रहः, अतिगम्भीरत्वाद्भाष्यकाराभिप्रायस्य न वा वयमभिप्रायं विद्म इति । अन्ये त्वभिदधति, अन्यकर्तृकैवासौ गाथेति गाथार्थः । व्याख्यातं द्वितीयमूलद्वारगाथायां निर्मयद्वारम् ।

अधुना साफल्यद्वारावसरः, तथा चाह भाष्यकारः-

साफल्लदारमहुणा, निच्चाऽनिच्चपरिणामि जीवम्मि ।
होइ तयं कम्माणं, इहरेगसभावओ जुत्तं ॥ ५५ ॥

व्याख्या-साफल्यद्वारमधुना-तदेतद्व्याख्यायते.नित्यानित्य एव परिणामिनि; जीव इति योगः, भवति तत्साफल्यं कालान्तरफलप्रदानलक्षणम्, केषामित्याह-कर्मणां-कुशलाऽकुशलानाम्, कालभेदेन कर्तृभोक्तृपरिणामभेदे सत्यात्मनस्तदुभयोपपत्तेः कर्मणां कालान्तरफलप्रदानमिति । इतरथा पुनर्यद्येवं नाभ्युपगम्यते तत एकस्वभावत्वतः कारणाद्युक्तं तत्कर्मणां साफल्यमिति, एतदुक्तं भवति-यदि नित्य आत्मा कर्तृस्वभाव एव कुतोऽस्य भोगः ? भोक्तृस्वभावत्वे चाकर्तृत्वम्, क्षणिकस्य तु कालद्वयाभावादेवैतदुभयमनुपपन्नम्, उभये च सति कालान्तरफलप्रदानेन कर्म सफलमिति गाथार्थः । द्वितीयमूलद्वारगाथायां व्याख्यातं साफल्यद्वारम् ।

(१८) अधुना परिमाणद्वारमाह (भाष्यकारः)—

जीवस्स उ परिमाणं, वित्थरओ जाव लोगमेत्तं तु ।
ओगाहणा य सुहुमा, तस्स पएसा असंखेज्जा ॥ ५६ ॥

व्याख्या जीवस्य तु परिमाणं विततस्य विस्तरतो-विस्तरेण यावल्लोकमात्रमेव एतच्च केवलिसमुद्घातचतुर्थसमये भवति तत्रावगाहना च सूक्ष्मा विततैकैकप्रदेशरूपा भवति, तस्य जीवस्य प्रदेशाश्चासंख्येयाः सर्व एव लोकाकाशप्रदेशतुल्या इति गाथार्थः ।

अनेकेषां जीवानां गणनापरिमाणमाह (भाष्यकारः)—

पत्थेण व कुलएण व, जह कोऽइ मिणेज्ज सव्वधन्नाइं ।
एवं मविज्जमाणा, हवंति लोगा अणंताओ ॥ ५७ ॥

व्याख्या-प्रस्थेन वा-चतुःकुडवमानेन कुडवेन वा-चतुःसेतिकामानेन-यथा कश्चित्प्रमाता मिनुयात् सर्वधान्यानि व्रीह्यादीनि एवं मीयमाना असद्भावस्थापनया भवन्ति लोका अनन्तास्तु जीवभृता इति भावः । आह यद्येवं कथमेकस्मिन्नेव ते लोके माता इति ?, उच्यते-सूक्ष्माऽवगाहनया यत्रैकस्तत्रानन्ता व्यवस्थिताः, इह तु प्रत्येकावगाहनया चिन्त्यन्त इति न दोषः, दृष्टं च बादरद्रव्याणामपि प्रदीपप्रभापरमाण्वादीनां तथा परिणामतो भूयसामेकत्रैवावस्थानमिति गाथार्थः । व्याख्यातं द्वितीयमूलद्वारगाथायां परिमाणद्वारम् । तद्व्याख्यानाच्च द्वितीया मूलद्वारगाथा जीवपदं चेति । दश० ४ अ० ।

(१९) आत्मन एकत्वाऽनेकत्वविचारः—

एगे आया । (सूत्र- २)

एकः; न द्व्यादिरूपः, आत्मा-जीवः, कथञ्चिदिति गम्यते, तत्र अतति-सततमवगच्छति 'अत' सातत्यगमने, इति वचनात् 'अत' धातोर्गत्यर्थत्वाद्गत्यर्थानां च ज्ञानार्थत्वादवगतं जानातीति निपातनाद्-आत्मा-जीवः, उपयोगलक्षणत्वादस्य सिद्धसंसार्यवस्थाद्वयेऽप्युपयोगभावेन सततावबोधभावात्, सततावबोधाभावे चाजीवत्वप्रसङ्गात्, अजीवस्य च सतः पुनर्जीवत्वाभावात्, भावे चाकाशादीनामपि तथात्वप्रसङ्गात्, एवं च जीवाऽनादित्वाभ्युपगमाभावप्रसङ्ग इति, अथवा-अतति-सततं गच्छति स्वकीयान् ज्ञानादिपर्यायानिति आत्मा, नन्वेवमाकाशादीनामप्यात्मशब्दव्यपदेशप्रसङ्गः, तथामपि स्वपर्यायेषु सततगमनात्, अन्यथा अपरिणामित्वेनावस्तुत्वप्रसङ्गादिति, नैवम्, व्युत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वादस्य, उपयोगस्यैव च प्रवृत्तिनिमित्तत्वात्, जीव एवाऽऽत्मा; नाऽऽकाशादिरिति, यद्वा-संसार्यपेक्षया नानागतिषु सततगमनात्, मुक्तापेक्षया च भूततद्भावत्वादात्मेति, तस्य चैकत्वं कथंचिदेव, तथाहि-द्रव्यार्थतयैकत्वमेकद्रव्यत्वादात्मनः, प्रदेशार्थतया त्वनेकत्वमसंख्येयप्रदेशात्मकत्वात्तस्येति, तत्र द्रव्यं च तदर्थश्चेति द्रव्यार्थस्तस्य भावो द्रव्यार्थता प्रदेशगुणपर्यायाधारता अवयविद्रव्यतेति यावत्, तथा प्रकृष्टो देशः प्रदेशः-निरवयवोऽशः स चासावार्थश्चेति प्रदेशार्थः तस्य भावः प्रदेशार्थता-गुणपर्यायाधारावयवलक्षणार्थतेति यावत् । स्था० १ ठा० । (नन्ववयवि द्रव्यमेव नास्ति, इत्यादिशङ्काप्रतीकारः 'अवयवि' शब्दे प्रथमभागे ७६७ पृष्ठे द्रष्टव्यः ।)

१-' लोग ' शब्दे षष्ठे भागे व्याख्या । तत्रैव गोलव्याख्या च ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्मनस्तु सप्रदेशत्वमवश्यमभ्युपगन्तव्यम्। निरवयवत्वे तु हस्ताद्यवयवानामेकत्वप्रसङ्गः प्रत्यवयवं स्पर्शाद्यनुपलब्धिप्रसङ्गश्चेति । इदृश आत्मा प्रत्यवयवं चैतन्यलक्षणतद्गुणोपलम्भात्, प्रतिग्रीवाद्यवयवमुपलभ्यमानरूपगुणघटवदिति स्थापितमेतद् द्रव्यार्थतयैक आत्मा इति। अथ वा-एक आत्मा कथंचिदिति, प्रतिक्षणं सम्भवदपरापरकालकृतकुमारतरुणनरनारकत्वादिपर्यायैरुत्पादविनाशयोगेऽपि द्रव्यार्थतयैकत्वादस्य, यद्यपि हि कालकृतपर्यायैरुत्पद्यते नश्यति च वस्तु तथाऽपि स्वपरपर्यायरूपानन्तधर्मात्मकत्वात्तस्य न सर्वथा नाशो युक्त इति, आह च-

" न हि सव्वहा विणासो, अद्धा पज्जायमित्तनासम्मि ।
सपरपज्जायाणं-ऽनंतधम्मुणो वत्थुणो जुत्तो ॥१॥ " इति।

किंच-प्रतिक्षणं क्षयिणो भावा इत्यतस्माद्वचनात्प्रतिपादस्य यत् क्षणभङ्गविज्ञानमुपजायते तदसंख्यातसमयैरेव वाक्यार्थग्रहणपरिणामाज्जायते, न तु प्रतिपत्तुः प्रतिसमयं विनाशे सति, यत एकैकमप्यक्षरं पदमन्त्यं संख्यातीतसमयसंभूतं, संख्यातानि चाक्षराणि पदं संख्यातपदं च वाक्यं, तदर्थग्रहणपरिणामाच्च सर्वं क्षणभङ्गुरमिति संविज्ञानं भवेत्, तच्चायुक्तं समयनष्टस्येति, आह च—

"कह वा सव्वं खणियं, विन्नायं ?; जइ मइसुयाओ त्ति ।
तस्संख्र समयसुत्त-त्थगहणपरिणामओ जुत्तं ॥ १ ॥
न उ पइसमयविणासे, जेणेक्केक्कक्खरं पि य पयस्स ।
संखाईयसमइयं, संखेज्जाइं पयं ताइं ॥ २ ॥
संखेज्जपयं वक्कं, तदत्थगहणपरिणामओ होज्जा ।
सव्वक्खणभङ्गनाणं, तदजुत्तं समयनट्ठस्स " ॥३॥ इति।

तथा सर्वथोच्छेदे तृप्त्यादयो न घटन्ते पूर्वसंस्कारानुवृत्तावेव तेषां युज्यमानत्वात्, आह च—" तित्तीसमो किलामो, सारिक्खविपक्खपच्चयाईणि । अज्झयणं झाणं, भा-वणा य का सव्वनासंमि " ॥ १ ॥ इति। (अस्या गाथाया व्याख्या)—तत्र तृप्तिः-प्राणिः श्रमः-अध्वादिखेदः क्लमः-ग्लानिः सादृश्यं-साधर्म्यं विपक्षो-वैधर्म्यं प्रत्ययः-अवबोधः, शेषपदानि प्रतीतानि इत्यादि बहु वक्तव्यं तत्तु स्थानान्तरादवसेयमिति । तदेवम्—आत्मा स्थितिभवनभङ्गरूपः स्थिररूपापेक्षया नित्यो नित्यत्वाच्चैको भवनभङ्गरूपापेक्षया त्वनित्योऽनित्यत्वाच्चानेक इति, आह च-

" जमणंतपज्जयमयं, वत्थुं भवणं च चित्तपरिणामं ।
ठिइविभवभंगरूवं, णिच्चाणिच्चाइ तोऽभिमयं "॥१॥ इति।

एवं च—

"सुहदुक्खबंधमोक्खा, उभयनयमयाणुवत्तिणो जुत्ता ।
एगयरपरिच्चाए, सव्वव्ववहारवोच्छित्ती ॥ २ ॥" इति।

अथ वा-एक आत्मा कथंचिदेवेति, यतो जैनानां न हि सर्वथा किंचिद्वस्तु एकमनेकं चास्ति सामान्यविशेषरूपत्वाद्वस्तुनः, अथ ब्रूयाद्विशेषरूपमेव वस्तु, सामान्यस्य विशेषेभ्यो भेदाऽभेदाभ्यां चिन्त्यमानस्यायोगात्, तथाहि—सामान्यं विशेषेभ्यो भिन्नमभिन्नं वा स्यात् ?, न भिन्नमुपलम्भाभावात् तथानुपलभ्यमानमपि सत्तया व्यवहर्तुं शक्यं खरविषाणस्यापि तथा प्रसङ्गात्। अथाऽभिन्नमिति पक्षः, तथा च सामान्यमात्रं वा स्याद्विशेषमात्रं वेति, न ह्येकस्मिन्सामान्यमेकं विशेषाश्चानेकरूपा इत्यसंकीर्णवस्तुव्यवस्था स्यादिति, अत्रोच्यते-न ह्यस्माभिः सामान्यविशेषयोरेकान्तेन भेदोऽभेदो वाऽभ्युपगम्यते, अपि तु-विशेषा एव प्रधानीकृतास्तुल्यरूपा उपसर्जनीकृततुल्यरूपाः विषमतया प्रज्ञायमाना विशेषा व्यपदिश्यन्ते त एव च विशेषा उपसर्जनीकृताः तुल्यरूपाः प्रधानीकृततुल्यरूपाः समतया प्रज्ञायमानाः सामान्यमिति व्यपदिश्यन्त इति, आह च—

" निर्विशेषं गृहीताश्च, भेदाः सामान्यमुच्यते ।
ततो विशेषात्सामान्यं, विशिष्टत्वं न युज्यते ॥ १ ॥
वैषम्यसमभावेन, ज्ञायमाना इमे किल ।
प्रकल्पयन्ति सामान्य-विशेषस्थितिमात्मनि ॥ २ ॥" इति।

तदेवं सामान्यरूपेणात्मा एको विशेषरूपेण त्वनेकः, न च-आत्मनां तुल्यरूपं नास्ति एकात्मव्यतिरेकेण शेषात्मनामनात्मत्वप्रसङ्गादिति, तुल्यञ्च सरूपमुपयोगः ' उपयोगलक्षणो जीव ' इति वचनात् तदेवमुपयोगरूपैकलक्षणत्वात्सर्वे एवात्मानः एकरूपाः, एवं च एकलक्षणत्वादेक आत्मेति, अथवा-जन्ममरणसुखदुःखादिसंवेदनव्यसहायत्वादेक आत्मेति भावनीयमिति। इह च सर्वसूत्रेषु कथंचिदित्यनुस्मरणीयं, कथंचिद्वादस्याविरोधेन सर्ववस्तुव्यवस्थानिबन्धनत्वात्, उक्तं च—" स्याद्वादाय नमस्तस्मै, यं विना सकलाः क्रियाः । लोकद्वितयभाविन्यो, नैव साङ्गत्यमियृति ॥१॥ " तथा-" नयास्तव स्यात्पदसत्त्वलाञ्छना, रसोपविद्धा इव लोहधातवः । भवन्त्यभिप्रेतफला यतस्ततो, भवन्तमार्याः प्रणताः हितैषिणः ॥ १ ॥ " इति। स्था० १ ठा०। एक आत्मा कथंचिदिति गम्यते, इदं च सर्वसूत्रेष्वनुगमनीयम्, तत्र प्रदेशार्थतया असंख्यातप्रदेशोऽपि जीवो द्रव्यार्थतया एकः। अथ वा-प्रतिक्षणं पूर्वस्वभावक्षयाऽपरस्वरूपोत्पादयोगेनानन्तभेदोऽपि कालत्रयानुगामिचैतन्यमात्रापेक्षया एक एव आत्मा, अथवा-प्रतिसन्तानं चैतन्यभेदेनाऽनन्तत्वेऽप्यात्मनां संग्रहनयाऽश्रितसामान्यरूपापेक्षयैकत्वमात्मन इति। तथा न आत्मा अनात्मा—घटादिपदार्थः, सोऽपि प्रदेशार्थतया संख्येयाऽसंख्येयानन्तप्रदेशोऽपि तथाविधैकपरिणामरूपद्रव्यार्थापेक्षया एक एव, एवं सन्तानापेक्षयाऽपि तुल्यरूपापेक्षया तु अनुपयोगलक्षणैकस्वभावयुक्तत्वात्कथंचिद्भिन्नस्वरूपाणामपि धर्मास्तिकायादीनामनात्मनामेकत्वमवसेयमिति । स० १ सम० टी०। ननु बहुभेदत्वमात्मनोऽसिद्धं, तस्य सर्वत्रैकत्वात्, तदुक्तम्-

" एक एव हि भूतात्मा, भूते भूते प्रतिष्ठितः ।
एकधा बहुधा चैव, दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥ १ ॥
यथा विशुद्धमाकाशं, तिमिरोपप्लुतो जनः ।
संकीर्णमिव मात्राभि-र्भिन्नाभिरभिमन्यते ॥ २ ॥
तथेदममलं ब्रह्म, निर्विकल्पमविद्यया ।
कलुषत्वमिवापन्नं, भेदरूपं प्रकाशते ॥ ३ ॥
ऊर्ध्वमूलमधःशाख-मश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि, यस्तं वेद स वेदवित् ॥ ४ ॥"

तथा ' पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्, उतामृतत्वस्येशानः, यदन्येनातिरोहति, यदेजति, यन्नैजति, यद् दूरे, यदन्तिके, यदन्तरस्य सर्वस्य, यत्सर्वस्यास्य बाह्यतः " इत्यादि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इत्येतदेव पूर्वार्द्धेनोत्क्षिप्योत्तरार्द्धेन परिहरन्नाह—

जइ पुण सो एगो चिय, हवेज्ज वोमं व सव्वपिंडेसु ।
गोयम ! तदेगलिंगं, पिंडेसु तहा न जीवोऽयं ॥१५८१॥

परः प्राह–यदि पुनर्दर्शितन्यायेन स आत्मा सर्वेष्वपि नारकतिर्यङ्नरामरपिण्डेषु व्योमवदेक एव भवेत्तु संसारीतरादिभेदभिन्नः, तर्हि किं नाम दूषणं स्याद् ?; एवमुक्ते भगवानाह–गौतम ! तद्व्योम सर्वेष्वपि पिण्डेषु-मूर्तिविशेषेषु स्थितमेकलिङ्गं वैसदृश्याभावादेकरूपमेव, इति युक्तं तस्यैकत्वम्, जीवस्त्वयं विचार्यत्वेन प्रस्तुतो न तथा–ऽनेकलिङ्गः सर्वत्र दृश्यते, प्रतिपिण्डं तस्य विलक्षणत्वात् लक्षणभेदे च लक्ष्यभेदात् इति न तस्यैकत्वमिति ।

अत्र प्रयोगमाह—

नाणा जीवा कुंभा-दओ व्व भुवि लक्खणाइभेयाओ ।
सुहदुक्खबंधमोक्खा–भावो य जओ तदेगत्ते ॥१५८२॥

नानारूपा भुवि जीवाः; परस्परं भेदभाज इत्यर्थः, लक्षणादिभेदादिति हेतुः, कुम्भादय इवेति दृष्टान्तः । यच्च न भिन्नं, न तस्य लक्षणभेदः, यथा नभस इति । सुखदुःखबन्धमोक्षाभावश्च यस्मात्तदेकत्वे तस्माद्भिन्ना एव सर्वेऽपि जीवा इति ।

कथं पुनस्तेषां प्रतिपिण्डं लक्षणभेदः ? इत्याह—

जेणोवओगलिंगो, जीवो भिन्नो य सो पइसरीरं ।
उवओगो उक्करिसा-ऽवगरिसओ तेण तेऽणंता ।१५८३।

येन ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणोऽसौ जीवः, स चोपयोगः प्रतिशरीरमुत्कर्षापकर्षभेदादनन्तभेदः, तेन जीवास्तद्भेदादनन्तभेदा भवन्ति । तदेवं भावितम् 'नाणा जीवा' इत्यादि पूर्वार्द्धम् ।

इदानीं सुखदुःखेत्याद्युत्तरार्द्धं भावयन्नाह—

एगत्ते सव्वगय–त्तओ य न मोक्खाऽऽदओ नभस्सेव ।
कत्ता भोत्ता मंता, न य संसारी जहाऽऽगासं ॥१५८४॥

एकत्वे जीवानां सुखदुःखबन्धमोक्षादयो नोपपद्यन्ते, सर्वगतत्वात्, नभस इव, यत्र तु सुखादयो न तत्सर्वगतं यथा देवदत्तः इति । किं च–न कर्त्ता, न भोक्ता, न मन्ता, न संसारी जीवः, एकत्वात् सर्वजीवानां, यच्चैकं न तस्य कर्तृत्वादयः, यथा नभस इति ।

अपि च—

एगत्ते नऽत्थि सुही, बहूवघाउ त्ति देसनिरुउ व्व ।
बहुतरबद्धत्तणओ, न य मुक्को देसमुक्को व्व ॥ १५८५ ॥

इदमत्र हृदयम्–नारकतिर्यगादयोऽनन्ता जीवा नानाविधशरीरमानसोपघातसंपातैर्दुःखिता एव, तदनन्तभागवर्तिनस्तु सुखिनः, एवम् अनन्ता बद्धाः, तदनन्तभागवर्तिनस्तु मुक्ताः, तेषां च सर्वेषामेकत्वे न कोऽपि सुखी प्राप्नोति, बहुतरोपघातान्वितत्वात् यथा सर्वाङ्गरोगग्रस्तोऽङ्गुल्येकदेशेन नीरोगो यज्ञदत्तः एवं न कोऽपि मुक्तस्तत्सुखभाक् च न कोऽपि घटते बहुतरबद्धत्वात्, यथा सर्वाङ्गकीलितोऽङ्गुल्येकदेशमुक्तस्तस्मादेकत्वे सुखाद्यनुपपत्तेर्नानात्वं जीवानामिति स्थितम् । विशे० ।

तथा च—

एगे भवं०जाव संबुद्धे सावगधम्मं पडिवज्जित्ता पडिगते ।

'एगे भवं' ति-एको भवान् इत्येकत्वाभ्युपगमे आत्मनः कृते भगवता श्रोत्रादिविज्ञानानामवयवानां चात्मनोऽनेकश उपलब्ध्या एकत्वं दूषयिष्यामीति बुद्ध्या पर्यनुयोगो द्विजेन कृतः, यावच्छब्दात्—'दुवे भवं' ति सूत्रे द्वौ भवान् इति च द्वित्वाभ्युपगमेऽहमित्येकत्वविशिष्टस्यार्थस्य द्वित्वविरोधेन द्वित्वं दूषयिष्यामीति बुद्ध्या पर्यनुयोगो विहितः । अत्र भगवान् स्याद्वादपक्षं निखिलदोषगोचरातिक्रान्तमवलम्ब्योत्तरमदायि—एकोऽप्यहं कथं द्रव्यार्थतया जीवद्रव्यस्यैकत्वात् न तु प्रदेशार्थतया अनेकत्वात्, ममेत्यवयवादीनामेकत्वोपलम्भो न बाधकः ज्ञानदर्शनार्थतया कदाचिद् द्वित्वमपि न विरुद्धमित्यत उक्तं द्वावप्यहं, किं चैकस्यापि स्वभावभेदेनानेकधात्वं दृश्यते, तथाहि–एको हि देवदत्तादिपुरुष एकदैव तत्तदपेक्षया पितृत्वपुत्रत्वभ्रातृव्यत्वमातुलत्वभागिनेयत्वादीननेकान् स्वभावान् लभते । 'तहा-अक्खए अव्वए निच्चे अवट्ठिए आय' त्ति-यथा जीवद्रव्यस्यैकत्वादेकस्तथा प्रदेशार्थतया असंख्येयप्रदेशतामाश्रित्याऽक्षयः, सर्वथा प्रदेशानां क्षयाभावात्, तथा अव्ययः कियतामपि च व्ययत्वाभावात् असंख्येयप्रदेशता हि न कदाचनाप्यपैति, अतो व्यवस्थितत्वान्नित्यताभ्युपगमेऽपि न कश्चिद्दोषः, इत्येवं भगवताऽभिहिते तेनापृष्टेऽप्यात्मस्वरूपे तद्बोधार्थं, व्यवच्छिन्नसंशयः–संजातसम्यक्त्वः 'दुवालसविहं सावगधम्मं पडिवज्जित्ता सद्धाणमुवगओ सोमिलमाहणो' । नि० १ श्रु० ३ वर्ग ३ अ० ।

एगे भवं, दुवे भवं, अक्खए भवं, अव्वए भवं, अवट्ठिए भवं, अणेगभूयभावभविए भवं । एवं सूया एगे वि अहं दुवे वि अहं ०जाव अणेगभूयभावभविए वि अहं. से केणऽट्ठेणं भन्ते ! एगे वि अहं ०जाव सूया दव्वट्ठाए एगे अहं, णाणदंसणट्ठयाए दुवे अहं, पएसट्ठयाए अक्खए वि अहं, अव्वए वि अहं, उवओगट्ठए अणेगभूयभावभविए वि अहं । (सूत्र-५५ +)

ज्ञाता० १ श्रु० ५ अ० । (अस्य सूत्रखण्डस्य व्याख्या 'थावच्चापुत्त' शब्दे चतुर्थभागे २४०७ पृष्ठे करिष्यते)

मुक्तोऽपि वाऽभ्येतु भवं भवो वा,
भवस्थशून्योऽस्तु मिताऽऽत्मवादे ।
षड्जीवकायं त्वमनन्तसङ्ख्य-
माख्यस्तथा नाथ ! यथा न दोषः ॥ २९ ॥

व्याख्या–मितात्मवादे–संख्यातानामात्मनामभ्युपगमे, दूषणद्वयमुपतिष्ठते; तत्क्रमेण दर्शयति–मुक्तोऽपि वा अभ्येतु भवमिति—मुक्तो—निर्वृतिप्राप्तः सोऽपि वा (अपिर्विस्मये, वाशब्द उत्तरदोषापेक्षया समुच्चयार्थः, यथा देवो वा दानवो वेति ।) भवमभ्येतु-संसारमभ्यागच्छतु इत्येको दोषप्रसङ्गः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भवो वा भवस्थशून्योऽस्तु-भवः-संसारः स वा भवस्थशून्यः-संसारिभिर्जीवैर्विरहितः अस्तु-भवतु इति द्वितीयो दोषप्रसङ्गः । इदमत्राऽऽकूतम्-यदि परिमिता एवाऽऽत्मानो मन्यन्ते तदा तत्त्वज्ञानाभ्यासप्रकर्षादिक्रमेणापवर्गं गच्छत्सु तेषु संभाव्यते खलु स कश्चित्कालो यत्र तेषां सर्वेषां निर्वृतिः, कालस्याऽनादिनिधनत्वात् आत्मनां च परिमितत्वात्संसारस्य रिक्तता भवन्ती केन वार्येताम् । समुन्नीयते हि प्रतिनियतसलिलपटलपरिपूरिते सरसि खननपनानपनजनोदञ्चनादिना कालान्तरे रिक्तता । अत्राऽयमर्थः प्रामाणिकस्य कस्यचित्प्रसिद्धः संसारस्य स्वरूपहानिप्रसङ्गात् तत्स्वरूपं ह्येतद्यत्र कर्मवशवर्तिनः प्राणिनः संसरन्ति समासादुः संसरिष्यन्ति चेति सर्वेषां च निर्वृतत्वे संसारस्य वा रिक्तत्वं हठादभ्युपगन्तव्यम् । मुक्तैर्वा पुनर्भवे आगन्तव्यम् । न च क्षीणकर्मणां भवाधिकारः-" दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं, प्रादुर्भवति नाङ्कुरः । कर्मबीजे तथा दग्धे, न रोहति भवाङ्कुरः" ॥ १ ॥ इति वचनात् । आह च पतञ्जलिः-" सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः " इति एतट्टीका च-"सत्सु क्लेशेषु कर्माऽऽशयो विपाकारम्भी भवति नोच्छिन्नक्लेशमूलः । यथा तुषावनद्धाः शालितण्डुला अदग्धबीजभावाः प्ररोहणसमर्था भवन्ति, नापनीततुषा दग्धबीजभावा वा । तथा क्लेशावनद्धः कर्माशयो विपाकप्ररोही भवति; नापनीतक्लेशो न दग्धबीजभावो वा इति । स च विपाकस्त्रिविधो जातिरायुर्भोगः" इति । अक्षपादोऽप्याह-"न प्रवृत्तिः प्रतिसंधानाय हीनक्लेशस्य" इति, एवं त्रिभङ्गज्ञानिशिवराजर्षिमतानुसारिणां दूषयित्वा उत्तरार्द्धेन भगवदुपज्ञमपरिमितात्मवादं निर्दोषतया स्तौति-'षड्जीवे' त्यादि. त्वं तु हे नाथ ! अनन्तसंख्यम्-अनन्ताख्यसंख्याविशेषयुक्तं षड्जीवकायम् , अजीवन्. जीवन्ति, जीविष्यन्ति चेति जीवाः—इन्द्रियादिद्रव्यभावप्राणधारणयुक्तास्तेषाम् " संघऽ(वाऽ)नूर्ध्वे " ॥ ५।३।८० ॥ इति चिनोतेर्घञि आदेश्च कत्वे कायः-समूहो जीवकायः पृथिव्यादिः । षण्णां जीवकायानां समाहारः षड्जीवकायम् । पात्र्यादिदर्शनान्नपुंसकत्वम् , अथवा-षण्णां जीवानां कायः प्रत्येकं संघातः षड्जीवकायः, तं षड्जीवकायं पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसलक्षणषड्जीवनिकायं तथा तेन प्रकारेण आख्यः-मर्यादया प्ररूपितवान् , यथा-येन प्रकारेण न दोषो-न दूषणमिति, आत्यपेक्षमेकवचनम् । प्रागुक्तदोषद्वयजातीया अन्येऽपि दोषा यथा न प्रादुष्यन्ति तथा त्वं जीवाऽनन्त्यमुपादिष्टवानित्यर्थः । 'आख्यः' इति-आङ्पूर्वस्य ख्यातेरङि सिद्धिः । त्वमित्येकवचनं चेदं आपयति यज्जगद्गुरोरेवैकस्येदृक्प्ररूपणसामर्थ्यं न तीर्थान्तरशास्तॄणामिति । पृथिव्यादीनां पुनर्जीवत्वमित्थं साधनीयम्-यथा साऽऽत्मिका विद्रुमशिलादिरूपा पृथिवी; छेदे समानधातूत्थानादर्शाङ्कुरवत् । भौममम्भोऽपि सात्मकं क्षतभूसजातीयस्य स्वभावस्य संभवात् ; शालूरवत् । आन्तरिक्षमपि सात्मकम् ; अभ्रादिविकारे स्वतः संभूय पातात् , मत्स्यादिवत् । तेजोऽपि सात्मकम्-आहारोपादानेन वृद्ध्यादिविकारोपलम्भात् पुरुषाङ्गवत् । वायुरपि साऽऽत्मकः अपरप्रेरितत्वेऽपि तिर्यग्गतिमत्त्वात् , गोवत् । वनस्पतिरपि सात्मकः छेदादिभिर्म्लान्यादिदर्शनात् , पुरुषाङ्गवत् । केषांचित् स्वापाङ्गनोपश्लेषादिविकाराच्च अपकर्षतश्चेतन्याद्वा सर्वेषां सात्मकत्वसिद्धिः, आप्तवचनाच्च । त्रसेषु च कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादिषु न केषांचित्सात्मकत्वे विगानमिति । यथा च भगवदुपज्ञमे जीवानन्त्ये न दोषस्तथा दिग्मात्रं भाव्यते । भगवन्मते हि षण्णां जीवनिकायानामेतदल्पबहुत्वम्-सर्वस्तोकास्त्रसकायिकाः । तेभ्योऽसंख्यातगुणास्तेजस्कायिकाः । तेभ्यो विशेषाधिकाः पृथ्वीकायिकाः । तेभ्यो विशेषाधिका अप्कायिकाः । तेभ्यो विशेषाधिका वायुकायिकाः । तेभ्योऽनन्तगुणाः वनस्पतिकायिकाः, ते च व्यावहारिकाः, अव्यावहारिकाश्च—

" गोला य असंखिज्जा, असंखनिग्गोयगोलओ भणिओ ।
इक्किक्कनिगोयम्मि, अणंतजीवा मुणेयव्वा ॥ १ ॥
सिज्झंति जत्तिया खलु, इह संववहारजीवरासीओ ।
एंति अणाइवणस्सइ, रासीओ तत्तिया तंमि ॥ २ ॥"

इति वचनात् यावन्तश्च यतो गच्छन्ति मुक्तिं जीवास्तावन्तोऽनादिनिगोदवनस्पतिराशेस्तत्राऽऽगच्छन्ति न च तावता तस्य काचित्परिहाणिर्निगोदजीवाऽनन्त्यस्याऽक्षयत्वात् । निगोदस्वरूपं च समयसागरादवगन्तव्यम् , अनाद्यनन्तेऽपि काले ये केचिन्निर्वृता निर्वान्ति निर्वास्यन्ति च ते निगोदानामनन्तभागेऽपि न वर्तन्ते, नाऽवर्तिषत, न वर्त्स्यन्ति । ततश्च कथं मुक्तानां भवाऽऽगमनप्रसङ्गः ? कथं च संसारस्य रिक्ततापसक्तिरिति अभिप्रेतं चैतदन्ययूथ्यानामपि । यथाचोक्तं वार्तिककारेण—

" अत एव च विद्वत्सु, मुच्यमानेषु सन्ततम् ।
ब्रह्माण्डलोकजीवाना-मनन्तत्वादशून्यता ॥ १ ॥
अत्यन्यूनातिरिक्तत्वै-र्युज्यते परिमाणवत् ।
वस्तुन्यपरिमेये तु, नूनं तेषामसंभवः " ॥ २ ॥
इतिकाव्यार्थः । स्या० । आव० ।
"एको निस्यस्तथा बद्धः, क्षय्यसत्त्वेह सर्वथा ।
आत्मेति निश्चयाद् भूयो, भवनैर्गुण्यदर्शनात् ॥ ४ ॥
तस्यागायोपशान्तस्य, सद्वृत्तस्यापि भावतः ।
वैराग्यं तद्गतं यत्त-न्मोहगर्भमुदाहृतम् ॥ ५ ॥
भूयांसो नामिनो बद्धा, बाह्येनच्छादिना ह्यमी ।
आत्मानस्तद्वशात्कष्टं, भवे तिष्ठन्ति दारुणे ॥ ६ ॥
एवं विज्ञाय तत्याग-विधि त्यागं च सर्वथा ।
वैराग्यमाहुः सज्ञान-संगतं तत्त्वदर्शिनः ॥ ७ ॥"
अनं० ३ अधि० । (आत्मन एकत्वाऽनेकत्व-सर्वगतत्व-सक्रियत्व-निष्क्रियत्वव्यक्तव्यता 'परलोग' शब्दे पञ्चमे भागे च वक्ष्यते)

(२०) अथवा मुक्ताऽमुक्तविशेषमपहाय सामान्येनाऽऽत्मनः सक्रियत्वं साधयन्नाह—

कत्ताइत्तणओ वा, सकिरिओ यं मओ कुलालो व्व ।
देहप्फंदणओ वा, पच्चक्खं जंतपुरिसो व्व ॥ १८४८ ॥

विशे० । (व्याख्या 'बंधमोक्खसिद्धि' शब्दे ५ भागे वक्ष्यते)

(२१) आत्मनो ज्ञानस्वरूपत्वम्—

अणुमंवेदणमप्पाणेणं जं हंतव्वं ति णामि पत्थए ।
(सूत्र-१६४×)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संवेदनम्-अनुभवनम् अनु-पश्चात् संवेदनं केनात्मना यत्परेषां मोहोदयाज्ञानादिना दुःखोत्पादनं विधीयते तत्पश्चादात्मना संवेद्यमित्याकलय्य यत्किमपि हन्तव्यमिति चिकीर्षितं तन्नाभिप्रार्थयेत्-नाऽभिलषेत् ।

ननु चाऽऽत्मना अनुसंवेद्यमित्युक्तं संवेदनं च ज्ञानाऽज्ञानरूपं, तच्च यथा नैयायिकवैशेषिकाणामात्मनो भिन्नेन गुणभूतेनैकार्थसमवायिना ज्ञानेन भवति तथा भवतामप्याहोस्विद् भिन्नात्मन इत्यस्य प्रतिवचनमाह—

जे आया, से विराणाया, जे विराणाया, से आया, जेण विजाणति से आया, तं पडुच्च पडिसंखाए । एस आयावादी समियाए परियाए वियाहिए त्ति बेमि । (सूत्र-१६५×)

य आत्मा नित्य उपयोगलक्षणः विज्ञाताप्यसावेव, न तु पुनस्तस्मादात्मनो भिन्नं ज्ञानं पदार्थसंवेदकं, यश्च विज्ञाता पदार्थानां परिच्छेदक उपयोग आत्माप्यसावेव, उपयोगलक्षणत्वात् जीवस्योपयोगस्य च ज्ञानात्मकत्वादिति ज्ञानात्मनोरभेदाभिधानाद् बौद्धाभिमतं ज्ञानमेवैकं स्यादिति चेत्, तत्र भेदाभावोऽत्र केवलं चिकीर्षितो नैक्यम् एतदेवैक्यं या भेदाभाव इति चेत्, वार्त्तमेतत्, तथा हि-पटशुक्लत्वयोर्भेदेनावस्थानाभावेऽपि नैकत्वापत्तिः, अत्रापि शुक्लत्वव्यतिरेकेण नापरः पटः कश्चिदप्यस्तीति चेदशिक्षितस्योल्लापो यतः शुक्लगुणविनाशे सर्वथा पटाभावापत्तिः स्यात्, तद्रात्मना विनष्ट एवेति चेत्, भवतु का नो हानिः?, अनन्तधर्मात्मकत्वाद्वस्तुनोऽपरमृद्वादिधर्मसद्भावे तद्धर्मविनाशेऽप्यविनष्ट एवेत्येवमात्मनोऽपि प्रत्युत्पन्नज्ञानात्मकतया विनाशेऽप्यपगामूर्त्तत्वासंख्येयप्रदेशता अगुरुलघ्वादिधर्मसद्भावादविनाश एवेत्यलं प्रसङ्गेन । ननु च य आत्मा स विज्ञातेत्यत्र तृजन्तेन कर्त्तुरभिधानादात्मनश्च कर्तृत्वात्तनश्च य एवात्मा स एव विज्ञातेत्यत्र विप्रतिपत्त्यभावो, येन चासौ जानाति तद्भिन्नमपि स्यात्, तथा हि-तत्करणं क्रिया वा भवेत् यदि करणं तद्दात्रादिवद्भिन्नं स्यात्, अथ क्रिया सा यथा कर्तृस्था संभवत्येवं कर्मस्थापीति एवं भेदसंभवे कुत ऐक्यमिति यश्चोदयेत्तं प्रति स्पष्टतरमाह-' जेण ' इत्यादि, येन मत्यादिना ज्ञानेन करणभूतेन वा क्रियारूपेण वा विविधं सामान्यविशेषाकारतया वस्तु जानाति-विजानाति स आत्मा न तस्मादात्मनो भिन्नं ज्ञानं, तथा हि-न करणतया भेदः, एकस्यापि कर्तृकर्मकरणभेदेनोपलब्धेः, तद्यथा-देवदत्त आत्मानमात्मना परिच्छिनत्ति, क्रियापक्षे पाक्षिको ह्यभेदो भवताप्यभ्युपगत एव, अपि च-' भूतिर्येषां क्रिया सैव कारकं सैव चोच्यते' इत्यादिनैकत्वमेवेति । ज्ञानात्मनोश्चैकत्वे यद्भवति तद्दर्शयितुमाह-'तं' इत्यादि, तं ज्ञानपरिणामं प्रतीत्य-आश्रित्यात्मा तेनैव प्रतिसंख्यायते—व्यपदिश्यते, तद्यथा—इन्द्रोपयुक्त इन्द्र इत्यादि, यदि वा—मतिज्ञानी श्रुतज्ञानी यावत् केवलज्ञानीति यश्च ज्ञानात्मनोरेकत्वमभ्युपगच्छति स किं गुणः स्यादिति आह—' एस ' इत्यादि, एषः—अनन्तरोक्तया नीत्या यथावस्थितात्मवादी स्यात्तस्य च सम्यग्भावेन शमितया वा पर्यायः संयमानुष्ठानरूपो व्याख्यातः । इत्यधिकारपरिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत् । आचा० १ श्रु० ५ अ० ५ उ० ।

आत्मनो ज्ञानस्वरूपत्वमभिधातुमात्मन एव स्वरूपनिरूपणायाह—

आया भंते ! णाणे, अएणाणे, गोयमा ! आया सिय णाणे, सिय अण्णाणे ? । णाणे पुण णियमं आया ।

'आया भंते ! णाणे' इत्यादि, आत्मा ज्ञानं योऽयमात्माऽसौ ज्ञानं न तयोर्भेदः अथात्मनोऽन्यज्ज्ञानमिति प्रश्नः । उत्तरन्तु-आत्मा स्यात् ज्ञानं सम्यक्त्वे सति मत्यादिज्ञानस्वभावत्वात्तस्य, स्यादज्ञानं मिथ्यात्वे सति तस्य मत्यज्ञानादिस्वभावत्वात्, ज्ञानं पुनर्नियमादात्मा आत्मधर्मत्वात् ज्ञानस्य । न च सर्वथा धर्मो धर्मिणो भिद्यते, सर्वथा भेदे हि विप्रकृष्टगुणिनां गुणमात्रोपलब्धौ प्रतिनियतगुणिविषय एव संशयो न स्यात्, तदन्येभ्योऽपि तस्य भेदाविशेषात् . दृश्यते च यदा कश्चिद्दरितरुतरुणशाखाविसरस्योदरान्तरतः किमपि शुक्लं पश्यति तदा किमियं पताका किमियं बलाका ? इत्येवं प्रतिनियतगुणिविषयोऽसौ नापि धर्मिणो धर्मः सर्वथैवाभिन्नः सर्वथैवाभेदे हि संशयानुत्पत्तिरेव, गुणग्रहणेन एव गुणिनोऽपि गृहीतत्वादतः कथञ्चिद्भेदपक्षमाश्रित्य ज्ञानं पुनर्नियमादात्मेत्युच्यत इति, इह चात्मा ज्ञानं व्यभिचरति, ज्ञानं त्वात्मानं न व्यभिचरति, खदिरवनस्पतिवदिति सूत्रगर्भार्थः इति ।

अमुमेवार्थं दण्डके निरूपयन्नाह—

आया भंते ! खेरइयाणं णाणे, अएणे खेरइयाणं णाणे ?, गोयमा ! आया खेरइयाणं सिय णाणे, सिय अएणाणे, णाणे पुण ते णियमं आया एवं ०जाव थणियकुमाराणं ।

' आये ' त्यादि, नारकाणाम् 'आत्माऽऽत्मस्वरूपं ज्ञानम् ?' उतान्यन्नारकाणां ज्ञानं?, तेभ्यो व्यतिरिक्तमित्यर्थःइति प्रश्नः, उत्तरन्तु-आत्मा नारकाणां स्यात् ज्ञानं सम्यग्दर्शनभावात्, स्यादज्ञानं मिथ्यादर्शनभावात्, ज्ञानं पुनः ' सेति ' तन्नारकसम्बन्धि आत्मा न तद्व्यतिरिक्तमित्यर्थः ।

आया भंते ! पुढवीकाइयाणं अएणाणे अण्णे पुढवीकाइयाणं अएणाणे ?, गोयमा ! आया पुढवीकाइयाणं णियमं अण्णाणे, अण्णाणे वि णियमं आया, एवं ०जाव वणस्सइकाइयाणं, बेइंदियतेइंदिय ०जाव वेमाणियाणं, जहा खेरइयाणं ।

' आया भंते ! पुढवीकाइयाणमि' त्यादि, आत्मा आत्मस्वरूपमज्ञानम् उतान्यत्तेषाम् उत्तरन्तु-आत्मा तेषामज्ञानरूपो नान्यस्तेभ्य इति भावार्थः ।

आया भंते ! दंसणे अण्णे दंसणे ?, गोयमा ! आया णियमं दंसणे दंसणे वि णियमं आया । आया भंते ! खेरइयाणं दंसणे अण्णे खेरइयाणं दंसणे ? गोयमा ! आया खेरइयाणं णियमा दंसणे दंसणे वि से णियमं आया एवं ०जाव वेमाणियाणं निरंतरं दंडओ । (सूत्र-४६८)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एवं दर्शनसूत्राण्यपि, नवरं सम्यग्दृष्टिमिथ्यादृष्ट्योर्दर्शनस्याविशिष्टत्वाद्आत्मा दर्शने-दर्शनमप्यात्मैवेति वाच्यं, यत्र हि धर्म्मे विपर्ययो नाऽस्ति तत्र नियम एवोपनीयते, न व्यभिचारो यथैव दर्शने, यत्र तु विपर्ययोऽस्ति तत्र व्यभिचारो नियमश्च यथा ज्ञाने, आत्मा ज्ञानरूपोऽज्ञानरूपश्चेति व्यभिचारः, ज्ञानं त्वात्मैवेति नियम इति । भ० १२ श० १० उ० ।

आत्मनः स्वपर्यायेभ्यः कथञ्चिद्व्यतिरिक्तत्वम्—

जीवो अणाइणिहणो, जीव त्ति य णियमओ ण वत्तव्वो ।
जं पुरिसाऽऽउयजीवो, देवाऽऽउयजीवियविसिट्ठो ॥४२॥

व्यतिरेकादात्मनो वा केवलज्ञानाद्व्यतिरेकात् । कथंचिदेकत्वं तयोरित्याह—

संखेज्जमसंखेज्जं, अणंतकप्पं च केवलं णाणं ।
तह रागदोसमोहा, अण्णेऽवि य जीवपज्जाया ॥ ४३ ॥

सम्म० २ काण्ड० । (अनयोर्गाथयोर्व्याख्या 'केवलणाण' शब्दे तृतीयभागे ६४५ पृष्ठे वक्ष्यते)

आत्मकर्मणोरन्योन्यानुगतत्वम्—

('बंध' शब्दे चतुर्थभागे "अण्णोण्णाणुगयाणं०" (५७) इत्यादि प्रथमकाण्डगाथाभिः दर्शयिष्यामि) आत्मना आत्मानं ज्ञात्वा । अष्ट० १३ अष्ट० । (आत्मज्ञानस्यैव सम्यक्त्वम्, आत्मज्ञानस्यैव ज्ञानदर्शनचारित्रत्वमिति 'मुणि' शब्दे षष्ठे भागे दर्शयिष्यते)

(२२) आत्मनो ज्ञानदर्शनश्रवणादिप्रकारः—

दोहिं ठाणेहिं आया अधोलोगं जाणइ पासइ, तं जहा—समोहएणं चेव अप्पाणेणं आया अहेलोगं जाणइ पासइ, असमोहएणं चेव अप्पाणेणं आया अहेलोगं जाणइ पासइ, आघोहिसमोहतासमोहएणं चेव अप्पाणेणं आया अहोलोगं जाणइ पासइ १, एवं तिरियलोगं २, उड्ढलोगं ३, केवलकप्पं लोगं ४, दोहिं ठाणेहिं आया अहोलोगं जाणइ पासइ, तं जहा—विउव्विएण चेव अप्पाणेणं आया अहेलोगं जाणइ पासइ अविउव्विएणं चेव अप्पाणेणं आया अहोलोगं जाणइ पासइ, आहोहिविउव्वियाऽविउव्विएणं चेव अप्पाणेणं आया अहोलोगं जाणइ पासइ १, एवं तिरियलोगं २, उड्ढलोगं ३, केवलकप्पं लोगं ४,

'दोहीं' त्यादि सूत्रचतुष्टयं, द्वाभ्यां स्थानाभ्यां-प्रकाराभ्यामात्मनाभ्यामात्मा-जीवोऽधोलोकं जानात्यवधिज्ञानेन पश्यत्यवधिदर्शनेन 'समवहतेन' वैक्रियसमुद्घातगतेनात्मना—स्वभावेन, समुद्घातान्तरगतेन, वा, असमवहतेन त्वन्यथेति, एतदेव व्याख्याति—'आहोही' त्यादि यत्प्रकारोऽवधिरस्येति यथावधिः, आदिदीर्घत्वं प्राकृतत्वात्, परमावधेर्वाऽधोवर्त्यवधिर्यस्य सोऽधोऽवधिरात्मा नियतक्षेत्रविषयावधिज्ञानी स कदाचित् समवहतेन कदाचिदन्यथेति समवहताऽसमवहतेनेति, 'एव' मित्यादि, 'एव' मिति यथाऽधोलोकः समवहतासमवहतप्रकाराभ्यामवधेर्विषयतयोक्त एवं तिर्यग्लोकादयोऽपीति, सुगमानि च तिर्यग्लोकोर्द्धलोककेवलकल्पसूत्राणि, नवरं केवलः—परिपूर्णः स चासौ स्वकार्यसामर्थ्यात् कल्पश्च केवलज्ञानमिव वा परिपूर्णतयेति केवलकल्पः, अथवा-केवलकल्पः समयभाषया परिपूर्णस्तं लोकं चतुर्दशरज्ज्वात्मकमिति । वैक्रियसमुद्घातानन्तरं वैक्रियं शरीरं भवतीति वैक्रियशरीरमाश्रित्याधोलोकादिज्ञाने प्रकारद्वयमाह—'दोही' त्यादि सूत्रचतुष्टयं कण्ठ्यम्, नवरं 'विउव्विएणं' ति कृतवैक्रियशरीरेणेति ।

ज्ञानाधिकार एवेदमपरमाह—

दोहिं ठाणेहिं आया, सद्दाइं सुणेइ, तं जहा—देसेण वि आया सद्दाइं सुणेइ, सव्वेण वि आया, सद्दाइं सुणेइ १ । एवं रूवाइं पासइ, गंधाइं अग्घाति ३, रसाइं आसाएइ ४, फासाइं पडिसंवेएइ ५ ।

'दोही' त्यादि, पञ्चसूत्री, द्वाभ्यां स्थानाभ्यां-प्रकाराभ्याम् 'देसेण वि' त्ति-देशेन च शृणोत्येकेन श्रोत्रेणैकश्रोत्रोपघाते सति सर्व्वेण वानुपहतश्रोत्रेन्द्रियो यो वा संभिन्नश्रोतोऽभिधानलब्धियुक्तः स सर्वैरिन्द्रियैः शृणोतीति सर्वेणेति व्यपदिश्यते, एवमिति यथा शब्दान् देशसर्वाभ्याम् एवं रूपादीनपि नवरं जिह्वादेशस्य प्रसुप्त्यादिनोपघाताद्देशेनास्वादयतीत्यवसेयमिति । शब्दश्रवणादयो जीवपरिणामा उक्ताः ।

तत्प्रस्तावात् तत्परिणामान्तराण्याह—

दोहिं ठाणेहिं आया ओभासइ, तं जहा—देसेण वि आया ओभासइ, सव्वेण वि आया ओभासइ १ । एवं पभासइ २, विउव्वइ ३, परियारेइ ४, भासं भासइ ५, आहारेइ ६, परिणामेइ ७, वेएइ, ८, निज्जरेइ ९ । (सूत्र-८०X)

'दोही' त्यादि, नव सूत्राणि सुगमानि, नवरं, अवभासते-द्योतते, देशेन-खद्योतकवत्, सर्वतः-प्रदीपवत्, अथ वा-अवभासते-जानाति, १, स च देशतः फड्डकावधिज्ञानी, सर्व्वतः-अभ्यन्तरावधिरिति, एवमिति-देशसर्वाभ्यां-प्रभासते प्रकर्षेण द्योतते २, विकरोति देशेन-हस्तादिवैक्रियकरणेन, सर्वेण सर्व्वस्यैव कायस्येति ३, 'परियार' इति-मैथुनं सेवते, देशेन-मनोयोगादीनामन्यतमेन, सर्वेण-योगत्रयेणापि ४, भाषां भाषते देशेन-जिह्वाग्रादिना, सर्व्वेण-समस्तताल्वादिस्थानैः ५, आहारयति, देशेन मुखमात्रेण, सर्वेण-ओजआहारापेक्षया ६ आहारमेव परिणमयति परिणामं नयति-खलरसविभागेनेति भक्ताश्रयदेशस्य प्लीहादिना रुद्धत्वात् । देशतः, अन्यथा तु सर्व्वतः ७ वेदयति-अनुभवति, देशेन—हस्तादिना अवयवेन, सर्वेण सर्व्वावयवैराहारसत्कान्-परिणमितपुद्गलान् इष्टानिष्टपरिणामतः८, निर्ज्जरयति-त्यजति आहारितान्-परिणामितान् वेदितान् आहारपुद्गलान् देशेन अपानादिना, सर्व्वेण सर्वशरीरेणैव प्रस्वेदवदिति ९ । अथ वा-एतानि चतुर्दशापि सूत्राणि विवक्षितविषयवस्त्वपेक्षया नेयानि, तत्र देशसर्वयो-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जथा यथा देशेनापीति देशतोऽपि शृणोति विवक्षितशब्दानां मध्ये कांश्चिच्छृणोतीति सर्वेणापीति सर्वतश्च सामस्त्येन, सर्वानित्यर्थः, एवं रूपादीनपि, तथा विवक्षितस्य देशं सर्वं वा विवक्षितमवभासयत्येवं प्रभासयति एवं विकुर्वणीयं विकुरुते परिचारणीयं स्त्रीशरीरादि परिचारयति भाषणीयापेक्षया देशतो भाषां भाषते सर्वतो वेति अभ्यवहार्यमाहारयति, आहृतं परिणमयति, वेद्यं कर्म वेदयति देशतः सर्वतो वा, एवं निर्जरयत्यपि । स्था० २ ठा० २ उ० ।

(२३) आत्मनिरूपणम् । तथा च पूर्वाचार्यकृतगाथाः—

"जीवो अणाइनिहणो, अविणासी अक्खओ धुवो निच्चं ।
दव्वट्ठयाए णिच्चो, परियायगुणेहि य अणिच्चो ॥ १ ॥
जह पंजराउ सउणी, घडाउ बयराणि कंचुआ पुरिसो ।
एवं न चेव भिण्णो, जीवो देहाउ संसारी ॥ २ ॥
जह खीरोदगतिल्लातह-कुसुमगंधाण दीसए न भेओ ।
तह चेव न जीवस्स वि, देहाउ अंतिओ भेओ ॥ ३ ॥
संकोअविकोएहि य, जहकमं देहलोयमित्तो वा ।
हत्थिस्स य कुंथुस्स य, पएससंखा समा चेव ॥ ४ ॥
कालो जहा अणाई, अविणासी होई तिसु वि कालेसु ।
तह जीवो वि अणाई, अविणासी तिसु वि कालेसु ॥ ५ ॥
गयणं जहा अरूवी, अवगाहगुणेण घिप्पई तं तु ।
जीवो तहा अरूवी, विण्णाणगुणेण घत्तव्वो ॥ ६ ॥
जह पुढवी अविणट्ठा, आहारो होइ सव्वदव्वाणं ।
तह आहारो जीवो, नाणाईणं गुणगणाणं ॥ ७ ॥
अक्खयमणंतमउलं, जह गयणं होइ तिसु वि कालेसु ।
तह जीवो अविणासी, अवट्ठिओ तिसु वि कालेसु ॥ ८ ॥
जह कणयाओ कीरं-ति पज्जवा मउलकुंडलाईया ।
दव्वं कणगं तं चिय, नाम विसेसो इमो अन्नो ॥ ९ ॥
एवं चउग्गईए, परिब्भमंतस्स जीवकणगस्स ।
नामाइँ बहुविहाइं, जीवदव्वं तयं चेव ॥ १० ॥
जह कम्मयरो कम्मं, करेइ भुंजइ सो फलं तस्स ।
तह जीवो वि अकम्मं, करेइ भुंजइ तस्स फलं ॥ ११ ॥
उज्जोवेउं दिवसं, जह सूरो वच्चई पुणो अत्थं ।
नय दीसइ सो सूरो, अन्नं खित्तं पयासेंतो ॥ १२ ॥
जह सूरो तह जीवो, भवंतरं वच्चए पुणो अन्नं ।
तत्थ वि सरीरमन्नं, खेत्तं व रवी पयासेई ॥ १३ ॥
फुल्लुप्पलकमलाण, चंदणअगरूण सुरहिगंधीणं ।
घिप्पइ नासाइगुणो, न य रूवं दीसए तेसिं ॥ १४ ॥
एवं नाणगुणेणं, घिप्पइ जीवो वि बुद्धिमंतेहिं ।
जह गंधो तह जीवो, न हु सक्का कीरए भिन्नुं ॥ १५ ॥
भंभामउदमद्दल-पणवमकुंदाण संखसद्दाणं ।
रुद्दु चिय सुव्वइ, के-दलु त्ति न हु दीसई रूवं ॥ १६ ॥
पच्चक्खं गहगहिओ, दीसइ पुरिसो न दीसइ पिसाओ ।
आगारेहिँ मुणिज्जइ, एवं जीवो वि देहठिओ ॥ १७ ॥
हसइ चिकमइ रूसइ, नच्चइ गायइ कयइ सुहदुक्खं ।
जीवो देहमइगओ, विविहपयारं पयंसेइ ॥ १८ ॥
जह आहारो भुत्तो, जिआण परिणमइ सत्तभएहिं ।
वस १ सोणिय २ मंस ३ऽट्ठिय ४ मज्जा ५ तह मेय ६ ।
सुक्केहि ७ ॥ १९ ॥
एवं अट्ठविहं चिय, जीवेण अणाइमहगयं कम्मं ।
जह कणगपाहाणे, अणाइसंजोगनिप्फन्नं ॥ २० ॥
जीवस्स य कम्मस्स य, अणाइमं चेव होइ संजोगो ।
सो वि उवाएण पुढो, कीरइ न बलाउ जह कणगं ॥ २१ ॥
जह पुव्वयरं कम्मं, जीवो वा जइ हविज्ज वा वइ कोइ ।
सो वत्तव्वो कुक्कुडि-अंडाणं भणसु को पढमो ॥ २२ ॥
जह अंडसंभवा कुक्कुडि, त्ति अंडं च कुक्कुडी उ भवं ।
न य पुव्वाऽवरभावो, जह तह कम्माण जीवाणं ॥ २३ ॥
अणुमाणपहे सिद्धं, छउमत्थाणं जिणाण पच्चक्खं ।
गिण्हसु गणहर ! जीवं, अणाइयमक्खयसरूवं ॥ २४ ॥
कत्थ य जीवो बलिओ, कत्थ य कम्माइँ हुंति बलियाइं ।
जीवस्स य कम्मस्स य, पुव्वनिबद्धाइँ वेराइं ॥ २५ ॥ "
ग० २ अधि० ।

(२४) आत्मतत्त्वनिरूपणं बौद्धादिसम्मतात्मत्वनिराकरणेन प्रदर्शितम्—

बौद्धास्तु—बुद्धिक्षणपरम्परामात्रमेवाऽऽत्मानमाम्नासिषुः, न पुनर्मौक्तिककणनिकरनिरन्तरानुस्यूतैकसूत्रवत्तदन्वयिनमेकम् । ते लोकायतलुण्टाकेभ्योऽपि पापीयांसः, तदभावेऽपि तेषां स्मरणप्रत्यभिज्ञानाद्यघटनात्; तथा हि—पूर्वबुद्ध्यानुभूतेऽर्थे नोत्तरबुद्धीनां स्मृतिः सम्भवति, ततोऽन्यत्वात्, सन्तानान्तरबुद्धिवत् । न ह्यन्यदृष्टोऽर्थोऽन्येन स्मर्यते, अन्यथैकेन दृष्टोऽर्थः सर्वैः स्मर्येत । स्मरणाभावे च कौतस्कुती प्रत्यभिज्ञाप्रसूतिः ?, तस्याः स्मरणानुभवोभयसम्भवत्वात्; पदार्थप्रेक्षणप्रबुद्धप्राक्तनसंस्कारस्य हि प्रमातुः स एवायमित्याकारेणेयमुत्पद्यते । अथ स्यादयं दोषो यद्यविशेषेणान्यदृष्टमन्यः स्मरतीत्युच्यते किं त्वन्यत्वेऽपि कार्यकारणभावादेव स्मृतिः, भिन्नसन्तानबुद्धीनां तु कार्यकारणभावो नाऽस्ति, तेन सन्तानान्तराणां स्मृतिर्न भवति; न चैकसान्तानिकीनामपि बुद्धीनां कार्यकारणभावो नास्ति, येन पूर्वबुद्ध्यनुभूतेऽर्थे तदुत्तरबुद्धीनां स्मृतिर्न स्यात् । तदप्यनवदातम्, एवमपि नानात्वस्य तदवस्थत्वात् । अन्यत्वं हि स्मृत्यसंभवे साधनमुक्तम्, तच्च कार्यकारणभावाभिधानेऽपि नाऽपगतम्, न हि कार्यकारणभावाभिधाने तस्यासिद्धत्वादीनामन्यतमो दोषः प्रतिपाद्यते । नाऽपि स्वपक्षसिद्धिरनेन क्रियते, न हि कार्यकारणभावात् स्मृतिरित्यन्वयप्रसिद्धोऽस्ति दृष्टान्तः । अथ " यस्मिन्नेव हि सन्ताने, आहिता कर्मवासना । फलं तत्रैव संधत्ते, कर्पासे रक्तता यथा ॥ १ ॥" इति कर्पासरक्तादृष्टान्तोऽस्तीति चेत् । तदसाधीयः, साधनदूषकाऽसंभवात् । अन्वयाद्यसंभवात् न साधनं-न हि कार्यकारणभावो यत्र तत्र स्मृतिः कर्पासे रक्ततावदित्यन्वयः संभवति, नाऽपि यत्र न स्मृतिस्तत्र न कार्यकारणभाव इति व्यतिरेकोऽस्ति । असिद्धत्वाद्यनुद्भावनाच्च न दूषणम् । न हि ततोऽन्यत्वादित्यस्य हेतोः कर्पासे रक्ततावदित्यनेन कश्चिद्दोषः प्रतिपाद्यते । किं च-यद्यन्यत्वेऽपि कार्यकारणभावेन स्मृतिः कर्पासोऽस्यते, तदा शिष्याचार्यादिबुद्धीनामपि कार्यकारणभावसद्भावेन स्मृत्यादि स्यात् । अथ नाऽयं प्रसङ्गः, एकसन्तानत्वे सतीति विशेषणादिति चेत्, तदयुक्तम्, भेदाऽभेदपक्षाभ्यां तस्योपक्षीणत्वात् । तथापरे-

परास्तस्याऽभेदे हि क्षणपरंपरैव सा, तथा च सन्तान इति न किञ्चिदतिरिक्तमुक्तम् । भेदे तु पारमार्थिकोऽपारमार्थिको वाऽसौ स्यात् । अपारमार्थिकत्वे त्वस्य तदेव दूषणम् । पारमार्थिकत्वे स्थिरो वा स्यात्, क्षणिको वा । क्षणिकत्वे सन्तानिनिर्विशेष एवायमिति किमनेन स्तेनभीतस्य स्तेनान्तरशरणस्वीकरणकारिणा ?।

"स्थिरमथ सन्तानमभ्युपेयाः,प्रथयन्तं परमार्थसत्स्वरूपम् । अमृतं पिब पूतयाऽनयोक्त्या, स्थिरवपुषः परलोकिनः प्रसिद्धेः ॥ १ ॥" उपादानोपादेयभावप्रबन्धेन प्रवर्तमानः कार्यकारणभाव एव सन्तान इति चेत् । तदवद्यम्, अविष्वग्भावादसंबन्धविशेषाभावे कारणत्वमात्राऽविशेषादुपादानेतरविभागानुपपत्तेः । सन्तानजनकं यत्तदुपादानमिति चेत् । न, इतरेतराश्रयत्वप्रसङ्गात् सन्तानजनकत्वेनोपादानकारणत्वम्, उपादानकारणजन्यत्वेन च सन्तानत्वमिति । लोके तु समानजातीयानां कार्यकारणभावे सन्तानव्यवहारः, तद्यथा-ब्राह्मणसन्तान इति, तत्प्रसिद्धया चास्माभिरपि शब्दप्रदीपादिषु सन्तानव्यवहारः क्रियते । तथापि यद्येवमभिप्रेतः सन्तानस्तदा कथं न शिष्याचार्यबुद्धीनामेकसन्तानत्वम् ?। न ह्यासां समानजातीयत्वं कार्यकारणभावो वा नाऽस्ति, ततः शिष्यस्य चिरव्यवहिता अपि बुद्धयः पारंपर्येण कारणमिति तदनुभूतेऽप्यर्थे यथा स्मृतिर्भवति तथोपाध्यायबुद्धयोऽप्याजन्मप्रभृत्युत्पन्नाः पारंपर्येण कारणमिति तदनुभूतेऽप्यर्थे स्मृतिर्भवेत् । किञ्च--धूमशब्दादीनामुपादानकारणं विनैवोत्पत्तिस्तव स्यात्, न हि तेषामप्यनादिप्रबन्धेन समानजातीयं कारणमस्तीति शक्यते वक्तुम्, तथा च ज्ञानस्यापि गर्भादावनुपादानैवोत्पत्तिः स्यादिति परलोकाभावः । अथ धूमशब्दादीनां विजातीयमप्युपादानमिष्यते, एवं तर्हि ज्ञानस्याप्युपादानं गर्भशरीरमेवास्तु न जन्मान्तरज्ञानं कल्पनीयम्, यथा दर्शनं ह्युपादानमिष्टम्, अन्यथा धूमशब्दादीनामप्यनादिः सन्तानः कल्पनीयः स्यादिति सन्तानघटनात् न परेषां स्मृत्यादिव्यवस्था नापि परलोकः कोऽपि प्रसिद्धिपद्धतिं दधाति परलोकिनः कस्यचिदसंभवात् । सत्यपि वा परलोके कथमकृताभ्यागमकृतप्रणाशौ पराक्रियेते ? येन हि ज्ञानेन चैत्यवन्दनादि कर्मकृतम्, तस्य विनाशान्न तत्फलोपभोगो यस्य च फलोपभोगस्तेन न तत्कर्म कृतमिति । अथ नाऽयं दोषः कार्यकारणभावस्य नियामकत्वात्, अनादिप्रबन्धप्रवृत्तो हि ज्ञानानां हेतुफलभावप्रवाहः । स च सन्तान इत्युच्यते तद्वशात्सर्वो व्यवहारः संगच्छते । नित्यस्त्वात्माभ्युपगम्यमानो यदि सुखादिजन्मना विकृतिमनुभवति । तदयमनित्य एव चर्मादिवदुक्तः स्यात्, निर्विकारकत्वे तु सताऽसता वा सुखदुःखादिना कर्मफलेन कस्तस्य विशेषः ? इति कर्मवैफल्यमेव । तदुक्तम्-" वर्षाऽऽतपाभ्यां किं व्योम्न-श्चर्मण्यस्ति तयोः फलम् । चर्मोपमश्चेत्सोऽनित्यः, खतुल्यश्चेदसत्समः ॥ १ ॥" इति तस्मात् त्यज्यतामेष मूर्द्धाभिषिक्तः प्रथमो मोह आत्मग्रहो नाम, तन्निवृत्तावात्मीयग्रहोऽपि विरंस्यति । अहमेव न, किं मम ? इति । तदिदमहङ्कारममकारग्रन्थिप्रहाणेन नैरात्म्यदर्शनमेव निर्वाणद्वारम्, अन्यथा कौतुस्कुती निर्वाणवार्तापि ? । तदपि वासनम्, हेतुफलभावप्रवाहस्वभावस्य सन्तानस्यानन्तरमेव नियामकत्वेन निरस्तत्वात् । यत्पुनः सुखादिविकाराभ्युपगमे चर्मादिवत् आत्मनोऽनित्यत्वं प्रसञ्जितं तदिष्टमेव, कथंचिदनित्यत्वेनात्मनः स्याद्वादिभिः स्वीकारात् । नित्यत्वस्य कथंचिदेवाभ्युपगमात् । यत्तु नित्यत्वे अस्यात्मीयग्रहसद्भावेन मुक्त्यनवाप्तिदूषणमभाणि, तदप्यनवदातं विदितपर्यन्तविरससंसारस्वरूपाणां परिगतपारमार्थिकैकान्तिकात्यन्तिकानन्दसन्दोहस्वभावाऽपवर्गोपनिषदां च महात्मनां शरीरेऽपि किंपाकपाकोपलिप्तपायस इव निर्ममत्वदर्शनात् । नैरात्म्यदर्शने पुनरात्मैव तावन्नास्ति कः प्रेत्य सुखीभवनार्थं यतिष्यते ?; ज्ञानक्षणोऽपि संसारी कथमपरज्ञानक्षणसुखीभवनाय घटिष्यते ?; न हि दुःखी देवदत्तो यज्ञदत्तसुखाय चेष्टमानो दृष्टः; एकक्षणस्य तु दुःखं स्वरसनाशित्वात्तेनैव सार्द्धं दध्वंसे । सन्तानस्तु न वास्तवः कश्चिदिति प्ररूपितमेव, वास्तवत्वे तस्य निष्प्रत्यूहात्मसिद्धिरिति ।

अथ-आत्मनः परपरिकल्पितस्वरूपप्रतिषेधाय स्वाभिमतधर्मान्वर्णयन्ति—

चैतन्यस्वरूपः परिणामी कर्त्ता साक्षाद्भोक्ता स्वदेहपरिमाणः प्रतिक्षेत्रं भिन्नः पौद्गलिकाऽदृष्टवांश्चाऽयमिति ।५६।

चैतन्यं साकारनिराकारोपयोगाख्यं स्वरूपं यस्यासौ चैतन्यस्वरूपः परिणमनं प्रतिसमयमपरापरपर्यायेषु गमनं परिणामः स नित्यमस्यास्तीति परिणामी, करोत्यदृष्टादिकमिति कर्त्ता, साक्षादनुपचरितवृत्त्या भुङ्क्ते सुखादिकमिति साक्षाद्भोक्ता, स्वदेहपरिमाणः स्वोपात्तवपुर्व्यापकः, प्रतिक्षेत्रं प्रतिशरीरं भिन्नः पृथक्, पौद्गलिकादृष्टवान् पुद्गलघटितकर्मपरतन्त्रः, अयमित्यनन्तरं प्रमातृत्वेन निरूपित आत्मेति । अत्र चैतन्यस्वरूपत्वपरिणामित्वविशेषणाभ्यां जडस्वरूपः कूटस्थनित्यो नैयायिकादिसम्मतः प्रमाता व्यवच्छिद्यते । यतो येषामात्मानुपयोगस्वभावस्तावत्, तेषां नासौ पदार्थपरिच्छेदं विदध्यात्, अचेतनत्वात्; आकाशवत् । अथ नोपयोगस्वभावत्वं चेतनत्वम्, किं तु चैतन्यसमवायः, स चात्मनोऽस्तीत्यसिद्धमचेतनत्वमिति चेत् । तदनुचितम्, इत्थमाकाशादेरपि चेतनत्वापत्तेः, चैतन्यसमवायो हि विहायः-प्रमुखेऽपि समानः; समवायस्य स्वयमविशिष्टस्यैकस्य प्रतिनियमहेत्वभावादात्मन्येव ज्ञानं समवेतं नाकाशादिष्विति विशेषाव्यवस्थितेः । ननु यथेह कुण्डे दधीतिप्रत्ययात्तत्कुण्डादन्यत्र तद्दधिसंयोगः शक्यसंपादनः, तथेह मयि ज्ञानमितीहेदंप्रत्ययात् नात्मनोऽन्यत्र गगनादिषु ज्ञानसमवाय इति चेत् । तदयौक्तिकम् । यतः खाऽऽदयोऽपि ज्ञानमस्मास्विति प्रतियन्तु, स्वयमचेतनत्वात्, आत्मवत्; आत्मानो वा मैवं प्रतिपद्युः, तत एव, खादिवत्; इति जडात्मवादिमते सन्नपि ज्ञानमिहेति प्रत्ययः प्रत्यात्मेष्वेवा न ज्ञानस्यात्मनि समवायं नियमयति, विशेषाभावात् । नन्वयमिह पृथिव्यादिषु रूपादय इति प्रत्ययोऽपि न रूपादीनां पृथिव्यादिषु समवायं साधयेत्, यथा खादिषु; तत्र वा स तं साधयेत्, पृथिव्यादिष्विव, इति न कश्चित्प्रत्ययविशेषात् कस्यचित् व्यवस्थेति चेत् । सत्यम्, अयमपरो-

ऽस्य दोषोऽस्तु, पृथिव्यादीनां रूपाद्यनात्मकत्वे खादिभ्यो विशिष्टतया व्यवस्थापयितुमशक्तः। स्यान्मतम् आत्मनो ज्ञानसमवायित्वेति प्रतियन्ति । आत्मत्वात्, ये तु न तथा ते नाऽऽत्मानो, यथा खादयः, आत्मानश्चैतेऽहंप्रत्ययग्राह्यास्तस्मात्तथा; इत्यात्मत्वमेव खाऽऽदिभ्यो विशेषमात्मनां साधयति, पृथिवीत्वादिवत्, पृथिव्यादीनां पृथिवीत्वादियोगाद्धि पृथिव्यादयः, तद्वदात्मत्वयोगादात्मान इति । तदयुक्तम्, आत्मत्वादिजातीनामपि जातिमदनात्मकत्वे तत्समवायनियमासिद्धेः । प्रत्ययविशेषात्तत्सिद्धिरिति चेत्, स एव विचारयितुमारब्धः परस्परमत्यन्तभेदाविशेषेऽपि जातितद्वताम्, आत्मत्वजातिरात्मनि प्रत्ययविशेषमुपजनयति, न पृथिव्यादीषु; पृथिवीत्वादिजातयश्च तत्रैव प्रत्ययमुत्पादयन्ति, नात्मनि; इति कोऽत्र नियमहेतुः ?। समवाय इति चेत्, सोऽयमन्योन्यसंश्रयः-सति प्रत्ययविशेषे जातिविशेषस्य जातिमति समवायः, सति च समवाये प्रत्ययविशेष इति । प्रत्यासत्तिविशेषादन्यत एव तत्प्रत्ययविशेष इति चेत्। स कोऽन्योऽन्यत्र कथंचित्तादात्म्यपरिणामाद् ?, इति स एव प्रत्ययविशेषहेतुरेषितव्यः तदभावे तद्घटनाज्जातिविशेषस्य क्वचिदेव समवायाऽसिद्धेरात्मादिविभागानुपपत्तेरात्मन्येव ज्ञानं समवेतमिहेदमिति प्रत्ययं कुरुते न पुनराकाशादिषु; इति प्रतिपत्तुमशक्तेर्न चैतन्ययोगादात्मनश्चेतनत्वं सिध्येत्; अथ किमपरेण ?. प्रतीयते तावच्चेतनासमवायादात्मा चेतन इति चेत्। तदयुक्तम्। यतः प्रतीतिश्चेत्प्रमाणीक्रियते, तर्हि निष्प्रतिद्वन्द्वमुपयोगात्मक एवाऽऽत्मा प्रसिध्यति । न हि जातुचित्स्वयमचेतनोऽहं चेतनायोगाच्चेतनः, अचेतने वा मयि चेतनायाः समवाय इति प्रतीतिरस्ति; ज्ञाताऽहमिति समानाधिकरणतया प्रतीतेः। भेदे तथा प्रतीतिरिति चेत्। न, कथंचित्तादात्म्याभावे तद्दर्शनात्। यष्टिः पुरुष इत्यादिप्रतीतिस्तु भेदे सत्युपचाराद् दृष्टा न पुनस्तात्त्विकी, तथा चात्मनि ज्ञाताऽहमिति प्रतीतिः कथंचिच्चेतनाऽऽत्मतां गमयति तामन्तरेणानुपपद्यमानत्वात् कलशादिवत्; न हि कलशादिरचेतनात्मको ज्ञाताऽहमिति प्रत्येति । चैतन्ययोगाभावादसौ न तथा प्रत्येतीति चेत्। न, अचेतनस्यापि चैतन्ययोगाच्चेतनोऽहमिति प्रतिपत्तेरनन्तरमेव निरस्तत्वाद्, इत्यचेतनस्य सिद्धमात्मनो जडस्यार्थपरिच्छेदं पराकरोति; तं पुनरिच्छता चैतन्यस्वरूपताऽस्य स्वीकरणीया । ननु ज्ञानवानहमिति प्रत्ययादात्मज्ञानयोर्भेदः, अन्यथा धनवानिति प्रत्ययादपि धनतद्वतोर्भेदाभावानुषक्तादिति कश्चित्। तदप्यसत्। यतो ज्ञानवानहमिति नाऽऽत्मा प्रत्येति जडत्वैकान्तरूपत्वाद्, घटवत्। सर्वथा जडश्च स्यादात्मा, ज्ञानवानहमिति प्रत्ययश्चाऽस्य स्यात्, विरोधाभावाद्, इति मा निर्णैषीः; तस्य तथोत्पत्त्यसंभवात्; ज्ञानवानहमिति हि प्रत्ययो नागृहीते ज्ञानाख्ये विशेषणे विशेष्ये चात्मनि जातूत्पद्यते, स्वमतविरोधात्। " नागृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धिः " इति वचनात् । गृहीतयोस्तयोरुत्पद्यते इति चेत्, कुतस्तद्गृहीतिः ?। न तावत्स्वतः स्वसंवेदनानभ्युपगमात्, स्वसंविदिते ह्यात्मनि ज्ञाने च स्वतः सा युज्यते, नान्यथा; सन्तानान्तरवत् । परतश्चेत्, तदपि ज्ञानान्तरं विशेष्यं नागृहीते ज्ञानत्वविशेषणे ग्रहीतुं शक्यमिति। ज्ञानान्तरात्, तद्ग्रहणेन भाव्यमित्यनवस्थानात्कुतः प्रकृतप्रत्ययः ?। तदेवं नाऽऽत्मनो जडस्वरूपता संगच्छते नाऽपि कूटस्थनित्यता। यतो यथाविधः पूर्वदशायामात्मा तथाविध एव चेत् ज्ञानोत्पत्तिसमयेऽपि भवेत्तदा प्रागिव कथमेष पदार्थपरिच्छेदकः स्यात् ? प्रतिनियतस्वरूपाप्रच्युतिरूपत्वात्कौटस्थ्यस्य; पदार्थपरिच्छेदे तु प्राग् प्रमातुः प्रमातृरूपतया परिणामात्कुतः कौटस्थ्यमिति कर्त्ता साक्षाद्भोक्तेति विशेषणयुगलकेन कापिलमतं निरस्क्रियते, तथा हि-कापिलः कर्तृत्वं प्रकृतेः प्रतिजानीते; न पुरुषस्य। " अकर्त्ता निर्गुणो भोक्ता " इति वचनात्। तदयुक्तम्। यतो यद्ययमकर्त्ता स्यात्, तदानीमनुभवितापि न भवेत्। द्रष्टुः कर्तृत्वे मुक्तस्याऽपि कर्तृत्वप्रसक्तिरिति चेत्। मुक्तः किमकर्त्तेष्टः ?। विषयसुखादेरकर्त्तैवेति चेत्, कुतः स तथा ?। तत्कारणकर्मकर्तृत्वाभावादिति चेत्, तर्हि संसारी विषयसुखादिकारणकर्मविशेषस्य कर्तृत्वात् विषयसुखादेः कर्त्ता, स एव चानुभविता किं न भवेत् ?। संसार्यवस्थायामात्मा विषयसुखाऽऽदितत्कारणकर्मणां न कर्त्ता चेतनत्वात्, मुक्ताऽवस्थावत्; इत्येतदपि न सुन्दरम्। स्वेष्टविघातकारित्वात् संसार्यवस्थायामात्मा न सुखादेर्भोक्ता, चेतनत्वात्, मुक्तावस्थावद्; इति स्वेष्टस्यात्मनो भोक्तृत्वस्य विघातात्। प्रतीतिविरुद्धमिष्टविघातसाधनमिदमिति चेत्। कर्तृत्वाभावसाधनमपि किं न तथा ? पुंसः श्रोता ज्ञाताऽहमिति स्वकर्तृत्वप्रतीतेः। अथ श्रोताऽहमित्यादिप्रतीतिरहंकाराऽऽस्पदम्, अहंकारस्य च प्रधानमेव कर्तृतया प्रतीयत इति चेत्, तत एवाऽनुभवितृप्रधानमस्तु। न हि तस्याऽहंकाराऽऽस्पदत्वं न प्रतिभाति, शब्दादेरनुभविताहमिति प्रतीतेः सकलजनसाक्षिकत्वात्। भ्रान्तमनुभवितुरहङ्काराऽऽस्पदत्वमिति चेत्, कर्तुः कथम भ्रान्तम् ?। तस्याऽहंकाराऽऽस्पदत्वादिति चेत्, तत एवानुभवितुस्तदभ्रान्तमस्तु. तस्यौपाधिकत्वादहंकाराऽऽस्पदत्वं भ्रान्तमवाति चेत्, कुतस्तदौपाधिकत्वसिद्धिः ?। अथ पुरुषस्वभावत्वाऽभावादहंकारस्य तदास्पदत्वं पुरुषस्वभावस्यानुभवितृत्वस्यौपाधिकमिति चेत्। स्यादेवं, यदि पुरुषस्वभावोऽहंकारो न स्यात्। मुक्तस्याऽहंकाराऽभावात् अपुरुषस्वभाव एवाऽहंकारः स्वभावो हि न जातुचित्तद्वन्तं त्यजति, तस्य निःस्वभावत्वप्रसङ्गादिति चेत्। न, स्वभावस्य द्विविधत्वात् सामान्यविशेषपर्यायभेदात्, तत्र सामान्यपर्यायः शाश्वतिकस्वभावः। कादाचित्को विशेषपर्याय इति न कादाचित्कत्वात्पुंसोऽहङ्कारादेव तत्स्वभावता, ततो न तदास्पदत्वमनुभवितृत्वस्यौपाधिकं, येनाऽभ्रान्तं न भवेत्। ततः सिद्धमात्मानुभवितेव कर्त्ता; अकर्तुर्भोक्तृत्वानुपपत्तेश्च। ननु भोक्तृत्वमप्युपचरितमेवास्य, प्रकृतिविकारभूतायां हि दर्पणाकारायां बुद्धौ संक्रान्तानां सुखदुःखादीनां पुरुषः स्वात्मनि प्रतिबिम्बोदयमात्रेण भोक्ता व्यपदिश्यते। तदशस्यं, तस्य तथापरिणाममन्तरेण प्रतिबिम्बोदयस्याऽघटनात् स्फटिकादावपि परिणामेनैव प्रतिबिम्बोदयसमर्थनात्, तथापरिणामाभ्युपगमे च कुतः कर्तृत्वमस्य न स्यात् ?; इति सिद्ध-

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

मस्य कर्तृत्वं साक्षाद् भोक्तृत्वं चेति. स्वदेहपरिमाण इत्यनेनापि नैयायिकादिपरिकल्पितं सर्वगतत्वमात्मनो निषिध्यते, तथाहि जीवनस्थप्रभेदानां व्यवस्थानाप्रसिद्धिप्रसङ्गात्। सर्वगतात्मन्येकस्यैव नानात्मकार्यपरिसमाप्तेः, सकृन्नानामनःसमायोगो हि नानाऽऽत्मकार्यं तत्रैकत्रापि युज्यते, नभसि नानाघटादिसंयोगवत्। एतेन युगपन्नानाशरीरेन्द्रियसंयोगः प्रतिपादितः। युगपन्नानाशरीरेष्वात्मसमवायिनां सुखदुःखादीनामनुपपत्तिः, विरोधादिति चेत्। न, युगपन्नानाभेर्यादिष्वाकाशसमवायिनां विततादिशब्दानामनुपपत्तिप्रसङ्गात्, तद्विरोधस्याविशेषात्। तथाविधशब्दकारणभेदान्न तदनुपपत्तिरिति चेत्, सुखाऽऽदिकारणभेदात्तदनुपपत्तिरेकत्रात्मनि मा भूद् विशेषाभावात्। विरुद्धधर्माध्यासादात्मनो नानात्वमिति चेत्। तत एवाकाशस्यापि नानात्वमस्तु। प्रदेशभेदोपचाराददोष इति चेत्, तत एवात्मन्यप्यदोषः। जननमरणकरणादिप्रतिनियमोऽपि सर्वगतात्मवादिनां नाऽऽत्मबहुत्वं साधयेत्, एकत्राऽपि तदुपपत्तेः, घटाकाशादिजननविनाशाऽऽदिवत्; न हि घटाकाशस्योत्पत्तौ घटाकाशस्योत्पत्तिरेव, तदा विनाशस्यापि दर्शनात्; नापि विनाशे विनाश एव, जननस्यापि तदोपलम्भात्, स्थितौ वा न स्थितिरेव विनाशोत्पादयोरपि तदा समीक्षणात्। सति बन्धे न मोक्षः, सति वा मोक्षे न बन्धः स्याद्, एकत्रात्मनि विरोधादिति चेत्। न, आकाशेऽपि सति घटबन्धे घटान्तरमोक्षाभावप्रसङ्गात्; सति वा घटविश्लेषे घटान्तरविश्लेषप्रसङ्गात्। प्रदेशभेदोपचारान्न तत्प्रसङ्ग इति चेत्, तत एवात्मनि न तत्प्रसङ्गः। नभसः प्रदेशभेदोपगमे जीवस्याप्येकस्य प्रदेशभेदोऽस्त्विति कुतो जीवनस्थप्रभेदव्यवस्था? यतो व्यापकत्वं स्यात्। नन्वात्मनो व्यापकत्वाऽभावे दिग्देशान्तरवर्तिपरमाणुभिर्युगपत्संयोगाभावादाद्यकर्माभावः, तदभावादन्त्यसंयोगस्य तन्निमित्तशरीरस्य तेन तत्संबन्धस्य चाऽभावादनुपायसिद्धः सर्वदा सर्वेषां मोक्षः स्यात्। अस्तु वा यथा कथंचिच्छरीरोत्पत्तिः, तथाऽपि सावयवं शरीरं प्रत्यवयवमनुप्रविशन्नात्मा सावयवः स्यात्, तथा चास्य पटादिवत् कार्यत्वप्रसङ्गः। कार्यत्वे चाऽसौ विजातीयैः सजातीयैर्वा कारणैरारभ्येत। न प्राच्यः प्रकारः, विजातीयानामनारम्भकत्वात्। न द्वितीयः, यतः सजातीयत्वं तेषामात्मत्वाऽभिसंबन्धादेव स्यात्, तथा चात्मभिरारभ्यत इत्यायातम्, एतच्चायुक्तम्, एकत्र शरीरेऽनेकात्मनामात्मारम्भकाणामसंभवात्। संभवे वा प्रतिसंधानानुपपत्तिः; न ह्यन्येन दृष्टमन्यः प्रतिसंधातुमर्हत्यतिप्रसङ्गात्, तदारम्भकत्वे चास्य घटवदवयवक्रियातो विभागात्संयोगविनाशाद्विनाशः स्यात्। शरीरपरिमाणत्वे चात्मनो मूर्तत्वानुषङ्गाच्छरीरेऽनुप्रवेशो न स्यात्, मूर्ते मूर्तस्यानुप्रवेशविरोधात्; ततो निरात्मकमेव अखिलं शरीरमनुषज्यते। कथं वा तत्परिमाणत्वे तस्य बालशरीरपरिमाणस्य सतो युवशरीरपरिमाणस्वीकारः स्यात्?, तत्परिमाणपरित्यागात्, तदपरित्यागाद्वा। परित्यागाच्चेत् तदा शरीरवत्तस्याऽनित्यत्वप्रसङ्गात्परलोकाद्यभावाऽनुषङ्गः। अथापरित्यागात्, तन्न, पूर्वपरिमाणाऽपरित्यागे शरीरवत्तस्योत्तरपरिमाणोत्पत्त्यनुपपत्तेः। तथा-" यदि वपुः परिमाणपवित्रितं, वदसि जैनमतानुग! पृथुलम्। वद तदा कथमस्य विखण्डने, भवति तस्य न खण्डनडम्बरम् ॥ १ ॥" अत्राभिदध्महे-यदुक्तमात्मनो व्यापकत्वाभाव इत्यादि, तदसत्यम्। यद्येन संयुक्तं तदेव तं प्रत्युपसर्पतीति नियमाऽसंभवात्; अयस्कान्तं प्रत्ययसस्तेनाऽसंयुक्तस्याप्याकर्षणोपलब्धेः। अथासंयुक्तस्याप्याकर्षणे तच्छरीरारम्भं प्रत्येकमुखीभूतानां त्रिभुवनोदरविवरवर्तिपरमाणूनामुपसर्पणप्रसङ्गात् न जाने कियत्परिमाणं तच्छरीरं स्यादिति चेत्। संयुक्तस्याप्याकर्षणे कथं स एव दोषो न भवेद्? आत्मनो व्यापकत्वेन सकलपरमाणुभिस्तेन संयोगात्। अथ तद्भावाविशेषेऽप्यदृष्टवशाद्विवक्षितशरीरोत्पादनानुगुणा नियता एव परमाणव उपसर्पन्ति तदितरत्रापि तुल्यम्। यच्चान्यदुक्तम्-" सावयवं शरीरं प्रत्यवयवमनुप्रविशन्नात्मे" त्यादि, तदप्युक्तिमात्रम्-सावयवत्व-कार्यत्वयोः कथञ्चिदात्मन्यभ्युपगमात्। न चैवं घटादिवत्प्राक् प्रसिद्धसमानजातीयावयवारभ्यत्वप्रसक्तिः; न खलु घटादावपि कार्ये प्राक् प्रसिद्धसमानजातीयकपालसंयोगारभ्यत्वं दृष्टम्, कुम्भकारादिव्यापारान्वितान्मृत्पिण्डात्प्रथममेव पृथुबुध्नोदराद्याकारस्याऽस्योत्पत्तिप्रतीतेः। द्रव्यस्य हि पूर्वाकारपरित्यागेनोत्तराकारपरिणामः कार्यत्वं, तच्च बहिरिवान्तरप्यनुभूयत एव। न च पटाऽऽदौ स्वावयवसंयोगपूर्वककार्यत्वोपलम्भात् सर्वत्र तथाभावो युक्तः, काष्ठे लोहलेख्यत्वोपलम्भात् वज्रेऽपि तथाभावप्रसङ्गात्; प्रमाणबाधनमुभयत्र तुल्यम्। न चोक्तलक्षणकार्यत्वाभ्युपगमेऽप्यात्मनोऽनित्यत्वानुषङ्गात् प्रतिसंधानाभावोऽनुषज्यते, कथञ्चिदनित्यत्वे सत्येवास्योपपद्यमानत्वात्। यच्चाऽवाचि शरीरपरिमाणत्वे चाऽऽत्मनो मूर्तत्वानुषङ्ग इत्यादि, तत्र किमिदं मूर्तत्वं नाम?- असर्वगतद्रव्यपरिमाणत्वं, रूपादिमत्त्वं वा। तत्र नाद्यः पक्षो दोषपोषाय, सम्मतत्वात्। द्वितीयपक्षस्त्वयुक्तः; व्याप्त्यभावात्; न हि यदसर्वगतं तन्नियमेन रूपादिमदित्यविनाभावोऽस्ति, मनसोऽसर्वगतत्वेऽपि तदसंभवात्। अतो नाऽऽत्मनः शरीरेऽनुप्रवेशानुपपत्तिर्येतो निरात्मकं तत्स्यात्। असर्वगतद्रव्यपरिमाणलक्षणमूर्तत्वस्य मनोवत्प्रवेशाप्रतिबन्धकत्वात्; रूपाऽऽदिमत्त्वलक्षणमूर्तत्वोपेतस्याऽपि हि जलादेर्भस्मादावनुप्रवेशो न निषिध्यते, आत्मनस्तु तद्रहितस्यापि तत्रासौ प्रतिषिध्यत इति महच्चित्रम्। यदप्यवादि-तत्परिमाणत्वे तस्य बालशरीरपरिमाणस्येत्यादि, तदप्ययुक्तम्, युवशरीरपरिमाणावस्थायामात्मनो बालशरीरपरिमाणपरित्यागे सर्वथा विनाशाऽसंभवात्, विफणावस्थोत्पादे सर्पवत्, इति कथं परलोकाभावोऽनुषज्यते?; पर्यायतस्तस्यानित्यत्वेऽपि द्रव्यतो नित्यत्वात्। यच्चाजल्पि "यदि वपुष्परिमाणपवित्रितम्" इत्यादि, तदप्यपेशलम्, शरीरखण्डने कथंचित्तत्खण्डनस्येष्टत्वात् शरीरसंबद्धात्मप्रदेशेभ्यो हि कतिपयात्मप्रदेशानां खण्डितशरीरप्रदेशे अवस्थानमात्मनः खण्डनं, तच्चात्र विद्यत एव; अन्यथा शरीरात्पृथग्भूतावयवस्य कम्पोपलब्धिर्न स्यात्। न च खण्डितावयवानुप्रविष्टस्यात्मप्रदेशस्य पृथगात्मत्वप्रसङ्गः। "तत्रैवानुप्रवेशात्"। न चैकत्र सन्तानेऽनेक आत्मा अनेकार्थप्रतिभासिज्ञानानामेकप्रमात्राधारतया प्रतिभासाभावप्रसङ्गात्, शरीरान्तरव्यवस्थितानेकज्ञानावसेयार्थसं-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विचित्तवत् । कथं खण्डिताऽखण्डितावयवयोः संघट्टनं पश्चादिति चेत् ?, एकान्तेन छेदानभ्युपगमात्, पद्मनालतन्तुवदच्छेदस्यापि स्वीकारात्; तथाभूताऽदृष्टवशाच्च तत्संघट्टनमविरुद्धमेवेति तनुपरिमाण एवाऽऽत्माऽङ्गीकर्तव्यो, न व्यापकः । तथा चाऽऽत्मा व्यापको न भवति, चेतनत्वात्, यत्तु नैवं न तच्चेतनं; यथा व्योम, चेतनश्चाऽऽत्मा, तस्मादव्यापकः । अव्यापकत्वे चास्य तत्रैवोपलभ्यमानगुणत्वेन सिद्धा शरीरपरिमाणता । प्रतिक्षेत्रं विभिन्न इत्यनेन तु विशेषणेनाऽऽत्माद्वैतमपास्तम् एतदुपासनप्रकारश्च प्रागेव मोक्ष इति न पुनरुच्यते । रत्ना० ७ परि० ।

(२५) आत्माधिकाराद् रत्नप्रभादिभावानात्मत्वादिभावेन चिन्तयन्नाह—

आया भंते ! रयणप्पभा पुढवी, अण्णा रयणप्पभा पुढवी ?, गोयमा ! रयणप्पभापुढवी सिय आया, सिय णो आया, सिय अवत्तव्वं आताति य, णो आताति य । से केणऽट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ रयणप्पभा पुढवी सिय आया, सिय णो आया, सिय अवत्तव्वं आयाति य णो आयाति य?, गोयमा ! अप्पणो आदिट्ठे आया, परस्स आदिट्ठे णो आया, तदुभयस्स आदिट्ठे अवत्तव्वं रयणप्पभा पुढवी आयाति य, णो आयाति य से तेणऽट्ठेणं तं चेव ०जाव णो आयाति य । आया भंते ? सक्करप्पभा पुढवी जहा रयणप्पभा पुढवी तहा सक्करप्पभाए वि एवं ०जाव अहे सत्तमा ।

'आया भंते!' इत्यादि, अतति-सततं गच्छति तांस्तान्पर्यायानित्यात्मा ततश्चात्मा सद्रूपा रत्नप्रभा पृथिवी, 'अन्न' त्ति-अनात्मा; असद्रूपेत्यर्थः । 'सिय आया सिय नो आय' त्ति-स्यात्सती स्यादसतीति । 'सिय अवत्तव्वं' ति-आत्मत्वेनाऽनात्मत्वेन च व्यपदेष्टुमशक्यं वस्त्विति भावः । कथमवक्तव्यम् ? इत्याह-आत्मेति च नो आत्मेति च; वक्तुमशक्यमित्यर्थः, 'अप्पणो आइट्ठे' त्ति-आत्मनः, स्वस्य रत्नप्रभाया एव वर्णादिपर्यायैरादिष्टे आदेशे सति तैर्व्यपदिष्टाऽसतीत्यर्थः, आत्मा भवति स्वपर्यायापेक्षया सतीत्यर्थः, 'परस्स आइट्ठे नो आय' त्ति-परस्य शर्करादिपृथिव्यन्तरस्य पर्यायैरादिष्टे-आदेशे सति; तैर्व्यपदिष्टा इतीत्यर्थः, नोआत्मा अनात्मा भवति; पररूपापेक्षयाऽसतीत्यर्थः, 'तदुभयस्स आइट्ठे अवत्तव्वं' ति—तयोः स्वपरयोरुभयं तदेव वा उभयं तदुभयं तस्य पर्यायैरादिष्टे आदेशे सति; तदुभयपर्यायैर्व्यपदिष्टेत्यर्थः, अवक्तव्यम्—अवाच्यं वस्तु स्यात्, तथाहि—नह्यसौ आत्मेति वक्तुं शक्या, परपर्यायापेक्षया अनात्मत्वात्तस्याः नाऽप्यनात्मेति वक्तुं शक्या, स्वपर्यायापेक्षया तस्या आत्मत्वादिति, अवक्तव्यत्वं च आत्माऽनात्मशब्दापेक्षयैव न तु सर्वथा, अवक्तव्यशब्देनैव तस्या उच्यमानत्वादनभिलाप्यभावानामपि भावपदार्थ-वस्तुप्रभृतिशब्दैरनभिलाप्यशब्देन वाऽभिलाप्यत्वादिति ।

आया भंते ! सोहम्मे कप्पे पुच्छा, गोयमा ! सोहम्मे कप्पे सिय आया, सिय णो आया ०जाव णो आयाति य, से केणऽट्ठेणं भंते ! ०जाव णो आयाति य ?, गोयमा ! अप्पणो आदिट्ठे आया, परस्स आदिट्ठे णो आया, तदुभयस्स आदिट्ठे अवत्तव्वं आयाति य णो आयाति य, से तेणऽट्ठेणं गोयमा ! तं चेव ०जाव णो आयाति य, एवं ०जाव अच्चुयकप्पे । आया भंते ! गेविज्जगविमाणे अण्णे गेविज्जगविमाणे एवं जहा रयणप्पभापुढवी तहेव, एवं अणुत्तरविमाणा वि, एवं ईसिप्पब्भारा वि । आया भंते ! परमाणुपोग्गले, अण्णे परमाणुपोग्गले । एवं जहा सोहम्मे कप्पे तहा परमाणुपोग्गले वि भाणियव्वे ।

एवं परमाणुसूत्रमपि ।

आया भंते ! दुपदेसिए खंधे, अण्णे दुपदेसिए खंधे ?, गोयमा ! दुपदेसिए खंधे सिय आया १, सिय णो आया २, सिय अवत्तव्वं आयाति य णो आयाति य ३, सिय आया य, सिय णो आया य ४, सिय आया य अवत्तव्वं आयाति य णो आयाति य ५, सिय णो आया य अवत्तव्वं आयाति य णो आयाति य ६, से केणऽट्ठेणं भंते ! एवं तं चेव ०जाव णो आयाति य अवत्तव्वं आयाति य णो आयाति य ?, गोयमा ! अप्पणो आदिट्ठे आया १, परस्स आदिट्ठे णो आया २, तदुभयस्स आदिट्ठे अवत्तव्वं दुपदेसिए खंधे आयाति य णो आयाति य ३ । देसे आदिट्ठे सब्भावपज्जवे देसे आदिट्ठे असब्भावपज्जवे दुपदेसिए खंधे आया य णो आया य ४, देसे आदिट्ठे सब्भावपज्जवे देसे आदिट्ठे तदुभयपज्जवे दुपदेसिए खंधे आया य अवत्तव्वं आयाति य णो आयाति य ५, देसे आदिट्ठे असब्भावपज्जवे देसे आदिट्ठे तदुभयपज्जवे दुपदेसिए खंधे णो आया य अवत्तव्वं आयाति य णो आयाति य ६ से तेणऽट्ठेणं तं चेव ०जाव णो आयाति य ।

द्विप्रदेशिकसूत्रे षड् भङ्गाः, तत्राद्यास्त्रयः सकलस्कन्धापेक्षाः पूर्वोक्ता एव, तदन्ये तु त्रयो देशापेक्षास्तत्र च गोयमेत्यत आरभ्य व्याख्यायते-'अप्पणो' त्ति-स्वस्य पर्यायैः 'आदिट्ठे' त्ति-आदिष्टे-आदेशे सति; आदिष्ट इत्यर्थः, द्विप्रदेशिकस्कन्ध आत्मा भवति १, एवं परस्य पर्यायैरादिष्टोऽनात्मा २, तदुभयस्य द्विप्रदेशिकस्कन्धतदन्यस्कन्धलक्षणस्य पर्यायैरादिष्टोऽसाववक्तव्यं वस्तु स्यात्, कथम् ? आत्मेति चाऽनात्मेति चेति ३, तथा द्विप्रदेशत्वात्तस्य देश एक आदिष्टः, सद्भावप्रधानाः-सत्तानुगताः पर्यवा यस्मिन् स सद्भावपर्यवः, अथवा-तृतीयाबहुवचनमिदं स्वपर्यवैरित्यर्थः, द्वितीयस्तु देश आदिष्टः असद्भावपर्यवः परपर्यायैरित्यर्थः, परपर्यवाश्च तदीयद्वितीयदेशसम्बन्धिनो वस्त्वन्तरसम्बन्धिनो वेति, ततश्चासौ द्विप्रदेशिकः स्कन्धः क्रमेणात्मा चेति नोआत्मा चेति ४, तथा तस्य देश आदिष्टः सद्भा-

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

वपर्ययो देशश्चोभयपर्यवस्ततोऽसौ, आत्मा चावक्तव्यं चेति ५, तथा तस्यैव देश आदिष्टोऽसद्भावपर्यवो देशस्तूभयपर्यवस्ततोऽसौ नोआत्मा चावक्तव्यं च स्यादिति ६, सप्तमः पुनरात्मा च नोआत्मा चावक्तव्यं चेत्येवं रूपो न भवति द्विप्रदेशिके द्व्यंशत्वादस्य, त्रिप्रदेशिकादौ तु स्यादिति सप्तभङ्गी।

आया भन्ते ! तिपदेसिए खंधे अन्ने तिपदेसिए खंधे ?, गोयमा ! तिपदेसिए खंधे सिय आया १, सिय णो आया २, सिय अवत्तव्वं आयाति य णो आयाति य ३, सिय आया य णो आया य ४, सिय आया य णो आयाओ य ५, सिय आयाओ य णो आया य ६, सिय आया य अवत्तव्वं आयाति य णो आयाति य ७, सिय आयाइ य अवत्तव्वाइं आयाओ य णो आयाओ य ८, सिय आयाओ य अवत्तव्वं आयाति य णो आयाति य ९, सिय णो आया य अवत्तव्वं आयाति य णो आयाति य १०, सिय आया य अवत्तव्वाइं आयाओ य णो आयाओ य ११, सिय णो आयाओ य अवत्तव्वं आयाति य णो आयाति य १२, सिय आया य णो आया य अवत्तव्वं आयाति य णो आयाति य १३, से केणऽट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ तिपदेसिए खंधे सिय आया एवं चेव उच्चारेयव्वं ०जाव सिय आया य णो आया य अवत्तव्वं आयाति य णो आयाति य ?, गोयमा ! अप्पणो आदिट्ठे आया १, परस्स आदिट्ठे णो आया २, तदुभयस्स आदिट्ठे अवत्तव्वं आयाति य णो आयाति य ३, देसे आदिट्ठे सब्भावपज्जवे देसे आदिट्ठे असब्भावपज्जवे तिपदेसिए खंधे आया य णो आया य ४, देसे आदिट्ठे सब्भावपज्जवे देसा आदिट्ठा असब्भावपज्जवे तिपदेसिए खंधे आया य णो आयाओ य ५, देसा आदिट्ठा सब्भावपज्जवे देसे आदिट्ठे असब्भावपज्जवे तिपदेसिए खंधे आयाओ य णो आया य ६, देसे आदिट्ठे सब्भावपज्जवे देसे आदिट्ठे तदुभयपज्जवे तिपदेसिए खंधे आया य अवत्तव्वं आयाति य णो आयाति य ७, देसे आदिट्ठे सब्भावपज्जवे देसा आदिट्ठा तदुभयपज्जवा तिपदेसिए खंधे आया य अवत्तव्वाइं आयाउ य णो आयाउ य ८, देसा आदिट्ठा सब्भावपज्जवा देसे आदिट्ठे तदुभयपज्जवे तिपदेसिए खंधे आयाओ य अवत्तव्वं आयाति य णो आयाति य ९, एए तिन्नि भंगा देसे आदिट्ठे असब्भावपज्जवे देसे आदिट्ठे तदुभयपज्जवे तिपदेसिए खंधे णो आया य अवत्तव्वं आयाति य णो आयाति य १०, देसे आदिट्ठे असब्भावपज्जवे देसा आदिट्ठा तदुभयपज्जवा तिपदेसिए खंधे णो आया य अवत्तव्वाइं आयाउ य णो आयाउ य ११, देसा आदिट्ठा असब्भावपज्जवा देसे आदिट्ठे तदुभयपज्जवे तिपदेसिए खंधे णो आयाओ य अवत्तव्वं आयाति य णो आयाति य १२, देसे आदिट्ठे सब्भावपज्जवे देसे आदिट्ठे असब्भावपज्जवे देसे आदिट्ठे तदुभयपज्जवे तिपदेसिए खंधे आया य णो आया य अवत्तव्वं आयाति य णो आयाति य १३, से तेणऽट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ-तिपदेसिए खंधे सिय आया तं चेव०जाव णो आयाति य।

त्रिप्रदेशिकस्कन्धे तु त्रयोदशभङ्गास्तत्र पूर्वोक्तेषु सप्तस्वाद्याः सकलादेशास्त्रयस्तथैव तदन्येषु तु त्रिषु त्रयस्त्रय एकवचनबहुवचनभेदात्, सप्तमस्त्वेकविध एव, स्थापना चेयम्—

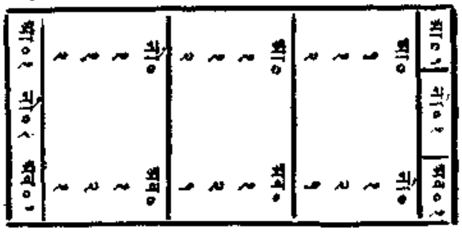

यच्चेह प्रदेशद्वयेऽप्येकवचनं क्वचित्तस्य प्रदेशद्वयस्यैकप्रदेशावगाढत्वादिहेतुनैकत्वविवक्षणात्, भेदविवक्षायां च बहुवचनमिति।

आया भंते, चउप्पदेसिए खंधे अन्ने० पुच्छा, गोयमा ! चउप्पदेसिए खंधे सिय आया १, सिय णो आया २, सिय अवत्तव्वं आयाति य णो आयाति य ३, सिय आया य णो आया य ४, सिय आया य अवत्तव्वं ४, सिय णो आया य अवत्तव्वं ४, सिय आया य णो आया य अवत्तव्वं आयानि य णो आति य १६ सिय आया य णो आया य अवत्तव्वाइं आयाओ य णो आयाओ य १७, सिय आया य णो आयाओ य अवत्तव्वं आयाति य णो आयाति य १८, सिय आयाओ य णो आया य अवत्तव्वं आयाति य णो आयाति य १९, से केणऽट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-चउप्पदेसिए खंधे सिय आया य णो आया य अवत्तव्वं. तं चेव अट्ठे पडिउच्चारेयव्वं ?, गोयमा ! अप्पणो आदिट्ठे आया १, परस्स आदिट्ठे णो आया २, तदुभयस्स आदिट्ठे अवत्तव्वं आयाति य णो आयाति य ३, देसे आदिट्ठे सब्भावपज्जवे देसे आदिट्ठे असब्भावपज्जवे ४ चउभंगो, सब्भावपज्जवेणं तदुभएण य ४ चउभंगो, असब्भावेणं तदुभएण य ४ चउभंगो, देसे आदिट्ठे सब्भावपज्जवे देसे आदिट्ठे असब्भावपज्जवे देसे आदिट्ठे तदुभयपज्जवे चउप्पदेसिए खंधे आया य णो आया य अवत्तव्वं आयाति य णो आयाति य १६, देसे आदिट्ठे सब्भावपज्जवे देसे आदिट्ठे असब्भावपज्जवे देसा आदिट्ठा तदुभयपज्जवा चउप्पदेसिए खंधे भवइ आया य णो आया य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अवत्तव्वाइं आयाओ य णो आयाओ य १७, देसे आदिट्ठे सब्भावपज्जवे देसा आदिट्ठा असब्भावपज्जवा देसे आदिट्ठे तदुभयपज्जवे चउप्पदेसिए खंधे आया य णो आयाओ य अवत्तव्वं आयाति य णो आयाति य १८, देसा आदिट्ठा सब्भावपज्जवा देसे आदिट्ठे असब्भावपज्जवे देसे आदिट्ठे तदुभयपज्जवे चउप्पदेसिए खंधे आयाओ य णो आया य अवत्तव्वं आयाति य णो आयाति य १९, से तेणऽट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ चउप्पदेसिए खंधे सिय आया सिय णो आया सिय अवत्तव्वं, निक्खेवो ते चेव भंगा उच्चारेयव्वा ०जाव णो आयाति य ।

चतुष्प्रदेशिकेऽप्येवं नवरमेकोनविंशतिर्भङ्गास्तत्र त्रयः सकलादेशास्तथैव शेषेषु चतुर्षु प्रत्येकं चत्वारो विकल्पास्ते चैवं चतुर्थादिषु त्रिषु- [illegible] सप्तमस्त्वेवम्— [illegible]

आया भंते ! पंचपदेसिए खंधे अन्ने पंचपदेसिए खंधे ?, गोयमा ! पंचपदेसिए खंधे सिय आया १, सिय णो आया २, सिय अवत्तव्वं आयाति य णो आयाति य ३, सिय आया य णो आया य सिय अवत्तव्वं ४, णो आया य अवत्तव्वेण य ४, तियगसंयोगे एक्को न पठति, से केणऽट्ठेणं भंते ! तं चेव पडिउच्चारेयव्वं ?, गोयमा ! अप्पणो आदिट्ठे आया १, परस्स आदिट्ठे णो आया २, तदुभयस्स आदिट्ठे अवत्तव्वं ३. देसे आदिट्ठे सब्भावपज्जवे देसे आदिट्ठे असब्भावपज्जवे एवं दुयगसंजोगे सव्वे पठंति, तियगसंजोगे एक्को न पठति, छप्पदेसियस्स सव्वे पठंति जहा छप्पदेसिए एवं ०जाव अणंतपदेसिए । सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति ०जाव विहरइ । (सूत्र-४६९)

पञ्चप्रदेशके तु द्वाविंशतिस्तत्राद्यास्त्रयस्तथैव, तदुत्तरेषु च त्रिषु प्रत्येकं चत्वारो विकल्पास्तथैव, सप्तमे तु सप्त, तत्र त्रिकसंयोगे किलाऽष्टौ भङ्गका भवन्ति, तेषु च सप्तैवेह ग्राह्या एकस्तु तेषु न पतत्यसम्भवात् , इदमेवाह-' तिगसंजोगे ' इत्यादि । तत्रैतेषां स्थापना— [illegible] यश्च न पतति स पुनरयम्-२२२ षट्प्रदेशिके त्रयोविंशतिरिति । भ० १२ श० १० उ० । (आत्मस्वरूपादि ' जीव ' शब्दे चतुर्थभागेऽपि वक्ष्यते)

(२६) अप्पा णई वेतरणी, अप्पा कूडसामली ।
अप्पा काम दुहा धेणू , अप्पा मे नंदणं वणं ॥ ३६ ॥
अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य ।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठियसुपट्ठिओ ॥ ३७ ॥

आत्मेति-व्यवच्छेदफलत्वाद्वाक्यस्यात्मैव नान्यः काश्चिदित्याह-नदी-सरित् वैतरणीति नरकनद्या नाम, ततो महाऽनर्थहेतुतया नरकनदीव अत एवाऽऽत्मैव कूटमिव जन्तुयातनाहेतुत्वाच्छाल्मली कूटशाल्मली नरकोद्भवा । तथाऽऽत्मैव कामान्—अभिलाषान् दोग्धि—कामितार्थप्रापकतया प्रपूरयति कामदुघा धेनुरिव धेनुः, इयं च रूढित उक्ता, एतदुपमत्वं चाभिलषितस्वर्गापवर्गावाप्तिहेतुतया, आत्मैव 'मे' मम नन्दनं नन्दननामकं वनम्-उद्यानम् एतदौपम्यं चास्य चित्तप्रह्लादहेतुतया यथा चैतदेवं तथाऽऽह—आत्मैव कर्ता-विधायको दुःखानां, सुखानां चेति योगः, प्रक्रमाच्चात्मन एव विकरिता च—विक्षेपकश्चात्मैव तेषामेव अतश्चात्मैव मित्रम्-उपकारितया सुहृत् ' अमित्तं ' ति—अमित्रं च—अपकारितया दुर्हृत् कीदृक् सन्-' दुप्पट्ठिय-सुपट्ठिओ ' त्ति—दुष्टं प्रस्थितः—प्रवृत्तो दुष्प्रस्थितः; दुराचारविधातेति यावत् , सुष्ठु प्रस्थितः सुप्रस्थितः, सदनुष्ठानकर्त्तेति यावत् , योऽर्थः एतयोर्विशेषणसमासः, दुष्प्रस्थितो ह्यात्मा समस्तदुःखहेतुरिति वैतरण्यादिरूपः, सुप्रस्थितश्च सकलसुखहेतुरिति कामधेन्वादिरूपः, तथा च-प्रव्रज्यावस्थायामेव सुप्रस्थितत्वेन आत्मनोऽन्येषां च योगकरणसमर्थत्वान्नाथत्वमिति सूत्रद्वयगर्भार्थः । उत्त० २० अ० ।

आत्मा चावश्यं पालयितव्यः—

अप्पा खलु सययं रक्खिअव्वो,
सव्विंदिएहिं सुसमाहिएहिं ।
अरक्खिओ जाइपहं उवेइ,
सुरक्खिओ सव्वदुहाण मुच्चइ ॥ १६ ॥

आत्मा 'खल्विति'-खलुशब्दो विशेषणार्थः, शक्तौ, सत्यां परोऽपि सततं-सर्वकालं रक्षितव्यः-पालनीयः पारलौकिकाऽपायेभ्यः, कथमित्युपायमाह-सर्वेन्द्रियैः स्पर्शनादिभिः सुसमाहितेन; निवृत्तविषयव्यापारेणेत्यर्थः, अरक्षणरक्षणयोः फलमाह-अरक्षितः सन् जातिपन्थानम्-जन्ममार्गंसंसारमुपैति-सामीप्येन गच्छति सुरक्षितः पुनर्यथाऽऽगमनप्रमादेन सर्वदुःखेभ्यः—शारीरमानसेभ्यो विमुच्यते, विविधम्-अनेकैः प्रकारैरपुनर्ग्रहणपरमस्वास्थ्यापादनलक्षणैर्मुच्यत इति । दश० २ चू० ।

आत्मा च सर्वस्याऽवलम्बनम्—

ममत्तं परिवज्जामि, निम्ममत्तं उवट्ठिओ ।
आलंबणं च मे आया, अवसेसं च वोसिरे ॥ ३७ ॥

तथा ममत्वम्-ममैतदित्येवं रूपो भावो ममत्वम्-प्रतिबन्धस्तत्र मनोऽभिमतवस्तुष्विति शेषः. परिजानामि ज्ञपरिज्ञया ज्ञात्वा; प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरामीत्यर्थः, अहं किंभूतः सन् निर्ममत्वं—निःसङ्गत्वम् उपस्थितः; आश्रित इत्यर्थः, नहि किमालम्बनतया चिन्तयतीत्याह-आलम्बनं-च-आश्रयोऽवष्टम्भ; आधार इत्यर्थः, 'मे' ममात्मैवाराधनाहेतुरयम् .अवशेषम्-अपरं; शरीरोपध्यादि सर्वं व्युत्सृजामि । अथ केषु कार्येष्वयमात्माऽवलम्बनविषय इत्याह—

आया हु महं नाणे, आया मे दंसणे चरित्ते य ।
आया पच्चक्खाणे, आया मे संयमे जोगे ॥ ३८ ॥

अतति-सततं गच्छति तासु तासु योनिष्विति आत्मा

स मम ज्ञाने-ज्ञानविषये आलम्बनं; सहाय इत्यर्थः, 'हु' स्फुटं भवतु इति शेषः । आत्मा मे दर्शने सम्यक्त्वे चारित्रेऽपि चालम्बनं, तथा प्रत्याख्याने-भक्तपरिज्ञारूपे संयमे च संयमसर्वविरत्यङ्गीकाररूपे, योगे च-प्रशस्तमनोवाक्कायव्यापाररूपे ममाऽऽत्मैवालम्बनमनन्तान्यप्युपात्तानि द्रष्टव्यानि । एक एव चाऽऽत्मा सर्वमङ्गीकरोति ।

अथ निर्ममत्वाय एकत्वभावनां भावयति—

एगो वयइ जीवो, एगो चेवुववज्जइ ।
एगस्स चेव मरणं, एगो सिज्झइ नीरओ ॥ ३९ ॥

'एगो वयइ' एकः स्वजनधनादिरहितो व्रजति जीवो; भवान्तरमिति शेषः, एक एव च उत्पद्यते मनुष्यादिरूपतया, एकस्यैव मरणं भवति, एक एव च कर्मरजोरहितः सन् सिध्यति जीवः, भवान्तरगमनस्य मरणस्य चैकार्थत्वेऽपि पृथगुपादानमेकत्वभावनोत्कर्षपोषार्थं नानादेशजविनेयानां व्यक्तार्थप्रतिपादनार्थं वा ।

एगो मे सासओ अप्पा, नाणदंसणसंजुओ ।
सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा ॥ ४० ॥

'एगो मे' एक एव 'मे' मम आत्मा शश्वद्भवनात् शाश्वतः सहचारी ज्ञानदर्शनसंयुक्तः स एव; मदीय इत्यर्थः, शेषाः कञ्चन 'मे' मम बाह्या भावाः-पदार्थाः; पुत्रकलत्रादिकाः ते सर्वे संयोजनं संयोगः स एव लक्षणं येषां ते तथा कृत्रिममेलापका एवेत्यर्थः; नतु शाश्वताः येषां संयोगस्तेषामवश्यंभावी वियोग इति हेतोर्न मदीयास्ते इति परमार्थः । आतु० ।

आत्मकृतमेव च भुज्यते—

को देइ कस्स देज्जइ, विहियं को हरइ हीरए कस्स ।
सयमप्पणा विढत्तं, अल्लियइ सुहं पि दुक्खं पि ॥ १ ॥

महा० ६ अ० ।

आत्मनैव च संसारमुत्तरति—

णो णं गोयमा ! गुरुसीसगाण निस्साए संसारमुत्तरेज्जा । णो णं गोयमा ! परस्स निस्साए संसारमुत्तरेज्जा । अप्पणो निस्साए संसारमुत्तरेज्जा । महा० ३ अ० ।

(आत्मजयेनैव च क्रोधादिजयः)—

जे उ संगामकालंमि, नाया सूरपुरंगमा ।
णो ते पिट्ठमुवेहिंति, किं परं मरणं सिया ॥ ६ ॥

सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । (अस्या गाथाया अर्थः 'अकत्तविसीयण' शब्दे प्रथमभागे २२१ पृष्ठे गतः)

तदेवं सुभटदृष्टान्तं प्रदर्श्य दार्ष्टान्तिकमाह—

तमेगे परिभासंति, भिक्खुयं साहुजीविणं ।
जे एवं परिभासंति, अंत एते समाहिये ॥ ८ ॥

सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । (अस्या गाथाया अर्थः 'परवादिवयण' शब्दे पञ्चमे भागे वक्ष्यते)

धर्मः स्वाऽऽत्मसाक्षिक एव—

आया सयमेव अत्थाणं, निउणं जाणे जहट्ठियं ।
आया चेव दुप्पतिज्जे, धम्मं वि य अत्तसक्खियं ॥९॥

महा० १ अ० ।

उक्तं च श्रीहरिभद्रपूज्यैः—

"आयण्णभवं धम्मं, आयंति य अप्पणो सरूवं च ।
दंसणनाणचरित्ते-गत्तं जीवस्स परिणामं ॥ १ ॥"

रे भव्य ! हिताय वदामः सर्वागमेषु धर्मं आत्मनः शुद्धापरिणतिरेव निमित्तस्योपादानात्प्राकट्यहेतुत्वात्, बाह्याचरणादिकं साधकैरारभ्यस्ते तथापि धर्महेतुत्वेनोपादेयं श्रद्धावद्भिः, तत्स्वात्मक्षेत्रव्यापकरूपानन्तपर्यायलक्षणं धर्मः उत्तराध्ययनावश्यकादिसर्वसिद्धान्ताशयः । अष्ट०३२ अष्ट० ।

आत्मज्ञानस्यैव विद्यात्वम्—

नित्यशुच्यात्मताख्याति-रनित्याऽशुच्यनात्मसु ।
अविद्यातत्त्वधीर्विद्या, योगाचार्यैः प्रकीर्तिता ॥ १ ॥
यः पश्येन्नित्यमात्मान-मनित्यं परसंगमम् ।
छलं लब्धुं न शक्नोति, तस्य मोहमलिम्लुचः ॥ २ ॥
तरङ्गतरलां लक्ष्मी-मायुर्वायुवदस्थिरम् ।
अदभ्रधीरनुध्याये-दभ्रवद्भङ्गुरं वपुः ॥ ३ ॥
शुचीन्यप्यशुचीकर्तुं, समर्थेऽशुचिसम्भवे ।
देहे जलादिना शौच-भ्रमो मूढस्य दारुणः ॥ ४ ॥
यः स्नात्वा समताकुण्डे, हित्वा कश्मलजं मलम् ।
पुनर्न याति मालिन्यं, सोऽन्तरात्मा परः शुचिः ॥ ५ ॥
आत्मबोधो न वः पाशो, देहगेहधनादिषु ।
यः क्षिप्तोऽप्यात्मना तेषु स्वस्य बन्धाय जायते ॥ ६ ॥
मिथो युक्तपदार्थाना-मसंक्रमचमत्क्रिया ।
चिन्मात्रपरिणामेन, विदुषैवानुभूयते ॥ ७ ॥
अविद्यातिमिरध्वंसे, दृशा विद्याञ्जनस्पृशा ।
पश्यन्ति परमात्मान-मात्मन्येव हि योगिनः ॥ ८ ॥

अष्ट० १४ अष्ट० । (अस्याष्टकस्य व्याख्यां 'विज्जा' शब्दे षष्ठे भागे करिष्यामि)

(आत्मविवेकस्यैव विवेकत्वम्)—

कर्मजीवं च संश्लिष्टं, सर्वदा क्षीरनीरवत् ।
विभिन्नीकुरुते योऽसौ, मुनिहंसो विवेकवान् ॥ १ ॥
देहाऽऽत्माद्यविवेकोऽयं, सर्वदा सुलभो भवे ।
भवकोट्यापि तद्भेद-विवेकस्त्वतिदुर्लभः ॥ २ ॥
शुद्धेऽपि व्योम्नि तिमिराद्, रेखाभिर्मिश्रिता यथा ।
विकारैर्मिश्रिता भाति, तथात्मन्यविवेकतः ॥ ३ ॥
यथा योधैः कृतं युद्धं, स्वामिन्येवोपचर्यते ।
शुद्धात्मन्यविवेकेन, कर्मस्कन्धोर्जितं तथा ॥ ४ ॥
इष्टकाद्यपि हि स्वर्णं, पीतोन्मत्तो यथेक्षते ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्मा भेदभ्रमस्तद्वद्, देहादावविवेकिनः ॥ ५ ॥
इन्द्रश्च परमान्भावान्, विवेकाद्रेः पतत्यधः ।
परमं भावमन्विष्य-अविवेके निमज्जति ॥ ६ ॥
आत्मन्येवात्मनः कुर्यात्, यः षट्कारकसंगतिम् ।
काऽविवेकज्वरस्यास्य, वैषम्यं जलमज्जनात् ॥ ७ ॥
संयमास्त्रं विवेकेन, शाणेनोत्तेजितं मुनेः ।
धृतिधारोल्बणं कर्म,शत्रुच्छेदक्षमं भवेत् ।८। अष्ट. १५ अष्ट.

आत्मार्चनस्यैव भावपूजात्वम्—

दयाऽम्भसाकृतस्नानः, सन्तोषशुभवस्त्रभृत् ।
विवेकतिलकभ्राजी, भावनापावनाशयः ॥ १ ॥
भक्तिश्रद्धानघुसृणो-न्मिश्रकश्मीरजद्रवैः ।
नवब्रह्मगतो देवं, शुद्धमात्मानमर्चय ॥ २ ॥
क्षमापुष्पस्रजं धर्म- युग्मक्षौमद्वयं तथा ।
ध्यानाभरणसारं च, तदङ्गे विनिवेशय ॥ ३ ॥
मदस्थानभिदा त्यागे-र्लिखाऽग्रे चाष्टमङ्गलम् ।
ज्ञानाऽग्नौ शुभसंकल्प- काकतुण्डं च धूपय ॥ ४ ॥
प्राग् धर्मलवणोत्तारं, धर्मसंन्यासवह्निना ।
कुर्वन्पूरय सामर्थ्य-राजन्नीराजनाविधिम् ॥ ५ ॥
स्फुरन्मङ्गलदीपं च, स्थापयानुभवं पुरः ।
योगनृत्यपरस्तूर्य-त्रिकसंयमवान् भव ॥ ६ ॥
उल्लसन्मनसः सत्य- घण्टां वादयतस्तव ।
भावपूजारतस्येत्थं, करक्रोडे महोदयः ॥ ७ ॥
द्रव्यपूजोचिताभेदो- पासना गृहमेधिनाम् ।
भावपूजा तु साधूना-मभेदोपासनात्मिका ॥ ८ ॥

अष्ट० २९ अष्ट० । (अस्याष्टकस्य व्याख्या 'पूया' शब्दे पञ्चमे भागे वक्ष्यते) मोक्षे, संयमे च । " आततए परिव्वए " ॥ ७ ॥ आत्मा-मोक्षः, संयमो वा; तद्भावस्तस्मै तदर्थं परि-समन्ताद् व्रजेत्; संयमानुष्ठानक्रियायां दत्तावधानो भवेदित्यर्थः । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । तथा प्रवचनसारोद्धारवृत्त्यादौ इन्द्रियविषयप्रमाणता आत्माङ्गुलेन प्रोक्ताऽस्ति चक्षुष उत्कृष्टविषयतायां कृतलक्षयोजनरूपो विष्णुकुमारो दृष्टान्तः प्रोक्तोऽस्ति, तथा हि-चक्षुः सातिरेकयोजनलक्षाद्रूपं गृह्णातीति, सातिरेकत्वं तु विष्णुकुमारादयः स्वपदपुरःस्थितं गर्तादिकं तन्मध्यगतं च लेष्ट्वादिकं पश्यन्तीति नवतत्त्वमहाचूर्ण्यामस्ति, इति चक्षुषः सातिरेकलक्षयोजनदूरस्थरूपग्रहणविषये दृष्टान्तकरणाद्विष्णुकुमारविकुर्वितरूपमात्माङ्गुलेन संभाव्यते, अन्यथा न दृष्टान्तसंगतिरित्येवं सति प्रश्नोत्तरसमुच्चयचतुर्थप्रकाशप्रान्ते यद्विष्णुकुमारविकुर्वितरूपमुत्सेधाङ्गुलनिष्पन्नलक्षयोजनप्रमाणमुक्तमस्ति तत्कथमिति प्रश्नः, अत्रोत्तरम्-विष्णुकुमारकृतं सातिरेकलक्षयोजनप्रमाणरूपं चमरेन्द्रादिवत्प्रमाणाङ्गुलेनापि संभवति न काऽपि विप्रतिपत्तिः, यच्च प्रश्नोत्तरे उत्सेधाङ्गुलेन प्रोक्तमस्ति तत्र किंचिद्विधेयमस्तीति । २८० प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

आता (या) णुकंपय-आत्मानुकम्पक त्रि० । आत्मानमेवानर्थपरिहारद्वारेणानुकम्पते शुभानुष्ठानेन सद्गतिगामिनं विधत्ते इत्यात्मानुकम्पकः । सूत्र० २ श्रु० २ अ० । आत्महितप्रवृत्ते, प्रत्येकबुद्धे जिनकल्पिके च । स्था० । " आयाणुकंपए णाममेगे " (सूत्र-३५२ ×) । आत्मानुकम्पकः-आत्महितप्रवृत्तः प्रत्येकबुद्धो जिनकल्पिको वा परानपेक्षो वा निर्घृणः । स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

आता (या) णुस्सरण-आत्मानुस्मरण-न० । आत्मनोऽनुस्मृतौ, षो० । " आत्मानुस्मरणाय च " ॥ १६ + ॥ आत्मनोऽनुस्मरणाय च—स्वयमेवानुस्मृतिनिमित्तम् । षो० । १६ विव० ।

आता (या) णुसासण-आत्मानुशासन-न० । आत्मनोऽनुशास्तौ, सूत्र० ।

मा पच्छ असाधुता भवे, अच्चेही अणुसास अप्पगं ।
अहियं च असाहु सोयती, से थणती परिदेवती बहुं ॥७॥

मा पश्चात्-मरणकाले, भवान्तरे वा कामानुषङ्गादसाधुता-कुगतिगमनादिकरूपा भवेत्-प्राप्नुयादिति । अतो विषयासङ्गादात्मानम्-अत्येहि-त्याजय । तथा-आत्मानं च अनुशाधि-आत्मनोऽनुशास्ति कुरु, यथा-हे जीव ! यो ह्यसाधुः-असाधुकर्मकारी-हिंसानृतस्तेयादौ प्रवृत्तः सन् दुर्गतौ पतितः अधिकम्-अत्यर्थमयं शोचति, स च परमाऽधार्मिकैः कदर्थ्यमानस्तिर्यक्षु वा क्षुधादिवेदनाग्रस्तोऽत्यर्थं स्तनति—सशब्दं निःश्वसिति । तथा-परिदेवते विलपति-आक्रन्दति । सुबहुनि । " हा मातर्म्रियत इति, त्राता नैवाऽस्ति सांप्रतं कश्चित् । किं शरणं मे स्यादिह, दुष्कृतचरितस्य पापस्य ? ॥ १ ॥ " इत्येवमादीनि दुःखान्यसाधुकारिणः प्राप्नुवन्तीत्यतो विषयानुषङ्गो न विधेय इत्येवमात्मनोऽनुशासनं कुर्वीत संबन्धनीयम् । सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

आताव-आताप-पुं० । ईषत्तापे, आचा० । " णो खलु मे कप्पति अगणिकायं उज्जालित्तए वा पज्जालित्तए वा कायं आयावित्तए वा पयावित्तए वा " (सूत्र-२१० +) । कायम्-शरीरमीषत्तापयितुं वा प्रकर्षेण तापयितुं प्रतापयितुंवा । आचा० १ श्रु० ८ अ० ३ उ० । " अनादौ स्वरादसंयुक्तानां क-ख-त-थ-प-फां-ग-घ-द-ध-ब-भाः " ॥ ८ । ४ । ३९६ ॥ इति अपभ्रंशे पस्य वः । प्रा० ।

आता (या) वग-आतापक-पुं० । आतापयत्यातापनां शीतातपादिसहनरूपां करोतीत्यातापकः । स्था० ५ ठा० २ उ० । आतापनाग्राहिणि परतीर्थिकभेदे, सूत्र०२ श्रु० २ अ० ।

आता (या) वण-आतापन-न० । सकृदीषद्वा तापने, "आयाविज्जा न पयावेज्जा " सकृदीषद्वा तापनमातापनम् । दश० ४ अ० । शीतादिभिः शरीरस्य सन्तापने च । स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

आता (या) वणया-आतापनता-स्त्री० । आतापनानां-शीतादिभिः शरीरस्य संतापनानां भावः आतापनता । शीतातपादेः सहने. स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आता (या) वणा-आतापना-स्त्री० । शीतादिसहनात्मके तपोभेदे, पञ्चा० । "आयावणठाणमाईया ॥४८॥" पञ्चा० १८ विव० । " आयावणाए आयावेमाणस्स " । आ० म० १ अ० ५२४गाथाटी० । " आतावने " (सूत्र०-३६६ ×) आतापयति-आतापनाम्-शीताऽऽतपादिसहनरूपाम् । स्था० ५ ठा० १ उ० ।

"आयावणा य तिविहा, उक्कोसा१ मज्झिमा २ जहन्ना य ३। उक्कोसा उ निविगणा, निसएणमज्झा ठिय जहन्ना ॥ ३ ॥ तिविहा होइ निवएणा,ओमंथिय१ पास२ तइय उत्ताणा ॥" इति ।

निषएणाऽपि त्रिविधा—

" गोदुह उक्कुडु पलियं-कमेस तिविहा य मज्झिमा होइ ।
तइया उ हत्थिसुंडे-गपायसमपाइया चेव ॥ १ ॥ "

इयं च निषएणादिका त्रिविधाप्यातापना स्वस्थाने पुनरुत्कृष्टादिभेदा ओमन्थियादिभेदेनावगन्तव्या । इह च यद्यपि स्थानातिगत्वादीनामातापनायामन्तर्भावस्तथापि प्रधानतराविवक्षया न पुनरुक्तत्वं मन्तव्यमिति । स्था०५ ठा०१ उ०।

महत्कल्पना—

नो कप्पइ निग्गंथीए बहिया गामस्स वा ०जाव सन्निवेसस्स वा उड्ढं बाहाओ पगिज्झिय २ सूराभिमुहाए एगपाइयाए ठिच्चा आयावणाए आयावित्तए ॥२३॥ कप्पइ से उवस्सयस्स अंतोवगडाए संघाडिपडिबद्धाए पलंबियाहियाए समतलपाइयाए ठिच्चा आयावणाए आयावित्तए ॥२४॥

नो कल्पते निर्ग्रन्थ्या बहिर्ग्रामस्य वा यावत् संनिवेशस्य वा ऊर्ध्वम्-ऊर्ध्वमुखौ बाहू प्रगृह्य; प्रकर्षेण गृहीत्वा; कृत्वेत्यर्थः, सूर्याभिमुख्या एकपादिकाया एकं पादमूर्द्धमाकुञ्च्य अपरं एकपदे सुविकृतवत्या एवंविधायाः स्थित्वा आतापयितुम् ॥ २३ ॥ किं तु कल्पते-' से ' तस्याः उपाश्रयस्यान्तर्वगडायाः संघाटीप्रतिबद्धायाः प्रलम्बितबाहुकायाः समतलपादिकायाः स्थित्वा आतापनया-आतापनाय; आतापयितुमिति सूत्रार्थः ।

अथ भाष्यम्—

आयावणा य तिविहा, उक्कोसा मज्झिमा जहन्ना य ।
उक्कोसा उ णिवन्ना, णिसन्नमज्झा ठिय जहन्ना ॥२६५॥

आतापना त्रिविधा-उत्कृष्टा, मध्यमा, जघन्या च । तत्रोत्कृष्टा-निपन्ना-निपत्य; शयितो यां करोतीत्यर्थः । मध्यमा-निषएणस्य, जघन्या तु ऊर्द्धस्थितस्य ।

पुनरेकैका त्रिविधा—

तिविहा होइ निवन्ना, ओमंथे पासतइयमुत्ताणा ।
उक्कोसुक्कोसा उक्को-समज्झिमा उक्कोसगजहन्ना ॥२६६॥

निपन्नस्योत्कृष्टा आतापना, सा त्रिविधा भवति-उत्कृष्टोत्कृष्टा, उत्कृष्टमध्यमा, उत्कृष्टजघन्या च । तत्र यदवाङ्मुखं निपत्य आतापना क्रियते सा उत्कृष्टोत्कृष्टा, या तु पार्श्वतः शयानेन क्रियते सा उत्कृष्टमध्यमा, या पुनरुत्तानशयनेन विधीयते सा उत्कृष्टजघन्या ।

उक्कोसा दुहओ वि, मज्झिममज्झिमा जहन्ना य ।
अहमुक्कोसाहममज्झिमा,य अहमाऽधमा चरिमा ।२६७॥

निषएणस्य मध्यमा आतापना, सा त्रिधा-मध्यमोत्कृष्टा, ' दुहओ वि मज्झिम ' त्ति-मध्यममध्यमा, मध्यमजघन्या । ऊर्ध्वस्थितस्य या जघन्या सा त्रिधा-अधमोत्कृष्टा, अधममध्यमा । अधमा च चरमेति अधमशब्दो जघन्यवाचकोऽत्र द्रष्टव्यः ।

एतासामिदं सूत्रम्—

पलियंक अद्ध उक्कुडु-गमो य तिविहा उ मज्झिमा होइ ।
तइया उ हत्थिसुंडे-गपादसमपादिगा चेव ॥ २६८ ॥

मध्यमोत्कृष्टा-पर्यङ्कासनसंस्थिता, मध्यममध्या-अर्द्धपर्यङ्का, मध्यमजघन्या-उत्कुटुका । क्वचिदादर्शे पूर्वार्द्धमित्थं दृश्यते-" गोदोहुक्कुडुपलियंकमो यं वि तिविहा उ मज्झिमा होइ " त्ति, तत्र मध्यमोत्कृष्टा-गोदोहिका, मध्यमा-उत्कुटुका, मध्यमजघन्या-पर्यङ्कासनरूपा । गोशब्दः पादपूरणे, एवा त्रिविधा मध्यमा भवति । या तु तृतीयाऽस्ति तस्या जघन्योत्कृष्टादिभेदात्त्रिधा भणिता, सजघन्योत्कृष्टा, हस्तिशुण्डिका, पुनर्नाभ्यामुपविष्टस्यैकपादोत्पादनरूपा । जघन्यमध्यमा-एकपादिका, उत्थितस्यैकपादेनावस्थानं, जघन्यजघन्या-समतलाभ्यां पादाभ्यां स्थित्वा यदूर्ध्वस्थितैरातापयेत ।

कथं पुनः शयितस्योत्कृष्टा आतापना भवतीत्युच्यते—

सव्वंगिओ पतावो, य ताविया घम्मरस्सिणा भूमी ।
ण य कमइ तत्थ वाऊ, विस्सामो नेव गत्ताणं ॥२६९॥

भूमौ निपन्नस्य सर्वाङ्गानां प्रतापः-प्रकर्षेण तापो लगति घर्मरश्मिना च भूमिः प्रकर्षेणात्यन्ततापिता, न च तत्र भूमौ वायुः क्रमते-प्रचरति न च गात्राणाम्-अङ्गानां विश्रामो भवति, अतो निपन्नस्योत्कृष्टा आतापना मन्तव्या ।

अथैतासां मध्यादार्यिकाणां का आतापना कर्तुं कल्पते इत्यत आह—

एयासिं णवण्हा-णुन्नाया संजईण अंतिल्ला ।
सेसा नाणुन्नाया, अट्ठ तु आतावणा तेसिं ॥ २७० ॥

एतासां नवानामप्यातापनानां मध्याद् अन्तिमा-समपादिकाख्या आतापना संयतीनामनुज्ञाता, शेषा अष्टावातापना आसां नाऽनुज्ञाताः ।

कीदृशे पुनः स्थाने च आतापयन्तीत्युच्यते—

पालीहिं जत्थ दीसइ, जत्थ य सइरं विसंति न हु दाता ।
उग्गहमादिसु सज्जा, आयावयते तहिं अज्जा ॥२७१॥

यत्र प्रतिश्रयपालिकाभिः-संयतीभिः आतापयता दृश्यते । यत्र च स्वैरं-स्वच्छन्दं युवानो न प्रविशन्ति तत्र स्थाने अवग्रहानन्तकादिभिः संघाटिकान्तैरुपकरणैः सज्जा-आयुक्ता आर्यिका प्रलम्बितबाहुयुगला आतापयन्ति ।

किमर्थमवग्रहानन्तकादिसज्जेति चेदत आह—

मुच्छाए विवडिताए, तावेण मुमुच्छुतेव संवरणे ।
गोचरमजयणदोसा, जे वुत्ता ते उ पाविज्जा ॥ २७२ ॥

तस्या आतापयन्त्याः खरतराऽऽतपसंपर्कपरितापितायाः कदाचिन्मूर्च्छा संजायेत तया च निपतिता वा तेन वा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संवरणे-प्रावरणे समुत्क्षुते अवग्रहान्तकादिभिर्विना गोचरचर्यायामयनतया प्रविष्टाया ये दोषास्तृतीयोद्देशके उक्तास्तान् प्राप्नुयात्, अतस्तैः प्रावृता आतापयेत् । वृ० ५ उ० । (आतापनोद्कतीरे न कर्त्तव्येति 'दगतीर' शब्दे चतुर्थभागे वक्ष्यते ।)

आतावि (न्)-आतापिन्-पुं० । आतापयति-आतापनां शीतातपादिसहनरूपां करोतीत्यातापी । शीतादिसहनकर्त्तरि, स्था० ४ ठा० ३ उ० । अग्न्यादेरातपे दातरि च । कल्प० ३ अधि० ६ क्षण । आतपति आ-तप्-णिनि । पक्षिभेदे. क्षीरस्वामी । वाच० ।

आता (या) वित्तए-आतापयितुम्-अव्य० । आतपे दातुमित्यर्थे, " आयावित्तए पयावित्तए वा " (सूत्र-५२ ×) आतापयितुमेकवारमातपे दातुं, प्रतापयितुं पुनः पुनरातपे दातुमिच्छति । कल्प० ३ अधि० ६ क्षण ।

आता (या) विया-आतापयित्वा-अव्य० । आतापनां कृत्वेत्यर्थे, " आयाविय २ " (सूत्र- ×) । आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० ३ उ० ।

आता (या) वेमाण-आतापयत्-त्रि० । आतापनां कुर्वति, " आयावणाए आयावेमाणस्स छट्ठंणं भत्तेणं " (५२४ गाथाटी०) । आ० म० १ अ० ।

आता (या) भिणिवेस-आत्माभिनिवेश-पुं० । आत्मनोऽभिनिवेशे, यावदात्माभिनिवेशस्तावदेव संसारः । नं० ।

शौद्धोदनीयाः पुनरेवमाहुः—

नैरात्म्यादिभावना रागादिक्लेशप्रहाणिहेतुः नैरात्म्यादिभावनायाः सकलरागादिविपक्षभूतत्वात्, तथाहि-नैरात्म्यावगतौ नाऽऽत्माभिनिवेशः । आत्मनोऽवगमाभावाद्, आत्माभिनिवेशाभावाच्च न पुत्रभ्रातृकलत्रादिष्वात्मीयाभिनिवेशः, आत्मनो हि य उपकारी स आत्मीयो, यश्च प्रतिघातकः स द्वेष्यः, यदा त्वात्मैव न विद्यते किन्तु पूर्वापरक्षणत्रुटितानुसन्धानाः पूर्वपूर्वहेतुप्रतिबद्धा ज्ञानक्षणा एव तथा तथोत्पद्यन्ते तदा कः कस्योपकर्त्ता उपघातको वा ?, ज्ञानक्षणानां च क्षणमात्रावस्थायितया परमार्थेन उपकर्तुमपकर्त्तुं वा अशक्यत्वात्, तत्र, तत्त्ववेदिनः पुत्रादिष्वात्मीयाभिनिवेशो, नाऽपि वैरिषु द्वेषो, यस्तु लोकानाममात्मीयानात्मीयाद्यभिनिवेशः सोऽनादिवासनापरिपाकोपनीतो वेदितव्योऽतत्त्वमूलत्वात्, ननु यदि न परमार्थतः कश्चिदुपकार्योपकारकभावस्तर्हि कथमुच्यते भगवान् सुगतः करुणया सकलसत्त्वोपकाराय देशनां कृतवानिति । क्षणिकत्वमपि च यद्येकान्तेन तर्हि तत्त्वदर्शी क्षणानन्तरं विनष्टः सन् कदाचनाऽप्येवं भूयो भविष्यामीति जानानः किमर्थं मोक्षाय यत्नमारभते ?, तदयुक्तम्, अभिप्रायापरिज्ञानात्, भगवान् हि प्राचीनायामवस्थायामवस्थितः सकलमपि जगद्रागद्वेषादिदुःखसंकुलमभिजानानः कथमिदं सकलमपि जगन्मया दुःखादुद्धर्त्तव्यमिति समुत्पन्नकृपाविशेषो नैरात्म्यक्षणिकत्वादिकमवगच्छन्नपि तेषामुपकार्यसत्त्वानां निःक्लेशक्षणोत्पादनाय प्रज्ञाहितो राजेव स्वसंततिशुद्ध्यै सकलजगत्साक्षात्करणसमर्थः स्वसंततिगतविशिष्टक्षणोत्पत्तये यत्नमारभते, सकलजगत्साक्षात्कारमन्तरेण सर्वेषामनूनविधानमुपकर्त्तुमशक्यत्वात् । ततः समुत्पन्नकेवलज्ञानः पूर्वाऽऽहितकृपाविशेषसंस्कारवशात् कृतार्थोऽपि देशनायां प्रवर्त्तत इति । तदेवं श्रुतमय्यात्मप्रज्ञया निर्दोषं नैरात्म्यादिवस्तुतत्त्वं परिभाव्य भावतः तथैव भावयतो जन्तोर्भावनाप्रकर्षविशेषतो वैराग्यमुपजायते, ततो मुक्तिलाभः, यस्त्वात्मानमभिमन्यते न तस्य मुक्तिसंभवो-यत् आत्मनि परमार्थतया विद्यमाने तत्र स्नेहः प्रवर्त्तते । ततः स्नेहवशाच्च तत्सुखेषु परितर्षवान् भवति, तृष्णावशाच्च सुखसाधनेषु दोषान् सतोऽपि तिरस्कुरुते गुणांस्त्वभिभूतानपि पश्यति । ततो गुणदर्शी सन् तानि ममत्वविषयीकरोति तस्माद्यावदात्माभिवेशः तावत्संसारः,

आह च-

" यः पश्यत्यात्मानं तत्रा-स्याहमिति शाश्वतः स्नेहः ।
स्नेहात्सुखेषु तृष्यति, तृष्णादोषांस्तिरस्कुरुते ॥ १ ॥
गुणदर्शी परितृष्यन्, ममेति तत्साधनान्युपादत्ते ।
तेनात्माभिनिवेशो, यावत्तावत्स संसारे " ॥ २ ॥

तदेतत्सर्वमन्तःकरणकुवासनामहामोहमहीयस्ताविलसितम्, आत्माभावे बन्धमोक्षाऽऽद्येकाधिकरणत्वायोगात्, तथाहि—यदि नात्माभ्युपगम्यते किं तु पूर्वापरक्षणत्रुटितानुसंधाना ज्ञानलक्षणा एव, तथा सत्यन्यस्य बन्धः, अन्यस्य मुक्तिः, अन्यस्य क्षुद्, अन्यस्य तृप्तिः, अन्योऽनुभविता, अन्यः स्मर्ता, अन्यश्चिकित्सादुःखमनुभवति, अन्यो व्याधिरहितो भवति, अन्यः तपःक्लेशमपि सहते, परः स्वर्गसुखमनुभवति, अपरः शास्त्रमभ्यसितुमारभते, अन्योऽधिगतशास्त्रार्थो भवति, न चैतद्युक्तम्, अतिप्रसङ्गात्, सन्तानापेक्षया बन्धमोक्षादेरेकाधिकरण्यमितिचेत्, न, सन्तानस्यापि भवन्मते नानुपपद्यमानत्वात्, सन्तानो हि सन्तानिभ्यो भिन्नो वा स्यादभिन्नो वा ? यदि भिन्नस्तर्हि पुनरपि विकल्पयुगलमुपढौकते । स किं नित्यः, क्षणिको वा ?, यदि नित्यस्ततो न तस्य बन्धमोक्षादिसंभवः, आकालमेकस्वभावतया तस्यावस्थावैविध्यानुपपत्तेः । न च नित्यं किमप्यभ्युपगम्यते, " सर्वं क्षणिकम् " ति वचनात्, अथ क्षणिकस्तर्हि तदेव प्राचीनं बन्धमोक्षादिवैयधिकरण्यं प्रसक्तम्, अथाभिन्न इति पक्षस्तर्हि सन्तानिन एव, न सन्तानः, तदभिन्नत्वात्, तत्स्वरूपवत्, तथा च सति तदवस्थमेव प्राक्तनं दूषणमिति । नं० ।

आता-(या)भिसित्त-आत्माभिषिक्त-पुं० । निजबलेन राज्याभिषिक्ते भरतादौ, व्य० ।

अहवा राया दुविहो, आयाभिसित्तो पराभिसित्तो य ।
आयाभिसित्तो भरहो, तस्स उ पुत्तो परेणं तु ॥१०५॥

राजा द्विविधो भवति । तद्यथा-आत्माभिषिक्तः, पराऽभिषिक्तश्च । व्य० ५ उ० । (विशेषतश्चास्या गाथायाः व्याख्या षष्ठे भागे 'राय' शब्दे करिष्यते)

आता(या)रामि(न्) आत्मारामिन्-पुं० । आत्मविश्रामिणि आत्मानुभवमग्ने, स स्वयं संसारान्निवृत्तस्तत्सेवनापरान्निस्तारयति । अष्ट० ६ अष्ट० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आतालिज्जंत-आताड्यमान-त्रि० । आ-समन्तात् ताड्यमाने, " आतालिज्जंताणं तालीणं, तालाणं, कंसतालाणं " ति । आ० चू० १ अ० ।

आता (या) व-आताप-पुं०। " पो वः " ॥ ८ । १ । २३१ ॥ इति प्राकृतसूत्रेण पस्य वः । असुरकुमारविशेषे, विशेषस्तु नात्र गम्यते इति, अभयदेवसूरिः । भ० १३ श० ६ उ० ।

आता (या) वाइ (न्)-आत्मवादिन्-पुं० । " से आयावादी " (सूत्र-५ ×) । आत्मानं वदितुं शीलमस्येति । आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । " एस आयावाई " (सूत्र-१६५ ×) । यथावस्थितात्मवादिनि, आचा० १ श्रु० ५ अ० ६ उ० । (आत्मवादिनोऽशेषवक्तव्यताऽऽचाराङ्गप्रथमश्रुतस्कन्धप्रथमाध्ययनस्य प्रथमे उद्देशके (सूत्र-५ आरभ्य) सा ' आता ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गता) तथा च एकवादिनमधिकृत्य-अपरस्त्वात्मैवास्ति; नान्यदिति प्रतिपन्नः, तदुक्तम्-" पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् , उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति, यदेजति यन्नैजति यद् दूरे यदन्तिके यदन्तरस्य सर्वस्यास्य बाह्यतः" इति । स्था० टी० ८ ठा० ३ उ० । येऽपि च आत्मवादिनः "पुरुष एवेदं सर्वम्" त्यादि प्रतिपन्नाः, तेऽपि महामोहारगगरलपूरमूर्च्छितमानसा वदितव्याः । सं० । (अत्र विस्तरं ' एगावाइन् ' शब्दे तृतीयभागे वक्ष्यामि)

आता (या) हम्म-आत्मघ्न-न० । आत्मा हन्यते तेषु तेषु यातनास्थानेषु येन तदात्मघ्नम् । दर्श० ४ तत्त्व ।

आत्मघ्नैकार्थिकानि—

आहा अहे य कम्मे, आताहम्मे य अत्तकम्मे य ।
तं पुण आहाकम्मं, नायव्वं कप्पते कस्स ॥ ४५६ ॥

आधाकर्म १, अधःकर्म २, आत्मघ्नः ३, आत्मकर्म ४, इति चत्वारि नामानि । (वृ०) आत्मानं-ज्ञानदर्शनचारित्ररूपं हन्ति-विनाशयतीत्यात्मघ्नम् । वृ० ४ उ० । आत्मानं दुर्गतिप्रपातकारणतया हन्ति-विनाशयतीत्यात्मघ्नम् । पिं० । आधाकर्मणि, पिं० । (आत्मघ्नस्याधाकर्मैकार्थिकत्वम् ' आधाकम्म ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे विस्तरतो वक्ष्यते)

एतस्य निक्षेपः—

आयाहम्मे वि चउव्विधो निक्खेवो, दव्वाऽऽयाहंमे, अणुवउत्तो पाणाऽतिवायं करेंतो भावाऽऽते णाणदंसणचरणा, ते हणंतो भावाऽऽताहम्मं । नि० चू० १० उ० ।

सम्प्रत्यात्मघ्ननाम्नोऽवसरः, तदपि चात्मघ्नं चतुर्धा, तद्यथा-नामाऽऽत्मघ्नं, स्थापनात्मघ्नं , द्रव्यात्मघ्नं, भावात्मघ्नं च । इदमप्यधःकर्मवत् तावद्भावनीयं यावन्नोआगमतो ज्ञशरीरद्रव्यात्मघ्नम् , भव्यशरीरद्रव्यात्मघ्नम् ।

ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं तु द्रव्यात्मघ्नं निर्युक्तिकृदाह-

अट्ठाए अणट्ठाए, छक्कायपमद्दणं तु जो कुणइ ।
अनियाए अ नियाए, आयाहम्मं तयं बेंति ॥ १०३ ॥

यो गृही अर्थाय-स्वस्य परस्य वा निमित्तम् , अनर्थाय प्रयोजनमन्तरेण एवमेव पापकरणशीलतया ' अनियाए य नियाए ' त्ति-निदानं निदा-प्राणिहिंसा नरकादिदुःखहेतुरिति जानतापि, यद्वा-साधूनामाधाकर्म न कल्पते इति परिज्ञानवतापि यज्जीवानां प्राणव्यपरोपणं सा निदा । तन्निषेधाद्-अनिदा पूर्वोक्तपरिज्ञानविकलेन सता यत् परप्राणनिर्वहणं सा अनिदेति भावार्थः । अथवा-स्वार्थं परार्थं चेति विभागेनोद्दिश्य यत् प्राणव्यपरोपणं सा निदा, तन्निषेधाद्-अनिदा, यत् स्वं पुत्रादिकमन्यं वा विभागेनाविविच्य सामान्येन विधीयते । अथ वा-व्यापाद्यस्य सत्त्वस्य हा धिक् संप्रत्येष मां मारयिष्यतीति परिज्ञानतो यत् प्राणव्यपरोपणं सा निदा, तद्विपरीता-अनिदा, यत् अजानतो व्यापाद्यस्य सत्त्वस्य व्यापादनमिति ।

तथा चाह भाष्यकृत्—

जाणंतो अजाणंतो, तहेव उद्दिसिय ओहओ वाऽवि ।
जाणगअजाणगं वा, वहेइ अनेया निया एसा ॥ २१ ॥

व्याख्यातार्थो । ततो निदया अनिदया वा यः षट्कायप्रमर्दनं करोति—षण्णां पृथिव्यादीनां कायानां प्राणव्यपरोपणं विदधाति । तत् षट्कायप्रमर्दनम् आत्मघ्नम् नोआगमतो द्रव्यात्मघ्नं ब्रुवन्ति तीर्थकरगणधराः । अथ षट्कायप्रमर्दनं कथं नोआगमतो द्रव्यात्मघ्नम् ?, यावता भावाऽऽत्मघ्नं कस्मान्न भवति ?; अत आह-

दव्वाऽऽया खलु काया,

अस्य व्याख्या—कायाः—पृथिव्यादयः खलु निश्चयेन द्रव्यात्मानो द्रव्यरूपा आत्मानः जीवानां गुणपर्यायवत्तया द्रव्यत्वात् , उक्तं च-" अजीवकायाः-धर्माऽधर्माऽऽकाशपुद्गलाः, द्रव्याणि जीवाश्च " (तत्त्वा० ५ अ०-सूत्र१-२) इति । ततस्तेषां यत् उपमर्दनं तत् द्रव्याऽऽत्मघ्नं भवति । उक्तं द्रव्यात्मघ्नम् ।

संप्रति भावाऽऽत्मघ्नं वक्तव्यं, तच्च द्विधा-आगमतो, नोआगमतश्च । तत्र आगमत आत्मघ्नशब्दार्थज्ञाता तत्र चोपयुक्तः ।

नोआगमत आत्मघ्नमाह—

भावाऽऽया तिन्नि नाणमाईणि ।
परपाणपाडणरओ, चरणायं अप्पणो हणइ ॥ १०४ ॥

भावाऽऽत्मानो भावरूपा आत्मानस्त्रीणि ज्ञानादीनि—ज्ञानदर्शनचारित्राणि आत्मनो हि पारमार्थिकं स्वरूपं ज्ञानदर्शनचरणात्मकं ततस्तान्येव परमार्थत आत्मनो न शेषं द्रव्यमात्रं स्वस्वरूपाभावात् , ततो यश्चारित्री सन् परेषां पृथिव्यादीनां ये प्राणा इन्द्रियादयस्तेषां यत् पातनं-विनाशनं तस्मिन् रतः-आसक्तः स आत्मनश्चरणरूपं भावाऽऽत्मानं हन्ति । चरणात्मनि च हते ज्ञानदर्शनरूपावप्यात्मानौ परमार्थतो हताविव द्रष्टव्यौ ।

यत आह—

निच्छयनयस्स चरणा-ऽऽयविघाए नाणदंसणवहो वि ।
ववहारस्स उ चरणे, हयम्मि भयणा उ सेसाणं ॥१०५॥

निश्चयनयस्य मतेन चरणात्मविघाते सति ज्ञानदर्शनयोरपि वधो-विघातो द्रष्टव्यः, ज्ञानदर्शनयोर्हि फलं चरणप्रतिपत्तिरूपा सन्मार्गप्रवृत्तिः । सा चेन् नास्ति तर्हि ते अपि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञानदर्शने परमार्थतोऽसती एव, स्वकार्याकरणात् । उक्तं च मूलटीकायाम्-चरणाऽऽत्मविघाते ज्ञानदर्शनवधोऽपि तयोश्चरणफलत्वात् फलाभावे च हेतोर्निरर्थकत्वादिति । अपि च-यश्चरणं प्रतिपद्य आहारलाम्पट्यादिना ततो न विनिवर्त्तते स नियमाद्भगवदाज्ञाविलोपादिदोषभागी, भगवदाज्ञाविलोपादौ च वर्तमानो न सम्यग्ज्ञानी नापि सम्यग्दर्शनी । उक्तं च—

" आणाइ च्चिय चरणं, तब्भंगे जाण किं न भग्गं ति ।
आणं च अइक्कंतो, कस्साऽऽएसा कुणइ सेसं " ॥ १ ॥

तथा—

"जो जह वायं न कुणइ, मिच्छादिट्ठी-तओ हु को अन्नो ।
वड्ढइ य मिच्छत्तं, परस्स संकं जणेमाणो "॥ २ ॥

ततश्चरणविघाते नियमतो ज्ञानदर्शनविघातः । व्यवहारस्य-व्यवहारनयस्य पुनर्मतेन हते चरणे शेषयोर्ज्ञानदर्शनयोर्भजना कश्चिद्भवतः । कश्चिन्न । य एकान्तेन भगवतो विप्रतिपन्नस्तस्य न भवतो यस्तु देशविरतिं भगवति अज्ञानमात्रं वा कुरुते तस्य व्यवहारनयमतेन सम्यग्दृष्टित्वाद्भवत इति । ततो निश्चयनयमतापेक्षया चरणात्मनि हते ज्ञानदर्शनरूपावप्यात्मानौ हतावेवेति । परप्राणव्यपरोपणरतः समूलघातमात्मघ्न इति परप्राणव्यपरोपणमात्मघ्नं, तच्च साधोराधाकर्मभुञ्जानस्यानुमोदनादिद्वारेण नियमतः संभवतीत्युपचारतः आधाकर्म आत्मघ्नमित्युच्यते तदेवमुक्तमात्मघ्ननाम । पिं० । आत्मघ्नपिण्डे, पिं० ।

आता (या) हिगरणवत्तिय-आत्माधिकरणप्रत्यय-त्रि० । आत्मनोऽधिकरणानि आत्माधिकरणानि तान्येव प्रत्ययः-कारणं यत्र क्रियाकरणे तदात्माधिकरणप्रत्ययम् । आत्माधिकरणकारणके " आयाहिगरणवत्तियं च णं तस्स नो इरियावहिया किरिया कज्जइ, संपराइया किरिया कज्जइ " (सूत्र-२६२ ×) । साम्परायिकी क्रिया क्रियत इति योगः । भ० ७ श० १ उ० ।

आता (या) हिगरणि (न्)-आत्माधिकरणिन्-पुं० । अधिकरणी कृष्यादिमान् आत्मनाऽधिकरणी आत्माधिकरणी । आत्मना कृष्यादिमति, भ० १६ श० १ उ० । " आया हिगरणी भवइ" (सूत्र-२६२×)। आत्मा-जीवोऽधिकरणानि-हलशकटादीनि कषायाश्रयभूतानि यस्य सन्ति सोऽधिकरणी । भ० ७ श० १ उ० ।

आता(या)हिय-आत्महित-त्रि० । आत्मोपकारके, आचा० । " परलोकविरुद्धानि, कुर्वाणं दूरतस्त्यजेत् । आत्मानं यो न सन्धत्ते, सोऽन्यस्मै स्यात्कथं हितः ॥१॥ " इति । आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० ।

आति (ती) ण- आजिन-न० । मूषिकादिचर्मनिष्पन्ने वस्त्रे, आचा० । " आति (नी) णाणि वा, " (सूत्र-१४५ +) । आजिनानि मूषिकादिचर्मनिष्पन्नानि । आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

आती (अप्पी) कय- आत्मीकृत-त्रि० । आत्मना गाढतरमागृहीते आत्मप्रदेशैस्तनुलग्नतोयवन्मिश्रीभूते, विशे० । आ० म० ।

आतीय-आतीत-त्रि० । आ-समन्तादतीव इतः-ज्ञातः । समन्तादतीव ज्ञाते, सामस्त्येनातिक्रान्ते, समन्तादतीव गते च । आचा० १ श्रु० ८ अ० ६ उ० । " अणातीय " (सूत्र-२२२+) आ—समन्तादतीव इतो-गतोऽनाद्यनन्ते संसार आतीतः न आतीतोऽनातीतः, अनाप्तो वा संशयो येन स तथा; संसारार्णवपारगामीत्यर्थः । आचा० १ श्रु० ८ अ० ७ उ० ।

आत्मीय-त्रि० । आत्मनोऽयम् । छ अत्ययः छस्य ईयाऽऽदेशश्च । आत्मसंबन्धिनि, वाच० ।

आतीयट्ठ-आतीतार्थ-त्रि० । आ-समन्तादतिशयेन ज्ञातजीवादिपदार्थे, सामस्त्येनातिक्रान्तार्थे, उपरतव्यापारे, " आतीयट्ठ अणातीए " (सूत्र-२२२+)। आ-समन्तादतीव इताः-ज्ञाताः परिच्छिन्ना जीवादयोऽर्था येन सोऽयमतीतार्थः । आदत्तार्थे वा । यदि वा—अतीताः-सामस्त्येनातिक्रान्ता अर्थाः—प्रयोजनानि यस्य स तथा; उपरतव्यापार इत्यर्थः । आचा० १ श्रु० ८ अ० ६ उ० ।

आतुर-आतुर-त्रि० । ईषदर्थे, आ । आत-उरच् । कार्योऽक्षमे वाच० । विह्वले, उत्त० ३२ अ० ।

आतेस्सरिय-आत्मैश्वर्य-न० । स्वरूपसाम्राज्ये, अष्ट० । आत्मैश्वर्यम्-स्वरूपसाम्राज्यम् (१ श्लो०टी०) अष्ट० १२ अष्ट० ।

आत्त(ताय)-आदत्त-त्रि० । गृहीते, अनु० । " आत्तपणं सरीरसमुस्सयणं जिणदिट्ठेणं भावेणं, " (सूत्र-१७+) । आत्तेन आदत्तेन वा गृहीतेन प्राकृतशैलीवशादात्मीयेन वा । अनु० ।

आत्ततर- आत्ततर-त्रि० । अतिशयेन आत्तो-गृहीतः आत्ततरः । यत्नेनाध्यवसिते, आचा० १ श्रु० ८ अ० ८ उ० ।

आदं (यं) स-आदरिस-आदस्स-आदर्श-पुं० । आदृश्यतेऽत्र दृश-आधारे घञ् । वाच० । आ-समन्ताद् दृश्यते आत्मा यस्मिन् स आदर्शः । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । दर्पणे, रा० । " आदंसगं च पयच्छाहि " (सूत्र-११+) । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । चक्षुरिन्द्रियजज्ञाने च । " आवणं वेदनादर्शाऽऽस्वादवार्ताश्च वित्तयः ॥११॥ " द्वा० । आदर्शश्चक्षुरिन्द्रियजज्ञानम्, आ-समन्तात् दृश्यते-अनुभूयते रूपमनेनेति कृत्वा, यत्प्रकर्षाद्दिव्यरूपज्ञानमुत्पद्यते । द्वा० २६ द्वा० । तत्र हि बिम्बपदार्थस्य प्रतिबिम्बपतनात् तत्संयोगेन नयनरश्मीनां परावर्तने वा बिम्बग्राहितया बिम्बं दृश्यत इति तस्य तथात्वम् । आदृश्यते सम्यग्रूपेण ज्ञायते प्राप्यार्थो यस्मिन् । टीकायां ३ प्रतिरूपपुस्तकादौ यत्रत्यमक्षरसंनिवेशं दृष्ट्वा तदनुरूपमन्यल्लिख्यते तादृशे पुस्तके । यथादर्शं तथा लिखितमिति भूरि प्रयोगः । तत्र तदीयगुणान् दृष्ट्वा परैस्तथा गुणा आश्रीयन्त इति तस्य तथात्वम् । जनपदसीमाभेदे च । वाच० । वृषभादिग्रीवाभरणे च । आदर्शस्तु-वृषभादिग्रीवाभरणम् । अनु० ।

आदं (यं) सग-आदरिसग- आदसग-आदर्शक-पुं० । आ-समन्ताद् दृश्यते आत्मा यस्मिन् स आदर्शः । स एवादर्शकः । दर्पणे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । रा० । आदर्शे भवः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भवादौ वुञ् जनपदावधिसूचकस्थानभेदे च । त्रि०। वाच०।

आदं (यं) स (आदरिस) (आदस्स) घरग-आदर्शगृहक- न०। आदर्शमये गृहे, रा०। "आदंसघरगा सव्वरयणामया" आदर्शगृहकाणि आदर्शमयानीव गृहाणि। रा०। जं०। जी०। (भरतस्यादर्शगृहस्थितिकथानकं 'भरह' शब्दे पञ्चमभागे वक्ष्यते।)

आदं (यं) सतल-आदर्शतल- न०। दर्पणतले, औ०।

आदं (यं) स (आदरिस) (आदस्स) तलोवम-आदर्शतलोपम- त्रि०। आदर्शो-दर्पणस्तस्य तलं तेन समतयोपमा यस्य आदर्शतलोपमः। आदर्शतलवत्समे, रा०।

आदं (यं स (आदरिस)(आदस्स) मंडल-आदर्शमण्डल- न०। आदर्श इव मण्डलमस्य। आदर्शाकारमण्डलयुक्ते सर्पभेदे, आदर्शो मण्डलमिव। मण्डलाकारे दर्पणे, न०। वाच०। जावशब्दग्राह्ये वहुसमत्ववर्णके टीकायाम् पाठः— "आयंसमण्डलेइ वा" (सूत्र-६+)। जं० १ वक्ष०। "आयंसमंडलतल व्व" (सूत्र-२६)। प्रश्न० ५ संव० द्वार।

आदं (यं) स (आदरिस) (आदस्स) मुह-आदर्शमुख- पुं०। स्वनामख्याते अन्तरद्वीपभेदे. जी० ३ प्रति० ३ अधि०। तद्वक्तव्यता 'अन्तरदीव' शब्दे प्रथमभागे गता)

आदं (यं) स (आदरिस) (आदस्स) लिवि-आदर्शलिपि- स्त्री०। ब्राह्मलिपेर्लेख्यविधानभेदे, स० १८ सम०।

आद (य) र-आदर- पुं०। आ-दृ-अप्। गौरवहेतुके कर्मणि, सम्माने, वाच०। सत्कारे, स्था० ६ ठा० ३ उ०। "तं पुरिसं आयरेण रक्खेह॥ १३३ +॥ आ० म० १ अ०। उचितकृत्यकरणे, आ० १ श्रु० १ अ०। प्रयत्नातिशये, पञ्चा०। "यत्रादरोऽस्ति परमः, प्रीतिश्च हितोदया भवति। कर्तुः शेषत्यागेन करोति यच्च तत्प्रीत्यनुष्ठानम्"॥३॥ पञ्चा० २ विव०। "आ दृङः सन्नामः" ॥ ८। ४। ८३॥ इति हैमप्राकृतसूत्रेणाद्रियतेः सन्नाम इत्यादेशो वा भवति। सन्नामइ। आदरेइ। प्रा०।

आद (य) रण-आदरण- न०। अभ्युपगमे, भ० १२ श० ५ उ०।

आद (य) रणया-आदरणता- स्त्री०। अभ्युपगमे, " आयरणया " (सूत्र-४४६ +)। ' आयरणय ' त्ति-यतो मायाविशेषादादरणमभ्युपगमं कस्यापि वस्तुनः करोत्यसावादरणम्, ताप्रत्ययस्य च स्वार्थिकत्वात् आदरणता, आचरणं वा परप्रतारणाय विविधक्रियाणामाचरणम्। भ० १२ श० ५ उ०।

आद (य) रतर-आदरतर- पुं०। अत्यादरे, दश०। "आयरतरेण रंधंति" (११२×)। अत्यादरेण राध्यन्ति। दश०१ अ०।

आद (य) राइजुत्त-आदरादियुक्त- त्रि०। आदरकरणप्रीत्यादिसमन्वित, षो०।

स्यादादरादियुक्तं, यत्तद्देवार्चनं चेष्टम्॥ १४॥

'स्यादादरादियुक्तं' यद् आदरकरणप्रीत्यादिसमन्वितं यत् स्यात् तद्देवार्चनं चेष्टं-तच्च देवार्चनमिष्टम्। षो० ५ विव०।

आदहण-आदहन- न०। आ-दह-भावे ल्युट्। दाहे, हिंसायाम्, कुत्सने च। आदह्यतेऽत्र आधारे ल्युट् श्मशाने, वाच०। आ-समन्ताद्दहने, सूत्र० २ श्रु० १ अ०।

आदा (या) ण-आदान- न०। आ-दा-भावे ल्युट्। ग्रहणे, वाच०। प्रश्न० ३ आश्र० द्वार। पं० व०। औ०। आ० चू०। उत्त०। स्था०। विशे०। प्रव०। "आयाणं सुसमाहरे" ॥२०॥ आहरेत्-आददीत; गृह्णीयादित्यर्थः। सूत्र० १ श्रु० ८ अ०। "दंडसमादाणं संपहाए" (सूत्र-७५×)। दण्ड्यन्ते-व्यापाद्यन्ते प्राणिनो येन स दण्डस्तस्य सम्यगादानं-ग्रहणम्-समादानम्। आचा० १ श्रु० २ अ० २ उ०। स्वीकरणे, स्था० ३ ठा० ३ उ०। "सयमाइयंति अन्ने वि, आदियावेंति अन्नं पि आयतंतं समणुजाणंति" (सूत्र-६+) स्वयम्-आत्मना सावद्यमनुष्ठानमाददते स्वीकुर्वन्ति अन्यानप्यादापयन्ति—ग्राहयन्ति अन्यमप्यादानं-परिग्रहं स्वीकुर्वन्तं समनुजानन्ति। सूत्र० २ श्रु० १ अ०। आदीयत इत्यादानम् परिग्राह्ये वस्तुनि, स्था० ४ ठा० १ उ०। आदीयते-गृह्यत इत्यादानम्। धनधान्यादिके परिग्रहे, आव० ४ अ०। प्रव०। कल्प०। स्था०।

आयाणं नरयं दिस्स, नायइज्ज तणामवि॥ ८+॥

साधुस्तृणमपि 'नायइज्ज' इति-नाऽऽददीत-अदत्तं न गृह्णीत, किं कृत्वा आदानं-नरकं दृष्ट्वा आदीयते इत्यादानं-धनधान्यादिकं परिग्रहं, नरकं-नरकहेतुत्वान्नरकं; ज्ञात्वेत्यर्थः। उत्त० लक्ष्मी० टी० ६ अ०। आदीयत इत्यादानं-धनधान्यादि. कृत्यल्युटोऽन्यत्रापि "कृत्यल्युटो बहुलम्" (पाणि० ३।३।११३।) इति कर्मणि ल्युट्। आपेत्यादादानीयं वा, नरककारणत्वान्नरकं दृष्ट्वा, किमित्याह—नाददीत—न गृह्णीत न स्वीकुर्यादिति यावत्। 'तणामवी'ति तृणमप्यास्तां रजतरूप्यादीनि। उत्त०पाई० १ अ०। मिथ्यात्वादिनाऽऽदीयत इत्यादानम्। सूत्र० १ श्रु० १३ अ०। आदीयते सावद्यानुष्ठानेन स्वीक्रियते इत्यादानम्, कर्म। "आयाणसोयगढिए" (सूत्र-१३८×)। अष्टप्रकारके कर्मणि, सूत्र० १ श्रु० १३ अ०। आचा०। आदीयते वाऽनेनेत्यादानम्। कर्मोपादाने, "आयाणं" (सूत्र-१८५+)। आचा०१ श्रु०६ अ० ३ उ०। "सागारिए उवस्सए णो ठाणं वा निसीयणं वा तुयट्टणं वा चेतेज्जा। आयाणमेयं" (सूत्र-६७×)। आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० १ उ०। "एयं खु मुणी आयाणं सया सुअक्खायधम्मे विधूतकप्पे णिज्झोसइत्ता" (सूत्र-१८५+)। एतत्-पूर्वोक्तं वक्ष्यमाणं वा खुः वाक्यालंकारे, आदीयत इत्यादानं—कर्म, आदीयते वाऽनेन कर्मेत्यादानं-कर्मोपादानम् तच्च धर्मोपकरणातिरिक्तं वक्ष्यमाणं वस्त्रादि तन्मुनिर्झोषयित्वेति संवन्धः। आचा० १ श्रु० ६ अ० ३ उ०। "सन्ति मे तओ आयाणा जेहिं कीरइ पावगं" (२६×)। सन्ति-विद्यन्ते अमूनि त्रीणि आदीयन्ते—स्वीक्रियन्ते आमीभिः कर्मेत्यादानानि एतदेव दर्शयति-यैरादानैः क्रियते-विधीयते निष्पाद्यते पापकं कल्मषम्। सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ०। "संखडिं संखडिपडियाए णो अभिसंधारेज्जा गमणाए, केवली बूया-आयाणमेयं" (सूत्र-१७+)। केवली

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रूयात्-आदानमेतत्-कर्मोपादानमेतदिति। पाठान्तरं वा—'आयवणमेयं' ति-आयतनं-स्थानमेतद्दोषाणां यत्संखडीगमनम्। आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ३ उ०। "एते आययणा संति" (सूत्र-१५×)। यस्मादेतानि आयतनानि-कर्मोपादानकारणानि सन्ति-भवन्ति। आचा० २ श्रु०१ चू० १ अ० ३ उ०। आदीयते-गृह्यते आत्मप्रदेशैः सह श्लिष्यते अष्टप्रकारं कर्म येन तदादानम्। हिंसाद्याश्रवद्वारे, अष्टादशपापस्थानेषु च। आचा० १ श्रु० ३ अ० ४ उ०। "आयाणं सगडब्भिज्जं" (सूत्र-२२१ ×)। आदीयते-गृह्यते आत्मप्रदेशैः सह श्लिष्यते अष्टप्रकारं कर्म येन तदादानं हिंसाद्याश्रवद्वारमष्टादशपापस्थानरूपं वा, तत् स्थितेर्निमित्तत्वात् कषायापादानं तद्भमिता स्वकृतभिद् भवति। आचा० १ श्रु० ३ अ०१ उ०। ('सगडब्भिज्ज' शब्दे सप्तमे भागे व्याख्या द्रष्टव्या) कषाये, परिग्रहे, सावद्यानुष्ठाने च। सूत्र० १ श्रु० १६ अ०। "जओ जओ आदाणं अप्पणो पद्दोसहेऊ तओ तओ आदाणतो पुव्वं पडिविरते" (सूत्र-×) आदीयते-स्वीक्रियतेऽष्टप्रकारं कर्म येन तदादानम्-कषायः परिग्रहः सावद्यानुष्ठानं चेति। सूत्र० १ श्रु० १६ अ०।

सुमावायं बहिद्धं च, उग्गहं च अजाइया।
सत्थादाणाइँ लोगंमि, तं विज्जं परिजाणिया ॥ १० ॥
पलिउंचणञ्च भयणञ्च, थंडिल्लुस्सयणाणि य।
धूणादाणाइँ लोगंसि, तं विज्जं परिजाणिया ॥ ११ ॥

तथा-आदीयते-गृह्यतेऽष्टप्रकारं कर्मभिरिति (आदानानि)-कर्मोपादानकारणान्यस्मिन्। सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। एतानि पलिकुञ्चनादीनि अस्मिन् लोके आदानानि वर्तन्ते तदेतद्विद्वान् ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया प्रत्याचक्षीत। सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। (१०-११। अनयोर्गाथयोर्विशेषतः व्याख्यानं 'धम्म' शब्दे चतुर्थभागे करिष्यते) आदीयते-स्वीक्रियते; प्राप्यते वा मोक्षो येन तदादानम्। ज्ञानदर्शनचारित्रेषु, "वुसीए य विगयगिद्धी आयाणं सम्मरक्खए" ॥११×॥ त्रिविधम्-अनेकप्रकारमुषितः-स्थितो दशविधचक्रवालसामाचार्यां व्युषितस्तथा विगता-अपगता आहारादौ गृद्धिर्यस्यासौ विगतगृद्धिः साधुरेवंभूतश्चादीयते-स्वीक्रियते, प्राप्यते वा मोक्षो येन तदादानीयं ज्ञानदर्शनचारित्रत्रयं तत्सम्यग् रक्षयेद्-अनुपालयेत्; यथा तस्य वृद्धिर्भवति तथा कुर्यादित्यर्थः। सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ०। "आयाणअट्ठी वोदाणमोणं" (सूत्र-१७×)। मोक्षार्थिनाऽऽदीयत इत्यादानम् सम्यक्ज्ञानादिकमिति। सूत्र० १ श्रु० १४ अ०। "आयाणवं धम्ममुदाहरेज्जा ॥५५॥ मोक्षार्थमादीयत इत्यादानं-सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूपं तद्विद्यते यस्यासावादानवान्। सूत्र० २ श्रु० ६ अ०। "आयाणं सुसमाहरे" ॥२६॥ मोक्षस्यादानम्-उपादानं सम्यग्दर्शनादिकं सुष्ठुशुद्धः सम्यग्विस्रोतसिकारहित आहरेत्-आददीत; गृह्णीयादित्यर्थः। सूत्र० १ श्रु० ८ अ०। "अज्झप्पजोगसुद्धादाणे" १४१। (सूत्र-३ ×) शुद्धमवदानम् आदानं-चरित्रं यस्य स शुद्धादानो भवति। सूत्र० १ श्रु० १६ अ०। आदीयत इत्यादानम्। मोक्षे, "आयाणमट्ठं खलु वंचयित्ता" (सूत्र-४+) आदीयत इत्यादानम्-ज्ञानादिकं, मोक्षो वा तमर्थं वञ्चयन्ति-भ्रंशयन्त्यात्मनः। सूत्र० १ श्रु० १३ अ०। संयमे, "आयाणगुत्ते वलयाविमुक्के ॥२२+॥ मोक्षार्थिनाऽऽदीयते-गृह्यत इत्यादानं-संयमस्तेन तस्मिन्वा सति गुप्तः। सूत्र० १ श्रु० १२ अ०। संयमानुष्ठाने च। "एस वीरे पसंसिए, जे ण णिव्विज्जति आदाणाए" (सूत्र-८५+) भोगाशाकृत्यविवेचकोऽप्रमादी पञ्चमहाव्रतभारारोहणाक्षामितस्कन्धो वीरः कर्मविदारणात् प्रशंसितः-स्तुतो देवराजादिभिः, क एष वीरो नाम योऽभिष्टूयत इत्यत आह-'जे' इत्यादि; यो न निर्विद्यते न खिद्यते-न जुगुप्सते, कस्मै? आदानाय—आदीयते-गृह्यते अवाप्यते आत्मस्वतत्त्वमशेषाचारककर्मक्षयाविर्भूतसमस्तवस्तुग्राहिज्ञानाबाधसुखरूपं येन तदादानं—संयमानुष्ठानं तस्मै न जुगुप्सते, तद्वा कुर्वन् सिकताकवलचर्वणदर्शीयं क्वचिदलाभादौ न खेदमुपयातीति। आचा०१ श्रु० २ अ० ४ उ०। आदीयत इत्यादानम्। प्रथमव्रतग्रहणे। सूत्र०। "जावज्जीवाए, जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो, आमरणंताए दंडे निक्खित्ते" (सूत्र०)। यावद्वेयेषु वा श्रमणोपासकस्याऽऽदीयत इत्यादानम्-प्रथमव्रतग्रहणम्; तत आरभ्य आमरणान्ताद्दण्डो निक्षिप्तः-परित्यक्तो भवति। सूत्र०२ श्रु०७ अ०। केनचिदादीयत इत्यादानम्। सूत्र० २ श्रु० २ अ०। कारणे, कल्प०। "आयाणमेवं," कर्मणां-दोषाणां वा आदानम्-उपादानकारणम्। कल्प० ३ अधि०६ क्षण। "एगइओ केणइ आयाणेणं विरुद्धे समाणे" (सूत्र-३२+)। सूत्र० २ श्रु० २ अ०। एकः कश्चित् प्रकृत्या क्रोधनोऽसहिष्णुतया केनचिदादीयत इत्यादानम्-शब्दादिकं कारणं तेन विरुद्धः समानः परस्यापकुर्यात् शब्दादानेन तावत्केनचिदाकृष्टो निन्दितो वाऽऽविरुध्येत् रूपादानेन तु बीभत्सं कञ्चन दृष्ट्वा अपशकुनाध्यवसायेन कुप्येत। सूत्र० २ श्रु० २ अ०। आदीयन्ते-गृह्यन्ते शब्दादयोऽर्था एभिरित्यादानानि। इन्द्रिये, सू० १ उ०। केवली णं आयाणेहिं न जाणइ न पासइ" (सूत्र-१६८+)। आदीयते गृह्यतेऽर्थः एभिरित्यादानानि-इन्द्रियाणि तैर्न जानाति केवलित्वाद्। भ० ५ श० ४ उ०। "आयाणनिरुद्धाओ" ॥१८६+॥ आदानानीन्द्रियाणि निरुद्धानि यस्यां सा निरुद्धादाना, गाथायां व्यत्यासेन पूर्वापरनिपातः प्राकृतत्वाद्। सू० १ उ० ३ प्रक०। "आयाणगुत्ता विकहाविहीणा" (८८४+)। आदानैः-इन्द्रियैर्गुप्ताः। सू०३ उ०। आदीयते कर्मानेनेत्यादानम्। दुष्प्रणिहिते इन्द्रिये च। आचा०। "आयाणसोयमतिवायसोयं" ॥१६×॥ आचा० १ श्रु०६ अ०। आदीयते गृह्यते, प्रथमम्-आदौ यत्तदानम्। सूत्र०१ अ०१० अ०। आचा०। आद्ये (प्रथमे) "आयाणपएणेयं ॥५०३+॥ आदीयत-इत्यादानम्—आदेः; प्रथममित्यर्थः, तच्च तत्पदञ्च निराकाङ्क्षतया अर्थगमकत्वेन वाक्यमेवादानपदम्। उत्त० २६ अ०। "से किं तं आयाणपदेणं" (सूत्र-+) आदीयते तत्प्रथमतया उच्चारयितुमारभ्यते शास्त्रस्याध्ययनोद्देशकादेश्चादिपदमित्यर्थः। अनु०। नि०चू०।

आदानशब्दस्य तत्पर्यायस्य च ग्रहणशब्दस्य
च निक्षेपं कर्तुकामो निर्युक्तिकृदाह—

आदाणे गहणंमि य, णिक्खेवो होति दोन्नि वि चउक्के।

एगढुं नाणट्ठं, च होज्ज पगयं तु आदाणे ॥ १३२ ॥

अथवा-' जमतीयं ' ति-अस्याध्ययनस्य नाम, तच्चादानपदेन, आदावादीयत इत्यादानं, तच्च ग्रहणमित्युच्यते, तत्राऽऽदानग्रहणयोर्निक्षेपार्थं निर्युक्तिकृदाह-'आदाणे' इत्यादि. आदीयते-कार्यार्थिना तदित्यादानं. कर्मणि ल्युट्प्रत्ययः, करणे वा, आदीयते-गृह्यते स्वीक्रियते विवक्षितमनेनेति-कृत्वा, आदानं च-पर्यायतो ग्रहणमित्युच्यते, तत आदानग्रहणयोर्निक्षेपो भवति द्वौ चतुष्कौ, तद्यथा-नामादानम्, स्थापनादानम्, द्रव्यादानम्, भावादानञ्च । तत्र नामस्थापने क्षुण्णे, द्रव्यादानं वित्तं यस्माल्लौकिकैः परित्यक्तान्यकर्त्तव्यैर्महता क्लेशेन तदादीयते, तेन वाऽपरं द्विपदचतुष्पदादिकमादीयत इति कृत्वा, भावाऽऽदानं तु द्विधा-प्रशस्तम्, अप्रशस्तं च । तत्र-अप्रशस्तम्-क्रोधाद्युदयो, मिथ्यात्वाविरत्यादिकं वा, प्रशस्तं-तूत्तरोत्तरगुणश्रेण्या विशुद्धाध्यवसायकण्डकोपादानं, सम्यक्ज्ञानादिकं वेत्येतदर्थप्रतिपादनपरमेतदेव वाऽध्ययनं द्रष्टव्यमिति । सूत्र०१ श्रु०१५ अ० ।

आदा (या) णअट्ठि (न्)-आदानार्थिन्-पुं० । मोक्षार्थिनाऽऽदीयते इत्यादानम्—सम्यक्ज्ञानादिकं तेनार्थः स एवार्थः आदानार्थः स विद्यते यस्यासावादानार्थी । सम्यक्ज्ञानादिप्रयोजनवति, " आदाणअट्ठी वोदाणमोणं " (सूत्र-१७ ×) । सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

आदा (या) णगुत्त-आदानगुप्त-त्रि० । संयमगुप्ते, मनोवाक्कायैः कर्मणि गुप्ते च । सूत्र० । "आयाणगुत्ते वलयाविमुक्के" (सूत्र-२२ +) । मोक्षार्थिनाऽऽदीयते—गृह्यत इत्यादानं-संयमस्तेन तस्मिन्वा सति गुप्तः, यदि वा-मिथ्यात्वादिनाऽऽदीयते इत्यादानम्-अष्टप्रकारकं कर्म तस्मिन्नादातव्ये मनोवाक्कायैर्गुप्तः समितश्च । सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । इन्द्रियैर्गुप्ते च । "आयाणगुत्ता विकहाविहीणा" (८८४×) । आदानैः-इन्द्रियैर्गुप्तः । बृ० ३ उ० ।

आदा (या) णणिक्खेवदुगुंछय-आदाननिक्षेपजुगुप्सक-त्रि० । आदाननिक्षेपौ—पात्रादेर्ग्रहणमोक्षौ आगमप्रतिषि (सि) (द्ध) द्धौ जुगुप्सति-न करोतीति आदाननिक्षेपजुगुप्सकः । आचा० ४ अ० । आगमप्रति(षि)द्धौ पात्रादेर्ग्रहणमोक्षौ न कुर्वति. आगमानुसारेण प्रत्यवेक्षणप्रमार्जनपूर्वमुपयुक्तः सन्नुपधेरादाननिक्षेपौ करोतीत्यर्थः । (६४३ गाथाटी०) । प्रव० ७२ द्वार ।

आदा (या) णनिरुद्ध निरुद्धाऽऽदान-त्रि० । निरुद्धेन्द्रिये, " आयाणनिरुद्धाओ " ॥ १८६ × ॥ आदानानि-इन्द्रियाणि निरुद्धानि यस्यां सा निरुद्धाऽऽदाना, गाथायां व्यत्यासेन पूर्वाऽपरनिपातः प्राकृतत्वात् । बृ० १ उ० ३ प्रक० ।

आदा (या) णपय-आदानपद-न० । आदीयते-गृह्यते प्रथमम्-आदौ यत्तदादानम् आदानञ्च तत्पदं च सुबन्तं तिङन्तं वा तदादानपदम् । सूत्र० १ श्रु० १५ अ० । शास्त्रस्याध्ययनोद्देशकादेश्चादिपदे, अनु० । येषामादानपदेनाऽभिधानं तन्मतेनादौ यत्पदं तदादानपदम् । सूत्र० १ श्रु० १५ अ० । उत्त० ।

से किं तं आयाणपदेणं ?, आयाणपएणं धम्मो मंगलं चूलिआ आवंती चाउरंगिज्जं असंखयं अहातत्थिज्जं अद्दइज्जं जण्णइज्जं पुरिसइज्जं (उसुकारिज्जं) एलइज्जं वीरियं धम्मो मग्गो समोसरणं गत्थो जंमइयं । सेतं आयाणपएणं । (सूत्र-१३१×)

' से किं तं आयाणपएणमि 'त्यादि-आदीयते-तत्प्रथमतया उच्चारयितुमारभ्यते शास्त्रादानेनेत्यादानं तच्च तत्पदं चादानपदं. शास्त्रस्याध्ययनोद्देशकादेश्चादिपदमित्यर्थः, तेन हेतुभूतेन किमपि नाम भवति, तच्च "आवंती" त्यादि, तत्र-आवन्तीत्याचारस्य पञ्चमाध्ययनम्, तत्र ह्यादावेव-'आवंती' त्यालापको विद्यते इत्यादानपदेनैतन्नाम । "चाउरंगिज्जं" ति-एतदुत्तराध्ययनेषु तृतीयमध्ययनम्, तत्र-"चत्तारि परमंगाणि दुल्लहाणीह जंतुणो" इत्यादि विद्यते, " असंखयं ति—इदमप्युत्तराध्ययनेष्वेव चतुर्थमध्ययनम्, तत्र च आदावेव-" असंखयं जीवियमापमायए " इत्येतत् पदमस्ति, ततस्तेनेदं नाम, एवमन्यान्यपि कानिचिदुत्तराध्ययनान्तर्वर्तीन्यध्ययनानि; कानिचित्तु दशवैकालिकसूयगडाध्ययनानि (सूत्रकृताङ्गाऽध्ययनानि) स्वधिया भावनीयानि । अनु० ।

आदा (या) णफलिह-आदानपरिघ-पुं० । आदीयते-द्वारस्थगनार्थं गृह्यत इत्यादानः । स चासौ परिघश्चादानपरिघः । द्वारस्थगनार्थे प्रासादायामर्गलायाम्, जं० २ वक्ष० २१ सूत्रटी० । जी० । " आयाणफलिह० " (सूत्र-२१+) आदीयते इत्यादानम्-आवेश्यो-रम्यो यः परिघः-अर्गला स आदानपरिघः । रथ्यायामर्गलायाम्, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

आदा (या) णभंडमत्तनिक्खेवणासमिइ-आदानभाण्डमात्रनिक्षेपणासमिति-स्त्री० । आदाने-ग्रहणे भाण्डमात्राया-उपकरणमात्रायाः, भाण्डस्य वा, वस्त्राद्युपकरणस्य मृण्मयादिपात्रस्य च साधुभाजनविशेषस्य निक्षेपणायां च समितिः सुप्रत्युपेक्षितसुप्रमार्जितक्रमेणेति आदानभाण्डमात्रनिक्षेपणासमितिः । समितिभेदे, पा० १७ सूत्रटी० । स्था० । (अत्र सूत्रम् ' समिइ ' शब्दे सप्तमे भागे वक्ष्यते) भाण्डमात्रे, आदाननिक्षेपविषया सुन्दरचेष्टा । स्था० ५ ठा० ३ उ० ४५८ सूत्रटी० । " इह च सत्त भंगा होंति पत्तादि न पडिलेहइ, ण पमज्जइ, चउभंगो, एत्थ चउत्थे चत्तारि गमा-दुप्पडिलेहियं दुप्पमज्जियं चउभंगो, आइल्ला छ अप्पसत्था, चरिमो पसत्थो, चउत्थीए उदाहरणं-"आयरिएण साहू भणिओ गामं वच्चामो, उग्गहिए संते कए इ कारणेण ठिया, एक्को एत्ताहे पडिलेहियाणि त्ति काउं ठवेउमारद्धो, साहूहिं चोइओ भणइ-किमेत्थ सप्पो अच्छइ सन्निहियाए देवयाए सप्पो विउव्विओ, एस अहण्णओ असमिओ, अन्नो तेणेव विहिणा पडिलेहित्ता ठवेइ, सो उक्कोसओ समिओ " । आव० ४ अ० १०५ गाथाटी० । अत्राप्युदाहरणम्-"एक्कस्स आयरियस्स पंच सीससयाइं, तेसिमेगो सेट्ठिसुओ पव्वइओ, सो जो जो साहू एइ तस्स तस्स डंडगं निक्खिवइ, एवं तस्स उट्ठियस्स

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्नो एति, अन्नो जाइ, तहावि सो भगवं अतुरियं अच-
चलं उवरिं हेट्ठा मज्जिउं ठवेइ। एवं बहुएण वि कालेण न
परितम्मइ" पा० १७ सूत्रटी०।

आदा (या) णभंडमत्तनिक्खेवणासमिय आदानभाण्ड-
मात्रनिक्षेपणासमित-त्रि०। "आयाणभंडमत्तनिक्खेवणा-
समिए" (सूत्र-१२ ×)। आदानेन-ग्रहणेन सह भाण्ड-
मात्रा या-उपकरणपरिच्छदस्य या निक्षेपणा-न्यासस्तस्यां
समितो यः स तथा। आदानभाण्डमात्रनिक्षेपणासमितौ
सम्यक् प्रवृत्ते, भ० २ श० १ उ०।

आदा (या) णभय-आदानभय-न०। आदीयत इत्यादा-
नं-धनं तदर्थं चौरादिभ्यो यद् भयं तदादानभयम्। आव०
४ अ० ८३ गाथाटी०। स्था०। भयस्थानभेदे, स० ७ सम०।
नि० चू०। आदानभयम्-आदानं पुरुषार्थमपुरुषार्थं वा
परेण राजादिना वितीर्णग्रामनगरभूखण्डादेः स्वीकरणं
तदेव भयम् आदानभयम् मा कञ्चनापराधमवाप्य तद् ग्रही-
ष्यति। दर्श० १ तत्त्व ६ गाथाटी०।

आदा(या)णभरिय आदानभृत-न०। आग्रहणभृते, उपा०।
"आदाणभरियंसि कडाहयंसि अद्दहेमि" (सूत्र-२८+)
आदानम्—आद्रहणं यदुदकतैलादिकमन्यतरद्रव्यपाका-
याऽऽमुच्यते तद्भृते। उपा० ३ अ०।

आदा(या)णया-आदानता-स्त्री०। ग्रहणतायाम्, इह च
तात्प्रत्ययः स्वार्थिकः। प्राकृतत्वेनादानादीनां भावविवक्षया
वा। स्था० २ ठा० २ उ०।

आदा (या) णवंत-आदानवत्-त्रि०। मोक्षार्थमादीयत
इत्यादानम् सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूपं तद्विद्यते यस्या-
सावादानवान् सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रवति साधौ, सूत्र०।
"आयाणवन्तं समुदाहरेज्जा" ॥२४॥ सूत्र० २ श्रु० ६ अ०।

आदा (या) णसोयगढिय-आदानश्रोतोगृद्ध-त्रि०। आ-
दीयते-कर्मानेनेति आदानं-दुष्प्रणिहितमिन्द्रियमादानं च
श्रोतश्चादानश्रोतः। आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० १६
गाथाटी०। आदीयते-सावद्यानुष्ठानेन स्वीक्रियते इत्यादानं
कर्म संसारबीजभूतं तस्य श्रोतांसि इन्द्रियविषया मिथ्या-
त्वाविरतिप्रमादकषाययोगा वा तेषु गृद्धः-अध्युपपन्नः।
आचा० १ श्रु० ४ अ० ३ उ०। "आदानश्रोतस्यभ्युपपन्ने,
आचा०।

आयाणसोयगढिए बाले अवोच्छिन्नबंधणे अणभिक्कंत-
संजोए तमंसि अविजाणओ आणाए लंभो णऽत्थि त्ति
बेमि।(सूत्र-१३८+)

(आदानश्रोतोगृद्धः) स्यात्, कोऽसौ? बालः-अज्ञः राग-
द्वेषमहामोहाभिभूतान्तःकरणः। यश्चादानश्रोतोगृद्धः स किं
भूतः स्यादित्याह-"अव्वोच्छिन्नबंधणे" इत्यादि, अव्यव-
च्छिन्नं-जन्मशतानुवृत्तिबन्धनम्-अष्टप्रकारं कर्म यस्य स
तथा, किञ्च-'अणभिक्कंत' इत्यादि-अनभिक्रान्तः-अनति-
लङ्घितः संयोगो धनधान्यहिरण्यपुत्रकलत्रादिकृतोऽसंय-
मसंयोगो वा येनासावनभिक्रान्तसंयोगः तस्य चैवंभूत-

स्येन्द्रियानुकूल्यरूपे मोहात्मके वा तमसि वर्त्तमानस्यात्म-
हितं मोक्षोपायं वा अविजानत आज्ञायाः-तीर्थकरोपदे-
शस्य लाभो नास्तीत्येतदहं ब्रवीमि तीर्थकरवचनोपलब्ध-
सद्भावः। आचा० १ श्रु० ४ अ० ३ उ०।

आदा (या) णिज्ज-आदानीय-त्रि०। आदीयते-उपादी-
यते इत्यादानीयः। उपादेये, स्था० ६ ठा० ३ उ०। स०।
ग्राह्ये, आचा०। "आयाणिज्जे वियाहिए" (सूत्र-१३७+)।
स वीराणां मार्गे प्रतिपन्नः मांसशोणितयोरपनेता मुमुक्षू-
णामादानीयो-ग्राह्य आदेयवचनश्च व्याख्यातः। आ-
चा० १ श्रु० ४ अ० ३ उ०। आदीयन्ते-गृह्यन्ते सर्वभावा
अनेनेत्यादानीयम्। श्रुते, भोगाङ्गे, द्विपदचतुष्पदधनधान्य-
हिरण्यादिके, आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ०। "आयाणिज्जं"
(सूत्र-१८४+) आदीयते इत्यादानीयम्। कर्मणि, आचा० १
श्रु० ६ अ० २ उ०। "आयाणिज्जं च आदाय तम्मि ठाणे ण
चिट्ठइ"। आदीयन्ते-गृह्यन्ते-सर्वभावा अनेनेत्यादानीयम्-
श्रुतम्, तदादाय तदुक्ते तस्मिन् संयमस्थाने न तिष्ठति।
यदि वा-आदानीयम्-आदातव्यं भोगाङ्गं द्विपदचतुष्पद-
धनधान्यहिरण्यादि तदादाय-गृहीत्वा। अथ वा-मिथ्या-
त्वाऽविरतिप्रमादकषाययोगैरादानीयं कर्मादाय, किंभूतो-
भवतीत्याह-तस्मिन् ज्ञानादिमये मोक्षमार्गे सम्यगुपदेशे
वा प्रशस्तगुणस्थाने न तिष्ठति नात्मानं विधत्ते। आचा० १
श्रु० २ अ० ३ उ०। "आयाणिज्जं परिण्णाय, परियाएणं
विगिंचइ (सूत्र-१८४×)। आदीयते इत्यादानीयं-कर्म तत्प-
रिज्ञाय मूलोत्तरप्रकृतिभेदतो ज्ञात्वा पर्यायेण-श्रामण्येन
विवेचयति; क्षपयतीत्यर्थः। आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ०।
आश्रयणीये, मोक्षे, मोक्षमार्गे, सम्यग्दर्शनादिके च।
"पुरिसाऽऽदाणिया नरा" ३४+। मुमुक्षुणामादानीया-
आश्रयणीयाः पुरुषादानीयाः महान्तोऽपि महीयांसो भव-
न्ति। यदि वा-आदानीयो-हितैषिणां मोक्षः, तन्मार्गो
वा-सम्यग्दर्शनादिकः पुरुषाणां-मनुष्याणामादानीयः स
विद्यते येषामिति विगृह्य मत्वर्थीयः। "अर्शआदिभ्योऽच्"
इति। सूत्र० १ श्रु० ९ अ०।

से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाए तम्हा पावं कम्मं
णेव कुज्जा ण कारवेज्जा। (सूत्र-६४ ×)

आदातव्यम्-आदानीयं तच्च परमार्थतो भावात्-आदा-
नीयं ज्ञानदर्शनचारित्ररूपं तदुत्थाय इति अनेकार्थत्वात्-
आदाय-गृहीत्वा। अथवा-स अनगारः एतदादानीयं-ज्ञा-
नाद्यपवर्गकारणम्। आचा० १ श्रु० २ अ० ६ उ०। (६६-
अस्य संपूर्णसूत्रस्य व्याख्यां 'लोगविजय' शब्दे षष्ठे भागे
करिष्यामि)। "आयाणीयं समुट्ठाय" (सूत्र-१६ +)।
आदानीयं-ग्राह्यं सम्यग्दर्शनादि सम्यगुत्थाय-अभ्युपगम्य।
आचा० १ श्रु० १ अ० २ उ०।

आदा (या) णिज्जज्झयण-आदानीयाध्ययन-न०। मोक्षा-
र्थिनाऽशेषकर्मक्षयार्थं यज्ज्ञानादिकमादीयते-तदत्र प्रतिपा-
द्यत इति कृत्वाऽऽदानीयमिति नाम संवृत्तम्। सूत्रकृता-
ङ्गस्य स्वनामख्याते पञ्चदशेऽध्ययने. सूत्र० १ श्रु० १५ अ०।
आदानपदमाश्रित्यास्याभिधानमाकारि, आदानीयं वा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञानादिकमाश्रित्य नाम कृतमिति । आदानीयाभिधानस्यान्यथा वा प्रवृत्तिनिमित्तमाह—

जं पढमस्संऽतिमए, बितियस्स उ तं हवेज्ज आदिम्मि ।
एतेणाऽऽदाणिज्जं, एसो अन्नो वि पज्जाओ ॥ १३५ ॥

यत्पदं प्रथमश्लोकस्य तदर्द्धस्य च अन्ते-पर्यन्ते तदेव पदं शब्दतः अर्थतः उभयतश्च द्वितीयश्लोकस्यादौ तदर्धस्य वाऽऽदा भवति-एतेन प्रकारेणाद्यपदसदृशत्वेनादानीयं भवति, एष आदानीयाभिधानप्रवृत्तेः पर्यायः—अभिप्रायः अन्यो वा विशिष्टज्ञानादि आदानीयोपादानादिति । केचित्तु-पुनरस्याध्ययनस्यान्तादिपदयोः संकलनात्संकलिकेति नाम कुर्वते । तस्या अपि नामादिकश्चतुर्धा निक्षेपः । (स च ' संकलिया ' शब्दे सप्तमे भागे दर्शयिष्यते) सूत्र० १ श्रु० १५ अ० । पञ्चदशे त्वादानीयाख्येऽध्ययनेऽर्थाधिकारोऽयम् , तद्यथा-" आदाणियसंकलिया आदाणीयम्मि आदयचरित्तं " ॥ २८ × ॥ आदीयन्ते-गृह्यन्ते-उपादीयन्ते, इत्यादानीयानि पदानि अर्था वा ते च प्रागुपन्यस्तपदैरर्थैश्च प्रायशोऽत्र संकलिताः, तथा-आयतं चरित्रं-सम्यक् चरित्रं मोक्षमार्गप्रसाधकं तच्चात्र व्यावर्ण्यते । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

आदाणीय-आदानीय-त्रि० । उपादेये, स्था० ६ ठा० ३ उ० । सूत्र० । (अस्य बहवोऽर्थाः ' आदाणिज्ज ' शब्देऽनुपदमेव गताः)

आदा (या) य- आदाय-अव्य० । आ-दा-ल्यप् । गृहीत्वेत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० । " इमं च धम्ममादाय, कासवेण पवेइयं " ॥ २० + ॥ आदाय-उपादाय-आचार्योपदेशेन गृहीत्वेति । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । आचा० । प्राप्येत्यर्थे, " एवं विवेगमादाय " ॥ १० × ॥ विपाकं-स्वानुष्ठानस्य आदय-प्राप्य, विवेकमिति वा क्वचित् पाठस्तद्विपाकं-विवेकं वादाय-गृहीत्वा । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । अङ्गीकृत्येत्यर्थे, " तवोवहाणमादाय " ॥ ४३ × ॥ उत्त०लक्ष्मी० २ अ० । स्वीकृत्येत्यर्थे, उत्त० पाई० २ अ० । अवगम्येत्यर्थे, " आयाए एगंतमवक्कमेज्जा " (सूत्र-३० ×) । आदाय—अवगम्यैकान्तमपक्रामेत् । आदाने, पुं० । आचा०२ श्रु० १ चू० १ अ० ६ उ० ।

आदा (या) हिणपयाहिण- आदक्षिणप्रदक्षिण-त्रि० । आ-दक्षिणात्-दक्षिणहस्तादारभ्य प्रदक्षिणः परितो-भ्राम्यतो-दक्षिण एव आदक्षिणप्रदक्षिणः । रा० । आदक्षिणाद्-दक्षिणपार्श्वादारभ्य प्रदक्षिणो-दक्षिणपार्श्ववर्ती आदक्षिणप्रदक्षिणः । विपा० १ श्रु० १ अ० । दक्षिणपार्श्वादारभ्य परितो भ्राम्यतो दक्षिणपार्श्ववर्तिनि, भ० । " समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेइ " (सूत्र-७ +) । आदक्षिणाद्-दक्षिणहस्तादारभ्य प्रदक्षिणः-परितो भ्राम्यतो दक्षिण एव आदक्षिणप्रदक्षिणोऽतस्तं करोतीति । भ० १ श० १ उ० । नि० । औ० । "आयाहिणं पयाहिणं करेंति " (१८४ गाथाटी०) । आ-सर्वतः समन्तात्-परिभ्रमतां दक्षिणमेव जन्मभवनं यथा भवति एवं प्रदक्षिणं कुर्वन्ति । आ० म० १ अ० । अं० ।

आदा (या) हिणपयाहिणा-आदक्षिणप्रदक्षिणा-स्त्री० । आदक्षिणतः-पार्श्वात्प्रदक्षिणा पार्श्वभ्रमणमादक्षिणप्रदक्षिणा । स्था० १ ठा० । दक्षिणपार्श्वादारभ्य परिभ्रमणतो दक्षिणपार्श्वप्राप्तौ, नि० । "अज्जसुहम्मं थेरं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेइ " । त्रिःकृत्वः-त्रीन् वारान् आदक्षिणप्रदक्षिणां दक्षिणपार्श्वादारभ्य परिभ्रमणतो दक्षिणपार्श्वप्राप्तिरादक्षिणप्रदक्षिणा तां करोति । नि० १ श्रु०१ वर्ग १ अ० ।

आदि(इ)च्च-आदृत्य-त्रि० । आ-दृ-कर्म्मणि क्यप् । आदरणीये, आदर्तव्ये, ल्यप् । सम्मान्येत्यर्थे, अव्य० । वाच० ।

आदित्य-पुं० । कृष्णराज्यवकाशान्तरस्थलोकान्तिकसंज्ञकार्चिर्मालिविमानस्थे लोकान्तिकदेवविशेषे, भ० ६ श० ५ उ० । समयावलिकादीनामादौ भवे, सू० प्र० २० प्राभृ० । सूर्ये, आव० ४ अ० । आदित्यो हि सर्वजगत्प्रतीतो जगत्प्रदीपकल्पो दिवसादिकालविभागकारी । (सूत्र०) आ-गोपालाङ्गनादिप्रतीतः समस्तान्धकारक्षयकारी कमलाकरोद्घाटनपटीयान् आदित्योद्गमः प्रत्यहं भवन्नुपलक्ष्यते । सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । (अस्य विमानवक्तव्यता ' विमाण ' शब्दे षष्ठे भागे वक्ष्यते) (अस्य मण्डलादिवक्तव्यता ' सूरमंडल ' शब्दे सप्तमे भागे वक्ष्यते) (अस्य आवृत्तयः ' आउट्टि ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गताः)

जस्स जओ आइच्चो, उएइ सा भवइ तस्स पुव्वदिसा ।
जत्तो य अत्थमेइ उ, अवरदिसा सा उ नायव्वा ॥४७॥
दाहिणपासम्मि य दा-हिणा दिसा उत्तरा उ वामेणं ।
एया चत्तारि दिसा, तावक्खेत्ते उ अक्खाया ॥ ४८ ॥

तापयतीति तापः-आदित्यः । आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । (अत्र विस्तरं ' दिसा ' शब्दे चतुर्थे भागे कथयिष्यामि)

आदिच्छा-आदित्सा-स्त्री० । आदातुमिच्छायाम् , आव० ६ अ० ।

आदिम-आदिम-त्रि० । अग्रिमे, सू० । " आयारसगमाईया सूयगडा जाव आइमा भावा " (७८० ×) । आचारप्रकादयः सूत्रकृताङ्गं यावत् य आगमग्रन्थास्तेषु ये पदार्था अभिधेयास्ते आदिमा भावाः उच्यन्ते । सू० १ उ० १ प्रक० ।

आदियावण-आदापन-न० । ग्राहणायाम् , सूत्र० । " स य माइअंति अन्ने वि आदियावेंति " (सूत्र-६ +) । स्वयम्-आत्मना सावद्यमनुष्ठानमाददते-स्वीकुर्वन्ति,'अन्यानप्यादापयन्ति-ग्राहयन्ति । सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

आदीण-आदीन-त्रि० । आ-समन्ताद्दीनः आदीनः । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । समन्तात्करुणास्पदे, सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

आदीणभोइ (न्)-आदीनभोजिन्-पुं० । पतितपिण्डोपजीविनि, " आदीणभोई वि करेइ पावं " (६ ×) । आदीनभोज्यपि पापं करोतीति । उक्तं च-" पिंडोलकेव दुस्सीले, णरगाओ ण मुच्चइ " स कदाचिच्छोभनमाहारमलभमानोऽल्पत्वादार्त्तरौद्रध्यानोपगतोऽप्यधः सप्तम्यामप्युत्पद्येत । तद्यथा-असाविव राजगृहनगरोत्सवनिर्गतजनसमूहो वै-

भारगिरिशिलापातनोद्यतः स दैवात्स्वयं पतितः पिण्डोपजीवीति तद्वेवमादीनभोज्यपि पिण्डोलकादिवज्जनः पापं कर्म करोति। सूत्र० १ श्रु० १० अ०।

आदीणवित्ति-आदीनवृत्ति-त्रि०। आ-समन्ताद्दीना-करुणास्पदा वृत्तिः-अनुष्ठानं यस्य। एवंभूते, "आदीणवित्ती वि करेइ पावं" (६४) आ-समन्ताद्दीना-करुणास्पदा वृत्तिरनुष्ठानं यस्य कृपणवनीपकादेः स भवत्यादीनवृत्तिरेवंभूतोऽपि पापं कर्म करोति। सूत्र० १ श्रु० १० अ०।

आदीणिय-आदीनिक-त्रि०। आ-समन्ताद्दीनमादीनं तद्विद्यते यस्मिन्स आदीनिकः। अत्यन्तदीनसत्त्वाश्रये, सूत्र० "आदीणियं उक्काडयं पुरत्था ॥ २ ॥" सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०।

आदीव-आदीप-अव्य०। दीपादारभ्येत्यर्थे, स्या० ५ श्लोक।

आध (ह) रिसिय-आधर्षित-त्रि०। आ-धृष्-क्त। अवैयात्ये इट् गुणश्च। अवमानिते, तिरस्कृते, बलात्कारेणाभिभूते च। वाच०। 'तेण भणियं जो चंडमेहं दूयं आधरिसेइ त्ति। (४४४-४४५ गाथाटी०।) आ० म० १ अ०। आहरिसिओ दूओ संभंतेण नियत्तिओ (४४४-४४५ गाथा टी०) आ० म० १ अ०।

आधा(हा)-आधा-स्त्री०। आधानमाधा। उपसर्गाद्तः ॥५।३।११०॥ इत्यङ्प्रत्ययः। पिं०। साधुनिमित्तं चेतसः प्रणिधाने, पञ्चा० २१ विव०। पिं०। प्रव०। प्रश्न०। दशा०। ग०। सू०। करण, उत्त० ५ अ०। आधीयतेऽस्यामित्याधा। आश्रये, पिं०। आश्रय आधार इत्यनर्थान्तरमिति। पिं०। साऽपि च-आधा नामादिभेदाच्चतुर्धा। तद्यथा-नामाऽऽधा, स्थापनाऽऽधा, द्रव्याऽऽधा, भावाऽऽधा च। तत्र नामाऽऽधा, द्रव्याऽऽधाऽपि च आगमतो नो आगमतश्च ज्ञशरीररूपा भव्यशरीररूपा च एवमेव भावनीया। ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं तु द्रव्याऽऽधामभिधित्सुराह—

धणुजुयकायभराणं, कुडुंबरज्जधुरमाइयाणं च।
खंधाई हिययं चिय, दव्वाऽऽहा अंतए धणुणो ॥६६॥

इह द्रव्याऽऽधाया विचार्यमाणायामाधाशब्दोऽधिकरणप्रधानो विवक्ष्यते आधीयते अस्यामित्याधा, आश्रय आधार इत्यनर्थान्तरम्। तत्र 'धणु' त्ति-धनुः-चापं तत् आधा-आश्रयः प्रत्यञ्चाया इति सामर्थ्याद्गम्यते, यूपः प्रतीतः। कायः-कापोती यया पुरुषाः स्कन्धारूढया पानीयं वहन्ति। भरः-यवसादिसमूहः, तथा—कुटुम्बम्—पुत्रकलत्रादिसमुदायः, राज्यं प्रतीतं, तयोर्धूः-चिन्ता आदिशब्दात्-महाजनधूःप्रभृतिपरिग्रहः तेषां च यथासंख्यं द्रव्याऽऽधा द्रव्यरूप आधारस्कन्धादिहृदयं च। तत्र स्कन्धो बलीवर्दादिस्कन्धो, नरादिस्कन्धश्च परिगृह्यते, आदिशब्दात्-गन्त्र्यादिपरिग्रहः, तत्र यूपस्य द्रव्याऽऽधा द्रव्यरूपः आश्रयो—वृषभादिस्कन्धः, स हि यूपस्तत्राऽऽरोप्यते। कापोत्या आश्रयो नरस्कन्धः, नरो हि पानीयानयनाय कापोतीं स्कन्धेन वहति। भरस्याश्रयो गन्त्र्यादि, महाप्रमाणो हि भरो गन्त्र्यादिनैवानेतुं शक्यते, नान्येन। तथा-कुटुम्बचिन्ताया राज्यचिन्तायाश्चाश्रयो हृदयं मनः, हृदयमन्तरेण चिन्ताया अयोगात्, धनुर्विषये भावनामाह-अन्तके करहसंज्ञे धनुषः संबन्धिनि प्रत्यञ्चाऽऽरोप्यते ततो धनुः प्रत्यञ्चाया आश्रयः, एवं शेषाणामपि यूपादीनां प्रत्याश्रयत्वं भावनीयम्, तच्च भावितमेव। उक्ता द्रव्याऽऽधा। संप्रति भावाऽऽधा वक्तव्या-सा च द्विधा-आगमतो, नो आगमतश्च। तत्राऽऽगमत आधाशब्दार्थपरिज्ञानकुशलस्तत्र चोपयुक्तः, "उपयोगो भावनिक्षेपः" इति वचनात्। नोआगमतस्तु भावाऽऽधा, यत्र तत्र वा मनःप्रणिधानम्, तथा हि-भावो नाम-मानसिकः परिणामस्तस्य चाऽऽधानं—निष्पादनं भवति मनसस्तदनुगुणतया तेन तेन रूपेण परिणमने सति नाऽन्यथा, ततो मनःप्रणिधानं भावाऽऽधा, सा चेह प्रस्तावात्साधुदानार्थमोदनपचनपाचनादिविषया द्रष्टव्या। पिं०।

आधा (हा) कम्म-आधाकर्म-न०। आधानम् आधा। उपसर्गाद्तः ॥ ५ । ३ । ११ ॥ इत्यङ् प्रत्ययः। साधुनिमित्तं चेतसा प्रणिधानम्। यथा-अमुकस्य साधोः कारणेन मया भक्तादि पचनीयमिति, आधायाः कर्म-पाकादिक्रिया-आधाकर्म तद्योगात् भक्ताद्यप्याधाकर्म। इह दोषाभिधानप्रक्रमेऽपि यद्दोषवतोऽभिधानं तद्दोषदोषवतोरभेदविवक्षया। द्रष्टव्यम्। पिं०। ग०। प्रव०। ख-घ-थ-ध-भाम् ॥८।१।१८७॥ इति हैमप्राकृतसूत्रेण बहुलं धस्य हः। प्रा०।

विषयसूची—

(१) वक्तव्यसंग्रहः।
(२) व्युत्पत्तयः।
(३) प्रतिषेवणादीनि।
(४) प्रतिश्रवणस्वरूपम्।
(५) एकार्थिकानि आधाकर्मणः।
(६) आधाकर्माश्रित्य कल्प्याऽकल्प्यविधिः।
(७) तीर्थकरस्य आधाकर्मभोजित्वम्।
(८) द्वाविंशतिजिनेषु कल्प्याऽकल्प्यविधिः।
(९) अशनादिषु आधाकर्मसंभवः।
(१०) आधाकर्मण एवाऽकल्प्यविधिः।
(११) आधाकर्मभोजिनां कटुकविपाकः।
(१२) आधाकर्मभोजिनां बन्धः।

(१) आधाकर्मदोषं व्याचिख्यासुस्तत्प्रतिबद्धद्वारगाथामाह—

आहाकम्मिय नामा, एगट्ठा कस्स वाऽवि किं वाऽवि।
परपक्खे य सपक्खे, चउरो गहणे य आणाई ॥ ६४ ॥

इह प्रथमत आधाकर्मिकस्य नामान्येकार्थिकानि वक्तव्यानि, ततस्तदनन्तरं कस्यार्थाय कृतमाधाकर्म भवतीति विचारणीयं, तदनन्तरं च किंस्वरूपमाधाकर्मेति विचार्ये, तथा परपक्षः—गृहस्थवर्गः स्वपक्षः-साध्व्यादिवर्गः, तत्र परपक्षनिमित्तं कृतमाधाकर्म न भवति। स्वपक्षनिमित्तं तु कृतं भवतीति वक्तव्यम्, तथा—आधाकर्मग्रहणविषये चत्वारोऽतिक्रमादयः प्रकारा भवन्तीति वक्तव्यं, तथा ग्रहणे-आधाकर्मणो भक्तादेरादाने आज्ञादयः "सूचनात्सूत्रम्" इति न्यायादाज्ञाभङ्गादयो दोषा वक्तव्याः।

तत्रैकार्थिकाभिधानलक्षणं प्रथमं द्वारं विवक्षुराह—

आहा अहे य कम्मे, आयाहम्मे य अत्तकम्मे य।

पडिसेवणपडिसुणणा. संवासऽणुमोयणा चेव ॥६५॥

'आहा अहे य कम्मे' त्ति-अत्र कर्मशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते, चकारश्च कर्मेत्यनन्तरं समुच्चयार्थो द्रष्टव्यः, तत एवं निर्देशो ज्ञातव्यः-आधाकर्म, अधःकर्म च। तत्राऽऽधाकर्मेति प्रागुक्तशब्दार्थम्, अधःकर्मेति अधोगतिनिबन्धनं कर्म अधःकर्म, तथा हि-भवति साधूनामाधाकर्मभुञ्जानानामधोगतिः, तन्निबन्धनप्राणातिपाताद्याश्रवेषु प्रवृत्तेः, तथा आत्मानं दुर्गतिप्रपातकारणतया हन्ति-विनाशयतीत्यात्मघ्नं, तथा यत् पाचकादिसंबन्धिकर्म पाकादिलक्षणं ज्ञानावरणीयादिलक्षणं वा। तदात्मनः संबन्धि क्रियतेऽनेनेति आत्मकर्म। एतानि च नामान्याधाकर्मणो मुख्यानि। संप्रति पुनर्यैः प्रतिषेवणादिभिः प्रकारैस्तदाधाकर्म भवति। तान्यप्यभेदविवक्षया नामत्वेन प्रतिपादयति—'पडिसेवणे' त्यादि-प्रतिसेव्यते इति प्रतिषेवणं, तथा—आधाकर्मनिमन्त्रणानन्तरं प्रतिश्रूयते। अभ्युपगम्यते यत् आधाकर्म तत् प्रतिश्रवणं, तथा आधाकर्मभोक्तृभिः सह संवसनं संवासः तद्वशात् शुद्धाऽऽहारभोज्यपि आधाकर्मभोजी द्रष्टव्यः, यो हि तैः सह संवासमनुमन्यते स तेषामाधाकर्मभोक्तृत्वमप्यनुमन्यते, अन्यथा तैः सह संवसनमेव नेच्छेत् अन्यच्च संवासवशतः कदाचिदाधाकर्मगतमनोज्ञगन्धाऽऽघ्राणादिना विभिन्नः सन् स्वयमप्याधाकर्मभोजने प्रवर्तेत ततः संवास आधाकर्मदोषहेतुत्वादाधाकर्म उक्तः, तथाऽनुमोदनम् अनुमोदना आधाकर्मभोक्तृप्रशंसाऽपि आधाकर्मसमुत्थपापनिबन्धनत्वादाधाकर्मप्रवृत्तिकारणत्वाच्च आधाकर्मेति उक्तम्। अमीषां च प्रतिषेवणादीनामाधाकर्मत्वमात्मकर्मरूपं नाम प्रतीत्य वेदितव्यं, तथा च वक्ष्यति-'अत्तीकरेइ कम्माणि' त्यादि-इह आधाकर्मेति शब्दार्थविचारे आधया कर्म आधाकर्मेत्युक्तम्। पिं०। साधूनाम् आधया-प्रणिधानेन यत्कर्म षट्कायविनाशेनाऽशनादिनिष्पादनं तदाधाकर्म। सू० ४ उ० ४५६ गाथाटी०। नि० चू०।

(२) आधाकर्मशब्दव्युत्पत्तयः—

आधानमाधा प्रस्तावात्साधुप्रणिधानं, अमुकस्मै साधवे देयमिति, तया आधाय वा साधून् कर्म षड्जीवनिकायविराधनादिना भक्तादिपाकक्रिया आधाकर्म तद्योगात् भक्ताद्यपि तथा निरुक्ताद् यलोपः। ग० १ अधि० २१ गाथाटी०। साधुं चेतसि आधाय-प्रणिधाय; साधुनिमित्तमित्यर्थः, कर्म सचित्तस्याऽचित्तीकरणमचित्तस्य वा पाको निरुक्तादाधाकर्म। ध० ३ अधि० २२ श्लोकटी०। आधानमाधा-प्रणिधानं तया; साधुप्रणिधानेनेत्यर्थः, कर्म-क्रिया पाकादिका आधाकर्म। पञ्चा० १३ विव० ५ गाथाटी०। यद्वा-आधाय साधुं-चेतसि प्रणिधाय यत् क्रियते-भक्तादि, तदाधाकर्म। पृषोदराऽऽदयः॥ ३। २। १५५॥ इति यलोपः। पिं०। प्रव०। आधाय-चेतसि अवस्थाप्य साधुं यदशनादि सचेतनमचेतनं वा पच्यते-अचित्तीक्रियते तदाधाकर्म। दर्श० ४ तत्त्व ६ गाथाटी०। आधया-साधुप्रणिधानेन यत्सचेतनमचेतनं क्रियते अचेतनं वा पच्यते-चीयते वा गृहादिकं वयते वा वस्त्रादिकं तदाधाकर्म। "आहाकम्मं भुंजमाणे सबले भवइ" ॥ ४॥ दशा० २ अ०। साधुनिमित्तं सचित्तस्याचित्तीकरणे-अचित्तस्य पाके च। प्रव० ६७ द्वार ३७० गाथाटी०। साधुनिमित्तं कृते ओदनादौ च। दर्श० ४ तत्त्व ६ गाथाटी०। तदात्मके उद्गमदोषविशेषे च। स्था० ३ ठा० ४ उ०। आचा०। उत्त०। आधाकर्मिकं यन्मूलत एव साधूनां कृते कृतम्। स्य० ३ उ० १६४ गाथाटी०।

सचित्तं जमचित्तं, साहूणऽट्ठाए कीरए जं च।
अचित्तमेव पच्चइ, आहाकम्मं तयं भणिअं ॥ ७ ॥

सचित्तम्-विद्यमानचैतन्यं सत् फलबीजादि। यदचित्तम् अचेतनं साधूनां-संयतानाम् अर्थाय-हेतवे क्रियते-विधीयते तथा यत्, 'च' शब्दो-लक्षणान्तरसमुच्चयार्थः, अचित्तमेव-अचेतनमपि सत्तण्डुलादि पच्यते-राध्यते साधूनामर्थायेति प्रकृतम्, आधाकर्मोक्तनिर्वचनतकत् तद्भणितम्—उक्तं जिनादिभिर्यद्यपि सचित्तस्य पृथिव्यादेरचित्तीकरणेन यत् क्रियते गृहवस्त्रादि; तदपि आधाकर्मोच्यते, तथापीह तन्नोक्तं पिण्डस्यैवाधिकृत्वादिति गाथार्थः। पञ्चा० १३ विव०। ध०। पं० व०।

आधाया निक्षेपं प्रतिपादयति तया (आधया) यत्कृतं कर्म-ओदनपाकादि तदाधाकर्म। तथा चाह निर्युक्तिकृत्—

ओरालसरीराणं, उद्दवणतिवायणं व जस्सऽट्ठा।
मणमाहित्ता कीरइ, आहाकम्मं तयं बेंति ॥ ६७ ॥

औदारिकं शरीरं येषां ते औदारिकशरीराः-तिर्यञ्चो, मनुष्याश्च। तत्र तिर्यञ्चः—एकेन्द्रियादय पञ्चेन्द्रियपर्यन्ता द्रष्टव्याः, एकेन्द्रिया अपि सूक्ष्मा, बादराश्च। नन्विह ये अपद्रावणयोग्यास्तिर्यञ्चस्ते ग्राह्याः, न च सूक्ष्माणां मनुष्यादिकृतमपद्रावणं संभवति, सूक्ष्मत्वादेव, ततः कथं ते इह गृह्यन्ते? उच्यते, इह यो यस्मादविरतः स तदकुर्वन्नपि परमार्थतः कुर्वन्नेव अवसेयो यथा रात्रिभोजनादनिवृत्तो रात्रिभोजनम्। गृहस्थश्च। सूक्ष्मैकेन्द्रियापद्रावणादनिवृत्तस्ततः साध्वर्थं समारम्भं कुर्वन् स तदपि कुर्वन्नवगन्तव्य इति सूक्ष्मग्रहणम्, यद्वा-एकेन्द्रिया बादरा एव ग्राह्या, न सूक्ष्माः, तथा च वक्ष्यति भाष्यकृत्—"ओरालग्गहणेणं, तिरिक्खमणुयाहवा सुहुमवज्जा" तेषां औदारिकशरीराणां यत् अपद्रावणम्—अतिपातविवर्जिता पीडा। किमुक्तं भवति-साध्वर्थमुपस्क्रियमाणेष्वोदनादिषु यावदद्यापि शाल्यादिवनस्पतिकायादीनामतिपातः-प्राणव्युपरमलक्षणो न भवति। तावदर्वाग्वर्तिनि सर्वाऽपि पीडा अपद्रावणम्, यथा साध्वर्थं शाल्योदनकृते शालिकरटेर्वारद्वयं कण्डनम्। तृतीयं तु कण्डनमतिपातः। तस्मिन् कृते शालिजीवानामवश्यमतिपातभावात्। ततस्तृतीयकण्डनमतिपातग्रहणेन गृह्यते, वक्ष्यति च भाष्यकृत्-"उद्दवणं पुण जाणसु अइवायविवज्जयं पीडं" ति। उद्दवणशब्दात्-परतो विभक्तिलोप आर्षत्वात्, "तथा तिवायणं" ति त्रीणि-कायवाङ्-मनांसि, यद्वा-त्रीणि देहाऽऽयुरिन्द्रियलक्षणानि। पातनं चातिपातो; विनाश इत्यर्थः, तत्र च त्रिधा समासविवक्षा, तद्यथा—षष्ठीतत्पुरुषः, पञ्चमीतत्पुरुषः, तृतीयातत्पुरुषश्च। तत्र षष्ठीतत्पुरुषोऽयम्-त्रयाणां-काय-वाङ्-मनसां पातनं-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विनाशनं त्रिपातनम् एतच्च परिपूर्णगर्भजपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्याणामवसेयम्, एकेन्द्रियाणां तु कायस्यैव केवलस्य विकलेन्द्रियसंमूर्च्छिमतिर्यङ्मनुष्याणां तु कायवचनयोरेवेति । यद्वा—त्रयाणां—देहायुरिन्द्रियरूपाणां पातनं—विनाशनं त्रिपातनम्, इदं च सर्वेषामपि तिर्यङ्मनुष्याणां परिपूर्णं घटते केवलं यथा येषां संभवन्ति तथा तेषां वक्तव्यम्, यथा एकेन्द्रियाणां देहस्य औदारिकस्य आयुषः-तिर्यगायुरूपस्य इन्द्रियस्य स्पर्शनेन्द्रियस्य, द्वीन्द्रियाणां देहस्यौदारिकरूपस्य आयुषस्तिर्यगायुष इन्द्रिययोश्च स्पर्शनरसनलक्षणयोरित्यादि, पञ्चमीतत्पुरुषस्त्वयम्-त्रिभ्यः-कायवाङ्मनोभ्यो देहायुरिन्द्रियेभ्यो वा पातनं-च्यावनमिति त्रिपातनम्, अत्रापि त्रिभ्यः परिपूर्णेभ्यः कायवाङ्मनोभ्यः पातनं गर्भजपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्याणाम् एकेन्द्रियाणां तु कायादेव केवलात् विकलेन्द्रियसंमूर्च्छिमतिर्यङ्मनुष्याणां तु कायवाग्भ्यामिति, देहायुरिन्द्रियरूपेभ्यस्तु त्रिभ्यः पातनं सर्वेषामपि परिपूर्णं संभवति, केवलं यथा येषां संभवति तथा तेषां प्रागिव वक्तव्यम्, तृतीयातत्पुरुषः पुनरयम्-त्रिभिः कायवाङ्मनोभिर्विनाशकेन स्वसम्बन्धिभिः पातनं-विनाशनं त्रिपातनं, 'च' शब्दः समुच्चये, भिन्नविभक्तिनिर्देशश्चशब्दोपादानं च यस्य साध्वर्थमपद्रावणं कृत्वा गृही स्वार्थमतिपातं करोति तत्कल्प्यं, यस्य तु गृही त्रिपातनमपि साध्वर्थं विधत्ते तन्न कल्प्यमिति ख्यापनार्थम्, इत्थंभूतमौदारिकशरीराणामपद्रावणं त्रिपातनं च यस्य साधोरेकस्यानेकस्य वाऽर्थाय-निमित्तं मन आधाय-चित्तं प्रवर्त्य क्रियते तदाधाकर्म ब्रुवते तीर्थकरगणधराः ।

इमामेव गाथां भाष्यकृद् गाथात्रयेण व्याख्यानयति—

ओरालग्गहणेणं, तिरिक्खमणुयाऽहवा सुहुमवज्जा ।
उद्दवणं पुण जाणसु, अइवायविवज्जियं पीडं ॥२५॥
कायवइमणो तिन्नि उ, अहवा देहाऽऽउइंदियप्पाणा ।
सामित्ता वायाणे, होइ तिवाओ य करणेसु ॥ २६ ॥
हियर्यमि समाहेउं, एगमणेगं च गाहगं जो उ ।
वहणं करेइ दाया, काएण तमाह कम्मंति ॥ २७ ॥

सुगमाः । नवरं 'देहाऽऽउइंदियप्पाण' त्ति—देहायुरिन्द्रियरूपास्त्रयः प्राणाः, 'सामित्ते' त्यादि स्वामित्वे-स्वामित्वविषये संबन्धविवक्षयेति भावार्थः, एवमपादाने-अपादानविवक्षया करणेषु विषये-करणविवक्षया अतिपातो भवति, यथा त्रयाणां पातनं त्रिपातनम्, यद्वा-त्रिभ्यः पातनं त्रिपातनम्, त्रिभिर्वा करणभूतैः पातनं त्रिपातनं, भावार्थस्तु प्रागेवोपदर्शितः तदेवमुक्तमाधाकर्मनाम । पिं० । (आधाकर्मणोऽधःकर्मत्वमधःकर्म 'अधकम्म' शब्दे प्रथमभागे ५८६ पृष्ठे द्रष्टव्यम्) । आधाकर्म अधोगतिनिबन्धनम् इत्यधःकर्मेत्युच्यते । पिं० १०२ गाथाटी० । (आत्मघ्नकर्म 'आताहकम्म' शब्दे अस्मिन्नेव भागे प्रागुक्तम् ।) (तच्च आत्मघ्नकर्म) साधोः आधाकर्मभुञ्जानस्याऽनुमोदनादिद्वारेण नियमतः संभवतीत्युपचारतः आधाकर्म आत्मघ्नमित्युच्यते । पिं० १०४ गाथाटी० । (आत्मकर्म 'अत्तकम्म' शब्दे प्रथमभागे ५०० पृष्ठे दर्शितम्) अशुभो भावः आधाकर्म ग्रहणरूपः साधुना प्रयत्नेन वर्जयितव्यः । पिं० ११० गाथाटी० । परकर्मणआत्मीकरणम् आधाकर्मणो ग्रहणे भोजने वा सति भवति, नान्यथा, तत उपचाराद्-आधाकर्म आत्मकर्मेत्युच्यते । पिं० १११ गाथाटी० । अतिप्रसङ्गदोषभयात् कृतकारितदोषरहितमपि न आधाकर्म भुञ्जीत । अन्यच्च तदाधाकर्म जानानोऽपि भुञ्जानो नियमतोऽनुमोदते ; अनुमोदना हि नाम अप्रतिषेधनम्, 'अप्रतिषिद्धमनुमतम्' इति विद्वत्प्रवादात् । पिं० १११ गाथाटी० ।

(३) संप्रति प्रतिषेवणादीनि नामानि वक्तव्यानि तानि चाऽऽत्मकर्मेति नामाङ्गत्वेन प्रवृत्तानि, ततस्तेषां आत्मकर्मेति नामाङ्गत्वं परस्परं गुरुलघुचिन्तां च चिकीर्षुरिदमाह—

अत्तीकरेइ कम्मं, पडिसेवाईहिँ तं पुण इमेहिं ।
तत्थ गुरू आइपयं,लहु लहु लहुगा कमेणियरे ॥११२॥

तत्पुनर्ज्ञानावरणीयादिकं परकर्म आत्मीकरोति-आत्मसात्करोति एभिः-वक्ष्यमाणस्वरूपैः प्रतिषेवणादिभिः ततः प्रतिषेवणादिविषयमाधाकर्माऽपि प्रतिषेवणादिनाम तत्र तेषां प्रतिषेवणादीनां चतुर्णां मध्ये आदिपदं-प्रतिषेवणालक्षणं गुरु-महादोषं, शेषाणि तु पदानि प्रतिषेवणादीनि लघुलघुलघुकानि द्रष्टव्यानि, प्रतिषेवणापेक्षया प्रतिश्रवणं लघुप्रतिश्रवणादपि संवासनं लघु संवासनादप्यनुमोदनमिति ।

संप्रत्येतेषामेव प्रतिषेवणादीनां स्वरूपं दृष्टान्तांश्च प्रतिपिपादयिषुस्तद्विषयां प्रतिज्ञामाह—

पडिसेवणमाईणं, दाराणणुमोयणाऽवसाणाणं ।
जहसंभवं सरूवं, सोदाहरणं पवक्खामि ॥ ११३ ॥

प्रतिषेवणाऽऽदीनां द्वाराणामनुमोदनापर्यवसानानां यथासंभवं यद्यस्य संभवति । तस्य तत् स्वरूपं सोदाहरणम्-सदृष्टान्तं प्रवक्ष्यामि. तत्र प्रथमतः प्रतिषेवणास्वरूपं वक्तव्यम् । पिं० । (प्रतिषेवणारूपम् 'पडिसेवणा' शब्दे पञ्चमभागे वक्ष्यते ११४-११५ गाथाभ्याम्)

[४] संप्रति प्रतिश्रवणस्वरूपमाह—

उवओगम्मि य लाभं. कम्मग्गाहिस्स चित्तरक्खट्ठा ।
आलोइए सुलद्धं, भणइ भणंतस्स पडिसुणणा ॥११६॥

पिं० । [अस्याः गाथायाः व्याख्या 'पडिसुणणा' शब्दे पञ्चमभागे करिष्यते]

संप्रति संवासा-ऽनुमोदनयोः स्वरूपं प्रतिपादयति—

संवासो उ पसिद्धो, अणुमोयणकम्मभोयगपसंसा ।
एएसिमुदाहरणा , एए उ कमेण नायव्वा ॥११७॥

'संवासः' आधाकर्मभोक्तृभिः सह एकत्र संवसनरूपः प्रसिद्ध एव, अनुमोदनादाधाकर्मभोजकप्रशंसा-कृतपुण्याः सुलब्धिका एते ये इत्थं सदैव लभन्ते भुञ्जते वेत्येवंरूपा । तदेवमुक्तं प्रतिषेवणादीनां चतुर्णामपि स्वरूपम्, संप्रत्येतेषामेव प्रतिषेवणादीनां क्रमेण एतानि वक्ष्यमाणस्वरूपाणि उदाहरणानि ज्ञातव्यानि. सूत्रे च उदाहरणशब्दस्य पुंल्लिङ्गता प्राकृतलक्षणवशात् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत्र चत्वार्युदाहरणानि यान्युक्तानि तेषां नामानि क्रमेण प्रतिपादयति—

पडिसेवणाए तेणा, पडिसुणणाए उ रायपुत्तो उ ।
संवासंमि य पल्ली, अणुमोयण रायदुट्ठो य ॥११८॥

प्रतिषेवणस्य स्तेना उदाहरणम् , प्रतिश्रवणस्य तु राजपुत्रं, राजपुत्रोपलक्षिताः शेषाः पुरुषाः, । संवासे 'पल्ली'-पल्लीवास्तव्या वणिजः, अनुमोदनायां राजदुष्टो-राजदुष्टोपलक्षितास्तत्प्रशंसाकारिणः ।

तत्र प्रथमतः प्रतिषेवणसंबन्धिनं स्तेनदृष्टान्तं भावयति—

गोणीहरण सभूमी, नेऊणं गोणिओ पहे मक्खे ।
निव्विसया परिवेसण-ठिया ऽवि ते कूविया घत्थे ॥११९॥

इह गाथाक्षरयोजना सुगमत्वात् स्वयमेव कर्त्तव्या, केवलं 'निर्विशका'-उपभोक्तारो, निःपूर्वस्य विशेरुपभोगे वर्तमानत्वात् तथा चोक्तम्-" निर्वेश उपभोगः स्यात् " कूजकाव्याहारकारिणः; गवां व्यावर्त्तका इत्यर्थः, 'घत्थे' इति गृहीताः । कथानकमुच्यते-इह क्वचिद्ग्रामे बहवो दस्यवः, ते चान्यदा कुतश्चित्सन्निवेशाद् गाः अपहृत्य निजग्रामाऽभिमुखं प्रचलिताः, गच्छतां च तेषामपान्तराले केऽप्यन्ये दस्यवः पथिका मिलितवन्तस्ततस्तेऽपि तैः सार्द्धं व्रजन्ति; व्रजन्तश्च स्वदेशं प्राप्ताः, ततः प्राप्ताः स्वदेश इति निर्भया भोजनवेलायां कतिपया गा विनाश्य भोजनाय तन्मांसं पक्तुमारब्धवन्तः । अस्मिंश्च प्रस्तावे केऽप्यन्येऽपि पथिकाः समाययुः, ततस्तेऽपि तैर्दस्युभिर्भोजनाय निमन्त्रिता ततो गोमांसे पक्वे केऽपि चौराः पथिकाश्च भोक्तुं प्रवृत्ताः, केऽपि गोमांसभक्षणं बहुपापमिति परिभाव्य न भोजनाय प्रवृत्ताः, केवलमन्येभ्यः परिवेषणं विदधति अत्रान्तरे च निष्प्रत्याकारनिशितकरवालभीषणमूर्त्तयः समाययुः कूजकाः, ततस्तैः सर्वेऽपि भोक्तारः परिवेषकाश्च परिगृहीताः, तत्र ये पथिका अपान्तराले मिलितास्ते पथिकाः वयमिति ब्रुवाणा अपि चौरोपनीतगोमांसभक्षपरिवेषणप्रवृत्ततया चौरवद् दुष्टा इति गृहीता, विनाशिताश्च ।

अमुमेवार्थं दार्ष्टान्तिके योजयति—

जे वि य परिवेसंती, भायणाणि धरंति य ।
तेऽवि बज्झंति तिव्वेण,कम्मुणा किमु भोयिणो? ।१२०।

इह चौराणां येऽपान्तराले भोजनवेलायां वा ये मिलिताः पथिकास्तत्रापि ये परिवेषमात्रं भाजनधारणामात्रं वा कृतवन्तस्तेऽपि कूजकैरागस्य बद्धा-विनाशिताश्च, एवमिहापि ये साधवोऽन्येभ्यः साधुभ्यः आधाकर्म परिवेषयन्ति वा धरन्ति । तेऽपि तीव्रेण-दुःसहविपाकेन नरकादिगतिहेतुना कर्मणा बध्यन्ते, किं पुनराधाकर्मभोजिनः ? । तत एतद्दोषभयात्परिवेषणादिमात्रमप्याधाकर्मणः प्रतिषेवणं यतिभिर्न कर्त्तव्यम् , इह चौरस्थानीया आधाकर्मनिमन्त्रिणः साधवो, गोमांसभक्षकचौरपथिकस्थानीयाः स्वयंगृहीतनिमन्त्रिताधाकर्मभोजिनो, गोमांसपरिवेषकादिस्थानीया आधाकर्मपरिवेषकादयः, गोमांसस्थानीयमाधाकर्म, पथस्थानीयं मानुष जन्म कूजकस्थानीयानि कर्माणि, मरणस्थानीयं नरकादिप्रपातः ।

संप्रति प्रतिश्रवणस्य पूर्वोक्तराजसुतदृष्टान्तं भावयति—

सामत्थण रायसुए, पिइवहणसहाय तह य तुण्हिक्का ।
तिण्हं पि हु पडिसुणणा,रन्ना सिट्ठंमि सा नऽत्थि ।१२१।

गुणसमृद्धं नाम नगरं तत्र महाबलो राजा तस्य शीला नाम देवी तयोर्विजितसमरो नाम ज्येष्ठः कुमारः, स च राज्यं जिघृक्षुः पितरि दुष्टाशयश्चिन्तयामास यथा ममैष पिता स्थविरोऽपि न म्रियते नूनं दीर्घजीवी संभाव्यते ततो निजभटान् सहायीकृत्यैनं मारयामीति, एवं च चिन्तयित्वा निजभटैः समं मन्त्रयितुं प्रावर्त्तत, तत्र कैश्चिदुक्तं वयं तव साहायककारिणः, अपरैरुक्तमेवं कुरु, केचित्पुनस्तूष्णीं प्रतिपेदिरे, अपरे पुनश्चैतस्यप्रतिपद्यमानाः सकलमपि तद् वृत्तान्तं राज्ञे निवेदयामासुः, ततो राजा ये साहायकं प्रतिपन्ना ये च एवं कुर्वित्युक्तवन्तो येऽपि च तूष्णीं तस्थुः तान् सर्वानपि येष्ठ च कुमारं वैवस्वतमुखे प्रतिक्षिप्य येऽभ्यागत्य निवेदितं ते पूजिताः, गाथाक्षरयोजना त्वियम् -'सामत्थणं' स्वभटैः सह पर्यालोचनं 'राजसुए' त्ति-तृतीयार्थे-सप्तमी, ततोऽयमर्थः-राजसुतेन कर्त्तुमारब्धमिति शेषः, तत्र कैश्चिदुक्तं पितृहनने कर्त्तव्ये तव सहाया वयमिति 'तथा' इति समुच्चये, चशब्दोऽनुक्तसमुच्चयार्थः, स च केचिदेवं कुर्वित्ति भाषितवन्त इति समुच्चिनोति, केचित् पुनस्तूष्णीका जाता-मौनेनावस्थिताः, एतेषां च त्रयाणामपि प्रतिश्रवणदोषः, यैस्तु राज्ञे शिष्टं तेषां 'सा' तत्प्रतिश्रवणं नास्ति ।

अमुमेवार्थं दार्ष्टान्तिके योजयति—

भुंज न भुंजे भुंजसु, तइओ तुसिणीए भुंजए पढमो ।
तिण्हं पि हु पडिसुणणा, पडिसेहंतस्स सा नऽत्थि ।१२२।

इह किल केनापि साधुना चत्वारः साधव आधाकर्मणे निमन्त्रिता यथा भुङ्ध्वं यूयमेनमाहारमिति तत्रैवं निमन्त्रणे कृते प्रथमो भुङ्क्ते, द्वितीयः प्राह-नाहं भुञ्जे भुङ्क्ष्व त्वमिति, तृतीयो मौनमाश्रितः, चतुर्थः पुनः प्रतिषिद्धवान् यथा न कल्पते साधूनामाधाकर्म तस्मादहं भुञ्ज इति, त्रयाणामाद्यानां प्रतिश्रवणदोषः, चतुर्थस्य प्रतिषेधतः सतः 'सा' तत्प्रतिश्रवणं नास्ति, अत्राह—नन्वाद्यस्याधाकर्मभुञ्जानस्य प्रतिषेवणलक्षण एव दोषः, कथं प्रतिश्रवणदोष उक्तः ? । उच्यते—इह यदा आधाकर्मनिमन्त्रितः सन् तद्भोजनमभ्युपगच्छति । तदा नाद्यापि प्रतिषेवणमिति प्रतिश्रवणदोषः, तत ऊर्ध्वं तु प्रतिषेवणं ततो न कश्चिद्दोषः ।

अथामीषामेव भोजकादीनां कः कः कायिकादिको दोषः स्यात् ? अत आह—

आणंतभुंजगा क-म्मुणा उ, बीयस्स वाइओ दोसो ।
तइयस्स य माणसिओ, तीहिँ विसुद्धो चउत्थो उ १२३।

इह य आधाकर्मणः स्वयमानेता यश्चानीतस्य निमन्त्रितः सन् भोक्ता तौ द्वावपि कर्मणा आनयनभोजनरूपतया कायक्रियया तुशब्दान्मनसा वाचा च दोषवन्तौ द्वितीयस्य तु भुङ्क्ष्व त्वं नाहं भुञ्ज इति ब्रुवाणस्य वाचिको दोषः, उपलक्षणमेतत्-मानसिकश्च, तृतीयस्य तु तूष्णींस्थितस्य तु मानसिको, यस्तु चतुर्थः स त्रिभिरपि दोषैर्विशुद्धः, तस्माच्चतुर्थकल्पेन सर्वदैव साधुना भवितव्यम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संप्रति दृष्टान्तोक्तस्य कुमारस्य ये दोषाः संप्रभवन्ति तानु-पदर्श्याऽऽधाकर्मणो भोक्तरि योजयति—

पडिसेवण पडिसुणणा, संवासऽणुमोयणा उ चउरोऽवि।
पियमारग रायसुए, विभासियव्वा जइजणेऽवि ॥१२४॥

पितृमारके राजसुते प्रतिषेवण-प्रतिश्रवण-संवासाऽनुमोदनारूपाश्चत्वारोऽपि दोषा घटन्ते, तथाहि-तस्य स्वयं पितृमारणाय प्रवृत्तत्वात् प्रतिषेवणं, यस्त्वं तत्र सहाया इति निजभटवचनं प्रतिपद्यमानस्य प्रतिश्रवणं, तैरेव सार्द्धमेकत्र निवसनेन संवासः, तेष्वेव बहुमानकरणादनुमोदना, एवं यतिजनेऽप्याधाकर्मणो भोक्तरि विभाषितव्या-योजनीयाः, अत्र यः स्वयमानीयान्यैः सह भुङ्क्ते तत्र प्रथमतो योज्यन्ते तस्य आधाकर्म गृहस्थगृहादानीय भुञ्जानस्य प्रतिषेवणं, गृहस्थेनाधाकर्मग्रहणाय निमन्त्रितस्य तद्ग्रहणाभ्युपगमः प्रतिश्रवणं, तस्मै तदाधाकर्म आत्मीय संविभागेन प्रयच्छति तेन सहैकत्र संवसतः संवासः, तत्रैव बहुमानकरणादनुमोदना यश्चान्येनानीतमाधाकर्मनिमन्त्रितः सन् भुङ्क्ते तस्य प्रथमतो निमन्त्रणानन्तरमभ्युपगच्छतः प्रतिश्रवणं, ततो भुञ्जानस्य प्रतिषेवणं, निमन्त्रकेण सह एकत्र संवसतः संवासः, तत्र बहुमानकरणादनुमोदना, तदेवं यत्र प्रतिषेवणं तत्र नियमतश्चत्वारोऽपि दोषाः, प्रतिश्रवणे च केवले त्रयः, संवासे द्वौ अनुमोदनायां त्वनुमोदनैव केवला, अत्र यथाऽऽदिपदं गुरु, शेषाणि तु पदानि लघुलघुलघुकानीति।

संप्रति संवासे पल्लीदृष्टान्तं भावयति—

पल्लीवहम्मि नट्ठा, चोरा वणिया वयं न चोर त्ति।
न पलाया पावकर त्ति, काउं रन्ना उवालद्धा ॥१२५॥

वसन्तपुरं नाम नगरं तत्र-अरिमर्दनो नाम राजा, तस्य प्रियदर्शना देवी, तस्य वसन्तपुरस्य प्रत्यासन्ना भीमाभिधाना पल्ली, तस्यां च बहवो भिल्लरूपा दस्यवः परिवसन्ति, वणिजश्च। ते च दस्यवस्सदैव स्वपल्ल्या विनिर्गत्य सकलमप्यरिमर्दनराजमण्डलमुपद्रवन्ति। न स कश्चिदस्ति राज्ञः सामन्तो माण्डलिको वा यस्तान् साधयति, ततोऽन्यदा सत्कृतं सकलमण्डलोपद्रवमाकर्ण्य महाकोपावेशपूरितमानसो राजा स्वयं महतीं सामग्रीं विधाय भिल्लान् प्रतिजगाम, भिल्लाश्च पल्लीं मुक्त्वा संमुखीभूय संग्रामं दातुमुद्यताः, राजा प्रबलसेनापरिकलिततया तान् सर्वानप्यविगणय्य सोत्साहो हन्तुमारब्धवान्, ते चैवं हन्यमानाः केऽपि तत्रैव परासवो बभूवुः, केऽपि पुनः पलायितवन्तः, राजा च साऽमर्षः पल्लीं गृहीतवान्, वणिजश्च तत्रत्या न वयं चौरास्ततः किमस्माकं राजा करिष्यतीति बुद्धया नाऽनेशन्, राज्ञा च तेऽपि ग्राहिताः, ततस्तैर्विज्ञप्यांचक्रे यथा देव! वयं वणिजो, न चौरा इति, ततो राजाऽवादीत्-यूयं चौरेभ्योऽप्यतीवापराधकारिणो येऽस्माकमपराधकारिभिश्चौरैः सह संवसथेति, ततो निगृहीताः। गाथाऽक्षरयोजना तु सुगमत्वात् स्वयं कार्या।

दार्ष्टान्तिकयोजनां करोति—

आहाकडभोईहिं, सहवासो तह य तव्विवज्जं पि।
दंसणगंधपरिकहा, भावेंति सुलूहविसिं पि ॥ १२६ ॥

भावना-यथा वणिजां चौरैस्सहैकत्र संवासो दोषाय बभूव तथा साधूनामप्याधाकर्मभोक्तृभिः सहैकत्र संवासो दोषाय वेदितव्यः, यतस्तद्विवर्ज्जमपि—आधाकर्मपरिहारकमपि तथा सुरूक्षवृत्तिमपि,सुष्ठु अतिशयेन रूक्षा द्रव्यतो विकृत्यपरिभोगेन भावतोऽभिष्वङ्गाभावेन निःस्नेहा वृत्तिः-वर्तनं यस्य तथा तमपि आधाकर्मसंबन्धिन्यो दर्शनगन्धपरिकथा भावयन्ति—आधाकर्मपरिभोगयाञ्चापादनेन वासयन्ति। तथाहि दर्शनम्-अवलोकनं, तच्च मनोज्ञमनोज्ञतराऽऽधाकर्माहारविषयं नियमाद्धासयति, यतः कस्य नाम शङ्ख-कुन्दावदातो रसपाकनिधानानिष्णातमहासूपकारसुसंस्कृतः शाल्योदनो न मनःक्षोभमुत्पादयति। गन्धोऽपि सद्यस्तापितघृतादिसंबन्धी नासिकेन्द्रियाऽप्यायनशीलो बलादपि तद्भोजने श्रद्धामुपजनयति, परिकथाऽपि च विशिष्टविशिष्टतरद्रव्यनिष्पादितमोदकादिविषया विधीयमाना तदास्वादलंपटयाशंसाविधौ चेत उत्साहयितुमीश्वरा, तथादर्शनात् ततोऽवश्यमाधाकर्मभोक्तृभिः सह संवासो यतीनां दोषायेति।

अनुमोदनायां राजदुष्टदृष्टान्तं भावयति—

रायारोहवराहे, विभूसिओ घाइओ नयरमज्झे।
धन्नाऽधन्न त्ति कहा, वहाऽवहो कप्पडिय खोला ॥१२७॥

श्रीनिलयं नाम नगरं, तत्र गुणचन्द्रो नाम राजा, तस्य गुणवतीप्रमुखमन्तःपुरं, तत्रैव च पुरे सुरूपो नाम वणिक्, स च निजशरीरसौन्दर्यविनिर्जितमकरध्वजलावण्यिमाकमनीयकामिनीनामतीव कामास्पदं स्वभावतश्च परदाराभिष्वङ्गलालसः, ततः सोऽन्यदा राजान्तःपुरसन्निवेशसमीपं गच्छन्नन्तःपुरिकाभिः सस्नेहमवलोकितः, तेनाप्यपरिचिन्ताः साभिलाषमवेक्षितास्ततो जातः परस्परमनुरागः, दूतीनिवेदितप्रयोगवशेन च ताः प्रतिदिनं तेन सेवितुमारब्धाः, राज्ञा च कथमप्ययं वृत्तान्तो जज्ञे, ततो यदा सोऽन्तःपुरं प्रविशत्तदा निजपुरुषैर्ग्राहितो ग्राहयित्वा च यैरेवाभरणैरलंकृतोऽन्तःपुरं प्रविवेश तैरेवाभरणैर्विभूषितो नगरमध्ये चतुष्पथे सकलजनसमक्षं विचित्रकदर्थनापुरस्सरं विनिपातितः। राजा चान्तःपुरविध्वंसेनातीवद्दूनमनास्तस्मिन् विनाशितेऽपि न कोपावेशं मुञ्चति। ततो हेरिकान् प्रेषयामास, यथा रे दुरात्मानं तं ये प्रशंसन्ति ये वा निन्दन्ति तान् द्वयानपि मह्यं निवेदय? इति, एवं च ते प्रेषिताः कार्पटिकवेषधारिणः सर्वत्रापि नगरे परिभ्रमन्ति, लोकाश्च तं विनाशितं दृष्ट्वा केचन ब्रुवते, यथा अहो जानेन मनुजन्मना अवश्यं तावन्मर्त्तव्यं परं या अस्मादृशामधन्यानां दृष्टिपथमपि कदाचनापि नायान्ति ता अप्येष यथासुखं चिरकालं भुक्त्वा मृतस्ततस्माद्धन्य एव इति, अपरे ब्रुवते-अधन्य एव उभयलोकविरुद्धकारी स्वामिनोऽन्तःपुरिका हि जननीतुल्यास्ततस्तास्वप्येष संचरन् कथं प्रशंसामर्हति शिष्टेभ्यः इति, ततस्ते द्वये अपि हेरिकैर्निवेदिता राज्ञे, राज्ञा च ये तस्य निन्दाकारिणस्ते सद्बुद्धय इति कृत्वा पूजिताः, इतरे तु-कृतान्तमुखे प्राक्षिप्यन्त, गाथाक्षरयोजना त्वेवम्-राज्ञोऽवरोधोऽन्तःपुरं तद्विषयेऽपराधे यैरेवाऽऽभरणैर्विभूषितोऽन्तःपुरे प्रविष्टस्तैरेव विभूषितो नगरमध्ये घातितः। ततः कार्पटि-

कवचधारिणः खोला-हेरिका राज्ञा नियुक्ताः । लोकानां च तद्विषया धन्याऽधन्यकथा । ततो धन्यकथाकारिणां विनाशः, इतरेषां त्वविनाश इति । दार्ष्टान्तिकयोजना त्वेवम्-एके साधवस्तावदाधाकर्म भुञ्जते । तत्राऽपरे-जल्पन्ति धन्या एते सुखं जीवन्ति, अन्ये ब्रुवते-धिग् एतान् ये भगवत्प्रवचनप्रतिषिद्धमाहारमश्नन्ति, तत्र ये प्रशंसिनस्ते कर्मणा बध्यन्ते, इतरे तु न, इहान्तःपुरस्थानीयमाधाकर्म, अन्तःपुरद्रोहकारिस्थानीया आधाकर्मभोजिनः साधवः, नृपस्थानीयं ज्ञानावरणादिकं कर्म, मरणस्थानीयः संसारः, तत्र ये आधाकर्मभोक्तृप्रशंसकास्ते कर्मराज्ञा निग्राह्याः शेषास्त्वनिग्राह्याः ।

संप्रत्यनुमोदनाप्रकारमेव दर्शयति—

साउं पज्जत्तं आ-यरेण काले रिउक्खमं निद्धं ।
तग्गुणविकत्थणाए, अभुंजमाणे वि अणुमन्ना ॥१२८॥

आधाकर्मभोजिन उद्दिश्य कश्चिदेवं ब्रुवते—वयं तावन्न कदाचनाऽपि मनोज्ञमाहारं लभामहे, एते पुनः सदैव स्वादु लभन्ते, तदपि च पर्याप्तं-परिपूर्णं तत्राप्यादरेण-बहुमानपुरस्सरं तत्रापि काले-प्रस्तुतभोजनवेलायां तदपि ऋतुक्षमं-शिशिरादिऋतूपयोगि तथा स्निग्धं-घृतपूरादि तस्माद्धन्या अमी सुखं जीवन्ति । एवं तद्गुणविकत्थनया-तद्गुणप्रशंसया अभुञ्जानेऽपि-अनभ्यवहरत्यपि अनुमन्या-अनुमोदना इह अनुमन्याजनितो दोषोऽपि कार्ये कारणोपचारादनुमन्येत्युक्तम्, ततोऽयमर्थः—अभुञ्जानेऽप्यनुमोदनाद्वारेणाधाकर्मभोजिन इव दोषो भवतीति । अन्ये तु तद्गुणविकत्थनामेवं योजयन्ति-आधाकर्मभोजिनं कोऽपि कन्दर्पेणानाभोगेन वा पृच्छति-साधु लब्धं त्वया भोजनं, तथा पर्याप्तं, तथा आदरेण भक्त्या इत्यादि ?, तत्राप्यविरोधः । तदेवमुक्तान्याधाकर्मणो नामानि, तदुक्तौ च यदुक्तं प्राक् मूलद्वारगाथायाम् "आधाकम्मियनामा" इति तद्व्याख्यातम् । पिं० ।

(५) एकार्थिकानि आधाकर्मणः । संप्रति 'एगट्ठा' इत्यवयवं व्याचिख्यासुरिदमाह—

आहा अहे य कम्मे, आयाहम्मे य अत्तकम्मे य ।
जह वंजणनाणत्तं, अत्थेण वि पुच्छए एवं ॥ १२९ ॥

अत्र पर एवं पृच्छति-यथा आधाकर्म १, अधःकर्म २, आत्मघ्नकर्म ३, आत्मकर्म ४, इत्येतेषु चतुर्षु नामसु व्यञ्जनैर्नानात्वं विद्यते, तथाऽर्थेनाऽपि-अर्थापेक्षयापि नानात्वमस्ति किं वा न ? इति, पृच्छतश्चायमभिप्रायः-इहाऽऽधाकर्मादीनां नाम्नां सर्वेषामपि व्युत्पत्तिनिमित्तं पृथगुक्तं, तद्यथा-आधया कर्म आधाकर्म, अथ साधुविषयप्रणिधानपुरस्सरपाकादिक्रियारूपात्कर्मो व्युत्पत्तिनिमित्तम्, अधोऽधःकर्म-अधःकर्म, अत्र विशुद्धेभ्यः संयमादिस्थानेभ्योऽधोऽधस्तरामागमनम्, आत्मानं हन्तीत्यात्मघ्नमिति अत्र चरणाद्यात्मविनाशनम्, परकर्म आत्मकर्म क्रियते इत्यात्मकर्म, अत्र परकर्मणः आत्मसंबन्धितया करणं, ततोऽत्र संशयो, यथा व्युत्पत्तिनिमित्तं पृथक् पृथक् भिन्नमेवं प्रवृत्तिनिमित्तमपि पृथक् पृथक् भिन्नं यथा घटपटशकटादिशब्दानां, किं वा न यथा घटकलशकुम्भादीनामिति । अत्र 'आहा अहेयकम्मे' इत्यादावक्षरयोजना प्रागिव भावनीया ।

एवं परेण प्रश्ने कृते सति शिष्यमतिप्रागल्भ्याधानाय सामान्यतो नामविषयां चतुर्भङ्गिकामाह—

एगट्ठ एगवंजण, एगट्ठा नाणवंजणा चेव ।
नाणट्ठ एगवंजण, नाणऽट्ठा वंजणा नाणा ॥ १३० ॥

इह नामानि जगति प्रवर्तमानानि कानिचिदुपलभ्यन्ते । एकार्थानि—एकव्यञ्जनानि १, कानिचिदेकार्थानि नानाव्यञ्जनानि २, कानिचिन्नानार्थानि एकव्यञ्जनानि ३, कानिचित् पुनर्नानार्थानि नानाव्यञ्जनानि ४ ।

अस्या एव चतुर्भङ्गिकायाः क्रमेण लौकिकनिदर्शनानि गाथाद्वयेनोपदर्शयति—

दिट्ठं खीरं खीरं, एगऽट्ठं एगवंजणं लोए ।
एगऽट्ठं बहुनामं, दुद्ध पओ पीलु खीरं च ॥ १३१ ॥
गोमहिसिअयाखीरं, नाणऽट्ठं एगवंजणं नेयं ।
घडपडकडसगडरहा, होइ पिहत्थं पिहंनामं ॥ १३२ ॥

इह सर्वत्राऽपि जातावेकवचनं, ततोऽयमर्थः-एकार्थानि एकव्यञ्जनानि नामानि लोके प्रवर्त्तमानानि दृष्टानि यथा क्षीरं क्षीरमिति, इयमत्र भावना-एकत्र क्वचिद् गृहे गोदुग्धादिविषये क्षीरमिति नाम प्रवृत्तमुपलब्धं, तथाऽन्यत्रापि गोदुग्धादावेव विषये क्षीरमिति नाम प्रवर्तमानमुपलभ्यते, एवं ततोऽप्यन्यत्र गृहान्तरे ततोऽमूनि सर्वाण्यपि क्षीरं क्षीरमित्येवंरूपाणि नामान्येकार्थानि एकव्यञ्जनानि, तथा एकार्थानि बहुव्यञ्जनरूपाणि नामानि यथा दुग्धं पयः पीलु क्षीरमिति अमूनि हि नामानि सर्वाण्यपि विवक्षितगोदुग्धादिलक्षणैकार्थाभिधायितया नानापुरुषैरेककालं क्रमेणैकपुरुषेण वा प्रयुज्यमानान्येकार्थानि नानाव्यञ्जनानि च ततो द्वितीये भङ्गे निपतन्ति । नानार्थान्येकव्यञ्जनानि, यथा-गोमहिष्यजासंबन्धिषु क्षीरं क्षीरमिति नामानि प्रवर्त्तमानानि, एतानि हि नामानि सर्वाण्यपि समानव्यञ्जनानि भिन्नभिन्नगोदुग्धमहिषीदुग्धादिरूपार्थवाचकतया भिन्नार्थानि च तत उच्यन्ते-नानार्थान्येकव्यञ्जनानि, नानार्थानि नानाव्यञ्जनानि यथा घटपटकटशकटरथादीनि नामानि । तदेवमुक्तानि चतुर्थभङ्गिकया निदर्शनानि ।

सांप्रतमिमामेव चतुर्भङ्गिकामाधाकर्मणि यथासंभवं गाथाद्वयेन योजयति—

आहाकम्माईणं, होइ दुरुत्ताइ पढमभंगो उ ।
आहाऽहेकम्मंति य, बिइओ सक्किंद इव भंगो ॥ १३३ ॥
आहाकम्मंतरिया, असणाई उ चउरो तइयभंगो ।
आहाकम्म पडुच्चा, नियमा सुन्नो चरिमभंगो ॥ १३४ ॥

आधाकर्मादीनां नाम्नां युगपद्बहुभिः पुरुषैरेकेन वा कालभेदेन एकस्मिन्नेव अशनादिरूपे वस्तुनि यद् द्विरुक्तादि-द्विरुच्चारणादि, आदिशब्दात्त्रिरुच्चारणादिपरिग्रहः, स भवति प्रथमो भङ्गः, किमुक्तं भवति ?-एकत्र वसतावशनविषये केनाप्याधाकर्मेति नाम प्रयुक्तं, तथाऽन्यत्रापि वसत्य-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न्तरेऽशनविषये एवाधाकर्मेति नाम प्रयुज्यते, तथा ततोऽन्यत्रापि वसत्यन्तरे, तान्यमूनि सर्वाण्यप्याधाकर्मेति नामान्येकार्थानि एकव्यञ्जनानीति प्रथमे भङ्गेऽवतरन्ति, आधाकर्म अधःकर्मेत्यादीनि तु नामानि विवक्षिताशनादिरूपैकविषये प्रवर्तमानानि । द्वितीयो भङ्गः, एकार्थानि नानाव्यञ्जनानीत्येवंरूपद्वितीयभङ्गविषयाणि 'सक्किद इवे' ति- यथा इन्द्रः शक्र इत्येवमादीनि नामानि, तथा अशनादयः- अशनपानखादिमस्वादिमरूपाश्चत्वार आधाकर्मान्तरिता— आधाकर्मशब्देन-व्यवहिता यथा-अशनमाधाकर्म पानमाधाकर्म इत्येवमादि , तृतीयभङ्गः-तृतीयभङ्गविषयः, अत्राप्ययं भावार्थः-यदा-अशनादयः प्रत्येकमाधाकर्म आधाकर्मेति देशभेदेन बहुभिः । पुरुषैरेककालमेकेन वा पुरुषेण कालभेदेनोच्यन्ते तदा तानि आधाकर्म आधाकर्मेति नामानि नानार्थान्येकव्यञ्जनानीति तृतीये भङ्गेऽवतरन्ति, आधाकर्मरूपं नामाश्रित्य पुनश्चरमो भङ्गो नानार्थानि नानाव्यञ्जनानीत्येवंरूपो नियमाच्छून्यः आधाकर्म आधाकर्मेत्येवमादिनाम्नां सर्वेषामपि समानव्यञ्जनत्वात् , उपलक्षणमेतत् , तेन सर्वाण्यपि नामानि प्रत्येकं चरमभङ्गे न वर्त्तन्ते, यदा तु कोऽप्यशनविषयं आधाकर्मेति नाम प्रयुङ्क्ते, पानविषये त्वधःकर्मेति, खादिमविषये त्वात्मघ्नमिति, स्वादिमविषये त्वात्मकर्मेति तदामूनि नामानि नानार्थानि नानाव्यञ्जनानि चेति चरमोऽपि भङ्गः प्राप्यते ।

इह विवक्षिताशनादिरूपैकविषये प्रवर्तमानान्याधाकर्माधःकर्मप्रभृतीनि नामानि द्वितीयभङ्ग उक्तस्ततस्तदेव भावयति-

इंदत्थं जह सद्दा, पुरंदराई उ नाऽइवत्तंते ।
अहकम्म आयहम्मा, तह आहं नाऽइवत्तंते ॥ १३५ ॥

यथा इन्द्रार्थं इन्द्रशब्दवाच्यं देवराजरूपं पुरन्दरादयः- पुरन्दरः शक्र इत्येवमादयः शब्दा नातिवर्तन्ते-नातिक्रामन्ति । तथा अधःकर्म-आत्मघ्नशब्दौ उपलक्षणमेतत् । आत्मकर्मशब्दश्च 'आहं'ति-"सूचनात् सूत्रमि"ति न्यायात् आधाकर्मार्थम्-आधाकर्मशब्दवाच्यं नातिवर्तन्ते, यदेव येन दोषेण दुष्टमाधाकर्मशब्दवाच्यमोदनादि तदेव तेनैव दोषेण दुष्टमधःकर्मादयोऽपि शब्दा ब्रुवते इति भावः ।

एतदेव भावयति—

आहाकम्मेण अहे, करेइ जं हणइ पाणभूयाइं ।
जं तं आययमाणो, परकम्मं अत्तणो कुणइ ॥ १३६ ॥

आधाकर्मण भुज्यमानेन कृत्वा यस्माद्विशुद्धेभ्यो विशुद्धतरेभ्यः संयमादिस्थानेभ्योऽवतीर्याधस्तादात्मानं करोति । तेन कारणेन तदत्राधाकर्म अधःकर्मेत्युच्यते, तथा यस्मादाधाकर्मणा भुज्यमानेन कृत्वा स एव भोक्ता । परमार्थतः प्राणान्-द्वीन्द्रियादीन् भूतान्-वनस्पतिकायान् उपलक्षणमेतत् जीवान्-सत्त्वांश्च हन्ति-विनाशयति । "जस्सऽट्ठा आरम्भो पाणिवहो होइ तस्स नियमेण" इति वचनप्रामाण्यात्प्राणादींश्च घ्नन् नियमतश्चरणादिरूपमात्मानं हन्ति-विनाशयति । 'पाणिवह वयभंगो' इत्यादिवचनात् तत आधाकर्म आत्मघ्नमित्युच्यते, तथा यत्-स्मात्कारणात् तत्-आधाकर्म आददानः परस्य-पाचकादेः संबन्धि यत्कर्म आरम्भजनितं ज्ञानावरणीयादिकमुत्पन्नमासीत् तदात्मनोऽपि करोति, ततस्तदाधाकर्म आत्मकर्मेत्युच्यते तस्मादधःकर्मादीनि नामानि सर्वाण्यपि नाऽऽधाकर्मशब्दार्थमतिवर्तन्ते इति द्वितीये भङ्गेऽवतरन्ति । तदेवं मूलद्वारगाथायाम् 'एगट्ठा' इत्यपि व्याख्यातम् । पिं० ।

(६) आधाकर्माश्रित्य कल्प्याऽकल्प्याविधिः । संप्रत्येनामेवाधिकृत्य कल्प्याऽकल्प्यविधिर्वक्तव्यः, तत्र नामसाधर्मिकमधिकृत्य प्रथमतः कल्प्याकल्प्यविधिं गाथाद्वयेन प्रतिपादयति—

जावंत देवदत्ता, गिहीव अगिहीव तेसि दाहामि ।
नो कप्पई गिहीणं, दाहंति विसेसिए कप्पे ॥ १४२ ॥
पासंडीसु वि एवं, मीसाऽमीसेसु होइ हु विभासा ।
समणेसु संजयाण उ,विसरिसनामाण वि न कप्पो१४३।

इह कोऽपि पितरि मृते जीवति वा तन्नामानुरागतस्तन्नामयुक्तेभ्यो दानं दित्सुरेवं संकल्पयति यथा यावन्तो गृहस्था अगृहस्था वा देवदत्तास्तेभ्यो मया भक्तादिकमुपस्कृत्य दातव्यं, तत्रैवं संकल्पे कृते देवदत्ताख्यस्य साधोर्न कल्पते, देवदत्तशब्देन तस्यापि संकल्पविषयीकृतत्वात् , यदा पुनरेवं संकल्पयति, यथा यावन्तो गृहस्था देवदत्तास्तेभ्यो दातव्यमिति, तदा एवं विशेषिते-निर्द्धारिते सति तद्योग्यमुपस्कृतं देवदत्ताख्यस्य साधोः कल्पते, तस्य विवक्षितसंकल्पविषयीकरणाभावात् , तथा पाषण्डिष्वपि मिश्राऽमिश्रेषु एवं-पूर्वोक्तप्रकारेण विभाषा कर्त्तव्या, इह सामान्यसंकल्पविषया मिश्रा उच्यन्ते, यथा यावन्तः पाषण्डिनो देवदत्ता इति, प्रतिनियतसंकल्पविषयास्त्वमिश्रा यथा यावन्तः सरजस्काः पाखण्डिनो, यदिवा- सौगता देवदत्ता इत्यादि. तत्र यावन्तो देवदत्ताः पाखण्डिन इति मिश्रसंकल्पे कृते न कल्पते । पाषण्डिदेवदत्तशब्दाभ्यां देवदत्ताख्यस्याऽपि साधोः संकल्पविषयीकृतत्वात् यदा पुनरमिश्रः संकल्पो यथा यावन्तः सरजस्काः पाषण्डिनो देवदत्ता, यदि वा-यावन्तः सौगता देवदत्ताः, यद्वा-साधुव्यतिरेकेण सर्वेऽपि पाषण्डिनो देवदत्तास्तेभ्यो दास्यामीति, तदा देवदत्ताख्यस्य साधोः कल्पते, तस्य संकल्पविषयीकरणाभावात् , यथा च पाषण्डिषु मिश्रामिश्रेषु विभाषा कृता तथा श्रमणेष्वपि मिश्रामिश्रेषु कर्त्तव्या, श्रमणा हि शाक्यादयोऽपि भण्यन्ते, यतो वक्ष्यति-" निग्गंथ-सक्क-तावस-गेरुय-आजीवपंचहा समणा " ततो यदैवं मिश्रः संकल्पो यावन्तः श्रमणा देवदत्ताख्यास्तेभ्यो दास्यामीति तदा देवदत्ताख्यस्य साधोर्न कल्पते, तस्य श्रमणदेवदत्तशब्दाभ्यां संकल्पविषयीकृतत्वात् , यदा पुनरेवममिश्रः संकल्पो यावन्तः शाक्याः श्रमणाः, यदि वा-आजीवका देवदत्ता , यद्वा—साधुव्यतिरेकेण सर्वे श्रमणा देवदत्तास्तेभ्यो दास्यामीति तदा कल्पते, तस्य विवक्षितसंकल्पविषयीकरणाभावात् , संयतानां तु निर्ग्रन्थानां विसदृशनाम्नामपि संकल्पे कृते देवदत्ताख्यादेः साधोर्न कल्पते, किमुक्तं भवति-चैत्रनाम्नोऽपि संयतस्योद्देशेन कृतं देवदत्ताख्यस्य साधोर्न कल्पते, तथा भगवदाज्ञाविजृम्भ-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यात्, यदा पुनस्तीर्थकरप्रत्येकबुद्धसंकल्पनेन कृतं तदा कल्पते, तीर्थकरप्रत्येकबुद्धानां सङ्घातीतत्वेन सङ्घमध्यवर्तिभिः साधुभिः सह साधर्मिकत्वाभावात्। " संजयाणउ विसरिसनामाण वि न कप्पे " इति वचनाच्चार्थापत्त्या यावन्तो देवदत्ता इत्यादौ विसदृशचैत्रादिनाम्नां साधूनां कल्पत एवेति प्रतिपादितं द्रष्टव्यम्। तदेवमुक्तो नाम साधर्मिकमधिकृत्य कल्प्याऽकल्प्यविधिः।

संप्रति स्थापनाद्रव्यसाधर्मिकावधिकृत्य तमाह—

नीसमनीसाचकडं, ठवणा साहंमियम्मि उ विभासा ।
दव्वे मयतणुभत्तं, न तं तु कुच्छा विवज्जेजा ॥ १४४ ॥

इह कोऽपि गृही गृहीतप्रव्रज्यस्य मृतस्य जीवतो वा पित्रादेः स्नेहवशात्प्रतिकृतिं कारयित्वा तत्पुरतो ढौकनाय बलिं निष्पादयति, तन्निष्पादनं च द्विधा, तद्यथा-निश्रया, अनिश्रया च । तत्र ये रजोहरणादिवेषधारिणो मत्पितृतुल्यास्तेभ्यो दास्यामीति संकल्प्य निष्पादयति। तदा तद्बलिनिष्पादनं निश्राकृतमुच्यते, यदा त्वेवंविधः संकल्पो न भवति, किन्त्वेवमेव ढौकनाय बलिं निष्पादयति । तदा तद्बलिनिष्पादनमनिश्राकृतमुच्यते, तथा चाह—" नीसमनीसा व कडं ' इह प्रथमा तृतीयार्थे वेदितव्या ततोऽयमर्थः—निश्रया अनिश्रया वा यत्कृतं—निष्पादितं भक्तादि स्थापनासाधर्मिकविषये । तत्र विभाषा कर्त्तव्या, यदि निश्राकृतं तदपि च ढौकितमढौकितं वा तर्हि न कल्पते, अनिश्राकृतं तु ढौकितमढौकितं वा कल्पते, परं तत्रापि प्रवृत्तिदोषप्रसङ्ग इति पूर्वसूरयो निषेधमाचक्षते, तथा द्रव्ये-द्रव्यसाधर्मिकविषये यत् मृततनुभक्तं तत्कालं मृतस्य साधोर्या तनुस्तस्याः पुरतो ढौकनाय यदशनादि तत् पुत्रादिना कृतं तत् मृततनुभक्तं तदपि द्विधा-निश्राकृतम्, अनिश्राकृतं च। तत्र साधुभ्यो दास्यामीति संकल्प्यकृतं निश्राकृतम्, इतरत्तु स्वपित्रादिभक्तिमात्रकृतमनिश्राकृतं. तत्र यन्निश्राकृतं तन्निषेधयति-नैव कल्पते, इतरत्तु अनिश्राकृतं कल्पते, किंतु तद्ग्रहणे लोके जुगुप्सा-निन्दा प्रवर्त्तते, यथा अहो अमी भिक्षवो निःशूका मृततनुभक्तमपि न परिहरन्तीति ततो विवर्जयन्ति तत्साधवः ।

संप्रति क्षेत्रकालसाधर्मिकावधिकृत्यातिदेशेन कल्प्याऽकल्प्यविधिमाह—

पासंडियसमणाणं, गिहिनिग्गंथाण चेव उ विभासा ।
जह नामम्मि तहेव य, खेत्ते काले य नायव्वं ॥ १४५ ॥

यथा नाम्नि-नामसाधर्मिकविषये पाषण्डिनां श्रमणानां 'गिहि' त्ति-"सूचनात् सूत्रमि"ति न्यायात् गृह्यगृहिणा निर्ग्रन्थानां च विभाषा कृता तथा क्षेत्रे काले च विभाषणं ज्ञातव्यं, तत्र क्षेत्रं-सौराष्ट्रादिकं कालः-दिनपौरुष्यादिकः; तत्र क्षेत्रविषये विभाषा एवम् यदि सौराष्ट्रदेशोत्पन्नेभ्यः पाषण्डिभ्यो मया दातव्यमिति संकल्पः तदा सौराष्ट्रदेशोत्पन्नस्य साधोर्नकल्पते, सौराष्ट्रदेशोत्पन्नत्वेन तस्यापि संकल्पविषयीकरणात्, शेषदेशोत्पन्नानां तु कल्पते, तेषां संकल्पविषयीकरणाभावात्, यदि पुनः सौराष्ट्रदेशोत्पन्नेभ्यः पाषण्डिभ्यः सरजस्केभ्यः, यदि वा-सौगतेभ्यः यद्वा-साधुव्यतिरेकेण सर्वपाषण्डिभ्यो दास्यामीति संकल्पस्तदा सौराष्ट्रदेशोत्पन्नस्यापि साधोः कल्पते, तस्य संकल्पाक्रोडीकरणात्, एवं श्रमणेष्वपि सामान्यतः संकल्पितेषु न कल्पते, साधुव्यतिरेकेण तु संकल्पितेषु कल्पते तथा गृह्यगृहिषु सामान्यतः सौराष्ट्रदेशोत्पन्नत्वेन संकल्पितेषु न कल्पते, केवलेषु तु गृहिषु कल्पते, निर्ग्रन्थेषु तु सौराष्ट्रदेशोत्पन्नेषु असौराष्ट्रदेशोत्पन्नेषु वा संकल्पितेषु सौराष्ट्रदेशोत्पन्नानामन्यदेशोत्पन्नानां वा सर्वथा न कल्पते, तदेवं क्षेत्रसाधार्मिके विभाषा भाविता, एवं कालसाधर्मिकेऽपि भावनीया, यथा विवक्षितदिनजातेभ्यः पाषण्डिभ्यो मया दातव्यमिति संकल्पिते तस्यापि तद्दिनजातस्य साधोः न कल्पते, तस्यापि तद्दिनजातत्वेन संकल्पविषयीकरणात्, शेषदिनजातानां तु कल्पते, संकल्पविषयीकरणाऽभावात् इत्यादि सर्वं पूर्वोक्तानुसारेण भावनीयम्, प्रवचनादिपदसप्तके पुनरेवं पूर्वाचार्यव्याख्या—प्रवचनलिङ्गदर्शनज्ञानचारित्राभिग्रहभावनारूपेषु सप्तसु पदेषु द्विसंयोगभङ्गा एकविंशतिः, तद्यथा-प्रवचनस्य लिङ्गेन सह एको, दर्शनेन सह द्वितीयो, ज्ञानेन सह तृतीयः, एवं यावत् भावनया सह षष्ठ इति षड् भङ्गाः एवं लिङ्गस्य दर्शनादिभिः सह पञ्च, दर्शनस्य ज्ञानादिभिः सह चत्वारः, ज्ञानस्य चारित्रादिभिः सह त्रयः, चारित्रस्याभिग्रहभावनाभ्यां द्वौ अभिग्रहस्य भावनया सहैक इत्येकविंशतिः, एतेषु च एकविंशतिसंख्येषु भङ्गेषु प्रत्येकमेकैकाः चतुर्भङ्गिकाः, तद्यथा-प्रवचनतः साधर्मिको न लिङ्गतः, लिङ्गतः साधर्मिको न प्रवचनतः, प्रवचनतः साधर्मिको लिङ्गतश्च, न प्रवचनतो न लिङ्गतश्च, शेषेषु भङ्गेषु यथास्थानं चतुर्भङ्गिका दर्शयिष्यते ।

तत्र प्रथमचतुर्भङ्गिकाया आद्यभङ्गद्वयोदाहरणमुपदर्शयति-

दस ससिहागा सावग, पवयण साहम्मिया न लिंगेणं ।
लिंगेण उ साहंमी, नो पवयण निण्हगा सव्वे ॥१४६॥

प्रवचनतः साधर्मिका न लिङ्गेन अविरतसम्यग्दृष्टेरारभ्य यावद्दशमीं श्रावक प्रतिमां प्रतिपन्ना ये श्रावकास्ते द्रष्टव्याः, कुत इत्याह-' दस ससिहागा ' इत्यत्र " निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां विभक्तीनां प्रायो दर्शनम् " इति न्यायाद्धेतौ प्रथमा, ततोऽयमर्थः-यतस्ते दशमीं श्रावकप्रतिमां प्रतिपन्नाः, सशिखाकाः-शिखासहिताः केशसहिता एवेत्यर्थः, ततस्ते प्रवचनत एव साधर्मिका भवन्तिः न लिङ्गतः, ये त्वेकादशीं श्रावकप्रतिमां प्रतिपन्नास्ते निष्केशा इत्यादिना लिङ्गतोऽपि साधर्मिका भवन्तीति तद्विवर्जनम् एतेषां चार्थाय यत् कृतं तत्साधूनां कल्पते, तथा लिङ्गतः साधर्मिका न प्रवचनतो निह्नवाः, तेषां प्रवचनबहिर्भूतत्वेन प्रवचनतः साधर्मिकत्वाभावात्, लिङ्गं तु तेषामपि रजोहरणादिकं विद्यते इति लिङ्गतः साधर्मिकाः, तेषामप्यर्थाय कृतं साधूनां कल्पते, निह्नवाश्च द्विधा-लोके निह्नवत्वेन ज्ञाताः, अज्ञाताश्च । तत्र ये अज्ञातास्ते इह ग्राह्याः, अज्ञातानां लोके साधुत्वेन व्यवहरणभावतः प्रवचनान्तर्वर्त्तित्वात्, इहाद्यभङ्गद्वयेन उदाहृते शेषमुत्तरं भङ्गद्वयं स्वयमेव श्रोतारोऽवभोत्स्यन्ते। इति बुद्ध्या निर्युक्तिकृन्नोदाहृतवान्, अनेनैव च कारणेन शेषाणामपि चतुर्भङ्गिकाणामाद्यमेव भङ्गद्वयमुदाहरिष्यति नोत्तरं भङ्गद्वयं वयं

तु सुखावबोधाय उदाहरिष्यामः, तत्रास्यामेव प्रथमचतुर्भङ्गिकायां प्रवचनतः साधर्मिका लिङ्गतश्चेति तृतीयभङ्गे उदाहरणं साधवः एकादशी प्रतिमां प्रतिपन्ना श्रावका वा, तत्र साधूनामर्थाय कृतं न कल्पते, श्रावकाणां त्वर्थाय कृतं कल्पते, न प्रवचनतः साधर्मिका नाऽपि लिङ्गतस्तीर्थकरप्रत्येकबुद्धाः, तेषां प्रवचनलिङ्गातीतत्वात् तेषामर्थाय कृतं कल्पते. द्वितीयाचतुर्भङ्गिका-प्रवचनतः साधर्मिका, न दर्शनतः, दर्शनतः साधर्मिका न प्रवचनतः, प्रवचनतः साधर्मिका दर्शनतश्च। न प्रवचनतो न दर्शनतः।

तत्राद्यभङ्गद्वयोदाहरणमाह—

विसरिसदंसणजुत्ता, पवयणसाहम्मिया न दंसणओ ।
तित्थगरा पत्तेया, नो पवयणदंससाहम्मी ॥ १४७ ॥

प्रवचनतः साधर्मिका न दर्शनतो, विसदृशदर्शनयुक्ताः-विभिन्नक्षायिकादिसम्यक्त्वयुक्ताः साधवः श्रावका वा किमुक्तं भवति-एकेषां साधूनां श्रावकाणां वा क्षायोपशमिकं दर्शनमपरेषां त्वौपशमिकं क्षायिकं वा ते परस्परं प्रवचनतः साधर्मिका न दर्शनतः, तत्र साधूनामर्थाय कृतं साधूनां न कल्पते, श्रावकाणां त्वर्थाय कृतं कल्पते, तथा दर्शनतः साधर्मिका न प्रवचनतः, तीर्थकराः प्रत्येकबुद्धा वा समानदर्शना वेदितव्याः, तेषामर्थाय कृतं साधूनां कल्पते, प्रवचनतः साधर्मिका दर्शनतश्च, साधवः श्रावका वा समानदर्शनाः, अत्रापि साधूनामर्थाय कृतं साधूनां न कल्पते, श्रावकाणां त्वर्थाय कृतं कल्पते, न प्रवचनतो नापि दर्शनतस्तीर्थकरप्रत्येकबुद्धनिह्नवाः, तत्र तीर्थकराः प्रत्येकबुद्धाश्च विभिन्नदर्शना वेदितव्याः, निह्नवाश्च मिथ्यादृष्टयः प्रतीता एव. एतेषां च सर्वेषामर्थाय कृतं कल्पते, तृतीया चतुर्भङ्गिका-प्रवचनतः साधर्मिका न ज्ञानतः, ज्ञानतः साधर्मिका न प्रवचनतः, प्रवचनतोऽपि साधर्मिका ज्ञानतश्च, न प्रवचनतो नापि ज्ञानतः, एवं चतुर्थ्यपि चतुर्भङ्गिका प्रवचनस्य चारित्रेण सह वेदितव्या।

एतयोर्द्वयोरपि चतुर्भङ्गिकयोराद्यभङ्गद्वयमतिदेशेनोदाहरति —

नाणचरित्ता एवं, नायव्वा होंति पवयणेणं तु ॥

यथा प्रवचनेन सह दर्शनमुक्तमेवं ज्ञानचारित्रे अपि प्रवचनेन सह ज्ञातव्ये, तद्यथा-प्रवचनतः साधर्मिका न ज्ञानतः, विसदृशज्ञानसहिताः साधवः श्रावका वा. अत्रापि यदि साधवस्तर्हि न कल्पते, अथ श्रावकास्तर्हि कल्पते. ज्ञानतः साधर्मिका न प्रवचनतः, तीर्थकराः प्रत्येकबुद्धा वा समानज्ञानाः, तेषामर्थाय कृतं कल्पते, प्रवचनतः साधर्मिका ज्ञानतश्च, साधवः श्रावका वा समानज्ञानाः, अत्रापि साध्वर्थं कृतं न कल्पते, श्रावकाणां त्वर्थाय कृतं कल्पते, न प्रवचनतो नाऽपि ज्ञानतः तीर्थकरप्रत्येकबुद्धनिह्नवाः, तत्र तीर्थकराः प्रत्येकबुद्धाश्च विभिन्नज्ञाना वेदितव्याः, निह्नवास्तु मिथ्यादृष्टित्वादज्ञानिनः प्रतीता एव, एतेषां सर्वेषामप्यर्थाय कृतं कल्पते, तथा प्रवचनतः साधर्मिका न चारित्रतः साधवः, श्रावकाश्च, तत्र साधवो विसदृशचारित्रसहिता वेदितव्याः, श्रावकाणां त्वविरतसम्यग्दृष्टीनां सर्वथा विरत्यभावेन देशविरतानां तु देशचारित्रतया चारित्रतः साधर्मिकत्वाभावः सुप्रतीतः, साध्वर्थं चेत् कृतं न कल्पते, श्रावकार्थं चेत्तर्हि कल्पते, चारित्रतः साधर्मिका न प्रवचनतः, तीर्थकरप्रत्येकबुद्धाः समानचारित्राः, तेषामर्थाय कृतं कल्पते, प्रवचनतः साधर्मिकाश्चारित्रतश्च साधवः समानचारित्राः, तेषामर्थाय कृतं न कल्पते, न प्रवचनतो नापि चारित्रतस्तीर्थकरप्रत्येकबुद्धनिह्नवाः, तत्र तीर्थकरप्रत्येकबुद्धा विसदृशचारित्रा वेदितव्याः, निह्नवास्त्वचारित्रिण एव एतेषां च सर्वेषामप्यर्थाय कृतं कल्पते। पञ्चमी चतुर्भङ्गिका-प्रवचनतः साधर्मिका नाऽभिग्रहतः, अभिग्रहतः साधर्मिका न प्रवचनतः, प्रवचनतोऽपि साधर्मिका अभिग्रहतश्च, न प्रवचनतोऽपि नाप्यभिग्रहतश्च, एवं षष्ठ्यपि चतुर्भङ्गिका प्रवचनस्य भावनया सह वेदितव्या।

एतयोर्द्वयोरपि चतुर्भङ्गिकयोः प्रत्येकमाद्यं भङ्गद्वयमुदाहरति-

पवयणओ साहंमी, नाभिग्गहसावगा जइणो ॥ १४८ ॥
साहम्मऽभिग्गहेणं, नो पवयणनिण्हतित्थ पत्तेया ।
एवं पवयणभावण, एत्तो सेसाण वोच्छामि ॥ १४९ ॥

प्रवचनतः साधर्मिका नाभिग्रहतः श्रावका यतयश्च विसदृशाभिग्रहसहिताः, तत्र श्रावकाणामर्थाय कृतं कल्पते न साधूनाम्, अभिग्रहेण साधर्मिका न प्रवचनेन, निह्नवतीर्थकरप्रत्येकबुद्धाः, एतेषां चार्थाय कृतं कल्पते, प्रवचनतः साधर्मिका अभिग्रहतश्च साधवः श्रावकाश्च समानाभिग्रहाः, अत्रापि श्रावकाणामर्थाय कृतं कल्पते न साधूनां, न प्रवचनतो नाऽप्यभिग्रहतः, तीर्थकरप्रत्येकबुद्धनिह्नवा विसदृशाभिग्रहकलिता निरभिग्रहा वा, तेषामर्थाय कृतं कल्पते, एवम्-'पवयणभावण' त्ति-एवं-पूर्वोक्तेन प्रकारेण प्रवचनभावनेति प्रवचनभावना चतुर्भङ्गिका भावनीया तद्यथा-प्रवचनतः साधर्मिका न भावनातः, साधवः श्रावका वा विसदृशभावनाकाः, अत्रापि श्रावकाणामर्थाय कृतं कल्पते; न साधूनां, भावनातः साधर्मिका न प्रवचनतः, निह्नवतीर्थकरप्रत्येकबुद्धास्तेषामर्थाय कृतं कल्पते, प्रवचनतः साधर्मिका भावनातश्च, साधवः श्रावकाश्च समानभावनाकाः, तत्र श्रावकाणामर्थाय कृतं कल्पते न साधूनां, न प्रवचनतो नापि भावनातस्तीर्थकरप्रत्येकबुद्धनिह्नवा विसदृशभावनाकाः, एतेषामर्थाय कृतं कल्पते, तदेवमुक्तानि प्रवचनाश्रितानां षण्णां चतुर्भङ्गिकानामुदाहरणानि-' एत्तो सेसाण वोच्छामि ' त्ति-इत ऊर्ध्वं शेषाणां चतुर्भङ्गिकानामुदाहरणानि वक्ष्ये।

प्रतिज्ञातमेवातिदेशेन निर्वाहयति—

लिंगाईहि वि एवं, एकेकेणं तु उवरिमा नेया ।
जेऽनन्ने उवरिल्ला, ते मोत्तुं सेसए एवं ॥ १५० ॥

'लिंगाईहि वि' इत्यत्र सप्तम्यर्थे तृतीया; ततोऽयमर्थः-एवंपूर्वोक्तेन प्रकारेण लिङ्गादिष्वपि लिङ्गदर्शनप्रभृतिष्वपि पदेषु एकैकेन लिङ्गादिना पदेन उपरितनानि-दर्शनज्ञानप्रभृतीनि पदानि नयेत्, किमुक्तं भवति ?-लिङ्गदर्शनप्रभृतिषु पदेषु दर्श-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

र्शनादिभिः पदैः सह याश्चतुर्भङ्गिकास्ताः पूर्वोक्तानुसारेणोदाहरेत्, अतीवेदं संक्षिप्ततरमुक्तम्, अतः स्पष्टेन विवक्षुरिदमाह-' जेऽनन्ने ' इत्यादि, ये अनन्ये उदाहरणापेक्षया अन्यादृशा न भवन्ति भङ्गास्तान् मुक्त्वा शेषकान् भङ्गकान् एवं—वक्ष्यमाणप्रकारेण जानीत, इयमत्र भावना—इह लिङ्गदर्शनयोर्ये चत्वारो भङ्गाः सोदाहरणा वक्ष्यन्ते तादृशा एव प्राय उदाहरणापेक्षया लिङ्गज्ञानलिङ्गचरणयोरपि भङ्गाः, ततस्तान् मुक्त्वा लिङ्गदर्शनलिङ्गाभिग्रहादिसत्कान् भङ्गानुदाहरिष्यामीति , तत्र लिङ्गदर्शनयोरियं चतुर्भङ्गिका, लिङ्गतः साधर्म्मिका न दर्शनतः, दर्शनतः साधर्म्मिका न लिङ्गतः, लिङ्गतोऽपि साधर्म्मिका दर्शनतश्च, न लिङ्गतो नापि दर्शनतः ।

तत्राऽऽद्यं भङ्गद्वयमुदाहरति—

लिंगेण उ साहंमी, न दंसणे वीसुदंसि जइ निण्हा।
पत्तेयबुद्धतित्थ-करा य बीयंमि भंगम्मि ॥ १५१ ॥

लिङ्गेन साधर्म्मिकाः ' न दंसणे ' इत्यत्र तृतीयार्थे सप्तमी न दर्शनेन, विष्वग्दर्शना-विभिन्नदर्शना यतयो निह्नवाश्च उपलक्षणमेतद्विभिन्नदर्शना एकादशप्रतिमाप्रतिपन्नाः श्रावकाश्च, तत्र निह्नवा मिथ्यादृष्टित्वात् न दर्शनतः साधर्मिकाः, अत्र च निह्नवानां श्रावकाणां चार्थाय कृतं कल्पते; न यतीनां, द्वितीये भङ्गे दर्शनतः साधर्मिका न लिङ्गतः इत्येवंरूपे प्रत्येकबुद्धास्तीर्थकृतः एकादशप्रतिमाप्रतिपन्नवर्जा श्रावकाश्च समानदर्शना ज्ञेयाः, तेषामर्थाय कृतं कल्पते, शेषं भङ्गद्वयं वयमुदाहरामः, लिङ्गतः साधर्म्मिका दर्शनतश्च समानदर्शनाः साधव एकादर्शी प्रतिमां प्रतिपन्नाः श्रावकाश्च , अत्रापि श्रावकाणामर्थाय कृतं कल्पते न साधूनां, न लिङ्गतो नापि दर्शनतो विसदृशदर्शनाः प्रत्येकबुद्धतीर्थकरा एकादशप्रतिमाप्रतिपन्नवर्जाः श्रावकाश्च तेषामर्थाय कृतं कल्पते, लिङ्गज्ञानचतुर्भङ्गिका त्वेवम्-लिङ्गतः साधर्मिका न ज्ञानतः, ज्ञानतः साधर्मिका न लिङ्गतः, लिङ्गतः साधर्म्मिका ज्ञानतश्च, न लिङ्गतो नाऽपि ज्ञानतः, अस्याश्चतुर्भङ्गिकाया आद्यभङ्गद्वयोदाहरणानि प्रायो लिङ्गदर्शनचतुर्भङ्गिकाद्वयसदृशानीति कृत्वा निर्युक्तिकृन्नोदाहरति, ततो वयमेवोदाहरामः-लिङ्गतः साधर्मिका न ज्ञानतः, विभिन्नज्ञाना यतय एकादर्शी प्रतिमां प्रतिपन्नाः श्रावका निह्नवाश्च, अत्रापि श्रावकाणां निह्नवानां चार्थाय कृतं कल्पते न यतीनां, ज्ञानतः साधर्मिका न लिङ्गतः समानज्ञानास्तीर्थकरप्रत्येकबुद्धा एकादश प्रतिमावर्जाः श्रावकाश्च, तेषामर्थाय कृतं कल्पते, लिङ्गतः साधर्मिका ज्ञानतश्च समानज्ञानाः साधव एकादर्शी प्रतिमां प्रतिपन्ना श्रावकाश्च, अत्राऽपि श्रावकाणामर्थाय कृतं कल्पते न यतीनां, न लिङ्गतो नाऽपि ज्ञानतो विभिन्नज्ञानाः प्रत्येकबुद्धतीर्थकराः एकादशप्रतिमाप्रतिपन्नवर्जाः श्रावकाश्च एतेषामर्थाय कृतं कल्पते, । लिङ्गचरणयोरियं चतुर्भङ्गिका, लिङ्गतः साधर्मिका न चरणतः१, चरणतः साधर्मिका न लिङ्गतः२, लिङ्गतः साधर्मिकाश्चरणतश्च ३, न लिङ्गतो नापि चरणतः ४, अस्या अपि चतुर्भङ्गिकाया उदाहरणानि प्रायः पूर्वसदृशानीति कृत्वा निर्युक्तिकृत् नोदाहृतवान् ततोऽहमेवोदाहरामि-लिङ्गतः साधर्मिका न चरणतो विभिन्नचारित्रा यतयः, एकादर्शी प्रतिमां प्रतिपन्नाः श्रावका निह्नवाश्च, अत्र श्रावकाणां निह्नवानां चार्थाय कृतं कल्पते न यतीनां, चरणतः साधर्मिका न लिङ्गतः, प्रत्येकबुद्धास्तीर्थकृतश्च समानचारित्राः, तेषामर्थाय कृतं साधूनां कल्पते, लिङ्गतः साधर्म्मिकाश्चरणतश्च समानचारित्रा यतयः, तेषामर्थाय कृतं न कल्पते, न लिङ्गतो नापि चरणतो विसदृशचरणाः प्रत्येकबुद्धतीर्थकरा एकादशप्रतिमावर्जाः श्रावकाश्च, तेषामर्थाय कृतं कल्पते। लिङ्गाभिग्रहयोश्चतुर्भङ्गिका इयम्-लिङ्गतः साधर्मिका नाभिग्रहतः १, अभिग्रहतः साधर्मिका न लिङ्गतः २, लिङ्गतः साधर्मिका अभिग्रहतश्च ३, न लिङ्गतो नाप्यभिग्रहतः ४।

तत्राद्यं भङ्गद्वयमुदाहरति—

लिंगेण उ नाभिग्गह, अणभिग्गह वीसुऽभिग्गही चेव।
जइ सावग बीयभंगे, पत्तेयबुद्धा य तित्थयरा ॥ १५२ ॥

लिङ्गेन साधर्मिका नाभिग्रहतोऽनभिग्रहाः, यद्वा—विष्वग्-अभिग्रहिणो-विभिन्नाभिग्रहकलिता यतय एकादर्शी प्रतिमां प्रतिपन्ना श्रावकाश्च वेदितव्याः, उपलक्षणमेतत् निह्नवाश्च, अत्रापि निह्नवानां श्रावकाणां चार्थाय कृतं कल्पते न यतीनाम् १, अभिग्रहतः साधर्मिका न लिङ्गतः इत्येवंरूपे द्वितीये भङ्गे प्रत्येकबुद्धास्तीर्थकराश्चशब्दादेकादशप्रतिमावर्जाः श्रावकाश्च समानाभिग्रहा द्रष्टव्याः, एतेषामर्थाय कृतं कल्पते २, लिङ्गतः साधर्मिका अभिग्रहतश्च समनाभिग्रहाः साधव एकादर्शी प्रतिमां प्रतिपन्नाः श्रावका निह्नवाश्च , अत्रापि श्रावकनिह्नवानामर्थाय कृतं कल्पते न यतीनाम् ३, न लिङ्गतो नाप्यभिग्रहतश्च विसदृशाभिग्रहास्तीर्थकरप्रत्येकबुद्धैकादशप्रतिमावर्जश्रावकाः, एतेषामर्थाय कृतं कल्पते। लिङ्गभावनयोरियं चतुर्भङ्गिका-लिङ्गतः साधर्मिका न भावनातः, भावनातः साधर्मिका न लिङ्गतः, लिङ्गतः साधर्मिका भावनातश्च, न लिङ्गतो नापि भावनातः ।

तत्रास्या उदाहरणान्यतिदेशेनाह-

एवं लिङ्गेण भावण,

यथा लिङ्गे अभिग्रहेण भङ्गेषूदाहृतमेवं भावनयाऽप्युदाहर्तव्यम्। तद्यथा-लिङ्गतः साधर्मिका न भावनातः, भावनारहिता विष्वग्भावना वा यतय एकादर्शी प्रतिमां प्रतिपन्नाः श्रावका निह्नवाश्च। अत्र श्रावकनिह्नवानामर्थाय कृतं कल्पते न साधूनामर्थाय १, भावनातः साधर्मिका न लिङ्गतः, प्रत्येकबुद्धास्तीर्थकृत एकादर्शी प्रतिमां प्रतिपन्नाः श्रावकाश्च समानभावनाकाः, एतेषामर्थाय कृतं कल्पते २, लिङ्गतः साधर्मिका भावनातश्च समानभावनाकाः साधव एकादर्शी प्रतिमां प्रतिपन्नाः श्रावका निह्नवाश्च, अत्रापि श्रावकनिह्नवानामर्थाय कृतं कल्पते न यतीनाम् ३, न लिङ्गतो नापि भावनातो विसदृशभावनाकास्तीर्थकरप्रत्येकबुद्धैकादशप्रतिमावर्जश्रावकाः, एतेषामर्थाय कृतं कल्पते, तदेवं लिङ्गविषयाः पञ्च चतुर्भङ्गिका उक्ताः। संप्रति दर्शनस्य ज्ञानादिभिः सह वक्तव्यास्तत्र दर्शनज्ञानयोरियं चतुर्भङ्गिका-दर्शनतः साधर्मिका न ज्ञानतः १, ज्ञानतः साधर्मिका न दर्शनतः २, दर्शनतोऽपि साधर्म्मिका ज्ञानतश्च ३, न दर्शनतो नाऽपि ज्ञानतः ४।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत्राद्यं भङ्गद्वयमुदाहरति—

दंसणनाणे य पढमभंगो उ ।
जइ सावग वीसुनाणी, एवं चिय बिइयभंगोऽवि ।१५३।

दर्शज्ञाने-दर्शनज्ञानविषयायां चः समुच्चये, प्रथमो भङ्गो दर्शनतः साधर्मिका न ज्ञानतः इत्येवंरूपो विष्वग्ज्ञानिनः—विभिन्नज्ञानाः समानदर्शना यतयः श्रावकाश्च वेदितव्याः, तत्र श्रावकाणामर्थाय कृतं कल्पते न यतीनामर्थाय कृतम् । एवमेव ज्ञानतः साधर्मिका न दर्शनत इत्येवंरूपो द्वितीयभङ्गोऽपि ज्ञातव्यः; तत्राऽपि यतयः श्रावकाश्च वेदितव्या इत्यर्थः, केवलं विभिन्नदर्शनाः समानज्ञानाः, अत्रापि कल्प्याऽकल्प्यविधिः प्रागिव, ज्ञानतः साधर्मिका दर्शनतश्च समानज्ञानाः समानदर्शना यतयः श्रावकाश्च, अत्राऽपि कल्प्याऽकल्प्यविधिः प्राग्वत्, न ज्ञानतो नापि दर्शनतो विसदृशज्ञानदर्शनाः साधवः श्रावका निह्नवाश्च, अत्र श्रावकनिह्नवानामर्थाय कृतं कल्पते न साधूनाम् । दर्शनचरणयोश्चतुर्भङ्गिका त्वियम्-दर्शनतः साधर्मिका न चरणतः १, चरणतः साधर्मिका न दर्शनतः २, दर्शनतोऽपि साधर्मिकाश्चरणतश्च ३, न दर्शनतो नापि चरणतः ४ ।

तत्राऽऽद्यं भङ्गद्वयमुदाहरति—

दंसणचरणे पढमो, सावग जइणो य बीयभंगो उ ।
जइणो विसरिसदंसी, दंसे य अभिग्गहे वोच्छं ॥१५४॥

दर्शनचरणे-दर्शनचरणचतुर्भङ्गिकायां प्रथमो भङ्गो दर्शनतः साधर्मिका न चरणत इत्येवंरूपः समानदर्शनाः श्रावका विसदृशचरणा यतयश्च, अत्र श्रावकाणामर्थाय कृतं कल्पते न यतीनामर्थाय कृतम् १. द्वितीयो भङ्गः पुनश्चरणतः साधर्मिका न दर्शनतः इत्येवंरूपः विसदृशदर्शनाः समानचारित्रा यतयः, एतेषामर्थाय कृतं न कल्पते २, दर्शनतः साधर्मिकाश्चरणतश्च समानदर्शनचरणा यतयः, अत्रापि न कल्पते ३, न दर्शनतो नापि चरणतो निह्नवा विसदृशदर्शना श्रावका विसदृशचरणा यतयश्च, तत्र निह्नवश्रावकाणामर्थाय कृतं कल्पते न यतीनाम् , दर्शनाभिग्रहयोरियं चतुर्भङ्गिका-दर्शनतः साधर्मिका नाभिग्रहतः १, अभिग्रहतः साधर्मिका न दर्शनतः २, दर्शनतः साधर्मिका अभिग्रहतश्च ३, न दर्शनतो नाप्यभिग्रहतः ४. तत्राद्यं भङ्गद्वयमुदाजिहीर्षुरिदमाह—'दंसण' इत्यादि, दर्शने अभिग्रहे चाद्यभङ्गद्वयमधिकृत्योदाहरणं वक्ष्ये ।

प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति—

सावग जइ वीसऽभिग्गह-पढमो बीओ य

समानदर्शनाः विष्वगभिग्रहाः—विभिन्नाभिग्रहाः श्रावका यतयश्च दर्शनतः साधर्मिका नाभिग्रहत एवंरूपः प्रथमो भङ्गः, अत्रापि श्रावकाणामर्थाय कृतं कल्पते, न यतीनां, द्वितीयोऽपि भङ्गोऽभिग्रहतः साधर्मिका न दर्शनत इत्येवंलक्षणः श्रावकप्रतिरूप एव, केवलं ते यतयः श्रावकाश्च विसदृशदर्शनाः समानाभिग्रहा वेदितव्याः, उपलक्षणमेतत् , तेन निह्नवाश्च समानाभिग्रहा ज्ञातव्याः । अत्र श्रावकनिह्नवानामर्थाय कृतं कल्पते न यतीनां, दर्शनतः साधर्मिका अभिग्रहतश्च समानदर्शनाभिग्रहाः साधुश्रावकाः, अत्रापि श्रावकाणामर्थाय कृतं कल्पते न साधूनां, दर्शनतो नाप्यभिग्रहतो विसदृशदर्शनाभिग्रहाः साधुश्रावकनिह्नवाः, अत्र कल्प्याऽकल्प्यविधिर्द्वितीयभङ्गवत् । दर्शनभावनयोरियं चतुर्भङ्गिका-दर्शनतः साधर्मिका न भावनातो १, भावनातः साधर्मिका न दर्शनतः २, दर्शनतोऽपि साधर्मिका भावनातश्च ३, न दर्शनतो नाऽपि भावनातः ४ ।

अस्या आद्यभङ्गद्वयोदाहरणातिदेशार्थमाह—

भावणा चेवं ।

यथा दर्शनेन अभिग्रह उदाहृत एवं भावनाऽप्युदाहर्तव्या, सा चैवम्-दर्शनतः साधर्मिका न भावनातः, विसदृशभावनाकाः समानदर्शनाः श्रावका यतयः १, भावनातः साधर्मिका न दर्शनतो विसदृशदर्शनसमानभावनाकाः साधवः श्रावका निह्नवाश्च २, दर्शनतः साधर्मिका भावनातश्च समानदर्शनभावनाकाः साधुश्रावकाः३, न दर्शनतो नापि भावनातो विसदृशदर्शनभावनाकाः साधुश्रावकनिह्नवाः ४. अत्र चतुर्ष्वपि भङ्गेषु कल्प्याऽकल्प्यविधिः प्रागिव । तदेवं दर्शनविषया अपि चतस्रश्चतुर्भङ्गिका उक्ताः ।

संप्रति ज्ञानस्य चारित्रादिभिः सह वक्तव्याः । ताश्चाऽतिदेशेनाह—

नाणेण वि नेज्जेवं,

यथा दर्शनेन सह चतस्रश्चतुर्भङ्गिका उक्ताः एवं ज्ञानेनापि सह चारित्रादीनि पदानि अधिकृत्य तिस्रश्चतुर्भङ्गिका भावनीयाः । अतीवेदं संक्षिप्तमुक्तमतः स्पष्टं विभ्रियते-ज्ञानचरणयोरियं चतुर्भङ्गिका-ज्ञानतः साधर्मिका न चरणतः १, चरणतः साधर्मिका न ज्ञानतः २, ज्ञानतोऽपि साधर्मिकाश्चरणतश्च ३, न ज्ञानतोऽपि नापि चरणतः ४ । तत्र ज्ञानतः साधर्मिका न चरणतः, समानज्ञानाः श्रावकाः विसदृशचरणसमानज्ञाना यतयश्च, अत्र श्रावकाणामर्थाय कृतं कल्पते न यतीनाम् १. चरणतः साधर्मिका न ज्ञानतो विसदृशज्ञानाः समानचरणयतयः, अत्र न कल्पते २, ज्ञानतः साधर्मिकाश्चरणतश्च समानज्ञानचरणाः यतयः, अत्रापि न कल्पते ३, न ज्ञानतो नापि चरणतो विसदृशज्ञानचरणा यतयो विसदृशज्ञानाः श्रावका निह्नवाश्च, अत्र श्रावकनिह्नवानामर्थाय कृतं कल्पते, न यतीनाम् ४ । ज्ञानाभिग्रहयोरियं चतुर्भङ्गिका-ज्ञानतः साधर्मिका नाभिग्रहतः १, अभिग्रहतः साधर्मिका न ज्ञानतः २, ज्ञानतोऽपि साधर्मिका अभिग्रहतश्च ३, न ज्ञानतो नाप्यभिग्रहतः ४ । तत्र ज्ञानतः साधर्मिका नाभिग्रहतः समानज्ञाना विसदृशाभिग्रहाः साधुश्रावकाः, अत्र श्रावकाणामर्थाय कृतं कल्पते, न साधूनाम् १, अभिग्रहतः साधर्मिका न ज्ञानतो विसदृशज्ञानाः समानाभिग्रहाः साधुश्रावकाः समानाभिग्रहा निह्नवाश्च, अत्रापि श्रावकनिह्नवानामर्थाय कृतं कल्पते, न साधूनाम् २, ज्ञानतः साधर्मिका अभिग्रहतश्च समानज्ञानाभिग्रहाः साधुश्रावकाः, अत्र कल्प्याऽकल्प्यविधिः प्रथमभङ्ग इव ३, न ज्ञानतो नाप्यभिग्रहतो विसदृशज्ञानाभिग्रहाः साधुश्रावका विसदृशाभिग्रहा निह्नवाश्च अत्र द्वितीये भङ्गे इव कल्प्याऽकल्प्यभावना४, ज्ञानभावनयोरियं च-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तुर्भङ्गिका-ज्ञानतः साधर्म्मिकाः न भावनातः, भावनातः साधर्मिका न ज्ञानतः, ज्ञानतोऽपि साधर्म्मिका भावनातश्च, न ज्ञानतो नापि भावनातः, तत्र-ज्ञानतः साधर्मिका न भावनातः समानज्ञाना विसदृशभावनाकाः साधुश्रावकाः १, भावनातः साधर्मिका न ज्ञानतो विसदृशज्ञानाः समानभावनाकाः साधुश्रावकाः समानभावना निह्नवाश्च २, ज्ञानतः साधर्मिका भावनातश्च समानज्ञानभावनाकाः साधुश्रावकाः ३, न ज्ञानतो नापि भावनातो विसदृशभावनाः साधुश्रावका विसदृशभावना निह्नवाश्च ४. अत्र चतुर्ष्वपि भङ्गकेषु कल्प्याऽकल्प्यभावना प्राग्वत् । तदेवं ज्ञानविषया अपि तिस्रश्चतुर्भङ्गिका उक्ताः ।

संप्रति चरणेन सह यच्चतुर्भङ्गिकाद्वयं तदुदाहर्तुमाह—

एत्तो चरणेण वोच्छामि ॥ १५५ ॥

इत ऊर्ध्वं चरणेन सह ये द्वे चतुर्भङ्गिके तदुदाहरणानि वक्ष्ये, तत्र चरणाभिग्रहयोरियं चतुर्भङ्गिका-चरणतः साधर्मिका नाभिग्रहतः, अभिग्रहतः साधर्म्मिका न चरणतः, चरणतोऽपि साधर्मिका अभिग्रहतश्च, न चरणतो नाप्यभिग्रहतः ।

तत्राद्यं भङ्गद्वयमुदाजिहीर्षुराह—

जइणो वीसाऽभिग्गह, पढमो बिय निण्ह सावगजइणो उ ।

चरणतः साधर्म्मिका नाभिग्रहत इत्येवंरूपः प्रथमो भङ्गः समानचरणा विष्वगभिग्रहा-विभिन्नाभिग्रहा यतयः, अत्र न कल्पते. अभिग्रहतः साधर्म्मिका न चरणत इत्येवंरूपो-द्वितीयो भङ्गः, समानाभिग्रहा निह्नवाः श्रावका विभिन्नचरणा यतयश्च, अत्र श्रावकाणां निह्नवानां चार्थाय कृतं कल्पते, न यतीनाम् , २ चरणतः साधर्म्मिका अभिग्रहतश्च समानाभिग्रहचरणा यतयः, अत्र न कल्पते ३, न चरणतो नाप्यभिग्रहतः विसदृशाभिग्रहचरणाः साधवो विसदृशाभिग्रहाः श्रावकनिह्नवाश्च, अत्र कल्प्याऽकल्प्यभावना द्वितीयभङ्ग इव ४. चरणभावनयोरियं चतुर्भङ्गिका-चरणतः साधर्म्मिका न भावनातः १, भावनातः साधर्म्मिका न चरणतः २, चरणतः साधर्म्मिका भावनातश्च ३, न चरणतो नापि भावनातः ४ ।

अस्या उदाहरणान्यतिदेशत आह—

एवं तु भावणासु वि,

यथा चरणेन सहाभिग्रहे उदाहृतम् एवं भावास्वप्युदाहर्तव्यम् . तच्चैवम्-चरणतः साधर्म्मिका न भावनातः समानचरणाविभिन्नभावना यतयः १, भावनातः साधर्मिका न चरणतः समानभावना निह्नवाः श्रावका विभिन्नचरणा यतयश्च २, चरणतः साधर्मिका भावनातश्च समानचरणभावना यतयः ३, न चरणतो नापि भावनातः विसदृशचरणभावनाः साधवो विसदृशभावनाः श्रावका निह्नवाश्च ४, अत्र चतुर्ष्वपि भङ्गकेषु कल्प्याऽकल्प्यविधिः प्राग्वत् । तदेवं चरणविषये अपि द्वे चतुर्भङ्गिके उक्ते ।

संप्रत्यभिग्रहभावनयोश्चतुर्भङ्गिकां वक्तुकाम आह—

वोच्छं दोण्हं ति माणिस्तो ॥१५६॥

इत ऊर्ध्वं द्वयोरन्तिमयोः-अभिग्रहभावनालक्षणयोः पदयोश्चतुर्भङ्गिकामुदाहरणतो वक्ष्ये । तत्र तयोरियं चतुर्भङ्गिका-अभिग्रहतः साधर्म्मिका न भावनातः १. भावनातः साधर्म्मिका नाभिग्रहतः २, भावनातः साधर्म्मिका अभिग्रहतश्च ३, नाभिग्रहतो नापि भावनातः ४ ।

तत्राद्यं भङ्गद्वयमुदाजिहीर्षुराह—

जइणो सावगनिण्हव-पढमे बीए य हुंति भंगे य ।

अभिग्रहतः साधर्म्मिका न भावनातः इत्येवंरूपे प्रथमे भङ्गे भावनातः साधर्मिका नाभिग्रहत इत्येवं रूपे द्वितीये च भङ्गे यतयः श्रावका निह्नवाश्च भवन्ति, केवलं प्रथमभङ्गे समानाभिग्रहा विसदृशभावना वेदितव्याः , द्वितीयभङ्गे पुनः समानभावना विसदृशाभिग्रहाः अभिग्रहतः साधर्मिका भावनातश्च समानभावनाभिग्रहाः साधुश्रावकनिह्नवाः, नाभिग्रहतो नापि भावनातो विसदृशभावनाभिग्रहाः साधुश्रावकनिह्नवाः । अत्र चतुर्ष्वपि भङ्गेषु श्रावकनिह्नवानामर्थाय कृतं कल्पते, न साधूनामिति । तदेवमुक्ताः २१ एकविंशतिरपि चतुर्भङ्गिकाः ।

(७) तीर्थकरस्य आधाकर्मभोजित्वम् । संप्रति सामान्यकेवलिनं तीर्थकरं चाधिकृत्य कल्प्याऽकल्प्यविधिं कथयन्ति—

केवलनाणे तित्थं-करस्स नो कप्पइ कयं तु ॥ १५७ ॥

केवलज्ञाने—केवलज्ञानिनः सामान्यसाधोः उपलक्षणमेतत् ; तेन तीर्थकरप्रत्येकबुद्धवर्जानां शेषसाधूनामित्यर्थः, तीर्थकरस्य; तीर्थकरग्रहणमुपलक्षणम् , तेन प्रत्येकबुद्धस्य चार्थाय कृतं यथाक्रमं न कल्पते, तुशब्दस्यानुक्तार्थसमुच्चायकत्वात् कल्पते च । इयमत्र भावना-तीर्थकरप्रत्येकबुद्धवर्जशेषसाधूनामर्थाय कृतं न कल्पते, तीर्थकरप्रत्येकबुद्धानां त्वर्थाय कृतं कल्पते. तथा हि-तीर्थकरनिमित्तं सुरैः कृतेऽपि समवसरणे तत्र साधूनां देशनाश्रवणार्थमुपवेशनादि कल्पते, एवं भक्तादावपि , एवं प्रत्येकबुद्धस्याऽपि ।

संप्रति यानाश्रित्य पूर्वोक्ता भङ्गाः संभवन्ति स तान् प्रति पादयति—

पत्तेयबुद्ध निण्हव , उवासए केवलीऽवि आसज्ज ।
खइयाइए य भावे , पडुच्च भंगे उ जोएज्जा ॥ १५८ ॥

प्रत्येकबुद्धान्-निह्नवान् उपासकान्-श्रावकान् केवलिनस्तीर्थकरान् अपिशब्दात्-शेषसाधूंश्चाश्रित्य तथा क्षायिकादीन् भावान् क्षायिकक्षयोपशमिकानि दर्शनानि चशब्दाद्विचित्राणि ज्ञानानि चरणाणि अभिग्रहान् भावनाश्च प्रतीत्य भङ्गान् योजयेत् . ते च तथैव योजिताः ।

तत्र प्रथमचतुर्भङ्गिकां प्रवचनलिङ्गविषयामधिकृत्य विशेषतः कल्प्याऽकल्प्यविधिमाह—

जत्थ उ तइओ भंगो, तत्थ न कप्पं तु, सेसए भयणा ।
तित्थंकरकेवलिणो , जहकप्पं नो य सेसाणं ॥ १५६ ॥

यत्र साधर्मिके तृतीयो भङ्गः प्रवचनतः साधर्मिका लिङ्गतश्चेत्येवंरूपस्तत्र न कल्पते , यतः प्रवचनतो लिङ्गतश्च साधर्मिकाः प्रत्येकबुद्धतीर्थकरवर्जा यतयस्ततस्तेषा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मर्थाय कृतं न कल्पते, तुशब्दोऽनुक्तसमुच्चयार्थः, स च श्रावकस्य एकादशीं प्रतिमां प्रतिपन्नस्य तृतीयभङ्गभाविनोऽप्यर्थाय कृतं कल्पत इति समुच्चिनोति, केचित्त्वाहुः-एकादशीं प्रतिमां प्रतिपन्नः साधुकल्प इति तस्याप्यर्थाय कृतं न कल्पते, तदयुक्तं मूलटीकायामस्यार्थस्यासम्मतत्वात्, मूलटीकायां हि लिङ्गाभिग्रहचतुर्भङ्गिकाविषये कल्प्याऽकल्प्यविधिरेवमुक्तः-" लिंगे नो अभिग्गहे जइ साहू न कप्पइ, गिहत्थनिग्गंथ कप्पइ " त्ति । इह लिङ्गयुता गृहस्था एकादशीं प्रतिमां प्रतिपन्नाः श्रावका एव लभ्यन्ते, ततस्तेषामर्थाय कृतं कल्प्यमुक्तम्, 'सेसए भयण' त्ति-शेषके भङ्गकत्रये भजना-विकल्पना क्वचित् कथंचित्कल्पते, क्वचिन्न, भङ्गचतुष्टयमप्यधिकृत्य सामान्यत उदाहरति-' तित्थंकरे ' त्यादि, यथेत्युदाहरणोपन्यासार्थः । तीर्थकरकेवलिनोऽर्थाय कृतं कल्पते, इह तीर्थंकर उत्पन्नकेवलज्ञान एव प्रायः सर्वत्रापि भूमण्डले प्रतीतो भवति । प्रतीतस्य च तीर्थकरस्यार्थाय कृतं कल्पते, नाप्रतीतस्य ततः केवलिग्रहणम्, यदा पुनः छद्मस्थावस्थायामपि तीर्थकरत्वेन प्रतीतो भवति । तदा तस्यामप्यवस्थायां तन्निमित्तं कृतं कल्पते, तीर्थग्रहणं च प्रत्येकबुद्धानामुपलक्षणं, तेन तेषामप्यर्थाय कृतं कल्पते, ' नो य सेसाणं ' ति-शेषसाधूनामर्थाय कृतं न कल्पते, इदं च सामान्यत उक्तम्, ततोऽमुमेवार्थ मुपजीव्य तृतीयवर्जे शेषे भङ्गत्रये भजना स्पष्टमुपदर्श्यते-प्रवचनतः साधर्मिका न लिङ्गतः, एकादशप्रतिमाप्रतिपन्नवर्जाः शेषश्रावकास्तेषामर्थाय कृतं कल्पते, ये तु चौरादिमुषितरजोहरणादिलिङ्गाः साधवस्तेषामर्थाय कृतं न कल्पते द्रव्यलिङ्गापेक्षया साधर्मिकत्वाभावेऽपि भावतश्चरणसाधर्मिकत्वात् लिङ्गतः साधर्मिका न प्रवचनतो निह्नवास्ते यदि लोके निह्नवत्वेन ख्यातास्ततस्तेषामर्थाय कृतं कल्पते, अन्यथा न, न प्रवचनतो न लिङ्गतस्तीर्थकरप्रत्येकबुद्धास्तेषामर्थाय कृतं कल्पते, तदेवं प्रथमचतुर्भङ्गिकामधिकृत्य कल्प्याऽकल्प्यविधिरुक्त एतदनुसारेण च शेषास्वपि चतुर्भङ्गिकासु विज्ञेयः, स च प्रागेव प्रत्येकं दर्शितः । सर्वत्राप्ययं तात्पर्यार्थोऽवधारणीयः-यदि तीर्थकराः प्रत्येकबुद्धा निह्नवाः श्रावका वा तर्हि तेषामर्थाय कृतं कल्पते । साधूनामर्थाय कृतं न कल्पते । तदेवमुक्तः कल्प्याऽकल्प्यविधिः, तदुक्तौ च-' आहाकम्मियनाम '-त्यादि मूलद्वारगाथायां ' कस्स वाऽवी ' ति व्याख्यातम् । पिं० ।

आत्मघ्नपिण्डे—

जीवं उद्दिस्स कडं, कंमं सोऽवि य जया उ साहंमी ।
साऽवि य तइए भंगे, लिंगादीणं न सेसेसु ॥ ६४० ॥

जीवमुद्दिश्य यत् षट्कायविराधनया कृतं सोऽपि च यदि जीवः साधर्मिकः—समानधर्मा भवति सोऽपि च साधर्मिको लिङ्गादीनां लिङ्गतः साधर्मिको न प्रवचनतः इत्यादीनां चतुर्णां भङ्गानां तृतीये भङ्गे लिङ्गतः—प्रवचनतोऽपीत्येवं लक्षणे यदि वर्तते न शेषेषु तदेतत्-आधाकर्म मन्तव्यम् ।

अथ तीर्थकरप्रतिमार्थं तन्निर्वर्तते तत्साधूनां किं कल्पते नवेत्याशङ्कानिरासार्थमाह—

संवट्टमेहपुप्फा, सत्थनिमित्तं कया जइ जईणं ।
न हु लब्भा पडिसिद्धं, किं पुण पडिमट्ठमारद्धं ॥६४१॥

शास्ता-तीर्थकरस्तस्य निमित्तं यानि देवैः संवर्त्तकमेघपुष्पाणि समवसरणभूमौ कृतानि तानि यतीनां यदि प्रतिषेद्धुं न लभ्यानि तेषां तत्रावस्थातुं यदि कल्पते इति भावः । तर्हि किं पुनः प्रतिमार्थम्-अजीवानां हेतोरारब्धं ततः-पुरातनं प्रतिषेधमर्हतीत्यभिप्रायः ।

आह—यदि तीर्थकरार्थं संवर्तकमेघपुष्पाणि कृतानि तर्हि तस्य भगवतस्तानि प्रतिसेवमानस्य कथं न दोषो भवतीति ?, उच्यते—

तित्थयरनामगोयस्स, खयऽट्ठा अवि य दोसि साभव्वा ।
धम्मं कहेइ सत्था, पूयं वा सेवई तं तु ॥ ६४२ ॥

तीर्थकरनाम्नो गोत्रस्य कर्मणः क्षयार्थं शास्ता भगवान् धर्मं कथयति पूजां च तामनन्तरोक्तां संवर्त्तकवातप्रभृतिकामासेवते भगवता हि तीर्थकरनामगोत्रं कर्मावश्यं वेदनीयं विपाकोदयाऽऽवर्तित्वात्, तस्य च वेदने अयमेवोपायो यदग्लान्या धर्मदेशनाकरणं सदेवमनुजासुरलोकाविरचितायाश्च पूजाया उपजीवनम् । " तं च कहं वेइज्जइ, अगिलाए धम्मदेसणाईहिं " तथा-" उदए जस्स सुराऽसुरनरवइनिवहेहिं पूइओ लोए । तं तित्थयरं नामं, तस्स विवागो उ केवलिणो " ॥ १ ॥ इति वचनप्रामाण्यात्, अपिचेत्यभ्युच्चये, ' दोसि ' त्ति-निपातो वाक्यालङ्कारे, सा भवति । स्वो भावः स्वभावः, यथा-आपो द्रवाः चलो वायुरित्यादि, तस्य भावः स्वाभाव्यं तस्मात् तस्य हि भगवतः स्वभावोऽयं यत्तथा धर्मकथाविधानं पूजायाश्चाऽऽसेवनम् ।

इदमेव स्पष्टतरमाह—

खीणकसाओ अरिहा, कय किच्चो अवि य जीयमणुयत्ती ।
पडिसेवंतो वि अ तओ, अदोसवं होइ तं पूयं ॥ ६४३ ॥

क्षीणाः-प्रलयमुपगताः कषायाः-क्रोधादयो यस्य सः क्षीणकषाय एवंविधोऽर्हन् तां पूजां प्रतिसेवमानोऽपि न दोषवान्, इयमत्र भावना-यो हि रागादिमान् पूजामुपजीवन् स्वात्मन्युत्कर्षं मन्यते स दोषभाग् भवति, भगवतस्तु क्षीणकषायस्य पूजामुपजीवतोऽपि नास्ति स्वात्मन्युत्कर्षगन्धः; अतो दूरापास्तप्रसरा तस्य सदोषतेति तथा कृतकृत्यः-केवलज्ञानलाभान्निष्ठितार्थः ततः कृतकृत्यत्वादेवाऽसौ पूजामासेवते, न च दोषमापद्यते । अपि च-जीयमुपजीवनीया सुराऽसुरविरचिता पूजेत्येवंलक्षणं कल्पमनुवर्त्तयितुं शीलमस्यासौ जीतानुवर्त्ती गाथायां मकारोऽलाक्षणिकः ।

आह भवत्वेवं परं तीर्थकरस्य तत्प्रतिमाया वा निमित्तं यत्कृतं तत्केन कारणेन यतीनां कल्पते ?, उच्यते—

साहंमिओ न सत्था, तस्स कय तेण कप्पइ जईणं ।
जं पुण पडिमाण कयं, कस्स कहा का अजीवत्ता ॥६४४॥

शास्ता-तीर्थकरः सधार्मिको लिङ्गतः प्रवचनतोऽपि न भवति तस्य लिङ्गमस्य भगवतो नास्ति तथाकल्पत्वात्, अतो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न लिङ्गतः साधर्मिकः, प्रवचनतोऽपि साधर्मिकः सोऽभिधीयते-यश्चतुर्वर्णसङ्घाभ्यन्तरवर्ती भवति " पवयणसंघेयगरे " इति वचनात् , भगवांश्च तत्प्रवर्तकतया न तदभ्यन्तरवर्ती किं तु वर्णस्यापि सङ्घस्यापि ततो न प्रवचनतोऽपि साधर्मिक इत्यतस्तस्य तीर्थकरस्यार्थाय कृतं यतीनां कल्पते, यत्पुनः प्रतिमानामर्थाय कृतं तस्य का कथा-का वार्ता सुतरां तत् कल्पते, कुत इत्याह-अजीवत्वात् , जीवमुद्दिश्य यदि यत्कृतं तदाधाकर्म भवति ' जीवं उद्दिस्स कडं०॥६४०॥ " इति प्रागेवोक्तत्वात् तच्च जीवत्वमत्र प्रतिमानां नास्तीति।

अथ वसतिविषयमाधाकर्म दर्शयति—

ठाइमठाई श्रोसरणे, अमंडवा संजयट्ठ देसे वा।
पेढी भूमीकंमे, निसेवतो अणुमई दोसा ॥ ६४५ ॥

' श्रोसरणे ' समवसरणे बहवः संयताः समागमिष्यन्तीति बुद्ध्या श्रावका धर्मश्रद्धया बहून् मण्डपान् कुर्युः ते च द्विधा-स्थायिनः, अस्थायिनश्च। ये समवसरणपर्वणि व्यतीते सति नोत्कील्यन्ते ते स्थायिनः, ये पुनरुत्कील्यन्ते ते अस्थायिनः। पुनरेकैके द्विविधाः-संयतार्थकृता, देशकृता वा। ये आधाकर्मिकास्ते संयतार्थकृताः। ये तु साधूनामात्मनः स्वार्थाय कृतास्ते देशकृताः एतेषु तिष्ठतां मासिक्यपन्नं प्रायश्चित्तम्। तथा पीठिकानाम-उपवेशनादिस्थानविशेषाः ' भूमीकम्मे ' त्ति—भूमिकर्म—विषमायाः भूमेः समीकरणम्, उपलक्षणं चेदं तेन संमार्जनोपलेपनादिपरिग्रहः। एतान्यपि पीठिकादीनि संयतार्थकृतानि देशकृतानि भवेयुः। एतानि मण्डपादीनि सदोषाणि निषेवमाणस्य अनुमतिदोषा भवन्ति एतेषु क्रियमाणेषु या षण्णां जीवनिकायानां विराधना सा अनुमोदिता भवतीति भावः। बृ० १ उ० २ प्रक०।

आधाकर्मणः कल्प्याऽकल्प्यविवेकः—

आहा अहे य कम्मे, आताहम्मे य अत्तकम्मे य।
तं पुण आहाकम्मं, णायव्वं कप्पते कस्स ॥ ६४६ ॥

आधाकर्म, अधःकर्म, आत्मघ्नम् , आत्मकर्म चेति चत्वारि नामानि। तत्र साधूनामाधया-प्रणिधानेन यत्कर्म-षट्कायविनाशेनाशनादिनिष्पादनं तदाधाकर्म, तथा विशुद्धसंयमस्थानेभ्यः प्रतिपत्यात्मानमविशुद्धसंयमस्थानेषु यदधोऽधः करोति तदधःकर्म। आत्मानं-ज्ञानदर्शनचारित्ररूपं हन्ति-विनाशयतीत्यात्मघ्नो यत्पाचकादिसंबन्धि कर्म पाकादिलक्षणं ज्ञानावरणीयादिलक्षणं वा तदात्मनः संबन्धि क्रियते अनेनेत्यात्मकर्म। तत्पुनराधाकर्म कस्य पुरुषस्य कल्पते न वा, यद्वा-कस्य तीर्थे कथं कल्पते, न कल्पते च। बृ० ४ उ०। (इति 'अकप्पट्ठिय' शब्दे प्रथमभागे गतम्।)

(८) यथाक्रमं द्वाविंशति २२ जिनेषु कल्प्याऽकल्प्यविधिः-' अकप्पट्ठिय ' शब्दे प्रथमभागे गतः।)

(६) अशनादिषु आधाकर्मसंभवः। संप्रति ' किंवाची ' ति व्याचिख्यासुराह—

किं तं आहाकम्मं, ति पुच्छिए तस्स रूवकहणऽत्थं।
संभवपदसरिणत्थं, च तस्स असणाइयं भणइ ॥१६०॥

किं तदाधाकर्मेति शिष्येण पृष्टे तत्स्वरूपकथनार्थम्—आधाकर्मस्वरूपकथनार्थम् , तस्य-आधाकर्मणः संभवप्रदर्शनार्थं च अशनादिकम्-अशनपानखादिमस्वादिमं गुरुर्भणति, इयमत्र भावना-अशनादिस्वरूपमाधाकर्म-अशनादावेव आधाकर्मणः संभवः, ततो गुरुः किमाधाकर्मेति पृष्टः सन्नशनादिकमेव वक्ति, तथा च शय्यंभवसूरिराधाकर्म दर्शयन् पिण्डैषणाध्ययने अशनादिकमभिधत्ते, तद्यथा-

" असणं पाणगं चेव, खाइमं साइमं तहा।
जं जाणेज्ज सुणेज्जा वा, समणऽट्ठा पगडं इमं ॥१॥
तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं।
दिंतियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं " ॥ २ ॥ इति।

संप्रत्यशनादिकमेव व्याचष्टे—

सालीमाई अवडे, फलाइ सुंठाइ साइमं होइ।

शाल्यादिकमशनम् , ' अवट ' इति—वापीकूपतडागाद्युपलक्षणं, ततः कूपवापीतडागादौ यज्जलं तत्पानं, तथा फलादि-फलं नालिकेरादि , आदिशब्दाद्खर्जूरिणिकापुष्पादिपरिग्रहः तत् खादिमं, शुण्ठ्यादिकं स्वादिमं, तत्र शुण्ठी प्रतीता, आदिशब्दात्-हरीतक्यादिपरिग्रहः।

तदेवं व्याख्यातान्यशनादीनि—
संप्रत्येतेष्वेवाधाकर्मरूपेषु प्रत्येकं भङ्गचतुष्टयमाह—

तस्स कडनिट्ठियंमी, सुद्धमसुद्धे य चत्तारि ॥ १६१ ॥

तस्येति प्रस्तावात् साधोरर्थाय ' कृत ' मित्यत्र बुद्ध्यादिकर्मविवक्षायां क्तप्रत्ययः, ततोऽयमर्थः-कर्तुं प्रारब्धं, तथा तस्य साधोरर्थाय निष्ठितं-सर्वथा प्रासुकीकृतमिति, अत्र विषये 'चत्तारी' ति-चत्वारो भङ्गा भवन्ति तत्र प्रथम एष एव भङ्गस्तस्य कृतं तस्य निष्ठितं, द्वितीयः-तस्य कृतमन्यस्य निष्ठितं, तृतीयः-अन्यस्य कृतं तस्य निष्ठितं, चतुर्थः, अन्यस्य कृतमन्यस्य निष्ठितम्। तत्र प्रथमो व्याख्यातः, द्वितीयादीनां तु भङ्गानामयमर्थः-पूर्वं तावत्तस्य साधोरर्थाय कृतम्-आरब्धं ततो दातुः साधुविषयदानपरिणामाभावतोऽन्यस्य-आत्मनः स्वपुत्रादेर्वाऽर्थाय निष्ठां नीतं, तथा प्रथमतोऽन्यस्य पुत्रादेरात्मनो वाऽर्थाय कर्तुमारब्धं ततः साधुविषयदानपरिणामभावतः साधोरर्थाय निष्ठां नीतं, तथा प्रथमत एवाऽन्यस्य निमित्तं कर्तुमारब्धमन्यस्यैव च निमित्तं निष्ठां नीतम्। एवमशने पाने खादिमे स्वादिमे च प्रत्येकं चत्वारश्चत्वारो भङ्गा भवन्ति, ततः ' सुद्धमसुद्धे य ' त्ति-आर्षत्वात् शुद्धावशुद्धौ चेति द्रष्टव्यं, तत्र शुद्धौ साधोरासेवनायोग्यौ, तौ च द्वितीयचतुर्थभङ्गौ, तथा हि—क्रिया या निष्ठा प्रधाना, ततो यद्यपि प्रथमतः साधुनिमित्तं क्रिया प्रारब्धा तथाऽपि निष्ठाम्-अन्यनिमित्तं नीतेति द्वितीयो भङ्गः साधोः कल्पते, चतुर्थस्तु भङ्गः शुद्ध एव न तत्र विवादः, अशुद्धौ अकल्पनीयौ, तौ च प्रथमतृतीयौ तत्र प्रथम एकान्तेनाशुद्ध एव साध्वर्थं प्रारब्धत्वान्निष्ठितत्वाच्च, तृतीये तु भङ्गे यद्यपि पूर्वं न साधुनिमित्तं पाकादिक्रियारम्भस्तथापि साधुनिमित्तं निष्ठां नीता, निष्ठा च प्रधानेति न कल्पते। तदेवमाधाकर्मस्वरूपमुक्तम्। पिं०।

आधाकर्मण उत्पत्तिः—

सालीघयगुलगोरस-नवेसु वल्लीफलेसु जातेसु।

पुसऽट्ठकरणसड्ढा, आहाकम्मे णिमंतणता ॥ ६३६ ॥

कस्यापि दानरुचेरभिगमश्राद्धस्य वा नवः शालिर्भूयान् गृहे समायातस्ततः स चिन्तयति-पूर्वं यतीनामदत्त्वा ममाऽऽत्मना परिभोक्तुं न युक्त इति परिभाव्याऽऽधाकर्म कुर्यात्, एवं घृते गुडे गोरसे नवेषु वा तुम्ब्यादिवल्लीफलेषु जातेषु पुण्यार्थं दानरुचिः श्राद्धः 'करणं' ति-आधाकर्म कृत्वा साधूनां निमन्त्रणं कुर्यात् । सू० ४ उ० ।

आधाकर्म सम्भवे भेदाश्च प्रदर्शिताः, तस्स आहाकम्मस्स कहं संभवो हवेज्ज इमो भण्णति ।

सूत्रम्—

सालीघयगुलगोरस-नवेसु वल्लीफलेसु जातेसु ।
पुण्णट्ठदाणसड्ढा, आहाकंमे णिमंतणया ॥ ५७ ॥
आहाकंमे तिविहो, आहारे उवधिवसहिमादीसु ।
आहाए वा कम्मं, चउव्विधं होति असणादी ॥५८॥

कस्सति दाणरुइणो अभिगमसड्ढस्स वा णवो साली घरे पवेसितो ताहे दाणसड्ढो चिंतेति—पुव्वं जतीणं दाउं पच्छा अप्पणा परिभोगं करेमि त्ति आहाकम्मं करेज्ज, जहा सालीए, एवं घृतगुडे गोरसे वा नवसु वा तुम्ब्यादिवल्लिफलेषु जातेषु पुण्ण णिमित्तं दाणसड्ढा जया आहाकम्मं काउं साहुणो णिमंतेज्ज तस्स य आहाकम्मस्स इमे दोसा—आहाकम्मं तिविधं-आहारे, उवधौ, वसहीए । आदिसद्दो णामादिभेदप्रदर्शनार्थः । उत्तरभेदप्रदर्शनार्थं वा आहाए कम्मं चउव्विधं असणादियं ।

गाहा—

उवही आहाकम्मं, वत्थे पाए य होति नायव्वं ।
वत्थे पंचविधं पुण, तिविहं पुण होति पातम्मि ॥ ५६ ॥

उवधीआहाकम्मं दुविधं-वत्थे, पादे य । तत्थ वत्थे पंचविहं-जंगियं भंगियं, सणियं, पत्तया तिरीडपट्टं च । पादे तिविहं-लाउयं, दारुयं, मट्टियापादं च । एतेसिं वक्खाणं पूर्ववत् । नि० चू० १० उ० ।

साम्प्रतमशनादिरूपस्याधाकर्मणः सम्भवं प्रतिपिपादयिषुः कथानकं रूपकषट्केनाह—

कोद्दवरालगगामे, वसही रमणिज्ज भिक्खसज्झाए ।
खेत्तपडिलेहसंजय, सावयपुच्छुज्जुए कहणा ॥ १६२ ॥
जुज्जइ गणस्स खेत्तं, नवरि गुरूणं तु नऽत्थि पाउग्गं ।
सालित्ति कए रुंपण, परिभायण नियगेहेसुं ॥१६३॥
वोलेंता ते व अन्ने वा, अडंता तत्थ गोयरं ।
सुणंति एसणाजुत्ता, बालादिजणसंकहा ॥ १६४ ॥
एए ते जेसिमो रद्धो, सालिक्करो घरे घरे ।
दिन्नो वा सेसयं देमि, देहि वा बेंति वा इमं ॥ १६५ ॥
थक्के थक्कावडियं, अभत्तए सालिभत्तयं जायं ।
मज्झ य पइस्स मरणं, दियरस्स य से मया भज्जा ।१६६।
चाउलोदगं पि से देहि, सालीआयामकंजियं ।
किमेयंति कयं नाउं, वज्जंतऽन्नं वयंति वा ॥ १६७ ॥

इह संकुलो नाम ग्रामः, तत्र जिनदत्तनामा श्रावकः, तस्य भार्या जिनमतिः, तत्र च ग्रामे कोद्रवा रालकाश्च प्राचुर्येणोत्पद्यन्ते इति तेषामेव कूरं गृहे गृहे भिक्षार्थमटन्तः साधवो लभन्ते. वसतिरपि स्त्रीपशुपण्डकविवर्जिता समभूतलादिगुणैरतिरमणीया कल्पनीया च प्राप्यते, स्वाध्यायोऽपि तत्र वसतामविघ्नमभिवर्द्धते, केवलं शाल्योदनो न प्राप्यत इति न केचनापि सूरयो भरेण तत्राऽवतिष्ठन्ते । अन्यदा च संकुलग्रामप्रत्यासन्ने भद्रिलाभिधाने ग्रामे केचित् सूरयः समाजग्मुः, तैश्च संकुलग्रामे क्षेत्रप्रत्युपेक्षणाय साधवः प्रेष्यन्ते, साधवोऽपि तत्राऽऽगत्य यथाऽऽगमं जिनदत्तस्य पार्श्वे वसतिमयाचिषत, जिनदत्तेनापि च साधुदर्शनसमुच्छलितप्रमोदभरसमुद्भिन्नरोमाञ्चकञ्चुकितगात्रेण तेभ्यो वसतिः कल्पनीया उपादेशि । साधवश्च तत्र स्थिवाः, यथाऽऽगमं भिक्षाप्रवेशनेन बहिर्भूमौ स्थण्डिलनिरीक्षणेन च सकलमपि ग्रामं प्रत्युपेक्षितवन्तः, जिनदत्तोऽपि च श्रावको वसतावागत्य यथाविधि साधून् वन्दित्वा महत्तरं साधुमपृच्छत्—भगवन् ! रुचितमिदं युष्मभ्यं क्षेत्रम् ?, सूरयोऽत्र निजसमागमेनाऽस्माकं प्रसादमाधास्यन्ति । ततः स ज्येष्ठः साधुरवादीत्-वर्तमानयोगेन, ततो ज्ञातं जिनदत्तेन-यथा न रुचितमिदमेतेभ्यः क्षेत्रमिति, चिन्तयति च-अन्येऽपि साधवोऽत्र समागच्छन्ति परं न केचिदवतिष्ठन्ते, तन्न जानामि किमत्र कारणमिति, ततः कारणपरिज्ञानाय तेषां साधूनामन्यतमं कमपि साधुमृजुं ज्ञात्वा पप्रच्छ, स च यथाऽवस्थितमुक्तवान्, यथाऽत्र सर्वेऽपि गुणा विद्यन्ते गच्छस्यापि च योग्यमिदं क्षेत्रं, केवलमत्राऽऽचार्यस्य प्रायोग्यः शाल्योदनो न लभ्यते, इति नाऽवस्थीयते । तत एवं कारणं परिज्ञाय तेन जिनदत्तश्रावकेण परस्माद् ग्रामात् शालिबीजमानीय निजग्रामक्षेत्रभूमिषु वापितं, ततः संपन्नो भूयान् शालिः, अन्यदा च यथाविहारक्रमं ते वाऽन्ये वा साधवः समायासिषुः, श्रावकश्च चिन्तयामास-यथैतेभ्यो मया शाल्योदनो दातव्यो येन सूरीणामिदं योग्यं क्षेत्रमिति परिभाव्य साधवोऽमी सूरीनत्राऽऽनयन्ति, तत्र यदि निजगृह एव दास्यामि ततोऽन्येषु गृहेषु कोद्रवरालककूरं लभमानानामेतेषामाधाकर्मशङ्कोत्पत्स्यते तस्मात् सर्वेष्वपि स्वजनगृहेषु शालिं प्रेषयामीति, तथैव च कृतं स्वजनांश्चोक्तवान् यथा स्वयमप्यमुं शालिं पक्त्वा भुञ्जत, साधुभ्योऽपि च ददत, एष च वृत्तान्तः सर्वोऽपि बालादिभिरवजग्मे, साधवश्च भिक्षामटन्तो यथाऽऽगममेषणासमितिसमिता बालादीनामुक्तानि शृण्वन्ति, तत्र कोऽपि बालको वक्ति एते ते साधवो येषामर्थाय गृहे गृहे शाल्योदनो निरपादि, अन्यो भाषते साधुसंबन्धी शाल्योदनो मह्यं जनन्या ददे, दात्री वा काचिदेवं भाषते-दत्तः परकीयः शाल्योदनः,'संप्रत्यात्मीयं किमपि ददामि, गृहनायकोऽपि कापि ब्रूते-दत्तः शाल्योदनः परकीयः, संप्रत्यात्मीयं किमपि देहि, बालकोऽपि कापि कोऽप्यनभिज्ञो जननीं ब्रूते-मम साधुसम्बन्धिनं शाल्योदनं देहीति, अन्यस्त्रीपरिहरिद्रः सहर्षं भाषते-अहो थक्के थक्कावडियमस्माकं संपन्नम् । इह यदवसरे अवसरानुरूपमापतति तत् थक्के थ-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्वावडियमित्युच्यते, ततः स एवमाह-येन-अभक्ते-भक्ताभावेऽस्माकं शालिभक्तमुदपादि. अत्रैवाऽर्थे स लौकिकं दृष्टान्तमुदाहरति-सुरग्रामे यशोधराभिधाना काचिदाभीरी, तस्या योगराजो नाम भर्ता, वत्सराजो नाम देवरः, तस्य भार्या योधनी. अन्यदा च मरणपर्यवसानो जीवलोको मरणं चानियतहेतुकम्—अनियतकालमिति योधनी-योगराजौ समकाले मरणमुपगतौ, ततो यशोधरा देवरं वत्सराजमयाचत-तव भार्याऽहं भवामीति, देवरोऽपि च-ममापि भार्या न विद्यते इति विचिन्त्य प्रतिपन्नवान्, ततः सा चिन्तयामास—अहो ! अवसरे-अवसराऽऽपतितमस्माकमजायत. यस्मिन्नेवाऽवसरे मम पतिः पञ्चत्वमुपाऽगमत् तस्मिन्नेवावसरे मम देवरस्यापि भार्या मृत्युमगच्छत्, ततोऽहं देवरेण भार्यात्वेन प्रतिपन्ना अन्यथा न प्रतिपद्येत । तथा क्वाऽपि बालको जननीमाचष्ट-मातः ! शालितण्डुलोदकमपि साधुभ्यो देहि, अन्यस्त्वाह-शालिकाञ्जिकं, तत एवमादीनि बालादिजनजल्पितानि श्रुत्वा किमेतदिति पृच्छन्ति.पृष्टे च सति ये ऋजवस्ते यथावत् कथितवन्तो यथा युष्माकमर्थायेदं कृतमिति, ये तु मायाविनः श्रावकेण वा तथा प्रज्ञापितास्ते न कथयन्ति, केवलं परस्परं निरीक्षन्ते, तत एवं नूनमिदमाधाकर्मेति परिज्ञाय तानि सर्वाण्यपि गृहाणि परिहृत्याऽन्येषु भिक्षार्थमटन्ति स्म, ये च तत्र न निर्वहन्ति स्म ते तत्राऽनिर्वहन्तः प्रत्यासन्ने ग्रामे भिक्षार्थमगच्छन्, एवमन्यत्राप्याधाकर्म संभवति, तच्च बालादिजल्पितविशेषैरवगत्य कथानकोक्तसाधुभिरिव नियमतो निष्कलङ्कसंयममिच्छुना परिहर्त्तव्यम् । सूत्रं तु सकलमपि सुगमं, नवरं 'रुंपण' त्ति-रोपणम् 'परिभायण' त्ति-गृहे परिभाजनम् 'से' इति-एतेभ्यः 'अन्नं' ति-अन्यं ग्रामम् । तदेवमुक्तोऽशनस्याधाकर्मणः संभवः ।

संप्रति पानस्याऽऽह—

लोणाऽगडोदए एवं, खाणित्तु महुरोदगं ।
ढक्किएणऽच्छते ताव, जाव साहु त्ति आगया ॥१६८॥

यथा-अशनस्याधाकर्मकथानकसूचनेन संभव उक्तस्तथा पानस्याऽप्याधाकर्मणो वेदितव्यः, कथानकमपि तथैव, केवलमयं विशेषः-क्वचिद् ग्रामे सर्वेऽपि कूपाः क्षारोदका आसीरन् क्षारोदका नाम-आमलकोदका विज्ञेयाः, नन्वत्यन्त क्षारजलाः तथा सति ग्रामस्याप्यवस्थानानुपपत्तेः, ततस्तस्मिन् लवणावटे क्षेत्रे क्षेत्रप्रत्युपेक्षणाय साधवः समागच्छन् परिभावयन्ति स्म च यथाऽऽगमं सकलमपि क्षेत्रं, ततस्तन्निवासिना श्रावकेण सादरमुपरुध्यमाना अपि साधवो नावतिष्ठन्ते, ततस्तन्मध्यवर्ती कोऽपि ऋजुकोऽनवस्थानकारणं पृष्टः, स च यथाऽवस्थितं तस्मै कथयामास. यथा-विद्यन्ते सर्वेऽप्यत्र गुणाः, केवलं क्षारं जलमिति नाऽवतिष्ठन्ते, ततो गतेषु तेषु साधुषु स मधुरोदकं कूपं खानितवान्, तं खानयित्वा लोकप्रवृत्तिजनितपापभयात् फलकादिना स्थगितमुखं कृत्वा तावदास्ते यावत्ते वाऽन्ये वा साधवः समाययुः, समागतेषु च साधुषु मा मम गृहे केवले आधाकर्मिकशङ्काऽभूदिति प्रतिगृहं तन्मधुरमुदकं भाजितवान्, ततः पूर्वोक्तकथानकप्रकारेण साधवो बालादीनामुल्लापानाकर्ण्याऽऽधाकर्मेति च परिज्ञाय तं ग्रामं परिहृतवन्तः । एवमन्यत्राप्याधाकर्म पानीयसंभवतो द्रष्टव्यः, तेऽपि बालाद्युल्लापविशेषैः परिकलय्य कथानकोक्तसाधव इव परिहरेयुरिति । सूत्रं सुगमम् ।

संप्रति खादिम-स्वादिमयोराधाकर्मणोः संभवमाह—

कक्कडिय अंबगा वा, दाडिम दक्खा य बीयपूराई ।
खाइमऽहिगरणकरणं-ति साइमं तिगडुमाईयं ॥१६९॥

कर्कटिका-चिर्भटिका आम्रकाणि—चूतफलानि दाडिमानि द्राक्षाश्च प्रतीताः बीजपूरकादिकम्, आदिशब्दात्-कपित्थाऽऽदिपरिग्रहः, एतान्याश्रित्य खादिमविषये अधिकरणकरणं भवेत्-पापकरणं भवेत्, एतानि साधूनां शालनकादिकार्येषु प्रयुज्यन्त इति तेषां वपनादि कुर्यादिति भावः । तथा त्रिकटुकादिकं-शुण्ठीपिप्पलीमरिचकादिकमाश्रित्य स्वादिमे अधिकरणकरणं भवेत्-साधूनामौषधाद्यर्थममूनि कल्पन्ते इति तेषां रोपणादि कुर्यादिति भावः ।

संप्रति यदुक्तं प्राक् 'तस्स कडनिट्ठियंमी' त्यादि, तत्र कृतनिष्ठितशब्दयोरर्थमाह—

असणाईण चउण्ह वि, आमं जं साहुगहणपाउग्गं ।
तं निट्ठियं वियाणसु, उवक्खडं तू कडं होइ ॥ १७० ॥

अशनादीनां चतुर्णामपि मध्ये यत् आमम्-अपरिणतं सत् साधुग्रहणप्रायोग्यं कृतम् प्रासुकीकृतमित्यर्थः, तं निष्ठितं विजानीत उपस्कृतं तु अत्रापि बुद्ध्यादिकर्मविवक्षायां क्तप्रत्ययः । ततोऽयमर्थः—उपस्कर्तुमारब्धमिति भावः, कृतं भवति ज्ञातव्यम् ।

एतदेव विशेषतो भावयति—

कंडिय तिगुणुक्कंडा उ, निट्ठिया नेगदुगुणउक्कंडा ।
निट्ठियकडो उ कूरो, आहाकम्मं दुगुणमाहु ॥ १७१ ॥

इह ये तण्डुलाः प्रथमतः साध्वर्थमुप्तास्ततः क्रमेण करटयो जातास्तत् कण्डिताः कथंभूताः कण्डिताः ? इत्याह-त्रिगुणोत्कण्डाः—त्रिगुणं त्रीन् वारान् यावत्-उत्-प्राबल्येन कण्डनं-छटनं येषां ते त्रिगुणोत्कण्डाः; त्रीन् वारान्-कण्डिता इत्यर्थः, ते निष्ठिता उच्यन्ते, ये पुनर्वपनादारभ्य यावदेकगुणोत्कण्डा द्विगुणोत्कण्डा वा कृता वर्त्तन्ते ते कृताः, अथवा-मा भूवन् साध्वर्थमुप्ताः केवलं ये करटयः सन्तः साध्वर्थं त्रिगुणोत्कण्डकण्डितास्ते निष्ठिता उच्यन्ते, ये त्वेकगुणोत्कण्डं द्विगुणोत्कण्डं वा कण्डितास्ते कृताः । अत्र वृद्धसंप्रदायः—इह यद्येकं वारं द्वौ वा वारौ साध्वर्थं कण्डितास्तृतीयं तु वारमात्मनिमित्तं कण्डिता राद्धाश्च ते साधूनां कल्पन्ते, यदि पुनरेकं द्वौ वा वारौ साध्वर्थं कण्डितास्तृतीयं वारं स्वनिमित्तमेव कण्डिता राद्धास्तु आत्मनिमित्तं ते केषांचिदादेशेन एकेनान्यस्मै दत्तास्तेनाप्यन्यस्मायित्येवं यावत्सहस्रसंख्येयस्थाने गतास्ततः परं गताः कल्पन्ते नाऽर्वाक्, अपरेषां त्वादेशेन न कदाचिदपि यदि पुनरेकं द्वौ वा वारौ साधुनिमित्तम् आत्मनिमित्तं वा कण्डितास्तृतीयं तु वारमात्मनिमित्तं राद्धाः पुनः साध्वर्थं ते न कल्पन्ते, यदि पुनरेकं द्वौ वा वारौ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साधुनिमित्तम् आत्मनिमित्तं वा कण्डितास्तृतीयं तु वारं साध्वर्थमेव तैरेव च तण्डुलैः साधुनिमित्तं निष्पादितः कूरः स निष्ठितकृत उच्यते। निष्ठितैः-आधाकर्मतण्डुलैः कृतो-निष्पादितो; राद्ध इत्यर्थः, निष्ठितकृतः, स साधूनां सर्वथा न कल्पते, कुतः? इत्याह-' आहाकम्मं ' इत्यादि, आधाकर्म प्रतीतं, द्विगुणमाहुस्तीर्थकरादयस्तं निष्ठितकृतं कूरं, तच्चैकमाधाकर्मनिष्ठितत्तण्डुलरूपं द्वितीयं तु पाकक्रियारूपं, तदेवमुक्तो निष्ठितकृतशब्दयोरर्थः, संप्रति चतुर्थ्वप्यशनादिषु कृतनिष्ठितता भाव्यते तत्र वपनादारभ्य यावद् वारद्वयं कण्डनं तावत् कृतत्वं, तृतीयवारं तु कण्डनं निष्ठितत्वम्, एतच्चाऽनन्तरमेवोक्तं पाने कूपादिकं साधुनिमित्तं खनितं, ततो जलमाकृष्टं, ततो यावत्प्रासुकीक्रियमाणं नाद्यापि सर्वथा प्रासुकीभवति तावत् कृतं, प्रासुकीभूतं च निष्ठितं, खादिमे कर्कटिकादयः साधुनिमित्तमुप्ताः क्रमेण निष्पन्ना यावद्दात्रादिना खण्डिताः, तानि च खण्डानि यावन्नाद्यापि प्रासुकीभवन्ति तावत्कृतत्वमवसेयं, प्रासुकीभूतानि च तानि निष्ठितानि। एवं स्वादिमेऽपि विज्ञेयम्। सर्वत्रापि च द्वितीयचतुर्थभङ्गौ शुद्धौ, प्रथमतृतीयौ त्वशुद्धाविति।

सम्प्रति खादिम-स्वादिममाश्रित्य मतान्तरं प्रतिचिक्षिप्सुराह—

छायं पि विवज्जंती, केइ फलहेउगाइवुत्तस्स।
तं तु न जुज्जइ जम्हा, फलं पि कप्पं बिइयभंगे ॥१७२॥

इह फलहेतुकादेः—फलहेतोः पुष्पहेतोरन्यस्माद्वा हेतोः साध्वर्थमुप्तस्य वृक्षस्य केचिदगीतार्थाः छायामप्याधाकर्मिकवृक्षसंबन्धिनीति कृत्वा विवर्जयन्ति-परिहरन्ति, तत्तु छायाविवर्जनं न युज्यते, यस्मात्फलमपि यदर्थं स वृक्ष आरोपितस्तत आधाकर्मिकवृक्षसंबन्धि द्वितीये भङ्गे तस्य कृतमन्यार्थं निष्ठितमित्येवंरूपे वर्त्तमानं सत्कल्पते, किमुक्तं भवति?—साध्वर्थमारोपितेऽपि कदल्यादौ वृक्षे यदा फलं निष्पद्यमानं साधुसत्ताया अपनीय आत्मसत्तासंबन्धि करोति त्रोटयति च तदा तदपि कल्पते, किं पुनः छाया?, सा हि सर्वथा न साधुसत्तासंबन्धिनी विवक्षिता, न हि साधुच्छायानिमित्तं स वृक्ष आरोपितस्तत् कथं न कल्पते?।

परपच्चइया छाया, न वि सा रुक्खो व्व वड्डिया कत्ता।
नट्ठच्छाए उ दुमे, कप्पइ एवं भणंतस्स ॥ १७३ ॥

सा छाया परप्रत्ययिका-सूर्यहेतुका न वृक्षमात्रनिमित्ता, तस्मिन् सत्यपि सूर्याभावे अभावात्, तथाहि—छाया नाम " पार्श्वतः सर्वतश्चाऽऽतपपरिवेष्टितप्रतिनियतदेशवर्ती श्यामपुद्गलात्मक आतपाभावः " इत्थंभूता च छाया सूर्यस्यैवान्वयव्यतिरेका, चतुर्विधत्वेन द्रुमस्य, द्रुमस्तु केवलं तस्या निमित्तमात्रं, नचैतावता सा दुष्यति, छायापुद्गलानां द्रुमपुद्गलेभ्यो भिन्नत्वात्, न च वृक्ष इव-तरुरिव कर्त्रा वृक्षारोपकेण वृद्धिं नीता तद्विषयतथारूपसंकल्पस्यैवाभावात् ततो नाऽऽधाकर्मिकी छाया। किं च-यद्याधाकर्मिकीच्छायेति न तस्यामवस्थानं न कल्पते। तत एवं परस्य भणतो यदा घनपटलैराच्छादितं गगनमण्डलं भवति तदा तस्मिन् द्रुमे नष्टच्छाये सति तस्याधःशीतभयादिनाऽवस्थानं कल्पते इति प्राप्तं न चैतद्युक्तं तस्मात्स एव द्रुम आधाकर्मिकस्तत्संस्पृष्टाश्चाधःकतिपयप्रदेशाः पूतिरिति प्रतिपत्तव्यम्, न तु छायाऽऽधाकर्मिकीति।

पुनरपि परेषां दूषणान्तरमाह—

वड्डइ हायइ छाया, तत्तिअं पूइयं पि व न कप्पे।
न य आहाय सुविहिए, निव्वत्तयई रविच्छायं ॥ १७४ ॥

इह छाया तथा तथा तथा सूर्यगतिवशात् वर्द्धते हीयते च ततो रवेरस्तमयसमये-प्रातःसमये चातिद्राघीयसी विवर्द्धमाना छाया सकलमपि ग्राममभिव्याप्य वर्तते, अतस्तत्संस्पृष्टं सकलमपि ग्रामसंबन्धि वसत्यादिकं पूतिकमिव-तृतीयोद्गमदोषदुष्टमशनादिकमिव न कल्पते, न चैतदागमोपदिष्टं नन्वाऽऽधाकर्मिकी वृक्षस्य छाया, अपि च-प्रागेवैतदुक्तं सूर्यप्रत्यया सा छाया न वृक्षहेतुका, न च सूर्यः सुविहितानाधाय छायां निर्वर्तयति। ततः कथमाधाकर्मिकी?।

यदि पुनराधाकर्मिकी भवेत् तर्हि—

अघणघणचारिगगणे, छाया नट्ठा दिया पुणो होइ।
कप्पइ निरायवे ना-म आयवे तं विवज्जेउं ॥ १७५ ॥

अघना-विरला घना-मेघाश्चरिणः-परिभ्रमणशीला यत्र इत्थंभूते गगने, विरलविरलेषु; नभसि मेघेषु परिभ्रमत्सु इत्यर्थः, छाया नष्टाऽपि सती दिवा पुनरपि भवति, ततो मेघैरन्तरिते सूर्ये-निरातपे-आतपाभावे तस्य वृक्षस्याधस्तनं प्रदेशं सेवितुं कल्पते, आतपे तु तं वर्जयितुं, न चायं विषयविभागः सूत्रेऽपदिश्यते न च पूर्वपुरुषाचीर्णो नापि परेषां सम्मतः, तस्मादसदेतत्परोक्तमिति। इह पूर्वं वृक्षसंबन्धित्वेन छायामाधाकर्मिकीमाशङ्क्य ' नट्ठच्छाए उ दुमे कप्पइ ' इत्याद्युक्तम्, इदानीं तु रविकृतत्वेनाधाकर्मिकीमाशङ्क्य ' कप्पइ निरायवे नाम ' इत्याद्युक्तम्, अतो न पुनरुक्तता।

संप्रति छायानिर्दोषतानिगमनमगीतार्थधार्मिकाणां परेषां किंचिदाश्वासनं च विवक्षुराह—

तम्हा न एस दोसो, संभवइ कम्मलक्खणविहूणो।
तं पि य हु अइघिणिल्ला, वज्जेमाणा अदोसिल्ला ॥१७६॥

यस्मात् फलमपि द्वितीयभङ्गे कल्पते तथा रविहेतुका छायेत्यादि चोक्तं तस्मादाधाकर्मिकी छायेति यो दोष उच्यते स एष दोषो न संभवति, कुतः? इत्याह-कर्मलक्षणविहीन इति-अत्र हेतौ प्रथमा, कर्मेति च आधाकर्मेति द्रष्टव्यं, ततोऽयमर्थः-यत आधाकर्मलक्षणविहीन एष दोषः, न हि तरुरिव छायाऽपि कर्त्रा वृद्धिं नीता इत्यादि, तस्मान्नैष दोषः संभवति, अथ वा-तामपि-आधाकर्मिकवृक्षच्छायां हु-निश्चितम्, अतिघृणावन्तः-अतिशयेन दयालवो विवर्जयन्तः परे-अदोषवन्तः। तदेवमुक्तमानुषङ्गिकं, तदुक्तौ च 'आहाकम्मियनाम' इत्यादि मूलद्वारगाथायां ' किं वावी ' ति व्याख्यातम्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्प्रति " परपक्खो य, सपक्खो " द्वारद्वयं व्याख्यानयन् प्रसङ्गतो निष्ठित-प्रकृतयोः स्वरूपं ताभ्यामुत्पन्नं भङ्गचतुष्टयं चाऽऽह—

परपक्खो उ गिहत्था, समणो समणी उ होइ उ सपक्खो ।
फासुकडं रद्धं वा, निट्ठियमियरं कडं सव्वं ॥ १७७ ॥
तस्स कडानिट्ठियंमी, अन्नस्स कडंमि निट्ठिये तस्स ।
चउभंगो इत्थभवे, चरमदुगे होइ कप्पं तु ॥१७८॥

इह परपक्षः-गृहस्थाः, श्रावकादयः, तेषामर्थाय कृतं साधूनामाधाकर्म न भवति, स्वपक्षः-श्रमणाः, साधवः, ' समणी उ ' त्ति-श्रमण्यो-व्रतिन्यः, तेषामर्थाय कृतं साधूनामाधाकर्म वेदितव्यम्, तथा प्राशु(सु)कं कृतं कराटकादिकं सचेतनं सत् साध्वर्थं निश्चेतनीकृतं यत्र स्वयमचेतनमपि तण्डुलादिकं कूरत्वेन निष्पादितं तन्निष्ठितमित्युच्यते, इतरत् पुनरेकगुणद्विगुणकाण्डिततण्डुलादिकं सर्व्वं कृतमिति । अत्र च कृत-निष्ठितविषयं तस्य साधोरर्थाय कृते निष्ठिते च तथा अन्यस्याऽप्यर्थाय कृते तस्य साधोरर्थाय निष्ठिते भक्तादौ चतुर्भङ्गिका भवति, तत्र प्रथमतृतीयभङ्गौ साक्षाद्दर्शितौ द्वितीयचतुर्थौ तु हेतुगम्यौ, तौ चैवं-तस्य कृतमन्यस्य निष्ठितमन्यस्य कृतमन्यस्य निष्ठितं, तत्रोपात्तयोर्द्वयोर्भङ्गयोः चरमौ-अनुक्तौ पाश्चात्यौ द्वौ भङ्गौ; द्वितीयचतुर्थावित्यर्थः, प्रथमस्य हि द्वितीयः पाश्चात्यस्तृतीयस्य तु चतुर्थः, तत उपात्तप्रथमतृतीयभङ्गापेक्षया चरमौ द्वितीयचतुर्थौ लभ्येते, तस्मिन् चरमद्विके भवति कल्प्यमशनादि. एतच्च यद्यपि प्रागेवोक्तं तथापि विस्मरणशीलानां स्मरणाय भूयोऽप्युक्तमिति न कश्चिद्दोषः । उक्तं परपक्षस्वपक्षरूपं द्वारद्वयम् ।

संप्रति ' चउरो ' इति व्याचिख्यासुराह—

चउरो अइक्कम्मवइ-कमा य अइयार तह अणायारो ।
निद्दरिसणं चउण्ह वि, आहाकम्मे निमंतणया ॥१७९॥

आधाकर्मणि विषये केनाप्यभिनवेन श्राद्धेन निमन्त्रणे कृते चत्वारो दोषाः संभवन्ति, तद्यथा-अतिक्रमः १, व्यतिक्रमः २, अतीचारः ३, अनाचारश्च ४ । एते चत्वारोऽपि स्वयमेव सूत्रकृता व्याख्यास्यन्ते, एतेषां च चतुर्णामपि निदर्शनं-दृष्टान्तो भावनीयः, तमपि च वक्ष्यति ।

तत्र प्रथमत आधाकर्मनिमन्त्रणं भावयति—

सालीघयगुलगोरस-नवेसु वल्लीफलेसु जाएसुं ।
दाणे अहिणवसड्ढे, आहायकए निमंतेइ ॥ १८० ॥

शालिषु-शाल्योदनेषु तथा घृतगुडगोरसेषु साधूनाधाय षट्कायोपमर्दनेन निष्पादितेषु नवेषु च वल्लीफलेषु जातेषु । साधुनिमित्तमचित्तीकृतेषु दाने-दानविषये कोऽप्यभिनवश्राद्धः (द्धम्)-अभ्युत्पन्नश्रावको निमन्त्रयते, यथा भगवन् ! प्रतिगृह्णीत यूयमस्मद्गृहे शाल्योदनादिकमिति ।

ततश्च—

आहाकम्मग्गहणे, अइक्कमाईसु वट्टए चउसु ।
नेउरहारिगहत्थी, चउतिगदुगएगचलणेणं ॥ १८१ ॥

आधाकर्मग्रहणे अतिक्रमादिषु चतुर्षु दोषेषु वर्त्तते, स च यथा यथा उत्तरस्मिन्नुत्तरस्मिन् दोषे वर्त्तते, तथा तथा तद्दोषजनितात् पापादात्मानं महता कष्टेन व्यावर्त्तयितुमीशः, अत्र दृष्टान्तमाह-' नेउरे ' त्यादि, इह नूपुरपण्डितायाः कथानकमतिप्रसिद्धत्वाद् बृहत्त्वाच्च न लिख्यते, किंतु-धर्मोपदेशमालाविवरणादिरवगन्तव्यम्, तत्र नूपुरं-मञ्जीरं तस्य हारो-हरणं श्वशुरकृतं तेन या प्रसिद्धा सा नूपुरहारिका, आगमे चान्यत्र नूपुरपण्डितेति प्रसिद्धा, तस्याः कथानके यो हस्ती राजपत्नीं संचारयन् प्रसिद्धः स नूपुरहारिको हस्ती स यथा ' चउतिगदुगएगचलणेणं ' ति-पश्चानुपूर्व्या योजना, एकेन द्वाभ्यां त्रिभिश्च चरणैराकाशस्थैर्महतामहत्तरेण कष्टेन आत्मानं व्यावर्त्तयितुमीशस्तथा आधाकर्मग्राह्यपि. इयमत्र भावना-नूपुरहारिकाकथानके राज्ञा हस्ती स्वपत्नीमिण्ठाभ्यां सह छिन्नटङ्के समारोपितः, ततोऽपि मिण्ठेन छिन्नटङ्कपर्वताग्रभागे व्यवस्थाप्याऽग्रेतनमेकं कंचिच्चरणमाकाशे कारितः, स च तथाकारितः सन् स्तोकेनैव क्लेशेन तं चरणं व्यावर्त्य तत्रैव पर्वते आत्मानं स्थापयितुं शक्नोति, एवं साधुरपि कश्चिदतिक्रमाख्यं दोषं प्राप्तः सन् स्तोकेनैव शुभाध्यवसायेन तं दोषं विशोध्याऽऽत्मानं संयमे स्थापयितुमीशः, यथा च स हस्ती चरणद्वयमग्रेतनमाकाशस्थं क्लेशेन व्यावर्त्तयितुं शक्नोति, एवं च साधुरपि व्यतिक्रमाख्यं दोषं विशिष्टेन शुभेनाध्यवसायेन विशोधयितुमीष्टे, यथा च स हस्ती चरणत्रयमाकाशस्थमेकेन केनापि पाश्चात्येन चरणेन स्थितो गुरुतरेण कष्टेन व्यावर्त्तयितुं क्षमः, तथा साधुरप्यतीचारदोषं विशिष्टतरेण शुभेनाध्यवसायेन विशोधयितुं प्रभुः, यथा च स हस्ती चरणचतुष्टयमाकाशस्थितं सर्व्वथा न व्यावर्त्तयितुमीशः, किं तु-नियमतो भूमौ निपत्य विनाशमाविशति, एवं साधुरप्यनाचारे वर्त्तमानो नियमतः संयमात्मानं विनाशयति । इह दृष्टान्ते चरणचतुष्टयं हस्तिना नोत्पादितं, किंतु-दार्ष्टान्तिकयोजनानुरोधात्संभावनामङ्गीकृत्य प्रतिपादितम् । पिं० ।

संप्रति ' गहणे य आणाई ' इति व्याख्यानयन्नाह—

आणाइणो य दोसा, गहणे जं भणिय मह इमे ते उ ।
आणाभंगऽणवत्था, मिच्छत्तविराहणा चेव ॥ १८३ ॥

यदुक्तम् ' आहाकम्मियनामे ' त्यादि मूलद्वारगाथायामाधाकर्मग्रहणे आज्ञादयः-आज्ञाभङ्गादयो दोषास्त इमे, तद्यथा-आज्ञाभङ्गः१, अनवस्था२, मिथ्यात्वम्३, विराधना च ४।

तत्र प्रथमत आज्ञाभङ्गदोषं भावयति—

आणं सव्वजिणाणं, गिण्हंतो तं अइक्कमइ लुद्धो ।
आणं अइक्कमंतो, कस्साएसा कुणइ सेसं ॥ १८४ ॥

तद्-आधाकर्मिकमशनादिकं लुब्धः सन् गृह्णानः सर्वेषामपि जिनानामाज्ञामतिक्रामति, जिना हि सर्वेऽप्येतदेव ब्रुवन्ति स्म-यदुत मा गृह्णत मुमुक्षवो ! भिक्षव आधाकर्मिकां भिक्षामिति, ततस्तदाददानो जिनाज्ञामतिक्रामति, तां चातिक्रमन् कस्य नाम ! आदेशाद्-आज्ञायाः शेषं-केशस्मश्रुलुञ्चनभूशयनमलिनवासोधारणप्रत्युपेक्षणाद्यनुष्ठानं करोति ?; न कस्यापीति भावः, सर्व्वस्यापि सर्वज्ञाऽऽज्ञामङ्गकारिणोऽनुष्ठानस्य (नैष्फल्यात् ।) निष्फलत्वात् ।

अनवस्थादोषं भावयति—

एकेण कयमकज्जं, करेइ तप्पच्चया पुणो अन्नो ।
सायाबहुलपरंपर-वोच्छेओ संयमतवाणं ॥ १८५ ॥

इह प्रायः सर्वेऽपि प्राणिनः कर्मगुरुतया इष्टमात्रसुखाभिलाषिणो न दीर्घसुखदर्शिनस्तत एकेनापि साधुना यदाधाकर्मपरिभोगादिलक्षणमकार्यमासेव्यते तदा तत्प्रत्ययात् तेनापि साधुना तत्त्वं विदुषापि सेवितमाधाकर्म ततो वयमपि किं न सेविष्यामहे इत्येवं तमालम्बनीकृत्यान्योऽप्यासेवते, तमप्यालम्ब्याऽन्यः सेवते इत्येवं सातबहुलानां प्राणिनां परंपरया सर्व्वथा व्यवच्छेदः प्राप्नोति संयमतपसाम्, तद्व्यवच्छेदे च तीर्थव्यवच्छेदः, यश्च भगवत्तीर्थविलोपकारी स महाऽऽशातनाभागित्यनवस्थादोषभयान्न कदाचनाऽप्याधाकर्म सेवनीयम् ।

मिथ्यात्वदोषं भावयति—

जो जहवायं न कुणइ, मिच्छद्दिट्ठी तओ हु को अन्नो ।
वड्ढेइ य मिच्छत्तं, परस्स संकं जणेमाणो ॥१८६॥

इह यद्देशकालसंहननानुरूपं यथाशक्ति यथावदनुष्ठानं तत् सम्यक्त्वम्, यत उक्तमाचारसूत्रे-" जं मोणंति पासहा, तं सम्मंति पासहा, जं सम्मंति पासहा, तं मोणंति पासहा " इति । ततो यो देशकालसंहननानुरूपं शक्त्यनिगूहनेन यथाऽऽगमेऽभिहितं तथा न करोति ततः सकाशात् कोऽन्यो मिथ्यादृष्टिः ?, नैव कश्चित्, किंतु-स एव मिथ्यादृष्टीनां धुरि युज्यते, महामिथ्यादृष्टित्वात्, कथं तस्य मिथ्यादृष्टिता ? इत्यत आह-' वड्ढेइ य ' इत्यादि चशब्दो हेतौ यस्मात्स यथावादमकुर्व्वन् परस्य शङ्कां जनयति, यथा-(तथाहि) यदि यत्प्रवचने अभिधीयते तत्तत्त्वं तर्हि किमयं तत्त्वं जानानोऽपि तथा न करोति ?, तस्माद् वितथमेतत् प्रवचनोक्तमिति, एवं च परस्य शङ्कां जनयन् मिथ्यात्वं सन्तानेन वर्द्धयति । तथा च प्रवचनस्य व्यवच्छेदः, शेषास्तु मिथ्यादृष्टयो नैवं प्रवचनस्य मालिन्यमापाद्य परंपरया व्यवच्छेदमाधातुमीशाः, ततः शेषमिथ्यादृष्ट्यपेक्षयाऽसौ यथावादमकुर्व्वन् महामिथ्यादृष्टिरिति ।

अन्यच्च—

वड्ढेइ तप्पसंगं, गेही अ परस्स अप्पणो चेव ।
सजियं पि भिन्नदाढो, न मुयइ निद्धंधसो पच्छा॥१८७

साधुराधाकर्म गृह्णानः परस्य " एकेण कयमकज्जं " इत्यादिरूपया पूर्वोक्तनीत्या 'तत्प्रसङ्गम्'--आधाकर्मग्रहणप्रसङ्गं वर्द्धयति आत्मनोऽपि तथाहि-सकृदपि यदाधाकर्म गृह्णाति तर्हि तद्गतमनोज्ञरसास्वादलम्पटयतो भूयोऽपि तद्ग्रहणे प्रवर्त्तते, तत एवमेकदाप्याधाकर्म गृह्णन् परस्य आत्मनश्च तत्प्रसङ्गं वर्द्धयति, तत्प्रसङ्गवृद्धौ च कालेन गच्छता परस्य आत्मनश्च गृद्धिः-अत्यन्तमाशक्तिरुपजायते, ततो विशिष्टविशिष्टतरमनोज्ञरसास्वादनेन भिन्नदंष्ट्राको ' निद्धंधसः ' अपगतसर्वथादयावासनाको भूत्वा पश्चात् स्वयं परो वा सजीवमपि-सचेतनमपि चूतफलादिकं न मुञ्चति तदमोचने च दूरं दूरतरमपसर्पन् अपगतसर्वथाजिनवचनपरिणामो मिथ्यात्वमपि गच्छतीति ।

संप्रति विराधनादोषं भावयति—

खद्धे निद्धे य सया, सुत्ते हाणी तिगिच्छणे काया ।
पडियरगाण वि हाणी,कुणइ किलेसं किलिस्संतो।१८८।

आधाकर्म प्रायः प्राघूर्णकस्यैव गौरवेण क्रियते, ततस्तत्स्वादु स्निग्धं भवति, तस्मिंश्च खद्धे-प्रचुरे स्निग्धे बहुस्नेहे भक्षिते रुजा-रोगो ज्वरविसूचिकादिरूपः प्रादुर्भवति, इयमात्मविराधना, ततो रुजा पीडितस्य 'सूत्रे'-सूत्रग्रहणमुपलक्षणम् अर्थस्य च हानिः, तथा यदि चिकित्सां न कारयति तर्हि चिरकालसंयमपरिपालनभ्रंशः, अथ कारयति तर्हि चिकित्सायां क्रियमाणायां कायाः-तेजस्कायादयो विनाशमाविशन्ति, तथा च सति संयमविराधना, तथा प्रतिचारकाणामपि-परिपालकानामपि साधूनां तद्वैयावृत्त्यव्यापृततया सूत्रार्थहानिः, षट्कायोपमर्दकारणानुमोदनाभ्यां च संयमस्यापि हानिः, तथा प्रतिचारकास्तदुक्तं यावन्न प्रपारयन्ति तावत्सः-क्लिश्यमानः पीडां सोढुमशक्नुवन् तेभ्यः कुप्यति, कुप्यंश्च तेषामपि मनसि क्लेशमुत्पादयति, अथ वा-क्लिश्यमानो दीर्घकालं क्लेशमनुभवन् प्रतिचारकाणामपि जागरणतः क्लेशम्-रोगमुत्पादयति, ततस्तेषामपि चिकित्साविधौ षट्कायविराधना । तदेवं व्याख्याता सकलापि ' आहाकम्मियनाम ' इत्यादिका मूलगाथा ।

(१०) संप्रत्याधाकर्मण एवाऽकल्प्यविधिं विभणिषुः सम्बन्धमाह—

जह कम्मं तु अकप्पं, तच्छिक्कं वाऽवि भायणठियं वा ।
परिहरणं तस्सेव य, गहियमदोसं च तह भणइ॥१८९॥

यथा कर्म्म-आधाकर्म्म अकल्प्यम्-अभोज्यं, यथा च तेनाऽऽधाकर्म्मणा स्पृष्टमकल्प्यं यथा च भाजनस्थितं-यस्मिन् भाजने तदाधाकर्म्म प्रक्षिप्तं तस्मिन्नाधाकर्म्मपरित्यागानन्तरमकृतकल्पत्रयप्रक्षालने यत् क्षिप्तं शुद्धमशनादि तदपि यथा न कल्प्यं यथा च तस्याऽऽधाकर्मणः परिहारो विध्यविधिरूपो यथा च गृहीतं सदकल्पमदोषं भवति तथा गुरुर्भणति । अनेन यथैवागमे पिण्डविशुद्धिरभाणि तथैवाऽहमपि भणामीत्यावेदितं द्रष्टव्यम्, अनया च गाथया पञ्च द्वाराणि प्रतिपाद्यान्युक्तानि ।

संप्रति तान्येव शेषं प्रतिपाद्यत्वेनाह—

अब्भुज्जे गमणाइ य, पुच्छा दव्वकुलदेसभावे य ।
एवं जयंते छलणा, दिट्ठंता तत्थिमे दोन्नि ॥ १९० ॥

यथा साधूनामाधाकर्म्म तत्स्पृष्टं कल्पत्रयाप्रक्षालितभाजनस्थं वा अभोज्यं तथा भणनीयं, तथा अविधिपरिहारे गमनादिकाः कायक्लेशादिलक्षणा दोषा वक्तव्याः, तथा विधिपरिहारे कर्तव्ये यथा द्रव्यकुलदेशभावे पृच्छा कर्तव्या चशब्दाद्-यथा च न कर्तव्या तथा वक्तव्यम्, एवं यतमाने प्रायश्छलनाया असम्भवो, यदि पुनरेवमपि यतमाने छलना-अशुद्धभक्तादिग्रहणरूपा भवेत् ततस्तत्र दृष्टान्ताविमौ वक्ष्यमाणौ वक्तव्यौ । इह ' अब्भुज्जे ' इत्यनेन पूर्वगाथाया द्वारत्रयं परामृष्टम्, ' गमणाइ य पुच्छा दव्व-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कुलंदसभावे य' इत्यनेन पुनः परिहरणस्य विशेषो वक्तव्य उक्तः, उत्तरार्द्धेन तु 'गहियमदोसं' चेत्यस्य विशेषः ।

सम्प्रति प्रथमं द्वारमाधाकर्मणोऽकल्प्यतालक्षणं व्याचिख्यासुराह—

जह वंतं तु अभोज्जं, भत्तं जइ वि य सुसकयं आसि ।
एवमसंजमवमणे, अणेसणिज्जं अभोज्जं तु ॥ १६१ ॥

इह यद्यपि वमनकालादर्वाक् भक्तम्-ओदनादिकं सुसंस्कृतं-शोभनद्रव्यसंपर्ककृतोपस्कारमासीत् तथापि यथा तद्वान्तमभोज्यम् , एवमसंयमवमने कृते साधोरप्यनेषणीयमभोज्यमेव. तुरेवकारार्थः, इयमत्र भावना-संयमप्रतिपत्तौ हि पूर्वमसंयमो वान्तः-असंयमरूपं चाधाकर्म, षट्कायोपमर्द्दनेन तस्य निष्पन्नत्वात् न च वान्तमभ्यवहर्त्तुमुचितं विवेकिनाम् , अतः साधोरनेषणीयमभोज्यमिति ।

पुनरप्याधाकर्म्मण एवाऽभोज्यतां दृष्टान्तान्तरेण समर्थयमानो गाथाद्वयमाह—

मज्जारखइयमंसा, मंसासिणि कुणिमं सुणयवंतं ।
वन्नाइ अन्नउप्पा-इयं पि किं तं भवे भोज्जं ? ॥ १६२ ॥
केई भणंति पहिए, उद्दाणे मंसपेसि वोसिरणं ।
संभारिय परिवेसण, वारेइ सुओ करे घेत्तुं ॥ १६३ ॥

वकपुरं नाम पुरं, तत्र वसत्युग्रतेजाः पदातिः, तस्य भार्या रुक्मिणी, अन्यदा च उग्रतेजसो ज्येष्ठभ्राता सोदासाभिधनः प्रत्यासन्नपुरात्प्राघूर्णकः समाययौ, उग्रतेजसा च भोजनाय कापि मांसं क्रीत्वा रुक्मिण्यै समर्पयामासे, तस्याश्च रुक्मिण्या गृहव्यापारव्यापृतायाः तन्मांसं मार्जारोऽवभक्षत् । इतश्च सोदासोग्रतेजसोर्भोजनार्थमागमवेला, ततः सा व्याकुलीबभूव । अत्रान्तरे च कापि कस्याऽपि मृतस्य कार्पटिकस्य शुना मांसं भक्षयित्वा तद्गृहप्राङ्गणप्रदेशे तस्याः साक्षात्पश्यन्त्याः पुरतः कथमपि वातसंक्षोभादिवशादुद्वमितम् । ततः साऽचिन्तयत्—यदि नाम कुतोऽपि विपणेरन्यत् मांसं क्रीत्वा समानयिष्यामि तर्हि महद्दुःसूरं लगिष्यति, प्राप्ता च समीपं पतिज्येष्ठयोर्भोजनवेला, तस्मादेतदेव मांसं जलेन सम्यक् प्रक्षाल्य वेसवारेणोपस्करोमि, तथैव च कृतम् । समागतौ सोदासोग्रतेजसौ उपविष्टौ च भोजनार्थं, परिवेषितं तयोस्तन्मांसम् , ततो गन्धविशेषेणोग्रतेजसा विजज्ञे यथा वान्तमेतदिति, ततस्तेन साक्षेपं भ्रुवमुत्पाट्य रुक्मिणी पप्रच्छे, सा च साटोपभ्रूत्क्षेपदर्शनतो बिभ्यती पवनधुतवृक्षशाखेव कम्पमानवपुर्यथाऽवस्थितं कथितवती, ततः परित्यज्य तन्मांसं साक्षेपं निर्भर्त्स्य भूयोऽन्यन्मांसं पाचिता तदुक्तम् । प्रथमगाथाक्षरयोजना त्वेवम् मार्जारेण खादितं-भक्षितं मांसं यस्याः सा मार्ज्जारखादितमांसा मांसाशिन उग्रतेजसः स्त्री—महेला अन्यन्मांसमप्राप्नुवती श्ववान्तं कुणपमांसं गृहीतवती. तच्च वेसवारोपस्कारेण वर्णादिभिरन्यदिवोत्पादितमपि किं भवति भोज्यं ?; नैव भवतीति भावः, एवमाधाकर्माऽपि संयमिनामभोज्यम् ॥ केचित्पुनरत्रैव कथानके एवमाहुः-तस्या रुक्मिण्या गृहे कोऽप्यतीसारेण पीडितो "दुष्प्रभनामा" कार्पटिकः किंचित् विविक्तं स्थानं याचित्वा स्थितवान् , स चातीसारेण मांसखण्डानि व्युत्सृजति, ततः सौदासे प्राघूर्णके समागते सति भर्त्रा च समानीते मांसे मार्ज्जारेण च तस्मिन् भक्षिते रुक्मिणी प्रत्यासन्ना समागता भोजनवेलेति भयभीता अन्यन्मांसमप्राप्नुवती तान्यवातीसारव्युत्सृष्टानि मांसखण्डानि गृहीत्वा जलेन प्रक्षाल्य वेसवारेण चोपस्कृत्य भोजनायोपविष्टयोः पति-ज्येष्ठयोः परिवेषितवती. अथ च सा तानि मांसखण्डानि गृह्णन्ती मृतसपत्नीपुत्रेणोग्रतेजसो जातेन गुणमित्रेण ददृशे, न च तदानीं तेन किमपि भयात्कर्त्तुं शक्तं, ततो भोजनकाले तौ द्वावपि पितृ-पितृव्यौ तेन करे गृहीत्वा निवारितौ, यथा कार्पटिकातीसारसक्तान्यमूनि मांसखण्डानि तन्मा यूयं विभक्षत, तत उग्रतेजसा सा दूरं निर्भर्त्सयामासे, तत्यजे च तन्मांसम् , द्वितीयगाथाक्षरयोजना त्वेवं केचिद्भणन्ति-पथिके-पथिकस्य 'उद्दाणे' अतीसारोत्थाने मांसपेशीव्युत्सर्ज्जनं ततस्तन्मांसपेशीरादाय तासां संभृत्य—वेसवारेणोपस्कृत्य परिवेषणे कृते सुतः करेण गृहीत्वा तौ पितृ-पितृव्यौ भोजनाय वारयति स्म, ततो यथापुरीषमांसमभोज्यं विवेकिनामेवमाधाकर्माऽपि साधूनामिति ।

किं च—

अविलाकरहीखीरं, ल्हसण पलंडू सुरा य गोमंसं ।
वेयसमए वि अमयं, किंचि अभोज्जं अपेज्जं च ॥१६४॥

अविला-ऊरणी करभी-उष्ट्री तयोः क्षीरं. तथा लशुनम्-पलाण्डु सुरा गोमांसं च वेदे यथायोगं शेषेषु च समयेषु-निर्द्धर्मप्रणीतेषु अमतम्-असम्मतं भोजने पाने च, तथा जिनशासनेऽपि किंचिदाधाकर्मिकादिरूपमभोज्यमपेयं च वेदितव्यम् । इयमत्र भावना-पूर्वमिह संयमप्रतिपत्तावसंयमवमनेनाधाकर्मापि साधुभिर्वान्तं, पुरीषमिवोत्सृष्टं वा, नच वान्तं पुरीषं वा भोक्तुमुचितं विवेकिनामिति युक्तिवशादभोज्यमुक्तमाधाकर्म्म । अथवा-मा भूत् युक्तिः, केवलं वचनप्रामाण्यादभोज्यमवसेयं, तथा च मिथ्यादृष्टयोऽपि वेदेषु यथायोगमन्येष्वपि समयेषु गोमांसादिकं करभीक्षीरादिकं चाभोज्यमपेयं चाभिधीयमानं वचनप्रमाण्याभ्युपगमतस्तथेति प्रतिपद्यन्ते । यद्यदि मिथ्यादृष्टयोऽपि स्वसमयवचनप्रामाण्याभ्युपगमतस्तथेति प्रतिपन्नास्ततः साधुभिर्भगवति सर्वज्ञे प्रत्ययदार्ढ्यमवलम्बमानैर्विशेषतो भगवत्प्रणीते वचस्यभिधीयमानमाधाकर्मादिकमभोज्यमपेयं च तथेति प्रतिपत्तव्यम् ।

संप्रति तत्स्पृष्टस्याऽकल्प्यतामाह—

वन्नाइजुयावि बली, सपललफलसेहरा असुइनत्था ।
असुइस्स विप्पुसेण वि,जह छिकाओ अभोज्जाओ ।१६५।

यथा वर्णादियुतोऽपि बलिः-उपहारः सपललफलशेखरः इह पललं-तिलक्षोद उच्यते फलं-नालिकेरादि तत्सहितः-शेखरः-शिखा यस्य स तथा, आस्तामनेवंविध इत्यपिशब्दार्थः, एतेनास्य प्राधान्यमुक्तं, स एवंविधोऽपि यदा अशुचौ न्यस्तः-पुरीषस्योपरि स्थापितः सन् अशुचेः विप्रुषापि-लवेनापि, आस्तां स्तबकादिनेत्यपिशब्दार्थः, स्पृष्टो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भवति तदा अभोज्यो भवति, एवं निर्दोषतया भोज्योऽप्याहार आधाकर्मावयवसंस्पृष्टतया साधूनामभोज्यो वेदितव्यः ।

भोजनस्थितस्याऽकल्प्यतां भावयति—

एमेव उज्झियंमि वि, आहाकम्मंमि अकयए कप्पे ।

होइ अभोज्जं भाणे, जत्थ व सुद्धेऽवि तं पडियं ॥१९६॥

यथा आधाकर्मावयवेन संस्पृष्टमभोज्यम् एवं, यस्मिन् भाजने तदाधाकर्म गृहीतं तस्मिन्नाधाकर्मण्युज्झितेऽपि अकृते-कल्पे-वक्ष्यमाणप्रकारेण कल्पत्रयेणाप्रक्षालिते, यद्वा-यत्र भाजने पूर्वं शुद्धेऽपि भक्ते गृहीते आधाकर्म स्तोकमात्रं पतितं तस्मिन् भाजने पूर्वगृहीते शुद्धे आधाकर्मणि च सर्वात्मना त्यक्ते पश्चादकृतकल्पे-वक्ष्यमाणप्रकारेणाकृतकल्पत्रये यद् भूयः शुद्धमपि प्रक्षिप्यते तदभोज्यमवसेयं, न खलु लोकेऽपि यस्मिन् भाजने पुरीषं स्यपतत् तस्मिन्नशुचिपरित्यागानन्तरमप्रक्षालिते, यद्वा—यस्मिन् भाजने भक्तादिना पूर्णेऽपि तदुपरि पुरीषं निपतितं भवेत् तस्मिन् पूर्वपरिगृहीतभक्तादिपुरीषपरित्यागानन्तरमप्रक्षालिते भूयः प्रक्षिप्तमशनादिकं भोज्यं भवति, पुरीषस्थानीयं च संयमिनामाधाकर्म, ततस्तस्मिन् सर्वात्मना परित्यक्तेऽपि पश्चाददत्ते कल्पत्रये भाजने यत्प्रक्षिप्यते तदभोज्यमवसेयम् ।

संप्रति परिहरणं प्रतिपिपादयिषुरिदमाह—

वंतुच्चारसरिच्छं, कम्मं सोउमवि कोविओ भीओ ।

परिहरइ सावि य दुहा, विहिअविहीए य परिहरणा ॥१९७॥

वान्तसदृशम्—उच्चारसदृशं च आधाकर्म यतीन् प्रति प्रतिपाद्यमानं श्रुत्वा अपिः संभावने, संभाव्यते एतन्नियमतः कोविदः-संसारविमुखचक्षतया पण्डितोऽत एव भीतः-आधाकर्मभोगतः संसारो भवतीत्याधाकर्मणस्त्रस्तस्तदाधाकर्म परिहरति-न गृह्णाति, परिहरणं च द्विधा-विधिना, अविधिना च । सूत्रे च परिहरणशब्दस्य स्त्रीत्वेन निर्देशः प्राकृतत्वात्, "प्राकृते हि लिङ्गं व्यभिचारि" ।

तत्राऽविधिपरिहरणं विभणिषुः कथानकं गाथात्रयेणाह—

सालीओयणहत्थं, दट्टुं भणई अकोविओ दिंतिं ।

कत्तो चउत्ति साली, वणि जाणइ पुच्छ तं गंतुं ॥१९८॥

गंतूण आवणं सो, वाणियगं पुच्छए कओ साली ? ।

पचंते मगहाए, गोब्बरगामो तहिं वयइ ॥१९९॥

कम्मासंकाए पहं, मोत्तुं कंटाहि सावया अदिसिं ।

छायं पि वज्जयंतो, डज्झइ उण्हेण मुच्छाई ॥ २०० ॥

शालिग्रामे ग्रामे ग्रामणीनामा वणिक्, तस्य भार्याऽपि ग्रामणीः, अन्यदा च वणिजि विपणिं गते भिक्षार्थमटन् अकोविदः कोऽपि साधुस्तद्गृहं प्रविवेश, आनीतश्च तद्भार्यया ग्रामण्या शाल्योदनः, साधुना चाऽऽधाकर्मदोषाऽऽशङ्कापनोदाय सा पप्रच्छे, यथा श्राविके ! कुतस्त्य एष शालिः ? इति, सा प्रत्युवाच-नाहं जाने; वणिग्जानाति, ततो वणिजं विपणौ गत्वा पृच्छ इति, तत एवमुक्तः सन् स साधुस्तं शाल्योदनमपहाय वणिजं विपणौ गत्वा पृष्टवान्, वणिजाऽप्युक्तं मगधजनपदप्रत्यन्तवर्तिनो गोर्बरग्रामादागतः शालिरेव इति, ततः स तत्र गन्तुं प्रावर्तत, तत्रापि साधुनिमित्तं केनापि श्रावकेणाऽयं पन्थाः कृतो भविष्यतीति आधाकर्मशङ्कया पन्थानं विमुच्योत्पथेन व्रजति, उत्पथेन व्रजघट्टिकरटकश्वापदादिभिरभिद्रूयते, नापि काञ्चन दिशं जानाति, तथा आधाकर्मशङ्कया वृक्षच्छायामपि परिहरन् मूर्ध्नि सूर्यकरनिकरप्रपातेन तप्यमानो मूर्च्छामगमत्, क्लेशं च महान्तं प्रापेति ।

इय अविहीपरिहरणा, नाणाईणं न होइ आभागी ।

दव्वकुलदेसभावे, विहिपरिहरणा इमा तत्थ ॥ २०१ ॥

इति-एवम् उक्तेन प्रकारेण अविधिना परिहरणात् ज्ञानादीनामाभागी न भवति, तस्माद्विधिना परिहरणा कर्त्तव्या, तत्र-विधिपरिहरणम् इदं-वक्ष्यमाणं द्रव्यकुलदेशभावानाश्रित्य तत्र-आधाकर्मणि विषये द्रष्टव्यम् ।

तत्र प्रथमतो द्रव्यादीन्येव गाथाद्वयेनाऽऽह—

ओयणसमिइमसत्तुग-कुम्मासाई उ होंति दव्वाइं ।

बहुजणमप्पजणं वा, कुलं तु देसो सुरट्ठाऽऽई ॥२०२॥

आयरऽणायरभावे, सयं व अन्नेण वाऽवि दावणया ।

एएसिं तु पयाणं, चउपयतिपया व भयणा उ ॥२०३॥

ओदनः-शाल्यादिकूरः समितिमाः-मण्डकादिकाः सक्तवः कुल्माषाश्च प्रतीताः, आदिशब्दात्-मुद्गादिपरिग्रहः, अमूनि भवन्ति द्रव्याणि, कुलम्-अल्पजनं बहुजनं वा देशः-सौराष्ट्रादिकः, भावे आदरोऽनादरो वा एतावेव स्वरूपतो व्याख्यानयति—स्वयं वा अन्येन वा कर्मकरादिना यत् दापनं तौ यथासंख्यमादरानादरौ, एतेषां च पदानां भजना-विकल्पना चतुष्पदा त्रिपदा वा स्यात्, किमुक्तं भवति ?-कदाचिच्चत्वार्यपि पदानि संभवन्ति कदाचित्त्रीणि तत्र यदा चत्वार्यपि द्रव्यादीनि प्राप्यन्ते तदा चतुष्पदा, यदा तु आदरो नाप्यनादरः केवलं मध्यस्थवृत्तिता तदा भावस्याऽभावात् त्रिपदेति ।

संप्रति यादृशेषु द्रव्यादिषु सत्सु पृच्छा कर्त्तव्या यादृशेषु न कर्त्तव्या तान्याह—

अणुचिय देसं दव्वं, कुलमप्पं आयरो य तो पुच्छा ।

बहुएऽवि नऽत्थि पुच्छा, सदेसदविए अभावेऽवि ॥२०४॥

यदा अनुचितदेशम्-विवक्षितदेशासंभवि द्रव्यं लभ्यते तदपि च प्रभूतं एतच्च 'आयरो य' इत्यत्र चशब्दाल्लभ्यते, एतेन द्रव्यदेशावुक्तौ, कुलमपि च अल्पमल्पजनं अनेन कुलमुक्तम् आदरश्च प्रभूतः, एतेन भाव उक्तः, ततो भवति पृच्छा, आधाकर्मसंभवात्, बहुकेऽपि च स्वदेशद्रव्ये-प्रभूतेऽपि च तद्देशसंभविनि लभ्यमाने द्रव्ये यथा मालवके मण्डकादौ नास्ति पृच्छा, यत्र हि देशे यद् द्रव्यमुत्पद्यते तत्र तत्प्रायः प्राचुर्येण जनैर्भुज्यत इति नास्ति तत्र बहुकेऽपि लभ्यमाने पृच्छा, आधाकर्माऽसंभवात्, परं तत्रापि कुलं महदपेक्षणीयम्, अन्यथाऽल्पजने भवेदाधाकर्मेति शङ्का न निवर्त्तते । तथा-अभावेऽपि-अनादरेऽपि नास्ति पृच्छा, यो ह्याधाकर्म कृत्वा दद्यात्स प्राय आदरमपि कुर्यात्, तत आदराऽकरणेन ज्ञायते यथा नास्ति तत्राऽऽधा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर्मेति न पृच्छा । तदेवं यदा पृच्छा कर्त्तव्या यदा च न कर्त्तव्या तत्प्रतिपादितम् ।

संप्रति पृच्छायां कृतायां यदा तद् ग्राह्यं भवति यदा च न तदेतत्प्रतिपादयति-

तुज्झऽट्ठाए कयमिण-मन्नोऽन्नमवेक्खए य सविलक्खं।
वज्जेंति गाढरुट्ठा, का मे तत्ति त्ति वा गिएहे ॥ २०५ ॥

इह या दात्री ऋज्वी भवति सा पृष्टा सती यथावत् कथयति,यथा भगवन्! तवाऽर्थाय कृतमिदमशनादिकमिति, यत्तु भवति मायाविकुटुम्बं तन्मुखेनैवमाचष्टे-गृहार्थमेतत् कृतं न तवाऽर्थायेति, परं ज्ञाता वयमिति सविलक्षणं सर्वाण्यपि मानुषाणि परस्परमवेक्ष्यन्ते कपोलोद्भेदमात्रं च हसन्ति, ततो यदा तवाऽर्थायेदं कृतमशनादिकमिति जल्पति; यद्वा-सविलक्षं-सलज्जमन्योऽन्यम् अवेक्षन्ते चशब्दाद् हसन्ति वा, तदा साधवस्तद्देयमाधाकर्मेति परिज्ञाय वर्जयन्ति, यदा तु कस्यार्थायेदं कृतमिति पृष्टा सती गाढं सत्यवृत्त्या रुष्टा भवति, यथा का 'मे' भट्टारक ! तव तु(त)प्तिः इति तदा नैवाधाकर्मेति निःशङ्कं गृह्णीत ।

संप्रति "गढियमदोसं च" इत्यवयवं व्याचिख्यासुः परं प्रश्नयति—

गूढायारा ण करेंति, आयरं पुच्छिया वि न कहेंति ।
थोवंति व णो पुट्ठा, तं च असुद्धं कहं तत्थ ॥ २०६ ॥

इह ये श्रावकाः श्राविकाश्चाऽतीव भक्तिपरवशगा गूढाचाराश्च ते नाऽऽदरमतिशयेन कुर्वन्ति मा भूत् न ग्रहीष्यन्तीति नापि पृष्टा सन्तो यथावत् कथयन्ति, यथा तवाऽर्थायेदं कृतमिति, अथवा-स्तोकमिति कृत्वा ते साधुना न पृष्टाः, अथ च तद् देयं वस्तु अशुद्धम्-आधाकर्मदोषदुष्टम्, अतः कथं तत्र साधोः शुद्धिर्भविष्यति इति ।

एवं परेणोक्ते गुरुराह-

आहाकम्मपरिणओ, फासुयभोई वि बंधओ होइ ।
सुद्धं गवेसमाणो, आहाकम्मे वि सो सुद्धो ॥ २०७ ॥

इह प्रासु(शु)कग्रहणेन एषणीयमुच्यते; सामर्थ्यात्, तथाहि-साधूनामयं कल्पो-ग्लानादिप्रयोजनेऽपि प्रथमतस्तावदेषणीयमेषितव्यम्, तदभावेऽनेषणीयमपि श्रावकादिना कारयित्वा श्रावकाभावे स्वयमपि कृत्वा भोक्तव्यं, नतु कदाचनापि प्रासुकाभावेऽप्रासुकमिति ततः कदाचिदप्यप्रासुकभोजनाऽसंभवे 'फासुयभोई वी' ति-वाक्यमनुपपद्यमानम् अर्थात् प्रासुकशब्दमेषणीये वर्त्तयति ततोऽयमर्थः-प्रासुकभोज्यपि-एषणीयभोज्यपि यद्याधाकर्मपरिणतस्तर्हि सोऽशुभकर्मणां बन्धको भवति, अशुभपरिणामस्यैव वस्तुस्थित्या बन्धकारणत्वात्, शुद्धम्—उद्गमादिदोषरहितं पुनर्गवेषयन्नाधाकर्मण्यपि गृहीते भुक्ते च स शुद्धो वेदितव्यः । शुद्धपरिणामयुक्तत्वाद् ।

एतदेव कथानकाभ्यां भावयति—

संघुद्दिट्ठं सोउं, एइ दुयं कोइ भाइए पत्तो ।
दिज्ज ति देहि मज्झं ति गाउ साउं तओ लग्गो॥२०८॥

शतमुखं नाम पुरं, तत्र गुणचन्द्रः श्रेष्ठी, चन्द्रिका तस्य भार्या, श्रेष्ठी च जिनप्रवचनानुरक्तो हिमगिरिशिखरानुकारि जिनमन्दिरं कारयित्वा तत्र युगादिजिनप्रतिमां प्रतिष्ठापितवान्, ततः सङ्घभोज्यं दापयितुमारब्धम् । इतश्च प्रत्यासन्ने कस्मिंश्चिद् ग्रामे कोऽपि साधुवेषविडम्बकः साधुर्वर्त्तते । तेन च जनपरंपरया शुश्रुवे । यथा शतमुखपुरे गुणचन्द्रः श्रेष्ठी सङ्घभोज्यमद्य ददातीति । ततः स तद्ग्रहणाय सत्वरमाजगाम । सङ्घभक्तं च सर्वं दत्तं तेन च श्रेष्ठी याचितो यथा मह्यं देहि, श्रेष्ठिना च चन्द्रिका अभ्यधायि-देहि साधवेऽस्मै भक्तमिति । सा प्रत्युवाच-दत्तं सर्वं न किमपीदानीं वर्त्तते, ततः श्रेष्ठिना सा पुनरप्यभाणि-देहि निजरसवतीमध्यात्परिपूर्णमस्मायिति । ततः सा शाल्योदनमोदकादिपरिपूर्णमदात्, साधुश्च सङ्घभक्तमिति बुद्ध्या परिगृह्य स्वोपाश्रयं भुक्तवान् । ततः स शुद्धमपि स भुञ्जान आधाकर्मग्रहणपरिणामवशादाधाकर्मपरिभोगजनितेन कर्मणा बद्धः । एवमन्योऽपि वेदितव्यः । सूत्रं सुगमं नवरम् 'देहि मज्झंति गाउ' त्ति-भार्यया दत्तमित्युक्ते श्रेष्ठी वभाण देहि मम मध्यात्-मदीयभोजनमध्यात् । दत्ते च स्वादुमिष्टमिदं सङ्घभक्तमिति भुञ्जानो विचिन्तयति । ततो लग्न आधाकर्मपरिभोगजनितकर्मणा बद्धः । तदेवम्-'आधाकम्मपरिणओ' इत्यादिकथानकेन भावितम् ।

संप्रति 'सुद्धं गवेसमाणो' इत्यादि कथानकेन भावयति—

मासियपारणगट्ठा, गमणं आसन्नगामगे खमए ।
सड्ढीपायसकरणं, कयाइ अज्जेज्जिही खमओ ॥ २०९ ॥
खेल्लग-मल्लगलेच्छा-रियाणि डिंभगनिब्भच्छणं च रुटणया।
हंदि समणत्ति पायस-घयगुलजुयजावणट्ठाए ॥ २१० ॥
एगंतमवक्कमणं, जइ साहू इज्ज होज्ज तिन्नोमि ।
तणुकोट्ठंमि अमुच्छा, भुत्तंमि य केवलं नाणं ॥२११॥

पोतनपुरं नाम नगरं, तत्र पञ्चभिः साधुशतैः परिवृता यथाऽऽगमं विहरन्तो रत्नाकरनामानः सूरयः समाययुः, तस्याश्च साधुपञ्चशत्या मध्ये प्रियंकरो नाम क्षपकः, स च मासमासपर्यन्ते पारणकं विदधाति, ततो मासक्षपणपर्यन्ते मा कोऽपि मदीयं पारणकमवबुद्ध्याऽऽधाकर्मादिकं कार्षीदित्यज्ञात एव प्रत्यासन्ने ग्रामे पारणार्थं व्रजामीति चेतसि विचिन्त्य प्रत्यासन्ने क्वचिद्ग्रामे जगाम । तत्र च यशोमतिर्नामश्राविका. तया च तस्य क्षपकस्य मासक्षपणके पारणकदिनं च जनपरंपरया श्रुतं, ततस्तया तस्मिन् पारणकदिने कदाचिदद्य स क्षपकोऽत्र पारणककरणाय समागच्छेदिति बुद्ध्या परमभक्तिवशतो विशिष्टशालितण्डुलैः पायसमपच्यत, घृतगुडादीनि च उपबृंहकद्रव्याणि प्रत्यासन्नीकृतानि ततो मा साधुः पायसमुत्तमं द्रव्यमिति कृत्वा आधाकर्मशङ्कां कार्षीदिति मातृस्थानतो वटादिपत्रैः कृतेषु शरावाकारेषु भाजनेषु डिम्भयोग्याः स्तोका स्तोका चैरेयी प्रक्षिप्ता भणिताश्च डिम्भा यथा रे बालकाः । यदा क्षपकः साधुरीदृशस्तादृशो वा समायाति तदा यूयं भणत-हे अम्ब ! प्रभूताऽस्माकं चैरेयी परिवेषिता ततो न शक्नुमो भोक्तुम्, एवं च उक्तेऽहं युष्मान्निर्भ-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

र्स्येषिष्यामि, ततो यूयं भणत किं दिने दिने पायसमुपस्क्रियते । एवं च बालकेषु शिक्षितेषु तस्मिन्नेव प्रस्तावे स क्षपको भिक्षामटन् कथमपि तस्या एव गृहे प्रथमतो जगाम, तदा सा यशोमतिरन्तःसमुल्लसत्परमभक्तिर्मा साधोः काऽपि शङ्का भूदिति बहिरादरम् अकुर्वती यथास्वभावमवतिष्ठत । बालकाश्च यथाशिक्षितं भणितुं प्रवृत्ताः, तथैव च तया निर्भर्त्सितास्ततः सरूपेवाऽनादरपरया क्षपकोऽपि तया बभणे, यथा अमी मत्ता बालकाः पायसमपि नैतेभ्यो रोचते, तर्हि ततो यदि युष्मभ्यमपि रोचते गृह्णीत नैरेर्यो मोचेत् व्रजत इति । तत एवमुक्ते स क्षपकसाधुर्निःशङ्को भूत्वा पायसं प्रतिगृहीतुमुद्यतः, साऽपि परमभक्तिमुद्वहन्ती परिपूर्णभाजनभरणं पायसं घृतगुडादिकं च दत्तवती । साधुश्च मनसि निःशङ्को भूत्वा पायसं गृहीत्वा भोजनाय वृक्षस्य कस्यचिदधस्ताद् गतवान्, गत्वा च यथाविधि ईर्यापथिकादि प्रतिक्रम्य स्वाध्यायं च कियन्तं कृत्वा चिन्तयामास-अहो लब्धमुत्कृष्टं मया पायसद्रव्यं घृतगुडादि च, ततो यदि कोऽपि साधुरागत्य संविभागयति मां तर्हि भवामि संसारार्णवोत्तीर्णो यतो निरन्तरं ये स्वाध्यायनिष्पन्नचेतसः प्रतिक्षणं परिभावयन्ति सकलमपि यथाऽवस्थितवस्तुजातम् अत एव च दुःखरूपात्संसाराद्विमुखबुद्धयो मोक्षविधावेकताना यथाशक्ति गुर्वादिषु वैयावृत्त्योद्यता ये वा परोपदेशप्रवणाः स्वयं सम्यक् संयमानुष्ठानविधायिनश्च तेषां संविभागे कृते तद्गतं ज्ञानाद्युपष्टब्धं भवति ज्ञानाद्युपष्टम्भे च मम महान् लाभः, शरीरकं पुनरिदमसारं प्रायो निरुपयोगि च । ततो येन तेन वोपष्टब्धं सुखेन वहतीत्येवं भुञ्जानोऽपि शरीरमूर्च्छारहितः प्रवर्द्धमानविशुद्धाध्यवसायो भोजनानन्तरं केवलज्ञानमासादितवान् , सूत्रं सुगमम् । नवरम् 'खेल्लगमल्लगलिच्छारियाणि' त्ति-मल्लकं-शरावं तदाकाराणि यानि खेल्लकानि-वटादिपत्रकृतानि भाजनानि-द्रोणा(दूना)नीत्यर्थः, तानि 'लिच्छारियाणि ' डिम्भकपेयस्तोकस्तोकपायसंप्रक्षेपणेन खरण्टितानीव खरण्टितानि कृतानि खरण्टणया इत्यवज्ञया हन्दीत्यामन्त्रणे, भोः श्रमण ! यदि रोचते तर्हि गृहाण विशेषः ततः शरीरयापनाय घृतगुडयुतं पायसं गृहीत्वा एकान्ते अवक्रमणं, शेषं सुगमम् । एवमन्येषामपि भावतः शुद्धं गवेषयतामाधाकर्मण्यपि गृहीते भुक्ते वा न दोषः, भगवदाज्ञाराधनात् ।

तथा च भगवदाज्ञाराधनकृतमेवाऽदोषं भगवदाज्ञाखण्डनकृतमेव च दोषं विभावयितुकामः कथानकं रूपकचतुष्केणाऽऽह—

चंदोदयं च सूरो-दयं च रन्नो उ दोन्नि उज्जाणा ।
तेसिं विवरीयगमणे, आणाकोवो तओ दंडो ॥२१२॥

सूरोदयं गच्छमहं पभाए,
चंदोदयं जंतुतणाऽऽइहारा ।
दुहा रवी पच्चुरसन्ति काउं,
रायाऽवि चंदोदयमेव गच्छे ॥ २१३ ॥

पत्तलदुमसालगया, दच्छामु निव्वंगण त्ति दुच्चित्ता ।

उज्जाणपालएहिं, गहिया य हया य बद्धा य ॥२१४॥

सहस पइट्ठा दिट्ठा, इयरेहिँ निव्वंगण त्ति तो बद्धा ।
नितस्स य अवरएहे, दंसणमुभओ वह विसग्गा॥२१५॥

चन्द्रानना नाम पुरी, तत्र चन्द्रावतंसो राजा, तस्य त्रिलोकरेखाप्रभृतयोऽन्तःपुरिकाः, राज्ञश्च द्वे उद्याने, तद्यथा-एकं पूर्वस्यां दिशि सूर्योदयाभिधानम् । द्वितीयं पश्चिमायां चन्द्रोदयाभिधानम् । तत्र चान्यदा प्राप्ते वसन्तमासे कस्मिंश्चिद्दिने राजा निजान्तःपुरक्रीडाकौतुकार्थी जनानां पटहं दापितवान् , यथा भोः ! शृणुत जनाः ! प्रभाते राजा सूर्योदयोद्याने निजान्तः पुरिकाभिः सह स्वेच्छं विहरिष्यति ततो मा तत्र कोऽपि यासीत् सर्वेऽपि तृणकाष्ठाऽऽहारादयश्चन्द्रोदयं गच्छन्त्विति, एवं च पटहे दापिते तस्य सूर्योदयोद्यानस्य रक्षणाय पदातीन् निरूपितवान् , यथा न तत्र कस्याऽपि प्रवेशो दातव्य इति, राजा च निशि चिन्तयामास सूर्योदयमुद्यानं गच्छतामपि प्रभाते सूर्यः प्रत्युरसं भवति, ततः प्रतिनिवर्तमानानामपि मध्याह्ने. प्रत्युरसं च सूर्यो दुःखावहस्तस्माच्चन्द्रोदयं गमिष्यामीति, एवं च चिन्तयित्वा प्रातस्तथैव कृतवान् , इतश्च पटहश्रवणानन्तरं केऽपि दुर्वृत्ताश्चिन्तयामासुः यथा न कदाचिदपि वयं राजान्तःपुरिका दृष्टवन्तः । प्रातश्च राजा सूर्योदये सान्तःपुरः समागमिष्यति, अन्तःपुरिकाश्च यथेच्छं विहरिष्यन्ति । ततः पत्रबहुलवृक्षशाखासु लीनाः केनाप्यलक्षिता वयं ताः परिभावयामः, एवं च चिन्तयित्वा ते तथैव कृतवन्तः, तत उद्यानरक्षकैः कथमपि ते शाखास्वन्तर्लीना दृष्टास्ततो गृहीता लकुडादिभिश्च हता रज्ज्वादिभिश्च बद्धाः, ये चान्ये तृणकाष्ठाऽऽहारादयो जनास्ते सर्वेऽपि चन्द्रोदयं गताः, तैश्च सहसा प्रविष्टैरग्रे यथेच्छं राजान्तःपुरिकाः क्रीडन्त्यो दृष्टाः, ततस्तेऽपि राजपुरुषैर्बद्धाः, ततो नगराभिमुखमुद्यानान्निर्गच्छतो राज्ञ उद्यानपालकैः पुरुषैर्द्वयेऽपि बद्धा दर्शिताः, कथितश्च सर्वोऽपि यथावस्थितो वृत्तान्तः, तत्र ये आज्ञाभङ्गकारिणस्ते विनाशिताः, इतरे मुक्ताः, सूत्रं सुगमं, नवरं 'तओ दंडो' त्ति-दण्डो मारणम् , एतद्भावनार्थं रूपकत्रयम् । 'सूरोदयमि' त्यादि, तत्र 'पच्चुरसं' प्रत्युरसम् उरसः संमुखं ' नितस्स य ' त्ति-उद्यानादपराह्णे निर्यतो राज्ञ उभयेषां दर्शनं ततो यथाक्रमं वध-विसर्गौ, एतेन यदुक्तम्-"अभोज्जे गमणाइ य ' इत्यादिगाथायां ' दिट्ठंता तत्थिमा दोन्नि ' त्ति-तद्व्याख्यातम् ।

सांप्रतं दार्ष्टान्तिके योजनामाह-

जह ते दंसणकंखी, अपूरिइच्छा विणासिया रन्ना ।
दिट्ठेऽवि थेरे मुक्का, एमेव इहं समोयारो ॥ २१६ ॥

यथा ते दुर्वृत्ता दर्शनकाङ्क्षिणः अपूरितेच्छा अपि आज्ञाभङ्गकारिण इति राज्ञा विनाशिताः, इतरे च तृणकाष्ठाऽऽहारादयश्चन्द्रोदयोद्यानगता दृष्टेऽपि तैरन्तःपुरे आज्ञाकारित्वात् मुक्ताः, एवमेव इहापि आधाकर्मविषये समवतारो योजना कार्या, सा चैवम्-आधाकर्मभोजनपरिणामपरिणताः शुद्धमपि भुञ्जाना आज्ञाभङ्गकारित्वात् कर्मणा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बध्यन्ते, साधुवेषविडम्बकसाधुवत् शुद्धं गवेषयन्त आधाकर्मापि भुञ्जाना भगवदाज्ञाराधनात् न बध्यन्ते 'प्रियंकरा' ऽभिधक्षपकसाधुवदिति ।

आधाकर्मभोजिनमेव भूयोऽपि निन्दति-

आहाकम्मं भुंजइ, न पडिक्कमए य तस्स ठाणस्स ।
एमेव अडइ बोडो, लुक्कविलुक्को जह कवोडो ॥२१७॥

य आधाकर्म भुङ्क्ते न च तस्मात् स्थानाद्-आधाकर्मपरिभोगरूपात्प्रतिक्रामति प्रायश्चित्तग्रहणेन निवर्त्तते । स बोडः-मुण्डो जिनाऽऽज्ञाभङ्गे निष्फलं तस्य शिरोलुञ्चनादीति 'बोड' इत्येवमधिक्षिपति । एवमेव निष्फलमटति-जगति परिभ्रमति, आधिक्षेपसूत्रकमेव दृष्टान्तमाह-'लुक्कविलुक्को अह कवोडो' लुञ्चितविलुञ्चितो यथा कपोतः-पक्षिविशेषः, यथा तस्य लुञ्चनम् अटनं च न धर्माय; तथा साधोरप्याधाकर्मभोजिन इत्यर्थः, तत्र सामान्यतो लुञ्चनं विच्छिद्य विशरं वा लुञ्चनं विलुञ्चनम् । पिं० ।

आधाकर्मपरिभोगे दोषमाह—

एगया देवलोएसु, नरएसु वि एगया ।
एगया आसुरं कायं, आहाकम्मेहिँ गच्छइ ॥ ३ ॥

आधानम्; आधाकरणमित्यर्थः.तदुपलक्षितानि कर्माण्याधाकर्माणि तैः, किमुक्तं भवति-स्वयं विहितैरेव सरागसंयममाहारं भासुरभावनादिभिरेव नारकासुरगतिहेतुभिः क्रियाविशेषैर्यथाकर्मभिर्वा तत्तद्गत्यनुरूपचेष्टितैर्गच्छति यातीति सूत्रार्थः । उत्त० ३ अ० । " आहाकम्मं भुंजमाणे सबले ४ " (सूत्र-२१+सम०)। आधाकर्म-आधया-साधुप्रणिधानेन यत्सचेतनमचेतनं क्रियते अचेतनं वा पच्यते चीयते वा गृहादिकं वयते वा वस्त्रादिकं तदाधाकर्मभुञ्जानः शबलः । दशा० ३ अ० ।

आधाकर्मपरिभोगे दोषस्सदृष्टान्तो यथा—

जं किंचि उ पूइकडं, सड्ढीमागंतुमीहियं ।
साहस्संतरियं भुंजे, दुपक्खं चेव सेवइ ॥ १ ॥

यत् किञ्चिदिति-आहारजातं स्तोकमपि, आस्तां तावत्प्रभूतं, तदपि पूतिकृतम् आधाकर्मादि सिक्थेनाप्युपसृष्टम्, आस्तां तावदाधाकर्म, तदपि न स्वयं कृतम्, अपि तु श्रद्धावता अन्येन भक्तिमताऽपरानागन्तुकानुद्दिश्य ईहितं-चेष्टितं निष्पादितं, तच्च सहस्रान्तरितमपि यो भुञ्जीत-अभ्यवहरेदसौ द्विपक्षं-गृहस्थपक्षं प्रव्रजितपक्षं वा सेवते, एतदुक्तं भवति-एवंभूतमपि परकृतमपरागन्तुकमत्यर्थं निष्पादितं यदाधाकर्मादि तस्य सहस्रान्तरितस्यापि योऽवयवस्तेनाप्युपसृष्टमाहारजातं भुञ्जानस्य द्विपक्षसेवनमापद्यते, किं पुनः य एते शाक्यादयः स्वयमेव सकलमाहारजातं निष्पाद्य स्वयमेव चोपभुञ्जते; ते च सुतरां द्विपक्षसेविनो भवन्तीत्यर्थः । यदि वा-द्विपक्षमिति-ईर्यापथः, सांपरायिकं वा । अथ वा-पूर्वबद्धा निकाचितावस्थाः कर्मप्रकृतीर्नयत्यपूर्वाश्चादत्ते (सूत्र०) ततश्चैवं शाक्यादयः परतीर्थिकाः स्वयूथ्या वा आधाकर्म भुञ्जाना द्विपक्षमेव सेवन्त इति सूत्रार्थः ।

इदानीमेतेषां सुखैषिणामाधाकर्मभोजिनां कटुकविपाकाविर्भावनाय श्लोकद्वयेन दृष्टान्तमाह—

तमेव अवियाणंता, विसमंसि अकोविया ।
मच्छा वेसालिया चेव, उदगस्सऽभियागमे ॥ २ ॥
उदगस्स पभावेणं, सुक्कं सिग्घं तमिंति उ ।
ढंकेहि य कंकेहि य, आमिसत्थेहिँ ते दुही ॥ ३ ॥

तमेव-आधाकर्मोपभोगदोषमजानाना विषमः-अष्टप्रकारकर्मबन्धो भवकोटिभिरपि दुर्मोक्षश्चतुर्गतिसंसारो वा तस्मिन्नकोविदाः कथमेष कर्मबन्धो भवति कथं वा न भवति ? केन चोपायेनायं संसारार्णवस्तीर्यत इत्यत्राकुशलाः, तस्मिन्नेव संसारोदरे कर्मपाशावपाशिता दुःखिनो भवन्तीति । अत्र दृष्टान्तमाह—यथा मत्स्याः पृथुरोमाणो विशालः-समुद्रस्तत्र भवा वैशालिकाः; विशालाख्यविशिष्टजात्युद्भवा वा वैशालिकाः विशाला एव वैशालिकाः—बृहच्छरीरास्ते एवंभूता महामत्स्या उदकस्याभ्यागमे समुद्रवेलाया (मागताः) सत्यां प्रबलमरुद्वेगोद्भूतोत्तुङ्गकल्लोलमालापनुन्नाः सन्त उदकस्य प्रभावेण नदीमुखमागता पुनर्वेलापगमे तस्मिन्नुदके शुष्के वेगेनैवापगते बृहत्त्वाच्छरीरस्य तस्मिन्नेव धुनीमुखे विलग्ना अवसीदन्त आमिषगृध्नुभिर्ढङ्कैः कङ्कैश्च पक्षिविशेषैरन्यैश्च मांसवसार्थिभिर्मत्स्यबन्धादिभिर्जीवन्त एव विलुप्यमाना महान्तं दुःखसमुद्घातमनुभवन्तोऽशरणाघातं-विनाशं यान्ति प्राप्नुवन्ति । तुरवधारणे, त्राणाऽभावाद्विनाशमेव यान्तीति श्लोकद्वयार्थः ।

एवं दृष्टान्तमुपदर्श्य दार्ष्टान्तिके योजयितुमाह—

एवं तु समणा एगे, वट्टमाणसुहेसिणो ।
मच्छा वेसालिया चेव, घातमेस्संतिऽणंतसो ॥ ४ ॥

यथैते-अनन्तरोक्तमत्स्यास्तथा श्रमणाः श्राम्यन्तीति श्रमणा एके शाक्यपाशुपतादयः स्वयूथ्या वा. किंभूतास्ते इति दर्शयति-वर्त्तमानमेव सुखम् आधाकर्मोपभोगजनितमेषितुं शीलं येषां ते वर्तमानसुखैषिणः, समुद्रवायसवत् तत्कालावाप्तसुखलवाऽऽसक्तचेतसोऽनालोचिताऽऽधाकर्मोपभोगजनितातिकटुकदुःखौघानुभवना वैशालिकमत्स्या इव घातं-विनाशमेष्यन्ति-अनुभविष्यन्ति अनन्तशोऽरहट्टघटीन्यायेन भूयो भूयः संसारोदन्वति निमज्जनोन्मज्जनं कुर्वाणा न ते संसाराम्भोधेः पारगामिनो भविष्यन्तीत्यर्थः । सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

(१२) आधाकर्मपरिभोगे कर्मबन्धः-

आहाकम्मं णं भुंजमाणे समणे निग्गंथे किं बंधइ, किं पकरेइ, किं चिणाइ, किं उवचिणाइ ?। गोयमा ! आहाकम्मं णं भुंजमाणे आउयवज्जाओ सत्तकम्मपगडीओ सिढिलबंधणबद्धाओ धणियबंधणबद्धाओ पकरेइ० जाव अणुपरियट्टइ । से केणऽट्ठेणं०जाव आहाकम्मं णं भुंजमाणे ०जाव अणुपरियट्टइ ?, गोयमा ! आहाकम्मं णं भुंजमाणे आयाए धम्मं अइक्कमइ, आयाए धम्मं अइक्कममाणे पुढविकायं णावकंखइ० जाव तसकायं णावकंखइ, जेसिं पि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

य णं जीवाणं सरीराइं आहारमाहारेइ ते वि जीवे नाऽवकंखइ, से तेणऽट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ आहाकम्मं णं भुंजमाणे आउयवज्जाओ सत्त कम्मपगडीओ० जाव अणुपरियट्टइ । (सूत्र ७८+)

'आहाकम्ममि' त्यादि, आधाय साधुप्रणिधानेन यत्सचेतनमचेतनं क्रियते, अचेतनं वा पच्यते, चीयते वा गृहादिकं, वयते वा वस्त्रादिकं, तदाधाकर्म, 'किं बंधइ' त्ति-प्रकृतिबन्धमाश्रित्य स्पृष्टावस्थापेक्षया वा 'किं पकरेइ' त्ति-स्थितिबन्धापेक्षया बद्धावस्थापेक्षया वा, 'किं चिणाइ' त्ति—अनुभागबन्धापेक्षया निधत्तावस्थापेक्षया वा 'किं उवचिणाइ' त्ति-प्रदेशबन्धापेक्षया निकाचनापेक्षया चेति, 'आयाए' त्ति—आत्मना श्रुतधर्म—चारित्रधर्मं वा, 'पुढविकायं नावकंखइ' त्ति-नापेक्षते; नानुकम्पत इत्यर्थः । भ० ७ श० ६ उ० । 'आयाए' त्ति-आत्मना धर्मं-श्रुतधर्मं चारित्रधर्मं चेति " आयाए धम्मं अइक्कममाणे पुढविकायं नावकंखइ, आउकायं नावकंखइ, तेउकायं नावकंखइ, वाउकायं नावकंखइ, वणस्सइकायं नावकंखइ, तसकायं नावकंखइ, जेसिं पि य णं जीवाणं सरीरयाइं आहारमाहारेइ ते वि नावकंखइ से एएणऽट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ आहाकम्मं भुंजमाणे० जाव परियट्टइ, " तथा-" कहं णं भंते ! जीवा अप्पाउयत्ताए कम्मं पकरंति ?, गोयमा ! पाणे अइवाइत्ता भवइ, मुसं वइत्ता तहारूवं समणं वा माहणं वा अफासुएणं अणेसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं पडिलाहित्ता भवइ, एवं खलु जीवा अप्पाउयत्ताए कम्मं पकरेंति " त्ति, द्वितीयपदे पुनर्गाढग्लानादिकार्यासंस्तरणादिरूपे गच्छमध्यव्यवस्थितस्य गुर्वाज्ञावर्तिनोऽशठभावस्य साधोः पञ्चकपरिहाणिक्रमेण सर्वथा प्रयतमानस्यातुरदृष्टान्तेनाधाकर्माद्यपि निर्दोषम् , तथा चाऽऽगमः-" संथरणम्मि असुद्धं, दुण्ह वि गिण्हंत दिंतयाण हियं । आउरदिट्ठंतेणं, तं चेव हियं असंथरणे ॥१॥ " तथा-" जा जयमाणस्स भवे, विराहणासुत्तविहिसमग्गस्स । सा होइ निज्जरफला, अज्झत्थविसोहिजुत्तस्स ॥१॥ " त्ति । ध० र० ३ अधि० ७ लक्ष० ।

चारित्रमधिकृत्याहारविषयाऽनाचाराऽऽचारौ प्रतिपादयितुकाम आह—

आहाकम्माणि भुंजंति, अण्णमण्णे सकम्मुणा ।
उवलित्तेति जाणिज्जा, ऽणुवलित्तेति वा पुणो ॥ ८ ॥

किमित्येवं स्याद्वादः प्रतिपाद्यत इत्याह—

एएहिं दोहिं ठाणेहिं, ववहारो ण विज्जई ।
एएहिं दोहिं ठाणेहिं, अणायारं तु जाणए ॥ ९ ॥

सूत्र० २ श्रु० ५ अ० । (अनयो ८-९ गाथयोर्व्याख्या 'अणायार' शब्दे प्रथमभागे ३१८ पृष्ठे गता) (वसतिविषयः आधाकर्मदोषः 'वसहि' शब्दे षष्ठे भागे वक्ष्यते १६५ निशीथचूर्णिगाथया)

आधाकर्मदोषदुष्टत्वात् श्रमणार्थं कृता वल्लिवृक्षादयो न कल्पन्ते—

वल्ली वा रुक्खो वा, कोई रोएज्ज संजयऽट्ठाए ।
तेसिं परिभोगकाले, समणाण तहिं कहं भणियं ॥ ५३ ॥

वल्लीर्वा वृक्षान् वा कश्चित्संयतानामर्थाय रोपयेत् तत्र तेषां फलानां परिभोगकाले श्रमणानां कथं भणितम् ; किं कल्पते किं वा न कल्पत इत्यर्थः ।

अत्र सूरिराह—

तस्स कडनिट्ठियादी, चउरो भंगे विभावइत्ताण ।
विसमेसु जाण विसमं, नियमा उ समो समग्गहणे ॥ ५४ ॥

तस्य कृतं तस्य निष्ठितमिति प्रथमः, तस्य कृतमन्यस्य निष्ठितमिति द्वितीयः । अन्यस्य कृतं तस्य निष्ठितमिति तृतीयः । अन्यस्य कृतमन्यस्य निष्ठितमिति चतुर्थः । तत्र तस्य-संयतस्य निमित्तं कृतम्-आरोपितं वृक्षादि तथा तस्यैव संयतस्य निमित्तं निष्ठितं-निष्ठां नीतमचित्तीकृतमित्यर्थः । एष प्रथमभङ्गार्थः । एवं शेषाणामपि भङ्गानामर्थः परिभावनीयः, तत्र तस्य कृतं तस्य निष्ठितमित्यादीन् चतुरो भङ्गान् विभाव्य विषमयोर्भङ्गयोर्गृह्णतोः विषममसंयमं जानीयात्तन्निमित्तं निष्ठानयनात् समयोर्द्वितीयचतुर्थयोर्भङ्गयोर्ग्रहणे समं-संयमं जानीयात् । अन्यनिमित्तं निष्ठितत्वात् ।

पर आह—ननु श्रमणार्थं स आरोपितस्ततः कथं द्वितीये भङ्गे कल्पते । सूरिराह—

कामं सो समणऽट्ठा, वुत्तो तह वि य न होइ सो कम्मं ।
जं कम्मलक्खणं खलु, इह इं वुत्तं न पस्सामि ॥ ५५ ॥

कामम्-अनुमन्यामहे स वृक्षः श्रमणार्थमारोपितः तथाऽप्यसौ कर्म न भवति । यतो यत्कर्मलक्षणं खलु तीर्थकरगणधरैरुक्तं तदिह 'इं' पादपूरणे, न पश्यामि ।

किं तत्कर्मलक्षणमत आह—

सचित्तभावविकली-कयम्मि दव्वम्मि मग्गणा होई ।
का मग्गणा उ दव्वे, सचेयणे फासुभोईणं ॥ ५६ ॥

यत्सचित्तभावविकलीकृतमचित्तीकृतम् द्रव्यं तत्र प्रासुकभोजिनां मार्गणा भवति । तत आधाकर्मिकचिन्ताऽपि तत्रैव युक्ता; नान्यत्र । सचेतनं तु द्रव्ये का मार्गणा ?, नैव काचित् सचित्ततया तस्य ग्रहणाऽसंभवात्ततो न तदपेक्षया आधाकर्मिकत्वमिति । तदेवमारोपितरूपकृतनिष्ठितविषये कल्प्याऽकल्प्यविधिरुक्तः ।

संप्रति छिन्नरूपकृतनिष्ठितविषये तमाह—

संजयहेतुं छिन्नं, अत्तऽट्ठोवक्खडं तु तं कप्पे ।
अत्तऽट्ठा छिन्नं पि हु, समणऽट्ठा निट्ठियमकप्पं ॥ ५७ ॥

अत्राऽपि भङ्गचतुष्टयम्-तस्य कृतम् तस्य निष्ठितम् १, तस्य कृतमन्यस्य निष्ठितम् २, अन्यस्य कृतं तस्य निष्ठितम् ३, अन्यस्य कृतमन्यस्य निष्ठितम् ४ । अत्र कृतं छिन्नं निष्ठितं-पाकादिकरणतो निष्ठां नीतम् । तत्र प्रथमभङ्गे सर्वथा न कल्पते, चतुर्थस्तु भङ्गः एकान्तशुद्धः, द्वितीयभङ्गमधिकृत्य पूर्वार्द्धमाह—संयतहेतोः—संयतनिमित्तं छिन्नमात्मार्थमुपस्कृतं-निष्ठां नीतं तत्कल्पते । तृतीयभङ्गमधिकृत्याह-आत्मार्थं छिन्नमपि श्रमणार्थनिष्ठितमकल्प्यम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संप्रति बीजानि, उदकं चाऽधिकृत्याह—

बीयाणि य वावेज्जा, अगडं व खणेज्ज संजयऽट्ठाए ।
तेसिँ परिभोगकाले, समणाण तहिं कहं भणियं ॥५८॥

बीजानि शाल्यादिसत्कानि वपेत, अवटं च खानयेत्, संयतार्थं; तेषां परिभोगकाले तत्र श्रमणानां कथं भणितं कल्प्यम्, अकल्प्यं वा ।

सूरिराह—

दुच्छडाणियं च उदयं, जइ हेउं निट्ठियं च अत्तट्ठा ।
तं कप्पइ अत्तऽट्ठा, कयं तु जइ निट्ठियमकप्पं ॥ ५९ ॥

अत्रापि प्रागिव भङ्गचतुष्टयम्, तत्राऽऽद्यो भङ्गः एकान्तेनाऽशुद्धः । चरमस्त्वेकान्तशुद्धः । द्वितीयभङ्गमधिकृत्याह-यतिहेतोस्तण्डुला द्विच्छटीकृता उदकं वा संयतहेतोरवटादानीतम् उभयमपि च निष्ठितम्—अचित्तीकृतमात्मार्थं तत्कल्पते । तृतीयभङ्गमधिकृत्याह-कृतं द्विच्छटीकृतास्तण्डुला अवटादानीतं पानीयं निष्ठितं तु यतिनिमित्तं तदकल्प्यमिति ।

पुनरपि पर आह—

समणाण संजतीण व, दाहामि जो किणेज्ज अट्ठाए ।
गावीमहिसीमादी, समणाण तहिं कहं भणियं ॥६०॥

श्रमणानां संयतीनां दुग्धादि दास्यामीति बुद्ध्या तेषामर्थाय गोमहिष्यादिकं यः क्रीणीयात्तत्र श्रमणानां कथं कल्प्यम् अकल्प्यं वा भणितम् ।

सूरिराह—

संजयहेउं दूढा, न कप्पए कप्पए य सयमट्ठा ।
पामिच्चिय कीया वा, जइ वि समणट्ठ या धेणू ॥६१॥

यद्यपि च धेनुः-गोरूपा महिषीरूपा वा श्रमणार्थमियमित्यात्मीयां धेनुं दत्त्वा परकीया याचिता क्रीता वा यदि संयतहेतोर्दुग्धा ततो न कल्पते । अथ स्वयमात्मनोऽर्थाय दुग्धा तर्हि कल्पते ।

पुनरन्यथा परः प्रश्नयति—

चेइयदव्वं विभया, करेज्ज कोई नरो सयट्ठाए ।
समणं वा सोवहियं, विक्केज्जा संजयट्ठाए ॥ ६२ ॥

चैत्यद्रव्यं चौराः समुदायेनापहृत्य तन्मध्ये कश्चिच्चौर आत्मीयेन भागेन स्वयम्-आत्मनोऽर्थाय मोदकादि कुर्यात्, कृत्वा च संयतेभ्यो दद्यात्, यो वा संयतार्थाय श्रमणं सोपधिकं विक्रीणीयात् । विक्रीय च तत्प्रासुकं वस्त्रादि संयतेभ्यो दद्यात् ।

एयारिसम्मि दव्वे, समणाणं किं नु कप्पई घेत्तुं ।
चेइयदव्वेण कयं, मुल्लेण वजं सुविहियाणं ॥ ६३ ॥
तेण पडिच्छा लोए, वि गरहिया उत्तरे किमंग ! पुण ।
चेइय जइ पडिणीए, जो गेण्हइ सो वि हु तहेव ॥६४॥

एतादृशेन द्रव्येण गाथायां सप्तमी तृतीयार्थे, यत् आत्मार्थं कृतं तत् श्रमणानां किं नु ग्रहीतुं कल्पते । सूरिराह-यच्चैत्यद्रव्येण यच्च वा सुविहितानां मूल्येनात्मार्थं क्रीतं तद्दीयमानं न कल्पते । किं कारणमिति चेदुच्यते-स्तेनानीतस्य प्रतीच्छा-प्रतिग्रहणं लोकेऽपि गर्हिता किमङ्ग ! पुनरुत्तरे, तत्र सुतरां गर्हिता यतः-चैत्ययतिप्रत्यनीके-चैत्ययतिप्रत्यनीकस्य हस्तात् यो गृह्णाति सोऽपि 'हु' निश्चितं तथैव चैत्ययतिप्रत्यनीक एव ।

कस्मादिति आह—

हरियाहडिया सा खलु, ससत्तितो उग्गए हरा गुरुगा ।
एवं तु कया भत्ती, न वि हाणी जा विणा तेण ॥६५॥

सा खलु स्तेनानीतप्रतीच्छा हृताहृतिका भण्यते स्तेनैर्हृतस्य स्तेनहरणं हृताहृतिका यत एवं तस्मात् स्वशक्तितश्चैत्यद्रव्यं सोपधिकं वा श्रमणमुद्गमयेत्-उत्पादयेत् इतरथा प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः । एवं च सति कृता भक्तिर्भवति । प्रवचनस्य या च तेन विना हानिः, साऽपि न भवति ।

पुनः पृच्छति—

जा तित्थयराण कया, वंदणआवरिसणादि पाहुडिया ।
भत्तीहिँ सुरवरेहिं, समणाण तहिं कहं भणियं ॥६६॥

या तीर्थकराणां सुरवरैर्भक्त्या वन्दनाऽऽवर्षणादिका आदिशब्दात्-पुष्पवृष्टिप्रकारत्रयादिकरणपरिग्रहः प्राभृतिका कृता तत्र श्रमणानां कथं भणितं किं तत्र स्थातुं कल्पते न वा ।

अत्र सूरिराह—

जइ समणाण न कप्पइ, एवं एगागिणो जिणवरिंदा ।
गणहरमादी समणा, अकप्पिए न वि य चिट्ठंति ॥६७॥

तस्यां प्राभृतिकायां श्रमणानामवस्थातुं कल्पते भगवतः प्रवचनातीतत्वात् । अन्यच्च यदि श्रमणानां न कल्पते तत एकाकिनो जिनवरेन्द्रा भवेयुः । यतो गणधरादयः श्रमणाः अकल्पिकेनैव तिष्ठन्ति । व्य० ६ उ० । वृ० ।

आधाकर्मोपभोगे प्रायश्चित्तम्—

जे भिक्खू आहाकम्मं, भुंजइ भुंजंतं वा साइज्जइ ॥ ६ ॥

आधाकडं आहाकम्मं तं जो भुंजति तस्स चउगुरुं आणादिया य दोसा । नि० चू० १० उ० ।

आधाकर्मप्रायश्चित्तम्—" गुरुगा आह य चरम० " ॥ ५४१ × ॥ ' आह य ' आधाकर्मगृहतः प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः ॥ बृ० १ उ० १ प्रक० । शामवत आधाकर्मादिदोषविचारः ' णाए ' शब्दे चतुर्थभागे १६८० पृष्ठे करिष्यते) (गोचरचर्य्यां गतेनाधाकर्मिकमशनादि न ग्राह्यमिति ' गोयरचरिया ' शब्दे तृतीयभागे ६६१ पृष्ठे वक्ष्यते ।) यदाधाय-निमित्तत्वेनाश्रित्य पूर्वोक्तमष्टप्रकारमपि कर्म बध्यते तदाधाकर्मेति । कर्मभेदे, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० । (तच्च विस्तरतः ' कम्म ' शब्दे तृतीयभागे २४५ पृष्ठे. ६२ सूत्रव्याख्याने वक्ष्यते ।) आधानमाधाकरणमात्मनेति गम्यते तदुपलक्षितानि कर्माण्याधाकर्माणि । स्वकृतकर्मसु, उत्त० ।

सुया मे णरए ठाणा, (उत्त०)पगाढा जत्थ वेयणा ॥१२॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत्थोववाइयं ठाणं, जहा मे तमणुस्सुयं ।
आहाकम्मेहिँ गच्छंतो, सो पच्छा परितप्पइ ॥ १३ ॥

तत्रेति-नरकेषु उपपाते भवमौपपातिकं स्थानं—स्थिति-र्यथा-येन प्रकारेण; भवतीति शेषः । 'मे' मया तत्-इति-अनन्तरोक्तपरामर्शेऽनुश्रुतम्—अवधारितं गुरुभिरुच्यमानमिति शेषः (उत्त०) औपपातिकमिति च श्रुवतोऽस्यायमाशयः, यदि गर्भजत्वं भवेत्-भवेदपि तदपि तदवस्थायां छेदभेदादिनारकदुःखान्तरम्, औपपातिकत्वे त्वन्तर्मुहूर्त्तानन्तरमेव तथाविधवेदनोदय इति कुतस्तदन्तरसंभवः ?, तथा च-'आहाकम्मेहिँ' त्ति-आधानम्-आधाकरणमात्मनेति गम्यते, तदुपलक्षितानि कर्माण्याधाकर्माणि तैराधाकर्मभिः-स्वकृतकर्मभिः, यद्वा-आर्षत्वात्-'आहे' ति-आधाय-कृत्वा कर्माणीति गम्यते, ततस्तैरेव कर्मभिर्गच्छन्-यान्, प्रक्रमात् नरकं, यद्वा-यथा कर्मभिर्गमिष्यमाणगत्यनुरूपैस्तीव्रतीव्रतराद्यनुभावान्वितैर्गच्छंस्तदनुरूपमेव स्थानं 'स' इति-बालः पश्चादिति-आयुषि हीयमाने परितप्यते-यथा-धिग्मामसदनुष्ठायिनं, किमिदानीं मन्दभाग्यः करोमीत्यादि शोचते इति सूत्रार्थः । उत्त० ५ अ० ।

आधा (हा) कम्मिय-आधाकर्म्मिक-त्रि० । साधूनामेवार्थाय कारिते भक्तादौ, सू० १ उ० ।

आधा(हा)ण-आधान-न० । आ-धा-भावे ल्युट् संस्कारपूर्वकं वह्न्यादेः स्थापने, अग्न्याधाने, गर्भाधाने च । वाच० । स्थाने, आव० । "इम सव्वगुणाऽऽहाणं ॥१०५४॥" सर्वगुणाधानम्-अशेषगुणस्थानम् । आव०४ अ० । स्थापने, षो० । "कुलयोग्यादीनामिह, तन्मूलाऽऽधानयुक्तानाम्" मूलाऽऽधानं-मूलस्थापनं-बीजन्यासस्तद्युक्तानाम् । षो० १३ विव० । व्यवस्थापने, आश्रयाने, व्याख्याने च । वाच० ।

अविरइं पडुच्च बाले, आहिज्जइ, विरइं पडुच्च पंडिए आहिज्जइ, विरयाऽविरइं पडुच्च बालपंडिए आहिज्जइ ॥३६५॥

आधीयते-व्यवस्थाप्यते, आख्यायते वा, तथा-विरतिमाश्रित्य-प्रतीत्य पापाद् डीनः पण्डितः-परमार्थज्ञो वेत्येवमाधीयते-व्याख्यायते । सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

आधा (हा) य-आधाय-अव्य० । आ-धा-ल्यप् । कृत्वेत्यर्थे, उत्त० ५ अ० । स्थापयित्वेत्यर्थे; आधानं कृत्वेत्यर्थे, भावे-घञ् । आधाने, पुं० । वाच० ।

आधा (हा) र-आधार-आ-धृ-आधारे-घञ् । आश्रये, "अपामिवाधारमनुत्तरङ्गम्" कुमा० । "चराचराणां भूतानां, कुक्षिराधारतां गतः" । कुमा० । "सत्याधारस्नेहयोगाद्यथा दीपस्य संस्थितिः" या० स्मृ० । "व्याकरणप्रसिद्धे औपश्लेषिकवैषयिकाभिव्यापकाख्ये अधिकरणकारके," आधारोऽधिकरणम् " । पाणिनिः । अधिकरणञ्च परम्परया क्रियाश्रयः तच्च त्रिविधम् औपश्लेषिक—वैषयिका-ऽभिव्यापकभेदात् । तत्र औपश्लेषिक एकदेशसम्बन्धः, यथा-कटे आस्ते । वैषयिकः-मोक्षे इच्छास्ति । अभिव्यापकः-तिलेषु तैलमस्ति । मुग्धबोधकारस्तु "सामीप्या-ऽऽश्लेष-विषये-व्याप्त्याऽऽधारश्चतुर्विधः" इति "सामीप्यसम्बन्धेनाप्याधारतेत्याह" । तच्चिन्त्यम्, गङ्गायां घोषो वसतीत्यादौ विषयलक्षणयैव गङ्गासमीपतीरस्योपस्थितौ न तस्य विकथर्थत्वमिति पाणिनीयाः । शस्यसंपादनार्थं जलरोधनार्थे बन्धने वृक्षसेकार्थं जलधारणार्थे आलवाले च । "आधारबन्धप्रमुखैः प्रयत्नैः" रघु० । वाच० । आधारस्य भावः तल् आधारता संबन्धविशेषेण पदार्थविशेषस्याऽऽधेयतासम्पादके धर्मविशेषे, तथा च तयोः परस्परनिरूप्यनिरूपकभावः । आधारताया अनतिरिक्तवृत्तिर्धर्म्म आधारतावच्छेदकः । एवमाधेयताया अनतिरिक्तवृत्तिर्धर्म्म आधेयतावच्छेदकः यथा संयोगेन घटाधारे भूतले भूतलत्वमाधारतावच्छेदकं भूतलाधेये घटे च घटत्वमाधेयतावच्छेदकम् तयोश्चाप्यवच्छेदकत्वात् । ताभ्यामाधारताऽऽधेयता चाऽवच्छिद्यते यथा घटत्वावच्छिन्ना घटनिष्ठाऽऽधेयता तथा भूतलत्वावच्छिन्ना भूतलनिष्ठाऽऽधारता इति नव्यनैयायिकानां रीतिः । आधारत्वात्तदर्थे, न० । वाच० । ख-घ-थ-ध-भाम् ॥८।१।१८७॥ इति हैमप्राकृतसूत्रेण धस्य बाहुल्येन हः । प्रा० । "आहारो०" ॥१४०६४॥ द्रव्यम्-आधारो भवति । विशे० ।

आधि(हि)-आधि-पुं० । आधीयते-अभिनिवेश्यते प्रतीकाराय मनोऽनेन । आ—धा—कि । मानसव्यथाभेदे, वाच० । आधीनाम्-मनःपीडानाम् । भ० १ श० १ उ० १ सूत्रटी० । शरीरमानसे पीडाविशेषे च । "आधीनां परमौषधम्" ॥ ३ ×॥ आधीनां-शरीरमानसपीडाविशेषाणां परमौषधं-प्रधानौषधकल्पम् । षो० १५ विव० । ईषत् आधिक्रियते उत्तमर्णोऽत्र । आ-ईषदर्थे, धा-अधिकारार्थे, आधारे कि, आधीयते ऋणशोधनार्थम् आ-धा-कर्मणि-कि-वा । ऋणशोधनार्थं प्रतिभूस्थानीयतया बन्धकत्वेन उत्तमर्णसमीपे अधमर्णेनाऽऽधीयमाने उत्तमर्णस्य ईषत् स्वत्वहेतुभूतव्यापारविशिष्टे, वाच० ।

आहि (हि) क-आधिक्य-न० । अधिकस्य भावः ष्यञ् । अधिकतायाम्, अतिशयितायाम्, "यदावगच्छेदायत्या-माधिक्यं ध्रुवमात्मनः" । मनु० । युग्मायामपि रात्रौ चेत्, शोणितं प्रचुरं तदा । कन्या च पुंवत् भवति, शुक्राधिक्ये पुमान् भवेत् ॥ १ ॥ ज्योतिस्तत्त्वम् । प्रातिपदिकमात्रे लिङ्गमात्राद्याधिक्ये, सि० कौ० "एवमेतद् गुणाधिक्यं, द्रव्ये द्रव्ये व्यवस्थितम्" सुश्रु० । वाच० । "आधिक्यस्थैर्यसिद्ध्यर्थम्" ॥ २६ ×॥ आधिक्यं सजातीयपरिणामप्राचुर्यम् । द्वा० १७ द्वा० ।

आधि (हि) गरणिया-आधिकरणिकी-स्त्री० । अधिक्रियते आत्मा नरकादिषु येन तदधिकरणं, तेन निर्वृत्ता आधिकरणिकी, पञ्चक्रिया मध्ये तृतीये क्रियाविशेषे, सा च द्विधा चक्ररथपशुयन्धमन्त्रतन्त्रादिप्रवर्त्तिनी खड्गादिनिर्वर्तिनी चेति । ध० ३ अधि० ।

आधि (हि) देविय-आधिदैविक-त्रि० । अधिदेवं भवः देवान्-वातादीन् अधिकृत्य प्रवृत्ते वा ठञ् । अनुशतिकादित्वाद् द्विपदवृद्धिः । देवाधिकारेण प्रवृत्ते शास्त्रे, वातादिनिबन्धने, दुःखे च । दुःखं हि त्रिविधम्-आध्यात्मिकादिभे-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रात् । वाच० । आधिदैविकम्—यक्षराक्षसग्रहाद्यावेशहेतुकम् । स्या० १५ श्लोकटी० ।

आधि (हि) भोइय-आधिभौतिक-त्रि० । भूतानि-व्याघ्रसर्पादीन्यधिकृत्य जातम् । अधिभूत ठञ् द्विपदवृद्धिः । व्याघ्रसर्पादिजनिते दुःखे, वाच० । आधिभौतिकं-मानुषपशुपक्षिमृगसरीसृपस्थावरनिमित्तम् । स्या० १५ श्लोकटी० ।

आधु (हु) णिय-आधुनिक-त्रि० । अधुना भवः ठञ् । सांप्रतभवे अर्वाचीने, अप्राचीने च । स्त्रियां ङीप् । वाच० । अष्टाशीतिग्रहाणामन्यतमे स्वनामख्याते ग्रहे, जं० । सू० प्र० २० पाहु० ।

दो आहुणिया । (सूत्र-६०+) स्था० २ ठा ३ उ० ।

आधे (हे) य-आधेय-त्रि० । आ-धा-कर्मणि यत् । १ उत्पाद्ये, "आधेयश्चाक्रियाजश्च, सोऽसत्त्वप्रकृतिर्गुणः" व्या० का० । यस्य सतो गुणान्तरमुत्पाद्यम् तादृशे उत्पाद्यगुणान्तरे विद्यमान एव यत्र घटादिपदार्थे पाकादिना रक्ततागुणान्तरमाधीयते तादृशे घटादौ, आधानविधिना स्थापनीये वह्नौ, पुं० । अधिकरणेऽभिनिवेशनीये, "अधिकं पृथुलाधारादाधेयाधिक्यवर्णनम्" चन्द्रा० । वाच० ।

आधाराऽऽधेयौ द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदेन—

आहारो आहेयं, च होइ दव्वं तहेव भावो य ।

खेत्तं पुण आहारो, कालो नियमाउ आहेओ॥१४०६॥

(अस्याः गाथायाः व्याख्या 'अणुओग' शब्दे प्रथमभागे ३४४ पृष्ठे गता ।) विशे० । स्थापनीये द्रव्ये च । भावे यत् । आधाने, न० । वाच० ।

आधे (हे) वच्च-आधिपत्य-न० । अधिपतेर्भावः कर्म वा पत्यन्तत्वात् यक् । स्वामित्वे, " अवाप्यभूमावसपत्नमृद्धं, राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् " गीता० । वाच० । यक्षाणामाधिपत्यं च, राजराजत्वमेव च " । भा० । व० । राजकार्ये प्रजापालनादौ, " दुर्योधनं तस्यहितं वै निगृह्य, पाण्डोः पुत्रं प्रकुरुध्वाधिपत्ये । अजातशत्रुर्हि विमुक्तरागो, धर्मेणेमां पृथिवीं शास्तु राजन् ।" भा० । व० । प० । ६ । अ० । वाच० । " आहेवच्चं " (सूत्र-४६ +) । प्रज्ञा० २ पद । अधिपतेः कर्माधिपत्यम् । रक्षायाम् , जी० ३ प्रति० ४ अधि० १ उ० ११७ सूत्रटी० । आ० म० । प्रज्ञा० । भ० । कल्प० । ज्ञा० । विपा० । जं० ।

आधोधि (होहि) य-आधोऽवधिक-पुं० । नियतक्षेत्रविषयाऽवधिज्ञानिनि, भ० ।

आहोहिए णं भंते ! मणुस्से जे भविए अन्नयरेसु देवलोएसु उववज्जइ । (सूत्र-२६१ +)

' आहोहिए णं ' ति, आधोऽवधिकः—नियतक्षेत्रविषयाऽवधिज्ञानी । भ० ७ श० ७ उ० ।

नमिस्स णं अरहओ एगूणचालीसं आहोहियसया होत्था । (सूत्र-३९ ×)

' आहोहिय ' त्ति—नियतक्षेत्रविषयावधिज्ञानिनस्तेषां शतानि । स० ३९ सम० । प्रतिनियतक्षेत्रावऽवधिज्ञाने च । न० ।

केवली णं भंते ! आधोऽधियं जाणइ पासइ । (सूत्र-५३८ +)

' आहोहियं ' ति, प्रतिनियतक्षेत्रावधिज्ञानम् । भ० १४ श० १० उ० ।

आप(व)-आप-पुं० । आप्यते । आप्-कर्मणि-घञ्-अष्टसु वसुषु चतुर्थे वसौ, अपां समूहः अण् । जलसमूहे, न० । आकाशे, निरुक्त० । तस्य सर्वमूर्त्तसंयोगित्वात्तथात्वम् । वाच० । व्याप्तौ, आपः-व्याप्तिः । भ० १ श० ६ उ० ५० सूत्रटी० ।

आप (व) इ-आपद्-स्त्री० । आ-पद् । सम्पदा क्विप् । आपद्विपद्संपदां द इः ॥ ८।१।४०० ॥ इति हैमप्राकृतसूत्रेण आपत् शब्ददकारस्य इकारः । " अणउ करन्तहो पुरिसहो, आवइ आवइ " (अनयम्-अन्यायं) कुर्वतः पुरुषस्य आपत् आयाति । प्रा० ढुं० । पो वः ॥८।१।२३१॥ इति हैमप्राकृतसूत्रेण स्वरात्परस्य पस्य वः । विपत्तौ, प्रा० । " दुहओ गइ बालस्स, आवई वहमूलिया " ॥ १७+ ॥ आपदो-विपदः । उत्त० ७ अ० । "संभम-भयाऽऽउरा-ऽऽवइ" ॥१३+॥ आवई चउव्विहा-दव्वखेत्त-काल-भावाऽऽवई । दव्वाऽऽवई-दव्वं दुल्लहं । खेत्ताऽऽवई-ओच्छिन्न-मंडवाई । कालाऽऽवई-ओमाई । भावाऽऽवई-गुरुगिलाणाई । (इति तच्चूर्णिः) । द्रव्यक्षेत्रकालभावैस्तत्र-द्रव्यापत्-कल्पनीयाशनादिद्रव्यदुर्लभता १, क्षेत्राऽऽपत्-प्रत्यासन्नग्रामनगरादिरहितमरण्यं च क्षेत्रम् २, कालाऽऽपद् दुष्कालादि ३, भावाऽऽपद्-ग्लानत्वादि ४ । जीत० । द्रव्याऽऽपत्-प्रासुकादिद्रव्यालाभः, क्षेत्राऽऽपत्-कान्तारक्षेत्रपतितत्वं, कालाऽऽपत्-दुर्भिक्षकालप्राप्तिः भावापत्-ग्लानत्वमिति । प्रतिषेवणायाः पञ्चमे भेदे, भ० २५ श० ७ उ० ७९९ सूत्रटी० । " आउरे आवईसु य " (सूत्र-७७३+) तथा आपत्सु द्रव्यादिभेदेन चतुर्विधासु, तत्र द्रव्यतः-प्रासुकद्रव्यं दुर्लभं, क्षेत्रतो-ऽध्वप्रतिपन्नता, कालतो-दुर्भिक्षं, भावतो-ग्लानत्वमिति । उक्तं च-" दव्वाइअलंभे पुण चउव्विहा आवया होइ " इति । स्था० १० ठा० ३ उ० । व्य० । नि० चू० । आ० चू० । " आवईसु दढधम्मया " (सूत्र-३२ +) । प्रशस्तयोगसंग्रहाय साधुनाऽऽपत्सु-द्रव्यादिभेदासु, दृढधर्मता कार्या सुतरां तासु दृढधर्मिणा भाव्यमित्यर्थः । स० ३२ सम० ।

उदाहरणादियोगः—

उज्जेणीए धणवसू, अणगारे धम्मघोसचम्पाए ।

अडवीइ सत्थविब्भम-वोसिरणं सिज्झणा चेव १२८१।

अस्याः व्याख्या कथानकादवसेया, तच्चेदम्-" उज्जेणी नयरी, तत्थ धणवसू वाणियओ, सो चंपं जाउकामो उग्घोसणं कारेइ । जहा (गाए) घत्तो, एयं अणुसत्तेइ धम्मघोसो नाम अणगारो, तेसु दूरं अडविमइगएसु पुलिन्देहिं विलोलिओ सत्थो इओ तइओ नट्ठो, सो अणगारो अण्णेण लोएण समं अडविं पविट्ठो, ते मूलाणि खायंति

पाणियं च पिबंति, सो निमंतिज्जइ, नेच्छति, आहारजाए, एगत्थ सिलायले भत्तं पच्चक्खायं, अदीणस्स अहियासेमाणस्स केवलनाणं समुप्पन्नं सिद्धो, दढधम्मयाए योगा संगहिया, एसा दव्वाऽऽवती १, खेत्ताऽऽवती-खेत्ताणं असतीए २, कालाऽऽवती-ओमोदरियादि ३।

भावाऽऽवतीए ४-उदाहरणगाहा—

महुराए जउणराया, जउणावंकेण दंडमणगारे।
वहणं च कालकरणं, सक्काऽऽगमणं च पव्वज्जा ।।१२८२।।

व्याख्या कथानकादवसेया, तच्चेदम्-" महुराए नगरीए जउणो राया, जउणावक्कं उज्जाणं अवरेण, तत्थ जउणाए कोप्परे ठिओ, तत्थ दंडो अणगारो आयावेइ, सो रायाए णितेण दिट्ठो, तेण रोसेण असिणा सीसं छिन्नं, अन्ने भणन्ति-फलेण आहओ, सव्वेहिं वि मणुस्सेहिं पत्थररासीकओ कोवोदयं पइ तस्स वेयणाउदयं भावयंतस्स आवती, कालगतो सिद्धो, देवागमणं महिमाकरणं, सक्कागमणं पालएणं विमाणेण तस्स वि य रन्नो अधिती जाया, वज्जेण भेसिओ सक्केण जइ पव्वयसि तो मुच्चसि पव्वइओ थेराणं अन्तिए अभिग्गहं गेण्हइ जइ भिक्खागओ संभरामि तो ण जेमेमि जइ दरजिमिओ ता सेसगं विगिंचामि एवं किर तेणं भगवया एगमवि दिवसं नाऽऽहारियं तस्स दव्वाऽऽवती, दण्डस्स भावाऽऽवती ४ "आवईसु दढधम्मत्ति गयं"। आव० ४ अ०। हलन्तत्वाट्टाप्-आपदाऽप्यत्र। वाच०।

आव (व) गा-आपगा-स्त्री०। आपेन-जलसमूहेन गच्छति-वहति-ड। नद्याम्, दश०।

बहुसमाणि तित्थाणि, आवगाणं वियागरे ।।३७।।

बहुसमानि-तीर्थानि आपगानां-नदीनां व्यागृणीयात् साध्वादिविषय इति। दश० ७ अ० २ उ०।

आवच्चिज्ज-अपत्य-पुं०। सन्ताने, कल्प०। " एए णं सव्वे अज्जसुहम्मस्स अणगारस्स आवच्चिज्जा" एते सर्वे आर्यसुधर्मणः अनगारस्य अपत्यानि शिष्यसन्तानजा इत्यर्थः। कल्प० २ अधि० ८ क्षण।

आप (व) डण-आपतन-न०। आ-पत। भावे ल्युट्। आगमने, प्राप्तौ, ज्ञाने (क्वचित्प्राकरणिकादर्थादप्राकरणिकस्यापतनम्) साहि०। दैववशात् पतने च। वाच०। प्रस्फोटने, ध० ३ अधि० २४ श्लोकटी०। प्रस्खलने च। ओघ० ३१२ गाथाटी०। "आवडणं विसमखाणुकंटेसु"। (११० ×)। विषमे वा स्थाणौ वा आपतनं-प्रस्खलनं भवति। बृ० १ उ० ३ प्रक०। आवतनं नाम-यद् भूमिमसंप्राप्तस्य संप्राप्तस्य वा जानुकूर्पराभ्यां प्रस्खलनम्। बृ० २ उ० ।५१ गाथाटी०। "आवडणे लहुगं" ॥ २११ + ॥ आवडणं-पक्खलणं तं पुण भूमिअसंपत्तो संपत्तो वा जाणुकोप्परेहिं। नि० चू० १ उ०।

आप (व) डिय-आपतित-त्रि०। आ-पत्-क्त। हठादागते, दैवायत्तपतने च। वाच०। आस्फालिते च। "दोऽवि आवडिया कुड्डे" (४२ +)। आपतितौ-भित्तौ आस्फालितौ। उत्त० २५ अ०।

आप (व) ण-आपण-पुं०। आपण्यन्ते-विक्रीयन्तेऽत्र आपणः। आधारे घञ्। हट्टे, "पणियाऽऽवणविविह" (सूत्र-१ ×)। पणितानि-भाण्डानि तत्प्रधाना-आपणाः-हट्टाः। औ०। भ०। आ० म०। कल्प०। प्रश्न०। ज्ञा०। विशे०। ज्ञा०। "आवणसिंघाडग" (सूत्र-१३५ +)। अनु०। ज्ञा०। वीथ्याम्, न०। "कोलचुण्णाइं आवणे" ॥ ७१ + ॥ दश० ५ अ० १ उ०। पण्यस्थाने, प्रश्न० ३ संव० द्वार २६ सूत्रटी०। क्रयविक्रयद्रव्यशालायां च। वाच०। "शकटाऽऽपणवेशाश्च, वणिजो वन्दिनस्तथा। नराश्च मृगयाशीलाः, शतशोऽथ सहस्रशः"। भा० व० प० अ० २३८। "भवयमालयाऽऽपणानाञ्च, ददृशुः श्रियमुत्तमाम्" भा० स० प० ४ अ०। (आपणः पण्यवीथिका) (आपणो विक्रयस्थानम्) तेनैवोक्तम्। "पूर्णाऽऽपणा विपणिनो विपणीर्विभेजुः। माघ०।" वाच०।

आप(व)णगिह-आपणगृह-न०। आपणमध्यवर्त्तिगृहे, बृ०।

तथा च—

जं आवणमज्झम्मि, जं च गिहं आवणा य दुहओ वि।
तं होइ आवणगिहं, रत्थामुहरत्थपासम्मि ॥ १७० ॥

यद् गृहमापणमध्ये समन्तादापणैः परिक्षिप्तं तदापणगृहम्, यद्वा-मध्ये गृहम् 'दुहओ वि' त्ति-द्वाभ्यामपि च पार्श्वाभ्यां यस्याऽऽपणा भवन्ति तदापणगृहं भवति। बृ० १ उ० ३ प्रक०।

आप (व) णवीहि-आपणवीथि-स्त्री०। रथ्याविशेषे, आ० म० १ अ० १८३ गाथाटी०। ज्ञा०। रा०। जी०। हट्टमार्गे, दशा० १० अ०। जी०। ज्ञा०। "संमट्ठरत्थंतराऽऽवणवीहियं"। आपणवीथयश्च हट्टमार्गाः। कल्प० १ अधि० ५ क्षण।

आप (व) ण्ण-आपन्न-त्रि०। आ-पद् क्त। आपद्ग्रस्ते, "आपन्नः संसृतिं घोरां, यन्नाम विवशो गृणन्। ततः सद्यो विमुच्येत, यद् बिभेति स्वयं भयम्"। भाग०। "आपन्नाभयसत्रेषु, दीक्षिताः खलु पौरवाः"। शकु०। "आत्मापराधादापन्न-स्तत् किं भीमं जिघांससि" भा० स्त्री० प० १३ अ०। वाच०। आश्रित, "इमं दुरितमावण्णा, सट्टदुक्खा विमुच्चइ" ॥ १६ ॥ सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०। अनु०। उत्पन्ने, ज्ञा० १ श्रु० २ अ० ३६-३७ सूत्रटी०। प्राप्ते, "जो जाहे आवन्नो" (२३४ ×)। आव० ४ अ०। आवण्णो प्राप्त उच्यते। नि० चू० १ उ० २५६ गाथाटी०। "आवण्णा दीहमद्धाणं, संसारम्मि अणंतए" (१३ ×)। आपन्नाः-प्राप्ताः। उत्त० १ अ०। व्यासे, नि०।

आप(व)ण्णपरिहार-आपन्नपरिहार-पुं०। भावपरिहारभेदे, नि० चू०।

(भाष्यम्)—

मासादी आवण्णे, तेण उ पगयं न अन्नेहिं ॥ २३ ॥

आवण्णपरिहारो पुण जो मासियं वा ०जाव छम्मासियं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वा पायच्छित्तं आवएणो । नि० चू० २० उ० । यत् मासिकं यावत् षाण्मासिकं वा प्रायश्चित्तमापन्नं तत् आपन्ने अपरिभोगेऽपि वर्त्तते, परिह्रियते इति परिहारः, कर्म्मणि घञ्. आपन्नमेव परिहारः आपन्नपरिहार इति व्युत्पत्तेः, तथाचाह—' मासादी आवन्ने ' इति-मासादिकं यत् प्रायश्चित्तस्थानमापन्नं तत् आपन्ने—आपन्नपरिहारे द्रष्टव्यं; मासादिकं यत् प्रायश्चित्तस्थानमापन्नं तत् आपन्नपरिहार इति भावः । अथ वा-परिहरणं परिहार इति भावे घञ्, आपन्नेन-प्रायश्चित्तस्थानेन परिहारो वर्जनं साधोरिति गम्यते । आपन्नपरिहारः । तथा हि-स प्रायश्चित्ती अविशुद्धत्वात् विशुद्धचरणैः साधुभिर्यावत्प्रायश्चित्तप्रतिपत्त्या न शुद्धो भवति तावत् परिह्रियते, इह तेन आपन्नपरिहारेण प्रकृतमधिकारो; न शेषैः परिहारैः । व्य० १ उ० २६ गाथाटी० ।

आप (व) ण्णसत्ता—आपन्नसत्त्वा—स्त्री० । आपन्नः-उत्पन्नः सत्त्वो-जीवो गर्भे यस्याः सा । आ० १ श्रु०२ अ० ३७ सूत्रटी० । गर्भिण्यां स्त्रियाम्, " सममापन्नसत्त्वास्ता रेजुरापाण्डुरत्विषः " । रघु० । वाच० ।

आप (व) त्ति—आपत्ति—स्त्री० । आ-पद्-क्तिन् । आपदि, आपत्त्व-रोगाद्यभिभूतावस्था सम्यग् वर्त्तनोपायानुपलम्भश्च । वाच० । आपादने, व्य० । आपत्तिः-प्रायश्चित्तस्याऽऽपादनम् । व्य० १ उ० १ प्रक० १६७ गाथाटी० । प्राप्तौ, " संवेगात् समरसापत्त्या । ८ × ।" आपत्तिश्च प्राप्तिः । षो० ६ विव० ८ श्लोकटी० ।

जं जं न भणियमिहयं, तस्सावत्तीए दाणसंखेवं ।
भिन्नाइया य वुच्छं, छम्मासं ताय जीएणं ॥ ६० ॥

' जं जमिच्चाइ ' । इह जीयववहारे जं जं पच्छित्तं न भणियं अवराहमुद्दिसिऊण तस्सावि आवत्तिविसेसेण दाणसंखेवं भणामि । आवत्ती-पायच्छित्तट्ठाणसंपत्ती । सा य-निसीह-कप्प-ववहाराभिहिया । सुत्तओ, अत्थओ य । आणाअणवत्थमिच्छत्तविराहणा सवित्थरा । तवसो यसो य तवो पणगादी छम्मासपज्जवसाणो अणेगाऽऽवत्तिदाणविरयणालक्खणो तेसु सव्वेसु गंथेसु । इह पुण जीयववहारे संखेवेणं आवत्तीदाणं निरूविज्जइ ॥ ६० ॥

भिन्नो अविसिट्ठो च्चिय,मासो चउरो य छच्च लहु-गुरुया ।
निव्वियगाई अट्ठम-भत्तऽन्तं दाणमेएसिं ॥ ६१ ॥

' भिन्नो अविसिट्ठ ' इच्चाइ । ' भिन्न ' इति-ससमयसण्णा; पंचवीसं २० दिवसा भिन्नसद्देण घेप्पन्ति । सो य अविसिट्ठो एक्को चेव । अविसिट्ठगहणाओ य सव्वपणगाई मेया घेप्पन्ति । पणगं-लहुगं, गुरुगं च; दसगं-लहुगं गुरुगं च; पन्नरसगं-लहुगं, गुरुगं च; वीसगं-लहुगं, गुरुगं च; पंचवीसगं-लहुगं, गुरुगं च । एस भिन्नमासो बहुमेओ वि एक्को चेव घेप्पइ । एसो य सुयववहारो जेसु जेसु अवराहेसु भणिओ तेसु तेसु चेव अवराहेसु जीएण सव्वत्थ निव्वियगाई । भिन्नो अविसिट्ठो च्चिय एवं वक्खाणियं । इयाणिं ' मासो ' त्ति-सो य लहुमासो, गुरुमासो य । एत्थ य लहुमासे पुरिमड्ढं । गुरुमासे एक्कासणयं । चउरो य छच्च मासा सम्भज्झन्ति । तत्थ लहुचउमासे आयामं । चउगुरुमासे चउत्थं । छल्लहुमासे छट्ठं । छगुरुमासे अट्ठमं । एवं सुत्तनिद्दिट्ठाऽऽवत्ति अहावराहं जाणिऊण जीएण निव्विइयाइ-अट्ठमभत्तन्तं तवं देज्जा ।

इय सव्वाऽऽवत्तीओ, तवसो नाउं जह-क्कमं समए ।
जीएण देज्ज निव्वी-इगाइ दाणं जहाऽभिहियं ॥ ६२ ॥

' इय सव्वाऽऽवत्तीओ ' इच्चाइ । 'इय' एवं-एएण पगारेण 'सव्वाऽऽवत्तीओ' सव्वतवट्ठाणाइं । 'जहक्कमं'-पायच्छित्ताणुलोमेण । समए-सिद्धंते । 'जीएण देज्जा'। निव्विइयाइयं दाणं जह जह भणियं तहा तहा 'देज्ज' त्ति-भणियं होइ । (इति चूर्णिः) । जीत० । इह-जीतव्यवहारे अपराधमुद्दिश्य यद्यत्प्रायश्चित्तेन भणितं तस्याऽप्यापत्तिविशेषेण दानसंक्षेपं वक्ष्ये आपत्तिश्च-अमुकातिचारेऽमुकस्य तपसः प्राप्तिरिति, सा च निशीथ-कल्प-व्यवहारादिषु विस्तरेणाभिहिता । जीत० । व्याप्तौ, भ० १ श० ६ उ० ५० सूत्रटी० । उद्भूतौ, विशे० ९६ गाथाटी० । अनिष्टप्रसङ्गे च । स च व्याप्यस्याहार्य्यारोपात् व्यापकस्याहार्य्यारोपः यदि निर्वह्निः स्यान्निर्धूमः स्यादित्येवं रूपः । वाच० ।

आप (व) त्तिसुत्त—आपत्तिसूत्र—न० । शिष्यगतप्रतिसेवनाद्वारेणाऽऽपन्नप्रायश्चित्ताभिधायिनि सूत्रे, नि० चू० । प्रतिसेवनायां सत्यां प्रायश्चित्तापत्तिः स्यात् इत्यापत्तिसूत्राण्युच्यन्ते-जे भिक्खू बहुसो मासियं पडिसेवित्ता आलोइज्जा (१) बहुसो वि, बहुसो, वि बहुसो पंच पडिसेवित्ता आलोइज्जा (२) इति प्रत्येकबहुससूत्रम् , जे भिक्खू मासियं वा दो मासियं, तेमासियं, च (३) इत्यादि सकलसंयोगसूत्रम् , जे भिक्खू बहुसो मासियं बहुसो दो मासियं बहुसो तेमासियम् (४) इत्यादि बहुसंयोगसूत्रम् , एतत्सूत्रचतुष्टयमेतावता ग्रन्थेन सूत्रोपात्तं व्याख्यानम् । नि०चू० २० उ० । आवत्तीए अहिगो दिज्जति, नि० चू० २० उ० ५ सूत्र-व्याख्याने ।

(संपूर्णसूत्रपाठस्त्वेवम्)—

जे भिक्खू बहुसोमासियं परिहारट्ठाणं परिसेवित्ता आलोएज्जा अपलिउंचियं आलोएमाणस्स मासियं पलिउंचियं आलोएमाणस्स दोमासियं ॥ ६ ॥ जे भिक्खू बहुसोवि दोमासियं परिहारट्ठाणं परिसेवित्ता आलोएज्जा अपलिउंचियं आलोएमाणस्स दोमासियं पलिउंचियं आलोएमाणस्स तिमासियं ॥ ७ ॥ जे भिक्खू बहुसो तिमासियं परिहारट्ठाणं परिसेवित्ता आलोएज्जा अपलिउंचियं आलोएमाणस्स तिमासियं पलिउंचियं आलोएमाणस्स चाउम्मासियं ॥ ८ ॥ जे भिक्खू बहुसोवि चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं परिसेवित्ता आलोएज्जा अपलिउंचियं आलोएमाणस्स चाउम्मासियं पलिउंचियं आलोएमाणस्स पंचमासियं ॥ ९ ॥ जे भिक्खू बहुसोवि पंचमासियं परिहारट्ठाणं परिसेवित्ता आलो-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एआ अपलिउंचियं आलोएमाणस्स पंचमासियं पलि-उंचियं आलोएमाणस्स छम्मासियं तेण परं पलिउंचियं वा अपलिउंचियं वा आलोएमाणस्स ते चेव छम्मासा ॥ १० ॥ नि० चू० २० उ० ।

निसीहस्स पच्छिमे उद्देसगे द्विविहभेदा सुत्ता, सव्वे तीसं सुत्ता, तत्थ आवत्तिसुत्ता जे दस तेसिं चउरो सुत्तेसेव भणिता, इमे अत्थतो छ आसियव्वा, तं जहा-सातिरेगसुत्तं १, बहुससातिरेगसुत्तं २, सातिरेगसंजोगसुत्तं ३, बहु-ससातिरेगसंजोगसुत्तं ४, खवमं सगलस्स सातिरेगस्स य संजोगसुत्तं ५, दसमं बहुसस्स बहुससाइरेगस्स संजोगे सुत्तं ६, एवं एतेसु दससु आवत्तिसुत्तेसु सगिएसु एते चेव चिहिता दस आलोयणासुत्ता भाणियव्वा । नि० चू० २० उ० ।

'इमे अत्थउ' त्ति-अर्थो-व्याख्यानं-भाष्यादिकं तस्मात् षट् वोद्धव्यानि, " तं जहे " त्यादि, " जे भिक्खू मासाइरेग-दोमासियमि " (१) त्यादि, सातिरेकसंयोगसूत्रम्-" जे भिक्खू बहुसोसातिरेगमासियं, बहुसोसाइरेगदोमासियं (२) च " इत्यादि । बहुससातिरेकसंयोगसूत्रम्, " जे भिक्खू मासियं सातिरेकमासियं (३) " । " जे भिक्खू दुमासियं सातिरेकदुमासियं चे (४) " त्यादि, सकलस्य सातिरेकस्य च संयोगसूत्रम्, " जे भिक्खू बहुसो मासियं बहुसो सातिरेकमासियं च " (५) । " जे भिक्खू बहुसो दुमासियं, बहुसो सातिरेकदुमासियं चे " (६) त्यादि । बहुससातिरेगस्स य संजोगसुत्तं इत्येवमापत्ति-सूत्राणि दश कथितानि । नि० चू० २० उ० ।

आप (व) य-आपद्-त्रि० । आपदं ददातीत्यापदः । रोगादिके, पुरुषादिके च । आतु० ।

आप (प्रि) लव-आप्लव-पुं० । आ-प्लु-घञ्-भावे । पक्षे-अप् । स्नाने, जलानां सर्वतः समुच्छलने, ल्युट्-आप्लवनं नत्रैव । न० । वाच० । लात् ॥ ८ । २ । १०६ ॥ इति हैम-प्राकृतसूत्रेण लकारात् पूर्वे इकारः । प्रा० ।

आप (य) सरीरअणवकंखवत्तिया-आत्मशरीरानवकाङ्क्षाप्रत्यया-स्त्री० । अनवकाङ्क्षाप्रत्ययक्रियाभेदे, स्था० । तत्रात्मशरीरानवकाङ्क्षाप्रत्यया सा स्वशरीरक्षतिकारिकर्माणि कुर्वतः क्रिया भवति । स्था० २ ठा० १ उ० ६० सूत्रटी० ।

आपहाविय-आघूर्णित-त्रि० । ' आघुम्मिय ' शब्दार्थे, प्रा० ४ पाद ।

आपा (वा) य (ग)-आपाक-पुं० । समन्तात्परिवेष्ट्य पच्यतेऽत्र आ-पच् । आधारे घञ् । कुम्भकारस्य मृण्मयपात्रपचनस्थाने, वाच० । तथा च-" कुंभकाराऽऽवाएइ वा कवेल्लुयाऽऽवाएइ वा इट्टाऽऽवाएइ वा " (सूत्र-४६७+) । कुम्भकारस्यापाको—भाण्डपचनस्थानम्, कवेल्लुकानि प्रतीतानि तेषामापाकः प्रतीत एव । स्था० ८ ठा० ३ उ० । भावे घञ् । ईषत्पाके, सम्यक् पाके, पुटपाके च । वाच० ।

आबाढ-आबाड-पुं० । स्वनामख्याते चिलातजातौ, " उत्तरड्ढभरहे वासे बहवे आवाडा णाम चिलाता परिवसंति त्ति " । आ० चू० १ अ० । *

आपा (वा) य-आपात-पुं० । हठात्-अविवेकात् कारणान्तरसापेक्षाभावेऽपि आगत्य पातः । अनर्कितागमने, " गजडापातविश्लिष्ट-मेघनादाऽऽलबन्धनः " रघुः " तदापातभयात् पथि " कुमा० । आपतत्यत्राधारे घञ् । उपक्रमे, " आपातरम्या विषयाः पर्य्यन्तपरितापिनः " किरा० " आपातरम्याः-तत्कालरमणीयाः " मल्लि० । उपक्रमे च " मध्यापात इति मनुः । मध्यापातो मधुरोपक्रमः " कुल्लू । वाच० । " आपातभद्दते " (सूत्र-२५५ ×) । आपतनमापातः । प्रथममीलके, । स्था० ४ ठा० १ उ० । तत्प्रथमतया संसर्गे, भ० ।

तस्स भोयणस्स आवाए भद्दए भवइ तओ पच्छा परिणममाणे परिणममाणे दुरूवत्ताए दुग्गंधत्ताए जहा महस्सवए ०जाव भुज्जो भुज्जो परिणमइ । (सूत्र-२०६+)

आपातः-तत्प्रथमतया संसर्गः । भ० ७ श० १० उ० । आभिमुख्येन समवाये, " आवाए सव्वदव्वाणं " ॥२६३४॥ सर्वेषामपि जीवादिद्रव्याणामापाते-आभिमुख्येन समवाये निष्पद्यते इति शेषः । विशे० । अभ्यागमे, " अणावायमसंलोए " (२६६ ×) । न आपातः-अभ्यागमः, स्वपक्षपरपक्षयोर्यस्मिन् स्थण्डिले तदनापातः । ओघ० । वृ० । " तत्थाऽऽवायं दुविहं " (२६७+) । तत्र-आपातं-स्थण्डिलं द्विविधम्-द्विप्रकारम् । ओघ० । वृ० । (अस्य बहुभेदाः 'थंडिल' शब्दे चतुर्थभागे वक्ष्यते) " अणावायमसंलोए चिट्ठेज्जा " (सूत्र-२६५+) । अनापाते-विजने, असंलोके च सन्तिष्ठेत् । आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ५ उ० । प्राप्तौ, आपातः-विषयप्राप्तिः । आ० चू० १ अ० ।

आपाद-पुं० । आ-पद-घञ् । फललाभे, आगतौ च । पादपर्य्यन्तम् । अव्य० । पादपर्य्यन्ते, अव्य० । वाच० ।

आपा (वा) यभद्दय-आपातभद्रक-पुं० । आपातनमापातः-प्रथममीलकस्तत्र भद्रको-भद्रकारी दर्शनाऽऽलापादिना सुखकरत्वादापातभद्रकः । प्रथममीलके दर्शनाऽऽलापादिना सुखकरे, स्था० । " आवायभद्दए णाममेगे, णो संवासभद्दए (सूत्र-२५५×) । स्था० ४ ठा० १ उ० ।

आपायावच्च-आप्राजापत्य-न० । अहोरात्रभवे एकोनविंशतितमे स्वनामख्याते मुहूर्त्ते, कल्प० १ अधि० ६ क्षण ।

आपुच्छणा-आप्रच्छना-स्त्री० । आपृच्छायाः करणमाप्रच्छना । पञ्चा० १२ विव० २६ गाथाटी० । प्रश्नकरणे, पञ्चा० १२ विव० २ गाथाटी० । भ० । " आपुच्छणा उवाइयं दोहला " (सूत्र-२६+) ' आपुच्छण ' त्ति-भर्तुरापृच्छा-" इच्छामि णं तुब्भेहिं अब्भणुण्णाया " इत्यादिका । विपा० ८ अ० । आ-मर्यादया तथाविधविनयलक्षणया, अभिविधिना वा सर्वप्रयोजनाभिव्याप्तिलक्षणेन प्रच्छनं गुरोः प्रश्नकरणमाप्रच्छना । पञ्चा० १२ विव० २ गाथाटी० । सामाचारीभेदे, प्रव० १०१ द्वार ७६८ गाथाटी० । सा च कर्तुमभीष्टे कार्ये प्रवर्तमानेन गुरोः कार्य्या-भगवन् ! अहमिदं करोमीति । प्रव०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१०१ द्वार ७७३ गाथाटी०। आ० चू०। जीत०। ग०। अनु०। "आपृच्छा" ध० ३ अधि०। अयं भावः-यत्कार्यं साक्षादाप्रष्टुं शक्यते विशेषप्रयोजनं च तत्र साक्षादापृच्छा, यत्तु मुहुर्मुहुः सम्भवितया प्रष्टुमशक्यं तत्रापि बहुवेलसंदेशेनापृच्छाऽऽवश्यकीति। ध० ३ अधि०। "आपुच्छणा य तइया"। (२×)। तृतीया आपृच्छना यतो हि श्वासोच्छ्वासादिकं त्यक्त्वा अपरं सर्वं कार्यं गुरोः पृच्छां विना न कार्यम् तस्मादेषा आप्रच्छना। उत्त० २६ अ०। "आपुच्छणा सयंकरणे" (५+)। स्वयम् आत्मना कार्याणां करणे गुरोः आप्रच्छना कर्त्तव्या, न च गुरौ सति स्वबुद्ध्यैव गुरुम् अनापृच्छ्य कार्यं कर्त्तव्यमिति भावः। उत्त० २६ अ०। आङिति-सकलकृत्याभिव्याप्त्या प्रच्छना, प्रच्छना-इदमहं कुर्यां न वे त्येवंरूपा तां स्वयमित्यात्मनः करणं कस्यचिद्विवक्षितकार्यस्य निवर्तनं स्वयंकरणम्। तस्मिन्, उत्त० पाई० २६ अ०। उच्छ्वासनिःश्वासौ विहाय सर्वकार्येष्वपि स्वसंबन्धिषु गुरवः पृष्टव्याः, अतः सर्वविषयमपि प्रथमतः प्रच्छनमापृच्छेत्युच्यते, तथा च निर्युक्तिकृता सामान्येनैवाभिहितम्-" आपुच्छणा उ कज्जे " ति। उत्त० २६ अ०। आ० म०।

तथा च—

आउच्छणा उ कज्जे, गुरुणो गुरुसम्मयस्स वा णियमा।
एवं खु तयं सेयं, जायति सति णिज्जराहेऊ ॥ २६ ॥

व्याख्या-आपृच्छायाः करणम् आपृच्छना, तुशब्दः पुनरर्थः, ततः आपृच्छना पुनः कार्ये-स्नानादिसाधने प्रयोजने सति कार्येति शेषः, कस्येत्याह-गुरो रत्नाधिकस्य, तत्संमतस्य वा गुरुबहुमतस्य वा स्थविरादेः वाशब्दो विकल्पार्थो, नियमात्-अवश्यंभावेन, अथ कस्मादेषा विधेयेत्याह-एवं 'खु' एवमेव; गुर्वाद्यापृच्छापूर्वकमित्यर्थः, तत्कार्यं श्रेयोऽतिशयेन प्रशस्यं जायते-भवति सकृत्सदा निर्जराहेतुकर्मक्षयकारणमिति कृत्वेति गाथार्थः।

अथ कथमापृच्छाविषयभूतं कार्यं श्रेयः स्यादित्यत आह-

सो विहिना या तस्सा-हणम्मि तज्जाणा सुणायंति।
सन्नाणा पडिवत्ती, सुहभावो मंगलं तत्थ ॥ २७ ॥

व्याख्या 'सो' त्ति-यः-आपृच्छ्यते स गुरुः गुर्वनुमतो वा, विधिज्ञाता चिकीर्षितकार्यस्य बलसाधनादेर्विधानस्य वेदिता भवति, गीतार्थत्वात्, ततश्च तत्साधने अहमिदं कार्यं करोमीत्येवंविधिज्ञातृगुरुनिवेदने, अथ वा-विधिप्रतिपादने सति स हि पृच्छ्यमानो विधिज्ञत्वाच्चिकीर्षितकार्यविधिं साधयति, यथा-" अच्छोडपिट्टणासु य न धुवे धोए पयावणं न करे " इत्यादि 'तज्जाण' त्ति-विधिज्ञानं पृच्छकस्य भवति, ततश्च—' सुनायं ' ति-" अहो गुरुणा जिनेन वा सुष्ठु ज्ञातं सकलसत्त्वानुपघातकत्वेन मुमुक्षोश्चोपग्राहकत्वेन निपुणमिदं दृष्टं, नैवं दर्शनान्तरीयैरिति " एवं विधात् सज्ज्ञानात्-स्वगतसद्बोधात् सकाशात् प्रतिपत्तिर्गुरुरेव जिन एवास इत्येवंभूता रुचिर्भवति, सा च शुभभावः-प्रशस्ताध्यवसायो वर्त्तते, स च मङ्गलं—विघ्नविघातकं वस्तु तत्र कार्ये प्रवर्तमानस्येति शेषः। अथ वा-स गुरुः विधिज्ञाता-उपायज्ञः तत्साधने चिकीर्षितकार्यनिष्पादने ततश्च तज्ज्ञानात् गुरोः सकाशात् यत् ज्ञानं तस्मात् सुज्ञानं कार्यं भवति सुज्ञानाच्च प्रतिपत्तिः-सम्यक् क्रियाभ्युपगमः सा च शुभो भावः शेषं तथैव इति गाथार्थः। पञ्चा० १२ विव०।

आपुच्छा-आपृच्छा-स्त्री०। आ-पृच्छ-अङ्। आलापे, जिज्ञासायाम्, आभाषणे-गतागतकाले, शुभे, प्रश्ने, आनन्दने च। वाच०। "आपुच्छणा य कज्जे" (६६७×) आपृच्छनमापृच्छा। समाचारीभेदे, सा च कर्त्तुमभीष्टे कार्ये प्रवर्तमानेन गुरोः कार्या-अहमिदं करोमीति। आ० म०१ अ०। (एतद्वक्तव्यता ' आपुच्छणा ' शब्देऽनुपदमेव गता)।

आपुच्छणिज्ज-आप्रच्छनीय-त्रि०। पृष्टव्ये, भ० १८ श० २ उ० ६१७ सूत्र। सकृत्पृष्टव्ये, " आपुच्छणिज्जे " (सूत्र-७×) आप्रच्छनीयः-सकृत् पृष्टव्यः। ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

आपुच्छित्ता-आपृच्छ्य-अव्य०। आ-पृच्छ ल्यप्। जिज्ञासित्वेत्यर्थे, वाच०। "आपुच्छित्ता ण ठंति सट्ठाणे"(४४६+)। आपृच्छ्य-प्रश्नार्हत्वाद्; गुरुमिति गम्यते इति। पं० व० २ द्वार।

आपूविय-आपूपिक-त्रि०। कर्मजबुद्धेर्देशमे उदाहरणभेदे अपूपकर्त्तरि, स चाभित्वाप्यपूपानां दलस्य मानं जानाति "पूयइ" १० (सूत्र-६८×) नं०।

आपूरिय-आपूरित-न०। आ-पूर-क्त-यस्यापूरणं कृतम्। तस्मिन्, " पहयदेवदुंदुहिनिनायाऽऽपूरियदिसामंडलं " ति आ० म० १ अ० ३४३ गाथाटी०। अभिव्याप्ते च। वाच०। " आपूरियं " (२५१+)। 'आपूरियं' ति-आपूरितं-संव्याप्तं भृतं वासितमित्यर्थः। विशे०।

आपूरिमाण-आपूरयत्-त्रि०। आपूरणं कुर्वति, "सदेण तप्पएसे सव्वओ समंता आपूरेमाणे" (सूत्र ×)। शब्देन तान् प्रत्यासन्नान् सर्वतो-दिक्षु, समन्ततो-विदिक्षु आपूरयति शत्रन्तस्य सादिदं रूपम्। रा०। जी०।

आपूर्यमाण-त्रि०। आ-पूर-कर्मणि शानच्। सम्यक् पूर्यमाणे, वाच०। प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ११ सूत्रटी०। समन्तात्प्रसृते, " आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं, समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् " गीता०। आधारे शानच्। सूर्यकिरणैः पूर्यमाणचन्द्रस्याधारे पक्षे, वाच०।

आफोडिय-आस्फोटित-त्रि०। करास्फोटे, प्रश्न०। "आफोडियसीहनाया" (सूत्र-११×)। आस्फोटितं-करास्फोटरूपम्। प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

आबबहुल-आपबहुल-न०। रत्नप्रभायाः पृथिव्या अप्बहुले काण्डे, स०।

इमीसे णं भंते! रयणप्पभाए पुढवीए आप(ब)बहुले कण्डे केवतियं बाहल्लेणं पन्नत्ते, गोयमा! असीतिजोयणसहस्साइं बाहल्लेणं पन्नत्ते। (सूत्र-७२)। जी० ३ प्रति० १ उ०।

आबाह-आबाध-न०। आ-बाध-भावे घञ्। पीडायाम्, तापत्रये क्लेशे च। वाच०। मानसपीडायाम्, " आबाहे च

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भये वा" (५६६×)। आबाधं नाम-मानसी पीडा। बृ०१ उ०३ प्रक०। स्त्रीत्वे टाप्। तत्र मनःशरीराऽऽबाधकराणि शल्यानि। सुश्रु०। नास्ति बाधा यस्य। पीडाशून्ये, त्रि०। वाच०।

आभंकर-आभङ्कर-पुं०। स्वनामख्याते महाग्रहे, सू० प्र० २० पाहु० ७ गाथा १०७ सूत्र। कल्प०। चं० प्र०।

दो आभंकरा। (सूत्र-६० +)

स्था० २ ठा० ३ उ०। स्वनामख्याते विमानभेदे च। स० ३ सम० ३ सूत्र।

आभरण-आभरण-न०। आ-भृ कर्मणि ल्युट्। भूषणे, स्था० ८ ठा० ३ उ०। सू० प्र०। आ० म०। औ०। ' ललियकयाऽऽभरणे ' (सूत्र- +)। ललितानि-शोभमानानि कृतानि न्यस्तान्याभरणानि-सारभूषणानि यस्य स तथा। तं०। " आभरणभूसणविराइयमंगुवंगं " (सूत्र +)। आभरणानि-अङ्गारधेयानि ग्रैवेयककङ्कणादीनि। कल्प० १ अधि० २ क्षण। " आभरणेहिं विभूसिओ " ॥ ६ ॥ आभरणैः—कुण्डलमुकुटहारादिभिः। उत्त० २२ अ०। " धेणूणाऽऽभरणाइं " (७२ +)। आभरणानि-वस्त्राणि। व्य० ५ उ०। "पाण्डवानां सभामध्ये, दुर्योधन उपागतः। तस्मै गाश्च हिरण्यं च, सर्वाण्याभरणानि च"। १। वाच०। आभरणप्रधाने च। " आभरणाणि वा " (सूत्र० १४५ +)। आभरणानि-आभरणप्रधानानि। आचा० २ श्रु० १ चू० ५ अ० १ उ०। भावे ल्युट्। सम्यक् पोषणे च। वाच०।

आभरणचित्त-आभरणचित्र-त्रि०। आभरणैश्चित्राणि—विचित्राण्याभरणचित्राणि। आभरणैर्विचित्रे, जी० ३ प्रति० २ उ० १४७ सूत्र।

आभरणजहट्ठाणविविहपरिहाण--आभरणयथास्थानविविधपरिधान-न०। आभरणानां यथास्थानं विविधरूपेण परिधानलक्षणे द्वाषष्टितमे कलाभेदे, कल्प० १ अ० ७ क्षण २११ सूत्र।

आभरणप्पिय-आभरणप्रिय-पुं०। पुरुषभेदे, सू०।

आभरणपिए जाणसु,अलंकरिते उ केसमादीणि।४२५×।

केशादीनि माल्यादिभिरलङ्कारैरलङ्कुर्वतः पुरुषान् आभरणप्रियान् जानीहि। सू० १ उ० ३ प्रक०।

आभरणविचित्त-आभरणविचित्र-त्रि०। आभरणविभूषिते, आचा०। "आभरणविचित्ताणि वा" (सूत्र-१४५×)। आभरणविचित्राणि-गिरिविडकादिविभूषितानि। आचा० २ श्रु० १ चू० ५ अ० १ उ०।

आभरणविधि आभरणविधि-पुं०। आभरणं—कटकादि तस्य विधिः-भेदाः आभरणविधिः। आभरणप्रकारेषु, सू० १ उ० ३ प्रक० ३२६ गाथा। कलाभेदे, नि० चू० ६ उ० ६४ गाथा। स०। ज्ञा०। जं०। " आभरणविहिपरिमाणं करेइ " उपा० १ अ०। (सूत्रम्-' आणंद ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गतम्)

आभरणविभूसिय-आभरणविभूषित-त्रि०। आभरणालंकृते, " आभरणविभूसियाणि वा " (सूत्र-१५५ +)। आचा० २ श्रु० ५ अ० १ उ०।

आभव-आभव-अव्य०। आजन्मेत्यर्थे, आसंसारमित्यर्थे, च। " तव्वयणसेवणा आभवमखंडा " ॥ ३४ ॥ तद्वचनसेवना—गुरुवचनसेवा, आभवम्-आसंसारम्। पञ्चा० ४ विव०। आभवमखण्डा-आजन्म, आसंसारं वा सम्पूर्णा। ल०। " विसुज्झमाणे आभवं भावकिरियमाराहेइ " (सूत्र-४ ×)। आभवम्-आजन्म, आसंसारं वा भावक्रियं निर्वाणसाधकमाराधयति। पं० सू०।

आभवंताहिगार-आभवदधिकार-पुं०। व्यवहारभेदे, पं० भा०। " ववहारो होइ दुविहो, पच्छित्ते आभवंते य " पं० भा० १ कल्प। व्यवहर्तव्यभेदे च। व्य०। " आभवंते य पच्छित्ते, ववहरियव्वं समासतो दुविहं " ॥ ५१ + ॥ व्य० १० उ०। (आभवद्व्यवहारः क्षेत्रविषयः उवसंपया ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते) आभवद्व्यवहाराधिकारे, व्य०।

आभवंताऽहिगारे उ, वट्टंते तप्पसंगया।
आभवंता इमे अन्ने, सुहसीलादि आहिआ ॥ ४३७ ॥

आभवदधिकारे वर्तमाने तत्प्रसङ्गात्-आभवदधिकारप्रसङ्गादिमे-वक्ष्यमाणा अन्ये आभवन्तः—सुखशीलादयस्तु सुखशीलादिप्रयुक्ता आख्याताः। व्य० ४ उ०।

आभव्व-आभाव्य-त्रि०। समंताद्भवितुं योग्ये, व्य०। एते-अनन्तरोदिताः चिन्हं विमार्गयन्तः सन्तः अभिधारयन्तं यान्ति-अभिधारयत आभाव्या भवन्ति, शेषेषु पुनरनभिधारयत्सु आचार्यः-श्रुतगुरुस्वामी भवति। शेषा अनभिधारयन्तः श्रुतगुरोराभाव्या भवन्ति इत्यर्थः। उक्तं च-" जइ ते अभिधारंती, पडिच्छंते पडिच्छगस्सेव। अह नो अभिधारंती, सुयगुरुणो ते उ आभव्वा " ॥ १ ॥ व्य० ४ उ०। (अस्य बहुवक्तव्यता ' चरियापविट्ठ ' शब्दे तृतीयभागे ११६४ पृष्ठे वक्ष्यते)

आभा-आभा-स्त्री०। आ-भा-अङ्। प्रभायाम्, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार १५ सूत्रटी०। दीप्तौ, वाच०। छायायाम्, जी० ३ प्रति०१ उ० २१४-सूत्र। शोभायाम्, कान्तौ, उपमाने, वाच०।

आभास-आभास-पुं०। आभासते आ-भास अच्। उपाधितुल्यतया भासमाने प्रतिबिम्बे, दुष्टहेत्वादौ, वाच०। " प्रमाणस्य स्वरूपादि चतुष्टयाद्विपरीतं तदाभासम् " इति ॥२३॥(रत्ना०) तद्वदाभासते इति। रत्ना०६ परि०। (अस्यसूत्रस्यार्थः 'पमाणाभास' शब्दे पञ्चमभागे विस्तरतो वक्ष्यते) (हेत्वाभासाश्च पञ्चधा) भाषा० " सव्यभिचारविरुद्धप्रकरणसमसाध्यसमातीतकाला हेत्वाभासाः " गौतमसूत्र०। पक्षसत्त्वसपक्षसत्त्वविपक्षासत्त्वाबाधितत्वासत्प्रतिपक्षत्वोपपन्नो हेतुर्गमकः स इवाभासत इति हेत्वाभासस्तेन तद्भिन्नत्वे सति तद्धर्मवत्त्वम् पञ्चरूपोपपन्नत्वाभावे सति तद्रूपेणाभासमानत्वं हेत्वाभासत्वमिति फलितार्थः " हेत्वाभासाश्च यथोक्ताः " गौ० सूत्र०। एवं प्रमाणाभासो युक्त्याभास आगमाभास इत्यादावपि प्रामाण्याद्यभाववत्त्वे सति प्रमाणादिरूपेणाभासमानत्वमर्थः। "एवं बहवो विमतिपत्ता

Jain Education International — For Private & Personal Use Only — www.jainelibrary.org

युक्तिवाक्यतदाभाससमाश्रयाः सन्तः" ॥ शा० भा० ॥ तथा च यद्वाचकपदोत्तरमाभासशब्दः प्रयुज्यते तस्य दुष्टत्वं तेन गम्यते। रसाऽऽभासादावपि तिर्यग्योन्यादिगतत्वेन परनायकगतत्वेन च दुष्टत्वाद्रसाऽऽभासत्वम्। पुनरुक्तवदाभासादौ च न दुष्टत्वम्, किन्तु-पुनरुक्तभिन्नत्वेनाऽऽभासमानत्वात् वस्तुतोऽपुनरुक्तत्वमेव गम्यते इत्येव तत्र विशेषः। "रस्यत इति रस इति व्युत्पत्तिदर्शनात् भावतदाभासादयोऽपि गृह्यन्ते" ॥ सा० द० ॥ तत्र रसाऽऽभासः "मधुद्विरेफः कुसुमैकपात्रे" इत्यादि। "अत्र हि सम्भोगशृङ्गारस्य तिर्यग्विषयत्वाद्रसाऽऽभासत्वम्"। सा० द०। "आपाततो यदर्थस्य पुनरुक्तावभासमानम्। पुनरुक्तवदाभासः" ॥ सा० द० ॥ भावे घञ्। ३ तुल्यप्रकाशे, आभास्यतेऽनेन आ-भास-णिच् करणे अच्। ग्रन्थावतारणार्थे ग्रन्थाभिप्रायवर्णने व्याख्यानांशभेदे च। वाच०। (प्रत्यक्षाऽऽभासं 'पच्चक्खाऽऽभास' शब्दे पञ्चमभागे वक्ष्यते) (प्रत्यभिज्ञाऽऽभासम् 'पच्चभिण्णाऽऽभास' शब्दे पञ्चमभागे दर्शयिष्यामि) (तर्काभासम् 'तक्काऽऽभास' शब्दे चतुर्थभागे दर्शयिष्यामि) (पक्षाऽऽभासम् 'पक्खाऽऽभास' शब्दे पञ्चमभागे निरूपयिष्यामि। अस्य बहवः प्रकारास्तान् तत्रैव दर्शयिष्यामि) (हेत्वाऽऽभासस्वरूपं तद्भेदाश्च 'हेउआभास' शब्दे सप्तमे भागे द्रष्टव्याः) (दृष्टान्ताऽऽभासाः 'दिट्ठन्ताऽऽभास' शब्दे चतुर्थे भागे विस्तरतो विलोकनीयाः) (उपनयाऽऽभासस्वरूपम् 'उवणयाऽऽभास' शब्देऽस्मिन्नेव भागे द्रष्टव्यम्) (निगमनाऽऽभासः 'णिगमण' शब्दे चतुर्थभागे दर्शयिष्यमाणः) (आगमाऽऽभासः 'आगमाऽऽ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे दर्शितः)

संप्रति संख्याऽऽभासमाचष्टे—

प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमित्यादिसंख्यानं तस्य संख्याऽऽभासमिति ॥ ८५ ॥

प्रत्यक्षपरोक्षभेदाद्धि प्रमाणस्य द्वैविध्यमुक्तम्; तद्विपरीत्येन प्रत्यक्षमेव, प्रत्यक्षानुमाने एव, प्रत्यक्षानुमानागमा एव प्रमाणमित्यादिकं चार्वाकवैशेषिकसौगतसांख्यादितीर्थान्तरीयाणां संख्यानं, तस्य प्रमाणस्य संख्याऽऽभासम्। प्रमाणसंख्याभ्युपगमश्च परेषामितोऽवसेयः—

"चार्वाकोऽध्यक्षमेकं सुगतकणभुजौ सानुमानं सशाब्दं,
तद्द्वैतं पारमर्षः सहितमुपमया तत् त्रयं चाऽक्षपादः।
अर्थाऽऽपत्त्या प्रभाकृद्वदति च निखिलं मन्यते भट्ट एतत्,
साभावं द्वे प्रमाणे जिनपतिसमये स्पष्टतोऽस्पष्टतश्च ॥१॥"

अथ विषयाऽऽभासं प्रकाशयन्ति—

सामान्यमेव, विशेष एव, तद् द्वयं वा स्वतन्त्रमित्यादिस्तस्य विषयाऽऽभासः इति ॥ ८६ ॥

सामान्यमात्रं सत्ताद्वैतवादिनो, विशेषमात्रं सौगतस्य, तदुभयं च स्वतन्त्रं नैयायिकादेरित्यादिरेकान्तस्तस्य प्रमाणस्य विषयाऽऽभासः। आदिशब्दान्नित्यमेवाऽनित्यमेव तदुभयं वा परस्परनिरपेक्षमित्याद्येकान्तपरिग्रहः।

अथ फलाऽऽभासमाह—

अभिन्नमेव भिन्नमेव वा प्रमाणात्फलं तस्य तदाभासमिति ॥ ८७ ॥

अभिन्नमेव प्रमाणात्फलं बौद्धानां, भिन्नमेव नैयायिकादीनां, तस्य प्रमाणस्य तदाभासं फलाऽऽभासं; यथा फलस्य भेदाभेदैकान्तावकान्तावेव तथा सूत्रत एव प्रागुपपादितमिति। रत्ना० ६ परि०। (नयाऽऽभासस्वरूपभेदा बहवः, ते च 'णयाऽऽभास' शब्दे चतुर्थभागे दर्शयिष्यन्ते)

आभासिय-आभाषिक-पुं०। म्लेच्छजातिभेदे, प्रज्ञा० १ पद। प्रश्न०।

आभाषित-त्रि०। परस्परकथिते, नि० १ श्रु० ३ वर्ग ३ अ०।

आभासिय-आभाषि (सि) क-पुं०। आभाषि (सि) कद्वीपजे मनुष्ये, जी० ३ प्रति० ३ अधि० १ उ०। स्था०। अन्तरद्वीपिकमनुष्यभेदे च। टाप्। जी० २ प्रति०।

आभासियदीव-आभाषि (सि) कद्वीप-पुं०। अन्तरद्वीपभेदे, प्रज्ञा०। स च हिमवतः पर्वतस्य पर्यन्ताद्दारभ्य दक्षिणपूर्वस्यां दिशि त्रीणि योजनशतानि लवणसमुद्रमवगाह्य द्वितीयदंष्ट्राया उपरि एकोरुकद्वीपप्रमाण आभासिकनामा द्वीपो वर्तते। प्रज्ञा० १ पद। कर्म०। स्था०। नं०।

कहि णं भंते! दाहिणिल्लाणं आभासियमणुयाणं आभासियदीवे नामं दीवे पण्णत्ते?। सूत्र (१११×) जी० ३ प्रति० ३ अधि० १ उ०। ('अंतरदीव' शब्दे प्रथमभागे ६५ पृष्ठे संपूर्णं सूत्रं गतम्।)

आभासी-आभाषी-स्त्री०। आभाषि (सि) कद्वीपजे, मनुष्यस्त्रीभेदे, जी० ३ प्रति० ३ अधि० १ उ० ११२ सूत्र।

आभिओग-आभियोग्य-पुं०। आ-समन्ताद् युज्यन्ते-प्रेष्यकर्मणि व्यापार्यन्ते इत्याभियोग्याः। ध० ३ अधि० ८१ श्लोक। अभियोगं-व्यापारणमर्हन्तीत्याभियोग्याः। स्था० ४ ठा० ४ उ०। आ-समन्तात् आभिमुख्येन युज्यन्ते-प्रेष्यकर्मसु व्यापार्यन्त इत्याभियोग्या आभियोगिकाः। रा०। किंकरे, किंकरस्थानीये देवविशेषे च। स्था० ४ ठा०४ उ०। रा०। "आभियोगाणं देवाणं अंतिए एयमट्ठं सोच्चा" (सूत्र— +) रा०। अभिमुखं कर्मणि युज्यते-व्यापार्यते इत्याभियोग्यस्तस्य भावः कर्म वा आभियोग्यम्।" व्यञ्जनात् पञ्चमान्तस्थायाः सरूपे वा" ॥ १ । ३ । ४७ ॥ इत्येकयकारस्य लोपः। जी० ३ प्रति० ४ अधि० २ उ० १४७ सूत्रटी०। अभियोग आज्ञाप्रदानलक्षणोऽस्यास्तीत्याभियोगी तद्भावः आभियोग्यम्। दश० ६ अ० २ उ०। कर्मकरभावे, दश० ६ अ० २ उ० १० गाथा। कर्मकरकर्मणि च। जी० ३ प्रति० ४ अधि० २ उ० १४७ सूत्रटी०। 'आभिओगमुवट्ठिया'। आभियोग्यं कर्मकरभावमित्यर्थः, उपस्थिताः-प्राप्ताः। दश० ६ अ० २ उ० ५ गाथाटी०।

आभियोगता-आभियोग्यता-स्त्री०। अभियोगं-व्यापारणमर्हन्तीत्याभियोग्याः-किंकरदेवविशेषास्तद्भावस्तत्ता। किंकरस्थानीयदेवविशेषत्वे, स्था०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत्कारणं दर्शितं यथा--

चउहिं ठाणेहिं जीवा आभिओगत्ताए कम्मं पगरेंति । तं जहा-अणुक्कोसेणं, परपरिवाएणं, भूइकम्मेणं को-उयकरणेणं । (सूत्र-३४५ +)

अभियोगं-व्यापारणमर्हन्तीत्याभियोग्याः-किङ्करदेवविशेषास्तद्भावस्तत्ता तस्यै तया वेति आत्मोत्कर्षेण-आत्मगुणाभिमानेन, परपरिवादेन-परदोषपरिकीर्तनेन, भूतिकर्मणा-ज्वरितादीनां भूत्यादिभी रक्षादिकरणेन, कौतुककरणेन-सौभाग्यादिनिमित्तं; परस्नपनकादिकरणेनेति, इयमप्येवमन्यत्र-" कोउयभूइकम्मे, पसिणापसिणे निमित्तमाजीवी । इड्ढिरससायगरुओ, अभिओगं भावणं कुणइ " ॥ १ ॥ इति । स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

आभिओगपण्णत्ति-आभियोगप्रज्ञप्ति-स्त्री० । विद्याधरसम्बन्धिनि विद्याभेदे, " संकामणि(अ)आभिओगपण्णत्तिगमणीथंभणीसु य बहुसु विज्जाहरीसु विज्जासु विस्सुयजसे " (सूत्र-१२२) । ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० ।

आभियोगि (न्)-आभियोगिन्-पुं० । अभियोग-आज्ञाप्रदानलक्षणोऽस्यास्तीत्याभियोगी । कर्मकरे, दश० ६ अ० ।

आभिओगिय-आभियोगिक-पुं० । आभिमुख्येन योजनम्-अभियोगः प्रेष्यकर्मसु व्यापार्यमाणत्वम् । अभियोगेन जीवन्तीत्याभियोगिकाः, " वेतनादेर्जीवति " । इकण्प्रत्ययः । कर्मकरे, रा० । " आभिओगिएहिं " (सूत्र-१४ +) । आभियोगः-पारवश्यं प्रयोजनं येषां ते आभियोगिकाः । विपा० १ श्रु० २ अ० । अभियोगः प्रयोजनमस्येत्याभियोगिकम् । परतन्त्रताफले कर्मणि, पञ्चा० १२ विव० ७ गाथा । विद्यामन्त्रादौ च । " आभिओगेहि य आभिओगिता " (सूत्र-१४ ×) । अभियोगश्च द्वेधा । (स च ' अभिओग ' शब्दे प्रथमभागे विस्तरतः प्रतिपादितः) विपा० १ श्रु० २ अ० । पराभिभवहेतौ, चूर्णादिके च । " आभिओगिए या " (सूत्र-६६ ×) । ' आभिओगिए ' त्ति-पराभिभवहेतुरिति । ज्ञा० १ श्रु० १४ अ० । अभियोजनमभियोगः प्रेष्यकर्मणि व्यापार्यमाणत्वमिति भावः । अभियोगे नियुक्ता आभियोगिकाः । देवविशेषे, " आभिओगिए देवे सद्दावेति, आभिओगिए देवे सद्दावेत्ता एवं वयासी " (सूत्र-१४१ +) । आभियोगिकान् देवान् शब्दायन्ते-आकारयन्ति शब्दायित्वा च तानेवमवादिषुः । जी० ३ प्रति० ४ अधि० २ उ० । रा० ।

आभिओगिय-आभियोगित-त्रि० । वशीकरणयन्त्रमन्त्राभिसंस्कृते, आव० । " आभिओगिए गहिए " ॥ ७३ + ॥ आभियोगिते-वशीकरणाय मन्त्राभिसंस्कृते गृहीते सति । आव० ४ अ० ।

आभिओगियक्खय-आभियोगिकक्षय-पुं० । अभियोगः प्रयोजनमस्येत्याभियोगिकम्—परतन्त्रताफलं कर्म तस्य क्षयो-विनाश आभियोगिकक्षयः । परतन्त्रताफलकर्मणो विनाशे, पञ्चा० ।

एवं आणाराहण-जोगाओ आभियोगियक्खओ त्ति ॥ ७ × ॥

एवम्-उक्तविपर्ययेणेच्छाकारप्रयोगविधिना आज्ञाराधनयोगात्-आप्तोपदेशपालनसम्बन्धात् : पराभियोगपरमार्थात् अभियोगः प्रयोजनमस्येत्याभियोगिकं-परतन्त्रताफलं कर्म तस्य क्षयो-विनाश आभियोगिकक्षयो भवति । पञ्चा० १२ विव० ।

आभिओगियभावणा-आभियोगिकभावना-स्त्री० । आ-समन्तात् युज्यन्ते-प्रेष्यकर्मणि व्यापार्यन्ते इत्याभियोग्याः; किंकरस्थानीया देवविशेषाः, तेषामियमाभियोगिकी । ध० ३ अधि० ८१ श्लोक । सैव भावना-आभियोगिकभावना । भावनाभेदे, ग० । (अस्याः भावनायाः स्वरूपं ' भावणा ' शब्दे पञ्चमे भागे वक्ष्यते) ।

" मंता जोगं काउं, भूइकम्मं च जे पउंजंति ।
सायरसइड्ढिहेउं, अभिओगं भावणं कुणइ ॥ २ ॥ "

(अस्या व्याख्या)-मन्त्राणामायोगो-व्यापारो मन्त्रयोगस्तम्, यदि वा-मन्त्राश्च योगश्च तथाविधद्रव्यसंयोगः । सूत्रत्वान्मन्त्रयोगं तत् कृत्वा-विधाय, व्यापार्य वा, भूत्या-भस्मना उपलक्षणत्वान्मृदा सूत्रेण कर्मरक्षार्थं वसत्यादिपरिवेष्टनं भूतिकर्म यशब्दात्-कौतुकादि च यः प्रयुङ्क्ते किमर्थं सातं-सुखं रसा माधुर्यादयः ऋद्धिः-उपकरणादिसंपत् एते हेतवो यस्मिन् प्रयोजने तत्सातरसर्द्धिहेतुको भावः सातायर्थं मन्त्रयोगादि प्रयुङ्क्ते एवमाभियोगीं भावनां करोति, इह च सातादिहेतोरभिधानं निस्पृहस्याऽपवादत एतत् प्रयोगः प्रत्युत गुणः इति ख्यापनार्थम् । ग० २ अधि० ८२ गाथाटी० ।

(आभियोगिकीभावनाफलम्)—

एयाणि गारवऽट्ठा, कुणमाणो आभिओगियं बंधइ ।
बीयं गारवरहिओ, कुव्वं आराहगत्तं च ॥ ४८४ ॥

बृ० १ उ० २ प्रक० ।

(अस्याः गाथायाः व्याख्या ' अभिओगी ' शब्दे प्रथमभागे गता)

आभिग्गहिय-आभिग्रहिक-त्रि० । अभिगृह्यत इत्यभिग्रहः अभिग्रहेण निर्वृत्त आभिग्रहिकः-कायोत्सर्गस्तदव्यतिरेकात्तत्कर्त्ताप्याभिग्रहिकः । अभिग्रहनिर्वृत्ते कायोत्सर्गादौ, अभिग्रहनिर्वृत्तकायोत्सर्गादिकारिणि च । आव० । " उस्सासं न निरुंभइ, आभिग्गहिओ वि किमुय चिट्ठाओ " ॥ १५१०× ॥ ऊर्ध्वं प्रबलः श्वास उच्छ्वासः तं ' न निरुंभइ ' त्ति-न निरुणद्धि, ' आभिग्गहिओ वि ' अभिगृह्यत इत्यभिग्रहः अभिग्रहेण निर्वृत्त आभिग्रहिकः-कायोत्सर्गस्तदव्यतिरेकात्कर्त्ताप्याभिग्रहिको भण्यते, असावप्याऽभिग्रहिककायोत्सर्गकार्य्यपीत्यर्थः । ' किमुत चेट्ठाओ ' त्ति-किं पुनश्चेष्टा-कायोत्सर्गकारी न तु सुतरां न निरुणद्धीत्यर्थः । आव० ५ अ० । अभिग्रहः-चैत्यपूजनमकृत्वा मया न भोक्तव्यं न वा स्वप्तव्यमित्यादिरूपो नियमः-प्रयोजनमस्येत्याभिग्रहिकः । अभिग्रहप्रयोजनके च । पञ्चा० ४ विव० ८ गाथाटी० । जिनकल्पिकादौ, पुं० । आभिग्रहि-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को जिनकल्पिकादिः। सूत्र०१ श्रु०२ अ०२ उ०१४ गाथाटी० ।

आभिग्गहियकाल-आभिग्रहिककाल-पुं० । अभिग्रहश्चैत्यपूजनमकृत्वा मया न भोक्तव्यं; न वा स्वप्तव्यमित्यादिरूपो नियमः प्रयोजनमस्येत्याभिग्रहिकः स चासौ काल आभिग्रहिककालः । अभिग्रहप्रयोजनके काले, पञ्चा० ।

> तासिं अविरोहेणं, आभिग्गहिओ इहं मओ कालो ।
> तत्थावोच्छिण्णो जं, णियमं तक्करणभावो त्ति ॥ ८ ॥

पञ्चा० ४ विव० । (आभिग्रहिककालस्य व्याख्या 'चेइय' शब्दे तृतीयभागे करिष्यते ।)

आभिग्गहियमिच्छत्त-आभिग्रहिकमिथ्यात्व-न० । मिथ्यात्वभेदे, ध०। तत्राऽभिग्रहिकं पाषण्डिनां स्वशास्त्रनियन्त्रितविवेकालोकानां परपक्षप्रतिक्षेपदक्षाणां जैनानां च धर्माऽधर्मवादेन परीक्षापूर्वं तत्त्वमाकलय्य स्वाभ्युपगतार्थं श्रद्दधानानां परपक्षप्रतिक्षेपदक्षत्वेऽपि नाभिग्रहिकत्वम् , स्वशास्त्रनियन्त्रितत्वाद्विवेकालोकस्य । यस्तु नाम्ना जैनोऽपि स्वकुलाचारेणैवागमपरीक्षां बाधते , तस्याभिग्रहिकत्वमेव, सम्यग्दृशोऽपरीक्षितपक्षपातित्वायोगात् , तदुक्तं हारिभद्रसूरिभिः-" पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु । युक्तिमद्वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः ॥ १ ॥ " इति गीतार्थनिश्रितानां माषतुषादिकल्पानां तु प्रज्ञापाटवाभावाद्विवेकरहितानामपि गुरुपारतन्त्र्यान्न दोष इति भावः । तच्च नास्त्यात्मेत्यादिषड्विकल्पैः षड्विधम् । ध० २ अधि० २२ श्लोकटी० ।

आभिणिबोहियणाण-आभिनिबोधिकज्ञान-न० । अर्थाभिमुखोऽविपर्ययरूपत्वान्नियतोऽसंशयरूपत्वाद् बोधः -संवेदनमभिनिबोधः स एव स्वार्थिके कप्रत्ययोपादानादाभिनिबोधिकम् , ज्ञायतेऽनेनेति वा ज्ञानम् आभिनिबोधिकं च तज्ज्ञानं चेत्याभिनिबोधिकज्ञानम् ; इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तो बोध इति । ज्ञानभेदे, भ० ८ श० २ उ० ३१८ सूत्रटी० । स्था० ।

विषयसूचना—

(१) आभिनिबोधिकज्ञानशब्दव्युत्पत्तिः ।
(२) भेदाः आभिनिबोधिकज्ञानस्य
(३) अवग्रहेहावा5(प)यधारणानां स्वरूपम् ।
(४) अवग्रहप्ररूपणा ।
(५) अवग्रहादीनां क्रमोपन्यासे प्रयोजनम् ।
(६) अवग्रहस्य मल्लकदृष्टान्तेन प्ररूपणा ।
(७) अष्टाविंशति २८ विधमाभिनिबोधिकम् ।
(८) बहुतरभेदत्वं मतेः ।
(९) अवग्रहादीनां संशयादित्वव्यपोहः ।
(१०) आभिनिकधिकं चतुर्विधम्- द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतः ।
(११) अवग्रहादीनां कालमानम् ।
(१२) ईहादीनां संज्ञादीनां च आभिनिबोधिकत्वम् ।
(१३) सत्पदप्ररूपणतादिभिराभिनिबोधिकज्ञानस्य प्ररूपणम् ।

(१) आभिनिबोधिकज्ञानशब्दव्युत्पत्तिः—

अभि इति आभिमुख्ये, नीति नैयत्ये, ततश्चाभिमुखो वस्तुयोग्यदेशावस्थानापेक्षी नियत इन्द्रियमनःसमाश्रित्य स्वस्वविषयापेक्षी बोधनं बोधः अभिनिबोधः स एवाऽभिनिबोधिकम् । ("विनयादिभ्यः" ॥७।२।१६९॥ इति) विनयादेराकृगणत्वादिकण्प्रत्ययः, अभिनिबुध्यत इत्यभिनिबोध इति कर्त्तरि लिहादि (५ । १ । ५०) त्वात् अच् वा, यद्वा- अभिनिबुध्यते आत्मना स इत्यभिनिबोध इति कर्मणि घञ् , स एवाभिनिबोधिकमिति, तथैव आभिनिबोधिकं च तज्ज्ञानं चाभिनिबोधिकज्ञानम् । कर्म० १ कर्म० । अभिनिबोधे वा भवं तेन निर्वृत्तं तन्मयं वा तत्प्रयोजनं चेत्याभिनिबोधिकम् , अभिनिबुध्यते वा तत् कर्मभूतमित्याभिनिबोधिकम् , अवग्रहादिरूपं मतिज्ञानमेव, तस्य स्वसंविदितरूपत्वात् , भेदोपचारादित्यर्थः, अभिनिबुध्यते वा अनेनास्मादस्मिन्वेत्याभिनिबोधिकम् , तदावरणकर्मक्षयोपशम इति भावार्थः । आत्मैव वा अभिनिबोधोपयोगपरिणामानन्यत्वादभिनिबुध्यत इत्याभिनिबोधिकम् , तच्च तज्ज्ञानं चेत्याभिनिबोधिकज्ञानमिति । स्था० ५ ठा० ३ उ० ४६३ सूत्रटी० । अभिमुखम्-योग्यदेशावस्थितं नियतमर्थमिन्द्रियमनोद्वारेणात्मा येन परिणामविशेषेणावबुध्यते स परिणामविशेषो ज्ञानाऽपरपर्यायः आभिनिबोधिकम् । आ० म० १ अ० १ गाथाटी० । अर्थाभिमुखो नियतः-प्रतिनियतस्वरूपो बोधो—बोधविशेषोऽभिनिबोधः अभिनिबोध एवाऽऽभिनिबोधिकम् , अभिनिबोधशब्दस्य विनयादिपाठाभ्युपगमात् , 'विनयादिभ्य " ॥ ७ । २ । १६९ ॥ इत्यनेन स्वार्थे इकण् प्रत्ययः । " अतिवर्तन्ते स्वार्थे प्रत्ययकाः प्रकृतिलिङ्गवचनानि " इति वचनादत्र नपुंसकता, यथा विनय एव वैनयिकमित्यत्र, अथ वा-अभिनिबुध्यते अस्मादस्मिन्वेति अभिनिबोधः-तदावरणकर्मक्षयोपशमस्तेन निर्वृत्तमाभिनिबोधिकम् , तच्च तज्ज्ञानं चाऽऽभिनिबोधिकज्ञानम् , स च इन्द्रियमनोनिमित्तो योग्यप्रदेशावस्थितवस्तुविषयः स्फुटः प्रतिभासो बोधविशेष इत्यर्थः । प्रज्ञा० २९ पद ३१३ सूत्रटी० । अभीत्याभिमुख्ये, नीति नैयत्ये, ततश्चाभिमुखो-वस्तुयोग्यदेशावस्थानापेक्षी नियत-इन्द्रियाण्याश्रित्य स्वस्वविषयापेक्षी बोधोऽभिनिबोधः इति भावसाधनः, स्वार्थिकतद्धितोत्पादात्स एवाभिनिबोधिकम् , अभिनिबुध्यते आत्मना स इत्यभिनिबोध इति कर्मसाधनो वा, अभिनिबुध्यते वस्त्वसावित्यभिनिबोध इति कर्तृसाधनो वा, स एवाभिनिबोधिकमिति तथैव, आभिनिबोधिकं च तज्ज्ञानं चाभिनिबोधिकज्ञानम् ; इन्द्रियपञ्चकमनोनिमित्तो बोध इत्यर्थः । अनु० १ सूत्र ।

आभिनिबोधिकज्ञानशब्दार्थं दर्शयन्नाह—

> अत्थाभिमुहो नियओ, बोहो जो सो मओ अभिनिबोहो ।
> सो चेवाऽऽभिनिबोहिय-महव जहाजोगमाउज्जं ॥ ८० ॥

बोधनं बोधः ' ऋ ' गतौ, अर्यते-गम्यते; ज्ञायत इत्यर्थः, तस्याभिमुखस्तद्ग्रहणप्रवणः-अर्थबलायातत्वेन तज्ज्ञानान्तरीयकोद्भव-इत्यर्थः, अयमभिशब्दस्यार्थो दर्शितः, एवंभूतश्च बोधः क्षयोपशमापाटवे निश्चयात्मकोऽपि स्याद् ततो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नियतो-निश्चित इति निशब्देन विशिष्यते रसाद्यपोहेन रूपमेवेदम् इत्येवं धारणात्मक इत्यर्थः। उक्तं च-" एवमवग्रहोऽपि निश्चितमवगृह्णाति, कार्यत उपलब्धेः "। अन्यथावग्रहकार्यभूतोऽपायोऽपि निश्चयात्मको न स्यादिति भावः। आह-ननु नियतोऽर्थाभिमुख एव भवति ततो नियतत्वविशेषणमेवास्तु किमाभिमुख्यविशेषणेन ?। तदयुक्तं, द्विचन्द्रज्ञानस्य तैमिरिकं प्रति नियतत्वे सत्यप्यर्थाभिमुख्याभावादिति। एवं च सति-अर्थाभिमुखो नियतो यो बोधः स तीर्थकरगणधरादीनामभिनिबोधो मतः-अभिप्रेतः। ' सो चेवाभिणिबोहियमिति ' स एवा-आभिनिबोध एवाभिनिबोधिकं, विनयादिपाठादभिनिबोधशब्दस्य " विनयादिभ्यष्ठक् " (पा०—५। ४। ३४) इत्यनेन स्वार्थ एव ठक्प्रत्ययो; यथा विनय एव वैनयिकमिति। 'अहव जहाजोगमाउज्जं' ति-अथवा-नेह स्वार्थिकप्रत्ययो विधीयते, किंतु—यथायोगं-यथासंबन्धमायोजनीयम्; घटमानसंबन्धानुसारेण स्वयमेव वक्तव्यमित्यर्थः, तद्यथा-अर्थाभिमुखे नियते बोधे भवम् आभिनिबोधिकं, तेन वा निर्वृत्तं, तन्मयं वा, तत्प्रयोजनं वा, आभिनिबोधिकं तच्च तज्ज्ञानं च आभिनिबोधिकज्ञानम्। इति गाथार्थः।

तदेवमाभिनिबोधिकशब्दवाच्यं ज्ञानमुक्तम्। अथ वा-ज्ञानं क्षयोपशमः आत्मा वा तद्वाच्य इति दर्शयन्नाह—

तं तेण तओ तम्मि व, सो वाऽऽभिनिबुज्झए तओ वा तं ॥८१×॥

'तं' ति-आभिमुख्येन निश्चितत्वेन अवबुध्यते-संवेद्यते आत्मा तदित्यभिनिबोधः-अवग्रहादिज्ञानं, स एवाभिनिबोधिकम्, अथ वा-आत्मा तेन प्रस्तुतज्ञानेन, तदावरणक्षयोपशमेन वा करणभूतेन घटादिवस्त्वभिनिबुध्यते तस्माद् वा-प्रकृतज्ञानात्, क्षयोपशमाद् वा अभिनिबुध्यते; तस्मिन्वाऽधिकृतज्ञाने, क्षयोपशमे वा सत्यभिनिबुध्यते अवगच्छतीत्यभिनिबोधः-ज्ञानं क्षयोपशमो वा। ' सो वाऽभिणिबुज्झए ' त्ति-अथ वा-अभिनिबुध्यते-वस्तु-अवगच्छतीति अभिनिबोधः। असावात्मैव ज्ञानज्ञानिनोः कथंचिदव्यतिरेकादिति। स एवाभिनिबोधिकम् ' तओ वा तंमि'ति—न केवलं 'अत्थाभिमुहो नियओ' इत्यादिव्युत्पत्त्या आभिनिबोधिकमुक्तं; किन्तु यतः-'तं तेण तओ तंमि' इत्यादिव्युत्पत्त्यन्तरमस्ति, ततोऽपि कारणात्तदाभिनिबोधिकमुच्यत इत्यर्थः, नन्वात्मक्षयोपशमयोराभिनिबोधिकशब्दवाच्यत्वे ज्ञानेन सह कथं समानाधिकरणता स्यात् ?। सत्यं, किं तु ज्ञानस्यात्माश्रयत्वात् क्षयोपशमस्य च ज्ञानकारणत्वादुपचारतोऽत्रापि पक्षे आभिनिबोधिकशब्दो ज्ञाने वर्तते। ततश्चाभिनिबोधिकं च तज्ज्ञानं चाभिनिबोधिकज्ञानमिति समानाधिकरणसमासः इत्यदोषः। विशे०।

आभिनिबोधिकज्ञानस्य स्वरूपं परोक्षं ज्ञानमधिकृत्य—

पच्चक्खं परोक्खं वा, जं अत्थं ऊहिऊण निद्दिसइ।
तं होइ अभिणिबोहं, अभिमुहमत्थं न विवरीयं ॥२६॥

प्रत्यक्षम्-इन्द्रियविषयं परोक्षम्-इन्द्रियविषयातिक्रान्तम्, यदर्थमूहित्वा निर्दिशति-निर्णयपुरस्सरं ब्रूते एष एवंभूतोऽर्थ इति तदर्थं प्रति अभिमुखं-यथार्थविषयमाभिनिबोधिकं न विपरीतं नाऽनर्थाभिमुखं तस्य यथार्थतया मिथ्यारूपत्वात्, तच्च द्विधा-इन्द्रियनिश्रितम्, अनिन्द्रियनिश्रितं च। बृ० १ उ० १ प्रक०।

(२) आभिनिबोधिकज्ञानभेदाः—

जत्थ आभिणिबोहियणाणं तत्थ सुयनाणं, जत्थ सुअनाणं तत्थाऽऽभिणिबोहियणाणं, दो वि एयाइं अण्णमण्णमणुगयाइं, तह वि पुण इत्थ आयरिआ नाणत्तं पण्णवयंति-अभिबुज्झइ त्ति आभिणिबोहिअणाणं, सुणेइ त्ति सुअं। (सूत्र-२४×)

'यत्र' पुरुषे आभिनिबोधिकं ज्ञानं तत्रैव श्रुतज्ञानमपि, तथा यत्र श्रुतज्ञानं तत्रैवाभिनिबोधिकज्ञानम्। आह-यत्राभिनिबोधिकज्ञानं तत्र श्रुतज्ञानमित्युक्ते यत्र श्रुतज्ञानं तत्राभिनिबोधिकज्ञानमिति गम्यत एव, ततः किमनेनोक्तेनेति ?, उच्यते, नियमतो न गम्यते, ततो नियमावधारणार्थमेतदुच्यते इत्यदोषः, नियमावधारणमेव स्पष्टयति-द्वे अप्येते-आभिनिबोधिकश्रुते अन्योऽन्यानुगते-परस्परप्रतिबद्धे, स्यादेतद्-अनयोर्यदि परस्परमनुगमस्तर्हि अभेद एव प्राप्नोति कथं भेदेन व्यवहारः ?, तत आह-'तह वी' त्यादि, तथापि—परस्परमनुगमेऽपि पुनरत्र-आभिनिबोधिकश्रुतयोराचार्याः-पूर्वसूरयो नानात्वं-भेदं प्ररूपयन्ति, कथमिति चेत् ? उच्यते, लक्षणभेदात्, इष्टश्च परस्परमनुगतयोरपि लक्षणभेदाद्भेदो; यथैकाकाशस्थयोर्धर्मास्तिकायाऽधर्मास्तिकाययोः, तथाहि—धर्माऽधर्मास्तिकायौ परस्परं लोलीभावेनैकस्मिन्नाकाशदेशे व्यवस्थितौ, तथापि यो गतिपरिणामपरिणतयोर्जीवपुद्गलयोर्गत्युपष्टम्भहेतुर्जलमिव मत्स्यस्य स खलु धर्मास्तिकायो, यः पुनः स्थितिपरिणामपरिणतयोर्जीवपुद्गलयोरेव स्थित्युपष्टम्भहेतुः क्षितिरिव झषस्य स खलु अधर्मास्तिकाय इति लक्षणभेदाद्भेदो भवति, एवमाभिनिबोधिकश्रुतयोरपि लक्षणभेदाद्भेदो वेदितव्यः, लक्षणभेदमेव दर्शयति—'अभिनिबुज्झइ' त्यादि, अभिमुखं-योग्यदेशे व्यवस्थितं नियतमर्थमिन्द्रियमनोद्वारेण बुध्यते—परिच्छिनत्ति आत्मा येन परिणामविशेषेण स परिणामविशेषो ज्ञानाऽपरपर्याय आभिनिबोधिकं, तथा शृणोति-वाच्यवाचकभावपुरस्सरं श्रवणविषयेन शब्देन सह संस्पृष्टमर्थं परिच्छिनत्त्यात्मा येन परिणामविशेषेण स परिणामविशेषः श्रुतम्। नं०। (श्रुतज्ञानस्य सर्वा वक्तव्यता 'सुय' शब्दे सप्तमे भागे करिष्यते)

से किं तं आभिनिबोहियनाणं ?, आभिणिबोहियनाणं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा-सुयनिस्सियं च, असुयनिस्सियं च। (सूत्र-२६ +)

'से किं तं' इत्यादि, अथ किं तद् ? आभिनिबोधिकज्ञानं, सूरिराह-आभिनिबोधिकज्ञानं द्विविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा-श्रुतनिश्रितं च, अश्रुतनिश्रितं च। तत्र शास्त्रपरिकर्मितमतेरुत्पादकाले शास्त्रार्थपर्यालोचनमनपेक्ष्यैव यदुपजायते म-

१-" ठस्येकः "॥ इत्यनेन ठस्य इकाऽऽदेशः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तिज्ञानं तत् श्रुतनिश्रितम्-अवग्रहादि, यत्पुनः सर्वथा शास्त्रसंस्पर्शरहितस्य तथाविधक्षयोपशमभावत एवमेव यथाऽवस्थितवस्तुसंस्पर्शि मतिज्ञानम् उपजायते तत् अश्रुतनिश्रितम्-औत्पत्तिक्यादि, तथा चाह भाष्यकृत्-

" पुव्वं सुयपरिकम्मिय-मइस्स जं संपयं सुयाईयं ।
तं निस्सियमियरं पुण, अणिस्सियं मइचउक्कं तं ॥१६९॥"

(अस्या विशेषावश्यकभाष्यगाथाया विस्तरतो व्याख्या 'णाण' शब्दे चतुर्थभागे १९५६ पृष्ठे करिष्यते)

आह-औत्पत्तिक्यादिकमप्यवग्रहादिरूपमेव तत् कोऽनयोर्विशेषः, उच्यते-अवग्रहादिरूपमेव, परं शास्त्रानुसारमन्तरेणोत्पद्यते इति भेदेनोपन्यस्तम् । तत्राल्पतरवक्तव्यत्वात् प्रथममश्रुतनिश्रितमतिज्ञानप्रतिपादनायाह—

से किं तं असुयनिस्सियं ?, असुयनिस्सियं चउव्विहं पसत्तं, तं जहा–

" उप्पत्तिया, वेणइया, कम्मया, पारिणामिया ।
बुद्धी चउव्विहा वुत्ता, पंचमा नोवलब्भइ ॥ ५९ ॥"
(सूत्र० २६)

'से किं तं' इत्यादि-अथ किं तदश्रुतनिश्रितं ?, सूरिराह-अश्रुतनिश्रितं चतुर्विधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा-'उप्पत्तिया गाहा' । उत्पत्तिरेव न शास्त्राभ्यासकर्मपरिशीलनादिकं प्रयोजनं कारणं यस्याः सा औत्पत्तिकी, "तदस्य प्रयोजनम्" । इतीकण्, ननु सर्वस्याः बुद्धेः कारणं क्षयोपशमः तत्कथम् ?, उच्यते-उत्पत्तिरेव प्रयोजनमस्या इति ?, उच्यते-क्षयोपशमः सर्वबुद्धिसाधारणः, ततो नाऽसौ भेदेन प्रतिपत्तिनिबन्धनं भवति, अथ च बुद्ध्यन्तराद् भेदेन प्रतिपत्त्यर्थं व्यपदेशान्तरं कर्तुमारब्धं, तत्र व्यपदेशान्तरनिमित्तमत्र न किमपि विनयादिकं विद्यते, केवलमेवमेव तथोत्पत्तिरिति सैव साक्षान्निर्दिष्टा । तथा विनयो-गुरुशुश्रूषा सा प्रयोजनमस्या इति वैनयिकी, तथा अनाचार्यकं कर्म; साचार्यकं शिल्पम् । अथ वा-कादाचित्कं शिल्पं, सर्वकालिकं कर्म । कर्मणो जाता कर्मजा तथा परि-समन्तान्नमनं परिणामः-सुदीर्घकालपूर्वापरपर्यालोचनजन्य आत्मनो धर्मविशेषः स प्रयोजनमस्याः सा पारिणामिकी । बुध्यतेऽनयेति बुद्धिः, सा चतुर्विधा उक्ता तीर्थकरगणधरैः, किमिति ?, यस्मात्पञ्चमी केवलिनाऽपि नोपलभ्यते, सर्वस्याप्यश्रुतनिश्रितमतिविशेषस्यौत्पत्तिक्यादिबुद्धिचतुष्टय एवान्तर्भावात् । नं० । भ० । (औत्पत्तिकीबुद्धिविषयः सदृष्टान्तः 'उप्पत्तिया' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते) (वैनयिक्याः बुद्धेः सर्वं रहस्यं 'वेणइया' शब्दे षष्ठ भागे स्पष्टं भविष्यति) (कर्मजबुद्धेः सर्वो विषयः 'कम्मया' शब्दे तृतीयभागे कथयिष्यते) (पारिणामिक्याः बुद्धेः सदृष्टान्तो विषयः ४ भागे वक्ष्यते)

तथा च—

मइसुयनाणविसेसो, भणिओ तल्लक्खणाइभेएणं ।
पुव्वं आभिणिबोहिय-मुद्दिट्ठं तं परूविस्सं ॥ १७६ ॥

मतिश्रुतज्ञानयोर्विशेषो भेदो भणितः, केनेत्याह-तयोर्लक्षणादिभिर्भेदः, अथ वा-स चासौ अनन्तरोक्तो लक्षणादिभेदश्च तल्लक्षणादिभेदः तेन । सांप्रतं त्वाभिनिबोधिकज्ञानं प्ररूपयिष्ये-विस्तरतो व्याख्यास्यामि । शेषश्रुतादिपरिहारेण किमित्याभिनिबोधिकं प्रथमं प्ररूप्यते ? इत्याह-यस्माज्ज्ञानपञ्चके पूर्वमादौ तदुपदिष्टमुपन्यस्तं, तस्मात् "यथोद्देशं निर्देशः" इति कृत्वा तत् प्रथमं व्याख्यास्यामि । इति गाथार्थः ।

तस्यभेदपर्यायैश्च व्याख्या, तत्र तस्य लक्षणं तच्च प्रागेवोक्तम् । अथ तद्भेदनिरूपणार्थमाह—

इंदियमणोनिमित्तं, तं सुयनिस्सियमहेयरं च पुणो ।
तत्थेक्किकं च उभे-यमुग्गहोप्पत्तियाईयं ॥ १७७ ॥

इन्द्रियमनोनिमित्तं यत्प्रागुक्तमाभिनिबोधिकज्ञानं, तत् द्विभेदं भवति-श्रुतनिश्रितम्, इतरच्च-अश्रुतनिश्रितम् । 'अथ' शब्दो वाक्यालङ्कारार्थः । तत्र श्रुतं-संकेतकालभावी परोपदेशः, श्रुतग्रन्थश्च पूर्वं तेन परिकर्मितमतेर्व्यवहारकाले तदनपेक्षमेव यदुत्पद्यते तत् श्रुतनिश्रितं; यत्तु श्रुतापरिकर्मितमतेः सहजमुपजायते तदश्रुतनिश्रितम् । तत्र तयोः-श्रुतनिश्रिताऽश्रुतनिश्रितयोर्मध्ये एकैकं चतुर्विधं, कथम् ? इत्याह-यथासंख्यमवग्रहादिकं, औत्पत्तिक्यादिकं च-अवग्रहेहापायधारणाभेदात् श्रुतनिश्रितं चतुर्विधम्, औत्पत्तिकी, वैनयिकी, कर्मजा, पारिणामिकी, लक्षणबुद्धिभेदात्तु अश्रुतनिश्रितं चतुर्भेदमित्यर्थः । यद्यप्यौत्पत्तिक्यादिबुद्धिचतुष्टयेऽप्यवग्रहादयो विद्यन्ते तथाऽपि "पुव्वमदिट्ठमसुयमवेइयतक्खणविसुद्धगहियत्था" इत्यादिवक्ष्यमाणवचनात्परोपदेशाद्यनपेक्षत्वात्ते श्रुतनिश्रिता न भवन्ति शेषास्त्ववग्रहादयः पूर्वं श्रुतपरिकर्मणान्तरेण न संभवन्ति, ईहादिगताभिलापस्य परोपदेशाद्यन्तरेणाप्युपपत्तेः; इति ते श्रुतनिश्रिता उच्यन्ते । औत्पत्तिक्यादिषु त्वीहाद्यभिलापस्य तथाविधकर्मक्षयोपशमजत्वात् परोपदेशाद्यन्तरेणाप्युपपत्तेरिति भावः इति गाथार्थः ।

(२) तत्र श्रुतनिश्रितानवग्रहादींस्तावन्निर्युक्तिकारः प्राह—

उग्गहो ईह अवाओ, य धारणा एव होंति चत्तारि ।
आभिणिबोहियनाण-स्स भेयवत्थू समासेणं ॥१७८॥

रूपरसादिभेदैरनिर्देश्यस्याव्यक्तस्वरूपस्य सामान्यार्थस्यावग्रहणं परिच्छेदनमवग्रहः । तेनावगृहीतस्यार्थस्य भेदविचारणं वक्ष्यमाणगत्या विशेषान्वेषणमीहा, तया ईहितस्यैवार्थस्य व्यवसायस्तद्विशेषनिश्चयोऽपायः चशब्दोऽवग्रहादीनां पृथक् पृथक् स्वातन्त्र्यप्रदर्शनार्थः, तेनैतदुक्तं भवति-अवग्रहादेरीहादयः पर्याया न भवन्ति, पृथग्भेदवाचकत्वादिति । निश्चितस्यैव वस्तुनोऽविच्युत्यादिरूपेण धारणं धारणा । एवकारः क्रमद्योतनपरः, अवग्रहादीनामुपन्यासस्यायमेव क्रमो नान्यः अवगृहीतस्यैवेहनाद्, ईहितस्यैव निश्चयात् निश्चितस्यैव धारणादिति । एवमेतान्याभिनिबोधिकज्ञानस्य-४ चत्वार्येव भेदवस्तूनि समासेन—संक्षेपेण भवन्ति, विस्तरतस्त्वष्टाविंशत्यादिभेदभिन्नमिदं वक्ष्यत इति भावः । तत्र भिद्यन्ते परस्परमिति भेदाः-विशेषास्त एव वस्तूनि भेदवस्तूनीति समासः । इति गाथार्थः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अथ निर्युक्तिकार एवाऽवग्रहादीन् व्याख्यानयन्नाह—

अत्थाणं उग्गहणं, अवग्गहं तह वियालणं ईहं ।
ववसायं च अवायं, धरणं पुण धारणं विंति ॥ १७९ ॥

अर्थानाम्-रूपादीनां प्रथमं दर्शनानन्तरमेवावग्रहणमवग्रहं ब्रुवत इति संबन्धः । तथा विचारणं-पर्यालोचनम् अर्थानामिति वर्तते, ईहनमीहा तां ब्रुवते; इदमुक्तं भवति-अवग्रहादुत्तीर्णोऽपायात्पूर्वं सद्भूतार्थविशेषोपादानाभिमुखोऽसद्भूतार्थविशेषत्यागाभिमुखश्च प्रायः काकनिलयनादयः स्थाणुधर्मा अत्र घटन्ते, न तु शिरःकण्डूयनादयः पुरुषधर्मा इति मतिविशेष ईहेति । विशिष्टोऽवसायो व्यवसायः-निश्चयस्तं व्यवसायम्, अर्थानामितीहापि वर्तते, अवायम्-अपायं वा ब्रुवते; एतदुक्तं भवति-स्थाणुरेवायमित्यवधारणात्मकः प्रत्ययः-अवायः, अपायो वेति; चशब्द एवकारार्थः, व्यवसायमेव अवायम् अपायं वा ब्रुवत इत्यर्थः । धृतिर्धरणम्, 'अर्थानाम्' इति वर्तते, अपायेन विनिश्चितस्यैव वस्तुनोऽविच्युति-स्मृति-वासनारूपं धरणमेव धारणां ब्रुवत इत्यर्थः । पुनःशब्दस्यावधारणार्थत्वात् ब्रुवत इत्यनेन शास्त्रस्य पारतन्त्र्यमुक्तम्, इत्थं तीर्थकरगणधरा ब्रुवत इति । अन्ये त्वेवं पठन्ति-"अत्थाणं उग्गहणम्मि उग्गहो" इत्यादि, तत्र-अर्थानामवग्रहणे सत्यवग्रहो नाम मतिभेद इत्येवं ब्रुवते, एवमीहादिष्वपि योज्यम्; भावार्थस्तु पूर्ववदेव । अथ वा-प्राकृतशैल्यार्थवशाद् विभक्तिविपरिणाम इति सप्तमी द्वितीयार्थे द्रष्टव्या । इति गाथार्थः । विशे० । नं० ।

अथैतदेव अवग्रहादिस्वरूपं भाष्यकारो विवृण्वन्नाह—

सामन्नत्थावग्गह-णमुग्गहो भेयमग्गणमहेहा ।
तस्सावगमोवाओ, अविच्चुई धारणा तस्स ॥ १८० ॥

अन्तर्भूताशेषविशेषस्य केनाऽपि रूपेणानिर्देश्यस्य सामान्यार्थस्यैकसामयिकमवग्रहणं सामान्यार्थावग्रहणम्, अथ वा-सामान्येन-सामान्यरूपेणार्थस्यावग्रहणं सामान्यार्थाऽवग्रहणमवग्रहो वेदितव्यः। अथाऽनन्तरमीहा प्रवर्तते कथंभूतेऽयम् ? इत्याह-भेदमार्गणं-भेदाः-वस्तुनो धर्मास्तेषां मार्गणम्—अन्वेषणं विचारणं प्रायः काकनिलयनादयः स्थाणुधर्माः अत्र घटन्ते, न तु शिरःकण्डूयनादयः पुरुषधर्मा इत्येवं वस्तु धर्मविचारणमीहेत्यर्थः । तस्यैवेहया ईहितस्य वस्तुनस्तदनन्तरमवगमनमवगमः—स्थाणुरेवायमित्यादिरूपो निश्चयः अवायः अपायो वेति तस्यैव निश्चितस्य वस्तुनः अविच्युतिस्मृतिवासनारूपं धरणं धारणा सूत्रे अविच्युतेरुपलक्षणत्वात् । इति गाथार्थः ।

अत्र चावग्रहादारभ्य परैः सह विप्रतिपत्तयः सन्ति इत्यवग्रहविषयां तां तावन्निराकर्तुमाह—

सामन्नविसेसस्स वि, केई उग्गहणमुग्गहं बेंति ।
जं मइरिदंतयंति च, तं नो बहुदोसभावाओ ॥ १८१ ॥

सामान्यं चासौ विशेषश्च सामान्यविशेषः तस्यापि न केवलं सामान्यार्थस्य इत्यपिशब्दः, अवग्रहणम्-अवच्छेदनं केचन व्याख्यातारः अवग्रहं ब्रुवते, किं कारणम् ? इत्याह—

'जं मइरिदंतयं ति चे' ति यत्-यस्मात्कारणात् अमुतः शब्दादिलक्षणसामान्यविशेषग्राहकावग्रहादनन्तरम् इदं तदिति चेति विमर्शलक्षणा मतिरनुधावति; ईहा प्रवर्तत इत्यर्थः, यदनन्तरं चेहादिप्रवृत्तिः सोऽवग्रह एव, यथा व्यञ्जनावग्रहानन्तरभावी अव्यक्तानिर्देश्यसामान्यमात्रग्राही अवग्रहः, प्रवर्तते च शब्दादिसामान्यविशेषग्राहकावग्रहानन्तरमीहादिः, तस्मादवग्रह एवायं, तथाहि-दूराच्छङ्खादिसंबन्धिनि शब्दे सामान्यविशेषात्मके रूपादिभ्यो भिन्ने गृहीते प्रवर्तते एवायं विमर्शः-किमयं शाङ्खः, शार्ङ्गो, वा शब्दः ?। शार्ङ्गश्चेत् किं महिषीशृङ्गोद्भवो मेषशृङ्गजो वा?। महिषीशृङ्गसंभवश्चेत्, किं प्रसूतमहिषीशृङ्गसंभवः, अप्रसूतमहिषीशृङ्गसमुद्भूतो वा ?, इत्यादि, यतश्चानन्तरमित्थं विमर्शेनेहाप्रवृत्तिर्न भवति, अन्त्यप्राप्तेः, क्षयोपशमाभावाद्वा, स पुनरपायः ॥ तदेतत्परोक्तं दूषयितुमाह-"तं नो" इत्यादि, तदेतत्परोक्तं न । कुतः ? इत्याह-बहवश्च ते दोषाश्च तेषां भाव उपनिपातस्तस्मात्, एवं हि सर्वास्वप्यपायप्रवृत्तिर्न स्यात्, यथोक्तविमर्शप्रवृत्तेरनुच्छिन्नत्वात् । न च पूर्वमनीहिते प्रथमोऽपि शब्दनिश्चयो युक्तः, यतश्च पूर्वमीहा प्रवर्तते नाऽसौ अवग्रहः, किं त्वपाय एवेत्यादि सर्वं पुरस्ताद्वक्ष्यते । इति गाथार्थः ।

अन्ये त्वीहायां विप्रतिपद्यन्ते, तन्मतमुपन्यस्य दूषयन्नाह-

ईहासंशयमेत्तं, केई न तयं तओ जमन्नाणं ।
मइनाणंऽसा चेहा, कहमन्नाणं तई जुत्तं ? ॥ १८२ ॥

किमयं स्थाणुः, आहोस्वित्पुरुषः ? इत्यनिश्चयात्मकं संशयमात्रं यदुत्पद्यते तदीहेति केचित् प्रतिपद्यन्ते तदेतन्न घटते । कुतः ? इत्याह-यद्-यस्मात्कारणात् 'तओ' त्ति-असौ संशयः-अज्ञानम् । भवतु तर्ह्यज्ञानमपि ईहेति चेदित्याह-'मइत्यादि' मतिज्ञानांशश्च-मतिज्ञानभेदश्चेहा वर्तते । न च ज्ञानभेदस्याज्ञानरूपता युज्यते, एतदेवाह—'कहमि' त्यादि, कथम्-केन प्रकारेण ज्ञानं युक्तं न कथंचिदित्यर्थः । केयमित्याह-'तई' इति, असौ मतिज्ञानांशरूपा ईहा, संशयस्य वस्त्वप्रतिपत्तिरूपत्वेनाऽज्ञानात्मकत्वादीहायास्तु ज्ञानभेदत्वेन ज्ञानस्वभावत्वात्, ज्ञानाऽज्ञानयोश्च परस्परपरिहारेण स्थितत्वादज्ञानरूपस्य संशयस्य ज्ञानांशात्मकेहारूपत्वं युक्तमिति भावः । इति गाथार्थः ।

आह-ननु संशयेहयोः किं कश्चिद्विशेषोऽस्ति येनेहारूपत्वं संशयस्य निषिध्यते ? इत्याशङ्क्य तयोः स्वरूपभेदमुपदर्शयन्नाह—

जमणेगत्थालंबण-मपज्जुदासपरिकुंठियं चित्तं ।
सेय इव सव्वपयओ, तं संसयरूवमन्नाणं ॥ १८३ ॥
तं चिय सयत्थहेऊ-ववत्तिवावारतप्परममोहं ।
भूयाऽ-भूयविसेसा-याणच्चायाभिमुहमीहा ॥ १८४ ॥

यच्चित्तं—यन्मनः अनेकार्थालम्बनम्-अनेकार्थप्रतिभासालम्बितम्, अत एव पर्युदसनं पर्युदासो-निषेधो न तथा अपर्युदासोऽनिषेधस्तेन, तथा उपलक्षणत्वाद्विधिना च

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिकुण्ठितं-जडीभूतं सर्वथा अवस्तुनिश्चयरूपतामापन्नं, किं बहुना ? 'सेय इव' त्यादि, शेत इव-स्वपितीव सर्वात्मना न किंचित् चेतयते वस्त्वप्रतिपत्तिरूपत्वात् तदेवंविधं चित्तं-संशय उच्यते इत्यर्थः, तथाऽज्ञानं वस्त्ववबोधरहितत्वादिति । यत्पुनस्तदेव चेतो-वक्ष्यमाणस्वरूपं तदीहेति संबन्धः । कथंभूतं सद् ? इत्याह—'भूयाऽभूये' त्यादि, भूतः कश्चिद् विवक्षितप्रदेशे स्थाण्वादिरर्थः, अभूतस्तत्राविद्यमानः पुरुषादिस्तावेव पदार्थान्तरेभ्यो विशिष्यमाणत्वात् विशेषौ, तयोरादानत्यागाभिमुखं भूतार्थविशेषोपादानस्याभिमुखम्, अभूतार्थत्यागस्याभिमुखमिति यथासंख्येन संबन्धः । पुनः कथंभूतम् ? इत्याह-सदर्थहेतूपपत्तिव्यापारतत्परं हेतुद्वारेणेदं विशेषणं—सदर्थहेतूपपत्तिव्यापारतत्परत्वाद् भूताऽभूतविशेषादानत्यागाभिमुखमिति भावः. तत्र हेतुः—साध्यार्थगमकं युक्तिविशेषरूपं साधनम्, उपपत्तिः-संभवघटनं; विवक्षितार्थस्य संभवव्यवस्थापनम् । ततश्च हेतुश्चोपपत्तिश्च हेतूपपत्ती सदर्थस्य विवक्षितप्रदेशे अरण्यादौ विद्यमानस्य स्थाण्वादेरर्थस्य हेतूपपत्ती सदर्थहेतूपपत्ती तद्विषयो व्यापारो घटनं-चेष्टनं सदर्थहेतूपपत्तिव्यापारस्तत्र तत्परं तन्निष्ठमिति समासः । अत एव अमोघम्—अर्थबलायातत्वेन अविफलम्—अमिथ्यास्वरूपं, तदेवंभूतं चेतः ईहा इति संबन्धः कृत एव; इदमुक्तं भवति—केनचिदरण्यदेशं गतेन सवितुरस्तमयसमये ईषदवकाशमासादयति तमिस्रे दूरवर्ती स्थाणुरुपलब्धस्ततोऽस्य विमर्शः समुत्पन्नः-किमयं स्थाणुः, पुरुषो वा ? इति । अयं च संशयत्वात् अज्ञानम् । ततोऽनेन तस्मिन् स्थाणौ दृष्ट्वा वल्ल्यारोहणं, प्रविलोक्य काककारण्डवकादम्बकौञ्चकीरशकुन्तकुलनिलयनं, कृतश्चेतसि हेतुव्यापारः, यथा-स्थाणुरयं, वल्ल्युत्सर्पणकाकादिनिलयनोपलम्भात् । तथा संभवपर्यालोचनं च व्यधायि, तद्यथा-अस्ताचलान्तरिते सवितरि, प्रसरति चेषत्तमिस्रे महारण्येऽस्मिन् स्थाणुरयं संभाव्यते, न पुरुषः, शिरःकण्डूयनकरग्रीवाचलनादेस्तद्व्यवस्थापकहेतोरभावाद्; ईदृशे च प्रदेशेऽस्यां वेलायां प्रायस्तस्याऽसंभवात् । तस्मात् स्थाणुनाऽत्र सद्भूतेन भाव्यं, न पुरुषेण । तदुक्तम्-" अरण्यमेतत् सवितास्तमागतो, न चाधुना संभवतीह मानवः । प्रायस्तदेनेन खगादिभाजा, भाव्यं स्मरारातिसमाननाम्ना ॥ १ ॥ " एतच्चेदृशं चित्तं ईहा इत्युच्यते, निश्चयाभिमुखत्वेन संशयादुत्तीर्णत्वात्, सर्वथा निश्चयेऽपायत्वप्रसङ्गेन निश्चयादधोवर्तित्वाच्चेति संशयेहयोः प्रतिविशेषः । इति गाथाद्वयार्थः ।

अथापायधारणागतविप्रतिपत्तिनिराचिकीर्षया परमतमुपदर्शयन्नाह—

केई तयएणविसेसा-वणयणमेत्तं अवायमिच्छंति ।
सब्भूयत्थविसेसाऽ-वधारणं धारणं विंति ॥ १८५ ॥

तदनन्तरस्यानन्तरगाथोक्तो भूतोऽर्थः संबध्यते, तस्मात्तत्र भूतात् विद्यमानात् स्थाण्वादेर्योऽन्यः तत्प्रतियोगी तत्राविद्यमानः पुरुषादिस्तद्विशेषाः शिरःकण्डूयनचलनस्पन्दनादयः तेषां पुरोवर्तिनि सद्भूतेऽर्थेऽपनयनं—निषेधनं तदन्यविशेषापनयनं तदेव तन्मात्रम्, अपायमिच्छन्ति, केचनापि व्याख्यातारः अपायनम्-अपनयनम् अपाय इति व्युत्पत्त्यर्थविभ्रमितमनस्का इति भावः । अवधारणं धारणा इति च व्युत्पत्त्यर्थभ्रमितास्ते धारणां ब्रुवते । किं तत् ?, इत्याह-सद्भूतार्थविशेषावधारणं सद्भूतस्तत्र विवक्षितप्रदेशे विद्यमानः स्थाण्वादिरर्थविशेषस्तस्य स्थाणुरेवायम् इत्यवधारणं सद्भूतार्थविशेषावधारणमिति समासः । इति गाथार्थः ।

तदेतद्दूषयितुमाह—

कासइ तयभवइरे-गमेत्तओऽवगमणं भवे भूए ।
सब्भूयसमण्णयओ, तदुभयओ कासइ न दोसो ॥१८६॥

'भूए' त्ति-तत्र विवक्षितप्रदेशे भूते विद्यमानेऽर्थे स्थाण्वादौ 'कासइ' त्ति-कस्यचित् प्रतिपत्तुस्तदन्यव्यतिरेकमात्रादवगमनं-निश्चयो भवति-तस्मात्स्थाण्वादेर्योऽन्यः पुरुषादिरर्थस्तस्य व्यतिरेकः स एव च तदन्यव्यतिरेकमात्रं तस्मात्स्थाण्वाद्यर्थनिश्चयो भवतीत्यर्थः; तद्यथा-यतो नेह शिरःकण्डूयनादयः पुरुषधर्मा दृश्यन्ते; ततः स्थाणुरेवायमिति । कस्यापि सद्भूतसमन्वयतः सद्भूतस्तत्र प्रदेशे विद्यमानः स्थाण्वादिरर्थस्तस्य समन्वयतः-अन्वयधर्मघटनात् भूतेऽर्थेऽवगमनं निश्चयो भवेत्, यथा स्थाणुरेवायं वल्ल्युत्सर्पणवयोनिलयनादिधर्माणामिहान्वयादिति । कस्यचित्पुनस्तदुभयाद्-अन्वयव्यतिरेकोभयात् तत्र भूतेऽर्थेऽवगमनं भवेत्; तद्यथा-यस्मात्पुरुषधर्माः शिरःकण्डूयनादयोऽत्र न दृश्यन्ते, वल्ल्युत्सर्पणादयस्तु स्थाणुधर्माः समीक्ष्यन्ते, तस्मात् स्थाणुरेवायमिति । न चैवमन्वयात् व्यतिरेकात्, उभयाद्वा निश्चये जायमाने कश्चिद् दोषः, परव्याख्याने तु वक्ष्यमाणन्यायेन दोष इति भावः । इति गाथार्थः ।

कथं पुनस्तद्व्याख्याने न दोषः ? इत्याह—

सव्वो वि य सोऽवाओ, भेए वा होंति पंच वत्थूणि ।
आहेवं चिय चउहा, मई तिहा अन्नहा होइ ॥ १८७ ॥

यस्माद् व्यतिरेकाद्, अन्वयाद्, उभयाद्वा भूतार्थविशेषावधारणं कुर्वतो योऽध्यवसायः स सर्वोऽप्यपायः-प्रस्तुतस्थाण्वादिवस्तुनिश्चयः, नतु सद्भूतार्थविशेषावधारणं धारणेति भावः. तस्मान्न दोषः ॥ आह ननु यथा मया व्याख्यायते—सद्भूतार्थविशेषाऽवधारणं धारणा, तथा किं कश्चिद्दोषः समुपजायते, येनाऽस्मीयव्याख्यानपक्ष इदमित्थमभिधीयते न दोष इति ? । एतदाशङ्क्याह—'भेए वा' इत्यादि, वाशब्दः पातनार्थः गतार्थः, व्यतिरेकः-अपायः, अन्वयस्तु धारणा, इत्येवं मतिज्ञानतृतीयभेदस्यापायस्य भेदेऽभ्युपगम्यमाने पञ्च वस्तूनि—पञ्च भेदा भवन्ति; आभिनिबोधिकज्ञानस्येति गम्यते; तथा हि—अवग्रहेहाऽपायधारणालक्षणाश्चत्वारो भेदास्तावत् त्वयैव पूरिताः, पञ्चमस्तु भेदः स्मृतिलक्षणः प्राप्नोति—अविच्युतेः स्वसमानकालभाविन्यपायेऽन्तर्भूतत्वाद्, वासनायास्तु स्मृत्यन्तर्गतत्वेन विवक्षितत्वात् स्मृतेरनन्यशरणत्वान्मतेः पञ्चमो भेदः प्रसज्यत इति भावः ॥ 'आहे' त्यादि, पुनरप्याह परः-ननु यथैव मया व्या-

Jain Education International — For Private & Personal Use Only — www.jainelibrary.org

व्यपगते व्यतिरेकमुखेन निश्चयोऽपायः, अन्वयमुखेन तु धारणा इत्येवमेव चतुर्धा-चतुर्विधा मतिर्भवति—युक्तितो घटते। अन्यथा तु-व्याख्यायमाने-अन्वय-व्यतिरेकयोर्द्वयो-रप्यपायत्वेऽभ्युपगम्यमाने इत्यर्थः। किम् ?, इत्याह-त्रिधा-अवग्रह-हापायभेदतस्त्रिभेदा मतिर्भवति, न पुनश्चतुर्धा, धारणाया अघटमानकत्वादिति भावः। इति गाथार्थः।

कथं पुनर्धारणाभावः ?, इत्याह—

काऽणुवओगम्मि धिई, पुणोवओगे य सा जओऽवाओ।
तो नऽत्थि धिई मग्गइ, इदं तदेवेति जा बुद्धी ॥ १८८ ॥

नणु साऽवायब्भहिया, जओ य सा वासणाविसेसाओ।
जा य अवायाणन्तर-मविच्चुई सा धिई नाम ॥१८९॥

अनुपयोगे-उपयोगोपरमे सति का धृतिः-का नाम धारणा ?; न काचिदित्यर्थः। इदमुक्तं भवति—इह तावन्नि-श्चयोऽपायमुखेन घटादिके वस्तुनि अवग्रहेहापायरूपतया-ऽन्तर्मुहूर्तप्रमाण एवोपयोगो जायते। तत्र चापाये जाते। या उपयोगसातत्यलक्षणा अविच्युतिर्भवताऽभ्युपगम्यते, सा अपाय एवाऽन्तर्भूता। इति न ततो व्यतिरिक्ता। या तु तस्मिन् घटाद्युपयोगे उपरते सति संख्येयमसंख्येयं कालं वासनाऽभ्युपगम्यते, 'इदं तदेव' इति लक्षणा स्मृति-श्चाङ्गीक्रियते, सा मत्यंशरूपा धारणा न भवति, मत्युप-योगस्य प्रागेवोपरतत्वात्। पुनरपि कालान्तरोपयोगे धारणा भविष्यतीति चेत्, इत्याह-'पुणो' इत्यादि, काला-ऽन्तरे पुनर्जायमानोपयोगेऽपि या ऽन्वयमुखोपजायमाना-वधारणरूपा धारणा मयेष्यते, सा यतोऽपाय एव भवता-भ्युपगम्यते। 'सव्वो वि य सोऽवाओ' इत्यादिवचनात्, ततस्तथापि नाऽस्ति धृतिर्धारणा, पुनरप्युपयोगोपरमेऽपि पूर्वोक्तयुक्त्यैव तदभावः, तस्मादुपयोगकालेऽन्वयमुखाव-धारणरूपाया धारणायास्त्वयाऽनभ्युपगमात् उपयोगोपरमे च मत्युपयोगाभावात्, तदंशरूपाया धारणाया अघट-मानकत्वात्त्रिधैव भवदभिप्रायेण मतिः प्राप्नोति, न चतु-र्धा, इति पूर्वपक्षाभिप्रायः।

अत्रोत्तरमाह—'भण्णइ' त्यादि, भण्यतेऽत्र प्रतिवि-धानम्। किम् ?, इत्याह—'इदं वस्तु तदेव यत् प्रागुपलब्धं मया' इत्येवंभूता कालान्तरे या स्मृतिरूपा बुद्धिरुपजायते नन्विह सा पूर्वप्रवृत्तापायावधिरवायादभ्यधिकैव, पूर्वप्रवृत्ता-ऽपायकाले तस्या अभावात् सांप्रतापायस्य तु वस्तुनिश्च-यमात्रफलत्वेन पूर्वापरदर्शनानुसंधानायोगात्। ततश्च सा-ऽन्यरूपत्वात् धृतिर्धारणा नामेति पर्यन्ते संबन्धः। यतश्च यस्माच्च वासनाविशेषात्-पूर्वोपलब्धवस्त्वाहितसं-स्कारलक्षणात्, तद्विज्ञानावरणक्षयोपशमसान्निध्यादित्यर्थः, सा इदं तदेवेति लक्षणा स्मृतिर्भवति। साऽपि वासनाऽ-पायादभ्यधिकेतिकृत्वा धृतिर्नाम इतीहापि संबन्धः। 'जा याऽवाय' इत्यादि, या च अपायादनन्तरमविच्युतिः प्रव-र्तते साऽपि धृतिर्नाम। इदमुक्तं भवति-यस्मिन् समये 'स्थाणुरेवाय' मित्यादिनिश्चयस्वरूपोऽपायः प्रवृत्तः, ततः समयादूर्ध्वमपि 'स्थाणुरेवाऽयं, स्थाणुरेवायमि' त्यवि-च्युता याऽन्तर्मुहूर्तं कवचिदपायप्रवृत्तिः साऽप्यपायाऽवि-च्युतिः प्रथमप्रवृत्ताऽपायादभ्यधिकेति धृतिर्धारणा नामे-ति। एवमविच्युतिवासनास्मृतिरूपा धारणा त्रिधा सिद्धा भवति ॥

अत्राह कश्चित्-नन्वविच्युति-स्मृतिलक्षणौ ज्ञानभेदौ गृही-तग्राहित्वान्न प्रमाणं, द्वितीयादिवाराप्रवृत्तापायसाध्यस्य वस्तुनिश्चयलक्षणस्य कार्यस्य प्रथमवाराप्रवृत्तापायेनैव साधितत्वात्। न च सिद्धसिद्धिकर्ये कर्मणि तत्साध-नायैव प्रवर्तमानं साधनं शोभां बिभर्ति, अतिप्रसङ्गात्-कुठारादिभिः कृतच्छेदनादिक्रियेष्वपि वृक्षादिषु पुनस्त-त्साधनाय तेषां प्रवृत्त्यापत्तेः। स्मृतेरपि पूर्वोत्तरकालभावि-ज्ञानद्वयगृहीत एव वस्तुनि प्रवर्तमानतया कुतः प्रामाण्यं, न च वक्तव्यं पूर्वोत्तरदर्शनद्वयानधिगतस्य वस्त्वेकत्वस्य ग्रहणात् स्मृतिः प्रमाणं, पूर्वोत्तरकालदृष्टस्य वस्तुनः का-लादिभेदेन भिन्नत्वाद्, एकत्वस्यैवासिद्धत्वादिति। वा-सना तु किं रूपा ? इति वाच्यम्। संस्काररूपेति चेत्। कोऽयं नाम संस्कारः ?, स्मृतिज्ञानावरणक्षयोपशमो वा, तज्ज्ञानजननशक्तिर्वा, तद्वस्तुविकल्पो वा ? इति त्रयी गतिः। तत्राद्यपक्षद्वयमयुक्तम्, ज्ञानरूपत्वाभावात् तद्भेदानां चेह विचार्यत्वेन प्रस्तुतत्वात्। तृतीयपक्षोऽप्ययुक्त एव सं-ख्येयमसंख्येयं वा कालं वासनाया इष्टत्वात् एतावन्तं च कालं तद्वस्तुविकल्पायोगात्, तदेवमविच्युतिस्मृतिवास-नारूपायास्त्रिविधाया अपि धारणाया अघटमानत्वात्, त्रिधैव मतिः प्राप्नोति, न चतुर्धा ॥

अत्रोच्यते-यत्तावद् गृहीतग्राहित्वादविच्युतेरप्रामाण्यमु-च्यते, तदयुक्तम्, गृहीतग्राहित्वलक्षणस्य हेतोरसिद्धत्वात्, अन्यकालविशिष्टं हि वस्तु प्रथमप्रवृत्तापायेन गृह्यते, अपरकालविशिष्टं च द्वितीयादिवाराप्रवृत्तापायेन। किं च-स्पष्ट-स्पष्टतर—स्पष्टतमभिन्नधर्मकवासनाजनकत्वादन्यावि-च्युतिप्रवृत्तद्वितीयाद्यपायविषयं वस्तु भिन्नधर्मकमेवेति कथमविच्युतेर्गृहीतग्राहिता ?। स्मृतिरपि पूर्वोत्तरदर्शन-द्वयानधिगतं वस्त्वेकत्वं गृह्णाना न गृहीतग्राहिणी। न च वक्तव्यं कालादिभेदेन भिन्नत्वात् वस्तुनो नैकत्वं, काला-दिभिर्भिन्नत्वेऽपि सत्त्व-प्रमेयत्वसंस्थानरूपादिभिरेकत्वात्। वासनाऽपि स्मृतिविज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमरूपा तद्विज्ञा-नजननशक्तिरूपा चेष्यते। सा च यद्यपि स्वयं ज्ञान-स्वरूपा न भवति, तथापि पूर्वप्रवृत्ताविच्युतिलक्षणज्ञान-कार्यत्वाद्, उत्तरकालभाविस्मृतिरूपज्ञानकारणत्वाच्चोप-चारतो ज्ञानरूपाऽभ्युपगम्यते। तद्वस्तुविकल्पपक्षस्त्वनभ्यु-पगमादेव निरस्तः तस्मादविच्युतिस्मृतिवासनारूपाया धा-रणायाः स्थितत्वात् न मतेस्त्रैविध्यं, किं तु चतुर्धा सेति स्थितम्। इति गाथाद्वयार्थः।

अथैतां स्वाभिमतां धारणां व्यवस्थाप्य परं प्रत्याह—

तं इच्छंतस्स तुहं सत्थुग्गि य पंच मेच्छमाणस्स।
किं होउ सा अभावो, भावो नाणं व तं कयरं ? ॥१९०॥

अस्मदभिमतामनन्तरप्रतिष्ठितस्वरूपां तां धारणामिच्छ-तस्तव पञ्च वस्तूनि-पञ्चाभिनिबोधिकज्ञानभेदाः प्राप्नुवन्ति, अपायस्यैकस्यापि भेदद्वयरूपताभ्युपगमेन भेदचतुष्टयस्य त्वयाऽपि पूरितत्वात्, पञ्चमस्य तु मदुक्तस्य धारणालक्ष-

णस्य प्रसङ्गादिति भावः । अथाऽस्मदभ्युपगता धारणा त्वया नेष्यते, " तर्हि ' नेच्छमाणस्स किं होउ ' इत्यादि, तां मदभ्युपगतां धारणामनिच्छतोऽप्रतिपद्यमानस्य तव सा मदभ्युपगता धारणा किं भवतु अभावः अवस्तु, आहोस्विद्भावो, वस्तु ? इति विकल्पद्वयम् । किं चातः ?, न तावदभावः भावत्वेनानुभूयमानत्वात् । न च तथानुभूयमानस्याभावत्वमाधातुं शक्यते, अतिप्रसङ्गात्-घटादिष्वपि तथात्वप्राप्तेः; तेऽपि ह्यनुभववशेनैव भावरूपा व्यवस्थाप्यन्ते । यदि च-अनुभवोऽप्यप्रमाणं, तदा घटादिष्वपि भावरूपतायामनाश्वास इति भावः । अथ भावोऽसौ, तर्हि वक्तव्यं-ज्ञानम् , अज्ञानं वा ?, न तावदज्ञानं, चिद्रूपतयाऽनुभूयमानत्वात् । अथ ज्ञानं तदपि मतिश्रुतावधिमनःपर्यायकेवलेभ्यो ज्ञानान्तरस्याभावात्तेषां मध्ये कतमत् ? इति वाच्यम् । न तावत् श्रुतादिचतुष्टयरूपम् , अनभ्युपगमात् , तल्लक्षणाऽयोगाच्च मतिज्ञानं चेत् , तदपि नावग्रहेहापायरूपं, तल्लक्षणाऽसंभवात् ' नणु सावायब्भहिया ' इत्यादि, नाऽपायाभ्यधिकत्वेन साधितत्वाच्च । तस्मादन्वयव्यतिरेकाभ्यां निश्चयः सर्वोऽप्यपायः, अविच्युतिस्मृतिवासनारूपा तु पारिशेष्यद्वारेणैवेति स्थितम् । इति गाथार्थः ।

तदेवं निरुत्तरीकृतोऽप्यविलक्षिततयाऽन्येन प्रकारेणाह-

तुज्झं बहुयरभेया, भणइ मई होइ धिइबहुत्ताओ ।
भण्णइ न जाइ भेओ, इट्ठो मज्झं जहा तुज्झं ॥१६१॥

अत्र प्रेरको भणति । किम् ?, इत्याह-' तुज्झमि ' त्यादि, इत्थमाचार्य ! तव बहुतरभेदा मतिर्भवति । कुतः ? इत्याह-धृतेर्धारणाया बहुत्वात् ; बहुभेदत्वादित्यर्थः, धारणाया एकस्या अप्यविच्युतिवासनास्मृतिलक्षणभेदत्रययुक्तत्वादवग्रहेहाऽपायैः सह षड्भेदा मतिः प्राप्नोतीति भावः । अत्र प्रतिविधानमाह—' भण्णइ ' इत्यादि, भण्यतेऽत्रोत्तरम्-जातेर्भेदो जातिभेदः; व्यक्तिपक्ष इत्यर्थः । स इह धारणाविचारे मम नेष्टो-नाभिप्रेतः । किं तु धारणा सामान्यरूपा जातिरेव ममाभिप्रेता । कस्य यथा ?, इत्याह-यथा तवाऽवग्रहविषये इति शेषः । इदमुक्तं भवति—यथाऽवग्रहो व्यञ्जनार्थावग्रहभेदादुभयरूपोऽवग्रहसामान्यादेकस्तवाऽ-भीष्टः, अन्यथा मतेः पञ्चविधत्वप्रसङ्गात् तथा त्रिरूपाऽपि धारणा तत्सामान्यादेकरूपैव; इति चतुर्विधैव मतिर्न बहुतरभेदा । इति गाथार्थः ।

एतदेव भावयन्नाह—

सा भिन्नलक्खणा वि हु, धिइसामण्णेण धारणा होइ ।
जह उग्गहो दुरूवो, उग्गहसामण्णओ एक्को ॥ १६२ ॥

सा धारणा, अविच्युति-वासना-स्मृतीनां भिन्नस्वरूपत्वेन भिन्नलक्षणाऽपि सती धारणा सामान्याव्यतिरेकादेकैव भवति; यथाऽवग्रहो व्यञ्जनार्थावग्रहभेदात् द्विरूपोऽप्यवग्रहसामान्याव्यतिरेकादेकः परस्याऽपि सिद्धेः, अन्यथा मतेः पञ्चविधत्वापत्तेः । इति गाथार्थः ।

तदेवमवग्रहादिभेदचतुष्टयविषया निराकृताः सर्वा अपि परोक्तप्रतिपत्तयस्तन्निराकरणप्रक्रमे चानन्तरमवग्रहो द्विरूपः प्रोक्तः स च कथं द्विरूपो भवति इत्याशङ्क्य तद्द्विरूपताकथनव्याजेन पूर्वं यान्याभिनिबोधिकज्ञानस्याऽवग्रहादीनि चत्वारि भेदवस्तून्युक्तानि , तेष्वेव मध्येऽवग्रहं तावत् , विशे० । ('उग्गह' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते)

तत्र व्यञ्जनं तावत्किमुच्यते ? इत्यादि—

वंजिज्जइ जेणऽत्थो, घडो व्व दीवेण वंजणं तं च ।
उवगरणिंदियसद्दा-इपरिणयदव्वसंबंधो ॥ १६४ ॥

व्यज्यते प्रकटीक्रियतेऽर्थो येन दीपेनेव घटस्तत् व्यञ्जनं, किं पुनस्तदित्याह—' तं चे ' त्यादि । तच्च व्यञ्जनम् उपकरणेन्द्रियशब्दादिपरिणतद्रव्यसंबन्धः । इन्द्रियं द्विविधम्-द्रव्येन्द्रियम् , भावेन्द्रियं च । विशे०(अत्र विस्तरः 'इंदिय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते) तत्र निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियं, लब्ध्यु-पयोगौ भावेन्द्रियं, निर्वृत्तिश्च द्विधा—अङ्गुलासंख्येयभागादिमाना कदम्बकुसुमगोलकधान्यमसूरकातिमुक्तकक्षुरप्राकारमांसगोलकरूपा, शरीराकारा च । श्रोत्रादीन्द्रियाणां पञ्चानामपि यथासंख्यमन्तर्निर्वृत्तिः; कर्णशष्कुलिकादिरूपा तु बहिर्निर्वृत्तिः । तत्र कदम्बकुसुमगोलकाकारमांसखण्डादिरूपाया अन्तर्निर्वृत्तेः शब्दादिविषयपरिच्छेदहेतुर्यः शक्तिविशेषः स उपकरणेन्द्रियं, शब्दादिश्च श्रोत्रादीन्द्रियाणां विषयः, आदिशब्दाद्-रसगन्धस्पर्शपरिग्रहः, तद्भावेन परिणतानि च तानि भाषावर्गणादिसंबन्धीनि द्रव्याणि च शब्दादिपरिणतद्रव्याणि, उपकरणेन्द्रियं च शब्दादिपरिणतद्रव्याणि च तेषां परस्परं संबन्धः उपकरणेन्द्रियशब्दादिपरिणतद्रव्यसंबन्धः; एष तावद् व्यञ्जनमुच्यते । अपरं च—इन्द्रियेणाऽप्यर्थस्य व्यज्यमानत्वात्तदपि व्यञ्जनमुच्यते । तथा शब्दादिपरिणतद्रव्यनिकुरम्बमपि व्यज्यमानत्वाद् व्यञ्जनमभिधीयते, इति । एवमुपलक्षणव्याख्यानात् त्रितयमपि यथोक्तं व्यञ्जनमवगन्तव्यम् ततश्चेन्द्रियलक्षणेन व्यञ्जनेन शब्दादिपरिणतद्रव्यसंबन्धस्वरूपस्य व्यञ्जनस्याऽवग्रहो व्यञ्जनावग्रहः, अथ वा-तेनैव व्यञ्जनेन शब्दादिपरिणतद्रव्यात्मकानां व्यञ्जनानामवग्रहो व्यञ्जनावग्रहः, इत्युभयत्राऽप्येकस्य व्यञ्जनशब्दस्य लोपं कृत्वा समासः । इति गाथार्थः ।

अत्राऽऽक्षेपं, परिहारं चाभिधित्सुराह—

अण्णाणं सो बहिरा-ईणं व तक्कालमणुवलंभाउ ।
न तदंते तत्तो च्चिय, उवलंभाओ तओ नाणं ॥१६५॥

स व्यञ्जनावग्रहोऽज्ञानं, ज्ञानं न भवति, तस्य उपकरणेन्द्रियशब्दादिपरिणतद्रव्यसंबन्धस्य कालस्तत्कालस्तस्मिन् ज्ञानस्यानुपलम्भात् स्वसंवेदनेनासंवेद्यमानत्वाद् ; बधिरादीनामिव-यथा हि बधिरादीनामुपकरणेन्द्रियस्य शब्दादिविषयद्रव्यैः सह संबन्धकालेन किमपि ज्ञानमनुभूयते, अननुभूयमानत्वाच्च तथाऽस्ति तथेहापीति भावः । अत्रोत्तरमाह—' न तदंते ' इत्यादि, नाऽसौ जडरूपतया ज्ञानरूपेणाननुभूयमानत्वादज्ञानं, किं तर्हि स कोऽसौ व्यञ्जनावग्रहो-ज्ञानमेव । कुतः ?, तदन्ते—तस्य-व्यञ्जनावग्रहस्यान्ते तत एव ज्ञानात्मकस्याऽर्थावग्रहोपलम्भस्य भावात् , तथाहि-यस्य ज्ञानस्याऽन्ते तज्ज्ञेयवस्तूपादानात्तत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एव ज्ञानमुपजायते, तज्ज्ञानं दृष्टं, यथार्थावग्रहपर्यन्ते तज्ज्ञेयवस्तूपादानत ईहासद्भावादर्थावग्रहो ज्ञानं, जायते च व्यञ्जनावग्रहस्य पर्यन्ते तज्ज्ञेयवस्तूपादानात्तत एवार्थाऽवग्रहज्ञानं,तस्माद् व्यञ्जनावग्रहो ज्ञानम् । इति गाथार्थः।

तदेवं व्यञ्जनावग्रहे यद्यपि ज्ञानं नाऽनुभूयते, तथाऽपि ज्ञानकारणत्वादसौ ज्ञानम् , इत्येवं व्यञ्जनावग्रहे ज्ञानाऽभावमभ्युपगम्योक्तम् । सांप्रतं ज्ञानाऽभावोऽपि तत्राऽसिद्ध एवेति दर्शयन्नाह—

तक्कालम्मि वि नाणं, तत्थऽत्थि तणुंति तो तमव्वत्तं ।
बहिराईणं पुण सो, अण्णाणं तदुभया भावा ॥ १९६ ॥

तत्कालेऽपि-तस्य व्यञ्जनसंबन्धस्य कालेऽपि तत्रानुपहतेन्द्रियसंबन्धिनि व्यञ्जनावग्रहे ज्ञानमस्ति, केवलमेकतेजोऽवयवप्रकाशवत् तनु अतीवाल्पमिति; अतोऽव्यक्तं स्वसंवेदनेनापि न व्यज्यते । यद्यव्यक्तं, कथं तदस्तीति ज्ञायते ? इति चेत् । मा त्वरिष्ठाः, " जइ विएणाणमसंखे-ज्जसमइसद्दाइदव्वसब्भावे " इत्यादिनाऽनन्तरमेव तदस्तित्वयुक्तेर्वक्ष्यमाणत्वात् दृष्टान्ते तु ज्ञानाऽभावे अविप्रतिपत्तिरिति दर्शयन्नाह—बधिराऽऽदीनाम् , आदिशब्दादनुपहतघ्राणादीन्द्रियाणां पुनः स व्यञ्जनावग्रहोऽज्ञानं-ज्ञानं न भवतीत्यत्राऽविप्रतिपत्तिरेव । कुतः ?, इत्याह—तच्च तदुभयं च तदुभयं तस्याभावात्-ज्ञानकारणत्वाभावात् अव्यक्तस्यापि च ज्ञानस्याभावात् । इति गाथार्थः ।

अथ पुनरप्याक्षेपं, परिहारं चाऽभिधित्सुराह—

कहमव्वत्तं नाणं, व सुत्तमत्ताइसुहमबोहो व्व ।
सुत्तादओ सयं वि य, विण्णाणं नाऽवबुज्झंति ॥१९७॥

परः साऽसूयमाह-ननु कथं ज्ञानम् 'अव्यक्तं च' इत्युच्यते ? तमःप्रकाशाद्यभिधानवद्विरुद्धत्वान्नेदं वक्तुं युज्यत इति भावः । अत्रोत्तरमनन्तरमेवोक्तम्-एकतेजोऽवयवप्रकाशवत्सूक्ष्मत्वादव्यक्तम् । अथ पुनरप्युच्यते-सुप्तमत्तमूर्च्छितादीनां सूक्ष्मबोधवदव्यक्तं ज्ञानमुच्यत इति न दोषः । सुप्तादीनां तदात्मीयज्ञानं स्वसंविदितं भविष्यतीति चेत् न एव देवमित्याह-सुप्तादयः स्वयमपि तदात्मीयविज्ञानं नाऽवबुध्यन्ते-न संवेदयन्ति अतिसूक्ष्मत्वात् । इति गाथार्थः ।

आह-यदि तैरपि सुप्तादिभिस्तदात्मीयज्ञानं न संवेद्यते,
तर्हि तत्तेषामस्तीत्येतत्कथं लक्ष्यते ?, इत्याह—

लक्खिज्जइ तं सिमिणा-यमाणवयणदाणाइचेट्ठाहिं ।
जं नाऽमइपुव्वाओ, विज्जंते वयणचेट्ठाओ ॥ १९८॥

तत्सुप्तादीनां ज्ञानमस्तित्वेन लक्ष्यते । कुतः ?, स्वप्नायमानवचनदानादिचेष्टाभ्यः, सुप्तादयोऽपि हि स्वप्नायमानाद्यवस्थायां केचित्किमपि भाषमाणा दृश्यन्ते, शब्दिताश्चावधतो वाचं प्रयच्छन्ति, संकोचविकोचाङ्गभङ्गजृम्भितकूजितकण्डूयनादिचेष्टाश्च कुर्वन्ति, न च तास्ते तदा वेदयन्ते । नापि च प्रबुद्धाः स्मरन्ति, तर्हि कथं तच्चेष्टाभ्यस्तेषां ज्ञानमस्तीति लक्ष्यते ?, इत्याह-' जमि ' त्यादि, यत्-यस्मात्कारणाद् नाऽमतिपूर्वास्ता वचनादिचेष्टा विद्यन्ते, किं तु मतिपूर्विका एव, अन्यथा काष्ठादीनामपि तत्प्रसङ्गात् ; अतस्ताभ्यस्तत्तेषामस्तीति लक्ष्यत एव धूमादग्निरिव । इति गाथार्थः ।

आह-ननु आत्मीयमपि चेष्टितं किं कश्चिच्च जानाति येन सुप्तादीनां स्वचेष्टितासंवेदनमुच्यते ?, इत्याशङ्क्याह—

जग्गंतो वि न जाणइ, छउमत्थो हिययगोचरं सव्वं ।
जं तज्झवसाणाइं, जमसंखिज्जाइँ दिवसेणं ॥ १९९ ॥

हृदयम्-मनोगोचरस्थानं यस्य तत् हृदयगोचरम् अध्यवसायनिकुरम्बम् इति गम्यते, तज्जाग्रदपि छद्मस्थः सर्वम्-अपरिशेषं न जानाति-न संवेदयते, आस्तां तावत्पुनः सुप्तः-कुत ?, इत्याह-अध्यवसानानि-अध्यवसायस्थानरूपाणि केवलिगम्यानि सूक्ष्माणि । यत् एकेनाप्यन्तर्मुहूर्तेनासंख्येयानि यान्ति-अतिक्रामन्ति, किं पुनः सर्वेणापि दिवसेन ? । न चैतानि छद्मस्थः सर्वाण्यपि संवेदयते । ततश्च यथैतानि छद्मस्थैरसंवेद्यमानान्यपि केवलिदृष्टत्वात्सत्त्वेनाभ्युपगम्यन्ते, तथा व्यञ्जनावग्रहज्ञानमपि । इति गाथार्थः ।

आह—ननु सुप्तादीनां ज्ञानं वचनादिचेष्टाभ्यो गम्यत इत्युक्तं तत्तावदभ्युपगच्छामः, व्यञ्जनावग्रहे तु ज्ञानरूपतागमकं लिङ्गं न किंचिदुपलभामहे, अतो अज्ञरूपत्वान्नाऽसौ ज्ञानमिति ब्रूमः, इत्याशङ्क्याह—

जइ व ऽण्णाणमसंखे-ज्जसमइसद्दाइदव्वसब्भावे ।
किह चरमसमयसद्दा-इदव्वविण्णाणसामत्थं ॥२००॥

वाशब्दः पातनासूचकः, सा च कृतैव । ततश्च हन्त ! यदि-अज्ञानं व्यञ्जनावग्रहः क्व सति ?, इत्याह-असंख्येयसमयशब्दादिद्रव्यसद्भावेऽपि सति, इत्यपिशब्दो गम्यते । कथं तर्हि चरमसमयशब्दादिद्रव्याणां विज्ञानजननसामर्थ्यं ?, न कथंचिदित्यर्थः । इदमुक्तं भवति-व्यञ्जनावग्रहे तावत्प्रतिसमयमसंख्येयान् समयान् यावच्छ्रोत्रादीन्द्रियैः सह शब्दादिविषयद्रव्याणि संबध्यन्ते । ततश्च यद्यसंख्येयसमयान् यावच्छ्रोत्रादीन्द्रियैः सह शब्दादिविषयद्रव्यसंबन्धसद्भावेऽपि सति व्यञ्जनावग्रहरूपं ज्ञानं नाऽभ्युपगम्यते, कथंतर्हि चरमसमये श्रोत्रादीन्द्रियैः सह संबद्धानां शब्दादिविषयद्रव्याणां परेणाऽप्यर्थावग्रहलक्षणविज्ञानजननसामर्थ्यमिष्यते ?, तदभ्युपगन्तुं न युज्यते इति भावः । यदि हि शब्दादिविषयद्रव्याणां श्रोत्रादीन्द्रियैः सह संबन्धे आदिसमयादेवारभ्य ज्ञानमात्रा काचित्प्रतिसमयमाविर्भवन्ती नाऽभ्युपगम्यते, तर्हि चरमसमयेऽप्येकस्मादेवैषा न युज्यते, तथा च सत्यर्थावग्रहादिज्ञानानामप्यनुदयप्रसङ्गः । इति गाथार्थः ।

तथाहि—

जं सव्वहा न वीसुं, सव्वेसु वि तन्न रेणुतिल्लं व ।
पत्तेयमणिच्छंतो, कहमिच्छसि समुदये नाणं ॥२०१॥

यद्वस्तु सर्वथा-सर्वप्रकारैर्विष्वक्-पृथक् नाऽस्ति तत् समुदायेऽपि नाभ्युपगन्तव्यं, यथा रेणुकणनिकरे प्रतिरेणुक(ण)मविद्यमानं तैलम् , एवं चेत्तर्हि त्वमपि प्रत्येकमनिच्छन् कथं समुदाये ज्ञानमिच्छसि ? । इदमुक्तं भवति-यदीन्द्रिय-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषयसंबन्धस्य प्रथमसमयादारभ्य व्यञ्जनावग्रहसंबन्धिनो ऽसंख्येयान् समयान् यावत्प्रतिसमयं पुष्टिमाबिभ्रतीं ज्ञानमात्रां काञ्चिदपि नेच्छसि तर्हि चरमसमयशब्दादिविषयद्रव्यसंबन्धेन संपूर्णे समुदायेऽपि कथं तामिच्छसि ?- चरमसमयशब्दादिविषयद्रव्यसंबन्धे यदर्थावग्रहज्ञानमभ्युपगम्येत, तदपि प्रत्येकमसत्त्वरमसिकताकण तैलवन्न प्राप्नोतीति भावः । तस्मात्तिलेषु तैलवत्सर्वेष्वपि समयेषु प्रत्येकं स्तोकं स्तोकं ज्ञानमस्तीति प्रतिपत्तव्यम् । इति गाथार्थः ।

किं च—

समुदाये जइ णाणं, देसूणे समुदए कहं नऽत्थि ।
समुदाये वाऽभूयं, कह देसे होज्ज तं सयलं ॥ २०२ ॥

समुदायज्ञानवादिन् ! यदि विषयद्रव्यसंबन्धसमयानामसंख्येयानां समुदाये ज्ञानमर्थावग्रहलक्षणमभ्युपगम्यते । तर्हि चरमसमयलक्षणो योऽसौ देशस्तेन न्यूने समुदाये- चरमैकसमयोनेष्वसंख्यातेषु समयेष्वित्यर्थः, तत्कथं नास्ति ?, समस्त्येव, प्रमाणोपपन्नत्वात् ?, तथाहि-सर्वेष्वपि शब्दादिद्रव्यसंबन्धसमयेषु ज्ञानमस्तीति प्रतिज्ञा- भीमेहे, ज्ञानोपकारिशब्दादिद्रव्यसंबन्धसमयसमुदायैकदेशत्वादिति हेतुः, अर्थावग्रहसमयवदिति दृष्टान्तः । अत्राह- ननु शब्दादिविषयोपादानसमयसमुदाये ज्ञाने केनाभ्युपगम्यते, येन समुदायैकदेशत्वात्प्रथमादिसमयेषु सर्वेष्वपि तत् प्रतिज्ञायते । मया ह्येकस्मिन्नेव चरमसमये शब्दादिद्रव्योपादाने ज्ञानप्रसव इष्यते, इत्याशङ्कयाह-'समुदाये वाऽभूयमि' त्यादि. चशब्दो वाशब्दो वा पातनायां. सा च कृतैव । तत्र यद्येकस्मिन्नेव चरमसमये ज्ञानमभ्युपगम्यते । तदाऽसौ सर्वसमयसमुदायापेक्षया तावदेकदेश एव । ततश्चाऽनेनैकदेशेनोने शेषसमयसमुदाये यदभूतं ज्ञानं तत्कथं हन्त चरमसमयलक्षणे देशे अकस्मादेव सकलमखण्डं भवेद् अप्रमाणोपपन्नत्वात्, तथाहि-नैकस्मिन्नवरमशब्दादिद्रव्योपादानसमये ज्ञानमुपजायते, एकसमयमात्रशब्दादिद्रव्योपादानात्, व्यञ्जनावग्रहाद्यसमयवदिति । स्यादेतत् , चरमसमयेऽर्थावग्रहज्ञानमनुभवप्रत्यक्षेणाऽप्यनुभूयते, ततः प्रत्यक्षविरोधिनीयं प्रतिज्ञा । तदयुक्तम् , चरमसमय एव समग्रं ज्ञानमुत्पद्यते इति भवत्प्रतिज्ञातस्यैव प्रत्यक्षविरोधात्, असमतन्तौ समस्तपटोत्पादवचनवत् । तथा, सर्वेष्वपि शब्दादिद्रव्यसंबन्धसमयेषु ज्ञानमस्तीत्यादिपूर्वोक्तानुमानविरोधश्च भवत्पक्षस्य । इति गाथार्थः ।

तस्मात्किमिह स्थितम् ?, इत्याह—

तंतू पडोवगारी, न समत्तपडो य समुदिया ते उ ।
सव्वे सम्मत्तपडओ, तह नाणं सव्वसमयेसु ॥२०३॥

यथा एकस्तन्तुः पटोपकारी वर्तते, तमन्तरेणापि समग्रस्य तस्याऽभावात् न चासौ तन्तुरेकाकी समस्तः पटो भवति, पटैकदेशत्वात् तस्य, समुदिताः पुनस्ते तन्तवः सर्वे समस्तपटव्यपदेशभाजो भवन्ति ?। तथाऽत्रापि सर्वेष्वपि समुदितेषु समयेषु ज्ञानं भवति, नैकस्मिन्नवरमसमये । ततश्चार्थावग्रहसमयात् पूर्वसमयेषु तदेव ज्ञानमतीवास्फुटं व्यञ्जनावग्रह उच्यते ? । चरमसमये तु तदेव किञ्चित् स्फुटतरावस्थामापन्नमर्थावग्रहः इति व्यपदिश्यते । अतो यद्यपि सुप्तमत्तमूर्च्छितादिज्ञानस्येव व्यक्तं तथाविधं व्यञ्जनावग्रहज्ञानसाधकं लिङ्गं नास्ति तथाऽपि यथोक्तयुक्तितो व्यञ्जनावग्रहे सिद्धं ज्ञानम् । इति गाथार्थः ।

तत्त्वभेदपर्यायैर्व्याख्या, तत्र तत्त्वं व्यञ्जनावग्रहस्य स्वरूपमुक्तम् । अथ तस्य भेदान्निरूपयितुमाह—

नयणमणोवज्जिंदिय-भेआओ वंजणोग्गहो चउहा ।
(२०४+)

स च व्यञ्जनावग्रहश्चतुर्धा भवति । कुतः ?, इत्याह— नयनमनोवर्जेन्द्रियभेदात् । इदमुक्तं भवति-विषयस्य इन्द्रियस्य च यः परस्परं संबन्धः-प्रथममुपश्लेषमात्रं; तद्- व्यञ्जनावग्रहस्य विषयः । स च विषयेण सहोपश्लेषः प्राप्यकारिष्वेव स्पर्शन-रसनघ्राण-श्रोत्रलक्षणेषु चतुर्ष्विन्द्रियेषु भवति, न तु नयनमनसोः । अतस्ते वर्जयित्वा शेषस्पर्शनादीन्द्रियचतुष्टयभेदात् चतुर्विध एव व्यञ्जनावग्रहो भवति । विशे० । (भेदान् ' इंदिय ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यामि) ('मण' शब्दे च षष्ठे भागे) (व्यवस्थितम् अप्राप्यकारित्वं नयनमनसोः) ततश्च-स्पर्शन-रसन घ्राण- श्रोत्रभेदात् चतुर्विध एव व्यञ्जनावग्रहः । विशे० ।

(४) अवग्रहप्ररूपणामाह । प्रतिबोधक-मल्लक-दृष्टान्ताभ्याञ्च प्ररूपणां सहोपात्तत्वात्प्ररूपणया सहैव व्युत्क्रमेणाह—

तत्थोग्गहो दुभेओ, उग्गहं जं होइ वंजणऽत्थाणं ।
वंजणओ य जमत्थो, तेणाईए तयं वोच्छं ॥ १९३॥

(अस्या गाथाया व्याख्या ' उग्गह ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते) इत्यादिना ग्रन्थेन प्रतिज्ञातव्यञ्जनावग्रहस्वरूपप्रतिपादनं चेह प्रकृतम् । तस्य च व्यञ्जनावग्रहस्य स्वरूपं नन्द्यध्ययनागमसूत्रे प्रतिबोधकमल्लकोदाहरणाभ्यां प्रतिपादितम् , तद्यथा—

" वंजणुग्गहस्स परूवणं करिस्सामि पडिबोहगदिट्ठंतेणं, मल्लगदिट्ठंतेण य । से किं तं पडिबोहगदिट्ठंतेणं ? पडिबोहगदिट्ठंतेणं से-जहानामए केइ पुरिसे कंचि पुरिसं सुत्तं पडिबोहिज्जा अमुग ! अमुग ! त्ति । तत्थ चोयगे पण्णवग एवं वयासी-किं एगसमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति, दुसमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति ०जाव दससमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति, संखिज्जसमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति असंखिज्जसमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति ?, एवं वदन्तं चोयगं पण्णवए एवं वयासी-नो एगसमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति, नो दुसमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति ०जाव नो दससमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति नो संखिज्जसमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति, असंखिज्जसमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति, से (तं) तं पडिबोहगदिट्ठंतेणं ॥

से किं तं मल्लगदिट्ठंतेणं ? मल्लगदिट्ठंतेणं से जहानामए केइ आवागसीसाओ मल्लगं गहाय तत्थेगं उदगबिंदुं पक्खि-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भिज्जा, से नट्ठे। अण्णे वि पक्खित्ते, सेऽवि नट्ठे । अण्णे वि पक्खित्ते, से वि नट्ठे । एवं पक्खिप्पमाणेसु पक्खिप्पमाणेसु होही से उदगबिंदू जे णं तं मल्लगं रावेहिति। होही से उदगबिंदू जे णं तंसि मल्लगंसि ठाहिति । होही से उदगबिंदू जे णं तं मल्लगं भरेहिति। होही से उदगबिन्दू जे णं तंसि मल्लगंसि न ठाहिहिति। होही से उदगबिंदू जे णं तं मल्लगं पवाहेहिति एवामेव पक्खिप्पमाणेहिं २ अणन्तेहिं पुग्गलेहिं जाहे तं वंजणं पूरियं होइ ताहे हुंति करेइ, नो चेव णं जाणइ के वि एस सद्दाइ" (सूत्र-३५+) इत्यादि।

इदं च सूत्रं नन्दिविवरणे एवेत्थं व्याख्यातम्, तद्यथा-प्रतिबोधकमल्लकदृष्टान्ताभ्यां व्यञ्जनावग्रहस्य प्ररूपणं करिष्यामि । तत्र प्रतिबोधयतीति प्रतिबोधकः स एव दृष्टान्तस्तेन, तद्यथानाम कश्चिद्-अनिर्दिष्टस्वरूपः पुरुषः कञ्चिद्-अन्यम् अनिर्दिष्टस्वरूपमेव पुरुषं सुप्तं सन्तं प्रतिबोधयेत् । कथमित्याह—अमुक ! अमुक ! इति। तत्र प्रेरकः प्रज्ञापकमेवमवादीत्-किमेकसमयप्रविष्टा इत्यादि । एवं वदन्तं प्रेरकं प्रज्ञापक एवमुक्तवान्-नो एकसमयप्रविष्टा इत्यादि, प्रकटार्थं, यावदसंख्येयसमयप्रविष्टाः पुद्गला ग्रहणमागच्छन्ति । नवरमयं प्रतिषेधः शब्दविज्ञानग्राह्यतामधिकृत्य वेदितव्यः; शब्दविज्ञानजनकत्वेनेत्यर्थः, अन्यथा संबन्धमात्रमधिकृत्य प्रथमसमयादारभ्य पुद्गला ग्रहणमागच्छन्त्येव । 'असंखेज्ज' इत्यादि प्रतिसमयप्रवेशनादित आरभ्यासंख्येयसमयैः प्रविष्टाः असंख्येयसमयप्रविष्टाः पुद्गलाः-शब्दद्रव्यविशेषा ग्रहणमागच्छन्ति-अर्थावग्रहज्ञानहेतवो भवन्तीति भावः । इह च चरमसमयप्रविष्टा एव विज्ञानजनकत्वेन ग्रहणमागच्छन्ति, तदन्ये त्विन्द्रियक्षयोपशमोपकारिण इति सर्वेषां सामान्येन ग्रहणमुक्तम्। सेयं प्रतिबोधकदृष्टान्तेन व्यञ्जनावग्रहप्ररूपणा इति वाक्यशेषः॥ अथ कथं मल्लकदृष्टान्तेन प्ररूपणा ? । तद्यथानाम कश्चित्पुरुषः आपाकशिरसो मल्लकं-शरावं गृहीत्वा रूक्षमिदं भवतीत्यस्य ग्रहणम्। तत्र मल्लके एकमुदकबिन्दुं प्रक्षिपेत्स नष्टः तत्रैव तद्भावपरिणतिमापन्न इत्यर्थः। शेषं सुबोधम् 'जाव जे णं तं मल्लगं' 'रावेहिति' आर्द्रतां नेष्यति । शेषं सुबोधम् । नवरम् 'पवाहेहिति' प्रावयिष्यतीति। 'एवामेव' त्यादि, अति बहुत्वात्प्रतिसमयमनन्तैः शब्दपुद्गलैः यदा तद्व्यञ्जनं पूरितं भवति, तदा 'हुम्' इति करोति तमर्थं गृह्णातीत्युक्तं भवति। किं विशिष्टं नाम-जात्यादिकल्पनारहितम्, अत एवाह-' नो चेव णं जाणइ के वेस सद्दाइ त्ति ' न पुनरेवं जानाति क एष शब्दादिः इत्यर्थः । एवं च सति सामयिकत्वादर्थावग्रहस्य अर्थावग्रहात्पूर्वं सर्वो व्यञ्जनाऽवग्रहः ७ तदेवमस्य व्यञ्जनाऽवग्रहस्वरूपप्रतिपादकस्य नन्दिसूत्रस्य शेषं प्रायः सुगममिति मन्यमानो भाष्यकारः "जाहे तं वंजणं पूरियं होइ " इत्येतत् (नन्दिसूत्रांशं) व्याचिख्यासुराह—

तोएण मल्लगं पिव, वंजणमापूरियं ति जं भणियं ।
तं दव्वमिंदियं वा, तस्संजोगो व न विरुद्धं ॥ २५० ॥

'जं भणियं' यदुक्तं नन्दिसूत्रकारेण किं तद् ?, इत्याह-व्यञ्जनमापूरितमिति। केन किंवत् ?, इत्याह। तोयेन-जलेन मल्लकं-शरावं तद्वदिति । तस्मिन् सूत्रकारभणिते व्यञ्जने द्रव्यं गृह्यते, इन्द्रियं वा, तयोर्वा द्रव्येन्द्रिययोः संयोगासंबन्ध इति सर्वथाऽप्यविरोधः । इदमुक्तं भवति-व्यञ्जनशब्देन शब्दादिविषयपरिणतपुद्गलसमूहरूपं द्रव्यं श्रोत्रादीन्द्रियं वा द्रव्येन्द्रिययोः संबन्धो वा गृह्यते, न कश्चिद्विरोधः, व्यज्यते-प्रकटीक्रियते विवक्षितोऽर्थोऽनेनेति व्यञ्जनमित्यस्या व्युत्पत्तेः सर्वत्र घटनादिति गाथार्थः ।

केवलं द्रव्यादिषु त्रिष्वपि व्यञ्जनशब्दवाच्येषु प्रत्येकमापूरितत्वे विशेषो द्रष्टव्यः कः पुनरसौ ? इत्याह—

दव्वं माणं पूरिय-मिंदियमापूरियं तहा दोण्हं ।
अवरोप्परसंसग्गो, जया तया गिण्हइ तमत्थं ॥२५१॥

'दव्वं' ति-यदा द्रव्यं व्यञ्जनमधिक्रियते तदा 'जाहे तं वंजणं पूरियं होइ' इति-कोऽर्थः ? इत्याह-'माणं पूरियं' ति-मानम् तस्य शब्दादिद्रव्यस्य प्रमाणं प्रतिसमयप्रवेशेन प्रभूतिकृतत्वात्स्वप्रमाणमानीतं-प्रकर्षमुपनीतं स्वग्राहकज्ञानजनने समर्थीकृतमिति यावत् । यदा त्विन्द्रियमिति इन्द्रियं व्यञ्जनमधिक्रियते तदा ' जाहे तं वंजणं पूरियं होइ ' इति-किमुक्तं भवति ?, इत्याह-'आपूरियं' ति-आपूरितं-व्याप्तं--भृतं—वासितमित्यर्थः। तथा-' दोण्हं ति '—द्वयोः श्रोत्रादीन्द्रियशब्दादिपरिणतद्रव्ययोः संबन्धो यदि व्यञ्जनमधिक्रियते तदा ' जाहे तं वंजणं पूरियं होइ ' इति-किमुक्तं भवति ?, इत्याह-' अवरोप्परं संसग्गो ' त्ति-सम्यग् सर्गो-योगः संसर्गः, सम्यक् संबन्ध इत्यर्थः, इदमत्र हृदयम्—अस्मिन्पक्षे यदा तयोरिन्द्रियद्रव्ययोः परस्परमतीव संयुक्तता—अनुषक्तता अङ्गाङ्गिभावेन परिणामो भवति, तदा प्रस्तुतसंबन्धलक्षणं व्यञ्जनमापूरितं भवतीत्युच्यत इति । 'जया तया गिण्हइ तमत्थं' ति-एवं यदा त्रिविधमपि व्यञ्जनं प्रकारत्रयेणाऽऽपूरितं भवति, तदा तं विवक्षितं शब्दादिकमर्थमव्यक्तं नाम-जात्यादिकल्पनारहितं गृह्णाति। एतच्च 'ताहे हुंति करेइ' इत्यस्य व्याख्यानम् अर्थावग्रहश्चायमेकसामयिको विज्ञेयः, इतरस्तु पूर्वमन्तर्मुहूर्तं द्रव्यप्रवेशादिरूपो व्यञ्जनाऽवग्रहोऽवसेयः । इति गाथार्थः।

किं विशिष्टं पुनस्तमर्थं गृह्णाति ? इत्याशङ्क्य स्वत एव भाष्यकारस्तत्स्वरूपमाह—

सामन्नमणिद्देसं, सरूव-नामाइकप्पणारहियं ।
जइ एवं जं तेणं, गहिए सद्देत्ति तं किह णु ? ॥२५२॥

ग्राह्यवस्तुनः सामान्यविशेषात्मकत्वे सत्यप्यर्थावग्रहेण सामान्यरूपमेवार्थं गृह्णाति, न विशेषरूपम्, अर्थावग्रहस्यैकसामयिकत्वात्, समयेन च विशेषग्रहणायोगादिति । सामान्यार्थश्च कश्चित् ग्रामनगरवनसेनादिशब्देन निर्देश्योऽपि भवति, तद्व्यवच्छेदार्थमाह-अनिर्देश्यं केनापि शब्देनानभिलप्यम् । कुतः पुनरेतत् ?, इत्याह—यतः स्वरूपनामादिकल्पनारहितम्, आदिशब्दात्—जातिक्रियागुणद्रव्यपरिग्रहः। तत्र रूपरसादीनां य आत्मीयचक्षुरादीन्द्रियगम्यः प्रतिनियतः स्वभावस्तत्स्वरूपम् । रूपरसादिकस्तु तदभिधायको ध्वनिर्नाम, रूपत्व-रसत्वादिका

Jain Education International   For Private & Personal Use Only   www.jainelibrary.org

तु जातिः प्रीतिकरमिदं रूपं पुष्टिकरोऽयं रस इत्यादि-
कस्तु शब्दः क्रियाप्रधानत्वात् क्रियाः । कृष्णनीलादिकस्तु
गुणः । पृथिव्यादिकं पुनर्द्रव्यम् । एतेषां स्वरूप-नाम-
जात्यादीनां कल्पना अन्तर्जल्पारूषितज्ञानरूपा तया रहि-
तमेवार्थमर्थावग्रहेण गृह्णाति यतो जीवः, तस्मादनिर्देश्यो-
ऽयमर्थः प्रोक्तः, तत्कल्पनारहितत्वेन स्वरूप-नाम-जात्या-
दिप्रकारेण केनाऽपि निर्देष्टुमशक्यत्वादिति । एवमुक्ते सति
परः प्राह-' जइ एवं ' इत्यादि-यदि स्वरूप-नामादिकल्प-
नारहितोऽर्थोऽर्थावग्रहस्य विषय इत्येवं व्याख्यायते
भवद्भिः, तर्हि 'जं' ति-यदध्ययनसूत्रे प्रोक्तम् । किम् ?,
इत्याह-' तेण गहिए सद्दे ' त्ति-उपलक्षणत्वादित्थं तत्संपूर्णं
द्रष्टव्यम्-" से जहानामए केइ पुरिसे अव्वत्तं सद्दं सु-
णेज्जा तेणं सद्दे त्ति उग्गहिए न उण जाणइ केवेस सद्दे "
इति, ' तं कहणु ' त्ति-तदेतत्कथमविरोधेन नीयते ?-
युष्मद्व्याख्यानेन सह विरुध्यते एवेदमित्यर्थः, तथा हि-
अस्मिन्नन्दिसूत्रेऽयमर्थः प्रतीयते-यथा तेन प्रतिपत्त्रा-
र्थावग्रहेण शब्दोऽवगृहीत इति भवन्तस्तु शब्दाद्युल्लेखर-
हितं सर्वथा अमुं प्रतिपादयन्ति ततः कथं न विरोध इति
भावः इति गाथार्थः ।

अत्रोत्तरमाह—

सद्दे त्ति भणइ वत्ता, तम्मत्तं वा न सद्दबुद्धीए ।
जइ होज्ज सद्दबुद्धी, तोऽवाओ चेव सो होज्जा ॥२५३॥

शब्दस्तेनाऽवगृहीत इति यदुक्तं, तत्र-' शब्दः ' इति वक्ता
प्रज्ञापकः, सूत्रकारो वा भणति-प्रतिपादयति, अथवा-त-
न्मात्रं--शब्दमात्रं रूपरसादिविशेषव्यावृत्त्याऽनवधारित-
त्वाच्छब्दतया अनिश्चितं गृह्णातीति । एतावतांशेन शब्द-
स्तेनाऽवगृहीत इत्युच्यते, न पुनः शब्दबुद्ध्या 'शब्दोऽ-
यम्' इत्यध्यवसायेन तत्-शब्दवस्तु तेनावगृहीतं, शब्दो-
ल्लेखस्यान्तर्मुहूर्तिकत्वाद् अर्थावग्रहस्य त्वेकसामायिक-
त्वादसंभव एवायमिति भावः । यदि पुनः तत्र—अर्थाव-
ग्रहे शब्दबुद्धिः स्यात्तर्हि को दोषः स्यात् ? इत्याशङ्क्य
सूत्रकारः स्वयमेव दूषणान्तरमाह-' जई ' त्यादि-यदि
पुनरर्थावग्रहे शब्दबुद्धिः-शब्दनिश्चयः स्यात्, तदाऽपाय
एवाऽसौ स्यात्, नत्वर्थावग्रहः, निश्चयस्यापायरूपत्वात् ।
ततश्चार्थावग्रहे-हाभाव एव स्यात्, न चैतद् दृष्टम्,
इष्टं च । इति गाथार्थः ।

अत्राह परः-ननु प्रथमसमय एव रूपादिव्यपोहेन 'शब्दो-
ऽयम्' इति प्रत्ययोऽर्थावग्रहत्वेनाभ्युपगम्यतां, शब्दमात्र-
त्वेन सामान्यत्वात्; उत्तरकालं तु प्रायो माधुर्यादयः
शाङ्खशब्दधर्मा इह घटन्ते, ननु शाङ्खधर्माः खरकर्कशत्वादय
इति विमर्शबुद्धिरीहा तस्माच्छाङ्ख एवाऽयं शब्द इति
तद्विशेषस्त्वपायोऽस्तु । तथा च सति "तेणं सद्दे त्ति
उग्गहिए" इदं यथाश्रुतमेव व्याख्यायते-नो चेव णं
जाणइ केवेस सद्दाइ तओ ईहं पविसइ" इत्याद्यपि सर्व-
मविरोधेन गच्छतीति । तदेतत्परोक्तं सूरिः प्रत्यनुभाष्य
दूषयति, तद्यथा—

जइ सद्दबुद्धिमेत्तयमव-ग्गहो तव्विसेसणमवाओ ।
णणु सद्दो नासद्दो, न य रूवाइविसेसोयं ॥ २५४ ॥

भो पर ! यदि शब्दबुद्धिमात्रं 'शब्दोऽयम्' इति निश्च-
यज्ञानमपि भवताऽर्थोऽवग्रहोऽभ्युपगम्यते, तद्विशेषणं तु
तस्य शब्दस्य विशेषणं विशेषः 'शाङ्ख एवायं शब्दः' इत्या-
दिविशेषज्ञानमित्यर्थः, अपायो मतिज्ञानतृतीयो भेदोऽङ्गीक्रि-
यते हन्त तर्हि अवग्रहलक्षणस्य तदाद्यभेदस्याऽभावप्रसङ्गः,
प्रथमत एवावग्रहमतिक्रम्याऽपायाऽभ्युपगमात् । कथं पुनः
शब्दज्ञानमपायः ? इति चेद् । उच्यते-तस्यापि विशेषग्राह-
कत्वात्, विशेषज्ञानस्य च भवताप्यपायत्वेनाभ्युपगतत्वात् ।
ननु 'शाङ्ख एवाऽयं शब्द' इत्यादिकमेव तदुत्तरकालभावि-
ज्ञानं विशेषग्राहकं शब्दज्ञाने तु शब्दसामान्यस्यैव प्रति-
भासनात्कथं विशेषप्रतिभासः, येनाऽपायप्रसङ्गः स्याद् ?,
इत्याह-' णणु ' इत्यादि, नन्वित्यक्षमायां, परामन्त्रणे वा,
ननु 'शब्दोऽयं नाशब्द' इति विशेषोऽयं विशेषप्रतिभास
एवाऽयमित्यर्थः ; कथं पुनर्नाशब्द इति निश्चीयते ?,
इत्याह-न च रूपादिरिति, चशब्दो हिशब्दार्थे, आदि-
शब्दाद्गन्ध-रस-स्पर्शपरिग्रहः । ततश्चेदमुक्तं भवति-यस्मान्न
रूपादिरयं, तेभ्यो व्यावृत्तत्वेन गृहीतत्वाद्, अतो नाऽ-
शब्दोऽयमिति निश्चीयते; । यदि तु रूपादिभ्योऽपि व्या-
वृत्तिर्गृहीता न स्यात्तदा शब्दोऽयमिति निश्चयोऽपि न
स्यादिति भावः । तस्माच्छब्दोऽयं नाशब्दः इति विशेष-
प्रतिभास एवाऽयम् । तथा च सत्यस्याप्यपायप्रसक्तौ-
ऽवग्रहाभावप्रसङ्ग इति स्थितम् । इति गाथार्थः ।

अथ परोऽवग्रहाऽपाययोर्विषयविभागं दर्शयन्नाह—

थोवमियं नाऽवाओ, संखाइविसेसणमवाउ त्ति ।
तब्भेया वेक्खाए, णणु थोवमियं पि नाऽवाओ ॥२५५॥

इदं शब्दबुद्धिमात्रकं शब्दमात्रस्तोकविशेषावसायित्वात्
स्तोकम्-स्तोकविशेषग्राहकम्, अतोऽपायो न भवति, किं
त्ववग्रह एवाऽयमिति भावः । कः पुनस्तर्ह्यपायः ?, इत्याह-
'संखाइ' इत्यादि, शाङ्खोऽयं शब्द इत्यादिविशेषणविशिष्टं
यज्ज्ञानं तदपायः बृहद्विशेषावसायित्वादिति हृदयम् ।
हन्त ! यद्यत् स्तोकं तत्तत्राऽपायः, तर्हि निवृत्ता सांप्रत-
मपायज्ञानकथा , उत्तरोत्तरार्थविशेषग्रहणापेक्षया पूर्व-
पूर्वार्थविशेषावसायस्य स्तोकत्वाद् । एतदेवाह-' तब्भेय '
त्यादि, तस्य-शाङ्खशब्दस्य ये उत्तरोत्तरभेदाः मन्द्रमधुर-
त्वादयः , तरुणमध्यमवृद्धस्त्रीपुरुषसमुत्थत्वादयश्च तदपे-
क्षायां सत्यामिदमपि ' शाङ्खोऽयं शब्दः ' इत्यादि ज्ञानं ननु
स्तोकं-स्तोकविशेषग्राहकमेव इति नाऽपायः स्याद् । एव-
मुत्तरोत्तरविशेषग्राहिणामपि ज्ञानानां तदुत्तरोत्तरभेदापे-
क्षया स्तोकत्वादपायत्वाभावो भावनीयः । इति गाथार्थः ।

तमेवाऽपायाभावं स्फुटीकुर्वन्नाह—

इय सुबहुणा वि कालेण, सव्वभेयावहारणमसज्झं ।
जम्मि हवेज्ज अवाओ, सव्वो च्चिय उग्गहो नाम ॥२५६॥

इतिशब्द उपप्रदर्शनार्थः,ततश्चेदमुक्तं भवति-यथा 'शाङ्खो-
ऽयं शब्दः' इत्यस्यां बुद्धौ शब्दगतभेदावधारणं सांप्रतम-
साध्यम्, मन्द्रमधुरत्वादितदुत्तरोत्तरभेदबाहुल्यसंभवात् ।
तथा च सति स्तोकत्वान्नेयं बुद्धिरपायः, किं त्वर्थोऽ-
वग्रह इत्येवं सुबहुनाऽपि कालेन सर्वेणाऽपि पुरुषायुषेण
शब्दगतमन्द्रमधुरत्वाद्युत्तरोत्तरभेदावधारणमसाध्यं तद्दे-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञानामनन्तत्वादशक्यमित्यर्थः, यस्मिन् भेदाऽवधारणे, किम् ?, इत्याह-यस्मिन्नपायो भवेदन्यभेदाकाङ्क्षानिवृत्तेर्य-स्मिन् भेदाऽवधारणज्ञानेऽपायत्वं व्यवस्थाप्येत, इति भावः। तस्मात्सर्वोऽपि भेदप्रत्यय उत्तरोत्तरापेक्षया त्वदभिप्रायेण स्तोकत्वादर्थावग्रह एव प्राप्नोति, नाऽपायः, शब्दज्ञानवद्। इति गाथार्थः।

किं च-शब्द एवायमिति ज्ञानं स्तोकत्वादर्थावग्रहत्वेन भवताऽभिमतम्। तत् पूर्वमीहामन्तरेण न संभवति तत्पूर्व-कत्वे च तस्याऽर्थावग्रहत्वाऽसंभव इति दर्शयन्नाह—

किंसद्दो किमसद्दो-त्तणीहिए सद्दए व किह जुत्तं ?।
अह पुव्वमीहिऊणं, सद्दो त्ति मयं तई पुव्वं ॥ २५७ ॥

'किं शब्दोऽयम्' आहो(स्वि)श्विद् अशब्दो-रूपादिः इत्येवं पूर्वमनीहिते यत् 'शब्द एव' इति निश्चयज्ञानं तदक-स्मादेव जायमानं कथं युक्तम् ?, विमर्शपूर्वकत्वमन्तरेण नेदं घटत इत्यर्थः। इदमुक्तं भवति-शब्दगतान्वयधर्मेषु, रू-पादिभ्यो व्यावृत्तौ च गृहीतायां 'शब्द एव' इति निश्चय-ज्ञानं युज्यते, तद्ग्रहणं च विमर्शमन्तरेण नोपपद्यते, वि-मर्शश्च-ईहा, तस्मादीहामन्तरेणायुक्तमेव 'शब्द एव' इति निश्चयज्ञानम्। अथ निश्चयकालात्पूर्वमीहित्या भवतोऽपि 'शब्द एवायम्' इति निश्चयज्ञानमभिमतम्। हन्त; तर्हि निश्चयज्ञानात्पूर्वम् 'तई' असौ ईहा भव-द्वचनतोऽपि सिद्धा। इति गाथार्थः।

यदि नाम निश्चयज्ञानात्पूर्वमीहा सिद्धा,
ततः किम् ?, इत्याह—

किं तं पुव्वं गहियं, जमीहओ सद्दए व विएणाणं।
अह पुव्वं सामएणं, जमीहमाणस्स सद्दो त्ति ॥२५८॥

हन्त ! यदि निश्चयज्ञानमीहापूर्वकं त्वयाऽभ्युपगम्यते, तर्हि प्रष्टव्योऽसि ननु ईहायाः पूर्वं किं तद्वस्तु प्रमात्रा गृहीतम्, यदीहमानस्य तस्य 'शब्द एवायम्' इति नि-श्चयज्ञानमुपजायते ?, न हि कश्चिद्वस्तुन्यगृहीते अक-स्मात्प्रथमत एव ईहां कुरुत इति भावः। क्षुभितस्य पर-स्योत्तरप्रदानाऽसामर्थ्यमालोक्य स्वयमेव तन्मतमाशङ्कते-अथ ब्रूयात्परः-सामान्यं नाम-जात्यादिकल्पनारहितं वस्तु-मात्रमीहायाः पूर्वं गृहीतं, यदीहमानस्य 'शब्दः' इति निश्चयज्ञानमुत्पद्यते। इति गाथार्थः।

अथ ईहायाः पूर्वं सामान्यग्रहणे परेणेष्यमाणे सूरिः
स्वसमीहितसिद्धिमुपदर्शयन्नाह—

अत्थोग्गहओ पुव्वं, होयव्वं तस्स गहणकालेणं।
पुव्वं च तस्स वंजण-कालो सो अत्थपरिसुण्णो ॥२५९॥

ननु ईहायाः पूर्वं यत् सामान्यं गृह्यते, तस्य तावद् ग्रहण-कालेन भवितव्यम्। स चास्मदभ्युपगतसामायिकार्था-ऽवग्रहकालरूपो न भवति, अस्मदभ्युपगताऽङ्गीकारप्रस-ङ्गात्, किं तर्हि ?, अस्मदभ्युपगतार्थाऽवग्रहात्तत्पूर्वमेव भवदभिप्रायेण तस्य सामान्यस्य ग्रहणकालेन भवितव्यं, पूर्वं च तस्याऽस्मदभ्युपगतार्थाऽवग्रहस्य व्यञ्जनकाल एव वर्त्तते, व्यञ्जनानां-शब्दादिद्रव्याणामिन्द्रियमात्रेणादान-

कालो मध्यपदलोपाद्व्यञ्जनकालः। भवत्वेवं, तथाऽपि तत्र सामान्याऽर्थग्रहणं भविष्यति, इत्याशङ्क्याह-स च व्यञ्जनकालोऽर्थपरिशून्यः, न हि तत्र सामान्यरूपो, वि-शेष्यरूपो वा कश्चनाप्यर्थः प्रतिभाति, तदा मनोरहि-तेन्द्रियमात्रव्यापारात्, तत्र चार्थप्रतिभासाऽयोगात्। तस्मात्पारिशेष्यादस्मदभ्युपगतार्थोऽवग्रह एव सामान्य-ग्रहणमिति गाथायामनुक्तमपि स्वयमेव द्रष्टव्यम्। तदन-न्तरं चान्वयव्यतिरेकधर्मपर्यालोचनरूपा ईहा, तदनन्तरं च 'शब्द एवाऽयम्' इति निश्चयज्ञानमपायः इति सर्वं सुस्थं भवति। इति गाथार्थः।

अथ प्रथममेवाऽर्थाऽवग्रहज्ञानेन शब्दाऽग्र-
हणे परः पुनरपि दोषमाह—

जइ सद्दो त्ति न गहियं, न उ जाणइ जं क एस सद्दो त्ति।
तमजुत्तं सामएणे, गहिए मग्गिज्जइ विसेसो ॥ २६० ॥

यद्यर्थाऽवबोधसमये प्रथममेव 'शब्दोऽयम्' इत्येवं तद्वस्तु न गृहीतं, तर्हि 'न उण जाणइ के वेस सद्दे त्ति' 'जंति', यत्सूत्र निर्दिष्टं तदयुक्तं प्राप्नोति, यस्माच्छब्दसामान्ये रूपा-दिव्यावृत्ते गृहीते सति पश्चान्मृग्यते-अन्विष्यते विशेषः-'किमयं शब्दः शाङ्खः, उत शार्ङ्गः ?' इति। इदमुक्तं भवति-"न उण जाणइ के वेस सद्दे" त्ति, अस्मिन् नन्दिसूत्रे 'न पुनर्जानाति कोऽप्येष शाङ्खशार्ङ्गाद्यन्यतरशब्दः' इति वि-शेषस्यैवाऽपरिज्ञानमुक्तम्, शब्दसामान्यमात्रग्रहणं त्वनुज्ञा-तमेव, तद्ग्रहणे तु 'क एष शब्दः, किं शाङ्खः, शार्ङ्गो वा' इत्येवं विशेषमार्गणमसङ्गतमेव स्यात् विशेषजिज्ञासायाः सामान्यज्ञानपूर्वकत्वाच्छब्दसामान्ये गृहीत एव तद्विशेष-मार्गणस्य युज्यमानत्वात्। इति गाथार्थः।

अत्रोत्तरमाह—

सव्वत्थ देसयंतो, सद्दो सद्दो त्ति भासओ भणइ।
इहरा न समयमित्ते, सद्दो त्ति विसेसणं जुत्तं ॥२६१॥

सर्वत्र-पूर्वस्मिन्, अत्र च सूत्रावयवे अवग्रहस्वरूपं देश-यन्-प्ररूपयन् 'शब्दः शब्दः' इति भाषकः-प्रज्ञापक एव वदति, न तु तत्र ज्ञाने शब्दप्रतिभासोऽस्ति। इत्थं चैतद्, अन्यथा न समयमात्रेऽर्थावग्रहकाले 'शब्दः' इति विशेषणं युक्तम्, आन्तर्मुहूर्तिकत्वाच्छब्दनिश्चयस्येति प्रागेवोक्तम्। सांव्यवहारिकार्थाऽवग्रहापेक्षं वा सूत्रमिदं व्याख्यास्यते इति मा त्वरिष्ठाः। इति गाथार्थः।

अथ सूत्रावष्टम्भवादिनं परं दृष्ट्वा सौत्रमेव परिहारमाह-

अहव सुए च्चिय भणियं, जह कोइ सुणेज्ज सद्दमव्वत्तं।
अवत्तमणिद्देसं, सामण्णं-कप्पणारहियं ॥ २६२ ॥

अथवा यदि तव गाढः श्रुतावष्टम्भः तदा तत्राप्येतद्भणितं वर्त्तते--प्रथममव्यक्तस्यैव शब्दोल्लेखरहितस्य शब्दमात्रस्य ग्रहणम्। केन पुनः सूत्राऽवयवेनेदमुक्तम् ?, इत्याह-'जह कोइ सुणेज्ज सद्दमव्वत्तं' ति-अयं च सूत्रावयवो नन्द्य-ध्ययने इत्थं द्रष्टव्यः-"से जहानामए केइ पुरिसे अव्वत्तं सद्दं सुणेज्ज त्ति-(सूत्र+) अत्र-अव्यक्तमिति कोऽर्थः ?, इत्याह-अनिर्देश्यं 'शब्दोऽयं' 'रूपादिर्वा' इत्यादिना प्रका-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रेणाऽव्यक्तमित्यर्थः। ननु यदि शब्दादिरूपेणाऽनिर्देश्यं, तर्हि किं तद्?, इत्याह-सामान्यम्। किमुक्तं भवति?, इत्याह-नामजात्यादिकल्पनारहितम्। न च वक्तव्यं शास्त्रशास्त्रभेदाभेदयोः शब्दोल्लेखस्याप्यव्यक्तत्वे घटमाने कुत इदं व्याख्यानं लभ्यते? इति; अवग्रहस्यानाकारोपयोगरूपतया सूत्रेऽधीतत्वाद् अनाकारोपयोगस्य च सामान्यमात्रविषयत्वात्, प्रथममेवाऽपायप्रसक्त्याऽवग्रहेहाभावप्रसङ्ग इत्याद्युक्तत्वाच्च। इति गाथार्थः।

अथ सूरिरेव पराभिप्रायमाशिशङ्कयिषुराह—

अहव मई पुव्वं चिय, सो गहिओ वंजणोग्गहे तेणं।
जं वंजणोग्गहम्मि वि, भणियं विन्नाणमव्वत्तं ॥२६३॥

अथ परस्य मतिः स्यात्केयम्? इत्याह-सः-अव्यक्तः, अनिर्देश्यादिस्वरूपः शब्दः अर्थावग्रहात्पूर्वमेव व्यञ्जनावग्रहे तेन श्रोत्रा गृहीतः, तत्किमित्यर्थावग्रहेऽपि तद्ग्रहणमुद्घुष्यते?, कथमिदं पुनर्ज्ञायते यदुत-असौ व्यञ्जनाऽवग्रहे गृहीतः? इत्याह-'जमि' त्यादि, यत्-यस्माद् व्यञ्जनाऽवग्रहेऽपि भवद्भिरव्यक्तं विज्ञानमुक्तम्, अव्यक्तविषयग्रहण एव चाऽव्यक्तत्वम् तस्योपपद्यते इति भावः इति। गाथार्थः।

अत्रोत्तरमाह—

अत्थि तयं अव्वत्तं, न उ तं गिण्हइ सयं पि सो भणियं।
न उ अग्गहियम्मि जुज्जइ, सद्दो त्ति विसेसणं बुद्धी॥२६४॥

अस्ति तदव्यक्तं श्रोतुर्व्यञ्जनावग्रहे ज्ञानं, न तस्यास्माभिरपलापः क्रियते, न पुनरसौ श्रोता अतिसौक्ष्म्यात्तत्स्वयमपि गृह्णाति-संवेदयते। एतच्च प्रागपि भणितम्। "सुत्तमत्ताइसुहुमबोहो व्व" इति वचनात्, तथा "सुत्ताईणं सयं पि य विण्णाणं णाऽवबुज्झंति" इति वचनाच्च। तस्माद् व्यञ्जनमात्रस्यैव तत्र ग्रहणं, न शब्दस्य, व्यञ्जनावग्रहस्यान्यथाऽनुपपत्तेरेवेति। न च सामान्यरूपतयाऽव्यक्ते शब्देऽगृहीतेऽकस्मादेव शब्दः इति विशेषणबुद्धिर्युज्यते, अनुस्वारस्याऽलाक्षणिकत्वाद्विशेषबुद्धिरित्यर्थः। अस्यां च विशेषबुद्धौ प्रथममेवेष्यमाणायामाद्यैवार्थावग्रहकालेऽप्यपायप्रसङ्गः, इत्यसकृदेवोक्तम्। इति गाथार्थः।

ननु यदि व्यञ्जनाऽवग्रहेऽप्यव्यक्तशब्दग्रहणं भवेत्तदा को दोषः स्यात्?, इत्याह—

अत्थो त्ति विसयगहणं, जइ तम्मि वि सो न वंजणं नाम।
अत्थोग्गहो च्चिय ततो, अविसेसो संकरो वाऽवि ॥२६५॥

अर्थाऽवग्रहे अर्थः इत्यनेन तावद्विषयग्रहणमभिप्रेतं-रूपादिभेदेनाऽनिर्धारितस्याव्यक्तस्य शब्दादेर्विषयस्य ग्रहणं; तत्राऽभिप्रेतमित्यर्थः। यदि च-तस्मिन्नपि व्यञ्जनाऽवग्रहेऽसावव्यक्तशब्दः प्रतिभासते इत्यभ्युपगम्यते, तदा न व्यञ्जनं नाम, व्यञ्जनाऽवग्रहो न प्राप्नोतीत्यर्थः। ततश्चेदानीं निवृत्ता तत्कथा, व्यञ्जनमात्रसंबन्धस्यैव तत्रोक्तत्वात्, भवता च तदतिक्रान्तस्याऽव्यक्तार्थग्रहणस्येहाऽभिधीयमानत्वादिति। तर्ह्यव्यक्तार्थग्रहणे किमसौ स्यात्? इत्याह—अर्थाऽवग्रह एवाऽसौ, अव्यक्ताऽर्थावग्रहणात्, ततश्च नास्ति व्यञ्जनम्-व्यञ्जनाऽवग्रहः। अथास्याऽपि सूत्रे प्रोक्तत्वादस्तित्वं न परिह्रियते, तर्हि द्वयोरप्यविशेषः सोऽप्यर्थावग्रहः सोऽपि व्यञ्जनावग्रहः प्राप्नोतीति भावः। मेचकमणिप्रभावत् संकरो वा स्यादित्थम्। इति गाथार्थः।

तदेवं व्यञ्जनाऽवग्रहे व्यञ्जनसंबन्धमात्रमेव, अर्थाऽवग्रहे त्वव्यक्तशब्दाद्यर्थग्रहणं, न व्यक्तशब्दाद्यर्थसंवेदनम्, इति प्रतिपादितम्। सांप्रतमुपपत्त्यन्तरेणाप्यर्थाऽवग्रहे व्यक्तशब्दार्थसंवेदनं निराचिकीर्षुराह—

जेणऽत्थोग्गहकाले, गहणेहाऽवायसंभवो नऽत्थि।
तो नऽत्थि सद्दबुद्धी, अहऽत्थि नाऽवग्गहो नाम॥२६६॥

पूर्वं तावदर्थस्य ग्रहणमात्रं ततश्चेहा, तदनन्तरं त्वपायः, इत्येवं मतिज्ञानस्योत्पत्तिक्रमः। न चैतत् त्रितयं प्रथममेवशब्दार्थेऽवगृह्यते समस्तीति। एतदेवाह-येनार्थाऽवग्रहकालेऽर्थग्रहणेहाऽपायानां संभवो नाऽस्ति ततोऽर्थाऽवग्रहे नाऽस्ति 'शब्दः' इति विशेषबुद्धिः, अर्थग्रहणेहापूर्वकत्वात्तस्याः। अथाऽस्त्यसौ तत्र, तर्हि नाऽयमर्थाऽवग्रहः, किं त्वपाय एव स्यात्, न चैतद्युज्यते, तदभ्युपगमेऽर्थाऽवग्रहेहयोरभावप्रसङ्गात्। इति गाथार्थः।

अपि च-अर्थाऽवग्रहे 'शब्दः' इति विशेषबुद्धाविष्यमाणायां दोषान्तरमप्यस्ति। किं तत्? इत्याह—

सामण्ण-तदण्णविसे-सेहावज्जणपरिग्गहणओ से।
अत्थोग्गहेगसमओ-वओगबाहुल्लमावण्णं ॥ २६७ ॥

इह येयमर्थाऽवग्रहैकसमये 'शब्दः' इति विशेषबुद्धिर्भवताऽभ्युपगम्यते, सा तावन्निश्चयरूपा निश्चयश्चाकस्मादेव न युज्यते, किंतु क्रमेण, तथाहि-प्रथमं तावद्रूपादिभ्योऽव्यावृत्तमव्यक्तं शब्दसामान्यं ग्रहीतव्यं, ततस्तद्विशेषविषया तदपररूपादिविशेषविषया च। एतैरेतैश्च धर्मैः 'किमयं शब्दः, आहोश्वित् रूपादिः' इत्येवं रूपा ईहा, तदनन्तरं च गृहीतशब्दसामान्यविशेषाणां ग्रहणम्, अन्येषां तु रूपादिविशेषाणां तत्राऽविद्यमानानां परिवर्जनम्, इत्येवंभूतेन क्रमेण निश्चयोत्पत्तिः। तथा च सति श्रोतुरर्थाऽवग्रहैकसमयेऽपि सामान्यग्रहणादिभिः प्रकारैरुपयोगबहुत्वमापद्यते, एकस्मिँश्च समये बहवः उपयोगाः सिद्धान्ते निषिद्धाः, इति नाऽर्थावग्रहे शब्दादिविशेषबुद्धिः। इति गाथाभावार्थः।

अक्षरार्थस्तूच्यते-सामान्यमिह-श्रूयमाणशब्दसामान्यं गृह्यते, 'तयण्णविसेसेह' त्ति--तच्छब्देनान्तरोक्तं शब्दसामान्यमनुकृष्यते, अन्यशब्देन तु तत्राऽविद्यमाना रूपादयः परिगृह्यन्ते ततश्च तच्चान्ये च तदन्ये—शब्दसामान्यं, रूपादयश्चेत्यर्थः, तेषां विशेषा धर्माः श्रोत्रग्राह्यत्वादयः, चक्षुरादिवेद्यत्वादयश्च, तद्विषया ईहा तदन्यविशेषेहा, किमत्र श्रोत्रग्राह्यत्वादयो धर्माः उपलभ्यन्ते, आहोश्वित्-चक्षुरादिवेद्यत्वादयः? इत्येवं रूपो विमर्श इत्यर्थः, तदनन्तरं तु वर्जनं च तत्राऽविद्यमानरूपादिगतानां हेयधर्माणां चक्षुर्वेद्यत्वादीनां, परिग्रहणं च तत्र च गृहीतशब्दसामान्यगतानामुपादेयधर्माणां श्रोत्रग्राह्यत्वादीनाम्, इति वर्जन-परिग्रहणे-त्यागाऽऽदाने; सामान्यं च तदन्यविशेषेहा च वर्जनपरिग्रहणे च सामान्य-तदन्यविशेषेहाव-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

र्जन-परिग्रहणानि तेभ्यस्ततः 'से' तस्य श्रोतुः । अर्थावग्रहैकसमयेऽप्युपयोगबाहुल्यम्, आपन्नं-प्राप्तम् । तथाहि-प्रथमस्सामान्यग्रहणोपयोगः, यथोक्तेहोपयोगस्तु द्वितीयः, हेयधर्मवर्जनोपयोगस्तृतीयः, उपादेयधर्मपरिग्रहणोपयोगश्चतुर्थः, इत्येवमर्थावग्रहैकसमयमात्रेऽपि बहवः उपयोगाः प्राप्नुवन्ति । न चैतद्युक्तं, समयविरुद्धत्वात् । तस्मान्नार्थावग्रहे शब्दविशेषबुद्धिः, किं तु 'सद्दे त्ति भणइ वत्ता' इत्यादि स्थितम् । इति गाथार्थः ।

अथास्मिन्नेवार्थाऽवग्रहेऽपरवाद्यभिप्रायं निराचिकीर्षुराह-

अएणे सामण्णग्गहणं-माहुबालस्स जायमेत्तस्स ।
समयम्मि चेव परिचिय-विसयस्स विसेसविण्णाणं ।२६८।

अन्ये-वादिनः केचिदेवमाहुः-यदेतत्सर्वविशेषविमुखस्याऽव्यक्तस्य सामान्यमात्रस्य वस्तुनो ग्रहणमालोचनं, तद् बालस्य-शिशोस्तत्क्षणजातमात्रस्य भवति, नाऽत्र विप्रतिपत्तिः, अव्यक्तो ह्यसौ संकेतादिविकलोऽपरिचितविषयः । यस्तर्हि परिचितविषयः, तस्य किम् ?, इत्याह-समय एव आद्यशब्दश्रवणसमय एव विशेषविज्ञानं जायते, स्पष्टत्वात्तस्य ततश्चामुमाश्रित्य 'तेण सद्दे त्ति उग्गहिए' इत्यादि, यथाश्रुतमेव व्याख्यायते, तेन न कश्चिद्दोष इति भावः । इति गाथार्थः ।

अत्रोत्तरमाह—

तदवत्थमेव तं पुव्व-दोसओ तम्मि चेव वा समये ।
संखमहुराइसुबहुय-विसेसगहणं पसज्जेज्जा ॥ २६९ ॥

"जेणऽत्थोग्गहकाले" (२६६ गा०) इत्यादिना ग्रन्थेन सामण्णतयरणविसेसेहा (२६७ गा०) इत्यादिना च ग्रन्थेन यद् दूषितं या तस्यावस्था-यत्तस्य स्वरूपम्-'समयम्मि चेव परिचियविसयस्स विसेसविण्णाणं' इति, तदेतत्परोक्तमपि तदवस्थमेव, न पुनः किंचिदूनाधिकावस्थम् । कुतः ?, इत्याह-"पुव्वदोसउ" त्ति, "जेणत्थोग्गहकाले" (२६६ गा०) इत्यादिना "सामण्णतयरण" (२६७ गा०) इत्यादिना च यः पूर्वं दोषोऽभिहितस्तस्मात्पूर्वदोषात् पूर्वदोषानतिवृत्तेः, तदेतत्परोक्तं तदवस्थमेव, इति नान्यदूषणाद्यभिधानप्रयासो विधीयत इति भावः । अथ वा—पूर्वमपि दूषणमुच्यते । किं तद् ?, इत्याह-' तम्मि चेव ' इत्यादि, 'वा' इति-अथ वा, तस्मिन्नेव स्पष्टविज्ञानस्य व्यक्तस्य जन्तोर्विशेषग्राहिणि समये ' शाङ्खः, शार्ङ्गो वाऽयं शब्दः, स्निग्धो मधुरः, कर्कशः, स्त्री-पुरुषाद्यन्यतरवाद्यः ' इत्यादिषु बहुकविशेषग्रहणं प्रसज्येत । इदमुक्तं भवति-यदि व्यक्तस्य परिचितविषयस्य जन्तोरव्यक्तशब्दज्ञानमुल्लङ्घ्य तस्मिन्नर्थावग्रहैकसमयमात्रे शब्दनिश्चयज्ञानं भवति, तदा अन्यस्य कस्यचित्परिचिततरविषयस्य पटुतरावबोधस्य तस्मिन्नेव समये व्यक्तशब्दज्ञानमपि अतिक्रम्य 'शाङ्खोऽयं शब्दः' इत्यादिसंख्यातीतविशेषग्राहकमपि ज्ञानं भवदभिप्रायेण स्यात्, दृश्यन्ते च पुरुषशक्तीनां तारतम्यविशेषाः । भवत्वेव कस्यचित्प्रथमसमयेऽपि सुबहुविशेषग्राहकमपि ज्ञानमिति चेत्, न, " न उण जाणइ के वेस सद्दे " इत्यस्य सूत्रावयवस्यागमकत्वप्रसङ्गात् । विमध्यमशक्तिपुरुषविषयमेतत्सूत्रमिति चेत्, न; अविशेषेणोक्तत्वात्, सर्वविशेषविषयत्वस्य च युक्त्यनुपपन्नत्वात्; न हि प्रकृष्टमतेरपि शब्दधर्मिणमगृहीत्वा उत्तरोत्तर-बहुसुधर्मग्रहणसंभवोऽस्ति, निराधारधर्माणामनुपपत्तेः । इति गाथार्थः ।

किं च-समयमात्रेऽपि 'शब्दः' इति विशेषविज्ञानमभ्युपगच्छतोऽन्येऽपि समयविरोधादयो दोषाः । के पुनस्ते ?, इत्याह—

अत्थोग्गहो न समयं, अहवा समओवओगबाहुल्लं ।
सव्वविसेसग्गहणं, सव्वमईवोग्गहो णिज्झो ॥ २७० ॥
एगो वाऽवाउ च्चिय, अहवा सोऽगहियणीहिए पत्तो ।
उक्कम-वइक्कमा वा, पत्ता धुवमोग्गहाईणं ॥ २७१ ॥
सामण्णं च विसेसो, वा सामण्णमुभयमुभयं वा ।
न य जुत्तं सव्वमियं वा,सामण्णाऽऽलंबणं मोत्तुं ॥२७२॥

'उग्गहो एक्कं समयंमि' त्यादिवचनादर्थावग्रहः सिद्धान्ते सामयिको निर्दिष्टः, यदि-चार्थाऽवग्रहे विशेषविज्ञानमभ्युपगम्यते तदा सामायिकोऽसौ न प्राप्नोति, विशेषज्ञानस्याऽसंख्येयसामयिकत्वाद् । अथ समयमात्रेऽप्यस्मिन् विशेषज्ञानमिष्यते, तर्हि "सामण्णतयणणविसेसेहा" (२६७ गा०) इत्यादिना प्रागुक्तं समयोपयोगबाहुल्यं प्राप्नोति । अथवेत्यग्रतोऽप्यनुवर्तते । ततश्च अथवा परिचितविषयस्य विशेषज्ञानेऽभ्युपगम्यमाने परिचिततरविषयस्य तस्मिन्नेव समये सर्वविशेषग्रहणमनन्तरोक्तं प्राप्नोति । अथवा-अवग्रहमात्रेऽपि विशेषपरिच्छेदेऽङ्गीक्रियमाणे ईहादीनामनुत्थानमेव । ततश्च सर्वोऽपि मतिरवग्रहो ग्राह्यः-सर्वस्याऽपि मतेरवग्रहरूपतैव प्राप्नोतीत्यर्थः । अथवा-सर्वोऽपि मतिरपाय एवैकः प्राप्नोति, अर्थावग्रहे विशेषज्ञानस्याश्रयणात्, तस्य च निश्चयरूपत्वात्, निश्चयस्य, चाऽपायत्वादिति समयमात्र चास्मिन्नपाये सिद्धे " ईहावायामुहुत्तमंतं तु " इति विरुध्यते । अथवा-अर्थेऽवगृहीते ईहिते च, अपायः सिद्धान्ते निर्दिश्यते " उग्गहो, ईहा, अवाओ य " इति क्रमनिर्देशात्, यदि चाद्यसमयेऽपि विशेषज्ञानाभ्युपगमादपाय इष्यते, तर्ह्यनवगृहीते अनीहिते च तस्मिन्नसौ प्राप्तः । 'वा' इति-अथवा, यदि तृतीयस्थाननिर्दिष्टोऽप्यपायः "समयम्मि चेव परिचियविसयस्स विण्णाणं" इति वचनात्पटुत्ववैचित्र्येण प्रथममभ्युपगम्यते, तर्हि तस्मादेव पाटववैचित्र्यादवग्रहे-हाऽ-पाय-धारणानां ध्रुवं निश्चितमुत्क्रम-व्यतिक्रमौ स्याताम् । तत्र पश्चानुपूर्वीभवनम्-उत्क्रमः । अनानुपूर्वीभावस्तु-व्यतिक्रमः । तथा हि । यथा शक्तिवैचित्र्यात्कश्चित्प्रथममेवापायो भवताऽभ्युपगम्यते, तथा तत एव कस्यापि प्रथमं धारणा स्यात्, ततोऽपायः, ततोऽपि ईहा तदनन्तरं त्ववग्रह इत्युत्क्रमः, अन्यस्य कस्यचित् पुनरवग्रहमुल्लङ्घ्य प्रथममेवेहा समुपजायेत, अपरस्य तु तामप्यतिक्रम्याऽपायः, अन्यस्य तु तमप्यतिवृत्य धारणा स्याद् इत्यादि व्यतिक्रमः । न चेह यथं युक्तिमाप्रच्छनीयाः, भवदभ्युपगतस्य शक्तिवैचित्र्य-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्यैव पुष्टिहेतोः सद्भावात्। न चैतावुत्क्रमव्यतिक्रमौ युक्तौ " उग्गहो ईहा अवाओ य धारणा एव हौंति चत्तारि " इति परममुनिनिर्दिष्टक्रमस्याऽन्यथाकर्त्तुमशक्यत्वादिति। तथा, यदि यत्प्रथमसमये गृह्यते स विशेषस्तर्हि " सामण्णं च विसेसो " त्ति-यत्सामान्यं तदपि विशेषः प्राप्तः, प्रथमसमये हि सर्वस्याऽपि वस्तुनोऽव्यक्तं सामान्यमेव रूपं गृह्यते, ततोऽस्मिन्नप्यर्थाऽवग्रहसमये सामान्यमेव गृह्यत इति परमार्थः। यदि वा-अत्र विशेषबुद्धिर्भवताऽभ्युपगम्यते, तर्हि यदिह वस्तुस्थित्या सामान्यं स्थितं तदपि भवदभिप्रायेण विशेषः प्राप्तः। 'च' शब्दो दूषणसमुच्चयार्थः। ' सो वा सामण्णं ' त्ति-स वा भवदभिप्रेतो विशेषो वस्तु स्थितिसमायातं सामान्यं प्राप्नोतीति। ' उभयमुभयं व ' त्ति-अथ वा-सामान्य-विशेषलक्षणमुभयमप्येतत्प्रत्येकमुभयं प्राप्नोति-एकैकमुभयरूपं स्यादित्यर्थः, तथा हि—अत्र-ईषत्सामान्यं गृह्णातीत्यवग्रह इति व्युत्पत्त्या वस्तुस्थितिसमायातं यत्सामान्यं तत्स्वरूपेण तावत्सामान्यम्, भवदभ्युपगमेन तु विशेषः, इत्येकस्याऽपि सामान्यस्योभयरूपता; तथा योऽपि भवदभ्युपगतो विशेषः सोऽपि त्वदभिप्रायेण विशेषः, वस्तुस्थित्या तु सामान्यम्, इति विशेषस्याप्येकस्योभयस्वभावता। भवत्वेवमिति चेत्। इत्याह-न च युक्तं सर्वमिदम्। किं कृत्वा?, इत्याह-सामान्यमालम्बनं ग्राह्यं मुक्त्वा अर्थाऽवग्रहस्य इति शेषः। इदमुक्तं भवति-अर्थावग्रहस्याऽव्यक्तं सामान्यमात्रमालम्बनं परिहृत्य यदन्यद्विशेषरूपमालम्बनमिष्यते, तदभ्युपगमे च ' सामण्णं च विसेसो वा सामण्णं ' इत्यादि, यदापतति, तत्सर्वमयुक्तम्, अघटमानकत्वात्। इह च गाथात्रये बहुषु दूषणेषु मध्ये यत् प्रागुक्तमपि किंचित् दूषणमुक्तं तत्प्रसङ्गायातत्वात्, इति न पौनरुक्त्यमाशङ्कनीयम्। इति गाथात्रयार्थः।

प्रस्तुत एवाऽर्थे परमपि मतान्तरमुपन्यस्य निराकुर्वन्नाह-

केई दीहालोयण-पुव्वमोग्गहं बिंति तत्थ सामण्णं।
गहियमहत्थावग्गह-काले सद्दे त्ति निच्छिण्णं ॥२७३॥

केचित्—वादिनः इहास्मिन्प्रक्रमेऽवग्रहं ब्रुवते-अर्थावग्रहं व्याचक्षते। किं विशिष्टम्?, इत्याह-आलोचनपूर्वम्-सामान्यवस्तुग्राहिज्ञानम्-आलोचनं तत्पूर्वं-प्रथमं यत्र स तथा तं, प्रथममालोचनज्ञानं ततोऽर्थावग्रह इत्यर्थः, तथा च तैरुक्तम्-" अस्ति ह्यालोचनाज्ञानं, प्रथमं निर्विकल्पकम्। बालमूकादिविज्ञान-सदृशं शुद्धवस्तुजम् " ॥ १ ॥ इति। किं पुनस्तत्राऽऽलोचनज्ञाने गृह्यते? इत्याह-'तत्थ' इत्यादि, तत्र-आलोचनज्ञाने सामान्यमव्यक्तं वस्तु गृहीतं प्रतिपत्त्रा इति गम्यते, अथानन्तरम्-अर्थाऽवग्रहकाले 'तदेव गृहीतम्' इत्यनुवर्त्तते। कथंभूतं सद्? इत्याह-निच्छिन्नं-पृथक्कृतं रूपादिव्यावृत्तेरित्यर्थः, केनोल्लेखेन गृहीतम्?, इत्याह-'सद्दे' त्ति-शब्दविशेषणविशिष्टमित्यर्थः। ततश्च " से जहानामए केइ पुरिसे अव्वत्तं सद्दं सुणेज्ज " इति-एतदालोचनज्ञानापेक्षया नीयते, " तेणं, सद्द त्ति उग्गहिए " एतत् चार्थाऽवग्रहापेक्षयेति सर्वं सुस्थतामनुभवति। न चातः परं भवतोऽप्याचार्य! किंचिद्वक्तव्यमस्ति; यदि हि युक्त्यनुभवसिद्धेनार्थेन सूत्रे विषयविभागव्यवस्थापितेऽपि वादी अयं न प्राप्स्यति, तदा तूष्णीमाश्रयन्तु विपश्चितो विचारचर्यामार्गस्य स्वाग्रहतत्परेण त्वयैव लुप्तत्वात्। इति गाथार्थः।

तदत्र सूरिः परस्यैवमुगर्वानुविद्धामज्ञतामवलोकयन् मार्गाऽवतारणाय विकल्पयन्नाह—

तं वंजणोग्गहाओ, पुव्वं पच्छा स एव वा होज्जा।
पुव्वं तदत्थवंजण-संबंधाऽभावओ नऽत्थि ॥ २७४ ॥

यद्यनुपहतस्मरणवासनासन्तानस्तदर्थावग्रहात्पूर्वं व्यञ्जनावग्रहो भवतीति यदुक्तं प्राक् तद् भवानपि स्मरति। ततः किम्? इति चेद्, उच्यते-यदेतद्भवदुत्प्रेक्षितं सामान्यग्राहकमालोचनं तत्-तस्माद्व्यञ्जनाऽवग्रहात्पूर्वं वा भवेत्, पश्चाद्वा भवेत्, स एव वा व्यञ्जनावग्रहोऽप्यालोचनं भवेत्? इति त्रयी गतिः, अन्यत्र स्थानाऽभावात्। किं चातः?, इत्याह-पूर्वं तन्नास्तीति संबन्धः। कुतः?, इत्याह-अर्थव्यञ्जनसंबन्धाभावादिति अर्थः—शब्दादिविषयभावेन परिणतद्रव्यसमूहः, व्यञ्जनं तु श्रोत्रादि, अर्थश्च व्यञ्जनं च अर्थव्यञ्जने तयोः संबन्धस्तस्याऽभावात्, सति ह्यर्थव्यञ्जनसंबन्धे सामान्यार्थालोचनं स्याद्, अन्यथा सर्वत्र सर्वदा तद्भावप्रसङ्गात्। व्यञ्जनाऽवग्रहाच्च पूर्वमर्थव्यञ्जनसंबन्धो नाऽस्ति, तद्भावे च व्यञ्जनावग्रहस्यैवेष्टत्वात्तत्पूर्वकालता न स्यादिति भावः। इति गाथार्थः।

द्वितीयविकल्पं शोधयन्नाह—

अत्थोग्गहो वि जं वं-जणोग्गहस्सेव चरमसमयम्मि।
पच्छा वि तो न जुत्तं, परिसेसं वंजणं होज्जा ॥ २७५ ॥

तथा-अर्थावग्रहोऽपि यद्-यस्माद्व्यञ्जनाऽवग्रहस्यैव चरमसमये भवति, इति, प्रागिहापि निर्णीतम्। तस्मात्पश्चादपि व्यञ्जनाऽवग्रहादालोचनज्ञानं न युक्तं, निरवकाशत्वात्। न हि व्यञ्जनार्थाऽवग्रहयोरन्तरे कालः समस्ति, यत्र तत् त्वदीयमालोचनज्ञानं स्यात्, व्यञ्जनाऽवग्रहचरमसमय एवार्थावग्रहसद्भावात्। तस्मात्पूर्वपश्चात्कालयोर्निषिद्धत्वात्पारिशेष्यान्मध्यकालवर्ती तृतीयविकल्पोपन्यस्तो व्यञ्जनं-व्यञ्जनावग्रह एव भवता आलोचनाज्ञानत्वेनाभ्युपगतो भवेत्। एवं च न कश्चिद्दोषः नाममात्र एव विवादात्। इति गाथार्थः।

क्रियतां तर्हि प्रेरकवर्गेण वर्द्धापनकं, त्वदभिप्रायाविसंवादलाभात्, इति चेत्। नैवं, विकल्पद्वयस्येह सद्भावात्, तथा हि-तद् व्यञ्जनावग्रहकालेऽभ्युपगम्यमानमालोचनं किमर्थस्यालोचनं, व्यञ्जनानां वा? इति विकल्पद्वयम्। तत्र प्रथमविकल्पमनूद्य दूषयन्नाह—

तं च समालोयणम-त्थदरिसणं जइ न वंजणं तो तं।
अह वंजणस्स तो कह-मालोयणमत्थसुण्णस्स?॥२७६॥

तत्समालोचनं यदि सामान्यरूपस्यार्थस्य दर्शनमिष्यते ततः तर्हि न व्यञ्जनम्-न व्यञ्जनाऽवग्रहात्मकं भवति, व्यञ्जनाऽवग्रहस्य व्यञ्जनसंबन्धमात्ररूपत्वेनाऽर्थशून्यत्वात्, तथा च-प्रागपि " पुव्वं च तस्स वंजण—कालो सो अत्थ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिसुसणो" इत्यादिना साधितमेवेदम् । अतोऽर्थदर्शनरूपमालोचनं कथमर्थशून्य-व्यञ्जनावग्रहात्मकं भवितुमर्हति ?, विरोधात् । अथ द्वितीयविकल्पमङ्गीकृत्याह-अथ व्यञ्जनस्य शब्दादिविषयपरिणतद्रव्यसंबन्धमात्रस्य तत्समालोचनमिष्यते, तर्हि कथमालोचनं—कथमालोचकत्वं, तस्य घटते ?, इत्यर्थः । कथंभूतस्य सतः ?, इत्याह—अर्थशून्यस्य व्यञ्जनसंबन्धमात्रान्वितत्वेन सामान्यार्थालोचकत्वानुपपत्तेरित्यर्थः । इति गाथार्थः ।

ननु शास्त्रान्तरप्रसिद्धस्यालोचनज्ञानस्य वराकस्य तर्हि का गतिः ? इत्याह—

आलोयण त्ति नामं, हविज्ज तं वंजणोग्गहस्सेव ।
होज्ज कहं सामन्न-ग्गहणं तत्थऽत्थसुन्नम्मि ? ॥२७७॥

तस्मादालोचनमिति यन्नाम तदन्यत्र निर्गतिकं सत्पारिशेष्याद्-व्यञ्जनावग्रहस्यैव द्वितीयं नाम भवेत् । न च चिन्तामात्रप्रवृत्तेषु वस्तूनां बहुष्वपि नामसु क्रियमाणेषु कोऽपि विवादमाविष्करोति ? । अत एतदपि नामान्तरमस्तु, को दोषः ? इति । नैतदेवम् , यस्मादिदं सामान्यग्राहकमालोचनज्ञानं भविष्यति, अर्थावग्रहस्तु विशेषग्राहक इति; एवमप्यस्माकं समीहितसिद्धिर्भविष्यतीति चेत् , इत्याह-'होज्ज' त्यादि । व्यञ्जनावग्रहस्यैव पारिशेष्यादालोचनज्ञानत्वमापन्नं तत्र च प्रागुक्तयुक्तिभिरर्थशून्ये कथं सामान्यग्रहणं भवेत् , येन भवतः समीहितसिद्धिप्रमोदः ?, इति । तस्मादर्थावग्रह एव सामान्याऽर्थग्राहकः, न पुनरस्तस्मादपरमालोचनाज्ञानम् । अत एव यदुक्तम्-" अस्ति ह्यालोचनाज्ञानं, प्रथमं निर्विकल्पकम् " इत्यादि, तदप्यर्थावग्रहाश्रयमेव , यदि घटते ; नाऽन्यविषयम् । इति गाथार्थः ।

अथ ' दुर्बलं वादिनं दृष्ट्वाऽभ्युपगमोऽपि कर्त्तव्यः ' इति न्यायप्रदर्शनार्थमाह—

गहियं व होउ तहियं, सामन्नं कहमणीहिए तम्मि ।
अत्थाऽवग्गहकाले, विसेसणं एस सद्दो त्ति ॥ २७८ ॥

अथवा भवतु तस्मिन् व्यञ्जनाऽवग्रहे सामान्यं गृहीतं, तथाऽपि कथमनीहिते-अविमर्शिते तस्मिन्नकस्मादेवार्थाऽवग्रहकाले ' शब्द एषः ' इति विशेषणं विशेषज्ञानमुक्तं, ' शब्द एवैषः ' इत्ययं हि निश्चयः, न चायमीहामन्तरेण झगित्येव युज्यते, इत्यसकृदेवोक्तप्रायम् । अतो नार्थाऽवग्रहे ' शब्दः ' इत्यादिविशेषबुद्धिर्युज्यते । इति गाथार्थः ।

अथाऽर्थाऽवग्रहसमये शब्दाद्यवगमेन सहैवेहा भविष्यतीति मन्यसे, तत्राऽऽह—

अत्थाऽवग्गहसमये, वीसुमसंखिज्जसमइया दो वि ।
तक्काऽवगमसहावा, ईहाऽवाया कहं जुत्ता ? ॥ २७९ ॥

अर्थाऽवग्रहसंबन्धिन्येकस्मिन्समये कथमीहापायौ युक्तौ ?, इति संबन्धः । कथंभूतावेतौ ? यतः, इत्याह-तर्काऽवगमस्वभावौ, तर्को-विमर्शस्तत्स्वभावा ईहा, अवगमोऽपि-निश्चयस्तत्स्वभावोऽपाय इत्यपि चैतौ पृथगसंख्येयसमयनिष्पन्नौ । एतदुक्तं भवति-यदिदमर्थाऽवग्रहे विशेषज्ञानं त्वयेष्यते सोऽपायः, स चाऽवगमस्वभावो निश्चयस्वरूप इत्यर्थः; या च तत्समकालमीहाऽभ्युपेयते सा तर्कस्वभावा; अनिश्चयात्मिका इत्यर्थः । तत एतौ ईहाऽपायौ अनिश्चयेतरस्वभावौ कथमर्थावग्रहे युगपदेव युक्तौ निश्चयाऽनिश्चययोः परस्परपरिहारेण व्यवस्थितत्वादेकत्रैकदाऽवस्थानाभावेन सहोदयानुपपत्तेः ? इति । एषा तावद्विशेषावगमे-द्वयोः सहभावे एकानुपपत्तिः । अपरं च-समयमात्रकालोऽर्थाऽवग्रह ईहाऽपायौ तु " ईहाऽवायामुहुत्तमंतं तु " इति वचनात्प्रत्येकमसंख्येयसमयनिष्पन्नौ कथमेकस्मिन्नर्थाऽवग्रहसमये स्याताम् । अत्यन्तानुपपन्नत्वात् ? । इति द्वितीयानुपपत्तिः । तस्मादत्यन्ताऽसंबद्धत्वाद्यत्किंचिदेतत् , इत्युपेक्षणीयम् । इति गाथार्थः ।

तदेवं युक्तिशतैर्निराकृतानामपि प्रेरकाणां निःसंख्यात्वात्कश्चिदप्रेयशेषमद्यापि सूरिराशङ्कते—

खिप्पेतराइभेओ, जमुग्गहो तो विसेसविण्णाणं ।
जुज्जइ विगप्पवसओ, सद्दो त्ति सुयम्मि जं केइ ॥२८०॥

' केइ ' त्ति-इहार्थाऽवग्रहे विशेषज्ञानसमर्थनाग्रहममुञ्चन्तोऽद्यापि 'केऽपि' केचिद्वादिनो मन्यन्ते । किम् ? इत्याह-क्षिप्रेतरादिभेदो यस्मादवग्रहो ग्रन्थान्तरे भणितः ' अत्रापि च विस्तरेण भणिष्यते ' इति गम्यते । ततः 'शब्दः' इति विशेषविज्ञानं युज्यते-घटते 'अर्थावग्रहे' इति प्रस्तावादेव लभ्यते । यत्किम् ?, इत्याह-' सुयम्मि जं' ति-"तेणं सद्दे त्ति उग्गहिए" इत्यादिवचनात् यत् 'सूत्रे निर्दिष्ट' इति शेषः । कुतः पुनरिदं विशेषविज्ञानं युज्यते ?, इत्याह-विकल्पवशतोऽन्यथोक्तनानात्ववशतः इत्यक्षरघटना । एतच्चात्र हृदयम् क्षिप्रमवगृह्णाति, चिरेणाऽवगृह्णाति, बह्ववगृह्णाति, अबह्ववगृह्णाति, बहुविधमवगृह्णाति, अबहुविधमवगृह्णाति, एवमनिश्रितं, निश्रितम् , असंदिग्धं, संदिग्धं, ध्रुवम् , अध्रुवं गृह्णाति, इत्यादिना ग्रन्थेनाऽवग्रहादयः शास्त्रान्तरे द्वादशभिर्विशेषणैर्विशेषिताः । अत्रापि च पुरस्तादयमर्थो वक्ष्यते । ततः ' क्षिप्रं चिरेण चावगृह्णाति ' इति विशेषणाऽन्यथानुपपत्तेर्ज्ञायते-नैकसमयमात्रमान एवार्थाऽवग्रहः, किं तु-चिरकालिकोऽपि, नहि समयमात्रमानतया एकरूपे तस्मिन् क्षिप्र-चिरग्रहणविशेषणमुपपद्यत इति भावः । तस्मादेतद्विशेषणबलादसंख्येयसमयमानोऽप्यर्थावग्रहो युज्यते । तथा-बहूनां श्रोतॄणामविशेषेण प्राप्तिविषयस्थे शङ्खभेर्यादिबहुतूर्यनिर्घोषे क्षयोपशमवैचित्र्यात्कोऽप्यबहु अवगृह्णाति; सामान्यं समुदिततूर्यशब्दमात्रमवगृह्णातीत्यर्थः । अन्यस्तु बह्ववगृह्णाति ; शङ्ख-भेर्यादितूर्यशब्दान् भिन्नान् बहून् गृह्णातीत्यर्थः । अन्यस्तु स्त्रीपुरुषादिवाद्यत्व-स्निग्धमधुरत्वादिबहुविधविशेषविशिष्टत्वेन बहुविधमवगृह्णाति, अपरस्तु—अबहुविधविशेषविशिष्टत्वाद् अबहुविधमवगृह्णाति, अत एतस्माद्बहुबहुविधाद्यनेकविकल्पनानात्ववशादवग्रहस्य कस्यचित्सामान्यग्रहणं, कस्यचित्तु—विशेषग्रहणम् , इत्युभयमप्यविरुद्धम् । अतो यत्सूत्रे-" तेणं सद्दे त्ति उग्गहिए " इति वचनात्-'शब्दः ' इति विशेषज्ञानमुपदिष्टं, तदप्यर्थाऽवग्रहे युज्यत एव इति केचित् । इति गाथार्थः ।

अत्रोत्तरमाह—

सच्चिमुग्गहो त्ति भणइ, गहणेहाऽवायलक्खणत्ते वि ।
अह उवचारो कीरइ, तो सुण जह जुज्जए सोऽवि ॥२८१॥

इह पूर्वमनेकधा प्रतिविहितमप्यर्थं पुनः पुनः प्रेरयन्तं प्रेरकं विलोक्यान्तर्विस्फुरदसूयावशात्साक्षेपं काक्वा सूरिः पृच्छति-'किमुग्गहो त्ति भणइ' त्ति-किंशब्दः क्षेपे, यो बहु-बहुविधादिविशेषणवशात् विशेषावगमः स किमबुधचक्रवर्तिन् ! अवग्रहः-अर्थाऽवग्रहो भण्यते ? क सत्यपि ?, इत्याह-'गहणे-हि' त्यादि, ग्रहणं च सामान्यार्थस्य, ईहा अवगृहीतस्य, अपायश्च ईहिताऽर्थस्य ग्रहणे-हाऽ-पायास्तैर्लक्ष्यते-प्रकटीक्रियते यः स तथा तद्भावस्तत्त्वं तस्मिन् सत्यपि बहु-बहुविधादिग्राहको हि विशेषाऽवगमो निश्चयः, स च सामान्याऽर्थग्रहणम्, ईहां च विना न भवति, यश्च तदविनाभावी सोऽपाय एव, कथमर्थावग्रह इति भण्यते ?। इति । एतत्पूर्वमसकृदेवोक्तमपि हन्त ! विस्मरणशीलतया, जडतया, दुष्टाभिनिवेशतया वा पुनः पुनरस्मान् भाणयसीति किं कुर्मः ?, पुनरुक्तमपि ब्रूमो यद्यस्मादायासेनाऽपि कश्चिन्मार्गमासादयतीति । ननु ग्रहणम्, ईहा च विशेषावगमस्य लक्षणं भवतु, ताभ्यां विना तदभावाद्, अपायस्तु कथं तल्लक्षणं, तत्स्वरूपत्वादेवास्य ?। सत्यं, किं तु स्वरूपमपि भेदविवक्षया लक्षणं भवत्येव, यदाह—" विषाऽमृते स्वरूपेण लक्ष्यते कलशादिवत्। एवं च स्वस्वभावाभ्यां, व्यज्येते खलसज्जनौ ॥ १ ॥ " आह—यदि बहु-बहुविधादिग्राहकोऽपाय एव भवति, तर्हि कथमन्यत्राऽवग्रहादीनामपि बह्वादिग्रहणमुक्तम्। सत्यं, किंतु अपायस्य कारणमवग्रहादयः, कारणे च योग्यतया कार्यस्वरूपमस्ति, इत्युपचारतस्तेऽपि बह्वादिग्राहकाः प्रोच्यन्ते, इत्यदोषः । यद्येवं, तर्हि वयमप्यपायगतं विशेषज्ञानमर्थावग्रहेऽप्युपचरिष्याम इति एतदेवाह-' अह ' त्यादि, अथोक्तन्यायेनोपचारं कृत्वा विशेषग्राहकोऽर्थाऽवग्रहः प्रोच्यते । नैतदेवं, यतो मुख्याभावे सति प्रयोजने निमित्ते चोपचारः प्रवर्त्तते । न चेहमुपचारे किंचित्प्रयोजनमस्ति । " तेण सद्दे त्ति उग्गहिए " इत्यादिसूत्रस्य यथा श्रुतार्थनिगमनं प्रयोजनमिति चेत् । न " सद्दे त्ति भणइ वत्ता " इत्यादिप्रकारेणाऽपि तस्य निगमितत्वात् । सामर्थ्यव्याख्यानमिदं, न यथाश्रुतार्थव्याख्येति चेत्। तर्हि यदुपचारेणाऽपि श्रौतोऽर्थः सूत्रस्य व्याख्यायते इति तवाभिप्रायः, तर्हि यथा युज्यते उपचारस्तथा कुरु, न चैवं क्रियमाणोऽसौ युज्यते, यतः ' सिंहो माणवकः ' ' समुद्रस्तडागः ' इत्यादाविव किंचित्साम्ये सत्ययं विधीयमानः शोभते । न चैतत्सामायिकेऽर्थावग्रहेऽसंख्येयसामयिकं विशेषग्रहणं कथमप्युपपद्यते । तर्हि कथमयमुपचारः क्रियमाणो घटेत ?, इति चेद्। अहो ! सुचिरादुपसन्नोऽसि । ततः शृणु समाकर्णयाऽवहितेन मनसा, सोऽपि यथा युज्यते तथा कथयामि-' सद्द त्ति भणइ वत्ता ' इत्यादिप्रकारेण तावद्व्याख्यातं सूत्रम्। यदि चौपचारिकेणाऽप्यर्थेन भवतः प्रयोजनं, तर्हि सोऽपि यथा घटमानकस्तथा कथ्यत इत्यपिशब्दाभिप्रायः। इति गाथार्थः ।

यथा प्रतिज्ञातमेव संपादयन्नाह—

सामण्णमेत्तग्गहणं, नेच्छइओ समयमुग्गहो पढमो ।
तत्तोऽणंतरमीहिय-वत्थुविसेसस्स जोऽवाओ ॥२८२॥
सो पुणरीहावायाऽ-विक्खाओऽवग्गहो त्ति उवयरिओ ।
एस्सविसेसाऽऽविक्खं, सामण्णं गिण्हए जेणं ॥२८३॥
तत्तोऽऽणंतरमीहा, ततोऽवाओ य तव्विसेसस्स ।
इय सामण्णविसेसा-वेक्खा जावंऽतिमो भेओ ॥२८४॥

इहैकसमयमात्रमानो नैश्चयिको निरुपचरितः प्रथमोऽर्थावग्रहः कथंभूतः ?, इत्याह-सामान्यमात्रस्याऽव्यक्तानिर्देश्यस्य वस्तुनो ग्रहणं; सामान्यवस्तुमात्रग्राहक इत्यर्थः, सामयिकानि हि ज्ञानादिवस्तूनि परमयोगिन एव निश्चयवेदिनोऽवगच्छन्तीति नैश्चयिकोऽयमुच्यते । अथ छद्मस्थव्यवहारिभिरपि यो व्यवह्रियते, तं व्यावहारिकमुपचरितमर्थाऽवग्रहं दर्शयति-'तत्तो' इत्यादि, ततो नैश्चयिकाऽर्थाऽवग्रहादनन्तरमीहितस्य-वस्तुविशेषस्य योऽपायः स पुनर्भाविनीमीहाम्, अपायं-चाऽपेक्ष्योपचरितोऽवग्रहोऽर्थाऽवग्रह इति द्वितीयगाथायां संबन्धः । उपचारस्यैवास्य निमित्तान्तरमाह—' एस्से ' त्यादि, एष्यो-भावी योऽन्यो विशेषस्तदपेक्षया येन कारणेनायमपायोऽपि सन् सामान्यं गृह्णाति, यश्च सामान्यं गृह्णाति सोऽर्थावग्रहो यथा प्रथमो नैश्चयिकः । एतदिह तात्पर्य—प्रथमं नैश्चयिकेऽर्थावग्रहे रूपादिभ्योऽव्यावृत्तमव्यक्तं शब्दादि वस्तु सामान्यं गृहीतं, ततस्तस्मिन्नीहिते सति ' शब्द एवायम् ' इत्यादि निश्चयरूपोऽपायो भवति । तदनन्तरं तु ' शब्दोऽयं किं शाङ्खः, शार्ङ्गो वा ' इत्यादिशब्दविशेषविषया पुनरीहा प्रवर्तिष्यते ' शाङ्ख एवाऽयं शब्दः' इत्यादिशब्दविशेषविषयोऽपायश्च यो भविष्यति तदपेक्षया 'शब्द एवायम्' इति निश्चयः प्रथमोऽपायोऽपि सन्नुपचारादर्थावग्रहो भण्यते, ईहाऽपायापेक्षया तु इत्यनेन चोपचारस्यैकं निमित्त सूचितम्, 'शाङ्खोऽयं शब्दः' इत्याद्येष्यविशेषापेक्षया येनाऽसौ सामान्यशब्दरूपं सामान्यं गृह्णातीति, अनेन तूपचारस्यैव द्वितीयं निमित्तमावेदितं; तथा हि-यदनन्तरमीहापायौ, प्रवर्त्तेते, यश्च सामान्यं गृह्णाति, सोऽर्थावग्रहः, यथा आद्यो नैश्चयिकः, प्रवर्त्तेते च 'शब्द एवायमि' त्याद्यपायानन्तरमीहापायौ गृह्णाति च ' शाङ्खोऽयमि ' त्यादिभाविविशेषापेक्षयाऽयं सामान्यम् । तस्मादर्थावग्रहः एष्यविशेषापेक्षया सामान्यं गृह्णातीत्युक्तम् । ततस्तदनन्तरं किं भवति ?, इत्याह-तृतीयगाथायाम्—' तत्तोऽणंतरमि ' त्यादि, ततः सामान्येन शब्दनिश्चयरूपात्प्रथमाऽपायादनन्तरं किमयं 'शब्दः शाङ्खः शार्ङ्गो वा ?' इत्यादिरूपा ईहा प्रवर्त्तते । ततस्तद्विशेषस्य शङ्खप्रभवत्वादेः शब्दविशेषस्य 'शाङ्ख एवायमि' त्यादिरूपेणापायश्च निश्चयरूपो भवति । अयमपि च भूयोऽन्यतमविशेषाकाङ्क्षावतः प्रमातुर्भाविनीमीहामपायं चापेक्ष्य एष्यविशेषापेक्षया सामान्यालम्बनत्वादर्थावग्रहः इत्युपचर्यते । इयं च सामान्यविशेषापेक्षा तावत् कर्त्तव्या, यावदन्त्यो वस्तुनो भेदो विशेषः । यस्माच्च विशेषात्परतो वस्तुनोऽन्ये विशेषा न संभवन्ति सोऽन्त्यः अथवा—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संभवत्स्वपि अन्यविशेषेषु यतो विशेषान्तरतः प्रमातुस्तज्जिज्ञासा निवर्त्तते सोऽन्त्यः, तमन्त्यं विशेषं यावद् व्यावहारिकार्थाऽवग्रहेहाऽपायार्थं सामान्यविशेषापेक्षा कर्त्तव्या। इति गाथात्रयार्थः।

इह च गाथात्रयेऽपि यः पर्यवसितोऽर्थो भवति, तमाह—

सव्वत्थेहाऽवाया, निच्छयओ मोत्तुमाइसामण्णं।
संववहारत्थं पुण, सव्वत्थाऽवग्गहोऽवाओ ॥ २८५ ॥

सर्वत्र विषयपरिच्छेदे कर्तव्ये निश्चयतः-परमार्थतः ईहाऽपायौ भवतः, 'ईहा, पुनरपायः, पुनरीहा, पुनरप्यपायः' इत्येवं क्रमेण यावदन्त्यो विशेषस्तावदीहापायावेव भवतः; नाऽर्थावग्रह इत्यर्थः। किं सर्वत्र एवमेव? न इत्याह— 'मोत्तुमाइसामण्णं ति' आद्यमव्यक्तं सामान्यमात्रालम्बनमेकं सामयिकं ज्ञानं मुक्त्वाऽन्यत्रेहापायौ भवतः, इदं पुनर्नेहा, नाऽप्यपायः, किं त्वर्थावग्रह एवेति भावः। संव्यवहारार्थं व्यावहारिकजनप्रतीत्यपेक्षं पुनः सर्वत्र यो योऽपायः स स उत्तरोत्तरेहाऽ-पायाऽपेक्षया, एष्यविशेषापेक्षया चोपचारतोऽर्थावग्रहः। एवं च तावन्नेयं, यावत्तारतम्येनोत्तरोत्तरविशेषाकाङ्क्षा प्रवर्तते। इति गाथार्थः।

तरतमयोगाभावे तु किं भवतीत्याह—

तरतमजोगाऽभावे, ऽवाउ च्चिय धारणा तदंतम्मि।
सव्वत्थ वासणा पुण, भणिया कालंतरे वि सई ॥२८६॥

तरतमयोगाऽभावे—ज्ञातुरुत्तरविशेषाकाङ्क्षानिवृत्तौ अपाय एव भवति; न पुनस्तस्यावग्रहत्वमिति भावः, तन्निमित्तानां पुनरीहादीनामभावादिति। यद्यत्र ईहादयो न भवन्ति, तर्हि किं भवति?, इत्याह—तदन्ते-अपायान्ते धारणा-तदुपयोगाप्रच्युतिरूपा भवति। शेषस्य वासनास्मृतिरूपस्य धारणाभेदद्वयस्य क्व संभवः?, इत्याह— 'सव्वत्थ वासणा पुण' इत्यादि, वासना च वक्ष्यमाणरूपा, तथा कालान्तरे स्मृतिः, सा च सर्वत्र भणिता। अयमर्थः-अविच्युतिरूपा धारणाऽपायपर्यन्त एव भवति, वासना-स्मृती तु सर्वत्र कालान्तरेऽप्यविरुद्धे। इति गाथार्थः।

एवं चाभिहितस्वरूपव्यावहारिकार्थावग्रहाऽपेक्षया यथाश्रुतार्थव्याख्यानमपि सूत्रस्याविरुद्धमेव, इति दर्शयन्नाह—

सद्दो त्ति य सुयभणियं, विगप्पओ जइ विसेसविण्णाणं।
घिप्पेज्ज तं पि जुज्जइ, संववहारोग्गहे सव्वं ॥ २८७ ॥

'वा' शब्दोऽथवार्थे, ततश्चाऽयमभिप्रायः-'सद्दे त्ति भणइ वत्ता' इत्यादिप्रकारेण तावद्व्याख्यातं "तेणं सद्दे त्ति उग्गहिए" इत्यादिसूत्रम्। अथवा-'शब्द' इति यत्सूत्रे भणितम्—"शब्दस्तेनाऽवगृहीतः" इति यत्सूत्रे प्रतिपादितम्, तद्यदि विकल्पतो विवक्षावशतो विशेषविज्ञानं गृह्यते, तदपि सर्वं युज्यते। कस्मिन्?, इत्याह— यथोक्ते औपचारिके सांव्यवहारिकार्थावग्रहे गृह्यमाणे सति, अत्र हि 'शब्दः' इति विशेषज्ञानं युज्यते, सर्वग्रहणात्तदनन्तरमीहादयश्चोपपद्यन्ते, पूर्वोक्तयुक्तेः। ततश्च "से जहानामए केइ पुरिसे अव्वत्तं सद्दं सुणेज्जा, तेणं सद्दे त्ति उग्गहिए, न उण जाणइ के वेस सद्दे, तओ ईहं पविसइ, तओ अवायं गच्छइ" इत्यादिसर्वं सुस्थं भवति। यद्येवम्, अयमेवार्थावग्रहः कस्मान्न गृह्यते, येन सर्वोऽपि विवादः शाम्यति? इति चेत्। नैवं 'शब्द एवायम्' इत्याद्यपायरूपोऽयमर्थावग्रहः, अपायश्च सामान्यग्रहणेहाभ्यामन्तरेण न संभवति, इत्याद्यसकृत्पूर्वमभिहितमेव। इति प्राक्तनमेव व्याख्यानं मुख्यम्। इत्यलं विस्तरेण। इति गाथार्थः।

व्यावहारिकार्थाऽवग्रहाभ्युपगमे यो गुणस्तं सविशेषमुपदर्शयन्नाह—

खिप्पेयराइभेओ, पुव्वोइयदोसजालपरिहारो।
जुज्जइ संताणेण य, सामण्णविसेसववहारो ॥ २८८ ॥

क्षिप्रेतरादिभेदं यत्पूर्वोदितदोषजालं तस्य परिहारो युज्यते, 'अस्मिन् व्यावहारिकेऽर्थावग्रहे सति' इति प्रक्रमाद् गम्यते। इदमुक्तं भवति-एकसामयिकनैश्चयिकार्थावग्रहव्याख्यातारं प्रति प्राग् यदुक्तं-यद्यसावेकसामयिकस्तर्हि कथं क्षिप्र-चिरग्रहणविशेषणमस्योपपद्यते; तथा यद्यसौ सामान्यमात्रग्राहकः, तर्हि बहु-बहुविधादिविशेषणोक्तं विशेषग्रहणं कथं घटते?, तथाऽर्थावग्रहस्य विशेषग्राहकत्वे यत्समयोपयोगबाहुल्यमुक्तम्; इत्यादिकस्य दोषजालस्य परिहारो व्यावहारिकेऽर्थावग्रहे सति युज्यते, तथा हि—नैश्चयिकावग्रहवादिना इदानीं शक्यमिदं वक्तुं यदुत-क्षिप्र-तरादिविशेषणानि व्यावहारिकावग्रहविषयाण्येतानि, असंख्येयसमयनिष्पन्नत्वेनास्य क्षिप्रचिरग्रहणस्य युज्यमानत्वात् विशेषग्राहकत्वेन बहुबहुविधादिग्रहणस्यापि घटमानकत्वादिति। 'सामण्णतयणणविसेसेहा' इत्यादिना प्रागभिहितं समयोपयोगबाहुल्यमप्यस्मिन्निरास्पदमेव, सामान्यग्रहणेहापूर्वकत्वेन, असंख्येयसामयिकत्वेन चैकसमयोपयोगबाहुल्यस्याऽप्रासंबध्यमानत्वादिति। ननु नैश्चयिकावग्रहे किं क्षिप्रेतरादिविशेषणकलापो, न घटते, येन व्यावहारिकावग्रहापेक्षः प्रोच्यते?। सत्यं, मुख्यतया व्यवहारावग्रहे एव घटते, कारणे कार्यधर्मोपचारात् पुनर्निश्चयावग्रहेऽपि युज्यते, इति प्रागप्युक्तं, वक्ष्यते च, विशिष्टादेव हि कारणात्कार्यस्य वैशिष्ट्यं युज्यते, अन्यथा त्रिभुवनस्याप्यैश्वर्यादिप्रसङ्गः, काष्ठखण्डादेरपि रत्नादिनिचयाऽवाप्तेः, इत्यलं प्रसङ्गेन। प्रकृतमुच्यते-सन्तानेन च योऽसौ सामान्यविशेषव्यवहारो लोके रूढः, सोऽपि 'व्यवहारावग्रहे सति युज्यते' इतीहापि संबध्यते। लोकेऽपि हि यो विशेषः सोऽप्यपेक्षया सामान्यं, यत्सामान्यं तदप्यपेक्षया विशेष इति व्यवह्रियते, तथाहि—'शब्द एवायम्' इत्येवमध्यवसितोऽर्थः पूर्वसामान्यापेक्षया विशेषः, शाङ्खोऽयम्' इत्युत्तरविशेषापेक्षया तु सामान्यम्, इत्येवं यावदन्त्यो विशेषः इति प्रागप्युक्तम्। अयं चोपर्युपरिज्ञानप्रवृत्तिरूपेण सन्तानेन लोके रूढः सामान्यविशेषव्यवहार औपचारिकावग्रहे सत्येव घटते; नाऽन्यथा। तदनभ्युपगमे हि प्रथमापायानन्तरमीहानुत्थानम् उत्तरविशेषाग्रहणं चाभ्युपगतं भवति, उत्तरविशेषाऽग्रहणे च प्रथमाऽपायाध्यवसितार्थस्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशेषत्वमेव, न सामान्यत्वम्; इति पूर्वोक्तरूपो लोकप्रतीतः सामान्यविशेषव्यवहारः समुच्छिद्येत । अथ प्रथमापायानन्तरमभ्युपगम्यते ईहोत्थानम्, उत्तरविशेषग्रहणं च; तर्हि सिद्धं तदपेक्षया प्रथमापायव्यवसितार्थस्य सामान्यत्वं, यश्च सामान्यग्राहकः, यदनन्तरं चेहादि प्रवृत्तिः सोऽर्थावग्रहः, नैश्चयिकाद्यर्थावग्रहवत्, इत्युक्तमेव । इति सिद्धो व्यावहारिकार्थावग्रहः, तत्सिद्धौ च सन्तानप्रवृत्त्या अन्त्यविशेषं यावत्सिद्धः सामान्यविशेषव्यवहारः । इति गाथार्थः । इति मतिज्ञानाद्यभेदलक्षणो द्विभेदोऽप्यवग्रहः समाप्त इति ।

अथ तद्द्वितीयभेदलक्षणामीहां व्याचिख्यासुराह—

इय सामन्नगहणा-णंतरमीहा सदत्थवीमंसा ।
किमिदं सद्दोऽसद्दो, को होज्ज व संखसंगाणं ॥ २८९ ॥

इतिशब्द उपदर्शने, इत्येवं प्रागुक्तेन प्रकारेण नैश्चयिकार्थावग्रहे यत्सामान्यग्रहणं रूपाद्यव्यावृत्त्या व्यक्तवस्तुमात्रग्रहणमुक्तं, तथा व्यवहारार्थावग्रहेऽपि यदुत्तरविशेषापेक्षया शब्दादिसामान्यग्रहणमभिहितं तस्मादनन्तरमीहा प्रवर्त्तते । विशे० । (तस्याः ईहायाः स्वरूपम् ' ईहा ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते) अथ मतिज्ञानतृतीयभेदस्याऽपायस्य स्वरूपम् । (विशे० । २९० गाथया ' अवाय ' शब्दे प्रथमभागे ८०४ पृष्ठे गतम्) अथ चतुर्थो मतिज्ञानभेदो धारणा, इयं चाविच्युतवासनास्मृतिभेदात् त्रिधा भवत्यतः सभेदाऽपि । (विशे० ।) सा धारणा ' धारणा ' शब्दे चतुर्थभागे २९१ गाथया वक्ष्यते)

तदेवं " से जहानामए केइ पुरिसे अव्वत्तं सद्दं सुणेज्जा " इत्यादिसूत्राऽनुरोधेन शब्दमाश्रित्यावग्रहादयो भाविताः । अथ सूत्रकारेणैव यदुक्तम्—" एवं एएणं अभिलावेणं अव्वत्तं रूवं रसं गंधं फासं " इत्यादि, तच्चेतसि निधाय भाष्यकारोऽप्यतिदेशमाह—

सेसेसु वि रूवाइ-सु विसएसु होंति रूवलक्खाइं ।
पायं पच्चासन्न-त्तणेणमीहाइवत्थूणि ॥ २९२ ॥

यथा शब्दे एवं शेषेष्वपि, रूपाऽऽदिविषयेषु साक्षादनुक्तान्यपि रूपलक्षाणि कथितानुसारप्रसरत्प्रज्ञानां चतुरचेतसां सुज्ञेयानि भवन्ति । कानीत्याह-ईहादीन्याभिनिबोधिकज्ञानस्य भेदवस्तूनि । केन रूपलक्षाणीत्याह—प्रायः प्रत्यासन्नत्वेन चक्षुरादिना गृह्यमाणस्य स्थाण्वादेस्तत्राऽगृह्यमाणेन पुरुषादिना सह प्रायो बहुभिर्धर्मैर्यत्प्रत्यासन्नत्वं या प्रत्यासत्तिः सादृश्यमिति यावत् तेन ईहादीनि ज्ञेयानि; न पुनरत्यन्तवैलक्षण्ये स्थाण्वादेरुष्ट्रादिना सहेत्यर्थः । इदमुक्तं भवति—अवग्रहे तावत्सामान्यमात्रग्राहकत्वात् द्वितीयवस्त्वपेक्षाऽपि न विद्यते । ईहा पुनरुभयवस्त्ववलम्बिनी तत्र पुरोदृश्यमानस्य वस्तुनो यत्प्रतिपक्षभूतं वस्तु तत्प्रायो बहुभिर्धर्मैः प्रत्यासन्नं ग्राह्यं न पुनरत्यन्तविलक्षणं पुरो हि मन्दमन्दप्रकाशे दूरात् दृश्यमाने स्थाण्वादौ ' किमयं स्थाणुः, पुरुषो वा ? ' इत्येवमेवेहा प्रवर्त्तते, ऊर्ध्वस्थानारोह-परिणाहतुल्यतादिभिः प्रायो बहुभिर्धर्मैः पुरुषस्य स्थाणुप्रत्यासन्नत्वादिति । ' किमयं स्थाणुः, उष्ट्रो वा ' इत्येवं तु न प्रवर्त्तते । उष्ट्रस्य स्थाण्वपेक्षया प्रायोऽत्यन्तविलक्षणत्वात् । अत एव सामान्यमात्रग्राही अवग्रहोऽत्रादौ न कृतः, किं तु ' ईहादीनि ' इत्येवमेवोक्तं उभयवस्त्ववलम्बित्वेनेहाया एव ' पायं पच्चासन्नत्तणेण ' इति विशेषणस्य सफलत्वाद् अपायस्याऽपि ' स्थाणुरेवायं, न पुरुषः ' इत्यादिरूपेण प्रवृत्तेः । किंचिद्विशेषणस्य सफलत्वादादिशब्दोऽप्यविरुद्धः । इति गाथार्थः ।

इह ' किं शब्दः, अशब्दो वा ' ? इति श्रोत्रेन्द्रियस्य प्रत्यासन्नवस्तूपदर्शनं कृतमेव । अथाऽशेषचक्षुरादीन्द्रियाणां विषयभूतानि प्रत्यासन्नवस्तूनि क्रमेण प्रदर्शयति—

थाणुपुरिसाइकुट्ठु-प्पलाइसंभियकरिल्लमंसाइं ।
सप्पुप्पलनालाइ व, समाणरूवाइविसयाइं ॥ २९३ ॥

' ईहादिवस्तूनि रूपलक्षाणि ' इत्युक्तं कथंभूतानि सन्ति पुनस्तानि रूपलक्षाणि ? इत्याह-समानः समानधर्मा रूपरसादिर्विषयो येषामीहादीनां तानि समानरूपादिविषयाणीति पूर्वगाथायां संबन्धः । कः पुनरमीषां समानधर्मा रूपादिविषयः ?, इत्याह—स्थाणुपुरुषादिवदिति पर्यन्ते निर्दिष्टोऽपि विषयोपदर्शनाभिद्योतको वच्छब्दः सर्वत्र योज्यते । ततश्चक्षुरिन्द्रियप्रभवस्येहादेः स्थाणुपुरुषादिवत्समानधर्मा रूपविषयो द्रष्टव्यः; ' आदिशब्दात्-किमियं शुक्तिका रजतखण्डं वा ?, ' मृगतृष्णिका, पयःपूरो वा ?, 'रज्जुर्विषधरो वा ' इत्यादिपरिग्रहः । घ्राणेन्द्रियप्रभवस्येहादेः कुष्ठो(ष्ठो)त्पलादिवत्समानगन्धो विषयः, तत्र कुष्ठः (ष्ठं) गन्धिकहट्टविक्रेयो वस्तुविशेषः, उत्पलं-पद्मम् अनयोः किल समानगन्धो भवति । तत ईदृशेन गन्धेन ' किमिदं कु(ष्ठं)ष्ठम् , उत्पलं वा ?' इत्येवमीहाप्रवृत्तिः, आदिशब्दात्-' किमत्र सप्तच्छदाः, मत्तकरिणो वा ? ' ' कस्तूरिका, वनगजमदो वा ? ' इत्यादिपरिग्रहः, रसनेन्द्रियप्रभवस्येहादेः संभृतकरीलमांसादिवत्समानरसो विषयः । तत्र संभृतानि संस्कृतानि संधानीकृतान्युत्कृतानि यानि वंशजालसंबन्धीनि करीलानि, तथा मांसम् , अनयोः किलाऽऽस्वादः समानो भवति । ततोऽन्धकारादावन्यतरस्मिन् जिह्वाप्रदत्ते भवत्येवं—' किमिदं संभृतवंशकरीलम् , आमिषं वा ? ' इति; आदिशब्दाद्-' गुडः खण्डं वा ?' 'मृद्वीका, शुष्कराजादनं वा ?, इत्यादिपरिग्रहः । स्पर्शनेन्द्रियप्रभवस्येहादेः सर्पोत्पलनालादिवत्समानस्पर्शो विषयः, सर्पो-त्पलयोश्च तुल्यस्पर्शेनेहाप्रवृत्तिः सुगमैव, आदिशब्दात्-स्त्रीपुरुषलेष्टूपलादिसमानस्पर्शवस्तुपरिग्रहः । इति गाथार्थः ।

अथ यदुक्तं सूत्रे ' से जहानामए केइ पुरिसे अव्वत्तं सुमिणं पासेज्जा " इत्यादि, तदनुसृत्य स्वप्ने मनसोऽप्यवग्रहादीन् दर्शयन्नाह—

एवं चिय सिमिणाइसु, मणसो सद्दाइएसु विसएसु ।
होंतिंदियवावारा-भावे वि अवग्गहाईया ॥ २९४ ॥

एवमेव--उक्तानुसारेणेन्द्रियव्यापाराभावेऽपि स्वप्नादिषु, आदिशब्दात्--दत्तकपाटसान्धकारापवरकादीनीन्द्रियव्या-

धाराभावयन्ति स्थानानि गृह्यन्ते, तेषु केवलस्यैव मनसो मन्यमानेषु शब्दादिविषयेष्ववग्रहादयोऽवग्रहेहापायधारणा भवन्तीति स्वयमभ्यूह्याः, तथाहि-स्वप्नादौ चित्तोत्प्रेक्षामात्रेण श्रूयमाणे गीतादिशब्दे प्रथमं सामान्यमात्रोत्प्रेक्षायामवग्रहः, 'किमयं शब्दः, अशब्दो वा' इत्याद्युत्प्रेक्षायां त्वीहा, शब्दनिश्चये पुनरपायः, तदनन्तरं तु धारणा । एवं देवतादिरूपे, कर्पूरादिगन्धे, मोदकादिरसे, कामिनीकुचकलशादिस्पर्शे चोत्प्रेक्ष्यमाणे अवग्रहादयो मनसः केवलस्य भावनीयाः । इति गाथार्थः ।

(५) आह नन्वेते अवग्रहादय उत्क्रमेण व्यतिक्रमेण वा किमिति न भवन्ति । यद्वा-ईहादयस्त्रयो द्वौ एको वा किं नाऽभ्युपगम्यन्ते यावत्सर्वेऽप्यभ्युपगम्यन्त इत्याशङ्क्याह—

उक्कमओऽइक्कमओ, एगाभावे वि वा न वत्थुस्स ।
जं सब्भावाहिगमो, तो सव्वे नियमियक्कमा य ॥२६५॥

एषामवग्रहादीनामुत्क्रमेण-उत्क्रमतः, अतिक्रमेण-अतिक्रमतः, 'अपि'शब्दस्य भिन्नक्रमत्वादेकस्याप्यभावे वा यस्माद्वस्तुनः सद्भावाधिगमः,तस्मात्सर्वे चत्वारोऽप्येष्टव्याः, तथा नियमितक्रमाश्च-सूत्रनिर्दिष्टपरिपाट्यन्विताश्च 'भवन्त्येतेऽवग्रहादयः' इति प्रक्रमाल्लभ्यते । इत्यक्षरयोजना । भावार्थस्तूच्यते-तत्र पश्चानुपूर्वीभवनमुत्क्रमः । अनानुपूर्वीभवनं त्वतिक्रमः । कदाचिदवग्रहमतिक्रम्येहा तामप्यतिलङ्घ्यापायस्तमप्यतिवृत्य धारणेति ; एवमनानुपूर्वीरूपोऽतिक्रम इत्यर्थः । एताभ्यामुत्क्रमव्यतिक्रमाभ्यां तावदवग्रहादिभिर्वस्तुस्वरूपं नाऽवगम्यते । तथैषां मध्ये एकस्याऽप्यन्यतरस्याऽभावे वैकल्येन वस्तुस्वभावावबोध इत्यसकृदुक्तप्रायमेव । ततः सर्वेऽप्यमी एष्टव्याः, नत्वेकः, द्वौ त्रयो वेत्यर्थः । तथा—" उग्गहो ईहाऽवाओ य धारणा एव होन्ति चत्तारि" इत्यस्यां गाथायां यथैवकारेण पूर्वमेतेषां नियमितः क्रमः, तथैवैते नियमितक्रमा भवन्ति, नोत्क्रमाऽतिक्रमाभ्यामिति भावः । इति गाथार्थः ।

अथोत्क्रमाऽतिक्रमयोरेकादिवैकल्ये चाऽवग्रहादीनां वस्त्वधिगमाऽभावे युक्तिमाह—

ईहिज्जइ नाऽगहियं, नज्जइ नाणीहियं न याऽनायं ।
धारिज्जइ जं वत्थुं, तेण कमोऽवग्गहाई उ ॥ २६६ ॥

यस्मादवग्रहेणागृहीतं वस्तु नेह्यते-न तत्रेहा प्रवर्तते, ईहाया विचाररूपत्वाद् अगृहीते च वस्तुनि निरास्पदत्वेन विचाराऽयोगादिति भावः । तदनेन कारणेनादौ अवग्रहं निर्दिश्य पश्चादीहा निर्दिष्टा । न चाऽनीहितम्-अविचारितं ज्ञायते-अपायविषयतां याति, अपायस्य निश्चयरूपत्वात् , निश्चयस्य च विचारपूर्वकत्वादिति हृदयम् । एतदभिप्रायवता चापायस्यादौ ईहा निर्दिष्टेति । न चाज्ञातम्-अपायेनाऽनिश्चितं धार्यते—धारणाविषयीभवति वस्तु-धारणाया अर्थावधारणरूपत्वादवधारणस्य च निश्चयमन्तरेणाऽयोगादित्यभिप्रायः । ततश्च धारणादावपायः । ततः किम् ?, इत्याह-तेनाऽवग्रहादिरेव क्रमो न्याय्यः, नोत्क्रमातिक्रमौ, यथोक्तन्यायेन वस्त्ववगमाऽभावप्रसङ्गात् । इति गाथार्थः ।

तदेवं निराकृतौ सयुक्तिकमुत्क्रमाऽतिक्रमौ । अथ यदुक्तम्-' एगाऽभावे वि वा न वत्थुस्स जं सब्भावाहिगमो तो सव्वे ' त्ति, तत्रापीयमेव युक्तिरिति दर्शयन्नाह—

एत्तो च्चिय ते सव्वे, भवंति भिन्ना य नेव समकालं ।
न वइक्कमो य तेसिं, न अन्नहा नेयसब्भावो ॥ २६७ ॥

यत एव 'नाऽगृहीतमीह्यते,' इत्याद्युक्तम् , एतस्मादेव च तेऽवग्रहादयः सर्वे चत्वारोऽप्येष्टव्या भवन्ति, उक्तन्यायादेकवैकल्येऽपि मतिज्ञानं संपद्यत इत्यर्थः । ' पूर्वमवगृहीतमीह्यत ' इत्याद्युक्तेरेव च ते भिन्नाः-परस्परमसंकीर्णाः, उत्तरोत्तरापूर्वभिन्नवस्तुपर्यायग्रहणादिति । ' नागृहीतमीह्यत ' इत्यादियुक्तेरेव च न ते समकालम् , भिन्नाः सिद्धास्तेऽवग्रहादयः समकालमपि नैव भवन्ति; युगपन्न जायन्त इत्यर्थः । ' पूर्वमवगृहीतमेवोत्तरकालमीह्यते, ईहोत्तरकालमेव च निश्चीयते ' इत्याद्युक्तन्यायेनैवावग्रहादीनामुत्पत्तिकालस्य भिन्नत्वात् न युगपत्संभव इति भावः । उक्तयुक्तेरेव तेषां न व्यतिक्रमः, उपलक्षणत्वात् ' नाऽप्युत्क्रमः ' इत्यपि द्रष्टव्यम् । एतच्च ' तेण कमोऽवग्गहाईउ ' इत्यनन्तरगाथाचरमपादेन सामर्थ्यादुक्तमपि प्रस्तावात्पुनरपि साक्षादुक्तम् , इत्यदोषः । तदेवं ' ईहिज्जइ नागहियं ' इत्यादियुक्तैर्यथोक्तधर्मका एवाऽवग्रहादयः, न विपर्ययधर्माण इति साधितम् । अथ ज्ञेयवशेनाऽप्येषां यथोक्तधर्मकत्वं सिसाधयिषुरिदमाह—' न अन्नहा नेयसब्भावो ' त्ति-ज्ञेयस्याप्यवग्रहादिग्राह्यस्य शब्द-रूपादेर्नान्यथा स्वभावोऽस्ति, येनाऽवग्रहादयस्तद्ग्राहकाः यथोक्तरूपतां परित्यज्याऽन्यथा भवेयुरित्यर्थः । इदमुक्तं भवति-ज्ञेयस्याऽपि शब्दादेः स स्वभावो नास्ति य एतैरवग्रहादिभिरेकादिविकलैरभिन्नैः समकालभाविभिरुत्क्रमातिक्रमवद्भिश्चावगम्येत । किंतु-शब्दादिज्ञेयस्वभावोऽपि तथैव-व्यवस्थितो यथाऽमीभिः सर्वैर्भिन्नैः, असमकालैः, उत्क्रमातिक्रमरहितैश्च संपूर्णो यथावस्थितश्चावगम्यते, अतो ज्ञेयवशेनाप्येते यथोक्तरूपा एव भवन्ति । तदेवम्-' उक्कमओ अतिक्कमओ एगाऽभावे वि वा ' इत्यादिगाथोक्तं प्रसक्तोऽन्यदपि भिन्नत्वम् , असमकालत्वं च समर्थितम् , इति गाथार्थः ।

अत्र परः प्राऽऽह—

अब्भत्थेऽवाओ च्चिय, कत्थइ लक्खिज्जई इमो पुरिसो ।
अन्नत्थ धारण च्चिय, पुरोवलद्धे इमं तंति ॥ २६८ ॥

स्वभ्यस्तेऽनवरतं दृष्टपूर्वे, विकल्पिते, भाविते च विषये पुनः कश्चित्कदाचिदवलोकिते अवग्रहेहाद्वयमनिक्रम्य प्रथमतोऽप्यपाय एव लक्ष्यते-अनुभूयते निर्विवादमशेषैरपि जन्तुभिः, यथाऽसौ ' पुरुष ' इति । अन्यत्र पुनः कश्चित्पूर्वोपलब्धे सुनिश्चिते दृढवासने विषयेऽवग्रहेहापायानतिलङ्घ्य स्मृतिरूपा धारणैव लक्ष्यते, यथा ' इदं तद्वस्तु यदस्माभिः पूर्वमुपलब्धम् ' इति तत्कथम् ?, उच्यते-उत्क्रमाऽतिक्रमाभ्याम् , एकादिवैकल्ये च न वस्तुसद्भावाऽधिगमः ?-इदं च कथमभिधीयते " ईहिज्जइ नागहियं " इत्यादीतिप्रेरकाभिप्रायः । इति गाथार्थः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भ्रान्तोऽयमनुभव इति दर्शयन्नाह—

उप्पलदलसयवेहे व्व, दुव्विभावत्तणेण पडिहाइ।
समयं व सुक्कसक्कुलि-दसणे विसयाणमुवलद्धी ॥२६६॥

'क्वचित्प्रथममेवाऽपायः, क्वचित्तु धारणैव' इति यस्यया प्रेर्यते, तत् 'प्रतिभाति' इत्यनन्तरगाथोक्तेन संबन्धः। केनैतत् प्रतिभाति?, इत्याह—दुःखेन विभाव्यते दुर्विभावो दुर्लक्षस्तद्भावस्तत्त्वं तेन दुर्विभावत्वेन—दुर्लक्षत्वेनाऽवग्रहादिकालस्येति गम्यते। कस्मिन्निव इत्याह—उत्पलं-पद्मं तस्य दलानि-पत्राणि तेषां शतं तस्य सूच्यादिना वेधनं वेधस्तस्मिन्निव। इदमुक्तं भवति-यथा तरुणः-समर्थपुरुषः पद्मपत्रशतस्य सूच्यादिना वेधं कुर्वाण एवं मन्यते, मया एतानि युगपद्विद्धानि, अथ च प्रतिपत्रं तानि कालभेदेनैव भिद्यन्ते, न चाऽसौ तं कालमतिसौक्ष्म्याद्भेदेनावबुध्यते, एवमत्राप्यऽवग्रहादिकालस्यातिसूक्ष्मतया-दुर्विभावनीयत्वेनाऽप्रतिभासः, न पुनरसत्त्वेन, ईहादयो ह्यन्यत्र कदाचित्सावत्स्फुटमेवानुभूयन्ते, यत्राऽपि स्वसंवेदनेन नाऽनुभूयन्ते, तत्राऽपि "ईहिज्जइ नागहियं नज्जइ नाणीहियं" इत्यादि प्रागस्मदभिहितयुक्तिकलापादवसेयाः। तस्मादुत्पलदलशतवेधोदाहरणेन भ्रान्त एवायं प्रथमत एवाऽपायादिप्रतिभासः। अथोदाहरणान्तरेणाप्यऽस्य भ्रान्ततामुपदर्शयति-'समयं वे'त्यादि, वा' इति-अथवा, यथा शुष्कशष्कुलीदशने समयं-युगपदेव सर्वेन्द्रियविषयाणां-शब्द-रूप-रस-गन्ध-स्पर्शानामुपलब्धिः प्रतिभाति, तथैषोऽपि प्राथम्येनाऽपायादिप्रतिभासः। एतदुक्तं भवति—यथा कस्यचित् शुष्कां दीर्घां शष्कुलिकां भक्षयतः, तच्छब्दोत्थानाच्छब्दविज्ञानमुपजायते, अत एव शुष्कत्वविशेषणं, मृदुत्वेनतस्यां शब्दानुत्थानादिति। शब्दश्रवणसमकालमेव च दीर्घत्वात् तस्या दृष्ट्या तद्रूपदर्शनं चाऽयमनुभवति, अत एव च दीर्घत्वविशेषणम्, अतिह्रस्वत्वे मुखप्रविष्टायास्तस्याः शब्दश्रवणसमकालं रूपदर्शनानुभवाभावादिति। रूपदर्शनसमकालं च तद्गन्धज्ञानमनुभवति, अत एव शष्कुलीग्रहणं गन्धोत्कटत्वात्तस्याः, इक्षुखण्डादिषु तु दीर्घेष्वऽपि तथाविधगन्धाभावादिति गन्धादिज्ञानसमकालं च तद्रसस्पर्शज्ञानेऽनुभवति। तदेवं पञ्चानामपीन्द्रियविषयाणामुपलब्धिर्युगपदेवास्य प्रतिभाति। न चेयं सत्या इन्द्रियज्ञानानां युगपदुत्पादाऽयोगात्, तथा हि-मनसा सह संयुक्तमेवेन्द्रियं स्वविषयज्ञानमुत्पादयति; नाऽन्यथा, अन्यमनस्कस्य रूपादिज्ञानानुपलम्भात्। न च सर्वेन्द्रियैः सह मनो युगपत्संयुज्यते, तस्यैकोपयोगरूपत्वात्, एकत्र ज्ञानादि एककालेऽनेकैः संयुज्यमानत्वायोगात्। तस्मान्मनसोऽत्यन्ताशुसंचारित्वेन कालभेदस्य दुर्लक्षत्वाद्युगपत्सर्वेन्द्रियविषयोपलब्धिरस्य प्रतिभाति। परमार्थतस्त्वस्यामपि कालभेदोऽस्त्येव ततो यथाऽसौ भ्रान्तैर्नोपलक्ष्यते तथाऽवग्रहादिकालेऽपीति प्रकृतम्। दीर्घत्वविशेषणं च शष्कुलिकाया गाथायामनुक्तमप्युपलक्षणत्वाद्विहितमिति परिभावनीयम्। तदेवमवग्रहादीनां नैकादिवैकल्यं नाप्युत्क्रमाऽतिक्रमाविति स्थितम्। इति गाथार्थः। विशे०।

(७) आभिनिबोधिकज्ञानस्य अष्टाविंशति २८ भेदाः—

एवं अट्ठावीसइविहस्स आभिणिबोहियनाणस्स। वंजणुग्गहस्स परूवणं करिस्सामि; पडिबोहगदिट्ठंतेणं, मल्लगदिट्ठंतेण य। से किं तं पडिबोहगदिट्ठंतेणं?, पडिबोहगदिट्ठंतेणं से जहानामए केइ पुरिसे कंचि पुरिसं सुत्तं पडिबोहिज्जा अमुगा! अमुग! त्ति, तत्थ चोयगे पन्नवगं एवं वयासी-किं एगसमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति, दुसमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति, ०जाव दससमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति, संखिज्जसमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति, असंखिज्जसमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति, एवं वदंतं चोयगं पण्णवए एवं वयासी-नो एगसमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति, नो दुसमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति, ०जाव नो दससमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति, नो संखिज्जसमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति, असंखिज्जसमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति, से तं पडिबोहगदिट्ठंऽतेणं॥

से किं तं मल्लगदिट्ठंतेणं?, मल्लगदिट्ठंतेणं-से जहानामए केइ पुरिसे आवागसीसाओ मल्लगं गहाय तत्थेगं उदगबिंदुं पक्खिविज्जा से नट्ठे, अण्णे वि पक्खित्ते से वि नट्ठे; एवं पक्खिप्पमाणेसु पक्खिप्पमाणेसु होही से उदगबिंदू जेणं तं मल्लगं रावेहिइ त्ति, होही से उदगबिंदू जेणं तंसि मल्लगंसि ठाहिति, होही से उदगबिंदू जेणं तं मल्लगं भरिहिति, होही से उदगबिंदू जेणं तं मल्लगं पवाहेहिति, एवामेव पक्खिप्पमाणेहिं पक्खिप्पमाणेहिं अणंतेहिं पुग्गलेहिं जाहे तं वंजणं पूरियं होइ ताहे हुंति करेइ, नो चेव णं जाणइ केवि एस सद्दाइ?, तओ ईहं पविसइ तओ जाणइ अमुगे एस सद्दाइ, तओ अवायं पविसइ, तओ से उवगयं हवइ, तओ णं धारणं पविसइ, तओ णं धारेइ संखिज्जं वा कालं असंखेज्जं वा कालं। से जहानामए केइ पुरिसे अव्वत्तं सद्दं सुणिज्जा तेणं सद्दो त्ति उग्गहिए, नो चेव णं जाणइ के वेस सद्दाइ तओ ईहं पविसइ तओ जाणइ अमुगे एस सद्दे, तओ णं अवायं पविसइ तओ से उवगयं हवइ तओ धारणं पविसइ, तओ णं धारेइ संखिज्जं वा कालं असंखिज्जं वा कालं। से जहानामए केइ पुरिसे अव्वत्तं रूवं पासिज्जा तेणं रूव त्ति उग्गहिए नो चेव णं जाणइ के वेस रूव त्ति तओ ईहं पविसइ तओ जाणइ अमुगे एस रूवे त्ति तओ अवायं पविसइ तओ से उवगयं हवइ तओ धारणं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पविसइ तओ णं धारेइ संखिज्जं वा कालं असंखिज्जं वा कालं । से जहानामए केइ पुरिसे अव्वत्तं गंधं अग्घाइज्जा तेणं गंधे त्ति उग्गहिए नो चेव णं जाणइ के वेस गंधे त्ति तओ ईहं पविसइ तओ जाणइ अमुके एस गंधे तओ अवायं पविसइ तओ से उवगयं हवइ तओ धारणं पविसइ तओ णं धारेइ संखिज्जं वा कालं असंखिज्जं वा कालं । से जहानामए केइ पुरिसे अव्वत्तं रसं आसाइज्जा तेणं रसो त्ति उग्गहिए नो चेव णं जाणइ के वेस रसे त्ति तओ ईहं पविसइ तओ जाणइ अमुगे एस रसे तओ अवायं पविसइ तओ से उवगयं हवइ तओ धारणं पविसइ, तओ णं धारेइ संखिज्जं वा कालं असंखिज्जं वा कालं । से जहानामए केइ पुरिसे अव्वत्तं फासं पडिसंवेइज्जा तेणं फासे त्ति उग्गहिए नो चेव णं जाणइ के वेस फासे त्ति तओ ईहं पविसइ तओ जाणइ अमुगे एस फासे तओ अवायं पविसइ तओ से उवगयं हवइ तओ धारणं पविसइ तओ णं धारेइ संखिज्जं वा कालं असंखिज्जं वा कालं । से जहानाम केइ पुरिसे अव्वत्तं सुमिणं पासिज्जा तेणं सुमिणो त्ति उग्गहिए नो चेव णं जाणइ के वेस सुमिणे त्ति तओ ईहं पविसइ तओ जाणइ अमुगे एस सुमिणे तओ अवायं पविसइ तओ से उवगयं हवइ तओ धारणं पविसइ तओ णं धारेइ संखिज्जं वा कालं असंखिज्जं वा कालं । सेत्तं मल्लगदिट्ठंतेणं । (सूत्र-३५)

'एवं अट्ठावीसे' इत्यादि । एवम्-उक्तेन प्रकारेण अष्टाविंशतिविधस्य, कथमष्टाविंशविधतेति, उच्यते-चतुर्धा व्यञ्जनावग्रहः, षोढा अर्थावग्रहः, षोढा ईहा, षड्विधोऽपायः, षोढा धारणेत्यावष्टाविंशतिविधता एवमष्टाविंशतिविधस्याभिनिबोधिकज्ञानस्य संबन्धी यो व्यञ्जनावग्रहः तस्य स्पष्टतरस्वरूपपरिज्ञानाय प्ररूपणां करिष्यामि । कथम् ? इत्याह-प्रतिबोधकदृष्टान्तेन, मल्लकदृष्टान्तेन च । तत्र प्रतिबोधयतीति प्रतिबोधकः—सुप्तस्योत्थापकः स एव दृष्टान्तः प्रतिबोधकदृष्टान्तः तेन, मल्लकं-शरावं तदेव दृष्टान्तो मल्लकदृष्टान्तस्तेन च, 'से किं तमि' त्यादि, अथ कथं प्रतिबोधकदृष्टान्तेन, व्यञ्जनावग्रहस्य प्ररूपणेति शेषः । आचार्यः प्राह—प्रतिबोधकदृष्टान्तेनेयं व्यञ्जनावग्रहप्ररूपणा, स यथानामको-यथासंभवनामधेयः कोऽपि पुरुषः, अत्र सर्वत्रापि एकारो मागधिकभाषालक्षणानुसरणात्, तच्च प्रागेवानेकशः उक्तं च-कश्चिदनिर्दिष्टनामानं यथासंभवनामकं पुरुषं सुप्तं सन्तं प्रतिबोधयेत्, कथमित्याह-अमुक अमुक इति, तत्र एवमुक्ते सति 'चोदको' ज्ञानावरणकर्मोदयतः कथितमपि सूत्रार्थमनवगच्छन् प्रश्नं चोदयतीति चोदकः, यथावस्थितं सूत्रार्थं प्रज्ञापयतीति प्रज्ञापको गुरुः, तम् एवं वक्ष्यमाणेन प्रकारेण अवादीत्

भूतकालनिर्देशोऽनादिमानागम इति ख्यापनार्थः, वचनप्रकारमेव दर्शयति—किमेकसमयप्रविष्टाः पुद्गला ग्रहणमागच्छन्ति ?-ग्राह्यतामुपगच्छन्ति, किं वा-द्विसमयप्रविष्टाः ?, इत्यादि सुगमम्, एवं वदन्तं चोदकं प्रति प्रज्ञापकः अवादीत्-उक्तवान् नो एकसमयप्रविष्टा इत्यादि, प्रकटार्थं यावन्नो संख्येयसमयप्रविष्टाः पुद्गला ग्रहणमागच्छन्ति नवरमयं प्रतिषेधः स्फुटप्रतिभासरूपार्थावग्रहलक्षणविज्ञानग्राह्यतामधिकृत्य वेदितव्यो, यावता पुनः प्रथमसमयादप्यारभ्य किञ्चित्किञ्चिदव्यक्तं ग्रहणमागच्छन्तीति प्रतिपत्तव्यम्, 'जं वंजणोग्गहणमिति भणियं विन्नाणं अव्वत्तं' इतिवचनप्रामाण्यात् 'असंखेज्जे' त्यादि, आदित आरभ्य प्रतिप्रसमयप्रवेशनेनासंख्येयान् समयान् यावत् ये प्रविष्टाः ते असंख्येयसमयप्रविष्टाः पुद्गला ग्रहणमागच्छन्ति अर्थावग्रहरूपविज्ञानग्राह्यतामुपपद्यन्ते असंख्येयसमयप्रविष्टेषु तेषु चरमसमये प्रविष्टाः पुद्गला अर्थावग्रहविज्ञानमुपजनयन्तीत्यर्थः । अर्थावग्रहाविज्ञानाच्च प्राक् सर्वोऽपि व्यञ्जनावग्रहः । एषा प्रतिबोधकदृष्टान्तेन व्यञ्जनावग्रहस्य प्ररूपणा व्यञ्जनावग्रहस्य च कालो जघन्यतः आवलिकाऽसङ्ख्येयभागः, उत्कर्षतः संख्येया आवलिकाः, ता अपि संख्येया आवलिकाः आनपानपृथक्त्वकालमाना वेदितव्याः, यत उक्तम्-' वंजणवग्गहकालो, आवलियासंखभागतुल्लो उ । थोवा उक्कोसा पुण, आणापाणू पहुत्तंति ' ॥ १ ॥ 'सेत्तमि' त्यादि, निगमनम्, सेयं प्रतिबोधकदृष्टान्तेन व्यञ्जनावग्रहस्य प्ररूपणा ॥ 'से किं तमि' त्यादि, अथ कथं मल्लकदृष्टान्तेन व्यञ्जनावग्रहस्य प्ररूपणा ?, सूरिराह-सः-अनिर्दिष्टस्वरूपो यथानामकः कश्चित् पुरुषः आपाकशिरसः-आपाकः प्रतीतः तस्य शिरसो मल्लकं-शरावं गृहीत्वा इदं हि किल रूक्षं भवति ततोऽस्योपादानं, तत्र मल्लके एकमुदकबिन्दुं प्रक्षिपेत्, स नष्टः, तत्रैव तद्भावपरिणतिमापन्न इत्यर्थः, ततो द्वितीयं प्रक्षिपेत् सोऽपि विनष्टः, एवं प्रक्षिप्यमाणेषु प्रक्षिप्यमाणेषु भविष्यति स उदकबिन्दुर्यस्तत् मल्लकं 'रावेहिइ' इति देश्योऽयं शब्दः-आर्द्रतां नेष्यति, शेषं सुगमं, यावदेवमित्यादि, एवमेव उदकबिन्दुभिरिव निरन्तरं प्रक्षिप्यमाणैः प्रक्षिप्यमाणैरनन्तैः शब्दरूपतापरिणतैः पुद्गलैर्यदा तद् व्यञ्जनं पूरितं भवति तदा हुं करोति-हुंकारं मुञ्चति-तदा तान् पुद्गलान् अनिर्देश्यरूपतया परिच्छिनत्ति, इति भावार्थः । अत्र व्यञ्जनशब्देन उपकरणेन्द्रियं शब्दादिपरिणतं वा द्रव्यं तयोः संबन्धो गृह्यते, तेन न कश्चिद्विरोधः । आह च भाष्यकृत्-" तोएण मल्लगं पि व, वंजणमापूरियं ति जं भणियं । तं दव्वमिंदियं वा, तस्संबंधो व न विरोहो ॥२५०॥ " तत्र यदा व्यञ्जनमुपकरणेन्द्रियमधिक्रियते तदा पूरितमिति कोऽर्थः—परिपूर्णं भृतं-व्याप्तमित्यर्थः, यदा व्यञ्जनं द्रव्यमभिगृह्यते तदा पूरितमिति प्रभूतीकृतं स्वप्रमाणमानीतं स्वव्यक्तौ समर्थीकृतमित्यर्थः, यदा तु व्यञ्जनं द्वयोरपि संबन्धो गृह्यते तदा पूरितमिति । किमुक्तं भवति-तावत् संबन्धोऽभूत् यावति सति ते शब्दादिपुद्गला ग्रहणमागच्छन्ति, आह च चूर्णिकृत्-" यदा पु-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्गलदव्वा वंजणं तया पूरियंति पभूया ते पुग्गलदव्वा जाया-स्वं प्रमाणमानीताः सविसयपडिबोहसमत्था जाया " इत्यादि, " जया उवगरणिंदियं वंजणं तया पूरियंति कहं उच्यते ?, जाहे तेहिं पुग्गलेहिं तं दव्विदियं आवूतं भरियं " व्यापितं तया पूरयंति भण्णइ, जया उभयसंबंधो वंजणं तया पूरियंति कहं ?, उच्यते, दव्वेंदियस्स । पुग्गला अंगीभावमागता, पोग्गला दव्विदिए अभिषिक्ता इत्यर्थः, । तया पूरियंति इति भण्णइ इति, एवं च यदा पूरितं भवति व्यञ्जनं तदा हुं इति करोति-अर्थावग्रहरूपेण ज्ञानेन तमर्थं गृह्णाति, किं च ?, नामजात्यादिकल्पनारहितं, तथा चाह-" नो चेव णं जाणइ केवेस सद्दाइ त्ति"-न पुनरेवं जानाति क एष शब्दादिरर्थ इति, स्वरूपद्रव्यगुणक्रियाविशेषकल्पनारहितमनिर्देश्यं सामान्यमात्रं गृह्णातीत्यर्थः । एवं रूपसामान्यमात्रकारणत्वादर्थावग्रहस्य एतस्माच्च पूर्वः सर्वोऽपि व्यञ्जनावग्रहः, एषा मल्लकदृष्टान्तेन व्यञ्जनाऽवग्रहस्य प्ररूपणा, हुंकारकरणं चार्थावग्रहबलप्रवर्तितम्, तत ईहां प्रविशति किमिदं किमिदमिति विमर्शं कर्त्तुमारभते, तत ईहानन्तरं क्षयोपशमविशेषभावाज्जानाति अमुक एष शब्दादिरिति, 'तत' एवं रूपे ज्ञानपरिणामे प्रादुर्भवति सति सोऽपायं प्रविशति, ततोऽपायानन्तरमन्तर्मुहूर्तकालं यावदुपगतं भवति-सामीप्येनात्मनि शब्दादिज्ञानं परिणतं भवति, अविच्युतिरन्तर्मुहूर्तकालं यावत् प्रवर्तत इत्यर्थः, ततो धारणां प्रविशति, सा च धारणा वासनारूपा द्रष्टव्या, यत आह-"तत्तो णमि" त्यादि, ततो धारणायां प्रवेशात् 'णमि' तिवाक्यालङ्कारे, संख्येयं वा असंख्येयं वा कालं हृदि धारयन्ति, तत्र संख्येयवर्षायुषः संख्येयं कालम्, असंख्येयवर्षायुषस्तु असंख्येयं कालम् । अत्राह—सुप्तमङ्गीकृत्य पूर्वोक्तः प्रकारः सर्वोऽपि घटते, जाग्रतस्तु शब्दश्रवणसमनन्तरमेवाऽवग्रहेहाव्यतिरेकेणावायज्ञानमुपजायते, तथा प्रतिप्राणि संवेदनात्, तन्निषेधार्थमाह-'से जहानामए' इत्यादि, स यथानामकः कश्चित् जाग्रदपि पुरुषोऽव्यक्तं शब्दं शृणुयात्, अव्यक्तमेव प्रथमं शब्दं शृणोति, अव्यक्तं नाम—अनिर्देश्यस्वरूपं नामजात्यादिकल्पनारहितम्, अनेनाऽवग्रहमाह, अर्थाऽवग्रहश्च श्रोत्रेन्द्रियस्य संबन्धिव्यञ्जनाऽवग्रहमन्तरेण न भवति ततो व्यञ्जनाऽवग्रहोऽप्युक्तो वेदितव्यः, अत्राह-नन्वेवं क्रमो न कोऽप्युपलभ्यते, किंतु प्रथमत एव शब्दाऽपायज्ञानमुपजायते, सूत्रेऽपि चाऽव्यक्तमिति शब्दविशेषणं कृतम्, ततोऽयमर्थो व्याख्येयः-अव्यक्तम्—अनवधारितशाङ्खशार्ङ्गादिविशेषं शब्दं शृणुयादिति, इदं च व्याख्यानमुत्तरसूत्रमपि संवादयति-'तेण सद्दो त्ति उग्गहिए' तेन-प्रमात्रा शब्द इत्यवगृहीतं, 'नो चेव णं जाणइ केवेस सद्दाऽऽइ' न पुनरेवं जानाति-क एष शब्दः-शाङ्खः शार्ङ्ग इति वा?, शब्द इत्यत्राऽऽदिशब्दात्-रूपादिव्यवच्छेदमेव त्याज इति ज्ञापयति, तत ईहां प्रविशति इत्यादि सर्वं संबद्धमेव, तदेतदयुक्तम्, सम्यक् वस्तुतत्त्वापरिज्ञानात्, इह हि यत्किमपि वस्तु निश्चीयते तत्सर्वमीहापूर्वकम्, अनीहितस्य सम्यक् निश्चितत्वाऽयोगात्, न खलु प्रथमाक्षिसन्निपाते सत्यधूमदर्शनेऽपि यावत्किमयं धूमः?, किं वा मशकवर्तिरिति विमृश्य धूमगतकण्ठक्षणनकालीकरणसोष्मतादिधर्मदर्शनात् सम्यक् धूमं धूमत्वेन न विनिश्चिनोति तावत्स धूमो निश्चितो भवति, अनिवर्तितशङ्कतया तस्य सम्यक् निश्चितत्वायोगात्, तस्मादवश्यं यो वस्तु विशेषनिश्चयः स ईहापूर्वकः, शब्दोऽयमिति च निश्चयो वस्तुविशेषनिश्चयो, रूपादिव्यवच्छेदात् ततोऽवश्यमितः पूर्वमीहया भवितव्यम्, ईहा च प्रथमतः सामान्यरूपेणाऽवगृहीते भवति, नाऽनवगृहीते, न खलु सर्वथा निरालम्बनमीहनं क्वापि भवदुपलभ्यते, नचाऽनुपलभ्यमानं प्रतिपत्तुं शक्नुमः, सर्वस्या अपि प्रेक्षावतां प्रतिपत्तेः प्रमाणमूलत्वाद्, अन्यथा प्रेक्षावत्ताक्षितिप्रसक्तेः, तस्माद्-ईहायाः प्रागवग्रहोऽपि नियमात्प्रतिपत्तव्यः, अमुमेवार्थं भाष्यकारोऽपि द्रढयति-" ईहिज्जइ नाऽगहियं; नज्जइ नाऽनीहियं न याऽनायं । धारिज्जइ तं वत्थुं, तेण कमोऽवग्गहाई उ " ॥२६६॥ अवग्रहश्च शब्दोऽयमिति ज्ञानात् पूर्वं प्रवर्त्तमानोऽनिर्देश्यसामान्यमात्रग्रहणरूप एवोपपद्यते, नाऽन्यः, अत एवोक्तं सूत्रकृता-'अव्यक्तं शब्दं शृणुयात्' इति, स हि परमार्थतः शब्द एव, ततः प्रज्ञापकस्तं शब्दमनूद्य तद्विशेषणमाचष्टे—अव्यक्तमिति तं शब्दमव्यक्तं शृणोति, किमुक्तं भवति ?-शब्दव्यक्त्याऽपि व्यक्तं न शृणोति, किं तु सामान्यमात्रमनिर्देश्यं गृह्णाति इत्यर्थः, यदपि चोक्तम्-तेन प्रमात्रा शब्दः इत्यवगृहीतमिति, तत्र शब्द इति प्रतिपादयति प्रज्ञापकः सूत्रकारो, न पुनस्तेन प्रमात्रा शब्द इति अवगृह्यते, शब्द इति ज्ञानस्याऽपायरूपत्वात्, तथा हि-शब्दोऽयमिति, किमुक्तं भवति ?-न शब्दाऽभावो, न च रूपादिः, किं तु शब्द एवाऽयमिति, ततो विशेषनिश्चयरूपत्वादयमवगमोऽपायरूप एव, नाऽवग्रहरूपः, अथ च अवग्रहप्रतिपादनार्थमिदमुच्यमानं वर्त्तते ततः शब्द इति प्रज्ञापकः सूत्रकारो वदति, न पुनस्तेन प्रमात्रा शब्द इत्यवगृहीते इति स्थितं, तथा चाह सूत्रकृत्-" नो चेव णमि " त्यादि, न पुनरेवं जानाति क एष शब्दादिरर्थ इति, शब्दादिरूपतया तमर्थं न जानातीति भावार्थः । अनिर्देश्यसामान्यमात्रप्रतिभासात्मकत्वादर्थाऽवग्रहस्य, अर्थाऽवग्रहश्च श्रोत्रेन्द्रियघ्राणेन्द्रियादीनां व्यञ्जनाऽवग्रहपूर्वक इति पूर्वं व्यञ्जनाऽवग्रहोऽपि द्रष्टव्यः, तदेवं सर्वत्राप्यवग्रहेहापूर्वमवायज्ञानमुपजायते, केवलमभ्यासदशामापन्नस्य शीघ्रं शीघ्रतरमवग्रहादयः प्रवर्तन्ते इति कालसौक्ष्म्यात्ते स्पष्टं न संवेद्यन्त इति स्थितम् । तत ईहां प्रविशति, इह केचिदीहां संशयमात्रं मन्यन्ते, तदयुक्तं, संशयो हि नामाऽज्ञानमिति, ज्ञानांऽशरूपा चेहा, ततः सा कथमज्ञानरूपा भवितुमर्हति ?, नन्वीहाऽपि किमयं शाङ्खः, किं वा शार्ङ्गः?, इत्येवं रूपतया प्रवर्त्तते, संशयोऽपि चैवमेव, ततः कोऽनयोः प्रतिविशेषः ?, उच्यते-इह यत् ज्ञानं शाङ्खशार्ङ्गादिविशेषाननेकानालम्बते न चासद्भूतं विशेषमपासितुं शक्नोति, किं तु सर्वात्मना शयानमिव वर्तते, कुण्ठीभूतं तिष्ठतीत्यर्थः, तदसद्भूतविशेषाऽपर्युदासपरिकुण्ठितं संशयज्ञानमुच्यते, यत्पुनः सद्भूतार्थविशेषविषये हेतूपपत्तिव्यापारपरतया सद्भूतार्थविशेषोपादानाभिमुखम-

सद्भूतविशेषस्यादानाभिमुखं च तदीहा, आह च (विशेषाऽऽवश्यक) भाष्यकृत्—

" जमणेगत्थालंबण-मपज्जुवासपरिकुंठियं चित्तं ।
सेय इव सव्वप्पयओ, तं संसयरूवमन्नाणं ॥ १८३ ॥
तं चिय सयत्थहेऊ, चय त्ति वावारतप्परममोहं ।
भूयाऽभूयविसेसा, दाणच्चायाभिमुहमीहा ॥ १८४ ॥"

इह यदि वस्तु सुबोधं भवति—विशिष्टश्च मतिज्ञानावरणक्षयोपशमो वर्तते, ततोऽन्तर्मुहूर्तकालेन नियमात्तद्वस्तु निश्चिनोति, यदि पुनर्वस्तु दुर्बोधं न च तथाविधो विशिष्टो मतिज्ञानावरणक्षयोपशमस्तत ईहोपयोगादच्युतः पुनरप्यन्तर्मुहूर्तकालमीहते, एवमीहोपयोगाविच्छेदेन प्रभूतान्यन्तर्मुहूर्तानि यावदीहते तत ईहानन्तरं जानाति-अमुक एषोऽर्थः शब्द इति, इदं च ज्ञानमवा(पा)यरूपं, ततोऽस्मिन् ज्ञाने प्रादुर्भवति 'णमि' त्ति वाक्यालङ्कारे, अपायं प्रविशति ततः ' से ' तस्योपगतम्-अविच्युत्या सामीप्येनात्मनि परिणतं भवति, ततो धारणां वासनारूपां प्रविशति, संख्येयमसंख्येयं वा कालम् । एवमनेन क्रमप्रकारेण एतेन पूर्वदर्शितेनाभिलापेन शेषेष्वपि चक्षुरादिष्विन्द्रियेषु अवग्रहादयो वाच्याः, नवरमभिलापविषये-" अव्वत्तं सद्दं सुणेज्जा " इत्यस्य स्थाने " अव्वत्तं रूवं पासेज्जा " इति वक्तव्यम् , उपलक्षणमेतत् तेन सर्वत्राऽपि शब्दस्थाने रूपमिति वक्तव्यं, तद्यथा-'तेणं रूवि त्ति उग्गहिए नो चेव णं जाणइ केवेस रूवि त्ति ततो ईहं पविसइ, ततो जाणइ अमुगे एस रूवे त्ति, ततो अवायं पविसइ " इत्यादि तदवस्थमेव, नवरमिह व्यञ्जनावग्रहो न व्याख्येयः, अप्राप्यकारित्वाद् चक्षुषः, घ्राणेन्द्रियादिषु तु व्याख्येयः, एवं तु घ्राणेन्द्रियविषये-" अव्वत्तं गंधं अग्घाइज्जा " इत्यादि, वक्तव्यं जिह्वेन्द्रियविषये-" अव्वत्तं रसं आसाएज्जा " इत्यादि, स्पर्शनेन्द्रियविषये-"अव्वत्तं फासं पडिसंवेदेज्जा" इत्यादि, यथा च शब्द इति निश्चिते तदुत्तरकालमुत्तरधर्मजिज्ञासायां किं शाङ्खः? किं वा शार्ङ्गः ?, इत्येवंरूपा ईहा प्रवर्तते तथा रूपमिति निश्चिते तदुत्तरकालमुत्तरधर्मजिज्ञासायां किमयं स्थाणुः ? किं वा पुरुष ? इत्यादिरूपा (सा) प्रवर्तते । एवं घ्राणेन्द्रियादिष्वपि समानगन्धादीनि वस्तूनि ईहाऽऽलम्बनानि वेदितव्यानि, आह च (विशेषावश्यक) भाष्यकृत्—

" सेसेसु वि रूवाइसु विसएसु होंति रूवलक्खाइं ।
पायं पच्चासन्न-त्तणेण ईहाइवत्थूणि ॥ २६२ ॥
थाणुपुरिसाइकुट्टु-प्पलाइसंभियकरिल्लमंसाइ ।
सप्पुप्पलनालाइ व, समाणरूवाइँ विसयाइं ॥ २६३ ॥ "

' से जहानामए ' इत्यादि, स यथानामकः कोऽपि पुरुषोऽव्यक्तं स्वप्नं प्रतिसंवेदयेत् , अव्यक्तं नाम-सकलविशेषविकलमनिर्देश्यमिति यावत् स्वप्नमिति प्रज्ञापकः-सूत्रकारो वदति, स तु प्रतिपत्ता स्वप्नादिव्यक्तिविकलं किञ्चिदनिर्देश्यमेव तदानीं गृह्णाति, तथा अनेन प्रतिपत्त्रा "सुविणो त्ति उग्गहिए" इति स्वप्नमिति अवगृहीतम् , अत्राऽपि स्वप्न इति प्रज्ञापकोऽवदति, स तु प्रतिपत्ता अशेषविशेषवियुक्तमेवाऽवगृहीतवान् , तथा चाह—न पुनरेवं जानाति-क एष स्वप्न इति ?, स्वप्न इत्यपि समर्थं न जानातीति भावः, तत ईहां प्रविशतीत्यादि, प्राग्वत् , एवं स्वप्नमधिकृत्य नोइन्द्रियस्याऽर्थाऽवग्रहादयः प्रतिपादिताः । अनेन चोल्लेखेनाऽन्यत्राऽपि विषये वेदितव्याः, तदेवं मल्लकदृष्टान्तेन व्यञ्जनावग्रहप्ररूपणां कुर्वता प्रसङ्गतोऽष्टाविंशतिसंख्या अपि मतिज्ञानस्य भेदाः सप्रपञ्चमुक्ताः, संप्रति मल्लकदृष्टान्तमुपसंहरति-" सेत्तं मल्लगदिट्ठंतेणं " एवं मल्लकदृष्टान्तेन व्यञ्जनावग्रहस्य प्ररूपणा । नं० ।

(७) मतान्तरेणाष्टाविंशति २८ भेदत्वम्-"उग्गह ईह अवाओ य " इत्यादिगाथायाम् ' आभिनिबोधिकज्ञानस्य ' चत्वारि भेदवस्तूनि समासत इत्युक्तं, तत्किं व्यासतो बहुभेदमप्याभिनिबोधिकज्ञानं भवति ?, ' इत्याशङ्क्य तद्भेदबहुविधत्वदर्शनात् ' समासेन ' इति विशेषणस्य सफलत्वमाह-

सोइंदियाइभेएणं. छव्विहा ऽवग्गहादओऽभिहिया ।
ते होंति चउव्वीसं, चतुव्विहं वंजणोग्गहणं ॥३००॥
अट्ठावीसइभेयं, एयं सुयनिस्सियं समासेणं ।
केइ तु वंजणोग्गह-वज्जे ओहूसमेयम्मि ॥ ३०१ ॥
अस्सुयनिस्सियमेवं, अट्ठावीसइविहं ति भासंति ।
जमवग्गहो दुभेओ-ऽवग्गहसामन्नओग्गहियो ॥३०२॥

श्रोत्रेन्द्रियादीनां पञ्चानामिन्द्रियाणां मनःषष्ठानां यो भेदस्तेनाऽवग्रहादयः प्रत्येकं षड्विधाश्चत्वारोऽप्यभिहिताः । ततस्तैः षड्भिश्चत्वारो गुणिताश्चतुर्विंशतिर्भवन्ति । अन्यच्च-स्पर्शनरसनघ्राणश्रोत्रेन्द्रियचतुष्टयभेदात् व्यञ्जनाऽवग्रहणम्—व्यञ्जनावग्रहश्चतुर्विधो भवति । एवमेतत् श्रुतनिःसृ(श्रि)तमाभिनिबोधिकज्ञानं सर्वमप्यष्टाविंशतिविधं संपद्यते । एतदपि भेदाऽभिधानं वक्ष्यमाणबहुतरभेदकलापापेक्षयाऽत्राऽपि समासेन-संक्षेपेण द्रष्टव्यम् ।

अन्ये त्वेतानष्टाविंशतिभेदानन्यथा पूरयन्ति, तन्मतमुपदर्शयति-' केइ तु ' इत्यादि, केचित्पुनराचार्या एतस्मिन्नेव श्रुतनिः(श्रि)ते मतिज्ञानभेदसमुदये, व्यञ्जनावग्रहभेदचतुष्टयवर्ज्जे "उप्पत्तिया, वेणइया, कम्मिया, पारिणामिया" इत्यादिना अन्यत्र, प्रागत्राऽपि च प्रतिपादितस्वरूपमश्रुतनिःसृ(श्रि)तमौत्पत्तिक्यादिबुद्धिचतुष्टयं क्षिप्त्वा-मीलयित्वा एवमष्टाविंशतिविधं सर्वमपि मतिज्ञानमिति भाषन्ते । अयं हि तेषामभिप्रायः-मतिज्ञानस्य संपूर्णस्येह भेदाः प्रतिपादयितुं प्रक्रान्ताः । यदि च-अश्रुतनिःसृ(श्रि)तं बुद्धिचतुष्टयं न गण्यते तदा श्रुतनिःसृ(श्रि)तरूपस्य मतिज्ञानदेशस्यैवैतेऽष्टाविंशतिभेदाः प्रोक्ता भवन्ति । न तु सर्वस्याऽपि; यदा तूक्तन्यायेन श्रुतनिःसृ(श्रि)तमश्रुतनिःसृ(श्रि)तं च मीलयते तदा सर्वस्याऽपि तस्य भेदाः सिद्धा भवन्ति । ननु साधूक्तं तैः, केवलमेवं सति व्यञ्जनाऽवग्रहचतुष्टयं क्व क्रियताम् ?, न ह्येतदपि विक्रीयमाणं जलखण्डमात्रेण क्रीतम् , किन्त्विदमपि मतिज्ञानान्तर्गतमेव ततोऽस्मान्निष्काश्यमानं वराकमिदं काऽवस्थिति बध्नातु ?, इत्याशङ्क्याह-' जमवग्गहो ' इत्यादि, यत्-यस्माद्व्यञ्जनार्थाऽवग्रहभेदतो योऽयमवग्रहो द्विभेदः प्रागुक्तः सोऽवग्रहसामान्येन गृहीतोऽवग्रहसामान्येऽन्तर्भावितः, भवति च विशेषाणां सामान्येऽन्तर्भावः, यथा सेनायां गजादीनां

चनादौ च धवखदिरादीनाम् । अतोऽवग्रहस्य सामान्यरूपतया एकत्वादवग्रहेहाऽपायधारणानामिन्द्रियमनोभेदेन प्रत्येकं षड्विधत्वात् । श्रुतनिः सृ(श्रि)तमतिज्ञानस्य चतुर्विंशतिरेवं भेदाः, अश्रुतनिःसृ(श्रि)तस्य तु बुद्धिचतुष्टयलक्षणाश्चत्वारः, इत्येवं सर्वं मतिज्ञानमष्टाविंशतिभेदं सिद्ध्यति । इति केषांचिन्मतम् । इति गाथाद्वयार्थः ।

एतच्च तन्मतमयुक्तम् । कुतः ?, इत्याह—

चउवइरित्ता भावा, जम्हा न तमुग्गहाईओ ।
भिन्नं तेणोग्गहाइ-सामण्णउ तयं तग्गयं चेव ॥२०३॥

चतुर्भ्यः-अवग्रहेहापायधारणावस्तुभ्यो व्यतिरिक्तं चतुर्व्यतिरिक्तं तस्य चतुर्व्यतिरिक्तस्याश्रुतनिःसृ(श्रि)तस्याऽभावात्कारणाद्यस्मात्—यतो न तदश्रुतनिःसृ(श्रि)तमवग्रहादिभ्यो भिन्नम् । ततः किम् , इत्याह-तेन कारणेनावग्रहादिसामान्यात्-अवग्रहादिसामान्यमाश्रित्य 'तयं-तग्गयं चेव' त्ति-तेष्ववग्रहादिसंबन्धिष्वष्टाविंशतिभेदेष्वन्तर्गतं—प्रविष्टमन्तर्भूतं तदन्तर्गतमेवाऽश्रुतनिःसृ(श्रि)तं बुद्धिचतुष्टयम् । अतः किमिति व्यञ्जनावग्रहचतुष्टयं पातयित्वा श्रुतनिःसृतं बुद्धिचतुष्टयं पुनरपि प्रक्षिप्यते ?, इत्यभिप्रायः । इदमुक्तं भवति-" सोइंदियाइभेएण छव्विहावग्गहाइओ " (३००) इत्यादिना प्रतिपादितैरवग्रहादिसंबन्धिभिरष्टाविंशतिभेदैः किलाऽसंगृहीतत्वाद्व्यञ्जनावग्रहचतुष्टयापगमं कृत्वा श्रुतनिःसृतं बुद्धिचतुष्टयं मतान्तरवादिभिः प्रक्षिप्यते एतच्चायुक्तं, यतः-' सोइंदियाइभेएणं ' इत्यादिनाऽवग्रहादीनामेव अष्टाविंशतिर्भेदाः प्रोक्ताः, अवग्रहादयश्च बुद्धिचतुष्टयेऽपि सन्ति, अतोऽवग्रहादिभणनद्वारेण तदप्यश्रुतनिःसृ(श्रि)तं बुद्धिचतुष्टयमेतेष्वष्टाविंशतिभेदेषु संगृहीतमेवेति, किमिति तैः पुनरपि प्रक्षिप्यते ?, । इति गाथार्थः ।

तत्रैतत्स्यात्प्रष्टव्यं परस्य कथमौत्पत्तिक्यादिबुद्धिचतुष्टयेऽवग्रहादयः संभवन्ति ? । तदत्र यथा ते भवन्ति, तथा दर्शयन्नाह—

किह पडिकुक्कुडहीणो, जुज्झे बिंबेणऽवग्गहो ईहा ।
किं सुसिलिट्ठमवाओ, दप्पणसंकंतबिंबं ति ॥२०४॥

इह किलाऽऽगमे-" भरह-सिल-मिंढकुक्कुड-तिल-वालुयहत्थि-अगड-वणसंडे । पायसअइयापत्ते-खाडहिला पंच पियरो य " ॥६१॥ (नन्दीसूत्र-२७) इत्यादिना औत्पत्तिक्यादिबुद्धीनां बहून्युदाहरणान्युक्तानि, तन्मध्याच्छेषोपलक्षणार्थं कुक्कुटोदाहरणमाश्रित्यौत्पत्तिक्यां बुद्धौ अवग्रहादयो भाव्यन्ते—राज्ञा नटकुमारकस्य भरतस्य किल बुद्धिपरीक्षणार्थमादिष्टं यदुत--अयं मदीयकु(कु)क्कुटो द्वितीयकु(कु) क्कुटमन्तरेणैकक एव योधनीयः । ततस्तेन जिज्ञासितं मनसि कथमयं प्रतिकु(कु)क्कुटहीनः प्रतिपक्षभूतद्वितीयकु(कु) क्कुटवर्जितो युध्येत । एतच्च जिज्ञासमानस्य तस्य झगित्येव स्फुरितं चेतसि । किम् ?, इत्याह-' बिंबेन ' त्ति—आत्मीयेन प्रतिबिम्बेन पुरो वीक्षितेन दर्पाध्मातत्वादयं युध्यत इत्यवगृहीतमित्यर्थः । एतच्च किम् ?, इत्याह-अवग्रहसामान्येनैव विषयमात्रावग्रहणादवग्रहो; मतिप्रथमभेद इत्यर्थः । ईहा तर्हि का ?, इत्याह-' ईहा किं सुसिलिट्ठ ' मिति, किं पुनस्तर्हि प्रतिबिम्बमस्य योधनाय सुश्लिष्टं-सुष्ठु युज्यमानकं भवेत्- किं तडागपयः-पूरादिगतम् , आहोस्विद्दर्पणगतम् ? इत्यादिबिम्बविशेषान्वेषणम् ईहेत्यर्थः । अपायमुपदर्शयति-'अवाओ दप्पणसंकंतबिंबं' ति-कल्लोलादिभिः प्रतिक्षणमपनीयमानत्वाद् , अस्पष्टत्वाच्च जलादिगतबिम्बमिह न युक्तं; ततः स्थिरत्वेन, स्पष्टादित्वेन च चरणाघातादिविषयत्वाद्दर्पणसंक्रान्तमेव तदत्र युज्यते इत्येवं बिम्बविशेषनिश्चयः; अपाय इत्यर्थः । एवमन्येष्वपि बुद्ध्युदाहरणेष्ववग्रहादयो भावनीयाः, तस्माद् बुद्धिचतुष्टयेऽप्येषां सद्भावात् श्रुतनिः(श्रि,सृतमतिज्ञानसंबन्धिष्ववग्रहादिगताऽष्टाविंशतिभेदेष्ववग्रहादिसाम्येन बुद्धिचतुष्टयस्यान्तर्भावो भावनीयः । ततो न युक्तं व्यञ्जनावग्रहचतुष्टयापगमेन पुनर्बुद्धिचतुष्टयप्रक्षेपणम् । इति स्थितम् । इति गाथार्थः ।

आह-ननु यद्यवग्रहादिसाम्येनाश्रुतनिः(श्रि)सृतावग्रहादिष्वन्तर्भवति, तर्हि " आभिनिबोहियनाणं दुविहं पन्नत्ते, तं जहा-सुयनिस्सियं, असुयनिस्सियं च " इत्येवमागमे यः श्रुतनिः(श्रि)सृतादश्रुतनिः(श्रि)सृतस्य भेद उक्तः स विशीर्येत एव, इत्याशङ्क्याह—

जह उग्गहाइसाम-ण्णओ वि सोइंदियाइणा भेओ ।
तह उग्गहाइसाम-ण्णओ वि तमणिस्सिया भिन्नं ॥२०५॥

यथेहावग्रहादीनामवग्रहादिसामान्ये सत्यपि; अवग्रहादित्वे तुल्येऽपि सतीत्यर्थः । किम्?, इत्याह-श्रोत्रेन्द्रियादिना भेदः, तथा हि-एके-श्रोत्रेन्द्रियसंबन्धिनोऽवग्रहादयः, यावदन्ये स्पर्शनेन्द्रियसंबन्धिनः, अपरे तु मनःसंबन्धिनः; तथा तेनैव प्रकारेणाऽवग्रहादिसामान्ये सत्यपि तदश्रुतनिःसृ(श्रि)तं भिन्नं 'श्रुतनिः सृ(श्रि)तादि' ति विशेषः । कस्मात् हेतोर्भिन्नम्?, इत्याह-' अणिस्सिय ' त्ति-भावप्रधानोऽयं निर्देशः, अनिःसृ(श्रि)तत्वात् ; श्रुतानिःसृतत्वादित्यर्थः; एतदुक्तं भवति-अष्टाविंशतिभेदविचारप्रक्रमेऽवग्रहादिमत्त्वं सामान्यं धर्ममाश्रित्याश्रुतनिःसृतस्य श्रुतनिःसृत एवान्तर्भावो विवक्ष्यते , श्रुताऽश्रुतनिःसृतविचारप्रस्तावे त्वश्रुतनिःसृतत्वं विशिष्टं धर्ममुररीकृत्य श्रुतनिःसृतादश्रुतनिःसृतं पृथगेवेष्यते, इत्यागमोक्तस्तयोर्भेदोऽपि न किंचित् विशीर्यते । न च वक्तव्यं कथमेकस्यैवैकस्मादेव भेदश्चाऽभेदश्च; विरोधात् इति यतो यदि तेनैव धर्मेण भेदः, अभेदश्चापि तेन, स्यात्तदा विरोधः, धर्मान्तरनिबन्धनौ तु भेदाऽभेदौ न विरुध्येते । किं हि नाम तद्वस्त्वस्ति, यस्य वस्त्वन्तराद्भेदाऽभेदौ न स्तः ? । घटादयोऽपि हि घटादित्वसामान्येन परस्परमभेदिनोऽपि स्वद्रव्यक्षेत्रकालादिमत्त्वेन भिन्ना इति । अत्र बहु वक्तव्यं, तत्तु नोच्यते, ग्रन्थगहनताप्रसङ्गाद् , अनेकान्तजयपताकादिषु[1] विस्तरेणोक्तत्वाच्च । इति गाथार्थः ।

स्यादेतत् , किमेतावता कष्टेन ?, मदीयव्याख्यापक्ष एव सुखावहः, श्रुतनिःसृताऽश्रुतनिःसृतयोरभेदापत्तेरभावात् समस्तमतिज्ञानभेदभणनाच्चेति । तदेतदयुक्तं, सिद्धान्ताभिप्रायबहिर्भूतत्वादितदेवोपसंहारपूर्वकमाह—

अट्ठावीसइभेयं, सुयनिस्सियमेव केवलं तम्हा ।

१-अनेकान्तजयपताकानाम्नि ग्रन्थे ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जम्हा तम्मि समत्ते, पुणरस्सुअनिस्सियं भणियं ॥३०६॥

तस्माद्-अवग्रहादिसाम्याद् श्रुतनिःसृतस्य अश्रुतनिःसृते ऽन्तर्भावं कृत्वा केवलं श्रुतनिःसृतमेव मतिज्ञानमष्टाविंशतिभेदं व्याख्यातुमुचितं, न तु परोक्तनीत्या व्यञ्जनावग्रहाऽपगमेन श्रुताऽश्रुतनिःसृतमिति । कुतः ?, इत्याह— 'जम्हा' इत्यादि, यतः-" से किं तं सुयनिस्सियं " इत्येवमागमे तस्मिन् श्रुतनिःसृते समाप्ते-निष्ठां नीते सति पुनः पश्चात् " से किं तं असुयनिस्सियं " इत्यादिना ग्रन्थेनाऽश्रुतनिःसृतं भणितम् । अयमभिप्रायः-श्रुतनिःसृतं समेदमप्यभिधाय पश्चादेवाऽश्रुतनिःसृतमुक्तम् । अतः कथं तत्तत्र प्रक्षिप्यते ?, तस्मात्समयाऽभिप्रायेण श्रुतनिःसृतस्यैवाष्टाविंशतिभेदाः इति अतो न भवदुक्तव्याख्यानं श्रेयः इति । नदेवम्-" चउवइरित्ताभावा " इत्यादिगाथा मूलटीकाऽभिप्रायेण व्याख्याताः । अन्ये त्वन्यथाऽपि व्याख्यानयन्ति, तदभिप्रायं त्वतिगम्भीरत्वान्न विद्मः । इति गाथार्थः । विशे० । आ० । म० । नं० ।

एते चावग्रहादयोऽष्टाविंशतिभेदाः प्रत्येकं बह्वादिभिः सेतरैः सर्वसङ्ख्यया द्वादशसंख्यैर्भेदैर्भिद्यमाना यदा विवक्ष्यन्ते तदा षट्त्रिंशदधिकं भेदानां शतत्रयं (३३६) भवति । तत्र बह्वादयः शब्दमधिकृत्य भाव्यन्ते । शङ्खपटहादिनानाशब्दसमूहं पृथगेकैकं यदा अवगृह्णाति तदा बह्ववग्रहः, यदा त्वेकमेव कंचिच्छब्दमवगृह्णाति तदा अबह्ववग्रहः, तथा शङ्खपटहादिनानाशब्दसमूहमध्ये एकैकं शब्दमनेकैः पर्यायैः स्निग्धगाम्भीर्यादिभिर्विशिष्टं यथावस्थितं च यदा अवगृह्णाति, तदा स बहुविधाऽवग्रहः, यदा त्वेकमनेकं वा शब्दमेकपर्यायविशिष्टमवगृह्णाति तदा सोऽबहुविधावग्रहः । यदा तु अचिरेण जानाति तदा स क्षिप्रावग्रहः, यदा तु चिरेण तदा अक्षिप्राऽवग्रहः, तमेव शब्दं स्वरूपेण यदा जानाति; न लिङ्गपरिग्रहात् तदा अनिश्रितावग्रहः । लिङ्गपरिग्रहेण त्ववगच्छतो निश्रितावग्रहः, अथवा-परधर्मैर्विमिश्रितं यद् ग्रहणं तन्मिश्रितावग्रहः, यत्पुनः-परधर्मैरविमिश्रितस्य ग्रहणं तदमिश्रितावग्रहः । तथा निश्चितमवगृह्णतो निश्चितावग्रहः, संदिग्धमवगृह्णतः संदिग्धावग्रहः, सर्वदैव बह्वादिरूपेणावगृह्णतो ध्रुवाऽवग्रहः, कदाचिदेव पुनर्बह्वादिरूपेणावगृह्णतः अध्रुवावग्रहः, एष च बहुबहुविधादिरूपोऽवग्रहो विशेषसामान्यावग्रहरूपो द्रष्टव्यः, नैश्चयिकस्यावग्रहस्य सकलविशेषनिरपेक्षानिर्देश्यसामान्यमात्रग्राहिण एकसामयिकस्य बहुविधादिविशेषग्राहकत्वाऽसंभवाद्, बह्वादीनां चानन्तरोक्तं व्याख्यानं भाष्यकारोऽपि प्रमाणयति—

" नाणासद्दसमूहं, बहुं पिहं मुणइ भिन्नजातीयं ।
बहुविहमणेगभेयं, एक्केक्कं निद्धमहुराई ॥ ३०८ ॥
खिप्पमचिरेण तं चिय, सरूवओ जमनिस्सियमलिंगं ।
निच्छियमसंसयं जं, धुवमच्चंतं न उ कयाई ॥ ३०९ ॥
एत्तो च्चिय पडिवक्खं, साहेज्जा निस्सिए विसेसोऽयं ।
परधम्मेहिँ विमिस्सं, मिस्सियमविमिस्सियं इयरं ॥३१०॥"

यदा पुनरालोकस्य मन्द-मन्दतर-मन्दतमस्पष्ट-स्पष्टतर-स्पष्टतमत्वादिभेदता विषयस्याऽल्पत्वमहत्त्वसंनिकर्षादिभेदतः क्षयोपशमस्य च तारतम्यभेदतो भिद्यमानं मतिज्ञानं चिन्त्यते, तदा तदनन्तभेदं प्रतिपत्तव्यम् । नं० ३५ सूत्र टी० । आ० म० । कर्म० ।

(८) अष्टाविंशतिविधत्वं मतिज्ञानस्योपदर्श्य, विवक्षान्तरेण बहुतरभेदमप्येतद् भवतीति दर्शयन्नाह—

जं बहु-बहुविह-खिप्पाऽ-निस्सियनिच्छियधुवेयरविभिन्ना ।
पुणरुग्गहादओ तो, तं छत्तीसत्तिसयभेयं ॥ ३०७ ॥

यत्-यस्माद् बहु-बहुविध-क्षिप्राऽनिश्रितनिश्चितध्रुवैः सेतरैः-सप्रतिपक्षैरेकैकशो विभिन्ना भेदभाजः पुनरप्यवग्रहादय इष्यन्ते । ततस्तदेवाष्टाविंशतिविधमाभिनिबोधिकज्ञानमेतैर्द्वादशभिर्भेदैः प्रत्येकं भिद्यमानत्वात् षट्त्रिंशदधिकत्रिशत ३३६ भेदं भवति । इदमुक्तं भवति-अनन्तरव्यवमाणन्यायेन संक्षेपतः प्रागभिहितयुक्त्या च श्रोत्रादिभिः कश्चिद्बह्ववगृह्णाति, कश्चित्त्वबहु, अपरस्तु बहुविधम्, अन्यस्त्वबहुविधम्, एवं यावदन्यो ध्रुवम्, अपरस्त्वध्रुवमवगृह्णातीति । एवमीहाऽ-पाय-धारणास्वपि सर्वभेदासु प्रत्येकममी द्वादश १२ भेदा योजनीयाः । नवरमीहते, निश्चिनोति, धारयति, इत्याद्यभिलापः कार्यः । ततश्चाष्टाविंशतौ द्वादशभिर्गुणितायां षट्त्रिंशदधिकानि त्रीणि शतानि ३३६ भेदानां भवन्तीति गाथार्थः ।

अथ शब्दलक्षणं विषयमाश्रित्य तावद् बह्वादीनामर्थं व्याख्यातुमाह—

नाणासद्दसमूहं, बहुं पिहं मुणइ भिन्नजातीयं ।
बहुविहमणेगभेयं, एक्केक्कं निद्धमहुराई ॥ ३०८ ॥
खिप्पमचिरेण तं चिय,सरूवओ जं अणिस्सियमलिंगं ।
निच्छियमसंसयं जं, धुवमच्चंतं न उ कयाइ ॥ ३०९ ॥

इह श्रवणयोग्यदेशस्थे तूर्यसमुदाये युगपद्वाद्यमाने कोऽपि श्रोता तस्य तूर्यसंघातस्य संबन्धिनं पटहढक्काशङ्खभेरिभाणकादिनानाशब्दसमूहमाकर्णितं सन्तं क्षयोपशमविशेषाद् बहुमवग्रहादिना मुणति-जानाति । कोऽर्थः ?, इत्याह-पृथग्-भिन्नजातीयम्, एतावन्तोऽत्र भेरिशब्दाः, एतावन्तो भाणकशब्दाः, एतावन्तस्तु शङ्ख-पटहादिशब्दाः, इत्येवं पृथगेकैकशः भिन्नजातीयत्वेन तं नानाशब्दसमूहं बुध्यत इत्यर्थः । अन्यस्त्वल्पक्षयोपशमत्वात्तस्मिन्नेव देशेऽप्यबहुं मुणति सामान्येन ' नानातूर्यशब्दोऽयमि ' त्यादिमात्रकमेव जानाति इति प्रतिपत्तिः । एवमुत्तरगाथायामपि वेदयमाणा प्रतिपक्षभावना सर्वत्रावबोद्धव्या । अन्यस्तु क्षयोपशमवैचित्र्याद् बहुविधं मुणति । कोऽर्थः ?, इत्याह— अनेकभेदम्, इदमपि व्याचष्टे-एकैकं शङ्खभेर्यादिशब्दं स्निग्धत्वमधुरत्वतरुणमध्यमवृद्धपुरुषवाद्यत्वादिबहुविधधर्मोपेतं जानातीत्यर्थः । अन्यस्तु-अबहुविधं स्निग्धमधुरत्वादिस्वल्पधर्मान्वितमेव पृथग्भिन्नजातीयं नानाशब्दसमूहं जानाति । अन्यस्तु क्षिप्रम् । कोऽर्थः ?, इत्याह-अचिरेण-शीघ्रमेव परिच्छिनत्ति; न तु चिरेण विमृश्येत्यर्थः । अन्यस्तु-अक्षिप्रं-चिरविमर्शेन जानाति । तथा-" तं चिय सरूवओ जं अणिस्सियमि " ति तमेव नानाशब्दसमूहं कोऽप्य-नि(श्रि)सृतं मुणतीति संबन्धः । यं किम् इत्याह-यं

स्वरूपतो जानाति । कोऽर्थः ? इत्याह—आलिङ्गैः पताकाऽविलिङ्गाऽनिःसृतमित्यर्थः । इदमुक्तं भवति-तमेव शङ्खसमूहं 'देवकुलमत्र, तथाविधपताकादर्शनाद्' इत्येवं लिङ्गनिश्रामकृत्वा स्वरूपत एव यमवगच्छति, तमनिःसृतं 'मुणति' इति-उच्यत इति । तमेव लिङ्गनिश्रया जानानो निःसृतं मुणतीत्युच्यते । तथा—'निच्छियमसंसयं जं' ति—यमसंशयमवच्छिनत्ति तं निश्चितं मुणति । निश्चितं तावदित्थमेतन्मया, परं न जाने, तथा वा स्याद् अन्यथा वा, इत्येवं संदेहानुविद्धं तु ज्ञानमनिश्चितं मुणति । 'धुवमि' त्यादि, ध्रुवं कोऽर्थः-अत्यन्तं ननु कदाचिदिति । इदमुक्तं भवति—यथैकदा बह्वादिरूपेणावगतं सर्वदैव तथाऽवबुध्यमानो ध्रुवं मुणतीत्युच्यते । यस्तु कदाचिद् बह्वादिरूपेण, कदाचिदबह्वादिरूपेण सोऽध्रुवं मुणति । इति गाथाद्वयार्थः ।

इतरशब्दं व्याचिख्यासुराह—

इतो चिय पडिवक्खं, साहिज्जा निस्सिए विसेसो वा ।
परधम्मेहिँ विमिस्सं,निस्सियमविणिस्सियं इयरं।२१०।

एतस्मादेव-उक्तस्वरूपाद्-बह्वादिपदषट्कसमूहात्प्रतिपक्षमेतद्विपर्ययमबह्वबहुविधाऽक्षिप्र-निसृताऽनिश्चिताऽध्रुवपदषट्कलक्षणं साधयेत् स्वयमेव ब्रूयात् मेधावी । स च लाघवार्थं बह्वादिविपर्यय एव साधितः तदेवं व्याख्याता द्वादशापि बह्वादयो भेदाः । अथवा-निसृते सप्रतिपक्षेऽपि व्याख्यानान्तरलक्षणो विशेषो वक्तव्यः । कः ?, इत्याह-परधर्मैः-अश्वादिवस्तुधर्मैर्विमिश्रं-युक्तं गवादिवस्तु गृह्णतः निसृतं भवति-गामश्वादिरूपेण गृह्णतो येयं विपर्ययोपलब्धिः, तन्निसृतमित्यर्थः । इतरत्तु यत्परधर्मैर्विमिश्रं वस्तु न गृह्णाति, किं तु-यथावस्थितमेव तत्सद्भूतोपलब्धिलक्षणमनिसृतं गवादिकं वस्तु गवादिरूपेणैव गृह्णतो येयमविपर्ययोपलब्धिस्तदनिसृतमित्यर्थः ।

अत्राह—ननु बहुबहुविधपरिज्ञानादीनि विशेषणानि स्पष्टार्थग्राहकेष्ववायादिषु भवन्तु, व्यञ्जनावग्रहानिश्चयार्थावग्रहयोस्तु कथं तत्संभवः ?; तथाहि—'सामण्णमणिद्देसं सरूवनामाइकप्पणारहियं' इत्यादिवचनान्निश्चयार्थाऽवग्रहे शब्दादिविशेषमात्रग्रहणमपि नाऽस्ति, कुतो यथोक्तबह्वादिपरिभवज्ञानसंभवः ? । अथ व्याख्यानात् व्यवहारार्थावग्रहोऽत्र गृह्यते, तस्मिंश्च विशेषग्राहित्वाद् बहुपरिज्ञानादिविशेषणान्युपपद्यन्त एव भवत्वेवं, तथाप्यष्टाविंशतिभेदमध्यसंगृहीतस्य व्यञ्जनावग्रहस्य कथमेतद् विशेषणसंभवः ? तत्र हि सामान्यार्थग्रहणमात्रमपाकृतं बह्वादिपरिज्ञानं तु दूरोत्सारितमेवेति । सत्यमेतत्, किं तु-व्यञ्जनावग्रहादयः कारणमपायादीनां, तानन्तरेणापायाद्यभावात् । ततश्चापायादिगतं बह्वादिपरिज्ञानं तत्कारणभूतेषु व्यञ्जनावग्रहादिष्वपि योग्यतयाऽभ्युपगन्तव्यम् । न हि सर्वथाऽविशिष्टात्कारणात् विशिष्टं कार्यमुत्पत्तुमर्हति, कोद्रवबीजादेरपि शालिफलादिप्रसवप्रसङ्गात् इति प्रागप्युक्तप्रायम् । इत्यलमतिचर्चितेनेति गाथार्थः ।

ननु कथमेकस्यापि मतिज्ञानस्यैतावन्तो भेदा इत्याशङ्क्य निर्दिष्टभेदानां कारणम्, अन्येषामपि बहुतरभेदानां सहेतुकं संभवं चोपसंहारगर्भमाह—

एवं बज्झऽब्भं(उब्भं)तर-निमित्तवइचित्तओ मइबहुत्तं ।
किंचिम्मेत्तविसेसे-ण भिज्जमाणं पुणोऽणंतं ॥ २११ ॥

एवं तावद्बाह्याभ्यन्तरनिमित्तवैचित्र्यान्मतिबहुत्वमुक्तम् । तत्र बाह्यं निमित्तं मतिज्ञानस्य कारणम् आलोकविषयादिकम् । तस्य च स्पष्टाऽव्यक्तमध्यमाल्पमहत्त्वसंनिकर्षविप्रकर्षभेदाद्वैचित्र्यम् ? । आभ्यन्तरनिमित्तं पुनरावरणक्षयोपशमोपयोगोपकरणेन्द्रियाणि । अस्याऽपि वैचित्र्यं शुद्धाऽशुद्धमध्यमभेदात् । ततश्चैतस्माद् बाह्याभ्यन्तरनिमित्तवैचित्र्यान्मतिज्ञानस्य यथोक्तभेदबहुत्वमभिहितमवगन्तव्यम् । एतदेव च मतिज्ञानं यथोक्तनिमित्तद्वयस्य किञ्चिन्मात्रभेदाद्भिद्यमानं पुनरनन्तमपि भवतीति प्रतिपत्तव्यम्, सामान्येन मतिज्ञानमात्रवतां जीवानामनन्तत्वात्, तेषां च क्षयोपशमादिभेदेन मतेर्भिन्नत्वादिति भावः । इति गाथार्थः ।

(६) अत्राह कश्चिदन्यवग्रहादयो ज्ञानमेव न भवन्ति, स्पष्टार्थनिर्भासाद्यभावात्, संशयादिवत्, कथममी मतिज्ञानभेदाः ?, इत्याशङ्क्यैतेषां ज्ञानत्वसाधनायाऽऽह—

इह संसयादणंतभा-वाओऽवग्गहादयो नाणं ।
अणुमाणमिवाह न सं-सयाइसब्भावओ तेसुं ॥२१२॥

" अवग्रहादयो ज्ञानमि " ति प्रतिज्ञा । " संशयादिष्वनन्तर्भावादि " ति हेतुः । आदिशब्दात्-विपर्ययाऽनध्यवसायपरिग्रहः; अनुमानवदिति दृष्टान्तः । इह संशयाद्यनन्तर्भूतैर्वर्णगन्धादिभिः पुद्गलद्रव्यैर्व्यभिचारसंभवात् सूत्रस्य सूचकत्वाद् ' आत्मधर्मत्वे सति संशयाद्यनन्तर्भावात् ' इति सविशेषणो हेतुर्द्रष्टव्यः । अत्राह परः-ननु सविशेषणे हेतावनैकान्तिकता मा भूद्, असिद्धता त्वनिवार्यैवेति, एतदेवाह-' न संशया ' इत्यादि, सूरे ! न तद्भवदीयं वचः । कुतः ?, इत्याह-संशयादिसद्भावतस्तेष्ववग्रहादिषु, तेषां संशयादिरूपत्वात् संशयाद्यनन्तर्भावाद्, इत्यसिद्धो हेतुरिति भावः । इति गाथार्थः ।

कथं पुनस्तेषु संशयादिसद्भावः ?, इत्याह—

ननु संदिद्धे संसय-विवज्जया संसओ ह चेहाऽवि ।
वच्चासो वा निस्सिय-मवग्गहोऽणज्झवसियं तु ॥२१३॥

ननु " खिप्पमचिरेण " (२०६) इत्यादिगाथायां यदुक्तम्-' निच्छियमसंसयं जं ' ति, तत्प्रतिपक्षे यदुच्यते-" कोऽपि संदिग्धं मुणति " इति, तत्र संदिग्धे ज्ञायमाने संशयस्तावद्व्यक्त एव, यत्र च संशयस्तत्र संदिहानस्य कदाचिद्विपर्ययोऽपि स्याद्, इत्येवं संदिग्धे संशयविपर्ययौ तावदनिवारितावेव । अथ वा-किमनेनोत्तरभेदरूपे संदिग्धे दूषणप्रदानेन ?, हन्त ! येयं मूलभेदरूपा ईहा साऽपि संशय एव, निश्चयत्वे तस्याऽपायत्वप्रसङ्गादिति । अथ वा-" परधम्मे हि विमिस्सं निस्सिय " (२१०) मित्यत्र यन्निसृतमुक्तं तदपि गवादिकमश्वादिरूपेण गृह्णद्विपर्यास एव । न हि तत्त्वस्य विपर्यासो भवति, किं त्वन्यस्याऽन्य-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रूपेण ग्रहणमेवेति भावः । नैश्चयिकोऽर्थावग्रहरूपोऽवग्रहः । पुनरनध्यवसितमनध्यवसाय एव, अनिर्देश्यसामान्यमात्रग्राहित्वात्, नह्यत्र कस्याऽप्यर्थस्य संबन्ध्यध्यवसायोऽस्तीतिकृत्वा । तदेवं संशयादिरूपत्वात् नाऽवग्रहादयो ज्ञानमिति । अतो न ते मतिज्ञानभेदाः तद्भेदत्वे वा मतिज्ञानमपि न किञ्चित्, दोषशतजर्जराऽवग्रहाद्यात्मकत्वात् । इति गाथार्थः ।

अत्राऽऽचार्यः प्राऽऽह—

इह सज्झमोग्गहाई-ण संसयाइत्तणं तह वि नाम ।
अब्भुवगंतुं भण्णइ, नाणं चिय संसयाऽऽईया ॥३१४॥

इह यद्यवग्रहादीनां संशयादित्वं त्वयोद्भावितं तद्यद्यपि साध्यं-साधनीयं वर्तते, त्वदुक्तनिर्युक्तिकवाक्यमात्रेणैव मदुक्तहेतोरसिद्धत्वाभावादिति मन्तव्यं, न पुनरेतावतैव आगमात्त्वत्समीहितसिद्धिः; इति प्रमुदितेन न भाव्यमिति भावः । तथा हि-यदुक्तम् 'संदिग्धे संशयविपर्ययौ' इति तदयुक्तम्, अभिप्रायाऽपरिज्ञानात् नह्यस्माभिस्तथाविधवस्त्वप्रापकं संदिग्धत्वं विवक्षितं, येन वस्त्वप्रापणात्, विपर्ययप्रापणाद्वा तत्र संशयविपर्ययौ स्याताम्; किं तु-कृतेऽपि वस्तुप्रापकेऽवितथे निश्चये यत्र तथाविधक्षयोपशमवैचित्र्यान्मनसि किञ्चिदल्पं शङ्कामात्रं न निवर्तते 'सम्यक् न जाने, तथैव स्यादन्यथा वा' इति, तदेवेह संदिग्धत्वं विवक्षितम् । न चैतावन्मात्रेणैवाऽज्ञानता युक्ता, व्यवहारोच्छेदप्रसङ्गात् । न खलु धूमबलाकादेः सकाशात्सम्यग्दहनजलादौ निश्चितेऽपि सुखेन तन्निश्चयं ब्रुवतामपि सर्वेषां प्रमातॄणां चेतसि शङ्कामात्रं विनिवर्तते । न च ते सर्वेऽपि निश्चितं वस्तु न प्राप्नुवन्ति । न च क्वाऽपि संशयविपर्ययत्वेन अज्ञानता तेषां दृष्टा । यदप्युच्यते-'ईहाऽपि संशय एव' । तदप्यसंगतम्, न हि 'किमयं स्थाणुः, पुरुषो वा' इत्यादिरूपः संशय ईहाऽभ्युपगम्यते । किं तु-यदनन्तरमेव निश्चयोऽवश्यं भवति स एवाऽन्वयधर्मघटनव्यतिरेकधर्मनिराकरणाभ्यां निश्चयाभिमुखो बोध ईहा, इत्यसकृदेव पूर्वमावेदितम् । न चाऽयं संशयो निश्चयाभिमुखत्वात् । नाऽपि निश्चयस्तत्प्रत्यासत्तिमात्रप्राप्तत्वात् । न च वक्तव्यं निश्चयादन्यस्य सर्वस्य संशयत्वादज्ञानतैवेति; निश्चयोपादानकारणस्यापि सर्वथाऽज्ञानत्वप्रसङ्गात् । तथा च सति निश्चयस्याप्यज्ञानताप्राप्तिः । 'नह्यविशिष्टात्कारणाद्विशिष्टकार्योत्पत्तिः' इत्युक्तत्वादिति । यदप्युक्तम्-'निःसृतं विपर्यासः' इति । तदप्ययुक्तम्, 'लिङ्गात्सृतं निःसृतम्' इत्यस्मिन् व्याख्यानेऽस्य दोषस्य सर्वथैवाऽसंबध्यमानत्वात्, 'परधम्मेहिँ विमिस्सं निस्सियं' (३१०) इत्यस्य च व्याख्यानान्तरमात्रत्वात् । भवतु तदपि व्याख्यानं तथाऽपि व्याख्यानात् परधर्मास्तस्मिन्नाशङ्किता एव द्रष्टव्याः; नतु निश्चिताः, यथा 'गौरेवात्र, केवलमश्व इव प्रतिभाति' इति । एतावन्मात्रेणैव चेयं विपर्ययोपलब्धिर्वक्तव्या; नतु सर्वथा विपर्ययधर्मनिश्चयात् सर्वथा विपर्यये तत्राऽश्वादिसत्त्वप्रसङ्गात् । न च वक्तव्यम्-एवं सतीन्द्रियनिश्चितात् भिद्येत, तत्र परधर्मनिःसृतत्वाभावात्, विवक्षितवस्त्वभावशङ्कामात्रस्यैव सद्भावादिति । न च विपर्ययधर्मशङ्कामात्रेणाऽप्यज्ञानता, वस्तुप्राप्तिविघाताऽभावादिति । यदप्युक्तम्-'अवग्रहोऽनध्यवसायः' इति । तदप्ययुक्तम् । तत्र ह्यध्यवसायः साक्षादेव नास्ति, योग्यतया पुनरस्त्येव, अन्यथा तत्कार्येषु-अपायादिष्वपि तदभावप्रसङ्गात्, इत्युक्तमेव । अतिमत्तमूर्च्छितादीनामेव हि ज्ञानमनध्यवसाय उच्यते, तत्र योग्यतयाऽप्यध्यवसायस्य वक्तुमशक्यत्वात्, तत्कार्यभूतस्याऽपायाद्यध्यवसायस्याप्यलक्षणत्वात् । तदेवमवग्रहादीनामसिद्धं संशयादित्वम् । तथाऽपि 'अभ्युपगन्तुम्' अङ्गीकृत्यापि तेषां संशयादिरूपतां ब्रूमः । ज्ञानमेव संशयादयः । संशयविपर्ययाऽनध्यवसायाः-तत्र तदेव संशयादिरूपत्वेऽपि नावग्रहादीनां मतिज्ञानभेदत्वं विरुध्यत इति भावः । इदमुक्तं भवति—नाऽस्माभिः 'समीहितवस्तुप्रापकं ज्ञानम्, इतरदज्ञानम्' इत्येवं व्यवहारिणां प्रमाणाऽप्रमाणभूते ज्ञानाऽज्ञाने विचारयितुमुपक्रान्ते, किं तु-'ज्ञायते येन किमपि, तत्सम्यग्दृष्टिसंबन्धिज्ञानम्' इत्येतावन्मात्रकमेव व्याख्यातुमभिप्रेतं; वस्तुपरिज्ञानमात्रं तु संशयादिष्वपि विद्यते, इति न तेषामपि सम्यग्दृष्टिसम्बन्धिनां ज्ञानत्वहानिः । इति गाथार्थः ।

कथं पुनः संशयादयो ज्ञानमित्याह—

वत्थुस्स देसगमग-त्तणाओ परमयप्पमाणं व ।
किह वत्थुदेसविण्णा-णहेयवो सुणसु तं वोच्छं ॥३१५॥

ज्ञानमेव संशयादय इति प्राक्तनी प्रतिज्ञा, वस्तुनो-घटादेः स्वपरपर्यायैरनन्तधर्माऽध्यासितस्य यो देशः-एकदेशस्तस्य गमकत्वभावात्, इति हेतुः, पराभिमतं प्रमाणं निश्चयज्ञानरूपं तद्वदिति दृष्टान्तः । इह यद्वस्त्वेकदेशस्य गमकं तज्ज्ञानं दृष्टं, यथा परमतं निश्चयरूपं प्रमाणं, वस्त्वेकदेशगमकाश्च संशयादयः, ततस्ते ज्ञानम्, इति । अत्र हेतोरसिद्धतां मन्यमानः परः पृच्छति-कथं वस्त्वेकदेशविज्ञानहेतवः संशयादयः ?, वस्तुनो निरंशत्वेन देशस्यैवाभावान्न ते एकदेशग्राहिणो घटन्त इति परस्याऽभिप्रायः । आचार्यः प्राह—यदत्वया पृष्टं तद्वक्ष्ये—भणिष्यामि अहं, शृणु—समवहितः समाकर्णय त्वम् । इति गाथार्थः ।

यथा प्रतिज्ञातमेवाह—

इह वत्थुमत्थवयणा-इपज्जयाऽणंतसत्तिसंपण्णं ।
तस्सेगदेसविच्छे-यकारिणो संसयाईया ॥ ३१६ ॥

इह वस्तुनो-घटादेः मृण्मयत्वपृथुबुध्नत्ववृत्तत्वकुण्डलायतग्रीवायुक्तत्वादयोऽर्थरूपाः पर्यायाः-अर्थपर्यायाः अनन्ता भवन्ति । घटकुटकुम्भकलशादयस्तु वचनरूपाः पर्यायाः-वचनपर्यायास्तेऽप्यनन्ता भवन्ति, आदिशब्दात्-परव्यावृत्तिरूपा अप्यनन्ता गृह्यन्ते । ततश्चेत्थं समासः कर्तव्यः-अर्थश्च वचनानि च आदिशब्दात्-परव्यावृत्तयश्च तद्रूपाः पर्याया अर्थवचनादिपर्यायाः, ते च तेऽनन्ताश्च त एव शक्तयः, ताभिः संपन्नं-युक्तं यत् तद्वस्तु भवति अतस्तस्यैकदेशविच्छेदकारिणः संशयादयो ज्ञेयाः । इदमुक्तं भवति-न खलु वयं निरंशवस्तुवादिनः, किंतु-यथोक्ताऽनन्तधर्मलक्षणवस्तुनोऽनन्ता एव देशाः सन्तीति वयं मन्यामहे । तन्मध्याच्च एकैकदेशग्राहिणः संशयादयोऽपि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भवन्त्येव, इति कथं न ते ज्ञानम् ? । यदि पुनस्ते किमपि न गृह्णीयुः तदा तेषामनुत्थानमेव स्यात्, सर्वथा निर्विषयज्ञानस्य प्रसवाऽयोगात्, गगननलिनज्ञानवत् । ततश्च ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानमिति व्युत्पत्त्यर्थात्संशयादीनामपि ज्ञानता न विरुध्यते । इति गाथार्थः ।

अथ समस्तवस्तुरूपग्राह्येव ज्ञानं, नैकदेशग्राहकम् इत्येतदाशङ्क्य निराकुर्वन्नाह—

अहवा न सव्वधम्माऽ-वभासया तो न नाणमिट्टं ते ।
नणु निण्णओ वि तद्दे-समेत्तगाहि त्ति अन्नाणं ॥२१७॥

अथवा-अत्र चैवं ब्रूयात्परः । किम् ?, इत्याह-न सर्वधर्माऽवभासकाः-न कार्त्स्न्येन गवादिवस्तुसमग्रग्राहिणः, ततो न ज्ञानमिष्टं ते संशयादयः, संपूर्णवस्तुस्वरूपग्राहिण एव ज्ञानत्वात् । अत्रोत्तरमाह-ननु भवता ज्ञानत्वेनाऽङ्गीकृतस्तर्हि निर्णयोऽप्यज्ञानमेव प्राप्नोति । कुतः ?, इत्याह-तस्य गवादिवस्तुन एकदेशमात्रग्राहीति कृत्वा तथा हि-गौरयं, घटोऽयं, पटोऽयमित्यादिभिर्निर्णयैरपि गोत्वघटत्वादिको वस्त्वेकदेश एव गृह्यते, अतस्तेऽपि कथं ज्ञानरूपतां भजेयुः ? । अथ देशस्य देशिनमन्तरेण कदाचिदप्यभावात्तद्ग्रहणद्वारेण सर्वमपि वस्तु निर्णयेन गृहीतम् इत्यतो ज्ञानमेवाऽसौ । तदेतत्संशयादिष्वपि समानं; तथा हि-'किमयं स्थाणुः, पुरुषो वा' इत्यादिरूपः संशयोऽपि स्थाणुत्वादिकं वस्त्वेकदेशं जानाति, विपर्यासोऽपि विपर्ययवस्त्वेकदेशमवबुध्यते अनध्यवसायोऽपि सामान्यमात्ररूपं वस्त्वेकदेशमवगृह्णाति । ततश्च संशयादयोऽप्येकदेशपरिज्ञानद्वारेण समग्रमपि वस्तु जानन्त्येव, इति तेषामपि ज्ञानता केन वार्यते ? । अथ गृह्यते संशयादिभिर्वस्त्वेकदेशः, केवलं संशयेन संदिग्धः; विपर्यासेन विपर्यस्तः, अनध्यवसायेन त्वविशिष्ट इति, चेत् । ननु प्रतिविहितमप्यदः किं विस्मरसि ?, यतः-'ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानं-मतिरूपं ज्ञानं मतिज्ञानम्' इत्येवं सामान्येनैव सम्यग्दृष्टिसंबन्धि मतिज्ञानमिह विचार्यते । तस्य च संशयादिरूपस्य, निर्णयरूपस्य वा सम्यग्दृष्टिसंबन्धिनो ज्ञानता न विरुध्यते, 'ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानम्' इत्यस्याऽर्थस्य सर्वत्रोपपद्यमानत्वादिति । ननु यदि संशयादयोऽपि मतिज्ञानं, तर्हि चतुर्भेदत्वमतिक्रम्य सप्तभेदत्वं तस्य प्रसज्यते, इति चेत् । नैतदेवं, यतोऽनध्यवसायस्तावत् सामान्यमात्रग्राहित्वेनाऽवग्रहे अन्तर्भवति संशयोऽपि पूर्वोक्तस्वरूपेहाप्रकारत्वात्, तत्कारणत्वाच्च तस्यामेवान्तर्विशति, यद्यपि संशयस्य पूर्वमीहात्वमपाकृतं तदपि व्यवहारिजनानुवृत्त्या, न तु सर्वथेति; विपर्यासस्तु निश्चयरूपत्वात्साक्षादपाय एव, इति कुतश्चतुर्भेदाऽतिक्रमः ? । इत्थं चैतदङ्गीकर्तव्यम्, अन्यथा सम्यग्दृष्टिसंबन्धिनः संशयादयो मतिज्ञानाद्व्यतिरिच्यमानाः क्वाऽन्तर्भवेयुः ? । अज्ञान इति चेत् । नैवं "सम्मद्दिट्ठीणं भंते ! किं नाणी, अन्नाणी ?, गोयमा ! नाणी, नो अन्नाणी" इत्याद्यागमवचनात्सम्यग्दृष्टेः सदैव ज्ञानित्वादिति, भवत्वेवं, तथाऽपि सम्यग्दृष्टिसंबन्ध्येव मतिज्ञानमिह विचार्यत इति कुतो लभ्यते ? इति चेद् उच्यते—ज्ञानपञ्चकमेवेह विचारयितुमुपक्रान्तम् । ज्ञानं च सम्यग्दृष्टेरेव भवति अतस्तत् संबन्ध्येव मतिज्ञानमिह विचार्यते, सम्यग्दृष्टिसंबन्धिनां च संशयादीनां ज्ञानता साध्यते इत्यलं विस्तरेण । इति गाथार्थः । विशे० ।

(१०) सम्प्रति पुनर्द्रव्यादिभेदतश्चतुष्प्रकारतामाह—

तं समासओ चउव्विहं पन्नत्तं, तं जहा-दव्वओ १, खेत्तओ २, कालओ ३, भावओ ४ । तत्थ दव्वओ णं आभिणिबोहियनाणी आएसेणं सव्वाइं दव्वाइं जाणइ, न पासइ १ । खेत्तओ णं आभिणिबोहियनाणी आएसेणं सव्वं खेत्तं जाणइ, न पासइ २ । कालओ णं आभिणिबोहियनाणी आएसेणं सव्वकालं जाणइ, न पासइ ३ । भावओ णं आभिणिबोहियनाणी आएसेणं सव्वे भावे जाणइ, न पासइ ४ । (सूत्र-३६×)

'तं समासओ' इत्यादि-तन्मतिज्ञानं समासतः-संक्षेपेण चतुर्विधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा-द्रव्यतः १, क्षेत्रतः २, कालतः ३, भावतश्च ४ । तत्र द्रव्यतो णमिति वाक्यालङ्कारे, आभिनिबोधिकज्ञानी, 'आदेसेणं' ति-आदेशः-प्रकारः, स च द्विधा-सामान्यरूपो, विशेषरूपश्च । तत्रेह सामान्यरूपो ग्राह्यः, ततः आदेशेन द्रव्यजातिरूपसामान्यादेशेन सर्वद्रव्याणि धर्मास्तिकायादीनि जानाति किंचिद्विशेषतोऽपि, यथा-धर्मास्तिकायो धर्मास्तिकायस्य प्रदेशः तथा—धर्मास्तिकायो गत्युपष्टम्भहेतुरमूर्त्तो लोकाऽऽकाशप्रमाणः इत्यादि, न पश्यति सर्वात्मना; धर्मास्तिकायादीन् न पश्यति, घटादींस्तु योग्यदेशावस्थितान् पश्यत्यपि, अथ वा-'आदेश' इति—सूत्रादेशस्तस्मात्सूत्रादेशात्सर्वद्रव्याणि धर्मास्तिकायादीनि जानाति, न तु साक्षात्सर्वाणि पश्यति, ननु यत्सूत्रादेशतो ज्ञानमुपजायते तत् श्रुतज्ञानं भवति; तस्य शब्दार्थपरिज्ञानरूपत्वात् । अथ च मतिज्ञानमभिधीयमानं वर्तते, तत्कथमादेश इति सूत्रादेशो व्याख्यातः ?, तदयुक्तम्, सम्यग्वस्तुतत्त्वापरिज्ञानात्, इह हि श्रुतभावितमतेः श्रुतोपलब्धेष्वप्यर्थेषु सूत्रानुसारमात्रेण येऽवग्रहेहापायादयो बुद्धिविशेषाः प्रादुःष्यन्ति ते मतिज्ञानमेव, न श्रुतज्ञानं, सूत्रानुसारनिरपेक्षत्वात्, आह च भाष्यकृत्-"आदेसो त्ति व सुत्तं, सुओवलद्धेसु तस्स मइनाणं । पसरइ तब्भावणया, विणा वि सुत्ताणुसारेणं ॥ ४०५ ॥ १, एवं क्षेत्रादिष्वपि नवरं तान् सर्वथा न पश्यति, तत्र क्षेत्रं लोकालोकात्मकम् २, कालः सर्वाऽद्धारूपः, अतीतानागतवर्त्तमानरूपो वा ३, भावाश्च पञ्चसंख्याः औदयिकादयः, तथा चाह भाष्यकृत्—

"आएसो त्ति पगारो, ओहादेसेण सव्वदव्वाइं ।
धम्मत्थिकाइयाइं, जाणइ न उ सव्वभावेणं ॥ ४०३ ॥
खेत्तं लोगालोगं, कालं सव्वऽद्धमहव तिविहं च ।
पंचोदइयाईए, भावे जं नेयमेवइयं ॥ ४०४ ॥ ४ । नं० ।

(११) अथ तेषामेव कालनिरूपणार्थमाह निर्युक्तिकारः—

उग्गहो एक्कं समयं, ईहाऽवाया मुहुत्तमेत्तं तु ।
कालमसंखं संखं, च धारणा होइ नायव्वा ॥ २३३ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'अवग्रह' इति-व्याख्यानान्नैश्चयिकोऽर्थावग्रहो द्रष्टव्यः। स किम् ?, स्याह-सर्वजघन्यः कालविशेषः समयः, तमेकं समयं भवति, न परतः। ईहाऽ-पायौ प्राङ्निर्णीतस्वरूपौ 'मुहुत्तमंतं तु' ति-अन्तःशब्दो मध्यवचनः, ततश्च जघन्यतः, उत्कृष्टतश्च मुहूर्तान्तर्भिन्नं मुहूर्तं कालतो भवतः; अन्तर्मुहूर्तमित्यर्थः। तुश्चकारार्थः। चकारश्चा-नुक्तसमुच्चये। ततश्च व्यञ्जनाऽवग्रह-व्यावहारिकार्थाऽव-ग्रहौ च प्रत्येकमन्तर्मुहूर्तं भवत इति द्रष्टव्यम्। क्वचित्-"मुहुत्तमद्धं तु" ति-पाठः, तत्राऽपि मुहूर्तार्द्धशब्देना-न्तर्मुहूर्तमेव मन्तव्यम्। तुशब्दोऽपि तथैव। कलनं कालः न विद्यते संख्या पक्षमासर्त्वयनसंवत्सरादिका यस्या-सावसङ्ख्यः पल्योपमादिलक्षणः तं कालमसंख्यं, तथा-संख्यायत इति संख्यः-पक्षमासर्त्वयनादिप्रमित इत्यर्थः। तं संख्यं, चशब्दादन्तर्मुहूर्तं च धारणा प्रागभिहितस्वरूपा भवति-ज्ञातव्या। इदमुक्तं भवति-अविच्युतिस्मृतिवास-नाभेदाद्धारणा त्रिविधा। तत्राऽविच्युतिरूपा, स्मृतिरूपा च प्रत्येकमन्तर्मुहूर्तं भवति। या तु तदर्थज्ञानावरणक्षयो-पशमरूपा स्मृतिबीजरूपा वासनाख्या धारणा सा सं-ख्येयवर्षायुषां सत्त्वानां संख्येयं कालम्, असंख्येय-वर्षायुषां तु-पल्योपमादिजीविनामसंख्येयं कालं भवति। इति निर्युक्तिगाथार्थः।

अथैनां भाष्यकारो व्याख्यानयति—

अत्थोग्गहो जहन्नो, समयं सेसोग्गहादओ वीसुं।
अंतो मुहुत्तमेगं, तु वासना धारणं मोत्तुं ॥ ३३४ ॥

अवग्रह इत्यस्य व्याख्यानमर्थाऽवग्रह इति, अयमपि नि-श्चय-व्यवहारभेदतो द्विधा, ततो व्यवहारार्थाऽवग्रहव्य-वच्छेदार्थमाह-'जहन्न' इति-अतिस्तोककालत्वेन जघन्यो नैश्चयिकोऽर्थावग्रहो; नेतर इत्यर्थः, अयमेकसमयं भवति। शेषास्त्वेकां वासनारूपां धारणां मुक्त्वा ये अवग्रहादयो व्यञ्जनाऽवग्रहो व्यावहारिकार्थाऽवग्रहेहापायाऽविच्युति-स्मृतिरूपा मतिभेदास्ते सर्वेऽपि विष्वक्-पृथक् पृथगेकमेवा-न्तर्मुहूर्तं भवन्ति। वासनाधारणायास्तु निर्युक्तिगाथोक्त-मेव कालमानमवगन्तव्यम् इत्यभिप्रायः। इति गाथार्थः। विशे०।

(१२) अथ नानादेशजविनेयाऽनुग्रहार्थं तत्पर्यायान् (आ-भिनिबोधिकज्ञानपर्यायान्) अभिधित्सुराह—

ईहा अपोह वीमंसा, मग्गणा य गवेसणा।
सण्णा सई मई पण्णा, सव्वं आभिनिबोहियं ॥ ३६६ ॥

'ईह' चेष्टायाम्, ईहनमीहा-सतामन्वयिनां, व्यतिरेकिणां चार्थानां पर्यालोचना। अपोहनमपोहो निश्चयः। विमर्शनं विमर्शः, अपायात्पूर्वः ईहायाश्चोत्तरः 'प्रायः शिरःकण्डूय-नादयः पुरुषधर्मा इह घटन्ते, इति संप्रत्ययः। तथा—मार्गणमन्वयधर्मान्वेषणं मार्गणा। चशब्दः समुच्चयार्थः। गवेषणं व्यतिरेकधर्मालोचनं गवेषणा। तथा-संज्ञानं संज्ञा अवग्रहोत्तरकालभावी मतिविशेष एव। स्मरणं स्मृतिः। पूर्वानुभूतार्थालम्बनः प्रत्ययः। मननं मतिः कथञ्चिदर्थ-परिच्छित्तावपि सूक्ष्मधर्मालोचनरूपा बुद्धिः। तथा प्रज्ञानं प्रज्ञा विशिष्टक्षयोपशमजन्या प्रभूतवस्तुगतयथावस्थितध-र्मालोचनरूपा मतिः। सर्वमिदमाभिनिबोधिकं कथञ्चित् किञ्चिद्भेददर्शनेऽपि तत्त्वतः सर्वं मतिज्ञानमेवेदमित्यर्थः। इति निर्युक्तिश्लोकार्थः। विशे०। आ० म०१ अ०१२ गाथा।

अत्रैव तद्व्याख्यावाय भाष्यम्—

होइ अपोहोऽवाओ, सई धिई सव्वमेव मइपन्ना।
ईहा सेसा सव्वं, इदमाभिणिबोहियं जाण ॥ ३६७ ॥

अपोहस्तावत्किमुच्यत इत्याह—अपोहो भवति-अपायः योऽयमपोहः स मतिज्ञानतृतीयभेदोऽपायो; निश्चय उच्यत इत्यर्थः। स्मृतिः पुनर्धृतिर्धारणोच्यते धारणाभेदत्वेना-प्यवयवे समुदायोपचारादिति। मतिप्रज्ञे-मतिप्रज्ञाशब्दाभ्यां सर्वमपि मतिज्ञानमुच्यते 'ईहा सेस' त्ति शेषाऽभिधा-नानि त्वीहा-विमर्श-मार्गणा-गवेषणा-संज्ञालक्षणानि सर्वा-ण्यऽपि ईहा ईहाऽन्तर्भावीनि द्रष्टव्यानीत्यर्थः। एवं विशेषतः कथंचिद्भेदसद्भावेऽपि सामान्यतः सर्वमिदमा-भिनिबोधिकज्ञानमेव जानीहि, यतः-ईहाऽपोहादयः सर्वे-ऽप्यमी आभिनिबोधिकज्ञानस्यैव पर्यायाः, केषांचिद्वचन-पर्यायत्वात्, केषांचित्त्वर्थपर्यायत्वादिति।

एतदेवं दर्शयति—

मइपन्नाभिनिबोहिय-बुद्धीओ होंति वयणपज्जाया।
जा उग्गहाइसण्णा, ते सव्वे अत्थपज्जाया ॥ ३६८ ॥

इह ये शब्दाः किल सर्वं वस्तु—संपूर्णं प्रतिपादयन्ति ते वचनरूपा वस्तुनः पर्याया वचनपर्याया उच्यन्ते। ये तु त-देकदेशमभिदधति तेऽर्थैकदेशप्रतिपादकाः पर्याया अर्थपर्या उच्यन्ते, तत्र मतिप्रज्ञाभिनिबोधिकबुद्धयो वचनपर्याया भवन्ति। मति-प्रज्ञा-भिनिबोधिक बुद्धिलक्षणाश्चत्वारः शब्दाः आभिनिबोधिकज्ञानस्य ज्ञानपञ्चकाद्यभेदलक्षणस्य, वचनपर्याया द्रष्टव्या इत्यर्थः, संपूर्णस्याऽपि तस्यामीभिः प्रतिपाद्यमानत्वात्। येऽत्ववग्रहेहादिकाः संज्ञाविशेषास्ते सर्वेऽप्यर्थपर्यायाः, तदेकदेशप्रतिपादकत्वात्। ततश्चेहा-ऽपोहादयः आभिनिबोधिकाज्ञानस्यैवार्थपर्यायाः। मतिप्र-ज्ञाशब्दौ तु तस्यैव वचनपर्यायौ अतः सर्वमेवेदं सामान्ये-नाऽभिनिबोधिकज्ञानमेवेति स्थितम्। अथ वा-सर्वेषामपि वस्तूनामभिलापवाचकाः शब्दाः वचनरूपापन्ना वचन-पर्यायाः, ये तु तेषामेव वाचकशब्दानामभिधेयार्थस्यात्म-भूता भेदा; यथा कनकस्य कटककेयूरादयः; ते सर्वेऽप्यर्थ-पर्यायाः भण्यन्ते। ततश्च प्रस्तुतस्याभिनिबोधिकज्ञानस्य मतिप्रज्ञावग्रहेहादयः सर्वेऽपि वाचका ध्वनयो वचन-पर्याया एव, तदभिधेयास्त्वाभिनिबोधिकस्यात्मभूता भेदा अर्थपर्याया इत्यवसेयमिति। इह पूर्वं मतिप्रज्ञादिशब्दानां सर्वमप्याभिनिबोधिकज्ञानं वाच्यम्, अवग्रहेहादिशब्दानां तु तदेकदेशा एवाऽभिधेया इति दर्शितम्।

अथाऽवग्रहेहादिभिरपि शब्दैरन्वर्थवशात्सर्वमप्याभिनि-बोधिकमभिधीयते, इति दर्शयति—

सव्वं वाऽऽभिनिबोहिय-मिहोग्गहाइवयणसंगहियं।
केवलमत्थि विसेसं, पइ भिन्ना उग्गहा ईया ॥ ३६९ ॥

'वा' इति-अथवा, इह सर्वमाभिनिबोधिकज्ञानमवग्रहे-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हादिवचनेन संगृह्यते, न पुनस्तदेकदेश एव तर्ह्यवग्रहादिशब्दानां सर्वेषामेकरूपता प्राप्नोति, एकाभिधेयत्वात्, बहुपुरुषोच्चारितघटाद्येकशब्दवत् इत्याशङ्क्याह-'केवलमि' त्यादि, केवलं-नवरम् अर्थविशेषं प्रत्यवग्रहादयः शब्दा भिन्नाः । इदमुक्तं भवति-अवग्रहशब्दोऽवग्रहलक्षणेनार्थेन सर्वमाभिनिबोधिकं संगृह्णाति, ईहाशब्दस्तु चेष्टालक्षणेन, अपायस्त्ववगमनलक्षणेन, धारणा तु धरणलक्षणेनेत्यादि । ततोऽमुमवग्रहणादिलक्षणमर्थविशेषमात्रमपेक्ष्याऽवग्रहादिशब्दा भिन्नाः, तत्त्वतस्त्वभिधेयं सर्वेषामाभिनिबोधिकज्ञानमेव ।

अथवा, आह-ननु यदि सर्वमप्याभिनिबोधिकमवग्रहादिवचनेन संगृह्यते, तर्ह्यवग्रहेहापायधारणानां तद्भेदानां सर्वेषामपि संकरः प्राप्नोति, अनन्तरवक्ष्यमाणव्युत्पत्तितः प्रत्येकमेषां सर्वेषामप्यवग्रहादिरूपत्वात्, इत्याशङ्क्याह—'केवलमत्थविसेसमि' त्यादि, केवलं-नवरम् अर्थविशेषं प्रति अवग्रहादयो भिन्नाः । इदमुक्तं भवति-यद्यप्यर्थाऽवग्रहणेहनावगमनधारणमात्रस्य सामान्यस्य प्रत्येकं सर्वेष्वपि विद्यमानत्वादेकैकशोऽप्यवग्रहादिशब्देनोच्यन्तेऽवग्रहादयः, तथाऽप्यर्थविशेषमाश्रित्यैते भिन्ना एव, तथाहि-यथाभूतमवग्रहे सामान्यमात्रार्थस्यावग्रहणं, न तथाभूतमेवेहायां, किं तु-विशिष्टं, विशिष्टतरं, विशिष्टतमं, चाऽपायधारणयोः; यथाभूता चेहायां मतिचेष्टा न तथाभूतान्यत्र, किं तु-विशिष्टा, विशिष्टतरा चाऽपायधारणयोः अविशिष्टतरा चाऽवग्रहेऽर्थावगमनमप्यपायात् विशिष्टं धारणायाम् अविशिष्टमविशिष्टतरं चेहावग्रहयोः; अर्थधारणमप्यवग्रहेहापायेभ्यः सर्वप्रकृष्टं धारणायाम्, इत्येवमवग्रहणादिमात्रे सर्वेषां सामान्ये सत्यप्यर्थविशेषं प्राह्यमाश्रित्य भिन्ना एवावग्रहादयः । स चार्थविशेषोऽमीषां प्राह्यः प्राग्विस्तरेण दर्शित एव, इत्येवं वा उत्तरार्द्धमिदं व्याख्यायते—इदमेव च व्याख्यानं वृद्धसम्मतं लक्ष्यते, युक्त्या तु प्राक्तनमपि घटते । इत्यलं विस्तरेणेति ।

कथं पुनरवग्रहादिवचनेन सर्वमप्याभिनिबोधिकं संगृह्यते ?, इत्याह—

उग्गहणमोग्गहो त्ति य, अविसिट्ठमवग्गहो तयं सव्वं ।
ईहा जं मइचेट्ठा, मइवावारो तयं सव्वं ॥ ४०० ॥

अवग्रहणं तावदवग्रह उच्यते इति कृत्वा अविशिष्टं तत्सर्वमपि ईहादिभेदभिन्नमाभिनिबोधिकज्ञानमवग्रह एव । इदमुक्तं भवति-अवग्रहणमवग्रह इति व्युत्पत्तिमाश्रित्य सर्वमप्याभिनिबोधिकज्ञानमवग्रहो भवति, यथाह्यवग्रहः कमप्यर्थमवगृह्णाति, एवमीहाऽपि कमप्यर्थमवगृह्णात्येव, एवमपायधारणे अपि इति । सर्वमप्याभिनिबोधिकज्ञानं सामान्येनावग्रहः । तथा यत्-यस्माद्-ईहचेष्टायाम्, ईहनमीहेति-व्युत्पत्तेः ईहापि मतेश्चेष्टा मतिचेष्टा वर्त्तते तस्मात्सर्वमपि तदाभिनिबोधिकमविशिष्टं मतिव्यापारः ईहेत्यर्थः, अवग्रहापायधारणानामपि सामान्येन मतिचेष्टारूपत्वादिति-भावः ।

तथा—

अवगमणमवाओ त्ति य, अत्थावगमो तयं हवइ सव्वं ।
धरणं च धारणं त्ति य, तं सव्वं धरणमत्थस्स ॥४०१॥

यतश्चाऽवगमनमवा(पा)यो भण्यते, अतोऽनया व्युत्पत्त्या सर्वमपि तदाभिनिबोधिकमर्थस्यापायः अवग्रहेहाधारणास्वपि सामान्येनार्थावगमनस्य विद्यमानत्वात् । तथा, धरणं धारणा यतो भण्यते-अतोऽनया व्युत्पत्त्या तत्सर्वमप्याभिनिबोधिकमर्थधरणरूपत्वाद्धारणा, अवग्रहेहापायेष्वप्यविशिष्टस्यार्थधरणस्य विद्यमानत्वादिति । संकरप्राप्तिश्चैवमवग्रहादीनां प्राक् "केवलमत्थविसेसं पइ" (३६६) इत्यादिना परिहृतैवेति गाथापञ्चकार्थः । विशे० । नं० । आ० म० । "ईह त्ति वा १, अपोहो त्ति वा २, वीमंस त्ति वा ३, मग्गणा त्ति वा ४, गवेसणा त्ति वा ५, सराण त्ति वा ६, सइ त्ति वा ७, मति त्ति वा ८, पन्न त्ति वा ६, " सव्वमेयं आभिणिबोहियं एतेहिं एगट्ठिएहिं भणितं ति । आ० चू० १ अ० १२ गाथा । (१-ईहायाः विचारो विस्तरतः 'ईहा' शब्देऽस्मिन्नेव भागेऽग्रे करिष्यते) (२-अपोहशब्दार्थविचारः 'अपोह' शब्दे प्रथमभागे विस्तरतः समुक्तः) (अत्र 'आगम' शब्देऽस्मिन्नेव भागे (११) विषयसूच्यङ्के विस्तरः प्रतिपादितः । ततोऽवशिष्टः 'सइ' शब्दे सप्तमे भागे ३३७ पृष्ठादारभ्य दर्शयिष्यते) (३-विमर्शशब्दविचारः 'वीमंस' शब्दे षष्ठभागे करिष्यते) (४-मार्गणाशब्दार्थनिरूपणम् दृष्टान्तश्च 'मग्गणा' शब्दे षष्ठभागे, तथा-अस्यैकार्थिकानि 'मग्गण' शब्दे तस्मिन्नेव भागे दर्शयिष्यन्ते)। ५-गवेषणाविषयो विशेषः 'गवेसणा' शब्दे तृतीयभागे करिष्यते) (६-संज्ञासर्वस्वविचारः 'सएणा' शब्दे ७ भागे दर्शयिष्यते) (७-स्मृतिस्वरूपम् 'सइ' शब्दे सप्तमे भागे विस्तरतो वक्ष्यते) (मतिस्वरूपं विस्तरतः 'मइ' शब्दे षष्ठभागे वक्ष्यते) (८-प्रज्ञाशब्दार्थविचारः 'पएणा' शब्दे पञ्चमे भागे करिष्यते)

तदेवं तत्त्वभेदपर्यायैराभिनिबोधिकज्ञानं व्याख्याय,
साम्प्रतं तद्विषयनिरूपणार्थमाह—

तं पुण चउव्विहं नेयं, भेयओ तेण जं तदुवउत्तो ।
आदेसेणं सव्वं, दव्वाइँ चउव्विहं मुणइ ॥ ४०२ ॥

तत्पुनराभिनिबोधिकज्ञानं चतुर्विधं-चतुर्भेदम् । नन्ववग्रहादिभेदेन भेदकथनं प्रागस्य कृतमेव किमिह पुनरपि भेदोपन्यासः ? । सत्यम्, ज्ञेयमेवेह द्रव्यादिभेदेन चतुर्भेदं, ज्ञानस्य तु तद्भेदादेव भेदोऽत्राऽभिधीयते, सूत्रे तथैवोक्तत्वात् । तथा च नन्दिसूत्रे—" तं समासतो चउव्विहं पन्नत्तं, तं जहा-दव्वओ १, खेत्तओ २, कालओ ३, भावओ ४ । तदव्वओ णं आभिणिबोहियनाणी आदेसेणं सव्वदव्वाइं जाणइ न पासइ (सूत्र-३६)" इत्यादि । ज्ञेयभेदादपि तत्कथं चतुर्विधमित्याह-'जं तदुवउत्तो' इत्यादि, यत्-यस्मात्कारणात्तेनाभिनिबोधिकज्ञानेन सर्वं द्रव्यादि मुणतीति संबन्धः । कथंभूतम् ?, इत्याह-चतुर्विधं-चतुर्भेदं द्रव्य-क्षेत्रकाल-भावभेदभिन्नमित्यर्थः । कथंभूतः सन् । मुणति इत्याह-तस्मिन्-आभिनिबोधिकज्ञाने उपयुक्तस्तदुपयुक्तः । केन ?, इत्याह-आदेशेनेति ।

कोऽयमादेश इत्याह—

आएसो त्ति पगारो, ओहादेसेण सव्वदव्वाइं ।
धम्मत्थिआइयाइं, जाणइ न उ सव्वभेदेणं ॥ ४०३ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशे० । (अस्याः गाथायाः व्याख्या ' आएस ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गता)

क्षेत्रादिस्वरूपं विशेषतः प्राह—

खेत्तं लोगाऽलोगं, कालं सव्वद्धमहव तिविहं ति ।
पंचोदइयाईए, भावे जं नेयमेवइयं ॥ ४०४ ॥

क्षेत्रमपि-लोकाऽलोकस्वरूपं सामान्यादेशेन कियत्पर्यायविशिष्टं सर्वमपि जानाति, न तु विशेषादेशेन सर्वपर्यायैर्विशिष्टमिति । एवं कालमपि सर्वाऽद्धारूपम् अतीताऽनागतवर्तमानभेदतस्त्रिविधं वा इत्येक एवार्थः । भावतस्तु सर्वभावानामनन्तभागं जानाति, औदयिकौपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकपारिणामिकाख्या पञ्च भावान् सामान्येन जानाति; न परतः । कुतः ?, इत्याह-यत्-यस्मादेतावदेव ज्ञेयमस्ति; नाऽन्यदिति । इह क्षेत्रकालौ सामान्येन द्रव्यान्तर्गतावेव केवलं भेदेन रूढत्वात्पृथगुपादानमवसेयमिति ।

आदेशस्य व्याख्यानान्तरमाह—

आएसो त्ति व सुत्तं, सुओवलद्धेसु तस्स मइनाणं ।
पसरइ तब्भावणया, विणा वि सुत्ताणुसारेण ॥४०५॥

अथवा-आदेशः-सूत्रमुच्यते, तेन-सूत्रादेशेन सूत्रोपलब्धेष्वर्थेषु तस्य मतिज्ञानिनः सर्वद्रव्यादिविषयं मतिज्ञानं प्रसरति । ननु श्रुतोपलब्धेष्वर्थेषु यज्ज्ञानं तच्छ्रुतमेव भवति, कथं मतिज्ञानम् ?, इत्याह-' तब्भावणये ' त्यादि, तद्भावनया-श्रुतोपयोगमन्तरेण तद्वासनामात्रत एव यद् द्रव्यादिषु प्रवर्तते, तत्सूत्रादेशेन मतिज्ञानमिति भावः । एतच्च पूर्वमपि ' पुव्वं सुयपरिकम्मियमइस्स जं संपयं सुयाईयं ' इत्यादि प्रोक्तमेव । इति गाथाचतुष्टयार्थः । विशे० । भ० ।

(१२) तदेवं तत्त्वभेदपर्यायैर्मतिज्ञानं व्याख्याय, विषयं च द्रव्यादिकमस्य निरूप्य, साम्प्रतमिदमेव सत्पदप्ररूपणतादिभिर्नवभिरनुयोगद्वारैर्विचारयितुमाह—

संतपयपरूवणया १,
दव्वपमाणं च २ खेत्त३ फुसणा य ४ ।
कालो य ५ अंतरं ६ भा-
ग७ भाव८ अप्पाबहुं चेव ९ ॥ ४०६ ॥

सच्च तत्पदं च सत्पदं तस्य प्ररूपणं सत्पदप्ररूपणं-गत्यादि द्वारेषु विचारणं तद्भावः सत्पदप्ररूपणता-' कस्मिन् गत्यादिद्वारे इदं सद् ' इत्येवं सतो-विद्यमानस्याऽऽभिनिबोधिकज्ञानस्यगत्यादिद्वारेषु; प्ररूपणा कर्तव्येत्यर्थः १ । तथा द्रव्यप्रमाणमिति । ' मतिज्ञानि जीवद्रव्याणामेकस्मिन्समये कियन्तो मतिज्ञानं प्रतिपद्यन्ते, सर्वे वा कियन्तस्ते ?, इत्येवं प्रमाणं वक्तव्यमित्यर्थः । चशब्दः समुच्चये २ । तथा-क्षेत्रमिति ' कियति क्षेत्रे तत्संभवति ? ' इत्येवं मतिज्ञानस्य क्षेत्रं वक्तव्यम् ३ । तथा-' कियत्क्षेत्रं मतिज्ञानिनः स्पृशन्ति ' इत्येवं स्पर्शना वक्तव्या । यत्राऽवगाढस्तत्क्षेत्रं पार्श्वतोऽपि च स्पर्शना, इत्येवं क्षेत्रस्पर्शनयोर्विशेषः, चः समुच्चये ४ । तथा-कालः

स्थितिलक्षणो मतिज्ञानस्य वाच्यः, चस्तथैव ५ । 'एकदा प्रतिपद्य वियुक्तः कियता कालेन पुनरपि प्रपद्यते' इत्येवम् अन्तरं च तस्य वक्तव्यम् ६ । तथा ' मतिज्ञानिनः शेषज्ञानिनां कतिभागे वर्तन्ते' इत्येवं भागोऽस्य वक्तव्यः ७ । तथा-' कस्मिन् भावे मतिज्ञानिनो वर्तन्ते ?' इत्येवं भावो भणनीयः ८ । तथा अल्पबहुत्वं वक्तव्यम् , भागद्वारादपि तल्लब्धमिति चेत् । नैवं, यतोऽत्र मतिज्ञानिनां स्वस्थान एव पूर्वप्रतिपन्नप्रतिपद्यमानकापेक्षयाऽल्पबहुत्वमभिधानीयं, भागस्तु शेषज्ञानापेक्षया चिन्तनीय इति विशेषः ९ । इति निर्युक्तिगाथाद्वयार्थः । विस्तरार्थं तु भाष्यकार एव वक्ष्यति ।

अथ (१) सत्पदप्ररूपणता किमुच्यते ?, इत्याह—

संतं ति विज्जमाणं, एयस्स जा परूवणया ।
गइआइएसु वत्थुसु, संतपयपरूवणा सा उ ॥ ४०७॥
जीवस्स च जं संतं, जम्हा तं तेहि तेसु वा पयांति ।
तो संतस्स पयाइं, ताइं तेसुं प्ररूवणया ॥ ४०८ ॥

गत्यादिद्वारेषु सत्त्वेन चिन्त्यमानत्वात्पदं सत् उच्यते । ततश्च सतो-विद्यमानस्य पदस्य वा वक्ष्यमाणेषु गत्यादिद्वारेषु प्ररूपणता सा सत्पदप्ररूपणतोच्यते । अथवा-जीवस्य यत्सज्ज्ञानदर्शनादिकं तत्तैश्च कारणभूतैः, तेषु वाऽधिकरणभूतेषु यस्मात् 'पयंति' त्ति-पद्यते-अनुगम्यते; विचार्यते ततः-तस्मात्सतः पदानि सत्पदानि तानि गत्यादीनि द्वाराण्युच्यन्ते तैः, तेषु वा प्ररूपणता 'मत्यादेः' इति गम्यते, सत्पदप्ररूपणता । इति गाथाद्वयार्थः ।

तान्येव सत्पदानि गत्यादिद्वाराणि दर्शयति—

गइइंदिए य काए, जोए वेए कसायलेसासु ।
सम्मत्त-नाण-दंसण-संजय-उवओग-आहारे ॥४०९॥
भासग-परित्त-पज्ज-त्त-सुहुम-सण्णी य भविय-चरिमे य ।
पुव्वपडिवन्नए वा, पडिवज्जंते य मग्गणया ॥ ४१० ॥

एतेषु गत्यादिषु द्वारेषु मतिज्ञानस्य पूर्वप्रतिपन्नाः; प्रतिपद्यमानकाः, तदुभयम् , उभयाभावश्च इत्येतच्चतुष्टयं चिन्त्यते ।

तत्र येषु स्थानेषु मतिज्ञानिनो न प्रतिपद्यमानकाः, नाऽपि पूर्वप्रतिपन्नाः, किं तु उभयाभावः, तान्यपोद्धृत्य दर्शयति—

एगिंदियजाईओ, सम्मा मिच्छो य जो य सव्वन्नू ।
अपरित्ता य अभव्वा, ऽचरिमा(य)एए सया सुन्ना॥४११।

इह सर्वेष्वपि गत्यादिद्वारेषु यावान् कोऽप्येकेन्द्रियजातीयः-एकेन्द्रियप्रकारः; एकेन्द्रियभेद इत्यर्थः । एष सर्वोऽपि मतिज्ञानेन शून्यः, न तत्र मतिज्ञानस्य प्रतिपद्यमानकः, नापि पूर्वं प्रतिपन्नः संभवतीत्यर्थः । " उभयाभावो एगिंदिएसु सम्मत्तलद्धीए " इति वचनादिति । कः पुनरेकेन्द्रियजातीयः ?, इति चेत् । उच्यते-इन्द्रियद्वारे-तावदेकेन्द्रिय एव, कायद्वारे-पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः । सूक्ष्मद्वारे तु—सूक्ष्म इत्यादि । तथा—सम्यग्मिथ्यादृष्टिरपि सम्यक्त्वद्वारे मतिज्ञानशून्यः । " सम्मामिच्छदिट्ठी णं भंते ! किं नाणी, अन्नाणी ? । गोयमा ! नो नाणी, अण्णाणी " इत्यादिवचनादिति । यश्च कोऽपि द्वारे सर्वज्ञः केवली संभवति, सोऽपि तच्छून्य एव; तद्यथा-गतिद्वारे-

सिद्धिगतौ सिद्धः, इन्द्रियद्वारे-अतीन्द्रियः, कायद्वारे-अकायः, योगद्वारे-अयोगः, लेश्याद्वारे-अलेश्यः, ज्ञानद्वारे-केवलज्ञानी, दर्शनद्वारे-केवलदर्शनी, तथा, संयमपरीत्त-पर्याप्त-सूक्ष्म-संज्ञि-भव्यद्वारेषु-यथासंख्यं नोसंयत-नोपरीत्त-नोपर्याप्त-नोसूक्ष्म-नोसंज्ञि-नोभव्या इति । एते सर्वेऽपि सर्वज्ञत्वान्मतिज्ञानशून्याः, छद्मस्थस्यैव तत्संभवादिति भावः । तथा-परीत्त-भव्य-चरमद्वारेषु परीत्ता-ऽभव्याऽचरमा अपि मिथ्यादृष्टित्वान्मतिज्ञानशून्याः । तदेवमेते सर्वे सर्वदैव मतिज्ञानशून्या मन्तव्या उभयाभावात् । इति गाथार्थः ।

अथ गत्यादिद्वारेष्वेव पूर्वप्रतिपन्नप्रति-
पद्यमानकचिन्तां कुर्वन्नाह—

वियला अविसुद्धलेसा, मणपज्जवणाणिणो अणाहारा ।
असण्णि अणगारोव-ओगिणो पुव्वपडिवन्ना ॥४१२॥
सेसा पुव्वपवन्ना, नियमा पडिवज्जमाणया भइया ।
भयणा पुव्वपवन्ना, अकसायाऽवेयया होंति ॥ ४१३ ॥

विकलाः-द्वित्रिचतुरिन्द्रियलक्षणा विकलेन्द्रियाः, तथा-अविशुद्धलेश्याः भावलेश्यामङ्गीकृत्य कृष्ण-नील-कापोत-लेश्यायुक्तयः, तथा-मनःपर्यायज्ञानिनः, अनाहारकाः, असंज्ञिनः, अनाकारोपयुक्ताः; एते सर्वेऽपि मतिज्ञानस्य यदि भवन्ति । तदा पूर्वप्रतिपन्ना एव, नतु प्रतिपद्यमानकाः, तथा हि-इन्द्रियद्वारे केचिद्विकलेन्द्रिया ये सास्वादनसम्यक्त्वेन सह पूर्वभवादागच्छन्ति तेषां पूर्वप्रतिपत्तिमङ्गीकृत्य स्यान्मतिज्ञानं, प्रतिपद्यमानकास्त्वस्य विकलेन्द्रियाः सर्वेऽपि न भवन्त्येव, तथाविधविशुद्ध्यभावात् । तथा-लेश्याद्वारे—अविशुद्धलेश्या अपि पूर्वप्रतिपन्नाः केचिद्भवन्ति, न तु प्रतिपद्यमानकाः, विशुद्धभावलेश्यानामेव तत्प्रतिपत्तेः ज्ञानद्वारे-मनःपर्यायज्ञानिनः सर्वेऽपि पूर्वप्रतिपन्नाः भवन्त्येव. न तु प्रतिपद्यमानकाः, सम्यक्त्वसहचरितप्राप्तमतिज्ञानस्यैव पश्चादप्रमत्तसंयतावस्थायां मनःपर्यायज्ञानोत्पत्तेः; सम्यक्त्वसहचरितचारित्रलाभे तु मतिसहचरितं मनःपर्यायज्ञानं नोत्पद्यत एव, अत एव वचनाद्, अन्यथा अवधिज्ञानीव मनःपर्यायज्ञान्यपि निश्चयनयमतेन प्रतिपद्यमानकः स्यादिति । आहारकद्वारे अनाहारकाः केचिद्देवादयः पूर्वभावाद् गृहीतसम्यक्त्वा मनुष्यादिषूत्पद्यमानाः मतेः पूर्वप्रतिपन्ना भवन्ति, नतु प्रतिपद्यमानकाः, तथाविधविशुद्ध्यभावात् । संज्ञाद्वारे असंज्ञिनो विकलेन्द्रियवद्भावनीयाः । उपयोगद्वारे अनाकारोपयोगिनः केचित्पूर्वप्रतिपन्ना भवन्ति, नतु प्रतिपद्यमानकाः, मतिज्ञानस्य लब्धित्वात्तदुत्पत्तेश्चानाकारोपयोगे प्रतिषिद्धत्वादिति । उक्तशेषास्तु-गतिद्वारे नारकादयः, इन्द्रियद्वारे तु-पञ्चेन्द्रियाः, कायद्वारे तु त्रसकायिकाः, इत्येवमादयो जातिमपेक्ष्य पूर्वप्रतिपन्ना नियमतः सन्ति, प्रतिपद्यमानकास्तु भजनीयाः—कदाचिद्भवन्ति, कदाचिन्नेति । अतिव्याप्तिनिषेधार्थमाह-'भयणा पुव्वपवन्ना ' इत्यादि, कषायद्वारे अकषायाः, वेदद्वारे त्ववेदकाः, भजनया पूर्वप्रतिपन्नया एव भवन्ति, छद्मस्थाः पूर्वप्रतिपन्नाः मतेर्भवन्ति, नतु केवलिनः, प्रतिपद्यमानकास्त्वमी न भवन्त्येव, पूर्वप्रतिपन्नमतिज्ञानानामेव क्षपकोपशमश्रेणिप्रतिपत्तेः । इति गाथाद्वयार्थः ।

तदेवं संक्षेपतो गत्यादिद्वारेषु भाष्यकृता मतिज्ञानस्य कृता सत्पदप्ररूपणा । अथ विनेयाऽनुग्रहार्थं किंचिद्विस्तरतोऽप्यसौ विधीयते-तत्र मतिज्ञानं किमस्ति, नवा ? । यद्यस्ति, क ? । तद्गत्यादिस्थानेषु । तत्र नारकतिर्यङ्नरामरभेदाद्गतिश्चतुर्द्धा । तत्र चतुर्विधायामपि गतौ मतिज्ञानस्य पूर्वप्रतिपन्ना नियमात्सन्ति , प्रतिपद्यमानकास्तु भाज्याः-विवक्षितकाले कदाचिद्भवन्ति, कदाचित्तु नेत्यर्थः । आभिनिबोधिकप्रतिपत्तिप्रथमसमये प्रतिपद्यमानका उच्यन्ते, द्वितीयादिसमयेषु तु पूर्वप्रतिपन्ना इत्यनयोर्विशेषः । इन्द्रियद्वारे—एकेन्द्रियेषूभयाभावः । सैद्धान्तिकमतेन कार्मिकग्रन्थिकास्तु-लब्धिपर्याप्तबादरपृथ्व्यब्वनस्पतीन् करणाऽपर्याप्तान् पूर्वप्रपन्नानिच्छन्ति, सास्वादनस्य तेषूत्पत्तेः । विकलेन्द्रियास्तूभयमतेनाऽपि करणाऽपर्याप्ताः सास्वादनमेव पूर्वभवायातमङ्गीकृत्य पूर्वप्रतिपन्ना लभ्यन्ते, नतु प्रतिपद्यमानकाः , पञ्चेन्द्रियास्तु सामान्येन पूर्वप्रतिपन्ना नियमतः सन्ति, प्रतिपद्यमानकास्तु भजनीयाः ।

कायद्वारे-पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसकायभेदात्षोढा कायः । तत्राद्यकायपञ्चके उभयाभावः । त्रसकाये तु पञ्चेन्द्रियवद्वाच्यम् । योगद्वारे कायवाङ्मनोभेदात्त्रिधा योगः, स एव त्रिविधोऽपि समुदितो येषामस्ति तेषां पञ्चेन्द्रियवद्वाच्यम् , मनोरहितवाग्योगिनां विकलेन्द्रियवत् , केवलकाययोगिनां त्वेकेन्द्रियवदिति । वेदद्वारे-स्त्रीपुंनपुंसकभेदात् त्रिविधेऽपि वेदे पञ्चेन्द्रियवत् भावनीयम् । कषायद्वारे तु चतुर्ष्वनन्ताऽनुबन्धिषु सास्वादनमङ्गीकृत्य पूर्वप्रतिपन्नो लभ्यते; न प्रतिपद्यमानकः, शेषेषु द्वादशसु कषायेषु पञ्चेन्द्रियवदेव । लेश्याद्वारे-भावलेश्यामङ्गीकृत्य कृष्णादिकासु तिसृष्वप्रशस्तलेश्यासु पूर्वप्रतिपन्नाः संभवन्ति. न त्वितरे; प्रशस्ते तु लेश्यात्रये पञ्चेन्द्रियवदेव । सम्यक्त्वद्वारे—निश्चयव्यवहारनयाभ्यां विचारः । तत्र व्यवहारनयो मन्यते—मिथ्यादृष्टिरज्ञानी च सम्यक्त्वज्ञानयोः प्रतिपद्यमानको भवति, न तु सम्यक्त्वज्ञानसहितः । निश्चयनयस्तु ब्रूते--सम्यग्दृष्टिर्ज्ञानी च सम्यक्त्वज्ञाने प्रतिपद्यते, न तु मिथ्यादृष्टिः, अज्ञानी च । विशे० । (यत्तत् 'कज्जकारणभाव' शब्दे तृतीयभागे (४१४) इत्यादिगाथाभिः दर्शयिष्यते)

तस्मात्-' इय न श्रवणादिकाले नाणं ' (४१७) इत्यनेन यदि सर्वेष्वपि धर्मश्रवणादिसमयेषु मतिज्ञानं निषिध्यते, तदा सिद्धसाध्यता । अथ चरमक्रियासमयेऽपि तन्निवार्यते, तदयुक्तम् , तत्र तस्य प्रसाधितत्वादिति । तस्मिंश्च धर्मश्रवणादिक्रिया चरमसमये सम्यक्त्वं ज्ञानं च प्रतिपद्यमानं प्रतिपन्नमेवेति । अतः सम्यग्दृष्टिर्ज्ञानी च सम्यक्त्वज्ञाने प्रतिपद्यते । इति निश्चयनयमततात्पर्यम् । व्यवहारनयस्तु ब्रूते-तस्मिंश्चरमसमये सम्यक्त्वज्ञानयोरद्याप्यसौ प्रतिपद्यमानकः, प्रतिपद्यमानं चाप्रतिपन्नमेव । अतो मिथ्यादृष्टिः, अज्ञानी च सम्यक्त्वज्ञाने प्रतिपद्यते । उत्तरत्र क्रियानिष्ठासमये तु सम्यक्त्वज्ञाने युगपदेव स-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भते। अतः प्रस्तुते सम्यक्त्वद्वारे एतन्मतेन सम्यग्दृष्टिराभिनिबोधिकस्य पूर्वप्रतिपन्न एव भवति, न तु प्रतिपद्यमानकः, सम्यक्त्वज्ञानयोर्युगपल्लाभात्, तत्काले च क्रियाया अभावात्, तदभावे च प्रतिपद्यमानकत्वायोगादिति। निश्चयनयमतेन तु सम्यग्दृष्टेराभिनिबोधकस्य पूर्वप्रतिपन्नः, प्रतिपद्यमानकश्च लभ्यते, क्रियायाः कार्यनिष्ठायाश्च युगपद्भावस्य समर्थितत्वात्। इत्यलमतिविस्तरेणेति। विशे०।

ज्ञानद्वारे-मतिश्रुतावधिमनःपर्यायकेवलभेदात्पञ्चधा ज्ञानम्। व्यवहारनयमतेन मतिश्रुतावधिमनःपर्यायज्ञानिनः आभिनिबोधिकस्य पूर्वप्रतिपन्ना भवन्ति, न तु प्रतिपद्यमानकाः, ज्ञानिनो मतिज्ञानप्रतिपत्त्ययोगस्यैतन्मतेन प्रागुक्तत्वात्। केवलिनां तूभयाभावः, तेषां क्षयोपशमिकज्ञानातीतत्वात्। मत्यज्ञानश्रुताऽज्ञानविभङ्गज्ञानवन्तस्तु प्रतिपद्यमानकाः कदाचित् भवन्ति, युक्तदर्शित्वात्, न तु पूर्वप्रतिपन्नाः, निश्चयनयमतेन तु मतिश्रुतावधिज्ञानिनः पूर्वप्रतिपन्ना नियमतः सन्ति, प्रतिपद्यमानका अपि भजनीयाः, ज्ञानिनो ज्ञानप्रतिपत्तेः समर्थितत्वात्। मनःपर्यायज्ञानिनस्तु पूर्वप्रतिपन्ना एव भवन्ति, न तु प्रतिपद्यमानकाः, पूर्वसम्यक्त्वलाभकाले प्रतिपन्नमतिज्ञानस्यैव पश्चादन्त्यावस्थायां मनःपर्यायज्ञानसद्भावात्। केवलिनां तूभयाभावः। एवं मत्याद्यज्ञानवतामप्युभयाभाव एव, ज्ञानिन एव ज्ञानप्रतिपत्तेः।

दर्शनद्वारे—चक्षुरचक्षुरवधिकेवलदर्शनभेदात् दर्शनं तु चतुर्धा। अचक्षुर्दर्शनत्रये लब्धिमङ्गीकृत्य पूर्वप्रतिपन्ना नियमतः प्राप्यन्ते, प्रतिपद्यमानकास्तु भजनीयाः, तदुपयोगं त्वाश्रित्य पूर्वप्रतिपन्ना एव, न तु प्रतिपद्यमानकाः, मतिज्ञानस्य लब्धित्वात्, लब्ध्युत्पत्तेश्च दर्शनोपयोगे निषिद्धत्वात्, "सव्वाओ वि लद्धीओ, सागारोवउत्तस्स उववज्जंति"-इति वचनादिति। केवलदर्शनिनां तूभयाभावः।

संयतद्वारे-संयतादयश्चाऽऽभिनिबोधकस्य पूर्वप्रतिपन्ना नियमाल्लभ्यन्ते, प्रतिपद्यमाना अपि भजनया प्राप्यन्ते। ननु सम्यक्त्वलाभावस्थायामेव मतिज्ञानस्य प्रतिपन्नत्वात्संयतः कथं प्रतिपद्यमानकोऽवाप्यते? सत्यं, किं तु-योऽतिविशुद्धिवशात्सम्यक्त्वं चारित्रं च युगपत्प्रतिपद्यते स तस्यामवस्थायां प्रतिपद्यमानस्य संयमस्य प्रतिपन्नत्वात्संयतो मतेः प्रतिपद्यमानको भवति; उक्तं चावश्यकचूर्णौ-"नऽत्थि चरित्तं सम्मत्तविहूणं दंसणं तु भयणिज्जं"। भजनामेव आह—" सम्मत्तचरित्ताइं जुगवं, पुव्वं व सम्मत्तं" उपयोगद्वारे-उपयोगो द्विधा-पञ्च ज्ञानानि, त्रीणि चाज्ञानानि साकारोपयोगः; चत्वारि दर्शनानि अनाकारोपयोगः तत्र साकारोपयोगे पूर्वप्रतिपन्ना नियमात् सन्ति, प्रतिपद्यमानकास्तु भजनीयाः। अनाकारोपयोगे तु प्रतिपन्ना एव, न तु प्रतिपद्यमानकाः, अनाकारोपयोगे लब्ध्युत्पत्तेः प्रतिषिद्धत्वादिति। आहारकद्वारे-आहारकाः साकारोपयोगवद्। अनाहारकास्त्वपान्तरालगतौ प्रतिपन्नाः संभवन्ति, प्रतिपद्यमानकास्तु न भवन्त्येव।

भाषकद्वारे भाष्यकार एवाह—

भासासलद्धिओ लभई, भासमाणो अभासमाणो वा।
पुव्वपडिवन्नओ वा, उभयं पि अलद्धिए नऽत्थि॥४२७॥

भाषालब्ध्या सह वर्त्तते इति भाषासलब्धिकः-भाषालब्धिमांश्चिद्धवतीत्यर्थः, तदा भाषमाणोऽभाषमाणो वा लभते-प्रतिपद्यते कश्चिन्मतिज्ञानं, पूर्वप्रतिपन्नो वा भवति—भाषालब्धियुक्तो मनुष्यादिर्जात्यपेक्षया पूर्वप्रतिपन्नो नियमाल्लभ्यते प्रतिपद्यमानकोऽपि भजनयेति तात्पर्यम्। अलब्धिके-भाषालब्धिशून्ये पुनरुभयमपि नास्ति, स ह्येकेन्द्रिय एव, तस्य च प्रागुक्तधदुभयाभाव एवेत्यर्थः। इति गाथार्थः। परीत्तद्वारे-परीत्ताः प्रत्येकशरीरिणः, परीत्तीकृतसंसारा वा; स्तोकावशेषभवा इत्यर्थः। एते उभयेऽपि पूर्वप्रतिपन्ना नियमाल्लभ्यन्ते, प्रतिपद्यमानकास्तु भजनीयाः। अपरीतास्तु साधारणशरीरिणः, अपार्द्धपुद्गलपरावर्त्ताद्प्युपरिवर्तिसंसारा वा; मिथ्यादृष्टित्वादुभयेऽप्युभयविकलाः। पर्याप्तकद्वारे-षड्पर्याप्तिभिः पर्याप्ताः परीत्तवद्वाच्यास्तदपर्याप्तास्तु प्रतिपन्ना एव न त्वितरे। सूक्ष्मद्वारे-सूक्ष्मा उभयविकलाः। बादरास्तु पर्याप्तकवद्वाच्याः। संज्ञिद्वारे-दीर्घकालिकोपदेशेन संज्ञिनो गृह्यन्ते, ते च बादरवद्भावनीयाः। असंज्ञिनस्तु अपर्याप्तवदिति। भवद्वारे-भवसिद्धिकाः संज्ञिवद्। अभवसिद्धिकास्तूभयशून्याः। चरमद्वारे-चरमो भवो भविष्यति येषां तेऽभेदोपचाराच्चरमा भव्यवद् अचरमास्त्वभव्यवदिति। तदेवं कृता गत्यादिद्वारेषु भाष्ये वृत्तौ च सत्पदप्ररूपणा।

अथ (२) द्रव्यप्रमाणमाह—

किमिहाभिणिबोहियनाणि-जीवदव्वपमाणमिगसमए।
पडिवज्जेज्जं तु न वा, पडिवज्जे जहन्नओ एगो॥४२८॥
खेत्तपलिओवमासं-खभागउक्कोसओ पवज्जेज्जा।
पुव्वपवन्ना दोसु वि, पलियासंखेज्जईभागो॥ ४२६॥

किमिहाऽस्मिन् लोके आभिनिबोधिकज्ञानपरिणामापन्नजीवद्रव्याणां प्रमाणमेकस्मिन् विवक्षितसमये? । एवं शिष्येण पृष्टे सत्याह-प्रतिपद्येरन्, नवेति। इदमुक्तं भवति-यदि प्रतिपद्यमानकानां प्रमाणं पृच्छसि, तदा प्रतिपद्यमानकास्तस्य विवक्षितसमये प्राप्यन्ते न वा। तत्र प्रतिपद्यमानप्राप्तिपक्षे जघन्यत एकः प्रतिपद्येत, उत्कृष्टस्तु सर्वलोके क्षेत्रपल्योपमासंख्येयभागः प्रतिपद्येत। अथ पूर्वप्रतिपन्नानां तेषां प्रमाणमिच्छसि ज्ञातुं, तर्हि पूर्वप्रतिपन्ना द्वयोरपि पद्मयोर्जघन्योत्कृष्टलक्षणयोः क्षेत्रपल्योपमाऽसंख्येयभागप्रदेशराशिप्रमाणाः प्राप्यन्ते, केवलं जघन्यपदादुत्कृष्टे विशेषाऽधिकम्। इति गाथाद्वयार्थः।

अथ (३) क्षेत्रद्वारमधिकृत्याह—

खेत्तं हवेज्ज चोद्दस-भागा सत्तोवरिं अहे पंच।
इलियागईए विग्गह-गयस्स गमणेऽहवाऽऽगमणे।४३०।

नानाजीवानपेक्ष्य सर्वेऽप्याभिनिबोधिकज्ञानिनः पिण्डिता लोकासंख्येयभागमेव व्याप्नुवन्ति। एकजीवस्य तु क्षेत्रं भवेत्कियद्?, इत्याह-सप्तचतुर्दशभागाः-चतुर्दशभागीकृत-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्य लोकस्य सप्त भागाः; सप्तरज्जव इत्यर्थः, उपरि-ऊर्ध्वम् इलिकागत्या विग्रहगतस्य निरन्तराऽप्रान्तरालस्पर्शिनोऽनुत्तरविमानेषु गमने, तत आगमने वा । अधस्त्वनयैव गत्या षष्ठनरकपृथिवीगमने आगमने वा पञ्चचतुर्दशभागाः-पञ्च रज्जवः प्राप्यन्ते । इदमुक्तं भवति-यदाऽत्राऽऽभिनिबोधिकज्ञानी मृत्वा इलिकागत्याऽनुत्तरसुरेषूत्पद्यते, तेभ्यो वाऽत्र मनुष्यो जायेत, तदाऽस्य जीवप्रदेशो दण्डः सप्तरज्जुप्रमाणक्षेत्रे भवति, अधस्त्वनयैव गत्या षष्ठनरकपृथिव्यां गच्छतः, तत आगच्छतो वा पञ्चरज्जुप्रमाणक्षेत्रेऽसौ लभ्यत इति । विराधितसम्यक्त्वो हि षष्ठपृथ्वीं यावत् गृहीतेनाऽपि सम्यक्त्वेन सैद्धान्तिकमतेन कश्चिदुत्पद्यते, कार्मग्रन्थिकमतेन तु वैमानिकदेवेभ्योऽन्यत्र तिर्यङ्, मनुष्यो वा तेनैव क्षायोपशमिकसम्यक्त्वेनोत्पद्यते, न गृहीतेन; सप्तमपृथिव्यां पुनरुभयमतेनाऽपि वान्तेनैव तेनोपजायते । आह भवत्वेवं किंतु यः सप्तमपृथिव्या गृहीतसम्यक्त्वोऽत्रागच्छति तस्याऽधः षट्चतुर्दश भागाः किमिति न लभ्यन्ते ? इति (विशे० ।) ('सम्मत्त' शब्दे सप्तमे भागे स्फुटीभविष्यति) (स्पर्शनाद्वाम् । क्षेत्रस्पर्शनयोर्विशेषश्च 'फासणा' शब्दे पञ्चमभागे (४२१) गाथया दर्शयिष्यते)

एकस्याऽऽभिनिबोधिकज्ञानिजीवस्य ये क्षेत्रस्पर्शने, ताभ्यां सकाशान्नानाऽऽभिनिबोधिकजीवानां याः क्षेत्रस्य स्पर्शनास्ता असंख्येयगुणाः नानाऽऽभिनिबोधिकजीवानां सर्वेषामसंख्येयत्वादिति भावः ।

कालद्वारमधिकृत्याह—

एगस्स अणेगाण व, उवओगंतो मुहुत्ताओ ॥४२४॥

द्विधा मतिज्ञानस्य कालश्चिन्तनीयः-उपयोगतो, लब्धितश्च । तत्रैकजीवस्य तदुपयोगो जघन्यत उत्कृष्टतश्चाऽन्तर्मुहूर्त्तमेव भवति, परत उपयोगान्तरगमनादिति । सर्वलोकवर्तिनामनेकाऽऽभिनिबोधिकजीवानामपीदमेवोपयोगकालमानम्, केवलमिदमन्तर्मुहूर्त्तमपि बृहत्तरमवसेयम् ।

लब्धिमङ्गीकृत्य कालमानमाह—

लद्धी वि जहण्णेणं, एगस्सेवं परा इमा होइ ।
अह सागरोवमाइं, छावट्ठिं सातिरेगाइं ॥ ४२५ ॥

आभिनिबोधिकज्ञानलब्धिरपि तदावरणक्षयोपशमरूपाऽऽयातसम्यक्त्वस्यैकजीवस्य जघन्यत एवमिति-एवमेव; अन्तर्मुहूर्त्तमेवेत्यर्थः । परतो मिथ्यात्वगमनात्, केवलाऽवाप्तेर्वा । परा तूत्कृष्टा तल्लब्धिरेकजीवस्येयम्-अनन्तरवक्ष्यमाणा भवति । अथ सैवोच्यते-सातिरेकाणि षट्षष्टिसागरोपमाणि ।

कथं पुनरेतानि भवन्ति, नानाजीवानां च कियान् लब्धिकालः ?, इत्याह—

दो वारे विजयाइसु, गयस्स तिन्नच्चुए अहव ताइं ।
अइरेगं नरभवियं, नाणाजीवाण सव्वऽद्धं ॥ ४२६ ॥

इह कश्चित्साधुर्मत्यादिज्ञानान्वितो देशोनां पूर्वकोटीं यावत्प्रव्रज्यां परिपाल्य विजयवैजयन्तजयन्ताऽपराजितविमानानामन्यतरविमाने उत्कृष्टं त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमलक्षणदेवायुरनुभूय पुनरप्रतिपतितमत्यादिज्ञान एव मनुजेषु उत्पन्नो देशोनां पूर्वकोटीं प्रव्रज्यां विधाय तत्रैव विजयादिषूत्कृष्टमायुः संप्राप्य पुनरप्रतिपतितमत्यादिज्ञान एव मनुष्यो भूत्वा पूर्वकोटीं जीवित्वा सिद्ध्यतीति । एवं विजयादिषु वारद्वयं गतस्य; अथ वा-अच्युतदेवलोके द्वाविंशतिसागरोपमस्थितिकेषु देवेषु त्रीन् वारान् गतस्य तानि षट्षष्टिसागरोपमाणि अधिकानि भवन्ति । अधिकं चेह नरभवसंबन्धिदेशोनं पूर्वकोटित्रयं चतुष्टयं वा द्रव्यम् । नानाजीवानां तु सर्वाऽद्धं-सर्वकालं मतिज्ञानस्य स्थितिः । इति गाथा (विशे०।)ऽर्थः ।

अथाऽन्तरद्वारमाश्रित्याह—

एगस्स जहन्नेणं, अंतरमंतो मुहुत्तमुक्कोसं ।
पोग्गलपरिअट्टऽद्धं, देसूणं दोसबहुलस्स ॥ ४२७ ॥

इह कश्चिज्जीवः सम्यक्त्वसहितं मतिज्ञानमवाप्य-प्रतिपत्य चान्तर्मुहूर्तं मिथ्यात्वे स्थित्वा यदि पुनरपि सम्यक्त्वसहितं तदेव प्राप्नोति । तदेतन्मतिज्ञानस्य जघन्यमन्तर्मुहूर्तमन्तरं प्राप्तिविरहकालरूपं भवति । आशातनादिदोषबहुलस्य तु जीवस्य सम्यक्त्वात् प्रतिपतितस्य देशोनपुद्गलपरावर्ताऽर्द्धरूपमुत्कृष्टमन्तरं भवति, एतावता कालेन पुनरपि सम्यक्त्वाऽऽभिनिबोधिकलाभात् इत्येकजीवस्योक्तमन्तरम् ।

अथ नानाजीवानां तदभिधित्सुः, भावद्वारं च विभणिषुराह-

जमसुन्नं तेहिँ तओ, नानाजीवाणमंतरं नऽत्थि ।
मइनाणी सेसाणं, जीवाणमणंतभागम्मि ॥ ४२८ ॥

यत्-यस्मात्तैः-आभिनिबोधिकज्ञानिभिरशून्यं सर्वदैव नारकादिगतिचतुष्टयाऽन्वितं त्रिभुवनमिदं ततस्तस्मान्नानाजीवानाश्रित्य नाऽस्ति मतिज्ञानस्याऽन्तरकालः । तथा मतिज्ञानिनः शेषज्ञानवतां जीवानामनन्ततमे भागे वर्तन्ते, शेषज्ञानिनो हि केवलिसहितत्वादनन्ताः, आभिनिबोधिकज्ञानिनस्तु सर्वलोकेऽप्यसंख्याता एवेति भावः । इति गाथाद्वयार्थः ।

अथ भावद्वारम्, अल्पबहुत्वद्वारं चाऽभिधित्सुराह-

भावे खओवसमिए, मइनाणं नऽत्थि सेसभावेसुं ।
थोवा मइनाणिऊ, सेसा जीवा अणंतगुणा ॥४२९॥

मतिज्ञानावरणे हि कर्मण्युदीर्णे क्षीणे, अनुदीर्णे तूपशान्ते मतिज्ञानमुपजायते, अतः क्षायोपशमिक एव भावे तद्वर्तते, न तु शेषेष्वौदयिकक्षायिकादिभावेष्विति मतिज्ञानेन विदन्तीति मतिज्ञानविदः स्तोकाः शेषज्ञानयुक्तास्तु सिद्धकेवल्यादयो जीवा अनन्तगुणा इति । एवमपि तावदल्पबहुत्वं भवति । केवलमिहैवमुच्यमाने भागाऽल्पबहुत्वद्वारयोरर्थतः परमार्थतो न कश्चिद्विशेषो भेदो दर्शितो भवति । तेन तस्यैवाऽऽभिनिबोधिकस्य पूर्वप्रतिपन्नप्रतिपद्यमानकानाश्रित्याऽल्पबहुत्वं वक्तुमुचितं, पौनरुक्त्याऽभावादिति ।

एतदेवाह—

नेह त्थओ विसेसो, भागप्पबहूण तेण तस्सेव ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पडिवज्जमाणपडिवन्नगाणमप्पाबहुं जुत्तं ॥ ४४० ॥
गतार्थैव ।

अथ यदेव युक्तं तदेवाह—

थोवा पवज्जमाणा, असंखगुणिया पवन्नयजहन्ना ।
उक्कोसए पवन्ना, होंति विसेसाऽहिया तत्तो ॥ ४४१ ॥

आभिनिबोधिकस्य "जहन्नेणं, एक्को वा, दो वा, तिन्नि वा, उक्कोसेणं असंखेज्जा" इत्येवं प्रतिपद्यमानकाः प्रोच्यन्ते ते सर्वस्तोकाः । तेभ्यो जघन्यपदवर्तिनः पूर्वप्रतिपन्नास्ते असंख्यातगुणाः, चिरकालसंकलितत्वात् प्रतिपद्यमानकानां तु विवक्षितैकसमयमात्रभावादिति । उत्कृष्टपदवर्तिनस्तु पूर्वप्रतिपन्नास्तेभ्योऽपि विशेषाधिका इति ।

प्रकारान्तरमप्यल्पबहुत्वं दर्शयति—

अहवा मइनाणीणं, सेसयनाणीहिँ नाणरहिएहिं ।
कज्जं सहो भएहि य, अहवा गचाइभेएणं ॥ ४४२ ॥

अथवा मतिज्ञानिनां शेषज्ञानिभिः सहाऽल्पबहुत्वं प्रथमं वाच्यम्, यथा-"मइनाणी सेसाणं जीवाणमणंतभागम्मि" इति । ततो द्वितीयस्थाने-"नाणरहिएहिं" ति, ज्ञानानि व्याख्यानादिह मतिज्ञानादन्यानि गृह्यन्ते, तैरहिताः-वियुक्ताः पूर्वप्रतिपद्यमानकमतिज्ञानिन एव केवला इत्यर्थः, तैः सहितं मतिज्ञानिनामल्पबहुत्वं स्वस्थान एव; वक्तव्यम् । यथा-"थोवा पवज्जमाणा, असंखगुणिया पवण्णयजहन्ना" इत्यादि ततस्तृतीयस्थाने उभयैः शेषज्ञानिभिः समुदितैः सहाऽल्पबहुत्वं तेषां कर्तव्यम् । तद्यथा-"सव्वथोवा मणपज्जवनाणी, ओहिनाणी असंखेज्जगुणा, मइनाणी, सुयनाणी य दोवि सट्ठाणे तुल्ला, मतिभत्तेहिंतो विसेसाहिया, केवलनाणी अणंतगुणा" एवं पूर्वप्रतिपन्नप्रतिपद्यमानकविभागेनाऽप्यल्पबहुत्वमिह स्वधियाऽभ्यूह्यमिति । अथवा-गत्यादिभेदेन तत्कार्यम्, यथा-सर्वस्तोका मतिज्ञानिनो मनुष्याः, नारका असंख्यातगुणाः, ततस्तिर्यञ्चः, ततो देवा इति । एवं संभवतः सर्वत्र वाच्यमिति ।

अथोपसंहरन्नाह—

लक्खणविहाणविसया-ऽणुओगदारेहिँ वन्निया बुद्धी ।
तयणंतरमुद्दिट्ठं, सुअनाणमओ परूविस्सं ॥ ४४३ ॥

लक्षणम्-आभिनिबोधिकशब्दव्युत्पत्तिः, विधानं-भेदोऽवग्रहादिः, विषयो द्रव्यक्षेत्रादिः, अनुयोगद्वाराणि सत्पदप्ररूपणतादीनि, एतैः सर्वैरपि यथोक्तक्रमेणाभिनिबोधिकज्ञानलक्षणा वर्णिता व्याख्याता बुद्धिः । ततस्तदनन्तरोद्दिष्टं श्रुतज्ञानं प्ररूपयिष्ये इति गाथापञ्चकार्थः । तदेवमाभिनिबोधिकज्ञानं समाप्तमिति । विशे० । आ० म० ।

आभिणिबोहियनाणलद्धि—आभिनिबोधिकज्ञानलब्धि—स्त्री० । आभिनिबोधिकज्ञानम्-मतिज्ञानम् तस्य लब्धिः-योग्यता । आभिनिबोधिकज्ञानयोग्यतायाम्, "आभिणिबोहियणाणलद्धी ०जाव खओअसमिआ" (सूत्र-२७४) । स्वस्वावरणकर्मक्षयोपशमसाध्यत्वात् क्षायोपशमिकी । अनु० ।

आभिणिबोहियनाणसागरोवओग-आभिनिबोधिकज्ञानसाकारोपयोग-पुं० । अर्थाभिमुखो नियतः-प्रतिनियतस्वरूपो बोधो-बोधविशेषः अभिनिबोधः अभिनिबोध एवाभिनिबोधिकम् । अभिनिबोधशब्दस्य विनयादिपाठाऽभ्युपगमात् "विनयादिभ्यः" ॥७।२।१६९॥ इत्यनेन स्वार्थे इकण्प्रत्ययः । "निवर्तन्ते स्वार्थे प्रत्ययकाः प्रकृतिलिङ्गवचनानि" इति वचनादत्र नपुंसकता, यथा विनय एव वैनयिकमित्यत्र । अथवा-अभिनिबुध्यते अस्मादस्मिन्वेति अभिनिबोधः-तदावरणकर्मक्षयोपशमस्तेन निर्वृत्तमाभिनिबोधिकम्, तच्च तज्ज्ञानं च आभिनिबोधिकज्ञानम्, इन्द्रियमनोनिमित्तो योग्यप्रदेशाऽवस्थितवस्तुविषयः स्फुटप्रतिभासो; बोधविशेष इत्यर्थः, स चासौ साकारोपयोगश्च आभिनिबोधिकज्ञानसाकारोपयोगः। साकारोपयोगविशेषे, प्रज्ञा० २९ पद ३१२ सूत्रटी०।

आभिसेक्क आभिषेक्य-त्रि०। अभिषेकमर्हति आभिषेक्यम् । अभिषेकाऽर्हे, औ० । "आभिसेक्कं हत्थिरयणं पडिकप्पेहि" (सूत्र-२९+) । औ० ।

आभीर-आभीर-पुं० । आ-समन्ताद् भियं राति । रा-क । वाच० । शूद्रजातिभेदे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० २ गाथाटी० । "आभीराणं अहिवई" (४६२ गथाटी०) । आ० म० १ अ० । गोपे, सङ्कीर्णजातिभेदे, स हि अल्पभीतिहेतोररण्याधिकं बिभेतीति तस्य तथा तदिदं गृहाण । उक्तः स च संकीर्णवर्णः । "ब्राह्मणादुग्रकन्यायां-मावृतो नाम जायते । आभीरोऽम्बष्ठकन्यायां-मायोगव्यां तु धीवरः ॥ १ ॥" इति मनूक्तेः । "श्रीकोङ्कणादधोभागे, तापीतः पश्चिमे तटे । आभीरदेशो देवेशि, विन्ध्यशैले व्यवस्थितः" ॥ १ ॥ इति । देशभेदे, तद्देशवासिनि, तद्देशराजे च । वं० व० । "एकादशकलाधारि-कविकुलमानसहारि । इदमाभीरमवेहि, जगणमन्त्यमनुधेहि" ॥ १ ॥ इत्युक्तलक्षणे ५ मात्रावृत्तभेदे च । वाच० ।

आभीरदेस-आभीरदेश-पुं० । देशभेदे, कल्प० । आभीरदेशे अचलपुरासन्ने कन्ना-वेन्नानद्योर्मध्ये ब्रह्मद्वीपे पञ्चशतं तापसानामभूत् । कल्प० २ अधि० ८ क्षण । ('जोगपिंड' शब्दे चतुर्थभागे १६४१ पृष्ठे ॥ 'बंभदीविया' शब्दे पञ्चमभागे चाऽत्र विशेषवृत्तं वक्ष्यते)

आभीरविसय-आभीरविषय-पुं० । देशभेदे, "आभीरविसये कण्हाबिन्नाणाम णई तस्स कूले बंभद्दीवो तत्थ पञ्च तावसा परिवसंति । नि० चू० १३ उ० । पिं० ५०३ गाथा । आ० म० । आ० चू० । "एवं सो भगवं विहरंतो ततो आभीरविसयं गओ" आ० चू० १ अ० । आव० १ अ० ६३४ गाथा ।

आभीरसाहु-आभीरसाधु-पुं० । आभीरपुत्रे स्वनामख्याते साधौ, उत्त० २ अ० । (तत्कथा 'अरणाग' शब्दे प्रथमभागे ४८८ पृष्ठे गता ।)

आभीरीवंचग-आभीरीवञ्चक-त्रि० । आभीर्या वञ्चनकारके वणिजि, उत्त० । तत्कथा यथा—"काऽपि ग्रामे कोऽपि वणिक् हट्टे क्रयविक्रयं करोति । अन्यदा एका आभीरी तद्धट्टे आगता । तया भणितम्—भोः रूपकद्वयस्य मे रुतं देहि । तेनोक्तम्-अर्पयामि । अर्पितं तया रूपकद्वयम् । तेन वणिजा एकस्यैव रूपकस्य रुतं वाल्कयं

तोलयित्वा अर्पितम् । सा जानाति मम रूपकद्वयस्य कृतं दत्तम् । वञ्चिता च सा । तस्यां गतायां स चिन्तयति—एष रूपको मया मुधा लब्धः, ततोऽहमेव उपभुञ्जामि । तस्य रूपकस्य घृतखण्डादि लात्वा स्वगृहे विसर्जितं भार्यायाः कथापितम्-अद्य घृतपूराः कुर्याः । तया घृतपूराः कृताः । तावता तद्गृहे समित्रो जामाता समायातः । तस्यैव तया घृतपूराः परिवेषिताः । समित्रेण तेन भक्षिताः । गतः समित्रो जामाता । वणिग् गृहे समायातः । स्नानं कृत्वा भोजनार्थमुपविष्टः । तया स्वाभाविकमेव भोजनं परिवेषितम् । वणिक् वदति—कथं न कृता घृतपूराः ?, तया उक्तम्—कृताः परमागन्तुकेन समित्रेण जामात्रा भक्षिताः । स चिन्तयति मया सा वराकी आभीरी वञ्चिता । परार्थमेवाऽयमात्मा पापेन संयोजितः । एवं चिन्तयन्नेवाऽसौ शरीरचिन्तार्थं बहिर्गतः । तदानीं ग्रीष्मो वर्तते । स मध्याह्नवेलायां कृतशरीरचिन्तः एकस्य वृक्षस्याधस्तात् विश्रामार्थमुपविष्टः । तेन मार्गेण गच्छन्तं साधुं दृष्टवान् । वणिगुवाच—भो साधो ! विश्रम्यताम् । साधुनोक्तम्-शीघ्रं मया स्वकार्ये गन्तव्यम् । वणिजा उक्तम्-भगवन् ! कोऽपि परकार्ये गच्छति ?, साधुः प्राह—यथा त्वं स्वजनाऽर्थं क्लिश्यसि । अनेन एकेनैव वचनेन स बुद्धः । प्राह-भगवन् ! यूयं क्व तिष्ठथ । साधुना भणितम्-उद्याने । स साधुना समं तत्र गतः । तन्मुखाद्धर्ममाकर्ण्य भणति-भगवन् ! अहं प्रव्रजिष्यामि । नवरं स्वजनमापृच्छ्याऽऽगच्छामि । गतो निजगृहे बान्धवान् भार्यां च भणति—अत्रापणे व्यवहारतो मम तुच्छलाभोऽस्ति देशान्तरं यास्यामि सार्थवाहद्वयमत्रायातमस्ति । एकः सार्थवाहो मूलद्रव्यमर्पयति, इष्टपुरं नयति, न च लाभं गृह्णाति । द्वितीयो मूलद्रव्यमर्पयति सह गमनात् लाभञ्च गृह्णाति, तत्केन सह गमनं युज्यते ?। तैरुक्तं प्रथमेन सह व्रज । अथ स वणिक् स्वजनैः समं वने गत्वा उवाच-अयं मुनिः परलोकसार्थवाहः स्वकीयमूलद्रव्येण व्यवहारं कारयति मोक्षपुरं च नयतीति दृष्टान्तदर्शनपूर्वकं स्वजनानापृच्छ्य स वणिक् तस्य गुरोः समीपे दीक्षां जग्राहेति । उत्त० ४ अ० ।

आभोइत्ता–आभोगयित्वा–अव्य० । "आभोइत्ताण नीसेसं" (८६ × गाथा)। आभोगयित्वा-ज्ञात्वा निश्शेषमतिचारम् । दश० ५ अ० ।

आभोएउं–आभोज्य–अव्य० । विज्ञायेत्यर्थे, पं० व० १४२० गाथा ।

आभोएमाण–आभोगयत्–त्रि० । अवलोकयति, कल्प० १ अधि० १ क्षण २११ सूत्र ।

आभोग–आभोग–पुं० । आभोगनमाभोगः । उपयोगविशेष, आव० । " आभोगे तह अणाभोगे " ॥ ४ ॥ आव० ४ अ० । " लोकालोकावलोकनाभोगम् " (१५ +) । आभोगः–उपयोगः । षो० १५ विव० । " अन्नाए आभोगं, नाए सद्दं करंति सज्झायं " ॥ ७५ × ॥ जनेनाऽज्ञाताः स्थितास्ततो राजावाऽऽभोगम्-उपयोगं कुर्वते; तूष्णीका [illegible] तिष्ठन्ति । बृ० ३ उ० । ज्ञाने, " आभोगणिव्वत्तिय " (सूत्र-२४६ +) । स्था० ४ ठा० १ उ० । संज्ञा-आभोगः । स्था० १० ठा० ७५२ सूत्रटी० । " आभोगे जाणंतेण, जो-अइयारो कओ पुणो तस्स " आव० ४ अ० १२४६ गाथाटी० । ज्ञानपूर्वके व्यापारे, आतु० १ सूत्रटी० । परिस्फुटबुद्धौ, " आभोगेण वि तणुएसु " (१२ + गाथा) । " परिस्फुडबुद्धीए वि " चूर्णिः । आभोगेनापि-परिस्फुटबुद्ध्यापि, अविस्मृत्याऽपीत्यर्थः । औत० । " अन्नत्थ अणाभोगेणं " (सूत्र +)। आभोजनमाभोगः-आभोगोऽत्यन्तविस्मृतिरित्यर्थः, तेन अनाभोगं मुक्त्वेत्यर्थः । आव० ६ अ० २५३ भाष्यगाथाटी० । विस्तारे, ज्ञा० १ श्रु०१ अ० २७ सूत्रटी० । आभोजनमाभोगः ' भुज ' पालनाभ्यवहारयोः, मर्यादया अभिविधिना वा भोगनं-पालनमाभोगः । प्रतिलेखनायाम् , ओघ० ।

(अस्यैकार्थिकानि)—

आभोगण मग्गण गवे-सणा य ईहा अपोह पडिलेहा ।
पेक्खण निरिक्खणाऽवि य, आलोय पलोयणेगट्ठा ॥३॥

(अस्या गाथायाः व्याख्या ' पडिलेहणा ' शब्दे पञ्चमभागे करिष्यते) ओघ० । आ भुज् आधारे घञ् । परिपूर्णतायाम् , सम्यक् सुखाद्यनुभवे, वरुणस्य छत्रे च । मेदि० । वाच० ।

आभोगज्झाण–आभोगध्यान–न० । आभोगो-ज्ञानपूर्वको व्यापारस्तस्य ध्यानम् । ज्ञानपूर्वकव्यापारस्य ध्याने, ज्ञाणुनयनाभिप्रायेण फलान्यपि मृद्नतो ब्रह्मदत्तस्येव । आतु० सूत्र-१ × टी० । (अस्य वृत्तान्तं ' बंभदत्त ' शब्दे पञ्चमभागे निरूपयिष्यामि)

आभोगण–आभोगन–न० । आभोग्यतेऽनेनेति आभोगनम् । अर्थावग्रहसमयसमनन्तरमेव । सद्भूतार्थविशेषाऽभिमुखे आलोचने, नं० ३१ सूत्रटी० । उपयोगविशेषे, आव० ४ अ० ११ गाथाटी० ।

आभोगणया–आभोगनता–स्त्री० । आभोग्यतेऽनेनेत्याभोगनम्—अर्थावग्रहसमयसमनन्तरमेव सद्भूतार्थविशेषाभिमुखमालोचनम् तस्य भावः आभोगनता । ईहायाम् , नं० ३१ सूत्रटी० ।

आभोगणिव्वत्तिय–आभोगनिर्वर्तित–त्रि० । आभोगो-ज्ञानम् तेन निर्वर्तितः । ज्ञानेन कृते क्रोधादौ, यज्जानन् कोपविपाकादि रुष्यति । वैमानिकक्रोधविशेषे, स्था० ४ ठा० १ उ० २४६ सूत्रटी० ।

आभोगबउस–आभोगबकुश–पुं० । आभोगः-साधूनामकृत्यमेतच्छरीरोपकरणविभूषणमित्येवं ज्ञानम् , तत्प्रधानो बकुश आभोगबकुशः । बकुशभेदे, भ० २५ श० ६ उ० ७५१ सूत्रटी० ।

आभोगिणी–आभोगिनी–स्त्री० । विद्याभेदे, सू० । "आभोगिणी य" ॥६५२×॥ आभोगिनी नाम विद्या, सा भण्यते-या परिजपिता सती मानसं परिच्छेदमुत्पादयति । सू० ३ उ० । नि० चू० ।

आम–आम–अव्य० । अभ्युपगमे, प्रा० । "आम अभ्युपगमे"

॥ ८ । २ । १७७ ॥ आमेत्यभ्युपगमे प्रयोक्तव्यम् । " आम बहला वणोली" प्रा०। "दुविहं च तिविहं च आमं ति" ॥१६५॥ आमशब्दोऽनुमतौ, सम्मतमेतदस्माकं सर्वमिति भावः । व्य० १ उ० । "सो भणइ-आमं दिट्ठं" आ० म० १ अ० १३१ गाथाटी० । " आमं ति अणुमयत्थे " 'आमं' इत्यनुमतार्थे इति । 'आमं' ति एतदभ्युपगम्यत एवास्माभिः। नि० चू०१० उ० ११७ गाथाटी० । अपक्के, विशे० २३५ गाथाटी० । " आमे वाममेगे " (सूत्र-२५३×) । आमम्-अपक्कम् । (स्था०) पुरुषस्तु आमः-वयःश्रुताभ्यामव्यक्तः । स्था० ४ ठा० १ उ० । " आमं ओमं च भुंजीया " ॥ २०४ ॥ आमम्-अपक्कम् । आ० म० १ अ० ।

आमनिक्षेपश्च—

नामं ठवणाआमं, दव्वाऽऽमं चेव होइ भावाऽऽमं ।
उस्सेइमसंसेइम-मुवक्खडं चेव पलिआमं ॥ ३२ ॥

आमं चतुर्द्धा । तद्यथा-नामाऽऽमम् १, स्थापनाऽऽमम् २, द्रव्याऽऽमम् ३, भावाऽऽमम् ४। तत्र नामस्थापने गतार्थे, द्रव्याऽऽमं पुनश्चतुर्द्धा, तदेव दर्शयति-'उस्सेइम' इत्यादि, उत्-ऊर्ध्वं निर्गच्छता बाष्पेण यः स्वेदः स उत्स्वेद उत्स्वेदेन निर्वृत्तं उत्स्वेदिमम् । भावादिमः ॥ ६ । ४ । २१ ॥ इति सूत्रेण इम प्रत्ययः । उत्स्वेदिमञ्च तदामं च उत्स्वेदिमाऽऽमं १, 'संसेइम' स एकाकिभावेन स्वेदः संस्वेदस्तेन निर्वृत्तं संस्वेदिमं तदेवाऽऽमम् संस्वेदिमाऽऽमम् २, तथोपस्कृता राद्धा ये चणकादयस्तेषां मध्ये यदामं तदुपस्कृताऽऽमम् ३। पर्यायः स्वाभाविक औपाधिको वा फलानां पाकः परिणामस्तस्मिन् प्राप्तेऽपि यदामं तत्पर्यायाऽऽमम् ४ ।

अथोत्स्वेदिमादिचतुष्टयमेव व्याचष्टे—

उस्सेइम पिट्ठाई, तिलाईं संसेइमं तुऽणेगविहं ।
कंकडुयाइ उवक्खड, अविपक्करसं तु पलियामं ॥३३॥

उत्स्वेदिमम्-पिष्टादिपिष्टम् , सूक्ष्मतन्दुलादिचूर्णनिष्पन्नं तद्धि वस्त्रान्तरितमधःस्थितस्योष्णोदकस्य बाष्पेनोत्स्विद्यमानं पच्यते तत्र यदामं तदुत्स्वेदिमाऽऽमम् , आदिग्रहणाद्रोलादिपरिग्रहः । संस्वेदिमं पुनस्तिलादिकमनेकविधम् । इह क्वचित् पिठरादौ पानीयं तापयित्वा पिटिकायां प्रक्षिप्तास्तिलास्तेनाप्युष्णोदकेन सिच्यन्ते ततस्तिलाः संस्विद्यन्ते तेषां संस्विद्यमानां मध्ये ये आमास्तत् संस्वेदिमाऽऽमम् , आदिग्रहणेन-यदन्यदप्येवमेव क्रमेण संस्विद्यते तत् संस्वेदिमाऽऽमम् , । तथा चणकमुद्गादीनामुपस्कृतानां ये कङ्कडुकादय आमास्ते उपस्कृताऽऽमम् ,पर्यायाऽऽमम् पुनरविपक्वरसफलादिकमुच्यते, तच्चतुर्विधम् ।

तद्यथा—

इन्धणधूमे गंधे, वच्छप्पभियामए य आमविही ।
एसो खलु आमविही, तप्पच्चो आणुपुव्वीए ॥३४॥

इन्धनपर्यायामम् १, धूमपर्यायामम् २, गन्धपर्यायामम् ३, वृक्षपर्यायाममपीत्येवं पर्यायामे आमविधिश्चतुःप्रकारः ४ । एष खलु आमविधिर्ज्ञातव्यः । आनुपूर्व्या यथोक्तयाऽऽज्ञा आनुपूर्वीनाम-वक्ष्यमाणलक्षणा पलालवेष्टनगर्त्ताखननकरीषप्रक्षेपणादिका यथायोगमामफलपाचनाय रचना, तथा ज्ञातव्यः आमविधिरिति ।

अथेन्धनधूमपर्यायाऽऽमे विवृणोति—

कोद्दवपलालमाई, धूमेणं तिंदुगाइ पच्चंते ।
मज्झगडा मगणि पेरं-ततिंदुया छिद्दधूमेणं ॥ ३५ ॥

कोद्रवपलालादिकमिन्धनमुच्यते, आदिग्रहणेन-शालिपलालपरिग्रहः , तेन चाम्रादीनि फलानि वेष्टयित्वा पाच्यन्ते, तत्र यान्यपक्वानि फलानि तदिन्धनपर्यायामम् । तथा धूमेन तिन्दुकादीनि फलानि पाच्यन्ते । कथं पाच्यन्ते?, इत्याह-'मज्झगडा' इति-प्रथमतो गर्त्ताया मध्ये करीषः प्रक्षिप्यते, तस्याश्च गर्त्तायाः पार्श्वेष्वपरा गर्त्ताः खन्यन्ते, तासु च गर्त्तासु तिन्दुकादीनि फलानि प्रक्षिप्य मध्यमायां करीषगर्त्तायाम् 'अगणि' त्ति-अग्निर्दीयते तासां च 'पेरंत' त्ति-पर्यन्तगर्त्तानां श्रोतांसि मध्यमगर्त्तया सह मीलितानि क्रियन्ते । ततस्तस्याः करीषगर्त्तायाः सकाशाद्धूमस्तैः श्रोतोभिः पर्यन्तगर्त्तासु प्रविशति ततस्तच्छिद्रसंबन्धिना धूमेन प्रसरता तानि फलानि पाच्यन्त इति तेषां मध्ये यद्-आमं तद्धूमपर्यायाऽऽमम् ।

अथ गन्धपर्यायाऽऽमे भावयति—

अंबगचिब्भिडमाई, गंधेणं जं च उवरि रुक्खस्स ।
कालपत्तं न पच्चइ, वत्थपलियाममंतं तु ॥ ३६ ॥

आम्रकचिर्भिटादीनि आदिशब्दात्-बीजपूरकादीनि यान्यपक्वानि फलानि तेषां मध्ये पक्वानि प्रक्षिप्यन्ते । तेषां गन्धेन प्राक्तनान्यामकानि पच्यन्ते । तत्र यदपक्वं फल तद्गन्धपर्यायामम् । तथा-बीजं चेति । चशब्दस्य पुनरर्थत्वाद्यत्पुनर्वृक्षस्योपरि शाखायां वर्त्तमानं काले वसन्तादिलक्षणे पाकसमये प्राप्तेऽपि परिपक्वेष्वपरफलेषु न पच्यते तद्वृक्षपर्यायाऽऽमम् । व्याख्यातं चतुर्विधमपि पर्यायाऽऽमम् । तद्व्याख्याने च समर्थितं द्रव्याऽऽमम् ।

अथवा भावाऽऽमस्य रूपं निरूपयति—

भावाऽऽमं पि य दुविहं,वयणाऽऽमं चेव नो य वयणाऽऽमं ।
वयणाऽऽमं अणुमयत्थे,आमं ति हि जो वदे वक्कं ॥३७॥
नोवयणाऽऽमं दुविहं, आगमतो चेव नोआगमतो ।
आगमेनाणुवउत्तो, नोआगमओ इमं होई ॥ ३८ ॥

भावाममपि द्विविधम्-वचनामं चैव, नोवचनामम् । वचनरूपमामं वचनामम् , अनुमतार्थे, आममिति । यद्वाक्यं वचनं यदेतद्वचनामम् । यथा कोऽपि साधुर्गुरूणां कार्येण गच्छन्नपरेण पृष्टः-आर्य ! किं गुरुकार्येण गम्यते ?, स प्रत्याह—आमम् ; एवमेतदित्यर्थः । नोवचनामं द्विविधम्-आगमतश्चैव, नोआगमतश्च । तत्राऽऽगमत आमपदार्थज्ञानयुक्तः, तत्र चोपयुक्तः उपयोगस्य भावरूपत्वात् ज्ञानस्य चागमरूपत्वात् । नोआगमतो-भावाममपीदं भवति ।

तदेवाह—

उग्गमदोसाईया, भावतो असंजमो अ आमविही ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्नो वि य आएसो, जो वरिससयं न पूरेइ ॥ ३९ ॥

उद्गमदोषाः-आधाकर्मादयः आदिग्रहणाद्-उत्पादनादोषा, एषणादोषाश्च; एतद् भावामं प्रतिपत्तव्यम् । तथा चाचाराङ्गसूत्रम्-" सव्वाऽऽमगंधं परिन्नाय, निरामगंधो परिव्वए " (सूत्र-८७+) (आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ०।) असंयमस्य पृथिव्याद्युपमर्दलक्षणे भावतः आमविधिरेव क्षान्त्यभ्रिरित्राऽपक्वताकारणात् । यद्वाऽन्योऽपि आदेशः-प्रकारो भण्यते-यो वर्षशतायुः पुरुष आयुष्कोपक्रमेण वर्षशतमपूरयित्वा म्रियते सोऽपि भावत आमः; आयुषः परिपाकमन्तरेण मरणात् । अत्र च द्रव्याणामधिकारसूत्रे ऽपि वृक्षपर्यायाऽऽमेण शेषाणामुच्चारितसदृशतया विनेयव्युत्पादनार्थं प्रसक्ततः प्ररूपितत्वात् । व्याख्यातमामपदम् । वृ० १ उ० २ प्रक० । नि० चू० । अपरिशुद्धे, आचा० । " सव्वाऽऽमगंधं परिण्णाय " (सूत्र-८७ ×) । आमम्-अपरिशुद्धम् । आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० । " णिरामगंधे धिइमं ठितप्पा " (सूत्र-५ +) । निर्गतः-अपगत आमः-अविशोधिकोट्याख्यस्तथा गन्धो-विशोधिकोटिरूपो, यस्मात्स भवति निरामगन्धः; मूलोत्तरगुणभेदभिन्नां चारित्रक्रियां कृतवानित्यर्थः । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । अम-करणे घञ् । रोगमात्रे, वैद्यकोक्ते षड्विधे अजीर्णे, रोगभेदे, वाच० । अजीर्णरोगभेदे च । तल्लक्षणम्-" आमे तु द्रवगन्धित्वम् " (ध०) । व्याख्या-द्रवस्य-गूथस्य क्वथितमत्कादेरिव गन्धो यस्यास्ति तत्तथा तद्भावस्तत्त्वमिति । ध० १ अधि० १० श्लोकटी० ।

आमइ (न्)-आमयिन्-पुं० । आमयो-रोगः स येषां विद्यते ते आमयिनः । रोगिणि, व्य० ।

नाउं तिविहामयाणं, देइ लहाओ सह गणं तु ॥२५८॥

त्रिविधतापादिजन्यरोगयोगतस्त्रिप्रकारा आमया-रोगाः स येषां ते आमयिनः त्रिविधाश्च ते आमयिनश्च तेषां त्रिविधामयिनाम् । व्य० १ उ० ।

आमंतण-आमन्त्रण-न० । आ मन्त्र ल्युट् । अभिनन्दने, संबोधने, कामचारानुज्ञारूपे, क्रियाभेदेषु प्रवर्तनव्यापारे च । व्यापारे च । युच् । आमन्त्रणाप्यत्र । स्त्री० । वाच० । प्रच्छने, आचा० । " अणामं ति या परिहुवेति " (सूत्र-५४ +) । अनापृच्छय प्रमादितया परिष्ठापयेत् । आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ६ उ० । " समणामंतणक्खमणे " ॥ ११० × ॥ आचार्येण स्वगणस्य-स्वगच्छस्याऽऽमन्त्रणं प्रच्छनं कर्त्तव्यम् । व्य० १ उ० । (स्त्रीपुरुषयोरेकत्वावक्तव्यामन्त्रणवचनानि ' भासा ' शब्दे षष्ठे भागे " तहेव काणं काण " त्ति (१२) इत्यादि दशवैकालिक ७ सप्तमाध्ययनस्थगाथाभिर्वेदयते) । " करेमि भंते ! सामाइयं " (ध०) ' भंते ' इति गुरोरामन्त्रणम् । (ध०) आमन्त्रणं च प्रत्यक्षस्य गुरोः, तदभावे परोक्षस्याऽपि बुद्ध्या प्रत्यक्षीकृतस्य भवति, गुरोश्चाभिमुखीकरणेन सर्वो धर्मः गुरुपादमूले तदभावे स्थापनासमक्षं कृतः फलवानिति । ध० २ अधि० ७ श्लोक । (' भदंत ' शब्दे षष्ठे भागे विस्तरम्)

आमंतणी-आमन्त्रणी-स्त्री० । असत्यामृषाभाषाभेदे, स्था० ७ गाथाटी० । आमन्त्रणी-हे २ देवदत्त इत्यादिरूपा । एषा हि प्राग्युक्तभाषात्रयविलक्षणत्वान्न सत्या, न मृषा, नापि सत्यामृषा, केवलव्यवहारमात्रप्रवृत्तिहेतुरित्यसत्यामृषा एव, भाषका कार्या । ध० ३ अधि० ४३ श्लोकटी० । दश० । विभक्तिभेदे च । " अट्ठमाऽऽमंतणीभवे " ॥ २ ॥ (सूत्र-१२६ +) । अष्टमी संबुद्धिः-आमन्त्रणी भवेत्; आमन्त्रणार्थे विधीयत इत्यर्थः । अनु० । स्था० ।

आमंतणी भवे अट्ठ-मी य जह हे २ जुवाण ! त्ति ॥६॥ (सूत्र-६०६ +)

अष्टम्यामन्त्रणी भवेदिति । सु-औ-जसिति प्रथमापीयं विभक्तिरामन्त्रणलक्षणस्यार्थस्य कर्मकरणादिवत् । लिङ्गार्थमात्रातिरिक्तस्य प्रतिपादकत्वेनाभ्युपयुक्ता, यथा हे २ युवन् इति । स्था० ८ ठा० ३ उ० । इदं चानुयोगद्वारानुसारेण व्याख्यातम्, आदर्शेषु तु आमन्त्रणीति दृश्यते। स्था० ८ ठा० ३ उ० । " आमंतणी भवे अट्ठ-मी उ जहा हे ३ जुवाण त्ति " (सूत्र-१२६ +) । आमन्त्रणी भवेदष्टमी, यथा-हे ३ युवन्निति वृद्धवैयाकरणदर्शनेन चेयमष्टमी गण्यते, ऐदंयुगीनानां त्वसौ प्रथमैवेति मन्तव्यमिति । अनु० । ' असत्यामृषा-आमन्त्रण्याज्ञापनादिका । आचा० २ श्रु० १ चू० ४ अ० १ उ० १३४ सूत्रटी । (' भासा ' शब्दे पञ्चमभागे दशवैकालिकसप्तमाऽध्ययनद्वितीयोद्देशक " आमंतणि० " २७६ इत्यादिगाथया बहुविस्तरं कथयिष्यामि)

आमंतित्ता-आमन्त्र्य-अव्य० । आ मन्त्र-ल्यप् । सम्बोध्येत्यर्थे, वाच० ।

अज्जो ! त्ति समणे भगवं महावीरे गोतमादी समणे णिग्गंथे आमंतेत्ता एवं वयासी-किंभया पाणा ? समणाऽऽउसो ! (सूत्र-१६६ +)

' अज्जो ' इत्यादि, सुगमम् । केवलम् ' अज्जो त्ति ' त्ति-आरात्-पापकर्मभ्यो याता आर्याः तदामन्त्रणम्-हे२ आर्या! ' इति ' एवमभिलापेनाऽऽमन्त्र्येति संबन्धः, श्रमणो भगवान् महावीरः गौतमादीन् श्रमणान् निर्ग्रन्थानेवम्-वक्ष्यमाणन्यायेनाऽवादीदिति, कस्माद् भयं येषां ते किंभयाः; कुतो बिभ्यतीत्यर्थः, प्राणाः-प्राणिनः ' समणाऽऽउसो ' त्ति-हे ३ श्रमणाः हे ३ आयुष्मन्तः इति गौतमादीनामेवाऽऽमन्त्रणमिति । स्था० ३ ठा० २ उ० ।

आमंतिय-आमन्त्रित-त्रि० । आ-मन्त्र क्त । अनावश्यके कर्मणि नियोजिते, वाच० । " पुमं आमंतेमाणे आमंतिए वा अपडिसुणमाणे णो एवं वदेज्जा " (सूत्र-१३५ +) । आचा० २ श्रु० १ चू० ४ अ० ३ उ० । वाच० । परिभाषितायां सम्बोधनार्थे प्रथमायां विभक्तौ, न० । "सामन्त्रितम्" पाणिनिः । सम्बोधने या प्रथमा साऽऽमन्त्रितसंज्ञा स्यात् । सि० कौ० । " आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत् " नामन्त्रिते समानाधिकरणे सामान्यवचनम् पा० । निमन्त्रिते, त्रि० । " प्रातरामन्त्रितान् विप्रान् " वाच० ।

आमन्त्र्य-अव्य० । आ-मन्त्र-ल्यप् । सम्बोध्येत्यर्थे, वाच० ।

"आमंतिय उस्सविया, भिक्खु आयसा निमंतति" ॥ ५४ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्त्रियो हि स्वभावेनैवाऽकर्त्तव्यप्रवणाः, साधुमामन्त्र्य-यथा ऽहममुकस्यां वेलायां भवदन्तिकमागमिष्यामीत्येवं संकेतं ग्राहयित्वा (सूत्र०) भर्तारम् आमन्त्र्य-आपृच्छ्य अहमिहाऽऽयाता । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

आमंतेमाण-आमन्त्रयत्-त्रि० । आपृच्छति, आचा० । " पुमं आमंतेमाणे आमंतिते वा " (सूत्र-१३५+)। आचा०२ श्रु० १ चू० ४ अ० ३ उ० ।

आमंद-आमन्द्र-पुं० । ईषन्मद्रः । प्रा० स० । ईषद्गम्भीर-शब्दे, "आमन्द्रमन्थध्वनिदत्ततालम्" भट्टिः । तद्युक्ते, त्रि० । वाच० । सर्वत्र लवरामचन्द्रे ॥ ८।२।७९ ॥ इति द्लुक् । प्रा० ।

आमग-आमक-त्रि० । अपक्वे, भ० १५ श० १ उ० ५५४ सूत्रटी० । " आमगमल्लगभूया " (सूत्र-७१+) । आमकमल्लकभूता-अपक्वशरावकल्पा जलसंपर्के क्षणेन विलयनात् । ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० । अशस्त्रोपहते च । दश० । "आमगं विविहं बीयं " ॥ १० × ॥ आमकम्-अशस्त्रोपहतम् । दश० ८ अ० २ उ० । आचा० । "फले बीए य आमए" ॥७+॥ आमकं-सचित्तम् । दश० ३ अ० ।

आमगंध-आमगन्ध-न० । आमं च गन्धश्च आमगन्धम् । समाहारद्वन्द्वः । अविशुद्धकोट्यन्तर्गतेषु आधाकर्मादिषु, आचा० । "सव्वाऽऽमगंधं परिण्णाय णिरामगंधो परिव्वए" (सूत्र-८७+) । सर्वञ्च तदामगन्धञ्च सर्वाऽऽमगन्धं, सर्वशब्दः प्रकारकार्त्स्न्येऽत्र गृह्यते; न द्रव्यकार्त्स्न्ये, आमम्-अपरिशुद्धं, गन्धग्रहणेन तु पूतिर्गृह्यते । ननु च पूतिद्रव्यस्याप्यशुद्धत्वादामशब्देनैवोपादानात्किमर्थं भेदेनोपादानमिति ?, सत्यम्, अशुद्धसामान्याद् गृह्यते, किं तु पूतिग्रहणेनेह आधाकर्माद्यविशुद्धकोटिरुपात्ता, तस्याश्च गुरुतरत्वात्प्राधान्यख्यापनार्थं पुनरुपादानं, ततश्चायमर्थः- गन्धग्रहणेन-आत्मकर्म १ औद्देशिकत्रिकं २ पूतिकर्म३ मिश्रजातं ४ बादरप्राभृतिका ५ अध्यवपूरक ६ श्चेत्ते षडुद्गमदोषा अविशुद्धकोट्यन्तर्गता गृहीताः, शेषाश्चयो विशुद्धकोट्यन्तर्भूता आमग्रहणेनोपात्ता द्रष्टव्या इति. सर्वशब्दस्य च प्रकारकार्त्स्न्याभिधायकत्वाद्येन केनचित्प्रकारेण आमम्-अपरिशुद्धं पूतिर्वा भवति तत्सर्वं ज्ञपरिज्ञया ज्ञात्वा प्रत्याख्यानपरिज्ञया निरामगन्धः निर्गतावामगन्धौ यस्मात् स तथा परिव्रजेत्-मोक्षमार्गे ज्ञानदर्शनचारित्राख्ये परिः-समन्ताद् गच्छेत्; संयमानुष्ठानं सम्यगनुपालयेदिति यावत् । आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० ।

आमगोरस-आमगोरस-पुं० । आमं च तद् गोरसं च आमगोरसम् । कच्चदुग्धदधितक्रादिके, ध० २ अधि० ३४ श्लोकटी० ।

आमज्जण-आमार्जन-न० । सकृत् कर्दमादिशोधने, आचा० । "णो आमज्जेज्ज वा" (सूत्र-२६+) । नैव सकृदामृज्यान्नाऽपि पुनः पुनः प्रमृज्यात्; कर्दमादि शोधयेदित्यर्थः । आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ५ उ० । " आमज्जेज्ज वा पमज्जेज्ज वा आमज्जंतं वा पमज्जंतं वा साइज्जइ " (सूत्र-१६ +) । नि० चू० १७ उ० । " आमज्जावेज्ज वा पमज्जावेज्ज वा आमज्जावंतं वा पमज्जावंतं वा साइज्जइ " (सूत्र-२२ ×) नि० चू० १७ उ० । (अनयोः सूत्रांशयोः व्याख्या ' अण्णमण्णकिरिया ' शब्दे प्रथमभागे ४८० पृष्ठे गता)

जे भिक्खू अप्पणो अच्छिणी आमज्जेज्ज वा पमज्जेज्ज वा आमज्जंतं वा पमज्जंतं वा साइज्जइ ॥ ६० ॥

" अच्छीणि वा आमज्जति णाम अच्छिपत्तरोमे संठवेति पुणो पुणो करेंतस्स पमज्जणा । अहवा-बीयकणगादीणं सकृत् अवणयणे आमज्जणा पुणो २ पमज्जणा । नि० चू० ३ उ० । मृदुगोमयादिना लिम्पने च । व्य० ४ उ० २७ गाथाटी० ।

आमज्जंत-आमज्जमाण-आमार्जयत्-त्रि० । सकृत् हस्तादिना शोधयति, नि०चू० । " आमज्जंतं वा पमज्जंतं वा साइज्जइ " (सूत्र-६०×) । नि० चू० ३ उ० । " आमज्जमाणे वा" (सूत्र-३६ ×) । आमार्जयत्-सकृत् हस्तादिना शोधयन् । आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ७ उ० ।

आमडाग-आमडाग-न० । अर्द्धपक्वे, अपक्वे च । अरणिकतण्डुलीयकादिके, आचा० । " सेज्जं पुण जाणेज्जा आमडागं वा " (सूत्र-४६ ×) । ' आमडागं वा ' इति- आमपत्रम्-अरणिकतण्डुलीयकादि तच्चार्द्धपक्वम्, अपक्वं वा । आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ८ उ० ।

आमतर-आपतर-त्रि० । अतिशयेन प्रापके, रा० । " मणामतराए चेव " (सूत्र- +) । द्रष्टॄणां मनांसि आप्नुवन्ति-आत्मवशतां नयन्तीति मनआपास्ततः प्रकर्षविवक्षायां तरप्रत्ययः प्राकृतत्वाच्च पकारस्य मकारे मणामतरा इति भवति । रा० ।

आममल्लगरूव-आममल्लकरूप-त्रि० । अपक्वशरावतुल्ये, तं० । " आममल्लगरूवे, निव्वेयं वच्चह सरीरे " ॥ ३२ ॥ ११६ (आदितः गाथाङ्कः) ॥ (सूत्र-१८ +) । अपक्वशरावतुल्ये, शरीरे निर्वेदं वैराग्यं व्रजत । तं० ।

आममहुर-आममधुर-न० । आममिव मधुरमाममधुरम् । ईषन्मधुरे फले, " आमे णामं एगे आममहुरे " (सूत्र-२५३ +) । स्था० ४ ठा० १ उ० ।

आमय-आमय-पुं० । आमं-रोगं यात्यनेन करणे घञर्थे कः । अ । मीञ् हिंसायाम् । करणे अच् वा । रोगे, अनामयः निरामयः । " समौ हि शिष्टैराम्नातौ, वर्त्स्यन्तावामयः स च " माघः । वाच० । व्य० १ उ० २५८ गाथाटी० ।

आमयकरणी-आमयकरणी-स्त्री० । विद्याभेदे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ३० सूत्रटी० ।

आमयभाव-आमयभाव-पुं० । रोगोत्पत्तौ, दश० । " निरामयाऽऽमयभावा " ॥ २२६ × ॥ निरामयामयभावात् निरामयस्य-नीरोगस्याऽऽमयभावाद्रोगोत्पत्तेः उपलक्षणं चैतत्साऽऽमयनिरामयभावस्य तथा चैवं वक्तार उपलभ्यन्ते- पूर्वं निरामयोऽहमासं, सम्प्रति साऽऽमयो जातः । दश० ४ अ० ।

आमयि-आमयिन्-त्रि० । रोगिणि, व्य० । " नाउं तिविहामयीणं " ॥ २५८ + ॥ ज्ञात्वा त्रिविधा वातादिजन्य-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रोगयोगतस्त्रिप्रकारा आमयो—रोगः स येषां विद्यते, ते आमयिनः । द्द० १ उ० । " नाउं तिविहामइणं " ॥१२३×॥ ' आमइणं ' ति-आमती-रोगस्तो, आमती जस्स अत्थि सो आमती मणुस्सो भण्णति । नि० चू० २० उ० ।

आमरकुंड- आमरकुण्ड--न० । तैलङ्गजनपदस्थे स्वनामख्याते नगरे, ती० । " आमरकुण्डनगरे, तैलङ्गजनपदविभूषणे रुचिरे ॥ गिरिशिखरभुवनमध्य-स्थिता जयति पद्मिनी देवी ॥ १ ॥ " ती० ५३ कल्प । (अस्मिन् विषये बहुवृत्तम् ' पउमिणी ' शब्दे पञ्चमभागे वक्ष्यते)

आमरणंत-आमरणान्त-अव्य० । मृत्युलक्षणावसानं यावदित्यर्थे, पञ्चा० । " आमरणंतमजस्सं, संजमपरिपालणं विहिणा " ॥ ४६ ॥ आमरणान्तम्- मृत्युलक्षणावसानं यावद् । पञ्चा० ७ विव० । " एअस्स पायमूलं, आमरणंतं न मोत्तव्वं " ॥१३५७॥ एतस्य-गुरोः पादमूलं-समीपमामरणान्तं न मोक्तव्यं—सर्वकालम् । पं० व० ।

आमरणंतदोस-आमरणान्तदोष-पुं०। मरणमेवान्तो मरणान्तः आमरणान्तात्-आमरणान्तमसंजाताऽनुतापस्य कालसौकरिकादेरिव या हिंसादिप्रवृत्तिः सैव दोष आमरणान्तदोषः । रौद्रध्यानस्य लक्षणभेदे, भ० । " आमरणंतदोसे " (सूत्र-८०३+) । भ० २५ श० ७ उ० । स्था० । ग० । औ० । "नानाविहाऽऽमरणदोसा ॥२६×॥ " महदापद्गतोऽपि स्वतः महदापद्गतेऽपि च परे आमरणादसंजाताऽनुतापः कालसौकरिकवत्, अपि तु-असमासानुतापानुशयपर इत्यामरणदोष इति । आव० १ अ० । आमरणन्तदोसो जथा पच्चतराई; परिगिलायमाणस्स वि आगतपच्छादेसस्स थोवो वि पच्छाणुतावो न भवति, अवि मरणकालेऽवि जस्स कालसोयरियस्सेव ण तावो उवरतो भवति, एस आमरणन्तदोसो । आ० चू० १ अ० १२८५ गाथाचूर्णिः ।

आमरिस-आमर्श-पुं० । आ-मृश । स्पर्शे, घञ् । सम्यक् स्पर्शे, ल्युट् । आमर्शनमप्यत्र । न० । वाच० ।

आमर्ष-पुं० । आमर्षणमामर्षः । संस्पर्शने, विशे० ७७६ गाथाटी० । आ० म० । र्श-र्ष-तप्त-वज्रे वा ॥ ८ । २ । १०५ ॥ इति हैमप्राकृतसूत्रेण र्श-र्षयोः संयुक्तस्यान्त्यव्यञ्जनात्पूर्व इकारो वा । प्रा० । आ-मृष घञ् । कोपे, असहने, सम्यग् विवेके च । वाच० ।

आमलईकीडा-आमलकीक्रीडा-स्त्री० । क्रीडाभेदे, तथा च भगवतो महावीरस्य वर्णकमधिकृत्य-समानवयोभिः कुमारैः सह क्रीडां कुर्वाणः आमलकीक्रीडानिमित्तं पुराद् बहिर्जगाम, तत्र च कुमारा वृक्षारोहणादिप्रकारेण क्रीडन्ति स्म । कल्प० १ अधि० ५ क्षण । (आमलकीक्रीडाकरणसमये देवलोके शक्रकृतभगवत्प्रशंसां श्रुत्वा कश्चित् मिथ्यादृष्टिर्देवः भगवद्भापनार्थमिहागत इति ' वीर ' शब्दे षष्ठे भागे १०५ सूत्र विवरणे वक्ष्यते)

आमलकप्पा-आमलकल्पा-स्त्री० । स्वनामख्यातायां नगर्याम्, विशे० । " आमलकप्पा णयरी, मित्तसिरी कूरपिंडदाई " ॥२३३४॥ आमलकल्पायां नगर्यां गतः, तत्र च मित्रश्रीनाम्ना श्रावकेण कूरपिंडदादिना—कूरसिक्थादिदानेन प्रतिबोधित इत्यर्थः । विशे० । आ० क० । आ० चू० । आ० म० । आव० । उत्त० । रा० । " इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे आमलकप्पानामं नयरी होत्था " । (सूत्र-१४८+) । ज्ञा०२ श्रु० १ अ० ।

आमल-आमल-पुं० । बहुबीजके वृक्षभेदे, " आमलपाणगं वा २०, " (सूत्र-४३×) । आचा०२ श्रु० १ चू० १ अ० ७ उ० ।

आमलग-आमरक-पुं० । सामस्त्येन मार्याम्, स्था० १० ठा० । (सूत्र-७५५×) तदर्थप्रतिबद्धे कर्मविपाकदशाया नवमेऽध्ययने च । न० । स्था० ।

तद्वक्तव्यता यथा—

सहसुद्दाहे आमलए (सूत्र-७५५+)

'आमलए' त्ति-स्थुने लेश्चूर्त्तारित्यामरकः, सामस्त्येन मारिः, एवमर्थप्रतिबद्धं नवमं, तत्र किल सुप्रतिष्ठे नगरे सिंहसेनो राजा श्यामाभिधानदेव्यामनुरक्तस्तद्वचनादेवैकोनानि पञ्चशतानि देवीनां ता मिमारयिषुरिति ज्ञात्वा कुपितः सन् तन्मातॄणामेकोनपञ्चशतान्युपनिमन्त्र्य महत्यगारे आवासं दत्त्वा भक्तादिभिः सम्पूज्य विश्वस्तानि सदेवीकानि सपरिवाराणि सर्वतो द्वारबन्धनपूर्वकमग्निप्रदानेन दग्धवांस्ततोऽसौ राजा मृत्वा च षष्ठ्यां गत्वा रोहीतके नगरे दत्तसार्थवाहस्य दुहिता देवदत्ताभिधानाऽभवत्, सा च पुष्पनन्दिना राज्ञा परिणीता, स च मातुर्भक्तिपरतया तत्कृत्यानि कुर्वन्नासामास तथा च भोगविघ्नकारिणीति तन्मातुर्ज्वललोहदण्डस्यापानप्रक्षेपात्सहसा दाहेन वधो व्यधायि । राज्ञा चासौ विविधविडम्बनाभिर्विडम्ब्य विनाशितेति विपाकश्रुते देवदत्ताभिधानं नवममिति ६ । स्था० १० ठा० ३ उ० ।

आमलक-त्रि० । आ-मल्-क्विन् । स्त्रीत्वे गौरा० ङीष् । बहुबीजके वृक्षभेदे, जी० १ प्रति० २० सूत्र० । प्रज्ञा० । ल० प्र० । आचा० । स्था० । " तत्थ णं आमलगा पक्खित्ता " (सूत्र-१४३ ×) । अनु० । (धात्रीवृक्षे) । वाच० । धात्रीफले च । न० । " आमलगाई दगाहरणं च " (गाथासूत्र १० ×) । आमलकानि—धात्रीफलानि । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

आमलगमहुर--आमलकमधुर--त्रि० । आमलकमिव मधुरं यदन्यत् आमलकमेव वा मधुरमामलकमधुरम् । ईषन्मधुरे, स्था० ४ ठा० ३ उ २३० सूत्रटी० ।

आमलगमहुरफलसमाण--आमलकमधुरफलसमान--पुं० । ईषदुपशमादिगुणलक्षणमाधुर्यवति पुरुषभेदे, स्था० ४ ठा० ३ उ० २३० सूत्रटी० ।

आमलगरस--आमलकरस--पुं० । धात्रीफलरसे, " शिशिरे चामलकरसः " सूत्र० १ श्रु० ८ अ० १३ गाथाटी० ।

आमलगरसिय--आमलकरसित--त्रि० । आमलकरससंसृष्टे, विपा० । " आमलगरसियाणि य " (सूत्र-२६ +) । आमलकरससंसृष्टानीति । विपा० १ श्रु० ८ अ० ।

आमाऽभिभूय--आमाऽभिभूत--त्रि० । अपक्वरसेनाभिभूते, विपा० । " आमाभिभूयगत्ता " (सूत्र-+) । आमेन-अपक्वरसेन । विपा० ।

आमिस-आमिष-न०। आमिषति स्नेहम्। अम-टिषच्-दीर्घश्च वा-मांसे स्नेहातिरेकात्तस्य तथात्वम्। वाच०। "ढंकेहि य कंकेहि य, आमिसत्थेहि ते दुही ॥ ३ ॥" ढङ्कैः ढङ्कैश्च पक्षिविशेषैरन्यैश्च मांसवशार्थिभिर्मत्स्यबन्धादिभिः। सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ०। आहारे, "इत्तो च्चिय फुल्ला-ऽऽमिस" ॥२६+॥ पञ्चा० ६ विव०। मांसादिके, स्था० ४ ठा० ४ उ० ३८५ सूत्रटी०। ज्ञा०। अशनादिके च भोग्यवस्तुनि, ध० २ अधि० ६१ श्लोकटी०। "जं इच्छसि घेत्तुं जे, पुव्विं तं आमिसेण गिरहाहि। आमिसपासनिबद्धो, काहिइ कज्जं अकज्जं वा ॥ १ ॥" सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ४ गाथाटी०। उत्कोचे, सुन्दर-रूपादौ, लोभे, लोभनीये विषये च। वाच०। अभिष्वङ्गहेतौ, धनधान्यादिके च। उत्त०। "अकिंचणा उज्जुकडा निरा-मिसा ॥४१+॥" निष्क्रान्ता आमिषात्-विषयादिपदार्थात् इति निरामिषा-विषयादयः पदार्था हि विषया जीवानां गृद्धिहेतुत्वादामिषोपमाः एतस्मादहं निर्विषया सती। उत्त० १४ अ०।

सामिसं कुललं दिस्स, वज्झमाणं निरामिसं।
आमिसं सव्वमुज्झित्ता, विहरिस्सामो निरामिसा॥४७॥

हे राजन् अहं सर्वम् आमिषम्-अभिष्वङ्गहेतुं धनधान्या-दिकम् उज्झित्वा-त्यक्त्वा, निरामिषः-त्यक्तसङ्गा सती अ-प्रतिबद्धविहारतया विहरिष्यामि, किं कृत्वा साऽऽमिषम् (आमिषेण-पिशितरूपेण)। उत्त० पाई०। आमिषम्-अभि-ष्वङ्गहेतुं धनधान्यादि। उत्त०पाई० १४ अ० ४७ गाथाटी०। आमिषसहितं कुललं-गृध्रम् अपरं पक्षिणं वा परैरिति अन्यैर्बध्यमानं-पीड्यमानं दृष्ट्वा सामिषः पक्षी हि आ-मिषाहारिपक्षिभिः पीड्यते। अथ वा-साऽऽमिषम्-सस्पृहं, भोजनार्थे लुब्धं, कुललं-पक्षिणं परैर्बध्यमानं-पीड्यमानं दृष्ट्वा यतो हि पक्षिणो यदा गृह्यन्ते तदा तान् भक्ष्यं दर्श-यित्वा पाशादिना बध्यन्ते, आमिषाहारी शकुनिस्तु आ-मिषदर्शनेनैव लोभयित्वा मीनवत् बध्यते, सह आमिषेण-आमिषरसास्वादलोभेन वर्तते इति साऽऽमिषस्तं साऽऽमि-षम्। उत्त० १४ अ०। पर्णे, जम्बीरफले च। वाच०। पूजादौ निवेदनीयेऽन्नादौ च। दर्श०। "पुप्फाऽऽमिसथुइभेआ" ॥३७४॥ पुष्पाऽऽमिषस्तुतिभेदात् त्रिधा पूजा। आमिषम्-चाऽखण्डाऽक्षतनारङ्गनालिकेरबीजपूरकफलविमलगलितज लदधिघृताऽनेकविधिनैवेद्यस्वभावम्। दर्श०१ तत्त्व। "पत्तो च्चिय फुल्लामिस-थुइपडिवत्तिपूयमज्झम्मि ॥२६×॥" इत एव संपूर्णाऽऽशाकरणस्य भावसाधुनाध्यत्वादेव, 'फुल्लामिसथुइ पडिवत्तिपूयमज्झंमि' त्ति—पुष्पाणि—जात्यादिकुसुमानि, उपलक्षणत्वाद्वस्त्ररत्नादीनामिहैवान्तर्भावो वदितव्यः, आ-मिषम्-आहारः, इहाऽपि तथैव फलादिसकलनैवेद्यपरि-ग्रहो द्रष्टव्यः। पञ्चा० ६ विव०।

आमिसत्थि (न्)-आमिषार्थिन्-त्रि०। आमिषम्-मांसा-दिकम् अर्थयतः-प्रार्थयतः। मांसादिप्रार्थयितरि, आ० १ श्रु० ४ अ० ५१ सूत्रटी०।

आमिसप्पिय-आमिषप्रिय--त्रि०। कङ्कपक्षिणि, मांसाभि-लाषिणि च। वाच०। वल्लभमांसादिके, आ० १ श्रु० ४ अ० ५१ सूत्रटी०।

आमिसलोल--आमिषलोल--त्रि०। आमिषलम्पटे, आ० १ श्रु० ४ अ० ५१ सूत्रटी०।

आमिसाऽऽवत्त--आमिषाऽऽवर्त--पुं०। आमिषं-मांसादि तद-र्थमावर्तः शकुनिकादीनामामिषावर्तः। आवर्तभेदे, स्था० ४ ठा० ४ उ० ३८५ सूत्रटी०।

आमिसाऽऽहार--आमिषाऽऽहार--त्रि०। मांसादिभोजिनि, आ० १ श्रु० ४ अ० ५१ सूत्रटी०।

आमुट्ठ--आमृष्ट--त्रि०। आ-मृष्-क्त। आधर्षिते, आमर्दित च। "आमृष्टास्तिलकरुचः स्रजो निरस्ताः" माघः। आ-मृज-क्त। परिमार्जिते, विशोधिते च। आ-मृश-क्त। संस्पृष्टे च। वाच०। विपर्यासीकृते च। ओघ०। "हेट्ठा-रिया आम(मु)ट्ठं" (२६७ + भाष्यगा०)। अधस्तादुपरि च यत् 'आमुट्ठं' विपर्यासीकृतं भुङ्क्ते, ओघ०। "ऋतोऽत् ॥ ८ । १ । १२६ ॥ ऋतः अत्त्वम्। आमृष्टम्। आमट्ठं। प्रा०।

आमुम्हिय-आमुष्मिक-त्रि०। अमुष्मिन्-परलोके भवः ठक् सप्तम्याः अलुक् टिलोपः। वाच०। अमुत्र भवः आमु-ष्मिकः। द्वितीयेऽतीचारभेदे, परलोकसम्बन्धिनि स्वर्ग-सुखादौ, ध० ३ अधि० १४८ श्लोक। परभवविपाकप्रद-र्शके, द्वा०। "महानामुष्मिकोऽपि च ॥ १७ ॥" आमु-ष्मिकोऽपि-परभवे विपाकप्रदर्शकोऽपि। द्वा० ७ द्वा०। "शास्त्रमासन्नभव्यस्य, मानमामुष्मिके विधौ" ॥ २० + ॥ आमुष्मिके विधौ-पारलौकिके कर्मणि। शास्त्रं मानम्। धर्माऽधर्मयोरतीन्द्रियत्वेन तदुपायत्वबोधने प्रमाणान्तरा-सामर्थ्यात्। द्वा० १४ द्वा०।

आमुसंत-आमृशत्-त्रि०। सकृदीषद् वा स्पृशति, दश० ४ अ० ११ सूत्रटी०। "सुयं मे आउसंतेणं" (सूत्र-१ ×)। आमृशता—भगवत्पादारविन्दं करयुगलादिना स्पृशता। आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ०। स्था०।

आमुसमाण-आमृशत्-त्रि०। ईषत् स्पृशति, भ०। "आ-मुसमाणे वा संमुसमाणे वा" (सूत्र-३२५ +)। आमृ-शन्; ईषत्स्पृशन्नित्यर्थः। भ० ८ श० ३ उ०।

आमूल-आमूल-न०। अभिव्याप्त्या कारणे, षो०। "आ-मूलमिदं परमं, सर्वस्य हि योगमार्गस्य" ॥ १६ ॥ आमू-लम्-अभिव्याप्त्या कारणम्। षो० १३ विव०।

आमेट्ठ (गा) घर-आमेष्टकागृह-न०। अपक्वेष्टकागृहे, व्य०। "सोलियकाणिट्ठघरं, पक्केऽट्ठाऽऽमेयपिंडदारुघरे" ॥५५५+॥ आमा-अपक्वास्ताभिरिष्टकाभिः कृतं गृहम्-आमेष्टकागृहम्। व्य० ४ उ०। गृहस्यघरोऽपतौ ॥८।२।१४४॥ इति घर। प्रा०।

आमेल (आवेड)-आपीड-पुं०। आ-पीड-अच्। शेख-रके, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० १२४ सूत्रटी०। "वर्णापूर्णा-पीडविभीतककीदृशेदृशे" ॥ ८ । १ । १०५ ॥ इति हैमप्रा-कृतसूत्रेणैकारस्यैत्वम्। प्रा०। "नीपापीडे मो वा" ॥ ८ । १ । २३४ ॥ इति हैमप्राकृतसूत्रेण पस्य वा मः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आमेलो । प्रा० । " डो लः " ॥ ८ । १ । २०२ ॥ इति हैमप्राकृतसूत्रेण स्वरात्परस्यासंयुक्तस्यानादेर्डस्य प्रायो लः । आमेलो । आवेडो । प्रा० । शिखामाल्ये शिरोभूषणे, वाच० । " वणमालाऽऽमेलमउलकुंडलसच्छंदविउव्वियाभरणचारुभूसणधरा " (सूत्र-४७ ×) । ' आमेल ' त्ति-आपीडशब्दस्य प्राकृतलक्षणवशात् आपीडः-शेखरकः । प्रज्ञा० २ पद । जी० । " आविद्धतिलयामेलाणं " (सूत्र- ×) । आविद्धस्तिलक आमेलश्च शेखरको यकाभिस्ता आविद्धतिलकाऽऽमेलास्तासाम् । रा० ।

आमेलग-आपीडक-पुं० । शेखरके, भ० । " णीलुप्पलकयामेलएहिं " (सूत्र-३८० ×) । ' आमेल ' त्ति-आपीडः शेखरः । भ० ८ श० ३३ उ० ज्ञा० । " आमेलगओ " (सूत्र-१२६ +) । आमेलकः-आपीडः; शेखरक इत्यर्थः, जी० ३ प्रति० १ उ० । " आमेलग " (सूत्र-२४ ×) । आपीडः-शेखर एव स्तनप्रस्तावाच्चूचुकस्तत्प्रधानौ आमेलकौ वा परस्परमीषत्संबद्धौ । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । गृहबहिर्निस्सृतकाष्ठे च आपीडकमात्रे, त्रि० । वाच० ।

आमेलक-त्रि० । परस्परमीषत्सम्बद्धे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० २४ सूत्रटी० ।

आमोडक-पुं० । पुष्पोन्मिश्रे बालबन्धविशेषे, आमोडकः-पुष्पोन्मिश्रो बालबन्धविशेषः । उत्त० ३ अ० १४२ गाथाटी० ।

आमोक्ख-आमोक्ष-पुं० । आमुच्यतेऽस्मिन्नित्यामोक्षणं वा-आमोक्षः । परित्यागे, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ७ गाथा । अशेषकर्मक्षये, सूत्र० । " आमोक्खाए परिव्वएज्जा " (सूत्र-२१ ×) । आमोक्षाय-अशेषकर्मक्षयप्राप्तिं यावत् । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । अशेषकर्मक्षयसाधके आचारे, आचा० । तथा चाचारैकार्थिकानधिकृत्य-आमोक्षस्य निक्षेपो नामादिस्तत्र व्यतिरिक्तो निगडादेः भावामोक्षः कर्माष्टकोद्वेष्टनमशेषमेतत् साधकश्चायमेवाचारः इति । आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ७ गाथाटी० । (अस्यैकार्थिकानि ' आयारंग ' शब्देऽस्मिन्नेव भागेऽग्रे द्रष्टव्यानि)

आमोग-आमोक-पुं० । आ-मुच-घञ्-परिधाने, ल्युट आमोचनमप्यत्र । न० । वाच० । कचवरपुञ्जे, न० । " आमोयाणि वा (सूत्र-१६६+) आमोकानि-कचवरपुञ्जाः । आचा० १ श्रु० ७ अ० २ उ० ।

आमोडग (लय)-आमोडक-न० । आतोद्यभेदे, "मुच्छिअंताणं आमोडगाणं" आ० चू० १ अ० ।

आमोस-आमर्श-पुं० । आमर्शनमामर्शः । परामर्शे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ७६ सूत्रटी० । संस्पर्शे, प्रश्न० १ संव० द्वार २२ सूत्र० । प्रव० । ग० ।

आमर्ष-पुं० । आमर्षणमामर्षः । संस्पर्शे, विशे० ७७६ गाथाटी० । आ० म० । अप्रमृज्य करेण स्पर्शने, जाग्रतोऽतिचारभेदे च । आव० । " आमोसे ससरक्खामोसे " अविधिनैव आमर्षणमामर्षः, अप्रमृज्य करेण स्पर्शनमित्यर्थः । तस्मिन् सरजस्कामर्षे सति, सह पृथिव्यादिरजसा यद्वस्तु स्पृष्टं तत्संस्पर्श इत्यर्थः, आव० ४ अ० ।

आमोष-आमुष्णाति-आ-मुष-पचाद्यच् । सम्यगपहारके चौरादौ, आमुष्-भावे घञ् । अपहरणे, वाच० ।

आमोसग-आमोषक-पुं० । आमुष्णातीत्यामोषकः । चौरे, स्था० ५ ठा०२उ० ४१७ सूत्रटी० । " आमोसगा संपिंडिया गच्छेज्जा " (सूत्र-१३०×) । आमोषकाः-स्तेनाः । आचा० २ श्रु०१ चू०३ अ०३ उ० । "तत्थ खलु विहरंसि बहवे आमोसगा वत्थपडियाए संपिंडिया गच्छेज्जा " (सूत्र-१५१×) । आमोषकाः-चौराः । आचा० २ श्रु० १ चू० ५ अ० २ उ० ।

आमोसहि-आमर्शौ(र्षौ)षधि-पुं० । आमर्शो हि-हस्तादिना स्पर्शः औषधिर्यस्य स आमर्शौषधिः । ग० २ अधि० ७१ गाथाटी० । प्रव० । आमर्षणमामर्षः-संस्पर्शनमित्यर्थः । स एवौषधिर्यस्यासावामर्षौषधिः करादिसंस्पर्शमात्रादेव व्याध्यपनयनसमर्थः, लब्धिलब्धिमतोरभेदोपचारात्साधुरेवामर्षौषधिरित्यर्थः । विशे० ७७६ गाथाटी० । आ० म० । लब्धिभेदे, पा० १ सूत्र । औ० । यत्प्रभावात्स्वहस्तपादाद्यवयवपरामर्शमात्रेणैवात्मनः, परस्य वा सर्वेऽपि रोगाः प्रणश्यन्ति स आमर्शौषधिः । प्रव० २७० द्वार १५०६ गाथा । आमोसहिणाम रोगाभिभूतं अप्पाणं परं वा जवे चि तिगिच्छामि त्ति संचिंतेऊण आमुसति तं तक्खणा चेव ववगयरोगातंकं करेति त्ति । सा य आमोसहिलद्धी । सरीरेगदेसे वा सव्वसरीरे वा समुपज्जति त्ति एवमेसा आमोसहि त्ति भण्णति । आ० चू० १ अ० ।

आमोसहिपत्त-आमर्शौ (र्षौ) षधिप्राप्त-त्रि० । आमर्शः—संस्पर्शः, स एवौषधिः—सर्वरोगापहारित्वात् तपश्चरणप्रभावो लब्धिविशेषस्तां प्राप्ता ये ते तथा । आमर्शौ (र्षो) षधिलब्धिविशेषप्राप्ते, प्रश्न० । "आमोसहिपत्तेहिं" (सूत्र-२२×) प्रश्न० १ संव० द्वार ।

आय-आय-पुं० । आगच्छतीत्यायः । द्रव्यादेर्लाभे, सूत्र० १ श्रु० १० अ० १० गाथाटी० । उत्त० । आ० म० । ज्ञा० । आतु० । प्रव० । दश० । विशे० । धनागमे, वाच० । " आयस्स हेउं पगरेइ संगं " ॥ १६ + ॥ आयस्स-लाभस्य हेतोः-कारणात् । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । (आयं दृष्ट्वा कार्यं कुर्यादिति । (' गच्छसारणा ' शब्दे तृतीयभागे वक्ष्यते) आयः-प्राप्तिर्लाभ इत्यनर्थान्तरम् । अनु० १५४ सूत्रटी० । नि० चू० । " गच्छपरिरक्खणट्ठा, अणागतं आउवायकुसलेणं " ॥ ८६४ × ॥ आयो-नाम पार्श्वस्थादेः पार्श्वाभिप्रत्युद्गसंयमपालनादिको लाभः । बृ० ३ उ० । "दानादिकं च लाभोचितमेव कार्यम् " " लाहोचियदाणे, लाहोचियभोगे, लाहोचियपरिवारे, लाहोचियनिहिकरे सिआ" (सूत्र-२+) । (अस्य सूत्रांशस्य व्याख्या ' धम्म ' शब्दे चतुर्थभागे ६८२ पृष्ठे वक्ष्यते) उक्तं चात्र लौकिकैः-" पादमायान्निधिं कुर्यात्-पादं वित्ताय वर्द्धयेत् । धर्मोपभोगयोः पादं, पादं भर्तव्यपोषणे " ॥ १ ॥ तथाऽन्यैरप्युक्तम्-" आयादर्द्धं नियुञ्जीत, धर्मे यद्वाऽधिकं ततः । शेषेण शेषं कुर्वीत, यतस्तत्तुच्छमैहिकम् ॥ १ ॥ " इत्यादि । पं० सू० । आ-

गच्छतीत्यायो--द्रव्यादेर्लाभस्तन्निमित्तापादितेऽष्टप्रकारक-कर्मलाभे च । " आयं न कुज्जा इह जीवियट्ठी " ॥ ११ + ॥ आगच्छतीत्यायो-द्रव्यादेर्लाभः तन्निमित्तापादितोऽष्टप्रकारकर्मलाभः तमिहास्मिन् संसारे असंयमजीवितार्थी; भोगप्रधानजीवितार्थीत्यर्थः । यदि वा-आजीविकाभयात् द्रव्यसंचयं न कुर्यात् । सूत्र० १ श्रु० १० अ० । आश्रवम्-कर्माश्रवलक्षणं न कुर्यात् । सूत्र० १ श्रु० १० अ० ३ गाथाटी० । उपादाने, हेतौ च । विशे० १२२६ गाथाटी० । आयो-लाभः प्राप्तिर्ज्ञानादीनामस्मादित्यायः । विशे० ६६१ गाथाटी० । ओघनिष्पन्ननिक्षेपेण सामान्यतः अङ्गाध्ययनोद्देशकादिके श्रुते. अनु० १४४ सूत्रटी० ।

तथा च—

नाणस्स दंसणस्स वि, चरणस्स य जेण आगमो होइ ।
सो होइ भावआउ, आओ लाहो त्ति एगऽट्ठा ॥ ३२ ॥

ज्ञानस्य-मत्यादेः, दर्शनस्य-चोपशमिकादेः, चरणस्य च-सामायिकादेर्येन हेतुभूतेनागमो भवति-प्राप्तिर्भवति स भवति भावाऽऽयः. आयो-लाभ इति निर्दिष्टः । अध्ययनेन च हेतुभूतेन ज्ञानाद्यागमो भवतीति गाथार्थः । दश० १ अ० ।

ओघनिष्पन्ननिक्षेपमधिकृत्य—

ओहो जं सामण्णं, सुयाऽभिहाणं चउव्विहं तं च ।
अज्झयणं अज्झीणं, आयज्झयणा य पत्तेयं ॥ ६५८ ॥

इह यच्छ्रुतस्य-जिनवचनरूपस्य सामान्यमङ्गाध्ययनोद्देशकादिकं नाम तद् ओघ उच्यते, सामान्यं शास्त्रनामेत्यर्थः । विशे० ।

अथाऽऽयनिक्षेपं कर्तुमाह—

से किं तं आए ?, आए चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा-नामाऽऽए १, ठवणाऽऽए २, दव्वाऽऽए ३, भावाऽऽए ४, नामठवणाओ पुव्वं भणिआओ ।

'आये' त्यादि. आयः-प्राप्तिर्लाभ-इत्यनर्थान्तरम्, अस्यापि नामादिभेदभिन्नस्य विचारः सूत्रसिद्ध एव यावत् ।

से किं तं दव्वाऽऽए ?, दव्वाऽऽए दुविहे पण्णत्ते, तं जहा-आगमओ अ, नो आगमओ अ । से किं तं आगमओ दव्वाऽऽए ? आगमओ दव्वाऽऽए जस्स णं आय-त्ति-पदं सिक्खितं ठितं जितं मितं परिजितं०जाव कम्हा ?, अणुवओगो दव्वमिति कट्टु, नेगमस्स णं जावइआ अणुवउत्ता आगमतो तावइआ ते दव्वाऽऽया, ०जाव सेत्तं आगमओ दव्वाए । से किं तं नोआगमओ दव्वाए ?, नोआगमओ दव्वाए तिविहे पण्णत्ते, तं जहा-जाणगसरीरदव्वाए, भविअसरीरदव्वाए, जाणगसरीरभविअसरीरवइरित्ते दव्वाए । से किं तं जाणगसरीरदव्वाए ? जाणगसरीरदव्वाए आयपयत्थाहिगारजाणयस्स जं सरीरयं ववगयचुअचाविअचत्तदेहं जहा दव्वज्झयणे ०जाव से तं जाणगसरीरदव्वाए । से किं तं भविअशरीरदव्वाए ? भविअशरीरदव्वाए जे जीवे जोणीजम्मणणिक्खंते जहा दव्वज्झयणे०जाव सेत्तं भविअसरीरदव्वाए । से किं तं जाणगसरीरभविअसरीरवइरित्ते दव्वाए ? जाणगसरीरभवियसरीरवइरित्ते दव्वाए तिविहे पण्णत्ते, तं जहा-लोइए १, कुप्पावयणिए २, लोगुत्तरिए ३ । से किं तं लोइए ? लोइए तिविहे पण्णत्ते, तं जहा-सचित्ते, अचित्ते, मीसए अ । से किं तं सचित्ते ?, सचित्ते तिविहे पण्णत्ते । तं जहा-दुपयाणं, चउप्पयाणं, अपयाणं । दुपयाणं दासाणं, दासीणं । चउप्पयाणं-आसाणं, हत्थीणं । अपयाणं-अंबाणं, अंबाडगाणं, आए. से तं सचित्ते । से किं तं अचित्ते ? अचित्ते अणेगविहे पण्णत्ते. तं जहा-सुवण्णरययमणिमोत्तिअसंखसिलप्पवालरयणाणं आए से तं अचित्ते । से किं तं मीसए ?, मीसए अणेगविहे पण्णत्ते. तं जहा-दासाणं, दासीणं, आसाणं, हत्थीणं, समाभरिआउज्जालंकिआणं आए । से तं मीसए । से तं लोइए ॥ से किं तं कुप्पावयणिए ?, कुप्पावयणिए तिविहे पण्णत्ते, तं जहा-सचित्ते, अचित्ते, मीसए अ । तिण्णि वि जहा लोइए०जाव से तं मीसए । से तं कुप्पावयणिए ॥ से किं तं लोगुत्तरिए ?, लोगुत्तरिए तिविहे पण्णत्ते, तं जहा सचित्ते, अचित्ते, मीसए अ । से किं तं सचित्ते ?, सचित्ते दुविहे पण्णत्ते, तं जहा-सीसाणं, सिस्सणिआणं । सेत्तं सचित्ते । से किं तं अचित्ते ?, अचित्ते अणेगविहे पण्णत्ते, तं जहा-पडिग्गहाणं, वत्थाणं, कंबलाणं, पायपुञ्छणाणं आए । सेत्तं अचित्ते । से किं तं मीसए ?, मीसए तिविहे पण्णत्ते, तं जहा-सिस्साणं, सिस्सणिआणं, सभंडोवगरणाणं आए । सेत्तं मीसए । सेत्तं लोगुत्तरिए ॥ सेत्तं जाणगसरीरभविअसरीरवइरित्ते दव्वाए । से तं नो आगमओ दव्वाए । सेत्तं दव्वाए ।

' से किं तं अचित्ते ? ' ' सुवण्णे ' त्यादि-लौकिकोऽचित्तस्य सुवर्णादेरायो मन्तव्यः. तत्र सुवर्णादीनि प्रतीतानि 'सिल' त्ति-शिला । मुक्ताशैलराजपट्टादीनां, रक्तरत्नानि रत्नानि-पद्मरागरत्नानि ' संतसारसावएज्जस्स ' त्ति-सद्-विद्यमानं स्वापतेयं द्रव्यं तस्याऽऽयः. 'समाभरियाउज्जालंकियाणं' त्ति-आभरितानां सुवर्णसंकलिकादिभूषितानामातोद्यैः-झल्लरीप्रमुखैरलंकृतानाम् ।

से किं तं भावाऽऽए ?, भावाऽऽए दुविहे पण्णत्ते, तं जहा-आगमओ अ, नो आगमओ अ । से किं तं आगमओ भावाऽऽए ?, आगमओ भावाऽऽए जाणइ उवउत्ते, सेत्तं आगमओ भावाए । से किं तं नोआगमओ भावाए ?, नो आगमओ भावाए दुविहे पण्णत्ते, तं जहा-पसत्थे अ,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपसत्थे अ । से किं तं पसत्थे ?, पसत्थे तिविहे पएणत्ते, तं जहा–णाणाऽऽए,दंसणाऽऽए,चरित्ताऽऽए, सेत्तं पसत्थे । से किं तं अपसत्थे?, अपसत्थे चउव्विहे पएणत्ते, तं जहा–कोहाए, माणाए, मायाए, लोभाए । से तं अप्पसत्थे । से तं णो आगमओ भावाए। सेत्तं भावाए। सेत्तं आए। (सूत्र–२५४+) अनु० ।

ज्योतिषोक्ते लग्नावधिके; राश्यवधिके च एकादशस्थाने, लग्नावधिकैकादशस्थानस्याऽऽयत्वं च । तत्स्थाने आयस्य चिन्तनीयत्वात् । वनितागारपालके च । कर्मणि अच्, घञ् वा । ग्रामादितः स्वामिग्राह्यभागे, लभ्ये धनादौ, " तदस्मिन् वृद्ध्यायलाभशुल्कोपदादीयते " पा० । ग्रामेषु स्वामिग्राह्यो भागः आयः । सि० कौ० । वाच० । कूष्माण्ड भेदे, प्रश्न० । " आए, काए, कुहंण " ॥ ४०+ ॥ (सूत्र–२३×) प्रश्न० १ पद । आ चा० । (अत्र विस्तरः ' कुहणा ' शब्दे तृतीयभागे वक्ष्यते) ।

आज्ज–त्रि० । आज्यतेऽनेन । आ अज घञर्थे क । घृते, ज-टा० । अजस्येदम् अण् । छागमांसादौ, त्रि० । अलंकृतं कुमारं कुशलीकृतशिरसमहतेन वाससा संवीतमैणेयेन वा अजिनेन ब्राह्मणं, रौरवेण क्षत्रियम्, आजेन वैश्यम् । आश्व० गृ० । " गव्यमाजं तथा चौष्ट्र-माविकं माहिषं च यत् । अश्वायाश्चैव नार्याश्च, करेणूनां च यत्पयः" ॥ २ ॥ सुश्रुतः । अज भावे घञ् । न वीभावः । विक्षेपे, आजानेय । वाच० ।

आयइ (ई)–आयति (ती)–स्त्री० । आ-य-ति । वा ङीप् । आगामिकाले, " आयइ जणगो " ॥ ३८+ ॥ पञ्चा० १६ विव० । सू० । व्य० । " से तत्थ मुच्छिए बाले, आयइं नाऽवबुज्झइ" ॥ १ ॥ दश० १ चू० । तत्र तेषु भोगेषु मूर्च्छितो-गृद्धो बालः आयतिम्-आगमिकालं नाऽवबुध्यते-न सम्यगवगच्छति । दश० १ चू० । आगामिकालविषयायां महत्यामास्थायाम्, व्य० । " जुवराजंमि उ ठविए, पयाओ बंधंति आयतिं तत्थ " ॥१६६+॥ आयतिम् आगामिकालविषयां महतीमास्थां बन्धन्ति । व्य० ४ उ० । सन्ततौ, सू० । राजसुतदीक्षामधिकृत्य–" आयती इड्ढिमंतपूया य " ॥८३+॥ आयतिश्च-सन्ततिरमीषामेतेन अविच्छिन्ना भविष्यतीति । सू० ३ उ० । प्रभावे, कोषदण्डजे, तेजसि, फलदानकाले च । आयति-स्त्री० । आ यम क्तिन् । स्नेहे, वशित्वे, सामर्थ्ये, सीम्नि, शयने, प्रभावे, " आगतौ च उपाये च अनास्था च तत्कल्पनम् " । शा० भा० । वाच० ।

आयइजणग–आयतिजनक–त्रि० । आयतौ-आगामिकाले अभीष्टं फलं जनयति-करोति योऽसावायतिजनकः । आगामिकालेऽभीष्टफलदायके, पञ्चा० । "आयइजणगो" ॥२८×॥ पञ्चा० १६ विव० ।

आयइत्ता–आदाय–अव्य० । गृहीत्वेत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ६ गाथाटी० ।

आयइफल–आयतिफल–न० । आयतौ-आगामिनि काले फलमस्येत्यायतिफलम् । परभवफलके, पञ्चा० । "आयतिफलमक्कुवसा-हणं च निउणं मुणेयव्वं ॥४२×॥ " आयतौ-आगामिकाले; परभवे इत्यर्थः । फलं साध्यमस्येत्यायतिफलम् । पाठान्तरेण-आयतफलं-मोक्षफलम् । पञ्चा० १२ विव० ।

आयइविराहग–आयतिविराधक–त्रि० । परलोकपीडाकरे; पं० सू० । " आयइविराहगं समारंभं न चिंतिज्जा " (सूत्र–२+) ॥ आयतिविराधकं-परपीडाकरं समारम्भम्-अङ्गारकर्मादिरूपं तथा न चिन्तयेद् । पं० सू० ।

आयइसंपगासण–आयतिसम्प्रकाशन–न० । चतुर्थे सामभेदे, स्था० । चतुर्थं सामभेदमाधिकृत्य–"आयत्याः सम्प्रकाशनम् " अस्मिन्नेवङ्कृते इदमावयोर्भविष्यतीत्याशायोजनम्-आयतिसम्प्रकाशनम् । स्था० ३ ठा० ३ उ० १८५ सूत्रटी० ।

आयंगुल–आत्माङ्गुल–न० । आत्मनोऽङ्गुलमात्माङ्गुलम् । आत्माऽङ्गुलप्रमाणभेदे, प्रव० । ('अङ्गुल' शब्दे प्रथमभागे स्वत्वमुक्तम्)

जं पुण आयंगुलमे-रिसेण तं भासिअं विहिणा ॥१४०७॥

यत्पुनरात्माऽङ्गुलं पूर्वमुद्दिष्टं तदीदृशेन-वक्ष्यमाणस्वरूपेण विधिना-प्रकारेण भाषितं-प्रतिपादितं तीर्थकृद्गणधरैः ।

तमेव विधिमाह—

जे जम्मि जुगे पुरिसा, अट्ठसयंगुलमूसिआ हुंति ।
तेसिं जं जं निअमं-गुलमायंगुलमेत्थ तं होइ ॥१४०८॥

ये पुरुषाश्चक्रवर्तिवासुदेवादयो यस्मिन् युगे सुषमसुखमादिकाले निजाऽङ्गुलेनैवाऽष्टोत्तरं शतमङ्गुलानामुच्छ्रिताः-उच्चा भवन्ति तेषां च स्वकीयाऽङ्गुलेनाऽष्टोत्तराऽङ्गुलशतोच्चानां पुरुषाणां यन्निजम्-आत्मीयमङ्गुलं तत्पुनरात्माऽङ्गुलं भवति । इह च ये यस्मिन् काले प्रमाणयुक्ताः पुरुषा भवन्ति, तेषां सम्बन्धी आत्मा गृह्यते । तत आत्मनोऽङ्गुलमात्माऽङ्गुलम् । इदं च पुरुषाणां कालादिभेदेनानवस्थितमानत्वादनियतप्रमाणं द्रष्टव्यम् ।

जे पुण एयपमाणा, ऊणा अहिगा य तेसिमेयं तु ।
आयङ्गुलं न भण्णइ, किं नु तदाभासमेव त्ति ॥१४०९॥

ये पुनः-पुरुषा एतस्मात्-अष्टोत्तराऽङ्गुलशतलक्षणात्प्रमाणान्न्यूनाः समधिका वा तेषां संबन्धि यदङ्गुलमेतदात्माऽङ्गुलं न भण्यते, किं तु-तदाभासमेव-आत्माङ्गुलाभासमेव; परमार्थत आत्माङ्गुलं तन्न भवतीत्यर्थः । लक्षणशास्त्रोक्तस्वरादिशेषलक्षणवैकल्यसद्भावं च यथोक्तप्रमाणाद्धीनाधिक्यमिह प्रतिषिद्धं न केवलमिति संभाव्यते, भरतचक्रवर्त्यादीनां स्वाऽङ्गुलतो विंशत्यधिकाऽङ्गुलशतप्रमाणानामप्यत्र निर्णीतत्वान्महावीरादीनां च केषांचिन्मतेन चतुरशीत्याद्यङ्गुलप्रमाणत्वादिति । प्रव० २५४ द्वार ।

आत्माङ्गुलं सूच्यङ्गुलादिभेदात् त्रिविधम्—

से किं तं आयंगुले ?, आयंगुले (अनु० सूत्र–१३४+) तिविहे पण्णत्ते, तं जहा सूइअंगुले १, पयरंगुले २, घणंगुले ३, (सूत्र–१३४×) अनु० ।

(आत्माङ्गुलेन षडङ्गुलानि पादः इत्यादि । ये यदा मनुष्या भवन्ति तेषां तदा आत्माङ्गुलेन स्वकीयस्वकीयकाल-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संभवीभ्ययटहदादीनि मीयन्ते इत्यादि सर्वम् 'अङ्गुल' शब्दे प्रथमभागे प्रतिपादितम्।) (सूच्यङ्गुलादिप्रदेशानामल्पबहुत्वचिन्ताऽपि 'अंगुल' शब्दे प्रथमभागे गता)

आयंत-आचान्त-त्रि०। आ-चम-क्त। आचमनकर्त्तरि, आचान्तः पुनराचामेत्। काशी०। कृतमाचमनं यस्य तादृशे जलादौ च। वाच०। गृहीताचमने, रा०। भ०। शौचार्थं कृतजलस्पर्शे, नि० १ श्रु० ३ वर्ग ३ अ०। औ०। "आयंते चोक्खे परमसुइभूये" (सूत्र-+)। 'आयंते' इति-नवानामपि श्रोतसां शुद्धोदकप्रक्षालनेनाचान्तो गृहीताऽऽचमनः। रा०। आचान्तौ-शुद्धोदकेन कृताऽऽचमनौ। कल्प० १ अधि० ४ क्षण १०५ सूत्रटी०। ज्ञा०। भ०।

आयंबिल-आचामाम्ल-न०। ल० प्र० १०२ गाथा। आचामः-अवश्रावणम्, अम्लं चतुर्थो रसः, त एव प्रायेण व्यञ्जने यत्र भोजने ओदनकुल्माषसक्तुप्रभृतिके, तदाचामाम्लम्। समयभाषयौदनकुल्माषसक्तुप्रभृतिके, ध० २ अधि० ६३ श्लोक।

आयामाऽम्ल-न०। आयामम्-अवश्रावणम्, अवश्रावणम्-काञ्जिकम्। बृ० १ उ०। (अत्रार्थे 'अवस्सावण' शब्दः प्रथमभागस्थो द्रष्टव्यः) (आयामः-अवशायनम्।) आव० ६ अ० (१६०३ गाथाटी) अम्लंच-सौवीरकं, त एव प्रायेण व्यञ्जने यत्र भोजने ओदनकुल्माषसक्तुप्रभृतिके, तदायामाम्लम्। समयभाषयौदनकुल्माषसक्तुप्रभृती, पञ्चा० ५ विव० ७ गाथाटी०। अवस्यामे, (ने, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ७ उ० ४१ सूत्रटी०) ग० २ अधि० ७८ गाथाटी०। (आचाम्लभेदादि 'आयंबिलपच्चक्खाण' शब्देऽनुपदमेव वक्ष्यते) तद्गतं प्रत्याख्यानभेदं च। पञ्चा० ५ विव० ७ गाथाटी०। (तद्वक्तव्यता 'आयंबिलपच्चक्खाण' शब्देऽनुपदमेव वक्ष्यते)

आयंबिलपच्चक्खाण-आचा(या)माम्लप्रत्याख्यान-न०। प्रत्याख्यानभेदे, ध०।

अत्र सूत्रम्—

आयंबिलं पच्चक्खाइ अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, लेवालेवेणं उक्खित्तविवेगेणं गिहत्थसंसट्ठेणं पारिट्ठावणियागारेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तिआगारेणं, वोसिरइ। आव० ६ अ०।

आचामः-अवश्रावणम्, अम्लं चतुर्थो रसः त एव प्रायेण व्यञ्जने यत्र भोजने ओदनकुल्माषसक्तुप्रभृतिके तदाचामाम्लम् समयभाषयोच्यते, तत्प्रत्याख्याति, आचामाम्लप्रत्याख्यानं करोतीत्यर्थः। आद्यावन्त्याश्च त्रय आकाराः पूर्ववत्, (लेवालेवेणं) लेपो-भोजनभाजनस्य विकृत्या तीमनादिना वा आचामाम्लप्रत्याख्यातुरकल्पनीयेन लिप्तता, अलेपो-विकृत्यादिना लिप्तपूर्वस्य भोजनभाजनस्यैव हस्तादिना संलेखनतोऽलिप्तता, लेपश्चाऽलेपश्च लेपालेपम्, तस्मादन्यत्र, भाजने विकृत्याद्यवयवसद्भावेऽपि न भङ्ग इत्यर्थः। 'उक्खित्तविवेगेणं' शुष्कौदनादिभक्ते पतितपूर्वस्याचामाम्लप्रत्याख्यानवतामयोग्यस्याद्रवविकृत्यादिद्रव्यस्योत्क्षिप्तस्योद्धृतस्य विवेको निःशेषतया त्याग उत्क्षिप्तविवेकः; उत्क्षिप्य त्याग इत्यर्थः, तस्मादन्यत्र, भोक्तव्यद्रव्यस्य अभोक्तव्यद्रव्यस्पर्शेनाऽपि न भङ्ग इति भावः, यन्नुत्क्षेप्तुं न शक्यं तस्य भोजने भङ्गः 'गिहत्थसंसट्ठेणं' गृहस्थस्य—भक्तदायकस्य संबन्धि करोटिकादिभाजनं विकृत्यादिद्रव्येणोपलिप्तं गृहस्थसंसृष्टं, ततोऽन्यत्र, विकृत्यादिसंसृष्टभाजनेन हि दीयमानं भक्तमकल्पद्रव्यावयवमिश्रं भवति, न च तद्भुञ्जानस्याऽपि भङ्गः, यद्यकल्पद्रव्यरसो बहुर्न ज्ञायते। 'वोसिरइ' इति-आचामाम्लं चतुर्विधाहारं च व्युत्सृजति। ध० २ अधि० ७८ श्लोक। "अट्ठेवाऽऽयंबिलम्मि आगारा ॥६४॥" अष्टैव, न न्यूनाधिकाः। आयामः-अवश्रावणम्, अम्लं च-सौवीरकं, ते एव प्रायेण व्यञ्जने यत्र भोजने ओदनकुल्माषसक्तुप्रभृतिके तदायामाम्लं समयभाषयोच्यते, एतद्व्रतं प्रत्याख्यानमपि तदेवेत्यतस्तस्मिन्नायामाम्ले आयामाम्लस्य चाऽऽकारा भवन्ति।

ते चैवम्। पञ्चा० ५ विव०। सूत्रम्—

आयंबिलं पच्चक्खाइ अन्नत्थणाभोगेणं सहसाकारेणं लेवालेवेणं उक्खित्तविवेगेणं गिहत्थसंसट्ठेणं परिट्ठावणियागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरइ। आव० ६ अ० १६०५ गाथा।

व्याख्यानं सर्वं प्राग्वत्, नवरम्। आयामाम्लं प्रत्याख्याति-तदेव मया भोक्तव्यमिति प्रतिजानीते। लेपो भोजनभाजनस्य विकृत्या तीमदिना वा आयामाम्लप्रत्याख्यातुरकल्पनीयेन लिप्तता, स चालेपश्च विकृत्यादिना लिप्तपूर्वस्य भोजनभाजनस्यैव हस्तादिना संलेखनतो निर्लेपतेति लेपालेपं तस्मादन्यत्र भाजने विकृत्याद्यवयवसद्भावेऽपि न भङ्ग इत्यर्थः, तथा उत्क्षिप्तस्य शुष्कौदनादिभक्ते निक्षिप्तपूर्वस्यायामाम्लप्रत्याख्यानवतामयोग्यस्याद्रवविकृत्यादिद्रव्यस्य विवेको निःशेषतया पृथक्करणम्-उद्धरणमुत्क्षिप्तविवेकस्तस्मादन्यत्र प्रत्याख्यानं भोक्तव्यद्रव्यस्याकल्पनीयद्रव्येण संस्पर्शेऽपि न भङ्ग इति भावः। तथा गृहस्थस्य भक्तदायकस्य सम्बन्धि संसृष्टं-विकृत्यादिद्रव्येणोपलिप्तं यत्करोटिकादिभाजनं तद्गृहस्थसंसृष्टं ततोऽप्यन्यत्र विकृत्यादिसंसृष्टं भाजनेन हि दीयमानं भक्तमकल्पद्रव्यावयवमिश्रं भवति, न च तत् भुञ्जानस्याऽपि भङ्ग इति भावः। 'वोसिरइ'त्ति—अनायामाम्लं व्युत्सृजतीति। पञ्चा० ५ विव० ६ गाथाटी०।

अधुना तदुपन्यस्तमेव चाऽऽचामाम्लमुच्यते—

गुण्णं नाम तिविहं, ओअण १ कुम्मास २ सत्तुआ ३ चेव।
इक्किक्कं पि अ तिविहं, जहन्नयं १ मज्झिमुक्कोसं ॥१६०३॥

आयामाम्लमिति गौणं नाम, आयामः-अव(शायनम्) श्रावणम् आम्लं-चतुर्थरसः ताभ्यां निर्वृत्तम् आयामाम्लम्, इदं चोपाधिभेदात्त्रिविधं भवति। ओदनः, कुल्माषाः, सक्तवश्चैव। ओदनमधिकृत्य कुल्माषान्सक्तूंश्चेति एकैकमपि चामीषां त्रिविधं भवति। जघन्यम्, मध्यमम्, उत्कृष्टं चेति।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कथमित्याह—

दव्वे १ रसे २ गुणे वा ३, जहन्नयं १ मज्झिमं च २ उक्कोसं ३।
तस्सेव य पाउग्गं, छलणा पंचेव य कुडंगा ॥ १६०४ ॥

द्रव्ये रसे गुणे चैव-द्रव्यमधिकृत्य १, रसमधिकृत्य २, गुणं चाधिकृत्येत्यर्थः ३। किं ? जघन्यकं १, मध्यमं २, चोत्कृष्टं चेति ३, तस्यैवायामाम्लस्य प्रायोग्यं वक्तव्यं, तथा आयामाम्लं प्रत्याख्यातमिति इत्थं भुञ्जानस्य दोषः प्राणातिपातप्रत्याख्याने तद्नासेवनवदिति, छलना वक्तव्या, पञ्चैव कुडङ्गा-वक्रविशेषा इति।

तद्यथा—

लोए १ वेए २ समये ३, अन्नाणे ४ खलु तहेव गेलन्ने ५।
एए पंच कुडंगा, नायव्वा अंबिलम्मि भवे ॥ १६०५ ॥

लोके वेदे समये अज्ञाने खलु तथैव ग्लानत्वे लोकमङ्गीकृत्य कुडङ्गाः एवं वेदान् समयान् अज्ञानं ग्लानत्वं च एते पञ्च कुडङ्गा ज्ञातव्याः आयामाम्ले भवन्ति, आयामाम्लविषये। इति गाथात्रयसमासार्थः ॥ ५७ ॥ विस्तरार्थस्तु वृद्धसंप्रदायसमधिगम्यः।

स चाऽयम्—

"एत्थ आयंबिलं च भवति आयंबिलपाउग्गं च, तत्थोदणे आयंबिलं च आयंबिलपाउग्गं च आयंबिला सकूरा, आणियव्वा कूरविहाणाणि आयंबिलपाउग्गं, तंदुलकणियाउ कुंडगो पिट्ठं पिहुगा पिट्ठपोवलियाओ रालगा मंडगादि, कुम्मासा पुव्वं पाणिएणं कड्ढिज्जंति पच्छा ओक्खलीए पीसंति, ते तिविहा-सण्हा, मज्झिमा, थूला. एए आयंबिलं, आयंबिलपाउग्गाणि पुण जे तस्स तुसमीसा कणियाओ कक्कडुगा य एवमादि, सत्तुगा-जवाणं वा, गोधूमाणं वा, वीहियाणं वा, पाओग्गं पुण-गोधूमभुंज्जिया पिसुगालागा आय भुंजिज्जा, जे य जहएण न तीरंति पीसिउं, तस्सेव निहारो कणिगादि वा. एयाणि आयंबिलपाओग्गाणि, तं तिविहं पि आयंबिलं, तिविहं उक्कोसं मज्झिमं, जहन्नं। दव्वओ-कलमसालिकूरो उक्कोसो, जं वा जस्स पत्थं कम्मइ वा, रालगो सामागो वा जहन्नो, सेसा मज्झिमा, जो सो कलमसालीकूरो सो रसं पडुच्च तिविहो-उक्कोसो, मज्झिमो, जहन्नो य। तं चेव तिविधं पि आयंबिलं निज्जरागुणं पडुच्च तिविधं-उक्कोसो निज्जरागुणो, मज्झिमो, जहन्नो त्ति। कलमसालिकूरेदव्वओ उक्कोसं दव्वं चउत्थं रसियएण समुद्दिसइ, रसओ वि उक्कोसं तस्स पएण वि आयामेण उक्कोसं रसओ गुणओ जहन्नं थोवा निज्जर त्ति भणियं होइ, सो चेव कलमायणो जया अन्नेहिं आयामेहिं तदा दव्वओ उक्कोसो रसओ मज्झिमओ गुणओ वि स मज्झिमो चेव, सो चेव जया उण्होदएण तदा दव्वओ उक्कोसं, रसओ जहन्नं, गुणओ मज्झिमं चेव, जेण दव्वओ उक्कोसं, न रसओ। एयाणि जे मज्झिमा चाउलोदणा ते दव्वओ मज्झिमा, आयंबिलेण रसओ उक्कोसा, गुणओ मज्झिमा, तहेव चउण्होदएण दव्वओ मज्झं रसतो जहन्नं गुणओ मज्झं मज्झिमं दव्वं ति काऊणं रालगतणकूरा दव्वओ जहन्नं आयंबिलेण रसओ उक्कोसं गुणओ मज्झं, ते चेव आयामेणं दव्वओ जहन्नं रसओ मज्झं. गुणओ मज्झं, ते चेव उण्होदएण दव्वओ जहन्नं, रसओ जहन्नं, गुणओ उक्कोसं, बहु निज्जर त्ति भणियं होइ। अहवा-उक्कोसे तिन्नि विभासा उक्कोसोक्कोसं, उक्कोसमज्झिमं, उक्कोसजहन्नं, कंजियआयामउण्होदएहिं जहन्ना, मज्झिमा, उक्कोसा निज्जरा। एवं तिसु विभासियव्वं छलणानाम एगेणाऽऽयंबिलं पच्चक्खायं, तेण हिंडंतेण सुद्धोदणो गहिओ, अण्णाणेण य खीरेण निमित्तं घेत्तूण आगमओ आलोएउं पत्तीओ, गुरूहिं भणिओ-अज्ज तुज्झ आयंबिलं पच्चक्खायं, भणइ सच्चं, तो किं भुंजसि ? जेण मे पच्चक्खायं, जहा पाणाइवाए पच्चक्खाते ण मारिज्जइ, एवं आयंबिले वि पच्चक्खाते। तं न कीरइ, एसा छलणा" परिहारस्तु प्रत्याख्याने भोजने तन्निवृत्तौ च भवति, भोजने आयामाम्लप्रायोग्याद्न्यत् तत् प्रत्याख्याति आयामाम्ले च वर्तते, तन्निवृत्तौ चतुर्विधमप्याहारं प्रत्याचक्षाणस्य, तथा लोके एवमेव प्रत्याख्यानार्थः। दोसु अत्थेसु वट्टइ भोजने तन्निवृत्ती य. तेण एसा छलणा निरत्थिया। पंच कुडंगा लोए, वेदे, समए, अन्नाणे, गिलाणे कुडंगो त्ति. एगेणाऽऽयंबिलस्स पच्चक्खायं, तेण हिंडंतेण सखडी संभाविया, अन्नं वा उक्कोसं लद्धं, आयरियाणं दंसेइ, भणियं-तुब्भ आयंबिलं पच्चक्खायं, सो भणइ—खमासमणा ! अम्हेहिं बहूणि लोइयाणि सत्थाणि परिमिलियाणि, तत्थ आयंबिलस्स सद्दो नऽत्थि, पढमो कुडंगो १। अहवा-वेदेसु चउसु संगोवंगेसु नऽत्थि आयंबिलं, बितिओ कुडंगो २। अहवा-समए चरगचीरिगभिक्खुपंडरंगाणं. तत्थ वि नऽत्थि, न जाणामि एस तुब्भं कओ आगओ ? तइओ कुडंगो ३। अन्नाणेण भणइ न जाणामि खमासमणा ! केरिसयं आयंबिलं भवइ ?, अहं जाणामि कुसणेहि वि जिम्मइ त्ति तेण गहियं, "मिच्छा मि दुक्कडं." न पुणो गच्छामि, चउत्थो कुडंगो ४। गिलाणो भणइ-न तरामि आयंबिलं काउं सूलं मे उट्ठेइ अन्नं वा उद्दिसइ रोगं ताहे न तीरइ करेउं। एस पंचमो कुडंगो ५। तस्स अट्ठ आगारा—

अण्णत्थणाभोगेणं सहस्सागारेणं लेवालेवेणं उक्खित्तविवेगेणं गिहत्थसंसट्ठेणं पारिट्ठावणियागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरति।

अणाभोगसहसक्कारा तहेव, लेवालेवो जइ भायणे पुव्वं लेवाडगगहियं च समुद्दिट्ठं संलिहियं जति तेण आणेति ण भुंजति, उक्खित्तविवेगो-जं आयंबिले पडति विगतिमादि उक्खिवित्ता विगिंचतु मा णवरि गलतु अन्नं वा आयंबिलस्स अप्पाओग्गं जइ उद्धरिउं तीरइ उद्धरिए न उवहम्मइ. गिहत्थसंसट्ठे वि जदि गिहत्थो डोलियं भाणियं वा लेवाडं कुसणादीहिं तेण दंसि त्ति लेवाडं तं भुंजइ, जइ रसो आलिक्खिज्जइ बहुओ ताहे न कप्पइ, पारिट्ठावणियमहत्तरासमाहीओ तहेव। व्याख्यानमतिगम्भीरबुद्धिना भाष्यकारेणोपन्यस्तकममायामाम्लम्। आव० ६ अ०। तथा च—"आयंबिलमवि तिविहं" इत्यादिगाथाः १०२ आरभ्य-१०६ पर्यन्ताः 'अचित्त' शब्दे प्रथमभागे गताः)

जं तिमियं कांउ नो, सक्कइ तं तं न कप्पइ रयाइ ।
पायं हिंगुं न कप्पइ,दुकयदोसप्पसंगओ जयणा ।१०७।
दंतवणं तंबोलं, कायव्वं नेव अंबिलंमि नवे ।
जलभिएणमणाहारं, कप्पइ सव्वं पि तत्थ ठिए ॥१०८॥
सोवीरमुसिणजलं, कप्पइ नो अएणमेस विहिपायं ।
सोवीरं सिद्धपिट्ठं, निएणेहं वियलमुक्किट्ठं ॥ १०६ ॥
मज्झिमे घुग्घरियाइं, हिंगुप्पमुहा पकप्पए भयणा ।
भज्जियधणाईयं, सव्वं पि पकप्पइ जहन्ने ॥ ११० ॥

काठिन्यसहितमण्डकखाखरपर्पटिकादि यतस्तिमितुम्-आर्द्रीकर्तुं न शक्यन्ते तत् आचामाम्ले अकल्प्यम् ।

दुन्नि चउअंगुलमाणं, नीरं जइ हवइ सिद्धभत्तुवरि ।
आयंबिलं विसुद्धं, हविज्ज तो सव्वकट्ठहरं ॥ १११ ॥
जगराजीरगजुत्तं, ओयणमिह कप्पए जईण पुणो ।
सट्ठाणं नो कप्पइ,नूयरि लड्डाइयं वि पुणो ।११२। ल०प्र०।

अत्रोत्तरम्—तथा आचामाम्लमध्ये सुराठीमरिचादिकं कल्पते तत्किं कारणेन स्वभावेन वेति ? ॥ ६ ॥ अत्र कारणं विनापि कल्पते इति ॥ ६ ॥ तथा आचामाम्लमध्ये सुराठीमरिचादिकं कल्पते, पिप्पलीलवङ्गादिकं च न, तत्किं शास्त्राक्षरैः परंपरातो वेति ? ॥ १० ॥ तथा आचामाम्लमध्ये सुराठीमरिचादिकं कल्पते, लवङ्गपिप्पलीहरितकीप्रमुखं पुनर्न कल्पते, तत्रैतत्कारणं ज्ञायते-यल्लवङ्गेषु दुग्धं भङ्क्त्वा दीयमानमस्ति, तथा हरीतकीपिप्पल्यादिकं नालिकातोऽपक्वं सत् शुष्कीक्रियते, यथा युगन्धरीगोधूमादि पृथुको राद्धस्स चाचामाम्लमध्ये न कल्पते, युगन्धरीगोधूमादिकं तु राद्धं सत् कल्पते इति संभाव्यते ॥ १० ॥ ही० ४ प्रका० ।

संप्रत्याचामाम्लशोध्यान् एतान् (दोषान्)
संकलय्य गाथायुगलेनाह—

कम्मुद्देसिय मीसे, धायाइ पगासणाइएसुं च ।
पुरपच्छकम्मकुच्छिय-संसत्ताऽऽलित्तकरमत्ते ॥ ३७ ॥
अइरं परित्तनिक्खि-त्तपहियसाहरियमीसियाईसु ।
अइमाणधूमकारण, विवज्जए विहियमायामं ॥ ३८ ॥

कर्मोद्देशिकं—विभागोद्देशिकम् नवमभेदः, मिश्रं च-यावदर्थिकमिश्राख्यो मिश्रजाताद्यभेदः कर्मोद्देशिकमिश्रं तस्मिन् धात्र्यादिप्रकाशनादिषु च-धात्र्यादयश्च धात्रीदूतीनिमित्तकथनाऽऽजीवनापिण्डवनीपकत्वचादरचिकित्साकरणक्रोधमानपिण्डाः द्विविधसंस्तवः विद्यामन्त्रं चूर्णयोगपिण्डाः प्रकाशनादयश्च प्रकाशकरणं द्विविधं द्रव्यक्रीतं, द्विविधं लौकिक-प्रामित्यपरिवर्त्तेन निष्प्रत्यपायं-परग्रामाऽऽहृतं पिहितोद्भिन्न-कपाटोद्भिन्नं उत्कृष्टमालाऽपहृतं सर्वमाच्छेद्यं-सर्वमनिष्टं चेति धात्र्यादिप्रकाशनादयस्तेषु पुरःकर्मः-पश्चात्कर्मणोः, 'कुच्छियसंसत्त' त्ति-भीमो-भीमसेनवदिति न्यायाद्गर्हिताचित्तम्रक्षिते अगर्हितसंसक्ताचित्तम्रक्षितं; आलिप्तकरमात्रलिप्तदोष इत्यर्थः, 'अइरं' परित्तोत्पन्नं परित्ताशब्दोपलक्षणत्वात् पृथिव्यप्तेजोवायुप्रत्येकवनस्पतित्रसाऽऽख्याः षट्कायाः सचित्ता गृह्यन्ते । पश्चात् व्यवहित-षट्कायनिक्षिप्तपिहितसंहृतमिश्रादिषु आदिशब्दात्-षट्कायाः परिणतषट्कायोपरि छर्दितयोः 'निक्खित्त' त्ति-अकर्दमप्रक्षिप्त बालवृद्धमत्तोन्मत्तव्यपनज्वरितान्धाः निगडितकरचरणाः छिन्नपाणिपादाः नपुंसकाः गुर्विणी बालवत्सा च भुञ्जती विलोडयन्ती भृज्जन्ती खण्डयन्ती पिष्यन्ती दलन्ती पिठरकादिकमपवर्त्य ददती साधारणं चोरितकं वा ददती बलिं स्थापयन्ती परकीयमिदमित्युक्त्वा ददती सप्रत्यपाया च ददती कूलबालकमुनिमतं त्याजयित्री मागधिका वेश्येव शाकिन्यादिश एतेभ्यो दायकेभ्यो ग्रहणे च, तथातिमानं च-प्रमाणभूताहाराधिकभोजनं धूमश्च सङ्केषभोजनं कारणविपर्ययश्च निष्कारणे भोजनम् अतिमानधूमकारणविपर्ययः तस्मिन् एतेषु सर्वेषु विहितम् आचामाम्लं प्रायश्चित्तमित्यर्थः । जीत० ।

आयंबिलपाउग्ग- आचामाम्लप्रायोग्य-त्रि० । ओदनादिसत्कं कूरादौ, आव० ६ अ० । (तानि च ' आयंबिलपच्चक्खाण ' शब्देऽनुपदमेव गतानि)

आयंबिलवद्धमाण-आचा(या)माम्लवर्द्धमान-न० । तपोविशेष, औ० । " आयंबिलवद्धमाणं तवोकम्मं पडिवएणा " (सूत्र-१५ +) । यत्र चतुर्थं कृत्वा आयामाम्लं क्रियते, पुनश्चतुर्थं, पुनर्द्वे आयामाम्ले, पुनश्चतुर्थं पुनस्त्रीणि आयामाम्लानि, एवं यावच्चतुर्थं शतं चाऽऽयामाम्लानां क्रियते इति, इह च शतं चतुर्थानां तथा पञ्चसहस्राणि पञ्चाशदधिकानि ५०५०, आयामाम्लानां भवन्तीति । औ० । (एतत्तपःकरणात् महासेनकृष्णा सिद्धिं प्राप्ता इति ' महासेणकराहा ' शब्दे षष्ठे भागे दर्शयिष्यते)

तत्स्वरूपं सूत्रतः—

आयंबिलं करेति ०(अन्त०) एवं एगुत्तरियाए वुड्ढीए आयंबिलाइं वड्ढंति चतुत्थंतरियाइं०जाव आयंबिलसयं करेति आयंबिलसयं करेत्ता चउत्थं करेति । अन्त० १ श्रु० ८ वर्ग १० अ० ।

आयंबिलिय-आचा(या)माम्लिक-पुं० । आचामाम्लं समयप्रसिद्धं तेन चरतीत्याचामाम्लिकः । स्था० ५ ठा० १ उ० ३९६ सूत्रटी० । आचामाम्लसहिते, " आयंबिलमणायंबिले, आयंबिलगा, अणायंबिलगा य । अणायंबिलगा, आयंबिलगविराहिया " इति । आव० ६ अ० । आचाम्लम्-ओदनकुल्माषादि तेन चरतीत्याचाम्लिकः । साधुभेदे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

आयग-आजक-न० । अजानां समूहः । वुञ् । छागसमूहे, वाच० । अजापक्ष्मनिष्पन्ने वस्त्रादौ, ' आयाणि वा ' (सूत्र-१४५ ×) । क्वचिद्देशविशेषे अजाः सूक्ष्मरोमवत्यो भवन्ति तत्पक्ष्मनिष्पन्नान्याजकानि भवन्ति । आचा० २ श्रु० १ चू० ५ अ० १ उ० ।

आयचरित्त-आयचरित्र-त्रि० । " आयचरित्तो " ॥ ३६ + ॥ आयभूतं निरतिचारतया चारित्रं यस्य स आयचरित्रः । दृढचारित्रे, संथा० ३६ गाथाटी० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्तचरित्र–त्रि० । गृहीतचारित्रे, "आयचरित्तो करेइ, सामण्णं ॥ ३६× ॥" आयभूतं—निरतिचारतया चारित्रं यस्य स आयचरित्रो दृढचारित्रत्वात् प्राकृतत्वात्-आत्त-चारित्रो-गृहीतचारित्रः करोति-पालयति श्रामण्यं-श्रमण-भावम् । संथा० ।

आयज्झ-टुवेपृ-धा० कम्पने, भ्वा० । आत्म० । सक० । सेट् । वेपते । अवेपिष्ट । ऋदित् । चङि न ह्रस्वः । टित् । वेपथुः । ष्वीत्व० । "वेपेरायम्बाऽऽयज्झौ" ॥८।४।१४७॥ इति हैमप्राकृतसूत्रेण वेपेः आयम्ब आयज्झ इत्यादेशौ वा । आयम्बइ । आयज्झइ । वेवइ । प्रा० ।

आयट्ठ–आयतार्थ–पुं० । आयतः-अपर्यवसानान्मोक्ष एव, स चासावर्थश्चायतार्थः । मोक्षरूपेऽर्थे, । आयतो-मोक्षः अर्थः-प्रयोजनं यस्य दर्शनादित्रयस्य तत्तथा । दर्शनादित्रये च । आचा० १ श्रु० १ अ० २ उ० ७१ सूत्रटी० ।

आत्मार्थ–पुं० । 'आयट्ठं' (सूत्र-७१×) आत्मनोऽर्थः आत्मार्थः, स च ज्ञानदर्शनचारित्रात्मकः, अन्यस्त्वनर्थ एव, अथवा-आत्मने हितं-प्रयोजनमात्मार्थं, तच्च चारित्रानुष्ठानमेव चारित्रानुष्ठाने, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

आयण्ण–आकर्णन–न० । श्रवणे, "तत्थाऽऽयण्णणजाणणगिण्हणसंसेवणेसु उज्जुत्ता" । तत्राऽऽकर्णनं-विनयबहुमानाभ्यां मतस्य श्रवणमिति । ध० २ अधि० २२ श्लोक ।

आयत–आयत–आ यम क्त । दीर्घे, औ० १० सूत्रटी० । आ० म० । अनु० । उत्त० । स्था० । आयामवति, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार १२ सूत्रटी० । "गिरिवरे वा निसहोऽऽयताणं, रुयए व सेट्ठे वलयाऽऽयताणं" ॥ १५+ ॥ यथा निषधो गिरिवरो गिरीणामायतानां मध्ये जम्बूद्वीपेऽन्येषु वा द्वीपेषु दैर्घ्येण श्रेष्ठः—प्रधानः तथा वलयाऽऽयतानां मध्ये रुचकः पर्वतोऽन्येभ्यो वलयायतत्वेन । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । सापर्यवसितत्वेन दीर्घत्वात् आयतः—मोक्षः । मोक्षे, पं० सू० ४ सूत्रटी० । पं० व० । आयतो-मोक्षोऽपर्यवसितावस्थानत्वात् । सूत्र० १ श्रु० ८ अ० १८ गाथाटी० । आयतोऽपर्यवसानान्मोक्ष एव । आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० ७१ सूत्रटी० । आयतो-दीर्घसर्वकालभवनान्मोक्षः । सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० १५ गाथाटी० । आत्मनि, सूत्र० । "सव्वे पाणा पियाऽऽयया" (सूत्र-८०×) । आयतः-आत्मनोऽनाद्यनन्तत्वात् स प्रियो येषां ते तथा सर्वेऽपि प्राणिनः प्रियात्मानः । आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । आङ् अभिविधौ, सामस्त्येन यतः-आयतः । आचा० १ श्रु० ८ अ० ८ उ० १६ गाथाटी० । संयते, "आयतजोगताए सेवित्था" ॥ ६ ॥ आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० । आकृष्टे, यत्नवति च । भ० । "आययकण्णाययं उसुं आयामेत्ता" (सूत्र-६८×) । कर्णं यावदायतः-आकृष्टः कर्णाऽऽयतः आयतं—प्रयत्नवद् यथा भवतीत्येवं कर्णायतः । भ० १ श० ८ उ० । संस्थानभेदे च । स्था० १ ठा० । उत्त० । (तद्वक्तव्यता 'आयतसंठाण' शब्देऽस्मिन्नेव भागेऽनुपदमेव वक्ष्यते)

आयत (य) कण्णायय–आयतकर्णायत–त्रि० । कर्णं यावदायतः-आकृष्टः कर्णायतः, आयतः आयतम्(वा)· प्रयत्नवद् यथा भवतीत्येवं कर्णायतः । आयतकर्णायतः । प्रयत्नेन कर्णपर्यन्तमाकृष्टे, "आययकण्णाययं उसुं आयामेत्ता चिट्ठइ" (सूत्र-६८+) । भ० १ श० ८ उ० । सामान्येन कर्णपर्यन्तमाकृष्टे च । "आययकण्णाययं उसुं करेइ" (सूत्र-३०३×) । आयतः-आकृष्टः सामान्येन स एव कर्णायतः आकर्णमाकृष्टः आयतकर्णायतस्तम् । भ० ७ श० ६ उ० ।

आयत (य) चक्खु–आयतचक्षुष्–त्रि० । आयतं—दीर्घमैहिकामुष्मिकाऽपायदर्शि चक्षुः-ज्ञानं यस्य स आयतचक्षुः । ऐहिकामुष्मिकाऽपायदर्शिज्ञानोपेते, आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० ९३ सूत्रटी० ।

आयतचरित्त–आयतचरित्र–न० । आयतं—चरित्रं सम्यक् चरित्रं मोक्षमार्गप्रसाधकम् । मोक्षमार्गप्रसाधके चारित्रे, सूत्र० । "आदाणीयम्मि आयतचारित्तं" ॥२८×॥ सूत्र० १ श्रु० १ अ० ।

आयत(य)जोग–आयतयोग–पुं० । आयतः-संयतो योगो-मनोवाक्कायलक्षणः, आयतश्चासौ योगश्चायतयोगः । ज्ञानचतुष्टयेन सम्यग् योगप्रणिधाने, आचा० । "आयतजोगताए सेवित्था" ॥ ६× ॥ आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० । "सयमेव अभिसमागम्म आययजोगमायसोहिए" ॥ १६ + ॥ आयतयोगम्—सुप्रणिहितं मनोवाक्कायात्मकं विधाय । आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० ।

आयतट्ठ–आयतार्थ–पुं० । आयतः-अपर्यवसानान्मोक्ष एव स चासावर्थश्चायतार्थः । मोक्षरूपेऽर्थे, आयतः-मोक्षः अर्थः-प्रयोजनं यस्य दर्शनादित्रयस्य तत्तथा । दर्शनादित्रये, "आयतट्ठं सम्मं समणुवासेज्जा" (सूत्र-७१ +) । आयतः-अपर्यवसानान्मोक्ष एव, स चासावर्थश्चायतार्थोऽतस्तं, यदि वा-आयतो-मोक्षः-अर्थः-प्रयोजनं यस्य दर्शनादित्रयस्य तत्तथा । आचा० १ श्रु० २ अ० २ उ० । "आयतट्ठं सुआदाय, एवं वीरस्स वीरियं" ॥ १८ × ॥ आयतः-मोक्षः अपर्यवसितावस्थानत्वान्मोक्षः स चासावर्थश्च तदर्थो वा तत्प्रयोजनो वा सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रमार्गः स आयतार्थस्तं सुष्ठु आदाय-गृहीत्वा यो धृतिबलेन कामक्रोधादिविजयाय च पराक्रमते एतद्वीरस्य वीर्यमिति । सूत्र० १ श्रु० ८ अ० १८ गाथाटी० ।

आयतट्ठि (न्)–आयतार्थिन्–पुं० । मोक्षार्थिनि, दश० ५ अ० २ उ० १५ गाथाटी० ।

आयतट्ठित (य)–आयतार्थिक–पुं० । आयतो-दीर्घः सर्वकालभवनान्मोक्षस्तेनार्थिकस्तदभिलाषी । मोक्षाभिलाषिणि, सूत्र० । "आयपरे परमायतट्ठिए" ॥ १५ ॥ सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

आयतण–आयतन–न० । आयतन्तेऽत्र यत् आधारे ल्युट् । गृहे, "सव्वओसहाऽऽययणं" (सूत्र-१७ +) । आयतनं-गृहम् । तं० । "आयतणे ठ्ठाणठवणा य" ॥ १६ ॥ आयतनं-भवने । पञ्चा० ८ विव० । गुणाऽऽश्रये, प्रश्न० १ संव० द्वार २३ सूत्रटी० । "इणेयं विमोहाऽऽयतणं" (सूत्र-२१५×) । विगतमोहानामायतनम्-आश्रयः । आचा०

१ श्रु० ८ अ० ४ उ० । स्थाने, संथा० । आचा० । नि० चू० । " वत्थुणाऽऽयतणाणि " (सूत्र-११५ ×) । वस्तूनां चौराणामायतनानि-स्थानानि । आचा० २ श्रु० १ चू० ३ अ० १ उ० । " एयाइं आयतणाइं " एतानि स्थानानि आयतनानि—उपभोगास्पदभूतानि वर्तन्ते । आचा० । देवादिवन्दनस्थाने, वाच० । प्रश्न० १ आश्र० द्वार । " नयरस्स पुव्वेण उक्खस्स आययणं कयं " आ० म० । " भगवतो निव्वाणं गयस्स आययणं काराविय भरहो अवज्जमागओ कालेण य अप्पसोगो जाओ " आ० म० १ अ० ४३६ गाथाटी० । देवकुलपार्श्वापवरके च । " आयतणाणि वा " (सूत्र-१ ×) । आयतनानि-देवकुलपार्श्वापवरकाः । दशा० १ श्रु० १० अ० । आचा० । धार्मिकजनमीलनस्थाने, ध० र० । भावश्रावकस्य शीलवत्स्वरूपं द्वितीयलक्षणं व्याख्यानयन्नाह—" आययणं खु निसेवइ " ॥३७+॥ आयतनं-धार्मिकजनमीलनस्थानम्, उक्तं च । (ओघनि०) । "जत्थ साहम्मिया बहवे, सीलवंता बहुस्सुया । चरित्ताऽऽयारसंपण्णा, आयतणं तं वियाणाहि" ॥७८३॥ खुरवधारणे, प्रतिपक्षप्रतिषेधार्थः-तदायतनमेव निषेवते भावश्रावको, न अनायतनमिति योगः । ध० र० २ अधि० २ लक्ष० । दर्श० । कर्मोपादानस्थाने, आचा० । " इच्चेयाइं आयतणाइं " (सूत्र-६१ ×) । इत्येतानि-पूर्वोक्तान्यायतनानि कर्मोपादानस्थानानि । आचा० १ श्रु० १ चू० १ अ० ११ उ० । " कम्मायतणेहिं " (सूत्र-१५ +) । कर्मणां ज्ञानावरणादीनाम् आयतनानि—आदानानि वा; बन्धहेतव इत्यर्थः । अन्त० १ श्रु० ६ वर्ग १५ अ० । विश्रामस्थाने यज्ञस्थाने च । वाच० । आङभिविधौ समस्तपापारम्भेभ्य आत्मा आयम्यते-आनियम्यते तस्मिन् कुशलानुष्ठाने वा यत्नात् क्रियते इत्यायतनम् । ज्ञानादित्रये, आचा० । " इक्कायतणरयस्स इह विप्पमुक्कस्स णऽत्थि मग्गे विरतस्स " (सूत्र-१४८+) । आचा० १ श्रु० ५ अ० २ उ० । आयतनं-द्विधा-द्रव्यतो, भावतश्च । तत्र द्रव्यतो-जिनगृहादि, भावतस्तु-ज्ञानदर्शनचारित्रधराः साध्वादयः । प्रव० १४८ द्वार ९४९ गाथाटी० । ओघ० ।

इदानीमायतनप्रतिपादनायाह—

आययणं पि य दुविहं, दव्वे भावे य होइ नायव्वं ।
दव्वम्मि जिणघराई, भावम्मि होइ तिविहं तु ॥७८२॥

आयतनमपि द्विविधम्—द्रव्यविषये, भावविषये च ज्ञातव्यम् । तत्र द्रव्ये-जिनगृहादि, भावे च भवति त्रिविधम्-ज्ञानदर्शनचारित्ररूपमायतनमिति ।

जत्थ साहम्मिया बहवे, सीलवन्ता बहुस्सुया ।
चरित्ताऽऽयारसंपन्ना, आययणं तं वियाणाहि ॥ ७८३ ॥

' जत्थे ' त्यादि, सुगमा ।

सुंदरजणसंसग्गी, सीलदरिद्दं पि कुणइ सीलड्ढं ।
जह मेरुगिरीजायं, तणं पि कणगत्तणमुवेइ ॥ ७८४ ॥

सुगमा । उक्तमायतनद्वारम् । ओघ० । आविष्करणे, निर्णये च । सूत्र० । " पसिणाऽऽयतणाणि " ॥१९+॥ प्रश्नस्यादर्शप्रश्नादेः आयतनम्—आविष्करणं; कथनं यथा विवक्षितप्रश्ननिर्णयनानि । यदि वा-प्रश्नायतनानि-लौकिकानां परस्परव्यवहारे मिथ्याशास्त्रगतसंशये वा प्रश्ने सति यथाऽवस्थितार्थकथनद्वारेणाऽऽयतनानि-निर्णयनानीति । सूत्र० १ श्रु० ९ अ० ।

आयतणसेवा-आयतनसेवा-स्त्री० । आयतनसेवाशब्दः प्रथमे शीलभेदे, दर्श० । शीलत्वभेदानधिकृत्य—नित्यमायतनसेवा, अनायतनपरिहारः । तत्र आयतनं-पञ्चविधाऽऽचाराऽऽचरणप्रवणाः सुसाधवः । दर्श० ३ तत्त्व २५ गाथाटी० ।

(आयतन) प्रतिसेवनाद्वारव्याचिख्यासया संबन्धं प्रतिपादयन्नाह—

एवं खलु आययणं, निसेवमाणस्स हुज्ज साहुस्स ।
कंटगपहेव छलणा, रागद्दोसे समासज्ज ॥ ७८५ ॥

एवम्-उक्तेन न्यायेन आयतनं सेवमानस्याऽपि साधोः भवेत् कण्टकपथ इव छलना, किमासाद्य ?, अत आह-रागद्वेषौ समाश्रित्य, सा च रागद्वेषेण सेवना द्विविधा भवति ।

एतदेवाह—

पडिसेवणाऽवि दुविहा, मूलगुणे चेव उत्तरगुणे य ।
मूलगुणे छट्ठाणा, उत्तरगुणे हुंति तिगमाई ॥ ७८६ ॥

ओघ० । ध० र० ।

आयत (य) तर-आयततर-त्रि० । " आयत(त)रे सिया " ॥ १९ × ॥ आङभिविधौ सामस्त्येन यत् आयतः अयमनयोरतिशयेनायत आयततरः । यत्नेनाध्यवसिते, आचा० १ श्रु० ८ अ० ८ उ० ।

आयतसंठाण-आयतसंस्थान-न० । संस्थानभेदे, आयतम्-दीर्घं यथा दण्डस्येति । उत्त० १ अ० ३८ गाथाटी० । (आयतसंस्थाने कतिसंयोगाः इति ' संजोग ' शब्दे उत्त० ॥ ४० ॥ ४१ ॥ गाथाभ्यां सप्तमभागे वक्ष्यते)

तथा च—

एगो पिहुले (सूत्र-४७ ×) ।

पृथुलं-विस्तीर्णम्, अन्यत्र, पुनः-इह स्थाने आयतमभिधीयते, तदेव चेह दीर्घह्रस्वपृथुलशब्दैर्विभज्योक्तम् आयतधर्मत्वादेषां, तथाऽऽयतं प्रतरघनश्रेणिभेदात् त्रिधा, पुनरेकैकं सम-विषम-प्रदेशमिति षोढा, यच्चायतभेदयोरपि ह्रस्वदीर्घयोरादावभिधानं तद्वृत्तादिषु संस्थानेष्वायतस्य प्रायो वृत्तिदर्शनार्थम् । तथा हि-दीर्घायतः स्तम्भो वृत्तस्त्र्यस्रश्चतुरस्रश्चेत्यादि भावनीयम् । विचित्रत्वाद्वा सूत्रगतेरेवमुपन्यासः इति । स्था० १ ठा० । प्रज्ञा० । (भेदादिवक्तव्यता ' संठाण ' शब्दे सप्तमे भागे वक्ष्यते)

आयतसंठाणपरिणय-आयतसंस्थानपरिणत-त्रि० । आयतसंस्थानभाजि, प्रज्ञा० । " आयतसंठाणपरिणया " (सूत्र-४ +) । आयतसंस्थानपरिणता दण्डादिवत् । प्रज्ञा० १ पद ।

आयतित्त-आत्मतृप्त-त्रि० । आत्मस्वरूपतुष्टे, अष्ट० । " आत्मतृप्तो मुनिर्भवेत् " ॥ ६ × ॥ आत्मतृप्तः-आत्मस्वरूपेऽनन्तगुणात्मके तृप्तः-तुष्टो भवेत् । अष्ट० १३ अष्ट० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आयत्त-आयत्त-त्रि० । आ यत क्त । अधीने, वशीभूते, वाच० । आयत्तो-वशवर्त्ती तदुक्तानुयायीति । दर्श० ४ तत्त्व ८० गाथाटी० । कृतप्रयत्ने च । वाच० ।

आयस्त-त्रि० । आ-यस्-क्त । क्षिप्ते, " आयस्तसिंहाकृतिरुत्पपात " किरा० । क्लेशिते, प्रतिहते, तीक्ष्णीकृते, आयासयुक्ते च । वाच० ।

आयपइट्ठिय-आत्मप्रतिष्ठित-त्रि० । स्वरूपप्रतिष्ठिते, " आयपइट्ठिया " (सूत्र-१८६ ×) । स्था० ३ ठा० ३ उ० । क्रोधभेदे, स्था० २ ठा० ४ उ० १०० सूत्रटी० । (व्याख्या 'कोह' शब्दे तृतीयभागे करिष्यते)

आयपण्ण-आगतप्रज्ञ-त्रि० । आगता-उत्पन्ना प्रज्ञा यस्यासावागतप्रज्ञः । संजातकर्त्तव्याऽकर्त्तव्यविवेके, सूत्र० । "समितीसु गुत्तीसु य आयपण्णे" ॥५+॥ सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

आयमग्ग-आयतमार्ग-पुं० । मोक्षमार्गे, आयतो-मोक्षोऽव्यवच्छेदात्तस्य मार्गो-ज्ञानादिः । पञ्चा० ११ विव० ४२ गाथाटी० ।

आयमण-आचमन-न० । आ चम् । भावे ल्युट् । निर्लेपने, " आयमणत्थं वाऽवि वोसिरइ " ॥२६४×॥ आचमनम्-निर्लेपनम् । वृ० १ उ० ३ प्रक० । आयमणं-णिल्लेवणं । नि० चू० ४ उ० ३०७ गाथाचूर्णिः । पुरीषोत्सर्गानन्तरं शौचकरणे च । ' आयमणभासधुवणं ' ॥ २३ × ॥ पिं० । " तिहिं आयमणं अदूरम्मि " । ओघ० ३१७ गाथा । ध० ३ अधि० ४ श्लोक । (उच्चारप्रस्रवणे कृत्वा यो न परिष्ठापयति तस्य प्रायश्चित्तं 'थंडिल' शब्दे चतुर्थभागे २३८१ पृष्ठे वक्ष्यते)

आयममाण-आचमत्-त्रि० । आचमनं कुर्वति, स्था० ५ ठा० २ उ० ४१४ सूत्र ।

आयमिणी-आयमिनी-स्त्री० । विद्याभेदे,सूत्र० । "आयमिणी एवमाइआओ विज्जाओ अन्नस्स हेउं पउंजंति " (सूत्र-३० +) । सूत्र० २ श्रु० २ उ० ।

आयम्ब--टुवेपृ-धा० । कम्पने, " वेपेरायम्बाऽऽयज्झौ " ॥ ८।४।१४७ ॥ इति हैमप्राकृतसूत्रेण वेपेरायम्बाऽऽदेशः । आयम्बइ । आयज्झइ । वेवइ । प्रा० ।

आयरंत--आचरत्--त्रि० । अङ्गीकुर्वति, उत्त० । " तमायरंतो ववहारं " ॥४२+॥ उत्त० १ अ० । कुर्वति, उत्त० पाई० १ अ० ४२ गाथाटी० । विदधति च । उत्त० । "नायरेज्ज कयाइ वि" ॥१॥ नाचरेत्-नाभिदध्यात् (उत्त०१अ०) न समाचरेत्-न विदध्यादिति संबन्धः । सूत्र० २ श्रु० ५ अ० ।

आयरक्ख-आत्मरक्ष-पुं० । आत्मरक्षके, स्था० ।

सूत्रम्—

तओ आयरक्खा पन्नत्ता । तं जहा-धम्मियाए पडिचोयणाए पडिचोएत्ता भवइ, तुसिणीतो वा सिया, उट्ठित्तु वा आयाए एगंतमन्तमवक्कमेज्जा । (सूत्र-१७२×)

'तओ आय' इत्यादि, सुगमा, नवरम् आत्मानं रागद्वेषादिकृत्याद्भवकूपाद्वा रक्षन्तीत्यात्मरक्षाः । 'धम्मियाए पडिचोयणाए' त्ति-धार्मिकोपदेशेन-नेदम् भवादृशां विधातुमुचितमित्यादिना प्रेरयिता-उपदेष्टा भवति, अनुकूलेतरोपसर्गकारिणः, ततोऽसावुपसर्गकरणान्निवर्त्तते ततोऽकृत्या सेवा न भवतीत्यत आत्मा रक्षितो भवतीति १, तूष्णीको वा वाचंयमः; उपेक्षक इत्यर्थः २, 'स्यादिति' प्रेरणाया अविषये उपेक्षणासामर्थ्ये च ततः स्थानादुत्थाय, 'आय' त्ति-आत्मना एकान्तं-विजनम् 'अंतं' भूमिभागमवक्रामेत्-गच्छेत् । स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

आयरक्खिय-आत्मरक्षित-त्रि० । आत्मा रक्षितो दुर्गतिहेतोरपध्यानादेरनेनेति आत्मरक्षितः । " आहिताग्न्यादिषु " ॥ ३ । १ । १५३ ॥ दर्शनात् क्तान्तस्य परनिपातः । दुर्गतिहेतोरात्मध्यानादेरात्मनो रक्षके, उत्त० पाई० २ अ० १५ गाथाटी० ।

आयरक्षित-त्रि० । आयो वा ज्ञानादिलाभो रक्षितोऽनेनेत्यायरक्षितः । ज्ञानादिलाभस्य रक्षके, उत्त० । " विरओ आयरक्खिए " ॥ १५ × ॥ उत्त०पाई० २ अ० ।

आयरण-आचरण-न० । अनुष्ठाने,स्था० । आचरणमाचारः । स्था० ८ ठा० । विधाने, सूत्र० ।

अस्सिं धम्मे अणायारं, नाऽऽयरेज्ज कयाइ वि ॥ १ ॥

अस्मिन्धर्मे-सर्वज्ञप्रणीते व्यवस्थितः सन्ननाचारम्-सावद्यानुष्ठानरूपं न समाचरेत्-न विदध्यात् । सूत्र० २ श्रु० ५ अ० । केनचित्प्रकारेण परिणमने, दश० । " दव्वाऽऽयारं वियाणाहि " ॥ १८० ॥ आचरणम्-आचारो द्रव्यस्याचारो द्रव्याचारः । द्रव्यस्य यदाचरणम् ; तेन तेन प्रकारेण परिणमनमित्यर्थः । दश० ३ अ० । परप्रतारणाय विविधक्रियाणामाचरणरूपे मायाविशेषे च । भ० १२ श० ५ उ० ४४६ सूत्रटी० । आचरत्यनेन करणे ल्युट् । रथे, शकटे च । त्रि० । वाच० ।

आदरण-न० । मायाविशेषात्कस्यापि वस्तुनोऽभ्युपगमे, भ० १२ श० ५ उ० ४४६ सूत्रटी० ।

आयरणकप्प--आचरणकल्प-पुं० । उत्सर्गाऽपवादयोः स्वस्थाने सेवनाकर्तव्यतायाम् . नि० चू० ।

इदाणीं इमो आयरणकप्पो "जे भणित्ता गाहा"—

जे भणिता उ पकप्पे, पुव्वाऽवरवाहता भवे सुत्ता ।
सो तह समायरंतो, सव्वो आयरणकप्पो उ ॥ ३८६ ॥

जे पकप्पे एगूणवीसतिउद्देसगेहिं पुव्वावरवाहया सुत्ता अत्था वा भणिता तहेव समायरंतस्स आयरणकप्पो भवति । एत्थ पुव्वो उस्सग्गो, अवरोऽववादो । एते परोप्परवाहता एतेसिं सट्ठाणे सेवणा कर्तव्येत्यर्थः ।

गाहा—

उस्सग्गे अववायं, आयरमाणो विराहओ होति ।
अववाए पुण पत्ते,उस्सग्गनिसेवओ भइओ॥२०७॥ दारं

कया भयणाए कहं उच्यते । जो धितिसंघयणसंपन्नो सो अववादट्ठाणे पत्ते वि उसग्गं करेंतो सुद्धो जो पुण धितिसंघयणहीणो अववादट्ठाणे उस्सग्गं करेति सो विराहणं पावति । एसा भयणा । गतो आयरणकप्पो । नि० चू० २० उ० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आयरणया-आद(च)रणता-स्त्री०। यतो मायाविशेषादादरण-म्-अभ्युपगमं कस्यापि वस्तुनः करोत्यसावादरणम् , तत्प्र-त्ययस्य च स्वार्थिकत्वादादरणता । मायाविशेषे, आचरण-ताऽप्यत्रैव । भ० १२ श० ५ उ० ४४६ सूत्रटी० ।

आयरिय-आचारिक-पुं० । स्वकीयमतोक्तवानुष्ठानसमूहे , उत्त० ।

इह मेगे इइ (उ) मन्नंति, अपच्चक्खाय पावगं ।

आयरियं विदित्ताणं, सव्वदुक्खा विमुच्चइ ॥ ६ ॥

इह-अस्मिन्संसारे एके-केचित्कापिलिकादयो ज्ञानवादिनः इति मन्यन्ते, इतीति किम् ? पापकम्-हिंसादिकम् अप्रत्या-ख्याय पापम्-अनालोच्याऽपि मनुष्य आचारिकं-स्वकी-यमतोक्तवानुष्ठानसमूहं विदित्वा-ज्ञात्वा सर्वदुःखात् वि-मुच्यते, एतावता "तत्त्वज्ञानान्मोक्षावाप्तिः" इति वदन्ति । जैनानां तु ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः, ज्ञानवादिनां तु ज्ञानमेव मुक्त्यङ्गम् । उत्त० ६ अ० । (एतन्मतनिराकरणं ' मोक्ख ' शब्दे षष्ठे भागे करिष्यते)

आचरित-न० । आ-चर-भावे क्तः । आचरणे, उत्त० । आ-चरणमाचरितम् । तत्तत्क्रियाकलापः । उत्त०६ अ० ६ गा-थाटी० । आसेवने, औ० ४० सूत्रटी० । "अवज्झाणायरिअं" (सूत्र-६+) । आचरितः-आसेवितः । उपा० १ श्रु० १ अ० । "जं किंचि वितहमायरियं" ॥६८२४॥ यत्किञ्चिद्वितथम्-अन्यथा आचरितम्-आसेवितं भूतमिति वाक्यशेषः । आ० म० १ अ० । अनुष्ठानमापन्ने "जं किंचि वितहमायरियं" ॥१०४॥ वितथम्—अन्यथाभूतं, संयमानुत्कर्षमित्यर्थः, आ-चरितम्-अनुष्ठानमापन्नमिति शेषः । पञ्चा० १२ विव० ।

धम्मज्जियं च ववहारं, बुद्धेहाऽऽयरियं सया ।

तमायरंतो ववहारं, गरहं नाऽभिगच्छइ ॥ ४२

धर्मेण-क्षान्त्यादिरूपेणार्जितम्-उपार्जितं धर्म्मार्जितं, न हि क्षान्त्यादिधर्मविरहित इमं प्राप्नोतीति , चः पूरणे, त्रिविधं विधिवद्वा व्यवहरणमनेकार्थत्वात् आचरणं व्यव-हारः 'तम्' इति-कर्तव्यतारूपं बुद्धैः—अवगततत्त्वैराचरितं सदा-सर्वकालं, तमिति सदावस्थिततया प्रतीतमेव आ-चरन्-व्यवहरन् , यद्वा-यत्तदोर्नित्याभिसंबन्धात्सुपव्यत्य-याच्च धर्मार्जितो बुद्धैराचरितश्च यो व्यवहारस्तमाचरन्-कुर्वन् , विशेषेणापहरति पापकर्मेति व्यवहारस्तम् , व्य-वहारविशेषणमेतत् , एवं च किमित्याह-गर्हामविनीतोऽ-यमित्येवंविधां निन्दां नाऽभिगच्छति-न प्राप्नोति यतिरिति गम्यते । उत्त० १ अ० । आचर्य्यते स्म वृद्धपुरुषैरप्याच-रितम् । व्यवहारे, व्यवहारैकार्थिकान्यधिकृत्य (आह भाष्य-कारः)-" आयरिए चेव ववहारे " ॥७+॥ व्य० १ उ० ।

आचर्य-त्रि०। आचर्य्यतेऽत्र । आ-चर-आधारे यत् । अ-नुष्ठानयोग्ये देशे, वाच० ।

आचार्य-पुं० । आचर्य्यते असावाचार्य्यः सूत्रार्थावगमार्थं मुमुक्षुभिरासेव्यते इत्यर्थः । आव० ४ अ० ४७ गाथाटी० । ध० । दशा० । ' आयरियाणं ' (सूत्र-१ ४) । आ-म-र्य्यादया तद्विषयविनयरूपया चर्य्यन्ते-सेव्यन्ते जिनशा-सनार्थोपदेशकतया तदाकाङ्क्षिभिरित्याचार्य्याः । उक्तं च—

" सुत्तत्थविऊ लक्खण-जुत्तो गच्छस्स मेढिभूओ य ।

गणतत्तिविप्पमुक्को, अत्थं वाएइ आयरिओ " ॥ १ ॥ इति ।

अथवा-आचारो-ज्ञानाचारादिः पञ्चधा, आ-मर्य्यादया वाऽऽचारो-विहारः आचारस्तत्र साधवः स्वयंकरणात्प्र-भाषणात्प्रदर्शनाच्चेत्याचार्य्याः । आह च-" पंचविहं आ-यारं, आयरमाणा तहा पभासंता । आयारं दंसंता, आय-रिया तेण वुच्चंति ॥६६४॥ " (आव० नि०) । अथवा-आ-ईषद् ; अपरिपूर्णा इत्यर्थः, चाराः-हेरिका ये ते आचाराः चारकल्पा इत्यर्थः, युक्ताऽयुक्तविभागनिरूपणनिपुणा विनेया अतस्तेषु साधवो यथावच्छास्त्रार्थोपदेशकतयेत्याचार्य्याः । भ० १ श० १ उ० । दशा० । ' चर ' गतिभक्षणयोः, आङ्-पूर्वः । आचर्य्यते कार्य्यार्थिभिः सेव्यते इत्याचार्य्यः । " ऋवर्णव्यञ्जनात् घ्यण् " ॥ ५ । १ । १७ ॥ इति घ्यण् । आ० म० १ अ० ६६३ गाथा । आङ् मर्य्यादाभिविध्योः, चरिर्गत्यर्थः; मर्य्यादया चरन्तीत्याचार्य्याः । आचारेण वा चरन्तीत्याचार्य्याः । आ० चू० १ अ० ६६३ गाथाचूर्णिः ।

अट्ठारससीलंगसहस्साहिट्ठियं तणू छत्तीसइविहमा-यारं जहट्ठियं मे गिलाए महंसि साणुममयं आयरंति त्ति-चत्तयंति त्ति आयरिया । परमप्पणो य हियमायरंति आयरिया । सव्वसत्तसीसगणाणं च हियमायरंति आ-यरिया । पाणपरिच्चाए वि उ पुढवादीणं समारंभं नाऽऽयरंति, नारभंति, णाणुजाणंति, आयरिया । सु-हुमावरद्धेवि ण कस्सइ मणसाऽवि पावमायरंति त्ति वा आयरिया । महा० ३ अ० ।

" स्याद्भव्यचैत्यचौर्य्यसमेषु यात् " ॥ ८ । २ । १०७ ॥ इति हैमप्राकृतसूत्रेण चौर्य्यशब्देन समेषु शब्देषु सं-युक्तस्य यात्पूर्व्व इत् । प्रा० । " आचार्ये चोऽच्च ॥ ८ । १ । ७३ ॥ इति हैमप्राकृतसूत्रेणाचार्य्यशब्दे चस्याऽऽत इ-त्वमत्त्वं च । प्रा० । गुरौ, पं० व० १३ गाथाटी० । पञ्च-स्थविराणां मध्ये प्रथमे स्थविरे, ध० ३ अधि० ५४ श्लोक । आचार्य्याः-अर्थदातारः । बृ० १ उ० ३ प्रक० ६३६ गा-थाटी० । आचार्य्यस्सूत्रार्थदाता, दिगाचार्य्यो वा । कल्प० ३ अधि० ६ क्षण ४६ सूत्रटी० । आचार्य्यस्सूत्रार्थोभय-वेत्ता लक्षणादियुक्तश्च । आव० ३ अ० ११६५ गाथाटी० ।

विषयाः-

(१) निक्षेप आचार्य्यपदस्य ।
(२) भेदाः-कलाचार्य्यः १, शिल्पाचार्यः २, धर्म्माचार्य्य-श्चेति ३ । तेषां विनयः ।
(३) स्वरूपमाचार्य्यस्येह परत्र च ।
(४) प्रव्राजनाचार्य्या उपस्थापनाचार्य्याश्च ।
(५) स्वरूपमाचार्य्यस्य ' सुत्तत्थ ' इत्यादि ।
(६) लक्षणमाचार्य्यस्य ।
(७) गुणा आचार्य्यस्य यै रहितो गुरुर्न भवति ।
(८) गुणा आचार्य्यस्य ' अपरिस्रावी ' त्यादि ।

१-'आयरियं'ति-सूत्रत्वात् । उत्त०पाई०, ६ अ० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(९) अनाचारत्वं कुगुणस्सूरेः ।
(१०) पराऽहितकारित्वं कुगुरोः ।
(११) सूरेः स कुगुणो येन कुगुरुर्भवति ।
(१२) प्रमादिनमाचार्यं शिष्यो बोधयति ।
(१३) वैरी शिष्यस्य गुरुः ।
(१४) विनय आचार्यस्य ।
(१५) गुरुविनये वैद्यदृष्टान्तः ।
(१६) नमस्कार आचार्यस्य ।
(१७) वैयावृत्त्यं गुरोः ।
(१८) गच्छाधिपतिः केन कर्मविपाकेन भवति ।
(१९) अतिशया आचार्यस्य ।
(२०) निर्ग्रन्थीनामाचार्यः ।
(२१) आचार्ये कालगते आचार्यान्तरस्थापनम् ।
(२२) आचार्येऽवधाविते आचार्यान्तरस्थापनम् ।
(२३) लक्षणं "सुत्तत्थे णिम्माओ" इत्यादि ।
(२४) एकपाक्षिकादेर्दिगाचार्यः ।
(२५) लक्षणं मेढीभूतः ।
(२६) परीक्षा आचार्यस्य
(२७) उद्देशः मैथुनादिप्रतिसेव्याचार्यत्वेन ।
(२८) स्थापनाविधिराचार्यपदे गुरोः ।
(२९) परिच्छदसहितस्यैवाचार्यत्वम् ।
(३०) स्थापनायां स्थविराः प्रष्टव्याः ।

(१) निक्षेप आचार्यपदस्य—

आङ् मर्यादाऽभिविध्योः, चरिर्गत्यर्थः, मर्यादया चरन्तीत्याचार्याः । आचारेण वा चरन्तीत्याचार्याः । " ते चउव्विहा—णामट्ठवणाओ गताओ । द्रव्यभूतो वा द्रव्यनिमित्तं वा द्रव्यमेव वा दव्वं आयारवंतं भवति, अनायारवंतं च नाम तं प्रति, तिणिस सिलया परंडो य, धावणं प्रति, हारिद्दा रागो य वासणं प्रति, कवेल्लुगा वइरं व सिक्खवेणं प्रति, मदणसलागा भासादीपकरणं प्रति, सुवण्णे घंटा लोहं च अविरोधं प्रति, कीरं स. कराय विरोधं प्रति, तद्विपरीतोधिरार्च एवमादि एत्थ गाथा– "णामण-धावण-वासण-सिक्खावण सुवण्ण अविरोधीणि । दव्वाणि जाणि लोए, दव्वायारं वियाणाहि । अहवा-दव्वायरिओ तिविहो एगभविओ, बद्धाउओ, अभिमुहणामगोत्तो । एगभविओ वतिरित्ते जो एगेणं भवेणं उववज्जिहि त्ति । बद्धाउओ जेण आउयं बद्धं । अभिमुहणामगोत्तो जेण पदेसा उच्छूढो । अहवा-मूलगुणणिव्वत्तितो, उत्तरगुणणिव्वत्तितो य । सरीरं मूलगुणा, चिऊकम्मादि उत्तरगुणा । अहवा-जाणओ, भविओ, वतिरित्तो, मंगुवायगाणं समुद्दवायगाणं नागहत्थिवायगाणं जधासंखं आदेसो । आ० चू० १ अ० । " दव्वआयरिओ तथाऽभव्यो " ॥ १३ + ॥ द्रव्याचार्यः आचार्यत्वयोग्यताया अभावादप्रधानाऽऽचार्यः । पञ्चा० ६ विव० । भावायरिओ दुविहो-आगमतो, णोआगमतो य । तहेव । णोआगमतो दुविहो—लोइओ, लोउत्तरिओ य । लोइओ—सिप्पाणि सत्थकम्मादिसत्थाणि वइसेसियादि जो उपदिसति । उत्तरिओ—जो पंचविधं णाणादियं आयारं आयरति; पभासति य अण्णेसिं आयरियाणं आचरितव्वानि द-सेयति । एवं मन्तव्यं । एवमादि तेण ते भावायरिया तेसिं फलं तहेव । आ० चू० २ अ० ।

नामं ठवणा दविए, भावे चउव्विहो य आयरिओ ।
दव्वंमि एगभवियाइ, लोइए सिप्पसत्थाई ॥ ३०५ ॥

आचार्य इति कः शब्दार्थः, उच्यते-' चरगतिभक्षणयोः ' इत्यस्य (चरेः) आङ्‌ वा गुरा (पा० ३-१-१०० वार्त्तिकं) विति ण्यति आचार्य इति भवति, आचर्यतेऽसावित्याचार्यः, कार्यार्थिभिः सेव्यत इत्यर्थः । अयं च नामादिभेदाच्चतुर्विधः । आव० १ अ० । इह नामस्थापने सुगमे । विशे० ।

द्रव्यविचारं पुनराह—

आगमदव्वायरिओ, आयारवियाणओ अणुवउत्तो ।
नो आगमओ जाणय-भव्वसरीराइरित्तोऽयं ॥३१९१॥
भविओ बद्धाऊ, अभि-मुहो मूलाइनिम्मिओ वाऽवि ।
अहवा दव्वब्भूओ, दव्वनिमित्तायरणओ वा ॥३१९२॥

ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तस्त्वाचार्योऽयं कः इत्याह— ' भविओ ' इत्यादि, एकभविको, बद्धायुष्कः, अभिमुखनामगोत्रश्चेत्यर्थः, ' मूलाइनिम्मिओ वाऽवि ' त्ति-तथा मूलगुणनिर्मितः, उत्तरगुणनिर्मितश्च तद्व्यतिरिक्तो द्रव्याचार्यो मन्तव्यः । तत्र मूलगुणनिर्मित आचार्यशरीर निवर्त्तनयोग्यानि द्रव्याणि उत्तरगुणनिर्मितस्तु तान्येव तदाकारपरिणतानीति । अथवा—द्रव्यभूतोऽप्रधान आचार्यस्तद्व्यतिरिक्तो द्रव्याचार्यः प्रतिपाद्यते । यो वा द्रव्यनिमित्तेनाचरति चेष्टते स द्रव्यनिमित्ताचरणाद् द्रव्याचार्यः, स च लौकिको, लौकिकमार्गे शिल्पशास्त्रादिविषयः । यः शिल्पानि निमित्तादिशास्त्राणि च ग्राहयति स इहोपचारतः शिल्पशास्त्रादिरुक्तः । अन्ये त्विमं शिल्पशास्त्राचार्यं लौकिकं भावाचार्यं व्याचक्षते । शेषं सुगममिति । ' पंचविहमि ' त्यादिना लोकोत्तरो भावाऽऽचार्य उक्तः । तत्स्वरूपव्याख्यानार्थमाह—

आ मज्जायावयणो, चरणं चारो त्ति तीए आयारो ।
सो होइ नाणदंसण-चरित्ततवविरियविसयपो ॥३१९३॥
तस्सायरणपभासण-दंसणओ देसिया विमोक्खत्थं ।
जे ते भावाऽऽयरिया, भावायारोवउत्ता य ॥ ३१९४ ॥
अहवाऽऽयरंति जं सय-मायरेंति व जमायरिज्जंति ।
मज्जाययाऽभिगम्मं-ति जमुत्तं तेणमायरिया ॥३१९५॥

पाठसिद्धा एव, नवरं ' तीए ' त्ति-तया—मर्यादया चरणमाचारः । ' तस्से ' त्यादि, तस्य—पञ्चविधस्याचारस्य स्वयमाचरणतः परेषां च प्रभाषणतः तथा विनेयानां वस्तुप्रत्युपेक्षणादिक्रियाविधेर्दर्शनतो ये परात्मनो मोक्षार्थं ' देसिय ' त्ति-देशितारस्ते भावाचारोपयुक्तत्वाद्भावाचार्या इति । अथवा-स्वयं यस्मादाचरन्ति सदनुष्ठानम्, आचरयन्ति चान्यैः । अथवा-आचर्यन्ते-मर्यादया अभिगम्यन्ते यतो मुमुक्षुभिरिति यदुक्तमेतत्पर्यमित्यर्थः, तेनाऽऽचार्याः । विशे० ।

कस्याऽऽचार्यस्याऽऽज्ञा नाऽतिक्रमणीयेत्यधिकृत्य—

गोयमा ! चउव्विहा आयरिया भवंति, तं जहा–नामाऽऽयरिया १, ठवणायरिया२, दव्वायरिया ३, भावायरिया ४ । तत्थ णं जे ते भावायरिया ते तित्थयरसमा चेव दट्ठव्वा, तेसिं संतियाणं णाइक्कमेज्जा, से भयवं ! कयरे णं ते भावायरिया भवंति, गोयमा ! जे अज्जपव्वइए वि आगमविहीए एयं पए पए आणाणुसंचरंति ते भावायरिया । जओ णं वाससयदिक्खिए वि हुत्ताणं वायामेत्तेणं पि आगमओ बाहिं करेंति ते णामठवणाहिं णिओइयव्वे । से भयवं ! आयरियाणं केवइयं पायच्छित्तं भवेज्जा । जेसिं गच्छस्स साहू णो तं आयरियमयहरपविणिणीए य सत्तरसगुणं अहाणं सीलखलिए भवंति । तओ तिलक्खगुणं जं अइदुकरणासंजं सुकरं तम्हा सव्वहा सव्वपयारेहिं णं आयरियमयहरे पविणिणिए य अत्ताण पायच्छित्तस्स संरक्खेयव्वं अखलिअसीलेहिं च भवियव्वं । महा० ५ अ० ।

(२) आचार्यस्य भेदाः—

तओ आयरिया पण्णत्ता । सिप्पायरिया१, कलायरिया२, धम्मायरिया ३ । जे ते धम्मायरिया, परलोगहियट्ठाए, निज्जरट्ठाए, आराहेयव्वा । अएणे कलायरिया, सिप्पायरियाए, कइएहिं, कित्तवुड्ढिए, आराहियव्वे । तत्थेगे धम्मायरिया, सोवायकरंडसमा । वद्धाइकथत्थप्पयगाहाईहिं जे सुद्धसभाए वक्खाणिंति ते सोवागकरंडसमा । वेसाकरंडसमा-जो रीरी आहारणसरिसजीहावक्खाणडंबरेणं अंतरं सुअसारविरहियाऽवि सुद्धसभाए जणं विमोहिंति णेरविंति अप्पाणं थुतंसि आलुच अत्थेणं पाडिंति गोयमगणहराणं उवमाए ते वेसाकरंडसमा । गाहावइकरंडसमा-जे समं समुवसियसुगुरूहिंतो संपत्तं अंगोवंगाइं सुत्तत्थेसु परिच्छियच्छेयगंथा ससमय-परसमयणिच्छया परोवयारकरणिक्कमल्लिच्छया । जणजोगविहीए अणुओगं करिंति ते गाहावइकरंडसमा । रायकरंडसमा-जे गणहरा चउदसपुव्विणो वा घडाओ घडसयं, पडाओ पडसयं, इच्चाइं विहाइं सयसंमाणिया ते रायकरंडसमा । गाहावइकरंडसमाणे, रायकरंडसमाणे, दोवि आयरिए तित्थयरसमाणे । अंग०।

(आचार्यस्य यथोचितसत्कारः)—

केसीकुमारसमणे पदेसिं रायं एवं वयासी-जाणासि णं तुम्हं पएसी केवइयाऽऽयरिया पण्णत्ता ?, हंता ! जाणामि, तओ आयरिया पण्णत्ता । तं जहा कलायरिए १, सिप्पायरिए २, धम्मायरिए ३ । जाणासि णं तुम्हं पएसी तेसिं तिण्हं आयरियाणं कस्स का विणयपडिवत्ती पउंजियव्वा ?,हंता जाणामि-कलायरियस्स, सिप्पायरिअस्स उवलेवणं वा संमज्जणं वा करेज्जा,पुप्फाणि वा आणावेज्जा, मंडवेज्जा वा, भोयवेज्जा वा, विउलं जीवियारिहं पीइदाणं दलएज्जा, पुत्ताणं पुत्तियं वावि विकप्पेज्जा ॥ जत्थेव धम्माऽऽयरियं पासिज्जा तत्थेव वंदिज्जा णमंसेज्जा सक्कारेज्जा सम्माणेज्जा कल्लाणं मंगलं चेव पज्जुवासेज्जा फासुएसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं पडिलाभेज्जा पाडिहारिएणं पीठफलगसेज्जासंथारतेणं उवनिमंतिज्जा ।.सूत्र-+)। रा० ।

आचार्यस्त्रिविधस्तद्यथा—

सीहाऽणुगवसभ-कोट्ठुगाणुगे ॥ ४०० + ॥

सिंहाऽनुगो १. वृषभाऽनुगः २. क्रोष्टुकाऽनुगश्च ३ । क्रोष्टुकः-शृगालः । यत्र यो महत्यां निषद्यायां स्थितः सन् सूत्रमर्थं वा वाचयति तिष्ठति वा स सिंहानुगः । यः १ पुनरेकस्मिन् कल्पे स्थितस्सन् वाचयति तिष्ठति वा स वृषभानुगः २। यस्तु रजोहरणनिषद्यायामौपग्रहिकपादप्रोञ्छने वा स्थितो वाचयति तिष्ठति वा स क्रोष्टुकानुगः इति ४। व्य० १ उ० । नि० चू० २० उ० ३४३ गाथा । (कस्याचार्यस्य कः आचार्ये आलोचनां दद्यात् इत्यादिवहुवक्तव्यता 'आलोयणा' शब्देऽस्मिन्नेव भागेऽग्रे वक्ष्यते)

(३) स्वरूपमाचार्यस्येह परत्र च--

आयरिओ केरिसओ, इहलोए केरिसो व परलोए ।
इहलोए असारणिओ, परलोए फुडं भणंतो ॥ ३८१ ॥

य एष उपग्रहकृदाचार्यस्तमेव ज्ञातुमिच्छामि कीदृशः खल्वाचार्य्य इहलोके हितकारी, कीदृशः परलोके इति, सूरिराह-चतुर्विधस्सामान्येनाऽऽचार्यः, तद्यथा-इह लोके हितो नामैको, न परलोक हितः १ । परलोकहितो, नेह लोकहितः २ । इह लोके हितोऽपि; परलोके हितोऽपि ३ । न इह लोकहितो; नापि परलोकहितः ४ । तत्र प्रथमद्वितीयभङ्गव्याख्यानमाह-' इहलोए ' इत्यादि, तत्र यो वस्त्रपात्रभक्तपानादिकं समस्तमपि साधूनां पूरयति;न पुनः संयमे सीदतस्सारयति सः-असारणिकः; सारणारहित इह लोके हितो न परलोके, एषा प्रथमभङ्गभावना । यः पुनस्संयमयोगेषु प्रमाद्यतां सारणां करोति न च वस्त्रपात्रभक्तपानादिकं प्रयच्छति, स केवलं स्फुटं भणन् कुर्वाणः परलोके हितो, नेह लोके, इति सामर्थ्याद्गम्यते, एषा द्वितीयभङ्गभावना । तृतीयचतुर्थभङ्गभावना तु स्वयं भावनीया । सा चैवम्-यो वस्त्रपात्रभक्तपानादिकं समस्तमपि साधूनां पूरयति संयमयोगेषु च सीदतस्सारयति स इहलोके हितः परलोके च हितः चतुर्थं उभयरहितः । अत्र पर आह—ननु यो भद्रस्वभावतया न सारयति वस्त्रपात्रभक्तादिकं तु समस्तमापूरयति स एव समीचीनः, यः पुनः खरपुरुषं कुर्वाणः-चण्डरुद्राचार्य इव सारयति स न समीचीन, असमाध्युत्पादकत्वात् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत्राऽऽह—

जीहाएऽभिलिहंतो, न भद्दतो जत्थ सारणा नऽत्थि ।
दंडेणऽवि तार्डेतो, स भद्दतो सारणा जत्थ ॥ ३८२ ॥

यत्र नाम संयमयोगेषु सीदतां सारणा नाऽस्ति स आचार्यो जिह्वयाऽभिलिहन्-मधुरवचोभिरानन्दयन्, उपलक्षणमेतत्—वस्त्रपात्रादिकं च पूरयन् न भद्रको—न समीचीनः परलोकाऽपायेषु पातनात् । यत्र पुनस्सीदतां साधूनां सम्यक् सारणा-संयमयोगेषु प्रवर्तना समस्ति स आचार्यो दण्डेनापि ताडयन् भद्रकः-एकान्तसमीचीनः सकलसांसारिकाऽपायेभ्यः परित्राणकरणात् ।

अथ सारणमकुर्वाणो जिह्वया विलिहन् कस्मान्न समीचीन इत्यत्राऽऽह—

जह सरणमुवगयाणं, जीवियववरोवणं नरो कुणइ ।
एवं सारणियाणं, आयरितो असारओ गच्छे ॥ ३८३ ॥

यथा कोऽपि नर एकान्तेनाऽहितकारी शरणमुपागतानां जीवितव्यपरोपणं करोति एवं साधूनामपि शरणमुपागतानां संयमयोगेषु प्रमादव्यावर्तनेन प्रवर्तनीयानामाचार्योऽसारको गच्छे भावनीयः । सोऽपि शरणोपगतशिरोनिकर्तक इव एकान्तेनाऽहितकारीति भावः । शरणमुपगतानां संसारापारपारावारे निरनुकम्पं प्रक्षेपणात्, स च तादृश इह परलोकहितार्थिना परित्याज्यः । यस्तु खरपरुषभणनेनापि संयमयोगेषु सीदतः सारयति स संसारनिस्तारकत्वादेकान्तेनाऽऽश्रयणीयः । व्य० १ उ० । नि० चू० ।

(४) प्रव्राजनाचार्याः, उपस्थापनाचार्याश्च । सूत्रम्—

चत्तारि आयरिया पण्णत्ता, तं जहा-पव्वायणायरिए णामं एगे; नो उवट्ठावणा आयरिए १ । उवट्ठावणायरिए नामं एगे; नो पव्वावणायरिए २ । एगे पव्वावणायरिएऽवि; उवठावणायरिएवि ३ । एगे नो पव्वायणायरिए; नो उवठावणायरिए धम्मायरिए ४ ॥१२॥

अस्य (सूत्रस्य) संबन्धमाह—

अदढाऽपियधम्माणं, तव्विवरीए करेंति आयरिए ।
तेसिँ विहाणंमि इमं, कमेण सुत्तं समुद्दिट्ठं तु ॥ ३७ ॥

अदृढधर्मणामप्रियधर्मणां चानुशासनाय स्थविराचार्याः । व्याख्यानार्थमाह—

पव्वावण उट्ठावण, उभय नोभयमिति चउत्थो ।
अत्तऽट्ठपरऽट्ठा वा, पव्वावणा केवला पढमे ॥ ३८ ॥
एवमेव य बितितो वि, केवलमेत्तं उवट्ठवे सो उ ।
तइओ पुण उभयं पि, अत्तऽट्ठपरऽट्ठ वा कुणउ ॥ ३६ ॥
जो पुण नोभयकारी, सो कम्हा भवति आयरिओ उ ।
भण्णति धम्माऽऽयरितो, सो पुण गहितो व समणो वा ॥४०॥

प्रथमे-प्रव्राजनाऽऽचार्यः । द्वितीये-द्वितीयभङ्गेन सूचित उपस्थापनाचार्यः । तृतीयभङ्गसूचित उभयः । प्रव्राजनोपस्थापनाचार्यः । तत्र प्रथमः—प्रथमस्यात्मार्थस्य परार्थस्य केवला प्रव्राजना । किमुक्तं भवति—आत्मनिमित्ते, परनिमित्ते वा यः केवलं प्रव्राजयति स प्रथमः प्रव्राजनाचार्यः । एवमेव-अनेनैव प्रकारेण द्वितीयः स केवलं मात्रम् उपस्थापयति; यः प्रव्राजितस्य सतुपस्थापनामात्रं करोति स द्वितीय इत्यर्थः । तृतीयः पुनरपि प्रव्राजनमुपस्थापनं वाऽऽत्मार्थं परार्थं वा करोति, यः पुनर्नोभयकारी स चतुर्थः । अथ स कस्माद्भवत्याचार्यः उभयविकलत्वात्सूरिराह--भण्यते स धर्माचार्यो धर्मदेशकत्वात् स पुनर्गृही श्रमणो वा वेदितव्यः ।

एवं च यत्राऽऽचार्याः तथा चाह--

धम्मायरिपव्वायण, तह य उट्ठावणा गुरू तइओ ।
को इ तिहिं संपन्नो, दोहिँ वि एक्केक्कएणं वा ॥ ४१ ॥

प्रथमो धर्माचार्यो यस्तत्प्रथमतया धर्मं ग्राहयति १ । द्वितीयः प्रव्राजनाचार्यो यः प्रव्राजयति २ । तृतीयो गुरुरुपस्थापनाचार्यो यो महाव्रतेषूपस्थापयति ३ । तत्र कश्चित्त्रिभिरपि संपन्नो भवति । तथाहि--कदाचित्स एव धर्मं ग्राहयति स एव प्रव्राजयति स एवोपस्थापयति कश्चिद् द्वाभ्याम्, तद्यथा-धर्मग्राहकत्वेन प्रव्राजनेन च, अथवा--धर्मग्राहकत्वेनोपस्थापनेन केनचिदेकैकेन गुणेन तद्यथा । कश्चिद् धर्ममेव ग्राहयति । कश्चित्प्रव्राजयत्येव कश्चिदुपस्थापयत्येव ।

सूत्रम्--

चत्तारि आयरिया पण्णत्ता । तं जहा-उद्देसणाऽऽरिए एगे णामं; एगे नो वायणायरिए १, वायणायरिए एगे णामं; एगे णो उद्देसणायरिए २, एगे उद्देसणायरिए वि; वायणायरिए वि ३, एगे नो उद्देसणायरिए, नो वायणायरिए ४ ॥ १३ ॥

अमीषां स्वरूपमाह—

एगो उद्दिसइ सुयं, एगो वाएइ तेण उद्दिट्ठं ।
उद्दिसई वाएइ य, धम्माऽऽयरिओ चउत्थो य ॥ ४२ ॥

एकः-प्रथमः श्रुतमुद्दिशति न वाचयति यथा मङ्गलबुद्ध्या प्रथमत आचार्य उद्दिशति तत उपाध्यायः । आचार्यः प्रथमभङ्गवर्ती-उपाध्यायो द्वितीयभङ्गे, तथा चाह-एको द्वितीय उपाध्यायस्तेनाऽऽचार्येणोद्दिष्टं वाचयति य एवोद्दिशति स एव वाचयति एष तृतीयः, उभयविकलश्चतुर्थो धर्माचार्यः । व्य० १० उ० । आचार्यते-सेव्यते वा आचार्यः, स च पञ्चधा-प्रव्राजकाचार्यः १, सचित्ताचित्तमिश्रानुज्ञायी दिगाचार्यः २, प्रथमत एव श्रुतमुद्दिशति यः स उद्देशाचार्यः ३, उद्देष्टुगुर्वभावे तदेवं श्रुतं समुद्दिशत्यनुजानीते वा यः स समुद्देशानुज्ञाचार्यः ४, आम्नायम्-उत्सर्गापवादलक्षणमर्थं वक्ति यः स प्रवचनार्थकथनेनानुग्राहकोऽवनिपद्यानुज्ञायी आम्नायार्थवाचकाचार्यः ५, । ध० ३ अधि० ११६ श्लोक ।

(५) स्वरूपमाचार्यस्य । कीदृश आचार्यस्तत्स्वरूपमाह—

सुत्तत्थतदुभएहिं, उवउत्ता णाणदंसणचरित्ते ।
गणतत्तिविप्पमुक्का, एरिसया हुंति आयरिया ॥ ३२५ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ये सूत्रार्थतदुभयोपेता इति गम्यते । तथा सततं ज्ञानदर्शन चारित्रे समाहारो द्वन्द्वः । ज्ञानदर्शनचारित्रेषु उपयुक्ताः कृतोपयोगाः । तथा गणस्य गच्छस्य या तप्तिस्सारा * तया विप्रमुक्ताः । गणावच्छेदप्रभृतीनां तत्तप्तेः समर्पितत्वादुपलक्षणमेतत् । शुभलक्षणोपेताश्च य एतादृशा भवन्त्याचार्याः । ते चार्थमेव केवलं भाषन्ते न तु सूत्रमपि वाचयन्ति । तथा चोक्तं । "सुत्तत्थविऊलक्खण, जुत्तो गच्छस्स मेढिभूतो य ॥ गणतत्तिविप्पमुक्को, अत्थं भासेइ आयरियो" ॥ अथ किं कारणमाचार्यास्सूत्रं न वाचयन्तीत्यत आह ॥

एगग्गया य झाणे वड्ढी, तित्थयरअणुगिई गरुया ।
आणाथेज्जमिति गुरु, कयरिणमुक्खो न वाएई ॥

सूत्रवाचनाप्रदानपरिहारेणार्थमेव केवलमर्थव्याख्यानाय आचार्यस्य एकाग्रता एकाग्रमनस्कता ध्यानेऽर्थचिन्तनात्मके भवति । यदि पुनस्सूत्रमपि वाचयेत्तदा बहुव्यग्रत्वादर्थचिन्तायामेकाग्रता न स्यात् एकाग्रतयाऽपि को गुण इत्यत आह । वृद्धिः । एकाग्रस्य हि सतोऽर्थे चिन्तयतस्सूत्रार्थस्य तत्र सूक्ष्मार्थोन्मीलनावृद्धिरुपजायते । तथा तीर्थकरानुकृतिरेव कृता भवति । तथाहि । तीर्थकृतो भगवन्तः किलार्थमेव केवलं भाषन्ते न तु सूत्रं नापि गणतप्तिकुर्वन्ति । एवमाचार्या अपि तथा वर्तमानास्तीर्थकरानुकारिणो भवन्ति । सूत्रवाचनां तु प्रयच्छतामाचार्याणां लाघवमप्युपजायते । तद्वाचनायास्ततोऽधस्तनपदवृत्तिभिरप्युपाध्यायादिभिः क्रियमाणत्वादेवं च तस्य तथा वर्तमानस्य लोके राज्ञ इव महती गुरुता प्रादुर्भवति । तद्गुरुतायां च प्रवचनप्रभावना तथा आज्ञायां स्थैर्यमाज्ञास्थैर्यं कृतं भवति तीर्थकृतामेवमाज्ञा पालिता भवतीत्यर्थः इयं हि तीर्थकृतामाज्ञा यथोक्तप्रकारेण ममानुकारिणा आचार्येण भवितव्यमित्यस्मात् हेतुकलापात् गुरुराचार्यः । कृतः ऋणमोक्षोयेन स कृतऋणमोक्षस्तेन हि सामान्यावस्थायामनेके साधवस्तत्र सूत्रमध्यापितास्तत ऋणमोक्षस्य कृतत्वात्सूत्रं न वाचयति ॥ उक्तमाचार्यस्वरूपम ॥ व्य० सं. १ उ. १ ॥

(६) लक्षणमाचार्यस्य ॥

आवश्यकचूर्णौ ॥

किंचि आयरियं आयारकुसलं एवं संजमपवयणसंगह उवग्गहगुणमाहकप्पववहारपन्नत्तिदिट्ठिवायससमयपरसमयकुसलं ओयंसिं तेयंसिं वच्चंसिं जसंसिं दुद्धरिसं अलहुगचित्तं जितकोहं पयारं जिर्तिदियं जीवितासं समरणभयविप्पमुक्कं जियपरिस्सहं पुव्वरयपुव्वकीलियपुव्वसंथवविरहितं णिम्ममं निरहंकारं अगाणुतावि सक्कारआणालाभसुहदुखमाणा अवमाणसहं अचवलं असबलम असंकिलिट्ठं दिव्वणचरित्तं दसविह आलोयणदोसविहिन्नुं अट्ठारसआयारट्ठाणजाणगं अट्ठविहालोयणारिहगुणोवदेसगं आलोयणारिहं सुतरहस्सं अपरिस्साई पायच्छित्तकुसलं मग्गामग्गवियाणगं उग्गहईहअवायधारणापवरबुद्धिकुसलं अणुओगजाणगं णयविहिन्नुं आहरणहेतुकारणणिदरिसणउवमाणिरुत्तलहहूअड्डरं रिसिहिं बहुविहउपायागारोपदेसणइंगितायारे गमनिस्सासितमूगस्समणुवदिहा वा हयसच्छंदविकप्पविहिविहिन्नुं सिविगणितसहत्याणिमित्तउप्पादपोराणपरिच्चसभावजाणगं वसुहसमं सीतघरस्स माणं पुक्खरपत्तमिव, छिरवलेवं वायुमिव, अप्पडिबद्धं पव्वयमिव, णिप्पकंपं सागरमिव, अक्खोभं कुम्मो, इव गुत्तिंदियं जच्चकणगमिव, जायतेयं चन्दमिव, सोम्मं सूरमिव, दित्ततेयं सलिलमिव, सव्वजगणिव्वुइकरं गगणमिव, अपरिमितणाणं मतिकेतुं सूयकेतुं सुदिट्ठत्थं सुपरीणिट्ठितत्थं परं आयतलुहगवेसगं छट्ठोसजढं तिदंडविरतं तिगारवरहितं तिसल्लणिसल्लं तिगुत्तिगुत्तं तिगणविसुद्धं चउव्विहविकहाविवज्जियमतिं चउक्कसायविजढं चउव्विहविसुद्धबुद्धिं चउव्विहाहार गीरावंमतिं पञ्चसमितं पञ्चमहव्वयधारगं पञ्च णियंजणिवाजाणगं पञ्चविहचरित्तजाणगं पञ्चविहचरित्त लक्खणसंपन्नं छव्विहविकहविवज्जगं छव्विहदव्वविधिवित्थरजाणगं छट्ठाणविसुद्धपच्चक्खाणदेसगं छज्जीवकायदयापरं सत्तनयविप्पमुक्कं सत्तविहसंसारजाणगं सत्तविहगुत्तोवदेसगं अट्ठविहमाणमहणं अट्ठविहवाहिरझणजोगरहियं अट्ठविहअंतरझाणजुत्तं अट्ठविहकम्मगंठिभेदगं नववंभचेरवावत्तिघातकं दसविहसमणधम्मजाणगं एक्कारससातियक्खरविहिवियाणगं एक्कारसउवासगपडिमोवदेसगं बारसभिक्खुपडिमाफासगं बारसंगतवभावणाभावितमतिं बारसंगसुत्तत्थपारगं एवमाइगुणोववेयस्स णिम्ममधम्मट्ठिरिसिस्स सगलं सकम्मं कितिकम्मं काऊणं भणति भगवं बहुपुरिसपरंपरागयं संसारणित्थरणोपायं आवस्सगाणुओग मिच्छामि तस्सायरिओ गुणमहण्णवा आवस्सयाणुओग परिकहेइ. ॥ आ. चू. ॥

ईदृशि गुरौ गुणमाह ॥

भत्तिबहुमाणसद्धा, थिरयाचरणंमि होइ सेहाणं ॥
एआरिसम्मि नियमा, गुरुंमि गुणरयणजलहिंमि ॥ १५ ॥

व्याख्या । भक्तिबहुमानाविति भक्तिर्बाह्यविनयरूपा बहुमानो भावप्रतिबन्धः एतौ भवतः ॥ शिक्षकाणामभिनवप्रव्रजितानामिति योगः । केत्याह ईदृशयेवं भुते गुरो आचार्ये नियमान्नियमेन पुनरपि स एव विशिष्यते । गुणरत्नजलधौ गुणरत्नसमुद्र इति ततः श्रद्धास्थिरताचरणे भवतीति । तथाहि । गुरुभक्तिबहुमानभावत एव चारित्रे श्रद्धा स्थैर्यं च भवति नान्यथेति गाथार्थः ॥ गुणान्तरमाह ॥

अणुवत्तगो अएसो, हवइ दढं जाणई जओ सत्ता ॥
चित्ते चित्त सहावे, अणुवत्ते तह उवायं च ॥ १६ ॥

व्याख्या । अनुवर्तकश्च एषोऽनन्तरोदितो गुरुर्भवति दृढमत्यर्थं कुत इत्याह । जानाति यतः सत्वान् प्राणिनश्चित्रान् नानारूपांश्चित्रस्वभावान्नानास्वभावान् अनुवर्त्यानुवर्तनीयान् तथोपायं चानुवर्तनोपायंच जानातीति गाथार्थः । पं. व०

(७) गुणा आचार्यस्य यै रहितो गुरुर्न भवति ॥

गुरुगुणाश्च षट्त्रिंशदनुयोगशब्दे ॥

गुरुगुणरहितस्य गुरोर्विधिना परित्यागः ॥

गुरुगुणरहिओ उ गुरू, न गुरू विहिचायमो उ उद्दिहो ॥
अमुत्थनक्कमेणं, ण उ एगागित्तणेणंति ॥ २४ ॥

* तप्तिश्चिन्ता । प्रतिमाशतके श्लोक ६५ तमे ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या । गुरुगुणाः संज्ञानं सदनुष्ठानविशेषास्तै रहितोहीनोगुरुगुणरहितः तुशब्दः पुनरर्थः । गुरुधर्म्माचार्योगुरुर्न धर्म्माचार्यो भवति । सुवर्णगुणविकलं सुवर्णमिव । ततश्च (विहिचायमो त्ति) इह मकारो लाक्षणिकस्ततश्च विधित्याग एवागमिकन्यायेन परिहार एव तस्य गुरोरिष्टो ऽभिमतो जिनानां । स च न यथा कथं चिदत एवाह । अन्यत्र गुरुकुलान्तरे संक्रमे प्रवेशेन न पुनरेकाकित्वेन एकाकिविहारितयेति । गुरुकुलान्तरसंक्रमणे विधिश्च" संदिट्ठो संदिट्ठस्स चेव संपज्जइ एवमाइ ॥ चउभंगो एत्थं पुण, पढमो भंगो हवइ सुद्धो,,॥१॥ इत्यादिरागमप्रसिद्ध इति सर्वथा गुरुरहितेन न भाव्य मिति जावो यदाह" एस ठमणेस णं वा, कहं तेनार्हिति जिणवरमयं वा ॥ करिणं मिव पोयाला, जे मुक्का पव्वइयमेत्ता" इतिशब्दः प्राग्वदिति गाथार्थः ॥ पंचा. वृ. ११ ॥ अथ गुरुगुणरहितस्तु गुरुर्न गुरुरिति विधित्याग एव तस्येष्ट इति यदुक्तं तत्र विशेषाभिधानायाह ॥

गुरुगुणरहिओ वि इह, दट्ठव्वो मूलगुणविउत्तो ॥
जो ण उ गुणमेत्तविहीणोत्ति चंडरुद्दो उदाहरणं ॥ ३५ ॥

व्याख्या । गुरुगुणरहितोऽपि अपि शब्दोऽत्र पुनः शब्दार्थ स्ततश्च गुरुगुणरहितो गुरुर्न भवति । गुरुगुणरहितः पुनरिह गुरुकुलवासप्रक्रमे स एव द्रष्टव्योज्ञातव्यो मूलगुणवियुक्तो महाव्रतरहितः सम्यग्ज्ञानक्रियाविरहितोवा यो न तु नपुनर्गुणमात्रविहीनो मूलगुणव्यतिरिक्तप्रतिरूपताविशिष्टोपशमादि गुणविकल इति हेतोर्गुरुगुणरहितोदृष्टव्य इति प्रक्रमः उप प्रदर्शनार्थोवा इति शब्दः उक्तं चेहार्थे " काल परिहाणिदोसा,एत्तो इक्काइगुणविहीण ॥ अत्रेण विप्पव्वज्जा,- वायव्वा सीलवंतेणं" अत्रार्थे किं ज्ञापकमित्याह । चंडरुद्दश्चंड रुद्राभिधानाचार्य उदाहरणं ज्ञापकं तत्प्रयोग श्चैवं ॥ गुणमात्र विहीनोऽपि गुरुरेव मूलगुणयुक्तत्वात् चंडरुद्राचार्यवत् तथा ह्यसौ प्रकृतिरोषणोऽपि बहूनां संविग्नगीतार्थशिष्याणाममो चनीयः विशिष्टबहुमानविषयश्चाभूत् । पंचा० वृ० ११ ॥

(८) गुणा आचार्य्यस्य अपरिश्रावीत्यादि ॥

पुनरप्याचार्यगुणानाह ।

अपरिस्सावी सम्मं, समपासी चेव होइ कज्जेसु ।
सो रक्खइ चक्खुपिव सबालवुड्ढाउलं गच्छं ॥ २२ ॥

व्याख्या । न परिश्रवति परिकथितात्मगुह्यजलमित्येवं शीलोऽपरिश्रावी आलोचनामाश्रित्य आचारांगोक्ततृतीयभंगतुल्य इत्यर्थः । भंगाश्चैते । एकोन्हदः परिगलत्श्रोताः पर्यागलत् श्रोताश्च शीता शीतोदा प्रवाहन्हदवत् । यतस्तत्र जलं निर्गच्छत्यागच्छति च ।१। अपरः सुपरिगलच्छ्रोता नो पर्यागलत् श्रोताः पद्मन्हदवत् पद्मन्हदे तु जलं निर्गच्छति नत्वागच्छति । २ । तथा परोनो परिगलत् श्रोताः पर्यागलत् श्रोताश्च लवणोदधिवत् लवणे आगच्छति जलं न तु निर्गच्छति । ३ । अपरस्तु नो परिगलत् श्रोता नो पर्यागलत् श्रोताश्च मनुष्य लोकाद्बहिः समुद्रवत् तत्र नागच्छति न च निर्गच्छति ।४। तत्राचार्यः श्रुतमंगीकृत्य प्रथमभंगपतितः श्रुतस्य दानग्रहण सद्भावात् । १ । सांपरायिककर्मापेक्षया तु द्वितीयभंगपतितः कषायोदयाभावेन उदयाभावात् तपः कायोत्सर्गादिना क्षपणापतेश्च सांपरायिककर्म कषायकर्म्म । २ । आलोचनामंगीकृत्य तृतीयभंगपतितः आलोचनाया अपरिश्रावित्वात् । ३ । कुमार्गं प्रति चतुर्थभंगपतितः कुमार्गस्यहि प्रवेशनिर्गमाभावात् ।४। यदि वा केवलश्रुतमाश्रित्य भंगा योज्यंते तत्र स्थविरकल्पिकाचार्याः प्रथमभंगपतिताः । १ । द्वितीयभंगपतितास्तु तीर्थकृतः । २ । तृतीयभंगपतिता यथा छंदिकाः तेषां तु क्वचिदर्थपरिस्रभावाद्वाचार्यादेर्निर्णय सद्भावात् । ३ । प्रत्येकबुद्धास्तुभयाभावाच्चतुर्थभंगस्याः ४ सम्यक्सर्वथेत्यर्थः (समपासी चेव होइकज्जे सुत्ति) सममविपरीतं पश्यतीत्येवं शीलः समदर्शी"दशो नियच्छ पेच्छे"त्यादिना दशोः पासादेशः । एवं विध एव योभवति क्व कार्येषु आगमव्याख्यानादिसकलव्यापारेष्वित्यर्थः । स आचार्यः रक्षति धत्ते कुमार्गे पतन्तमिति शेषः । कं गच्छं गणं किंभूतं सबालाश्चते वृद्धाश्च सबालवृद्धास्तैराकुलः संकीर्णस्तं सबालवृद्धाकुलं किमिव चक्षुरिव ॥

यथाचार्यस्वरूपमाह ।

सीआवेइ विहारं, सुहसीलगुणेहिं जो अबुद्धीओ ॥
सन वरं लिंगधारी, संजमजोएण निस्सारो ॥ २३ ॥

व्याख्या (जो अबुद्धी ओत्ति) य आचार्योऽबुद्धिकस्तत्वज्ञानरहितः (सीयावे इत्ति) सीदयति शिथिलीकरोति कं विहारं नवकल्परूपं गीतार्थादिरूपं वा । कैः सुखशीलगुणैः सुखशीलस्य साताभिलाषिणो गुणाः पार्श्वस्थादिस्थानानि सुखशीलगुणास्तैः (स नवरित्ति) केवलं लिंगधारी वेषमात्र धारी संयम आश्रवनिरोधरूपस्तस्य योगः प्रतिलेखनादि व्यापारस्तेन रहितत्वात् निस्सारश्चर्वितताम्बूलवदिति गाथाछंदः ॥ २३ ॥

कुलगामनगररज्जं, पयहिय जो तेसु कुणइ हुममत्तं ॥
सोन वरि लिंगधारी संजमजोएण निस्सारो ॥ २४ ॥

व्याख्या । कुलं गृहं ग्रामं सकरं नगरमष्टादशकररहितं राज्यं सप्तांगमयं उपलक्षणत्वात् धूलीप्राकारपरिक्षिप्तं खेटं कुनगरं कर्बटं सर्वत्रार्द्धतृतीयगव्यूतांतरग्रामान्तररहितं मडंबं जलपयोपेतं जलपत्तनं द्वीपमिव स्थलपयोपेतं स्थलपत्तनं लोहादिधातुजन्मभूमिरूपं आकरं जलस्थलपयाभ्यामुपेतं द्रोणमुखं वणिक् समूहवासं निगममित्यादि ज्ञेयं (पयहियत्ति) प्रहायत्ति प्रहाय्य प्रकर्षेण त्यक्त्वा पुनर्यः आचार्यस्तेषु कुलादिषु करोति विधत्ते हु पुनरर्थे ममत्वं ममैतदित्यभिप्रायमित्यर्थः । स सूरिः नवरि केवलं वेषधारी संयमयोगेन निस्सार इति गाथा छन्दः ॥ २४ ॥

अथ पुनरपि सुन्दराचार्यप्रशंसामाह ॥

विहिणा जो उ चोयइ, सुत्तं अत्थं च गाहइ ॥
सो धन्नो सो अपुणो अ, सबन्धू मुक्खदायगो ॥ २५ ॥

व्याख्या"विहिणा धम्ममइएहिं अइसुंदरेहिं कारणगुणोवणिएहिं पल्हायन्तो अमणं सीस चोएइ आयरिओ" इत्याद्याग गमोक्तप्रकारेण (जोउत्ति.) यः पुनराचार्यः (चोएत्ति) चोदयति प्रेरयति शिष्यगणं कृत्यकरणादौ तथा सूत्रमाचारांगादिश्रुतविधिनेत्यस्यत्रापि सम्बन्धनात् व्यवहारदशमोद्देशकादुक्तेन विधिना ग्राहयति पाठयति सूत्रपाठनानन्तरं तस्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निर्युक्तिभाष्यचूर्णिसंग्रहणीवृत्तिटिप्पनकादिपरंपरोपलब्धमर्थं च विधिनेत्यस्याप्यभिसम्बन्धनात् "सुत्तत्थो खलु पढमो बीओ" इत्यादिना श्रीभगवतीसूत्रपञ्चविंशतितमशतकतृतीयोद्देशकश्रीनन्दिसूत्रावश्यकनिर्युक्त्याद्युक्तेन विधिनैव ग्राहयति बोधयति अथवा सूत्रमर्थं च विधिना गाहते निरंतरं स्वयमभ्यस्यतीत्यर्थः से आचार्योधन्यः पुण्यवान् अतएव (सो अ पुणेयत्ति) स पुण्य एव पवित्रात्मैव बंधुरिव बन्धुः। कुमत्यादिनिवारकत्वेन परमहितकर्तृत्वात् अतएव (मुक्ख दायगोत्ति) मोक्षप्राप्तिहेतुज्ञानादिरत्नत्रयदायकत्वेन मोक्षदायक इति अनुष्टुपछन्दः ॥२५॥

सएव भव्वसत्ताणं, चक्खुभूए वियाहिए ॥
दंसेइ जो जिणुद्दिट्ठं, अणुट्ठाणं जहट्ठिअं ॥ २६ ॥

व्याख्या। स एवाचार्यो भव्यसत्वानां मोक्षगमनयोग्यजंतूनां चक्षुर्भूतोनयनतुल्यो व्याहृतः कथितो जिनादिभिः। स कोयो जिनोद्दिष्टमाप्तोक्तमनुष्ठानं मोक्षपथप्रापकरत्नत्रयाराधनमित्यर्थः। यथा स्थितमवितथं दर्शयति कुमतिनिराकरणेन प्रकटीकरोतीति अनुष्टुपछन्दः ॥ २६ ॥

अथ पूर्वार्द्धेन सूरेर्गुणविशेषेण तीर्थंकरसाम्यमुत्तरार्द्धेनाज्ञोल्लंघिनस्तस्य कापुरुषत्वं च दर्शयन्नाह ॥

तित्थयरसमोसूरी, संमं जो जिणमयं पयासेई ॥
आणं अइक्कमन्तो, सोकापुरिसो न सप्पुरिसो ॥२७॥

व्याख्या। स सूरिस्तीर्थंकरसमः सर्वाचार्यगुणयुक्ततया सुधर्मादिवत्तीर्थंकरकल्पो विज्ञेयः। न च वाच्यं चतुस्त्रिंशदतिशयादिगुणविराजमानस्य तीर्थंकरस्योपमा सूरेस्तद्विकलस्यानुचिता। यथा तीर्थंकरोऽर्थं भाषते एवमाचार्योऽप्यर्थमेव भाषते तथा। यथा तीर्थंकर उत्पन्नकेवलज्ञानो भिक्षार्थं न हिंडते एवमाचार्योऽपि भिक्षार्थं न हिंडते इत्याद्यनेकप्रकारैस्तीर्थंकरानुकारित्वस्य सर्वातिशयित्वस्य परमोपकारित्वादेश्च ख्यापनार्थं तस्या न्याय्यतरत्वात्। किंच श्रीमहानिशीथे पंचमाध्ययनेऽपि भावाचार्यस्य तीर्थंकरसाम्यमुक्तं। यथा "सेभयवं किं तित्थयरसंतिअं आणं नाइक्कमिज्जा? उदाहु आयरिय संतिअं गोअमा! चउव्विहा आयरिया भवन्ति। तं० नामायरिया, ठवणायरिया, दव्वायरिया, भावायरिया, तत्थ णं जे ते भावायरिया ते तित्थयरसमा चेव दट्ठव्वा तेसिं सन्तिअं आणं नाइक्कमेज्जत्ति,, स कः यः सम्यग् यथास्थितं जिनमतं जगत्प्रभुदर्शनं नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूतरूपनयसप्तकात्मकं प्रकाशयति भव्यानां दर्शयतीत्यर्थः। तथा आज्ञां तीर्थंकरोपदेशवचनरूपां अतिक्रामन् वितथप्ररूपणादिनोल्लंघयन् स सूरिःकापुरुषः पुरुषाधमः नसत्पुरुषो न प्रधानपुरुष इति। इहचाज्ञोल्लंघिनः कापुरुषत्वमात्रमैहलौकिकं फलं पारलौकिकं तु तदनेकदुस्सहदुःखसन्ततिसम्वलितमनन्तसंसारित्वं श्रीमहानिशीथपञ्चमाध्ययनोक्तसावद्याचार्यस्येव ज्ञेयं ॥ तस्माद्गच्छाधिपतिना सर्वदा सर्वार्थेषु अप्रमत्तेन भाव्यमिति पूर्वाचार्यसंस्तुतः सावद्याचार्यसम्बन्ध इत्येवं विलोक्याऽऽचार्योपाध्यायप्रवर्तकादिना मोक्षार्थिना भगवदाज्ञया आगमार्थोनिरूपणीयः न स्वमत्या तथात्वेऽनन्तसंसारावाप्तेरिति गाथाछन्द ॥ २७ ॥ ग. अधि. १ ॥

(ए) भ्रष्टाचारत्वं दुर्गुणस्सूरेः ॥

अथ के सूरयः आज्ञामतिक्रामन्तीत्याह ॥

भट्ठायारो सूरी भट्ठायाराणुविक्खओ सूरी ॥
उम्मग्गट्ठिओ सूरी तिन्निवि मग्गं पणासंति ॥ २८ ॥

व्याख्या। भ्रष्टः सर्वथा विनष्ट आचारो ज्ञानाचारादिर्यस्य स भ्रष्टाचारः सूरिरधर्माचार्यः १ भ्रष्टाचाराणां विनष्टाचाराणां साधूनामुपेक्षकः प्रमादप्रवृत्तसाधूनामनिवारयितेत्यर्थः। सूरिमंदधर्माचार्यः। २। उन्मार्गस्थित उत्सूत्रादिप्ररूपणपरः सूरिरधमाधमाचार्यः। ३। त्रयोऽप्येते मार्गं ज्ञानादिरूपं मोक्षपथं प्रणाशयन्ति जिनाज्ञामतिक्रामन्तीत्यर्थः। गाथाछन्दः ॥ २८ ॥

अथ तेषां त्रयाणां सेवकस्याशुभफलमाह ।

उम्मग्गनासए जोउ, सेवए सूरी नियमेणं ।
सो गोयम! अप्पाणं, अप्पं पाडेइ संसारे ॥ २९ ॥

व्याख्या। उन्मार्गस्थितान् सन्मार्गनाशकान् १ (उ) शब्दात् भ्रष्टाचारान् २ भ्रष्टाचारोपेक्षकाँश्च ३सूरीन् यः सेवते पर्युपास्ते नियमेन निश्चयेन स नरो हे गौतम! आत्मानं आत्मना पातयति संसारे चतुर्गत्यात्मके इति गाथा छन्दः ॥ २९ ॥

अथ भंग्यन्तरेण एनमेवार्थं दृष्टान्तेन समर्थयन्नाह।

उम्मग्गट्ठिओ एक्को, विनासए भव्वसत्तसंघाए ॥
तं मग्गमणुसरंतं, जह कुत्तारो नरो होइ ॥ ३० ॥

व्या० उन्मार्गस्थितः उत्सूत्रप्ररूपणानिरतः एकोऽपि अधिकारात् सूरिर्नाशयति संसारसमुद्रे अनंतानंतमरणप्रदानेन विनाशयतीत्यर्थः। कान् भव्यसत्वसंघातान् किं कुर्वतस्तान् तन्मार्गस्थितप्रदर्शितपथं अनुसरतः आश्रयतः प्राकृतत्वात् वचनव्यत्ययः। अत्र दृष्टांतमाह। यथा कुतारः कुत्सितस्तारकोनरो भवति स बहून् मग्नान् जंतुसमूहान् नद्यादौ विनाशयति गाथाछन्दः ॥ ३० ॥

अथोन्मार्गगामिनामेवाशुभफलं दर्शयति।

उम्मग्गमग्गसंपट्ठि, याण साहूणंगोअमा! नूणं ।
संसारो अ अणंतो, होई सम्मग्गनासीणं ॥ ३१ ॥

व्याख्या। उन्मार्गगाः गोशालकबोटिकनिन्हवादयः तेषां मार्गः परम्परा तस्मिन् अथवा उन्मार्गरूपो यो मार्ग स्तस्मिन् समित्येकीभावेन इति प्रकर्षेण स्थितानां साधूनां साधुलिङ्गधारकाणां हे गौतम! नूनं निश्चितः संसारश्चतुर्गत्यात्मक अनंतोऽपर्यंतो भवति चशब्दस्तत्कृतानेकदुःखकसूचकः। किंभूतानां तेषां सन्मार्गनाशिनां शुद्धपथोच्छेदकानां महानिशीथोक्तमुनिचन्द्रसाधुवत् इति गाथाछन्दः ३१ ग. अधि. १ ॥

(प्रव्रज्यार्हाः पञ्चदशगुरवस्ते च प्रव्रज्याशब्दे)

सद्गुरुस्वरूपं दर्शयति ॥

देसं खित्तं उ जाणित्ता, वत्थं पत्तं उवस्सयं।
संगहे साहुवग्गं च सुत्तत्थं च निहालए ॥ १४ ॥

व्याख्या। आचार्यो देशं मालवकादिकं क्षेत्रं रूक्षारूक्षभाविताभावितादिरूपं (उ) शब्दात् स्थानादियोग्यं कालं दुर्भिक्षादिकालं दातृपरिणामादिरूपं भावं च ज्ञात्वा वस्त्रं चीवरं पात्रं पतद्ग्रहादि उपाश्रयं मुनियोग्यालयं संग

हीत कोऽर्थः । आचार्यः क्षेत्रादिकारणं ज्ञात्वा वस्त्रादिकं मेलयित्वा प्रायोगृहस्थानामदर्शयन् स्वपार्श्व एव संरक्षेत् न तु यथाकथंचिदित्यर्थः। तथा (साहु वग्गन्ति) साधूनां वर्गोवृन्दं साधुवर्गस्तं च साध्वीवर्गं च संगृह्णीत तु हीनाचारवर्गं तथा सुत्तत्थं च (निहालए) इति सूत्रमाचारांगादि अर्थो निर्युक्ति भाष्यचूर्णिसंग्रहणीवृत्तिटिप्पनादिः । सूत्रं चार्थश्चेति समाहारद्वन्द्वे सूत्रार्थं तन्निभालयति चिन्तयतीत्यर्थः । चशब्दात्साधूनामपि सूत्रार्थं ददातीति एवं विधोयः स सदाचार्यः स्यादिति शेषः । इत्यनुष्टुप्छन्दः ॥ १४ ॥ ग. अधि. १ टी ॥

भ्रष्टाचारस्य सूरेर्निन्दा यथा ॥

भट्ठायारोसूरी, भट्ठायाराणुविक्खओ सूरी ॥
उम्मगट्ठिओ सूरी, तिन्नि वि मग्गं पणासन्ति॥१॥

उम्मग्गट्ठिए सूरिंमिनिच्छयं भव्वसत्तसंधाए। जम्हा तंमग्गमणुस्सरन्ति तम्हाणतंजुत्तं। एकंपि जोदुहत्तं सत्तं पडिबोहिं ठवे मग्गे। ससुरासुरंमि विजिगे तेण ह घोसियं आणाघोयं। भूए अत्थि भविस्सति केइ जगवन्दणीयकमजुयले। जेसिं परहियकरणे कवद्धलक्खाणवो भिही कालं। भूए अणागए काले ण केइ इहोहिति गोयमा! सूरी। णामग्गहणेण वि जेसिं होज्जनियमेण पच्छित्तं। एयंगच्छिचवत्थं दुप्पसहाणं तरंतुजोरंखके। तं गोयम!जाणगणिं निच्छयओ अणंतसंसारि। जेसयलजीवजगमंगलेक्ककल्लाण परमकल्लाणसिद्धिपए। वा वोच्छिन्ने पच्छितं होई तं गणिणो। तम्हा गणिणं समसत्तुमित्तपक्खेण पराहियरएणं कल्लाणकंखुणा अप्पणो विय आणाण लंघेया। एवं मेराण लंघेयव्वत्ति एवं गच्छववच्छलंघितुनगारवेहिं पडिबद्धे संखाईए गणिणो अज्जवि बोहिं न पावंति। ण लभेहिंति य अन्ने अणंतहुत्तोवि परिभमं तित्थं। चउगइभवसंसारोचेह्रिज्जचिरसुदुक्खत्ते ॥ महा. ५ अ.।

(१०) पराहितकारित्वं सुगुणः ॥

अथ ये नाममात्रग्रहणेनाऽपि पराहितकारिणः सूरयस्तानाह ॥

तीअणागयकाले, केई होहिंति गोयमा! सूरी।
जेसिं नामग्गहणे, वि होइ नियमेण पच्छित्तं ॥ ३७ ॥

व्या० । अतीतकाले ते केचिदनिर्दिष्टनामानोऽभूवन्निति शेषः। अनागतकाले च (होहिंति) भविष्यंति आद्यंतग्रहणे मध्यस्यापि ग्रहणमिति न्यायेन वर्त्तमानकाले च संति। हे गौतम! सूरयः आचार्यनामधारकाः येषां परिचयकरणादिकं दूरे आस्तां नामग्रहणेऽपि भवति नियमेन निश्चयेन प्रायश्चितं। तथाचोक्तं। श्रीमहानिशीथपंचमाध्ययने "इत्थं चायरियाणं, पणपन्नं होंति कोडिलक्खाओ ॥ कोडिसहस्से कोडिं, स एय तह एत्तिएच्चेव ॥ १ ॥ एतेसिं मज्झा एगे, निब्बुओइ गुणगणइएणो ॥ सव्वुत्तमभंगेणं, तित्थयरस्सा गुसारिगुरू" इति गाथाछंदः ॥ ३७ ॥

अथात्र हेतुमाह ॥

जओ सयरी भवंति, अणविक्खयाइ जह भिच्चवाहणा लोए॥
पडिपुच्छेहिं चोयणं, तम्हाउ गुरू सया भयइ ॥ ३८ ॥

व्याख्या (जओत्ति) भिन्नं पदं यतो भणितं (सयारित्ति) स्वेच्छाचारीणि भवंति (अणविक्खया इति) अनपेक्षया शिक्षारहितत्वेन यथा लोके (भिच्चवाहणत्ति) भृत्याश्च सेवका श्च वाहनानि च हस्त्यश्ववृषभमहिषादीनीति द्वंद्वे भृत्यवाहनानि। तथा विनेयाः गुरूणां प्रतिपृच्छाभिः कार्यं २ प्रति पृच्छा ताभिः (चोयणत्ति) प्राकृतत्वादिभक्तिलोपः। चोदनाभिश्च विनंति शेषः। स्वेच्छाचारिणो भवंति (तम्हाउत्ति) तस्मादेव कारणात्प्रतिपृच्छाभिश्चोदनादिभिश्चाचार्यो विनेयान् सदा सर्वकालं (भयइत्ति) भजते सत्यापयति शिक्षयतीत्यर्थः। गाथाछंदः ॥ ३८ ॥ ग० अधि. १।

(११) सूरेः स दुर्गुणो येन कुगुरुर्भवति।

कुगुरुश्च कदा भविष्यतीति महानिशीथे अ.८। सेभयवं केवइएणं कालेणं पहे कुगुरुभावी होंति गोयमा! इओ यमाइउयअद्धतेरसण्हं वाससयाणं साइरेगाणं समइकंताणं परउ भवीसुं से भयवं केणं अट्ठेणं गोयमा? तक्कालं इड्ढि रससायगारवसंगए ममीकारे अहंकारग्गीए अंतो संपज्जलंतवोदी अहमहंति कयमाणसे अमुणि य समयसब्भावे गणी भवीसु एएणं अट्ठेणं से भगवं किं सव्वेवीएवं विहे तक्कालगणि भवीसुं गोयमा! एगंतेणं नो सव्व केयपुण दुरन्तपंतलक्खणे अदट्ठव्वाणं एगाए जणणीए जमगसमगं पसूए निम्मेरे पावसलि दुज्जायजम्मे सुरोद्दपयंडाभिगाहिय दूरमहामिच्छदिट्ठी भविसुं सेयं भयवं कहं ते समुवलक्खेज्जा गोयमा! उस्सुत्तउस्सगायवत्तणुदिस्सणमइपच्चएण वा ॥

(१२) प्रमादिनमाचार्यं शिष्यो बोधयति ॥

अथ कथंचित् प्रमादिनं गुरुं शिष्यो विबोधयतीत्याह।

तुम्हारिसा वि मुणिवर, ! पमायवसगा हवंति जइ पुरिसा। तेणन्नो को अहं, आलंबणं हुज्ज संसारे॥ १९ ॥

व्याख्या ॥ युष्मादृशा अपि हे मुनिवर! श्रमणश्रेष्ठ प्रमादवशगाः प्रमादपरवशा भवंति यदि चेत् पुरुषाः पुमांसस्तेन कारणेनान्यो युष्मद्व्यतिरिक्तः कोऽस्माकं मंदभाग्यानामालंबनमत्र विभक्तिलोपः प्राकृतत्वात्। सागरे नौरिव भविष्यति संसारे चतुर्गत्यात्मके पततामिति शेषः। अनेन विधिना शिष्यः प्रमादिनं गुरुं विबोधयतीत्यधिकाराल्लभ्यते। तयाच विबोधनविधये आचार्यगुणानपि शिष्य आचार्यस्य दर्शयति यथा॥

पुढवीविव सव्वसहं, मेरुव्व अकंपिरं ठियं धम्मे ।
चंदुव्व सोमलेसं, तं आयरियं पसंसंति॥ १ ॥
अप्परिसावि आलोयणा, रिह हेउकारणविहिन्नुं ।
गंभीरं दुद्धरिसं तं आयरियं० ॥ २॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कालन्नुं देसन्नुं, जावन्नुं अतुरियं असंभंतं ।
अणुवत्तयं अमायं, तं आय० ॥ ३ ॥
लोइयसामाइएसु, सव्वेसु जस्स वक्खेवो ।
ससमयपरसमयंमि अ, तं० ॥ ४ ॥
बारसहिंवि अंगेहिं, सामाइयमाइपुव्वनिव्वद्धे ।
लघ्दहं गहियहं, तं० ॥५॥
आयरियसहस्साइं, लहई अ जीवो भवेहिं बहुएहिं ।
कम्मेसु य सिप्पेसु य, धम्मायरणेसु नो कहवि ॥ ६ ॥
जे पुण जिणोवइडे, निग्गंथे पवयणंमि आयरिया ।
संसारमुक्खमग्गस्स, देसगा ते हु आयरिया ॥ ७ ॥
देवा वि देवलोए, निग्गंथं पवयणं अणुसरंता ।
अच्छरगणमज्झगया, आयरिए वंदयाइंति ॥ ८ ॥
जह दीवो दीवसयं, पइप्पए दिप्पई य ।
सो दीवसमा आयरिया, अप्पं च परं च दीवंति ॥ ९ ॥
देवा वि देवलोए, निच्चं दिव्वोहिणा वियाणंता ।
आयरियमणुसरंता, आसणसयणाणि मुंचंति ॥ १० ॥

इत्यादि चन्द्रकवेध्यकप्रकीर्णकोक्तं वाच्यमिति गाथाछन्दः ॥ ग. १ अधि० ॥

प्रमादगतस्याचार्य्यस्य श्रमणोपासकेन कथं निवारणा कर्त्तव्येति (समणोपासग) शब्दे ॥

अथ चोदनाया अकर्तुः फलं दर्शयन्नाह ॥

जो उ प्पमायदोसेणं, आलस्सेणं तहेव य ।
सीसवग्गं न चोएइ, तेण आणा विराहिया ॥ ३९ ॥

व्याख्या। योगणी चशब्दादुपाध्यायादिश्च प्रमाददोषेण प्रमादरूपो यो दोषस्तेन तथैव च चकाराद्युक्तश्चैर्मोहादिभिश्च उक्तं च "आलस्स १ मोह २ वन्ना, ३ थंभा ४ कोहा ५ पमाय ६ किविणत्ता ७ ॥ भय ८ सोगा ९ अन्नाणा, १० वक्खेव ११ कुऊहला १२ रमणा १३ (१) " एतैर्हेतुभिः शिष्यवर्गमंतेवासिवृंदं न प्रेरयति मोक्षानुष्ठाने इति शेषः । तेनाचार्येण उपाध्यायादिना वा आज्ञेति जिनाज्ञा विराधिता खंडितेत्यर्थः ॥ ग. अधि. १ "आचार्यस्यैव तत् जाड्यं, यच्छिष्यो नावबुध्यते । गावो गोपालकेनेव, कुतीर्थेनावतारिताः (१) " आ. म. १. खं. १ अ. ॥

(१३) वैरी शिष्यस्य गुरुः ॥

अथ यःसूरिरिशिष्यस्य वैरी स्यात्तं वृत्तद्वयेनाह ।

संगहोवग्गहं विहिणा, न करेइ य जो गणी ।
समणं समणिं तु दिक्खित्ता, सामायारीं न गाहए ॥१५॥
बालाणं जो उ सीसाणं, जीहाए उवलिंपए ।
तं सम्ममग्गं गाहेइ, सो सूरि जाण वेरिउ ॥ १६ ॥

(संगहोवग्गहंति) संग्रहश्च शिष्यादीनां संग्रहणं उपग्रहश्च तेषामेव भक्तश्रुतादिदानेनोपष्टंभनं तथा तच्च करोति वा न कारयति विधिना आगमोक्तप्रकारेण यो गणी आचार्य्यस्तथा यः श्रमणं श्रमणीं दीक्षित्वा तु शब्दात्प्रतिच्छकगणमपि समाचारीं आगमोक्तांहोरात्रक्रियाकलापरूपां सत्स्वगच्छोक्तां वा न ग्राहयेन्निर्जरापेक्षि सम्यक् शिक्षयेदित्यर्थः ॥१५॥ तथा यःपुनर्बालानां शिष्याणां शिरः प्रनृत्यवयवमिति शेषः। जिव्हया रसनया उपलिंपऩ्यैरिव वत्सस्य चुंबेत् अत्यंतबाह्याहितं करोतीत्यर्थः । ननु बालादीनां प्रव्राजने निषेधोऽस्ति तत्कथं बालानां शिष्यत्व मुच्यते। योऽयं प्रव्रजने बालो निषिध्यते स ऊनाष्टवर्षः। अत्र त्वष्टवर्षोपरिवर्त्ती बालो गृह्यते। अपवादपदेन तु ऊनाष्टवर्षोऽपि॥ तथा सम्यक्मार्गं मोक्षपथं न ग्राहयति दर्शयति न शिक्षयतीत्यर्थः । स आचार्यो वैरीति जानीहि हे गोतम ! स्वामिति विषमाक्षरेतिगाथाऽनुष्टुप्छंदसी ॥ १६ ॥

अथ पूर्वोक्तार्थलेशं विशेषयन्नाह ॥

जीहाए विलिहंतो, न भद्दओ सारणा जहिं नत्थि ।
दंडेणवि तार्डेतो, स भद्दओ सारणा जत्थ ॥ १७ ॥

व्याख्या. जिव्हया विलिहन् शिष्यं चुंबन्नाचार्यो न भद्रको न श्रेष्ठो यत्राचार्ये सारणा हिते प्रवर्त्तनलक्षणा स्मारणा वा कृत्यस्मारणलक्षणा उपलक्षणत्वाद्वारणा अहितान्निवारणलक्षणा तोदना संयमयोगेषु स्खलितस्याऽयुक्तमेतद्भवादृशां विधातुमित्यादिवचनेन प्रेरणा प्रतिनोदना तथैव पुनः २ प्रेरणा नास्ति न विद्यते तथा दंडेनाऽपि यष्ट्यापि किं पुनर्वच रकादिना ताडयन् शरीरपीडां कुर्वन् स आचार्यो भद्रकः श्रेष्ठः । यत्र गणिनि सारणा उपलक्षणत्वाद्वारणादिर्वाऽस्तीति गाथार्थः ॥ ग० १ अधि. ।

(१४) विनय आचार्य्यस्य ॥

आचार्य्ये सापेक्षैः साधुभिर्भवितव्यम् । तेषु च तेनेति दृष्टान्तैः प्रदर्शयति ॥

वच्छीधन्नसुज्जरियं, कोट्ठागारं डज्झते कुटुंबिस्स ।
किं अम्हमुहा देई, केई तहियं न अच्छीणा ॥

एकः कौटुंबिकः स कर्षकाणां कारणे उत्पन्ने वृद्ध्या कालांतररूपया धान्यं ददाति । तथा च वृद्ध्या कौटुंबिकस्य कोष्ठागाराणि धान्यस्य सुभृतानि जातानि । अन्यदा च तस्यैकं कोष्ठागारं वृद्धिधान्यसुभृतं वन्हिना प्रदीप्तेन दह्यते । न च केचित्कर्षका विध्यापननिमित्तं तत्र प्रदह्यमाने कोष्ठागारे समागताः । किमेष कौटुंबिकोऽस्माकं मुधा ददाति येन वयं विध्यापनार्थमभ्युद्यता भवामः ॥

एयस्स मज्झावेणं, जीवा अम्हेति एव नाऊणं ।
अन्ने तु समल्लीणा, विज्झविए तेसिं सो तुट्ठो ॥

अन्ये कर्षका एतस्य कौटुंबिकस्य प्रभावेण च ये जीवंति स्म जीवा अनुप्रत्यया जीविता इत्यर्थः। एवं ज्ञात्वा समालीनास्त त्र समागता विध्यापनाय च प्रवृत्तास्ततो विध्यापिते कोष्ठागारे स कौटुंबिकस्तेषां तुष्टस्ततः किमकार्षीदित्यत आह ॥

जे ओ सहायगत्तं, करेसु तेसिं अवट्ठियं दिन्नं ॥
दडंति न दिन्नियेरे, अकासगा दुक्खजीवीया ॥

ये तु विध्यापने सहायत्वमकार्षुस्तेषामवृद्धिकं कालांतररहितं धान्यं दत्तं । इतरेषां तु सहायत्वमकृतवतां दत्तमित्युत्तरं विधाय न दत्तं । ततस्ते अकर्षकास्संतो दुःखवज्जीविनो जाता एष दृष्टांतः ॥

सांप्रतमुपनयमभिधित्सुराह ।

आयरियकुडुंबी व, सामाणियथाणिया भवे साहू ॥
बावाहअगणितुल्ला, सुत्तत्था जाण धन्नं तु ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्यः कुटुंबीव कुटुंबितुल्य इत्यर्थः । सामान्यकर्षकस्थानीयाः साधवः । आचार्यस्य निष्काटने वातादिव्याबाधाऽग्नितुल्या । सूत्रार्थान् जानीहि धान्यं धान्यतुल्यान् ॥

एमेव विणीयाणं, करेंति सुत्तत्थसंगहं थेरा ॥
होवेंति उदासीणे, किलेसभागी य संसारे ॥

(एमेव) कौटुंबिकदृष्टांतप्रकारेण ये विनीतास्तषां स्थविरा आचार्याः सूत्रार्थसंग्रहं कुर्वंति सूत्रार्थान्प्रयच्छंति । यस्तूदासीनस्तत्र हापयतीति न प्रयच्छतीति भावः । सचोदासीनो वर्त्तमानः केवलं सूत्रार्थयोग्यो भवेत् क्लेशभागी च संसारे जायते ॥ सम्प्रति दंडिकदृष्टांते विभावयिषुरिदमाह ॥

उप्पएणकारणे पुण, जइ सयमेव सहस्सा गुरू हिंडे ।
अप्पाणं गच्छेमुभयं, परिचयती तत्थिमं नायं ॥

उत्पन्ने कारणे वक्ष्यमाणलक्षणे यदि सहसा स्वयमेव गुरुरात्मानं गच्छमुभयं च परित्यजति । तत्र चेदं वक्ष्यमाणज्ञातमुदाहरणं । तदेवाह ॥

सोउं परबलमायं, सहसा एक्काणिओ उ जो राया ॥
निग्गच्छति सो वयती, अप्पाणं रज्जमुभयं च ॥

यो निरपेक्षो राज्ये परबलमागतं श्रुत्वा बलवाहनान्यमेलयित्वा सहसा एकाकी परबलस्य संमुखो निर्गच्छति स आत्मानं राज्यं चेत्युभयं त्यजति बलवाहनव्यतिरेकेण युद्धारंभे मरणभावात् एवमाचार्योऽपि निरपेक्षः समुत्पन्नेऽपि कारणे सहसा निष्कामन्नात्मानं गच्छमुभयं च परित्यजति निरपेक्षदंडिकदृष्टान्तभावना ॥

संप्रति सापेक्षदंडिकदृष्टांतभावनामाह ॥

सावेक्खो पुण राया, कुमारमादीहिं परबलं खविया ।
अजिए सयंपि जुज्झइ, उवमा एसेव गच्छेवि ॥

सापेक्षः पुना राजा प्रथमं कुमारादीन् युद्धाय प्रेषयति । ततः कुमारादिभिः परबलं क्षपयित्वा यदा कुमारैर्न परबलं तदा तस्मिन् जिते स्वयमपि राज्ञा युध्यते । एषैवोपमा गच्छेऽपि द्रष्टव्या । आचार्योऽपि पूर्वयतनां करोति तथापि असंस्तरणे स्वयमपि हिंडते । एवं चात्मानं गच्छमुभयं च निस्तारयतीति भावः । व्य. ६ उ. ॥

आचार्यसमीपवर्त्तिना च शिष्येण किं विधेयमित्याह ।

तद्दिट्ठीए तम्मोत्तीए तप्पुरक्कारे तस्सण्णी तन्निवेसणे जयं विहारी चित्ताणिवाई पंथणिज्झाई बलिवाहिरे पासियपाणे गच्छेज्जा से अभिक्कममाणे पडिक्कममाणे संकुचेमाणे पसारेमाणे विणियट्टमाणे संपरिज्जमाणे ॥ आचा० ॥ ४ अ. ४ उ. ॥

(तद्दिट्ठीए) तस्याचार्यस्य दृष्टिस्तद्दृष्टिस्तया सततं वर्तितव्यं हेयोपादेयेषु । यदि वा तस्मिन् संयमे दृष्टिस्तद्दृष्टिस्स एवागमो दृष्टिस्तद्दृष्टिस्तया सर्वकार्येषु व्यवहर्तव्यं तया (तम्मोत्तीए) तेनोक्ता सर्वसंगेभ्यो विरतिर्मुक्तिस्तन्मुक्तिस्तया सदा यतितव्यं तया (तप्पुरक्कारे) पुरस्करणं पुरस्कारः सर्वकार्येष्वग्रतः स्थापनं तस्याचार्यस्य पुरस्कारस्तत्पुरस्कारस्तस्मिंस्तद्विषये यतितव्यं तया (तस्सण्णी) तस्य संज्ञा तत्संज्ञा तज्ज्ञानं तद्वांस्तत्संज्ञी सर्वकार्येषु स्यान्न स्वमतिविरचनया कार्यं विदध्यात्तया (तन्निवेसणे) तस्य गुरोर्निवेशनं स्थानं यस्यासौ तन्निवेशनः । सदा गुरुकुलवासी स्यादिति भावस्तत्र च गुरुकुले निवसन् किंभूतः स्यादित्याह (जयंविहारी) यतमानो यतनया विहरणशीलो विहारी स्यात् । यतमानः प्रात्युपमर्दनमकुर्वन् प्रत्युपेक्षणादिकाः क्रियाः कुर्यादिति । किञ्च (चित्तनिवाती) चित्तमाचार्याभिप्रायस्तेन निपातितुं क्रियायां प्रवर्त्तितुं शीलमस्येति चित्तनिपाती सदा स्यादिति । तथा (पंथणिज्झाती) गुरोः क्वचिद्गतस्य पन्थानं निर्ध्यातुं प्रलोकितुं शीलमस्येति पथनिर्ध्यायी । उपलक्षणं चैतत् । शिशयिषोः संस्तारकप्रलोकी बुभुक्षोराहारान्वेषीत्यादिना गुरोराराधकः सदा स्यात्किञ्च (पलिबाहिरे)परि समन्ताद्गुरोरवग्रहात् पुरतः पृष्ठतो वा चस्थानात्सदा कार्यगते बाह्यः स्यादेतस्माच्च सूत्रात् त्रय ईर्योद्देशका निर्गता इति । किञ्च (पासिय इत्यादि) क्वचित्कार्यादौ गुर्वादिना प्रेषितः सन् दृष्ट्वा प्राणिनां युगमात्रदृष्टिस्तदुपघातं परिहरन् गच्छेत्किञ्च (सेइत्यादि) स भिक्षुः सदा गुर्वादेशविधायी एतद्व्यापारवान् भवति । तद्यथा । अभिक्रामन् गच्छन् प्रतिक्रामन्निवर्तमानः संकुचन् हस्तपादादिसंकोचनतः प्रसारयन् हस्तादीनवयवान् विनिवर्तमानः समस्ताशुभव्यापारान् सम्यक् परिसमंताद्धस्तपादादीनवयवांस्तच्छिक्येपस्थापनानि वा रजोहरणादिना मृजन् परिमृजन् गुरुकुलवासे वसेदिति सर्वत्र संबंधनीयम् ॥ आचा० टी. ॥

अस्य बहुव्यक्तव्यता (आसायणा) शब्दे ॥

अथैवमाचार्ये रक्षिते शुश्रुषिते च को गुण इत्यत आह ॥

पुयंति य रक्खंति य, सीसा सव्वे गणीं सया पयया ॥
इह परलोए य गुणा, हवंति तप्पुयणे जम्हा ॥

गणिनमाचार्यं शिष्याः सर्वे सदा प्रयताः प्रयत्नपराः पूजयंति शुश्रूषंते च । यस्मात्तत्पूजने आचार्यपूजने इह लोके परलोके च गुणा भवंति इह लोके सूत्रार्थतदुभयानि परलोके सूत्रार्थोभयमधीतान्यां ज्ञानादिमोक्षमार्गप्रसाधनं अथवा पारलौकिका गुणा"आयरिए वेयावच्चं करेमाणे महानिज्जरे महापज्जवसाणे भवति" इत्येवमादयः ॥ व्य० द्वि. ख. ६ अ. ॥

गुरुशुश्रूषा (विणय) शब्दे ॥ आचार्यस्य चतुर्विधविनये नान्तेवासी अनृणी भवतीति विनयशब्दे ॥

आचार्यस्याराधने फलं यथा ॥ "गुर्वायत्ता यस्मात्, शास्त्रारंभा भवति सर्वेऽपि॥तस्मात् गुर्वाराधन,परेण हितकांक्षिणा भाव्यं " । १ । आवश्यकभाष्यकारेणाऽप्युक्तमपि ।

गुरुचित्तायत्ताई, वक्खाणंगाइ जेण सव्वाई ॥ जेण पुण सुप्पसण्णं, होइज्जं आगारिंगियं ॥ १ ॥ कुसलं जइ सेयं, वायलं वए पुज्जा ! तह वियसिं न वि कुरूं, विरइमियं कारणं पुव्वं ॥ २ ॥ व्य० १खं० १ उ० ॥

(१५) गुरुविनये वैद्यदृष्टान्तः ॥

आचार्यसेवायां वैद्यदृष्टान्तो यथा ॥

से जहा नाम एकेई महारायाहिराहिए अणुहूयतव्वेअणे विज्जाया सव्ववेणं निव्विज्जो । तत्तओ सुविज्जवयणेण सम्मं तमवगच्छिअ जहा विहाणओ पवत्ते सुकिरिअं निरुद्धजाहिच्छाचारो तुच्छपच्छभोई मुच्चमाणे वाहिणा । नि

अत्तमाणवेअणे समुवलब्भारोग्गं पवड्ढमाणतब्भावे तल्लाभनिव्वुइए तप्पडिबंधाओ सिराखाराइजोगे वि वाहिसमारुग्गविन्नाणेणं इट्ठनिप्फत्तिओ अणाकुलभावयाए किरिउवओगेण अपीडिए अव्वहिए सुहलेस्साए वड्ढइ विज्जं च बहु मन्नइ। एवं कम्मवाहिगाहिए अणुहूअजम्माइवेअणे विन्नाया दुक्खरूवेणं निव्विणे तत्तओ तओ सुगुरुवयणेणं अणुट्ठाणाइणा तमवगच्छीअ पुव्वुत्तविहाणओ पव्वज्जं सुकिरिअं पव्वज्जं विरुद्धपमायायारे असारसुद्धभोई मुच्चमाणे कम्मवाहिणा निअत्तमाणिट्ठविओगाइवेअणे समुवलब्भ चरणारोग्गं पवड्ढमाणसुहभावे तल्लाभनिव्वुईए तप्पडिबंधविसेसओ परिसहोवसग्गभावे वि तस्स संवेअणाओ कुसलासयवुड्ढीओ थिराशयत्तेण धम्मोवओगाओ सया थिमिए। तेउल्लेसाए वड्ढई गुरुं च बहुमन्नइ जहोचिअं असंगपडिवत्तिए निसग्गपवित्तिभावेण। एसा गुरुई विआहिआ भावसारा विसेसओ भगवंतबहुमाणेणं जो मं पडिमन्नइ सो गुरुत्ति तदाणा अन्नहा किरिआ अकिरिआ कुलडा नारी किरिआसमा गरहिआ। तत्त वेईणं अफलजोगओ विसत्ति तित्तीफलनित्थनायं आवट्टे खु तप्फलं असुहाणुबंधे आयओ गुरुबहुमाणो अवंझकारणत्तेण अओपरमगुरुसंजोगो तओ सिद्धीरसंसयं एसो इह सुहोदए पगिट्ठतयणुबंधे भववाहितेगिच्छं नइओ सुंदरं परं उवमा इत्थ न विज्जई ॥ पं. सू. ४ सू. ॥

से जहेत्यादि । तद्यथा । कश्चित्सत्वः महाव्याधिगृहीतः कुष्ठादिग्रस्त इत्यर्थः । अनुभूततद्वेदनोऽनुभूतव्याधिवेदनः। विज्ञाता स्वरूपेण वेदनायाः। न कंडूगृहीतकंडूयनकारिवद्विपर्यस्तः निर्विण्णस्तत्वतस्तद्वेदनयेति प्रक्रमः। ततः किमित्याह । सुवैद्यवचनेन हेतुभूतेन सम्यगवैपरीत्येन तं व्याधिमवगम्य यथाविधानतो यथा विधानेन देवतापूजादिलक्षणेन प्रपन्नः सुक्रियां परिपाचनादिरूपां रुद्धयदृच्छाचारः सन् प्रत्यपायभयात्तथा तुच्छपथ्यभोजी व्याध्यनुगुण्यतः अनेन प्रकारेण मुच्यमानो व्याधिना क्षरणाद्यपगमेन निवर्त्तमानवेदनः कंड्वाद्यभावात् समुपलभ्यारोग्यं सदुपलंभेन प्रवर्द्धमानतद्भावः प्रवर्द्धमानारोग्यभावः। तल्लाभनिर्वृत्या आरोग्यलाभनिर्वृत्या तत्प्रतिबंधात् आरोग्यप्रतिबंधाद्धेतोः शिराक्षारादियोगेऽपि शिरावेधक्षारपातभावेऽपीत्यर्थः । व्याधिसमारोग्यविज्ञानेन व्याधिशमादारोग्यं तदवबोधेनेत्यर्थः । किमित्याह । इष्टनिष्पत्तेरारोग्यनिष्पत्तेर्हेतोरनाकुलभावतया निबंधनाभावात् ॥ तथा क्रियोपयोगेन इति कर्त्तव्यताया बोधेन हेतुना अपीडितो व्यथितो निवातस्थानासनौषधपानादिना । किमित्याह । शुभलेश्यया प्रशस्तभावरूपया वर्द्धते वृद्धिमाप्नोति । तथा वैद्यं च बहु मन्यते । महापायनिवृत्तिहेतुरयं ममेति सम्यक् ज्ञानात् एष दृष्टांतोऽयमर्थोपनयः (एवमित्यादि) एवं कर्मव्याधिगृहीतः प्राणी किंविशिष्ट इत्याह । अनुभूतजन्मादिवेदनः आदिशब्दाज्जरामरणादिग्रहः । विज्ञाता दुःखरूपेण जन्मादिवेदनायाः न तु तत्रैवाशक्त्या विपर्यस्त इति। ततः किमित्याह । निर्विण्णस्तत्वतः। ततो जन्मादिवेदनायाः किमित्याह। सुगुरुवचनेन हेतुना अनुष्ठानादिना तमवगम्य सुगुरुकर्मव्याधिं च पूर्वोक्तविधानतस्तृतीयसूत्रोक्ते तद्विधानेन प्रपन्नस्सन् सुक्रियां प्रव्रज्यां विरुद्धप्रमादाचारो यदृच्छया असारशुद्धभोजी संयमानुगुण्येन अनेन विधिना मुच्यमानः कर्मव्याधिना निवर्त्तमानेष्टवियोगादिवेदनस्तथा मोहनिवृत्या किमित्याह। समुपलभ्य चरणारोग्यं सदुपलंभेन प्रवर्द्धमानशुभभावः। प्रवर्धमानचरणारोग्यभावः बहुतरकर्मव्याधिविकारनिवृत्या तल्लाभनिवृत्या तत्प्रतिबंधाविशेषात् चरणारोग्यप्रतिबंधविशेषात् स्वाभाविकात् कारणात्परीषहोपसर्गभावेऽपि क्षुद्दिव्यादिव्यसनभावेऽपि तत्वसंवेदनात् सम्यक्ज्ञानाद्धेतोः। तथा कुशलाशयवृद्ध्या क्षायोपशमिकभाववृद्ध्या स्थिराशयत्वेन चित्तस्थैर्येण हेतुना तथा धर्मोपयोगात् इति कर्त्तव्यताबोधात्कारणात् सदास्तिमितः भावद्वंद्वविरहेण प्रशान्तः। किमित्याह तेजोलेश्यया शुभप्रभावरूपया वर्द्धते वृद्धिमनुभवति। गुरुं च बहु मन्यते । भाववैद्यकल्पं कथमित्याह। यथोचितमौचित्येन असंगप्रतिपत्या स्नेहरहितस्तत्वभावप्रतिपत्त्या। किमस्या उपन्यास इत्याह । निसर्गप्रवृत्तिभावेन सांसिद्धिकप्रवृत्तित्वेन हेतुना एषाऽसंगप्रतिपत्तिर्गुर्वी व्याख्याता भगवद्भिः। किमित्याह। भावसारा तथौदयिकभावविरहेण विशेषतोऽसंगप्रतिपत्तेः। इहैव युक्त्यंतरमाह । भगवद्बहुमानेन अचिंत्यचिंतामणिकल्पतीर्थकरप्रतिबंधेन कथमयमित्याह । यो मां प्रति मन्यते भावतस्स सुकर्मेत्येवं तदाज्ञा भगवदाज्ञा। इत्थं । तत्वं व्यवस्थितं अन्यथेत्यादि । अन्यथा गुरुबहुमानव्यतिरेकेण क्रियाऽप्यक्रिया प्रत्युपेक्षणादिरूपा अक्रिया सत्क्रिया तान्यां किंविशिष्ट इत्याह। कुलटानारी क्रियासमा दुःशीलवनितोपवासक्रियातुल्या ततः किमित्याह। गर्हिता तत्ववेदिनां विदुषां कस्मादित्याह। अफलयोगतः इष्टफलादन्यत्फलं मोक्षात्सांसारिकमित्यर्थः । तद्योगात् एतदेव स्पष्टयन्नाह । विषान्न तृप्तिफलमत्र ज्ञानमल्पं विपाकदारुणं विराधनासेवनात्। एतदेवाह। आवर्त्त एव तत्फलं आवर्त्तते प्राणिनोऽस्मिन्नित्यावर्त्तः संसारः । स एव तत्वतस्तत्फलं विराधनाविषजन्यं । किंविशिष्ट आवर्त्त इत्याह। अशुभानुबंधः। तथा विराधनोत्कर्षेण एवं सफलं गुर्वबहुमानमभिधाय तद्बहुमानमाह (आयत इत्यादिना) आयतो गुरुबहुमानः साद्यपर्यवसितत्वेन दीर्घत्वादायतो मोक्षः स गुरुबहुमानः गुरुभावप्रतिबंध एव मोक्ष इत्यर्थः । कथमित्याह। अवंध्यकारणत्वेन मोक्षं प्रत्यप्रतिबद्धसामग्रीहेतुत्वेन। एतदेवाह । अतः परमगुरुसंयोगः । अतो गुरुबहुमानात्तीर्थकरसंयोगः। ततः संयोगादुदिततत्संबंधत्वात् सिद्धिरसंशयमुक्तिरेकांतेन। यतश्चैवमत एषोऽत्र शुभोदयो गुरुबहुमानः। कारणे कार्योपचारात्। यथाऽऽयुर्घृतमिति । अयमेव विशेष्यते प्रकृष्टतदनुबंधः प्रधानशुभोदयानुबंधस्तथा विराधनोत्कर्षेण तथा भवव्याधिचिकित्सकगुरुबहुमान एव हेतुफलभावात् । न इतः सुंदरं परं गुरुबहुमानात् । उपमाऽत्र न विद्यते- गुरुबहुमाने सुंदरत्वेन भगवद्बहुमानादित्यभिप्रायः ॥ पं. सू. टी.॥

(१६) नमस्कार आचार्यस्य ॥

(णमो आयरियाणं) नमस्यता त्रैयामाचारोपदेशकतया

पकारित्वादिति ॥ भ० श० १ उ० १॥

॥ आचार्य्यनमस्कारे फलं यथा ॥

आयरियनमोक्कारो, जीवं मोएइ भवसहस्साओ ॥
भावेण कीरमाणो, होइ पुणो बोहिलाभाए ॥ १ ॥
आयरियनमोक्कारो, धन्नाण भवक्खयं करेंताणं ।
हिययं अणुमोयंतो, विसोत्तिया वारओ होई ॥ २ ॥
आयरियनमोक्कारो, एवं खलु वण्णिओ महत्थो त्ति ।
जो मरणम्मि उवग्गे, अभिक्खणं कीरए बहुसो ॥ ३ ॥
आयरियनमोक्कारो, सव्वपावप्पणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसिं, तइयं हवइ मंगलं ॥ ४ ॥
आ० म०२ खं १ अ० ॥

(आचार्य्यस्य मङ्गलत्वम्मङ्गलशब्दे)

(१७) वैयावृत्यं गुरोः ॥

आचार्य्यस्य वैयावृत्यमतिदेशशब्दे (वेयावच्च) शब्दे च ॥

आचार्य्यवैयावृत्ते फलं यथा ॥

गुरुवेयावच्चेणं, सदणुट्ठाणसहकारिभावाओ ॥
विउलं फलमिब्भस्स व, विसोवगेणावि ववहारे॥ २२ ॥

व्या०।गुरुवैयावृत्त्येन आचार्यविषयेण भक्तादिदानग्लानताप्रतिचरणादिलक्षणेन हेतुना सदनुष्ठाने गुरुगते जिनप्रवचनार्थप्रकाशनगच्छपालनादौ सहकारिभावो यः सहायककरणं स तथा तस्मात्सदनुष्ठानसहकारिभावतः। किमित्याह ।विपुलं महत्फलं कर्मक्षयलक्षणं गुरुकुलवासिनो भवति । कस्मिन्निवेत्याह । इभ्यस्येव सुवर्णलक्षादिमान् महाधनपतेरिव ।स केन विंशोपकेनाऽपि तदीयद्रव्यविंशतितमभागेनाऽपि । आस्तां सर्वेण व्यवहारे वाणिज्ये क्रियमाणे सति । तथा हि । लक्षपतिसंबन्धिना लक्षविंशतिभागेनाऽपि । आस्तां सर्वेण सहस्रपंचक लक्षणेन व्यवहारतो वणिक्पुत्रस्य महान् लाभो भवत्येव । गुरोर्वैयावृत्यमात्रमपि कुर्वन् महत्फलमासादयति गुरुविषयवैयावृत्यमात्रस्याऽपि महत्वादिति। अन्ये त्वाहुः। इभ्यस्य गृहागतस्य विंशोपकेनाऽपि व्यवहारे सत्कार इति गाथार्थः। पंचा० ११ वृ. ।

आचार्य्यस्य च बलाभियोगमन्तरेणैव मोक्षार्थिना स्वयमेव प्रत्युतेच्छाकारं दत्वाऽभ्यर्थितेनैव वैयावृत्यादि कर्त्तव्यमितीच्छाकारशब्दे॥

(१८) गच्छाधिपतिः केन कर्म्मविपाकेन भवति ॥

केन कर्मविपाकेनाऽऽचार्यो भूत्वा ईप्सितं लभत इति महानिशीथे ५ चूलि० यथा ॥

से भयवं ताकयरेणं कम्मविवागेणं तेणं गच्छाहिवइणा होऊण पुण इच्छिउत्तं समाच्छियात्ति गोयमा ! मायापच्चएणं से भयवं कयरेणं से मायापच्चए जेणं पयणीकयसंसारे वीसयलपावायपणावीयविबुहजणे णिंदे सुराहिवदुद्दव्ववयखंरुत्तुमसूसकरियसमभावपमाणपागनिप्फलमोयगमल्लगे इव तस्स भक्खे सयलसुक्खे साणमाहूए रुयलसुहासणस्स परमपवित्तलमस्स णं अहिंसालक्खणसमणधम्मस्स विग्घे सम्मग्गला निरयदारभूए सयलअकित्तीकलंकलिकलहवेरायणवनिहाण निम्मलकुलस्स णं दुद्धरिसअकज्जकज्जलकन्हमसीखपणे तेणं गच्छाहिवइणा इत्थीभावे णिवितिए त्ति गोयमा! णो तेणं गच्छाहिवइ तेहिएणं अणुमवि माया कया सेणं तहा पुहवइचक्कहरे भवित्ता णयरलोगभीभूए णिव्विसयकामभोगे तणमिव परिविच्चाणं तं तारिसं चोद्दसरयणनवनिहीतो चोसट्ठीसहस्से वरजुवईणं बत्तीससाहस्सीओ अणादिवरनरिंद छन्नउईगामकोडीओ जाव ण छक्खंडभरहवासस्स णं देविंदोवमं महारायलच्छितीयं बहुपुभचाईए णीसंगे पव्वइए य थोवकालेणं सयलगुणोहधारी महातवस्सी सुयहरे जाए जोगेणाऊणं गुरूहिं गच्छाहिवई समणुभाए तहेव गोयमा! तेणं सुदिट्ठसुग्गइपहेणं जहोवइट्ठसमणड्ढेणं माणेणं उग्गाभिग्गहाविहारत्ताए घोरपरिसहोवसग्गाहियासणेणं रागदोसकसायविवज्जणेणं आगमाणुसारेणं सुविहिए गणं परिचालणेणं आजम्मसमणा कप्पपरिभोगवज्जणेणं छक्कायसमारंभविवज्जणेणं ईसंपिदि ओरालियमेहुणपरिणामविप्पमुक्को णं इह परलोगासंसाइणियाणमायाइसल्लाविप्पमुक्केणं णीसल्लालोयणनिंदणगरहणेणं जहोववइट्ठपायच्छित्तकरणेणं सव्वत्था पडिबद्धत्तेणं सव्वपमायालंबणं विप्पमुक्के णइ पइणिट्ठिअवसेसीकए अणेगभवसंचिए कम्मरासी अन्नेगभवे तेणं माया कया तप्पच्चईणं गोयमा ! सविवागे से भयवं कयरा उ ण अन्नभवे तेणं महाणुभागेणं मायाकया जीएणं एरिसो दारुणविवागो गोयमा ! सेणं महाणुभागस्स गच्छाहिवईणो जीवेण पूणाहिएयणा फलं लक्खइमेव भवग्गहणा ॥

आचार्य्यस्य प्रायश्चित्तं महानिशीथे. अ.६ यथा. ॥

से भयवं जेणं गुरुं सहस्साकारेणं अन्नयरे ठाणे चुकेज्ज वा खलेज्ज वा सेणं आराहगेण वा गोयमा ! गुरूणं गुरुगुणेसु वट्टमाणो अखलियसीले अपवादी अणालस्सी सव्वालंबणविप्पमुक्के समसत्तुमित्तपक्खे सम्मगपक्खवाए जावणं कहाभाणिरे सद्धम्मजुत्ते भवेज्जा णो णं उम्मग्गदेसए अहम्माणुरए भवेज्जा सव्वहा सपयरिक्खणं गुरुणा ताव अप्पमत्तेणं भावियव्वं। णो णं पमत्तेणं जउणपमादी भवेज्जा सेणं दुरंतपंतलक्खणे अदट्ठव्वे महापावे जईणं सवीरिए हवेज्जा। तेणं कयदूच्चरियं जहावत्तं सपरसीसगणाणं पक्खाविय जहा दुरंतपंतलक्खणे अदट्ठव्वे महापावकम्मकारी संमग्गं पणासेउ अहयंतिएवं निंदिभा गरहित्ताणं आलोइत्ताणं च जहा भणियं पायच्छित्तमणुचरज्जा । सेणं किं छद्देसेणं आराहगे भवेज्जा ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जइणं नीसट्ठे नियट्ठी विप्पमुक्के न पुणो संमग्गाउ परिन्नंसेज्जा । अट्ठाणं परिजस्स तओ णारोहेइ ॥

आलोचनाया अप्रवृत्ते आचार्यस्य प्रायश्चित्त (आलोयणा) शब्दे ॥ आचार्यस्यावश्यकप्रमादे प्रायश्चित्त (आवस्सग) शब्दे ।

(१७) अतिशया आचार्यस्य ॥

आचार्यस्य पञ्चातिशया (अइसेस) शब्दे ॥

आचार्यस्य बहिर्गमने दोषः (अइसेस) शब्दे, (निग्गमन) शब्दे च ॥

आचार्यस्य संज्ञाभूमिगमन(अइसेस)शब्दे(थंडिल्ल)शब्दे च।

गोचरचर्यो कारणेऽसत्याचार्येण न गंतव्येति (अइसेस) शब्दे (गोयरचरिया) शब्दे च ॥

आचार्यस्य शुद्धवस्त्रादीकशम (इसेस) शब्दे ॥

उपाश्रयस्याऽन्तर्बहिर्वा निवसन्नाचार्यो न दुष्यतीत्य(इसेस) शब्दे वसतिशब्दे च ॥

आचार्यस्याचारप्रकल्पे भ्रष्टे कर्तव्यता (आयारपकप्प) शब्दे।

आचार्यः स्मरन्नस्मरन् वा कल्पाकं उपस्थापयेद्योपस्थापयेद्वा तत्र कर्त्तव्यता (उवट्ठाण) शब्दे ॥

आचार्योपसम्पत्(उवसंपया) शब्दे ॥

आचार्ये प्रमादिनि शिष्याणां गणान्तरोपसंपत्तिः (उवसंपया) शब्दे ॥

आचार्यादौ मृते ऽन्यस्योपसंपत् (उवसंपया) शब्दे।

सैयमसंरक्षणार्थमन्यत्रोपसम्पद्येत तत्र दृष्टान्तादिः (उवसंपया) शब्दे ॥

वर्षास्वाचार्ये कालगतेऽन्यत्रोपसम्पत्तिः (उवसंपया) शब्दे।

आचार्यस्य कृतिः (कम्म) शब्दे ॥

आचार्यस्य तीर्थकरसमानत्वं (वेयावच्च) शब्दे ॥

त्रिकृत्वः कृतः शिष्य आचार्यस्येति (सीस) शब्दे ॥

आचार्यस्तुतिः (थुई) शब्दे ॥

(२०) निर्ग्रन्थीनामाचार्यः ॥

श्रमणीनामाचार्यावश्यकता यथा ॥

आयरियउवज्झातो, तइया य पत्तिणीओ समणीणं ॥
आणसि अट्ठापत्ती, होइ एएसि-तिएहंपि ॥

श्रमणीनामाचार्य उपाध्यायस्तृतीया प्रवर्त्तिनी च भवति । श्रमणानां त्वाचार्योपाध्यायास्ततोऽप्येषामर्थायेति । यदुक्तं सूत्रद्वयेऽपि व्याख्यातम् । व्य० २ भा० ३ उ० ॥

तथा च व्यवहारसूत्रम् ॥

तिवासपरियाए समणो निग्गंथे तीसवासपरियाए समणीए निग्गंथीओ कप्पइ उवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए धारित्तए । वा पंचवासपरियाए समणे निग्गंथे सट्ठिवासपरियाए समणीए निग्गंथिए कप्पइ आयरियत्ताए उद्दिसित्तए ॥ १६ ॥

व्याख्या । त्रिवर्षपर्यायश्रमणो निर्ग्रन्थस्त्रिंशद्वर्षपर्यायायाः श्रमण्याः कल्पते उपाध्या[?]या उद्देष्टुं। पंचवर्षपर्यायः श्रमणो निर्ग्रन्थः षष्टिवर्षपर्यायायाः श्रमण्या निर्ग्रन्थ्याः कल्पते आचार्यतया उपाध्यायतया उद्देष्टुमिति एष सूत्राक्षरार्थः ॥ संप्रति भाष्ये विस्तरः ॥

तइयंमित्त उद्देसे, दिसासु जा गणहरा समक्खाओ ॥
सो चेव य होइ इहं, परियातो वन्नितो नवरं ॥

तृतीये उद्देशे दिक्षु आचार्योपाध्यायप्रवर्त्तिस्थविरगणावच्छेदिरूपासु यो गणधर आचार्य उपाध्यायो वा समाख्यातः स एव इहाऽपि भवति ज्ञातव्यः । नवरमिह पर्यायोऽधिको वर्णितः तत् स एव प्रवक्ष्यते ॥

तेवरिसो तीसिया, जहएणयत्ताए कप्पइ उवज्झे ॥
वितियाए सट्ठि सयरा, य जम्मणयणवास आयरितो ॥

त्रिवर्षत्रिवर्षपर्याय उपाध्यायः कल्पते त्रिंशत्कायास्त्रिंशद्वर्षपर्यायाया जन्मना जन्मपर्यायेण जघन्यतश्चत्वारिंशत्कायाश्चत्वारिंशद्वर्षपर्यायाया उत्कर्षतो देशोनपूर्वकोटिकायाश्चत्वारिंशत्कथं स्यादिति चेदुच्यते । दशवर्षजातायाः प्रव्रज्यायाः प्रतिपत्तिस्त्रिंशद्वर्षाणि व्रतपर्याय एवं चत्वारिंशत्तथा द्वितीयस्याः श्रमण्या निर्ग्रन्थ्याः षष्टिवर्षव्रतपर्यायाया जन्मतो जघन्यतः सप्ततीःसप्ततिवर्षपर्याय आचार्यः कल्पते। उत्कर्षतो देशोनपूर्वकोटिकाया जन्मनः सप्ततिवर्षाणि कथं भवतीति चेदुच्यते। दशवर्षपर्यायायाः प्रव्रज्याप्रतिपत्तिः प्रव्रजितायाः षष्टिवर्षाणीति ।

गीयागीतावुड्ढा व, अवुड्ढा जाव तीसपरियाया।
अरिहंति तिसुसंगहं सा, दुसंगहं सा जयपरेणं ॥

गीता वाऽगीतार्था वा भवतु अगीता वा गीतार्था वा तथा वृद्धा च । वा भवतु । अवृद्धा वा यावत् त्रिंशद्वर्षपर्यायास्तावत्त्रियमात् त्रिसंग्रहं त्रयाणामाचार्योपाध्यायप्रवर्त्तिनीनां संग्रहमर्हति द्विसंग्रहं वा त्रयं परेणं त्रिंशद्वर्षपर्यायात्परतोऽभवत्कीता वि कल्पना त्रिसंग्रहमुपाध्यायस्य प्रवर्तिन्या वा अरोधतः । एतदेव भावयति ॥

वयपरिणया य गीया, बहुपरिवारा य निव्वियारा व।
होज्जउ अणुवज्झाया, अप्पवत्तिणि जाव सट्ठीओ ॥

वयसा परिणता गीतार्था बहुपरिवारा निर्विकारा च सा यावत्षष्टिस्तावदनुपाध्याया वा भवेदप्रवर्त्तिनी वा एवं भवति द्विसंग्रहिका ।

एमेव अणायरिया, थेरी गणिणा व होज्ज इयरीय ।
कालगतेसम्माए व, दिसाए धारेंति पुव्वदिसं ॥

षष्टिवर्षेभ्यः परतो गणिनी प्रवर्त्तिनी इतरा वा अप्रवर्त्तिनी स्थविरा अनाचार्या भवेत् । कथमित्याह (कालगतेसमाए इत्यादि) कालगतायामपसमार्यां वा दिशि आचार्यलक्षणायां षष्टिवर्षेभ्यः परतो वर्तमाना आर्यिका धारयंति पूर्वां दिशमेवमनाचार्या भवंति । किंकारणं संयतीनामवश्यं संग्रहीष्यते तत आह ॥

बहुपव्वाय अज्जाउ, नियमा पुण संगहे अपरिभूया ।
संगहिया पुण अज्जा, थिरयावरसंजमा होइ ॥

आर्या पुनर्बहुमत्यपाया ततः संग्रहे सति नियमादपरिभूता भवति । पराभवस्यानमुपजायते संगृहीता पुनरार्या स्थिरस्थावरसंयमा भवति । ततः संग्रह इष्यते । अथ के अपाया इत्याह ।

पेसी अइया दीया, जे पुव्वमुदीहिहा अवायाउ ॥
ते सव्वे वत्तव्वा, दुसंगहं वजयं तेणय ॥

पूर्वं कल्पाध्ययने द्विसंग्रहं वर्णयता पेसीअजिका आदि शब्दात्कुलपुत्रभोजिकादिपरिग्रहः। इत्यादिका उदाहृता अपायास्ते सर्वेऽपि वक्तव्यास्ता बहूपायदर्शनतः संग्रहो मन्यंत तदेव दर्शयति ॥

अज्जाउविउलखंधा, लता वाएण कंपते जहेव वा ॥
नावा अभंधणावा, उवमा एस असंगहे होइ ॥

अजातविपुलस्कंधा यथा वातेन लता कंपते जद्वे वा । यथा अबंधना बंधनरहिता नौरेषा असंग्रहे उपमयाऽप्यसंगृहीता सती बहुप्रत्यपायवातोत्कलिकाभिरितस्ततः संयमात्कम्पते इत्यर्थः ॥

दिट्ठंतो गुव्विणीए, उ कप्पट्ठगबोधिएहि कायव्वो ॥
गब्भत्थे रक्खंती, सामत्थंरवञ्जुए आगमे ॥

अत्र लोके दृष्टान्तो गुर्विण्या कर्तव्यो लोकोत्तरे कल्पस्थकबोधिकैः कुलकाचौरैः तत्र गच्छे पुत्रे स्वगोत्रराजादयस्तां रक्षति स एष पुत्रप्रभावः। अवरे गते चौरे क्षुल्लकस्य तन्मारणाय साम र्थ्यपर्यालोचनं सोऽप्येष पुरुषस्य प्रभावस्तत्र प्रथमतो गुर्विणी दृष्टांतं विभावयिषुस्तावदिदमाह ॥

सगोत्तरायमादीसु, गब्भत्थोवि धणं सुतो ॥
रक्खए मायरं चेव, किमुता जायवड्ढितो ॥

गर्भस्थोऽपि यतः स्वगोत्रराजादिषु धनं जिघृक्षुषु धनं रक्षति मातरं च किं पुनर्जातः प्रवर्द्धितश्च ससुतरां रक्षति । सूत्रे यथा गर्भस्थोऽपि रक्षति तथा प्रतिपादयति ॥

वणिएपरायासिट्ठे, गब्भिणिधणमच्छ धूपसूयाए ॥
सव्वं सुयस्स दाहं, धूया पवत्तवेवाहे ॥

एको वणिक् तस्य भार्या आपन्नसत्त्वा स वणिक् कालगतस्ततः केनाऽपि राज्ञः शिष्टं देव! गुर्विण्या धनमस्ति राज्ञोक्तं तिष्ठतु तद्वित्तं । यदि प्रसूतायाः सुतो भविष्यति । ततः सर्वं सुतस्य दास्यामो दुहितरि च जातायां यावता भक्तं यावता च विवाहस्तावन्मात्रं दास्यामः। एवं गच्छोऽपि । गर्भस्थोऽपि सुतो राज्ञःस्वगोत्रेऽयश्च धनं रक्षति मातरं च। अन्यथा स्वगोत्रैराज्ञा चाद्यापि तव पार्श्वे धनमस्तीति बहुधा विलुप्यते ॥ भावितं लौकिकमुदाहरणमधुना लोकोत्तरं भावयति ॥

लोउत्तरिए अज्जा, खुड्डग वोहिहरणं पसरणीयं ॥
चोरो मरणं कूवे, सामत्थण चारणा लेट्ठ ॥

लोकोत्तरिकोऽयं दृष्टांतः। कचिद्ग्रामे मालवशबरानीकमापतितं। तत्र कैश्चिद्बोधिकैश्चौरैरार्यिकाणामेकस्य क्षुल्लकस्य हरणं कृतं। ते चौरा अन्यस्यैकस्य चौरस्यार्जिकाः क्षुल्लकं च समर्प्याऽन्यस्य हरणाय गताः। स चैव चौरस्तृषापीडितः सन् कूपे पानीयायावतीर्णः । ततः क्षुल्लकश्चिन्तयति । वयमिति । वयमेतावत्संख्याका बहवोऽयमेकस्ततः किमेकस्यापि न प्रभविष्याम इति विचिंत्य ता आर्यिका भणिताः। पाषाणपुंजमेनं कुरुतस्ता नेच्छंति नः मारयिष्यतीति कृत्वा ततः क्षुल्लकेन तद्वचः श्रुत्वा महानेकः पाषाणस्तस्योपरि मुक्तस्ततः पश्चात्ताभिः सर्वाभिरेककालं पाषाणा मुक्तास्ततः पाषाणपुंजे नाक्रांतश्चोरोमरणमुपागमत् । ततः क्षुल्लकेन तास्ततो निष्काशिता एवं क्षुल्लको रक्षति किंपुनर्महान् तत एतेन कारणे न उपाध्याय आचार्यश्च त्रिवर्षपंचवर्षपर्यायाष्टिंशद्वर्षषष्टिवर्ष-

पर्यायाणामपि गीतार्थानामपि दीयते। व्य. २ खं. ७ उ. ।

(२१) आचार्ये कालगते आचार्यान्तरस्थापनं ॥

(१) आयरियउवज्झाए गिलायमाणे अन्नतरं विवज्ज अज्जो माएणं कालगतंसि समणंसि अयं समुक्कसियव्वे सेय समुक्कसणारिहे समुक्कसियव्वे णो समुक्कसिणारिहे णो समुक्कसियव्वे अत्थि यो अत्थ अन्नेकेइ समुक्कसिणारिहे से समुक्कसियव्वे णत्थि या अत्थ केइ अन्ने समुक्कसिणारिहे सो चेव समुक्कसियव्वे । तंसि चणं समुक्कट्ठंसि परोवएज्जा दुसमुक्कट्ठंति अज्जो णिक्खिवाहितस्स णं णिक्खिवमाणस्स वा णत्थि केइ अत्थे एवापरिहारे वा जे तं साहम्मियं अहाकप्पाणं णोअब्भुट्ठे तेसिं व सव्वेसिं तप्पति यं छे एवा परिहारे वा ॥ व्य० सू० उ. ४ ॥

(आयरिय उवज्झाए गिलायमाण) मित्यादि अथास्य सूत्रस्य कः संबंध इत्यत आह ॥

आयरियत्ते पगते, अणुयत्तं तेयकालकारणंमि ।
गच्छे सावेक्खोवा, वुत्तोइ मतो वि सावेक्खो ॥

आचार्यत्वं पूर्वसूत्रेषु प्रकृतमनुवर्त्तमानं च कालकरणं तत आचार्यत्वे प्रकृते अनुवर्तमानमेवाकालकरणे इदमपि सूत्रमापतितमथाऽप्याचार्यत्वस्य कालकरणस्य वाभिधास्यमानत्वात् यदि वा पूर्वमर्थतः सापेक्ष उक्तोऽयमपि चाधिकृतसूत्रे णाभिधीयमानः सापेक्ष इति सापेक्षत्वप्रकरणादनंतरमस्य सूत्रस्योपनिपातः। अनेन संबंधेनायातस्य व्याख्या ॥ आचार्य उपाध्यायो वा धातुक्षोभादिना ग्लायन् अन्यतरमुपाध्यायप्रवर्त्तिगणावच्छेदकगीतार्थभिक्षूणामन्यतमं सापेक्षः सन् वदेत् । आर्य! मयि कालगते सति अयं समुत्कर्षयितव्यः आचार्यपदे स्थापयितव्यः। सचेत्परीक्षया समुत्कर्षणार्हो भवतीति । ततः समुत्कर्षयितव्यो नोचेत्समुत्कर्षणार्हस्तर्हि नो समुत्कर्षयितव्यः । अथ यो ऽसौ पूर्वमाचार्येण समीक्षितः सोऽभ्युद्यतविहारमभ्युद्यतमरणं वा व्यवसितस्तत्रमाह । अस्ति चात्र गच्छेऽन्यः कश्चित्समुत्कर्षणार्हः स समुत्कर्षयितव्यः अथ नास्ति कश्चिदन्यः समुत्कर्षणार्हस्तर्हि स एवाभ्यर्थ्य समुत्कर्षयितव्यः। तस्मिंश्च समुत्कर्षिते परोगच्छे वदेत् दुःसमुत्कृष्टं ते तव हे आर्य !तस्मान्निक्षिप एवं तस्य निक्षिपतो नास्ति कश्चिच्छेदः परिहारो वा । उपलक्षणमेतदन्यतपो वा सत्तरात्रादिकं ये पुनः साधर्म्मिका गच्छसाधवो यथा कल्पेन आवश्यकादिषु यथोक्तविनयकरणलक्षणेन नोत्थाय विहरंति तेषां सर्वेषां प्रत्येकं तत्प्रत्ययं यथा कल्पेनाऽभ्युत्थानप्रत्ययश्छेदः परिहारः सप्तरात्रं वा तपः प्रायश्चित्तमिति सूत्रसंक्षेपार्थः । एनमेव भाष्यकृत्प्रपंचयन्प्रथमतो गिलायमाण इत्यस्यार्थं भावयति ॥

अतिसयनरिट्ठतो वा, धातुक्खोभेण वा धुवं मरणं ।
नाउं सावेक्खगणी, भणंति सुत्तम्मि जं वुत्तं ॥

अतिशयेन श्रुतज्ञानातिशयादिना अरिष्टतो वा अरिष्टदर्शनतो वा धातुक्षोभेण वा ध्रुवं मरणं ज्ञात्वा सापेक्षा गणापेक्षोपेता गणिनो यत्सूत्रे उक्तं (मज्झेकालगयंमी) त्यादि तद्भणंति सांप्रत (मन्नतरं चएज्जा) इत्यस्यार्थमाह ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्नयर उवज्झाया, दिगाउ गीयत्थपंचमा पुरिसा ।
उक्कसणमणणत्तिय, एगट्ठं ठावणा चेव ॥

उपाध्यायादिका उपाध्यायःप्रवर्त्ती गणावच्छेदको गणी गीतार्थश्च भिक्षुरित्येवं रूपा गीतार्थपंचमाः पुरुषाः तेषामन्यतमोऽन्यतरः समुत्कर्षणं मननं स्थापना आचार्यत्वस्थापनमित्यर्थः ॥

पुव्वं गावेति गणे, जीवंतो गणहरं जहा राया ।
कुमरेउ परिच्छित्ता, रज्जरिहं ठावए रज्जे ॥

पूर्वमेव जीवन्नाचार्यो यः शक्तिमान् तं गणधरं गणे स्थापयति। यथा राजा कुमारान्परीक्ष्य यः शक्तिमस्तया राज्यार्हस्तं राज्ये स्थापयति । कथं परीक्षेत्यतः परीक्षाविधिमाह ॥

दहि कुम अमच्च आणत्ती, कुमारा अतिणएतहिंएको ।
पासे निरिक्खिकणं, असिमंति पवेसणे रज्जं ॥ १ ॥
एगो राया बहुपुत्तो, सो चिंतेइ जो सत्तिमंतो ।
तं रज्जे ठवेहामि, बतोकुमारे परिच्छिउ माढत्तो ॥ २ ॥
आणत्ता पुरिसा दहि, घरुगे एगत्थओगासे ।
ठवेह तेहिं ठवेत्ता, रएणो निवेदियं अमव्वो जाणितो। ३।
विच्छ तुमं दाहिघकाणं, पासे अत्था ह्गितोअमच्चो ।
अन्नाते कुमारा सद्दाविता, जाणिया वत्थदहिघरूमेकेकं ४
आणेह सेगया अप्पं, वहंतयं न पासंति ।
ततो ते अप्पासेता सयं चेव दहिघरूमेकेकं ॥ ५ ॥
घेत्तुंसंपट्ठियाएकोकुमारो, पासाणि निरिक्खेत्ता आसुं च ।
हंतयमपासंतो अमच्चं जणति दहिघरूं अमच्चे ॥ ६ ॥
नेच्छइ कुमारेण असिं, उज्जिरिऊण जणइजइनेच्छासि
सीसतेपाडेमि अमव्वेणगहितो, दहिघरूो कुमारो तं घेत्तुं
गतो रायसमीवं ॥ रएणा एस सत्तिमंतोत्ति परिक्खि
त्ता रज्जेठवितो ॥ ७ ॥

अक्षरयोजनात्वियं । दधिकुटा एकत्र राज्ञा पुरुषैः स्थापितास्तदनंतरममात्यस्याज्ञप्तिः प्रदत्ता। यथा घटानां पार्श्वे तिष्ठ। तत कुमारा दधिघटानामानयने निरोपितास्तत्रैकः कुमारः पार्श्वात् निरीक्ष्याऽन्यमपश्यत् अमात्यस्योपरि असिरुद्गारितस्ततो मंत्रिणा दधिघटो गृहीतस्तेन दधिघटस्य प्रवेशने कुमारेण कारिते दृष्टे तस्य कुमारस्य राज्यं दत्तवान् । अत्रोपनयमाह ॥

दसविहवेयावच्चतिउ, कुसलउज्जयाणमेवं तु ।
ठावेंति सत्तिमंतं, असत्तिमंते बहूदोसा ।

एवमाचार्योऽपि दशविधवैयावृत्त्ये उद्यतानामुद्यतमतीनां मध्ये (कुसलत्ति) यो यत्र कुशलस्तस्य तत्र नियोगं करोति तं तत्र नियोजयति। यस्तं शक्तिमंतं गणधरं स्थापयति अशक्तिमति तु स्थाप्यमाने बहवो दोषाः के ते इतिचेदुच्यते। सोऽशक्तिमत्वेन शक्नोति साधून् यथायोगमनियोक्तुं। तत आहारोपधिपरिहानिर्निर्जरातश्च ते परिभ्रश्यंति। अथाशुकारणतः पूर्वं न स्थापितं स्यात्ततोऽपस्थापिते गणधरे स कालगतो न प्रकाशयितव्य इत्यादि पूर्वोक्तमपि च सातव्यम् ॥
अथैव विधिशेषमाह ।

दोसादीगीयत्थे पुव्वुत्त, गमेण सति गणं विजए ।
मीसेव अणरिहे वा, अगीयत्थे वा जएज्जाहि ॥

आचार्येण शिष्या निर्मापितास्ते द्वौ त्रयश्चत्वारो वा तेवयुस्तेषु द्व्यादिषु गीतार्थेषु सति प्रभवति परिवारे पूर्वोक्तागमेन तृतीयोद्देशकोक्तेन प्रकारेण गणं विभजेत् तेषु सर्वेष्वपि विभज्य पृथक् २ गणो दातव्य इत्यर्थः ॥ तथा मिश्रानाम तेषामाचार्यशिष्याणां मध्ये केचित् गीतार्थाः केचिदगीतार्थास्तानपि विभजेत् । किमुक्तं भवति। यो गीतार्थास्तान् गणधरपदे स्थाप्य तथा पृथक् कुर्यादितरांस्त्व गीतार्थाननर्हतया अथ वा यैरर्थो देशतो गृहीतो न देशतो गृहीतस्ते मिश्रास्तान् विभजेत् एते मिश्रा अपि योग्या एते त्वयोग्या इति विभागेन स्थापयेत् तथा ये शरीरेण जुंगिकतया*सर्वथा गणधरपदानर्हास्तानपि विभजेत् वाशब्दोऽपि शब्दार्थः ॥ एकांतेनाऽयोग्यतया पृथक् स्थापयेत् अगीतार्थत्वाच्च भजेत्। इयमत्र भावना। योऽगीतार्थानामाचार्यलक्षणोपेतास्तानन्नर्हतया स्थापयति ये पुनरगीतार्था अपि संज्ञान्य श्रुतसंपदा आचार्यलक्षणोपेतास्तान् योग्यतया पृथक् स्थापयति ॥
संप्रति मिश्रपदव्याख्यानार्थमाह ॥

गीयागीया मिस्सा, अहवा अत्थस्स देसो गहितो उ ।
तत्थ अगीया णअरिहा, आयरिय तस्स होंतीउ ॥

केचित् गीता गीतार्थाः केचिदगीतार्था एते मिश्रा अथवा अर्थस्य देशो यैर्गृहीतस्ते मिश्रास्तत्र ये अगीता आचार्यलक्षणपरिभ्रष्टाश्च ते आचार्यत्वस्थाऽनर्हा भवंति ॥ संप्रति " सेय समुक्कसणारिहे समुक्कसियव्वो नासमुक्कसणारिहे णो समुक्कसियव्वे,, इत्यस्य भावार्थमभिधित्सुः प्रथमतः पूर्वपक्षमुत्थापयति ॥

कहमरिहो वि अणरिहो, किंतुहु असमिक्खकारिणो
थेरा । ठवेंति जं अणरिहं, चोयग!सुण कारणमिणं तु ॥

परो ब्रूते । कथं पूर्वमाचार्यविद्यमानवेलायामर्होऽपि सन् पश्चादनर्हो जातो येनोच्यते। स चेत्समुत्कर्षणार्हस्तर्हि समुत्कर्षयितव्यः। किंतु वितर्के वितर्कयामि। हु निश्चितमसमीक्षितकारि स्थविरा आसीरन्। यदनर्हं स्थापयंति। यथायं समुत्कर्षयितव्यः अत्र सूरिः प्राह। चोदक! शृणु कारणमिदं येन पूर्वमर्होऽपि पश्चादनर्हो जातः ॥
तदेव कारणमभिधित्सुर्द्वारगाथामाह ॥

उप्पियणभीतसंदिसए, देसिए चेव फरुससंगहिए ।
वायगनिप्फावग, असीसइच्छाअहाकप्पो ॥

(उप्पियणं) मुहुः स्वसनं तद्वारं भीतसंदेशनद्वारमदेशिकद्वारं परुषद्वारमेतानि चत्वार्यपि प्रस्तुतार्थविषयाणि । संग्रहद्वारं वाचकनिष्पादकं द्वारमन्यशिष्यद्वारमिच्छाद्वारं यथाकल्पद्वारमित्येतानि संग्रहादीनि द्वाराणि (अत्थियाइं च अणे समुक्कसणारिहे) इत्यादि सूत्रविषयाणीति द्वारगाथा संक्षेपार्थः ॥
संप्रति उप्पियणद्वारं विभावयितुमाह ॥

सन्निसेज्जागयं दिस्सा, सिस्सेहिं परिवारियं ।

---

* हस्तपादादिशरीरविकलतयेत्यर्थः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कौमुदी जोगजुत्तं व, तारापरिवुडं ससिं ॥१॥
गिहत्थपरतित्थीहिं, संसयत्थिहि निचसो ।
सिविज्जंतं विहगेहिं, सरं वा कमलोज्जलं ॥२॥
खज्जए अणुसासंतं, सद्धावंतं समुज्जए ।
गणस्स गिलाकुव्वंतं, संगहं विसए सए ॥३॥
इंगियागारदक्खेहिं, सया छंदाणुवत्तिहिं ।
अविकारियानिद्देसं, रायाणं च अनायकं ॥४॥

सती नाम शोभना स्वकीया वा निषद्या सन्निषद्या तस्यां गतमुपविष्टं शिष्यैःपरिवारितमित्थंभूतमुपमयति। कौमुदी कार्त्तिकी पौर्णमासी तद्योगयुक्तं तारापरिवृतं शशिनमिव।१। तथा गृहस्थैः परतीर्थिभिः संशयार्थिभिश्च साधुभिर्नित्यशः सर्वकालं सेव्यमानं किमिवेत्यत आह (कमलोज्जलं) कमलपरिमंभितं सर इव विहगैः पक्षिभिस्तथा।२।(खउज्ञान्)कुत्सज्ञाचान् अनुशासतं सम्यक् उद्यताः समुद्यतास्तान् श्रद्धापयंतं तेषां महतीं श्रद्धामुत्पादयंतं तथा गणस्य गच्छस्य अगिलया निर्जरार्थमात्मोत्साहेन स्वके विषये आत्मीयया शक्तया इत्यर्थः। संग्रहं कुर्वंतं॥३॥ तथा इंगिताकारदक्षैश्छंदोऽनुवर्त्तिभिः सदा सर्वकालमविकटितनिर्देशमर्वाङ्मितार्कं राजानमिव अनायकं न विद्यते नायको यस्य स तथा। तं चक्रवर्त्तिनमिवेत्यर्थः। दृष्ट्वा कश्चिदगीतार्थ उत्पन्नगौरवो भवति।

उप्पन्नगारवे एवं, गणित्ति परिकंखिओ ।
उप्पियंतं गणिं दिस्सा, अगीतो जासेइ इमं ॥

उत्पन्नमभिलषणीयतया जातं गौरवं यस्य स तथा । एवमहमपि गणी भवामि गणिपदमवाप्य परिपालयामि। ततः शोभनं भवतीत्येव परिकांक्षितः परिकांक्षावान् गणिनमाचार्यमुप्पियतं मुहुर्मुहुः श्वसंतं मर्तुकाममभिलिंगं दृष्ट्वा कश्चिदगीतोऽगीतार्थः कथमहं गणधरो भविष्यामीति विचिंत्य यथा गच्छवर्त्तिनः साधवः शृण्वंति। तथा मातृस्थानत इदं वक्ष्यमाणं भाषते। तदेवाह ॥

अलं मज्झ गणेणंति, तुब्भे जीवह मे चिरं ।
किमयं तोहे पुट्ठोउ, दिज्जए मे गणो किल ॥

अलं पर्याप्तं मम गणेन यूयं मम पुण्योदयेन चिरं प्रभूतं कालं जीवथ। ततस्ते गच्छवर्त्तिनः साधवस्तस्यागीतार्थं ब्रुवते। किमेतत्त्वं ब्रूषे। यथा अलं मम गणेन। एवं तैः पृष्टःसन् सोऽगीतार्थो वक्ति। क्षमाश्रमणैः किल मे गणो दीयते। तत एवमुक्तं मयेति ।

अथवा उप्पियशब्दारस्यायमर्थः ॥

अहावि एव पुव्वंतु, गीयत्था उप्पियं तए ॥
आमदाहा मो एयस्स, संमतो एस अम्मावि ॥१॥
गीयत्थो पवयत्थो य, संपुन्नसुहलक्खणो ॥
सम्मतो एस सव्वेसिं, साहू ते ठावितो गणे ॥२॥

वाशब्दः प्रकारांतरद्योतने। पूर्वमस्थापिते गणधरे म्रियमाण आचार्यः किल (उप्पियंतित्ति) मुहुर्मुहुः श्वसिति तं च तथाभूतं दृष्ट्वा गीतार्थश्चिन्तयति आचार्यस्य वाङ् नास्ति यया ब्रूते यथा अमुकं साधुं गणधरं स्थापयथ। माभूत् सा वाणी वयमेव गच्छवर्त्तिनः साधून् भणामो यथाचार्यैरमुकोगणधरपदे संदिष्ट इति। तथाचोपायं करिष्यामो यथा गच्छसाधूनामकंपनीयो भवति। एवं चिन्तयित्वा गच्छसाधवः शृण्वंति । तथाब्रुवते " आमदाहामोएयस्सत्ति। इच्छामः क्षमाश्रमणाश्च तस्यामुकस्य दास्यामो गणधरपदमस्माकमप्येष सम्मतो यत एष गीतार्थो वयस्थः सम्पूर्णानि शुभानि लक्षणानि यस्यासौ स संपूर्णशुभलक्षणस्तथा एष सर्वेषां साधूनां संमतस्ततस्ते त्वया गणे स्थापितः।एवमेतौ द्वौ प्रकारौ उप्पियणद्वारेण व्याख्यातौ । एतौ द्वावपि जनौ यदि पूर्वमाचार्येण समीक्षितौ यथानर्हाविति तदा न कश्चिदाचार्याणामसमीक्षितदोषः । गतमुप्पियणद्वारम् ॥

अधुना भीतसंदेशद्वारमाह ॥

असमाहियमरणं वे, करेमि जइ मे गणं न देसि ।
इति गीतेउ गीते, संदिसए गुरु तओ भीओ ॥

कश्चिदगीतार्थः पापीयान् प्रत्यासन्नमरणमाचार्यमवगम्य ब्रूते। यदि मे मह्यं गणं न ददासि ततस्तेऽसमाहितमरणं तथा करो"मिवर्त्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वे"ति वचनात् प्राकृतत्वात्करिष्यति। वर्त्तमाना ततोऽयमर्थः। करिष्यामि यथा दीर्घकालं संसारे भ्रमसि तत एवमुक्ते तस्य भीत आचार्यो गीतो गीतार्थो देशकालपुरुषौचित्यवेदनात् गीतार्थान् स दिशति यथैतस्मै मया गणो दत्त इति गीतार्थाश्च विदितकारणा ब्रुवते।

आमंति वोत्तुं गीयत्था, जाणंताकरणं तमु ।
कयट्ठवं तुनिज्जुहे, अतिसीसेय संवसे ॥

आमं इच्छाम इति उक्ता गीतार्थास्तत्करणं जानंतः कृतार्थे निर्यापिते आचार्ये तं दुष्टाभिप्रायं निर्यूहंति निष्काशयंति। एवमेषोऽनर्होभवति । अथातिशेषेऽतिशयज्ञानी जानातीति यथा सांप्रतमेष निर्दोषीभूतः स वा तस्मात् स्थानात् गुरुजनसमक्षं प्रतिक्रांतस्ततः संवास्यते ॥ गतं भीतसंदिसणद्वारम् ॥

इदानीमदेशिकद्वारमाह ॥

अरिहोवि अणरीहो, होइ जो उ तेसिमदेसितो ॥
तुल्लदेसीव फरुसो, महुरोव असंगहो ॥

एक आचार्यस्तस्य षट् कुरुकाः। तेषां मध्ये एक आचार्येण गणधरपदे समीक्षितोऽन्ये चाचार्यस्य शिष्याः सिंधुदेशादिषु विहरंति। ते सिंध्वादिषु विहृत्याऽचार्यसमीपमागताः। एकं कुरुकमाचार्यसमीक्षितं मुक्त्वा अन्ये सर्वे कुरुकाः केचित् कालगताः। केचित्प्रतिभग्ना एवं सकुरुकः कुरुकदेशोद्भवस्तेषां सैन्धवादीनामनर्हो जातो येन ते तस्य भिन्नदेशिकत्वादुल्लापनं परियच्छंति । अक्षरयोजनात्वेवमर्होऽप्यनर्हो भवति। यस्तेषां तत्कालभाविनां साधूनामदेशिको भिन्नदेशिको यथा सैन्धवादीनां कुरुक इति। गतमदेशिकद्वारम् ॥

अधुना परुषद्वारमाह ॥ (तुल्लदेसीवफरुसो) तुल्यदेशीयः पूर्वसमीक्षितो गणधरपदे स पश्चात्परुषभावो जातः परुषत्वाच्च प्रतिचोद्यमान आक्रोशति आक्रोशांश्चासहमानानामुत्संखरादिकं कुर्वन् गणभेदं करोति। एवमेष पश्चादनर्हः । सम्प्रति (अत्थियाइं भवे समुक्कसणादिहे) इत्यस्यार्थं विभावयिषुः संग्रहद्वारमाह (महुरो व असंगहो) यः पूर्वं समीक्षितः स सत्यपि मधुरत्वे असंग्रहो न संग्रहशीलः अन्यस्तु संग्रहशीलः स समुत्कर्ष्यते नेतर इति । सांप्रतमस्मिन्नेवार्थे वाचकनिष्पादकद्वारमाह ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वायंतगनिप्फायग, चउरोभंगाउ पढमो।
गच्छे तइओउ होइ, सुम्मो अप्पेण वा वाएइ ॥

वाचको निष्पादक इति पदद्वयसंयोगतश्चत्वारो भंगास्तद्यथा। वाचयत्यपि निष्पादयत्यपीति प्रथमः१ वाचयति न निष्पादयति द्वितीयः २ न वाचयति निष्पादयति तृतीयः ३ न वाचयति न निष्पादयति चतुर्थः ४ अत्र सत्यपि पूर्वसमीहिते यः प्रथमभंगवर्ती संस्थाप्यते नेतरो द्वितीयादिभंगवर्ती। तथाचाह। प्रथमको ग्राह्यः द्वितीभङ्गको न स्थाप्योऽनिष्पादकत्वात्। तृतीयस्तु शून्यो वाचनाया अभावे निष्पादकत्वायोगात्। यदि वा आत्मना न वाचयति अन्येन वाचयति। तदासोऽपि योग्यः। चतुर्भंगिकस्तु सर्वथाऽनर्ह एव। सांप्रतमधिकृत एवार्थेऽन्यशिष्यद्वारमाह ॥

असतीव अप्पसीसं, ठावेंति गणम्मि जाव निम्मातो ।
एसो चेव आयरिओ, अहवा विइओ ससिस्सोवि ॥

आचार्याः कालं कर्तुकामा आत्मीयाः शिष्याः सर्वेऽप्यनिर्मीता इति तेषां मध्ये गणधरपदयोग्ये एकस्मिन्नप्यसति अन्यस्य शिष्यं प्रातीच्छिकं गणे स्थापयंति च यावन्मम शिष्यो निर्मातो निष्पन्नो भवति तावत्त्वं गणधरः। निर्मीते सति त्वया गणधरपदं निक्षेप्तव्यं । यदि न निक्षिपति ततश्छेदःपरिहारः सप्तरात्रं वा तपः प्रायश्चित्तम्। एव समीक्षितोऽप्यनर्हो जातः। अथवाऽयं स्वशिष्योऽप्यनर्हस्तमेवाह ।

जो अणुमतो बहूणं, गणहरअवियतो दुस्समुक्कट्ठो ।
दोसा अणिक्खिवंते, सेसा दोसं च पावेंति ॥

आचार्यैःकालं कुर्वद्भिर्ज्ञातो य एष मम शिष्यः सूत्रतोऽर्थतश्च निर्म्मीत एतस्मादयं बहुभिर्गुणैर्गणधरगुणैरन्याधिको भविष्यति । केवलमिदानीमनिर्मीतस्ततो योऽसौ निर्म्मीतः स आचार्यैरुच्यते । यावदेनं त्वं निर्मापयसि। तावत्त्वं गणधरःएतस्मिंस्तु निर्म्मापिते त्वया गणधरपदं निक्षेप्तव्यम्। यत एष तव पार्श्वाद्बहुभिर्गुणैर्गच्छस्य प्रवचनस्य चोपग्रहकारी भविष्यति।तेनतथा प्रतिपन्नम्।आचार्यः कालगतः सच तेन निर्मापितो जातः समस्तस्यापि संघस्य प्रीतिकरः ततोयस्तेन निर्मापितो जातोऽनुमतो बहूनां स गणधरः स्थापनीयो यस्त्ववियत्तोऽप्रीतिकरः पूर्वं स्थापितः स दुस्समुत्कृष्ट इति वक्तव्यो निक्षिप गणधरपदमेवमुक्तो यदि न निक्षिपति तत स्तस्मिन्ननिक्षिपति दोषाश्छेदं परिहारं सप्तरात्रं वा तपः प्राप्नोतीति भावः। येऽपि च शेषास्तं भजंते तेऽपि दोषं प्राप्नुवन्ति छेदं परिहारं सप्तरात्रं वा तेऽपि प्राप्नुवंतीत्यर्थः। यदेतद्भणितमेतत्प्रसंगागतमर्थं पुनः स्फुटसूत्रेण निपातः॥

अब्भुज्जयमेगयरं, ववसियकामंमि होइ सुत्तं तु ।
तेवेंति कुणसुएक्कं, गीयं पच्छा जहिच्छा ते॥

आचार्येण कोऽपि स्वशिष्यः समीहितो यथाऽयमाचार्यपदयोग्य इति ततो गीतार्थाः संदिष्टा, एष समुत्कर्षयितव्यः सच कालगते आचार्ये भूते । अहमभ्युद्यतविहारं जनकल्पादिकमभ्युद्यतमरणं वा प्रतिपत्स्ये तस्मिन्नभ्युद्यतमेकतरं विहारं मरणं । वाच्यवशात्तुमनसि भवति निपतति सूत्रम् । अत्थिया इत्थं अम्हे केइ समुक्कसणारिहे से समुक्कसियव्वे नत्थि याइं च केइ अन्ने समुक्कसणारिहे सेचेव समुक्कसियव्वे । तस्मिन्नभ्युद्यतस्यैकतरं व्यवसातुकामे अस्ति चेदत्र गच्छेऽन्यः कश्चित्समुत्कर्षणार्हस्तर्हि स समुत्कर्षयितव्यो नास्ति चेदत्र कश्चिदन्यः समुत्कर्षणार्हस्ततः स एव समुत्कर्षयितव्यः। कथमिति चेदुच्यते । गीतार्था अभ्यर्थनपुरस्सरं ब्रुवते । यूयं गणधरपदं परिपालयत। एकमस्माकं कंचन गीतं गीतार्थं कुरुत निर्मापयत ततः पश्चात्तस्मिन्निर्मापिते ते भवतां यदिष्टं यत्प्रतिभासते तत्कुरुतेतिभावः । अत्रेच्छाद्वारावसरः । एवमुक्ते तेन गणधरपदं प्रतिपद्य कश्चनाप्येको निर्म्मापितः। पश्चात्तस्य चित्तमजायत। यथा अभ्युद्यतविहारात् गच्छपरिपालनं विपुलतरं निर्जराद्वारम् तस्मात्परिपालयाम्यहमेव गच्छमिति। तथाचाह ॥

निम्माऊण णेगइमंपि, मे निज्जरायदारं तु ।
निक्खिव निक्खिवामी, इत्थं इतरे उ खुब्भन्ति ॥

स गणधरपदे स्थापित एकं कंचनापि निर्माप्येदं चिंतमकार्षीत् इदमपि गच्छपरिपालनं महत् निर्जराया द्वारं।एवं व्यवसिते तस्मिन् गच्छे गीतार्था ब्रुवते निक्षिप गणधरपदं स प्राह।न निक्षिपामि किन्त्विच्छामि गच्छं परिपालयितुमेवमुक्ते इतरे गच्छगीतार्थाः कुर्व्यंति ते च क्षुभ्यंतो यद्ब्रुवते तदाह ।

दुस्समुक्कट्ठं निक्खिव, भणंति गुरुगा अणुट्ठिहिं तेय।
एमेव अम्मे सीसे, निक्खिवणा गाहिते नवरं ॥

पूर्वं तव नेप्सितं गणधारणं पश्चादिदानीं यद्यपि रुचितस्तथापि नंतवस्मभ्यं रोचसे दुःसमुत्कृष्टं खलु तव गणधरपदं। तस्मान्निक्षिपेति एवं भणति गच्छसाधुवर्गे प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः (अणुट्ठिहिंतेयमेवे)त्यादि योऽसौ प्रातीच्छिकः स्थापितः स चेत् यावदद्यापि न निर्म्मापयति कमपि शिष्यं तावद्यदि गच्छसाधवो भाषंते निक्षिप त्वं गणधरपदमिति तदा तेषां तथा भाषमाणानां प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः। अथ तस्मिन्नन्यशिष्ये निर्मापयितुमिष्यमाणे अनुतिष्ठति अनिर्मापिते गणधरपदनिक्षेपणं करोति तदा तस्मिन्नन्यशिष्ये अनुतिष्ठति गणधरत्वं निक्षिपतः प्रातिच्छिकस्य प्रायश्चित्तमेव चत्वारो गुरुका इत्यर्थः।यथा गीतार्थत्वेन गच्छसाधवः सेविष्यंते तन्निमित्तमपि तस्य प्रायश्चित्त नवरं केवलं तस्मिन्नन्यशिष्ये ग्राहिते निर्म्मापिते गणधरपदनिक्षेपणा कर्तव्या । नच तत्र तां कुर्वतस्तस्य छेदः परिहारः सप्तरात्रं वा तपः । गतमिच्छाद्वारम् ॥

संप्रति यथा कल्पद्वारावसरस्तत्र ये गच्छसाधवस्ते स्वगच्छसाधुं प्रातिच्छिकं च पूर्वस्थापितं यथा कल्पेनाऽभ्युत्तिष्ठति यथाकल्पानभ्युत्थानमेवाह ॥

आवस्सगसुत्तत्थे, भत्ते आलोयणाउवट्ठाणे ।
पडिलेहा कितिकम्मं, मत्तगसंथारगतिगं च ॥

आवश्यके क्रियमाणो यो विनयस्तस्य आचार्यस्य कर्तव्यस्तं च न कुर्वंति सूत्रमर्थं वा तस्य समीपे न गृह्णंते । (भत्तेत्ति) आचार्यप्रायोग्यं तस्य भक्तं न प्रयच्छंति। (आलोयणत्ति) तस्य पुरतो नालोचयंति (उवट्ठाणत्ति) आचार्यवस्त्रकंबलपात्रादिप्रत्युपेक्षणाय नोपतिष्ठंते । नापि कृतिकर्म वंदनकमभ्युत्था कुर्वंति नापि मात्रकत्रिकं तस्य ढौकयंति तिस्रः संस्तारकभूमयस्ता अपि न प्रयच्छंति। तेषामपि यथा कल्पमनभ्युत्तिष्ठतां प्रायश्चित्तं छेदः परिहारः सप्तरात्रं वा तप इति। व्य. २ खं. ४ उ. ॥

आचार्ये मृते तत् क्षणमेवान्यः स्थाप्यते॥तथाच व्यवहारसूत्रं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

णिग्गंथस्स णं णवडहरतरुणगस्स आयरिय उवज्झाए विसंजेज्जा णो से कप्पइ। अणायरियउवज्झायस्स होंतए कप्पइ। से पुव्व आयरियं उदिसावित्ता ततोपच्छा उवज्झायं सेकिमाहु जंते! दुसंगहिए समणे णिग्गंथे तंजहा आयरियेणं उवज्झायेणय॥ ११ ॥ व्य. सू. ३ उ. ॥

निर्ग्रन्थस्य णमिति वाक्यालङ्कारे। नवडहरतरुणस्य वा आचार्यसहित उपाध्याय आचार्योपाध्यायस्तस्याचार्योपाध्यायस्येत्यर्थः। विष्वग्भयात् म्रियेत। ततः सेतस्य नवडहरतरुणस्याचार्योपाध्यायस्य सतो भवितुं न कल्पते वर्तितुं किन्तु पूर्वमाचार्यमुद्देशास्थापयित्वा ततः पश्चादुपाध्यायमुद्देशाप्येवमाचार्योपाध्यायस्य सतो भवितुं कल्पते। सेकिमाहु (भन्ते! इति) से शब्दोऽथ शब्दार्थः। अथ भदन्त! किं कस्मात्कारणात् भगवन्त एवमाहुः। सूरिराह।द्वाभ्यामाचार्योपाध्यायाभ्यां संगृहीतो द्विसंग्रहीतः श्रमणो निर्ग्रन्थस्सदा भवति तद्यथा आचार्योपाध्यायेन च एष सूत्रसंक्षेपार्थः॥ ११ ॥

(२) आचार्ये मृते निर्ग्रन्थीनामप्यन्य आचार्यः स्थाप्यते॥ तथा च व्यवहारसूत्रं॥

निग्गन्थीएणं णवडहरतरुणियाए आयरियउवज्झाए पवित्तिणियं विसंजेज्जा णो से कप्पइ अणायरियअणुवज्झाइयताए अपवत्तिणिएय होंतए कप्पइ से पुव्वं आयरियं तु दिसावित्ता तओ पच्छापातिओ उवज्झायं ततोपच्छापवित्तिणियं से किमाहु भंतेति तिसंगाहिया समणी निग्गंथी। तंजहा। आयरिएणं उवज्झाएणं पवित्तिणिएय॥ १२॥ व्य. सू. ३ उ. ॥

निर्ग्रन्थीएणमिति पूर्ववत् नवडहरतरुण्याः आचार्योपाध्यायस्समासोऽत्रपूर्ववत्। आचार्योपाध्यायमेतत्प्रवर्तिनीच विष्वग्भयात् म्रियेत। ततस्तेतस्या अनाचार्योपाध्यायाया उपलक्षणमेतत् प्रवर्तिनीरहितायाश्च नोकल्पते भवितुं। किन्तु पूर्वमाचार्यमुद्दिश्यते। ततः पश्चादुपाध्यायं। ततः पश्चात् प्रवर्तिनीं। कथाभवितुं कल्पते (से किमाहु) इत्यादि अथ भदन्त! किंकस्मात् कारणात् भगवन्त एवमाहुः। सूरिराह। त्रिभिः संग्रहिता श्रमणी निर्ग्रन्थी सदा भवति तद्यथा आचार्येणोपाध्यायेन प्रवर्तिन्या च एष सूत्रसंक्षेपार्थः।

(२२) आचार्येऽवधाविते आचार्यान्तरस्थापनं॥

पूर्वाचार्योऽवधावेत्तर्हि नवः स्थाप्यः॥ तथा च व्यवहारसूत्रं आयरिय उवज्झाए उहायमाणे अन्नयरं वएज्जा अज्जो मएणं उहायंसि समणंसि अयं समुक्कसियव्वे। जाव सव्वेसिं तेसिं तप्पतियं छेए वा परिहारे वा॥ १३॥ व्य. सू. ४ उ. ॥

व्याख्या। आचार्य उपाध्यायो वा मोहेन रागेण वा अवधावन (मन्यतर) मुपाध्यायादिकानां गीतार्थपंचमानां पुरुषाणामन्यतमं वदेत् यावत्करणादेवं परिपूर्णपाठो द्रष्टव्यः॥

अज्जो ममं सिणं उहावियंमि समाणंसि अयं समुक्कसियव्वो सेय समुक्कसणारिहे समुक्कसियव्वे सिया सेयनो समुक्कसणारिहे नो समुक्कसियव्वे सिया अत्थियाइत्थ अन्ने केइ समुक्कसणारिहे से समुक्कसियव्वे नत्थियाइत्थ अन्ने केइ समुक्कसणारिहे से चेव समुक्कसियव्वे तेसिं च णं समुक्किट्ठंसि परोवएज्जा दुस्समुक्किट्ठंते अज्जो निक्खिवाहि तस्स णं निक्खिवमाणस्स नत्थि केइ छेदे परिहारे वा॥

अस्य व्याख्या प्राग्वत् व्य. सू. ४ उ. ॥

अधुना निर्युक्तिविस्तरः। केन पुनः कारणेनासाववधावतीति चेदत आह॥

मोहेण वा रागेण, ववहाणं जेसयं पयत्तेण॥
धम्मकहाए निमित्तेणं, अणाहसालागवेसणया॥

अवधावनं मोहेन वा कामोद्रेकरूपेण रोगेण वा। तत्र मोहविषया यतना प्राक् तृतीयोद्देशकेऽभिहिता। यदि रोगेण ततो नाधावितव्यं। किंतु प्रयत्नेन भेषजं दातव्यम्॥ तच्च धर्मकथानिमित्तेन चोत्पादनीयं। तथाऽप्यलाभे अनाथशालातो गवेषणा भैषजस्य कर्तव्येति निर्युक्तिगाथायाः संक्षेपार्थः॥ एतामेव संप्रति भाष्यकृद्विवरीषुरिदमाह।

मोहेण पुव्वजणियं, रोगेण करेंति भाएजयणाए॥
आयरियकुलगणे वा, संघो व कमेण पुव्वुत्तं॥

यदि मोहेनावधावनं कर्तुमीहते तदा यत्पूर्वं तृतीयोद्देशके मोहचिकित्सा विषयं भणितं तत्कर्तव्यमथ रोगेण तदाऽनयावक्ष्यमाणया प्रथमतः ततःप्रासुकेन तदलाभे वाऽप्रासुकेनापीत्येवरूपया यतनया पूर्वोक्तं भैषज्यं प्रयत्नेन संपादनीयमित्यादिरूपं कुर्वन्ति केते कुर्वंति। तत आचार्यकुलं गणसंघोवा कथमित्याह। क्रमेण परिपाट्या तामेव परिपाटीं कालनियमनपूर्विकामाह॥

छम्मासे आयरियकुलंतु, संवच्छराणि तिन्नि जवे॥
संवच्छरं गणो खलु, जावज्जीवं जवे संघो॥

प्रथमत आचार्यः षण्मासान् यावत् चिकित्सां कारयति तथाप्यप्रगुणीभूतं तं कुलस्य समर्पयति ततः कुलं त्रीन्संवत्सरान् यावत् चिकित्सकं भवति। तथाऽप्यप्रगुणीभवंतं गणस्य तं समर्पयति। तदनंतरं संवत्सरं यावत् गणः खलु चिकित्सको भवति। एतच्चोक्तं भक्तविवेकं कर्तुमशक्नुवतो यः पुनर्भक्तविवेकं कर्तुं शक्नोति। तेन प्रथमतोऽष्टादशमासान् चिकित्सा कारयितव्या। विरतिसहितस्य पुनः संसारे दुःप्रापकत्वात् तदनंतरं चेत्प्रगुणीभवति। ततस्सुन्दरमथ न भवति। तर्हि भक्तविवेकः कर्तव्यः॥ अत्रैव देशांतरमाह॥

अहवा बिइयादेसा, गुरुवसंजे जिक्खुमादिते गच्छं॥
जत्थिय वारसवासा, तिउक्कमासो अणुरूवं॥

अथवा द्वितीय आदेशो गुरौ च ते भिक्षादौ यथाक्रमं चिकित्सां कारयंति यावज्जीवं द्वादशवर्षाणि त्रिषट्कमष्टादशमासान् कथमित्याह अशुद्धेनापिशब्दोऽत्र लुप्तोद्रष्टव्यः प्रथमतः शुद्धेन तदभावे चाशुद्धेनापि। तदनन्तरं भिक्षादिना भक्तविवेकः कर्तव्यः। गुरुस्तुगच्छप्रवर्तकइति तस्य यावज्जीवं चिकित्सा तत्र प्रथमोद्देशेन च विवेकं कर्तुं शक्नुवंतं प्रत्यष्टादशमासान्॥ कश्चिकित्साविधिस्तमभिधित्सुराह॥

पयत्तेण ओसहं से, करेंति सुद्धेण उग्गमादीहिं।
पहाणीए असंजे, धम्मकहाहिं निमित्तेहिं॥

प्रथमतः प्रयत्नेनोद्गमादिभिः शुद्धेन वस्तुजातेन (से) तस्य औषधं कुर्वंति। तदलाभे पंचपरिहान्या यावच्चतुर्गुरुकेनाप्यशुद्धे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नापि तथाऽप्यलाभे धर्मकथानिस्तत्रौषधमुत्पादयंति तत्राऽप्यलाभे निमित्तैरपि ॥

तहवि ए लाभे असुद्धं, बहिठियसालाहिवाणुसट्ठादि ।
नत्थंत बाहिराणं, सलिंगविसणेण उड्डाहे ॥

तथापि निमित्तैरपि चेदशुद्धं नलभेत ततोनाऽथशाला या आरोग्यशाला तस्यां मध्ये न प्रविशंति । किंतु बहिःस्थितास्तत आरोग्यशालात औषधं गवेषयित्वा समानयंति । अथ ते शाला निवासिनो न प्रयच्छंति । तर्हि यस्तस्या आरोग्यशालायाः प्रभुरधिपस्तमनुशास्य याचते । तत्राप्यलाभे स धर्मकथया आवर्जनीयस्तत्राप्यनावर्जने निमित्तेस्वलिङ्गेनाऽप्यवर्जयितव्यः तत्रापि बहिःस्थितानामौषधप्रदानमनिच्छति यत्तस्यार्चितं लिंगं तेन लिंगेन प्रविशंति प्रविश्यौषधमानयंति । अथ स्व लिंगेनापि तत्र कस्मान्न प्रविशंति तत आह । स्वलिंगव्यसनेन स्वलिंगप्रवेशेन प्रवचनस्योड्डाहः । नामी किमपि जानते स चामीषां धर्मः श्रेयानतः क्वचिदपि किंचिदप्यलभमाना अनाथा इवात्र समागता इति प्रवचनस्योपघातः । एतदेव पणहाणी पणगंभे इत्यादिकं विवरीषुरिदमाह ॥

पणगादिज्जागुरुगा, अलब्भमाणे बहिंतु पायोग्गा ॥
बहिठियसालगवेसण, तत्थ पहुस्साणुसट्ठादि ॥

पंचकपरिहान्या पंचकादिप्रायश्चित्तमौषधोत्पादनाय ता वदासेवनीयं यावच्चत्वारोगुरुकास्तत्रापि बहिः प्रायोग्ये औषधे अप्राप्ये आरोग्यशालाया बहिः स्थिता औषधस्य गवेषणं कुर्वंते तत्र तद्वास्तव्यानामदाने यः प्रभुरारोग्यशालाया अधिपतिस्तस्यानुशास्ति आदिशब्दाद्धर्मकथानिमित्तं च प्रयुंजते असई अश्चियलिंगेनरक्तपटादिरूपेण प्रवेशनं कुर्वंति तेषुच प्रविष्टेषु ये प्रतिभानवंतः प्रतिवचनदानसमर्था वृषभास्ते स्वलिंगेन गत्वा प्रभुं भाषंते यथा कोयुष्माकं सिद्धांत एवमाभाष्य तत्र सिद्धांतविषये प्रभुणा गृहीतलिंगैश्चसह परस्परमुल्लापंकुर्वंति । यत्रा उत्तरवादिनो वृषभा भवंति । अथ वा यदि प्रतिपत्तिकुशलाः परप्रतिपादनवृषभास्ततस्ते गत्वा से तस्य प्रभोर्निजकत्वमात्मीयत्वं ज्ञापयंति । तत्रापि सिद्धांतविषये तैर्गृहीतलिंगैः सह परस्परमुल्लापं तथा कुर्वंति । यत्रा ते आचकृत इति ॥

अहवा पमिवत्तिकुसला, तेण समं करेंति उल्लावं ।
पन्नवंतो विय सोवी, वसज्जेऊ उत्तरीकुणति ॥

अथवा ये प्रतिपत्तिकुशलाःपरप्रतिवचनदानसमर्थास्तत स्ते गत्वा तेन प्रभुणा सह परस्परमुल्लापं तथा कुर्वंति गृहीत लिंगाश्च तथा तं ज्ञापयंति तथा सोऽपि आस्तां गृहीतलिंगा इत्यपिशब्दार्थः । प्रभवन्नपि वृषभानुत्तरीकरोति उत्तरवादिनः करोति । ततः स निरुत्तरीकृतः सन् यद्ब्रूते तदाह ॥

तोज्जणइ कलहमित्ता, मइऊमेत्र हेज्जह उदंतंति ।
तंवियपमिसुणंति, एवं एगाए छम्मासा ॥

ततः सिद्धांतोल्लापे पराजितः सन् भणति यूयं मम कलहमित्राणि कलहानंतरं यानि जातानि मित्राणि तानि कलहमित्राणि ततोमे ममोदंतं वहत एवमुक्ते तेपि वृषभाः प्रतिशृण्वंति अभ्युपगच्छंति । तत एवं गत्या गतिभिस्तमतीवावर्ज्य ता षण्मासान् यावत् तत्र चिकित्सां कारयंति । एवमेकस्यामनाथशालायां षण्मासा एवं द्वितीयस्यां तृतीयस्यामपि च तथा चाह ॥

छम्मासा छम्मासा, विइय तइयाए एव सालाए ।
काउ अट्ठारस उत्र, पउणे ताहे विवेगोउ ॥

एवमुक्तप्रकारेण द्वितीयस्यामनाथशालायां षण्मासा एवं तृतीयस्यामपीति सर्वसंकलनया अष्टादशमासान् चिकित्सां कारयित्वा प्रगुणीकरोति । अथ प्रगुणा न भवति ततस्तस्य भक्तविवेकं कर्तुमुचितः संप्रति प्रागुक्तं द्वितीयमादेशं स्पष्टयति अहवा ।

गुरुणो जावज्जीवं, फासुय अफासुएण ते गित्थं ।
वसज्जे बारसमासा, अट्ठारसभिक्खुणोमासा ॥

गुरोराचार्यस्य यावज्जीवं चिकित्सां प्रासुकेनाऽप्रासुकेन वा कुर्वंति सर्वस्यापि गच्छस्य तदधीनत्वात् यथाशक्ति निरंतरं सूत्रार्थनिर्णयप्रवृत्तेश्च । वृषभे द्वादशवर्षाणि चिकित्सा ततः परं शक्तौ भक्तविवेकः एतावता कालेनान्यस्यापि समस्तगच्छभारोद्वहनसमर्थस्य वृषभस्योत्थानात् अष्टादशमासा भिक्षोश्चिकित्सा ततःपरमसाध्यतया शक्तौ सत्यां भक्त विवेकस्यैव कर्तुमुचितत्वात् ॥ व्य. ४ उ. ॥

(५३) लक्षणं सुत्तत्थे णिम्माओ इत्यादि ॥

सुत्तत्थे णिम्माओ, पिअदढधम्मोणुवत्तणाकुसलो ॥
जाईकुलसंपन्नो, गंभीरोलद्धिमंतोअ ॥ १५ ॥

व्या० । सूत्रार्थे निर्मितो निष्ठितः प्रियदृढधर्मः अनुयुक्तोऽनुवर्तनाकुशलः उपायज्ञः । जातिकुलसंपन्नः । एतद्द्वयसमन्वितो गंभीरो महाशयलब्धिमांश्च उपकरणाद्यधिकृत्येति गाथार्थः ॥

संगहुवग्गहनिरओ, कयकरणो पवयणाणुरागीय ॥
एवं विहोओ भणिओ, गणसामि जिणवरिंदेहिं ॥ १६ ॥

व्या० । संग्रहणोपग्रहनिरतः संग्रह उपदेशादिनोपग्रहश्च वस्त्रादिना व्यत्यय इत्यन्ये । कृतकरणोऽभ्यस्त क्रियः । प्रवचनानुरागी च प्रकृत्या परार्थप्रवृत्तः । एवंविध एव भणितः प्रतिपादितो गणस्वामी गच्छधरैर्जिनवरेन्द्रैर्भगवद्भिरिति गाथार्थः ॥ पं. व. ॥

आहारवत्थादिसुलद्धिजुत्तं, आदेज्जवक्कं अहीणदेहं ।
सक्कारजज्जं मइमंपि लोए, पूयंति सेहाय पिहूजणाय ॥

आहारवस्त्रादिलब्धियुक्तमादेयवाक्यमहीनदेहं परिपूर्णदेहावयवं तथा मतिमति लोके सत्कारभाजं विरुद्धजनपूज्यमित्यर्थः । शैक्षकाः पूजयंति । पाठांतरम् "सक्कारहज्जमिहमं मिलोए" तत्राऽयमर्थः । सत्कारेण ह्रियते आक्रिप्यते इति सत्कारहार्योऽयं यतोलोकस्तत एवं भूतेऽस्मिन् लोके आहारवस्त्रादिषु लब्धियुक्तमित्यादिगुणैः शैक्षकाः पूजयंति । पृथक्जनश्च बहुमन्यते । ततः स तादृशो गणधारी कर्तव्यः । व्य. ३ उ. ॥

आयरियउवज्झाया, नाणुन्नाया जिणेहिं सिप्पट्ठा ॥
णाणे चरणे जोगा, वहाउ ते अणुण्णाया ॥

आचार्या उपाध्यायाश्च जिनैस्तीर्थकृद्भिर्न शिल्पार्थाःशिल्पशिक्षणनिमित्तमनुज्ञाताः कैः कारणैः पुनरनुज्ञातास्तत आह । ज्ञाने चरणे च ये योगास्तेषामावहाः प्रापका यतो भविष्यन्ति ततस्ते अनुज्ञाताः । ज्ञानचरणस्फातिनिमित्तमनुज्ञाता इत्यर्थः । अपि चेदृशा आचार्योपाध्याया अनुज्ञाताः ॥ व्य. २ लं. ४ उ. ।

(५४) एकपाक्षिकादेर्दिगाचार्यः ॥

नूतनाचार्यस्थापनायामेकपाक्षिकभिन्नपाक्षिकयोर्येत्यता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऽयोग्यता यथा ॥

एगपक्खियस्स भिक्खुस्स कप्पइ इत्तिरियं दिसं वा अणुदिसं वा धारित्तए वा जहा वा तस्स गणस्स परियंसि वा ॥ २४ ॥ व्य. सू. ३ उ. ॥

एकपाक्षिकभिन्नपाक्षिकयोर्योग्यताऽयोग्यता (चाणुपाक्षियकप्प) शब्दे ॥

(२५) लक्षणं मेढीभूतः ॥

तत्र गणस्य बहुव्रतिनीसमुदायात्मकस्य प्रत्येकं परीक्षा कर्तुं न शक्यते अथाचार्ये च परीक्षिते प्रायोगणोऽपि परीक्षित एव मेढ्यादिसमानत्वेन तत्प्रवर्तकत्वादाचार्यस्य गणस्य च तदनुवर्तित्वादित्यतः प्रथममाचार्यमेव परीक्षेतेत्याह ॥

मेढी आलंबणं खंभं, दिट्ठि जाणसुउत्तमं ॥
सूरी जंहोइ गच्छस्स, तम्हा तं उ परिक्खए ॥ ८ ॥

व्याख्या यद्यस्मात्कारणात् सूरिः सदाचार्यो गच्छस्य गणस्य (मेढित्ति) मेढिः खले गोबंधस्थूणा तत्समानो भवति । यथा तया बद्धानि पशुवृंदानि मर्यादया प्रवर्त्तंते तथाचार्यो मेढीबद्धो गच्छोऽपि मर्यादया प्रवर्तत इत्यर्थः । तथालंबनं हस्ताद्याधारस्तत्समानः यथा हस्ताद्याधारो गर्तादौ पतज्जंतुं धारयति । तथा ऽचार्योऽपि भवगर्ते पतंतं गच्छं धारयतीत्यर्थः । तथा (खभंति) स्तंभः स्थूणा अत्र नपुंसकत्वं प्राकृतत्वादेव तत्समानः । यथा स्तंभः प्रासादाधारः स्यात् तथाचार्योऽपि गच्छप्रासादाधारः तथा (दिट्ठित्ति) दृष्टिर्नेत्रं तत्समानः यथाजंतोर्नेत्रं शुभाशुभवस्तुप्रदर्शकं भवति तथा ऽऽचार्योऽपि गच्छस्य भाविशुभाशुभप्रदर्शकः स्यात् तथा(जाणं सूत्तमंति) यानं यानपात्रं सूत्तममतिप्रधानमच्छिद्रमित्यर्थः तत्समानो यथा अच्छिद्रयानपात्रं समुद्रतीरं नयति जंतून् तथाचार्योऽपि गच्छं भवाति तस्मात् प्रथमं तंतु सिनोरवकारार्थत्वात् तमेवाचार्यमेव परीक्षेत गच्छपरीक्षेच्छुः साधुरिति अनुष्टुप्छंदः । एवंचात्र ग्रंथे त्रयोधिकाराः सूचिताः तद्यथा आचार्यस्वरूपाधिकारः १ साधुस्वरूपाधिकारः २ साध्वी स्वरूपाधिकारश्च ३ तत्र प्रथममाचार्यस्वरूपाधिकारं निरूपयितुकामः कैश्चिन्हैः छद्मस्थ उन्मार्गप्रस्थितमाचार्यं परीक्षेतेति प्रश्नयन्नाह ॥

भयवं कहिं लिंगेहिं, सूरिं उम्मग्गपट्ठिअं ॥
विआणिज्जा छउमत्थे, मुणि ! तंमे निसामय ॥ ९ ॥

व्याख्या । हे भगवन् ! परमैश्वर्यादिसमन्वित ! कैर्लिंगैश्चिन्हैरुन्मार्गप्रस्थितमसन्मार्गस्थितं सूरिमाचार्यं छाद्यते केवलज्ञानं केवलदर्शनं चात्मनोऽनेनेति छद्म तत्र तिष्ठतीति छद्मस्थस्तं विजानीयात् परीक्षेतेति परप्रश्ने गुरुराह हे मुने ! यैश्चिन्हैराचार्यमुन्मार्गप्रस्थितं छद्मस्थः परीक्षेत तन्मे मम कथय इति शेषः (निसामयत्ति) त्वं निशामयाकर्णयेति अनुष्टुप्छंदः ॥ ९ ॥ अथ वृत्तद्वयेनपूर्वोक्तशिष्यप्रश्नोत्तरमेवाह ॥

सच्छंदयारिं दुस्सीलं, आरंभेसु पवत्तयं ॥
पुढवाइपडिबद्धं, आउकायविहिंसगं ॥ १० ॥
मूलुत्तरगुणब्भट्ठं, सामायारीविराहयं ॥
अदिन्नालोअणं निच्चं, विकहासु परायणं ॥ ११ ॥

अनयोर्व्याख्या ॥ स्वच्छंदेन स्वाभिप्रायेण न तु जिनाज्ञया चरतीति स्वच्छंदचारी तं तथा दुष्टं शीलमाचारो यस्य स दुःशीलस्तं तथारंभः पृथिव्याद्युपद्रवणानि उपलक्षणत्वात्संरंभसमारंभावपि । तत्र संरंभः संकल्पः समारंभस्तु परितापकरः । उक्तं च ॥

संकप्पो संरंभो, परितावकरो भवे समारंभो ॥
आरंभो उद्दवओ, सुद्धनयाणं तु सव्वेसिं ॥ १ ॥

तत्र स्वान्ययोः प्रवर्तकस्तं तथा पीठकमासनं आदिशब्दात् फलकपट्टिकादयस्तत्र प्रतिबद्धः कारणं विनापि ऋतुबद्धकाले तत्परिभोजीत्यर्थः ॥ ग. १ अधि. ॥

(२६) परीक्षा आचार्यस्य ॥

खुड्डस्सय पारिच्छा, खुड्डयथेरेयतरुणखज्जूरे ॥
दोमादिमंडलीए, सुद्धमसुद्धे ततोपच्छा ॥

शुद्धस्य परीक्षा कर्तव्या कस्मिन्विषये इत्यत आह । क्षुल्लके स्थविरे तरुणे खज्जूरः स्वभावाद्वक्राचारः तस्मिंस्तथा-द्वयोरादिमंडल्योः एताभिः परीक्षाभिर्यदि निवर्तितस्ततः शुद्धः इतरस्त्वशुद्धः शुद्धस्य च गणधरपदानुज्ञा कर्तव्या नाशुद्धस्य ततः शुद्धाशुद्धप्रतिपादनानंतरं चोदकं पृच्छा उपलक्षणमेतदाचार्यस्य प्रतिवचनं च वक्तव्यं एष द्वारगाथासंक्षेपार्थः । सांप्रतमेनामेव गाथां विवरीषुः प्रथमतः क्षुल्लकविषयं परीक्षाविधिमाह ॥

उच्चफलो अहखुड्डो, सउणिच्छावोपवासिउं दुक्खं ।
पुट्ठोवि होहिति न वा, पलिमंथो सारवंतस्स ॥

तस्य भव्यभावपरिच्छेदोपेतस्य गणधरपदयोग्यता परीक्षणाय प्रथमतः क्षुल्लको दीयते । एवं द्विविधामपि शिक्षां त्वं ग्राहय ततः स एव मुक्तः सन् यदि चिंतयति यथा (अहत्ति) एष क्षुल्लकः उच्चं चिरकालभाविफलं यस्मात्स उच्चफलश्चिरकालेनोपकारी तावता कालेन किमपि भविष्यतीति कोवेद ततः कोमनं शिक्षां ग्राहयिष्यति यदि वा शकुनिशावमिवावपोष्यः पोष्यते । पुनः पुनर्बुभुक्षाभावादिति भावः । अपि च पुष्टोऽपि-मन्नेष मम भविष्यति वानवा को न जानाति अन्यच्चामुं धारयतः सारं कुर्वतो मम सूत्रस्य च महान्पलिमंथो व्याघातस्ततो नैतस्य मे शिक्षया प्रयोजनमेवं चिंतयन् येन ग्राहयति सोऽनर्हस्तद्विपरीतो ऽर्हस्ततो यः स्थविर एष प्रवचनोपग्रहकरो भविष्यति दृढदेहो वा यथा आचार्यरक्षितः पितेति कारणतो दीक्षितस्तिष्ठति स शिक्षकस्तस्य समर्प्यते एवं द्विविधामपि शिक्षां ग्राहयति तस्मिंस्तत्समर्पिते यदि स इदं चिंतयति ॥

पुट्ठोवा स मरिसति, कुराणुवत्तो न वेजपाभियारो ।
सुत्तत्थे परिहाणी, थेरे बहुयं निरत्थयं तु ॥

एष प्रथमाशिक्षादिदापनतः शिक्षाग्राहणतश्च पुष्टीकृतोऽप्याशु शीघ्रं मरिष्यति च शब्दः चिंतांतरसमुच्चये । यदिवा वृद्धः स्वभावात् दुरनुवर्त्य दुःखेनानुवर्त्य तेन वा अत्र वृद्धशिक्षापने कश्चित्प्रतीकारः किमुक्तं भवतिनास्माद्वृद्धात् कश्चित् प्रत्युपकारोऽथवा वृद्धो वृद्धत्वादेव जडप्रज्ञश्च ततोस्य शिक्षणे मम सूत्रार्थपरिहाणिस्तदेव स्थविरशिक्षां ग्राह्यमाणे बहुकनिरर्थकमिति य एवं चिंतयित्वा येन शिक्षां ग्राहयति सोऽनर्हस्तद्विपरीतोऽर्ह इति तदनंतरं योऽसौ तरुणो मेधावी तं समर्प्य भण्यते यथा एष मंडलिपरिपाट्या आलापके दीयमाने सीदति तत् त्वमेतमप्याक्षेपेण पाठय । ततः स इदं चिंतयति ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अहियं पुच्छति गिह्णए, वडुं किं गुणो चरगेण ॥
होहिंति य विवड्ढंतो, एसो ममं पडिसपत्ती ॥

एष मेधावित्वादधिकं पृच्छन्यद्गृह्णाति धारयति बहु प्रभूतं तत इत्थमस्यैव सूत्रस्यार्थस्य चरकेण प्रदानेन आकर्णिकतया को गुणो मम निरर्थकः कश्चिदित्यर्थः । केवलं दोषो निजसूत्रार्थपरिगलनादन्यच्च एष हु निश्चितं विवर्द्धमानः सूत्रतोऽर्थतश्च वृद्धिं गच्छन् मम प्रतिसपत्नीव प्रतिपंथी भविष्यति । ततो न कोऽप्येनं पाठयिष्यतीति यो न शिक्षयति सोऽनर्हस्ततः खज्जूर्कं दत्वा स भाण्यते । अमुं तया ग्राहय । यश्च सुरुः समाचारीकुशलश्च भवति ततो यदि ॥

कोही निरुवगारी, फरुसो सव्वस्स वामवट्टो य ।
अविणीतोत्ति व काउं, हंतुं सत्तं व निच्छुब्भती ॥

क्रोधी यदि वा निरुपकारी अथवा परुषः परुषभाषी तथा सर्वस्य साधुवर्गस्य वामावर्त्तः प्रतिकूलतया वर्तते यदि वा अविनीत इति कृत्वा शिक्षां ग्राहयति । अथवा आकुश्य शत्रुमिव वा हत्वा निष्काशयति तर्हि सोऽनर्हस्तद्विपरीतोऽर्हः ॥

संप्रति चतुर्ष्वपि यो जनेषु तद्विपरीततया यथार्होभवति तथा भावयति ॥

वत्थाहारादीहिं, संगेह्न अणुवत्तए य जो जुयलं ॥
गाहेइ अपरितंतो, गाहण सिक्खावए तरुणं ॥ १ ॥
खरमउएहि अणुयत्तत्ति, खज्जूरं जेण पडइ पासेणं ॥
गाढमवहारविजढो, तत्थोड्डाणमप्पणो कुणइ ॥ २ ॥

यो नाम युगलं क्षुल्लकवृद्धलक्षणं वस्त्राहारादिभिः संगृह्णाति आत्मवशीकरोत्यनुवर्तयति च तरुणमपरिश्रांतः परिश्रममगणयन् ग्राहयति । ग्राहणं ग्राह्यते शिष्य एतदिति बाहुलकात् कर्मण्यनट् । ग्राहणमाचारादिसूत्रं आसेवनां शिक्षयति तथा खज्जूरं खरमृदुभिर्वाक्यैस्तथानुवर्तयति । येन स पार्श्वे न पतति अन्यथा गर्ते न लगते इति मन्यमानस्तद्वशी भवति तथाऽयःस्थानादपि चलन्नपि सन् खज्जूरतया विहारविजढो भवति विहारं न करोतीति भावस्तत्र उड्डाणमंगीकारमात्मना करोति । यथेनमहं खरेण मृदुना चोपायेन विहारकर्मं कारयिष्यामीति एष एवं भूतोयोग्यः ॥

इयमुव्व सुत्तमंडलिं, दाविज्जइ अत्थमंडलिं चेव ।
दोहिं पि अ सीयंते, देइ गणं चोइए पुच्छा ॥

इत्येवमुपदर्शितेन प्रकारेण चतुर्ष्वपि जनेषु सूत्रोपदेशतः परीक्षितः सन् शुद्धो भवति न मनागपि दोषः । ततस्तस्य सूत्रमंडली दाप्यते अर्थमंडली च एतयोरपि मंडल्योर्यदि न विषीदति किंत्वपरिश्रांततया गच्छवासिनां प्रातीच्छकानां च ज्ञानाद्यभिलाषिणां चित्तग्राहको वर्तते ततस्तस्मिन् मूलाचार्यो गणं ददाति एवमुक्ते चोदके चोदकस्य पृच्छा केत्यत आह ।

चोएइ जाणिऊणं, उभयाभिन्नस्स दिज्जइ गणोत्ति ॥
सुत्तेय अणुन्नायं, भयवं चरणं पडिच्छन्नो ॥ १ ॥
अपरिहाण परिह, परिछंदं अत्थेण जं पुणो परूवेह ॥
एवं होइ विरोहो, सुत्तत्थेणं दुवेह्णंपि ॥ २ ॥

चोदयति प्रश्नयति परोयथा पूर्वमिदमुक्तं उभयाभिन्नस्य द्रव्यभावपरिच्छदविशेषात् शाक्यपरिकलितस्य गणोदीयते । युक्तं चैतत् । यतः सूत्रेऽपि चशब्दोऽपि शब्दार्थः भगवन् ! धारणं गणधारणमनुज्ञातं । परिच्छन्ने द्रव्यभावपरिच्छदोपेतमात्रे तत एवमुक्त्वा यदर्हानर्हपरीक्षामर्थेनार्थमाश्रित्य प्ररूपयथाः । नन्वेवं सति द्वयोरपि सूत्रार्थयोर्भवति विरोधः । उक्तस्वरूपस्याऽर्थस्याधिकृतसूत्रेणासूचनात् ॥

अत्र सूरिराह ॥

संति हि आयरिय जगाणि, सत्थाणि चोयग ! सुणाहि ॥
सुत्ताणुन्नातो वि हु, होइ कयाइ अणरिहोउ ॥ १ ॥
तेण परिच्छा कीरइ, सुवन्नगस्सेव तावनिहसादी ॥
तत्थ इमो दिट्ठंतो, रायकुमारेहिं कायव्वो ॥ २ ॥

चोदक ! शृणु मदीयं वचः संति हि स्फुटं तानि शास्त्राणि यान्याचार्यद्वितीयकानि किमुक्तं भवत्याचार्यपरंपरया तत्संप्रदायविशेषपरिकलितानि ततो यद्यप्यर्हानर्हपरीक्षालक्षणोऽर्थः सूत्रे साक्षान्नोपनिबद्धस्तथापि सूचनात् सूत्रमिति सोऽपि सूत्रेण सूचित इति संप्रदायादवगम्यते इति न कश्चिद्दोषः । तथा च सूत्रानुज्ञापि हि निश्चितं कदाचिदनर्हो भवति । नच सूत्रमन्यथा सर्वज्ञप्रणीतत्वात्तेन परीक्षापि सूचितेति । तापनिकषादिभिः सुवर्णस्येव सूत्रानुज्ञानस्याऽपि कुलकादिभिः परीक्षा क्रियते । तत्रायं वक्ष्यमाणलक्षणोदृष्टांतो राजकुमारैः कर्तव्यः ॥

तमेवाह ॥

सूरे वीरे सत्तिए, ववसायथिरे चियायधितिमंते ॥
बुद्धिविणयकरणे, सीसेत्ति तहा परिच्छगए ॥
निब्भयओरस्सवली, अविसाइ पुणो करेंति संठाणं ॥
नवि संभाति देति अणास्सित्तो उ व उहाणुवित्ति य ॥

इहाद्यगाथापदानां द्वितीयगाथापदैर्व्याख्यानं । तद्यथा सूरो नाम निर्भयः । स च कुतश्चिदपि न भयमुपगच्छति । वीरश्चौरस्यबलवान् तेनाक्लेशेन परबलं जयति । सात्त्विको नाम योमहत्यभ्युदये गर्वं नोपयाति न च गरिष्ठेऽपि समापतिते व्यसने विषादं । तथा चाह । अविषादि उपलक्षणमेतत् अगर्वी वा व्यवसायी अनलस उद्योगवानित्यर्थः । तथा चाह । पुनः करोति संस्थानं । किमुक्तं भवति । प्रमादतः कथंचिद्व्यवसायविकलोऽपि भूत्वा पुनः करोति संस्थां कर्तुमुद्यच्छति स्वोचितव्यवसायमिति भावः । स्थिरो नाम उद्योगं कुर्वन्नपि न परिताम्यति तथा चाह । विश्राम्यतीति (वियायत्ति) दानरुचिर्यथोचित्यमाश्रित्य स्वेभ्योऽन्येभ्यश्च ददातीत्यर्थः । धृतिमान् राज्यकार्याणि कुर्वन् परनिश्राममपेक्षमाणः तथा चाह (अणिस्सित्ति) इति (बुद्धित्ति) औत्पत्तिक्यादिबुद्धिचतुष्टयोपेतः । विनीतो गुर्वादिषु विनयकारी यथोचित्य गुर्वादीनामनुवर्तक इत्यर्थः । करणे इति यद्राज्ञः कर्तव्यं तत्करणे कुशलः । एतेषु परीक्षा क्रियते किमेते गुणास्सन्ति न वा । तत्र य एतैर्गुणैरुपेतो भवति । स राज्ञो राज्येऽभिषिच्यते । दानशीलोऽव्ययः स्थिरस्सोऽपरिश्रांतस्सन् कर्तव्यं करोति । कृत्वापि च पश्चादनुपतापी त्यागवान् नाम दानशीलः स च स्तोकादपि स्तोकं ददानो गणस्य बहुमानभाग् भवति ॥

उवसग्गो सोढव्वे, झाये किच्चेसु या विदिसंतो ॥
बुद्धिचउक्कविणीतो, अहवा गुरुमादिविणीतोउ ॥

धृतिमान् उपसर्गान् सोढव्यान् ध्यायति । कृत्येष्वपि कार्येष्वविषादं प्रवर्तते । बुद्धिविनीत इत्यत्र इदमपि व्याख्यानं । बुद्धिचतुष्टयं नीतं प्रापितमात्मनि येन स बुद्धिविनीतः । सुखादिदर्शनात् क्तांतस्य पाक्षिकः परनिपातः । अथवा (बुद्धित्ति) बुद्धिचतुष्कोपेतो विनीतो गुर्वादिषु विनीतः ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दव्वाई जं जत्थ उ, जम्मि विकिच्चं तु जस्स वा जंतु ॥
कव्वइ अहीणकालं, जियकरणविणीयएगत्थ ॥

यद्यत्र द्रव्याद्युपयोगि यस्य वा यत्र यत्कृत्यं तत्सर्वमहीनकाले जितकरणः करोति कारयति । जितकरणो विनीत इति द्वावप्येकार्थौ तात्पर्यं विश्रान्त्या शब्दार्थस्तु परस्परं भिन्नो जितकरणो नाम करणदक्ष उच्यते । विनीत इति विनयकरणशीलः ।

एवं जुत्तपरिच्छा, जुत्तो वेतेहिमेहिउ अजोग्गो ॥
आहारादिधरेंतो, तिंतिणिमाइहिं दोसेहिं ॥

एवमेतैरनंतरोदितैः सूत्रार्थादिभिर्गुणैर्युक्ता उचिता या परीक्षा तया युक्तोऽपि निश्चितः पात्रीनेतुं यमादिदोषैरयोग्यः । तानेवाह । आहारादि आहारोपधिपूजानिमित्तं गुणं धारयन् तिंतिणयादिभिश्च दोषैरयोग्यः । तिंतिणीनाम यत्र तत्र वा स्तोकेऽपि कारणे करकरायणं । आदिशब्दाच्चलचित्तादिपरिग्रहः ॥ एतदेव व्याख्यानयति ॥

बहुसुत्ते गीयत्थे, धरेइ आहारपूयणट्ठाइ ॥
तिंतिणचल्लअणवट्ठिअ, दुब्बल चरणा अजोग्गो उ ॥

बहुकालोचितं सूत्रमाचारादिकं यस्य स बहुसूत्रो गीतार्थो विदितसूत्रार्थः । एतेन युक्तः परीक्षायुक्तोऽप्येतद्व्याख्यानयति एवंभूतोऽपि यो गणं धारयति (आहारपूयणट्ठाई) उत्कृष्टो मे आहारो भविष्यति पूजनं वा स्वपक्षतश्चान्यचमर्थः आदिशब्दादुपधिरन्यद्वोपकरणमुत्कृष्टं मे भविष्यतीत्येवमादिपरिग्रहः । सोऽयोग्यस्तथा । योतितिणः स्वल्पेऽपि प्रयोजने करकरायमाणः । चलश्चलचित्तोऽनवस्थितः स्वप्रतिपन्नार्थानिर्वाही । दुर्बलश्चरणचारित्रविषये दुर्बल एतेऽप्ययोग्याः ।

एवं परिक्खियम्मि, पत्ते दिज्जइ अपत्तिपडिसेहो ।
दुपरिक्खियपत्ते, पुण चारियहावेंति मामेरा ॥

एवमनंतरोदितेषु गुणेषु च यदि परीक्षया निर्वर्तितो भवति गुणैरुपेतो दोषैश्च विप्रमुक्त इत्यर्थः । तदा स पात्रमिति कृत्वा तस्मिन् परीक्षिते पात्रे गणो दीयते । यस्तु प्रागुक्तैर्दोषैरुपेतो गुणैश्च विप्रमुक्तः सोऽपात्रमिति तस्मिन्नपात्रे गणदानस्य प्रतिषेधस्तस्मिन् गणो न दातव्य इति भावः (दुपरिक्खिय) इत्यादि । अथ कदाचित् सुदुःपरीक्षितः कृतो भवेत् गणश्च तस्मै दत्तः स च गणः सीदति तं दृष्ट्वाऽन्येऽपि गच्छवर्तिनः केचित् सामाचारीशिथिला भवितुं प्रवृत्तास्ततः परीक्षिते पात्रे गणे प्रदत्ते सति गणोऽवसीदति । ये तत्र गच्छेऽन्यतरविधर्मका न सीदंति तैरुपायेन प्रतिचोद्य वारयितव्यः । तत्र यदि वारणानंतरमावृत्योद्गच्छति ततस्समीचीनमथ वारितोऽपि किंचित्कालमुद्यम्य पुनः समाचारीं हापयति । तत इयं मर्यादा कर्तव्या अयं विधिःप्रयोक्तव्य इत्यर्थः । तमेवाह ।

दिट्ठोवसमोसरणे, अहवा थेरा तहिं तु वच्चन्ति ।
परिसायपट्ठमट्ठा, चंदणखोडी करंटणेय ॥

यत्र समवसरणे ज्ञायते आचार्योऽत्र प्रवेदयति । तत्र गच्छोऽनुलोमवचसा प्रवेशनीयः । प्रविश्य तत्र गत्वाऽऽचार्यस्य कथयति । त्वं सीदन् तिष्ठसि नैव च तद्युक्तं तस्मात् उद्यमगत्या वर्तस्व । अथवा कुलानि हिंडमानाः स्थविराः सूत्रगणे यत्र जंति तत्र दृष्टांतैः पर्षद्साधुपरिवाररूपा । घृष्टाः पादघर्षणात् मृष्टाः शरीरस्य केशादीनां च समारचनात् । तत एतां तथारूपां पर्षदमवलोक्य चंदनखोडिदृष्टांतेन खरंटना कर्तव्या सा चैवम्

आयरिया दिट्ठंतमेयं सुणंति । एगो इंगालदाहओ इंगालकट्ठाइणं अण्णट्ठाए नदीकूलं गतो तत्थ पासइ । तंमि णं वुज्झमाणं गोसीसचंदणखोडिं सो तं घेत्तूण पारं निंतो तमंतरा वणीओ पासई जाणई एसा गोसीसचंदणखोडी । ततो तेण सो भणितो किं एएण कट्ठेण तं करिस्ससई । इंगालदाहगो भणइ । दहिऊण इंगाले घेच्छामि । वणिउ चिंतितेजइ इत्ता हेट्ठेच मज्झाहामोतो बहुसके मोल्लं काहिति तो जाहे मडिओ मादवो हिति ताहे किणिहामि । एवं चिंतित्ता जाव वणिउ मुल्लस्स कएण घरं गंतु एति । तावत्तेण दिट्ठा गोसीसचंदणखोडी वणिएण आगंतुं पुच्छितो । कहीं तं कट्ठं सो भणइ दड्ढंति । एवं भणिएण खिंसितो महाभाग फिडितोसि इसरियत्तणस्स एवं जहा सो इंगालदाहओ सोयवाणियउ ईसरियत्तणस्स चुक्को । एवं तुमंपि नाणादी दहंतो निव्वाणस्स चुक्किहिसि ॥

एतदेवाह ॥

इंगालदाहखोडी, पवेसे दिट्ठाउ वाणिएणं ॥
तुज्झामुल्लं आणयए, इंगालट्ठाए तादिट्ठा ॥ १ ॥
इय चंदणरयणनिभा, पमाय तिक्खेण परसुणा भेत्तुं ॥
दुविहपडिसेवसिहिणा, तिरियणखोडि तुमे दड्ढा ॥ २ ॥

अंगारान् दहतीति अंगारदाहस्तस्य पार्श्वे गोशीर्षचंदनखोडी प्रवेशग्रामप्रवेशे च वणिजा दृष्टा । स च यावन्मूल्यमानयति । तावत्तेनांगारदाहकेनांगारार्थं सा खोडी दग्धा इत्यक्षरार्थः भावार्थस्तु प्रागेवोक्तः सांप्रतमुपनयमाह ॥ इयचंदणेत्यादि । इत्येवममुना प्रकारेण चंदनरत्ननिभा गोशीर्षचंदनमूल्या त्रिरत्न रत्नत्रयरूपा खोडीप्रमादरूपेण तीक्ष्णेन परशुना भित्त्वा द्विधा या प्रतिसेवा मूलगुणप्रतिसेवा उत्तरगुणप्रतिसेवा चेत्यर्थः । सैव शिखी वैश्वानरस्तेन त्वया दग्धा एवं वारितः सन् यदि निवर्तते ततः प्रायश्चित्तं दत्वा तस्य वर्त्तापकाः स्थविरा दातव्याः । अथ न निवर्तते नहि तस्य गणोऽपहरणीयः । न केवलमेतेऽनर्हाः । किंचान्येऽपि तथा चाह ॥

एएण अणरिहेहिं, अन्ने इयसूइया अणरिहातो ॥
के पुण ते इणमोत्त, दीणादिया मुणेयव्वा ॥

एतैरनंतरोदितैरनर्हैरन्येऽपि खलु सूचिता अनर्हाः । के पुनस्ते सूरिराह । इमे ते वक्ष्यमाणा दीनादयो ज्ञातव्यास्तानेवाह ।

दीणाजुंगियचउरो, जातीकम्मे यसिप्पसारीरे ॥
पाणाडोंबा किणिया, सोवागा चेव जातीए ॥

दीनाः अनर्हाः कस्मादिति चेदुच्यते । तेषां नंदनाभावादुक्तं च ॥

दीणाभासं दीणे, गतिं दीणजं पिउं पुरिसं ।
कं पेच्छसि नंदंतं, दीणाए दिट्ठिए तत्थ ॥

जुंगिका हीनाश्चत्वारोऽनर्हाः । तद्यथा जातौ कर्मणि शिल्पे शरीरे च । तत्र जातौ जुंगिकाश्चत्वारस्तद्यथा । पाणा डोंबाः किणिकाः श्वपचाश्च । तत्र पाणानाम ये ग्रामस्य नगरस्य च बहि

राकाशे वसंति तेषां गृहाणामभावात् । डोंबा येषां गृहाणि संति गीतं च गायन्ति । किंणिका ये वादित्राणि परिणह्यन्ति । वध्यानां च नगरमध्ये नीयमानानां पुरतो वादयंति । श्वपचा श्वांकाशा ये शुनः पचन्ति । तंत्रीश्च विक्रीणन्तीति । एतेजातौ जुंगिका उपलक्षणमेतत् । तेनायकल्पिका ये च ये च हरिकेशजातयोमेया ये च वरुडादयस्तेपि जातौ जुंगिका द्रष्टव्याः । संप्रति कर्मणि शिल्पे च तानाभिधित्सुराह ॥

पोसगसंवरनडलंख वाहमच्छंधरयगवागुरिया ॥
पडगारा य परीसह, सिप्पे सरीरे य वुच्छामि ॥

पोषका ये स्त्रीकुक्कुटमयूरान् पोषयन्ति । संवरास्तानिकाः । शोधकाः नटाः प्रतीता ये नाटकानि नर्तयन्ति । लंखा ये वंशादेरुपरि नृत्तं दर्शयंति । व्याधा लुब्धका मत्स्यबंधाः कैवर्त्ताः रजका वस्त्रप्रक्षालका वागुरिका मृगजालिकाजीविनः । एते कर्मणि जुंगिकाः । पटकाराः कुंचिकादयश्चर्मकारा इत्यपरे परीषहा नापिता एते शिल्पे जुंगिकाः ॥ संप्रति शरीरे तान् वक्ष्यामि प्रतिज्ञातं निर्वाहयति ॥

हत्थे पाए कन्ने, नासाउट्ठेहिं वज्जियं जाण ॥
वामणगमडहकोढिया, काणा तह पंगुला चेव ॥

शरीरे जुंगिकाः जानीहि । हस्ते सप्तमी प्राकृतत्वात् तृतीयार्थे । एवं सर्वत्र । ततोऽयमर्थः । हस्तेन उपलक्षणमेतत् । हस्ताभ्यां वा वर्जित एवं पादेन पादाभ्यां वा कर्णेन कर्णाभ्यां वा नासया ओष्ठेन वा वामनका हीनहस्तपादाद्यवयवाः । मडहाः कुब्जाः कुष्ठव्याध्युपहताः काणाः एकाक्षाः । पंगुलाः पादगमनशक्तिविकलाः एतानपि शरीरे जुंगिकान् जानीहि ॥

दिक्खेउंपि न कप्पंति, जुंगिया कारणेवि दोसोवि ॥
अन्नादिक्खिएवा, ताउं न करेंति आयरिए ॥

एते अनंतरोदिताश्चत्वारोऽपि जुंगिका दीक्षितुमपि न कल्पंते किंपुनराचार्यपदे स्थापयितुमित्यपि शब्दार्थः । कारणे तथाविधे समुत्पन्ने दोषका निर्दोषा वा दीक्षितुमपि संबध्यंते । अज्ञाताश्चेत्कथमपि जुंगिका दीक्षिता भवेयुः ततस्तान् अज्ञातदीक्षितानज्ञात्वा कुर्वत्याचार्यगुणोपेतानप्याचार्यान् प्रवचनहेलनाप्रसक्तेः ॥

पच्छावि होंति विकला, आयरियत्तं न कप्पई तेसिं ॥
सीसो ठावेयव्वो, काणगमहिसो व निन्नम्मि ॥

पश्चादपि श्रामण्यस्थिता अक्षिगलनादिना विकला भवंति । तेषामप्याचार्यगुणैर्युक्तानामप्याचार्यत्वं न कल्पते । येऽप्याचार्यपदोपविष्टास्संतः पश्चाद्विकला जायंते । तेषामपि न कल्पते धारयितुमाचार्यत्वं । किंतु तैस्तथा विकलैः सद्भिरात्मनः पदे शिष्यःस्थापयितव्यः । आत्मत्वे प्रकाशे स्थापयितव्यः । क इवेत्यत आह । काणकमहिष इव । निम्ने । इयमत्र भावना । काणकोनाम चोरितमहिषो माकोऽप्येन मद्राक्षीदिति हेतोर्ग्रामस्य नगरस्य वा बहिर्गर्तरूपे निम्ने प्रदेशे उपलक्षणमेतदिति गुपिले वा वनगहने स्थाप्यते । एवमेषोऽप्यन्यथा च प्रवचनहीलनाप्रसक्तेराज्ञादिदोषप्रसंगश्च । अथ यो वाऽऽत्मीयः शिष्यः पश्चाद्विकलैराचार्यैः स्थाप्यते । स कीदृश इत्यत आह ॥

गणि अगणी वागीतो, जोवि अगीतोवि या गईमन्तो ।
लोगे स पगासिज्जइ, तहावन्ति नकिंचामियरस्स ॥

गणोऽस्यास्तीति गणी साधुपरिवारवान् यो वर्तते तदभावे अगणी । वा यो गीतो गीतार्थः कालोचितसूत्रार्थपरिनिष्ठितः तस्याऽप्यभावे योवाप्यगीतोऽप्यगीतार्थोऽपि आकृतिमान् रूपेण मकरध्वजतुल्यः स गणधरपदे निवेश्यते । यथाऽयमस्माकमाचार्यो नेतर इति । केवलमितरस्याऽपि जुंगिकाचार्यस्य यत्कृत्यं तत्स्थविरा अन्येऽपि च न हापयंति सर्वमपि कृत्यं कुर्वतीति भावः । संप्रत्यनर्हान् प्रतिपादयिषुरिदमाह ॥

एयद्दोस विमुक्कावि, अणरिहा होंति सेउअम्मोवि ॥
अव्वाबाधादीया, तेसिं विभागो उ कायव्वो ॥

एतैरनंतरोदितैर्दोषैर्विमुक्ता अपि भवंत्यन्ये इमे अनर्हाः । के ते इत्याह । अत्याबाधादयस्ततस्तेषामत्याबाधानां विभागः पार्थक्येन स्वस्वरूपवर्णनं कर्तव्यं । प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति ॥

अव्वाबाध अवायन्ते, नेच्छइ अप्पचिंतए ॥
एगपुरिसे कहं निंदू, काकवञ्झा कहं भवे ॥

(अव्वाबाधेत्ति) अत्याबाध (अवायंतेत्ति) अशक्नुवन् (नेच्छत्ति) नेच्छति अनिच्छन् तथा आत्मचिंतकः एते चत्वारोऽपि पुरुषा अनर्हाः न केवलमेतेऽनर्हाः किंत्वेकपुरुषादयोऽपि तत्र शिष्यः प्राह । कथमेकपुरुषो भवति । कथं वा निंदूः कथं वा काकी कथं वा वंध्येति । एवं शिष्येण प्रश्ने कृते सूरिः सकलविनेयजनाऽनुग्रहप्रवृत्तः सर्वानप्यत्याबाधादीन् व्याख्यानयति ॥

अव्वाबाधो वाहइन, मज्झइत्तितिधरेउमसमत्थो ॥
तइओन चेव इच्छइ, तिन्नि ए ए अणरिहातो ॥

अतिशयेन आबाधा यस्य सोऽत्याबाधः । स गच्छस्य द्विविधेऽप्युपग्रहे वस्त्रपात्रादिज्ञानाद्युपष्टंभरूपे कर्तव्ये बाधां मन्यते द्वितीयोऽशक्नुवन् गणं धारयितुमसमर्थः द्विविधमप्युपग्रहं गच्छस्य कर्तुमशक्त इत्यर्थः । तृतीयोऽनिच्छन् समर्थोऽप्यालस्येन गणं धारयितुं नेच्छति । एते त्रयोऽप्यनर्हाः ॥

आत्मचिंतकमाह ॥

अब्भुज्जयमेगयरं, पडिवज्जिस्ससांति अत्तचिंतो उ ॥
जोवा गणे वसंतो, न वहति तत्तीतो अन्नेसिं ॥

आत्मानमेव केवलं चिंतयन् मन्यते पश्चादहमभ्युद्यतं जिनकल्पं यथा लंदकल्पानामेकतरं प्रतिपद्ये इति । आत्मचिंतकः योऽपि गणेऽपि गच्छेऽपि वसन् तिष्ठन् न वहति न करोति तस्मिन्नन्येषां साधूनां सोऽप्यात्मचिंतकः । एतौ द्वावप्यात्मचिंतकावनर्हौ ॥

एगं मज्जति सिस्सं, पणाउद्दे मरंति विद्धसंते वा ॥
अकमयस्स य एवं, नवरं पुणाय एए गो पणत्ति ॥

पंचम एकपुरुष एकं शिष्यं मृगयते सहायं चिंतयंति । किमप्येकमात्मनः सहायं मृगयामि । येन सुखं तिष्ठामीति तथा कष्टे निंदूतुल्याः शिष्या म्रियंते विध्वंसते वा प्रतिभज्यंते वेति भावार्थः । इयमत्र भावना । यथा निंदूमहिला यद् यदपत्यं प्रसूते तत्तन्म्रियते । एवं योऽपि यं प्रव्राजयति स स म्रियते अपगच्छति वा ततः स निंदूरिव निंदूः । सप्तमस्यापि काकीतुल्यस्य एवमेव द्रष्टव्यं । नवरं पुनरेकं तिष्ठति किमुक्तं भवति । यस्यापि यः शिष्यः स म्रियते विध्वंसते वा केवलमेकः तिष्ठति । उपलक्षणमेतत् । न चैतदपि द्रष्टव्यं । यस्यैकस्मिन्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रव्राजिते सति द्वितीयविषये लब्धिरेव नास्ति स का-
कीव काकी काक्यपि हि कियैकं वारं प्रसूते इति प्रसिद्धिः।
वंध्यातुल्यः सुप्रतीत इति न व्याख्या तदेवेदं व्याख्यानं । वंध्या
किलाप्रसवधर्मा एवं यस्य नैकोऽपि शिष्य उपतिष्ठते । स वं-
ध्येव वंध्येति । पुनरन्याननर्हान् प्रतिपादयिषुरिदमाह ॥

अहवा इमे अणरिहा, देसाणं दरिसणं करेंतेण।।
जेपव्वावियतेणं, थेरादि पयच्छति गुरुणं ॥

अथवेति । अनर्हाणामेव प्रकारांतरतोपदर्शने इमे वक्ष्य-
माणा अनर्हास्तानेवाह । देशानां दर्शनं कुर्वते । तेन ये
प्रव्राजिकाःस्थविरादयस्तान् प्रयच्छति गुरुणां न तरुणादीन्
पूर्वं बहुवचनमनेकव्यक्त्यपेक्षयेत्यदोषः । स्थविरादीनेवाह ।

थेरे अणरीहे सीसे, खज्जूहे एगलंभिए ॥
उक्खोवगयत्तिरिए, पये कालगते इय ॥

यःस्थविरान् प्रयच्छति शिष्यान् यो वानर्हान् येवा खज्जूहान्
यदि वा एकलाभिकानथवा य एकं प्रधानं शिष्यमात्मना
लभते गृह्णाति शेषांस्त्वाचार्यस्य समर्पयति । स एकलाभेन
चरतीति एकलाभिकः । यो वा शिष्याणामुत्क्षेपको यश्चाचा
र्याणामत्वरिकान् शिष्यान् करोति । योवा गुरुसंबंधिनः शि-
ष्यान् पथि कालगतान् चशब्दात् प्रतिभग्नान् कथयति । एते
सर्वेऽप्यनर्हास्तत्र स्थविरादीन् व्याख्यानयति ॥

थेराउ अतिमहल्ला, अणरिहा काणकुंटमादीया ॥
खज्जूमाय अवस्सा, एगालंभी पहाणा उ ॥ १ ॥
तं एगं न वितीअ, विसेसे देइ जे गुरुणा उ ॥
अहवा वि एगदव्वे, लभंति जे ते देइ गुरूणं ॥ २॥

स्थविरानाम अतिमहांतो वयसाऽतिगरिष्ठा इत्यर्थः । अनर्हाः
काणकुंटादयः खज्जूका अवश्याः। अयमत्र भावार्थः योऽसौ पूर्व
परीक्षितः स देशदर्शनं कार्यते । तेन च देशदर्शनं कुर्वता यदि
ये स्थविराः प्रव्राजिता ये च जुंगिका ये च खज्जूका वा ते आचा-
र्यस्य समर्प्यंते तरुणा न व्यङ्गा विनीताश्चात्मनस्तदा सोऽनर्ह
इति। एगलाभिनां यः प्रधानः शिष्यस्तमेकं योन ददाति अवशे-
षांस्तु सर्वानपि प्रव्राजितान् गुरूणां प्रयच्छति । अथवा येषा
मेकरत्रलाभो यथा यदि जर्कं लभंते ततो वस्त्रादीनि न अथ व-
स्त्रादीनि लभंते तर्हि न भक्तमपि एकमेव लभते इत्येवं शीला
एकलाभिनस्तया चाह ।अथवा ये एकं द्रव्यं लभंते तान् शिष्या
न् गुरूणां यः प्रयच्छति । लभयलब्धिकानात्मन संबंधयति सोऽ
प्यनर्हः ॥

उक्खोवणं देतिन्नि वा, विउवणाति से समप्पणो ॥
आयरिया णित्तेरियं, बंधइ दिसमप्पणो वकहिं ॥

इयं किल समाचारी यावंतः किल देशदर्शनं कुर्वता प्रव्रा-
जिताः तावंतः सर्वे गुरूणां समर्प्पणीयाः यस्तु प्रव्राजितान्
द्विधा कृत्वा उत्क्षेपेण हस्तोत्पादनेन द्वौ त्रीन् वा शिष्यान् गुरू-
णामुपनयति शेषान् सर्वानप्यात्मना गृह्णाति एषो
क्षेपकोऽनर्हः ॥

तथा ये के च न देशदर्शनं कुर्वता प्रव्राज्यंते ते सर्वेऽप्यात्मन
इत्वरिका बंधनीयाः। यथा आचार्यसमीपं गता यूयं सर्वेऽप्या-
चार्यस्य यत्पुनराचार्याणां दिशामित्वरिकां बध्नाति । आत्मनस्तु
यावत्कथिकां यथा यावत् यूयमाचार्यसमीपे तिष्ठत तावदा-
चार्यस्य ततः शेषकालं ममेत्येवामित्वरिकान् कतिशिष्यान् सोऽ
प्यनर्हः ॥

पयंमियकालगया, पभिज्जज्जा वावितुव्व जे सीसा ।
एए सव्वे अणरिहा, तप्पमिवक्खा भवे अरिहा ॥

यो देशदर्शनं कृत्वा समागतः सन् ब्रूते युष्माभिर्दत्ताः सा-
धवः परिवारतया ते सर्वे युष्माकं शिष्याः पथि कालगताः
प्रतिभग्ना वा इमे पुनः सर्वे मम शिष्या एते स्थविरादयो
ऽनर्हाः तेषां पुनरनर्हाणामाचार्यसमीपगतानां ये तैः प्रव्राजिता
शिष्यास्तानाचार्य इच्छापयति वा न वा गुरूणामनेच्छाप्रमाण॥
व्य. १ खं. ३ उ. ॥

(२७) उद्देशः मैथुनादिप्रतिसेव्याचार्यत्वे न ॥
मैथुनप्रतिसेवने त्रिवर्षाण्यन्तरे आचार्यत्वन्न कल्पत इत्य-
त्र प्रमाण (मुहेस) शब्दे ।

(२८) स्थापनाविधिराचार्यपदे गुरोः ॥
आचार्यपदेऽन्यस्थापनाविधिश्च ॥

कहण्णं भंते! आयरियस्स ठवणाविही वियाहिया जंबू! जे आ
यरिया विहिपुव्वं ममाउआयरियेणं पट्टाविया तेवि आ
यरिया तत्थ एगे नामायरिया दव्वायरिया ठवणायरिया
भावायरिया । जंबू ! जे भावायरिया ते तित्थयरस
मा । अहवा ठउ आयरिया पण्णत्ता सिप्पायरिया कलायरि
या धम्मायरिया जे ते धम्मायरिया परलोगगहियट्ठाए नि
जरट्ठाए आराहेयव्वा । अणे कलायरिया सिप्पायरिया
एकइएहिं कित्तबुद्धिए आराहियव्वे । तत्थेगे धम्मायरिया
सोवायकरंडसमा बद्धाइकयपप्पयगाहाईहिं जे सुद्ध
सज्झाए वक्खाणिंति ते सोवागकरंडसमा । वेसाकरंडसमाजो
रीआहारणसरिसजीहावक्खाणडंबरेणं अंतरं सुअसार
विरहिया विसुद्धसज्झाए जणं विमोहिंति णेरविंति अप्पा
णं गुतंसि आउच्च अण्णत्थे पाडिंति गोयमा ! गणहराणं
उवमाएतेवेसाकरंडसमा गाहावइकरंडसमा जे समं सम्
वसियसुगुरुहितो संपत्त अंगोवंगाइसुत्तये सुपरिच्छिय
च्छेयगंथा सयसमयपरसमयणिच्छया परोवयाकरणिक
लच्छिया जणजोगाविहीए अणुओगं करिंति । ते गा
हावइकरंडसमा रायकरंडसमा जे गणहरा चउदसपुव्वि-
णोवा घरुआओ घरुसयं पडाओ पडुसयं इच्चाइं विहाइं
सयसमणिया ते रायकरंडसमा गाहावइकरंडसमाणे
रायकरंडसमाणे दोविए आयरिए तित्थयरसमाणे तेसिं
ठवणविहि गाहाबंधो ॥

जइगुण १ काल २ णिसिज्जा ३ विज्ज ४ चंदु ५ समा
६ नंदि ७ सगच्छजोगा ८ मंत ९ रक १० णाम ११
वंदण १२ अणुसट्ठिं १३ निरुद्ध १४ गणगुत्ता १५
संगा १६ संगहणीगाहा ॥

अन्नवरिसंदिकयवारसु, सुत्ते अत्थे य वायगत्तेय ।

पणयाल्लीसपरिसगुण, जुत्तोसूरिपयजुग्गे ॥ २ ॥
देसकुलं पसिद्धि, जत्तीसगुणगणालंकिओ दढचरित्ते।
जयणाजुत्तो संघस्स, सम्मओ मुक्खकंखी य ॥ ३ ॥
कालाइव साइकाइ, गुण विहीणो विसुद्धगीयत्थो ॥
ठाविज्जइ सूरिपए, उज्जुत्तो सारणाइसुं ॥४॥
सुगुणाजावे न पुणो, गुणपरिहाणी उविज्जए सूरी ॥
अप्पत्ते सूरिपयं, दिंतस्स गुरुस्स गुरुदोसो ॥ ५ ॥
जउत्तंबूहो गणहरस्स, दोगोयमाइहिं धीरपुरिसेहिं ॥
जोतं उवइ अपत्ते, जाणंतो सो महापावो ॥ ६ ॥
कहं नासेइ अगीअत्थो, चउरंगं सव्वलो असारंगं ॥
नट्ठमिअ चउरंगेण, हु सुलहं होइ चउरंगं ॥ ७ ॥
नासेइ संफेणो, चउरंगं सव्वलो य सारंगं ॥
नट्ठंमिय चउरंगेण, हु सुलहं होइ चउरंगं ॥ ८ ॥
एयाए विहीए सुसीसस्स परिक्खा काऊण दुसमसमया-णुजावेणं पसत्थे तिहिनक्खत्तमुहुत्ते गहिए पाजाइअकाले पट्ठविए गुरुसीसे सिज्जाए करित्ता पसत्थजिणजवणा इथिच्चे अक्खए गुरुजुगे निसिज्जादुगे कातव्वे अणुओ-गाणुण्णवणत्थं कियलोयस्स सीसस्स सिरे गुरुणो वासं खे ति मंतिऊण सीसे खिवति। सुसीसस्स से तओ पुव्वविहीए देवे वंदाविइत्ता अणुओगाणुण्णवणत्थं काउस्सग्गं किरइ। सत्तावीसुस्सा संदुवेवि गुरुसीसा तओपयरं चउवीसं थुतं पढित्ता वारात्तिगं पंचमंगलुच्चारं करेंति । सुच्छट्ठिया । गुरु अओवा अक्खलियाइगुणोपवेय नंदिसुत्तं कट्टेइ । बुइसीसो अहोणयकायउजोरुयकरकमलकुमलोपवड्ढमाणसंवेगो सु णेइ। तओ सीसो वंदितो नणइ इच्छयारिंजंतेतुम्हेअणुओ गं जाणह तओ गुरु नणइ अहमेअस्स साहुस्स दव्वगुण पज्जवेहिं खमासमणाणं इत्थेणं अणुओगं अणुजाणामि विए संदिसह किं जणामि। वंदित्ता पवेएह तइए इच्छ यारि तुम्हे अम्हं अणुओगो अणुण्णाउं । इच्छामो अणुसट्ठिंति सीसेण जणिए गुरु जणइ । संम्मे अवहारे यव्वं अओसिं पवेयहचउत्थे तुह्माणं पवेइयं संदिसह साहूणं पवेएमि पंचमेय इक्कणमुक्कारेण समोसरणं च गुरुं च पयक्खिणेइ एवं तिन्नि वारा उट्ठेण तुम्हाणं पवेइउ साहूणे पवेइउं संदिसह काउस्सग्गं करेमि । सत्तमे अणओगाणु जाणावणियं करेमि काउस्सगमिचाइणा उस्सग्गे कए गुरुसमप्पिय णिसिज्जा जुओ गुरुं तिपयक्खिणीकरिय वंदित्ता गुरुदाहिणओ उच्चआसन्ने निसिज्जाए णिसी अइ। तउ णिसन्नस्स लग्गवेलाए दाहिणसवणे गुरुपरंपरा गयमंतपए तिन्निवारे परिकहेइ। तओ वद्धतिया उ तिन्निअ क्खमुट्ठिओ देइ करयलपुमं सीसो ताउ उवउत्तो गिह्नइ। तओ गुरू तस्स नामं कारिय णिसिज्जाउ उट्ठेइ। सीसो तत्थ णिसीयइ अहा सन्निहीयसंघसहिओ गुरू तस्स वंदणं देइ। इयं च तुल्यगुणाख्यापनार्थमुत्रयोरपिन दोषाय। यदाह। आयरियनिसिज्जाए उवविसणं वंदणं च तह गुरुणो तुल्लगुणाक्खायणत्थं ए तया छट्ठं वुव-एहंपितउ वक्खाणं करेहत्ति। गुरुणा वुत्ते तत्थहिओ चेव अहिणवसूरी नंदिमाइयं परिसाणुरूवं वा वक्खाणं क रेइ। तस्सम्मतीए य संघो तं वंदइ। तओसोवि णिसिज्जाउ उट्ठेइ गुरुवो तत्थ णिसित्ता उववूहंति। यथा ग्रायणीपुव्वे दसमसिलोगबंधेण सिक्खा दिंति ।
नमोऽर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुन्यः ।
यथा । धन्यस्त्वं येन विज्ञात, स्संसारगिरिदारकः ॥
वज्रवद्धुर्जिदश्चायं, महाजाग ! जिनागमः ॥ १ ॥
इदं चारोपितं यत्ते, पदं तत्संपदां पदम् ॥
श्रीगौतमसुधर्म्मादि, मुनिसिंहनिषेवितम् ॥ २ ॥
धन्येज्यो दीयते जद्र, ! धन्या एवास्य पारगाः ॥
धन्या गत्वाऽस्य पारन्तु, पारं गच्छंति संसृतेः ॥ ३ ॥
नीतं संसारकांतारा, त्साधुवृन्दमिदं मुदा ॥
विमोचने समर्थस्य, जवतश्शरणागतं ॥ ४ ॥
अतो विधेयं यत्नेन, सारणावारणादिना ॥
अपायपरिहारेण, संसारारण्यपारगं ॥ ५ ॥
एवं तं उववूहिअ विणेयजणोवि अणुसासियव्वो। यथा।
गुण्जाजिरपि नैवेष, सुस्थबोधिस्थसन्निजः ॥
संसारसागरोत्तारी, विमोक्तव्यः कदाचन ॥ १ ॥
प्रतिकूलश्च कर्तव्य, मनुकूलरतैः सदा ॥
प्राव्यमस्य गृहत्यागो, येनवस्सफलो जवेत् ॥ २ ॥
अन्यथा लोकबंधूना, माज्ञालोपः कृतो जवेत् ॥
ततो विडंबना घोरा, जवेदिह परत्र च ॥ ३ ॥
ततः कुलवधून्यायात्, कार्य्ये निर्जर्त्सितैरपि ॥
यावज्जीवं न मोक्तव्यं, पादमूलमयुष्य जोः ॥ ४ ॥
ते ज्ञानजाजनं धन्या, स्तेहि निर्म्मलदर्शनाः ॥
ते निष्प्रकंपचारित्रा, ये सदा गुरुसेविनः ॥५ ॥
इदं अणुसट्ठिं काउं दोवि णिरुद्धं करेंति दोविसज्झा-यस्स कालस्सय पडिक्कमंति । आयरियं पंचएए अइ सया ववहारगत्थे अनिहिया ॥
नत्ते पाणे धोवणए, पसंसणा हत्थपायसोए य ॥
आयरियअइसेसा, णइसेसा होंत णायरिया ॥ १ ॥
लप्पन्नणाणा जइनो अनंती, नुसी सबुद्धा इसया जिणिंदा।
एवं गणी अहगुणोववेआ, सत्थावनो हिंमइइत्थिमंतु ।२।
गुरुहिं रूणंमि गुरुगा, वसजे लहुगा णिवारयंतंमि ॥
गीयागीयगुरुलहु, आणाइआ बहुदोसा ॥ ३ ॥

पंचवि आयरियाइ,यच्छंति जहक्कए वि संथरणे ॥
एवं पसत्थरंतो, सयमेव गणी अमइ गामे ॥ ४ ॥

इच्चाइगुणजुत्तस्स दुच्चेट्ठावियारियस्स वा गणानुज्ञां करोति । तत्थय सकरुणो पवयणाणुरागीय एवं वि खमासमणपुव्वं सीसो जणइ । इत्थयारि तुम्हे अम्हदिगाइ अणुजाणावणियं नंदिकारावणियं वासणिक्खेवं करेह इच्चाइ पुव्वुत्तविहीए चेइवंदणं चेइवंदणपुव्वं काउसग्ग करणं नंदिसुत्तस्स कड्ढणं गंधदाणं सत्तखमासणदावणं तओ उस्सग्गाणंतरं सूरिसमीवे उवच्चिट्ठियस्स अभिणवगणहरस्स साहुणीओ वंदणयं दिंति । तओ तस्सायरियस्स सीसे हत्थं दाऊणं सासणं देइ ॥ तंजहा ।

संपारिऊण परमे,नाणाइ दुविहियतायणसमत्थो ॥
जवजयजयाणदढं,ताणं जो कुणई सो धम्मो ॥ १ ॥
असाणवाहिगाहिया, जइवि न सम्मं इहातुरा हुंति ॥
तहवि पुण जावविज्जा, तेसिं अवणंति तंवाहिं ॥ २ ॥
तातंसि जावविज्जो, जवदुक्खनिवीडियातुम्हं ॥
एए हंदिसरणं, पवक्षा मोएयव्वा पयत्तेणं ॥ ३ ॥

गच्छस्स सिक्खिदाणं पुण एवं ॥

तुम्फेहिं पिण एसो, संसाराविमहाकमीडंमि ॥
सिद्धिपुरसत्थवाहो, जत्तेण सया ण मुत्तव्वो ॥ ४ ॥
नाणस्स होइ जागी, थिरयरओ दंसणे चरित्तेय ॥
धन्ना आवकहाए, गुरुकुलवासं ण मुंचन्ति ॥ ५ ॥
एवंचिय समणीणं, अणुसट्ठिं कुणइ इत्थ आयरिओ ।
तह अजचन्दणमिगावइ, णासा होइ परमगुणा ॥ ६ ॥
एवं ठवणाविहीए, ठविया जे हवन्ति आयरिया ॥
विहिवहिया अणायरिया, जणिया सिरिवीरणाहेणम् ॥ ७ ॥ अंग. चू. । ध. ३ अधि. ॥

नूतनाचार्य्यस्थापनविधिर्गुरुशिष्ययोरनुशासनं च पंचवस्तुके यथा ॥

एत्थाणुजाणणविही, सीसं काऊण वामपासम्मि।
देवे वन्देइ गुरू, सीसो वन्दिओ तो जणइ ॥ ३६ ॥

व्याख्या ॥ अत्र प्रक्रमे अनुज्ञाविधिरयं शिष्यं कृत्वा वामपार्श्वे आत्मनः देवान्वन्दते । गुरुराचार्य्यशिष्यो वंदित्वा अत्रांतरे ततो जणति वक्ष्यमाणमिति गाथार्थः ॥ ३६ ॥

इच्छाकारेणम्हं, दिसाइ अणुजाणहत्ति आयरिया ।
इच्छामोत्ति जणित्ता, उस्सग्गं कुणइओ तयत्थं ॥ ३७ ॥

व्याख्या । इच्छाकारेण स्वेच्छया क्रिययाऽस्माकं दिगाद्यनुजानीतेति जणति अत्रांतरे आचार्य इच्छामि इति भणित्वा तदनंतरं कायोत्सर्गं करोति तदनन्तरं दिगाद्यनुज्ञार्थमिति गाथार्थः ॥

चउवीसत्थयनवकार,पारणं कड्ढिउथयं ताहे ।
नवकारपुव्वयं चि अ, कड्ढइ अणुएणंदित्ति ॥ ३८ ॥

व्याख्या । चतुर्विंशतिसूत्रपाठनमस्कारपारणं नमोरिहंताणमित्येवमाकृष्य पठित्वा स्तवं पूर्वोक्तं ततो नमस्कारपूर्वकमेवाकर्षति । पठत्यनुज्ञानंदीमिति गाथार्थः ॥

सीसो वि जाविअप्पा, सुणेइ जह वंदिअं पुणो जणइ ।
इच्छाकारेणम्हं, दिसाइ अणुजाणह तहेव ॥ ३९ ॥

व्याख्या । शिष्योऽपि जावितात्मा सन् शृणोत्युपयुक्तः अथ वंदित्वा पुनर्भणति शिष्यः । इच्छाकारेणास्माकं भगवन् ! दिगाद्यनुजानीत तथैव जणतीति गाथार्थः ॥

आह गुरु खमासमणं, हत्थे णिम्मरम साहुस्स ।
अणुजाणिअं दिसाई, सीसो वंदित्तुतो जणइ ॥ ४० ॥

व्याख्या । आह गुरुस्तत्रांतरे क्षमाश्रमणानां हस्तेन स्वमनीषयाऽस्य साधोः प्रस्तुतस्यानुज्ञातं दिगादिप्रस्तुतं शिष्यो वन्दित्वा अत्रांतरे ततो जणति वक्ष्यमाणमिति गाथार्थः ॥

संदिसह किं जणामो, वन्दितु पवेअह गुरू जणइ ।
वंदितुपवे अयई, जणइ गुरुतत्थ विहिणाओ ॥ ४१ ॥

व्या. ॥ संदिशत किं जणामि अत्र प्रस्तावे वंदित्वा प्रवेदयेवं गुरु र्भणति वंदित्वा प्रवेदयति शिष्यो जणति गुरुस्तत्रविधिना तु वक्ष्यमाणमिति गाथार्थः ॥

वंदितु जणइ तुम्हं, पवेइयं संदिसह साहूणं ।
एवं सीसोजणइ, जणइ गुरू पवेयह तओउ ॥ ४२ ॥

वंदित्वा जणति ततः किमित्याह । युष्माकं प्रवेदितं संदिशत साधूनां प्रवेदयामि एवं भणति शिष्यः । अत्रांतरे गुरुराह प्रवेदय ततस्तु तदनंतरमिति गाथार्थः । किमित्याह वंदित्वा जणति ततः किमित्याह । युष्माकं प्रवेदितं संदिशत साधूनां प्रवेदयामि एवं भणति शिष्यः । अत्रान्तरे गुरुराह । प्रवेदय ततस्तु तदनन्तरमिति गाथार्थः ॥ किमित्याह ॥

वन्दितु णमोकारो, कड्ढंतो से गुरुं पयक्खिणइ ॥
सो वि अ देवाईणं, वासो दाऊण तो पच्छा ॥ ४३ ॥

व्या. ॥ वंदित्वा नमस्कारमाकार्षं सशिष्यो गुरुं प्रदक्षिणी करोति सोऽपिच गुरुर्देवादीनां वासान् दत्वा ततस्तदनन्तरं पश्चादिति गाथार्थः ॥ किमित्याह ॥

सीसंमि पक्खिवन्तो, जणइ तं गुरु गुणेहिं वड्ढाहिं ।
एवं तु तिन्निवारो, उवविसइ तओ गुरुपच्छा ॥ ४४ ॥

व्याख्या । शिरसि प्रक्षिप्त्वा तान् भणति तं साधुं गुरुगुणैर्वर्धस्वेति एवमेव त्रीन् वारानेतदुपविशति । ततस्तदनंतरं गुरुः पश्चादिति गाथार्थः ॥

सेसं जह सामइए, दिसाइ अणुजाणणाणिमित्तं तु ।
णवरं इह उस्सग्गो, उवविसइ तओ गुरुसमीवे ॥ ४५ ॥

व्या. शेषं प्रादक्षिण्यादि तथा सामायिके तथैव द्रष्टव्यं दिगाद्यनुज्ञानिमित्तं तु नवरमिह कायोत्सर्गो नियमतएव उपविशति ततो गुरुसमीपे स साधुरिति गाथार्थः ॥

दिंति अ तो वंदणयं, सीसाइ तओ गुरू वि अणुसट्ठिं ।
दोएहवि करेइ तह जह, अएणोवि अबुज्झई कोई ॥ ४६ ॥

व्या. ददति च ततो वंदनं शिष्यादयः सर्वे एव ततो गुरुरप्यनुशास्ति मौलः द्वयोरपि गच्छगणधरयोः करोति । तथा संवेगसारं यथाऽन्योऽपि च सत्वो बुध्यते कश्चिदिति गाथार्थः ॥

गणधरानुशास्तिमाह ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्तममिअं पयं, जिणवरेहिं लोगुत्तमेहिं पएणत्तं।
उत्तमफलसंजणयं, उत्तमजणसेविअं लोए ॥ ४७ ॥

व्या. उत्तममिदं गणधरपदं जिनवरैर्लोकोत्तमैर्भगवद्भिः प्रज्ञप्तमुत्तमफलसंजनकं मोक्षजनकमित्यर्थः। उत्तमजनसेवितं गणधराणामुत्तमत्वाल्लोक इति गाथार्थः ॥

धएणाण णिवेसिज्जइ, धएणागच्छंति पारमेअस्स।
गन्तुंइमस्स पारं, पारं वच्चंति दुक्खाणं ॥ ४८ ॥

व्या. धन्यानां निवेश्यते एतद्धन्या गच्छंति पारमेतस्य विधिना परंपारं व्रजंति दुःखानां। सिध्यंतीति गाथार्थः ॥

संपाविऊण परमे, णाणाई दुक्खिय तायणसमत्थे।
जवजयजीअणे दढं, ताणं जो कुणइ सोधएणो ॥४९॥

व्या. संप्राप्य परमान् प्रधानान् ज्ञानादीन् गुणान् दुःखितत्राणसमर्थान्। किमित्याह। जवभयजीतानां प्राणिनां दृढं त्राणं यः करोति सधन्यो महासत्त्व इति गाथार्थः ॥

अएणाणवाहिगहिआ, जइवि न सम्मं इहाउरा होंति।
तहवि पुणजाववेज्जा, तेसिं अवणिंति तंवाहिं ॥ ५० ॥

व्या० ॥ अज्ञानव्याधिगृहीताः सन्तो यद्यपि न सम्यगिहातुरा भवंति व्याधिदोषात्तथापि पुनर्भाववैद्यास्तात्त्विकास्तेषामपनयंति व्याधिमज्ञानलक्षणमिति गाथार्थः ॥

तातंसि जाववेज्जो, जवदुक्खनिपीडिया तुहंएए।
हंदिसरणं पवएणा, मोएअव्वा पयत्तेणं ॥ ५१ ॥

व्या० ॥ त्वमसि भाववैद्यो वर्तसे भवदुःखनिपीडिताः संतस्तवैते साध्वादयः हंदिसरणं प्रपन्नाः प्रव्रज्यादिप्रतिपत्त्या मोचयितव्याः प्रयत्नेन सम्यक्त्वकारणेनेति गाथार्थः ॥

मोएइ अप्पमत्तो, परहिअकरणंमि णिच्चमुज्जुत्तो।
जवमोक्खापडिबद्धो, पडिबद्धो मोक्खसोक्खंमि ॥५२॥

व्या० ॥ मोचयति चाप्रमत्तः सन् परहितकरणे नित्योद्युक्तो य इति। जवसौख्याऽप्रतिबद्धोनिस्पृहः। प्रतिबद्धो मोक्षसौख्ये नान्यत्रेति गाथार्थः ॥

ताएरिसो वि अतुमं, तह वि अ जणिओ सिसमयणीईए।
णिअयावत्थासरिसं, जवयाणिच्चं पि कायव्वं ॥५३ ॥

व्या.। तदीदृश एव त्वं पुण्यवांस्तथापि च भणितोऽसि मया समयनीत्या करणेन निजावस्थासदृशं कृत्यमेव भवता नित्यमपि कर्तव्यं नान्यदिति गाथार्थः। गच्छानुशास्तिमाह।

तुब्भेहिं पि न एसो, संसारामविमहाकडिल्लंमि।
सिद्धिपुरसत्थवाहो जत्तेण खणंपि मोत्तव्वो ॥ ५४ ॥

व्या० युष्माभिरपि नैष गुरुः संसाराटवीमहाकडिल्ले गहने सिद्धिपुरसार्थवाहः। तत्रानपायनयनादथत्नेन क्षणमपि मोक्तव्यो नेति गाथार्थः ॥

ण य पडिकूलेअव्वं, वयणं एअस्स नाणरासिस्स।
एवं गिहवासचागो, जं सफलो होइ तुम्हाणं ॥ ५५ ॥

व्या. ॥ न च प्रतिकूलयितव्यमशक्त्या वचनमेतस्य ज्ञानराशेर्गुरोरेवं गृहवासत्यागः प्रव्रज्यया यत्सफलो भवति युष्माकमाज्ञाराधनेनेति गाथार्थः ॥

इहरा परमगुरूणं, आणाजंगो निसेविउ होइ।
विहला य होंति तं मि, निअमाइहलोअपरलोआ ॥५६ ॥

व्या. ॥ इतरथा तद्वचनप्रतिकूलत्वेन परमगुरूणां तीर्थकृतामाज्ञाभंगो निषेवितो भवति। निष्फलौ च भवतस्तस्मिन्नाज्ञाभंगे सति नियमादिहलोकपरलोकाविति गाथार्थः ॥

ताकुलवहुणाएणं, कज्जे निब्भच्छिएहिं विकाहिंवि।
एअस्स पायमूलं, आमरणंतं न मोत्तव्वं ॥ ५७ ॥

व्याख्या। तत्कुलवधूज्ञातेनोदाहरणेन कार्ये निर्भर्त्सितैरपि सद्भिः कथंचिदेतस्य गुरोः पादमूलं समीपमामरणांतं न मोक्तव्यं सर्वकालमिति गाथार्थः। पं. व. ४ द्वा. ॥

नूतनाचार्यस्थापने गुरुशिष्ययोरनुशासनं (जिनकल्पिक) शब्देऽपि ॥

(१९) परिच्छदसाहितस्यैवाचार्यत्वम् ॥

आचार्यस्य गणधारणे परिच्छदावश्यकता। तथा च व्यवहारसूत्रम् ॥

भिक्खू इच्छेज्जा गणं धारित्तए जगवं च से अपलिच्छिएणेएवं सेनो कप्पई गणं धारित्तए जगवं च से पलिच्छन्ने एवं से कप्पइ गणं धारित्तए ॥

व्याख्या ॥ भिक्षुश्चशब्दः आचार्यपदयोग्यानेकगुणसमुच्चयार्थः। इच्छेत् गणं धारयितुं। भगवांश्च (से) तस्य भिक्षोरपि परिच्छदः परिच्छदरहितः। परिच्छदश्च द्विधा द्रव्यतो भावतश्च। तत्र द्रव्यतः परिच्छदः शिष्यादिपरिवारः भावतः सूत्रादिकं। तत्र भगवानाचार्योऽपरिच्छन्नो द्रव्यतो भावतः पुनर्नियमात्सपरिच्छदोऽन्यथाचार्यत्वायोग्यात्। चशब्दाद्भिक्षुश्च द्रव्यतो परिच्छदो भावतः सपरिच्छदः परिगृह्यते एवं से इत्यादि एवममुनाप्रकारेण(से) तस्य न कल्पते गणं धारयितुमेवं शब्दोविशेषद्योतनार्थः। सचामुं विशेषं द्योतयति। आचार्ये द्रव्यतोऽपरिच्छन्ने भिक्षोः सपरिच्छदस्य। न कल्पते गणं धारयितु मिति। भगवांश्च (से) तस्य द्रव्यतोपि परिच्छन्नः परिच्छदोपेतश्चशब्दात्सो पिच द्रव्यतोपि परिच्छन्नस्तत एवं (से) तस्य कल्पते गणं धारयितुमिति विशेषद्योतनार्थः। भाष्यकारोव्याख्यानयति ॥

थेरे अपलिच्छन्ने, सयंपि वग्गहणा तत्थ।
छन्नो थेरो पुण वा, इअरो सीसो जवे दोहिं ॥

स्थविरोनाम आचार्यः असावेव पूजावचनेन भगवच्छब्देनोच्यते। भगवानिति महात्मनः संज्ञा। सस्थविरोऽपरिच्छन्नः परिच्छदरहितः चग्रहणाच्चशब्दोपादानात् भिक्षुरपि स्वयमपरिच्छन्नः तत्र स्थविरोऽपरिच्छन्नो द्रव्यतः परिवाररहितो द्रव्यः। भावतः पुनर्नियमात् सपरिच्छदः इतरः शिष्यः पुनर्द्वाभ्यामपि द्रव्यभावाभ्यामपरिच्छन्नो भवति। तत्र भावतोऽपरिच्छन्नो नियमादयोग्य एव। इतरस्तु द्रव्यतोऽपरिच्छदो भावतः सपरिच्छदो योग्यः। अथाचार्ये द्रव्यतोऽपरिच्छदे किं सर्वथा भिक्षोर्गणं धारयितुं न कल्पते उतास्ति कश्चित्कल्पनप्रकारः। अस्तीति ब्रूमस्तथाचाह ॥

नोकारो खलु देसं, पडिसेहयती कयाइ कप्पेज्जा।
ओसन्नंमिउ थेरे, सोचेव परिच्छओ तस्स ॥ १ ॥

एवं सेनोकप्पइ इत्यत्र नोशब्दो देशवचनत्वात् देशं प्रतिषेधयति। तेन कदाचित्कल्पेतापि कदा कल्पते इति चेदत आह। अवसन्ने आचार्ये। इयमत्र जावना। यदाचार्यो जावतः सूत्राद्युपेतस्तपःसंयमोद्यतस्तस्मिन् द्रव्यतोऽपरिच्छन्ने न

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कल्पतेऽप्यवसन्नस्तर्हि तस्मिन् द्रव्यतोऽपरिच्छन्ने वा कल्पते खलु शब्दो विशेषणार्थः । स चैतत् विशिनष्टि । यो भावतः सपरिच्छदस्तस्य कल्पते न शेषस्य परिच्छदे चावसन्ने । आत्मार्थं गणं धारयति शिष्ये य आचार्यस्य सपरिच्छदः परिवारः स एव तस्य शिष्यस्य भवति व्यवहारस्तस्या भावनात् इतरस्य न किमप्याभवति शिथिलत्वात् । इह परिच्छदविषया चतुर्भङ्गिका । तद्यथा । द्रव्यतोऽपरिच्छन्नो भावतश्चापरिच्छन्नः १ द्रव्यतोऽपरिच्छन्नो भावतः परिच्छन्नः २ द्रव्यतः सपरिच्छदो भावतोऽपरिच्छन्नः ३ द्रव्यतः सपरिच्छदो भावतश्च सपरिच्छदः ४ तत्र चतुर्थभङ्गवर्ती शुद्धः शेषास्त्वशुद्धाः । एष सूत्रार्थः । अधुना निर्युक्तिविस्तरः ॥

जिक्खू इच्छा गणे, धारए अपव्वाविए गणो नत्थि ।
इच्छातिगस्स अट्ठा, महातलागेण ओवम्मं ॥

भिक्षोरिच्छा गणं धारयितुं स च गणः स्वयं प्रव्राजितो नास्ति तस्मात्स्वयं साधवः प्रव्राजनीयाः ॥ अथवा यद्यपि स्वयम प्रव्राजने गणो नास्ति तथा यद्यपि यदा अवसन्न आचार्यो जातो भवति तदा योऽस्यावाचार्यस्य गणः स एव तस्य भवति इच्छा च गणं धारयितुं त्रिकस्य ज्ञानादिरत्नत्रयस्यार्थाय न तु पूजासत्कारनिमित्तमत्रार्थे चौपम्यमुपमा महातडागेन । किमुक्तं भवति पद्मसरसा महातडागेन गणपरिवर्द्धस्योपमा कर्तव्या । सा चाग्रे भावयिष्यते । एष निर्युक्तिगाथा संक्षेपार्थः । गणनिक्षेपस्मतिपाद्य ॥

जावगणेण हिगारो, सो उ अपव्वाविए न संभवति ।
इच्छातियगहणं पुण, नियमणहेउं तओ कुणइ ॥

भावगणेन नो आगमतो भावगणेनाधिकारः प्रयोजनं स च भावगणो यथोक्तरूपः स्वयं प्रव्राजितो नास्ति । तस्मात्स्वयं साधवः प्रव्राजनीयाः ते परिवारतया कर्तव्याः । अथवा प्रमाद्यत्याचार्ये यः परिवारः तथा स को निर्युक्तिकारो द्वारगाथायामिच्छात्रिकग्रहणं नियमहेतुं करोतीत्युक्तं । तत्र किं नियमयति सूरिराह । निर्जरानिमित्तमेवं गणं धारयति न तु पूजादिनिमित्तं । स च गणं धारयन् यतिप्रभुर्महातडागेन समानो भवति । महातडागेन समानतामेव भावयति ॥

तिमिमगरेहिं न खुब्भइ, जहंबुनाहो वियंभमाणेहिं ॥
सोय महातलागो पप्फुल्लपउमं च जं अन्नं ॥

यथांऽबुनाथस्तिमिमकरैर्विजृम्भमाणैर्न क्षुभ्यति न स्वस्थाभावव्रजति । स एव चांबुनाथ इह महातडागस्तथा विवक्षणात् अथवा समुद्रात् यदन्यत् प्रफुल्लपद्मं महासरस्तत् महातडागम् ॥

उपनयमाह ॥

परवादीहिं न खुब्भइ, संगिण्हंतो गणं च न गिलाइ ।
होंतिय सयाभिगमो, सत्ताण सरोव्व पउमड्ढो ॥

तिमिमकरैरंबुनाथ इव परवादिभिराक्षिप्यमाणो न क्षुभ्यति न च गणं संगृह्णन् यथौचित्येनानुवर्तमानो ग्लायति । यथा वा सरः पद्माढ्यं सत्वानां सदाभिगमं भवत्येवं सदा सत्वानामभिगमसाधुः प्रभुर्भवति ॥

एयगुणसंपउत्तो, वा विज्जो गणहरोउ गच्छंमि ।
पडिबोहगादीएहि य, जइ होइ गुणेहिं संजुत्तो ॥

एतेन समुद्रतुल्यतारूपेण पद्माढ्यसरः समानत्वेन गुणेन वा संप्रयुक्तो गच्छे गणधरः स्थाप्यते । स चैतद्गुणसंप्रयुक्तस्तदा भवति यदि प्रतिबोधादिभिर्वक्ष्यमाणगुणैर्युक्तो भवति । प्रतिबोधादयो गुणाः प्रतिबोधकादिदृष्टांतेभ्यो भावनीया इति । तानेव प्रतिबोधकादीन् दृष्टांतानुल्लिंगयति ॥

पडिबोहगदेसियसिरि, घरेय निज्जामगेय बोधव्वे ॥
तत्तोय महागोवो, एमेया पडिवत्तिओ पंच ॥

प्रतिबोधकः सुप्तोत्थापकः देशको मार्गदेशी श्रीगृहिकोनांमागारनियुक्तो निर्यामकः समुद्रे प्रवहणनेता । तथा महागोपोऽतीवगोरक्षणकुशल एवमेता अनंतरोदिताः पंच प्रतिपत्तयोऽधिकृतार्थे आभिरिति प्रतिपत्तय उपमा । तत्र प्रतिबोधकोपमां भावयति ॥

जह आलित्ते गेहे, कोइ पसुत्तं नरं तु बोहेज्जा ।
जरमरणादिजयत्ते, संसारघरंमि तह उजिए ॥

यथा आसमंततो दीप्तगृहे कोऽपि परमबंधुः प्रसुप्तं नरं प्रबोधयेत्तथा संसारगृहे जरामरणप्रदीप्ते जीवान् अविबुद्धान् भावसुप्तान् प्रबोधयति । स स्थापनीयो गणधरादेशितस्तीर्थकरैरुक्तः प्रतिबोधकदृष्टांतः । संप्रति देशकादिदृष्टांतमाह ॥

बोहेइ अपडिबुद्धे, देसिय मग्गे विजोएज्जा ॥
एयगुणविप्पहीणो, अपालिच्छन्ने य न धरेज्जा ॥ १ ॥

(बोहेइ अपडिबुद्धे) इति पूर्वगाथाव्याख्यायां व्याख्यातमेव देशकादीनपि दृष्टांतान्योजयेत् । तथाहि यो ग्रामादीनां पंथानमृजुकं क्रमेण प्रापयति स देशक इष्यते । एवं ज्ञानादीनामविराधनां कुर्वन् यो गच्छं परिवर्द्धयति स गणधरः स्थापनीयो न शेषः । श्रीगृहकदृष्टांतभावना । यथा यो रत्नानि सुनिरीक्षितानि करोति स श्रीगृहे नियुज्यते एवं यो ज्ञानादीनामात्मसंयमयोश्चाविराधनया गणं वर्द्धयति स तादृशो गणस्य नेता कर्तव्यः ॥ निर्यामकदृष्टांतभावना । यथा निर्यामकस्तथा कथंचनाऽपि प्रवहणं वाहयति । यथा क्षिप्रमविघ्नेन समुद्रस्य पारमुपगच्छति एष एव च तत्वतो निर्यामक उच्यते । शेषो नामधारकः । एवं य आचार्यस्तथा कथंचनापि गच्छं परिवर्द्धयति तथा क्षिप्रमविघ्नेनात्मानं गच्छं च संसारसमुद्रस्य पारं नयति । स तत्वतो गणधरः शेषेवै नाममात्रपरितुष्टः । महागोपदृष्टांतभावना यो गाः स्वपदेषु विषमेषु वा प्रदेशेष्वटव्यां वा पतंतीर्वारयित्वा च क्रमेण स्वस्थानमानयति । स महागोप उच्यते । एवमाचार्योऽपि यो गणमस्थानेषु प्रत्यंतदेशादिषु विहारिणं धारयति । पूर्वाभ्यासवृत्तानि च प्रमादस्खलितान्यपनयति स तादृशो गणपरिवर्द्धकः करणीयो न शेषः । अथवा प्रतिबोधको नाम गृहचिंतक उच्यते । यो गृहं चिंतयन् यो यत्र योग्यस्तं तत्र व्यापारयति । तत्र व्याप्रियमाणे च प्रमादतः स्खलनं निवारयति स गृहचिंतक उच्यते । एवं यः स्थापितो यो यत्र योग्यस्तं तत्र नियुंक्ते । नियुक्तांश्च प्रमादतः स्खलतः शिक्षयति । स स्थापनीयो गणधरपदे नेतर इति । यश्चैतद्गुणविप्रहीणः प्रतिबोधादिगुणविकलो यश्च द्रव्यतो भावतश्चेत्यर्थः । द्वाः परिच्छदहीनः स गणं धारयेत् । न स गणधरपदे स्थापनीय इति भावः ॥

दोहिं वि अपालिच्छन्ने, एक्केकेणं व अपरिच्छन्नो य ।
अहारणा होंति इमे, जिक्खुंमि गणंधरं तंमि ॥

द्रव्यतोऽपरिच्छन्नो भावतश्चापरिच्छन्न इत्यादिचतुर्भंगी प्रा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वोपदर्शिता। तत्र भिक्षौ गणं धारयति द्वाभ्यामपि द्रव्यतो भावतश्च नेतव्यः । अपरिच्छिन्ने परिच्छदरहिते प्रथमभंग उपात्तः । एकैकेनवा अपरिच्छन्ने द्वितीयभंगवर्तिनि द्रव्यतोऽपरिच्छन्ने तृतीयभंगवर्तिनि वक्ष्यमाणानि उदाहरणानि भवंतितान्येवाह ॥

जिक्खू कुमारविरए, जामणपंतीसियालरायाणो ।

वित्तत्थजुद्ध असती, दमगजयगदामगाईया ॥

भिक्षौ द्रव्यतोभावतश्चापरिच्छन्ने गणं धारयति कुमारदृष्टांतः। विरयो लघुश्रोतोरूपो ध्मापनवनदवे द्वितीयो दृष्टांतः । तृतीयः पंक्तिदृष्टांतः । चतुर्थः शृगालराजदृष्टांतः । पंचमो वित्रस्तेन सिंहेन सह युद्धस्याभावो दृष्टांतः । एते पंचदृष्टांता अप्रशस्ताः । प्रथमभंगवर्तिनि प्रशस्ताश्चतुर्थभंगे द्वितीये द्रमकदृष्टांतस्तृतीयभंगवर्तिनि मृतकस्य सतो दामकादिपरिग्रहो दृष्टांतः। आदिशब्दात् मयूरांगचूलिकादिपरिग्रहः ॥

तत्र कुमारदृष्टांतभावनार्थमाह ॥

बुद्धीबलपरहीणो, कुमारपच्चंतकमरकरणं तु ।

अप्पेणेव बलेणं, गिएहो वणमासणा रन्ना ॥

एको राजकुमारः बुद्धिबलपरिहीनो हस्त्यादिबलपरिहीनश्चेति भावः । एतेन द्रव्यभावपरिच्छदरहितत्वमस्याख्यातं । स प्रत्यंतदेशे स्थितो डमरं देशविप्लवं करोति । ततो दायादेन राज्ञा तं बुद्धिबलपरिहीनं ज्ञात्वा अल्पेनैव बलेन दूरप्रेषणेन ग्रहापणं तस्य राज्ञा कृतं । ग्रहणानन्तरं च शासना कृता । ग्राहयित्वा स विनाशित इति भावः ॥

अत्रैवोपनयमाह ।

सुत्तत्थअणुववेतो, अगीयपरिवारगमणपच्चन्तं ।

परतित्थकडं हावण, सेवगसेहादवणाउ ॥

एवं सूत्रेण अर्थेन चानुपपेतोऽसंपन्नोऽनेन भावतोऽपरिच्छन्नतामवाह । अगीतपरिवारोऽगीतार्थपरिवृतोऽनेन द्रव्यतोऽपरिच्छन्नत्वमुक्तं । स प्रत्यंतं देशं प्रति गमनं विधाय आचार्यत्वं करोति । स च तथा आचार्यत्वं विडंबयन् परतीर्थिकैः परिमीय निःपृष्टव्याकरणः क्रियते । तदनंतरं श्रावकाणामपभ्राजना । यथा विडंबिता यूयं न भवद्भीयोधर्म्मः शोभनः । तथा च भवदाचार्यःपृष्टः सन्न किमप्युत्तरं ददाति । किंवस्संजसं प्रलपतीति । तथा शिष्या अपि तैर्विपरिणम्यंते । एवं च जायते महाननर्थः शासनस्य । तदेवं यतइमे दोषास्तस्माद्द्रव्यपरिच्छदरहितेन भिक्षुणा न गणो धारयितव्यः । गतं कुमारद्वारम् ॥

अधुना वियरयदृष्टांतमाह ॥

वणदवसत्तसमागम, विरए सिंहस्स पुंछमेवणया ।

तं दिस्सं जंबुएणो, विविरयबूढा मिगाईया ॥

वियरयो नाम लघु श्रोतोरूपो जलाशयः । स च षोडशहस्तविस्तारो नद्यां महागर्त्तायां वा तस्याऽकुंचः त्रिहस्तविस्तारस्तस्य प्रवेशे मध्ये वेटं ॥

अन्नया अडवीए वणदवो जातो सो सव्वतो समंता दहंतो वच्चइ ताहे मिगादयो सत्ता तस्स वणदवस्स भीया परिधावं वेढं पविट्ठा । तत्थवि सो वणदवो महंतो आगच्छइ । तत्थ य सीहो पविट्ठो । आसितोयमिगादी जाया चिंतिंति । वेढए स वणदवो पविसइत्ति दव्विजयव्वंति । ततो सीहं पायवडिया विन्नवेंति । तुम्हे अम्हे मिगरायाओ नित्थारेहि । सीहेणं जणइ । पुंछे मम भणियं लग्गा । ततो सीहेण प्लुतं कयं । सोलसहत्थे विकंतो सह मिगाई हिं मीणं अन्नया पुणो वणदवो जातो । तहेव मिगादयो तत्थ पविट्ठा । ततो एको सियालो सीहेण उत्तारियपुव्वो चिंतेइ । अहं पि सीहो चेव उत्तारेहामित्ति मिगादयो भणंति । मम पुच्छे धणियं लग्गेहते लग्गा तेण सियालेण प्लुतं कयं । वियरए सह मिगाइएहिं पडिओ सव्वे विपन्ना ॥ तेअद्धाणातीआवतीसु गीयत्थेणं वीयपए जयणानिसेवणा मिए गच्छं नित्थारियं पासित्ता अगीयत्थो चिंतेइ । सव्वेवि एवमायत्ति एवं मन्नंतो निकारणे विस्तियपदेण गच्छेण समं विहरइ सो तहा विहरंतो नगरगाइनववियरए अप्पाणं गच्छं च पाडेइ ॥

एष भावार्थः । अधुनाऽक्षरार्थोविक्रियते । वनदवे जाते सत्त्वानां मृगादीनां वियरयपरिवृत्ते वेढे समागतः । तेषां सिंहस्य पुच्छे लग्नानां सिंहेन सह व्यपरजसा लघुश्रोतोरूपस्य जलाशयस्य रूपनं लंघनं ततोदृष्ट्वा जंबुकेनाऽप्यन्यदा तत्कर्तुमारब्धं । तेन च तथाकर्तुमशक्नुवता मृगादयः तस्मिन् व्यपरजसि वूढाः क्षिप्ता एष दृष्टांतः ॥

संप्रति दार्ष्टांतिकयोजनामाह ॥

अद्धाणादिसु एवं, दट्ठुं सव्वत्थ एव मन्नन्तो ।

ज्ञवविरियं अगीतो, पाडेइअन्नेवि पवडन्तो ॥

अध्वादिष्वापत्स्वेव द्वितीयपदेन यतनानिषेवणतो गच्छं निस्तारयंतं दृष्ट्वा अगीतोऽगीतार्थःसर्वत्रैव मारयितव्यमिति मन्यमानोनिष्कारणयतनया द्वितीयपदेन गच्छं परिपालयन् भाववियरयमिति द्वितीया प्राकृतत्वात् सप्तम्यर्थे । नरकादिभवरूपे व्यपरजसि प्रपतन् अन्यानपि स्वगच्छवासिनः पातयति । गतं व्यपरजोद्वारम् ॥

अधुना पंक्तिद्वारमाह ॥

जम्बुककूवे चन्दे, सीहेणुत्तारणा य पंतिए ।

जंबुक सपन्तिपडणं, एमेव अगीयाणं ॥

एगया जेट्ठामासे सियाला तिसिया अड्ढरत्ते कूवतडे ठिया । कूवं पलोयंति । तत्थ ते जोएहाए उदए चंदबिंबं पासंति । चिंतेतिय चंदो कूवे पडितो । तत्थ य सीहो आगतोचेइइततो तेहिं सियालेहिं सीहो विएणवितो तुमं मिगाहिवतीए सवि गहाहिवती कूवे पडितो एयस्स गुणेणं अम्हे दिवसतूयाए रत्तीए सुहं निरुवसग्गा विय रामो ततो जुज्जसि तुमं गहाहिवतिमुत्तारिउ । सीहो भणति । पंतिए समं पुच्छे लग्गित्ता वियरह अंतिद्धस्स चंदो लग्गिहिति ताहे सव्वे प्लुतेनोत्तारेहामिति ततोते पंतीए सीहपुच्छे लग्गा कूवमज्झे उत्तिएणा सीहेण प्लुतं काउं सव्वे उत्तारिया । उवरि गगणे चंदं पासेंति । कूव-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तल्लेय आलोलिए उदएचंदं अपासमाणा उत्तरियत्ति मंति। अन्नया तहेव चंदं पासेत्ता सीहेण उत्तारियपुव्वो सियालो एवं चिन्तेइ । अहमावि सीहोइव उत्तारेमि ॥ एवं चिंतित्ता सोसियालो जणइ । पतीए मम पुच्छे लग्गित्ता उयरहते छत्तिआ। सीयालेणं उत्तारेहामित्ति एवुत्तं कयं । ततो असमत्थोत्ति तह पुच्छे लग्गित्ता सह कूवे पडिता । तत्थेव मतो एवमद्वाणादीसु आवईसु गीयत्थेणं वितियपदे जयणा निसेवणाए ॥

इत्यादि । उपनयः पूर्ववेदेव भावार्थोऽधुना अक्षरार्थः । एकदा जंबुकाः कूपतटे मिलितास्तैः कूपे कूपमध्ये चंद्रो दृष्टः । तस्मिन् दृष्टे तदुद्धरणाय सिंहपुच्छविलग्नानां पंक्त्या प्रविष्टानां शृगालानां सिंहेनोत्तारणा कृता । तत् दृष्ट्वा अन्यदा एकेन जंबुकेन सिंहोत्तारितपूर्वेण तथा कर्तुमारब्धं । ततस्तस्य जंबुकस्य सपंक्तिकस्य कूपे पतनमेवमनेनैव दृष्टांतद्वयोक्तेन प्रकारेण गीतागीतयोर्भवकूपे गच्छेन सह पतनं तत उत्तारणं च गच्छस्य परिभावनीयमिति । गतं पंक्तिद्वारमिदानीं शृगालराजद्वारमाह ॥

नीलारागे खसद्दुम, हत्थीसरन्ना सियालकच्चज्जओ॥
बहुपरिवारअगीते, विच्चूयणो हावणपरेहिं ॥

एको सियालो रत्तिघरं पविट्ठो घरमाणुसेण वेतितो निच्छुजिउमाढत्तो सो पुण गाईहि पारद्धो नीलीरागरंजणे पडितो किहवि ततो उत्तिण्णो नीलवण्णो जातो तं अन्ने सरजतरक्खु सियालादी पासिउं जणंति । को तुमं एरिसो सो जणइ अहं सव्वाहिं मृगजातीहिं खसद्दुमो नाम मिगराया कओ। ततो अहं एत्थमागतो पासामि। ताव कोमन्नति ते जाणंति। अपुव्वो एतस्स एसदेवेहिं अणुग्गहितो ततो जणंति अम्हे तव किंकरा।

संदिसह किं करेमा खसद्दुमो जणइ हत्थिवाहणं देह दित्तो विलग्गो वियरति । अन्नया सियालेण उव्वुइयं । ताहे खसद्दुमेणं तं सियालसहावमसहमाणेण उव्वुइयं ततो हत्थिणा सियालोत्ति, नाउं सोंडा पचेतुं मारितो॥

एवं कोइ अगीयत्थो अगीयत्थपरिवारं लभेत्ता पच्चंतदेसं तं गंतुं आयरिउत्ति पकासेइ। सो कहिंवि विओसेहिंपे पालितो जानहिकिंविजाणइ एवं तेण अप्पा जहाभितो ॥

एव गाथार्थोऽधुना अक्षरार्थः । नील्यासंबंधी रागो यस्य स नीलीरागः। शृगालःखसद्दुमोनाममृगराजो जातः। तस्यहस्तिनः सरजाः शृगाला उपलक्षणमेतत्। तरक्षादयश्च परिवारः। सोऽन्यदा कस्यापि शृगालस्येत्यमाकर्ण्य शृगालोऽशब्दितमकरोत्। ततःशृगालोऽयमिति ज्ञात्वा हस्तिना मारित इति शेषः । एवं गीतार्थबहुपरिवारे अगीते अगीतार्थे विहरति बहुश्रुतोऽहमाचार्य इति बहुजनविश्रुतं विकुर्वाणः प्रश्नव्याकरणासमर्थतया परेभ्यः पकथतिन्यश्चापभ्राजना भवति । अथवा अयमन्य उपनयः ॥

सेहादिकज्जेसुं वा, कुलादिसमितिसु जंपउ अयं तु ।
गीएहीं विस्सुयंतो, निहोरुणमपच्चओ सेहि ।

वाशब्द उपनयांतरसूचकः । शैक्षकादिकार्येषु कुलादिसमवाये नियुक्तः कुलगणसंघसमवायेषु श्रावकाः सिद्धपुत्राश्च भणंत अयमेव तुरवकारार्थः। बहुश्रुतो जल्पतु व्यवहारनिर्णयं करोतु ययाकस्य भवतीति । ततस्तेनाव्यवहारमुक्तं तत्र गीतार्थैर्विश्रुत ततस्तै निहोरण मिति निहेरितं यथा अगीतार्थ एव न जानाति व्यवहारमिति। ततः शेक्षे प्राकृतत्वात् पञ्चम्यर्थे सप्तमी । एकवचने बहुवचनं । शैक्षकाणामुपलक्षणमेतत् श्रावकाणां सिद्धपुत्राणां च तद्व्यप्रत्ययो जातः चिंतयति च एष इय व्याजमस्माभिर्गीतार्थः संज्ञावित इति । गतं शृगालराजद्वारम् ॥

संप्रति (वित्तत्थजुद्धप्रसातेत्ति) द्वारं व्याचिख्यासुराह ॥

एक्कक्कएगजाती, पतिदिण सममेव गिएहाइ ॥
सीहेण हु जुज्झइत्ति, पाडइ कूवंम्मि वुड्ढससगेण ॥ १ ॥
एसेव जंबुगो, वा कूवे पडिविंबमप्पणो दिस्स ।
उवगय तत्थ मरणं सामायारीगयिअगीयाणं ॥ २ ॥

एगो सीहो सो हरिणजातीणं लुब्धो दिवसे २ हरिणं मारेऊण खाइ । तओ हरिणेहिं विन्नविओ किमंगरायं तुमं हरिणजातीणं एक्कयाए परिनिव्विट्ठो ता पसायं करेहि । सव्वामिगजातीणं वारएणं पइदिवसमेक्केक्कं मिगं खाहि । सीहेणं चिंतियं जुत्तमेस जणइ ततो सव्वे मिगा मेलित्ता सीहेण जणिया। तुब्भे कुलजुत्तवाए आत्मीयकुलोचित्येनेत्यर्थः । सव्वमिगजातीणं वारएणं पइदिवसं मट्ठाणट्ठियस्स एगं पेसिज्जाह । तेहिं अब्भुवगयं । ततो ते वि मिगा तहेव पेसंति । अन्नया ससगजातीए वारए । ससगा संपसारेंति मन्त्रयंतीत्यर्थः । कोवच्चउ अज्ज सीहसगासे एगो वुड्ढससगो जणइ । अहं वच्चामि । जो सव्वेसिं मिगाणं संति काउं एमित्ति सो वालिओ अंतराले मरुयकूवसरिसे कूवं दट्ठु उस्सूरे सीहसगासमागतो । ताहे सीहेण जणियं किं रे तुमं उस्सूरे आगतोसि। ससगो जणइ । अहं पाए आगच्छंतो संतो अन्नेण सीहेण रुद्धो । जहा कहिं वच्चसि । ततो मए सब्भावो कहितो । ताहे सोजणइ अन्नो न होइसो मिगराया ततो मए जणियं । जइ अहं तस्स मिगरायस्स सगासं न जामि तो सो रुट्ठो सव्वे ससगा उच्छादेहिंत्ति । तम्हा जामि तस्स सगासं कहेमि । ततो जो तुमं बलितो होहित्ति तस्स अम्हे आणं कहामो । ताहे अहं तेण जणितो वच्चा कहेहि जण आगच्छ मम सगासं जदि ते सत्ती अत्थि ततो सीहे जणति दंसेहि ममं तं सीहं । ततो ससओ सीहेण समागम्म दूरं अगडं दूरत्थोवदंसेति । जणइ य एत्थ पविट्ठो चिट्ठइ । जइ तपत्तियसि तो तुमं अगडयडेण

सो वि उग्गज्जइ ॥ ततो तेण उग्गज्जियं उग्गज्ज पडिसद्दो उट्ठितो ततो मुहुत्तं अच्छइ जाव न पुणो को वि उग्गज्जइ ताहे सीहो चिंतेइ मम जएण वित्तत्थोतो न गज्जइत्ति । निप्फडइ वा तं एत्थेव उज्जएवि सितामारे मिति पडितो कूवे । अपेक्खमाणो चिंतेइ नूणं निलुक्को ताहे सीहो गज्जइ रोक्किरइय ततो चिंतेइ न जुज्झिउ-कामो मए समं एवं जुप्फासतीए सीहो प्लुतं काउं उत्तिण्णो । एवं गीयत्यस्स विजयविच्छलणा जवति। तहावि सो जाणगत्तणेण अप्पाणं वि सोहेइ । तहा एगो जंबुगो सो जमंतोकहवि कूवतडे समागतो कूवे पाणियं पादाइयं दिट्ठं अत्तणो पडिबिंबं । तओ उन्नयइ ताहे उच्छलिओ पडिसद्दो । तं सोउ मेहक्कार इतिराया सिया ते पडितो तं मगाणं प्लुतं काउमसमत्थोत्ति तत्थे वमतो एवमगीयत्यो बलिओ वि न सकेइ अप्पाणं पच्चु-द्धरिउमिति तस्स गणो न दायव्वो ॥

एतजावार्योऽधुनाक्षरार्थविवरणं। सर्वा मृगजातयो मिलि-त्वा प्रतिदिवसमेकैकमेकस्या जातेः सिंहस्य स्थानस्थितस्य समर्पयंति । अन्यदा शशकस्य वारोजातः । सोऽपांतराले दवकूपे प्रतिबिंबं मरुकूपसदृशमतीवोग्रं कूपे दृष्ट्वेत्यर्थः । चिरात्सिंहसकाशमागतः ततश्शशके सिंहस्य पृच्छा कस्मा च्चिरादागतः । तस्याद्यसिंहकथनं तत (पडणाति) सिंहस्य कूप-समीपागमनं तदनंतरं पूर्वप्रकारेण कूपे क्षेप आत्मनः प्रति-क्षेपः ततः । प्लुतेनोत्तरणं । एवमेवेत्यादि एवमेव यथाप्रवृ-त्त्यैवेत्यर्थः । जंबू कोऽपि कूपे प्रतिबिंबमात्मनोदृष्ट्वा क्षेपनकं प्रति क्षेपणकमात्मनः कृतवान् तच्च तस्य मरणमेवं समवतार उ-पनेयो यथाक्रमं गीतार्गीतार्थयोः कर्त्तव्यः । स च प्रागेव कृत इति । सांप्रतमेतान्युदाहरणानि यं भंगमाश्रित्योपदर्शितानि तत्र योजयति ॥

एए उदाहरणा, दव्वे जावे य अपलिच्छन्नंमि ।
दव्वेण अपलिच्छन्ने, होंति इमे तइय जंगंमि ॥

एतान्यनंतरोदितानि पंचाप्युदाहरणानि अप्रशस्तानि द्रव्ये जावे च सप्तमी प्राकृतत्वात् तृतीयार्थे । द्रव्येण भावेन च अपरिच्छन्न इति प्रथमभंगवर्तिनि वेदितव्यानि । प्रशस्ता-नि चतुर्भंगे द्रव्यतो जावतश्च परिच्छन्ने इति वाक्यशेषः ॥ द्रव्येण अपरिच्छन्नेऽनेन द्रव्यतोऽपरिच्छन्नो जावतः परि-च्छन्न इति वा तृतीयभंगसूचितंसूत्रं । तथा भावे सप्तमी तृतीयार्थे । भावेनापरिच्छन्नो भावतोऽपरिच्छन्न इति तृतीय-भंग इति न सूत्र इति न इमे वक्ष्यमाणे उदाहरणे तत्र प्रथमतो द्वितीयभंग उपात्तः ॥

दमगे वइया खीरघडि, वड्डचिंताय कुकुडिप्पसवो ।
धणपिंडणसमणेरि, उसीसगभिंदणघडिए ॥

एगो दमगो गोउलं गतो तत्थ गोवालिएहिं दुद्धं उदं पाइतो अन्नया से दुद्धस्स जरिया घडिया दि-न्ना । सोतं घेत्तूण घरं गतो खट्टाएण उसिसमूले ठवेउं निवण्णो चिंतिउमाढत्तो । एयाए दुद्धघडियाए कोड कुक्कुडीतो किणिस्सामि ताहे पसवो होहीत तं पसवं विक्के-हामि ततो तं मूल्लं वड्डिए। पउंजेहामि । एवं सुबहुं धणं पिंडित्ता कुलाणं समाणेतरकुलप्पसूयं कण्णा। परिणित्ता आणेमि। ताहे सा कुलमदेण उसीसएणं सेज्जं वडि-हिति ततोहंकिंउस्सीसएणा सज्जं वडिसिति पहाए आहणिस्सामिति पादोउच्छूढो तेण सा घडी जग्गा ।

अक्षरयोजनां त्वियं । द्रमकोरंकः स व्रजिकायां गोकुले गतः । तेन दुग्धपानानंतरं क्षीरभृता घटिका लब्धा सा गृहं गतेन खट्वा या मुच्छीर्षकमूले स्थापिता । ततश्चिंताऽभूत् किंचिच्चेत्यत आ ह । कुकुट्यः क्रेतव्यास्तदनंतरं तासां प्रबंधेन प्रसवः पुनस्त स्य मूल्येन विक्रयस्ततो वृद्धियोगेन धनपिंडनं कृत्वा (समाणे तर) मितिासमानां समानकुलप्रसूतामितेतरामसमानकुलप्रसूतां कन्यां परिणीय तां कुलमदेनोच्छीर्षकेन चटंतीं पादेनाहनिष्या मीति दुग्धघटिकाया भेदनमकार्षीत् ॥

अत्रोपनयमाह ॥

पव्वावइत्ताण बहूउ सिस्से, पच्छा करेस्सामि गणाहिवत्तं ।
इत्थं विकप्पेहि विसूरमाणो, सज्जायमेवं न करेइ मंदो ॥

बहून् शिष्यान्प्रव्राज्य पश्चात्करिष्यामि गणाधिपत्यं एव मित्यादिविकल्पैस्स मंदो नित्यकालं विस्तरयन् स्वाध्यायं न करोति सूत्रार्थपौरुष्यौ न करोतीत्यर्थः । ताश्चाकुर्वाणः पूर्व गृहीतान् सूत्रार्थान्नाशयति । यथा सद्रमको दुग्धघटिकां नाशितवान् ॥

संप्रति तृतीयभंगे उदाहरणमाह ॥

गावीगोरक्खंतो, घेत्थं च जत्तिए पट्टिया तत्तो ।
दिट्ठंतो गोवग्गे, होहिंति य वच्छिगा तत्थ ॥ १ ॥
तेसिं तु दामगाइं, करेमि मोरंगचूलितोय ।
एवं तु तइयजंगे, वत्थादीपिंडणमगीतो ॥ २ ॥

एगो घोसो गावितो रक्खंतो चिंतेति। अहं गोरक्ख-णमोल्लेण पडियातो गहिस्सामि ततो मे पवड्ढमाणो गोवग्गो जविस्सत्ति तम्मिय पवड्ढमाणे गोवग्गे वच्छगा ओ बहुयाउ होहिंति ततो करेमि । तासां जोग्गाओ मोरंगचूलियाओ य एवं चिंतिता सो तहापकरेति एव मगीयत्थो वि जावेणापलिच्छन्नो तइयं जंगीओ बहुगे परिवारे चिंतेतिइति वत्थादीणी बहूणि पिंडेति ॥

अक्षरयोजना त्वियं । गोरक्षणे गोपालोऽचिंतयत् भृत्या मूल्येन पट्टिका अभिनवप्रसूता गा ग्रहीष्यामि ततो मे प्रवर्द्धमानो गो वर्गो भविष्यति । तत्र तस्मिन्प्रवर्द्धमाने गोवर्गे वत्सिका भवि-ष्यंति । ततोऽतस्तस्यां योग्यानि दामकानि करोमि । मयूरांग चूलिकाश्च मयूरांगचूलिका आभरणविशेषरूपा एवं । चिंत यित्वा स तथा प्राकृतवान् ॥

तत्रोपनयमाह । एवं तु एवमेव तुरेवकारार्थस्तृतीयभंगवर्तमान स्य अगीते अगीतार्थस्य वस्त्रादिपिंडनमवगंतव्यं । अस्य यद्य-पि परिवारो नास्ति तथा वस्त्रादिषु लब्धिरस्तीति द्रव्यतः परिच्छन्नत्वमंगीकृत्य तृतीयभंगे इत्युक्तं ॥

अस्य दोषानाह ॥

ताइं बहूइं पडिलेहयंतो, अद्धाणमाईसुय संवहंतो ।
एमेव वा सम्मातिरित्तगंसे, वातादिखोजेहुयएव हाणी ॥

तानि वस्त्राणि बहूनि प्रतिदिवसमुभयकाले प्रतिलेखयन् अप्रतिलेखने प्रायश्चित्तापत्तेरध्वादिषु अध्वनि मार्गे आदि शब्दात् वसत्यंतरसंक्रमेणादौ च संवहन् श्राम्यति । श्रमाच्च ग्लानत्वे च संयमविराधना सूत्रहानिश्च एवमेव अनेनैवप्रकारेण वर्षास्वपि दोषा वाच्याः केवलं (से) तस्य उभयकालं तानि प्रतिलेखयतोऽतिरिक्तकर्म अतिरेकेण वातादिक्षोभो भवति । तथा च सति सुदीर्घ भुते सूत्रस्य च शब्दार्थस्य च परिहानिः ॥

अत्र परस्याऽवकाशमाह ॥

चोदेति न पिंडेतिय, कज्जेगिण्हंति यजो सलच्छीओ ॥
तस्स न दिज्जइ किं गणो, भावे उण जो उ संच्छन्नो ॥

चोदयति पुरो यथा यः स लब्धिको भावेन च योऽसंन्नो परिच्छदरहितो न पूर्वमेव वस्त्रादीनि पिंडयति । किंतु कार्ये समुत्पन्ने गृह्णाति तस्य किं कस्मात्कारणात् गणो न दीयते प्रागुक्तदोषसंभवात् अत्र सूरिराह ॥

चोयग ! अप्पच्छूयअसी, पूयापडिसेहनिज्जरत्था ।
एसंते से अणुजाणसि, पव्वइए तिन्नि इच्छासे ॥

हे चोदक ! स भावतोऽपरिच्छन्नोऽप्रज्ञरहितोऽतस्तस्मात्तस्मै गणो न दीयते । एतौ तृतीयभंगवर्तिन्याक्षेपपरिहारौ (असतित्ति) यस्य तृतीयभंगवर्त्तिन आक्षेपपरिहाराबभिधातव्याविति वाक्यशेषः । तथा (पूयत्ति) पूजार्थे गणो ध्रियते इति कस्यापि वचनं तस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः । किंतु निर्जरार्थं गणो धारणीय इति वाच्यं । निर्जरार्थं व्यवसिताः केचित्पूजामपीच्छंति । तत्र निर्जरार्थं गणं धारयतः पूजामपि प्रतीच्छतः आचार्यस्य न दोषस्तथा तडागं दृष्टांतत्वेन द्रष्टव्यं । तया यो भावतः परिच्छन्नशिष्यो लब्धिमांश्च सततं परिवारं(से)तस्याऽत्मीयस्य आचार्यस्य अनुजानाति कियंतमित्याह । जघन्यतस्त्रीन्प्रव्राजितान् । किमुक्तं भवति । जघन्यतस्त्रयः प्रव्राजिताः अवश्यं दातव्याः (इच्छासेत्ति) इच्छावो (से) तस्याऽचार्यस्य । इयमत्र भावना । आचार्य आत्मनो यथेच्छया त्रीन्वा बहुतरान्वा सर्वान्वा प्रव्रजितान् गृह्णातीति एष गाथासंक्षेपार्थः । व्यासार्थं तु भाष्यकृद्विवक्षुः प्रथमतः (चोयग अप्पनुत्ति पदं) व्याख्यानयति ॥

जमुइ अविगीयस्स उ, उवगरणेदीहिं जइं विसंपत्ति ।
तह वि न सो पज्जतो, वोढव्वे करीलकाओव्व ॥

चोदकेनाक्षेपे प्रागुक्ते कृते सति प्रतिवचनं भण्यते । अविगीतस्य विशिष्टगीतार्थरहितस्य हु निश्चितं यद्यपि उपकरणादीनामुपकरणशिष्यादीनां गाथायां वा तृतीया षष्ठ्यर्थे प्राकृतत्वात् । संपत्तिस्तथापि न सपर्याप्तः समर्थो वोढव्ये उपेक्षिते गणभारं किमेवेत्यत आह (करीलकाओव्व) करीलो नाम वंशजातिविशेषो दुर्बलस्तन्मया कापोतीव कस्माद्गणभारवहनेन समर्थ इत्यत आह ॥

न य जाणइ वेणइयं, कारावेउं न यावि कुव्वंति ॥
तइयस्स परिभवेणं, सुत्तत्थेणं अप्पडिबद्धा ॥

वा यस्मादर्थे यस्माच्च जानाति विनय एव वैनयिकं विनयादिभ्य इति स्वार्थे इकण्प्रत्ययः । "प्रतिवर्त्तते स्वार्थप्रत्ययकाः प्रकृतिर्लिंगवचनानि" विनयशब्देऽस्यपुंस्त्वेऽपि प्रत्यये समानीते नपुंसकलिंगता ततःशिष्यान् कारयितुमगीतार्थत्वात् । नच तस्य पार्श्वे सूत्रमर्थो वा भावतोऽसंभवत्वात् । ततः सूत्रार्थाभ्यां गाथायां सप्तमी तृतीयार्थे प्राकृतत्वात् अप्रतिबद्धाः संतः शिष्याः परिभवमेव केवलं मन्यंते । जन्मनो निष्फलीभवनात् । तेन च परिभवेत् । तस्य तृतीयभंगवर्तिनो वैनयिकं कारयितुं जानतोऽपि न चापि नचैव ते शिष्या विनयं कुर्वंति । तस्मान्न तृतीयभंगवर्ती गणधारणयोग्यः ॥

सांप्रत (मासत्तित्ति) पदं व्याख्यानयन् द्वितीयभंगगतावाक्षेपपरिहारावाह ॥

बियभंगे पडिसेहो; जं पुच्छसि तत्थ कारणं सुणसु ॥
जइसेहोज्ज धरेज्जा, तदभावे किं न कारेउ ॥ १ ॥
तंपि यहु दव्व संगहं, परिहीणं परिहरंति सेहादी ॥
संगहरीए य संगलं, गणधारित्तं कहं होइ ॥ २ ॥

यत्पृच्छसि त्वं यथा द्वितीयभंगे द्वितीयभंगवर्त्तिना गणधारणे कस्मात्प्रतिषेधः कृतस्तत्रकारणमिदं शृणु तदेवाह यदि(से) तस्य गणो भवेत्ततो धारयेत् तदभावे गणाभावे किनु धारयेत्नैव किंचिदिति भावस्ततो गणाभावादेतस्य गणधारणप्रतिषेधः । अपि च तंवहु इत्यादि तमपि च भावयेत् । संच्छन्नमपि च बहु निश्चितमलब्धिकतया द्रव्यसंग्रहपरिहीनं वस्त्रपात्राद्युपकरणसंग्रहरहितं शैक्षादयः शैक्षक आदिशब्दात् मुनिवृषभादिपरिग्रहः । परिहरंति वस्त्राद्यभावात् तेषां सीदनात् ततः संग्रहमृते विना सकलं परिपूर्णगणधारित्वं कथं भवति नैव भवतीति भावः तदभावाच्च तस्य तत्प्रतिषेधः । इदमलब्धिकमधिकृत्योक्तं । यदि पुनर्द्वितीयभंगवर्त्यपि वक्ष्यमाणगुणैरुपेतोभवति ततोऽनुज्ञाप्यतेऽपि गणधारीदोषाभावात्तथाचाह ।

आहारवत्थादि इत्यादि गाथा ३१९ पृष्ठ ३० पंक्तौ द्रष्टव्या ॥

संप्रति (पूयापडिसेहे इति) पदं व्याख्यानयन्नाह

पूयत्थं नाम गणो, धरिज्जति एव ववसितो सुणत्ता ॥
आहारोवहिपूया, करणेन गणो धरेयव्वो ॥ १ ॥

पूजां प्राप्नुयामित्येवमर्थे नाम गणो ध्रियते इत्येवं कश्चित् व्यवसितो ऽभ्युपगतवान् । एतावता (पूया) इत्यंशो व्याख्यातः । अत्राचार्यः प्राहः । शृणुत यदर्थं गणोध्रियते । तत्र परोक्तप्रतिषेधमाह । आहारोपधिपूजाकरणेन उत्कृष्ट आहारः शोभन उपधिर्महती पूजा स्यादिति कारणतोऽत्र विभक्तिलोपः प्राकृतत्वात् न गणोधारयितव्यः । एतावता प्रतिषेध इति विवृतं ॥

किमर्थं तर्हि गणो धारयितव्य इत्यत आह ॥

कम्माणनिज्जरट्ठा, एवंखु गणोभवे धरेयव्वो ॥
निज्जरणहेतुववसिया, पूयंपिव केइ इच्छंति ॥ १ ॥

एवमनेन कारणेन खु निश्चितं भवति गणोधारयितव्यो यदुत कर्मणां ज्ञानावरणीयादीनां निर्जरार्थं मोक्षायैव तत्ववादिनां प्रवृत्तेराहारादीनां चैहिकमात्रकेवलं केचित्स्थविरकल्पिका निर्जराहेतोर्गणधारणं व्यवसिताः । पूजामपि वक्ष्यमाणलक्षणामिच्छंति । किमुक्तंभवति यद्यपि नाम तत्वतः कर्मनिर्जरणनिमित्तं गणो ध्रियते तथापि पूजामप्येष प्राप्नुयादिति पूजानिमित्तमपि तस्य गणधारणमनुज्ञाप्यते ॥

पूजामेवाह ॥

गणधारिस्साहारो, उवकरणं संथवो य उक्कोसो ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सक्कारो सीसपमिच्छा, एहिं गिहिअन्नतित्थेहिं ॥१॥

गणधारिणस्सतः उत्कृष्ट आहार उत्कृष्टस्संस्तवस्सतां गुणानां प्रख्यानं तथा शिष्यैः प्रतीच्छकैर्गृहिभिरन्यतीर्थिकैश्चोत्कृष्टः सत्कार उपाध्यायादिभिः पूजनं क्रियते ततः पूजानिमित्तमपि तस्य गणधारणमनुज्ञापनं संस्तवनं व्याख्यानयति ॥

सुत्तेण अत्थेण य उत्तमोउ, आगाढपम्मेसु य भावियप्पा ।
जच्चन्निओ यावि विसुद्धभावो, संते गुणेवं पविकत्थयंते ॥

सूत्रेण अर्थेन च एष उत्तमः प्रधानः परिपूर्णस्य सूत्रस्यार्थस्य वावदातस्यास्य संभवात् । तथा आगाढप्रज्ञानि शास्त्राणि तेषु भावितात्मा तात्पर्यग्राहितया तत्राऽतीव निपुणमतिरिति भावः । तथा जात्या सकलजनप्रशस्ययाऽन्वितो युक्तो जात्यन्वितः । तथा विशुद्धः स्वपरसंसारनिस्तारणैकतानतयाऽवदातो भावोऽभिप्रायो यस्य स विशुद्धभावः । एवं स्तुतो गुणान् गणधारिणः शिष्या अपरे च प्रकर्षतो हर्षाऽतिरेकलक्षणतो विकत्थयंते श्लाघंते । एवं पूज्यमाने आचार्ये पूजकानां यो गणस्तमुपदर्शयति ॥

आगमम एवं बहुमाणितो हु, आणा विरत्तंच अजाविएसु ।
सुणिज्जरावेणइया य निच्चं, माणस्स भंगोवि य हुज्जयंते ॥

पूज्यमाने आचार्ये पूजकैरागमो बहुमानितो बहुमानविषयीकृतो भवति । आगमस्य तत्रस्थत्वात् । तथा भगवतामर्हतामाज्ञा परिपालिता भवति । भगवतां हि तीर्थकृतामियमाज्ञा यदुत गुरोः सदा पूजा कर्तव्या । तथा चोक्तं । "जहाहि अग्गी जलनं नमंसे, नानाहुतीमंतपयाभिसित्तं ॥ एवायरी यं उववेइएज्जा, अणंतनाणो विगतोविसंतो,, तथा गुरुविनयकरणेन येनाऽद्यापि भावितास्तेष्वभावितेषु क्रियमाणपूजादर्शनतः स्थिरत्वमुपजायते । यथा वैनयिकैर्विनयनिमित्ता विनिर्जरा कर्म्मनिर्जरणं नित्यं सदा सततं भवति । गुरुविनयस्य सदा कर्तव्यत्वात् । तथा मानस्याऽहंकारस्य भंगोऽपि च कृतो भवति । एते पूजकानां गुणाः ॥

संप्रति निर्जरार्थमेव गणधारित्वं व्यवसितस्य पूजामपीच्छतः आचार्यस्य दोषाभावे यस्तडागदृष्टांतस्तं भावयति ॥

लोइयधम्मनिमित्तं, तडागखाणावियंमि पउमादी ।
न विगरिहियाणुभोत्तुं, एमेव इमं पि पासामो ॥

केनापि लौकिकीं श्रुतिमाकार्ण्य धर्म्मनिमित्तं तडागं खानितं । तस्मिंश्च तडागे पद्मादीनि जातानि । वर्षारात्रे चापगते यत्र यत्र पानीयं शुष्यति । तत्र तत्र धान्यं वापयति । तत्र यथा पद्मादीनि अनुभवितुं भोक्तुं गृह्यमाणान्यपि न तस्य विगर्हितानि भवंति । लोके न तथा सम्मतत्वादेवमेव अनेनैव प्रकारेण इदमपि गणधारणं पश्यामः । निर्जरार्थमाचार्याणां गणधारणमुक्तप्रकारेण पूजानिमित्तमप्यदोषायेति भावः ॥

संप्रति (सं तंसे) इत्यादि पश्चार्द्धं व्याख्यानयति ॥

संतमिउ केवइओ, सिस्सगणो दिज्जतीति ता तस्स ।
पव्वाविते समाणे, तिन्नि जहन्नेण दिज्जाति ॥

भावपरिच्छन्नस्य शिष्यस्य सति विद्यमाने परिवारे तेन तस्याऽऽचार्यस्य ततो गणधारणानुज्ञापनानंतरं कियान् शिष्यगणो दीयतां । अत्रोत्तरं प्रव्राजिते शिष्यगणे सति तत्र त्रयो जघन्येन दीयंते । उत्कर्षतो बहुतरकाः सर्वे वा इति वाक्यशेषः । अथ किं कारणं जघन्यतस्त्रयोऽवश्यं दातव्या इत्याह ॥

एगो चिट्ठइ पासे, सन्ना आलित्तमादिकज्जत्था ।
भिक्खादिवियारदुवे, पच्चयहेउं व दो हेउं ॥

एकः पार्श्वे समीपे संज्ञापुरीषोत्सर्गे आलप्तमालपनं कस्याऽप्याचार्यः कारयेदित्यादि कार्यार्थं तिष्ठति ॥ द्वौ च भिक्षायामादिशब्दात् औषधानयनादौ विचारे बहिर्भूमौ गच्छतः यदि वा सूत्रार्थसंवादप्रत्यये हेतू द्वौ भवेतां संप्रति प्रागुक्तायामेव चतुर्भंग्यां विशेषं वक्तुकाम आह ॥

दव्वे भावे पलिच्छदे, दव्वे तिविहो उ होइ चित्तादी ।
लोइयलोउत्तरिओ, दुविहो वा वारजुत्तियरो ॥

परिच्छदो द्विविधो द्विप्रकारो द्रव्ये भावे च । तत्र द्रव्ये द्रव्यपरिच्छदस्त्रिविधो भवति । (चित्तादी) सचित्तोऽचित्तो मिश्रश्च एष त्रिविधोऽपि द्रव्यपरिच्छदो भूयो द्विधा लौकिको लोकोत्तरिकश्च । तत्र लौकिकः सचित्तः त्रिविधो द्विपदचतुष्पदापदभेदात् । अचित्तो हिरण्यादिर्मिश्रः सचित्ताचित्तसमवायेन लोकोत्तरिकः सचित्तो द्रव्यपरिच्छदः शिष्यादिरचित्त उपधिमिश्रः सचित्ताचित्तसमवायतः । तत्र लौकिके लोकोत्तरिके च द्रव्यपरिच्छदे द्विधा । यथा व्यापारयुक्त इतरो व्यापारायुक्तश्च तत्र निदर्शनमाह ॥

दो भाउया विभत्ता, एक्को पुण तत्थ उज्जुतो कम्मे ।
उत्ति भतिप्पदाणं, अकालहीणं च परिवड्ढी ॥

द्वौ भ्रातरौ तौ परस्परं विभक्तौ धनं विविच्य पृथक्पृथक् जातावित्यर्थः । तत्र तयोर्द्वयोर्मध्ये पुनरेकः कृषिं कुर्वन् कर्म्मणि उद्युक्तः । किमुक्तं भवति । स्वयं कर्म्म करोति भृतकांश्च कारयति । भृतकानां वा कालपरिहीनां उचितां परिपूर्णां भृतिं मूल्यं ददाति । अकालपरिहीनं च परिपूर्णं भक्तं । एवं च तस्य व्याप्रियमाणस्य कृषेः परिवृद्धिरजायत साधुवादश्च ॥

कयमकयं व न जाणइ, न य उज्जमए सयं न वावारो ।
भत्ति भत्तकालहीने, दुग्गहियकिसीए परिहाणी ॥

द्वितीयो व्यापारायुक्तो भृतकैः किं कर्म्म कृतं किं वा न कृतमिति नैव जानाति स्वयमपरिभावनादन्यतश्चाऽप्रच्छनान्न च स्वयं कर्म्मकारणायोद्यच्छति । न वा मध्ये स्थित्वा भृतकान् व्यापारयति । भृतिभक्ते च भृतकानां कालहीने ददाति । किमुक्तं भवति । भृतिमपरिपूर्णां ददाति । कालहीनां च एवं भक्तमपि । तत एवं दुर्गृहीतायाः कृषेस्तस्य परिहानिरभूदसाधुवादश्च ॥

संप्रति लोकोत्तरिकं द्रव्यपरिच्छदे व्यापारयुक्तमाह ॥

जो जाए लद्धीए, उववेओ तत्थ तं निजोएंति ।
उवकरणे सुत्तत्थे, वादे कहणे गिलाणे य ॥

यो यथा लब्ध्या उपपेतो युक्तो वर्तते । तत्र तं नियोजयंति सूरयस्तद्यथा उपकरणे इति उपकरणोत्पादने (सुत्त) इतिसूत्रपाठलब्ध्युपेतं सूत्रपाठे अर्थग्रहणे लब्धिसमन्वितं परवादिमथने धर्म्मकथनलब्धिपरिकलितं धर्म्मकथने ऽग्लानमिति चरणपटीयांसं ग्लानं प्रति जागरणे ॥

जह जह वावारते, जहा य वावारिया न हायंति ।
तह तह गणपरिवड्ढी, निज्जर वड्ढी वि एमेव ॥

यथा यथा तत्तल्लब्ध्युपेतान् तत्कर्म्मणि व्यापारयंति यथा यथा च व्यापारा न हीयंते । देशकालस्वभावौचित्येन व्यापारणात् तथा तथा गणस्य गच्छस्य परिवृद्धिर्भवति । निर्जरावृद्धि-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रप्येवमेव निर्जराऽपि तथा परिवर्द्धत इतिभावः। तद्व्यतिरिक्तो व्यापारयुक्तस्तस्य गच्छपरिहानिर्भवति निर्जरेति ॥

संप्रति भावपरिच्छेदमाह ॥

दंसणनाणचरित्ते, तवेय विणए य होइ भावम्मि ॥
संजोगे चउभागा, विइए नायं वइरभूतं ।

दर्शनं क्षायोपशमिकादिभेदभिन्नं सम्यक्त्वं ज्ञानं मतिज्ञानादि चारित्रं सामायिकादि, तपोऽनशनादि, एष भावतः परिच्छदः अनयोश्च द्रव्यभावपरिच्छन्नो भावतः परिच्छन्नः इत्येवं रूप द्वितीये भंगे ज्ञातमुदाहरणं वज्रभूतिस्तदेवाह ॥

भरुयच्छे नहवाहण, देवी पउमावती वइरभूती ।
ओरोहकव्वगाणय, कोउयनिव पुच्छदे विगमो ॥ १ ॥
कत्थत्ति निवाएसो, सयमासण एसचेव चेरिकहा ॥
परिदारण मदाणं वि, रूवपरिवाररहिएय ॥ २ ॥

भरुयच्छे नयरे नहवाहणो नाम राया तस्स पउमावती देवी। तत्थ नयरे वइरभूती आयरिओ महाकई अपरिवारो रूवेण य मंदरूवो अतीव किसो तस्स कव्वं अंतेउरे गिज्जंति सा य पउमावती देवी तेण कव्वेण हयहियया कया चिंतेइ। जस्सेयं कव्वं कहमहंतं पेच्छिज्जा । तओ रायं अणुण्णवित्ता दासी संपरिवुडा महरियपच्छागारं औचित्येन ढोकनीयं घेत्तुं वइरभूतिस्स वासहिं गता। तं वारट्ठियं पासिता वइरभूइमेव भिसियं घेत्तुं निग्गतो । पउमावतीए कहियं कहं वइरभूती आयरितो वइरभूतिणा आयरिएण भणियं बहिंगतो दासीए साभियं एस चेव वइरभूती ताहे विरागं गया चिंतेइ य दिट्ठासिकसेरुमती पीयंतोपाणियं यं वरं तुह नाम न दंसणयं अत्र कसेरुमती नाम नदी। तस्याः प्रसिद्धिरतीव । नच तत् प्रसिद्ध्यनुरूपं तस्याः पानीयमिति क्षेपः। ताहेतं पच्छागारदिएणं भवियं। एतं आयरियस्स दिज्जसित्ति गया ॥

संप्रत्यक्षरघटना। भरुकच्छे नभोवाहनो नाम राजा तस्य पद्मावती देवी। तत्र वज्रभूतिराचार्योऽवरोधे अंतःपुरे तत्काव्यगानं कौतुकेन नृपं दृष्ट्वा देव्यास्तद्वसतौ गमः तदनंतरं पृच्छा कुत्र वज्रभूतिराचार्यस्तस्य प्रत्युत्तरं बहिर्निर्गतः । सचाचार्यः सपरिवाराभावात् स्वयमासनं गृहीत्वा मध्याद्बहिरागतः चेट्या दास्याः कथानकमेव एवं वज्रभूतिस्ततो विपरिणाम विपरिणामाच्च साक्षाद्दानं विरूपे परिवाररहिते च तस्मिन्नाचार्ये एतेनैतदावेदितं यः परिवारवानपि रूपेणाऽविरूपः सोऽपि द्रव्यपरिच्छदेनापरिच्छन्नः ततो यद्यपि तस्य परिवारोऽस्ति । तथापि योऽधस्तात् द्रव्यपरिच्छदो वर्णितस्तस्य मूलमाकृतिस्तदभावे तस्याभावः। तथाचाह ॥

मूलं खलु दव्वपढि, च्छयस्स सुंदेरमोरसबलं च ।
आकितिमतो हि नियमा, सेसावि हवंति लद्धीतो ॥

समस्तस्याऽपि प्रागुक्तस्य द्रव्यपरिच्छदस्य मूलं खलु सौंदर्य मौरसं च बलं हृदयबलिष्ठता सर्वव्यापारेषु दार्ढ्यमिति भावः। कुत इति चेदत आह । यस्मादाकृतिमतः सतो नियमाच्छेषा अपि लब्धयो वस्त्रादिविषया भवंति । न त्वाकृतिविरहितस्य तथा प्रत्यक्षत एव दर्शनात् तत आकृतिरहितोऽपि द्रव्यपरिच्छदरहित इति न तस्यापि गणधारणानुज्ञा ॥

संप्रति वक्ष्यमाणग्रंथसंबंधनार्थमाह ॥

जो सो उ पुव्वभणितो, अपभूतो उ अविसेसिओ तहियं ।
सोचेव विसोसिज्जइ, इहइ सुत्ते य अत्थे य ॥

योऽसौ(चोयग अप्पभु)इत्यादिना ग्रंथेन अप्रभुः पूर्वः भणित स्स तथापि विशेषत एवोक्तः इह अस्मिन्प्रस्तावे अप्रभुःसूत्रेऽर्थे च विशिष्यते । सूत्रतोऽर्थतश्च तस्याप्रभुत्वं चिंत्यते इति भावः । तदेवाह ॥

अबहुस्सुए अगीयत्थे, दिट्ठंता सप्पसीसवेज्जसुए ।
अत्थविहूणो धरंते, मासा चतारि भारीय ॥

अत्र बहुश्रुतागीतार्थपदाभ्यां भंगचतुष्टयं । तद्यथा । अबहुश्रुतोऽगीतार्थ इति प्रथमो भंगः १ अबहुश्रुतो गीतार्थः २ वा बहुश्रुतो ऽगीतार्थः ३ बहुश्रुतो गीतार्थः ४ तत्र यस्य निशीथादिकं सूत्रतोऽर्थतो न गतं स प्रथमो भंगः यस्य पुनर्निशीथादिगतौ सूत्रार्थौ विस्मृतौ स द्वितीयभंगः । पुनरेकादशांगधारी अश्रुतार्थः स तृतीयभंगः । सकलकालोचितसूत्रार्थोपेतश्चतुर्थः । अत्र बहुश्रुते अगीतार्थे वा एतेनाद्यभंगत्रयमुपात्तं । तस्मिन् गणं धारयति दृष्टांतौ सर्पशीर्षकं वैद्यसुतश्च । इयमत्र भावना । आद्यानां त्रयाणां भंगानामन्यतरो यदि गणं धारयति । ततः स सहगणेन विनश्यति यथा सर्पशीर्षकं वैद्यसुतो वा एतद्दृष्टांतद्वयं यथा कल्पाध्ययने तथा भावनीयं (अत्थविहूणेत्यादि) अर्थविहीने अगीतार्थे इत्यर्थः । अर्थग्रहणमुपलक्षणं सूत्रे इत्यपि द्रष्टव्यं । तस्मिन् अर्थविहीने वा गणं धारयति । उपलक्षणमेतत् । निसृजति वा प्रायश्चित्तं चत्वारो (भारिया इति) गुरुका मासाः ॥

अबहुस्सुते अगीयत्थे, निसिरए वा धारए गमणं ॥
तद्देवसियं तस्स उ, मासा चत्तारि भारिया ॥

अबहुश्रुतोऽगीतार्थो वा यदि गणं निसृजति धारयति वा स्वयं । किमुक्तं भवति । आद्यानां त्रयाणां भंगानामन्यतरो यदि गणं गीतार्थस्य वा निसृजति स्वयं वाऽद्यानां त्रयाणां भंगानामेकतरः सन् यदि गणं धारयति एकं द्वौ वा दिवसावुत्कर्षतः सप्तरात्रिंदिवानि ततस्तद्दिवसिकैरेतेषां सप्तानां दिवसानां निमित्तत्वतस्तस्य गणं निसृष्टुर्धारयतो स प्रायश्चित्तं चत्वारो मासा गुरुकाः ॥

सत्तरत्तं तवो होही, ततो छेदो पधावती ।
छेदेण छिन्नपरियाए, ततो मूलं ततो दुगं ॥

अन्यदन्यतः सप्तरात्रं यावद्गणस्य निसर्जने धारणे वा प्रायश्चित्तं तपो भवति। तपःप्रायश्चित्तसमाप्त्यनंतरक्रमेण छेदः प्रधावति छेदेन चेच्छिन्नपर्यायो भवति ततो छिन्नपर्याये तस्मिन् मूलं दीयते। ततोऽप्यतिक्रमे अंतिमं द्विकमनवस्थाप्य पारांचितलक्षणं । इयमत्र भावना। प्रथमसप्तदिवसानंतरमन्यानि चेत्सप्तदिनानि गणं निसृजति धारयति वा स्वयं ततः प्रायश्चित्तं षड्लघु । ततोऽप्यन्यानि सप्तदिनानि ततः षट् गुरु। तदनंतरमन्यान्यानि चेत् सप्तदिनानि ततश्चतुर्गुरुका श्छेदः ततोऽप्यन्यसप्तदिनानि ततश्चतुर्गुरुकाश्छेदः । ततोऽप्यन्यसप्तदिवसातिक्रमे षड्लघुकश्छेदः । तदनंतरमप्यन्यसप्तदिवसातिवाहने षड्गुरुकच्छेदः । एतावता कालेन यदि पर्यायो न छिन्नस्ति ततस्त्रि-

चत्वारिंशत्तमे दिवसे गणं धारयतो निक्षप्तुर्वा प्रायश्चित्तं मूलं चतुश्चत्वारिंशत्तमे दिवसे अनवस्थाप्यं पंचचत्वारिंशत्तमे पारांचितं तदेवं यत इत्थं प्रायश्चित्तं ततो न वर्तते। आद्यानां त्रयाणां भंगानामेकतरः स्थापयितुं कः पुनर्गणधरः स्थापयितव्य इति चेदुच्यते गुरुः ॥

अथ कोऽसौ गुरु इतिगुरुलक्षणमाह ॥

जोसो चउत्थभंगो, दव्वे भावेय होइ संच्छन्नो ।
गणधारणंमि अरिहो, सो गुरु होइ नायव्वो ॥

योऽसौ चतुर्थभंगश्चतुर्थभंगवर्ती कोऽसावित्याह। द्रव्ये भावे च यो भवति । संच्छन्नद्रव्यः परिच्छदविशेषैश्च परिकलित इति भावः ॥

(३०) स्थापनायां स्थविराः प्रष्टव्याः ॥

स्थविराननापृच्छ्य गणं न धारयेदाचार्यैः व्य. सू. ३ उ.॥

भिक्खू इच्छेज्जा इत्यादिगाथा ३२७ पृष्ठे १४ पंक्तौ व्याख्याता ॥

भिक्खू य इच्छेज्जा गणं धारित्तए। णो कप्पइ से थेरे अणापुच्छित्ता गणं धारित्तए । कप्पइ से थेरे आपुच्छित्ता गणं धारित्तए । थविरा य से वियरेज्जा एवं से कप्पइ गणं धारित्तए थेरा य से णोवियरेज्जा एवं से णो कप्पइ गणं धारित्तए जणं थेरेहिं अविदिन्नं गणं धारेति से संतराए छेए वा परिहारे वा ॥ १ ॥

व्याख्या । भिक्षुरिच्छेत् गणं धारयितुं तत्र (से) तस्य न कल्पते। स्थविरान् गच्छगतान् पुरुषान् अनापृच्छ्य गणं धारयितुं कल्पते (से) तस्य स्थविरान् आपृच्छ्य गणं धारयितुं स्थविराश्च (से) तस्य वितरेयुरनुजानीयुर्गणधारणं पूर्वोक्तैः कारणैरर्हत्वात्। तत एवं सति (से) तस्य कल्पते गणं धारयितुं स्थविराश्च (से) तस्य न वितरेयुर्गणधारणानर्हत्वादेवं सति न कल्पते। गणं धारयितुं। यः पुनः स्थविरैरवितीर्णमननुज्ञातगणं धारयेत् ततः (से) तस्य कृतादन्तरादपन्यायात्प्रायश्चित्तं छेदो वा परिहारो वा वाशब्दादन्यद्वा तपः। एष सूत्राक्षरार्थः। भावार्थं भाष्यकृदाह ॥

काउं देसदरिसाणं, आगतउवट्ठियम्मि उवरया थेरा ।
असिवादिकारणेहिं, वनगावितो साहगस्स असती ॥
सा कालगतेम्मि उगतो, विदेसं व तत्थ च अपुच्छा ॥
थेरे धारे य गणं, भावनिसिट्ठं अणुग्घाया ॥

देशदर्शननिमित्तं गतेन ये प्रव्राजितास्तान् यद्यात्मनेयावत्कथिकान् शिष्यतया बध्नाति ततस्तस्य प्रायश्चित्तं चतुर्गुरुकं। तथा देशदर्शनं कृत्वा तस्मिन्नागते अप्रस्थापिते च तस्मिन्नाचार्यपदे स्थविरा यस्याचार्या उपरताः कालगता यदि वा स प्रत्यागतोऽप्यशिवादिभिःकारणैर्यद्वासाधकस्य(असतित्ति)अभावेनाचार्यपदे स्थापितोऽभ्यंतरवाऽऽचार्यः। ततस्तस्मिन्कालगते यदि वा गतो विदेशं तत्रैव विदेशे गणं धारयितुमिच्छेत् । एतेषु सर्वेष्वपि कारणेषु समुत्पन्नेषु यदि स्थविरान् गच्छमहान्तोऽपृष्ट्वा यद्यपि तस्याचार्येण भावतो गणो निसृष्टोऽनुज्ञातस्तथापि स्थविरा आप्रच्छनीयास्तत आह। भावनिसृष्टमपि गणं धारयति तर्हि तस्य स्थविरानापृच्छाप्रत्ययं प्रायश्चित्तं अनुद्घाता गुरुकाश्चत्वारो मासाः उपलक्षणमेतत्। आज्ञाऽनवस्था मिथ्यात्वविराधनारूपाश्च तस्य दोषाः ॥

सयमेव दिसाबंधं, अणणुएणाते करे अणापुच्छा।
थेरेहिं य पमिसिद्धो, गुरुगा लग्गा उवेहंता ॥

यो नामस्वयमेव आत्मच्छंदसा को मम निजमाचार्यं मुक्त्वाऽन्य आपृच्छनीयः समस्तीत्यध्यवसायतः पूर्वाचार्येणाऽननुज्ञात आचार्यपदे तस्याऽस्थापनात्स्थविरान् गच्छमहत्तररूपान् अनापृच्छ्य दिग्बंधं करोति। स्थविरैः प्रतिषेधनीयाः। यथा निवर्तते आर्य ! तव तीर्थकराणामाज्ञां लोपयितुं एवं प्रतिषेदितोऽपि यदि न प्रतिनिवर्तते तर्हि स्थविराः वृद्धाः सन्तः चतुर्गुरुके प्रायश्चित्ते लग्नाः। अथ स्थविरा उपेक्षंते तर्हि ते उपेक्षा प्रत्ययं चतुर्गुरुके लग्ना यत एवमुपेक्षायामनापृच्छायां च तीर्थकराभिहितं प्रायश्चित्तमाज्ञादयश्च दोषास्तस्मात्स्थविरैरुपेक्षा न कर्तव्या। तेन च स्थविरा आपृच्छनीयाः॥

सगणे थेराणसती, तिगथेरे वा तिगं तु वच्चाति ।
सेवासति इत्तरियं, धारेइ न मेलितो जाव ॥

अथ स्वगच्छे स्थविरा न संति तर्हि गणे स्वकीये गच्छे स्थविराणामसति अभावे ये त्रिककुलगणसंघरूपे स्थविरास्तान् त्रिकस्थविरान् त्रिकं वा समस्तं कुलं वा गणं वा संघो वा इत्यर्थः। उपतिष्ठेत यथा यूयमनुजानीत मह्यं दिशमिति। अथ अशिवादिभिः कारणैर्न पश्येत् कुलस्थविरादीनामसत्यभावे इत्वरिकां दिशं गणस्य धारयति यावत्कुलादिभिः सह गणो न मिलितो भवति ॥

जे उ अहाकप्पेणं, अणुएणायंमि तत्थ साहम्मि ।
विहरन्ति अमट्ठाए, न तेसि छेओ न परिहारो ॥

ये तु साधर्मिकाः स्वगच्छवर्तिनः परगच्छवर्तिनो वा यथा कल्पेन श्रुतोपदेशेन तेषां सूत्रार्थं तत्रोपस्थानात् विषमे तदर्थाय सूत्राणामर्थाय आसेवना शिक्षार्थेवेत्यर्थः। अनुज्ञाते गणधारणा तत्र गच्छे विहरंति। ऋतुबद्धे काले मासकल्पेन वर्षासु वर्षाकल्पेन तेषां तत्प्रत्ययोपदेशोऽनुज्ञातो गणं धारयतीति तन्निमित्तमित्यर्थः। प्रायश्चित्तं छेदो न परिहार उपलक्षणमेतन्नान्यद्वा तपः श्रुतोपदेशेन तेषां सूत्रार्थं तत उपस्थानात् विषमबोधता हि तस्यास्समीपमुपतिष्ठमानानां दोषोन सूत्रार्थमिति। व्य० ३ उ० ॥

शिलिपनि, औप० शिल्पोपाध्याये, (छेयायरियरइयदढफलिहंदकीला) छेकेन निपुणेनाऽऽचार्येण शिल्पोपाध्यायेन रचितो दृढो बलवान् परिघोऽर्गला इन्द्रकीलश्च सम्पादितकपाटद्वयाधारभूतः प्रवेशमध्यभागो यस्यां सा तथेति॥ राज० ॥

आ(य)रिय-आर्य-पुं० आरात् हेयधर्मेभ्यो याताः प्राप्ता उपादेयधर्मैरित्यार्याः । पृषोदरादय इति रूपनिष्पत्तिः ॥ प्रज्ञा प. १। प्रव. २७५ द्वा. ॥

स्याद्भव्यचैत्यचौर्यसमेषु यात्। ८ । १०७ । इति प्राकृतसूत्रेण स्यादादिषु चौर्यशब्देन समेषु च शब्देषु संयुक्तस्य यात्पूर्व इर्भवति । आराद्दूरे याता गताः सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यार्याः। सूत्र० १ श्रु. ३ अ.॥

चारित्रार्हे, आचा० अ. २ उ. ५

(अणारियवयणमेयं) आराद्याताः सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यार्यास्तद्विपर्ययादनार्य्याः क्रूरकर्माण इति। आचा. ४ अ. ५ उ.॥

(मिच्छादिट्ठी अणारिया) आपदयाताः सर्वहेयधर्मेभ्य

Jain Education International | For Private & Personal Use Only | www.jainelibrary.org

इत्यार्यः । सूत्र० १ श्रु. १ अ. ॥
"एसट्ठाणे आरिए" आराद्यातं सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यार्यम् सूत्र.२ श्रु. २ अ. ।
(एगमवि आरियं धम्मियं सुवयणं सोच्चा) आर्यं आराद्यातं पापकर्मभ्य इत्यार्यं अत एव धार्मिकमिति । भ. श. १.उ.७ ।
आर्या देशभाषाचरित्रार्या इति आचा. ४ श्र. २ उ. ।
विवेकिनि. (तमेव पासित्ता आयरिया वयंति) आर्या वि-वेकिनः सदाचारवंतः एवं ब्रुवते । सूत्र. २ श्रु. २ अ. ।
आर्यदेशोत्पन्ने (आयरियमणायरियाणं) आर्याणामार्यदेशोत्पन्नानाम्. उपा. २ अ. । स. ३४ स. । औप. ।

आर्यभेदाः ॥

सेकिंतं आयरिया ? आयरिया दुविहा पएणता । तंजहा । इड्ढिपत्तारिया य अणिड्ढिपत्तारिया य । से किंतं इड्ढि-पत्तारिया ? २ छव्विहा पएणता, तंजहा अरहंता चक्कवट्टी बलदेवा वासुदेवा चारणा विज्जाहरा सेत्तं इड्ढि-पत्तारिया ॥ सेकिंतं अणिड्ढिपत्तारिया ? २ नवविहा पएणता, तंजहा खेत्तारिया जातिआरिया कुलारिया कम्मारिया सिप्पारिया नासारिया णाणारिया दंसणा-रिया चरित्तारिया सेकिंतं खेत्तारिया ? २ अद्धछव्वीसति विहा पएणता, तंजहा ।

रायगिहमगहचंपा, अंगा तह तामलित्ति बंगा य ।
कंचणपुरं कलिंगा, वाणारसि चेव कासीय ॥ १ ॥
साएयकोसलागय, पुरं च कुरुसोरियं कुसट्टाय ।
कंपिल्लं पंचाला, अहिछत्ता जंगला चेव ॥ २ ॥
दारवती य सुरट्ठा, मिहिलविदेहा य वच्छकोसंबी ।
नंदि पुरं संमिल्ला, नद्दिलपुरमेव मलयाय ॥३ ॥
वइराडवच्छवरणा, अच्छा तह मतियावईदसण्णा ॥
सोत्तियमइयाचेदी, वीइभयं सिंधुसोवीरा ॥ ४ ॥
महुरा यसूरसेणा, पावा भंगी य मासपुरिवट्टा ॥
सावत्थी य कुणाला, कोडीवरिसं चलाढा य ॥ ५ ॥
सेयंविया वियनगरी, केयइ अद्धंच आरीयं नाणियं ॥
एत्थुप्पत्तिजिणाणं, चक्कीणं रामकएहाणं ॥ ६ ॥

सेत्तं खेत्तारिया सेकिंतं जाइ आयरिया ? २ छव्विहा पएणता तंजहा अंबट्ठा य कलिंदा विदेहा वेदगाइय हरिया चुंचुणा चे व छएया इच्चजाइओ सेत्तं जाइआयरिया य सेकिंतं कुलारिया ? २ छव्विहा पएणत्ता तंजहा उग्गा भोगा राइएणा इक्खागा नाता कोरव्वा सेत्तं कुलारिया सेकिंतं कम्मारिया ? २ अणेगविहा पएणत्ता तंजहा ।

दोस्सिया सुत्तिया कप्पा, सिया मुत्ताविया जीया ॥
भंडविया लिया कोला, लिया नरवाहणिया ॥ १ ॥

जेयावएणे तहप्पगारा सेत्तं कम्मारिया सेकिंतं सिप्पा-रिया ? २ अणेगविहा पएणत्ता । तंजहा । तुएणागा तंतुवाया पट्टागारा देयडा वरुडा कट्ठयाउयारा मुंजपा उयारा छत्तारा बंभारा पच्छारा पोत्थारा लेप्पारा चित्तारा संखारा दंतारा भंडारा जिब्भगारा सेल्लारा कोडिगारा जेयावन्ने तहप्पगारा सेत्तं सिप्पारिया सेकिंतं भा-सारिया ? २ जेणं अद्धमागहाए भासाए भासंति जत्थ वियणं बंभी लिवी पवत्तइ बंभीएणं लिवीए अट्ठारस विहे लेक्खविहाणे पएणत्ते । तंजहा बंभी, जवणाणिया, दोसा, पुरिसा, खरुट्टी, पुक्खरसारिया, भोगवइया, पह-राइया, अंतक्खरिया, अक्खरपुट्ठिया, वेणइया, निएह-इया, अंकलिवी गणियलिवी गंधव्वलिवी, आयासलिवी, माहेसरी, दामिली, पोलिंदी । सेत्तं भासारिया सेकिंतं नाणारिया ? २ पंचविहा पणत्ता तंजहा आभि णिबोहियनाणारिया सुयनाणारिया ओहिनाणारिया मणपज्जवनाणारिया केवलनाणारिया ॥ सेत्तं नाणारिया सेकिंतं दंसणारिया ? २ दुविहा पणत्ता । तंजहा सरागदं-सणारिया यवियरागदंसणा ० सेकिंतं सरागदंसणारिया ? २ दसविहा पएणता तंजहा ॥

निस्सग्गुवदेसरुई, आणारुइ सुत्तबीयरुइ चेव ।
अभिगमवित्थाररुई, किरिया संखेव धम्मरुई ॥१॥
भूयत्थेणाधिगया, जीवा जीवा य पुएणपावं च ।
सहस्सं मुइयासव, संवरो यवेयइएस णिस्सग्गो ॥ २ ॥
जो जिणदिट्ठे भावे, चउव्विहे सद्दहा सयमेव ।
एमेव णएणहत्ति य, णिसग्गरुइति णाइव्वो ॥ ३ ॥
एए चेव उ भावे, उवदिट्ठे जो परेण सद्दहइ ।
छउमत्थेण जिणेण, व उवएसरुइत्ति णायव्वो ॥ ४ ॥
जोहेउमयाणंतो, आणाएरोयए पवयणं तु ।
एमेवएणहत्ति य, एसो आणारुई नाम ॥ ५ ॥
जो सुत्तमहिज्जंतो, सुएण ओगाहई उ सम्मत्तं ।
अंगेण बाहिरेण, वसो सुत्तरुइत्ति नायव्वो ॥ ६ ॥
एगपएणेगाई, पदाई जो पसरइ उ सम्मत्तं ।
उदइव्व तिल्लबिंदू, सो बीयरुइत्ति नायव्वो ॥ ७ ॥
सो होइ अभिगमरुई, सुयनाणं जस्स अत्यओदिट्ठं ।
एक्कारसअंगाई, पइएणगा दिट्ठिवाओय ॥ ८ ॥
दव्वाण सव्वभावा, सव्वपमाणेहिं जस्स उवलद्धा ।
सव्वाहिं णयविहीहिं, वित्थाररुइत्ति नायव्वो ॥९॥
दंसणनाणचरित्ते, तवविणए सव्वसमिइगुत्तीसु ।
जो किरियाभावरुई, सो खलु किरियारुई नाम ॥१०॥
अणभिग्गहिय कुदिट्ठी, संखेवरुइत्ति होइ नायव्वो ।
अविसारओ पवयणे, अणभिग्गहिओ य सेसेसु ॥ ११ ॥
जो अत्थि कायकम्मं, सुयधम्मं खलु चरित्तधम्मं च ॥
सद्दहइ जिणाभिहियं, सो धम्मरुइत्ति नायव्वो ॥ १२ ॥
परमत्थसंथवो वा, सुदिट्ठपरमत्थसेवणा वावि ॥
वावन्नकुदंसणव, ज्जणा य सम्मत्तसद्दहणा ॥ १३ ॥
निस्संकियनिक्कंखिय, णिव्वितिगिच्छा अमुढदिट्ठीय ।

उववूहथिरीकरणे, वच्छल्लपभावणे अट्ठ ॥ १४ ॥

सेत्तं सरागदंसणारिया ॥ सेकिंतं वीयरागदंसणारिया ? २ दुविहा पएणत्ता, तंजहा उवसंतकसायवीयरागदंसणारिया खीणकसायवीयरागदंसणारियाय। सेकिंतं उवसंतकसायवीयरागदंसणारिया ? २ दुविहा पएणत्ता. तंजहा पढमसमयउवसंतकसायवीतरागदंसणारिया अपढमसमयउवसंतकसायवीतरागदंसणारिया, अहवा चरिमसमयउवसंतकसायवीतरागदंसणारिया अचरिमसमयउवसंतकसायवीतरागदंसणारिया य। सेकिंतं खीणकसायवीतरागदंसणारिया ? २ दुविहा पएणत्ता, तंजहा छउमत्थखीणकसायवीतरागदंसणारिया केवलिखीणकसायवीतरागदंसणारिया य। सेकिंतं छउमत्थखीणकसायवीतरागदंसणारिया ? २ दुविहा पएणत्ता। तंजहा। सयंबुद्धछउमत्थखीणकसायवीतरागदंसणारिया बुद्धबोहियछउमत्थखीणकसायवीतरागदंसणारिया य। सेकिंतं सयंबुद्धछउमत्थखीणकसायवीतरागदंसणारिया? सयंबुद्धछउमत्थखीण० दुविहा पएणत्ता। तंजहा पढमसमयसयंबुद्धछउमत्थखीणकसायवीतरागदंसणारिया य अपढमसमयसयंबुद्धछउमत्थखीणकसायवीतरागदंसणारिया। अहवा चरिमसमयसयंबुद्धछउमत्थखीणकसायवीतरागदंसणारिया अचरिमसमयसयंबुद्धछउमत्थखीणकसायवीतरागदंसणारिया य। सेत्तं सयंबुद्धछउमत्थखीणकसायवीतरागदंसणारिया सेकिंतं बुद्धबोहियछउमत्थखीणकसायवीतरागदंसणारिया ? २ दुविहा पएणत्ता, तंजहा पढमसमयबुद्धबोहियछउमत्थखीणकसायवीतरागदंसणारिया अपढमसमयबुद्धबोहियछउमत्थखीणकसायवीतरागदंसणारिया। अहवा। चरिमसमयबुद्धबोहियछउमत्थखीणकसायवीतरागदंसणारिया अचरिमसमयबुद्धबोहियछउमत्थखीणकसायवीतरागदंसणारिया। सेत्तं बुद्धबोहियछउमत्थखीणकसायवीतरागदंसणारिया। सेत्तं छउमत्थखीणकसायवीतरागदंसणारिया। सेकिंतं केवलिखीणकसायवीतरागदंसणारिया? २ दुविहा पएणत्ता, तंजहा सजोगिकेवलिखीणकसायवीतरागदंसणारिया अजोगिकेवलिखीणकसायवीतरागदंसणारिया य। सेकिंतं सजोगिकेवलिखीणकसायवीतरागदंसणारिया ? २ दुविहा पएणत्ता। तं जहा पढमसमयसजोगिकेवलिखीणकसायवीतरागदंसणारिया अपढमसमयसजोगिकेवलिखीणकसायवीरागदंसणारिया य। अहवा। चरिमसमयसजोगिकेवलिखीणकसायवीतरागदंसणारिया अचरिमसमयसजोगिकेवलिखीणकसायवीतरागदंसणारिया—य। सेत्तं सजोगिकेवलिखीणकसायवीतरागदंसणारिया। सेकिंतं अजोगिकेवलिखीणकसायवीतरागदंसणारिया ? २ दुविहा पएणत्ता तंजहा पढमसमयअजोगिकेवलिखीणकसायवीतरागदंसणारिया अपढमसमयअजोगिकेवलिखीणकसायवीतरागदंसणारिया य। अहवा चरिमसमयअजोगिकेवलिखीणकसायवीतरागदंसणारिया अचरिमसमयअजोगिकेवलिखीणकसायवीतरागदंसणारिया य। सेत्तं अजोगिकेवलिखीणकसायवीतरागदंसणारिया। सेत्तं केवलिखीणकसायवीतरागदंसणारिया सेत्तं खीणकसायवीतरागदंसणारिया सेत्तं वीतरागदंसणारिया सेत्तं दंसणारिया। सेकिंतं चारित्तारिया? २ दुविहा पएणत्ता। तंजहा। सरागचरित्तारिया वीतरागचरित्तारिया य। सेकिंतं सरागचरित्तारिया ? २ दुविहा पएणत्ता तंजहा सुहुमसंपरायसरागचरित्तारिया बायरसंपरायसरागचरित्तारिया य। सेकिंतं सुहुमसंपरायसरागचरित्तारिया ? २ दुविहा पएणत्ता तंजहा पढमसमयसुहुमसंपरायसरागचरित्तारिया अपढमसमयसुहुमसंपरायसरागचरित्तारिया य अहवा चरिमसमयसुहुमसंपरायसरागचरित्तारिया अचरिमसमयसुहुमसंपरायसरागचरित्तारिया य अहवा सुहुमसंपरायसरागचरित्तारिया दुविहा पएणत्ता तंजहा संकिलिस्समाणा य विसुज्झमाणा य सेत्तं सुहुमसंपरायसरागचरित्तारिया। सेकिंतं बायरसंपरायसरागचरित्तारिया ? २ दुविहा पएणत्ता तंजहा पढमसमयबायरसंपरायसरागचरित्तारिया अपढमसमयबायरसंपरायसरागचरित्तारिया य। अहवा चरिमसमयबायरसंपरायसरागचरित्तारिया अचरिमसमयबायरसंपरायसरागचरित्तारिया य अहवा बायरसंपरायसरागचरित्तारिया दुविहा पएणत्ता। तंजहा। पडिवाई य अपडिवाइ य सेत्तं बायरसंपरायचरित्तारिया सेत्तं सरागचरित्तारिया सेकिंतं वीतरागचरित्तारिया? २ दुविहा पएणत्ता तंजहा। उवसंतकसायवीतरागचरित्तारिया खीणकसायवीतरागचरित्तारिया य सेकिंतं उवसंतकसायवीतरागचरित्तारिया ? २ दुविहा प० तंजहा पढमसमयउवसंतकसायवीतरागचरित्तारिया अपढमसमयउवसंतकसायवीतरागचरित्तारिया य अहवा चरिमसमयउवसंतकसायवीतरागचरित्तारिया अचरिमसमयउवसंतकसायवीतरागचरित्तारिया य सेत्तं उवसंतकसायवीतरागचरित्तारिया। सेकिंतं खीणकसायवीतरागचरित्तारिया ? २ दुविहा पएणत्ता तंजहा छउमत्थखीणकसायवीतरागचरित्तारिया केवलिखीणकसायवीतरागचरित्तारिया य सेकिंतं छउमत्थखीणकसायवीतरागचरित्तारिया? २ दुविहा पएणत्ता तंजहा सयंबुद्धछउमत्थखीणकसायवीतरागचरित्तारिया बुद्धबोहियछउम-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्थखी णकसायवीतरागचरित्तारिया य सेकिंतं सयंबुद्धछउमत्थखीणकसायवीतरागचरित्तारिया? दुविहा पण्णत्ता तंजहा पढमसमयसंबुद्धखीणकसायवीतरागचरित्तारिया अपढमसमयसयंबुद्धछउमत्थखीणकसायवीतरागचरित्तारिया य अहवा चरिमसमयसयंबुद्धछउमत्थखीणकसायवीतरागचरित्तारिया अचरिमसमयसयंबुद्धछउमत्थखीणकसायवीतरागचरित्तारिया य सेत्तं सयंबुद्धछउमत्थखीणकसायवीतरागचरित्तारिया। सेकिंतं बुद्धबोहियछउमत्थखीणकसायवीतरागचरित्तारिया ? २ दुविहा पण्णत्ता, तंजहा पढमसमयबुद्धबोहियछउमत्थखीणकसायवीतरागचरित्तारिया अपढमसमयबुद्धबोहियछउमत्थखीणकसायवीतरागचरित्तारिया य अहवा चरिमसमयबुद्धबोहियछउमत्थखीणकसायवीतरागचरित्तारिया अचरिमसमयबुद्धबोहियछउमत्थखीणकसायवीतरागचरित्तारिया य सेत्तं बुद्धबोहियछउमत्थखीणकसायवीतरागचरित्तारिया सेत्तं छउमत्थखीणकसायवीतरागचरित्तारिया। सेकिंतं केवलिखीणकसायवीतरागचरित्तारिया? २ दुविहा पण्णत्ता। तंजहा सजोगीकेवलिखीणकसायवीतरागचरित्तारिया अजोगीकेवलिखीणकसायवीतरागचरित्तारिया य। सेकिंतं सजोगीकेवलिखीणकसायवीतरागचरित्तारिया ?२ दुविहा पण्णत्ता। तंजहा पढमसमयसजोगीकेवलिखीणकसायवीतरागचरित्तारिया अपढमसमयसजोगीकेवलिखीणकसायवीतरागचरित्तारिया य अहवा चरिमसमयसजोगिकेवलिखीणकसायवीतरागचरित्तारिया अचरिमसमयसजोगिकेवलिखीणकसायवीतरागचरित्तारिया य सेत्तं सजोगिकेवलीखीणकसायवीतरागचरित्तारिया य सेकिंतं अजोगीकेवलिखीणकसायवीतरागचरित्तारिया ? २ दुविहा पण्णत्ता। तंजहा पढमसमयअजोगीकेवलिखीणकसायवीतरागचरित्तारिया अपढमसमयअजोगिकेवलिखीणकसायवीतरागचरित्तारिया य अहवा चरिमसमयअजोगिकेवलिखीणकसायवीतरागचरित्तारिया । अचरिमसमयअजोगिकेवलिखीणकसायवीतरागचरित्तारिया य सेत्तं अजोगिकेवलिखीणकसायवीतरागचरित्तारिया । सेत्तं केवलिखीणकसायवीतरागचरित्तारिया । सेत्तं खीणकसायवीतरागचरित्तारिया सेत्तं वीतरागचरित्तारिया। अहवा चरित्तारिया पंचविहा पण्णत्ता। तंजहा सामाइयचरित्तारिया, छेओवट्ठावणीयचरित्तारिया, परिहारविसुद्धिचरित्तारिया, सुहुमसंपरायचरित्तारिया, अहक्खायचरित्तारिया य । सेकिंतं सामाइयचरित्तारिया? २ दुविहा पण्णत्ता। तंजहा । इत्तरियसामाइयचरित्तारिया आवकहियसामाइयचरित्तारिया य। सेत्तं सामाइयचरित्तारिया । से किंतं छेओवट्ठावणीयचरित्तारिया ? २ दुविहा पण्णत्ता तंजहा । साइयारा छेओवट्ठावणीयचरित्तारिया निरइयारा छेओवट्ठावणीयचरित्तारिया । सेत्तं छेओवट्ठावणीयचरित्तारिया । सेकिंतं परिहारविसुद्धियचरित्तारिया ? २ दुविहा पण्णत्ता। तंजहा निव्विस्समाणपरिहारविसुद्धियचरित्तारिया निव्विट्ठकाइयपरिहारविसुद्धियचरित्तारिया य। सेत्तं परिहारविसुद्धियचरित्तारिया । से किंतं सुहुमसंपरायचरित्तारिया ? २ दुविहा पण्णत्ता तं जहा, संकिलिस्समाणसुहुमसंपरायचरित्तारिया विसुज्झमाणसुहुमसंपरायचरित्तारिया सेत्तं सुहुमसंपरायचरित्तारिया । से किंतं अहक्खायचरित्तारिया? २ दुविहा पण्णत्ता, तंजहा छउमत्थअहक्खायचरित्तारिया केवलिअहक्खायचरित्तारिया य सेत्तं अहक्खायचरित्तारिया । सेत्तं चरित्तारिया। सेत्तं अणाड्ढिपत्तारिया। सेत्तं आयारिया ।। प्रज्ञा. १. प. ।।

आराद्यातः सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यार्यः। मोक्षमार्गे, (आरियं उवसंपज्जे.) सूत्र. १ श्रु. ८ अ.। आराद् यातं सर्वकुयुक्तिभ्य इत्यार्यं तत्वम्। तत्वे,। (आयरियं विदित्ताणं, सव्वदुक्खा विमुच्चइ) आयरियंति सूत्रत्वात् आराद् यातं सर्वकुयुक्तिभ्य इत्यार्यं तत्वं तद्विदित्वा ज्ञात्वेति । उत्त०अ ६।प्रगुणे, न्यायोपपन्ने, आर्यं प्रगुणं न्यायोपपन्नमिति। आचा० २ श्र. ५ उ. ॥

आयरियउवज्झाय–आचार्योपाध्याय– पुं० आचार्यसहित उपाध्याय आचार्योपाध्यायः । आचार्यसहिते उपाध्याये (आयरियउवज्झाए विसंभेज्जा)व्य० सू. ३ उ.। आचार्यसहित उपाध्याय आचार्योपाध्यायः। आचार्य उपाध्यायश्चेत्यर्थः आचार्यश्च स एवोपाध्यायः आचार्योपाध्यायः आचार्यरूपे उपाध्याये, स हि केषांचिदाचार्यः केषांचिदुपाध्याय इति। व्य० ३ उ. ॥

आ(य)रियखेत्त–आर्यक्षेत्र–न० अर्द्धषड्विंशतिजनपदोपलक्षिते राजगृहमगधादिके, सूत्र० १ श्रु. ५ अ. ॥

सार्द्धपञ्चविंशतिः आर्यक्षेत्राणि (आयरिय) शब्दे पृष्ठे ३३६ पंक्तौ २१ उक्तानि ॥

यस्मादत्र एतेषु सार्द्धषड्विंशतिसंख्येषु जनपदेषूत्पत्तिर्जिनानां तीर्थकराणां चक्रवर्तिनां रामाणां बलदेवानां कृष्णानां वासुदेवानां तत आर्यमेतेन क्षेत्रस्यार्यानार्यव्यवस्था दर्शिता यत्र तीर्थकरादीनामुत्पत्तिस्तदार्यं शेषमनार्यमिति । आवश्यकचूर्णौ पुनरित्थमार्यव्यवस्था उक्ता " जेसु केसुवि पएसेसु मिहुणगाणि यइद्विएसु हक्काराईया नीई परूढा ते आयरिया सेसा अणारिया इति " एते च प्रत्यासत्त्या भरतक्षेत्रवर्तिन एव आर्या उक्ताः। उपलक्षणत्वाच्चैषामन्येऽपि महाविदेहांतर्वर्तिविजयमध्यमखंडादिष्वमी बहवो द्रष्टव्या इति । प्रव. २७६ द्वा.।

आर्यक्षेत्रसीमा निशीथचूर्णौ यथा १६ अ. ।

मगहा कोसंबीया, थूणाविसओ कुणालविसओ य ॥
एसा विहारभूमी, एत्ता आयरियं खेत्तं ॥ ६३५ ॥

पुव्वेण मगहविसओ दक्खिणेण कोसंबी अवरेण थूणाविसओ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्तरेण कुणालाविसओ एतेसिं मज्झं आयरियं पुरतो अणारियं।

आ(य)रियट्ठाण–आर्यस्थान न० सर्वतो विरत्यादौ, संयमस्थाने "जासा सव्वतोविरई एसट्ठाणे अणारंभट्ठाणे आरिए" तत्र चेयं विरतिः सम्यक्त्वपूर्विका सावद्यारम्भान्निवृत्तिः सावद्यानुष्ठानरहितत्वात् संयमस्थानम् तत्रचैतत्स्थानमार्यस्यानम् । सूत्र० २ श्रु. २ अ. ।

आ (य) रियदंसि (न्) आर्य्यदर्शिन्– पुं० आर्य्यं प्रगुणं न्यायोपपन्नं पश्यति तच्छीलश्चेत्यार्यदर्शी । न्यायोपपन्नदर्शिनि, (आयरिए आरियपण्णे आरियदंसी) आचा. २ श्रु. ५ उ. ।

आ (य) रियदिन्न–आर्यदत्त–पुं०पार्श्वनाथस्य प्रथमे गणधरे प्रव. १ द्वा. ।

आ(य)रियदेस—आर्यदेश—पुं.मगधाद्यर्द्धषड्विंशतिजनपदेषु, (आयरियदेसंमि जे समुप्पन्ना) पं. व. १ द्वा. । आर्य-देशसमुत्पन्नः शुद्धजातिकुलान्वितः ध. ३अधि. ।तत्र आर्यदेशा जिनचक्रवर्त्यर्द्धचक्रवाद्युत्तम पुरुषजन्मभूमयस्ते च संख्यया मगधाद्याः सार्द्धपंचविंशातिः आर्य्याणां वासार्हो देशः। प्रव.। आर्यावर्त्तादौ देशे।

आ (य) रियधम्म–आर्यधर्म– पुं०आर्यस्य धर्मः। सदाचारे श्रुतचारित्ररूपे धर्मे च (वेइज्ज णिज्जरापेही आरियं धम्ममणुत्तरं.) आराद्येयधर्मेभ्यो यात इत्यार्यस्तं धर्म्मं श्रुतचारित्ररूपमिति उत्त. २ अ. ॥

आ (य) रियपएसिय–आर्यप्रदेशित त्रि०तीर्थकरप्रणीते,— (एवं से धम्मे आयरियपएसिए । आचा० ६ अ. ४ उ. ।

आ(य) रियपण्ण—आर्यप्रज्ञ–पुं. आर्या प्रज्ञा यस्य स आर्यप्रज्ञः । श्रुतविशेषितमतौ, आचा० २ अ. ५ उ. ।

आयरियपरिजावि (न्) आचार्य्यपरिजाविन् त्रि० आचार्य्यपरिभवकर्त्तरि ।

डहरो अकुलीणोत्ति य, दुम्मेहो दमगमंदबुद्धित्ति ।
अवि अप्पलाभलद्धी,सीसो परिभवइ आयरियं ॥ १॥

कश्चित्कुशिष्यस्सूचया असूचया वा आचार्यं परिभवति। सूचा नाम स्वव्यपदेशेन परस्वरूपसूचनं । यथा कोपचयः परिणतं साधुबालकमाचार्यं ब्रवीति । अद्यापि डहरा बालका वयं किमस्माकमाचार्यपदस्य योग्यत्वमिति । असूचा स्फुटमेव परदोषोद्घाटनं यथा नो आचार्य ! त्वं तावदद्यापि डहरो मुग्धः क्षीरकंठो वर्त्तसे अतः कीदृशं भवत आचार्यत्वमिति। योऽकुलीन आचार्यस्तमुद्दिश्य भणति अहो उत्तमकुलसंभूता अमी योग्या एवाचार्यपदस्य वयं तु हीनकुलोत्पन्नाः कुतोऽस्माकं सूरिपदयोग्यता यद्वा धिक्कष्टं यदकुलीनोऽप्ययमाचार्यपदे निवेशित इति । तथा दुर्मेधा मंदप्रज्ञो द्रमको नाम दरिद्रो भूत्वा यः प्रव्रजितः मंदबुद्धिः स्वल्पमतिः अपि संभावनायां संभाव्यते कुतोऽपि कारणादेवंविधोऽप्याचार्य इति अल्पा तुच्छा वस्त्रपात्रादिलाभे लब्धिर्यस्य सोऽल्पलाभलब्धिः । एतानप्येवमेव सूचया असूचया च परिभवति ॥

अथ शिष्यपदं व्याख्याति ॥

सो विय सीसो दुविहो, पव्वावियगो अ सिक्खओ चेव।
सो सिक्खओ उ तिविहो, सुत्ते अत्थे तदुभए य ॥

यः शिष्यो गुरून् परिभवति सोऽपि च द्विविधः । प्रव्राजितकः शिष्यकश्चैव यस्तेनैव परिभूयमानगुरुणा दीक्षां ग्राहितस्स प्रव्राजितकः । शिष्यकस्तु गच्छांतरादध्ययनार्थमायातः स च शिष्यकस्त्रिविधः सूत्रेऽर्थे तदुभये च सूत्रग्राहकोऽर्थग्राहकस्तदुभयग्राहकश्चेत्यर्थः । बृ.। नि० चू० १७ अ० ॥

आयरियपायमूल आचार्य्यपादमूल न० आचार्य्यान्तिके- (गंतूणायरियपायमूलम्मि,) आचार्य्यपादमूले आचार्य्यान्तिक इति. पं. २ द्वा. ॥

आयरियभासिय–आचार्य्यभाषित–न. प्रश्नव्याकरणदशाया-श्चतुर्थेऽध्ययने, स्था० १० ठा. ॥

आयरियमग्ग–आर्यमार्ग–पुं. आराद् यातः सर्वहेयधर्म्मेभ्य इत्यार्यो मार्गो निर्दोषः। पापलेश्याऽसम्पृक्ते मार्गे, (आरियं मग्गं असंपत्ता) सूत्र० २ श्रु० १ अ० ॥ सदनुष्ठानरूपे मार्गे, जैनेन्द्रशासनप्रतिपादिते मोक्षमार्गे च सूत्र१श्रु.३ अ.। (जे तत्थ आरियं मग्गं परमं च समाहिए)सूत्र. द्वि. ०श्रु० ३ अ०॥

आयरियविज्जा–आचार्यविद्या–स्त्री० द्वाचत्वारिंशत्तमे पुरुषकलाभेदे, कल्प० ॥

आयरियविप्पडिवत्ति–आचार्य्यविप्रतिपत्ति–न० बंधदशायाः पञ्चमेऽध्ययने, स्था० १०ठा. ।

आ(य)रियवेय-आर्य्यवेद-पुं०तीर्थकरस्तुतिरूपे, श्रावकधर्मप्रतिपादके च वेदे, (दाणं च माहणाणं वेआकासीअ पुच्छनिव्वाणं) आर्यान् वेदान् कृतवांश्च स भरत एव तत्स्वाध्यायनिमित्तमिति तीर्थकरस्तुतिरूपान् श्रावकधर्मप्रतिपादकांश्च अनार्यास्तु पश्चात्सुलभा याज्ञवल्क्यादिभिः कृता इति. आव. २ अ. ।आ. म. २ अ. ।

आयरियवेयावच्च-आचार्य्यवैयावृत्य-न. आचार्यस्य वैयावृत्यं भक्तपानादिभिरुपष्टंभः । वैयावृत्यभेदे, औप० ॥

आयरियव्व–आचरितव्य–त्रि० आ. चर. तव्य. । अनुष्ठेये । (जं जम्मि होइ काले, आयरियव्वं स कालमायारो)। नि.चू. १ उ. ॥

आयारियादेस–आचार्यादेश–पुं. आचार्य्यकथने, (आयरियदेसावहारिण अत्थेण) आचार्य्यादेशात् आचार्य्यकथनात् अवधारितेनेति । व्य० ३ उ. ।

आयसज्झायण–आयसजाजन–न. लोहजाजने, (तोयमिव नालियाए, तत्तायसझायणोदरत्थंवा) तत्तं च तदायसजाजनं च लोहजाजनमिति. ॥ आव० ४ अ. ॥

आयाइ-आजाति-स्त्री०आ जन् क्तिन् आजननमाजातिः सम्मूर्छन-गर्भोपपाततो जन्मनि, स्था.१०ठा.।आजायतेऽस्यामित्याजातिः मनुष्यादिजातौ, । तथा चाचाराङ्गे आचारैकार्थकानधिकृत्य इदानीमाजातिराजायंते तस्यामित्याजातिः । साऽपि चतुर्द्धा व्यतिरिक्ता मनुष्यादिजातिः भावाजातिस्तु ज्ञानाद्याचारप्रस्तुतोऽयमेवाचार इति । आचा० १ अ. १ उ. ॥

आयाति- स्त्री. आ. या- भावे- क्तिन्-आगमने- स्थानान्तरगमने च(आयातिर्वा गतिरिति) स्था. ठा. ३ आयातिर्गर्भाद्विष्कम इति स्था. ठा. २ उत्तरकाले च दशा० ॥

आयाइट्ठाण– आजातिस्थान न- आजननमाजातिः सम्मूर्छनगर्भोपपाततो जन्म तस्याः स्थानम् । संसारे, स्था.१०ठा.

आयातिस्थान-न०उत्तरकालस्य स्थाने (आयातिट्ठाणं सम्मतं)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आयाइट्ठाणेति आयतिर्नाम उत्तरकालस्तस्य स्थानं पदमिति । दशा० ॥

आयाइट्ठाणज्झयण- आजातिस्थानाध्ययन न० आजननमाजातिः सम्मूर्छनगर्भोपपाततो जन्म तस्या : स्थानं संसारस्तत्सनिदानस्य प्रवर्तीत्येवमर्थप्रतिपादनपरमाजातिस्थानमुच्यत इति । आचारदशाया नवमेऽध्ययने, । स्था० १० ठा.॥

आयागर-अयआकर-पुं० लोहाकरे। (आयागरेइ वा) अयआकरो लोहाकरो यत्र लोहं ध्मायत इति स्था० ८ ठा. ॥

आया(चा)म आचाम न० अवस्रावणे पानकभेदे "आयाममवस्रावणमिति"। बृ. आव.६ अ.। आ. म. पिं. नि. स्था३ ठा.उ. उत्त. १५ अ.(आयामंचासोवीरंचासुक्क वियरंधातहप्पगारंपाणगजातं पुव्वामेव आलोएज्जा) आयामाम्लमवश्यानमिति आचा० श्रु. १, चू ॥

आयाम-पुं. आ-यम्-भावे घञ् दैर्घ्ये,-स्था० २ ठा. ॥ नि.चू. उ॥ आ. म. । राजं उी. "आयामेणं दुवेयाई तसिं बाहाओ अक्खवड्डिआओ भवति" आयामश्चदक्षिणोत्तरायततया प्रतिपत्तव्यो विष्कम्भः पूर्वापरायततयेति । सू. प्र. ४ प्रा. ॥

आयामग-आचा (या) मक- न० आयाममेवायामकम्-अवस्रावणके पानकभेदे- उत्त. (आयामगं चेव जवोदणं च) आयामकं धान्यस्यावस्रावणम् । उत्त० १५ अ. ॥

आयामसित्थभोइ (न्) आचा (या) म सिक्थभोजिन्-त्रि० अवस्रावणगतसिक्थभोक्तरि, तथा चौपपातिके "रसपरित्यागभेदानधिकृत्य-आयामसित्थभोइत्ति" औप० ॥

आयामेत्ता-आचम्य-अव्य० आचमनं कृत्वेत्यर्थे, (परमखेर्ण माहणे आयामेत्था) आमेत्थत्ति, आचामितवान् तद्भोजनदानद्वारेणोच्छिष्टतासम्पादनेन तच्छुद्ध्यर्थमाचमनं कारितवान् भोजितवानिति तात्पर्यम् भ०१५ श. १ उ.। माहणे आयामेइ-आयामेइत्ता स उत्तरोट्ठं मुंडं करेइ, भ. १५ श. १ उ. ।

आयार-आचार-पुं. आ. चर-भावे घञ्.आ. मर्य्यादायां चरणं चारः मर्य्यादया कालनियमादिलक्षणया चार आचारः आ. म. ॥ आचारो ज्ञानाचारादिः पञ्चधा आ मर्य्यादया वा चारोविहार आचारः भ.१श.१उ.॥ दशा.विशे. "आमज्जायावयणो, चरणं चारोत्तितीए आयारो। सोहोइ नाणदंसण,चरित्ततववीरियविसओ" ॥ अनुष्ठाने स्था० ४ ठा. ॥ आचारणमाचारोऽनुष्ठानमिति,सूत्र.२श्रु५अ.। स्था. । आचारोमोक्षार्थमनुष्ठानविशेष,इति.आचा.१अ.३उ. । आचारो ज्ञानादिविषयमनुष्ठानमिति ज्ञा.॥ आचारः श्रुतज्ञानादिविषयमनुष्ठानं कालाध्ययनादीनि भ० २ श.१उ.आचरणीये आचारे आव०॥ आचर्य्यतेगुणवित्वृद्धये इत्याचारः अष्ट.॥ आचारः साधुसमाचार इति । स्था.२ठा. आचारोलोचाऽस्नानादिसुदुक्रियारूपइतिध.१अधि.।स्था४ठा. दशा० ॥ आयारे चेव भावतेणय ॥ आचारे साधुसामाचार्य्या विषये इतिप्रश्न.सं३द्वा।आचारस्तत्परिहरणपरिष्ठापनरूपइति। स्था.७ठा॥आचारः शास्त्रविहितो व्यवहार इति। ग० ॥ आतु.। आचरणमाचारः । आचर्य्यते इति वाऽऽचारः । पूर्वपुरुषाचरिते ज्ञानाद्यासेवनविधौ, । नं.। शिष्टाचरितो ज्ञानाद्यासेवनविधिरिति । पा० ॥ ध० र. ॥ अनु० ॥ साध्वाचरितो ज्ञानाद्यासेवनविधिरिति भावार्थः । सम. ॥

आचारस्य चतुर्विधो निक्षेपः दश. ३ अ । आचारस्तुश्चतुर्धानिक्षेपः ॥ सचायं नामाचारःस्थापनाचारो द्रव्याचारो भावाचारश्च बोद्धव्य इति गाथाक्षरार्थः भावार्थं तु वक्ष्यति। तत्र नामस्थापने क्षुण्णे अतो द्रव्याचारमाह ।

नामणधावणवासण, सिक्खावणसुकरणाविरोहीणि ।
दव्वाणि जाणि लोए, दव्वायारं वियाणाहि ॥ ८६ ॥

व्या०नामनधावनवासनशिक्षापनसुकरणाविरोधीनि द्रव्याणि यानि लोके तानि द्रव्याचारं विजानीहि । अयमत्र भावार्थः । आचरणमाचारः द्रव्यस्याऽऽचारो द्रव्याचारः द्रव्यस्य यदाचरणं तेन २ प्रकारेण परिणमनमित्यर्थः । तत्र नामनमवनतिकरणमुच्यते । तत्प्रतिविविधं द्रव्यं भवति । आचारवदनाचारवच्च तत्परिणामयुक्तमयुक्तं चेत्यर्थः । तत्र तिनिशलतादि आचारवत् एरण्डाद्यनाचारवत् । एतदुक्तं भवति । तिनिशलतादि आचरितभावं तेन रूपेण परिणमति नत्वेरण्डादि । एवं सर्वत्र भावना कार्या । नवरमुदाहरणानि प्रदर्श्यन्ते । धावनं प्रति हरिद्रारक्तं वस्त्रमाचारवत् सुखेन प्रक्षालनात् कृमिरागरक्तमनाचारवत्सङ्क्रमणोऽपि रागानपगमात् वासनं प्रति कवेलुकाद्याचारवत् सुखेन पाटलाकुसुमादिभिर्वास्यमानत्वात् । वैडूर्याद्यनाचारवदशक्यत्वात् शिक्षापनं प्रत्याचारवच्छुकसारिकादि मुखेन मानुषभाषाद्यसंपादनात् अनाचारवच्छकुतादि तदनुपपत्तेः । सुकरणं प्रत्याचारवत्सुवर्णादि सुखेन तस्य कटकादिकरणात् अनाचारवद्घण्टालोहादि तत्राऽन्यस्य तथाविधस्य कर्तुमशक्यत्वादिति । अविरोधं प्रत्याचारवंति गुडदध्यादीनि रसोत्कर्षाद्युपभोगगुणाच्च अनाचारवंति तैलक्षीरादीनि विपर्ययादिति । एवंजातानि द्रव्याणि यानि लोके तान्येव तस्याचारस्य तद्द्रव्याव्यतिरेकाद्द्रव्याचारस्य च विवक्षितत्वात्तथा चरणपरिणामस्य ज्ञत्वेऽपि गुणाभावाद्द्रव्याचारं विजानीहि अवबुध्यस्वेति गाथार्थः ॥

उक्तो द्रव्याचारः सांप्रतं भावाचारमाह ॥

दंसणनाणचरित्ते, तवआयारे य विरियायारे ।
एसो भावायारो, पंचविहो होइ नायव्वो ॥ ८७ ॥

व्या० दर्शनज्ञानचारित्रादिष्वाचारशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते दर्शनाचारो ज्ञानाचारश्चारित्राचारस्तपाचारश्च वीर्याचार इति। तत्र दर्शनं सम्यग्दर्शनमुच्यते न चक्षुरादिदर्शनं तच्च क्षायोपशमिकादिरूपत्वात् भाव एव । ततश्च तदाचरणं दर्शनाचार इत्येवं शेषेष्वपि योजनीयं भावार्थं तु वक्ष्यति एष भावाचारः पंचविधो भवति ज्ञातव्य इति गाथाक्षरार्थः । दश. अ. ३ विस्तरस्तु (णाणायार) शब्दे ॥

तथाच निशीथचूर्णौ १ उ. निक्षेपोयथा ॥

जं नामियं आयारे, चउव्विहो णिक्खेवो सो इमो ॥
णामंठवणायारो,एसो खलु आयारे णिक्खेवो चउव्विहो होइ। णामणधोवणवासण, सिक्खावणसुकणविरोधाणि । गाहा ॥

नामठवणाउ गयाउ दव्वायारो दुविहो आगमओ णोआगमओ यआगमओ जाणए अणुवउत्ते णोआगमओ जाणगसरीरं भवियसरीरं जाणगभवियसरीरवइरित्तो इमो णामणधोवण गाहा णामादिपएसु आयारो भण्णइ । तेण सिद्धिमिच्छंतो य सूरी अणायारं पि पयवेति दीर्घेन्द्रस्वव्यपदेशवत् णामणं पडुच्च आयारमंतो तिणिसो अणायारमंतो एरंडो धोवणं पडुच्च

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कुसुंभरागो आयारमंतो अणायारमंतो किमिरागो । वास
णाए कवल्लुगादीणि आयारमंताणि वइरं अणायारमंतं सुक
सालहियादि । सिक्खावणं पडुच्च आयारमंताणि वायसगो-
वगादि भंगादि अणायारमंताणि सुकरणे सुवण्णं आयारमंतं
घंटालोहं अणायारमंतं । अविरोहं पडुच्च पयसक्कराणं आयारो
दहितेल्लायविरोधे अणायारमंता ॥

दव्वाणि जाणि लोए, दव्वायारं वियाणाहि ।
णाणे दंसणचरणे, तए विरिए य भावमायारो । गाहा ।

गुणपर्यायान् द्रवतीति द्रव्यं जाणन्ति अणिहिट्ठसरूवाणि
अहवा एताणि चेव जाणि भणियाणि लोक्यतेऽसाविति लोकः
दृश्यते इत्यर्थः तस्मिन् लोके आधारभूते दव्वायारं वियाणाहि
एवमनिहितानभिहितेषु द्रव्येषु द्रव्याचारो विज्ञातव्य इति
गतो दव्वायारो ॥

इयाणि भावायारो भण्णइ सोऽयं पंचविहो इमो ॥

णाणदंसणगाहट्ठं, पच्छद्धेण एएसिं पभेया गहिया ॥
अट्ठट्ठदुवालस, विरिय महाणी तु जातेसिं ७ गाहा ।

णाणायारो अट्ठविहो दंसणायारो अट्ठविहो चरित्ता-
यारो अट्ठविहो, तवायारो बारसविहो, वीरिआरो छत्तीस-
तिविहाणं, ते अ छत्तीसइ भेया एए चेव णाणादी मेलिया
भवंति । वीरिअमिति वीरिआयारो गहिओ अहाणी असीअणं
जं तेसिं णाणायाराईणं स एव वीरिआयारो भवइ ॥

आचारस्य भेदाः ॥

दुविहे आयारे पण्णत्ते तंजहा णाणायारे चेव नोणाणायारे
चेव । नाणायारे दुविहे पण्णत्ते तं जहा दंसणायारे चेव
नोदंसणायारे चेव नो दंसणायारे दुविहे पण्णत्ते तंजहा
चरित्तायारे चेव नोचरित्तायारेचेव णो चरित्ताचारे दुविहे
पण्णत्ते तं जहा तवायारे चेव वीरियायारे चेव ॥
स्था. २ ठा. ॥

सूत्रचतुष्टयं कण्ठ्यमनन्तरं । आचरणमाचारो व्यवहारो ज्ञानं
श्रुतज्ञानं तद्विषय आचारः कालादिरष्टविधो ज्ञानाचारः ॥

पंचविहे आयारे पण्णत्ते तं जहा णाणायारे दंसणायारे-
चरित्तायारे तवायारे वीरियायारे स्था. ठा. ५ ।

आचारेणैवात्मसंयमो भवति । उक्तंच । तस्यात्मा संयतो
यो हि सदाचारे रतः सदा । स एव धृतिमान् धर्मस्तस्यैव च
जिनो हितः ॥ १ ॥ इति ॥ दश१ अ. । तथा च धर्मसंग्रहे
मूलगुणेषूक्तप्रायाणामपि ज्ञानाद्याचाराणां मुख्यत्वख्यापनार्थं
तत्पालनस्य स्वातन्त्र्येणाऽभिधित्सयाऽऽह ॥

ज्ञानादिपंचाचाराणां, पालनं च यथाक्रमम् ।
गच्छवासः कुसंसर्ग, त्यागोऽर्थपदाचिंतनम्-ध० अधि. ३

आचारशुद्धौ हि सामान्यायानामपि कुलाद्युत्पत्तौ पुरुषस्य
महात्म्यमुपपद्यते । यथोक्तं । न कुलं हीनवृत्तस्य, प्रमाणमिति मे
मतिः । अन्त्येष्वपिहि जातानां, वृत्तमेव विशिष्यत, इति ॥ध०
१ अधि. ॥

आचारमाचरतः प्रशंसा यथा ॥

आयारमायरंते, एगखेत्तेवि गोयमा ! मुणिणो ।
वासमयं पि वसन्ते, गीयत्थाराहगे भणिए ॥

आचारातिक्रमे दोषो यथा ।

आयारंगं अणंतगमपज्जवेहिं पण्णविज्जमाणं समवधारि-
यं तत्थ यं छत्तिसआयारे पण्णविज्जन्ति तेसिं च णं जे
केइ साहू वा साहुणी वा अण्णयरमायारमइक्कमेज्जा से णं
गारवीहिं उवम्मेयं अहण्णहा समणुट्ठे वायरेज्जा पण्ण-
विज्जा वा तओ णं अणंतसंसारी भवेज्जा ॥ महा. १ अ. ।

॥ आचाररहितस्य कर्म्मोपादानमाचाराङ्गे यथा ।

एत्थंपि जाणे उवादीयमाणा जे आयारेण रमंति ।

एतस्मिन्नपि प्रस्तुते वायुकाये अपिशब्दात् पृथिव्यादिषु
समाश्रितमारंभं ये कुर्वंति ते उपादीयन्ते कर्मणाबध्यन्ते एक-
स्मिन् जीवनिकाये वधप्रवृत्ताशेषनिकायवधजनितेन कर्मणा
वा बध्यन्ते किमिति येनहि एकजीवनिकायविषय आरंभः
शेषजीवनिकायोपमर्दमन्तरेण कर्तुं शक्यते अतः त्वमेवं
जानीहि अनेन श्रोतुः परामर्शः पृथिव्याद्यारंभिणः शेषका-
यारंभकर्मणोपादीयमाना जानीहि के पुनःकर्मणोपादी
यन्ते इत्याह (जे आयारेत्ति) ये अविदित परमार्थाः
पंचविधे आचारे न रमन्ते न धृतिं कुर्वन्ति ॥
आचा० १ अ० ७ उ० ।

आचारस्वरूपम्महानिशीथे यथा महा । १ अ. १ उ. ।

सेभयवं ? केरिसे आयारे कयरे वा सेणं अणायारे ।
गो० आयारे अणायारे णं तप्पडिपक्खा तत्थ जेणं आ-
णापडिक्खे वसे णं एगंते ण सव्वपयारेहिं णं सव्वहा ।
वज्जणिज्जे । जे य णं णो आणापडिक्के । से णं गंतेणं
सव्वपयारेहिं णं । सव्वहा आयरणिज्जा । तहा णं गो०
जंजाणेज्जा जहा णं एस णं सावज्जं विहारेज्जा से णं
सव्वहा विवज्जेज्जा महा० ॥

आचारप्रतिपादको ग्रंथोऽप्याचारः ॥ सम० ॥ नं । आचार-
क्रियाभिधानादाचारः । आ.म०१अ. ॥ आचार आचारोपदे-
शहेतुत्वात् । दश ५ । अ. । आचाराभिधायकत्वा दाचारः । स्था-
१ ठा. । द्वादशाङ्ग्याःप्रथमेऽङ्गे, ध. र. ॥ अनु साध्वाचारप्रति-
पादको ग्रंथ आचार इति । विशे० ॥ एतद्वक्तव्यता (आयारं
ग) शब्दे । नवमपूर्वस्थ प्रत्याख्यानस्य स्वनामख्याते विंशति-
वस्तुषु तृतीये वस्तुनि च । पच्चक्खाणस्स तइयवत्थुनो आया-
रनामधेज्जो । व्य० । १ उ. । उत्पादपूर्वादीनि चतुर्दश पूर्वाणि
तत्र नवमं पूर्वप्रत्याख्याननामकं । तस्मिन् विंशतिर्वस्तूनि । व-
स्तूनि नाम अर्थाधिकार विशेषा स्तेषुविंशतौ वस्तुषु तृतीय-
माचारनामधेयं वस्त्विति व्य० । आच० १ आ ईषत् अपरि-
पूर्णा इत्यर्थस्तथा हेरिका येते । आचाराआरकल्पा इत्यर्थो
युक्तायुक्तविभागनिरूपणनिपुणा विनेया इति भ. १ श. १ उ. ।
दशा० ॥

आयारउवगच्छण आचारोपगमन न. मायाकरणरूपे योगे,
आयारोवगयशब्दे कथा । आव० ४ अ. ॥

आयारंग आचारंग ॥ न. द्वादशाङ्ग्याः प्रथमेऽङ्गे सम० ।

तदुक्तंथा आचारांगटीकायाम् । इह हि रागद्वेषमोहाद्यभि-
भूतेन सर्वेणापि संसारिजन्तुना शारीरमानसानेकदुःखोपह-
तेन तदपनयनाय हेयोपादे यपदार्थपरिज्ञाने यत्नो विधेयः । स
च न विशिष्टविवेकमृते । विशिष्टविवेकश्च न प्राप्ताशेषाति-

शायबलासोपदेशमन्तरेण आप्तश्च रागद्वेषमोहादीनां दोषाणा मात्यन्तिकप्रक्षयात् । स ऽचार्हत एवातः प्रारभ्यते ऽर्हद्वचनानुयोगः । स च चतुर्धा तद्यथा धर्मकथानुयोगो, गणितानुयोगो, । द्रव्यानुयोगश्चरणकरणानुयोगश्चेति । तत्र धर्मकथानुयोग उत्तराध्ययनादिकः गणितानुयोगः सूर्यप्रज्ञप्त्यादिकः । द्रव्यानुयोग स्सम्मत्यादिकश्चरणकरणानुयोग आचारादिकः स च प्रधानतमः शेषाणां तदर्थत्वात्तदुक्तं चरणपडिवत्ति हेउं, जे णयरे तिण्णि अणुओगत्ति तया चरणपडिवत्तिहेउं, धम्मकहा कालदिक्खमादीया । दविए दंसणसोही, दंसणसुद्धस्स चरणं तु । गणधरैरथ त एव तस्यैवादौ प्रणयनमकार्यतस्तत्प्रतिपादकआचारांगस्यानुयोगः समारभ्यते । स च परमपदप्राप्तिहेतुत्वात् सविघ्नस्तदुक्तं । " श्रेयांसि बहुविघ्नानि भवन्ति महतामपि । अश्रेयसि प्रवृत्तानां क्वापि यान्ति विनायकाः तस्मादशेषप्रत्यूहोपशमनायमङ्गलमभिधेयं तच्चादिमध्यावसानभेदात्त्रिविधं तत्रादिमङ्गलं सुयंमे आउसं तेणं भगवया एवमक्खाय " मित्यादि अत्र च भगवद्वचनानुवादो मङ्गलं अथवा श्रुतमिति श्रुतं ज्ञानं तच्च नन्दीपातित्वान्मङ्गलमित्येतच्चाविघ्नेनाभिलषितशास्त्रार्थपारगमनकारणं मध्यमङ्गलं लोकसाराध्ययनपञ्चमोद्देशकसूत्रं से जहा के वि हरए पडिपुण्णे चिट्ठइ समंसि भोम्मे उवसंतरए सारक्खमाणेत्यादि अत्र चार्हद्गुणैराचार्यगुणोत्कीर्तनमाचार्यास्च पञ्चनमस्कारान्तः पातित्वान्मङ्गलमित्येतच्चाभिलषितशास्त्रार्थस्थिरीकरणार्थं अवसानमङ्गलं नवमाध्ययने ऽवसानसूत्रं अभिनिव्वुडे अमाई आवकहाए भगवं समियासी अत्राभिनिर्वृतग्रहणं संसारमहातरुकन्दोच्छेदविप्रतिपत्त्या ध्यानकारित्वान्मङ्गलमित्येतच्च शिष्यप्रशिष्यसन्तानाव्यवच्छेदार्थं मित्यध्ययनगतसूत्रं मङ्गलत्वप्रतिपादने नैवाध्ययनानामपि मङ्गलत्वमुक्तमेवेति न प्रतन्यते सर्वमेववा मङ्गलं ज्ञानरूपत्वात्तस्य निर्जरार्थत्वेनच तस्याविप्रतिपत्तिर्यदुक्तं । (जं अन्नाणी कम्मं खवे इ बहुयाहिं वासकोडीहिं तन्नाणी तिहिं गुत्तो खवेइ ऊसासमित्तेणं) मङ्गलध्वनि रुक्तं च मां गालयत्यपनयति भवादिति मङ्गलं मासूद्गले विघ्नो गालो वा नाशः शास्त्रस्येति मङ्गल मित्यादि शेषं त्वाक्षेपपरिहारादिक मन्यतोवसेयमिति । साम्प्रतमाचारानुयोगः प्रारभ्यते आचारस्यानुयोगो ऽर्थकथनमाचारानुयोगः सूत्रादनु पश्चादर्थस्य योगोऽनुयोगः । साम्प्रतमाचाराङ्गस्योपक्रमादीनामनुयोगद्वाराणां यथायोग किञ्चिद्विभणिषु रशेषप्रत्यूहोपशमनाय मङ्गलार्थं प्रेक्षापूर्वकारिणां च प्रवृत्त्यर्थं सम्बन्धाभिधेय प्रयोजनप्रति पादिकानि युक्तिकारो गाथामाह ॥

वन्दित्तु सव्व सिद्धे, जिणेय अणु ओगदायए सव्वे ।
आयारस्स भगवओ निज्जुत्तिं कित्तयिस्सामि ॥

तत्रवन्दित्वा सर्वसिद्धान् जिनांश्चेति मङ्गलवचनं अनुयोगदायकानित्येतच्च सम्बन्धवचनमपि आचारस्येत्यभिधेयवचनं निर्युक्तिं करिष्ये इति प्रयोजन कथनमितितात्पर्यार्थः । अवयवार्थस्तु वन्दित्वेति वदि अभिवादनस्तुत्यो रित्यर्थद्वयाभिधायिधातुस्तत्राभि वादनं कायेन । स्तुतिर्वाचाऽनयोश्चमनः पूर्वकत्वात्करणत्रये णापि नमस्कार आवेदितो भवति । सितं ध्यानमेषामिति सिद्धाः प्रक्षीणाशेषकर्माणः सर्वैच ते सिद्धाश्च सर्वसिद्धाः सर्वग्रहणं तीर्थातीर्थानन्तरपरंपरादिसिद्धप्रतिपादकं तान्वन्दित्वेति सम्बन्धः सर्वत्र योज्यः । रागद्वेषजितो जिनास्तीर्थं कृतस्तानपि सर्वानतीतानागतवर्तमानसर्वक्षेत्र गतानिति अनुयोगदायिनः सुधर्मस्वामि प्रभृतयो यावदस्य भगवतो निर्युक्ति कारस्य भद्रबाहुस्वामिनश्चतुर्दशपूर्वधरस्या चार्योऽत स्तान् सर्वानित्यनेन चाम्नाय कथनेन स्वमनीषिकाव्युदासः कृतो भवति वन्दित्वेतिकृत्वा प्रत्ययस्योत्तरक्रिया सव्यपेक्षत्वात् दुत्तरक्रियामाह आचारस्य यथार्थनाम्नः भगवत इति अर्थधर्मप्रयत्नगुणभाजस्तस्यैवं विधस्य निश्चये नार्थप्रतिपादिका युक्ति र्निर्युक्ति स्तां कीर्तयिष्ये अभिधास्ये इति अन्तस्तत्वेन निष्पन्नां निर्युक्तिं बहिस्तत्वेन प्रकाश यिष्यामीत्यर्थः यथा प्रतिज्ञातमेव विभणिषु र्निक्षेपार्हाणि पदानि तावत् सुहृद्भूत्वाचार्यः संपीड्य कथयति ।

आयार अंगसुयखंध, बंभचरणे तहेव पसत्थेय ।
परिण्णाए निक्खेवो, तह दिसाणं च ॥ २ ॥

न० १ अ. १ उ. । आयारेत्यादि आचार अङ्गश्रुतस्कन्ध ब्रह्मचरण शस्त्रपरिज्ञा संज्ञा दिशा मित्येतेषां निक्षेपः । कर्तव्यइति तत्राचार ब्रह्मचरण शस्त्र परिज्ञा शब्दानां निष्पन्ने निक्षेपे ऽभ्यन्या अङ्गश्रुत स्कन्ध शब्दा ओघनिष्पन्नसंज्ञादि सूत्रा लापक निष्पन्ने निक्षेपे ऽभ्यन्या इति एतेषां मध्ये कस्य कति विधो निक्षेप इत्यत आह ॥

" चरणदिसावज्जाणं, निक्खेवो चउक्कओय नायव्वो ।
चरणंमि छव्विहो खलु, सत्तविहो होइ ओदिसाणं ॥

इ. । आचा० १ अ.१ उ० । चरणादिवर्जानां चतुर्विधो निक्षेपः चरणस्य षड्विधः दिक्शब्दस्य सप्तविधो निक्षेपः अत्र च क्षेत्रकालादिकं यथा सम्भवमायोज्यं नामादिचतुष्टयं सर्वत्राव्यभिचारि तस्यथा दर्शयितुमाह आचा० १ अ० १ उ० ।

जत्थ य जं जाणेज्जा, निक्खेवं निक्खिवे निरवसेसं ।
जत्थवि न जाणेज्जा, चउक्कयं निक्खिवे तत्थ ॥

जत्थयजमित्यादि यत्र चरणदिक्शब्दादौ यं निक्षेपं क्षेत्रकालादिकं जानीयात् तत्र निरवशेषं निक्षिपेद्यत्र तु निरवशेषं न जानीयादाचाराङ्गादौ तत्रापि नामस्थापना द्रव्यभावचतुष्कात्मकं निक्षेपं निक्षिपेदित्युपदेश इति गाथार्थः । प्रदेशान्तरप्रसिद्धस्यार्थस्य लाघवमिच्छता निर्युक्तिकारेण गाथाभ्यधायि ।

आयारे अंगंमि य, पुव्व दिट्ठो चउक्कनिक्खेवो ।
नवरं पुण नाणत्तं, भावायारंमि तं वोच्छं ॥ ५ ॥

आयारे इत्यादि क्षुल्लिकाचारकथायामाचारस्य पूर्वोद्दिष्टो निक्षेपोयस्य तु चतुरङ्गाध्ययनं यश्चात्र विशेषः सोभिधीयते भावाचारविषय इति ॥

यथा प्रतिज्ञातमाह ॥

तस्सेगट्ठं पवत्तण, पढमंगगणी तहेव परिमाणे ।
समोयारे सारेय, सत्तहिं दारेहिं नाणत्तं ॥

तस्येत्यादि गाथा तस्य भावाचारस्य एकार्थाभिधायिनो वाच्या केन प्रकारेण प्रवृत्तिः प्रवर्तनमाचारस्याभूत्तच्च वाच्यं तथा प्रथमाङ्गता च वाच्या तथागणयाचार्यस्तस्य कतिविधं स्थानमिदमिति च वाच्यं परिमाणमियत्ता वाच्या तथा कि क्व समवतारस्येतीत्येतच्चवाच्यं तथा सारश्च वाच्य इत्येभि र्द्वारैः पूर्वस्माद्भावाचारादस्य भेदो नानात्वमिति पिण्डार्थः । अवयवार्थस्तु निर्युक्तिकृदेवाभिधातुमाह ।

आयारो आचालो आगालो आगरो य आसंसो ।
आगरिसो अंगं चिय आइन्ना जाइया मोक्खो ॥

आचा० १ अ० १ उ० । आचर्यते आसेव्यत इत्याचारः स च नामादि चतुर्धा तत्र ज्ञशरीरं भव्यशरीरं तद्व्यतिरिक्तो द्रव्याचारो ऽनया गाथयानुसर्तव्यः " णामणधोयणवासण सिक्खावणसुकरणाविरोहीणि दव्वाणि जाणि लोए दव्वायार वियाणाहि " भावाचारो द्विधा लौकिको लोकोत्तरश्च तत्र लौकिकाः पार्श्विकादयः पञ्चरात्रादिकं येकुर्वन्ति ते विज्ञेयाः लोकोत्तरस्तु पञ्चधा ज्ञानादिकः आचारशब्दे दर्शितः एवं पञ्चविध आचार एतत्प्रतिपादकश्चायमेव ग्रन्थविशेषो भावाचारः । एवं सर्वत्र योज्यम् । इदानीमाचालः आचाल्यते ऽनेनेति निबिडं कर्मादीत्याचालः सोपि चतुर्धा व्यतिरिक्तो वायुः भावाचालः स्वयमेव ज्ञानादिः पञ्चधा इदानीमागालः आगलनमागालः समप्रदेशावस्थानं सोपि चतुर्धा व्यतिरिक्त उदकादेर्निम्नप्रदेशावस्थानं भावागालो ज्ञानादिक एकस्यात्मनि रागादिरहिते ऽवस्थानमिति कृत्वा । इदानीमाकारः आगत्य तस्मिन् कुर्वन्तीत्याकारो नामादि सूत्रव्यतिरिक्तो रजतादि भावाकारोऽयमेव ज्ञानादिस्तत्प्रतिपादकश्चायमेवग्रन्थो निर्जरादिरत्नानामवभासनात् । इदानीमाश्वास आश्वसंत्यस्मिन्नित्याश्वासो नामादिसूत्रव्यतिरिक्तो यानपात्रद्वीपादिर्भावश्वासो ज्ञानादिरेव । इदानीमादर्शः आदृश्यते अस्मिन्नित्यादर्शो नामादिव्यतिरिक्तो दर्पणं भावादर्श उक्त एवं यतोऽस्मिन्निति कर्तव्यता दृश्यते । इदानीमंगं अज्यते व्यक्तीक्रियते ऽस्मिन्नित्यंगं नामाद्येव सूत्रव्यतिरिक्तं शिरोबाह्वादि भावांगमेवाचारः । इदानीमाचीर्णं मासेवितं तच्च नामादि षोढा तत्र व्यतिरिक्तं द्रव्याचीर्णं सिंहादेस्तृणादिपरिहारेण पिशितभक्षणं क्षेत्राचीर्णं बाल्हीकेषुसक्तवः कौंकणेषुपेयाः कालाचीर्णं त्विदं ।

सरसीचन्दणपंको, अग्घइ सरसा य गन्धकासादी ।
पाडलिसिरीस मल्लिय, पियाइं काले निदाहम्मि ॥

भावाचीर्णन्तु ज्ञानादि पञ्चकं तत्प्रतिपादकश्चाचारग्रन्थः । इदानीमाजातिराजायन्ते तस्यामित्याजातिः सापि चतुर्धा व्यतिरिक्ता मनुष्यादिजातिः भावाजातिस्तु ज्ञानाद्याचार प्रसूतिरयमेव ग्रन्थ इति । इदानीमामोक्ष आमुच्यन्ते ऽस्मिन्नित्यामोक्षं वा मोक्षो नामादि स्तत्र व्यतिरिक्तो निगडादेः भावामोक्षाकगंगिको ह्येनमशेषमेतत् साधकश्चायमेवाचार इति एते किञ्चिद्विशेषादेकमेवार्थं विशेषन्तः प्रवर्तन्त इत्येकार्थिकाः शक्रपुरन्दरादिवत् एकार्थाभिधायिनां च छन्द श्चेति बन्धानुलोम्यादि प्रतिपत्यर्थमुद्घट्टनं उक्तं च ॥

बन्धाणुलोमया खलु, सत्थंमि य लाघवं असम्मोहो ।
सन्तगुणदीयरागे, त्रिय एगहं गुणाहवन्ते ॥

स इदानीं प्रवर्तनाद्वारं कदा पुनर्भगवताचारः प्रणीत इत्यत आह ॥

दारं सव्वेसिं आयारो, तित्थस्स पत्तणो पढमयाए ।
सेसाइं अंगाइं, एकारस आणुपुव्वीए ॥

आ. १ अ. १ उ. सव्वेसिमित्यादि सर्वेषां तीर्थकराणां तीर्थप्रवृत्यादा वाचारार्थं प्रथमतया भूद्भवति भविष्यति च ततः शेषांगार्थ इति गणधरा अप्यनयैवानुपूर्व्या सूत्रतया ग्रन्थन्तीति इदानीं प्रथमत्वे हेतुमाह ॥

आयारो अंगाणं, पढमं अंगं दुवालसण्हंपि ।
एत्थ य मोक्खो वा ओ, एस य सारो पवयणस्स ॥

अयमाचारो द्वादशानाम प्यङ्गानां प्रथम मङ्गमेतस्य कारण माह । यतोत्र मोक्षोपायश्चरण करणं निगद्यते एषच प्रवचनस्य सारं प्रधानं मोक्षहेतुप्रतिपादना दत्र च स्थितस्य शेषांगाध्ययनयोग्यत्वादस्य प्रथमतयोपन्यास इति । इदानीं गणि द्वारंसाधुर्वा गणिगुणगणो वा गणः सोऽस्यास्तीति गणी आचारायत्तं च गणित्वमिति प्रदर्शयन्नाह ॥ आ. १ अ. १ उ. ।

आयारंमि अहीए, जं नाउ होई समणधम्मो उ ।
तम्हा आयारधरो, वुच्चइ पढमं गणि ट्ठाणं ॥ १० ॥

(आयारम्मीत्यादि) यस्मादाचाराध्ययनात् क्षांत्यादिकश्चरण करणात्मको वा श्रमण धर्मपरिज्ञातो भवति तस्मात्सर्वेषां गणित्वकारणा नामाचारधरत्वं प्रथममाद्यं प्रधानं वा गणिस्थान मिति ।

इदानीं परिमाणं कि पुनरस्याध्ययनतः पदतश्च परिमाण मित्यत आह ।

नव बंभचेरमइओ, अट्ठारस पदसहस्सिओ वेउ ।
हवय स पञ्च चूलो, बहु बहुतर ओ पयग्गेणं ॥

१ । अ. १ उ. । (णवेत्यादि) तत्राध्ययनतो नवब्रह्मचर्याभिधानाध्ययनात्मको वेद इति विदन्त्यस्माद्धेयोपादेय पदार्थानिति वेदः क्षायोपशमिकभाववर्त्ययमाचारः सह पञ्च भिश्चूडाभि र्वर्तत इति स पञ्चचूड श्चभवति । उक्त शेषानुवादिनी चूडा तत्र प्रथम पिंडे सण सेज्जरिया भासज्जायवत्थया एसा उग्गह पडिमात्ति । सप्ताध्ययनात्मिका द्वितीया सत्तसत्तिकया तृतीया भावना चतुर्थी विमुक्तिः पञ्चमी निशीथाध्ययनं बहुबहुयरो (पदग्गेणंति) तत्र चतुश्चूलिकात्मक द्वितीयश्रुतस्कन्धप्रक्षेपाद्बहुः निशीथ पञ्चमचूडिका प्रक्षेपा द्बहुतरोऽनन्तगमं पर्यायात्मकविवक्षया बहुतमश्च पदाग्रेण प्रमाणेन भवतीति इदानी मुपक्रमांतर्गत समवतारद्वारं । तत्रताश्चूडानवसु ब्रह्मचर्याध्ययनेष्ववतरन्तीति दर्शयितुमाह ॥

आयारगाणत्थो, बंभचेरेसु सो समोयरइ ।
सो वि य सत्थपरिण्णाए, पिंडियत्थो समोयरइ ॥ ११ ॥
सत्थपरिण्णायत्थो, छस्सु, वि काएसु समोयरइ ॥
छज्जीवणिया अत्थो, पंच, सु विवएसु उ यरइ ॥ १३ ॥
पंचय महव्वयाइ, समोयरंतेउ सव्व दव्वे सु ॥
सव्वेसिं पज्जवाणं, अणन्तभागंमि उयंइति ॥ १४ ॥

इति । १ अ० उ० १ आयारे इत्यादि । सत्थे इत्यादि । पंचेइत्यादि । उत्तानार्था नवरमाचाराग्राणि चूलिकाः द्रव्याणि धर्मास्तिकायादीनि पर्याया अगुरुलघ्वादय स्तेषामनन्तभागे व्रतानामवतार इति ॥ कथं पुनर्महाव्रतानां सर्वद्रव्येष्ववतार इति तदाह ॥

छज्जीवणिया पढमे, बयंमिचरमे विति एय सव्वदव्वाइं ।
से सा महव्वया खलु, ते दिक्कदेसेण दव्वाणं ॥ १५ ॥

छज्जीवणिया इत्यादि । स्पष्टा कथं पुनर्व्रतानां सर्वद्रव्येष्ववतारो न सर्वपर्यायेष्वित्युच्यते येनाभिप्रायेण चोदितया स

Jain Education International　　For Private & Personal Use Only　　www.jainelibrary.org

सर्वाकाशप्रदेशासंख्याया अनन्तगुणं सर्वनमः प्रदेशवर्गीकृतप्रमाणमित्यर्थः । ततोद्वितीयादिस्थानैरसंख्यातगच्छगतै रनंतभागादिकया वृद्ध्या षट्स्थानकानामसंख्येयस्थानगता श्रेणिर्भवति एवंचैकमपि स्थानं सर्वपर्यायान्वितं न शक्यते परिच्छेत्तुं किं पुनः सर्वाण्यपीत्यतः केऽन्ये पर्याया येषामनन्तभागे वर्तन्ते चारित्रपर्यायाः स्यान्मतिरन्ये केवलगम्या इतीदमुक्तं भवति केवलगम्या प्रज्ञापनीयपर्यायाणामपि तत्र प्रक्षेपाद्बहुत्वमेवमपि ज्ञानज्ञेययोस्तुल्यत्वात्तुल्या एव नानन्तगुणा इति- अत्राचार्याह । यासौ संयमस्थानश्रेणिर्निरूपिता सा सर्वाचारित्रपर्यायैर्ज्ञाने दर्शनपर्यायसहिते तत्प्रमाणा सर्वाकाशप्रदेशानन्तगुणा इह पुनश्चारित्रमात्रोपयोगित्वा त्पर्याया नन्तभागवृत्तित्व मित्यदोषः

इदानीं सारद्वारं कः कस्यसार इत्याह ॥

अंगाणं किं सारो, आयारो तस्स किं हवइ सारो ।
अणुओगत्थो सारो, तस्सवि य परूवणासारो ॥ १६ ॥
सारोपरूवणाए, चरणं तस्स वि य होइ निव्वाणं ॥
निव्वाणस्स उ सारो, अव्वाबाहं जिणो वेंति ॥

आ. १ अ. १ उ. ॥ अंगाणमित्यादि स्पष्टा केवलमनुयोगार्थो व्याख्यानभूतोऽर्थस्तस्य प्ररूपणा यथा स्वविनियोग इति । अन्यच्च सारो इत्यादि स्पष्टैव । एतेषांचान्वर्थाभिधानानि दर्शयितुमाह ॥

सत्थपरिण्णा लोग, विजओ य सीउसणिज्जसम्मत्तं ॥
तह लोगसारनामं, धुत्तं तह महापरिण्णा य ॥ ३१ ॥
अट्ठमए य विमोक्खा, उवहाण सुयं च नवमगं भणियं ।
इच्चेसो आयारो, आयारग्गाणि सेसाणि ॥ ३२ ॥

सत्थ इत्यादि अट्ठमए इत्यादि स्पष्टे केवलमित्येष नवाध्ययनरूप आचारो द्वितीयश्रुतस्कन्धाध्ययनानि शेषाण्याचाराग्राणीति साम्प्रतमुपक्रमान्तर्गतोर्थाधिकारो द्वेधा अध्ययनार्थाधिकार उद्देशार्थाधिकारश्च तत्राद्यमाह ॥

जियसंजमो य लोगो, जह बज्झइ जह य तंपजहियव्वं ।
सुहदुक्खतितिक्खा वि य, संमत्तं लोगसारो य ॥ ३३ ॥
निस्संगया य छट्ठे, मोहसमुत्था परीसहोवसग्गा ।
निज्जाणंअट्ठमए नवमेय जिणेण पयंति ॥ ३४ ॥

जिअइत्यादि णिस्संग इत्यादि तत्र शास्त्र परिज्ञाया मयमर्याधिकारो (जिय संजमोत्ति) जीवेषुसंयमा जीवसंयमास्तेषु हिंसादिपरिहारः स च जीवास्तित्वपरिज्ञाने सति भवत्यतो जीवास्तित्व विरति प्रतिपादनमत्रार्थाधिकारलोकविजये तु लोको जहबज्झइ जहायत्तं पजहियव्वं ति विजितभावलोकेन संयमस्थितेन लोको यथा बध्यते अष्टविधेन कर्मणा यथा च तत्प्रहातव्यं तथा ज्ञातव्य मित्ययमर्याधिकार स्तृतीये त्वयं संयमस्थितेन जितकषायेणानु कूलप्रतिकूलोपसर्गनिपातेसुखदुःखः तितिक्षावि धेयेति । चतुर्थे त्वयं प्राक्तनाध्य यनार्थसम्पन्नेन तापसादिकष्टतपः सेविनामष्टगुणै श्वर्यमुद्वीक्ष्यापि दृढसम्यक्त्वेन भवितव्यमिति पंचमे त्वयं चतुरध्ययनार्थस्थितेनासारपरित्यागेन लोकसार रत्नत्रयो युक्तेन भाव्यमिति । षष्ठे त्वयं प्रागुक्तगुणयुक्तेन निस्संगता युक्तेनाप्रतिबद्धेन भवितव्यं । सप्तमेत्वयं संयमादि गुणयुक्तस्य कदाचिन्मोह समुत्थाः परिषहोपसर्गावा । प्रादुर्भवेयुस्ते सम्यक् सोढव्याः । अष्टमे त्वयं निर्याणमंत क्रिया सा सर्वगुणयुक्तेन सम्यग्विधेयेति । नवमेयं अध्ययनप्रतिपादितोऽर्थस्समग्रोऽवम् वर्धमानस्वामिना विहित इति तत्प्रदर्शनं च शेषसाधूनामुत्साहार्थं । तदुक्तम

तित्थयरो च उणाणी, सुरमहिओसि सिज्झियव्वय
धुवंमि । अणिगूहियबलविरिओ, सव्वत्थाने सुउज्जमइ ॥
किं पुण अवसेसे हिं दुक्खक्खयकारणा सुविहिएहिं । होति न उज्जमियव्वं स पच्चवायंमि माणुस्से आचा. १ अ० १ उ. ॥

तथा च समवायांगे आचारस्य श्रुतस्कंधद्वय रूपस्य प्रथमांगस्य चूलिका सर्वान्तिममध्ययन विमुक्तयाभिधान माचारचूलिका तद्वर्जानां तत्राचारे प्रथम श्रुतस्कंधे नवाध्ययनानि द्वितीये षोडशनिशीथाध्ययनस्य प्रस्थानान्तरत्वेनेहानाश्रयणात् । षोडशानां मध्ये एकस्या चार चूलिकेति परिहृतत्वात् शेषाणां पञ्चदश सम० ॥ ५७ स ॥

आयारस्स णं भगवओ सचूलिआयगस्स पणवीसं अज्झयणा प० तं० सत्थपरिण्णा लोगविजओ सीओसणीअसम्मत्तं । आवन्ति धुयविमोहउवहाणसुयं महपरिण्णा ॥ १ ॥ पिंडेसणसिज्जिरिआ, भासज्झयणा य वत्थपएसा । उग्गहपडिमा सत्तिकसत्तया भावणविमुत्ती ॥ २ ॥ निसीहज्झयणं पण वीस इमं ॥

सम० ॥ २५ ॥ आयारस्स णं भगवओ सचूलियागस्स पंचासीइउद्देसणकाला प० टी० तत्राचारस्य प्रथमांगस्य नवाध्ययनात्मकप्रथमश्रुतस्कन्धरूपस्य सचूलियागस्स इति द्वितीये हि तस्य श्रुतस्कन्धे पञ्चचूलिकास्तासु च पञ्चमी निशीथाख्येहन गृह्यते भिन्नप्रस्थानरूपत्वात् तस्यास्तदन्याश्चतस्त्रस्तासुच प्रथमद्वितीये सप्तसप्ताध्ययनात्मिके तृतीयचतुर्थ्यौ चैकैकाध्ययनात्मिके तदेवं सह चूलिकाभिर्वर्तत इति सचूलिकाकस्तस्य पञ्चाशीतिरुद्देशनकाला भवंतीति प्रत्यध्ययनं उद्देशनकालानामेतावत्संख्यत्वात्तथाहि प्रथमश्रुतस्कन्धे नवस्वध्ययनेषु क्रमेण सप्तषट् चत्वारश्चत्वारः षट् पञ्च अष्टचत्वारः सप्त चेति द्वितीयश्रुतस्कन्धेषु तु प्रथमचूलिकायां सप्तस्वध्ययनेषु क्रमेण एकादश त्रयस्त्रयः चतुर्षु द्वौ द्वौ द्वितीयायां सप्तैकसराणि अध्ययनानि एवं तृतीयैकाध्ययनात्मिका एवं चतुर्थ्यपीति सर्वमीलने पञ्चाशीतिरिति तथाचनन्द्यध्ययने ॥

सेकिंतं आयारे आयारे णं समणाणं निग्गंथाणं आयारे गोयरविणयवेणइयसिक्खाभासा अभासा चरणकरणजायामायावित्तीओ आघविज्जंति । से समासओ पञ्चविहे पणत्ते तं जहा नाणायारे दंसणायारे चरित्तायारे तवायारे वीरियायारे आयारेणं परित्ता वायणा संखिज्जा अणुओगदारा संखिज्जा वेढा संखिज्जा सिलोगा संखिज्जाओ निज्जुत्तीओ संखिज्जाओ पडिवत्तीओ स णं अंगट्ठयाए पढमे अंगे दो सुयखंधा पणवीसं अज्झयणा पञ्चासीइं उद्देसणकाला पञ्चासीइं समुद्देसणकाला अट्ठारस पयसहस्साणि पयग्गेणं संखिज्जा अक्खरा अणंतागमा अणंतापज्जवा परित्ता तसा अणंता थावरा सासयकडनिबद्धनिकाइया जिण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पन्नता भावा आघविज्जंति पन्नविज्जन्ति परूविज्जंति दंसिज्जन्ति निदंसिज्जंति उवदंसिज्जंति । से एवं आयासे एवं नायासे एवं विन्नाया एवं चरणकरणपरूवणा आघविज्जइ सेत्तं आयारे ॥

सेकिंतमित्यादि । अथ किं तत् आचार इत्यादि अथवा कोऽय माचारः आचार्य आह (आयारेण मित्यादि) आचरणमाचारः माचर्यते इति वा आचारः पूर्वपुरुषाचरितो ज्ञानाद्यासेवन विधिरित्यर्थः । तत्प्रतिपादको ग्रंथो ऽप्याचार एव उच्यते अनेन चाचारेण करणभूतेनाथवाचारे आचारभूते णमिति वाक्यालंकारे श्रमणानां प्राङ्‌निरूपित शब्दार्थानां निर्ग्रन्थानां बाह्याभ्यन्तर ग्रंथरहितानां आह । श्रमणा निर्ग्रन्था एव भवंति । तत्किमर्थं निर्ग्रन्थानामिति विशेषणमुच्यते । शाक्यादिव्यवच्छेदार्थं शाक्यादयोऽपीह लोके श्रमणा व्यपदिश्यंते तदुक्तं (निग्गन्थसक्कतावसगेरुअआजीवपञ्चहा समणा इति) तेषामाचारा व्याख्यायंते । तत्राऽऽचारो ज्ञानाऽऽचाराद्यनेकभेदभिन्नो गोचरो भिक्षाग्रहणविधिलक्षणः विनयो ज्ञानादि विनयः वैनयिकं विनयफलं कर्मक्षयादि । शिक्षाग्रहणं शिक्षा आसेवनशिक्षा च विनयशिक्षेति चूर्णिकृत् । तत्र विनेयाः शिष्यास्तथा भाषा सत्या असत्या मृषा च अभाषा मृषा सत्यामृषा च चरणं व्रतादिकरणं पिण्डविशुद्ध्यादि उक्तञ्च (वयसमणधम्मसंजम, वेयावच्चं च बंभगुत्तिओ ।नाणा इति यतव कोह,निग्गहाई चरणमेयं तु ॥ १ ॥ पिंडविसोहि समिई, भावणपडिमा इंदियनिरोहो । पडिलेहणगुत्तीओ । अभिग्गहो चेव करणं तु ॥ २ ॥ (जाया माया वित्तिओत्ति) यात्रा संयमयात्रा मात्रा तदर्थमेव परिमिताहारग्रहणं वृत्तिर्विविधैरभिग्रहविशेषैर्वर्तनं । आचारश्च गोचरश्चेत्यादि द्वन्द्वः आचारगोचरविनयवैनयिकशिक्षाभाषाणा माचरणकरणयात्रामात्रावृत्तयः आख्यायंते इह यत्र क्वचिदन्यतरोपादानेऽन्यतरगतार्थाभिधानं तत्सर्वं तत्प्राधान्यख्यापनार्थमवसेयं (से समासओ) इत्यादि स आचारः समासतः संक्षेपतः पंचविधः प्रज्ञप्तः तद्यथा (नाणाचारो इत्यादि तत्र आयारेण मित्यादि आचारे णमिति वाक्यालंकारे परित्ता परिमिता ततः प्रज्ञापकं पाठकं चाधिकृत्याद्यन्तोपलब्धेरथवा उत्सर्पिणीमवसर्पिणीं वा प्रतीत्य परित्ता अनन्ता न भवति (आइअन्तो पडुच्चणाओ तणाओ अहवा ओसप्पिणी मुसप्पिणीकाले पडुच्च परित्तातीयाणागयसव्वद्धं च पडुच्च अणंता)इति तथा संख्येयानि अनुयोगद्वाराणि उपक्रमादीनि तानि ह्यध्ययनमध्ययनं प्रति वर्तते अध्ययनानि च संख्येयानीति कृत्वा तथा संख्येया वेढा वेढो नाम छन्दोविशेषः । तथाच संख्येयाः श्लोकाः प्रतीताः तथा संख्येया निर्युक्तयस्तथा संख्येयाः प्रतिपत्तयः प्रतिपत्तयो नाम द्रव्यादिपदार्थाभ्युपगमाः प्रतिमाद्यभिग्रहविशेषा वा ताः सूत्रनिबद्धाः संख्येयाः ।आह च चूर्णिकृत् । "दव्वाइपयत्थपुव्वगमा, पडिमादभिग्गह विसेसा । पडिवत्ती उत्ते समासतो सुत्तपडिबद्धासंखेज्जत्ति " (सेणमित्यादि) स आचारो णमिति वाक्यालंकारे अंगार्थतया अंगार्थत्वेनार्थग्रहणं परलोकचिन्तायां सूत्रादर्थस्य गरीयस्त्वख्यापनार्थं अथवा सूत्रार्थोभयरूप आचार इति ख्यापनार्थं प्रथममंगं एकारांतता सर्वत्र मागधभाषालक्षणानुसरणतो वेदितव्या स्थापनामधिकृत्य प्रथममंग मित्यर्थः ॥ तथा द्वौ श्रुतस्कन्धौ अध्ययनसमुदायरूपौ पञ्चविंशतिरध्ययनानि । तद्यथा ॥

सत्थपरिन्ना लोगविजओ, सीओसणिज्जं सम्मत्तं ।
आवंतिधुय विमोहो, महापरिन्नोवहाणसुयं ॥

एतानि नवाध्ययनानि प्रथमश्रुतस्कंधे "पिंडेसणासेज्जिरिया, भासज्जाया य वत्थपायसा।उग्गहपडिमासत्ता,सत्तिक्कया यभावणविमुत्ती ॥ १ ॥ अत्र (सेज्जिरियत्ति) शय्याध्ययनमीर्याध्ययनं च (वत्थपायसत्ति) वस्त्रैषणाध्ययनं पात्रैषणाध्ययनं च अमूनि षोडशाध्ययनानि द्वितीयश्रुतस्कन्धे एव मेतानि निशीथवर्जानि पंचविंशतिरध्ययनानि भवंति । तथा पञ्चाशीतिरुद्देशनकालाः कथमिति चेदुच्यते ॥ इहाऽङ्गस्य श्रुतस्कन्धस्याध्ययनस्योद्देशकस्य चैक एवोद्देशनकालः । एवं शस्त्रपरिज्ञायां सप्तोद्देशनकालाः ॥ लोकविजये षट् ॥ शीतोष्णाध्ययने चत्वारः ॥ सम्यक्त्वाध्ययने चत्वारः लोकसाराध्ययने षट् ॥ धूताध्ययने पञ्च ॥ विमोहाध्ययनेऽष्टौ ॥ महापरिज्ञायां सप्त ॥ उपधानश्रुते चत्वारः ॥ पिण्डैषणाध्ययने एकादश ॥ शय्यैषणाध्ययने त्रयः ॥ वस्त्रैषणाध्ययने द्वौ ॥ अवग्रहप्रतिमाध्ययने द्वौ ॥ सप्तसप्ततिकाध्ययनेषु भावनायामेको विमुक्तावेकश्च ॥ एवमेते सर्वेऽपि पिण्डिताः पञ्चाशीतिर्भवन्ति ॥ अत्र संग्रहगाथा ॥

सत्त य छच्च उ चउरो, पंचअट्ठेवसत्तचउरोय ।
एक्कारसतिन्नि य दो दो, दो दो दो सत्तेक एको य ॥१ ॥

एवं समुद्देशनकाला अपि पञ्चाशीतिर्भावनीयाः । तथा पदाग्रेण पदपरिमाणे नाष्टादश पदसहस्राणि इह यथार्थोपलब्धिः तत्पदं अत्र पर आह । यद्याचारे द्वौ श्रुतस्कन्धौ पञ्चविंशतिरध्ययनानि पदाग्रेण चाष्टादश पदसहस्राणि तर्हि यद्भणितं " नव बंभचेरमइओ अट्ठारसपयसहस्सिओवेओ " इति तद्विरुध्यते । अत्र हि नवब्रह्मचर्याध्ययनमात्र एवाष्टादशपदसहस्रप्रमाण आचार उक्तोऽस्मिंस्त्वध्ययने श्रुतस्कन्धद्वयात्मकः पञ्चविंशत्यध्ययनरूपोऽष्टादशपदसहस्रप्रमाण इति । ततः कथं न परस्परं विरोधः तदयुक्तमभिप्रायापरिज्ञानात् इह द्वौ श्रुतस्कन्धौ पञ्चविंशतिरध्ययनानि एतत्समग्रस्याऽऽचारस्य परिमाणं अष्टादशपदसहस्राणि पुनः प्रथमश्रुतस्कन्धस्य नवब्रह्मचर्याध्ययनमयस्य विधिवादार्थनिबद्धानि हि सूत्राणि भवन्ति अतएव चैषां सम्यगर्थावगमो गुरूपदेशतो भवति नान्यथा अत्राह चूर्णिकृत्" दोसुयक्खन्धा पणवीसं अज्झयणाणि एयं आयारग्ग सहियस्स आयारस्स पमाणं भणियं अट्ठारसपयसहस्सा पुण पढमसुयखंधस्स नवबंभचेरमइयस्स पमाणं विचित्त अत्थनिबद्धाणि सुत्ताणि य. गुरूवएस ओसिं अत्थो जाणियव्वोत्ति,,तथा संख्येयान्यक्षराणि पदानां संख्येयत्वात् तथा (अणंता गमा) इति इह गमा अर्थगमा गृह्यंते । अर्थगमा नाम अर्थपरिच्छेदाः ते चानन्ताः एकस्मादेव सूत्रादतिशायि मतिमेधादिगुणानां तत्तद्धर्मविशिष्टानां तत्तद्धर्मात्मकवस्तुप्रतिपत्तिभावात् ॥ एतच्च टीकाकृतो व्याख्यानं ॥ चूर्णिकृत् पुनराह ॥ अभिधानाभिधेयवशतो गमा भवंति ते चानन्ताः अनेन च प्रकारेण वेदितव्याः । तद्यथा। सुयं मे आउसंतेणं भगवता एव मक्खायंति,, इदञ्च सुधर्मस्वामी जम्बूस्वामिनं प्रत्याह तत्रायमर्थः श्रुतं मया हे आयुष्मन् ! तेन भगवता वर्द्धमानस्वामिना एवमाख्यातं अथवा श्रुतं मया आयुष्मदंते आयुष्मतो भगवतो वर्द्धमानस्य स्वामिनोऽन्ते समीपे णमिति वाक्यालंकारे तथाच भगवता एवमा-

ख्यातं। अथवा श्रुतं मया आयुष्मतोऽथवा श्रुतं मया भगवत्पादारविंदयुगलमामृशता। अथवा श्रुतं मया गुरुकुलवासमावसता। अथवा श्रुतं मया हे आयुष्मन्! (तेणंति) प्रथमार्थे तृतीया तत् भगवता एवमाख्यातं। अथवा श्रुतं मया हे आयुष्मन्! (तेणंति) तदा भगवता एवमाख्यातं। अथवा श्रुतं मया हे आयुष्मन्! (तेणंति) तत्र षट् जीवनिकायविषये तत्र वा विवक्षितेन समवसरणे स्थितेन भगवता एवमाख्यातं अथ वा श्रुतं मया हे आयुष्मन्! वर्तते यतस्तेन भगवता एवमाख्यातं एवमादयस्तं तमर्थमधिकृत्य गमा भवंति। अभिधानवशातः पुनरेवं गमाः "सुयं मे आउसं आउस सुयं मे मे सुयं,, आउसमित्येवमर्थभेदे तया तथा पदानां संयोजनतोऽभिधानतो गमा भवन्ति एवमादयः किल अनंता गमा भवंति। तया अनन्ताः पर्यायास्ते च स्वपरभेदाभिन्नाः अक्षरार्थगोचरा वेदितव्याः तथा परीताः परिमितास्त्रसा द्वीन्द्रियादयः स्थावरा अनन्ता वनस्पतिकायादयः (सासयकडनिबद्धनिकाइयत्ति) शास्वता धर्मास्तिकायादयः कृताः प्रयोगविस्रसा जन्याः घटसन्ध्याभ्ररागादयः। एते सर्वेऽपि प्रसादयो निबद्धाः सूत्रे स्वरूपतः उक्ताः। निकाचिता निर्युक्तिसंग्रहणिहेतूदाहरणादिभिरनेकधा व्यवस्थापिता जिनप्रज्ञप्ता भावाः पदार्था आख्यायंते सामान्यरूपतया विशेषरूपतया वा कथ्यन्ते प्रज्ञाप्यन्ते नामादिभेदोपन्यासेन प्ररूप्यन्ते प्ररूप्यन्ते नामादीनामेव भेदानां सप्रपञ्चं स्वरूपकथनेन पृथग्विभक्ताः स्थाप्यन्ते दर्श्यन्ते उपमाप्रदर्शनेन यथा गौरिव गवय इत्यादि निदर्श्यंते हेतुदृष्टान्तोपदर्शनेनोपदर्श्यन्ते निगमनेन शिष्यबुद्धौ निश्शंकं व्यवस्थाप्यन्ते साम्प्रतमाचाराङ्गग्रहणे फलं प्रतिपादयति स एवमित्यादि स इति आचारांगग्राहकोऽभिसम्बध्यते एवमात्मा एवंरूपो भवति॥ अयमत्र भावः अस्मिन्नाचारांगे भावतः सम्यगधीते सति तदुक्तक्रियानुष्ठानानुपरिपालनात्साक्षान्मूर्त इवाचारो भवति। आह च टीकाकृत्। तदुक्तक्रियापरिणामाव्यतिरेकात्स एवाचारो भवतीत्यर्थः। इति तदेवं क्रियामधिकृत्योक्तं संप्रति ज्ञानमधिकृत्याह (एवं नायत्ति) यथाआचारांगे निबद्धा भावास्तथा तेषां भावानां ज्ञाता भवति तथा (एवं विन्नायत्ति) यथा निर्युक्तिसंग्रहणीहेतूदाहरणादिभिर्विविधं प्ररूपितास्तथा विविधं ज्ञातारो भवंति एवं चरणकरणप्ररूपणा आचार आख्यायत सत्तं आयारोत्ति॥ नं०॥ सेकिंतं आयारे आयारेणं समणाणं निग्गंथाणं आयारगोयरविणयवेणइयठाणगमणचंकमणपमाणजोगजुंजणभासा समितिगुत्तीसेज्जो वहिभत्तपाणउग्गमउप्पायणएसणाविसोहि सुद्धासुद्धग्गहणवयणियमतवोवहाणसुप्पसत्थामाहिज्जइ से समासओ पञ्चविहो पं० तं० णाणायारे, दंसणायारे, चरित्तायारे, तवायारे, आयारस्स णं परित्तावायणा संखेज्जा अणुओगदारा संखेज्जाओ पडिवत्तीओ संखेज्जा वेढा संखेज्जा सिलोगा संखेज्जाओ निज्जुत्तीओ से णं अंगट्ठयाए पढमे अंगे दो सुयक्खंधा पणवीसं अज्झयणा पञ्चासीइं उद्देसणकाला पञ्चासी समुद्देसणकाला अट्ठारस पदसहस्साइं पदग्गेणं संखेज्जा अक्खरा अणंतागमा अणंता पज्जवा परित्ता तसा अणंता थावरा सासया कडानिबद्धा णिकाइया जिणपण्णत्ता भावा आघविज्जंति पण्णविज्जंति परूविज्जंति नंदिस्संति उवदंसिज्जा से एवं णाए एवं विण्णाए एवं चरणकरणपरूवणया आघविज्जंति पण्णविज्जंति नन्दिसिज्जंति उवदंसिज्जंति सेत्तं आयारो॥ सम०१२ स.। आचाराङ्गस्य व्यवच्छेदकालश्च॥ विमलमुणिम्मि मरंते, हरितगोत्तम्मि होतिवीसाए॥ वरिसाणसहस्सेहिं, आयारंगस्स वोच्छेदो॥ साम्प्रतमुद्देशार्थाधिकारः शस्त्रपरिज्ञाया अयं जीव इत्यादि तत्र प्रथमोद्देशके सामान्येन जीवास्तित्वं प्रतिपाद्य शेषेषु तु षट्सु विशेषेण पृथिवीकायाद्यस्तित्वमिति सर्वेषां चावसाने बन्धविरतिप्रतिपादनमिति। एतच्चान्ते उपासवान् प्रत्येकमुद्देशार्थेषु योजनीयं प्रथमोद्देशके जीवस्वरूपवधे वधो विरतिष्विति एवमिति तत्र शस्त्रपरिज्ञा॥ आचा. १ अ० १ उ० साम्प्रतमाचारादिप्रदानस्य सुखप्रतिपत्तये दृष्टान्तोपन्यासेन विधिराख्यायते॥ यथा कश्चिद्राजाऽभिनवनगरनिवेशेच्छया भूखण्डानि विभज्य समतया प्रकृतिभ्यो दत्तवाँस्तथा कचवरापनयने शल्योद्धारे भूस्थिरीकरणे पक्वेष्टकापीठप्रासादरचने रत्नाद्युपादाने चोपदेशं दत्तवाँस्तांश्च प्रकृतयस्तदुपदेशानुसारेण तथैव कृत्वा यथाभिप्रेतान् भोगान् बुभुजिरे। अयमर्थोपनयः। राजसदृशेन सूरिणा प्रकृतिसदृशशिष्यगणस्य भूखण्डसदृशः संयमो मिथ्यात्वकचवराद्यपनीय सर्वोपाधिशुद्धस्यारोपणीयस्तं च सामायिकसंयमं स्थिरीकृत्य पक्वेष्टकापीठतुल्यानि व्रतान्यारोपणीयानि ततः प्रासादकल्पोऽयमाचारो विधेयसूत्रस्थश्च शेषशास्त्रादिरन्यान्यादत्ते निर्वाणभाग्भवति॥ आचा. १ अ. १ उ.॥

आयारंगचूला आचाराङ्गचूडा स्त्री० आचाराङ्गस्य द्वितीयेऽग्रश्रुतस्कन्धे (एतद्वहुवक्तव्यताऽऽचारचूलिकाशब्दे) प्रथमाचारचूडेति आचा०।

आयारकुसल आचारकुशल पुं० आचारेण ज्ञानाद्याचारेण कर्मकुशलः कर्मोच्छेदकः आचारविषये सम्यक् परिज्ञानवति, आचारे ज्ञातव्ये प्रयोक्तव्ये वा कुशलो दक्ष आचारकुशलः। आचारज्ञाने आचारप्रयोगे वा दक्षे, च। व्य० उ० ३।

आचारकुशलशब्दस्य व्याख्यानार्थमाह॥

अब्भुट्ठाणे आसण, किंकरअब्भासकरणमविभत्ति। पडिरुवजोगजुंजण, नीयोगपूजा जहा कमसो॥ अफरुस अणवल अचवल, मकुक्कयमरंभगोमसीभरणं सहित समाहि यउवाहिय, गुणनिहि आयार कुसलोउ॥ आचार कुशलो नाम यो गुर्वादीनामभ्युत्थानं करोति (आसणत्ति) आसनप्रदानं च तेषामेव गुर्वादीनां विधत्ते समागतानां पीठिकाद्युपनयतीति भावः। तथा प्रातरेवागत्य आचार्यान् वदति संदिशत किंकरोमीति स किंकरः तया (अभ्भासकरणमिति) ये अभ्यागतास्तेषामात्मसमीपवर्त्तित्वकरणमभ्यासकरणं अविभक्तिर्विभागाभावः शिष्यः प्रतिच्छिकानां विशेषकरणमितिभावः (पडिरुवयोगजुंजणत्ति) प्रतिरूपः खलु विनयः कायिकादिभेदतश्चतुर्धोऽधस्तात् पीठिकायामभिहितस्तदनुगता येगा मनोवाक्कायास्तेषां योजनं व्यापारणमवश्यकरणं अविभक्तविभागयोजनं (नियोगत्ति) योयत्र वस्त्राद्युत्पादने नियोक्तव्यः तस्य तत्र नियोगं करोति (पूजा जहा कमसोत्ति) गुर्वादीनां यथानुरूपं क्रमशो येन पूजा क्रियते अपरुषमानिष्ठुरं मनः प्रल्हादकादित्यर्थः तद्भाषते (अणवलत्ति) तत्र प्राकृतत्वात् यकारलोपः तेन अवलया इति रूपव्यं तस्याऽभावोऽणवलया अकुटिलत्वमित्यर्थः। अचपलः स्थिरस्वभावः अकुक्कुयो हस्तपादमुखादिविरूपचेष्टारहितः। अदंभको वंचनानुगतवचनविरहितः। सोभरो नाम य उल्लपन् परं लालया सिंचति तत्प्रतिषेधादसोभरः। प्राकृतत्वात्स्वार्थे कप्रत्ययविधानेन असोभरकः एष सर्वोऽपि

किल विनय इति धीर्याचारः प्रतिपादितो द्रष्टव्यः संप्रति शेषाणां ज्ञानाद्याचाराणां प्ररूपणानिमित्तं पश्चार्द्धमाह। सहितो नाम स यस्य ज्ञानादेरुचितः कालस्तेनोपेतः। किमुक्तं भवति। काले स्वाध्यायं करोति। काले प्रतिलेखनादिकं काले च स्वोचितं तप इति सम्यक् आदितो यत् यस्योपधाने तत्करणे वा स्वाभिप्रायः समाहितः उपशमी ज्ञानादीनां हितः स्थित औत्पत्तिके ज्ञानाद्यधिकं निर्म्मलतरं मात्मनोवाञ्छन् सदैव गुरुषु बहुमानपर इति भावः। एवंज्ञानाद्याचारसमन्वितो गुणनिधिर्भवति। तत आह गुणनिधिर्गुणानामाकरः एष आचारकुशलः सांप्रतमेत देव गाथाद्वयं विनेयजनानुग्रहाय भाष्यकृद्व्याख्यानयति। अब्भुट्ठाणं गुरुमादियाणं, आसणदाणं च होइ तस्सेव। गोसे चव आयरिये, संदिसहा किं करोमित्ति अत्र (गोसे) इति प्रातरेवेत्यर्थः " सब्भासकरणधम्मं, झेयाण अविभत्ति सीसपारिच्छे। एमिरुवजोगो जह, पीढियाए जुंजणं करेमि धुवं " अत्र प्रतिरूपयोगो यथा पीठिकायां प्राक् प्रतिरूपविनयाधिकारेऽभिहितस्तथा प्रतिपत्तव्यः (जुंजणं) इत्यस्य व्याख्यानं यत् ध्रुवमकालहीनं प्रतिरूपयोगात्करोति पारयतीतिभावः। (पूयं जहाणुरूवं, गुरुमादीणं करेइ कमसोउ। चल्हादिजणणमफरुसं, अचवलया होइ कुलुमंतं) अत्रह्लादिजननमिति मनः प्रह्लादजनकं " अचवलथिरस्सभावो अफंदणयायहोइ अकुयत्तं। उल्लावलालससीभर, सहितो कालेसणाऽऽदि " अव स्यंदनता भंगोचितहस्तपादादिचेष्टाविकलता सम्मं अहियभावो समाहितो समीवम्मि नाणादियं तु तच्चितो गुणनिहिओआगरो गुणाणं गाथापंचकमपि गतार्थम् ॥ व्य. ॥

आयारक्खेवणी-आचाराक्षेपणी स्त्री० आचारो लोचाऽस्नानादिस्तत्प्रकाशनेनाक्षेपणी आचाराक्षेपणी। आक्षेपणीकथाभेदे, ॥ स्था० ४ ठा. ॥

आयारगोयर-आचारगोचर पुं० आचारो मोक्षार्थमनुष्ठानविशेषस्तस्य गोचरो विषय आचारगोचरः आचा० ॥ ७. अ. १ उ०। आचारः साधुसमाचारस्तस्य गोचरो विषयो व्रतषट्कादिराचारगोचरः साधुसमाचारविषये, व्रतषट्कादिके, आचारश्च ज्ञानादिविषयः पञ्चधा गोचरश्च भिक्षाचर्येत्याचारगोचरं ज्ञानाचारादिके, भिक्षाचर्यायां च, । न० ॥ सेहं आचारगोयरं गाहइत्तए अब्भुट्ठेयव्वं भवइ स्था० ८ ठा. इदविज्ञप्तिविपरिणामादाचारगोचरस्य ग्रहणतायां शिक्षणशैक्षमाचारगोचरं ग्राहयितुमित्यर्थः ॥ स्था० ८ ठा. । आयारगोयरं विणयवणइयचरणकरणजायामायावत्ति यं धम्ममाइक्खीयं ॥ आचारः श्रुतज्ञानादिविषयमनुष्ठानं कालाध्ययनादिगोचरो भिक्षाटनम् एतयोः समाहारद्वन्द्वस्ततस्तल्लाभ्यातमिच्छामीति योग इति ॥ ज्ञ० २ श० १ उ० ॥ क्रियाकलापे, पुं० दश० ६ अ० ॥

रायाणो रायमच्चा य, माहणा अदुव खत्तिया।
पुच्छंति निहुअप्पाणो कहं आयारगोयरं ॥

व्या० ॥ राजानो नरपतयः राजामात्याश्च मंत्रिणः ब्राह्मणाः प्रतीताः (अदुवत्ति) तथा क्षत्रियाः श्रेष्ठ्यादयः पृच्छंति निभृतात्मानः असम्भ्रांता रचितांजलयः कथं ते भवतां आचारगोचरः क्रियाकलापः स्थित इति सूत्रार्थः ॥

तेसिं सो निहुओदंतो, सव्वभूय सुहावहो।
सिक्खा एसु समाउत्तो आइक्खेज्ज वियक्खणो ॥ ३ ॥

व्या० ॥ तेभ्यो राजादिभ्यः असौ गणी निभृतोऽसंभ्रांत उचितधर्म्मः कायस्थित्या दांत इंद्रियमनोदमाभ्यां सर्वभूतसुखावहः सर्वप्राणिहितइत्यर्थः। शिक्षया ग्रहणासेवनरूपया सुसमायुक्तः सुष्ठु एकीभावेन युक्तः आख्याति कथयति विचक्षणः पंडित इति सूत्रार्थः।

(हंदि धम्मत्थकामाणं, निग्गंथाण सुणेइ मे। आयारगोयरं भीमं, सयलं दुरहिट्ठियं) सूत्रव्या० ॥ हंदिइत्युपदर्शने तमेनं धर्म्मार्थकामानामिति धर्म्मश्चारित्रधर्म्मादिस्तस्यार्थः प्रयोजनं मोक्षःकामयंते इच्छंति विद्युक्तविहितानुष्ठानकरणेनेति धर्म्मार्थकामाः मुमुक्षवस्तेषां निर्ग्रंथानां बाह्याभ्यन्तरग्रन्थरहितानां शृणुत मम समीपात् आचारगोचरं क्रियाकलापं भीमं कर्मशत्र्वपेक्षया रौद्रं सकलं संपूर्णं दुरधिष्ठं क्षुद्रसत्वैर्दुराश्रयमिति सूत्रार्थः ॥

आयारग्ग-आचाराग्र न० आचारांगस्य द्वितीये श्रुतस्कंधे तद्वक्तव्यताऽऽचारांगटीकायाम् ॥ (आचारमेरो-र्गदितस्य लेशतः, प्रवच्मितच्छेषिकचूलिकागतां। प्रारिप्सितेऽर्थे गुणवान् कृती सदा, आयेत निःशेषमशेषितक्रियः १) उक्तो नवब्रह्मचर्याध्ययनात्मक आचारश्रुतस्कंधः सांप्रतं द्वितीयोग्रश्रुतस्कंधः समारभ्यते। अस्य चायमभिसंबंधः उक्तम् प्राचारपरिमाणम् प्रतिपादयता तद्यथा (णववंभचेरमइओ अट्ठारसपयसहस्सिओ वेओ हवइ य स पंचचूलो बहु २ अयरो पयग्गेणं) तत्राद्ये श्रुतस्कंधे नवब्रह्मचर्याध्ययनानि प्रतिपादितानि तेषु च न समस्तोऽपिविवक्षितोऽर्थोऽभिहितोऽभिहितोऽपि संक्षेपतोऽतोऽभिहितार्थाभिधानाय संक्षेपोक्तस्य च प्रपंचाय तद्ग्रभूताश्चतस्रश्चूला उक्ताः अनुक्तसंगृहिकाः प्रतिपाद्यंते ॥ तदात्मकश्च द्वितीयोग्रश्रुतस्कंध इत्यनेन संबंधेनायातस्यास्य व्याख्या प्रतन्यते तथा चाचारांगनिर्युक्तौ अग्रनिक्षेपप्रतिपादनाय ॥

उवयारेण उपगयं, आयारस्सेव उवरि माइं ॥
तुरुक्खस्सपव्वयस्स य, जह अग्गाइं तह ताइं ॥ १ ॥

उपकाराग्रेणात्र प्रकृतमधिकारः यस्मादेतान्याचारस्यैवोपरि वर्त्तन्ते तदुक्तं शेषवादितया तत्संबद्धानि तद्यथा वृक्षपर्वतादेराग्राणीति शेषाणि त्वग्राणि शिष्यमतिव्युत्पत्त्यर्थमस्य चोपकाराग्रस्य सुखप्रतिपत्त्यर्थमिति तदुक्तं (रवारिस्स सरिसं, जं केणवितं परुवए विहिणा, जेणहि गारो तं मिउ, पर्व्ववए होइ सुहगेऊं) तत्रेदमिदानीं वाच्यं कैनैतानि निर्व्यूढानि किमर्थं कुतो वेत्यतआह ॥ थेरेहिं अणुग्गाहट्ठा, सिसहियं होउ पागडत्थं च ॥ आयाराउ अत्थो, आयारग्गेसु पविभत्तो गाहा ॥ थेरेहीत्यादि स्थविरैः श्रुतवृद्धैश्चतुर्दशपूर्वविद्भिर्निर्व्यूढानीति किमर्थं शिष्यहितं भवत्विति कृत्वा अनुग्रहार्थं तथा अप्रकटोऽर्थः प्रकटोयथास्यादित्येवमर्थं च कुतोनिर्व्यूढाचारात् सकाशात्समस्तोऽप्यर्थः आचाराग्रेषु विस्तरेण प्रविभक्त इति ॥

सांप्रतं यद्यस्मान्निर्व्यूढं तद्विभागेनाचष्ट इति ॥

बिइ अस्स य पंचमए, अट्ठमगस्स बीयंमि उद्देसो ॥
भणिओ पिंडेसणेज्जा, वत्थं पाओग्गहे चेव ॥ ४ ॥
पंचमगस्स चउत्थे इरिया वणिज्जइ समासेणं ॥
छट्ठस्सय पंचमए, भासज्जाया वियाणाहि ॥ ५ ॥
सत्तेक्काणि सत्तवि, णिज्जूढाई महापरिण्णावो ॥
सत्थपरिण्णा भावण, णिज्जूढाउ धुवविमुत्तो ॥ ६ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आयारपकप्पोउ, पच्चक्खाणस्स तइयवत्थूओ ॥

आयारणामधेज्जा, विसइमा पाहुडच्छेया ॥ ७ ॥

विश्यस्सेत्यादि चतस्रो। गाथाः ब्रह्मचर्याध्ययनानां द्वितीय मध्ययनं लोकविजयाख्यं तत्र पंचमोद्देशके इदं सूत्रं (सव्वामगंधं परिन्नाय निरामगंधो परिव्वएज्जा) तत्रामग्रहणेन हननाद्यास्तिस्रः कोटयो गृहीता गन्धोपादानादपरास्तिस्र एताः षट्स्य विशोधिकोटयस्ताश्चेमा स्वतो हंति घातयति घ्नन्तमनुजानीते तथा पचति पाचयति पचन्तमनुजानीत इति तथा तत्रैव सूत्रं (अदिस्समाणो कयविक्कर्याहिति) अनेनापि तिस्रो विशोधिकोटयो गृहीतास्ताश्चेमाः क्रीणाति क्रापयति क्रीणंतमन्यमनुजानीते तथाऽष्टमस्य विमोहाध्ययनस्य द्वितीयोद्देशके इदं सूत्रं (भिक्खू परिक्कमेज्ज वा चिट्ठेज्ज वा णीसिएज्ज वा तुयेट्टेज्ज वा सु साणंसि वेत्यादि) यावत् (बहिया विहरेज्जा तं भिक्खुं गाहावति उवसंकमित्तुवएज्जा अहमा उसंतो समणा तुब्भट्ठाये असणं वा ४ पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं समारब्भसमुदिस्स कीयं पामिच्च) मित्यादि एतानि सर्वाण्यपि सूत्राण्याश्रित्यैकादशपिण्डैषणा निर्व्यूढास्तथा तस्मिन्नेव द्वितीयाध्ययने पंचमोद्देशके सूत्रं (से वत्थं परिग्गहं कंबलं पायपुंछणं उग्गहं च कडासणमिति) तत्र वस्त्रकंबलपादपुंछनग्रहणात् वस्त्रैषणा निर्व्यूढा एतद्ग्रहपदात्पात्रैषणा निर्व्यूढा अवग्रह इत्येतस्मादवग्रहप्रतिमा निर्व्यूढा कडासनमित्येतस्माच्छय्येति तथा पंचमाध्ययनावंत्याख्यस्य चतुर्थोद्देशक सूत्रं (गामाणुगामं दुइज्जमाणस्स दुज्जायं दुप्परक्कंतमित्यादि नेर्या संक्षेपेण व्याणितेत्यत ईर्याध्ययनं निर्व्यूढं तथा षष्ठाध्ययनस्य धुवाख्यस्य पंचमोद्देशकसूत्रं (आइक्खइ विहयइ किट्टति धम्मकामी)त्येतस्माद्भाषाध्ययनमाकृष्टमित्येवं विजानीयात्स्वमिति तथा महापरिज्ञाध्ययने सप्तोद्देशकास्तेभ्यः प्रत्येकं सप्तापि सप्तैकका निर्व्यूढास्तथा शस्त्रपरिज्ञाध्ययनाद्भावना निर्व्यूढास्तथा धूताध्ययनस्य द्वितीयचतुर्थकोद्देशकाभ्यां विमुक्ताध्ययनं निर्व्यूढमिति तथाचारप्रकल्पो निशीथः स च प्रत्याख्यानपूर्वस्य यत् तृतीयं वस्तु तस्याऽपि यदाचाराख्य विंशतितमं प्राभृतं ततो निर्व्यूढ इति ब्रह्मचर्याध्ययनेभ्य आचाराग्राणि निर्व्यूढान्यतो निर्व्यूहनाधिकारादेव तान्यपि शस्त्रपरिज्ञाध्ययनानि निर्व्यूढानीति दर्शयति ॥

अव्वोगडो उ भणिओ, सत्थपरिण्णाए दंडनिक्खेवो॥

सो पुण विभज्जमाणो, तहा तहा होइ णायव्वो ॥ ८ ॥

अव्याकृतोऽव्यक्तोऽपरिस्फुट इति यावत् भणितः प्रतिपादितः कोऽसौ दण्डनिक्षेपः दण्डः प्राणिपीडालक्षणस्तस्य निक्षेपः परित्यागः संयम इत्यर्थः। स च शस्त्रपरिज्ञायामव्यक्तोऽभिहितो यतस्तेन पुनर्विभज्यमानोऽष्टस्वप्यध्ययनेष्वसावेव तया तयानेकप्रकारो ज्ञातव्यो भवतीति॥

कथं पुनरयं संयमः संक्षेपोऽभिहितो विस्तार्यत इत्याह ।

एगविहो पुण सो, संजमोत्ति अज्झत्थ बाहिरेय दुहा ।

मणवयणकायतिविहो, चउविहो चाउज्जामोउ ॥

पंच य महव्वयाइं तु, पंचहाराइ भोयणं छट्ठा ।

सीलंगसहस्साणि य, एसो उ अब्भिंतरो होइ ॥ १० ॥

(एगविहो) इत्यादि (पंचय) इत्यादि अविरतिनिवृत्तिलक्षण एकविधः संयमः स एवाऽऽध्यात्मिकबाह्यभेदात् द्विधा भवति। पुनर्मनोवाक्कायभेदात्त्रिविधः स एव चतुर्याम भेदाच्चतुर्धा पुनः पञ्चमहाव्रतभेदात्पंचधा। रात्रिभोजनविरतिपरिग्रहाच्च षोढेत्यादिकया प्रक्रियया भिद्यमानो यावदष्टदशशीलांगसहस्रपरिमाणो भवतीति किंपुनरसौ संयमस्तत्र तत्र प्रवचने पंचमहाव्रतरूपतया भिद्यते इत्याह ॥

आइक्खिउं विभइउं, विन्नाउं चेव सुहतरं होइ ।

एएण कारणेण, पञ्चमहव्वया पन्नविज्जंति ॥ ११ ॥

संयमः पञ्चमहाव्रतरूपतया व्यवस्थापितः सन्नाख्यातुं विभक्तुं विज्ञातुं च सुखेनैव भवतीत्यतःकारणात्पञ्चमहाव्रतानि प्रज्ञाप्यंते। एतानि च पञ्चमहाव्रतान्यस्खलितानि फलवन्ति भवंत्यतो रक्षायत्नो विधेयस्तदर्थमाह ॥

तेसिं च रक्खणट्ठा, भावणा पञ्चवए इक्केके ।

तासत्थपरिण्णाए, एसो अब्भिंतरो होइ ॥ १२ ॥

तेषां च महाव्रतानामेकैकस्य तद्गुप्तिकल्पाः पंच २ भावना भवंति। ताश्च द्वितीयाग्रश्रुतस्कंधे प्रतिपाद्यंते अतोऽयं शस्त्रपरिज्ञाध्ययनाभ्यंतरो भवतीति ॥

सांप्रतं चूडानां यथा स्वं परिमाणमाह ॥ जावुग्गहपडिमाओ, पढमा सत्ति किगा वीय चूडा भावणविमुत्ति आयारपकप्पा तिन्नि इति पंच ।१३। पिण्डैषणाध्ययनादारभ्य अवग्रहप्रतिमाध्ययनं यावत् एतानि सप्ताऽध्ययनानि प्रथमा चूडा सप्तसप्तैकका द्वितीया भावना तृतीया विमुक्तिः चतुर्थी आचारविकल्पो निशीथः सा पंचमी चूडेति आचा. २ श्रु.१ चू.

आयारचूला– आचारचूला–स्त्री० चकारोपानुवादिनी चूडा आचारस्य चूडा आचार चूडा। आचाराग्रे आचारांगस्य द्वितीयेऽग्रश्रुतस्कंधे, आचा० अ. १. उ. ॥

आचाराग्राणि चूलिका इति आचा० ॥ आचारांगस्य द्वितीये अग्रश्रुतस्कंधे पञ्च चूडा स्तत्र प्रथमा(पिंडेसणसेज्जरिया, भासज्जाया य वत्थपाएसा। उग्गहपडिमत्ति)सप्ताध्ययनात्मिका द्वितीया सप्तसप्तिकया तृतीया भावना चतुर्थी विमुक्तिः पञ्चमी निशीथाध्ययनमिति। आचा० अ० १ उ०१॥

एताश्चाचारश्रुतस्कंधस्य नवभ्यो ब्रह्मचर्याध्ययनेभ्यो निर्व्यूढा इति आचाराग्रशब्दे ॥

आयारचूलिया–आचारचूलिका स्त्री०आचारचूलायाम्, आयारस्सणं भगवओ सचूलीयागस्स पञ्चासीइ उद्देसणकाला सम० ८५ स. ॥

आचारांगस्य विमुक्त्यभिधाने सर्वांतिमेऽध्ययने, च तिण्हं गणिपिडगाणं, आयारचूलियावज्जाणं सत्तावन्नं अज्झयणा प० सम० ५७ स. ॥

आचारस्य श्रुतस्कंधद्वयरूपस्य प्रथमाङ्गस्य चूलिका सर्वान्तिममध्ययनं विमुक्त्यभिधानमाचारचूलिका तद्वर्जानामिति सम० टी. ॥

आयारटीगा–आचारटीका– स्त्री० शीलांगाचार्यविरचितायामाचारांगव्याख्यायाम्,तथाचाचारांगटीकायाम् आचारटीकाकरणे। "आचारशास्त्रं सुविनिश्चितं यथा,जगाद वीरो जगते हिताय यः ॥ तथैव किञ्चिद्गदतः स एव मे, पुनातु धीमान् विनयार्पिता गिरः ॥ १ ॥ शस्त्रपरिज्ञाविवरण,मतिबहुगहनञ्च गन्धहस्तिकृतं।तस्मात्सुखबोधार्थं, गृह्णाम्यहमञ्जसा सारम् ॥ २ ॥ "आचा० टी. अ. १ उ. १ ॥

आयारट्ठ–आचारस्थ– त्रि० आचारे स्थित आचारस्थः ज्ञाना-

चारादिपंचविधाचारयुक्ते, ॥

"नाणंमि दंसणंमिय, तवे चरित्तेय समणसारंमि । ण च एत्ति जो ठवेउं, अप्पाणं गणं न गणहारी । एसगणहरमेरा, आयारत्याणवणिता सुत्ते,, । पं० भा० ॥

एसा गणधरमेरोर्मर्य्यादा सीमा इत्यर्थः (आयारट्ठाणंति पंचविहे आयारे जुत्ताणं) आचारे स्थित आचारस्थः तेषां वर्णिता स्तत्र प्रणीता इत्यर्थः । पं० चू० ॥

आयारणिज्जुत्ति-आचारनिर्युक्ति-स्त्री० निर्युक्तानां सूत्रेऽभिधेय तया व्यवस्थापितानामर्थानां युक्तिर्घटना विशिष्टा योजना निर्युक्तियुक्तिरेतस्मिंश्च वाच्ये युक्तशब्दलोपान्निर्युक्तिरित्युच्यते । सम० स. १ आचारस्य निर्युक्तिराचारनिर्युक्तिः । आचार सूत्रार्थानां विशिष्टयोजनायाम्, तथाच समवायांगे । आचारांग मधिकृत्य "संखेज्जाओ णिज्जुत्तिओ" सम० १ स. ॥ आचारांग निर्युक्तिश्च भद्रबाहुस्वामिना रचिता । तथाचाचारांगटीकायां भद्रबाहुस्वामिनमधिकृत्य । स च पूर्वमावश्यकनिर्युक्तिं विधाय पश्चादाचारांगनिर्युक्तिं चक्रे तथाचोक्तं (आवस्सयस्स दस कालियस्स तह उत्तरज्झयमायारत्ति) आचा. अ. १ उ. १

आयारतेण-आचारस्तेन-त्रि० विशिष्टाचारवत्तुल्यरूपे "आयारभावतेणेय कुव्वइ देवकिव्विसं ४६ " दश० अ. ५ उ. २ ॥

आयारदसा-आचारदशा-स्त्री० आचरणमाचारो ज्ञानादिविषयः पंचधा । आचारप्रतिपादनपरा दशा आचारदशा । दशाभेदे, दशाध्ययनात्मिका आचारदशा दशाश्रुतस्कंध इति या रूढेति स्था. ठा. १० ॥ अङ्गदशा । अएहावि हु उ वासगा,दिसु तेसतु विसेसो । आयारदशा तुइमो, जणेत्थं वण्णिहथा थरो । पं० भा० । आचारदशानामध्ययनविभागमाह । स्था. १० ठा. ॥

आयारदसाणं दस अज्झयणा पणत्ता । तंजहा वीसं असमाहिठाणा इक्कवीसं सबला तित्तिसं आसायणाओ अट्ठविहा गणिसंपया दस चित्तसमाहिट्ठाणा इक्कारस उवासगपडिमाओ बारस भिक्खुपडिमाओ पज्जोसवणा कप्पे तिसं मोहणिज्जठाणा ॥

समाधिस्थानानि यैरासेवितैरात्मपरोभयानामिह परत्रो भयत्र वा असमाधिरुत्पद्यते तानीति भावस्तानि च विंशतिर्द्रुतचारित्वादीनि । तत एवावगम्यन्तीति तत्प्रतिपादक मध्ययनमसमाधिस्थानानीति । प्रथमतया एकविंशतिः शबलाः शबलं कर्बुरं द्रव्यतः पटादिः भावतः साऽतिचारं चारित्रमिह च शबलचारित्रयोगात् शबलाः साधवस्ते च करकर्मप्रकारान्तरमैथुनादीन्येकविंशतिपदानि ॥ १ ॥ तत्र वोक्तरूपाणि सेवमाना उपाधित एकविंशतिर्भवति । तदर्थ मध्ययनमेकविंशति शबला इत्यभिधीयते ॥ २ ॥ ते तो समासाषणाओत्ति ज्ञानादिगुणाः आ समस्त्येन शात्यंते अपध्वस्यंते यकाभिस्ता आशातना रत्नाधिकविषयाः अविनयरूपाः पुरतो गमनादिकास्तत्रप्रसिद्धास्त्रयस्त्रिंशद्भेदा यत्राभिधीयन्ते तदध्ययनमपि तथैवोच्यत इति ॥ ३ ॥ (अट्ठेत्यादि) अष्टविधा गणिसंपत् आचारश्रुतशरीरवचनादिका आचार्य्य गुणार्द्धिरष्टस्थानकोक्तरूपा यत्राभिधीयते तदध्ययनमपि तथैवोच्यत इति ॥ ४ ॥ (दसेत्यादि) दशचित्तसमाधिस्थानानि येषु सत्सु चित्तस्य प्रशस्तपरिणतिर्जायते तानि तथा असमुत्पन्नपूर्व धर्मचिन्तोत्पादादीनि तत्रैव प्रसिद्धान्यभिधीयन्ते यत्र तत्तथैवोच्यते इति ५ (एक्कारे) त्यादि एकादशोपासकानां श्रावकाणां प्रतिमाः प्रतिपत्तिविशेषाः दर्शनव्रत सामयिकादिविषयाः प्रतिपाद्यंते यत्र तत्तथैवोच्यते ॥ ६ ॥ (बारसेत्यादि) द्वादशभिक्षूणां प्रतिमा अभिग्रहा मासिकी द्विमासिकी प्रभृतयो यत्राभिधीयन्ते तत्तथोच्यत इति ॥ ७ ॥ पज्जोइत्यादि ॥ पर्याया ऋतुबद्धिका द्रव्यक्षेत्रकालभावसंबन्धिन उत्सृज्यन्ते उज्झन्ते यस्यां सा निरुक्तविधिना पर्योसवना अथवा परीति सर्वतःक्रोधादिभावेभ्य उपशाम्यते यस्यां सा पर्युपशमना अथवा परिः सर्वथा एकक्षेत्रे जघन्यतः सप्ततिदिनानि उत्कृष्टतः षएमासान् वसनं निरुक्तादेव पर्युषणा तस्याःकल्प आचारोमर्यादेत्यर्थः ॥ पर्योसवनाकल्पः पर्य्युपशमनाकल्प पर्युषणाकल्पोवेति स च (सक्कोसंजोयणं विगइनव वयमि) त्यादिकस्तत्रैव प्रसिद्धस्तदर्थमध्ययनं स एवोच्यत इति ८ ॥ (तीसमित्यादि) त्रिंशन्मोहनीयकर्मणो बन्धस्थानानि बन्धनकारणानि (वारिमइझउवगाहित्ता तसे पाणेविहिंसइ) इत्यादिकानि तत्रैव प्रसिद्धानि मोहनीयस्थानानि तत्प्रतिपादकमध्ययनं तथैवोच्यतइति ॥ ९ ॥ (आयाइट्ठाण) मिति आजननमाजातिः सम्मूर्छनगर्भोपपाततो जन्म तस्याः स्थानं संसारस्तत्सनिदानस्य भवतीत्येवमर्थप्रतिपादनपरमाजाति स्थानमुच्यते ॥ इति ठा. टी. ठा. १० ॥

आयारपकप्प-आचारप्रकल्प-पुं० आचार एवाचार प्रकल्पः क्रिया आचारक्रियायाम्, आव० ४ अ. ॥ आचार आचारांगम प्रकल्पोनिशीथाध्ययनम् तस्यैव पञ्चमचूला आचारेण सहितः प्रकल्पः आचारप्रकल्पःनिशीथाध्ययनसहिते आचारांगे, ध० अ. ३ ॥

अट्ठावीसइविहे आयारपकप्पे आव ३ अ. ॥

सत्यपरिन्ना लोगविजओ, असिओसणिज्जं संमत्तं ॥
आवंति धुअ विमोहो, उवहाणसुअं महपरिन्ना ॥ ५१ ॥
पिंडेसण सिज्जीरिज्जा, भासज्जा या य वत्थपाएसा ॥
उग्गहपडिमासात्ति, कसतयं भावणविमुत्ति ॥ ५२ ॥
उग्घायमणुग्घायं, आरोवणातिविहमो निसीहंतु ॥
इति अट्ठाविसविहो, आयारपकप्पनामोयं ॥ ५३ ॥

अष्टाविंशतिविध आचारप्रकल्पे आचार एवाचारप्रकल्पःक्रिया पूर्ववत् । पिंडेसणागाहा १५२ उग्घातगाथात्रयं निगदसिद्धमेव ॥

अष्टाविंशतिविधः आचारप्रकल्पः निशीथांतमाचारांगमित्यर्थः स चैवं ॥

सत्थपरिन्ना १ लोकविजओ २ सीओसणिज्जा ३ संमत्तं ४ आवंति ५ धुत ६ विमोहो ७ उवहाणसुयं ८ महपरिन्ना ९ प्रथमस्य श्रुतस्कंधस्याऽध्ययनानि । द्वितीयस्य तु पिंडेसण १ सेज्ज २ इरिया ३ भासाजाया य ४ वत्थ ५ पाएसा ६ उग्गाहपडिमा ७ सत्तसत्तिकया ८ भावणा ५ विमुत्ति ६ उग्घाइ अणुग्घाइ २ आरुहणा ३ तिविहमोनिसीहं तु इति अट्ठाविसविहो आयारपकप्पनामोत्ति ॥

उद्घातिकं यत्र लघुमासादिकं प्रायश्चित्तं वर्ण्यते । अनुद्घातिकं तु यत्र गुरुमासादि आरोपणा च यत्रैकस्मिन्प्रायश्चित्तेऽन्य द्दयारोप्यत इति ॥ प्रश्न. सं. ५ द्वा. ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अष्टाविंशत्या आचारप्रकल्पैः आचार आचारांगं प्रकल्पो निशीथाध्ययनं तस्यैव पंचमचूला । आचारेण सहितः प्रकल्प आचारप्रकल्पस्तैः पंचविंशत्यध्ययनात्मकत्वात्पंचविंशतिविध आचार उद्घातिममनुद्घातिममारोपणेति त्रिधा प्रकल्पोमीलनेऽष्टाविंशतिविधस्तत्र पंचविंशतिरध्ययनान्यमूनि॥

सत्थपरिण्णा १ लोगविजओ २ सीओसणीज्जं ३ संमत्तं ४ आवंतिलोगसारं वा ५ धुयं ६ विमोहो ७ उवहाणसुअं ८ महापरिण्णा ९ पिंडेसणा १० सिज्जा ११ इरिया १२ भासाजायं १३ वत्थेसणा १४ पाएसणा १५ उग्गहपडिमा १६ ठाणसत्तिक्कयं १७ निसीहिआसत्तिकयं १८ उच्चारणसवणसत्तिकयं १९ सद्दसत्तिकयं २० रूवसत्तिकयं २१ परकिरिआसत्तिकयं २२ अन्नोन्नकिरिआसत्तिकयं २३ भावणा २४ विमुत्ति २५. ध.३.अ.

आयरणं आयायारो सो य पंचविहो णाणदंसण चरित्ततववीयारो य तस्स पकारिसेणं कप्पणा पकप्पणा सप्रभेदनिरूपणा आ.चू. ४ अ. । नि. चू. १ उ. ॥

आचारः प्रथमांगन्तस्य प्रकल्पोऽध्ययनविशेषोनिशीथमित्यपराभिधानस्य वाऽऽचारस्य वा साध्वाचारस्य ज्ञानादिविषयस्य प्रकल्पोऽध्यवसायमित्याचारप्रकल्पः । सम० स. २८ ॥ आचारस्य प्रथमांगस्य पदविभागसमाचारीलक्षणप्रकृष्टकल्पाभिधायकत्वात् प्रकल्प आचारप्रकल्पः निशीथाध्ययनं आचारांगस्य निशीथाध्ययने, स्था० ५ ठा. ।

यस्मात्तदष्टविध आचारः ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारश्च प्रकल्पते व्याख्यते प्रज्ञाप्यते इत्यर्थः इत्यत आचारप्रकल्प इति पं० चू० ॥

आचारप्रकल्पस्य नामधेयानि निशीथचूर्णौ यथा ॥

आयारपकप्पस्स उ, इमाइं गोणाइं णामधिज्जाइं ।
आयारमाइयाइं, पायच्छित्तेणहीगारो ॥ २ ॥ गाहा

आयरणं आयारो सो य पंचविहो णाणदंसणचरित्ततववीरियायारोय तस्स पकरिसेणं कप्पणा पकप्पणा सप्रभेदप्ररूपणेत्यर्थः इमाइंति वक्खमाणाणि गोणग्रहणं पारिभासिय उदासत्थं तंजहा असुद्दोसमुद्दो इंदं गोवयतीति इंदगोवगो एवं तस्स आयारपकप्पस्स णाम न भवति गुणणिप्फन्नं भवति "गुणनिप्फन्नं गोणं, तंचेव जहत्थ मत्थवीविंति तं पुण खवणो जलणो, तवणो पवणो पदीवो य ॥ १॥" णामाणि, अभिधेयाणि नामधेज्जाणि अहवा धरणियाणि वा धेज्जाति णामधेज्जाति सार्थकाणीत्यर्थः । आयारो आदीजेसि ताणि नामाणि आयारादीणि पंच पायच्छित्ते अहीगारेत्ति अत्थेहं, दारं सीसो पुच्छति णणु पायच्छित्ते अहिगारोत्ति पुच्छाहि अत्थाहिकार एव भणिओ आयरिओ भणति सव्वं तत्थ भणिओ इह विशेषज्ञापनार्थं भणति अभत्थवि आयारसरूवणा कया इह तु आयारसरूवं पायच्छित्तं परूविज्जति अहवा प्रायश्चित्ते प्रयत्न इत्यर्थः ॥

अहवा इहभणिओ तत्थ दट्ठव्वो आयारमाइयाति जं भणियंताणि य इमाणि ॥

आयारो अग्गंति, पकप्पे तह चूलीया णिसीहंति ।
णिसीतं सुत्तत्थ तहा, तह आएा पुव्विअक्खातं ३॥गाहा॥

पसादारगाहा वक्खमाणसरूवा आयारमाईयाणि इमा सामण्णिक्खेवलक्खणा गाहा ॥

आयारे णिक्खेवो, चउविधो दशविधो य अग्गम्मि ।
छक्कायपकप्पंमि, चूलीयाए निशीथे य॥४॥ नि. चू. १ उ.

आचारप्रकल्पः पंचविधः तथा च स्थानांगे ॥

पंचविहे आयारपकप्पे पं० तं० । मासिए उग्घाइए १ मासिये अणुग्घाइए २ चउम्मासिए उग्घाइए ३ चउम्मासिये अणुग्घाइये ४ आरोवणा ५ । स्था. ५ ठा. ॥

आचारस्य प्रथमांगस्य पदविभागसमाचारी लक्षणप्रकृष्टकल्पाऽभिधायकत्वात्प्रकल्प आचारप्रकल्प निशीथाध्ययनं स च पंचविधः । पंचविधप्रायश्चित्ताभिधायकत्वात्तथाह । तत्र केषुचिदुद्देशकेषु लघुमासप्रायश्चित्तापत्तिरुत्पद्यते १ केषुचिच्च गुरुमासापत्तिः२ एवं लघुचतुर्मास ३ गुरुचतुर्मास४ रोपणाश्चेति ५तत्र मासेन निष्पन्नं मासिकं तपस्तच्च उद्घातो भागपातो यत्रास्ति तदुद्घातिकं लघ्वित्यर्थः । यत उक्तं" अद्धेण छिन्नसेसं, पुव्वद्धेणं तु संजुयं काउं । देज्जाहि लहु य दाणं, गुरुदाणं तत्तियं चेवत्ति ॥ १ ॥ पंचेवत्ति ।एतद्भावना मासिकतपोऽधिकृत्योपदर्श्यते । मासस्याऽर्द्धेऽच्छिन्नस्य शेषं दिनानां पंचदशकं तन्मासापेक्षया च पूर्वस्य पंचविंशतिकस्याऽर्द्धेन सार्द्धद्वादशकेन संयुतं कृतं सार्द्धा सप्तविंशतिर्भवतीति । आरोपणा तु (चढावणित्ति भणियं होइ) योहि यथा प्रतिषेवित मालोचयति तस्य प्रतिषेवानिष्पन्नमेव मासलघुमासगुरुप्रभृतिकं दीयते । यस्तु न तथा तस्तावद्दीयते पवमायासनिष्पन्नं चान्यदारोप्यत इत्यारोपणेति ॥ ठा० टी० ठा० ५ ॥

अस्याष्टाविंशतिभेदाः समवायाङ्गे यथा ॥

अट्ठावीसविहे आयारपकप्पे प० तं० ॥ मासिया आरोवणा सपंचराइमासीया आरोवणा सदसराइमासिया-आरोवणा सपन्नरसराइमासिया आरोवणा । सवीसइराइमासिया आरोवणा । सपंचवीसराइमासिया आरोवणा । एवं चेव दोमासीया आरोवणा सपंचराइदोमासीया आरोवणा एवं तिमासीया आरोवणा चउमासीयाआरोवणा उवघाइयाआरोवणा अणुघाइया आरोवणा कसिणा आरोवणा अकसिणा आरोवणा । एतावता आयारकप्पे एतावताय आयरियव्वे । सम. २८ स. ॥

अत्रैव निगमनमाह ।

एतावांस्तावदाचारप्रकल्प इह स्थानके आरोपणामाश्रित्य विवक्षितोऽन्यथा तद्व्यतिरेकेणाऽपि तस्यैतद्घातिकरूपस्य-भावात् अथ चैतावानेवायं तावदाचारप्रकल्पः शेषस्यात्रैवांतर्भावात् स. स. २८ ॥

आचारप्रकल्पो महानिशीथः । स च प्रत्याख्यानपूर्वस्य य तृतीयं वस्तु तस्यापि यदाचाराख्यं विंशतितमं प्राभृतं ततो निर्व्यूढ इति आचा० द्वि. श्रु. अ. १ ॥

तथा च निशीथचूर्णौ ॥

निसीयं णवमा पुव्वा, पच्चक्खाणस्स तत्तियवत्थुउ ।

आयारनामधेज्जा, वासनिजापाहुरुच्छेदा ॥ ३१७ ॥
पुव्वगतेहिं तो पच्चक्खाणपुव्वेणाम णवमपुव्वंत्तिस्सं वीसं वत्थु वत्थुत्ति वत्थुभूतं वीसं अत्थाधिकारात्तेसु तत्तियं आयारणामधिज्जं जं वत्थुं तस्स वत्थुस्स वीसं पाहुडच्छेदो परिमाणपरिच्छिन्नप्राभृतवत् अर्थच्छेदपाहुडच्छेदा भण्णंति। तेसु वि जं वीसतिमं पाहुडच्छेदं ततो णिसीहं सिद्धं ॥
तथाच व्यवहारकल्पे ॥
आयारपकप्पो ऊ, नवमे पुव्वंमि आसि सोधीय ।
तत्तोच्चि य निज्जूढो, इहाणियतो किं न सुच्छिजवे ॥
आचारप्रकल्पः पूर्वं नवमे पूर्वे आसीत् शोधितश्च ततोऽजवत् इदानीं पुनरिहाचारांगे तत एव नवमात्पूर्वान्नीतः । ततः किमेष आचारप्रकल्पो न जवति किं वा ततः शोधिर्नोपजाय. ते । एषोऽप्याचारप्रकल्पः शोधिश्चास्मादवशिष्टा भवतीति भावः ॥ व्य० ३ उ० ॥
तथाच पंचकल्पजाष्ये ॥
आयरदसाकप्पो ववहारो नवमपुव्वा णिसं दोचारित्तरक्खणट्ठा सुयकडस्सुवरिठविताई अंगदसा आएहा विहु उवासगादीण तेणतु विसेसो आयारदसा उइमो जेणेत्थं वण्णिहयायारो, दसकप्पववहारा एगसुतखंधे कइ इच्छंति। केइं च दसाएकं कप्पववहारवीयं तु रयणागरथाणीयं णवमं पुव्वं तु तस्स नीसंदो परिगालपरिस्सावो ॥
(जम्हा तेण भगवता आयरपकप्पा दसाकप्पव्ववहाराय नवमपुव्वनिसंदभूता निज्जूढा) तेनाऽसौपूजार्हः आयारपकप्प इति विधिः यस्मात्तत्र दशविध आचारो ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारश्च प्रकल्पते ॥ व्याप्यते प्रख्याप्यत इत्यर्थः ॥ इत्यत आचारप्रकल्पः दशाकल्पव्यवहाराणां पूर्वोक्तं निरुक्तं ॥ पं. चू. ॥ एते दशाकप्पववहाराः किं कारणं ॥
निज्जूढाचरित्तसारिस्स,रक्खणट्ठाए खलियस्स।
तेहिं सोहिं किरति, तहो होति निरुपहतं । पं. भा. ॥
चारित्र इति चारित्तरक्खणट्ठा गाहा पंचप्रकारं चारित्रं सामायिकाद्यमथाख्यातपर्यवसानं तस्य रक्षणार्थं भूतिः रक्षायाः परिपालनार्थमित्यर्थः । पं. चू. ॥
सूयकडुवरिठविता, जम्हा त पंचवासपरियायो ॥
सुयकडमहज्जतिनुत्तो, ज्जोग्गो होतिसो तेसिं ॥
सूत्रकृतांगस्योपरि व्यवस्थापित आह । किमर्थं सूत्रकृतांगस्योपरि व्यवस्थापित अथोवा न व्यवस्थापितः । उच्यते।सूत्रोपदेशादिति यस्माद् व्यवहारसूत्रे तृतीयोद्देशकेऽप्युक्तं त्रिवर्षपर्यायस्य कल्पते आचारप्रकल्प इति तया व्यवहारस्सेव दशमोद्देशके सूत्रमस्ति त्रिवर्षपर्यायस्य कल्पते सूत्रकृतांगमुद्देष्टुं एतदर्थं सूत्रकृतांगस्योपरि कृता इति किं कारणं तेण भगवता नवमाओ पुव्वाओ नीणीओ उच्यते पं. चू० ॥ पं० भा० ॥
अणुकंप्पा वोच्छेदो, कुसुमाजेरी तिगिच्छपारिच्छा ।
कप्पे परिसा य तहा, दिट्ठंता आदिसुत्तंमि ॥ १ ॥
ओसप्पिणीसवणाणं, हाणिं णाऊण आउगबलाणं ।
होहिं तु वग्गर्थं, करा पुव्वगतं मि पट्ठीणंमी ॥ २ ॥
खेतस्स य कालस्स य, परिहाणिं गहणधारणाणं च ।
बलवीरिए संघयणे, सच्छाउच्छाहतो चे व ॥ ३ ॥
किं खेत्तं कालो वा, संकुयति जेण तेण परिहाणी ।
भण्णइ न संकुयंति, परिहाणी तेसि तु गुणेहिं ॥४॥
भणियव्वहुसमाए, गामा होहंति भमसाणसामाइय ।
खेत्तगुणहाणि काले, विउहोतिमाहाणि समये ॥५॥
समयेणंता परिहा, यंते उवएहमादीया ।
दव्वादीपज्जाया, अहोरत्तं तत्तीयं चेव ॥ ६ ॥
सुसमअम आएणुजोवणं, साहुज्जोग्गा तु दुब्भजा खेत्ता
कालोवि य दुब्भक्खा, अनिक्खणं होंतिमरायं ॥७॥
दूसमअणुभावेण यपरिहाणीहोति ओ सहबलाणं ।
तेणमणुआणं पि, तु आउगमे हादि परिहाणि ॥ ८ ॥
दारा संघयणं पि य हिय इतत्तोय हाणीय धितिबलस्स जवो विरियं सारिरबलं तंपिय परिहातिसत्तं च हायंति यसहाओ गहणे परियट्टणे यमणुयाणं उच्छाहो उज्जोगो अणालमत्तं च एगट्ठाइयणा उं परिहाणि अणुग्गहट्ठाए एस साहुणं णिज्जूढणुकंपाए दिट्ठंतेहिं इमेहिं तु पगरणे चेरुणुकंपादट्ठ विदट्ठेहिं होयगारीणं जहउमेवी यजत्त रएहा दिएहं अहाएणवयस्स एवं अप्पतक्षिय पुव्वगतं केइ मा हु मरिहिं तिन्नोउयरिऊण ततो हेट्ठाओ तारियं तेहिं । दारं । मायहु वोच्छिज्जीहिती चरणाणुउगोत्ति तेण णिज्जूढं। वोच्छीएहे बहुयं मी चरणाजावोज विज्जाहि कहं पुण तेण गेहं तु दिएहाई तत्थीमो तु दिट्ठतो जहकोई दुरारोहो समुरभिकुसुमो तु कप्पदुमो पुरिसा केइ असत्ता तं आरोहुण कुसुमगहणट्ठा तेसिं अणुकंपणट्ठा कोइ ससत्तो समारुज्झ घेत्तुं कुसुमा सुहमहणहतुगं गांथिउं दले तेसिं तह चोदसपुव्वतरु आरुढो। जद्दबाहू तु अणुकंपट्ठा गुथितुं सुयगडस्सुप्परिं ववेवीरो । दारं । तं पुणतो वयेसेण वेव गहितं एसेच्छाये अह गाहिए दोसो असाह गाहोंति नाणमाईणं केसवचेरीणि तं वक्खातं पुव्वसामइए अहवा तिगीच्छ उ तुज णाहियं वावी उसहं देज्जा तेहिं तुण कज्जसिद्धि विवरीयए जवति दाणं पारिच्छपरिच्छीतु यकप्पमादि दलं ति जोगस्स परिणामादीणं तुदारुगमादेहीं णाचेहिं पारिच्छा आदिसुत्ते पुव्वं जणियातु जाउ विहिसुत्ते सेण घणादि परिसा पूरंताइ य जाभिहिं परिसा । दारं । जाणितं कप्पदारं।। कमेण हु इदाणिं किं पुण उक्कमकरणं बहुत्तव्वांत्ते नाउणं किंपुण कप्पज्झयणे वं निज्जइ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जवति सुण सुतावजे अजिविदिता तु अच्छा तहियंतेऊ-समाणं । पं० जा० ॥

उसप्पिणी समणाण । गाहा । जम्हा उसप्पिणी दोसेणं। परिहायंति साहूणं आउयं बलं बुध्दियपतन्नि-मित्तं उवग्गहकरा जविस्संति पुव्वगये परिहीणे किंच खे त्तस्स य कालस्सय । गाहा ॥

खेत्ते ताव उसप्पिणिं, चेव पच्छिपरिहाणी ।
महणधारणाणं, च तहा बलविरियं ॥

बलं सारीरं वीरियं वीर्यं व्यवसायो वा तहा संघयण सध्दा मेधा उयं च खेत्तदोसणयं परिहायंति । गाहा । अणुकंपा वोच्छेए उक्तं च सिध्दसेनक्षमाश्रमणगुरुभिः ।

पालाइणणुकंपा, संखफिकरणंमि गाहवोच्छेयं ।
मि पडुबाओ मेय पीय, जतरं षीदिणंजणवयस्स कुसुमो ॥

इति तवनियमनाणरुक्खंगाहा जेरीचंदणकंधाते इच्छि त्ति पालगिलाण गाहा । तेण जगवता अणुकंपिएण मावो च्छिजीस्संतीति काउंदुरारोहमिवयादवं आरुह्य अप्पणा मालिताणि कुसुमाणि अवेसिं च दत्ताणि तवोवुवा-लसविहो णियमा इंदियनो इन्द्रियनियमनिग्रहः।निरोध इत्यर्थः ।इंदियनियमोसो इंदियविसयपयारनिरोहो वा सो इंदियपत्तेसुवा अत्थेसुरागदोसनिग्गहो जाव फासिंदियं नो इंदिय अकुसल मणनिरोहो । वा कुसलमणओ ईरणं वा मणसो वा एगत्तिजावकरणं । कोहस्स उदय निरोहो वा उदयपत्तस्स वा विफलीकरणं जाव लोजस्स ।

तपसा नियमेन ज्ञानेन चसंप्रयुक्तो वृक्षः किंच सम्यगदर्शनचारित्रतपोनियमसंयमस्तं समवृक्षादेव तत्तुरुवः समासः। ज्ञानदर्शनतपश्चारित्रात्मक एव वृक्षः । ततस्तेन जगवता भरु-बाहुना पूर्वरत्नाकरश्रुतसमुद्रान्प्रयत्नेनान्हृतः उध्दृतमित्यर्थेन तु स्वेच्छयातेनाऽसौश्रुतकर्त्ता ऋषिरित्यपदिश्येत ऋषिरित्यस्-स्यानार्जवेति ऋषिः यस्मादसौ जगवतामार्जवे सम्यक्दर्शन ज्ञानचारित्रात्मके निर्वाणमार्गे व्यवस्थितः ।

इर्यादिभिश्च समितिभिर्युक्तः इत्युक्तो ऋषिः ।

सेपुण अप्पणो इच्छाए सुत्तं अत्थंवा करेइ तस्स सुत्ते चउलहु अत्थे चओ गुरू । आणाइ य विराहणादि हंतो वंदणजेरीय वासुदेवस्स असिवप्पसमणे सा कता कंथा पच्छा अहया नप्प समेइ एव सच्छंदविगप्पिए सुत्तं मोल्कस्स असावकं जवति पितिया पासत्थाउप्पत्ति वंने यथा दोएह विजेरिणं कप्पव्ववहारा पुणपुरिसंपरिक्खि ऊण दिज्जंति जहा आइसुए पुरिसा परिसा परियासे लघण कुरुग गहा एवं सुसिस्सदिज्जंति ॥

तत्रशैलघनभिन्नकुटचालनीमसकमार्जारादयः अनर्हाः हंसमे षजलूकजाहकादयो योग्याः । प. सू. ॥

आचारप्रकल्पश्च कस्मै उद्दिश्यते कस्मै नेति(उद्देस) शब्दे ॥

आयारपकप्पोत्तिवा सपरियागस्स आरेण तंदिज्जाति निवास परियागस्स वि अपरिणामगस्स अतिपारिणामगस्स वा न दिज्जति आयारपकप्पो पुण परिणामगस्स दिज्जति नी चू० १ उ. ।

एगविहकुसुमपुज्जो, वया रत्तरिसा उकेइ अहिगा ।
सस्सवति जूमिजावित, गुणसति वप्पे पकप्पंमि । ४१६॥

अणेगजातिपाहिं अणेगवण्णेहिं पुप्फावयारोकओविय ती। दीसत्ति एवं सुतत्य विकप्पिया अणेगविहा अधिकारा दट्ठव्वा कई उच्यते प कप्पो सो केरिसो गुणस्स इव प्रतुलो बप्परूपकं इमंसस्यंयस्यां जूमौविद्यते सासस्यवती सस्ययुक्ता कचिच्छा-लि कचिदिक्षुः कचिज्जवा कचिद्गोधूमः भावितो गुणेहिं जो सो भावितगुणः गुणगत इत्यर्थः । तवगुणा सतिमादि सती णामविशिष्ट समृध्दिनिरुपहतत्वं इतिवर्जितत्वंबहुफलं च पभि गुणैरुपपेतोवप्रः । इदाणिं उवण जवप्पो इव पकप्पो धादि-मादीणि वा उद्देसत्याधिका सस्यवृध्दिरिव अनेकार्थःनिरुपहत-मिवदोषविवर्जित इति वर्जितमिव पासत्थचरगादि संसेप वर्जिता बहुत्वमिति यदि कल्पत्विसंभवात् ॥ इदशैकप्रकल्पे अनेकार्थाधिकारा इत्यर्थः ॥

एवं पुण कप्पज्झयणं कस्स ण दायव्वं केरीसगुणयुतस्स वा देयव्वं अतो भणति गाहा ।

जिणरहस्सवतार, निस्साकर एव मुकयोगी वा ।
उब्विहगति गुविलं मी, सो संसारे जगावेदीहे । ४१७।

जिणरहस्सो णाम जो अववादपदे अकेसिं कप्पियाणं सीहत्ति निस्साकरणामं यो किंचि अववादपदं लनित मुसलं पक्खिवइ । मुकयोगीणाम जेण मुक्को योगो णाणदंसणचरित्त तवणियमसंयमादिसु सो एस मुक्कयोगी। परिसस्स जोदेति सो संसारे चउप्पगारे वा पंचप्पगारे वा छप्पगारे वा एव मादिगति गुविले गुविलोत्ति गहणो छुप्पा वयतीति घोरा परिसे संसारे भामिहिति विहं कालं परिसे सुण दायव्वा एएसिं पभिवक्खा जे ते सुदायव्वा ॥

ते य इमे गाहा ॥

अरहस्स दारए पारय, य असढकरणे तुलोवमे समिते ।
कप्पाणु पालणादीवणा, य आराहणछिन्नसंसारो ।४१८

अतीवरहस्सं तंजो धरेति सो अरहस्स धारगो जो तं अइरहस्सं एकं दो तिणि वादिणा धरेति ण तेणं अहिगारो जातं रहस्सधरणं जीवियकालं पारं णेति तेण अहिकारो असढकरणो णाम सव्वत्थादान जो रूप्पाणं माया पढाति असढो हेकणं कसिणं करेति तुलसमो णाम सममट्ठिता तुला जहा ण मम्मातो पुरओ वा णमाति एवं जो रागदोसविमुक्को सो तुलासमो जणति । समितो णाम पंचहिं समितिहिं समिता ए गुणसंपओते परेतो एयं गुणसंपउत्ते यादि विणयकप्पाण पालणा कया जवति । अहवा एकप्पे जं जहा जणितं तस्स अणुपालना जो करेति तस्स देयो यकप्पाणुपालणा एय दीवणे कअमेसिं दिविय दरिसियं गमियं एवं कायव्वमिति अह वा दीवणा जो अरिहाणं अणालस्से वक्खाणं ण करेति तस्सेयं देयंति दीवणाए य मोक्खमग्गस्स आराहणा कता जवति । आराहणायेय चउगति गुविलो दीहसण-वयणो छिन्नंमिय संसारे जं तं सिवमयलयमरुयमक्खयम-व्वाबाहमपुणरावत्तयंगणं नं पावंति तं च एतो कम्मविमुक्को

सिद्धो भवति ॥ नि० चू० २० उ० ॥

भ्रष्टाचारप्रकल्पाया निर्ग्रन्थ्याः प्रवर्तिनीत्वं गणावच्छेदिकात्वं च नोद्दिश्यते । तथा च व्यवहारसूत्रम् ॥

णिग्गंथिस्स णवडहरतरुणगस्स आयारकप्पे नामं अज्झयणे परिब्भट्ठे सिया से य पुच्छिवे केण केण कारणेणं अज्जो आयारकप्पे नाम अज्झयणे परिब्भट्ठे सिया किं आबाहेणं उदाहु पमायेणं सेवएज्जा णो आबाहेणं पमायेणं जाव जीवाए तस्स तप्पतियं, णो कप्पति आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा सेयवएज्जा आबाहेणं णो पमाएणं से य संठविस्सामिति संठवेज्जा । एवं से कप्पति आयरित्तं वा जाव गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा तं सेयसवच्छेसा म्मिति णो संठवेज्जा एवं से णो कप्पति आयरियत्तं वा जावगणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तएवा ॥ १४ ॥ णिग्गंथिएणं णवडहरस्स तरुणियाए आयारकप्पे नाम अज्झयणे परिब्भट्ठे सिया साय पुच्छियव्वा केण कारणेणं अज्जे आयारकप्पे नाम अज्झयणे परिब्भट्ठे सिया किं आबाहेणं पमाएणं सायवएज्जा णो आबाहेणं पमाएणं जावजीवाए तीगसे तप्पतियं णोकप्पति यं पवितिणं वा गणावच्छेइणितं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तएग वा सायवदोज्जा आबाहेणं णो पमाएणं सायसंठवेस्सामिति संठवेज्जा । एवं से कप्पइ पवत्तिणित्तं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा स यं संठविस्सामिति णो संठवेज्जा । एवं सेनो कप्पति पवित्तिणित्तं वा गणावच्छेइणियत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा- ॥ १५ ॥ व्य. ५ उ. ॥

(निग्गंथिएनवडहरतरुणाए) इत्यादिसूत्रार्थकं अस्य व्याख्या । निर्ग्रन्थ्या नवडहरतरुण्या वक्ष्यमाणस्वरूपाया आचारप्रकल्पो नामाध्ययनं परिभ्रष्टं स्यात् सा च प्रष्टव्या केन कारणेन आचारप्रकल्पो नामाध्ययनं परिभ्रष्टमभवत् किमाबाधेन प्रमादेन वा एवं पृष्टा सती सा यदीति गम्यते वदेत् नो आबाधेन किं तु प्रमादेन तर्हि यावज्जीव तस्यास्तत्प्रत्ययं प्रमादतोऽध्ययननाशनप्रत्ययं नो कल्पते प्रवर्तिनीत्वं वा गणावच्छेदिकात्वं उद्देष्टुं नापि तस्याः स्वयं धारयितुं अथ सा वदेत् आबाधेन नष्टं न तु प्रमादेन सा च नष्टमध्ययनं संस्थापयामीत्युक्त्वा संस्थापयेत् एवं तर्हि (से) तस्याः कल्पते प्रवर्तिनीत्वं वा गणावच्छेदिकात्वं वा उद्देष्टुमनुज्ञातुं स्वयं धारयितुमथ नष्टमध्ययनं संस्थापयिष्यामीत्युक्त्वाऽपि न संस्थापयेत् एवं तर्हि (से) तस्याः न कल्पते प्रवर्तनीत्वं वा गणावच्छेदिकात्वं वा उद्देष्टुं वा स्वयं वा धारयितुमिति एवं निर्ग्रंथसूत्रमपि भावनीयं ॥

(नवडहरतरुण) व्याख्यानं च प्रागुक्तमवसेयं (तेवरिसो होइ नवो) व्रतपर्यायेणेतिवाक्यशेषः । आसोळसगं तु जन्मपर्यायेणेति गम्यते । डहरगं चेति (तरुणोवत्तासत्तरुणमज्झिमो थेरओ सेसो) आचार्यत्वं वा यावत्करणादुपाध्यायत्वं प्रवर्तित्वं स्थविरत्वं चेति परिग्रहः शेषं तथैव । अत्राह शिष्यः । पुरुषोत्तमो धर्म्म इति पूर्वं निर्ग्रंथसूत्रंवक्तव्यं पश्चान्निर्ग्रंथीसूत्रं । पूर्वत्र वाऽध्ययनद्वये पूर्वं निर्ग्रंथसूत्राण्युक्तानि पश्चान्निर्ग्रंथीसूत्राणि अत्र विपर्ययः कृतः । सूरिराह ॥

जइवि य पुरिसादेसो, पुव्वंतहविय विव्वज्जओ जुत्तो ।
जिण समणि उपगया य, पमायबहुला य आथिरा य ॥

यद्यपि च पुरुषोत्तमो धर्म्मः पूर्वत्रऽध्ययनद्वये पूर्वं पुरुषादेशास्तथाप्यत्र विपर्ययो युक्तः केन कारणेनेत्याह । येन कारणेन श्रमण्यः प्रकृत्या तथा प्रायः श्रमण्यः प्रमादबहुला अस्थिराश्च न तु श्रमणा अध्ययनस्य च नाशः प्रायः प्रमादस्ततः श्रमण्यधिकारादधिकृतसूत्रार्थस्थामत्वात् पूर्वं निर्ग्रंथी सूत्रमुक्तं पश्चान्निर्ग्रंथसूत्रं ।

नवडहरतरुणीनां व्याख्यानमाह ।

तेवरिसा होइ न वा, अट्ठारसिया डहरिया होइ ।
तरुणी खलु जा जुवइ, चउरो दसगा वत्तासा ॥

व्रतपर्यायेण यावत्त्रिवर्षा तावन्नवतिन वा जन्मपर्यायेण याव दष्टादशिका अष्टादशवर्षप्रमाणा तावद्भवति । डहरिका तरुणी खलु तावद् द्रष्टव्या यावत् युवतिः । अथवा पूर्वोक्तास्तृतीयोद्देशके नवडहरतरुणिसूत्रे ये अभिहितास्तरुणचत्वारो दशकाश्चत्वारिंशद्वर्षाणीत्यर्थः । तेऽत्रापि तरुण्या द्रष्टव्याः । १४ । १५ ॥

सा एव गुणोवेया, सुत्तत्थेहिं पकप्पमज्झयणं ।
सयाहिं जिझया इतो आ, वि आगया न वसु अघा ॥

सा नवडहरा तरुणी एतावद्गुणोपेता सूत्रार्थाभ्यां प्रकल्पनामकमध्ययनमधीता अधीतिनी । ततः सा प्रवर्तिनित्वस्य योग्या सूरिभिः संसाधिता । अथ च तस्याः सूत्रतोऽर्थतश्चाचारप्रकल्पः परिभ्रष्टः स कथं ज्ञात इत्याह । इतश्चापि आगता अन्यगच्छादन्या साध्वी उपसंपन्ना । सा विज्ञापयति ॥ कथमित्याह ॥

अत्थेण मेधाकप्पो, समाणितो न य जिनो महं भंते ।
अमुगा मे संघाडं, ददंतु वुत्ता उसा गुरुणा ॥

हे भदंत ! भगवन् अर्थेऽनार्थितो मम आचारप्रकल्पः समानीतो समाप्तिं नीतः । परं न च न वै मम स जिनः परिचितोऽभूत् । ततोऽमुकायाः प्रवर्तिनीत्वेन संभावितां संघाटं पूज्या ददतु । एवं तया विज्ञप्तं गणिना आचार्येण सा उक्ता । आर्ये ! देहि (से) तस्याः संघाटं ॥

सा दाउं आढत्ता, नवरं पणट्ठं न किंचि आगच्छे ।
एमेव मुणंति चिट्ठति, मुणिया य सा तीये ॥

संघाटं दातुं प्रवृत्ता परावर्तयितुं व्याख्यातुं च प्रवृत्ता इत्यर्थः । न वरिष्ठं तदध्ययनं न किमप्यागच्छति केवलमेव मुणमुणन्ती अव्यक्ताक्षरं किमपि ब्रुवंती तिष्ठति । ततः सा तया मुणिता यथा न किमप्येतस्या आगच्छति ॥

पुनरवि साहती गणिणो, सा नट्ठसुया दवाहमे अन्नं ।
अन्नक्खाणंपि सिया, वाहितुं होइमा पुच्छा ॥

ततः सा पुनरपि गणिन आचार्यस्य कथयति । यथा नष्टश्रुता तस्मान्ममान्यां सहायां ददतु । एवमुक्ते आचार्येण विचारयितव्यं । सत्यं । किं परिभ्रष्टं तस्या अध्ययनं किं वा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न को जानाति अन्यात्व्यानमपि काचित्केनापि कारणेन प्रष्टि ष्टा सती यदासतस्तां व्याहृत्य तस्या इयं वक्ष्यमाणा पृच्छा कर्तव्या ॥

तामेवाह ॥

दंडकगहनिक्खेवे, आवसियाए निसीहिया ।
गुरुणं च अप्पणामे य जाणसु आरोवणा काउ ॥

दंडकस्य प्रत्युपेक्षा प्रवर्जना व्यतिरेकेण ग्रहणे निक्षेपणे च तथा आवशिक्या नैषेधिक्याश्चाकरणे बहिः प्रदेशादागच्छता बसानः प्रवेशे नमः क्षमाश्रमणेभ्य इत्येवं गुरूणामप्रणामा च प्रणामाकरणे च का आरोपणा प्रायश्चित्तं जवति ॥

पुट्ठा अनिव्वहंती, किहिं नट्ठं वाहतो पमाएणं ।
साहेइ पमाएणं, सोय पमादो इमो होइ ॥

सा एव पृष्टा सती यदि न निर्वहति न यथावस्थितमुत्तरं ददाति । तदा सा अनिर्वहंती जूयः प्रष्टव्या । कथं केन कारणेन ते नष्टमाचारप्रकल्पनामकमध्ययनं किमाबाधेन उत प्रमादेन। तत्र यदि सा कथयति प्रमादेन । स च प्रमादोऽयं वक्ष्यमाणो जवति ॥ तमेवाह ॥

धम्मकहनिमित्तादि, उपमातो तत्थ होइ नायव्वो ।
मलयवइगणसेणा, तरंगवइयाओ धम्मकहा ॥

तत्र तस्यां संयत्वां धर्मकथानिमित्तादिकः आदिशब्दात् ग्रहचरित्तादिपरिग्रहप्रमादो जवति ज्ञातव्यस्तत्र धर्मकथा मलयवतीमगधसेनातरंगवती । आदिशब्दात् वसुदेवहिंरुपादिपरिग्रहः । एतां कथामधीयानाया विस्मृतिगतं प्रकल्पनामकमध्ययनं ॥

गहचारियविज्जमन्ता, चुन्नानिमित्तादिणा पमाएणं ।
नट्ठंमि संधयंती, असंधयंतीवमानलन्तो ॥

गहचरित्तं ज्योतिष्कं । ससाधना विद्या । साधनरहितोमंत्रश्चूर्णो योगचूर्णः । निमित्तमतीतादिभावकथनमादिशब्दात् कुहुकशास्त्रादिपरिग्रह इत्यादिना प्रमाणेन इत्याद्यध्ययनलक्षेणेन प्रमादेन नष्टे प्रकल्पे नाम्नि अध्ययने यदि भूयः सा तत्संदधाति । यदि वा न संदधाति तथापि सा संदधति वा यावज्जीवं गणं न लभते ॥

जावजीवं तु गणं, इमेहि नाएहि लोगसिद्धेहिं ॥
अतिवालवेज्ज जोहे, धणुगाईन्नगफलगोण ॥ १ ॥

यावज्जीवं गणं न लभते । पजिरजापालकवैद्ययोधैर्लोकासिद्धैर्ज्ञातैस्तत्र योधे प्रमादाचरितं सम्यग्विदितं धनुरादिनिर्धनुर्भंगं विभग्नं दृष्टं जीवाछिन्नविच्छिन्नाकांमान्यसाञ्छितानि । न केवलमेतैर्ज्ञातैः । किन्तु भग्नफलकेन लटितपतितमलयनवज्ञातेन ॥

तत्र प्रथममजापालकदृष्टान्तमाह ॥

खेलंतेण उ अइया, पणासिया जेण सो पुणो न लन्जे ॥
सूलाभिरूपा नट्ठा, विलहति एमेव उत्तरिए ॥ १ ॥
कोइ अयना लोवे,एण आयातो रक्खेइ तेण ॥
तएता वट्टगादि, खेल्लणादिहि पमाएहिं ॥ २ ॥
नासियातोसो अप्पा, तो दवावितो जणइ पुणो ॥
रक्खामि न परिसंकहामि, सो एवं जणंतो वि ॥ ३ ॥
जावज्जीवं अभय, विनहति अहमुलं सेलाद्दियं जरोवा ॥
अतिआ उरो आगतो, तैतीनट्ठा ततोहो सो पुणो
विलजते रक्खिउं ॥ ४ ॥

अजागमनिका । येन खेलनावृत्तादिना क्रीडता अजिकाः प्रणाशिताः स पुनर्न लजते यावज्जीवमन्यश्चाऽप्यजा रक्षितुमय शूलादिरुजा अत्रादिशब्दादत्यातुरज्वरादिपरिग्रहस्ता अजा नष्टास्ततः पुनरपि लभते ॥

अधुना वैद्यज्ञानं भावयति ॥

जति से सत्थं नट्ठं, पेच्छह पेसच्छ कोसगं गंतु ॥
हीरति कलंकिएसुं, जोगो जूयादिदप्पेणं ॥
कोइ वेज्जोरस्से कयं वित्तीतोतेणं जूयपमादेण विसयपमादेण विज्जसत्थं नासियं सत्थकोसगाणि पच्छणगादीणि किट्टकलंकियाणि न निसीयइ । अएणया रएणं कज्जं जायं सद्दावितोविज्जोसो किज्जवदेसं न किंचि सक्केइ वोतुं ततो रएणा जणियं किमियं ततो सो जणइ मेपोत्थगाचोरेहि हिया पाभिपुच्छगं पि नत्थितो मम नट्ठं वेज्जसत्थं नात्थि पुण मम अणोपमातो जेण वेज्जसत्थं नासियं ताहे रएणा पुरिसा पेसिया ॥

यदि(से) तस्य शास्त्रं नष्टं तर्हि(से)तस्य यूयं गत्वा शास्त्रकौतुकं प्रेक्षध्वं ह्रियते राज्ञः समर्प्यते । दृष्टानि राज्ञा समस्तानि प्रतक्रणकप्रजृतीनि शास्त्राणि किट्टकलंकितानि ततस्तेषु कलंकितेषु दृष्टेषु ज्ञातं यथा द्यूतादिदर्पेण द्यूतादिना प्रमादेन विनाशितं वैद्यशास्त्रं ततो भोगच्छिन्नः पश्चादन्यत्र गत्वा वैद्यशास्त्रं पुनरप्युज्ज्वाल्य समागतो भूयोऽपि राज्ञः समीपे भोगान् याचते स च याचमानोऽपि न लजते एवं लोकोत्तरेऽप्युपनयजावना प्राग्वत्कर्तव्या ।

योधदृष्टांतभावनार्थमाह ॥

वुक्को जइ सरवेही, तहा विपलोएह से सरे गंतुं ॥
अकलंककलंकं वा, जग्गमजग्गाणि य धणूणि ॥ १ ॥
कोइ जोहो धणुव्वेयं, अहिज्जितो गुरुवएसेण ॥
अन्नासेण य सो, अपासंतो विसरेणं ॥ २ ॥
विधंति रएणा कयप जूय, वितिणो कतो अजया तेण ॥
विसयपमाएण तं, धणुव्वेय सत्थं तं च ॥ ३ ॥
अन्नासकरणं नासियं, अन्नया युद्धकज्जेसमावडिए ॥
एन किंचि सकेइ, विंधिउं पराजिणिउं ॥ ४ ॥
वारएणा पुच्छितो, किमेयंति सो जणइ ॥
नत्थि मे पमादो ताहे रएणा जणियं ॥

यदि नाम प्रथमादाकरणत एकस्वरवेधी वुक्को दुष्टस्तथापि (से)तस्य शरान् गत्वा प्रलोकयत किंतत् शरजालमलंकं वा धनूंष्यपि जग्नान्यजग्नानि वा दृष्टं शरजालकं कलंकितं धनूंषि च भग्नानि ततो ज्ञातं प्रमादतः सर्वं नष्टं इतो वृत्तिव्यवच्छेदः सोऽन्यत्र गत्वा धनुर्वेदशास्त्रमुज्ज्वाल्य कृताभ्यासः पुनरागतो वृत्तिं याचमानोऽपि यावज्जीवं न लभते एवं लोकोत्तरेऽप्युपनयः प्राग्वत्कर्तव्यः । फलकज्ञातमाह ॥

फालहियस्सवि एवं, जइफलतो जग्ग लुग्गोतो ॥

भोगोहीरति सव्वेसिं पि य नजोगहारो जवेकज्जे॥१॥
कोई अणेगवनप्पति, पत्तसागादिकलिए॥
फलए केणावि, निउत्तो सोवि सयपमाएणं॥२॥
जयपमाएण वा, न रक्खइ न य पाणिएणं॥
पालेति सोय फलहो, लोगे णाणरूवे हि य॥३॥
उवलुभितो पुळो, य न किंचि ततो वणफलादि॥
आगच्छइ, फलह सामिणा जणियं॥४॥
किमयं सो जणइ, किं करेमि रक्खेमि तानअहं।
नत्थि मे पमादो, सतो फलहसामिणा फलहो
गवेसावितो॥५॥

तथाचाह (फलकिकस्य) फलकस्वामिन एवं पूर्ववर्णितेषु राज्ञ इव फलगवेषणा चिन्ता जाता। यदि फलको जग्नमुग्नो भविष्यति ततोऽस्य भोगो न्हियेत गाथायां "वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्" इतिवचनतो भविष्यति वर्तमानता कस्मात् हरिष्यते इत्याह कार्ये प्रयोजने समापतिते सर्वेषामपि कुटुंबजनानां भोगहारो न स्यादिति हेतोः स्वत्रगवेषणे कृते फलको जग्नमुग्नो बाढं जग्नो गोरूपादिभिर्विध्वंसनात् लुग्नो जलसेवनाकरणतस्ततस्तस्य वृत्तिर्छिन्ना ततो नाहं चूयएवं करिष्यामीति याचमानोऽपि यावज्जीवं न लजते वृत्तिमेवं लोकोत्तरेऽप्युपनयः कर्तव्यस्तमेवाह॥

एवं दप्पपणासिते, ण विदिंति गणं पकप्पमज्झयणे॥
आवाहेणं नासिए, गेलन्नादिण दलयंति॥१॥
एवं पूर्वोक्तदृष्टान्तप्रकारेण दर्पतो धर्मकथाध्ययनतो व्याकरणाध्ययनतो निमित्तशास्त्राध्ययनतो वा इत्यर्थः प्रणाशिते प्रकल्पनाम्न्यध्ययने यावज्जीवमाचार्यास्तस्मा गणं नदद् तिआवाधितग्लानत्वादिना पुनर्नाशितो भूयः प्रज्वालितं दलयंति प्रयच्छंति। एतदेव सप्रपंचं जावयति॥

गेलन्ने असिवे वाओ, मोयरिया य रायदुट्ठे वा॥
एएहिं नासियं मी, सन्धे माणिए दिंति गणं॥१॥
ग्लानत्वे वा जाते ग्लानप्रतिजागरणे वा कृते अशिवे वा समुपस्थिते अवमौदर्ये वा दुर्भिक्षे जाते भिक्षापरिभ्रमणतो राजद्विष्टे वा पलायनतो वा यदि नष्टं प्रकल्पनामकमध्ययनं तत एतैः कारणैर्नाशितेऽपि पुनः सम्बन्धंत्या गणं ददति प्रयच्छंति।

तदेवं निर्ग्रंथीसूत्रं जावितमधुना निर्ग्रन्थसूत्रं विजावयिषुराह॥

एवमेव य साहूणं, वागरणनिमित्तछन्दकहमादी।
बीइयं गिलाणतो मे, अद्धाणो चेव थूजेय॥
एवमेव अनेन प्रकारेण साधूनामपि सूत्रं भावनीयं नवरं तत्र प्रमादो व्याकरणनिमित्तच्छन्दः कथाद्यधीयानस्य प्रतिपत्तव्यः॥ द्वितीयमाबाधलक्षणं कारणं सूत्रौ ग्लाने ग्लानप्रतिजागरणे वा अवमौदर्ये अशिवादिकारणतोऽध्वनि वा गमने स्तूपे वा कृष्यमियमत्र जावना। यदि व्याकरणाध्ययनतो निमित्तशास्त्राध्ययनतश्छन्दः शास्त्राध्ययनतो धर्मकथाध्ययनत आदिशब्दात्पुनश्चामन्त्रादिव्याक्षेपतो यदि प्रकल्पाध्ययनं नाशितं तदा पश्चादुज्ज्वालितेऽपि यावज्जीवं तस्मै गणं सूरयो न प्रयच्छंति अथ ग्लानत्वाद्याबाधतो नाशितं तदा तस्मिन्पुनरुज्ज्वालिते प्रयच्छंति प्रमाददोषाभावात् तत्र ग्लानत्वाविषय आबाधः प्रतीतः॥

सम्प्रति स्तूपविषयमाह॥

महुरा खमगाया, वणदेवयआउट्ट आणवेजसि। किं मम असंजतीए, अप्पत्तिय होहिती कज्जं। थूगति तत्व जणिखुवि वा य च्छम्मास संघो को॥ सत्तोखमगस्समा, कंपणखिंसणमुक्का कयपऊगा॥
मथुरायां नगर्यां कोऽपि क्षपणक आतापयति यस्यातापनां दृष्ट्वा देवता आवृता तमागतमागत्य वन्दित्वा ब्रूते यन्मयाकर्तव्यं तन्माझापयेद्भवानिति। एवमुक्ते स क्षपकेण जण्यते। किं मम कार्यमसंयत्या भविष्यति। ततस्तस्या देवताया अप्रीतिकमभूत्। अप्रीतिवत्यचेतनयोक्तमवश्यं तव मया कार्यं भविष्यति। ततो देवतया सर्वरत्नमयः स्तूपो निर्मितस्तत्र भिक्षवो रक्तपटा उपस्थिताः अयमस्मदीयः स्तूपस्तैः समं संघस्य षएमासान् विवादो जातस्ततः संघो ब्रूते। को नामात्रार्थे शक्तः केनापि कथितं यथा अमुकः क्षपकस्ततः संघेन स जण्यते क्षपक! कायोत्सर्गेण देवतामाकंपय। ततः क्षपकस्य कायोत्सर्गकरणं देवताया आकम्पनम्। सा आगता ब्रूते। संदिशत किंकरोमि क्षपकेण भणिता तया कुरुत यथा संघस्य जयो जवति ततो देवतया क्षपकस्य खिंसना कृता। यथा एतन्मया असंयत्या अपि कार्यं जातं एवं खिंसित्वा सा ब्रूते। यूयं राज्ञः समीपं गत्वा ब्रूत। यदि रक्तपटानां स्तूपः। ततः कल्ये रक्ता पताका दृश्यतां अथाऽस्माकं तर्हि शुक्ला पताका। राज्ञा प्रतिपन्नमेवं भवतु ततो राज्ञा प्रत्ययिकपुरुषैः स्तूपो रक्षापितो रात्रौ देवतया शुक्लपताका कृता। प्रभाते दृष्टा स्तूपे शुक्ला पताका जितं सघेन व्य० सू० ५ उ.॥

थेराणं थेरजूमिपत्ताणं आयारपकप्पे णाम अज्झयणे परिजठे सिया कप्पति तेसिं ठवेत्ताएं वा आयरियत्ते वा जावगणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तएवा धारेत्तए वा॥
व्य. ५ उ.॥

व्या० स्थविराणांऽस्थविरजूमिं प्राप्तानामाचार्यपदं प्राप्तानामाचारप्रकल्पो नामाध्ययनं परिभ्रष्टं स्यात्कल्पते। तेषां सूत्रं संस्थापयतामसंस्थापयतां वाचार्यत्वं वा यावत्करणादुपाध्यायत्वं वा इति परिग्रहः। गणावच्छेदकत्वमुद्देष्टुमनुज्ञातुं जीर्णमहत्वकरणतः सूत्रधरणशक्तनात्। एष सूत्रसंक्षेपार्थः॥
सम्प्रति जाष्यविस्तरः।

सुत्ते अणिते लहुगा, अत्थे अणिते धरेंति चउगुरुगा।
सुत्तेण वायणा, अत्थे सोही तो दोहू णुण्णाया॥
इदं सूत्रमापवादिकमुत्सर्गतः पुनः सूत्रे अनागच्छति यदि गणं धारयति तदा तस्य प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुकाः। अर्थेऽनागच्छति यदि गणं धारयति चत्वारो गुरुकाः। आज्ञादयश्च दोषास्तस्मादुभयधारणगणोधारयितव्यः। किंकारणमत आह सूत्रेणगच्छता वाचनां ददाति। अर्थेनागच्छता प्रायश्चित्तस्थानमापन्नानां शोधिं करोति। तस्मात् द्वाज्यामपि संपन्नो गणधारणेऽनुज्ञातः॥

अवियविणासुत्तेणं, ववहारे अपचतो होइ॥
तेण उजयधरो ऊ, गणधारि सो अणुण्णातो॥१॥
अपि च विना सूत्रेण व्यवहारे क्रियमाणे अप्रत्ययो भवति।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तस्माद् व्यवहारे अर्थनिर्देशं कुर्वता सूत्रमवश्यमुच्चारणीयं। यथा इदं सूत्रं तस्मादयमेवात्र व्यवहारस्ततः प्रत्ययो भवति तेन स गणधारी उभयपरोऽनुज्ञातः॥

असती कडजोगी पुण, अत्थेयं तं किमप्पतिधारेउं ॥
जुअमहल्लो सुत्तं, न तरति पच्चुच्चारेउं ॥ १ ॥

उभयधरस्य असत्यभावे यः कृतयोगी नाम यः पूर्वेषु नयधर आसीत्। तदानीं सोऽर्थे समागच्छति गणं धारयितुं कल्पते। अथ केन कारणेन तस्य सूत्रमानशत् अत आह॥ (जुअं महल्लो) इत्यादि जीर्णो नामैको नो महान् यस्तरुणक एव सन् जरसा परिणतो जातः नो जीर्णो महानिति द्वितीयः। यो वृद्धोऽपि सन् दृढशरीरः जीर्णोऽपिच तृतीयः। नो जीर्णो नो महानिति चतुर्थः। एष शून्यशेषाणां तु त्रयाणामेकतरो न शक्नोति प्रत्युज्ज्वालयितुमतः सूत्रं तस्य नश्यति॥

उभयधरंमि उ सीसे, विज्जंते धारणा उ इच्छाए ॥
मा परिभवनयाणं वा, गच्छेवअणिच्छमाणंमि ॥ १ ॥

उभयधरे सूत्रार्थधरे शिष्ये विद्यमाने स्वयं गणस्य धारणा इच्छया स्वयं वा गणं धारयति तस्य वा शिष्यस्योभयधरस्य ददाति सह गणस्य शिष्यस्य वा भावं जानाति। यदि शिष्यस्य गणं दास्यामि तत एते मम परिभवं करिष्यंति। अथवा मां त्यक्त्वा गच्छमादाय गमिष्यन्ति। यदि वा तमुभयधरं गणधरे स्थाप्यमानं गणो नेच्छति। ततो मा परिभवमेतेऽकार्षुर्नयनं वा मां त्यक्त्वाऽन्यत्र गच्छस्याकार्षुरिति हेतोरनिच्छति वा गणे तस्य गणं न ददाति। किन्तु स्वयं धारयति तत्र सूत्रं तेनोभयधरेण शिष्येण वाचयत्यर्थमात्मना ददाति। प्रागुक्तदोषाभावे तस्य गणं समर्पयति॥

थेराणं थेरभूमिपत्ताणं आचारपकप्पे णाम अज्झयणे परिब्भवे सिया कप्पत्ति तेसिं सण्णिसण्णाण वा यासे ल्लियाण वा उत्ताणेण वा तुयट्टाण वा आयारपकप्पे णाम अज्झयणे दोच्चंपि तच्चंपि पडिच्छित्तए वा परिसारेत्तए वा ॥ १८ ॥ व्य. सू. ५ उ. ॥

(थेराणं थेरभूमिपत्ताण) मित्यादि स्थविराणां स्थविरभूमिप्राप्तानामाचारप्रकल्पो नामाध्ययनं परिभ्रष्टं स्यात् कल्पते तेषां सन्निषण्णानां वा निषद्यागतानां (संतुयट्टणे वेति) सम्यकत्वग्वर्तनेन स्थितानां उत्तानानां वा (पासिल्लियाणवत्ति) पार्श्वतः तिष्ठतां वा आचारप्रकल्पनामकमध्ययनं द्वितीयमपि तृतीयमपि अपिशब्दात् चतुर्थमपि वारं प्रत्येष्टुं वा प्रतिसारयितुं वा अवमरत्नाधिकः प्रतिसारयति स्थविराः प्रतीच्छंति एष सूत्रसंक्षेपार्थः ॥

अधुना भाष्यविस्तरः।

एमेव विइयसुत्तं, कारणियं सति बलेन हावेत्ति।
जं जत्थउ कितिकम्म, निहाणसमओ मराइणिए ॥

यथा प्राक्तनं सूत्रं कारणिकमेवमेवमपि सूत्रं कारणिक सूत्रं प्रत्युज्ज्वालयन् सति बले विनयं न हापयति। अथ कोऽसौ विनयो यस्तेन सूत्रं प्रत्युज्ज्वालयता सति बलेन हातव्य इत्यत आह (जजत्थउ) इत्यादि यत्कृतिकर्म वन्दनकं यत्र सूत्रे अर्थे वाऽधिकृतं तत्रावमरत्नाधिके निधानसमे सूत्रमर्थं च प्रत्युज्ज्वालयता तत् न हापयितव्यं। निधानसमे इति वदता निधाने दृष्टान्तः सूचितः। स चैवं। यथा महति क्षुल्लके वा निधाने उत्खनितव्ये तस्य तदनुरूपमुपचारमुत्खानको यदि करोति ततस्तमुत्खानितुं शक्नोति अथ न करोति तदनुरूपमुपचारं तर्हि वृश्चिकाद्युपद्रवतो न शक्नोति एवं यदि स रत्नाधिकेऽवमरत्नाधिके वा सूत्रमर्थं वा प्रत्युज्ज्वालयन् अपूर्वं वा पठन् तदनुरूपं विनयं न करोति तदा निर्जरालाभस्तस्य नोपजायते। नच शास्त्रं स्थिरपरिचितं भवति विभंगं वा तस्य ज्ञानं विभ्रंशितया प्रान्तदेवता कुर्यात्कलहं।

एतदेवाभिधित्सुःप्रथमतः प्रायश्चित्तमाह॥

सुत्तंमिय चउलहुगा, अत्थंमि यचउगुरुं च गच्छेण।
कित्तिकम्ममकुव्वंतो, पावति थेरोस विबलंमि ॥

स्थविरः प्रत्युज्ज्वालयन्नपूर्वं पठन् वा सति बले यदि गर्वेण कृतिकर्म न करोति तर्हि तदकुर्वन् सूत्रे सूत्रविषये चतुरो लघुकान्प्राप्नोति अर्थे चतुर्गुरुकं॥

उवयारहीणमफलं, होइ निहाणं करेइ वाणत्थं।
इयनिज्जरा य लाभो, न होइ विब्भंगफलहो वा ॥

यथा उपचारहीनं निधानमफलं भवति नोत्खनितुं शक्यते इति भावः। अनर्थं वा करोति वृश्चिकाद्युपद्रवकारणात् इति एवमनेनैव दृष्टान्तप्रकारेण कृतिकर्माकरणे निर्जरा वा लाभो न भवति प्रान्तदेवताकोपवशाद्विभागो वा तस्योपजायेत कलहो वा ॥

दूरत्थो वा पुच्छइ, अहुवनिसज्जाय सन्निसन्नो उ।
अच्चासन्ननिविट्ठु, ठिए य चउभंगो बोद्धव्वो ॥
अंजलिपणाम अकरणं, विप्पक्खंते दिसाहो उड्ढमुहे।
भासंतणुवउत्ते, वहसंते पुच्छमाणो उ ॥
एएसु सत्तेसु वि, सुत्ते लहुतो उ अत्थे गुरुमासो।
नाभीतोवरिलहुगा, गुरुगमहो कोय कण्डुयाण ॥

दूरस्थितो वा पृच्छति अथवा निषद्यायां सन्निषण्णः पृच्छति शृणोतीति भावार्थः। यदि वा अत्यासन्न उरुणा उरुं संघृष्य शृणोति निविष्टोत्थिते चतुर्भंगी बोद्धव्या। सा चैवं निविष्टो वा निविष्टं पृच्छति १ निविष्ट उत्थितं पृच्छति २ उत्थितो निविष्टं पृच्छति ३ उत्थित उत्थितं पृच्छति ४ यथा अंजलेरकरणमर्थपरिसमाप्तौ प्रणामस्याऽकरणं तथा दिशो विप्रेक्षमाणः पृच्छति १ यद्वाऽधोमुख ऊर्ध्वमुखो वा शृणोति न गुर्वभिमुखः २ अथवा येन तेन वा सह भाषमाणः शृणोति अनुपयुक्तो ३ वा शृणोति हसन्वा पृच्छति ४ एतेषु सर्वेष्वपि स्थानेषु सूत्रे श्रूयमाणे प्रायश्चित्त लघुको मासः अर्थे गुरुमासः तथानाभित उपरि सूत्रं शृण्वतः कायकण्डूयने चत्वारो लघुकाः। अर्थं शृण्वतश्चत्वारो गुरुकाः। नाभितोऽधस्तात् सूत्रश्रवणे कायकण्डूयने चत्वारोगुरुकाः। नवरं तपःकालयोरन्यतरेण गुरुकाः।

तम्हा वज्जं तेणं, ठाणाणे याणि पंजलुवउत्तेणा।
सोयव्वए यत्तेणं कितिकम्मं वावि कायव्वं ॥

यस्मादेवमविनयकरणे प्रायश्चित्तविधिस्तस्मादेतानि प्रागनन्तरमुपदर्शितानि वर्जयित्वा प्रांजलिना प्रकृतोऽञ्जलिनावत्कुक्केन प्रयत्नेनादरपरतया श्रोतव्यं। कृतिकर्म वापि वंदनकं कर्तव्यं। यद्यपि वंदनकेनोपास्थितं वाचनाचार्योऽनुजानाति तथापि क्षमाश्रमणं दत्वा कृतप्रांजलिना श्रोतव्यं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तेणविधारेयव्वं, पच्छाविय उट्ठिएण मंरूलितो।
वेदुट्ठ निवाणस्सव, सारेयव्वं हवति जञ्जो ॥

तेनापि श्रोभवत् व्याख्यानमंरूल्या वा श्रुतं तत् मंरूलीत उत्थितेन पश्चादपि धारयितव्यम् । तस्य च धारयत उपविष्टस्य ऊर्ध्वं स्थितस्य निष्पन्नस्य वा क्वचित् स्खलने तेनापि वाचनाचार्येण भूयो भवति स्मारयितव्यं गमयितव्यम्

अह से रागो न होज्ज, ताहे भासंत एगपासंमि ।
सन्निसन्नो तु पढो वा, अत्थइ अणुग्गहपव्वत्तो ।

अथ(से) तस्य स्थविरस्य रागो न भवत्तर्हि व्याख्यानमंरूल्या उत्थितो भाषमाणस्य अनुभाषमाणस्य चिन्तापयत इत्यर्थः । एकपार्श्वे तस्येवाबुद्ध्या सन्निषण्णः सम्यग्निषद्यागतस्त्वग्वर्तितो वा भाषमाणस्याऽनुग्रहप्रवृत्तस्तिष्ठति । पर आह ।

थेरस्स किंतुपदं, हेणं किलेसकरणेण।
भण्णइ एगनुवयोग, सद्धजणं णा च तरुणाणं ।

अथ तस्य स्थविरस्य जीर्णमहतः किमेतावन्मात्रेण क्लेशकरणेन । सूरिराह । भण्यते अत्रोत्तरं दीयते । एवमाचरतस्तस्य सूत्रार्थाभ्यां सह एकत्वोपयोगोपयुक्तस्य तु सूत्रार्थः सम्यग्भवति । तथा तरुणानां च श्रद्धाजननं कृतं भवति । तथाहि । व्याख्यानमंरूल्या उत्थितमपि निजमाचार्यं जीर्णं महान्तमेवं विनयं कुर्वन्तं दृष्ट्वा चिन्तयंति । यद्युष्माकमाचार्यो जीर्णो महानप्येवं श्रुतस्य विनयं करोति ततोऽस्माभिस्तरुणैः सुतरां कर्तव्यः आह शिष्यः । यथा जीर्णमहत आचार्यस्याऽनुग्रहः क्रियते । यथाऽनुभाषमाणस्य एकपार्श्वे सन्निषण्णस्त्वग्वर्तितो वा तिष्ठतु एवमन्यस्यापि क्रियते इति ब्रूमस्तथा चाह ।

सो उ गणी अगणी वा, अणुभासं तस्स सुणति पासंमि।
न वइ जुण्णदेहो, होमं बद्धासणो सुचिरम् ॥

सजीर्णो महान् गणी आचार्य उपाध्यायो गणावच्छेदको वा अगणी वा अन्यो यः स्याननियुक्तः सोऽनुभाषमाणस्य चिन्तापयतु एकस्मिन्पार्श्वे सन्निसण्णस्त्वग्वर्तितो वा शृणोति यतो न शक्नोति जीर्णदेहो बद्धासनो भवितुं सुचिरं कालमिति ॥ व्य. उ. ५. ॥

आयारपकप्पधर आचारप्रकल्पधर पुं० निशीथाध्ययनधारिणि, ग. १ अधि । निशीथाध्ययनसूत्रार्थधरे, च व्य. उ. ३। पं. चू. ॥

तिविहाय पकप्पधरा सुत्ते अत्थे य तदुभये चेव ।
आयारपकप्पधरो, कप्पववहारधारओ अज्जो ॥ व्य० ।
णयसुत्तवज्जिओविद्दु, गयणं परियट्टि अणुराहातो । पं. चू ।

आयारपकप्पधरो गाहा । आचरणमाचारः क्रिया इत्यर्थः सचाष्टप्रकारः पंचसमितयो गुप्तित्रयं एष चारित्राचार आचारप्रकल्पधरो नाम निशीथेषु सूत्रार्थधर इत्यर्थः । किञ्च कल्पव्यवहारधरश्च (अज्जोत्ति) आमन्त्रणे निर्देशो वा (नयवज्जिउत्ति)नयन्तीति नयाः हुपादपूरणे

दुक्खक्खयकार ओ जम्हा एएण गणपरियाहि अणुएहाओ आह कहमनुज्ञातः ।
पच्छित्तकरण अणुपालणा, य भणिता ओ कप्पववहारे ।
एतेसु अत्थधारी, गणधारी जो चरणधारी ।
अज्जोतिआमंतणणिद्देसे, वा णयस्स सुत्ताइं ।
जातिं तु दिट्ठिवाते, पच्छित्तं दिज्जते तह तु ।
तेहिं विणा विजाणति, आयारपकप्पधारओ जम्हा ।
तम्हा तु अणुण्णातो, गणपरिवट्टि तु सो णियमा ।
पायच्छित्तं जम्हा, पायच्छित्तकरणं अणुपालयंति तहा गणे अणुपालिज्जइ तं पकप्प पकप्पववारेसु भणियं एएण सत्थधारी जो सो गणपरियट्टी अणुण्णाओ चरणजुत्तो जइ भवइ गाहा पं० भा. चू. ॥

करणाणुपालयाणं तु, पज्जवकसिणं समासतो णाणं
करणाणुपालणदुत्तं, पज्जवकसिणं भवे तिविहं ।
दुत्तिपण च्छक्कगणयं, तेरसु सोलस हवंति ठाणाइं ।
करणट्ठाणपसत्था, करणट्ठाणाओअपसत्था ॥
एयाइं ठाणाई, दोहि विगाहाहि जाइं भणित्ताइं ।
तेसिं परूवणमिणमो, समासतो होति बोधव्वा ।
करणं तु किया होति, पडिलेहण मादिसामायारी तु ॥
तं पालेज्जतु णाणे, ण तं च दुविहं मुणेयव्वं । दारं ।
पज्जवकसिणसमासो, पज्जवकसणं तु चोद्दसपुव्वा ।
सामाइयं पकप्पे, होति समासो मुणेयव्वो ॥
पज्जवकसिणंतिविहं, सुत्ते अत्थे य तदुभये चेव। पं. भा. ॥

करणाणुपालयाणं तं दुविहं पज्जवकसिणं समासतश्च पज्जवकसिणं नाम चोद्दसपुव्वाणि समासश्चो आयारपकप्पोसमासः संक्षेप इत्यर्थः । यथा समुद्भूतस्तडागः चन्द्रमुखीदेवता सिंहो माणवकः एकदेशेनाप्यौपम्यं क्रियते । चतुर्दशपूर्वधरः सर्वपर्यायेषु सूत्रार्थेषु चरणकरणादयः पदार्थाः सर्वपर्यायेषु सूत्रार्थेषु चरणकरणादयः पदार्थाः प्रज्ञापयितुं समर्थाः । आचारकल्पधरस्त्वेकदेशतः । (दोण्हवि चरणकरणं अणुपाले उ समत्था) तेनैकदेशाभिज्ञत्वं प्रतीत्य यथा समासतोऽप्यर्थधरः कल्पव्यवहारादयो गणपरिपालण समर्था भवंतिपज्जवकसिणं तिविहं सुत्ते अत्थे तदुभयय ॥ पं० चू० ॥

आयारपकप्पिय–आचारप्रकल्पिक पुं० आचारप्रकल्पाऽभिधानाध्ययनधारिणि, (आयारपकप्पितो जोग्गो) व्य. उ. ५ ।

आयारपढमसुत्त–आचारप्रथमसूत्र न० "सुयंमि आउसं तेणं भगवया एवमक्खाय" मित्येवं रूपे आचाराभिधानप्रथमांगादिवाक्ये, पंचा. वृ. ११ ।

एसा य परा आणा, पयमा जं गुरुकुलं ण मोत्तव्वं ।
आयारपढमसुत्ते, एतोच्चिय दंसियं पयं ॥ १ ॥

आयारपण्णत्तिधर–आचारप्रज्ञप्तिधर पुं० आचारधरे, प्रज्ञप्तिधरे, च ।

आयारपण्णत्तिधरं, दिट्ठीवाय महिज्जगं ।
चइविक्खलियं नच्चा, न तं उवहसे मुणी ॥ ५० ॥ सूत्रं

व्या० । आचारप्रज्ञप्तिधरस्तान्येव सविशेषाणीत्येवं भूतमिति दश० अ. ८ ।

आयारपणिहि–आचारप्रणिधि पुं० आचारप्रणिधाने तत्प्रतिपादके दशवैकालिकस्य स्वनामख्यातेऽष्टमेऽध्ययने, च ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तथा च दशवैकालिके ॥

व्याख्यातं वाक्यशुद्ध्यध्ययनमिदानीमाचारप्रणिधानाख्य मारभते। अस्य चाऽयमभिसम्बन्धः। इहानन्तराध्ययने साधुना वचनदोषगुणाभिज्ञेन निरवद्यवचसा वक्तव्यमित्ये तदुक्तं इह तु तं निरवद्यं वच आचारे प्रणिहितस्य भवतीति। तत्र यत्नवता भवितव्यमित्येतदुच्यते। उक्तं च ॥

पणिहाणरहिअस्सेह, निरवज्जं पि जासियं।
सावज्जतुल्लं विन्नेयं, अज्झत्थेणेह सम्वुडं॥

इत्यनेनाभिसम्बन्धेनायातमिदमध्ययनं अस्य चाऽनुयोग द्वारोपन्यासः पूर्ववत्तावद्यावन्नाम निष्पन्नो निक्षेपस्तत्र चा चारप्रणिधिरिति द्विपदं नाम ॥

साम्प्रतं सूत्राऽऽलापकनिष्पन्नस्याऽवसर इत्यादि वचः पूर्वव-त्तावद्यावत्सूत्राऽनुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयं. तच्चेदं।

आयारपणिहिं लद्धुं, जहा कायव्व भिक्खुणा।
तम्भे उदाहरिस्सामि, आणुपुव्विं सुणेह मे॥ १॥

अस्य व्याख्या। आचारप्रणिधिमुक्तलक्षणं लब्ध्वा प्राप्य येन प्रकारेण कर्तव्यं विहिताऽनुष्ठानं भिक्षुणा साधुना तं प्रकारं तेन भवद्भ्य उदाहरिष्यामि कथयिष्यामि। आनुपूर्व्या परिपाट्या शृणुत ममेति गौतमादयः स्वशिष्यानाहुरिति सूत्रार्थः ॥

तं प्रकारमाह ॥

पुढविदगअगणिमारुय, तणरुक्खस्स बीयगा।
तसा य पाणा जीवंति, इइ वुत्तं महेसिणा॥ २॥

व्याख्या। पृथिव्युदकाग्निवायवस्तृणवृक्षसबीजा एते पञ्च केन्द्रियकायाः पूर्ववत् त्रसाश्च प्राणिनो द्वीन्द्रियादयो जीवा इत्युक्तं महर्षिणा वर्द्धमानेन गौतमेन वेति सूत्रार्थः ॥

तेसिं अच्छणजोएणं, निच्चं होअव्वयं सिया।
मणसा कायवक्केणं, एवं हवइ संजए॥ ३॥

यतश्चैवमतस्तेषां पृथिव्यादीनामक्षणयोगेनाहिंसाव्यापारेण नित्यं भवितव्यं वर्तितव्यं स्याद्भिक्षुणा मनसा कायेन वाक्ये न त्रिभिः कारणैरित्यर्थः। एवं वर्तमानोऽहिंसकः सन् भवति संयतो नान्यथेति सूत्रार्थः॥

एवं सामान्येन षड्जीवनिकायाहिंसया संयतत्वमभिधाया-धुना तद्गतविधिविधानतो विशेषेणाऽऽह ॥

पुढविं भित्तिं सिलं लेलुं, नेव भिंदे न संलिहे॥
तिविहेण करणजोएण, संजए सुसमाहिए॥ ४॥

व्या०॥ पृथिवीं शुद्धां भित्तिं तटीं शिलां पाषाणात्मिकां लेष्टुं, मिट्टालखण्डं नैव भिद्यात् न संलिखेत्। तत्र भेदनं द्वैधीभावो-त्पादनं संलेखनमीषल्लेखनं त्रिविधेन त्रिकरणयोगेन न करोति मनसेत्यादिना संयतस्साधुस्सुसमाहितः शुभजाव इति गाथार्थः॥

सुद्धपुढवि न निसीए, ससरक्खंमिअ आसणे॥
पमज्जित्तु निसीइज्जा, जाइत्ता जस्स उग्गहं॥ ५॥

शुद्धपृथिव्यामशस्त्रोपहतायामनन्तरितायां न निषीदेत्। तथा रजस्के वा पृथिवीरजोवगुण्ठिते वा आसने पीठिकादौ न निषी-देत्। निषीदनग्रहणात्स्थानत्वग्वर्तनपरिग्रहः। अचेतनायां तु प्रमृज्य तां रजोहरणे न निषीदेत् ज्ञात्वेत्यचेतनां ज्ञात्वा याच-यित्वाऽवग्रहमिति यस्य सम्बन्धिनी पृथिवी तमनुग्रहमनुज्ञा-प्येति सूत्रार्थः॥

उक्तः पृथिवीकायविधिरप्कायविधिमाह।

सीओदगं न सेविज्जा, सिलावुट्ठं हिमाणि अ॥
उसिणोदगं तत्तफासुअं, पडिगाहिज्ज संजए॥ ६॥

शीतोदकं पृथिव्युद्भवसचित्तोदकं न सेवेत। तथा शिला वृष्टं हिमानि च न सेवेत। तत्र शिलाग्रहणेन करकाः परिगृह्य-न्ते। वृष्टं वर्षणं। हिमं प्रतीतं प्राय उत्तरापथे भवति यद्येवं कथमयं वर्तेतेत्याह उष्णोदकं क्वथितोदकं तप्तप्रासुकं तप्तं सत्प्रासुकं त्रिदण्डोद्वृत्तमुष्णोदकमात्रं प्रतिगृह्णीयाद्वृत्यर्थं संयतस्साधुः। एतच्च सौवीराद्युपलक्षणमिति सूत्रार्थः॥ तथा॥

उदउल्लं अप्पणो कायं, नेव पुंछे न संलिहे॥
समुप्पेह तहा नूअं, नो णं संघट्टए मुणी॥ ७॥

नदीमुत्तीर्णो भिक्षाप्रविष्टो वा वृष्टिहत उदकार्द्रमुदकबिन्दु-चितमात्मनः कायं शरीरं स्निग्धं वा नैव पुञ्छयेत्। वस्त्रतृणा दिभिर्नैव संलिखेत्। पाणिना अपि तु संप्रेक्ष्य निरीक्ष्य तथा-भूतमुदकार्द्रादिरूपं नैवं कायं संघट्टयेत् मुनिर्मनागपि न स्पृशेदिति सूत्रार्थः॥

उक्तो ऽप्कायविधिस्तेजस्कायविधिमाह॥

इंगालं अगणिं अच्चिं, अलायं वा सजोइअं॥
उंजिज्जा न घट्टिज्जा, नो णं निव्वावए मुणी॥ ८॥

अंगारं ज्वालारहितं अग्निमयः पिण्डानुगतमर्चिश्छिन्नज्वालं-अलातञ्चोल्मुकं वा सज्योतिस्साग्निकमित्यर्थः। किमित्याह। नोत्सिंचेत् न घट्टयेत् तत्रोञ्जनमुत्सेचनं प्रदीपादेर्घट्टनं मि-थश्चालनं तथा नैनमग्निं निर्वापयेत् अभावमापादयेन्मुनिस्सा-धुरिति सूत्रार्थः॥

प्रतिपादितस्तेजस्कायविधिर्वायुकायविधिमाह॥

तालविंटेण पत्तेण, साहाए विहुणेण वा।
न वीइज्ज अप्पणोकायं, बाहिरं वावि पुग्गलं॥ ९॥

तालवृन्तेन व्यजनविशेषेण पत्रेण पद्मिनीपत्रादिना शाखया वृक्षडालरूपया विधूननेन वा। किमित्याह। न वीजयेत् आ-त्मनः कायं स्वशरीरमित्यर्थः। बाह्यं वाऽपि पुद्गलमुष्णोदका-दीति सूत्रार्थः॥

प्रतिपादितो वायुकायविधिर्वनस्पतिकायविधिमाह॥

तणरुक्खं न छिंदिज्जा, फलं मूलं च कस्सई।
आमगं विविहं बीअं, मणसावि ण पत्थए॥ १०॥

तृणवृक्षमित्येकवद्भावः तृणानि दर्भादीनि वृक्षाः कदम्बा-दयः एतान्न छिंद्यात्। फलं मूलं वा कस्यचिद्वृक्षादेर्न छिंद्यात्। तथा आगमशस्त्रोपहतं विविधमनेकप्रकारं बीजं मनसाऽपि न प्रार्थयेत् किमुताश्नीयादिति सूत्रार्थः॥

तथा।

गहणेसु न चिट्ठिज्जा, बीएसु हरिएसु वा।
उदगंमि तहा निच्चं, उत्तिंगपणगेसु वा॥ ११॥

गहनेषु वननिकुञ्जेषु न तिष्ठेत् संघट्टनादि दोषप्रसङ्गात्तथा बीजेषु प्रसारितशाल्यादिषु हरितेषु वा दूर्वादिषु न तिष्ठेत्। उदके तथा नित्यं अत्रोदकमनन्तवनस्पतिविशेषः। यथोक्तं "उ-दए अवए पणए" इत्यादि। उदकमेवान्ये। तत्र नियमतो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वनस्पतिभावात् । उत्तिङ्गपनकयोर्वा न तिष्ठेत् । तत्रोत्तिङ्गः सर्पच्छत्रादिः । पनक उल्लिवनस्पतिरिति सूत्रार्थः ॥

उक्तो वनस्पतिकायविधिस्त्रसकायविधिमाह ॥

तसे पाणे न हिंसेज्जा, वाया अदुव कंमुणा ॥
उवरओ सव्व भूएसु, पासेज्ज विविहं जगं ॥ १२ ॥

त्रसप्राणिनो द्वीन्द्रियादीन् न हिंस्यात् । कथमित्याह । वाचा ऽथवा कर्म्मणा कायेन मनसस्तदन्तर्गतत्वाद्ग्रहणं । अपि चोपरतः सर्वभूतेषु निक्षिप्तदण्डस्सन् पश्येद्विविधं जगत्कर्म्मपरतंत्रं नरकादिगतिरूपं निर्वेदायेति सूत्रार्थः ॥

उक्तः स्थूलविधिस्सूक्ष्मविधि माह ॥

अट्ठ सुहुमाइं पेहाए, जाइं जाणित्तु संजए ।
दयाहिगारी भूएसु, आसचिट्ठ सएहिवा ॥ १३ ॥

अष्टौ सूक्ष्माणि वक्ष्यमाणानि प्रेक्ष्योपयोगतः आसीत । तिष्ठेच्छयीत वेतियोगः । किं विशिष्टानीत्याह । यानि ज्ञात्वा संयतो ज्ञपरिज्ञया प्रत्याख्यानपरिज्ञया च दयाधिकारी भूतेषु भवत्यन्यथा दयाधि कार्य्येव नेति तानि प्रेक्ष्य तद्रहितः एवाऽऽसनादीनि कुर्य्यादन्यथा तेषां सातिचारतेति सूत्रार्थः ॥ दश० ८ अ. ॥

आचारप्रणिधिफलमाह ॥

तवं चिमं संजमजोगयं च, सज्झायजोगं च सया अहिट्ठिए ।
सूरेव सेणाए समत्तमाउहे, अलं मप्पणो होइ अलं परेसिं ६२

सूत्रव्याख्या । तपश्चेदमनशनादिरूपं साधुलोके प्रतीतं संयम योगं च पृथिव्यादिविषयं संयमव्यापारं च स्वाध्याय योगं च वाचनादिव्यापारं सदा सर्वकालं अधिष्ठाता तपः प्रभृतीनां कर्तव्यर्थः । इह च तपोऽभिधानात्तद्ग्रहणेऽपि स्वाध्याययोगस्य प्राधान्यख्यापनार्थं भेदाभिधान मिति । स एवंभूतः शूर इव विक्रान्तः भट इव सेनया चतुरंगरूपया इन्द्रियकषायादिरूपया निरुद्धः सन् समात्तायुधः संपूर्णतपःप्रभृतिखड्गाद्यायुध अलमित्यर्थं मात्मनो भवति संरक्षणाय अलंच परेषां निराकरणयेति सूत्रार्थः ॥

तदेव स्पष्टयन्नाह ॥

सज्झाय सज्झाणरयस्स ताइणो, अपावभावस्स तवे रयस्स । विसुज्झइ जंसिमलं पुरे कडं, समीरियं रुप्पमलं व जोइणा ॥ ६३ ॥

सूत्र व्याख्या. स्वाध्याय एव सद्ध्यानं स्वाध्यायसद्ध्यानं तत्र रतस्य सक्तस्य त्रातुः स्वपरोभयत्राणशीलस्य अपापभावस्य लब्ध्याद्यपेक्षारहिततया शुद्धचित्तस्य तपस्यनशनादौ यथाशक्तिरतस्य विशुद्ध्यते अपैति यदस्य साधोर्मलं कर्ममलं पुराकृतं जन्मांतरोपात्तं दृष्टांतमाह । समीरितं प्रेरितं रुप्यमलमिव ज्योतिषा अग्निनेति सूत्रार्थः ॥ ततश्च ।

सेतारिसे दुक्खसहे जिइंदिए, सुएणजुत्ते अममे अकिंचणे ॥ विरायई कम्मघणंमि अवगए, कसिणब्भपुडावगमेवचंदिमि त्तिबेमि ॥ ६४ ॥

सूत्रव्याख्या स तादृशोऽनन्तरगुणपरिग्रहयुक्तः साधुर्दुःखसहः परीषहजेता जितेन्द्रियः पराजितश्रोत्रेन्द्रियादिःश्रुतेन युक्तो विद्यावानित्यर्थः । अममः सर्वत्रममत्वरहितः । अकिञ्चनो द्रव्यभावकिञ्चनरहितो विराजते शोभते । कर्मघने ज्ञानावरणीयादि. कर्ममेघे अपगते सति । निदर्शनमाह । कृत्स्नाभ्रपुटापगम इव चन्द्रमा इति । यथा कृत्स्ने वाभ्रपुटे गते सति चन्द्रो विराजते शरदि तद्वदसावपेतकर्मघनः समासादितकेवलालोको विराजते इति सूत्रार्थः । दश० ८ अ. ॥

आयारपत्त –आचारप्राप्त –त्रि० ब्रह्मव्रताद्याचाराऽऽपन्ने, तथाच तण्डुलवैकालिके । स्त्रियोऽधिकृत्य (दूषणं आयारपत्ताणं) दूषणं कलंकः केषां आचारप्राप्तानां ब्रह्मव्रताद्याचारापन्नाना मिति । तं० ॥

आयारपरक्कम–आचारपराक्रम–पुं० आचारे ज्ञानादौ पराक्रमः प्रवृत्तिबलं यस्य स आचारपराक्रमः । ज्ञानाद्याचारप्रवृत्तिबलोपेते, दश० चू. २ ॥

तम्हत्ति सूत्रं ॥

तम्हा आयारपरक्कमेणं, सम्वरसमाहि बहुलेणं ॥
चारिया गुणा य निअमा, होंति साहुणदट्ठव्वा ॥ ४ ॥

व्या. यस्मादेतदेवमनंतरोदितं तस्मादाचारपराक्रमेणत्याचारे ज्ञानादौपराक्रमः प्रवृत्तिबलं यस्य स तथा विध इति गमकत्वाद्बहुव्रीहिः । तेनैवंभूतेन साधुना संवरसमाधिबहुलेनेति संवर इंद्रियविषये समाधिरनाकुलत्वं बहुलं प्रभूतं यस्य स तथाविध इति समासः पूर्ववत् तेनैवं विधेन सता अप्रतिपाताय विशुद्धये च किमित्याह । चर्या भिक्षुभावनसाधनी बाह्या अनियतवासादिरूपा गुणाश्च मूलगुणोत्तरगुणरूपा नियमाश्चोत्तरगुणानामेवपिंडविशुद्ध्यादीनांस्वकालासेवननियोगा भवंति । साधूनां द्रष्टव्या इत्येते चर्यादयः साधूनां द्रष्टव्या भवंति । सम्यग्ज्ञानासेवनप्ररूपणारूपेणेति सूत्रार्थः ।

आयारभंमग–आचारभंमक–न० पात्रपटलरजोहरणादिके ।

सव्वोवगरणमाया य साहू आयारभंमगेण समं आचारभंडकपात्रम् ओघ. ॥

आयारभंरुसेवि (न्) आचारजाएरूसेविन्–पुं० आचारः शास्त्रविहितो व्यवहारस्तेन भाएरूमुपकरणमाचारभाएरूम् तत्सेवितुं शीलं यस्य स आचारभाएरूसेवी । शास्त्रविहितव्यवहारेणोपकरणसेविनि, अणायारभंरूसेवी जन्ममरणाणुबन्धाणि आतु० ॥

आयरमन्तर–आचारान्तर–न० ज्ञानादिके आचारविशेषे, आचारव्यवधाने, च (आयारमन्तरेण विसयमन्तरे सेहिओ) पा० ॥

आयरमन्तरेति आचारान्तरे क्वचित् ज्ञानाचारविशेषे विषयभूते आचारव्यवधाने वा सति ज्ञानादिक्रियाया अकरणे सतीति भावः । पा० टी०

आयारमट्ठ –आचारार्थ –त्रि० ज्ञानाद्याचारनिमित्ते, (आयार मट्ठाविण यं पउंजे) दश० अ० ९ उ० ३ आचारार्थं ज्ञाना. द्याचारनिमित्तं विनयमुक्तलक्षणं प्रयुंक्ते करोतीति । दश० टी०

आयार (मंत) वं–आचारवत्–त्रि० ज्ञानाऽऽसेवनात्यां पञ्चप्रकाराऽऽचारवति, स्था० ठा० ८ ज्ञानासेवनात्यां ज्ञानादिपञ्चप्रकाराचारयुक्ते, अयं हि गुणत्वेन श्रद्धेयवाक्यो भवति पंचावृ० १५ । ज० श. २५ उ. ७ । ध० अ० २ (आयारमंतागुण सुट्ठियप्पा) आचारवंतो ज्ञानाद्याचारसमन्विता इति दश० । अ० ९ उ ३ आचारः शास्त्रोक्तानुष्ठानं कर्तव्यतयाऽस्त्यस्य मतुप् मस्य वः शास्त्रोक्ताऽनुष्ठानयुक्ते स्त्रियां ङीप् वाच० ।

आयारवज्जिय–आचारवर्जित त्रि० आचारेण वर्जितः शास्त्रो-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

काचारहीने, आचारहीनाद्योऽप्यत्र घाच ॥

आयारविणय–आचारविनय पुं० आचारो व्रतिनां समाचारः स एव विनीयते अपनीयते कर्म्माऽनेनेतिविनय आचारविनयः विनयभेदे ।

सचतुर्द्धा यथा संयमसामाचारी १ तपःसामाचारी २ गणसामाचारी ३ एकाकिविहारसामाचारी ४ च । तत्र संयमं स्वयमाचरति परं च ग्राहयति तत्र च सीदंतं स्थिरीकरोति तत्रोद्यतं चोपबृंहतीति संयमसामाचारी । १ । पाक्षिकादिषु तपः कर्म स्वयं करोति परं च कारयति भिक्षाचर्यां स्वयमनुतिष्ठति परं च तस्यांनियुंक्ते इति तपःसामाचारी । २ । प्रत्युपेक्षणा बालवृद्धादिवैयावृत्यादिकार्येषु स्वयमुद्यतोऽन्यान्यागणंप्रेरयतीतिगणसामाचारी । ३ । एकाकिविहारप्रतिमां स्वयंप्रतिपद्यते परं च ग्राहयतीति एकाकिविहारसामाचारी ॥ । ४ । प्रव० द्वा० ६४ दशा० ॥

सेकिं तं आयारविणए ? २ चउव्विहे पसत्ते । तं जहा । संजमसामायारीयावि जवति तवसामायारी यावि जवति (महासामायारीयावि जवति) गणसामाहारीयावि जवति एगल्लाविहारतासामायारीयावि जवति से तं आयारविणए ए दशा०

अथ कथं आचारविनयेन शिक्षयति इति पृच्छन्नाह (सेकिंतमित्यादि) कण्ठ्यं गुरुराह आयारविणएइमित्यादि आचारविनयेनेत्यत्र तृतीयान्तता शिक्षयति। अनेन सम्बन्धेनोक्ता अथवा कोऽसावाचारविनयो णं वाक्यालंकारे चतुर्विधः प्रज्ञप्तः । तद्यथा । संयमसमाचारी चापि भवति १ एवं तपः २ गणं ३ एकल्लविहारसमाचार्यपि भवति ४ तत्र संयमः सप्तदशप्रकारस्तस्य समाचारीति समाचरणं समाचारीति समाचरणं समाचारस्तस्य भावे गुणवचनब्राह्मणादिभ्य इति ष्यञ् तस्य च षित्करणसामर्थ्यात् स्त्रियामपि ष्टत्तिरिति षिद्गौरादिभ्य ङीषिति ङीषि सामाचारीशिक्षयिता इति शेषः । भवतिकोऽर्थः । पृथिव्यादिषु संघट्टनपरितापनोपद्रवादि परिहर्तव्यं इति शिक्षयिता जवति । चापि शब्दौ पञ्चाश्रवाद्विरमणाद्यनुक्तार्थसंग्राहकौ द्रष्टव्यौ १ एवं तपः सामाचार्यपि तपः पाक्षिकपौषधिकैः कारयति परैः स्वयं च करोति पाक्षिकादिषु तपश्चतुर्थादिरूपं द्वादशविधो वात्र तपः प्रकारो यथावसरं द्रष्टव्यः २ एवं गणसामाचार्यपि गणशब्देन समुदायः साधूनामिति द्रष्टव्यं तं शिक्षयति यथा प्रतिलेखना प्रस्फोटनादि च प्रवर्तमानात् ॥ १ ॥ नोदयति बालदुर्बलग्लानवृद्धादि वैयावृत्यादिषु आप्रवर्तमानान् दृष्ट्वा तान् तया जयति । स्वयं वा तान् दुःखितान् दृष्ट्वा तत्र प्रवर्तते एकल्लविहारप्रतिमामन्यान् अंगीकारयति । तथा विधानश्रुतसंहननादिसमुचितान् दृष्ट्वा स्वयं च कृतकृत्यो गणे तथाविधमाचार्यादिकं स्थापयित्वा विशिष्टानुष्ठानानुष्ठानोपयोगीत्यर्थः । स न तां प्रतिपद्यते । अनेनाऽचारेणाऽत्मानं परं च विनयति शिक्षयति ॥

व्यवहारकल्पे । आचारविनयमाह ॥

आयारे विणओ, खलु च उव्विहोहोइ आणुपुव्वीए ।
संयमसामायारी, तवे या गणविहरणा चेव ॥ १ ॥
एगल्लविहारे य, सामायारीयए च उव्वेया ।
एयासितुविजागं । वुच्छामि अहाणुपुव्वीए ॥ २ ॥

आचारे आचारविषयः खलु विनयश्चतुर्विधो जवति । आनुपूर्व्या परिपाट्या । तद्यथा । संयमसामाचारी १ तपःसामाचारी २ गणविहरणसामाचारी ३ एकाकिविहारसामाचारी ४ एवमेषा चतुर्भेदा सामाचारी । एतासांसामाचारीणां विभाग यथानुपूर्व्या वक्ष्यामि ते च तच्छब्दे द्रष्टव्याः

आयारवेई आचारवेदी–स्त्री० आचारस्य वेदीव पुण्यभूमौ- हेम० वाच० ।

आयारसंपया–आचारसंपत्–स्त्री० आचरणमाचारोऽनुष्ठानम् तद्विषया स एव वा सम्पद्विभूतिस्तस्य वा सम्पत् सम्पत्तिः प्राप्तिराचारसम्पत् प्रव० द्वा० ६४ गा० गा० ८ आचारो नाम प्रथममंगं तस्मिन् अधीते दशविधश्रमणधर्मो ज्ञातो भवति तस्मादाचाराङ्गं यो भणति सूत्रतोऽर्थतः सम्प्रयुक्तो भवति यः स आचारसम्पत् दशा० अ० १ उत्त० अ० १ गणिसम्पद्भेदे ।

आचारसम्पच्चतुर्धा । संयमध्रुवयोगयुक्तता १ असंप्रग्रहः २ अनियतवृत्तिः ३ वृद्धशीलता ४ चेति । तत्र संयमश्चरणं तस्मिन्ध्रुवोनित्यो योगः समाधिस्तद्युक्तता कोऽर्थः समतोपयुक्तता १ असंप्रग्रहः समंतात् प्रकर्षेण आत्मादि प्रकृतलक्षणेन ग्रहणमात्मनोऽवधारणं सम्प्रग्रहस्तदभावोऽसंप्रग्रहो आत्यायनुत्सिक्ततेत्यर्थः २ अनियतवृत्तिरनियतविहाररूपाऽत्र वृद्धशीलता वपुषि मनसि च निभृतस्वभावता निर्विकारतेति यावत् स्था० ८ गा० ध० दशा० ।

आयारसम्पदा चउव्विहा पं० तं० संजमधुवजोगजुत्ते यावि जवति १ असंपग्गहियप्पा २ अणियतवित्ती ३ वुड्ढसीले यावि ४ जवति दशा० ॥

टी० संयमध्रुवयोगयुक्तश्चापि भवति १ असंप्रतिगृहीतात्मा २ अनियवृत्तिः ३ वृद्धशील ४ आपि जवति तत्राचाचारोनाम- प्रथममंगं तस्मिन् अधीते दशविधश्रमणधर्मोज्ञातो जवति तस्मादारांगं यो जणति सूत्रतोऽर्थतःसम्प्रयुक्तो जवति । यस्स- आचारसम्पत् । स च संयमेत्यादि । संयमो नाम चरणं । तस्य ये ध्रुवा अवश्यं कर्तव्यत्वात् योगाः प्रतिलेखनास्वाध्यायादयः । तैर्युक्तो जवति । अथवा संयमः सप्तदशप्रकारः पञ्चाश्रवाद्विरमणमित्यादिकः तस्मिन् ध्रुवो नित्योयोगो व्यापारो यस्य स संयमध्रुवयोगयुक्तः । अथवा संयमेध्रुवोनित्योयोगोव्यापारोयस्यस संयमध्रुवयोग युक्तः । च शब्दात् ज्ञानादिष्वपि नित्योपयोगः । अपिशब्दग्रहणात्परमपि योजयति । इत्येका १ असंप्रगृहीतः अनुत्सेकवानात्मा यस्य सोऽसंप्रगृहीतात्मा निरभिमान इत्यर्थः । यथा अहमाचार्यो बहुश्रुतस्तपस्वी सामाचारीकुशलो जात्यादिमान्वा इत्यादिमदरहितः २ अनियता अनिश्चितावृत्तिर्व्यवहरणं विहारो वा यस्य सोऽनिवृत्तिर्यया ग्रामे एकरात्रं नगरे पंचरात्रं इत्यादिका । अथवा निकेतनं नाम गृहं तत्र वृत्तिर्वर्तनंयस्य सनिकेतवृत्तिः न निकेतवृत्तिरनिकेतवृत्तिः अथवा चतुर्थादि तपोविशेषैरेषणा समितियोगेन च निकेतवृत्तिः परिचितगृहेष्वंगता इति वृद्धशीलो निभृतशीलः अचंचलशील इतियावत् । अर्थग्रहणात् युक्तेषु ज्ञानादिषु सम्यग्वैयावृत्यादिकरणकारापणयोरुद्युक्तो जवति एवं विध अथवा वृद्धशीलता वपुषि मनसि च निभृतस्वभावता निर्विकारतेतियावत् ॥ प्रव० द्वा० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचरणमाचारोऽनुष्ठानं तद्विषया स एव वा सम्पद्विभूतिस्तस्य वा सम्पत्सम्प्राप्तिराचारसम्पत् । एवमग्रेऽपि व्युत्पत्त्यर्थो भावनीयः ।

सा चतुर्धा यथा ॥

चरणजुओ मयरहिओ, अनिययवित्ती अचंचलोचवत्ति

चरणयुतो मदरहितोनियतवृत्तिरचंचलश्चेति तत्र चरणं चारित्रं व्रतश्रमणधर्मेत्यादि सप्ततिस्थानरूपं तेनयुतो युक्तश्चरणयुतः । अन्यत्र तु संयमध्रुवयोगयुक्ततेत्येवमिदं पठ्यते । तत्राप्ययमेव परमार्थो यतः संयमश्चारित्रं तस्मिन् ध्रुवोनित्यो योगः समाधिस्तेन युक्तता तत्र सततोपयुक्ततेत्यर्थः । तथा मदैर्जातिकुलतपः श्रुताद्युद्भवैरहितो मदरहितो ग्रन्थान्तरे तु असम्प्रग्रह इति पठ्यते । तत्राऽपि सएवार्थो यतः समन्तात्प्रकर्षेण जातिः श्रुततपोरूपादिमत्कृष्टतालक्षणेनाऽऽत्मनो ग्रहणमहमेवं जातिमानित्यादिरूपेणावधारणं सम्प्रग्रहो न तथाऽसम्प्रग्रहो जात्याद्यनुत्सिक्तत्वमित्यर्थः । अनियतवृत्तिर्ग्रामादिष्वनियतविहारस्वरूपता । तथाऽचंचलो वशीकृतेन्द्रियोऽन्यत्र तु वृद्धशीलतेत्येवं पठ्यते । तत्र वृद्धशीलता वपुषि मनसि च कामिनीमनोमोहने वयसि वर्तमानस्याऽपि निभृतस्वभावता निर्विकारतेति यावत् यतो ॥

मनसि रजसाभिभूता जायंते यौवनेऽपि विद्वांसः ॥

मूढधियः पुनरितरे भवंति वृद्धत्वभावेऽपि प्रव० ६४ द्वा० ॥१॥

तत्राचारश्चतुर्विध स्तद्यथा चरणकरणयुतता १ मदोहंकारस्तद्रहितता २ द्रव्यक्षेत्रकालादिष्वनियतवृत्तिता ३ गत्याद्यचपलता दृशा० ॥४॥

आयारसत्थ आचारशास्त्र–न० आचाराङ्गे आचा० अ० १॥

आचारशास्त्रं सु विनिश्चितं यया, जगाद वीरो जगते हिताय यः ॥ तथाच किञ्चिद्वदतः समेऽधुना, पुनातु धीमान् विनयार्पिता गिरः ॥१॥

आयारसमाहि–आचारसमाधि–पु० समाधि भेदे आचारसमाधिमाह । दश वैकालिके अ० ए उ० ४

चउव्विहा खलु आयारसमाही भवइ तंजहा । नो इह लोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा १ नो परलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा २ नो कित्तिवन्नसद्दसि लोगट्ठयाए आयरमहिट्ठिज्जा ३ अन्नत्थ अरिहंतेहिं हेऊहिं आयारमहिट्ठेज्जा ४ चउत्थं पयं भवइ, भवइ इत्थ सिलोगो ॥ १० ॥

चतुर्विधः खल्वाचारसमाधिर्भवति तद्यथेत्युदाहरणोपन्यासार्थः । नेह लोकार्थमित्यादि आचाराभिधानभेदेन पूर्ववत् यावन्नान्यत्रार्हतै रर्हत्सम्बन्धिभिर्हेतुभिरनाश्रवत्वादिभिराचारं मूलगुणोत्तरगुणमयमधितिष्ठेत् । निरीहस्सन् यथा मोक्ष एव भवतीति चतुर्थपदं भवतीति । भवति चात्र श्लोक इति पूर्ववत् सचायं ॥

जिणवयणरए अतिंतणे, पडिपुन्नाययमाययट्ठिए ।

आयारसमाहिसंवुडे, भवइ य दंते भावसन्धए ॥

व्या० जिनवचनरतः आगमे सक्तः (अतिंतिनः) न सकृत्किञ्चिदुक्तः सन् असूयया भूयो २ वक्ता । प्रतिपूर्णः सूत्रादिना । आयतमायतार्थिक इत्यत्यन्तं मोक्षार्थी । आचारसमाधि संवृतः इत्याचारे यः समाधिः तेन स्थगिताश्रवद्वारः स भवति । दांत इन्द्रियनो इन्द्रियदमाभ्यां । भावसन्धकोभावो मोक्षस्तत्सन्धकः । आत्मनो मोक्षासन्नकारीति सूत्रार्थः

अयारसुय–आचारश्रुत–न० आचारश्च श्रुतं च आचारश्रुतं द्वन्द्वैकभावः । आचारश्रुतसमाहारे । सूत्रकृतांगद्वितीयश्रुतस्कन्धस्य पञ्चमेऽध्ययने च सूत्र २ श्रु ए अ. ॥

साम्प्रतं पञ्चममध्ययनमारभ्यते । अस्य चायमभिसम्बन्धः । इहानन्तराध्ययने प्रत्याख्यानक्रियोक्ता साचाचारसंव्यवस्थितस्य सतो भवतीत्यतस्तदनन्तरमाचारश्रुताध्ययनमभिधीयते । यदि वा नाचारपरिवर्जनेन सम्यक्प्रत्याख्यानमस्खलितं भवतीत्यतोनाचारश्रुताध्ययनमभिधीयते । यद्विवा प्रत्याख्यानयुक्तः सदाचारवान् भवतीत्यतः प्रत्याख्यानक्रियानन्तरमाचारश्रुताध्ययनं । तत्प्रतिपक्षभूतमनाचारश्रुताध्ययनं वा प्रतिपाद्यत इत्यनेनसम्बन्धेनाऽऽयातस्यास्याऽध्ययनस्योपक्रमादीनि चत्वार्यनुयोगद्वाराणि भवंति । तत्रोपक्रमान्तर्गतोऽर्थाधिकारोऽयं तद्यथा अनाचारं प्रतिषिध्य साधूनामाचारः प्रतिपाद्यते । नामनिष्पन्ने तु निक्षेपे आचारश्रुतमिति द्विपदं नाम तदनयोर्निक्षेपार्थं निर्युक्तिकृदाह ॥

णामं ठवणा दविए, दव्वे भावे य होंति नायव्वा ॥

एमेव य सुत्तस्स, णिक्खेवो चउव्विहो होत्ति ॥१॥

णामंठवणेत्यादि । तत्राचारो नाम स्थापना द्रव्यभावभेदभिन्नश्चतुर्धा द्रष्टव्यः । एवं श्रुतमपीति । तत्राचारश्रुतयोरन्यत्राभिहितयोर्लाघवार्थमतिदेशं कुर्वन्नाह ॥

आयारसुयं भणियं, वज्जेयव्वा सया अणायारा ॥

अबहुस्सुयस्स होज्जा, विरहेणा इत्थ जइयव्वे ॥२॥

आचारसुयमित्यादि । आचारश्च श्रुतं च आचारश्रुतं । द्वन्द्वैकवद्भावस्तदुभयमपि भणितमुक्तं । तत्राचारः क्षुल्लिकाचारकथायामभिहितः । श्रुतं तु विनयश्रुते । भावार्थस्तु वर्जयितव्याः परिहार्याः सदा सर्वकालं यावज्जीवं साधुरनाचारास्तांश्चाबहुश्रुतोऽगीतार्थो न सम्यक् जानातीत्यतस्तस्य विराधना भवेत् । बहुशब्दोऽवधारणे बहुश्रुतस्यैव विराधना न गीतार्थस्येत्यतोऽत्र सदाचारे तत्परिज्ञाने च यतितव्यं । तथाहि । मार्गज्ञः पथिकः कुमार्गवर्जनेन नापथगामी भवति न चोन्मार्गदोषैर्युज्यते । एवमनाचारंवर्जयन्नाचारवान् भवति नचानाचारदोषैर्युज्यत इत्यतस्तन्निषेधार्थमाह ॥

एयस्स पडिसेहो, इहमज्झयणंमि होति नायव्वा ॥

तोअणगारयं इयं, होई नामं तु एयस्स ॥ २ ॥

(एयस्स इत्यादि) एतस्याऽनाचारस्य सर्वदोषास्पदस्य दुर्गतिगमनैकहेतोः प्रतिषेधो निराकरणं सदाचारप्रतिपत्त्यर्थमिहाध्ययने ज्ञातव्यः स च परमार्थतोऽनगारकारणमिति । ततः । केषांचिन्मतेनैतस्याध्ययनस्यानगारश्रुतमित्येतन्नाम भवतीति ॥

आयारसुयखंध–आचारश्रुतस्कंध–पु० आचारांगस्य नवब्रह्मचर्याध्ययनात्मके आचारश्रुतस्कन्ध इति । आचाराङ्गर्दे आचा० श्रु. द्वि. अ. १ ।

आयाराणुओग–आचारानुयोग–पु० आचारस्यानुयोगोऽनुयोगः सूत्राध्ययनात्पश्चादर्थ कथनम् । आचाराङ्गस्यार्थकथने आचाराङ्गस्य सूत्राध्ययनात्पश्चादर्थकथने च आचा० । द्वि० श्रु० अ० १ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(आचाराणुयोगे) अणोर्वा ह्रधीयसः सूत्रस्य महता र्थेन योगोऽनुयोगः। आचाराङ्गस्य महतार्थेन योगे च आचा०

आयारोवगय–आचारोपगत त्रि० चतुर्दशे योगसङ्ग्रहे। (आयार विणयोवगए) आचारोपगतत्वं विनयोपगतत्वं चेत्यर्थः इतिप्रश्नः। द्वा० ५ सं०।

आयार विणयओवगएत्ति द्वारद्वयम्। आचारोपगतः स्यान्न मायां कुर्या दित्यर्थः। विनयोपगतः स्यान्नमानं कुर्यादित्यर्थ। सम ० स० ३२।

आचारो पगत माह। आ ० क ०।

पाडलिपुत्त हुआसण जलणसहाचेव जलणदहणो।
असोहम्मपलिअ पयणए आमलकप्पाइनट्टविही।१।

नगरे पाटली पुत्रे, श्रावकोऽभूद्धुताशनः। तद्भार्याज्वलनशिखा, दहन ज्वलनौ सुतौ॥१॥ व्रतंचतुर्भिरप्यात्तं, ज्वलनात्सर त्वात्मनः। मायावी दहनोऽप्येही,त्युक्तोऽगाद्याहिचागमत्। ॥२॥ मृतोऽसौतद्वनालोच्य, सौधर्मेल्लावपीयतुः। पञ्चपल्य स्थितौ जातौ, शक्रान्यन्तर पर्षदि॥३॥ पुर्यामामलकल्पायां श्रीवीरः समवासरत्। तौलब्ध्याप्यागतौदेवौ, नाट्यं दर्शयत स्तदा॥४॥ ऋजुन्येकस्यरूपाणि, वक्रमप्यन्यस्य चाभवन्। तदृष्ट्वागौतमः स्वामी पप्रच्छ स्वामिनं ततः॥५॥ तत्प्रागभवं प्रभुः प्राह, मायादोषाद्धवत्यदः। आचारोपगतैकस्य, छित्ती यस्य च ना भवत॥६॥ आ० चू०॥ आव०॥

आयास–आयास–पुं०आ-यस-घञ् खेदे। चिन्तायास निचि विपुलसालो चिन्ताश्च चिन्तनानि आयासाश्चमनः प्रभृतीनां खेदास्तएव पादपान्तरेण चिन्ताशतान्येव निचिता निरन्तरा विपुला विस्तीर्णा शाखा शाखायस्य सतथेति प्रश्न० द्वा०५।

(आयास विसूरणा कलह कम्पियग्गसिहरो) आयास शरीरखेदः विस्तरणा चित्तखेदः कलहोवचनभण्डनम् एत देव प्रकम्पितं कम्पमानमग्रशिखरं शिखाराग्रं यस्य स तथा। प्रश्न० ॥ द्वा०॥५॥

आयास हेतुत्वात्परिग्रहेच परिग्रहस्य गौणनामान्यभिधानस्य आयासो आयासः खेदः तद्धेतुत्वात्परिग्रहोऽप्यायास उक्त आहच। शरीरमनसोर्व्यायामेच (आयासविसूरणं) आ यास विस्तरणं स्वदार गमने शरीरमनसोर्व्यायामं कुर्वतीति प्रकृतम्। परदार सेवनायांच विस्तरणमप्राप्तौ मनः खेदं पर-स्य वा मनः पीडां कुर्वन्तीति। प्रश्न०द्वा०॥५॥

आयासलिवि–आयासलिपि– स्त्री० ब्राह्म्यालिपेरष्टादशसु लेख्यविधाने इयमष्टादशी लेख्यविधाने प्रज्ञा० पद १

आर–आर–पुं० परभावापेक्षया इहभवेप्रव्रज्यापेक्षया गृहस्थ-त्वे मोक्षापेक्षया संसारेच (णाहिंसि आरंकओ परंकेहासि कम्मोहं किमती) सूत्र० श्रु० अ० २ तन्मार्गे प्रपन्नस्त्वमपि कथंहास्यसि आरमिहभवं कुतोवा परं परलोकं यदि वा आरमिति गृहस्थत्वं परमिति प्रवृज्या पर्यायम्। अथवा आर-मिति संसारं। परमिति मोक्षं एवं भूतश्चान्यो प्युभयभ्रष्टः (वेहसित्ति) अन्तराले उभयाभावतः स्वकृतः कर्मभिः कृ त्यते पीड्यतइति। परलोकापेक्षयाइहलोके नरकाद्यपेक्षया मनुष्यलोके च(लोग विदित्ता आरं परं च सव्वं पडुवारिय स-व्ववारं) सूत्र० श्रु० १ अ० ६

लोकंविदित्वा आरमिह लोकाख्यं पारं परलोकाख्यं यदि वा आरं मनुष्यलोकं पारमिति नरकादिकंस्त्ररूपतस्तत्प्राप्तिहेतुं ततश्चविदित्वा सर्वमेतत्प्रभुर्भगवान् सर्ववारं बहुशो निवा-रितवान् इति सूत्र० टी०।

चतुर्थ्याः पंकप्रभायाः पृथिव्याः स्वनामख्याते महानिरये च स्था० ठा० ४ आ ऋ कर्तरि संज्ञायां कन् दण्डान्तर्वर्तिन्यां शलाकायां स्त्री० टाप्० (कसंकुसारणि वाय दमणाणि आ-राच प्रवणी परायणदण्डान्तर्वर्तिनी शलाकेति प्रश्न०।

आरओ–आरतस्–अव्य० इहलोके, (इहलोके आरओ वा विदुहा वियअसंजया) सूत्र० श्रु० १ अ० ८

आरतः परश्चेति इहलोक परलोकयोरिति, सूत्र० टी० आरतः परतश्चेति लौकिकी वा युक्तिरितिएवं पर्यालोच्यमाना ऐहिकामुष्मिकयोर्द्वयोरपि स्वयंकरणेन परकरणेन वा संयता जीवोपघातकारिण इत्यर्थः सूत्र० श्रु० १ अ० ८

अर्वागित्यर्थेच आरेण पव्वाए व्य० उ० ४

त्रयाणां वर्षाणामारतोऽर्वाक् यानि प्रव्राजयतीति व्य०॥

आरम्भ–आरंभ–पुं० आरभ घञ् मुम् वर्गेन्त्योवा इति प्राकृतसूत्रेणानुस्वारस्य वर्गपरे प्रत्यासत्तेस्तस्यैव वर्ग-स्यान्त्यो वा भवति आरंभो आरंभो इति प्रा० उपक्रमे प्रथम-कृतौ वाच० प्रथमोत्पत्तौ (ओहिन्नाणारम्भो परिनिट्ठाणं चत जेसु) येष्ववधि ज्ञानस्याऽरंभः प्रथमोत्पत्तिलक्षण इति। विशे० (काऊण पञ्चमंगलमारंभोहोइ सुत्तस्स) आ० म०। हिंसादिकेसावद्यानुष्ठाने– सूत्र० श्रु० १ अ० २ आचा० अ० १३ उ० ३॥

आरंभतिरियंकट्टु आत्तताए परिव्वये–आरंभं सावद्या-नुष्ठानारूपं तिर्यक्कृत्वेति सूत्र। श्रु० १ अ. ३। आरंभेसु अणिस्सिए आरंभेषु सावद्यानुष्ठानरूपे ष्वनिश्रितोऽसंबन्धोऽप्र-वृत्त इत्यर्थ इतिसूत्रश्रु० १ अ० ९॥

आरंभगंचेवपरिग्गहंचअ विउस्सियाणिस्सियआयदंमा

आरंभं सावद्यानुष्ठानंच तथा परिग्रहं वा व्युत्सृज्य परित्यज्य तस्मिन्श्चवारंभेक्रयविक्रय पचनपाचनादिके तथा परिग्रहे धन-धान्यहिरण्यसुवर्ण चतुष्पदादिके निश्चयेन श्रितावद्धानि-श्रिता इति सूत्र० श्रु० २ अ० ६॥

आरंभः सावद्योयोगइति आचा० अ० ५ उ० ५॥

आरम्भणमारंभः शरीरसारणायान्नपानाद्यन्वेषणात्मक इति। आचा०॥

आरम्भः कृष्यादिव्यापार इति प्रश्न० द्वा० २॥

आरंभश्चस्वयं कृष्यादि करण मिति। पञ्च०॥

आरंभो हलदंतोलूखलादिखननलूना प्रकार इति। आव०॥

आरंभः परोपद्रव इति। आतु०॥

आरंभो जीवानामुपद्रवण मिति। प्रश्न०। द्वा० १॥

आरंभाः पृथिव्याद्युपद्रवलक्षणानि। ग०। अ० १॥

संकप्पो संरंभो, परितावकरोभवे समारंभो।
आरंभो उद्दवओ, सव्वनयाणं वि सुद्धाणं॥

प्राणातिपातंकरोमीति यः संकल्पोऽध्यवसायः स संरम्भः यस्तु परस्य परितापकरो व्यापारः स समारम्भः अपद्रावय-तो जीवितात्परं व्यपारोपयतो व्यापार आरंभः। आहच। चूर्णिकृत॥

पाणाइवायं करोमिति जोसंकप्पंकरे इति॥

चिंतयतीत्यर्थः॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संरंभे वट्टइ परितावणं करेइ समारंभे वट्टइ । एतच्च समारंभादि त्रितयं सर्वनयानामपि शुद्धानां सम्मतं अथवा शुद्धाणमित्यत्र प्राकृतत्वात्पूर्वस्याकारस्य लोपो द्रष्टव्यः ततोऽयमर्थः सर्वनयानामप्यशुद्धानामेतत्समारंभादि त्रितयं सम्मतं नत्वशुद्धानामिति— व्य० उ १ प्रज्ञा० २२ पद धर्म्म० अधि० ३ ग० अं० १ आचा० श्रु० २ चू० १ ॥

सव्वंपाणारम्भं पच्चक्खामिति प्राणानामारंभं विनाशादिरूपं प्रारंभमिति भातु० ॥

मनःकायमनोवाक्कायव्यापारानधिकृत्य तदेतत्त्रयव्यापारापादितचिकीर्षितप्राणातिपातादिक्रिया निर्वृत्तिरारंभ इति आचा० अ० १ ॥

आरंभं भूतोपमर्दनमिति । दशा० ॥

आरंभणमारंभः प्रथिव्याद्युपमर्द इति० उत० अ० ७ ॥

प्राण्युपमर्दकारिणि व्यापार इतिसूत्र० श्रु० १ अ० ॥१ ॥

प्राण्युपमर्दकारिणि विवेकिजननिन्दिते आरंभे व्यापारे, सू. श्रु. १ अ. १ आरम्भेण जीवोपमर्दकारिणा व्यापारेणेति सूत्र. श्रु. १ अ. १ आरंभः पृथिव्यादिजीवोपमर्दः कृष्यादि विषय इति औप. । आरम्भाः कृष्यादिद्वारेण पृथिव्याद्युपमर्द इति स्था ठा. २ । जेयआरम्भणिस्सिया सूत्र० । ये चान्ये पर्णाघलदा नानारूपसावद्यारम्भनिश्रिता यंत्रपीलन निर्लाञ्छन कर्मांगारदाहादिभिः क्रियाविशेषैर्जीवोपमर्दकारिण इति सूत्रः श्रु. १ अ. ए । (पुढवा इसु आरम्भ) पृथिव्यादिकार्येषु विषयभूतेषु आरम्भ इत्यारम्भणमारंभः संघट्टनादिरूप इति पं. व. । प्रमत्तयोगे च । आरम्भः सावद्यानुष्ठानम् प्रमत्तयोगो वा. उक्तञ्च ।

आयाणे णिक्खेवे, भासुस्सग्गे य ठाणगमणादी ।
सव्वोपमत्तजोगो, समणस्सउ होइ आरम्भो ॥१॥

आचा० अ. ५ उ. २ । स्था० ठा. ए । प्राणवधे, च । संघट्टनादिरूप इति प्राणवधस्य गौणनामान्यधिकृत्य आरम्भ समारम्भोऽथवेहारम्भसमारम्भयोरेकतर एव गणनीयो बहुसमरूपत्वादिति प्रश्न ० द्वा. १ ।

आरम्भसमारम्भयो द्वैविध्यम् दशाश्रुतस्कन्धे । तत्रैमौ द्वावपित्रिप्रकारौ तद्यथा मानसिकवाचिककायिक भेदात् । तत्र मानसिको मंत्रादिध्यानं परमारणे हेतोः प्रथमः तथा समारम्भः परपीडाकरोच्चाटनादिनिबन्धनध्यानं वाचिको यथा आरम्भः परव्यापादनक्षमक्षुद्रविद्यादि परावर्तन, संकल्पसूचको ध्वनिरेव समारम्भः परपरितापकरमन्त्रादि परावर्तन कायिको यथा आरम्भोऽभिघाताय यष्टिमुष्ट्यादिकरणं समारम्भः परितापकरो मुष्ट्या अभिघातः तथा चोत्तराध्ययने (आरम्भे य तहे वय मणं य वत्तमाणं तु नियतेज्ज जयं जई) उत. अ. २४ । आरम्भः परप्राणापहारक्षमोऽशुभ परिणामस्तस्मिन् परिणामे प्रवर्तमानं मनो निवर्तयेत् । आरम्भः परेषां क्लेशोच्चाटनमारणादिमन्त्रजापकरणं तत्राऽपि प्रवर्त्तमानं वचो निवारयेत् उत० टीः (आरम्भय तहेव य कायं पवत्तमाणं तु नियतेज्ज जयं जई) उत्त० अ. २४ । आरम्भे तथैव पुनः प्राणवधकरे यष्ट्यादि प्रयोगे कायं प्रवर्तमानं निवर्तयेत् इति उत्त० अ. २४ । आरम्भस्य भेदाः स्थानाङ्गे यथा स्था० ठा. ७ ।

सत्तविहे आरम्भे पं० तं. पुढवीकाय आरम्भे जाव अजीवकाय आरम्भे एवमणारम्भे वि एव सारम्भे वि एवमसारम्भे वि एवं समारम्भे वि एव मसारम्भे वि ।

टी० पुढवीत्यादि । सुगमं नवरं । प्रागभिहितं ।

आरम्भो उद्दवओ परितावकरो भवे समारम्भो ।
संरम्भो संकप्पो सुद्धणयाणं तु सव्वेसिं ॥

नत्वारम्भादयोऽपद्रावण परितापादिरूपा स्था० ठा. ७ । नैरयिकादीनां सारम्भानारम्भकत्वं चतुर्विंशतिदण्डकेन प्ररूपयन्नाह ।

नेरइयाणं भंते ? किं सारंभा सपरिग्गहा उदाहु अणारम्भा अपरिग्गहा ? गोयमा ? नेरइया सारम्भा सपरिग्गहा नो अणारम्भा अपरिग्गहा से केणट्ठेणं जाव अपरिग्गहा गोयमा ? नेरइयाणं पुढविकायं समारभंति, जाव तसकायं समारभंति सरीरा परिग्गहिया भवंति, सचित्ताचित्तमीसयाइं दव्वाइं परिग्गहियाइं भवंति से तेणं तं चेव असुरकुमाराणं भन्ते ? किं सारम्भा पुच्छा गोयमा ? असुरकुमारा सारम्भा सपरिग्गहा नो अणारम्भा अपरिग्गहा से केणट्ठेणं गोयमा ? असुरकुमाराणं पुढविकायं समारम्भंति जावतसकायं समारंभंति सरीरा परिग्गहिया भवंति कम्मा परिग्गहिया भवंति भवणा परिग्गहिया भवंति देवा देवीओ मणूसा मणूसीओ तिरिक्खजोणिया तिरिक्खजोणिणीओ परिग्गहियाओ भवंति, आसणसयणभंडमत्तोवगरणा परिग्गहिया भवंति ? सचित्ताचित्तमीसयाइं दव्वाइं परिग्गहियाइं भवंति ? से तेणट्ठेणं तहेव एवं जाव थणियकुमारा ॥

भंडमत्तोवगरणात्ति ॥ इह भांडानि मृण्मयभाजनानि पात्राणि कांस्यभाजनानि उपकरणानि लौहीकटाहकडुच्छुकादीनि एकेन्द्रियाणां परिग्रहो प्रत्याख्यानादवसेयः ॥

बेइन्दिया णं भंते ? किं सारंभा सपरिग्गहा तं चेव जाव सरीरा परिग्गहियाभवंति वाहिरिया भंडमत्तोवगरणा परिग्गहिया भवंति, सचित्ताचित्त जाव भवंति एवं जाव चउरिंदिया वाहिरया भंडमत्तोवगरणात्ति ।

उपकारसाधर्म्यादिन्द्रियाणां शरीररक्षार्थं तत्कृतगृहकादीन्यवसेयानि ।

पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं भंत ! तं चेव जाव कम्मा परिग्गहिया भवंति । टंका कूडा सेला सिहरी पब्भारा परिग्गहिया भवंति । जलथलबिलगुहलेणा परिग्गहिया भवंति उज्झरनिज्झरचिल्लल पल्लल विप्पिणा परिग्गहिया भवंति । अगडतडागदहनदीओ वावीपुक्खरिणी दीहिया गुंजालिया सरासरपंतियाओ सरसरपंतियाओ बिलपंतियाओ परिग्गहियाओ भवंति । आरामुज्जाणकाणणावणा वणखंडा वणराईओ परिग्गहियाओ भवंति ।

देव उल्लसन्नपव्वयथूनखाइय परिखाओपरिग्गहियाओ जवंति । पागारट्टालगचरियदारगोपुरपरिग्गहिया जवंति पासायघरसरणलेण आवण परिगाहिया जवंति । सिंघाडगतिग चउक्कचच्चरचउम्मुहमहापहापह पहापरिग्गहिया जवंति सगडरहजाणजुग्गगिल्लिथिल्लिसीयसंदमाणियाओ परिग्गहिओ जवति लोहीलोहकडाहकडुच्छुयापरिग्गहिया जवंति जवणा परिग्गहिया जवंति । देवादेवीओ मणुस्सा मणुस्सीओतिरिक्खजोणिया तिरिक्खजोणिणीओ आसणसयण खंनजंमसचित्ताचित्तमीसयाइं दव्वाइं परिग्गहियाइं जवंति । से तेणट्ठेणं जहा तिरिक्खजोणिया तहा मणुस्सा वि जाणियव्वा वाणमन्तरजोइसियवेमाणिया जहा जवणवासी तहा नेयव्वा ज० श० ५ उ० ७.

जीवा णं जंते किं आयारम्जा परारम्जा तडुजयारंजा अणारम्जा गोयमा? अत्थेगइया जीवाआयारम्जा विपरारम्जा वि तडुजयारम्जा वि णो अणारम्जा अत्थेगइया जीवा णो आयारम्जा णो परारम्जा णो तडुजयारम्जा अणारम्जा से केणट्ठेणं जन्ते एवंवुच्चइ अत्थेगइया जीवा आयारम्जा वि एवंपमिउच्चारेयव्वं गोयमा जीवा डुविहा पन्नत्ता तंजहा संसारसमावन्नगा य असंसारसमावन्नगा य तत्थणं जे ते असंसारसमावन्नगाय तेणं सिद्धा सिद्धाणं णो आयारम्जा जाव अणारम्जा तत्थणं जे ते संसारसमावन्नगा ते डुविहा पं० तं० संजया य असंजया य तत्थणं जे ते संजया ते दुविहा पं० तं० पमत्तसंजया य अपमत्तसंजयाय तत्थ णं जे ते अपमत्तसंजया ते णं णो आयारम्जा णोपरारम्जा जावअणारम्जा तत्थणं जेते पमत्तसंजया ते सुहं जोगं पडुच्च णो आयारंजा णो परारंजा जाव अणारंजा असुहजोगं पडुच्च आयारंजा वि जाव णो अणारम्जा तत्थ णं जे ते असंजया ते अविरतिं पडुच्च आयारंजावि जाव णो अणारम्जा से तेणट्ठेणंगोयमा! एवं वुच्चइ अत्थे गइया जीवा जाव अणारंजा ॥

टी० ॥ जीवा णं भंते ? किं आयारम्भेत्यादि । आरम्भो जीवोपघात उपद्रवणमित्यर्थः सामान्येन वाश्रवद्वारप्रवृत्तिस्तत्र आत्मानमारभंते आत्मना वा स्वयमारभंते इत्यात्मारम्जस्तथा परमारजंते परे णवारम्भयन्तीतिपरारम्जास्तडुजयमात्मरूप तडुजयेनवारजंत इति तडुजयारम्जः आत्मपरोजयारम्भवर्जितास्त्वनारम्भा इति प्रश्नः । अत्रोत्तरं स्फुटमेव नवरं अस्तिशब्दस्याव्ययत्वेन बहुत्वार्थत्वादस्ति विद्यन्ते सन्तीत्यर्थः । अथवा अस्ति अयं पक्षो यडुत । एगइयत्ति । एककाएके केचनेत्यर्थः । जीवा आत्मारम्भा अपीत्यादावपिशब्दः उत्तरपदापेक्षया समुच्चये सचात्मारम्जत्वादिधर्माणामेकाश्रयता प्रतिपादनार्थः भिन्नाश्रयताप्रतिपादनार्थो वा एकाश्रयत्वं च कालभेदेनावगन्तव्यं तथाहि कदाचिदात्मारंजाः कदाचित् परारंभाः कदाचित्तडुभयारम्जाः अत एव नो अनारम्जाः भिन्नाश्रयत्वं तु एवं एके जीवा असंयता इत्यर्थः आत्मारम्भा वापरारम्जा वेत्यादि अथैकस्वजावत्वात् जीवानां भेदमसम्नावयन्नाह से केणट्ठेणन्ति अथ केन प्रकारेण नेत्यर्थः॥ डुविहापन्नत्तत्ति । मया चान्यैश्च केवलिभिरनेन समस्तसर्वविदांमतभेदमाह मतभेदे तु मतवि रोधिवचनतया तेषामसत्यवचनतापत्तिः । पाटलिपुत्रस्वरूपाभिधायकविरुद्धवचनपुरुषकदम्बकवदिति प्रमत्तसंयतस्य हि शुभोऽशुजश्च योगः स्यात्संयतत्वात् प्रमादपरत्वाच्चेत्यत आह शुभंयोगं पडुच्चेति। शुभयोग उपयुक्ततया प्रत्युपेक्षणादिकरणं अशुजयोगस्तु तदेवानुपयुक्ततया आह च (पुढवी आ उक्काए तेऊवाऊवणस्सइतसाणं । पडिलेहणापमत्तो उण्हं पि विराहओ होइ । तथा सव्वो पमत्तयोगो समणस्स उ होइ आरम्भोत्ति) अतः शुभाशुभौ योगावात्मारम्भादिकारणामिति अविरइंपडुच्चत्ति इहायम्नावो यद्यप्यसंयतानां सूक्ष्मैकेन्द्रियादीनां नात्मारम्भकादित्वं साक्षादस्तितथाप्यविरतिंप्रतीत्येतदस्ति तेषां ते न हि ते ततो निवृत्ता अतोऽसं यतानामविरतिस्तत्र कारणमिति । निवृत्तानां तुकथं चिदात्माद्यारम्भकत्वेऽप्यनारम्जकत्वं यदाह " जाजयाणस्स भवे विराहणा सुत्तविहिसमग्गस्स । सा होई णिज्जरफला अज्भत्थविसोहि जुत्तस्सत्ति " ॥ १ ॥ भ० श० १ उ० १

णेरइया णं जंते किं आयारम्जा परारम्जा तडुजयारम्जा अणारंजा गोयमा णेरइया आयारम्जाविजाव णो अणारम्जा से केणट्ठेणं जंते एवं वुच्चइ गोयमा? अविरतिं पडुच्च से तेणट्ठेणं जाव णो अणारंजा एवं जाव पंचिंदियतिरिक्खजोणिया मणुस्सा जहा जीवा णवरं सिद्धविरहिता जाणियव्वा वाणमन्तरा जाववेमाणिया जहा णेरइया सलेस्सा जहा ओहिया किण्हलेसस्स नीललेसस्स काउलेसस्स जहा ओहियाजीवा णवरं पमत्त अपमत्ताण जाणियव्वा तेउलेसस्स सुक्कलेसस्स जहा ओहिया जीवा णवरं सिद्धाणं जाणियव्वा ॥

टी० णेरइयाण मित्यादि व्यक्तं नवरं मणुस्सेत्यादौ अयमर्थः मनुष्येषु संयता संयत प्रमत्ताप्रमत्तभेदाः पूर्वोक्ताः सन्ति ततस्ते यथा जीवास्तथाऽध्येतव्याः किंतु संसारसमापन्ना इतरे च तेन वाच्या जववर्तित्वादेव तेषामित्येतदेवाह सिद्धविरहियेत्यादि व्यन्तरादयो यथा नारकास्तथाध्येयाः असंयतत्वसाधर्म्यादिति, आत्मारम्जकत्वादि निर्धर्मैर्जीवा निरूपितास्ते च सलेश्याश्चालेश्याश्च जवन्तीति सलेश्यांस्तांस्तैरेव निरूपयन्नाह सलेसा जहा ओहियात्ति लेश्या कृष्णादि द्रव्य सान्निध्यजानतो जीवपरिणामो यदाह।कृष्णादिद्रव्यसाचिव्यात् परिणामो य आत्मनः। स्फटिकस्येव तत्रायं लेश्या शब्दः प्रयुज्यते ।१। तत्र लेश्यावन्तो जीवाः जहा ओहियत्ति यथा नारकादि विशेषणवर्जिता जीवा अधीता जीवाणं भंते किं आयारम्जा परारम्भे त्यादिना दएमकेन तथा सलेश्या जीवा अपि वाच्या सलेश्या नाम संसारसमापन्नत्वस्यासंभवे नासंसारसमापन्नेत्यादि विशेषण वर्जितानां शेषाणां संयतादि विशेषणानां तेष्वपि युज्यमानत्वात्तत्र चायं पाठक्रमः सलेसाणं जंते ? जीवा किं

आयारंभेत्यादि तदेव सर्वं नवरं जीवस्थाने सलेश्या इति वाच्यमिति अयमेको दण्डकः कृष्णादि लेश्याभेदात् तदन्ये षट् तदेव मेते सप्त तत्र किएह लेसस्येत्यादि । कृष्ण लेश्यस्य नीललेश्यस्य कापोतलेश्यस्य च जीवराशे र्दण्डको यथौधिकजीवदण्डकस्तथा ध्येतव्यः प्रमत्ताप्रमत्त विशेषण वर्ज्यः कृष्णादिषु हि अप्रशस्त भावलेश्यासु संयतत्वं नास्ति यच्चोच्यते पुव्वं पडिवन्नओ पुण अन्नयरीए उ लेसाए त्ति तत् द्रव्यलेश्यां प्रतीत्येति मन्तव्यं ततस्तासु प्रमत्ताद्यभावस्तत्र सूत्रो कारण मेव ।

किएहलेसाणं भंते जीवा किं आयारंभा ? ४ गोयमा ? आयारंभा वि जाव णो अणारम्भा से केणट्ठेणं भंते एवं वुच्चइ गोयमा ? अविरइं पडुच्च ।

एवं नीलकापोतलेश्या दण्डकावपीति तथा तेजोलेश्यादे र्जीवराशेर्दण्डका यथौधिका जीवास्तथावाच्याः नवर तेषु सिद्धा न वाच्याः सिद्धानामलेश्यत्वात्तेवं ।

तेउलेसाणं भंते जीवा किं आयारम्भा ? ४ गोयमा ? अत्थेगइया आयारम्भा वि जाव नो अणारम्भा अत्थे गइया नो अणारम्भा अत्थे गइया नो आयारंभा जाव अणारंभा से केणट्ठेणं भंते ? एवं वुच्चइ ? गोयमा ? दुविहा तेउलेस्सा पं. तं० संजया य, असंजया इत्यादि भ. श. १ उ. १ ।

आरम्भ वक्तव्यताऽऽचाराङ्गे लोकविजयाध्ययनस्य पञ्चमोद्देशके यथा तस्य चायमभिसम्बन्धः इह भोगान् परित्यज्य लोकनिश्रया संयमदेहप्रतिपालनार्थं विहर्त्तव्यमित्युक्तं तदत्र प्रतिपाद्यते । इह हि संसारोद्वेगवता परित्यक्तभोगाभिलाषेण मुमुक्षुणोत्क्षिप्तपञ्चमहाव्रतभारेण निरवद्यानुष्ठानविधायिना दीर्घसंयमयात्रार्थं देहप्रतिपालनाय लोकनिश्रया विहर्त्तव्यं निराश्रयस्य हि कुतो देहसाधर्म्यं चेति उक्तं हि धर्मञ्चरतः साधोर्लोके निश्रयपदानि पञ्चापि राजगृहपतिरपरः षट्कायगणसरीरेच ॥ १ ॥ वस्त्रपात्रान्नासन, शयनादीनि तत्रापि प्रायः प्रतिदिनमुपयोगित्वादाहारो गरीयानिति ॥ २ ॥ स च लोकादन्वेष्टव्यो लोकश्च नानाविधैरुपायैरात्मीयपुत्रकलत्राद्यर्थमारम्भप्रवृत्तस्तत्र साधुना संयमदेहार्थं प्रवृत्तिरन्वेषणीयेति दर्शयति आचा० २ अ. ४ उ.

जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं लोगस्स कम्मसमारम्भा कज्जंति तंजहा अप्पणो से पुत्ताणं धूयाणं सुण्हाणं णाईणं धाईणं राईणं दासाणं दासीणं कम्मकराणं कम्मकरीणं आदेसाए पुढोपहेणाए सामासाए पायरासाए सण्णिहिसंणिचओ कज्जइ इह मेगेसिं माणवाणं भोयणाए समुट्ठिये अणगारे आयरिये आयरियपन्ने आरियदंसी अयंसंधिति अदक्खु से णाइदिये णादियावये णं समणुजाणाति सव्वामगंधंपरिण्णाय णिरामगन्धो परिव्वये अदिस्समाणो कयविक्कयेसु से किणकिणेण किणावये किणन्तं ण अणुजाणेज्जा से भिक्खू कालण्णे बालण्णे मायण्णे खेयण्णे खणयण्णे विणयण्णे ससमयण्णे परसमयण्णे भावण्णे परिग्गहं अममायमाणे काले अणुट्ठाई अपडिन्ने दुहा तो छित्ताणियाइ वत्थं पडिग्गहं कंबलं पायपुंच्छणं उग्गहं च कडासणं एएसु चेव जाणेज्जा लद्धे आहारे अणगारे मायं जाणेज्जा से जहेयं भगवया पवेइयं लाभोत्ति ण मज्जेज्जा अलाभोत्ति ण सोएज्जा बहूंपि लद्धुं ण णिहे परिग्गहाओ अप्पाणं अवसक्केज्जा अण्णहाणं पासए परिहरेज्जा एस मग्गे आरिएहिं पवेदिते जहेत्थ कुसले णोव लिप्पिज्जा ॥ त्तिबेमि ॥

टी० जमिण मित्यादि । यैरविदितवेद्यैरिदमिति सुखदुःखप्राप्ति परिहारक्रियाणां कायिकाधिकरणिकाप्राद्वेषिकापारितापनिका प्राणातिपातरूपाणां वा समारम्भा इति मध्यगृहणाद्बहुवचन निर्देशाच्च समारंभारंभयोरप्युपादानं भावनीयमित्यर्थः । शरीरकलत्राद्यर्थं संरम्भसमारम्भाः क्रियंतेऽनुष्ठीयंते तत्र संरंभ इष्टानिष्टप्राप्तिपरिहाराय प्राणातिपातादिक्रियानिवृत्तिरारिसंकल्पावेशस्तत्साधनसन्निपातकायवाग्व्यापारजनितपरितापनादिलक्षणः समारंभः तदत्र त्रयव्यापारापादितचिकीर्षितप्राणातिपातादिक्रियानिवृत्तिरारंभः कर्मणोवाऽष्टप्रकारस्यसमारम्भा उपार्जनोपायाः क्रियन्त इति लोकस्येति चतुर्थ्यर्थे षष्ठी सापि तादर्थ्ये । कः पुनरसौ लोको यदर्थं संरम्भसमारम्भाः क्रियन्त इत्याह तं जहा अप्पणो से इत्यादि यदि वा लोकस्य तृतीयार्थे षष्ठी यदिति हेतौ यस्माल्लोकेन नानाविधैः शस्त्रैः कर्मसमारम्भाः क्रियन्त इत्येतस्मिन् लोके साधुवृत्तिमन्वेष्य यदर्थं च लोकेन कर्मसमारम्भाः क्रियन्ते तद्यथेत्यादिना दर्शयति तं जहा अप्पणो इत्यादि तद्यथेत्युपप्रदर्शनार्थं नोक्तमात्राभिवान्यदाप्येवं जातीयकाभिधादिकं " इष्टव्यं से तस्यारम्भारिप्सार्थमात्मा शरीरं तस्मै अर्थं तदर्थं कर्म्म समारंभाः पाकादयः क्रियंते ननु च लोकार्थं समारम्भाः क्रियंत इति प्रागभिहितं न च शरीरं लोको भवति नैतदस्ति यतः परमार्थेदस्यं ज्ञानदर्शनचारित्रात्मकमात्मतत्वं विहायान्यत्सर्वं शरीरा द्यपि पारक्यमेव तथाहि द्वाहारयापौ इहिकस्यापि तनस्य कर्मणो विपाकभूतानि पञ्चापि शरीराणीत्यतः शरीरात्मापि लोकशब्दाभिधेय इति तदित्थं कश्चिच्छरीरनिमित्तं कर्मारभते परस्तु पुत्रेभ्यो दुहितृभ्यः स्नुषा वध्वस्ताभ्यो ज्ञातयः पूर्वापरसम्बन्धाः स्वजनाः तेभ्यो धात्रीभ्यो राजभ्यो दासेभ्यो दासीभ्यः कर्मकरेभ्यः कर्मकरीभ्यः आदिश्यते परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया प्रत्याख्याय निरामगंधः सन् परिव्रजेत् संयमानुष्ठाने सम्यक् पालयेत् अनो यस्मिन्नागते तदातिथयेत्यादेशः प्राघूर्णक स्तदर्थं कर्मसमारंभाः क्रियन्त इति सम्बन्धस्तथा पुढोपहेणायेत्यादि पृथक् पृथक् पुत्रादिभ्यः प्रहेणकार्थं तथा समासापत्ति श्यामा रजनीतः श्यामाशः तदा तदर्थं तथा (पायरासयेति) प्रातरशनं प्रातराशस्तस्मै कर्म समारंभाः क्रियन्त इति सामान्येनो क्तावपि विशेषार्थं माह सन्निहीत्यादि सम्यग्निधीय इति संनिधि विनाशिद्रव्याणां दध्यो दनादीनां संस्थापन तथा सम्यगनिश्चयेन धीयते इति संनिचयो विनाशिद्रव्याणामन्यथा सितामृद्वीकादीनां संग्रहः संनिधिश्च संनिचयश्च संनिधिसंनिचयं प्राकृतशैल्या पुल्लिङ्गता अथवा संनिधेः संनिचयः संनिधिसंनिचयः स च परिग्रहसंज्ञादया दाजीविकाभयाद्वा यतश्चान्यादिरपरका दिनः क्रियत इति स च किमर्थ-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मित्याह । इहेत्यादि इहेति मनुष्यलोके एकेषामिह लोकभूत परमार्थ बुद्धीनां मानवानां मनुष्याणां भोजनायोप भोगार्थमिति तदेवं विरूपरूपैः शस्त्रैरात्मपरार्थं कर्म समारम्भ प्रवृत्ते लोके पृथक् प्रहेणकाय श्यामाशाय प्रातराशाय केषांचिन्मानवानां भोजनार्थं सन्निधिसन्निचय करणोद्यते सति साधुना किं कर्तव्यमित्याह (समुट्ठिए) इत्यादि यावत् णिरामगंधोपरिव्वए सम्यक् सन्ततं संगतं वा संयमानुष्ठानेनोत्थितो नानाविधशस्त्र कर्मसमारम्भोपरत इत्यर्थः नविद्यतेऽगारं गृहमस्येत्यनगारः पुत्रदुहितृस्नुषाज्ञाति धात्र्यादिरहित इत्यर्थः सोऽनगार आराद्यात सर्वहेयधर्मभ्य इत्यार्यश्चारित्रार्ह आर्या प्रज्ञा यस्यासावार्यप्रज्ञः श्रुतविशेषता सुमुखीक इत्यर्थः आर्यं प्रगुणन्याय्योपपन्नं पश्यति तच्छीलश्चेत्यार्यदर्शी पृथक् प्रहेणकस्य श्रमादिसंकल्परहितइत्यर्थः अयं सन्धीति सन्धानं सन्धीयते वासाविति सन्धिर्यस्य साधोरसावयं सन्धिशब्दस्त्वादिभेकरनुगियर्थे सन्धिर्यथाकालमनुष्ठानविधायी यो यस्य वर्तमानः कालः कर्तव्यतयोपस्थितस्तत्करणतया तमेव सन्धत्त इति एतदुक्तं भवति सर्वाः क्रियाः प्रत्युपेक्षोपयोगस्वाध्यायाभिक्षाचर्याप्रतिक्रमणादिका असपत्ना अन्योन्याबाधयात्मीयकर्तव्यकाले करोतीत्यर्थ इति हेतौ यस्मा यथाकालानुष्ठानविधायी तस्मादसावेव परमार्थं पश्यतीत्याहुः। (अदक्खुत्ति) व्यत्ययेनैकवचनावसरे बहुवचनमकारि ततश्चायमर्थो योऽनार्यआर्यप्रज्ञ आर्यदर्शी कालज्ञश्च सएव परमार्थमद्राक्षीन्नापर इति पाठान्तरम्वा अयं सन्धि अदक्खु अयमनन्तरोक्तविशेषण विशिष्टः साधुः सन्धि कर्तव्यकालं अद्राक्षीद्दृष्टवानेतदुक्तंभवति यः परस्पराबाधया हितप्राप्तिपरिहाररूपतया विधेया विधेयावसं वेत्ति विधत्तरं च सपरमार्थं ज्ञातवानिति अथवा संधिर्ज्ञानदर्शनचारित्राणामभिवृद्धिः स च शरीरमृते न भवति तदपि नोपष्टम्भकारणांतरेण तस्य च सावद्यस्य परिहारः कर्तव्य इत्यत आह (सेणाइए)इत्यादि स भिक्षुस्तद्वाः कल्प्यं नाददीत न गृह्णीयान्नाप्यपरमादापये कुद्याद्ये नाप्यपरमनेषणीयमाददानं समनुजानीयाद्यवा संगाग्रं सत्तूमं वा नाद्यात् नक्रये नापरमादापयेत् ददन्तं वा नसमनुजानीयादित्याह सव्वामगन्धमित्यादि आमंच गन्धं चामगन्धं समाहारद्वन्द्वस्सर्वं वेतदामगन्धंसर्वामगन्धं सर्वशब्दः प्रकारकार्त्स्न्येऽत्रगृह्यते न द्रव्यकार्त्स्न्ये आममपरिशुद्धं गन्ध ग्रहणेन तु पूतिर्गृह्यते ननु च पूतिद्रव्यस्याप्यशुद्धत्वादामशब्देनैवो पादानात्किमर्थं भेदेनोपादानमिति सत्यमशुद्धसामान्यात् गृह्यत किन्नद्रव्यकार्त्स्न्ये ऽग्राह्यते किन्तु पूतिग्रहणेनेह आधाकर्मा द्यविशुद्ध कोटिरूपता तस्याश्च गुरुतरत्वात्प्राधान्यख्यापनार्थं पुनरुपादानं ततश्चायमर्थः गन्धग्रहणेनात्मकर्मोद्देशिकात्रिकं पूतिकर्ममिश्रजातं बादरप्राभृतिकाध्यवपूरकाश्चेतषड्उद्गमदोषा अविशुद्धकोट्यन्तर्गता गृहीताः शेषास्त्वयो विशुद्ध कोट्यन्तर्गता आमग्रहणेनोपात्ता द्रष्टव्या इति सर्वशब्दस्य च प्रकारकार्त्स्न्याभिधायकत्वाद्यदेन केन चित् प्रकारेण आममपरिशुद्धं पूति वा भवति तत्सर्वं ज्ञपरिज्ञया ज्ञात्वा प्रत्याख्यानपरिज्ञया निरामगन्धः निर्गतो वामगन्धो यस्मात् स तथा परिव्रजेत् मोक्षमार्गे ज्ञानदर्शनचारित्राख्ये परिसमन्तात् व्रजेत् संयमानुष्ठानं सम्यगनुपालयेदितियावत् आमगृहणेन प्रतिषिद्धेऽपि क्रीतकृते तथाप्यत्रोपसत्त्वानां विशुद्धकोट्यान्तर्गतया मा भूत्तत्र प्रवृत्तिरतस्तद्दोषा नामग्राहं प्रतिषेधयितुमाह । आदिस्स । इत्यादि क्रयश्चश्च विक्रयश्च क्रयविक्रयौ । तयोः क्रयविक्रययोरदृश्यमानः कीदृश अतयोरदृश्यमानो भवति यतस्तयोर्निमित्तभूतद्रव्याभावादकिंचनोऽथवा क्रयविक्रययोरदिश्यमानोऽनुपदिश्यमानः कश्च तयोरनपदिश्यमानो भवति यः क्रीतकृतापरिभोगी भवतीत्याह च सनकिणे इत्यादि स मुमुक्षुरकिञ्चनो धर्मोपकरणमपि न क्रीणीयात् स्वतो वा नान्यपरेण क्रापयेत् क्रीणन्तमपि न समनुजानीयादथवा निरामगन्धः परिव्रजेदित्यत्रामग्रहणेन हनन कोटित्रिकं गन्धग्रहणेन पाचनकोटित्रिकं क्रयणकोटिकं पुनः स्वरूपेणैवोपात्तमतो नवकोटीः परिशुद्धमाहारं विगतांगारधूमं भुंजीत एतद्गुण विशिष्टश्च किंभूतो भवतीत्याह से भिक्खु (कालण्णे) कालः कर्तव्यावसरस्तंजानातीति कालज्ञो विदितवेद्यस्तथा बालज्ञो बलंजानातीति बालज्ञः सन्द्सत्वाद्दीर्घत्वमात्मबलसामर्थ्यं जानातीति यथाशक्त्यनुष्ठानविधाय्यनिगूहितबलवीर्य इत्यर्थस्तथा (मायण्णे) यावत् द्रव्यापर्याप्तमता मात्रा तां जानातीति मात्रज्ञस्तथा (खेयण्णे) खेदोऽभ्यासस्तेन जानातीति खेदज्ञो यथा खेदः श्रमः संसार पर्यटन जनितस्तं जानातीत्युक्तं च " जरामरणदौर्गत्य व्याधयस्तावदासतां । मन्ये जन्मैव वीरस्य भूयोभूयस्त्रपाकरमिति ॥१॥ अथ क्षेत्रज्ञः संसक्त विरुद्ध द्रव्यपरिहार्य कुलादिक्षेत्र स्वरूपपरिच्छेदकरतथा (खण यण्णे) क्षण एव क्षणकोऽवसरो भिक्षार्थ मप सर्पणादिः यस्तं जानातीति तथा (विणयण्णे) विनयो ज्ञानदर्शनचारित्रौपचारिकरूपस्तं जानातीति तथा (ससमयण्णे) स्वसमयं जानातीति स्वसमयज्ञो गोचर प्रदेशादौ दृष्टः सन् सुखेनैव भिक्षादोषा नाचष्टे तद्यथा षोडशोद्गमदोषास्ते चामी आधाकर्म उद्देशिकं पूतिकर्म मिश्रजातं स्थापना प्राभृतिका प्रकाशकरणं क्रीतं उद्धतकं परिवर्तितं अभ्याहृतं उद्भिन्नं मालाहृतं आच्छेद्यं अनिसृष्टं अध्यवपूरक श्चेति षोडशोत्पादनादोषास्ते चामी धात्रीपिण्डः दूतिपिण्डः निमित्तपिण्ड आजीवपिण्डः वनीमकपिण्डः चिकित्सापिण्डः क्रोधपिण्डः मानपिण्डः मायापिण्डः लोभपिण्डः पूर्वसंस्तवपिण्डः पश्चात्संस्तवपिण्डः विद्यापिण्डः मंत्रपिण्डः चूर्णयोगपिण्डः मूलकर्मपिण्ड श्चेति तथा दशैषणादोषास्ते चामी संकितं म्रक्षितं निक्षिप्तपिहितसंहृतदायकोन्मिश्रापरिणत लिप्तोज्झितदोषाएषां चोद्गमदोषा दातृकृता एव भवन्ति उत्पादनादोषास्तु साधुजनिता एषणादोषा उभयापादिता इति तथा परसमयज्ञो ग्रीष्ममध्याह्नतीव्रतरतरणिकर निकरावलीढगात्रस्वेदबिन्दुकः क्लिन्नवपुष्करसाधुः केनचिद्द्विजातिदेशेनाभिहितं किमिति भवतां सर्वजनाचीर्णं स्नानं नसम्मतमिति स आह प्रायः सर्वेषामेवयतीनां कामांगत्वात् जलस्नानं प्रतिषिद्धं (स्नानं मददर्पकरं कामाङ्गं प्रथमं स्मृतं । तस्मात्कामं परित्यज्य नैवस्नान्ति दमेरता इत्यादि नदेव समुभयज्ञस्त द्विषये प्रश्ने उत्तर दानकुशलो भवति तथा(भावण्णे) भावश्चित्ताभिप्रायो दातुः श्रोतुर्वा तंजानातीति भावज्ञः किंच (परिग्गहं) अममायमाणे) परिगृह्यत इति परिग्रहः संयमातिरिक्तमुपकरणादिस्तममर्मीकुर्वन् अस्वीकुर्वन्मनसाऽप्यनाददान इति यश्चरस एवं विधो भिक्षुः कालज्ञो मात्रज्ञः क्षेत्रज्ञः क्षणज्ञो विनयज्ञः समयज्ञो भावज्ञः परिग्रह मममी कुर्वाणश्च किं भूतो भवतीत्याह (कालाणुट्ठाइ) यद्यस्मिन् काले कर्तव्यं तस्मिन्नेवानुष्ठातुं शीलमस्येति कालानुष्ठायी कालानतिपातकर्तव्योद्यतो ननु चास्यार्थस्य से भिक्खु कालण्णु इत्यनेनैव गतार्थत्वात्किमर्थं पुनरभिधीयत इति नैषदोषस्तत्र हि ज्ञपरिज्ञैव केवलाभिहिता कर्तव्यकालं

जानातीह पुनरासेवना परिज्ञा कर्तव्यकाले कार्यं वियत इति किञ्च (अपरिण्णे) नास्य प्रतिज्ञा विद्यत इत्यप्रतिज्ञः प्रतिज्ञा च कषायोदयाद्भवति । तद्यथा क्रोधोदयात् स्कन्दकाचार्येण स्वशिष्ययन्त्रपीडनव्यतिकरमवलोक्य सबलवाहनराजधानीसमन्वितपुरोहितोपरि विनाशप्रतिज्ञाऽकारि । तथा मानोदयाद्बाहुबलिना प्रतिज्ञा व्यधायि । यथा कथमहं शिशून् स्वभ्रातॄनुत्पन्ननिरावरणज्ञानान् छद्मस्थः सन् वन्दिष्यामीति तथा मानोदयान्मल्लिस्वामि जीवेन यथा(परयत्ति)विप्रलम्भनं भवति तथा प्रत्याख्यानपरिज्ञा जगृहे तथा लोभोदयत्वाद्विदितपरमार्था सम्प्रतेक्षिणोत्पन्ना मासा मासक्षपणादिका अपि प्रतिज्ञाः कुर्वते अथवा प्रतिज्ञो निदानो वसुदेववत्संयमानुष्ठानं कुर्वन् निदानं न करोतीत्यथवा गोचरादौ प्रविष्टः सन्नाहारादिकं ममैवैतद्भविष्यतीत्येवं प्रतिज्ञो यदि वा स्याद्वादप्रधानत्वात् मौनीन्द्रागमस्यैकपक्षावधारणं प्रतिज्ञा तद्रहितोऽप्रतिज्ञस्तथाहि मैथुनविषयं विहायान्यत्र न क्वचित् नियमवती प्रतिज्ञा विधेया यतउक्तं ।

ण य किञ्चि अणुण्णायं, पडिसिद्धं वावि जिणवरिंदेहिं । मोत्तुं मेहुणभावं, न विणा तं रागदोसेहिं तया देसा जेण निरुज्झंति, जेणाणिज्जन्ति पुव्वकम्माइं, सो मोक्खो वा उ, रोगावत्थासु समणं वा । जेण नियाउ हेउ भवस्स तव्वेय तत्तिय मोक्खो । गणणातीता लोया दोण्ह वि पुण्णा भवे तुल्ला

इत्यादि अयं सन्धीत्यारभ्य कालेगुहा इति यावदेतेभ्यः सूत्रेभ्य एकादशपिण्डैषणा निर्व्यूढा इत्येवं तदप्रतिज्ञ इत्यनेन सूत्रेणैद्मापन्न न कश्चित् केनचित्प्रतिज्ञा विधेया प्रतिपादिताश्चागमे नानाविधा अभिग्रहविशेषास्ततश्च पूर्वोत्तरव्याहतिरेव सत्य तदुत्यत आह ।

(दुहओ छित्ता णियाति) छित्ते रागेण द्वेषेण वा या प्रतिज्ञा तां छित्वा निश्चयेन नियतं च याति ज्ञानदर्शनचारित्राख्ये मोक्षमार्गे संयमानुष्ठाने वा भिक्षार्थं च एतदुक्तं भवति रागद्वेषौ छित्वा प्रतिज्ञा गुणवतव्यत्यय इति स एवं भूतो भिक्षुः कालज्ञो बालज्ञो यावत् छिन्नोदनकं कुर्यात् इत्याह (वत्थं पडिग्गह इत्यादि) यावत् एएसु चेवजाणिज्जा एतेषु पुत्रादर्थमारम्भप्रवृत्तेषु सन्निधिसन्निचयकरणोद्यतेषु जानीयाच्छुद्धाशुद्धतया परिच्छिद्य तत्परिच्छेदद्भावमात्मकः शुद्धं गृह्णीयादशुद्धं परिहरेदिति यावत् किं न जानीयादत्र वस्त्रग्रहणेन वस्त्रैषणा सूचिता तथा पतद्ग्रहं पात्रमेतद्ग्रहणेन च पात्रैषणा सूचिता । कम्बलमित्यनेनाधिकः पात्रनिर्योगः कल्पश्च गृह्यते पादपुञ्छनकमित्यनेन च रजोहरणमित्येभिश्च सूत्रैरोघोपधिरौपग्रहिकश्च सूचितस्तथैतेभ्य एव वस्त्रैषणा पात्रैषणा च निर्व्यूढा तथा अवगृह्यत इत्यवग्रहः सच पञ्चधा देवेन्द्रावग्रहः राजावग्रहः गृहपत्यवग्रहः शय्यातरावग्रहः साधर्मिकावग्रहश्चेत्यनेनावग्रहप्रतिमा सर्वाः सूचिता अतएवासौ निर्व्यूढा अवग्रहकल्पिकश्चास्मिन्नेव क्रियते तथा कटासनं कटग्रहणेन संस्तारको गृह्यते आसनग्रहणेन चासन्दकादिविष्टरमिति आस्यते स्थीयते अस्मिन्निति वा आसनं शय्या ततश्चासनग्रहणेन शय्या सूचिता अतएव निर्व्यूढेति एतानि च समस्तान्यपि वस्त्रादीन्याहारादीनि चैतेष्वारम्भप्रवृत्तेषु गृहस्थेषु जानीयात् सर्वामगन्धं परिहाय निरामगन्धो यथा भवति तथा परिव्रजेदिति भावार्थः एतेषु चारम्भप्रवृत्तेषु परिव्रजन् यथा लाभं गृह्णी

यात्तत्कश्चिन्नियमोऽप्यस्तीत्याह लद्धे इत्यादि लब्धे प्राप्ते सत्याहारे आहारग्रहणं चोपलक्षणार्थमन्यस्मिन्नपि वस्त्रौषधादिके अनगारो निष्कर्मात्रां ज्ञानीयादावन्मात्रेण गृहीतेन गृहस्थः पुनरारम्भे न प्रवर्तते यावन्मात्रेण वात्मनो विवक्षितकार्यनिष्पत्तिर्भवति तथाभूतां मात्रामवगच्छेदिति भावः एतच्च स्वमनीषिकया नोच्यत इत्याह से जहेयं इत्यादि तद्यथेदमुद्देशकादेरारभ्यानन्तरसूत्रं यावद्भगवता ऐश्वर्यादिगुणसमन्वितेनार्द्धमागध्या भाषया सर्वस्वभाषानुगतया सदेवमनुजायां पर्षदि केवलज्ञानचक्षुषा अवलोक्य प्रवेदितं प्रतिपादितं सुधर्मस्वामी जम्बूस्वामिने इदमाचष्टे किञ्चान्यत् लाभोत्ति इत्यादि लाभोवस्त्राहारादेर्मम संवृत्त इत्यतोऽहं लब्धिमान् इत्येवं मदं न विदध्याच्च तदभावे शोकाभिभूतो विमनस्को भूयादित्याह च (अलाभोत्ति) इत्यादि अलाभे सति शोकं न कुर्यात् कथञ्चिन्मन्दभाग्योऽहं येन सर्वदा दानोद्यतेनापि दातुर्न लभेऽहमिति अपि तु तयोर्लाभालाभयोर्माध्यस्थ्यं भावनीयमित्युक्तं च लभ्यते साधुः साधुरेव न लभ्यते । अलब्धे तपसो वृद्धिर्लब्धे तु प्राणधारणमित्यादितदेवं पिण्डपात्रवस्त्रावरणैषणाः प्रतिपादिताः सम्प्रति संनिधि प्रतिषेधं कुर्वन्नाह बहुं पिइत्यादि बह्वपि लब्ध्वाणं णिहेत्ति नस्थापयेत् संनिधिं कुर्यात् स्तोकं तावन्न संनिधीयेत एवं बह्वपि न संनिदध्यादित्यपि शब्दार्थः न केवलमाहारसंनिधिं न कुर्याद्यपरमपि वस्त्रपात्रादिकं संयमोपकरणातिरिक्तं न बिभृयादित्याह परीत्यादि परिगृह्यत इति परिग्रहो धर्मोपकरणातिरिक्तमुपकरणं तस्मादात्मानमपसर्पयेत् दर्शयन् संयमोपकरणमपि मूर्च्छया परिग्रहो भवति मूर्च्छापरिग्रह इति वचनात्तेन आत्मानं परिग्रहाद्दपसर्पयन्नुपकरणे तुल्यगन्मूर्च्छा न कुर्यात् ननु च यः कश्चिद्धर्मोपकरणादपि परिग्रहो न सचित्त कालुष्यं मुनेर्भवति तथाह्यात्मीयोपकारिणि उपघातकारिणि च द्वेषतः परिग्रहे सति रागद्वेषौ नेदिष्टौ तेभ्यश्च कर्मबन्धस्तत्कथं परिग्रहो धर्मोपकरणमुक्तं च (ममाहमिति) चैष यावदभिमानदाहज्वरः कृतान्तमुखमेव तावदिति न प्रशान्त्युन्नयः । यशःसुखपिपासितैरयमसावनर्थोत्तरैः परैरपसदः कृतोऽपि कथमप्यपाकृष्यते ॥ १ ॥ नैष दोषः नहि धर्मोपकरणे ममेदमित्येवं साधूनां परिग्रहयोगोऽस्ति । तथाह्यागमः । अवियप्पणो विदेहंमि णायरंति ममाइयं । यदिह परिगृहीत कर्मबन्धायोपकल्पते स परिग्रहो यत्तु पुनः कर्मनिर्जरणार्थं प्रभवति तत्परिग्रह एव न भवतीत्याह च । अमहाणंइत्यादि णमिति वाक्यालंकारे अन्यथा अन्येन प्रकारेण पश्यकः सन् परिग्रहं परिहरेद्यथाह्यविदितपरमार्था गृहस्थाः सुखसाधनाय परिग्रहं पश्यन्ति न तथा साधुस्तथाह्ययमस्याशयः आचार्यसत्कमिदमुपकरणं न ममेति रागद्वेषमूलत्वात्परिग्रहाग्रहयोगोऽत्र निषेध्यो न धर्मोपकरणं तेन विना संसारार्णवपारगमनादि उक्तं च (साध्यं तथाकथंचित् स्वल्पं कार्यं महच्च न तथेति । प्लवनमते नहि शक्यं पारं गंतु समुद्रस्य ॥ १ ॥) अत्र चार्हतामासैर्बौद्धैः सह महान्विवादोऽस्तीत्यतो विवक्षितमर्थं तीर्थकराभिप्रायेणापि सिसाधयिषुराह । एसमग्गेइत्यादि । धर्मोपकरणं न परिग्रहायेत्यनन्तरोक्तो मार्गः । आराध्यातोः सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यार्यस्तीर्थकृतस्तैः प्रवेदितः कथितो ननु यथाबौद्धैः कुण्डिकानन्दिकानन्दिका यवणिकाश्च यथास्थितिश्च

स्वरुचिविरचितो मार्ग इति नन्नु वा यथा मौद्गलिस्वाति-पुत्राभ्यां शौद्धोदनि स्वजीकृत्य प्रकाशितः इत्यनया दिशा अन्येऽपि परिहार्या इति। इह तु स्वशास्त्रगौरवमुत्पादयितु-मार्यैः प्रवेदित इत्युक्तमसिमन्नार्थे प्रवेदिते मार्गे प्रयत्नवता-भाव्यमित्याह। जहेत्थेत्यादि लब्धकर्मभूमि मोक्षपादपबीज-भूताञ्च बोधिं सर्वसंवारित्रं च प्राप्य तथा विधेयं यथा कुशलो विदितवेद्योऽवासिन्मार्यप्रवेदितमार्गे आत्मानं पापेन कर्म्मणा नोपलिपयेदिति एवंचोपलिपनं भवति यदि यथो-क्तानुष्ठानविधायित्वं न भवति सतां चायं पन्थाः यदुत यत् स्वयं प्रतिज्ञातं तद्यत्योच्छ्वासं यावद्विधेयमित्युक्तं च (लज्जां गुणौघजननीं जननीमिवार्यामत्यन्तशुद्धहृदयामनुवर्तमानाः ते-जस्विनः सुखमसूनपि संत्यजन्ति सत्यस्थितिव्यसनिनो न पुनः प्रतिज्ञां १) इति शब्दोऽधिकारसमाप्त्यर्थो ब्रवीमीति॥ आरम्भप्रशंसकस्य निन्दा दर्शनशुद्धौ यथा।

जे मय आरंभपाते,जीवा होंति अप्पदोसय रा, तउ महा-पावपए, जे आरम्भं पसंसंति

दर्शी०॥ आरम्भ प्रसक्तानां निन्दा गच्छाचारे अ. २ यथा॥

आरंभेसु पसत्ता, सिद्धं तपरंमुहा विसयगिद्धा मुत्तुमुणिणो गोयम, वसिज्ज, मज्झेसु हियाणम् १ ७४ ॥

व्या० आरंभेषु पृथिव्या द्युपमर्दनेषु प्रसक्ता स्तत्पराः सिद्धां-तपराङ्मुखा आगमोक्तानुष्ठानशून्या विषयेषु शब्दरूपरसगंध स्पर्शेषु गृद्धा लंपटा हे गौतम ? ये एवंविधास्तान् मुनीन् मुक्त्वा परित्यज्य सुविहितानां सदनुष्ठानो द्यतानां मध्ये वस-न्मुनिरिति॥ आरम्भजीविनो ऽप्रशंसा ऽनारम्भजीविनश्च प्रशंसा ऽऽचारांगे लोकसाराध्ययनस्य द्वितीयोद्देशके यथा ॥०॥ अस्य चायमभिसंबंध इह प्रागुद्देशके एक चर्याप्रति पन्नोऽपि सावद्यानुष्ठाना द्विरतेरभावाच्च न मुनिरित्युक्तमिह तु तद्विपर्ययेण यथा मुनिर्भावः स्यात्तथोच्यत इत्यनेन संबं-धेना यातस्यास्यो द्देशकस्यादिसूत्रं ॥ आचा०॥

आवंती केयावंती लोगंसि अणारंभजीवी ते सु चेव अणारंभजीवी एत्थो वरए तं ज्झो समाणो धम्मं अतासयं चयोवजज यं विपरिणाम पासह एवं रूव य स-धिं समुवेह माणस्स एकायतणरयस्स इयरस इह विप्प-मुक्कस्स णत्थि मग्गे विरतस्सत्ति तिवेमि ॥

टी० आ०॥ आवन्तीत्यादि यावत् केचन लोके ऽनारंभ-जीविनि आरम्भः सावद्यानुष्ठानं प्रमत्तयोगो वा तदुक्तं च।

"आयाणे णिक्खेवे भासुस्सग्गे य ठाणगमणादी सव्वो पमत्त जोगो समणस्सओ होइ आरंभो"

तद्विपर्ययण त्वनारम्भस्तेन जीवितुं शीलमेषामित्यनारंभजीविनो यतयः समस्तारंभनिवृत्तास्तेष्वेव गृहिषु पुत्रकलत्रस्वशरीरा-र्थमारंभं आयनो भवन्ति एतदुक्तं भवति सावद्यानुष्ठान-प्रवृत्तेषु गृहस्थेषु देहसाधनाथ मनवद्यारंभजी विनस्साधवः पङ्काधारपङ्कजवाम्बु लेपा एव भवंति। यद्येवं ततः किमि-त्याह। एत्थोवरए इत्यादि अत्रास्मिन् सावद्यारंभे कर्त्तव्ये उपरतः सङ्कुचितगात्रः अत्र चाहत धर्म्मो व्यवस्थित उपरतः पापारम्भात् किं कुर्वन्नस्सावद्यानुष्ठानायातं। कर्म्म जोषयन् क्षपयन् मानभाव नजत इति किमभिसंध्य अत्रोपरतः इत्यादि-त्याह अयं संधीति।

अदक्खु जे इमस्स विग्गहस्स अयं खणेत्ति अणेसीए समणे आयरिएहिं पवेदिते उट्ठिते णो पमायए जाणित्तु दुक्खं पत्तेयं सायं पुढोछंदा इह माणवा पुढो दुक्खं पवे-दितं से अविहिंसमाणे अणवयमाणे पुट्ठो फासे विप-णोल्लए एस समिया परियाए वियाहिए जे असत्तापावे-हिं कम्मेहिं उपा हुत्ते आयंका फुसंति इति उदाहु धीरे ते फासे पुट्ठोहियासए से पुव्वं पेयं पच्छापेयं भिउरध-म्मं विद्धंसणधम्मं अधुवं अणितियं ॥

अयं संधीत्यादि अविवक्षितकर्म्मका अप्येककर्म्मका धातवो यथा पश्य मृगोधावतीयवमवाप्यद्राक्षीदित्येतत् क्रियायोगे ऽप्ययं संधिरिति प्रथमा इतेति अयमिति प्रत्यक्षगोचरापन्न आर्यक्षेत्रे सुकुलोत्पत्ती।ऽन्द्रियनिर्वृत्ति श्रद्धा संवेगलक्षणः संधि-रवसरो मिथ्यात्व इयाद्युदयलक्षणो वा सम्यक्त्वावाप्तिहेतु भूतः कर्म्मविवर लक्षणः सन्धिः शुभाध्यवसायसंधानहेतो वा संधिरित्येनं स्वात्मन्यवस्थित मद्राक्षी ज्ञावानियतः क्षण-मप्येकं न प्रमाद्येत विषयादिप्रमादवशगो भूयात्कथ्च न प्रम-त्तः स्यादित्याह।(जे इमस्स इत्यादि)। इत्युपलब्धतत्त्वे ऽस्या-ध्यक्षस्य विशेषण गृह्यते अनेनाष्टप्रकारं कर्म तदेतर शरीरवि-शिष्टं वाह्यो ऽपियेण गृह्यत इति विग्रहः औदारिकं शरीरं तस्या यं वार्त्तमानिकः क्षण एवं भूतः सुखदुःखान्यतरहृपश्च गत एवं ज्ञातश्च भावीत्येवं यः अन्वेषणशीलः सोऽन्वेषी सदा अप्रमत्तः स्यादिति स्वमनीषिकापरिहारार्थमाह।(एसमग्गे) इत्यादि एषो ऽनंतरोक्तो मार्गो मोक्षपथ आर्यैः सर्व हेयधर्मो पारायवर्तिभिस्तीर्थ करगणधरैः प्रकर्षेणादौ वा वेदितः कथि-तः प्रवेदिति इति न केवलमनंतरो वक्ष्यमाणश्च तीर्थकरैः प्रवेदित इत्याह (उट्ठिएइत्यादि) प्रसंधिम धिगम्यो स्थितो धर्म चरणाय क्षणमप्येकं न प्रमाद्येत् किं वा (परमधिगमेत्याह) जाणित्ति इत्यादि ज्ञात्वा प्राणिनां प्रत्येकं दुःखं तदुपादानं वा कर्म तथा प्रत्येकं सातं च मन आह्लादि ज्ञात्वा समुत्थितो न प्रमादेत् न केवलं दुःखं कर्म वा प्रत्येक तदुपादानहेतो ऽध्यव-सायो ऽपि प्राणिनां भिन्न एवेति दर्शयितुमाह (पुढो इत्यादि) पृथग्भिन्नश्छन्दो ऽभिप्रायो येषां ते पृथक् छन्दा नानाकृत-बन्धाध्यवसायस्थाना इत्यर्थः इहेति संसारे संज्ञिलोके वा के ते मानवा मनुष्या उपलक्षणार्थत्वादन्ये ऽपि संज्ञिनां पृथक् संकल्पत्वाद्य तत्कार्यमपि कर्म पृथगेव तत्कारणमपि दुःखं नानारूपमिति कारणभेदे कार्यभेदस्यावश्यंभावित्वा दित्यतः पूर्वोक्तं स्मारयन्नाह (पुढो इत्यादि,) दुः-खोपादान भेदात् दुःखमपि प्राणिनां पृथक् प्रवेदितं सर्वस्य स्वकृतकर्मफलेश्वरत्वाद्यान्यकृतमन्यउपभुक्तं इत्य तन्मत्वा किं कुर्यादित्याह से इत्यादि सोऽनारंभ-जीवी प्रत्येकंसुखदुःखाध्यवसायो प्राणिनो विविधैरुपाये रहिंसस्तथानपवदन् अन्यथैव व्यवस्थितं वस्त्वन्यथा वद-न्नापवदन् मृषावादमब्रुवन्नित्यर्थः यस्य न भूतस्यापि प्राकृत-त्वादर्थत्वाल्लोपः एवं परस्वमगृह्णन्नित्याद्यध्यायोग्यं एतदि-धायी च किमपरं कुर्यादित्याह (पुट्ठो इत्यादि) सपञ्चमहाव्रत व्यवस्थितः सन् यथा गृहीतप्रतिज्ञानिर्वाहणोद्यतः स्पृष्टः परीषहोपसर्गैस्तैन् तत्कृतान् शीतोष्णादिस्पर्शान् दुःखस्प-र्शान् वा तत्सहिष्णु तया अनाकुलो विविधैः प्रकारैः प्रसार

भावनादिभिः प्रेरयन् तत्प्रेरणं च सम्यक् सहनं न तत् कृतया दुःखासिकयात्मानं भावयेदिति यावत् योहि सम्यक्करणतया परीषहान् सहेत स किं गुणः स्यादित्याह एस इत्यादि एषोऽनंतरोक्तो यः परीषहाणां प्रणोदकः समिया सम्यक् शमिता वा शमोऽस्यास्तीति शमी तद्भावः शमिता पर्यायः प्रव्रज्या सम्यक्शमितया वा पर्यायः प्रवज्यास्येति विगृह्य बहुव्रीहिः स सम्यक् प्रर्यायः शमिता पर्यायो वा व्याख्यातो नापर इति तदेव परीषहोपसर्गाक्षोभ्यतां प्रतिपाद्य व्याधिसहिष्णुतां प्रतिपादयन्नाह जे असत्ता इत्यादि, ये अपाकृत मदनतया समतृणमणिलेष्टुकांचनाः समतापन्नाः पापेषु कर्म्मस्वसक्ताः पापोपादानानुष्ठानरता उदाहु कदाचित्तांस्तथाभूतान् साधून् आतंका आशुजीवितापहारिणः शूलादयो व्याधिविशेषाः स्पृशंत्यभिभवंति पीडयन्ति यदि नामैवं ततः किमित्याह इति उदाहु इत्यादि इत्येतद्वक्ष्यमाणमुदाहृतवान् व्याकृतवान् कोऽसौ धीरो धीर्बुद्धिस्तया राजते स च तीर्थकृत् गणधरो वा किंतदुदाहृतवांस्तै रातंकैः स्पृष्टः सन् तान् स्पर्शान् दुःखानुभवान् व्याधिविशेषापादितानध्यासयेत् सहेत किमभिप्रायेणेत्याह से पुव्वं इत्यादि स स्पृष्टः पीडित आशु जीवितापहारिभिरातंकैरेतद्भावयेद्यथा पूर्वमप्येतदसातावेदनीयविपाकजनितं दुःखं मयैव सोढव्यं पश्चादप्येतन् मयैव सहनीयं यतः संसारोदरविवरवर्ती न विद्यत एवासौ यस्यासातवेदनीयविपाकापादितारोगातंका न भवेयुस्तथा हि केवलिनोऽपि मोहनीयादिघातिचतुष्टयादुत्पन्नज्ञानस्य वेदनीयसद्भावेन तदुदयात्तत्सम्भव इति यतश्च तीर्थकैरप्येतद्वक्ष्यमाणं स्पृष्टनिधत्तनिकाचनावस्थायातं कर्म्मावश्यवेद्यं नान्यथा तन्मोक्षोऽतोनेमाप्यसातावेदनीयोदये सनत्कुमारदृष्टांतेन मयैवैतत्सोढव्यमित्याकलय्य नोद्विजितव्यमित्युक्तंच " स्वकृतपरिणतानां दुर्नयानां विपाकः पुनरपि सहनीयोऽन्यत्र ते निर्गुणस्य॥ स्वयमनुभवतोऽसौ दुःखमोक्षाय सद्यो भवशतगतिहेतुर्जायतेऽनिच्छतस्ते" अपि चैतदौदारिकं शरीरं सुचिरमप्यौषधरसायनाद्युपबृंहितं मृण्मयामघटादपि निस्सारतरं सर्वदा सदा विशरारुरिति दर्शयन्नाह । भेउरधम्मं इत्यादि यदि वा पूर्वं पश्चादप्येतदौदारिकं शरीरं वक्ष्यमाणधर्मस्वभावमित्याह । भेउरधम्ममित्यादि स्वयमेव भिद्यत इति भिदुरः स धर्मोऽस्य शरीरस्येति भिदुरधर्मं इदमौदारिकं शरीरं सुपोषितमपि वेदनीयोदयाच्छिरोऽदरुरः प्रभृत्यवयवेषु स्वत एव भिद्यत इति भिदुरं तं विध्वंसयन् धर्म्मं पाणिपादाद्यवयवविध्वंसनात् तदावश्यं भावितं भ्रियमाते सूर्योदयवत् ध्रुवं न तथाऽध्रुवं तथा प्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावतया कूटस्थनित्यत्वेन व्यवस्थितं सादित्यं नैव यत्तदनित्यमिति तथा तेन तेन रूपेणोदकधारावत् शस्वद्भवतीति शाश्वतं ततोऽन्यदशाश्वतं तथेष्टाहारोपभोगतया भृत्युपष्टम्भादौदारिकशरीरवर्गणापरमाण्वचयात्तदभावे न तद्विघटनादपचयः चयापचयौ विद्येते यस्य तच्चयापचयिकं मतएव विविधपरिणामोऽन्यथाभावात्मको धर्म्मः स्वभावो यस्य तद्विपरिणामधर्म्मं यतश्चैवं भूतमिदं शरीरकमतोऽस्योपरि कोऽनुबंधः का मूर्च्छनास्य कुशलानुष्ठानमृतेऽन्यथा साफल्यमित्येतदेवाह पासह इत्यादि पश्यतैनं पूर्वोक्तरूपं संधिभिदुरधर्माद्यात्मौदारिकं पंचेन्द्रियनिर्वृत्तिप्राभावसरात्मकं दृष्ट्वा च विविधातंकजनितान्स्पर्शानध्यासयेदिति एतत्पश्यतश्च यत्स्यात्तदाह । समुवेह इत्यादि सम्यगुत्प्रेक्ष्यमाणस्य पश्यतोऽनित्यताघ्रातमिदं शरीरकमित्येवमवधारयतो नास्ति मार्ग इति संबंधः । किंच आङ् अभिविधौ समस्तपापारंभेभ्य आत्मा आयत्यते आनियम्यते तस्मिन् कुशलानुष्ठाने वा यत्नवान् क्रियत इत्यायतनं ज्ञानादित्रयमेकमद्वितीयमायतनमेकायतनं तत्र रतस्य किंच इह शरीरे जन्मनि वा विविधं परमार्थभावनया शरीरानुबन्धात्प्रमुक्तो विप्रमुक्तस्तस्य नास्ति न विद्यते कोऽसौ मार्गो नरकतिर्यङ्मनुष्यगमनपरूति वर्त्तमानसामीप्ये वर्त्तमानदर्शनाच्च भविष्यतीति नास्तीत्युक्तं यदि वा तस्मिन्नेव जन्मनि समस्तकर्मक्षयोपपत्तेर्नास्ति नरकादिमार्गः कस्येति दर्शयति विरतस्य हिंसाद्याश्रवद्वारेभ्यो निवृत्तस्य इत्यधिकारपरिसमाप्तौ ब्रवीमीति सुधर्मस्वाम्यात्मानमाह ॥ यद्भगवता वीरवर्द्धमानस्वामिना दिव्यज्ञानेनार्थानुपलभ्य वाग्योगेनोक्तं तदहं भवतां ब्रवीमि न स्वमतिविरचनेनेति ॥

आरम्भोपरमणं च शोभनं तथा चाचाराङ्गे ॥

जस्स णत्थिपुरे पच्छा मज्झे तस्स कुतो सिया ।
से हु पन्नाणमन्ते बुद्धे, आरंभोवरए सममेयं ति ॥
पासह जेण बंधं वहं घोरं परितावं च दारुणं ।
परिच्छिंदि य बाहिरगं च सोयं ॥

जस्स नत्थि इत्यादि, यस्य भोगविपाकवेदिनः पूर्वभुक्तानुस्मृतिर्नास्ति नापि पाश्चात्यकालभोगाभिलाषिता विद्यते तस्य व्याधि विचिकित्सारूपान् भोगान् भावयतो मध्ये वर्त्तमानकाले कुतो भोगेच्छा स्यात् मोहनीयस्योपशमान्नैव स्यादित्यर्थः यस्य तु त्रिकालविषया भोगेच्छा निवृत्ता स किंभूतः स्यादित्याह ॥ सेहुइत्यादि हुर्यस्मादर्थे य स्मान्निवृत्तभोगाभिलाषस्तस्मात्स प्रज्ञानवान् प्रकृष्टं ज्ञानं जीवाजीवादिपरिच्छेत्तृ तद्विद्यते यस्यासौ प्रज्ञानवान् यत एव प्रज्ञानवानत एव बुद्धोऽवगततत्वः यत एवंभूतोऽत एवाह आरम्भोवरए सावद्यानुष्ठानमारंभस्तस्मादुपरत आरंभोपरतः एतच्चारंभोपरमणं शोभनमिति दर्शयन्नाह सममित्यादि यदिदं सावद्यारम्भोपरमणं सम्यगेतच्छोभनमेतत्सम्यक्त्वकारणत्वाद्वा सम्यक्त्वमेतदित्येवं पश्यत एवंगृह्णीत यूयमिति किं मिथ्यारंभोपरमणं सम्यगिति चेदाह जेण इत्यादि येन कारणेन सावद्यारंभप्रवृत्तो बंधं निगडादिभिर्वधं कशादिभिर्घोरं प्राणसंशयरूपं परितापं शारीरमानसं दारुणमसह्यमवाप्नोति तं आरम्भोपरमणं सम्यग्भूतं कुर्यात् किंभूत्वेत्याह पलिछिंदि इत्यादि परिछिद्य अपनीय किं तद्भूतं पापोपादानं तच्चबाह्यं धनधान्यहिरण्यपुत्रकलत्रादिरूपं हिंसाद्याश्रवद्वारात्मकं च शब्दान्तरं च रागद्वेषात्मकं विषयपिपासारूपं चेति ॥ तथाच महानिशीथे २ अ०

अत्थेगे गोयमा ? पाणी जेणो वयइ परिग्गहं जावइयं गोयमा तस्स सचित्ताचित्तभेयसंगं, पच्चूयं वाणुजीवस्स भवेज्जा उपरिग्गहं । तावइएणं तु सोपाणि ससंगो मुक्खसाहाणं णाणात्तिगं ण आराहे तम्हा वज्जेपरिग्गहं अत्थेगे गोयमा पाणि जे पयहे ताए परिग्गहं आरंभं न विवेज्जेज्जा जं पियं भवपरंपरा आरंभे पत्थियस्सेगवि यलजीवस्स वड्यथरे संघट्टणा इयं कम्मं बद्धं गोयमा ? सु ण एगे बेइंदिए जीवे एगं समयं अणिच्छमाणे

वल्लाभिओगेणं हत्थेणं वा पाएणं वा अन्नयरेण वा सला-
गाइ ओवगरणं जाएणं जे केइ पाणि आगाढं संघट्टेज्ज
वा संघट्टावेज्जा वा संघट्टिज्जमाणं वा आगाढं परेहिं
समणुजाणेज्जा सेणं गोयमा ? जाया तं कम्म उदयं
गच्छेज्जा तया णं महया केसेणं छम्मासेणं विदिज्जा गाढं
दुवालसाहिं संवच्छरेहिं तमेव आगाढं परिआवेज्जा वास-
सहस्सेणं गाढं दसहिं वाससहस्सेहिं तमेव आगाढं
किलामेज्जा वासलक्खेणं गाढं दसहिं वा लक्खेहिं अह
णं उद्दाविज्जा तउ वासकोडीए एवं ती चउपंचिंदिएसु
दट्ठव्वं सुहमस्स पुढविजीवस्स जत्थेगस्सवि अप्पारंभं
तयं चिंते गोयमा ? सव्वकेवली सुहुमस्स पुढविजीवस्स
वावि ती जत्थसंभवे महारंभं तयं चेति गोयमा ? सव्व-
केवली एवं तु समिलं तेहिं कम्मकुरुमेहिं गोयमा ? सेसो
भद्दो अणंतेहिं जे आरंभे पवत्तए आरंभे वट्टमाणस्स
बद्धपुट्ठनिकाइयं, कम्मं बद्धं भवे तम्हा, तम्हारंभं विव-
ज्जए ? पुढवि इ अजीवकायं ता सव्व भावे हि सव्वहा।
आरंभे जे निअट्टेज्जा से अइए जम्मजरामरणसव्वदारि-
ददुक्खाण विमुच्च इति अ० २ । तथाचबृहत्कल्पे वस्त्र-
च्छेदनमधिकृत्य विनाय आरंभमिणं सदोसं तम्हा
जहालद्धमधिट्ठिहिज्जा, वुत्तं स ए उ खलु जावदेही
ण होति सो अंतकरी तु भावे ।

इयमनंतरोक्तं सर्वलोकपूरणात्मकमारंभं सदोषं सूक्ष्मजीव-
विराधनया सावद्यं विज्ञाय तस्मात्कारणाद्ययालब्धं वस्त्रम
धितिष्ठेत् न छेदनादिकं कुर्यात् यतउक्तं भणित व्याख्याप्रज्ञप्तौ
यावदयं देही जीवः सैजः सकंपचेष्टावानित्यर्थः । तावदसौ
कर्मणो भवस्य वा अंतकारी न भवति तथा च तदालापकः
जाव एए सजीवं सयासमियं एयइ वेयइ चलइ फंदइ
घट्टइ खुब्भइ ओदीरइ ॥
तं तं भावं परिणमइ ताव णं तस्स जीवस्स अंते किरिया
न भवति । आरंभादवश्यं विरमेत् वृ० उ० ३ ॥
तथा च सूत्र कृताङ्गे श्रु. १ अ. २ ॥

मायाहि पियाहिं लुप्पइ नो सुलहा सुगई य पेच्चओ ।
एयाइ भयाइं पेहिया आरंभा विरमेज्ज सुव्वए ॥

टी० तथा मायाहीं इत्यादि कश्चिन्मातापितृभ्यां मोहेन स्व-
जनस्नेहेन च न धर्मं प्रत्युद्यमं विधत्ते स च तैरेव मातापित्रा-
दिभिर्लुप्यते संसारे भ्राम्यते । तथाहि । विहितमलोइमहोम-
इन्मातापितृपुत्रदारबन्धुसंज्ञं । स्नेहमयमसुमतामतः किं बंध-
नं श्रंखलं खलेन धात्रा ॥ १ ॥ तस्य च स्नेहाकुलितमानसस्य
मदसद्विवेकविकलस्य स्वजनपोषणार्थं यत्किंचनकारिण
इहैव सद्भिर्निंदितस्य सुगतिरपि प्रेत्य जन्मांतरे नो सुलभाऽपि
तु मातापितृभ्यामोहितमनसस्तदर्थं क्लिश्यतो विषयसुखेप्सात
श्च दुर्गतिरेव भवतीत्युक्तं भवति । तदेवमेतानि भयानि भय-
कारणानि दुर्गतिगमनादीनि (पेहियत्ति) प्रेक्ष्य आरंभात्साव
द्याऽनुष्ठानरूपाद्विरमेत् । सुव्रतः शोभनव्रतः सन् दुःखितो

वेति पाठान्तरं ॥ ३ ॥ अनिवृत्तस्य दोषमाह (जमिणमित्यादि)
" जमिणं जगति पुढो जगा कम्मेहि लुप्पंति पा-
णिणो । सयमेव कडेहि गाहइ णो तस्स मुच्चेज्ज पुट्ठयं
॥ ४ ॥ टी० ॥ (जमिणमित्यादि) यद्यस्मादनिवृत्ता
नामिदं भवति किं तत् जगति पृथिव्यां (पुढोत्ति)
पृथग्भूता व्यवस्थिताः सावद्यानुष्ठानोपचितैः कर्मभिर्वि
लुप्यंते नरकादिषु यातनास्थानेषु भ्राम्यंते । स्वयमेव च कृतैः
कर्मभि नैश्वराद्यापादितैर्गाहते नरकादिस्थानानि यानि
तानि वा कर्माणि दुःखहेतूनि गाहते उपचिनोति । अनेन च
हेतुसद्भावः कर्मणामुपदर्शितो भवति न च तस्याऽशुभाचरि-
तस्य कर्मणो विपाकेनास्पृष्टोऽनुभूतो मुच्यते जंतुः कर्मणामुदय
मननुभूय तपोविशेषमंतरेण दीक्षाप्रवेशादिना न तदपगमं वि
धत्त इति भावः ॥ आरंभ रहितएव च मुनिर्भवति तथाच सूत्रकृ
ताङ्गे धम्मस्स य पारए मुणि आरंभस्स य अंतए ठिए सोयंति
य णं ममाइणो णो लब्भंति णियं परिग्गहं ॥ ९ ॥ धर्मस्य श्रुतचा
रित्रभेदभिन्नस्य पारं गच्छतीति पारगः सिद्धांतपारगामी स
म्यक् चारित्रानुष्ठायी वेति । चारित्रमधिकृत्याह । आरंभस्य
सावद्यानुष्ठानरूपस्यांते पर्यंते तदभावरूपे स्थितो मुनिर्भवति
ये पुन नैवं भवंति ते अकृतधर्माः मरणे दुःखे वा समुपस्थिते
आत्मानं शोचंति । णमिति वाक्यालंकारे । यदि चेष्टमरणा-
दाऽवर्थनाशे वा (ममाइणोत्ति) ममेदमहमस्य स्वामीत्येव-
मध्यवसायिनः शोचंति । शोचमाना अप्येते निजमात्मीयं परि
समंतात् गृह्यते आत्मसात्क्रियत इति । परिग्रहो हिरण्यादि-
रिष्टस्वजनादिर्वा । नष्टामृतं वा न लभंते न प्राप्नुवंतीति ।
यदि वा धर्मस्य पारगं मुनिमारंभस्यांते व्यवस्थित मेनमागत्य
स्वजना मातापित्रादयः शोचंति ममत्वयुक्ताः स्नेहालवः न
च ते लभंते निजमप्यात्मीयपरिग्रहबुद्ध्या गृहीतमिति ।
आरम्भस्य दुःखविपाकत्वं सूत्रकृताङ्गे यथा ॥

वेराइं कुव्वई वेरी, तओवेरेहिं रज्जती ।
पावोवगा य आरंभा दुक्खफासाय अंतसो ॥

सांप्रतं जीवोपघातविपाकदर्शनार्थमाह । (वेराइं इत्यादि)
वैरमस्यास्तीति वैरी स जीवोपमर्दकारी जन्मशतानुबंधी-
नि वैराणि करोति । ततोऽपि च वैरादपरैर्वैरैरनुरज्यते ।
वैरपरंपरानुषंगी भवतीत्यर्थः । किमिति । यतः पापं उप-
सामीप्येन गच्छंतीति पापोपगाः क एते आरंभाः सावद्यानुष्ठान
रूपाः । अन्तशो विपाककाले दुःखं स्पृशंतीति दुःखस्पर्शा
असातोदयविपाकिनो भवंतीति ॥ सूत्र० श्रु० १ अ० ८
(सारम्भस्य सपरिग्रहस्य च मोक्षमार्गो नास्ति) तथा
सूत्राकृताङ्गे ॥

सपरिग्गहा य सारंभा इह मेगे सिमाहियं । अपरिग्गहा
अणारंभा भिक्खू ताणं परिव्वए ॥ ३ ॥

सपरिग्गहा इत्यादि सह परिग्रहेण धनधान्यद्विपदचतुष्प-
दादिना वर्त्तते तदभावेऽपि शरीरोपकरणादौ मूर्च्छावंतः
सपरिग्रहाः । तथा सहारंभणे जीवोपमर्दादिकारिणा व्यापा-
रेण वर्त्तत इति तदभावेऽप्योद्देशिकादिभोजित्वात्सारंभाः ।
तीर्थिकादयः सपरिग्रहारंभकत्वेनैव च मोक्षमार्गं प्रसाधयं-
तीति दर्शयति । इह परलोकचिंतायामेकेषां केषांचिदाख्यातं
भाषितं यथा किमनया शिरस्तुंडमुंडनादिकया क्रियया परं
गुरोरनुग्रहात्परमक्षरावाप्तिस्तद्दीक्षावाप्तिर्वा यदि भवति ततो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मोक्षो भवतीत्येवं भाषमाणास्ते न त्राणाय भवंतीति । ये तु त्रातुं समर्थास्तान्पश्चार्द्धेन दर्शयति । अपरिग्रहाः । न विद्यते धर्मोपकरणादृते शरीरोपभोगाय स्वल्पोऽपि परिग्रहो येषां ते अपरिग्रहाः । तथा न विद्यते सावद्य आरंभो येषां तेऽनारंभास्ते चैवं भूताः कर्मलघवः स्वयं यानपात्रकल्पाः संसारमहोदधेर्जंतूत्तारणसमर्थास्तान् भिक्षुर्निक्षणशील उद्देशिकादपरिभोजी त्राणं शरणं परिसमंतात् व्रजेद्गच्छेदिति ॥ ३ ॥ कथं पुनः पुनस्तेनापरिग्रहेणाऽनारंभेण च वर्त्तनीयमित्येतद्दर्शयितुमाह ॥

कडेसु घासमेसेज्जा, विऊ दत्तेसणं चरे ।

अगिद्धो विप्पमुक्को, अउमाणं परिवज्जए ॥ ४ ॥

टी० ॥ कडेसु इत्यादि गृहस्थैः परिग्रहारंभद्वारेणाऽऽत्मार्थं ये निष्पादिता ओदनादयस्ते कृता उच्यंते । तेषु कृतेषु परकृतेषु परनिष्ठितेष्वित्यर्थः । अनेन च षोडशोद्गमपरिहारः सूचितः । तदेवमुद्गमदोषरहितं ग्रस्यत इति ग्रास आहारस्तमेवंभूतमन्वेषयेन्मृगयेत् याचेतेत्यर्थः । तथा । विद्वान् संयमकरणैकनिपुणः परैरात्मार्थं दोषरहिते यस्त्रिश्रेयसबुद्ध्या दत्तमित्यनेन षोडशोत्पादनदोषाः परिगृहीता द्रष्टव्याः ॥ तदेवंभूते धात्रीनिमित्तादिदोषरहिते आहारे स भिक्षुः एषणां ग्रहणैषणां चरेदनुतिष्ठेदित्यनेनाऽपि दशैषणा दोषाः परिगृहीता इति मंतव्य । तथा । अगृद्धोऽमूर्च्छितोऽनध्युपपन्नस्तस्मिन्नाहारे रागद्वेषविप्रमुक्तः । अनेनाऽपि च ग्रासैषणा दोषाः पंच निरस्ता अवसेयाः स एवंभूतो भिक्षुः परेषामपमानं पराभव दर्शित्वं परिवर्जयेत् परित्यजेत् । न तपोमदं ज्ञानमदं च कुर्यादिति भावः सूत्र० श्रु० १ अ० १ ॥

आरंभेण च विद्याचरणे न लभते तथा च स्थानाङ्गे विद्याचरणे च कथमात्मा न लभत इत्याह ॥ स्था० ठा० २ ॥

दो ठाणाई अपरियाणित्ता आयाणो केवली पन्नत्तं धम्मं लभेज्ज सवणयाए तंजहा आरंभे चेव परिग्गहे चेव दो ठाणाई अपरियाइत्ता आयाणो केवलं बोधिं बुज्झेज्जा तंजहा आरंभे चेव परिग्गहे चेव ॥

दो ठाणाइत्यादि सूत्राण्येकादश द्वे स्थाने द्वे वस्तुनी । (अपरियाणित्ताति)। अपरिज्ञाय ज्ञपरिज्ञया यथैतावारंभपरिग्रहा अनर्थाय तथा अलं ममाऽऽभ्यामिति परिहाराभिमुख्यद्वारेण प्रत्याख्यानपरिज्ञया अप्रत्याख्याय च अप्रहाय त्वक्त्वा तयोरानिर्विज इत्यर्थः ॥

अपरीयाइत्ताति । क्वचित्पाठस्तत्र स्वरूपतस्तावदपर्यादाय अगृहीत्वेत्यर्थः आत्मनो नैव केवलिप्रज्ञप्तं जिनोक्तधर्मं लभेत श्रवणतया श्रवणभावेन श्रोतुमित्यर्थः तद्यथा आरम्भाः कृष्यादिद्वारेण पृथिव्याद्युपमर्दास्तान्परिग्रहा धर्मसाधनव्यतिरेकेण धनधान्यादयस्तानिह चैकवचनप्रक्रमेऽपि व्यक्त्यपेक्षं बहुवचनमवधारणसमुच्चयौ स्वबुद्ध्याऽऽह्यावितिः केवलां शुद्धं बोधिं दर्शनं सम्यक्त्वमित्यर्थो बुध्येत अनुभवेत् अथवा केवलया बोध्येति विभक्तिपरिणामात् बोध्यं जीवादीति गम्यते बुध्येत श्रद्दधीतेति ॥ स्था० २ ठा.

दोठाणाइं अन्नो केवलं मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वेज्जा तंजहा आरंभे चेव परिग्गहे चेव एवं णो केवलं बंभचेरं वासं समावसेज्जा णो केवलेणं संजमेणं संजमेज्जा नो केवलेणं संवरेणं संवरेज्जा नो केवलमाभिणिबोहियणाणं उप्पाडेज्जा एवं सुअणाणं ओहिणाणं मणपज्जवनाणं केवलनाणं दो ठाणाइं परियाइत्ता आया केवलीपन्नत्तं धम्मं लभेज्ज सवणयाए तंजहा आरंभे चेव परिग्गहे चेव एवं जाव केवलनाणमुप्पाडेज्जा ॥

टी० ॥ मुण्डो द्रव्यतः शिरोलोचनेन भावतः कषायापनयनेन भूत्वा संपद्य अगारात् गृहान्निष्क्रम्येति गम्यते केवलामित्यस्येह सम्बन्धात्केवलाम्परिपूर्णां विशुद्धां वा अनगारितां प्रव्रज्यां प्रव्रजेत् यायादिति । एवमिति । यथा प्राक् तथोत्तरवाक्येऽपि ॥ दोठाणा इत्यादि ॥ वाक्यं पठनीयमित्यर्थः ब्रह्मचर्येणाब्रह्मविरमणेन वासो रात्रौ स्वापः तत्रैव वा वासो निवासो ब्रह्मचर्यवासः तमावसेत्कुर्यादिति संयमेन पृथिव्यादिरक्षणलक्षणेन संयमयेदात्मानमिति संवरेणाश्रवनिरोधलक्षणेन संवृणुयादाश्रवद्वाराणीति गम्यते केवलं परिपूर्णं सर्वं स्वविषयग्राहकं । आभिणिबोहियणाणं ॥ अर्थाभिमुखो विपर्ययरूपत्वान्नियतोऽसंशयस्वभावत्वाद्बोधो वेदन माभिनिबोधः स एवाभिनिबोधिकं तच्च तज्ज्ञानञ्चेत्याभिनिबोधिकज्ञान मिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं ओघतः सर्वद्रव्यसर्वपर्यायविषयं उप्पाडेज्जात्ति ॥ उत्पादयेदिति तथा एवमित्यनेनोत्तरपदेषु नो केवलं उप्पाडेज्जाति द्रष्टव्यं (सुयणाणत्ति) श्रूयते तदिति श्रुतं शब्द एव स च भावश्रुतकारणत्वाज्ज्ञानं श्रुतज्ञानं श्रुतग्रन्थानुसारिओघतःसर्वं द्रव्यसर्वपर्यायविषयम् अक्षरश्रुतादिभेदमिति । तथा ओहिणाणंत्ति । अवधीयते अनेनास्मादस्मिन्वेत्यवधिः अवधीयत इत्यधोऽधो विस्तृतम्परिच्छिद्यते मर्यादया वेति अवधिज्ञानावरणक्षयोपशम एव तदुपयोगहेतुत्वादिति अवधानम्वाऽवधि विषयपरिच्छेदनमिति अवधिश्चासौ ज्ञानंचेत्यवधिज्ञानं इन्द्रियमनोनिरपेक्षमात्मनोरूपिद्रव्यसाक्षात्कारणमिति तथा मणपज्जवनाणंति ॥ मनसि मनसो वा पर्यवः परिच्छेदः स एव ज्ञानमथवा मानसः पर्यवाः पर्याया वा विशेषावस्था मनःपर्यवादयः तेषान्तेषु वा ज्ञानम्मनःपर्यवज्ञानमेवमितरत्रापि समयक्षेत्रगतसंज्ञिमन्यमानमनोद्रव्यसाक्षात्कारीति । (केवलनाणंति)केवलमसहायं मत्यादिनिरपेक्षत्वादकलङ्कआवरणमलानाभावात् सकलं वा तत्प्रथमतयैवाशेषतदावरणाभावतः सम्पूर्णोत्पत्तेरसाधारणं वाऽनन्यसदृशत्वादनन्तं वा ज्ञेयानंतत्वात्तच्च तज्ज्ञानञ्च केवलज्ञानमिति ठा. २ ॥

कुशलारब्धमेव चारब्धव्यम् तथा चाचाराङ्गे अ. २ उ. १ ॥

कुसले पुण णो बद्धे णो मुक्के सेज्जं च आरंभ ॥

जं च णारंभे अणारद्धं च ण आरभे ॥

टी०॥ कुशलेत्यादि कुशलोऽत्र क्षीणघातिकर्म्मांशो विवक्षितः स च तीर्थकृत्सामान्यकेवली वा छद्मस्थो हि कर्म्मणा बद्धो मोक्षार्थी तदुपायान्वेषकः केवली तु पुनर्घातिकर्म्मक्षयान्नो बद्धो भवोपग्राहिककर्म्मसद्भावान्नो मुक्तो यदि वा छद्मस्थ एवाभिधीयते कुशलोऽवाप्तज्ञानदर्शनचारित्रो मिथ्यात्वद्वादशकषायोपशमसद्भावात्तदुदयवानिव न बद्धोऽथापि सत्सत्कर्म्मतासद्भावान्नो मुक्त इत्यादि एवंभूतश्च कुशलः केवली छद्मस्थो वा यदाचीर्णवानाचरितवान् तदपरेणापि मुमुक्षुणा विधेयमिति दर्शयति । सेज्जं च इत्यादि सकुशलो यदारभते आरब्ध

वान्वा शेषकर्मक्षपणोपायं संयमानुष्ठानं यश्च नारभते मिथ्यात्वाविरत्यादिकं संसारकारणं तदारब्धव्यमनारंभणीयं चेति संसारकारणस्य च मिथ्यात्वाविरत्यादेः प्राणातिपाताद्यष्टादशरूपस्य चैकांतेन निराकार्यत्वात्तन्निषेधं च विधेयस्य संयमानुष्ठानस्य सामर्थ्यायातत्वात्तन्निषेधमाह । अणारद्ध चेत्यादि मनारब्धमनाचीर्णं केवलिभिर्विशिष्टमुनिभिर्वा तन्मुमुक्षुर्नारभेत नोकुर्यादित्युपदेशो यच्च मोक्षांगमाचीर्णं तत्कुर्यात् प्रस्तावने वधे दर्प्ये च द्रव्याणां द्रव्यान्तरेण गुणानां गुणान्तरेणोत्पादे वैशेषिकोक्ते व्यापारे- द्रव्यारंभश्चतुर्षु स्यात् कर्मणि घञ् आरभ्यमाणे । फलानुमेयाः प्रारम्भाः संस्काराः प्राक्तना इव- रघुः चित्रार्पितारम्भ इवावतस्थे ॥ कुमा० वाच० ॥ आरभ्यत इत्यारम्भः जीवे- आरभ्यंते विनाश्यन्ते इत्यारंभा जीवा इति ॥ प्रश्न० द्वा० १ ॥

आरंभकड-आरंभकृत् त्रि० (आरम्भेण कृते) आरंभकडेति वा सावज्जकडेत्ति वा पयत्तकडेत्ति वा (आरंभकृतमेतत् सावद्यकृतमेतत्) प्रयत्नकृतमेतदित्ति ॥ आचा० अ० ४ उ० १

आरंभकरण-आरम्भकरण-न० व्यापारकरणे (हिंसालीयअदत्तादाणमेहुणपरिग्गहारंभकरणकारावणाणुमोदणअट्ठविहअणिट्ठकम्मपिंडितगुरुभारक्कन्तदुग्गजलोघदूरनिबोलिज्जमाणउम्मग्गनिमग्गाडुल्लहतलं) हिंसालीकादत्तादानमैथुनपरिग्रहलक्षणा ये आरम्भा व्यपारास्तेषां यानि करणकारणानुमोदनानीति ॥ प्रश्न० द्वा० ३ ॥ आरम्भणमारम्भः पृथिव्याद्युपमर्दनं तस्य कृतिः करणम् स एव वा करणमित्यारम्भकरणम् करणभेदे स्था० ठा० ३ ॥

आरंभकहा-आरंभकथा- स्त्री० तित्तिरादीनामियन्तां तत्रोपयोग इत्यारंभकथा विकथाभेदे सा च भक्तकथायास्तृतीयो भेद इति ॥ स्था० ठा० ४ ॥

आरंभकिरिया-आरंभक्रिया- स्त्री० क्रियाभेदे आरंभक्रिया द्विविधा जीवारंभक्रिया अजीवारंभक्रिया तत्र जीवारंभक्रिया जीवानारभते अजीवारम्भक्रिया अजीवानारभत इति ॥ आ० चू० ॥ एतद्वक्तव्यताऽऽरम्भिकीशब्देऽपि ॥

आरंभझाण-आरंभध्यान- न० आरम्भः परोपद्रवस्तस्यध्यानम् परोपद्रवध्याने (आरंभझाणे) आरंभः परोपद्रवस्तस्यध्यानम् कुरुकोकुरुकयोरिव द्वीपायनस्येव वा तस्मिन् इति ॥ आतु० ॥

आरंभग-आरम्भक- त्रि० आरभ एवुल् मुम् आरम्भकारके ॥ वाच० ॥ सावद्यारम्भप्रवृत्ते आचाराङ्गस्य पंचमाध्ययनप्रथमोद्देशकस्योद्देशार्थ मधिकृत्य निर्युक्तौ, हिंसगविसयारंभो एगचरोत्ति न मुणि पढमगंमि ॥ आचा० ५अ.१ उ. हिनस्तीति हिंसक आरम्भणमारम्भो विषयाणामारम्भोऽस्येति विषयारम्भकः व्यधिकरणस्याऽपि गमकत्वात्समासः एवुलन्तस्य वा याजकादिदर्शनात्समासो विषयाणामारम्भको विषयारंभक इति हिंसकश्च विषयारम्भकश्चेति विगृह्य समाहारद्वंद्वः प्राकृतत्वात् पुल्लिङ्गता अयमर्थो हिंसकः प्राणिनां विषयारम्भकश्च विषयार्थं सावद्यारम्भप्रवृत्तश्च न मुनिस्तथा विषयार्थमेक एव चरत्येकचरः स च न मुनिरित्येतदधिकारत्रयं प्रथमोद्देशके ॥ आचा० ॥ अ० ५ उ० १ ॥ (सावद्यानुष्ठाने पुं० आरम्भगं चेव परिग्गहं च अविउस्सिया णिस्सिय आयदंडा आरम्भं सावद्यानुष्ठानमिति) ॥ सूत्र० ॥ श्रु० २ अ० ६ ॥

वैशेषिकादिमतसिद्धे महत्त्वाद्युपचयाय अवयवानां विजातीयसंयोगे च, तत आरम्भसंयोगनाशः ॥ मुक्ता० ॥ आरम्भवादशब्दे ॥ शा० भा० उदा० ॥

आरम्भजीविन्-आरम्भजीविन् पुं० आरम्भः सावद्यानुष्ठानं प्रमत्तयोगो वा तेन जीवितुं शीलमेषामित्यारम्भजीविनः। सावद्यानुष्ठानप्रवृत्ते (होगंसि अणारंभजीवी) आ० चा० अ ५ उ १ ॥

आरंभः सावद्यानुष्ठानं प्रमत्तयोगो वा उक्तंच "आयाणे णिक्खेवे, भासुस्सग्गे य ठाणगमणादी, सव्वो पमत्तजोगो समणस्स उ होइ आरंभो ॥ तद्विपर्ययेण त्वनारम्भस्तेन जीवितुं शीलमेषामित्यनारम्भजीविनो यतयः समस्तारम्भनिवृत्तास्तेष्वेव गृहिषु पुत्रकलत्रस्वशरीराद्यर्थमारम्भजीविनो भवन्ति एतदुक्तं भवति सावद्यानुष्ठानप्रवृत्तेषु गृहस्थेषु देहसाधनार्थमनवद्यारम्भजीविनस्साधवः पंकाधारपंकजवन्निर्लेपा एव भवन्ति आरम्भेण जीवितुं शीलमस्येत्यारम्भजीवी महारम्भपरिग्रहप्रकल्पितजीवनोपाये ॥ आ० चा० अ५ उ २ ॥ आरंभजीवी उ भयाणुपस्सी ॥ आचा० अ उ १ सावद्यानुष्ठानस्थितिके सावद्यानुष्ठानवृत्तिके च ॥

आरम्भट्ठाण- आरम्भस्थान न० सावद्यारंभाश्रये सूत्र० (तत्थणं जासा सव्वतो अविरइ एसट्ठाणे आरंभट्ठाणे अणारिए जाव असव्वदुक्खप्पहीणमग्गे एगंतमिच्छे) असाधु तत्र पूर्वोक्तेषु येयं सर्वात्मना सर्वस्मात् अविरतिर्विरति परिणामाभावः । एतत्स्थानं सावद्यारम्भस्थानमाश्रयस्तदाश्रित्य सर्वाण्यपि कार्याणि क्रियंते यत एवमत एतदनार्यस्थान निःशूकतया यत्किंचनकारित्वाद्यावद् सर्वदुःखप्रक्षीणमार्गोऽयं तथैकांतमिथ्यारूपो साधुरिति आरम्भ एव स्थानम् वस्तु आरंभस्थानम् प्रमत्तयोगलक्षणे वस्तुनि तथा च स्थानाङ्गे॥ स्था. ठा. १० ॥ अथ महापद्मस्यात्मनश्च सर्वज्ञत्वात्सर्वज्ञयोश्च मताभेदात् भेदे चैकस्यायथावस्तुदर्शनेनाऽसर्वज्ञताप्रसंगादित्युभयोर्भगवान् समां वस्तुप्ररूपणां दर्शयन्नाह ॥

से जहा नामए अज्जो मए समणाणं निग्गंथाणं एगे आरम्भट्ठाणे प० एवामेव महापउमेवि अरहा समणाणं निग्गंथाणं एगं आरंभट्ठाणं पन्नवेहिंति ॥

टी० ॥ सेजहेत्यादि सइत्यथार्थोऽथशब्दश्च वाक्योपन्यासार्थो यथेत्युपमार्थः । नामएत्ति ॥ वाक्यालंकारे ॥ अज्जोत्ति ॥ शिष्यामंत्रणं ॥ एगे आरंभट्ठाणेत्ति ॥ आरम्भ एव स्थानं वस्तु आरम्भस्थान मेकमेव तत्तत् प्रमत्तयोगलक्षणत्वात्तस्य यदाह सव्वो पमत्तजोगो समणस्सउ होइ आरंभोत्ति ठा० ९

आरंभट्ठि (न्) आरम्भार्थिन् पु० सावद्यारंभप्रवृत्ते, आरंभट्ठी अणुवयमाणे हण पाणे घायमाणे हणओ यावि समणुजाणमाणे ॥ आचा० अ०६ उ० ४

आरम्भार्थी सावद्यारम्भप्रवृत्तः कुत आरम्भार्थी यतः प्राण्युपमर्दवादानुवदत्येतद् ब्रूते तद्यथा जहि प्राणिनोपरै रेवं घातयन् घ्नतश्चापि समनुजानासीति, ॥ टी० (तेइह- आरंभट्ठी) ते अनधीताचारगोचर भिक्षाचर्यास्ते न स्वेदमलपरीषह तर्जिताः सुखविहारिभिः शाक्यादिभिरात्मसात्परिणामिता इह मनुष्यलोके आरम्भार्थिनो भवन्ति ते वा शाक्यादयोऽन्ये वा कुशीलाः सावद्यारम्भार्थिन ॥ इति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचा० अ. ७ उ. १ ॥

आरम्भणिस्सिय–आरम्भनिश्रित त्रि० आरम्भे हिंसादिके सावद्यानुष्ठानरूपे निश्चयेन श्रिताः सम्बद्धा अध्युपपन्ना आरम्भानिश्रिताः हिंसादिकसावद्यानुष्ठानेऽध्युपपन्ने (जे इह आरम्भणिस्सिया सूत्र० श्रु- १ अ २ ॥ जे य आरम्भणिस्सिया,) ये चान्ये वर्णापसदानानारूपसावद्यारम्भनिश्रिता यंत्रपीडन निर्लाञ्छनकर्माङ्गारदाहादिभिः क्रियाविशेषैर्जीवोपमर्दकारिण इति, ॥ सूत्र० श्रु० १ अ० ९ ॥

(मंदा आरम्भणिस्सिया) ॥

आरम्भे प्राण्युपमर्दकारिणि व्यापारे निश्रिता आसक्तास्सम्बद्धा अध्युपपन्ना इति ॥ प्राण्युपमर्दकारिणि विवेकिजननिन्दिते आरम्भे व्यापारे निश्चयेन नितरां चाश्रिताः सम्बद्धाः पुण्यपापयोरभाव इत्याश्रित्य परलोकनिरपेक्षयाऽऽरम्भनिश्रिता इति ॥ सूत्र० ॥ श्रु० १ अ० १ ॥

आरंभदोस–आरम्भदोष– पु० क्रियाफले (पागोवजीविणो त्तिय अप्पंतारंभदोसेणं) पाकोपजीविन इति कृत्वा लिप्यंते आरम्भदोषेणाहारक्रियाकरणफलेनेत्यर्थ इति ॥ दश० अ० १ ॥

आरंभपडिमा आरम्भप्रतिमा स्त्री० अष्टम्यां प्रतिमायाम् अष्टौ मासान् स्वयमारम्भं न करोतीत्यष्टमी ॥ ध० अधि २ ॥

आरंभपरिग्गहचाय–आरम्भपरिग्रहत्याग–पु० आरम्भपरिग्रहवर्जने (भावेण जिणमयंमि उ आरंभपरिग्गहच्चाओ) पं० व० ॥ भावेनेति भावतः परमार्थतः जिनमत एव रागादिजेतृत्वाज्जिनः । तन्मत एव वीतरागशासन एवेत्यर्थः आरम्भपरिग्रहत्यागः । वक्ष्यमाणारम्भपरिग्रहवर्जनं जिनशासन एवान्यशासनेष्वारम्भपरिग्रहस्वरूपानवगमात्तस्यक्त्यागानुभव इति गाथार्थः ।

आरम्भपरिग्रहस्वरूप प्रतिपादनायाह

पुढवाइसु आरंभो परिग्गहो धम्मसाहणं मुत्तुं,
मुच्छय तत्थबाह्यो इयरो मिच्छत्तमाईओ ॥ ७ ॥

व्याख्या । पृथिव्यादिषु कायेषु विषयभूतेषु आरम्भ इत्यारम्भणमारम्भः संघट्टनादिरूपः परिग्रहणं परिग्रहः असौ द्विविधः बाह्याभ्यंतरश्च तत्र धर्मसाधनं मुखवस्त्रिकादि मुक्त्वा बाह्य इति संबंधः । अन्यपरिग्रहणामिति गम्यते, मूर्च्छा च तत्र धर्मोपकरणबाह्या एव परिग्रह इति इतरस्त्वांतरपरिग्रहो मिथ्यात्वादिरेव आदिशब्दादविरतिदुष्टयोगा गृह्यंते परिगृह्यंते न कारणभूतेन कर्म्मणा जीव इति गाथार्थः ।

त्यागशब्दार्थं व्याचिख्यासुराह ॥

चाउइमेसि संगं मणवयकाएहिं अप्पवित्तिओ ।
एसा खलु पव्वज्जा मुक्खफला होइ नियमेणं ॥

व्याख्या । त्यागः प्रोज्झनमनयो रारम्भपरिग्रहयोः सम्यक् प्रवचनोक्तेन विधिना मनोवाक्कायैः त्रिभिरप्यप्रवृत्तिरेव । आरम्भपरिग्रहे च मनसा वाचा कायेनाप्रवर्त्तनमिति भावः एषा खल्विति एषैव प्रव्रज्या यथोक्त स्वरूपा मोक्षफला भवतीति मोक्षः फलं यस्याः सा मोक्षफला भवति नियमेनावश्यं तथा भावमंतरे णारम्भादौ मनोऽप्रवृत्त्यसंभवादिति गाथार्थः ॥

आरम्भपरिण्णाय आरम्भपरिज्ञात पुं० आरम्भः पृथिव्याद्युपमर्दन लक्षणः परिज्ञातस्तथैव प्रत्याख्यातो येनसावारम्भपरिज्ञातः श्राद्धः अष्टम्या उपासकप्रतिमयोपेते श्राद्धे तथा च समवायाङ्गे। अष्टमी मुपासकप्रतिमामधिकृत्य(आरंभपरिण्णाए) ॥ सम० ११॥ आरंभः पृथिव्याद्युपमर्दनलक्षणः परिज्ञातस्तथैव प्रत्याख्यातो येनासावारंभपरिज्ञातः श्राद्धोऽष्टमीप्रतिमेति ॥

आरम्भपसत- आरंभप्रसक्त त्रि० आरम्भेषु पृथिव्याद्युपमर्दनेषु प्रसक्तस्तत्परः आरम्भतत्परे ग० अ. २ ॥

आरंभय आरम्भज त्रि० आरम्भः सावद्यक्रियानुष्ठानं तस्माज्जातमारम्भजं सावद्यक्रियानुष्ठानेन जाते॥ आचा ० अ ३ उ१ (आरंभजं दुक्खमिणंति णच्चा) ॥ आचा० अ २ उ १ ॥ आरम्भः सावद्यक्रियानुष्ठानम् तस्माज्जातमारम्भजं किंतत् दुःखं तत्कारणं वा कर्म इदमिति प्रत्यक्ष गोचरापन्न मशेषारम्भप्रवृत्त प्राणिगणानुभूयमानमित्येतत् ज्ञात्वा परिच्छिद्य निरारम्भो भूत्वाऽऽत्महिते जागृहि सावद्यक्रियानुष्ठानमारम्भजं किंतत् दुःखमिदमिति सकलप्राणिप्रत्यक्षं तथा हि कृषिसेवावाणिज्याद्यारम्भप्रवृत्तो यच्छारीरमानसं दुःख मनुभवति तद्वाचामगोचर इत्यतः प्रत्यक्षाभिधायिनेदमुक्तमितिकपप्रदर्शने इत्येतदनुभवसिद्धं दुःखं ज्ञात्वा भूताचाप्येधर्मं विद् भद्रजवश्च भवन्तीति (पाणाइवाए दुविहे पण्णत्ते तंजहा संकप्पओअ १ आरंभओअ २) आव० ॥ आरंभाज्जातस्तआरम्भो हलदंतोलूखलादिखनन सूनाप्रकारस्तस्माच्छंखचंदनक पिपिलिकाधान्यगृहकारिकादि संघट्टन परितापा पद्दावण लक्षण इति । आव० ।

आरंभपेसउद्दिट्ठवज्जय–आरंभप्रेषोद्दिष्टवर्जक– पु० अष्टम्या मुपासक प्रतिमायां तथाच पञ्चाशके ।

आरंभ पेसउद्दिट्ठ वज्जए, समणभूएय ।

पं० वृ० १ तथा आरंभश्च स्वयं कृष्यादिकरणं प्रेषश्चप्रेषणं परेषां कृष्यादिषु प्रवर्त्तनं उद्दिष्टं चाधिकृतश्रावक मुद्दिश्य स चेतनं सदचेतनीकृतं पक्वंवा यो वर्जयति परिहरते असावारंभ प्रेषोद्दिष्टवर्जकः प्रतिमेति प्रकृतमेव इह च प्रतिमाप्रतिमावतोरभेदादेवमुपन्यासः ॥ १५ ॥

आरंभरय–आरंभरत–त्रि० सावद्यानुष्ठानरते ।

जेमयआरंभ रया,तेजीवा होंति अप्पह दोसयए,
तओमहापावयरा, जे आरंभपसंसंति । दश० ।

आरंभवंत–आरंभवत्–त्रि० आरंभप्रवृत्ते षो० विव० ९

आरंभवज्जय–आरंभवर्जक–त्रि० आरंभपरिहारके० यंचैकादशसूपासक प्रतिमास्वष्टमी प्रतिमेति प्रश्न. द्वा ५ अष्टौमासान् स्वयमारंभं न करोतीत्यष्टमीति । ध० अ० २ ।

आरंभविणय–आरंभविनय–पु० आरंभाभावे. आ० अ.४उ.२।

आरंभविणयि (न्) आरंभविनयिन्– पु० आरंभविनय आरंभाभावः सविद्यते येषामिति मत्वर्थीयः आरंभाभाववति। आचा० । अ० ४ उ० २ ।

आरंभसंभिय–आरंभसंभृत–त्रि० आरंभैः संभृता आरंभसंभृता आरंभपुष्टे ।आरंभ संभिया कामा नते दुःखविमोयगाः। आरंभैः सम्यक् भृता आरंभपुष्टा आरंभाश्च जीवोपमर्दकारिणोऽतो नते काम संभृताः आरंभनिश्रिताः परगृहानिविष्टाः दुःखयतीति दुःखमष्टप्रकारं कर्म तद्विमोचकाभवंति तस्याऽपनेतारो भवंतीत्यर्थः । सू० श्रु० १ अ० ९ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आरंभसच्च- आरंभसत्य-त्रि० आरंभोजीवोपघातस्तद्विषयं सत्य मारंभसत्यं आरंभविषये सत्ये भ० श० ८ उ० १।

आरंभसच्चमणप्पओग-आरंभसत्यमनः प्रयोग-पुं० आरंभो जीवोपघातस्तद्विषयं सत्यमारंभसत्यं तद्विषयो यो मनः प्रयोगः आरंभ सत्यविषयक मनः प्रयोगे भ० श० ८ उ० १।

आरंभसच्चमणप्पओगपरिणय-आरंभसत्यमनः प्रयोगपरिणत-त्रि० आरंभो जीवोपघातस्तद्विषयं सत्यमारंभसत्यं तद्विषयो यो मनः प्रयोगस्तेनपरिणतं यत्तत्तथा आरंभसत्यविषयक मनः प्रयोगपरिणते द्रव्यादौ (जइसच्चमणप्पओग परिणए किं आरंभसच्चमणप्पओग परिणए अणारंभसच्चमणप्पओग परिणए) भ० श० ८ उ० १ ॥

आरंभसत्त-आरंभसक्त-त्रि० आरंभे सावद्यानुष्ठानरूपे सक्तो लग्नः आरंभलग्ने। सू० श्रु० १ अ १

वेराणुगिद्धे (पाठान्तरे आरंभसत्तो) णिचयं करेति,
इओ चुते सदुहमट्ठदुग्गं। तम्हाउमेधावि समिक्ख ध-
म्मं चरेमुणी सव्वओविप्पमुक्को ॥ ८ ॥ त० टी०।

व्या०। येन केन कर्मणा परोपतापरूपेण वैरमनुबध्यते जन्मान्तरशतानुयायि भवति तत्र गृद्धो वैरानुगृद्धः पाठान्तरं वा (आरंभसत्तोत्ति) आरंभे सावद्यानुष्ठानरूपे सक्तो लग्नो निरनुकम्पो निचयं द्रव्योपचयं तन्निमित्तापादितकर्मनिचय स्थता वयुतो जन्मान्तरं गतः सन् वा करोति उपादत्ते स एव भूत उपात्त वैरः कृतकर्मोपचय इत्यतोऽस्मात्स्थानाच्च्युतो-जन्मांतरं गतः सन् दुःखयतीति दुःखं नरकादिकयातनास्थानमर्थतः परमार्थतो दुर्गं विषमां दुरुत्तरमुपैति यत एवं तस्मान्मेधावी विवेकी मर्यादावान् वा संपूर्णसमाधिगुणं जानानो धर्म श्रुत चारित्राख्यंसमीक्ष्या ऽऽलोच्यांगीकृत्य मुनिः साधुः सर्वतः स बाह्या भ्यंतरात्संगाद्वि प्रमुक्तोऽपगतः। संयमानुष्ठानं मुक्तिगमनकहेतुभूतं चरेदनुतिष्ठेत् तथारंभादिसंगाद्विप्रमुक्तो निःश्रितभावेन विहरेदिति यावत् ॥(आरंभसत्तापकरंतिसंग) आरंभण मारंभः सावद्यानुष्ठानम् तस्मिन् सक्तास्तत्परा इति। आ० अ० १ उ ७

आरंभसमारंभ- आरंभसमारंभ पुं० आरभ्यंते विनाश्यंते इत्यारंभाः जीवा स्तेषां समारम्भ उपमर्दः अथवा आरंभः कृष्यादि व्यापारस्तेन समारंभो जीवोपमर्दः अथवाऽरंभो जीवाना मुपद्रवणं तेन सह आरंभः परितापन मित्यारंभः समारम्भः जीवोपमर्दः कृष्यादिव्यापारेण जीवोपमर्दं परितापसहित जीवाना मुपद्रवेण च प्राणवधे च तथा च प्रश्नव्याकरणे प्राणवधस्य गौणनामान्यधिकृत्य आरंभः समारंभः प्राणवधस्य पर्यायः इति प्रश्न०। द्वा० १।

आरंभि (न्) आरंभिन्- पु० पापारंभान्वेषिणि ॥

वण्णादेसीणारंभे कंचण सव्वलोए।
कप्पमुह शिदिसप्पातेसु ॥ आ० अ० ५ उ० ॥

सचैवंभूतः सन्नारंभी स्यात् कुमार्गं परित्यागेन न पापारंभान्वेषी भवतीत्यर्थः आचा० सूत्र० श्रु० १ अ० ए।

एतेहिं छहिं काएहिं, तं विज्जं परिजाणिया।
मणसा काय वक्कणं, णारंभी ण परिग्गही ॥

व्या०। एभिः पूर्वोक्तैः षड्भिरपि कायैस्त्रस स्थावररूपैः सूक्ष्मबादर पर्याप्तका पर्याप्तकभेदभिन्नैर्नारंभी नाऽपिपरिग्रही स्यादिति संबंधः। तदेतद्विद्वान् सश्रुतिको ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यान परिज्ञया मनोवाक्काय कर्मभिर्जीवोपमर्दकारिणमारंभं परिग्रहंच परिहरेदिति ॥

आरंभिया-आरंभिकी-स्त्री० आरंभः पृथिव्याद्युपमर्दः स प्रयोजनं कारणं यस्याः साऽऽरंभिकी। स्था० ठा० २ क्रियाभेदे-भ० श० १ उ० २ ॥

आरंभिया किरिया दुविहा पं० तं० जीवआरंभिया
चेव अजीव आरंभिया चेव ॥ स्था० ठा० ५।

जीवआरंभियाचेवत्ति-यज्जीवानारभ माणस्योपमृद्नतः कर्म बन्धनं सा जीवारंभिकी अजीवारंभिया चेवत्ति यच्चाजीवान् जीवकलेवराणि पिष्टादिमयजीवाकृतीश्चवस्त्रादीन्वा रंभमाणस्य सा अजीवारंभिकीति स्था०। आव०चू०।

आरंभियाणं भंते ! किरिया कस्स कज्जइ गोयमा !
अन्नयरस्स वि पमत्तसंजतस्स, प्रज्ञा० ॥ पद २२ ॥

अन्नयरस्स वि पमत्तसंजतस्स इति ॥ अत्रापि शब्दो भिन्नक्रमः प्रमत्त संयतस्याप्यन्यतरस्य एकतरस्य कस्यचित्प्रमादे सति कायदुःप्रयोगभावतः पृथिव्यादेरुपमर्दसम्भवात् अपिशब्दोऽन्येषामधस्तन गुणस्था न वर्तिनां नियम प्रदर्शनार्थः प्रमत्तसंयतस्याप्यारंभिकी क्रिया भवति किं पुनः शेषाणां देशविरति प्रभृतीनामिति एव मुत्तरत्रापि यथायोगमपिशब्दभावना कर्तव्या ॥

आरंभोवरय -आरम्भोपरत-त्रि० सावद्यानुष्ठानादुपरते ॥

जे य पन्नाणमंतो पबुद्धा आरंभोवरता सम्ममेयंति
पासह। आचा० अ० ५ उ० ५।

आरंभः सावद्ययोगस्तस्मादुपरता आरंभोपरता इति। आचा०।

सेहु पन्नाणमंते बुद्धे आरंभोवरए सम्ममेयंति पासह
आचा० अ० ४ उ० ३।

सावद्यानुष्ठानमारंभस्तस्मादुपरता आरंभोपरता इति।

आरक्ख-आरक्ष -पु० आ-रक्ष-अच्-हस्तिकुंभाधः स्थले, आरक्षमग्रमवमत्य सृणिं शिताग्रां। माघः। हस्तिमस्तकचर्म्मणि, सैन्यैच रक्षके, त्रि० (सहसाहस्र मारक्षं मध्यगं रक्षसां कपिः भद्दिः (तेषामारक्षभूतन्तु पूर्वं दैवं नियोजयेत्। मनुः वाच० ॥

चोरो य णगररक्खेण परिभस्समाणो तत्थेवअतिगतो
नि० चू० १ उ०। आ० म०।

राज्ञामात्मरक्षक-स्था० ठा ३ उ० प्रे. उग्रवंश्ये, च आरक्षकाउग्र प्रदण्डकारित्वादुग्रा इति। आ. म. उग्रा आदिराजेनारक्षकत्वेन व्यवस्थापितास्तंद्वश्याश्चेति स्था० ६ ठा०। भावे घञ् रक्षायां-पु० वाच० ॥

आरक्खिय-आरक्षिक- पुं० कोट्टपाले। बृ०।

आरक्खिय पुरिसेहिय अहोरायं रक्खिज्जइ नि०चू० १उ०।
आरक्खिओ पुव्वभणिओ आरक्खिगोत्ति।
दंडवासिग्गो ॥ नि० चू० १६ उ०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आरक्खियपुत्तेण हिंमंतेण चोरोत्ति काऊण जह्मएणाहया आव० म० ॥

आरग—आरक— पु० आक्षेपे. व्य० १ उ० ।

आरगय—आरगत— त्रि० आराद्भागस्थिते (आरगयाइं सद्दाइं सुणेइ णो परगयाइं) आराद्भागस्थितानिन्द्रियगोचराणित्यर्थः । भ० ५ श० ४ उ० ॥

आरण—आरण—पु० सकलविमान प्रधानारणावतंसकाभिधान विमान विशेषोपलक्षित आरणः । अनु० । कल्पभेदे, सम० १०५। कल्पोपग वैमानिक देवलोकभेदे,व० विशे० (आरणाअच्चु याचेवइ इकप्पो वमसुरा) उत्त० अ० ३६ । प्रज्ञा० पद०२।

आरनाल—आरनाल—न० सौवीरे पानकभेदे ॥

सेज्जं पुण पाणगजायं जाणेज्जा तंजहा तिलोदगं वा तुसोदगं वा जवोदगं वा आयामं वा सोवीरं वा सुद्ध वियमेवा अण्णतरं वा तहप्पगारं पाणगजायं पुव्वामेव आलोएज्जा । आचा० अ १ उ० ७ ।

व्या० । यत्पुनः पानकजातमेवं जानीयात् तद्यथा तिलोदक तिलैः केनचित्प्रकारेण प्रासुकीकृतमुदकमेवं तुषै र्यवैर्वा तथा आचाम्ल मवश्यानं सौवीरमारनालं शुद्धविकटं प्रासुकमुदक मन्यद्वा तथा प्रकारं द्राक्षापानकादि पानकजातं पानीयसा-मान्य पूर्व मेवावलोकयेत्पश्येत् ।

आरण्णय—आरण्यक— न० आवश्यके लौकिकं श्रुतमधिकृत्य लौकिकत्वारण्यकादि द्रष्टव्यमिति । आ०म०अ०१६।(आरण्णग) त्रि० आरण्यं गच्छतीत्यारण्यगाः आरण्यगंतारि । नि० चू०

आरण्णरासि—आरण्यराशि पु० नि० कर्म० आरण्यशब्दोक्ते-सिद्धे मकरादिमासे दिवसे मेष वृषेचराशौ । वाच० ।

आरण्णय—आरण्यक पु० अरण्ये वसत्यारण्यकः कंदमूल फलाहारे तापसे । दशा०अ० १० अरण्ये वसंत्यारण्यकास्तेच कन्दमूलफलाहारास्ततः केचन वृक्षमूले वसंतीति सूत्र. । श्रु० २ अ० २ । अरण्येऽभवा आरण्यकाः तीर्थिकविशेषे ।

आरण्णिक पु० अरण्ये चरंत्यारण्यकाः कंदमूलफलाशिनि ता-पसादौ सूत्र० श्रु० २ अ० २ ।

आरत—आरक्त पु० ईषद्रक्तवर्णे, वाच० । आरक्त मीषद्रक्त मिति आचा० । अ २ उ ० ३ । तद्वतिसम्यगनुरक्तेच त्रि० भावे. क्त. अनुरागे. न. वाचा० ॥

आरात्तिय—आरात्रिक— न० । दीपार्तिक्ये, (आरात्रिकं जिना-र्चायाः, कृतं श्राद्धे ज्वलच्छिखं । दीप्यमानौषधीचक्रं शैलशृं-गविडंबकम् । ध० अधि० २ ॥

आरद्ध—आरब्ध— त्रि० । आ० राध्० क० संसिद्धे० तिका० फिञ्० आरब्धायनिः तदपत्ये. पु० स्त्री० । वाच० । आरब्ध० त्रि० आ०रभ्० क० कृतारम्भणे, (प्रारब्धादन्यकार्याणां कर-णं परिवर्तकः) अनारब्ध कार्यं पचतु इत्यादि ॥ यस्य कियदंशकर्तुमारंभे तादृशः पदार्थे आर-ब्धः । वाच० कर्तृकमारब्धो-नि० चू० ३० भावे. क्तः ॥ आरंभे न० । वाच० ।

आरभ (म्भ)—आरभ— आङ् रभ्० स्वा.० आ० आरंभे सक० अनिट्यजादौ आर्द्धधातुके नुम् आरंभः आरंभणं शिटि-तु आरेभे. । वाच० । आङो रभे रम्भढवौ ५४ इतिप्राकृतसूत्रेणा-ङः परस्य रभे रंभ ढव इत्यादेशौ वा भवतः । आरंभइ आढ-वइ । आरभइ ॥ प्रा० व्या० ॥

आरभ(म्भ)इत्ता—आरभ्य—अव्य० । आ० रभ्०ल्यप् । उपक्र-मेत्यर्थे. ॥

आरभंत—आरभमाण—त्रि० । आरंभं कुर्वंति आश्रमित आर-भंता. आरभमाणा इति । स्था. ठा० ७ । विनाशयति च स्त्रियां ङीप् । संघट्टंता रभन्तीव आरभमाणा तानेव षट्कायान् विनाशयंतीति. । पिं० वृत्ति० ॥

आरभड—आरभट-न० । नाट्यभेदे स्था. ठा०४ अष्टाविंशतिभे नाट्यविधिभेदे च आरभटं नाम अष्टाविंशतितममिति । राज० । स्वनामख्याते ४ दिवसभवे । मुहूर्ते पु० छक्केवयआरभडो सो-मित्तो पंच अंगुलो होइ । द० प० ७। आरः सामर्थ्येन गामीभटः शूरे वीरे० पु० । हेम० । वाच०

आरभडभसोल— आरभटभसोल— न० ३० नाट्यविधि-भेदेआरभट भसोलं नाम त्रिंशत्तमामिति । राज० । आ० म० ॥

आरभडा— आरभटा— स्त्री० प्रमादप्रतिलेखनाभेदे (आरभ-डासम्मद्दा वज्जेयव्वाय मोसली तइया) आरभटा विधेर्वि-परीतकरणं १ त्वरित २ पृथक् ३ नवीनवस्त्रग्रहण एवा प्रथ-मा प्रमाद प्रतिलेखनेति । स्था० । ठा० ६॥

आरभटा वितथकरण रूपा अथवा त्वरितं सर्वमारभमाण-स्यारभटा प्रत्युपेक्षिता पवैकम यदन्यान्यवस्त्रग्रहणं सा आर-भटा सात्र वर्जनीया सदोषत्वात् इति. (वितहकरणे च तुरियं अणं अणंच गिण्हआरभडा) ध० अ० ३ ॥ वितथं विपरीतं यत्करणं तदारभटाशब्दे नोच्यते सात्वारभ-टा प्रत्युपेक्षणा न कार्या इत्यर्थः । वा विकल्पेनेयं चारभटो-च्यते यद्उत त्वरितमाकुलं यदन्यान्यवस्त्रग्रहणं तदारभटा शब्देनोच्यते । पंच० औ०

आरभडी—आरभटी— स्त्री०आरभ्यतेऽनया आ० रभ्०अट-ट् ङीप्० नाट्ये. । रचनाभेदे— वाच० ॥

आरभिय— आरभित— न० नाट्यविधिभेदे (अप्पेगइयावे-वा आरभियं णट्टविहिं उपदंसेइ) राज० ॥

आरमण— आरमण— न० आ० रम० भावे० ल्युट्. आरामे. विश्रामे. आरम्यतेऽनेन करणे ल्युट् आरति साधने । वाच० ।

आरय— आरत— त्रि० आ. रम्, क्त, उपरते विरतेचः । सूत्र० । श्रु० १ अ० ४ । अपगते । सूत्र. श्रु० १ अ० १५ ॥

आरयमेहुण— आरतमैथुन— त्रि० आरतमुपरतं मैथुनं कामा-भिलाषो यस्यासा वा रतमैथुनः । सूत्र० श्रु० १ अ० ४ ॥ (वढे आरय मेहुणे) आरतमुपरतमपगतं मैथुनं यस्यस-आरत मैथुनोऽपगतेच्छामदनकामाभावाद्धसंयमे इदोसौ प्रव-र्तीति । सूत्र० श्रु० १ अ० १५ ॥

आरब— आरब— पु० म्लेच्छदेशभेदे- अं० ॥

तत्र प्रभवे म्लेच्छजाति भेदे । प्रश्न० ।द्वा० ॥ १ ॥

स्त्रियां ङीप् आरबीहिं । भ० । श० ९ । उ० ३३ ॥

आरबग— आरबक— पु० आरबदेशोद्भवे म्लेच्छविशेषे

आरबके रोमके अलसंडविसयवासीअपिक्खु रे काल-

मुहे जेणेए अ उत्तरेवेअट्ठ संसिआअ मेच्छा जाइअहुप्पगारा ॥

व्या० आरबकान् आरबदेशोद्भवान् रोमकांश्च रोमकदेशोद्भवान् कालमुखान् जोनकांश्च म्लेच्छविशेषानिति । जं० ॥

आरसंत—आरसत्— त्रि० विलपति आरसंतोसु भेरवमतिभीषणं शब्दं रसन् विलपन्निति उ० अ० १९ ॥

आरसिय—आरसित— न० आरटिते (इमेणंदारएणं जायमेत्तेणं चेव महया २ सद्देणं विघुटे विस्सरे आरसिए तएणं एयस्स दारगस्स आरसिय सद्दं सोच्चा णिसम्म हत्थिणाउरे बहवे णयरे गोरूवा जाव भीया । विपा० अ० २ । महया २ चिच्चि आरसित्ति महता चिच्ची त्येवं चीत्कारेणेत्यर्थः आरसित मारटितं झिज्जंति सुभगवया आरसियन्ति । आ० म० । अ० १ ॥

आरा—आरा—स्त्री० आ० ऋ० अच्० चर्मभेदकास्त्रभेदे । लौहाग्रे प्रतोदे च । वाच० । (तत्ताहिं आराहिं नियोजयन्ति) सू० श्रु० १ । अ. १ । तप्ताभिरराभिः पीड्यमानास्तत्र अयुपानादिके कर्मणि नियोज्यन्ते व्यापार्यन्त इति । सूत्र० १ श्रु. ५ अ०

आराम—आराम—पु० आरम्यतेऽत्र आ रम् आधारे घञ् आगत्यागत्य भोगपुरुषा । वरतरुणीभिः सह यत्र रमन्ते क्रीडंति स आरामो नगराद्नातिदूरवर्ती क्रीडाश्रयस्तरुखण्डः । राज० । माधवी लताद्युपेते दम्पति रमणाश्रये वनविशेषे प्रश्न० ४ द्वा० ॥ (आरामुज्जाणमणाभिरामपरिमण्डियस्स) आरामै दंपति रतिस्थानलता गृहोपेतवनविशेषै रिति प्रश्न. ३ द्वा० आरामाः पुष्पजातिप्रधाना वनखण्डा इति. जं० । प्र० १९ श. ३३ उ० । स्था० । ठा० ५ । औप० । आरमन्ति येषु माधवी लतागृहादिषु दंपत्यादीनि ते आरामाः । ज्ञा० १ अ० । दशा० प्र० ५ श० ७ उ० । औप० । (आरामाइव) आरामा विविध वृक्षलतोपशोभिताः कदल्यादिप्रच्छन्नगृहेषु स्त्रीहितानां पुंसां रमण स्थानभूता इति. । स्था० २ ठा० । (आरामेसुवा) आरामेषु कदल्याद्याच्छादितेषु स्त्रीपुंसयोः क्रीडास्थानेषु । कल्प० । रमणीयता ऽतिशयेन स्त्रीपुरुषमिथुनानि यत्रारमंति स विविधपुष्प जात्युपशोभित आरामः । अनु० । माधवी लतासु दंपत्यादीनि येष्वारमन्ति क्रीडति ते आरामाः पुष्पफलादिसमृद्धानेकवृक्षसंकुलानीति । अनु० । (आरामेसुय) आगत्य रमन्तेऽत्र माधवीलतागृहादिषु दंपत्य इति स आरामपुष्पादिमद्वृक्ष संकुलमिति० । जी० ३ प्रति० । ज्ञा० १ अ० । राज० । आरामा वनोद्यानद्रुमय इतिकृत्रिमवने वाटिकायांच स्त्रियोऽधिकृत्य तन्दुलवैकालिके (आरामोकम्मरयस्स) आरामः कृत्रिमवनं कस्य कर्मरजसः कर्मपरागस्य यद्वा कर्मच निविड मोहनीयादि रजकामः चश्चौरः कर्मरजं तस्यारामोवाटिकेति । तं० । आरामयतीत्यारामः आराम कारके त्रि० । स्त्रियोऽधिकृत्याचाराङ्गे (एससे परमारामो जाओलोगंमि इत्थिओ) आचा० अ० ५ उ० ४ आरामयतीत्यारामः परमश्चासावारामश्चपरमारामः ज्ञाततत्वमपिजनं हास विलासापाङ्ग निरीक्षणादिभिर्बिब्बोकैर्मोहयतीत्यर्थः । आ० अ० ५ उ० ४ वृत्तरत्नाकरटीकोक्ते षोडशभिश्चरणे राराम इत्युक्ते दण्डकभेदेच आ-रम भावे घञ् आरत्तौ । अन्तःसुखोन्तरारामः । गीता० अन्तरात्मनि आरामो यस्येति विग्रहः । इन्द्रायुरिन्द्रियारामो मोघंपार्थ स जीवति गीता. वाच० इहा-

रामं परिन्नाय अल्लीणगुत्तो परिव्वए आचा० अ. ५ उ० ६ इहास्मिन् मनुष्यलोके आरमणमारामो रतिरित्यर्थः । सचारामः परमार्थचिन्तायामात्यन्तिकैकान्तिक रतिरूपः संयमः तमासेवनपरिज्ञया परिज्ञाय आलीनो गुप्तश्च परिव्रजेत् आचा० अ० १ उ० २

आरामगय—आरामगत—त्रि० आरामो विविधपुष्पजात्युपशोभितस्तत्रगते आरामगयं वा स्था० ठा० ५ ।

आरामागार—आरामागार—न० आरामेऽगारं गृह मारामागारं आराममध्यगृहे (आरामागारेसुवा) आराममध्यगृहाण्यारामागाराणीति आचा० आगंतगारे आरामगारे समणउत्तीतेण उवेतिवासं आरामेगारमागारमिति सूत्र० श्रु० २ अ० ६

आरामिय—आरामिक—त्रि० आरामे तद्रक्षणे नियुक्तः ठक् उद्यान पाले, मालिके, (आरामिउ पढइ) आ० म० । सायअप्पया आरामियेण गहिया नि० चू० उ० १ । स्था० ठा० ४ ॥

आराहग (य) आराधक—पुं० निष्पादके, औप० । आराधयति सम्यक् पालयति बोधिमित्याराधकः । राज० । ज्ञानाद्याराधनवति. । पंचा० वृ० ८ । आराधकोज्ञानादीनामाराधयितेति. भ० श० ३ उ० १ । (आराहए विराहए ज्ञानादीनाराधयतेति) प्रति० मोक्षमार्गस्याराधकः शुद्ध इत्यर्थ. भ० श० ८ ६ उ० । सद्दृष्टिराराधकः आराधको ज्ञानाद्याराधनकर्तेति. प्रति० । (नहुते आराहगा भणिया) आराधका उत्तमार्थ साधकाः । आतु० । आराधको ज्ञानाद्याराधनकर्तेति ॥ आराधकस्यफलं पंचाशके. यथाः ॥

आराहगो य जीवो, सत्तट्ठभवेहिं पावतीणिय मां, ।
जम्मादि दोस विरहा, सासय मोक्खतुं णिव्वाणम् ॥५०॥

व्या० । आराधकश्च ज्ञानाद्याराधनावान् च शब्द पुनरर्थः जीव प्राणी सप्ताष्टभवैः सप्तभि रष्टाभिरित्यर्थः इदंच जघन्याराधनामाश्रित्योक्तम् अन्यथा तद्भव एव कश्चित् सिध्यतीति एतेच सप्ताष्टौभवा आराधनायुक्ता दृष्टव्याः इतरथातुसत्तैव प्राप्नुवन्ति लभंते नियमादवश्यं तथा कुतः किंविधं किमित्याह । जन्मादिदोषविरहा ज्ञातिजरामरणप्रभृति दूषणावियोगादेतदपदंशास्वत सौख्यमित्यनेन प्राप्नोतीत्यनेन वासंबन्धनीयं शास्वत सौख्यंतु नित्यसुखमेव नतु स्वास्थ्यमात्रं निर्वाणं निवृत्तिमितिगाथार्थः । अथ आराधकस्य कथंभवति. ओघ०

सेसेसुजागेसुअ, वट्टंतोविदेसमाराहो ।
जइपुणसव्वाराहण, मिच्छासितेणं निसामेहि

व्या० । शेषेषुयोगेषु अवर्तमानः सम्यक्शास्त्रोक्तेन न्यायेन प्रत्युपेक्षणां कुर्वन्नपिदेशकः आराधकएवअसौ नतु सर्व माराधितं भवति तेन यदि पुनः सम्पूर्णाराधनामिच्छतीत्यादि सुगमं कथंच सर्वाराधको भवत्यतआह ।

पचिंदिएहिं गुत्तो, मणमाई तिविह करण मा उत्तो ॥
तवणियम संयमंमि, जुत्तो आराहगो होई ॥ ४६ ॥

व्या० । पंचभिरिन्द्रियै गुप्तिः मानसादिना त्रिविधेन करणेन युक्तो यत्नवान् तपसा द्वादशविधेनयुक्तः नियम इन्द्रिय नियमो नो इन्द्रिय नियमश्च तेन युक्तः संयमः सप्तदशप्रकारः

पुढ विकाओ आउकाओ वाउकाओ वणस्सइकाओ
बे इंदिय ते इंदिय चउरिंदिय अजीवकाय संजमो पेहे ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपेहो पमजेणं परिठावणं मणवइकाए ॥
अत्र संयतः सन् मोक्षस्य आराधको भवति प्रव्रज्याया वा आराधकः ।
"सिद्धेउवसं पत्तो, अरहंते केवलिचित्तजावेणं ।
इत्तो एगयरेणं वि, एएण आराहेउ होई ॥ ३० ॥
"लज्जाई गारवेणं य, बहु सुयमयेण वावि दुच्चरियं ।
जेन कहंति गुरूणं, नहुते आराहगा हुंति ॥ ७४ ॥
पंच महव्वय सव्वय, संपुन्ना चरित्त सीलसंउजुत्ता ।
जहतइ मया महेसि, हवंति आराहग समाणं ॥३७॥
पडिमासुसीह निक्कीलियासु, गोरे अजिगाहा ईसु ।
ठव्वीह अब्जंतर एवं, जयतवे समणु रत्ता ॥ ४० ॥
अवि हलसीला पारा, पडिवन्ना जेय उत्तमं अट्ठं ।
पुव्विलाणयमाणय नाणिया आराहणा चेव ॥ ४१ ॥
जह पुव्वुट्ठ अगमाणा, करण विहिणोवि सागरो पोओ ।
तीरासन्नं पावई, रहिउं अवल्लगाईहिं ॥ ४२ ॥
तहसुकरणो महेसी, ति करए आराहउ धुवं होई ।
अहलहई उत्तमं ट्ठतं, अइलाजं नूणं जाणं ॥ ४३ ॥
आराधकत्वं विराधकत्वं च ज्ञाताऽध्ययने-यथा.

एक्कारस मस्स के अट्ठे पण्णत्ते एवं खलु जम्बू तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे णयरे सामी समोसढे गोयमा ? । एवं वयासी कहणं जंते ! जीवा आराहगा विराहगा वा जवंति सेजहा नाम ए एगंसि समुद्दकूलंसि दाव दवानामा रुक्खा पण्णत्ता किण्हा जाव निउरंव जूया पत्तिया पुप्फिया फलिया हरियग रिरिज्जमाणा सिरीए अतीव उवसोजेमाणा चिट्ठंति जयाणं दीविच्च-गाइसिं पुरे वाया पच्छा वाया मंदं मंदं वायं वायंति तदाणं बहवे दावदवा रुक्खा पत्तिया जाव चिट्ठंति अप्पे गतिया दावदवरुक्खा जुन्नाजोन्मा परिसाडिय पंडुर पत्त पुप्फफलासुक रुक्ख विव मिलायमाणा २ चिट्ठंति एवा मेव समणाउसो जे अम्हाणं निग्गंथोवा २ जाव पव्वत्ति एसमाणे बहूणं समणाणं ४ सम्मं संहति जाव अहिया सेति बहूणं अण उत्थियाणं बहूणं गिहत्थाणं णोसम्मं सहति जावनो अहिया सेति एसणं मए पुरिसे देस विराहए पण्णत्ते समणाउसो जयाणं समुद्दगाइसिं पुरे वाया पच्छा वाया मंदवाया महावाया वायंति तत्तेणं बहवे दावदवा रुक्खा जुन्नाजोन्मा जावमिलायमाणा चिट्ठंति ! अप्पे दावदवा रुक्खा पत्तिया पुप्फिया फलिया जाव उवसोजेमाणा चिट्ठंति एवामेव समणाउसो जे अम्हं निग्गंथोवा २ पव्वति समाणे बहूणं अन्नउत्थि गिहत्थाणं सम्मं सह निबहूणं समणाणं समणीणं नो सम्मं सहति ४ एसणं मए पुरिसे देस आराहए पण्णत्ते समणाउसो जयाणं तो दिविच्चगातो समुद्दग वि इसिं पुरेवाया जाव महावाया वायंति तयाणं सव्वे दाव-दवा पत्तिया जाव चिट्ठंति एवामेवसमणाउसो जो जाव अम्हं पव्वत्तिए समाणे बहूणं समणाणं बहूणं अण-उत्थिय गिहत्थाणं नो सम्मं सहति एसणं मए पुरिसे सव्वविराहए पण्णत्ते समणाउसो जयाणं दिव्विगावि समुद्दगावि इसिं पुव्वपुरओ वायंति तयाणं सव्वे दाव-दवा पत्तिया जाव चिट्ठंति एवामेव समणाउसो जे अम्हे पव्वइए समाणे बहूणं समणाणं ४ बहूणं अण्ण उत्थि-यगिहत्थाणं सम्मं सहइ एसणं मए पुरिसे सव्वाराहे पण्णत्ते एवं खलुगोयमा ! जीवा आराहगा विराहगा वा जवंति एवं खलु जम्बू समणेणं जगवया महावीरेणं एक्कारसमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्तेतिबेमि ।

ज्ञाता० । अ० ११ ।

व्या० । अथैकादशंविवियते अस्य च पूर्वेण सहायं संबन्धः पूर्वंच प्रमाद्य प्रमादिनोर्गुणहानिवृद्धिलक्षणावनर्थार्थावुक्ता विहतु मार्गाराधनविराधनाभ्यां तावुच्येते इति संबन्धमिदं सर्वं सुगमं नवरं । आराधका ज्ञानादिमोक्षमार्गस्य विराधका अपितस्यैव (जयाणमित्यादि) दीविच्चगा दैव्याद्वीपसंभवा ईषत्पुरेवाताः मनाक् सचेह वाताइत्यर्थः पूर्वदिक्संबन्धिनो वा पथ्यावाता वनस्पतीनां सामान्येनहिता वायवः पश्चाद्वातावा मंद्राः शनैस्संचारिणः महावाता उद्दंडवाता वांति । तदा (अप्पेगइयत्ति) अप्येके केचनाऽपिस्तोका इत्यर्थः । (जुम्मत्ति) जीर्णा इव जीर्णाः क्षोमपत्रादि शाटनं तद्योगात्तेपिक्षोभ । अतएव परिशाटितानि कानिचिच्च पांडूनि पत्राणि पुष्पफला-निच येषांते तथाशुष्क वृक्षकदवस्थायंतस्तिष्ठंति इत्येष दृष्टांतो । योजनात्तस्यैवं । एवामेवेत्यादि (अन्नउत्थियाणंति) अन्य-यूथिकानां तीर्थान्तरीयाणां कपिलादीनामित्यर्थः दुर्वचना-दीनुपसर्गान् नो सम्यक् सहत इति (एसणंति) एवंच भूत एषपुरुषो देशविराधको ज्ञानादिमोक्षमार्गस्य। इयमत्र विकल्प चतुष्टयेपि भावना यथा । दावदवक्षसमूहः स्वभावतो द्वीप-वायुभिः बहुतरदेशैः स्वसंपदासमृद्धिमनुभवंति देशोनचा समृद्धिं समुद्रवायुभिश्च देशैरसमृद्धिं देशेनच समृद्धि मुभयेषांच वायूनामभावे समृध्यभावमुभय सद्भावेच सर्वत-स्समृद्धि मेवं क्रमेण साधुः कुतीर्थिकगृहस्थाना दुर्वचनादी-न्यसहमानः क्षांतिप्रधानस्य ज्ञानादिमोक्षमार्गस्य देशतोविरा-धनां करोति श्रमणादीनां बहुमान विषयाणां दुर्वचनादि क्षमणेन बहुतरदेशानामाराधनात् श्रमणादिदुर्वचनानां त्वसहने कुतीर्थिकादीनां सहने देशानां विराधनेन देशत एव आराधनां करोति । उजयेषामसहमानो विराधनायां सर्वथातस्यवर्तते । सहमानश्चसर्वथाराधनायामिति ॥

इहपुनर्विशेषयोजनामेवं वर्णयंति ॥

(जह दावदवतरुणमेवं, साहु जहेह दीविच्चा वाया तहस-मणाइयसपक्खवयणाइ दुस्सहाइं ।१। जहा समुद्दयवाया तहण तित्थाइ कडुयवयणाइं । कुसुमाइ संपयाजहसिवमग्गा राहणा-तहओ॥२॥ जहकुसुमाण विणासोसिवमग्गा विराहणातहनेया जहदीवयायुजोगे बहुइड्ढी ईसियअणिट्ठी ॥ ३ ॥ तहसाहम्मिय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वयणा,णसहण माराहणमवे बहुया। इयपणमसहणेणुण सिवमग्ग विराहणायेवा।४ ।जइजलाहियायजोगे थेवि बहुयरा मणिट्ठीओ। तहयपरपक्खखमणे आराहणमी सिवहुइयरं ॥५॥ अह उभयवाय विरहे सव्वातरुसंपया विणहुत्ति। अनिमित्तो भयमच्छर रूवेह विराहणा तहय ॥६॥ जहउभय वायजोग सव्वसमिद्धि वणस्स संजाया। तह उनयण सहणे सिवमग्गा यहणापुणा ॥ ७ ॥ तापुन्नसमणधम्मा एहणच्चिओ सयामहा सत्तो। सव्वेण विकीरंतं सहेज्जसव्वं विपडिकूल मिति॥८॥ मायीमायांकृत्वा नाराधकोभवतीति मायीशब्दे।स्था०३ठा०८। आराधका अनाराधका औपपातिके विस्तरेण।

यथा--जीवेणं भंते ? । असंजये अविरए अपडिहय पच्चक्खाण पावकम्मेइओच्चुए पेच्चा देवेसिआ गोयमा ? अत्थे गइया देवेसिआ अत्थेगइआ णोदेवेसिआ सेकेणट्ठेणं भंते ? एवं वुच्चइ अत्थे गइआ देवेसिआ अत्थे गइआ णोदेवेसिआ गोयमा ? । जे इमेजीवा गामागर णगर निगमरायहाणि खेड कव्वड मडंब दोणमुहपट्टणा समसंवाह सन्निवेसेसु अकाम तण्हाए अकामछुहाए अकामबंभचेर वासणं अकाम आराहाण कसियाय वदंस मसग स अजल्लमल्ल पंक परितावेणं अप्पतरोवा भुज्जतरोवा कालं अप्पाण परिकिलेसंति अप्पतरोवाकालं अप्पाणं परिकिलेसित्ता कालमासे कालंकिच्चा अन्नतरेसु वाणमंतरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति तहिं तेसिं गती तहिं तेसिं ठिती तहिं तेसिं उववाए पन्नत्ते तेसिणंभंते ? देवाणं केवतिअं कालं ठिती पण्णत्ता। गोयमा ? दसवाससहस्साइं ठिती पण्णत्ता तत्थणंभंते ?। तेसिं देवाणं इड्डीवाजईवा जसोतिवा बलेतिवा वीरिएइवा पुरिसकार परिक्कमे इवाहंता अत्थितेणं भंते ? । देवा परलोगस्साराहगा णोति णट्ठे समट्ठे। औप० ॥

व्या०। (जीवेणमित्यादि) व्यक्तंनवरं (उस्सणंति) बाहुल्यतः कालमासे (कालंकिच्चत्ति) मरणाऽवसरे मरणं विधायेत्यर्थः। (इओच्चुए पेच्चत्ति) इतः स्थानान्मृत्यलोकलक्षणाच्युतो भ्रष्टः प्रेत्य जन्मान्तरे देवः स्यात् (से केणट्ठेणंति) अथ केन कारण नेत्यर्थः। (जेइमेजीवत्ति) यइमे प्रत्यक्षासन्नाः जीवाः पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्यलक्षणा ग्रामागरादयः प्राग्वत् अकामतः (तण्हाएत्ति) अकामानांनिर्जरा द्यन भिलाषिणां सतां तृष्णा तृड् अकाम तृष्णा तया एवमन्यत्पदद्वयम्। अप्पतरोवा भुज्जतरोवा कालंति प्राकृतत्वेन विभक्ति परिणामा दल्पतरं वा भूयस्तरं वा कालंयावत् (अण्णतरेसुत्ति) बहुनांमध्ये एकतरेषु (वाणमंतरेसुत्ति) व्यंतरेषु देवलोकेषुदेवजनेषुमध्ये (तहिंतेसिंगइत्ति) तस्मिन्वाणमंतर देवलोके तेषामसंयतादिविशेषणजीवानां। पुनः (तेणंदेवापरलोगस्स आराहगत्ति) तेअकामनिर्जरालब्धदेवजनाव्यंतराः परलोकस्य जन्मान्तरस्य निर्वाणसाधनाऽनुकूलस्य आराधका निष्पादका इतिप्रश्नः (णोइणट्ठेत्ति) नायमर्थः (समट्ठेत्ति) समर्थः संगत इत्युत्तरं अयमभिप्रायो यदि सम्यग्दर्शनज्ञानपूर्वकाऽनुष्ठानतोदेवाः स्युस्तदावश्यं तया आनंतर्येण पारंपर्येणवा निर्वाणाऽनुकूलं जन्मान्तरमावर्जयंति तदन्येतुभाज्याः।

सेजे इमेगामागर णगर निगम रायहाणि खेड कव्वड मडंबदोणमुह पट्टणा सम संबाह सन्निवेसेसु मणुआ भवंति तंजहा अण्डुबद्धकाणि अलबद्धका हडिबद्धका चारगवद्धका हत्थच्छिन्नका पायच्छिन्नका कण्णच्छिन्नका णक्कच्छिन्नका उट्ठच्छिन्नका जिब्भच्छिन्नका सीसच्छिन्नका मुखच्छिन्नका मज्झच्छिन्नका वेकच्छच्छिन्नका हियउप्पाडियगा णयणुप्पाडियगा दसणुप्पाडियगा वसणुप्पाडियगा गोवच्छिन्नका तंडुलच्छिन्नका कागणिमंसं खाइयया उलंबिआलंबियआ घंसिअया घोलिअया फाडिअया पीलिअया सूलभिन्नका खारवत्तिया वज्झवत्तिया सीहपुच्छियया दवग्गिदड्ढिया पंकोसन्नका पंकेखुत्तका वलयमयका वसट्टमयका णियाणमयका अंतोसल्लमयका गिरिपडिअका तरुपडिअका मरुपडिअका गिरिपक्खंदोलिया तरुपक्खंदोलिया मरुपक्खंदोलिया जलपवेसिका जलणपवेसिका विसजक्खितका सत्थोवाडितका वेहाणसिया गिद्धपिट्ठका कंतारमंतका दुब्भिक्खमंतका असंकिलिट्ठ परिणामा तेकालमासे कालंकिच्चा अन्नतरेसु वाणमंतरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति तहिं तेसिं ठिती तहिं तेसिं उववाए पण्णत्ते तेसिणं भंते। देवाणं केवतिअ कालठिती पण्णत्ता गोयमा ? वारसवास सहस्साइं ठिती पन्नता अत्थिणं भंते। तेसिं देवाणं इड्डिवा जुइवा जसेतिवा बलेतिवा वीरीएतिवा पुरिसकार परिक्कमेतिवा हंताअत्थी तेणं भंते ? देवा परलोगस्साराहगाणेति णट्ठे समट्ठे। औप०।

(उल्लंबियगत्ति)अवलम्बितकाः रज्ज्वा बद्धा गर्त्तादाववतारिता उल्लम्बितपर्यायास्तु नैते भवन्ति उल्लम्बितानां वैहायसिकशब्देन वक्ष्यमाणत्वात् (सीहपुच्छियत्ति)। इह पुच्छशब्देन मेहनं विवक्षित मुपचारात् ततः सीहपुच्छं कृतं संजातं वा येषां ते सिंहपुच्छितास्तएवसिंहपुच्छितकाः सिंहस्य हि मैथुनाभिवृत्तस्यात्याकर्षणात् कदाचित्मेहनं त्रुट्यति। एवं ये क्वचिदपराधे राजपुरुषैस्त्रोटितमेहनाः क्रियन्ते ते सिंहपुच्छितकाव्यपदिश्यन्ते। (असंकिलिट्ठपरिणामत्ति) संक्लिष्टप.रिणामा हि महार्तरौद्रध्यानावेशेन देवत्वं न लभन्त इति भावः ॥ ६ ॥

से जे इमे गामागर णगरणिगमरायहाणिखेडकब्बडमडंबदोणमुहपट्टणसमसंबाहसंनिवेसेसु मणुआ भवंति तंजहा पगतिभद्दका पगति उवसंता पगतिपतणुकोहमाणमायालोहा मिउमद्दवसंपन्ना अल्लीणा विणीआ अम्मापिउ सुस्सुसका अम्मापिईणं अणतिक्कमणिज्जवयणा अप्पिच्छा अप्पारंभा अप्पपरिग्गहा अप्पेणं आरंभेणं अप्पेणं समारंभेणं अप्पाणं आरंभे समारंभेणं विर्त्ति क-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पेमा णं बहुइं वासाइं आउअं पालंति पालित्ता कालमासे कालंकिच्चा अण्णतरेसु वाणमंतरेसु देवलोएसु देवताए उववत्तारो भवंति तहिं तेसिं गती तहिं तेसिं ठिती तहिं तेसिं उववाए पण्णत्ते तेसिणं भंते। देवाणं केवइअं कालं ठिती पण्णत्ता गोअमा चउद्दसवाससहस्सा ॥ औप.

टी० ॥ अम्बापित्रोः शुश्रूषकाः सेवकाः अत एव (अमापिऊणं अणइक्कमणिज्जवयणा) इहेव सम्बन्धः अम्बापित्रोः सत्कमनतिक्रमणीयं वचनं येषां ते तथा तथा (अप्पिच्छा अमहेच्छा अप्पारंभा अप्पपरिग्गहत्ति) इहारम्भः पृथिव्यादिजीवोपमर्द्दः कृष्यादिरूपः परिग्रहस्तु धनधान्यादिस्वीकारः एतदेव वाक्यान्तरेणाह । (अप्पेणं आरम्भेण मित्यादि) इहारम्भो जीवानां विनाशः समारम्भस्तेषामेव परितापकरणं आरम्भसमारम्भस्त्वेतद्द्वय(वित्तिति) वृत्तिं जीविकां (कप्पमाणत्ति) कल्पयन्तः कुर्वाणाः ॥ ५ ॥

से जाओ इमाओ गामागरणगरणिगमरायहाणिखेडकब्बडमडंबदोणमुहपट्टणा समसंवाहसंनिवेसेसु इत्थिआओ भवंति। तंजहा अंतोउरिआओ गयपत्तिआओ मयपत्तिआओ बालविहवाओ छड्डितल्लित्ता इमाइ रक्खिआओ पिअरक्खिआओ भायरक्खिआओ कुलघररक्खिआओ ससुरकुलरक्खिआओ परूढणहमसकेसकक्खरोमाओ ववगयपुप्फगंधमल्लालंकाराओ अह्लाणए सेअजल्लमल्लपंकपारिताविआओ ववगयखीरदहिणवणीअसप्पितेल्लगुलोणमहुमज्जमंस परिचत्तकयाहाराओ अप्पिच्छिआओ अप्पारंभाओ अप्पपरिग्गाओ अप्पेणं हा आरम्भेणं अप्पेणं समारम्भेणं अप्पेणं आरम्भेणं समारम्भेणं वित्तिं कप्पमाणीओ अकामबम्भचेरवासेणं तामेव पतिं सेज्जं णातिक्कमति ताउसां इत्थिआओ एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणीओ बहूइं वासाइं सेसं तं चेव जाव चउसट्ठिं वाससहस्साइं ठिती पण्णत्ता ॥ ८ ॥

से जाओ (इमाओत्ति) अयया एता अंतो (अंतेपुरियाओत्ति) अंतर्मध्ये अंतः पुरस्येति गम्यं (कुलघररक्खियाओत्ति) कुलगृहं पितृगृहं (मित्तवाइनिययसंबन्धिरक्खियाओत्ति कचित् तत्र मित्राणि पितृपत्यादीनां तासामेव वा सुहृदः एवं ज्ञातयो मातुलादिस्वजनानिजका गोत्रिया सम्बन्धिनो देवरादिरूपाः (परूढणहकेसकक्खरोमाओत्ति)प्ररूढाःवृद्धिमुपगताः विशिष्टसंस्काराभावान्नखादयो यासां तास्तया पाठान्तरे (परूढनहकेसमंसुरोमाओत्ति) इह श्मश्रूणि कूर्चरोमाणि तानि च यद्यपि स्त्रीणां न भवन्ति तथाऽपि कासांचिदल्पानि भवन्ति अपीति तद्ग्रहणं (अणहाणगसेयजल्लमल्लपंकपरितावाओ)अस्नानं केन हेतुना स्वेदादिभिः परितापो यासां तास्तथा तत्र स्वेदः प्रस्वेदः जल्लो रजोमात्रं मलः काठिनीभूतं तदेव (ववगयखीरदहिणवणीयसप्पितेल्लगुलोणमहुमज्जमंसपरिचत्तकयाहाराओत्ति ॥ व्यपगतानि क्षीरादीनि यतस्तथा परित्यक्तानि मद्यादीनियेन स एवं विधः कृतोऽभ्यवहृत आहारो यकाभिस्तास्तथा तामेव (पइसेज्जं नाइक्कमंति) यानिधुवनार्थमाश्रीयते तामेव पतिशय्यां भर्तृशयनं नातिक्रामति उपपतिना सह नाऽऽश्रयन्तीति ॥ ८ ॥

से जे इमे गामागर णगरणिगमरायहाणिखेडकब्बडमडंबदोणमुहपट्टणासमसंवाहसंनिवेसेसु मणुआ भवंति तंजहा दगबित्तिया दगतइआ दगसत्तमा दगएकारसमा गोअमा ? गोव्वइआ गिहिधम्माधम्मचिंतका अविरुद्धविरुद्धवुड्ढ सावकप्पभिक्खिया तेसिं मणुआ णं णोकप्पइ इमाओ नवरसविगईओ आहारित्तए तं जहा खीरं दहिं णवनीयं सप्पिं तेल्लं फाणितं महुं मज्जं मंसं णणत्थ एकाए सरसवविगइ एतेणं मणुआ अप्पिच्छा तं चेव सव्वं णवरं चउरासीइवाससहस्साइं ठिती पण्णत्ता ॥ ९॥

से जे इमे गंगाकुलगा वाणपत्था तावसा भवंति तंजहा होत्तिया पोत्तिया कोत्तिया जण्णई सड्ढई थालई हुंपउट्ठा दंतुक्खलिया उम्मज्जका संम्मज्जका निमज्जका संपक्खाला दक्खिणकूलका उत्तरकूलका संखधमका कूलधम्मका मिगलुद्धका हत्थितावसा उदंडका दिसापोक्खिणो वाकवासिणो अंबुवासिणो जलवासिणो बिलवासिणो रुक्खमूलिआ अंबुभक्खिणो वाउभक्खिणो सेवालभक्खिणो मूलाहारा कंदाहारा तयाहारा पत्ताहारा पुप्फाहारा बीयाहारा परिसडियकंदमूलतयपत्तपुप्फफलाहारा जलाभिसे अ कठिणा गायभूया आयावणाहिं पंचग्गितावेहिं इंगालसोल्लियं कंदुसोल्लियं कंठसोल्लियं पिव अप्पाणं करेमाणाबहूइं वासाइं परियायं पाउणंति बहूइं वासाइं परियायं पाउणित्ता कालमासे कालंकिच्चा उक्कोसेणं जोइसिएसु देवेसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति पलिओवमं वाससयसहस्समब्भहिअं ठिती आराहगा णो तिणट्ठे समट्ठे समणो भवंति ॥ १० ॥

॥ टी० ॥ जलाभिषेककठिनं गात्रं भूतः प्राप्ता ये ते तथा (इंगालसोल्लियंति)अङ्गारैरिव पक्वं(कंदुसोल्लियंति)कन्दुपक्वमिवेत्ति पलिओवमं(वाससयसहस्समब्भहियंति)मकारस्य प्राकृतप्रभवत्वाद्वर्षशतसहस्राभ्यधिकमित्यर्थः अथवा पल्योपमं वर्षशतसहस्रमप्यधिकं च पल्योपमादित्येवं गमनिका ॥

समणो भवंति तंजहा कंदप्पिया कुक्कुइया मोहरिया गीयरइप्पिया नच्चणसीला तेणं एएणं विहारेणं विहरमाणा बहुइ वासाइं सामण्णपरियायं पाउणति बहुइ वासाइ सामण्णपरियायं पाउणित्ता तस्स ठाणस्स अणालोइअ अप्पडिकंत्ता कालमासे कालंकिच्चा उक्कोसेणं सोहम्मेकप्पे कंदप्पिएसु देवेसु देवत्ताए उववत्तारो भवति तहिं तेसिं गति तहिं तेसिं ठिती सेसं तंचेव णवरं पलिओवमं वाससहस्समब्भहिअं ठिति ।११। औ० ॥

सन्निवेसेसु परिव्वायगा भवंति तंजहा संखजोई कविला भि

उच्चा हंसा परमहंसा बहुउदया कुरुव्वया कण्हपरिव्वायगा । तत्थ खलु इमे अट्ठमाहणपरिव्वायगा जवंति तंजहा कण्हे अ करकंडूय अंबडे य परासरे । कण्हे दीवायणे चेव देवगुत्ते अ णारये । तत्थ खलु इमे अट्ठक्खत्तिअपरिव्वाय या जवंति तं सीलई ससिहरणग्गई नग्गई तिश्र विदेहे राया रामे बले तिअ । तेणं परिव्वायगा रिउव्वेदजजुव्वेदसामवेदअहव्वणवेदइतिहासपंचमाणं णिग्घंटुउट्ठाणं संगोवंगाणं सरहस्साणं चउण्हंवेदाणं सारका पारगा धारका वारगा सडंगवीसट्ठितंतविसारदा संखाणे सिक्खाकप्पे वागरणे छंदे णिरुत्ते जोतिसामयणो अन्नेसु बंजण्णएसु अ सत्थेसु सुपारिणिट्ठातावि हुत्था तेणं परिव्वायगा दाणधम्मं च सो अधम्मं च तित्थाजिसेयं च आघवेमाणा पन्नवेमाणा परूवेमाणा विहरंति । जण्णं अम्हं किंचि असुई जवति तण्णं उदएणय मट्टिआएअं अपक्खालिअं सुई जवति एवं खलु अम्ह चोक्खा चोक्खापारा सुइ सुइसमायाराजवेत्ता अजिसेअजलपूआप्पाणो अविग्घेण सग्गं गमिस्सामो तेसिणं परिव्वायगाणं णो कप्पइ अगडं वा तलायं वा णई वा वाविं वा पुक्खरिणीं वा दीहियं वा गुंजालिअं वा सरं वा सागरं वा ओगाहितए णणत्थ अद्धाणगमणं णो कप्पइ सगडं वा - जाव संदमाणिअं वा दूरुहित्ताणं गच्छित्तए तेसिणं परिव्वायगाणं णो कप्पइ आसंवाहत्थिंवाउट्टंवा गोणिंवामहिसं वाखरंवादुरुहित्ताणगमित्तए तेसिणं परिव्वाय गाणंणोकप्पइनडपेच्छाइ वा जाव मागहयेच्छाइ वा पिच्छित्तए तेसिं परिव्वायाणं णो कप्पइ हरिआणं लेसणत्ता वा घट्टणत्ता वा थंजणता वा लूसणत्ता वा उप्पाडणत्ता वा करित्तए तेसिं परिव्वायाणं णो कप्पइ इत्थि कहाइ वा जत्तकहाइ वा देसकहाइ वा रायकहाइ वा चोरकहाइ वा जणवयकहाइ वा अणत्थादंडं करित्तए तेसिणं परिव्वायाणं णो कप्पइ अयपायाइ वा तउअपायाणि वा तंबपायाणि वा जसदपायाणि वा सीसगपायाणि वा रुप्पपायाणि वा सुवन्नपायाणि वा अन्नयराणि वा बहुमुल्लाणि वा धारित्तए णणत्थ ला उपाएण वा दारुपाएण वा मट्टिआ पाएण वा तेसिणं परिव्वयाणं णो कप्पइ अयबंधणाणि वा तउअबंधणाणि वा तंबबंधणाणि जाव बहुमुल्लाणि धारित्तए तेसिणं परिव्वायाणं णो कप्पइ णाणाविहवन्नरागरत्ताइं वत्थाइं धारित्तए णणत्थ एकाए धाउत्ताए तेसिणं परिव्वायाणं णो कप्पइ हारं वा अद्ध हारं वा एकावलिं वा मुत्तावलिं वा कणगावलिं वा रयणावलिं वा मुरविं वा कंठ मुरविं वा पालंबं वा तिसरयं वा कडिसुत्तं वा समुदियाणंतकं वा कडगाणि वा तुडियाणं वा अंगयाणि वा केऊराणि वा कुंडलाणि वा मउडं वा चुलामणिं वा पिणध्दित्तए णणत्थ एकेणं तंबिएणं पवित्तएणं तेसिणं परिव्वायाणं णो कप्पइ गंठिमवेढिमपूरिम संघातिम चउव्विहे मल्ले धारित्तए णणत्थ एकेणं कण्णपुरेणं तेसिणं परिव्वायाणंणो कप्पइ अगलुएणा वा चंदणेण वा कुंकुमेण वा गायं अणुलिंपित्तए णणणत्थ एकाए गंगामट्टिआए तेसिणं परिव्वायाणं कप्पइ मागहए पत्थए जलस्सपडिग्गाहित्तए सेविवहमाणे णो चेवणं अवहमाणे सेवियथिमे ओदए णो चेव णं कद्दमोए सेविअ बहुं पसन्ने णो चेवणं अबहुपसन्ने सेविअपरिपूत्ते णो चेव णं अपरिपूत्ते सेवि अणंदिण णो चेव णं अदिएणे सेवि अपिवित्तएणो चेव णं हत्थपायचरुचमसंपक्खालणट्ठाए सिणाइताए वा तेसिणं परिव्वायाणं कप्पइ मागहए अद्धाढए जलस्स पडिग्गाहित्तए सेविय वहमाणे णो चेवणं अवहमाणे जावणो चेवणं अदिएणे सेविय हत्थपायचरुचं मासं पक्खालणट्ठयाइए णोचेवणं पिबइ वा तेणं परिव्वाया एया रूवेणं विहारेणं विहरमाणा बहुइ वासाइ परियाइं पाउणंत्ति बहूइ वासाइं पाउणित्ताकालमासे कालंकिच्चा उक्कोसेणं बजलोए कप्पे देवत्ताए उववत्तारो जवंति तहिं तेसिं गई दससागरावमाये ठिई पएणता सेसं तंचेव ॥ १२ ॥ ६ ॥ तेणं कालेणं तेणं समएणं अम्मडस्स परिव्वायगस्स सत्तअंतेवासिसयाइ गिम्हकालसमयंसि जेट्ठामूले मासांसि गंगाए महानईएओ उजउकूले कंपिल्लपुरानोणगराओ पुरिमतालं णगरं संपट्ठिआ विहाराए तयणं तेसिं परिव्वायगाणं तसिं अगामियाए छिन्नो वायाए दोहट्ठाए अमवीए

॥ टी० ॥ कपडवादयः षोडश परिव्राजका लोकतोऽवसेयाः (ऋउवेदजजुव्वेदसामवेय अहव्वणवेदात्ति) इह षष्ठिबहुवचनलोपदर्शनात् ऋग्वेदयजुर्वेदसामवेदाथर्ववेदानामिति दृश्यं (इतिहासपंचमाणंति) इतिहासः पुराणमुच्यते (निग्घंटुछट्ठाणंति) निघण्टो नाम कोशः (संगोवंगाणंति) अङ्गानि शिक्षादीनि उपाङ्गानि तदुक्त प्रपञ्चनपरः प्रबन्धाः (सरहस्साणंति) पेदम्पर्ययुक्तानामित्यर्थः (चउएहंवेयाणंति) व्यक्तं सारयाति अध्यापन द्वारेण प्रवर्त्तकाः स्मारका वा अन्येषांविस्मृतस्य स्मरणात्पारयति पर्यन्तगामिनःधारयत्ति धारयि तुंक्षमाः [षडंगवीत्ति] षडंगविदः शिक्षादि विचारकाः [सट्ठितंत विसारयंति] कापिलीय तन्त्रपण्डिताः [संखाणेत्ति] संख्याने गणित स्कंधे सुपरि निष्ठिता इति योगः

अथ षडंगानि दर्शयन्नाह । [सिक्खाकप्पेत्ति] शिक्षाअक्षरस्वरूप निरूपकशास्त्रं कल्पश्च तथाविध समाचार निरूपकं शास्त्रमेवेति शिक्षाकल्पस्तत्र (वागरणत्ति] शब्दलक्षणशास्त्रे (छन्देत्ति) पद्यवचन लक्षणशास्त्रे (निरुत्तेत्ति] शब्दनिरुक्तिप्रतिपादके (जोइसामयणेत्ति) ज्योतिषामयने ज्योति-

इशास्त्रे अन्येषुचबहुषु (बंभण्णएसु यत्ति) ब्राह्मणकेषुच वेद व्याख्यानरूपेषु शास्त्रेषु आगमेषु वाचाचनान्तरे (परिव्वाए-सुयनएसुत्ति) परिव्राजकसंबन्धिषु च नयेषु न्यायेषु (सुपरिनिट्ठियायावि होत्थात्ति) सुनिष्णाताश्चाप्यभूवन्निति (आघवेमाणत्ति) आख्यन्तः कथयन्तः (पन्नवेमाणत्ति) बोधयंतः (परूवेमाणत्ति) उपपत्तिभिः स्थापयंतः (चोक्खा-चोक्खायारत्ति) चोक्षा विमलदेहनेपथ्याः चोक्षाचाराः । निरवद्यव्यवहाराः किमुक्तंभवतीत्याह । (सुईसुई समायरत्ति) अभिसेयजलपुयप्पाणोत्ति) अभिषेकतो जलेन पूयात्ति पवित्रित आत्मायैस्त तथा अविघ्नेणं विघ्नाभावेन (अवडगत्ती अवटकूपं (वाविचत्ति) वापीचतुरस्रजलाशयविशेषः (पुक्खरिणीवत्ति) पुष्करिणीवर्तुलः स एव पुष्करयुक्तोवा (दीहियवत्ति) दीर्घिकासारणी (गुंजालियवत्ति) गुंजालिकावक्रसारणो (सरसिवत्ति) कचिद्दृश्यते । तत्र महत्सरः सरसी त्युच्यते (णन्नत्थ अद्धाण गमणे णंति) न इतियोनिषेधः सोऽन्यत्राध्वगमनादित्यर्थः सगडेवेत्यत्र यावत्करणादिदं दृश्यं (रहं वा जाणं वा जुगं वा गिल्लिं वा थिल्लिं वा पवहणं वा सियवेत्ति) एतानिच प्रागिवव्याख्येयानीति (हरियाणं-लेसण यावत्ति) संश्लेषणता (घट्टणयावत्ति) संघट्टनं (थंभणयावत्ति) स्तंभनमूर्ध्वीकरणं (लूसणयावत्ति) कचित्तत्र लूषणं हस्तादिनापनकादेः संमार्जनं (उप्पाडनयावा) उन्मूलनं अयपायाणिवेत्यादिसूत्रे यावत् करणात् त्रपुकसीसकरजतजातरूप काच (वरंतिय) वृत्त लोह कंसलोह हारपुटक रीतिका मणि शङ्ख दन्त चर्म चेल शैल शाबविशेषितानि पात्राणि दृश्यानि (अण्णयरा-णिवा तहप्पगाराणि महद्धण मोल्लाइं) इति च दृश्यम्—तत्रा यो लोहं—रजतं रूप्यं जातरूपं सुवर्णं काचः पाषाणविकार (वरंतियत्ति) रूढिगम्यं वृत्तलोहं त्रिकूटीति यदुच्यते कांस्यलोहं कांस्यमेवहारपुटकं मुक्ताशुक्तिपुटकं रीतिका पित्तला अन्यतराणिवा येषांमध्ये एकतराणि एतद्व्यतिरिक्तानि वा तथा प्रकाराणि भोजनादिकार्यकरणसमर्थानि महत्प्रभूतं धनं मूल्यं मूल्यं प्रतीतं येषांतानि तथा (अलाबुपायेणंति) अला-बुपात्रात् तुंबकभाजनादित्यर्थः तथाअयबंधणाणि वेत्यत्र यावत् करणात् त्रपुकबंधनादीनि शैलबंधनान्तानि दृश्यानि (अन्नयराइं तहप्पगाराइं महद्धणमोल्लाइं) इत्येतच्चदृश्यमिति पुस्तकांतरे समग्रमिदं सूत्रद्वयमस्त्येवेति (णन्नत्थएगाए धा-उरत्ताएत्ति) इह युगलिकयेति शेषो दृश्यः हारादीनि प्राग्वत् । औप० ।

से इमे गामागरजाणसन्निवेसेसु पव्वइया समाणा जवंति तं जहा आयरियपडिणीया उवज्झायपडिणीया कुल-पडिणीया गणपडिणीया आयरियउवज्झायाणं अय-सकारगा अवन्नकारगा अकित्तिकारगा बहूहिं असब्जा-वुब्जावणाहिं मिच्छत्ताभिणिवेसेहि य अप्पाणं च परं च तदुभयंच वुग्गाहेमाणा वुप्पाएमाणा विहरित्ता बहूइं वासाइं सामन्नपरियागं पाउणंति बहुतस्स ठाणस्स अणालोइयअप्पडिक्कंता कालमासे कालं किच्चा उक्कोसेणं लंतए कप्पे देवकिब्बिसिएसु देवकिब्बिसियत्ताए उववत्तारो जवंति तेहिं तेसिं गती तेरससागरोवमाइ ठिती अणा-राहका सेसं तं चेव ॥ १५ ॥

टी० असद्भावोद्भावनाभिः (मिच्छत्ताभिनिवेसेहियत्ति) मिथ्यात्वे वस्तुविपर्यासे मिथ्यात्वाद्वा मिथ्यादर्शनाख्यकर्मणः सकाशादभिनिवेशाश्चित्तावष्टम्भा मिथ्यात्वाभिनिवेशास्तैः (वुग्गाहेमाणत्ति) व्युद्ग्राहयमाणाः कुग्रहे योजयन्तः (वुप्पाएमाणत्ति) व्युत्पादयमानाः असद्भावोद्भावनासु समर्थी-कुर्वन्त इत्यर्थः (अणालोइयअपडिक्कंतत्ति) गुरूणां समीपे अकृतालोचनास्ततो दोषादनिवृत्ताश्चेत्यर्थः एतेषां च विशिष्ट-श्रामण्यजन्यं देवत्वं प्रत्यनीकतया जन्यं च किल्बिषिकत्वं तेहि चारित्राभावा एव देवमध्ये भवन्तीति १५ । औप० ।

सेज्जेइमे सन्निपंचिंदियतिरिक्खजोणिया पज्जत्तया जवंति तं जहा जलयरा खहयरा थलयरा तेसि णं अत्थेगइयाणं सुभेणं परिणामेणं पसत्थेहिं अज्झवसा-णेहिं लेसाहिं विसुज्झमाणाहिं तहावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमेणं ईहा तह मग्गणगवेसणं करमाणाणं सण्णीपुव्वे जाईसरणे समुप्पज्जति तएणं ते समुप्पन्न-जाइसरणसमाणा सयमेव पंचाणुव्वयाइं पडिवज्जंति पडिवज्जित्ता बहूहिं सीलव्वयगुणवेरमणपच्चक्खाणपो-सहोववासाइं अप्पाणं जावेमाणे बहूइं वासाइं आउयं पालंति पालित्ता जत्तं पच्चक्खंति बहूइं जत्ताइं अणसणाए छेयंति २ त्ता आलोइयपडिक्कंता समाहिं पत्ता कालमासे कालंकिच्चा उक्कोसेणं सहस्सारे कप्पे देवत्ताए उववत्तारो जवंति तेहिं तेसिं गती अट्ठारस सागरोवमाइं ठिती पन्नत्ता परलोगस्स आराहगा सेसं तंचेव ॥ १६ ॥

टी० (सण्णी पुव्वजाईसरणेति) संज्ञिनां सतां या पूर्वजातिः प्राक्तनो भवस्तस्या यत्स्मरणं तत्तथा ॥

सेजे इमे गामागरजावसन्निवेसेसु अजीवकम् जवंति तंजहा दुघरंतरिया तिघरंतरिया सत्तघरंतरिया उप्पलवेंटिया घरसमुदाणिया विज्जुअन्तरिया उट्टिया समणा तेण एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणे बहुइं वासाइं परियायं पाउणित्ता कालमासे कालं किच्चा उक्कोसेणं अच्चुए कप्पे देवत्ताए उववत्तारो जवंति तेहिं तेसिं गती बावीसं सागरोवमाइं ठिती अणाराहका सेसं तं चेव ॥ १७ ॥ से जे इमे गामागरजावसन्निवेसेसु पव्वइया समाणा जवंति तं अनुक्कोसिया परपरिवाइया जूइकम्मि-या जुज्जो २ कोउयकारका तेणं एतारूवेणं विहारेणं विहरमाणा बहूइ वासाइं सामण्णपरियागं पाउणंति पाउणित्ता तस्स ठाणस्स अणालोइयअपडिक्कंता काल-मासे कालंकिच्चा उक्कोसेणं अच्चुए कप्पे अजिओगिएसु देवेसु देवत्ताए उववत्तारो जवंति तेहिं तेसिं गई बावीसं सागरोवमाइ ठिती परलोगस्स अणाराहगा सेसं तं चेव ॥ १८ ॥

टी० (जुज्जो जुज्जो (कोउगकारगत्ति) भूयो जूयः पुनः पुनः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कौतुकं सौभाग्यादिनिमित्तं परेषां स्नपनादि तत्कर्त्तारः कौतुककारकाः (आभिओगिएसुत्ति) अभियोगे आदेशकर्म्मणि नियुक्ता. अभियोगिका आदेशकारिण इत्यर्थः एतेषां च देवत्वं चारित्राद्भाभियोगिकत्वं चात्मोत्कर्षादेरिति ॥ १८ ॥ औ०॥

सेजे इमे गामागरजावसन्निवेसेसु णिण्हगा भवंति तंजहा १ बहुरया २ जीवपदेसिया ३ अव्वत्तिया ४ सामुच्छिया ५ दोकिरिया ६ तेरासिया ७ अबद्धिया इच्चेते सत्त पवयणणिण्हगा केवलचरियालिंगसामण्णा मिच्छद्दिट्ठी बहूहिं असब्भावुब्भावणाहिं मिच्छत्ताभिणिवेसेहिय अप्पाणं च परं च तदुभयं च वुग्गाहेमाणा वुप्पाएमाणा विहरित्ता बहुइं वासाइं सामण्णपरियागं पाउणंति कालमासे कालंकिच्चा उक्कोसेणं उवरिमेसु गेवेज्जेसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति तेहिं तेसिं गती एकत्तीसं सागरोमाइ ठिती परलोगस्स अणाराहगा सेसं तं चेव ॥ १९ ॥

॥ टी० ॥ उपलक्षणञ्च तत् सक्रियापतिप्यापन्नदर्शनानामन्येषामपीति (पवयणनिण्हयत्ति) प्रवचनं जिनागमं निन्हुवते अपलपन्त्यन्यथा तदेकदेशस्याभ्युपगमात्ते प्रवचननिन्हवकाः केवलं (चरियालिंगसामण्ण मिच्छदिट्ठित्ति) मिथ्यादृष्टयस्ते विपरीतबोधाः नवरं चर्यया भिक्षाटनादिक्रियया लिङ्गेन च रजोहरणादिना सामान्यः साधुतुल्य इति ॥ १९ ॥

से जे इमे गामागरजावसण्णिवेसेसु मणुया भवंति तं जहा अप्पारंभा अप्पपरिग्गहा धम्मिया धम्माणुया धम्मिट्ठा धम्मक्खाइ धम्मप्पलोइ धम्मपलज्जणा धम्मसमुदायारा धम्मेणं चेव वित्तिं कप्पेमाणासु सीलासु व्वयासु प्पडियाणंदा साहूहिंति एकच्चाओ पाणाइवाताओ पडिविरया जावज्जीवाए एकच्चाओ अपडिविरया एवं जाव परिग्गहातो २ एकच्चाओ कोहाओ मायाओ लोभाओ पेज्जाओ कलहाओ अब्भक्खाणाओ पेसुन्नाओ परपरिवादाओ अरतिरतीओ मायामोसाओ मिच्छादंसणसल्लाओ पडिविरया जावज्जीवाए एकच्चाओ अपडिविरया एकच्चाओ आरंभसमारंभाओ पडिविरआ यावज्जीवाए एकच्चाओ अपडिविरआ एकच्चाओ करणकारावणाओ पडिविरया जावज्जीवाए एकच्चाओ पयणपयावणाओ पडिविरआ जावज्जीवाए एकच्चाओ अपडिविरआ एकच्चाओ करणकारावणाओ पडिविरया जावज्जीवाए एकच्चाओ पयणपयावणाओ पडिविरया जावज्जीवाए चेव वित्तिं कप्पेमाणा सुसीला सुव्वया सुप्पडियाणंदा साहूहिंति एकच्चाओ पाणाइवाताओ पडिविरया जावज्जीवाए एकच्चाओ अपडिविरया एवं जाव परिग्गहातो २ एकच्चाओ कोहाओ मायाओ लोभाओ पेज्जाओ कलहाओ एकच्चाओ पयणपयावणाओ अपडिविरया एकच्चाओ कुट्टण पिट्टण तज्जण तालण वहबंध परिकिलेसाओ पडिविरया जावज्जीवाए एकच्चाओ अपडिविरया एकच्चाओ ण्हाण मद्दण वण्णग विलेवण सद्द फरिस रस रूव गंध मल्लालंकाराओ पडिविरया जावज्जीवाए एकच्चाओ अपडिविरया जेयावण्णे तहप्पगारा सावज्जजोगा वहिया कम्मंता परपाणपरियावणकरा कज्जंति ततोजावए कच्चाओ अपडिविरया तं समणोवासका भवंति अभिगयजीवाजीवाओ बलद्धपुण्णपावाओ आसव संवर निज्जरकिरिया अधिकरण बंधमोक्खकुसला असहेज्जाओ देवासुरणागजक्खरक्खसकिंपुरिसगरुलगंधव्वमहोरगादिएहिं देवगणेहिं निग्गंथाओ पावयणाओ अणइक्कमणिज्जा णिग्गंथे पावयणे णिस्संकिया णिक्कंखिया निव्वितिगिच्छा लद्धट्ठा गहियट्ठा पुच्छियट्ठा अभिगयट्ठा विणिच्छियट्ठा अट्ठिमिंजये माणुरागरत्ता अयमाउसो णिग्गंथे पावयणाअट्ठे अयं परमट्ठे सेसे अणट्ठे ऊसियफलिहा अवंगुयदुवारा चियंतेउरपरघरदारप्पवेसा चउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु पडिपुण्णं पोसहं सम्मं अणुपालेत्ता समणणिग्गंथे फासुए साणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं वत्थपडिग्गहं कंबलपायपुंछणेणं ओसहभेसज्जेणं पडिहारएणयपीढफलहगसेज्जासंथारएणं पडिलाभेमाणा विहरंति विहरित्ता भत्तं पच्चक्खंति तंबहूइंभत्ताइं अणसणए च्छेदिंत्ति च्छेदित्ता आलोइयपडिक्कंता समाहिपत्ता कालमासे कालंकिच्चा उक्कोसेणं अच्चुए कप्पे देवत्ताए उववत्तारो भवंति तेहिं तेसिं गती बावीसं सागरोवमाइं ठिती आराहया सेसं तहेव ॥ २० ॥

टी० ॥ (धम्मियत्ति) धर्म्मेण श्रुतचारित्ररूपेण चरन्ति येते धार्म्मिकाः कुत एतदेवमित्यत आह (धम्मिट्ठत्ति) धर्म्मःश्रुतरूप एवेष्टो वल्लभः पूजितो वा येषान्ते धर्म्मेष्टाः धर्म्मिणांचेष्टाः धर्म्मीष्टाः अथवा धर्म्मोऽस्ति येषान्ते धर्म्मिणः त एवान्येभ्योऽतिशयवन्तो धर्म्मिष्ठा अत एव (धम्मक्खाइत्ति) धर्म्ममाख्यान्ति भव्यानां प्रतिपादयन्तीति धर्म्माख्यायिनःधर्म्माद्वा ख्यातिः प्रसिद्धिर्येषान्ते धर्म्मख्यातयः (धम्मपलोइयत्ति) धर्म्मं प्रलोकयन्ति उपादेयतया प्रेक्षन्ते पाषण्डिषु वा गवेषयन्तीति धर्म्मप्रलोकिनः धर्म्मगवेषणानन्तरं वा (धम्मपलज्जणत्ति) धर्म्मे प्ररज्यन्ते आसज्यन्ते ये ते धर्म्मप्ररज्जनाः ततश्च (धर्म्मसमुदाचारत्ति) धर्म्मरूपश्चारित्रात्मकः समुदाचारः सदाचारः सप्रमोदोवाऽऽचारो येषान्ते धर्म्मसमुदाचाराः अत एव (धम्मेण चेव वित्ति कप्पेमाणत्ति) धर्म्मेणव चारित्राविरोधेन श्रुताविरोधेन वा वृत्तिं जीविकां कल्पयन्तः कुर्वाणा विहरन्तीति योगः (सुव्वयत्ति) सद्वृत्ताः शोभनचित्तवृत्तिवितरणा वा (सुप्पडियाणंदा साहूहिंति) सुप्रत्यानन्दः चित्ताह्लादोयेषान्ते सुप्रत्यानन्दाः साधुषु विषयभूतेषु अथवा (साहूहिंत्ति) उत्तरवाक्ये सम्बध्यते ततश्च साधुभ्यः सकाशात् साध्वन्तिके इत्यर्थः (एगच्चाओ पाणा-

इवायाओत्ति) एकस्मात् न सर्वस्मात् पाठान्तरे (एगइया-ओत्ति) तत्र एकक एव एकाकिकः तस्मादेकाकिकात् इत इदं सूत्रं प्रायः प्रागुक्तार्थं नवरं मिच्छादंसणसल्लाओत्ति इह मिथ्यादर्शनं तज्जन्याऽन्ययूथिकवन्दनादिका क्रिया ततो भावतो विरताः राजाभियोगादिभिस्त्वाकारैरविरता इति ॥२०॥

एवं सामान्येनोक्तानां मनुष्याणां विशेषनिर्देशार्थमाह । (तंजहत्ति) एते इत्यर्थः (संजहानामएत्ति) क्वचित्तत्राप्ययमेवार्थः ॥

से जे इमे गामागरजावसण्णिवेसेसु मणुआ भवंति तंजहा अणारंभा अपरिग्गहा धम्मिया जाव कप्पेमाणा सुसीला सुव्वता सुपडियाणंदा साहु सव्वाओ पाणाइवायातो पडिविरया जाव सव्वाओ परिग्गहाओ पडिविरया सव्वाओ कोहाओ माणाओ मायाओ लोभाओ जाव मिच्छादंसणसल्लाओ पडिविरया सव्वाओ आरंभसमारंभाओ पडिविरया सव्वाओ करणकारावणाओ पडिविरया सव्वाओ पयणपयावणाओ पडिविरया सव्वाओ कुट्टणपिट्टणतज्जणतालणवहबंधपरिकिलेसाओ पडिविरया सव्वाओ एहाण मद्दण वण्णक विलेवण सद्दफरिस रस रूव गंध मल्लालंकाराओ पडिविरया जेतावण्णे तह प्पगारा सावज्जजोगे वहिया कम्मंता परपाणपरियावण करा कज्जंति ततो विपडिविरया जावज्जीवाए से जहाणामए अणगारा भवंति । इरियासमिया भासासमिया जाव इणमेव णिग्गंथं पावयणं पुरओ काउं विहरंति तेसिणं भगवंताणं एतेणं विहारेणं विहरमाणाणं अत्थेगइयाणं अणंते जाव केवलवरणाणदंसणे समुप्पज्जति । ते बहूइं वासाइं केवलिपरियागं पाउणंति । पाउणित्ता भत्तपच्चक्खंति भत्तं २ बहूइं भत्ताइं अणसणाइं छेदइ २ त्ता जस्सट्ठाए कीरइ णग्गभावे जाव अंतं करेंति जेसिं पियणं एगइयाणं णो केवलवरदंसणे समुप्पज्जइ ते बहूइं वासाइं छउमत्थपरियागं पाउ २ आबाहे उप्पण्णे वा अणुप्पण्णे वा भत्तं पच्चक्खंति ते बहूइं भत्ताइं अणसणाए छेदेइ २ त्ता जस्सट्ठाए कीरए णग्गभावे जाव अंतं करेइ जेसिं पियणं एगइयाणं णो केवलवरदंसणे समुप्पज्जइ । ते बहूइं वासाइं छउमत्थपरियागं पाओ २ आबाहे उप्पण्णे वा अणुप्पण्णे वा भत्तं पच्चक्खंति । ते बहूइं भत्ताइं अणसणाए छेदेइ २ त्ता जस्सट्ठिए करिए णग्गभावो जाव तमट्ठमाराहित्ता चरिमेहिं उस्सासणिस्सासेहिं अणंतं अणुत्तरं निव्वाघायं निरावरणं कसिणं पडिपुण्णं केवलवरणाणदंसणं उप्पाडेंति तओपच्छा सिज्झइ जाव अंतंकरेहिंति एकच्चा पुण एकेभयं तारो पुव्वकम्मावसेसेणं कालमासे कालं किच्चा उक्कोसेणं सव्वट्ठसिद्धे महाविमाणे देवताए उववत्तारो भवंति तेहिं तेसिं गई तेत्तीसं सागरोवमाइं ठिई आराहका सेसं तं चेव ॥

टी० आबाहेति रोगादिबाधायां एगच्चा पुण एगे भयंतारोत्ति एगा असाधारणगुणत्वात् द्वितीया मनुजभवभाविनी वा अर्चा एजायेषामन्ते एकार्चाः पुनः शब्दः पूर्वोक्तार्थापेक्षया उत्तरवाक्यार्थस्य विशेषद्योतनार्थः । एके केवलज्ञानभाजनेभ्यो अपरे (भयंत्तारोत्ति) भकारो अनुष्ठानविशेषस्य सेवयितारो भयत्रातारो वा अनुस्वारस्त्वलाक्षणिकः (पुव्वकम्मावसेसेण) क्षीणावशेषकर्म्माणो देवतयोत्पत्तारो भवन्तीति योगः ॥

आराहण–आराधन–आ राध–ल्युट्–आ सामस्त्येन राध्यते साध्यते पर्यन्तक्रियाऽनेनेत्याराधनमन शनम् अनशने,संस्ता.

आराहणपडागा–आराधनपताका– स्त्री० आराधनरूपपताकायाम् द० प० ॥

संसाररंगमज्झे, धिइबलवच्छसाय बद्धकच्छाओ ॥ हंतूण मोहमल्लं, हराहि आराहणपडागं ॥ २७ ॥ द० प० । चतारियकसाए,तिन्निगारवे पंच इंदियग्गामे॥ हंता परीसहसमूहे, राहि आराहणपडागं ॥ ३४ ॥

आराहणय–आराधनक– पुं० संस्तारके, संस्ता० ॥

आराहणया–आराधनता स्त्री० संस्तारके, एस किआराहणया आ सामस्त्येन राध्यते साध्यते पर्यन्तक्रियाऽनेनेत्याराधनमनशनम् तस्य भाव आराधनता आराधनमेव वा आराधनका स्वार्थिककप्रत्ययोपादानादाराधनका अयमर्थः एष संस्तारक आराधनता आराधनका वा चारित्रधर्मोत्थापनकल्पा इति संस्ता० ॥

आराहणा–आराधना–स्त्री० आ राध णिच् युच् स्त्रीत्वाट्टाप् सेवायाम्, वाच० । पालनायाम्, पंचा० वृ. ७ ॥ मोक्षसुखसाधनोपाये, दर्श० ॥ आराधनमाराधना ज्ञानादिवस्तुनोऽनुकूलवर्तित्वम् निरतिचारज्ञानाद्यासेवायाम् स्था० ठा. २ आराधना ज्ञानादिगुणानां विशेषतः पालनेति. औप० (आराहणागुणाणं) आराधनाऽखण्डनिष्पादना गुणानामिति ध० अधि. ३ (अपच्छिममारणंतिय संलेहणा झोसणाराहणाय) आराधनाऽखण्डकालस्य करणमित्यर्थः । आव० । उत्तमार्थप्रतिपत्तौ आतु० ॥ चरमकाले निर्यापणे, च आराधना चरमकाले निर्यापणरूपेति । स्था० । दश ० अ. १० ॥

सा च द्विविधा तथा च स्थानाङ्गे २ ठा. ।

दुविहा आराहणा प० तं० । धम्मियाराहणा चेव केवलिआराहणा चेव धम्मियाराहणा दुविहा प० तंजहा सुयधम्माराहणा चेव चरित्तधम्माराहणा चेव केवलिआराहणा दुविहा पन्नता । तंजहा अंतकिरिया चेव कप्पविमाणोववत्तिया चेव ॥

टी० दुविहेत्यादि ॥ सूत्रं कण्ठ्यं नवरं । आराधनमाराधना ज्ञानादिवस्तुनोऽनुकूलवर्त्तित्वं निरतिचारज्ञानाद्यासेवेति यावत् धर्म्मेण श्रुतचारित्ररूपेण चरन्तीति धार्म्मिकाः साधवस्तेषामियं धार्म्मिकी सा चासावाराधना चेति निरतिचारज्ञानादिपालना धार्म्मिकाराधना केवलिनां श्रुतावधि मनःपर्यायकेवलज्ञानिना मियं कैवलिकी सा चासावाराधना चेति कैवलिकाराधनेति । सुयधम्मेत्यादौ विषयभेदेनाराधनाभेद उक्तः केवलिआराहणेत्यादौ तु फलभेदेनेति तत्र अंतो भवांत स्तस्य

क्रिया अंत क्रिया भवच्छेद इत्यर्थस्तद्धेतुर्याऽराधना शैलेशि रूपा सा अंतक्रियेत्युपचारात् एषा च क्षायिकज्ञानिकेवलिनामेव भवति । तथा कल्पेषु देवलोकेषु न तु ज्योतिष्कादि विमानानि देवा वासविशेषा अथवा कल्पाश्च सौधर्म्मादयो विमानानि च तदुपरिवर्त्ति ग्रैवेयकादीनि कल्पविमानानि तेषु उपपात्तिरुपपातो जन्म यस्याः सकाशात् सा कल्पविमानोपपातिका ज्ञानाद्याराधना एषा च श्रुतकेवल्यादीनां भवतीति एवं फलाचेयमनंतरफलद्वारेणोक्ता परंपरया तु भवांतक्रियानुपातिन्येवेति ॥

त्रिविधापि भगवत्याम् यथा भ० श० ८ उ० १०

कइविहाणं भंते ! आराहणा पन्नत्ता ? गोयमा ! तिविहा आराहणा पएणत्ता तंजहा नाणाराहणा १ दंसणाराहणा २ चरित्ताराहणा ३ नाणाराहणाणं भंते ! कइविहा पन्नत्ता ? तिविहा पन्नत्ता तंजहा- उक्कोसिया मज्झिमा जहएणा दंसणाराहणाणं भंते ! कइविहा ? एवं चेव तिविहावि एवं चरित्ताराहणावि ॥

टी० आराधना निरतिचारतयानुपालना तत्र ज्ञानं पञ्चप्रकारं श्रुतं वा तस्याऽराधना कालाद्युपचारकरणं दर्शनं सम्यक्त्वं तस्याऽराधना निःशंकितत्वादि तदाचारानुपालनं चारित्रं सामायिकादि तदाराधना निरतिचारता (उक्कोसियत्ति । उत्कर्षा ज्ञानाराधना ज्ञानकृत्यानुष्ठानेषु प्रकृष्टप्रयत्नता मज्झिमत्ति तेष्वेव मध्यमप्रयत्नता जहन्नत्ति । तेष्वेवाल्पतमप्रयत्नता । एवं दर्शनाराधना चारित्राराधना चेति ॥ स्था० ठा० ३ ॥ ज्ञानस्य श्रुतस्याराधना कालाध्ययनादिष्वष्टसु आचारेषु प्रवृत्त्या निरतिचारपरिपालना ज्ञानाराधना एवं दर्शनस्य निःशङ्कितादिषु चारित्रस्य समितिगुप्तिषु सा चोत्कृष्टादिभेदाभावभेदात्का भेदा इति ज्ञानादिप्रतिपत्तलक्षणः ॥

अनेकाराधनाभेदानामेव परस्परोपनिबन्धमभिधातुमाह । भ० श० ८ उ० १०

जस्सणं भंते ! उक्कोसिया नाणाराहणा तस्स उक्कोसिया दंसणाराहणा जस्स उक्कोसिया दंसणाराहणा तस्स उक्कोसिया नाणाराहणा गोयमा ! जस्स उक्कोसिया णाणाराहणा तस्स दंसणाराहणा उक्कोसा वा अजहन्नुक्कोसा वा जस्स पुण उक्कोसिया दंसणाराहणा तस्स नाणाराहणा उक्कोसा वा जहएणा वा अजहएण मणुक्कोसा वा ॥

॥ टी० ॥ जस्स णमित्यादि ॥ अजहएणुक्कोसात्ति ॥ जघन्या चासावुत्कर्षा चोत्कृष्टा जघन्योत्कर्षा तन्निषेधादजघन्योत्कर्षा मध्यमेत्यर्थः । उत्कृष्टज्ञानाराधनावतोद्याद्ये द्वे दर्शनाराधने भवतो न पुनस्तृतीया तथा स्वभावत्वात्तस्येति ॥ जस्स पुणेत्यादि ॥ उत्कृष्टदर्शनाराधनावतो हि ज्ञानं प्रति त्रिप्रकारस्यापि प्रयत्नस्य सम्भवोऽस्तीति त्रिप्रकारापि तदाराधना भजनया भवतीति ॥

जस्सणं भंते । उक्कोसिया नाणाराहणा तस्स उक्कोसिया चरित्ताराहणा जस्स उक्कोसिया चरित्ताराहणा तस्सुक्कोसिया नाणाराहणा ? जहा उक्कोसिया नाणाराहणा य दंसणाराहणा य भणिया तहा उक्कोसिया नाणाराहणा य चरित्ताराहणा य भाणियव्वा ॥

टी० ॥ उत्कृष्टज्ञानचारित्राराधना संयोगसूत्रे तृत्तरं यस्योत्कृष्टा ज्ञानाराधना तस्य चारित्राराधना उत्कृष्टा मध्यमा वा स्यात् उत्कृष्टज्ञानाराधनावतो हि चारित्रं प्रति नाल्पतमप्रयत्नता स्यात्तत्स्वभावत्वात्तस्येति । उत्कृष्टचारित्राराधनावतस्तु ज्ञानं प्रति प्रयत्नत्रयमपि भजनया स्यात्, एतदेवातिदेशत आह जहा उक्कोसिए इत्यादि ॥

जस्सणं भंते ! उक्कोसिया दंसणाराहणा तस्सुक्कोसिया चरित्ताराहणा जस्सुक्कोसिया चरित्ताराहणा तस्सुक्कोसिया दंसणाराहणा गोयमा ! जस्स उक्कोसिया दंसणाराहणा तस्स चरित्ताराहणा उक्कोसा वा जहएणा वा अजहएणमणुक्कोसा वा जस्स पुण उक्कोसिया चरित्ताराहणा तस्स दंसणाराहणा नियमं उक्कोसा ॥

॥ टी० ॥ उत्कृष्टदर्शनचारित्राराधना संयोगसूत्रेदुत्तरं ॥ (जस्सुक्कोसियादंसणाराहणेत्यादि) ॥ यस्योत्कृष्टा दर्शनाराधना तस्य चारित्राराधना त्रिविधापि भजनया स्यादुत्कृष्टदर्शनाराधनावतो हि चारित्रं प्रति प्रयत्नस्य त्रिविधस्याऽप्यविरुद्धत्वादिति ॥ उत्कृष्टायां तु चारित्राराधनायामुत्कृष्टैव दर्शनाराधना प्रकृष्टचारित्रस्य प्रकृष्टदर्शनानुगतत्वादिति ॥

अथाराधनाभेदानां फलदर्शनायाह- भ० श० ८ उ० १०

उक्कोसियं णं भंते । नाणाराहणं आराहेत्ता कइहिं भवग्गहणेहिं सिज्झइ जाव अंतं करेइ गोयमा ! अत्थेगइए तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झइ जाव अंतं करेइ अत्थेगइए दोच्चेणं भवग्गहणेणं सिज्झइ जाव अंतं करेइ अत्थेगइए कप्पोवएसु वा कप्पातीतएसु वा उववज्जइ, उक्कोसिया णं भंते ! दंसणाराहणं आराहेत्ता कइहिं भवग्गहणेहिं एवं चेव ॥ उक्कोसियं णं भंते ! चरित्ताराहणं आराहेत्ता एवं चेव, णवरं अत्थेगइए कप्पातीतएसु उववज्जइ ॥

टी० ॥ तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झति ॥ उत्कृष्टां ज्ञानाराधनामाराध्य तेनैव भवग्रहणेन सिद्ध्यत्युत्कृष्टचारित्राराधनायाः सद्भाव कप्पोवएसुवत्ति ॥ कल्पोपगेषु सौधर्म्मादिदेवलोकोपगेषु देवेषु मध्ये उपपद्यते मध्यमचारित्राराधनासद्भावे ॥ कप्पातीएसुवत्ति ॥ ग्रैवेयकादिदेवेषूपपद्यते मध्यमोत्कृष्टचारित्राराधनासद्भाव इति ॥ तथा उक्कोसियं णं भंते ! दंसणाराहणमित्यादौ एवंचेवत्ति करणात्तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झइत्यादि द्वयं तद्भवसिद्धयादि च तस्यां स्याच्चारित्राराधनायास्तत्रोत्कृष्टाया मध्यमायाश्चोक्तत्वादिति ॥ तथा उक्कोसियं णं भंते ! चारित्ताराहणमित्यादि एवंचेव तिकरणात्तेणेव भवग्गहणेणमित्यादि द्वयं केवलं तत्र अत्थेगइए कप्पोवगेसु वेत्यभिहितमिह तु तन्नवाच्यमुत्कृष्टचारित्राराधनावतः सौधर्मादिकल्पेष्वगमनादाच्यं पुनः अत्थेगइए कप्पातीतएसु उववज्जइति, सिद्धिगमनाभावे तस्यानुत्तरसुरेषु गमनादेतदेव दर्शयतोक्तं ॥

मज्झिमियं णं भंते ! नाणाराहणं आराहेत्ता कइहिं भवग्गहणेहिं सिज्झइ जाव अंतं करेइ २ गोयमा ! अत्थेगइए दोच्चेणं भवग्गहणेणं सिज्झइ जाव अंतं करेइ तच्चं पुण भवग्गहणं णाइक्कमइ । मज्झिमियं णं भंते ! दंसणा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राहणं आराहेत्ता एवं चेव एवं मज्झिमियं चरित्ताराहणं पि ॥

टी० ॥ नवरमित्यादि ॥ मध्यमज्ञानाराधना सूत्रे मध्यमत्वं ज्ञानाराधनाया अधिकृत तव एव निर्वाण भवेपुनरुत्कृष्टत्वमवश्यं भावीत्यवसेयं निर्वाणान्यथानुपपत्तेरिति । दोच्चेणंति ॥ अधिकृतमनुष्यभवापेक्षया द्वितीयेन मनुष्यभवेन ॥ तच्चं पुण भवग्गहणंति ॥ अधिकृतमनुष्यभवग्रहणापेक्षया तृतीयं मनुष्यभवग्रहणं ॥

जहरिणयं णं भंते ! णाणाराहणं आराहेत्ता कइहिं भवग्गहणेहिं सिज्झइ जाव अंतं करेइ गोयमा ! अत्थेगइए तच्चे णं भवग्गहणेणं सिज्झइ जाव अंतं करेइ सत्तट्ठभवग्गहणाइं पुण नाइक्कमइ एवं दंसणाराहणं पि । एवं चरित्ताराहणं पि ॥

एताश्च चारित्राराधनाः संलक्षिता ज्ञानाद्याराधना इह विवक्षिताः कथमन्यथा जघन्यज्ञानाराधनामाश्रित्य वक्ष्यति सत्तट्ठभवग्गहणाइं पुण णाइक्कमइत्ति ॥ यतश्चारित्राराधनाया एवेद फलमुक्तं यदाह अट्ठभवा उचरित्तेत्ति ॥ श्रुतसम्यक्त्वदेशविरतिभवास्त्वसंख्येया उक्तास्ततश्चरणाराधनारहिताः ज्ञानदर्शनाराधना असंख्येयभविका अपि भवन्ति नत्वष्टभविका एवेति ॥ तथाच व्यवहारकल्पे (आराहणा उ तिविहा उक्कोसा मज्झमा जहन्ना उ ॥ एगं दुगं तिगं जहन्नं दुन्नी गट्ठभवा उक्कोसा) आराधना त्रिविधा उत्कृष्टा मध्यमा जघन्या च । तत्रोत्कृष्टाराधनायाः फलमेको भवः मध्यमाया द्वौ भवौ जघन्यायास्त्रयो भवाः यदि तत्रैव मोक्षा नाव तदा उत्कृष्टाराधनायाः फलं जघन्यं संसरणं द्वौ भवौ मध्यमायास्त्रयो भवा जघन्याया अष्टौ भवाः ॥ द० प० म. प. ए । दंसणनाणचरित्तं तव य आराहणा चउक्खंधा । सव्वे च होइ तिविहा उक्कोसा मज्झिम जहन्ना ३७ आराहेऊणविऊ उक्कोसाराहणं चउक्खंधं । कम्मरयविप्पमुक्को तेणेव भावेण सिज्झिज्जा ३८ आराहेऊणविऊ जहन्नमाराहणाचउक्खंधा । सत्तट्ठभवग्गहणे परिणामेऊण सिज्झिज्जा ३९ ॥

भणइ य तिविहा भणिया, सुविहिय आराहणा जिणिंदेहिं । सम्मत्तंमिय पढमा, नाणचरित्तेहिं दोन्नअण्णा ॥ १५ ॥ सद्दहगा पत्तियगा, रोयगा जस्स वीरवयणस्स । समसअणुसरंता, दंसणआराहणा हुन्ति ॥ १६ ॥ संसारसमावन्ने य छव्विहे ऽहे मरिसएचेव । एएछव्विहे जीवे, आणाए सद्दहे निच्चं १७ धम्माधम्मागास, ऽग्गा जे जीवमोच्छकायं च । आणाइ सद्दहंतो, सम्मत्ताराहगा भणिया १८

आराधनामधिकृत्य महाप्रत्याख्याने. द० प० इंदियसुहसोउलउ, घोरपरीसहपराईयपराज्झा । अकयपरिकम्मकीवो, मुज्झइ आराहणाकाले ॥ ९३ ॥ मुज्झइ दुक्करकारी, जाणइ मग्गंति पावए किंत्ति । विणिग्गहितो निंदई, तम्हा आराहणा सेया ॥ ८५ ॥ द० प० चइऊण कसाए इंदिए य सावयगारवेहंतु तोसलिय रागदोसो करेइ आराहाइणा सुद्धिं ॥ ४४ ॥

आराधनोपयुक्तस्य फलम् यथा. आतु० ।

एगं पि सिलोग जो, पुरिसा मरणदसकालंमि ।
आराहणावउत्ता, चिंतंतो आराहगो होइ ॥ ७४ ॥

टी० ॥ तस्मादेकमपि श्लोकं पंचपरमेष्ठि नमस्कारादिरूपं यः पुमान् मरणदेशकाले आराधनोपयुक्तः सन् चिंतयति स तं चिंतयन् स्मरन्नाराधको भवति ॥ ७४ ॥

अथाराधकस्य किम्फलमित्याह आतु० ।

आराहणोवउत्तो, सम्मं काऊण सुविहिओ कालं ॥
उक्कोसं तिन्निभवे, गंतूणं लहइ निव्वाणं ॥ ७५ ॥

टी० ॥ आराधनाया उत्तमार्थप्रतिपत्त्या आराधनायां वा उपयुक्त उद्यतः सावधान इत्यर्थः कालं मरणं कृत्वा सुविहितः सुसाधुः सम्यग् शुद्धभावेनोत्कृष्टत उत्कृष्टाराधनाधिक्यात्त्रीन् भवान् गत्वा लभते निर्वाणं मोक्षमित्यर्थः । यदि परमसमाधिना कालं करोति ततस्तृतीये भवेऽवश्यं सिद्ध्यतीति भावः । अत्राह शिष्यः । ग्रंथांतरे उत्कृष्टतो निरंतरमष्टभवाराधनया जघन्यतस्त्रिकभवाराधनयापि सिध्यतीत्युक्तं अत्र तु तृतीयभवे सिध्यतीति तदेतन्नाप्युत्कृष्टं नापि जघन्यं ततश्च कथं न विरोधः उच्यते यदेकेन भवे नसिद्ध्यतीत्युक्तं तदृषभनाराच संहननमाश्रित्य एतच्च सेवार्त्तसंहनन मंगीकृत्योच्यते सेवार्त्तसंहननोहि यदुत्कृष्टाराधनां करोति ततस्तृतीये भवे सिद्ध्यति उत्कृष्टशब्दश्चात्राऽतिशयार्थः । आराधनाविशेषणं च द्रष्टव्यः । ननु भवानंगीकृत्य भवांगीकरणे पुनरुत्कृष्टतोऽष्टभिरेव भवैः सेवार्त्तसंहननः सिध्यतीति न विरोधः ॥ ७५ ॥

आराधनाभिमुखस्य फलम् । पा० ॥

जे य इमं गुणरयण, सायरमविराहिऊण तिण्णसंसारा ।
ते मंगलं करित्ता, अहमवि आराहणाभिमुहो ॥ २ ॥

टी० ॥ तया (जेय इमं इति) ये महामुनयश्चशब्दो मंगलांतरसमुच्चयार्थः । इमं जैनशासनप्रसिद्धं (गुणरयणसायरंति) गुणा महाव्रतादयस्त एवरत्नानि विशिष्टफलहेतुत्वात्सर्ववस्तुसारत्वाच्च गुणरत्नानि तान्येव बहुत्वात्सागर इव सागरः समुद्रो गुणरत्नसागरः तं किमित्याह । अविराध्य अखंडमनुपाल्य तीर्णसंसारालंघितभवोदधयो जातास्तान्परमात्मनो मंगलं कृत्वा शुभमनोवाक्कायगोचरं समानीयेत्यर्थः । अहमपि न केवलमुक्तन्यायेनाराधकत्वात्ते तीर्णभवार्णवाः । किंत्वहमपि संसारार्णवलंघनार्थमेवाराधनायास्संपूर्णमोक्षमार्गानुपालनाया अभिमुखः संमुखः कृतउद्यत इत्यर्थः ॥ आराधनाभिमुखः संजात इति ॥

आधाकर्मादि भुञ्जानस्य नालोचयतोऽप्रतिक्रामतश्च नास्त्याराधना ॥

तथाच दर्शनशुद्धौ दर्श० ॥

भुंजइ आहाकम्मं, सम्मं नय जो पडिक्कमइ लुद्धो ॥
सव्वजिणाणाविमुहस्स तस्स आराहणा नत्थि ॥

भुंक्तेऽभ्यवहरति लौल्यादापभिपतितो वा आधाकर्म उपलक्षणत्वात् क्रीताभ्याहृताद्यपि सम्यक्नच नैव प्रतिक्रामति मयेदमनुचितमाचरितमिति सम्यग्भावेनेत्यर्थः यः लुब्धो लोभवान् तस्य किं नास्ति न विद्यते साऽऽराधना मोक्षसुखसाधनोपायो यत्र्थं गेहनिष्कासि इत्यर्थः । कथंभूतस्य सर्वजिनाज्ञाविमुखस्य ॥ १० ॥

आलोअणमालुंचण, विअडीकरणं च भावसोहीअ ॥
आलोइअंमि, आराहणा अणालोइए भयणा ॥ १५ ॥

अवलोकनं आलुंचन विकटीकरणं चभावशुद्धिश्च यश्चेहकाश्चिपि गुणमाद्धःकारःस्वस्यारामस्य सदाद्विसंध्यमवलोकनं करोति कि

कुसुमानि संत्युत नेति दृष्ट्वा तेषामाकुंचनं करोति ग्रहणमित्यर्थः ततोविकटीकरणं विकसितमुकुलितार्द्धमुकुलितानां भेदनं विभजनमित्यर्थः च शब्दात् पश्चात् ग्रंथनं करोति ततो ग्राहका गृह्णंति ततोऽस्याभिलषितार्थलाभो भवति भावशुद्धिश्च चित्तप्रसादलक्षणा अस्या एव विवक्षितत्वात् अन्यस्तु विपरीतकारी मालाकारस्तस्य न भवति एवं साधुरपि कृतोपधिप्रत्युप्रेक्षणादिव्यापारो भक्तादिभूमिप्रत्युपेक्षया धातविरहितः कायोत्सर्गस्थोऽनुप्रेक्षते सूत्रं गुरौ तु स्थिते दैवसिकावश्यकस्य मुखवस्त्रिकाप्रत्युप्रेक्षणादेः कायोत्सर्गं तस्यावलोकनं करोति पश्चादाकुंचनं स्वबुद्ध्याऽपराधग्रहणं ततो विकटीकरणं गुरुलघूनामपराधानां विभजनं च शब्दादालोचनं प्रतिसेवनानुलोमेन ग्रंथनं ततो यथाक्रमं गुरोर्निवेदनं करोति एवं कुर्वतः भावशुद्धिरुपजायते । औदयिकभावात् क्षायोपशमिकप्राप्तिरित्यर्थः । इत्थमुक्तेन प्रकारेणालोचिते गुरोरपराधजाले निवेदिते आराधना मोक्षमार्गाराधना भवति अनालोचिते अनिवेदिते भजना विकल्पना कदाचिद्भवति, कदाचिन्न भवति तत्रैतद् भवति ।

आलोयणापरिणओ, सम्मं समुवट्ठिओ गुरुसगासं ।
जइ अंतराओ कालं, करेज्ज आराहओ तहवि ।।१।।
एवं तु न भवति इड्डी, एगारवेणं बहुसुयमएणावाि दुच्चरियं । जो न कहेइ गुरूणं नहु सो आराहओ भणिओति ।। गाथार्थः । आव. ।।

आहाकम्मं अणवज्जेत्ति मणं पहारेत्ता भवइ सेणं तस्स ठाणस्स अणालोइयपडिक्कंते कालं करेइ नत्थि तस्स आराहणा सेणं तस्स ठाणस्स आलोइयपडिक्कंते कालं करेइ अत्थि तस्स आराहणा एएणं गमेणं नेयव्वं कीयकडं ठवियं रइयं कंतारभत्तं दुब्भिक्खभत्तं वद्दलियाभत्तं गिलाणभत्तं सेज्जायरपिंडं रायपिंडं आहाकम्मं अणवज्जेति बहुजणमज्झे भासित्ता सयमेव परिभुंजित्ता भवइ सेणं तस्स ठाणस्स जाव अत्थि तस्स आराहणा एयंपि तह चेव जाव रायपिंडं आहाकम्मं अणवज्जेत्ति अण्णमण्णस्स अणुप्पदावेत्ता भवइ सेणं तस्स एवं तह चेव जाव रायपिंडं आहाकम्मं णं अणवज्जेति बहुजणमज्झे पन्नवइत्ता भवइ सेणं तस्स जाव अत्थि आराहणा जाव रायपिंडं । भ० ५ श० ६ उ० ।।

(अणवज्जेत्ति) अनवद्यमिति निर्दोषमिति ॥ मणं पहारेत्तित्ति ॥ मानसं प्रधारयिता स्थापयिता भवति । रइयंति । मोदकचूर्णादि पुनर्मोदकादितया रचितमौद्देशिकभेदरूपं (कंतारभत्तंति) । कान्तारमरण्यं तत्र भिक्षुकाणां निर्वाहार्थं यद्विहितं भक्तं तत्कान्तारभक्तं एवमन्यान्यपि नवरं, वर्द्दलिका मेघदुर्दिनं । (गिलाणभत्तंति) ग्लानस्य नीरोगतार्थं भिक्षुकदानाय यत्कृतं भक्तं तत् ग्लानभक्तं आधाकर्मादीनां सदोषत्वेनागमेऽभिहितानां निर्दोषताकल्पनं तत एव स्वयं भोजनमन्यसाधुभ्योऽनुप्रदानं सभायां निर्दोषताभणनञ्च विपरीतश्रद्धानादिरूपत्वान्मिथ्यात्वादि,ततश्च ज्ञानादीनां विराधना स्फुटैवेति ॥

निग्गंथेण य गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए पविट्ठेणं अण्णयरे अकिच्चट्ठाणे पडिसेविए तस्स णं एवं भवइ इहेव ताव अहं एयस्स ठाणस्स आलोएमि पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि विउट्टामि विसोहामि अकरणयाए अब्भुट्ठेमि अहारिहं पायच्छित्तं तवोकम्मं पडिवज्जामि तओपच्छा थेराणं अंतियं आलोएस्सामि । जाव तवोकम्मं पडिवज्जिस्सामि से य संपट्ठिए असंपत्ते थेराय पुव्वामेव अमुहा सिया । से णं भंते ! किं आराहए विराहए ? गोयमा ! आराहए नोविराहए से य संपट्ठिए असंपत्ते अप्पणाय पुव्वामेव अमुहे सिया से णंभंते ! किं आराहए विराहए गोयमा ! आराहए नो विराहए से य संपट्ठिए असंपत्ते थेराय कालं करेज्जा से णं भंते ! किं आराहए विराहए गोयमा ! आराहए नोविराहए से य संपट्ठिए असंपत्ते य अप्पणाय पुव्वामेव कालं करेज्जा सेणं भंते ! किं आराहए विराहए गोयमा ! आराहए नो विराहए से य संपट्ठिए संपत्ते थेराय अमुहा सिया सेणं भंते ! किं आराहए विराहए गोयमा ! आराहए नो विराहए से य संपट्ठिए असंपत्ते अप्पणाय एवं संपत्तेण वि चत्तारि आलावगा भाणियव्वा ।। जहेव असंपत्तेणं निग्गंथेण य वहियारभूमिं वा विहारभूमिं वा निक्खंतेणं अण्णयरे अकिच्चट्ठाणे पडिसेविए तस्स णं एवं भवइ इहेव ताव अहं एवं एत्थवि ते चेव अट्ठ आलावगा भाणियव्वा जाव नो विराहए। निग्गंथेण य गामाणुगामं दूइज्जमाणेणं अण्णयरे अकिच्चट्ठाणे पडिसेविए तस्स णं एवं भवइ इहेव ताव एत्थवि ते चेव अट्ठ आलावगा भाणियव्वा जाव नो विराहए। निग्गंथीए य गाहावइकुलं । पिंडवायपडियाए अणुप्पविट्ठाए अण्णयरे । अकिच्चट्ठाणे पडिसेविए तीसेणं एवं भवइ इहेव ताव अहं एयस्स ठाणस्स आलोएमि जाव तवोकम्मं पडिवज्जामि तओ पच्छा पवित्तणीए अंतिए आलोएस्सामि जाव पडिवज्जिस्सामि सा य संपट्ठिया असंपत्ता पवित्तणीय अमुहा सिया साणं भंते ! किं आराहिया विराहिया? गोयमा ! आराहिया णो विराहिया। सा य संपट्ठिया जहा निग्गंथस्स तिण्णि गमा भणिया एवं निग्गंथीए वि तिण्णि आलावगा भाणियव्वा जाव आराहिया नो विराहिया। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ आराहए नो विराहए ? गोयमा ! से जहा नाम ए केइ पुरिसे एगं महं उण्णालोमं वा गयलोमं वा सणलोमं वा कप्पासलोमं वा तणसूयं वा दुहा वा तिहा वा संखेज्जहा वा छिंदित्ता अगणिकायंसि पक्खिवेज्जा सेणूणं गोयमा ! छिज्जमाणे छिन्ने पक्खिप्पमाणे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पक्खित्ते दज्झमाणे दड्ढेत्ति वत्तव्वं सिया हंता जगवं ! छिज्जमाणे छिन्ने जाव दड्ढेत्ति वत्तव्वं सिया से जहानामए केइ पुरिसे वत्थं अहतं धोयं वा तंतुग्गयं वा मंजिट्ठदोणीए पक्खिवेज्जा से णूणं गोयमा ! उक्खिप्पमाणे उक्खित्ते पक्खिप्पमाणे पक्खित्ते रज्जमाणे रत्तेत्ति वत्तव्वं सिया हंता जगवं ! उक्खिप्पमाणे उक्खित्ते जाव रत्तेत्ति वत्तव्वं सिया से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ आराहए नो विराहए ।। ज० ८ श० ६ उ० ।

निर्ग्रन्थप्रस्तावादिदमाह ॥

निग्गंथं चण मित्यादि ॥ इह चशब्दः पुनरर्थस्तस्य घटना चैवं निर्ग्रन्थं कंचित्पिएमपातप्रतिज्ञया प्रविष्टं पिएमादिनोपनिमन्त्रयेत् तेन च निर्ग्रन्थेन पुनः ॥ अकिच्चट्ठाणेति॥ कृतस्य करणस्य स्थानमाश्रयः कृत्यस्थानं तन्निषेधोऽकृत्यस्थानं मूलगुणादिप्रतिसेवारूपोऽकायविशेषः (तस्स णंति) तस्य निग्रन्थस्य संजातानुतापस्यैवं जवति एवं प्रकारं मनोभवति (एयस्स गणस्सत्ति) विजक्तिपरिणामादेतत् स्थानमनन्तरासेवितमालोचयामि स्थापनाचार्यनिवेदनेन प्रतिक्रमामि मिथ्यादुष्कृतदानेन निन्दामि स्वसमक्षं स्वस्याकृत्यस्थानस्य वा कुत्सनेन गर्हे गुरुसमक्षं कुत्सनेन (विउट्टामिति) वित्रोटयामि तदनुबन्धच्छिनद्मि विशोधयामि प्रायश्चित्ताज्युपगमेन अकरणतयाऽकरणेनाज्युत्तिष्ठाम्यज्युद्यतो भवामीति (अहारिहंति) यथार्हंवयोचितमेतच्च गीतार्थतायामेव जवति नान्यथा (अंतियंति) समीपं गत इति शेषः (थेराय अमुहा सियत्ति) स्थविराः पुनरमुखा निर्वाचः स्युर्वातादिदोषात्ततश्च तस्यालोचनादिपरिणामे सत्यपि नालोचनादिसम्पद्यत इत्यतः प्रश्नयति ॥ (सेणमित्यादि)(आराहएत्ति)मोक्षमार्गस्याराधकः शुद्ध इत्यर्थः जावस्य शुद्धत्वाद्भवति चालोचनापरिणता सत्यां कथञ्चित्तदप्राप्तावप्याराधकत्वं यत उक्तं । मरणमाश्रित्य आलोयणापरिणओसम्म संपट्ठिओ गुरुसगासे ॥ जइ मरइ अंतरा विय तहा विहु सोत्ति भावाओत्ति ॥ १ ॥ स्थविरात्मभेदे न चेह द्वे अमुखसूत्रे द्वे कालगतसूत्रे इत्येवं चत्वारि कसम्प्राप्तसूत्राणि सम्प्राप्तसूत्राण्येवं चत्वार्येव एवमेतान्यष्टौ पिएमपातार्थं गृहपतिकुले प्रविष्टस्य एव विचारजूम्यादावप्येवं ग्रामगमनेऽप्यष्टावेवमेतानि चतुर्विंशतिसूत्राणि । एवं निर्ग्रन्थिकाया अपि चतुर्विंशतिसूत्राणीति अथानालोचित एव कथमाराधक इत्याशङ्कामुत्तरं चाह ॥ सेकेणमित्यादि ॥ तणसूयंवत्ति तृणाग्रंवा ॥ छिज्जमाणे छिन्नेत्ति ॥ क्रियाकालनिष्ठाकालयोरभेदेन प्रतिक्षणं कार्यस्य निष्पत्तेश्छिद्यमानं छिन्नमित्युच्यते एवमसावालोचनापरिणतौ सत्यामाराधनाप्रवृत्त आराधक एवेति ॥ अहयं वत्ति ॥ अहतं नवं (धोयंति) प्रक्षालितं ॥ तंतुग्गयंति तन्त्रोद्गतं तुरीवेमादेरुत्तीर्णमात्रं ॥ मंजिट्ठदोणीएत्ति ॥ मांजिष्ठरागजाजने ॥ ज. टी. ॥

आराधकत्वविराधकत्ववक्तव्यताऽऽराधकशब्दे १ मायिनोनाऽस्याराधनेति आलोयणाशब्दे २ शीलसम्पन्नश्रुतसंपन्नादीनां देशाराधकत्वसर्वाराधकत्वादि पुरुषजातशब्दे ॥३॥

तदात्मके द्वात्रिंशत्तमे योगसंग्रहे च. (आराहणा य मरणंते) मरणरूपोऽन्तो मरणान्तस्तत्रेत्यतो द्वात्रिंशद्योगसंग्रह इति सम० स० ३२ । प्रश्न० द्वा० ५ । आव० (इयाणि आराहणाय मरणंतिति आराहणाए) मरणकाले योगाः संगृह्यन्ते तत्रोदाहरणं प्रति गाथापश्चार्द्धमाह आराहणाए मरुदेवा ओसप्पिणिए पढमसिद्धा ॥

आसीत्पुर्यां विनीतायां, नृपतिर्भरतेश्वरः ॥
श्रुत्वा विभूषितं तं च, मरुदेवाऽन्यधावदिदं ॥ १ ॥
त्वत्पितापीदृशीं त्यक्त्वा, विभूषामेककोऽभ्रमत् ॥
उवाच भरतः क्वासौ, भूतिम तस्य यादृशी ॥ २ ॥
चेन्न प्रत्येषि तद्यामो, निर्ययौ भरतेश्वरः ॥
मरुदेवीं करिस्कंधे, ऽधिरोप्य प्रजुसन्निधौ ॥ ३ ॥
श्रुत्वा समवसरणे, देवेभ्योऽस्याः स्तवं प्रभोः ॥
आनंदाश्रुजैर्दृशा नीलो, गतोऽपश्यत्प्रभोः श्रियं ॥ ४ ॥
अयाचे भरतो मातः! पुत्रभूषा विलोकिता ॥
कुतो ममेदृशी साय, चिंतयंती प्रमोदतः ॥ ५ ॥
विवेगाऽपूर्वकरणं, जातिस्मृतिरभूत्तनु ॥
वनस्पते यदुद्वृत्ता, करिस्कंधजुषोऽप्यथ ॥ ६ ॥
उत्पन्नं केवलं मक्षु, प्राप प्रथमसिद्धतां ॥
ईदृगाराधनायोगा, ज्ञायते योगसंग्रहः ॥ ७ ॥ आ० कथा ।

मोक्षाराधनहेतुत्वादाराधना. आवश्यके. आवश्यकस्यैकार्थिकान्यधिकृत्य (नाओ आराहणामग्गो) अनु० ॥

आराहणाजिमुह–आराधनाजिमुख– त्रि० आराधनाया सम्पूर्णमोक्षमार्गानुपालनाया अभिमुखः सम्मुखः कृतोद्यम इत्यर्थः आराधनायां कृतोद्यमे. पा० ॥

आराहणी–आराधनी– स्त्री०आराध्यतेपरलोकापीत्यया यथावदभिधीयते वस्त्वनयत्याराधनी. द्रव्यजावभाषाजेदे (आराहणीओदव्वे सच्चमोसाविराहणी होइ) दश० अ० ७ ॥

आराहणोवउत्त–आराधनोपयुक्त– त्रि० आराधनया उत्तमार्थप्रतिपत्त्या आराधनायां वा उपयुक्त उद्यतः सावधान आराधनोपयुक्तः आराधनयोपयुक्ते. आराधनायामुपयुक्ते च (आराहणोवउत्ते वितितो आराहगो होइ) आतु० ॥

आराहिता–आराध्य अव्य० सेवनं कृत्वेत्यर्थे, (आराहिता आणाए अणुपालइत्ता) आराध्य यथोक्तोत्सर्गापवादनयविज्ञानेन सेवनं कृत्वेति– उत्त० अ० २९ सम्पाद्येत्यर्थे. पं. व. ॥ कल्प० ॥

आराहिय–आराधित – आ.राध-णिच् क्त सेविते, सम्पादिते, पं. व० सम्यक्पालितेति । आतु० । सम० ॥ परितोषं प्रापिते–(आराहितो रज्जसपट्ठवंधकासीयरायावदुवकवासस्स)आराधितः केनाऽपि गुणविशेषेण परितोषं प्रापित इति– वृ० (हरिणगमेसिं देवं भत्ति बहुमाणेणं आराहिया) आ. म. अखण्डिते, (जह चेव उ मोक्खफला आणा आराहिआ जिणिंदाण) पं. व. ॥ निष्ठां नीते,–अहिंसालक्षणं प्रथमं संवरद्वारमधिकृत्य (आराहियं आणाए,) आराधितमेभिरेव प्रकारैर्निष्ठां नीतमिति — प्रश्न० सं. द्वा. । (आराहिया विभवइ) एभिरेव प्रकारैः सम्पूर्णैर्निष्ठां नीता भवतीति. स्था० ठा. ७ (आराहियं पयारेहिं सम्ममेयेहिं निरुवियं) आराधितञ्चैव एभिरेव प्रकारैर्निष्ठां नीतमिति. प्रव० । उपा० अ. १ आराहियनाणदंसणचारित्तजोगनिस्सल्लसुद्धसिद्धालयमग्गमभिमुहाणं, सम० । नि. चू १ आचा०–

आराहियसंजम आराधितसंयम–त्रि०परिपालितसंयमे (आराहियसंजमाय सुरलोग एहिंतियत्ता—सम ० ।

आरि (य) आरित-त्रि०सवित-आरितो आर्यरितो सेवि तो वा पगडुं ति-आ. चू. । आकारिते. आरिओ आगारिओ स्सारिओ वा एगटुंति आव ० ॥

आरित. आर्ष-त्रि० विवाहभेदे, गोमिथुनदानपूर्वमार्ष इति. ध० सं० ॥

आरु (रो) ग्ग-आरोग्य-न० अरोगस्य भावः ष्यञ् रोगशून्यत्वे, रोगाभावे, उत्त० अ.२७ ॥

आरोग्ये सति यद्व्याधि, विकारा भवंति नो पुंसां ।
तद्धर्मारोग्ये, पापविकारा अपि ज्ञेया ॥ ८ ॥

टी० ॥ आरोग्ये रोगाभावे सति ज्ञायमाने यद्वदिति यथा व्याधिविकारा रोगविकारा भवंति नो पुंसामारोग्यवतां तद्वदिति तथा धर्मारोग्ये धर्मरूपमारोग्यं तस्मिन्सति पापविकारा अपि वक्ष्यमाणा न भवतीति विज्ञेया षो०वि.३॥ नीरोगतायाम् उत्त० अ. ३ ॥ आरोग्यं नीरुजत्वं प्राकृतसहजौत्पातिकरोगविरहणम् । षो० विव. ३ स्था० ठा. १० । आरोग्गलारियं माणुसत्तणं सच्चसदिओ धम्मो विज्ञानिबिज्जयसारा सुहाइ संतोससाराइति १। दोषाणां समत्वं चारोग्यम् "तेषां समत्वमारोग्यं क्षयवृद्धीविपर्ययः" इतिवचनात् नं० । भावतः सम्यक्त्वे मोक्षे च लोकोत्तरतत्वप्राप्तिमधिकृत्य आद्यं भावारोग्यं बीजं चैषां परस्य तस्यैव । आरोग्यमाद्यं भावारोग्यं भावरूपमारोग्यं तच्चेह सम्यक्त्वं तद्रूपत्वाल्लोकोत्तरतत्वतत्प्राप्तिर्बीजं चैषां लोकोत्तरत्वसंप्राप्तिः परस्य प्रधानस्य तस्यैव भावारोग्यस्य मोक्षलक्षणस्य रागद्वेषमोहानां तन्निमित्तानां च जातिजरामरणादीनां भावरोगरूपत्वादिति. षो०वि. ४ । अरोगस्य भाव आरोग्यं सिद्धत्वे ध० अधि. । २ आव० ॥ आबाधारहिते त्रि. कल्प. । ज्वरादिवर्जिते, आरोग्गा अरोगा ज्वरादिवर्जिता इति स्था० ठा. ४ (आरोग्गारोग्गं दारयं पाया) आरोग्या आबाधारहिता सा त्रिशला आरोग्यं आबाधारहितम् ०। कल्प। जमं रयणि तिसला खत्तियाणी समणं भगवं महावीरं आरोग्गारोग्गं पसूया । आचा० श्रु. ४ ।

आरुग्गदिय-आरोग्यद्विज पुं० उज्जयिनीवास्तव्ये द्विजे। तत्कथा च ध० र. ॥

अत्थि पुरी उज्जेणी, सक्कावित्तासिया हरिताणुव्व ।
किंतु गयलक्खकलिया, बहुसंखसिरीइ उवगूढा ॥१॥
तत्थारिय देवगुत्तो, विप्पो गुत्तिंदिओ पवरगुत्तो ।
सुविहिअसदाणंदा, नंदानामेण तस्स पिया ॥ २ ॥
जाउताणसुओ जंमए, जिइरोगेहिं मुचए नव ।
अवहियनामो रोगुत्ति, चेव सो विस्सुओ जाओ ॥३ ॥
कइया वि तस्स गेहे, भिक्खट्ठं कोवि वरमुणीपुत्तो ।
पाभिन्न सुयं पाएसु, माहणेणं इमो जाणिओ ॥ ४ ॥
रोगोवसमोवायं, इमस्स पहुकहसु कारुन्नं ।
सेससुया एतेहिं, कहा न कहिज्जइ इयमुणी आह ॥५॥
तो तेणं मज्झमो, सह नियपुत्तेण गंतुउज्जाण ।
नमिऊण तयं पुट्ठो, एवं सो महरिसी आह ॥६॥
पावाओ होइ दुक्खं, तं पुण धम्मो नासए खिप्पं ।
जलणपलित्तं गेहं, सलिलपवाहेण विज्झाइ ॥ ७॥
धम्मेण सुवसेणं, सिग्घं नासति सयलदुक्खाइ ।
एया रिसाइ नियमा, नयमा न य हुंति पुणो परभवे वि ॥८॥
इय सुणिऊंते बुद्धा, गिहत्थधम्मं दुवे वि गिण्हंति।
दढधम्मो सो माहण, पुत्तो जाओ विसेसेण ॥ ९ ॥
धारिजइ इतो सायरो, कल्लोलभिन्नकुलसेलो ।
न हु अन्नजंमनिम्मि, य सुहासुहो दिव्वपरिणामो ॥१०॥
इच्चाइ चिंतयंतो, रोगायंके सहेइ सयमिमो ।
सावज्जं च विरिगिं, मणसा वि न पच्छइ कयावि ॥११॥
अहहरणा दढधम्मुत्त, संसिउ सो कयावि तो इच्छा।
पत्ता अलइहंता दुवे सुराविज्जरूवधरा ॥ १२ ॥
जंपंति इमं वाले, पउणे मोजई णो किरियं ।
तस्स पयाणहि पुट्ठं, सोकेरिसया इमो विचि ॥१३॥
महुअवलोहो पढमे, पहरे चरिमे ओजन्नसुरपाणं ।
नवणीयं जयं कूरं, निसि सहपियएण भुत्तव्वं ॥१४॥
तो दियपुतेणुत्तं, इमेसि एगंपि नेव पकरेमि ।
वरमांजीहचित्तो, जीववहो तह पुको चेव ॥१५॥
उक्तं च ॥ मद्ये मांसे तथाक्षौद्रे तक्रान्नीतिनवोद्धृते ।
उत्पद्यंते विलीयंते, तद्वर्णाः सूक्ष्मजंतवः ॥ १६ ॥
तिज्जेहि तओजणिओ, देहसिणं धम्मसाहणं जई ।
जह वा तह वा मउणिय, पत्थापत्थन्नमायरसु ॥१७॥
तयाचोक्तं सव्वत्थसंजमसंजमागो, अप्पाणमेव रक्खिज्जा।
मुचइ अइवायाओ, पुणोविसोही नया विरई ॥१८॥
सो आहम इ विसोही, पउत्ती करिस्स एतओएयं ।
किंकीरइ पढमं पि हु, जहा कद्दमफरिसणं च ॥ १९ ॥
इय स याण हितित्तेण, वि जणिओ वि न जाव मन्नए एसो।
ताते पमुइयचित्ता, अमरा पइमंतिनियसरूवं ॥ २० ॥
काहेओ सकपसंसं, नीरोगणू कओ इमो तेहिं ।
तुट्ठो से सयणगुणो, राया पुइयकिओ जाओ ॥२१ ॥
तं दहुपाइडमणा, जयपयडं जइणधम्ममाहप्पं।
बुद्धा बहवे जीवा, दयपालणउज्जुया जाया ॥ २२ ॥
तप्पभइ इमो लोए, आरुग्गदिओत्ति विसुओ जाओ ।
पालियदयाइ जाओ, कमेण सुहभायणं एसो ॥ २३ ॥
एवमारोग्यद्विजस्य वृत्तांतरं। धीरधर्मात् श्रुत्वैतच्चमत्कृत्परं भव्यलोका निशम्य मकंपां सदा पालयध्वं व्रतानि स्फुरत्संपदः ॥

आरु (रो) ग्गफल-आरोग्यफल-त्रि० आरोग्य साधके (अधितहमारोग्गफलं, धणो इहं जोणिमं णायं) पंचा वृ. १५ ।

आरु (रो) ग्गबोहिलाभ-आरोग्यबोधिलाभ -पुं आरोग्याय बोधिलाभ आरोग्यबोधिलाभः आव० । अरोग-

स्य भाव आरोग्यं सिद्धत्वं तदर्थं बोधिलाभः अर्हत्प्रणीतधर्मप्राप्तिरारोग्यबोधिलाभः । मोक्षायार्हत्प्रणीतधर्मप्राप्तौ,

कित्तिय वंदिय महिया, जे ए लोगस्स उत्तमा सिद्धा ।
आरोग्गबोहिलाभं, समाहिवरमुत्तमं दितु ध. २ अ.।

अरोगस्य भाव आरोग्यं सिद्धत्वं तदर्थं बोधिलाभ आरोग्य बोधिलाभः प्रेत्य जिनधर्मप्राप्तिर्बोधिलाभोऽभिधीयते सचाऽनिदानो मोक्षायैव प्रशस्यते इति । आव. २अ. (आरुग्गबोहिलाभं समाहिवर मुत्तमं दितु) इत्यारोग्य बोधिलाभस्य प्रार्थनयुक्तत्वं (णियाण) शब्दे व्याख्यास्यते ॥

आरु (रो) ग्गबोहिलाभाइपत्थणाचित्ततुल्ल–आरोग्यबोधिलाभादिप्रार्थनाचित्ततुल्य –त्रि० आरोग्यबोधिलाभादीनां आरोग्गबोहिलाभं समाहिवरमुत्तमं दिंत्वित्येवं रूपा या प्रार्थना तत्प्रधानं यच्चित्तं मनस्तेन तुल्यं समानम्. । तथा च पञ्चाशके – तपोऽधिकृत्य आरोग्गबोहिलाभाइ पत्थणचित्ततुल्लंति, पंचा० वृ. १९

आरु (रो) ग्गसाहग–आरोग्यसाधक– त्रि० आरोग्यनिष्पादके, ध. अ. १

आरुस्स–आरुष्य–अव्य० कोपं कृत्वेत्यर्थे, (आरुस्स विज्झंति तु देणपिठे) सूत्र श्रु. १ अ. ५ (आरुस्स विज्झंति ककाणओ से) आरुष्य क्रोधं कृत्वेति सूत्र० श्रु. १ अ. ५ ।

आरुह–आरुह–आ. रुह भ्वा० प० अनिट्-सक० आरोहणे आरुहेश्चडवलग्गौ ८ अ. ४ वा इति प्राकृतसूत्रेणारुहेरेतावादेशौवा चडइ वलग्गइ-आरुहइ-प्रा० । चडंति वलग्गंति आरुहंतित्ति एगट्ठं नि० चू. उ. १७ ॥

आरुहमाण–आरोहयत्–त्रि० आरोहणं कुर्वति आरुहमाणे वा ओरुहमाणे वा स्था० ठा. ५

आरू–आरू–पुं० ऋ. ऊ- णिच पिंगलवर्णे आरूशब्दार्थे कर्कटशूकरादौ च ततः संज्ञायां कन् (आरु) हिमाचलप्रसिद्धौषधिभेदे वाच० ॥

आरूढ–आरूढ–त्रि० आ० रुह, कर्त्तरि क्त-वाच० । आश्रिते (तवनियमनाणरुक्खं आरूढो केवली अमियनाणी) विशे०॥ आरूढ आश्रित इति आ. चू. प्राप्ते, (आरूढाः नृपभूमिकाम्) आरूढाः प्राप्ताः अष्ट० (आरूढेपाउपाहिंव) पिं० । मत्तं च गंध हत्थिं च, वासुदेवस्स जेट्ठगं । आरूढो सोहइ अहिय, सिर चूडामणी जहा । (सिया रयणं तओ समारूढो) उत्त० अ. २२

आरूढहत्थारोह–आरूढहस्त्यारोह–पु० आरूढमहामात्रे (आरूढहत्थारोहे) आरूढा हस्त्यारोहा महामात्रा येषु ते तथा । विपा० अध्य. २

आरेग–आरेक– पुं० आ-रिच्-घञ्- आकुञ्चने- अतिरेके च. वाच० ॥

आरेगा–आरेका–स्त्री० शंकायाम- (विजहित्तु विसोत्तियं) आचा० विहाय परित्यज्य विस्रोतसिकां शंकां सा च द्विधा सर्वशंका देशशंका च तत्र सर्वशंका किमस्त्यार्हतो मार्गो न वेति । देशशंका तु किं विद्यन्तेऽप्कायादयो जीवा विशेष्य प्रवचनेऽभिहितत्वात् स्पष्टचेतनात्मलिङ्गाभावाच्च विद्यन्ते इति चेत्येवमादिकामारेकां विहाय सम्पूर्णाननगारगुणाननुपालयेत आचा०॥ श्रु० १ उ० २ ॥

आरेण. अव्ययं आरादित्यर्थे वृ० ॥

आरोअ–उल्लस– भ्वा० पर०सेट्० उल्लासे उल्लसेरूसलोसुम्भणिल्लसपुलआअगुञ्जोल्लारोआः ॥ ४ ॥ २०१ ॥ इति प्राकृतसूत्रेणोल्लसरारोअ इत्यादेशः । आरोअइ उल्लसइ प्रा०॥

आरोव–आरोप–पुं० आरुप् णिच्-करणे ल्युट् अन्यपदार्थेऽन्यधर्मस्यावभासरूपे मिथ्याज्ञाने-वाच०

अनारोपसुखं मोह, त्यागादनुभवन्नपि । आरोपप्रियलोकेषु वक्तुमाश्चर्यवान् भवेत् ॥ ७ ॥ अष्ट० ॥ ४ ॥

आरोवण–आरोपण– न० आरुप्-णिच् ल्युट्-आरोपशब्दार्थे, आरोहणासम्पादने च. आर्द्राक्षतारोपणमन्वभूताम् कुमा० रघुः वाच० ॥

आरोवणा–आरोपणा– स्त्री० आरोप्यतइत्यारोपणा । प्रायश्चित्तभेदे, व्य० । आरोप्यतेइति आरोपणा । प्रायश्चित्तानामुपर्युपर्यारोपणं यावत् षण्मासाः परतो वर्द्धमानस्वामितीर्थे आरोपणायाः प्रतिषेधात् ॥ व्य० उ० १ ॥

सांप्रतमारोपणाप्रायश्चित्तमाह ॥

पंचादी आरोवणा, ने यव्वा जावहुंति छम्मासा ।
ते पणगादियाणं, वएहु वरिसो ज्झोसणं कुज्जा ॥

रात्रिंदिवपंचकादारभ्यारोपणा पंचादिः । रात्रिंदिवपंचकादिका आदिशब्दाद्दशपंचदशविंशति रात्रिं दिवमासिकादिपरिग्रहः ज्ञातव्याः । तावद्यावत्षण्मासा भवंति नाधिकं यत एवं तेन प्रकारेण तेषां षण्णां मासानामुपरि (पणगाइया णंति) रात्रिं दिवपंचका दीनां झोषणामपनयनं कुर्यात् । षण्मासानामुपरि य आपद्यते प्रायश्चित्तं तत्सर्वं त्यज्यते इति भावः । उक्तं च चूर्णौ (छम्मासाणंपरं जं आवज्जइ तं सव्वत्थ हिज्जइति) अत्र चोदक आह । किं कारणं न दिज्जइ छम्मासाणं परतो उ आरूवणा । भणइ ण मोजं कारणाज्झोसिया सेसा । षण्मासानां परत आरोपणा प्रायश्चित्तं न दीयते । अत्र किंकारणमाचार्यः प्रतिवचनमाह जं कारणंति निमित्तकारणहेतुषु सर्वा विभक्तय इति वचनात् अत्र हेतौ प्रथमा । ततोऽयमर्थः । येन कारणेन षण्मासानां परतः शेषाणि रात्रिंदिवपंचकादीनि प्रायश्चित्तानि झोषितानि त्यक्तानि तत्कारणं पुनरिदं वक्ष्यमाणमिति गुरुर्भणति ।

तदेव कारणं दर्शयति ॥

आरोवणानिप्पन्नं, छउमत्थे जंजिणेहिमुक्कोसा ।
तंतस्स उतित्थं, ववहरणं धन्नपिम्गं च ॥

छद्मस्थे छद्मस्थकाले यत् जिनैः स्वस्वकालापेक्षया उत्कृष्टतपः कर्म्म कृतं तस्य तीर्थे तुरेवकारार्थो भिन्नक्रमश्च सचैवं योजनीयस्तदेव तावत्प्रमाणमेवारोपणानिष्पन्नं तपः कर्म्म व्यवह्रियते इति व्यवहरणं बहुलवचनात्कर्मण्यनट् व्यवहरणीयमिति भावः । किमिवेत्यत आह । धान्यपिटकमिव धान्यप्रस्थक इव । किमुक्तं भवति । येन राज्ञा यो धान्यप्रस्थकः स्थापितस्तत्काले स एव व्यवहर्त्तव्यो न पुरातनो नाप्यन्यः स्वमतिपरिकल्पितस्तथा भगवताऽपि तीर्थकरेण येन छद्मस्थकाले यावत्प्रमाणमुत्कृष्टं तपः कर्म्म कृतं तस्य तीर्थे आरोपणानिष्पन्नं प्रायश्चित्तमपि तावत्प्रमाणमेव व्यवहरणीयं नाधिकमन्यथा

राजाज्ञाखण्डनतोऽप्रयुक्तदण्डस्येव भगवदाज्ञाखण्डनतः संसारदण्डस्य प्रवृत्तेः ॥

एतमेव धान्यप्रस्थकदृष्टान्तं भावयति ॥

जो जया पत्थिवो होइ, सो तया धन्नपत्थगं ।

ठावेअन्नं पुरिल्लेणं, ववहारी य दंमए ॥

यो यदा पार्थिवः पृथिवीपतिर्भवति। स तदा स्वकाले धान्यप्रस्थकमन्यं स्थापयति । तस्मिंश्च स्थापिते ये(पुरिल्लेणंति) पुरातनेनोपलक्षणमेतत् स्वमतिपरिकल्पितेन व्यवहरंति तान् तथा व्यवहरतो दंमयति । एवं तीर्थकृदपि भगवान् यो यावत्प्रमाणमुत्कृष्टं तपः कर्म्म छद्मस्थकाले कुर्वन् तपः कर्मपरिमाणं स्थापयति।स स्वतीर्थे तावत्प्रमाणादधिकं तपः कर्म व्यवहरतः संसारदंडेन दंडयति । तस्मात्तस्य तीर्थे तावत्प्रमाणमेव व्यवहर्तव्यमिति ॥

अथ कस्य तीर्थे कियत्प्रमाणं तपः कर्मेत्यत आह ॥

संवच्छरं तु पढमे, मज्झिमगाणट्ठ मासियं होइ ।

छम्मासपच्छिमस्स उ, माणं भणियं तु उक्कोसं ॥

प्रथमे प्रथमतीर्थकरकाले मानं तपःकर्म्मपरिमाणमुत्कृष्टं भणितं संवत्सरमेव तुरेवकारार्थः मध्यमकानां द्वाविंशतितीर्थकृतां तपःकर्म परिमाणमुत्कृष्टं भवत्यष्टमासप्रमाणं पश्चिमस्य तु भगवतो वर्द्धमानस्वामिनः तपः कर्म परिमाणमुत्कृष्टं भणितमिति । षण्मासाः । अत्रैव भूयः शिष्यःशंकामाह ॥

पुणरवि चोएइ ततो,पुरिमा चरिमा विसमसोहीया।किह सुज्झंती तेउ, चोयग इण मोसुण सुयोत्थं ॥

एवमनंतरोदिते सूरिणाऽभिहिते पुनरपि शिष्यश्चोदयति ॥ प्रश्नयति यदि नामैवं ततःपूर्वा आदितीर्थकरतीर्थवर्तिनश्चरमाः पश्चिमतीर्थकरतीर्थवर्तिनो विषमशोधिका विषमप्रायश्चित्ता अभवन् । ततः कथं ते विषमशोधिका अविशेषेण शुध्यंति । सर्वात्मना शुद्धिमासादयंति न खलु कारणवैषम्ये कार्यवैषम्यं दृष्टमत्र तु विषमं प्रायश्चित्तं विशोधिस्तु सर्व्वेषामप्यविशेषेण तुल्या ततो दुर्घटमेतदिति भावः। अत्र सूरिर्यत्प्रायश्चित्तवैषम्ये कारणं यथा च कारणविषमतायामपि तुल्या विशोधिस्तदेतत्प्रतिपिपादयिषुः प्रथमतः प्रायश्चित्तवैषम्ये कारणमभिधित्सुरिदमाह । चोयगेत्यादि हेचोदक ! छपपन्नप्रश्नकारिन् प्रायश्चित्तवैषम्ये इदं वक्ष्यमाणं कारणं वक्ष्ये तच्च वक्ष्यमाणमवहितमनाः शृणु । प्रतिज्ञातमवहितमनाः शृणु । प्रतिज्ञातमेव निर्व्वाहयति ।

कालस्स निद्धयाए, देहबलं धिइबलं चजंपुरिमे ।

तदणंतभागहीणं, कमेण जा पच्छिमो अरिहा ॥

पुरिमे पूर्वे आदितीर्थकरतीर्थकालस्य स्निग्धतया हेतुभूतया प्राणिनां देहबलं शारीरबलं तदुपदिष्टं ततो धृतिबलं च यत् आसीत् तत् अवसर्पिणीकालस्य तथा स्वभावतया क्रमेण प्रतिक्षणमनंतभागहीनं तत् तावदायातं यावत्पश्चिमो भगवानर्हद्वर्द्धमानस्वामी ततः शारीरबलस्य धृतिबलस्य च विषमत्वात् विषमं प्रायश्चित्तं । तथा चाह ।

संवच्छरेणावि नतासि आसि, जोगाण हाणी दुविहे बलंमि । जेया विधिज्जादिअगोववेया, तच्छम्मया सोहय एतएवि ॥

तेषामादितीर्थकरतीर्थवर्तिनां साधूनां द्विविधे बले शारीरे बले धृतिबले च अत्यंतमुपचयं प्राप्ते सति संवत्सरेणाऽपि संवत्सरप्रमाणमपि तपः कुर्वतां न योगानां संयमव्यापाररूपाणां हानिरासीत् ॥ मध्यतीर्थवर्तिनां द्विविधमप्येवं क्रमेणानंतभागहीनम पश्चिमतीर्थकरतीर्थवर्तिनामत्यंतहीनमतो मध्यमकानां संवत्सरप्रमाणं तपः कुर्वतां महती योगहानिरिति तेषामष्टमासिकमुत्कृष्टं तपः कर्म्म व्यवस्थापितमपश्चिमतीर्थकरतीर्थवर्तिनां तदपि कुर्वतां योगहानिः षाण्मासिकमुत्कृष्टं तपः कर्म्म तेषां प्रवर्तितं तदेवमुक्तं प्रायश्चित्तवैषम्येकारणं।संप्रति तुल्यां विशोधिं प्रतिपादयति । ये चापि मध्यमतीर्थकरतीर्थवर्तिनश्चधैर्यादनुपेता धैर्येण धृतिबलेन आदिशब्दात् संहननबलेन च कालदोषतोऽनुपपेताः । तएवाप्ति तकानपि तत्कर्मता तेषामिव आदितीर्थकरतीर्थवर्तिनामिव धर्म्मोऽशठत्वादिकस्वभावो येषां ते तद्धर्माणस्तद्भावस्तत्कर्म्मता सा शोधयति । इयमत्र भावना । इह अशठभावेनानिगूहितबलवीर्यतया यथाशक्ति तपः कर्म्मणि प्रवृत्तिर्विशोधिरांतरंकरणं तच्च बाह्यतपः कर्मणोवैषम्येऽपि सर्वेषामप्यविशिष्टमतः सर्वेषांतुल्या विशोधिः । युक्तं चैतत् । तथाहि प्रथमतीर्थकरतीर्थेऽपिनसर्वेषां देहबलंच समानमथ च सर्वेषामप्यशठभावतया प्रवृत्तेस्तुल्या विशोधिरेवमत्रापिभावनीयमित्यदोषः । अत्रैव निदर्शनमाह ॥

पत्थगा जे पुरा आसी, हीणमाणाउ तेधुणा ।

माणभंडाणि धन्नाणि, सोहिं जाणितहेवय ॥

ये पुरा पूर्वे काले प्रस्थका आसन् । ते कालदोषतः क्रमेण हीना हीनतरा जायमाना अत्यंतहीनमाना जातास्तथापि धान्यानि मानभांडानि प्रस्थकादिपरिमाणपरिच्छेद्यानि तथैव संख्याव्यवहारस्य सर्वदाऽप्यविशिष्टत्वात् । एवमिहापि प्रायश्चित्तानां वैषम्येऽपि अशठभावेन तपः कर्म्मणि प्रवृत्तिरांतरंकारणं सर्वेषामप्यविशिष्टमिति शोधिमपि तुशब्दस्यापि शब्दार्थस्य भिन्नक्रमत्वात् । तथैव धान्यानां प्रस्थकपरिच्छेद्यतामिव तुल्यां जानीहि।प्रस्थकदृष्टांतेन सर्वत्र तुल्यां विशोधिमवबुध्यस्वेति भावः । उक्तमारोपणाप्रायश्चित्तम् ॥ व्य. उ. १ ॥

आरोपणा पञ्चविधा । स्था० ठा० ५ ।

आरोवणा पंचविहा पन्नत्ता तंजहा पट्ठविया ठविया कसिणा अकसिणा हाडहडा ॥

आरोपणोक्तस्वरूपा तत्र (पट्ठवियत्ति) बहुष्वारोपितेषु यन्मासगुर्वादिप्रायश्चित्तं प्रस्थापयति वोढुमारभते तदपेक्षयाऽसौ प्रस्थापितेत्युक्ता ॥ १ ॥ (ठवियत्ति) यत्प्रायश्चित्तमापन्नस्तस्य स्थापितं कृतं न वाहयितुमारब्धमित्यर्थः ॥ आचार्य्यादिवैयावृत्यकरणार्थं तद्धि वहन्न शक्नोति वैयावृत्यं कर्तुं वैयावृत्यसमाप्तौ तु तत्करिष्यतीति स्थापितोच्यत इति२॥ कृत्स्नापुनर्यत्र झोषो नक्रियते झोषस्त्वयमिह तीर्थे षण्मासांतमेव तपस्ततः षण्णां मासानामुपरि यान् मासानापन्नोऽपराधी तेषां क्षपणमनारोपणं प्रस्थे चतुः सेतिकातिरिक्तधान्यस्येव शाटनामित्यर्थः । झोषाभावेन सा परिपूर्णेति कृत्स्नेत्युच्यत इतिभावः ३ अकृत्स्ना तु यस्यां षण्मासाधिकं झोष्यते तस्या हि तदतिरिक्तशाटनेनापरिपूर्णत्वादिति ॥ ४ ॥ (हाडहडेति) यल्लघुगुरुमासादिकमापन्नस्तत्सद्य एव यस्यां दीयते सा हाडहडेत्येति एतत्स्वरूपं च विशेषतो निशीथविंशतितमोद्देशकादवगन्तव्यमिति ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कति भेदा आरोपणाया उच्यते पंच तया चाह व्य० १ उ० ॥

(पट्ठवितिया) पट्ठविया कसिणाऽकसिणा तहेव हाडहडा आरोपणा पंचविधा पंचप्रकारा तद्यथा प्रस्थापितिका स्थापिता कृत्स्ना हाडहडा च । एषा पंचप्रकाराऽप्यारोपणा प्रायश्चित्तस्य । तत्र प्रायश्चित्तं पुरुषजातेः कृतकरणादौ यथायोग्य मवसेयमेष गाथासंक्षेपार्थः ।

इदानीमेतामेव गाथां व्याख्यानयन्प्रथमतः प्रस्थापितिकादि भेदचतुष्टयं व्याख्यानयति ॥

पट्ठविया वहंते, वेयावच्चट्ठिया ठविया उ ।
कसिणाउ झोसविरहिया, जहिं झोसो सा अकसिणाओ ॥

यदारोपितं प्रायश्चित्तं वहति एषा प्रस्थापितिका आरोपणा यो वैयावृत्यकरणलब्धिसंपन्नः आचार्यप्रभृतीनां वैयावृत्यं कुर्वन् यत्प्रायश्चित्तमापन्नस्तस्यारोपितमपि स्थापितं क्रियते । यावत् वैयावृत्त्यपरिसमाप्तिर्भवति । द्वौ योगावेककालं कर्तुमसमर्थ इति कृत्वा सा आरोपणा स्थापितिका । कृत्स्ना नाम यत्र झोषो न क्रियते । अकृत्स्ना यत्र किंचित् झोष्यते । हाडहडा त्रिविधा तद्यथा सद्योरूपा स्थापिता प्रस्थापिता च तत्रेयं सद्योरूपा ॥

उग्घायमणुग्घायं, मासादितवो उ दिज्जए सव्वं ।
मासादी निक्खित्तं, जं सेसं दिज्जए तं तु ॥

उद्धात लघु अनुद्धातं गुरु यत् मासादिमासिकमादिशब्दात् द्वैमासिकं त्रैमासिकं वा इत्यादि तप आपन्नस्तद्यदि सद्यस्तत्कालं दीयते न कालक्षेपेण तदा सा हाडहडा आरोपणा स द्योरूपा यदि पुनर्यन्मासादिकमापन्नस्तत् वैयावृत्यमाचार्यादीनां करोतीति स्थापितं क्रियते । तस्मिश्च स्थापिते यदन्यत् झोषमुद्घातमनुद्घातं वा पद्यते तत्सर्वमपि प्रमादनिवारणार्थमनुद्घातं दीयते सा हाडहडा आरोपणा ॥

स्थापिता प्रस्थापितायाः स्वरूपमाह ॥

छम्मासादि वहंते, अंतरे आवन्ने जा उ आरुवणा ।
सा होति अणुग्घाया, तिन्नि विगप्पा उ चरिमा य ॥

षाण्मासिकं तपो वहन् आदिग्रहणात् पांचमासिकं चातुर्मासिकं त्रैमासिकं द्वैमासिकं वा वहन् अंतरा यदन्यदापद्यते उद्घातमनुद्घातं वा तस्याप्यतिप्रमादनिवारणार्थमनुग्रहकृत्स्नेन चानुद्घातं यत् आरोप्यते एषा हाडहडा आरोवणा प्रस्थापिता । एते त्रयो विकल्पाश्चरमाया हाडहडायाः अथवा इमे त्रयो विकल्पाः ॥

सा पुण जहन्न उक्कोसा, मज्झिमा तिन्नि वि विगप्पा ।
मासो छम्मासा वा, जहन्नमुक्कोसजे मज्झे ॥

सा हाडहडा आरोपणा त्रिविधा । तद्यथा जघन्या उत्कृष्टा मध्यमा च एते त्रयो विकल्पा हाडहडाया भवंति । तत्र गुरुका मासो जघन्या षण्मासा गुरुश्च उत्कृष्टा एतयोर्द्वयोर्मध्ये गुरुद्विमासादयो गुरुमासपंचकपर्यंता एषा जघन्योत्कृष्टा हाडहडा सा चतुर्विकल्पा तद्यथा द्वैमासिकगुरुकं त्रैमासिकं गुरुकं चातुर्मासिकं गुरुकं पांचमासिकं गुरुकमिति ॥

आयारपकप्पशब्दे आचारप्रकल्पस्याष्टाविंशतिभेदप्रतिपादकंसूत्रमुक्तम् । तट्टीकायामारोपणाभेदा इत्थं ॥

तत्र कश्चित् ज्ञानाद्याचारविषये अपराधमापन्नस्य कस्यचित् प्रायश्चित्तं दत्तं पुनरन्यमपराधविशेषमापन्नस्ततस्तत्रैव प्राक्तने प्रायश्चित्ते. मासवहनयोग्यं मासिकं प्रायश्चित्तमारोपितमित्येवं मासिक्यारोपणा भवति।तथा पंचरात्रिकशुद्धियोग्यं मासिकशुद्धियोग्यं चापराधद्वयमापन्नस्ततः पूर्ववत्प्रायश्चित्ते सपंचरात्रिमासिकप्रायश्चित्तारोपणात्सपंचरात्रमासिक्यारोपणाप्यद् ६ एवं द्विमासिक्यः ६ त्रिमासिक्यः ६ चतुर्मासिक्यः ६ चतुर्विंशतिरारोपणाः तथा सार्द्धदिनद्वयस्य पक्षस्य चोपघातनेन लघूनां मासादीनां प्राचीनप्रायश्चित्ते आरोपणा उपघातिकारोपणा यदाह ॥

अद्धेण छिन्नसेसं, पुव्वद्धेणं तु संजुयं काउं ।
देज्जाय लहुयदाणं, गुरुदाणं तत्तियं चेवत्ति ॥

यथा मासार्द्धं १५ पंचविंशतिकार्द्धं च सार्द्धद्वादशवर्षं सर्वेमीलने सार्द्धसप्तविंशतिरिति लघुमासाः । तथा मासद्वयार्द्धं मासो मासिकस्यार्द्धं पक्ष उभयमीलने सार्द्धोमास इति लघुद्विमासिकं २५ तथा तेषामेव सार्द्धदिनद्वयाद्यनुद्घातेनैव गुरूणामारोपणा आनुघातिकारोपणा २६ तथा यावतो ऽपराधानापन्नस्तावतीनां तच्छुद्धीनामारोपणा कृत्स्नारोपणा तथा बहूनपराधानापन्नस्य षण्मासांतं तेषु इति षण्मासाधिकतपः कर्म तेष्वेवांतर्भाव्यं । शेषांतर्भाव्यशेषमारोप्यते यत्र सा अकृत्स्नारोपणेत्यष्टाविंशतिरेतत्र सम्यग्निशीथविंशतितमोद्देशकादवगम्यम् ॥ सम. २८ स० ॥

आरोपणायाः स्थापनासंचयः पायच्छित्तशब्दे ।

तत्प्रतिपादके निशीथाध्ययनभेदे, च आरोपणा यत्रैकस्मिन् प्रायश्चित्तेऽन्यदारोप्यत इति प्रश्न० द्वा० ५ ॥ आव० ॥

बंधमोचने, प्रतिलेखने, च (पक्खियया आरोवणा) कल्प० - पक्खिया आरोवणत्ति। कोऽर्थःपक्षे २ संस्तारकदवरकाणाम बन्धा मोक्तव्याः प्रतिलेखितव्याश्चेत्यर्थः । अथवाऽऽरोपणा प्रायश्चित्तम् पक्षे २ ग्राह्यं सर्वकालं वर्षासु विशेषतः। कल्प० प्ररूपणाभेदे, च विशे० ।

तत्रारोपणा इयं केत्याह ॥

किं जीवो होज्ज नमो, वा जीवोत्ति जं परोप्परओ ।
अज्झारोवणमेसो, पच्चणुजोगो मयारुवणा ॥

किं जीव एव नमस्कारः नमस्कार एव वा जीवो भवति यत्परस्परावधारणादध्यारोपणं पर्यनुयोजनं एष पर्यनुयोग आरोपणा मता सम्मतेति ॥ आ० म० ॥ आ. चू. ॥

आरोवणापायच्छित्त–आरोपणाप्रायश्चित्त–न० आरोपणमेकापराधप्रायश्चित्ते पुनःपुनरासेवनेन विजातीयप्रायश्चित्ताध्यारोपणमारोपणा यथा पञ्चरात्रिन्दिवं प्रायश्चित्तमापन्नः पुनस्तत्सेवने दशरात्रिन्दिवं पुनः पंचदशरात्रिंदिवमेवं यावत् षण्मासान् ततस्तदधिकं तपो देयं न भवत्यपि तु शेषतपांसि तु तत्रैवान्तर्भवनीयानि इह तीर्थे षण्मासान्तत्वात्तपस इति उक्तञ्च ॥

पंचाईयारोवणे, नेयव्वा जाव होंति छम्मासा ।
तेण परमासियाणं, छएहुवरिं झोसणं कुज्जत्ति ॥

आरोपणायाः प्रायश्चित्तमारोपणाप्रायश्चित्तं । प्रायश्चित्तभेदे । स्था० ठा. ४ ।

आरोवणिज्ज–आरोपणीय–त्रि० आरुह्–णिच्–अनीयर्– आरोपार्हे, आरोप्ये वस्तुनि–वाच० ॥

आरोवप्पिय–आरोपप्रिय–त्रि० आरोपो मिथ्योपचारः प्रियो यस्य स आरोपप्रियः मिथ्योपचारप्रिये, ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनारोपसुखं मोह, त्यागादनुभवन्नपि॥ आरोपप्रियलोकेषु, वक्तुमाश्चर्यवान्भवेत् ॥ १ ॥ अष्ट० ॥

आरोवसुह-आरोपसुख — न० आरोपजे सुखे-अष्ट० ।

आरोविज्ज-आरोप्य-त्रि० आ-रुह- णिच् कर्मणि यत्- आरोपणीये, यथा मुखं चन्द्र इत्यादौ मुखे चंद्रत्वमारोप्यं॥ वाच० ॥

आरोलइ-पुञ्जिधा.-पुञ्जीकरणे-पुंजेरारोलवमालौ४॥१०२॥ इति प्राकृतसूत्रेण पुंजेरेतावादेशौवा, आरोलइ.वमालइ.पुजइ पुंजयति प्रा० ॥

आरोस-आरोष-पु.म्लेच्छजातिभेदे-प्रश्न द्वा. १ ॥

आरोह-आरोह-पुं० आरुह. घञ्-आक्रमणे, नीचस्थानादूर्ध्वदेशगमने, अङ्कुरादिप्रादुर्भावे-शब्दच० गजवाजिनामुपरि गमने दीर्घत्वे वाच. (आरोहो दिग्घत्तं) व्य० उ.५ ॥ उत्त० अ. १ दशा ० ॥ उचितदैर्घ्ये-स्था. ठा७ । उच्छ्रये आरोहो नाम शरीरेण नातिदैर्घ्यं नातिह्रस्वता अथवा आरोहः शरीरोच्छ्राय इति-वृ. । उच्चत्वे च नितम्बे वरारोहा मत्तकाशिन्युत्तमा वरवर्णिनीअमरः । सारमान वरारोहा, उत्कटः । आरोहेनिविडवृहन्नितम्बविम्बैः माघः वाच ० ।

आरोहतीत्यारोहः हस्त्यारोहादौ, नि. चू. उ. ९ ॥

आसाणय हत्थीणय, दमगा जे पढमताए विणएंति ॥

परियट्टमेणुपच्छा, आरोहा जुद्धकालंमि ॥ १०३ ॥

जे पढमं विणयं गाहेंति ते दमगा जे जवजोगासणेहिं धावारं वा वहेति तो मंदा जुद्धकाले जे आरुहंति ते आरोहा ॥

आरोहइयव्व-आरोहयितव्य-त्रि० आरोपणीये, व्य० उ.१

आरोहग-आरोहक-त्रि० आरुह. ण्वुल्. आरोहणकर्त्तरि. वाच० । हस्तिपके (वरपुरिसारोहगसंपउत्ताणं अट्ठसयं गयाणं) तत्रारोहका हस्तिपकाः औ० ॥

आरोहण-आरोहण-न० आ० रुह ल्युट्नीचस्थानादूर्ध्वस्थानगमने वाच० ॥ आरोहणार्थं नवयौवनेन कामस्य सोपानमिव प्रयुक्तम्. कुमा० अङ्कुरादिप्रादुर्भावे च. आरुह्यतेऽनेनकरणे. ल्युट्.सोपाने च. । आरोहण स्यात् सोपानम् । अमरः वाच ० ॥

आरोहणिज्ज-आरोहणीय-त्रि. आरोहणं प्रयोजनमस्य अनु प्र० आरोहणसाधने पदार्थे, आरुह. कर्मणि. अनीयर्. आरोढुं योग्य हयादौ वाच ० ।

आरोहपरिणाह-आरोहपरिणाह-पुं. शरीरस्यारोहस्य परिणाहः । शरीरोपसम्पद्भेदे. व्य० उ.१ । आरोहपरीणाहो, आरोहो नाम शरीरेण नातिदैर्घ्यं नातिह्रस्वता परिणाहो नातिस्थौल्यं नाति कृशता अथवा आरोहः शरीरोच्छ्रयः परिणाहो वाह्वोर्विष्कंभ एतौ द्वावपि तुल्यौ न हीनाधिकप्रमाणाविति । वृ० ।

आरोहो दीर्घत्वं परिणाहो विष्कंभो विशालता तत्र यावताऽऽरोहस्तावान् यदि विष्कंभो भवति तदा एषा उपसंपत् आरोहपरिणाहे ज्ञातव्या ॥ व्य. उ० ५ ॥

आरोहपरिणाहजुत्तता-आरोहपरिणाहयुक्तता-स्त्री० आरोहो दैर्घ्यं परिणाहो विस्तरः ताभ्यां तुल्याभ्यां युक्तता आरोहपरिणाहयुक्तता । शरीरसम्पद्भेदे, उत्त० अ० १ ॥

आरोहपरिणाहयुक्तता उचितदैर्घ्यविस्तारता इत्यर्थः स्था० ठा० ४ ॥

आरोहपरिणाहसंपण्ण-आरोहपरिणाहसम्पन्न-पुं० शरीरसम्पद्भेदे । आरोहपरिणाहसंपन्ने यावि भवइ, इह चारोहो दैर्घ्यं परिणाहो विस्तारस्ताभ्यां सम्पन्नः चापि शब्दात्वन्यांगसुन्दरत्वव्यापकावेति यत उच्यते लौकिकैरपि यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्तीति । दशा० ॥

आरोहुं-आरुह्य-अव्य० आरोहण कृत्वेत्यर्थे (आरोहमुणिवणियामहग्घसाले गरयणपामिपुण्णं) आरोहुमिति समारुह्य के मुनिवणिजः दर्श० ।

आल-आल-न० आ-अल- पर्याप्तौ. अच्-अनल्पे श्रेष्ठे च त्रि० वाच० । प्राकृतोक्ते मत्वर्थके प्रत्ययभेदे च । आल्विल्लोल्लालवन्तमन्तेत्तेरमणामतोः ॥ २ ॥ १५९ ॥ प्रा. सु सद्दालो जडालो फडालो रसालो प्रा. व्या० । उक्तंच मतुयंगमिमुणे जह आले इलं मण च मतुयं चेति-आव० ।

आलइय-आलिंगित-त्रि० आरोपिते-उपा. अ० २ । आविद्धे जी० प्र. ४ ॥ परिहिते,कल्प० ।

आलइयमालमउड-आल(लिं)गितमाल(ला)मुकुट-त्रि० आलगितमालमारोपितस्रक् मुकुटो यस्य स तथा तस्मिन् उपा० अ. २ आलगितो यथास्थानं परिहितौ मालामुकुटा येन स तथा तस्मिन् कल्प. ॥ माला च मुकुटश्च मालामुकुटं आलगितमाविद्धं मालामुकुटं येन स आलगितमालामुकुटः । आविद्धमालामुकुटे जी. प्र. ४ (आलइयमालमउडे) आलगितमालामुकुटः कृतकण्ठे मालः आविद्धशिरसि मुकुट इति भावः॥ आ. म. । भ. श. ३ उ. २ ॥

आलंकारियसभा-आलंकारिकसभा-स्त्री० चमरचंचाराजधानीस्थे सभाविशेषे, आलंकारिका यस्यामलंक्रियत इति स्था० ठा. ५ ॥

आलंद-आलन्द-न० कालविशेषे, तत्रोदकार्द्रः करो यावता शुष्यति तत आरभ्योत्कृष्टतः पंचरात्रिंदिवानि यावत्कालोऽत्र समयपरिभाषया लंदमित्युच्यते । विशे० ॥

आलंदिय-आलंदिक-त्रि० आलंदस्यानतिक्रमेण चरतीति । आलन्दचारिणि, विशे० ॥

आलंबण-आलम्बन-न० आलम्ब्यतेऽवष्टभ्यते दुर्गपर्वतादि स्थानमधिरोढुकामैरित्यालम्बनं दर्श० । आश्रये (आलंबणं च मे आया अवसेसं च वोसिरे) आलम्बनं चाश्रयोऽवष्टंभ आधार इत्यर्थः । आतु. । (आलंबणेण केणइ) आलम्बत इत्यालम्बनम् प्रपतनाद्धारणस्थानम् तेनालवनेन केनचिदिति आव० । (जो मरणदेशकालेन होइ आलंबणं किंचि) (आलंबनमाधारभूतं । तं० । (मोढिआलम्बण खंभं) आलम्बनं हस्ताद्याधारः ॥ ग० अधि० १ (जमणेगत्यालंबणमपज्जुदासपारकुचियं चित्तं)यच्चितं यन्मनोऽनेकार्थालम्बनमनेकार्थप्रतिभासां दोलितमिति विशे० ॥ आलम्बनेन चक्षुरादिज्ञानविषयेण प्रतिमादिनेति । पो० ॥ आलंबनं द्विधा उच्यते गर्तादौ निमज्जतो रज्वादि । भावतः संसारगर्तायां निपततां ज्ञानादि । वृ० । ध. अधि. ३ नि. चू० उ. १ आलंविज्जति जं तमालंबणं दुविहं दव्वे वहि वियाणाइ भावे य णाणादि । नि. चू० । आ लवि

कर्मणि ल्युट्। आलम्ब्यन्ते आश्रीयन्ते तान्यालम्बनानि। औ. आश्रयणीये, । आलम्बनादाश्रयणीयादिति॥ स्था०ठा. ३ यान्यालम्ब्यन्ते तान्यालम्बनानि ग०२अ. २५ उ. ७ कारणे प्रव.द्वा १०४॥ नि. चू. ५ उ.। कारणमालंबणं मोत्त, कारणं नाम लंबनम् आ.म प्र.अ. १॥ (सपञ्चवाएण निरालंबेणणं) निष्कारणे न प्रत्यपायसंभवे वा ज्ञानाद्यालंबनीयवस्तुवर्जितेनेति ज्ञा० अ. ए॥ आलंब्यत इत्यालम्बनम्। प्रवृत्तिनिमित्ते, आव०। आलम्ब्यते निःचलङ्कियते मनो येनेत्यालम्बनम् उत्त०अ.२४॥ प्रयोजने, (आलंबणे य काले मग्गे जयणाए चेव परिसुद्धं) आचा० अ. २ उ. ३ नि० उ. १० आलंबणेत्यादितः प्रवचन संघगच्छाचार्यादिप्रयोजनम् आचा०। पुष्टालम्बनस्य मूलगुणप्रतिसेवने न दोषः वृ०। अथापुष्टालंबनोनिरालंबनो वा प्रतिसेवते। ततः संसारोपनिपातमासादयाति॥

तथाचात्र दृष्टांतमाह।

तुच्छमवलंबमाणो, पेडति निरालंबतो य दुग्गंमि।
सालंबनिरालंबे, अह दिद्वंतो णिसेवंतो॥

इहालंबनं द्रव्यभावभेदाद् द्विधा तत्र गर्त्तादौ पतद्भिर्यद्द्रव्यमालंब्यते तत् द्रव्यालंबनं तच्च द्विधा पुष्टमपुष्टं च। अपुष्टं दुर्बलं कुशावल्वकादि पुष्टं बलिष्ठं तथाविधकठोरवल्यादि भावालंबनमपिपुष्टापुष्टभेदात् द्विधा पुष्टं तीर्थाव्यवछित्तिग्रंथाध्ययनादि अपुष्टं शठतया स्वमतिमात्रोत्प्रेक्षितमालंबनमात्रं। ततश्च द्रव्यालंबनं पुष्टमपुष्टमवलंबमानो निरालंबनो वा यथा दुर्गे गर्त्तादौ पतति यस्तु पुष्टालंबनमवलंबते स सुखेनैवात्मानं गर्त्तादौ पतन्तं धारयति। एवं साधोरपि मूलगुणाद्यपराधाश्रिषेवमाणस्य सालंबनिरालंबविषयोऽयं दृष्टांतो मंतव्यः॥ किमुक्तं भवति। योनिरालंबनोऽपुष्टालंबनो वा प्रतिसेवते स आत्मानं संसारगर्त्तायां पतंतं न संधारयितुं शक्नोति। यस्तु पुष्टालबनः स तदवष्टंभादेव संसारगर्त्तं सुखेनैवातिलंघयति॥ अथ कस्मादालम्बनमन्वेषणीयमित्याह॥

सालंबणो पडंतो, अप्पाणं दुग्गमे विधारेइ।
इअसालंबणसेवा, धारेइ जई असढजावं॥ ६॥

कानि पुनस्तान्यालम्बनानीत्याह॥

काहं अछित्तिअदुवा अहीहं, तवोवहाणेसु य उज्जमिस्सं।
गणं वनिइए बहुसारविस्तं, सालंबसेवी समुवेइ मुक्खं॥

व्या० काहमित्यादिवृत्तं यः कश्चिदेवं चिंतयति यथा करिष्याम्यहमत्र स्थितोऽछित्तिमव्यवच्छित्तिं जिनधर्मस्येति शेषः राजादेर्जिनशासनावतारणादिभिः (अदुवेति) अथवा अहमध्येष्ये सूत्रतोऽर्थतश्च द्वादशांगं दर्शनप्रभावकाणि वा शास्त्राणि यदि वा तपोलब्धिसमन्वितत्वात्तपोविधानेषु नानाप्रकारेषु तपस्सु उज्जमिस्स इति उद्यस्यामि उद्यमं करिष्यामि गणं वा गच्छं वा (नीईमुयत्ति) सप्तम्यास्तृतीयार्थत्वान्नीतिभिः सूत्रोक्तैर्नैः सारयिष्यामि गुणैः प्रवृद्धिं करिष्यामि स एवं सालंबनसेवी। एतैरनंतरोदितैरालंबनैर्यतनया नित्यवासमपि प्रतिसेवमानो जिनाज्ञानुल्लंघनात्समुपैति प्राप्नोति मोक्षं सिद्धिं तस्मात्तीर्थाव्यवच्छेदादिकमेव यथोक्तज्ञानदर्शनचारित्राणां समुदितानामन्यतरस्य वा यद्वृद्धिजनकं तदालंबनं जिनाज्ञावशात्शुभादेयं नान्यत्॥ १४॥

संप्रति सिसाधयिषितार्थव्यतिरेकदर्शनायाह॥

आलंबणहीणो पुण, निवडइ खलिओ अहे दुरुत्तारे।
इअनिकारणसेवी, पडइ जवोहे अगाहंमि॥ ८॥

टी०॥ आलंबनहीनः पुनर्निपतितः स्खलितः सन् आह दुरुत्तारे गर्त्तायां दुरुत्तारायां इय एवंनिःकारणसेवी साधुः पुष्टालंबनरहित इत्यर्थः। पतति भवौघे अगाधे पतति भवगर्त्तायां अगाधायां अगाधता पुनरस्याः दुःखेनोत्तरणसंभवादिति गाथार्थः॥ यथा चरणविकला असहायज्ञानदर्शनपक्षमालम्बत्येवं नित्यवासाद्यथाह॥

जेजत्थ जया जग्गा, ओगासं ते परं अविंदंता॥
गंतु तत्थ चयत्ता, इमं पहाणंति घोसंति॥ ए॥

टी०॥ ये साधवः शीतलविहारिणः यत्र नित्यवासादौ यदा यस्मिन्काले भग्नानिर्विण्णा अवकाशं स्थानं ते परं अन्यत् (अविदंतित्ति) अलभमानाः गंतुं तत्र शोभने स्थाने अशक्नुवंतः किंकुर्वंति इदं पहाणंति घोसंति यदस्माभिरंगीकृतं सांप्रतं कालमाश्रित्येदमेव प्रधानमित्येवं नाघोषयंति॥ ए॥ आव० ३ अ०। आ. क० द्वा० १४ अत्र सार्थेन दृष्टांतः॥

स्वल्पोदकतरुच्छायं, सार्थः काश्चिद्यथापथं॥
प्रपन्नस्तत्रकेऽप्यस्युः, परिश्रमजुषोऽलसाः॥ १॥
तिन्नतंदुलिकमाया, स्वपि छायासु निर्वृताः॥
तैस्तैर्जैश्च गच्छत्, शब्दयत्यपरानपि॥ २॥
प्रधानमिदमेवात्र, स्थानमित्यर्थके च न॥
ये तद्वचः प्रपद्यास्यु, स्ते क्षुत्तृड्दुःखिनोऽभवन्॥ ३॥
स्वीचक्रे तद्वचोयैर्न, तमध्वानं विलंघ्यते॥
शीघ्रं शीतोदकच्छायं, सुखभाजोऽथतेऽभवन्॥ ४॥
यथा ते पुरुषास्तस्युः, पार्श्वस्थाद्यास्तथालसाः॥
ये तूद्यमात्तं निस्तीर्णाः सुखिनस्ते सुसाधवः॥ ५॥

साम्प्रतं यदुक्तमिदं प्रधानमिति घोषयंति तद्दर्शयति॥

निअयावासविहारं १, चेइअभत्तिंच २ अज्जिआ लाजं
३ विगईसु अपडिबंधं, निद्दोसं चोइअं बिंति। १०।

पडिहारगाहा २॥ टी०॥ नित्यवासेन विहरंतंनित्यवासकल्पमित्यर्थः चैत्येषु भक्तिस्तां च वशाद्दातृकुलकार्यादिपरिग्रहः। आर्यिकाल्योलाभस्तंश्रीयाद्या विगतयो अभिधीयंते॥ तासु विगातिषु प्रतिबंधं आसंगं निर्दोषं चोदिता अन्येनोद्यतविहारिणोक्तवते भणंतीति गाथार्थः॥

अधुना चेइयदारं गाहा॥

चेइ अकुलगणंसघे, अन्नं वा किं चि काउ निस्साणं।
अहवा वि अजवइरं, तो सेवंती अकरणिज्जं॥

चैत्यकुलगणसंघं अन्यद्वा किंचिदपुष्टमव्यवस्थित्यादिकृत्वालंबनमित्यर्थः। कथं नास्ति कश्चिदिह चैत्यादि प्रतिजागरूकः अतोऽस्माभिरसंयमोऽङ्गीकृतः। माजूश्चैत्यादिव्यवच्छेद इति अथवाय्यवैरं कृत्वा निश्रांततः सेवंते अकृत्यं असंयमं मंदधर्मा इति गाथार्थः ११४ आव० अ० ३॥

चेइअपूआ किं, वइरसामिणो मुअपुव्वसारेणं।
न कया पुरिआइ तया, मुक्खंगं सा वि साहूणं॥ ११५॥

टीका॥ अक्षरार्थः सुगमः। भावार्थस्तु कथानका-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वसेयस्तत्र कथितमेव तत्र वैरस्वामि नमालंबनं कुर्वाणा इदं नेक्षते मंदधियः । किमित्याह ॥

ओहावणं परेसिं, सतित्थ उब्भावणं च वच्छल्लं ।
न गणंति गणे माणो, पुव्वुचिअ पुप्फमहिमं च ॥ १६ ॥

टी० ॥ अपभ्राजनां लाघनं परेषां शाक्यानां स्वतीर्थोद्भावनां च दिव्यकरणेन तथा वात्सल्यं श्रावकाणां एतन्न गणयंत्यालंबनानि गणयतः संतः तथा पुव्वोच्चिअ पुप्फमहिमं च गणयंतीति पूर्वाचार्यैः प्राग्गृहीतैः पुष्पैः कुसुमैर्महिमा यात्रा तामिति गाथार्थः १६ ॥ चैत्यजाकद्वारं गतं ॥ अधुनार्यिकालाभद्वारम् । तत्रेयं गाथा ॥

अज्जियलाभे गिद्धा, सएणलाभेणजे असंतुट्ठा ।
भिक्खायरिया भग्गा, अन्निअपुत्तं ववइसंति ॥
अन्निअपुत्तायरिओ, भत्तं पाणं च पुप्फचूलाए ।
उवणीअं भुंजंतो,ते एवमावे अंतगडो ॥

टी० अक्षरार्थो निगदसिद्धः । भावार्थस्तु कथानकादवसेयः । तच्च अन्निकापुत्राचार्यशब्दे । तेन मंदमतय इदमालंबनं कुर्वतः इदमपरं नेक्षंते ॥ किमत आह ॥

गयसीसगणं ओमे, भिक्खायरिआ अपच्चलं थेरं ।
न गणंति सहो विसढो, अज्जिअलाभं गवेसेज्जा ॥

टी० गतः शिष्यगणोऽस्येति समासस्तं ओमे दुर्भिक्षे भिक्षाचर्यायां अप्रबलो असमर्थः भिक्षाचर्यायां अप्रबल असमर्थस्तं स्थविरं वृद्धं एवं गुणयुक्तं न गणयंति नालोचयंति सढा विसढा समर्थाः अपि शब्दात् सहायादिगुणयुक्ता अपि शठा मायाविन आर्यिकालाभं गवेषयंतीति अन्विषत इति गाथार्थः ११८ ॥

गतमार्यिकालाभद्वारं विकृतिद्वारमधुना तत्रेयं गाथा ।
भत्तं वा पाणं वा, भुत्तूणं लावललिअमि विसुद्धं ।
तोवज्जपरिच्छन्ना, उदायणरिसिव्व वइसंती ॥ २० ॥

टी० ॥ भक्तं वा ओदनादि पानं वा द्राक्षपानादि भुक्त्वा उपभुज्य (लावललिअयति) लोपेक्ता अशुद्धं विगतिसंपर्कदोषात् तथाच निः कारणे प्रतिषिद्ध एव विगतिपरिभोगः ॥ उक्तंच ॥

विगतिं विगति भीया, विगतिमयं जो उ भुंजति साहू ।
विगति विगतिसहावा, विगति विगतिं वलानेति ॥

ततः केनचित्साधुना चोदिताः संतोऽवद्यप्रतिच्छन्नाः पापप्रच्छादिता उदायनार्षेव्यवादिशत्यालंबनतयेति गाथार्थः ॥२०॥ आव. ३ अ. ॥

कथाचेयम् ।
आसीदुदायनो नाम, राजा वीतभयाधिपः ।
राज्ये निवेश्य जामेयं, प्रव्रज्यां स्वयमग्रहीत् ॥१॥
भिक्षाशस्य तस्याभूद्, व्याधिर्वैरजाणि सः ।
केवलं दधि भुंजीथा, येन व्याधिर्न वर्द्धते ॥ २ ॥
राजर्षिस्तु व्रजेष्वस्था, तत्रयत्सुलभं दधि ।
सोऽगाद्वीतभयेऽन्येद्युः, स्तत्र तज्जामिसूर्नृपः ॥ ३ ॥
उक्तेऽमात्यैः स्वराज्यार्थी, जितसर्वपरीषहः ।
राजर्षिराजगामात्र, राज्यं दास्यामि सोऽवदत् ॥४॥
उक्तस्तैनार्प्यते राज्यं, चिराद्व्युद्ग्राहितोऽथ सः ।
पशुपाल्यैकया साधोः, सविषं दध्यदापयत् ॥५॥
दृष्टाः पुनरमात्यास्ते, सर्वत्राऽप्यादिशन् पुरे ।
राजर्षेरस्य युष्माभि, र्दातव्यं सविषं दधि ॥६॥
हृत्वा तद्देवताजाणी, न्महर्षे ! सविषं दधि ।
त्यजैतत्क्रमेतेन, पुनर्व्याधिरवर्द्धत ॥७॥
पुनर्दध्याददे सोऽथ, पुनर्देव्यहरद्विषं ।
एवं तत्पृष्ठतो लग्ना, देवता संचचार सा ॥८॥
तस्याः प्रमादतोऽन्येद्यु, र्बुभुजे सविषं दधि ।
तत्तापार्तः शुभध्यानः, केवलं प्राप्य निर्वृतः ॥९॥
तस्य शय्यातरः कुंभ, कारो देवतया तदा ।
सिनपल्ल्यां कृतो राजा, राजर्षेर्भक्तिमानिति ॥१०॥
कुंभकारकृतामि ते, तन्नाम्नाऽजनि तत्पुरं ।
पांशुवृष्ट्या पुनर्वीति, भयं सर्वं स्थलीकृतं ॥११॥
ऋषिहत्याकरामिति, कोपाद्देवतया तदा ।
कारणाद्दधिभुग्युक्तः, कर्तुमालंबनं न सः ॥१२॥ आ. क. ॥

सीअलदुक्खाणुचिअं, वएसु विगईगएण जावंतं ॥
हट्ठा वि भणंति सढा, किमासि उद्दायणो न मुणी ॥२१॥

टी० । शीतलं च तद्रूक्षं च शीतलरूक्षं अन्नमिति गम्यते । तस्याऽननुचितः अननुरूपः नरेंद्रप्रव्रजितत्वाद्रोगाभिभूतत्वाच्च शीतलरूक्षाननुचितस्तं व्रजेषु गोकुलेषु विगतिंगतेन विगतिं यातेन यापयंतं (हट्ठाविपि) समर्था अपि भणंति शठाः किमासीत् (उद्दायणो न मुनिः) मुनिरेव विगति परिभोगे सत्यपि तस्मान्निर्दोष एवायमिति गाथार्थः ॥ ७ ॥ एवं नित्यवासादिषु मंदधर्माः संगमस्थविरादीन्यालंबनान्याश्रित्य सीदंति । अन्ये पुनः सूत्रादीन्येवाधिकृत्य तथाचाह ॥ आव० ॥

सुत्तत्थबालवुड्ढे, असहूदव्वाइआवईओ अ ।
निस्साणपयं काउं, सस्यरमाणा विसीअंति ॥२२॥

सूत्रश्चार्थश्च बालश्च वृद्धश्च सूत्रार्थबालवृद्धाः । तान् तथा असहश्च द्रव्याद्यापदश्च असहद्रव्याद्यापदस्तांश्च निश्राणां आलंबनानां पदं कृत्वा संस्तरंतोऽपि संयमानुपरोधेन वर्तमाना अभिसंतः सीदंति । एतदुक्तं भवति । सूत्रं निश्रापदं कृत्वा यथाहं पठामि तावत्किं ममाऽन्येन एवमर्थं निश्रापदं कृत्वा शृणोमि तावत् एवं बालत्वं वृद्धत्वं असहत्वं असमर्थत्वमित्यर्थः । एवं द्रव्यापदं दुर्लभमिदं द्रव्यं, तथा क्षेत्रापदं क्षुल्लकमिदं क्षेत्रं, कालापदं दुर्भिक्षं वर्त्तते, तथा भावापदं ग्लानोऽहमित्यादि, निश्रापदं कृत्वा संस्तरंतोपि विषीदंत्यसत्त्वा इति गाथार्थः ॥ २२ ॥

आलंबणाण लोगो, भरिओ जीवस्स अजउकामस्स ॥
जं जं पिच्छइ लोए, तं तं आलंबणं कुणइ ॥ २३ ॥

टी० ॥ आलंबनानां प्राङ्निरूपितशब्दार्थानां लोको मनुष्यलोको भृतः पूर्णो जीवस्य (अजउकामस्सति) अयतितुकामस्य तथा चायतितुकामो यद्यत्पश्यति लोके नित्यवासादि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत्तदालंबनं करोतीति गाथार्थः ॥ २३ ॥

किंच द्विविधा भवंति प्राणिनो मंदश्रद्धास्तीव्रश्रद्धाश्च तत्रा-न्यत् मंदश्रद्धानामालम्बनमन्यच्च तीव्रश्रद्धानामित्याह च ॥

जे जत्थ जयाजइत्रा, बहुस्सुत्रा चरणकरणपब्नट्ठा ॥
जहा जं ते समायरंती, आलंवणं मंदसद्धाणं ॥ २४ ॥

टी० ॥ ये केचन साधवो यत्र ग्रामनगरादौ यदा यस्मिन् काले सुखमदुःखमादौ (यद्यपि) यदा दुर्भिक्षादौ बहुश्रुताश्चरणकरणप्रभ्रष्टाः संतः यत्ते समाचरंति । पार्श्वस्थादिरूपं तदालंबनं मंदश्रद्धानां भवतीति वाक्यशेषः । तथा ह्याचार्या मधुरामगुः सुभिक्षेऽप्याहारादिप्रतिबंधापरित्यागात्पार्श्वस्थता-मभजत्तद्रूपमपि नूनं जिनैर्धर्म्मो दृष्ट एवेति गाथाभिप्रायः ॥ २४ ॥

जे जत्थ जया जइत्र, बहुस्सुत्रा चरणकरणसंपत्ता ॥
जं ते समायरंती, आलंबणं तिव्वसद्धाणं ॥ २५ ॥

ये केचन यत्र ग्रामनगरादौ यदा सुखमदुःखमादौ (अद्यपि) यदा च दुर्भिक्षादौ बहुश्रुताश्चरणकरणसंपन्नाः यत्ते समाचरंते निक्षुप्रतिमा तदालम्बनं तीव्रश्रद्धानां भवतीति गाथार्थः ॥ आव. ३ अ० ॥

आलंबनं रज्ज्वादि तद्वदापद्गर्तादिनिस्तारकत्वादालम्बनम् आलम्बनसदृशे, च भ० श. १८ उ० ४ (आहारभूए आलंबणे) आलंबनं वस्त्रादिकमिव । ज्ञा०अ० ७ ॥ (मेढीआलम्बणं) खंजं) आलंबनं हस्ताद्याधारः तत्समानः यथा हस्ताद्याधारो गर्तादौ पतंतं जंतुं धारयति तथाचार्योऽपि भवगर्ते पतंतं गच्छं धारयतीत्यर्थः ग० अधि० १ (मेढीयपमाणे आहारे आलंबणे) आलंबनं रज्ज्वादि तद्वदापद्गर्तादिनिस्तारकत्वा-दालम्बनम्. राज. । आलम्ब्यत इत्यालम्बनम् भावेऽनट्प्रत्ययः कर्म० ॥ अवष्टम्भे यथा मंदशक्तिः कश्चित् नगरे परिभ्रमणाय यष्टिमवलम्बते ततस्तदवष्टंभते । जातसामर्थ्यविशेषः सन् तान् प्राणापानादिपुद्गलान् विसृजतीति. कर्म. प्र. ॥ गृहणशब्दे निग्रन्थीनां ग्रहणं वक्ष्यते ॥

आलंबणजोग-आलंबणयोग- पु० आलम्बनवाच्ये पदार्थे अर्हत्स्वरूपे उपयोगस्यैकतानत्वम् । यतस्य बहुवक्तव्यता योगशब्दे अष्ट० ॥ सालम्बनो निरालम्बनश्च योगः परो द्विधा ज्ञेयः । सह आलंबनेन चक्षुरादिज्ञानविषयेण प्रतिमादिना वर्तत इति सालम्बनम् षो० वृ० १३ । योगभेदे च अष्ट० ।

आलंबणभूय- आलम्बनभूत त्रि० आलम्बनसदृशे, (आलंबणभूए) आलंबनं रज्ज्वादि तद्वदापद्गर्तादिनिस्तारकत्वा-दालंबनम । ज्ञा० अ १ ।

आलंबमाण- आलम्बमान त्रि० बाह्वादौ गृहीत्वा धारयति, देशतः करेण गृह्णाति च । वृ० ।

आलंबि (न्) आलम्बिन् त्रि० आ लबि णिनि आश्रयिणि, " गजाजिनालम्बिदुकूलधारिणा " । कुमा. । वाच० ॥

आलंबिय-आलम्बित त्रि० लबि क्तः धृते, गृहीते, च वाच० ।

आलंभ-आलम्भ पु० आलभ् घञ् नुम् संस्पर्शे १ हिंसने २ च वाच० ॥

आलंभिय-आलम्भिक-न० स्वनामख्याते नगरे, यत्र चुल्लशतको गृहपतिरासीत् स्थानांगे चुल्लशतकमधिकृत्य (सवाल-म्भिकाभिधाननगरनिवासी) स्था० ठा. १ । (आलंभियणयरं मज्झं मज्झेण णिग्गच्छइ) भ० श. ११ उ. १२ ॥ आलम्भिकायां नगर्यां यत्प्ररूपितं तत्प्रतिपादक उद्देशकोऽप्यालंभिक इत्युच्यते । ततोऽसौ द्वादशः भगवत्या एकादशशतकस्य द्वादशे उद्देशे च ॥

आलंभिया-आलम्भिका-स्त्री० स्वनामख्यातायां नगर्याम् भ० श. ११ उ. १ (ततोऽनन्तरं आलंभियं नयरीं गतो) आ० म. । कल्प० ॥ आ० चू० ॥

अस्या वर्णको भगवत्याम् यथा ॥

तेणं कालेणं तेणं समएणं आलंभिया णामं णयरी होत्था वण्णओ संखवणे चेइए वण्णओ तत्थणं आलंभियाए णयरीए बहवे इसिभद्दपुत्तप्पामोक्खा समणोवासगा परिवसंति । अड्ढे जाव अपरिभूए अभिगयजीवाजीवा-जाव विहरंति ॥ भ ० श. ११ उ. १२ ।

आलत्त- आलप्त- त्रि ० आभाषिते, (आलत्ते वाहिते,) आलप्तोनाम आर्य ! किं तव वर्तत इत्येवमाभाषित इति, वृह. । (सेवगपुरीसो व कोइ आलत्तो) आलप्तः संभाषित इति । व्य ० उ. ४ ॥ शब्दिते. ततश्चालप्ताः शब्दिता वा तूर्णिभावं भजन्ते. । आचा. अ. ६ उ. ४ । आलपने. न. (आलत्तमादिकज्जत्था) आलप्तमालपनम्. व्य. उ. १० ।

आलद्ध- आलब्ध त्रि० आ लभ क्त संस्पृष्टे, संयुक्ते, स्पृष्टे, हिंसिते, च.

आलप्प-आलाप्य-त्रि ० आ. लप. कर्मणि. ण्यत्. कथनीये. णिच्. यत्. आभाष्ये. वाच० ।

आलवंत-आलपत्-त्रि० ईषद्वदति, (आलवंते लवंते वा) आलपति सति ईषद् वदति सति. उत्त अ. १ सकृल्लपति, च. (आलविज्जपवा) आलपितुंवा सकृत् प्रति० । आलपनं कुर्वति, च (आलवंताणं मुरयाणं नंदिमुइंगाणं) मुरज-मृदंगनंदिमृदंगानामालपनम्, । राज० । आ. चू. ।

आलय-आलय-पुं. आलीयतेऽस्मिन्. आ. ली. आधारे अच्. आधारे वाच ० आश्रये, स्था० ठा. ३ स्था. ठा. ४ ॥ जं ० ॥ आवासे. ओघ ० ॥ गृहे, तं. ॥ स्थाने. विशे. (हिमालयो नाम नगाधिराजः) कुमा० तत्रामराश्रय सरासमरालकेशी वैष० नहि दुष्प्रात्मना मार्या निवसत्यालये चिरम्, रामा० (आलयं देव शत्रूणां सुघोरं वायरूपं वनम्) भा.आ० प० । आलीयंते साधवोऽत्रेत्यालयः वृ० । वसतौ, स्था० ठा. ॥ आ. चू. । (आलएणं विहारेणं) आलयो वसतिः आव.। अणुत्तरेण. आलएणं, आलयेन स्त्रीषण्ढादिरहितवसतिसेवनेन कल्प० ॥ उपाश्रये, ॥

बृहत्कल्पे उपाश्रयस्यैकार्थिकानधिकृत्य (उवस्सगपडिस्स-गसिज्जा अलयवसधीनिसीहिया ठाणे, वृह० । शरीरे, च. निसीहिया सरीरगं वसही थंडिलं च भणति । यतोनि-सीहिया नाम आलयो वसही थंडिलं च सरीरस्स आलओ सरीरं जीवस्स आलयोत्ति ॥ आ. चू. ॥
॥ आलयवर्तिनि, च (आलयविहारसमिओ) आलयः सूचकत्वादालयवर्ती सकलकलंकविकलनिषेवीत्यर्थः ध. अधि. ३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावे घञ् संश्लेषे, मर्य्यादायामव्ययी० लयपर्यन्ते. अव्य० वाच० ॥

आलयगुण–आलयगुण–पु० बहिर्भोग्यादौ, प्रतिलेखनादौ, उपशमगुणे च बृ० ॥

आलयविन्नाण–आलयविज्ञान–बौद्धपरिभाषिते क्षणिकविज्ञाने, आव० ॥

आलयसामि (न्) आलयस्वामिन् पुं० सत्वाश्रयप्रभौ, (सेज्जायरोत्ति भणति आलयस्वामी उ तस्स जो पिसो) आलयस्वामी तु साध्वाश्रयप्रभुरेव-पंचा० बृ० १७

आलयसुद्धाइलिंगपरिसुद्ध– आलयशुद्धादिलिंगपरिशुद्ध– पुं० आलयशुद्धादीनि वसतिनिर्दोषताप्रभृतीनि यानि लिङ्गानि सुविहितचिन्हानितैःपरिशुद्धोनिश्चितसुविहितभावोयः स आलयशुद्धादिलिङ्गपरिशुद्धःतस्मिन्. (तम्हा जहोइयगुणो आलयसुद्धाइलिंगपरिसुद्धो) पंचा० बृ० ११ ॥

आलवण–आलवण्ण–न० न लवण० न० त० अलवणस्यभावः ष्यञ् लवणरसानिस्तत्वे नास्तिलवणं यत्र बहु० तद्भावेवा ष्य. त्र-अलवणता-स्त्री० अलवणत्वंतु. न० लवणशून्यत्वे वाच० ।

आलस–आलस–त्रि० आ लसति, ईषल्लयतिप्रयत-अच्. क्रियामान्द्ये अलसस्यापत्यम् विदा० अञ्-अलसापत्ये-पुं० स्त्री० यून्यपत्ये हरिता० फञ् आलसायनः तस्य यून्यपत्ये-पु० स्त्री० वाच० ।

आलस्स– आलस्य– न० अलसस्य भावः ष्यञ् अनुद्यमने उत्त० १ अ० ॥

औदासीन्ये प्रमादो यत्र आलस्यमौदासीन्यं च हेतुषु आलस्यं च हेतुषु समाधिसाधनेष्वौदासीन्यं माध्यस्थं न तु पक्षपातः द्वा० द्वा.१६ ॥ आ० म० ॥

आलाव–आलाप–पु० आलप्-करणे घञ्-वाच० आङ् ईषदर्थत्वादीषल्लपनमालापः स्था० ठा० ५ ईषद्भाषणे,ध० अधि० २ असकृत्संभाषण, च (आलावं वा संलावं वा) आलापः संलापः संलापस्तदेव पुनः पुनः भ० श० ३ उ० १ ॥

आलावत्ति सकृज्जल्पं सलावर्वत्तिमुहुर्मुहुर्जल्पं. भ० श० ५ उ० ४ ॥ ध० अधि० २ ॥ ईषत्प्रथमतया वा जल्पने, चतुर्भिश्च स्थानैर्निर्ग्रन्थस्य निर्ग्रन्थ्या सममालापे न दोषः ॥

तथाच स्थानाङ्गे स्था० ठा० ४ ॥

चउहिं ठाणेहिं णिग्गंथे णिग्गंथिं आलवमाणे वा संलवमाणे वा णाइक्कमइ तं० पंथं पुच्छमाणे पंथं देसमाणे असणं वा पाणं खाइमं वा साइमं वा दलयमाणे दवावेमाणे वा ॥

स्था० टी० (चउहीत्यादि) स्फुटं किंतु आलपन्नीषत्प्रथमतया वा जल्पन् संलपन् मिथो भाषणेन नातिक्रामति न लंघयति निर्ग्रंथाचारं (एगो एगत्थिए सद्धिं नेव चिट्ठे न संलवे) विशेषतः साध्व्या इत्येवं रूपं मार्गप्रश्नादीनां पुष्टालम्बनत्वादिति तत्र मार्गं पृच्छन् प्रश्नीयसाधर्म्मिकगृहस्थपुरुषादीनामभावे हे आर्ये ! कोऽस्माकमितो गच्छतां मार्ग इत्यादिना क्रमेण मार्गं वा तस्यादेशयन् धर्मशीलेऽयं मार्गस्ते इत्यादिना क्रमेण अशनादि चाददद्धर्मशीले ! गृहाणेदं अशनादीत्येवं तथा अशनादि दापयन् आर्ये ! दापयास्येतस्मुऽयं आगच्छेह गृहा दावित्यादिविधिनेति ॥ प्रवादे-उच्चारणविधौ च– (एसाल वोऽऽसव्वत्थ-) एष ईदृश आलाप उच्चारणविधिः बृह० (आलावोदेवदत्तादि किं प्रोति किं देवदत्तेति.) (अथायावंतेणे आलावसद्दो सुओ) नि० चू० ॥

आलावग–आलापक–पुं. आ लाप. क. उच्चारणविधौ (एवमिक्केके आलावगा भणियव्वा) चत्तारि आलावगा, स्था० ठा. ६ ॥

आलावण–आलापन–न. आ लप णिच्. भावे ल्युट्. परस्पर कथोपकथने, आभाषणे, आलापशब्देऽस्य प्रवृत्तिहेतुत्वमुक्तम् स्यादाभाषणमालाप इत्यमरः। स्वरितवाचने,च (मंगलालापनैर्हर्मैः) रामा ० वाच ० । संभाषणे. बृ० । सकृत्संभाषणे आव. ॥ भाषणे. (जो लावसेज्जा असणस्स हेऊ) आलापयेद् भाणयेत्. सूत्र श्रु. अ. ० ॥ आ लाप्यते आलीनं क्रियते एभिरित्यालापनानि. रज्वादौ. भ ० श. ८ उ.९

आलावणबंध–आलापनबन्ध–पु.आलाप्यते आलीनं क्रियते-एभिरिति आलापनानि रज्वादीनि तैर्बन्धस्तृणादीनामालापनबन्धः। बन्धभेदे. भ- श. ८ उ. ९ ।

तथाच भगवत्याम्.

सेकिंतं आलावणबंधे १ जण्णं तणभाराण वा कट्ठभाराण वा पत्तभाराण वा पलालभाराण वा वेल्लभाराण वा वेत्तलया वा गवरत्तरज्जुवल्लिकुशदब्भमाइएहिं आलावणबंधे समुप्पज्जइ। जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं संखेज्जं कालं । सेत्तं आलावणबंधे ॥

आलि-आलि–पु. वनस्पतिविशेष, । जी प्र. ३ ॥

आलीकदल्यौ वनस्पतिविशेषौ. ज्ञा०३ अ० ॥

आलिंग–आलिङ्ग– पुं० मुरजनामके, वाद्यविशेषे, राज०प्र. ३

आलिङ्गोमृन्मयो मुरजः जी०.३ प्र. तलादिकृतालिंगाण, राज ० आ. चू. ॥ (आलिंगपुक्खरेइ वा) आलिंग्य वाद्यत इत्यालिंगो मुरजवाद्यविशेषस्तस्य पुष्करं चर्मपुटं तत् किलात्यंतसममिति तेनोपमा क्रियते इति. आ. म. प्र. १ अ. जं. ॥

आलिङ्गय त्रि. आ. लिग. यत् आलिंगनीये प्रियादौ, वाच० ॥ मुरजनामके वाद्यविशेषे. पु. (आलिंगपुक्खरे इव) आलिंग्यो नाम यो वादकेन मुरज आलिंग्य वाद्यते हृदि धृत्वा वाद्यत इत्यर्थः ॥ आलिंग्यो मुरजोवाद्यविशेषः ॥ एष यकारान्तः शब्दः। जी० प्र. ३

आलिंगण–आलिङ्गन–न० आ लिगि ल्युट्-आश्लेषे-अप्र. । ईषत्स्पर्शने० प्रव० द्वा. १५० नि. चू. उ. १ दशा० अध्य. ६

आलिंगणवट्टि–आलिङ्गनवर्त्ति–स्त्री० शरीरप्रमाणे उपधाने (तंसिसगंसि सयणिज्जंसि सालिंगणवट्टिए) सहालिंगनवर्त्या शरीरप्रमाणेनोपधानेन युक्त तथा-सू. प्र. अ. १०। जी० प्र. ३ । भ० श. ११ उ. ११ । ज्ञा० अ. १

आलिंगणवट्टिया–आलिङ्गनवर्त्तिका–स्त्री० शरीरप्रमाणे दीर्घे,गण्डोपधाने, आलिंगनवर्त्तिका नाम शरीरप्रमाणं दीर्घ गण्डोपधानम् । कल्प० ॥

आलिंगणिया–आलिंगनिका– स्त्री० पुरुषप्रमाणे उपधाने, आलिंगनिकायां पुरुषप्रमाणायां राजेति पुष्पा समालिंग्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राजान्तः पुर्य्यः शेरते. जी० प्र० १

आलिंगपुक्खर--आलिंगपुष्कर--न० मुरजमुखे,भ० श. ९ उ. ८ मुरजमुखपुटे, च भ० श. ६ उ. ७ जं० । आ. म. प्र० १ अ. । राज० ॥

आलिंपत--आलिंपत्--त्रि० आलेपं कुर्वति(आलिंपंतं वा विलिंपंतं वा साइज्जइ) नि. चू. उ० ३

आलिंपावंत--आलेपयत्--त्रि० आलेपं कारयति(अन्नयरेण वा आलेवणजाएणं आलिंपावंतं वा) नि० चू. उ. १७

आलिघरग--आलिगृहक--न० आलिर्वनस्पतिविशेषस्तन्मयानि गृहकाणि । आलिमये गृहे, राज० ।

आलित्त--आदीप्त--त्रि० समंततो दीप्ते. " जइ आलित्ते गेहे, कोइ पसुत्तं नरं तु बोहेज्जा " आसमन्ततो दीप्ते गृहे, व्य० उ. ३ अंत० अ. ५ अभिविधिना ज्वलिते, भ० श. २ उ. १ प्रदीपने, न० कोट्टिमघरे वसंते आलित्तंमि वि न डज्झई सणे आदीप्तेऽपिप्रदीपनकेऽपि न दह्यते इति-व्य. उ. ४

आलिप्त-त्रि. आ. लिप. क्त. कृतालेपने,दत्तादीपने,च वाच०॥

आलिद्ध--आदिग्ध--त्रि० लग्ने, (अत्थेगइया पुढवीकाइया आलिद्धा) आदिग्धाः शिलायां शिलापुत्रके च लग्ना इति भ० श. १९ उ. ३

आश्लिष्ट-त्रि० । आ. श्लिष् क्त आश्लिष्टे, लधौ ॥ ४९ ॥ इति प्राकृतसूत्रेण आश्लिष्टे संयुक्तयोर्यथासंख्यं लध इत्येतौ भवतः प्रा० । आलिंगिते संवर्के (शिखाभिराश्लिष्ट इवाम्भसां निधिः । आश्लिष्टभूमिं रसितारमुच्चैः) इति माघः वाच० ।

आलिद्धमणालिद्धवंदण--आश्लिष्टानाश्लिष्टवन्दन--न० सप्तविंशे वन्दनकदोषे, तथ(आलिद्धमणालिद्धे रयहरसीसे य होइ चउभंगो) वृ० । अश्लिष्टमनाश्लिष्टं चेति पदद्वयमाश्रित्य रजोहरणशिरसो विषये चतुर्भंगिका भवति।सा च अहो कायं काय इत्याद्यावर्तकान्ते संभवति । रजोहरणं कराभ्यामाश्लिष्यति शिरश्चेत्येको १ रजोहरणं श्लिष्यति न शिर इति द्वितीयः २ शिरःश्लिष्यति न रजोहरणमिति तृतीयो ३ न रजोहरणं न शिरः श्लिष्यति ४ इति चतुर्थो भंग इति अत्राऽऽद्योभंगः शुद्धः । शेषभंगत्रये आश्लिष्टदोषदुष्टप्रकृतवंदनमवतरति । प्रव. द्वा. १ ध० अधि २ । आव० । आ. चू. २ अ. ॥

आलि (ली) वग--आदीपक--त्रि० आदीपयत्यन्यगृहमाग्निना । आ. दीप णिच् ण्वुल् परगृहस्य दाहके, गृहादिदीपनककारिषु प्रश्न० द्वा० ३ । अग्निदातरि ज्ञा० अ. २ उद्दीपके, च वाच० ॥

आलि (ली) वण--आदीपन--न० आ. दीप णिच् ल्युट् तण्डुलादिचूर्णमिश्रितजलेन गृहादौ चित्राकारलेपनभेदे, उद्दीपने, च वाच० ॥ग्रामादिप्रदीपने (आलीवणेहि य) व्याकुललोकानां मोषणार्थं ग्रामादिप्रदीपनैः । विपा० अ. १ ।

आलि (ली) विय--आदीपित-त्रि० आ. दीप णिच् क्त दत्तादीपने गृहाङ्गनादौ, उद्दीपिते, च वाच. ॥

आलिसं (सिं) दग--आलिस (सि) न्दक--पुं. धान्यविशेषे दशा. (आलिसंदगत्ति) चपप्रकाः जं. टी० (आलिसदगत्ति) चवलकप्रकाराः चवलका एवान्ये । भ. श. ६ उ. ७

आलिह--स्पृश् स्पर्शे तु. पर. सक. अनिट् । स्पृशः फासफंस-फरिसछिवछिहालुंखालिहाः ॥ ८१ ॥ इति प्राकृतसूत्रेण स्पृशतेरालिहादेशः आलिहइ प्रा. ॥ स्पृशति अस्प्राक्षीत् अस्पार्क्षीत् अस्पृक्षत् पस्पर्श । वाच. ॥

आलिहमाण- आलिखत् त्रि० विन्यस्यति, (आलिहमाणे २ अणुप्पविसइ) आलिखन् २ विन्यस्यन् २ अनुप्रविशति ॥ जं० ॥

आलिहिज्जमाण- आलिख्यमान त्रि० विन्यस्यमाने,(मंगलेहिं आलिहिज्जमाणेहिं) जं० ॥

आली- आली--स्त्री० सख्याम् ॥ प्रा० ॥

आलीढ-आलीढ त्रि० आ- लिह- क्त-युद्धासनविशेषे॥ वाचा.॥

तत्र दक्षिणमूरुमग्रतो मुखं कृत्वा वाममूरुं पश्चान्मुखं प्रसारयति । अंतराबद्धयोरपि पादयोः पंचपदो ततो वामहस्तेन धनुर्गृहीत्वा दक्षिणहस्तेन प्रत्यंचामाकर्षति तत् आलीढम् ॥ व्य० उ- १ आ० म- अ- १ ॥ आ- चू- ॥ उत्त० १ अ. । नि० चू- उ ११

आलीण-आलीन-त्रि. आ ली कर्तरि क्त आश्लिष्टे, वाच० आलिंगिते, कल्प० सुश्लिष्टे, ज्ञा० अ २ किंचिल्लग्ने, च ॥ जं० ॥ प्राकृते (आलिङोऽल्ली ॥ ५४ ॥) इति सूत्रेणालियतेः अल्ली इत्यादेशो भवति । अल्लियइ अल्लीणो ॥ प्रा० ॥ (अल्लीणपमाणजुत्तसवणा) आलीनौ मस्तकभित्तौ किंचिल्लग्नौ नतु टप्परौ प्रमाणयुक्तौ स्वप्रमाणोपेतौ श्रवणौ कर्णौ येषां ते ॥ जं० ॥ (आलीणे मद्दए विलसिहे) आलीनः सर्वगुणैरालिंगितः ॥ कल्प० ॥(आलीणगुत्तो परिव्वए) आचा० अ ३ उ २ ॥ भावे क्तः संश्लेषे, न० तत्र साधु अण् वंगे धातुभेदे तस्य धात्वन्तरसंश्लेषकारकत्वात् तथात्वं । वाच० ॥

आलीणगुत्त--आलीनगुप्त-- त्रि० आङ् मर्य्यादयेन्द्रियरोधादिकया लीन आलीनो गुप्तो मनोवाक्कायकर्मभिः कूर्मवत्संवृतगात्रः । आलीनश्चासौ गुप्तश्चालीनगुप्तः । इन्द्रियरोधादियुते मनोवाक्कायकर्मनिर्गुप्ते, कूर्मवत्संवृतगात्रे, च आचा० अ.३उ.२ (आलीणगुत्तो परिव्वए) आलीनो गुप्तश्च परिव्रजेत् ॥आचा.॥

आलु--आलु--पुं०आ लाति-ला-मितृ डु क्लाणिश्च रस्य लः वा पेचके, भेलके, । शब्दरत्ना० स्वल्पवारिधानिकायाम् सनाले जलपात्रभेदे, स्त्री० कन्दभेदे राजनि० तस्य भेदा नानाविधाः "कंदो बहुविधो लोके आलुशब्देन जल्पते॥ कच्वालुश्चैव घंटालु, पिण्डालुश्शर्करादिकम् ॥ काष्ठालुश्चैव माद्ये स्यात् तस्य भेदा अनेकशः" । वाच० ॥

आचाराङ्गदीपिकायाम् । द्वात्रिंशदनंतकाय वनस्पति जीवानधिकृत्य- (आलू तह पिंडालू बत्तीसं जाणिअं अणंताइं) आचा० अ. १ उ. ३॥

आलू तह पिंडालू हवन्ति एए अणन्तनामेणं । ध० अ० २ । आलू इति दीर्घान्तोप्यत्र ॥

आलुई--आलुकी--स्त्री० वल्लीभेदे, । आचा० अ. १ उ. ५ ॥ प्रव द्वा. १० ॥

आलुंख--दह-दाहे--भस्मीकरणेच सक ० भ्वा० प० अनिट्- दहेरहिऊ लुंखौ ॥ २०७॥ इति प्राकृत सूत्रेण दहेरालुंखादेशः आलुंखइ डहइ प्रा०

आलुंख-स्पृश-स्पर्शे-तु० पर० सक० अनिट्(स्पृशः फासफंसफ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रिसत्रिवाछिहालुंखालिहा. ७१ ॥ इति प्राकृतसूत्रेण स्पृशे-राऽलुंखादेशः आलुंखइ ॥ प्रा० ॥

आलुंचण—आलुंचन-न० आ० लुचि. ल्युट् उत्पाटने, केशादेर्बन्धराहित्ये, च ॥ वाच ० ॥ ग्रहणे, ॥ आव ० ॥

आलुंटण—आलुंठन-न० आ लुटि. ल्युट् बलादपहरणे,-वाच ० ॥

आलुंप-आलुम्ब-त्रि० आसमंताल्लुंपतीत्यालुंपः धनापहारके, आलुंपे सहसाकारे । स हि रोगाभिजितान्तः करणोऽपगतकर्तव्याकर्तव्यविवेकोऽर्थलोभी नैकवृत्तस्थितैहिकामुष्मिकविपाक - कारिणीर्निर्ग्रहणग्रकर्तनचौर्य्यादिकाः क्रियाः करोतीति ॥ आचा-अ. २ उ. १ ० ॥ (आलुंपइ विलुंपइ) आलुंपतवस्त्रादिकं विलुंपत् सर्वस्वापहारेण ॥

आलुग (य) आलुक पुं० आ. लाति पृथ्वीं कासरोगं वा आ-ला. मित् रु संज्ञायां कन्. शोषनागे, कासालौ, च आलु. स्वार्थे कन् कन्दभेदे, न० वाच० ॥ (तरुणगपलालुयत्ति वा) आलुकं कन्दविशेषः । तच्चानेकप्रकार मिति विशेषपरिग्रहार्थं पलालुकमित्युक्तम् ॥ अणु० अ. १ ॥ साधारणशरीरबादरवनस्पतिकायिकानधिकृत्य (साहारणसरीरा अणेगहा ते पकित्तिया आलु ए मूलए चेव सिंगवेरे तहेव य) उत्त० अ. ३६ ॥ न० श. ७ उ. ३ ॥ प्रज्ञा० पद १० ॥ जी० प्र. १ ॥

आलुण-आलून-त्रि० लू० क० ईषच्छिन्ने, सम्यक्छिन्ने, च तेनामरवधूहस्तैः सदयालूनपल्लवाः कुमार० ॥ वाच० ॥ विशीर्णे, ॥ आ० म० ॥

आलेट्ठुयं-आलेट्ठुम्--अव्य० आश्लेषं कर्तुमित्यर्थे,स्वार्थेकश्च वा इति प्राकृतसूत्रेण स्वार्थे कः ॥ प्रा० ॥

आलेप-आलेप-पु० आ-लिप् घञ्-उपलेपे, आलिम्पने, च आलिप्यते कर्मणि ल्युट् आलिप्यमाने, च ॥ वाच० ॥

आलेवण-आलेपन-न० आ-लिप् ल्युट् उपलेपे, आलिम्पने, च वाच० ॥ सकृल्लेपने, नि० चू० उ. १२ ईषल्लेपने,॥ वृ० ॥ दिवा गृहीतगोमयै रात्रौ व्रणाद्यालेपननिषेधो ॥
नि ० चू० ॥

जे भिक्खू दिया गोमयं पडिग्गहेत्ता । दिया कायंसि वणं आलिंपेज्ज वा विलिंपेज्ज वा आलिंपंतं वा विलिंपंतं वा साइज्जइ ॥ ३९ ॥ जे भिक्खू दिया गोमयं पडिग्गहेत्ता रत्तिं कायं सि वणं आलिंपेज्ज वा विलिंपेज्ज वा आलिंपंतं वा विलिंपंतं वा साइज्जइ ॥ ४० ॥ जे भिक्खू रत्तिं गोमयं पडिग्गहेत्ता दिया कायंसि वणं आलिंपेज्ज वा विलिंपेज्ज वा आलिंपंतं वा साइज्जइ ।४१। जे भिक्खू रत्तिं गोमयं पडिग्गहेत्ता रत्तिं कायंसि वणं आलिंपेज्ज वा विलिंपेज्ज वा आलिंपंतं वा विलिंपंतं वा साइज्जइ॥ ४२ ॥ चउक्कभंगसुत्तं उच्चारेयव्वं । कायः शरीरं व्रणः क्षतं तेण गोमयेण आलिंपइ सकृत् विलिंपइ अनेकशो ऽपरिवासिते मासलहुं । परिवासिते चउभंगे चउलहुं तवकालविसिट्ठा आणादिया दोसा । गाहा ।

दियएतो गोमत्तेणं चउक्कभयणा तु जाव णेवुत्ता ॥ एतो एगतरेणं पक्खेत्ताणाहिणो दोसा ॥२१६ ॥ चउक्कभयण चउभंगो पच्छिलदेसए जाव णेवुत्ता इहंपि सच्चेव । गाहा । ततुप्पतित्तं दुक्खं अभिभूतो वेयणा एत्तिव्वाए । अच्छाणे अव्वाहितो तं दुक्खहिया सते सम्मं ।।२१७।। अव्वोच्छित्तिणिमित्तं जीयट्ठाए समाहिहेउं वा। एतेहि कारणेहिं जयणा आलिंपणं कुज्जा ॥२१८॥ पूर्ववत् गोमयगहणा इमा विधी गाहा । अभिणववोसट्ठासत्ति इतरे उवयोगं कालगहणं तु माहिसअसत्तीगव्वं अपत्तवच्छं व विलघाता ॥२१९॥ वोसिरियमोत्तं घेत्तव्वं तं बहुणं तस्सासविइयरं चिरकाल वोसिरियं तं पि उक्करे तु गहणं दिणलंसत्तं पि मादिसं घेत्तव्वं मोहिसासतिगव्वं तं पि अणायवेत्तियं छायायामित्यर्थः । तं असुसितं विलघाती भवति आयवत्थं पुण सुसियरं सुसगुणकारी सुत्तं जे भिक्खू दिया आलेवणजायं पडिग्गाहेत्ता दिया कायंसि वणं आलिंपेज्ज वा विलिंपेज्ज वा आलिंपंतं वा विलिंपंतं वा साइज्जइ ॥ ४३ ॥ जे भिक्खू दिया आलिंपणजायं पडिग्गाहेत्ता रत्तिं कायंसि वणं आलिंपेज्ज वा विलिंपेज्ज वा आलिंपंतं विलिंपंतं वा साइज्जइ ॥४४॥ जे भिक्खू रत्तिं आलेवणजायं पडिग्गाहेत्ता दिया कायं सि वणं आलिं पेज्ज वा विलिंपेज्ज वा आलिंपंतं वा विलिंपंतं वा साइज्जइ ॥ ४५ ॥ जे भिक्खू रत्तिं आलेवणजायं पडिग्गाहित्ता रत्तिं कायंसि वणं आलिंपेज्ज वा विलिंपेज्ज वा आलिंपंतं वा विलिंपंतं वा साइज्जइ ॥ ४६ ॥ आलेवण जातं आलेवणप्पगारा ॥ गाहा ॥

दियरातो लेवेणं, चउक्कभयणाउ जाव णेवुत्ता ॥
एतो एगतरेणं,मक्खेत्ताणादिणा दोसा नि. चू. उ. १२

पर्युषितेनालेपनजातेनालेपननिषेधो । बृहत्कल्पे ॥

णो कप्पइ निग्गंथाणं वा निग्गंथीणं वा पारि यसिएणं आलेवणजाएणं आलिंपित्तए वा विलिंपित्तए वानन्नत्थ आगाढेहिं रोगायंकेहिं ॥

एवं प्रक्षणसूत्रमप्युच्चारणीयं॥ व्याख्यातः कल्पते निर्ग्रन्थानां वा २ परिवासिते नालेपनजातेनालेपयितुं वा ईषल्लेपयितुं विलेपयितुं विशेषेण लेपयितुं नान्यत्र आगाढेभ्यो रोगातंकेभ्य इति सूत्रार्थः ॥
अथ भाष्यं ॥

मक्खेऊणं लिप्पइ, एस कमो होइ वणतिगिच्छाए ।
जइ तेण तप्पमाणं, माकुण किरियं सरीरस्स ॥

परः प्राह ॥ ननु व्रणचिकित्सायां पूर्वं व्रणो म्रक्षित्वा ततः पिंडी आदानेन आलिप्यते एष क्रमस्ततः प्रथमं म्रक्षणसूत्रमुक्त्वा पश्चादालेपनसूत्रं भणितमुचितमिति भावः । यदि चैतत्तव न प्रमाणं ततोमा शरीरस्य कियामकार्षीरिति सूरिराह ।

आलेवणेण पउणइ, जो उवणो मक्खणेण किं तत्थ ।
होहिइ वणो वमासे, आलेवो दिज्जई समणं ॥

नायमेकान्तो यदवश्यं व्रणे म्रक्षणमालेपनं च भवति । किन्तु कुत्रचिदेकतरं कुत्राऽप्युभयं ततो यः किल व्रण आलेपेन प्रगुणीभवति तत्र किं म्रक्षणेन कार्यं किंचिदित्यर्थः । यद्वा । मा मे व्रणो भविष्यतीति कृत्वा प्रथममेवालेपः शमनमौषधं दीयते किंच ॥

चाउरे उक्कज्जे करिंति, जह लाभकज्जपडिंवाडी ।
अणुपुव्विसंतविजवे, जुज्जइ न उ सव्वजाईसु ॥

अत्यातुरे आगाढे कार्ये यथा लाभं आलापो मूलं वा यः प्रथमं लभ्यते तेनैव चिकित्सां कुर्वन्ति । कुत्र नाम परिपाटिः क्रमो विद्यते इदमेव व्यनक्ति यः स विभावा विद्यमानविकृति सत्रचिकित्सायां क्रियमाणायामानुपूर्वी चिकित्साशास्त्रेण भणिता परिपाटिर्युज्यते घटते न पुनः सर्वजातिषु अतः किमत्र क्रमनिरीक्षणेनेति ॥

सुत्तंमि कड्डियंमि, आलेवउवत्ति चउलहू हुंति ॥
आणाइणाइदोसा, विणा इमेहिं तु ठाणेहिं ॥

सूत्रार्थकथनेन सूत्रे आकृष्टे सति निर्युक्तिविस्तर उच्यते । यथा लेपं रात्रौ स्थापयति । तदा चतुर्लघु, आज्ञादयश्च दोषाः विराधना च कर्मीभिः स्यान्निर्भवति ॥

निद्धे दवे पणीए, आवज्जणपाणतक्खणक्खरणा ।
आयंके विविज्जा, सो मासलहुगा य ॥

स्निग्धे द्रवे प्रणीते आलेपे स्थापिते प्राणिनामायततरकुणकरणं तस्य द्रवादेः स्यन्दनं भवति । अत्र दोषभावना प्राग्वत् ॥ आतंके च रोगे विपर्यासेन क्रियाकरणे वक्ष्यमाणं प्रायश्चित्तं मासेत्ति ॥ आगाढानागाढकारणमन्तरेण पदे परिवासयति । ततः प्राशुकादौ स्थाप्यमाने चतुर्लघु । अप्राशुकादौ चतुर्गुरु । इदमेव व्याचष्टे ॥

तिविय संचयदोसा, तयावि से लालविणलिहणं वा ।
अंबीभूयं बिइए, उज्झमणुज्झंति जे दोसा ॥

त एवं संचयादयो दोषा मन्तव्याः ॥ त्वग्विषः सर्पः स्पृशेत् लालाविषो वा जिव्हया वा लेहनं कुर्यात् । द्वितीये च दिने अम्लीभूतं तदुच्यते । अनुज्झतो वा ये दोषास्तान् प्रासान् यत एते दोषास्ततः ॥

दिवसे २ गहणं, पिट्ठमपिट्ठे य होय जयणाए ।
आगाढे निक्खिवणं, अपिट्ठ पिट्ठे य जयणाए ॥

यदा ग्लानार्थमालेपो न प्रयोजनं भवति तदा दिवसे २ ग्रहणं विधेयं । तत्र प्रथमं पिष्टस्य पश्चादपि पिष्टस्यापि यतनया कर्तव्यं भवति । आगाढे च ग्लानत्वे आलेपस्य निक्षेपणं परिवासनमपि कुर्यात् । तदप्यपिष्टस्य पिष्टस्य वा यतनया कर्तव्यम्

अथा ऽऽतंकाव्यत्यासं व्याख्याति ॥

आगाढे अणागाढं, अणागाढे वा वि कुणइ आगाढं ।
एव तु विवज्जासं, कुणइ ववाए कफतिगिच्छं ॥

आगाढे ग्लानत्वे अनागाढां क्रियां करोति चतुर्लघु । अनागाढे वा आगाढं करोति चतुर्लघु यद्वा वाते चिकित्सनीये कफचिकित्सां करोति । एष विपर्यासो मंतव्यः ।

अथ सेसे लहुगायत्ति पदं व्याचष्टे ।

अगिलाणो खलु सेसो, दव्वाई ति विह आवइ जढो वा ।
पच्छित्ते मग्गणया, परिवासित्तं तंसिसमा तस्स ॥

शेषो नाम य आगाढोऽनागाढो वा ग्लानो न भवति यो वा द्रव्यक्षेत्रकालापेक्षया त्रिविधया आपदा जढो मुक्तः स शेष उच्यते तस्य परिवासयत इयं प्रायश्चित्तमार्गणा ।

फासुगमफासुगे वा, अचित्तचित्ते परित्तणं तेवा ।
असिणे इसिणे इसए, अणाहारा हारलहुगुरुगा ।

प्राशुकं स्थापयति चतुर्लघु । अप्राशुकं स्थापयति चतुर्गुरु अचित्ते स्थाप्यमाने चतुर्लघु सचित्ते चतुर्गुरु परित्ते चतुर्लघु अनन्ते चतुर्गुरु स्नेहगते स्नेहावगाढे चतुर्गुरु अनाहारे चतुर्लघु आहारे चतुर्गुरु ॥ वृ० ॥

आलिप्यते अनेनेत्यालेपनं आलेपनसाधने द्रव्ये, आलेवो तिविधो वेदनप्रशमकारी पाककारी व्रणादिणीहरणकारी । नि० चू० उ० ३ ॥

आलेवणजाय-आलेपनजात- न० आलेपनप्रकारे, (आलेवणजायणं आलिंपेज्ज वा विलिंपेज्ज वा) नि० चू० उ० ३ ॥

आलेह-आलेख- पुं० आ-लिख्-घञ् सम्यक्लेखने, आधारे, घञ् लेखपत्रे, च ॥ वाच० ॥ चित्रे, ॥ आ० म० प्र० ॥

आलेक्ख-आलेख्य- त्रि० आ- लिख्- ण्यत्- चित्रादौ लेख्यदेवादिप्रतिबिम्बे, विधातुमालेख्यमशक्नुवंतः । माघः । इति संरंभिणो वाणीबलस्यालेख्यदेवताः । माघः । अहो रूपमालेख्यस्य शकु० लेखनीये- त्रि० आधारे ण्यत् चित्रे ॥ वाच० ॥

आलोइऊण-आलोक्य- अव्य० विमृश्येत्यर्थे (आलोइऊण एवं) आलोच्य विमृश्येति ॥ पंचा. वृ. १४ वृ. ३ ॥

आलोइय-आलोकित- त्रि. आ- लोक्- क्त. दृष्टे ॥ वाच. ॥ (आलोइयं इंगियमेव नच्चा) आलोकितं निरीक्षितमिति ॥ दश. अ. ९ उ. ३ ॥ आलोइयपाणभोयणभोई से णिग्गंथे) आलोकितं प्रत्युपेक्षितमशनादिभोक्तव्यं तदकरणे दोषसंभवात् ॥ आचा० अ० ३ उ० २ ॥

आलोचित- त्रि० आ— लुचु. णिच्. क्त आलोचनाविषयीभूते विशेषदर्शनादिना कृतालोचने, (आलोचितमिन्द्रियेणेति)सां० कौ० इति कर्त्तव्यतयावधारिते च ॥ वाच० ॥ निवेदिते ॥ भ. श. २ उ. १ ॥ (आलोइयंमि आराहणाअणालोइए भयणा) आलोचिते गुरोरपराधजाले निवेदिते, ॥ आव० ॥ आलोचनावति, च ॥ म० ॥ श. ७ उ. १ ॥

आलोइयणिंदिय-आलोचितनिन्दित- त्रि० सम्यक् कृतालोचननिन्दाविधौ, ॥

कयपावो वि मणुस्सो, आलोइयनिंदियगुरु सगासे ।
होइ अइरेगलहुओ, हरियभरुव्व भारवहो ॥

आलोइयनिंदिओत्ति० आलोचितनिन्दितः सम्यक् कृतालोचननिन्दाविधिरित्यर्थः ॥ ध० अधि. २ ॥

आलोइयपडिक्कंत-आलोचितप्रतिक्रान्त- त्रि० आलोचितं गुरूणां निवेदितं यदतिचारजातं तत् प्रतिक्रान्तमकरणविषयी कृतं येनासावालोचितप्रतिक्रान्तः तस्मिन् आलोचितश्चासावा लोचनादानात्प्रतिक्रान्तश्च मिथ्या दुष्कृतदानादालोचितप्रति-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कांतः ॥ भ० श० २ उ. १ । आलोचनाप्रदानपूर्वं प्रदत्तमिथ्या दुष्कृते, (आलोइयपडिकंता गायपति तओगणे) वृ० ॥

आलोएमाण–आलोकयत्– त्रि० पश्यति आचा० श्र. ५ ॥

आलोएयव्व–आलोचितव्य– त्रि० प्रकाशनीये, पंचा० वृ. १५ निवेदनीये अपराधादौ, च. ॥ पंचा० वृ. १७ ॥

आलोय–आलोक– पु० आलोक्यतेऽनेन आ लुक् लोक वा करणे घञ् प्रकाशे । दश० अ. २ ॥ आव० ॥ (आलोओ उज्जोओ दित्ती लासापहा पयासो य) प्रा० को० ॥ ज्ञा० १० अ. आलोकस्थाने गवाक्षादौ, च वाच० ॥

णो गाहावइकुलस्स, आलोयं वा थिग्गलं वा संधि वा दगभवणं वा बाहाओ पगिज्झिय २ अंगुलियाए वा उद्दिसिय उद्दिसिय उण्णमिय उण्णमिय २ णिज्झाएज्जा ॥

आलोकस्थानं गवाक्षादिकम् आचा. श्र. १ उ. ५ आलोय थिग्गलं दारं आलोक नियूहकादिरूपं दश० अ. ५ ॥ आलोक्यत इत्यालोकः लोके, तथा चावश्यके लोकपर्य्यायशब्दानधिकृत्य (आलोकइपलोकइ संलोकइय एकट्ठा) आ० म० ॥ आचारांगे (लोयालोयपवंचाओ पमुच्चति) आलोक्यत इत्यालोकः कर्मणि घञ् । लोके चतुर्दशरज्ज्वात्मके आलोको लोकालोकस्तस्य प्रपंचः पर्य्याप्तापर्य्याप्तकसुभगादिरूपविकल्पस्तद्यथा । नारको नारकत्वेनालोक्यते एकेन्द्रियादिरेकेन्द्रियादित्वेनैवं पर्य्याप्तापर्य्याप्तकाद्यपि वाच्यम् । तदेवं भूतात्मपंचान्मुच्यते । चतुर्दशजीवस्थानान्यतरव्यपदेशार्हो न भवति इति यावत् ॥ आचा० ॥ दृष्टिविषये देशादौ ॥ ज्ञा० अ० १ ॥ दृष्टिविषये ॥ औप० ॥ आलोकनमालोकः भावे घञ् दर्शने, । आव० ॥ ज्ञा० अ. २ ॥ (आलोए समणस्स भगवओ महावीरस्स पणामं करेइ) आलोके दर्शनमात्रे, ॥ कल्प० ॥ आलोकनमालोकः मर्यादयाऽभिविधिना वाऽलोचनम् निरीक्षणे, (पिक्खणनिरिक्खणावि य आलोयपलोयणेगट्ठा) ओघ० ॥

आलोयग–आलोचक– त्रि० आ–लुच्–णिच्–ण्वुल् आलोचनाकारके, ॥ वाच० ॥ आलोचनाया योग्या आलोचका आलोचनाशब्दे ॥ व्य० उ. १ ॥

आलोयचल–आलोकचल– त्रि० आलोकनमालोकस्तस्मिन्नालोके चक्षुरालोकचक्षुर्दर्शनलालसे, आलोअचलं चक्खुं मणुव्वतं दुक्करं थिरं काउं । आव० टी० ।

आलोयण–आलोकन– न० आ. लुक लोक वा भावे ल्युट दर्शने, ॥ आचा० अ. ३ उ. ५ दश० अ. ४ ॥ ततस्तदालोकनतत्पराणाम । भुवनालोकनप्रीतिः स्वर्गिभिर्नानुभूयते ॥ कुमार० । "व्रजति हि सफलत्वं वल्लभालोकनेन,, माघः ॥ वाच० ॥

निरीक्षणे, ॥ आव० ॥ निरूपणे, ॥ ओघ० ॥ प्रकाशे, प्रश्न० द्वा. १ सं. ॥

आलोचन– न० आ–लुच् णिच् भावे ल्युट् विशेषधर्माद्विना विवेचने नैया० । वाच० ॥ विचारणे, (पुव्वामेव आलोएज्जा) आलोचयेद्विचारयेत् ॥ आचा० अ. ३ उ. ५ । आलोचयेद्भावबाधो भवेदित्यर्थः ॥ आचा० श्रु. २ अ. १ उ. ६ ॥ सामान्यवस्तु ग्राहिज्ञानविशेषे, च सामान्यवस्तुग्राहिज्ञानमालोचनम । तद्वक्तव्यताऽवग्रहवक्तव्यताऽवसरेऽवग्रहशब्दे ॥ आङ्मर्य्यादायां लोचृदर्शने मर्य्यादयाऽऽलोचनं दर्शनमालोचनम् ॥ नि० चू० उ. २० ॥ निवेदने, प्रदर्शने, च आलोयणदायणं च दाऊणं आलोचनं यथा गृहीतभक्तपाननिवेदनं तयोरेवोपदर्शनञ्च प्रश्न० सं. द्वा. १ । आलोएहि गुरुस्यो निवेदयेति ॥ उपा० अ. ३ ॥ स्था० ठा. ३ ॥ आलोइत्तए आलोचयितुं गुरवे अपराधान्निवेदयितुम् ॥ स्था० २ ठा. ॥ आलोचनं गुरोः पुरतः स्वापराधस्य प्रकटनम् ॥ ध० ॥ आङ्मर्यादायाम् सा च मर्य्यादा इयं ।

जह बालो जंपंतो कज्जमकज्जं च उज्जयं भणइ ।

तं तह आलोइज्जा, मायामयविप्पमुक्को उ ॥

अनया मर्यादया लोचृदर्शने चुरादित्वाण्णिच् लोचनं लोचना प्रकटीकरणं आलोचना गुरोः पुरतो वचसा प्रकाशनमिति भावः । यत्प्रायश्चित्तमालोचनमात्रेण शुद्ध्यति तदाऽऽलोचनार्हतया कारणे कार्योपचारादालोचनम् । प्रायश्चित्तभेदे ॥ प्रव०॥ द्वा. ९८ ॥ व्य० उ. १ ॥

अस्याशेषवक्तव्यताऽऽलोचनाशब्दे आलोचनार्हशब्दे च ॥ सामाचारीभेदे च तत्र पिण्डादिनिवेदनं, ॥ ग० अधि २ ॥ लोचनपर्य्यन्ते, अव्य० । " आलोचनान्तं श्रवणं वितत्य " रघुः । वाच० ॥

आलोयणभायण–आलोकनभाजन– न० प्रकाशमुखे भाजने ॥ प्रश्न० सं. १ द्वा. ॥

अह कोइ न इच्छेज्जा, तओ भुंजेज्ज एकओ ।

आलोयभायणे साहू, जयं अपरिसाडियं ॥

आलोकभाजनं मक्षिकाद्यपोहाय प्रकाशप्रधाने भाजने इत्यर्थः ॥ दश० अ. ५ उ ॥

आलोयणा–आलोचना– स्त्री० आङ्मर्य्यादायाम् सा च मर्यादा इयम् ॥

जह बालो जंपंतो, कज्जमकज्जं च उज्जुयं भणइ ।

तं तह आलोइज्जा, मायामयविप्पमुक्को उ ॥

अनया मर्यादया लोचृदर्शने चुरादित्वाण्णिच् लोचनालोचनं प्रकटीकरणम् आलोचना गुरोः पुरतो वचसा प्रकाशनम् प्रव० द्वा० ९८ । व्य उ. १० ॥ जीत० ॥

विषयाः

(१) आलोचनाया व्युत्पत्तिरर्थः स्वरूपंच ।

(२) द्रव्यादिनिक्षेप आलोचनायाः ।

(३) आलोचनाया मूलगुणोत्तरगुणेन भेदाः ।

(४) विहारादिभेदेनालोचना त्रिविधा तद्भेदाश्च ।

(५) शल्योद्धरणार्थमालोचनकरणविधिः ।

(६) आलोचनीये विषये यथाक्रममालोचनाप्रकारः ।

(७) आलोचनायां शिष्याचार्य्यपरीक्षणे–आवश्यकादिद्वाराणि ।

(८) का लोचना गृहीतव्या तानि स्थानानि ।

(९) द्रव्यादे चतुर्विधमालोचनीयम् ।

(१०) अपराधालोचनायां प्रशस्ताऽप्रशस्तद्रव्यादयः ।

(११) यथाभूतेषु द्रव्यादिष्वालोचना तादृशानां प्रतिपादनम् ।

(१२) आलोचनासमयवर्णनम् ।
(१३) कस्य समीपे आलोचना कर्त्तव्या ।
(१४) गीतार्थमवाप्य शल्यानुद्धरणादौ दोषगुणादिकं भावयता यद्विधेयत्वम् ।
(१५) मरणाभिमुखेनाप्यालोचना करणीयात्र आत्मणदृष्टान्तः ।
(१६) अदत्तालोचने व्याधदृष्टान्तभावना ।
(१७) स्वगणपरगणवासिकानां समीपे आलोचना ।
(१८) आलोचनाया अष्टौ स्थानकाः दशस्थानकाश्च।
(१९) सामुदानिकातिचारालोचना ।
(२०) आलोचयित्रा एतानि वर्जनीयानि ।
(२१) सम्यगालोचनादाने किं लिङ्गम् ।
(२२) कृतानां कर्मणां क्रमत आलोचना ।
(२३) आलोचनायां दत्तायां न विरतिभंगः सदृष्टान्तः ।
(२४) आलोचनायामकृतायां मृत्वाऽनाराधको भवति।
(२५) आलोचनायाः फलम् ।

(१) आलोचनाया व्युत्पत्तिरर्थस्वरूपं च ॥

आ अभिविधिना सकलदोषाणां लोचना गुरुपुरतः प्रकाशना आलोचना भ० श. १७ उ. ३ ।

आसामस्त्येन स्वगताऽकरणीयस्य वागादियोगत्रयेण गुरोः पुरो भावशुद्ध्या प्रकटनमालोचना ध० अधि. २ गुरुभ्यो निजदोषकथने, ध० अधि. २ ॥ आमर्यादायां लोचृदर्शने आलोचना नाम आलोचना प्रकटना अशुभावनेति ॥ पं० चू०॥ आलोचनमालोचना मर्यादया लोचनं दर्शनमाचार्यादेरालोचनेत्यभिधीयते । ओघ० ॥

आलोयणा णाम जहा अप्पणो जाणति तहा परस्स पागडं करेइ । नि० चू० उ० २० ॥

आ अपराधमर्यादया लोचनं दर्शनमाचार्यादेः पुरत इत्यालोचना ध० अधि. ३ ।

गुरोः स्वचरितप्रकाशनात्मके, प्रायश्चित्तभेदे, ॥ पंचा. वृ. १६ " व्यवहारो आलोयणा सोही पच्छित्तमेव एगट्ठा " व्यवहार आलोचना शोधिः प्रायश्चित्तमित्येकार्थः ॥ व्य० उ. २

आलोचनाया एकार्थिकानि प्रतिपादयन्नाह ॥

आलोयणा वियडणा, सोही सब्भावदायणा चेव ।
निंदागरहविउट्टा, सल्लुद्धरणेय एगट्ठा ॥ १३ ॥

आलोचना विकटना शुद्धिः सद्भावदापना निंदणगरहण विउट्टण सल्लुद्धरणं चेति एकार्थिकानि इति ॥ ओघ. ॥

आलोचना प्रयोजनतो हस्तशताद्बहिर्गमनादौ गुरोर्विकटना ॥ आव० ॥ स्था० ठा. ४ ॥

जे भिक्खू मासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा । व्य० उ० १ ॥

आलोचयेत लोचृदर्शने चुरादित्वाण्णिच् आङ्मर्यादायाम आ मर्यादया (जह बालोजंपंतो) इत्यादि रूपया आलोचयेत प्रयात्मनस्तया गुरोः प्रकटीकुर्यात् ॥ व्य० उ. १ ।

अथालोचनाशब्दार्थमाह ॥

आलोयणं अकिच्च, अभिविहिणा दंसणं तिलिंगेहिं ।
वइमादिएहिं सम्मं, गुरुणो आलोयणेया ॥ २ ॥

व्याख्या । आलोचनमालोचना ज्ञेयेति योगः । आलोचनमेव किमित्याह । अकृत्ये अकरणीयविषये स्वगतस्याकृत्यस्येत्यर्थः । अभिविधिना सामस्त्येनेत्याङर्थः दर्शनं प्रकाशनमिति लोचृधातोः कारितां तस्यार्थ इतिशब्दोऽग्रे योक्ष्यते । कथमकृत्यदर्शनमित्याह । लिंगैः परोक्षाकृत्यगमकैर्हेतुभिर्वागादिभिर्वचनकायविकारविशेषैः । सम्यक्भावशुद्ध्या कस्य तद्दर्शनमित्याह । गुरोरालोचनाचार्यस्येति । एषा आलोचना प्रकरणाद्विज्ञेया ज्ञातव्या तच्छब्दज्ञानार्थिभिरिति गाथार्थः ॥ पंचा. वृ. १५

आलोचनास्वरूपं व्यवहारकल्पे यथा ॥

"आलोचना नाम अवश्यकरणीयस्य कार्यस्य पूर्वं कार्यसमाप्तेरूर्द्धं वा यदि वा पूर्वमपि पश्चादपि गुरोः पुरतो वचसा प्रकटीकरणम् ॥ ३ ॥ व्य. १ उ. ॥

(२) द्रव्यादिनिक्षेप आलोचनायाः ॥

आलोचनानिक्षेपश्चतुर्धा तथाच महानिशीथे अ. ७ ॥

तंजहा नामालोयणं ठवणालोयणं दव्वालोयणं भावा. लोयणं एते चउरो वि पए अणे गहा वि [१) उघोइज्जंति तत्थ ताव समासेणं णामालोयणं नाममेत्तेणं ठवणालोयणं पोत्थयाइसुमालिहियं दव्वालोयणं नाम जं आलोएत्ताणं असढभावत्ताए जहोवइट्ठं पायच्छित्तं नाणुचिट्ठे एते तओवि पए एगंतेणं गोयमा ! अपसत्थे जे यणं से चउत्थयपए भावालोयणं नाम तेणं तु गोयमा ! । आलोएत्ताणं निंदित्ताणं गरहित्ताणं पायच्छित्तमणु. चरित्ताणं जाव णं आयहियट्ठाए संपाजित्ताणं संक. ज्जुत्तमट्ठं आराहेज्जा से भवयं कयरेणं से चउत्थे पए गोयमा ! भावालोयणं से भयवं ! भावालोयणं जेणं भिक्खू परिसे संवेगगगए सीलतवदाणभावण चउक्कखंधसुसमणधम्ममाराहणक्कितरासिए मयभयगारवादीहिं अचंतविप्पमुक्के सव्वभावनाभावंतरेहिं नीसल्ले आलोइत्ताणं विसोहिए य पभिगाहित्ताणं तहत्ति समणुट्ठिया सव्वुत्तमं संजमकिरियमणुपालिज्जा ॥ तं जहा ॥

कयाइं पावाइं, इमाइं जेहिं अट्टाणवज्जए ।
तेसिं तित्थयरवयणेहिं, सुद्धी अम्हाणकीरउ ॥ १ ॥
परिनिव्वाणं तयं कम्मं, घोरं संसारदुक्खदं ।
मणोवयकायकिरियाहिं, सीलभारं धरेमि हं ॥ २ ॥
जह जाणइ सव्वन्नू, केवली तित्थंकरे ।
आयरिए चरित्तड्ढे, उवज्झाए य सुसाहुणो ॥ ३ ॥
जह पंचलोयपाले, य सताधम्मे य जाणए ।
तहालोएमिहं, सव्वं तिलमित्तं पि न निन्हवं ॥ ४ ॥
तत्थ जं पायच्छित्तं, गिरिवरगुरुयं पि आवए ।
तमणुचरेमि हं, सुद्धीं जह पावं विलिज्जए ॥ ५ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मरिऊणं नरयतिरिएसु, कुंजीपाएसु कत्थई ।
कत्थय करवत्तजंतेहिं, कत्थइ जिन्नो उ सूलिए ॥ ६ ॥
घंसणं घोलणं कहविमि, कत्थइ च्छेयणं जयणं ।
बंधणं ए कहविमि, कत्थई दमणमंकणं ॥ ७ ॥
णत्थणं वाहणं कहिमि, कत्थइ वहणत्तालणं ।
गुरुकमणं कहिं, विकत्थइ जमलाराविधणं ॥ ८ ॥
उरपट्टिअट्ठिकडिजंगं, परवसो तएहं बुहं ।
संतावुव्वेवदारिहं, विसहिहासि पुणो विहं ॥ ९ ॥
जारहं चेव सव्वंपि, नियदुचारियं जहट्ठियं । ।
आलोएत्ता निंदित्ता, गरहित्ता पायच्छित्तं चरित्तुणं।१०।
निहहेमि पावयं कम्मं, अतिसंसारदुक्खयं ।
अब्जुट्ठित्तातवं घोरं, धीरं वीरपरक्कमं ॥ ११ ॥
अवंतकडुयमं कट्ठं, दुक्खरं दुरणुचरं ।
उग्गगायरं जिणाजिहियं, सयलकल्लाणकारणं ॥ १२ ॥
पायच्छित्तनिमित्तेणं, पाणसंथारकारयं ।
आयरेण तवंचरिमो, जेणुव्जेसोक्खई तणुं ॥ १३ ॥
कसाए विहलीकट्टुं, इंदिए पंचनिग्गहं ।
मणोवइकायदंमाणं, निग्गहं धणियमारंजं ॥ १४ ॥
आसवदारे नेरुंजित्ता, चत्तमयमच्छरअमपरिसो ॥
गयरागदोसमोहोहं, निस्संगो निपरिग्गहो ॥ १५ ॥
निम्ममो निरहंकारं, सरीरअवंतनिप्पिहो ॥
महव्वयाइं पालेमि, निरइयाराइ निच्छिओ ॥ १६ ॥
इहीहा अहणोहं, पावोपावमती अहं ॥
पाविट्ठो पावकम्मोणं, वाहमोहमायारो ॥ १७ ॥
अहं कुसीलोहचरित्ती, जिल्लसूणोवमो अहं ॥
चिलातो निक्किवो पावी, कूरकम्माहं निग्घिणो ॥ १८ ॥
इणमो दुल्लहं लजिऊं, सामक्कं नाणदंसणं ॥
चारित्तं वा विराहित्ता, अणालोइयनिंदिय ॥ १९ ॥
गरहियअकयपच्छित्तो, वावज्जंतो जई अहं ॥
ता निच्छये अणुत्तारे, घोरे संसारसायरे ॥ २० ॥
निव्वुमोजवकोमिहिं, समुत्तारं ताए वा पुणो ॥
जरा जाव ण पीडेइ, वाही जाव न केइ मे ॥ २१ ॥
जावेंदिया ण हाइंति, ताव धम्मं चरित्तु हं ॥
निहहमपरेण, पावाइं निंदिउं गरहिउं चिरं ॥ २२ ॥
पायच्छित्तं चरित्ताणं, निक्कलंको जवामि हं ।
निकलुसनिकलंकाणं, सुद्धजावाण गोयमा ! ॥२३॥
वक्तो नहं जयं गहिया, सुहराम विपरिवविसुणं ।
कलिकलुसकम्ममलमुक्कं, जइणो सिज्किज्जतक्खणं ।२४।
ताव यं देवलोगम्मि, निवुओ एसयंपहे ।
देवदुंदुहिनिग्घोसे, अच्छरासयसंकुले ॥२५॥
तओ चुया इहागंतुं, सुकुलुप्पत्तिं लजित्तुणं ।
निव्विकामजोगाय, तवं कालं मया पुणो ॥२६॥
अणुत्तरविमाणेसुं, निव्वसिऊणे इमागया ।
हवंति धम्मतित्थयरा, सयलतेलोकबंधवा ॥२७॥
एस गोयम ! विन्नेए, सुपसत्थे पए जावालोयणं ।
नाम अक्खयंसिवसोक्खदायगो ॥२८॥ त्तिबेमि ॥

(३) आलोचनाया मूलगुणोत्तरगुणेन जेदाः ।

आलोचनाया मूलगुणोत्तरगुणभेदेन भेदा यथा ओघ० ॥

आलोयणा दुविहा, मूलगुणे चेव उत्तरगुणे य ।
एकेक्का चउकन्ना, दुवग्गसिद्धावसाणा य ॥१२॥

आलोचना च द्विविधा मूलगुणालोचना । उत्तरगुणालोचना चेति । सा च द्विविधाप्येकैकमूलगुणालोचना उत्तरगुणालोचना च (चउकएणादुवग्गत्ति) द्वयोरपि साधुसाध्वीवर्गयोरेकैकस्य चतुष्कर्णा भवति । एक आचार्यः द्वितीयश्चालोचकः साधुरेवं साधुवर्गे चतुष्कर्णा जवति साध्वीवर्गेऽपि चतुष्कर्णा भवति । एका प्रवर्तिनी द्वितीया तस्या एव या आलोचयतीति साध्वी एवं साध्वीवर्गे चतुष्कर्णा जवतीति । अथवा एकैका मूलगुणे उत्तरगुणे च चतुष्कर्णा भवति । द्वयोश्च साधुसाध्वीवर्गयोर्मिलितयोरष्टकर्णा भवति । कथमात्मद्वितीयः प्रवर्तिनी चात्मद्वितीया आलोचयति यदा तदाऽष्टकर्णा भवति । सामान्यसाध्वी वा यद्यालोचयति तदाष्टकर्णाश्चेति अथवा ॥

छक्कएणा होज्जा, यदा वुड्ढो आयरिओ हवइ ।
तदा एगागिस्सवि, साहुणीदुगं आलोएइ ।
एवं छक्कएणा हवइ, सव्वहा साहुणी उ अज्ज ।
विइयाए आलोयव्वं, न तु एगागिणी एत्ति ॥

एवं तावदुत्सर्गतः आचार्ये आलोचयति शल्यं तदभावे सवदेशेषु निरूपयित्वा आलोचयितव्यं एवं तावत् यावत् सिद्धानामप्यालोचते साधूनामभावे ततश्चैवं सिद्धावसाना आलोचना दातव्येति ॥

तथाच बृहत्कल्पे राहस्यिकीं पर्षदमधिकृत्याह ॥ बृ. ॥

सल्लुद्धरणे समणस्स, चाउकएणा रहसिया परिसा ।
अज्जाणं चाउकएणा, छकन्ना अट्ठकन्ना वा ॥

द्विविधं शल्यं द्रव्यशल्यं भावशल्यं च द्रव्यशल्यं कंटकादि भावशल्यं मायानिदानमिथ्यात्वादि अथवा भावशल्यं मूलोत्तरगुणातिचारस्ततः श्रमणस्य भावशल्योद्धरणे आचार्यसमीपे आलोचयत इत्यर्थः । राहस्यिकी पर्षद् जवति । कथंभूतेत्यत आह । चतुष्कर्णा द्वावाचार्यस्य द्वौ साधोरिति चत्वारः कर्णा यत्र सा तथा । आचार्याणां चतुष्कर्णा षट्कर्णा वा तत्र यदा निर्ग्रन्थी निर्ग्रन्थ्याः पुरतः आलोचयति तदा चतुष्कर्णा । यथा निर्ग्रन्थस्य निर्ग्रन्थपार्श्वे आलोचयतः यदा च द्वितीयस्थविरगुरुसमीपे आलोचयति सद्वितीया भिक्षुकी तदा षट्कर्णा । स द्वितीयतरुणगुरुसमीपे सद्वितीयाया सभिक्षुक्या आलोचयन्त्या अष्टकर्णा तत्र प्रथमतः सयतस्य चतुष्कर्णा जावयति ।

आलोयणं पउंजइ, गारवपरिवज्जितो गुरुसगासे ।
एगंतमणावाए, एगो एगस्स निस्साए ॥

एकांते अनायाते एकोऽद्वितीय एकस्याद्वितीयस्याऽऽचार्य-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्य निश्रया तत्पुरत इत्यर्थः । गौरवपरिवर्जितः ऋद्धिरसा-तगौरवपरित्यक्तो गौरवादि सम्यगालोचयितव्यं न भवती-ति तत्प्रतिषेधः गुरुसमीपे आलोचनाऽऽचार्यसमीपे आलोच-नां प्रयुंक्ते । कथमित्याह ।

विरहंमि दिसाभिग्गह, उक्कुडुतो पंजली निसेज्जा वा ।
एस सपक्खे परपक्खे, मोतु चउ ंति सिज्जा वा ॥

एकांते यत्र कोऽपि न तिष्ठति तत्र विरहे उक्ते प्रदेशे पूर्वं गुरो-र्निषद्यां कृत्वा पूर्वामुत्तरां चरंति । कां वा दिशमभिगृह्य वंदनकं दत्वा उत्कुटुकः प्रबद्धांजलिः अथासौ व्याधिमान् प्रभूतं वा लोचनीयं ततो निषद्यामनुज्ञाप्याऽऽलोचयति । एष सपक्षे आलोचनाविधिः । परपक्षे नाम संयती तत्र उक्तं मुक्त्वा आलोचना दातव्या निषद्या च न कार्यते । इयमत्र भावना । यदा संयती संयतस्य पुरत आलोचयति तदा उक्तं वर्जयति किं तु यत्र लोकस्य संलोकस्तत्रालोचयति निषद्यां वाचा-र्यस्य न करोति ॥ आत्मनाऽभ्युत्थिता आलोचयति । श्रमणी-मधिकृत्याऽऽलोचनाविधिश्चतुष्कर्णत्वमाह ॥

आलोयणं पउंजइ, गारवपरिवज्जिया उ गणिणिए ।
एगंतमणावाए, एगा एगाए निस्साए ॥

या श्रमणी गौरवपरिवर्जिता गणिन्याः पुरत आलोचनां प्रयुंक्ते । केत्याह । एकांते अनापाते एका अद्वितीया एकस्या अद्वितीयाया गणिन्या निश्रया ततो गुरुसमीपे श्रमणस्येव श्रमण्या अपि गणिन्याः पुरतः आलोचयंत्याश्चतुष्कर्णा पर्षद् भवति ॥

षट्कर्णामाह ॥

आलोयणं पउंजइ, एगंते बहुजनस्स संलोए ।
अबितियथेरगुणो, सबियईया भिक्खुणी निहुया ॥

अद्वितीयस्यस्थविरगुरुसमीपे सद्वितीया भिक्षुकी निभृता निर्व्यापारा न दिशो नापि विदिशः आलोकयति नापि यत्किं-चिदुल्लापयति इत्यर्थः । एवं भूता सती एकांते बहुजनस्य संलोके आलोचनां प्रयुंक्ते ॥

अथ कीदृशी तस्या द्वितीया भवतीत्यत आह ॥

नाणदंसणसंपन्ना, पोढा वयसपरिणया ।
इंगियागारसंपन्ना, भणिया तीसेवि इज्जिया ॥

ज्ञानदर्शनसंपन्ना प्रौढा समर्था या संयतस्य तस्या वा-भावं विज्ञाय न मंत्रणं कर्त्तुं ददाति किंतु वदति यद्यालोचित तर्हि व्रजामो नोचेदालोचनयापि न प्रयोजनमिति । यथा वय-सा परिणता परिणतवयास्तथा इंगिताकारसंपन्ना इंगितेना-कारेण च यस्य यादृशो भावस्तस्य तं जानातीत्यर्थः एवं भूता सा तस्या द्वितीया गणिन्या सा पुनः कियद्दूरे तिष्ठति । उच्यते । एके सूरयो वदंति यत्रोनयोराकारा दृश्यंते तावन्मात्रे परे ब्रुवते यत्र श्रवणं शब्दस्येति ॥

अष्टकर्णामाह ॥

आलोयणं पउंजइ, एगंते बहुजणस्स संलोए ।
सबितियतरुणगुरुणो, सबिइया भिक्खुणि निहुया ॥

एकांते बहुजनस्य संलोके सद्वितीयस्य तरुणगुरोः समीपे सद्वितीया तादृशी प्रागुक्ता ॥

संप्रति यादृशस्य आचार्यस्य द्वितीयस्तादृशमाह ॥

नाणेण दंसणेण य, चरित्ततवविणयआलयगुणेहिं ।
वयपरिणामेण य, अभिगमेण इयरो हवइ जुत्तो ॥

ज्ञानेन दर्शनेन चारित्रेण तपसा विनयेन आलयगुणैर्बहिर्भ्रे-षाभिः प्रतिलेखनादिभिरुपशमगुणेन च यथा वयःपरिणामेन अभिगमेन सम्यक् शास्त्रार्थकौशलेन युक्तो भवत्याचार्यस्येतरो द्वितीयः ॥ वृ. ॥

सशल्यमालोचयितव्यम् । ओघनिर्युक्तौ ॥

गंतूण गुरुसगासं, काऊण य अंजलिं विनयमूलं ।
सव्वेण अत्तसोही, कायव्वा एसओ उवएसो ॥१९॥

सुगमा ॥

न हु सुज्झइ ससल्लो, जह भणियं सासणे धुवरयाणं ।
उद्धरिय सव्वसल्लो, सुज्झइ जीवो धुअकिलेसो ॥२०॥

न हु नैव शुद्ध्यति सशल्यः पुरुषः कथं पुनः शुद्ध्यते । यथा प्रणितं धुतरजसां शासने तथा शुद्ध्यते । कथं पुनः शुद्ध्यति अत आह । उद्धृतः सर्वशल्यो जीवः शुध्यति धुतक्लेश इति । तस्माद्यपि कथमपि किंचिदकार्यं कृतं ततस्तदालोच-यितव्यं ॥

कथं पुनस्तत्कृतं भवतीत्यत आह ॥

सहसा अन्नाणेण व, भीएण व पेल्लिएण व ।
वसणेण पायं, केण व मूढेण वा रागदोसेहिं ॥२१॥

सहसा अप्रतर्कितमेव प्राणिवधादिकर्म्म कार्यं यदि कृतं ततस्तस्मात्प्रतिक्रमितव्यमित्येतद्द्वितीयगाथायां वक्ष्यते । अ-ज्ञानेन च कृतं न तत्र प्राणिज्ञातां व्यापादितस्य भीतेन तेन आत्मभयात् माजूदयं मां मारयिष्यतीत्यत आह । प्राणिव्यपरो-पणं यदि कृतं प्रेरितेन वा परेण यदि कृतं व्यसनेन वा आपदा यदि कृतं आतंकेन ज्वराद्युपसर्गेण यदि कृतं मूढेन वा राग द्वेषैर्यदि कृतं किंचिदकार्यं ततः ॥

जं किंचि कयमकज्जं, न हु तं लब्भापुणो समायरियं ।
तस्स पडिक्कमियव्वं, न हु तं हियएण वोढव्वं ॥२२॥

यत्किंचित्कृतमकार्यं तत्पुनर्न हु नैव समाचरितुं लभ्यं उप-लभ्यते । यथा तथा प्रतिक्रमितव्यं । एतदुक्तं भवति । किंचि-दकार्यं कृत्वा पुनर्यथा तथैव भवति नैव क्रियते तथा तस्य प्रतिक्रमितव्यं न तु तदकार्यं हृदयेन वोढव्यं सर्वमालोचयित-व्यमित्यर्थः ॥

कथं पुनस्तदालोचयितव्यमित्यत आह ॥

जह बालो जंपंतो, कज्जमकज्जं च उज्जुयं भणइ ।
तं तह आलोएज्जा, मायामयविप्पमुक्को ओ ॥२३॥

सुगमा ॥

तस्स य पायच्छित्तं, जं मग्गविऊ गुरू उवइसंति ।
तं तह आयरियव्वं, अणवत्थपसंगभीएणं ॥ २४ ॥

तस्य च साधोर्यत्प्रायश्चित्तं मार्गविदो गुरव उपदिशंति । तत्प्रायश्चित्तं तथैव विधिना आचरितव्यं कथमनवस्थाप्रसंग-भीतेन सता आचरितव्यं अनवस्था नाम यद्यकार्यसमा-चरणात्प्रायश्चित्तं न कृतं तदा अन्येऽपि न समाचरिष्यन्ति ॥

न वि तं सत्थं व विसं, वदुप्पउत्तो य कुणइ वेयालो ।
जंतं व दुप्पउत्तं, सप्पो य पमाइणो कुद्धो ॥ २५ ॥

न तत्करोति दुःखं शस्त्रं नापि विषं नाऽपि दुःप्रयुक्तो दुः साधितवेतालः यत्रं वा दुःप्रयुक्तं सर्पो वा क्रुद्धः प्रमादिनः पुरुषस्य दुःखं करोति ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जं कुणइ नावसल्लं, अणुद्धियं उत्तिमट्ठकालंमि ।
दुल्लजबोहीयंतं, अणंतसंसारियत्तं च ॥ ३६ ॥

यत्करोति भावशल्यं अनुद्धृतं शस्त्रादिदुःखानि पुनरेकभव एव जनयंति अतः संयतेन सर्वमालोचयितव्यं ।

ता उद्धरंति गारव, रहियामूलं पुणब्भवलयाणं ।
मिच्छादंसणसल्लं, मायासल्लं नियाणं च ॥ ३७ ॥

ततः एवमालोच्य गौरवरहिता मुनयः उद्धरंति उत्पाटयंति मूलं पुनर्भवलतानां यत् मिथ्यादर्शनशल्यं मायाशल्यं निदानशल्यं च उद्धरंतीति ततः ॥

उद्धरियं सव्वसल्लो, आलोइय निंदिओ गुरुसगासे ।
होइ अइरेगलहुओ, उद्धरियजरुव्वजारवहो ॥ ३८ ॥

सुगमा नवरं अतिरेकमत्यर्थं लघुर्भवति उत्तारितभरो उत्तारितभारवहो गर्दभादिः स यथा लघुर्भवति । एवमालोचिते सति कर्मलघुत्वं भवतीति । यतश्चैवंविधः सः ॥

उद्धरिय सव्वसल्लो, भत्तपरिणाए वणियभाउत्तो ।
मरणाराहणजुत्तो, चंदगविज्झं समाणेइ ॥ ३९ ॥

उद्धरितसर्वशल्यो भक्तपरिज्ञाए भक्तप्रत्याख्याने धनिकमत्यर्थं प्रयुक्तप्रयत्नपरः मरणाराधनयुक्तः स एवंविधश्चंद्रवेधं समानयति करोतीत्यर्थः । अत्र च कथानकं राधावेधमंगीकृत्य आवश्यकादवसेयमिति ॥ ओघ. ॥

(४) विहारादिभेदेनालोचना त्रिविधा तद्भेदाश्च ॥

आलोचना त्रिविधा । तद्यथा । विहारालोचना उपसंपदालोचनाऽपराधालोचना च व्य. उ. १

तत्रप्रथमां विहारालोचनां तावदाह ॥

तं पुण ओहविभागे, दरज्जुत्ते ओह जाव भिन्नोउ ॥
तेण परेण विभागो, संभमसत्थाइभयणाओ ॥ १ ॥

तत्पुनर्विहारालोचनं द्विधा तद्यथा (ओहविभागे) इति प्राकृतत्वात् तृतीयार्थे सप्तमी । ओघेन विभागेन वा ओघः सामान्यं विभागो विस्तरः । तत्र ये साधवः समाना (ओदरभुंजे) इति ईषद् भुंक्ते वास्तव्यसाधुभिरिति गम्यते । भोक्तुमारब्धवतां वास्तव्यसाधूनामित्यर्थः । प्राघूर्णकाः समागताः (तत्रहत्ति) ओघेनालोचयंति । यथा अल्पा विराधना मूलगुणेष्वल्पा पार्श्वस्थादिषु दानग्रहणतश्चेत्येवमालोच्य मंडल्यां भुंक्ते तत्र यदि मूलगुणापराधनिमित्तं वा प्रायश्चित्तं पंचकादि यावत् । भिन्नो भिन्नमासः भिन्नमासपर्यंतमापन्ना भवंति तदा ओघालोचनामालोच्य साधुभिः प्रशस्तस्य प्रशस्तो विपक्षः ततोऽयमर्थः । प्रशस्ते वा दिवसे रात्रौ वा न स्यातामिति " दिवसवातो होउ तइयाउ " इति तृतीया पुनरपराधालोचना विभागतो दीयमाना विपक्षतः सर्वस्यवाक्यस्य विपक्षव्यवच्छेदफलतया साधारणत्वादिपक्षत एव प्रशस्त एव दिवसे रात्रौ वा भवतीति भावः ॥

सांप्रतमोघालोचनायाः प्रकारमाह ॥

अप्पा मूलगुणेसुं, उत्तरगुणतो विराहणा अप्पा ।
अप्पापासत्थादिसु, दाणुग्गहसंपयो गाहा ॥ १ ॥

अल्पा स्तोका विराधना मूलगुणेषु प्राणातिपातनिवृत्त्यादिषु रात्रिभोजनविरमणपर्यंतेषु अल्पा विराधना । उत्तरगुणेष्वपि पिंडविशुद्ध्यादिषु अल्पा विराधना । पार्श्वस्थावसन्नकुशीलसंसक्तेषु दानग्रहसंप्रयोगतः दानसंप्रयोगतो ग्रहणसंप्रयोगतश्च । एषा ओघात ओघेनालोचना एवमालोच्य मंडल्यामेकत्र समुद्दिशंति ॥ व्य० उ० १ ॥

विहारविभागालोचनाया विधिमाह ॥

भिक्खादिनिग्गयेसुं, रहिएविकरयंति फड्डगवईओ ।
सव्वसमक्खं केई, ते वीसारियं तु सारेंति ॥

भिक्षादिनिर्गतेषु भिक्षादि आदि शब्दाद्विचारभूमिगमनार्थमन्यप्रयोजनार्थं वा बहिर्विनिर्गतेषु शेषेषु साधुषु । किमुक्तं भवति । यस्यां वेलायां शिष्याः प्रतीच्छकाश्च बहिर्विनिर्गता भवंति । तदानीं रहिते रहितस्य एकाकिन आचार्यस्य समीपे स्पर्द्धकपतिकाः स्पर्द्धकस्वामिनो विकटयंति । आलोचयंति । केचित्पुनराचार्या एतत् ब्रुवते । ये स्पर्द्धकपतिना सह समागताः साधवस्तेषां समक्षं स्पर्द्धकपतयो विकटयंति । किं कारणमिति चेत् आह । ते वीसारियं तु सारेंति । यस्मात्ते यत्किमपि विस्मृतं तत् स्मारयंति कथयंति ॥ व्य० १ उ० ॥

(५) शल्योद्धरणार्थमालोचनाकरणविधिः ॥

शल्योद्धरणायाऽलोचना विधेया तत्फलं च केवलज्ञानम तथाच महानिशीथे १ अ. ॥

णवरं सुहासुहं, सव्वं सुविणगं समवधारए ॥
जं तत्थ सुविणगे, पासे तारिसगतं तहा भवे ॥ ५१ ॥
जईणं सुंदरगं पासे, सुमिणगंतो इमं महा ॥
परमत्थतत्थसारत्थं, सल्लुद्धरणं सुणेतु णं ॥ ५२ ॥
देज्जा आलोयणं सुद्धं, अट्ठमयट्ठाणविरहिओ ॥
रंजंतो धम्मतित्थयरे, सिद्धे लोगग्गसट्ठिए ॥ ५३ ॥
आलोएत्ता णं णीसल्लं, सामण्णेण पुणो विय ॥
वंदित्ता चेइए साहू, विहपुव्वेण खमावए ॥ ५४ ॥
खामित्ता पावसल्लस्स, निम्मूलुद्धरणं पुणो ॥
करेज्जा विहिपुव्वेणं, रंजंतोससुरासुरं जगं ॥ ५५ ॥
एवं होऊण निस्सल्लो, सव्वभावे पुणोरवि ॥
विहिपुव्वं चेइए वंदे, खामे साहंमिए तहा ॥ ५६ ॥
नवरं । जेण समं वुत्थो, जेहिं सद्धिं पविहरिओ ॥
खरफरिसं चोइओ, जेहिं जेहिं सयं वाइओ ॥ ५७ ॥
जे वियकज्जमकज्जे वा, भणिओ खरफरुसानिट्ठुरं ॥
भणियं जेण वा किंचि, सोजइ जीवई जइ मुओ ॥ ५८ ॥
खामेयव्वो सव्वभावेण, जीवंतो जत्थ चिट्ठई ॥
तत्थ गंतूण विणएण, मउवी साहुमाक्खियंम् ॥ ५९ ॥
एवं खामणमरिमामणं, काउं तिहुअणसुवि भावओ ॥
सुद्धो मणवइकाएहिं, एयं घोसेज्ज निच्छिओ ॥ ६० ॥
खमावेमि अहं सव्वे, सव्वे जीवा खमंतु मे ॥
मित्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झ ण केण वि ॥ ६१ ॥
खमामि अहं पि सव्वेसिं, सव्वभावेण सव्वहा ॥
भवे भवेसु वि जंतूणं, वाया मणसा य कम्मुणा ॥ ६२ ॥
एवं घोसे तु वंदिज्जा, चेइय साहू विहियओ ॥

गुरुस्सावि विहीपुव्वं, खामणमरिसामणं करे ॥ ६३ ॥
खमावेंतु गुरुं सम्मं, नाणमहिमं स सात्तिओ ॥
काऊणं वंदिऊणं च, विहिपुव्वेण पुणोवि य ॥ ६४ ॥
परमत्थतत्तसारत्थं, सल्लुद्धरणमिमं सुणे ॥
सुणेज्जा तहमालोए, जह आलोयतोचेव ॥ ६५ ॥
उप्पाए केवलं नाणं, दिन्ने रिसज्जावत्थहि निसल्ला ॥
आलोयणा जेण, आलोयमाणाणं चेव उप्पन्नं तत्थ-
केवलं ॥ ६६ ॥
केसिं विसोहिमो नामे, महासत्ताण गोयम ! । जेहिं जा-
वणा लोययं, तेहिं केवल नाणमुप्पाइयं ॥ ६७ ॥
हाहा दुट्ठु कमे साहू,हाहा दुट्ठु विचिंतिरे ।
हाहा दुट्ठुजाणिरे साहु, हाहा दुट्ठुमणुमंते ॥ ६८ ॥
संवेगालोयगे तह य, जावालोयणकेवली ॥
पयखेव केवली चेव, मुहणंतगकेवली ॥ ६९ ॥
तहा पच्छित्तकेवली, सम्मं महावेरग्गकेवली ॥
आलोयणकेवली तहय, हा हं पाविचिकेवली ॥ ७० ॥
उसुत्तमग्गं पन्नवए, हाहा अणायारकेवली ॥
सावज्जं न करेमित्ति, अक्खंडिय सीलकेवली ॥ ७१ ॥
तवसंजमवयसं, रक्खे निंदणगरहणे तहा ।
सव्वतो सीलसंरक्खे, कोडीपच्छित्ते वि य ॥ ७२ ॥
निप्पडिकम्मे अ कंडुपणे, अणिमिसत्थी य केवली ।
एगपासित्तदोपहरे, मूणव्वयकेवली तहा ॥७३॥
न सक्कोकाउ सामन्नं, अणसणे वामि केवली ।
नवकारकेवली तहय, य निव्वालोयणकेवली ॥७४॥
नीसल्लकेवली तह य, सल्लुद्धरणकेवली ।
धन्नोमितिसंपुन्नो, स तारिसी किन्न केवली ॥७५॥
सलल्लो हं न पारेमि, वलकड्ढयकेवली ।
पक्खसुद्धी विहाणे य, चाउम्मासी य केवली ॥७६॥
संवच्छरमहपाच्छित्ते, जहा चलजीविते तहा ।
अणिच्चे खणविद्धंसी, मणुयत्ते केवली तहा ॥७७॥
आलोयं निंदं दियए, घोरपच्छित्तदुक्करे ।
लक्खोवज्जग्गपच्छित्ते, संमहिया सए केवली ॥ ७८॥
हत्थोसरणनिवासे य, अट्ठकवलासि केवली ।
एगसिद्धगपाच्छित्ते, दसव्वसो केवली तहा ॥७९॥
पच्छित्ताढवगोवेसु, पच्छित्तद्धकयकेवली ।
पच्छित्तपरिसमत्ती, य अह स उक्कोसकेवली ॥८०॥
न सुद्धिवि न पच्छित्ता, नावरं खिप्पकेवली ।
एगं काऊण पच्छित्तं, वीयं न जवे जह चेव केवली ॥८१॥
तं वा यराम पच्छित्तं, जेण गच्छइ केवली ॥
तं वा यराम जेण तवं, सफली होइ केवली ॥ ८२ ॥
किं पच्छित्तं चरंतोहं, चिट्ठणो तवलीजिणा ॥
ण माणंण लंघेयं पाण, परिच्चयणकेवली ॥ ८३ ॥
अन्नं होही सरीरं मे, नो वोही चेव केवली ॥
सुलद्धमिणं सरीरेणं, पाविणीदुहणकेवली ॥ ८४ ॥
अणाइपावकम्ममलं, निद्धोवेमीह केवली ।
वीयंतं न समायरियं, पमाया केवली तहा ॥ ८५ ॥
देहे खवउ सरीरं मे, निज्जराजावउ केवली ।
सरीरस्स संजमं सारं निक्कलंकं तु केवली ॥ ८६ ॥
मणसा विखंडिए सीले, पाणेण धरामि केवली ।
एवं वइकायजोगेणं, सीलं रक्खे अहं केवली ॥ ८७ ॥
एवमाई अणादीया, कालाउ णंते मुणी ।
केइयालोयणासिद्धे, पच्छित्ता जाइ गोयमा! ॥ ८८ ॥
खंता दंता विमुत्ता य, जिइंदी सव्वजासिणो ।
छकायसमारंजाओ, विरत्ते तिविहे णओ ॥ ८९ ॥
तिदंडा सवसंवरिया, इत्थिकहासंगवज्जिया ।
इत्थिणं लावडिरयाय, अंगोवंगणिरक्खणा ॥ ९० ॥
निम्ममत्ता सरीरेवि, अप्पडिवद्धा महायसा ।
जीयाइत्थियत्थिगब्भवसहीणं, बहुदुक्खाओ जावओ९१
तहा तोपरिसेणं, जावेणं दायव्वा आलोयणा ।
पच्छित्तं पि व कायव्वं, तहा जहा चेव एहिं कयं ९२॥
न पुणो तहा आलोएयव्व, मायाडंजेण केणइ ।
जह आलोयणं चेव, संसार वुड्ढिजवे ॥ ९३ ॥
अणंतेणाइकालाओ, अत्तकम्मेहिं दुम्मइ ।
बहुविकप्पकल्लोले, आलोए तेवि अहोगए ॥ ९४ ॥
द० प० ॥ नहु सिज्झई स स सल्लो, जह जणियं सा-
सणे धुयरयणा ।
उद्धरियसव्वसल्लो, सिज्झइ जीवो धुअकिलेसो २४ ॥
सुबहुंपि जावसल्लं, जे नालोयंति गुरुसगासंमि ।
निसल्लासंथारग, सुचितिआराहगा हुंति ॥ २५ ॥
अप्पंपि जावसल्लं, जे नालोयंति गुरुसगासंमि ।
वंतंपि सुयसमिद्धा, नहु ते आराहगा हुंति ॥ २६ ॥
नवि ते सत्थं च विसं, च दुप्पउत्तो वि कुणइ वेयालो ।
जंतं च दुप्पउत्तं, सप्पुव्वपमाइओ कुद्धो ॥ २७ ॥
जं कुणइ जावसल्लं, अणुद्धियं उत्तमट्ठकालंमि ॥
दुल्लजव्वोहियत्तं, अणंतसंसारियत्तं च ॥ २८ ॥
तरुद्धरंति गौरव, रहिया मूलं पुणज्झवलयाणं ॥
मिच्छादंसणसल्लं, मायासल्लं नियाणसल्लं च ॥ २९ ॥
मरिऊं ससल्लमरणं, संसाराडविमहाकडिल्लम्मि ॥
सुचिरं जमंति जीवा, अणोरपारंमि ओइन्ना ॥ ४२ ॥
व्याख्या । मृत्वा आसेव्य सशल्यमरणं प्रतीतं ततः किमि-
त्याह । संसाराटविमहाकडिल्ले भवारण्यगुरुगहने सुचि-
रमतिदीर्घकालं भ्रमंति पर्यटंति जीवा देहिनः अनर्वाक् पारे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्वाक्भागपरभागवर्जिते अवतीर्णा अवगाढा इति संवेग कृत्वेति योगः ॥

तथा ॥

उद्धरियसव्वसल्ला, तित्थगराणाए सुत्थिया जीवा ।
भवसयकयाइं खविओ, पावाइं गया सिवं थामं ॥ ४३ ॥

व्याख्या ॥ उद्धृत सर्वशल्याः कृतालोचनास्तीर्थकराज्ञायां जिनोपदेशे सुस्थिताः सुष्ठु व्यवस्थिताः संतो जीवा देहिनः भवशतकृतानि जन्मशत विहितानि क्षपयित्वा प्रकृष्टप्रव्रज्यास्योद्धारसामर्थ्यात् पापानि कर्माणि गताः प्राप्ताः शिवं निरुपद्रवं (थामंति) स्थानं सिद्धालयमित्यर्थः ॥

सल्लुद्धरणं च इमं, तिलोगबंधूहिं दंसियं सम्मं ।
अवितहमारोग्गफलं, धण्णोहं जेणिमं णायं ॥ ४४ ॥

व्याख्या । शल्योद्धरणमालोचना च शब्दः पूर्वगाथाद्वयोक्तार्थापेक्षया समुच्चयार्थः । इदमनंतरोक्त विधानं त्रिलोकबंधुभिर्जिनैरित्यर्थः दर्शितमुक्तं । सम्यक् सोपपत्तिकं अवितथमव्यभिचारि आरोग्यफलं भावारोग्यसाधकं ततश्च धन्योऽहं पुण्यवानहं येन मया इदमेतच्छल्योद्धरणं ज्ञातमवगतं ॥

ता उद्धरेमि सम्मं, एय एयस्स णाणरासिस्स ।
आवेदिय असेसं, अणियाणो दारुणविवागं ॥ ४५ ॥

व्याख्या । ता इति यस्मादिदं मया ज्ञातं तत्तस्माद्धूराम्यपनयामि सम्यग् न्यायेन एतत् भावशल्यं एतस्य गुरोर्ज्ञानराशेः अग्रे सद्बोधनिकरस्यावेद्य कथयित्वाऽशेषं सकलमनिदानो निर्निदानः सन् दारुणविपाकं रौद्रफलं शल्यमिति प्रक्रमः ॥

इय संवेगं काउं, मरुगाहरणादिएहिं विहेहिं ॥
दढपुणकरणाजुत्तो, सामायारिं पउंजेज्जा ॥ ४६ ॥

॥ व्या० ॥ इति एवमनंतरगाथाचतुष्कोक्तप्रकारं संवेगं शुभाध्यवसायविशेषं कृत्वा विधाय कैरित्याह । मरुकाहरणादिभिर्ब्राह्मणोदाहरणाद्यैः समयप्रसिद्धैश्चिन्हैर्लिंगैर्मरणाभ्युपगमेनाऽपि शुद्धिः कार्येत्येवंभूतार्थगमकैः ॥ पंचा-वृ-१५.

नविसुज्झंतिससल्ला, जहभणियं सव्वभावदंसीहिं ।
मरणापुणब्भवरहिया, आलोअणनिंदणा साहू ॥ ५५ ॥ द.प.४ ॥

(६) आलोचनीये विषये यथाक्रममालोचनाप्रकारः ॥

संप्रति यत् आलोचनीयं तदालोचनाविषयं तस्य विधिमाह ।

मूलगुणपढमकाया, तत्थवि पढमं तु पंथमादीसु ।
पायअपमज्जणादी, विइए उल्लाइपंथे वा ॥

इह द्विधा अपराधा (मूलगुणापराधा उत्तरगुणापराधाश्च तत्र उभयसंभवे प्रथमं) मूलगुणापराधालोचना । तेष्वपि मूलगुणापराधेषु मध्ये प्रथमं मूलगुणापराधः प्राणातिपात इति सः प्रथममालोचनीयः । स च षड्जीवकायविषय इति कायाः प्रथमत आलोचयितव्यास्ते च कायाः पृथिव्यादिक्रमेण तत्र सूत्रे उपन्यस्ता इति (तत्थवि) तेष्वपि कायेषु पृथिव्यादिषु मध्ये प्रथमं पृथिवीकायमेवमालोचयेत् ।" पंथमादीसु पादअपमज्जणादी,, पंथादिषु यत् पादप्रमार्जनादि कृतं । किमुक्तं भवति । पथि व्रजिता स्थंडिलादस्थंडिलात् स्थंडिलं कृष्णमृत्तिकातो वा नीलमृत्तिकां नीलमृत्तिकातो वा कृष्णमृत्तिकामेवं शेषवर्णेष्वपि भावनीयं । संक्रामता पादयोर्यत्प्रमार्जनं न कृतं । तथा वातोद्भूतेन सचित्तेन रजसा सचित्तया वा मृत्तिकया संसृष्टेन हस्तेन संसृष्टेन मात्रकेण वा यत् भिक्षाग्रहणं कृतं । तदेव मयाऽऽलोचीति सर्वत्रापि सामर्थ्यात् योजनीयम "बिइय उल्लाइ पंथेवा,, इति पृथिवीकायविराधनालोचनानंतरं द्वितीये अप्कायविषये यदुदकार्द्रादि आदिशब्दात्सस्निग्धादिपरिग्रहः । एतदुक्तं भवति । उदकार्द्रेण सस्निग्धेन वा हस्तेन मात्रेण भिक्षाग्रहणं कृतं पथि वा मार्गे वा अयतनया उदकमुत्तीर्णं वा एवमादि तथालोचयेत् ।

तइए पइट्ठियादी, अभिधारणवीयणादिवाउंमि ।
वीयाइघट्टपंचमे, इंदिये अणुवायतो छट्ठे ॥

अप्कायविराधनालोचनानंतरं तृतीये तेजस्काये यत् प्रतिष्ठितं दितेजसि परंपरादिप्रतिष्ठितं भक्तं पानं वा गृहीतं ॥ आदिशब्दात् सज्योतिषि वा वसतावस्थानं कृतमित्येवमादीतिभावः । तदा लोचयेत् । तदनंतरं वायौ वातकाये यत् अभिधारणवीजनादि कृतं । घर्मार्तेन बहिर्वातोऽभिसंधारितो भक्तं पानं शरीरं वा वीजनिकादि वा जीवितं एवमादि तदालोचयेत् । ततः पंचमे वनस्पतिकाये "वीयाइघट्टत्ति,, । यत् बीजादिघट्टनं आदिशब्दात् हरितकायादिपरिग्रहः उपलक्षणमेतत् । तेन यदि वा बीजादिकं भिक्षासु पतितं गृहीतमित्येवमादि तदालोचयेत् । तदनंतरं षष्ठेऽत्र त्रसकाये इंद्रियानुपाततः इंद्रियवृद्धिक्रमेणालोचना दातव्या ॥ तद्यथा । प्रथमतो द्वींद्रियाणां संघट्टनपरितापनाद्यालोचयेत् । तदनंतरं त्रींद्रियाणां चतुरिंद्रियाणां ततः पंचेंद्रियाणामिति । एवं प्रथममूलगुणापराधेषु क्रमेणालोचितेषु सत्सु ॥

दुब्भासियहासयादी, बिए तइए य जाणियग्गहणं ।
संघट्टणपुव्वरयादी, इंदियआलोगमेहुणे ॥

द्वितीये मूलगुणापराधेमृषावादे मृषावादविषये यत् दुर्भाषितहासितादियत्किमपि दुर्भाषितं हासेन वा मृषावादो भणितः आदिशब्दात् । क्रोधेन वा मानेन मायया वा लोभेन वा यत्किमपि मृषा भणित मिति परिग्रहस्तदालोचयेत् । तदनंतरं तृतीयेन मूलगुणापराधे अदत्तादानलक्षणे यत् अयाचितस्य तृणडगलकादेर्ग्रहणं उपलक्षणमेतत् । तेन अननुज्ञाप्य वा अवग्रहं कायिकादिव्युत्सृष्टं भवेदित्यादि परिग्रहः । तदालोचयेत् । मैथुनविषये ततोमैथुने यत् घट्टने पूर्वरतादि । किमुक्तं भवति । चैत्यवंदनम हिमादिषु प्रभूतजनसंमर्दे स्त्रीशरीरसंघट्टने स्पर्श आस्वादितो भवेत् । पूर्वरतक्रीडितं वा अनुस्मृतं स्यात् (इंदियत्ति) इंद्रियाणि वा मनोहराणि उपलक्षणमेतत् । वदनस्तनादिमतिसुमनोहरमवेक्ष्य मनाक् रागं गतो भवेत् । इत्यादि तदालोचयेत् ॥

मुच्छातिरित्तपंचमे, छट्ठे लेवाडअगयसुंठादी ।
गुत्तिसमिईविवक्खा, णामि गहणुत्तरगुणेसु ॥

चतुर्थमूलगुणापराधालोचनानंतरं पंचमे मूलगुणापराधे परिग्रहे विषयभूते यत् उपकरणेषु मूर्च्छा कृता भवेत् । (अइरित्तित्ति) अतिरिक्तो वा उपधिः परिगृहीत एतदालोचयेत् । तदनंतरं षष्ठे मूलगुणापराधे रात्रिभोजने (लेवाडेत्ति) लेपकृदवयवः कथमपि पर्युषितो भवेत् । अगदं वा शुंठ्यादिकं किंचित्सन्निहितं परिभुक्तं भवेत् । एवमादि आलोचयेत् एवं क्रमेण मूलगुणापराधालोचनां दत्वा तदनंतरमुत्तरगुणेषु विषयेषु गुप्तिसमितिविपक्षाः कृताः । अनेषणीयग्रहणं वाऽकारि । किमुक्तं भवति । गुप्तिषु कदाचिदगुप्तः स्यात् । समि-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तिषु कदाचिदसमितोऽनेषणीयं वा भक्तं वा पानं वा गृहीतं स्यादित्यादि आलोचयेत् तथा ॥

संतंमि विज्जविरिए, तवोवहाणे यं जं न उज्जमियं ।
एसा विहारवियमणा, वोत्थं उवसंपणाणंतं ॥

सत्यपि विद्यमानेऽपि बलं शारीरप्राणः वीर्यमांतरीशक्तिर्य- दशात्तपः कुर्वन् शरीरस्यातिकृशतायामपि न संयमयोगेषु सीदति बलं च वीर्यं च बलवीर्यं समाहारे द्वन्द्वस्तस्मिन् तपसो द्विप्रभेदस्यापि उपधानं तस्मिन्नोद्यतं नोद्यमः कृत- मेतदपि आलोचयेत् । एषा विहारविकटना विहारालो चना । उपसंपदालोचनाऽपि प्रायः एवंरूपा केवलं यन्नानात्वं तत् वक्ष्ये ॥ व्य० ।

तत्रप्रथमत उपसंपदालोचनाया अपराधालोचनायाश्च वि- हारालोचनया सह नानात्वं दर्शयति ॥

एगमणेगा दिवसेसु, होइ ओहे य पदविभागे य ।
उवसंपयावराहे, नायमनायं परिच्छंति ॥

उपसंपच्चापराधश्च उपसंपदपराधस्तस्मिन् आलोचनेति प्रस्तावात् गम्यते उपसंपदालोचना अपराधालोचना चेत्यर्थः। प्रत्येकं द्विधा (ओघे य) इत्यादि तृतीयार्थे सप्तमी। ओघेन पदविभागेन च तथा एकैकापि दिवसेषु चिंत्यमाना (एगमणेगा) इति पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् । एक दिवसिकी अनेकदिवसिकी च भवति । ओघालोचना एक- दिवसिकी । विभागालोचना एकदिवसिकी अनेकदिवसिकी चेत्यर्थः ॥

तदेवमुक्तमनानानात्वमधुनानात्वमुपदर्शयति । (नायमनायं परिच्छंति) उपसंपद्यमानो द्विविधो भवति । ज्ञातोऽज्ञातो वा । तत्र यदि ज्ञातस्ततः स न परीक्ष्यते तस्याग्रेऽपि ज्ञातत्वात् अथाज्ञातस्तर्हि स आवश्यकादिभिः पदैः परीक्षणीय इति ॥

संप्रति यदुक्तं विभागेन (अप्पसत्थे दिण) मित्यादि । तद्व्याख्यातुकाम आह ॥

दियरातो उवसंपय, अवराहे दिवसतोपसत्थंमि ।
उव्वातो दिवसं, तिएहंतु अतिक्कमे गुरुगा ॥

विहारालोचनावत् । उपसंपदालोचनाऽपि विभागेन प्रशस्ते वा दिवसे रात्रौ वा दातव्या दोषाभावात् । तथा पूर्वसूरिभि रनुज्ञानात् । अपराधे अपराधविषये पुनरालोचनादिवसतो इति सप्तम्यन्तात् तद्दिवसे उपलक्षणमेतत् । रजन्यां वा प्रशस्ते विष्टिव्यतीपातादिदोषवर्जिते " व्याख्यानतो विशेष प्रतिपत्तिरिति " न्यायात् द्रव्यादिषु प्रशस्तेषु दातव्या नाऽ प्रशस्तेषु एषा जिनाज्ञा । तथा उव्वातो तद्दिवसमिति यस्मिन् दिवसे उपसंपद्यमान आगतः । तस्मिन् दिवसे यदि उद्घात- परिश्रांत इति कृत्वा न पृष्ट आचार्येण ततः स आचार्यः शुद्धः। त्रयाणां तु दिवसानामतिक्रमे । किमुक्तं भवति । त्रिषु दिव- सेषु मध्ये यदि न पृष्टस्ततश्चतुर्थे दिवसे तस्याऽपृच्छतः परिहारस्थानं गुरुकाश्चत्वारो गुरुमासाः । एतच्च उपरि व्या- ख्यास्यते ॥

समणुन्नउगनिमित्तं, उवसंपज्जेत्ते य होइ एमेव ।
असमणुन्नेन वरं, विभागतो कारणे भइयं ॥

उपसंपद्यमानो द्विधा तद्यथा । समनोज्ञो ऽसमनोज्ञश्च- तत्र समनोज्ञस्य समीपे समनोज्ञ उपसंपद्यमानो द्विकनि मित्तं उपसंपद्यते । तद्यथा ज्ञानार्थं दर्शनार्थं च न चारित्रार्थं येन चरणं प्रति सदृश एव समनुज्ञे द्विकनिमित्त मुपसंप- द्यमाने एवमत्र विहारालोचनेव भवत्यालोचना । इयमत्र भावना । समनोज्ञो द्विकनिमित्त मुपसंपद्यमान आलोचनां विहा रालोचना मिव ओघेन ददाति । पदविभागेन च पदविभागे- नालोचना । एकदिवसेन वा भवत्यनेकदिवसैर्वा । एवं सम नोज्ञस्य उपसंपदालोचना (अणमणुण्णे) त्यादि । अन्यो नाम भिन्न संभोगिकः समनोज्ञो ऽसंविग्नः सो ऽपि समनो ज्ञश्च उपसंपद्यमान स्त्रिक निमित्त मुपसंपद्यते । तद्यथा ज्ञाना र्थं दर्शनार्थं चारित्रार्थं वा तस्मिंश्च तथोपसंपद्यमाने पूर्वव- दालोचनां विधिः । अत्रा ऽपीयं भावना अन्यो ऽसमनोज्ञो वा आलोचनां ददाति । ओघेन पदविभागेन च ददान एकदिव- सेन वा ददाति । अनेक दिवसैर्वा नवरमिति विशेष- एव पुनरत्र विशेषः । तस्याऽज्ञस्यासमनोज्ञस्य वा आलोच- ना उत्सर्गतो विभागतः सर्वकाव्यं साधारणमिति विभागत एव कारण पुनर्भजितं विकल्पितं वेलाप्राप्तौ विभागालोचना भवति संभ्रम सार्थादिषु पुनः कारणेषु तदप्राप्ताबोघे नालो- चनेतिभावः । एषा भजना अपराधालोचनाया अपि द्रष्ट- व्या तथाहि । अपराधालोचना उत्सर्गतः पद विभागेन दात- व्या अपवादकारणे पुनः संभ्रम सार्थादिलक्षणा ओघेनापीति । संप्रति उच्यते । तद्दिव समिति व्याख्यातुकाम आह ।

पढमदिणमविफाले, लहु विइए गुरुतइए लहुया ।
तेच्चिय तम्हाकहणे, सुद्धमसुद्धोविमेहिंतु ॥

यः स मनोज्ञ उपसंपदनार्थमागतस्तं यद्याचार्यः प्रथमदिवस- मिति सप्तम्यर्थे द्वितीया प्रथमदिवसेन (विप्फालेइ) देशी- वचनमेतत् पृच्छतीत्यर्थः । उक्तंच" विप्फालनत्ति पुच्छणत्ति वा एगट्ठमिति ,, यथा कुत आगत कुत्र वा गमिष्यसि । किं निमित्तं वा समागत इति । ततस्तस्य दिवसे एव अविप्फा- लने परिहारस्थानं (लहुयत्ति) मासलघु द्वितीयेऽपि दिवसे यदि न पृच्छति ततो (गुरुत्ति) मास गुरु (तइयत्ति- तृतीये दिवसेऽप्यपृच्छने (लहुया) इति चत्वारो लघुमासाः चतुर्थेऽपि दिवसे यदि न पृच्छति । ततः (तिएहं तु अइक्क- मे गुरुगा) इति वचनाच्चतुर्गुरु पंचमादिषुदिवसेष्वप्रच्छने तदेव चतुर्गुरु (तिएहंतु अइक्कमे) गुरुगा इति निरवधितया वचनप्रवृत्तेः । "तच्चियतस्साकहणे" इति ते च प्रायश्चित्तवि- शेषाः क्रमेण तस्याकथने । तद्यथा । स पृष्टः सन् यदि ब्रूते कथयिष्यामि न तु कथयति । तस्मिन् प्रथमदिवसे अकथने मासलघु । द्वितीयदिवसेऽप्यकथयतो मासगुरु । तृतीयदिवसे चतुर्लघु चतुर्थदिवसेऽप्यकथयतश्चत्वारो गुरुमासाः । ततः परं पंचमादिष्वपिदिवसेष्व कथने तदेव चतुर्गुरु ।

इदानीं उद्धातो तद्दिवसमिति व्याख्याया अवसरः । तद्दिवसे प्रथमदिवसे उद्धात इति कृत्वा न पृच्छति । तत आचार्यः प्रथमदिवसे अविप्फालेऽपृच्छने (लहुयत्ति) लघु न दोष- गुरुः शुद्ध इत्यर्थः । कारणवशेनापृच्छनात् द्वितीयदिवसे न पृच्छति मासगुरु तृतीयदिवसेऽप्यप्रश्ने चतुर्गुरु । एवं तेनोप- संपद्यमानेन पृष्टेन वा यद्व्याख्यातं भवति । तथाचाह ॥ ननु केन कारणेन वा समागत इति । तत आगतश्चिंतनीयः (सु- द्धमसुद्धोवत्ति) शुद्धोऽशुद्धो वा अत्र चत्वारो भंगास्तद्यथा निर्ग मनमप्यशुद्धमागमनमप्यशुद्धं १ निर्गमनमशुद्धमागमनं शुद्धं २ निर्गमनं शुद्धमागमनमशुद्धं ३ निर्गमनमपि शुद्धमागमनमपि

गुरु ४ तत्र प्रथमभंगेननिर्गमन (इमेहितुत्ति) एभिर्वक्ष्यमाणैर्द्वारैश्चिंतितान्येव द्वाराणि दर्शयति ॥

अहिगरणविगतिजोगे, पडिणीए थद्धलुद्धनिद्धम्मे ।
अलसअणुबद्धवेरे, सच्छंदमतीपयाहियव्वो ॥

यदि स उपसंपद्यमानोऽधिकरणतः स्वस्थानान्निर्गतः (विगतित्ति) विकृतेर्लोपत्यात् (योगत्ति) योगोद्वहनभीरुतया (पडिणीपत्ति) प्रत्यनीकोऽत्र मे साधुरिति बुद्ध्या तथा "थद्धलुद्ध" इत्यादिस्तब्ध इति वा लुब्ध इति वा निर्द्धर्म्म इति वा अलस इति वा स्वच्छंदमतिरिति वा विनिर्गतस्ततस्तस्य निर्गमनमशुद्धमिति कृत्वा (पयाहियव्वोत्ति) परिहर्त्तव्यः । तदपरिहरणे प्रायश्चित्तं तत्राधिकरणविषये प्रायश्चित्तमाह ।

गिहिसंजय अहिगरणे, लहु गुरुगा तस्स अप्पणोच्छेदो ।
विगई न देइ घेत्तुं, उत्तुरयं व गहिये त्ति ॥

गृहिभिः संयतेश्च सहाधिकरणे विनिर्गतं यद्याचार्य्यः स्वीकरोति ततो यथाक्रमं प्रायश्चित्तं लघुगुरुकं । इयमत्र भावना । यदि गृहस्थेन सहाधिकरणं कृत्वा विनिर्गतस्तं यद्याचार्यः संगृह्णाति ततस्तस्याचार्यस्य परिहारस्थानं चत्वारो लघुमासाः अथ संयतेन सममधिकरणं कृत्वा समागतं संगृह्णाति ततश्चत्वारो गुरुकाः । तस्य पुनरागंतुकस्य (पणत्ति) रात्रिदिवपंचकप्रमाणतः पर्यायस्य च्छेदः । इहाऽधिकरणादिदोषतो विनिर्गतास्ते प्रश्ने वा सति तदुक्तिवशाद्वसीयंते । तत्र विकृतिदोषविनिर्गतपृष्टस्य या य उक्तिविशेषस्तं दर्शयति (विगइमित्यादि) आचार्यो विकृतिं घृतादि कांग्रहणां य मददाति तथा योगवाहिभिर्योगोत्तीर्णैः कायोत्सर्गकरणतो गृहीतोऽपि परिपूर्णं विकृतिजातेभ्यैर्भुंक्ते या उद्धरिता विकृतिस्तामपि नानुजानाति किंच ।

नववज्झिया विदेहो, पगईए दुव्वलोअहं भंते ! ।
तज्जावियस्स इहिंहं, नयगहणं धारणं कत्तो ॥

वज्झिवाघोनाम देशीवचनत्वादिक्षुः । उक्तं च "वज्झियावगोउच्छु" इति नववज्झियावन्नत देहो यस्य स तथा । इयमत्र भावना । स ब्रूते अहं भगवन् ! नवेक्षुतुल्यो मम देहो यथा स इक्षुः पानीयेन विना शुष्यति तथा ममापि देहो विकृतिं विना सीदति । अन्यथाऽहं स्वभावेन दुर्बलो न विकृतिमंतरेण बलिको भवामि । तथा सर्वदैव विकृत्याचितदेहस्ततस्तद्भावितस्य सतो ममेदानीं तस्याऽभावेन बलं न च सूत्रार्थस्य वा ग्रहणमशक्तत्वात् । पूर्वं गृहीतस्य सूत्रस्यावधारणं कुतः तत् अशक्त्या सर्वं दूरत एव विस्मृतं । ततोऽहं विनिर्गतः ॥

संप्रति योगविषये प्रत्यनीकविषये चोक्तिविशेषं दर्शयति ॥

एगंतरनिव्वगत्ती, जोगोपव्वहियगोवमे अत्थि ।
वुक्कुलियएसु गेण्हइ, छिद्दाणि कहेइय गुरूणं ॥

तस्मिन् गच्छेयोग एकांतरनिर्विकृतिकः । किमुक्तं भवति । सपृष्टोवा ब्रूते । तस्याऽचार्यस्य गच्छे योग एकांतरोपवासेनोह्यते । एकांतरा चाम्लेन वा तथा योगवाहिनो योगोत्तीर्णस्याऽपि ते आचार्या विकृतिं न विसृजंति । ततः कर्कशा सुत्र योगा इति विनिर्गतः ॥ न तथा तत्र गच्छे मे मम प्रत्यार्थिकः । प्रत्यनीकोऽस्ति स कथं विसामाचारीयोगेषु "वुक्कलियएसुत्ति" सुके विस्मृते सामाचारीविशेषे स्खलिते दुःप्रत्युपेक्षणादिके मां गृह्णाति अत्यर्थं खरंटयति । अथवा वुक्कस्खलितेषु जातेषु तानि वुक्कस्खलितानि अपराधपदे छिद्राणीवाछिद्राणि गृह्णाति गृहीत्वा गुरूणां कथयति । पश्चात् गुरवो मां खरंटयंति ततो विनिर्गतः ॥

संप्रति लुब्धस्य स्तब्धस्य चोक्तिविशेषं दर्शयति ॥

चंकमणादिउट्ठाणे, कडिगहणं काउ नत्थि वाहि एवं ॥
भुंजइ सयमुक्कोसं, तयदेति नेमिलुद्धेवं ॥ १ ॥

स्तब्ध एवं भाषते चंकमणादावुत्थाने कटिग्रहणं स्वाध्यायश्च नास्ति । एतदुक्तं भवति । यद्याचार्याश्चंक्रमणं कुर्वंति । आदिशब्दात् यदि वा कायिक्यादिभूमिं गच्छंत्यागच्छंति वा तथा तथाऽप्यभ्युत्थातव्याः । तेषां नायकत्वात् । ततः एवं चंक्रमणादावभ्युत्थितमस्माकं कटी वा तेन गृह्यते भूयोभूय उत्थाने पलिमंथभावात् सूत्ररूपस्याऽर्थरूपस्य वा स्वाध्यायस्य हानिः । अथ नाभ्युत्थीयतेऽतः आचार्यः प्रायश्चित्तं ददाति खरंटयति च । ततोऽहं विनिर्गतः लुब्धः पुनरेवं ब्रूते यत्किमप्युत्कृष्टं शिखरिणीमोदकादि तदाचार्यः स्वयं भुंक्ते न त्वस्मादृशेभ्यो ददाति । अन्येभ्यो वा बालवृद्धप्राघुर्णकेभ्यो ददाति ततः एवमसहमानोऽहं निर्गतः ॥

अथवा निर्द्धर्म्मालसयोरुक्तिविशेषं प्रकटयति ॥

आवासियापमज्जण, अकरणे भज्जदंडनिद्धम्मो ॥
बालावुड्ढादीहा, भिक्खायरिया य भज्जामा ॥ १ ॥

योनिर्द्धर्म्मा स पृष्टः सन्नेवं वक्ति आवश्यक प्रमार्जनीकरणे उद्भदंडा आचार्याः । इयमत्र भावना । यदि कथमपि निर्गच्छन् प्रविशन् वा आवश्यकीं नैषधिकीं च न करोति दंडादिकं वा गृह्णन् निक्षिपन्वा न प्रमार्जयति । तत आचार्या निरनुकंपाः संतः उग्रं प्रायश्चित्तरूपं दंडं प्रयच्छंति ततोऽहं दंडभयाद्विनिर्गतः । यः पुनरलसः स एवं ब्रूते । बालाद्यर्थाय बालवृद्धादीनामर्थाय । तस्मिन् गच्छे दीर्घभिक्षाचार्या अथवा कुत्सकं कर्कशं वा तत् क्षेत्रं ततो दिने दिने उद्भ्रामा भिक्षाचर्या प्रतिदिवसमन्यत्र ग्रामान्तरे गत्वा भिक्षा नीयते इति भावस्तथा यदिकथमप्यपर्याप्तेन समागम्येत ततो गुरुः खरंटयति किं वसतौ न महानसमस्ति येनापर्याप्तः समागतः । तस्मा द्भूयोऽपि व्रज भिक्षार्थं यतः कालोऽद्यापि बहु प्राप्य इति ततोऽहं निर्गतः ॥

सांप्रतमनुबद्धवैरस्वच्छंदमत्योरुक्तिविशेषं दर्शयति ॥

पाणसुणगा व भुंजंति, एगत्तो भंडिउंपि अणुबद्धो ॥
एगागिस्स न लब्भा, वलिउं घेत्तुंपि सच्छंदो ॥

अनुबद्धोऽनुबद्धवैरो भवति भंडित्वाऽपि भंडनं कलहस्तमपि कृत्वा पाणशुनका इव एकत्र भुंजते ॥ इयमत्र भावना ॥ यथा पाणाश्चंडालाः शुनकाः कुर्कुराः परस्परं भंडित्वा तत्क्षणादेवैकत्र भुंजते । एवं तत्र संयता अपि नवरं मिथ्यादुष्कृतं परस्परं दाप्यं इति विशेषः । अहं पुनर्न शक्नोमि हृदयस्थेन शल्येन तैः सह एकत्र समुद्देष्टुमिति विनिर्गतः । स्वच्छंदमतिः पुनरेवं भाषते एकाकिनः सतः स्तोकमपि न लभ्यं चलितुं । किमुक्तं भवति । संज्ञाभूमावप्येकाकिनः सतो न गंतुं प्रयच्छंति किमेवं भवते नियमात्संघाटक रूपतया केनापि सहितेन गंतव्यं । ततस्तमसहमानोऽहमत्रागतः । एतान्यधिकरणादीनि पदान्याचार्यः श्रुत्वा तं परित्यजति । एतं अधिकरणादिपदैरागतस्य तस्योपसंपद्यमानस्य चाप्रतीच्छतश्चाचार्यस्येदं प्रायश्चित्तं ।

Jain Education International　　For Private & Personal Use Only　　www.jainelibrary.org

जइ भंडणपरिणीए, लुद्धे अणुबद्धरोस चउगुरुगा ॥
सेसा ण हुंति लहुगा, एमेव पडिच्छमाणस्स ॥

यो यतिभिः सह भण्डनं कृत्वा समागतः । यश्च तत्र मे प्रत्यनीकः साधुरिति कृत्वा समागच्छेत् । यश्च लुब्धो यश्चानुबद्धरोषः । एतेषामुपसंपदं प्रतिपद्यमानानां प्रायश्चित्तं चतुर्गुरुकाः चत्वारो गुरुमासाः । शेषाणां भंडनकारिविकृतिप्रतिबद्धयोगनिस्तरणधनिर्द्धर्मस्वच्छंदमतीनां लघुका इति चत्वारो लघुकाः । यः पुनराचार्यस्तदाचार्यानजुकया प्रायश्चित्तदानमतरेण च प्रतीच्छति तस्यापि प्रायश्चित्तमेवमेव । तद्यथा । यतिभण्डनकारिप्रत्यनीकलुब्धानुबद्धवैरान्प्रतीच्छतश्चत्वारो मासाः शेषान् पद्प्रतीच्छतश्चत्वारो लघुमासाः । अथवा ये एते दोषा उक्तास्तेषां मध्ये एकेनापि दोषेण आगतो भवेत् किन्त्वे निर्वक्ष्यमाणैस्तानेवाह ।

एगे अपरिणए वा, अप्पाधारे य थेरए ।
गिलाणे बहुरोगी य, मंदधम्मे य पाहुडे ॥

यदि एक एकाकी पश्चादाचार्यः ।

यदिवा अपरिणए वा, अप्पाधारे य थेरए ।
गिलाणे बहुरोगी य, मंदधम्मे य पाहुडे ॥

यदि एकतः । अकल्पिकवस्त्रादिसहितः स च कल्पिकवस्त्राद्युत्पादने सभिमानथवा तदाचार्योऽल्पाधारः सूत्रार्थनैपुणविकलः स च वृद्धः सन् सूत्रार्थकथने निपुणः शक्तिमान् यदि वा तदाचार्यः परिवारो वा स्थविरो जरसा वृद्धशरीरः । स च तेषां प्रतिजागरुकः अथवा पश्चादेकोग्लानः । स च तस्य चिंताकारी यदि वा पश्चात्तत्रैको बहुरोगी नाम बहुभिः साधारणैरोगैर्जाप्यशरीरः स च तस्य वर्त्तापकः । यदि वा पश्चात्तनाचार्यपरिवारः सर्वोऽपि निर्द्धर्मा न गुर्वाज्ञां करोति केवलं तद्भयात् किमपि करोति । तथा तत्र पश्चात् गुरोः केनापि सह प्राभृतं वर्त्तमानमस्ति । प्राभृतं नाम अधिकरणं । स च गुरोः क्रमेण अपगतः साहाय्यकारी एवं प्रत्यवर्त्तमाने यदि समागतो भवति । तदा तस्य निर्गमनमशुद्धत्वाच परित्याज्यमिति ॥

एतामेव गाथां व्याख्यातुकाम प्रथमत एका परिणताऽल्पाधारद्वाराणि व्याख्यानयति ॥

एगाणियं पमोत्तुं, वत्थादि अकप्पएहिं वा सहियं ।
अप्पाधारावायणं, तं चेव य पुच्छिओ देइ ॥

एकमेकाकिनं पश्चादाचार्यं मुक्त्वा यदि समागतः । अथवा वस्त्राद्यकल्पिकैः प्रथममपि ग्रहीतैरकल्पिकैर्वस्त्रादिभिः सहितं मुक्त्वा एतेनापरिणत इति व्याख्यातं । यदि वा अल्पसूत्रस्याऽर्थस्य वा आधार इति स आचार्यस्तमेवपृष्ट्वा शेषसाधुभ्यो वाचनां ददाति तादृशं मुक्त्वा एतेनाऽल्पाधार इति विवृतं ॥

थेरं अतिमहल्लं, अजंगमं मोत्तु आगतो गुरुं तु ॥
सो व परिसाव थेरा, अहं तु अट्ठावगोतेसिं ॥ १ ॥

स्थविरमेव व्याचष्टे अतीव महान्तमजंगमं गमनशक्तिविकलं गुरुं उपलक्षणमेतत् परिवारं वा स्थविरमुक्तरूपंमुक्त्वा यदि समागतः स च प्रतिजागरुक स्तथा च तस्य पृष्टस्य सतोऽमुमेवोक्तिविशेषं दर्शयति । स च आचार्यः स्थविरः पर्षद्वा परिवारो वा आसीत् अहं तु तेषां गुर्वादीनां वर्त्तापकः प्रतिजागरुक एतेन स्थविर इति पदं व्याख्यातं ॥

ग्लानबहुरोगनिर्द्धर्मपदानि व्याख्यानयति ॥

तत्थ गिलाणोएगो, जप्पसरीरो य होइ बहुरोगी ॥
निद्धम्मा गुरुआणं, न करेंति समं पमोत्तूणं ॥ १ ॥

तत्र गच्छे ग्लान एकोऽस्ति यदि वा बहुरोगी यो जाप्यशरीरो भवति । स बहुरोगी तंग्लानं बहुरोगिणं वा विमुच्य यदि स समागतस्तथा निर्द्धर्मपरिवर्द्धिषये तस्य पृष्टस्य सत उक्तिविशेषं दर्शयति । निर्द्धर्मा धर्मवासनारहितस्तस्य ममाचार्यस्य शिष्याः सर्वथा गुर्वाज्ञां कुर्वंति । मां प्रमुच्य मम पुनराज्ञां न कुर्वंति । तादृशं वा निर्द्धर्मं परिवारं मुक्त्वा यदि समागतस्तर्हि स न प्रतिग्राह्यः । केवलमयमुपदेशस्तस्मै दातव्यः ॥

तमेवाह ॥

एयारिसं विओसज्ज, विप्पवासो न कप्पई ॥
सीसायरियपडिच्छे, पायच्छित्तं विहिज्जइ ॥ १ ॥

एतादृशमेकाकाद्यादिस्वरूपं गुरुमन्यं वा ग्लानादिकं व्युत्सृज्य परित्यज्य विशेषेण प्रवासोऽन्यत्र गमनं विप्रवासो भद्र तव न कल्पते । बहुगुणाधारो भवान् कथमीदृशं कृतवान् । तस्मात् अद्याऽपि प्रायश्चित्तं प्रतिपद्य पश्चात् गच्छ । स च समागतस्तस्य प्राक्तनाचार्यस्य शिष्यो वा स्यात् प्रतीच्छको वा एवमागतमुपसंपद्यमानं योऽप्याचार्यः प्रतीच्छति सोऽपि प्रायश्चित्तभाक् । ततः शिष्यप्रतीच्छकाचार्याणां प्रायश्चित्तं विवक्षुरिदमाह ॥

(सीसायरिएत्यादि) शिष्ये आचार्ये प्रतीच्छके च प्रायश्चित्तं विधीयते । प्रायश्चित्तदानविधिरुच्यते इति भावः ॥

प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति ॥

एगे गिलाणगे वा, तिण्हवि गुरुगा उ सीसमादीणं ॥
सेसे सिस्से गुरुगा, पडिच्छलहुगा गुरुसरिसं ॥

एकस्मिन् एकाकिनि गुरौ ग्लाने वा तत्र गच्छे तिष्ठति यदि समागतः । शिष्यः प्रतीच्छको वा आचार्येण वा तथा समागतः सन् यदि प्रतीच्छितस्तदा शिष्यादीनां शिष्यप्रतीच्छकाचार्याणां त्रयाणामपि प्रायश्चित्तं गुरुकाश्चत्वारो गुरुमासाः । यः पुनरन्यः शेषेऽपरिणताऽल्पाधारस्थविरबहुरोगमंदधर्मपरिचारलक्षणस्तस्मिन् शेषे यदि समागतः शिष्यः ततस्तस्य प्रायश्चित्तं गुरुकाश्चत्वारो गुरुमासाः । अथ प्रतीच्छकः समागतस्तर्हि तस्य लघुकाश्चत्वारो लघुमासाः (गुरुसरिसमिति) गुरोरपि प्रतीच्छकसदृशं प्रायश्चित्तं । किमुक्तं भवति यदि शिष्यं प्रतीच्छति ततः प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुमासाः । अथ प्रतीच्छकं तर्हि चत्वारो लघुका इति ॥

सीसपडिच्छे पाहुड, छेदो राइंदियाणि पंचेव ।
आयरियस्स उ गुरुगा, दोवेए पडिच्छमाणस्स ॥

यदि प्राभृते गुरोः केनापि सहाधिकरणावर्त्तमानः शिष्यः प्रतीच्छको वा समागतः । तदा तस्य प्रतीच्छकस्य वा प्रायश्चित्तं पंचरात्रिंदिवानि पर्यायस्य छेदः । आचार्यस्य पुनर्द्वावप्येतौ प्रतीच्छतः प्रतिगृह्णतः प्रायश्चित्तं । गुरुकाश्चत्वारो गुरुमासाः । तदेवं प्रथमभंगे निर्गमनदोषा उक्ताः आगमनमशुद्धं तदा भवति यदा प्रतिकाद्यपि प्रतिबध्यमानःसमागतस्तत्रापि प्रतिबंधननिमित्तं प्रायश्चित्तं सूत्रानुसारतो वक्तव्यं । गतः प्रथमो भंगः द्वितीयभंगोऽप्येतादृश एव न वरं । तत्रा-

गमनं शुद्धं क्वचिदपि व्रजिकादौ प्रतिबंधकरणात् तृतीयचतुर्थभंगावनुक्रमेणाऽऽह ॥

एतद्दोसविमुक्कं, वइयादी अपडिबद्धमायातं ॥
दाऊणं पच्छित्तं, पडिबद्धं पडिच्छेज्जा ॥ १ ॥

एतैरनंतरोदितैरधिकरणकारित्वविकृतिलांपट्यादिदोषैर्विमुक्तमेतेन निर्गमनं शुद्धमुक्तं । तथा व्रजिकादौ अप्रतिबद्धं क्वचिदपि प्रतिबंधमकुर्वंतमायातमनेनाऽऽगमनं शुद्धमपि दर्शितं एष चतुर्थो भंगः । एष एवोत्सर्गतः श्रेयानिति ज्ञापनार्थं तृतीयभंगात्पूर्वमुक्तः । एवं भूतं प्रतीच्छेत् । तृतीयभंगमाह (दाणे) त्यादि यस्त्वधिकरणकारित्वादिदोषैर्विनिर्मुक्तो निर्गतः केवलं व्रजिकादिषु प्रतिबद्धमप्यपवादपदेन व्रजिकादिषु प्रतिबंधकारणमनुसृत्य तन्निमित्तं प्रायश्चित्तं दत्वा प्रतीच्छेत् ॥

(७) आलोचनायां शिष्याऽऽचार्यपरीक्षणे आवश्यकादिद्वाराणि ॥

सुद्धं पडिच्छिऊणं, अपरिच्छणा लहुय तिन्निदिवसाणं ।
सिस्से आयरिए वा, पारिच्छा तत्थिमा होइ ॥

शुद्धं निर्गमनागमनादिदोषरहितं प्रतीच्छ्य प्रतिगृह्य त्रीन् दिवसान्यावत् परीक्षेत । किमेष धर्मश्रद्धावान् किं वा नेति यदि पुनर्न परीक्षते । ततोऽपरीक्षणे परीक्षणाकरणे (लहुयत्ति) मासलघु प्रायश्चित्तं आचार्यान्तराभिप्रायेण चतुर्मासलघु । सा च परीक्षा उभयथाऽपि शिष्य आचार्यं परीक्षते आचार्यः शिष्यं उभययापि च परीक्षा आवश्यकादिपदैस्तयाचाऽऽह ॥ (सिस्सेइत्यादि) तत्र तस्मिन् उपसंपद्यमाने प्रतीच्छिते सति शिष्ये आचार्ये च परस्परमियमावश्यकादिपदैर्वक्ष्यमाणा परीक्षा भवति ॥

तामेवाह ॥

आवस्सयपडिलेहण, सज्झाए भुंजणा य भासाय ।
वीयारे गेलन्ने, भिक्खग्गहणे पडिच्छंति ॥

आवश्यके, प्रतिलेखने, स्वाध्याये, भोजने, भाषायां, विचारे, बहिर्भूमौ, ग्लाने, भिक्षाग्रहणे, च परस्परमाचार्यशिष्यौ परीक्ष्येते ॥

तत्राऽऽवश्यकादिपदान्यधिकृत्य यथाचार्यः शिष्यं परीक्षते तथोपदर्शयति ॥

केई पुव्वनिसिद्धा, केई सारेइ तत्थ सारेइ ।
संविग्गोसिक्खमग्गइ, सुत्ताविलिमो अणाहो हं ॥

केचित्साधवो लुब्धभादयः तस्योपसंपत्कालात् पूर्वमेव आवश्यकादिपदेषु ये दोषास्तेभ्यो निषिद्धा यथा आचार्या इदमिदं च माकार्षुरिति । ते तथैव वर्तमानास्तिष्ठंति । ये पुनः केचित् अभिनवदीक्षितत्वादिना कारणेन प्रमाद्यंति तान् गुरुः सारयति । सम्यग् यथोक्तानुष्ठाने वर्तयति । तं पुनरुपसंपन्नं प्रमादस्थाने वर्तमानमपि न सारयति । तत्र यदि स उपसंपद्यमानः संविग्नो भवति । ततः सोऽप्रतिनोद्यमानः सम्यगेवं चिन्तयति । येषु स्थानेष्वन्यान्प्रमाद्यत आचार्याः सारयंति अहो अहमनाथः परित्यक्त एतैरिति चिंतयित्वा संविग्नविहारमिच्छन् आचार्यपादमूले गत्वा (सुत्ताविलिमो) इति निपातः पादपूरणार्थमश्रुमुक्तावलीप्रकाशान्यश्रूणि विमुंचन् पादयोः पतित्वा शिक्षां मार्गयते याचते यथा मामप्यत्यादरेण भगवंतः शिक्षयन्तां मां शरणमुपागतं परित्यजत एवं परीक्षानिर्वर्तितः परिग्राह्यः । इतरस्तु परित्याज्यः ॥

तत्राऽऽवश्यके यथा परीक्षा कर्तव्या तथोपदर्शयति ॥

हीणाहियविवरिए, सतिविवले पुव्वहुंते चोएइ ॥
अप्पणवो देती नममंति इहं सुहं वसिउं ॥

हीनं नाम यत्कायोत्सर्गसूत्राणि मंदमंदमुच्चार्य शेषेषु साधुषु चिरकालं कायोत्सर्गे स्थितेषु पश्चात्स कायोत्सर्गे तिष्ठति । इत्यादि । अधिकं नाम कायोत्सर्गसूत्राण्यति त्वरितमुच्चार्यानुप्रेक्षाकरणार्थं पूर्वमेव कायोत्सर्गे तिष्ठति रत्नाधिके योत्सारिते कायोत्सर्गे पश्चाच्चिरेण स्वं कायोत्सर्गमुत्सारयति इत्यादि । विपरीतं नाम प्रादोषिकान् कायोत्सर्गान् प्राभातिकानिव करोति । प्राभातिकान् प्रादोषिकानिव इत्यादि । हीनाधिकं च विपरीतं समाहारद्वंद्वस्तस्मिन्प्रमादतो वर्तमानात् अथवा सूर्ये किल अस्तमितमात्रे एव निर्व्याघाते सर्वैरपि साधुभिराचार्येण सह प्रतिक्रमितव्यं । यदि पुनराचार्यस्य *श्राद्धादिधर्मकथादिभिर्व्याघातस्ततो यावद्गुरवस्तावदासहार्य* निषद्याधरं च मुक्त्वाशेषैः सूत्रार्थस्मरणार्थं कायोत्सर्गेण स्थातव्यं । ये सत्यपि बले पूर्वं कायोत्सर्गे न तिष्ठंति तान्पूर्वमतिष्ठतश्चोदयंति यः पुनः परीक्ष्यते तं प्रमाद्यंतमपि न शिक्षयंति । ततो यदि स एवं व्यवस्यति । यथा आत्मीयान् प्रमाद्यतश्चोदयति । न मामिति सुखमिह वसितुमिति । स इत्थं भूतः पंजरभग्नो ज्ञातव्यो न प्रतीच्छनीयः ॥

जो पुण चोइज्जंते, दट्ठुण नियत्तए ततो ठाणा ।
भणइ अहं भेवत्तो, चोएह ममंपि सीयंतं ॥

यः पुनश्चोद्यमानान् शिक्ष्यमाणान् शेषसाधून् दृष्ट्वा ततः स्थानात् निवर्तितैर्भणति । गुरुपादमूले गत्वा मन्युभराक्रांतो गद्गदस्वरेण अहं युष्मच्चरणमागतोऽपि भगवन् युष्माभिः शिक्षाया अप्रदानतस्त्यक्तः । न चैतत् भगवतां परमकरुणापरीतचेतसामुचितं । तस्मात्प्रमादमाध्माय मामपि सीदंतं शिक्षयध्वमिति एष इत्थं भूतः प्रतिग्राह्यः कृता आवश्यकमधिकृत्य परीक्षा ॥

संप्रतिप्रतिलेखनस्वाध्याय भोजनभाषाद्वाराणि अधिकृत्य तामाह ॥

पडिलेहणसज्झाए, एमेव य हीणअहियविवरीयं ।
दोसेहि वा वि भुंजइ, गारत्थियढड्ढुएभासा ॥

एवमेवावश्यकोक्तेनैव प्रकारेण प्रतिलेखने, स्वाध्याये, च हीनमधिकं विपरीतं च कुर्वंत आत्मीयान् शिक्षयते न तु तं परीक्ष्यमाणमित्यादि पूर्ववत् तत्र प्रतिलेखनाया हीनाधिकता नाम यत् कालतो हीनामधिकां वा प्रतिलेखनां करोति । खोटकादिभिर्वा हीनामधिकां वा । विपरीतता नाम प्रभाते यत् मुखपोतिकादि क्रमेण न प्रत्युपेक्षते । किं तु स्वेच्छया यदि वा पूर्वाह्णे रजोहरणं निःपश्चिमं प्रत्युपेक्षते । अपराह्णे तु सर्वप्रथममित्यादि । स्वाध्याये हीनता नाम यदि प्राभातिकामपि कालवेलायां कालप्रतिक्रमणं करोति अधिकता यदतिक्रांतायामपि कालवेलायां कालं प्रतिक्रामति । वंदनादिक्रियायां वा तदनुगतां हीनाधिकां करोति विपरीतता पौरुषीपाठमतिक्रांतायां पौरुष्यां पठति । उत्कालिकं पौरुष्यामिति तथा भोजनद्वारे आलोकादिविधानसूत्रोक्तेन न भुंक्ते दोषैर्वाऽपि (असुरसुरं अचवचवं अद्दुयमवलंबियमि) त्यादि विपरीतरूपैर्भुंक्ते ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत्रात्मीयानतथा भुंजानान् शिक्षयते न तु परीक्ष्यमाणमित्यादि पूर्ववत् भाषाद्वारे या अगारस्थिते भाषागृहस्थभाषा च ढड्ढरभाषा स्थूरस्वरभाषा तां भाषते । तत्रात्मीयान् तथारूपया भाषया भाषमाणान् शिक्षयते न पुनः परीक्ष्यमाणमित्यादि विभाषा पूर्ववत् ॥

शेषाणि त्रीणि द्वाराण्येकगाथया प्रतिपादयति ॥

थंभिल्लसामायारीहिं, हवइ अतरंतगं न पमिजये ॥
अजणितो भिक्खं, न हिंमइ अणेसणाइ च पेल्लेइ ॥

स्थंडिले सामाचारीं पादप्रमार्जनरुगलकग्रहणं दिनालोकनादिरूपां हापयति परिभवति विलुंपतीत्यर्थः । तत्र तथा सामाचारीं विलुंपत आत्मीयान् साधून् शिक्षयते न परीक्ष्यमाणमित्यादि प्राग्वत् । गतं विचारद्वारम् ॥

ग्लानद्वारमाह । अतरंतगं असमर्थं ग्लानमित्यर्थः । न प्रतिजागर्त्ति नापि तस्य ग्लानस्य खेलमल्लकादि कंसमर्पयति । अत्रापि ग्लानमप्रतिजाग्रत आत्मीयान् साधून् शिक्षयते । न तु परिक्ष्यमाणमित्यादि भाषा पूर्ववत् । गतं ग्लानद्वारं ।

भिक्षाग्रहणद्वारमाह । अजणितः सन् भिक्षां न हिंडते भणितोऽपि च स्तोकं हिंडने सति प्रतिनिवर्तते अनेषणीयां भिक्षां गृह्णाति । आदिशब्दात् कौटिल्ये न चोत्पादयति इत्यादि परिग्रहः । तं तथा भिक्षाग्रहणे प्रवर्त्तमानमपि न शिक्षयति । किं त्वात्मीयान् साधून् इत्यादि प्राग्वत् । तस्य चागमो द्वाभ्यां स्थानाभ्यां भवति । ततस्ते एव द्वे स्थाने प्रतिपादयति ॥

जयमाणपरिहवंते, आगमणं तस्स दोहिं ठाणेहिं ।
पंजरभग्ग अभिमुहे, आवस्सगमादि आयरिए ॥

तस्योपसंपद्यमानस्यागमनं द्वाभ्यां स्थानाभ्यां भवेत् । तद्यथा । यतमानेभ्यः परिभवद्भ्यश्च यतमाना नाम संविग्नाः परिभवंतः पार्श्वस्थादयः । उक्तं च ।

सो पुण जयमाणगाण, वा साहूण मूलातो । आगतो हुज्जा
परिभवंताण मूला उ, आगतो हुज्जा परिभवंता नाम पासत्थ ।

इति । तत्र यो यतमानसाधूनां मूलादागतः स ज्ञानदर्शनार्थं पंजरभग्नो वा समागतो भवेत् । यः पुनः परिभवतां मूलादागतः स चारित्रार्थमुद्यंतुकामः समागतो भवेत् । अनुद्यंतुकामो वा ज्ञानदर्शनार्थमिति । अथ वा यो यतमानेभ्यः समागतः स पंजरभग्नः यः पुनः परिभवद्भ्य उद्यंतुकामश्चारित्रार्थं समागतः । सोऽभिमुखः पंजराभिमुखः एतयोर्द्वयोरपि समागतयोरावश्यकादिभिः पदैराचार्येण परीक्ष्यमाणानपि सीदतः पश्यति तत आचार्येभ्यः कथयति । तेन कथिते सति यद्याचार्याः सम्यक् प्रतिपद्य तान्प्रमादिनः प्रति नोदयंति । प्रायश्चित्तं च प्रयच्छंति । ततस्तत्रोपसंपत्तव्यं । अथ कथितेऽपि ते आचार्यास्तूष्णीं तिष्ठंति । भणंति वा किं तव यद्येतेन सम्यग्वर्त्तते । तर्हि अन्यत्र गच्छांतरे उपसंपत्तव्यं । न तत्रेति अथ यतमानेभ्यः समागतः पंजरभग्न इत्युक्तं तत्र पंजरे इति किमुच्यते । तत आह ॥

पणगाइसंगहो होइ, पंजरो जायसारणाणोसं ।
पडिच्छत्तं चढमणाहिं, तिवारणं, सउणिदिट्ठंतो ॥

पंचकं नाम आचार्योपाध्यायप्रवर्त्तिस्थविरगणावच्छेदकरूपं आदिशब्दात् भिक्षवो वृषभाः क्षुल्लकवृद्धाश्च परिगृह्यंते । तेषां संग्रहः पंचकादिसंग्रहो भवति । पंजरः अथवा आचार्यादीनामन्योन्यं परस्परं यत् । मृदुमधुरभाषया सोपालंभभा शिक्षयति एष वा पंजरः । यदि वा यत् प्रायश्चित्तं चमढनाभिरसमाचार्यो निवारणपूर्वं खरपुरुषैस्तर्जयित्वा पश्चात्प्रायश्चित्तप्रदानेन यदा सामाचारीतो निवर्त्तनं तत् पंजरः अत्रार्थे शकुनिदृष्टांतः । यथा पंजरे शकुनेः शलाकादिभिः स्वच्छंदगमनं निवार्यते । तथा आचार्यादिपुरुषगच्छपंजरे सारणाशलाकया सामाचारीरूपोन्मार्गगमनं निवार्यते इति । अत्र ये यतमानानां मूलात् ज्ञानदर्शनार्थमागता ये च परिभवतां मूलात् चारित्रार्थमागच्छन् ते संग्रहीतव्याः । ये पुनः पंजरभग्ना ज्ञानदर्शनार्थमागता ये च परिभवतां मूलात् ज्ञानदर्शनार्थमागमन् ते न संग्रहीतव्याः । तत्र ये संग्रहीतव्यास्ते एको वास्मादनेको वा यत आह ॥

ते पुण एगमणेगाणं, गाणं सारणा जहा पुव्वं ॥
उवसंपयआउट्टे, अणाउट्टे अन्नाहिं गच्छे ॥ १ ॥

ते पुनरुपसंपद्यमानाः कदाचिदेको वा स्यादनेको वा तत्रानेकेषां या सारणा सा यथापूर्वं कल्पाध्ययने " उवपसो सारणा चेव तइया पडिसारणा " इत्यादिना ग्रंथेन भणिता तयाऽत्रापि द्रष्टव्या यः पुनरेकोऽसमीचीनं कुर्वन् शिक्ष्यमाणश्च यद् व्यावृत्तः शिक्षां प्रत्यभिमुखो भवति । ततस्तस्मिन् आवृत्ते षष्ठीसप्तम्योरर्थं प्रत्यभेदात्तस्यावृत्तस्य उपसंपद्भवति यदि पुनर्नावर्त्तते । तदा तस्मिन् अनावृत्ते इदं भण्यते । अन्यत्र गच्छमात्र स्था इति । अथवा इदमुत्तरार्द्धम् (आवस्सगमाइआयरिए) इति यदुक्तं तस्य व्याख्यानं आवश्यकादिषु गच्छवासिनः प्रमादिनो दृष्ट्वा आचार्याय कथयेत् । कथिते च सति यदि आचार्यः सम्यगावर्तते निजसाधून् सम्यक् शिक्षयते प्रायश्चित्तं च तेभ्यः प्रयच्छति ततस्तस्मिन्नावृत्ते तस्य तत्रोपसंपद्भवति । अथ कथिते नावर्त्तते तूष्णीं करोति न भणति किं तवैतैः स्वयं सम्यग्वर्त्तेथा इति । तदाऽन्यत्र गच्छेदिति । यदुक्तं प्राक् ॥

दाऊणं पच्छित्तवज्जंतंपी पडिच्छेज्जा

इति ॥ तत् व्याख्यानयति । (निग्गमणे अपरिसुद्धे, इमाए जयणाए वारेंति) तृतीये भंगे निर्गमने परिशुद्धे प्रागुक्तदोषवर्जिते आगमने अशुद्धे प्रजिकादिषु प्रतिबंधकरणादिषु प्रतिबंधकरणात्तद्द्वितीये पदे अल्पदोषतया प्रतीच्छाशुद्धौ सत्यां प्रायश्चित्तं प्रतिबंधमात्रनिष्पन्नं ददाति । दत्वा च प्रतीच्छंति निर्गमने पुनः प्रथमभंगे द्वितीयभंगे वा अधिकरणमेव अधिकरणादिभिः । एगेऽपरिणए वा इत्यादिभिर्वा दोषैरपरिशुद्धे न प्रतीच्छनीयः किंतु वारणीयः । तं वाऽनया वक्ष्यमाणयाऽयतनया वारयंति ॥

तामेवाह ॥

नत्थिसंकियसंघाडग, मंडली भिक्खवाहिराणयणं ।
पच्छित्तविउस्सग्ग, निगमसुत्तस्स उग्गेण ॥

यः पंजरभग्नो ज्ञानदर्शनार्थमागतः तं प्रतीयं वाच्यतना यत्त्वं श्रुतमभिलषसि । तन्मम पार्श्वे नास्ति अथ स ब्रूयात् मया श्रुतं यथाऽमुकोऽमुयोऽमुकस्य पार्श्वे युष्माभिः श्रुत इति तत् इदं वक्तव्यं श्रुतः स ग्रंथः केवलमिदानीं बहुषु स्थानेषु शंकितं जातं न च शंकितं श्रुतमन्यस्मै दीयते प्रवचने निषेधात् तस्मादन्यत्र निःशंकितश्रुतात् गवेषयस्व । यस्तु स्वच्छंदमतिः संघाटकोद्भिन्नःसंज्ञाभूमिमप्येकाकिना गंतुं न लभ्यामिति

मामागतस्तं प्रतीदं वक्तव्यं । अस्माकमाचार्यपरंपरात इयं सामाचारी संज्ञाजूमिमात्रमपि न गंतव्यमेतच्च तव डुष्करमतोऽन्यत्र गच्छ तावदिति । यः पुनरनुबद्धवैरत्वेनागतस्तं प्रतीदं वक्तव्यं । मंकलीति । अस्माकमीदृशी सामाचारी यदवश्यं मंकल्यांसमुद्देष्टव्यं । यद्यपि च नं पठति न शृणोति वा तथापि सूत्रपौरुष्यां मंकल्यामुपविश्यार्थः श्रोतव्यः न कदाचनापि साधूनां स्वच्छंदत्वमेतच्च भवतोऽप्रीतिकरं तस्मादन्यत्र गम्यतां । यस्त्वलसत्वेनागतस्तं प्रतीदं वाच्यं । (भिक्खबाहिराणं) । भिक्षाया बहिः प्रदेशादानयनं । किमुक्तं भवति ॥ अस्माकमत्र क्षेत्रे बहवो बालवृद्धाः स ग्लानाः साधवः ते च भिक्षां न हिंमंते । ततो यदि प्रतिदिवसं भिक्षां बहिः प्रदेशादानयसि ततस्तिष्ठ परमेतत् डुष्करं तव तस्मात् यत्र सुखेन तिष्ठसि तत्र याहि किमत्र क्लेशासहनेन यस्तु निर्द्धर्म्मो जग्रदंम आचार्यो इति विनिर्गतस्तंप्रतीदमुत्तरं (पच्छित्तत्ति) अस्माकमियं सामाचारीयदिच्छुः प्रमार्जनादिमात्रमपिकरोति । तदातत्कालमेवप्रायश्चित्तं यथोक्तं दीयते न कालक्षेपेण नापि पक्षपाताद्विना स्तोकन्हासेन यस्तु विकृतिसंपद्धो न मह्यं विकृतिमनुजानातीति विनिर्गतस्तं प्रतीयं याम्यतना (अविउस्सग्गेत्ति) अस्माकमप्ययं समाचारागमः ॥ अत्युत्सर्गोनुत्कल्पनं विकृतेरिति व्याख्यामतो गम्यते । योगवाहिना अयोगवाहिना वा विकृतिर्न ग्राह्या इत्यर्थः । अत्राधिकरण प्रत्यनीकस्तब्ध लुब्धविषये यतनानोक्ता विभिन्नत्वात् सूत्र भाष्यगते सूत्राधिकरणे यतना यथा कल्पाध्ययने तथा द्रष्टव्या । शेषविषया तु विनेयजनानुग्रहायाभिधीयते तत्र य प्रत्यनीकस्तत्र मे प्रत्यनीकोऽस्तीत्यागतः स भण्यते ममापि शिष्याः प्रतीच्छकाश्च ईषदपि प्रमादं न क्षमंते मह्यं कथयांति । अहं च दोषानुरूपं दंडं प्रयच्छामि । अन्यथैकतरपक्षपातकरणतोगच्छमुद्राभंगः । सर्वेषांक्षाविक्षेपश्च । तस्माद्भ्राऽपि तवडुष्करमिति नस्थातुमुचितं स्तब्धः पुनरेवं भण्यते । अस्माकमियं सामाचारीचंक्रमणादिकुर्वति गुराव च्युत्थानं अनच्युत्तिष्ठतः प्रायश्चित्तदानमिति लुब्धं प्रत्येषा याम्यतना भक्ष्यद्रव्याणिमोदकादीनि अस्माकं बालवृद्धग्लानप्राघूर्णिकेभ्यो दीयंते । तदेव स्वच्छंदचारित्रप्रभृतीनां निवारणे याम्यतनोक्ता यदि पुनरेते तथा निवारिता अपि न वक्ष्यमाणप्रकारेण प्रत्यावर्त्तते नापि निर्गच्छंति येऽपि च विशुद्धनिर्गमाः प्रतीच्छिताः संतः सीदंति तेषां परिस्थापने यतनामाह (निग्गममुत्तस्स उवेण) यदा परिस्थापयितुमिष्यमाणस्य स्वयं भिक्षादिनिमित्तं निर्गमो भवति । यदा रात्रौ निर्गच्छया सुप्तस्तदा तं त्यक्त्वा नष्टव्यं ॥

कथमित्याह ॥

उवेणाप्रकटमल्पसागारिकं किमुक्तं भवति । ये अपरिणता बालादयो या तत्र गच्छे तेषां न कथ्यते यथाऽमुमेवं त्यक्त्वा नष्टव्यमिति । मा रहस्यभेदं कार्षुरिति कृत्वेति एष गाथार्थः ॥

सांप्रतमेनामेव गाथां विनेयजनानुग्रहाय विवृणोति ॥

नत्थेयंमिज मिच्छसि, सुयं मया आमसंकियं तं तु ।
न य संकियं तु दिज्जइ, निस्संकसुए गवेस्साहि ॥

यदिच्छसि शास्त्रं श्रोतुं तदेतत् मे मम पार्श्वे नास्ति । अथ ब्रूयात् । मयेदं श्रुतं यथाऽमुकं शास्त्रं जवद्भिः श्रुतमिति । तत्राह । आमं तत् शास्त्रं केवलमिदानीं शंकितं जातं नच शंकितं दीयते । तस्मान्निः शंकश्रुतान् गवेषय ॥

(संघाडत्ति) मंकलीति च द्वारद्वयं व्याचिख्यासुराह ॥

एगागिस्स न लब्जा, वियारादी विजयणसच्छंदे ।
जोयणसुत्ते मंकली, पढमंते वा निओयंति ॥

स्वच्छन्दे स्वच्छंदमतौ निवारणार्थमियं वाग्यतना अस्माकमेकाकिनः सतोविचारादावपि बहिर्भूम्यादावपि तत्र सम्यं गन्तुमिति । अनुबद्धवैरे । इयं वाम्यतना । अस्मदीया मुनिवृन्दा जोजने सूत्रे उपलक्षणमेतत् अर्थे वा पठंतोऽपि मंकल्यां नियोजयंति । एतच्च तवडुष्करमिति ॥

अधुना " भिक्खबाहिराणयणं पच्छित्तविउस्सग्गे " इति त्रीणि द्वाराणि व्याख्यानयति ॥

अलसं जणंति बाहि, भिक्खंवहिं कसि अम्हएत्थबालादी ।
पच्छित्तं हाकहकं, अविउस्सग्गो तहा विगई ॥

अलसं प्रति भणंत्याचार्याः । अस्माकमत्र क्षेत्रे बहवो बालादयस्ते च भिक्षां न हिंमंते ततो यदि बाहिर्भिक्षां हिंडसे । तर्हि तिष्ठ अन्यथा व्रज स्थानांतरमिति । निर्द्धर्म्माणं प्रति पुनरिद वदति अस्माकं कोऽपि दुःप्रमार्जनादौ कृते प्रायश्चित्तं हाकहकं देशीपदमेतत् तत्कालमित्यर्थः । दीयते अन्यथा मूलत एव सामाचारीविलोपप्रसक्तेः विकृतिसंपदं प्रति पुनरियं याम्यतना योगवाहिनो वाऽस्माकं गच्छे विकृतेरव्युत्सर्गोऽनुत्कल्पनं जवांश्च डुर्बलशरीरोनवेक्षुरिव पानीयैर्विकृत्याऽल्पस्वभावास्तस्मादन्यत्र प्रयाहीति ॥

अत्र चोदक आह ॥

तित्थ जवे मायमोसो, एवं तु जवे अणुज्ज मं तस्स ।
वुत्तं च उज्जुजूते, सोही तेल्लोकदंसीहिं ॥

यदेतत् निर्गमनाशुरु उपायेन प्रतिषधनमुक्तं तत्र कस्यचित् मतिः स्यात् । एवं प्रतिषेधतो माया भवति । मृषावादश्च । तत्र यत् परिचिंतनं तन्माया विद्यमानमपि श्रुतं नास्ति शंकितं वा तिष्ठतीत्यादि कुर्वाणस्य मृषावादः । एवं तु अमुना प्रकारेण पुनर्माया मृषां कुर्वते जवेत् । तस्यास्नार्जवमनृजुता मायातः कुटिलभावभावात् उक्तं पुनस्त्रैलोक्यदर्शिभिरिदं शोधिकल्पे रुजुजूते सोही तज्जुयस्सेत्यादेः प्रदेशांते श्रवणात् ततो नेदं माया मृषा भाषणमुचितमिति ॥

अत्र सूरिः प्रत्युत्तरमाह ॥

एसअगिते जयणा, गीते वि करेंति जुज्जई जं तु ॥
विदेसकरं इह ए, मच्छरिव दोव फुरुरुक्खो ॥ ? ॥

एषा अनंतरोदिता याम्यतना अगीते अगीतार्थे गीतेऽपि गीतार्थेऽपि निर्गमनाशुद्धे निवारणा क्रियते । स्फुटाक्षरैर्यथा एवंभूतदोषात् त्वमथागत एवं जूतदोषश्च न सुविहितैः प्रतीच्छ्यते इति न चैवं जणितगीतार्थो हि सर्वामपि सामाचारीमवबुध्यते । अवबुध्यमानाश्च कथमप्रीतिं विद्वेषं वा कुर्वंतीति ॥

तथाचाह ॥ (करेंति जुज्जई जंतु) यत् अत्र युज्यते युक्तिमापतति तत् गीतार्थाः कुर्वंति । ना प्रीत्यादिकमिति । इहरत्ति । इतरथा यद्यगीतार्थेऽपि स्फुटरूक्षनिवारणा क्रियते । ततः स्फुटरूक्षे भाषिते सति स्फुटं नाम सद्भूतदोषोच्चारणं रूक्षं स्नेहोपदर्शनरहितं यदि वा स्फुटमेव परस्य रूक्षतोत्पादनात् रूक्षं स्फुटरूक्षं तस्मिन् भाषितेन तत भाष्यमाणं वचस्तेषां विद्वेषकरं विरूपोत्पादकं भवति । अगीतार्थत्वात् चिंतयन्ति च मत्सरभावेनैते सूत्रमर्थं वा न प्रयच्छंति । ततो मत्सरिण

एत इति एवं च चिंतयित्वा स्वपक्षे परपक्षे च मत्सरिण एते इति प्रकाशयति । ततो लोके मत्सरिप्रवादो विद्वेषकरं च तद्वचस्तेषां मा भूदिति प्रागुक्तयतनया निवारणा क्रियते वचनेमत्यामृषादोषसंभवः । यतः परप्रीत्यनुपादकतया परिणाममसुंदरतया चोभयोरपि गुणकारित्वमवेक्ष्य तत्रा वाग्यतना क्रियते । न विप्रतारणबुद्ध्येति ॥

एतेषामेव प्रतीच्छने अपवादमाह ॥

निग्गमसुमुवागएण, वारिया गेएहए समाउट्टं ॥
अहिगरणकिणिअणुबद्ध, मेगागिजढं न साएज्जा ॥

निर्गमोऽशुद्धो यस्य स निर्गमाशुद्धस्तं उपायनप्रागुक्तयतनालक्षणेन वारितं समावृत्तं संतं गृएहाति । किमुक्तं भवति । यदि स तथा प्रतिषिद्धः सन् ब्रूते भगवन्मिथ्या मे दुष्कृतं न पुनरेवं करिष्यामि । किन्तु यथा यूयं भणिष्यथ तथा करिष्यामि । मुक्तो मया पापस्वभावो दुर्गतिवर्द्धन इति । तत एवं तं समावृत्तं गृएहाति किं सर्वमपि नेत्याह ॥ (अहिगरणेत्यादि) योऽधिकरणं कृत्वा समागतस्तं यश्च मे तत्र प्रत्यनीकोऽस्तीत्युक्तवान् तं तथा अनुबद्धरोषं येन च पश्चादेकाकी आचार्यस्त्यक्तस्तं च न (साएज्जा) न सात्मयेत् न सात्मीकुर्यादिति भावः ॥

केवलं प्रत्यनीके अपवादोऽस्ति तमेवाभिधित्सुराह ॥

पडिणीयंमि उ जयणा, गिहंमि आयरियमादिवुट्ठंमि ॥
संजयपडिणीए पुण, न होति उवसामिए जयणा ॥

प्रत्यनीके भजना तामेवाह । गृहिणी गृहस्थे आचार्यादिद्विष्टे । किमुक्तं भवति । यदि कोऽपिनाम गृहस्थ आचार्यस्य आदिशब्दादुपाध्यायप्रवर्त्तिस्थविरगणावच्छेदानां शेषभिक्षूणां च प्रद्विष्टः स चानेकधा उपशम्यमानोऽपि नोपशांतस्ततस्तस्मिन् आचार्यादिप्रद्विष्टे गृहिएयनुपशति तद्भयादागतः सन् प्रतिगृह्यते । यदि पुनः स ब्रूयात् संयतोमे तत्र प्रत्यनीकोऽस्ति ततस्तस्मिन् संयतप्रत्यनीके न भवत्युपसंपत् न स प्रतिगृह्यते इत्यर्थः । अथवा स भएयते । गच्छ त्वं क्षमयित्वा समागच्छ । एवमुक्तो यदि तत्र गत्वा तं न क्षमयति ततो न स प्रतिगृह्यते अथ तेन गत्वाऽसौ क्षामितः केवलं स एव न क्षमते तर्हि पश्चादागतः प्रतिग्राह्यः । अथ स वक्ति मया स तदानीमेवागच्छता क्षामितः । तदा तस्मिन्नुपशांते स नियमात् प्रतिगृह्य एव न भवति भजनानिर्दोषत्वात् ॥

सो पुण उवसंपज्जे, नाणट्ठा दंसणे, चरित्ते, य ।
एएसिं नाणत्तं, वुच्छामि अहाणुपुव्वीए ॥

स पुनरुक्तप्रकारेण संगृह्यमाण उपसंपद्यते ज्ञानार्थं ज्ञाननिमित्तं दर्शने दर्शननिमित्तं सप्तम्या निमित्ते विधानात् । दर्शनप्रभावकशास्त्रनिमित्तमित्यर्थः । चारित्रार्थं चारित्रनिमित्तं एतेषां ज्ञानाद्यर्थमुपसंपद्यमानानां नानात्वभेदं यथोपन्यासं वा आनुपूर्वी तया वक्ष्यामि ॥

प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति ॥

वत्तणा संधणा चेव, गहणे सुत्तत्थ तदुभए ।
वेयावच्चे खमणे, काले आवकहाएय ॥

ज्ञानार्थं दर्शनार्थं चोपसंपत्प्रत्येकं त्रिधा । तद्यथा सूत्रं चार्थश्च तदुभयं च सूत्रार्थतदुभयं तस्मिन् सूत्रेऽर्थे तदुभयस्मिश्चेत्यर्थः । निमित्तसप्तमी चेयं । ततोऽयं भावार्थः । ज्ञानार्थं दर्शनार्थं चोपसंपद्यमानः प्रत्येकं सूत्रार्थं वा उपसंपद्यते । अर्थार्थं वा तदुभयार्थं चेति । पुनरेकैका प्रत्येकं भवति त्रिधा । तद्यथा । वर्तनेति अत्र सप्तमीलोपः प्राकृतत्वात् । वर्त्तनायां वर्तनानिमित्तमेवमेव संधनायां संधनानिमित्तं ग्रहणे ग्रहणानिमित्तं तत्र पूर्वगृहीतस्य सूत्रार्थस्य तदुभयस्य वा पुनःपुनरभ्यसनं वर्तना । पूर्वगृहीतस्य विस्मृतस्य पुनः संस्थापनं संधना । तथा ग्रहणे तत्प्रथमतया अपूर्वस्य सूत्रार्थस्य तदुभयस्य वा ग्रहणनिमित्तं एवं ज्ञाने दर्शने च प्रत्येकं भवति त्रिधा उपसंपत् चरणोपसंपद्यमानो द्विधोपसंपद्यते । तद्यथा । वैयावृत्ये क्षपणे च वैयावृत्यनिमित्तं क्षपणनिमित्तं च । ते द्विधा उपसंपद्यमानाः कालतो यावज्जीवं भवेयुश्च शब्दादित्वराश्च ॥

एतामेव गाथां व्याख्यानयति ॥

दंसणनाणे सुत्तत्थ, तदुभए वत्तणा य एक्केके ॥
उवसंपया य चरित्ते, वेयावच्चे य खमणे य ॥ १ ॥

दर्शनविशोधकानि यानि सूत्राणि शास्त्राणि वा तानि दर्शन शेषाणि सूत्राणि शास्त्राणि वा ज्ञानं । तत्र दर्शनज्ञाने च प्रत्येकमुपसंपत्त्रिधा । सूत्रनिमित्तमर्थनिमित्तं यदुभयनिमित्तं च । एकैकस्मिन् सूत्रादौ प्रत्येकं वर्त्तना संधना ग्रहणं च । किमुक्तं भवति । सूत्रेऽपि वर्त्तनानिमित्तमुपसंपद्यते । संधनानिमित्तमुपसंपद्यते । अपूर्वग्रहणनिमित्तं वा उपसंपद्यते । एवमर्थेऽपि त्रितयमुभयेऽपि त्रितयामिति दर्शनेऽपि नवविधोपसंपद् ज्ञानेऽपि नवविधेति । चारित्रे चारित्रविषया उपसंपत् वैयावृत्ये, क्षपणे च ॥

सुद्धअपडिच्छणे, लहुगा अकरेंते सारणा अणापुच्छा ।
तेसु विमासो लहुतो, वत्तणादिसुत्थाणेसु ॥ १ ॥

यदेतद्गुरुसकाशे सूत्रं तत् सर्वमधीतं । ततोगुरुभिरनुज्ञातो विधिना आपृच्छ्य प्रजकादिष्वप्रतिवध्यमान आगतः । आगतश्च सन् त्रीन् दिवसान् यावत् परीक्षितः शुद्धः । इत्थंभूतं यो न प्रतीच्छत्याचार्यस्तस्य प्रायश्चित्तं लघुकाश्चत्वारो लघुमासाः । योऽपि उपसंपन्नो वर्त्तनानिमित्तं संधनानिमित्तं ग्रहणनिमित्तं वा स यदि वर्त्तनां संधनां ग्रहणं वान करोति तदा तस्मिन् वर्तनादिकमकुर्वति प्रत्येकं त्रिष्वपि स्थानेषु वर्तनादिषु मासोलघुकः प्रायश्चित्तं । आचार्योऽपि यद्युपसंपन्नं प्रमाद्यंतं न सारयति तदा तस्मिन्नपि स्मारणा । अत्र विभक्तिलोप आर्षत्वात् । अकुर्वति त्रिष्वपि वर्त्तनादिषु स्थानेषु मासलघु । एतच्च प्रायश्चित्तविधानं सूत्रविषयम् । अर्थे पुनर्वर्त्तनादिमकुर्वति शिष्ये अर्थनिमित्तमुपसंपन्ने प्रमाद्यंतं वर्त्तनादिष्वसारयति गुरौ च प्रत्येकं त्रिष्वपि वर्त्तनादिषु स्थानेषु प्रायश्चित्तं मासगुरु । उभयविषये च द्वयोरपि प्रत्येकं वर्त्तनादि त्रिष्वपि स्थानेषु पृथक् उभयं प्रायश्चित्त मासगुरु मासलघु चेति । एतच्च गाथायामनुक्तमपि संप्रदायादवसितं । यथा (अणापुच्छा) इति । अनापृच्छयामननुज्ञायामित्यर्थः । अत्र चत्वारो भंगास्तद्यथा । अननुज्ञातोऽननुज्ञातेन सह वर्तनां करोत्येकोभंगः १ अनुज्ञातो अननुज्ञातेन सहेति द्वितीयः २ अननुज्ञातोऽनुज्ञातेनेति तृतीयः ३ अनुज्ञातोऽनुज्ञातेनेति चतुर्थः ४ एवं संधनायां ग्रहणेऽपि च प्रत्येकं चत्वारो भंगाः । एवमर्थेऽपि तदुभयस्मिन्नपि च प्रत्येकं वर्त्तनादिषु चत्वारो भंगाः । तत्र सूत्रविषये त्रिष्वपि वर्त्तनादिषु स्थानेषु प्रत्येकमाद्येषु भंगेषु ददानस्य गृएहानस्य च प्रायश्चित्तं मासलघु । तपःकालविशेषितं । तद्यथा । वर्त्तनायामाद्येषु

त्रिषु भंगेषु मासलघु संघनायां मासलघु । तपो गुरुकाललघु । ग्रहणे मासलघु द्वाभ्यां गुरुस्तद्यथा तपसा कालेन च । एव मर्थे तपःकालविशेषितं मासगुरु । तदुभयप्रायश्चित्तमर्थविषयं च प्रायश्चित्तं गाथा[नु]पात्तमपि व्याख्यानादवगतं । चतुर्थभंगःपुनः सर्वथाऽपिशुद्ध इति न तत्र कस्याऽपि प्रायश्चित्तमिति । इहाचार्यस्याऽपि प्रमादतः सूत्रादिषु वर्त्तनादिकमकुर्वतमुपसंपन्नमसारयतः प्रायश्चित्तमतो नियमात्स आचार्येण सारयितव्यस्तथा च एतदेवाह ॥

सारेयव्वो नियमा, उपसंपन्नोसि जं निमित्तं तु ।
तं कुण सु तुमं भंते!, अकरेमाणे विवेगोउ ॥

स उपसंपन्नो नियमात्सारयितव्यः कथमित्याह । भहोभदंत! ज्ञानाद्यभ्यासकारितया परमकल्याणयोगिन्! इह शिष्यस्याऽप्याचार्येण प्रोत्साहनार्थं तथाविधयोग्यतासंभवमधिकृत्यैवंविधमप्यामंत्रणं कर्त्तव्यमिति ज्ञापनार्थं । अन्यथा भदंतेति गुर्वामंत्रणे रूढत्वात्तत्रैव न्याय्यं न शिष्ये इति । यन्निमित्तमुपसंपन्नस्त्वं तत्कुरु । एवमेकद्वित्रिवारं सारितोऽपि यदि न करोति वर्त्तनादिकं ततस्तस्मिन्नकुर्वति विवेक एव परित्याग एव कर्त्तव्यः । तुरेवकारार्थः ॥

(पडुक्कमणापुच्छा) इति तत् व्याख्यानयति ॥

अणणुन्नमणुएणाए, दिंत पडिच्छंतभंगचउरो उ ।
भंगतियंमि वि मासो, दुहतोणुएणाए सुद्धो उ ॥

अननुज्ञातो मकारोऽलाक्षणिकः । अननुज्ञातो ददाति इतरस्तु प्रतीच्छतीत्येवं ददानप्रतीच्छतां चत्वारो भंगास्तत्र भंगत्रिकेऽपि आद्येष्वपि त्रिष्वपि वर्त्तनादिषु स्थानेषु प्रत्येकं प्रायश्चित्तं मासो लघुमासः । अर्थे गुरुमासस्तदुभयास्मिन् तदुभयं प्रायश्चित्तमिति व्याख्यानात् ॥ (दुहतोएणुएणाए) इति उभयतो ददानतया प्रतीच्छकतया चाऽनुज्ञाते भगश्चतुर्थः शुद्ध एव । तुरेवकारार्थः एषोऽक्षरार्थः । भावार्थस्तु प्रागेवोपदर्शितः ।

एष प्रायश्चित्तविधिर्ज्ञानार्थमुपसंपद्युक्त एवं दर्शनार्थमुपसंपदि द्रष्टव्यस्तथा चाह ॥

एमेव दंसणावी, वत्तणमादी पया उ जह नाणे ।
वेयावच्चकरो पुण, इत्तरितो आवकहितो य ॥

यथा ज्ञाने वर्त्तनादिपदान्यधिकृत्य प्रायश्चित्तविधिरुक्त एवमेव अनेनैव प्रकारेण दर्शनेऽपि वर्त्तमानादीनि पदान्यधिकृत्य वेदितव्यः । गता ज्ञानदर्शनोपसंपत् ॥

इदानीं चारित्रोपसंपत् भावनाया ॥

तत्र काले (आवकहाए य) इति पदं व्याख्यानयति । (वेयावच्चे) त्यादि वैयावृत्यकरो वैयावृत्यार्थमुपसंपन्नः पुनर्द्विधा इत्वरः स्वल्पकालभावी यावत्कथिको यावज्जीवभावी । अस्य च द्विविधस्याऽपि वैयावृत्यकरापणविधिरयं एको गच्छवासी वैयावृत्यकरोऽपरः प्राघूर्णकः स च वक्ति अहं वैयावृत्यं करोमि ॥

तत्र विधिमाह ।

तुल्लेसु जो सुलद्धी, अवरस्स व वारएण निच्छंते ।
तुल्लेसु व आवकही, तस्स मएणं च इत्तरिश्रो ॥

यदि द्वावपि कालतस्तुल्यावित्वरौ च तत्र यद्येकोलब्धिमान् अपरोऽलब्धिकस्तर्हि तयोस्तुल्ययोर्यः स लब्धिकः स कार्यते इतरस्तु उपाध्यायादिभ्यो दीयते । अथ द्वावपि यावत्कथिकौ तत्रापि यो लब्धिमान् स कार्यते इतरोऽन्येभ्यो दीयते । यदि पुनर्द्वावपि सलब्धिकौ यावत्कथिकौ च तत्र अन्यतर उपाध्यायादेः कार्यते । अथैकोऽपि तस्य नेच्छति तत आगंतुको विसृज्यते । अथ द्वावपि सलब्धिकावित्वरौ च तत आगंतुक उपाध्यायादीनां वैयावृत्यं कार्यते सूत्रालापकश्च उपाध्यायादिवैयावृत्यफलप्रदर्शकस्ततः प्रोत्साहनार्थं पठनीयः ॥

उवज्झायवेयावच्चं, करेमाणे समणे ॥
निग्गंथे महानिज्जरे, महापज्जवसाणे होइ ॥ १ ॥

इत्यादि । अथ नेच्छति तर्हि तस्मिन्नन्यस्य उपाध्यायादिवैयावृत्यमनिच्छति वा शब्दोऽभिन्नक्रमत्वात् । वारएण चेत्येव योजनीयः । द्वावपि वारकेण कार्येते कियत्कालमेकः कियत्कालमपर इति । यदि वास्तव्यो वैयावृत्यकरोऽनुमन्यते । अथ नाऽनुमन्यते तत आगंतुकस्तावंतं कालं प्रतीक्षाप्यते । यावत् वास्तव्यस्य वैयावृत्यस्य इत्वरकालसमाप्तिमुपयाति ॥ अथ न प्रतीक्षते तर्हि विसृज्यते अथ द्वयोरपि तयोर्वैयावृत्यकरापणविधिः ॥

अथ एक इत्वर एको यावत्काथिकस्तत्राह (तुल्लेसु व)इत्यादि । तुल्ययोर्लब्ध्यासमानयोर्यावत्काथिकः स कार्यते । इतरोऽन्यस्योपाध्यायादेः सन्नियोजनीयः । अथ वास्तव्यो यावत्कथिकस्तर्हि स भएयते विश्राम्य त्वं तावत् यावदित्वरः करोति तथा चाह । तस्य वास्तव्यस्य वैयावृत्यकरस्य मतेन इच्छया इत्वरो वा कार्यते वैयावृत्यकरस्तथा प्रज्ञापितोऽपि नेच्छति तर्हि न कार्यते । स हि पश्चादपि यास्यति । तत इतरो वास्तव्यो न करिष्यतीति । अथ इत्वरो यावत्कथिकश्च द्वावपि सलब्धिकौ तत्र यावत्कथिकः कार्यते । इतरोऽन्यस्य नियुज्यते विसृज्यते वा । अथवा इत्वरः स लब्धिकस्तत्र यावत्कथिको भएयते । विश्रम्य तावत् वर्त्तितव्यम् । यावदेष इत्वरः सलब्धिकः करोति । पश्चात्त्वमेव करिष्यसि । अथ नेच्छति तर्हि स एव कार्यते । इतरस्त्वन्यस्मै दीयते । तस्य तत्रानिच्छायाम् स विसृज्यते अथेत्वरोऽलब्धिको लब्धिमान् तत्र यावत्कार्थिकः कार्यते । इतर उपाध्यायादेः समर्प्यते । अथ तस्य तत्रानिच्छा तर्हि विसृज्यते । इह यदि वास्तव्यवैयावृत्यकरेणाननुज्ञातो वैयावृत्यं कारयति । यदि वा नापृच्छया अन्यंवैयावृत्यकरं स्थापयति तदा तस्याऽचार्यस्य बहवो दोषास्तानेवाह ॥

अणएणुन्नाए लहुगा, अचियत्तमसाहजोग्ग दाणादी ।
निज्जरं महती हु भवे, तवस्सिमाई ए करणे वी ॥

वास्तव्यवैयावृत्यकरेणाननुज्ञायामुपलक्षणमेतत्तस्यानापृच्छायां वा यद्यागंतुकमित्वरं वैयावृत्ये स्थापयति । ततस्तस्य प्रायश्चित्तं लघुकाश्चत्वारोलघुमासाः । अन्ये ब्रुवते अनापृच्छायां मासलघु । अननुज्ञायां चतुर्लघु । अन्यच्चाननुज्ञायामनापृच्छायां वा वैयावृत्यपदे अन्यस्येत्वरस्य स्थापने वास्तव्यस्य अचियत्तमप्रीतिरुपजायते । अप्रीत्या च कलहं कुर्यात् (असाहजोग्गदाणादी) इति यानि दानादीनि दानश्राद्धादीनि कुलानि योग्यानि तान्यागतुकवैयावृत्यकरस्य न साधयति । न कथयति तस्मात्स इत्वर आगंतुको वैयावृत्यकरः प्रज्ञाप्यते । त्व तपस्यादीनां क्षपकादीनां वैयावृत्यं कुरु तेषामपि क्रियमाणे वैयावृत्ये महती निर्जरा ॥ तदेवं वैयावृत्यद्वारं गतम् ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इदानीं क्षपणद्वारावसरः ॥

आवकही इत्तरिए, इत्तरियविगिट्ठ तह विगिट्ठे य ।
समणामंतणखमणे, अणिच्छमाणं न ओ नियोगो ॥

क्षपक उपसंपद्यमानो द्विधा यावत्कालिक इत्वरश्च तत्रेत्वरो द्विधा विकृष्टतपः कारी अविकृष्टतपः कारी च । तत्र चतुर्थ षष्ठाष्टमकारी अविकृष्टतपः कृत् । दशमादितपः कारी विकृष्ट तपःकृत् तयोर्द्वयोरप्युपसंपद्यमानयोः (समणामंतणत्ति) आचार्येण स्वगच्छस्यामंत्रणं प्रच्छनं कर्त्तव्यं । यथा आचार्या! एष विकृष्टतपः करणार्थं समागतः किं प्रतीक्ष्यतामुत प्रतिषिध्यतामिति । तत्र यदि तेषामनुमतं भवति । तदा प्रतीष्यते अनिच्छायां प्रतिषिध्यते यदि पुनः केचिन्न मन्यंते तर्हि यः कश्चिच्छेष्टवान् तमनिच्छंतं तस्य क्षपकस्य वैयावृत्त्ये बलान्न नियोजयेत् । बलान्नियोगस्य सूत्रे निषेधात् । यस्तु प्रतीच्छितः । स पृष्टव्यः किं त्वविकृष्टं तपः करोषि अविकृष्टं वा यदि ब्रूत अविकृष्टं ततो भूयोऽपि प्रष्टव्यं त्वं पारणकदिने कीदृशोभवसि । यदि प्राह ग्लानोपमः तत्राह ॥

आरोगगठकिन्नमं तं, जणंति मा खव करेहि सज्झायं ।
सक्काकिल्लामिउं जेवि, विगिट्ठेणं तहिं विमरे ॥

अविकृष्टे तपसि क्षाम्यंन्तंभणन्ति सूरयो माक्षपय माक्षपणं कुरु न युक्तं तव क्षपणं कर्त्तुमशक्यभावादित्यर्थः । तस्मात्कुरु स्वाध्यायं तपः करणात्स्वाध्यायकरणस्य बहुगुणत्वात् । अपि च । स्वाध्यायोऽपि परमं तपः । यत उक्तं ॥

वारसविहम्मि वि तवे साब्भिं तरबाहिरे कुसलदिट्ठे ॥
न वि अत्थि न वियहोहिइ, सज्झायसमं तवोकम्मं ॥

अग्लानोपमस्त्वविकृष्टतपः कारो तपः कार्यते यस्तु विकृष्टं तपं करोति स यद्यपि पारणकदिने ग्लानोपमोजायते तथापिस कार्यते । यत आह (सक्क) इत्यादि अदि शब्दः पुनरर्थे ये पुनस्तपस्विनो विकृष्टेन तपसा पारणकदिने क्रमयितु शक्याः क्लाम्यंते इतिभावः तत्र तेषु तपस्विषु वितरेत् दद्यात् तपः करणं तेषां तथा रूपाणामपि समनुजानीयात् । न तु वारणीयं विकृष्टतपः करणस्य महागुणत्वात् केवलं भक्तपानं भैषजादिकमानाय्य दातव्यं । अथ ग्लानोपमो न भवति । किंतु स्वयमेव संस्तारकप्रतिलेखनादीन् व्यापारान् सर्वानप्यहीनातिरिक्तान् करोति प्रतीच्छते एवं च तत्र यो विकृष्टेन तपसा ग्लानोपमो भवति । तत्रेयं सामाचारी ॥

अन्नपडिच्छणे लहुगा, असति गिलाणोवमे अरंते य ।
पडिलेहणसंथारग, पाणग तह मत्तगातिगं च ॥ १ ॥

तस्मिन्गच्छे यद्यन्यः कोऽपि विकृष्टतपः कारी क्षपको विद्यते स च पारणकदिने ग्लानोपमो वा भवेद् ग्लानोपमोवा तथाऽपि तस्मिन्विद्यमाने क्षपके अन्यं क्षपकमाचार्यो न प्रतच्छेत प्राक्तनस्य हि क्षपकस्य पारणकदिने ग्लानोपमस्याग्लानोपमस्य वा सतोऽवश्यं कर्त्तव्यं । न च द्वयोर्वैयावृत्यकरणे साधवः प्रभवंति तस्मान्न प्रत्येषणीयः । यदि पुनः साधवोऽनुमन्यते सोऽपि प्रतीष्यतां तस्यापि वैयावृत्यकरणेन समाधिमुत्पादयिष्याम इति तदाप्रतीच्छनीयः यदि पुनर्गच्छे विद्यमानेऽपि विकृष्टतपः कारिणि क्षपके गच्छानुमतावाचार्योऽन्य प्रतीच्छति तदा तस्यान्यप्रतीच्छने प्रायश्चित्तम् ।

लघुकाश्चत्वारो लघुमासाः (असतित्ति) तथा असति प्रायोग्यद्रव्ये ये दोषास्ते च वक्तव्याः । तेचामी । द्वयो क्षपकयोर्युगपत्पारणकादिने समापतिते पर्याप्त्या पारणकद्रव्ये अलाभतोऽसति असंस्तरणं भवेत् । असंस्तरणाच्च यदेषणादि प्रेरयंति तन्निमित्तं प्रायश्चित्तमाचार्यस्याऽपतनि आज्ञाभंगादयश्च दोषा जायंते । तथा पारणकप्रायोग्यद्रव्यसंपादनेन संस्तरणमकुर्वत्सु साधुषु विषये सोऽप्रीतिं कुर्यात् । अप्रीत्या च अनागाढामागाढां वा परितापनां प्राप्नुयात् । तथा च सति तन्निष्पन्नमपि प्रायश्चित्तमाचार्यस्य अन्यच्च शिष्याः प्रतीच्छकाश्च द्वयोरपि क्षपकयोर्वैयावृत्यकरणतो भग्ना एवं चिंतयेयुर्यथा अन्यान्यक्षपकवैयावृत्यकरणेन नाऽस्माकं सूत्रमर्थो वा तस्मादन्यत्र व्रजाम इति । तथा (गिलाणोवम) इति तेषु गच्छवासिषु साधुषु वास्तव्यक्षपकवैयावृत्यकरणेन व्यापृतेषु ग्लानोपमो जायते । तदा तस्याऽऽचार्यस्य प्रायश्चित्तं चतुर्गुरुकाः । (अरूल्तेयत्ति) तथा गच्छ वास्तव्यक्षपककरणव्यापृततया भक्तपानं वागंतुकस्यादाने स भक्तार्थं पानार्थं वा स्वयं हिंडते प्रतिलेखनादिक्रियां च स्वयमेव कुर्यात् । हिंडमानश्च क्षुधा पिपासया शीतोष्णेन वा पीडितो यद्यनागाढां परितापनां प्राप्नोति तदा प्रायश्चित्तमाचार्यस्य चतुर्लघु अथागाढं तदा चतुर्गुरु । अथ मूर्च्छति तदा षड्लघु ॥ तथा परिताप्यमानो यद्येषणां प्रेरयति तदा तन्निमित्तं प्रायश्चित्तं अथ न प्रेरयति । तदा प्रभूतमट्टतोयदानागाढादिपरितापनां प्राप्नोति तन्निमित्तं प्रायश्चित्तं । अथ तत्र गच्छेऽन्योवास्तव्यः क्षपको न विद्यते । तदा नियमतः प्रतीच्छनीयः । केवलं सोऽपि गच्छानुमत्या । अन्यथा न किमपि तस्य गच्छः करिष्यति । तत्र यदि प्रमादतो वैयावृत्यभीरुतया गच्छो नानुमन्यते । तदा स प्रज्ञापनीयः । अथ कारणवशात्तदा नप्रतीच्छनीयः । यदि पुनर्गच्छाननुमत्याऽपि प्रतीच्छति तदा तस्य प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुकास्तथा गच्छानुमतौ यो यतः प्रतीक्षिष्यते ततः क्षपकप्रायोग्यमानयति । अननुमतौ च नकोऽपि किमप्यानयतीत्यसति पारणकादिने पर्याप्त्याप्रायोग्यद्रव्ये असंस्तरणमसंस्तरणाच्च परितापनादुःखं । तन्निमित्तं प्रायश्चित्तमाचार्यस्य तथा पारणकदिने ग्लानोपमो जायते तथा शेषसाधुप्रयोजनांतर व्यापृततया भक्तपानं वा ददानेषु स्वयं हिंडमाने ये दोषास्तेऽपि वक्तव्याः ॥ संप्रति तस्य क्षपकस्य वास्तव्यस्याऽगंतुकस्य वा कृतप्रत्याख्यानस्यापि यत् प्रतिदिवस कर्त्तव्यं तदाह । (पडिलेहणे) त्यादि । तस्योपकरणं कल्पादि यथायोगमुभयकालं प्रतिलेखनीयं संस्तारकश्च तस्य कर्त्तव्यः । तथापानकं पानीयं तस्योचितमानीय दातव्यं तथा मात्रकत्रिकं च उच्चारमात्रकं प्रस्रवणमात्रकं खेलमात्रकं च यथाकालं समर्पणीयं परिस्थापनीयं वा ॥

सांप्रतमेनामेव गाथां व्याख्यानयन् प्रथमतो (अन्नपडिच्छणे लहुगा) इति च व्याख्यानयति ॥

दुण्णेगतरे खमणे, अन्नपडिच्छंतसंथरे आणा ।
अप्पत्तियपरितावण, सुत्ते हाणिं अन्नहिं च इमे ॥

वास्तव्ये क्षपणे क्षपके द्वयोः ग्लानोपमयोरन्यतरस्मिन्विद्यमाने यदि गच्छानापृच्छया अन्यं प्रतीच्छति । तदा तस्मिन्नित्यं प्रतीच्छति प्रायश्चित्तं लघुकाश्चत्वार इति वाक्यशेषः । तथा युगपत् द्वयोः पारणकादिने युगपत्समापतिते प्रायोग्यद्रव्ये अलाभतोऽसति यदि वास्तव्यक्षपकवैयावृत्यकरणव्यापृतनामागंतुकस्य वैयावृत्यकरणे वेलातिक्रमतोऽसंस्तरणं भवेत् तस्मिंश्चासंस्तरणे यदेषणादि प्रेरयति तन्निमित्तप्रायश्चित्तमाचा

र्यस्य तथा (आणत्ति) आज्ञापदैकदेशेपदसमुदायोपचारात् आज्ञाभंगानवस्थामिथ्यात्वविराधनादोषाः प्रादुःष्युः । तस्य वा संस्तरणे अप्रीतिरप्रीत्या च परितापननिमित्तमपि प्रायश्चित्तं तथा शिष्याः प्रतीच्छकाश्चैवं चिन्तयेयुरस्माकं द्वयोः क्षपकयोः वैयावृत्यकरणव्यापृतानां सूत्रे हानि रूपलक्षणमेतत् अर्थे च तस्मादन्यत्र व्रजामः । संप्रति (गिलाणो धामअभंतेयत्ति) व्याख्यानयति (गेलएण तुल्ल गुरुगा अभंते परितावणा य सयंकरणे । णेसणगहणागहणे- डुगडुहिं भंतमुच्छाय) साधुषु वात्सल्यक्षपक वैयावृत्यकरणतः प्रयोजनान्तर व्यापृततया वा वैयावृत्यमकुर्वत्सु यथा ग्लानकः क्षपको ग्लानतुल्यो ग्लानोपमो जायते । तदा सूरेः प्रायश्चित्तं चतुर्गुरुकाः । तथा भक्तं पानं च अददत्सु स्वयं (दुगडुहिंभंताणि) हिण्डार्थे च हिण्डमाने स्वयं वा उपकरणस्य प्रत्युपेक्षणादेः करणं वा परितापना अनागाढा वा (मूर्च्छायति) मूर्च्छा च तन्निमित्तं प्रायश्चित्तमाचार्यस्य तत्रागाढपरि तापननिमित्तं चतुर्लघु । आगाढपरि तापननिमित्तं चतुर्गुरु मूर्च्छानिमित्तं षट् लघु । णेसणगहणागहणे । इति स स्वयं हिण्डमानः क्षुधापिपासया वा शीतेन वा उष्णेन वा परितापितः सन् यदि नेषणीयमपि गृह्णाति तन्निमित्तं प्रायश्चित्तमग्रहणे ऽनेषणीयस्य प्रभूतं हिण्डमानो यदवाप्नोति । आगाढपरि तापनादिकं तन्निमित्तं माणि यत पयमादयो दोषाः । तस्मात्तच्छ्रुतमापृच्छय तदनुमत्या प्रतीच्छेत् । प्रतीच्छितस्य च सर्वप्रयत्नेन निर्जरार्थतया कर्तव्यमिति । इह आगतः सन्प्रथमदिवसेऽपि प्रच्छनीयो यथा केन कारणेन त्वमिहागतो ऽसीति अन्यथा यदि तमपृष्ट्वैव आलोचना मदापयित्वा च संवासयति । तदा प्रायश्चित्तं तदेवाह ॥

पढमदिणंमि न पुच्छे, लहुओ मासो उ बाइगुरुओ य।
तइयंमि हुंति लहुगा तिएहं तु अतिक्कमे गुरुगा ॥

यदि प्रथमे दिने न पृच्छेत् तर्हि तस्या ऽचार्यस्य प्रायश्चित्तं लघुमासः द्वितीये दिने पृच्छतो मासगुरु तृतीये भवति चत्वारो लघुमासाः । त्रयाणां तु दिनानामतिक्रमे चतुर्थादिषु दिवसेषु प्रायश्चित्तं चतुर्गुरुकाश्चत्वारो गुरुमासाः । अधुना अपवादो भण्यते यदि कार्यादिप्रयोजनवशात्तमेकं द्वे त्रीणि दिनानि षण्मासानपि यावन्न पृच्छति तथापि न प्रायश्चित्तभाक् तथाचाह ॥

कज्जे भत्तपरिएणा, गिलाणराया य धम्मकहवादी ।
छम्मासा उक्कोसा, तेसिं तु वइक्कमे गुरुगा ॥

कार्ये कुलगणसंघविषये व्यापृतो भवेदाचार्यः । तथाकेनाऽपि साधुना भक्तपरिज्ञा कृता तस्य समीपे लोकानुयानागच्छति । तत्राचार्यो धर्मकथने व्यापृतः । ग्लानप्रयोजने वा व्यापृतः ॥

(रायाएधम्मकहीति)

राजा च धर्मार्थी प्रतिदिवसमेति ततस्तस्य धर्मः कथयितव्य इति धर्मकथिकत्वेन व्यापृतः । वादी वा कश्च न प्रबलः समुत्थितः स निग्रही तस्य स्तत एतैः कारणैर्व्यापृतः सन् आचार्यो जघन्यत एकं द्वे त्रीणि वा दिनानि उत्कर्षतो यावत् षण्मासास्तावदाग तुकं प्रष्टुमालोचनां वा प्रदापयितुं न प्रपारयेत् । इत्थमप्रपारणे च दोषाभावः तेषां षण्णां मासानां पुनर्व्यतिक्रमे किमुक्तं भवति । षण्मासेभ्यः परतोऽपि यदि न पृच्छति ना ऽपि दापयत्यालोचनां ततः प्रायश्चित्तमाचार्यस्य गुरुकाश्चत्वारो गुरुमासाः ।

अन्ये तु ब्रुवते । षण्मासानां परतो यदि न प्रतीच्छत्यालोचनां ततः प्रायश्चित्तमाचार्यस्य गुरुकाश्चत्वारो गुरुमासाः । अन्ये तु ब्रुवते षण्मासानां परतो यदि न प्रतीच्छत्यालोचनां तदा लघुमासः । द्वितीयदिनेऽप्यप्रतीच्छने मासगुरु । तृतीयदिने चतुर्लघु । दिनत्रयातिक्रमे चतुर्थादिषु दिनेष्वप्रतीच्छने चतुर्गुरुका इति कार्यादिप्रयोजनवशतो व्यापृत इमां यतनां कुर्यात् ॥

अन्नेण पडिच्छावे, तस्सासति सयं पडिच्छए रत्तिं ।
उत्तरवीमंसाए, खिन्नो य निसिंपि न पडिच्छे ॥

यद्यन्यो गीतार्थस्तस्याचार्यस्य समीपेऽस्त्यालोचनार्हस्तर्हि स संदेशनीयो यथा ऽयमापृच्छता । मालोचनाचास्य प्रतीष्यतामिति । अथ नास्त्यन्यो गीतार्थस्तदा तस्य गीतार्थस्याऽसति भावप्रधानोऽयं निर्देशोऽभावे स्वयमेव रात्रौ प्रतीच्छेत्स्यालोचनां अथ यथा श्रीगुप्तेन षडुलूकः षण्मासान् यावत् वादं दत्वा निर्जित एवं दीर्घकालावलंबिनि विवादे राज्ञावप्युत्तरविमर्शेन प्रत्युत्तरचिंतया खिन्नपरिश्रान्तो निशायामपि न प्रतीच्छत्यालोचनां दत्तामिति अथवा अत्राप्यपवादस्तमेवाह ॥

दोहिंतिहिं वा दिणेहिं, जइच्छिज्जइ तेनहोइ पच्छित्तं ।
तेणपरमणुएणवणा, कुलादिरज्जो व दीवंति ॥

यदि षण्णां मासानां परतो द्वाभ्यां दिनाभ्यां त्रिभिर्वा दिनैः परप्रवादी नियमात् पराजेष्यते कुलादिकार्यं वा समापयिष्यतीत्येवं निश्चीयते । ततस्तेष्वपि दिनेष्वप्रच्छने आलोचनाया अप्रतीच्छने वा न प्रायश्चित्तं भवति । अथ ज्ञायते तेनाप्येकद्वित्रादिषु दिवसेषु न कुलादिकार्यसमाप्तिर्भविष्यति । न च परवादी जेष्यते तदा षण्मासाऽसमाप्ता चैव राज्ञः समीपे गत्वा ज्ञापनीयम् । यथाहं दिनमेकमक्षणिको भविष्यामि नान्यथा अन्यथा इति कुलादिकार्येष्वपि कुलादीन्यनुज्ञापयति तथाचाह (तेण परमित्यादि ।) तेनेत्ययमत इत्यर्थे ततः षण्मासेभ्यः परं कार्यापरिच्छित्तौ संजल्पमानायामनुज्ञापना कुलादेर्दिनमेकं यावत्कर्त्तव्या राज्ञश्च वादिविषये कारणं दीपयन्त्याचार्याः यथाऽहं कारणवशेन दिनमेकमक्षणिको भविष्यामीति । एवं चेन्न करोति तदा प्रायश्चित्तं चतुर्गुरुकाः । तदेवमुक्तः क्षपणोपसंपद्विधिरिदानीं ज्ञानार्थं दर्शनार्थं प्रतीच्छितो नियमादालोचनां दापयितव्यस्स च दाप्यमानः कथमालोचनां ददाति उच्यते ॥

आलोयणा तह चेव य, मूलुत्तरे न वरि विगडिपइमं तु ।
इत्थं सारणवायणं, निवेयणं तेवि ए मेव ॥

यथा सांभोगिकानां विहारालोचनायां मूलगुणातिचारविषये उत्तरगुणातिचारविषये च भणितं । तथात्राऽपि भणितव्यं । किमुक्तं भवति । उपसंपद्यमानोऽप्यालोचनां ददानः पूर्वं मूलगुणातिचारान्प्रागुक्तक्रमेणालोचयति पश्चादुत्तरगुणातिचारान् । नवरमयं विशेषः । विकटिते आलोचिते एकत्र स्थितान् भिन्नस्थितान्वा प्रत्येकं वन्दित्वा इदं भणति ॥

आलोयणमि दिन्ना, इच्छामि सारणवारणवोयणं ।

तेऽप्येवमेव प्रतिभणन्तो निवेदनं कुर्वन्ति (अज्जो अम्हे विसारेज्जा वारेज्जा) इति गता उपसंपदालोचना साम्प्रतमपराधालोचनयाऽत्र प्रकृतं ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एमेव य अवराहे, किं तेन कया तहिं वियविसोही ।
अहिगरणादीसाहति, गीयत्थोवा तहिं नत्थि ॥

यथा विहारालोचना यामुपसंपदालोचनायां वाविधिर्भणित एवमेव तथैव अपराधे अपराधालोचनायामपि द्रष्टव्यो याव-त्पृष्टे वा अपृष्टे वा ब्रूते अहमपराधालोचकः समागतः । ततः आचार्यैर्वक्तव्यः । केनकारणेन ते त्वया तत्रैव स्वगच्छे एव नकृता विशोधिः प्रायश्चित्तांगीकरणेन एवमुक्ते यदि साधयति कथयति अधिकरणादीनि । अधिकरणं तैः सह आदिशब्दात् प्रागुक्तविकृतियोग प्रत्यनीकादि कारणपरिग्रहः । अथवा वाक्ति तत्र गीतार्थो नास्ति । तत्राऽधिकरणादिष्वविशुद्धकारणेषु समागत एवं प्रतिपत्तणनीयः ॥

नत्थि इहं पत्तियरगा, खुल्लखेत्तं उग्गमावि य पच्छित्तं ।
संकीयमादीव एदे, जहकम्मं ते तहवि जासे ॥

अस्तीति निपातो बहुवचनार्थः प्रतिचारका नाम अप-राधापन्नस्य प्रायश्चित्ते दत्ते तपः कुर्वतो ग्लानायमानस्य वैया वृत्यकरास्ते इह मे पार्श्वे न संति खल्लक्षेत्रं नाम मंदभिक्षं यत्र वा प्रभूतमुपकारि घृतादिद्रव्यं न लभ्यते तादृशमिदं क्षेत्रं तथाविधदानश्राद्धश्रावकाभावात् वयमपि च स्तोकेऽप्यपराधे उग्रं प्रायश्चित्तं दद्मः तथा गुरुपारंपर्यं समागमात् तथा यानि (नत्थी संकिय संघाडे) त्यादि प्रागुक्तगाथोपन्यस्तानि शंकितादीनि पदानि तानि संभवेन यथाक्रमं तथेति समुच्चये विजानीयेत ब्रूयात् यथा प्रायश्चित्तसूत्रमनुसृत्य प्रायश्चित्त दीयते तदिदानीं विस्मृतं शंकितं वा जातं नचार्थं स्मरामि । ततः कथं प्रायश्चित्तं प्रयच्छामि अथवा प्रायश्चित्ते प्रतिपन्ने सति तत्तपः त्वयेह कर्तव्यं । तत्रचेयमस्माकं सामाचारी बहिर्भूमिमात्रमपि संघाटकं विना न गंतव्यं यदि पुनः कोऽपि गच्छति ततस्तस्मै प्रायश्चित्तमत्युग्रं ददामि इत्येवं यथासंभवं शंकितादीनि ब्रूयात् न तु दद्यादालोचनामिति यस्तु निर्गमन शुद्ध आगमनेन शुद्धो वा प्रतीष्यते तस्यालोचनायां विधि-र्वक्तव्यः ॥ व्य. उ. १ ।

नन्वकृत्येसमासेविते यत्कर्मबद्धं तदनुभवनीय मेवेत्यालोच-नायां को गुण इत्या शंकायाम् ॥

आसेविते वकिरेणा, जोगादिहिं होंति संवागा ।
अणुतावो तत्तो खलु, एसा सफला मुणेयव्वा ॥ ३ ॥

(पंचा) वृ. १५ आसेवितेऽप्याचरितेऽपि अनासेविते कर्माभावात् फलैर्वाऽऽज्ञाऽनुपालनादित्यापि शब्दार्थः । अकृत्ये साधूनामविधेये कथमित्याह अनाभोगादिभिरज्ञान प्रभृति-भिस्तद्यथा ॥

सहसाणाजोगेण व, जीएण व पेल्लिएणव परेण व ।
सणेणायं केण व, मूढेण व रागदोसेहिं ॥

भवति जायते कुतः इत्याह संवेगा संसारभयादनुतापः पश्चात्तापः प्राक्कृताकृत्य विषयस्तजन्यकर्म क्षपणहेतुभूतः आलोचनायामिति गम्यते ततः किमित्याह । ततो ऽनुतापात् खलुर्वाक्यालंकारे एषाआलोचना स फला सार्थिका (मुणे-यव्वाति) ज्ञातव्येति गाथार्थः ॥

अथ कथमनुतापादालोचना सफला भवतीत्यत आह ॥

जहसंकिलेसओ इह, बंधो वोदारणओ तहा विगमो ।
तं पुण इमीए णियमा, विहिणा सइ सुप्पउत्ताए ॥

व्याख्या । यथा यदुत संक्लेशाद्रागादिलक्षण चित्तमालिन्या दिहा कृत्यासेवने बंधो ऽशुभकर्मोपादनं जीवस्य भवति व्य-वदानं दैप् शोधन इति वचनात् शुद्धिः ततो व्यवदानात्प-श्चात्तापरूप चित्तविशुद्धेः सकाशात्तया तद्वद्विगमा निर्जरणम-कृत्यकरणजन्याशुभकर्मणो भवति यद्येवं ततः किमित्याह (तंपुणत्ति) तत्पुनर्व्यवदानमनया नियमादवश्यतया भवति-विधिना विधानेन वक्ष्यमाणेन सकृत्सदासुप्रयुक्तया भाव-सारं प्रवर्तितयेत्यतः सफलेयमिति गाथार्थः विधिना प्रयुक्ता लोचनाव्यवदानतः सफला स्यादित्युक्तमथोक्तस्यैव विपर्य-यमाह ।

इहरहा विवज्जओ वि हु, कुवेज्ज किरिया दिणायतोणेओ ।
अवि होज्ज तत्थ सिद्धी आणाजंगा न उणएत्थ ।

व्याख्या । इतरथाऽविधिप्रयोगे आलोचना या विपर्ययोऽपि व्यवदानाभावेन आलोचना निष्फलत्वमपि अनर्थफलत्वं वा स्यात् न केवलं विधिना सफलत्वमविधिना विपर्ययोऽपि स्या-दित्यपिशब्दार्थः हुर्वाक्यालंकारे । कुत एवमिदमित्याह । कुवैद्यक्रियादिज्ञाततः कुभिषक् प्रवर्तितरोगचिकित्साप्रभृत्यु दाहरणेनादि शब्दादविधिविद्यासाधनादि परिग्रहः ज्ञेयो ज्ञातव्यः । अविध्यालोचनायां विशेषमाह । अपीति संभाव्यत एतत् यदुत भवेज्जायेत पुण्यानु भावात् तत्र कुवैद्य चिकित्सायां सिद्धिः प्रयोजननिष्पत्तिरारोग्यमित्यर्थः न पुन-रत्र तत्वविध्यालोचनायामिष्टसिद्धिःकुत इत्याह आज्ञाभंगा-दाप्तोपदेशाननुपालनादिति गाथार्थः एतदेवस्पष्टयन्नाह ॥

तित्थगराणं आणा, सम्मं विहिणा उ होइ कायव्वा ।
तस्सब्भहा उकरणे, मोहादतिसंकिलेसोत्ति ॥
बंधो य संकिन्ने सा, तत्तोण सोवेति तिव्वतरगाओ ॥
ईसिमलिणं ए वत्थ सुज्झइनीलीरसादीहिं ॥ ७ ॥

व्याख्या । तीर्थकराणां जिनाना माज्ञोपदेशः सम्यक् भावतः विधिना वक्ष्यमाणविधानेनैव भवति स्यात् कर्तव्या विधि विपर्यये दोषमाह तस्या जिनाज्ञाया अन्यथा तु करणे अवि-धिविधाने पुनः कुत इत्याह । मोहादज्ञानात् किमित्याह अति-संक्लेशं आत्यंतिकं चित्तमालिन्यं भवति इति शब्दः समाप्ता विति बंधश्चा शुभकर्मबंधः पुनः सक्लेशादुत्कटरूपाद्भवति । किं-चेतस्ततः संक्लेशाच्च सः नेवासौ कर्मबंधोऽपैत्यपगच्छति किंभूतात् संक्लेशादित्याह । तीव्रतरकादकृत्यासेवाहेतुभूत-संक्लेशापेक्षयाऽतिशयोत्कटात् आविधालोचना कृताज्ञाभंगज-न्यादित्यर्थः ॥

इहार्थे दृष्टांतमाह ॥

ईषन्मलिनं मनाग्मलयुक्तं न नैव वस्त्रंवासः शुद्ध्यति निर्मलं भवति नोलीरसादिभिर्गुलिकाद्रव्यप्रभृतिभिर्बहुतरमालिन्यहेतु-भिरादिशब्दात् रुधिरादिपरिग्रहः । यथाहीषन्मलिनं प्रचुरमा-लिन्यहेतुना शुध्यत्येवमकृत्यासेवाकृतोबंधोअतिगाढतरबंधहेतु ना आज्ञाभंगहेतुभूतसंक्लेशेनापैतीति गाथाद्वयार्थः पंचा.वृ.१५॥

व्यवहारे आलोचनायाश्चेमे गुणाः ॥

लहुयी ल्हादीजणणं, अप्पपर नियत्ति अज्जवं सोही ।
दुक्करकरणं विणओ, निसल्लत्तं च सोहि गुणालधोजीवो ॥

लघुता यथा भारवाही अपहृतभारोलघुर्भवति तथा आलोचका प्युद्धृतशल्यो लघुर्भवति इति लघुता तथा ल्हादनं ल्हादिणा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दिक इ प्रत्ययः प्रह्लत्ति स्तस्याजननमुत्पत्ति र्ह्लादिजननं-प्रमोदोत्पाद इति यावत् तथा ह्यतीचार धर्म्मतप्तस्य चित्तस्य मलयगिरि पवनसपर्केणेव आलोचना प्रदानेनातीचार धर्म्मा पगमतो भवति संविग्नानां परम मुनीनां महाप्रमोद इति । तथा (अप्पपर नियत्तित्ति) आलोचना प्रदानतः स्वयमात्मनो दोषेभ्यो निवृत्तिःकृता तांचदृष्ट्वाऽन्ये आलोचना भिमुखा जवंतीत्यन्येषामपि दोषेभ्यो निवर्तनमिति । तथा यदतीचारजातं प्रति सेवितं तत्परस्मै प्रकटनामात्मन आर्जवं सम्यग्विज्ञावितं जवति । आर्जवं नाम अमायाविता तथा अतीचारपंकमलिनस्यात्मनश्चरणस्य वा प्रायश्चित्तजलेन अतीचार पंकप्रक्षालनतो निर्म्मलता शोधिः । तथा दुष्करकरणं दुष्करकारिता तथाहि यत्प्रतिसेवनं तन्नदुष्करं अनादिजवा न्यस्तत्वात् यत्पुनरालोचयति तत् दुष्करं प्रबलमोक्षा नुयायि वीर्योल्लास विशेषेणैव तस्य कर्तुमशक्यत्वात् । तथा (विणउत्ति) आलोचयता चारित्रविनयः सम्यगुपपादितो जवति (नेस्सल्लत्ति) मिति सशल्य आत्मा निः शल्यः कृतो जवतीति निःशल्यता एते शोधिगुणा आलोचनागुणाः आलोचनाशोधिरित्यनर्थांतरत्वात् । व्य.उ. १ ।

आलोचनायांदत्तायां ये गुणा जवन्ति ते भक्तप्रत्याख्यान शब्दे वक्ष्यन्ते ।

(८) कालोचना ग्रहीतव्या तानि स्थानानि ॥

आलोचना येषु कार्येषु कर्तव्या तानि व्यवहारकल्पे यथा (आलोयणत्ति का पुणकस्स समासे व होइ कायव्वा । केसु व कज्जेसु जवे गमणा गमणादि एसुं तु) का किंस्वरूपालोचनेति प्रथमतः प्रतिपाद्यं तत स्तदनंतरं कस्य सकाशे समीपे जाति कर्तव्यालोचनेति वाच्यं तथा केषु कार्येषु भवत्यालोचना तत्र प्रतिपत्ति लाघवाय संक्षेपतो ऽत्रैव निर्वचनमाह । गमनागमनादिकेषु गमने आगमने आदिशब्दात् शय्यासंस्तारकवस्त्र पात्रपादप्रोञ्छनकग्रहणादिपरिग्रहः । तुशब्दो विशेषणे । सचैतद्विशिनष्टि गमनागमनादिष्ववश्यकर्तव्येषु सम्यगुपयुक्तस्याऽदुष्टभावतया निरतिचारस्य छद्मस्थस्याप्रमत्तस्य यते रालोचना जवतीति आह यानि नामावश्यकर्तव्यानि गमनादीनि तेषु सम्यगुपयुक्तस्याऽदुष्टभावतया निरतिचारस्याप्रमत्तस्य किमालोचनया तामन्तरेणाऽपि तस्य शुद्धत्वात् यथासूत्रं प्रवृत्तेः सत्यमेतत्केवलं याचेष्टानिमित्ता सूक्ष्मप्रमादनिमित्ता वा सूक्ष्मा आश्रवक्रियास्ता आलोचना मात्रेण शुद्ध्यंतीति तच्छुद्धिनिमित्तमालोचना उक्तं च ॥

जया जवलत्तो नेरइयारो ये करेइ ये करणिज्जायत्ते जोगा तत्थ को विसोही आलोइए आणालोइए वा गुरु जणइ तत्थ जाविह निमित्ता सुहुमा आसवकिरिया ता उसुद्धंति आलोयणामेत्तणंति ॥

तत्र का नामालोचनेति यत्प्रथमं द्वारं तत्सुप्रसिद्धत्वादन्यत्र वा कल्पाध्ययनादिषुव्याख्यात तथापि स्थानाशून्यार्थंकिंचिदुच्यते । आलोचना नाम अवश्यकरणीयस्य कार्यस्य पूर्वं कार्यसमाप्ते रूर्ध्वं वा यदि वा पूर्वं मपि पश्चादपि गुरोः पुरतो वचसा प्रकटीकरणं सालोचना उपरितनेषु प्रायश्चित्तेषु केषु चित्संजवति केषुचिन्न संजवति । तत्र येषु संजवति तत्प्रतिसिद्ध्यर्थमिदमाह ॥

बिइए नत्थि वियमणावा उ विवेगे तहा वि उस्सग्गो आलोयणाउ य नियमा गीयसगीए न केसिं वि ॥

द्वितीये सूत्रक्रमः प्रामाण्यानुसरणात् प्रतिक्रमणं तस्मिन् द्वितीये प्रतिक्रमणलक्षणे प्रायश्चित्ते नास्ति विकटना आलोचना तथाहि सहसाऽनाभोगतो वा यदा किंचिदाचरितं भवति यथा मनोज्ञेषु शब्दादिष्विन्द्रिय गोचरमागतेषु एव मनोज्ञेषु द्वेषगमनं तदा तदनंतरमेव मिथ्यादुष्कृतमिति कृते तत्र तेनैव शुद्धिं यातीति नालोचयति (वा उविवेगत्ति) वा शब्दो विजाषायां विवेके विवेकार्हे प्रायश्चित्ते आलोचनाया विभाषा कदाचित् भवति कदाचिन्नजवतीतिभावः । तथाहि तत् विवेकार्हे नाम प्रायश्चित्तं यत्परिस्थापनया शुध्यति यत्र यदकल्पिकमाधाकर्म्मिकादिपूर्वमविदितत्वेन गृहीतं पश्चात्तकधमपि ज्ञातं तत्यदा परिस्थापयतः शुजजावनाध्यारोहे केवलज्ञानमुत्पद्यते । तदाऽसौ कृतकृत्यो जात इति नालोचयति अनुत्पन्नेतुज्ञानातिशये नियमादागत्य गुरुसमीपमालोचयतीति । (तहाविउस्सग्गेऽइति) यथा विवेके आलोचना विभाषा तथा व्युत्सर्गेऽपि किमुक्तं भवति । व्युत्सर्गेऽपि कदाचिदालोचना भवति । कदाचिन्नजवति । यथा स्वप्ने हिंसादिकमासेवितं तच्छुद्धिनिमित्तं च कायोत्सर्गः कृतस्तदनन्तरं च शुभजावनाप्रकर्षितःकेवलज्ञानमुत्पादि । मरणं वा तस्याऽकस्मिकमुपजातमिति नास्त्यालोचना अनुत्पन्ने तु ज्ञाने जीवितं यावत्नियमादवश्यंविकटना यत् आलोचयति ॥ यथा ॥

स्वप्ने मयाहिंसादिकमासेवितं कायोत्सर्गेण च विशोधितमिति ॥

तत्रालोचनार्हप्रायश्चित्तमेतेषु स्थानेषु भवति । व्य० उ० १

करणिज्जेसु उजोगेसु, छउमत्थस्स भिक्खुणो ॥
आलोयणपच्छित्तं, गुरूणं अंतिएसिया ॥

करणीया नाम अवश्य कर्तव्या योगाःश्रुतोपदिष्टाःसंयमहेतवः क्रिया अथवा योगामनोवाक्कायव्यापाराः (जोगो विरियं थामो उच्छाहपरक्कमो तहा चेट्ठा सत्ती सामत्थं चिय जोगस्स हवंति पज्जाया) इति वचनात्तेचाऽवश्यंकर्तव्यं इमे कूर्म इव वसतौ संलीनगात्रःसुप्रणिहितपाणिपादाऽवतिष्ठते वचनमपि सत्यमसत्या मृषां वा ब्रूते न मृषां चेति मनसोऽप्यकुशलस्य निरोधनं कुशलस्योदीरणमेवं रूपेषु करणीयेषुसम्यगुपयुक्तस्य निरतिचारस्येति वाक्यशेषः सातिचारस्योपरितनप्रायश्चित्तसंजवात् छद्मस्थस्य परोक्षज्ञानिनो नतु केवलज्ञानिन स्तस्य कृतकृत्यत्वेनालोचनाया अयोगात् उक्तंच (छउमत्थस्स हवइ आलोयणा न केवलिणो) इति तस्य तत्रोक्तेन प्रकारेण भिक्षत इत्येवं शीलो भिक्षुस्तस्य यतेरालोचनाप्रायश्चित्तं स्यात्तदपि च गुरूणामंतिके समीपे नान्येषामिति ॥ प्रव० द्वा० ९८ धर्म. अ० ३ ॥

इह करणीया योगा इति सामान्येनोक्तम् ।
अधुनानामग्राहं करणीययोगप्रतिपादनार्थमाह व्य. उ. १ ।

भिक्खवियार विहारे, अएणसुय एवमाइकज्जेसु ।
अविगारियंमि अविण तो, होज्जअसुद्धे न परिजोगो ॥

भिक्षाया विचारे विहारे अन्येष्वपि चैवमादिकेषु कार्येषु आलोचना प्रायश्चित्तं भवतीति वर्तते इयमत्र भावना गुरुमापृच्छ्य गुरुणाऽनुज्ञातः सन् श्रुतोपदेशेनोपयुक्तः स्वयोग्यभिक्षावस्त्रपात्रशय्यासंस्तारकपादप्रोञ्छनादि यद्वि वा आचार्योपाध्याय स्थविरबालग्लानशैक्षक्षपकासमर्थप्रायोग्यवस्त्रपात्रजक्तपानौषधादि गृहीत्वा समागतो विचार उच्चार जूमि-

स्तस्माद्वा समागतो विहारो वसतावस्वाध्यायिकं तमकृत्वा-वसते रन्यत्र गमनं तत एवमादिग्रहणंचैत्यवंदनानिमित्तं एवं-गृहीतपीठफलकशय्यासंस्तारकप्रत्यर्पणनिमित्तं यद्भुता-पूर्वसंविग्नानां वंदनप्रत्ययं वा संशयव्यवच्छेदाय वा श्राद्ध-स्वज्ञात्यवषण्णविहाराणामवबोधाय वा साधर्मिकाणां वा संयमोत्साहनिमित्तं हस्तशतात्परतरमासन्नं वा गत्वा समागता यद्यपि नास्ति कश्चिदतीचारस्तथापि यत्रापि यत्रा विधि-गुरुसमक्षमालोचयितव्यम् अन्यत्रा सूक्ष्मचेष्टा निमित्तानां सूक्ष्म प्रमादानिमित्तानां वा क्रियाणां शुद्धभावात् अन्य-थानिरतिचारोऽपि यदि गुरोः समक्षं नालोचयति ततोऽविनयो भवति । अशुद्धपरिभोगो वा । तथाचाह । अविकटितेऽनालोचितेऽविनयोऽशुद्धे वा परिभोगो भवेत्आलोचिते तून्नयदोषाभावःनत्वविनयदोषाभावःस्यादशुद्धपरिभोगाभावःकथमुच्यते केनाऽपि साधुना भिक्षा प्रचुरासत्कारपुरस्सरा लब्धा तस्य शंकितमुपजातं किंनामेयं भिक्षा शुद्धा वा तत्र यद्यनालोच्य भुंक्ते ततोऽशुद्धपरिभोगो भवति तेनालोचितं आचार्येण पृष्ट-मन्यदिवसेषु तस्मिन् गृहे कीदृशी भिक्षा भवन्त्यत कियंतो वा भोजनकारिणः प्राघूर्णका वा केऽप्यागताः संखंडी वा जाता इत्यादि विभाषा एवं च पृष्टे तेन यथावस्थितं कथितं-ततः आचार्येण ज्ञाता शुद्धा अशुद्धा वा तस्मादालोचयितव्यं॥ अन्यच्च ॥

छउमत्थो तहम्महा वा हवेज्ज उवओगो ॥
आलोएंतोजहइ सो तं वियाणईसोया ॥

अन्यच्च किंचान्यदित्यर्थः । छद्मस्थिकः सामान्यसाधुगतः उपयोगस्तथा यथावस्थितवस्त्वनुसारी अन्यथावा विपरीतो भवेत् । आचार्यस्तु मतिमेधाधारणादिगुणसमन्विततया बहुश्रुततया वातिशयज्ञानी ततः शंकितमालोचिते अशंकितमालोचितो निःशंकितं करोति तथा यद्यपि गृहतः शंकितमुपजातं । तथापि । कदाचिदालोचयन् स्वप्रज्ञयाऽप्यूहेत ततः शुद्धम-मशुद्धं वा स्वयमेव जानाति यदि वा तदीयामालोचनां श्रुत्वा श्रोताऽप्याचार्यादिकःपूर्वोक्तप्रकारेणयदिवा आचार्यादि-कस्य पार्श्वे बहवो लोकाः समागच्छन्तिबहुश्च्यश्चबहु शृण्वन् कदाचित्तमपि विषयं लोकतः श्रुत्वा जानाति शुद्धमशुद्धं वा तस्मादालोचयितव्यं । यदुक्तं ।(गुरूणं अंतिए सिया)इति तत्र स्यादित्यस्य व्याख्यानमाह ॥

आसंकमवहियंमि य होइ सिया अवहिए तयं पगयं ॥
गणतत्तिविप्पमुक्के तिक्खवे वावि आसंका ॥

स्यातशब्द आशंकमिति प्राक् तत्वादाशंकायामवधृते चार्थे आशंका नाम विभाषा यथा स्यादिति कोऽर्थः ॥ कदाचिद्भवेत् कदाचिन्न भवेत् । अवधृतं नाम अवधारणं तत्र तयोर्द्वयोरर्थयोर्मध्येऽवधृतेऽवधारणे प्रकृतमधिकारः । अवधारणार्थोऽस्याच्छब्द इतिभावः । ततोऽयमर्थः ॥ गुरूणामन्तिकेनियमादालोचना यदि वा आशंकायामपि कृतं तत्रायमर्थः ॥ गुरूणामंतिके स्यात्तावदालोचना यदि पुनराचार्यो गणतत्तिविप्रमुक्तो भवति तत स्तस्मिन्गणतप्तिविप्रमुक्ते-उपाध्यायस्य समीपे आलोचना अथोपाध्यायस्याऽपि कुला-दिकार्ये श्राद्धादिकथनैर्वा व्याक्षेपस्ततस्तोऽन्यस्य गीतार्थस्य तदभावे गीतार्थस्याऽपि समीपे आलोचयितव्यं गतमालो-चनाप्रायश्चित्तम् आलोचनीयाऽतिचाराः व्यवहारशब्दे ।

तिएहमइक्कमाणं आलोएज्जा पडिक्कमेज्जा णिंदेज्जा गरहिज्जा जाव पडिवज्जेज्जा तं जहा णाणाइक्कमस्स दंसणाइक्कमस्स चरित्ता इक्कमस्स एवं वइक्कमाणं अइ-याराणं अणायारा णं स्था ठा. ३ ॥

अतिक्रमाणांत्रयाणां गुरवे निवेदनम् ॥

तिएहं अइक्कमाणंति । षष्ठ्या द्वितीयार्थत्वा त्रीनतिक्रमानालोचयेत् । गुरवे निवेदयेदित्यादि । प्राग्वत् नवरं यावत्करणात् विसोहेज्जा विउट्टेज्जा अकरणयाए अब्भुट्ठेज्जा अहारिहं तवो कम्मं पायच्छित्तमित्यध्येतव्यमिति ॥ स्था. टी. ।
अथालोचयितव्यापराधदर्शनार्थ माह पंचाशके वृ. १५ ।

आलोएयव्वा पुण अइयारा सुहुमबायरासम्मं ।
णाणा यारादिगया पंचविहो सोय विण्णेओ ५५।

व्याख्या । आलोचना विधिस्तावदय मालोचयितव्याः पुनः प्रकाशनीयास्तु अतीचारा अपराधाः सूक्ष्मबादराः लघु गुरुका न तु लघवएव बादरा एवचा सम्यग् भावशुद्ध्याज्ञानाचारादिगता ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारविषयाः पंचविधः पंचप्रकारः स च आचारः पुनर्विज्ञेयो ज्ञातव्य इति गाथार्थः ।

१ कः पुनस्सोऽतिचारः कुतोवा प्रवृत्यालोचयितव्यमिति भत्तपच्चक्खाण शब्दे ॥

(ए) द्रव्यादिचतुर्विधमालोचनीयं ॥

किंपुनस्तदालोचनीयं । उच्यते । चतुर्विधं । द्रव्यादि तथा चाह ।
(वेयणमचित्तदव्वं जणवयसट्ठाणे होइ खेत्तम्मि ।
दिण निसि सुभिक्ख दुभिक्खकाले भावम्मि हेट्ठियरे) ॥
द्रव्यतश्चेतनं सचित्तमुपलक्षणमेतत् । मिश्रं वा अचित्तम-चेतनं वा अकल्पिकं यत्किंचित्सेवितं क्षेत्रतो जनपदे वा अध्वनि वा कालतो दिने निशिवा यदि वा सुभिक्षे वा दुर्भिक्षे वा भावे हेट्ठियरे सप्तमी तृतीयार्थे । न्हष्टेन इतरेण वा ग्लानेन सता यतनया वा दर्पतः कल्पतो वा लोचयति । कथमित्याह (जह बालो जंपंतो कज्जमकज्जं चउज्जयं भणइ । तं तह आलोएज्जा मायामयविप्पमुक्कोउ) ।
यथा बालो मातुःपितुर्वा पुरतो जल्पन् कार्य्याकार्य्यञ्च ऋजुकमकुटिलं भणतितथा आलोचकोऽपिमायामदविप्रमुक्तः सन् तदालोचनीयं । यथा ऋजुभावेनालोचयेत् व्य. उ. ४ ॥
गोचरचर्य्यातः प्रतिनिवृत्तस्यालोचना पञ्च वस्तुके । यथा ।
(चिंतितु जोगमखिलं नवकारेणं त ओ उ आरित्ता ।
पढिऊण थयंताहे साहू आलोअए विहिणा ॥ ३ ॥)
पुनः चिंतयित्वा योगमखिलसामुदानिकं नमस्कारेण ततश्च तदनंतरं पारयित्वा णमोअरहंताण मित्यनेन । ततः पठित्वा स्तवमितिश्चतुर्विंशतिस्तवपाठानन्तरं गुरुसमीपं गत्वा साधुर्जावतश्चारित्रपरिणामापन्नः सन्नालोचने तद्भिक्षानिवेदनं कुर्य्याद्विधिना प्रवचनोक्तेनेति गाथार्थः । पं. व. ॥
गोचरचर्य्यायां आगत्य गुरोरावेद्यालोचनं गोचरचर्य्याशब्दे॥
गोचरचर्य्यायामकृत्यं प्रतिषेव्यालोचयतो मोक्षमार्गाराधकत्वमाराधना शब्दे ॥ भ० ॥ श. ८ उ. ६ ॥
यव्यहारकल्पे ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(१०) अपराधालोचनायां प्रशस्ताऽप्रशस्तद्रव्यादयः ॥
अपराधालोचनामधिकृत्य प्रशस्ताप्रशस्तद्रव्यादयो यथा व्य० ॥ १ ॥

दव्वादिचउरभिग्गह, पसत्थमपसत्थएते दुहेक्के ।
अपसत्थेवज्जेउं पसत्थएहिं तु आलोए ॥

अपराधालोचनायां दीयमानायां द्रव्यादयो द्रव्यक्षेत्रकाल-भावाश्चत्वारश्चतुःसंख्याका अपेक्षणीया भवन्ति । तथा (अभिग्गहत्ति) दिशामभिग्रहः कर्त्तव्यः । ते च द्रव्यादयो दिशश्च एकैकं प्रत्येकं द्विधा द्विप्रकारास्तद्यथा । प्रशस्ता अप्रशस्ताश्च तत्र प्रशस्तान् द्रव्यादीन् अप्रशस्तांश्च दिशो वर्जयित्वा प्रशस्तैर्द्रव्यादिभिर्दिग्विशेषैश्च । किमुक्तं भवति । प्रशस्तेषु द्रव्यादिषु प्रशस्ताश्च दिशोऽभिगृह्य आलोचनां दद्यात् ॥

तत्राप्रशस्तद्रव्यादिप्रतिपादनार्थमाह ॥

भग्गघरे कुडेसु य, रासीसु य जे दुमा य अमणुन्ना ।
तत्थ न आलोएज्जा, तप्पडिवक्खदिसा तिण्णि ॥

यत्र स्तंभकुड्या कुड्यादीमामन्यतमत्किमपि पतितं तत् भग्नगृहं तत्र तथा (कुडेसुइति) कुड्यग्रहणात् कुड्यमात्रा विशेषे यत्र पाठांतरं (रुद्देसुय) इति तत्र रुद्रेषु रुद्रगृहेषु तथा राशिषु अमनोज्ञतिलमाषकोद्रवादिधान्यराशिषु ये च द्रुमा अमनोज्ञा निष्कंटकिप्रभृतयोऽमनोज्ञा अप्रशस्ता सूचिते तेष्वप्याश्रयभूतेषु उपलक्षणमेतत् अप्रशस्तासु तिथिषु अप्रशस्तेषु च संध्यागतादिषु नक्षत्रेषु अप्रशस्ताश्च याम्यादिदिशोऽभिगृह्य नालोचयेत् । किंतु तत्प्रतिपक्षे प्रशस्तद्रव्यादिरूपे आलोचयेत् तथा प्रशस्ताश्च तिस्रो दिशः पूर्वामुत्तरां प्रतीचींचाभिगृह्य आलोचयेत् । इदानीममनोज्ञधान्यराश्यादिषु द्रव्यादित्वयोजनामाह ॥

अमणुन्नधणरासी, अमणुन्नदुमायहोंति दव्वंमि ।
भग्गघररुद्दऊसर, पवायदड्ढा इखित्तंमि ॥

अमनोज्ञधान्यराशयो ऽमनोज्ञद्रुमाश्च भवन्ति द्रव्ये द्रष्टव्याः । भग्नगृहं प्रागुक्तस्वरूपं (रुद्दत्ति) रुद्रगृहं (ऊसरत्ति) ऊषरं यत्र तृणादि नो गच्छति । छिन्नटंका तटीप्रपातः भृगुप्रपातादिकं वा दग्धं दवदग्धमादिशब्दाद्विरुद्धतादिपरिग्रहः इत्यादि सर्वं क्षेत्रं द्रष्टव्यं तत्र यत् अमणुन्न दुमाय होंति दव्वंमीत्युक्तं तदेतत् व्याख्यानयति ॥

निप्पत्तकंटइल्ले, विज्जुहते खारकडुय दड्ढे य ।
अयतउयतंब सीस, गदव्वे धणाय अमणुन्ना ॥

निष्पत्राः स्वभावतः पत्ररहिताः करीरादयः । कंटकिनो बदरीबब्बूलप्रभृतयः । विद्युद्धता विद्युत्पातभग्नाः क्षाररसा मोरहप्रभृतयः । कटुकाः कटुकरसा रोहिणी कुटजनिंबादयः । दग्धादावदग्धाः एतान् द्रुमान् अमनोज्ञान् जानीहीति वाक्यशेषः नकेवलममनोज्ञधान्यराशयो अमनोज्ञा द्रुमाश्च द्रव्ये वर्जनीयाः । किंतु अयस्त्रपुताम्रसीसकराशयो द्रव्ये वर्जयितव्याः (अमणुन्नाधणरासी) इति व्याख्यानयति । अमनोज्ञानि धान्यानि चशब्दः । पुनरर्थे अमनोज्ञधान्यराशयः ॥

संप्रति कालतो यदिच सा वर्जनीयास्तानाह ॥

पडिकुट्ठिल्लगदिवसे, वज्जेज्जा अट्ठमिं च नवमिं च ।
छट्ठिं च चउत्थिं बारसिंच, दोण्हंपि पक्खाणं ॥

इह इल्लप्रत्ययः प्राकृतत्वात्स्वार्थे प्रतिकुष्टा एव प्रतिकुष्टिल्लकाः । ते च ते दिवसाश्च प्रतिकुष्टिल्लकदिवसाः । प्रतिषिद्धा दिवसास्तान्वर्जयेत् । तानेव नामत आह द्वयोरपि शुक्लकृष्णरूपयोः पक्षयोरष्टमीं नवमीं षष्ठीं चतुर्थीं द्वादशीं च । एता हि तिथयः शुभप्रयोजनेषु सर्वेष्वपि स्वभावत एव प्रतिकूलास्ततो वर्जनीयाः इदं कालतोऽप्रशस्तं वर्ज्यं संध्यागताधिकं नक्षत्र तदेवाह ॥

संज्झागयं रविगयं, विड्डेरं, सग्गहं विलंबि च ।
राहुहयं गहभिन्नं, वज्जए सत्तनक्खत्ते ॥

संध्यागतं नाम यत्र नक्षत्रे सूर्योऽनंतरं स्थास्यति । तत् आदित्यपृष्ठस्थितमन्येपुनराहुर्यस्मिन्नुदिते सूर्ये उदेति तत् संध्यागतमपरे त्वेवं ब्रुवते यत्र रविस्तिष्ठति । तस्माच्चतुर्दश पंचदशं वा नक्षत्रं संगतं यत्र रविस्तिष्ठति । पूर्वद्वारिके नक्षत्रे पूर्वदिशा गंतव्ये यदा अपरयादिशा गच्छति । तदा तत् विड्डारं विगतद्वारमित्यर्थः । यत्क्रूरग्रहेणाक्रांतं तत् सग्रह विलंबि यत् सूर्येण परिभुज्य मुक्तं अन्ये त्वाहुः । सूरगतात् नक्षत्रात् पृष्ठतस्तृतीयं तत् पृष्ठतस्तृतीयं विलंबि इति । राहुहतं यत्र सूर्यस्य चंद्रस्य वा ग्रहणं यस्य मध्ये नग्रहोऽगमत् ग्रहभिन्नं । एतानि सप्तनक्षत्राणि चन्द्रयोगयुक्तानि वर्जयेत् । यत एतेष्विमे दोषाः ॥

संज्झागयंमि कलहो, होइ कुभत्तं विलंबिनक्खत्ते ।
विड्डेरपरविजयो, आदिच्चगए अनिव्वाणी ॥
जं सग्गहंमि कीरइ, नक्खत्तेतत्थवुग्गहोहोइ ।
राहुहयंमि यमरणं, गहभिन्ने सोणिउग्गालो ॥

संध्यागते नक्षत्रे शुभप्रयोजनेषु प्रारभ्यमाणेषु कलहो रारिर्भवति । विलंबनक्षत्रे कुभक्तं विड्डारे परेषां शत्रूणां विजयः । आदित्यगते रविगते अनिर्वाणिरसुखं सग्रहे पुनर्नक्षत्रे यत्क्रियते तत्र व्युद्ग्रहः संग्रामो भवति । राहुहते मरणं ग्रहभिन्ने शोणितोद्गारः शोणितविनिर्गमः । एवं भूतेष्वप्रशस्तद्रव्यक्षेत्रकालभावेषु नालोचयेत् किंतु प्रशस्तेषु तत्र प्रशस्ते द्रव्ये शाल्यादिप्रशस्तधान्यराशिषु मणिकनकमौक्तिकवज्रवैडूर्यपद्मरागादिराशिषु च प्रशस्तं क्षेत्रं साक्षादाह ॥

तप्पडिवक्खेखेत्ते, उच्छुवणा सालिचेइयघरेवा ।
गंभीरसाणुणाए, पयाहिणावत्तउदयएय ॥

तस्य प्रागुक्तस्याप्रशस्तस्य क्षेत्रस्य प्रतिपक्षे प्रशस्तेक्षेत्रे इक्षुवने उपलक्षणमेतत् । आरामे वा पत्रपुष्पफलोपेते (सालित्ति) वन शब्दोऽपि संबध्यते । शालिवने चैत्यगृहे वा शब्दो विकल्पो न तथा गंभीरे गंभीरं नाम भग्नत्वादिदोषवर्जितं शेषजनेन च प्रायेणालक्षणीयमध्यभागं स्थानं गंभीरमस्थामिति वचनात् सानुनादे यत्रोच्चारिते शब्दे प्रतिशब्दः समंतात् उत्तिष्ठति । तत्सानुनादं तथा प्रदक्षिणावर्त्तमुदकं यत्र नद्यां पद्मसरसि वा तत् प्रदक्षिणावर्त्तोदकं तस्मिन्वा वशब्दो वा शब्दार्थः क्वचिद्वा शब्दस्यैव पाठः । प्रशस्तकालमाह ॥

उत्तदिणसेसकाले, उच्चट्ठाणा गहाय जावंमि ।
पुव्वदिसउत्तरा वा, चारंति य जाव नवपुव्वी ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उक्तानि यानि दिनानि अष्टम्यादीनि तेभ्यो ये शेषा द्वितीयादयो दिवसास्ते च स कालश्च उक्तदिनशेषकालस्तस्मिन्प्रशस्ते व्यतीपातादिदोषवर्जिते उपलक्षणमेतत् । प्रशस्ते च करणे प्रशस्ते च मुहूर्त्ते एतत् कालतः प्रशस्तमुक्तं भावतः प्रशस्तमाह । उच्चं स्थानं येषान्ते उच्चस्थाना ग्रहाः । भावे भावविषयं प्रशस्तं । किमुक्तं भवति । भावत उच्चस्थाने गतेषु तत्र ग्रहाणामुच्च स्थानमेवं (सूर्यस्य मेष उच्चः स्थानं । सोमस्य वृषः । मंगलस्य मकरः । बुधस्य कन्या बृहस्पतेः कर्कटकः । शुक्रस्य मीनः । शनैश्चरस्य तुला । सर्वेषामपि च ग्रहाणामात्मीयादुच्चः स्थानात् यत्सप्तमं स्थानं तत् नीचः स्थानं । अथवा भावतः प्रशस्ता ये सौम्यग्रहा बुधशुक्रबृहस्पतिशशिन एतेषां संबंधिषु राशिषु एतैरवलोकितेषु च लग्नेषु आलोचयेत् । तथा तिस्रो दिशः प्रशस्ता ग्राह्याः । तद्यथा पूर्वा उत्तरा चरती च चरंती नाम यस्यां भगवानर्हद्विहरति समान्यतःकेवलज्ञानी मनःपर्ययज्ञानी अवधिज्ञानी चतुर्दशपूर्वी त्रयोदशपूर्वी यावन्नवपूर्वी यदि वा योयस्मिन् युगे प्रधान आचार्यः स प्रातिहारिकान् यया विहरति । एतासां तिसृणां दिशामन्यतमस्या दिशोऽभिमुख आलोचनार्होऽवतिष्ठते तस्येयं सामाचारी ॥

निसज्जासति पडिहारी य,किइकम्मं काउयं जलुकडुओ ।
पहुपडिसेवरिसां, सुयअणुधावेउं निसज्जमातो ॥

आत्मीयकल्पैरपरिभुक्तैराचार्यस्य निषद्यां करोति । असति आत्मीयकल्पानामभावे अन्यस्य सकाशात् वा कल्पान् गृहीत्वा करोति । कृत्वा च यथाचार्यः पूर्वाभिमुखो निषीदति तत आलोचकोदक्षिणत उत्तराभिमुखोऽवतिष्ठते । अथाचार्य उत्तराभिमुखो निषण्णः । तत आलोचको वामपार्श्वे पूर्वाभिमुखस्तिष्ठति । चरंती च दिशं प्रत्याभिमुखो भवति । ततः कृतिकर्मद्वादशावर्त्तवंदनकं कृत्वा प्रवृद्धोऽञ्जलिर्येन स प्रांजलिः । उत्सर्गत उत्कटुकस्थितः सन् आलोचयेत् । यदि पुनर्बहुप्रतिसेवितमस्तीति चिरेणालोचनापरिसमाप्तिमुपयास्यति तावंतं च कालमुत्कुटुकः स्थातुं न शक्नोति । यदि वा अर्शोरोगवत उत्कुटुकस्य सतोऽर्शांसि क्षोभमुपयांति ततो बहुप्रतिसेवी । अर्शः सुबहुसु गुरुमनुज्ञाप्य निषद्यायामौपग्रहिकपादप्रोञ्छने वा अन्यस्मिन्वा यथार्हे आसने स्थितः आलोचयति किंपुनस्तदालोचनीयं उच्यते । चतुर्विधं द्रव्यादि । तथा चाह ॥

चेयणमचित्तदव्वं, जणवयसद्धाणे होइ खेत्तंमि ।
दिणनिसिसुभिक्ख, दुब्भिक्खकाले भावंमिहेट्ठियरे ॥

द्रव्यतश्चेतनं सचित्तमुपलक्षणमेतत् । मिश्रं वा अचित्तमचेतनं वा अकल्पिकं यत्किंचित्सेवितं क्षेत्रतो जनपदे वा अध्वनि वा कालतो दिने निशि वा यदि वा सुभिक्षे वा भावे हेट्ठियरे सप्तमी तृतीयार्थे हृष्टेन इतरेण वा ग्लानेन सता यतनया वा दर्पतः कल्पतो वा तत् आलोचयति ॥

(११) यथाभूतेषु-द्रव्यादिष्वालोचना-तादृशानां प्रतिपादनम् ॥

सम्प्रति यथाभूतेषु द्रव्यादिष्वालोचना तथाभूतद्रव्यादि प्रतिपादनार्थमाह ॥ १ व्य० १ उ. ॥

आलोयणा विहाणं,तं चेव जं दिव्वाखित्तकाले य ।
भावे सुद्धमसुद्धो, ससणिद्धे सातिरेगाइं ॥ ९ ॥

आलोचनाविधानं तदेवात्रापि सविस्तरमभिधातव्यं यदुक्तं प्रथमसूत्रे (दव्वादिचउरभिग्गहे) त्यादिना ग्रंथेन ततः प्रागुक्तदोषवर्जिता आलोचना प्रशस्ते द्रव्ये क्षेत्रे काले भावे च प्रागुक्तस्वरूपे दातव्या नाऽप्रशस्ते । इह प्रतिसेवितं द्विधा भवति । शुद्धमशुद्धं च । तत्र यत् शुद्धेन भावेन प्रतिसेवितं यतनया च तत् शुद्धं । तच्च शुद्धत्वादेते न प्रायश्चित्तविषयाः । यत्त्वशुद्धेन भावेन प्रतिसेवितमयतनया च तदशुद्धं । तच्च प्रायश्चित्तविषयेऽशुद्धत्वात् तस्मिन्नशुद्धे प्रायश्चित्तानि केवलानि मासिकादीनि सातिरेकाणि च तत्र सातिरेकाणि (ससिणिद्धे) इति सस्निग्धे हस्ते मात्रके वा सति तेन भिक्षाग्रहणात उपलक्षणमेतत् तेन बीजकायसंघट्टनादिनाऽपि सातिरेकाणि द्रव्याणि तत्र सातिरेकाणि द्रष्टव्यानि ॥ व्य०गंथा० ॥

(१२) आलोचनासमयवर्णनम् ॥

कालो पुण एताए, पक्खादी वण्णितो जिणिंदेहिं ॥
पायं विसिट्ठिगाए, पुव्वायरिया तहा चाहु ॥ ९ ॥

व्या० । कालोऽवसरः पुनः शब्दएवं योज्यं । आलोचनाया विधिस्तावद्यं । कालः पुनरेतस्या आलोचनायाः पक्षादिरर्द्धमासप्रभृतिरादिशब्दाच्चतुर्मासादिग्रहः वर्णित उक्तोजिनेन्द्रैरर्हद्भिः प्रायो बाहुल्येन । प्रायोग्रहणं यदैव विशिष्टमपराधमापन्नस्तदैवालोचनां कदाचित्करोति ग्लानत्वोत्थितोदीर्घोध्वगतादिर्वा न पक्षादिकमपेक्षत इत्येतदर्थसूचनार्थं किं सर्वस्यालोचनायाः पक्षादिकाल इत्यत्राह । विशिष्टकाया विशेषवत्याः सामान्या पुनरावश्यकद्वये प्रतिदिनं विधीयत एवेति पक्षादिकमालोचनाकालं पूज्यवचनेन दर्शयितुमाह । पूर्वाचार्या भद्रबाहुस्वामिमिश्रास्तया च तेनैव प्रकारेण पक्षादिप्रतिपादनपरतया आहुर्बुवत इति गाथार्थः यदाहुस्ते ।

तदेवाह ॥

पक्खियचाउम्मासे, आलोयणाणियमसो उ दायव्वा ॥
गहणं अभिग्गहाण य, पुव्वगाहिए णिवेएउं ॥१०॥

व्या० ॥ पक्षेऽर्द्धमासे भवं पाक्षिकं पर्व चतुर्दशी पंचदशी वा । चतुर्षु मासेषु भवं चातुर्मासं पर्व च ततो द्वंद्वैकत्वात्पाक्षिकचातुर्मासे किमित्याह ॥ आलोचना उक्तार्था ह्रस्वत्वं प्राकृतत्वात् (नियमसाउत्ति) सकारस्य प्राकृतत्वान्नियमेन वावश्यतयैवान्यानियमा दातव्या देया । तथा ग्रहणं चोपादानं विधेयमभिग्रहाणां नियमानां चः समुच्चयार्थो योजितश्च पूर्वगृहीतान् प्रागुपात्तान् निवेद्य गुरोराख्यायेति गाथार्थः ॥ किंपुनःपक्षादावानिमतेयमित्याह ॥

जीयमिणं आणाओ, जयमाणस्सवियादोससब्भावा ॥
पम्हुसणपमायाओ, जलकुंभमलादिणाएण ॥ ११ ॥

व्या० ॥ जितमाचरितं पूर्वमुनीनामिदं पक्षाद्यालोचनातिचारणामप्योघत आलोचनादानं तथा आज्ञातः आप्तोपदेशात्पक्षादावालोचनेति प्रकृतं तथा यतमानस्याऽपि च संयमे घटमानस्याऽपि चास्तामितरस्य दोषसद्भावादतिचारसंभवादालोचनेति प्रकृतमथकथं यतमानस्यातिचार इत्याह । (पम्हुसणंति) विस्मरणं प्रमादश्च प्रमत्तता ताभ्यामत्रोदाहरणमाह । जलकुंभमलादि ज्ञातेन नीराधारघटमालिन्यहेतुप्रवृत्त्युदाहरणेन यथाहि जलकुंभे नित्यं प्रक्षाल्यमानेऽपि मलसंचयो भवतीत्येवं यतमानस्याऽप्यतिचारभाव आदिशब्दात् गृहकचवरादिग्रहः । आह ।

जहगेहं पतिदियहंपि, सोहियं तहय पक्खसंधीसु ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सोहियज्जइ सविसेसं, एवमिहयंपि नायव्वम् ॥

इति गाथार्थः ॥

आलोचना परसाक्षिकी कर्तव्या पंचा० वृ. १५

आलोयणं अदाउं, सति अम्मंमिवि तहप्पणो दाउं ।

जे विहु करेंति सोहिं, ते विससमा विणिद्दिट्ठा ॥

आलोचनां विकटनामदत्वाऽविधाय शुद्धिं कुर्वंति । स्वकल्पनया तथा (सइअम्मंमि विति) अन्यस्मिन् परस्मिन् गीतार्थे सत्यपि विद्यमानेऽपि तथेति समुच्चये आत्मनः स्वस्यैव दत्वा विधाय लज्जादेः कारणात् अनेन च परसद्भावे परस्यैव तां यच्छन् शुद्धयतीत्युक्तं भवति यदाह ।

छत्तीसगुणसंपन्ना, गएणते णावि अवस्सकायव्वा ।

परसक्खिया विसोही, सुट्ठवि ववहारकुसलेण ॥

पराभावे त्वात्मनोऽपि यच्छन् शुद्धयति केवलसिद्धान् साक्षीकृत्य यदाह । (सिद्धा च साणायतया) गीतार्थप्राप्तौ निवेदयिष्यामीत्यध्यवसायात् स्वयमेव प्रायश्चित्तं प्रतिपद्य तद्विधानो गीतार्थः शुद्धयतीत्युक्तं भवतीति । येऽपि आपिशब्दाद्यो न कुर्वंत्येवं । हुशब्दोऽलंकृतौ । कुर्वंति शोधिं विशुद्धिं प्रायश्चित्तप्रतिपत्त्यादिना ते तदन्येऽपि सशल्याभावशल्यो पेता विनिर्दिष्टाः उक्ता जिनैरिति गाथार्थः । स्वयं शल्योद्धारे सशल्यतैवेति दृष्टांतेनाह ।

किरियएणुणाविसंमंपि, रोहिउ जह वणो ससल्लोउ ।

ओहोइ अपच्छो, एवं अवराहवणो विचिनो ॥ ४० ॥

क्रियाहेनापि व्रणचिकित्सावेदिनाप्यास्तां तदन्येन सम्यगपि सर्वथाऽप्यास्तामसम्यक् रोहितो रूढतां नीतः यथा यद्वत् व्रणो देहक्षतं सशल्यो दुष्प्रमोपातः सन्तुशब्दोऽवधारणे भिन्नकमश्च भवति जायते अपथ्य एवाहित एव परिणतौ मरणकारणत्वात् एवं तद्वदन्यस्मै अनिवेदितशल्यस्यापथ्या एवानंतमरणादिकारणत्वात्कोऽसावित्याह अपराधव्रणोऽपि नरणरूपशरीराश्रयातिचारक्षतमपि न केवलं देहव्रण एव विज्ञेयो ज्ञातव्यस्तत्वतस्तस्यानुद्धृतत्वादन्यविनिवेदनमेव हि शल्योद्धार इति गाथार्थः ।

इदानीं यस्मै आलोचना दीयते तेनाप्यालोचयितव्यम् इत्येतदेव प्रदर्शयन्नाह ओघ० ।

(छत्तीसेत्यादि) जातिकुलबलरूपादिषट्त्रिंशद्गुणसमन्वितेनापि अवश्यं पर साक्षिका विशुद्धिः कर्तव्या सुष्ठ्वपिज्ञानक्रियाव्यवहारकुशलो न सुविहितनेति ॥ व्य० उ. १० ।

जह कुसलो वि वेज्जो, अन्नस्स कहेइ अत्तणोवाहिं

विज्जस्स य सोयंतो, पडिकम्मं समारजतो ॥

जाणं तेणविएवं, पायच्छित्तविहिमप्पणो विउणं ।

तहवि य पागडतरयं, आलोएयव्वयं होइ ॥

यथा सुकुशलोऽपि वैद्योऽन्यस्याऽऽत्मनो व्याधिं कथयति । सोऽपि वैद्यस्य श्रुत्वा व्याधिकथनं ततः प्रतिकर्म्म समारभते । एवं प्रायश्चित्तविधिनात्मनो निपुणं जानताऽपि तथापि प्रकटतरमालोचयितव्यं भवतीति कृत्वा अन्यस्य समीपे आलोचयितव्यम् ॥ ओघ० ॥ ग० अधि० १ ॥

(१३) कस्य समीपे आलोचना कर्त्तव्या ॥

आलोयणाउपनियमा गीयसगीए व केसिवि । (आलोयणाउ) इत्यादि । सा आलोचना नियमादवश्यं तया गीतामिति प्राकृतत्वात् । षष्ठ्यर्थे प्रथमा तस्य गीतार्थस्य सकाशे कर्तव्या नाऽगीतार्थस्य अत्रैव मतांतरमाह । (अगीयकेसिवि) केषांचिदाचार्याणामिदं मतं उत्सर्गतस्तावदाचार्यस्य समीपे आलोचयितव्यं । यदा पुनराचार्यःसंज्ञादिप्रयोजनगतो भवति । गीतार्थस्यापि समीपे तदा भिक्षाद्यालोचनीयमिति ॥

गीतार्थस्यालोचना देयेत्युक्तमथ दुर्लभत्वे तस्य यद्विधेयमत्राह ॥ पंचा० वृ० १५ ॥

सल्लुद्धरणनिमित्तं, गीयस्सन्नेसणाउउक्कोसा ॥

जोयणसयाइं सत्त, उबारसवरिसाइ कायव्वा ॥४१॥

व्या० । शल्योद्धरणनिमित्तमालोचनार्थगीतस्यगीतार्थस्यगुरोरन्वेषणा तु गवेषणा पुनरुत्कर्षादुत्कृष्टतः क्रियात् क्षेत्रकालविषयेत्याह ।

योजनशतानि प्रतीतानि सप्त तु सप्तैव यावत् तथा द्वादशवर्षाणि संवत्सरान् यावत् कर्तव्या विधेयेति । इह च । शेषविशेषणानुपादानेन यद्गीतार्थग्रहणं कृतं तत्सकलोक्तगुणयुक्ताचार्यालाभे संविग्नगीतार्थमात्रस्याप्यालोचनाऽऽचार्यत्वख्यापनार्थं यतः श्रूयतेऽपवदतो गीतार्थसंविग्नपाक्षिकसिद्धपुत्रप्रवचनदेवतानामलाभसिद्धानामथालोचना देया सशल्यमरणस्य संसारकारणत्वादित्याह च ॥

(संविग्गे गीयत्थेससई पासत्थमाई सा रूवीति) गाथार्थः॥ प्रवच० द्वा० १२७ ॥

(तथा च व्यवहारकल्पे विहारालोचनामधिकृत्य—) १ व्य० उ० १ ॥

पक्खियचउवसंवच्छर, उक्कोसं वच्छरउक्कोसं बारसएह-

वरिसाणं । समणुन्ना आयरिया, फड्डुगपतितायविगडंति ॥

समनोज्ञा एकसंभोगिका आचार्याः परस्परं तथा स्पर्द्धकपतयश्च स्वमूलाचार्यस्य समीपे पाक्षिके तत्राभावे चातुर्मासिके तत्राप्यभावे सांवत्सरिके तत्राप्यसत्यन्यदा (उक्कोस) मित्यादि ॥ उत्कर्षतो द्वादशभिर्वर्षैः सूत्रे षष्ठी तृतीयार्थे प्राकृतत्वाद्दूरादप्यागत्य विहार विकटयंति प्रकटयंति । आलोयंतीत्यर्थः। एष गाथाक्षरार्थः । भावार्थो वृद्धसंप्रदायादवसातव्यः ॥

सवायं संभोइया आयरिया पक्खिए आलोएंति उभोयएयणीयस्स आलोएइ । रायणितोविओ मरायणियस्स आलोएइ जइसेरायणिओ नात्थि । जइ पुण ओमराइणितोविओगो वा गीयत्थो न भवइ । तो वा चउम्मासिए आलोएइ तथा वि असंवच्छरिए तथा वि अतसीए जत्थ मिलइ रायणियस्सओ मगीयत्थस्स वा तत्थ उक्कोसेणं बारसहिं वरिसेहिं दूरतोवि आगंतु आलोएयव्वं । फड्डुगवइहिं वि आगंतु आलोएयव्वं फड्डुगवइयावि आगंतुं पक्खियाइ अमूलायरियस्स समीवे आलोएंति इति ॥

तथा च व्यवहारसूत्रम् ॥

जे भिक्खू अन्नयरं अकिच्चठाणं पडिसेवित्ता इच्छेज्जा आलोइत्तए जत्थेव अप्पणो आयरियं उवज्झाए पासिज्जा कप्पइ तेसिं तिए आलोइत्तएवा पडिकमित्तए वा विउट्टित्तए वा सोहित्तए वा अकरणाए अब्भुट्ठित्तएवा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जित्तए वा णो चेव णं अप्पणो आयरियं उवज्झाए पासेज्जा जत्थेव संजोइयं बहुस्सुयं बहु आगमं पासेज्जा कप्पइ से तस्सं-तिए आलोइत्तए वा जाव पडिकमित्तए वा णो चेवणं संजोइयं साहम्मियं बहुस्सुयं बहुआगमं पासे जाव जत्थे व असंजोइयं साहम्मियं बहुस्सुय बहुआगमं पासेज्जा कप्पइसेवं संतिएआलोइत्तए वा जाव पडिवज्जित्तए वा णो चेवणं अन्नसंजोइयं साहम्मियं बहुसुयं आगामियं पासे-ज्जा वा सारूवियं बहुस्सुय बहुआगमं पासेज्जा कप्प-इ तंसंतिए आलोइत्तए वा पडिक्कमित्ति वा जाव पडिव ज्जीत्तए वा नो चेवणं सारूवीयं बहुस्सुयं बज्झागमं पासे ज्जा जत्थेव समणो वासगंपच्छा कडंबहुस्सुयं वज्झाग म पासेज्जा कप्पइ से तस्संतिए आलोइत्तए वा जावपडि वज्जित्तए वा णो चेवणंसमणो वासगं पच्छाकडं बहु-स्सुयं वज्झागमं पासिज्जा जत्थेव दसमं जावियाइं चेइया इ पासेज्जा कप्पइ से तस्संतिए आलोइत्तए वा जावपडि वज्जित्तए वा णो चेव समन्नावियाइं चेइयाइं पासेज्जा बहियागामस्स वा जाव सन्निवेसस्स वा पाइणाभिमुहे वा उदिणाभिमुहेवा करयलपरिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिकट्टु कप्पई सेएएवं ववइत्तए एवइयामे अवराहा एवं तिक्खु त्ता य अहं अवरद्धे अरिहंताणं सिद्धाणं अंतिए आ लोएज्जा पडिक्कमेज्जा निंदेज्जा जाव पाय-च्छित्तं पडिवेज्जेज्जासित्तिबेमि ॥ ३३ ॥

व्याख्या । भिक्षुरन्यतरत् अकृत्यस्थानं सेवित्वा प्रतिसेव्य इच्छेत् । आलोचयितुं स यालोचयितुमिच्छु र्यत्रैवात्मन आचार्योपाध्यायान्पश्येत्तत्रैव गत्वा तेषामंतिके समीपे आलोचयेद तीचार जातं वचसा प्रकटीकुर्यात् प्रतिक्रामेन्मिथ्यादुष्कृतं तद्विषये दद्याद्यावत्करणात् निंदेज्जा गरहेज्जा विउट्टेज्जा विसोहेज्जा । अकरणयाए अब्भुट्ठेज्जा अहारिहं तवो-कम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जेज्जा) इति परिग्रहः तत्र निंदाद्यात्मसाक्षिकं जुगुप्सेत् गर्हेत् गुरुसाक्षिकं निंद्यात् इह निंदनगर्हणमपि तात्त्विकं तदा भवति यदा तत्करणतः प्रतिनिवर्तते ॥ तत आह (उवट्टेज्जा) इति तस्मादकृत्यप्रतिसेवनात् व्यावर्तेत निवर्तेत । व्यावृतावपि कृतात् पापात्तदा मुच्यते यदात्मनो विशोधिर्भवति । तत आह । आत्मानं विशोधयेत् । पापमलस्फोटनतो निर्मलीकुर्यात् । सा च विशुद्धिरपुनः करणतायामुपपद्यते । ततस्तामेव । पुनः करणतामाह । अकरणतया पुनरभ्युत्तिष्ठेत् पुनरकरणतया अभ्युत्थानेऽपि विशोधिः प्रायश्चित्तप्रतिपत्तिर्भवति । तत आह यथार्हे यथायोग्यं तपः कर्म्म तपोग्रहणमुपलक्षणं छेदादिकं प्रायश्चित्तं प्रतिपद्येत । यदि पुनरात्मीयेष्वाचार्योपाध्यायेषु सत्सु अन्येषामंतिके आलोचयति । ततः प्रायश्चित्तं तस्य चतु र्गुरु यदि पुनरात्मन आचार्योपाध्यायान्न पश्येत् अभावाद्दूर-व्यवधानतो वा ततो यत्रैव सांभोगिकं साधर्मिकं विशिष्टसा-माचारीनिष्पन्नं बहुश्रुतं च्छेदग्रंथादिकुशलं उद्भ्रामकमुद्घतावि-हारिणं पाठांतरं बव्हागममर्थतः प्रभूतागमं पश्येत्तस्यांऽतिके आलोचयेदत्रापि यावत्करणात्पडिकमेज्जा इत्यादि पदकदंब-कपरिग्रहः । यदि पुनस्तस्य भावे अन्यस्य सकाशे आलो-चयति । तदा चतुर्लघु वक्तव्यं । सांभोगिकसाधर्मिकबहुश्रु-तस्यांतिके तस्याऽप्यभावे सारूपिकस्य बहुश्रुतस्यांऽतिके समानांतरं सरूपं तत्र भवः सारूपिको वक्ष्यमाणस्वरूपः तस्याऽप्यभावे यत्रैव सम्यग्भावितानि जिनवचनवासितांतः करणानि दैवतानि पश्यति तत्र गत्वा तेषामंतिके आलोच-येत् तेषामप्यभावे बहिर्ग्रामस्य यावत्करणात् ॥

नगरस्स वा निगमस्स वा रायहाणिए वा खेडस्स वा ।
पट्टणस्स वा दोएणमुहस्स वा असमस्स वा संवाहस्स
वा संनिवेसस्स वा ॥

इतिपरिग्रहः प्राचीनाभिमुखोवा उदीचीनाभिमुखो वा सूर्य-दिगभिमुख उत्तरदिगभिमुखो वा इत्यर्थः ॥ इह चिरंतनव्या करणेषु दिश्यपिक्रियामभिधेयामामीनूप्रत्ययः स्वार्थे भवति । तत एवं निर्देशः । पूर्वोत्तरादिग्रहणमालोचनायामेतयोरेव दिशयोरर्हत्वात् । करतलाभ्यां प्रकर्षेण गृहीतः करतलप्र-गृहीतः । तं तथा शिरस्यावर्तो यस्य स शिरस्यावर्तः कंठे कालवदलुकसमासः । तं मस्तके अंजलिं कृत्वा एवं वक्ष्यमा-णरीत्या वदेत् ॥

तामेव रीतिं दर्शयति । एतावंतो मे ममापराधाः ए-तावत्कृत्व एतावतो वारान् यावदहमपराद्ध एवमपराध ए-वमर्हतां तीर्थकृतां कथंभूतानामित्याह । सिद्धानामुपगतम-सकलपकानामंतिके आलोचयेदित्यादि पूर्ववदेष सूत्रसंक्षेपार्थः ॥

अधुना निर्युक्तिभाष्यविस्तरः । तत्र यदुक्तमकृत्यं स्थानं से-वित्वेति तद्विषयमुपदर्शयति ।

अन्नयरं तु अकिच्चं, मूलगुणे चेव उत्तरगुणे य ।
मूलं व सव्वदेसं, ए मेव य उत्तरगुणेसु ॥

अन्यतरदकृत्यं पुनः सूत्रोक्तं मूलगुणे मूलगुणविषयमुत्तरगुणे वा उत्तरगुणविषयं वा तत्र मूलं मूलगुणविषयं सर्वदेशं वा सर्वथामूलगुणस्योच्छेदे देशतो वा इत्यर्थः । एवमेवानेनैव प्र-कारेण उत्तरगुणेष्वपि द्वैविध्यं भावनीयं । तद्यथा । उत्तरगु-णस्याऽपि सर्वतो देशतो वा उच्छेदेनेति तत्रैव व्याख्यानांतर-माह ॥

अहवा पणगादीयं, मासादीयं वावि जाव छम्मासा
एवं तयारिहं खलु, छेदादि चउएहवेगयरं ॥

अथवेति अकृतस्य स्थानस्य प्रकारांतरतोपदर्शने पंचकादि-कं रात्रिंदिवपंचकप्रभृतिप्रायश्चित्तस्थानमकृत्यं स्थानं यदि वा मासादि तच्च तावद्यावत्षण्मासाः । एतत् खलु अकृत्यस्थानं तपार्हं तपोरूपप्रायश्चित्तार्हंयदि वा छेदादीनां चतुर्णां प्राय-श्चित्तस्थानमकृत्यस्थानं तदेवमधिकृत्य स्थानं व्याख्याय यथा-स्वकीयाचार्योपाध्यायादीनामदर्शनं संभवति । तथाप्रति-पादयति ॥

आउयवाधायं, वाहुल्लहगीयं चपत्तकालं तु ।
अपरक्कममासज्ज व,सुत्तमिणंतादिसा जाव ॥

स्वकीयानामाचार्योपाध्यायानामायुषो व्याघातोऽभवत् । जी वितस्य बहुघातसंकुलत्वात् यदि वा तस्यैवाऽऽलोचकस्यायु-र्यावदाचार्योपाध्यायादिसमीपे गच्छति तावत् न प्रभवति स्तोकावशेषत्वात् । तत आयुषो व्याघातं वा आश्रित्य तथा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भविष्यति कालो यत्र दुर्लभो गीतार्थः आलोचनार्हस्तत एष्यन्तं कालमधिकृत्य दुर्लभं गीतार्थं चाश्रित्य तथा जंघाबलपरिहान्या रोगातंकेण वा जातोऽपराक्रम आलोचकस्ततस्तं वा प्रतीत्य सूत्रमधिकृतं प्रवृत्तं यावद्दिशादिसूत्रं । अत्र पर आह । ननु पूर्वमेकाकिविहारप्रतिमासूत्राणि व्याख्यातानि । यथा एकाकिविहारे दोषाः । तदनंतरं पार्श्वस्थादिविहारोऽपि प्रतिषिद्धः । ततो नियमाद्गच्छे वस्तव्यमिति नियमितं । एवं च नियमिते कथमेकाकी जातो येनोच्यते यत्रैवात्मन आचार्योपाध्यायान्पश्येत्तत्रैव गत्वा तेषामंतिके आलोचयेदित्यादि ।

अत्र सूरिराह ॥

सुत्तमिणं कारणियं, आयरियादीण जत्थ गच्छंमि ।
पंचण्हं हो असती, एगो व जहिं न वसियव्वं ॥

सूत्रमिदमधिकृतं कारणिकं कारणे भवं कारणिकं कारणे सत्येकाकिविहारविषयमित्यर्थः । इयमत्र भावना । बहूनि खल्वशिवादीनि एकाकित्वकारणानि ततः कारणवशतो यो जात एकाकी तद्विषयमिदं सूत्रमिति न कश्चिद्दोषः अशिवादीनि तु कारणानि मुक्त्वा आचार्यादिविरहितस्य न वर्त्तते वस्तुं तथा चाह । यत्र गच्छे पंचानामाचार्योपाध्यायगणावच्छेदिप्रवृत्तिस्थविररूपाणामसद्भावो यदि वा यत्र पंचानामन्यतमोऽप्येकोन विद्यते । तत्र न वस्तव्यमनेकदोषसम्भवात्तानेव दोषानाह ।

एवं असुज्झगिलाणे परिण्णकुलकज्जमादिवग्गउ ।
असुस्सातिसल्लस्सा जीवियघाते चरणघातो ॥

एवमुक्तेन प्रकारेण पंचादिहीने गच्छे एकोऽशुभकार्ये मृतकस्थापनादौ अपरो ग्लानप्रयोजनेष्वन्यः परिज्ञायां कृतभक्तप्रत्याख्यानस्य देशनादौ अपरः कुलकार्यादौ व्यग्र इति । अन्यस्य पंचमस्याऽप्यंत्यावस्थाप्राप्तस्य आलोचनाया असंभवेन सशल्यस्य सतो जीवनाशे चरणव्याघातश्चरणगात्रभ्रंशाच्चरणभ्रंशे च शुभगतिविनाशः । अत्र पर आह ॥

एवं होइ विरोहो आलोयणापरिणतोउ सुज्झोत ।
एगंतेण पमाणं परिणामो वीन खलु अम्हं ॥

नन्वेवं सति परस्परविरोधस्तथाहि भवद्भिरिदानीमेवमुच्यते । सशल्यस्य सतो जीवितनाशे चरणभ्रंशः । प्राक्त्वेवमुक्तमदत्तालोचनेऽप्यालोचनापरिणामपरिणतः शुद्ध इति ततो भवति परस्परविरोधः । अत्र सूरिराह (एगंते णेत्यादि) न खल्वस्माकं स्वशक्त्यनिगूहनेन यथाशक्तिप्रवृत्तिविरहितः केवलपरिणामः एकांतेन प्रमाणं तस्य परिणामाभासत्वात्किंतु सूत्रं प्रमाणीकुर्वतो यथाशक्तिप्रवृत्तिसमन्वितः । नचैकाद्यभावे गच्छे वसन् सूत्रमनुवर्त्तते । ततस्तस्य तात्त्विकपरिणाम एव नेति सशल्यस्य जीवितनाशे चरणनाशः । पुनरपि वक्तव्यांतरं विवक्षुः प्रश्नमुत्थापयति ।

चोयग किं वा कारण, पंचण्ह सती तहिं न वासियव्वं ॥
दिट्ठंता वाणियए, पिंडियआत्थे वसिउकामो ॥ १ ॥

चोदक आह ॥ यत्र पंचानां परिपूर्णानामसद्भावः तत्र न वस्तव्यमित्यत्र किंवा कारणं को नाम दोषः ॥ सूरिराह ॥ अत्र अधिकृतार्थे वाणिजोपार्जितार्थेन वस्तुकामेन दृष्टान्तः ॥ उपमागाथायां सप्तमी तृतीयार्थे ॥ इयमत्र भावना ॥ कोऽपि वणिक् तेन प्रभूतार्थे पोर्जितस्ततः सोऽचिंतयत् कुत्र मया वस्तव्यं यत्रैनमर्थं परिभुंजेऽहमिति ततस्तेन परिचिंत्येदं निश्चिक्ये ॥

तत्थ न कप्पइ वासो आहारो जत्थ नत्थि पंच इमे ।
राया वेज्जाधणिमं नेवइया रूवजक्खा य ॥

तत्र गमनं कल्पते वासो यत्रेमे वक्ष्यमाणाः पंच नाधाराः । के ते इत्याह । राजा नृपति वैद्यो भिषक् अन्ये च धनवन्तो नैतिका नीतिकारिणो रूपयक्षाः धर्मपाठकाः कस्मादिति चेदत आह ॥

दविणस्स जीवियस्स व,वाघातो होज्ज जत्थ नत्थेते ।
वाघाए एगतरस्स, दव्वसंघाडणा अफला ॥

यत्र नसंत्येते राजादयः परिपूर्णाः पञ्च नियमतो द्रविणस्य धनस्य जीवितस्य वा व्याघातो भवेत् वैद्येन विना जीवितस्य राजादिभिर्विना धनस्य व्याघातो चैकस्य धनस्य जीवितस्य वा द्रव्यसंघाटना द्रव्योपार्जना विफला परिभोगस्यासम्भवाद्यथा ॥

रण्णा जुवरण्णा वा, महरयय अमच्चतहकुमारेहिं ।
एएहिं परिग्गहियं, वसेज्ज रज्जं गुणविसालं ॥

राज्ञा युवराजेन महत्तरकेनामात्येन तथाकुमारैरेभिः पंच परिगृहीत राज्यं गुणविशालं भवति गुणविशालत्वात् तद्वसेत् आचार्योपाध्यायप्रवर्तिस्थविरगीतार्थान् प्रतिपाद्य १ व्य० उ १ एवमाचार्यपंचकसमेते गच्छे वस्तव्यं । यदि पुनः किंचिदपराधं प्राप्तो भवति गच्छश्च पंचकपरिहीनस्तदायं दृष्टांतः ।

जह पंचकपरिहीणं, रज्जंमरजयवारेउव्विग्गं ।
उग्गहियसगरूपिरुगं, परंपरवचए सामिं ॥

यथा राज्यं राजादिपंचकपरिहीनं संतं डमरं स्वदेशोत्थो विप्लवः भयं परचक्रसमुत्थं तस्कराश्चौरास्तैरुद्विग्नमुपगतं परित्यज्य आत्मीयं चशकटपिटकमुद्गृह्य परंपरंस्वामिनं प्राप्य व्रजति यत्र स्वास्थ्यं लभते ।

इयपंचकपरिहीने, गच्छे आसण्णकारणे साहू ।
आलोयणमलहंतो, परंपाव वसिच्छे ॥

इत्येवमनेन दृष्टांतप्रकारेण पंचकपरिहीने आचार्यादिपंचकविरहिते गच्छे प्रायश्चित्तस्थानमापन्नः साधुः कारणेन प्राशुकेन आयुर्व्याघातादिरूपेण निजाचार्यादीनामंतिके आलोचना मलभमानः सूत्रोक्तया नीत्या परंपरमन्यसांभोगिकादिकं तावद्व्रजति यावत्सिद्धान् गच्छति । एतदेव सविशेषमाह ।

आयरिए आलोयण, पंचण्हं असति गच्छे वहियाओ ।
वोच्चत्थेचउलहुगा, गीयत्थे होंति चउगुरुगा

आचार्ये आचार्यसमीपे आलोचनादातव्या । गच्छे पंचानामाचार्यादीनामसति गच्छाद्बहिर्गंतव्यं इयमत्र भावना । प्रायश्चित्तस्थानमापन्नेन साधुना नियमतः स्वकीयानामाचार्याणां समीपे आलोचयितव्यं तेषामभावे उपाध्यायस्य तस्याऽप्यभावे प्रवर्तिनस्तस्याऽभावे स्थविरस्य तस्याऽप्यभावे गणावच्छेदिनः अथ स्वगच्छे पंचानामप्यभावस्ततो बहिरन्यस्मिन्सांभोगिके गंतव्यं । तत्राप्याचार्यादिक्रमेण आलोचयितव्यं । सांभोगिकानामाचार्यादीनामभावे संविग्नानामसांभोगिकानां समीपे गंतव्यं । तत्राप्याचार्यादिक्रमेणालोचना प्रदातव्या । यदा पुनरुक्तक्रमोल्लंघनेनालोचनां प्रयच्छति तदा प्रायश्चित्तं चतुर्लघु । तथा चाह (वोच्चत्थे चउलहुगा) इति व्यत्यस्ते विपर्यासे उक्तक्रमोल्लंघने इत्यर्थः । चत्वारो लघुकाः लघुमासा यदि पुनरुक्तक्रममुल्लंघयन् अगीतार्थसमीपे आलोचयति । तद

प्रायश्चित्तं चतुर्गुरु । एतदेवाह (गीयत्थे होंति चउगुरुगा) तदेवं संविग्नानां संभोगिकात् यावत् विधिरुक्तः । संप्रति शेषान्प्रति विधिमाह ॥

संविग्गे गीयत्थे, सरूविपच्छाकडे य गीयत्थे ।
पडिकंते अब्भुट्ठिय, असती अन्नत्थ तत्थेव ॥

संविग्ने अन्यसांभोगिकलक्षणे असति अविद्यमाने पार्श्वस्थस्य गीतार्थस्य समीपे आलोचयितव्यं तस्मिन्नपि गीतार्थे पार्श्वस्थे असति सारूपिकस्य वक्ष्यमाणस्वरूपस्य गीतार्थसमीपे तस्मिन्नपि सारूपिके असति पश्चात्कृतस्य गीतार्थसमीपे आलोचयितव्यं । एतेषां च मध्ये यस्य पुरत आलोचना दातुमिष्यते । तमभ्युत्थाप्य तदनंतरस्य पुरत आलोचयितव्यं । अभ्युत्थानं नाम वंदनकप्रतीच्छनादिकं प्रत्यभ्युपगमकारोपणा ॥ तथा चाह । (पडिकंते अब्भुट्ठिए त्ति) अभ्युत्थिते वंदनाप्रतीच्छनादिकं प्रति कृताभ्युपगमेऽतिक्रांतो ब्रूयात् नान्यथा अथ ते पार्श्वस्थादय आत्मानं हीनगुणं पश्यंतो नाभ्युत्तिष्ठंति तत आह (असतित्ति) असति अविद्यमाने अभ्युत्थाने पार्श्वस्थादीनां निषद्यामारचय्य प्रणाममात्रं कृत्वा लोचयनीयमितरस्य तु पश्चात्कृतस्य इत्वरसामायिकारोपणं लिंगप्रदानं च कृत्वा यथाविधि तदंतिकमालोचनीयं (अन्नत्थ तत्थव त्ति) यदि पार्श्वस्थादिकोऽभ्युत्तिष्ठति । तदा तेनान्यत्र गंतव्यं येन प्रवचनलाघवं न भवति । तत्र च गत्वा तमापन्नप्रायश्चित्तं शुद्धतपो वहति मासादिमुत्कर्षतः षण्मासपर्यवसानं यदि वा प्रागुक्तस्वरूपं परिहारतपः । अथ स नाऽभ्युत्तिष्ठति शुद्धं च तपः । तेन प्रायश्चित्तं दत्तं ततस्तत्रैव तपो वहति । एतदेव असति इत्यादिकं व्याख्यानयति ॥

असतीए लिंगकरणं, सामाइय इत्तरं च कितिकम्मं ।
तत्थेव य सुद्धतवो, गवेसणा जाव सुहदुक्खे ॥

असति अविद्यमाने पश्चात्कृतस्याऽभ्युत्थाने गृहस्थत्वात् लिंगकरणं इत्वरकालं लिंगसमर्पणं तथा इत्वरमित्वरकालं सामायिकमारोपणीयं । ततस्तस्यापि निषद्यामारचय्य कृतिकर्म वंदनकं कृत्वा तत्पुरत आलोचयितव्यं । तदेवमसतीति व्याख्यातमधुना तत्थेव त्ति व्याख्या । यदि पार्श्वस्थादिको नाभ्युत्तिष्ठति शुद्धं च तपस्तेन प्रायश्चित्तं तथा दत्तं ततस्तत्रैव तत् शुद्धं तपो वहति यावत्तपो वहति । तावत्तस्यालोचनाप्रदायिनः सुखदुःखे गवेषयति । सर्वमुदंतं वहतीत्यर्थः । पश्चात्कृतमेव विधिमाह ॥

लिंगकरणं निसेज्जा, कितिकम्ममणिच्छओ पणामो य ।
एमेव देवयाए, न वरं सामाइयं मुत्तुं ॥

पश्चात्कृतस्येत्वरकालसामायिकारोपणपुरस्सरमित्वरकालं लिंगकारणं रजोहरणसमर्पणं तदनंतरं निषद्याकरणं ततः कृतिकर्म वंदनकं दातव्यं । अथ स वंदनकं नेच्छति । ततस्तस्य कृतिकर्ममनिच्छतः प्रणामो वाचा कायेन प्रणाममात्रं कर्तव्यं पार्श्वस्थादेरपि कृतिकर्मानिच्छायां प्रणामः कर्तव्यः । एवमेव अनेनैव प्रकारेण देवताया अपि सम्यक्त्वभावितायाः पुरतः आलोचयति ते वरं सामायिकारोपणालिंगसमर्पणं न च कर्तव्यमविरतत्वेन तस्यास्तद्योग्यताया अभावात् । यदुक्तं (गवेषणा जाव सुहदुक्खे) इति तद्व्याख्यानयति ॥

आहारउवहिसेज्जा, एएसणमादीसु होइ जइयव्वं ।
अणुमोयणकारावण, सिक्खत्तिपयम्मितो सुद्धो ॥

आहारः पिंडः उपधिः पात्रनिर्योगादिः शय्या वसतिरेषणाशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते । आहारैषणायामुपध्येषणायां शय्यैषणायामादिशब्दाद्विनयवैयावृत्यादिषु च भवति । तेन यतितव्यं कथमित्याह । अनुमोदनेन कारापणेन च । किमुक्तं भवति । यदि तस्यालोचनार्हस्य कश्चिदाहारादीनुत्पादयति । ततस्तस्यानुमोदनाकरणतः प्रोत्साहने यतते । अन्यथाऽन्यः कश्चिन्नोत्पादयति ततः स्वयमालोचक आहारादीन् शुद्धानुत्पादयति । अथ शुद्धं नोत्पद्यते । ततः आरूढात् प्रोत्साहाकल्पिकानप्याहारादीन् यतनया उत्पादयतीति । अथाकल्पिकानाहारादीनुत्पादयतः तस्य महती मलिनतोपजायते । अथ च स शुद्धिकरणार्थं तदंतिकमागतस्ततः परस्परविरोधः । अत्राह (सिक्खत्तिपयम्मितो सुद्धो) यद्यपि नाम तस्यालोचनार्हस्यार्थायाकल्पिकानप्याहारादीनुत्पादयति । तथाप्यासेवनाशिक्षा तस्यांऽतिके क्रियते । शिक्षितिपदे अपवादपदे स तथा वर्तमानः शुद्ध एव एतदेव भावयति ॥

चोएइसे परिवारं, अकरेमाणे भणाइ वा सड्ढे ॥
अव्वोच्छित्तिकरस्स उ, सुयभत्तीए कुणह पूयं ॥

प्रथमतः । से तस्यालोचनार्हस्य परिवारं वैयावृत्यादिकमकुर्वंतं चोदयति शिक्षयति । तथा ग्रहणासेवना शिक्षानिष्णात एव तत एतस्य विनयवैयावृत्यादिकं क्रियमाणं महानिर्जराहेतुरिति । एवमपि शिक्ष्यमाणो यदि न करोति । ततस्तस्मिन्नकुर्वाणे स्वयमाहारादीनुत्पादयति । अथ स्वयं शुद्धं प्रायोग्यमाहारादिकं न लभते । ततः श्राद्धान् भणति प्रज्ञापयति प्रज्ञाप्य च तेभ्योऽकल्पिकमपि यतनया संपादयति नच वाच्यं तस्यैवं कुर्वतः कथं नदोषो यत आह (अव्वोच्छित्तीत्यादि) अव्यवच्छित्तिकरणस्य पार्श्वस्थादेः श्रुतभक्त्या हेतुभूतया अकल्पिकस्याप्याहारादेः श्रुतभक्त्या पूजां कुरुत यूयं नच तत्र दोष एवमत्रापि । इयमत्र भावना ॥ यथा कारणे पार्श्वस्थादीनां समीपे सूत्रमर्थं च गृह्णानोऽकल्पिकमप्याहारादिकं यतनया तदर्थं प्रतिसेवमानः शुद्धो ग्रहणशिक्षायाः क्रियमाणत्वादेवमालोचनार्हस्याऽपि निमित्तं प्रतिसेवमानः शुद्ध एव आसेवनाशिक्षायास्तत्तत्समीपे क्रियमाणत्वादिति । एतदेव स्पष्टतरं भावयति ॥

दुविहा सती एतेसिं, आहारादी करेइ सव्वेसिं ।
पणहाणी य जयंतो, अत्तट्ठाए वि एमेव ॥

इह परिवाराभावे तस्याऽलोचनार्हस्य कर्तव्यमिति सामाचारो तेषां च पार्श्वस्थादीनां दुविहा असती इति परिवाराभावो द्विविधः । विद्यमानाभावोऽविद्यमानाभावश्च । विद्यमानः सन् अभावाऽसन्वैयावृत्यादेरकरणात् विद्यमानाभावः । अविद्यमानः सन्नभावोऽविद्यमानाभावः । तत्र द्विविधेऽप्यभावे (स) तस्यालोचनस्याऽहारादिकं सर्वकल्पमकल्पिकं वा यतनया करोति उत्पादयति । यतनया कथमकल्पिकमुत्पादयति इति चेदत आह । पंचकहान्या यतमानः । किमुक्तं भवति । अपरिपूर्णं मासिकप्रायश्चित्तस्थानप्रतिसेवनापर्यंते गुरुलाघवपर्यालोचनया पंचकाद्विपंचकहीनमासिकप्रायश्चित्तस्थानप्रतिसेवनां करोति । तामपि यतनया पंचकग्रहणमुपलक्षणं तेन देशादिहान्यापि यतमान इति द्रष्टव्यं । एवं सर्वत्र न केवलमालोचनार्हार्थमेवं यतते किं तु कारणे समुत्पन्ने आत्मार्थमप्येवमेव पंचकहान्या यतते इति । यदुक्तं सम्यक्त्वभावितायाः पुरत आलोचयितव्यमेतदेतद्भावयति ॥

Jain Education International — For Private & Personal Use Only — www.jainelibrary.org

कोरंटगं जहा भावि, पच्छिमं पुच्छिऊण वा अन्नं ॥

असति अरहं सिद्धे, जाणंतो सुद्धो जावेव ॥ १ ॥

कोरंटकं नाम भरुकच्छे उद्यानं तत्र भगवान्मुनिसुव्रतस्वामीअर्हत्प्रभृतिः पूर्वं समवसृतस्तत्र तीर्थकरेण गणधरैश्च बहूनि प्रायश्चित्तानि च दीयमानानि तत्रत्यया देवतया दृष्टानि ततः कोरंटकं गत्वा तत्र सम्यक्त्वभावितदेवताराधनार्थमष्टमं कृत्वा तत्र च सम्यक्त्वकंपितायादेवतायाः पुरतो यथोचितप्रतिपत्तिपुरस्सरमालोचयति । सा च प्रयच्छति यथार्हं प्रायश्चित्तं । अथ सा देवता कदाचित् च्युता भवेत् पश्चादन्या समुत्पन्ना तया च न दृष्टस्तीर्थकरस्ततः साष्टमेनाकंपिता ब्रूते महाविदेहे तीर्थकरमापृच्छ्य समागच्छामि ततः सा तेनाऽनुज्ञाता महाविदेहे गत्वा तीर्थकरं पृच्छति पृष्ट्वा च समागच्छत्यसावपि प्रायश्चित्तं कथयति । यथा च कोरंटकमुद्यानमुक्तमेवं गुणशिलादिकमपि द्रष्टव्यम् अत्राऽप्यर्हत्प्रभृतिः पूर्वं वर्द्धमानस्वाम्यादीनां समवसरणात् । तासामपि देवतानामभावे अर्हत्प्रतिमानां पुरतः स्वप्रायश्चित्तदानपरिज्ञानकुशल आलोचयति । ततः स्वयमेव प्रतिपद्यते प्रायश्चित्तं तासामप्यसत्यभावे प्राचीनाद्विदिग्भिमुखोऽर्हतः सिद्धानभिसमीक्ष्य जानन् प्रायश्चित्तदानविधिः । विद्वान् आलोचयति । आलोच्य च स्वयमेव प्रतिपद्यते प्रायश्चित्तं स च तथा प्रतिपद्यमानः शुद्ध एव सूत्रोक्तविधिना प्रवृत्तेः । यद्यपि विराधितं तत्रापि शुद्धप्रायश्चित्तप्रतिपत्तेरिति । कोरंटकं जहेत्यत्र यथाशब्दोपादानात्कोरंटकसमुद्दिशताऽन्यान्यप्युद्यानानि सूचितानीति प्रकटयिषुराह ।

सोहीकरणा दिट्ठा, गुणसिलमादीसु जह य साहूणं ।

नोर्देति विसोहीतो, पच्चुप्पएणा व पुच्छंति ॥

गुणशीलादिषूद्यानेषु याभिर्देवताभिः साधूनां तीर्थकरैर्गणधरैश्चानेकशो विधीयमानानि शोधिकरणानि दृष्टानि ताः स्वयं ददति प्रयच्छंति । विशोधीः प्रायश्चित्तानि याः पुनः प्रत्युत्पन्नाः देवतास्ता महाविदेहेषु गत्वा तीर्थकरान् पृच्छंति । पृष्ट्वा च साधुभ्यः कथयति ॥ आ. म. १ उ० ग. आधि. १ प्रतिमा. श्लो. ६४ ॥

(१४) गीतार्थमवाप्य शल्यानुद्धरणादौ दोषगुणादिकं भावयता यद्विधेयत्वम् ॥

अथ गीतार्थमवाप्य शल्यानुद्धरणादौ दोषगुणादिकं भावयता यद्विधेयं तदाह । पंचा० । वृ. १५ ॥

मरिउं ससल्लमरणं, संसाराडविमहाकडिल्लंमि ।

सुचिरं भमंति जीवा, अणोरपारंमि ओइन्ना ॥ ४२ ॥

व्या. । मृत्वा आसेव्य सशल्यमरणं प्रतीतं ततः किमित्याह । संसाराटविमहाकडिल्ले भवारण्यगुरुगहने सुचिरमतिदीर्घकालं भ्रमंति पर्यटंति जीवा देहिनः अनर्वाक्पारे अर्वाग्भागपरभागवर्जिते अवतीर्णा अवगाढा इति संबंधं कृत्वातियोगः तथा ॥

उद्धरियसव्वसल्ला, तित्थगराणाए सुट्ठिया जीवा ।

भवसयकयाइं खविओ, पावाइं गया सिवं थामं । ४३ ।

व्या० । उद्धृतसर्वशल्याः कृतालोचनास्तीर्थकराज्ञायां जिनोपदेशे सुस्थिताः सुष्ठु व्यवस्थिताः संतो जीवा देहिनः भवशतकृतानि जन्मशतविहितानि क्षपयित्वा प्रक्षपय्य शल्योद्धारसामर्थ्यात् यानि यानि कर्माणि गताः प्राप्ताः शिवं निरुपद्रवं थामंति स्थानं सिद्धाश्रयमित्यर्थः ।

सल्लुद्धरणं चइमंति, लोगबंधूहि दंसियं सम्मं ।

अवितहमारोग्गफलं, धन्नोहं जेणिमं णायं । ४४ ।

व्या० । शल्योद्धरणमालोचना चशब्दः पूर्वगाथाद्वयोक्तार्थापेक्षया समुच्चयार्थः । इदमनंतरोक्तविधानं त्रिलोकबंधुभिर्जिनैरित्यर्थः दर्शितमुक्तं सम्यक् सोपपत्तिकं अवितथमव्यभिचारि आरोग्यफलं भावारोग्यसाधकं ततश्च धन्योऽहं पुण्यवानहं येन मया इदमेतच्छल्योद्धरणं ज्ञातमवगतम् ॥

ता उद्धरेमि सम्मए, य एयस्स णाणरासिस्स ।

आवेदियं असेसं, अणियाणो दारुणविवागं । ४५ ।

व्या० ता इति यस्मादिदं मया ज्ञातं तस्मादुद्धराम्यपनयामि सम्यग् न्यायेन एतत् भावशल्यं एतस्य गुरोर्ज्ञानराशेः अग्रे सद्बोधनिकरस्याऽवेद्य कथयित्वाऽशेषं सकलं अनिदानो निर्निदानः सन् दारुणविपाकं रौद्रफलं शल्यमिति प्रक्रमः ।

इयसंवेगं काउं मरुगाहरणादिएहिं विधेहिं ।

दढ पुण करणजुत्तो, सामायारिं पउंजेज्जा ॥

व्या० । इति एवमनंतरगाथाचतुष्कोक्तप्रकारसंवेगं शुभाध्यवसायविशेषं कृत्वा विधाय कैरित्याह मरुकाहरणादिभिः ब्राह्मणोदाहरणाद्यैः समयप्रसिद्धैश्चिन्हैर्लिंगैर्मरणाद्युपगमेनापि शुद्धिः कार्येत्येवं भूतार्थगमकैः सशल्यतादोषज्ञापकैर्वा आदिशब्दात्पीठमहापीठादिग्रहः इदमत्यर्थमपुनः करणयुक्तः पुनरमुमपराधं न करिष्यामीत्यभिप्रायवान् सन् सामाचारीमालोचनागतसमाचारं वंदनकदाननिषद्यादानादिकं प्रयुंजीत विदध्यादालोचनाकारीति ॥

(१५) मरणाऽभिमुखेनाऽप्यालोचना करणीयाऽत्र ब्राह्मणदृष्टान्तः ॥

मरुकज्ञातं चैतत् ॥

नगरे पाटलीपुत्रे, विप्र आसीत् त्रिलोचनः ।

वेदवेदांगतत्त्वार्थे, विशारदशिरोमणिः ॥ १ ॥

तस्य पार्श्वे बटुः कोऽपि, समायातः प्रणम्य तम् ॥

उवाच मयका मोहात्, परदाररतिः कृता ॥ २ ॥

तस्यपापस्य मे शुद्धिः क्रियतां सोऽप्यभाषत ।

तद्भावस्य परीक्षार्थं, यथा भो विप्रपुत्रक ! ॥ ३ ॥

तप्तां लोहमयीं नारीं, फुल्लकिंशुकसन्निभाम् ।

आलिंगय यतो नान्य, त्प्रायश्चित्तमिहास्ति ॥ ४ ॥

तेनापि पापभीतेन, प्रतिपन्नमिदं ततः ।

सोऽपि विज्ञाय तद्भावं, शुद्धिमन्यां न्यवेदयत् ॥ ५ ॥

अथवा मरुकोदाहरणमेवं ॥

बभूव ब्राह्मणः कोऽपि वेदार्थेषु विशारदः ।

स्वागमाहितबोधेन, धर्मार्थोऽभूत्स तापसः ॥ १ ॥

ततस्तपस्यतस्तस्य, वसतस्तापसाश्रमे ।

कंदमूलाशिनोऽत्यर्थं, कष्टानुष्ठानकारिणः ॥ २ ॥

स्नानाद्यर्थं नदीतीरे, प्रयातस्यैकदा किल ।

पश्यतो मत्स्यबंधानां, मत्स्यमांसस्य भक्षणम् ॥ ३ ॥

तत्र जाताभिलाषस्य, जेमितस्य प्रयाच्य तत् ।

तस्यैवाऽजीर्णदोषेण, समुत्पन्नो महाज्वरः ॥ ४ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तच्चिकित्सार्थमानीतो, वैद्यः सोऽपि च पृष्टवान् ।
किंत्वो त्वं भुक्तवान् ब्रूहि, सोऽप्यजापत लज्जया ॥५॥
कंदमूलफलाहारा, स्तापसा यत्सभुंजते ।
तन्मक्त न पुनस्तेन, कथितं मत्स्यभक्षणम् ॥ ६ ॥
वैद्योऽपि तस्य वाक्येन, ज्ञात्वा तं वातिकंज्वरं ।
तथाविधक्रियां चक्रे, नचाभूत्तज्ज्वरमुक्तता ॥ ७ ॥
पुनः पृष्टोऽथ वैद्येन, तदेव,ख्यातवानसौ ।
चक्रे क्रियां सतामेव, विशेषान्नत्वभवद्गुणः ॥ ८ ॥
अन्यदावेदनाक्रांतो नीतोऽसौ मृत्युराक्षसात् ।
लज्जां विहाय वैद्याय, न्यगादीन्मत्स्यभोजनं ॥ ९ ॥
ततोवैद्योऽन्यगादीत्तं, दुष्टु दुष्टु त्वया कृतं ।
यदीयंति दिनानीदं नाख्यातं रोगकारणं ॥ १० ॥
अधुनापि कृतं साधु साधो यत्साथितं त्वया ॥
निदानं ज्वररोगस्य, करोमीतो रुजः क्षयम् ॥ ११ ॥
तस्योचितं ततो वैद्यः, क्रियां कृत्वा तकं व्यधात् ॥
व्याधिबाधाव्यपेतांगं, पुष्टदेहं महोजसमिति ॥ १२ ॥

(१६) अक्षतालोचने व्याधदृष्टान्तभावना.

कंटगमादिप वद्धे, नोद्धरइ सयं नहोइ एकहए ।
कमतीभूयवणगए, आगलणं खोजियामरणं ॥

इह किल व्याधा वने संचरंत उपानहौ पादेषु नोपनह्यंति मा हस्तिन उपानहोः शब्दान श्रौषुरिति । तत्रैकस्य व्याधस्याऽन्यदा वने उपानहौ विना परिभ्रमतो द्वयोरपि पादयोः कंटकादयः प्रविष्टा आदिशब्दात् शल्यं किलिंचादिपरिग्रहः ॥ तान्प्रविष्टान् कंटकादीन्स्वयं नोद्धरति । नापि भोजिकायै निजभार्यायै व्याधिं कथयति । ततः स तैः पादतलप्रविष्टैः कंटकादिभिः पीडितः सन् वनगतो हस्तिना पृष्ठतो धावता प्रेर्यमाणो धावन् क्रमतीभूतः स्थले क्रमते इव मंदगतिरभूत् ततः प्राप्तो हस्ती प्रत्यासन्न देशमिति जानन् क्षुधाक्रोऽभंगत्वा (आगलण) मितिविकल्पं प्राप्तः । ततो मरणमेव गाथाक्षरार्थः । भावार्थस्त्वयं ।

एगो वाहो उवाहणातो विणावणे गतो तस्स पायतला कंटगाईणं भरिया ते कंटगाइयानो सयमुद्धरियानो विय वाहीए उद्धराविया अन्नया वणे संचरंतो हत्थिणा दिट्ठो तो तस्स धावंतस्स कंटगाइया दूरतरंमंसे पविट्ठा । ताहे अतिदुक्खेण अद्दितो महापायवो इवाच्छिन्नमूलो हत्थिजएणं पवेयणभूतो पडितो हत्थिणा विणासितो ॥ बितिए सयमुद्धरती अणुट्ठिए भोइयाए नीहरइ । परिमद्दणदंतमलादि पूरणं वणगयपलातो ॥

अन्यो द्वितीयो व्याध उपानहौ विना वने गतः । तस्य वने संचरतः कंटकादयः पादतले प्रविष्टा स्तान्स्वयमुद्धरति ये च स्वयमुद्धर्तुं न शक्नुवान् अनुद्धृतान् भोजिकया निजभार्यया व्याधा नीहारयंति निष्काशयंति तदनंतरं तेषांकंटकादिवेधस्थानानामंगुष्ठादिना परिमर्दनं तदनतरं दंतमलादिना आदिशब्दात् । कर्णमलादिपरिग्रहः । पूरणं कंटकादिवेधानां ततोऽन्यदा वनगतः सन् हस्तिना दृष्टोऽपि पलायितो जातो जीवि-

तव्यसुखानामाभागी एष दृष्टांतः । सांप्रत दार्ष्टांतिकयोजनामाह ॥

वाहत्थाणी साहू, वाहिगुरुकंटकादिअवराहा ।
सोही य ओसहाइ, पसत्थनाएण वणतो उ ॥

व्याधस्थानीयाः साधवः व्याधिस्थानीयो गुरुः कंटकादिस्थानीया अपराधा औषधानि दंतमलादीनि तत्स्थानीया शोधिः अत्र द्वौ व्याधदृष्टांतौ प्रशस्तोऽप्रशस्तश्च आद्योऽप्रशस्तो द्वितीयः प्रशस्तः । तत्र प्रशस्तेन ज्ञातेन दृष्टांतेनोपनयः कर्त्तव्यः । आचार्योऽपि यदि तान् उपेक्षते ततः कंटकादीनामुपेक्षको व्याध इव सोऽपि दुस्तरामापदमाप्नोति । तथा चाह ॥

पडिसेवंते उवेक्खइ नयणं ओवीलए अकरयंतो ।
संसारहत्थिहत्थं पावति विवरीयमियरोवि ॥

इतरोऽपि आचार्योऽपि तुशब्दोऽपिशब्दार्थः । यः प्रतिसेवमानात् उपेक्षते ननु निषेधति न वा कुर्वतोऽकुर्वाणात् प्रायश्चित्तमुत्पीडयति । न भूयः प्रायश्चित्तदानदंडेन तामयन् कारयति सविपरीतमाचार्यपदस्य हि यथोक्तनीत्या परिपालनफलमचिरात् मोक्षगमनं तद्विपरीतं संसार एव हस्तिहस्तं प्राप्नोति । दुस्तरं संसारमागच्छतीति भावः । उपसंहारमाह ॥

आलोयमणालोयणदोसा य, गुणा य वण्णिया एए ॥

एते अनन्तरोदिता आलोचनायां गुणा अनालोचनायां दोषा वर्णिताः व० १ आगमव्यवहारिणां सकाशे आलोचना (आगमनववहारि) शब्दे ॥

इदानी मागमव्यवहारिणामभावे समयानुसारेणो लब्धश्रुतानां श्रुतव्यवहारिणां सन्निधावालोच्यत इति । जीत. ।

(१७) स्वगणपरगणवासिकानां समीपे आलोचना.

स्वगणपरगणवासिकानां समीपे आलोचना ऽङ्गचूलिकायाम्. ॥

कहणं भंते सहुरूवे आयरिय उवज्झाए पमायवंते । सगण परगण वासियाणं समीवे पावं आलोइज्जा तएणं अज्जसुहम्मे जंबू एवं वयासी । जंब जिणसासणे ववहारो बलवंतो तिय भिक्खू अणागदकम्मं अन्नतरं अकिच्चट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा तस्य पासेज्ज पुणो आयरियउवज्झायं बहुस्सुयं बहूआगमं कप्पइ से तस्संतिए आलोइत्तए पडिक्कमित्तए निंदए गरिहारत्तिए विओदित्तए अकरणयाए अब्भुट्ठित्तए अहारिहं पायच्छित्तं पडिवज्जित्तए जत्थेवणो आयरियउवज्झायं पासेज्ज बहुस्सुय बहुआगमं तत्थेव संभोइय उवज्झाय आयरिय– पासेज्ज बहुस्सुयं बहुआगमं कप्पइ से तस्संतिए जाव पाडे वज्जित्ता ।१। जत्थेणो संभोय आयरियउवज्झायं पासेज्ज तत्थेव अण संभोइय आयरिय उवज्झायं पासेज्ज तत्थेव बहुस्स आगमं तस्संतियं जाव पडिवज्जित्तए । ६ । जत्थेव णो अन्नसंभोइय आयरिय उवज्झायं पासेज्ज तत्थेव सावयं पासेज्ज बहुसुअं तस्संतिए आलोयत्तए ॥ ४ ॥ जत्थेव णो सावयं जत्थेव सारविहं जत्थेव णयेतत्थेव पच्छा कम्मंजाव आलो० ।५।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जत्थेव णो पच्छा० । तत्थे समजावियाइं चेइयाइं पासिज्ज जाव कप्पइ जत्थेवणो समजावियाइं पासिज्ज तत्थेव गमेणगरस्स वाहिं पाइणाजिमुहस्स वा उदीणाजिमुहस्स वा ठिच्चा आलोइज्जा जाव पडिवज्जिज्जा एवं जंबू जहाविवएहारुदेसएपमत्तं तहा करिज्जा णोय रणासंघि एसु रांजिज्जा ।

निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां च स्वपक्षपरपक्षयोरालोचना व्यवहारकल्पे तथा च व्यवहारसूत्रम् उ. ५ ।

जे निग्गंथानिग्गंथीओयसंजोइया सियाणे एहं कप्पइ अन्नमन्नं कप्पई अणमणहस्स अंतिए आलोइत्तए अ थिय इत्थ केइ आलोयणा रिहे कप्पति से तस्संतिए– आलोए तएणजिया इत्थं के इ अणो आलोयणारिहे एवणहं कप्पइ अण्णमण्णसंतिए आलोएत्तए ॥ १७ ॥

व्य० ५ उ० अस्य सूत्रस्य संबंधप्रतिपादनार्थमाह ॥

थेरो अरिहो आलोयणाए आयारकप्पितोजोग्गो ।
साय न होइ विवक्खे नेव सपक्खे अगीएसु

स्थविरः पूर्वसूत्रे ऽभिहितः स च आलोचनाया अर्हः सोऽपि च योग्य आलोचनाया जवत्याचार कल्पिक आचारप्रकल्पा जिधानाध्ययन धारी । तत एवंसति सा आलोचना न विपक्षे नापि सपक्षे अगीतेष्वगीतार्थेषु भवति । तत्र संयता संयतीनां विपक्षः संयत्यः संयतानां । सपक्षः संयता संयतानां संयत्यः संयतीनां तत्र विपक्षे सपक्षे वा गीतार्थेष्वालोचनाप्रतिषेधार्थमधिकृतं सूत्रं व्याख्याय निर्ग्रन्थानिर्ग्रन्थ्यो वा संभोगिका स्युस्तेषां (नोएहमिति) वाक्यालंकारे कल्पते अन्योन्यस्य परस्परस्याऽन्तिके आलोचयितुमगीतार्थत्वात् अस्तिचेदत्र कश्चिदालोचनार्हे एवं सति न कल्पतोऽन्योन्यस्यांतिके आलोचयितुमेष सूत्रसंक्षेपार्थः ॥ सम्भोगविजागं सप्रपञ्चप्रतिपाद ॥

सांप्रतमालोचनाविधिमाह ॥

आलोयणा सपक्खे, परपक्खे चउगुरुं च ।
आणादो जिन्नकह दि, विराहणं दट्ठूण व जावसंबंधो ॥

आलोचना सपक्षे दातव्या । तद्यथा ।

निर्ग्रंथो निर्ग्रंथस्य पुरत आलोचयति । निर्ग्रंथी निर्ग्रन्थ्याः पुरतो यदि पुनर्विपक्षआलोचयति । यथा निर्ग्रंथो निर्ग्रन्थ्याः पुरतो निर्ग्रन्थी वा निर्ग्रन्थस्य तदा प्रायश्चित्तं चतुर्गुरुकं किल्वाज्ञादयश्च दोषा अशब्दे भिन्नक्रम : सचतथैवयोजितः कस्मादेवमत आह भिन्नकहादि इत्यादि च चतुर्थवतातिचारमालोचयंत्याः संयत्या भिन्न कथादोषो भवति चतुर्थव्रतातिचारकथनतस्तस्याः कदाचि दालोचनाधारस्य जावनेदो भवतीत्यर्थः । आदिशब्दात् चक्षी जूता सा यांचामिति कुर्यादिति परिग्रहः एवं सति शीलं विराहणं दट्ठूणं भावसंबंधो दृष्टिविकारेण मुखविकारेण वा स वा सा वा जावं इच्छामामिच्छतीत्यभिप्रायं ज्ञात्वा संबंधो घटना स्यात् एतदेव व्याख्यानयति ॥

मूलगुणेसु चउत्थे, विगमिज्जंते विराहणा हुज्जा ।
नित्यकचिट्ठिमहुरा, गतो य जावं वियाणंति ॥

मूलगुणेषु मध्ये चतुर्थे मूलगुणातिचारे विकथ्यमाने आलोच्यमाने विराधना शीलस्य भिन्नकथादिना प्रागुक्तस्वरूपेण भवति तथा भिन्नकथा श्रुता सती यांचां या कुर्यात् तथा दृष्टिरागतो मुखरागतोवा परस्य जावं विजानीते यथा मामेष एषा वा इच्छतीति ततो घटना स्यात् न केवलमेते विपक्षे आलोचनायां दोषः किंत्विमेऽपि तानेवाह ॥

अप्पच्चयनिब्भयया, पिल्लणया जइपगासणे दोसा ।
वयणी वि होइ गुम्मा, नियए दोसे पगासिंति ।
वंदंते वा उड्डे वा, गच्छो तह लहुसगत्तणाण गणे ।
विगमिंतपिं जल्लिउड्डुं, दट्ठूणुदाहकुवियन्नू ॥

यतः संयत्याः पुरतः प्रकाशने आलोचनायामिमे दोषाः तद्यथा अप्रत्ययः किमेषा वराको जानातीति तवाज्ञातो यत्किमपि सा प्रायश्चित्तं ददाति तत्र विश्वासाभावः । तथा भूयोऽपराधकरणे गुरुर्गरीयांसं दंडं दास्यतीति महत्याशंका संयतीनां तु पुरतस्य न भयमिति निर्भयता तद्भावाच्च भूयोभूयोऽपराधकारण प्रवृत्तिस्तथा (पेल्लणयेति) यदि महत्प्रायश्चित्तं ददाति ततः संयतो मूले न भवत्येतत्प्रायश्चित्तं किंचिदमित्येवं प्रायश्चित्तस्य प्रेरणा । तथा व्रतिन्यपि यदि संयतस्य पुरत आलोचयति ततः सा निजकात् दोषात् प्रकाशयंती गम्या जवति यथा एकवारं तावदिदमाचरितं भूयोऽपि संप्रति मया सह स समाचर्यतां पश्चात्प्रायश्चित्तं दास्यते इति द्वितीयगाथा संप्रदायात् व्याख्येया । यद्येवं तर्हि कथं पूर्वमार्यिकाः छेदश्रुतमधीयरन् कथं चालोचनां ददुस्तत्रुत्तरमाह ।

ततो जाव अज्जरक्खिय, आगमववहारिणो वियाणत्ता ।
न जविस्साति दोसो, तितो वायंती उच्छेदसुयं ॥

यावदार्यरक्षितास्तावदागमव्यवहारिणोऽजूवन्नते चागमव्यवहारबलेन विज्ञाय यथा एतस्याश्छेदश्रुतवाचनायां दोषो न भविष्यतीति संयतीमपि छेदश्रुतं वाचयंतिस्म ।

आरेणागमरहिया, मा विहाहिं तितो नवाएंति ।
तेण कहं कुव्वंतं, सोहितु अपाणमाणीतो ॥

आर्यरक्षितादारत आगमरहितास्ततस्ते मा च्छेदश्रुताध्ययनतः संयत्यो विनाशयिष्यंति विनङ्क्ष्यंतीति हेतोश्छेदश्रुतानि संयतीर्न वाचयंतीति । अत्राह । तेन छेदश्रुताध्ययनाभावेन कथं ताः संयत्योऽजानानाः शोधिं कुर्वंतु । अत्राचार्य आह (ततो जाव अज्जरक्खियसमणी पगासइ सुवणीतो । असतीए विवक्खंमि वि एमेव य होंति समणावि) यतः पूर्वमागमव्यवहारिणः स्युच्छेदश्रुतं च संयत्योऽधीयेरन् ततो यावदार्यरक्षितास्तावत् व्रतिन्याः स्वदृष्टाने स्वपक्षे संयतीनां प्रकाशने प्रकाशनामकाषुः स्वपक्षाभावे विपक्षेऽप्यालोचितवंत्यः श्रमण्यः । एवमेव श्रमणा अपि जवंति ज्ञातव्याः । किमुक्तं जवति । श्रमणा अपि सपक्षे आलोचितवंतस्तदभावे विपक्षेऽपि श्रमणीनां पक्षे इत्यर्थः दोषाभावात् । आगमव्यवहारिभिर्हि दोषाभावमवबुध्य छेदश्रुतवाचना संयतीनां दत्ता नान्येथति । आर्यरक्षितादारतः पुनः श्रमणानामेव समीपे आलोचयति श्रमण्योऽपि श्रमणानामागमव्यवहारच्छेदादत्रैव परमतमाशंक्य दूषयति ॥

मेहुणवज्जं आरेण, केइ समणेसु ता पगासंति ॥
तंतु न जुज्जइ जम्हा, लहुसगदोसा सपक्खेवि ॥

आर्यरक्षितादारतः श्रमणेषु श्रमणानां पार्श्वे ताः श्रमण्यः प्रकाशयंत्यालोचयंति मैथुनवर्ज्यं मैथुनं पुनः श्रमण्यः श्रमणं,

नामेव सकाशे आलोचयंति इति केचिद् व्याचक्षते तन्न युज्यते यस्मात् अघुत्वकरेयाः सपक्षेऽपि । किमुक्तं भवति । श्रमण्यो ऽपि स्वकलघुदोषतस्तुच्छत्वरूपस्वकदोषतःपरिज्ञाविरवं कुर्युः परिभवं वा समुत्पादयेयुस्तस्मान्मैथुनमपि श्रमणानामेवांतिके विकटनीयं ।

असती कडजोगी, पुण मुत्तूणं संकियाई ठाणाई ॥

आइल्लो धुवकम्मिय, तरुणी थेरस्स दिट्ठिपहे ॥ १ ॥

आर्यरक्षितकालेऽपि यदि संयत्या मूलगुणापराधआलोचयितव्यस्तर्हि संयत्याः सकाशे आलोच्यते । तस्याऽसति श्रमणे यः कृतयोगी कृतः सूत्रतोऽर्थतश्च छेदग्रंथधरः स्थविरस्तस्य समीपे आलोचयति नवरं शंकितानि स्थानानि वक्ष्यमाणानि शून्यगृहादीनि मुक्त्वा किंत्वाकीर्णे उचिते प्रदेशे आलोचयितव्यं यत्र ध्रुवकर्म्मिको दृष्टिपथे वर्त्तते दृष्टया पश्यति न तु शृणोति । तत्र जवनिकांतरिता आलोचयति । तरुणी थेरस्येत्येष तृतीयभंग उपात्तः । स च शेषभंगानां त्रयाणामप्युपलक्षणं । ते चेमे । स्थविरा स्थविरस्यालोचयति १ स्थविरा तरुणस्यालोचयति २ तरुणी स्थविरस्यालोचयति ३ तरुणी तरुणस्य ४ यदुक्तं मुक्त्वा शंकितानि स्थानानि ॥

संप्रति तान्येवोपदर्शयति ॥

सुण्णघरदेउलुज्जाण, रत्नपच्छन्नमुत्तसयसंतो ॥

एयंविवज्जे उायंति, तिन्निचउरोहवा पंच ॥ १ ॥

शून्यगृहं देवकुलं उद्यानमरण्यं प्रच्छन्नं च स्थानम् तथा उपाश्रयस्यांतर्मध्ये एतद्विवर्जे एतद्विरहिते प्रदेशे आलोचनानिमित्तं तिष्ठंति । ते च जघन्यतस्त्रया यदि वा चत्वारोऽथवा पंच ते च त्रिप्रभृतयो वक्ष्यमाणभंगकानुसारेण प्रतिपत्तव्याः भंगकानेवाह ॥

थेरतरुणेसु भंगा, चउरो सव्वत्थपरिहरे दिट्ठिं ॥

दोण्हंपुण तरुणाणं, थेरे थेरी यमचउरं ॥ १ ॥

स्थविरतरुणेषु भंगाश्चत्वारस्ते च प्रागेवोपदर्शिताः । स्थविरा स्थविरस्यालोचयंतीत्यादि ॥ तत्र यदि जवनिकाया अवकाशो नास्ति ततः सर्वत्र चतुर्ष्वपि भंगेषु दृष्टिं परिहरेत् । भूमिगत दृष्टिका सती आलोचयेत् यथा आलोचनार्हः शृणोति तत्र चतुर्भंगे द्वयोः स्थविरः स्थविरा च प्रत्युरसमिति । प्रत्यासन्नौ सहायौ दीयेते । येन परस्परं तौ दृष्टिं न बध्नीतोनापि मुखविकारं कुरुतः । एवमस्मिन् चतुर्थे भंगे चत्वारो भवंति ॥

थेरो पुण असहाओ, निग्गंथी थेरिया वि ससहाया।

सरिसवयं च विवज्जे, असती पंचमं कुज्जा ॥ १ ॥

तृतीयभंगे पुनः स्थविरोऽसहायोऽपि भवतु । तरुण्यः पुनः स्थविरासहाया दीयते । द्वितीयभंगे निर्ग्रंथी स्थविराऽपि ससहाया कर्त्तव्या । तरुणस्याऽऽलोचनार्हस्य सहायोऽस्तु वा न वा कश्चिद्दोषः । एवं तृतीये द्वितीये च भंगे त्रयो जना भवंति । तथा सदृशवयो नियमतः सहायानां विवर्जयेत् तद् संभावे सदृशवया अपि भवेत् । तत्र प्रथमभंगे चतुर्थभंगे वा सदृशवयः सहायसंभवे पंचमकुलककुल्लकां वा पट्टकां कुर्यात् ॥

ईसिं अणोयतावियाः उ आलोचयए वितक्खंमि ।

सापिक्खे उक्कुडु, पंजालिचिट्ठोवणुण्णातो ॥

विपक्षे श्रमणस्य समीपे श्रमणी आलोचयति ईषत् अवनता ऊर्ध्वस्थिताः सदृशपक्षे पुनः श्रमणः श्रमणस्य पार्श्वे पुनरुत्कुटुका । कृतप्रांजलिरालोचयति । अथ सोऽर्शव्याधिपीडितस्ततोऽनुज्ञापनां कृत्वा अनुज्ञातः सन् निषद्यामुपविश्यमालोचयति ॥

दिट्ठीए होंति गुरुगा, सविकाराओ सरात्तिसा जणिया ।

तस्स वितिक्खितरागे, तिगिच्छजयणाए कायव्वा ॥

यो दृष्ट्या दृष्टिं ददाति तस्य दृष्टौ सविकारायां भवंति प्रायश्चित्ततया चत्वारो गुरुकास्तत्र ये ते द्वितीयका दत्तास्ते यदि एकतर पश्यति तत आलोचनातोऽपसारयंति यथा अपसरतापसरत यूयं न किमप्यालोचनया प्रयोजनमिति । अथ सा निर्ग्रंथी स्वभावत एवोराल्लशरीरा सविकारा दृष्टा अपसरेति भणिता सती अपसृता तथापि तस्याऽऽलोचनाचार्यस्य यदि तस्या उपरि विवर्द्धितो रागस्तर्हि तस्मिन् सति यतनया चिकित्सा कर्तव्या ॥

तामेवयतनामाह ॥

अण्णेहिं पगारेहिं, जाहे नियत्तेउं से न तीरति अ ॥

घेत्तूणाभरणाइति, गच्छजयणाए कायव्वा ॥

यदा अन्यैः प्रकारैस्तं भावं निवर्तयितुं न शक्नोति तदा तस्याः संयत्या आभरणानि वस्त्राणि गृहीत्वा यतनया चिकित्सा कर्तव्या ॥

एतामेवाह ॥

जारिसवएहिं उिया, तारिसएहिं तमस्सती चरिया ॥

संजत्तिविगोयकेयण, वेल्लवणं चिहुरगंमेहिं ॥

यादृशैः सचित्रैर्वस्त्रैः प्रावृतः सा संयती उपविष्टा दृष्टा तादृशैर्वस्त्रैस्तमोऽधकारमस्यास्तीति तमस्वती रात्रिस्तस्यां तरुणसाधुर्वरितः प्रावृतः क्रियते ततः संजतीति दूती प्रेष्यते ततो विनावितृको नरविहीनो य ओको निवासो गृहमित्यर्थः । तत्र केतनं संकेतो दीयते दत्वा च स तत्र स्थितस्तावत्तिष्ठति यावत्स तरुणसाधुः संयतीनेपथ्योपेत आगच्छति । तस्मिन्नागते चिकुरेषु केशेषु गंधयोग्य विलेपनं क्रीडनं करोति तत्र यदेता यता शुक्रनिपाततस्तिष्ठति ततः सुंदरं । अथ नोतर्हि संयतनेपथ्योऽपसार्यते प्रकारांतरमारभ्यते ॥

तदेव प्रकारांतरमाह ॥

अहवा वि सिद्धपुत्तिं, पुव्विं गमेऊण तीए सिवएहिं

आवरियकालियाए, सुण्णागरादिसंमेलो ॥

अथवेति प्रकारांतरद्योतने पूर्वं सिद्धपुत्रीं गमयित्वा तस्याः सयत्याः शिवायरात्रुल्य कालिकायां कृष्णायां रात्रौ शून्यगृहादिषु तया सह तस्य मेलः संगमः कर्तव्यः । व्य. ॥

सा चोलाचनाऽऽचार्य्याशिष्यभावे भवति तत्र च शिष्याचार्य्याणामियं मर्य्यादा सामाचारि पच्छित्तशब्दे ॥

सम्प्रति यादृशा उत्सर्गत आलोचनार्हास्तानभिधित्सुराह ॥ व्य० ५ उ० ॥

गीयत्था कयकरणा, पोढा परिणामिया य गंभीरा ।

चिरदिक्खिया य वुड्ढा, जईणं आलोयणा जोगा ॥

गीतार्थः सूत्रार्थतदुभयनिष्णातत्वात् कृतकरणा अनेकवारमालोचनायां सहायीभवनात् प्रौढाः समर्थाः सूत्रतोऽर्थतश्च प्रायश्चित्तदाने पश्चात्कर्तुमशक्यत्वात् परिणामिकावाऽऽपरिणामिका वा गंभीरामहत्यप्यालोचकस्य दोषे श्रुते अपरिस्राविणश्चिरं दीक्षिताः प्रभूतकं प्रव्रजिता वृद्धाः श्रुतेन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर्यायेण वयसा च महांत पर्यंकृता यतीनां साधूनामुपलक्षणमेतत् संयतीनां चालोचनायोग्याः ॥ व्य. उ. ५ ॥

तथाच महानिशीथे

जयर्व कस्सा लोएज्जा, पच्छित्तं को वदिज्ज वा ।
कस्स व पच्छित्तं देज्जा, आलोविज्जा वा कहंगो ॥

लोयणं ताकेवलीण वहूसुवि ! जोयणसएहिं गंतुणं सुक्खजावेहिं दिज्जए । चउनाणीणं तया जावे एवं । ओहिमईसुजस्स विमलयरे तस्स तारतम्मेण दिज्जई । उमग्गपरूवितस्स उस्सग्गोपत्तियस्स य । उस्सग्गरयणोचेव सव्वजावं तरेहिणं । १ । उवसंतस्स दंतस्स संजयस्स तवस्सिणो । सुमिती गुत्तीपहाणस्स दढवीरितस्स असढजाविणो । २ । आलोएज्जा पच्छिज्जेज्जादेज्जादाविज्जवा परं । अहन्निसंत वुदिट्ठं पायच्छित्तं अणुचरो ॥ ३ ॥

पंचा० वृ. १५ आचारवान् ज्ञानासेवाऽर्यं ज्ञानादिपंचप्रकाराचारयुक्तोऽयं हि गुणत्वेन श्रद्धेयवाक्यो भवति । तथा (आहारवत्ति) अवधारः आलोचककोकापराधानामवधारणा सद्वान्सहिसर्वोपराधेषु यथावत् शुद्धिदानसमर्थो भवति तथा (ववहारत्ति) मतुब्लोपादृव्यवहारवान् आगमश्रुताऽऽज्ञाधारणा जीतलक्षणपंचप्रकारव्यवहाराऽन्यतरयुक्तः व्यवहारवांश्च यथावत् शुद्धिकरणसमर्थो भवतीति तथा (ओवीलपत्ति) लज्जया अतिचारान् गोपायंतमुपदेशविशेषैरपव्रीडयति विगतलज्जां करोतीत्यपव्रीडकः अयं ह्यालोचकस्याऽत्यंतमुपकारको भवतीति अवधारादिपदत्रयस्य च कर्मधारयःकार्यः तथा (पकुव्वीति) आलोचिताऽतिचाराणां प्रायश्चित्तदानेन शुद्धिं प्रकर्षेण कारयतो त्यैवंशील इत्येतदर्थस्य सामायिकस्य कुर्वधातोर्दर्शनात् प्रकुर्वी आचारवत्त्वादिगुणयुक्तोऽपि कश्चित् शुद्धिदान नाऽनुपगच्छतीयतस्तद्व्यवच्छेदार्थं प्रकुर्वीत्युक्तं । चः समुच्चये । तथा (निज्जवित्ति) प्राकृतत्वान्निर्यापकोपपत्तेः प्रायश्चित्तस्य निर्वापकोऽयं हि तथा विधत्ते यथा साधुर्महदपि प्रायश्चित्तं वोढुं शक्नोत्यत एवायमिहमहोपकारीति तत्तथा अपायान् दुर्भिक्षदुर्बलत्वादिकानैहलौकिकानर्थान् पश्यति । अथवा दुर्लभबोधिकत्वादिकान् पारलौकिकान् सातिचाराणां तान् दर्शयतीत्येवं शीलोऽपायदर्शी अयं चात एवाऽऽलोचकस्योपकारी । तथा न परिश्रवति आलोचकोक्तमकृत्यमन्यस्मै न निवेदयतीत्येवं शीलोऽपरिश्रावी तदन्यो ह्यालोचकानां लाघवकारी स्याच्चः समुच्चये । बोद्धव्यो ज्ञेय इति आलोचनाचार्य इति योगः ॥ पं. चू. ।

तहपरहियम्मि जुत्तो, विसेसओ सुहुमजावकुसलमती ।
जावाणुमाणवं तह, जोग्गो आलोयणारिओ १५

तथेति समुच्चये । परहिते परोपकारे युक्तः उद्युक्त उद्यत इत्यर्थः । तदन्यो हि परेषामवधारको न भवति । तथा विशेषत आचार्यान्तरापेक्षया विशेषेण सूक्ष्मभावकुशलमतिः लोकशास्त्रगताऽस्थूलार्थनिपुणबुद्धिः अत एव जावानुमानवान् परचेतसामिंगितादिभिर्निश्चायकः । अयं हि परभावानुसारेण शुद्धिदाने शक्तो भवति । तयेति समुच्चय योग्य उचित आलोचनाचार्यो विकटना गुरुक्तगुणकलापशून्यो हि न शुद्धिकरणक्षम इति गाथार्थः ॥ पंचा.वृ. १५।

तथा च स्थानांगे—स्था० ॥ ठा. ८

(१८) आलोचनाया अष्टौ स्थानकाः दशस्थानकाश्च ॥

अट्ठहिं ठाणेहिं संपन्ने अणगारे अरिहइ आलोयणा पडिच्छित्तए । तं जहा । आयारवं आहारवं ववहारवं उव्वीलए पकुव्वए अपरिस्सावी णिज्जवए अ- वायदंसी ॥

अट्ठहीत्यादि । सुगमं । नवरं । आयारवंति ज्ञानदिपंचप्रकाराचारवान् ज्ञानारवनान्यामाहारवंति अवधारणावान् आलोचकेनालोच्यमानानामतिचाराणामिति आह च ।

आयारवमायारं, पंचवि मुणाई जोय आयरइ ।
आहारवमहारे, आलोई तस्स तं सव्वंति ॥

ववहारवति आगमश्रुताज्ञाधारणजीतलक्षणानां पंचानामुक्तरूपाणां व्यवहाराणां ज्ञातेति (उव्वीलएति) अपव्रीडेति विलज्जीकरोति यो लज्जया सम्यगनालोचयन्तं सर्वं यथा सम्यग्लोचयति तथाकरोतीत्यपव्रीडकः अभिहितं च ॥

ववहारववहरं, आगममाइ उ मुणइ पंचविहं ।
ओवीलुवगूहंतु, जह आलोए इंत्तसव्वंति । १ ।

(पकुव्वएत्ति ।) आलोचिते सति यः शुद्धिं प्रकर्षेणं कारयति संप्रकारीति नणितं च (आलोयइयंमि सोहिं जो कारावेइ सो पकुव्वीओत्ति । अपरिस्साविति) न परिश्रवति नालोचकदोषानुपश्रुत्याऽन्यस्मै प्रतिपादयति य एवंशीलः सोऽपरिश्रावीति यदाह (जो अन्नस्स उ दोसे न कहेइ अपरिसाइ सो होइति ।) (निज्जवएति) निर्यापयति तथा करोति यथा गुर्वपि प्रायश्चित्तं शिष्यो निर्वाहयतीति निर्यापक इति न्यगादि च (निज्जवओ तह कुणइ निव्वहेईजेण पच्छित्तंति ।) (अवायदंसिति ।) अपायानन्नर्थान् चित्तभंगानिर्वाहादीन् दुर्भिक्षदौर्बल्यादिकृतान् पश्यतीत्येवंशीलः सम्यगनालोचनायां च दुर्लभबोधिकत्वादीनपायान् शिष्यस्य दर्शयतीत्यपायदर्शीति नणितं च ॥

दुब्भिक्खदुब्बल्लाइ, इहलोएजाणए अवाएउ ।
उदंसेइय परलोए, दुल्लहबोहित्तसंसारोत्ति ॥ १ ॥

प्र० १५ ज० ७ च० । स्था० ठा० ८ ।

दसहिं ठाणेहिं संपन्ने अणगारे अरिहइ अत्तदोसं आलोयणं पडिच्छित्तए तंजहा आयारवं आहारवं जाव अवायदंसी पियधम्मे दढधम्मे । ठा. १०

अधिकमिह प्रियधर्माधर्मे प्रियो दृढधर्माय आपद्यपि धर्माञ्चलतीति । आलोचितदोषाय प्रायश्चित्तं देयम् ।

अट्ठहिं ठाणेहिं संपन्ने अणगारे अरहइ अत्तदोसं आलोएत्तए । तंजहा । जाइसंपन्ने कुलसंपन्ने विणयसंपन्ने नाणसंपन्ने दंसणसंपन्ने चारित्तसंपन्ने खंते दंते ।

टी० (अत्तदोसत्ति) आत्मापराधमिति जातिकुले मातापितृपक्षौ तत्सम्पन्नः प्रायोऽकृत्यन्न करोति कृत्वाऽपि पश्चातापादालोचयतीति तद्ग्रहणं यदाह ॥

जाइकुलसंपन्नो, पायमकिच्चं न सेवइ किंचि ।
आसेविउंचयच्छा, तग्गुणओसम्ममालोएत्ति ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विनयसंपन्नः सुखेनैवाऽऽलोचयति तथा ज्ञानसंपन्नो दोषविपाकं प्रायश्चित्तं चावगच्छति यतो ॥

वा विन्नाणेउ संपन्नो, दोसविवागं वियाणिओ घोरं ।
आलोएइ सुहं चिय, पायच्छित्तं च अवगच्छेत्ति ॥ १ ॥

दर्शनसंपन्नः शुद्धोऽहमिति एव श्रद्धत्ते चरित्रसंपन्नो भूयस्तमपराधं न करोति सम्यगालोचयति प्रायश्चित्तं च निर्वाहयति इति उक्तं च ॥

सुद्धो तह त्ति सम्मं, सद्दहई दंसणेण संपन्नो ।
चरणेणउ संपन्नो, न कुणइ भुज्जो तमवराहं ति ॥२॥

क्षान्तः परुषं भणितोऽप्याचार्येण रुष्यतीति । आह च ॥

खंतो आयरिएहिं, फरुसं भणिओ वि न विरूसेति ॥

दान्तः प्रायश्चित्तं दत्तं वोढुं समर्थो भवतीति । आह च ॥

दंतो समत्थो वोढुं पच्छित्तं जमिह दिज्जए तस्सत्ति ॥

॥ स्था० ८ ठा० ॥

दसहिं ठाणेहिं संपन्ने अणगारे अरिहइ अत्तदोसं आलोइत्तए । तं जहा । जाइसंपन्ने कुलसंपन्ने एवंजहा अट्ठठाणे खंते दंते अमाई अपच्छाणुतावी ॥ ठा० १०

(एवंति) अनेन क्रमेण यथा अष्टस्थानके तथैवं सूत्रं पठनीयमित्यर्थः कियद्दूरं यावत् (खंतेदंतेत्ति) पदे तथाहि ॥

विणयसंपन्ने नाणसंपन्ने दंसणसंपन्ने चरणसंपन्नेत्ति ।
अमाई अपच्छाणुतावीति ॥

पदद्वयमिहाधिकं प्रकटं च नवरं ग्रन्थान्तरोक्तं तत्स्वरूपमिदम् ॥

नोपलिउं चेमाई, अपच्छयावो न परितप्पेति ॥

(१८) सामुदानिकाऽतिचारालोचना ।

ओघनिर्युक्तौ सामुदानिकानतिचारानधिकृत्य इदानीं सामुदानिकानतिचारान् आलोचयति यदि व्याक्षेपादिरहितो गुरुर्भवति अथ व्याक्षिप्तो भवति । तदा नालोचयतीत्येतदेवाह ।

वि.क्खित्तपराहुत्ते, विप्पमत्ते माकयाइ आलोए ।
आहारं च करेंतो, णीहारं वा जइ करेइ ॥ ७०२ ॥

व्याक्षिप्तो धर्मकथादिना स्वाध्यायेनापराङ्मुखो पराङ्मुखः अन्यतोऽभिमुखः प्रमत्तः विकथयति एवं विधे गुरुन् कदाचिदालोचयेत् तथा आहारं कुर्वति सति तथा नीहारं वा यदि करोति ततो नालोचयति । इदानीमेतामेव गाथां भाष्यकारो व्याख्यानयन्नाह ।

दारगाहा ।

कहणाइवक्खित्ते, विगहाए पमत्ते अन्नओ ।
वमुहो अंतरमकाए, वाणीहारे सकमरणं वा ॥७०३ ॥

धर्मकथादिना वा प्रमत्तः अन्यतोऽभिमुखो वा भवति भुंजतेऽपि वा नालोचनीयं किं कारणं (अंतरंति) अंतरायं भवति यावदालोचनां शृणोति अकारकं वा शीतलं भवति यावदालोचनां वा शृणोति तथा नीहारमपि कुर्वतो नालोचनीयं किं कारणं यत् आशंकया साधुजनितया कायिकादि निर्गच्छति अथ धारयति ततो वा मरणं भवति यस्मादेते दोषास्तस्मात् ।

अणक्खित्ताउत्तं, उवसंतमुवट्ठियं च नाऊणं ।
अणुन्नवेत्तु मेहावी, आलोएज्जा सुसंजए ॥ ७०४ ॥

धर्मकथादिना व्याक्षिप्ते गुरौ आलोचयेत् आयुक्तमुपयोगतत्परं उपशांतमनाकुलगुरुं दृष्ट्वा उपस्थितमुद्यतं च ज्ञात्वा एवंविधं अनुज्ञाप्य मेधावी आलोचयेत् सुसंयुतः साधुः । इदानीमेतामेव गाथां व्याख्यानयन् भाष्यकृदाह ॥

कहणाई अवक्खित्ते, कोहाइ अणाउले तदुवउत्ते ।
संदिसहत्ति अणुन्ना, काउण विदिन्न मालोए ॥ ८५॥

धर्मकथादिना व्याक्षिप्तो क्रोधादिभिरनाकुले तदुपयुक्ते भिक्षालोचनोपयुक्ते (संदिसहति) अणुन्नं काऊण संदिसत आलोचयामीत्येवं अनुज्ञां कृत्वा मार्गयित्वेत्यर्थः (विदिन्नत्ति) आचार्येण दत्तायामनुज्ञायां भणत इत्येवं लक्षणायां तत आलोचयेत् ।

तथा च पञ्चाशकेऽर्हद्वारविवरणायाह पंचा० वृ० १५

संविग्गोउव मादी, मइमं कप्पट्ठिओ अणासंसी ।
पन्नवणिज्जो सड्ढो, आणाइत्तो दुक्कडतावी ॥१४॥
तव्विहिसमूसुगो खलु, अभिग्गहासेवणादिलिंगजुत्तो ।
आलोयणापयाणे, जोगो भणितो जिणिंदेहिं ॥१५॥

व्या० संविग्नस्तु संसारभीरुरेवाऽऽलोचनाप्रदाने योग्यः इति योगः । तस्यैव दुष्करकरणाध्यवसायित्वात् दुष्करं चालोचनादानं यदाह (अविरायाचरारआंनयदुक्करियं कहे) तथा अमायी अशठः याहीदि न यथा यावत् दुष्कृतं कथयितुं शक्नोति तथा मतिमान् विद्वांस्तदन्या ह्यालोचनीयादिस्वरूपमेव नजानाति । तथा कल्पस्थितः स्थविरजातसमाप्तकल्पादिव्यवस्थितादन्यस्य ह्यतीचारविषया जुगुप्सैव न स्यात् यथा अनाशंसी आचार्याद्याराधनाभावरहितः सांसारिकफलानपेक्षो वा । आशंसिनो हि न सम्यगतिचारालोचना संभवत्याशंसाया एवातिचारत्वात् । तथा प्रज्ञापनीयः सुखावबोध्यस्तदन्यो हि स्वाग्रहादकृत्यविषयान्निवर्तयितुं न शक्यते तथा श्राद्धः श्रद्धालुः स हि गुरूक्तां शुद्धिं श्रद्धत्ते । तथा आज्ञावान् आप्तोपदेशवर्त्ती स हि प्रायोऽकृत्यं न करोत्येव तथा दुष्कृतेनातिचारासेवनेन तप्यते । अनुतापं करोत्येव शीलः दुष्कृततापी स एव तदालोचयितुं शक्नोतीति । तथा तद्विधिसमुत्सुकः सद्वालोचनाकल्पनालस एव स हि तद्विधिं प्रयत्नेन परिहरति । तथा अभिग्रहासेवनादिभिरुद्यादिनियमविधानविधायनानुमोदनप्रभृतिभिर्लिंगैरालोचनायोग्यतालक्षणैर्युतो युक्तोयः स तथा । आलोचनाप्रदाने प्रतीते योग्योऽर्हो भणित उक्तो जिनेन्द्रैस्तीर्थंकरैरिति गाथाद्वयार्थः । ओघ. ॥

किमेतावन्त एव करणीययोगा आहोस्विदन्येऽपि सन्तीत्याह ।

जं चन्नं करणिज्जं, जेयणो हत्थसयबाहिरयारियं ।
अविगडियम्मि असुद्धो, आलोयंतो तयं सुद्धो ॥७॥

यच्च पूर्वोक्तकरणीयव्यापारेभ्योऽन्यदपरत्करणीयं श्लेष्मप्रतिलेखनार्थाएकलान्वेषणशौचनिष्क्रमणाद्यर्थसंलेखना हिहस्तशताद्बहिराचरितं तस्मिन्पूर्वोक्ते च करणीययोगनिवहे अविकटिते गुरोरप्रकाशितेऽनालोचिते अशुद्धः समित्याद्यतिचारलेशवान् आलोचयंस्तं करणीययोगनिवहं शुद्धः आलोचनाख्यप्रायश्चित्तेन समित्याद्यतिचारलेशस्य निवर्तनरूस्तशतान्यन्तराचरितं किञ्चिच्छ्रवणादिकमालोच्यते । किंचिच्च खेलसंधानजल्लनिवसनोत्थानविजृंभणाकुञ्चनप्रसारणोच्छ्वासनिःश्वासचेष्टादिकमालोच्यते ॥ अत्राह शिष्यः । करणीययोगेष्वाहारादिग्रहणाद्येषु यथोक्तविधिना कृतेष्वपि यद्या-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लोचनाप्रायश्चित्तयोग्यता न याति । तर्हि न किमपि कर्तव्यं व्रतमादाय प्रथममेव सर्वैरप्यनशनङ्कार्य्यं । गुरुराह । तत्र । एवं सति तीर्थोच्छेदः स्यात् । कः केन प्रतिबोध्य इष्यते । किञ्च न खलु मालिन्याऽऽशंकया वस्त्राणि न परिधीयन्ते । अपरिधानेऽर्हि विवस्त्रतया सर्वेषांपशुरूपतापत्तिस्ततःपरिधीयंत एव । जातमालिन्यानि च जलेन प्रक्षाल्य निर्मलीक्रियन्ते । एवं चारित्रमपि करणीययोगकरणे संजातातिचारलेशमलं आलोचनाप्रायश्चित्तजलेन विशोध्य निर्मलीकार्य्यं ॥

अतिचारलेशवशतोऽपि तच्छुद्धये भवत्यालोचना परं निरतिचारस्य किमित्याह ।

कारणविणिग्गयस्सय, सगणाउपरगणागयस्स विय ।

उवसंपयाविहारे अ, आलोयणनिरयारस्स ॥ ८५ ॥

टीका । कारणेनाऽशिवदुर्भिक्षराजादिप्रत्यनीकत्व श्रमे, समार्थिविराधनागुर्व्वादेशादिनिर्गतस्य निरतिचारस्याऽथ विराधितसमितिगुप्तिकस्याऽप्यालोचना भवति । सा च द्विधा । ओघतो विभागतश्च । तत्र यः कारणविनिर्गतः पक्षान्यन्तरे समागच्छति । आगतमात्रश्चैर्यापथिकीम्प्रतिक्रम्य समुद्देशवेलाया अर्वागेवाऽऽलोचयति । तस्याऽप्योघालोचनामात्रं भवति ॥ यथा ॥

अप्पा मूलगुणा सुविराहणा, अप्पा उत्तरगुणेसु ।

अप्पा पासत्थाइसु, दाणगह संपजगोहा ॥

अल्पशब्दोऽभाववाचीति न मूलगुणेषु विराधना अल्पा न कदाचिदुत्तरगुणेष्वप्यल्पा न काचित्पार्श्वस्थावसन्नादिषु दानग्रहान्यां संप्रयोगः सम्पर्कः सोऽप्यल्पः । सोऽपिनास्तीत्यर्थः इयमोघालोचना । यस्तु पक्षान्यन्तरागतोऽपि समुद्देशानन्तरमालोचयति । यावत्पक्षात्परतः समागतः समुद्देशादर्वागप्यालोचयति । तयोर्निरतिचारयोरपि विभागालोचना विशेषालोचना सुव्यक्ता । निः शेषनिजाऽनुष्ठितनिवेदनरूपा । वस्तुतक्षशिलायां धर्मचक्रस्य मथुरायां स्तूपस्य पुरुकायां जीवत्स्वामिप्रतिमायाः तीर्थकृज्जन्मनिः क्रमणज्ञाननिर्वाणभूमीनामयोध्यादीनां दर्शनार्थं स्वजनगोकुलविवाहादि संखडिकाप्रेक्षार्थं यत्र विशिष्टाहारोपधी लभ्येति । तत्र लिप्सया रम्यदेशदिदृक्षयादिना वागुर्वनादेशादिनिर्गतोऽकारणविनिर्गतस्तस्य साऽतिचारत्वेन बृहत्तरप्रायश्चित्तशोध्यत्वान्नालोचनामात्रेण शुद्धिः । तथा स्वगणात्सांभोगिकरूपादेकमंडलीभोजिनः उभयतोऽपि संविग्ना संविग्नरूपादागतस्याऽपि च निरतिचारस्य उपसंपयत्ति उपसंपद्यमानस्य सा चोपसंपत्पञ्चधा । श्रुतग्रहणायान्यमाचार्य्यमुपसम्पद्यमानस्य श्रुतोपसंपत् ३ मार्गेव्रजतोममयोष्माकीनिश्रेतिमार्गोपसंपत् ४ विनयं कर्तुं गच्छांतरमुपसंपद्यमानस्य विनयोपसंपद् ५ भाष्यकृताऽप्युक्तं ॥

उपसंपयपंचविहा, सुय सुहदुक्खे य खित्तमग्गे य ।

विणउपसंपयाविय, पंचविहा होइ नायव्वा ॥

एतासामन्यतरामुपसंपदं प्रथममाददानस्य विभागालोचना भवति । विहारत्ति । विहारे कृते निरतिचारस्याऽप्यालोचना भवति । अयंभावः । एकाहात्पक्षाद्वर्षाद्वा यदा सांभोगिकाः स्पर्द्धकपतयो गीतार्थाचार्य्या मिलन्ति । तदा निरतिचारेऽप्यन्योन्यस्य विहारालोचनां स्वस्वविहारक्रमानुष्ठितप्रकाशरूपां ददतीति ॥ जीत. ॥

(५०) आलोचयित्रा एतानि वर्जनीयानि ॥

णट्टं चलं भासं मूयं तह ढंढर च वज्जेज्जा ॥

आलोएज्जा सुविहिओ, हत्थं मत्तं च वावारं ॥८६॥

नृत्यन्नाऽऽलोचयति । चलंश्च नाऽऽलोचयति । अङ्गानि चालयन्नालोचयति । तथा गृहस्थभाषया नालोचयति । किं तर्हि संयतभाषया आलोचनीयमिति । तद्यथा । " मयारियाओ " इत्येवमादि, तथा आलोचयन् केन स्वरेण नालोचयति मिणि मिणि तया ढड्ढरेण च स्वरेण उच्चैर्नालोचयति । एवं विधं स्वरं वर्जयेत् । किम्पुनरसावालोचयतीत्येतदाह ॥

आलोचयेत्सुविहितःहस्तमुदकस्निग्धंतथामात्रकं गृहस्थसत्कं कटच्छुकादि उदकार्द्रादिं तथा गृहस्थया कृतमव्यापारकुर्वता तदेतन्नालोचयति । इदानीमेनामेव गाथां व्याख्यानयन्नाह ॥

करपायस्समुह, सीसच्छि उट्ठमाईहिण दिएणाम ॥

चलणं हत्थसरीरे, चलणं काए मूयभावे य ॥ ८७ ॥

करस्य तथा पादस्य भ्रुवशिरसः अक्ष्णः ओष्ठस्य चैवमादीनामङ्गानां सविकारं चलनं नर्तितं नाम तच्च नर्तितं कुर्वन्नालोचयति । चलनं हस्तस्य शरीरस्य कुर्वन्नालोचयति । तथा चलनं कायस्य करोति मोटनं कुर्वन्नालोचयति तथा भावतश्चलनं अन्यथा गृहीतमन्यथा आलोचयति ॥

अरुवियदुज्ज गारत्थिय, जासा उवज्जए मूयदद्दुरं च सरं ।

आलोएवावारं, संसट्ठियकरमत्तो ॥ ८८ ॥

आलोचयेत्गृहस्थभाषया न आलोचयति यदुत (लंगणीउ लष्टाउ मंरुलका लष्टा) इत्येवमादि किन्तु संयतभाषया आलोचनीयं (मयारियाउ) इत्येवमादि मूकस्वरे मनाक् ढड्ढर च महान्तं स्वरं वर्जयित्वाऽऽलोचयति । व्यापारं गृहस्थाः संबन्धिनं तथा संसृष्ट उदकार्द्रादि इतरं असंसृष्टं किं तत्करं संसृष्टं असंसृष्टं च उदकेन तथा मात्रकं गृहस्थसत्कं मेहिकादि उदकसंसृष्टंचेति । एतदालोचयति ॥ ओघ. । पं. व. ॥

तथाच स्थानाङ्गे ठा. १. ।

दस आलोयणादोसा पएणत्ता ।

आकंपइत्तु अणुमाणइत्तु, जं दिट्ठबायरं च सुहुमं वा ॥

छन्नं सद्दाउलगं, बहुजण अव्वत्ततस्सेवि ॥ १ ॥

टीका । आकम्प्य आवर्ज्येत्यर्थः । यदुक्तं ॥

वेयावच्चाइहिं पुव्वं, आकंपइत्तु आयरिए ॥

आलोएइ कहं मे, थोवं वियरेज्ज पच्छित्तंति ॥ १ ॥

(अणुमाणइत्ता) अनुमानं कृत्वा किमयं मृदुदण्ड उतोग्रदण्ड इति ज्ञात्वेत्यर्थोऽयमभिप्रायोऽस्य । यद्ययं मृदुदण्डस्ततो दास्याम्यालोचनामन्यथा नेति उक्तञ्च ॥

किं एस उग्गदंडो, मिउदंडो वात्तिएवमणुमाणो ॥

अप्पेयविंतिलोवं, पच्छित्तं मज्झदेज्जाहिति ॥ १ ॥

(जंदिट्ठति) यदेव दृष्टमाचार्य्यादिना दोषजातं तदेवालोचयति । नान्यद्दोषञ्चायमाचार्य्ये रञ्जनमात्रपरत्वेनासंविग्नत्वादस्येति । उक्तञ्च ॥

दिट्ठाव जेपरेणं, दोसावियडेयं तच्चियए णाएणे ॥

सोहिजया जाणंतु, वएसो पयावदोसोउत्ति ॥ १ ॥

(बायरंवत्ति) बादरमेवातिचारजातमालोचयति न सूक्ष्ममिति (सुहुमंवात्ति) सूक्ष्ममेव वातिचारमालोचयति । यः किल सूक्ष्ममालोचयति स कथं बादरं संतं नालोचयत्येव रूपं भावसम्पादनायाचार्य्यस्येति । आह च ।

वायरवद्दुवएहिं, जो आलोएइ सुहुमनालोए ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अहवा सुहुमालोए बरमाणतोउएवं तु ॥ १ ॥
जो सुहुमे आलोए, सो किह नालोय बायरे दोसेति ॥

(छन्नति) प्रच्छन्नमालोचयति यथात्मनैव शृणोति नाचार्य्य भणितं (छण्णतह आलोए जह नवर अप्पणा सुणइत्ति) (सद्दाउलयत्ति) शब्देनाऽऽकुलं शब्दाकुलं बृहच्छब्देनालोचयति। यथान्येऽप्यगीतार्थास्तच्छृण्वन्तीत्यजानाणि च । (सद्दाउलयट्टेणं सद्देणालोय जह अगियाविबोहेत्ति बहुजणंति) बहवो जना आलोचनाचार्य्या यस्मिन्नालोचने तद्बहुजनं । अयमभिप्रायः॥

एगस्सालोइत्ता जो, आलोएसणोवि अएणस्स ॥
ते चेवय अवराहे, तं होई बहुजणं नामोत्ति ॥ १ ॥

(अव्वत्तेति) अव्यक्तस्याऽगीतार्थस्य गुरोः सकाशे यदालोचनं तत्तत्सम्बन्धादव्यक्तमुच्यते । उक्तञ्च । (जो य अगीयत्थस्स आलोए तं तु होइ अव्वत्तमिति तस्स विति). ये दोषा आलोचयितव्यास्तत्सेवी यो गुरुस्तस्य पुरतो यदालोचनं स तत्सेविलक्षणमालोचनादोषस्तत्र चाऽयमभिप्रायः आलोचयितुः ॥

जइ एसो सतुल्लो, नो दाही गुरुगमेव पच्छित्त ॥
इय-जो किलिट्ठचित्ता, दिएणा आलोयणा तेणंति ॥

भ. श. २५ उ. ७ । ध. अ.ध. २ । पं. चू. ॥

दस दोसविप्पमुक्कं, तम्हा सव्वं अगहमाणेणं ।
किंपि कयमकज्जं, तं जहवत्तं कहेयव्व ॥ ३२ ॥

द० प० ॥

आलोचनायामपरुषवचने दोषा (ववहार) शब्दे ॥
कयमुनरालनः शोधिजातमथ्यालोचयेदित्याह ॥

जह बालो जंपंतो, कज्जमकज्जं च उज्जयं जणाति ।
तं तह आलोएज्जा, मायामयविप्पमुक्कोउ ॥ ४७ ॥

व्याख्या । यथा यद्वद्बालः शिशुर्जल्पन्भाषमाणः विवक्षितमिति गम्यते । कार्यमकार्यं वा विधेयमविधेयं वा निर्विशेषमृजुकं अवक्रमयन् गोपायन्नित्यर्थः । भणत्यभिधत्ते मात्रादिकं प्रतीतमित्यालोचनीयाऽपराधं तथा तद्वद्बालवद्वक्तव्यमवक्तव्यं वाऽऽलोचयेत् गुरोर्निवेदयेत् । मायामदविप्रमुक्तस्तु शठता गर्वरहित एव मायामदयुक्तो हि न सम्यगालोचयितुं शक्नोतीत्यतस्तद्रहित इत्युक्तम् । व्य० उ० ४ । १० । पंचा० वृ० १५

आलोचनाविधिः ॥

एत्यं पुण एसविही, अरिहो अरिहम्मि दलयति कमेण ।
आसेवणादिणा खलु, सम्मं दव्वादि सुद्धीए ॥ ८ ॥

व्याख्या । अत्रालोचनायां पुनः शब्दस्य चैवं संबंधो विधिनाऽऽलोचना देया । अत्र पुनः एषोऽयं वक्ष्यमाणो विधिः कल्पस्तद्यथा । अर्हं आलोचनादानोचितः । तथा अर्हे आलोचनादानयोग्य गुरौ विषयभूते (दलय इत्ति) ददाति प्रयच्छति तथा क्रमेणाऽनुपूर्व्येण किं विधेनेत्याह । आसेवनादिना खलु प्रतिषेवणाप्रभृतिनैव आदिशब्दादालोचनाक्रमग्रहः । तथा सम्यग्यथावत् आकुट्टिकादिभावप्रकाशनतः ॥

तथा द्रव्यादिशुद्धौ द्रव्यक्षेत्रकालभावशुद्धौ सत्यां प्रशस्तेषु द्रव्यादिष्वित्यर्थः ॥

अथ सम्यगिति यदुक्तन्तत्राह ॥

तह आउट्टियदप्पओ, कप्पमायप्पलवजयणाए ॥
कज्जे वा जयणाए, जहट्ठियं सव्वमालोए ॥ १८ ॥

व्याख्या । तथेति शब्दः समुच्चये । यथाक्रममालोचनाक्रमेव माकुट्ट्याऽऽकृतत्वमपीत्येतदर्थः । आकुट्टिकोपेत्यकरणं दर्पो वल्गनादिः । प्रमादो मद्यादिस्मृतिभ्रंशादिर्वा एषां द्वन्द्वोऽतस्तेभ्यस्तत आकुट्टिकादर्पप्रमादतस्तथा कल्पतो वाऽशिवादिपुष्टालम्बनतो वा कल्पश्च यतनादिविषय इत्यत आह । यतनया यथाशक्तिसंयमरक्षारूपया कार्य्ये वा प्रयोजने वा संभ्रमहेतोः प्रदीपनकादावयतनयाऽनापादितसारेतरविभागतया यद्यासेवित तदिति गम्यं यथास्थितं यथाभूतं सर्वं समस्तमकृत्यमालोचयेत । गुरवो निवेदयेच्छुद्धिकाम इति गाथार्थः ॥ १० ॥ पंचा० १५ वृ० ॥

(२१) सम्यगाऽऽलोचनादाने किं लिङ्गम् ॥

सम्यगालोचनादाने किम्पुनर्लिङ्गमित्याह ॥ पंचा० वृ० १५

आलोयणासुदाणे, लिंगमिणे बिंति मुणियसमयत्था ।
पच्छित्तकरणमुचितं, अकरणयं चेव दोसाणं ॥ ४८ ॥

व्याख्या । आलोचनासु दाने सम्यगालोचनायां लिंगं चिन्हमिदं वक्ष्यमाणं ब्रुवते आहुः । मुणियसमयत्था ज्ञातसिद्धान्तार्थाः प्रायश्चित्तकरणं विशुद्धिविशेषासेवनमुचितं योग्यं गुरूपदेशानुसारि तथा अकरणकमेवाविधानकमव चैवेत्यवधारणे दोषाणामालोचितापराधानामिति गाथार्थः ॥

कथं पुनरालोचनादानं शुद्धिकरणं भवतीत्याह ।

इयभावपहाणाणं, आणाए सुट्ठियाण होंति इमं ॥
गुणठाणसुद्धिजननं, सेसं तु विवज्जय फलंति ॥४९॥

व्याख्या । इत्येवमुक्तनीत्या भावप्रधानानां संवेगसाराणां तथा आज्ञायामाप्तोपदेशे सुस्थितानां सुष्ठु व्यवस्थितानां भवति स्यात् इदमालोचनादानं गुणस्थानशुद्धिजनकं प्रमत्तादिगुणविशेषनिर्मलताश्रयकं शेषं तु कादन्यत्पुनर्विपर्य्ययफलं गुणस्थानकाशुद्धिजनकमिति शब्दः समासार्थः इति गाथार्थः ॥

तथाच महानिशीथे अ० १ ॥

खंता दंता विमुत्ता य, जिइंदी सच्चभासिणो ॥
छक्कायसमारंभाओ, विरत्ते तिविहेणओ ॥ ८९ ॥
तिदंका सव्वसंवारिया, इत्थिकहासंगवज्जिया ॥
इत्थिसंलावनिरया जीय, अंगोवंगनिरक्खणा ॥ ९० ॥
निम्ममत्ता सरीरेवि, अप्पडिबद्धा महायसा ॥
भीया इत्थित्थिगब्भ,सहीणं बहुदुक्खाओभावओए ? ॥ ९१ ॥
तहातो परिसेण, भावेणं दायव्वा आलोयणा ॥
पच्छित्तं पिव कायव्वं, तहा जहा चेव एहिकयं ॥९२॥
न पुणो तहा आलोएयव्वं, मायाडंभेण केणई ॥
जह आलोयणं चेव, संसारं वुड्ढीभवे ॥ ९३ ॥
अणंतणाइकालाओ, अत्तकम्मेहिं दुम्मइ ॥
बहुविकप्पकल्लोले, आलोए तेवी अहोगए ॥ ९४ ॥
गोयम ! केसिं विना माई, साहिमोतं निबोधय ॥
जेमालोयणपच्छित्ते, भावदोसिककलुसिए ॥ ९५ ॥
ससल्ले घोरमहं दुक्खं, दुरहियासंसुदूसहं ॥
अणुहवंति चिठति, पावकम्मे नराहमे ॥ ९६ ॥
गुरुगा संजम नाए, साहू निद्धंद्धसे तहा ॥
दिट्ठिवायाकुसीले य, मणकुसीले तहेव य ॥ ९७ ॥
सुहुमालोयगे तहय, परवंचयसा लोयगे तह ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किं वा लोयगा तहयए, किंवा लोयगे तहा ॥ ९८ ॥
अकयालोयणे चेव, जणरंजवणे तहा ॥
नाहं काहामि पच्छित्तं, छम्मासा लोयणमेव य । ९९ ।
मायाकंजपवंचीय, पुरकम्तववरणकहो ॥
पच्छित्तं मे किंचि, न कायालोयणुच्चरे ॥ १०० ॥
आसणालोयणक्खाइं, लहुं पच्छित्तजायगो ॥
अम्हाणा लोइयं चेहे, मुहबंधालोयगे तहा ॥ १०१ ॥
गुरुपच्छित्ताहमसक्केय, गिलाणालंबणं कहे ॥
अएराालोयगे साहू, सुणासुएणि तहेव य ॥ १०२ ॥
निच्छिन्ने वियपच्छित्ते, न काहं तुट्टिसायगे ॥
रंजवणमेत्तलोगाणं, वाया पच्छित्ते तहा ॥ १०३ ॥
पडिवज्जणपच्छित्ते, चिरयालए वेसगे तहा ।
अणुणिहियपायच्छित्ते, अन्नजणियमहायरे तहा । १०४।
आउट्टीयमहापावे, कंदप्पादप्पे तहा ।
अजयणासेवणे तहय, सया अमुयपच्छित्ते तहा । १०५।
दिट्ठयोच्छयपायच्छित्ते, सयं पच्छित्तकप्पगे ।
एव इयं इच्छयपच्छित्तं, पुव्वालोइयमणुस्सरे । १०६
जाइमयसंकिए चेव, कुलमदसंकिए तहा ।
जाइकुलोत्तयमयासंके, सुत्तआनिस्सिरि सक्कियाए तहा । ७।
तवोमया संकिएचेव, पडिबासयसंकिए तहा ।
सक्कारमयमुच्छे य, गारवसंदसिए तहा । १०८ ।
अपुज्जो वा विहंजमे, एगजंमेव चिंतगे ।
पाविणंपि पावतरे, सकलुसचित्तालोयगे । १०९।
परकहावगे चेव, अविणयालोयगे तहा ।
अदिहीयालोयगे साहू, एवमादी दुरप्पणो । ११० ।
अणंतेणाइकालेणं, गोयमा ! अत्तदुक्खिया ।
अहो अहो जावसत्त, मियं जावदोसेक ओगए । १११।
गोयम ! णंते चिट्ठंति, जे अणादिए ससल्लिए ।
नियजासदोससल्लाणं, भुज्जंते विरसं फलं । ११२ ।
चिट्ठइस्संति अज्जवि, तेणं सल्लेण सल्लिए ।
अणंतंपि अणागयं, कालं तम्हा सल्लं न धारएमं मुणित्ति ॥ ११३ ॥

(२२) कृतानां कर्मणां क्रमत आलोचना ॥

आलोचनाक्रमश्च ।

ते य पडिसेवणाए, अणुलोमा होंति वियडणाएय ।
पडिसेवावियडणाए, एत्थ चउरो भवे भंगा ॥ ८१ ॥

तांश्चातिचारान्प्रतिसेवनानुलोमेन यथैव प्रतिसेवितास्तेनै-वानुक्रमेण कदाचिच्चिन्तयति। तथा (वियडणाएत्ति) विकटना आलोचना तस्य च अनुलोमा एव चिंतयति एतदुक्तम्भवति । पढमं लहुओ दोसो पडिसेविओ पुणोवड्डो वड्डतरो चिंतेइ। एवमेव ततश्च प्रतिसेवनायां अनुकूलमालोचनायामपि अनुकूलमेव । यतः प्रथमं लघुको दोष आलोच्यते पुनर्वृहत्तरः पुनर्वृहत्तमः इति एष प्रथमो भंगकः । अन्नोपडिसेवणा अनुकूलो न उणवियडणा एतदुक्तंभवति ।

आसेवियं पढमं वड्डं पुणो लहुयं पुणोवड्डं ।
पुणो वड्डयरं चिंतेइ ॥

एवमेव ततश्च प्रतिसेवनायाः । अनुकूलं । अननुकूलं मत्वालोचनाया यतस्तत्र प्रथमं लघुरालोच्यत । पुनर्वृहत्तरः पुनर्वृहत्तमः इति एष द्वितीयो भंगः । " अन्नो पडिसेवणाएवि अणणुकूलो आलोयणाए पुण अणुकूलो,, । एतदुक्तं भवति । अन्नवियट्ठापडिसेवणाएवि अणणुकूलो आलोयणाएवि अणणुकूलो । एतदुक्तम्भवति पढमं वड्डो पडिसेविओ पुणो वड्डायरो चितेत्ति पुण जं जहा संभरइ पढमं वड्डो पुणो लहुओ पुणो वड्डो पुणो बहुयारो एवं अपडिवियड्ड चिंते तस्स ण पडिसेवणाणुकूलो यणाणुकूलो एस चउत्थो एसो वज्जेयव्वो॥

इदानीममुमेवार्थं गाथार्द्धेनोपसंहरन्नाह ।

(पडिसेवधियडणा एय होइ इत्थापि चउभंगो) इदं व्याख्यातमेवेति ॥ ओघ. ॥

तथा च पंचाशके वृ. १५ ॥

दुविहेण णुलोमेण, आसेवणवियडणाभिहाणेणं ।
आसेवणाणुलोमं जं जह आसेवियं वियडे ॥ १६ ॥
आलोयणाणुलोमं, गुरुगवराहे उपच्छओ वियडे ।
पणगादिणा कमेण, जहजह पच्छित्तवुड्ढि ॥ १७ ॥

व्याख्या । द्विविधेन द्विप्रकारेणानुलोम्येन क्रमेण द्वैविध्यमेवाह । आसेवना यदानुलोम्यं तदासेवनमेव विकटनेन च यत्ताद्विकटनमेवानस्ते एवाभिधाने यस्य तत्तथा तेनासेवन विकटनाभिधानेनालोचनां ददातीति द्वारगाथासंबंधपदं-संबंधनीयं । तत्राद्यं स्वरूपत आह । आसेवनानुलोम्यमुक्त शब्दार्थं तदिति शेषः। यत्किं येन क्रमेणासेवितं यथा सिचितं विकटयत्यालोचयत्यालोचनाकारीति । आलोचनानुलोम्यं पुन व्यंस्तःशब्दार्थं तचदिति शेषः । गुरुकापराधान्महातिचारान् तु शब्दः पुनरर्थः । स च योजित एव पच्छओत्ति प्राकृतत्वात्पश्चाद्यथापराधानंतरं विकटयत्यालोचयति । कथमित्याह । पणगाइणत्ति । समयभाषत्वात्पंचकादिना पंचदशकप्रभृतिना क्रमेणानुपूर्व्या किमित्याह ।

यथा यथायेनयेन प्रकारेण प्रायश्चित्तवृद्धिर्विशुद्धिवर्द्धनं तथा-तथायद्विकटयतीति प्रकृतमिह च लघावत्योरपंचकंनाम प्रायश्चित्तं गुरुके तु दशकं गुरुतरे तु पंचदशकमित्येवमादीति तुशब्दःपूरणार्थः । अत्र च गीतार्थ आलोचनानुलोम्येनैवालोचयति कारणं तु गीतार्थगम्यमितरस्यासेवनानुलोम्येनालोचना तु लोम्यानभिज्ञत्वा त्तस्य च कारणमतिचाराणां सुस्मरत्वमिति गाथाद्वयार्थः ॥

संयतीनामालोचना । महानिशीथे अ० १ ॥

गोयम ! समणीणणोसंखा जा उनिक्कलुसनीसल्लवीसुद्धसुनिम्मलवमणमाणसाउ अज्जपाविसोहीए आलोयत्ताणसुपरिफुडं । नीरुकं निखिलं निरावं नियवं नियदुच्चरियमाईयं सव्वंपिजावसल्लं अहारिहं तवो कम्मं पायच्छित्तं मणुचरित्ताणं निद्धोयपावकम्ममललेवकलंकाओ उप्पन्नदिव्ववरकेवलनाणाओ महाणुभावाओ महाय साओ महासत्तसंपन्नाओ सुगणाहियनामधेयाओ अणंतमसोक्खं मोक्खं पत्ताओ ॥

कासिंच गोयमा नामे, पुव्वजागाए सा हिमो ॥
जेसिंयालोयमाणीणं, उप्पण्णंसमणीणकेवलं ॥ १॥
हाहाहापाकम्माणं, पावापावमतीन्द्रहं ॥
पावं जणं वि पावयए, हाहाहाउट्ठिचिंतिमे ॥ २ ॥
हाहा हाइच्चें जावं, मे ताविहजं मेउवट्ठियं ॥
तत्थ णाणयोर वीरुग्गं, कट्ठतवसंजमं धरं ॥ ३ ॥
अणंतपाववासीओ, संमिलियाओ जयाजवे ॥
तइयाइच्छित्तणं छन्दे, शुध्दं पावाण कम्मणा ॥ ४ ॥
एगविंगी चूताणं, समुदयंतणुतो तह ॥
करेमि जह न पुणो, इत्यीहं होमि केवली ॥ ५ ॥
दिट्ठीए वि न खंभामि, सीलं हंसमणि केवली ॥
हाहामणेणमे किंपि, अहदुहट्ठचिंतियं । ६ ॥
तमालोइत्ताहहुं, सुध्दिगिएहहं समणिकेवली ॥
दिव्वूणमकलावएणं, रूवं कंतिदित्तिसिरिं ॥ ७ ॥
माणरूपयं गाहमाजं तु, खयमणरूमणीय केवली ॥
वातमोत्तूण णो अन्नो, निच्छयं मह तणुच्छिवे ॥ ८ ॥
छकायं समारंजं, न करेहंसमणि केवली ॥
पोग्गलकरे कारुगुजातं णाहे जहणं तरे तहा । ९ ।
जणाणा एवि ण दंसेमि, सुसंगुत्तं गोतं गासमणी य
केवली ॥ बहुजवंतरकोमीओ, घोरं गब्भपरंपरं ॥ १०॥
परियट्टंतीए सुअध्दंमे, णाणचारित्तसंजुअं । माणुस्स
जम्मं सुसंमत्तं, पावकम्म क्खयं करं ॥११॥ तासव्वजा
वणीसहा, आलोएमी खणेखणे ॥ पायच्छित्तमणुट्ठामि,
वीयंतं न समारजं ॥ १२ ॥ जेणागलइपाछित्तं, वायमणु
साय कम्मुणा । पुढविदगागणिवाऊ, हरियकायं तहे
वय ॥ १३ ॥ वीयकायसमारंजं, विति चउपंचिंदिया
णया ॥ मुसाणंपि न जासेमि, समरक्खंपि अदिन्नयं
॥ १४ ॥ न गिएहंसि मणंतेवि, णपच्छं मणसावि
मेहुणं ॥ परिग्गहं न काहामि, मूलुत्तरगुणरक्खणं तहा
॥ १५ ॥ मयजयकसायदंमेसु, गुत्तिसुमितिंदिएसु य ।
अट्ठारसीनं गसहस्साहि ठियहीतणू ॥१६ ॥ सज्जाय-
जक्षाणयोगेसु, अभिरमं समणंकेवली ॥ तेलोकरक्खण-
क्खंज धम्मातित्थंकरेण जं ॥ १७ ॥ तमहंलिंगंधारिण,
जाणिज्जइ विजंते निष्फलियं ॥ मज्जोमकीय दोखंभा,
फालिज्जामि तहेवय ॥१८ ॥ अहपाक्खिप्पामि दिग्गिं,
अहवा छिजे जझसिरं ॥ तावीहं नियमवयजंगं, सील
चारित्तखंगणं ॥ १९ ॥ मणसा वी एकजं, मकएए
कुए समणिकेवली ॥ खरुटगोणजाइसुं, सरागाहिंडिया
अहं ॥ २० ॥ विकम्मं पि समायरियं, अणंते जवजवंतरे
तेमव खरकम्ममह, पवज्जाए ठियाकुणं ॥ २१॥ घोरंध
यारपायाला, जेणणोणिहरं पुणो ॥ कंमियाणमाणुसं
जम्मं तत्तं च बहु दुक्ख जायणं ॥ २२ ॥ अणिच्चं
रयणविद्धंसी, बहुदंक दोषसंकरं । तत्थावि इत्थीसं-
जाया, सयलचेलोकनिंदिया ॥ २३ ॥
तहावि पावियं धम्मं, णिविग्घमणं तराइयं । ताहं त नं
विराहेमि, पावदोसेण केणई । २४ । सिंगाररागसवि-
गारं, साहिलासं न विट्ठिमो । पसंताए विदिट्ठीण, मा
तु धम्मोवएसगं ।२५। अन्नं पुरिसं न निज्झा य,णालवं
समणिकेवली । तं तारिसं महापावं, काओ अकहणीय
तं ।२६। सम्ममविउपन्नं जह, दत्तालोयसमणिकेवली ।
पमादि अणंतसमणी उ, दाउसुध्दीलोयणं । नीसल्लोके-
वलं यप्पा,सिध्दा उ अणादीकालेण गोयमा ! खंता दंता
व मुत्ताउ जिइंदिया उ सच्चजाणिए उ । छकायस-
मारंजा विरया तिविहेण उ । तिदंडा सव्वसंवुडा पुरि-
सकहासंगवज्जिया पुरिससंलवविरया उ पुरिसंगोवंगानि
रक्खणा निममत्ताउ सरीरे अप्पडिबध्दा उ महायसा
जीयत्थिगब्जवसहीणं बहुदुक्खाओ जवसरणाओ तहा
ताएरिसेणं जावेणं दायव्वा आलोयणा पायच्छित्तं पि
कायव्वं ॥
तह जह एयाहिं समणिहिं कयं णउणं तह आलोए-
यव्वं । माय.कंजेण केणई जह आलोयमाणी णं पावक-
म्मवुड्ढिजवे अणंतेणा इकालेणंमायाउं तत्थ कम्मदोसेणं
कवमालोयपकालसमणी उ सल्लीउ अतिउ गयस्सरेणं
छवियं पुढविंग या । ३३ । छकासिंवगोयमा ! नामेसा-
हिमो तंति वोधयजाउ आलोयमाणि उ जावदोसेसु च्छु-
त्तरगपावकम्ममलपचलिया जवसंजमसीलगाणं णीसल्लत-
परंतरियं तं परमजावविसोहिए विणाखणध्दंपि नाजवे
तो गोयम! केसिमित्थियाणं चित्तविसोहिं सुनिम्मलाजवंतारं
विमो होहं जेण नीसल्लयाजावे उहट्ठमदसमदुवालसेहिं
सुक्खंतिकेवि समणि उत हवि यसंरागजावं गाणालोयं-
तीणं च अंतिबहुविहवि कप्पकल्लोलमालाओ किलगाहणं
वियरं तंतेण लिविलज्जा २५ दुक्खगाहमणसागरं ते कइ-
मालोयणं दि तं जासि चित्तं पि नोवसे सल्लंजो ताणमु-
ध्दरए ।२६। स वंदणीओखणे खणे । असणेहि पीय-
पुण्णेणं धम्मसुध्दलसावियं । सीलंगगुणट्ठाणेसु उत्तमेसुं
धरेइ जो । इ जीवहुवंधणमुक्कंगिहकलत्ता विचारगा ।
सुविसुध्दसुनिम्मलचित्तं णीसल्लं सोमहायशो दट्ठव्वो
वंदणीओ य देविंदाणं सउत्तमो दीणत्थी सव्वपरिजूयं
विरइट्ठाणे जो उत्तमं वरेणा लोएमि अहं समणी देक
हे किंचि सा हुणि बहुदोसं न कहं समणी जं दिट्ठं
समणिहिंतं कहं असावज्ज कहासमणि बहु आलंवणा
कहा पमा ।

या सावगा समीए पविट्ठा बह्ममंडो कहा लोगविरुद्ध-कहा तह य परवसा लोयणासुयपच्छित्ता तहया जायादीमयसंकिया । सूलगारजीरिया चेव गारव.स-पदूसिया तहा । एवमादि अणेगजवादेसवसल्लेहिं पूरि-यानिरंतरा अणतेणं कालसमएणं गोयमा ! अइकंतेणं अणंताउ समणीओ बहुरवावसंगया गोयमा ! अणं ताउ चिट्ठंति जाअणादी सल्लसल्लीया । जावदसे कसे-ल्लेहिं जुजमाणीओ कडुविरसं घोर गतरं फलं चिह्वस्सं-ति अज्जावि तेहिं सल्लेहिं सल्लिया अणंतं पि अणागयं कालं तम्हा सल्लं सुसुहुमंपि समणी णो धारेज्ज खणं त्तिबेमि

(१३) आलोचनायां दत्तायां न विरतिभंगः सह-ष्टान्तः ॥

आलोचनायां दत्तायामपि विरतिभंगो न करणीयः । महानिशीथे । अ. ७ ॥

पाणाइवाय विरइ, सेवफलया गिएहिउए ताधीमं मरणावयं मिपत्ते मरेज्जाविरइ न खंडिज्जा १ अलियव-णस्स विरइ, सावज्जं सव्वमवि न जालिज्जा परदव्वह-रण विरई, करेज्ज दिन्ने वि मालोयं ३ धरणं उच्चरवं जव्वयस्सकाउं परिग्गहवायं ॥ राइजोयणविरइ, पं-चिंदियनिग्गहं विहिणा ३ अन्ने य कोइ माणा, एग दोसे य आलोयणं दाउं । पमाद्वारअहंकारे, गायडे सव्वं पव्वतणे । जह तव संजमसज्जा यम, गाणमाइसु-सुद्धि जातेहिं उज्जमियव्वं गोयम ! विज्जुलयाचंच ले जीवे किं बहुणा गोयमा ! इत्थं दाउणं पुढविकायं विराहिज्जा कत्थगंतुं समुज्जिहीं किं बहुणा गोयमा ! इत्थं दोउणं आलोयणं बाहिंपाणिं तहिं जम्मे जो पिए-कत्थ । कुमुज्जिही किं बहुणा गोयमा ! एत्थं दाउणं आलोयणं उन्हववइ जालय जाइ फुसित्ता कत्थसुज्झिही किं बहुणा गोयमा ! इत्थं दाऊण आलोयणं वाउकायं उदिरिज्जा कत्थगंतु समुज्झिहि किं बहुणा णं गोय-मा! एत्थम्दाउणम् आलोयण जोहरियतणं कप्पांवाफरिसे कत्थमसु ज्जिहि किं बहुणा गोयमा ! इत्थं दाऊणं आलोयणं अक्कमइ बीजकायं जो कत्थगंतो समुज्झिही किं बहुणा गोयमा ! इत्थं दाउणं आलोयं वियलं दीवेति चउपंचि-दियपरिताबं जो कत्थ समुत्थही किं बहुणा गोयमा इत्थं दाउणं आलोयणं छकाए जो तं न रक्खेज्जा । सुहुमे कत्थसमुज्झिही किं बहुणा गोयमा ! इत्थं दाउणं आलोयणं तसथावरो जो न रक्खे कत्थगंतु समुज्झिही आलोइयनिंदियगरहिय ओ विकयपायच्छित्त निसल्लो उत्तम ठाणंमि तिउपुढवारंभं परिहरिज्जा । आलोइयनिंदिउगर-हियविकयपायच्छित्तनीसल्लो उत्तमठाणंमि ठिओ-जोइ ए मा फुसावेज्जा । आलोइयनिंदियगरहिओविकयपा यच्छित्तसंविग्गो उत्तमठाणंमि ठिओमाविराहिज्जा अत्ता णं आलोइयनिंदियगरहिउमकयपाय.च्छित्तसंविग्गोछिन्नं पि तणं हरियं असइमणगं मा फरिसे आलोइयनिंदियगर हियो विकयपायच्छित्तं संविग्गो उत्तमठाणंमि ठिउ जाव-ज्जीवं एतेसिं बेइंदियतेइंदियचउरो पंचिंदियाणं जीवाणं संघट्टणपरियावणं किलावणोद्दवणमाकासी आलोइयनिंदि यगरहिओविकयपायच्छित्तसंविग्गो उत्तमठाणंमि ठिओ सावज्जं मा नागेज्जा आलोइयनिंदियगरहिओ विकय पायच्छित्तसंविग्गो लोयतेण चिट्ठई गहियागहिओ खिवि उदिन्ना आलोइयनिंदियगरहिओ विकयपायच्छित्तनिजो-सल्लोजोइत्थि संलविज्जा गोयमा ! कत्थसुज्जिहिआलोइय निंदियगरहियओविकयपायच्छित्तसंविग्गोचउदसधम्मसुव गरणे उद्दमापरिहरं कुज्जा तेसुंपि वि ममत्तो असुच्छिओ अगढिओ दढ्ढहवियाअहवा कुज्जाउ ममत्तं तासुच्छी गोयमा ! नत्थि किं बहुणा गोयमा ! नत्थइत्थंदाउणं आ-लोयणं रयणेए अविए पाणमकत्थगम् तु समुज्झिहीं आलोइयनिंदियगरहिओ विकयपायच्छित्तनीसल्लो छइ-क्कमेणरक्खे जो कत्थसुद्धि लहेज्ज से । महा. अ. ७ ॥

आलोचनायां दत्तायां विरतिभङ्गो न करणीयस्तथा उप-चारात्तत्कारणभूतप्रमादक्रियायाश्च । ध. २ अ. ।

आलोचनायाः प्रायश्चित्तस्य प्रशस्तयोगसङ्ग्रहनिमित्तत्वा-त्तदात्मके प्रथमे योगसङ्ग्रहे, च । " प्रशस्तयोगसङ्ग्रहनिमि-त्तत्वादालोचनादय एव तथोच्यन्ते,, सम. ३१ स. । मोक्ष-साधनयोगसङ्ग्रहाय शिष्येणाऽऽचार्याया लोचना दत्तेति । अत्रोदाहरणम् ।

उज्जेणि अट्टणे खलु, सिंहगिरि सोपारए पुह हवई ।
मच्छिअमल्ले फुरुल्ल, रुखवित्रो फलिहमल्ले अ ॥ १ ॥

फुरुल्लखलिया ग्रामाः फलहीशब्दो देश्यो मत्कुणीवाची ।

उज्जयिन्यामुज्जयिन्यां, समस्तनगरावली ।
जितशत्रुर्नृपस्तत्र, मल्लस्तस्याट्टनाभिधः ॥ १ ॥ इत्यादि,
(अट्टन) शब्दे तत्कथा ।

यथाट्टनस्तथाचार्य्यः, पताकानिर्वृत्तिः पुनः ।
सार्धमल्लोऽपराधास्तु, महारास्तान् गुरोर्हि यः १०
आलोचयति निः शल्य, स निर्वाणपताकिकां ११
त्रैलोक्यरंगे गृह्णाती, त्युक्ताः शिष्यगुण इमे ।
आव. क. । आ. चू. । आव. ॥

(१४) आलोचनायामकृतायां मृत्वाऽनाराधको जायते ।

जिक्खू य अग्नयरं अकिच्चट्ठाणं पडिसेवित्ता सेणं तस्स ठाणस्स अणालोइयपडिक्कंते कालं करेइ । णत्थि तस्स

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आराहणा । सेणं तस्स ठाणस्स आलोइयपडिकंते कालं करेइ । अत्थि तस्स आराहणा । भिक्खू अ अण्णयरं अकिच्चट्ठाणं पडिसेवित्ता तस्स णं एवं भवइ पच्छावि णं अहं चरिमकालसमयंसि एयस्स ठाणस्स आलोइस्सामि जाव पडिक्कमिस्सामि । सेणं तस्स ठाणस्स अणालोइयपडिक्कंते जाव णत्थि तस्स आराहणा । सेणं तस्स ठाणस्स आलोइयपडिक्कंते कालं करेइ । अत्थि तस्स आराहणा भिक्खू य अण्णतरं अकिच्चठाणं पडिसेवित्ता तस्स णं एवं भवइ जइ ताव समणोवासयावि कालमासे कालं किच्चा अण्णयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति । किमंग पुण अणवण्णियदेवत्तणं पि णो लभिस्सामित्ति कट्टु सेणं तस्स ठाणस्स अणालोइयपडिक्कंते कालं करेइ नत्थि तस्स आराहणा । सेणं तस्स ठाणस्स आलोइयपडिक्कंते कालं करेइ अत्थि तस्स आराहणा सेवं भंते ! भंतेत्ति ॥ भ. १० श. २ उ. ।

टीका । इह च शब्दश्चेदित्येतस्यार्थे वर्त्तते । स च भिक्षोरकृत्यस्थानासेवनस्य प्रायेणासंभवप्रदर्शनपरः (पडिसेवित्तत्ति) अकृत्यस्थानं प्रतिसेविता भवतीति गम्यं । वाचनांतरे त्वस्य स्थाने (पडिसेविज्जत्ति) दृश्यते । सेणंति । स भिक्षुः तस्स ठाणस्सति तत्स्थानम् अणपन्नियदेवत्तणं पि नो लभिस्सामिति अणपन्निका व्यंतरनिकायविशेषास्तत्संबंधिदेवत्वमणपन्निकदेवत्वं तदपि नो लप्स्ये इति भ. ॥ टी. ।

(२५) आलोचनाफलम् ॥

आलोयणाएणं भंते ! जीवे किं जणयइ आलोयणाएणं मायाणियामिच्छादरिसणसल्लाणं मोक्खमग्गविग्घाणं अणंतसंसारबंधणाणं उद्धरणं करेइ । उज्जुभावं च जणयइ । उज्जुभावपडिवण्णे वियणं जीवे अमाइ इत्थिवेयं नपुंसगवेयं च न बंधइ पुव्वबद्धं च णं निज्जरेइ ॥ ५ उत्त० अ० २९ ॥

गुरुशुश्रूषां कुर्वतोऽप्यतीचारसंभवे आलोचना तया मायाशाठ्यं निदानं ममाऽतस्तपःप्रभृत्यादेरिदं स्यादिति प्रार्थनात्मकं मिथ्यादर्शनं सांशयिकाद्येतानि शल्यानीव शल्यानि तेषां ततः कर्मधारये मायानिदानमिथ्यादर्शनशल्यानि तथाहि तोमरादिशल्यानि तत्कालदुःखदानेप्यायते दुःखदायीन्येवं मायादीन्यपीत्येवमुच्यते तेषां मोक्षविघ्नानां पापानुबंधनत्वेन मुक्त्यंतरायाणां तथानंतं संसारं वर्द्धयंति वृद्धिं नयंतीत्यनंतसंसारवर्द्धनानि तेषामुद्धरणमपनयनं करोति तदुद्धरणतश्च ऋजुभावं चार्जवं जनयति ॥ (उज्जुभावपडिवण्णेयत्ति) प्रतिपन्नऋजुभावश्चाऽमायी मायारहितस्ततः पुंस्त्वनिबंधनत्वादमायित्वस्य (इत्थिवेयत्ति) प्राग्वल्लिङ्गलोपश्चैवं नपुंसकवेदं च न बध्नाति पूर्वबद्धं च तदेव दुर्यं यद्वा सकलमपि कर्म्म निर्ज्जरयति क्षपयति तथा च मुक्तिपदमाप्नोतीत्यभिप्रायः । उक्तंहि । " उद्धियदंडो साहू अचिरेण उवेति सासयं ठाणं । सोच्चिय णुद्धियदंडो संसारपवड्ढओ होति ॥२९॥ " उत्त० टी० ॥

आलोचनापरिणतस्य म्रियमाणस्यापि आराधकत्वमाराधनाशब्दे ॥

तिहिं ठाणेहिं मायी मायं कट्टु णो आलोएज्जा णोपडिक्कमेज्जा णो णिंदेज्जा णो गरहेज्जा णो विउट्टेज्जा णो विसोहेज्जा णो अकरणयाए अब्भुट्ठेज्जा णो अहारिहं पायच्छित्तं तवोकम्मं पडिवज्जेज्जा । तं० । अकरिंसु वाहं करेमि वाहं करिस्सामि वाहं । तिहिं ठाणेहिं मायी मायं कट्टु णो आलोएज्जा णो पडिक्कमेज्जा जाव नो पडिवज्जेज्जा । तं जहा । अकित्ती वा मे सिया अवण्णे वा मे सिया अविणये वा मे सिया तिहिं ठाणेहिं मायी मायं कट्टु णो आलोएज्जा जाव णो पडिवज्जेज्जा तं० किसिवा मे परिहाइस्सइ जसोवा मे परिहाइस्सइ पूयसक्कारे वा मे परिहाइस्सइ । तिहिं ठाणेहिं मायी मायं कट्टु आलोएज्जा पडिक्कमेज्जा निंदेज्जा जाव पडिवज्जेज्जा । तं० । मायी स्सणं अस्सि लोगे गरहिए भवइ उववाए गरहिए भवइ आयाई गरहिया भवइ । तिहिं ठाणेहिं मायी मायं कट्टु आलोएज्जा जाव पडिवज्जेज्जा तं अमाइस्सणं अस्सि लोगे पसत्थे भवइ उववाए पसत्थे भवइ आयाई पसत्थे भवइ । तिहिं ठाणेहिं मायी मायं कट्टु आलोएज्जा जाव पडिवज्जेज्जा तं० । णाणट्ठयाए दंसणट्ठयाए चरित्तट्ठयाए स्था. ठा. ३. ॥

तिहिं ठाणेहिमित्यादि व्याख्या । मायी मायावान् मायं । मायाविषयं गोपनीयं प्रच्छन्नमकार्यं कृत्वा नो आलोचयेत् मायामेवेति शेषसुगमं नवरमालोचनं गुरुनिवेदनं प्रतिक्रमणं मिथ्यादुष्कृतदानं निन्दाऽऽत्मसाक्षिका गर्हा गुरुसाक्षिका विओट्टनं तदध्यवसायविच्छेदनं । आत्मनश्चारित्रस्य वाऽतिचारमलक्षालनमकरणतयाऽभ्युत्थानं पुनर्नैतत्करिष्यामीत्यभ्युपगमः । अहारिहं । यथोचितं पायच्छित्तंति पापच्छेदकं प्रायश्चित्तविशोधकं वा तपः कर्म्म निर्विकृतिकादि प्रतिपद्येत तद्यथा अकार्षमहमिदमतः कथं निन्द्यमित्यालोचयिष्यामि स्वस्य महात्म्यहानिप्राप्तेरित्येवमभिमानात् । तथा करोमि चाहमिदानीमेव कथं साध्विति भणामि करिष्यामीति चाहमेतदकृत्यमनागतकालेऽपीति प्रायश्चित्तं प्रतिपद्यत इति कीर्तिरेकदिग्गामिनी प्रसिद्धिः । सर्वदिग्गामिनी सैव वर्णो यशः । पर्यायत्वादस्य अथवा " दानपुण्यफला कीर्तिः पराक्रमकृतं यशः " तच्च वर्णयति तयोः प्रतिषेधोऽकीर्तिरवर्णश्चेति । अविनयः साधुकृतो स्यादिति । इदं च सूत्रमप्राप्तप्रसिद्धिपुरुषापेक्षं मायं कट्टुति मायां कृत्वा मायां पुरस्कृत्य मायेयत्यर्थः । परिहास्यति हीना भविष्यति पूजा पुष्पादिभिः । सत्कारो वस्त्रादिभिरिदमेव विवक्षितमेकरूपत्वादिति । इदं तु प्राप्तप्रसिद्धिपुरुषापेक्षं शेषं सुगमं । उक्तविपर्ययमाह ।

(तिहि) मित्यादि सूत्रत्रयं स्फुटं किन्तु मायी (मायंकट्टु आलोएज्जत्ति) इह मायी अकृत्यकरणकाल एव आलोचनादिका सेत्थमात्येवालोचनाद्यन्यथानुपपत्तेरिति (आर्हंसति) अयं यतो मायिन इह लोकाद्या गर्हिता भवन्ति । यतश्चामायिन इहलोकाद्याः प्रशस्ता भवंति यतश्चामायिनः आलोचनादिना निरतीचारीभूतस्य ज्ञानादीनि स्वस्वभावं लभन्ते । ३ ताऽदृन

माथी भूत्वा आलोचनादि करोमीत्य भावः ॥

आलोयणाणय-आलोचनानय-पुं० आभिमुख्येन गुरोरा त्मदोषप्रकाशनमालोचना स एव नयः । आलोचनायाः नयभेदे, तद्वक्तव्यता (सामाइय) शब्दे विशे० आ. चू. ४ अ. ।

आलोयणारिह-आलोचनार्ह-न. आ मर्यादया " जह बालो जंपंतो, कज्जमकज्जं च उज्जुओ भणइ । तं तह आलोइज्जा, मायामयविप्पमुक्को य " इत्येवंरूपयाऽऽलोचनं गुरोः पुरतः प्रकाशनं तावन्मात्रेणैव यस्य पापस्य शुद्धिस्तदालोचनार्हं तद्विशोधिकं प्रायश्चित्तमप्युपचारादालोचनार्हम् । जीत. व्य. उ. १ आलोचनां गुरुनिवेदनां विशुद्धये यदर्हत्यतिचारजातं तदाऽऽलोचनार्हं तद्विशोधकमालोचनालक्षणं प्रायश्चित्तमप्युपचारादालोचनार्हम् ग. अ. १२ औप. प्रायश्चित्तभेदे । आलोचनार्हं यद्गुरुनिवेदनया शुद्ध्यतीति ग. ३ ठा. भग. श. २५ उ. ७ आलोचना गुरुनिवेदनम् । तथैव यच्छुद्ध्यत्य तिचारजातं तत्र तदर्हत्वादालोचनार्हम् । तच्छुद्ध्यर्थं यत्प्राय श्चित्तं तदप्यालोचनार्हमित्यालोचनैव स्था० ठा० १० । ६॥

एतस्याशेषवक्तव्यताऽऽलोचनाशब्दे आलोचनायोग्ये आचा र्यादिके. पु. ते आलोचनाशब्दे व्य० उ. १० ध. अधि.३ नि. चू. उ. २० ॥

आलोयणायरिय-आलोचनाचार्य-पुं० विकटनागुरौ (जोगो आलोयणायरिओ) आलोचनाचार्यो विकटनागुरुस्स च कीदृशो योग्य इत्यालोचनाशब्दे । पञ्चा० १५ वृ. ध. अधि. ३ ॥

आलोयणाविहिसुत्त-आलोचनाविधिसूत्र-न० शिष्यनिवेदि तप्रायश्चित्तपर्यालोचनविषयप्रायश्चित्ताभिधायिनि सूत्रे आलोचनाविधिसूत्रा नाम गुरुं शिष्येण गुरोर्निवेदिते गुरुणा प्रायश्चित्तपर्यालोचनविषयाणि प्रायश्चित्ताभिधायिनि नि० चू. उ. २ ॥

आलोयदरिसणिज्ज-आलोकदर्शनीय-त्रि० आलोकं दृष्टिगोचरं यावद् दृश्यते प्रयुक्तत्वेन यः स आलोकदर्शनीयः भ. श. ९ उ. ३३ आलोके दृष्टिविषये क्षेत्रे स्थितोऽत्युन्नततया दृश्यते यः स आलोकदर्शनीयः अत्युन्नततया यावद्दृष्टिगोचरं दृश्यमाने ज्ञा० अ० १ (दंसणरइयआलोयदरिसणिज्जा) आलोकं दृष्टिपथं यावद्दृश्यते अत्युच्चत्वेन या सा आलोकदर्शनीयेति औप० मारयुक्ततया आलोकमात्र एव दर्शनीये मङ्गल्यत्वात् प्रस्थानसमये दृष्टे योग्ये, च ॥

दरिसणरइयआलोयदरिसणिज्जा ॥

आलोके बहिः प्रस्थानसमयजाविनि दर्शनीया द्रष्टुं योग्या मंगल्यत्वात् अन्ये त्वाहुरालोके दर्शनीया न पुनरत्युच्चा आलोकदर्शनीयेति राज० ॥

आलोल-आलोल-त्रि० ईषत् लोलः प्रा० स० ईषच्चञ्चले, । "आलोलपुष्करमुखोल्लसितैरभीक्ष्णम् माघः" वाच. ॥

आलोलिय-आलोलित-त्रि० आ लुल् णिच् क्त ईषच्च ञ्चलीकृते ॥

आवंत-आवन्त-पुं० अवन्त्यां राजा अण् अवन्तिदेशाधिपे चन्द्रवंश्ये नृपभेदे, वाच० ॥

आवन्तिअज्झयण-आवन्त्यध्ययन-न० आचाराङ्गस्य नवब्रह्म चर्याध्ययनान्तर्गते लोकसाराख्ये पञ्चमेऽध्ययने । आवंतीत्या द्यस्य पञ्चमाध्ययनम् तत्र ह्यादावेवावंतीत्यालापका विद्यते इत्यादानपदेनैतन्नाम । अनु० । आवंतीति आद्यपदेन नामान्तरं तु लोकसार इति तथा० ठा. ७ । सम० । आव० (आयाण पएणावंती गोणनामेण लोगसारोत्ति) आदीयते प्रथममेव गृह्यत इत्यादानम् तच्च तत्पदं चादानपदम् तेन करणभूतेनावंतीत्येत न्माध्ययनादावावंतीशब्दस्योच्चारणात् आचा० अ. ५ उ. १ ॥

आव-(जाव) यावत्-त्रि० आदेर्यो जः ॥४५॥ इति प्राकृतसूत्रेण यशदेर्यस्य जो वा भवति आर्षे लोपोऽपि । प्रा० । यत्परिमाणमस्य मतुप् । यत्परिमाणे स्त्रियां ङीप् यावति साकल्ये अवधौ, व्याप्तौ, माने, अवधारणे च । अव्य० अमरः । एतद्योगे द्वितीया । वाच० ॥

आवकह-यावत्कथ-अव्य० यावज्जीवमित्यर्थे, । आवकहं भगवं समिति(?)सि ॥ १६ ॥ यावत्कथमिति यावज्जीवम् आचा० श्रु. ९ उ.४ ॥

आवकहा-यावत्कथा-स्त्री० यावती यत्परिमाणा कथा मनुष्योऽयं देवदत्तादिर्वाऽयमिति व्यपदेशलक्षणा यावत्कथा यावज्जीवे जत्थवियणं आवकहाए चिट्ठइ तथा० ठा. ४ से पाए आवकहाए यावत्कथं यावज्जीवमित्यर्थः । आचा० अ. ९ उ. ४ जे आवकहा समाहिए कियंतं कालं यावत् कथा देवदत्तो यज्ञदत्त इति कथा यावदिति सूत्र० श्रु. १ अ. २ धम्मा आवकहाए गुरुकुलवासं ण मुंचंति ॥१६॥ यावत्कथं यावज्जीवम् । पंचा १० वृ. ११ ॥

आवकहिय-यावत्काथिक-त्रि० यावज्जीविके । पंचा० वृ. ११ एत्थ उ सावय धम्मे,पायमणुव्वयगुणव्वयाइ च । आवकहियाइं सिक्खा, वयाइं पुण इत्तरां— ॥

इति पंचा० १ वृ. । यावत्कथिकानि यावती यत्परिमाणा कथा मनुष्योऽयमित्यादिव्यपदेशरूपा यावत्कथा तस्यां भवानि यावत्कथिकानि यावज्जीवानीत्यर्थः । पंचा.॥

यावत्कथिकानीति सकृद्गृहीतानि यावज्जीवमपि भावनीयानीति । आव. । सामयिकभेदे-तच्च मध्यमद्वाविंशतितीर्थकरतीर्थान्तर्गतसाधूनामवसेयम् । तेषामुपस्थापनाया अभावात् । पंचा वृ. ११ । आत्मनः कथां यावद्यावदास्ते तद्यावत्कथं यावज्जीवमित्यर्थः । यावत्कथमेव यावत्कथिकम् । सामायिकचरित्रगुणप्रमाणभेदे, । एतच्च भरतैरावतेष्वाद्यचरमवर्जमध्यमतीर्थकरसाधूनां महाविदेहयतीनां च संभवति । अनु. । यावत्कथस्य भाविव्यपदेशान्तराभावात् यावज्जीविकस्य सामायिकस्याऽस्तित्वात् यावत्कथिकः । सामायिक संयतभेदे, । स च मध्यमजिनमहाविदेहजिनसम्बन्धिसाधुः । भ० श.२५ उ. ७ । प्रतिक्रमणभेदे, च स्था ठा. ॥ यावत्काथकं यावज्जीविकं महाव्रतभक्तपरिहारादिरूपं प्रतिक्रमणत्वं चाऽस्य निवृत्तिलक्षणाऽन्वर्थयोगादिति । आव० ॥

पंच य महव्वयाइं, राई छट्ठाइं चाउजा मोत्तुं ।

भत्तपरिण्णा य तहा, दुन्हंपि अ आवकहिआइं ॥

पंच महाव्रतानि प्राणातिपातादिनिवृत्तिलक्षणानि रात्रि भोजनषष्ठानीति । उपलक्षणत्वात् रात्रिभोजननिवृत्तिषष्ठानि पुरिमपश्चिमतीर्थकरयोस्तीर्थे इति । चतुर्यामश्च निवृत्तिधर्म एव भक्तपरिज्ञा च तथा चशब्दादिङ्गितमरणादिपरिग्रहः द्वयोरपि पुरिमपश्चिमयोः चशब्दान्मध्यमानां च यावत्कथिकान्येतानीति गाथार्थः ॥

अनशनभेदे, च-भ० श. २५ उ. ७ ॥

सेकिंतं आवकहिए आव २ दुविहे प० तं पा
ओवगमणे य नत्तपच्चक्खाणे य ॥ प्रव० द्वा. ६ दश० . अ १।

आवग–आवक–त्रि० अवति, अव ण्वुल्—रक्षके, वाच०

आवज्ज–आतोद्य न० (ओतोऽद्वाऽन्योऽन्यप्रकोष्ठातोद्यशिरोवेद नामनोहरसरोरुहे को श्च वः ॥ १ । ५६ इति प्राकृतसूत्रेणौतोऽत्वं वा नवति तत्संनियोगे च यथा संजवं ककारतकारयोर्वादेशः । प्रा० । वीणादौ वाद्ये, अन्नत्याबहुत्तध्यत्ता (आउज्ज) शब्दे ।

आवज्जण–आवर्जन–न० उपयोगे व्यापारे, च केवलिसमुद्घातगन्तुमनसा केवलिना कर्तव्यमावर्जीकरणमधिकृत्य (आवज्जणमुवओगो वावारो वा तदत्थमाइए) तदर्थं समुद्घातकरणार्थमादौ केवलिन उपयोगो मया अधुनेदं कर्तव्यमित्येवंरूप उदयावलिकायां कर्म्मप्रक्षेपरूपो व्यापारोवाऽऽवर्जनमुच्यते । इति विशे० । अभिमुखीकरण, आ० चू० ॥

आवज्जिय–आवर्जित–त्रि–वृज–णिच्—क्त० अभिमुखे, आ. चू०

आवज्जियकरण–आवर्जितकरण–न० अभिमुखीकरणे, । केवलिसमुद्घातात्पूर्वं कर्तव्ये केवलिनोव्यापारविशेषे च आ. चू० केचिदावर्जितकरणमिति वर्णयंति ।

तेषामप्यावर्जितशब्दस्याऽतिमुखपर्यायवाचित्वात् आवर्जितकरणसिद्धिः कथमावर्जितमुच्यते यथा लोके दृष्टमेतदावर्जितो मनुष्योऽभिमुखीकृत इति तथा च सिद्धान्तः । सिद्धपर्यायपरिणामाभिमुखीकरणं यत्तदावर्जितकरणं येन कारणन परिणत आत्मा नियमात् सिद्धत्वपर्यायपरिणामाभिमुखो भवतीत्यर्थः ॥

आवज्जीकरण–आवर्जीकरण–न० समुद्घातकरणार्थमादौ केवलिन उपयोगो मया अधुनेदं कर्तव्यमित्येवं उदयावलिकायां कर्म्मप्रक्षेपरूपो व्यापारो वा आवर्जनमुच्यते । तथाभूतस्य करणमावर्जीकरणम् केवलिसमुद्घातात्पूर्वं केवलिना कर्तव्ये व्यापारभेदे, विशे. ।

आव (ट्ट) (त्त) (त्त) त–आवर्त पुं० आवर्तनमावर्तःसचसमुद्रादेश्चक्रविशेषाणांचेति । स्था० ठा. ४। १। अ. १। आ. म. प्र. । आवर्तयति प्राणिनं भ्रामयतीत्यावर्तः । सूत्र० श्रु. १ अ. ३ । आ. वृत. भावादौ घञ् चक्राकारेण जलस्यपरिभ्रमणे । वाच० ॥ त्तस्याधूर्तादौ ॥ २ । ३० ॥ इति प्राकृतसूत्रेण तस्य भवति धूर्तादीन् वर्जयित्वा बाहुलकाधिकाराद् धूर्तादावपि प्रा० । जलादीनां परिभ्रमणे आचा० अ० १ उ. ५ आवर्त आवर्तनं परिभ्रमणमिति ज्ञा० अ० १ मोहावत्तं महाभीमं । मोहोमोहनीयं कर्म्म तदेव तत्र विशिष्टभ्रमिजनकत्वादावर्तो यस्मिन्स तथा विधस्तमिति आव । स्था० ठा. ४ ॥

चत्तारि आवत्ता पन्नत्ता । तं. खरावत्ते उन्नयावत्ते गूढावत्ते आमिसावत्ते ण. । आवर्तन्तेपरिभ्रमंति प्राणिनो यत्र स आवर्तः संसारे आचा० अ. १ । ५ (आवट्टं सो एसंगमभिजाणति) आचा० अ. ३३ । १ । आवट्ट इत्यादि भावावर्तो जन्मजरामरणरोगशोकव्यसनोपनिपातात्मः संसार इत्युक्तं हि "रागद्वेषवशाविद्धं, मिथ्यादर्शनदुस्तरं ॥ जन्मावर्ते जगत् क्षिप्तं, प्रमादाद् भ्राम्यते भृशं ॥ १ ॥ भावश्रोतोऽपि शब्दादिकामगुणविषयाभिलाष आवर्तश्च श्रोतश्च आवर्तश्रोतसी तयोरागद्वेषाभ्यां सम्बन्धः सगस्तमभिजानत्याभिमुख्येन परिच्छिनत्ति यथा यं संग आवर्तश्रोतसोः कारणं जानानाश्चपरमार्थतः कोऽभिधीयतेयोऽनर्थं ज्ञात्वा परिहरति यश्चायमर्थः । संसारश्रोतःसंग रागद्वेषात्मक ज्ञात्वा यः परिहरति स एव वावर्तःश्रोतसोः संगस्याभिज्ञाता (आवट्टमेवमणुपरियट्टंति भावावर्तः संसारस्तमरहट्टघटीयंत्रन्यायेनानुपरिवर्त्तन्ते । तास्वेव नरकादिगतिषुभूयो २ भवन्तीति आचा० अ. ५ उ. १ ॥

(विषये आवट्टमेयं तु पेहाए एत्थ विरमेज्जवेदवी) आवट्टं तु इत्यादि रागद्वेषकषायविषयावर्तं कर्म्मबन्धावर्तं वा तुशब्दात् पुनः शब्दार्थं भावावर्तं पुनरुत्प्रेक्षावाऽस्मिन् भावावर्ते विषयरूप । वेदविदागमविद्विरमेदाश्रवद्वारनिरोधं विदध्यात् । आचा० अ. ५ उ. ६ संसारकारणे, शब्दादिगुणे, च (जेगुणे से आवट्टे जे आवट्टे से गुणे) आचा० अ. १ उ. ४ आवर्तो नामादिभेदाश्चतुर्धा । नामस्थापने क्षुण्णे द्रव्यावर्तः स्वामित्वकरणाधिकरणेषु यथा संनवं योज्यः । स्वामित्वेनद्यादीनां कचित्यविभागे जलपरिभ्रमणं द्रव्यावर्त्तः द्रव्याणां वा हंसकारण्डवचक्रवाकादीनां व्योम्नि क्रीडत मावर्तो नादावर्त्तः । करणे तु तेनैव जलद्रव्येण भ्रमता यदन्यदावर्त्यते तृणकाष्ठादि स द्रव्येणावर्तः । तथा त्रपुसीसकलोहरजतसुवर्णैरावर्तमानैर्यदन्यत्तदन्तः पात्या वर्तते । स द्रव्यैरावर्तत इति । अधिकरणत्वविवक्षायामेकस्मिन् जलद्रव्ये आवर्तः ॥ तथा रजतसुवर्णरीतिकात्रपुसीसकेष्वेकस्थीकृतेषु बहुषु द्रव्येष्वावर्तः । भावावर्तो नामभ्यां भावसङ्क्रान्तिः औदयिकभावोदयाद्वा नरकादिगतिचतुष्टयेषु भावावर्तः । आचा. १ अ. ५ उ. ॥

उत्कटमोहोदयापादितविषयाभिलाषसंपादकसंपत्प्रार्थनाविशेष, सूत्र० श्रु० १ अ० ३ ॥

अह मे संति आवट्टा, कासवेणं पवेइया ।
बुद्धा जत्थ वसप्पंति, सीयंति अबुहा जहिं ॥ १४॥

टीका । अथेत्यधिकारांतरदर्शनार्थः । पाठांतरं वा अहो इति । तत्र विस्मये इमे इति प्रत्यक्षासन्नाः सर्वजनविदितत्वात् संति विद्यंते वक्ष्यमाणा आवर्तयंति प्राणिनं भ्रामयंतीत्यावर्तास्तत्र द्रव्यावर्त्ता नद्यादेर्भावावर्तास्तूत्कटमोहोदयापादितविषयाभिलाषसंपादकसंपत्प्रार्थनाविशेष एते चावर्त्ताः काश्यपेन श्रीमन्महावीरवर्द्धमानस्वामिनाऽनुत्पन्नदिव्यज्ञाने नावेदिताः कथिताः प्रतिपादिताः । यत्र येषु सत्सु बुधा अवगततत्वा आवर्तविपाकवेदिनस्तेभ्योऽवसर्पंते प्रमत्ततया तद्दूरगामिनो भवंत्यबुद्धास्तु निर्विवेकतया ये ह्यवसीदंत्यासक्तिं कुर्वंतीति । आवर्तने, वाच. द्वादशावर्तादिवन्दनकगते सूत्राभिधानगर्भे कायव्यापारविशेषे । आवर्त्तेवारसेवय आवर्त्तनः पुन्यभवने ।

दुक्खाणमेव आवट्टं अणुपरियट्टइ आचा० अ. २ उ. ३

दुक्खाणमित्यादि । दुःखानां शारीरमानसानामावर्त्तः पौनःपुन्यभवनमनुपरिवर्तते दुःखावर्तोद्यमग्नो बंभ्रम्यत इत्यर्थः ॥ णिच् भावे अच् पुनः पुनश्चालने परिघट्टने । धातूनां द्रावणे । चिन्तायाञ्च । चिन्तयाहि चित्तं स्वविषयेषु पुनः पुनश्चाल्यते इति तस्यास्तथात्वम् । घ्रवाख्यघोटकचिन्हे रोमसंस्थानभेदे । आवर्तिनः दशावर्त्तसंयुक्ताः प्रशंसायाम् णिनिः ते च । द्वावुरस्यौ शिरस्यौ द्वौ, द्वौ द्वौ रन्ध्रोपरन्ध्रयोः । एको भाले हृपाने च, दशावर्त्ता ध्रुवाः स्मृताः ॥ १ ॥ पयोधिपङ्के जलभ्रमः मल्लि. वाच० ।

आवर्तो देवमणिनामहयानां महालक्षणतया प्रसिद्ध इति जं आवर्ताकारे, देहिनां रोमसंस्थानभेदे, च वाच० आदर्तो दाक्षि-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

णे भागे, दक्षिणः शुभकृन्नृणाम् । वामो वामेऽतिनिन्द्यः स्यात्, दिगन्यत्र तु मध्यमः ॥ १ ॥ कल्प० । राजावर्तनामके मणौ पु. वाच० । मणिलक्षणभेदे आवर्तादीनि मणीनां लक्षणानीति ॥ आ. म. प्र. जी. प्र. ३ राज. । मेघाधिपभेदे, वाच० । स्तनितकुमारेन्द्रस्य घोषस्य स्वनामख्याते लोकपाले स्तनितकुमारेन्द्रस्य महाघोषस्य स्वनामख्याते लोकपाले, च स्था ठा. ४ ठ. श. ३ उ. ८ स्वनामख्याते जंबूद्वीपस्थे दीर्घवैताढ्यपर्वते, स्था० ठा. ९ एकखुरे चतुष्पदस्थलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकभेदे, प्रज्ञा. पद १ अहोरात्रभवे स्वनामख्याते पंचविंशतितमे मुहूर्ते, सम० स. २४ । स्वनामख्याते ग्रामे (आवत्ते, मुहत्तासे) ततो भगवान् आवर्ते ग्रामे बलदेवगृहे प्रतिमां प्रतिपन्न इति आ. म. द्वि. । आ. चू. मालिकधातौ, न० वाच० स्वनामख्याते विमानभेदे, सम० स १७ । जंबुमंदरपौरस्त्ये सीताया महानद्या उत्तरस्थे स्वनामख्याते चक्रवर्तिविजयक्षेत्रे, स्था ठा. ८ । दो आवत्ता स्था० ठा. २ महाविदेहस्थे चक्रवर्तिविजयक्षेत्रे, च । जं ॥

कहिणं भंते महाविदेहे वासे आवत्ते णामं विजए पण्णत्ते गोअमा ! णीलवंतस्स वासहरपव्वयस्स दाहिणेणं सीआए महाणईए उत्तरेणं णलिणे कूडस्स वक्खारपव्वयस्स पच्चिमेणं दहावतीए महाणईए पुरच्छिमेणं एत्थणं महाविदेहे वासे आवत्ते णामं विजए पण्णत्ते सेसं जहा कच्छस्स विजयस्स ॥ जं. ।

आव (ट्ट) पच्चावत्तसेढियसेोत्थियसोत्थियपूसमाणवद्धमाणगमच्छंडामकरंडजारामाराफुल्लावलियपउमपत्तसागरतरंगवणलयपउमलयभत्तिचित्तं ॥

आवर्तप्रत्यावर्तश्रेणिप्रश्रेणिस्वस्तिकपुष्यमाणवर्द्धमानकमत्स्याण्डकमकराण्डकजारमारपुष्पावलिपद्मपत्रसागरतरंगवासन्तीलतापद्मलताभक्तिचित्रनस्वनामख्याते नाट्यविधिभेदे, राज० ॥

आव (ट्ट) कूड-आवर्तकूट-न० महाविदेहस्थनलिनकूटवक्षस्कारपर्वतस्थे स्वनामख्याते कूटे, । जं. ॥

आव (ट्ट) ण-आवर्तन-आवृत आधारे ल्युट् सूर्य्यस्य पश्चिमादिगवस्थितच्छायायाः पूर्वदिग्गमनसमये मध्याह्नकाले "आवर्ते ना तु पूर्वाह्णोऽपराह्णस्तु ततः परम्:" स्मृतिः वाच० विलयने, (आवट्टती तस्य असाहुकम्मा) आवर्तते विलीयंते इति ॥ सूत्र० १ श्रु. ५ अ. ॥

पीडने, (आवट्टतीकम्मसु पावएसु) आवर्त्यते पीड्यते दुःखभाग् भवतीति सूत्र० १ श्रु. १ अ. ॥

आकंपने (कहणावट्टणसंगमणपुच्छणा दीवणा य कज्जस्स) आवर्तनमाकंपनं राज्ञो भक्तीभवनम् व्य० ९ उ. ।

आ. वृत भावे ल्युट् आलोडने, गुणने, च धातूनां द्रावणे आवर्तयति संसारचक्रम् आ. वृत णिच् कर्तरि ल्यु विष्णौ, (आवर्तनो निवृत्तात्मा विष्णुसह०) जम्बुद्वीपोपद्वीपभेदे च । आवर्त्यतेऽनया ल्युट्ङीप् दर्व्यां स्त्री आधारे ल्युट्ङीप् धातुद्रव्यद्रावणाधारभूतायाम्, करणे, ल्युट्वेष्टने, प्राचीरादौ न० । वाच० ॥

आव(ट्ट)णपेढिया-आवर्तनपीठिका-स्त्री० इंद्रकीलिकानिवेशस्थाने, आवर्तनपीठिका यत्रेन्द्रकीलके निवेश्यत इति जी. ३ प्र. (वइरामयीतो आवत्तणपेढिआउ) आवर्तनपीठिका नाम यत्रेन्द्रकीलका उक्तं च विजयद्वारचिन्तायाम् जीवाभिगमसूत्र टीकाकारेण "आवर्तनपीठिका यत्रेन्द्रकीलको भवतीति" ॥ राज० । जो. जं० ॥

आव (ट्ट) तणिज्ज-आवर्तनीय-त्रि० आ. वृत-णिच्-अनीयर् द्रावणीये धात्वादौ, वाच० ॥

आव (ट्ट) तय-आवर्तक-पुं० आवर्त एव स्वार्थे कन् आवर्तशब्दार्थे प्रा. ॥

आव (ट्टा) यंत-आवर्तायमान-त्रि० आवर्तं कुर्वाणे भ० श. ११ उ. ॥ प्रदक्षिणं भ्रमति, च कल्प० ॥

आवत्तायंतवट्टतडियविमलसरिसनयणं ।

(आवत्तायंत्ति) आवर्तं कुर्वाणं तद्वद् ये वृत्ते च तडिदिव विमले च सदृशे च परस्परेण ते लोचने यस्य स तथा तं । भ. ११ श. ११ उ. ॥

(आवत्तायति) आवर्तायमाने प्रदक्षिणं भ्रमत्एवंविधं यत् (प्रवरकणगंति) प्रवरकनकं तद्वत् वृत्ते (तडियविमलत्ति) विमला या तडित् विद्युत् तत्सदृशे नयने लोचने यस्य स तथा तम् । कल्प० ॥

आवडिय-आपातित-त्रि० समन्तात्पतिते, ॥

आवण आपण-पुं० हट्टे, कल्प० ॥

आवरग-आवरक-न०-आ वृ-करणे अप् संज्ञायां कन् अपवारके, आच्छादके वस्त्रादौ, ॥

आवरण-आवरण-न० आव्रियते देहोऽनेन आ वृ करणे ल्युट् वाच. । आ मर्य्यादया वृणोतीत्यावरणम् । स्था. ४ ठा. । अंगरक्षादिके, ज्ञा० ८ अ. ।

कवचादिके उत्त० ३ अ. ।

(णाणावरणपहरणे) आवरणं कवचादि आ. क० आवरणे कवचादौ सूत्र० १ श्रु. ८ अ. ।

(जोहाणयं उप्पत्ती आवरणाणं पहरणाणं च) आवरणानां सन्नाहानाम् स्था० ९ ठा. ॥

आवरणानां कंकटानाम् ज्ञा० १६ अ. ।

स्फुरकादिके (सच्चासरपहरणावरणभरियजुद्धसज्जाणं) आवरणानि च स्फुरकादीनि । औप. । फलादिके, आचा' १ अ. ५ उ. ।

आव्रियते आकाशमनेनेत्यावरणम् प्रसादनगरादिके, स्था० ९ ठा. ॥

आच्छादनसाधनमात्रे, वाच. स्थगने, बृ. १ उ. ।

ईषद्वरणे आवरिज्जइ वा णिवारिज्जइ वा आवरिज्जइति इष. द्व्रियत । भ० ९ श. ३३ उ. ।

आव्रियते चैतन्यमनेन वेदान्तिमतसिद्धे चैतन्यावरणे अज्ञाने, वाच० ।

आव्रियते आच्छाद्यतेऽनेनेत्यावरणम् यद्वा आवृणोत्याच्छादयति जन्यादिभ्यः कर्तर्य्यनट्प्रत्यये आवरणम् । मिथ्यात्वादिके कर्मभेदे, स च जीवव्यापाराहृतकर्म्मवर्गणान्तः पाती विशिष्टपुद्गलसमूहः । कर्म० । प्रव० २१५ द्वा. ।

तच्चाष्टविधम् ज्ञानावरणं दर्शनावरणं च(नाणस्स दंसणस्स आवरणं वेयणीयं य) पं. सं. ३ द्वा० ।

(पढमं नाणावरणं वीयं पुणदंसणस्स आवरणं) ज्ञायते परिच्छिद्यते वस्तु अनेनेति ज्ञानं । सामान्यविशेषात्मके वस्तुनि विशेषग्रहणात्मको बोधः । आव्रियते आच्छाद्यतेऽनेनेत्या-

वरणं मिथ्यात्वादि,सचित्तजीवव्यापाराहृतकर्म्मवर्गणा तत्पाती विशिष्टः पुद्गलसमूहज्ञानस्य मत्यादेरावरणं ज्ञानावरणं तथा दृश्यतेऽनेनेति दर्शनं सामान्यविशेषात्मके वस्तुनि सामान्यग्रहणात्मको बोधस्तस्यावरणं दर्शनावरणं प्रव. ११५ द्वा. ॥ कर्म्म. । पंचप्रकारं ज्ञानावरणं चतुष्प्रकारं दर्शनावरणम् क. प्र. । आवरणानि मतिज्ञानावरणश्रुतज्ञानावरणावधिज्ञानावरणमनः पर्यायज्ञानावरणकेवलज्ञानावरणचक्षुर्दर्शनावरणाचक्षुर्दर्शनावरणावधिदर्शनावरणावधिदर्शनावरणा केवलदर्शनावरणलक्षणानि नव । पंचविधं ज्ञानावरणं नवविधं दर्शनावरणं आवरणानि ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणनवकस्वरूपाणि ॥ कर्म्म. ॥

पंचविहं नाणावरणं, नव भेया दंसणस्स ।

ते च भेदा ज्ञानावरणस्य (नाणावरण) शब्दे । दर्शनावरणस्य (दंसणावरण) शब्दे ।

आवरणस्य द्विविधानि स्पर्शकानि भवन्ति । सर्वोपघातीनि देशोपघातीनि च । सर्वं स्वाचार्य्यं गुणमुपघ्नन्तीत्येवं शीलानि सर्वोपघातीनि । स्वाचार्य्यस्य गुणस्य देशमुपघ्नन्तीत्येवं शीलानि देशोपघातीनि । आह च भाष्यकृत् ।

मइसुयनाणावरणं, दंसणमोहं च तदुवघातीणि ।
तप्फड्डगाइं दुविहाइं, सव्वदेसोवघाईणि ॥ आ. म. द्वि १ अ. ॥ पं. सं. ३ द्वा. ।

मिथ्यात्वादिकं च किङ्कस्याऽऽवारकमित्याह ।

अहुणो जस्सोदयओ, न लब्भइ दंसणाईसामइयं ॥
लद्धं पुणो व जस्सइ, तदिहावरणं कसायाइं ॥

सुगमा । नवरं तदिह कषायादिकर्म्मावरणमुच्यते । तत्राऽनन्तानुबन्धिकषायचतुष्टयं मिथ्यात्वञ्च सम्यक्त्वस्याऽऽवरणं । श्रुतस्य श्रुतज्ञानाऽऽवरणं । चारित्रस्य चारित्रमोहनीयमिति ॥

तदेवाह ॥ पढमेल्लुयाण उदएत्यादि ॥

अथवा पातनान्तरमाह ।

अहवा खयाइओ, केवलाइं जं जेसिं ते कई कसाया
को वा कस्सावरणं, को वक्खयाइ कमो कस्स ॥ २२६ ॥

अथवा यत्केवलादिकमादिशब्दाद्दर्शनचारित्रपरिग्रहः एषां कषायाणां क्षयादितो भवत्यादिशब्दात्क्षायोपशमादि परिग्रहः। ते कति कषायाःको वा कस्य साहायिकस्याऽऽवरणं को वा क्षयादिक्रमः । कस्येति गाथार्थः ॥

अथ क्रमेणोत्तरमाह ॥

पढमील्लुयाण उदए, नियमा संजोयणा कसायाणं ।
सम्मदंसणलंभं, भवसिद्धी या वि न लहंति ॥ २२ ॥

तत्र प्रथमील्लुकानां संयोजनाकषायाणामुदये नियमात्सम्यग्दर्शनलाभं भवसिद्धिका अपि न लभन्ते । किमुताऽभव्याः । इत्यक्षरयोजना । भावार्थस्त्वयं । प्रथमा एवं देशीवचनतः प्रथमिल्लुकास्तेषां प्रथमिल्लुकानामनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभानामित्यर्थः । प्राथम्यञ्चैषां सम्यक्त्वाख्यप्रथमगुणविघातित्वात् क्षपणक्रमाद्वेति । उदये विपाकाऽनुभवे सति नियमान्नियमेन अस्य व्यवहितसम्बन्धस्य च दर्शित एव । किं विशिष्टानां प्रथमिल्लुकानामित्याह । कर्म्मणा तत्फलभूतसंसारे संयोजनाहेतवः कषायाः संयोजनाकषायास्तेषामुदये नियमात्सम्यगविपरीतं दर्शनं सम्यग्दर्शनं । सम्यक्त्वं

तस्य लाभः तं भवे सिद्धिर्येषान्ते भवसिद्धिकाः ॥ ननु सर्वेषामपि सिद्धिर्भव एव कस्मिंश्चिद्भवति । किमनेन व्यवच्छिद्यते । सत्यम् । किंत्विह व्याख्यानाद्भव एव भवा गृह्यन्ते । तद्भवसिद्धिका इत्यर्थः । तेऽपि न लभन्ते किमुताऽभव्याः । इति निर्युक्तिगाथार्थः ॥

भाष्यम् ॥

खवणं पडुच पढमा, पढमगुणविगाइणोत्ति वा जम्हा ।
संयोयणा कसाया, भवादिसंजोयणा भणि ॥

गतार्थैव ॥ विशे० ॥

आओ बउवादाणं, तेण कसायस अओ कसस्साया ।
चत्तारि बहुव्वयणओ, एवं बीआदओ वी मया ॥

ते च बहुवचननिर्देशाच्चत्वारः क्रोधादयो गम्यन्ते । एवं देशविरत्याद्युत्तरोत्तरगुणघातित्वाद्द्वितीयतृतीयचतुर्थत्वेन कषायशब्दादिवाच्यत्वेन च द्वितीयादयोऽपि मताः सम्मता इति॥ भवसिद्धियावीत्येतद् व्याख्यानयति ॥

भवसिद्धियावि भणिए, नियमा न लभंति तहभव्वावि ।
अविसद्देणवगहिया, परित्तसंसारिया ईया ॥

भवसिद्धिका अपीत्युक्तेऽपि शब्दादभव्यास्तं नैव लभन्त इत्यवगम्यत एव । अथवाऽपि शब्दात्परित्तसंसारादयोऽपि न लभन्त इति गम्यत इति गाथार्थः ॥ २३१ ॥

उक्ताः सम्यक्त्वस्याऽऽवरणभूताः कषाया अथ देशविरत्यावरणभूतांस्तानाह ॥

बिअ कसायाणुदये, अप्पच्चक्खाणणामधेज्जाणं ।
सम्मदंसणलंभं, विरया विरइं न उ लहंति ॥

सर्वप्रत्याख्यानं देशप्रत्याख्यानञ्च न येषामुदये लभ्यतेऽप्रत्याख्यानाः । अकारस्य सर्वप्रतिषेधवचनत्वादप्रत्याख्यान इति नामधेयं येषामप्रत्याख्याननामधेयानां द्वितीयस्य देशविरतिगुणस्याऽऽवारकत्वात् । द्वितीयास्ते च ते कषायास्तेषां द्वितीयकषायाणामुदये भव्याः सम्यग्दर्शनलाभं लभन्त इति वाक्यशेषः ॥ अयं च वाक्यशेषः (विरयाविरई न उ लहंति) इत्यत्र तु शब्दोपादानात् लभ्यते । एषामुदये भव्याः सम्यग्दर्शनलाभं लभन्ते ते विरताविरतिं देशविरतिम्पुनर्लभन्त इति वाक्यसङ्गतोरति विरतिं वा । विरतिश्च यस्यां निवृत्तौ सा विरताविरतिस्तामिति निर्युक्तिगाथार्थः ॥

भाष्यम् ॥

सव्वं देसो वजओ, पच्चक्खाणं न जेसिमुदएणं ।
ते अप्पच्चक्खाणा, सव्वनिसेहे मओकारो ॥१॥
सम्मदंसणलंभं, लभंति भवियति वक्कसेसोयं ।
विरयाविरइविसेसे,णं तुसद्दंसलक्खिओयंच ॥२३४॥

गतार्थैव ।

अथ तृतीयस्य सर्वविरतिगुणस्याऽऽवारकांस्तृतीयकषायानाह ॥

तइयकसायाणुदए, पच्चक्खाणावरणनामधेज्जाणं ।
देसिक्कदेसविरइं, चरित्तलंभं न उ लहंति ॥

सर्वविरतिलक्षणतृतीयगुणघातित्वात्क्षपणक्रमाद्वा तृतीयास्ते च ते कषायाश्च तृतीयकषायाः क्रोधादयः चत्वारः तेषामुदये कथंभूतानामावृणन्त्यावरणाः प्रत्याख्यानं सर्वविरतिलक्षणं तस्यावरणा एतदेव नामधेयं येषां ते प्रत्याख्यानावरण

नामधेयास्तेषां । आह न त्वप्रत्याख्यानतामधेयानामुदये सर्वथा प्रत्याख्यानं नास्तीत्युक्तं । तत्प्रतिविरत्यादिर्हापि आवरणशब्देन प्रत्याख्यानस्य सर्वस्यापि निषेधो गम्यत इति। क एषां प्रतिविशेष इत्यत्रोच्यते । तत्र नञ्सर्वनिषेधे उक्तः । इह त्वाङोमर्यादेषदर्थत्वादासर्वविरतिप्रत्याख्यानमर्यादया अथवा ईषत्प्रयोगानुप्रतिमात्रविरतिरूपं प्रत्याख्यानमावृणोतीति प्रत्याख्यानावरणा इति व्युत्पत्तेस्सर्वविरतिरूपप्रत्याख्याननिषेधार्थे एवायं वर्तते न देशविरतिप्रत्याख्याननिषेधे । आवरणशब्दस्तथाचाह देसश्च देशैकदेशौ तत्र देशः स्थूलप्राणातिपातादि, एकदेशस्तु तस्यैव इत्यनस्पतिकायातिपातत्वतयोर्विरतिः निवृत्तिस्तां लभत इति वाक्यशेषः (चरित्तलंभं न लहंति) इत्यत्र तुशब्दोपादानादेव लभ्यते । चर्यतनिंदितमनेनेति चारित्रं । अष्टविधकर्मचयरिक्तीकरणाद्वाचारित्रं । सर्वविरतिरित्यर्थः । तस्य लाभस्तमेषामुदये लभत देशैकदेशविरतिं पुनर्न लभत इति निर्युक्तिगाथार्थः । विशे. ॥

प्रत्याख्यानावरणवक्तव्यता (पच्चक्खाणावरण) शब्दे ॥

अथोक्तमेवार्थं संगृह्य विभणिषुस्तथा चतुर्थकषायाणां यथाख्यातचारित्रविघातित्वं च दिदर्शयिषुराह ॥

मूलगुणाणं लंभं, न लहइ मूलगुणघाइणो उदये ।
संजलणाणं उदए, न लहइ चरणं अहक्खायं ॥

इह सम्यक्त्व महाव्रताणुव्रतानि च मूलभूता गुणा मूलगुणाः उत्तरगुणानामाधारभूतत्वात्तेषां मूलगुणानां लाभं न लभते । कदेत्याह । यथोक्तान् मूलगुणान् हंतुं शीलं येषां ते मूलगुणघातिनस्तेषां मूलगुणघातिनामनंतानुबंधि अप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणानां द्वादशानां कषायाणामुदये एतच्च (पढमिल्लुयाण उदए) इत्यादिना सर्वं भावितमेव तथा ईषज्ज्वलनात्संज्वलनाः संपदि ज्वलनात्संज्वलनाः परीषहादिसंपाते चारित्रिणमपि ज्वलयन्तीति वा संज्वलनाः क्रोधादय एव चत्वारः कषायास्तेषामुदये न लभते लब्धं वा त्यजति चरणं चारित्रं किंस्वरूपमपि मेत्याह । यथैव तीर्थकरगणधरैराख्यातं । अकषायमित्यर्थः । सकषायं तु लभते । नच यथाख्यातचारित्रमात्रमेवोपघ्नंति संज्वलनाः किं तु विशेषचारित्राणामपि देशोपघातिनो भवंति । तदुदये शेषचारित्रदेशाभिचारसिद्धेरितिनिर्युक्तिगाथार्थः । विशे० आव. म. ।

आवरणसत्थ–आवरणशास्त्र–न० आव्रियते आकाशमनेनेत्यावरणम् । भवनप्रासादनगरादि तल्लक्षणं शास्त्रमपि तथा वास्तुविद्यात्मके पापश्रुतभेदे, स्था० ९ ठा. ।

आवरणावरणपविभत्ति –आवरणावरणप्रविभक्ति–न० नाट्यविधिभेदे, ॥

चंदावरणपविभत्तिं च सूरावरणपविभत्तिं च आवरणावरणपविभत्तिं णामं दिव्वं णट्टविहिं उवदंसेइ ॥

चन्द्रावरणप्रविभक्तिसूर्यावरणप्रविभक्तियुक्तमावरणावरणप्रविभक्तिमर्थ्यावरणप्रविभक्तिनामकमष्टमं नाट्यविधिमुपदर्शयन्ति । राज० ॥

आवरणी–आवरणी– स्त्री० आवरणकारिण्याम् विद्यायाम्, ज्ञा० १६ अ० ॥

आवरिज्जमाण–आव्रियमाण– त्रि० स्वल्पमाने, (आवरिज्जमाणत्ता । आवरिज्जमाणत्ति) स्वल्पमानानि भ० १ श० १ उ० ।

आवरित्ता–आवृत्य– अव्य० आवरण कृत्वेत्यर्थे (आवरित्ता चिट्ठइ) स्था० ॥

आवरिय–आवृत्त– त्रि० आ० वृ क्त कृतावरणे, अप्रकाशीकृते, आच्छादिते, वाच० (आवरिओ कम्मेहिं) आवृत्तःप्रच्छादितः नि० चू० १ उ० । आवरिया विरणमुहे) आवृता अपि सन्नकृसन्नाहा । प्रश्न० अध्य० १ द्वा० ॥

आवरिसण–आवर्षण– न० उदकादिना उदकप्रदाने, ॥

समज्जणआवरिसणउवलेवणसुहुमदीएवय चेव ।

आवर्षणमुदकेन उदकप्रदानमिति सू० ज० १ ॥ आवरिसणं पाणिएण छन्नालण नि० चू० १ उ० । (उवलेवणसम्मज्जणआवरिसण) आवर्षणं गन्धोदकादिनेति ग० २ अधि० अनु. । उद्गादि आवरिसणं उदकेनाविशल्यादृ घृतेन तैलेन वाऽऽवर्षणं करोति वृ० ४ उ. ॥

समन्तादवर्षणे (आवरिसज्जा) आसमन्ताद्वर्षेत् राज० ॥

आवरिहिय–आवर्हित– त्रि० आ० वृह उद्यमने णिच् क्त आवहीरसायाम् क्तः । उत्पाटिते, उन्मूलिते. वाच० ॥

आवलण–आवलन–न० मोटने (गत्तगत्तलावलणमारणाणि) गात्रस्य कण्ठस्य गात्रस्य भंगस्याऽऽवलनं च मोटनम् प्रश्न० १ द्वा० ॥

आव (लि) ली–आव (लि) ली स्त्री० आ वल धा ङीप् पङ्क्तौ विशे० अनु० १ अ० (कोंचावलीइ वा हारावलीइ वा वलयावलीइ वा) आवलिपदोपादानं वर्णोत्कर्षप्रतिपादनार्थम् । जं० । अस्यार्थो जीवाजीवशब्दे द्रष्टव्यः ॥

आवालिय–आवलित– त्रि० आ वल चलने क्त ईषच्चलिते , सम्यक्वलिते, च । वाच० । आमोटिते, ॥

(अणआविर्य आविलियं) आवलितं यथात्मनो वस्त्रस्य च वलितमिति मोटनं न भवतीति । उत्त० २६ अ० ॥

आवलिय (या) णिवाय–आवलिकानिपात–पुं० आवलिकया क्रमेण निपातः संपात आवलिकानिपातः क्रमेण संपाते,॥

ताजोगेति व गुरुत आवलि (त) याणिवाते आहितेति वदेज्जा ताइति ॥

आस्तां तावदन्यकथनीय संप्रत्येतावत्कथ्यते । योग इति । वस्तुनो नक्षत्रस्य (आवलिकानिपातेति) आवलिकया क्रमेण निपातश्चन्द्रसूर्यैः सह संपात आख्यातो मयेति वदेत् सू० प्र. प्रा. १० । चं. प्र. प्रा. १० ।

आवलिय (या) पविट्ठ–आवलिकाप्रविष्ट–त्रि० आवलिकासु श्रेणिषु प्रविष्टा व्यवस्थिता आवलिकाप्रविष्टाः श्रेण्या व्यवस्थितेत्र, जी. ३ प्र. ॥

इमे ते णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए णरगा किं संठिता प० गो० दुविहा पं० तं आवलियपविट्ठा य आवलियबाहिराय तत्थणं जे ते आवलियपविट्ठा ते तिविहा पं. तं. वट्टा १ तंसा २ चउरंसा ३ जी. प्र. ३ ।

आवलिकासु संस्थानमधिकृत्य त्रिविधाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा । वृत्तास्त्र्यस्राश्चतुरस्राः । जी. टी. ।

सोहम्मीसाणेसु णं भंते ! कप्पेसु विमाणे किं संठिता प० गो० दुविहा० पं० तं० आवलियाए बाहिराय ॥

तत्रावलिकाप्रविष्टानि नाम यानि पूर्वादिषु चतसृषु दिक्षु श्रेण्योपस्थितानि यानि पुनरावलिकाप्रविष्टानां प्रांगणप्रदेशे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कुसुमप्रकर इव यतस्ततो विप्रकीर्णानि तान्यावलिकाबाह्यानि। तानि च पुष्पावकीर्णानीत्युच्यन्ते । पुष्पाणीव इतस्ततो-ऽवकीर्णानि विप्रकीर्णानि पुष्पावकीर्णानि इति व्युत्पत्तेः जी.० टी. ४ प्र. ॥

आवलिय (या) पविभत्ति—आवलिकाप्रविभक्ति—न० दिव्ये नाट्यविधिभेदे, ॥

चंदावलिपविभत्तिं च सूरावलिपविभत्तिं च हंसावलि-पविभत्तिं च एगावलिपविभत्तिं च तारावलिपविभत्तिं च मुत्तावलिपविभत्तिं च आवलियपविभत्तिं णामं दिव्वं णट्टविहं उवदंसेइ ॥

चन्द्रावलिप्रविभक्तिसूर्यावलिप्रविभक्ति, वलयावलिप्रविभक्ति हंसावलिप्रविभक्त्येकावलिप्रविभक्ति, तारावलिप्रविभक्ति, मुक्तावलिप्रविभक्ति, कनकावलिप्रविभक्ति, रत्नावलिप्रविभक्त्यभिनयात्मकमावलिप्रविभक्ति नाम पञ्चमं नाट्यविधिमुपदर्शयन्ति राज० टी० ॥

आवलिय (या) बाहिर—आवलिकाबाह्य—त्रि० इतस्ततो विप्रकीर्णे, अत्र वक्तव्यन्तु (आवलियापविट्ठ) शब्दे उक्तम् जी० ४ प्र० ॥

आवलिया—आवलिका—स्त्री० पङ्क्तौ सू० २ उ. । आवलिका पङ्क्तिरभिधीयते। आली श्रेण्यावली पङ्क्तिरिति वचनात् पं० सं० (भ्रमरावलियत्ति वा) भ्रमरावली भ्रमरपङ्क्तिः। राज० एकान्ते स्थितायां छिद्रिकायाम्मण्डल्यां च । या छिद्रिका एकान्ते भवति मण्डली सा आवलिका या पुनः स्वस्थान एव सा मण्डली। व्य० ४ उ. ।

अथावलिकाया मण्डल्याश्च कः प्रतिविशेष इत्यत आह ॥

छिण्णाछिण्णविसेसो, आवलियाएउ अंतएगत्ति ।

मंडलीए सट्ठाणं, सच्चित्ताएसु संकमति ॥

आवलिकामण्डल्योः परस्परं छिन्नाछिन्नरूपो विशेषः आवलिका छिन्ना विविक्त एकान्ते भवति । मण्डलिका त्वच्छिन्ना (आवलियतत्थछिन्ना मंडलिया होइ अच्छिन्ना उ) इति वचनात् । एतदेव सुव्यक्तमाह । आवलिकायामुपाध्यायकोऽन्तर्मध्ये विविक्ते प्रदेशे तिष्ठति । मण्डल्या पुनः स्वस्थानमाभवनं च प्राग्यितरिसंक्रामति सच्चित्तादिषु तत्वे वा तत्सचित्तादिविषयं(आवलियमण्डलिकमो पुष्पतो छिन्नाछिन्नभेदेण) व्य० १० उ. । कर्मे,

सूर. प्र० १० प्रा. चं. प्र. १० प्रा. कालविशेषे, असंख्येयसमयसंघातात्मकः कालविशेष आवलिका । विशे० । असंख्यातैः समयैरावलिका जघन्ययुक्ता संख्येयसमयराशिमानेति । तं० । अनु० । असंख्यातसमयसमुदायात्मिका आवलिकाः क्षुल्लकभवग्रहणकालस्य षट्पञ्चाशदुत्तरद्विशततमभागभूता इति. स्था० ठा. २ चं० प्र. प्रा. २० आ० म० ।

असंखेज्जाणं समयाणं समुदयं समइ समागमेणं सा एगा आवलियत्ति पवुच्चइ । जं० ।

टी० असङ्ख्यातानां सम्बन्धिनो ये समुदया वृन्दानि तेषां याः समितयो मीलनानि तासां यः समागमः संयोगः स समुदयसमितिसमागमस्तेन यत्कालमानं भवतीति गम्यते स आवलिकेति प्रोच्यते (संखेज्जा आवलियत्ति) किल षट् पञ्चाशदधिकशतद्वयावलिकानां क्षुल्लकभवग्रहणं भवति भ. ६ श. ७ उ. ॥ अनु० विशे० नं० पं० स. दर्श० कर्म०ज्यो०तं. ॥

आवसंत—आवसत्—त्रि० आवासं कुर्वति ॥

(सुयंमे आउसंतेणं भगवया एवमक्खायं)सुयंमे आवसंतेणंति मयेत्यस्य विशेषणमेतत् आङिति गुरुदर्शितमर्यादया वसता अनेन तत्त्वतो गुरुमर्यादावर्तित्वरूपत्वात् गुरुकुलवासस्य तद्विधानमथवा उक्त ज्ञानादिहेतुत्वात् स्था. १ ठा. (गारमावसंतेहिं) आगारमावसद्भिः सेवमानैः आचा० ५ अ. ३ उ. ॥

आवसह—आवसथ—पुं० आवसत्यत्र आ वस अथच्. गृहे, सूत्र० २ श्रु. २ अ. ॥

प्रति० (आवसहं च जाणमंतं च) आवसथं गृहमिति सूत्र० १ श्रु. ४ अ. । आश्रये, (आवसहं वासमुस्सिणामि) आवसथं वा युष्मदाश्रयं समुच्छृणोमि आचा० ७ अ. २ उ. । परिव्राजकाश्रये उटजाकारे गृहे, आवसथः परिव्राजकाश्रय इति प्रश्न० १द्वा. । आवसथास्तापसाश्रया उटजादयः । दशा. (जेणेवपरिव्वायगावसहे तेणेव उवागच्छइ परिव्वायावसहेत्ति) परिव्राजकमठः भ० २ श. १ उ. केचनावसथवृटजाकारेषु गृहेषु वसंतीति सूत्र० २ श्रु. २ अ. आर्याच्छंदोरचिते कोषभेदे, वाच० ॥

आवसहिय—आवसथिक —पुं० आवसथो गृहं तेन च रंतीत्यावसथिकः । प्रति० सूत्र० १ श्रु. १ अ. आवसथे गृहे वसति ठण् स्त्रियां ङीप् गृहस्थे, वाच० आवसथास्तापसाश्रया उटजादयस्तत्रवसन्तीत्यावसथिकाः ॥ दशा० तीर्थिकविशेषे सूत्र० २ श्रु. ७ अ. आवसथिकाः केचनावसथेषूटजाकारेषु गृहेषु वसंतीति सूत्र० २ श्रु. २ अ. ॥

आवसहि—आवसति—स्त्री० वसत्यत्र गृहे वसतिः रात्रिः सम्यक् वसतिः प्रा० स० निशीथे, वसतेः सम्यक्त्वआवश्यगृहवासयोग्यत्वं तथाऽरात्रेऽवश्यं भवतीति तस्य तथात्वम् वाच० ॥

आवस्सय—आपाश्रय—पुं० आङ्मर्यादाभिविधिवाची। आमर्यादयाऽभिविधिना वा गुणानामापाश्रय आधार इवमित्यापाश्रयः । सामायिकादिके आवश्यके, ॥

विशेषावश्यके आवश्यकपर्यायनामान्यधिकृत्य ।

आवस्सयं अवस्सकरणिज्जं धुवनिग्गहो विसोहीय ।

आमर्यादयाऽभिविधिना वा गुणानामापाश्रय आधार इवमित्यापाश्रयं गुणाधार इत्यर्थः । नन्वाधारवाचक आपाश्रय शब्दः पुल्लिङ्गे वर्तते । तत्कथमापाश्रयमिति नपुंसकत्वमिति-चेत् । प्राकृतशैलीवशतोऽदोषादिति । विशे० ।

आवश्यक—न० अवश्यं भाव आवश्यकं द्वन्द्वमनोज्ञादित्वाद्वुञिति मनोज्ञादेरधिकृतत्वाद्वुञ् । आ० चू. २ अ. ।

अवश्यंभावे नैयत्ये,वाच० अवश्यं कर्म आवश्यकं अवश्यकर्तव्यक्रियानुष्ठाने, । नं ०

आवस्सगपरिसुद्धीय, होंति जिक्खुस्स लिङ्गाइं ।

आवश्यकपरिशुद्धिश्चावश्यं करणीययोगनिरतिचारतेति । दशा० अ. १० । द्वा. । भाव. । धर्म. । अनु. । पंचा. । स्था. १० ठा. । नियमात्कर्तव्ये, आवश्यकानि नियमत एव करणीयानीति आव० ४ अ. । अवश्यंभावित्वादवश्यस्वादावश्यकं स्था०४ठा.अनु. ।अवश्यकर्तव्यमावश्यकम् श्रमणादिभिरवश्यमुभयकालं क्रियते इति भावः । कश्चिदितिकर्मणि वाहुलकाद् प्रत्ययः । पृषोदरादय इति निपातनात् शेषरूपसिद्धिः । अथवा ज्ञानादिगुणानामाक्रमन्तादवश्यमात्मानं करोति । यदि वा आसमन्ताद्वश्या इन्द्रियकषायादिभावशत्रवो यस्मात्तदाव-

श्यकं । शेषाद्वेतिकप् प्रत्ययः यदि वा ज्ञानादिगुणकदम्बकं मोक्षो वा आसमन्ताद्वश्यः क्रियतेऽनेनेत्यावश्यकं । आ० म० प्र० १ अ. । प्रव० । स्था. । ग. । विशे० । ओघ० ।

दंसणविणए आवस्सए असीलव्वए निरइआरो ।

आवश्यकं अवश्यकर्त्तव्यं संयमव्यापारनिष्पन्नं तस्मिन्निरु विशुद्धाद्युत्तरगुणकलापे, इति । आ० क० । ज्ञा. ।

तत्प्रतिपादके सामायिकादिषडध्ययनकलापात्मके अङ्गबाह्ये श्रुतविशेषे च अनु० । विशे० । स्था० । नंदी० ।

समणेणं सावएणय, अवस्सकायव्वं हवई जम्हा ।
अंतो अहो निसस्सय, तम्हा आवस्सय नाम १ सेत्तं आवसयं ॥

टी० श्रमणादिना अहोरात्रस्य मध्ये यस्मादवश्यं क्रियते । तस्मादावश्यकं । एवमवश्यकरणीयादिपदानामपि व्युत्पत्तिर्वक्तव्या । उपलक्षणत्वादस्य इति गाथार्थः । अनु. ॥

तत्राथ विशेषावश्यक । आवश्यकस्य पर्यायनामान्यभिधित्सुराह ।

पर्यायाः ॥

तस्साभिन्नत्थाइं, सुपसत्थाइं जहंनु नियथाइं ।
अव्वामोहाई, निमित्तमाहुपज्जाय नामाइं ॥

तस्याऽवश्यकस्य पर्यायनामान्याह इति संबन्धः । कथंभूतान्यभिन्नार्थानि सुप्रशस्तानि यथार्थो व्यवस्थितस्तथैव नियतानि निश्चितानि । किमित्याह ॥ अव्यामोहादिनिमित्तं एकार्थिकैर्हि पर्यायनामभिर्ज्ञातैरन्योन्यस्थानेष्वन्यान्यनामश्रवणतः शिष्यो न मुह्यति । आदिशब्दान्नानादेशजविनेयानां सुखेनैवार्थप्रतिपत्तिर्भवति इत्यादि वाच्यमिति ॥

कानि पुनस्तानि पर्यायनामानीत्याह ।

आवस्सयं १ अवस्सकरणिज्जं २ धुव ३ निग्गहो ४ विसोहिय ५ अज्झयण ६ छक्कवग्गो ७ नाओ ८ आराहणा ९ मग्गो १०

एतानि दश पर्यायनामानि ॥

अथाऽऽवश्यकमिति कः शब्दार्थः इत्याह ।

समणेण सावएणय, अवस्सकायव्वयं हवई जम्हा ।
अंतो अहोनिसिस्सा, तम्हा आवस्सयं नाम ॥

श्रमणादिभिरहोरात्रिमध्येऽवश्यंकरणादावश्यकमितीह तात्पर्यमिति ॥

एतदेव सविशेषमाह ॥

जदवस्सं कायव्वं, तेणावस्सयमिदंगुणाणं वा ।
आवस्सयमाहारो, आमज्जायाभिविहिवाइ ॥
आवस्सं वा जीवं, करेइ जं नाणदंसणगुणाणं ।
संनिज्झभावच्छयणेहिं, वा वासयं गुणओ ॥

यद्यस्मादवश्यं कर्त्तव्यं तेन तस्मादावश्यकमिदमित्युक्तप्रायत्वाद्गाथायाः पर्यवसितार्थकथनमेव । अथवा आङ्मर्यादाभिविधिवाची । आमर्यादया अभिविधिना वा गुणानामापाश्रय आधार इवमित्यापाश्रयं गुणाधारमित्यर्थः । नन्वाऽधारवाचक आपाश्रयशब्दः पुंल्लिङ्गे वर्तते । तत्कथमापाश्रयमिति नपुंसकत्वमितिचेन्न । प्राकृतशैलीवशतोऽदोषादिति । अथवा ज्ञानादिगुणानामासमंताद्वश्यमात्मानं करोतीत्यावश्यकं । यथा । अन्तं करोतीत्यंतकः । सान्निध्यभावच्छादनैर्वा आवासकं गुणत इत्यावासकमुच्यते । इदमुक्तं भवति । वसनिवास इति गुणशून्यमात्मानं गुणैरासमन्ताद्वासयति गुणसांनिध्यमात्मनः करोतीत्यावासकं । अथवा यथा वस्त्रं वासधूपादिभिस्तथा गुणैरासमन्तादात्मानं वासयति भावयति रंजयतीत्यावासकं । यदि वा वस आच्छादने गुणैरासमंतादात्मानं छादयति । छद षट्ट संवरणे । दोषेभ्यः संवृणोतीत्यावश्यकमिति तदेतदेवमावस्सयत्याद्यं पर्यायनाम व्याख्यातं ।

शेषाण्यतिदिशन्नाह ॥

एवं चिअ सेसाइं, विउसासुय लक्खणाणुसारेण ।
कमसो वत्तव्वाइं, तहा सुयक्खंधनामाइं ॥

एवमेव शेषाण्यपि अवश्यकरणीयादिनामानि सिद्धान्तलक्षणाऽनुसारेण क्रमशो विदुषा वक्तव्यानि । तद्यथा । मुमुक्षुभिरवश्यं क्रियत इति अवश्यंकरणीयमिदमुच्यते । तथा अर्थतो ध्रुवत्वाच्छाश्वतत्वाद्ध्रुवं । निगृह्यन्ते इन्द्रियकषायादयो भावशत्रवोऽनेनेति निग्रहः । अन्ये तु भवाद्रतोऽनादिकालीनध्रुवं कर्म्म संनिगृह्यते अनेनेति ध्रुवनिग्रह इत्येकमेवेदं पर्यायनाम व्याचक्षते । कर्म्ममलिनस्यात्मनो विशुद्धिहेतुत्वाद्विशुद्धिः । सामायिकादिषडध्ययनात्मकत्वादध्ययनषट्कं । वृजी वर्जने वृज्यन्ते दूरतः परिह्रियन्ते रागादयो दोषा अनेनेति वर्गः । अन्ये तु षडध्ययनकलापात्मकत्वादध्ययनषट्कवर्ग इतीदमत्येकमेव पर्यायं नाम ब्रुवते । अभिप्रेतार्थसिद्धेः सम्यगुपायत्वान्न्यायः अथवा जीवकर्मसंबन्धापनयनान्न्यायः । अयमभिप्रायो यथा कारणिकैर्दृष्टो न्यायो द्वयोरर्थिप्रत्यर्थिनोर्भूम्यादिसंबन्धे चिरकालीनमप्यपनयत्येवं जीवकर्मणोरनादिकालीनमप्याश्रयाश्रयिभावसम्बन्धमपनयतीत्यावश्यकमपि न्याय उच्यते । मोक्षाराधनहेतुत्वादाराधना मोक्षपुरप्रापकत्वान्मार्ग इव मार्ग इति ॥ विशे० ॥ अनु० ॥ आ० ॥ चू० ॥ आ० म० प्र० ॥

आवश्यकस्य चतुर्धा निक्षेपो नामस्थापनाद्रव्यभावभेदात्

सेकिंतं आवस्सयं २ चउव्विहं पण्णत्तं । तंजहा ।
नामावस्सयं १ ठवणावस्सयं २ दव्वावस्सयं ३ भावावस्सयं ४ ॥

(सेकिंतं आवस्सय) मित्यादि अत्र से शब्दो मागधदेशीप्रसिद्धोऽथ शब्दार्थे वर्तते । अथ शब्दस्तु वाक्योपन्यासार्थः । स्तथा चोक्तम ॥

अथ प्रक्रियाप्रश्नानन्तर्यमंगलोऽपन्यासनिर्वचनसमुच्चयेष्विति किमिति परप्रश्ने । तदिति सर्वनामएवप्रक्रान्तपरामर्शार्थे । ततश्चायं समुदायार्थोऽथ किं स्वरूप तदावश्यकं । एवं प्रश्निते सत्याचार्यः शिष्यवचनाऽनुरोधेन समाधानार्थं प्रत्युच्चार्य निर्दिशति ॥

(आवस्सयं चउविहं) इत्यादि अवश्यं कर्त्तव्यमावश्यकम । अथवा गुणानामासमंताद्वश्यमात्मानं करोति इत्यावश्यकम । यथाऽन्तं करोतीति अन्तकः । अथवा आवस्सयंति प्राकृतशैल्या आवासकं । अत्र वस निवासे इति गुण शून्यमात्मानं वा समंताद्वासयति गुणैरित्यावश्यकं (चउविहं पण्णत्तं) चतस्रो विधा भेदा अस्येति चतुर्विधम् प्रज्ञप्तं प्ररूपितमर्थतस्तीर्थकरैः सूत्रतो गणधरैस्तद्यथा (नामावस्सय) मित्यादि नामाभिधानतद्रूपमावश्यकं नामावश्यकं आवश्यकाभिधानमेवेत्यर्थः । अथवा नाम्ना नाममात्रेणाऽवश्यकं जीवादित्यर्थस्तल्लक्षणञ्चेदम् । यद्वस्तुनोऽभिधानं स्थितमन्यार्थे तदर्थनिरपेक्षं पर्यायानभिधेयं च नाम यादृच्छिकं च तथा विनेयाऽनु

प्रहार्थमेतद्व्याख्या यद्वस्तुन इन्द्रादिरभिधानमिन्द्र इत्यादि वर्णावलिमात्रमिदमेव आवश्यकलक्षणवर्णचतुष्टयावलीमात्रमिदमेव ।

आवश्यकलक्षणवर्णचतुष्टयावलिमात्रं । यत्तदोर्नित्याभिसंबन्धात्तन्नामेति संटङ्कः ॥

अथ प्रकारान्तरेण नाम्नो लक्षणमाह । स्थितमन्यार्थे तदर्थनिरपेक्षं पर्यायानभिधेयश्चेति तदपि नाम यत्कथंभूतमित्याह । अन्यश्चासावर्थश्च अन्यार्थो गोपालदारकादिलक्षणस्तत्र स्थितमन्यत्रेन्द्राद्यर्थे यथार्थत्वेन प्रसिद्धं तदन्यत्र गोपालदारकादौ यदारोपितमित्यर्थः । अतएवाह । तदर्थनिरपेक्षमिति । तस्येन्द्रादिनाम्नोऽर्थः परमैश्वर्यादिरूपस्तदर्थः । स चासावर्थश्चेति वा तदर्थस्तस्य निरपेक्षं गोपालदारकादौ तथा तदर्थस्याऽभावात्पुनः किम्भूतं तदित्याह । पर्यायानभिधेयमिति । पर्यायाणां शक्रपुरन्दरादीनामनभिधेयमवाच्य गोपालदारकादयो हीन्द्रादिशब्दैरुच्यमाना अपि शचीपत्यादिरिव शक्रपुरन्दरादिशब्दैर्नाभिधीयन्ते । अतस्तन्नामाऽपि नाम तद्वतोरभेदोपचारात्पर्यायानभिधेयमित्युच्यते च । शब्दानाम्न एव लक्षणान्तरसूचकं शचीपत्यादौ प्रसिद्ध । तन्नाम वाच्यार्थशून्ये अन्यत्र गोपालदारकादौ यदारोपितं तदपि नामेति तात्पर्यम । तृतीयप्रकारेणाऽपि लक्षणमाह । यादृच्छिकं च तथेति । तथाविधव्युत्पत्तिशून्यं डित्थकपित्थादिरूपं यादृच्छिकं स्वेच्छया नाम क्रियते तदपि नामेत्यार्थः ॥ अनु० ॥

अत्र नामावश्यकस्वरूपनिरूपणार्थं सूत्रकार एवाह ॥

सेकिंतं नामावस्सयं २ जस्स णं जीवस्स वा अजीवस्स वा जीवाण वा अजीवाण वा तदुभयस्स वा तदुभयाण वा आवस्सएत्ति नामं कज्जइ सेत्तं नामावस्सयं ॥

अथ किं तन्नामावस्सकमिति प्रश्ने सत्याह । (नामावस्सयं जस्स ण) मित्यादि । अत्र द्विकलक्षणेनाऽङ्केन सूचितं द्वितीयमपि (नामावस्सयं) ति पदं द्रष्टव्यं । एवमन्यत्राऽपि यथासंभवमभ्यूह्यम् । णमिति वाक्यालङ्कारे । यस्य वस्तुनो जीवस्य वा अजीवस्य वा जीवानामजीवानां वा (तदुभयस्स वा) तदुभयानां वा आवश्यकमिति यन्नाम क्रियते तन्नामावश्यकमित्यादिपदेन संबन्धः ॥ नाम च तदावश्यकं चेति व्युत्पत्तिरथवा यस्य जीवादिवस्तुनः आवश्यकमिति नाम क्रियते । तदेव जीवादिवस्तु नामावश्यकं । नाम्ना नाममात्रेणाऽवश्यकं नामावश्यकमिति व्युत्पत्तिर्वा शब्दाः एकान्तरे सूचका इति समुदायार्थस्तत्र जीवस्य कथमावश्यकमिति नाम संभवतीत्युच्यते । यथा लोके जीवस्य स्वपुत्रादेः कश्चित्सीहको देवदत्त इत्यादि नाम करोति । तथा कश्चित्स्वाभिप्रायवशादावश्यकमित्यपि नाम करोति । अजीवस्य कथमिति चेदुच्यते । इहावश्यकावासकशब्दयोरेकार्थता प्रागुक्ता । ततश्चोर्ध्वशुष्कोऽचित्तो बहुकोटराकीर्णो वृक्षोऽन्यो वा तथाविध कश्चित्पदार्थविशेषस्सर्पादेरावासोऽयमिति लौकिकैर्व्यपदिश्यत एव । स च वृक्षादिर्यद्यप्यनन्तैः परमाणुलक्षणैरजीवद्रव्यैर्निष्पन्नस्तथाप्येकस्कंधपरिणतिमाश्रित्यकाजीवत्वेन विवक्षित इति स्वार्थिककप्रत्ययोपादानादेकानि चयस्यावासकनाम सिद्धम् । जीवानामपि बहूनामावासकनाम सन्दृश्यते । यथा इष्टकापाकाद्यग्निर्मूषिकावास इत्युच्यते । तत्र ह्यग्नौ किल मूषिकाः संमूर्च्छन्त्यतस्तेषामसङ्ख्येयानामग्निजीवानां पूर्ववदावासकनाम सिद्धम् । अजीवानान्तु यथा नीडं पक्षिणामावास इत्युच्यते । तन्नीडं बहुभिस्तृणाद्यजीवैर्निष्पद्यते । इति बहूनां जीवानामावासकनाम भवति । इदानीमुभयस्यावासकसंज्ञा भाव्यते । तत्र गृहदीर्घिका अशोकवनिकाद्युपशोभितः प्रासादादिप्रदेशो राजादेरावास उच्यते । सौधर्म्मादिविमानं वा देवानामावासोऽभिधीयते । अत्र च जलवृक्षादयस्सचेतनरत्नादयश्च जीवा इष्टकाः काष्ठादयो चेतनरत्नादयश्चाजीवास्ततश्चैवमुभयं तस्य कप्रत्ययोपादाने आवासक संज्ञा सिद्धा । उभयानां त्वावासकसंज्ञा यथा सम्पूर्णनगरादिक राजादीनामावास उच्यते । सम्पूर्णः सौधर्म्मादिकल्पो वा इन्द्रादीनामावासोऽभिधीयते । अत्र च पूर्वोक्तप्रासादविमानयोर्लघुत्वादेकमेव जीवाजीवोभयं विवक्षितमत्र तु नगरादीनां सौधर्म्मादिकल्पानां च महत्त्वाद्बहूनि जीवाजीवोभयानि विवक्षितानीति विशेषाभेदो द्रष्टव्यः एवमन्यत्राऽपि जीवादीनामावासकसंज्ञा यथा सम्भवं भावनीया ॥

द्विकभाजप्रदर्शनार्थत्वादस्य निगमयन्नाह । (सेतमित्यादि) (सेत्तं)मित्यादि वा कचित्पाठः तदेतन्नामावश्यकमित्यर्थः ॥

इदानीं स्थापनाऽवश्यकनिरूपणार्थमाह ।

सेकिंतं ठवणावस्सयं २ जसं कट्ठकम्मे वा पोत्थकम्मे वा चित्तकम्मे वा लिप्पकम्मे वा गंथिमे वा वेढिमे वा पूरिमे वा संघाइ मे वा अक्खेवा वराडए वा एगोवा अणेगोवा सब्भावठवणा वा असब्भावठवणा वा असब्भाय ठवणा वा आवस्सएत्ति ठवणा ठविज्जइ सेत्तं ठवणावस्सयं । नाम ठवणाणं कोपइविसेसो णामं आवस्सकहिअं ठवणा इत्तरिआ वा होज्जा आवकहिआ वा ॥

टीका । सेकितमित्यादि अथ किंतत् स्थापनावश्यकमिति प्रश्ने सत्याह । (ठवणा आवस्सयं जण्ण) मित्यादि । तत्र स्थाप्यत अमुकोऽयमित्यभिप्रायेण क्रियते निर्वर्त्यत इति स्थापना । काष्ठकर्म्मादिगतावश्यकवत् साध्वादिरूपा । सा चासौ आवश्यकतद्वतोरभेदोपचारादावश्यकं च स्थापनावश्यकं स्थापनालक्षणं च सामान्यत इदमुक्तं । यत्तु तदर्थवियुक्तं तदभिप्रायेण यच्च तत्करणि लेप्यादिकर्म्म तत्स्थापनेति क्रियते अल्पकालं च ॥ १ ॥ इति विनेयाऽनुग्रहार्थमत्रापि व्याख्यातुशब्दो नामलक्षणस्य स्थापनालक्षणस्य भेदसूचकः । स चासावर्थश्च तदर्थो भावेन्द्रभावावश्यकादिलक्षणस्तेनवियुक्तं रहितं यद्वस्तु तदभिप्रायेण भावेन्द्राद्यभिप्रायेण क्रियते स्थाप्यते तत् स्थापनेति संबंधः । किंविशिष्टं यदित्याह । यच्च तत्करणि तेन भावेन्द्रादिना सहकारणिः सादृश्यं तस्य तत्करणि तत्सदृशमित्यर्थः । चशब्दात्तदकरणि चाक्षादिवस्तु गृह्यते । अथसदृशमित्यर्थः । किंपुनस्तदेवंभूतं वस्त्वित्याह । लेप्यादिकर्म्मेति लेप्यपुत्तलिकादीत्यर्थः । आदिशब्दात् काष्ठपुत्तलिकादि गृह्यते अक्षादि अनाकारं कियंतं कालं तत् क्रियते इत्याह । अल्पः कालो यस्य तदल्पकाल मित्वरकालमित्यर्थः । च शब्दाद्यावत्कथिकं शाश्वतप्रतिमादि यत्पुनर्भावेन्द्राद्यर्थरहितं साकारमनाकारं वा तदर्थाभिप्रायेण क्रियते तत् स्थापनेति तात्पर्यमित्यार्थः ॥

इदानीं प्रकृतमुच्यते (जण्णंति) णमिति वाक्याऽलंकारे यत्काष्ठकर्मणि वा चित्रकर्मणि वा वराटके वा एको वा अनेको वा सद्भावस्थापनायां वा असद्भावस्थापनायां वा । आवस्सएति । आवश्यकतद्वतोरभेदोपचारात्तद्वानिह गृह्यतेऽतश्चैको वा अनेको वो कथं भूतां अत उच्यते । आवश्यकक्रिया वानावश्यक

क्रियावन्तो वा (ठवणा ठविज्जइत्ति) स्थापनारूपं स्थाप्यते क्रियते आवृत्त्या बहुवचनान्तत्वे स्थापनारूपाः स्थाप्यन्ते तत् स्थापनावश्यकमित्यादिपदेन संबन्ध इति समुदायार्थः। काष्ठकर्मादिष्वावश्यकक्रियां कुर्वन्तो ये स्थापनारूपा साध्वादयः स्थाप्यन्ते तत् स्थापनावश्यकमिति तात्पर्यम्। अधुना अवयवार्थमुच्यते । तत्र क्रियत इति कर्म काष्ठकर्म काष्ठनिष्कुट्टितं रूपकमित्यर्थः । चित्रकर्म्म चित्रलिखितं रूपकं (पोत्थकम्मवेत्ति) अत्र पोत्थं पोतं वस्त्रमित्यर्थः तत्र कर्म्म तत्पल्लवनिष्पन्नं वा डल्लिकारूपकमित्यर्थः । अथवा पोत्थं पुस्तकं तच्चेह संपुटकरूपं गृह्यते । तत्र कर्म्म तन्मध्ये वर्तिकालिखितं रूपकमित्यर्थः । अथवा पोत्थं तालपत्रादि तत्र कर्म्म तच्छेदनिष्पन्नं रूपकं लेप्यकर्म लेप्यरूपकं ग्रन्थिमं कौशलातिशयात् ग्रन्थिसमुदायनिष्पादितं रूपकं वेष्टिमं पुष्पवेष्टनक्रमेण निष्पन्नमानन्दपुरादि प्रतीत्य रूपमथवा एकं द्वे त्रीणि वस्त्राणि वेष्टयित्वा यत् किंचित् रूपकं तत्स्थापयाति तद्वेष्टिमं । पूरिमं भरिमं पित्तलादिमयप्रतिमावत् । संघातिमं बहुवस्त्रादिखण्डसंघातनिष्पन्नं कञ्चुकवत् । अक्षश्चंदनको वराटकः कपर्दकः । अत्र वाचनान्तरे अन्यान्यपि दन्तकर्मादिपदानि दृश्यन्ते । तान्यप्युक्तानुसारतो भावनीयानि । वा शब्दाः पक्षान्तरसूचकाः । यथासम्भवमेवमन्यत्रापि एतेषु काष्ठकर्मादि आवश्यकक्रियां कुर्वतः एकादि साध्वादयः सद्भावस्थापनया असद्भावस्थापनया वा स्थापनावश्यकं । तत्र काष्ठकर्म्मादिष्वाकारवती सद्भावस्थापना साध्वाद्याकारस्य तत्र सद्भावात् । अक्षादिषु तु नाऽऽकारवती असद्भावस्थापना साध्वाकारस्य तत्रासद्भावादिति निगमयन्नाह । (सेत्तं मित्यादि) तदेतत् स्थापनावश्यकमित्यर्थः । अत्र नामस्थापनयोर भेदं पश्यन्निदमाह (नाम ठवणाणं कोपइविसेसोत्ति) नामस्थापनयोः कः प्रतिविशेषो न कश्चिदित्यभिप्रायः । तथाह्यावश्यकादिभावार्थशून्ये गोपालदारकादौ द्रव्यमात्रे यथावश्यकादि नाम क्रियते तत् स्थापनापि तथैव । तच्छून्ये काष्ठकर्मादौ द्रव्यमात्रे क्रियतेऽतो भावशून्य द्रव्यमात्रे क्रियमाणत्वात् विशेषाभ्यानयोः कश्चिद्विशेषः । अत्रोत्तरमाह । (नामं आवकहिय) मित्यादि नाम यावत्कथिकं स्वाश्रयद्रव्यस्यास्तित्वकथां यावदनुवर्तते न पुनरन्तराऽप्युपरमते । स्थापना पुनरित्वरा स्वल्पकालभाविनी वा स्याद्यावत् कथिका वा स्वाश्रयद्रव्ये अवतिष्ठमानेऽपि काचिदितराऽपि निवर्तते । काचित्तु तत्सत्तां यावदवतिष्ठत इति भावस्तथाहि । नाम आवश्यकादिकं मेरुजम्बूद्वीपकलिङ्गमगधसुराष्ट्रादिकं चाद्यात् स्वाश्रयो गोपालदारकदेहादिः शिलासमुच्चयादिर्वा समस्ति तावदवतिष्ठति इति । तद्यावत् कथिकमेव । स्थापनात्वावश्यकत्वेन योग्यः स्थापितः स क्षणान्तरे पुनरपि तथाविधप्रयोजनसम्भवे इन्द्रत्वेन स्थाप्यते । पुनरपि च राजादित्वेनेत्यल्पकालवर्तिनः शाश्वतप्रतिमादिरूपा तु यावत्कथिकावर्तते तस्मात् अर्हदादिरूपेण सर्वदा तिष्ठतीति स्थापनेति व्युत्पतेः । स्थापनात्वमवसेयं नतुस्थाप्यत इति स्थापना शाश्वतत्वेन केनापि स्थाप्यमानत्वाभावादिति । तस्माद्भावशून्यद्रव्याधारसाम्येऽप्यनयोः कालकृतो विशेषः । अत्राह । ननु यथा स्थापना। काचिदल्पकालीना तथा नामापि किञ्चिदल्पकालीनमेव । गोपालदारकादौ विद्यमानेऽपि कदाचिदनेकनामपरावृत्तिदर्शनमुच्यते ।

सत्यं । किन्तु प्रायो नाम यावत् कथिकमेव । यस्तु काचिदन्यथोपलम्भः । सोऽल्पत्वान्नेह विवक्षित इत्यदोषः । उपलक्षणमात्रं चेदं । कालभेदेनैतयोर्भेद कथनमपरस्यापि बहुप्रकाराभेदस्य सम्भवात्तथाहि । यथेन्द्रादिप्रतिमास्थापनायां कुण्डलाङ्गदादि भूषितः सन्निहितशचीवज्रादिराकार उपलभ्यते । न तथा नामेन्द्रादौ । एवं यथा स्थापनादर्शनाद्भावः । समुल्लसति नैव मिन्द्रादिश्रवणमात्रात् । यथा च तत् स्थापनायां लोकस्योपयाचितत्वापूजाप्रवृत्ति समीहितलाभादयो दृश्यन्ते नैवं । नामेन्द्रादावित्येव मन्यदपि वाच्यमिति ।

उक्तं स्थापनावश्यकम् ।

अत्र नाम इदानीं द्रव्यावश्यकनिरूपणाय प्रश्नं कारयाति ।

सेकिंतं दव्वावस्सयं दव्वावस्सयं दुविहं पण्णत्तं । तंजहा । आगमओ अ नो आगमओ अ ॥

टी० अथ किंतत् द्रव्यावश्यकमिति पृष्टे सत्याह । (दव्वावस्सयं दुविह) मित्यादि तत्र द्रवति गच्छति ताँस्तान् पर्यायानिति द्रव्यं विवक्षितयोरतीतभविष्यद्भावयोः कारणम् अनुभूतं विवक्षितभावं अनुभविष्यद्विवक्षितभावं चास्ति इति द्रव्यभूतस्य भाविनो वा भावस्य हि कारणं तु यल्लोके तत् द्रव्यं तत्वज्ञैः सचेतनाचेतनं कथितम् ।

व्या० । तद्द्रव्यं तत्वज्ञैः कथितं तत्कथंभूतं द्रव्यं यत्कारणं हेतुः कस्येत्याह । भावस्य पर्यायस्य कथंभूतस्येत्याह ।

भूतस्यातीतस्य भाविनो वा भविष्यतो वा लोके आधारभूते तत्र सचेतनं पुरुषादि अचेतनं च काष्ठादि भवति ।

एतदुक्तं भवति ।

यः पूर्वं स्वर्गादिष्विन्द्रादित्वेन भूत्वा इदानीं मनुष्यादित्वेन परिणतः अतीतस्येन्द्रादिपर्यायस्य कारणत्वात्सांप्रतमपि द्रव्यमिन्द्रादिरभिधीयते । अमात्यादिपदपरिभ्रष्टामात्यादिवत् तथा अग्रेऽपि य इन्द्रादित्वेनोत्पत्स्यते स इदानीमपि भविष्यदिन्द्रादिपदपर्यायकारणत्वात् द्रव्यत इन्द्रादिरभिधीयते। भविष्यद्राजकुमारराजवत् । एवमचेतनस्यापि काष्ठादेः तत् भविष्यत्पर्यायकारणत्वेन द्रव्यता भावनीयेत् इति तात्पर्यार्थः । इतः प्रकृतमुच्यते । तत्रेह द्रव्यरूपमावश्यकं प्रकृते तत्रावश्यकोपयोगाधिष्ठितः साध्वादिदेहावन्दनकादिसूत्रोच्चारणलक्षणश्चागमः । आवर्तादिका क्रिया चावश्यकमुच्यते । आवश्यकोपयोगशून्यस्तु ता एवं देहागमक्रिया द्रव्यावश्यकं । तच्च द्विविधं प्रज्ञप्तमिति । तद्यथा । आगमत आगममाश्रित्य । नो आगमतो नो आगममाश्रित्य नो आगमशब्दार्थं यथावसरमेव वक्ष्यामः । चशब्दो द्वयोरपि स्वस्वविषये तुल्यप्राधान्यख्यापनार्थः ।

अत्राथभेदं जिज्ञासुराह ।

सेकिंतं आगमओ दव्वावस्सयं २ जस्सणं आवस्सएत्ति पदं सिक्खितं ठितं जितं मितं परिजितं नाम समं घोससमं अहीणक्खरं अणच्चक्खरं अव्वाइद्धक्खरं अक्खलिअं अमिलिअं अवच्चामेलियं पडिपुण्णं पडिपुण्णघोसं कंठोट्ठविप्पमुक्कं गुरुवायणोवगयं सेणं तत्थ वायणाए पुच्छणाए परिअट्टणाए धम्मकहाए नो अणुपेहाए कम्हा अणुवओगे दव्वमिति कट्टु ।

टी० । से किंत मित्यादि—अथ किं तदागमतो द्रव्यावश्यकमिति आह । (आगमतो दव्वावस्सयं जस्सण) मित्यादि-

णमिति पूर्ववत् । जस्सत्ति यस्य आवस्सयपति पयंति । आवश्यकपदाभिधेयं शास्त्रमित्यर्थः । ततश्च यस्य कस्यचिदावश्यकशास्त्रं शिक्षितं जितं यावत् । वाचनोपगतं भवति (सेणं तत्थेति । सजन्तुस्तत्रावश्यकशास्त्रे वाचनाप्रच्छनापरिवर्तनाधर्मकथभिर्वर्तमानोऽप्यावश्यकोपयोगे अवर्तमानत्वादागमतः आगममाश्रित्य द्रव्यावश्यकमिति समुदायार्थः । अत्राह । नन्वागममाश्रित्य द्रव्यावश्यकमित्यागमरूपमिदं आवश्यकमित्युक्तम् भवति । एतच्चायुक्तं । यतः आगमो ज्ञानं ज्ञानं च भाव एवेति । कथमस्य द्रव्यत्वमुपपद्यते । सत्यमेत र्त्किंत्वागमस्य कारणमात्मा तदधिष्ठितो देहशब्दश्चोपयोगशून्यसूत्रोच्चारणरूप इहास्ति ननु साक्षादागमः । एतच्च त्रितयमागमकारणत्वात्कारणे कार्योपचारादागम उच्यते । कारणं च विवक्षितभावस्य द्रव्यमेव भवतीत्युक्तमेवेत्यदोषः । अनु० ॥

शिक्षितादिपदानां व्याख्या शिक्षितादि शब्दे ॥

उदात्तादिघोषैरविकलं प्रतिपूर्णघोषं । अत्राह । घोष सममित्युक्तमेव तत्क इह विशेष इत्युच्यते । घोषसममिति । शिक्षाकालमधिकृत्योक्तं । प्रतिपूर्णं घोषं तु परावर्तनादि कालमधिकृत्येति विशेषः ॥

तदेवं यस्य जन्तोरावश्यकशास्त्रं शिक्षितादिगुणोपेतं भवति । स जंतुस्तत्रावश्यकशास्त्रे वाचनया शिष्याध्यापनलक्षणया प्रच्छनयार्थादिर्गुरु प्रति प्रश्नलक्षणयापरावर्तनयापुनः पुनस्सूत्रार्थाऽभ्यासलक्षणया धर्मकथयाहिंसादिधर्म्मप्ररूपणस्वरूपया । वर्तमानोऽप्यनुपयुक्तत्वादिति साध्याहारमागमतो द्रव्यावश्यकमित्यनेन सम्बंधः । ननु यथा वाचनादिभिस्तत्र वर्तमानोऽपिद्रव्यावश्यकं भवति । तथानुप्रेक्षयाऽपि तत्र वर्तमानस्तद्भवति नेत्याह । (नो अणुप्पेहाएत्ति) अनुप्रेक्षया ग्रन्थार्थानुचिंतनरूपया तत्र वर्तमानो न द्रव्यावश्यकमित्यर्थः । अनुप्रेक्षायामुपयोगमन्तरेणाऽभावादुपयुक्तस्य च द्रव्यावश्यकत्वायोग्यादितिभावः । अत्राह परः । (कम्हत्ति) ननु कस्मात्वाचनादिभिस्तत्र वर्तमानोऽपि द्रव्यावश्यकं कस्माच्चानुप्रेक्षया तत्र वर्तमानो न तथेति प्रच्छकाभिप्रायः । एवं प्रष्टेसत्याह । (अणुवओगोदव्व) मिति कृत्वा उपयोजनमुपयोगोपि जीवस्य बोधरूपोव्यापारः । सचेह विवक्षितार्थे चित्तस्य विनिवेशस्वरूपो गृह्यते । न विद्यते सो यत्र सोऽनुपयोगः पदार्थः । सविवक्षितो पयोगस्य कारणमात्रत्वात् द्रव्यमेव भवतीति कृत्वाऽस्मात्कारणादनन्तरोक्तमुपपद्यत इति शेषः । एतदुक्तम् । भवत्युपयोगपूर्वका अनुपयोगपूर्वकाश्च वाचना प्रच्छनादयः संभवंत्येव तत्रेह द्रव्यावश्यकचिन्ता प्रस्तावादनुपयोगपूर्विका गृह्यंते । अतएव सूत्रेणाऽभिहितस्य, ऽप्यनुपयुक्तस्याध्याहारस्तत्रकृतोऽनुपयोगस्तुभावशून्यता तच्छून्यं वस्तु द्रव्यमेव भवतीत्यतोवाचनादिभिस्तत्रवर्तमानोऽपि द्रव्यावश्यकम् । अनुप्रेक्षा तूपयोगपूर्विकैव संभवत्यतस्तत्र वर्तमानो न तथेति भावार्थः । अत्राह ।

नन्वागममतोऽप्ययुक्तो वक्ता द्रव्यावश्यकमित्येतावच्चेष्टसिद्धेः. शिक्षितादिश्रुतगुणकीर्तनमनर्थकम् । अत्रोच्यते । शिक्षितागुणोत्कीर्तनं कुर्वन्निदं ज्ञापयति । यद्युतैवं भूतमपि निर्दोषं श्रुतमुच्चारयतोऽनुपयुक्तस्य द्रव्यश्रुतं द्रव्यावश्यकमेव भवति किंपुनः सदोषमुपयुक्तस्यतु स्खलितादिदोषदुष्टमपि निगदतः श्रुतमेव भवति । एवमन्यत्रापि प्रत्युपेक्षणादिक्रियाविशेषाः सर्वे निर्दोषा अप्यनुपयुक्तस्य तथाविधफलशून्या एव सपद्यन्ते उपयुक्तस्य तु मतिवैकल्पादितःसदोषा अप्यमी कर्ममलापगमायैवेत्यलं विस्तरेण ॥

इह जिनमते सर्वमापि सूत्रमर्थश्च श्रोतृजनमुपेक्ष्य (नत्थिनएहिं विहूणं सुत्तं अत्थो व जिणमए किंचि आसज्जउसोयारं नए नयविसारओबूया) इति वचनात् इदमपि द्रव्यावश्यकं न यैश्चिन्त्यते ते च मूलभेदानाश्रित्य नैगमादयः सप्त तदुक्तं ॥

निगमसंगहववहा, उज्जुसुए चेव होई बोधव्वे ॥
सद्दयसमभिरूढे, एवं भूते य मूलनया ॥ १ ॥

तत्रनैगमस्तावत्कियंति द्रव्यावश्यकानीच्छतीत्याह ॥

नैगमस्सुणं एगो अणुवउत्तो आगमओ एगं दव्वावस्सयं दोन्नि अणुवउत्ता आगमउ दोन्नि दव्वावस्सयाइ तिण्णि अणुवउत्ता आगमओ तिन्नि दव्वावस्सयाइं एवं जावइआ अणुवउत्ता आगमओ तावइआइं दव्वावस्सयाइं एवमेव वहारस्सवि संगहस्स णं एगो वा अणेगो वा अणुवउत्तो वा अणुवउत्तावा । आगमओ दव्वावस्सयं दव्वावस्सयाणि वा उज्जुसुअस्स एगे अणुवउत्तो आगमतो एगं दव्वावस्सयं पुहुत्तं नेच्छइ तिण्हं सद्दनयाणं जाणए अणुवउत्ते अवत्थु कम्हा जइ जाणए अणुवउत्ते न भवसि सेत्तं । आगमउ दव्वावस्सयं ।

टी० निगमस्सेत्यादि । सामान्यविशेषादि प्रकारेण नैकोऽपितु बहवो गमा वस्तुपरिच्छेदा यस्यासौ निरुक्तविधिना ककारस्य लोपाद् नैगमसामान्यविशेषादिप्रकारैः बहुरूपवस्त्वभ्युगमपर इत्यर्थः । तस्य नैगमस्यको देवदत्तादिरनुपयुक्त आगमत एक द्रव्यावश्यकं द्वौ देवदत्तयज्ञदत्तावनुपयुक्तौ आगमतो द्रव्यावश्यके त्रयो देवदत्तयज्ञदत्तसोमदत्ता अनुपयुक्ता आगमतस्त्रीणि द्रव्यावश्यकानि । किं बहुना । एवं यावन्तो देवदत्तादयोऽनुपयुक्ताः तान्यतीतादि कालत्रयवर्तीनि नैगमस्याऽगमतो द्रव्यावश्यकानि एतदुक्तं भवति । नैगमो हि सामान्यरूपं विशेषरूपं च वस्त्वभ्युपगच्छत्येव नं पुनर्वक्ष्यमाणसंग्रहवत्सामान्यरूपमेव । ततो विशेषत्वादिरयस्येह प्राधान्येन विवक्षितत्वाद्यावन्तः के चन देवदत्तादिविशेषा अनुपयुक्तास्तावन्तिसर्वाण्यप्यसौ द्रव्यावश्यकानि न पुनःसंग्रहवत्सामान्यवादित्वादेकमेव च (ववहारस्सतित्ति) व्यवहरणं व्यवहारो लौकिकप्रवृत्तिरूपस्तत्प्रधानो नयोऽपि व्यवहारस्तस्याप्येवमेव । नैगमवदेको देवदत्तादिरनुपयुक्तोऽथागमत एकं द्रव्यावश्यकमित्यादि सर्ववाच्यमिदमुक्तं भवति । व्यवहारनयो लोकव्यवहारोपकारिण एव पदार्थानभ्युपगच्छति न शेषान् । लोकव्यवहारे च जलाहरणव्रणादिपीप्रदानादिकेघटनिम्बादिविशेषा एवोपकुर्वाणा दृश्यन्ते न पुनस्तदतिरिक्तं तत्सामान्यमिति विशेषानेव वस्तुत्वेन प्रतिपद्यतेऽसौ न सामान्यं व्यवहारानु पकारित्वाद्विशेष व्यतिरेकेणाऽनुपलभ्यमानत्वाच्चेत्यतो विशेषादिनैगममतस्याम्येनातिदिष्टः । अत्र चातिदेशेन चेष्टार्थसिद्धेर्ग्रंथलाघवार्थं संग्रहमतिक्रम्य व्यवहारोपन्यासः कृत इति भावनीयं (संग्रहस्सेत्यादि) सर्वमपि भुवनत्रयाऽन्तर्वर्त्तिवस्तूनि कुरुवं संगृह्णाति सामान्यरूपतयाऽध्यवस्यतीति संग्रहस्तस्य मते एको वा अनेको वा अनुपयुक्तोऽनुपयुक्ता वा यदागमतो द्रव्यावश्यकं द्रव्यावश्यकानि वा तत्किमित्याह (स एगत्ति) तदेकं द्रव्यावश्यकम् इदमत्र हृदयं । संग्रहनयः सा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मान्यमेवाभ्युपगच्छति न विशेषानभिधत्ते च सामान्याद्विशेषाद्व्यतिरिक्ताः स्युः । अव्यतिरिक्ताः स्युः अव्यतिरिक्ता वा यद्याद्यः पक्षः । तर्हि न सत्यमी निःसामान्यत्वात् खरविषाणवत् । अथापरः पक्षस्तर्हि सामान्यमेव तेतद्व्यतिरिक्तत्वात्सामान्यस्वरूपवत्तस्मात्सामान्यव्यतिरेकेण विशेषाभिधेयानि कानिचिद्द्रव्यावश्यकानि तानि तत्सामान्याव्यतिरिक्तत्वादेकमेव संग्रहस्य द्रव्यावश्यकमिति (उज्जुसुयस्से) त्यादि । ऋज्वतीतानागतपरकीयपरिहारेणर्जुकं वस्तु सूत्रयत्यभ्युपगच्छतीति । ऋजुसूत्रः । अयं हि वर्त्तमानकालभाव्येव वस्त्वभ्युपगच्छति नातीत विनष्टत्वान्नाप्यनागत मनुत्पन्नत्वाद्वर्त्तमानकालमाव्यपि स्वकीयमेव मन्यते स्वकार्यसाधकत्वात् स्वधनवत्परकीयन्तु नेच्छति स्वकार्याप्रसाधकत्वात् । परधनवत्तस्मादेको देवदत्तादिरनुपयुक्तोऽस्यमते आगमत एकं द्रव्यावश्यकमिति (पुहत्तं न्ति) पुहत्तंनेच्छति । अतीतानागतभेदतः परकीयभेदतश्च पृथक्त्वं पार्थक्यं नेच्छत्यसौ किं तर्हि वर्त्तमानकालीनं स्वत्वमेवैकमभ्युपैति तदेकमेवेति (तिण्हं सद्दनयाण) मित्यादि शब्दप्रधाना नयाः शब्दनयाः शब्दसमभिरूढैवंभूतास्ते हि शब्दमेव प्रधानमिच्छन्तीत्यर्थन्तु गौणं शब्दवाच्यमिवार्थप्रतीतिरुपयाणां शब्दनयानां ज्ञापकोऽथवानुपयुक्त इत्येतदेव तु न सम्भवतीदमित्यर्थः । (कम्हेति) कस्मादेवमुच्यते इत्याह । यदि ज्ञापकस्तर्ह्यनुपयुक्तो न भवति ज्ञानस्योपयोगरूपत्वादिदमत्र हृदयं । आवश्यकशास्त्रज्ञस्तत्रा चानुपयुक्त आगमतो द्रव्यावश्यकमिति प्राग्निर्णीतमेव स्वामी न प्रतिपद्यते यद्यावश्यकशास्त्रं जानाति कथमनुपयुक्तोऽनुपयुक्तश्चेत् कथं जानाति ज्ञानस्योपयोगरूपत्वात् यदप्यागमकारणादात्मदेहादिकमागमत्वेनोक्तं तदप्यौपचारिकत्वादमी न मन्यन्ते । शुद्धनयत्वेन मुख्यवस्त्वभ्युपगमपरत्वात्तस्मादेतन्मते द्रव्यावश्यकस्यासंभव इति निगमयन्नाह (सेत्तमित्यादि) तदेतदागमतो द्रव्यावश्यकन्तेनोक्तम् आगमतो द्रव्यावश्यकमिदानीम् ॥

इदानीं नो आगमतस्तदुच्यते ॥ से किं तं नो आगमओ दव्वावस्सय २ तिविहं पण्णत्तं तंजाणयं सरीर दव्वावस्सयं ॥ टी० अथ किंतन्नो आगमतोद्रव्यावश्यकमिति प्रश्नः । उत्तरमाह नो आगमउ दव्वावस्सयं तिविहं पण्णत्तमित्यादि नो आगमत इत्यत्र नो शब्द आगमस्य सर्वनिषेधे देशनिषेधे वा वर्तते यत उक्तं पूर्वमुनिभिः ॥

आगमसव्वनिसेहे नोसद्दो अहवदेसपडिसेहे ।
सव्वे जहसरीरं भव्वस्स य आगमाभावा ॥

व्याख्या । आगमस्यावश्यकादिज्ञानस्य सर्वनिषेधे वर्त्तते नोशब्दोऽथवा तस्यैव देशप्रतिषेधे वर्त्तते । तत्र (सव्वेत्ति) सर्वनिषेधउदाहरणमुच्यते यथेत्युपदर्शने (सरीरंति) तस्य ज्ञानतःशरीरं ज्ञशरीरं नो आगमत इह द्रव्यावश्यकं भव्यस्य च योग्यस्य यच्छरीरं तदपि नो आगमत इह द्रव्यावश्यकं कृत इत्याह । आगमस्यावश्यकादिज्ञानलक्षणस्य सर्वथा अभावादिदमुक्तं

भवति । ज्ञशरीरं भव्यशरीरं चानन्तरमेव वक्ष्यमाणस्वरूपं नो आगमतःसर्वथा आगमाभावमाश्रित्य द्रव्यावश्यकमुच्यते । नोशब्दस्यात्र पक्षे सर्वनिषेधवचनत्वादिति गाथार्थः ।

देशप्रतिषेधवचनेऽपि नोशब्दे उदाहरणम् । यथा ॥

किरियागमुच्चरंतो, आवासं कुणइ भावसुन्नेउ ।
किरियागमा न होई, तस्स निसेहो भवेदेसे ॥

व्या० । क्रियामावर्तादिकं कुर्वन्नित्यध्याहार आगमं च वंदनकसूत्रादिकमुच्चारयन् भावशून्यो य आवश्यकं करोति सोऽपि नो आगमत इह द्रव्यावश्यकमितिशेषः । अत्र च क्रियावर्त्तादिकागमो न भवति जडत्वागमस्य च ज्ञानरूपत्वादतस्तस्यागमस्य देशे क्रियालक्षणे निषेधो भवति । क्रियाआगमो न भवतीत्यर्थः अतोनो आगमतइतीह । किमुक्तं भवति । देशे क्रियालक्षणे आगमाभावमाश्रित्य द्रव्यावश्यकमिति गाथार्थः ॥

तदेवं नो आगमतः । आगमाभावमाश्रित्य द्रव्यावश्यकं त्रिविधं प्रज्ञप्तं तद्यथा ज्ञशरीरद्रव्यावश्यकं १ भव्यशरीरद्रव्यावश्यकं २ ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं द्रव्यावश्यकम् । ३ तत्राद्यभेदं विवरीषुराह ॥

सेकिंतं जाणयसरीरदव्वावस्सयं २ आवस्सयस्स पयत्थाहिगारं जाणयस्स जं सरीरयं ववगतचुतचावितचत्तदेहं जीवविप्पजढं सिज्जागतं वा संथारयगतं वा निसीहिआगतं वा सिद्धसिलातलगतं वा पासित्ताणं कोइ भणेज्जा अहोणं इमेणं सरीरसमुस्सएणं जिणदिट्ठेणं भावेणं आवस्सएत्ति पयं आघविअं पण्णविअं परूविअं दंसिअं निदंसिअं उवदंसिअं जहा को दिट्ठंतो अयं घयकुंभे आसी अयं महुकुंभे आसीसेत्तं जाणयसरीरदव्वावस्सयं ॥

टी० । अथ किं तज्ज्ञशरीरद्रव्यावश्यकमिति प्रश्ने निर्वचनमाह । (जाणयसरीरदव्वावस्सयं आवस्सयपत्तीत्यादि) ज्ञातवानिति ज्ञःप्रतिक्षण शीर्यत इति शरीरं ज्ञस्यशरीरं ज्ञशरीरं तदेव अनुभूतभावत्वाद् द्रव्यावश्यकं किं तदित्याह । यच्छरीरकं संबन्धकं वपुरित्यर्थः । कस्य संबन्धीत्याह । आवस्सयपतीत्यादि आवश्यकमिति यत्पदं आवश्यकपदाभिधेयं शास्त्रमित्यर्थः । तस्यार्थं पदार्थाधिकारोऽनेके वा तद्गतार्था अधिकारा गृह्यन्तेतस्य तेषां वा ज्ञातु संबंधि कथं भूतं तदिदं ॥ ज्ञशरीरं द्रव्यावश्यकं भवतीत्याह व्यपगतच्युतं त्यक्तदेहं जीवविप्रमुक्तमित्यक्षरयोजना । इदानीं भावार्थः कश्चिदुच्यते तत्र । व्यपगतचैतन्यपर्यायादचैतन्यलक्षणं पर्यायान्तरं प्राप्तमत एव च्युतं उच्छ्वासनिःश्वासजीवितादिदशविधप्रमाणेभ्यः परिभ्रष्टम् । अचैतन्यं श्वासाद्ययोग्यत्वादन्यथा लेष्ट्वादीनामपि तत्प्रसंगात्तस्य परिभ्रंशस्वभावादिभिः कैश्चित् स्वभावत एवाभ्युपगम्यते । तदपोहार्थमाह । च्यावित आयुःक्षयेण तेभ्यः परिभ्रंसितं । ननु स्वभावतस्तस्य सदावस्थितत्वेन सर्वदा तत्प्रसंगादेवं च सति कथं भूतं तदित्याह । त्यक्तदेह दिह उपचये त्यक्तो देह आहारपरिणामजनितोपचयो येन तत्त्यक्तदेहं । अचेतनस्याहारग्रहणपरिणत्योरभावात् । एवमुक्तेन विधिना जीवेनात्मना विधमनेकधा प्रकर्षेण मुक्तं जीवविप्रमुक्तं किं तदेतदावश्यकं । ज्ञस्य शरीरमतीतावश्यकभावस्य कारणत्वाद्द्रव्यावश्यकम् । अस्य च नो आगमत्वमागमस्य तदनीं सर्वथा भावाद्नो शब्दस्य चात्र पक्षे सर्वनिषेधवचनत्वादिति भावः । ननु यदि जीवविप्रमुक्तमिदं कथं तर्ह्यस्य द्रव्यावश्यकत्वं लेष्ट्वादीनामपि तत्प्रसंगात्तत्पुद्गलानामपि कदाचिदावश्यकवेतृभिर्गृहीत्वा मुक्तत्वसंभवादित्याशंक्याह । (सेज्जागत) मित्यादि यस्मादिदं शय्यागतं वा संस्तारगतं वा नैषेधिकीगतं वा सिद्धशिलातलगतं वा दृष्ट्वा कोऽपि ब्रूयादहोअनेन शरीरसमुच्छ्रायेण जिनदर्शितभावेन आवश्यकमित्येतत्पदं गृहीतमित्यादि यावदुपदर्शितमिति तस्मादतीतवर्तमान

कालभावि वस्त्वेकत्वप्राहिनयानुसारिणामेव वादिनां सम्मवाद्यथोक्तशरीरस्य द्रव्यावश्यकत्वं न विरुध्यते लेखादिदर्शने पुनर्नेत्थंभूतः प्रत्ययः कस्याऽपि समुत्पद्यत इति । न तेषां तत्प्रसंगस्तेनैव करचरणोरुग्रीवादिपरिणामेनानन्तरमेवावश्यककारणत्वेन व्यापृतत्वात्तदेव तथाविधप्रत्ययजनकं द्रव्यावश्यकं लेख्यादय इतिभाव इति समुदायार्थः । इदानीमवयवार्थ उच्यते । तत्र शय्या महती सर्वांगप्रमाणा तां गतं शय्यास्थितमित्यर्थः । संस्तारो लघुकोऽर्द्धतृतीयहस्तमानस्तंगतं तत्रस्थमित्यर्थः । यत्र साधवस्तपःपरिकर्मितशरीराः स्वयमेव गत्वा भक्तपरिज्ञानशनं प्रतिपन्नपूर्वाः प्रतिपद्यंते प्रतिपत्स्यन्ते च तत्सिद्धशिलातलमुच्यते । क्षेत्रगुणतो यथा अद्धकदेवतागुणतो वा साधूनामाराधनाः सिध्यंति । २। सेत्रतिकृत्वा अन्येऽप्याचक्षते । यत्रमहर्षिः कश्चित्सिद्धस्तत् सिद्धशिलातलं तद्गतं तत्र स्थितं सिद्धशिलातलगतम् । इह निसीहियागतं चेत्यादीन्यपि पदानि वाचनांतरे दृश्यंते तानि च सुगमत्वात् स्वयमेव भावनीयानि । नवरं नैषेधिकी शवपरिस्थापनभूमिः अपरं चाशान्तरे (पासित्ताणं कोइ भणिज्जेति) ग्रंथः । क्वचिद्दृश्यते स च समुदायार्थकथनावसरणे जित एव यत्र तु न दृश्यते तत्राध्याहारो द्रष्टव्यः । अहो शब्दो दैन्यविस्मयामंत्रणेषु वर्त्तते । स चेह त्रिष्वपि घटते तथाह्यनित्यशरीरमिति दैन्ये आवश्यकं ज्ञातमिति विस्मयेऽन्यं विपार्श्वस्थितमामंत्र्यमाणस्यामंत्रणे अनेन प्रत्यक्षतया दृश्यमानेन शरीरमेव पुद्गलसंघातत्वात् समुच्छ्रयस्तेन जिनदृष्टेन तीर्थकराभिमतेन भावेन कर्मनिर्जरेणाभिप्रायेण अथवा भावेन तदावरणकर्मक्षयोपशमलक्षणेन आवश्यकपदाभिधेयं शास्त्रम् (आघवियंति) प्राकृतशैल्या छांदसत्वाच्च गुरोः सकाशाद्गृहीतं प्रज्ञापितं सामान्यतो विनयेभ्यः कथितं प्ररूपितं तेभ्य एव प्रतिसूत्रमर्थकथनतः । दर्शितं प्रत्युपेक्षणादिक्रियादर्शनतः । इदं क्रिया परिकरैरशोपात्ता । इत्थं च क्रियते इत्येवं विनेयेभ्यः प्रकटितामितिभावः । निदर्शितं कथंचिदगृह्णतः परयाऽनुकम्पया निश्चयेन पुनश्च दर्शितं । उपदर्शितं सर्वनययुक्तिभिः आह । नन्वनेन शरीरसमुच्छ्रायेणाऽवश्यकमागृहीतमित्यादि नोपपद्यते गृहणप्ररूपणादीनां जीवधर्मत्वेन शरीरस्याऽघटमानकत्वा सत्यं । किन्तु भूतपूर्वगत्या जीवशरीरयोरभेदोपचारादित्थमुपन्यास इत्यदोषः । पुनरप्याह । ननु यद्यपि तच्छरीरकं शय्यादिगतं दृष्ट्वा पूर्वोक्तप्रकारो भवति तथापि कथं तस्य द्रव्यावश्यकता यत् आवश्यकस्य कारणमेव द्रव्यावश्यकं भवितुमर्हति भूतस्य भाविनो वेत्यादि पूर्वोक्तवचनात् । कारणं चागमस्य चेतनाधिष्ठितमेव शरीरं नत्विदं चेतनारहितत्वात्तस्यापि तत्कारणत्वेऽतिप्रसंगात्सत्यं । किन्त्वतीतपर्यायानुवृत्त्यभ्युपगमपरतयाऽनुवृत्यासीतमावश्यककारणत्वपर्यायमपेक्ष्य द्रव्यावश्यकताऽस्योच्यत इत्यदोषः । स्यादेवं । यद्यन्यार्थिकः कश्चिद्दृष्टान्तः स्यादिति विकल्पात् प्रच्छति यथा कोऽत्र दृष्टांत इति प्रश्नेसत्याह । यथा । अयं घृतकुम्भ आसीत् । अयं मधुकुम्भ आसीदित्यादि । एतदुक्तं भवति । यथा मधुनि घृते वा प्रक्षिप्यापनीते तदाधारपर्यायातिक्रांतेऽप्ययं मधुकुम्भोऽयं च घृतकुंभ इति व्यपदेशो लोके प्रवर्त्तते । तथा आवश्यककारणत्वपर्यायप्रतिक्रांतेऽपि पर्यायानुवृत्त्या द्रव्यावश्यकमिदमुच्यत इति भावः । निगमयन्नाह । (सेत्तमित्यादि) तदेतत् ज्ञशरीरद्रव्यावश्यकम् ॥ उक्तो नो आगमतो द्रव्यावश्यकप्रथमभेदः । ॥

द्वितीयभेदनिरूपणायमाह ।

से किं तं भविअसरीरदव्वावस्सयं २ जे जीवे जोणिजम्मणनिक्खंते इमे णं चेव आत्तएणं सरीरसमुस्सएणं जिणदिट्ठेणं भावेण आवस्सयंति पयं सेअकाले सिक्खिस्सति न ताव सिक्खति जहा को दिट्ठंतो अयं महुकुंभे भविस्सइ अयं घयकुंभे भविस्सइ सेत्तं भविअसरीरदव्वावस्सयं ॥

अथ किं तद्भव्यशरीरद्रव्यावश्यकमिति प्रश्ने सत्याह (भविअसरीर दव्वावस्सयं जे जीवे)इत्यादि । विवक्षितपर्यायेण भविष्यतीति भव्यो विवक्षितपर्यायार्हस्तद्योग्य इत्यर्थः । तस्य शरीरं तदेव भाविभावावश्यककारणत्वात् द्रव्यावश्यकं भव्यशरीरद्रव्यावश्यकं किं पुनस्तदित्यत्रोच्यते । यो जीवो योनिजन्मभिनिष्क्रांतोऽनेन च शरीरसमुच्छ्रयेण जिनोपदिष्टेन भावेन आवश्यकमित्येतत्पदं आगामिनि काले शिक्षिष्यते न तावच्छिक्षते यज्जीवाधिष्ठितं शरीरं भव्यशरीरद्रव्यावश्यकमिति समुदायार्थः सांप्रतमवयवार्थ उच्यते । तत्र यः कश्चिज्जीवो जंतुर्योन्या योनिद्वाच्यदेशलक्षणायाः परिपूर्णसमस्तदेहो जन्मत्वेन जन्मसमयेन निष्क्रांतः न पुनर्गर्भावस्थ एव पतितो योनिजन्मत्वनिष्क्रांतः । अनेन च शरीरमेव पुद्गलसंघातत्वादुत्पत्तिसमयादारभ्य प्रतिसमयं समुत्सर्पणाद्वा समुच्छ्रयस्तेन । आत्तेनआदत्तेन वा गृहीतेन प्राकृतशैलीवशादात्मीयेन वा जिनोपदिष्टेनेत्यादि पूर्ववत् (सेयकालित्ति) छांदसत्वादागामिनि काले शिक्षिष्यते अभ्येष्यते । सांप्रतन्तु न तावदद्यापि शिक्षते तज्जीवाधिष्ठितशरीरं भव्यशरीरद्रव्यावश्यकं नो आगमत्वं चास्याऽऽगमाभावमाश्रित्य मन्तव्यं । तदानीं तत्र वपुष्यागमाभावान्नो शब्दस्य चात्राऽपि सर्वनिषेधवचनत्वात् । अत्राह । नन्वावश्यकस्य कारणं द्रव्यावश्यकमुच्यते । यदि चात्र वपुष्यागमाभावः । कथं तर्हितस्य तं प्रतिकारणत्वं न हि कार्याभावे वस्तुः कारणत्व युज्यते अतिप्रसंगात् । ततः कथमस्य द्रव्यावश्यकता । सत्यं । किन्तु भविष्यत्पर्यायस्येदानीमपि योऽस्तित्वमुपचरितनयस्तदनुवृत्त्यास्य द्रव्यावश्यकत्वमुच्यते । तथा च तदनुसारिणः पठंति भाविनि भूतवदुपचार इति अत्रार्थे दृष्टांतं विदर्शयिषुः प्रश्नं कारयति । यथा कोऽत्र दृष्टांत इति निर्वचनमाह । यथायं मधुकुंभो भविष्यतीत्यादि । एतदुक्तं भवति यथा मधुनि घृते वा प्रक्षेप्तुमिष्टे तदाधारत्वपर्याये भविष्यत्यपि लोकेऽयं मधुकुंभो घृतकुंभो वेत्यादिव्यपदेशो दृश्यते । तथाऽस्याप्यावश्यक कारणत्व पर्याये भविष्यत्यपि तदस्तित्वपरतयानुवृत्त्या द्रव्यावश्यकत्वमुच्यते इति भावः । निगमयन्नाह । सेत्तमित्यादि तदेतद्भव्यशरीरद्रव्यावश्यकमिति । उक्तो नो आगमत द्रव्यावश्यकद्वितीयभेदः ॥

तृतीयभेदनिरूपणार्थमाह ॥

से किं तं जाणयसरीरभविअसरीरवइरित्तं दव्वावस्सयं २ तिविहं पण्णत्तं । लोइअं १ कुप्पावयणिअं २ लोउत्तरिअं ३

अथ किं तत् ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं द्रव्यावश्यकं निर्वचनमाह ॥ (जाणगशरीरभविअसरीरवइरित्ते दव्वावस्सए तिविहे) इत्यादि यत्र ज्ञशरीरभव्यशरीरयोः संबंधि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूर्वोक्तलक्षणं न घटते । तदुभाभ्यां व्यतिरिक्तं भिन्नं द्रव्याव श्यकमुच्यते । तच्च त्रिविधं प्रज्ञप्तं । तद्यथा । लौकिकं कुप्रावच निकं । लोकोत्तरिकम् ॥

तत्र प्रथमभेदं जिज्ञासुराह ॥

सेकिंतं लोइअं दव्वावस्सयं २ जे इमे राईसरतलवर-माडंबिअकोडुंबिअइब्भसेट्ठिसेणावइसत्थवाहप्पभित-ओकल्लंपाउप्पभायाए रयणीए सुविमलाए फुल्लुप्पलक-मलकोमलुम्मिलिअंमि अह पंडुरए पभाए रत्तासोगप गासकिंसुअसुअमुहगुंजद्धरागसरिसे कमलागरनलिणि संडबोहए उट्ठिअंमि सूरे सहस्सरस्सिमिदिणयरे तेअसा जलंते मुहधोअणदंतपक्खालणतेल्लफणिहसिद्धत्थयहरि आलिअ अद्दागधूवपुप्फगंधमल्लतंबोलवत्थाइ आइं दव्वावस्सयाइं काउं ततो पच्छा रायकुलं वा देवकुलं वा आरामं वा उज्जाणं वा सभं वा पवं वा गच्छति सेत्तं लोइअं दव्वावस्सयं ॥

लोइयमित्यादि ॥ लोके भवं लौकिकं शेषं तथैव अत्र राज श्वरा तलवरादयः प्रभातसमये मुखधावनादि कृत्वा तत पश्चाद्राजकुलादौ गच्छंति । तदेषां सम्बन्धि मुखधावनादि लौकिकं ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं द्रव्यावश्यक मिति समुदायार्थः ॥

(कल्लं पाउप्पभायाए) इत्यादि कल्यमिति विभक्तिव्यत्य येन सामान्येन प्रभाते प्रभातस्यैव विशेषावस्थाः प्राह इ त्यादि । प्रादुः प्राकाश्ये ततश्च प्रकाशप्रभातायां रजन्यां किंचिदुपलभ्यमानप्रकाशायामिति भावः । तदनंतरं सुवि मलायां तस्यामेव किंचित्परिस्फुटतरप्रकाशायाम् । अथशब्द आनंतर्ये तदनंतरं पांडुरे प्रभाते कथंभूत इत्याह । फुल्लोत्पल-कमलकोमलोन्मीलिते फुल्लं विकसितं तच्च तदुत्पलं च फुल्लो-त्पलं कमलो हरिणविशेषः फुल्लोत्पलं च कमलश्च फुल्लोत्पल कमलौ तयोः कोमलमकठोरं दलानां नयनयोश्चोन्मीलितमु न्मीलनं यत्र प्रभाते । तद्यथा । अनेन च प्राग्भूतायाः सुविमल-तायाः वक्ष्यमाणसूर्योदयस्य चांतरालभाविनीं पूर्वसंध्यावश्य रुणप्रभावस्थामाह । तदनंतरम् (उट्ठिए सूरिए त्ति) अभ्युद्-गते आदित्ये कथं भूते इत्याह । रक्ताशोकप्रकाशकिंशुक-शुकमुखगुंजार्द्धरागसदृशे । रक्ताशोकप्रकाशस्य पुष्पितं पलाशस्य शुकमुखस्य गुंजार्द्धस्य च रागेण सदृशो यः सतथा तस्मिन् आरक्ते इत्यर्थः । तथा कमलाकरनलिनिखंडबोधके कमलानामाकरा उत्पत्तिभूमयो ह्रदादिजलाशयविशेषास्तेषु यानि नलिनीखंडानि तेषां बोधको य स तथा तस्मिन् पुनः किंभूते तस्मिन्नित्याह ॥ सहस्ररश्मौ दिनं क-रोतीति दिनकरस्तस्मिन् तेजसा ज्वलति । तत्रैवैते भावाः सर्वेऽपि संतीति ज्ञापनार्थं सूर्यस्य विशेषणबहुत्वं अनेन चो-त्तरोत्तरकालभाविना आवश्यककरणकालविशेषणकलापेन प्र-कृष्टमध्यमजघन्योद्यमवतां सत्वानामभिमतमावश्यककरणसम-यमाह । तथाहि । केचित्प्रकृष्टोद्यमिनः किंचित्प्रकाशमानायां रजन्यां मुखधावनाद्यावश्यकं कुर्वंति । मध्यमोद्यमिनस्तु त-स्यामेव सुविमलायामरुणप्रभावसरे वा । जघन्योद्यमिनस्तु समुद्गते सवितरीति (मुहधोवणेत्यादि) मुखधावनं च दंत-प्रक्षालनं च तैलं च फणिहश्च सिद्धार्थश्च हरितालिका च आ-दर्शश्च पुष्पाणि च माल्यं च गंधाश्च तांबूलं च वस्त्राणि च ता-न्यादिर्येषां स्नानाभरणपरिधानादीनां तानि फणिहः कंकत-कस्तं मस्तकादौ व्यापारयति । सिद्धार्थाः सर्षपाः । हरिता-लिका दूर्वा एतद्द्वयं मंगलार्थं शिरसि प्रक्षिपति । आदर्शेषु मुखादि निरीक्षते वस्त्रादि धूपयति अग्रथितानि पुष्पाणि ता न्येवग्रथितानि माल्यम् अथवा विकसितानि पुष्पाणि वा तान्येवाविकसितानि माल्यमेतेषां च मस्तकादिषूपयोगः । शेषंस्वरूपत उपयोगतश्चप्रतीतमेवएतानि द्रव्यावश्यकानि कृ-त्वा ततः पश्चाद्राजकुलादौ गच्छति तत्र रमणीयतातिशयेन स्त्री-पुरुषमिथुनानि यत्रारमंति स विविधपुष्पजात्युपशोभित आरा-मः वस्त्राभरणादिसमलंकृतविग्रहाः संति हिताशनाद्याहारा म-दनोत्सवादिषु क्रीडार्थं लोका उद्याति यत्रतच्चम्पकादितरुख-एडमण्डितमुद्यानं भारतादिकथाविनोदेन यत्र लोकास्तिष्ठति सा सभा शेषं प्रतीतम् । अत्राह । ननु राजादिभिः प्रभाते अवश्यं क्रियत इति व्युत्पत्तिमात्रेणावश्यकत्वं भवतु-मुखधावनादीनि भावावश्यककारणं न भवन्ति । सत्यं । किंतु भूतस्य भाविनो वेत्याद्येव द्रव्यलक्षणं मंतव्यं । किं तर्हि (अप्पाहणे वि दव्वसद्दो) तीतिवचनादाह । अप्रधानवाच-कोऽपि द्रव्यशब्दोऽवगंतव्यः । अप्रधानानि च मोक्षकारणभा-वावश्यकापेक्षया संसारकारणानि राजादिमुखधावनादीनि ततश्च द्रव्यभूतान्यावश्यकानि द्रव्यावश्यकानि एतानीत्यदोषः नो आगमत्वं चेहाप्यागमाभावान्नोशब्दस्य च सर्वनिषेधव-चनत्वादित्यलं विस्तरेण निगमयन्नाह ॥

(सेत्तं लोइय) मित्यादि । तदेतज्ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यति-रिक्तं लौकिकं द्रव्यावश्यकमित्यर्थः । उक्तो नो आगमतो द्रव्यावश्यकांतर्गतज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तः द्रव्यावश्य-कप्रथमभेदः द्वितीयभेदनिरूपणार्थमाह ।

से किंतं कुप्पावयणिअं दव्वावस्सयं २ जे इमे चरग-चीरिगचम्मखंडिअभिक्खोडपंडुरंगगोअमगोवत्तिअगि हिधम्मधम्मचिंतगअविरुद्धवेनयिकवुड्ढसावगप्पभित्तओ पासंडत्था कल्लं पाउप्पभाए जाए जाव तेअसा जलं ते इंदस्स वा खंदस्स वा रुद्दस्स वा सिवस्स वा वेसमणस्स वा देवस्स वा नागस्स वा जूअस्स वा मुगुंदस्स वा अ-ज्जाए वा कोट्टकिरिआए वा उवलेवणस्स मज्जणआव-रिसणधूवपुप्फगंधमल्लादिआइं दव्वावस्सयाइं करेंति सेत्तं कुप्पावयणिअं दव्वावस्सयं ॥

से किंतं कुप्रावचनिकं द्रव्यावश्यकमत्र निर्वचनं (कुप्पाव-यणियं दव्वावस्सयंत्ति) इमे इत्यादि कुत्सितं प्रवचनं येषां ते कुप्रवचनास्तेषामिदं कुप्रावचनिकं द्रव्यावश्यकं किं पुनस्त-दित्याह । जे इमे इत्यादि ॥ एते चरकचीरिकादयः प्रभात-समये इंद्रस्कंदादेरुपलेपनादि कुर्वंति तत् कुप्रावचनिकं द्र-व्यावश्यकमिति समुदायार्थः ॥

देवताक्षितीशमातापितृगुरूणामविरोधेन विनयकारित्वाद-विरुद्धा वैनयिकाः पुण्यपापपरलोकाद्यनभ्युपगमपरा अक्रिया-वादिनो विरुद्धाः सर्वपार्षद्भिः सह विरुद्धचारित्वादत्राह ननु यद्येते पुण्याद्यनभ्युपगमपराः कथं तर्ह्येषां वक्ष्यमाणमि-न्द्राद्युपलेपनं संभवति पुण्यादिनिमित्तमेव तस्य संभवात्सत्यं किं तु जीविकादिहेतोस्तेषामपि तत्संभवतीत्यदोषः ॥

प्रभृतिग्रहणात् परिव्राजकादिपरिग्रहः पाषंडं व्रतं तत्र तिष्ठं-तीति पाषंडस्थाः । (कल्लं पाउप्पभायाए) इत्यादिपूर्ववद्या

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यत्तजसा ज्वलतीति । इंदस्स वेत्यादि । तत्रेन्द्रः प्रतीतः स्कन्दः कार्त्तिकेयः रुद्रो हरः शिवस्त्वाकारविशेषधरः स एव व्यंतरविशेषो वा वैश्रवणो यक्षनायकः देवः सन्मान्यः नागो भवनपतिविशेषः यक्षभूतौ व्यंतरविशेषौ मुकुंदो बलदेवः आर्या-प्रशांतरूपा दुर्गाऽस्यैव महिषारूढा । ततकुट्टनपरा कौट्टक्रिया अत्रोपचारादिंद्रादिशब्देन तदायतनमभ्युच्यते । अतः तस्येंद्रादिरूपोपलेपनसम्मार्जनवर्षणपुष्पधूपगंधमाल्यादीनि द्रव्यावश्यकानि कुर्वंति । तत्र लेपनं छगणादिना प्रतीतमेव । सम्मार्जनं दंडपुंछनादिना । वर्षणं गंधोदकादिना । शेषं गतार्थम् ॥ तदेवं य एते चरकादय इंद्रादेरुपलेपनादि कुर्वंति तत कुप्रावचनिकं द्रव्यावश्यकम् । अत्र द्रव्यत्वमावश्यकत्वं नो आगमत्वं च लौकिकद्रव्यावश्यकोक्तमिव भावनीयं निगमयन्नाह (सेत्तमित्यादि) तदेतत् ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं कुप्रावचनिकं द्रव्यावश्यकमित्यर्थः । उक्तो नो आगमतो द्रव्यावश्यकात्तर्गतज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तद्रव्यावश्यकद्वितीयभेदः ॥

अथातृतीयभेदनिरूपणार्थमाह ॥

से किं तं लोगुत्तरिअं दव्वावस्सयं जे इमे समणगुणमुक्कजोगी छक्कायनिरणुकंपा हयाइव उद्दामा गया इव निरंकुसाघट्ठा मट्ठा तुप्पोट्ठा पंडुरपमउरणा जिणाणमणाणाए सच्छंदविहरिऊणं उभउकालं आवस्सयस्स उवट्ठावय ति सेत्तं लोगुत्तरिअं दव्वावस्सयं सेत्तं जाणय सरीरभविअसरीरवतिरित्तं दव्वावस्सयं सेत्तं नो आगमतो दव्वावस्सयं । सेत्तं दव्वावस्सयं ॥

अथ किं तल्लोकोत्तरिकं द्रव्यावश्यकमत्र निर्वचनमाह । लोकस्योत्तराः साधवः अथवा लोकस्योत्तरं प्रधानं लोकोत्तरं जिनशासनं तेषु तस्मिन्वा भवति लोकोत्तरिकं द्रव्यावश्यकमिति व्याख्यातमेव किं पुनस्तदित्याह । जे इमेत्यादि । य एते श्रमणगुणमुक्तयोगित्वादिविशेषणविशिष्टाः साध्वाभासा जिनानामनाज्ञया स्वच्छंदविहृत्योभयकालमावश्यकाय प्रतिक्रमणायोपतिष्ठंते तत्तेषां प्रतिक्रमणानुष्ठानं लोकोत्तरकं द्रव्यावश्यकमिति समुदायार्थः । इदानीमवयवार्थ उच्यते । तत्र श्रमणाः साधवस्तेषां गुणा मूलोत्तरगुणरूपास्तत्र जीववधाविरत्यादयो मूलगुणाः पिंडविशुद्ध्यादयस्तूत्तरगुणास्तेषु मुक्तो योगो व्यापारो यैस्ते सर्वधनादिवल्लिंगत्वात् श्रमणगुणमुक्ता योगिनः एते च जीववधादिविरतिमुक्ता व्यापारा अपि मनसा कदाचित्सानुकंपा अपि स्युरित्याह । षट्सु कायेषु पृथिव्यादिषु विषये निर्गता अपगता अनुकंपा मनसा दया येभ्यस्ते तथा निरनुकंपास्तेषामव हया इव तुरगा इव उद्दामाश्चरणनिपातजीवोपमर्दनिरपेक्षत्वात्तच्चारिण इत्यर्थः ॥ किमपरमित्यत्र चूतास्ते इत्याह । यतो गजा इव दुष्टद्विरदा इव निरंकुशा गुर्वाज्ञाव्यतिक्रमचारिण इत्यर्थः । अत एव घट्टत्ति, येषां जंघे श्लक्ष्णीकरणार्थं फेनादिना घृष्टेति भावतस्तेऽवयवावयविनोरभेदोपचारात् घृष्टास्तथा मट्ठेति । तैलोदकादिना येषां केशाः शरीरं वा मृष्टं ते तथैव मृष्टा अथवा केशादिषु मृष्टं विद्यते येषांते मृष्टवन्तो मत्प्रत्ययलोपान्मृष्टाः तथा । (तुप्पोट्ठत्ति) तुप्राभ्रक्षिता वदनेन वा घृताः शीतरक्षादि निमित्तमोष्ठा येषां ते तुप्रौष्ठा तथा मत्परीपहासहिष्णुतादूरीकृतत्वात्पांडुरो धौतपटः प्रावरणं येषां ते तथा जिनानामनाज्ञ-

या स्वच्छंदं विरुद्धतीर्थंकराज्ञा बाह्या स्वस्वरुच्याविविधचेष्टाः कृत्वा तत्रोभयकालं प्रभातसमयेऽस्तमयसमये च चतुर्थ्यर्थे षष्ठीति कृत्वा आवश्यकाय प्रतिक्रमणायोपतिष्ठंते तत्तेषामावश्यकम् अत्र द्रव्यावश्यकत्वं भावशून्यत्वात् फलाभावत्वा दप्रधानतया अवसेयं । नो आगमतो देशे क्रियालक्षण आगमाभावान्नोशब्दस्य चात्र देशप्रतिषेधवचनत्वादिति अत्र च लोकोत्तरिके द्रव्यावश्यके उदाहरणं । वसंतपुरे नगरे अगीतार्थसंविग्ने गच्छे एकोविचरति तत्र श्रमणगुणमुक्तयोगी सं विग्नाभासः साधुरेकः प्रतिदिनं पुरः कर्मादिदोषदुष्टमनेषणीयं भक्तादि गृहीत्वा महता संवेगेन प्रतिक्रमणकाले आलोचयति । तस्य गच्छाचार्यो गीतार्थत्वात्प्रायश्चित्तं प्रयच्छन् भणति पश्यत अहो कथमसौ भावमगोपयन् अशठतया सर्वं समालोचयति । सुखं हि आसेवना क्रियते दुःखं चेत्थमालोचयितुं तस्मादेव अशठतयेव शुद्धोऽसौ तथा च तं प्रशस्यमानं दृष्ट्वा अन्येऽप्य गीतार्थश्रमणाः प्रशंसंति चिंतयंति च गुरोश्चेदिच्छया भाव्यस्त र्हि दोषासेवनायामसकृत्पतितायामपि न कश्चिद्दोषः । आलोचनाया एव साध्यत्वादित्थं चान्यदा तत्र संविग्नगीतार्थः कश्चिदायातस्तेन च प्रतिदिनं तमेव व्यतिकरमालोक्य सूरिरुक्तस्त्व मित्थमस्य प्रशंसां कुर्वन् विवक्षितक्षितीश इव लक्ष्यसे । तथाहि गिरिनगरवासी कश्चिदग्निभक्तो वणिक् पद्मरागरत्नानां गृहं भृत्वा प्रतिवर्षं वह्निना प्रदीपयति तथा विवेकतया तत्र नरपतिर्लोके श्लाघमानः अहो धन्योऽयं वणिग् भगवंतं हुतभुजामित्थमौदार्यभक्त्यतिशयाद्ध्रलैस्तर्पयति । अन्यदा च प्रबलपवनपटलप्रेरितस्तत्प्रदीपितदहनः सराजप्रासादं समस्तमपि तन्नगरं दहतिस्म । असाव राज्ञा दंडितो नगराच निष्कासितस्तदेवं राज्ञा तस्य प्रशंसां कुर्वता आत्मा नगरं लोकश्च नाशितस्तथा त्वमपि अस्याऽविधिप्रवृत्तस्य प्रशंसां कुर्वन्नात्मानं समस्तगच्छं चोच्छेदयसि यदि पुनरेनमेक शिक्षयसि तदा तथाविधं न पश्य स्वपरिकारानिरपायतामनुभवसि । तथा ह्यन्येन केनचिद्राज्ञा तैव कुर्वन् कश्चिद्वणिगाकर्णितस्तेनऽयं नगरदाहापायदर्शनात् क्षितीशेन अरण्यं गत्वा किमित्थं न करोषीत्यादि वचोभिस्तिरस्कृत्यदंडितो निष्कासितश्च एवं त्वमपीत्याद्युपनयोगतार्थः । इत्यादि बहुप्रकारं भणितो यावदसौ तत्प्रशंसातो न निवर्तते तावत्तेन गीतार्थसाधुना शेषसाधवोऽभिहिता एष गणाधिपो महानिर्द्धर्म्मतास्पदमगीतार्थो यदि न परित्यज्यते तदा भवतां महते अनर्थाय प्रभवतीति तदेवं तत्साध्वावश्यकप्रकारं सर्वं लोकोत्तरिकं द्रव्यावश्यकमिति निगमयन्नाह (सेतमित्यादि) तदेतल्लोकोत्तरिकं द्रव्यावश्यकं एतत्कणने-ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं त्रिविधमपि द्रव्यावश्यकं समर्थितं भवत्यतस्तदपि निगमयति । सेत्तमित्यादि । एतत्समर्थनेन नो आगमतो द्रव्यावश्यकस्य प्रभेदस्य समर्थितत्वात्तदपि निगमयति । सेत्तं नो आगमतो इत्यादि एतत्समर्थने च यत्प्रक्रांतं । द्रव्यावश्यकं तस्योत्तरः भेदमप्यवसितमतो निगमयति सत्वं दव्वावस्सयमिति तदेतत् द्रव्यावश्यकं समर्थितमित्यर्थः ।

उक्तं सप्रपंचं द्रव्यावश्यकम् ॥

साम्प्रतमवसरायातभावावश्यकनिरूपणार्थमाह ॥

से किं तं भावावस्सयं २ दुविहं पण्णत्तं तंजहा आगमतो अ नो आगमतो अ ॥

टी० ॥ अथ किंतद् भावावश्यकमित्यत्र निर्वचनमाह ॥ भावावस्सयं दुविहमित्यादि बहुविचारितपरिणामस्य भवनभाव

वक्तं च भावो विवक्षितक्रियानुभूतियुक्तो हि वै समाख्यातः सर्वज्ञैरिन्द्रादिवदिहेन्दनादिक्रियानुभावात् व्याख्यावक्तुर्विवक्षितक्रियया विवक्षितपरिणामस्य इन्दनादेरनुभवनमनुभूतिस्तया युक्तोऽर्थः स भवस्तयोरभेदोपचारः सर्वज्ञैः समाख्यातो निर्दिष्टानमाह । इन्द्रादिवदित्यादि यथा इन्दनादिक्रियानुभावात् परमैश्वर्यादिपरिणामेन परिणतत्वादिन्द्रादिभाव उच्यते इत्यर्थः । भावश्वासावावश्यकं च भावमाश्रित्य वा ।

तत्राद्यभेदनिरूपणार्थमाह ।

से किंतं आगमतो भावावस्सयं २ जाणए उवउत्ते सेत्तं आगमतो भावावस्सयं ॥

अथ किं तदागमतो भावावश्यकमत्राह (आगमओ भावावस्सयं जाणए) इत्यादि ज्ञापकोपयुक्तं आगमतो भावावश्यकं इदमुक्तं भवत्यावश्यकपदार्थज्ञस्तज्जनितसंवेगविशुद्ध्यमानपरिणामस्तत्रोपयुक्त साध्वादिरागमतो भावावश्यकम्. आवश्यकार्थोपयोगलक्षणस्याऽत्र सद्भावात् भावावश्यकता भावावश्यकोपयोगपरिणामस्य सद्भावात् । भावमाश्रित्यभावश्यकम् इति व्युत्पत्तेः अथवा आवश्यकोपयोगपरिणामानन्यत्वात्साध्वादिरपि भावस्तत्रश्च भावश्चासावावश्यकं चेति व्युत्पत्तेरप्यसौ मंतव्यइति (सेत्तमित्यादि) निगमनं ।

अथ भावावश्यकद्वितीयभेदनिरूपणार्थमाह ॥

से किंतं नो आगमओ भावावस्सयं २ तिविहं पएणत्तं । तं जहा । लोइअं कुप्पावणिअं लोगुत्तरिअं ॥

अथ किं तन्नो आगमतो भावावश्यकमत्राह नो आगमतो भावावश्यकं त्रिविधं प्रज्ञप्तं तद्यथा लौकिकं कुप्रावचनिकं लोकोत्तरिकं च ॥

तत्र प्रथमभेदनिर्णयार्थमाह ॥

से किं तं लोइअं भावावस्सयं २ पुव्वएहे भारहं अवरह्णे रामायणं से त्तं लोइअं भावावस्सयं ॥

अथ किं तल्लौकिकं भावावश्यकमित्याह (लोइयं भावावस्सयं पुव्वराहे) इत्यादि लोके भवं लौकिकं यदिदं लोकः पूर्वाह्णे भारतमपराह्णे रामायणं वाचयति शृणोति वा तल्लौकिक भावावश्यकं हि भारतरामायणयोर्वाचनं श्रवणं वा पूर्वाह्णापराह्णयोरेव रूढं विपर्ययदोषदर्शनात्ततः स्वच्छमनयोर्लोकेऽवश्यकरणीयत्वादावश्यकत्वं तद्वाचकस्य श्रोतॄणां च तदर्थोपयोगपरिणामसद्भावात् वा चेत्थं तद्वाचकः श्रोतारश्च पत्रकपरावर्त्तनहस्ताभिनयगा असंयमनकाकुद्मद्गमीलनादिक्रियायुक्ता भवंति क्रिया वा नामत्वेन प्रागेवोक्ताकिरियागमो न हो इति वचनात् । ततश्चक्रियालक्षणे देशेआगमस्याऽभावात् आगमत्वमपि भावनीयं नो शब्दस्यात्र देशनिषेधवचनत्वाद्देशे त्वागमोऽस्तिलौकिकाभिप्रायेण भारतादेरागमत्वात्तया निर्दिष्टसमये लौकिकास्तदुपयुक्ता यदवश्यं भारतादि वाचयंति शृण्वंति वा तल्लौकिकं भावावश्यकमितिभावमाश्रित्यावश्यकं भावश्चासावावश्यकं चेति वा भावावश्यकमित्यलं विस्तरेण से त्तमित्यादि गमनम् । उक्तो नो आगमतो भावावश्यकप्रथमभेदोऽयं ॥ तद् द्वितीयभेदनिरूपणार्थमाह ॥

सेकिंतं कुप्पावणिअं भावावस्सयं २ जे इमे चरगचीरिगभावपामंरुयागं २ इज्जांजलिहोमजपमन्दरुकनमोकारमादि आइभावावस्सयाइं करेंति सेत्तं कुप्पावणिअं भावावस्सयं ॥

टी० (से किं तं कुप्पावणीय) मित्यादि अत्र च निर्वचनमाह । कुप्पावयणियं भावावस्सयं जे इमे त्यादि कुत्सितं प्रवचनं भावावश्यकं कितदुच्यते । य एते चरकचीरकादयः पाषंडस्था यथावसरे इज्यांजलिहोमादीनि भावरूपान्यावश्यकानि कुर्वंति । तत्कुप्रावचनिकं भावावश्यकमिति संबंधः । तत्र चरकादिस्वरूपं प्रागेवोक्तम् । इज्यांजल्यादिस्वरूपमुच्यते । तत्र यजनमिति याग इत्यर्थस्तद्विषयोजलस्यांजलिरिज्यांजलिः । यागेदेवतापूजावसरजलमिति हृदयं अथवा यजनमिज्या पूजा । गायत्र्यादि पाठपूर्वकं विप्राणां संध्यार्चनमित्यर्थः । सूर्यांजलिरिज्यांजलि अथवा देशी भाषाया मिज्येति माता तस्या नमस्कारविधौ तद्भक्तैः क्रियमाणः करकुड्मलमीलनलक्षणोऽञ्जलिरिज्यांजलिः होमोऽग्निहोत्रिकैः क्रियमाणमग्निहवनं जापो मंत्राद्यासः । मंडुरुक्कमिति । देशीवचनं मंडु सुखं तेन रक्कं वृषभादिशब्दकरणं मंडुरुक्कं । देवतादिपुरतो वृषभगर्जितादिकरणमित्यर्थः । नमस्कारोनमो भगवते दिवसनाथायेत्यादिक एतेषां द्वंद्वे इज्यांजलिहोमजापमंडुरुक्कनमस्कारास्ते आदिर्येषां तानि ।। तथा आदिशब्दात् स्तवादिपरिग्रहः एतेषां चरकादिभिरवश्यं क्रियमाणत्वादावश्यकत्वमेतत्कर्तॄणां च तदर्थोपयोगश्रद्धादिपरिणामसद्भावात् भावत्वं । अन्यच्च चरकादयस्तदर्थोपयोगलक्षणो देश आगमो देशस्तु करशिरोव्यापारादिक्रियालक्षणो नागमस्ततो देश आगमा भावमाश्रित्य नो आगमत्वमवगंतव्यं । नोशब्दस्येहापि देशनिषेधपरत्वात्तस्माच्चरकादयस्तदुपयुक्ता यथावसरं यदवश्यमिज्यांजल्यादि कुर्वंति । ततः कुप्रावचनिकं । भावावश्यकं भावावश्यकशब्दस्य च व्युत्पत्तिद्वयं तथैव सेत्तमित्यादि निगमनं । उक्तो नो आगमतो भावावश्यकद्वितीयभेदः । अथ तृतीयभेदनिरूपणार्थमाह ।

से किं तं लोगोत्तरिअं भावावस्सअं जएणं समणे वा समणी वा सावओ वा साविआ वा तच्चित्ते तंमणे तल्लेस्से तदज्झवसिते तदज्झवसाणे तदट्ठोवउत्ते तदप्पिअकरणे तब्भावणाभाविते अएणत्थकत्थइ मणं अकुव्वमाणे उवउत्ते जिणवयणधम्माणुरागरत्तमणे मत्यंतरे उभयोकालं आवस्सयं करेंति सेत्तं लोगुत्तरियं भावावस्सयं ॥

सेत्तं नो आगमतो भावावस्सयं सेत्तं भावावस्सयं ।

से किं तं लोउत्तरियमित्यादि । अत्र निर्वचनं लोउत्तरियं भावावस्सयं जएणमित्यादि । जएणंति णमिति वाक्यालंकारे । यदिदं श्रमणादयस्तच्चित्तादिविशेषणविशिष्टा उभयकालं प्रतिक्रमणाद्यावश्यकं कुर्वंति । तल्लोकोत्तरिकं भावावश्यकमिति । संटंकस्तत्र श्राम्यतीति श्रमणः साधुः । श्रमणी साध्वी । शृणोति साधुसमीपे जिनप्रणीतां समाचारीमिति श्रावकः श्रमणोपासकः । श्राविका श्रमणोपासिका । वाशब्दाः समुच्चयार्थाः । तस्मिन्नेवावश्यके चित्तं सामान्योपयोगरूपं यस्येति तच्चित्तः । तस्मिन्नेव मनो विशेषोपयोगरूपं यस्य स तन्मनाः तत्रैव लेश्या शुभपरिणामरूपा यस्येति सतल्लेश्यस्तथा तदध्यवसितः इहाऽध्यवसायोऽध्यवसित ततश्च तच्चित्तादिभावयुक्तस्य सतस्तस्मिन्नावश्यकेऽध्यवसितं क्रियासम्पादनं विषयस्येति तदध्यवसितः । तथा । तत्तीव्राध्यवसायस्तस्मिन्नेवावश्यके तीव्रं प्रारंभकालादारभ्य प्रतिक्षणं प्रकर्षयायिप्रयत्नविशेषल-

क्षणमध्यवसानं यस्य स तथा । तदर्थोऽपयुक्तस्तस्यावश्यकस्यार्थस्तदर्थस्तस्मिन्नुपयुक्तस्तदर्थोपयुक्तः । प्रशस्ततरसंवेगविशुद्ध्यमानस्तस्मिन्नेव प्रतिसूत्रं प्रतिक्रियं चार्थोपयुक्त इत्यर्थः । तथा तदर्पितकरणः करणानि तत्साधकतमानि देहरजोहरणमुखवस्त्रिकादीनि तस्मिन्नावश्यके तथोचितव्यापारनियोगेनाऽर्पितानि नियुक्तानि तानि येन स तथा । सम्यग् यथास्थानं न्यस्तोपकरण इत्यर्थः । तथा तद्भावनाभावितः तस्याऽवश्यकस्य भावना अव्यवच्छिन्नपूर्वपूर्वतरसंस्कारस्य पुनः पुनस्तदनुष्ठानरूपा तया भावितो गाढभावेन परिणतावश्यकानुष्ठानपरिणामस्तद्भावनाभावितः । तदेवं यथोक्तप्रकारेण प्रस्तुतव्यतिरेकतोऽन्यत्र कुत्रचिन्मनोऽकुर्वन्नुपलक्षणत्वाद्वाचं कायं चान्यत्राकुर्वन्नेकार्थिकानि वा विशेषणान्येतानि प्रस्तुतोपयोगप्रकर्षप्रतिपादनपराणि अमूनि च लिङ्गपरिणामतः श्रमणीश्राविकयोरपि योज्यानि । तस्मात्तच्चित्तादिविशेषणविशिष्टाः श्रमणादयः उभयकालमुभयसंध्यं यदावश्यकं कुर्वंति तल्लोकोत्तरिकं भावमाश्रित्य भावश्चासावावश्यकं चेति वा भावावश्यकम् । अत्राप्यवश्यं करणादावश्यकत्वं तदुपयोगपरिणामस्य च सद्भावात् भावत्वं । मुखवस्त्रिकाप्रत्युपेक्षणरजोहरणव्यापारादिक्रियालक्षणदेशस्याऽनागमत्वात् नो आगमत्वं भावनीयं । सेत्तमित्यादि । अनु० ॥

निगमनं तदेवं स्वरूपत उक्तं भावावश्यकमनेन चात्राधिकारः एतदेव संगृह्य गाथयोपनिबध्नन् चतुर्विधं निक्षेपमाह । विशे० ॥

तत्र नामस्थापने क्षुण्णत्वान्नोच्यते । द्रव्याऽवश्यकं तु द्विधा आगमतो नो आगमतश्च । तत्राऽगमतः प्राह ॥

आगमओ दव्वावस्सय, तमावस्सयं पयं जस्स ।
सिक्खियमिचाइतयं, तदणुवउत्तो निगदमाणो ॥

आगमतो द्रव्यावश्यकं भवति क इत्याह ॥ तदावश्यकं निगदन्नुच्चरन्नध्येता कथंभूतस्तस्मिन्नावश्यकेऽनुपयुक्तस्तदनुपयुक्तः यस्याऽध्येतुः । किमित्याह । यस्य तदावश्यकपदं प्रथमं शिक्षितं जितमित्यादिविशेषणविशिष्टं भवति । अथ तान्येवाऽनुयोगद्वारादिसूत्रोक्तानि शिक्षितादिविशेषणानि व्याख्यानयन्नाह ॥

सिक्खिय मंतं नीयं हियय मितियं जियं रुयं । एइस क्खियवन्नाइमियं परिजियमेरुक्कमेणंमि । जहसिक्खिओयं समानामंतहंतंपि तहाठियाइ नामसमं गुरुजणियं घोससरिसं संगहियमुहत्तातओतेय नाविहीणक्खमाहियक्खरं च वोच्चच्छरयणमालव्व वाइद्धक्खरकरमेयं वच्चा इयवत्तं न खलियमुवलहणं पिव आमिलियमसरूवधन्नमेलोव्ववोदासगव्वमहवा अमिलियपयवक्कविच्छेयं । नयविविहसत्थपल्लवाविमिस्समठाणं विममहियं वा निव्वामेलियकोलियपायसामिव सेरिकथं वा मत्ताइनियमाणं पडिपुन्नं छेदसाहवत्थेणं नाकंखायरूवोत्तुं पुणणुदताइं घोसेहिं ॥ कंठोठविप्पमुक्कं नाठत्तं वालसुयजणियं वा गुरुवायणो वयातं न चोरियं पुच्छयाउ वा ॥

इहानुयोगद्वारेऽप्युक्तं ॥

सेकिंतं आगमओ दव्वावस्सयं २ जस्स णं आवस्सएत्ति पयं सिक्खियं ठियं जियं मियपरिजियं नामसमं घोससमं अहीणक्खरं अच्चक्खरं अव्वाइद्धक्खरं अक्खलियं अमिलियं अविच्चामेलियं पडिपुन्नं घोसं कंठोट्ठविप्पमुक्कं गुरुवायणोवगयं सेणं तत्थ वायणाए पुच्छणाए परियट्टणाए धम्मकहाए । वर्तत इत्यध्याहारः ॥

नोअणुपेहाए इहापि वर्तत इति शेषः इदं च सूत्रं आगमओ दव्वावस्सयमित्यादि प्रागुक्तगाथयोः प्रायो व्याख्यानं शिक्षितादिपदानि विद्वान् व्याख्यायंते तत्र शिक्षितमिति कोऽर्थः अंतं नीतं सर्वमधीतमिति स्थितं हृदिव्यवस्थितमप्रच्युतमित्यर्थः । जितं द्रुतमागच्छतिच्छवर्णादिभिः संख्यातमितं यद्दुत्क्रमेणाऽप्येत्याऽऽगच्छतितत्सर्वतो जितं स्वकीयेन नाम्नासमं नामसमं यथा स्वनाम शिक्षितं तथा तदप्यावश्यकं तथा यथैव स्वनामस्थितादिविशेषणविशिष्टं घटते । स्थितं जितं मितं परिमितमित्यर्थः । एवं तदप्यावश्यकमतः स्वनामसममुच्यते । यद्वाचनाचार्याभिहितोदात्ताऽनुदात्तस्वरितलक्षणघोषैः सदृशमेव गृहीतं तत् घोषसमं न हीनाक्षरं नाप्यधिकाक्षरं (घोसकंठे) त्यादि यथा प्रासादनीरिप्रोतरममाला विपर्ययन्यस्तरत्ननिचया भवेत्स्यैवं यदत्पासितवर्णविन्यासं विपर्ययोपन्यस्तवर्णसंतानमित्यर्थः । तदाक्षरं न तथावा विद्धाक्षरं इदं वर्णमात्रापेक्षं विवक्ष्यते न तु वाक्यापेक्षं पदवाक्यविपर्ययस्तस्य वक्ष्यमाणमीलितविषयत्वादिति उपलशकलाऽऽकुलभूतले हलमिव यत्र स्खलति तत्स्खलितं । विसदृशानेकधान्यमेलकवद्यत्र मिलति तन्मिलितं । अथवा विपर्यस्तपदवाक्यग्रंथ मिलितं नैवं यतद मिलितं (अमिलियपयवक्कविच्छेयंति) अथवेत्यत्रापि तृतीयव्याख्यांतरसूचकः संबध्यते । अमिलितोऽसंसक्तः पदवाक्यविच्छेदो यत्र तदाऽमिलितमुच्यते । अव्यत्याम्रेडितं व्याख्यातुमाह । नयविविहेत्यादि विविधानि नानाप्रकाराण्यनेकानि शास्त्राणि तेषांपदवाक्यावयवरूपा बहवाः पल्लवास्तैर्विमिश्रं व्यत्याम्रेडितं अथवा स्थानाच्छिन्नप्रथितं व्यत्याम्रेडितं यथा । प्राप्तराज्यस्य रामस्य राक्षसा निधनं गताः । कोलिकपायसवच्छेरीकंथावद्वा यथोक्तरूपं यत्र भवति तदव्यत्याम्रेडितं । परिपूर्णं द्विधा । सूत्रतोऽर्थतश्च । तत्र छंदसा छंदः समाश्रित्य मात्रादिनियतमानं सूत्रतः परिपूर्णं । यत्वनाकांक्षादिदोषस्तदर्थतोऽपरिपूर्णं यत्किंचाऽध्याहारं नाऽपेक्षते । अध्यापकश्च तत्र च भवति तदर्थतः परिपूर्णमिति भावः । परिपूर्णघोषमिति व्याख्यातुमाह (पुण-) मित्यादि । उदात्तादिघोषैः परावर्तनादिकाले उच्चारयंति । तत्परिपूर्णघोषं । इह च शिक्षाकालेऽध्यापकाभिगदितोदात्तादिघोषैः समं शिक्षमाणस्य घोषसमं । शेषकाले तु परावर्तनादि कुर्वन्नुदात्तादिघोषैः परिपूर्णमुच्चारयति तत्परिपूर्णघोषमित्यनयोर्विशेषः । कंठोष्ठविप्रमुक्तं न तु बालमूकभाषितवदव्यक्तं गुरोः सकाशाद्वाचनया उपयातमायातं न पुनः पुस्तकादेव चोरितः स्वतन्त्रेणैवाऽधीतं वाशब्दात्कर्णाघाटकेन वा गृहीतमिति । अत्र प्रेरकः प्राह ।

आगमओऽणुवउत्तो, वत्ता दव्वंति सिद्धमावासं ।
किं सिक्खियाइ सुयगुण, विसेसणो फलमिहत्तहियं ।

नन्वागमतोऽनुपयुक्तो वक्ता द्रव्यावश्यकमित्येतावतैव सिद्धमागतो द्रव्यावश्यकं किं शिक्षितं स्थितं जितमित्याद्यावश्यकश्रुतगुणविशेषणैरिहाऽभ्यधिकं फलमिति ॥ अत्रोत्तरमाह ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जह सव्वदोसरहियं पि, निगदश्रो सतमणुवउत्तस्स ॥
दव्वसुयं दव्वावासयं, च तह स वकिरिया उवश्रो ॥१॥
उवउत्तस्स य खलियाइ, यं पिसुद्धस्स जाव श्रोसुत्तं ॥
साहइ तह किरियाश्रो, सव्वाओ निज्जरफलाश्रो ॥२॥

इहाशिक्षितादिविशेषणकलापं कुर्वन्नाचार्य इति साधयते- ततः कथयतीति द्वितीयगाथायां क्रिया किंसाधयतीत्याह- यथा शिक्षितादिगुणोपेतत्वात्सर्वदोषरहितं सूत्रमनुपयुक्तस्य निगदतो द्रव्यश्रुतं वक्ष्यमाणद्रव्यावश्यकं चोक्तस्वरूपं भवति । तथा प्रत्युपेक्षणप्रमार्जनेत्यादि क्रियाऽपि सर्वा अनुपयुक्तस्य कुर्वतो ऽतःप्रणिधानशून्यत्वाद्द्रव्यक्रियास्तत्फलाचकला भवंति । तथा यथैव सामर्थ्यादिदं द्रष्टव्यं उपयुक्तस्य त्वंतः प्रणिधानयुक्तस्य कारणवैकल्यादिकारणात्कथमपि स्खलितादिदोषदुष्टमपि सूत्रं निगदतो भावतः श्रुतस्य तस्य भावसूत्रमेव भवति । तथा सर्वाऽपि प्रत्युपेक्षादिक्रिया उपयुक्तस्य कुर्वतः कर्मनिर्जराफला एव भवंत्यतः सर्वेष्वपि प्रागवदुक्ताऽनुष्ठानेष्वंतःप्रणिधानेऽतिशयः प्रयत्नः कार्य इति ॥ विशे. ॥

अथ नो आगमतोऽभिधित्सुराह ॥

नो आगमश्रोजाणय, भव्वसरीराइरित्तमावासं ।
लोइयलोउत्तरियं, कुप्पावयणं जहा सुत्ते ॥

नो आगमतो द्रव्यावश्यकं त्रिविधं ज्ञशरीरद्रव्यावश्यकं भव्यशरीरद्रव्यावश्यकं तदुभयव्यतिरिक्तं च तत्र सम्यक्पूर्वोऽधीतावश्यकं सिद्धशिलातलगतं जीवविप्रमुक्तं मुनिशरीरमनुभूतभावत्वात् ज्ञशरीरद्रव्यावश्यकं । यत्पुनरावश्यकार्थं ज्ञास्यति । न पुनरिदानीं जानाति तत्सचेतन. देवदत्तादिशरीरं भाव्यभावत्वाद्भव्यशरीरद्रव्यावश्यकं । एतदुभयव्यतिरिक्तं तु नो आगमतो द्रव्यावश्यकं त्रिविधम् । लौकिकं लोकोत्तरं कुप्रावचनिकं च । तत्र लौकिकं राजादीनां मुखप्रक्षालनाद्यावश्यकं लोकोत्तरं तु येऽमी श्रमणगुणविप्रमुक्ता लिंगमात्रधारिणः साध्वाभासाः प्रतिपदमनेकाव्यसंयमस्थानान्यासेव्योभयकालं प्रतिक्रमणाद्यावश्यकं कुर्वंति तदिहेयं । कुप्रावचनिकं तु यत्पाखंडिनश्चामुंडायतनोपलेपनाद्यावश्यकं कुर्वंति तदुबोद्धव्यं नोशब्दश्चेह सर्वत्रागमे सर्वनिषेधे द्रष्टव्यः । एतच्च सर्वमपि नो आगमतो द्रव्यावश्यकं सप्रभेदं यथा सूत्रे । अनुयोगद्वाराख्ये प्रोक्तं तथा विज्ञेयमिति । इह लोकोत्तरं यन्नो आगमतो द्रव्यावश्यकमुक्तं तत्रोदाहरणमाह ॥

लोउत्तरे अभिक्खण, मासेवाजोयश्रो उदाहरणं ।
सरयणदाहगवाणिय, नाए जह उवालद्धे ॥

लोकोत्तरं नो आगमतो द्रव्यावश्यकेऽभीक्ष्णमासेवकालोचक: साध्वाभास उदाहरणं । आसेवकश्चासावालोचकश्चेति समासः । आसेवकालोचकस्य च योऽगीतार्थोगुरुः स खलु रत्नदाहकवणिग् ज्ञानेन गीतार्थयतिनिरुपालब्धः इत्यक्षरार्थो भावार्थस्तु कथानकगम्यस्तच्च कथ्यते ।

वसतपुरं नाम नगरं तत्र चाऽगीतार्थः संविग्नाभास एको गच्छः सूरसहितो विचरति । तन्मध्ये चैकः साध्वाभासस्तिष्ठति । स च प्रतिदिनमुदकाऽर्द्रहस्तादिदोषदुष्टान्यनेषणीयभक्तपानकादीनि गृहीत्वावश्यककाले महांतं संवेगमिवोद्वहन् सर्वं गुर्वंतिकेऽन्वहमालोचयति गुरुरपितस्यैव प्रायश्चित्तं प्रयच्छति । तत्र प्रत्यगीतार्थत्वेन नित्यमेव वक्तधहो धर्मश्रद्धालुत्वं महाभागः सुखेनासेव्यते दुष्करं च यदित्थमालोच्यते । अतोऽगतत्वादेव शुद्धोऽयमतच्च दृष्ट्वाऽन्यमुग्धसाधवश्चिंतयत्यहो आलोचयितव्यमेवेत साध्यं । तत्र तत्क्रियते तदीकृत्याऽसेवनेऽपि न कश्चिद्दोषइत्येवं सर्वस्मिन् गच्छे प्रायः प्रवृत्तमसमंजसमिति । इत्थं च व्रजति काले अन्यदा गीतार्थः साधुः कश्चित्तत्र गच्छे प्राघूर्णकः समायातस्तेन चासौ विधिःसर्वोऽपि दृष्टस्तेश्चिंतितमहोऽनेनागीतार्थगुरुणा सर्वोप्ययं नाशितो गच्छ स्ततस्तेन भणितो गुरुराह ।

त्वममुं नित्यमकृत्यासेवकं साधुमित्थ प्रशंसन् भवसिनगरनृपतेस्तन्नगरवासिलोकस्य च सदृशः कथमित्यत्रोच्यते ।

गिरिनगरं नाम नगरं तत्र चैकोवाणिक् कोटीश्वरो निवसति । स च वैश्वानरभक्तत्वात्प्रतिवर्षं रत्नानामपवरकं भृत्वा वह्निना प्रदीपयति । तं च तथा कुर्वंतं राजा नगरलोकश्च सर्वदा प्रशंसति । यथा अहो वैश्वानरे भक्तिरस्य यदमुं भगवंतं प्रतिवर्षमित्थं रत्नैस्तर्पयत्यसौ । एवं च प्रशस्यमानोऽथ मादृततरः प्रतिसंवत्सरं तथाऽनुतिष्ठति । ततोऽन्यदा प्रचण्डपवनोद्धूतस्तेन प्रदीपितो वह्निः सराजगृहं समस्तमपि नगरं भस्मसात्करोतिस्म । ततः सनगरेण राज्ञा किमस्माभिरित्थं कदर्थ्यसौ पूर्वैनिर्विवेकः किंवा प्रशंसित इत्यादि बहु पश्चात्ताप कृत्वा दंडितो निर्वासितश्च नगरादसौ वणिगिति । एवमाचार्य त्वमपि अविधिप्रवृत्तस्याऽस्यसाधोर्नित्यमित्थंप्रशंसां कुर्वन्नमुमात्मानं गच्छं च नाशयसि । तस्मान्नपुरापुरीनरपतेस्तन्निवासिलोकस्य च सदृशोभव यतोऽनर्थभाग्भवसि । कथमित्यत्राऽभिधीयते ॥

मथुरानगर्यामपि वैश्वानरभक्तेन केनापीश्वरवणिजा इत्थमेव रत्नभृतं गृहं प्रदीपयितुमारब्धम् ततः स नगरलोकेन राज्ञा दंडितः तिरस्कृतश्चासौवणिगटव्यां गृहं कृत्वा किमित्थं न प्रदीपयसीति निष्कासिता नगरादिति त्वमपीत्थंकुर्वन्नमुमात्मानं गच्छं चानर्थेभ्यो रक्षसि तदित्थं युक्तिभिः शिक्ष्यमाणेऽप्यसौ गुरुरगीतार्थत्वेन साग्रहतया निर्धर्मतया च स्वप्रवृत्तेर्ननिवर्तते । ततस्तेन प्राघूर्णकसाधुना गच्छसाधवोऽभिहिताः । अत्रमेवं भूतस्य गुरोर्वशवर्तित्वेन परित्यज्यतामयमन्यथा सर्वेषामनर्थाय संपत्स्यत । ततस्तैर्वाऽनुष्ठितं तैरिति । तदेवं भूतस्य गच्छस्य सत्कं नो आगमतो लोकोत्तरं द्रव्यावश्यकमभिधीयत इति तदेव सोदाहरणमुक्तं द्रव्यावश्यकं ॥

अधुना भावावश्यकमभिधीयते । तच्च द्विधा आगमतो नो आगमतश्च । तदेतदुभयमप्याह ॥

आगमओभावावस्सयं, तदत्थोवओगपरिणामो ।
नो आगमओभावे, परिणामो नाणकिरियासु ॥

आगमतो भावावश्यकमावश्यकार्थोपयोगपरिणामः नो आगमतस्तु ज्ञानक्रियोभयपरिणामो मिश्रवचनत्वान्नोशब्दस्येति । इदं च त्रिविधमपि दर्शयन्नाह ॥

लोइयश्रोउत्तरियं, कुप्पावयणं च तं समासेणं ।
लोउत्तरं पसत्थं, सत्थे तेणाहिगारोयं ॥

तच्चो आगमतो भावावश्यकं त्रिविधं । लौकिकं लोकोत्तरं कुप्रावचनिकं । एवं चोपन्यासः पूर्वं व्यतिरिक्तद्रव्यावश्यकेऽत्र च भावावश्यके यथानुलोम्यादिना केनापि हेतुना कृतो यावताऽनुयोगद्वारसूत्रेण इत्थमुक्तं । लौकिकं कुप्रावचनिकं लोकोत्तरं चेति । तत्र लौकिकं नो आगमतो भावावश्यकं । पूर्वाह्ने भारतं अपराह्णे रामायणं वाचनीयमित्यादि कुप्रावचनिकं । मंत्रादि

पादपूर्वकमिज्यांजलिहोमादि लोकोत्तरं पुनरुपयुक्तस्य श्रमणा देर्मुखवस्त्रिकाप्रत्युपेक्षणावर्त्तादि क्रियामिश्रमुभयक आवश्यकसूत्रोच्चारणं एवं सर्वत्र ज्ञानक्रियामिश्रता भावनीया। इह च त्रिविधेऽपि नोआगमतो भावावश्यके पारमार्थिकाऽनुपमाऽपवर्गसुखप्राप्तिहेतुत्वाल्लोकोत्तरमेव प्रशस्तं। तदेव चेह शास्त्रेऽधिक्रियत इति । विशे० । आ० म० प्र० १ अ. । आ० चू० १ अ. ॥

आवश्यकं च गुरुसाक्षिकमेव कर्त्तव्यम् ।

तथा च विशेषावश्यके ॥

आवस्सयं मि निचं, गुरुपादमूलंमि देसियं सव्वं होइ ।
बीसंपि हुसंवसओ, कारणओ जंदभिसेज्जाए ॥

अनेन गुर्वामंत्रणवचनेन आवश्यकं प्रतिक्रमणं गुरुपादमूल एव नित्यं कर्तव्य इति दर्शितं भवति । यद्यप्यस्मादभिशय्यायां द्वितीयवसतावित्यर्थः । कारणतः कारणवशाद्विष्वगापि संवसतः साधोः कल्पग्रंथे इयं सामाचारी प्रोक्तेति दोषः का पुनरियं कल्पसमाचारीत्युच्यते ।

जइ खुड्डुलगा वसही तो, अणगंतूणा कपयया साहूणो।

वसंति तत्राचार्यसमीपे (पडिक्कमिउं पाउसिय) कालग्रहणोत्तरं कालं सूत्रार्थपौरुषीं कृत्वा अन्यस्यां गच्छंतो अथांतरा श्वापदादिभयं ततोऽर्थपौरुषीं हापयंति तथा सूत्रपौरुषीमपि कालमपि तथा चरमं कायोत्सर्गं द्वितीयमाद्यं यावत्रिष्ठत्यपि-सहस्ररामा तत्र यांतीति न केवलं प्रतिक्रमणं किंत्वेषमेव शेषाण्यपि सर्वाणि साधुभिरवश्यं कर्तव्यान्यावश्यकानि । गुरूनापृच्छ्य कर्तव्यानीत्येतदुज्ञापितमामंत्रणवचनाद्येन सर्वेषामप्यावश्यकानां सामायिकमेवादौ मतं भदंतशब्दश्च य स्मात्तदादौ निर्दिष्टस्तेनानुवर्तते तत्कोऽसौ सर्वेष्वप्यावश्यकेषु कथमित्याह ॥ इदमिदं च करोमि भदंता ! इति। एतदेवाह ॥

एवं चिय सव्वावस्सयाइ आपुच्छिउण कज्जाइं जाए।
वियमामंतणवयणा । जेण सव्वेसिं सामाइयमाइयं भो यं जदंत ! सद्दोयजंतउदाइ एतेणाणुवत्तइ तओकरोमि ! भंते ति सव्वेसु ॥

गतार्थं । किमिति गुरूनापृच्छ्यैव सर्वावश्यकानि कर्तव्यानीत्याह । किंचकिंच गुरवो, विदंति विणयपडिवत्तिहेउं च । उस्सासाइय मोत्तुं, तदणुण्णाए पसिसिद्धं ॥१॥ पाउसिका। यत्र तर्हि गुरुर्न भवति तत्र किं विधेयमित्याह ॥

गुरुविरहम्मि य ठवणा, गुरूवसेवोवदंसणत्थं च ।
जिणविरहम्मि वि जिण, बिंबसेवणामंतणं सफलं १
रण्णोवपरोक्खस्स वि, जह सेवामंतदेवया एव ।
तह य परोक्खस्स वि, गुरुणो सेवा विणयहेउ २
अहवा गुरुगुणनाणो, चउगलभाव गुरुसमा एसो ।
इह विणयमूल धम्मो, वएसणत्थं चउजिणं विणयसासाणमूलं । विणीउसंजाऊ जवो, विणयाविप्पमुक्कस्स कउधम्मो ३ कउतवो विणउवयारं, माणस्स भंजणापूयणा गुरुजणस्स । तित्थयराणय आणा, सुयधम्माराहणा किरिया॥

पाउसिका एवेति ॥

आवश्यकाकरणेऽसमाचारी दोषः॥

न करेंती आवस्सं, हिणाहियनिविरू पाउयनिविणा !
दंसगहणादिविणयं, राइणियादीण न करेंति ॥

आवश्यकं मूलत एव न कुर्वंति । यदि वा हीनं अधिकं वा कायोत्सर्गाणां हीनकरणतोऽधिकं वाऽनुप्रेक्षार्थं कायोत्सर्गाणामेव चिरकालकरणतः कुर्वंति । यदि वा निषण्णा उपविष्टाः प्रावृत्ताः शीताः शीताभिभवतः कल्पादिप्रावरणप्रावृत्ता निषण्णत्वत्वप्रवर्तनेन निपतिताः प्रकुर्वंति । व्य. १ उ. ।

आवश्यकाकरणे प्रायश्चित्तम् । महा. ७ अ. ॥

से जयवं केवइयाइं पायच्छित्तस्स णं पयाइं खाइयाइं गोपायइस्सइ पयाइं संखाइयाइं से जयवं तेसिणं संखा इयणं पायच्छित्त पयाणं किंतं पढमं पायच्छित्तस्स णं गोयमा ! पइदिणकिरियं सेजयवं किंति पवुच्चेणकिरियं गोयमा ! जं मणुं समयाअहन्निसापणोवरमंजावणुट्ठेयव्वाणि संखेज्जाणि आवस्सगाणि । से जयवं केणं अट्ठेणं एवं वुच्चइ । जहा ण आवस्सगाणि गोयमा ! असेसकसिणट्ठकम्मक्खयकारि उत्तमतम्मदंसणं चारित्तअव्वंतघोरवीरुग्गकट्ठसुदुकरं तवसाहणट्ठाए परूविज्जंति । नियमियविभत्तुदिट्ठं परिमिएणं कालसमएणं पयं पयेणाहं निसाणुसमयमाजम्मं अवस्समेव तित्थराइसु कीरंति अणुट्ठिज्जयंति उवइसिज्जंति परुविज्जंति पन्नविज्जंति सययं एराएणं अट्टेणं एवं वुच्चइ । गोयमा! जहा णं आवस्सगाणि तोसिं चाणं गोयमा ! जे भिक्खू कालाइक्कमेणं वेलाइक्कमेणं समयाइक्कमाणं अालसायमाणे अणोवओपमत्ते अविहीए अन्नेसिं व असद्धं उप्पायमाणे अन्नयरमावस्सगं पमाइयसं तेणं बलवीरिएणं सातलेहकताए आलंबणं वा किंचिघेत्तूणं विराइयं पउरियाणाणं जहुतयालं समणुट्ठेज्जासेणं गोयमा ! महा पायच्छित्ती जवेज्जा ॥

अकएसु य पुरिमा, सणमायायं सव्वसो चउत्थं तु ।
पुव्वमपेहिय यंमिज्ञ, निसिवो सिरिए दिवासुवणे ५३॥

अकृतेषु पुनः कार्योत्सर्गेषु वंदनकेषु च एकादिषु एकादिभिषु पुरिमैकाशनाचामाम्लानि (सव्वसो चउत्थंतु) सर्वस्मिंस्तु प्रतिक्रमणे अकृते चतुर्थन्तु । तथा पुव्वं सन्ध्यायामप्रेक्षितस्थण्डिले निशि संज्ञोत्सर्गं कृते चतुर्थं । तथा दिवसे निद्राकृते चतुर्थं ॥ ५३ ॥ जीत. टी. ॥

निव्वीतियपुरिमयोअंबिलखवणा य आवासे ॥

आवासे आवश्यके एकादिकायोत्सर्गाऽकरणे सर्वावश्यकाकरणे यथासंख्यं निर्विकृतिपूर्वार्द्धाचाम्लक्षपणानि । इयमत्र भावना । आवश्यके यद्येकं कायोत्सर्गं न करोति ततः प्रायश्चित्तं । निर्विकृतिकं कायोत्सर्गद्व्याकरणे पूर्वार्द्धं त्रयाणामपि कायोत्सर्गकरणानामकरणे आचाम्लं सर्वस्याऽपि चावश्याकस्याकरणे अभक्तार्थो इति । व्य. १ उ. ॥

देशतः सर्वतो वाऽऽवश्यकाकरणकारणान्याभिशय्यागमनवेलामधिकृत्य व्यवहारकल्पे ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आवस्सयं तु काउं, निव्वाघाएण होइ गंतव्वं ।
वाघाएण उ जयणा, देसं सव्वं अ काऊणं ॥

व्याघातस्य स्तेनादिप्रतिबंधस्याऽभावोनिर्व्याघातेन भवति । गंतव्यं वसतिराचार्यैः सममावश्यकं कृत्वा व्याघातो न पुनर्हेतुभूतेन भजनाविकल्पेन का भजनेत्यत आह । देशं वा आवश्यकं कृत्वा सर्वं वावश्यकमकृत्वा संप्रति यैःकारणैः प्रतिबन्धस्ताम्युपदर्शयति ।

तेणासावयवाला, गुम्मिय आरक्खिठवणपरूणीए ।
इत्थिनपुंसगसंसत्त, वासचिरकडकंटे य ॥

स्तेनाश्चौरास्ते संध्यासमयेऽधकारकलुषिते संचरंति । श्वापदानि चतुष्पदानि भूयांसि तथा उदतानि हिंसंते व्याला वा भुजंगमादयो वातादिपानाय भूयांसः संचरंति तथा गुल्मेन स समुदायेन संचरतीति गौल्मिका आरक्षिकाणामप्युपरिस्थायिनो हिरिकाः पुरक्षकास्ते अकाले हिंरूमानान् गृह्णंति । तथा-ठवणत्ति । कस्मिंद्देशे एवंरूपा स्थापना क्रियते । तथा अस्तमिते सूर्ये रथ्यादिषु सर्वथा न संचरणीयमिति प्रत्यनीको वा कोऽप्यंतरायविघातकरणार्थं तिष्ठन् वर्त्तते स्त्रियो नपुंसका वा कामवशुकास्तदा उपसर्गयेयुः । संसक्तो वा प्राणजातिनिरयांतरालमार्गः । ततोऽधकारेणैर्यापथिकी न शुद्धयति । वर्षं वा वस्तत् संजायते (वासचिरुवल्लोत्ति) कर्दमो वा पथि भूयानस्ति । ततो रात्रौ पादलग्नः कर्दमः कथं क्रियते (कंटत्ति) कंटका वा मार्गेऽतिबहवस्ते रात्रौ परिहर्तुं न शक्यंते । एतैर्व्याघातकारणैः समुपस्थितैः देशतः सर्वतो वा वश्यकमकृत्वा गच्छंति तत्र देशतः कथमकृत्वेत्यत आह ॥

थुतिमंगलकितिकम्मे, उस्सग्गो य तिविहकियकम्मे ।
तत्तो य पडिक्कमणे, आलोयणायाए किति कम्मो ॥

स्तुतिमंगलमकृत्वा स्तुतिमंगलाकरणे चायं विधिः । आवश्यके समाप्ते द्वे स्तुती दत्वायं तृतीयांस्तु तिमकृत्वा अभिशय्यां गच्छंति तत्र च गत्वा चैर्यापथिकीं प्रतिक्रम्य तृतीयां स्तुतिं ददाति अथ वा आवश्यके समाप्ते एकां स्तुतिं कृत्वा द्वेस्तुती अभिशय्यां गत्वा पूर्वविधिनोच्चारयति । अथ वा समाप्ते आवश्यके अभिशय्यां गत्वा तत्र तिस्रः स्तुतीर्ददाति । अथवा स्तुतिभ्यो यदर्वाकितत्कृतिकर्म्म तस्मिन्नकृतेऽभिशय्यां गत्वा तत्रैर्यापथिकीं प्रतिक्रम्य मुखवस्त्रिकां च प्रत्युपेक्ष्य कृतिकर्मकृत्वास्तुती ददति (काउस्सग्गो य तिविहत्ति) त्रिविधे कार्योत्सर्गे क्रमेण कृते तद्यथा चरमकार्योत्सर्गमकृत्वा अभिशय्यांगत्वा तत्र चरमकार्योत्सर्गादिकं कुर्वंति । अथवा द्वौकार्योत्सर्गौ चरमावकृत्वा यदि वा त्रीनपि कार्योत्सर्गान् अकृत्वा अथ वा कार्योत्सर्गेभ्योऽर्वाक्तनं यत् कृतिकर्म्म तस्मिन्नकृते उपलक्षणमेतत् । ततोऽर्वाक्तने क्षामणे यदि वा ततोऽप्यर्वाक्तने कृतिकर्मणि अकृते अथ वा ततोऽप्यर्वाक्तने प्रतिक्रमणे अकृते यदि वा ततोऽप्यर्वाक्तने आलोचने अकृते अथवा ततोऽप्यर्वाक्तने कृतिकर्मणि अकृते अभिशय्यामुपगम्य तत्र तदावश्यकं कर्तव्यमिति । एवमावश्यकस्य देशतोऽकरणमुक्तमिदानीं सर्वस्याकरणमाह ।

काउस्सग्गमकाउं, कितिकम्मालोयणं जहन्नेणं ।
गमणम्मी एसविही, आगमणम्मी विहीं वोच्छं ॥

यो दैवसिकातिचारानुप्रेक्षार्थं प्रथमः कार्योत्सर्गस्तमप्यकृत्वा किमुक्तं भवति । सर्वमावश्यकमकृत्वा ऽभिशय्यां गच्छंति । किमेवमेव गच्छन्ति । उतास्ति कश्चन विधिरुच्यते । अस्तीति ब्रूमः । तथा चाह । (कितिकम्मालोयणं जहन्नेणंति) ।

जघन्येन जघन्यपदे सर्वमावश्यकमकृत्वा सर्वे गुरुभ्योवंदनं कृत्वा यश्च सर्वोत्तमोज्येष्ठः स आलोच्य तदनंतरमभिशय्यां गत्वा सर्वमावश्यकमहीनं कुर्वंति । एषोऽभिसय्यायां गमनेऽभिसंज्ञातः प्रत्यागमने पुनर्योविधिस्तमिदानीं वक्ष्ये ॥

प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति ॥

आवस्सगं अकाउं, निव्वाघाएण होइ आगमणं ।
आघायम्मि उ जयणा, देसं सव्वं च काऊणं ॥

यदि कश्चनापि व्याघातो न भवति ततोनिर्व्याघातेन व्याघाताभावेनावश्यकमकृत्वाऽभिशय्यातो वसतावागमनं भवति । आगत्य च गुरुभिः सहावश्यकं कुर्वंति व्याघाते भजना का पुनर्भजनेत्यत आह । देशमावश्यकस्य कृत्वा सर्वं वाऽऽवश्यकं कृत्वा तत्र देशत आवश्यकस्य करणमाह ॥

काउस्सग्गं काउं, कितिकम्मालोयणं पडिक्कमणं ।
किइकम्मं तिविहं वा, काउस्सग्गं परिण्णाय ॥

कार्योत्सर्गमाद्यं कृत्वा वसतावागत्य शेषं गुरुभिः सह कुर्वंति । अथ वा द्वौ कार्योत्सर्गौ कृत्वा यदि वा त्रीन् कार्योत्सर्गान् कृत्वा अथ वा कार्योत्सर्गत्रयानंतरं यत् कृतिकर्म्म तत्कृत्वा अथवा तदनंतरमालोचनमपि कृत्वा यदि वा तत्परं यत्प्रतिक्रमणं तदपि कृत्वा अथवा तदनन्तरं यत्कृतिकर्म्म द्विभेदं क्षामणादर्वाक्तनं परश्चेत्यर्थः ॥ तदपि कृत्वा पाठांतरं तिविहं ते विमूलकृतिकर्मापेक्षया त्रिविधं वा कृतिकर्म्म कृत्वा अथवा कार्योत्सर्गं चरम षाण्मासिकं कृत्वा परिज्ञाप्रत्याख्यानं तामपि वा कृत्वा । अत्रायं विधिः । सर्वे साधवश्चरमकार्योत्सर्गं वसतावागत्य गुरुसमीपे वंदनकं कृत्वा सर्वोत्तमश्च ज्येष्ठः आलोच्य सर्वे प्रत्याख्यानं गृह्णंति । अथवा सर्वमावश्यकं कृत्वा एकां स्तुतिं दत्वा शेषे द्वे स्तुती कृत्वा शेषं गुरुसकाशे कुर्वंति ॥ तदेवमुक्तं देशतः आवश्यकस्य करणमधुना सर्वतः कारणमाह ॥

थुति मंगलं च काउं, आगमणं होति अभिनिसिज्जातो ।
बितियपदे भयणाऊ, गिलाणमादी उ कायव्वा ॥

अथवा प्रत्याख्यानं तदनंतरं स्तुतिमंगलं च स्तुतित्रयाकर्षणरूपं तत्र कृत्वा अभिशय्यात आगमनं भवति । तत्रेयं समाचारी गुरुसमीपे ज्येष्ठ एक आलोचयति आलोच्य प्रत्याख्यानं गृह्णातीति शेषः ज्येष्ठस्य पुरत आलोचना प्रत्याख्यानं च कृतं वंदनकं च सर्वे ददति क्षामणं च । द्वितीयपदे अपवादपदे ग्लानादिषु प्रयोजनेषु भजना कर्तव्या । किमुक्तं भवति ग्लानादिकं प्रयोजनमुद्दिश्य वसतौ नागच्छेयुरपीति ग्लानादीन्येव प्रयोजनान्याह ॥

गेलन्नवासमाहिता, पदुट्ठ अंते उरे निवेअगणी ॥
अहिगरणहत्थि संभम ए, गेलन्ननिवेयणा नवरिं ॥

ग्लानत्वमेकस्य बहूनां साधूनां तत्राऽभवत् ततः सर्वेऽपि साधवस्तत्र व्यापृतीभूता इति न वसतावागमनं अथवा वर्षं पतितुमारब्धं मिहिका वा पतितुं लग्ना यद्वा (पउट्ठत्ति) प्रविष्टः कोऽप्यंतरायविरूपकरणाय तिष्ठति । अंतः पुरं वा तदानीं निर्गंतुमारब्धं । तत्र च राज्ञा उद्घोषितं यथा पुरुषेण न केनापि रथ्यासु संचरितव्यं । राजा वा तदा निर्गच्छति । तत्र हयगजपुरुषादीनां संमर्दः अग्निकायोनांतराले महान् लग्नस्ततोऽधिकरणं वा गृहस्थेन समं कथमपि जातं मूहस्तुपना स्तदुपशमयितुं लग्ना हस्तिसंभ्रमो वा जातः । किमुक्तं भवति ।

हस्ती कथमप्याऽऽलानस्तंभं भंक्त्वा शून्यासनःस्वेच्छया तदा परिभ्रमति । एतेषु कारणेषु नागच्छेत्पुरपि वर्त्तते नवस्वेतेषु कारणेषु मध्ये ग्लानत्वे विशेषः यदि ग्लानत्वमागाढमुपजातमेकस्यबहूनां वा तदा गुरूणां निवेदना कर्त्तव्या ॥ व्य. १ उ. ॥

कालायातिक्रमेणाऽऽवश्यके प्रायश्चित्तम् । तथा च महानिशीथे ७ अ. ॥

एवं जेणं भिक्खू सुत्ताइक्कमेणं कालाइक्कमेणं आवस्सगं कुव्वीया । तस्स णं कारणिगस्स मिच्छुक्कम्मं गोयमा ! पायच्छि त्त वइसेज्जा जइ णं आकारिणिगतेसिं तूणं जहाजो गं चउत्थाइं ॥

आवश्यके च प्रमादो न कार्य्यः । पं० व्रा० ।

माकुणइप्पमायं, आवस्सएहिं संजमतवोतहाणेहिं ।
णिस्सारं माणुस्सं, दुल्लहलभंजं वियाणेत्ता ।'

(माकुण इप्पमायं.) भवानीनाः प्रतिषेधे माकुरुत कषाययोगादिभिः प्रमादं आवश्यकरणीयमावश्यकं । किंचित् तदावश्यकं संयमतपोध्यानादिभिः । एव आवश्यकः तप एव तपधानं तपो प्रधानं किमर्थं । यस्मात्ति सारं मानुष्यं जलबुद्बुदसमानं कुशाग्रजलबिंदुसन्निभं चेत्यादि मतश्चैवं गुणं जातीयं दुर्लभं दुःप्राप्यमित्यर्थः । विविधमनेकप्रकारं वा ज्ञात्वा दिट्ठतो ॥ पं. चू. ॥

आवश्यकप्रमादे प्रायश्चित्तम् ॥

सेजयवं जेणं गणी किंचि आवस्सगं पमाएज्जा गोयमा ! जेणंगणा अकारणिगे किंची खणमेगमवि पमाएसेणं अवंदंउवइसेज्जाजओणं तुम महाकारणिगे वि संते गणी खणमेगमविणकिंचि णियमावस्सगं पमाए सेणं वंदे पूएदट्ठव्वे जावणं सिद्धे बुद्धे पारगए खीणट्ठकम्ममले नीरए उवइसेज्जा सेसं तु महयाए बंधेणं सत्याणे चेव जाणिहिइ एवं पच्छित्ते विहिं सोऊणाणुट्ठती अदीणमणो जं जइय जहा थामं जे से आराहगे जणिए । महा० ७ अ० ॥

सम्प्रति श्रावकस्य व्यवहारनरतस्याऽप्यावश्यके न दुःखांतो भवतीति दर्शयितुमाह ।

आवस्सएण एएण, सावओ जइवि बहुरओ होइ ।
दुक्खाणमंतकिरियं, काही अचिरेण कालेणं

आवश्यकेनैतेनेति षड्विधभावावश्यकरूपेण नतु द्रव्यतधावनादिना द्रव्यावश्यकेण श्रावको यद्यपि बहुरजा बहुबध्यमानकर्मा बहुरतो वाविविधसावद्यारंभासक्तो भवति तथापोत्यस्या द्वाराद् दुःखानां शारीरमानसानां (अंतकिरियं) अंतक्रियां विनाशं करिष्यत्यचिरेण स्तोकेनैव कालेन-अत्र चांतक्रियाया अनंतरहेतुर्यथाख्यातचारित्रं तथापि परंपराहेतुरिदमपि जायते सुदर्शनादेरिवेति । ध० २ अधि. ॥

श्रावकस्याऽऽवश्यकम् ॥

अविरुद्धो ववहारो, काले तह भोयणं च संवरणं ।
चे इहरागमसवणं, सक्कारो वंदणाईय ॥ पंचा०

नत्वावश्यककरणमित्यसंगतं श्रावकं प्रति यतारियत्तस्याऽऽगमे विधेयतया उपदिष्टत्वात्तथा ह्यसौ उपासकदशादी मूलागमेनोपदेशोज्ञापकं चोपलभ्यते तदुच्चाररूपं आवकप्रज्ञप्त्यादौ च तथैव च श्रावकप्रतिदिनक्रियां प्रतिपादयताऽऽचार्येण चिइवंदणमो इत्येतावदेवोक्तमथ भ्रवे ।

समणेण सावएणय, अवस्सकायव्वयं हवइ जम्हा ।
अंतो अहो निसिस्सय, तम्हा आवस्सयं नाम ॥

इत्यस्यामनुयोगद्वारगाथायां श्रावकस्य तदुपदिष्टमिष्टमिति हेतुः नैवं तत्र चैत्यवंदनादिनैवावश्यकस्य गतार्थत्वाद्यतोयदवश्यं कर्त्तव्यं तदेवावश्यकमवश्यकर्त्तव्यं च चैत्यपूजावंदनादिश्रावकस्य यदि पुनरिदं षड्विधावश्यकमवश्यकर्त्तव्यतया श्रावकस्योपदिष्टमभविष्यत्तदा य एवषड्विधावश्यककारी सएव श्रावकोऽभविष्यन्नचैवमविरतानामपि सामायिककारिणां श्रावकत्वाभ्युपगमादिति । अत्रोच्यते । यदुक्तमुपासकदशादावनुक्तत्वात् श्रावकाणामावश्यकमयुक्तमिति । तदयुक्तमनुपदिष्टत्वस्यासिद्धत्वात्तथाहि । यद्यप्युपासकदशादौ नोपदिष्टं । तथेयं तथाप्यनुयोगद्वारेषु तदुपदिष्टं तथाहि ॥

जं इमंसमणे समणीवा सावए वा साविया वा तच्चित्ते तम्मणे जाव उभओकालं छव्विहं आवस्सयं करेंति सेत्तं लोउत्तरियं भावावस्सयंति ॥

यच्चोक्तं । चैत्यवन्दनादि श्रावकस्याऽऽवश्यकमिति तदप्यसंगतं (सज्झायज्झाणवग्गो) इत्यादि तदेकार्थिकपदोपन्यासेन तस्य षड्विधत्वेन निश्चितत्वात्कुमारस्वातिवाचकेनाऽप्यस्य समर्थितत्वात्तथाहि । तेनोक्तं । सम्यग् दर्शनसंपन्नः षड्विधावश्यकनिरतश्च श्रावको भवतीति गम्यते । तथा अशठसमाचरितत्वाज्जीतव्रतजाभिर्हेयपद्यमानत्वेन जीताभिधानपंचमव्यवहारसमर्थितत्वात्तथा । यदुक्तं । (समणेण सावएण य) इत्यत्र गाथायां यदि षड्विधावश्यकं विवक्षितमभविष्यत्तदा तत्कारिण एव श्रावका अभविष्यन्नान्ये इति । तदप्यसंगतं । श्रमणपक्षेऽप्यस्य दूषणस्य समानत्वात्तथाहि । य एव षड्विधमावश्यकं कुर्वन्ति त एव श्रमणाः स्युस्ततश्च कारणजाते प्रतिक्रमणकारिणां मध्यमतीर्थसाधूनामश्रमणता स्यान्न चैवमथ चरमतीर्थसाधूनाश्रित्येयं गाथोक्ता । सत्यं । केवलं यदि श्रावकाणां षड्विधाऽऽवश्यकप्रज्ञापनार्थापि स्यात्तदा किं दूषणमिति । अथ ब्रूषे षड्विधावश्यकमतिचारशुद्धिरूपं वर्त्तते । न च श्रावकाणामालोचनादि दशप्रकारशुद्धेर्मध्यादेकापि प्रकल्पादिग्रंथेषूपलभ्यते । न च तेषामतिचारा घटंते । संज्वलनोदय एव तेषामुक्तत्वादित्यत्रोच्यते । यद्यपि श्रावकाणां प्रकल्पादिग्रंथेषु शुद्धिर्न दृश्यते । तथाऽप्यसौ श्रावकजीतकल्पादेः सकाशादवश्याभ्युपगंतव्या । अन्यथोपासकदशासु यदुक्तं किल भगवान् गौतममुनिरानन्दश्रावकं प्रत्यथादीत् ॥

तु मएणं आणंदा एयस्स अट्ठस्स आलोयाहि पडिक्कमाहि निंदाहि गरिहाहि अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जाहीति ॥

तत्कथं घटेताऽतएव ज्ञापकादतिचारा अपि तेषां भवंतीति सिद्धं यच्चाचारा असंज्वलनोदयेऽपि भवन्ति । तथा प्रागुक्तं किंच यदीदं चैत्यवंदनादिकमावश्यकं स्यात्तदाऽतो अहोनिसस्सय इति मुनिवचनेन सन्ध्याद्वय एव श्रावकस्य तद्विधेयं स्यात् श्रूयते । पुनरेवं ॥

दंसणसुद्धिनिमित्तं, तिकालं देववंदणाइयंति

अतः सन्ध्याद्वयकरणनियमः षड्विधावश्यकस्यैवोपपद्यते साधूनामिवेति किंच ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सव्वंति जाणिऊणं, विरई खलु जस्सव्विया नत्थि ।
सोसव्वविरइवाइ, चकइदेसं च सव्वं च ॥

इत्यनया गाथया सामयिकसूत्र सर्वशब्दवर्जं श्रावकस्योक्तं । चतुर्विंशतिस्तवस्तु सम्यग्दर्शनशुद्धिनिमित्तत्वात् सम्यग्दर्शनस्य च श्रावकस्याऽपि शोधनीयत्वात्कर्तृविशेषस्य चानभिहितत्वाद्विचरितत्वाच्चोपपन्न एवास्यैति । किंचेर्यापथिकाप्रतिक्रमणस्य गमनागमनमात्रेण शब्देन भगवत्यां शंखोपाख्यानकेषु पुष्कलिश्रावककृततेन दर्शितत्वाद्गमनागमनशब्दस्य चेर्यापथिकापर्यायत्वात्तथा भगवत्यामेव तद्वृत्तिव्याख्यानकेषु ओघनिर्युक्तिचूर्ण्यां च प्रसिद्धत्वादीर्यापथिकाकायोत्सर्गे च चतुर्विंशतिस्तवस्य प्रायश्चित्तनीयत्वाच्चाऽसौ सिद्ध इति वन्दनकमपि गुणवत् प्रतिपत्तिरूपत्वात् गुणवत् प्रतिपत्तेश्च श्रावकस्याऽप्यविरुद्धत्वात् कृष्णादिभिश्च तस्य प्रवर्तितत्वात्संगतमेवास्य ननु ॥

पंचमहव्वयजुत्तो, अनलसमानपरिविज्जियमती य ।
संविग्गनिज्जरट्ठी, किई कम्मकरो, हवइ साहुत्ति ॥

अनया निर्युक्तिगाथया साधुग्रहणेन श्रावकस्य व्यवच्छेदान्न संगतं । तस्य वन्दनकं नैवं ततः साधुग्रहणं तत्र तदन्यवन्दनकोपलक्षणार्थं ननु श्रावकव्यवच्छेदार्थं । यदि तु व्यवच्छेदार्थमभविष्यत्तदा साध्व्या अपि व्यवच्छेदो भविष्यन्न चासौ संगतो मातृविशेषणं वन्दनकनिषेधाद्यदाह ।

मायरं पियरं वा वि, जेट्ठगं वा वि भायरं ।
किइकम्मं न कारेज्जा, सव्वेराइं णिए तदा ॥

तथा(पंचमहव्वयजुत्तो) अनेन यथा महाव्रतग्रहणादणुव्रतयुक्तस्य व्यवच्छेदस्तथा पंचग्रहणाच्चतुर्महाव्रतयुक्तस्य मध्यतीर्थसाधोरपि व्यवच्छेदः स्यान्नचैतदिष्टमित्यतो निर्विशेषं वन्दनकमपीति प्रतिक्रमणं तु सामान्यत ईर्यापथप्रतिक्रमणभणनेनैव सिद्धमथ विचित्राभिग्रहवतां श्रावकाणां कथमेकेन प्रतिक्रमणसूत्रेण तदुपपद्यते । यतो प्रतिपन्नान्यतरव्रतस्य तदतिचारासंभवस्तदसंभवे च तदुच्चारणमसंगतमेवान्यथा महाव्रतातिचाराणामप्युच्चारणप्रसंग इति । नैवमप्रतिपन्नान्यतरव्रतस्यापितदतिचारोच्चारतो श्रद्धानादिविषयस्य प्रतिक्रमणस्यानुमतत्वाद्यत उक्तं ॥

पडिसिद्धाणं करणे, किच्चाणं अकरणे पडिक्कमणं ।
असद्दहणेय तहा, विवरीयपरूवणाए य ॥

अत एव साधुरप्रतिपन्नास्त्वणुपासकभिक्षुप्रतिमासु (एगारस पडिं उवासगपडिमाहिं बारसेहिं भिक्खुपडिमाही) त्येवं प्रतिक्रामति । ननु यद्येवं तदा साधुप्रतिक्रमणसूत्रेणैव ते प्रतिक्रामंतु को वा किमाह केवलं श्रावकप्रतिक्रमणसूत्रमणुव्रतादिविषयस्य प्रतिसिद्धाचरणस्य प्रपंचाभिधायकत्वात् सोपयोगतरमिति तेन ते प्रतिक्रामंति ननु साधुप्रतिक्रमणाद्भिन्नं श्रावकप्रतिक्रमणसूत्रमयुक्तं । निर्युक्तिभाष्यचूर्ण्यादिभिरर्तत्रितत्वेनार्षत्वान्नैवमावश्यकादिदशशास्त्रीव्यतिरेकेण निर्युक्तीनामभावे नैपपातिकाद्युपांगानां च चूर्ण्यभावेनानार्षत्वप्रसंगात्ततः प्रतिक्रमणमप्यस्ति । तेषां कायोत्सर्गस्तु ईर्यापथप्रतिक्रमणात् पंचमप्रतिमाकरणात् सुभद्राश्राविकादिनिदर्शनतश्च श्रावकस्य विधेयतया प्रतिपत्तव्यो यदि हि साधवोऽपि भंगभयात्सागारं कायोत्सर्गं प्रतिपद्यत तदा गृहिभिः सुतरामसौ तथा प्रतिपत्तव्यः सापेक्षया नैगमनैष्ठिकत्वादिति । एवं प्रत्याख्यानकमपि ननु परिष्ठापनिकादय आकाराः साधूनामेवं घटंते । ततो गृहिणामयुक्तमेतन्नैवं यतो यथा गुर्वादयः परिष्ठापनिकस्याऽनधिकारिणोऽपि यथा वा भगवतीयोगवाहिनो गृहस्थं संसृष्टाद्यनधिकारिणोऽपि परिष्ठापनिकाद्याकारोच्चारणेन प्रत्याख्यांति अखंडं सूत्रमुच्चारणीयमिति न्यायादेव गृहस्था अपीति न दोषस्तस्मात्पड्विधमप्यावश्यकं श्रावकस्यास्तीति प्रतिपत्तव्यमित्यलं प्रसंगेन विस्तरेणेति गाथार्थः ॥ ४४ ॥ पंचा० १ वृ० ॥ ज्ञाता० १ अ० । ध० २ अधि० ॥

आवस्सय–आवश्यक– न० समग्रस्याऽपि गुणग्रामस्याऽवासकमित्यावश्यकम् । अनु० । सामायिकादिके, । स्था० २ ठा० ॥

आवासक–न० गुणशून्यमात्मान मासमंताद्वासयति गुणैरित्यावासकम्–सामायिकादिके, ॥ ग० २ अधि० अथवा आऽऽवस्सयंति प्राकृतशैल्याऽऽवासकम् ॥ गुणशून्यमात्मानं गुणैरावासयतीत्यावासकम् । गुणसान्निध्यमात्मनः करोतीति ॥ आ० म० प्र० १ अ० । अनु० ॥

सन्निज्झजावत्थापणेहिं वावसयं गुणओ ।

सान्निध्यभावस्थापनैर्वा आवसकं गुणत इत्यावासकमुच्यते । इदमुक्तं भवति । वस निवासे इति गुणशून्यमात्मानं गुणैराऽसमन्ताद्वासयति गुणसान्निध्यमात्मनः करोतीत्यावासकम् । अथ वा यथा वस्त्रं वासयुपादिभिस्तथा गुणैरासमन्तादात्मानं वासयति भावयति रंजयत्यावासकम् । यदि वा वस आच्छादने गुणैरासमन्तादात्मानं छादयति वद संवरणे दोषेभ्यः संवृणोत्यावासकमिति विशे० ॥

आवस्सयकरण–आवश्यककरण–न० केवलिसमुद्घातात्पूर्वं केवलिना क्रियमाणे व्यापारभेदे, शब्दा ते स्वोपात्तमनुष्यायुषोतः प्रक्रमवशादुच्छुकस्याऽन्तर्मुहूर्ते शेषे सिध्यत्पर्यायात्रिमुख्य अवश्यकरणमिति प्रश्ने प्रदर्श्यते । अन्वर्थत्वादवश्यकारणसंज्ञायाः भास्करवत् अवश्यकरणीयत्वादवश्यकरणं कुर्वीतेति । कथमिदमावश्यकरणमिति कथमिदमन्वर्थेति दर्श्यते । अर्थमनुगता या संज्ञा सान्वर्था । अर्थमंगीकृत्य प्रवर्तेत इत्यर्थः । कथमिह यथा भास्करसंज्ञा अन्वर्था । कथमन्वर्था भासं करोतीति भास्कर इति यो भासनार्थमंगीकृत्य प्रवर्तेत इत्यर्थः । तथावश्यककरणमिति इयं संज्ञा अन्वर्था कथमिति चेत् ब्रूमहे । अवश्यं क्रियत इत्यावश्यकरणं इति । योऽवश्यकरणार्थोऽवश्यकर्तव्यतार्थमंगीकृत्य प्रवर्तेत यस्मात्तस्मात्सर्वकेवलिभिः सिद्धत्वद्भिरवश्यं क्रियमाणत्वादवश्यकरण मित्यर्थसंज्ञासिद्धिरथवावश्यं भाव आवश्यकं रूढ मनोज्ञादिभ्यश्चेति मनोज्ञादिरभिकृतत्वात् वुञ्सिद्धत्यावश्यक सिद्धिः । आवश्यकं करणं आवश्यककरणं । कुतः लोके दृष्टत्वाद् मल्लस्य कक्षाबंधकरणवत् यथा मल्लोयुयुत्सुनाबध्वा शाटकं युध्यते । स हि प्रथममेव शाटकेन कक्षां बध्वा अतः परं कृतावश्यकं कक्षाबंधकरणं योद्धुमारभेत । तथांतर्मुहूर्तायः शेषेण केवलिभावसिद्धता प्रथममेवेदं करणं अवश्यं कर्तव्यमित्यावश्यककरणमिति आ. चू. २ अ. ।

आवस्सयकिइ–आवश्यककृत्ति–स्त्री० प्रतिक्रमणकरणे ध० ३ अधि० ॥

आवस्सयटीगा–आवश्यकटीका] स्त्री० हरिभद्रस्वामिविरचितायामावश्यकवृत्तौ, आव० ६ अ. ॥

यदर्जितं विरचयता सुबोधां, पुण्यं मयाऽवश्यक

शास्त्रटीकां । भवे भवे तेन ममैवमेव, भूयाज्जिनोक्ते ऽनुमतेः प्रयासः ॥ २ ॥

इयञ्च द्वाविंशतिसहस्रात्मिका "द्वाविंशतिसहस्राणि, ग्रन्थाग्रन्थलिसंख्यया । अनुष्टुप्छन्दसां मान, मस्या उद्देशतः कृतम्" १ आव. ॥

आवस्सयणिज्जुत्ति–आवश्यकनिर्युक्ति स्त्री. भद्रबाहुस्वामिविरचितेऽआवश्यक व्याख्याने, । तथाचाऽऽवश्यकनिर्युक्तिं विवृण्वन् मलयगिरिराह । आम. प्र. १ अ. ।

नत्वा गुरुपदकमलं, प्रज्ञावत्सलस्य मन्दशक्तिरपि ॥

आवश्यकनिर्युक्तिं, विवृणोमि यथागमं स्पष्टम् ॥ ३ ॥

यद्यपि च विवृतयोऽस्या, स्सन्ति विचित्रास्तथापि विषमास्ताः । संप्रति च जनो जड्धी, भूयानिति विवृत्तिसंरम्भः ॥ ४ ॥

तत्र प्रेक्षावतामप्रवृत्त्यर्थमादौ प्रयोजनादिकमुपन्यसनीयम न्यथा न युक्तोऽयमावश्यकप्रारम्भप्रयासो निष्प्रयोजनत्वात्काकदन्तशास्त्रामर्दनवत् निरभिधेयत्वात्काकदन्तपरीक्षावत् असंबद्धत्वाद्दश दाडिमानि षडपूपा इत्यादि वाक्यवत् । स्वेच्छाविरचित शास्त्रवदेत्याशङ्कातः प्रेक्षावन्तो न प्रवर्तेरन् । तथा मङ्गलमप्यादौ वक्तव्यमन्यथा ।

कर्तुः श्रोतृणां चाविघ्नेनेष्टफलसिद्धियोगात् ॥

मेधावतां प्रवृत्त्यर्थं फलादित्रितयंस्फुटं ॥

मंगलं चैव शास्त्रादौ, वाच्यमिष्टार्थसिद्धये ॥ १ ॥

आवश्यकनिर्युक्तौ काश्चन निर्युक्तिगाथा अन्यकर्तृकाः प्राक्तनाश्च टीकाकृता तत्र व्याख्यानावसरे तथा सूचितास्ताः स्वपि काश्चिट्टीकाकारेण निर्युक्तिकृत्कृतत्वेन मता अपि अन्यकर्तृका इति क्षेपकश्रेणिशब्दे ॥ मलयगिरिवचसा दर्शयिष्यामि करणशब्देऽपि करणशब्दे ॥

आवस्सयपरिसुद्धि–आवश्यकपरिशुद्धि–स्त्री० अवश्यंकरणीययोगनिरतिचारतायाम् ॥

आवश्यपरिसुद्धीय, होंति भिक्खुस्स लिंगाइं ॥

आवश्यकपरिशुद्धिरवश्यंकरणीययोगनिरतिचारता च भवति भिक्षोर्भावसाधोर्लिंगानीति दश० १० अ.॥द्वा.२७ द्वा.॥

आवस्सयवइरित्त–आवश्यकव्यतिरिक्त– न० अंगबाह्ये श्रुतभेदे, ॥

तथाचांगबाह्यं श्रुतमधिकृत्य प्रश्नसूत्रमाह ।

सेकिंतं आवस्सयं २ छव्विहं पण्णत्तं । तंजहा । सामाइयं १ चउवीसत्थउ २ वंदणयं ३ पडिक्कमणं ४ काउसग्गो ५ पच्चक्खाणं ६ । सेत्तआवस्सयं । सेकिं तं आवस्सयवइरित्तं । आवस्सयवइरित्तं दुविहं पण्णत्तं । तंजहा। कालियं उक्कालियंच । न० ॥

टी० ॥ अथकिं तदंगबाह्यं सूरिराह ।

अंगबाह्यश्रुतं द्विविधं प्रज्ञप्तं । तद्यथा । आवश्यकं च आवश्यकव्यतिरिक्तं च । तत्रावश्यंकर्म आवश्यकं अवश्यकर्तव्यक्रियानुष्ठानमित्यर्थः । अथवा गुणानामभिविधिना वश्य मात्मानं करोतीत्यावश्यकं । अवश्यकर्त्तव्यसामायिकादि क्रियानुष्ठानं तत्प्रतिपादकं श्रुतमपि आवश्यकं । च शब्दः स्वगतानेकभेदसूचकः । (से किं त) मित्यादि अथकिंतदावश्यकं । सूरिराह ॥

आवश्यकं षड्विधं प्रज्ञप्तं । तद्यथा । सामायिकमित्यादि निगदसिद्धं सेत्तमित्यादि तदेतदावश्यकं सेकिंतमित्यादि । अथ किंतदावश्यक व्यतिरिक्तं वा आचार्य आह । आवश्यक व्यतिरिक्तं द्विविधं प्रज्ञप्तं । तद्यथा । कालिकमुत्कालिकं च । तत्र यद्दिवसनिशा प्रथमपश्चिम पौरुषीद्वये एव पठ्यते तत्कालिकं । कालेन निर्वृत्त कालिकमिति व्युत्पत्तेः । यत्पुनः कालवेलावर्जं सर्वकालेषु पठ्यते तदुत्कालिकं । आह च चूर्णीकृत तत्थकालियं दिणराइण पढम चरमपोरसी सुपढिज्जइ । जं पुणकालवेलाबज्जं पढिज्जइ तं उक्कालियंति । तत्राऽल्प वक्तव्यकत्वात् नं. टी० ॥

आवस्सयवइरित्तेत्यादि । यदिह दिवसनिशा प्रथमपश्चिम पौरुषीद्वये एव पठ्यते तत्कालेनिर्वृतंकालिकमुत्तराध्ययनादियत्पुनः कालवेलावर्जं पठ्यते तदुक्तं कालिकादित्युत्कालिकं दशवैकालिकादीनि । ठा. २ ठा. ॥

आवस्सयविवि–आवश्यकवृत्ति स्त्री० आवश्यकविवरणे आ. म. प्र. १ अ. ॥

आवस्सयविसुद्धि–आवश्यकविशुद्धि स्त्री० आवश्यंकरणीय योगनिरतिचारतायाम, ॥

आवश्यकविशुद्धिश्चभिक्षोर्लिंगान्यकीर्त्तयन् । आवश्यकविशुद्धिश्चावश्यंकरणीययोगानिरतिचारता । एतानि भिक्षोर्लिंगान्य कीर्तयन् गौतमादयो महर्षयः । द्वा० २७ द्वा० ॥

आवस्सयसुयक्खंध–आवश्यकश्रुतस्कंध–पुं० षण्णांश्रुतविशेषाणांस्कंधः श्रुतस्कंधः । आवश्यकं च तत् श्रुतस्कंधश्चावश्यक श्रुतस्कंधः । अथवाऽऽवश्यकं च तत् श्रुतंचावश्यक श्रुतं । तस्यषडध्ययनसमुदायात्मक आवश्यक श्रुत स्कंधः । स्वनाम ख्याते श्रुतविशेषे, । विशे. । द्वा. ॥

आवस्सयस्स जइसो, तत्थं गाइण अहपुच्छाओ ।

ते होइ सुय क्खंधो, अज्झयणा इं च नउ सेसा ॥

यद्यावश्यकस्याऽनुयोगस्तद्यावश्यकं श्रुतविशेषस्तर्हि अंगादीन्याश्रित्याष्टौ पृच्छाः संजायंति । तद्यथा ।

आवस्स यन्न किं अंगं, अंगाइ सुयक्खंधो सुयक्खंधाअज्झयणं अज्झयणाइं उद्देसो

उद्देशा इति अत्रोत्तरमाह ॥ इह तदा वश्यकं षडध्ययनसमुदायलक्षणः श्रुतस्कंधः प्रत्येकमध्ययनानिच्च षडिति । शेषाः षट्प्रकाराः प्रतिषेद्धव्याः असंज्ञत्वादिति । अत्रप्रेरकः प्राह ।

ननु नंदिवक्काणे, जणियमणं गे इहं कओ संका ।

जम्हाइ अक ओ संका, तस्स नियमं वदाए इ ।

ननु नंद्यध्ययने व्याख्यायमाने । (इमं पुण पट्ठवणं पडुच्च, अंगबाहिरस्स उद्देसोसमुद्देसो अणुण्णाणुओगो पव्वत्त) इत्यादिवचनादावश्यकमंगबाह्यत्वादंगं न भवतीति भणितमेवेति । कुतोऽत्राशंका येन प्रश्ना क्रियते । अत्र निर्वचनमाह । भण्यतेऽत्रोत्तरं । श्रुतस्कंधादि विषये तावदस्त्येवा शंका । तत्राऽस्याधस्याऽनिर्णीतत्वात् अतस्तद्विषयास्तावत्सर्व्व्या एव पृच्छाः । अंगानंगरूपतायामपि यदा नंद्यध्ययनमश्रुत्वा विनेयः प्रथमत एवेदं शृणोति । तथा अकृते नंदिव्याख्यानेऽस्त्येव च शंका । किमावश्यकमगं तद्बाह्यं वेति । आह । ननु नंद्य-

ध्ययनं श्रुत्वा तत् आवश्यकं श्रोतव्यमितीत्थं क्रमोऽतः कथं नंद्यध्ययनस्य प्रथमव्याख्यानाकरणं येन प्रस्तुतशंका स्यादि त्याशंक्याह । (तस्से) त्यादि तस्य प्रथमं नन्द्यिव्याख्यान करणस्याऽत्र पर्यागाऽऽगमअनिर्णयवचनादाचार्योऽनियमं दर्श यति । पुरुषाद्यपेक्षयाऽन्यथापि नंद्यादिव्याख्यानकरणादिति । आह । ननुमंगलार्थं सर्वेषामपि शास्त्राणामादौ नंदिव्याख्या नम् कर्त्तव्यमेवेति कथं तदनियम इत्याह ।

नाणाजिहाणमित्तं, मंगलमिट्ठं नती एवरकाणं ।
इह सव्वत्थाणे जुज्जइ, जं सावीसुं सुयक्खंधो ॥

ज्ञानपंचकाभिधानमात्रमेव शास्त्रादौ मंगलमिष्टं नतु तस्या नंद्याः सर्वस्या अपि शास्त्ररूपाया इहास्थाने व्याख्यानं युज्यते तथाहि पथि प्रस्थितैर्मंगलचूतं दधिदूर्वाक्षतादिवस्तूनामभि धानदर्शनादीन्येव मंगलतया गृह्यंते नतु तद्भक्षणतद्गुणवर्णा दीन्यपि क्रियंते । तथेहापि ज्ञानोत्कीर्त्तनमात्रमेव मंगलं यु ज्यते नतु नंदिव्याख्यानमिह तस्य स्थानत्वाज्ञावश्यकशास्त्रा देशे शास्त्रांतरजूताया नंद्या व्याख्यानं युज्यते अतिप्रसंगाच्च च वक्तव्यं सर्वशास्त्रांतरभूतैव नंदी यद्यस्मात्सा विच्छक्पृथगेव श्रुतस्कंधतया सिद्धांते प्रसिद्धा श्रुतस्कंधत्वं चास्याः पदवाक्य समूहात्मकत्वेनैव द्रष्टव्यं नत्वध्ययनकलापात्मकं पारिनाषित मेकाध्ययनरूपत्वेन रूढत्वादिति । ननु यदि नंदिव्याख्यानस्य स्थानमिदं तर्हि किमितीत्थमादावेव ज्ञानपंचकं विस्तरेण व्याख्यातमिति पौर्वापर्येण स्ववचनविरोध इत्याशंक्याह ।

इहसाणुग्गहमुइयं न उ नियमोयमहवा पवादोयं ।
दाइज्जइ कहणा, एकयाइ पुरिसादवि क्खाय ।

इहावश्यकारंभे यद्विस्तरेण ज्ञानपंचकऽस्यादौ व्याख्यानं तत्सानुग्रहं शिष्याऽनुग्रहमाश्रित्योदितमस्माभिर्नपुनरयं नियम एव ज्ञानोत्कीर्त्तनमात्रस्यैव नियमेन मंगलतयाऽत्राऽभीष्टत्वा दथवा कथनया कथनविधिरपवादोऽयं दृश्यते यथेह पुरुषा द्यपेक्षया कदा क्रमेणापि शास्त्राणि व्याख्यायन्ते अन्यारंजेअ थान्यदा व्याख्यायत इति तस्मादावश्यकश्रुतस्कंधस्याऽनुयोग इति स्थितं किमिदानीं कर्त्तव्यमित्याह ।

आवस्सयसुयक्खंधो, नामं सत्थस्स तस्स जेज्जेया ।
ताइं अज्झयणाइं, नासो आवस्सयाइणं ॥ १ ॥
कण्णोपिहाविहाणं, जहत्थ मजहत्थअत्थसुण्णत्ति ।
नामे चेव परिज्ञाग, सं जइ होहि इ जहट्ठं ॥ २ ॥

इह प्रस्तुतशास्त्रस्यावश्यकश्रुतस्कंध इति नाम तस्यचावश्य कस्य ये सामायिकादयःषडुद्देशाः स्तान्यध्ययनान्यऽभिधीयंते तत आवश्यकादिपदानामावश्यकं श्रुतस्कंधोऽध्ययनमित्येषां पदानां न्यासो निक्षेपः पृथक्कार्यःकुतइत्यस्मत्तेतोयंतल्किञ्चि न्नाम तावद्यथार्थं भवति यथा दीपो दहन इत्यादि । किंचित् त्वयथार्थं भवति यथापलाशो मंरूप इत्यादि अपरं त्वर्थशून्यंभव ति यथा डित्थकपित्थइत्यादि यथार्थं च शास्त्राभिधानमिष्य ते तत्रैव समुदायार्थावगतेरतो नाम्न्येव परीक्षाविचारणाक्रिय ते ततोज्ञाह्यमिदं यदि यथार्थं स्यादिति । विशे० ॥

अथ सामायिकाद्यध्ययनानामर्थाधिकारदर्शनार्थं प्रस्ताव नामाह ।

किंपुण अज्झयणं, जेणत्थत्था हिगाराविणिउत्तं ।
सामाइयाइयाणं, ते य इमे तज्जहासंखं ॥

आह किं पुनरिह कारणं येन षडध्ययनमिदमावश्यकं षडध्य यनानि तत्र तेभ्यः षडध्ययनमिति समासः अत्रोच्यते । येन षड्भिरर्थाधिकारैर्विनिर्युक्तं नियुक्तं ।
निबद्धं ते च षडर्थाऽधिकाराःसामायिकादीनां षण्णामध्ययनानां यथासंख्यमेव द्रष्टव्या इति । विशे. ॥

नन्वावश्यके किमिति षडध्ययनान्यत्रोच्यते षडर्थाधि कारयोगात् के पुनस्ते इत्याशंक्य तदुपदर्शनार्थमाह ।

आवास्सगस्स णं इमे अत्थाहिगारा जवंति । तंजहा ।
सावज्जजोगविरइ, उक्कित्तणगुणवओयपडिवत्ती । खलि
अस्सय निंदणा, वणातिगिच्छं गुणधारणं चेव ॥

आवश्यकषडध्ययनस्य वक्ष्यमाणा अर्थाधिकारा जवंति । त द्यथा । सावज्जजोगगाहा व्याख्या । प्रथमेसामायिकलक्षणे अध्ययने प्राणातिपातादिसर्वसावद्ययोगविरतिरर्थाधिकारः (उक्कित्तणत्ति) द्वितीये चतुर्विंशतिस्तवाध्ययने प्रधानकर्मे कारणत्वाल्लब्धबोधिविशुद्धिहेतुत्वात्पुनर्बोधिलाभफलत्वात्सा वद्ययोगविरत्युपदेशकत्वेनोपकारित्वाच्च तीर्थंकराणं गुणो त्कीर्तनार्थाधिकार ॥ (गुणओयपडिवत्ति) गुणा मूलोत्तर गुणरूपा व्रतपिंडविशुद्ध्यादयो विद्यंते यस्य स गुणवांस्त स्य प्रतिपत्तिर्वंदनादिकं कर्त्तव्येति तृतीये वंदनाध्ययनेऽर्थाधि कारश्चशब्दात्पुलाकवने गुणवतोऽपि प्रतिपत्तिकर्त्तव्येति द्रष्ट व्यं । उक्तं च ॥

परियायपरिसपुरिसं, खेत्तं कालं च आगमं नाउं ।
कारणजाए जाए, जहारिहं जस्स संजोगं ॥

(खलियस्स य निंदणत्ति) स्खलितस्य मूलोत्तरगुणेषुप्रमा दाचीर्णस्य प्रत्यागमसंवेगस्य अंतोविशुद्ध्यमानाध्यवसायस्या कार्यमिदमिति भावयतो निंदाप्रतिक्रमणे अर्थाधिकारः । व्रण ति गच्छतीतिव्रणः । व्रणचिकित्सा कायोत्सर्गाध्ययनेऽर्थाधि कारः । इदमत्रभवति । चारित्रपुरुषस्य योऽतिचाररूपो भावव्रणस्तस्य दशविधप्रायश्चित्त भेषजेन कायोत्सर्गा ध्ययने चिकित्सा प्रतिपाद्यते (गुणधारणा चेवत्ति) गुणधारणा प्रत्याख्यानाध्ययने अर्थाधिकारः । अयमत्र भावार्थः । मूलगुणोत्तरगुणप्रतिपत्तिस्तस्याश्च निरतिचारं संधारणं यथा भवति तथा प्रत्याख्यानाध्ययने प्ररूपणां करिष्यते च शब्दादन्येऽर्थाधिकारा विज्ञेयाः । एवकारोऽवधारण इति गाथार्थः । तदेवं यदादौ प्रतिज्ञातमावश्यकं निक्षेप्स्या मीति इत्यादि । तत्रावश्यकश्रुतस्कंधलक्षणानि त्रीणि पदानि निक्षिप्तानि । सांप्रतं त्वध्ययनपदमवसरायात मपि निक्षेप्स्यते वक्ष्यमाणे निक्षेपानुयोगद्वारओघनिष्पन्ननिक्षेपे तस्य निक्षेप्य मानत्वादत्रापि भणने च ग्रंथगौरवापत्तेरिति ॥

इदानीमावश्यकस्य यद्व्याख्यानं यच्च व्याख्येयं तदुपदर्श यन्नाह ।

आवस्सयस्स एसो, पिंडत्थो वण्णिओ समासेणं ।
एत्तो एकेक्कं पुण, अज्झयणं कित्तइस्सामि ॥ १ ॥
तं जहा । समाइयं १ चउवीसत्थओ २ वंदणय ३
पडिक्कमणं ४ काउसग्गो ५ पच्चक्खाणं ॥

व्या० आवश्यकस्यावश्यकपदाभिधेयस्य शास्त्रस्य एष पूर्वोक्तप्रकारपिण्डादिसमुदायार्थो वर्णितः कथितः । समा सेन संक्षेपेण । इदमत्र हृदयं । आवश्यकश्रुतस्कंध इति शास्त्र नाम पूर्वं व्याख्यातं । तत्र सामर्थ्यं ततश्च यथा सात्वर्थादि

चारादीनामत एव तद्वाच्यशास्त्रस्य चारित्राद्याचारोऽभिधास्यते इत्यादिलक्षणः समुदायार्थः प्रतिपादितो भवत्येवमत्राप्यावश्यकश्रुतस्कंध इति सान्वर्थनामकथनादवश्यं करणीयं सावद्ययोगविरत्यादिकं वस्त्वत्राभिधास्यत इति समुदायार्थः प्रतिपादितो भवति अत ऊर्द्ध्वं पुनरेकैकमध्ययनं कीर्त्तयिष्यामीति गाथार्थः । तत्कीर्त्तनार्थमेवाह तद्यथा सामायिकं चतुर्विंशतिस्तवो वंदनं प्रतिक्रमणं कायोत्सर्गप्रत्याख्यानं । विशे० । आ० म० प्र. १ अ. ॥

आवस्सयाणुओग–आवश्यकानुयोग–पुं० आवश्यकव्याख्याने, अनु० । आ० चू० १ अ. । विशे० ॥

कयपवयणप्पणामो, वोच्छं चरणगुणसंगहं सयलं ।
आवस्सयाणुओगं, गुरुवएसाणुसारेणं ॥

व्याख्या । वोच्छमिति क्रिया वक्ष्येऽभिधास्येऽत्यर्थः । किमित्याह (आवस्सयाणुओगंति) अवश्यं कर्त्तव्यमावश्यकं सामायिकादिरूपं । क्वचिदावासयाणुयोगमितिपाठस्तत्राप्यासमंतात् ज्ञानादिगुणैः शून्यं जीवं वासयति तैर्युक्तं करोतीत्यावासकं सामायिकादिरूपमेव तस्य वक्ष्यमाणशब्दार्थोऽनुयोगो व्याख्यानं विधिप्रतिषेधाभ्यामर्थप्ररूपणमित्यर्थः किंविशिष्टः सन्नित्याह (कयपवयणप्पणामोत्ति) प्रोच्यंते ऽनेनास्मादस्मिन्वा जीवादयः पदार्था इति प्रवचनं । अथ वा प्रशब्दस्याव्ययत्वेनाऽनेकार्थद्योतकत्वात्प्रगतं जीवादिपदार्थव्यापकं प्रशस्तमादौ वा वचनं द्वादशांगं गणिपिटकं आदित्वं चास्य विवक्षिततीर्थकरापेक्षया द्रष्टव्यं । नमस्तीर्थायेति वचनात्तीर्थकरेणापि तन्नमस्करणादिति । अथवा जीवादितत्वं प्रवक्तीति प्रवचनमिति व्युत्पत्तेर्द्वादशांगं गणिपिटकोपयोगानन्यत्वाद्वा चतुर्विधश्रीश्रमणसंघोऽपि प्रवचनमुच्यते । कृतो विहितो यथोक्तप्रवचनस्य प्रणामो नमस्कारो येन मया सोऽहं कृतप्रवचनप्रणामः किंस्वरूपमावश्यकानुयोगमित्याह (चरणगुणसंगहंति) चर्यते मुमुक्षुभिरासेव्यते इति चरण । अथवा चर्यते गम्यते प्राप्यते भवाब्धेः परकूलमनेनेति चरणं । व्रतश्रमणधर्मादयो मूलगुणाः गुण्यंते संख्यायंत इति गुणाः पिंडविशुद्ध्याद्युत्तरगुणरूपाः चरणंच गुणाश्च चरणगुणाः अथवा चरणशब्देन सर्वतो देशतश्च चारित्रमिह विवक्षितं । गुणशब्देन तु दर्शनज्ञाने ततश्च चरणं च गुणौच चरणगुणास्तेषां संगृहीतिः संग्रहश्चरणगुणसंग्रहस्तं स च देशतोऽपि भवतीत्याह । सकलं परिपूर्णं आह । नन्वावश्यकानुयोगस्तावदावश्यकव्याख्यानं । चरणगुणसंग्रहस्तु ज्ञानदर्शनचारित्रसंगृहीतिरूपस्ततोऽत्यंतभिन्नाधिकरणत्वात्कथमनयोः सामानाधिकरण्यं सत्यं किंतु (सामाइयं च तिविहं सम्मत्तसुअं तहाचरित्तं चेत्यादि) वक्ष्यमाणवचनादेकोऽपि सामायिकानुयोगस्तावत्संपूर्णचरणगुणसंग्राहकः । किं पुनः सकलावश्यकानुयोगस्ततश्च संपूर्णचरणगुणसंग्रहयुक्तत्वादावश्यकानुयोगोऽपि संपूर्णचरणगुणसंग्रहत्वेनोक्तो यथा दंडयोगा द्दण्डः पुरुष इत्यदोषः अथ वा चरणगुणानां संग्रहोयत्राऽवश्यकानुयोगेऽसौ चरणगुणसंग्रह इति बहुव्रीहिपक्षे प्रेर्यमेव नास्ति केवलमस्मिन् पक्षे सकलमिति विशेषणमावश्यकानुयोगस्य चरणगुणसंग्रहसंपूर्णत्वापेक्षयैव द्रष्टव्यमित्यंतश्च कष्टगम्यमित्युपेक्षते । आह । ननु यदि (सामाइयं च तिविह) मित्यादि वक्ष्यमाणवचनात्सामायिकस्य संपूर्णचरणगुणसंग्राहकत्वं तर्हि तदनुयोगस्य तद्रूपत्वे किमायातं नैतदेवं सामायिकं हि व्याख्येयं अनुयोगस्तु व्याख्यानं व्याख्येयव्याख्यानयोश्चैकाभिप्रायत्वादिहाभेदेन विवक्षितत्वाददोषः इत्यलमितिचर्चयेति अनेन च संपूर्णचरणगुणसंग्रहलक्षणेन स्वरूपविशेषणेनावश्यकानुयोगस्य महार्थतां दर्शयति भाष्यकारः । आह । ननु यदि त्वया आवश्यकानुयोगः स्वमनीषिकया वक्ष्यते तदाऽनादेय एवायं प्रेक्षावतां छद्मस्थत्वे सति स्वतंत्रतयाभिधीयमानत्वाद्रथ्यापुरुषवाक्यवदिति परवचनमाशंक्य तदुपन्यस्तहेतोरसिद्धतां उपदर्शयन्नाह (गुरुवएसाणुसारेणंति) गृणंति तत्वमितिगुरवस्तीर्थकरगणधरादयस्तेषामुपदेशो भणनं तदनुसारेण तत्पारतंत्र्येणावश्यकानुयोगमहं वक्ष्ये नतु स्वमनीषिकया अतः स्वतंत्रयाऽभिधीयमानत्वादित्यासिद्धो हेतुरिति भावः । यो हि छद्मस्थः सन्परमगुरूपदेशानपेक्षं स्वतंत्रमेव वक्ति रथ्यापुरुषस्येव तस्य वचोऽनादेयमिति ॥

वयमपि मन्यामहे केवलं तदिह नास्ति परमगुरूपदेशानुसारेणैवावश्यकानुयोगस्य मयाऽभिधीयमानत्वादिति । तदेव कृतप्रवचनप्रणामो गुरूपदेशनिश्चयसकलं चरणगुणसंग्रहरूपमावश्यकानुयोगमहं वक्ष्ये इति पिंडार्थः ॥

आह । ननु श्रीमद्भद्रबाहुप्रणीता सामायिकानिर्युक्तिरिह भाष्ये व्याख्यास्यते । तत्कथमिदमावश्यकानुयोगोऽभिधीयते तदेवमभिप्रायापरिज्ञानात्तथाहि । सामायिकस्य षड्विधावश्यकैकदेशत्वादावश्यकरूपता तावन्न विरुध्यते । तन्निर्युक्तिस्तद्व्याख्यानरूपैव व्याख्यानयोश्चैकाभिप्रायत्वादेकत्वमित्यनंतरमेवोक्तं । तस्मात्सामायिकस्य तन्निर्युक्तेश्च सर्वस्यावश्यकत्वात्तस्य चेह व्याख्यायमानत्वादावश्यकानुयोगरूपता भाष्यस्य न विहन्यत इत्यलंविस्तरेण । अस्याश्च गाथायाः प्रथमपादेन विघ्नसंघातार्थं मंगलहेतुत्वादिष्टदेवतानमस्कारः कृतः । शेषपादत्रयेण त्वभिधेयप्रयोजनसंबंधाभिधानमकारि । तत्रावश्यकानुयोगं वक्ष्य इति ब्रुवता आवश्यकानुयोगोऽस्यशास्त्रस्याऽभिधेय इति साक्षादेवोक्तं प्रयोजनसंबंधौ तु सामर्थ्यादुक्तौ तथाहि संपूर्णचरणगुणसंग्राहकत्वं दर्शयता ज्ञानदर्शनचारित्राधारताऽस्य शास्त्रस्य दर्शिता भवति । तद्रूपाणि शास्त्राणि पाठनश्रवणादिभिरनुशील्यमानानि स्वर्गापवर्गप्राप्तिनिबंधनानि भवंतीति प्रतीतमेव । अतः स्वर्गमोक्षफलावाप्तिरस्य शास्त्रस्य प्रयोजनमिति सामर्थ्यादुक्तं भवति । अभिधेयाऽभिधायकयोश्च वाच्यवाचकलक्षणः संबंधोऽप्यर्थादभिहितो भवति । अस्यां च संबंधप्रयोजनाभिधानादिचर्चायां बह्वपि वक्तव्यमस्ति केवलं बहुषु शास्त्रेष्वतिचर्चितत्वेन सुप्रतीतत्वात्तथाविधसाध्यशून्यत्वाच्च नेहोच्यते । अनेन चाऽभिधेयाभिधानेन शास्त्रस्य श्रवणादौ शिष्यप्रवृत्तिः साधिता भवति । अन्यथा हि न श्रवणादियोग्यमिदं निरभिधेयत्वात्काकदंतपरीक्षावदित्याशंक्य नेह कश्चित्प्रवर्त्तेत । उक्तंच ॥

सीसपवित्तिनिमित्तं, अभिधेयपओ अणाइं संबन्धो ।
ओवत्तयाइं सत्थे, तस्सुभत्तं मुणिज्जिहरा ॥

एवं मंगलाद्यभिधाने व्यवस्थापिते कश्चिदाह । नन्वर्हदादय एवेष्टदेवतात्वेन प्रसिद्धास्तत्किमिति तान्विहाय ग्रंथकृता प्रवचनस्य नमस्कारः कृतः । इत्यत्रोच्यते । नमस्तीर्थायेति वचनादर्हदादीनामपि वचनमेव नमस्करणीयं अपरं चार्हदादयोऽप्यस्मदादिभिः प्रवचनोपदेशेनैव ज्ञायंते तीर्थमपि च चिरकालं प्रवचनाधारेणैव प्रवर्त्तत इत्यादिविवक्षयाऽर्हदादिभ्योऽपि प्रवचनस्य प्रधानत्वान्ज्ञानादिगुणात्मकत्वाच्चेष्टदेवतात्वं नविरुध्यत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवचननमस्कारं च कुर्वद्भिः पूज्यैः सिद्धांततत्त्वावगमरसाऽनुरंजितहृदयत्वादात्मनःप्रवचनभक्त्यतिशयःप्रख्यापितो भवतीत्यलमितिविस्तरेण । मंगलादिविचारविषयश्चाक्षेपपरिहारादिकमिहैव ग्रंथकारोऽपि संक्षेपेण वक्ष्यतीति तदेवमियं गाथा सर्वोऽपि चायं ग्रंथो महामतिभिः पूर्वसूरिभिर्गंभीरवाक्यप्रबंधैः व्युत्पन्नभणितिप्रकारेण व्याख्यातः तच्च व्याख्यानमित्थं युक्तमपि गौरत्वं पांडुरोगन्यायेन मतिमांद्यात्सांप्रतकालीनशिष्याणां न तथाविधार्थावगमहेतुतां प्रतिपद्यत इत्याकलय्य मंदमतिनापि मया तेषां मंदतरमतीनां शिष्याणां अर्थावगमनिमित्तममुना ऋजुभणितिप्रकारेणेयं गाथा व्याख्याता । सर्वोऽपि च ग्रंथोऽयमनेनोल्लेखेन व्याख्यास्यत इति प्रतिपत्तव्यं । न च वक्तव्यं येषां महामतिपूर्वपुरुषवचनैरर्थावबोधो न संपद्यते तेषां मंदबुद्धेर्भवतो वचनेन कुतोऽयंसंपत्स्यते इति यतोजायत एव समानशीलवचनैः समानशीलानामर्थप्रतिपत्तिर्यदाह ।

गामिल्लुयाण गामिल्लु, एहिं मिच्छाण हुति मिच्छेहिं ।
सम्मं पडिवत्ती ओ, अत्थस्स नविबुहजणेएहिं ॥
नियभासायेजणंति, समाणसीलंमि अपडिवत्ती ।
जायइ मंदस्स वि, न उण विविह सक्कयपबंधेहिं ॥

इत्यलंबहुभाषितेनेति गाथार्थः । आवश्यकानुयोगोऽत्राऽभिधास्यत इत्युक्तं किंपुनरस्य फलादिकं यदवगम्य वयं तच्छ्रवणादौ प्रवर्त्तामह इति प्रेक्षावद्भिष्यवचनमाशंक्यावश्यकानुयोगस्य फलादीन्यभिधित्सुस्तत्संग्रहपरां द्वारगाथामाह ॥

तस्सफलजोगमंगल, समुदायत्था तहेवदाराइं ।
तब्भेयनिरुत्तकम, पओयणाइं चवच्चाइं ॥

व्याख्या । तस्येत्यावश्यकानुयोगस्य प्रेक्षावतांप्रवृत्तिनिमित्तं फलं मोक्षप्राप्तिलक्षणं तावदत्रग्रंथेवक्तव्यं ततोऽस्यप्रयोगःशिष्यप्रदाने संबंधोऽवसरः प्रस्तावो वाच्यः । आवश्यकानुयोगे च क्रियमाणे किं मंगलमित्येतदपि निरूपणीयं सामायिकाद्यध्ययनानां (सावज्जजोगविरइ ओ, कित्तणगुणवओ अपडिवत्ती) त्यादिगाथया समुदायार्थश्च सावद्ययोगविरत्यादिकोऽभिधानीयः । फलं च योगश्च मंगलं च समुदायार्थश्चेति समासः (तहेवदाराइंति) तथा द्वाराणि चोपक्रमनिक्षेपादीनि कथनीयानि तेषांद्वाराणां भेदोवक्तव्यः । तद्यथा आनुपूर्वी । नामप्रमाणवक्तव्यतार्थाधिकारसमवतारभेदादुपक्रमः षोढा । ओघनिष्पन्ननामनिष्पन्नसूत्रालापकनिष्पन्नभेदान्निक्षेपस्त्रिधा । सूत्रनिर्युक्तिभेदादनुगमो द्विधा । नैगमादिभेदान्नयाःसप्तविधा इत्यादि । उपक्रमणमुपक्रमो निक्षेपणं निक्षेप इत्यादि निरुक्तं च शब्दव्युत्पत्तिरूपं भणनीयं । तथा (कमत्ति) तेषामुपक्रमादि द्वाराणांप्रथममुपक्रम एव ततो यथाक्रमं निक्षेपादय एवेत्येवंरूपो योऽसौ नियतःक्रमः सयुक्त्याभिधानतोनिर्देष्टव्यो युक्तिं चात्रैव वक्ष्यति । तद्यथा नानुपक्रांतं निक्षिप्यतेनानिक्षिप्तमनुगम्यत इत्यादि तथोपक्रमादिद्वाराणां एवं प्रयोजनं शास्त्रोपकाररूपं नगरदृष्टांतेन वाच्यं । यथा सप्राकारं महानगरं किमप्यकृतद्वारं लोकस्य नाश्रयणीयं भवत्येकादिद्वारोपेतमपि दुःखनिर्गमप्रवेशं जायते चतुर्द्वारोपेतं तु सर्वजनाभिगमनीयं सुखनिर्गमप्रवेशं च संपद्यते । एवं शास्त्रमप्युपक्रमादिचतुर्द्वारयुक्तं सुबोधं सुखचिंतनधारणादिसंपन्नं भवतीत्येवमुपक्रमादि द्वाराणां सुखावबोधादिरूपः शास्त्रोपकारः प्रयोजनमेवक्ष्यत इति भावः । भेदश्च निरुक्तंच क्रमश्च प्रयोजनं चेति द्वंद्वंकृत्वा पश्चात्तेषामुपक्रमादिद्वाराणां भेदनिरुक्तक्रमप्रयोजनानीत्येवं षष्ठीतत्पुरुषसमासोविधेयः । चः समुच्चये वाच्यानीति यथा योगमर्थतः सर्वत्र योजितमेवेति द्वारगाथासंक्षेपार्थः ॥ २ ॥ विस्तरार्थंतु भाष्यकार एव दिदर्शयिषुर्यथोद्देशं निर्देश इति कृत्वा प्रेक्षावतां प्रवृत्त्यर्थमावश्यकानुयोगफलप्रतिपादिकां तावद्गाथामाह ।

नाणकिरियाहिं मुक्खो, तम्मयमावस्सयं जओतेणं ।
तव्वक्खाणारंभो, कारणओकज्जसिद्धित्ति ॥

व्याख्या । ज्ञानं च सम्यगऽवबोधरूपं क्रियाच तत्पूर्वकसावद्याऽवद्ययोगनिवृत्तिप्रवृत्तिरूपा ज्ञानक्रिये ताभ्यां तावन्मोक्षोऽशेषकर्ममलकलंकाभावरूपः साध्यत इति सर्वेषामपि शिष्टानां प्रमाणसिद्धमेव दर्शनस्य ज्ञान एवांतर्निहितत्वादिति । यदि नाम ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षस्तत्रावश्यकानुयोगस्य किमायातं येन फलवत्तया प्रेक्षावतां तत्र प्रवृत्तिः स्यादित्याह तन्मयमावश्यकं ताभ्यां ज्ञानक्रियाभ्यां निर्वृत्तंतन्मयं ज्ञानक्रियास्वरूपमावश्यकं तत्कारणत्वादिति भावः । यथा ह्यायुर्वृद्धिकारणत्वेनोपचाराल्लोके घृतमायुरुच्यते नड्वलोदकं वा पादरोगकारणत्वात्तथैवाभिधीयते एवंप्रस्तुतानुयोगविषयीकृतं सामायिकादिषडध्ययनसूत्रात्मकमावश्यकमपि सम्यग्ज्ञानक्रियाकारणत्वात्स्वरूपमेव तदध्ययनश्रवणचिंतनतदुक्ताचरणप्रवृत्तानामवश्यं सम्यग्ज्ञानक्रियाप्राप्तेस्तस्मादुक्तन्यायेन ज्ञानक्रियात्मकं यत् आवश्यकमतस्तस्यावश्यकस्य व्याख्यानं अनुयोगस्तद्व्याख्यानं तस्यारंभप्रेक्षावता क्रियमाणो न विरुध्यते । आवश्यकात्सम्यग्ज्ञानक्रियाप्राप्तिद्वारेण मोक्षलक्षणफलसिद्धेः । नन्वित्थंतर्ह्यावश्यकात्सम्यग्ज्ञानक्रियाप्राप्तिस्ताभ्यां च मोक्षलक्षणफलसिद्धिरित्येवमावश्यकस्यैव पारंपर्येणमोक्षात्मकं फलं स्यात् नपुनस्यदनुयोगस्य फलचिंता त्वस्यैवेह प्रस्तुतेतिचेत्सत्यं किंत्वावश्यकं व्याख्येयं तद्व्याख्यानं चानुयोगो व्याख्यानेनव्याख्येयगत एव सर्वोऽभिप्रायः प्रकटीक्रियतेऽतोव्याख्येयस्ययत्फलं व्याख्यानस्य तत्सुतरामवसेयं तयोरेकाऽभिप्रायत्वात् तस्मात् मोक्षलक्षणं फलमभिवाञ्छता आवश्यकानुयोगेऽवश्यं प्रवर्तितव्यमेव ततोऽपि ज्ञानक्रियाप्राप्ते स्ताभ्यां च मोक्षफलसिद्धिरिति ।

यदि नामावश्यकानुयोगतो ज्ञानक्रियावाऽप्तिस्ताभ्यां च मोक्षसिद्धिस्तथापि किमिति तत्र प्रवर्तितव्यं न पुनर्यत्र कुत्रचित्षष्ठितंत्रादावित्याह । कारणात्कार्यसिद्धिर्नोकारणादिति कृत्वा कारणे हि सुविवेचितेप्रवर्त्तमानाः प्रेक्षावंतः समीहितमभतिहतं कार्यमासादयंति नाकारणे अन्यथा तृणादपि हिरण्यमणिमौक्तिकावाप्तेः सर्वविश्वमदरिद्रं स्यात्कारणं च पारंपर्येणावश्यकानुयोग एव मोक्षस्य न षष्ठितंत्रादिकं ज्ञानक्रियाजननद्वारेण तस्य मोक्षसंसाधकत्वादितरस्य तु पारंपर्येणापि तदसाधकत्वादिति गाथार्थः ।

उक्तं फलद्वारमधुना योगद्वारमभिधित्सुराह ।

भव्वस्स मोक्खमग्गाहि, लासिणो त्रिअगुरुवएसस्स ।
आइए जोगामिणं, बालगिलाणस्स वाहारं ॥

व्याख्या । यदादौ प्रतिज्ञातं शिष्यप्रदानेऽस्य योग्योऽवसरो वाच्यइति । तत्राह । समस्तद्वादशांगाऽध्ययनकालस्यादौ प्रथममिदं षड्विधमावश्यकं योग्यमुपदिशंति मुनयः शेषसमग्रश्रुतप्रदानकालस्यादौ प्रथममेवावश्यकप्रदानस्याऽवसरइतिभावः कस्य पुनरिदमावश्यकं योग्यमादिशंति मुनयःइत्याह । भव्यस्यमुक्तिगमनयोग्यस्य जंतोः स च कश्चिद्दूरभव्योऽसंजात-

मोक्षमार्गाभिलाषोऽपि भवति । तद्व्यवच्छेदार्थमाह । मोक्षमार्गः सम्यक् ज्ञानदर्शनचारित्ररूपस्तमुत्तरोत्तरवृद्ध्यादिरूपमभिलषितुं शीलमस्य स तस्य अयं चैवंविधोऽपरिणतगुरूपदेशोऽपि स्यात्तन्निरासार्थमाह । स्थितः कर्तव्यतया परिणतो गुरूपदेशो यस्यासौ स्थितगुरूपदेशस्तस्य किं यथायोग्यमुपदिशंतीत्याह । बालग्लानयोरिवाहारं यथोपदिशंति भिषजोऽति गम्यते, । इदमुक्तं भवति। यथा आदौ बालस्य कोमलमधुरादिक ग्लानस्य च पेयमुद्गयूषादिकं तत्कालोचितं उत्तरोत्तरबलपुष्ट्यादिहेतुमाहारयोग्यं भेषजं समुपदिशंति तथेहापिभव्यादिविशेषण विशिष्टस्य अंतोरादाविदमेवावश्यकमुत्तरोत्तरगुणवृद्धिहेतुभूतयोग्यमुपदिशंति तीर्थकरगणधरा इति आवश्यकस्य चादौ शिष्यप्रदानाऽवसरे प्रतिपादिते तदनुयोगस्याऽसौ प्रतिपादित एव द्रष्टव्यस्तयोरेकत्वस्यानंतरमेवाख्यातत्वादिति गाथार्थः ॥ ४ ॥

आह ननु यस्य भव्यादिविशेषणविशिष्टस्यादौ योग्यमिदमावश्यकं तस्मै योग्यमित्येतावन्मात्रमेव ज्ञात्वा तद्ददत्याचार्या आहो स्विदन्योऽपि तत्र कश्चिद्विधिरपेक्षणीय इति शिष्यवचनमाशंक्यास्मिन्नेवानुयोगद्वारे तद्दानविधानादि किंचिल्लेशतः प्रासंगिकमभिधित्सुराह ।

कयपंचनमुक्कारस्स, दिंत्तिसामाइयाय विहिणा ।
आवस्सयमायरिया, कमेण तो सेसयसुअं पि ॥

व्याख्या । भव्यादिविशेषणविशिष्टस्याऽपि शिष्यस्य कृतपंचनमस्कारस्य चतुर्थ्यर्थे षष्ठी कृतपंचनमस्काराय मंगलार्थमुच्चारितपंचनमस्कृतिमंगलायेत्यर्थः ॥
सामायिकादिकमावासकं विधिना प्रशस्तद्रव्यक्षेत्रकालभावरूपेण प्रशस्तदिगभिमुखव्यवस्थापनारूपेण च समयोक्तेन ददत्याचार्या नपुन योग्यमित्येतावन्मात्रकमेव ज्ञात्वेति भावः (तत ऊर्ध्वमस्मै किं न किंचित् ददतीत्याह) क्रमेण ततः शेषमप्याचारादिश्रुतं प्रयच्छंति यावत्श्रुताब्धेः पारमिति गाथार्थः
आवश्यकानुयोगप्रदानेऽप्ययमेव विधिरित्यावेदयितुमाह ॥

तेणेवयाणुओगं, कमेण तेणेव याऽहिगारोयं ॥
जेण विणयहियत्था, थत्थेरकप्पे कमो एसो ॥ १ ॥

चकारोऽपि शब्दार्थोभिन्नक्रमश्च । ततस्तेनैव पंचनमस्कारकरणादिना क्रमेणानुयोगमपि सूत्रव्याख्यानरूपं ददत्याचार्या इति वर्तते अनयोश्च सूत्रप्रदानक्रमानुयोगप्रदानक्रमयोर्मध्ये तेनैव प्रस्तुतगाथाप्रक्रांतेनानुयोगप्रदानक्रमेणायमस्मदभिमतोऽधिकारः अनुयोगस्यैवेह प्रस्तुतत्वादितिभावः । कुतः पुनरिहानुयोगप्रदानक्रमेणैवाऽधिकारः इत्याह । येन कारणेन विनेयहितार्थं शिष्यवर्गस्योत्तरोत्तरगुणप्राप्तिमपेक्ष्येत्यर्थः । स्थविराणां गच्छवासिनां साधूनां योऽसौ विकल्पः सामाचारविशेषस्तस्यैषोऽनंतरगाथावक्ष्यमाणलक्षणः क्रमः परिपाटीरूपस्तेन कारणेनाऽनुयोगप्रदानक्रमेणैवेहाधिकारोऽयमिति. विशे० ॥

आवस्सिया—आवश्यिकी—स्त्री० अवश्यं कर्तव्यमावश्यकम् तत्र भवाऽऽवश्यिकी अनु०। अवश्यंकर्तव्यैर्योगैर्निष्पन्नाऽऽवश्यकी स्था० ठा. १० । अवश्यं कर्तव्यैश्चरणकरणयोगैर्निर्वृत्ताऽऽवश्यकी जीत. । आव. ३ अ. । अप्रमत्तत्वेनावश्यकर्त्तव्यव्यापारे भवाऽऽवश्यकी उत्त० २६ अ. । आवश्यकेषु अप्रमत्ततयाऽवश्यकर्त्तव्यव्यापारेषु सत्सु भवाऽऽवश्यिकी ग० २ अ. सामाचारीभेदे, (पढमा आवस्सिया नामं) उत्त. २६ अ. । प्रथमा सामाचारी आवश्यकी नाम्नी यतः उपाश्रयात् निर्गच्छन् साधुरावश्यकीति वदति उपाश्रयात् बहिर्निःसरणं चावश्यकीं विना न स्यात् तेन आवश्यकीति प्रथमा सामाचारी ज्ञानाद्यालंबनेनोपाश्रयात् बहिरवश्यं गमने समुपस्थितेऽवश्यंकर्तव्यमिदमतोगच्छाम्यहमित्येवं गुरुं प्रतिनिवेदनाऽऽवश्यकीति हृदयम् । अनु० । वृ० १ उ. । स्था० । प्रव० ।

(गमणे आवस्सियं कुज्जा) उत्त० गमने स्वस्थानादन्यत्रगमने अप्रमत्तत्वेन अवश्यकर्त्तव्यव्यापारे भवा आवश्यिकी तां आवश्यिकीं कुर्य्यात् यतोहि साधोर्गमनंनिष्प्रयोजनं नास्ति यदि अवश्यं किंचित्कार्य्यं समुत्पन्नं वर्त्तते तदैव साधुः स्वस्थानादुत्थितोस्ति इति भावः ।

अथाऽवश्यकीस्वरूपमाह ।

कज्जेणं गच्छंतस्स, गुरुणिओएणसुत्तणीइए ।
आवस्सियत्तिणेया, सुद्धा अवत्थजोगाओ ॥

व्याख्या० । कार्येण ज्ञानादिप्रयोजनेनानेन निष्कारणगमननिषेध उक्तो गच्छतो वसतेर्निर्गच्छतः साधोः किंस्वच्छंदेन नेत्याह । गुरुनियोगेन गुर्वनुज्ञया तत्रापि सूत्रनीत्यागमन्यायेन (इयास) मित्यादिलक्षणेन किमित्याह ।
आवश्यिकी अवश्यंकृत्यनिर्वृत्ता निर्गमक्रियात्सूचिका वाक् इति एवमुक्तन्यायेन ज्ञेयाऽवसेया किंभूतशुद्धाऽनवद्याकुतइत्याह । अन्वर्थयोगात् अनुगतशब्दार्थसंबंधात् अन्वर्थश्चोक्त एव प्रकारांतरेण पुनरप्युक्तेति गाथार्थः ॥

कार्येण गच्छत इत्युक्तं किंपुनस्तदित्याह ॥

कज्जंविणाण दंसण, चरित्तजोगाण साहगं जंतु ।
जइणो सेसमकज्जं, तत्थ आवास्सियासुद्धा ॥ १० ॥

व्याख्या । इहापि शब्द : पुनरर्थः ततश्चावश्यिकी कार्येणगच्छतो भवति कार्यं पुनर्ज्ञानदर्शनचारित्रयोगादित्रयगतव्यापाराणां साधकं हेतुभूतं भिक्षाटनादि यत् इह तादिति शेषोऽत्रय स्तुशब्दश्चैवकारार्थस्ततश्च तदेव नान्यत् कस्येत्याह । यतेः साधोः शेषं ज्ञानादिसाधनादन्यद्कार्यमप्रयोजनंमुमुक्षुत्वात्साधोरिति किं वातइत्याह नैव तत्र ज्ञानाद्यसाधनप्रयोजनेगच्छत इति गम्यते आवश्यिकी पूर्वोक्तनिर्वचनाच्छुद्धानिर्दोषान्वर्था भावादिति गाथार्थः ।

यद्यसौ न शुद्धा तर्हि किंविधा सेत्याह ॥

वइमेत्तं णिव्विसयं, दोसायमुसत्तिएव विण्णेयं ।
कुसलेहिं वयणाओ, वइरेगेणंजओभणियं ॥ २ ॥

व्याख्या। वागेव वचनमेव वाङ्मात्रं सावश्यिकीति प्रकृतं वाङ्मात्रमित्यत्रावधारणार्थमात्रशब्दस्य व्यवच्छेद्यं यदाह निर्विषयं निर्गोचरमनर्थकमित्यर्थः किंफलंच तदित्याह दोषाय कर्मबंधलक्षणदूषणार्थं कस्मादेवमित्याह मृषेति अनृतामिति कृत्वा प्रतीतं चानृतस्य दोषार्थत्वमिति (एवत्ति) इहानुस्वारस्याऽश्रवणं छंदोवशात् एवमुक्तस्वरूपं विज्ञेयं ज्ञातव्यं कुशलैर्निपुणैरन्येषां ज्ञानासत्कत्वावचननादागमाद्विवक्षितवचनस्यैव प्रस्तावमार्थमाह । व्यतिरेकेण प्रक्रमविपर्ययेण यतोयस्माद्भणितमुक्तं सामायिकानिर्युक्ताविति गाथार्थः ॥

यदुक्तं तदाह ॥

आवास्सियाउ आवस्स, एहिं सव्वेजुत्त जोगस्स ॥
एयस्सेसो उचिओ, इयरस्स णचेव णत्तिपि ॥

व्याख्या । आवश्यिकी तु प्रागुक्तनिर्वचना तु पुनः शब्दार्थः आवश्यकैः प्रतिक्रमणादिभिः सर्वैः समस्तैर्युक्तयोगस्य संयुक्तकायादिचेष्टस्य शुद्धा भवतीति शेषः । तादिदव्यतिरेकभणितं

तं नैवंविधस्य वाङ्मात्रत्वात्तस्या इति कथमेवं विभ्रस्येयं युक्ता भवतीत्याह एतस्यावश्यकयुक्तस्य एष इति पूर्वतमगा-थोक्तोऽन्वर्थयोगः आवश्यिकीशब्दाकारूपे उचितः संगतो विद्यमानत्वात् तत्व्यतिरेकमाह (इयरस्सत्ति) इहोत्तरस्य पुनरर्थस्य चशब्दस्य संबंधादितरस्य पुनरनावश्यकयुक्तस्य नैव उचितएव इति प्रकृतं कुतइत्याह नास्तीति कृत्वाऽविद्य-मानत्वादन्वर्थाजावादित्यर्थः । अतस्तस्य वाङ्मात्रमेवासावि-ति गाथार्थः ।

उक्ताऽवश्यिकी पंचा० १२ वृ० ॥ ध० ३ अधि० ॥

साम्प्रतमावश्यिकी नैषेधिकी द्वारद्वयावयवार्थमभिधित्सुः पातनिका गाथामाह ।

आवस्सियं च निंतो, जं चायं तो निसीहियं कुणइ ॥

एयं इच्छंनाउं, गणिवरतुज्जंतिए निउणं ॥

आवाश्यिकी पूर्वोक्तशब्दार्था तां आवाश्यिकीं (निंतो) निर्गच्छन् प्रविशन् इत्यर्थः । नैषेधिकीं करोति एतत् आवाश्यिकीं (निंतो) निर्गच्छन् यां च (आयंतो) आगच्छन् प्रविशन् इत्यर्थः नैषेधिकीं करोति एतत् आवश्यिकी रूपद्वयमपि स्वरूपादिभेदभिन्नं इ-च्छामि ज्ञातुं हेगणिवर? युष्मदंतिके निपुणं सूक्ष्मं एतत् ज्ञातु-मिच्छामीति क्रिया विशेषणं एवं शिष्येणोक्ते सत्याह आचा-र्यः ॥

आवस्सियं च निंतो, जं चायंतो निसीहियं कुणइ ।

वंजणमेयं तु दुहा, अत्थो पुणहोइसो चेव ॥

आवश्यिकीं निर्गच्छन् यां च प्रविशन्नैषेधिकीं करोति एतद् व्यंजनं शब्दरूपं द्विधा किमुक्तं जवति आवश्यकीं नैषेधिकीं चेति द्वयं शब्द एव भिन्नमर्थः पुनर्भवत्यावश्यकीनैषेधिक्योः स एव एकएव यस्मादवश्यकर्तव्ययोगक्रिया आवश्यकी ॥ निषिद्धात्मनश्चारेभ्यः क्रिया नैषेधिकी नहासावश्यकर्त्तव्य म व्यापारमुल्लंघ्य वर्तते आह । यद्येव भेदोपन्यासः किमर्थः उच्यते गमनस्थिति क्रियाभेदात् आह । आवश्यकीं निर्ग-च्छन्नित्युक्तं तत्र साधो किमवस्थानं कर्त्तं यत आह ।

एगग्गस्स पसंतस्स, नहोंति इरियादयो गुणा होंति।

गंतव्वमवस्सं, कारणंमि आवस्सिया होइ॥

एकमग्रमालंबनं यस्येत्यस्यायेकाग्रस्तस्य स च प्रशस्तालं बनोऽपि भवति तत आह । प्रशांतस्य क्रोधरहितस्य सतस्ति ष्ठतः किं न भवति ईर्यादयः ईरणमीर्या गमनमित्यर्थः । इह ईर्या कार्ये कर्म्म ईर्याशब्देन गृह्यते । कारणे कार्योपचारात् ईर्या आदिर्येषामात्मसंयमविराधनादीनां दोषाणां ते ईर्यादय, न जवंति । तथा गुणाश्च स्वाध्यायध्यानादयो जवंति । प्रा तर्हि संयतस्य आगमनमेव श्रेय इत्यपवादमाह । नचाव-स्थाने खलूक्तगुणसंजवाद्गंतव्यमवश्यं नियोगतः कारणे गुरुग्लानादिसंबंधिनियतस्तत्रागच्छतो दोषास्ततः कारणे ग-च्छन आवश्यकी भवति आह कारणेन गच्छतः किं सर्व्वस्यै वावश्यकी भवति उत नेति उच्यते नेति कस्य तर्हि तदुच्यते।

आवस्सिया उ आवस्स, एहिं सव्वेहिं जुत्तजोगिस्स ।

मणवयणकायगुत्ति, दियस्स आवस्सिया होइ ॥

आवश्यकी आवश्यकैः प्रतिक्रमणादिभिः सर्वैर्युक्ता योगि-नो भवति शेषकालमपि निरतिचारस्य क्रिया स्थास्यति भा-वार्थः । तस्य च गुरुनियोगादिना प्रवृत्तिकालेऽपि(भण)इत्या-दिमनोवाक्कायैरिंद्रियैर्गुप्तस्य किमावश्यकी जवति । सूत्रे इंदि यशब्दस्य गाथाजंगभयाद्व्यवहित उपन्यासः कार्यात् पृथगिं-द्रियग्रहणं प्राधान्यख्यापनार्थं अस्ति चायं न्यायःसामान्यग्रहणे सत्यपि प्राधान्यख्यापनार्थं जेदेनोपन्यासो यथा ब्राह्मणा आयाता वशिष्ठोऽप्यायात इति उक्ता आवश्यकी । आ. म. द्वि. १ अ. ॥

आवह—आवह—पुं० आवहति आभिमुख्येन गच्छति आ-वह अच्-सप्तस्कंधापन्नवायोः प्रथमे स्कंधे भूवायौ भूवायुरावहइह प्रवहस्तदूर्ध्वम-सि० शि० (आवहः प्रवहश्चैव विवहश्च समी-रणः । परावहः संवहश्च उद्वहश्च महाबलः । तथा परिवहः श्रीमान्) हरि वं० आवहति प्रापयाति आ-वह-अच् प्रापके त्रि० वाच०। (णो पूयणं तवसा आवहेज्जा) नापि तपसा पूजनं सत्का रमावहेत् न पूजनसत्कारनिमित्तं तपः कुर्यादित्यर्थः सूत्र. ७ अ०

आवहमाण—आवहमान— त्रि-आ-वह-शानच्-क्रमागते-वाच. ।

आवाव—आवाप-पुं-आ-वप्-आधारे वा घञ् वाच० ।

आवावकहा—आवापकथा-स्त्री० विकथाभेदे व्याख्या भत्तकहा शब्दे स्था० ॥

आवास—आवश्य न० आवश्यके व्य० १ उ० ॥

आवास—पुं० आवसन्ति येषु ते आवासाः भ. १ श.५ उ. आ-वस्-आधारे-घञ् आश्रये-स्था० वासस्थाने गृहादौ वाच० जेसिं ते आवासा-येषां देवानां ते निश्रय आवासा आश्रया इति स्था० ए ठा. आवसंत्यस्मिन्नित्यावासः मनु-ष्यादिजवे मनुष्यादिशरीरे च (अणिच्चमावासमुवेति जंतुणा आवसंत्यस्मिन्नित्यावासो मनुष्यादिजवस्तच्छरीरं वा तम-नित्यं उपसामीप्येन यंति गच्छंति जंतवः प्राणिन इति आचा० । नरका वासाःनरकावासशब्दे । अथासुराद्यावास-विषयमभिलाषं दर्शयति । सम० ।

केवइयाणं जंते असुरकुमारवासा प० गोयमा० इमीसे-णं रयणप्पजाए पुढवीए असी उत्तरजोयणं सयसहस्स बाहल्लाए उवरि एगं जोयणसहस्सं ओगाहेत्ता अट्ठह-त्तरिंजोयणसहस्से एत्थणं रयणप्पजाए पुढवीए चउ-सहिं असुरकुमारावास सयसहस्सा प० तेणं जवणावाहिं वट्टा अंतो चउरंसा अहो पोक्खर कन्निआ संठाण सं-ठिया उक्किन्नंतर विउल गंजीर खाय फलिहा अट्टा-लय चरिय दार गोउर कवाम तोरण पमिडुवार देस जागा जंत मुसल भुसंढि सयग्घि परिवारिया अउज्ज्ञा अमयाल कोट्ठरइया अमयालकय वरा माला लाउल्लो-इय महिया गोसीस सरस रत्तचंदण ददरविन्न पंचंगु-लितला कालागुरु पवर कुंदुरुक्क तुरुक्कमज्जंत धूवमघमघेंत गधुदधुयाभिरामा सुगंध वरगंधिया गंधवट्टि जूया अच्छा सण्हा लण्हा घट्ठा मट्ठा नीरया णिम्मला वितिमिरा विसुध्दा सप्पजा समरीया सउज्जोआ पासाईया दरिस णिज्जा अभिरूवा पमिरूवा एवं जंजस्स कमातीतं तस्स जंजं गाहाहिं जणियं तहचेव वन्नओ ॥

टी० वृत्तप्राकारावृत्तनगरवत् अंतः समचतुरस्राणि तदवका-शादेतस्य चतुरस्रत्वात् अधः पुष्करकर्णिकासंस्थानसंस्थिता-नि पुष्करकर्णिकापद्ममध्यजागः सचोन्नतसमचित्रबिंदुकिनीज-वतीति तथा उत्कीर्णांतरविपुलगम्भीरखातपरिखानि उत्कीर्ण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लुवनमुत्कीर्य पालीरूपं कृतमंतरमंतरालं ययोस्ते उत्कीर्णांतरे ते विपुलगम्भीरे खातपरिखे येषां तानि तत्र खातमध उपरि च समम्परिखा उपरि विशाला अधः संकुचिता तयोरंतरेषु पाली अस्तीति भावः । तथा अट्टालकाः प्राकारस्योपर्याश्रयविशेषाः चरिका नगरप्राकारयोरंतरमष्टहस्तो मार्गः पाठान्तरेण (चतुरयंति) चतुरकाः सभाविशेषाः ग्रामप्रसिद्धाः (दारगोउरत्ति) गोपुरद्वाराणि प्रतोल्यो नगरस्येव कपाटानि प्रतीतानि तोरणान्यपि तथैव प्रतिद्वाराणि अवांतरद्वाराणि तत एतेषां ढेंढ एतानि देशलक्षणेषु भागेषु येषां तानि तथा इह देशो भागश्चानेकार्थस्ततोन्योन्यमनयोर्विशेष्यविशेषणभावो दृश्यत इति तथा यंत्राणि पाषाणक्षेपणयंत्राणि मुशलानि प्रतीतानि मुशुंढ्यः प्रहरणविशेषाः शतघ्न्यः शतानामुपघातकारिण्यो महाकायाः काष्ठशैलस्तम्भयष्टयः ताभिः (परियारियत्ति) परिवारितानि परिकरितानीत्यर्थः । तथा आयोधानि योधयितुं संग्रामयितुंदुर्गतत्वान्न शक्यंते परबलैर्यानि तान्ययोधानि अविद्यमाना वा योधाः परबलसुभटा यानि प्रतीतान्ययोधानि तथा (अरुयालकोठगरइयत्ति) अष्टचत्वारिंशद्भेदभिन्नविचित्रछंदोगोपुररचितानि अन्ये भणंति अरुयालशब्दः किल प्रशंसावाचकः तथा (अरुयालकयवणमालत्ति) अष्टचत्वारिंशद्भेदभिन्नाः प्रशंसार्हाः कृता वनमाला वनस्पतिपल्लवस्रजो येषु तानि तथा (लाइयंति) यद्भूमेश्छगणादिनोपलेपनं (उल्लोइयंति) कुरुयमालानां सेटिकादिभिः सम्मृष्टीकरणं ततस्ताभ्यामिवमहितानि पूजितानि (लाउल्लोइय) महितानि तथा गोशीर्षचन्दनविशेषः सरसंच रसोपेतं यद्रक्तचंदनं चंदनविशेषः ताभ्यां दर्दराभ्यां घनाभ्यां दत्ताः पंचांगुलयस्तलाहस्तका कुड्येषु येषु अथवा गोशीर्षसरसस्य रक्तचन्दनस्य सत्का दर्दरेण चपेटानिघातेन दर्दरेषु वा सोपानवीथीषु दत्ताः पंचांगुलयस्तला येषु तानि गोशीर्षसरसरक्तचन्दनदर्दरदत्तपंचांगुलितलानि तथा कालागुरुः कृष्णागुरुर्गंधद्रव्यविशेषः प्रवरः प्रधानः कुन्दुरुक्कश्चीडा तुरुष्कः सिल्हकं गंधद्रव्यमेव एतानि च तानि (डज्झंतित्ति) दह्यमानानि चेति विग्रहः तेषां योधूमो (मघमघेतत्ति) अनुकरणशब्दोऽयं मघमघायमानो बहलगंध इत्यर्थः । तेनोद्धुराणि उत्कटानि तानि तथा तानि च तान्यभिरामाणि रमणीयानीति समासः । तथा सुगन्धयः सुरभयो ये वरगंधाः प्रधानवासास्तेषां गन्ध आमोदो येष्वस्ति तानि सुगन्धि वरगंधिकानि तथा गंधवर्ति गंधद्रव्याणां गंधयुक्तिशास्त्रोपदेशेन निर्वर्तितगुटिकातद्भूतानि तत्कल्पानीति गन्धवर्तिभूतानि प्रवरगन्धगुणानीत्यर्थः । तथा अच्छानि आकाशस्फटिकवत् । (सएहत्ति) श्लक्ष्णानि सूक्ष्मस्कंधदलनिष्पन्नत्वात् श्लक्ष्णदलनिष्पन्नपटवत् (लण्हत्ति) मसृणानीत्यर्थः । घुटितपटवत् (घट्टत्ति) घृष्टानि खरशाणया पाषाणप्रतिमावत् (मट्ठत्ति) मृष्टानीव मृष्टानि सुकुमारशाणया पाषाणप्रतिमेव शोधितानि वा प्रमार्जनिकयेव अतएव (नीरयत्ति) नीरजांसि रजोरहितत्वात् (निम्मलत्ति) निर्मलानि कठिनमलाभावात् (वितिमिराणि) निरंधकारत्वात् (विसुद्धत्ति) विशुद्धानि निष्कलंकत्वाच्चन्द्रवत् सकलंकानीत्यर्थः तथा (सप्पहत्ति) सप्रभाणि स प्रभावाणि अथवा स्वेनात्मना प्रभांतिशोभंते प्रकाशंते वेति स्वप्रभाणि यतः (समरीयत्ति) समरीचीनि सकिरणानि अतएव (सउज्जोयंति) सहउद्योतेन वस्त्वंतरप्रकाशनेन वर्तंत इति सोद्योतानि (पासाईयत्ति) प्रासादीयानि मनः प्रशांतिकराणि (दरिसणिज्जत्ति) दर्शनीयानि तानि हि पश्यंश्चक्षुषा न श्रमं गच्छतीति भावः (अभिरूवत्ति) अभिरूपाणि कमनीयानि (पडिरूवत्ति) प्रतिरूपाणि द्रष्टारं प्रतिरमणीयानि नैकस्य कस्यचिदेवेत्यर्थः । एवमित्यादि यथासुरकुमारावास सूत्रे तत्परिमाणमभिहितमेवमेवमिति यथा यद्भवनादिपरिमाणं यस्य नागकुमारादिनिकायस्य क्रमते घटते तत्तस्य वाच्यमिति किंविधं तत्परिमाणमतआह । " जंजंगाहाहिंभणियं " यद्यद्गाथाभिः चउसट्ठिअसुराणमित्यादिकाभिरभिहितं किम्परिमाणमेव तथावाच्यं (तहेत्याह) । (तहचेववमओत्ति) यथा असुरकुमारभवनानां वर्णक उक्तस्तथा सर्वेषामसौ वाच्य इति तथाहि ।

केवइयाणं भंते नागकुमारावासा पमुत्ता गोयमा इमीसेणं रयणप्पभाए पुढवीए असीउत्तर जोयण सयसहस्स पमाणाए उप्पिं एगं जोयणसहस्सं ओगाहेत्ता । हेठावेगं जोयण सहस्सं वज्जेत्ता मज्झे अट्ठहत्तरेजोयण सहस्से एत्थणं रयणप्पभाए चुलसीइ नागकुमारा वाससयसहस्सा पमुत्ता तेणं भवणा इत्यादीनि सम. ॥

तथाच भगवत्याम ॥

केवइयाणं भंते असुरकुमारा भवणावास सयसहस्सा पं. गोयमा ! चउसट्ठिं असुर कुमार भवणावाससय सहस्सा पं० तेणं भन्ते ! किंमया पं० गोयमा ! सव्वरयणामया अच्छा सण्हा जाव पडिरूवा तत्थणं बहवे जीवाय पोग्गलाय वक्कमंति विउक्कमंति चयंति उववज्जंति सासयाणं ते भवणा दव्वट्ठयाए वण्णपज्जवेहिं जाव फासपज्जवेहिं असासया एवं जावथणियकुमारावासा भ. श. १९ उ.७ ॥

आवासपरिमाणं चासुरादीनामपि दशानां गाथया संगृह्णाति ॥

चउसट्ठि असुराणं, चउरासीइं च होइ नागाणं ॥
बावत्तरि सुवन्नाणं, वाउकुमाराण बणउइ ॥ ३ ॥
दीवदिसाउद हीणं, विज्जकुमारिंदथणियमग्गीणं ॥
छण्हंपि जुवलयाणं, बावत्तरिओ य सयसहस्सा॥४॥ सम०

(छण्हंपि जुयलयाणंति)दक्षिणोत्तरभेदेनासुरादिनिकायोद्विभेदो भवतीति युगलान्युक्तानि तत्र षट्सु युगलेषु प्रत्येकं षट्सप्ततिर्भवनलक्षाणामिति एषां चासुरादिनिकाययुगलानां दक्षिणोत्तरदिशोरयं विभागः (चउतीसा चउचत्ता, अट्ठत्तीसं च सयसहस्साउं । पण्णाचत्तालीसा, दाहिणओ होंति भवणाइं ॥ १ ॥ चत्तालीसत्ति ॥ द्वीपकुमारादीनांषण्णांप्रत्येकं चत्वारिंशद्भवनलक्षाणि तीसा चत्तालीसा, चोत्तीसं चेव सयसहस्साइं । छायाला छत्तिसा, उत्तरओहोंति भवणाइं ॥ २ ॥ (छत्तीसत्ति) द्वीपकुमारादीनां षण्णां प्रत्येकं षट्त्रिंशद्भवनलक्षाणीति ॥ प्र० १ श० ५ उ. ।

केवइयाणंभंते ! पुढविकाइयावासा प० गोयमा ! असंखेज्जा पुढविकाइयावासा प० एवं जाव मणुस्सत्ति ।

॥ टी० ॥ केवइयाणंभंते पुढवीत्यादि गतार्थं । नवरं मनुष्याणां गर्भव्युत्क्रान्तिकानां असंख्यातानामभावात् संख्याता एवाऽऽवासाः संमूर्छिमानां त्वसंख्येयत्वेन प्रतिशरीरमावासाभावादसंख्याता इति भावनीयमिति ॥ भ० श० ५ उ० १

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

केवइयाणभंते ! वाणमंतरावासा पं० गोयमा ! इमीसे णं रयणप्पभाए पुढवीए रयणामयस्स कंमस्स जोयणसहस्स बाहल्लस्सउवरि एगं जोयणसयं ओगाहेत्ता हेट्ठावेगं जोयणसयं वज्जेत्ता मज्झे अट्ठसु जोयणसएसु एत्थणं वाणमंतराणं देवाणं तिरियमसंखेज्जा जोमेज्जा नगरावाससयसहस्सा पं० तेणं जोमेज्जा नगरा बाहिं वट्टा अंतो चउरंसा एवं जहा जवणवासीणं तहेव णेयव्वा । णवरं । पमागमालाउला सुरम्मा पासाइया दरिसणिज्जा अभिरूवा पमिरूवा केवइयाणं जंते वाणमंतर जोमेज्जणयरावाससयसहस्सा पं० गोयमा ! असंखेज्जा वाणमंतरा जोमेज्जा णयरावाससयसहस्सा प० तेणं जंते ! किंसठिया पं० ३ सेस तं चेव ॥ ज० १ए श० ७ उ० १ ॥

॥ टी० ॥ भोमेज्जनगरत्ति । नूमेरंतर्नवानि भौमेयकानि तानि च तानि नगराणि चेति विग्रहः ॥ भ० टी० ॥

अरुणोदगे समुद्दे गंतूणं पंच आवासा । द्वी० ॥

निरयावासा निरयावासशब्दे । भावेल्युट् सम्यगृवासे वाच० ॥ निवासे, प्रश्न० ४ द्वा० ॥ औप० ॥ अवस्थाने, सम० ॥ स० ७० ॥ स्था० ४ ठा० ॥ (आगारमावसंता वि) अगारं गृहं तदावसन्तस्तस्मिन्नस्तिष्ठंतो गृहस्था इत्यर्थः सूत्र० १ श्रु०९ अ० ॥ (तं जोइभूयं च सया वसेज्जा) आवसेत सेवेत गुर्वन्तिक एव यावज्जीवं वसेत् सूत्र० १ श्रु. १२ अ० । (कम्मोचगाकुणिमे आवसंति-) आ समन्ताद्वसति तिष्ठंतीति ॥ सूत्र० नी०, व्य० १ उ० ॥

आवासपव्वय-आवासपर्वत- पुं० निवासजूते पर्वते, (गोथूभस्स णं आवासपव्वयस्स) स० ॥

आवासय-आवश्यक- न० सुमयरवशयस्तां दीर्घः १ । ४३ इति प्राकृतसूत्रेण प्राकृतलक्षणवशात्सुमा याद्या उपर्यधोवा येषां शकारपकारसकाराणां तेषामादेः स्वरस्य दीर्घो नवति प्रा० ॥ अवश्यकर्त्तव्ये सामायिकादिके, विशे० ॥

आवासक न० आसमन्तात् ज्ञानादिगुणैः शून्यं जीवं वासयति तैर्युक्तं करोतीत्यावासकम् सामायिकादिके, विशे० । आवासो नीरूमावास एवावासकः नीरू, पु० वासगयं तु पोसति वासगयंति प्राकृतत्वादाद्याकारस्य लोपः आवासो नीरूमावास एवावासकः । व्य० १ उ० (सावासगापविनं मन्नमाणं) स्वकीयादावासकात्स्वनीमात्. सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ॥

आवासयाणुओग-आवासकानुयोग- पुं० । आवश्यकव्याख्याने, " आवासयाणुओगं " आ समंताद्ज्ञानादिगुणैः शून्यं जीवं वासयति तैर्युक्तं करोतीत्यावासकं सामायिकादिरूपमेव तस्य वक्ष्यमाणशब्दार्थोऽनुयोगो व्याख्यानं विधिप्रतिषेधासामर्थ्यप्ररूपणमित्यर्थः विशे० ॥

आवाह-आवाह-पु०-आहूयंते स्वजनास्तांबूलदानाय यत्र स आवाहः । विवाहात् पूर्वं ताम्बूलदानोत्सवे, जी ३ प्र. । अभिनवपरिणीतस्य वधूवरस्यानयने । प्रश्न० सं. ४ द्वा. ॥ वध्वा वरगृहानयने, च प्रश्न० ४ द्वा. ॥

आवाहण-आवाहन-न०-आ. वह-णिच्-ल्युट्-सान्निध्याय देवानामाव्हाने-वाच० ॥

आवाहविवाहवरकहा-आवाहविवाहवरकथा--स्त्री० आवाहविवाहप्रधानायां परिणेतृकथायां, (आवाहविवाहवरकहावि) आवाहोऽभिनवपरिणीतस्य वधूवरस्याऽनयनं विवाहश्च पाणिग्रहणं तत्प्रधानां या वरकथा परिणेतृकथाआवाहविवाहवरा वा या कथा सा तथा सापि न कथयित व्येतिप्रक्रमः । प्रश्न. सं. ४ द्वा. ॥

आविइ-आविची-स्त्री० । अविचिदेशोद्भवायाम्-राज० ॥

आविंधइत्ता-आविध्य-अव्य० परिधायेत्यर्थे (पाडेवं वा सुवणसुत्तं वा आविंधेज्ज वा पिणिंधेज्ज वा) आचा० ६ अ. ३ उ. ॥

आवीक (वीक) म्म (न्)-आविष्कर्मन्-न०-प्रगटक्रियायाम्-स्था० ए ठा. कल्प० ॥

आविट्ठ-आविष्ट-त्रि०-आ-विश-क्त-भूतादिग्रस्ते, आवेशयुक्ते, निविष्टे,व्याप्ते, च-वाच० ॥ अधिष्ठिते, स्था ५ ठा. ॥ प्रविष्टे, (मच्छाविट्ठाव केयणे) केतने मत्स्यबंधने प्रविष्टा निर्गतिकाः । सूत्र १ श्रु. ३ अ. । युक्ते, च सम० ३ स. ॥

आविद्ध-आविद्ध-त्रि० आ-व्यध्--क्त--ताडितेऽविद्धे, छिद्रिते, क्षिप्ते, च (नश्यतीषुर्यथाऽऽविद्धः) मनु-वाच. परिहिते, कल्प औप० ॥ (आविद्धमणिसुवण्णे) आविद्धानि परिहितानि मणिसुवर्णानि येन सः । तं. ॥ औप० ॥ आविद्धानि परिहितानि मणिसुवर्णानि लक्षणया मणिसुवर्णानि सुवर्णमयादिभूषणानि येन स तथा तस्मिन् । कल्प. ॥ (आविद्धवग्घारियमल्लदामकलाव) परिहितप्रलंबपुष्पमालासमूहे, । ज्ञा. २ अ. ।

आविद्धवीरवलय-आविद्धवीरवलय-त्रि० आविद्धानि वीरवलयानि वीरत्वगर्वसूचकानि वलयानि येन तथा तस्मिन् सुभटोहि यदि कश्चिदन्योऽप्यस्ति वीरव्रतधारी तदाऽसौ मां विजित्य मोचयत्वेतानि वलयानीति स्पर्द्धयन् यानि कटकानि परिदधाति तानि वीरवलयानीत्युच्यन्ते । औप० ॥ कल्प० ॥ ज्ञा० १ अ. ॥

आविब्भाव-आविर्भाव-पुं० आविस्-भू-घञ् प्रकाशे, वाच० । (आविब्भावतिरोभावमेत्तपरिणामिदव्वमेवायं) आविर्भावश्चकुण्डलादिरूपेण तिरोभावश्च मुद्रिकादिभावेन आविर्भावतिरोभावौ । तावेव तन्मात्रम् तेन परिणंतुं प्रवर्त्तितुं शीलं यस्य तदाविर्भावतिरोभावमात्रपरिणामि सुवर्णादिकं द्रव्यमेवदं नतु तदतिरिक्ता गुणाः । विशे० ।

आविब्भूय-आविर्भूत-त्रि० आ-विस्--भू--कर्त्तरि--क्त--प्रकटिते,-अभिव्यक्ते, । वाच० ॥

आविल-आविल-त्रि० आकुले, (कलुसाविलचेयसे) सम० सूत्र० ॥ अस्वच्छे, आविलमविमलमस्वच्छमिति जी० ३. प्र. । आविलति दृष्टिं स्तृणाति-विल स्तृतौ-क-कलुषे,-अयं विल भेदने विलप्रकृतिकत्वात् वर्गयमध्य इति रायमु० वाच० ॥ " भिक्खोप अणाविले-" अनाविलोऽकलुषो रागद्वेषासंपृक्ततया मलरहितोऽनाकुलो वा विषयाप्रवृत्तेः-स्वच्छचेता इति सूत्र० १ श्रु. १५ अ. ।

आविलप्पा-आविलात्मन्-पुं० । आकुलात्मनि, (अभयं करे भिक्खु अणाविलप्पा) अनाविलो विषयकषायैरनाकुल आत्मा यस्यासावनाविलात्मा ॥ सूत्र० १ श्रु० १७ अ. ।

आविह-आविध-पुं० आविध्यतेऽनेनआ-व्यध-घअर्थे क०वा काष्ठादि.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वेधनसाधने सूच्याकाराग्रे अस्त्रे, वाच. ॥

आवी-आवी-स्त्री० अविरेव स्वार्थे-अण्-ङीप्-रजस्वलायां ना र्याम्, गर्भवत्यां, च। गर्भस्यंदनमावीनां,प्रणाशः श्यावपाण्डुता-सुश्रु० ॥ वाच. ॥

आवीइमरण-आवीचिमरण-न० आसमन्ताद्वीचय इव वीचय आयुर्दलिकविच्युतिलक्षणा अवस्था यस्मिंस्तदावीचि अथवा वीचिर्विच्छेदस्तदभावादवीचिः दीर्घत्वं तु प्राकृतत्वात्तदेवं भूतं मरणमावीचिमरणम् । प्रतिक्षणमायुर्द्रव्यविचटनलक्षणे मरण-भेदे, सम० १७ स. ।

" अणुसमयं निरंतर, मावीइसंन्नियं तं जणंति ।
पंचविहं दव्वे खेत्ते, काले नवे जावे य संसारे, ॥

अणुसमयं समयमाश्रित्य इदं च व्यवहितसमयाश्रयणतोऽपि भवतीति माभूद्भ्रांतिरत आह। निरंतरं न सान्तरक्षमंतरालाभावात् किं तदेवंविधमावीचिसंज्ञितं आसमंताद्वीचय इव वीचयः प्रतिसमयमनुभूयमानायुषोऽपरायुर्दलिकोदयात्पूर्वायुर्दलिकविच्युतिलक्षणा अवस्था यस्मिन्मरणे तदा वीचि तत् आवीचीति संज्ञा संजाता यस्मिन् तदावीचिसंज्ञितं तारकादित्वादितचि रूपमिदं । अथवा वीचिर्विच्छेदस्तद भावादवीचिः दीर्घत्वं तु प्राकृतत्वात् उभयत्र प्रक्रमान्मरणं तदेवं भूतं प्रतिक्षणमायुर्द्रव्यविचटनलक्षणमावीचिमरणं पंचविधं जणति । तीर्थकरगणधरादयोऽस्मिन् संसारे जगति पंचविधत्वमेवाह, (द्रव्ये क्षेत्रे काले भवे भावे च) द्रव्यावीचिमरणं क्षेत्रावीचिमरणं कालावीचिमरणं भवावीचिमरणं भावावीचिमरणं चेत्यर्थः ॥ तत्र द्रव्यावीचिमरणं नाम यन्नारकतिर्यग्नरामराणामुत्पत्तिसमयात्प्रभृतिनिजनिजायुः कर्म्मदलिकानामनुसमयमनुभावनाविचटनं तु तच्च नारकादिभेदाच्चतुर्विधमवं नारकादिगतिचातुर्विध्यापेक्षया तद्विषयं क्षेत्रमपि चतुर्विधं ततस्तत्प्राधान्यापेक्षया क्षेत्रावीचिमरणमपि चतुर्विधम् । काल इति यथाऽयुष्ककालो गृह्यते नत्वयथाकालस्तद्देवादिष्वसंभवात् स च देवायुष्ककालादिभेदाच्चतुर्विधस्तत्प्राधान्यापेक्षया कालावीचिमरणमपि चतुर्विधमेव । चतुर्विधभवापेक्षया भवावीचिमरणमपि चतुर्धैव । तेषामेव च नारकादीनां चतुर्विधमायुः क्षयलक्षणं भावप्राधान्यापेक्षया भावावीचिमरणमपि चतुर्धैवेति ॥ प्रव० १५७ द्वा. ।

आसमन्ताद्वीचयः प्रतिसमयमनुभूयमानायुषोऽपरायुर्दलिकोदयात्पूर्वं पूर्वायुर्दलिकविच्युतिलक्षणा अवस्था यस्मिंस्तदावीचिकम् । अथवा अविद्यमाना वीचिर्विच्छेदो यत्र तदवीचिकम् । अवीचिकमेवावीचिकम् तच्च तन्मरणं चेत्यावीचिकमरणम् । मरणभेदे, । भ० १३ श. ७ उ. ॥

आवीइसन्निय-आवीचिसंज्ञित-न० । आ समन्ताद्वीचय इव वीचयः प्रतिसमयमनुभूयमानायुषोऽपरायुर्दलिकोदयात्पूर्वं पूर्वायुर्दलिकविच्युतिलक्षणा अवस्था यस्मिन्मरणे तदावीचि तत् आवीचीतिसंज्ञा संजाता यस्मिन् तदावीचिसंज्ञितं तारकादित्वादितच् आवीचिसंज्ञके मरणभेदे, प्रव.१५७ द्वा. ॥

आवीकम्म-आविष्कर्मन्-न० प्रगटकर्मणि, कल्प० ॥

आवुक्कण-विज्ञापन-न० वि ज्ञा. णिच्-पुक्-ल्युट्-विशेषेण बोधने, वाच० ॥

(विज्ञपेर्वोक्कावुक्कौ । ४ । ३८) इति प्राकृतसूत्रेण विपूर्वस्य जानातेर्ण्यन्तस्य वोक्कआवुक्क इत्येतावादेशौ वा-वोक्कइ आवुक्कइ-विण्णवइ । प्रा. व्या. ॥

आवुट्ठि-आवृष्टि-स्त्री० आ-वृष-क्तिन्. सम्यग् वर्षणे, वा-च. ।

आवेढिय-आवेष्टित-त्रि० सकृद्वेष्टिते, -स्था० १० ॥ ठा० । सर्वतोवेष्टिते, च. भ० १६ श० ६ उ. । सव्वओ समंतात् आवेढिय परिवेढियं-आवेढियंति सकृदावेष्टितम् परिवेढियं ति असकृदिति-स्था० ॥ आवेढियंति अभिविधिना वेष्टितं सर्वत इत्यर्थः परिवेढियंति पुनः पुनरित्यर्थः ॥ भ० ॥

आवेढियपरिवेढिय-आवेष्टितपरिवेष्टित- त्रि० गाढतरं संवेष्टिते, ॥ प्रज्ञा० पद १५ ॥

आवेय-आवेग-पुं०आ-विज्-घञ्-त्वरायाम,अष्ट० ॥

आवेत-त्रि० अभ्रे प्रवेशे कुड्येऽवष्टभ्य ऊर्ध्वीकृते,। व्य० उ० ॥

आवेयग आवेदक--त्रि० आ-विद्-णिच्-ण्वुल् विज्ञापके ।

आवोम-आव्योम-अव्य. व्योम मर्यादीकृत्येत्यर्थे,- (आदीपमाव्योमसमस्वभावम्)आव्योमं व्योममर्यादीकृत्येतिस्या५श्लो.

आस--अश्व-पुं. अश्नुते व्याप्नोति मार्गम्-अश-क्वन्-घोटके ज्ञा. १७ अ. ॥ अनु. ॥ अश्वस्तुरंग इति औप. ॥ आसो सत्तीवाहो-पका० वाल्हीकादिदेशोत्पन्ने जात्यश्वे दश.६ अ.॥ जात्या आजुगमनशीला अश्वाः-शेषा घोटकाः जी. ३ प्र. ।

अश्वानां वर्णको ज्ञाताध्ययने यथा ।

बहवे तत्थ आसे पासंति । किं ते हरिरेणुसोणिसुत्तगआइण्णवेढो-ज्ञा० १७ अ० ॥

बहूंश्चात्राश्वान् घोटकान् पश्यंति स्म किंतेत्ति किंभूतान् अभिधीयते । हरीत्यादि ॥ आईण्णवेढोत्ति । आकीर्णा जात्या अश्वाः तेषां वेढोत्ति वर्णनार्या वाक्यपद्धतिराकीर्णवेष्टकः । सचायं

हरिरेणुसोणिसुत्तगसकविलमज्जारपायकुक्कुडवोंडसमुग्गयसामवण्णा गोहुमगोरंगगोरपाडलगोरा पवालवण्णा य धूमवण्णा य केइ ॥ १॥ तलपत्तरिट्ठवण्णा सालीवण्णा य भासवण्णाय । केई जंपिय तिलकीडगाय सालोयरिट्ठगाय पुंडपइयाय कणगपीडाय केई ॥ २ ॥ चक्कागपट्ठवण्णा सारसवण्णाय हंसवण्णाय केई । केई अब्भवण्णा पक्कतलमेहवण्णाय बाहुवण्णाय केई ॥ ३॥ संज्झाणुरागसरिसा सुयमुहगुंजद्धरागसरिसत्थकेई । एलापाडलगोरा सामलयागवलसामला पुणोकेई ॥ ४ ॥ बहवे अण्णे अणिद्दे सा सामा का सीसरत्तपीया। अच्चंतविसुद्धा वियणं आइण्ण जाइकुलविणीयागमच्छरा हयवरा जहोवए सकमवाहिणोवि य णं सिक्खाविणीय विणया लंघणवग्गणधावणधोवणातिवईजईणसिक्खियगई किं ते मणसा बिउव्विहिंताई अणेगाइं आससयाइं पासिंतित्ति ॥

तत्र हरिरेणवश्च नीलवर्णपांशवः श्रोणिसूत्रकं च बालकानां कर्मादिदवरकरूपं कटिसूत्रं तद्धि प्रायःकालकं भवति सह कपिलेन पक्षिविशेषेण यो मार्जारो बिडालः स च तथा पादकुक्कुटविशेषः स च तथा वोंडं कार्पासीफला तस्यसमुद्गकं संपुटमभिप्रायस्त्वं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कार्प्पासीफलमित्यर्थः तच्चेति दंरूस्तत एषामिव श्यामो व-
र्णो येषांते तथा । इह च सर्व्वत्र द्वितीयार्थे प्रथमाऽतस्ता-
निति तथा गोधूमो धान्यविशेषः तद्वद्गौरमंगं येषां ते
तथा । तथा गौरा या पाटला पुष्पजातिविशेषस्तद्रूपे गौरास्ते
तथा ततः पदद्वयस्य कर्मधारयः । गोधूमगौरांगगौरपाटला-
गौरास्तान् तथा प्रवालवर्णाश्च विद्रुमवर्णान् अभिनवपल्लववर्-
र्णान् वा रक्तानित्यर्थः(धूमवण्णायत्ति) धूम्रवर्णाश्च धूम्रवर्णान्वा
पांडुरानित्यर्थः (केइत्ति) कांश्चिन्न सर्व्वानित्यर्थः। इदं च हरी-
त्यत आरभ्य पांडुशब्दे कल्पितार्द्धं रूपकं भवति । तालपत्राणि
तालाभिधानवृक्षपर्णानि रिष्ठा च मदिरा तद्वद्वर्णो येषां ते ता
लपत्ररिष्टवर्णास्तां स्तथा शालिवर्णान् शुक्लानित्यर्थः । (भा
सावण्णायत्ति) भस्मवर्णाश्च भासो वा पक्षिविशेषस्तद्व-
र्णांश्च कांश्चिदित्यर्थः (जंपियतिलकीडगायत्ति) यापिताः
कालांतरं प्राप्ता ये तिलकीटा धान्यविशेषास्तद्वद्वे वर्णसाधर्म्या
त्ते तथा तान् यापिततिलकीटकांश्च (सालोयरिट्ठगायत्ति)
सावलोकं सोद्योतं यद्रिष्ठकं रत्नविशेषस्तद्वद्वे वर्णसाधर्म्या
त्ते सावलोकरिष्ठकास्तांश्च (पुंडपइयायत्ति) पुंड्राणि धवला
नि पदानि पादा येषां ते तथा त एव पुंड्रपदिकास्तांश्च तथा
कनकपृष्ठान् कांश्चिदिति रूपकं ॥ २ ॥ (चक्काग पट्ठयण्णात्ति)
चक्रवाकः पक्षिविशेषस्तत्पृष्ठस्येव वर्णो येषां ते तथा तान्
सारसवर्णांश्च । हंसवर्णान् कांश्चित् इति पद्यार्द्धं (केइ अब्भ-
वण्णेति) कांश्चिदेवाभ्रवर्णान् (पकतलमेहवण्णायत्ति) पक्वः
पक्वपत्रो यस्तलस्तालवृक्षः स च मेघश्चेति विग्रहस्तस्येव
वर्णो येषां ते तथा तान् (पविरलमेहवण्णत्ति) कचित्पाठः
तथा (बाहुवण्णके इति बभ्रुवर्णान् कांश्चित्पिंगलानित्यर्थः ।
बहुवर्णानिति कचित् दृश्यते रूपकमिदं ॥ ३॥ तथा (संज्झाणु-
रागसरिसत्ति) संध्यानुरागेण सदृशा वर्णेत इत्यर्थः (सुयमु-
हगुंजद्धरागसरिस त्थके इत्ति) शुकमुखस्य गुंजार्द्धस्य च प्रती
तस्य रागेण सदृशो रागो येषां तथा तान् । अत्र इह कांश्चिदि-
त्यर्द्धं(एलापाडलगोरत्ति) एला पाटला पाटलाविशेषोऽथवाएला
च पाटला चेत्येलापाटले । तद्वद्गौरा ये ते तथा तान्(सामलयाग-
वलसामला पुणो केइत्ति) श्यामलता प्रियंगुलता गवलं च
महिषशृंगं तद्वत् श्यामलान् पुनः कांश्चिदिति रूपकं ॥ ४ ॥
(बहवे अण्णे अणिद्देसत्ति) एकवर्णेनाव्यपदिश्यानित्यर्थः ।
अतएवाह ॥ (सामाकासीसरित्तपीयत्ति) श्यामाकाश्च
कासीसं रागद्रव्यं तद्वद्येते कासीसास्ते च रक्ताश्च पीताश्च ये
ते तथा तान् शबलानित्यर्थः (अच्चंतविसुद्धावियणंति) नि-
र्दोषांश्चेत्यर्थः । णमित्यलंकारे (आइण्ण जाइकुलविणीयगयम-
च्छरत्ति) आकीर्णानां यवादिगुणयुक्तानां संबंधिनी जातिकुले
येषां ते तथा ते च ते विनीताश्च गतमत्सराश्च परस्परासह-
नवर्जिता निर्म्मत्सराश्चेति । ते तथा तान् (हयवरत्ति) हयाना-
मश्वानां मध्ये वरान् प्रधानानित्यर्थः (जहोवएसकमवाहिणो
वियणंति) यथोपदेशक्रममिव उपादिष्टपरिपाट्यनतिक्र-
मेणेव वोढुं शीलं येषां ते तथा तानपि च णमित्यलंकारे (सि
क्खाविणयत्ति) । शिक्षयेवाश्वदमकपुरुषशिक्षाकरणादिव वि
नीतोवाप्तो विनयो यैस्ते तथा तान् (लघणंवग्गणधावणधोर-
णतिपईजईणसिक्खियगईत्ति) लंघनं गर्तादीनां वल्गनं कूर्दनं
धावनं वेगवत्क्रमनं धोरणं चतुरत्वं गतिविषयं त्रिपदीमल्लस्येव
रंगभूम्यां गतिविशेषः । एतद्रूपा जयिनी वेगवती शिक्षितेव
शिक्षितागतिर्यैस्ते तथा तान् किं ते इति किमपरं (मणसा
वि उव्विहिंताइंत्ति) मनसाऽपि चेतसाऽपि न केवलं वपुषा
(उव्विहिंताइंति) उत्पतंति (अणेगाइं आससयाइंति) न
केवलमश्वानेकैकशोऽपि तु अश्वशतानि पश्यंति स्मेति गम-
निकामात्रमेतदस्य वर्णकस्य । भावार्थस्तु बहुश्रुतबोध्यइति ॥
धावमानस्याश्वस्योदरवर्त्तिशब्दविचारो भगवत्याम् ।

आसस्सणं भंते ! खलु धावमाणस्स किं खुखुत्ति
करेइ गोयमा ! आसस्स णं धावमाणस्स हियस्स य जग
यस्स य अंतरा एत्थं कक्कुडए नाम वाए समुच्छिए जेणं
आसस्स धावमाणस्स खुखुत्ति करेइ ॥ भ० १ श०
३ उ० ॥

॥ टी० ॥ हृदयस्य यकृतस्य दक्षिणकुक्षिगतोदरावयवविशेष
स्यान्तरान्तराले । भ० टी० ॥

अश्विनीनक्षत्राधिष्ठातरि देवे, तदधिष्ठातृके अश्विनीनक्षत्रे, च
अश्वनामको देवविशेष इति जं० ॥ अश्वोऽश्वदेवतोपलक्षिता
ऽश्विनीति चं० १० प्रा. ॥ आशुगमनादश्वः मनसि, जी. ३
प्र. ॥ प्रज्ञा. १ पद ॥

आश-पुं०-अशनमाशः । अश्भोजने-घञ्-भोजने-आ. म.
प्र०१ अ.॥ (सामासाए पायरासाए) प्रातरशनं प्रातराशःप्रत्यूष
स्यैव भोजनमिति सूत्र. १ श्रु. १ अ. ॥

कर्म्मणि उपपदे कर्त्तरि अण्-उपपदस० तत्तद्वस्तुभक्षके ।
यथा हुताशः आश्रयाशः मांसाशः पल्लाशः हविष्याशः ॥
वाच० ॥

आसइ-(न्) आश्रयिन्-आ-श्रि-इनि-आश्रयकारके, आश्रिते,
"मयूरपृष्ठाश्रयिणा गुहेन" रघुः । पर्य्यन्ताश्रयिभिः निजस्य सह
शं नाम्नः किरातैः कृतम् रत्ना. । वाच. ॥

आसइत्ता–आश्रित्य–अ० आ. श्रि–ल्यप्–अवलम्ब्येत्यर्थे,
वाच० ॥

आसंकणिज्ज–आशंकनीय-त्रि- । आ–शकि–अनीयर् शंकया
विषयीकार्य्ये–अनिष्टतया चिन्तनीये, च वाच. ॥

आसंग-आसंग-पुं० । अभिष्वङ्गे, । षो० ॥ स्वरूपम् ॥

आसंगेऽप्यविधाना, दसंगसच्युचितामित्यफलमेतत् ॥
भवतीष्टफलदमुच्चै, स्तदप्यसंगं यतः परमं ॥ ११ ॥

आसंगेपीत्यादि ॥ आसंगेऽपि चित्तदोषे सति विधीयमाना
नुष्ठाने इदमेव सुंदरमित्येवंरूपे अविधानं शास्त्रोक्तविधेरभावा
त् शक्तिरनवरतप्रवृत्तिः न विद्यते संगो यस्यां सेयमसंगाभि-
ष्वंगो भाववती असंगा चासौ शक्तिश्च तस्या उचितं योग्य-
मिति कृत्वा फलमेतदिष्टफलरहितमेतदनुष्ठानं भवति जायते ।
इष्टफलदमिष्टफलसंपादकमुच्चैरत्यर्थं तदपि शास्त्रोक्तमनुष्ठान
मसंगमभिष्वंगरहितं यतो यस्मात्परमप्रधानं आसंगयुक्तं
ह्यनुष्ठानं तन्मात्रगुणस्थानकस्थितिकार्यं च न मोहोन्मूलनद्वा
रेण केवलज्ञानोत्पत्तये भवति तस्मात्तदर्थिना आसंगस्य
दोषरूपता विज्ञेयेति । षो. १४ वि. । ह्रा० । गार्ध्ये, सूत्र. १ श्रु. ३
अ. रागे आचा० अ. ५३. उ. ४ ॥

आसंग–पुं० वासगेहे, " आसंगो आसवणं आलयणं वासगे
हम्मि " देशी. व. १ श्लो. ६६ ॥

आसंदय-आसन्दक-न०-आसनविशेषे, (आसनमासनकादीत्ति)
आचा. १ अ. ५ उ. ॥

आसंदिया–आसंदिका–स्त्री०-मंचिकायाम्- (आसंदियं च न-

वसुत्तं) आसंदिकां मंचिकाम् सूत्र. १ श्रु. ४ अ. ॥

आसंदी—आसन्दी—स्त्री-आसद्यतेऽस्याम्-आ-सद्-अब्दादिनि गौरा. ङीष्-उपवेशनयोग्ये आसनयंत्रे क्षुद्रखट्वायाम्, वाच. ॥ मंचके, सूत्र० २ श्रु. १ अ. (आसंदी पलियंके य) आसंदी-त्यासनविशेष इति । सूत्र० १ श्रु. ९ अ. ॥

आसंबर—आशाम्बर—पुं० दिगंबरे जैनसाधुभेदे,-"एतेन यदाहु राशाम्बराः न स्त्रीणां निर्वाणमिति तदपास्तम् इति । नं. ॥

आसंसप्पओग—आशंसाप्रयोग—पुं० आशंसनमाशंसाऽभिला-षस्तस्याः प्रयोगो व्यापारणम् करणमाशंसाप्रयोगः । आशं सैव वा प्रयोगोव्यापार आशंसाप्रयोगः। आशंसाया व्यापारे, च आशंसारूपे व्यापारे, । प्रव० १ द्वा. ॥ आसंसप्पओगो नाम निदानकारणम् इति ॥ नि. चू. १ उ. ॥

दसविहे आसंसप्पओगे प० तं जहा १ इहलोगासंस-प्पओगे २ परलोगासंसप्पओगे ३ दुहओलोगासंसप्प ओगे ४ जीवियासंसप्पओगे ५ मरणासंसप्पओगे ६ कामासंसप्पओगे ७ भोगासंसप्पओगे ८ लाभासंसप्प ओगे ९ पूयासंसप्पओगे १० सक्कारासंसप्पओगे। स्था. १० ठा. ॥

दसविहेत्यादि । आशंसनमाशंसा इच्छा तस्याःप्रयोगो व्या-पारणं करणमाशंसैव प्रयोगो व्यापारः आशंसाप्रयोगः सूत्रे च प्राकृतत्वात् (आसंसप्पओगेत्ति) भणितं तत्र इहास्मिन् प्रज्ञापकमनुष्यापेक्षया मानुषत्वपर्याये यो वर्तते लोकःप्राणि-वर्गः स इहलोकस्तद्व्यतिरिक्तस्तु परलोकस्तत्रेहलोकं प्रति आशंसाप्रयोगो यथा भवेयमहमितस्तपश्चरणाच्चक्रवर्त्यादि-रितीहलोकाशंसाप्रयोगः१ एवमन्यत्रापि विग्रहः कार्यः। परलो-काशंसाप्रयोगो यथा भवेयमहमितस्तपश्चरणादिन्द्रःसमानि-को वा २ द्विधा लोकाशंसाप्रयोगो यथा भवेयमिन्द्रस्ततश्च-क्रवर्ती ३ अथवा इह लोके इह जन्मनि किंचिदाशास्ति एवं परजन्मन्युभयत्र चेति एतत्त्रयं सामान्यमतोऽन्ये तद्विशेषाः। एवास्ति च सामान्यविशेषयोर्विवक्षापेक्षो भेद इत्याशंसाप्रयो-गाणां दशधात्वं न विरुध्यते। तथा जीवितं प्रत्याशंसा चिरम्मे जीवितं भवत्विति जीविताशंसाप्रयोगः॥४॥ तथा मरणं प्रत्या-शंसा शीघ्रं मे मरणमस्त्विति मरणाशंसाप्रयोगः ॥ ५॥ तथा कामौ शब्दरूपे तौ मनोज्ञौ मे भूयास्तामिति कामाशंसाप्रयो-गः॥६॥ तथा भोगाः गंधरसस्पर्शास्ते मनोज्ञा मे भूयासुरिति भोगाशंसाप्रयोगः ॥७॥ तथा कीर्तिः श्रुतादिलाभो भूयादिति लाभाऽऽशंसाप्रयोगः ॥ ८ ॥ तथा पूजा पुष्पादिपूजनं मे स्यादिति पूजाशंसाप्रयोगः ॥९॥ सत्कारः प्रवरवस्त्रादिभिः पूजनं तन्मे स्यादिति सत्काराशंसाप्रयोगः॥१०॥ स्था. टी. ॥ आव.६ अ. ॥

आसवण—वासगेहे, देशी. १ व. ६६ श्लो. ।

आसक्ख—पक्षिविशेषे, " आसक्खओ सिरिवए" श्रीरिति व दतीति श्रीवदः प्रशस्तः पक्षिविशेषः । देशी. १ व. ६७श्लो.।

आसक्खंध—अश्वस्कंध-पुं. हयग्रीवायाम्, स्था. २ ठा. ।

आसंसा—आशंसा—स्त्री—आशंसनमाशंसा--अभिलाषे, प्रव. ५ द्वा. ॥ आव.६ अ.॥ आशंसनमाशंसा--इच्छायाम्, स्था. आशंसनमाशंसा—अप्राप्तप्रापणाभिलाषे,--आचा० । २ श्र.उ.२

अदुवा आसंसा एतं परिण्णाय मेहाविणे वसयं एएहिं कज्जेहिं दंडं समारंभेज्जा—आचा. २ अ० २ उ. ॥

टी. ॥ अथवा आशंसनमाशंसा अप्राप्तप्रापणाभिलाषः तदर्थं दण्डसमादानमादत्ते तथाहि ममैतत्परत्रपरारि वा प्रेत्य परलोके चोपस्थास्यत इत्याशंसया क्रियासु प्रवर्त्तते राजानं वा ऽर्थाशाविमोहितमना विलगति--आचा. ॥ विशेषावश्यके आशंसादूषितं प्रत्याख्यानमधिकृत्य ॥

आसंसाजा पुणे, सेविस्सामिति दूसियं तीए।

या एवंविधपरिणामरूपा कथंभूतः परिणाम इत्याह । पूर्णे प्रत्याख्याने देवलोकादौ सुरांगनासंभोगादिभोगानहं सेविष्ये इत्येवं भूतपरिणामरूपा च या आशंसा तया प्रत्याख्यानं दूषितं भवति । विशे० ॥ आ. म. द्वि. १ अ. ।

तथा च सूत्रकृतांगे—

से भिक्खु अकिरिए अलूसए अकोहे अमाणे अमाए अलोहे उवसंते परिनिब्बुडे णो आसंसं पुरतो कुज्जा इमेणं मे दिट्ठेण वा सुएण वा मुएण वा णाएण वा विण्णा-एण वा इमेण वा सुचरियतवनियमबंभचेरवासेण इमेण वा जायामायावुत्तिएणं धम्मेणं इवए पेच्चा देवे सिया कामभोगा वसवत्ति सिद्धे वा अदुक्ख मसुभे एत्थ एत्यविणो सिया ॥ २ श्रु. १ अ. ॥

सेभिक्खु इत्यादि ॥ समूलोत्तरगुणव्यवस्थितो भिक्षुर्नास्य क्रिया सावद्या विद्यते इत्यक्रियः संवृतात्मकतया सांपरायिक-कर्मबंधक इत्यर्थः। कुत एवंभूतो यतःप्राणिनामलूषकोऽहिंस कोऽनुपमर्दक इत्यर्थः । तथा न विद्यते क्रोधोऽस्येत्यक्रोध ए-वममानोऽमायलोभः कषायोपशमाच्चोपशांतः शीतीभूतस्त-दुपशमाच्च परिनिर्वृत इव परिनिर्वृतः । एवं तावदैहिकेभ्य-कामभोगेभ्यो विरतः पारलौकिकेभ्योऽपि विरत इति दर्शय ति । नो आसंसं इत्यादि । नो नैवाशंसां पुरस्कृत्य ममानेन विशिष्टतपसा जन्मांतरे कामभोगावाप्तिर्भविष्यतीति । एवंभू-तामाशंसां न पुरस्कुर्यादित्येतदेव दर्शयितुमाह । इमेण मे इत्यादि । अस्मिन्नेव जन्मन्यमुना विशिष्टतपश्चरणफलेन दृष्टेना मर्षौषध्यादिना पारलौकिकेन च श्रुतेनाऽर्द्धमागधिमिलाद्ग्रहद्-त्तादीनां तथा (मुएणवत्ति) मननं ज्ञानं जातिस्मरणादिना ज्ञानेन तथाचार्यादेःसकाशाद्विज्ञानेनाऽवगतेन ममापि विशिष्टं भविष्यतीत्येवं नाशंसां विदध्यात् । तथाऽमुना सुचरितव्रतपो नियमब्रह्मचर्यवासेन तथामुना वा यात्रामात्रावृत्तिना धर्मेणा-नुष्ठितेनातोऽस्माच्च्युतस्यप्रेत्यजन्मांतरे स्यामहं देवस्तत्रस्थस्य च मे वशवर्तिन कामभोगा भवेयुरशेषकर्माऽवियुतोवा सिद्धो-ऽदुःखः शुभाशुभकर्मप्रकृत्यपेक्षयेत्येवंभूतोऽहं स्यामागामिकाल इत्येवमाशंसां न विदध्यादिति । यदि वा विशिष्टतपश्चरणा-दिनाऽऽगामिनि कालेममाणिमालघिमेत्यादिकाष्टप्रकारा सिद्धि-र्भविष्यतीत्यनया च सिद्ध्या सिद्धोऽहमदुःखोऽशुभो वामभ्यस्थ इत्येवं रूपामाशंसां न कुर्यात्। तदकरणे च कारणमाह। एत्थ विइत्यादि । अत्रापि विशिष्टतपश्चरणे सत्यपि कुतश्चिन्निमि-त्तादुष्प्रणिधानसद्भावे सति कदाचित्सिद्धिः स्यात्कदा चिच्च नैवाशेषकर्मक्षयलक्षणा सिद्धिःस्यात् । तथा चोक्तं (जेजत्तिया हेओ, भविस्सते चेव तत्तिया मोक्खे) इत्यादि । यदि वाऽऽत्यणिमाद्यष्टगुणकारणे तपश्चरणादौ सिद्धिः स्यात्कदा-चिच्च न स्यात् तद्विपर्ययोपि वा स्यादित्येवं व्यवस्थिते प्रेक्षापू र्वकारिणां कथमाशंसा कर्तुं युज्यते इति । सिद्धिश्चाष्टप्रकारेयं

अणिमा १ गरिमा २ लघिमा ३ महिमा ४ प्राप्तिः ५ प्राकाम्यं-६ ईशित्वं ७ वशित्वं ८ यत्र कामावसायित्वमिति । तदेवमैहिकार्थमामुष्मिकार्थं च कीर्त्तिवर्णश्लोकाद्यर्थं च तपो न विधेयमिति स्थितं ॥ ५ ॥ सूत्र० टी० २ श्रु० १ अ० ॥

आसंसाविप्पमुक्क—आशंसाविप्रमुक्त— त्रि० इहलोकाद्यपेक्षया विप्रमुक्ते, पं० सू० ॥ ४ ॥ आशंसया विनिर्मुक्तोऽनुष्ठानं सर्वमाचरेत् । मोक्षे भवे च सर्वत्र, निःस्पृहो मुनिसत्तमः प्रव० ५ द्वा० ॥

आसंसि(न्)—आशंसिन्— त्रि० आ—शन्स—णिनि—आशंसो आशंसाकर्त्तरि, स्त्रियां ङीप्—वाच. ॥ (थिरज्जुत्तो अणासंसी) अनाशंसी श्रोतृभ्यो न वस्त्राद्याकाङ्क्षति—आचा. १ उ० ॥

आसंसित्ता—आशंसितृ— त्रि० आ—शंस्—तृच्—आशिषमेष्टरि, स्त्रियां ङीप्—वा० ॥

आसंसिय—आशंसित— त्रि० आ—शन्स्—क्त—कथिते,—इच्छाविषयीभूते, भावे क्त आशंसायाम् न० वाच० ॥

आसकण्ण—अश्वकर्ण—पुं० अश्वमुखद्वीपात्परतोऽन्तरद्वीपभेदे, (अंतरदीव) शब्दे विवृतिः । स्था. ४ ठा० । प्रव. २६२ द्वा. ॥

आसण—आसन—न० आस्यते उपविश्यतेऽस्मिन्नित्यासनम् । आतापनास्थाने, उत्त. २ अ. । वसत्यादौ, सूत्र. १ श्रु. २ अ. । स्थाने, उत्त. १ अ. १ उ. । बृ. ५ उ. । आस्यते स्थीयतेऽस्मिन्निति शय्यायां आचा. २ श्र. ५ उ. । पीठफलकादौ, आव. ४ अ. । स्था. ९ ठा. । नि. चू. १ उ. । सम. स. २० । आव. ५ अ. । आधारलक्षणे धर्मास्तिकायादीनां लोकाकाशादिके, आ. १ अ. उपवेशन योग्यनिषद्यादिके, बृ. ३ अ. । विष्टरे, प्रश्न. १ द्वा० । हंसासनादिके, जी. ३ प्र. । भग. १ श. ११ उ. । उपवेशने, स्था. ९ ठा. ॥

निर्ग्रन्थ्या यादृशानि आसनानि कल्पन्ते तान्याह ।

नो कप्पइ निग्गंथीए ठाणाइयाए हुं तए नो कप्पइ निग्गंथिए पडिमट्ठियाए हुं तए एवं नेसज्जियाए उक्कुडुगासणियाए दंडासणियाए लगंडसाइयाए पउमन्नियाए उत्ताणियाए अन्तरकुज्जियाए एगपासियाए ॥

नो कल्पते निर्ग्रन्थ्याः स्थानाय तथा भवितुं एवं प्रतिमास्थायिन्या नैषेधिकाया उत्कुटिकासनिकाया वीरासनिकाया दण्डासनिकाया लगण्डशायिन्या अवाङ्मुखाया उत्तानिकाया अन्ते कुब्जिकाया एकपार्श्वशायिन्या इति सूत्राक्षरसंस्कारः ॥

अत्र भाष्यकारो विषमपदानि व्याख्यानयति ॥

उड्ढाणं ठाणे, थंतु पडिमाउ हुंति जासाई ॥
पंचवणिसिज्जाउ, तासि विभासाउ कायव्वा ॥ १ ॥

व्या० । स्थानायतं नामोर्ध्वस्थानरूपमायतं स्थानं तदस्यामस्ति सा स्थानायतिका । केचित्तु (ठाणाइग) मितिपठन्ति तत्रायमर्थः । सर्वेषां निषदनादीनां स्थानानामादिभूतमूर्ध्वस्थानमतः स्थानानामादौ गच्छतीति स्थानादिगं तदुच्यते तद्योगादार्यिकापि स्थानदिगेति व्यपदिश्यते । प्रतिमा मासिक्यादिका तासु तिष्ठतीति प्रतिमास्थायिनी (नेसज्जियायत्ति) निषद्याः पञ्चैव भवन्ति तासां विभाषा कर्तव्या सा चेयम् निषद्यानामोपवेशनविशेषास्ताः पञ्चविधास्तद्यथा ॥

समपादयुता गोनिषद्यिका हस्तिशुण्डिका पर्यङ्का अर्द्धपर्यङ्केति तत्र यस्यां समौ पादौ युतौ च स्पृशतः सा समपादयुता यस्यान्तु गौरिवोपवेशनं सा गोनिषद्यिका यत्र तु ताभ्यामुपविश्यैकं पादमुत्पाटयति सा हस्तिशुण्डिका पर्यङ्का प्रतीता अर्द्धपर्यङ्का यस्यामेकं जानुमुत्पाटयति एवं विधया निषद्यया चरतीति नैषधिकी उत्कुटिकासनन्तु सुगमत्वाद्भाष्यकृता न व्याख्यातम् ॥

वीरासनन्तु सीहासणेव जहमुक्कजाणु कणिविट्ठो ॥
दंडे लगंडउवमा, आयतखुज्जायदुण्हंपि ॥ १ ॥

वीरासनं नाम यथा सिंहासने उपविष्टोऽभूम्यस्तपाद आस्ते तथा तस्यापनयने कृतेऽपि सिंहासनइव निविष्टे मुक्तजानुकइव निरालंबनेऽपि यदतिदुष्करं चैतत्तपश्च वीरस्य साहसिकस्यासनं वीरासनमित्युच्यते तदस्यास्तीति वीरासनिका । दंडासनिका लगंडशायिका पदद्वये यथाक्रमं दंडस्य लगंडस्य चायतकुब्जताभ्यामुपमा कर्तव्या तद्यथा । दंडस्येवायतं पादप्रसारणेन दीर्घं यदासनं तद्दंडासनं तदस्यास्तीति दंडासनिका । लगंडं किल दुःसंस्थितं काष्ठं तद्वद्कुब्जतया मस्तकपार्ष्णिकानां भुवि लगनेन पृष्ठस्य चालग्नेत्यर्थः । या तु यथाविधाभिग्रहविशेषेण शेते सा लगंडशायिनी । अवाङ्मुखादीनि तु पदानि सुगमत्वान्न व्याख्यातानीति दृष्टव्यम् । एते सर्वेऽप्यभिग्रहविशेषाः संयतीनां प्रतिषिद्धाः एतान्प्रतिपद्यमानानां दोषानाह ॥

जोणी खुब्भणपिल्लण, गुरुगा पत्ताणहोइ सइकरण ।
गुरुगासवेक्खगम्मी, कारणे गहनं वग्घरणं च ॥

व्या० । ऊर्ध्वस्थानादौ स्थानविशेषस्थिताया आर्यिकाया योनेः क्षोभो भवेत् तरुणा वा यथास्थितां दृष्ट्वा प्रेरयेयुः प्रतिसेवेरन् अतएवैतानभिग्रहान् प्रतिपद्यमानायास्तस्याश्चतुर्गुरु भुक्तभोगिनीनां च येन कारणेन स्मृतिकरणं इतरासां कौतुकं च जायते तथा वक्ष्यमाणसूत्रे प्रतिषेधयिष्यमाणं सवेन्टकं तुम्बकं यदि निर्ग्रन्थी गृह्णाति तदा चतुर्गुरु स्मृतिकरणादयश्च त एव दोषाः कारणेतु तस्यापि ग्रहणं धारणं चानुज्ञातम् । एतच्चाप्रस्तुतमपि लाघवार्थं स्मृतिकरणादिदोषसाम्यादत्र भाष्ये भाष्यकृताऽभिहितमिति संभावयामः । अन्यथा वा सुधिया परिभाव्यम् ॥

वीरासणगोदोही, मुत्तं सव्वे विताणकप्पन्ति ।
ते पुण पडुच्च चेट्ठं, मुत्ताओआभिग्गहं पप्प ॥

अन्तरोक्तासनानां मध्यात् वीरासनं गोदोहिकासनं च मुक्त्वा शेषाण्यूर्ध्वस्थानादीनि सर्वाण्यपि तासां कल्पन्ते आह सूत्रे तान्यपि प्रतिषिद्धानि तत्कथमनुज्ञायन्त इत्याह । तानि पुनः शेषाणि स्थानानि चेष्टां प्रतीत्य कल्पंते न पुनरभिग्रहाविशेषं सूत्राणि पुनरभिग्रहं प्राप्य प्रतीत्य प्रवृत्तानि तत इदमुक्तं भवति । अभिग्रहविशेषास्तूर्ध्वस्थानानि संयतीनां न कल्पंते । सामान्यतः पुनरावश्यकादिवेलायां यानि क्रियन्ते तानि कल्पन्ते एवापरःप्राह । ननु चाभिग्रहादिरूपं तपः कर्म निर्धारणार्थमुक्तं ततः किमेवं संयतीनां तत्प्रतिषिध्यते उच्यते ।

तओ सोउ अणुभा ओ, जेण सेसं न लुप्पइ ।
अकामियं पि पेल्लेज्जा, वारिउत्तेण जिग्गहो ॥

व्या० । तपस्तदेव भगवद्भिरनुज्ञातं येन शेषं ब्रह्मचर्यादिकं गुणकदंबकं न लुप्यते कथंपुनः शेषं लुप्यत इत्याह अकामियमित्यादि । दंडायतादिस्थानस्थितामार्यिकां दृष्ट्वा कश्चिदुदीर्णकर्मा नाम कामी काममनिच्छन्तीमपि प्रेरयेत् प्रतिसेवेत

तेन कारणेन वारित एतादृशस्तासामभिग्रहः । किन्तु ॥

जे य दंसादओपाए, जेय संसप्पगा जुवि ।

विरत्तस्स अट्टियाताव्रि, सहन्ति जह संजया ॥

व्या० । इह द्विधा कायोत्सर्गोऽभिष्टायामभिभवस्तत्राभिभव-कायोत्सर्गस्तासां प्रतिषिद्ध इति कृत्वाऽभिधीयते ये च दंश-मशकादयः प्राणिनो ये च भुवि संसर्पकाः संचरणशीला उन्दिरकीटकादयस्ते कृतानुपद्रवान् यथासंयताः सहन्ते तथा ता अप्यार्यिकाश्चेष्टाकायोत्सर्गस्थिता आवश्यकादि वेलायां सम्यक् सहन्ते तत एवं ता अपि कर्मनिर्जरां कुर्वन्ति आह यद्युदीर्णकर्मणा तरुणादिना प्रेर्यमाणापि सा संयती-नामुत्पादयति ततः किमिति येनाभिग्रहविशेषेण बहुतरा कर्म निर्जरा भवति सर्वा यत उच्यते ॥

वसिज्जा बंभचेरंसि, भुजमाणी तुकीदितु ।

तदाचित्तं तत्तईति, थेरा आवयसन्नीरुणो ॥

व्या० । यद्यपि काचिदार्यिका धृतिबलयुक्ता युज्यमाना प्रति सेव्यमानापि भावतो ब्रह्मचर्ये वसेत् तथापि स्थविरा गौतमा दयः सूरयः प्रवचनापयशः प्रमादजीरवस्तां न पूजयन्ति नम्र-शंसंतीत्यर्थः किंच ॥

तिव्वाभिग्गहसंजुत्ता, ठाणमोणासणे रता ।

जहा मुज्झन्ति जयउ, एगाणेगं विहारिणो ॥

लज्जं च बंभचज्जं च, रक्खंतीउतवोरता ।

गच्छे चेव विमुज्झन्ति, तहा अणसणादिहिं ॥

व्या० । तीव्रैर्दव्यादिविषयैरभिग्रहैः संयुक्तः स्थानमौनासन विशेषेषु रता एकानेकाविहारिणः कचिदेकाकिविहारिणो जिनकल्पिकादय इत्यर्थः केचिच्चानेकविहारिस्थविरकल्पिका इत्यर्थः एवंविधा यतयोयथा शुध्यन्ति तथा निर्ग्रन्थ्योऽपि लज्जां ब्रह्मचर्यं च सूत्रोक्तविधिना रक्षन्त्यस्तपोरता स्वाध्यायादितपः कर्मपरायणा गच्छ एव वसन्त्योऽनशनादिभिर्यथोचितैस्तपो-भिः शुध्यन्ति न तीव्रैरभिग्रहैः । अपिच ॥

जोविदिद्धंधणोहुज्जा, इत्थिविधोनुकेवली ।

नसते सोवि गच्छंती, किमुच्छ्रीवेदसिंघणा ॥

व्या० । योपि दग्धेन्धनो भस्मीकृतवेदमोहनीयकर्मा स्त्रीचिन्हो बहिः स्त्रीलक्षणाकितः केवली भवति सोऽपिगच्छवासे वसति किंपुनर्या संयती स्त्रीवेदेन सेन्धनासासुतरां गच्छे वसेदिति-भावः । यदप्युक्तं यदि न स्वादयति ततः कोनाम तस्याभिग्रह ग्रहणदोषः तदप्ययुक्तं प्रतिसेव्यमानाया आस्वादनस्य याद-च्छिकत्वात्कथमिति चेदुच्यते ॥

अलायं घट्टियं ज्झाइ, फुंफुगा सहसायइ ।

कोवितो वद्धती वाहा, इत्थी वेदेवि सोगमो ॥

व्या. । अलातं उल्मुकं घटितं चालितं सत् यथा ध्यायति प्रज्वलति यथा फुंफुकाघट्टितं साहसायति भृशं दीप्यते यथा व्याधिरपथ्यासेवनादिना कोपितो वर्द्धते । स्त्रीवेदस्याऽपि समवगमो मन्तव्यः सोपि घट्टितः प्रज्वलतीत्यर्थः । अतोयाह च्छिकत्वस्यादनमिति आह । संयतीनां प्रतिषिद्धा अमी अभिग्रहाः परं संयतानां का वार्ता अत्रोच्यते ।

कारणमकारणेयिय, गीयत्थंमिय तहा अगीयंमि ।

एए सव्वे विपए, संजयपक्खे विभासिज्जा ॥

व्या. । यान्येतानि व्युत्सृष्टकायिकत्वादीनि पदान्युक्तानि तानि कारणे सिंहादिभिरभिभूतस्य देवताकंपननिमित्तं वा गीता र्थस्याऽगीतार्थस्य वा कल्पन्ते अकारणे पुनरगीतार्थस्य न कल्पन्ते गीतार्थस्य निष्कारणे निर्जरानिमित्तं कल्पन्ते अचेलत्वादिकमपि गीतार्थस्य जिनकल्पं प्रतिपद्यमानस्य कल्पते एवं संयतपक्षे एतान्यचेलतादीनि सर्वाण्यपि पदानि विभाषयेत । सावश्रयके आसने निर्ग्रन्थीनां ॥

नो कप्पइ निग्गन्थीणं सावस्सयंसि आसणंसि आसइत्त एवा तु अहित्तएवा कप्पइ निग्गन्थाणं सावस्सयंसि आसणंसि आसइत्तएवा तु यहित्तएवा ।

सावश्रयं नाम यस्य पृष्ठतोऽवष्टंभो भवति । एवंविधे आसने निर्ग्रन्थीनां नोकल्पते निर्ग्रन्थानां सावश्रये आसने आसितुं वा कल्पते निर्ग्रन्थ्य एतादृशे आसने यद्युपविशंति शेरते वा तदा तएव गर्वादयो दोषाश्चतुर्गुरु च प्रायश्चित्तं द्वितीयपदे अल्प-सागारिकस्थविरोग्लानो वा उपविशेत् । निर्ग्रन्थानामपि न कल्पते यद्युपविशन्ति तदा चतुर्लघु सूत्रं तु कारणिकं तदेव कारणमाह ॥

सावस्सय इत्यादि पश्चार्द्धे योवृद्ध आचार्यः स पूर्वोक्ते गृह-स्थैस्सार्द्धं निष्पादिते सावश्रयेऽप्यासने उपविष्टोऽसागारिके एकान्तेवा यदिनेयानां वाचनां दद्यात् सूत्रम् ॥

नोकप्पइ निग्गंथीणं सविसाणंसि पीढंसि वा फलगंसि वा आसइत्तएवा तुयट्टि एवा कप्पइ निग्गंथाणं सविसा-णंसि पीढंसिवा फलगंसि वा आसइत्तएवा तुयट्टित्तएवा ॥

सविषाणं नाम यथा कपाटस्योभयतः शृंगे भवतः । एवं यत्र भिसिकादौ पीठे फलके वा विषाणं शृङ्गं भवति तत्र निर्ग्र-न्थीनामासितुंवा न कल्पते निर्ग्रन्थानान्तु कल्पते । निर्ग्रन्थास्तु सविषाणे पीठे फलके वा यद्युपविशन्ति शेरते च तदा चतु-र्गुरुके आज्ञादयश्च दोषाः । तथा ॥

सविसाणे उड्डाहो, पावमादीयते परिकुट्ठम् ।

बितियपए वासासु, कप्पइ छिण्णे विसाणम्मि ॥

सविषाण आसने उपविशन्त्यामार्यिकायामुड्डाहो भवति । पादकर्मादयश्च दोषास्संभवन्ति । ततः प्रतिकुष्टं तत्रोपवेशन मितिगम्यते द्वितीयपदे वर्षासु पीठफलकदुर्लभतायां सविषाण मपि गृह्यते तस्य च विषाणंछित्त्वा परिभुज्यते एवं छिन्न विषाणे स्थविराया अन्यस्या वा कल्पते ॥

जंतु लब्भइ छित्तुं तं, थेरीणं दलंति सविसाणं ।

इंति घसे दंरुपाउं, लणपणमट्टिया एवा ।

यत्र पुनःस्थातुं न कल्पते ततः सविषाणमपि तदासनं स्थ-विरसाध्वीनां साधवः प्रयच्छन्ति । तदियं च दंरुपादप्रोंछन घनं गादयन्ति । तेनच चेद्धयित्वा स्थूलतरं कुर्वन्तीत्यर्थः । मृ-त्तिकया परिलिम्पन्ति निर्ग्रथानां सविषाणमपि कल्पते । कुत इत्याह ।

समणाणउ ते दोसा, न हुंति तेण तदुपगुसा य ।

पीढं आसणहेउं, फलगं पुण होइ सेज्जट्ठा ।

श्रमणानां पुनस्ते पादकर्मादयो दोषा न भवन्ति ततो हे अपि पीठकफलके सविषाणेप्यनुज्ञाते । तत्र पीठमासनहेतोः फलकं पुनः शय्यार्थं शयननिमित्तं वर्षासु गृह्यते । अथ किमर्थं वर्षासु तत्रोपवेशनं शयनं वा क्रियते इत्याह ॥

कुत्थण आयदयट्ठा, उज्झायग अरिसवायरक्खट्ठा ।
पाणा सीतल दीहा, रक्खट्ठा होइ फलगंतु ।

आर्द्रायां भूमौ स्थाप्यमानाया निषद्यायाः कथनं भवति शीतलायां च भूमावुपविशतां धान्यं न जीर्यति ततो ग्लानत्वेनात्म विराधनोदयार्थं च जीवदयानिमित्तं वर्षाभूमौ नोपवेष्टव्यं । (उज्झायगंति) भूमेरार्द्रभावेन मलिनीभूतस्योपधे र्जुगुप्सनीयता स्यात् अर्शांसि वा कुप्येयुः वातोवाऽधिकतरं प्रकुप्येत् ततएतेषां रक्षार्थं पीठकं गृहीतव्यं । तथा शीतलायां भूमौवहवः पनकप्रभृतयः प्राणिनः संमूर्च्छेयुः ततो भूमौ च योनीनां तेषां विराधनाभवति दीर्घजातायां वा भूमेर्निर्गत्य दशेयुरुपलक्षणमिदं । ततोपधिको न जीर्णतादयोऽपिदोषा भवन्ति । एतेषां रक्षार्थं वर्षासु फलकं गृह्यते । बृ. ५ उ० ॥

गुरोः पुरतः आसन विधिं (विणय) शब्दे वक्ष्यामि ।

सुखस्थिरासनोपेतं-स्थिरसुखमासनमिति पतंजलिः हा. २१ द्वा.

आसणअभिग्गह–**आसनाभिग्रह**–पु० यत्र यत्रोपवेष्टुमिच्छन्ति तत्र तत्रासननयने, पंचा० २ वृ. ॥

तिष्ठत एव गुरोरादरेणासनानयनपूर्वके अत्रोपविशत इति भणने दर्शनविनयभेदे, प्रव० । सम ९१ स. । नि. चू. १ उ. । ध. ३ अधि. ॥

आसणगय–**आसनगत**–त्रि० स्वस्थाने स्थिते, उत्त० । आसनासीने (आसणग कोण पुच्छे जोणवसेज्जाग ओकयाइवि) उत्त. ।

आसणचाग–**आसनत्याग**–पु० आसनत्यागे, पीठकाद्युपनयने द्वा० ३९ द्वा. ॥

आसणत्थ–**आसनस्थ**– त्रि० उत्कुटकागोदोहिकावीरासनाद्यवस्थे, आचा. १ श्रु. ए अ. । (आसणत्थो पढिछमारवाहेति) नि. चू. १ उ. ।

आसणदाण–**आसनदान**–न० पीठकाद्युपनयने, ध. १ अधि. ।

आसणपयाण–**आसनप्रदान**–न० आसनदानमात्रे दर्शनविनयरूपे विनयभेदे, ग. । नि. चू. ॥

आसणाणुप्पयाण–**आसनानुप्रदान**–न० गौरवमाश्रित्यासनस्य स्थानान्तरसंचारणे, भ. १४ श. ३ उ. । पंचा. १८ वृ स्था. ७ ठा. ॥

आसण्ण–**आसन्न**–त्रि० निकटवर्तिनि, उत्त० १ अ. । स्था. आ म. पंचा. ३ वृ. । ध. ३ अधि. । आव. । प्रत्यासत्तिमति, पो. "उज्जेणीए नयरीए आसण्णोणऊणं गामा" आ. म. ॥

आसण्णलद्धपइन्न–**आसन्नलब्धप्रतिज्ञ**–त्रि० परतीर्थिकादीनामुत्तरदानसमर्थे, ग. १ अधि. । सूरी. प्रव. ॥

आसण्णसिद्धिय–**आसन्नसिद्धिक**–त्रि० समासन्नीभूतनिर्वृत्तिके, पं० ॥

आसतर–**अश्वतर**–पु० वेसरे, ध० नि. चू० ॥

आसत्त–**आसक्त**–त्रि० भूमिलग्ने ज्ञा. भूमौ संवासे न० ॥

आसत्ति–**आसक्ति**–स्त्री० योगिपरिभाषितेऽर्थे ज्ञा. भेदे स्था. बाधिर्यकुण्ठतांधत्वजडताजिघ्रतामूकताकौण्यपंगुत्वक्लैब्योदावर्तमत्ततारूपैकादशेन्द्रियवधतुष्टिनवकविपर्ययसिद्ध्यष्टकविपर्ययलक्षणसप्तदशबुद्धिभेदादष्टाविंशतिधासक्तिः ॥

आसत्तोसत्त–**आसक्तोत्सक्त**–त्रि० आ अर्वाक् अधो भूमौ सक्त आसक्तो भूमौ लग्न इत्यर्थः ऊर्ध्वं सक्त उत्सक्तः भूमौ उल्लोचने उपरि च संबद्धे, जी० । कल्प० ।

आसत्थ–**अश्वत्थ**–० पु० न० पिप्पले नि० चू० स० ॥

आश्वस्त–त्रि० मार्गजनितश्रमापनयनेनाश्वस्थतामुपगते, कल्प० भ० ११ श. उ. ११ मनागाश्वसिते ओ० (आसत्था मंजाय करपल समोसरह) ज्ञा० ।

आसदेत्ता–**अस्वाद्य**–अव्य० आस्वादनं कृत्वेत्यर्थे (सद्दफरिसरसरूवगन्धे आसदेत्ताभवइ) स्था. ७ ठा. ।

आसधर–**अश्वधर**-पु. अश्वधारकपुरुषे, औ. येऽश्वान् धारयन्ति ।

आसपुरा– **अश्वपुरा**–स्त्री-पद्मविजये पुरीयुगले, स्था(. दो आसपुराओ) स्था. ८ ठा०

आसम–**आश्रम**–पु० तापसावसथोपलक्षिते आश्रयविशेषे, व्य० दर्श. जी. प्रथमस्तापसादिभिरावासितः पश्चादपरोऽपिलोकस्तत्र गत्वावसति बृ. नि. चू. प्रज्ञा. औ. आचा. अनु. तीर्थस्थाने, च. स्था. ॥

(ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थोयतिस्तथा) इति चतुर्षु लोकप्रसिद्धेषु अवस्थाविशेषभाक्षु मनुष्येषु ।

आसमद्दग-**अश्वमर्दक**-त्रि. घोटकानां मर्दनाधिकारिणि पुरुषे.ज्ञा ।

आसमपय–**आश्रमपद**–न. तापसाश्रमोपलक्षिते स्थाने. उत्त. (कणखलं नाम आसमपदं) आ. म. द्वि. ।

आसमभेय–**आश्रमभेद**– पु० " ब्रह्मचारी गृहस्थ अवानप्रस्थोयतिस्तथेत्यादिनोक्तस्वरूपे भूमिकाविशेषे, पंचा० १० वृ. ।

आसमाण-**आसीन**-त्रि० निषण्णे,(अजयं आसमाणोय पाण भूयाहिंहिसइ) आसीनो निषण्णतयाऽनुपयुक्त आकुंचनादि भावेन. । द० ४ अ. ।

आसमि–**आश्रमिन्**–पु० लिङ्गिनि, पं. व. १ द्वा. ।

आसमित–**अश्वमित्र**–पु० सामुच्छेदानां निन्हवानां धर्माचार्ये,

योहि महागिरिशिष्यस्य कौण्डिन्याभिधानस्य शिष्यो मिथिलायां नगर्यां लक्ष्मीगृहेचैत्ये अनुप्रवादाभिधाने पूर्वे नैपुणिके वस्तुनि छिन्नच्छेदनाय वक्तव्यतायां (पडुप्पन्नसमया नेरइया वोच्छिज्जिस्सन्ति एवं जाव वैमाणियात्ति एवं वितियाइ समए सुवत्तव्व) मित्येवं रूपमालापकमधीयानो मिथ्यात्वमुपगतः सामुच्छेदिकनिन्हावान् प्रावर्तयत् इति समुच्छेदिकशब्दे विभूत्यार्थिनाऽन्वेष्टव्यः ॥ स्था० ७ ठा. । उत्त. १ अ. विशे. ॥

आसमुह–**अश्वमुख**–पु० आदर्शमुखद्वीपस्य परतोऽतरद्वीपे, तत्स्थे मनुष्ये च अन्तरद्वीपशब्दे विवृत्तिः उत्त. ३६. अ. । प्रव. । २६२ द्वा. । स्था. ४ ठा. ॥

आसय–**आशक**–त्रि० भोजिनि, आचा० ५ अ. ४ उ. । आशय स्वकीयदर्शनाभ्युपगमे, सूत्र० १ श्रु १ अ. । परिणामे, द्वा- २८ द्वा० । अभिप्राये, सूत्र, १ श्रु. १५ अध्यवसायविशेषे, पो० ३ विव. ।

प्रणिधिप्रवृत्तिविघ्नजय, सिद्धिविनियोगभेदतः प्रायः ।
धर्मज्ञैराख्यातः शुभाशयः पंचधात्र विधौ ॥६॥

प्रणिधानादिराशिरुक्तस्तमेव संख्याविशिष्टं नामग्राहमाह । (प्रणिधीत्यादि) प्रणिधिश्च वृत्तिश्च विघ्नजयश्च सिद्धिश्च विनियोगश्च एतएव भेदास्तानाश्रित्य कर्मणि ल्यब्लोपे पंचमी । प्रणिधिप्रवृत्तिविघ्नजयासिद्धिविनियोगभेदतः प्राय इति

प्राचुर्येण शास्त्रेषु धर्मक्षैर्धर्मवेदिभिराख्यातः कथितः शुभाशयः शुभपरिणामः पंचधा पंचप्रकारः । अत्र प्रक्रमे विधौ कर्तव्योपदेशो । प्रतिपादिताशयपंचकव्यतिरेकेण पुण्यशुद्धिद्वयलक्षणद्वयमनुबंधि न भवतीति प्रणिधानादिना स्वरूपमन्यत्र दृष्टादृष्टजन्मवेदनीये कर्माशये क्लेशाकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः षो० टी० द्वा० ॥

आश्रय– पु० आश्रयतीत्याश्रयः धूमबलाकादौ हेतौ, अनु० । प्रत्यये, आचा. १ श्र. । आधारे, अष्ट. । आलये, स्था. ३ ठा. । भजनीये, ज्ञा० १० अ. ॥

आस्यक– न० मुखे, ज्ञा० ए अ. । जी. । आचा. (आसेणनत्थि कुरो) आस्येन मुखेन द० ५ अ. ॥

आसयंत–आश्रयत्–त्रि० गृह्णति, विशे. ईषद्भजमाने भ.१२ श. ६ उ. आश्रयणीयं वस्तु. भ. ११ श. ११ उ. ॥

आसयभेय–आशयभेद–पु० अध्यवसायविशेषे, कथमयं वराको धर्मकान्तारोत्तरणेन निखिलसुखविरहभाजनं भविष्यतीत्यादिरूपे, प्रति० ॥

आसयमहत्त–आशयमहत्व– न० आशयस्य विपुलत्वे, षो० १ वि० ॥

आसयविसेस–आशयविशेष– पु० चित्तोत्साहातिशये, द्वा० ११ द्वा० ॥

आसरयण–अश्वरत्न– न० चक्रवर्तिनोऽश्वोत्कृष्टे, यक्षसहस्राधिष्ठितेऽश्वे, स० १४ स० ॥

जरतस्स कमलामेलं णामेणं आसरयणं सेणावईकमेणं समभिरूढे । जं० आ० चू० १ स० ॥ स्था० ७ ठा० ॥ प्रज्ञा० १ए पद. ॥

अश्ववर्णकः

तएणं तं असीइमंगलमूसिअं णवणउइमंगुलपरिणाहं अट्ठसयमंगुलमायतं बत्तीस मंगुलमूसिअसिरं चउरंगुलकन्नगं वीसइ अंगुल बाहागं चउरंगुलजाणुकं सोलस अंगुल जंघागं चउरंगुलमूसिअखुरं मुत्तोलीसंवत्त वलिअमज्झं ईसिं अंगुलपणयपट्ठं संगयपट्ठं सुजायपट्ठं सजायपट्ठं पसत्थपट्ठं विसिट्ठपट्ठं एणीजाणुणय वित्थयथद्धपट्ठं वित्तलयकसणिवायअंकेल्लणप्पहारपरिवज्जिअंगं तवणिज्जथासगअहिलाणं वक्खण सुफुल्लथासगविचित्तरयणरज्जुपासं कंचण मणि कणग पयर गणाणाविह घंटिआजालमुत्तिआ जालएहिं परिमंडिएण पट्ठेण सोभमाणेण सोभमाणकक्केयण इंदनीलमरगयमसारगल्लमुहमंडणरइअ आविद्धमाणिक्कसुत्तग विभूसिअं कणगमय पउम सुकयतिलकं देवमइविकप्पिअं सुरवरिंदवाहणजोग्गं वयं सुरूवं दुइज्जमाण पंचवाह चामरा मेलगं धरेंतं अणब्भवाहं अभेलणेयण कोकासी अवहलपत्तलच्छसेयावरणनवकणगतविअतवणिज्ज तालुज्जीहासयंसि आभिसेअघोणं पोक्खरपत्तमिव, सलिलबिन्दु अचंचलं चंचलसरीरं चोक्खचरगपरिव्वायगो विवहिलीयमाणं २ खुरचलणचंचु पुडेहिं धरणिअलं अभिहणमाणं २ दोवि अचलणेजमगसमगं मुहाओ विणिग्गमंतं च सिग्घयाए मुणालतंतु उदगमविणिस्साए पक्कमंतं जाइकुलरूवपच्चयपसत्थबारसावत्तकविसुद्धलक्खणं सुकुलप्पसूअं मेहाविभद्दयं विणीयं अणु असुकुमाललोमनिद्धच्छविं सुजायं अमरमणपवणगरुलजइणं चंवलसिग्घगामिं इसिमिव, खंतिखमाए सुसीसमिव, पच्चक्खया विणीयं उदगहुतवहपासाणं कद्दमसक्कर सवालुइल्ल तडकडगविसमपब्भार गिरिदरीसु लंघण पिल्लणणित्थारणासमत्थं अचंडपाडिअं दंडपातिअणं सुपाति अकालतालु च कालहेसिं जिअनिद्दं गवेसं जिअपरिसहं जच्चजातीयमल्लिहाणिं सुगपत्तसुवण्णकोमलं मणाभिरामं कमलामेलं णामेणं आसरयणं ॥

टीका ॥ तएणं तं असीइमंगुलमूसिअ इत आरभ्य सेणावइक्कमेण समभिरूढे इत्येतदंतेन सूत्रेण पदयोजना । तत इति क्रियाक्रम सूचकं वचनं तं प्रसिद्धगुणं नाम्ना कमलामेलं अश्वरत्नं सेनापतिक्रमेण सन्नाहादिपरिधानविधिना समभिरूढ आरूढः किंविशिष्टमित्याह । अशीत्यंगुलानि उच्छ्रितं अंगुलं चात्र मानविशेषः । नव नवत्यंगुलानि एकोनशतांगुलानि एकोनशतांगुलप्रमाणः परिणाहो मध्यपरिधिर्यस्य तत्तथा । अष्टोत्तरशतांगुलानि आयतं दीर्घं सर्वत्र मकारोऽलाक्षणिकः । तुरङ्गाणां तुंगत्वं खुरतः प्रारभ्य कर्णावधि परिणाहः पृष्ठपार्श्वोदरांतरावधि । आयामो मुखादिपुच्छमूलं । यदाह पराशरः । मुखादापुच्छकं दैर्घ्यं, पृष्ठपार्श्वोदरांतरात् । आनाह उच्छ्रयः पादा, विज्ञेयो यावदासनम् ॥ १ ॥ तत्रोत्सेधसंख्यामेलनाय साक्षादेव सूत्रकृदाह ॥ लोचितशिरस्कं चतुरंगुल (बत्तीसमित्यादि) । द्वात्रिंशदंगुलप्रमाणं कर्णकं ह्रस्वकर्णत्वस्य जात्यतुरगलक्षणत्वात् । अनेन कर्णयोरुच्चत्वेनास्थिरयौवनत्वमभिहितं शंकुकर्णत्वात् हयानां यौवनपाते वनितास्तनयोरिव अनयोः पातः स्यात् । दीर्घत्वात् अत्र योजनीयाः क्रमप्राप्त धाम्येन पूर्वकर्णविशेषणं ज्ञेयं पश्चाच्छिरसः अश्वश्रवसोरूर्ध्वं मुखत्वात् विंशत्यंगुलप्रमाणा बाहाः शिरोभागाधोवर्ती जानुनोरुपरिवर्ती प्राक् चरणभागो यस्य तत्तथा । चतुरंगुलप्रमाणं जानु बाहुजंघासंधिरूपोऽवयवो यस्य तत्तथा । षोडशांगुलप्रमाणा जंघा या च संख्या पूर्वोक्ता अशीतिर्वर्ती खुरावधिरवयवो यस्य स तथा चतुरंगुलोच्छ्रिताः खुराः पादतलरूपा अवयवा यस्य स तथा । एषामवयवानामुच्चत्वमीलने सर्वसंख्या पूर्वोक्ता अशीत्यंगुलरूपा मकारः सर्वत्रालाक्षणिकः । यत्तु श्रेष्ठाश्वमानमाश्रित्य लौकिकपराशरग्रंथे " अधन्यमध्यश्रेष्ठानामश्वानामायतिर्भवेत् । अंगुलानां शतं हीनं विंशत्या दशभिस्त्रिभिः १ परिणाहाङ्गुलानि स्यात् सप्ततिः सप्तसप्ततिः । एकाशीतिः समासेन त्रिविधस्याद्यथाक्रमम् २ तथा षष्टिश्चतुष्पष्टिरष्टषष्टिः समुच्छ्रयः । त्रिपंचसप्तकयुताः विंशतिः स्यान्मुखायतिः ३ इत्यत्र सप्तनवत्यंगुलान्यायति एकाशीत्यंगुलानि परिणाहः अष्टषष्टंगुलानि समुच्छ्रयः सप्तविंशत्यङ्गुलानि मुखायतिरित्युक्तमस्ति तदपरश्रेष्ठहयानाश्रित्य । ननु चक्रवर्तिरत्नमाश्रित्य इत्थमायं विशेषः । पुरुषोत्सेधे सामुद्रिके उत्तमपुरुषाणामष्टोत्तरशतांगुलान्युत्सेधः । उत्तमोत्तमानां तु विंशत्युत्तरशताङ्गुलानि अनेनास्य प्रमाणोपेतत्वं सूचितं । सम्प्रत्यवयवेषु लक्षणोपेतत्वं सूचयति । मुक्तोली नाम अध उपरि च सङ्कीर्णा मध्ये-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्वीपद्दिशाला कोष्ठिका तद्वत्संवृत्तं सम्यग्वर्तुलं वलितं नमनस्वभावं न तु स्तब्धमध्यं यस्य तत्तथा । परिणाहस्यमध्यपरिधिरूपस्य चैव चिंत्यमानस्वाद्युचितेयमुपमा । ईषदंगुलं यावत्प्रणतं न तु प्रारब्धं अतिप्रणतस्योपवेष्टुर्दुःखावहत्वात् पृष्ठे पर्यायस्थानं यस्य तत्तथा आरोहकसुखावहपृष्ठकमित्यर्थः । सम्यग् यथा क्रमेण नतं पृष्ठं यस्य तत्तथा । सुजातं जन्मदोषरहितं पृष्ठं यस्य तत्तथा । प्रशस्तशालिहोत्रलक्षणानुसारि पृष्ठं यस्य तत्तथा । किंबहुना विशिष्टपृष्ठं प्रधानपृष्ठमिति यावत् । उक्तं पृष्ठे पर्याणस्थानवर्णनं । अथ तत्रैवावशिष्टभागं विशिनष्टि । एणी हरिणी तस्या जानुवदुन्नतं उभयपार्श्वयोर्विस्तृतञ्च चरमभागे स्तब्धं सुदृढं पृष्ठं यस्य तत्तथा । वेत्रो जलवंशःलता या कशा चर्मदण्डस्तेषां निपातास्तैस्तथा अंकेल्लणप्रहारैस्तर्जकविशेषाघातैश्च परिवर्जितं अश्ववारमनोऽनुकूलचारित्वात् अंगं यस्य तत्तथा । तपनीयमयाः स्थासका दर्पणाकारा अश्वालंकारविशेषा यत्र तदेवंविधं अहिलाणं मुखसंयमनविशेषो यस्य तत्तथा । वरकनकमयानि सुष्ठु शोभनानि पुष्पाणि स्थासकाश्च तैर्विचित्रा रत्नमयी रज्जुः पार्श्वयोः पृष्ठोदरान्तवर्त्यवयवविशेषयोर्यस्य तत्तथा । बध्यंते पट्टिकाः पर्याणदृढीकरणार्थमश्वानामुभयोः पार्श्वयोरिति कांचनयुतमणिमयानि केवलकनकमयानि च प्रतरकाणि पत्रिकाभिधानभूषणानि अन्तरान्तरीयेषु तानि तथाभूतानि नानाविधानि घंटिकाजालानि मौक्तिकजालकानि च तैः परिमण्डितेन पृष्ठेन शोभमानकर्केतनादिरत्नमयं मुखमण्डनं रचितं आविद्धमाणिक्यं प्रोतमाणिक्यसूत्रकं हयमुखभूषणविशेषणविशेषस्तेन विभूषित कनकमयपद्मेन सुष्ठु कृतं तिलकं यस्य तत्तथा देवमये न स्वर्गिचातुर्येण विविधप्रकारेण कल्पितं सर्जितं । सुरवरेन्द्रवाहनमुच्चैःश्रवा हयस्तस्य योग्य मण्डलकरणाभ्यासस्तस्या प्रजगतादित्यस्य ल्युप्रत्यये प्रजनं प्रापकं । ये गत्यर्थास्ते प्राप्त्यर्था इतिवचनात् । अयंभावः । यादृशं खुरलीं अयमुच्चैःश्रवाः करोति तादृशोऽयमपि । अत्र षष्ठ्यर्थे द्वितीया प्राकृतत्वात् । यथासरूपं सुंदरं भवंति इतस्ततो दोलायमानानि सहजचंचलाकृत्याकृलनालमौलिकमेदयसूत्रविनिवेशितत्वेन पंचसंख्याकानि यानि चारूणि चामराणि तेषां मेलक एकस्मिन् मूर्द्धनि संगमस्तं धरद्दहत्चामरा इत्यत्र स्त्रीनिर्देशःसमयासिद्ध एव । गौडमतेन वा चामरा इत्यादन्तः शब्दः । अत्रापीडशब्दे व्याख्यायमाने मूर्द्धालंकारएवोक्तोभवाति नतु कर्णाद्यलंकारःदृश्यतेलोके एकंचामरं मूर्धालंकारभूतं चामरं एकंच कर्णालंकारभूतं एकंचभालालंकारभूतं एकं च कंठालंकारभूतानीति तेनयथोक्तव्याख्यानमेव सुन्दरं । अथ देवमतिविकल्पितादिविशेषविशिष्ट उच्चैःश्रवा नाम शक्रहयोऽपिस्यादित्याह । अनभ्राचारिवाहोऽश्वःउच्चैःश्रवास्तदन्य (अदब्भवाहमिति) पाठे तु अदभ्रं भूरि वहतीति अदभ्रवाहस्तत् अश्लेषदोषादिना असंकुचिते नयने यस्य तत्तथा । अतएव कोकासिते विकसिते बहले दृढे अनश्रुपातित्वात् पत्रले पक्ष्मवती नतु पैलुसिकरोगवशाल्लोमरहिते अक्षिणी यस्य तत्तथा । सदाचरणे शोभार्थं दंशमशकादिरक्षार्थं वा प्रच्छादनपटेन च कनकानि नव्यवस्तुवर्णानि यस्य तत्तथा । स्वर्णतंतु स्यूतप्रच्छादनपटमित्यर्थः । तप्तं तपनीयं तद्वद्रक्ते तालुजिह्वे यत्र तदेवं विधमास्यं यस्यतत्तथा । ततः पूर्वविशेषणेन कर्मधारयः । श्रीकाया लक्ष्म्या अभिषेकोऽभिषेचन नाम शारीरलक्षणं घोणायां नासिकायां यस्य तत्तथा । कचित्पाठान्तरेतु (सिरिसातिसे अघोण)मिति दृश्यते तत्र शिरीषं शिरीषपुष्पं तद्वदतिश्वेताघोणायस्येति तथा पुष्करपत्रमिव कमलदलमिव सलिलस्य बिन्दवोयत्र तदेवं विधं कोऽर्थः यथा पुष्करपत्रं जलान्तस्थं वाताहतजलबिन्दुयुतं भवाति । तथैतदपि सलिलं पानीयं लावण्यमित्यर्थः । तस्य बिन्दवः ग्रहास्तैर्युतं बिन्दुग्रहणेनाऽत्र प्रत्यंगं लावण्यं सूचितं लोकेऽपि प्रसिद्धमेतत् । मुखेऽस्य पानीयमिति अचंचलं स्वामिकार्यकरणे स्थिरं साधुवाहित्वात् चंचलं शरीरं जातिस्वभावात् । अथ यदि चंचलाङ्गस्तदाशुमेध्यवस्तुस्वापिस्वाङ्गप्रवर्तको भविष्यतीत्याह । चोक्षः कृतस्नानश्चरको धाटिभिक्षाचर परिव्राजको मस्करी ततश्चरकसहितः परिव्राजकश्चरकपरिव्राजकः प्रथमा द्वितीयार्थे । नवोक्तपरिव्राजकमिव प्राकृतशैल्याअकारप्रश्लेषादभिलीयमानं २ अशुचिः संसर्गशंकया आत्मानं संवृण्वान्ति आभीक्ष्ण्ये चात्र द्विर्वचनम् ।

एवमग्रेऽपिभाव्यं । अथाऽस्य क्रियाविशेषैर्जात्यत्वं लक्षयति । खुरप्रधानाश्चरणा खुरचरणास्तेषां चंचुपुटा आघातविशेषास्तैर्धरणीतलमभिहनदनुभूतविलेखनं सामान्यतः पुंसइवाऽश्वस्योपलक्षणमिति एतस्य लक्षणत्वेन शालिहोत्रे प्रतिपादनाद्यतः "खुरैःखनेद्यः पृथिवीं मश्वोलोकोत्तरः स्मृतः" इति । अश्ववारप्रयोगनर्तितोऽहिहयोऽग्रपादावुद्रस्यति तत्रास्यशक्तिविशेषणद्वारेण दर्शयति द्वावपि च चरणौ यमकसमकं युगपन्मुखाद्विनिर्गमदिव निस्सारयद्दिव कोऽर्थः । इदमग्रपादावूर्ध्वं नयत्तथा मुखान्तिकं प्रापयति यथा जन उत्प्रेक्षते इमौ मुखाद्विनिर्गमयाति पुनः क्रियांतरदर्शनेनैतद्विशिनष्टि । शीघ्र तया लाघवविशेषेण मृणालं पद्मनालं तस्य तंतुः सूत्राकारोऽवयवविशेषः सच उदकं च ते अपि निश्रयावलंब्य आस्तामन्य दुर्गादिकं प्रक्रामत् संचरत् । अयमर्थः । यथा अन्येषां संचरिष्णूनां मृणालतंतूदकादावष्टंभकेन भवतः तथा नास्येति सूत्रे चैकवचनमार्षत्वात् तथा जातिर्मातृपक्षः कुलं पितृपक्षः रूपं सदाकारसंस्थानं तेषां प्रत्ययो विश्वासो येभ्यस्ते च ते प्रशस्ताः प्रदक्षिणावर्तत्वात् शुभस्थानस्थितत्वाच्च ॥ येद्वादशावर्तास्ते यत्र तत्तया बहुव्रीहिलक्षणः कः प्रत्ययः । विशुद्धा निर्दोषा मिश्रितानि लक्षणानि अश्वशास्त्रप्रसिद्धानि यस्य तत्तथा । ततः पदद्वयस्य कर्मधारयः । द्वादशावर्ता श्च इमे वराहोक्ताः । "ये पाणि गलकर्णसंस्थिताः पृष्ठ मध्यनयनोपरि स्थिताः । ओष्ठसक्थिभुजकुक्षिपार्श्वगास्तेललाटसहिताः सुशोभनाः ॥ १ ॥ अत्रवृत्तिलेशः । प्रपाणमुत्तरोष्ठतलं गलः कंठं यत्र स्थित आवर्तो देवमणिनाम हयानां महालक्षणतया प्रसिद्धः । कर्णौ प्रतीतौ एतेषु स्थानेषु संस्थितास्तथोष्ठपर्याणस्थानं मध्यं प्रतीतं । नयने अपि तथैव तदुपरि स्थिताः तथा ओष्ठौ प्रतीतौ । सक्थिनी पाश्चात्यपादयोर्जानूपरिभागभुजौ प्राक्पादयोर्जानूपरिगःकुक्षि रत्नवामो दक्षिणकुक्ष्यावर्तस्य गर्हितत्वात् ॥ पार्श्वौ प्रसिद्धौ तद्गताः ललाटं प्रतीतं तदावर्तनासहिताः अत्र कर्ण नयनादिस्थानानां द्विसंख्याकत्वेऽपि जात्यपेक्षतया द्वादशैव स्थानानि स्थानभेदाऽनुसारेण स्थानिभेदा अपि द्वादशैवेति ॥ तथा सुकुलप्रसूतं हयशास्त्रोक्तं क्षत्रियाश्च पितृकं मेधावी स्वामी पदसंज्ञादि प्रासाद्यधारकं अदुष्टं विनीतं स्वामीष्टकारित्वात् । अणुकतनुकानामतिसूक्ष्माणां सुकुमालानां लोम्नां स्निग्धा छवि यत्र तत् तत्ता । सुष्ठु यानं गमनं यस्य तत्तथा । अमरमनःपवनगरुडाःप्रतीताःतान् वेगाधिक्ये न जयतीति अमरमनः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पवनगरुडजयि अतएव चपलं शीघ्रगतिकं पश्चात्पदद्वयस्यक मैधारयः । क्षान्त्या क्रोधाजावेन नत्वसामर्थ्येन या क्षमा तया ऋषिमिवानगारमिव क्षमाप्रधानत्वात्तस्य न चरणयोर्लत्ताद्यर्कं । न तु मुखेन दंशकं न च पुच्छाघातकमिति । सुशिष्यमिव प्रत्यक्षतो विनीतं । अत्र ताकारः प्राकृतशैली भवस्तेन प्रत्यक्षविनीतं । उदकं हुतवहोऽग्निः पाषाणः पांशुः रेणुः कर्दमः शर्करं सवलघुपललखर्मं स्थानं सवालुकं । अत्रार्थे इल्लप्रत्ययः । बहुलसिकताकर्णं स्थानं तटं नदीतटं कटको गिरिनितंबविषमप्राग्भारौ प्राग्वत् । गिरिदर्यः प्रतीताः । तासु लंघनमतिक्रामणं प्रेरणं आरुढस्य पुंसोऽभिमुखे दर्शनधावना दिना संज्ञाकरणपूर्वकं प्रवर्तनं निस्तारणा तत्पारप्रापणा तत्र समर्थना चर्युलैः सुभटैः रणापातितदंमवत् पततीत्येवंशीलं दंरूपाति अतर्कितमेव प्रतिपक्षं स्कंधावारे पतनशीलं अनेना ऽस्योत्पतनस्वभावोऽपि सूचितः । मार्गादिखेदेष्वपि नाश्रुपातय तीत्येवं शीलमनश्रुपाति तथा अकालतालुं अश्यामतालुं पूर्वं रक्ततावर्णितेऽपि यत्पुनरकालतालु इति विशेषणं तत्तालुनः श्यामत्वमतीतरामपलक्षणमिति तन्निषेधख्यापनार्थं चः समुच्चये । कालेऽराजकानां राजनिर्णयार्थकाधिवासनादिके समये न्हेषते शब्दायत्येवं शीलं कालन्हेषि जितानिद्राआलस्यंयेन तत् जितनिद्रं । त्यकुतालस्यमित्यर्थः । कार्येष्वप्रमादित्वात् यथा श्रुतार्थे व्याख्यायमाने ह्यशास्त्रविरोधस्तथाहि । "सदैव निद्रा वशगा, निद्रा च्छेदस्य संजवः । जायते संगरे प्राप्ते, कर्मा रस्य च प्रक्षणे " इति । यद्वा जितनिद्रत्वं समावसरप्राप्तत्वा दश्वरत्नत्वेनाल्पनिद्राकत्वाच्च । तथा गवेषकं मूत्रपुरीषोत्सर्गादौ उचितानुचितस्थानान्वेषकं । जितपरिषहं शीता तपाद्यातुरत्वेऽपि अखिन्नं जात्यं प्राधान्या जातिर्मातृपक्षस्तत्र भवं जात्यं जातीयं निर्दोषकमित्यर्थः । निर्दोषपितृकत्वं तु प्रागुक्तं । ईदृग्गुणयुक्तो हि समये स्वामिने न द्रुह्यति मातृमुखा वगतस्वकारणत्वात् व्यतिकरः प्रकुपितचिन्तितस्वामिद्रोहकर्कशोरवत् मल्लिर्चिचकिल्लकुसुमं तद्वदुज्ज्वलं अश्लेष्मत्वेनाना विल्लिसपूतिगंधिच घ्राणं पाथो यस्यतत्तथा । इकारः प्राकृत शैली भवः । ततः पूर्वपदेन कर्मधारयः । शुकपत्रवत् शुक पिच्छवत् सुप्रवर्णो यस्य तत्तथा । कोमलत्वं कायेन ततः पदद्वयस्य कर्मधारयसमासः मनोभिरामम् । जं. टी. ॥

आसरह-अश्वरथ-पु० अश्वप्रधानो रथोऽश्वरथः ज्ञा० १ अ. अश्व. युक्तोरथोऽश्वरथः । अश्वेन युक्ते रथे, (चाउग्घंटं आसरयणं दुरूढे) नि० सू० १३ अ. ।

आसराय-अश्वराज-पु० अणहिल्लपट्टननगरे जाते पौरपाटकुल मण्डने गुर्जरधराधिपतौ, । अणहिल्ल वाडयपट्टणे य पोरवाल कुलमंडणा आसराय कुमरदेविलणया गुज्जरधराहिवई । प्रश्नानेऽश्वे, स्था० ५ ठा० ।

आसव-आस्रव-पु० अपकायतेजस्कायपवनवनस्पतिकायादि पिण्डरूपे । पिं० । मृद्वद्वाखर्जूरसारनिष्पन्ने, प्रज्ञा० पत्रादिवासकद्रव्यभेदादनेकप्रकारे निर्यासिसारे, जी० मादकरसे अप्. कुसुमोत्पन्ने मद्ये उत्त० । चंद्रहासादिके, रा० ।

आश्रव-आ-श्रवति यत् क्षरति जलं यैस्ते आश्रवाः सूक्ष्म रंध्रेषु भ० । अक्षोत्यादत्तं कर्म्म यैस्ते आश्रवाः । धर्म० । आश्रवति प्रविशति कर्म्म येन स आश्रव. । सूत्र० । आश्रवति अष्टप्रकारकं कर्म्म येन स । आ० । सम्म० । आश्रीयते उपाज्यते कर्म्म एभिः इत्याश्रवाः । प्रव० । उत्त० । प्राणातिपात मृषावादादत्तादानमैथुनमित्यान्यादिषु । आव. । परिग्रह लक्षणेषु वा । आचा० । रा० । विषयकषायादिकेषु वा । आचा० । ओ० । सू० । कर्म्मप्रदेशद्वाररूपेषु० । सू० पापोपादानकारणेषु । न० । औ० । रागे-आस्रवे । आश्रवंति प्रविशन्ति येन कर्म्माण्यात्मनीति आश्रवाः कर्म्महेतुरिति भावः । स्था० । ठा० । (एगे आसवे) आश्रवंति प्रविशंति येन कर्म्माण्यात्मनीति आश्रवः कर्म्मबन्धहेतुरितिभावः । सर्वेन्द्रियकषाया व्रतक्रियायोगरूपक्रमेण पंचचतुः पंचपंचविंशतिभेदः । उक्तञ्च । इन्दिय ५ कसाय ४ अव्वय ५ किरिया २५ पण चउ अपंच पणवीसा । जोगतिपणेव भवे आसो भेयाउ वाया हत्ति । तदेवमयं द्विचत्वारिंशतिविधोऽथवा द्विविधो द्रव्यभावभेदात्तत्र द्रव्याश्रवो यज्जलान्तरगतनावादौ तथाविधपरिणामेन छिद्रैर्जलप्रवेशनामाचा आश्रवस्तु यज्जीवानाम्यंचेन्द्रियादिछिद्रतः कर्म्मजलसंचय इति सावाश्रव सामान्यादेक एवेति । सम० । स्था० ॥ आचा० । कर्म० प्रव० ।

जे आसवाते परिस्सवा । आचा० ।

य इति सामान्य निर्देश आश्रवत्यष्टप्रकारं कर्म्म यैरारंभैस्ते आश्रवाः परिसमन्तात्स्रवति गलति यैरनुष्ठानविशेषैस्ते परिश्रवाः यएवाश्रवाः कर्मबन्धस्थानानि तएवपरिश्रवाः ॥ कर्मनिर्जरास्पदानीदमुक्तं भवति । यानीतरजनाचरितानि स्रगंगनादीनि सुखकारणतया तानि कर्मबन्धहेतुत्वादाश्रवाः पुनस्तान्येव तत्वविदां विषय सुखपराङ्मुखानां निस्सारतया संसारसरणिदेश्यानीति कृत्वा वैराग्यजनकान्यतः परिश्रवा निर्जरास्थानानि आश्रवतीत्याश्रवः कर्मबन्धके आचा० ४ अ० ६ उ. । आश्रवति तान् शोभनत्वेनाशोभनत्वे वा गृह्णातीत्याश्रवाः । सूत्र० १ श्रु० १४ अ. आ समन्तात् श्रृण्वंति गृण्हंत । गुरुवचनमाकर्णयंतीत्याश्रवाः उत० १ अ. गुरुवचने स्थिते । आश्रवो वचने स्थित इति हैमः उत० १ अ. ।

आसवणिरोहजाव-आश्रवनिरोधजाव-पु० आश्रवस्य कर्मादानहेतोरविरतलक्षणस्यान्तरार्थस्य निरोधो निषेधो यस्तस्य यो भावः सत्ता स तथा संवरसत्वे, पंचा० । वृ० ।

आसवदार-आश्रवद्वार-न० । आस्रवणं जीवतडागे कर्मजलस्य संगलनमाश्रवः कर्मबन्धनमित्यर्थः । तस्य द्वाराणीव द्वाराणि उपाया आश्रव द्वाराणि स्था० ५ ठा० । कर्मोपादानोपायेषु मिथ्यात्वादिषु, । स. १ स. ।

पंच आसवदारा । प० मिच्छत्तं अविरई पमाया कसाया जोगा ॥ आव० १ अ० ॥

आ० चू० । प्राणातिपातादिषु । स्था० । आव. । आचा० ।
अत्थेणे गोयमा पाणी, जेए यं मणुए विसं ।
आसवदारे णिरोहादि, इयरहे पसोक्खंचरे । महा० ॥

आसवजावणा-आश्रवजावना-स्त्री० । आसवतत्वालोचने, ध० अ. आश्रवभावना चैवं ।

मनोवाक्कायकर्माणि, योगाः कर्म शुभाशुभं ।
यदाश्रवंति जंतुना, माश्रवास्तेन कीर्तिताः ॥ १ ॥
मैत्र्यादिवासितं चेतः, कर्म स्यूते शुभात्मकं ।
कषायविषयाक्रांतं, वितनोत्यशुभं मनः ॥ २ ॥
यतान्यत्र-मैत्र्या सर्वेषु सत्वेषु, प्रमोदेन गुणाधिके ।
माध्यस्थ्येनाविनीतेषु, कृपया दुःखितेषु वा ॥ ३ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सततं वासितं स्वान्तं, कस्यचित्पुण्यशालिनः ।
वितनोति शुभं कर्म, द्विचत्वारिंशदात्मकामिति ॥ ४ ॥
तथा-शुभार्जनाय निर्मिथ्यं, श्रुतज्ञानाश्रितं वचः ।
विपरीतं पुनर्ज्ञेयं, मशुभार्जनहेतवे ॥ ५ ॥
शरीरेण च सुप्तेन, शरीरी चिनुते शुभं ।
सततारंभिणा जंतु, घातकेनाशुभं पुनः ॥ ६ ॥
कषायविषया योगाः, प्रमादाचरती तथा ।
मिथ्यात्वमार्तरौद्रे चे, त्यशुभं प्रति हेतवः ॥ ७ ॥

नन्वेते बंधं प्रति हेतुत्वेनोक्ताः । यदाह वाचकमुख्यः । मिथ्या दर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बंधहेतव इति तत्किमाश्रव-भावनायां बंधहेतूनामेतेषामभिधानं सत्यं आश्रवभावबंध-भावनापि महर्षिभिर्भावनात्वेनोक्ता । आश्रवभावनयैव गता-र्थत्वात् आश्रवेण कषायाद्याः कर्मपुद्गला आत्मना संबद्ध्यमाना बंध इत्यभिधीयंते यदाह सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते सबन्धः स्यात् इत्यतोऽपि कर्म पुद्गलादान-हेतावाश्रवे बंधहेतूनामभिधानमदुष्टं । ननु तथापिबंधहेतूनां पाठो निरर्थकः नैवं बंधाश्रवयोरेकत्वेनोक्तत्वादाश्रवहेतूनामे-वायं पाठ इति सर्वमवदातमिति ।

आसवमाण–आस्रवत्–त्रि० शनैः प्रस्रवति-(उदयं आसवमाणं पेहाए) आचा० ४ अ. १ उ. ।

आसवर–अश्ववर–पुं० अश्वानां मध्ये प्रधाने-औ० । भ० ए श. ३३ उ. ।

आसवसक्कि–(ण्) आस्रवसक्तिन्– त्रि० आस्रवा हिंसाद-यस्तेषु सक्तं संगं आस्रवसक्तं तद्विद्यते यस्य आस्रवसक्ती हिंसाद्यनुषंगवति, आचा० । ५ अ. १ उ. ।

आसवार–अश्ववार–पुं० अश्वारूढपुरुषे-भ० । ए श. ३३ उ. । ततो आसवारेण दिट्ठो-आ० म० ॥

आसवोदगा–आसवोदका–स्त्री० आसवमिव चंद्रहासादिपर-मासवमिवोदकं यासां ताः आसवोदकाः । आसवमिवोदकासु वापीषु । जी० ३ प्र. । रा० ।

आससेण–अश्वसेन–पुं० चतुर्दशे महाग्रहे-जं०कल्प० । पार्श्व-जिनपितरि, स० । कल्प० भरतक्षेत्रेऽवसर्पिण्यां जातस्य चतु-र्थचक्रिणः पितरि, स० । आव० ।

आसा–आशा–स्त्री० वांछायाम् ज्ञा० १ अ. तं० । इच्छाविशेषे प्रश्न० । भोगाकांक्षायाम् । आसं च छंदं च विगिंच धीरे आचा० । आहारोपकरणगणस्वजनशरीराद्यनाभिष्वंगरूपाया-मिच्छायाम् । अनु० । अप्राप्तार्थानां प्राप्तिसंभावनायाम् औ० । परसत्कवस्तुप्राप्त्यभिलाषे । आतु. ।

आसाइ जो पहुत्तं, देइ सदा सत्तमप्पणो वस्स ।
इय सव्वत्थमुसा, परिहरियव्वा सया आसा ॥ संथा. ॥

उत्तररुचकपर्वतस्य विजयकूटवासिन्यां दिक्कुमार्याम् । स्था. ८ ठा. द्वी० । दिशि, च वाच० ।

आसाई–आश्वयुजी–स्त्री० अश्वयुगश्विनी तस्यां भवाऽश्वा-युजी । आश्विनेयमासभाविन्याममायां पूर्णिमायां । जं० ।

आसाएमाण–आशातयत्–त्रि० आशातनां कुर्वति । स्था० ४ ठा. ।

आस्वादयत्–त्रि० इक्ष्वादेरिव ईषत्स्वादयति बहु त्यजति च आचा० कल्प० । वि० ।

आसागह–आशाग्रह–पुं० चित्तस्याक्षेपकारित्वात् ग्रहतुल्य-वांछायाम् ।

आराध्य भूपतिमवाप्य ततो धनानि, भोक्ष्यामहे किल वयं सततं सुखानि । इत्याशया बत विमोहितमानसानां, कालः प्रयाति मरणावधिरेव पुंसाम् ॥ १ ॥ एहिगच्छ पतोत्तिष्ठ वद मौनं समाचर । इत्याद्याशाग्रहग्रस्तैः क्रीडंति धनिनोऽर्थिभिः ॥ २ आचा० ॥

आसाढ–आषाढ–पुं० । आषाढी पूर्णिमा यत्र मासे स आषाढः । आषाढीपूर्णिमा घटिते मासे, । आषाढे मासे सकृत् कर्कसंक्रांतौ उत्कर्षतोऽष्टादशमुहूर्तो दिवसो भवति । स० १८ स. ।

आसाढेणं मासे एगूणतीसं राइंदिआइं राइंदियग्गेणं प० । स. २९ स. ॥

आसाढपुन्निमाए उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवइ जहन्निया दुवालसमुहुत्ता राई भवइ ज० ११ श. ११ उ. । उत्त० । २६ अ. ॥

आव्यक्तिकनिन्हवानां धर्माचार्ये, । विशे० । ठा. । आषाढो येन हि श्वेतांब्यां नगर्यां पोलासा उद्याने च शिष्याणां प्रतिपन्न गाढयोगानां रात्रौ हृदयशूलेन मरणमासाद्य दिवेन भूत्वातद-नुकंपया स्वकीयमेव कलेवरमधिष्ठाय सर्वां समाचारीमनुप्रव र्तयता योगसमाप्तिं शीघ्रं कृत्वा वंदित्वा तानभिहितं च क्षम-णीयं भदंता ! यन् मया यूयं वंदनकारिताः यस्य च शिष्या श्यविरमसंयतो वन्दितोऽस्माभिरिति विचिंत्या व्यक्तमतमा-श्रिताः । स्था. ठा. ७ । उज्जयिन्यामवभाविते स्वनामख्याते आचार्येच । स्थिरीकरणशब्दे कल्प० । नि० चू० ।

आसाढपाडिवया–आषाढप्रतिपत्–स्त्री० । आषाढपूर्णमास्या अनन्तरा प्रतिपदाषाढप्रतिपत् । श्रावणकृष्णप्रतिपदि, स्था० । ४ ठा. ॥

आसाढभूइ–आषाढभूति-पुं० धर्मरुचिसूरिशिष्ये, पिण्ड० ।

विश्वकर्मा नाम नटः तस्य द्वे दुहितरौ ते च द्वे अप्यतिसुरूपे अतिशयातेयेनवदनं कांत्या दिनकरकरोद्भासितकमलश्रियं नय-नयुगलेन चंचरीककुवलययुगलं पीनोन्नतनिरंतरेण पयोध-रयुगलेन संहततालफलयुगलं बाहुयुगलेन सपल्लवालताः त्रिवलिभंगुरेण मध्यभागेनेंद्रायुधमध्यं जघनविस्तरेण आन्द्र-पीपुलिनदेशं ऊरुयुगलेन गजकलभनासाभोगं जंघायुगलेन कुरुविंदवृत्तसंस्थितिचरणयुगलेन कूर्मदेहाकृतिं सुकुमारतया शिरीषकुसुमसंचयं वचनमधुरतया वसंतमासोन्मत्त कोकि-लारवं अन्यदा च तत्र यथाविहारक्रमं समाययुः । धर्मरुचयो नाम सूरयः । तेषामंतेवासी प्रज्ञानिधिराषाढभूतिः स भिक्षार्थ-मटन् कथमपि विश्वकर्मणो नटस्य गृहे प्राविशत् । तत्र च लब्धः प्रधानो मोदकः द्वारे च विनिर्गत्य तेन चिंतितमेष सूरीणां भविष्यति तत आत्मार्थं रूपपरावर्त्तमाधायान्यं मोदकं मार्गयामि ततः काणरूपं कृत्वा पुनः प्रविष्टो लब्धो द्वितीयो मोदकः । ततो भूयोपि चिंतितं एष उपाध्यायस्य भविष्यति । ततः कुब्जरूपमभिनिर्वर्त्य पुनरपि प्रविष्टः लब्धः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तृतीयो मोदकः। एष द्वितीयसंघाटकसाधोर्भविष्यतीति विचिंत्य कुष्ठिरूपं कृत्वा चतुर्थवेलायां प्रविष्टः लब्धश्चतुर्थो मोदकः एतानि च रूपाणि कुर्वन् माल्लोपरिस्थितेन विश्वकर्मणा नटेन ददृशे । चिंतितं चानेन सम्यगेषोऽस्माकं मध्ये नटो भवति । परं केनोपायेन स यतितव्य इति। एवं च चिंतयतः समुत्पन्ना तस्य शेमुषी दुहितृभ्यां क्षोभयित्वा ग्रहीतव्य इति। ततो माल्लादुत्तीर्य सादरमाकार्याषाढभूतिः पात्रभरणप्रमाणैर्मोदकैः प्रलोभितः भणितश्चासावहो भगवन् ! प्रतिदिवसमस्माकं भक्तदानग्रहणेनानुग्रहोऽनुविधातव्यः ततो गतस्वोपाश्रयमाषाढभूतिरकथयच्चांते रूपपरावर्त्तनवृत्तांतं विश्वकर्मा निजकुटुंबस्य भणिते च दुहितरौ यथा सादरं दानस्नेहप्रदर्शनादिना तथाकर्तव्यं । यथा युष्माकमायत्तोभवति प्रतिदिवसमायाति च भिक्षार्थमाषाढभूतिर्दुहितरावपि तथैवोपचरतः ततोऽत्यंतमनुरक्तमवगम्य रहसि भणितो यथावयमत्यंतं तवानुरक्तस्ततोऽस्मान् परिणीय त्वं परिभुङ्क्ष्वेति अत्रांतरे च तस्योदयमियाय चारित्रावरणकर्म गलितो गुरूपदेशः प्राणे सति विवेको दूरीभूतः कुलजात्यभिमानस्ततस्तेनोक्तमेवं भवतु परमहं गुरुपादांतिके लिंगं विमुच्य समागच्छामि गतो गुरुसमीपं प्रणतस्तेषां पादयुगलं प्रकटितो निजाभिप्रायः। ततो गुरुभिरवादि वत्स! नेदं युष्मादृशां विवेकरत्नैकशरणानामवगाहितसकलशास्त्रार्थानामुभयलोकजुगुप्सनीयं समाचरितुमुचितं। तथा(दीहरसीलं परिपालि, ऊण विसएसु वच्च मारमसु । को गोपयमि बुडूइ उपहिंत रिऊण बाहाहिं) इत्यादि । तत उवाचाषाढभूतिर्भगवन् ! यथा यूयमादिशथ तथैव केवलप्रतिकूलकर्मोदयः। प्रतिपक्षभावनारूपकवचदुर्बलतया मदनशबरेण निरंतरं समुत्रस्यमृगनयनरमणीकटाक्षविशेषोपनिपातमादधता शतशो मे जर्जरीकृतं हृदयं एवं चोक्त्वा गुरुपादान् प्रणम्य तदंतिके रजोहरणं मुक्तवान् । ततः कथमहममीषामनुपकृतोपकारिणामपारसंसारोदधिनिमग्न जंतुसमुद्धरणैकचेतसां सकलजगत्परमबंधुकल्पानां गुरूणां पृष्ठं ददामीति पश्चात्कृतपादप्रचारो हा कथमहं भूयोऽप्येवंविधगुरूणां चरणकमलं प्राप्स्यामीति विचिंतयन् वसतेर्विनिर्गत्य विश्वकर्मणो भवनमायातः। परिभावितमस्य सादरमनिमेषदृष्ट्या नटदुहितृभ्यां वपुः प्रत्यभासत। सकलजगदाश्चर्यमस्य रूपं ततोऽप्यचिंतयतामिमे अहो कौमुदीशशांकमंडलमिवास्य मनोहरकांतिवदनं, कमलदलयुगलमिव नयनयुगलं गरुत्मत इव तुंगमायतं नासानालं कुंदमुकुलश्रेणिरिव सुस्निग्धा दशनपङ्क्तिः, महापुरकपाटमिव विशालमस्य मांसलं, वक्षःस्थलं मृगरिपोरिव संवर्तितः कटिप्रदेशो निगूढजानुप्रदेशं जंघायुगलं सुप्रतिष्ठितकूर्मयुगलमिव चरणयुगलं ॥ ततो विश्वकर्मा अवोचत् महाभाग तवायत्ते द्वे अप्यमू कन्यके ततः स्वीक्रियतामिति । ततः परिणीते ते द्वे अपि तेन कन्यके भणिते च विश्वकर्मणा यो नामैतादृशीमप्यवस्थां गतो गुरुपादान् स्मरति सनियमादुत्तमप्रकृतिः। तत एव भिक्षावर्जनार्थं सर्वदैव मद्यपानविरहिताभिर्युष्माभिः स्थातव्यं । अन्यथैव विरक्तो यास्यति । आषाढभूतिश्च सकलकलाकलापपरिज्ञानकुशलो नानाविधैर्विज्ञानातिशयैः सर्वेषामपि नटानामग्रणीर्बभूव ततस्ते च सर्वेऽपि नटाः स्वां स्वां युवतिं स्वस्वगृहे विसृज्य च राजकुलं गता । आषाढभूतिभार्याभ्यामपि चिंतितमद्य राजकुले गतो ऽस्माकं भर्त्ता सकलामपि च रात्रिं गमयिष्यति। ततः पिबामो यथेच्छमासवमिति तथैव कृतं । मदवशाद्व्यपगतचेतने विगतवस्त्रे द्वितीयभूमिकाया उपरि सुप्ते तिष्ठतः । राजकुले परराष्ट्रदूतः समायात इति राज्ञो व्याक्षेपो बभूव । ततो भवसर इति कृत्वा प्रतीहारेण मुत्कलिता सर्वेऽपि नटाः समागता स्वं स्वं भवनं आषाढभूतिश्च निजावासे समागत्य यावत् द्वितीयभूमिकामारोहति । तावत्ते द्वे अपि निजभार्ये विगतवस्त्रे बीभत्स्ये पश्यति ततः स महात्मा चिंतयत् अहो मे मूढता अहो मे निर्विवेकता, । अहो मे दुर्विलसितं, यदेतादृशमप्यशुचिकरंडकभूतानामधो गतिनिबंधनानां कृते परमशुचिभूतमिह परलोककल्याणपरंपराजनकमाक्षेपेण मुक्तिपदनिबंधनं संयममुज्झाम्बभूव ततोऽद्यापि न मे किमपि विनष्टमपि, गच्छामि गुरुपादांतिकं, प्रतिपद्ये चारित्रं, प्रक्षालयामि पापपंकमिति, विचिंत्य गतो गृहात् । दृष्टः कथमपि विश्वकर्मणा लक्षित इंगितादिना यथा विरक्त एव यातीति ततः सत्वरं निजदुहितरावुत्थाप्य निर्भर्त्सयति । हा दुरात्मिके ! हीनपुण्यचतुर्दशीके ! युष्मद्विलसितमेतादृशमवलोक्य सकलनिधानभूतो युष्यद्भर्त्ता विरक्तो यातीति तद्यदि निवर्त्तयितुं शक्नुथस्तर्हि निवर्त्तयथो नो चेत् प्रजीवनं याचस्वमिति ।ततस्ताः ससंभ्रमं परिहितवसनाः पृष्ठतः प्रधाव्य गच्छतः पादयोर्लग्ना वदंति च। हा स्वामिन् ! क्षमस्वैकमपराधं निवर्त्तस्व मास्माननुरक्ताः परिहर एवमुक्तोपि स मनागपि चेतसि न रज्यते ततस्ताभ्यामयाचि । स्वामिन् ! यद्येवं तर्हि प्रजीवनं देहि येन पश्चादपि युष्मत्प्रसादेन जीवामस्तत एवं भवत्विति दाक्षिण्यवशादनुमत्य प्रतिनिवृत्तः । ततः कृतं भरतचक्रवर्त्तिचरित्रप्रकाशकं राष्ट्रपालं नाम नाटकं । ततो विज्ञप्तो विश्वकर्मणा सिंहरथो राजा । देव ! आषाढभूतिना राष्ट्रपालं नाम नाटकं विरचितं । तत्संप्रति नर्त्यतामिति । परं तत्र राजपुत्रपंचशतैराभरणविभूषितैः प्रयोजनं । ततो राज्ञा दत्तानि राजपुत्राणां पंचशतानि तानि यथातथमाषाढभूतिना शिक्षितानि ततः प्रारब्धं नाटकं नर्त्तितुं तत्र आषाढभूतिना शिक्षित इक्ष्वाकुवंशसंभूतो भरतश्चक्रवर्तिपदस्थितो । राजपुत्राश्च यथायोगं कृताः सामंतादयः । तत्र च नाटके यथा भरतेन भारतं षट्खंडं प्रसाधितं । यथा चतुर्दशरत्नानि नव महानिधयः प्राप्ता यथा वा दर्शगृहावस्थितस्य केवलालोकप्रादुर्भावो, यथा च पंचशतपरिवारेण सह प्रव्रज्या प्रतिपन्ना तत्सर्वमभ्यानिनीयते ततो राज्ञा लोकेन च परितुष्टेन सर्वेणापि यथाशक्ति हारकुंडलादीन्याभरणानि सुवर्णवस्त्राणि च प्रदत्तानि। ततः सर्वजनानां धर्मलाभं प्रदाय पंचशतपरिवार आषाढभूतिर्गंतु प्रावर्तत । ततः किमेतदिति राज्ञा निवारितस्तेनोक्तं किं भरतचक्रवर्ती प्रव्रज्यामादाय निवृत्तो येनाहं निवर्ते। इति गतः सपरिवारो गुरुसमीपं वस्त्राभरणादिकं च समस्तं निजभार्याभ्यां दत्तवान् तच्च प्रजीवनकं किल तयोर्जातं । गृहीता दीक्षा तदपि च नाटकं विश्वकर्मणा कुसुमपुरे नर्तितुमारब्धं । तत्रापि पंचशतसंख्याः क्षत्रियाःप्रव्रजंतो निःक्षत्रियां पृथिवीं करिष्यंतीति नाटकपुस्तकमग्नौ प्रवेशितं । पिं० । मायापिंडे इदमुदाहरणम् ॥

आषाढा–आषाढा–स्त्री० नक्षत्रभेदे (दो आसाढा) स्था० २ ठा० । द्वे आषाढे पूर्वाषाढा उत्तराषाढा च–वाच० । ०

आसाढायरिय–आषाढाचार्य पुं० आव्यक्तिकनिन्हवाचार्ये औ० ।

आसाढी–आषाढी–स्त्री० आषाढानक्षत्रयुक्ता पूर्णमासी आषाढी। आषाढमासभाविन्यां पर्णिमायाम्–सू० च० आत्र० ।

आसापास–आशापाश–पुं० । इच्छाविशेषरूपे बन्धने आसापासपडिबद्धपाणा. । आशा इच्छाविशेषः सैव पाशो बन्धनं तेन प्रतिबद्धाः संरुद्धा निर्यान्ति इति गम्यं प्राणा येषां ते तथा । प्रश्न० ३ द्वा०(किं किन कुणइ जीवो आसापासेण वा बद्धो),–संथा० ।

आसावल्ली–आशावल्ली–स्त्री० सोमनाथभंगसमये यवनैर्नाशितस्य कर्णदेवस्य मातरि, ती० ।

आसाय–आस्वाद–पुं० आ ईषदपि अ इति न स्वादः आस्वाद मनागस्वादे रसनेन्द्रियजन्ये ज्ञाने । आस्वाद्यतेऽनेनेति कृत्वा यत्प्रकर्षाद्दिव्यरससंधिद्रुपजायते तस्मिश्च । दा० ज्ञा० । विशे० । अभिलाषे २ आचा. ८ अ० ।

आसायण–आशातन–न० आ समन्ताच्छातयति मुक्तिमार्गाद् भ्रंशयति इत्याशातनम् अनन्तानुबन्धिकषायवेदने । विशे० ।

आसायणा–आशातना–स्त्री० ज्ञानादिगुणा आ सामस्त्येन शात्यन्ते अपध्वस्यन्ते याभिस्ता आशातनाः स्था० । प्रतीपवर्तनेषु । अधिक्षेपेषु । सम्म० विनयभ्रंशेषु आव. । प्रतिषिद्धकरणेषु । आ० चू० । लघुतापादनेषु । द० । आतु० । आशातना ज्ञानदेवगुर्वादीनां जघन्यादिभेदाः त्रिविधाः तत्र ज्ञानस्य, तत्र जघन्या ज्ञानाशातना ज्ञानोपकरणस्य निष्ठीवनस्पर्शोऽन्तिकस्थे, च । तस्मिन्नधोवातनिसर्गो हीनाधिकाक्षरोच्चार इत्यादिका १ मध्यमा आकालिकं निरुपधानतपो वाऽध्ययनं भ्रान्त्यान्यथार्थकल्पनं ज्ञानोपकरणस्य प्रमादात्पादादिस्पर्शो भूपातनं चेत्यादिरूपा २ उत्कृष्टत्वेनाक्षरमार्जनं उपर्युपवेशनशयनादि ज्ञानोपकरणेऽन्तिकस्थे उच्चारादिकरणं ज्ञानस्य ज्ञानिनां वा निंदा प्रत्यनीकतोपघातकरणमुत्सूत्रभाषणं चेत्यादिस्वरूपा ३ जघन्या देवाशातना वासकुंपिकाद्यास्फालनश्वासनिश्वासवस्त्रांचलादिस्पर्शाद्या १ मध्यमा शरीराद्यशुद्ध्या पूजनं प्रतिमाभूनिपातनं चेत्याद्या २ उत्कृष्टा प्रतिमायाश्चरणश्लेष्मस्वेदादिस्पर्शनभंगजननावहेलनाद्या च ॥ श्रुताशातना फलमुवहाणशब्दे महा० । प्रवचनाशातक आचार्यः । महा० ५ अध्य० ॥

से भयवं जेणं केई कहिं कयाई पमायदोसओ पवयणमासाएज्जा । से णं किं आयरियं पावेज्जा । गोयमा ! जेणं केई कहिं वि कयाई पमायदोसओ असई कोहेण वा माणेण वा मायाए वा लोजेण वा रागेण वा दोसेण वा भएण वा हासेण वा मोहेण वा अन्नाणदोसेण वा पवयणस्स अन्नयरट्ठाणे वइमेत्तेणं पि अणगारं असमायारीपरूवमाणे वा अणुमन्नेमाणे वा पवयणमासाएज्जा से णं बोहिं पि णो पावे किमंग ! आयरियपल्लंजं । से भयवं ! किं अभव्वे मिच्छादिट्ठी । आयरिये भवेज्जा । गोयमा ! भवेज्जा । एत्थं च णं इंगालमद्दगाईन एसे भयवं ! किं मिच्छदिट्ठी निक्खमेज्जा । गोयमा ! निक्खमेज्जा देवस्स ॥

अथवा देवाशातना जघन्या दश मध्यमाश्चत्वारिंशदुत्कृष्टाश्चतुरशीतिस्ताश्च क्रमेणैवमाहुः ॥

तंबोल १ पाण २ भोअण, ३ वाहणह ४ त्थीभोग ५ सुवण ६ निट्ठवणं ७ ॥ मुत्त ८ चारं ९ जूअं, १० वज्जे जिणमंदिरस्संतं ॥ १ ॥

इति जघन्यतो दश देवाशातनाः । प्रव० ३८ द्वा० तंबोलेत्यादिगाथायां तांबूलपानभोजनोपानत्स्त्रीभोगस्वपननिष्ठीवनानि मूत्रं प्रस्रवणं उच्चारं पुरीषं द्यूतमंभकादि वर्जयेत् । तीर्थंकृदाशातनाहेतुत्वाज्जिनमंदिरस्यांऽतर्विवेकी जन इति ।

मुत्त १ पुरीसं २ पाणं ३ भाणा ४ सण ५ सयण ६ इत्थि ७ तंबोलं ८ निट्ठीवणं च ९ जूअं १० जूआइपलोयणं ११ विगहा १२ ॥ १ ॥ पल्हत्थीकरणं १३ पिहुपासायपसारण १४ परुप्परविवाओ १५ परिहासो १६ मच्छरिआ १७ सीहासणमाइपरिभोगो १८ ॥ २ ॥ केससरीरविभूसण १९ छत्ता २० सि २१ किरीड २२ चमरधरणं च २३ धरणं २४ जुवईहिं सविआरहास २५ खिड्डुप्पसंगाय २६ ॥ ३ ॥ अकयमुहकोस २७ मलिणंगवत्थ २८ जिणपूआणामणसोअणेगयत्तं २९ सचित्तदविआणविमुआणं ३० ॥ ४ ॥ अचित्तदव्विअमुस्सणंच ३१ तहणेगसाडिअत्तचिं ३२ जिणदंसणेअणंजलि ३३ जिणंमि दिट्ठंमि अ अपूआ ३४ ॥ ५ ॥ अहवा अणिट्ठकुसुमाइपूअणं ३५ तह अणायरपवित्ती ३६ जिणपडिणीअनिवारण ३७ चेइअदव्वसमुवेहणमो ३८ ॥ ६ ॥ सइसामत्थिभवाणह ३९ पुव्वं चिइवंदणाइपढणंच ४० जिणभवणाइठिआणं चालीसायणाए ॥ ७ ॥

इति मध्यमतश्चत्वारिंशदाशातना ॥ उत्कृष्टाः ८४ । ध० ।

खेलं १ केलि २ कलिं ३ कला ४ कुललयं ५ तंबोल ६ मुग्गालयं, ७ गाली ८ कंगुलिआ ९ सरीरधुवणं १० केसे ११ नहे १२ लोहिअं १३ । भत्तोसं १४ तय १५ पित्त १६ वंत १७ दसणा १८ विस्सामणा १९ दामणं, २० दंत २१ च्छी २२ नह २३ गल्ल २४ नासिअ २५ सिरो २६ सोत्त २७ छवीणंमलं २८ ॥ १ ॥ मुत्तं २९ मीलण ३० लिक्खयं ३१ विभजणं ३२ भंडार ३३ दुट्ठासणं ३४ छाणी ३५ कप्पड ३६ दालि ३७ पप्पड ३८ वडी विस्सारणं ३९ नासणं ४० अक्कंदं ४१ विकहं ४२ सरुच्छुघडणं ४३ तेरिच्छसंठावणं ४४ अग्गीसेवण ४५ रंधणं ४६ परिखणं ४७ निस्सीहिआभंजणं ४८ ॥ २ ॥ छत्तो ४९ वाणह ५० सत्थ ५१ चामर ५२ मणोणेगत्त ५३ मब्भंगणं ५४ सच्चित्ताण ५५ मचाय ५६ चायमजिए ५७ दिट्ठीइनो अंजली ५८ साडेगुत्तरसंगभंग ५९ मउडं ६० मोलिं ६१ सिरोसेहरं ६२ हुड्डा ६३ जिंडुहगेड्डिआइरमणं ६४ जोहार ६५ भंडक्किअं ६६ ॥ ३ ॥ रेक्कारं ६७ धरणं ६८ रणं ६९ विचरणं वालाण ७० पल्हत्थिअं ७१ पाऊ ७२ पायपसारणं ७३ पुडुपुडी ७४ पंकं ७५ रओ ७६ मेहुणं

७७ जूअं ७८ जेमण ७९ गुज्झ ८० विज्ज ८१ वणिज्जं ८२ सिज्जं ८३ जलं ८४ मज्जणं । एमाईओ अमज्जकज्जमुज्जुओवज्जे जिणिंदालए ॥

विषमपदार्थो यथा ॥ आसायणाओ चुलसी इति । अथाशीतिं शातनं द्वारमाह ॥ खेलं केलिकलिमित्यादि शार्दूलवृत्तचतुष्टयमिदं व्याख्यायते । तत्र जिनभवने इदमिदं च कुर्वन्नाशातनां करोतीति तात्पर्यार्थः । आयं लाभं ज्ञानादीनां निःशेषकल्याणसंपल्लतावितानाविकलबीजानां शातयंति विनाशयंत्याशातनाः । तत्र खेलं मुखश्लेष्माणं जिनमंदिरे त्यजति । तथा केलिं क्रीडां करोति । तथा कलिं वा कलहं विधत्ते तथा कला धनुर्वेदादिकाः खलूरिकायामिव तत्र शिक्षते । तथा कुललयं गंडूषं विधत्ते तांबूलं तत्र चर्वयति तथा तांबूलसंबंधिनमुद्गालमाचीलं तत्र मुंचति । तथा गालीश्चकारमकारादिकास्तत्र ददाति । तथा कंगुलिकां लघ्वीं महतीं च विधत्ते । तथा शरीरस्य धावनं प्रक्षालनं कुरुते । तथा केशान् मस्तकादिभ्यस्तत्रोत्तारयति । तथा नखान् हस्तपादसंबंधिनः किरति । तथा लोहितं शरीरान्निर्गतं तत्र विसृजति तथा भक्तोषं सुखादिकां तत्र खादति तथा त्वचं व्रणादिसंबंधिनीं पातयति । तथा पित्तं धातुविशेषमौषधादिना तत्र पातयति । तथा वांतं वमनं करोति । तथा दशनान् दंतान् क्षिपति तत्संस्कारं वा कुरुते । तथा विश्रामणमंगसंबाधनं कारयति तथा दामनं बंधनमजादितिरश्चां विधत्ते तथा दंताक्षिनखगंडनासिकाशिरश्रोत्रछवीनां संबंधिनं मलं जिनगृहे त्यजति तत्र छविः शरीरं शेषाश्च तदवयवा इति प्रथमवृत्तं । तथा मंत्रं भूतादिनिग्रहलक्षणं राजादिकार्यपर्यालोचनरूपं वा कुरुते । तथा मीलनं क्वापि स्वकीयविवाहादिकृत्ये निर्णयाय वृद्धपुरुषाणां तत्रोपवेशनं । तथा लेख्यकं व्यवहारादिसंबंधि तत्र कुरुते तथा विभजनं विभागं दायादादीनां तत्र विधत्ते । तथा भांडागारं निजद्रव्यादेर्विधत्ते तथा दुष्टासनं पादोपरि पादस्थापनादिकमनौचित्योपवेशनं कुरुते । तथा छाणी गोमयपिंडः कर्पटं वस्त्रं दालिमुद्गादिर्वडिद्धरूपा पर्पटवटिके प्रसिद्धे । तत एतेषां विसारणं च उद्यापनकृते विस्तारणं । तथा नाशनं नृपदायादादिभयेन चैत्यस्य गर्भगृहादिष्वंतर्द्धानं तथा आक्रंदं रुदितविशेषं पुत्रकलत्रादिवियोगे तत्र विधत्ते तथा विविधाः कथा रमणीयरमण्यादिसंबंधिनीः कुरुते तथा शराणां बाणानामिक्षूणां च घटनं सरउत्ति पाठे तु शराणां अस्त्राणां च धनुः शराणां घटनं । तथा तिरश्चामश्वगवादीनां संस्थापनं तथा अग्निसेवनं शीतादौ सति तथा रंधनं पाचनमन्नादीनां तथा परीक्षणं द्रव्यादीनां तथा नैषेधिकीभंजनमवश्यमेव हि चैत्यादौ प्रविशद्भिः सामाचारीचतुरैर्नैषेधिकी करणीया । ततस्तस्य अकरणं भजनमाशातनेति द्वितीयवृत्तार्थः । तथा छत्रस्य तथा उपानहोस्तथा शस्त्राणां खड्गादीनां चामरयोश्च देवगृहाद्बहिरमोचनं मध्ये वा धरणं तथा मनसोऽनेकांतता नैकाग्र्यं नानाविकल्पकल्पनमित्यर्थः अभ्यंजनं तैलादिना तथा सचित्तानां पुष्पतांबूलपत्रादीनामत्यागो बहिरमोक्षणं तथा त्यागःपरिहरणमजीप इति अजीवानां हाररत्नमुद्रिकादीनां बहिस्तन्मोचनो हि अहो निक्षाचराणामयं धर्म इत्यवर्णवादो दुष्टलोकैर्विधीयते । तथा सर्वज्ञप्रतिमा दृष्टौ दृग्गोचरतायां नो नैवांजलिकरणमंजलिविरचनं तथा एकशाटकेन एकोपरितनवस्त्रेण उत्तरासंगभंग उत्तरासंगस्याकरणं तथा मुकुटं किरीटं मस्तके धरति तथा मौलिं शिरोवेष्टनविशेषरूपां करोति तथा शिरः शेखरं कुसुमादिमयं धत्ते । तथा हूडा पारापतनालिकेरादिसंबंधिनीं विधत्ते तथा जिंडुहत्ति कंदुकः गिंदुका तत्क्षेपिणी चक्रयष्टिका तान्यामादिशब्दात्फालिका कपर्दिकादिभिश्च रमणं क्रीडनं तथा तथा ज्योत्कारेण पित्रादीनां । तथा ज्ञांभानां विटानां क्रिया कक्षा चोदनादिका इति तृतीयवृत्तार्थः । तथा रेकारं तिरस्कारप्रकाशकं रेरे रुद्रदत्तेत्यादि वक्ति । तथा धरणकं रोधनमपकारिणामधमर्णादीनां च तथा रणं संग्रामकरणं । तथा विचरणं बालानां विजटीकरणं तथा पर्यस्तिकाकरणं । तथा पादुका काष्ठादिमयं चरणरक्षणोपकरणं तथा पादयोः प्रसारणं स्वैरं निराकुलतायां । तथा पुटपुटिकादापनं तथा पंकं कर्दमं करोति निजदेहावयवक्षालनादिना तथा रजो धूलीं तत्र पादादिलग्नां । झाटयति । तथा मैथुनं मिथुनस्य कर्म । तथा यूकां मस्तकादिभ्यः क्षिपति वीक्षयति वा तथा जेमनं भोजनं तथा गुह्यं लिंगं तस्यासंवृतस्य करणं जुज्झमिति तु पाठे युद्धं दृग्युद्धबाहुयुद्धादि । तथा विज्जत्ति वैद्यकं तथा वाणिज्यं क्रयविक्रयणं तथा शय्यांकृत्वा तत्र स्वपिति तथा जलं पयस्तत्पानाद्यर्थं तत्र मुंचति पिबति वा तथा मज्जनं स्नानं तत्र करोति । एवमादिकमवद्यं सदोषं कार्यं ऋजुकः प्रांजलचेता उद्यतो वा वर्जयज्जिनेंद्रालये जिनमंदिरे एवमादिकमित्यनेनेदमाह न केवलमेतावत्य एवाशातनाः किंत्वन्यदपि यदनोदितं हसनवल्गनादिकं जिनालये तदप्याशातनास्वरूपं ज्ञेयं नन्वेवं तंबोलपाणेत्यादिगाथयैवाशातनादशकस्य प्रतिपादितत्वाच्छेषाशातनानां चैतद्दशकोपलक्षितत्वेनैव ज्ञास्यमानत्वादयुक्तमिदं द्वारांतरमिति चेन्न सामान्याभिधानेपि बालादिबोधनार्थं विभिन्नविशेषाभिधानं किं यत एव यथा ब्राह्मणाः समागता वसिष्ठोपि समागत इति सर्वमनवद्यं नन्वेता आशातना जिनालये क्रियमाणा गृहिणां कंचन दोषमावहंति । उतैवमेव न करणीयास्तत्र ब्रूमो न केवलं गृहिणां सर्वसावद्यकरणोद्यतानां भवभ्रमणादिकं दोषमावहंति किं तु निरवद्याचाररतानां मुनीनामपि दोषमावहंतीत्याह । आसायणाउ इत्यादि एताः आशातनाः परिस्फुरद्विविधदुःखपरंपराप्रभवभवभ्रमणकारणमिति विभाव्य परिज्ञाय यतयोऽस्नानकारित्वेन मलमलिनदेहत्वात् न जिनमंदिरे निवसंति । इति समयः सिद्धांतस्तमेव समयं व्यवहारभाष्योक्तं दर्शयति दुब्भिगंधेत्यादि । एषा तनुःस्नापितापि दुरभिगंधमलप्रस्वेदस्राविणी तथा द्विधा वायुपथोऽधोवायुनिर्गम उत्श्वास निश्वासनिर्गमश्च यद्वा द्विधा मुखेन अपानेन च वायुवहो वापि वातवहनं च तेन कारणेन न तिष्ठंति यतयश्चैत्ये जिनमंदिरे यद्येवं यतिभिश्चैत्ये आशातनाभीरुभिः कदाचिदपि न गंतव्यं । तत्राह तिन्निवाकत्थुइत्यादि तिस्रः स्तुतयः कायोत्सर्गादनंतरं या दीयते ताः यावत्कर्षति भणतीत्यर्थः किंविशिष्टास्तत्राह त्रिश्लोकिकाः । त्रयः श्लोकाः छंदोविशेषरूपा आधिक्येन यासु तास्तथा सिद्धाणं बुद्धाणमित्येकश्लोको जो देवाणवि इति द्वितीय एकोवि नमोक्कारो इति तृतीय इति अग्रेतनगाथाद्वयं स्तुतिश्चतुर्थी गीतार्थाचरणेनैव क्रियते गीतार्थाचरणं तु मूलगणधरभणितमिव सर्वं विधेयमेव सर्वैरपि मुमुक्षुभिरिति तावत्कालमेव तत्र जिनमंदिरेऽनुज्ञातमवस्थानं यतीनां कारणेन पुनर्धर्मश्रवणाद्यर्थमुपस्थितं भविकजनोपकारादिना परतोपि चैत्यवंदनाय अग्रतोपि यतीनामवस्थानमनुज्ञातं । शेषकाले तु साधूनां जिनाशातनादिभयान्नानुज्ञातमवस्थानं तीर्थंकरगणधरादिभिस्ततो यतिभिरप्येवमाशातनाः परिन्हियंते । गृहस्थैस्तु सुतरां परिहरणीया इति इयं तीर्थंकृतामाज्ञा आज्ञाभंगश्च महतेऽनर्थाय-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संपद्यते यदाहुः (अणाइ च्चियचरणमित्यादि) दर्श० । तीर्थकराशातनाः । वृ० । तत्र तीर्थकरं यथा शातयति तथाभिधीयते ॥

पाहुडियं अणुमन्नति, जाणंतो किं च जुंजती जोगे ।
थीतित्थपि य वदति, अतिकरकसदेसणायावि ॥

प्राभृतिकां सुरविरचितसमवसरणमहार्यादिपूजालक्षणाम् ईन् यदनुमन्यते तत्र सुंदरं । ज्ञानत्रयप्रमाणेन च भवस्वरूपं जानन् विपाकदारुणान् भोगाभिमित्ते भुंक्ते मल्लिनाथस्य स्त्रिया अपि यत्तीर्थमुच्यते । तदतीवासमीचीना अतीव कर्कशा अतीवदुरनुचरा तीर्थकरैः सर्वोपायकुशलैरपि यदि क्षमाकृता साप्ययुक्ता ॥

अन्नंच एवमादी, अविणमिमासुविति लोगमहिताणं ।
पडिरूवमकुव्वंतो, पावति पारंचियं ठाणं ॥

अन्येष्येवमादिकं तीर्थकृतामवर्णं भाषते तथा अपीत्यप्युक्तं च । त्रिलोकमहितानां भगवतां याः प्रतिमास्तास्वपि यदवर्णं भाषते एतासां पाषाणादिमयीनां माल्यालंकारादिपूजा क्रियते एवं कथन्प्रतिरूपं वा विनयं वंदनस्तुतिस्तवादिकं तासामेव बुद्ध्वा अकुर्वन्पारांचिकं स्थानं प्राप्नोति अप्रमहिषी शप्त्रे ताभिः सहैताः भोक्तुमनीशाः प्रैत्याशातनाभयादित्युक्तम् गुरोः १० वृ० ॥ जे भिक्खु भदंतं आयरीए अण्णयरीए अच्चासायणाए अच्चासाइए अच्चासायंतंवा साइज्जइ ४ दसासु तेत्तीसं आसायणा भणिता तासिं अण्णतराए आसादणाए आसादेति आङित्युपसर्गो वाचकः षद्लृविसरणगत्यवसादनेषु । गुरुं पडुच्च विणयकरणे जं फलमायं सादेतीति आसायणा य सा य आसादणा चउव्विहा गाहा ।

दव्वे खेत्ते कालेभावे आसायणा मुणेयव्वा ॥
एतेसिं णाणत्तं वोच्छामि अहाणुपुव्वीए ॥ ३६ ॥

चउपद दव्वादियाण इमावक्खागाहा ॥

दव्वेआहारादिसु खेत्ते गमणादिएसु नायव्वा ॥ ३७ ॥

दव्वे आहारादिएसु सेहेराइणिएण सद्धिं असणं वाइ आहारेमाणे तत्थ सेहतराए खद्धंखद्धं आहारेति सेहराणिएण सद्धिं असणं वाडपडिगाहेत्ता तरातिणियं अणापुच्छित्ता जस्स इच्छेति तस्स खद्धं खद्धं दलति आदिग्गहणाओ वत्थादिया गुरुणो अदंसिया परिभुंजति खेत्ते पुरतो पासतो मग्गओ वा आसण्णं गमणं करेति आदिग्गहणातो चिट्ठणणिसीयणादी आसणं करेति कालंमि वियवासाणमसद्दे पतिसिंयस्स रातो वा वि याले वा वाहरणमाणस्स अपडिपुणेत्ता भवति णिएण पडिसुणेयव्वं तस्स पुण विणए अपडिसुणेमाणस्स तस्सत्त भवति तेण वि वयासो भवति भावे जं गुरू भणंति तेण पडिवज्जति अपडिवज्जंतेय मिच्छा भवति गाहा ॥

कालंमि विवासे मिच्छा पडिवज्जणा भावे, काले तु
सुणेमाणे अपडिसुणेतस्स होति आसायणा, हितादि-
फरुसाभावे अंतरभासा य कहणाया ॥ ३८ ॥

कालोत्ति रातो वावियाले वा गुरुणा वाहरे तस्स सुणेतो वि असुणेता वि य अच्छति एस कालासादणा इदाणिं भावासादणा । मिच्छामि पडिवत्तितो भावेत्ति हि सिस्सि यत्ता किं तुमं ति वा फरुसं भणति गुरुणोवा धम्मकहं तस्स अंतरभासए मा भावासायणा दव्वादिएसु चउसुवि इमो अविणयदोसो गाहा ॥

गुरुपच्चइया आसा-यणा तु धम्मस्स मूलछेदो य ॥
चउपददोसा एते एत्तो वेसेसियं वोच्छं ॥ ३९ ॥

गुरुविनयकरणे कम्मक्खए जो आतोत सादेति अहवा गुरुपच्चतितो णाणाओ आवत्तं अविणयदोसो ण सादेति न भवतीत्यर्थः । विणओ धम्मस्स मूलं सो य अविणयजुत्तो तस्स छेदं करेति । अहवा धम्मस्स मूलं सम्मत्तं गुरुआसायणा य तस्स छेदं करेति दव्वादिएसु चउसु वि एते सामण्णतो दोसा भणियाएत्तो एक्के, कस्स वि वेसेसेण भणामि ॥

सचित्तखद्धकारग, अविकमणमदंसणे भवे दोसो ॥
इंगाल अविवितेणि, गलगुत्तूढातिसेसे तु ॥ ४० ॥

गुरुणो अणालोतियं अपडिदंसियं वा जइ भुंजति ता इमे दोसा सचित्तं फलकंदादी भुंजेज्ज अतिप्पमाणे वा भुंजेज्ज तं अजीरं तं हावेज्ज य मारेज्जसरीरस्स वा अकारगं भुंजेज्ज तेण से वाही भुंजेज्ज अतिप्पमाणे वा भुंजेज्ज तं अजीरंतं महादेज्ज य मारेज्ज व सरीरस्स वा अकारगं भुंजेज्ज तेण सेवा ही भंजेज्ज इंगालसधूमं वा भुंजअविधीए वा भुंजे सुरसुरं चव चव अविलंबितं स परिसाडिमणवयणकाएसु वा गुरू भुंजे सचित्तविहालोयवज्जित्ते तणीयं भवति । णाणादिसायणा सणयावणा य गुरुभावे सत्तविहो आलोगो, सत्ता वि जयण सुविहियाणं संसुत्तिराइणिएण सद्धिं खद्धं कायं ए९ रसिय २ मणुण्णं इत्यादिगलएलाजव्या तुरिए अतिप्पमाणेणं वा कवले लद्धे आयराहणा । दिया दोसा सव्वासादणा गता । इदाणिं खेत्तासादणा दोसा गाहा ॥

घट्टणरेणुविणासे, तिपास भावणभवे पुरतो ।
खेत्ते कालगालिते गिलाणअमुणेत अधिकरणं ॥ ४१ ॥

आसन्नं गच्छंतस्स गुरुणा संघट्टणा भवति पादुट्ठियरेणुणा य वत्थुविणासो भवति सो जति पासतो वामतो दाहिणतो मग्गतो य पुरतो गच्छतओ भावणा आयरियस्स एसक्खेत्तासादणा गता इमे कालगतो वियालेवा पिहिज्जंति आयरियस्स वहरतस्स अपडिसुणेमाणस्स सीसस्सा गिलाणविराहणा हवे भवकरणदाहो वा अंजगमो वा आयरिओउभे अपडिसुणेमाणो वा अणेण । साहुणा भणितो कीस । अकम्हासुण्ण अच्छसित्ति उत्तराउत्तरेण अधिकरणसंभवो कालासादणा गता ॥

इदाणिं भावासायणा गाहा

साहादीण अवन्ना, परउत्थियगंमपरिभवो लोए ।
भावासायणएसा, संममणाउदणा चेव ॥ ४२ ॥

सेहादिणो विचिंतेज्जं जहा एते अम्हं जेट्ठतरा आयरियस्स वहां करोति तहा णज्जति णूण एसपलितो ते विसेहा अवहां करेज्ज एवं ससिस्सेह परिभूतो परतित्थियाण विगम्मो भवति लोगो य परिभूतो भवति एते भावासादणा दोसा गुरुणो लपदेसपदाणे समणा लद्धतस्स भावासादणा चेव मिच्छा पडिवज्जणा भवति । अस्य व्याख्या । गाहा ।

मिच्छापडिवत्तीए जे भावा जत्थ होंति सब्भूया ।
तेसु व तहं पडिवज्जणा य आसायणा य तम्हा ॥ ४३ ॥

मिहा अदंतं प्रतिपादनं प्रतिपत्तिःअर्थेत्ति दव्वादिएसु जीवादिपदेसु हा सुत्तज्झयणसुयक्खंधेसु वा सब्भूया जे जिणपण्णत्ता भावा ते गुरु अयाणंतो पडिमामउ एसवोति नत्थ

उवदेसा सीसो तुसिणिक्को अच्छति आह उट्ठियक्खाणाओ ताहे सीसे पगंते गुरुणो सब्भावं सहाति अह सीसो तेसु पदत्थेसु परिसामज्झे चेव वितहपडिवज्जणा एत्थ वुत्ताणं करिज्जा ताहे अविणयो भवति । अविणयपडिवत्तीए य तम्हा आसायणा भवति । अहवा परिसामज्झे गुरू चोदितो वितहपडिवज्जणं करेति न सम्यक् प्रतिपद्यत इत्यर्थः । तम्हा सीसस्स आसायणा भवति अहवा गुरू जाणंतो चेव अण्णहा अत्थं पण्णवेति मा परप्पवादी दोसं गेण्हेज्ज जहा सव्वस्स केवलिस्साजुगवं दो णत्थि उवओगा एगो प्रयोगप्रतिपादनमित्यर्थः । तहसेहतराए तो जाणति जहा अवसिद्धंतं पण्णवेत जातिवितहपडिवज्जतिआसादणा सेहस्स चोदगाह जमत्थं आयरिओ ण याणति तमत्थं सीसो कहं जाणति भण्णति । गाहा ॥

जंगारणगारत्ते सुतं तु, सहसंमुतं तजं किंचि ।

तं गुरुअं एह कहणे, णेव मिदं ऊपडिवत्ती ॥ ४४ ॥

भंतेण सेहतराएण गिहत्थत्तणे सुपल्लयं अणगारत्ते वा अणुतो सुयं अप्पणो वाहितं तं गरुस्स अण्णहा कहितस्स सो भणेज्जा ण एयं भवमिच्छापडिवत्तिओ आसादणा भवति । गाहा ॥

एवं भणतो दोसा, इमं सुतं वण्णं हिमए एवं ।

सब्भूयमसब्भूए, एवं मिच्छाउ पडिवत्ती ॥ ४५ ॥

एवं गुरुपडिकूलं भणतो आसादणा दोसो भवति अहवा सीसो गुरू भणइ तुज्झ एवं पण्णवितस्स समयविराहणा दोसो भवति मम एयं सुयं अण्णायरियसमीवे एवं पण्णविज्जंते समयविराहणा दोसो न भवति एवं सीसस्स सब्भूयमसब्भूयं एवापरिसामज्झे मिच्छा पडिवत्तिओ आसायणा भवति । गाहा ।

वितियं पढमे ततिए, य होति गेलण्णकज्जमादीसु ।

अच्छाणादी वितिए, ओसण्णादी चउत्थंमि ॥ ४६ ॥

वितियत्ति अववायपदं पढमेत्ति दव्वासायणा ततिपत्ति-कालासादणा वितिपत्ति अद्धाणादिसु खेत्तासादणा चउत्थित्ति उस्सआदिसुद्वियस्स तत्थ पढमततियत्ति भेलणं पदुच्च वितियपदं भवति । गाहा ।

होज्ज गुरु गिलाणो, अपत्थदव्वं व से इट्ठं ।

अवगमदंसितं वा, भुंजे खद्धं चगेहेज्ज ॥ ४७ ॥

गुरुं गिलाणो तस्स य जं अपत्थदव्वं तं लद्धं ताहे त आवियडितं अदंसियं वा सहुंजे अण्णस्स वा अणापुच्छाए खद्धं दव्वयत्ति मासोरा तिणिओ सयं भुंजिहित्ति एवं गुरुरक्खणट्ठा अविणयं पि करेंतो सुद्धो ॥ गाहा ॥

कंठाइ साहणट्ठा अथ, वंजट्ठावलीणो अट्ठाणे ।

संवाधुवस्सए वा, विस्सामगिलाणछेदसुए ॥ ४८ ॥

खेत्तासादणं पडुच्च अवत्तो भवति अट्ठाणे कंठासादणट्ठा पुरतो गच्छति विसमे वा अवलयट्ठापासतो अल्लीणो गच्छति गिलाणस्स वा अवट्ठंभणट्ठा अल्लीणो अच्छति वाहुस्सपया आसणट्ठिओ अच्छति गच्छति वा आयरियस्स वा विस्सामणं कारेंतो आसण्णं चिट्ठति संघट्टेति वा गिलाणस्स उव्वत्तणादी करेंतो संघट्टणादी करेति आसण्णा चिट्ठति । वसुयं वा वक्खाणंतो अप्पसद्दं वक्खाणेति मा अपरिणया सुणेहिंति ताहे सोतारो आसण्णं ठविज्जंति इमको आयवादो गाहा ॥

कालेगिलाणवावडसेहस्स वसारियं भवे वाहिं ।

संवाधुवस्सए वा आहिकरणादी इमा दोसा ॥ ४९ ॥

राओ वा दिया वा गिलाणवावडो गुरुस्स वाहरंतस्स ण देज्ज सद्दं सेहस्स वा सागारियं वोहि अंतोहितो सुणेता न सद्दणादिज्ज मा सअण्णगासरं पडिजिजाणित्ता उप्पवाहिंति मा हुहिं वा ओतओतं संवाहुस्स पयासज्जं अलजंतो उड्डप्पिलं वयंतस्स वा अधिकरणादी दोसा भविस्संति तम्हा आयरिओ सणियं वा हरति तं च असुणंतो तुसिणीओ सुद्धो अधिकरणदोसभया वा तुसिणीओ अच्छति तहावि सुद्धो गाहा ।

उच्चावं तु असत्तो दाउं गिलाणो तहेव उद्वेउं ।

तुसिणी तत्थगओ वा सुणेज्ज सो वाहरंतस्स ॥ ५० ॥

वावाहरंतस्स गुरुस्स गिलाणो उच्चावं दाउमसत्तो गिलाणो तुसिणीओ । अत्थेज्जउ वा आसत्तो तत्थ गतो पडिसुणेज्ज शब्दं ददातीत्यर्थः ।

इदाणीं भावस्स अववादो भवति गाहा ।

वणातिरहे जइ एवं हवेज्ज णिद्दोसमिहरहा दोसा ।

तुज्झे वि ताव जहह जणतिपगासे वि ददमूढे ॥ ५१ ॥

सेहतराएण आयरिओ परि सामज्झेण वत्तव्वो जहा तुमं पण्णवेसि एवं ण भवतित्ति तो कहिं तेण भाणियव्वं उच्यते जहा हं पण्णवेति जति एवं भवति तो णिद्दोसं इहरहा जदा तुमं पण्णवेह एवं समयविराहणा दोसो भवति तुब्भेवि मयाभिहितं अत्थं जहह किं घडतिए घडतीति तावशब्दः परिमाणवाचकः जहा इमेण भे पहेण गंतव्वं जावंति तं दव्वं पघडणमत्थं पुव्वावरेण ताव ऊहह जा भवे अभिगओ अहवा पादपूरणे वा इदं जो मूढो भूतत्थं पडिवज्जंतो पगासं परिसामज्झेवि भवति ओसणादी चउत्थंमि ॥ अस्य व्याख्या गाहा ।

विरहुत्तमट्ठायंतं ऊसएणं भणति परिसमज्झेवि ।

णेवि जाणसि हित्ता वडपडियं किं भवे तेणं ॥ ५२ ॥

ओसण्णो आयरिओ विरहे पगंते वहु भणितो सागारवविरमाहित्ति अट्ठायंतो अविरमंतेत्यर्थः । परिसामत्थे वि भणति ण याणसि तुमं हि तवा अहियवाडणडपडितेण वा किं तुज्झे पण्णं पादेहिं वा संघट्टिज्जति जेण सो अवमाणितो चिंतेन एते मंदे वयमिव पेक्खंता इदाणिं म उसण्णदोसेण दोसमिव पासंति । तंण एतेसिं दोसो नामज्झदेसो उज्जमामि । नि० चू० उ. १० । द. अ. ९ उ. १

तेत्तीसं आसायणाओ पण्णत्ता तंजहा सेहे राइणिअस्स पुरओ गंता भवइ आसायणा सेहस्स ॥ १ ॥ सेहे राइणियस्स सपक्खं गंता भवइ आसायणा सेहस्स ॥ २ ॥ सेहे राइणियस्स आसायणा सेहस्स ३ एवं एएणं अभिलावेणं सेहे राइणियस्स पुरओ । चिट्ठित्ता भवइ आसायणा सेहस्स ४ सेहे राइणियस्स सपक्खं चिट्ठित्ता भवइ आसायणा सेहस्स ५ सेहे राइणियस्स आसाणं चिट्ठित्ता भवइ आसायणा सेहस्स ६ सेहे राइणियस्स पुरओ निसीइत्ता भवइ आसायणा सेहस्स ७ सेहे राइणियस्स सपक्खं निसीइत्ता भवइ आसायणा सेहस्स ८ सेहे राइणियस्स आसण्णं निसीइत्ता भवइ आसायणा सेहस्स ९ एवं एएणं अभिलावेणं सेहे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राइणिएणं सद्धिं बहिया विहारभूमिं निक्खंते समाणे तत्थ पुव्वामेव सीहतराए आयामइ पच्छा राइणिए आसायणा सेहस्स १० सेहे राइणिएणं सद्धिं बहिया विहारभूमिं वा निक्खंते समाणे तत्थ पुव्वामेव सीहतराए आलोएइ पच्छा राइणिए आसायणा सेहस्स ११ सेहे राइणियस्स राओ वा विआले वा वाहरमाणस्स अज्जो के सुत्ते के जागरे तत्थ सेहे जागरमाणे राइणियस्स अप्पडिसुणेत्ता भवइ आसायणा सेहस्स १२ सेहे राइणियस्स पुव्वं संलवित्तए तं पुव्वामेव सीहतराए आलवइ पच्छा राइणिए आसायणा सेहस्स १३ सेहे असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिगाहित्ता तं पुव्वामेव सीहतराए गिहस्स आलोएइ पच्छा राइणियस्स आसायणा सेहस्स १४ सेहे असणं वा ० ४ ॥ पडिगाहित्ता पुव्वामेव सीहतराए गिहस्स पडिदंसेइ पच्छा राइणिए आसायणा सेहस्स १५ सेहे असणं वा० ४ पडिगाहित्ता पुव्वामेव सीहतराए अन्नस्स उवणिमंतेइ पच्छा राइणिए आसायणा सेहस्स १६ सेहे राइणिएणं सद्धिं असणं वा ४ पडिगाहित्ता तं राइणियं अणापुच्छित्ता जस्स जस्स इच्छइ तस्स तस्स खद्धं २ दलयइ आसायणा सेहस्स १७ सेहे राइणिएणं सद्धिं असणं वा ४ आहारेमाणे तत्थ सेहे खद्धं खद्धं डायं डायं रसियं रसियं उसढं उसढं मणुण्णं मणुण्णं मणामं मणामं निद्धं निद्धं लुक्खं लुक्खं आहारेत्ता भवइ आसायणा सेहस्स १८ सेहे राइणियस्स वाहरमाणस्स अप्पडिसुणित्ता भवइ आसायणा सेहस्स १९ सेहे रायणियं खद्धं खद्धं वत्ता भवइ आसायणा सेहस्स २० सेहे राइणियं किं वइत्ता भवइ आसायणा सेहस्स २१ सेहे राइणियं तुमं इइवत्ता भवइ आसायणा सेहस्स २२ सेहे रायणियं तज्जाएणं तज्जायं पडिभणित्ता भवइ आसायणा० २३ सेहे राइणियस्स कहं कहेमाणस्स नो सुमिणे भवइ आसायणा सेहस्स २४ सेहे रायणियस्स कहं कहेमाणस्स नो सरसि एवं वत्ता भवइ आसायणा० २५ सेहे राइणियस्स कहं कहेमाणस्स कहं आछिंदित्ता भवइ आसायणा सेहस्स २६ सेहे राइणियस्स कहं कहेमाणस्स परिसं भित्ता भवइ आसायणा सेहस्स २७ सेहे राइणियस्स कहं कहेमाणस्स तीसे य परिसाए अणुट्ठिआए अभिन्नाए अवोच्छिन्नाए अवोगडाए दोच्चं पि तच्चं पि तामेव कहं कहेत्ता भवइ आसायणा सेहस्स २८ सेहे राइणियस्स सेज्जासंथारगं पाएणं संघट्टित्ता हत्थेणं अणणुन्नवेत्ता गच्छइ आसा० २९ सेहे राइणियस्स सेज्जासंथारए चिट्ठित्ता वा निसीइत्ता तुयट्टित्ता वा भवइ आसायणा सेहस्स ३० सेहे रायणियस्स उच्चासणंसि वा ३१ समासणंसि वा चिट्ठित्ता वा निसीइत्ता वा तुयट्टित्ता वा भवइ आसायणा सेहस्स ३२ सेहे राइणियस्स वाहरमाणस्स तत्थ गए चेव पडिसुणित्ता भवइ आसायणा सेहस्स ॥ ३३ ॥

टी० ॥ अथ त्रयस्त्रिंशत्समस्थानकं तत्र आयः सम्यग्दर्शनाद्यवाप्तिलक्षणस्य शातनाः खण्डना निरुक्तादाशातनास्तत्र शैक्षोऽल्पपर्यायो रात्निकस्य बहुपर्यायस्य आसन्नमासन्नस्तिर्यक् पथा रजोऽवग्रहादिस्तस्य लगति तथा गन्ता भवतीत्येवमाशातना शैक्षस्येत्येवं सर्वत्र (पुरओत्ति) अग्रतो गंता भवति (सपक्खत्ति) समानपक्षं समपार्श्वं यथा भवति समश्रेण्या गच्छतीत्यर्थः । (चिट्ठत्ति) स्थाता आसिता भवति यावत्करणाद्दशाश्रुतस्कन्धानुसारेणान्या इह द्रष्टव्यास्ताश्चैवमर्थतः आसन्नपुरः पार्श्वतः स्थानेन तिस्रोऽत्र निषीदनेन च तिस्रः तथा विचारभूमौ गतयोः पूर्वतरमाचमतः शैक्षस्याशातना १० एवं पूर्वं गमनागमनमालोचयतः ११ तथा रात्रौ को जागर्तीति पृष्टे रात्निकेन तद्वचनमप्रतिशृण्वतः १२ रात्निकस्यापूर्वमालपनीयं कंचन अवमस्य पूर्वतरमालपतः । १३ अशनादि लब्धमपरस्य पूर्वमालोचयतः ।१४। एवमन्यस्योपदर्शयतः ।१५। एवं निमंत्रयतः ।१६। रात्निकमनापृच्छयाऽन्यस्मै भक्तादि ददतः । १७ । स्वयं प्रधानतरं भुञ्जानस्य ।१८। क्वचित् प्रयोजने व्याहरतो रात्निकस्य च वा प्रतिशृण्वतः ।१९। रात्निकम्प्रति तत्समक्षं वा बृहता शब्देन बहुधा भाषमाणस्य ।२०। व्याहृतेन मस्तकेन वन्दे इति वक्तव्ये किम्भणसीति ब्रुवाणस्य । २१ । प्रेरयति रात्निके कस्त्वं प्रेरणायामिति वदतः ।२२। आचार्यग्लानं किं न प्रतिचरसीत्याद्युक्ते त्वं किं न तं प्रतिचरसीत्यादि भणतः ।२३। धर्मं अर्थयति गुरावन्यमनस्कतां भजतोऽनुमोदयति इत्यर्थः । ।२४। कथयति गुरौ न स्मरसीति वदतः ।२५ । धर्मकथामाच्छिन्दतः । २६। भिक्षावेला वर्त्तते इत्यादि वचनतः पर्षदं भिन्दानस्य ।२७। गुरुपर्षदनेदानुत्थितायास्तथैव व्यवस्थितायां धर्मं कथयतः ।२८। गुरोः संस्तारकं पादेन घट्टयतः । २९ । गुरोः संस्तारके निषीदतः ।३०। उच्चासने निषीदतः ।३१। समासनेऽप्येवं ।३२। त्रयस्त्रिंशत्तमा सूत्रोक्ता च रात्निकस्यालपतस्तत्र गत एवासनादिस्थित एव प्रतिशृणोति आगत्य हि प्रत्युत्तरं देयमिति शैक्षस्याशातनेति । सम० ३३ स० । दशा० ।

अहवा अरिहंताणं आसायणाइ सज्झाए किंचि ।
नाहीअं जा कंठसमुदिट्ठा तितीसासायणाओ गाथाद्वयं संo व्या० । आसायणा समत्ता समत्ता व सा पडिक्कमणसंगहणी । अत्रपदं । अरिहंताणं आसायणाए सिद्धाणं आसायणाए आयरियाणं आसायणाए उवज्झायाणं आसायणाए साहूणं आसायणाए साहुणीणं आसायणाए सावयाणं आसायणाए सावियाणं आसायणाए देवाणं आसायणाए इह लोगस्स आसायणाए परलोगस्स आसायणाए केवलिपन्नत्तस्स धम्मस्स आसायणाए सदेवमणुआसुरस्स लोगस्स आसायणाए सव्वपाणभूअजीवसत्ताणं आसायणाए कालस्स य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आसायणाए सुअस्स आसायणाए सुअदेवआए आसायणाए वायणायरिअस्स आसायणाए जंवाइद्धं वच्चामेलियं हीणक्खरं अच्चक्खरं पयहीणं विणयहीणं घोसहीणं जोगहीणं सुट्ठु दिन्नं दुट्ठुपडिच्छियं अकाले कओ सिज्झाओ काले न कओ सिज्झाओ असज्झाइयं ॥

सांप्रतं सूत्रोक्ता एव त्रयस्त्रिंशदूव्याख्यायंते । तत्र अरहंताणं आसायणाए अर्हतां प्राङ्निरूपितशब्दार्थानां संबंधिन्या आशातनया यो मया दैवसिकोऽतिचारः कृतस्तस्य मिथ्यादुष्कृतमिति क्रिया एवं सिद्धादिपदेष्वपि योज्येति इत्थं चाभिदधतामर्हतामाशातना भवति ॥

नत्थि अरहंतत्ति जाणंतो कीस झुंजई भोगे । पाहुडियं उवजीवं एव वदं उत्तरं इणमो ॥१॥ जोगफलनिवत्तिय पुण्णपगडीए मुदयवाहट्ठा । झुंजइ जोए एवं पाहुडियाए इम सुणसु ॥२॥ णाणादिगुणरोधकअघातिसुहपायवस्स वेदाए । तित्थंकरनामाए उदया तह वीयरागत्ता ॥ ३ ॥ सिद्धाणं आसायणाए (सिद्धानामाशातनया क्रियापूर्ववत्) सिद्धाणं आसायणा एवं भणतस्स होइ मुद्धस्स । णत्थि णि चेट्ठा वासइ वावी अहव उवओगे ॥४॥ रागदोसा धुवत्ति तहेव अन्नकालमुवओगे । दंसणनाणाणं तू होइ असव्वन्नुया चेव ॥५॥ अन्नोन्नावरणाहव एगत्तव्वं वा वि नाणदंसणओ । भवाति न वा एएसिं दोसो एगो वि संभवइ ॥ ६ ॥ अत्थियत्ति नियमासिद्धा सहाओ चेव गम्मए एवं । नचेट्ठा वि भवंति विरियक्खयओ न दोसो हु ॥ ७ ॥ रागदोसा न भवे सव्वकसायाण निरवसेसखया । जियसा भव्वाण जुगवमुवओगो ण य मया ओय ॥ ८ ॥ न पि हू आवरणाओ दव्वट्ठिय वा मएणं पु-रागत्तं वा भवति दंसणनाणाणदोसं पि ॥९॥ णाणउदंसणणए पडुच णाणं तु सव्वमेव । दंसव्वं उदंसणं तीएम सव्व सुया का हु ॥१०॥ सणयं व पडुच्चागवायं वओगो दोसं पि । एवमसव्वन्नुत्ता दोसो एसो न संभवइ ११ आयरियाणं आसायणाए आचार्याणामाशातनया क्रिया पूर्ववत् आसातना तु । महरो अकुलीणो त्ति य दुम्मोहो दमगमंदबुद्धिया । अवियप्पलाभलद्धि सीसो परिभवइ आयरियं १२ अहवा विवए एवं उवएसपरस्स देंति एवं तु । दसविहवेयावच्चे कायव्वं सयं न कुव्वंति १३ डहरो विन्नाणवुड्ढो आकुलिणो त्ति य गुणालिओ किहणु । दुम्मेहादीणि वि ते भणंत संताइ दुम्मेहा १४ जाणंति न वि य न एवं निद्धम्मा मोक्खकारणं णाणं । निच्चंपच्चासयता वेयावच्चादि कुव्वंति १५ उवज्झायाणमासायणाए उपाध्यायानामाशातनया क्रिया पूर्ववत् आशातनापि साक्षेपपरिहारा यथाचार्याणां नवरं सूत्रप्रदा उपाध्याया इति । साहूणं आसायणाए त्ति साधूनामाशातनया क्रिया पूर्ववत् । जो सुणियसमयसारो साहू समुद्दिस्स भासए एवं । अविसहणा तुरियगा ते भंडणं कालं च तह चेव १६ पाणसुणया व झुंजंति एगत्तो तह वि रूवनेवत्था । एमादिवयदवणं मूढो न सुणेइ एयं तु १७ अविसहणादिसमेया संसारसभावजाणणा नेव । साहू थोवकसाया जओ य झुंजंति एगओ तह वि १८ रूवए वत्थं एवंमादिवयदुवणं मुट्ठणेति एयं तु । अविसहणादिसमया संसारसहावजाणणा णेव साधुथोवकसाया जओ य झुंजंति ते तहवि १९ साहुणीणं आसायणाए ।

साध्वीनामाशातनया क्रिया पूर्ववत् । आशातना ।

कलहिणिया बहुउवही अह वा वीसमणुवदवा समणीगयाणियापुत्तभंडा दुमवाल्लिजस्स सेवालो । २० ।

अन्नोतरं ।

कलहेत्ति णेवणाउण कसाए कम्मबंधए पएति । संजलणाण सुदयु ईसिं कलहे वि को दोसो २१ उवही बहुविकप्पो बंभव्वयरक्खणत्थमत्तासि । जणिओ जिणेहि जम्हा तम्हा उवहंमिणो दोसो २२ समणाण णेयएया उवद्दायदो सम्ममापुसरंताए । आगेमचिहिमहत्याजिणवयणसमाहिअप्पाणं २३

सावगाण आसायणाए । श्रावकाणामाशातनया क्रिया तथैव जिनशासनभक्ता गृहस्थाः श्रावका भण्यंते । आशातना तु लद्धूण मणुस्सत्तं णाऊण वि जिणमयं ण जे विरतियमिय जंनि कइते धणोवुञ्चंति लोगम्मि । सावगसुत्तासायणमिच्छुत्तरकम्मपरिणइवसेण जइ वि पवज्जंति णति तह वि वम्मति मग्गट्ठिया । सम्यग्दर्शनादिमार्गस्थितत्वेन गुणयुक्तत्वादित्यर्थः । साविगाणं आसायणाए श्राविकाणामाशातनया क्रियाक्षेपपरिहारौ च पूर्ववत् देवाणं आसायणाए देवानामासातनया क्रिया तथैव आशातना ॥

कामपसत्ता विरतीए, वज्जिया अणमिसा य णिच्चेट्ठा ।
देवा सामत्थं मित्तिणय, तित्थस्सुण्णतिकरा य ॥
एत्थ पसिद्धी मोहणि, यसायवेयकम्मउदयायो ।
कामपसत्तविरति, कंमोदयउ भिवणयत्तोसिं ॥
अणिमिसदेवसभावा णिच्चेट्ठा अणुत्तरा कियकिचा ।
कालणुभावाति सुपापिअण्णत्थ कुव्वंति ॥

देवीणं आसायणाए देवीनामशातनया क्रियाक्षेपपरिहारौ च प्राग्वत् इह लोकस्याशातनया क्रिया पूर्ववत् इहलोको मनुष्यलोकः आशातना तस्य वितथप्ररूपणादिति । परलोगस्स आसायणाए परलोकस्याशातनया क्रिया प्राग्वत् । परलोको मनुष्यस्य नारकतिर्यगमराः आशातना त्वस्य वितथप्ररूपणादिनैव क्षिनयेप्याक्षेपपरिहारौ च स्वमत्या कार्यौ केवलिपन्नत्तस्स धम्मस्स आसायणा केवलिप्रज्ञप्तस्य धर्मस्याशातनया क्रिया प्राग्वत् स च धर्मो द्विविधः । श्रुतधर्मश्चारित्रधर्मश्च आशातना तु ॥

पागयभासा निबद्धं को वा जाणइ पणीयं केणेयं ।

किं वा चरणेणं तु दाणेण विणाउ नव इत्ति ॥

उत्तरं ।

बालस्त्रीमूढमूर्खाणां नृणां चारित्रकांक्षिणां ।
अनुग्रहार्थं तत्त्वज्ञैः सिद्धान्तः प्राकृतः कृतः ॥

निपुणधर्मप्रतिपादकत्वाच्च सर्वज्ञप्रणीतत्वमिति चरणमाश्रित्याह ।

दानमौरविकेणापि चण्डालेनापि दीयते ।
येन वा तेन वा शीलं न शक्यमभिरक्षितुं ॥
दानेन भोगानाप्नोति यत्र तत्रोपपद्यते ।
शीलेन भोगान् स्वर्गं च निर्वाणं चाधिगच्छति ॥

तथाभयप्रदानं दाता चारित्रवान्नियमत एवेति । सदेवमणुयासुरस्स लोयस्स आसायणाए सदेवमनुष्यासुरस्य लोकस्याशातनया क्रिया प्राग्वत् । आशातना तु वितथप्ररूपणादिना आह च भाष्यकारः ।

देवादीयं लोयं विवरीयं जणइ सत्तदीवुदहिं ।
तह कयपयावदीणं पगतिपुरिसाण जोगे वा ॥

अत्रोत्तरं ।

सत्तसु परमियसत्ता मोक्खसुभत्तणं पयावइणा ।
केण कओ तणपच्छा पयईए कहं पवत्तित्ति ॥ १ ॥

जेय चेयणेति पुरिसत्थनिमित्तं किल वयपवत्तसी सा य नीसे चिय अपत्तिपरोत्ति सव्वंचिय विरुद्धं सव्वपाणभूयजीवसत्ताणं । आसायणाए सर्वप्राणिभूतजीवसत्त्वानामाशातनया क्रिया प्राग्वत् । तत्र प्राणिनो द्वीन्द्रियादयः व्यक्तोच्छ्वासनिश्वासा अपि भूयो भवंति भविष्यंति चेति भूतानि पृथिव्यादयः जीवंतीति जीवा आयुष्ककर्मा तु तव युक्ताः सर्वे एवेत्यर्थः सत्त्वाः सांसारिकसंसारातीतभेदाः एकार्थिका वा ध्वनय इति आशातना तु विपरीतप्ररूपणादिनैव तथा अंगुष्ठपर्वमात्रो द्वीन्द्रियाद्यात्मेति पृथिव्यादयस्त्वजीवा एव स्पंदनादिचैतन्यकार्यानुपलब्धेर्जीवाः क्षणिका इति सत्त्वाः संसारिणः अंगुष्ठपर्वमात्रा एव भवंति संसारातीताः नश्यंत्येवापि तु प्रध्यातदीपकल्पोपमो मोक्ष इति । उत्तरं देहमात्रेणैव सुखदुःखादि तत्कार्योपलब्धेः पृथिव्यादीनां स्वल्पचैतन्यत्वात्तत्कार्यानुपलब्धिर्नाजीवत्वादिति जीवा अप्येकांतक्षणिका न भवंति निरन्वयनाशे उत्तरक्षणस्यानुपपत्तेः निर्हेतुकत्वादेकांतनष्टस्यासद्विशेषात् सत्त्वाः संसारिणः प्रत्यक्षा एव संसारातीता अपि विद्यंत एवेति जीवस्य सर्वथा विनाशाभावात्तथा चैरप्युक्तं । नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः । उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः" इत्यादि । कालस्स य आसायणाए "कालः पचति भूतानि कालः संहरते प्रजाः । कालः सुप्तेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः" इत्यादि कालोऽस्ति तमंतरेण बकुलचंपकादीनां नियतः पुष्पादिप्रदानभावो न स्यात् न च तत्परिणतिर्भिन्नं एकांतनित्यस्य परिणामानुपपत्तेः । "सुयस्स आसायणाए" । श्रुतस्याशातनया क्रिया पूर्ववत् आशातना तु ॥

को आउरस्स कालो, मइलंवरधोवणे व कालो अ ।
जइ मोक्खहेतुनाणं, को कालो तस्स कालो वा ॥

इत्यादि उत्तरं ॥

जोगो २ जिणसासणंमि दुक्खक्खयो पउंजंता ।
अन्नोन्नमवाहंतो असत्तो होइ कायव्वो ॥

प्राग्धर्मद्वारेण श्रुताशातनोक्ता इह तु स्वतंत्रश्रुतविषयेति न पौनरुक्त्यं । सुयदेवयाए आसायणाए श्रुतदेवताया आशातनया क्रिया प्राग्वत् आशातना तु श्रुतदेवता सा न विद्यते अकिंचित्करी वा न ह्यनधिष्ठितो मौनीन्द्रः खल्वागमः अतोऽसावस्ति न वा किंचित्करी तामालंब्य प्रशस्तमनसः कर्मक्षयदर्शनात् (वायणायरियस्स आसायणाए) वाचनाचार्यस्याशातनया क्रिया प्राग्वत् । तत्र वाचनाचार्यं उपाध्यायस्संदिष्टो य उद्देशादिकं करोति अशातना त्वियं निर्दुःखसुखप्रभूतं वा वंदनं । दापयति उत्तरं तु श्रुतोपचारः एष क इव तस्यात्र दोष इति । "जंवाइद्धं वच्चामेलियं हीणक्खरियं अच्चक्खरियपयहीणं घोसहीणं जोगहीणं सुट्ठुदिन्नं दुट्ठुपडिच्छियं अकाले कओ सज्झाओ काले न कओ सज्झाओ असज्झायं सज्झाइयं सज्झाए न सज्झायंति एए चउद्दससुत्ता पुव्विल्लयाय एगूणवीसंतिएते तेत्तीसमासायणाभवन्ति " एतानि चतुर्दश सूत्राणि श्रुतकलापकगोचरत्वाच्च पौनरुक्त्यभाञ्जीनीति तथा दोषदुष्टं श्रुतं यत्पठितं तद्यथा आविद्धं विपर्यस्तरत्नमालावदनेकप्रकारेण या आशातना तथा हेतुभूतया योऽतिचारः कृतस्तस्य मिथ्यादुष्कृतमितिक्रिया एवमन्यत्रापि योज्या व्यत्याम्रेडितं कोलिकपायसवत् हीनाक्षरं अक्षरन्यूनं अत्यक्षरं अधिकाक्षरं पदहीनं पादेनैव हीनं अकृतोचितविनयं घोषहीनं उदात्तादिघोषरहितं योगहीनं सम्यक्कृतयोपचारं सुष्ठु दत्तं गुरुणा दुष्ठु प्रतीतं कलुषितांतरात्मनि अकाले कृतस्वाध्यायो यो यस्य श्रुतस्य कालिकादेरकाल इति कालेन कृतः स्वाध्यायः यो यस्यात्मीयोध्ययनकाल उक्त इति अस्वाध्यायिके स्वाध्यायितं । आव० ४ अध्य ॥ आत्मानं परवाऽनाशातयेदिति । २ । आचा० ॥

अणुवीइभिक्खुधम्ममाइक्खमाणे णो
अत्ताणं आसाइज्जा णो परं आसाएज्ज णो अन्नाइं पाणाइं भूताइं जीवाइं सत्ताइं आसाएज्जा से अणासायए अणासायमाणे व उज्झमाणाणं भूयाणं जीवाणं सत्ताणं जहा से दीवे असंदीवे एवं से सरणं भवति महामुणी ।

टी० ॥ अतस्तेषां क्षांत्यादिकं दशविधं धर्मं यथायोगं प्रागुपन्यस्तं शांत्यादिपदाभिहितमनुविचिन्त्य स्वपरोपकाराय भिक्षणशीलो भिक्षुर्धर्मकथालब्धिमानाचक्षीत प्रतिपादयेदिति यथा च धर्मं कथयेत्तदा (अणुवीइ भिक्खुमा) इत्यादि यावत् भवति सरणं (महामुणित्ति) स भिक्षुर्मुमुक्षुरनुविचिन्त्य पूर्वापरेण धर्मं पुरुषं वालोच्य यो यस्य कथनयोग्यस्तं धर्ममाचक्षाण आकीर्त्ति मर्यादया यथानुष्ठानं सम्यग्दर्शनादेः शातना आशातना तयात्मानं नो आशातयेत्तथा धर्ममाचक्षीत यथोत्मन आशातना न भवेद्यदिवात्मन आशातना द्विधा द्रव्यतो भावतश्च द्रव्यतो यथाहारोपकरणादेर्व्ययस्य कालातिपातादिकृताशातना बाधा न भवति तथा कथयेदाहारादिद्रव्यबाधया च शरीरस्यापि पीडा भावाशातनारूपा स्यात् कथयतो वा यथा गात्रभंगरूपा भावाशातना न तस्य स्यात्तथा कथयेदिति । तथा नापरं शुश्रूषुः आशातयेत् यतः परो हीलनया कुपितः सन्नाहारोपकरणशरीरान्यतरपीडायै प्रवर्त्तेताऽतस्तदाशातनां वर्जयन् धर्मं ब्रूयादिति ।

तथा नान्यान्वा सामान्येन प्राणिनो भूतान् जीवान् नो आशातयेद्बाधयेत एवं स मुनिः स्वतोऽनाशातकैरनाशातयन् तथा परानाशातयतोऽनुमन्यमानोऽपरेषां वध्यमानानां प्राणिनां भूतानां सत्त्वानां जीवानां यथा पीडा नोत्पद्यते तथा धर्मं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कथयेदिति तद्यथा यदि लौकिककुप्रावचनिकपार्श्वस्थादिदानानि प्रशंसत्यवटतडागादीनि वा ततः पृथिवीकायादयो व्यापादिता भवेयुरथ दूषयति ततोऽपरेषामन्तरायापादनेन तत्कृतो बंधविपाकानुभवः स्यादुक्तं च ।

जे उ दाणं पसंसन्ति वहमिच्छंति पाणिणं ।
जे उ णं पडिसेहंति वित्तिच्छेयं करंति ते ॥

तस्मात्तदवटतडागादिविधिप्रतिषेधव्युदासेन यथावस्थितं दानं शुद्धं प्ररूपयेदसावद्यानुष्ठानं चेत्येवं च कुर्वन्नुभयदोषपरिहारी जंतूनामाश्वासभूमिर्भवतीत्येतद् दृष्टांतद्वारेण दर्शयति यथा सोऽद्वीपो संदीनः शरणं भवत्येवमसावपि महामुनिः तद्रक्षणोपायोपदेशतः बध्यमानानां बधकानां च तदध्यवसायाग्नि वर्तते न विशिष्टगुणस्थानापादनाच्छरण्यो भवति तथा हि यथोद्दिष्टेन कथाविधानेन धर्मकथां कथयन् कांश्चन प्रव्राजयति कांश्चन श्रावकान्विधत्ते कांश्चन सम्यग्दर्शनयुजः करोति केषांचिद्भद्रकप्रकृतिभद्रतामापादयति । आचा० उ० अ० ६ उ०

आसायणिज्ज–आस्वादनीय–त्रि० आ. स्वद णिच् कृत्यहुलमिति कर्त्तव्यनीयः । प्रज्ञा० जी० ईषत्स्वादयोग्ये, दशा० अं० ।

आसायवडिया–आस्वादप्रतिज्ञा–स्त्री० विषयभोगप्रतिज्ञायाम आचा० ।

आसारेंत-आसारयत्-त्रि० ईषत्स्वस्थानत्याजनेनसारयति,ज्ञा०

आसालिय–आशालिक–पु० उरः परिसर्पस्थलचरपंचेन्द्रियतिर्यग्भेदे, प्रज्ञा० ।

सेकिंतं आसालिया? कहि णं भंते ! आसालिया समुच्छंति गोयमा ! अंतो मणुस्सखेत्ते अड्ढाइज्जेसु दीवेसु णिव्वाघाएण पन्नरससु कम्मभूमीसु वाघातं पडुच्च पंचसु महाविदेहेसु चक्कवट्टी खंधावारेसु वासुदेवखंधावारेसु बलदेवखंधावारेसु मंडलियखंधावारेसु महामंडलियखंधावारेसु गामनिवेसेसु नगरनिवेसेसु निगमनिवेसेसु खेडनिवेसेसु कव्वडनिवेसेसु मडंबनिवेसेसु दोणमुहनिवेसेसु पट्टणनिवेसेसु आगरनिवेसेसु आसमनिवेसेसु संवाहनिवेसेसु रायहाणिनिवेसेसु एएसिणं चेव विणासेसु एत्थ णं आसालिया समुच्छंति । जहन्नेणं अंगुलस्स असंखिज्जइभागमित्तीए ओगाहणाए, उक्कोसेणं बारसजोयणाइं । तदणुरूवं च णं विक्खंभबाहल्लेणं भूमिं दालित्ताणं समुट्ठेत्ति । असन्नी मिच्छादिट्ठी अन्नाणी अंतोमुहुत्तद्धाउया चेव कालं करेइ । सेत्तं आसालिया ॥ जी० ॥

आसावग–आश्रावक–त्रि० बन्धके विशे० ।

आसाविणी–आस्राविणी–स्त्री० शतच्छिद्रायाम ।

जहा आसाविणिं णावं जाइअंधे दुरूहिया, इच्छइ पारमागंतु अंतराय विसीयति । सूत्र. श्रु० १ । अ० ११ ॥

आसास–आश्वास–पु० आश्वासनमाश्वासः उच्छ्वासो नामादिसूत्रव्यतिरिक्तो द्रव्यतो यानपात्रद्वीपादौ भावतो ज्ञानादौ आचारांगे आचा० धीरो भव अहं ते सर्वमपि वैयावृत्त्यं करिष्ये–इत्यादिरूपे प्राणिनामाश्वासने, सू० प्रश्न. विश्रामे, भारं वहन आश्वासाः स्था० ।

भारणं वहमाणस्स चत्तारि आसासा पन्नत्ता तंजहा जत्थ णं अंसाओ अंसं साहरइ तत्थ वि य से एगे आसासे पन्नत्ते जत्थ वि य णं उच्चारं वा पासवणं वा परिट्ठावेति तत्थ वि य से एगे आसासे पन्नत्ते जत्थ वि य णं णागकुमारावासंसि वा सुवन्नकुमारावासंसि वा वासं उवेइ तत्थ वि य से एगे आसासे पणत्ते जत्थ वि य णं आवकहाए चिट्ठइ तत्थ वि य से एगे आसासे पन्नत्ते । एवमेव समणोवासगस्स चत्तारि आसासा प० तं० जहा सीलव्वयगुणव्वयवेरमणपच्चक्खाणपोसहोववासाइं पडिवज्जइ तत्थ वि य से एगे आसासे पन्नत्ते जत्थ वि य णं सामाइयं देसावगासियमणुपालेइ तत्थ वि य से एगे आसासे पन्नत्ते जत्थ वि य णं चाउद्दसिए मुद्दिट्ठपुण्णिमासीसु पडिपुन्नं पोसहं सम्मं अणुपालेइ तत्थ वि य से एगे आसासे पन्नत्ते जत्थ वि य णं अपच्छिममारणंतियसंलेहणाझूसणाझूसिए भत्तपाणपडियाइक्खिए पाओवगए कालमणवकंखमाणे विहरइ तत्थ वि य से एगे आसासे पन्नत्ते ॥

भारं धान्यमुक्तादिकं वहमानस्य देशान्तरं नयतः पुरुषस्य आश्वासा विश्रामाः भेदश्च तेषामवसरभेदेनेति यत्रावसरे अंशादेकस्मात् स्कंधादंशमिति स्कन्धान्तरं संहरति नयति भारमिति प्रक्रमः तत्रावसरेऽपि चेति उत्तराश्वासापेक्षया समुच्चये स तस्य वोढुरिति परिष्ठापयति व्युत्सृजति नागकुमारावासादिकमुपलक्षणमतो ऽन्यत्र वा यतने वा समुपैतीति रात्रौ वसति यावती यत्परिमाणा कथा मनुष्योऽयं देवदत्तादिर्वयमिति व्यपदेशलक्षणा यावत्कथा तया यावज्जीवमित्यर्थः । तिष्ठति वसतीत्ययं दृष्टान्त एवमेवेत्यादिर्दार्ष्टान्तिकः श्रमणान् साधूनुपास्त इति श्रमणोपासकः श्रावकस्तस्य सावद्यव्यापारभाराक्रान्तस्याश्वासास्तद्विमोचनेन विश्रामाश्रितस्याश्वासनानि स्वास्थ्यानि इदं मे परलोकभीतस्य त्राणमित्येवंरूपाणीति स हि जिनागमसंगमावदातबुद्धितया आरम्भपरिग्रहौ दुःखपरंपराकारिसंसारकान्तारकारणभूततया परित्याज्यावित्यवकलयन् करणभरवशतया तयोः प्रवर्तमानो महान्तं खेदं संतापं भयं चोद्वहति भावयति चैवंहि ।

एयं जिणाण आणा–चारियं मह पारिसं अउण्णस्स ।
एयं आलप्पालं अच्चादूरं वि सवयइ ॥ १ ॥
हयमम्हाणं नाणं हयमम्हाणं मणुस्समाहप्प ॥
जे किल लद्धविवेया विचिट्ठिमो बालवा लुब्बत्ति ॥ २ ॥

यत्रावसरे शीलानि समाधानविशेषा ब्रह्मचर्यविशेषा वा व्रतानि स्थूलप्राणातिपातविरमणादीनि अन्यत्र तु शीलान्यणुव्रतानि समशिक्षाव्रतानि तदिह न व्याख्यातं गुणव्रतादीनां साक्षादेवोपादानादिति गुणव्रते दिग्व्रतोपभोगपरिभोगव्रतलक्षणे विरमणान्यनर्थदण्डविरतिप्रकारा रागादिविरतयो वा प्रत्याख्यानानि नमस्कारसहितादीनि पौषधः पर्वदिनमष्टम्यादि तत्रोपवसनं भक्तार्थः पौषधोपवास एतेषां द्वन्द्वस्तान् प्रतिपद्यतेऽभ्युपगच्छति तत्रापि च स तस्यैक आश्वासः प्रक्रमो यत्रापि च सामायिकं सावद्ययोगपरिवर्जननिरवद्ययोगप्रतिसे

वनलक्षणं यदावस्थितः श्राद्धः श्रमणभूतो भवति तथा देशे दिग्व्रतगृहीतस्य दिक्परिमाणस्य विभागोऽवकाशोऽवस्थानमवतारो विषयो यस्य तद्देशावकाशं तदेव देशावकाशिकं दिग्व्रतगृहीतस्य दिक्परिमाणस्य प्रतिदिनं संक्षेपकरणलक्षणं सर्वव्रतसंक्षेपकरणलक्षणं चानुपालयति प्रतिपत्त्यनन्तरमखण्डमासेवत इति तथापि च तस्यैव आश्वासः प्रज्ञप्त इति उद्दिष्टेत्यमावास्यापरिपूर्णमित्यहोरात्रं यावत् आहारशरीरसत्कारत्यागब्रह्मचर्यव्यापारलक्षणभेदरूपेतमिति यत्रापि च पश्चिमैवा मंगलपरिहारार्थमपश्चिमा चासौ मरणमेवान्तो मरणान्तस्तत्र भवा मारणान्तिकी सा चेत्पश्चिममारणान्तिकी सा चासौ संलिख्यते अनया शरीरकषायादीनि संलेखनातपोविशेषः सा चेति अपश्चिममारणान्तिकसंलेखनात् तस्याः (कुसणत्ति) जोषणा सेवनालक्षणो यो धर्मस्तया (कूसिपत्ति) जुष्टः सेवितोऽथवा क्षिप्तः क्षपितदेहो यस्स तथा । तथा भक्तपाने प्रत्याख्याते येन सः पादपवत् उपगतो निश्चेष्टतया स्थितः पादपोपगतः अनशनविशेषं प्रतिपन्न इत्यर्थः । कालं मरणकालं अनवकांक्षन् तत्राऽनुत्सुक इत्यर्थः विहरति तिष्ठति । स्था० ४ ठा० ॥

आसासंकरसमुब्भव—आश्वासांकुरसमुद्भव— न० आश्वास एवांकुरप्ररोहस्तस्य समुद्भव उत्पत्तिर्यस्मात्तदाश्वासांकुरसमुद्भवम् ग्लानस्याश्वासप्ररोहबीजे, । बृ० १ उ० ॥

आसासदीव—आश्वासद्वीप—पु० आश्वास्यतेऽस्मिन्निति आश्वासः स चासौ द्वीपश्चाश्वासद्वीपः यदिवा आश्वसनमाश्वासः आश्वासाय द्वीप आश्वासद्वीपः । नदीसमुद्रबहुमध्यप्रदेशे, भिन्नबोधिस्थादयो यमवाप्याश्वसंति तस्मिन्द्रव्यद्वीपविशेषे, स च द्विधा सन्दीनोऽसन्दीनश्च—आचा० ६ अ० ३ उ० पं० सू०—

आसित्त—आसिक्त—पुं० स्त्रीशरीरावसक्ते, "नपुंसकविशेषे„ स च मोहोत्कटतया मेहनं योनावनुप्रवेश्य नित्यमास्ते बृ० ४ उ० पं० भा० पं० चू० ॥

जो विग्गहं अणुप्पवेसिअ उतीसा गारिअं स आसित्तो
पायसे जातोवसमं अलभंतो सो वि अपुमं भवे पं० भा०।

सुगंधजलच्छटादानेन कल्प० उदकच्छटने दशा० । कृतासेक जी० १ प्र० ३ प्र० । ज्ञा० १ अ० आ० म० प्र० ६ अ० । ईषत्सिक्ते. भ० ए श० ३३ उ० ।

(आसित्तसित्तसुईअ सम्मट्ठरत्थंतरावणविहियं) आसिक्तानीषत्सिक्तानि च तदन्यथा अत एव सुचिकानि पवित्राणि संमृष्टानि कचवरापनयनेन रथ्यामध्यानि आपणवीथयश्च हट्टमार्गा यत्र तत्तथा भ० ए श० ३३ उ० ।

आसिम—आशिमन्—पुं० आशोर्भाव इमनिच् किच्च । शीघ्रत्वे वाच० ।

आसिय—आश्रित—त्रि० प्रतिष्ठिते स्था० ६ ठा० आश्रयं प्राप्ते शरणागते वाच० ।

आश्विक—त्रि० अश्वान् भारभूतान् हरति वहति आवहति वा ठञ् भारभूतस्याऽश्वस्य हारके वाहके आवाहके । अश्वस्य निमित्तं संयोग उत्पातो वा ठञ् अश्वलाभसूचके संयोगे उत्पाते निमित्ते च । वाच० ॥ अश्वस्वामिनि, ४ व्य. ॥

जो णाम सारहीणं, मज्झेजो जहवाइणो दमए ।
दुट्ठे वि अ जो आसे, दमेइ तं आसियंविंति ।
पं० व० १ द्वा० ॥

आसियावण—आश्रितापन—न० अपहरणे बृ० १ उ० । निष्काशयितुमासादने । व्य० १० व्य० स्तैन्ये, बृ० ४ उ० ।

आसियावाय—आशीर्वाद— पु० बहुपुत्रो बहुधनो बहुधर्मो दीर्घायुस्त्वं भूया इत्याशीषोक्तौ, आसियावायवियागरेज्जा-सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

आसी—आशी— स्त्री० सर्पदंष्ट्रायाम-विशे० । स्था० ४ ठा० ।

आसीण—आसीन— त्रि० उपविष्टे । प्रश्न० १ सं० द्वा० । आसिते । आव० २ अ० ।

आसीविस-आशीविष-पु० आश्यो दंष्ट्रास्तासु विषं यस्य सः ।

आसीदाढातग्गय महाविसा आसीविसा इति ।

दंष्ट्राविषे दर्वीकरसर्पभेदे, । प्रज्ञा० १ पद् । जी० १प्र० नागे. प्रश्न० १ द्वा० । स्था० ४ठा० आशीविष इवाशीविषः यथा हि तमत्यन्तमवजानानो मृत्युमेवाप्नोति एवमेतमपि मुनिमवजानानामवश्यंभावि मरणम् । आशीविषलब्धिमति शापानुग्रहसमर्थे । उत्त० १२ अ० ।

(आशीविषाणां भेदाः)

कइविहा णं भंते ! आसीविसा पण्णत्ता ? गोयमा ! दुविहा आसीविसा पण्णत्ता । तंजहा । जाइ आसीविसा य कम्मआसीविसा य ॥

कइइत्यादि । आसीविसत्ति ॥ आशीविषा दंष्ट्राविषाः । जाइ आसीविसत्ति । जात्या जन्मना आशीविषा जात्याशीविषाः कम्मआशीविसत्ति ॥ कर्म्मणा क्रियया शापादिनोपघातकरणेनाशीविषाः कर्म्माशीविषास्तत्र पंचेन्द्रियतिर्यंचो मनुष्याश्च कर्म्माशीविषाः पर्याप्तका एव एते हि तपश्चरणानुष्ठानतोऽन्यतो वा गुणतः खल्वाशीविषा भवन्ति शापप्रदानेनैव व्यापादयन्तीत्यर्थः । एते चाशीविषलब्धिस्वभावात्सहस्रारान्तदेवेष्ववोपपद्यन्ते । देवास्त्वेत एव ये देवत्वेनोत्पन्नास्तेऽपर्याप्तकावस्थायामनुभूतभावतया कर्म्माशीविषा इति । उक्तंच । शब्दार्थाभेदसंवादिभाष्यकारेण । आसीदाढातग्गय, महाविसासीविसा दुविहभेया । ते कम्मजाइभेएण, णेगहा चउविहविगप्पा ॥ १ ॥ भ० टी० ८ श० २ उ० ॥

जात्याशीविषाः ।

जाइआसीविसाणं भंते ! । कइविहा पण्णत्ता गोयमा ? चउव्विहा पण्णत्ता । तंजहा । विच्छुयजाइआसीविसे १ मंडुकजाइआसीविसे २ उरगजाइआसीविसे ३ मणुस्सजाइआसीविसे ४ । स्था० ४ ठा० । भ० ॥ विच्छुयजाइआसीविसस्सणं भंते । केवइए विसए पण्णत्ते ? गोयमा ! । पभूणं विच्छुयजाइआसीविसे अद्धभरहप्पमाणमेत्तं बोंदिं विसेणं विसपरिगयं विसट्टमाणं पकरेत्तए एवइए विसए नो चेवणं संपत्तीए करिंसु वा करेंति वा करिस्संति वा मंडुकजाइआसीविसपुच्छा गोयमा ! पभूणं मंडुकजाइआसीविसे भरहप्पमाणमेत्तं बोंदिं विसेणं विसपरिगयं सेसं तं चेव जाव करिस्संति वा । एवं उरगजाइआसीविसस्सवि । नवरं ।

जंबुद्दीवप्पमाणमेत्तं बोंदिं विसेणं विसपरिगयं सेसं तं चेव जाव करिस्संति वा । मणुस्सजाइआसीविसस्स वि एवं चेव । नवरं । समयखेत्तप्पमाणमेत्तं बोंदिं विसेणं विसपरिगयं सेसं तं चेव जाव करिस्संति वा ॥

(केवइयत्ति) कियान् । विसयत्ति । गोचरो विषस्येति गम्यं । अद्धभरहप्पमाणमेत्तंति । अर्द्धभरतस्य यत्प्रमाणं सातिरेकत्रिषड्धिकयोजनशतद्वयलक्षणं तदेव मात्रा प्रमाणं यस्याः तथा तां (॥ बोंदिति ॥) तनुं (विसेणत्ति ।) विषेण स्वकीयाशीप्रभवेण करणभूतेन (विसपरिगयंति) विषं भावप्रधानत्वान्निर्देशस्य विषतां परिगता प्राप्ता विषपरिगताऽतस्तामत एव । विसट्टमाणंत्ति । विकस्यन्तीं विदलन्तीम् (करेत्तएत्ति) कर्तुम् (विसंएसंति)गोचरोऽसौ अथवा (से) तस्य वृश्चिकस्य (विसट्टयाएत्ति) विषमेवार्थो विषार्थस्तद्भावस्तत्ता तस्या विषार्थताया विषत्वस्य तस्यां वा (नो चेवत्ति ।) नैवेत्यर्थः (संपत्तीएत्ति) संपत्त्या एवंविधबोधिसम्प्राप्तिद्वारेण (करिंसुत्ति) अकार्षुर्वृश्चिका इति गम्यते इह चैकवचनप्रक्रमेपि बहुवचननिर्देशो वृश्चिकाशीविषाणां बहुत्वज्ञापनार्थमेवं कुर्वंति करिष्यंति त्रिकालनिर्देशश्चामीषां त्रैकालिकत्वज्ञापनार्थः । समयखेत्तत्ति । समयक्षेत्रं मनुष्यक्षेत्रं ॥

कर्माशीविषाः जं०

जइ कम्मआसीविसे किं नेरइयकम्मआसीविसे तिरिक्खजोणियकम्मआसीविसे मणुस्सकम्मआसीविसे देवकम्मासीविसे । गोयमा ! नो नेरइयकम्मासीविसे तिरिक्खजोणियकम्मासीविसे वि मणुस्सकम्मासीविसे देवकम्मासीविसे वि । जइ तिरिक्खजोणियकम्मासीविसे किं एगिंदियतिरिक्खजोणियकम्मासीविसे जाव पंचिंदियतिरिक्खजोणियकम्मासीविसे गोयमा ! नो एगिंदियतिरिक्खजोणियकम्मासीविसे जाव । नो चउरिंदियतिरिक्खजोणियकम्मासीविसे पंचिंदियतिरिक्खजोणियकम्मासीविसे जइ पंचिंदियजावकम्मासीविसे किं सम्मुच्छिमपंचिंदियतिरिक्खजोणियकम्मासीविसे गब्भवक्कंतियपंचिंदियतिरिक्खजोणियकम्मासीविसे । एवं जहा वेउव्वियसरीरस्स भेओ जाव पज्जत्ता संखेज्जवासाउयगब्भवक्कंतियकम्मभूमियपंचिंदियतिरिक्खजोणियकम्मासीविसे नो अपज्जत्ता संखेज्जवासाउ य जावकम्मासीविसे।जइ मणुस्सकम्मासीविसे किं सम्मुच्छिममणुस्सकम्मासीविसे गब्भवक्कंतियमणुस्सकम्मासीविसे २ गोयमा ! नो संमुच्छिममणुस्सकम्मासीविसे गब्भवक्कंतियमणुस्सकम्मासीविसे । एवं जहा वेउव्वियसरीरं जाव पज्जत्ता संखेज्जवासाउ य कम्मभूमियगब्भवक्कंतियमणुस्सकम्मासीविसे नो अपज्जत्ताजावकम्मासीविसे । जइ देवकम्मासीविसे किं भवणवासीदेवकम्मासीविसे जाव वेमाणियदेवकम्मासीविसे गोयमा ! भवणवासीदेवकम्मासीविसे वि वाणमंतरदेवजोइसियवेमाणियदेवकम्मासीविसे वि । जइ भवणवासीदेवकम्मासीविसे किं असुरकुमारभवणवासीदेवकम्मासीविसे जाव थणियकुमारजावकम्मासीविसे २ गोयमा ! असुरकुमारभवणवासीदेवकम्मासीविसे जाव थणियकुमारजावकम्मासीविसे जइ असुरकुमारजावकम्मासीविसे किं पज्जत्ता असुरकुमारभवणवासीदेवकम्मासीविसे किं अपज्जत्ता असुरकुमारजावकम्मासीविसे गोयमा ! नो पज्जत्ताअसुरकुमारजावकम्मासीविसे अपज्जत्ता असुरकुमारभवणवासीजावकम्मासीविसे । एवं थणियकुमाराणं । जइ वाणमंतरदेवकम्मासीविसे किं पिसायवाणमंतरदेवकम्मासीविसे एवं सव्वेसिं अपज्जत्तगाणं जोइसियाणं सव्वेसिं अपज्जत्तगाणं । जइ वेमाणियदेवकम्मासीविसे किं कप्पोवगवेमाणियदेवकम्मासीविसे कप्पातीयवेमाणियदेवकम्मासीविसे गोयमा ? कप्पोवगवेमाणियदेवकम्मासीविसे नो कप्पातीयवेमाणियदेवकम्मासीविसे । जइ कप्पोवगवेमाणियदेवकम्मासीविसे किं सोहम्मकप्पोवगजावकम्मासीविसे जाव अच्चुयकप्पोवगजावकम्मासीविसे गोयमा ! सोहम्मकप्पोवगवेमाणियदेवकम्मासीविसे वि जाव सहस्सारकप्पोवगवेमाणियदेवकम्मासीविसे वि, नो आणयकप्पोवगवेमाणियदेवकम्मासीविसे जाव नो अच्चुयकप्पोवगवेमाणियदेवकम्मासीविसे । जइ सोहम्मकप्पोवगवेमाणियदेवकम्मासीविसे किं पज्जत्ता सोहम्मकप्पोवगजावकम्मासीविसे अपज्जत्ता सोहम्मजावकम्मासीविसे गोयमा ! नो पज्जत्ता सोहम्मकप्पोवगवेमाणियदेवकम्मासीविसे अपज्जत्ता सोहम्मकप्पोवगवेमाणियदेवकम्मासीविसे एवं जाव नो पज्जत्ता सहस्सारकप्पोवगवेमाणियदेवकम्मासीविसे अपज्जत्ता सहस्सारकप्पोवगजावकम्मासीविसे ॥

टी० एवं(जहा वेउव्वियसरीरस्स भेओत्ति)यथा वैक्रियं भणत जीवभेदो भणितः तथेहापि वाच्योसावित्यर्थः । स चायं-गोयमा नो संमुच्छिमपंचिंदियतिरिक्खजोणियकम्मासीविसे गब्भवक्कंतियपंचिंदियतिरिक्खजोणियकम्मासीविसे किं संखेज्जवासाउयगब्भवक्कंतियपंचिंदियतिरिक्खजोणियकम्मासीविसे असंखेज्जवासाउ य जाव कम्मासीविसे गोयमा संखेज्जवासाउ य जाव कम्मासीविसे नो असंखेज्जवासाउ य जाव कम्मासीविसे जइ संखेज्जजावकम्मासीविसे किं पज्जत्तसंखेज्जजावकम्मासीविसे अपज्जत्तसंखेज्जजावकम्मासीविसे ? गोयमा । शेषं लिखितमेवास्ते । भ. टी. । ८ श. १ उ. ॥

एतदेवसंक्षिप्याह ।

(आसीविस इति) आश्यो दंष्ट्रास्तासु विषं येषां ते आशीविषाः ते द्विविधा जातितः कर्मतश्च तत्र जातितो वृश्चिकमंडूकोरगमनुष्यजातयः क्रमेण बहुबहुतरबहुतमाविषाः वृश्चिकविषं हि उत्कर्षतोऽर्धभरतक्षेत्रप्रमाणं शरीरं व्याप्नोति । मंडूकविषं भरतक्षेत्रप्रमाणं । भुजंगमविषं जंबूद्वीपप्रमाणं । मनुष्यविषं समयक्षेत्रप्रमाणं । कर्मतश्च पंचेन्द्रियतिर्यञ्चो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नयो मनुष्या देवाश्चासहस्रारात् । एते हि तपश्चरणानुष्ठानतोऽन्यतो वा गुणत आशीविषवृश्चिकभुजंगादिसाध्यां क्रियां कुर्वन्ति । शापप्रदानादिना परं व्यापादयन्तीति भावः । देवास्त्वपर्याप्तावस्थायां तच्छक्तिमन्तोऽवसातव्याः । ते हि पूर्वं मनुष्यभवे समुपार्जिताशीविषलब्धयः सहस्रारान्तदेवेष्वभिनिर्वोत्स्यमानाः अपर्याप्तावस्थायां प्राग्भविकाशीविषलब्धिसंस्कारादाशीविषलब्धिमन्तो व्यवह्रियन्ते । ततः परं तु पर्याप्तावस्थायां संस्कारस्यापि निवृत्तिरिति न तद्व्यपदेशभाजः । यद्यपि च नाम पर्याप्ता अपि देवाः शापादिना परं व्यापादयन्ति । तथापि न लब्धिव्यपदेशो भवप्रत्ययतस्तथा रूपसामर्थ्यस्य सर्वसाधारणत्वात् गुणप्रत्ययो हि सामर्थ्यविशेषो लब्धिरिति प्रसिद्धिः ॥ आ. म. प्र. १ अ. । विशे० प्रव० द्वा० १३७ जंबूद्वीपे मन्दरस्य पश्चिमे शीतोदाया महानद्या दक्षिणे वक्षस्कारपर्वतविशेषे, स्था० ४ । ७ । ठा. । (दो आसीविसा) स्था० २ ठा० ।

आसीविसत्त–आशीविषत्व–न०शापानुग्रहसामर्थ्ये-स्था.५ठा.।

आसीविसभावणा–आशीविषभावना–स्त्री०आशीविषत्वं पूर्वोक्तस्वरूपं भाव्यते प्रतिपाद्यते यासु ग्रन्थपद्धतिषु ता आशीविषभावना अंगबाह्यकालिकश्रुतभेदे । पा० आशीविषभावनायां पिटिकायामाशीविषत्वलब्धयेयथा समाचरणैराशीविषतया कर्म बध्यते व्य० १ उ. सा च चतुर्दशवर्षपर्यायस्य दीयते पं० व०२ द्वा. ॥

आसीविसलद्धि–आशीविषलब्धि–स्त्री० (तपश्चरणमाहात्म्याद्, गुणादितरतोपि वा ॥ आशीविषसमर्थाः स्युर्निग्रहेऽनुग्रहेऽपि च ॥ १ ॥ ग० अधि० । इत्युक्तस्वरूपे निग्रहाऽनुग्रहसामर्थ्ये. ग. अ. । आ० चू० १

आसीस–आशिष्–स्त्री० आ. शास क्विप्-आङ्पूर्वकत्वात् अत इत्वम् गोणादित्वादन्त्यस्यात्वम् । इष्टार्थाविष्करणे प्रार्थने, च । वाच० ।

आसु–आशु–अव्य. शीघ्रे,-त्रि० । नि० आव. । सूत्र० क्षिप्रे सूत्र० १ श्रु. ४ अ. ॥ स्वल्पकाले-आव. ।

आसुकार–आशुकार–पु० करण कारः आविष्करणं गृह्यते आशु शीघ्रं कार आशुकारः । मारणे, । तद्धेतुत्वाद्दहिविषाविसूचिकादौ, आव० मरणावसरे, च । आतु० ॥

आसुकारोवगय–आशुकारोपगत–त्रि० आशुकारेण शूलादिना परतः कालगत आशुकारोपगतः । शूलादिना मृते । व्य. ४ उ. ।

आसुग–आशुग–पु० आशु-गम-ड-वायौ, । सूर्ये बाणे । वाच०

आसुपस–आशुप्रज्ञ–पु० आशु शीघ्रं कार्याकार्येषु प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपा प्रज्ञा मतिर्यस्य स आशुप्रज्ञः उत्त० क्षिप्रप्रज्ञे । सूत्र० १ श्रु. १४ अ. पटुबुद्धौ । सदसद्विवेकाविकले । सूत्र. २ श्रु. १ अ. निरावरणत्वात् आव० सर्वत्र सदोपयोगाद्दच्छद्मस्थे० सूत्र १ श्रु. ६ अ. । मनसाऽपर्यालोच्यैव पदार्थपरिच्छित्तिविधायके सूत्र० १ श्रु. ६ अ. । केवलज्ञानिनि उत्पन्नदिव्यज्ञाने (णेआसुपणीकासव आसुपन्ने) सूत्र. १ श्रु. ६ अ. ॥

आसुयर–आशुचर–त्रि० शीघ्रसंचरणशीले-विशे० ।

आसुर–आसुर–न० असुरकुमारभावे, उत्त० । असुरभावनाजनितेऽनुष्ठाने, । स्था. पणबन्धेन कन्याप्रदाने - विवाहभेदे-पु०

आसुरता–आसुरता–स्त्री० आसुरभावे. स्था० ।

आसुरा–री–आसुरी–स्त्री० असुरा भवनपतिदेवविशेषास्तेषामियमासुरी येष्वनुष्ठानेषु वर्त्तमानोऽसुरत्वं जनयति तैरात्मनो भासने वृ. उप. स्था० ।

चउहिं ठाणेहिं जीवा आसुरत्ताए कम्मं पकरेति तंजहा कोवसीलयाए पाहुडसीलयाए संसत्ततवोकम्मेणं निमित्ताजीवयाए । स्था. ४ ठा.

व्या० चउहिं ठाणेहिमित्यादि कंठ्यं नवरं असुरेषु भव आसुरः असुरविशेषस्तद्भाव आसुरत्वं तस्मै आसुरत्वाय तदर्थमित्यर्थः अथवा असुरतायै असुरताया वा कर्म तद्वायुष्कादि प्रकुर्वन्ति कर्तुमारभन्ते तद्यथा क्रोधनशीलतया कोपस्वभावत्वेन प्राभृतशीलतया कलहनसंबंधतया संसक्तलपःकर्मणा आहारोपधिशय्यादि प्रतिबद्धभावतपश्चरणेन निमित्ता जीवनतया त्रैकालिकलाभालाभादिविषयनिमित्तोपात्ताहाराद्युपजीवनेनेति । स्था. ४ ठा. ।

अथासुरीमाह ।

अणुबद्धविग्गहो वि य संसत्ततवोनिमित्तमाएसी ।
निक्किवनिराणुकंपो आसुरियं भावणं कुणइ ॥

अनुबद्धविग्रहसंसक्ततया निमित्तादेशी निष्कृपो निरनुकंपस्तस्यासुरीं भावनां करोतीति निर्युक्तिसमासार्थः । बृ. उ. १ प्रव० भ० । पं० व० । आसुर्यपि सदा विग्रहशीलत्व १ संसक्ततपः २ निमित्तकथन ३ निष्कृपता ४ निरनुकम्पता ५ भेदेन पंचविधा उक्तंच सइविग्गहेत्यादि १ असुराणामियमासुरी सूत्र० । रौद्राणां रुद्रकर्मकारिणां भावदिशि, उत्त० ।

आसुरि–आसुरि–पु० सांख्याचार्यकपिलप्रथमशिष्ये, यदाह आसुरिः विविक्ते दृक्परिणतौ भोगोऽस्य कथ्यते । स्था० । आ० म० प्र. आ. चू. ।

आसुरिय–आसुरिक–पु० असुराणां चारुकोपेन चरन्तीति आसुरिकाः । प्राक्संयतभवे कृतचारुकोपेषु, असुरत्वेनोत्पन्नेषु । आतु० ।

आसुर्य–न० असुरभावे, प्रश्न० ।

आसुरुत्त–आसुरुप्त–त्रि० आशु शीघ्रं रुप्तः कोपोदयादिमूढो रुप लुप् विमोहने इति वचनात् भ. श. ७ उ. ९ । शीघ्रं कोपविमूढबुद्धौ. भ० । श. ६ उ. १ । स्फुरितकोपलिंगे । ज्ञा. । अ. २ । जं. ।

आसुरोक्त–त्रि० आसुरमसुरसत्ककोपेन दारुणत्वात् उक्तं भणितं यस्य स आसुरोक्तः । असुरसदृशकोपेन दीर्घशब्दकारिणि, नि० ।

आशुरुष्ट–त्रि. आशु शीघ्रं रुष्टः क्रोधेन विमोहितो यः सः नि० कोपेन विमोहिते, विपा. अ- ९ वि० । कुपिते विपा० । कृद्धे- ज्ञा० । अ २६

आसूणि–आशूनि–न०येनाशूनः सन् आ समन्ताच्छूनीभवति बलवत्तामुपजायते तदाशूनीत्युच्यते । घृतपानादौ आहारविशेषे रसायनक्रियायां, च सूत्र० १ अ ६ । आसूणिमक्खिरागं च गिद्धुवघायकम्मगं-सूत्र० ।

आसूणिय–आशूनित–त्रि०ईषच्छूनीकृते-प्रश्न० ।

आसेय–आसेक–पु० । आ सिच्-घञ्-जलादिना वृक्षादेरीषत्सेचने, आ सम्यक् सिच्यते येन । करणे ल्युट् आसेचनसाधने पात्रे, वाच० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आसेवण–आसेवन.–न०सम्यक्सेवने, सततसेवने पौनःपुन्ये, च वाच० । सम्यक्पालने– । मैथुनक्रियायाम, । द० ।

आसेवणा–आसेवना–स्त्री० प्रतिसेवायाम, पंचा. । संयमस्य विपरीताचरणे,–ध० अधि० ३ । प्रव. । अभ्यासे, आ० चू० यथावस्थितसूत्रानुष्ठाने । सूत्र० श्रु० १ अ० १४ ।

आसेवणाकुसील–आसेवनाकुशील–पु० संयमस्य विपरीताराधनया कुशीले, प्रव० । स्वरूपमस्य कुसीलशब्दे ॥

आसेवणासिक्खा–आसेवनाशिक्षा.–स्त्री०" औधिकी दशधा ऽऽख्या च तथा पद्विभागयुक् । सामाचारी त्रिधेत्युक्ता तस्याः सम्यक् प्रपालनम" इत्युक्तलक्षणे शिक्षाभेदे–ध. अधि. ३ ।

आसेविय–आसेवित–त्रि०सकृत्करणात्(ज्ञा० आचा० पंचा०) प्रतिसेविते, सम्यक् सेविते, पौनः पुन्येन सेविते, च भावे. क्तः आसेवनायाम, । वाच. ।

आसोअ–अश्वयुज्–पु० । आश्विनमासे,–ओ० (आसोअमावासाए नेमिजिणिंदस्स) । आ. म. प्र० ।

आसोत्थ–अश्वत्थ–पु-बहुबीजकवृक्षविशेषे, प्रश्न० ।

आहंसु–आख्यातवति, प्रश्न० ।

आहच्च–आहत्य–अव्य० सहसा इत्यस्य (आचा०) कदाचिदित्यस्य वार्थे व्र० नि. चू. ४ अ. । आचा० । उप० आहत्य अव्य० ढौकित्वा आचा० । उपेत्य । आचा० ॥ व्यवस्थाप्य । सूत्र० श्रु २ अ० १ । सूत्र. । परिज्ञाय । परिभागीकृत्यइत्यस्य वार्थे, आचा०"आहपुद्दिज्जमाणं भुंजमाणे"सबले आहृत्य दीयमानं स्वस्थानात्साध्वर्थमभिमुखदानमानीय, दशा. ।

आहच्चा–आहत्या–स्त्री०आहनने,- प्रहारे, । नि० ।

आहट्ट–आहत्त–पुं–प्रेहलिकायां, वृ० ॥

आहट्टु–आहृत्य–अव्य. व्यवस्थाप्य अपाहृत्य वेत्यर्थे । सूत्र० अभिहरु आहट्ट देसियं । सूत्र० श्रु० २ अ० १ ।

आहड–आहृत–त्रि० प्रत्यादौ क्तः ८ । १ । ६ । इति तस्य डः प्रा० साध्वर्थं यद् गृहस्थेन नीयते तदाहृतम्, सूत्र० श्रु०१ अ०५ आनीते,–आव० आचा० दर्श० । प्राहणके– वृ० उ. २ । आहृतं द्विधा स्वग्रामाहृतं परग्रामाहृतं । सप्रत्यपायमप्रत्यपायं चेत्याद्यन्याहृतशब्दे । जीत० नि. चू० व्य० ।

आहडिया–आहृतिका–स्त्री० प्राहणके–वृ० उ० २ ।

आहत्तहिय–याथात्म्य–न० यथातथाभावो याथातथ्यम धर्ममार्गसमवसरणाख्याध्ययने तत्त्वार्थे-तत्त्वे सत्तानुगतसम्यक्त्वे–चारित्रे, च-सूत्र० यथावस्थितेऽर्थे । सूत्र० श्रु०१ अ० १ परमार्थेन परमार्थचिंतायां सम्यग्ज्ञानादिके–सूत्र० श्रु १ अ० १३ । तत्प्रतिपादके त्रयोदशे सूत्रकृताध्ययने । सम०१ ३ स. ।

आहम्म–आहम्म–धा. हम्म गतौ. आपूर्वः । आहम्मइ आहम्मति–प्रा० ।

आहम्मत्–आहन्यमान–त्रि० वाद्यमानेषु पणवादिषु, आहम्मताणं पणवाणं पडिहाणं । प्रा० ।

आहय–आहत–त्रि० अननुबद्धे–स्था० प्रेरिते–आव० रा० आवश्यकर्त्तव्ये–गमनागमनादौ । प्रव० । चूर्णिते, । प्रति० । आहत–त्रि० उपदर्शिते–प्रति० ।

आख्यात–न. आख्यानकप्रतिबद्धे-प्रज्ञा० । जी० स्था० । आ० म. प्र० । प्र० ।

आहरंत–आनयत्– त्रि० आनयति,–द० ।

आहरण–आहरण–न० व्यवस्थापने, आचा० । स्वीकरणे आचा० । आनयने,–सूत्र० श्रु० २ अ० २ । आचा० आदाने, ग्रहणे, सूत्र० श्रु० १ अ० ८ ।

उदाहरण–न० उदाह्रियते प्राबल्येन गृह्यतेऽनेनदार्ष्टान्तिकोऽर्थ इत्युदाहरणम द० साध्यसाधनान्वयप्रदर्शने दृष्टान्ते, आ. म. प्र. । विशे० ।

आहरणं दुविहं चउव्विहं होइ इक्कमेकं तु ।

आ अभिविधिना व्हियते प्रतीतौ नीयते अप्रतीतोऽर्थोऽनेनेत्याहरणं यत्र समुदित एव दार्ष्टांतिकोऽर्थे उपनीयते यथा पापं दुःखाय ब्रह्मदत्तस्यैवेति । द० अ० १ स्था० ।

आहरणे चउव्विहे पन्नत्ते । तंजहा आवाए ।

उवाए ठवणाकम्मे पडुप्पन्नविणासीआ ॥

सांप्रतमुदाहरणमभिधातुकाम आह ॥

चउहा खलु आहरणे होइ अवाउ उवाय ठवणा य ।

तह य पडुपन्नविणासमेव पढमं चउविगप्पं ॥ ५४ ॥

व्या० चतुर्धा खलूदाहरणं भवति अथ चतुर्धा खलूदाहरणे विचार्यमाणे भेदो भवति । तद्यथा । अपायः उपायः स्थापना च तथा च प्रत्युत्पन्नविनाशमेवेति स्वरूपमेव प्रपंचेन भेदतो निर्युक्तिकार एव वक्ष्यति द० अ० १ अपायादीनां व्याख्याऽन्यत्र स्वस्वस्थाने ।

आहरणतद्देश–आहरणतद्देश–पु० तस्य देशस्तद्देशः स चासावुपचारादाहरणं चेति प्राकृतत्वादाहरणशब्दस्यपूर्वनिपाते । आहरणतद्देशः । दृष्टान्तार्थदेशेनैव दार्ष्टान्तिकस्यार्थस्योपनयनं क्रियते तत्तद्देशउदाहरणमिति-यथा चन्द्र इवमुखमस्या इति । इह हि चन्द्रे सौम्यत्वलक्षणेनैव देशेन मुखस्योपनयननाभिष्ठेन नयननासावर्जितत्वं कलंकादिना । स्था० ठा. । ४ । आहरणतद्देसे चउव्विहे पन्नत्ते तंजहा अणुसट्ठि उवालंभे पुच्छाणिस्सावयणे । अनुशास्त्यादीनां व्याख्या स्वस्थाने ।

आहरणतद्दोस–आहरणतद्दोष–पु० तथा तस्यैवाहरण तद्देशस्यैवाहरणस्य संबन्धी साक्षात्प्रसंगसंपन्नो वा दोषस्तद्दोषः स चासौ धर्मे धर्मिण उपचाराद्आहरणं चेति प्राकृतत्वेन पूर्वनिपातादाहरणतद्दोषः । अथवा तस्याऽऽहरणस्य दोषो यस्मिंस्तत्तथा । दुर्हेतुभेदे,–स्था० ठा. ४ इह साध्य साधन वैकल्यं नाम दृष्टांतदोषो यथाऽसत्याविवचनरूपं तद्दोषाहरणं यथा सर्वथाहमसत्यं परिहरामि गुरुमस्तककर्त्तनवदिति । यद्वा साध्यसिद्धिं कुर्वदपि दोषान्तरमुपनयति तदपि तदेव यथा सत्यं धर्म्ममिच्छंति लौकिकमुनयोऽपि " वरं कूपशताद्वापी वरं वापीशतात् क्रतुः । वरं क्रतुशतात्पुत्रः सत्यं पुत्रशताद्वरमिति " । १ । वचनवकुनारदवदिति अनेन च श्रोतुः पुत्रक्रतुप्रभृतिषु प्रायः संसारकारणेषु धर्मप्रतीतिराहितेति आहरणतद्दोषतेति यथा वा बुद्धिमता केनापि कृतमिदं जगत्सन्निवेशविशेषवत्वात् घटवत् स चेश्वर इति अनेन हि स बुद्धिमान् कुंभकारतुल्योपीश्वरः सिध्यतीति ईश्वरश्च स विवक्षित इति स्था० । ४ ठा.

तद्यथा ।

आहरणतद्दोसे चउव्विहे पन्नत्ते । तं जहा । अधम्मजुत्ते पडिलोमे आत्तोवणीए दुरोवणीए ॥

स्था० ठा. ४ दशा० अ. २ ।

आहरिज्जमाण—आह्रियमाण—त्रि० खाद्यमाने पुद्गले आहारे अभ्यवह्रियमाणे, स्था० ठा. १० । आहारतया जीवेन गृह्यमाणे, । स्था० ठा. ३ ।

आहरित्तए—आहर्तुम्—अव्य० अदनं कर्तुमित्यर्थे, । तं० ।

आहरिसिय—आधर्षित—त्रि० भर्त्सिते, आ० म. प्र० ।

आहव्वण—आह्वान—न० संशब्दने,पंचा० १ वृ. (अग्गिकुमाराहव्वणं धूवं एगं इहं वेति) । पंचा० ।

आहव्वणी—आथर्वणी—स्त्री० स्वाभिधानायां सद्योऽनर्थकारिण्यां विद्यायाम्, सूत्र० श्रु. २ अ. २ ।

आहा—कांक्ष—धा० आकाङ्क्षायाम्, कांक्षेराहाहिलंघाहिलंखवच्चवंफमहसिहविलुंपाः । ८।४।१९ । इति कांक्षेराहादेशः । आहाइ । कांक्षति । प्रा० ।

आहार—आधार—पु० अधिकरणे, विशे० आ. चू. अ. १ अनु० ।

दोएहं गब्भत्थाणं आहारे पं. तं. मणुस्साणं चेव पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं चेव ॥

टी० द्वयोरेव गर्भस्थयोराहारोऽन्येषां गर्भस्थैवाभावादिति । स्था० ठा. २ । स चतुर्भेदस्तद्यथा वैषयिको व्यापक औपश्लेषिकः सामीप्यकश्च आ. म. द्वि. यथा ।

आहारोआहेयं च होइ दव्वं तहेव भावा य ।

द्रव्यं आधारो भवति पर्यायाणाम् । विशे० । आश्रये, ज्ञा० अ. २ आलम्बने, संथा० आश्रेयस्यैव सर्वलोकानामुपकारित्वात् (ज्ञा० अ. १) आधार इवाधार आश्रय इति यावत् । सम्यक्त्वे, यथा धरातलमन्तरेण निरालंबं जगदिदं न तिष्ठति एवं धर्मजगदपि सम्यक्त्वलक्षणाधारव्यतिरेकेण नावतिष्ठत इति तथा भावनीयम् । प्रव. ध० । आधारणादाधारः । आकाशे, भ० श. २ उ. २ ।

आहार-पु०-आहरणमाहारः । ग्रहणे,क-प्र० । भोजने, प्रश्न० अभ्यवहरणे प्रव० ।

आहारनिक्षेपः ।

नामं ठवणा दविए खेत्ते भावे य होंति बोधव्वो ।
एसो खलु आहारेनिक्खेवो होइ पंचविहो ॥

(नामं ठवणेत्यादि)नामस्थापना द्रव्य क्षेत्रभावरूपः पंचप्रकारो भवति निक्षेप आहारपदाश्रय इति । तत्र नामस्थापनेअनादृत्य द्रव्याहारं प्रतिपादयितुमाह ।

दव्वे सचित्तादी खेत्ते नगरस्स जणवओ होइ ।
भावाहारो तिविहो ओए लोमे य पक्खेवे ॥

(दव्वे इत्यादि) द्रव्याहारे चिंत्यमाने सचित्तादिराहारस्त्रिविधो भवति । तद्यथा सचित्तोऽचित्तो मिश्रश्च तत्रापि सचित्तः षड्विधः पृथिवीकायादिकः । तत्र सचित्तस्य पृथिवीकायस्य लवणादिरूपापन्नस्याहारो द्रष्टव्यः तथाप्कायादेरपीति एवं मिश्रोऽचित्तश्चायोज्यः नवरमग्निकायमचित्तं प्रायशो मनुष्या आहारयंति ओदनादेस्तद्रूपत्वादिति । क्षेत्राहारस्तु यस्मिन्क्षेत्रे आहारः क्रियते उत्पद्यते व्याख्यायते । यदि वा नगरस्य यो देशो धान्यधनादिनोपभोग्यः स क्षेत्राहारः । तद्यथा । मथुरायाः समासन्नो देशः परिभोग्यो मथुराहारो माठरकाहारः खेमाहार इत्यादिभावाहारस्त्वयं । क्षुधोदयात्क्षुत्पर्यायोपपन्नं वस्तु यदाहारयति स भावाहार इति तत्रापि प्रायश आहारस्य जिह्वेन्द्रियविषयत्वात्तिक्तकटुककषायाम्ललवणमधुररसा गृह्यंते । तथा चोक्तं "राईभत्ते भावओ तित्ते वा जाव महुरेत्यादि" अन्यदपि प्रसंगेन गृह्यते । तद्यथा । खरविशदमभ्यवहार्यं भक्ष्यं तत्रापि पुष्पाढ्य ओदनः प्रशस्यते न शीतः । उदकं तु शीतमेव तथा चोक्तं शैत्यमपां प्रधानो गुणः । एवं तावदभ्यवहार्यं द्रव्यमाश्रित्य भावाहारः प्रतिपादितः । सांप्रतमाहारकमाश्रित्य भावाहारं निर्युक्तिकृदाह । भावाहारस्त्रिविधस्त्रिप्रकारो भवति । आहारकस्य जंतोस्त्रिभिः प्रकारैराहारोपादानादिति । प्रकारानाह (ओहेति) तैजसेन शरीरेण तत्सहचरितेन च कर्मणा कार्मणेनाभ्यां द्वाभ्यामप्याहारयति यावदपरमौदारिकं शरीरं न निष्पद्यते । तथा चोक्तं "तएण कम्मएणं आहारेइ अणंतरं जीवो । तेण परं मिस्सेणं जाव शरीरस्स निप्पत्ती ॥ तथा । ओहारा जीवा सव्वे आहारगा अपज्जत्ता " । लोमाहारस्तु शरीरपर्याप्त्युत्तरकालं बाह्यया त्वचा लोमभिराहारो लोमाहारस्तथा- प्रक्षेपेण कवलादेराहार प्रक्षेपाहारः स च वेदनीयोदयेन चतुर्भिः स्थानैराहारसंज्ञोत्पद्यत इति । तथा चोक्तं" चउहिं ठाणेहिं आहारसन्ना समुप्पज्जइ तं जहा ओमोट्ठयाए छुहावेयणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं मई एतमट्ठोवओ गेणंति ॥

सांप्रतमेतेषां त्रयाणामप्येकयैव गाथया व्याख्यानं कर्तुमाह ।

सरीरेणोयाहारो तयायफासेण लोमआहारो ।
पक्खेवाहारो पुण कावलितो होइ नायव्वो ॥

सरीरेणेत्यादि ॥ तैजसेन कार्मणेन च शरीरेणौदारिकादिशरीरानिष्पत्तेर्मिश्रेण च य आहारः स सर्वोऽप्योजाहार इति केचिद् व्याचक्षते । औदारिकादिशरीरपर्याप्तापर्याप्तकोपींद्रियानापानभाषामनःपर्याप्तिभिरपर्याप्तकः शरीरेणाहारयन् ओजाहार इति गृह्यते तदुत्तरकालं त्वचा स्पर्शेंद्रियेण आहारः स लोमाहार इति । प्रक्षेपाहारस्तु कावलिकः कवलप्रक्षेपनिष्पादित इति ज्ञातव्यो भवति के ओजाहाराः के लोमाहाराः के प्रक्षेपाहारा पुनरप्येषामेव स्वामिविशेषेण विशेषमाविर्भावयन्नाह ॥

ओयाहारा जीवा सव्वे अपज्जत्तगा मुणेयव्वा ।
पज्जत्तगा य लोमे पक्खेवे होइ नायव्वा ॥ ४ ॥

ओयाहार इत्यादि । यः प्रागुक्तः शरीरेणौजसाहारस्तेनाहारेणा हारका जीवाः सर्वेऽप्यपर्याप्तका ज्ञातव्याः । सर्वाभिः पर्याप्तिभिरपर्याप्तास्ते वेदितव्याः । तत्र प्रथमोत्पत्तौ जीवः पूर्वशरीरपरित्यागे विग्रहेणाविग्रहेण चोत्पत्तिदेशे तैजसेन कार्मणेन शरीरेण तप्तकटाहपतितसंपातकवत्तत्प्रदेशस्थानात्पुद्गलानादत्ते तदुत्तरकालमपि यावदपर्याप्तकावस्था तावदोज आहार इति पर्याप्तकास्त्विंद्रियादिभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्ताः केषांचिन्मतेन शरीरपर्याप्तका वा गृह्यंते तदेवं ते लोमाहारा भवंति तत्र स्पर्शेंद्रियेणोष्मादिना तप्तच्छायया शीतवायुनोदकेन प्रीयते प्राणी गर्भस्थोऽपि पर्याप्त्युत्तरकालं लोमाहार एवेति प्रक्षेपाहारे तु भजनीया यदैव प्रक्षेपं कुर्वंति तदैव प्रक्षेपाहारो नान्यदा लोमाहारता तु वाय्वादिस्पर्शोत्सर्वदैवेति स च लोमाहारश्चक्षुष्मतामर्वाग्दृष्टिमतां न दृष्टिपथमवतरत्यतोऽसौ प्रतिसमयवर्ती प्रायशः प्रक्षेपाहारस्तूपलभ्यते प्रायः स च नियतकालीयः । तद्यथा । देवकुरूत्तरकुरुप्रभवा अष्टमभक्ताहाराः संख्येयवर्षायुषामनियतकालीयः प्रक्षेपाहार इति ॥

सांप्रतं प्रक्षेपाहारं स्वामिविभागेन दर्शयितुमाह ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एगिंदियदेवाणं नेरइयाणं च नत्थि पक्खेवो ।
सेसाणं पक्खेवो संसारत्थाण जीवाणं ॥

(एगिंदिय इत्यादि) एकमेव स्पर्शेन्द्रियं येषां भवति ते एकेन्द्रियाः पृथिवीकायादयस्तेषां देवनारकाणां च नास्ति प्रक्षेपस्ते हि पर्याप्त्युत्तरकालं स्पर्शेन्द्रियेणैवाहारयंतीति कृत्वा लोमाहाराः तत्र देवानां मनसा परिकल्पिताः शुभाः पुद्गलाः सर्वेणैव कायेन परिणमंति नारकाणां त्वशुभा इति । शेषास्त्वौदारिकशरीरा द्वीन्द्रियादयस्तिर्यङ्मनुष्यास्तेषां प्रक्षेपाहार इति । तेषां संसारस्थितानां कायस्थितेरवाभावात्प्रक्षेपमंतरेण कावलिक आहारो जिह्वेन्द्रियसद्भावादिति अन्ये त्वाचार्या अन्यथा व्याचक्षते तत्र यो जिह्वेन्द्रियेण स्थूलशरीरे प्रक्षिप्यते स प्रक्षेपाहारः यस्तु घ्राणदर्शनश्रवणैरुपलभ्यते धातुभावेन परिणमति स ओजाहारः । यः पुनः स्पर्शेन्द्रियेणैवोपलभ्यते धातुभावेन प्रयाति स लोमाहार इति । सूत्र० श्रु. २ अ ३ प्रव० द्वा० २०५

सांप्रतं कालविशेषमधिकृत्याऽनाहारकानभिधित्सुराह ।

एक्कं च दोव समए तिन्निव समए मुहुत्तमद्धं वा ।
सादीयमनिहणं पुण कालमणाहारगा जीवा ॥

एकं चेत्यादि । तत्र "विग्गहगइमावन्ना केवलिणो समोहया अयोगीया । सिद्धा य अणाहारा सेसा आहरगा जीवा" अस्या लेशतोऽयमर्थः उत्पत्तिकाले विग्रहगतौ वक्रगतिमापन्नाः केवलिनो लोकपूरणकाले समुद्घातावस्थिता अयोगिनः शैलेश्यवस्थाः सिद्धाश्चानाहारकाः शेषास्तु जीवाहारकाः इत्यवगंतव्यं तत्र भवाद्भवांतरं यदा समश्रेण्या याति तदानाहारको न लभ्यते यदापि विश्रेण्यामेकेन वक्रेणोत्पद्यते तदापि प्रथमसमये पूर्वशरीरस्थेनाहारितं द्वितीये त्ववक्रसमये समाश्रितशरीरस्थेनेति वक्रद्वये तु त्रिसमयोत्पत्तौ मध्यसमयेनाहारक इति । इतरयोस्त्वाहारक इति वक्रत्रये तु चतुःसमयोत्पत्तिके मध्यवर्तिनोः समययोरनाहारकश्चतुःसमयोत्पत्तिश्चैव भवति । त्रसनाड्या बहिरुपरिष्टादधोधस्तादुपर्युत्पद्यमानो दिशो विदिशि विदिशो वा दिशि यदोत्पद्यते तदा लभ्यते । तत्रैकेन समयेन त्रसनाड्यां प्रवेशो द्वितीयेनोपर्यधो वा गमनं तृतीयेन च बहिर्निःसरणं चतुर्थेन तु विदिक्षूत्पत्तिदेशप्राप्तिरिति । पंचमसमयस्तु त्रसनाड्या बहिरेव विदिशो विदिगुत्पत्तौ लभ्यते । तत्र च मध्यवर्तिषु अनाहारक इत्यवगंतव्यं । आद्यंतसमययोस्त्वाहारक इति । केवलिसमुद्घातेपि कार्मणशरीरवर्तित्वात्तृतीयचतुर्थपंचमसमयेष्वनाहारको द्रष्टव्यः । शेषेषु त्वौदारिकतन्मिश्रवर्तित्वादाहारक इति (मुहुत्तमद्धंचत्ति) अंतर्मुहूर्तं गृह्यते । तच्च केवली स्वायुषः क्षये सर्वयोगनिरोधे सति ह्रस्वपंचाक्षरोच्चिरणमात्रकालम् यावदनाहारक इत्येवमवगंतव्यं सिद्धजीवास्तु शैलेश्यवस्थाया आदिसमयादारभ्यानंतमपि कालमनाहारका इति । सांप्रतमेतदेव स्वामिविशेषविशेषिततरमाह ।

एक्कं च दोव समए केवलिपरिवज्जिया अणाहारा ।
पंचंमि दोण्णि लोए य पूरिए तिन्नि समयाओ ॥

एकंचेत्यादि ॥ केवलपरिवर्जिताः संसारस्था जीवा एकं द्वौ वा अनाहारका भवंति ते च द्विविग्रहत्रिविग्रहोत्पत्तौ त्रिचतुःसामयिकायां द्रष्टव्याः चतुर्विग्रहपंचसमयोत्पत्तिस्तु स्वल्पसत्वाश्रितेपि न साक्षादुपात्ता । तथा चान्यत्राप्यभिहितं एकं द्वौ वानाहारकः । वाशब्दात् त्रीन् वा आनुपूर्व्या अभ्युद्गम्योत्कृष्टतो विग्रहगतौ चतुरः समयानागमेऽभिहिताः तेन । पंचमसमयोत्पत्तौ लभ्यते नान्यत्रेति । भवस्थकेवलिनस्तु समुद्घाते मंथे तत्करणोपसंहारावसरे तृतीयपंचमसमयौ द्वौ लोकपूरणाच्चतुर्थसमयेन सहितास्त्रयः समया भवंतीति ।

पुनरपि निर्युक्तिकारः सादिकमपर्यवसानं कालमनाहारकत्वं दर्शयितुमाह ॥

अंतो मुहुत्तमद्धं सेलेसीए भवे अणाहारा ।
सादीयमनिहणं पुण सिद्धायणाहारगा होंति ॥

(अंतोमुहुत्तमित्यादि) शैलेश्यवस्थाया आरभ्य सर्वथानाहारकः सिद्धावस्थाप्राप्तावनंतमपि कालं यावदिति पूर्वं तु कावलिकाख्यव्यतिरेकेण प्रतिसमयमनाहारकः कावलिकेन तु कादाचित्क इति । सूत्र. श्रु. २ अ. ३ ॥ सयोगिकेवली अनाहारक इति वदतां दिगम्बराणां तस्याऽऽहारकत्वसाधनेन प्रतिक्षेपः कृतः । सूत्र० । सम्म० । तदेवं संसारस्था जीवा विग्रहगतौ जघन्येनैकं समयं उत्कृष्टतः समयत्रयं भवस्थकेवली च समुद्घातावस्थः समयत्रयमनाहारकः शैलेश्यवस्थायां त्वंतर्मुहूर्तं सिद्धास्तु सादिकमपर्यंतं कालमनाहारका इति स्थितं ॥

सांप्रतं प्रथमाहारग्रहणं येन शरीरेण करोति तद्दर्शयति ॥

जोएण कम्मएणं आहारेई अणंतरं जीवा ।
तेण परं मीसेणं जीवशरीरस्स पज्जत्ती ॥

जोएणेत्यादि । ज्योतिस्तेजस्तदेव तत्र वा भवं तैजसं कार्मणेन वाहारयाति । तैजसकार्मणे हि शरीरे आसंसारभाविनि ताभ्यामेवोत्पत्तिदेशं गता जीवा प्रथममाहारं कुर्वंति ततः परमौदारिकमिश्रेण वैक्रियमिश्रणेन वा यावच्छरीरं निष्पद्यते तावदाहारयंति । शरीरनिष्पत्तौ त्वौदारिकेण वैक्रियेण चाऽऽहारयंतीति स्थित । सूत्र० श्रु० २ अ० ३ । आ० ।

केवलिनां प्रच्छन्नावाहारनिहारौ ॥ स० ॥

पृथ्वीकायिकादीनामाहारनिरूपणम्—कथं किं वा ते आहरन्ति ॥

सुयं मे आउसंते णं भगवया एवमक्खायं इह खलु आहारपरिन्ना णामज्झयणे तस्स णं अयमट्ठे इह खलु पाईणं वा सव्वत्तो सव्वावंति च णं लोगंसि चत्तारि बीयकाया एवमाहिज्जंति । तं जहा अग्गबीया मूलबीया पोरबीया खंधबीया ते सिं च णं अहाबीएणं अहावगासेणं इहे गतिया सत्ता पुढवीजोणिया पुढविसंभवा पुढवीवुक्कमये तज्जोणिया तस्संभवा तदुवक्कमा कम्मोवगा कम्माणियाणेणं तत्थ वुक्कमा णाणाविहजोणियासु पुढवीसु रुक्खत्ताए विउट्टंति ते जीवा तेसिं णाणाविहजोणियाणं पुढवीणं सिणेहमाहारेंति ॥ १ ॥

॥ टी० ॥ सुधर्मस्वामी जंबूस्वामिनमुद्दिश्येदमाह । तद्यथा श्रुतं मयाऽऽयुष्मता तु भगवतेदमाख्यातं । तद्यथा । आहारपरिज्ञेदमध्ययनं तस्य चायमर्थः । प्राच्यादिषु दिक्षु सर्वत इत्यूर्ध्वाधो विदिक्षु च (सव्वावंतित्ति) सर्वस्मिन्नपि लोके क्षेत्रप्रज्ञापकभावदिगाश्रयभूतेऽस्मिन् चत्वारो बीजकाया बीजमेव कायो येषां ते तथा बीजं वक्ष्यमाणं चत्वारो बीजप्रकारा समुत्पत्तिभेदा भवंति तद्यथा अग्रे बीजं येषामुत्पद्यते ते तलता लिसहकारादयः शाल्यादयो वा । यदि वाग्रदेशेोत्पत्तौ

कारणतां प्रतिपद्यंते येषां कोरंटादीनां ते अग्रबीजास्तथा मूलबीजा आर्द्रकादयः पर्वबीजास्त्विक्ष्वादयः स्कंधबीजाः सल्लक्यादयः । नागार्जुनीयास्तु पठंति (वणस्सइकाइयाणं पंचविहा बीजवक्कंती एवमाहिज्जइ तं जहा अग्गमूलपोरुक्खंधबी यरुहा छट्ठा वि एगेंदिया संमुच्छिमा बीया जायंते) यथा दग्धवनस्थलीषु नानाविधानि हारितान्युद्भवंति पद्मिन्यो वाऽभिनवतडागादाविति तेषां च चतुर्विधानामपि वनस्पतिकायानां यद्यस्य बीजमुत्पत्तिकारणं तद्यथा बीजं । तेन यथाबीजेनेति । इदमुक्तं भवति । शाल्यंकुरस्य शालिबीजमुत्पत्तिकारणं । एवमन्यदपि द्रष्टव्यं । यथावकाशेति यो यस्यावकाशः यद्यस्योत्पत्तिस्थानमथवा भूम्यंबुकालाकाशबीजसंयोगा यथावकाशो गृह्यंते तेनेति । तदेवं यथाबीजं यथावकाशेन चेहास्मिन् जगत्येके केचन सत्त्वा ये तथाविधकर्मोदयाद्वनस्पतिषूत्पित्सवस्ते हि वनस्पतावुत्पद्यमाना अपि पृथिवीयोनिका भवंति यथा तेषां वनस्पतिबीजं कारणमेवमाधारमंतरेणोत्पत्तेरभावात्पृथिव्यपि शैवालजंबालादेरुदकवदिति । तथा पृथिव्यां संभवः सदा भवनं येषां वनस्पतीनां तथा । इदमुक्तं भवति । न केवलं ते तद्योनिकाः स्थितिकाश्चेति । तथा पृथिव्यामेव विविधमुत्प्राबल्येन क्रमः क्रमणं येषां ते पृथिव्युत्क्रमाः । इदमुक्तं भवति । पृथिव्यामेव तेषामूर्ध्वक्रमणलक्षणा वृद्धिर्भवति । एवं च ते तद्योनिकास्तत्संभवास्तद्व्युत्क्रमा इत्येतदनूद्याप्यपरं विधातुकाम आह ॥

कम्मोवगा इत्यादि । ते हि तथाविधेन वनस्पतिकायसंभवेन कर्मणा प्रेर्यमाणास्तेष्वेव वनस्पतिषूपसामीप्येन तस्यामेव च पृथिव्यां गच्छंतीति कर्मोपगा भण्यंते ते हि कर्मवशगा वनस्पतिकायादागत्य तेष्वेव पुनरपि वनस्पतिषूत्पद्यंते । न चान्य योगा अन्यत्र भविष्यंतीति उक्तं च । "कुसुमपुरोप्ते बीजे मथुरायां नाङ्कुरः समुद्भवति । यत्रैव तस्य बीजं तत्रैवोत्पद्यते प्रसवः " तथा ते जीवाः कर्मनिदानेन कारणेन समाकृष्यमाणास्तत्र वनस्पतिकाये वा व्युत्क्रमाः समागताः संतो नानाविधयोनिकासु पृथिवीष्वित्यन्येषामपि षण्णां कायानामुत्पत्तिस्थानभूतासु सचित्ताऽचित्तमिश्रासु वा श्वेतकृष्णादिवर्णतिक्तादिरसमुरभ्यादिगंधमृदुकर्कशादिस्पर्शादिकैर्विकल्पैर्बहुप्रकारासु भूमिषु वृक्षतया विविधा वर्तंते ते च तत्रोत्पन्नास्तासां पृथिवीनां स्नेहं स्निग्धभावमाददते स एव च तेषामाहार इति । नच ते पृथ्वीशरीरमाहारयंतः पृथिव्याः पीडामुत्पादयंति ॥ सूत्र० श्रु. २ अ. ६ ।

ते जीवा आहारेंति पुढवीशरीरं आउशरीरं तेउशरीरं वाउशरीरं वणस्सइसरीरं णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरं अचित्तं कुव्वंति परिविद्धत्थं तं शरीरं पुव्वाहारियं तयाहारियं विपरिणयं सारूवियकडं संतं अवरेवियणं तेसिं पुढविजोणियाणं रुक्खाणं सरीरा णाणावण्णा णागंधा णाणारसा णाणाफासा णाणासंठाणसंठिया णाणाविहसरीरपुग्गलविउव्विता ते जीवा कम्मोववन्नगा भवंतीति मक्खायं ॥

टी० एवमप्कायतेजोवायुवनस्पतीनामायोज्यं । अत्र च पीडानुत्पादनेऽयं दृष्टान्तः । तद्यथा । अण्डोद्भवाख्या जीवा मातुरूष्मणा विवर्धमाना गर्भस्था एवोदरगतमाहारयंतो नातीव पीडामुत्पादयंत्येवमसावपि वनस्पतिकायिकः पृथिवीस्नेहमाहारयन्नातीव तस्याः पीडामुत्पादयति उत्पद्यमानः समुत्पन्नश्च वृद्धिमुपगतोऽसदृशवर्णरसाद्युपेतत्वात् बाधां विदध्यादपीति । एवमप्कायस्य भौमस्यांतरिक्षस्य वा शरीरमाहारयंति तथा तेजसो भस्मादिकं शरीरमाददति । एवं वाय्वादेरपीति द्रष्टव्यं । किंबहुनोक्तेन नानाविधानां त्रसस्थावराणां प्राणिनां यच्छरीरं तत्ते समुत्पद्यमाना अचित्तमपि स्वकायेनावष्टभ्य प्रासुकीकुर्वंति । यदि वा परिविध्वस्तं पृथिवीकायादिशरीरं किंचित्परितापितं कुर्वंति ते वनस्पतिजीवा एतेषां पृथिवीकायादीनां तच्छरीरं पूर्वमाहारितमिति तैरेव पृथिवीकायादिभिरुत्पत्तिसमये आहारितमासीत् स्वकायत्वेन परिणामितमासीत् । तदधुना वनस्पतिजीवस्तत्रोत्पद्यमान उत्पन्नो वा त्वचा स्पर्शेनाहारयत्याहार्य च स्वकायत्वेन विपरिणामयति विपरिणामितं च तच्छरीरं स्वकायेन सह स्वरूपतां नीतं तत्तन्मयतां प्रतिपद्यते । अपराण्यपि मूलशाखाप्रतिशाखापत्रपुष्पफलादीनि तेषां पृथिवीकायिकानां वृक्षाणां नानावर्णानि । तथाहि । स्कंधस्यान्यथाभूतो वर्णो मूलस्य चान्यादृश इति । एवं यावन्नानाविधशरीरेषु पुद्गलविकुर्वितास्ते भवंतीति । तथाहि । नानारसवीर्यविपाका नानाविधपुद्गलोपचयात्सुरूपकुरूपसंस्थानास्ते भवंतीति । तथा दृढाल्पसंहननाः कृशास्थूलस्कंधाश्च भवंत्येवमादिका नानाविधस्वरूपाणि विकुर्वंतीति स्थितम् । केषांचिच्छाक्यादीनां वनस्पत्याद्याः स्थावरजीवा एव न भवंतीति अतस्तत्प्रतिषेधार्थमाह । ते जीवा इत्यादि । ते वनस्पतिषूत्पन्ना जीवा उपयोगलक्षणत्वाज्जीवानां तेषामप्याश्रयोत्सर्पणादिकया क्रिययोपयोगो लक्ष्यते । तथा विशिष्टाहारोपचयापचयाभ्यां शरीरोपचयापचयसद्भावाद्भेकजीवाः स्थावरास्तथाच्छिन्नप्ररोहणात्स्वापात्सर्वत्वगपहरणे मरणादित्येवमादयो हेतवोऽत्र द्रष्टव्याः यदत्र कैश्चित्पृष्टेऽपि वनस्पतीनां चैतन्ये सिद्धानैकांतिकत्वादिकमुक्तं स्वदर्शनानुरागात्तदपकर्णनीयं न हि सम्यगर्हंतमताभिज्ञोऽसिद्धविरुद्धानैकांतिकोपन्यासेन व्यामोह्यते सर्वस्य कथंचिदभ्युपगतत्वात्प्रतिषिद्धत्वाच्चेति ते जीवास्तत्र वनस्पतिषु तथाविधेन कर्मणा उपपन्नगाः । तच्चेदं एकेंद्रियजातिस्थावरनामवनस्पतियोग्यायुष्कादिकमिति तत्कर्मोदयेन तत्रोत्पन्ना उच्यंते न पुनः कालेश्वरादिना तत्रोत्पाद्यंते इत्येवमाख्यातं तीर्थकरादिभिरिति । एवं तावत्पृथिवीयोनिका वृक्षा अभिहिताः सूत्र० श्रु० २ अ० ३ ।

सांप्रतं तद्योनिकेष्वेव वनस्पतिषु अपरे समुत्पद्यंत इत्येतद्दर्शयितुमाह । सूत्र०

आहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता रुक्खजोणिया रुक्खसंभवा रुक्खवुक्कमा तज्जोणिया तस्संभवा तदुवक्कमा कम्मोवगा कम्मनियाणेणं । तत्थ वुक्कमा पुढवीजोणिएहिं रुक्खेहिं रुक्खत्ताए विउट्टंति ते जीवा तेसिं पुढवीजोणियाणं रुक्खाणं सिणेहमाहारेंति ते जीवा आहारेंति पुढवीसरीरं आउतेउवाउवणस्सइसरीरं णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरं अचित्तं कुव्वंति परिविद्धत्थं तं सरीरं पुव्वाहारियं तयाहारियं विप्परिणामियं सारूविकडं संतं अवरेवियणं तेसिं रुक्खजोणियाणं रुक्खाणं सरीरा णाणावन्ना णाणागंधा णाणारसा णाणाफासा णाणासंठाणसंठिया णाणाविह-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सरीरपुग्गलविउव्विया ते जीवा कम्मोववन्नगा भवंतीतिमक्खायं ॥ ३ ॥

टी०। सुधर्मस्वामी शिष्योद्देशेनेदमाह ॥ अथापरमेतदाख्यातं पुरा तीर्थकरेण यदि वा तस्यैव वनस्पतेः पुनरपरं वक्ष्यमाणमाख्यातं यदथेहास्मिन् जगत्येके केचन तथाविधकर्मोदयवर्तिनः सत्वाः प्राणिनो वृक्षा एव योनिरुत्पत्तिस्थानमाश्रयो येषां ते वृक्षयोनिकाः। इह च यत्पृथिवीयोनिकेषु वृक्षेष्वभिहितं तदेतेष्वपि वृक्षयोनिकेषु वनस्पतिषु तदुपचयकर्तृसर्वमायोज्यं यावदाख्यातमिति। सूत्र. श्रु० २ अ० ३।

साम्प्रतं वनस्पत्यवयवानधिकृत्याऽऽह ॥

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता रुक्खजोणिया रुक्खसंभवा रुक्खवुक्कमा तज्जोणिया तस्संभवा तदुवक्कमा कम्मोवगा कम्मणियाणेणं तत्थ वुक्कमा रुक्खजोणिएसु रुक्खत्ताए विउट्टंति ते जीवा तेसिं रुक्खजोणियाणं रुक्खाणं सिणेहमाहारेंति ते जीवा आहारेंति पुढवीसरीरं आउतेउवाउवणस्सइसरीरं तसथावराणं पाणाणं सरीरं अचित्तं कुव्वंति परिविद्धत्थं तं सरीरं पुव्वाहारियं तयाहारियं विपरिणामियं सारूविकडं संतं अवरेवियणं तेसिं रुक्खजोणियाणं रुक्खाणं सरीरा णाणावन्ना जाव ते जीवा कम्मोववन्नगा भवंतीति मक्खायं ॥ ४ ॥

अथापरमेतदाख्यातं तद्दर्शयति। इहास्मिन् जगत्येके न सर्वे तथाविधकर्मोदयवर्तिनो वृक्षयोनिकाः सत्वा भवंति तदवयवाश्रिताश्च परे वनस्पतिरूपा एव प्राणिनो भवंति तथा यो ह्येको वनस्पतिजीवः सर्ववृक्षावयवव्यापी भवति तस्य चापरे तदवयवेषु मूलकंदस्कंधत्वक्शाखाप्रवालपत्रपुष्पफलबीजभूतेषु दशसु स्थानेषु जीवाः समुत्पद्यंते ते च तत्रोत्पद्यमाना वृक्षयोनिका वृक्षव्युत्क्रमाश्चोच्यंते इति। शेषं पूर्ववत् इह च प्राक् चतुर्विधार्थप्रतिपादकानि सूत्राण्यभिहितानि। तद्यथा वनस्पतयः पृथिव्याश्रिता भवंतीत्येकं १ तच्छरीरं अप्कायादिशरीरं वाऽऽहारयंतीति द्वितीयं २ तथा वियुक्तास्तदाहारितं शरीरमचित्तं विध्वस्तं च कृत्वात्मसात्कुर्वंतीति तृतीयं ३ अन्यान्यपि तेषां पृथिवीयोनिकानां वनस्पतीनां शरीराणि मूलस्कंधकंदादीनि नानावर्णानि भवंतीति चतुर्थं ॥ ४ ॥ एवमत्रापि वनस्पतियोनिकानां वनस्पतीनामेषंविधार्थप्रतिपादकानि चतुष्प्रकाराणि सूत्राणि द्रष्टव्यानीति यावत्ते जीवा वनस्पत्यवयवमूलस्कंधादिरूपाः कर्मोपपन्नगा भवंत्येवमाख्यातं। सूत्र-श्रु. २-अ.३ ॥

अथ वृक्षोपर्युत्पन्नान् वृक्षानाश्रित्याह।

अहावरं पुरक्खायं इहेगइया सत्ता रुक्खजोणिया रुक्खसंभवा रुक्खवुक्कमा तज्जोणिया तस्संभवा तदुवक्कमा कम्मोवगा कम्मनियाणेणं तत्थ वुक्कमा रुक्खजोणिएसु रुक्खेसु मूलत्ताए कंदत्ताए खंधत्ताए तयत्ताए सालत्ताए पवालत्ताए पत्तत्ताए पुप्फत्ताए फलत्ताए बीयत्ताए विउट्टंति ते जीवा तेसिं रुक्खजोणियाणं रुक्खाणं सिणेहमाहारेंति ते जीवा आहारेंति पुढवीसरीरं आउतेउवाउवणस्सइसरीरं णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरं अचित्तं कुव्वंति परिविद्धत्थं तं सरीरगं जाव सारूविकडं संतं अवरे वि य णं तेसिं रुक्खजोणियाणं मूलाणं कंदाणं खंधाणं तयाणं सालाणं पवालाणं जाव बीयाणं सरीरा णाणावन्ना णाणागंधा जाव णाणाविहसरीरं पुग्गलविउव्विता ते जीवा कम्मोववन्नगा भवंतीति मक्खायं ॥५॥

अथापरमेतत्पुराऽऽख्यातं यद्वक्ष्यमाणमिहैके सत्वा वृक्षयोनिका भवंति तत्र ये ते पृथिवीयोनिका वृक्षास्तेष्वेव प्रतिप्रदेशतया ये परे समुत्पद्यंते तस्यैकस्य वनस्पतेर्मूलारंभकस्योपचयकारिणस्ते वृक्षयोनिका इत्यभिधीयंते। यदि वा ये ते मूलकंदस्कंधशाखादिकाः पूर्वोक्तदशस्थानवर्तिनस्त एवमभिधीयंते तेषु च वृक्षयोनिकेषु वृक्षेषु कर्मोपपादननिष्पादितेषु उपर्युपरि अध्यारोहंतीत्यध्यारुहा वृक्षोपरि जाता वृक्षाभिधानाः कामवृक्षाभिधाना वा द्रष्टव्यास्तदभावे वाऽपरे वनस्पतिकायाः समुत्पद्यंते वृक्षयोनिकेषु वनस्पतिष्विति। इहापि प्राग्वच्चत्वारि सूत्राणि द्रष्टव्यानि।

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता रुक्खजोणिया रुक्खसंभवा रुक्खवुक्कमा तज्जोणिया तस्संभवा तदुवक्कमा कम्मोववन्नगा कम्मनियाणेणं तत्थ वुक्कमा रुक्खजोणिएहिं रुक्खेहिं अज्झारोहत्ताए विउट्टंति ते जीवा तेसिं रुक्खजोणियाणं रुक्खाणं सिणेहमाहारेंति ते जीवा आहारेंति पुढवीसरीरं जाव सारूविकडं संतं अवरे वि य णं तेसिं रुक्खजोणियाणं अज्झारुहाणं सरीरा णाणावन्ना जाव मक्खायं ॥ ६ ॥

तद्यथा योनिकेषु वृक्षेष्वपरेऽध्यारुहाः समुत्पद्यंते ते च तत्रोत्पन्नाः स्वयोनिभूतं वनस्पतिशरीरमाहारयंति तथा पृथिव्यप्तेजोवाय्वादीनां शरीरकमाहारयंति तथा तच्छरीरमाहारितं सदचित्तं विध्वस्तं परिणामितमात्मसात्कृतं स्वकायावयवतया व्यवस्थापयंत्यपराणि च तेषामध्यारुहाणां नानाविधरूपरसगंधस्पर्शोपेतानि नानासंस्थानानि शरीराणि भवंति ते जीवास्तत्र स्वकृतकर्मोपपन्ना भवंतीत्येतदाख्यातमिति प्रथमं सूत्रम्। सूत्र० श्रु० २ अ० ३।

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता अज्झारोहजोणिया अज्झारोहसंभवा जाव कम्मनियाणेणं तत्थ वुक्कमा रुक्खजोणिएसु अज्झारोहेसु अज्झारोहत्ताए विउट्टंति ते जीवा तेसिं अज्झारोहजोणियाणं अज्झारोहाणं सिणेहमाहारेंति ते जीवा आहारेंति ते जीवा पुढवीसरीरं जाव सारूविकडं संतं अवरे वि यणं तेसिं अज्झारोहजोणियाणं अज्झारोहाणं सरीरा णाणावन्ना जाव मक्खायं ॥ ७ ॥

द्वितीयं त्विदमथापरं पुराख्यातं। ये ते प्राग्वृक्षयोनिषु वृक्षेषु अध्यारुहाः प्रतिपादितास्तेष्वेवोपरि प्रतिप्रदेशोपचयकर्त्तारोऽध्यारुहवनस्पतित्वेनोपपद्यंते ते च जीवा अध्यारुहप्रदेशोत्पन्ना अध्यारुहजीवास्तेषां स्वयोनिभूतानि शरीराण्याहारयंति। तथाऽपराण्यपि पृथिव्यादीनि शरीराणि आहारयंति अपराणि चाध्यारोहसंभवानामध्यारुहजीवानां नानाविधवर्णादिकानि शरीराणि भवंतीत्येवमाख्यातं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता अज्झारोहजोणिया अज्झारोहसंजवा जाव कम्मनियाणेणं तत्थ वुक्कमा अज्झारोहजोणिएसु अज्झारोहत्ताए विउट्टंति ते जीवा तेसिं अज्झारोहजोणियाणं अज्झारोहाणं सिणेहमाहारेंति ते जीवा आहारेंति पुढवीसरीरा आउसरीरा जावसारूविकडं संतं अवरे वि य णं तेसिं अज्झारोहजोणियाणं अज्झारोहाणं सरीरा णाणावन्ना जाव मक्खायं ॥ ८ ॥

तृतीयं त्विदं ॥ अहावरमित्यादि । अथापरं पुराख्यातं तद्यथा इहैके सत्त्वा अध्यारुहसंभवेष्वध्यारुहत्वेनोपपद्यंते ये चैवमुत्पद्यंते तेऽध्यारुहजीवा आहारयंति तृतीये त्वध्यारुहयोनिकानामध्यारुहजीवानां शरीराणि द्रष्टव्यानीति विशेषः ।

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता अज्झारोहजोणिया अज्झारोहसंजवा जाव कम्मनियाणेणं तत्थ वुक्कमा अज्झारोहजोणिएसु अज्झारोहेसु मूलत्ताए जाव बीयत्ताए विउट्टंति ते जीवा तेसिं अज्झारोहजोणियाणं अज्झारोहाणं सिणेहमाहारेंति जाव अवरेवि य णं तेसिं अज्झारोहजोणियाणं मूलाणं जाव बीयाणं सरीरा णाणावन्ना जाव मक्खायं ॥ ९ ॥

इदं तु चतुर्थकं तद्यथा (अहावरमित्यादि) अथापरमिदमाख्यातं । तद्यथा इहैके सत्त्वा अध्यारुहयोनिकेष्वध्यारुहेषु मूलकंदस्कंधत्वक्शाखाप्रवालपत्रपुष्पफलबीजभावेनोत्पद्यंते ते च तथाविधकर्मोपगा भवंतीत्येतदाख्यातामिति शेषं तदेवेति । साम्प्रतं वृक्षव्यतिरिक्तशेषवनस्पतिकायमाश्रित्याह ।

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता पुढविजोणिया पुढविसंजवा जाव णाणाविहजोणियासु पुढवीसु तणत्ताए विउट्टंति ते जीवा तेसिं णाणाविहजोणियाणं पुढवीणं सिणेहमाहारेंति जाव ते जीवा कम्मोववन्ना जवंतीति मक्खायं १० एवं पुढविजोणिएसु तणेसु तणत्ताए विउट्टंति जाव मक्खायं ११ एवं तणजोणिएसु तणेसु तणत्ताए विउट्टंति तणजोणियं तणसरीरं च आहारेंति जाव मक्खायं १२ एवं तणजोणिएसु तणेसु मूलत्ताए जाव बीयत्ताए विउट्टंति ते जीवा जाव एवमक्खायं १३ एवं ओसहीणं वि चत्तारि आलावगा १४ एवं हरियाणं वि चत्तारि आलावगा ॥ १५ ॥

साम्प्रतं वृक्षव्यतिरिक्तं शेषवनस्पतिकायमाश्रित्याह । (अहावरमित्यादि) अथापरमिदमाख्यातं यदुत्तरत्र वक्ष्यते । तद्यथा इहैके सत्त्वाः पृथिवीयोनिकाः पृथिवीसंभवाः पृथिवीव्युत्क्रमा इत्यादयो यथा वृक्षेषु चत्वार आलापका एवं तृणान्यप्याश्रित्य द्रष्टव्याः । ते चामी नानाविधासु पृथिवीयोनिषु तृणत्वेनोपपद्यंते पृथिवीशरीरं चाहारयन्ति १० द्वितीयं तु पृथिवीयोनिकेषु तृणेषूत्पद्यन्ते तृणशरीरं चाहारयंतीति ११ तृतीयं तु तृणयोनिकेषु तृणेषूत्पद्यंते तृणयोनिकं शरीरं चाहारयंतीति १२ चतुर्थं तृणयोनिकेषु तृणावयवेषु मूलादिदशप्रकारेषूत्पद्यंते तृणशरीरं चाहारयंत्येवं यावदाख्यातमिति १३ एव मौषध्याश्रयाश्चत्वार आलापका भणनीयाः १४ नवरमौषधिग्रहणं कर्तव्यमेवं हरिताश्रयाश्चत्वार आलापका भणनीयाः । कुहणेषु त्वेक एवालापको द्रष्टव्यस्तद्योनिकानामपरेषाम भावादिति भावः ।

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता पुढविजोणिया पुढविसंजवा जाव कम्मनियाणेणं तत्थ वुक्कमा णाणाविहजोणियासु पुढवीसु आयत्ताए वायत्ताए कायत्ताए कूहणत्ताए कंदुकत्ताए उव्वेहणियत्ताए निव्वेहणियत्ताए सछत्ताए छत्तगत्ताए वासाणियत्ताए कूरत्ताए विउट्टंति ते जीवा तेसिं णाणाविहजोणियाणं पुढवीणं सिणेहमाहारेंति ते वि जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं अवरे वि य णं तेसिं पुढविजोणियाणं आयत्ताणं जाव कूराणं सरीरा णाणावन्ना जाव मक्खायं एगो चेव आलावगो सेसा तिन्नि णत्थि ॥ १६ ॥

इह चामी वनस्पतिविशेषा लोकव्यवहारतोऽनुगंतव्याः प्रज्ञापनातो वावसेया इति । अत्रार्थे सर्वेषामेव पृथिवीयोनिकत्वात्पृथिवीसमाश्रयत्वेनाभिहिताः इह च स्थावराणां वनस्पतेरेव प्रस्पष्टचैतन्यलक्षणत्वात्तस्यैव प्राक्प्रदर्शितं चैतन्यं ।
सांप्रतमप्काययोनिकस्य वनस्पतेः स्वरूपं दर्शयितुमाह ।

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता उदगजोणिया उदगसंजवा जाव कम्मनियाणेणं तत्थ वुक्कमा णाणाविहजोणिएसु उदएसु रुक्खत्ताए विउट्टंति । ते जीवा तेसिं णाणाजोणियाणं उदगाणं सिणेहमाहारेंति ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं अवरे वि य णं तेसिं उदगजोणियाणं रुक्खाणं सरीरा णाणावन्ना जाव मक्खायं । जहा पुढविजोणियाणं चत्तारि गमा अज्झारुहाणं वि तहेव तणाणं ओसहीणं हरियाणं चत्तारि आलावगा जाणियव्वा । एक्केक्के तहा उदगजोणियाणं रुक्खाणं इक्के॥१७॥अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता उदगजोणिया उदगसंजवा जाव कम्माणियाणेणं तत्थ वुक्कमा णाणाविहजोणिएसु उदयेसु उदगत्ताए अवगत्ताए पणगत्ताए सेवालत्ताए कलंबुगत्ताए हडत्ताए कसेरुगत्ताए कच्छभाणियत्ताए उप्पलत्ताए पउमत्ताए कुमुयत्ताए नालिणत्ताए सुभगत्ताए सोगंधियत्ताए पोंमरियत्ताए महापोंमरियत्ताए सयपत्ताए सहस्सपत्ताए एवं कहलारकोकणयत्ताए अरविंदत्ताए तामरसत्ताए भिसभिसमुणालपुक्खलत्ताए पुक्खलत्थिभगत्ताए विउट्टंति ते जीवा तेसिं णाणाविहजोणियाणं उदगाणं सिणेहमाहारेंति ते जीवा आहारेंति पुढवी सरीरं जाव संतं अवरे वि य णं तेसिं उदगजोणियाणं उदगाणं जाव पुक्खलत्थिभगाणं सरीरा णाणावन्ना जाव मक्खायं एगो चेव आलावगो ॥ १८ ॥

(अहावरमित्यादि) अथानंतरमेतद्वक्ष्यमाणमाख्यातं तद्यथा

इहैके सत्वास्तथाविधकर्मोपचयादुदकं योनिरुत्पत्तिस्थानं येषां ते तथा । तथोदके संभवो येषां ते तथा । यावत्कर्मनिदानेन संदानितास्तदुपक्रमा भवंतीति ते च तत्कर्मवशगा नानाविधयोनिषूदकेषु वृक्षत्वेन व्युत्क्रामंत्युत्पद्यंते । ये च जीवा उदकयोनिका वृक्षत्वेनोत्पन्नास्ते तच्छरीरमुदकं शरीरमाहारयंति न केवलं तदेवान्यदपि पृथिवीकायादिशरीरमाहारयंतीति शेषं पूर्ववत् यथा पृथिवीयोनिकानां वृक्षाणां चत्वार आलापका एवमुदकयोनिकानामपि वृक्षाणां भवंतीत्येवं द्रष्टव्यं अपरस्य प्रागुक्तस्य विकल्पाभावादिति किं तर्हि एक एवालापको भवति १७ एतेषां हि उदकाकृतीनां वनस्पतिकायानां तथावयवपनकशैवलादीनामपरस्य प्रागुक्तस्य विकल्पस्याऽभावादिति । एते च उदकाश्रया वनस्पतिविशेषाः कलंबुकाहडादयो लोकव्यवहारतोऽवसेया इति ॥ १८ ॥

साम्प्रतमन्येन प्रकारेण वनस्पत्याश्रयमालापकत्रयं दर्शयितुमाह ।

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता तेसिं चेव पुढवीजोणिएहिं रुक्खेहिं रुक्खजोणिएहिं रुक्खेहिं रुक्खजोणिएहिं मूलेहिं जाव बीएहिं रुक्खजोणिएहिं अज्झारोहेहिं अज्झारोहजोणिएहिं अज्झारुहेहिं अज्झारोहजोणिएहिं मूलेहिं जाव बीएहिं पुढविजोणिएहिं तणेहिं तणजोणिएहिं तणेहिं तणजोणिएहिं मूलेहिं जाव बीएहिं एवं ओसहीहिं वि तिन्नि आलावगा एवं हरिएहिं वि तिन्नि आलावगा पुढविजोणिएहिं वि आएहिं काएहिं जाव कूरेहिं उदगजोणिएहिं रुक्खेहिं रुक्खजोणिएहिं रुक्खेहिं रुक्खजोणिएहिं मूलेहिं जाव बीएहिं एवं अज्झारुहेहिं वि तिन्नि तणेहिं वि तिन्नि आलावगा ओसहीहिं वि तिन्नि हरिएहिं वि तिन्नि उदगजोणिएहिं उदएहिं अवएहिं जाव पुक्खलत्थिजएहिं तसपाणत्ताए विउट्टंति ॥ १९ ॥

टी०तद्यथा । पृथिवीयोनिकैर्वृक्षैर्वृक्षयोनिकैर्वृक्षैस्तथा वृक्षयोनिकैर्मूलादिभिरिति एवं वृक्षयोनिकैरध्यारुहैस्तथाऽध्यारुहयोनिकैर्मूलादिभिरिति एवमन्योपि तृणादयो द्रष्टव्याः एवमुदकयोनिकेष्वपि वृक्षेषु योजनीयं ॥ १९ ॥

तदेवं पृथिवीयोनिकवनस्पतेरुदकयोनिकवनस्पतेश्च भेदानुपदर्श्याऽधुना तदनुवादेनोपसंजिघृक्षुराह ॥

ते जीवा तेसिं पुढवीजोणियाणं उदगजोणियाणं रुक्खजोणियाणं अज्झारोहजोणियाणं तणजोणियाणं ओसहीजोणियाणं हरियजोणियाणं रुक्खाणं अज्झारुहाणं तणाणं ओसहीणं हरियाणं मूलाणं जाव बीयाणं आयाणं कायाणं जाव करवाणं उदगाणं अवगाणं जाव पुक्खलत्थिजगाणं सिणेहमाहारेंति ते जीवा आहारेंति पुढवीसरीरं जाव संतं अवरे वि य णं तेसिं रुक्खजोणियाणं अज्झारोहजोणियाणं तणजोणियाणं ओसहिजोणियाणं हरियजोणियाणं मूलजोणियाणं कंदजोणियाणं जाव बीयजोणियाणं आयजोणियाणं कायजोणियाणं जाव कूरजोणियाणं उदगजोणियाणं अवगजोणियाणं जाव पुक्खलत्थिजगजोणियाणं तसपाणाणं सरीरा णाणावन्ना जाव मक्खायं ॥ २० ॥

(तेजीवा इत्यादि) ते वनस्पतिषूत्पन्ना जीवाः पृथिवीयोनिकानां तथोदकवृक्षाध्यारुहतृणौषधिहरितयोनिकानां वृक्षाणां यावत्स्नेहमाहरयंतीत्येतदाख्यातमिति । तथा त्रसानां प्राणिनां शरीरमहारयन्त्येतदवसाने द्रष्टव्यमिति । तदेवं वनस्पतिकायिकानां सुप्रतिपाद्यचैतन्यानां स्वरूपमभिहितं शेषाः पृथ्वीकायादयश्चत्वार एकेंद्रिया उत्तरत्र प्रतिपादयिष्यंते । सूत्र. श्रु. २ अ. ३ ।

उत्पन्नादिजीवानामाहारो वनस्पतिशब्दे ।

मनुष्याणाम् ॥

सांप्रतं त्रसकायस्याऽवसरः स च नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवभेदभिन्नः तत्र नारका अप्रत्यक्षत्वेनानुमानग्राह्या दुष्कृतकर्मफलभुजः केचन संतीत्येवं ते ग्राह्या तदाहारोऽप्येकान्तेनाशुभपुद्गलनिर्वर्तित ओजसा प्रक्षेपेणेति । देवा अप्यधुना बाहुल्येनानुमानगम्या एव तेषामप्याहारः शुभ एकांतेनौजोनिर्वर्तितो न प्रक्षेपकृत इति । सचाभोगनिर्वर्तितो नाभोगकृतश्च । तत्र नाभोगकृतः प्रतिसमयभावी आभोगकृतश्च जघन्येन चतुर्भक्तकृत उत्कृष्टतस्तु त्रयस्त्रिंशद्वर्षसहस्रनिष्पादित इति शेषास्तु तिर्यङ्मनुष्यास्तेषां च मध्ये मनुष्याणामभ्यर्हितत्वात्तानेव प्राग्दर्शयितुमाह ॥

अहावरं पुरक्खायं णाणाविहाणं मणुस्साणं तं जहा कम्मभूमगाणं अकम्मभूमगाणं अंतरदीवगाणं आरियाणं मिलक्खुयाणं तेसिं च णं अहाबीएणं अहावकासेणं इत्थीए पुरिसस्सय कम्मकडाए जोणिए एत्थणं मेहुणवत्तियाए णामं संजोगे समुप्पज्जइ ते दुहओ वि सिणेहं संचिणंति तत्थणं जीवा इत्थित्ताए पुरिसत्ताए णपुंसगत्ताए विउट्टंति ते जीवा माओओयं पिउसुक्कं तं तदुभयं संसट्ठं कलुसं किव्विसं तं पढमत्ताए आहारमाहारेंति ततो पच्छा जं से माया णाणाविहाउ रसविईउ आहारमाहारेंति ततो एगदेसेणं ओयमाहारेंति आणुपुव्वेण वुड्ढा पलिपागमणुविन्ना ततो कायातो अभिनिवट्टमाणा इत्थिं वेगया जणयंति पुरिसं वेगया जणयंति णपुंसगं वेगया जणयंति ते जीवा डहरा समाणा माउक्खीरं सप्पिं आहारेंति आणुपुव्वेण वुड्ढा ओयणं कुम्मासं तसथावरेय पाणे ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव सारूविकडं संतं अवरे वि य णं तेसिं णाणाविहाणं मणुस्सगाणं कम्मभूमगाणं अकम्मभूमगाणं अंतरदीवगाणं आरियाणं मिलक्खूणं सरीरा णाणावन्ना भवंतीति मक्खायं ॥ २१ ॥

(अथावरं पुरक्खाय) मित्यादि । अथानंतरमेव तु पुरा पूर्वमाख्यातं तद्यथा आर्याणामनार्याणां च कर्मभूमिजाऽकर्मभूमिजादीनां मनुष्याणां नानाविधयोनिकानां स्वरूपं वक्ष्यमाणनीत्या समाख्यातं तेषां च स्त्रीनपुंसकभेदभिन्नानां । यथाबीजेनेति । यद्यस्य बीजं तत्र स्त्रियाःसंबंधि शोणितं पुरुषस्य च शुक्रं एतदुभयमप्यविध्वस्तं शुक्राधिकं सन्मनुष्यस्य शोणिताधिकं स्त्रियास्तत्स-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मता नपुंसकस्य कारणतां प्रतिपद्यते । तथा यथावकाशेनेति । योऽर्थस्यावकाशो मातुरुदरकुक्ष्यादिकस्तत्रापि किल वामा स्त्रिया दक्षिणा कुक्षिः पुरुषस्योभयाश्रितः षंढ इति । अत्र चाविध्वस्ता योनिरविध्वस्तं बीजमिति चत्वारो भंगाः तत्राप्याद्य एव भंगक उत्पत्तेरवकाशो न शेषेषु त्रिष्विति। अत्र च स्त्रीपुंसयोर्वेदोदये सति पूर्वकर्मनिवर्तितायां योनौ मैथुनप्रत्ययिको रताभिलाषोदयजनितोऽग्निकारणयोररणिकाष्ठयोरिव संयोगः समुत्पद्यते तत्संयोगे च तच्छुक्रशोणिते समुपादाय तत्रोत्पित्सवो जंतवस्तैजसकार्मणाभ्यां शरीराभ्यां कर्मरज्जुसंदानितास्तत्रोत्पद्यंते ते च प्रथममुभयोरपि स्नेहमाचिन्वंत्यविध्वस्तायां योनौ सत्यामिति। विध्वस्यते तु योनिः "पंचपंचाशिका नारी सप्तसप्ततिः पुरुष इति" तथा द्वादश मुहूर्तानि यावच्छुक्रशोणिते अविध्वस्तयोनिके भवतस्तत ऊर्ध्वं ध्वंसमुपगच्छत इति । तत्र जीवा उभयोरपि स्नेहमाहार्य्य स्वकर्मविपाकेन यथा स्वं स्त्रीपुन्नपुंसकभावेन । (विउद्दंतित्ति) वर्तंते समुत्पद्यंत इति यावत् । तदुत्तरकालं च स्त्रीकुक्षौ प्रक्षिप्ताः सन्तः स्त्रिया हारितस्याहारस्य निर्यासं स्नेहमाददति तत्स्नेहेन च तेषां जंतूनां क्रमोपचयादानेन क्रमेण निष्पत्तिरुपजायते (सत्ताहं कललं होइ सत्ताहंहोइ बुब्बुयं) इत्यादि तदेवमनेन क्रमेण तदेकदेशेन वा मातुराहारमोजसा मिश्रेण वा लोमाभिर्वानुपूर्व्येणाहारयंति यथाक्रममानुपूर्व्येण वृद्धिमुपागताः संतो गर्भपरिपाकं गर्भनिष्पत्तिमनुप्रपन्नास्ततो मातुःकायादभिनिवर्त्तमानाः पृथग्भवंतः संतस्तद्योनेर्निर्गच्छंति । ते च तथाविधकर्मोदयादात्मनः स्त्रीभावमप्येकदा जनयंत्युत्पादयंत्यपरे केचन पुंभावं नपुंसकभावं च । इदमुक्तं भवति । स्त्रीपुंनपुंसकभावः प्राणिनां स्वकृतकर्मनिवर्तितो भवति न पुनर्यो यादृगिह भवे सोमुऽष्मिन्नेव तादृगेवेति । ते च तदहर्जातबालकाः संतः पूर्वभवाभ्यासादाहाराभिलाषिणो भवंति मातुः स्तन्यमाहारयंति तदाहारेण चानुपूर्व्येण च वृद्धास्तदुत्तरकालं नवनीतदध्योदनादिकं यावत्कुल्माषान् भुंजते तथाहारत्वेनोपगतांस्त्रसान् स्थावरांश्च प्राणिनस्ते जीवा आहारयंति तथा नानाविधपृथिवीशरीरं लवणादिकं सचेतनं वाहारयंति तच्चाहारितमात्मसात्कृतं सारूप्यमापादितं सत् रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि धातव इति सप्तधा व्यवस्थापयंत्यपराण्यपि तेषां नानाविधमनुष्याणां शरीराणि नानावर्णाभ्याभिर्भवंति । ते च तद्योनिकत्वात्तदाधारभूतानि नानावर्णानि शरीराण्याहारयंतीत्येवमाख्यातमिति ॥ २१ ॥ सूत्र० श्रु. २ अ. ३ ।

तिर्यग्जलचराणाम् ।

एवं तावद्गर्भव्युत्क्रांतजमनुष्याः प्रतिपादितास्तदनंतरं संमूर्छनजानामवसरस्तांश्चोत्तरत्र प्रतिपादयिष्यामि ।

सांप्रतं तिर्यग्योनिकास्तत्रापि जलचरानुद्दिश्याह ।

अहावरं पुरक्खायं णाणाविहाणं जलचराणं पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं । तंजहा । मच्छाणं जाव सुसमाराणं तेसिं च णं अहाबीएणं अहावगासेणं इत्थीए पुरिसस्स य कम्मकडा तहेव जाव ततो एगदेसेणं ओयमाहारेंति आणुपुव्वेणं वुड्ढा पलिपागमणुविन्ना ततो कायाओ अभिनिवट्टमाणा अंडं वेगया जणयंति पोयं वेगया जणयंति से अंडे उब्भिज्जमाणे इत्थिं वेगया जणयंति पुरिसं वेगया जणयंति नपुंसगं वेगया जणयंति ते जीवा डहरा समाणा आउसिणेहमाहारेंति आणुपुव्वेणं वुड्ढा वणस्सतिकायं तसथावरे य पाणे ते जीवा आहारेंति। पुढवीसरीरं जाव संतं अवरे विय णं तेसिं नानाविहाणं जलचरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं मच्छाणं सुसुमाराणं सरीरा णाणावण्णा जाव मक्खायं ॥ २२ ॥

अथानंतरमेतद्वक्ष्यमाणं पूर्वमाख्यातं । तद्यथा । नानाविधजलचरपंचेन्द्रियतिर्यग्योनिकानां संबंधिनः कांश्चित्स्वनामग्राहमाह । तद्यथा । (मच्छाणं जाव सुसुमाराण) मित्यादि तेषां मत्स्यकच्छपमकरग्राहसुसुमारादीनां यस्य यथा यद्बीजं तेन तथा यथावकाशेन यो यस्योदरादावकाशस्तेन स्त्रियाः पुरुषस्य च स्वकर्मनिवर्तितायां योनावुत्पद्यंते ते च तत्राभिव्यक्ता मातुराहारेण वृद्धिमुपगताः स्त्रीपुंनपुंसकानामन्यतमेनोत्पद्यंते । ते च जीवा जलचरा गर्भाद्व्युत्क्रांताः संतस्तदनंतरं यावड्डहरंति लघवस्तावदप्स्नेहमप्कायमेवाहारयंति आनुपूर्व्येण च वृद्धाः संतो वनस्पतिकायं तथापरांश्च त्रसांस्थावरांश्चाहारयंति यावत्पंचेंद्रियानप्याहारयंति तथा चोक्तं " अस्ति मत्स्यस्तिमिर्नाम शतयोजनविस्तरः । तिमिंगिलगिलोऽप्यस्ति तद्गिलोऽप्यस्ति राघवः" तथा ते जीवाः पृथिवीशरीरं कर्दमस्वरूपं क्रमेण वृद्धिमुपगताः संत आहारयंति तच्चाहारितं समानरूपीकृतमात्मसात्परिणामयंति शेषं सुगमं यावत्कर्मोपगता भवंतीत्येवमाख्यातं ॥ २२ ॥

अहावरं पुरक्खायं णाणाविहाणं चउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं एगखुराणं दुखुराणं गंडीपदाणं सणप्फयाणं तेसिं च णं अहाबीएणं अहावगासेणं इत्थिपुरिसस्स य कम्म जाव मेहुणवत्तिए णामं संजोगे समुपज्जइ ते दुहओ सिणेहं संचिणंति तत्थ णं जीवा इत्थित्ताए पुरिसत्ताए जाव विउट्टंति ते जीवा माउओयं पिउसुक्कं एवं जहा मणुस्साणं इत्थि वि वेगया जणयंति पुरिसं पि नपुंसगं पि ते जीवा डहरा समाणा माउक्खीरं सप्पिं आहारेंति आणुपुव्वेणं वुड्ढा वणस्सइकायं तसथावरेय पाणे ते जीवा आहारेंति पुढवीसरीरं जाव संतं अवरे वि यणं तेसिं णाणाविहाणं चउप्पयथलयरपंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं एगखुराणं जाव सणप्फयाणं सरीरा णाणावण्णा जाव मक्खायं ॥ २३ ॥

टी० अथापरमेतदाख्यातं नानाविधानां चतुष्पदानां तद्यथा । एकखुराणामित्यश्वखुरादीनां, तथा द्विखुराणां, गोमहिष्यादीनां तथा गंडीपदानां हस्तिगंडकादीनां, तथा सनखानां सिंहव्याघ्रादीनां, यथाबीजेन यथावकाशेन सकलपर्याप्तिभवाप्त्योत्पद्यंते तथोत्पन्नाः संतस्तदनंतरं मातुः स्तन्यमाहारयंतीति । क्रमेण च वृद्धिमुपगताः संतोऽपरेषामपि शरीरमाहारयंति । शेषं सुगमं यावत्कर्मोपगताः भवंतीति ॥ २३ ॥

साम्प्रतमुरःपरिसर्पानुद्दिश्याह ।

अहावरंपुरक्खायं णाणाविहाणंउरपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं तेसिं चणं तं जहा अहीणं अयगराणं आसालियाणं महोरगाणंतेसिंचणं अहाबीएणं अहावगासेणं

इत्थीए पुरिस जाव एत्थ णं मेहुणं एवं तं चेव नाणत्तं तेसिं च णे अंमं वेगइया जणयंति पोयं वेगइया जणयंति से अंडे उब्भिज्जमाणे इत्थि वेगइया जणयंति पुरिसं पि णपुंसगं पि ते जीवा डहरा समाणा वाउकायमाहारेंति आणुपुव्वेणं वुड्ढा वणस्सइकायं तसथावरपाणे ते जीवा आहारेंति पुढवि सरीरं जाव संतं अवरे वि य णं तेसिं णाणाविहाणं उरपरिसप्पथलयरतिरिक्खा पंचिंदियअहीणं जाव महोरगाणं सरीरा णाणावण्णा णाणागंधा जाव मक्खायं ॥ २४ ॥

टी. नानाविधानां बहुप्रकारणामुरसा ये प्रसर्प्पंति तेषां । तद्यथा अहीनामजगराणामाशालिकानां महोरगाणं यथाबकाशेन यथाबीजत्वेन चोत्पत्त्यांडजत्वेन पोतजत्वेन वा गर्भान्निर्गच्छंतीति ते च निर्गता मातुरूष्माणं वायुं चाहारयंति तेषां जातिप्रत्ययेन तेनैवाहारेण क्षीरादिनैव वृद्धिरुपजायते। शेषं सुगमं यावदाख्यातमिति ॥

सांप्रतं भुजपरिसर्पानुद्दिश्याह ॥

अहावरं पुरक्खायं णाणाविहाणं भुयपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं तं जहा । गोहाणं नउलाणं सिहाणं सरडाणं सल्लाणं सरघाणं खराणं घरकोइलियाणं विस्सभराणं मुसगाणं मंगुसाणं पयलाइयाणं विरालियाणं जोहाणं चउप्पाइयाणं तेसिं च णं अहाबीएणं अहावगासेणं इत्थीए पुरिसस्स य जहा उरपरिसप्पाणं तहा भाणियव्वं जाव सारूविकडं संतं अवरे वि य णं तेसिं णाणाविहाणं भुयपरिसप्पपंचिंदियथलयरतिरिक्खाणं तं गाहाणं जाव मक्खायं॥ २५ ॥

टी॰ नानाविधाभ्यां भुजाभ्यां ये परिसर्प्पंति तेषां । तद्यथा । गोधानकुलादीनां स्वकर्मोपात्तेन यथाबीजेन यथावकाशेन चोत्पत्तिर्भवति। ते चांडजत्वेन पोतजत्वेन चोत्पन्नास्तदनंतरं मातुरूष्मणा वायुना चाहारितेन वृद्धिमुपयांति शेषं सुगमं यावदाख्यातमिति ॥

सांप्रतं खेचरानुद्दिश्याह ॥

अहावरं पुरक्खायं णाणाविहाणं खहचरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं तं जहा चम्मपक्खीणं लोमपक्खीणं समुग्गपक्खीणं विततपक्खीणं तेसिं च णं अहाबीएणं अहावगासेणं इत्थीए जहा उरपरिसप्पाणं नाणत्तं ते जीवा डहरा समाणा माउगात्तसिणेहमाहारेंति आनुपुव्वेणं वुड्ढा वणस्सतिकायं तसथावरे य पाणे ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं अवरे वि य णं तेसिं णाणाविहाणं खहचरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं चम्मपक्खीणं जावमक्खायं ॥ २६ ॥

नानाविधानां खेचराणामुत्पत्तिरेवं द्रष्टव्या यथा चर्मपक्षिणां चर्मकीटवल्गुलीप्रभृतीनां तथा लोमपक्षिणां सारसराजहंसकाकबकादीनां समुद्गपक्षिविततपक्षिणां बहिर्द्वीपवर्तिनामेतेषां यथाबीजेन यथावकाशेन चोत्पन्नानामाहारक्रियैवमुपजायते। तद्यथा। सा पक्षिणी तदंडकं पक्षाभ्यामावृत्य तावत्तिष्ठति यावत्तदंडकं तदूष्मणा हारितेन वृद्धिमुपगतं सत् कललावस्थां परित्यज्य चंच्वादिकानवयवान् परिसमापय्य भेदमुपयाति तदुत्तरकालमपि मात्रोपनीतेनाहारेण वृद्धिमुपयाति शेषं प्राग्वत् ॥ २६ ॥

विकलेन्द्रियाणाम् ।

व्याख्याताः पंचेंद्रिया मनुष्यास्तिर्यञ्चश्च तेषां चाहारो द्वेधा। आभोगनिवर्तिताऽनाभोगनिवर्तितश्च तत्रानाभोगनिवर्तितः। प्रतिक्षणभाव्याभोगनिवर्तितस्तु यथास्वं क्षुद्वेदनीयोदयभावीति।

सांप्रतं विकलेंद्रियानुद्दिश्याह।

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता णाणाविहजोणिया णाणाविहसंभवा णाणाविहवुक्कमा तज्जोणिया तस्संभवा तद्दुवुक्कमा कम्मोवगा कम्मणियाणेणं तत्थ वुक्कमा णाणाविहाणं तसथावराणं पोग्गलाणं सरीरेसु वा सचित्तेसु वा अचित्तेसु वा अणुसुयत्ताए विउहंति ते जीवा तेसिं णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सिणेहमाहारेंति ते जीवा आहारेंति पुढवीसरीरं जाव संतं अवरे वि य णं तेसिं तसथावरजोणियाणं अणुसूयमाणं सरीरा णाणावण्णा जाव मक्खायं ॥ २७ ॥

(अहावरमित्यादि) अथानंतरमेतदाख्यातमिहास्मिन् संसारे एके केचन तथाविधकर्मोदयवर्तिनः सत्वाः प्राणिनो नानाविधयोनिकाः कर्मनिदानेन स्वकृतकर्मणा उपादानभूतेन तत्रोत्पत्तिस्थाने उपक्रम्यागत्य नानाविधत्रसस्थावराणां शरीरेषु अचित्तेषु सचित्तेषु वा (अणुसुयत्ताएत्ति) अपरशरीराश्रिततया परनिश्रया विवर्तंते समुत्पद्यंते इति यावत् ते च जीवा विकलेंद्रियाः सचित्तेषु मनुष्यादिशरीरेषु यूकालिक्षादिकत्वेनोत्पद्यंते। तथा तत्परिभुज्यमानेषु मंचकादिष्वचित्तेषु मत्कुणत्वेनाविर्भवंति तथाऽचित्तीभूतेषु मनुष्यादिशरीरकेषु विकलेंद्रियशरीरेषु वा ते जीवा अनुस्यूतत्वेन परनिश्रयाः कृम्यादित्वेनोत्पद्यंते। अपरे तु सचित्ते तेजःकायादौ मूषिकादित्वेनोत्पद्यंते यत्र चाग्निस्तत्र वायुरित्यतस्तदुद्भवा अपि द्रष्टव्याः तथा पृथिवीमनुश्रित्य कुंथुपिपीलिकादयो वर्षादावूष्मणा संस्वेदजा जायंते तथोदके पूतरका भोल्लणकभ्रमरिकाच्छेदनकादयः समुत्पद्यंते तथा वनस्पतिकाये पनकभ्रमरादयो जायंते तदेवं ते जीवास्तानि स्वयोनिशरीराण्याहारयंतीत्येवमाख्यातमिति।

सांप्रतं पंचेंद्रियमूत्रपुरीषोद्भवानसुमतः प्रतिपादयितुमाह

एवं दुरूवसंभवत्ताए॥ २८ ॥

एवमिति पूर्वोक्तपरामर्शः। यथा सचित्ताचित्तशरीरनिश्रया विकलेंद्रियाः समुत्पद्यंते तथा तत्संभवेषु मूत्रपुरीषवांतादिषु अपरे जंतवो दुष्टं विरूपं रूपं येषां कृम्यादीनां ते दुरूपास्तत्संभवत्वेन तद्भावेनोत्पद्यंते ते च तत्र विष्ठादौ देहान्निर्गते ऽनिर्गते वा समुत्पद्यमाना उत्पन्नाश्च तदेव विष्ठादिकं स्वयोनिभूतमाहारयंति। शेषं प्राग्वत् ॥ २८ ॥

एवं खुरदुगत्ताए ॥ २९ ॥

सांप्रतं सचित्तशरीराश्रयान् जंतून् प्रतिपादयितुमाह (एवं खुरदुगत्ताएइत्यादि) एवमिति यथा मूत्रपुरीषाद्युत्पादस्तथा तिर्यक्शरीरेषु। खुरदुगत्ताएत्ति। चर्मकीटतया समुत्पद्यंते।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इदमुक्तं भवति जीवतामेव गोमहिष्यादीनां चर्मणोंऽतः प्राणिनः संमूर्च्छन्ते ते च तन्मांसचर्मणी भक्षयंति भक्षयंतश्च चर्मणो विवराणि विदधति गलच्छोणितेषु विवरेषु तिष्ठंतस्तदेव शोणितमाहारयंति। तथा अचित्तगवादिशरीरेऽपि तथा सचित्ताचित्तवनस्पतिशरीरेऽपि घुणकीटकाः संमूर्च्छंते ते च तत्र संमूर्छितास्तच्छरीरमाहारयंतीति ॥ २९ ॥

साम्प्रतमप्कायं प्रतिपादयिषुस्तत्कारणभूतवातप्रतिपादनपूर्वकं प्रतिपादयतीत्याह ॥

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता णाणाविहजोणिया जाव कम्मणियाणेणं तत्थ वुक्कमा णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरेसु सचित्तेसु वा अचित्तेसु वा तं सरीरगं वायसं सिद्धं वा वायसंगहियं वा वायं परिगहियं उड्ढवाएसु उड्ढभागी भवति अहेवाएसु अहेभागी भवति तिरियंवाएसु तिरियंभागी भवति तं जहा ओसा हिमए महियाकरए हरतणुए सुद्धोदए ते जीवा तेसिं णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सिणेहमाहारेंति ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं अवरे वि य णं तेसिं तसथावरजोणियाणं ओसाणं जाव सुद्धोदगाणं सरीरा णाणावण्णा जाव मक्खायं ॥ ३० ॥

(अहावरमित्यादि) अथानंतरमेतद्वक्ष्यमाणं पुरा पूर्वमाख्यातं इहास्मिन् जगत्येके सत्वास्तथाविधकर्मोदया नानाविधयोनिकाः संतो यावत्कर्मनिदानेन तत्र तस्मिन्वातयोनिकेऽप्काये व्युत्क्रम्यागत्य नानाविधानां बहुप्रकाराणां त्रसानां दर्दुरप्रभृतीनां स्थावराणांच हरितलवणादीनां प्राणिनां सचित्ताचित्तभेदभिन्नेषु शरीरेषु तदप्कायशरीरं वातयोनिकत्वादप्कायस्य वायुनोपादानकारणभूतेन सम्यक् संसिद्धं निष्पादितं तथा वातेनैव सम्यग्गृहीतमभ्रपटलांतरनिर्वृत्तं तथा वातेनान्योन्यानुगतत्वात्परिगतं तथोर्ध्वगतेषु वातेषूर्ध्वभागी भवत्यप्कायो गगनगतवातवशाद्दिवि संमूर्च्छते जलं तथाधस्तात्तेषु तद्वशाद्भवत्यधोभागीत्यप्काय एवं तिर्यग्गतेषु तिर्यग्भागी भवत्यप्कायः। इदमुक्तं भवति। वातयोनिकत्वादप्कायस्य यत्र यत्रासौ तथाविधपरिणामपरिणतो भवति तत्र तत्र तत्कार्यभूतं जलमपि संमूर्च्छते। तस्य चाभिधानपूर्वकं भेदं दर्शयितुमाह। तद्यथा(ओसत्ति) अवश्यायः (हिमयेति) शिशिरादौ वातेरिता हिमकणाः। मिहिका धूमिकाः। करकाःप्रतीताः(हरतणुयत्ति) तृणाग्रव्यवस्थिता जलबिंदवः शुद्धोदकं प्रतीतमिति। इहास्मिन्नुदकप्रस्तावे एके सत्वास्तत्रोत्पद्यंते स्वकर्मवशगास्तत्रोत्पन्नास्ते जीवास्तेषां नानाविधानां त्रसस्थावराणां स्वोत्पत्त्याधारभूतानां स्नेहमाहारयंति ते जीवास्तच्छरीरमाहारयंति अनाहारका न भवंतीत्यर्थः शेषं सुगमं यावदेतदाख्यातमिति ३०॥

तदेवं वातयोनिकमप्कायं प्रदर्श्याधुनाऽप्कायसंभवमेवाप्कायं दर्शयितुमाह।

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता उदगजोणिया उदगसंभवा जाव कम्मणियाणेणं तत्थ वुक्कमा तसथावरजोणिएसु उदएसु उदगत्ताए विउट्टन्ति ते जीवा तेसिं तसथावरजोणियाणं उदगाणं सिणेहमाहारेंति ते जीवा आहारेंति पुढवीसरीरं जाव संतं अवरे वि य णं तेसिं तसथावरजोणियाणं उदगाणं सरीरा णाणावण्णा जाव मक्खायं ॥ ३१ ॥

अथापरमाख्यातमिहास्मिन् जगति उदकाधिकारे वा एके सत्वास्तथाविधकर्मोदयात्तत्रोत्पन्नत्रसस्थावरशरीराधारमुदकं योनिरुत्पत्तिस्थानं येषां ते तथा तथोदकसंभवा यावत्कर्मनिदानेन तत्रोत्पित्सवस्त्रसस्थावरयोनिकेषूदकेष्वपरोदकतया विवर्तंते समुत्पद्यंते ते चोदकजीवास्तेषां त्रसस्थावरयोनिकानामुदकानां स्नेहमाहारयंत्यन्यान्यपि पृथिव्यादिशरीराण्याहारयंति। तच्च पृथिव्यादिशरीरमाहारितं सत् सारूप्यमानीयात्मसात्कुर्वंत्यपराण्यपि तत्र त्रसस्थावरशरीराणि निवर्तंते तेषां चोदकयोनिकानामुदकानां नानाविधानि शरीराणि निवर्तन्ते इत्येतदाख्यातम् ॥ ३१ ॥

तदेवं त्रसस्थावरसंभवमुदकयोनित्वेन प्रदर्श्याऽधुना निर्विशेषणमप्कायसंभवमेवाप्कायं दर्शयितुमाह ।

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता उदगजोणियाणं जाव कम्मनियाणेणं तत्थ वुक्कमा उदगजोणिएसु उदएसु उदगत्ताए विउट्टंति ते जीवा तेसिं उदगजोणियाणं जीवाणं उदगाणं सिणेहमाहारेंति ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं अवरे वि य णं जीवाणं उदगजोणियाणं उदगाणं सरीरा णाणावण्णा जाव मक्खायं ॥ ३२ ॥

(अहावरमित्यादि) अथापरमाख्यातमिहास्मिन् जगत्युदकाधिकारे वा एके सत्वाःस्वकृतकर्मोदयादुदकयोनिषूदकेषूत्पद्यंते ते च तेषामुदकसंभवानामुदकजीवानामात्माधारभूतानां शरीरमाहारयंति शेषं सुगमं। यावदाख्यातमिति ॥ ३२ ॥

सांप्रतमुदकाधारानपरान् पूतरकादिकांस्त्रसान् दर्शयितुमाह।

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता उदगजोणियाणं जाव कम्मनियाणेणं तत्थ वुक्कमा उदगजोणिएसु उदएसु तसपाणत्ताए विउट्टंति ते जीवा तेसिं उदगजोणियाणं उदगाणं सिणेहमाहारेंति ते जीवा आहारेंति पुढवीसरीरं जाव संतं अवरे वि य णं तेसिं उदगजोणियाणं तसपाणाणं सरीरा णाणावण्णा जाव मक्खायं ॥ ३३ ॥

(अहावरमित्यादि) अथापरमेतदाख्यातमिहैके सत्वा उदकयोनिषु चोदकेषु त्रसप्राणितया पूतरकादित्वेन विवर्तन्ते समुत्पद्यंते ते चोत्पद्यमानाः समुत्पन्नाश्च तेषामुदकयोनीनामुदकानां स्नेहमाहारयंति शेषं सुगमं यावदाख्यातमिति ॥ ३३॥

साम्प्रतं तेजस्कायमुद्दिश्याह ॥

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता णाणाविहजोणिया जाव कम्मनियाणेणं तत्थ वुक्कमा णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरेसु सचित्तेसु वा अचित्तेसु वा अगणिकायत्ताए विउट्टंति ते जीवा तेसिं णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सिणेहमाहारेंति ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं अवरे वि य णं तेसिं तसथावरजोणियाणं अगणीणं सरीरा णाणावण्णा जाव मक्खायं सेसा तिण्णि आलावगा उदगाणं ॥ ३४ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(अहावरमित्यादि) अथैतदपरमाख्यातं इहास्मिन् संसारे एके केचन सत्वाः प्राणिनस्तथाविधकर्मोदयवर्तिनो नानाविधयोनयः प्राक् सन्तः पूर्वजन्मनि तथाविधं कर्मोपादाय तत्कर्मनिदानेन नानाविधानां त्रसस्थावराणां प्राणिनां सचित्तेष्वचित्तेषु शरीरेषु चाग्नित्वेन विवर्त्तन्ते प्रादुर्भवंति । तथाहि । पंचेंद्रियतिरश्चां दंतिमहिषादीनां परस्परं युद्धावसरे विषाणसंघर्षे सति अग्निरुत्तिष्ठते एवमचित्तेष्वपि तदस्थिसंघर्षादग्न्युत्थानं तथा द्वीन्द्रियादिशरीरेष्वपि यथासंभवमायोजनीयं तथा स्थावरेष्वपि वनस्पत्युपलादिषु सचित्ताचित्तेष्वग्निजीवाः समुत्पद्यंते ते चाग्निजीवास्तत्रोत्पन्नास्तेषां नानाविधानां त्रसस्थावराणां स्नेहमाहारयंति । शेषं सुगमं यावद्भवंतीत्येवमाख्यातं । अपरं त्रयोऽप्यालापकाः प्राग्वद्द्रष्टव्या इति ।

साम्प्रतं वायुकायमुद्दिश्याह ॥

अहावरंपुरक्खायं इहेगतिया सत्ता णाणाविहजोणियाणं जाव कम्मनियाणेणं तत्थ वुक्कमा णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरेसु सचित्तेसु वा अचित्तेसु वा वाउकायत्ताए विउट्टंति जहा अगणीणं तहा जाणियव्वा चत्तारि गमा ॥ ३५ ॥

अथापरमेतदाख्यातमित्याद्यग्निकायागमेन व्याख्येयम् । साम्प्रतमशेषजीवाधारं पृथिवीकायमधिकृत्याह ॥

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता णाणाविहजोणियाणं । जाव कम्मनियाणेणं तत्थ वुक्कमा णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरेसु सचित्तेसु वा अचित्तेसु वा पुढवित्ताए सक्करत्ताए वालुयत्ताए इमाओ गाहाओ अणुगंतव्वाओ पुढवी य सक्करा वा लुयाय उवले सिला य लोणूसे । अयत उय तंब सीसग रुप्प सुवन्ने य वइरेय १ हरियाले हिंगुलए मणोसिला सासगंजणपवाले । अब्भपडल प्पवालु य बायरकाए मणिविहाणा २ गोमेज्जए य रूयए अंके फलिहेय लोहियक्खे य । मरगयमसारगल्ले भुयमोयग इंदणीले य ३ चंदण गेरुयहंसगब्भे पुलए सोगंधिए य बोद्धव्वे । चंदप्पभवेरुलिए जलकंते सूरकंते य ४ एयाओ एएसु जाणियव्वाओ गाहाओ जाव सूरकंताए विउट्टंति ते जीवा तेसिं णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सिणेहमाहारेंति ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं अवरे वि य णं तेसिं तसथावरजोणियाणं पुढवीणं जाव सूरकंताणं सरीरा णाणावण्णा जाव मक्खायं सेसं तिण्णि आलावगा जहा उदगाणं ॥ ३६ ॥

अथापरमेतत्पूर्वमाख्यातं इहैके सत्वाः पूर्वं नानाविधयोनिकाः स्वकृतकर्मवशा नानाविधत्रसस्थावराणां शरीरेषु पृथिवीत्वेनोत्पद्यन्ते । तद्यथा । सर्प्पशिरस्सु मणयः, करिदंतेषु मौक्तिकानि, स्थावरेष्वपि वेण्वादिषु तान्येवेति । एवमचित्तेषूपलादिषु लवणभावेनोत्पद्यन्ते । तदेवं पृथिवीकायिका नानाविधासु पृथिवीषु शर्करावालुकोपलशिलालवणादिभावेन तथा गोमेदकादिरत्नभावेन च बादरमणिविधानतया समुत्पद्यन्ते । शेषं सुगमं । यावच्चत्वारोऽप्यालापका उदकागमेन नेतव्या इति ॥ ३६ ॥

साम्प्रतं सर्वोपसंहारद्वारेण सर्वजीवान् सामान्यतो विभणिषुराह ।

अहावरं पुरक्खायं सव्वे पाणा सव्वे भूता सव्वे जीवा सव्वे सत्ता णाणाविहजोणिया णाणाविहसंभवा णाणाविहवुक्कमा सरीरजोणिया सरीरसंभवा सरीरवुक्कमा सरीराहारा कम्मोवगा कम्मनियाणा कम्मगतीया कम्मट्ठिइया कम्मणा चेव विप्परियासमुवेंति ॥ ३७ ॥

(अहावरमित्यादि) अथापरमेतदाख्यातं । तद्यथा । सर्वे प्राणा प्राणिनोऽत्र च प्राणिभूतजीवसत्वशब्दाः पर्यायत्वेन द्रष्टव्याः । कथंचिद्भेदं चाश्रित्य व्याख्येयाः । ते च नानाविधयोनिका अतो नानाविधासु योनिषूत्पद्यन्ते नारकतिर्यङ्नरामराणां परस्परगमनसंभवात्ते च यत्र यत्रोत्पद्यन्ते तत्तच्छरीराण्याहारयन्ति तदाहारवन्तश्च तत्रागताश्च तदाहारतया कर्मवशगा नारकतिर्यङ्नरामरगतिषु जघन्यमध्यमोत्कृष्टस्थितयो भवंति । अनेनेदमुक्तं भवति । यो यादृगिह भवे स तादृगेवामुत्रापि भवतीत्येतन्निरस्तं भवति । अपितु कर्मोपगाः कर्मनिदानाः कर्मायत्तगतयो भवन्ति । तथा तेनैव कर्मणा सुखार्थिनोऽपि तद्विपर्यासं दुःखमुपगच्छंतीति ॥ ३७ ॥

साम्प्रतमध्ययनार्थमुपसंजिहीर्षुराह ॥

से एवमायाणह से एवमायाणित्ता आहारगुत्ते सहिए समिए सयाजए त्तिबेमि ॥ बियसुय क्खंधस्स आहारपरिण्णा णाम तईयमज्झयणं सम्मत्तम् ॥

यदेतन्मयादितः प्रभृत्युक्तं । तद्यथा । यो यत्रोत्पद्यते स तच्छरीराहारको भवति आहारगुप्तश्च कर्मोदये कर्मणा च नानाविधासु योनिषु अरहट्टघटीन्यायेन पौनःपुन्येन पर्यटतीत्येवमाजानीत यूयं एतद्विपर्यासं दुःखमुपगच्छंतीति । एतत्परिज्ञाय च सदसद्विवेक्याहारगुप्तः पञ्चभिस्समितिभिस्समितो यदि वा सम्यक् ज्ञानादिके मार्गे इतो गतः समितस्तथा सह हितेन वर्त्तते सहितः सन् सदा सर्वकालं यावदुच्छ्वासं तावद्यतेत तत्संयमानुष्ठाने प्रयत्नवान् भवेदिति । इति परिसमाप्त्यर्थे ब्रवीमीति पूर्ववत् । गतोऽनुगमः साम्प्रतं नयास्ते च प्राग्वद्द्रष्टव्याः ॥ ३७ ॥ समाप्तमाहारपरिज्ञाख्यं तृतीयमध्ययनम् ॥ ३ ॥

आहारस्य दिक् ॥

छहिं दिसाहिं जीवाणं आहारे पवत्तइ ।
तंजहा पाईणाए जाव अहाए ॥ स्था० ठा० ६ ।

आहारः प्रतीतः सोऽपि षट्स्वेव दिक्षु एतद्व्यवस्थितप्रदेशावगाढपुद्गलानामेव जीवेन स्पर्शनात्स्पृष्टानामेवाहरणात् । स्था० टी० ॥ जीवा० प्र० १ ॥ स च देशतः सर्वतश्च ।

दोहिं ठाणेहिं आया आहारेइ देसेण वि सव्वेण वि ।

आहारयति देशेन मुखमात्रेण सर्वेण ओज आहारापेक्षया आहारमेव परिणमयति परिणामयति खलरसविभागेन भक्ताद्यदेशस्य जीहादिना स्पृष्टत्वात् देशतोऽन्यथा सर्वतः । स्था० ठा० २ टी० ॥

चतुर्गतिषु आहारः ॥

णेरइयाणं चउव्विहे आहारे पन्नत्ते तंजहा ।
इंगालोवमे मुम्मुरोवमे सीयले हिमसीयले ॥

नारकानाहारतो निरूपयन्नाह । नेरइयाणमित्यादि । व्यक्तं केवलं अंगारोपमः अल्पकालदाहत्वान्मुर्मुरोपमः स्थिरतरदाहत्वाच्छीतलः शीतवेदनोत्पादकत्वात् हिमशीतलो ऽत्यन्तशीतलोऽत्यंतशीतवेदनोत्पादकत्वात् अधोऽध इति क्रम इति ॥ स्था० ठा० ४ ।

तिरिक्खजोणियाणं चउव्विहे आहारे पं. तं. कंकोवमे बिलोवमे पाणमंसोवमे पुत्तमंसोवमे । मणुस्साणं चउव्विहे आहारे पं. तं. असणे जाव साइमे । देवाणं चउव्विहे आहारे पं. तं. वणमंते गंधमंते रसमंते फासमंते ॥

तिरिक्खजोणियाणमित्यादि । व्यक्तं नवरं कंकः पक्षिविशेषस्तस्याहारेणोपमा यत्र स भक्ष्यमपद्ललोपात्कङ्कोपमः । अयमर्थो यथा हि कंकस्य दुर्जरोऽपि स्वरूपेणाहारः सुखभक्ष्यः-सुखपरिणामश्च भवति एवं यस्तिरश्चां सुखभक्ष्यस्सुखपरिणामश्च स कङ्कोपम इति । तथा बिले प्रवेशाद्यस्य बिलमेव तेनोपमा यत्र स तथा । बिले हि असब्धरसास्वादं झटिति यथा किल किञ्चित्प्रविशति एवं यस्तेषां गलबिले प्रविशति स तथोच्यते । पाणो मातङ्गस्तन्मांसमस्पृश्यत्वेन जुगुप्सया दुःखाद्यं स्यादेवं यस्तेषां दुःखाद्यस्स पाणमांसोपमः । पुत्रमांसन्तु स्नेहपरतया दुःखाद्यतरं स्यादेवं यो दुःखाद्यतरः स पुत्रमांसोपमः क्रमेण चैते शुभसमा शुभाशुभतरा वेदितव्याः वर्णवानित्यादौ प्रशंसायामतिशायने वा मतुरिति । स्था ठा० ॥ ४ ॥ टी० ॥

आहारमधिकृत्य वक्तव्यार्थाः ।

सचित्ताहारट्ठी केवति किंवा वि सव्वतो चेव ।
कतिभागं सव्वे खलु परिणामे चेव बोधव्वे ॥ १ ॥
एगिंदियसरीरादि लोमाहारे तहेवमणजक्खी ।
एतेसिं तु पदाणं विभावणा होइ कायव्वा ॥ २ ॥

प्रथमोऽधिकारस्सचित्तपदोपलक्षितस्स चैवं (नेरइयाणं भंते ! किं सचित्ताहारा अचित्ताहारा) इत्यादि १ द्वितीय आहारार्थिन इति २ तृतीयः । (केवइयत्ति) कियता कालेन आहारार्थः समुत्पद्यते इत्यादिरूपः ३ । चतुर्थः किमाहारमाहारयन्तीति पदोपलक्षितः ४ । पंचमः सर्वत इति पदोपलक्षितस्स चैवं-(नेरइयाणं सव्वतो परिणामन्तीत्यादि) । ५ । चेव शब्दस्समुच्चये (कइभागंति) गृहीतानां पुद्गलानां कतिभागमाहारयन्तीत्येवमादि षष्ठोऽधिकारः ६ तथा (सव्वं इति) यान्पुद्गलानाहारतया गृह्णन्ति तान्किं सर्वानपरिशेषान् आहारयन्ते उत सर्वानित्येवमुपलक्षितः सप्तमोऽधिकारः ७ तथा अष्टमोऽधिकारः परिणामः परिणामरूपो बोद्धव्यः स चैवं (नेरइयाणं भंते ! जे पोग्गले आहारत्ताए गिण्हंति तेणं तेसिं पुग्गला कीसत्ताए भुज्जो २ परिणमन्तीत्यादि-) रूपः ८ नवमोऽर्थाधिकारः एकेन्द्रियादीनि शरीराणि सचैवं- (नेरइयाणं भंते ! किं एगिंदियसरीराइं । आहारेंति जाव पंचिंदियशरीराइं आहारेंति) इत्यादि ९ दशमोऽधिकारो लोमाहारो लोमाहारवक्तव्यतारूपः । १० । एकादशो मनोभक्षिवक्तव्यतारूपः । ११ । एएसिं तु इत्यादि । एतेषां सामान्यतोऽनन्तरमुद्दिष्टानां पदानामर्थाधिकाराणां विभावना विस्तरतः प्रकाशना नाम भवति कर्तव्या । सूत्रकारवचनमेतत्प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयितुकामो यथोद्देशनिर्देश इति न्यायात्प्रथमाधिकारं विभावयति । प्रज्ञा० पद० २८ । भ० श० १ उ १ ॥

सचित्ताहाराः ॥

नेरइयाणं भंते ! किं सचित्ताहारा अचित्ताहारा मीसाहारा ? गोयमा ! नो सचित्ताहारा अचित्ताहारा नो मीसाहारा एवं असुरकुमारा जाव वेमाणिया । उरालिय सरीरा जाव मणूसा सचित्ताहारा वि अचित्ताहारा वि मीसाहारा वि ॥

नैरयिका भदन्त ! किं सचित्ताहाराः सचित्तमाहारयन्तीति सचित्ताहाराः एवमचित्ताहारा मिश्राहारा इत्यादि भावनीयं भगवानाह- (गोयमेत्यादि) इह वैक्रियशरीरिणो वैक्रियशरीरपरिपोषयोग्यान् पुद्गलानाहारयन्ति ते चाचित्ता एव संभवंति न जीवपरिगृहीता इत्यचित्ताहारा नापि मिश्राहारा एवमसुरकुमारादयः स्तनितकुमारपर्यवसाना भवनपतयो व्यन्तरज्योतिष्का वैमानिकाश्च वेदितव्याः । औदारिकशरीरिणः पुनरौदारिकशरीरपरिपोषयोग्यान्पुद्गलानाहारयन्ति ते च पृथिवीकायिकादिपरिणामपरिणता इति ।

सचित्ताहारा मिश्राहारा अपि घटन्ते । तथाचाह । (उरालियसरीरी जाव मणूसा इत्यादि) औदारिकशरीरिणः पृथिवीकायिकेभ्यः आरभ्य यावन्मनुष्याः । किमुक्तं भवति पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिरूपा एकेन्द्रिया द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रिया मनुष्याश्च एते प्रत्येकं सचित्ताहारा अपि अचित्ताहारा अपि मिश्राहारा अपि वक्तव्याः ॥ उक्तः प्रथमोऽधिकारः ॥

सम्प्रति द्वितीयानष्टपर्यन्तान्सप्ताधिकारान् चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण युगपदभिधित्सुः प्रथमतो नैरयिकाणामभिदधाति ।

नेरइया णं भंते ! आहारट्ठी ? हंता आहारट्ठी णेरइयाणं भंते ! केवइकालस्स आहारट्ठे समुप्पज्जइ ? गोयमा ! णेरइयाणं दुविहे आहारे पण्णत्ते । तं० आभोगनिव्वत्तिए य अणाभोगनिव्वत्तिए य । तत्थ णं जे से अणाभोगनिव्वत्तिए से णं अणुसमयं अविरहिए आहारट्ठे समुप्पज्जइ । तत्थ णं जे से आभोगनिव्वत्तिए से णं असंखेज्जसमइए अंतोमुहुत्तिए आहारट्ठे समुप्पज्जइ ॥

(नेरयाणमित्यादि) नैरयिका णमिति वाक्यालङ्कारे भदन्त ! आहारार्थिनो नैरयिका इति यदि आहारार्थिनस्ततो भगवानाह (हंतेत्यादि) हंतेत्यनुमतौ अनुमतमेतत् गौतम ! आहारार्थिनो नैरयिका इति यदि आहारार्थिनस्ततो भदन्त ! नैरयिका णमिति पूर्ववत् (केवइ कालस्सत्ति) प्राकृतत्वात् तृतीयार्थे षष्ठी । कियता कालेन आहारार्थं आहारलक्षणं प्रयोजनं आहाराभिलाष इति यावत्समुत्पद्यते-भगवानाह (गोयमेत्यादि) नैरयिकाणां द्विविधो द्विप्रकार आहारस्तद्यथा । आभोगनिर्वर्तित आहारयामीति इच्छापूर्वनिर्म्मापित इति यावत् । तद्विपरीतोऽनाभोगनिर्वर्तितः । आहारयामीति विशिष्टेच्छामन्तरेण यो निष्पाद्यते प्रावृट्काले प्रचुरतरमूत्राद्यभिव्यंगशीतपुद्गलाद्याहारवत्सोऽनाभोगनिर्वर्तित इति भावः । (तत्थणमित्यादि) तत्राभोगानाभोगनिर्वर्तितयोर्मध्ये योऽनाभोगनिर्वर्तितः आहारः (सेणमिति) पूर्ववत् अनुसमयं प्रतिसमयं २ समयं २ इत्यर्थः । इत्यदीर्घकालोपभोगस्याहारस्यैकवारमपि ग्रहणे तावंतं कालमनुसमयमवभाति । तत आभवपर्यन्तं सातत्यग्रहणप्रतिपादनार्थमाह । अविरहित आहारार्थस्समुत्पद्यते । अथवा सततप्रवृत्ते आहारार्थेऽपांतराले

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चुकस्खलितन्यायेन कथञ्चिद्विरहे भावेऽपि लोके तद्गणनया अनुसमयमिति व्यवहारः प्रवर्तते । ततोऽपान्तराले विरहाभावप्रतिपादनार्थमित्युक्तं । अनुसमयविरहितोऽनाभोगनिर्वर्तित आहारार्थः समुत्पद्यमान ओज आहारादिना प्रकारेणा वसेयः। (तत्थणमित्यादि) तत्राभोगानाभोगनिर्वर्तितयोर्मध्ये योऽसावनाभोगनिर्वर्तित आहारार्थः सोऽसंख्येयसामायिकोऽसंख्येयैः समयैर्निर्वर्तितम् । यथासंख्येयसमयनिर्वर्तितं तत् जघन्यपदेऽप्यन्तर्मुहूर्तिकम्भवति । न हीनमत आन्तर्मुहूर्तिक आहारार्थः समुत्पद्यते । किमुक्तं भवति । अन्तर्मुहूर्तकालं यावत्प्रवर्तते न परतो नैरयिकाणां हि योऽसावाहारयामीत्यभिलाषः स परिगृहीताहारद्रव्यपरिणामेन यज्जनितमतितीव्रतरं दुःखं तद्भावादन्तर्मुहूर्तान्निर्वर्तते । तत आन्तर्मुहूर्तिको नैरयिकाणामाहारार्थः (नेरइयाणमित्यादि) नैरयिकाणामिति पूर्ववत् किस्वरूपमाहारयन्ति भगवान्द्रव्यादिभेदतस्तमाहारयन्तीति निरूपयितुकाम आह (गोयमेत्यादि) ॥

किमाहारमाहारयन्ति ॥

णेरइया णं भंते ! किमाहारमाहारेंति ? गोयमा ! दव्वओ अणंतपदेसियाइं खेत्तओ असंखेज्जपदेसोगाढाइं कालओ अन्नतरकालट्ठितियाइं भावतो वन्नमंताइं गंधमंताइं रसमंताइं फासमंताइं जाइं भावओ वन्नमंताइं आहारंति ताइं किं एगवन्नाइं आहारंति जाव किं पंचवन्नाइं आहारंति ? गोयमा ! ठाणमग्गणं पडुच्च एगवन्नाइं पि आहारंति । जाव पंचवन्नाइं पि आहारंति विहाणमग्गणं पडुच्च कालवन्नाइं पि आहारंति जाव सुकिल्लाइं पि आहारंति । जाइं वन्नओ कालवन्नाइं आहारंति ताइं किं एगगुणकालाइं आहारंति जाव दसगुणकालाइं आहारंति संखिज्ज असंखिज्ज अणंतगुणकालाइं आहारंति। गोयमा ! एगगुणकालाइं पि आहारंति जाव अणंतगुणकालाइं पि आहारंति एवं जाव सुकिल्लाइं । एवं गंधतो वि रसतो वि । जाइं भावओ फासमंताइं ताइं नो एगफासाइं आहारंति नो दुफासाइं आहारंति । नो तिफासाइं आहारंति चउफासाइं पि आहारंति । जाव अट्ठफासाइं पि आहारंति । विहाणमग्गणं पडुच्च कक्खडाइं पि आहारंति जाव लुक्खाइं पि आहारंति । जाइं फासओ कक्खडाइं आहारंति ताइं किं एगगुणकक्खडाइं आहारंति । जाव अणंतगुणकक्खडाइं आहारंति गोयमा ! एगगुणकक्खडाइं पि आहारंति जाव अणंतगुणकक्खडाइं पि आहारंति एवं अट्ठविहफासा जाणियव्वा । जाव अणंतगुणलुक्खाइं पि आहारंति । जाइं भंते ! अणंतगुणलुक्खाइं आहारंति ताइं किं पुट्ठाइं आहारंति अपुट्ठाइं ? गोयमा ! पुट्ठाइं आहारंति नो अपुट्ठाइं आहारंति जहा भासुद्देसए जाव नियमा छद्दिसिं आहारंति ओसन्नं कारणं पडुच्च वन्नओ कालनीलाइं गंधओ दुब्भिगंधाइं रस ओ तित्तरसकडुयाइं फासओ कक्खडगरुयसीतलुक्खाइं तेसिं पोराणा वन्नगुणे गंधगुणे रसगुणे फासगुणे विपरिणामइत्ता परिपीलइत्ता परिसाडइत्ता परिविद्धंसइत्ता अन्ने अपुव्वे वन्नगुणे गंधगुणे फासगुणे उप्पाएत्ता आयसरीरखित्तोगाढे पोग्गले सव्वप्पणयाए आहारमाहारेइ ॥

टी० गौतम! द्रव्यतो द्रव्यस्वरूपपर्यालोचनायां अनन्तप्रादेशिकानि द्रव्याणि । अन्यथा ग्रहणासंभवात् न हि संख्यातप्रदेशात्मका असंख्यातप्रदेशात्मका वा स्कंधा जीवस्य ग्रहणयोग्या भवन्ति । क्षेत्रतोऽसंख्येयप्रदेशावगाढानि । कालतोऽन्यतरस्थितिकानि जघन्यस्थितिकानि मध्यमस्थितिकानि उत्कृष्टस्थितिकानि चेति भावार्थः । स्थितिरिति चाहारयोग्यस्कंधपरिणामत्वेनावस्थानमवसेयं । भावतो वर्णवंति गंधवंति रसवंति स्पर्शवंति च । प्रतिपरमाण्वेकैकवर्णगंधरसद्विस्पर्शभावात् । (जाइं भावओ वन्नमंताइं) इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं भगवानाह । (गोयमा ! ठाणमग्गणं पडुच्चेत्यादि) तिष्ठंति विशेषा अस्मिन्निति स्थानं सामान्यमेकवर्णं द्विवर्णं त्रिवर्णमित्यादिरूपं तस्य मार्गणमन्वेषणं तत्प्रतीत्य सामान्यचिन्तामाश्रित्येति भावार्थः । एकवर्णान्यपि द्विवर्णान्यपि इत्यादि सुगमं । नवरं तेषामनन्तप्रादेशिकानां स्कन्धानामेकवर्णत्वं द्विवर्णत्वमित्यादि व्यवहारनयमतापेक्षया । निश्चयनयमतापेक्षया तु अनन्तप्रादेशकस्कंधीयानापि पञ्चवर्णा एव प्रतिपत्तव्यः । (विहाणमग्गणं पडुच्चेत्यादि) ॥ विध्यक्तमितरव्यवच्छिन्नं धानं पोषणं स्वरूपस्य यस्तद्विधानं विशेषः कृष्णो नील इत्यादिविशेष इति यावत्तस्य मार्गणं तत्प्रतीत्य त्यक्त्वा सवर्णान्यप्याहारयंतीत्यादि सुगमं । नवरमेतदपि व्यवहारतः प्रतिपत्तव्यं । निश्चयतः पुनरवश्यं तानि पञ्चवर्णान्येव ॥ जाइं वन्नओ कालवन्नाइं पीत्यादि ॥ सुगमं । यावदनन्तगुणसुकिल्लाइं पि आहारंति । एवं गंधरसस्पर्शविषयाणि सूत्राण्यपि भावनीयानि (जाइं भंते ! अनन्तगुणलुक्खाइं इत्यादि) यानि भदन्त ! अनन्तगुणरूक्षाणि उपलक्षणमेतत् । एवं गुणकालादीन्यप्याहारयन्तीति तानि च भदन्त ! किं स्पृष्टान्यात्मप्रदेशस्पर्शविषयाण्याहारयन्ति उतास्पृष्टानि । भगवानाह । स्पृष्टानि नो अस्पृष्टानि (जहा भासुद्देसए जाव नियमा । छद्दिसिंति) अत ऊर्ध्वं यथा भाषोद्देशके प्राक्सूत्रमभिहितं तथात्रापि द्रष्टव्यं । तत्र तावत् यावन्नियमाः (छद्दिसिंति) पदं तच्चैवं ।

जाइं पुट्ठाइं आहारंति ताइं भंते ! किं ओगाढाइं आहारंति गोयमा ! ओगाढाइं आहारंति णो अणोगाढाइं आहारंति । जाइं भंते ओगाढाइं आहारंति ताइं किं अणंतरोगाढाइं आहारंति परंपरोगाढाइं आहारंति गो० अणंतरोगाढाइं आहारंति नो परंपरोगाढाइं आहारंति जाइं अणंतरोवगाढाइं आहारंति ताइं भंते ! किं अणूइं आहारंति बादराइं आहारंति ? गोयमा ! अणूं पि आहारंति बायराइंपि आहारंति । जाइं भंते ! अणूं पि आहारंति बायराइं पि आहारंति ताइं किं उड्ढं आहारंति अहे आहारंति तिरियं आहारंति ? गोयमा ! उड्ढं पि आहारंति अहे वि आहारेंति तिरियं पि आहारंति जाइं भंते ! उड्ढं पि आहारंति अहे पि आहारंति तिरियं पि आहारंति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ताइं आइं पि आहारंति मज्झे आहारंति पज्जवसाणे आहारंति ? गोयमा ! आइं पि आहारंति मज्झे वि आहारंति पज्जवसाणे वि आ० । जाइं भंते ! आइं पि आहारंति मज्झे वि आहारंति पज्जवसाणे वि आहारंति ताइं भंते ! किं सविसए आहारंति अविसए आहारंति ? गोयमा ! सविसए आहारंति नो अविसए आहारंति । जाइं भंते ! सविसए आहारंति ताइं किं आणुपुव्विए आहारंति । अणाणुपुव्विए । गो० ! आणुपुव्विं आहारंति नो अणाणुपुव्विं आहारंति । जाइं भंते ! आणुपुव्विं आहारंति ताइं किं तिदिसिं आहारंति । चउदिसिं आहारंति पंचदिसिं आहारंति छदिसिं आहारंति ?

अस्य व्याख्या । इहात्मप्रदेशैः संस्पर्शनेनात्मनः प्रदेशावगाढात्क्षेत्राद्बहिरपि सम्भवति ततः प्रश्नयति । (जाइं भंते ! इत्यादि) यानि भदन्त ! स्पृष्टान्याहारयंति तानि किं अवगाढानि आत्मप्रदेशैः सह एकक्षेत्रावस्थायीनि उत अनवगाढानि आत्मप्रदेशावगाढक्षेत्राद्बहिरवस्थितानि । भगवानाह । गौतम ! अवगाढान्याहारयंति नानवगाढानि । उत अवगाढानि आत्मप्रदेशावगाढक्षेत्रे किमनन्तरावगाढानि । किमुक्तं भवति । यैरात्मप्रदेशेषु यान्यव्यवधानेनावगाढानि वैरात्मप्रदेशैस्तान्येवाहारयंति उत, परम्परावगाढानि एकद्व्याद्यात्मप्रदेशव्यवहितानि । भगवानाह । गौतम ! अनन्तरावगाढानि आहारयंति नो परम्परावगाढानि । यानि भदन्त ! अनन्तरावगाढान्याहारयंति तानि किमणूनि स्तोकान्याहारयन्ति उत बादराणि प्रभूतप्रदेशोपचितानि । भगवानाह । अणून्यप्याहारयन्ति बादराण्यप्याहारयन्ति । इहाणुत्वबादरत्वे तेषामेवाहारयोग्यानां स्कन्धानां प्रदेशस्तोकत्वबाहुल्यापेक्षया वेदितव्ये इति । यानि भदन्त ! अणून्यप्याहारयन्ति तानि भदन्त ! किमूर्ध्वमूर्ध्वप्रदेशस्थितान्याहारयन्ति अधस्तिर्यग्वा । इह ऊर्ध्वाधस्तिर्यक्त्वं यावति क्षेत्रे नैरयिको ऽवगाढस्तावत्येव क्षेत्रे तदपेक्षया परिभावनीयं । भगवानाह । ऊर्ध्वमप्याहारयन्ति ऊर्ध्वप्रदेशावगाढान्यप्याहारयंति एवमधोऽपि तिर्य्यगपि । यानि भदन्त ! ऊर्ध्वमप्याहारयन्ति अधोऽप्याहारयन्ति तिर्यगप्याहारयन्ति तानि किमादावाहारयन्ति मध्ये आहारयन्ति पर्य्यवसाने आहारयन्ति । अयमत्राभिप्रायो नैरयिका ह्यनन्तप्रादेशिकानि द्रव्याण्यन्तर्मुहूर्त्तं कालं यावदुपभोगोचितानि गृण्हन्ति ततः संशयः किमुपभोगोचितस्य कालस्यान्तर्मुहूर्त्तप्रमाणस्यादौ प्रथमसमये आहारयन्ति उत मध्ये मध्येषु समयेषु आहोस्वित्पर्य्यवसाने पर्य्यवसानसमये ? भगवानाह । गौतम ! आदावपि मध्येऽपि पर्य्यवसानेऽप्याहारयन्ति । किमुक्तं भवति । उपभोगोचितस्य कालस्यान्तर्मुहूर्तप्रमाणस्यादिमध्यावसानेषु समयेषु आहारयन्ति उत अविषयाणि स्वोचिताहारयोग्यान्याहारयन्ति । भगवानाह । गौतम ! स्वविषयानाहारयन्ति नो अविषयान् । यानि भदन्त ! स्वविषयानाहारयन्ति तानि भदन्त ! किमानुपूर्व्या आहारयन्ति अनानुपूर्व्या ? । आनुपूर्व्वी नाम यथासन्नं । तद्विपरीता अनानुपूर्व्वी । भगवानाह । गौतम ! आनुपूर्व्या सूत्रे द्वितीया तृतीयार्थे वेदितव्या प्राकृतत्वात् यथा आचाराङ्गे- (अगणिपुट्ठा) इत्यत्र आहारयन्ति नो अनानुपूर्व्या ऊर्ध्वमधस्तिर्य्यग्वा यथासन्नं नातिक्रम्याहारयन्तीति भावनीयानि । भदन्त ! आनुपूर्व्या आहारयन्ति तानि किं (तिदिसिंति)। तिस्रो दिशः समाहृतास्त्रिदिक् तस्मिन् व्यवस्थितान्याहारयन्ति चतुर्दिशि पञ्चदिशि षड्दिशि वा इह लोकनिष्कुटपर्य्यन्ते जघन्यपदे त्रिदिग्व्यवस्थितमेकदिग्व्यवस्थितं वा अतस्त्रिदिश आरभ्य प्रश्नः कृतः । भगवानाह । गौतम ! नियमात् षड्दिशि व्यवस्थितान्याहारयन्ति । नैरयिका हि त्रसनाड्यां मध्ये व्यवस्थितास्तत्र चावश्यं षड्दिक्संभव इति । (ओसन्नकारणं पडुच्चेत्यादि) ओसन्नशब्दो बाहुल्यवाची । यथा ओसन्नं देवा सायं वेयणं वेयंतीत्यत्र । तत ओसन्नकारणं बाहुल्यकारणं प्रतीत्य किंतद्बाहुल्यकारणमिति चेदुच्यते । अशुभानुभाव एव । तथापि प्रायो मिथ्यादृष्टयः कृष्णादीन्याहारयन्ति न तु भविष्यत्तीर्थकरादयः । तत ओसन्नेत्युक्तं । वर्णतः कालनीलादि । गन्धतो दुरभिगन्धादि । रसतस्तिक्तकटुकानि । स्पर्शतः कर्कशगुरुशीतरूक्षादि इत्यादि तेषामाहार्य्यमाणानां पुद्गलानां पुराणान् अग्रेतनान् वर्णगुणान् गन्धगुणान् स्पर्शगुणान् (विपरिणामइत्ता परिपीलइत्ता परिसाडइत्ता परिविद्धंसइत्ता) एतानि चत्वार्य्यपि पदान्येकार्थिकानि विनाशार्थप्रतिपादकानि नाना देशजविनेयानुग्रहार्थमुपात्तानि विनाश्य किमिति आह । अन्यानपूर्व्वान्वर्णगुणान् रसगुणान् स्पर्शगुणानुत्पाद्य आत्मशरीरक्षेत्रावगाढान् पुद्गलान् (सव्वप्पणयाए) सर्व्वात्मना सर्व्वैरेवात्मप्रदेशैराहारमाहाररूपानाहारयन्ति ॥ प्रज्ञा. पद २८ । जी. प्र. १ । भ. श. ६ उ० ४ ।

नेरइया णं भंते ! जे पोग्गला अत्तमायाए आहारंति ते किं आयसरीरखेत्तोगाढे पोग्गले अत्तमाए आहारंति अणंतरखेत्तोगाढे पोग्गले अत्तमायाए आहारंति परंपरखेत्तोगाढे पोग्गले अत्तमायाए आहारंति ? गोयमा ! आयसरीरखेत्तोगाढे पोग्गले अत्तमायाए आहारंति नो अणंतरखेत्तोगाढे पोग्गले अत्तमायाए आहारंति नो परंपरखेत्तोगाढे जहा नेरइया तहा जाव वेमाणियाणं दंडओ ॥

टी० नेरइयाणमित्यादि । (अत्तमायाएत्ति) । आत्मना आदाय गृहीत्वेत्यर्थः । जीवाधिकारादेवेदमाह । (आयसरीरे खेत्तोगाढेत्ति) स्वशरीरक्षेत्रे अवस्थितानीत्यर्थः । (अणंतरखेत्तोगाढेत्ति)। आत्मशरीरावगाढक्षेत्रापेक्षया यदनन्तरं क्षेत्रं तत्रावगाढानीत्यर्थः (परंपरखेत्तोगाढेत्ति) आत्मक्षेत्रानन्तरक्षेत्राद्यत्परं क्षेत्रं तत्रावगाढानीत्यर्थः) ॥ भ. श. ६ । उ० १० ।

नेरइयाणं भंते सव्वओ आहारंति सव्वओ परिणामंति सव्वओ ऊससन्ति सव्वओ नीससंति अभिक्खणं २ आहारंति अभिक्खणं २ परिणामन्ति अभिक्खणं ऊससंति अभिक्खणं नीससंति आहच्च आहारंति आहच्च परिणामंति आहच्च ऊससंति आहच्च नीससंति । हंता गोयमा ! णेरइया सव्वओ आहारंति एवं चेव जाव आहच्च नीससंति णेरइयाणं भंते ! जे पोग्गले आहारत्ताए गेण्हंति ते णं पोग्गलाणं सेयालंसि कतिभागं आहारंति कइभागं आसायंति ? गोयमा ! असंखेज्जइ भागं आहा

रंति अणंतभागं आस्साएंति णेरइयाणं भंते ! जे पोग्गले आहारत्ताए गिएहंति ते किं सव्वे आहारंति नो सव्वे आहारंति ! गोयमा ! ते सव्वे अपरिसेसिए आ-हारंति ॥

(नेरइया णं भंते इत्यादि) प्रश्नसूत्रं सुगमं । (नेरइयाणं भंते ! जे पोग्गला इत्यादि) नैरयिका णमिति पूर्ववत् भदन्त ! यान् पुद्गलानाहारतया गृएहन्ति नैरयिकास्तेषां गृहीतानां पुद्गलानां (सेकालंसि) एष्यत्काले ग्रहणकालोत्तरकालग्रहणकालमित्यर्थः (कइभागं ति) कतिथं भागमाहारयन्ति आहारतयोपभुंजते । तथा । कतिभागं कतिथं भागमाहार्यमाणपुद्गलानामास्वादं गृएहंति । न हि सर्वे पुद्गला आहार्यमाणान्यास्वादमायान्ति इति पृथक् प्रश्नः । भगवानाह । गौतम ! असंख्येयं भागमाहारयन्ति । अन्ये तु गवादिपृथग्बृहद्ग्रासग्रहण इव परिसटंति । आहार्यमाणानां च पुद्गलानामनन्तभागमास्वादयन्ति । शेषास्त्वनास्वादिता एव शरीरपरिणाममापद्यन्ते इति ॥

णेरइया णं भंते ! जे पोग्गले आहारत्ताए गेएहंति ते णं तेसिं पोग्गला कीसत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमंति ? गोयमा ! सो इंदियत्ताए जाव फासिंदियत्ताए अणिट्ठत्ताए अकंतत्ताए अप्पियत्ताए असुभत्ताए अमणुन्नत्ताए अमणामत्ताए अणिच्छियत्ताए अभिज्झियत्ताए अहत्ताए नो उड्ढत्ताए दुक्खत्ताए नो सुहत्ताए एतेसिं भुज्जो भुज्जो परिणमंति असुरकुमाराणं भंते ! आहारट्ठी ? हंता ! आहारट्ठी । एवं जहा णेरइयाणं तहा असुरकुमाराणं वि भाणियव्वम् जाव तेसिं भुज्जो २ परिणमन्ति । तत्थ णं जेसे आभोगनिव्वत्तिए सेणं जहन्नेणं चउत्थभत्तस्स उक्कोसेणं सातिरेगस्स वाससहस्सस्स आहारट्ठे समुप्पज्जइ ओसन्नकारणं पडुच्च वन्नओ हालिद्दसुक्किल्लाइं गंधओ सुब्भिगंधाइं रसओ अविलमहुराइं फासओ मउयलहुयणिद्धुण्हाइं तेसिं पोराणं वन्नगुणे जाव फासिंदियत्ताए जाव मणामत्ताए इच्छियत्ताए भिज्झियत्ताए उड्ढत्ताए नो अहत्ताए सुहत्ताए नो दुहत्ताए तेसिं भुज्जो २ परिणमंति सेसं जहा णेरइयाणं एवं जाव थणियकुमाराणं । नवरं आभोगनिव्वत्तिए उक्कोसेणं दिवसपहुत्तस्स आहारट्ठे समुप्पज्जइ ॥

नैरयिका णमिति पूर्ववत् यान्पुद्गलानाहारतया गृएहंति इह ग्रहणं विशिष्टमवसेयं । ततो ये उज्झितशेषाः केवलाहारपरिणामयोग्या एवावतिष्ठन्ते ते ऽत्राहारतया गृह्यमाणाः पृष्टा द्रष्टव्याः । अन्यथा निर्वचनसूत्रमपेक्ष्य पूर्वापरविरोधप्रसक्तो न च भगवद्वचने विरोधसम्भावनाऽप्यस्ति तत इदमेव व्याख्यानं सम्यक् । अत एवंविधपूर्वापरे विरोधाशङ्काव्युदासार्थं पूर्वसूरिभिः कालिकसूत्रस्यानुयोगः कृतः उक्तञ्च । "जं जह सुत्ते भणियं तहेव तं जइ वियालणा नत्थि । किं कालियाणुओगो दिट्ठो दिट्ठिप्पहाणेहिं" ॥ १ तान् किं सर्वानाहारयन्ति उत नो सर्वान् सर्वैकदेशभूतान् । भगवानाह । तान्सर्वानविशेषेणाहारयन्ति उज्झितशेषाणामेव केवलानामाहारपरिणामयोग्यानां गृहीतः स्यात् (नेरइयाणमित्यादि) नैरयिका णमिति पूर्ववत् । यान्पुद्गलानाहारतया गृएहन्ति ते पुद्गला णमिति पूर्ववदेव । नैरयिकाणां कीदृक्तया किं स्वरूपतया भूयः २ परिणमन्ते । भगवानाह । गौतम ! श्रोत्रेन्द्रियतया यावत्करणाच्चक्षुरिन्द्रियतया घ्राणेन्द्रियतया जिह्वेन्द्रियतयेति परिग्रहः । स्पर्शनेन्द्रियतया इन्द्रियरूपतयापि परिणममाणाः शुभरूपाः किन्त्वेकांताशुभरूपाः । यत आह । (अणिट्ठत्ताए इत्यादि) इष्टा मनसा इच्छाविषयी कृता यथा "शोभनमिदं जातं यदित्यमिमे परिणता इति" । तद्विपरीता अनिष्टास्तद्भावस्तत्ता तया इह किंचित्परमार्थतः शुभमपि केषाञ्चिदनिष्टं भवति । यथा मक्षिकाणां चन्दनकर्पूरादिस्तत आह (अकंतत्ताए) कांताः कमनीयाः अकांता अत्यंताशुभवर्णोपेतत्वात् अत एवाऽप्रियतया न प्रिया अप्रिया दर्शनापातकालेऽपि तत्प्रियबुद्धिमात्मन्युत्पादयंतीति भावः । तद्भावोऽप्रियता तया (असुभत्ताए इति) न शुभा अशुभा अशुभगन्धरसस्पर्शात्मकत्वात् तद्भावस्तत्ता तया (अमणुन्नत्ताए इति) न मनोज्ञा अमनोज्ञा विपाककाले दुःखजनकतया न मनःप्रह्लादहेतव इति भावः । तद्भावस्तत्ता तया (अमणामत्ताए) भोज्यतया मन आप्नुवंतीति मन आपा प्राकृतत्वात्पकारस्य मकारत्वे मणाम इति सूत्रनिर्देशः । न मन आपा अमन आपा न जातुचिदपि भोज्यतया अंतर्मनोज्ञान् कुर्वन्तीति भावः । तद्भावस्तत्ता तया अत एव । (अणिच्छियत्ताए इति) अनीप्सिततया भोज्यतया स्वादितुमिष्टा ईप्सिता न ईप्सिता अनीप्सितास्तद्भावस्तत्ता तया । (अभिज्झियत्ताए ।) अभिध्यानमभिध्या अभिलाष इत्यर्थः । अभिध्या सञ्जाता येष्विति अभिध्यितास्तारकादिदर्शनादितच् प्रत्ययः । तद्भावस्तत्ता तया । किमुक्तं भवति । ये गृहीताहारतया पुद्गला न ते तृप्तिहेतवोऽनुबन्धिति न पुनरभिलषणीयत्वेन परिणमन्ते तथा । (अहत्ताए इति) अधस्तया गुरुपरिणामतयेति भावः । नो ऊर्ध्वतया लघुपरिणामतया अत एव दुःखतया गुरुपरिणामपरिणतत्वात् न सुखतया लघुपरिणामपरिणतत्वाभावात् । ते पुद्गलास्तेषां नैरयिकाणां भूयः परिणमन्ते एतान्येव आहारार्थिन इत्यादीनि सप्त द्वाराणि । असुरकुमारादिषु भवनपतिषु चिचिंतयिषुरिदमाह (जहा नेरइयाणमित्यादि) यथा नैरयिकाणां तथा असुरकुमाराणामपि भणितव्यं । यावत् तेसिं भुज्जो २ परिणमन्तीति पर्यन्तपदं । तत्र नैरयिकसूत्रस्य विशेषमुपदर्शयति (तत्थ णं जेसे इत्यादि) एवं चोपदर्शित सूत्रं मन्दमतीनां यथास्थितं प्रतीतिमागच्छति ततस्तदनुग्रहाय सूत्रमुपदर्श्यते (असुरकुमाराणं भंते ! आहारट्ठी ? हंता आहारट्ठी असुरकुमाराणं भंते ! केवइ कालस्स आहारट्ठे समुप्पज्जइ !) अत्र सप्तम्यर्थे षष्ठी कियति कालेऽतिक्रान्ते सति भूय आहारार्थः समुत्पद्यत इत्यर्थः । (असुरकुमाराणं दुविहे आहारे पन्नत्ते । तंजहा । आभोगनिव्वत्तिए अणाभोगनिव्वत्तिए य । तत्थ णं जेसे अणाभोगनिव्वत्तिए से णं अणुसमयम विरहिए आहारट्ठे समुप्पज्जइ । तत्थणं जेसे आभोगनिव्वत्तिए सेणं जहन्नेणं चउत्थभत्तस्स उक्कोसेणं साइरेगस्स वाससहस्सस्स आहारट्ठे समुप्पज्जइ ।) अत्र तु चउत्थभत्तस्सेति सप्तम्यर्थे षष्ठी । चतुर्थभक्त आगमिकीयं संज्ञा एकस्मि-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न्दिवसेऽतिक्रान्ते इत्यर्थः । भूयो जघन्येनाहारार्थः । समुत्पद्यते । एतच्च दशवर्षसहस्रायुषां प्रतिपत्तव्यमुत्कर्षतः सातिरेके अभ्यधिके वर्षसहस्रेऽतिक्रांते । एतच्च सागरोपमायुषामवसेयं ॥

असुरकुमाराणं भंते! किमाहारमाहारयंति? गोयमा! दव्वओ अणंतपएसियाइं खेत्तओ असंखेज्जपएसोगाढाइं कालओ अन्नयरठिइयाइं भावओ वण्णमंताइं गंधमंताइं रसमंताइं फासमंताइं जाव नियमा । छद्दिसिं आहारंति ओसन्नं कारणं पडुच्च वण्णओ हालिद्दसुक्किल्लाइं गंधओ सुरभिगंधाइं, रसओ अंबिलमधुराइं, फासओ मउयलहुणिद्धुण्हाइं, तेसिं पोराणं वण्णगुणं गंधगुणे फासगुणे जाव इच्छियत्ताए अभिज्झियत्ताए उड्ढत्ताए नो अहत्ताए सुहत्ताए नो दुहत्ताए एतेसिं भुज्जो २ परिणमंति * यथा चासुरकुमाराणां सूत्रमुक्तं । तथा नागकुमारादीनामपि स्तनितकुमारपर्यवसानानां वक्तव्यमवरमाभोगनिर्वर्तिताहारार्थे चिन्तायामुत्कर्षाभिधानानुसारेण * "उक्कोसेणं दिवसपुहुत्तस्स आहारट्ठे समुप्पज्जइ" * इति वक्तव्यं । एतच्च पल्योपमासंख्येयभागायुषां तदधिकायुषां चावसेयं । शेषं तथैव । तथा चाह । एवं जाव थणियकुमाराणमित्यादि * ॥

सम्प्रति पृथिवीकायिकानामेतान्सप्ताधिकारान् चिंतयितुकाम आह । पृथ्वीकायिकानाम् ॥

पुढवीकाइयाणं भंते! आहारट्ठी? हंता आहारट्ठी । पुढविकाइयाणं भंते! केवइकालस्स आहारट्ठे समुप्पज्जइ । गोयमा! अणुसमयं अविरहिए आहारट्ठे समुप्पज्जइ । पुढविकाइयाणं भंते! किमाहारमाहारंति । एवं जहा । णेरइयाणं जाव ताइं भंते! कइदिसिं आहारेइ निव्वाघाएणं छद्दिसिं वाघायं पडुच्च सिय तिदिसिं सिय चउदिसिं सिय पंचदिसिं नवरं उसन्नकारणं न भण्णइ । वण्णओ कालनीललोहियहालिद्दसुक्किलाइं, गंधओ सुब्भिगंध दुब्भिगंधाइं, रसओ तित्तरसकडुयकसायअंबिलमहुराइं, फासओ कक्खडफासगरुयलहुयसीतउसिणणिद्धलुक्खाइं, तेसिं पोराणा वण्णगुणा । सेसं जहा । नेरइयाणं जाव आहच्च नीससंति पुढविकाइयाणं भंते! जे पोग्गले आहारत्ताए गेण्हंति । तेसि णं भंते! पोग्गलेणं सेयालंसि कतिभागं आहारंति । कतिभागं आसायंति? गोयमा! असंखेज्जाइभागं आहारंति अणंतभागं आसायन्ति पुढविकाइयाणं भंते! जे पुग्गले आहारत्ताए गेण्हंति तेकिं सव्वे आहारंति नो सव्वे आहारंति जहेव णेरया तहेव । पुढविकाइयाणं भंते! जे पोग्गले आहारत्ताए गेण्हंति तेणं तेसिं पोग्गलाणं कीसत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमंति? गोयमा! फासिंदियवेमाणियत्ताए तेसिं भुज्जो २ परिणमंति । एवं जाव वणस्सइकाइया । बेइंदियाणं भंते! आहारट्ठी? हंता गोयमा! आहारट्ठी । बेइंदियाणं भंते! केवइकालस्स आहारट्ठे समुप्पज्जइ जहा णेरइयाणं नवरं तत्थणं जेसे आभोगनिव्वत्तिए सेणं असंखेज्जसमए अंतो मुहुत्तिए आहारट्ठे समुप्पज्जइ सेसं जहा पुढविकाइयाणं जाव आहच्च नीससंति नवरं नियमा छद्दिसिं बेइंदियाणं पुच्छा जे पोग्गले पक्खेवाहारत्ताए गेण्हंति तेणं तेसिं पोग्गलाणं कइभागं आहारंति । कइभागं आसायंति । एवं जहा नेरइयाणं । बेइंदिया णं भंते! जे पोग्गले आहारत्ताए गिण्हंति । तेसिं किं सव्वे आहारंति । बेइंदियाणं दुविहे आहारे पण्णत्ते । तंजहा । लोम आहारे य पक्खेवाहारे य । जे पोग्गले लोमआहारत्ताए गिण्हंति ते सव्वे अपरिसेसे आहारंति । जे पोग्गले पक्खेवाहारत्ताए गेण्हंति तेसिं असंखेज्जइभागमाहारंति अणेगाइं च णं भागसहस्साइं अफासाइज्जमाणाणं अणास्साइज्जमाणाणं विद्धंसमागच्छंति ॥ प्रज्ञा० पद २८ ॥

टी० (पुढविकाइयाणं भंते! इत्यादि) सर्वं पूर्ववदसुरकुमारवद्भावनीयं नवरं (निव्वाघाएणं छद्दिसिमित्यादि) व्याघातो नाम अलोकाकाशेन प्रतिस्खलनं व्याघातस्तस्याभावो निर्व्याघातः । "शब्दे यथा यद्व्ययपूर्वपदार्थेनित्यमव्ययीभाव" इत्यव्ययीभावस्तेन वा तृतीयायामिति विकल्पेन आम्विधानात्यक्तेऽस्राम् भावः । नियमादवश्यतया षड्दिशि व्यवस्थितानि षड्भ्यो दिग्भ्य आगतानि द्रव्याण्याहारयंतीति भावः । व्याघातंपुनः प्रतीत्य लोकनिष्कुटादौ स्यात्कदाचित् । त्रिदिशि तिसृभ्यो दिग्भ्य आगतानि कदाचिच्चतुर्दिग्भ्यः कदाचित्पञ्चदिग्भ्यः । काऽत्र भावनेति चेदुच्यते । इह लोकनिष्कुटे पर्यंताधस्त्यप्रतराग्निकोणावस्थितो यदा पृथिवीकायिको वर्तते तदा तस्याधस्तादलोकेन व्याप्तत्वादधोदिक् पुद्गलाभावः । आग्नेयकोणावस्थितत्वात्पूर्वदिक् पुद्गलाभावो दक्षिणदिक्पुद्गलाभावश्च । एवमधः पूर्वदक्षिणरूपाणां तिसृणां दिशामलोकेन व्यापन्नता अपास्य याः परिशिष्टा ऊर्ध्वा अपरा उत्तरा च दिग् व्याहता वर्तते तत आगतान्पुद्गलानाहारयन्ति यदा पुनस्स एव पृथिवीकायिकः पश्चिमां दिशमनुसृत्य वर्तते तदा पूर्वा दिगभ्यधिका जाता । द्वे च दिशौ दक्षिणाधस्त्यरूपे अलोकेन व्याहते इति स चतुर्दिगागतान्पुद्गलानाहारयति । यदा पुनरूर्ध्वं द्वितीयादिप्रतरगतपश्चिमदिगवलम्ब्य तिष्ठति तदा अधस्त्याऽपि दिगभ्यधिका लभते केवलदक्षिणैवैका पर्यन्तवर्तिनी अलोकेन व्याहतेति पञ्चदिगागतान्पुद्गलानाहारयन्तीति शेषं सूत्रं समस्तमपि पूर्ववद्भणनीयं यस्तु विशेषस्तमुपदर्शयति (न वरमुसन्नकारणं न हवइ इत्यादि) सुगमं (फासिंदियवेमायत्ताए इति) विषममात्रा विमात्रा तस्याभावो विमात्रता तया इष्टानिष्टा नानाभेदतयेति भावो न तु यथा नारकाणामेकान्ताशुभतया सुराणां च शुभतयैवेति । एवं जाव वणस्सइकाइयाणंति । यथा पृथिवीकायिकानां सूत्रमुक्तमेवमप्तेजोवायुवनस्पतीनामपि भणनीयं । सर्वेषामपि सकललोकव्यापितया विशेषाभावात् (बेइंदियाणं भंते! इत्यादि) सुगमं नवरं । (लोमाहारे पक्खेवाहारेयत्ति) लोम्न आहारो

लोमाहारः । पक्षिप्यतेऽर्थान्मुखे इति प्रक्षेपः स चासावाहारश्च प्रक्षेपाहारः तत्र यः खल्वोघतो वर्षादिषु पुद्गलप्रवेशो मूत्रादिगम्यस्स लोमाहारः । कावलिकमुखप्रक्षेपाहारः । तत्र यान्पुद्गलान् लोमाहारतया गृह्णाति तान्सर्वानपरिशेषानाहारयन्ति तेषां तथा २ स्वभावत्वात् । यान्पुद्गलान्प्रक्षेपाहारतया गृह्णंति तेषामसंख्येयतमं भागमाहारयन्ति । अनेकानि पुनर्भागसहस्राणि बहवो ऽसंख्येया भागा इति अस्पृश्यमानानामनास्वाद्यमानानां विध्वंसमागच्छंति । किमुक्तं भवति । बहूनि द्रव्याण्यंतर्बहिश्च अस्पृष्टान्येवाऽनास्वादितान्येव विध्वंसमायान्ति नवरं यथायोगं केचिदतिस्थौल्यतः केचिदतिसौक्ष्म्यतः इति । प्रज्ञा० । पद ॥ २८ ॥

सम्प्रत्यस्पृश्यमानानामनास्वाद्यमानानाञ्च परस्परमल्पबहुत्वमभिधित्सुराह ॥

एएसिणं भंते ! पोग्गलाणं अणासाइज्जमाणाणं अफासाइज्जमाणाणं य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा ? गोयमा ! सव्वत्थो वा पोग्गला अणासाइज्जमाणा अफासाइज्जमाणा पोग्गला अणंतगुणा ॥

(एएसिणं भंते ! इत्यादि) इह एकैकस्मिन्स्पर्शयोग्ये भागे अनन्ततमो भाग आस्वाद्यो भवति ततो येनास्वाद्यमानाः पुद्गलास्ते स्तोका एवाऽस्पृश्यमानपुद्गलापेक्षया तेषामनन्तभागवर्तित्वात् । अस्पृश्यमानास्तु पुद्गला अनन्तगुणाः ॥

बेइंदियाणं भंते जे पोग्गले आहारत्ताए पु० ! गोयमा ! जिब्भिंदिय फासिंदियवेमायत्ताए तेसिं भुज्जो प०,० एवं जाव चउरिंदिया नवरं अणेगाइं च णं भागसहस्साइं अणग्घाइज्जमाणाइं अफासाइज्जमाणाइं विद्धंसमागच्छंति ॥

टी० ॥ (जिब्भिंदिय फासिंदिय वेमायत्ताए इति ।) विमात्ताऽपि प्राग्वद्भावनीया । एवं जाव चउरिंदिया । एवं द्वीन्द्रियोक्तप्रकारेण । सूत्रं तावद्वक्तव्यं यावच्चतुरिन्द्रियाश्चतुरिन्द्रियगतं सूत्रं प्रायः समानवक्तव्यत्वात् । यस्तु विशेषस्स उपदर्श्यते नवरमित्यादि यान्पुद्गलान्प्रक्षेपाहारतया गृह्णंति तेषां पुद्गलानामेकमसंख्येयतमं भागमाहारयन्ति । अनेकानि पुनर्भागसहस्राणि संख्यातीता असंख्येयभागा इत्यर्थः । अनाघ्रायमाणानि अस्पृश्यमानानि अनास्वाद्यमानानि विध्वंसमागच्छन्ति तानि च यथायोगमतिस्थौल्यतोऽतिसौक्ष्म्यतश्च वेदितव्यानि । अत्रैवाऽल्पबहुत्वमाह ।

एतेसिणं भंते पोग्गलाणं अणग्घाइज्जमाणाणं अणासाइज्जमाणाणं अफासाइज्जमाणाणं य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा ? गोयमा ! सव्वत्थो वा पोग्गला अणुग्घाइज्जमाणा अणासाइज्जमाणा अणंतगुणा अफासाइज्जमाणा अणंतगुणा तेइंदियाणं भंते ! जे पोग्गले पुच्छा गोयमा ! घाणिंदिय जिब्भिंदिय फासिंदिय वेमायत्ताए तेसिं भुज्जो भुज्जो परिणमंति । चउरिंदियाणं चक्खिंदिय जिब्भिंदिय घाणिंदिय फासिंदिय वेमायत्ताए तेसिं भुज्जो भुज्जो परिणमंति सेसं जहा तेइंदियाणं पंचिंदियतिरिक्खजोणिया जहा तेइंदिया नवरं तत्थणं जेसे आभोगनिव्वत्तिए से जहन्नेणं अंतोमुहुत्तस्स उक्कोसेणं छट्ठभत्तस्स आहारट्ठे समुप्पज्जइ । पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं भंते ! जे पोग्गलाणं पुच्छा, गोयमा ! सोइंदिय चक्खिंदिय घाणिंदिय जिब्भिंदिय फासिंदिय वेमायत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमंति । मणुसा एवं चेव नवरं आभोगनिव्वत्तिए जहन्नं अंतोमुहुत्तस्स उक्को० अट्ठमभत्तस्स आहारट्ठे समुप्पज्जइ । वाणमंतरा जहा नागकुमारा एवं जोइसिया वि नवरं आभोगनिव्वत्तिए जहन्नं दिवसपु० उक्कोसेण वि दिवसपहुत्तस्स आहारट्ठे समुप्पज्जइ । एवं वेमाणिया वि नवरं आभोगनिव्वत्तिए जहण्णेणं दिवसपु० उक्को० तेत्तीसाए वासस हस्साणं आहारट्ठे समुप्पज्जइ । सेसं जहा असुरकुमाराणं जाव तेसिं भुज्जो भुज्जो परिणमंति सोहम्मे आभोगनिव्वत्तिए जहन्नेणं दिवसपु० उक्कोसेणं दोण्हं वाससहस्साणं आहारट्ठे समुप्पज्जइ । ईसाणे पुच्छा गोयमा ! जहन्नं दिवसपु० सातिरेगस्स उक्कोसेणं सातिरेगाणं दोण्हं वाससहस्सा । सणंकुमाराणं पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं दोण्हं वाससहस्साणं उक्कोसेणं सत्तण्हं वाससहस्साणं । माहिंदे पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं दोण्हं वाससहस्साणं सातिरेगाणं उक्कोसेणं सत्तण्हं वाससहस्साणं सातिरेगाणं । बंभलोए पुच्छा । गोयमा ! जहन्नेणं सत्तण्हं वाससहस्साणं उक्कोसेणं दसण्हं वाससहस्साणं । लंतए पुच्छा । गोयमा ! जहन्नं दसण्हं वाससहस्साणं उक्कोसेणं चोद्दसण्हं वाससहस्साणं । महासुक्केणं पुच्छा । गोयमा ! जहण्णं चोद्दसण्हं वाससहस्साणं उक्कोसेणं सत्तदसण्हं वाससहस्साणं । सहस्सारे पुच्छा गोयमा ! जहन्नं सत्तदसण्हं वाससहस्साणं उक्कोसेणं अट्ठारसण्हं वाससहस्साणं आणतेणं पुच्छा गोयमा ! जहन्नं अट्ठारसण्हं वाससहस्साणं उक्कोसेणं एगूणवीसाए वाससहस्साणं । पाणएणं पुच्छा गोयमा ! जहन्नं एगूणवीसाए वाससहस्साणं उक्कोसेणं वीसाए वाससहस्साणं । आरणेणं पुच्छा । गोयमा ! जहन्नेणं वीसाए वाससहस्साणं उक्कोसेणं एक्कवीसाए वाससहस्साणं । अच्चुएणं । पुच्छा ! गोयमा ! जहन्नेणं एक्कवीसाए वाससहस्साणं । उक्कोसेणं बावीसाए वाससहस्साणं । हेट्ठिम २ गेविज्जगाणं पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं बावीसाए वाससहस्साणं उक्कोसेणं तेवीसाए वाससहस्साणं । एवं सव्वत्थ सहस्साणि भाणियव्वाणि । हेट्ठिममज्झिमाणं पुच्छा, गोयमा ! जहन्नं तेवीसाए उक्कोसं चउवीसाए हेट्ठिमउवरिमाणं पुच्छा गोयमा ! जहन्नं चउवीसाए उक्कोसेणं पणवीसा । मज्झिमहेट्ठिमाणं पुच्छा । जहन्नं पणवीसाए उक्कोसेणं छव्वीसाए ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मज्झिममज्झिमाणं पुच्छा, गोयमा ! जहन्नं छव्वीसाए उक्कोसेणं सत्तावीसाए । मज्झिम उवरिमाणं पुच्छा । गोयमा ! जहन्नेणं सत्तावीसाए । उक्कोसेणं अट्ठावीसाए । उवरिमहेट्ठिमाणं पुच्छा । गोयमा ! जहण्णं अट्ठावीसाए उक्कोसेणं एगूणतीसाए । उवरिममज्झिमाणं पुच्छा, गोयमा ! जहण्णं एगूणतीसाए उक्कोसेणंतीसाए उवरिमउवरिमगेविज्जगाणंपुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं तीसाए उक्कोसेणं एक्कतीसाए वाससहस्साणं । विजयवेजयंतजयंतअपराजियाणं पुच्छा । गोयमा ! जहन्नेणं एक्कतीसाए उक्कोसेणं तेत्तीसाए वाससहस्साणं । सव्वट्ठसिद्धदेवाणं पुच्छा, । गोयमा ! अजहन्नमणुक्कोसेणं तेत्तीसाए वाससहस्साणं आहारट्ठे समुप्पज्जइ ॥

टी० । एएसिणं भंते ! इत्यादि । इह एकैकस्मिन् भागे स्पर्शयोग्येऽनन्ततमोभाग आस्वादयोग्यो भवति । तस्याप्यनन्ततमोभाग आघ्रायमाणयोग्यः । ततो यथोक्तमल्पबहुत्वं भवति शेषं सर्वं सुगमं । पंचेन्द्रियसूत्रे-जहन्नेणं अंतो मुहुत्तस्सेति । षष्ठ्याः सप्तम्यर्थत्वादन्तर्मुहूर्त्ते गते सति भूय आहारार्थः समुत्पद्यते उत्कर्षतः षष्ठभक्के ऽतिक्रान्ते एतच्च देवकुरूत्तरकुरुतिर्य्यक्पंचेन्द्रियापेक्षया द्रष्टव्यं । मनुष्यसूत्रे उक्कोसेणं अट्ठमभत्तस्सत्ति । उत्कर्षतो ऽष्टमभक्ते ऽतिक्रान्ते । एतच्च तास्वेव देवकुरूत्तरकुरुषु द्रष्टव्यं व्यंतरसूत्रे नागकुमारसूत्रवत् । ज्योतिष्कसूत्रमपि तथैव यस्तु विशेषस्तमुपदर्शयति । नवरं (जहन्नेण वि दिवसपुहुत्तस्स उक्कोसेण वि दिवसपुहुत्तस्सत्ति) ज्योतिष्का हि जघन्यतोऽपि पल्योपमाष्टमभागप्रमाणायुषस्ततस्तेषां जघन्यपदेऽप्युत्कृष्टपदेऽपि दिवसपृथक्त्वेऽतिक्रांते भूय आहारार्थः समुत्पद्यते । पल्योपमासंख्येयभागायुषां च स्वरूपत एव दिवसपृथक्त्वातिक्रमे भूय आहारार्थस्समुत्पद्यते । वैमानिकसूत्रे-नवरं (आभोगनिव्वत्तिए जहन्नेणं दिवसपुहुत्तस्स इति) एतत्पल्योपमाद्यायुषामवसेयं । उक्कोसेणं तेत्तीसाए वाससहस्साणं ति । एतदनुत्तरसुराणामवसेयं । इह यस्या यावन्ति सागरोपमाणि स्थितिस्तस्यास्तावत्सु वर्षसहस्रेषु आहारार्थ उत्पद्यते इत्येतच्च स्थितिपरिमाणं परिभाव्य वैमानिकसूत्रं सकलमपि स्वयं विज्ञेयमिति ॥ प्रज्ञा. पद. ॥ २८ ॥

संवतशब्दे तदाहारः ॥

नैरयिकाः किंवीचिद्रव्याण्यवीचिद्रव्याणि वाहारयंति ।

णेरइयाणं भंते ! किं वीचिं दव्वाइं आहारेंति अवीचिं दव्वाइं आहारेंति ? गोयमा ! णेरइया वीचिदव्वाइं पि आहारेंति अवीचिदव्वाइं पि आहारेंति । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ । णेरइया वीचीं तं चेव आहारेंति ! गोयमा ! जेणं णेरइया एकपदे सूणाइं पि दव्वाइं आहारेंति तेणं णेरइया वीचिदव्वाइं आहारेंति जेणं णेरइया पडिपुण्णाइं दव्वाइं आहारेंति तेणं णेरइया अवीचिदव्वाइं आहारेंति से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ जाव आहारेंति एवं जाव वेमाणिया आहारेंति ॥

टी. । वीइं दव्वाइंति ॥ वीचिर्विवक्षितद्रव्याणां तदवयवानां च परस्परेण पृथग्भावो "विचिर पृथग्भावे" इति वचनात् तत्र वीचिप्रधानानि द्रव्याणि वीचिद्रव्याणि एकादिप्रदेशन्यूनानीत्यर्थः । एतन्निषेधादवीचिद्रव्याणि । अयमत्र भावो-यावता द्रव्यसमुदायेनाहारः पूर्यते स एकादिप्रदेशो नो वीचिद्रव्याण्युच्यते । परिपूर्णस्त्ववीचिद्रव्याणीति टीकाकारः । चूर्णिकारस्त्वाहारद्रव्यवर्गणा अधिकृत्येदं व्याख्यातवान् तत्र च याः सर्वोत्कृष्टा आहारद्रव्यवर्गणास्ता अवीचिद्रव्याणि । यास्तु तास्य एकादिना प्रदेशेन हीनास्ता वीचिद्रव्याणीति (एगपएसूणाइं पि दव्वाइंति) एकप्रदेशोनान्यपि अपि शब्दादनेकप्रदेशोनान्यपीति ॥ भ. १४ श. ६ उ. ॥

अनन्तरा हाराः परम्पराहाराः ।

णेरइयाणं भंते ! अणंतराहारा तत्तो निव्वत्तणया तत्तो परियाइणया तत्तो परिणामणया तत्तो परियारणया तत्तो पच्छा विउव्वणया ? हंता गोयमा ! णेरइया अणंतराहारा तत्तो निव्वत्तणया तत्तो परियाइणया तत्तो परिणामणया तओ परियारणया तओ पच्छा विउव्वणया असुरकुमाराणं भंते ! अणंतराहारा तओ निव्वत्तणया तओ परियाइणता तओ परिणामणता तओ विउव्वणया तओ पच्छा परियारणया ? हंता गोयमा ! असुरकुमारा अणंतराहारा तओ निव्वत्तणया जाव तओ पच्छा परियारणया । एवं जाव थणियकुमारा । पुढविकाइयाणं भंते ! अणंतराहारा तओ निव्वत्तणया तओ परियाइणता तओ परिणामणता तओ परियारणता तओ विउव्वणया ? हंता गोयमा ! तं चेव जाव परियारणता नो चेव णं विउव्वणता एवं जाव चउरिंदिया नवरं वाउक्काइया पंचिंदियतिरिक्खजोणिया मणुस्सा जहा णेरइया वाणमंतरजोइसियवेमाणिया जहा असुरकुमारा ॥

टी० । नैरयिका णमिति वाक्यालङ्कारे । भदन्त ! परमकल्याणयोगिन् ! परमसुखयोगिन् ! वा अनन्तरमुपपातक्षेत्रप्राप्तिसमयमेव आहारयन्तीत्यनन्तराहाराः । ततो निव्वत्तणया इति । ततोऽनन्तराहारग्रहणादारभ्य क्रमेण शरीरस्येति निर्वर्त्तिता निष्पत्तिर्भवति । तओ परियाइणया इति । ततश्शरीरनिष्पत्तेरारभ्य पर्यादानं यथायोगमङ्गप्रत्यङ्गैर्लोमाहारादिना समन्ततः पुद्गलादानं । तओ परिणामणया इति । ततः पुद्गलादानादनन्तरं तेषां पुद्गलानाम्परिणामनमिन्द्रियादिरूपतया परिणमत्यापादनं । ततो परियारणया इति । तत इन्द्रियादिरूपतया परिणमत्यापादनादूर्ध्वं परिचारणा यथायोगं शब्दादिविषयोपभोगः ततः पश्चात् विकुर्व्वणा वैक्रियलब्धिवशात् विक्रिया नानारूपा एवमुक्ते भगवानाह-हंता गोयमेत्यादि । हंतेत्यभ्यनुज्ञायां हंता गौतम ! नैरयिका अनन्तराहारा इत्यादि । तदेवं यथा नैरयिकाणामनंतराहारादिवक्तव्यतोक्ता तथा असुरकुमारादीनामपि स्तनितकुमारपर्य्यवसानानां वक्तव्या नवरं पूर्व्वं विकुर्व्वणं पश्चात्परिचारणा ते हि विशिष्टशब्दाद्युपभोगवाञ्छायां पूर्वमिष्टं वैक्रियरूपं कुर्वन्ति पश्चात् शब्दाद्युपभोगमित्येष नियमः । शेषास्तु शब्दाद्युपभोगसंपत्तौ सत्यां हर्षवशाद्विशिष्टतरशब्दाद्युपभोगवाञ्छातो ऽन्यतो वा कुतश्चित्कारणाद्विकुर्व्वते । ततस्तेषां पूर्व्वं प्रविचारणा पश्चाद्विकुर्व्वणेति पृथिवीकायविषये प्रश्नसूत्रे तथैव उत्तरसूत्रे तावद्वक्तव्यं यावत्परिचारणा तेषामपि स्पर्शोपभोगसंभवात् । नो चेव णं

विउव्वणयत्ति । न चैव तेषां विकुर्वणा यस्या वैक्रियलब्धेर-संभवात् । एवमित्यादि । एवं पृथिवीकायवदप्कायादयो वातकायवर्जास्तावद्वक्तव्या यावच्चतुरिन्द्रियाः सर्वेषामपि वैक्रियलब्धेरसंभवेन सूत्रस्य समानत्वात् वातकायान् प्रति वि शेषमभिधित्सुः समानगमत्वात्पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्याणामपि वातकायैः सहातिदेशमाह । नवरमित्यादि । जहा नेरइया इति । यथा नैरयिकास्तथा वक्तव्याः । किमुक्तं भवति । नैरयिकवद्विकुर्वणाप्येतेषां वक्तव्या वैक्रियलब्धिसंभवात् । सा च प्रविचारणायाः पश्चादिति । वाणमंतरजोइसियवेमाणिया जहा असुरकुमारा इति । असुरकुमाराणामिव व्यन्तरादीनामपि पूर्वं विकुर्वणा पश्चात्परिचारणा वक्तव्येति भावः । सुरगणानां सर्वेषामपि तथा स्वाभाव्यात् । उक्तञ्च मूलटीकायां "पुव्वं विउव्वणा खलु पच्छा परिचारणा सुरगणाणं । सेसाणं पुव्वं परियारणाओ पच्छा विउव्वणया,, इति । प्रज्ञा. ३४ पद् ।

सम्प्रत्याहारविषयमाभोगं विचिन्तयिषुरिदमाह ।

णेरइया णं भंते ! आहारे किं आभोगनिव्वत्तिए अणाभोगनिव्वत्तिए ? गोयमा ! आभोगनिव्वत्तिए वि अणाभोगनिव्वत्तिए वि । एवं असुरकुमाराणं जाव वेमाणियाणं नवरं एगिंदिया णं नो आभोगनिव्वत्तिए अनाभोगनिव्वत्तिए । णेरइया णं भंते ! जे पोग्गले आहारत्ताए गेएहंति ते किं जाणंति पासंति आहारंति उदाहु न जाणंति न पासंति आहारंति गोयमा ! न जाणंति न पासंति आहारंति । एवं जाव तेइंदिया । चउरिंदियाणं पुच्छा, गोयमा ! अत्थेगइया न जाणंति पासंति आहारंति, अत्थेगतिया न जाणंति न पासंति आहारंति । पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा । गोयमा ! अत्थेगतिया जाणंति पासंति आहारंति अत्थेगतिया जाणंति न पासंति आहारंति अत्थेगतिया न जाणंति पासंति आहारंति, अत्थेगतिया न जाणंति न पासंति आहारंति । एवं मणुस्साणवि । वाणमंतरजोइसिया जहा णेरइया । वेमाणियाणं पुच्छा । गोयमा ! अत्थेगतिया जाणंति पासंति आहारंति अत्थेगतिया न जाणंति न पासंति आहारंति । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-वेमाणिया अत्थेगतिया जाणंति पासंति आहारंति । अत्थेगतिया न जाणंति न पासंति आहारंति ? गोयमा ! वेमाणिया दुविहा पसत्ता, तंजहा माईमिच्छदिट्ठी उववन्नगा य अमाई सम्मदिट्ठी उववन्नगा य । एवं जहा इंदियउद्देसे पढमे भणिए तहा भाणियव्वं जाव से तेणट्ठेणं गो. एवं वुच्चइ ॥

टी० आभोगनिर्वर्तितो यदा मनःप्रणिधानपूर्वमाहारं गृएहाति शेषकालमनाभोगनिर्वर्तितः स च लोमाहारोऽप्रसातव्यः । एवं शेषाणामपि जीवानामाभोगनिर्वर्तितोऽनाभोगनिर्वर्तितश्चाहारो भावनीयः । नवरमेकेन्द्रियाणामतिस्तोका पटुमनोद्रव्यलब्धिसंपन्नत्वात् । पटुतर आभोगो नोपजायते । इति तेषां सर्वदानाभोगनिर्वर्तित एवाहारो न पुनः कदाचिदप्याभोगनिर्वर्तितः । अधुनाहार्यमाणपुद्गलविषये ज्ञानदर्शने चिन्तयति । नेरइयाणं इत्यादि । नैरयिकाणमिति वाक्यालङ्कारे । भदन्त ! यान्पुद्गलानाहारतया गृएहन्ति ।

भगवानाह गौतम ! जानन्त्यवधिज्ञानेन लोमाहारतया तेषामतिसूक्ष्मत्वेन नारकावधेरविषयत्वात् ॥ न च पश्यंति चक्षुरिन्द्रियविषयाभावात् । द्वीन्द्रिया न जानन्ति । मिथ्याज्ञानतया तेषां सम्यक्परिज्ञानाभावात् । द्वीन्द्रियाणां हि मत्यज्ञानं तदपि चास्पष्टमनःप्रक्षेपाहारमपि न ते स्वयं गृह्यमाणमपि सम्यक् जानन्ति न च पश्यन्ति चक्षुरिन्द्रियाभावात् । एवं त्रीन्द्रिया अपि ज्ञानदर्शनविकला भावनीयाः । चतुरिन्द्रियाः । अत्थेगइयत्ति । सन्त्येकके स्वयं गृह्यमाणमप्याहारप्रक्षेपकस्वरूपमपि न जानंति । मिथ्याज्ञानित्वात् । तेषामपि हि द्वीन्द्रियाणामिव मत्यज्ञानं तदपि चाविस्पष्टमिति चक्षुषा पुनः पश्यंति चक्षुरिन्द्रियसद्भावात् । तथाहि । पश्यन्ति मक्षिकादयो गुडादिकमिति एवमाहारयन्ति तथा सन्त्येकके चतुरिन्द्रिया ये न जानन्ति मिथ्यात्वान्न च पश्यन्ति अन्धकारादिना चक्षुर्दर्शनस्य व्याहतत्वात् अनाभोगसंभवाच्च । तिर्यक्पञ्चेन्द्रियतिरश्चां चतुर्भंगी प्रक्षेपाहारं लोमाहारञ्चाधिकृत्य भावनीया । तत्र प्रक्षेपाहारमधिकृत्यैवं भावना । सन्त्येकके तिर्यक्पंचेन्द्रिया ये प्रक्षेपमाहारं जानन्ति सम्यग्ज्ञानितया तेषां यथावस्थितपरिज्ञानात् । पश्यन्ति चक्षुरिन्द्रियभावात् । एवमाहारयन्ति । सन्त्येकके ये जानन्ति पूर्ववन्न च पश्यन्ति दर्शनस्यान्धकारादिना अनाभोगेन वा व्याहतत्वात् । तथा सन्त्येकके ये न जानन्ति मिथ्याज्ञानतया सम्यक्परिज्ञानाभावात् । पश्यन्ति पुनश्चक्षुरिन्द्रिययोगात् । तथा सन्त्येकके ये न जानन्ति । मिथ्याज्ञानित्वान्न च पश्यंति पूर्ववत् । एवमाहारयन्ति लोमाहारापेक्षया त्वेवं भावना सन्त्येकके तिर्यक् पंचेन्द्रिया ये लोमाहारमपि जानन्ति विशिष्टावधिज्ञानपरिकलितत्वात् । पश्यन्ति । तथाविधक्षयोपशमभावत इन्द्रियपाटवस्यातिविशुद्धत्वात् । एवमाहारयन्ति । यथा सन्त्येकके ये जानन्ति पूर्ववत् । न च पश्यन्ति तथाविधस्येन्द्रियपाटवस्याऽभावात् । तथा सन्त्येकके न जानन्ति पश्यन्ति तथारूपपाटवाभावादिति एवं मनुष्याणामपि लोमाहारप्रक्षेपाहारौ प्रतीत्य चतुर्भंगी भावनीया । वाणमंतरजोइसिया जहा नेरइया । नैरयिकावधिरिव व्यन्तरज्योतिष्कावधिरपि मनोभक्षित्वेऽप्याहारपुद्गलानामविषयत्वात् । वेमाणियाणं पुच्छति । वैमानिकानामपृथक् सूत्रं वक्तव्यं । वेमाणियाणं भंते ! जे पोग्गले आहारत्ताए गिएहंति ते किं जाणंति पासंति उदाहु न जाणंति न पासंति आहारंति इति । भगवानाह गोयमेत्यादि । माया पूर्वभवकृता विद्यते येषान्ते मायिनो मायया हि यथा तथा बादररूपकृतया कलुषकर्म प्रादुर्भावः । कलुषे च कर्मण्युदयमागते भवप्रत्युदयादप्युपजायमानो ऽवधिर्नातिसमीचीनो भवति । एते च सम्यग्दृशो वेदितव्याः । तथा मिथ्याविपर्यस्ता दृष्टिर्जिनप्रणीतवस्तुतत्त्वप्रतिपत्तिर्येषान्ते मिथ्यादृष्टयः । मायिनश्च मिथ्यादृष्टयश्च मायिमिथ्यादृष्टयस्ते च ते उपपन्नाश्च मायिमिथ्यादृष्ट्युपपन्नास्त एव स्वार्थिककप्रत्ययविधानात्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मायिमिथ्यादृष्ट्युपपन्नकास्ते चोपरितनोपरितनग्रैवेयकपर्यवसाना विज्ञेयाः ॥ तेषां यथायोगमवश्यं मिथ्यादृष्टित्वस्य मायित्वस्य च भावात् । तद्विपरीता अमायिसम्यग्दृष्ट्युपपन्नकास्ते चानुत्तरविमानवासिनस्तेषामवश्यं सम्यग्दृष्टित्वं पूर्वानंतरभवे नितरां प्रतनुक्रोधमानमायालोभत्वस्योपशान्तकषायत्वस्य च भावात् । आह च मूलटीकाकारः (वेमाणिया माइमिच्छदिट्ठी उववन्नगा जाव उवरिमगेवेज्जा अमायिसम्मदिट्ठी उववन्नगा) अनुत्तरा एव गृह्यन्ते इति । एवं जहेत्यादि । एवमुक्तेन प्रकारेण प्राक् यथा इन्द्रियसत्के प्रथमोद्देशके भणितं तथा भणितव्यं । तच्च तावत् यावत्सर्वोन्तिमं । से एणमित्यादिना निगमनवाक्यं तच्चैवं—

तत्थ णं जे ते मायिमिच्छदिट्ठिउववन्नगा तेणं न याणंति न पासंति आहारंति तत्थ णं जे ते अमायिसम्मदिट्ठिउववन्नगा तेणं दुविहा पएणत्ता । तं अणंतरोववन्नगा परंपरोववन्नगा य । तत्थ णं जे ते अणंतरोववन्नगा ते न याणंति न पासंति आहारंति । तत्थ णं जे ते परंपरोववन्नगा ते दुविहा पन्नत्ता । तं० पज्जत्तगा य अपज्जत्तगा य तत्थ णं जे ते अपज्जत्तगा ते न याणंति न पासंति आहारंति । जे ते पज्जत्तगा ते दुविहा पन्नत्ता। तं० उवउत्ता य अणुवउत्ता य । तत्थ णं जे ते अणुवउत्ता ते न याणंति न पासंति आहारंति। तत्थ णं जे ते उवउत्ता ते जाणंति पासंति आहारंति से तेणट्ठेणं गोयमा! एवं वुच्चइ । अत्थेगइया न जाणंति न पासंति आहारंति । अत्थेगइया जाणंति पासंति आहारंति इति ।

अस्यायमर्थः । सूत्रे ये ते मायिमिथ्यादृष्ट्युपपन्नका उपरितनोपरितनग्रैवेयकपर्यवसाना इत्यर्थः । ते मनोभक्ष्याहारयोग्यान्पुद्गलान् न जानंति अवधिज्ञानेन तदेवावधेस्तेषामविषयत्वात् । न पश्यन्ति चक्षुषा तथाविधपाटवाभावात् । येऽप्यमायिसम्यग्दृष्ट्युपपन्नका अनुत्तरविमानवासिन इत्यर्थः । ते द्विधा अनन्तरोपपन्नकाः परम्परोपपन्नकाश्च । प्रथमसमयोत्पन्ना अप्रथमसमयोत्पन्नाश्चेत्यर्थः । अत्र ये ते अनन्तरोपपन्नकास्ते न जानन्ति न पश्यन्ति प्रथमसमयोत्पन्नतयाऽवधिज्ञानोपयोगस्य चक्षुरिन्द्रियस्याभावात् । किन्त्वेवमेवाहारयंति । तत्र ये ते परम्परोपपन्नकास्ते द्विविधास्तद्यथा पर्याप्ता अपर्याप्ताश्च । तत्र ये ते अपर्याप्तकास्ते न जानन्ति न च पश्यन्ति पर्याप्तीनामसंपूर्णत्वेनावध्याद्युपयोगाभावात् । ये ऽपि पर्याप्तास्ते ऽपि द्विविधास्तद्यथा उपयुक्ता अनुपयुक्ताश्च । तत्र ये ते उपयुक्तास्ते जानन्ति अवधावनं शतो यथाशक्तिनियमेन ज्ञानस्य स्वविषयपरिच्छेदाय प्रवृत्तिसंभवात् । पश्यन्ति चक्षुषा इन्द्रियपाटवस्य तेषामतिविशिष्टत्वात् । ये त्वनुपयुक्तास्ते न जानन्ति न च पश्यन्ति अनुपयुक्तत्वादेव । उपयुक्ता अपि कथं मनोभक्ष्याहारयोग्यान्पुद्गलान् जानन्ति इति चेदुच्यते । इहावश्यकप्रथमपीठिकायामवधिज्ञानाधिकारेऽभिहितं "संखेज्जकम्मदव्वे लोए थोवूणयं पलियं" ॥ अस्यायमर्थः । कार्म्मणशरीरद्रव्याणि पश्यन् क्षेत्रतो लोकस्य संख्येयान् भागान्पश्यन्ति । कालतः स्तोकोनं पल्योपमं यावत् अनुत्तरास्तु सम्पूर्णां लोकनाडीम्पश्यन्ति । "संभिन्नलोगनालिं पासन्ति अनुत्तरा य" इति वचनात् । ततस्ते मनोभक्ष्याहारयोग्यानपि पुद्गलान् जानन्ति । आह च मूलटीकाकारः । ते जानन्ति आहारयंति च विशुद्धत्वादवधेरिन्द्रियविषयस्य चातिविशुद्धत्वात्पश्यन्त्यपि इति । अत्रेन्द्रियविषयस्येति इन्द्रियपाटवस्येतिभावः । उपसंहारवाक्यं प्रतीतार्थं ॥

सम्प्रत्येकेन्द्रियशरीरादीनामधिकारमभिधित्सुराह ॥

नेरइयाणं भंते ! किं एगिंदियसरीराइं आहारंति जाव पंचिंदियसरीराइं आहारंति ? गोयमा ! पुव्वभावपन्नवणं पडुच्च एगिंदियसरीराइं पि आहारंति जाव पंचिंदियसरीराइं पि आहारंति । पडुप्पन्नभावपन्नवणं पडुच्च नियमा पंचिंदियसरीराइं पि एवं जाव थणियकुमारा । पुढविकाइयाणं पुच्छा, गोयमा ! पुव्वभावपन्नवणं पडुच्च एवं चेव पडुप्पन्नभावपन्नवणं पडुच्च नियमा एगिंदियसरीराइं आहारंति । बेइंदिया पुव्वभावपन्नवणं पडुच्च एवं चेव पडुप्पन्नभावपन्नवणं पडुच्च नियया बेइंदियसरीराइं आहारंति । एवं जाव चउरिंदिया जाव पुव्वभावपन्नवणं पडुच्च एवं पडुप्पन्नभावपन्नवणं पडुच्च नियमा जस्स जइ इंदिया तस्स इंदियसरीराइं ते आहारंति। सेसं जहा नेरइया जाव वेमाणिया ॥

टी. ॥ नेरइयाणं भंते ! इत्यादिप्रश्नसूत्रं सुगमं निर्वचनसूत्रमाह । गोयमेत्यादि । पूर्वोऽतीतो भावस्तस्य प्रज्ञापना प्ररूपणा तामप्रतीत्य एकेन्द्रियशरीराण्यपि यावत्करणात् द्वित्रिचतुरिन्द्रियशरीरपरिग्रहः । पंचेन्द्रियशरीराण्यप्याहारयन्ति । इयमत्र भावना । यदा तेषामाहार्यमाणानां पुद्गलानामतीतो भावः परिभाव्यते तदा ते किंचित्कदाचित् एकेन्द्रियशरीरतया परिणता आसीरन् । कदाचित् द्वीन्द्रियशरीरतया परिणता आसीरन् । कदाचित् त्रीन्द्रियशरीरतया कदाचिच्चतुरिन्द्रियशरीरतया कदाचित्पञ्चेन्द्रियशरीरतया ततो यदि पूर्वभाव इदानीमध्यारोप्य विवक्ष्यते तदा नैरयिका एकेन्द्रियशरीराण्यपि यावत्पञ्चेन्द्रियशरीराण्यप्याहारयन्तीति भवति । पडुप्पन्नभावपन्नवणं पडुच्चेत्यादि । प्रत्युत्पन्नो वार्तमानिकः स चासौ भावश्च प्रत्युत्पन्नभावस्तस्य प्रज्ञापना तां प्रतीत्य नियमादवश्यतया पंचेन्द्रियशरीराण्याहारयन्ति । कथमिति चेदुच्यते । इह प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनां करोति नय ऋजुसूत्रो न शेषा नैगमादयः । ऋजुसूत्रश्च क्रियमाणं कृतमन्यवन्हियमाणमन्यवहृतं परिणम्यमाणं परिणतमभ्युपगच्छति । अभ्यवन्हियमाणाश्च पुद्गलास्ते उच्यन्ते ये स्वशरीरतया परिणम्यमाना वर्तन्ते । अभ्यवन्हियमाणं चाभ्यवहृतं परिणम्यमानश्च परिणतमिति तन्मतेन शरीरमेवाभ्यवन्हियते । स्वशरीरश्च तेषां पंचेन्द्रियशरीरास्तेषामत उक्तं नियमात्पञ्चेन्द्रियशरीराण्याहारयन्तीति । एवमसुरकुमारादयः स्तनितकुमारपर्यवसाना भवनपतयो वक्तव्याः । पृथिवीकायिकसूत्रे प्रत्युत्पन्नभावप्ररूपणाचिन्तायां नियमादेकेन्द्रियशरीराण्याहारयन्तीति वक्तव्यं । तेषामेकेन्द्रियतया तच्छरीराणामेकेन्द्रियशरीरत्वात् । एवं द्वीन्द्रियसूत्रे नियमाद् द्वीन्द्रियशरीराण्याहारयन्तीति वक्तव्यं। त्रीन्द्रियसूत्रे नियमात्त्रीन्द्रियशरीराणि चतुरिन्द्रियसूत्रे नियमाच्चतुरिन्द्रियशरीराणीति । तिर्यक्पञ्चेन्द्रिया मनुष्या व्यंतरज्योतिष्कवैमानिकाश्च नैरयिकवद्वक्तव्याः तथाचाह (पुढवीकायाणं पुच्छा) इत्यादि ॥ प्रज्ञा० प० ४० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अधुना लोमाहाराधिकारं विभावयिषुरिदमाह ॥

नेरइया णं भंते ! किं लोमाहारा पक्खेवाहारा ? गोयमा ! लोमाहारा नो पक्खेवाहारा । एवं एगिंदिया सव्वे देवा य भाणियव्वा जाव वेमाणिया । बेइंदिया जाव मणुस्सा लोमाहारा वि पक्खेवाहारा वि ॥

(नेरइयाणमित्यादि) सुगमं नवरं नैरयिकाणां प्रक्षेपाहारो न भवतीति वैक्रियशरीराणां तथा स्वभावत्वात् लोमाहारोऽपि च पर्याप्तानामवसेयो नापर्याप्तानामिति ॥ (एवमेगिंदिया इत्यादि) एवं नैरयिकोक्तेन प्रकारेण एकेन्द्रियाः पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः सर्वे देवाश्चासुरकुमाराद्यो यावद्वैमानिका भणितव्यास्तत्रैकेन्द्रियाणां प्रक्षेपाहाराभावो मुखाभावात् । असुरकुमारादीनां वैक्रियशरीरितया तथा स्वभावात् द्वित्रिचतुरिन्द्रियास्तिर्यक्पञ्चेन्द्रिया मनुष्याश्च लोमाहारा अपि वक्तव्याः । प्रक्षेपाहारा अपि उभयरूपस्याप्याहारस्य तेषां संभवात् चरममर्थाधिकारमभिधित्सुराह ॥

नेरइया णं भंते ! किं ओयाहारा मणभक्खी ? गोयमा ! ओयाहारा णो मणभक्खी एवं सव्वे उरालियसरीरा वि देवा सव्वे जाव वेमाणिया ओयाहारा वि मणभक्खी वि । तत्थ णं जे ते मणभक्खी देवा तेसि णं इच्छामणे समुप्पज्जइ इच्छामो णं मणभक्खणं करित्तए तए णं तेहिं देवेहिं एवं मणसीकए समाणे खिप्पामेव जे पोग्गला इट्ठा कंता जाव मणामा तेसिं मणभक्खत्ताए परिणमंति से जहा नामए सीता पोग्गला सीतं पप्पसीतं चेव अतिवइत्ताणं चिट्ठंति उसिणा वा पोग्गला उसिणं पप्पउसिणं चेव अतिवइत्ताणं चिट्ठंति एवामेव तेहिं मणभक्खणे कए समाणे से इच्छामणे खिप्पामेव अवेति ॥

(नेरइया णं भंते ! इत्यादि) ओज उत्पत्तिदेशे आहारयोग्यपुद्गलसमूहः । ओज आहारो येषान्ते ओजआहारा मनसा भक्षयन्तीत्येवं शीला मनोभक्षिणः । तत्र नैरयिका ओज आहारा भवन्ति । अपर्याप्तावस्थायामोजस एवाहारस्य संभवात् मनोभक्षिणस्त्वेते न भवन्ति मनोभक्षणलक्षणो ह्याहारस्स उच्यते । ये तथाविधशक्तिवशान्मनसा स्वशरीरपुष्टिजनकाः पुद्गला अभ्यवह्रियन्ते । यदभ्यवहरणानन्तरञ्च तृप्तपूर्व्वः परमसन्तोष उपजायते नचैतन्नैरयिकाणामस्ति । प्रतिकूलकर्म्मोदयवशतस्तथारूपशक्त्यभावादेवं(सव्वे उरालियशरीरा वि) इति । एवं नैरयिकोक्तेन प्रकारेणौदारिकशरीरिणोऽपि सर्व्वे पृथिवीकायिकादयो मनुष्यपर्य्यवसाना वक्तव्याः । तद्यथा । (पुढविकाइया णं भंते ! किं ओयाहारा मणभक्खी ? गोयमा ! ओयाहारा नो मणभक्खी त्यादि) देवा इत्यादि देवास्सर्वे यावद्वैमानिका ओजआहारा अपि मनोभक्षिणोऽपि वक्तव्याः । तद्यथा—

असुरकुमारा णं भंते ! किं ओयाहारा मणभक्खी ? गोयमा ! ओयाहारा वि मणभक्खी वि जाव वेमाणियाणं पुच्छा गोयमा ! ओयाहारा वि मणभक्खी वि ॥

सम्प्रति मनोभक्षित्वं देवानां यथा भवति तथोपदर्शयति । तत्र तेषु संसारिषु जीवेषु मध्ये णमिति वाक्यालंकारे । ये मनोभक्षिणो देवास्तेषां णमिति प्राग्वत् । मनः प्रस्तावादाहारविषयं समुत्पद्यते । केनोल्लेखेनेत्यत आह इच्छामो अभिलषामो णमिति पूर्व्ववत् मनोभक्षिणमिति मनसा भक्षणं मनोभक्षणं कर्तुमिति तत एवं तैर्मनसि कृते व्यवस्थापिते मनोभक्षणे सति तथा विधशुभकर्मोदयवशात् क्षिप्रमेव तत्कालमेवेति भावः । ये इष्टाः कान्ताः प्रिया मनोज्ञाः मन आपा पुद्गलास्तेषां व्याख्यानं प्राग्वत् । तेषां देवानां मनोभक्षतया परिणमन्ति कथमित्यत्रैव दृष्टान्तमाह (से जहा नामए)से शब्दोऽथशब्दार्थः सचात्र वाक्योपन्यासे यथा नामेति विवक्षिताः शीताः पुद्गलाः शीतं शीतयोनिकं प्राणिनं प्राप्य ते शीतत्वमेवातिव्रज्यातिशयेन गत्वा तिष्ठन्ति किमुक्तं भवति । विशेषतश्शीतीभूय शीतयोनिकस्य प्राणिनः सुखित्वायोपकल्पन्त इति । उष्णा वा पुद्गला उष्णम् उष्णयोनिकं प्राप्य उष्णमेव उष्णत्वमेवातिव्रज्यातिशयेनगत्वा तिष्ठन्ति विशेषतस्स्वरूपलाभसम्पत्या तस्य सुखित्वायोपतिष्ठन्त इति भावः । एवमेव अनेनैव प्रकारेण तैर्देवैः प्रागुक्तरीत्या मनोभक्षणे कृते सति स तेषां देवानामिच्छा मन आहारविषयेच्छा प्रधानमनः क्षिप्रमेवापैति तृप्तिभावान्निवर्तत इति भावः । इयमत्र भावना यथा शीत पुद्गलाः शीतयोनिकस्य प्राणिनः सुखित्वायोपकल्पन्ते उष्ण पुद्गला वा उष्णयोनिकस्य तथा देवैरपि मनसाऽभ्यवह्रियमाणाः पुद्गलास्तेषां तृप्तये परमसंतोषाय चोपकल्पन्ते तत आहारो विषयाभिलाषनिवृत्तिर्भवतीति । अत्र च ओज आहारादिविभागप्रतिपादिका इमास्सूत्रकृताङ्गनिर्युक्तिगाथाः ।

सरीरेणोसयाहारो तयादिफासेण लोम आहारो ।
पक्खेवाहारो पुण कावलिओ होइ नायव्वो ॥ १ ॥
ओयाहारा जीवा सव्वे अपज्जत्तगा मुणेयव्वा ।
पज्जत्तगा य लोमे पक्खेवे होंति भइयव्वा ॥ २ ॥
एगिंदियदेवाणं णेरइयाणं च णत्थि पक्खेवो ।
सेसाणं जीवाणं संसारत्थाणपक्खेवा ॥ ३ ॥
लोमाहार एगिंदियाओ णेरइयसुरगणा चेव ।
सेसाणं आहारो लोमे पक्खेवओ चेव ॥ ४ ॥
ओयाहारा मणभक्खिणो य सव्वे वि सुरगणा होंति ।
सेसा हवंति जीवा लोमे पक्खेवओ चेव ॥ ५ ॥

अथ क आहार आभोगनिर्वर्तितः को वाऽनाभोगनिर्वर्तितः इति चेदुच्यते । देवानामाभोगनिर्वर्तित ओज आहारः स चापर्य्याप्तावस्थायां लोम आहारोऽपि अनाभोगनिर्वर्तितस्स च पर्य्याप्तावस्थायां आभोगनिर्वर्तितो मनोभक्षणलक्षणः स च पर्य्याप्तावस्थायां आभोगनिर्वर्तितो मनोभक्षणलक्षणनिर्वर्तित आहारोऽपर्य्याप्तावस्थायां लोमाहारः पर्याप्तावस्थायां नैरयिकवर्ज्जानां लोमाहारो नैरयिकाणां लोमाहार आभोगनिर्वर्तितोऽपि द्वीन्द्रियादीनां मनुष्यपर्य्यवसानानां यः प्रक्षेपाहारस्स आभोगनिर्वर्तित एवेति ॥

नैरयिकादिषु आहारपुद्गलानां चयोपचयादिजीवशब्दे । आहारपदस्य द्वितीये उद्देशेऽर्थाधिकाराः ।

आहारभवियसन्नी लेस्सादिट्ठी य संजयकसाए ।
नाणाजोगुवओगे वेदेयसरीरपज्जत्ति ॥ १ ॥

प्रथमं सामान्यत आहाराधिकारो, द्वितीयो भव्याधिकारो भव्यविशेषिताहाराधिकारः । एवं तृतीयः संज्ञाधिकार, श्चतुर्थो लेश्याधिकारः, पंचमो दृष्ट्यधिकारः, षष्ठः संयताधिकारः, सप्तमः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कषायाधिकारो, ऽष्टमो ज्ञानाधिकारो, नवमो योगाधिकारो, दशम उपयोगाधिकार, एकादशो वेदाधिकारो, द्वादशः शरीराधिकार, त्रयोदशः पर्य्याप्त्यधिकारः । इह भव्यादिग्रहणेन तत्प्रतिपक्षभूता अभव्यादयोऽपि सूचिता द्रष्टव्याः । तथैवाग्रे वक्ष्यमाणत्वात् ॥

तत्र प्रथमं सामान्यत आहाराधिकारं विभावयिषुरिदमाह ।

जीवे णं भंते ! किं आहारए अणाहारए ? गोयमा ! सिय आहारए सिय अणाहारए । एवं नेरइए जाव असुरकुमारे जाव वेमाणिए । सिद्धे णं भंते ! किं आहारए अणाहारए ? गोयमा ! णोआहारए अणाहारए ।

जीवेणं भन्ते ! इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं भगवानाह । गोयमेत्यादि गौतम ! स्यात्कदाचिदाहारकः कदाचिदनाहारकः कथमिति चेदुच्यते । विग्रहगतौ केवलिसमुद्घाते शैलेश्यवस्थायां सिद्धत्वे चानाहारकः शेषास्ववस्थास्वाहारक उक्तं च । " विग्गहगइमावन्ना, केवलिणो समोहया अजोगी य । सिद्धा य अणाहारा, सेसा आहारगा जीवा " ॥१॥ तदेवं सामान्यतो जीवचिन्तां कृत्वेदानीं नैरयिकादिचतुर्विंशतिदण्डकक्रमेणाहारानाहारकचिन्तां करोति (सिद्धेणं भन्ते ! किं आहारेत्यादि) सुगमं तदेवं सामान्यतो जीवपदे नैरयिकादिषु चैकवचनेन आहारकानाहारकत्वचिन्ता कृता ॥

सम्प्रति बहुवचनेन तां चिकीर्षुराह ॥

जीवाणं भंते ! किं आहारया अणाहारया ? गोयमा ! आहारया वि अणाहारया वि । नेरइयाणं पुच्छा ? गोयमा ! सव्वे वि ताव होज्जा । आहारगा । १ । अहवा आहारगा य अणाहारगे य । २ । अहवा आहारगा य अणाहारगा य । ३ । एवं जाव वेमाणिया । नवरं । एगिंदिया जहा जीवा । सिद्धाणं पुच्छा । गोयमा ! नो आहारगा अणाहारगा ॥

प्रश्नसूत्रं सुगमं । भगवानाह । गौतम ! आहारका अपि अनाहारका अपि सदैव बहुवचनविशिष्टा उभये ऽपि लभ्यन्ते इति भावः । तथाहि । विग्रहगतिव्यतिरेकेण शेषकालं सर्व्वेऽपि संसारिणो जीवा आहारका विग्रहगतिस्तु कचित्कदाचित्कस्यचित्तु भवतीति सर्वकालमपि लभ्यमाना सम्प्रति नियतानामेव लभ्यते तत आहारकेषु बहुवचनं अनाहारका अपि सिद्धास्सदैव लभ्यन्ते ते चाभव्येभ्यो ऽनन्तगुणाः । अन्यच्च सर्वकालमेकैकस्य निगोदस्य प्रतिसमयसंख्येयभागो विग्रहगत्यापन्नो लभ्यते ततो ऽनाहारकेष्वपि बहुवचनं नैरयिकसूत्रे सर्वे ऽपि तावद्भवेयुराहारकाः । किमुक्तं भवति । कदाचिन्नैरयिकाः सर्व्वे ऽप्याहारका एव भवन्ति न त्वेको ऽप्यनाहारकः कथमिति चेदुच्यते । उपपातविरहात्तथाहि । नैरयिकाणामुपपातविरहो द्वादश मुहूर्त्ता एतावति चान्तरे पूर्वोत्पन्नविग्रहगत्यापन्ना अपि आहारका जाता अन्यस्त्वनुत्पद्यमानत्वात् । अथवा आहारका अनाहारकपदे बहुवचनमनाहारकपदे एकवचनमिति भावः । कथमेष भङ्गो घटामियर्तीति चेदुच्यते इह नरकेषु जन्तुः कदाचिदेक उत्पद्यते कदाचिद् द्वौ कदाचित्त्रयश्चत्वारो यावत्संख्याता असंख्याता वा । तत्र यदा एक उत्पद्यते सो ऽपि विग्रहगत्यापन्नः प्रतिसमयमसंख्यातानां वनस्पतिषु प्रतिसमयमनंतानां विग्रहगत्योत्पाद्यमानानां लभ्यमानतया अनाहारकपदे ऽपि सदैव तेषु बहुवचनस्य सम्भवात् । तथाचाह (एवं जाव वेमाणिया नवरं एगिंदिया जहा जीवा इति) ॥ एवं नैरयिकोक्तभङ्गप्रकारेण शेषा अप्यसुरकुमारादयस्ताववक्तव्या यावद्वैमानिकाः । नवरमेकेन्द्रियाः पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिरूपाः प्रत्येकं यथा उभयत्रापि बहुवचनेन जीवा उक्तास्तथा वक्तव्याः ॥ सिद्धेष्वेक एव भंगो ऽनाहारका इति सकलशरीरप्रहाणितस्तेषामाहारासंभवात् । बहूनाञ्च सदाभावादिति । गतं प्रथमद्वारम् ।

द्वितीयं भव्यद्वारमभिधित्सुराह ।

भवसिद्धिएणं भंते ! जीवे किं आहारए अणाहारए ? गोयमा ! सिय आहारए सिय अणाहारए एवं जाव वेमाणिए ।

भवसिद्धिएणं भंते ! इत्यादि ॥ भवैः संख्यातैरनन्तैर्वा सिद्धिर्यस्यासौ भवसिद्धिको भव्यस्स कदाचिदनाहारकः । विग्रहगत्याद्यवस्थायां भवति अन्ये च पूर्व्वोत्पन्नतया आहारका अभवन् । तदा एष भङ्गो लभ्यते । तृतीयभङ्गमाह-अहवा आहारगा य अणाहारगा य । अत उभयत्रापि बहुवचनं एष च भंगो यदा बहवो विग्रहगत्योत्पद्यन्ते तदा द्रष्टव्यः । शेषभंगकास्तु न संभवन्ति आहारकपदस्य नैरयिकाणां सर्वदैव बहुवचनविषयतया लभ्यमानत्वात् । एवमसुरकुमारादिषु स्तनितकुमारपर्य्यवसानेषु द्वीन्द्रियादिषु च वैमानिकपर्य्यन्तेषु प्रत्येकं भङ्गत्रिकं भावनीयम् । उपपातविरहभावात् । प्रथमभङ्गस्य एकादिसंख्यतयोत्पत्तेः । शेषस्य च भङ्गद्वयस्य सर्वत्रापि लभ्यमानत्वात् । एकेन्द्रियेषु पुनः पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिरूपेषु प्रत्येकमेकशेष एवैको भंगः । आहारका अपि अनाहारका अपि पृथिव्यप्तेजोवायुषु प्रत्येकं जायमाना अनाहारकाः शेषकालं त्वाहारका एवं चतुर्विंशति दण्डकेऽपि प्रत्येकं वाच्यं । तथाचाह-एवं जाव वेमाणिए । अत्र च सिद्धिविषयं सूत्रं न वक्तव्यं मोक्षपदप्राप्ततया तस्य भवसिद्धिकत्वायोगात् ॥

अत्रैव बहुवचनेनाहारकानाहारकत्वचिन्तां चिकीर्षुराह ॥

भवसिद्धिया णं भंते ! जीवा किं आहारगा अणाहारगा । जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो अभवसिद्धिए वि । एवं चेव नो भवसिद्धिए नो अभवसिद्धिएणं भंते ! जीवे किं आहारए अणाहारए ? गोयमा ! नो आहारए अणाहारए एवं सिद्धे वि । नो भवसिद्धिया नो अभवसिद्धिया णं भंते ! जीवा किं आहारगा अणाहारगा ? गोयमा ! नो आहारगा अणाहारगा एवं सिद्धा वि ॥

(भवसिद्धिएणं भंते ! इत्यादि) अत्राप्याहारद्वार इव जीवपदे एकेन्द्रियेषु च प्रत्येकमुभयत्र च बहुवचनेनैक एव भंगो यथा आहारका अपि अनाहारका अपि शेषेषु नैरयिकादिषु स्थानेषु भंगत्रिकं कदाचित्केवला आहारका न त्वेकोऽप्यनाहारकः । अथवा कदाहारकः एकोऽनाहारकः । अथवा । आहारका अपि अथवा ऽनाहारका अपि । उभयत्रापि बहुवचनं । तथाचाह । " जीवे गिंदियवज्जो तियभंगो " इति । यथाच भवसिद्धिके एकस्मिन् बहुषु आहारकानाहारकत्वचिन्ता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कृता तथा अभवसिद्धिकेऽपि कर्त्तव्या । उभयत्रापि एकवचने न भंगसंख्यायास्सर्वत्रापि समानत्वात् । तथा चाह । अभवसिद्धिए एवं चेव । अभवसिद्धिकोऽपि भवसिद्धिक इव एकवचने बहुवचनेन वक्तव्यमिति । यस्तु न भवसिद्धिको नाप्यभवसिद्धिकः स सिद्धः स हि भवसिद्धिको न भवति भवातीतत्वात् अभवसिद्धिकस्तु रूढ्या यस्सिद्धिगमनयोग्यो न भवति स उच्यते ततो भवसिद्धिकोऽपि न भवति सिद्धिप्राप्तत्वात् । तथाच सति नोभवसिद्धिकानोअभवसिद्धिकत्वचिंतायां द्वे एव पदे । तद्यथा । जीवपदं सिद्धपदञ्च उभयत्राप्येकवचने एक एव भंगो ऽनाहारक इति बहुवचनेऽप्येक एवानाहारक इति ॥ * संज्ञिद्वारम् * ॥

सन्नीणं भंते ! जीवे किं आहारए अणाहारए ? गोयमा ! सिय आहारए सिय अणाहारए । एवं जाव वेमाणिए नवरं । एगिंदियविगलिंदिया न पुच्छिज्जंति । सन्नीणं भंते ! जीवा किं आहारगा अणाहारगा गोयमा ! जीवादिओ तिगभंगो जाव वेमाणिया ॥

(सन्नीणं भंते !) इत्यादि ॥ प्रश्नसूत्रं सुगमं निर्वचनसूत्रमाह । गोयमेत्यादि । विग्रहगत्या ऽनाहारकः शेषकालमाहारकः । ननु संज्ञी समनस्तु उच्यते विग्रहगतौ च मनो नास्ति ततः कथं संज्ञी सन्ननाहारको लभ्यते उच्यते इह विग्रहगत्यापन्नोऽपि संज्ञ्यायुष्कवेदनात्संज्ञी व्यवह्रियते यथा नारकायुष्कवेदनान्नारको न कश्चिद्दोषः । एवमित्यादि । एवमुपदर्शितेन प्रकारेण तावद्वक्तव्यं यावद्वैमानिकाऽवैमानिकसूत्रं, नवरं मेकेन्द्रियाविकलेन्द्रिया न प्रष्टव्याः । किमुक्तं भवति तद्विषयसूत्रं सर्वथा न वक्तव्यं तेषाममनस्कतया संज्ञित्वायोगात् । बहुवचनचिंतायां जीवपदे नैरयिकादिपदेषु च प्रत्येकं सर्वत्र भङ्गत्रयं तद्यथा–सर्वेऽपि तावद्भवेयुराहारकाः १ अथवाऽऽहारकाश्च अनाहारकश्च २ अथवाऽऽहारकाश्च अनाहारकाश्च ३ तथाचाह । " जीवाइओ तियभङ्गो जाव वेमाणिया " इति ॥ तत्र सामान्यतो जीवपदे प्रथमभंगे सकललोकापेक्षया संज्ञित्वेनोत्पातविरहाभावात् । द्वितीयभंगे एकस्मिन् संज्ञिनि विग्रहगत्यापन्ने तृतीयभंगे बहुषु संज्ञिषु विग्रहगत्यापन्नेषु , एवं नैरयिकादिपदेष्वपि भंगभावना कार्या ॥

असंज्ञिद्वारम् ॥

असन्नी णं भंते ! जीवे किं आहारए अणाहारए ? गोयमा ! सिय आहारए सिय अणाहारए एवं णेरइए जाव वाणमंतरे नवरं जोइसियवेमाणिया न पुच्छिज्जंति । असन्नीणं भंते ! जीवा किं आहारगा अणाहारगा ? गोयमा ! आहारगा वि अणाहारगा वि एगो भंगो । असन्नीणं भंते ! णेरइया किं आहारगा अणाहारगा ? गोयमा ! आहारगा वा अणाहारगा वा अहवा अहारए य अणाहारए य अहवा आहारए य अणाहारगा य । अहवा आहारगा य अणाहारए य । अहवा आहारगा य अणाहारगा य एवं एते छभंगा । एवं जाव थणियकुमारा, एगिंदियेसु अभंगकं बेइंदिय जाव पंचिंदियतिरिक्खजोणिएसु तियभंगो मणुस्सवाणमंतरेसु छभंगा नो सन्नी नो असन्नीणं भंते ! जीवे किं आहारए अणाहारए ? गोयमा ! सिय आहारए सिय अणाहारए । एवं मणुस्से वि । सिद्धे अणाहारए पुहुत्तेणं नो सन्नी नो असन्नी जीवा आहारगा वि अणाहारगा वि मणुस्सेसु तियभंगो सिद्धा अणाहारगा ॥

(असन्नीणं भंते ! इत्यादि) अत्रापि विग्रहगतावनाहारकः शेषकालमाहारकः (एवं जाव वाणमंतरे इति) एवं सामान्यतो जीवपद इव चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण तावद्वक्तव्यं । यावद्वानव्यन्तरो वानव्यंतरविषयसूत्रं । अथ नैरयिका भवनपतयो वानव्यन्तराश्च कथमसंज्ञिनो येनासंज्ञिसूत्रे तेऽपि पठ्यंत इति उच्यते । इह नैरयिका भवनपतयो व्यन्तराश्च संज्ञिभ्योऽप्युत्पद्यन्ते । संज्ञिभ्योऽपि असंज्ञिभ्यश्चोत्पद्यमाना असंज्ञिन इति व्यवह्रियन्ते । संज्ञिभ्य उत्पद्यमानाः संज्ञिनस्ततो संज्ञिसूत्रेऽपि ते उक्तप्रकारेण पठ्यन्ते । ज्योतिष्कवैमानिकास्तु संज्ञिभ्य एवोत्पद्यन्ते । नासंज्ञिभ्यः असंज्ञित्वव्यवहाराभावादिह ते न पठ्यन्ते । तथाचाह । " जोइसियवेमाणिया न पुच्छिज्जंति " किमुक्तं भवति । तद्विषयसूत्रं न वक्तव्यं तेषामसंज्ञित्वाभावादिति । बहुवचनचिन्तायां सामान्यतो जीवपदे एक एव भंगस्तद्यथा आहारका अपि अनाहारका अपि प्रतिसमयमेकेन्द्रियाणामनन्तानां विग्रहगत्यापन्नानामत एवानाहारकाणां सदैव लभ्यमानतयाहारकपदेऽपि सर्वदा बहुवचनभावात् । नैरयिकपदे षड्भंगाः । तत्र प्रथमो भंग आहारका इति अयं च भंगो यदाऽन्यो संज्ञी नारक उत्पद्यमानो विग्रहगत्यापन्नो न लभ्यते । पूर्वोत्पन्नास्त्वसंज्ञिनः । सर्वेऽप्याहारका जातास्तदा लभ्यन्ते । द्वितीयोऽनाहारक इति एव यदा पूर्वोत्पन्नोऽ संज्ञी नारक एकोऽपि न विद्यते । उत्पद्यमानास्तु विग्रहगत्यापन्ना बहवो लभ्यंते तदा विज्ञेयः । तृतीय आहारकश्च अनाहारकश्च द्वित्वेऽपि प्राकृते बहुवचनचिन्तायामेषोऽपि भंगस्समीचीन इत्युपन्यस्तः । तत्र यदा चिरकालोत्पन्न एको संज्ञी नारको विद्यते । अधुनोत्पद्यमानोऽपि विग्रहगत्यापन्न एकस्तदायं भंगः चतुर्थः आहारकश्चानाहारकाश्च एकश्चिरकालोत्पन्ने एकस्मिन्नसंज्ञिनि नारके विद्यमाने बहुष्वधुनोत्पद्यमानेषु असंज्ञिषु विग्रहगत्यापन्नेषु दृष्टव्यः पंचमः आहारकाश्चानाहारकश्चायं चिरकालोत्पन्नेषु बहुषु असंज्ञिषु नारकेषु अधुनोत्पद्यमाने विग्रहगत्यापन्ने एकस्मिन्नसंज्ञिनि विज्ञेयः । षष्ठः आहारकाश्चानाहारकाश्चेषु बहुषु चिरकालोत्पन्नेषूत्पद्यमानेषु चासंज्ञिषु वेदितव्यः । एवमेते षड्भंगा एवमुपदर्शितेन प्रकारेण एते षड्भंगास्तद्यथा । आहारकपदस्य केवलस्य बहुवचनेनैकः । १ । अनाहारकपदस्य केवलस्य बहुवचनेन द्वितीयः । २ । आहारकपदस्यानाहारकपदस्य च युगपत्प्रत्येकमेकवचनेन तृतीयः । ३ । आहारकपदस्यैकवचनेन अनाहारकपदस्य बहुवचनेन चतुर्थः ॥ ४ ॥ आहारकपदस्य बहुवचनेन अनाहारकपदस्यैकवचनेन पञ्चमः ॥ ५ ॥ उभयत्रापि बहुवचनेन षष्ठः ॥ ६ ॥ शेषास्तु भंगा न सम्भवन्ति । बहुवचनचिन्तायाः प्रक्रान्तत्वात् । एते च षड्भंगा असुरकुमारादिष्वपि स्तनितकुमारपर्यवसानेषु वेदितव्यास्तथा चाह " एवं जाव थणियकुमारा एगिंदिएसु अभंगमिति " एकेन्द्रियेषु पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिरूपेष्वभंगकं भंगकाभावः । एक एव भंग इत्यर्थः । स चाऽयं आहारका अपि अनाहारका अपि । तत्राहारका बहवः सुप्रसिद्धा अनाहारका अपि प्रतिसमयं पृथिव्यप्तेजो-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

षायवः प्रत्येकमसंख्येयाः । प्रतिसमयं वनस्पतयो ऽनन्ताः सर्व्वकालं लभ्यन्ते इति तेऽपि बहवः सिद्धाः द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियतिर्य्यक्पञ्चेन्द्रियेषु प्रत्येकं भंगत्रिकं । तद्यथा । आहारका अथवा आहारकाश्चानाहारकश्च । अथवा आहारकाश्चानाहारकाश्च तत्र द्वीन्द्रियान् प्रतिभावना यदा द्वीन्द्रिय एकोऽपि विग्रहगत्यापन्नो लभ्यते तदा पूर्व्वोत्पन्नाः सर्व्वेऽप्याहारका इति प्रथमो भंगः । यदा पुनरेको विग्रहगत्यापन्नस्तदा पूर्व्वे सर्व्वेऽप्याहारका उत्पद्यमानस्त्वेकोऽनाहारक इति । यदा तूत्पद्यमाना अपि बहवो लभ्यन्ते तदा तृतीयः । एवं त्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियतिर्य्यक्पञ्चेन्द्रियेष्वपि भावना कार्य्या । मनुष्यव्यंतरेषु षड् भंगाः । ते च नैरयिकेषु च भावनीयास्तथाचाह । " बेइंदियजावपंचिंदियतिरिक्खजोणिएसु । तियभंगो मणूसवाणमंतरेसु छभंगा ॥ १ ॥ " इति । नो संज्ञी नो असंज्ञी च केवली सिद्धश्च । ततो नोसंज्ञिनोअसंज्ञित्वचिन्तायां त्रीणि पदानि तद्यथा । जीवपदं मनुष्यपदं सिद्धपदञ्च । तत्र जीवपदे सूत्रमाह "नो सन्नी नोअसन्नीणं भंते ! जीवे " इत्यादि । स्यात्कदाचिदाहारकः केवलिनः समुद्घाताद्यवस्थाविरहे आहारकः । स्यात्कदाचिदनाहारकः । समुद्घातावस्थायां सिद्धत्वावस्थायां वा भावनीयं । सिद्धे अणाहारए इति । सिद्धे सिद्धविषये सूत्रे । अणाहारए इति वक्तव्यं (पुहुत्तणंति) पृथक्त्वेन बहुत्वेन चिन्तायामिति प्रक्रमः (आहारगा वि अणाहारगा वि इति) तत्राहारका अपि बहूनां केवलिनां समुद्घाताद्यवस्थारहितानां सदैव लभ्यमानत्वात् । अनाहारका अपि सिद्धानां सदैव भावात्तेषां चानाहारकत्वादिति (मणुस्सेसु तियभंगो इति) मनुष्यविषयं भंगत्रिकं तद्यथा । आहारका एव भंगो यदा न कोऽपि केवली समुद्घाताद्यवस्थागतो भवति । अथवा । आहारकाश्चानाहारकश्च । एष भंगो एकस्मिन्केवलिनि समुद्घाताद्यवस्थागते सति लभ्यते अथवा आहारकाश्चानाहारकाश्च । एष बहुषु केवलिषु समुद्घाताद्यवस्थागतेषु सत्सु वेदितव्यः ॥ प्रज्ञा० ॥

लेश्याद्वारम् ।

सलेसेणं भंते ! जीवे किं आहारए अणाहारए ? गोयमा ! सिय आहारए सिय अणाहारए एवं जाव वेमाणिए सलेस्सा णं भंते ! जीवा किं आहारगा अणाहारगा ? गोयमा ! जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो । एवं कण्हलेस्सा नीललेस्सा काउलेस्साए वि ! जीवेगिंदिय तियभंगो तेउलेस्साए पुढविआउवणस्सइकाइयाणं छ भंगा सेसाणं जीवादिओ तियभंगो जेसिं अत्थितेउलेसा पम्हलेसाए सुक्कलेसाए य जीवादिओ तियभंगो अलेस्सा जीवा मणुस्सा सिद्धा एगत्तेण वि पुहुत्तेण वि नो आहारगा ॥

टीका । सामान्यतः सलेश्यसूत्रमाह । (सलेसणं भंते ! जीवे इत्यादि) इदं सामान्यतो जीवसूत्रमिव भावनीयं । अत्रापि सिद्धसूत्रं वक्तव्यं सिद्धानामलेश्यत्वात् । बहुवचनचिन्तायां जीवपदे एकेन्द्रियेषु च पृथिव्यादिषु प्रत्येकमेक एव भंगस्तद्यथा । आहारका अपि अनाहारका अपि उभयेषामपि सदा बहुत्वेन लभ्यमानत्वात् । शेषेषु तु नैरयिकादिषु प्रत्येकं भंगत्रिकं । तद्यथा । सर्वेऽपि तावद्भवेयुराहारकाः १ अथवाऽऽहारकाश्चानाहारकश्च२ अथवा आहारकाश्च अनाहारकाश्च ३ अमीषाञ्च भावना प्राग्वत् । तथाचाह । " जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो इति " एवमित्यादि । एवं यथा सामान्यतः सलेश्यसूत्रमुक्तं तथा कृष्णलेश्याविषयमपि नीललेश्याविषयमपि कापोतलेश्याविषयमपि सूत्रं च वक्तव्यं । सर्वत्र सामान्यतो जीवपदे एकेन्द्रियेषु च प्रत्येकमभङ्गकं शेषपदेषु भङ्गत्रिकं । तेजोलेश्याविषयमपि सूत्रमेकत्वे प्राग्वत् बहुत्वे पृथिव्यप्वनस्पतिषु षड्भङ्गाः तेषु कथं तेजोलेश्यासंभव इति चेदुच्यते । भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कसौधर्म्मेशानदेवानां तेजोलेश्यावतां तत्रोत्पादभावात् । उक्तञ्चास्या एव भगवत्याः प्रज्ञापनायाश्चूर्णौ "जेणं तेसु भवणवइ वाणमंतरजोइसियसोहम्मीसाणया देवा ॥ उववज्जन्ति तेणं तेउलेस्सा लब्भइ १ " इति । ते षड् भङ्गा इमे सर्व्वे आहारकाः ॥ १ ॥ अथवा सर्वेऽनाहारकाः २ अथवा आहारकश्चानाहारकः ३ अथवा आहारकश्चाहारकाश्च ४ अथवा आहारकाश्चानाहारकश्च ५ अथवा आहारकाश्चानाहारकाश्च । ६ । शेषाणां जीवपदादारभ्य सर्वत्रापि भङ्गत्रिकं । तथाचाह (तेउलेस्साएपुढवी आउवणस्सइकाइयाणं छभंगा सेसाणं जीवाइओ तियभंगो इति) आह किं सर्वेषामविशेषेण जीवपदादारभ्य भङ्गत्रिकमुत केषां चिदत आह (जेसिं अत्थि तेउलेसा इति) येषामस्ति तेजोलेश्या तेषामेव भङ्गत्रिकं वक्तव्यं न शेषाणां । एतेन किमावेदितं भवति । नैरयिकविषयं तेजोवायुविषयं द्वित्रिचतुरिन्द्रियविषयञ्च तेजोलेश्यासूत्रं वक्तव्यमिति तथा पद्मलेश्यासूत्रं वक्तव्यमिति तथा पद्मलेश्या च येषां संभवति तद्विषयं तयोः सूत्रं वक्तव्यं तत्र पद्मलेश्या शुक्ललेश्या च । तिर्य्यक्पञ्चेन्द्रियेषु मनुष्येषु वैमानिकेषु च लभ्यते न शेषेष्विति । तयोः प्रत्येकं चत्वारि पदानि । तद्यथा । सामान्यतो जीवपदं तिर्यक्पञ्चेन्द्रियपदं मनुष्यपदं वैमानिकपदञ्च सर्वत्राप्येकवचनचिन्तायां स्यादाहारक इति भंगो बहुवचनचिन्तायां भङ्गत्रिकं । तद्यथा । सर्वे ऽपि तावद्भवेयुराहारकाः १ अथवा आहारकाश्चानाहारकश्च २ अथवा आहारकाश्चानाहारकाश्च ३ । तथाचाह (पम्हलेसाए सुक्कलेसाए जीवाईओ तियभंगोत्ति) अलेश्या जीवास्ते चायोगिकेवलिनः सिद्धाश्च ततः स्यात्त्रीणि पदानि । तद्यथा । सामान्यतो जीवपदं मनुष्याः सिद्धाश्च । सर्वत्राप्येकवचनेन बहुवचनेन चानाहारगा इति ॥

सम्प्रति सम्यग्दृष्टि द्वारम् ॥

सम्मादिट्ठीणं भंते ! जीवा किं आहारगा अणाहारगा ? गोयमा ! सियआहारगा सिय अणाहारगा । बेइंदिय तेइंदिय चउरिंदियछभंगा । सिद्धा अणाहारगा अवसेसाणं तियभंगा । मिच्छादिट्ठीसु जीवेगिंदियवज्जो तिय भंगो । सम्मा मिच्छादिट्ठीणं भंते ! जीवे किं आहारए अणाहारए ? गोयमा ! आहारए नो अणाहारए एवमेगिंदियविगलिंदियवज्जं जाव वेमाणिए एवं पुहुत्ते वि ॥

सम्यग्दृष्टिश्चेहौपशमिकसम्यक्त्वेन सास्वादनसम्यक्त्वेन क्षायोपशमिकसम्यक्त्वेन क्षायिकसम्यक्त्वेन वा प्रतिपत्तव्यः सामान्यत उपादानात्तथैव चाग्रे भङ्गचिन्तायामपि करिष्यमाणत्वात् । तत्रौपशमिकसम्यग्दृष्ट्यादयः सुप्रतीताः वेदकसम्यग्दृष्टिः पुनः क्षायिकसम्यक्त्वमुत्पादयन् चरमग्रासमनुभवन्नवसेयः । एकत्वे सर्व्वेष्वपि जीवादिपदेषु प्रत्येकमेष भंगः स्यादाहा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रकः स्यादनाहारक इति नवरमत्र पृथिव्यादिविषयसूत्रम वक्तव्यं तेषां सम्यग्दृष्टित्वायोगात् भजयाभावो(पुढवाइएसु) इति वचनाद्बहुवचनविषयसूत्रं । सामान्यतो जीवपदे आहारका अपि अनाहारका अपीत्येष एव भंगः उभयेषामपि सदा सम्यग्दृष्टीनां बहुत्वेन लभ्यमानत्वात् । नैरयिकभवनपतितिर्यक्पंचेन्द्रियमनुष्यव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकेषु प्रत्येकं भंगत्रिकं । तद्यथा कदाचित्सर्वेऽप्याहारका एव १ कदाचिदाहारका एकश्चानाहारकः २ कदाचिदाहारका अनाहारकाश्च ३ द्वित्रिचतुरिन्द्रियेषु नो षड्भंगाः । ते च प्राग्वद्भावनीयाः । द्वीन्द्रियादीनां च सम्यग्दृष्टित्वमपर्याप्तावस्थायां सम्भवति । सास्वादनसम्यक्त्वापेक्षया द्रष्टव्यं । सिद्धास्त्वनाहारकाः । एतेषां क्षायिकसम्यक्त्वयुक्तत्वात् । तथा चाह (बेइंदियतेइंदियचतुरिंदिएसु छ भंगा सिद्धा अणाहारगा अवसेसाणं तियभंगो) मिथ्यादृष्टिष्वपि एकवचने सर्वत्र स्यादाहारकः स्यादनाहारक इति वक्तव्यं । बहुवचने जीवपदे पृथिव्यादिपदेषु च प्रत्येकमाहारका अपीति उभयेषामपि सर्वदैव तेषु पदेषु बहुत्वेन लभ्यमानत्वेन शेषेषु तु सर्वेषु स्थानेषु भंगत्रिकं सिद्धसूत्रं चात्र न वक्तव्यं । सिद्धानां मिथ्यात्वापगमादेतदेवाह ॥ " मिच्छादिट्ठिसु जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो सम्मामिच्छदिट्ठीणं भंते ! जीवे " ॥ इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं भगवानाह । गौतम ! आहारको नो अनाहारकः कस्मादिति चेदुच्यते–इह संसारिणामनाहारकत्वं विग्रहगतौ न सम्यग् मिथ्यादृष्टिर्विग्रहगत्यभावतोऽनाहारकत्वाभावः । एवं चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण सर्वत्रापि वक्तव्यं । नवरमेकेन्द्रियविकलेन्द्रिया न वक्तव्यास्तेषां सम्यग् मिथ्यादृष्टित्वासंभवात् । एवं बहुवचनेऽपि वक्तव्यं । तद्यथा ॥

* सम्मा मिच्छ दिट्ठीणं भंते! जीवा किं आहारगा ! गोयमा ! आहारगा नो अणाहारगा सम्मामिच्छदिट्ठीणं भन्ते ! नेरइया किं आहारगा अणाहारगा ? गोयमा ! आहारगा नो अणाहारगा । एवमेगिंदियविगलिंदियवज्जा जाव वेमाणिया ॥ *

इति ॥ गतं दृष्टिद्वारम् ॥

सम्प्रति संयतद्वारम् ॥

संजएणं भंते ! किं आहारए अणाहारए ? गोयमा ! सिय आहारए सिय अणाहारए एवं मणुस्से वि । पुहुत्तेणं तियभंगो असंजए पुच्छा, गोयमा ! सिय आहारए सिय अणाहारए पुहुत्तेणं जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो संजतासंजते जीवे पंचिंदियतिरिक्खजोणिए मणूसे एते एगत्तेण वि पुहत्तेण वि आहारगा नो अणाहारगा नो संजते नो असंजए नो संजयासंजए जीवे सिद्धे य एते एगत्तपुहत्तेण वि नो अहारगा अणाहारगा ॥

संयतत्वं मनुष्याणामेव तत्र द्वे पदे । तद्यथा । जीवपदं मनुष्यपदञ्च । तत्र जीवपदे सूत्रमाह (संजएणं भंते ! जीवे इत्यादि) सुगमं नवरं । अनाहारकत्वं केवलिसमुद्घातावस्थायामयोगित्वावस्थायां वेदितव्यं शेषकालमाहारकत्वं । एवं । (मणुस्सेविति) एवं मनुष्यविषयं सूत्रं वक्तव्यं । तद्यथा । (संजएणं भंते! मणूसे किं आहारए अणाहारए ? गोयमा ! सिय आहारए सिय अणाहारए) भावनान्तरमेवोक्ता (पुहुत्तेणं तियभंगोत्ति) पृथक्त्वेन बहुवचनेन जीवपदे मनुष्यपदे च प्रत्येकं भंगत्रिकं । तच्चैवं । सर्वेऽपि तावद्भवेयुराहारका एष भंगो यदा न कोऽपि केवलिसमुद्घातमयोगित्वं वा प्रतिपन्नो भवति वेदितव्यः । अथवा आहारकाश्चानाहारकश्च एष एकस्मिन् केवलिनि समवहते शैलेशीगते वा प्राप्यते अथवा आहारकाश्च अनाहारकाश्च एषु बहुषु केवलिषु समवहतेषु शैलेशीगतेषु वा लभ्यते । असंयतसूत्रे एकवचने सर्वत्र स्यादाहारक इति वक्तव्यं । बहुवचने जीवपदे पृथिव्यादिषु च पदेषु प्रत्येकमाहारकाअनाहारका अपि इत्येष भङ्गः । शेषेषु तु नैरयिकादिषु स्थानेषु प्रत्येकं भंगत्रिकं संयतासंयतदेशविरतास्ते च तिर्यक्पंचेन्द्रिया मनुष्या वा न शेषाः शेषाणां स्वभावत एव देशविरतिपरिणामाभावादेव चैतेषां त्रीणि पदानि । तद्यथा । सामान्यतो जीवपदं तिर्यक्पञ्चेन्द्रियपदं मनुष्यपदञ्चैतेषु त्रिष्वपि स्थानेषु एकवचने बहुवचने च आहारका भवन्ति । भवान्तरगतः केवलिसमुद्घाताद्यवस्थासु च देशविरतिपरिणामाभावात् नो संयतो नोऽसंयतो नो संयतासंयतो । गतं संयतद्वारम् । तच्चिन्तायां द्वे पदे । तद्यथा । जीवपदं सिद्धपदञ्च । उभयत्रा ऽप्येकवचने बहुवचने चानाहारकत्वमेववक्तव्यं नत्वाहारकत्वम् । सिद्धानामनाहारकत्वात् ॥

सम्प्रति कषायद्वारम् ॥

सकसाईणं भंते ! जीवे किं आहा० अणा० सिय आहा० सिय अणाहा० एवं जाव वेमाणिए पुहत्तेणं जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो । कोहकसाईसु जीवाईसु एवं चेव नवरं देवेसु छब्भंगा माणकसाईसु मायाकसाईसु देवणेरइएसु छब्भंगा अवसेसाणं जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो । लोभकसाईसु नेरइएसु छब्भंगा । अवसेसेसु जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो अकसाई जहा नो सन्नी नो असन्नी ।

(सकसाईणं भंते ! जीवे) इत्यादि ॥ एकवचनविषयं सूत्रं सुगमं । बहुवचने (जीवेगिंदियवज्जो तियभंगोत्ति) जीवपदे पृथिव्यादिषु च पंचसु पदेषु प्रत्येकं आहारका अपि अनाहारका अपि वक्तव्यं । उभयेषामपि सकषायाणां सदैव तेषु स्थानेषु बहुत्वेन लभ्यमानत्वात् । शेषेषु तु स्थानेषु भंगत्रिकं । कोहकसाए एवंचेवत्ति क्रोधकषाय्यपि एवमेव सामान्यतः सकषायवदवसेयः । तत्रापि जीवपदे पृथिव्यादिपदेषु चाभङ्गकं शेषेषु तु स्थानेषु भंगत्रिकमिति भावः । किं सर्वेष्वपि शेषेषु स्थानेषु भंगत्रिकं नेत्याह । (नवरं देवेसु छ भंगा) देवा हि स्वभावत एव लोभबहुला भवन्ति । न क्रोधादिबहुलाः । ततः क्रोधकषायिण एकादयोऽपि लभ्यन्ते । इति षड्भङ्गास्तद्यथा । कदाचित्सर्वेऽप्याहारका एव क्रोधकषायिण एकस्यापि विग्रहगत्यापन्नस्यालभ्यमानत्वात् १ कदाचित्सर्वेऽप्यनाहारका एकस्यापि क्रोधकषायिणस्तत आहारकस्याप्राप्यमाणत्वात् क्रोधोदयो हि मानाद्युदयविविक्त एवेह विवक्ष्यते । न मानाद्युदयसहितोऽपि तेन क्रोधकषायिणः ततः कदाचिदाहारकस्य सर्वथाऽप्यभावः ॥ २ ॥ तथा कदाचिदेक आहारक एकोऽनाहारकः ॥ ३ ॥ कदाचिदेक आहारको बहवोऽनाहारकाः ॥ ४ ॥ कदाचिद्बहव आहारका एकोऽनाहारकः ॥ ५ ॥ कदाचिद्ब-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इव आहारका बहवोऽनाहारकाः ॥ ६ ॥ इति मानकषायसूत्रं मायाकषायसूत्रं चैकवचने प्राग्वत् । बहुवचने विशेषमाह । (माणकसाईसु) इत्यादि । मानकषायिषु मायाकषायिषु बहुवचने चिन्त्यमानेषु देवेषु नैरयिकेषु च प्रत्येकं षड्भंगाः । नैरयिका हि भवस्वभावतः क्रोधबहुला देवास्तु लोभबहुलास्ततो देवानां नैरयिकाणाञ्च मानकषायो मायाकषायश्च प्रविरल इति प्रागुक्तप्रकारेण षड्भंगाः । जीवपदे पृथिव्यादिपदेषु च प्रत्येकमभंगकमाहारकाणामनाहारकाणां च मानकषायिणां मायाकषायिणाञ्च प्रत्येकं सदैवतेषु स्थानेषु बहुत्वेन लभ्यमानत्वात् । शेषेषु तु स्थानेषु भंगत्रिकं । लोभकषायसूत्रमप्येकवचने तथैव बहुवचने विशेषमाह (लोभकसाईसु इत्यादि) लोभकषायिषु नैरयिकेषु षड् भंगास्तेषां लोभबहुलतया षड्भंग्यसंभवात् । जीवेष्वेकेन्द्रियेषु च प्राग्वदेव एव भंगः । आहारका अप्यनाहारका अपीति (अकसाई जहा नो सन्नी नो असन्नीति) अकषायिणो नोसंज्ञिनो नोऽसंज्ञिनो उक्तास्तथा वक्तव्याः किमुक्तं भवति । अकषायिणोऽपि मनुष्याः सिद्धाश्च । मनुष्या उपशांतकषायादयो वेदितव्याः ॥ अन्येषां सकषायित्वात् । तत एतेषामपि त्रीणि पदानि । तद्यथा । सामान्यतो जीवपदं मनुष्यपदं सिद्धपदञ्च तत्र सामान्यतो जीवपदे मनुष्यपदे च प्रत्येकमेकवचने स्यादाहारकः स्यादनाहारक इति वक्तव्यं । सिद्धपदेष्वनाहारक एवेति । बहुवचने जीवपदे आहारका अपि अनाहारका अपीति । केवलिनामाहारकाणां सिद्धानामनाहारकाणां सदैव बहुत्वेन लभ्यमानत्वात् । मनुष्यपदे भंगत्रिकं । सर्वेऽपि तावद्भवेयुराहारकाः १ अथवा आहारकाश्चानाहारकश्च २ अथवा आहारकाश्चनाहारकाश्च ३ भावना प्रागेवानेकशः कृता सिद्ध पदे त्वनाहारक एक एव ॥

सम्प्रति ज्ञानद्वारम् ॥

नाणी जहा सम्मदिट्ठी । आभिणिबोहियनाणी सुयनाणीसु बेइंदियतेइंदियचउरिंदिएसु छब्भंगा । अवसेसु जीवादिओ तियभंगो । जेसिं अत्थि ओहिनाणी पंचिंदियतिरिक्खजोणिया मणूसा य आहारगा नो अणाहारगा अवसेसेसु जीवादिओ तियभंगो जेसिं ओहिनाणं मणपज्जवनाणं जीवा मणूसा य एगत्तेएवि पुहत्तेएवि आहारगा नो अणाहारगा केवलनाणी जहा नो सन्नी नो असन्नी अन्नाणीमति अन्नाणी सुयअन्नाणी जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो विभंगनाणी पंचिंदियतिरिक्खजोणिया मणूसा य आहारगा नो अणाहारगा अवसेसेसु जीवादिओ तियभंगो ॥

(तत्र नाणी जहा सम्मदिट्ठीति) ज्ञानी यथा प्राक् सम्यग्दृष्टिरुक्तस्तथा वक्तव्यस्तद्यथा ॥

* नाणीणं भंते ! जीवे किं आहारए अणाहारए ? गो० सिय आहारए सिय अणाहारए नाणीणं भंते ! नेरईए किं आहारए अणाहारए ? गो० सिय आहारए सिय अणाहारए एवमेगिंदियवज्जं जाव वेमाणिए नाणीणं भंते ! जीवा किं आहारगा अणाहारगा ? गो० आहारगावि अणाहारगावि नाणीणं भंते ! नेरइया किं आहारगा अणाहारगा गो० सव्वे वि ताव होज्जा आहारगा ? अहवा आहारगा य अणाहारगे य २ अहवा आहारगा य अणाहारगा य एवं जाव थणियकुमारा । बेइंदियाणं पुच्छा गो० सव्वे वि ताव होज्ज १ आहारगा अहवा अणाहारगा य २ अहवा आहारगेय ३ अहवा आहारगे य अणाहारगा य ४ अहवा आहारगा य अणाहारगे य ५ अहवा आहारगा य अणाहारगा य ६ एवं तेइंदियचउरिंदिया वि जाणियव्वा अवसेसा जाव वेमाणिया जहा नेरइयाणं सिद्धाणं पुच्छा गो० ॥ *

(अणाहारगा इति) आभिनिबोधिकज्ञानसूत्रे चैकवचने प्राग्वदवसेयं । बहुवचने द्वित्रिचतुरिन्द्रियेषु षड्भङ्गाः । अथ शेषेषु जीवादिस्थानेष्वेकेन्द्रियवर्जेषु भङ्गत्रिकं तथैव ॥

* आभिनिबोहियनाणीणं भंते ! जीवा किं आहारगा अणाहारगा ? गोयमा ! सव्वेवि ताव होज्ज आहारगा १ अहवा आहारगा य अणाहारगे य २ अहवा आहारगा य अणाहारगा य ३ इत्यादि । तथा चाह । आभिनिबोहियनाणी सुयनाणी सुयबेइंदियचउरिंदियेसु छब्भंगा अवसेसेसु जीवाइओ तियभंगो तेसिं अत्थि इति *

सुगमं । नवरं जेसिं अत्थि येषां जीवानामाभिनिबोधिकज्ञानश्रुतज्ञानेस्तः । तेषु भंगत्रिकं वक्तव्यं न शेषपृथिव्यादिष्विति । अवधिज्ञानसूत्रमेकवचने तथैव बहुवचनचिंतायां पंचेन्द्रियतिर्य्योनिका आहारका एव नत्वनाहारकाः । कस्मादिति चेदुच्यते । इह पंचेन्द्रियतिरश्चामनाहारकत्वं विग्रहगतौ । न च तदानीं तेषां गुणप्रत्ययतोऽवधिसंभवो गुणानामेवासंभवात्माप्यप्रतिपतितावधिर्देवोमनुष्यो वा तिर्यक्षूत्पद्यते । ततोऽवधिज्ञानिनः सन्तः पंचेन्द्रियतिरश्चोऽनाहारकत्वायोगः । शेषेषु तु स्थानेष्वेकेन्द्रियविकलेन्द्रियवर्जेषु प्रत्येकं भंगत्रिकं । एतदेवाह ।

" ओहिनाणीणं पंचिंदियतिरिक्खजोणिया आहारगा अवसेसेसु जीवाइ ओ तियभंगो । जेसिंअत्थि ओहिनाण मिति ॥ "

मनः पर्य्यायज्ञानं मनुष्याणामेव ततो द्वे पदे । तद्यथा । जीवपद मनुजपदमपि चैकवचने बहुवचने च मनः पर्य्यायज्ञानिन आहारका एव वक्तव्याः नत्वनाहारका विग्रहगत्याद्यवस्थायां मनः पर्य्यायज्ञानासंभवात् । केवलज्ञानी यथा प्राक् नो संज्ञी नो ऽसंज्ञी उक्तस्तथा वक्तव्यः । किमुक्तं भवति केवलज्ञानाचिन्तायामपि त्रीणि पदानि । तद्यथा । सामान्यतो जीवपदं मनुष्यपदं सिद्धपदञ्च तत्र सामान्यतो जीवपदे मनुष्यपदे चैकवचने स्यादाहारकः स्यादनाहारकः इति वक्तव्यं सिद्धपदे त्वनाहारक इति बहुवचने सामान्यतो जीव पदे आहारका अपि अनाहारका अपि मनुष्यपदे भंगत्रिकं । तच्च प्रागेवोपदर्शितं सिद्धपदे त्वनाहारका अपि अज्ञानिसूत्रं मत्यज्ञानिसूत्रं श्रुताज्ञानिसूत्रं च एकवचने प्रागेव बहुवचनचिन्तायां जीवपदे एकेन्द्रियेषु पृथिव्यादिषु प्रत्येकमाहारका अनाहारका अपि इति वक्तव्यं शेषेषु भंगत्रिकं । विभङ्गज्ञानिसूत्रमप्येकवचने तथैव बहुवचनचिन्तायां पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिका मनुष्या आहारका एव वक्तव्याः । नत्वनाहारका विभङ्गज्ञानसहितस्य विग्रहगत्या तिर्यक्पञ्चेन्द्रियेषु

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मनुष्येषु चोत्पत्तिसम्भवात् । अवशेषेषु स्थानेषु एकेन्द्रियविकलेन्द्रियवर्जेषु प्रत्येकं भंगत्रिकं । गतं ज्ञानद्वारम् ॥

संप्रति योगद्वारम् ॥

सजोगीसु जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो मणजोगी वइजोगी य जहा सम्मामिच्छादिट्ठी । नवरं वइजोगी विगलिंदियाण वि कायजोगीसु जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो । अजोगी जीवमणूससिद्धा अणाहारगा । दारम् ॥

तत्र सामान्यतः सयोगिसूत्रमेकवचने तथैव बहुवचने जीवैकेन्द्रियपदानि वर्जयित्वा शेषेषु स्थानेषु भङ्गत्रिकं, जीवपदे पृथिव्यादिपदेषु च पुनः प्रत्येकमाहारका अपि अनाहारका अपीति भङ्ग उभयेषामपि सदैवतेषु स्थानेषु बहुत्वेन लभ्यमानत्वात् । मणजोगी वइजोगी जहा सम्मामिच्छादिट्ठीयत्ति । मनोयोगिनो वाग्योगिनश्च । यथा प्राक् सम्यग्मिथ्यादृष्टय उक्तास्तथा वक्तव्याः । एकवचने बहुवचने वाऽऽहारका एव वक्तव्या नत्वनाहारका इति भावः (नवरं वइजोगी विगलिंदियाणवित्ति) नवरमिति । सम्यग्मिथ्यादृष्टिसूत्रादयमयं विशेषः । सम्यग्मिथ्यादृष्टित्वं विकलेन्द्रियाणां नास्तीति तत्सूत्रे तन्नोक्तं । वाग्योगः पुनर्विकलेन्द्रियाणामप्यस्ति तत्सूत्रमपि वाग्योगे वक्तव्यं । तथैवं ॥

* मणजोगीणं भंते ! जीवे किं आहारए अणाहारए ? गोयमा ! आहारए नो अणाहारए एवमेगिंदियवज्जं जाव वेमाणिए एवं पुहुत्तेण वि ॥ *

काययोगिसूत्रमप्येकवचने बहुवचने च सामान्यतः सयोगिसूत्रमिव (अजोगीणं भंते ! जीवे किं आहारए) तेनात्र त्रीणि पदानि । तद्यथा जीवपदं मनुष्यपदं सिद्धपदं च त्रिष्वपि स्थानेष्वेकवचने बहुवचनेनाहारकत्वमेव ॥

अधुना उपयोगद्वारम् ॥

सागाराणागारोवउत्तेसु जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो सिद्धा अणाहारगा । दारम् ॥

तत्र साकारोपयोगसूत्रे च प्रत्येकमेकवचने सर्वत्र स्यादनाहारक इति वक्तव्यं सिद्धपदे त्वनाहारक इति बहुवचने जीवपदे पृथिव्यादिपदेषु चाहारका अपि अनाहारका अपीति भङ्गः । शेषेषु भङ्गत्रिकं । सिद्धास्त्वनाहारका इति सूत्रोल्लेखस्त्वयं ॥

* सागारोवओगोवउत्ते णं भंते ! जीवे किं आहारए अणाहारए ? गोयमा ! सिय आहारए सिय अणाहारए ॥ *

गतमुपयोगद्वारं ॥

वेदद्वारम् ॥

सवेदजीवेगिंदियवज्जो तियभंगो । इत्थिवेयपुरिसवेएसु जीवाइओ तियभंगो । नपुंसगवेदए जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो । अवेयए जहा केवलनाणी ॥

सामान्यतः सवेदसूत्रमेकवचने स्यादाहारकस्स्यादनाहारक इति बहुवचने जीवपदे एकेन्द्रियाश्च वर्जयित्वा शेषेषु स्थानेषु भङ्गत्रिकं जीवपदे एकेन्द्रियेषु च पुनःप्रत्येकमभंगकं आहारका अनाहारका अपीति स्त्रीवेदसूत्रं पुरुषवेदसूत्रं च एकवचने तथैव नवरमत्र नैरयिकैकेन्द्रियविकलेन्द्रिया न वक्तव्यास्तेषां नपुंसकत्वात् बहुवचने जीवादिषु प्रत्येकं भंगत्रिकं । नपुंसकवेदेऽपि सूत्रमेकवचने तथैव नवरमत्र भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिका न वक्तव्याः । तेषां न नपुंसकत्वाद्बहुवचने जीवैकेन्द्रियवर्जेषु भंगत्रिकं । जीवपदे एकेन्द्रियपदेषु च पृथिव्यादिषु पुनरभंगकं प्रागुक्तस्वरूपमिति । अवेदो यथा केवली तथा एकवचने बहुवचने च वक्तव्याः । जीवपदे मनुष्यपदे च एकवचने स्यादाहारकस्स्यादनाहारक इति बहुवचने जीवपदे आहारका अपि अनाहारका अपि मनुष्येषु भंगत्रिकं सिद्धे त्वनाहारका इति वक्तव्यमिति भावः ॥ गतं वेदद्वारम् ॥

शरीरद्वारम् ॥

ससरीरे जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो । उरालियसरीरिसु जीवमणूसेसु तियभंगो । अवसेसा आहारगा नो अणाहारगा जेसिं अत्थि उरालियसरीरं वेउव्वियसरीरी आहारगसरीरी य अणाहारगा जेसिं अत्थि तेयगकम्मगसरीरी जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो । असरीरी जीव सिद्धा य नो आहारगा अणाहारगा ॥

शरीरद्वारे सामान्यतः शरीरसूत्रे सर्वत्रैकवचने स्यादाहारकः स्यादनाहारक इति । बहुवचने जीवैकेन्द्रियवर्जेषु शेषेषु स्थानेषु प्रत्येकं भंगत्रिकं । जीवपदे पृथिव्यादिपदेषु च प्रत्येक भङ्गकं प्रागुक्तमिति । औदारिकसूत्रमेकवचने तथैव नवरमत्र नैरयिकभवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिका न वक्तव्यास्तेषामौदारिकशरीराभावात् । बहुवचने जीवपदे मनुष्यपदेषु च प्रत्येकं भंगत्रिकं । तद्यथा । सर्वेऽपि तावद्भवेयुराहारका एष भंगो यदा न कोऽपि केवली समुद्घातगतयोगी वा । अथवा आहारकाश्चानाहारकश्च एष एकस्मिन्केवलिनि समुद्घातगते ऽयोगिनि वा सति प्राप्यते । अथवा आहारकाश्चानाहारकाश्च एष भंगो बहुषु केवलिषु समुद्घातगतेषु अयोगिषु वा सत्सु वेदितव्यः । शेषास्त्वेकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियतिर्यक्पंचेन्द्रिया आहारका एव वक्तव्याः नत्वनाहारकाः । विग्रहगत्युत्तीर्णानामेवौदारिकशरीरसम्भवात् । वैक्रियाहारकशरीरिणश्च सर्वे ऽप्येकवचने बहुवचने चाहारका एव नत्वनाहारका नवरं येषां वैक्रियमाहारकं वा संभवति त एव वक्तव्या नान्ये । तत्र नैरयिकभवनपतिवायुकायिकतिर्यक्पंचेन्द्रियमनुष्यव्यंतरज्योतिष्कवैमानिकेषु आहारकं मनुष्येष्वेव । सूत्रोल्लेखश्चायं ।

* वेउव्वियसरीरिणं ! भंते जीवे किं आहारए अणाहारए ? गोयमा ! आहारए नो अणाहारए ! वेउव्वियसरीरेणं भंते ! नेरइए किं आहारए अणाहारए ? गोयमा ! आहारए नो अणाहारए ॥ *

इत्यादि । तैजसकार्म्मणशरीरसूत्रे चैकवचने सर्वत्र स्यादाहारकस्स्यादनाहारक इति । बहुवचने जीवैकेन्द्रियवर्जेषु स्थानेषु भंगत्रिकं जीवपदे एकेन्द्रियेषु पुनरभंगकं । अशरीरिणस्सिद्धास्तेन तत्र द्वे एव पदे । तद्यथा । जीवास्सिद्धाश्च । तत्रैकवचने बहुवचने चोभयत्राप्यनाहारक एव ॥ गतं शरीरद्वारम् ॥

सम्प्रति पर्याप्तिद्वारम् ॥

आहारपज्जत्तिपज्जत्तए सरीरपज्जत्तीपज्जत्तए इंदियपज्जत्तिपज्जत्तए आणापाणूपज्जत्तीपज्जत्तए एतासु चउसु वि पज्जत्तीसु जीवेसु मणूसेसु य तियभंगो अवसेसा

आहारगा नो अणाहारगा भासामणपज्जत्तिपंचिंदियाणं अवसेसाणं नत्थि आहारपज्जत्ती अपज्जत्तए नो आहारए अणाहारए एगत्तेण वि पुहत्तेणवि । सरीरपज्जत्तिअपज्जत्तिए सिय आहारए सिय अणाहारए । चउरिल्लियासु चउसु अपज्जत्तीसु णेरइयदेवमणूसेसु छ भंगा । अवसेसाणं जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो । भासामणपज्जत्तीए जीवेसु पंचिंदियतिरिक्खजोणीएसु य तियभंगो । णेरइयत्ते देवमणूसेसु छ भंगा । सव्व पदेसु एते एगत्तपुहत्तेणं जीवादिओ दंडगोपुच्छाए भाणियव्वो जस्स जं अत्थि तस्स तं पुच्छिज्जइ जं नत्थि तं न पुच्छिज्जइ जाव भासामणपज्जत्तीएसु अपज्जत्तएसु णेरइयदेवमणूसएसु छब्भंगा सेसेसु य तियभंगा ॥

तत्रागमे पर्याप्तयः पञ्च भाषामनः पर्याप्त्योरेकत्वेन विवक्षणात् । तथाहारपर्याप्तया पर्याप्ते शरीरपर्याप्त्या पर्याप्ते इन्द्रियपर्याप्त्या पर्याप्ते प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्ते भाषामनःपर्याप्त्या पर्याप्ते चिन्त्यमानेऽत्रैव सर्वसंकलनामाह । एतासु पञ्चस्वपि पर्याप्तिषु समर्थितासु चिन्त्यमानास्विति शेषः । प्रत्येकमेकवचने जीवपदे मनुष्यपदे च स्यादाहारकस्स्यादनाहारक इति । शेषेषु तु स्थानेषु आहारका इति बहुवचने (जीवेसु मणूसेसु य तियभंगो त्ति) जीवपदे मनुष्यपदे च भङ्गत्रिकञ्च वक्तव्यं । तच्चौदारिकशरीरसूत्रमिव भावनीयं । अवशेषास्सर्वेऽप्याहारका वक्तव्याः नवरं भाषामनः पर्याप्तिपञ्चेन्द्रियाणामेवेति । तत्सूत्रे एकेन्द्रियविकलेन्द्रिया न वक्तव्याः किन्तु शेषाः । तदेवाह । भासामणपज्जत्ती पंचिंदियाणं नत्थि इति । आहारपर्याप्त्यपर्याप्तसूत्रे एकवचने सर्वत्राप्यनाहारको वक्तव्यो नो आहारक आहारपर्याप्त्या ह्यपर्याप्तो विग्रहगतावेव लभ्यते उपपातक्षेत्रप्राप्तस्य प्रथम समय एवाहारकपर्याप्त्या पर्याप्तत्वभावादन्यथा तस्मिन्समये आहारकत्वानुपपत्तेर्बहुवचने त्वनाहारका इति । शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तिसूत्रे एकवचने सर्वत्र स्यादाहारक इति । तत्र विग्रहगतावनाहारक उपपातक्षेत्रप्राप्तस्तु शरीरपर्याप्तिपरिसमाप्तिं यावदाहारक इति । एवमिन्द्रियपर्याप्त्या पर्याप्तिसूत्रे प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तसूत्रे भाषामनः पर्याप्त्या पर्याप्तिसूत्रे च प्रत्येकमेकवचने स्यादाहारकस्स्यादनाहारक इति वक्तव्यं । बहुवचने (उवरिल्लिया) इत्यादि । उपरितनीषु शरीरपर्याप्तिप्रभृतिषु चतसृषु अपर्याप्तिषु चिन्त्यमानासु प्रत्येकं नैरयिकदेवमनुष्येषु षड्भंगा वक्तव्यास्तद्यथा । कदाचित्सर्वेऽप्याहारका एव १ कदाचित्सर्वेऽप्यनाहारका एव २ कदाचिदेक आहारक एकोऽनाहारकः ३ कदाचिदेक आहारको बहवोऽनाहारकाः ४ कदाचिद्बहव आहारका एकश्चानाहारकः ५ कदाचिद्बहव आहारका बहवश्चानाहारकाः ६ अवशेषाणां नैरयिकदेवमनुष्यव्यतिरिक्तानां जीवैकेन्द्रियवर्जं भङ्गत्रिकं वक्तव्यं । तद्यथा । सर्वेऽपि तावद्भवेयुराहारकाः १ अथवा आहारकाश्चानाहारकश्च २ अथवा आहारकाश्चानाहारकाश्च ३ जीवपदे एकेन्द्रियपदेषु च पुनश्शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तिसूत्रे इन्द्रियपर्याप्त्या पर्याप्तिसूत्रे प्राणापानपर्याप्तिसूत्रे च प्रत्येकमभङ्गकं आहारका अपि अनाहारका अपि । उभयेषामपि च सदा बहुत्वेन लभ्यमानत्वात् । भाषामनः पर्याप्त्यपर्याप्तकास्त्वेकेन्द्रियविकलेन्द्रिया न भवन्ति किन्तु पञ्चेन्द्रिया एव । येषां हि भाषामनः पर्याप्तिसंभवोऽस्ति त एव तत्पर्याप्ताः प्रोच्यन्ते न शेषा इति । ततस्तत्सूत्रं । बहुवचने जीवपदेऽपि पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिपदे च भङ्गत्रिकं । पंचेन्द्रियतिर्यंचो हि सम्मूर्च्छिमाः सदैव बहवो लभ्यन्ते । ततो यावदद्याप्यन्यो विग्रहगत्यापन्नो लभ्यमाने द्वितीयो भङ्गः आहारकाश्चानाहारकश्च इति । यदा तु विग्रहगत्यापन्ना अपि बहवो लभ्यन्ते तदा तृतीयो भङ्गः । आहारकाश्चानाहारकाश्चेति जीवपदेऽपि भङ्गत्रिकमेतदपेक्षया । (णेरइयत्ति) नैरयिकदेवमनुष्येषु प्रत्येकं षड्भंगाः । ते च प्रागेवोक्ताः । इह भव्यपदादारभ्य प्राय एकत्वेन बहुत्वेन च विवक्षितानि सूत्राणि जीवादिदण्डकक्रमेण नोक्तानि ततो माभून्मन्दमतीनां सम्मोह इति तद्विषयमतिदेशमाह (न सव्वपएसु एगत्ते) इत्यादि । एते जीवादयो दण्डकास्सर्वपदेषु सर्वेष्वपि पदेषु एकत्वेन बहुत्वेन च पृच्छया उपलक्षणमेतन्निर्वचनेन च भणितव्याः । किं सर्वत्राप्यविशेषेण कर्तव्या । नेत्याह । यस्येत्यादि । यस्य यदस्ति तस्य तत्पृच्छति तद्विषयं सूत्रं भण्यते यस्य पुनः यन्नास्ति न तस्य तत्पृष्टव्यं न तद्विषयं तस्य सूत्रं वक्तव्यमिति भावः । कियद्दूरं यदेव कर्तव्यमिति शङ्कायां चरमदण्डकवक्तव्यतामुपदिशति (जाव भासामणपज्जत्तीएसु) इत्यादि भावितार्थं इहाधिकृतार्थभावनार्थमिमाः पूर्वाचार्यप्रतिपादिता गाथाः ।

सिद्धेगिंदियसहिया, जहिं तु जीवा अभंगयं तत्थ ।
सिद्धेगिंदियवज्जे–हिं होइ जीवेहिं तियभंगो ॥ १ ॥
असन्नीसु य नेरइय, देवमणुएसु होंति छब्भंगा ।
पुढविदगतरुगणेसु य, छब्भंगा तेउलेसाए ॥ २ ॥
कोहे माणे माया, छब्भंगा सुरगणेसु सव्वेसु ।
माणे मायालोभे, नेरइएहिं पि छब्भंगा ॥ ३ ॥
आभिणिबोहियनाणे, सुयनाणे खलु तहेव सम्मत्ते ।
छब्भंगा खलु नियमा, बियतियचउरिंदियेसु भवे ॥ ४ ॥
उवरिल्लपज्जत्ती–सु चउसु नेरइयदेवमणुएसु ।
छब्भंगा खलु नियमा, वज्जे पढमा उपज्जत्ती ॥ ५ ॥
सन्नी तिसुद्धलेस्सा, संजयाहिहिल्लातिसुयनाणेसु ।
इत्थीपुरिसाणयवेदेवि, छब्भंगा खलु तियभंगो ॥ ६ ॥
सम्मामिच्छमणवइ, मणनाणे बालपंडियवेउव्वी ।
आहारसरीरंमि य, नियमा आहारया होंति ॥ ७ ॥
ओहिम्मिवि भंगंमि, नियमा आहार याउ नायव्वा ।
पंचिंदिया तिरिच्छा, मणुया पुण होंति विब्भंगा ॥ ८ ॥
ओरालसरीरम्मि य, पज्जत्तीणं च पंचसु तहेव ॥
तियभंगो जियमणुए–सु होंति आहारगा सेसा ॥ ९ ॥
णो भव अरूविलेसा, अजोगिणो तहय होंति असरीरी ।
पढमाए अपज्जत्तीए, तउ नियमा अणाहारा ॥ १० ॥
सन्नासन्नविउत्ता, वेयकसाइणो य केवलिणो ।
तियभंग एकवयणं सिद्धाणाहारया होंति ॥ ११ ॥

एताश्च सर्वा अपि गाथा उक्तार्थप्रतिपादकत्वाद्भावितार्था

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इति न सूये भाव्यन्ते । ग्रन्थगौरवभयात् । न वरं । (पक्कवयणे सिद्धाणाहारया होंति इति ।) पक्कवयणे इत्यत्र तृतीयार्थे सप्तमी । एकवचनेन एकार्थेनेति भावः । सर्वत्र सिद्धा अनाहारका भवन्तीति विज्ञेयम् ॥ प्रज्ञा० २८ पद ॥

जीवः कं समयमनाहारकः !

तेणं कालेणं तेणं समएणं जाव एवं-वयासी जीवेणं भंते ! कं समयमणाहारए भवइ ? गोयमा ! पढमे समये सिय आहारए सिय अणाहारए, बितिए समये सिय आहारए सिय अणाहारए, तइए समये सिय आहारए सिय अणाहारए, चउत्थे समए नियमा आहारए, एवं दंमओ जीवा य एगिंदिया य चउत्थे समए सेसा तइए समए ॥ भ०-७ श. १ उ. ॥

(कं समयमणाहारएत्ति) परभवं गच्छन् कस्मिन्समयेऽनाहारको भवतीति प्रश्नः । उत्तरन्तु यदा जीव ऋजुगत्योत्पादस्थानं गच्छति तदा परभवायुषः प्रथम एव समय आहारको भवति । यदा तु विग्रहगत्या गच्छति तदा प्रथमसमये वक्रेऽनाहारको भवति, उत्पत्तिस्थानाऽनवाप्तौ तदाहरणीयपुद्गलानामभावादत आह (पढमे समए सिय आहारए सिय अणाहारएत्ति) तथा यदा एकेन वक्रेण द्वाभ्यां समयाभ्यामुत्पद्यते तदा प्रथमेऽनाहारको द्वितीयेत्वाहारको यदा तु वक्रद्वयेन त्रिभिः समयैरुत्पद्यते तदा प्रथमे द्वितीये चानाहारक इत्यत आह (बीयसमये सिय आहारए सिय अणाहारएत्ति) तथा यदा वक्रद्वयेन त्रिभिस्समयैरुत्पद्यते तदा द्वयोरनाहारकस्तृतीये त्वाहारको यदा तु वक्रत्रयेण चतुर्भिस्समयैरुत्पद्यते तदाद्ये समयत्रयेऽनाहारकश्चतुर्थे तु नियमादाहारक इति कृत्वा(तइए समए सिय०) इत्याद्युक्तं वक्रत्रयं चेत्थं भवति । नाड्या बहिर्विदिग्व्यवस्थितस्य सतो यस्याधोलोकादूर्ध्वलोके उत्पादो नाड्या बहिरेव दिशि भवति सोऽवश्यमेकेन समयेन विश्रेणितस्समश्रेणीं प्रतिपद्यते द्वितीयेन नाडीम्प्रविशति तृतीयेनोर्ध्वलोकं गच्छति चतुर्थेन लोकनाडीतो निर्गत्योत्पत्तिस्थान उत्पद्यते । इह चाद्ये समयत्रये वक्रत्रयमवगन्तव्यं । समश्रेणैव गमनात् ।

अन्ये त्वाहुः । वक्रचतुष्टयमपि सम्भवति । यदाहि विदिशो विदिश्येवोत्पद्यते तत्र समयत्रयं प्राग्वत् । चतुर्थसमये तु नाडीतो निर्गत्य समश्रेणीं प्रतिपद्यते पञ्चमेन तूत्पत्तिस्थानं प्राप्नोति । तत्र चाद्ये समयचतुष्टये वक्रचतुष्कं स्यात्तत्र चानाहारक इति । इदञ्च सूत्रे न दर्शितं प्रायेणेत्थमनुत्पत्तेरिति (एवं दंमओत्ति) अमुनाऽभिलापेन चतुर्विंशतिदण्डको वाच्यस्तत्र च जीवपद एकेन्द्रियपदेषु च पूर्वोक्तभावनयैव चतुर्थे समये नियमादाहारक इति वाच्यं । शेषेषु तु पदेषु तृतीयसमये नियमादाहारक इति । तत्र यो नारकादित्रसस्त्रसेष्वेवोत्पद्यते । तस्य नाड्या बहिस्तादागमनं गमनञ्च नास्तीति तृतीयसमये नियमादाहारकत्वम् । तथाहि यो मत्स्यादिर्भरतस्य पूर्वभागादैरवत-पश्चिमभागस्याऽधो नरकेपूत्पद्यते । स एकेन समयेन भरतस्य पूर्वभागात्पश्चिमं भागं याति द्वितीयेन तु तत ऐरवतपश्चिमं भागं ततस्तृतीयेन नरकमिति । अत्र चाद्ययोरनाहारकस्तृतीयेत्वाहारक एतदेव दर्शयति (जीवाय एगिंदिया य चउत्थे समये सेसा तइयसमएत्ति ॥

कस्मिन् समये सर्वाल्पाहारकः ।

जीवेणं भंते ! कं समयं सव्वप्पाहारए भवइ ? गोयमा ! पढमसमयोववन्नए वा चरिमसमयभवत्थे वा एत्थ णं जीवे सव्वप्पाहारए भवइ दंमओ भाणियव्वो जाव वेमाणियाणं । भ०-७ श. १ उ. ॥

कस्मिन् समये सर्वाल्पः सर्वथा स्तोको न यस्मादन्यः स्तोकतरोऽस्ति स आहारोयस्य सः सर्वाल्पाहारः स एव सर्वाल्पाहारकः (पढमसमयोववन्नएत्ति) प्रथमसमय उत्पन्नस्य यस्य प्रथमो वा समयो यत्र तत्प्रथमसमयं । तदुत्पन्नमुत्पत्ति यस्य स तथा उत्पत्तेः प्रथमसमय इत्यर्थः । तदाहार ग्रहणहेतोः शरीरस्याऽल्पत्वात्सर्वाल्पाहारता भवतीति । (चरमसमयभवत्थेवत्ति) । चरमसमये भवस्य जीवितस्य तिष्ठति यः स तथा आयुषश्चरमसमय इत्यर्थः । तदानीं प्रदेशानां संहृतत्वेनाऽल्पेषु शरीरावयवेषु स्थितत्वात्सर्वाल्पाहारतेति ।

वनस्पतिः सर्वाल्पाहारकः ।

वणस्सइकाइया णं भंते ! कं कालं सव्वप्पाहारगा वा सव्वमहाहारगा वा भवंति ? गोयमा ! पाउसवरिसा रत्तेसु णं एत्थणं वणस्सइकाइया सव्वमहाहारगा भवंति । तयाणंतरं च णं सरए, तयाणंतरं च णं हेमंते, तयाणंतरं च णं वसंते, तयाणंतरं च णं गिम्हासु, णं वणस्सइकाइया सव्वप्पाहारगा भवंति । जइ णं भंते ! गिम्हासु वणस्सइकाइया सव्वप्पाहारगा भवंति । कम्हाणं भंते ! गिम्हासु बहवे वणस्सइकाइया पत्तिया पुप्फिया फलिया हरिय गेरिज्जमाणा सिरीए अतीव अतीव उवसोभेमाणा उवचिट्ठंति ? गोयमा ! गिम्हासु णं बहवे उसिणजोणिया जीवा य पोग्गला य वणस्सइकाइयत्ताए वक्कमंति विउक्कमंति चयंति उववज्जंति । एवं खलु गोयमा ! गिम्हासु बहवे वणस्सइकाइया पत्तिया पुप्फिया जाव चिट्ठंति । से नूणं भंते ! मूला मूलजीवफुडा कंदा कंदजीवफुडा जाव बीया बीयजीवफुडा ? हंता गोयमा ! मूला मूलजीवफुडा जाव बीया बीयजीवफुडा । जइणं भंते ! मूला मूलजीवफुडा जाव बीया बीयजीवफुडा कम्हाणं भंते ! वणस्सइकाइया आहारंति परिणामंति ? गोयमा ! मूला मूलजीवफुडा पुढवीजीवपडिबद्धा तम्हा आहारंति तम्हा परिणामंति कंदा कंदजीवफुडा मूलजीवपडिबद्धा तम्हा आहारंति तम्हा परिणामंति एवं जाव बीया बीयजीवफुडा फलजीवपडिबद्धा तम्हा आहारंति तम्हा परिणामंति ।

(वणस्सइ) इत्यादि । (कं कालंति) कस्मिन्काले । (पाउसेत्यादि ।) प्रावृडादौ बहुलजलस्नेहस्य महाहारतोक्ता प्रावृट् श्रावणादिर्वर्षारात्रो ऽश्वयुजादिः । (सरएत्ति) शरत् मार्गशीर्षादिस्तत्र चाल्पाहारा भवन्तीति ज्ञेयं । ग्रीष्मे सर्वाल्पाहारतोक्ता । अत एव च शेषेष्वल्पाल्पाहारता क्रमेण द्रष्टव्येति । (हरितगरेरिज्जमाणत्ति ।) हरितकाश्च ते नीलका रेरिज्यमानाश्च देदीप्यमाना हरितकरेरिज्यमानाः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(सिरीपत्ति ।) वनलक्ष्या । (तसिणजोणिपत्ति ।) तप्ण मेव योनिर्येषान्ते तण्णयोनिकाः । (मूलामूलजीवफुरुत्ति) । मूलानि मूलजीवैः स्पृष्टानि व्याप्तानीत्यर्थः । यावत्करणात् (खंधाखंधजीवफुडा) एवं (तया साला पवाला पत्ता पुप्फा फलत्ति) हश्यं । (जइण) मित्यादि । यदि भदन्त ? मूला-दीन्येव मूलादिजीवैः स्पृष्टानि तदा (कम्हत्ति) । कस्मात्केन हेतुना कथमित्यर्थः । वनस्पतय आहारयंति । आहारस्य भूमिगतत्वान्मूलादिजीवानां च मूलादिव्याप्त्यै वावस्थितत्वा त्केषाञ्चिच्च परस्परव्यवधानेन भूमेर्दूरवर्तित्वादिति । अत्रोत्तरं । मूलानि मूलजीवस्पृष्टानि केवलं पृथिवी जीवप्रतिबद्धानि । (तम्हात्ति) । तस्मात्तत्प्रतिबन्धाद्धेतोः पृथिवीरसं मूलजीवा आहारयन्ति कन्दाः कन्दजीवस्पृष्टाः केवलं मूलजीव प्रतिबद्धा स्तस्मात्तत्प्रतिबंधान्मूलजीवोपात्तं पृथिवीरसमाहारयंतीत्येवं स्कंधादिष्वपि वाच्यं ॥ भ. श. ७ उ. ३ ॥

आहारकाणां कायस्थितिः (कायट्ठिइ) शब्दे उक्ता ॥ अद-त्तमाहारमाहारयंति ॥

जे भिक्खू आयरिय उवज्झाएहिं अदिन्नं आहारं आहारेइ आहारंतं वा साइज्जइ ॥ २२ ॥ जे भिक्खु आयरियउवज्झाएहिं अविदिन्नं विगयं आहारेति आहा-रंतं वा साइज्जइ ॥ २३ ॥

आचार्य उपाध्यायः । असदीणोवायरिए उवज्झाओ पुच्छि ज्जइ । अथवा उवज्झायगहणेणं जो जं पुरतो काउं विह-रति सो तेण पुच्छियव्वो अविदिन्नं अदत्तं अणुन्ना यं अ-न्नायं अन्नतरं गहणतेणवविगत्तीओ जो आहारेइ तस्स मासलहुं एस सुत्तत्थो ॥ नि० चू० ४ ॥

ओषधीराहारयति ।

जे भिक्खू कसिणाओ ओसहीओ आहारेइ आहारंतं वा साइज्जइ ॥ २४ ॥

कसिणा संपुन्ना दव्वतो अभिन्ना ओसहीओ सालिमा-तियाओ आहारेति भुंजति तस्स मासलहुं कसिणत्ते ओसहीए दव्वभावेहिं चउभंगो कायव्वो दव्वतो ॥

कसिणत्तमोसहीणं, दव्वे भावे य उकत्तयणाउ ।
दव्वेण जातु सकला, जीवजुता भावितो कसिणा ॥ २५ ॥

कसिणा सम्पुन्ना अखंडिता अप्फुडिता भावकसिणा जा सचेयणा ॥

सतुसा सचेयणा वि य, पढम भंगोउ ओसधीणीउं ।
बितिओ सचेतणा अतुसा ओखडिता अतिच्छडिता ॥

जा सतुसा दव्वतो अभिन्ना सचेयणा य एस पढमभंगो जा सचेयणा अतुसा चेयणा तंडुला सउसा वा खंडिता अतिछडा एगछुडा वा कता एस वितियभंगो ॥

णियगाठितिमातिकंता सतुसा बीयाउ ततियओ भंगो ।
पढममातिविवरीओ चउत्थभंगोमुणे तव्वो ॥ २७ ॥

णियगा आत्मीयस्थिति मतिकान्ता अचेतना इत्यर्थः । दव्वतो पुण सतुसा अखंडिता अप्फुडिता एरिसा जा ओसहीओ एस ततियभंगो भावतो णियगट्ठितिमातिकन्ता दव्वतो भिन्ना ए स पढमभंगविवरीतो चतुर्थभंगो भवतीति ।

एतेसु चउभंगेसु इमं पच्छित्तं ।

दोसु लहुया दोसु लहुओ, तवकालविसेसिता जधा कमसे

परित्तोसधीणसोधी, एसे व गुरुअणंतएणं ॥ २८ ॥

आइल्लेसु दोसु भंगेसु चउलहुं । पच्छिमेसु दोसु भंगेसु मासलहुं जहाकमं आतिल्लातो समारब्भ तवकालविसेसिया कायव्वा । पढमे दोहिं वि गुरु वितिए तव गुरु ततिए काल-गुरु चउत्थे दोहिं वि लहु एवं परित्ते भणियं अणंतवीएसु एवं पच्छित्तं गुरुगं दत्तव्वं ।

चोदगआह ।

अन्नोन्नेण विरुद्धं तु, सोविसुत्तंव मा भणसा ।
संघट्टणे तुसोही, पंचाहा भुंजतो सुत्तं ॥ २९ ॥

सुत्तगहणतो इहसुत्ते वितिएसु मासलहुं सो वि गहणाउ इहेव पढिगाए अत्थेवीएसु पाणगं दत्तं एए दो वि अन्नोन्न विरुद्धा एवं मा भणाहि आचार्योआह सातु संघट्टणे पच्छइं पंच राइन्दिया अत्थेण जे वीएसु भणिता ते संघट्टणा इमं पुण भुंजओ सुत्ते मासलहुं अंतो भणियं तम्हातो अन्नोन्नविरुद्धं अन्ने आयरिया वक्खाणेति । अत्यतो चोइए आचार्य उत्तर-माह अन्नोन्नेण गाहा शेषं पूर्ववत् ।

पुणरवि चोयगआह ।

गा०-जं च वीएसु पंचावो, कुंभरोट्टेसु मासियं ।
तत्थपाती तु सो वीयं, कुंभरोट्टतुणिच्चसाउ ॥ ३० ॥

प्रचोदको भणति वीएसु संघट्टिएसु पणगकुंभरोट्टेसु संघ-ट्टितेसु मासलहुं एत्थ किं कारणं तुसमुहीकाणिया कुक्कस-मीसा कुरुगं भणति असत्थो वहतो आमो चेयणं च तंडुले लोट्टो भणति आयरिओ भणति तत्थे पाणी तु पच्छई चोइते तत्थेव उत्तरं भणति पाति रक्खति सो तुसो तं बीयं तेणं तत्थपणगं कुंभरोट्टे पुण णितुसा तेण वत्थमइंततवरी पीडा अतो तत्थ मासितं ।

गा०-एते सामन्नतरं, कसिणं जोऊ अधिउ आधारे ।
सा आणा अणवत्थं, मिच्छत्त विराधणं पावे ॥ ३१ ॥

तिलमुग्गमासचवलगा गोधूम चणयसालिकंगुमातीयाणं अणंतरं कसिणं भुंजति सो आणाती दोसे पावति इमे दोसा ।

गा०-पलिमंथोआणाइण्णं, जो णिग्घातो असंजमे ।
अतिभुत्ते य आयाए, पत्थारंमि पसज्जणा ॥ ३२ ॥

चमढयमातियासु संगासु सचित्तासु अचित्तासु वा पलिमं-थो एगरि सिणं संजमो मंथिज्जति जण सो पलिमंथो साहू-ण वा तओ अन्नाइणा जोणीभूते बीए जोणी घातो भव-तीत्ति सचित्ते असंजमो भवति रसाले वा अतिभुत्ते विसूइ-यत्ति आयविराहणा अन्नतरं वा दीहे रोगायंक भवति तत्थप-त्थारपसंगो प्रसूरणं प्रस्तारप्रसंगः उत्तरोत्तरदुःखसंभव इत्यर्थः ।

तत्थ परितावमहादुक्खे ॥

गा०-वितियपदं गेलाणे, अद्धाणे चेव तह य उमंमि ॥
कसिणोसहीणगहणो, भतणाए कप्पती काउं ॥ ३३ ॥

वेज्जुवदेसागिलाणो भुंजति भत्तालंभे अद्धाणे अकच्चं ता वा उमेकसिणो वा उमेकसिणोसही गहणं करेज्ज तं पि जयणा-ए पणगातिमासपत्तो पच्छाचरिमभंगेण ततो ततियभंगं, ततो वितियभंगं, ततो पढमेण एवं गहणं काउं कप्पति ॥

यावज्जीवं कियद्भुंक्ते ॥

चत्तारि य उसासकोडिसए जाव चत्तालीसं च

ऊसास सहस्साइं जीवंतो अद्धतेवीसं तंदुलवाहे भुंजइ । कहमाउसो अद्धतेवीसं तंदुलवाहे भुंजइ । गोयमा ! दुब्बलाए खंडियाणं बलियाए छड्डियाणं खयरमुसलपच्चाहयाणं ववगयतुसकणियाणं अखंडाणं अफुडियाणं फलगसरीयाणं एक्किक्कं बीयाणं अद्धतेरसपलियाणं पत्थयणं सेवियणं पत्थ ए मागहए कल्लंपत्थो १ सायंपत्थो २ चउसट्ठितंदुलसाहस्सीओ मागहओ पत्थो विसाहस्सिएणं कवलेणं बत्तीसं कवला पुरिसस्स आहारो १ अट्ठाविसं इत्थीयाए २ चउवीसं पंडगस्स ३ एवमेव आउसो एयाए गणणाए दो असईओ पसई १ दो पसईउ सेइया होइ २ चउवीसं पंडगस्स ३ एवमेव आउसो चत्तारी सेइयाकुलउ चत्तारिकुलया पत्थो ४ चत्वारि पत्था आढगं ५ सट्ठीए आढगाणं जहन्नए य कुंभे ६ असीए आढगाणं मज्झिमे कुंभे ७ आढगसयं उक्कोसए कुम्भे ८ अट्ठेव आढगसयाणि वाहो एएणं वाहपमाणेणं अद्धतेवीसं तंदुलवाहे भुंजइ ते य गणिय निद्दिट्ठा "चत्तारि य कोडिसया, सट्ठिं चेव य हवंति कोडियो । असीइं च तंदुलसय–सहस्सा हवंतित्ति विक्खायं" ४६०८०००००० तं एवं अद्धतेवीसं तंदुलवाहे भुंजंतो अद्धछट्ठे मुगाकुंभे भुंजइ । अद्धछट्ठे मुगाकुम्भे भुंजंतो चउवीसं नेहाढगसयाइं भुंजइ चउवीसं नेहाढगसयाइं भुंजंतो बत्तीसं लवणपलसहस्साइं भुंजइ बत्तीसं लवणपलसहस्साइं भुंजंतो छप्पडगसाडगसयाइं नियंसेइ दोमासीएण परियट्टएणएणं मासिएण वा परियट्टेणं बारसपडसाडगसयाइं नियंसेइ एवमेव आउसो वाससयाउयस्स सव्वं गणियं तुलियमवियं नेहलवणभोयणच्छायणंपि एयं गणियप्पमाणं दुविहं भणियं महरिसीहिं जस्सत्थि तस्स गुणिज्जइ जस्स नत्थि तस्स किं गणिज्जइ ॥

'ववहारगणियदिट्ठं, सुहुमं निच्छयगयं मुणेयव्वं ॥
जइ एयं नविएयं, विसमा गणणा मुणेयव्वा' ॥ १ ॥

चत्वारि उच्छ्वासकोटिशतानि यावच्चत्वारिंशदुच्छ्वाससहस्राणि जीवन्सार्द्धद्वाविंशति तंदुलवाहान् वक्ष्यमाणस्वरूपान् भुनक्ति । कथं हे आयुष्मन् ! हे सिद्धार्थनंदन ! सार्द्धद्वाविंशतितंदुलवाहान् भुनक्ति संसारीति–हे गौतम ! दुर्बलिकया स्त्रिया कंडितानां बलवत्या रामया छटितानां शूर्पादिना खदिरमुशलप्रत्याहतानां व्यपगततुषकणिकाणां अखंडानां सम्पूर्णावयवानां अस्फुटितानां राजिरहितानां (फलगसरियाणं) फलक वीनितानां कर्करादिकषणेन एकैकबीजानां वीननार्थं पृथक् २ कृतानामित्यर्थः । एवं विधानां सार्द्धद्वादशपलानां तंडुलानां प्रस्थकोभवति णं वाक्यालंकारे ॥ पलमानं यथा पंचभिर्गुंजाभिर्माषः षोडशमाषाः कर्षः अशीतिगुंजाप्रमाण इत्यर्थः । स यदि कनकस्य तदासुवर्ण संज्ञः नान्यस्यरजतादेरिति चतुर्भिः कर्षैः पलमिति विंशत्यधिकशतत्रयगुंजाप्रमाणमित्यर्थः (३२०) सोपि च प्रस्थकः मगधे जवो मागध इत्युच्यते कल्लन्ति श्वः प्रातः कालइत्यर्थः प्रस्थो भवति भोजनायेति सायमिति संध्यायां प्रस्थो भोजनायेति १ एकस्मिन्मागधप्रस्थके कति तंदुला भवन्ति इत्याह । चउसट्ठि १ चतुः षष्टि तंदुलसाहस्त्रिको मागधप्रस्थोभवत्येकः एवं कवलं कतिभिः तंडुलैः स्यादित्याह (विसाहस्सिएणं कवलेणंति) द्विसाहस्त्रीकेण तंडुलेन कवलो भवति तत्र गुंजा कति भवन्ति यथा एकत्रिंशत्यधिकशतप्रमाणः किंचिन्न्यूना एका गुंजा चेति अनेन कवलमानेन पुरुषस्य द्वात्रिंशत् कवलरूप आहारो भवति १ स्त्रिया अष्टाविंशतिकवलरूप आहारः २ पंडकस्य नपुंसकस्य चतुर्विंशतिकवलरूप आहारः ३ (एवमेवेति) उक्तप्रकारेण वक्ष्यमाणप्रकारेण च हे आयुष्मन् एतया गणनया एतन्मानं भवति । अथासत्यादिमानपूर्वकं अष्टाविंशतिसहस्राधिकलक्ष तंडुलमानं चतुः षष्ठीकवलप्रमाणं प्रस्थद्वयं प्रतिदिनं भुंजन् प्रतिवर्षेण कति तंडुलवाहान् कतितंडुलांश्च भुनक्तीत्याह (दो असईओ पसई इत्यादि) धान्यभृतोऽवाङ्मुखीकृतो हस्तोऽसतीत्युच्यते द्वाभ्यामसतीभ्यां प्रसृतिः १ द्वाभ्यां प्रसृतिभ्यां सेतिका भवति २ चतसृभिः सेतिकाभिः कुडवः ३ चतुर्भिः कुडवैः प्रस्थः ४ चतुर्भिः प्रस्थैराढकः ५ षष्ट्याआढकैर्जघन्यकुंभः ६ अशीत्याढकैर्मध्यमकुंभः ७ आढकशतेनोत्कृष्टः कुंभः ८ अष्टभिराढकशतैः वाहोभवति ९ अनेनवाहप्रमाणेन सार्द्धद्वाविंशति तंडुलवाहान् भुनक्ति वर्षशतेनेति ते च वाहोक्त तंडुला गणयित्वा संख्यां कृत्वा निर्दिष्टाः कथिताः यथा चत्वारिकोटिशतानि षष्टिश्चैवकोटयः अशीतिस्तंडुलशतसहस्राणि भवंतीत्याख्यातं कथितं एकेनप्रस्थेन चतुः षष्टिस्तंदुलसहस्राणि भवन्ति प्रस्थद्वयेनाष्टाविंशतिसहस्राधिकं लक्षं भवति प्रतिदिनं द्विर्भोजनेन एतावत्तंडुलान् भुनक्तीति अतोष्टाविंशतिसहस्राधिकलक्षं वर्षशतेन षट्त्रिंशद्दिनसहस्रमानत्वात् षट्त्रिंशत्सहस्रैर्गुण्यन्ते । शून्यानि पंच भवन्ति चत्वारिकोटिशतानि षष्टि कोटयः अशीतिलक्षाणि । ४६०८०००००० तंडुलानामिति (तं एवंति) तदेवं सार्द्धद्वाविंशति तंडुलवाहान् भुंजन् सार्द्धपंचमुद्गकुंभान् भुनक्ति सार्द्धपंचमुद्गकुंभान् भुंजन् चतुर्विंशति स्नेहाढकशतानि भुनक्ति चतुर्विंशति स्नेहाढकशतानि भुंजन् षट्त्रिंशल्लवणपलसहस्राणि भुनक्ति षट्त्रिंशल्लवणपलसहस्राणि भुंजन् षट्पटकशाटकशतानि (नियंसेइति) परिदधाति । द्वाभ्यां मासाभ्यां (परियट्टएणन्ति) परावर्त्तमानत्वेनेति वा अथवा मासिकेन परावर्तित्वेन द्वादशशतशाटकशतानि नियंसे इति परिदधाति (एवमेवत्ति) उक्तप्रकारेण हे आयुष्मन् वर्षशतायुषः पुरुषस्य सर्वगुणितं तंडुलप्रमाणादिना तुलितं पलप्रमाणादिनाम विसमसर्वप्रसृत्यादिना प्रमाणेन तत्किमित्याह । स्नेहलवणभोजनाच्छादनमिति एतत्पूर्वोक्तं गणितप्रमाणं द्विधाभणितं महर्षिभिः यस्य जन्तोरस्ति तंडुलादिकं तस्य गुण्यते यस्य तु नास्ति तस्य किं गुण्यते न किमपीति व्यवहारगणितदृष्टं स्थूलन्यायमंगीकृत्य कथितं सूक्ष्मं निश्चयगतं ज्ञातव्यं यदि एतन्निश्चयगतं भवती तदा एतद्व्यवहारगणितं नास्त्येव अतो विषमा गणना ज्ञातव्येति १ आहारकारणानि ॥

छहिं ठाणेहिं समणे निग्गन्थे आहारमाहारेमाणे णाइक्कमइ तंजहा "वेयण वेयावच्चे, इरियट्ठाए य संजमट्ठाए । तह पाणवत्तियाए, छट्ठं पुण धम्मचिंताए" ॥

॥ टी० ॥ कप्पल्प्यसवर माहारमशनादिक माहारयन्नत्य वह-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रन् नातिक्रामत्याहारं पृष्ठिकारणत्वादन्यथात्वतिक्रामत्येव रागादिबाधा सद्यथा वेदनेत्यादिगाथा वेदना च क्षुद्वेदनावैयावृत्यं चाचार्यादिकृत्यकरणं वेदना वैयावृत्यं तत्र विषये भुञ्जीत वेदनोपशमनार्थं वैयावृत्यकरणार्थंचेति भावः ईर्या गमनं तस्याः विशुद्धिर्युगमात्रनिहितदृष्टित्वमीर्याविशुद्धिस्तस्यै इदमीर्याविशुध्यर्थं इह च विशुद्धिशब्दलोपादीर्यार्थमित्युक्तं बुभुक्षितो हीर्यां शुद्धावशक्तः स्यादिति तदर्थमिति च समुच्चये संयमः प्रेक्षोत्प्रेक्षाप्रमार्जनादिलक्षणस्तदर्थं तथेति कारणान्तरसमुच्चये प्राणा उच्छ्वासादयोबलं वा प्राणास्तेषां तस्य वा वृत्तिः पालनं तदर्थं प्राणसंधारणार्थमित्यर्थः षष्ठं पुनः कारणं धर्मचिन्तायै गुणनानुप्रेक्षायमित्यर्थः इत्येतानि षट् कारणानीति स्था० ६ ठाणा० ।

अधुनाकारणे द्वारमाह ।

छहिं कारणेहिं साहू, आहारेन्तो य आयरइ धम्मं ।
छहिं चेव कारणेहिं, नज्जूहिन्तो वि यायरइ ॥

षड्भिर्वक्ष्यमाणस्वरूपैः साधुराहारयन्नभ्याहारमाचरति धर्मं षड्भिरेवकारणे वक्ष्यमाणस्वरूपै भोजनकारणनिबंधनैः (निज्जूहिन्तो विति) परित्यजन्नप्याचरति धर्मं तत्र यैः षड्भिः कारणैराहारमाहारयति तानि निर्दिशति " वेयण वेयावच्चे, इरियट्ठाए य संजमट्ठाए । तह पाणवत्तियाए, छट्ठं पुण धम्मचिन्ताए " इह पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् (वेयण त्ति) क्षुद्वेदनोपशमनाय तथा आचार्यादीनां वैयावृत्तिकरणाय तथा ईर्यापथि संशोधनार्थं तथा प्रेक्षादिसंयमनिमित्तं तथा प्राणप्रत्ययार्थं प्राणसंधारणार्थं षष्ठं पुनः कारणं धर्मचिन्ताभिवृद्ध्यर्थं भुञ्जीतेति क्रियासंबन्धः ।

एतामेव गाथां विवृण्वन्नाह ।

नत्थि छुहाए सरिसा, वियणा भुंजेज्ज तप्पसमणट्ठा ।
छाओ वेयावच्चं, न तरइ काउं अओ भुंजे ॥
इरियं न विसोहेई, पेहाईयं च संजमं काउं ।
थामो वा परिहायई, गुणनमणुप्पेहासु य असत्तो ॥

नास्ति क्षुधाया बुभुक्षाया सदृशी वेदना उक्तं च " पंथसमा नत्थि जरा, दारिद्दसमो य परिभवो नत्थि । मरणसमं नत्थि भयं, खुहासमा वेयणा नत्थि॥ तं नत्थि जन्न वाहइ, तिलतुसमित्तंपि एयं कायस्सा सविउं सव्वदुहाइं,देंति आहाररहियस्स" ततस्तत्प्रशमनार्थं भुंजीत तथा क्षामो बुभुक्षितः सन् वैयावृत्यं न शक्नोति कर्तुं।तथा चोक्तं।"गलइ बलं उच्छाहो, अवेइ सिढिलेइ सयलवावारे । नासइ सत्तं अरई, विवड्ढ असणरहियस्स " अतो वैयावृत्यकरणाय भुंजीत । तथा बुभुक्षितः सन्नीर्यापथं न शोधयत्यशक्तत्वादतस्तच्छोधननिमित्तं वा अश्नीयात् तथा क्षुधार्तः सन् न प्रेक्षादिकं संयमं विधातुमक्षमतः संयमाभिवृद्ध्यर्थं भुंजीत तथा स्थामं बलं प्राण इत्येकार्थः ततः बुभुक्षितस्य परिहीयते परिहानिं याति। ततोऽश्नीयात् तथा गुणनं ग्रन्थपरावर्तनमनुप्रेक्षा चिन्ता तयोरुपलक्षणमेतत् वाचनादिष्वपि बुभुक्षितः सन् असक्तोऽसमर्थो भवति ततोऽश्नीयात् इत्थंभूतैश्च षड्भिः कारणैः समस्तैरन्यतमेन वा कारणेनाहारयन्नाति क्रामति ।

संप्रत्यभोजनकारणप्रतिपादनार्थं संबंधगाथामाह ।

अहवं न कुज्जाहारं, छहिं ठाणेहिं संजओ ।
पच्छा पच्छिमकालम्मि, कारं अप्पक्खमं खमं ॥

अथवा षड्भिः स्थानैर्वक्ष्यमाणस्वरूपैः संयतः आहारं न कुर्यात् तत्र विचित्रा सूत्रगतिरिति षष्ठं शरीर-व्यवच्छेदलक्षणं कारणं व्याख्यानयति (पच्छा इत्यादि) पश्चात् शिष्यनिष्पादनादि सकलकर्तव्यतानंतरे पश्चिमे काले पाश्चात्ये वयसि (अप्पक्खमं ति) संलेखनाकरणेनात्मानं कृपयित्वा यावज्जीवमशनप्रत्याख्यानकरणस्य क्षमं योग्यमात्मानं कृत्वा भोजनं परिहरेन्नान्यथा । एतेन शिष्यनिष्पत्त्यभावे प्रथमे वा द्वितीये वा वयसि संलेखनामन्तरेण वा शरीरपरित्यागार्थमशनप्रत्याख्यानकरणे जिनाज्ञाभङ्गमुपदर्शयति । पिं० ॥

(जावत एवाहरेदिति अस्मिन्नेव शब्दे ।)

आहारत्यागकारणानि ।

छहिं ठाणेहिं समणे निग्गंथे आहारं वोच्छिंदमाणे णाइक्कमइ तंजहा " आतंके उवसग्गे, तितिक्खणे बंभचेरगुत्तीए । पाणिदया तवहेउं, सरीरवोच्छेयणट्ठाए "

(वोच्छिंदमाणे त्ति) परित्यजन् आतंके ज्वरादावुपसर्गे राजस्वजनादिजनिते प्रतिकूलस्वभावे तितिक्षणे अधिसहने कस्याः ब्रह्मचर्यगुप्तेः मैथुनव्रतसंरक्षणस्याहारत्यागिनो हि ब्रह्मचर्यं सुरक्षं स्यादिति । प्राणिदया च संपातिम-त्रसादिसंरक्षणं तपश्चतुर्थादि षण्मासान्तं प्राणिदया तपस्तच्च तद्धेतुश्च प्राणिदया तपो हेतुस्तस्मात् प्राणिदया तपो हेतोर्यादि निमित्तमित्यर्थस्तथा शरीरव्यवच्छेदार्थं देहत्यागाय आहारं व्यवच्छिन्दन्नातिक्रामत्याज्ञामिति प्रक्रम इह गाथे। " आयंको जरमाई, रायासन्नाइगय उवसग्गो। बंभवयपालणट्ठा, पाणिदया वासमहियाई ॥ १ ॥ तवहेउ चउत्थाइ, जाव य छम्मासिओ तवो होइ । छट्ठं सरीरवोच्छेयण-ट्ठयाहोति अणाहारोत्ति॥२॥" स्था० ६ ठा० ॥

संप्रत्यभोजनकारणानि निर्दिशति ।

आयंके उवसग्गे, तितिक्खए बंभचेरगुत्तीसु ।
पाणिदया तवहेउ, शरीरवोच्छेयणट्ठाए ॥

आतंके ज्वरादावुत्पन्ने सति न भुंजीत । तथा उपसर्गे राजस्वजनादिकृते देवमनुष्यतिर्यक्कृते वा संजाते सति तितिक्षार्थमुपसर्गसहनार्थं तथा ब्रह्मचर्यगुप्तिष्विति । अत्र षष्ठ्यर्थे सप्तमी । ततोऽयमर्थः ब्रह्मचर्यगुप्तीनां परिपालनाय तथा प्राणिदयार्थं तथा तपोहेतोस्तपः करणनिमित्तं तथा चरमकाले शरीरव्यवच्छेदार्थं सर्वत्र न भुंजीतेति क्रियासंबन्धः ।

एतामेव गाथां विवृण्वन्नाह ॥

आयंको जरमाई, रायासन्नाइ गय उवसग्गे ।
बंभवयपालणट्ठा, पाणिदया वासमहियाई ॥

आतंको ज्वरादिस्तस्मिन्नुत्पन्ने सति न भुंजीत यत उक्तं"वयावरोधिनिर्दिष्टं ज्वरादौ लंघनं हितं । कृतेऽनिलश्रमक्रोध-शोककामकृतज्वरान्,, राजस्वजनादिकृते उपसर्गे यद्वा देवमनुष्यतिर्यक्कृते उपसर्गे जाते सति तदुपशमनार्थं नाऽश्नीयात् । तथा मोहोदये सति ब्रह्मव्रतपालनार्थं न भुंजीत भोजननिषेधे हि प्रायो मोहोदयोविनिवर्तते । तथा चोक्तम् ॥ " विषया विनिवर्तन्ते, निराहारस्य देहिनः । रसवर्जं रसोऽप्येवं, परं दृष्ट्वा निवर्तते " । तथा । वर्षे वर्षति मिहिकायां वा निपतन्त्यां प्राणिदयार्थं नाश्नीयात् । आदिशब्दात् सूक्ष्ममंडूकादिसंसक्तायां भूमौ प्राणिदयार्थमटनं परिहरन् न भुञ्जीत ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तवहेउ चउत्थाई, जाव उम्मासिओ तवो होई ।
छट्टं शरीरवोच्छे-यणट्ठया होइ अणाहारो ।

तपोहेतोस्तपःकरणनिमित्तं न भुंजीत तपश्चतुर्थादिकं चतुर्थाद्यारभ्य तावद्भवति यावत्षाण्मासिकं षण्मासप्रमाणं परतो भगवद्वर्द्धमानस्वामितीर्थे तपसः प्रतिषेधात् षष्ठं पुनः प्रागुक्तविधिना चरमकाले शरीरव्यवच्छेदनार्थं भवत्यनाहारः । तदेवमुक्तं कारणद्वारं । पिं० । उत्त० । अ. ३० ॥

जह कारणं तु तंतू, पडस्स तेसिं च होंति पम्हाइं ।
नाणाइतिगस्सेवं, आहारो मोक्खनेमस्स ॥

यथा पटस्य तन्तवः कारणं तेषामपि च कारणं पक्ष्माणि भवन्ति । एवमेव प्रकारेण ज्ञानादित्रिकस्य (मोक्खनेमस्सत्ति) । नेमशब्दो देश्यः कार्याभिधाने रूढः ततो मोक्षो नेमः कार्यं यस्य तस्य कारणं भवत्याहारः । पिं० । नि० चू० १ उ. ॥

आहारप्रमाणद्वारम्

बत्तीसं किर कवला, आहारो कुच्छिपूरओ भणिओ ।
पुरिसस्स महिलियाए, अट्ठावीसं भवे कवला ॥

पुरुषस्य कुक्षिपूरक आहारो मध्यप्रमाणो द्वात्रिंशत्कवलः किलेत्याहारस्य मध्यमप्रमाणतासूचकः । महिलायाः कुक्षिपूरक आहारो मध्यमप्रमाणोऽष्टाविंशतिकवलः । नपुंसकस्य चतुर्विंशतिः स चात्र न गृहीतो नपुंसकस्य प्रायः प्रव्रज्यानर्हत्वात् कवलानाञ्च प्रमाणं कुक्कुट्यण्डकम् । कुक्कुटी च द्विधा द्रव्यकुक्कुटी भावकुक्कुटी च । द्रव्यकुक्कुट्यपि द्विधा । उदरकुक्कुटी गलकुक्कुटी च । तत्र साधोरुदरं यावन्मात्रेणाहारेण न न्यूनं नाऽप्याध्मातं भवति स आहार उदरकुक्कुटी । उदरपूरक आहारः कुक्कुटी च उदरकुक्कुटीति मध्यमपदलोपिसमासाश्रयणात् । तस्य द्वात्रिंशत्तमो भागोऽण्डकं तत्प्रमाणः कवलः स्यात्तथा गलः कुक्कुटीव गलकुक्कुटी गल एव कुक्कुटीत्यर्थः । तस्यान्तरालमण्डकम् । किमुक्तं भवति । अविकृतस्य पुंसो गलान्तराले यः कवलोऽविलम्बः प्रविशति तावत्प्रमाणं कवलमवसेयात् । अथवा शरीरमेव कुक्कुटी तन्मुखमण्डकं तत्राक्षिकपोलभ्रुवां विकृतिमनापाद्य यः कवलो मुखे प्रविशति तत्प्रमाणम् । अथवा कुक्कुटी पक्षिणी तस्या अण्डकं प्रमाणं कवलस्य । भावकुक्कुटी येन आहारेण भुक्तेन न न्यूनं नाऽप्यत्याध्मातमुदरं भवति । धृतिश्च समुद्वहति । ज्ञानदर्शनचारित्राणाञ्च वृद्धिरुपजायते । तावत्प्रमाण आहारो भावकुक्कुटी । अत्र भावस्य प्राधान्यविवक्षणादेव प्राग् द्रव्यकुक्कुट्यप्युक्तः । इह भावकुक्कुटी उक्तः । तस्य द्वात्रिंशत्तमो भागो अण्डकप्रमाणो तत्कवलस्य ।

एत्तो किणाईहीणं, अद्धं अद्धद्धगं च आहारं ।
साहुस्स बेंति धीरा, जायामायं च ओमं च ॥

एतस्मात् द्वात्रिंशत्कवलप्रमाणादाहारात (किणई इति) किञ्चिन्मात्रया एकेन द्वाभ्यां त्रिभिश्चतुर्भिर्वा कवलैः साधोर्हीनं हीनतरं यावदर्द्धमर्द्धस्याऽप्यर्द्धमाहारं यात्रामात्रमाहारं धीरास्तीर्थंकरादयो ब्रुवते न्यूनश्च एव यात्राहार एव एव वाऽवमाहार इति भावः । पिं० ॥

संप्रति प्रमाणदोषानाह ॥

पगामं च निगामं च, पणीयं भत्तपाणमाहारे ।
अइबहुयं अइबहुसो, पमाणदोसो मुणेयव्वो ॥

यः कामं निकामं प्रणीतं वा भक्तपानमाहारयति तथाऽतिबहुकमतिबहुशश्च तस्य प्रमाणदोषा ज्ञातव्याः ॥

संप्रति प्रकामादिस्वरूपमाह ॥

बत्तीसाइपरेण, पगाम निच्चंतमिव उ निकामं ।
जं पुण गलितसिणेहं, पणीयमिति तं बुहा बिंति ॥

द्वात्रिंशदादिकवलेभ्यः परेण परतो भुञ्जानस्य यद्भोजनं तत्प्रकामभोजनं तदेव तत्प्रमाणातीतमाहारं नित्यन्तं प्रतिदिवसमश्नतो निकामभोजनम् । यत्पुनर्गलितस्नेहं भोजनं तत्प्रणीतं बुधास्तीर्थंकरादयः ब्रुवते ॥ तथा–

अइबहुयं अइबहुसो, अइप्पमाणेण भोयणं भुत्तं ।
हाएज्ज व वामेज्ज व, मारेज्ज व तं अजीरंतं ॥

अतिबहुकं वक्ष्यमाणस्वरूपमतिबहुशोऽनेकशोऽतृप्यता सता भोजनं भुक्तं सत् हादयेत् अतीसारं कुर्यात् तथा वामयेत् यदा तदजीर्यन्मारयेत् । तस्मान्न प्रमाणातिक्रमः कर्तव्य इति ।

संप्रति अतिबह्वादिस्वरूपमाह ।

बहुयातीयमइबहुं, अइबहुसो तिन्नि परेणं ।
तंचिय अइप्पमाणं, भुंजेज्जइ वा अतिप्पंतो ॥

बहुकातीतमतिशयेन बहु अतिशयेन निजप्रमाणाभ्यधिकमित्यर्थः । तथा दिवसमध्ये यस्त्रीन् वारान् भुंक्ते त्रिभ्यो वा वारेभ्यः परतस्तद्भोजनमतिबहुशः । तदेव च वारत्रयातीतमतिप्रमाणमुच्यते अइप्पमाणे त्यवयवो व्याख्यातः । अस्यैव प्रकारांतरेण व्याख्यानमाह ॥ भुंक्ते यदा अतृप्यन् एव अइप्पमाण इत्यस्य शब्दस्यार्थः । अइप्पमाण इत्यत्र च शानच् प्रत्ययस्ताच्छील्यविवक्षायां यद्वा प्राकृतलक्षणवशादिति ।

संप्रति प्रमाणयुक्तहीनतरादिभोजने गुणानाह ।

हियाहारा मियाहारा, अप्पाहारा य जे नरा ।
न ते विज्जा चिगिच्छंति, अप्पाणं ते तिगिच्छगा ॥

हितं द्विधा द्रव्यतो भावतश्च द्रव्यतोऽविरुद्धानि द्रव्याणि भावत एषणीयं तदाहारयंति ये ते हिताहाराः । मितं प्रमाणोपेतमाहारयन्तीति मिताहाराः । द्वात्रिंशत्कवलप्रमाणादप्यल्पमल्पतरं वा आहाराः । सर्वत्र वा बहुव्रीहिः हित आहारो येषां ते हिताहारा इत्यादि एवंविधा ये नरास्तान् वैद्या न चिकित्सांति हितमितादिभोजनेन तेषां रोगस्यैवासंभवात् किं त्वेते स्वत एव रोगोत्थानप्रतिषेधकरणेनाऽऽत्मनैवात्मनस्ते चिकित्सकाः ।

सांप्रतमहितहितस्वरूपमाह ॥

तेल्लदहिसमाजोगा, अहितं उ खीरदहिकंजियाणं च ।
पत्थं पुण रोगहरं, विनासगं होइ रोगस्स ।

दधितैलयोस्तथा क्षीरदधिकांजिकानां च यः समायोगः सोऽहितो विरुद्ध इत्यर्थः । तथा चोक्तं शाकमुद्गफलपिण्याककपित्थलवणैः सह करीरदधिमत्स्यैश्च प्रायः क्षीरं विरुध्यते इत्यादि अविरुद्धद्रव्यमेलनं पुनः पथ्यं तच्च रोगहरं प्रादुर्भूतरोगविनाशकरं न च भाविनो रोगस्य हेतुः कारणम् । उक्तञ्च "अहिताशनसम्पर्को, बहुरोगोद्भवो यतः । तस्मात्तदहितं पथ्यं, न्याय्यं पथ्यनिषेवणम्" ।

सांप्रतं मितं व्याचिख्यासुराह ।

अद्धमसणस्स सव्वं, जणस्स कुज्जा दवस्स दो भागे ।
वाउपवियारणट्ठं, छब्भायउ ऊणयं कुज्जा ॥

इह किल सर्वमुदरं षड्भिर्भागैर्विभज्यते तत्रार्द्धं भागत्रय-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रूपमशनस्य सव्यंजनस्य तक्रशाकादिसहितस्याधारं कुर्यात् तथा द्वौ भागौ द्रव्यस्य पानीयस्य षष्ठं तु भागं वायुप्रविचरणार्थं न्यूनं कुर्यात् इह कालापेक्षया तथा तथा आहारस्य प्रमाणं भवति । कालश्च त्रिधा तथा चाह-

सिओ उसिणो साहारणो य, कालो तिहा मुणेयव्वो ।
साहारणंमि काले, तत्थाहारे इमा मत्ता ॥

त्रिधा कालो ज्ञातव्यस्तद्यथा शीत उष्णः साधारणश्च तत्र तेषु कालेषु मध्ये साधारणे काले आहारविषया इयमनंतरोक्ता मात्रा प्रमाणम् ॥

सीए दवस्स एगो, भत्ते चत्तारि अहव दो पाणी ।
उसिणे दवस्स दोन्नि उ, तिन्नि व सेसा उ भत्तस्स ॥

शीते अतिशयेन शीतकाले द्रव्यस्य पानीयस्यैको भागः कल्पनीयश्चत्वारि भक्तस्य । मध्यमे तु शीतकाले द्वौ भागौ पानीयस्य कल्पनीयौ त्रयस्तु भागा भक्तस्य । वा शब्दो मध्यमशीतकालसंसूचनार्थः । तथा उष्णे मध्यमोष्णकाले द्वौ भागौ द्रव्यस्य पानीयस्य कल्पनीयौ शेषास्तु त्रयो भागाः भक्तस्य । अत्युष्णे च काले त्रयो भागा द्रव्यस्य शेषौ द्वौ भागौ भक्तस्य । वा शब्दोऽत्युष्णकालसंसूचनार्थः सर्वत्र च षष्ठो भागो वायुप्रविचरणार्थमुक्तोऽतो मोक्तव्यः ।

संप्रति भागानां स्थिरचरविभागप्रदर्शनार्थमाह ।

एगो दवस्स भागो, अवट्ठिओ भोयणं दो भागा ॥
वड्ढंति व हायंति व, दो दो भागा उ एक्केके ॥ १ ॥

एको द्रव्यस्य भागोऽवस्थितो द्वौ भागौ भोजनस्य शेषौ तौ द्वौ भागौ एकैकस्मिन् भक्ते पाने चेत्यर्थः । वर्द्धेते वा हीयेते वृद्धिं वा भजेते हानिं वा भजेते इत्यर्थः । तथा हि । अतिशीतकाले द्वौ भागौ भोजनस्य वर्धेते अत्युष्णकाले च पानीयस्य । अत्युष्णकाले च द्वौ भागौ भोजनस्य हीयेते अतिशीतकाले पानीयस्य ।

एतदेव स्पष्टं भावयति ॥

एत्थ उ तइयचउत्था, दोन्नि य अणवट्ठिया भवे भागा ।
पंचमछट्ठो पढमो, बिइओ विअवट्ठिया भागा ॥ १ ॥

आहारविषयौ तृतीयचतुर्थौ भागावनवस्थितौ तौ ह्यतिशीतकाले भवतोऽत्युष्णकाले च न भवतः । तथाऽयं पानविषयः पंचमो भागो यश्च वायुप्रविचरणार्थं षष्ठो भागो यौ च प्रथमद्वितीयावाहारविषयावेते सर्वेऽपि भागा अवस्थिता न कदाचिदपि भवंतीति भावः । तदेवमुक्तं प्रमाणद्वयम् । पिं० । सूत्र. १ श्रु. ७ अ० । "आहारार्थं कर्म कुर्यादनिंद्यं, स्यादाहारः प्राणसंधारणार्थं ॥ प्राणा धार्यास्तत्त्वजिज्ञासनार्थं, तत्त्वं ज्ञेयं येन भूयो न भूयात्" ॥ ॥ १ ॥ आचा० अ० २ उ० १ ॥

प्रणीताहारभोजनं न युक्तं ब्रह्मचारिण इति (बम्हचेरसमाहि) शब्दे ॥

स्तोकाहारफलं (पडिक्कमण) शब्दे ॥

आहारस्यांगारधूमादिदोषाः (अंगारधूमादि) शब्देषु उक्ता अपि संग्रहेणाह ॥

अह भंते ! सइंगालस्स सधूमस्स संजोयणादोसदुट्ठस्स पाणभोयणस्स के अट्ठे पन्नत्ते ? गोयमा ! जेणं निग्गंथे वा निग्गंथी वा फासुएसणिज्जं असणपाण ४ पडिग्गहेत्ता संमुच्छिए गिद्धे गढिए अज्झोववन्नए आहारं आहारेइ एसणं गोयमा ! सइंगाले पाणभोयणे जेणं निग्गंथे वा निग्गंथी वा फासुएसणिज्जं असण ४ पडिग्गहेत्ता महया अप्पत्तियकोहकिलामं करेमाणे आहारमाहारेइ एस णं गोयमा ! सधूमे पाणभोयणे जेणं निग्गंथे वा जाव पडिग्गहेत्ता गुणुप्पायणहेउं अन्नदव्वेणं सद्धिं संजोएत्ता आहारमाहारेइ एस णं गोयमा ! संजोयणादोसदुट्ठे पाणभोयणे एएणं गोयमा ! सइंगालस्स सधूमस्स संजोयणादोसदुट्ठस्स पाणभोयणस्स अट्ठे पन्नत्ते ॥

(सइंगालस्सत्ति) चारित्रेन्धनमङ्गारमिव यः करोति भोजनविषयरागाग्निः सोऽङ्गार एवोच्यते तेन सह यद्वर्तते पानकादि तत्साङ्गारं तस्य (सधूमस्सत्ति) चारित्रेन्धनधूमहेतुत्वाद्धूमो द्वेषस्तेन सह यत्पानकादि तत्सधूमं तस्य (संजोयणादोसदुट्ठस्सत्ति) संयोजना द्रव्यस्य गुणविशेषार्थं द्रव्यान्तरेण योजनं स एव दोषस्तेन दुष्टं यत्तत्तथा तस्य (जेणंति) विभक्तिपरिणामाद्यमाहारमाहारयन्तीति संबन्धः (मुच्छिएत्ति) मोहवान् दोषानभिज्ञत्वात् (गिद्धेत्ति) तद्विशेषाकाङ्क्षावान् (गढिएत्ति) तद्गतस्नेहतन्तुभिः संदर्भितः (अज्झोववन्नेत्ति) तदेकाग्रतां गतः (आहारमाहारेइ त्ति) भोजनं करोति (एसणंति) एष आहारः साङ्गारं पानभोजनम् (महयाअप्पत्तियंति) महदप्रीतिकमप्रेम (कोहकिलामंति) क्रोधात्क्लमः शरीरायासः क्रोधक्लमोऽतस्तं (गुणुप्पायणहेउंति) रसविशेषोत्पादनायेत्यर्थः ॥ भ. ७ श० १ उ० ।

उत्तरगुणानधिकृत्याह ॥

सुद्धे सिया जाए न दूसएज्जा ।
अमुच्छिए ण य अज्झोववन्ने ॥
धितिमं विमुक्के ण य पूयणट्ठी ।
न सिलोयगामी य परिव्वएज्जा ॥ २३ ॥
निक्खम्म गेहाउ निरावकंखी ।
कायं वि उस्सेज्ज नियाणछिन्ने ॥
णो जीवियं णो मरणावकंखी ।
चरेज्ज भिक्खू वलया विमुक्के त्ति बेमि ॥ २४ ॥

(सुद्धेसिया इत्यादि) उद्गमोत्पादनैषणाभिः शुद्धे निर्दोषे स्यात् कदाचिच्चाते प्राप्ते पिंडे सति साधू रागद्वेषाभ्यां न दूषयेत् । उक्तं च " बायालीसेसणसं, कडंमि गहणंमि जीव नहु छलिओ । इण्हि जह न छलिज्जसि, भुंजंतो रागदोसेहिं " तत्रापि रागस्य प्राधान्यख्यापनायाह । न मूर्च्छितोऽमूर्च्छितः सकृदपि भोजनाहारलाभे सति गृद्धिमकुर्वन्नाहारयति । तथा नाऽध्युपपन्नस्तमेवाहारं पौनःपुन्येनाभिलषमाणः केवलं संयमयात्रापालनार्थमाहारमाहारयेत् प्रायो विदितवेद्यस्यापि विशिष्टाहारसन्निधावभिलाषातिरेको जायत इत्यतोऽमूर्च्छितोऽनध्युपपन्न इति च प्रतिषेधद्वयमुक्तम् । उक्तं च " भुत्तभोगी पुरा जो वि, गीयत्थो वि य भाविओ । संते साहारमाईसु, सो वि खिप्पं तु खुब्भइ " ॥ सूत्र. श्रु. १ अ० १० ॥

शस्त्रातिक्रान्त आहारः ॥

अह भंते ! सत्थातीयस्स, सत्थपरिणामियस्स, एसियस्स, वेसियस्स, समुदाणियस्स, पाणभोयणस्स, के अट्ठे पणत्ते ? गोयमा ! जेणं निग्गंथे वा २ निक्खित्तसत्थमुसले ववगयमालावन्नगविलेवणे ववगयचुयचइयचत्तदेहं जीवविप्पजढं अकयमकारियमसंकप्पियमणाहूयमकियकडमणुद्दिट्ठं नवकोडिपरिसुद्धं दसदोसविप्पमुक्कं उग्गमउप्पायणेसणासु परिसुद्धं वीइंगालं वीइधूमं संजोयणा–दोसविप्पमुक्कं असुरसुरं अचवचवं अदुयमविलंबियं अपरिसाडिं अक्खोवंजणवणाणुलेवणभूयं संजमजायामायावत्तियं संजमभारवहणट्ठयाए बिलमिव पन्नगभूएणं अप्पाणेणं आहारमाहारेइ एसणं गोयमा ! सत्थातीयस्स, सत्थपरिणामियस्स, जाव–पाणभोयणस्स, अयमट्ठे पणत्ते तं चेव सेवं भंते ! भंतेत्ति ॥

(सत्थातीतस्सत्ति) शस्त्रादग्न्यादेरतीतमुत्तीर्णं शस्त्रातीतम् एवं भूतं च तथाविधप्रयुक्तादिवदपरिणतमपि स्यादत आह (सत्थपरिणामियस्सत्ति) वर्णादीनामन्यथा करणेनाचित्तीकृतस्येत्यर्थः । अनेन प्रासुकत्वमुक्तम् (एसियस्सत्ति) एषणीयस्य गवेषणाविशुद्ध्या गवेषितस्य (वेसियस्सत्ति) विशेषेण विविधैर्वा प्रकारैरेषितं व्येषितं ग्रहणैषणाग्रासैषणाविशोधितं तस्य अथवा वेषो मुनिनेपथ्यं स हेतुर्लाभे यस्य तद्वैषिकं आकारमात्रदर्शनादवाप्तं नत्वावर्जनया अनेन पुनरुत्पादनादोषापोहमाह । (समुदाणियस्सत्ति) ततस्ततो भिक्षारूपस्य किं भूतो निर्ग्रन्थ इत्याह । (निक्खित्तसत्थमुसलेत्ति) त्यक्तखड्गादिशस्त्रमुसलः (ववगयमालावन्नगविलेवणेत्ति) व्यपगतपुष्पमालाचंदनानुलेपनः स्वरूपविशेषणे चेमे न तु व्यवच्छेदार्थे निर्ग्रन्थानामेवं रूपत्वादेवेति (ववगयचुयचइयचत्तदेहंति) व्यपगता स्वयं पृथग्भूता भोज्यवस्तुसंभवा आगंतुका वा कृत्यादयश्च्युता मृताः स्वत एव परतो वा ऽभ्यवहार्यवस्त्वात्मकाः पृथिवीकायिकादयः । (चइयत्ति) त्याजिता भोज्यद्रव्यात् पृथक्कारिता दायकेन (चत्तंत्ति) स्वयमेव दायकेन त्यक्ता भक्तद्रव्यात् पृथक् कृता देहाभेदविवक्षया देहिनो यस्मात् स तथा तमाहारम् । वृद्धव्याख्या तु व्यपगत ओघतश्चेतनापर्यायादपेतश्च्युतो जीवनक्रियातो भ्रष्टश्च्यावितस्तत एवाऽऽयुष्कक्षयेण भ्रंशितस्त्यक्तदेहः परित्यक्तजीवसंसर्गजनिताहारप्रभवोपचयस्तत एषां कर्मधारयोऽतस्तं किमुक्तं भवतीत्याह (जीवविप्पजढंति) प्रासुकमित्यर्थः (अकयमकारियमसंकप्पियमणाहूयमकीयकडमणुद्दिट्ठं) अकृतं साध्वर्थमनिर्वर्तितं दायकेन एवमकारितं दायकेनैव अनेन विशेषणद्वयेनानाधाकर्मिक उपात्तः असंकल्पितं स्वार्थं संस्कुर्वता साध्वर्थतया न संकल्पितं अनेनाप्यनाधाकर्मिक एव गृहीतः स्वार्थमारब्धस्य साध्वर्थं निष्ठां गतस्याऽपि आधाकर्मिकत्वात् । न विद्यते आहूतमाह्वानमामन्त्रणं नित्यं मद्गृहे पोषमात्रमन्नं ग्राह्यमित्येवं रूपं कर्मकराद्याकरणं वा साध्वर्थं स्थानान्तरादभ्याद्यानयनाय यत्र सोऽनाहूतोऽनित्यपिण्डो ऽनभ्याहृतो वेत्यर्थः । स्पर्धया वाऽऽहूतं तन्निषेधादनाहूतो दायकेनास्पर्धया दीयमान इत्यर्थः । अनेन भावतोऽपरिणताभिधान एषणादोषनिषेध उक्तोऽतस्तमक्रीतकृतं क्रयेण साधुदेयं न कृतमनुद्दिष्टमनौद्देशिकं (नवकोडीपरिसुद्धंति) इह कोटयो विभागास्ताश्चेमा बीजादिकं जीवं न हन्ति न घातयति घ्नन्तं नानुमन्यते । ३ । एवं न पचति । ३ । न क्रीणाति । ३ । इत्येवं रूपाः (दसदोसविप्पमुक्कंति) दोषाः शंकितम्रक्षितादयः । (उग्गमउप्पायणेसणासुपरिसुद्धंति) उद्गमश्च आधाकर्मादिः षोडशविधः । उत्पादना च धात्रीदूत्यादिका षोडशविधैव उद्गमोत्पादने एतद्विषया या एषणा पिण्ड विशुद्धिस्त या सुष्ठु परिशुद्धो यः स उद्गमोत्पादनैषणासु परिशुद्धो ऽतस्तम् अनेन चोक्तानुक्तसंग्रहः कृतः । वीतांगारादीनि क्रियाविशेषणान्यपि भवन्ति । प्रायोऽनेन च ग्रासैषणा विशुद्धिरुक्ता (असुरसुरंति) अनुकरणशब्दोऽयम् एवं (अचवचवमित्यपि) (अदुयंति) अशीघ्रं (अविलंबियंति) नातिमन्थरम् (अपरिसाडिंति) अनवयवोज्झितं (अक्खोवंजणवणाणुलेवणभूयंति) अक्षोपांजनं च शकटधूर्म्रक्षणं व्रणानुलेपनं च क्षतस्यौषधेन विलेपनं अक्षोपांजनव्रणानुलेपने ते इव विवक्षितार्थसिद्धिरसादिनिरभिष्वङ्गता साधर्म्याद्यः सोऽक्षोपांजनव्रणानुलेपनभूतोऽतस्तं क्रियाविशेषणं वा ॥ ५ ॥ (संजमजायामायावित्तियंत्ति) संयमयात्रा संयमानुपालनं सैव मात्रा आलम्बनसमूहांशः संयमयात्रा मात्रा तदर्थं वृत्तिः प्रवृत्तिर्यत्राहारे स संयमयात्रामात्रावृत्तिको ऽतस्तं संयमयात्रामात्रावृत्तिक वा यथा भवति संयमयात्रामात्रा वा प्रत्ययो यत्र स तथाऽतस्तं संयमयात्रा मात्राप्रत्ययं वा यथा भवति । एतदेव वाक्यान्तरेणाह । (संजमभारवहणट्ठयाएत्ति) संयम एव भारस्तस्य वहनं पालनं स एवार्थः संयमभारवहनार्थस्तद्भावस्तत्ता तस्यै (बिलमिव पण्णगभूएणं अप्पाणेणंति) बिले इव रन्ध्रे इव पन्नगभूतेन सर्पकल्पेनात्मना करणभूतेन आहारमुक्तविशेषणं आहारयति शरीरकोष्ठके प्रक्षिपति । यथा किल बिले सर्प आत्मानं प्रवेशयति पार्श्वानसंस्पृशन्नेवं साधुर्वदनकंदरपार्श्वानसंस्पृशन्नाहारेण तदसंचारणतो जठरबिले आहारं प्रवेशयतीति । (एसणंति) एषोऽनंतरोक्तविशेषण आहारः शस्त्रातीतादिविशेषणस्य पानभोजनस्यार्थोऽभिधेयः प्रज्ञप्तः । भ०–७ श. १ उ० ॥ अनु ० । वि० ।

आहारपरिष्ठापना (परिट्ठावणा) शब्दे ॥

भक्तपरिज्ञा तु समाध्यर्थमाहारो दीयते । (इति भत्तपरिण्णा) शब्दे । युगलिनः कन्दाद्याहारा आसन् ऋषभस्वामिनाऽन्नाहारिणः कृताः ।

सूत्रं । जे भिक्खू पिउमंदपलासयं वा पडोलपलासयं वा बिल्लपलासयं वा सीउदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा संफाणिय संफाणिय आहारेइ आहारंतं वा साइज्जइ ॥ १४ ॥

पिचुमंदो निंबो पलासं पत्तं संफाणियंति धोविउं अहवा संफोडिउं मोलितुमित्यर्थः ।

गा०-आहारमणाहारस्स, मग्गणा णिमसा कता होति ।
निंबपडोलादीहिं, दियराओ चउक्कभयणाओ । ३७ ।

को आहारो को वा अणाहारो एतेहिं णिंबपडोलाइएहिं मग्गणा कता भवति आहार आणाहारे दियरे वा रातिं चउभंगो दियागहियं दियाभुत्तं एवं च भंगो ॥

गा०-जा हट्ठस्साहारो, चउव्विहो परियासियं तं तु ।

णिवपरोक्षादीयं सति आज्जि जं व परिवसति ॥ ३९ ॥
हट्ठो णिरोगो णिव्वाधितो समत्थो तस्स जो आहारो असणा-इचउव्विहो तं परियासितं जो भुंजति चउभंगेण तस्स पच्छित्तं । इमं ।

गा०-आहारे चउभंगे, चउगुरुगेतरे व चउलहुगा ॥
सुत्तं पुण तद्दिवसं जो धुवति अचेलणा पलासो ॥ ४० ॥
आहारे परियासिते चउसु चउगुरुगं इतरे अणाहारिमेसु चउसु विभंगेसु चउलहुं इमे पुण सुत्तं जो तद्देवसियं अचित्तं खुविओ भुंजति तस्स भवति अणाहारियं परियासियं परुच भण्णति ॥

गा०-खपणपदाण चउण्हं, अण्णतराएण जो तु आहारे।
णिवपरोक्षादीयं, सो पावति आणमादीणि ॥ ४१ ॥
चउरो भंगा खपणापदत्तेहिं जो आहारेति तस्स आणा-दिदोसा संफाणंति सुत्तपदं तेसिं भावस्सा ॥

गा०-सतिएव उसिणेणव, वियडेणं धोवणाणुफंससमा ।
अहवा जायं धोवति, संफाहो एगहाणेगाहं ॥ ४२ ॥
एगाहणेगाहं एगाणेगदिवसपरिताणि धोवति इमा विराहणा।

गा०-उद्दवतविराधणता, पाणादीया समुच्छंति ।
तद्दिवसधोवणट्ठा, तं णिस्सितघाती भुंजंतो ॥ ४३ ॥
उट्ठं रातीभोयणवयं तं विराहिज्जति मच्छियातिपाणा तत्थ-तिब्भिति ते गिहिकोइलिया तिणंति किञ्चंतेसु वा पिंफिएसु कुंथुमाती संमुच्छंति । आद्य शब्दः तर्कणादिदोषादिप्रति-पादनः यथा गवाद्यां ब्राह्मणान् परिभोजयेत् एते परिवासिते दोसा इमे तद्देवसिते वि लिंपत्ताति अणट्ठा घेत्तुं धोविउं भुंजंतस्स तस्सिसियपाणिघातो भवति धावंतस्स य प्ला-वणदोसो अतो तद्देवसियंपि ण कप्पति भुंजिउं कारणा कप्पति ॥

वितियपदं गेलण्णो, वेज्जुवएसे य दुल्लभंदव्वं ।
तद्दिवसंजत्तणाए, वीसं गीयत्यसंविग्गे ॥ ४४ ॥
गिलाणकारणे वेज्जुवदेसेण संफाणे दुल्लभं दव्वं वा अणेग-दिवसे संफाणेतितद्देवसियं पुण परसंफाणियं गेण्हांति असति अप्पणा वि संफाणेति तद्देवसियंमि अ असंते वितिय-मिति आगाढे पओयणे गीतत्थे संविग्गे सविगरणं पि करे-ज्ज तं पुण पित्तादिरोगाणं पसमणट्ठा इमं गेण्हे ॥

पउमप्पलमाउलुंगे, एरंडे चेव णिंबुपत्ते य ।
वेज्जुवदेसे गहणं, गीतत्थे विकरणं कुज्जा ॥ ४५ ॥
पित्तुंदएम पउमप्पलासव्विं वाए विवाए मातुलुंगं वा एरंडो संभेणिं च पत्ता तद्दिवस जयणापत्ति । अस्य व्याख्या। वेज्जु-वएसे गहणंति । वितियं संविग्गेत्ति । अस्य व्याख्या। गीयत्थे विकरणं कुज्जाएतदेवार्थं स्फुटतरं करोति ॥

संफाणितस्स गहणं, असती घेत्तूण अप्पणा धोवे ।
तद्दिवसिगिलंभासति, णेगा विणिसा तु संफाणो ।४५ ।
तद्देवसियस्स असति अणेगदिवसे वि करेति ॥ नि. चू. ११ उ.।
(सचित्तवृक्ष मधिकृत्यनाहारः कार्य इति सचित्तरुक्खशब्दे ॥)
(आहारग्रहणविधिः–गोयरचरिया,शब्दे ॥)
संसार चक्कवाले, सव्वे ते पुग्गलामए बहुसो ।
आहारिया य परिणा–मियाय न यहं गओ तत्तिं ॥५२॥

आहारनिमित्तेणं, अह यं सव्वेसु नरयलोएसु ।
उववओमिय बहुसो, सव्वासु य मिच्छजाईसु ५३ ॥
आहारनिमित्तेणं, मिच्छा गच्छंति दारुणे नरए ।
सचित्तो आहारो,न खमइ मणसा वि पच्छेउं ॥ ५४ ॥
महा० प० ॥
आह्रियते इत्याहारः । ओदनादौ, ॥ सूत्र० ॥ १ श्रु. ७ अ. ।
चउविहे आहारे प० तं० असणे पाणे खाइमे साइमे ॥
स्था० ४ ठा० ॥ अट्ठविहे आहारे पण्णत्ते तं० ॥ मणुण्णे असणे पाणे खाइमे साइमे अमणुण्णे असणे पाणे खाइमे साइमे । स्था० ८ ठा० ॥
असणं पाणगं चेव, खाइमं साइमं तहा ।
एसो आहारविही, चउविहो होइ नायव्वो ॥ ३६ ॥
अशनं मंडकौदनादि पानं चैव द्राक्षापानादि खादिमं फलादि स्वादिमं गुडादि एव आहारविधिश्चतुर्विधो भवति ज्ञातव्य इति गाथार्थः । आव० । ६ अ० ।
सांप्रतं समयपरिभाषया शब्दार्थनिरूपणायाह ॥
आसुं खुहं समेइ, असणं पाणाणुवग्गहे पाणं ।
खे माइ खाइमंति, साएइ गुणे तओ साइ ॥ ३७ ॥
सव्वो वि अ आहारो, असणं सव्वो वि वुच्चई पाणं ।
सव्वो वि खाइमंति अ, सव्वो वि अ साइमं होई ॥ ३८॥
जइ असणं चि अ सव्वं, पाणगमविवज्जणंमि सेसाणं ।
हवइ असेसविवेगो,तेण विभत्ताणि चउरो वि ।३९ ।
असणं पाणगं चेव, खाइमं साइमं तहा ।
एवं परूविअं सीस–हिअ ओ जे सुही होइ ॥ ४० ॥
(आसुत्ति) आशु शीघ्रं क्षुधां बुभुक्षां समयतीति अशनम् । तथा प्राणानामिन्द्रियादिलक्षणानामुपग्रहे उपकारे यद्वर्तते इति गम्यते तत्पानमिति । खमित्याकाशं तच्च मु-खविवरमेव तस्मिन्मातीति खादिमम् । स्वादयति गुणान् रसादीन् संयमगुणान्वा यतस्ततः स्वादिमं । हेतुत्वेन तदेवा-स्वादयतीत्यर्थः ।।विचित्रनिरुक्तिपाठादङ्कमाति रौति तद्भ्रमर-इत्यादिप्रयोगदर्शनात् साधुत्वाऽयमन्वर्थः इति गाथार्थः ॥ ३७ ॥ उक्तः पदार्थः पदविग्रहस्तु समासभाक् पदविषय इति नोक्तः अधुना चालनामाह ॥ (सव्वो वि यत्ति) यद्यनं-तरोदितपदार्थापेक्षया अशनादीनीति । यतः सर्वोऽपि चाहारश्चतुर्विधोऽपि तथा । अशनं सर्वोऽपि चोच्यते । पानकं सर्वोऽपि च खादिमं सर्वं एव च स्वादिमं भवति अन्वर्थाविशेषात् । तथा हि यथैवाशनमोदनमंडकादि क्षुधं शमयति एवं पानमपि तत्तथैव द्राक्षाक्षीरपानादि । खादिममपि फलादि, स्वादिममपि गुडादि । यथा च पानं प्रा-णानामुपग्रहे वर्तते एवमशनादीन्यपि तथा चत्वार्यपि खे मान्ति चत्वार्यपि वा स्वादयन्ति आस्वाद्यते चेति न कश्चिद्विशेषस्त-स्मादयुक्त एवं भेद इति गाथार्थः ॥३८॥ इयं चालना । प्रत्यव-स्थानं तु यद्यपि एतदेव तथापि तुल्यत्वार्थप्रसावपि रूढितो नीति-प्रयोजनं च संयमोपकारकमस्त्येवं कल्पनया अन्यथा दोषस्त था चाह (जइ असणत्ति) यद्यशनमेव सर्वमाहा-रजातं गृह्यते ततः शेषापरिभोगेऽपि पानकाद्यवर्जने उदका-परित्यागे शेषाणामाहारभेदानां निवृत्तिर्न कृता भवतीति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वाक्यशेषः ततः का नो हानिरिति चेत् भवति विशेषविवेकः अस्ति च शेषाहारभेदपरित्यागः न्यायोपपन्नत्वात् प्रेक्षापूर्वं नेत्यर्द्धं कुकुक्ष्या पठ्यते अर्द्धं प्रसवाय कल्पत इत्यपरिणतानां श्रद्धा च न जायते एवं सामान्यविशेषभेदनिरूपणया सुखाव सेयं सुखश्रद्धेयं च भवतीति गाथार्थः ॥ ३९ ॥

तथा चाह-असणंगाहा, असनं पानकं चैव खादिमं स्वादिमं तथा। एवं प्ररूपिते सामान्यविशेषभावनाख्याते तथ्यावबोधात् श्रद्धा प्रवर्तते उपलक्षणार्थत्वादीयते पाल्यते च सुखमिति गाथार्थः । ४० ॥

उपस्कृतसंपन्नादिना आहारचातुर्विध्यम्

चउव्विहे आहारे पं० तं० उवक्खरसंपन्ने उवक्खरु संपन्ने सन्नावसंपन्ने परिजुसिय संपन्ने ॥

उपस्क्रियतेऽनेनेत्युपस्करो हिंग्वादिस्तेन संपन्नो युक्त उपस्करसंपन्नस्तथा उपस्करणमुपस्कृतं पाक इत्यर्थस्तेन संपन्न ओदनकमंडकादिः उपस्कृतसंपन्नः पाठान्तरेण नो उपस्कारसंपन्नो हिंग्वादिभिरसंस्कृत ओदनादिः। स्वभावेन पाकं विना संपन्नः सिद्धः द्राक्षादिः स्वभावसंपन्नः (परिजुसियत्ति) पर्युषितं रात्रिपरिवसनं तेन संपन्नः इड्डरिकादिः यतस्ताःपर्युषिताकलनीकृता आम्लरसा भवंति ।

आहारस्य लौकिकालौकिकोत्तरिकाश्च भेदाः (पिंडशब्दे वक्ष्यंते) पिंडरूपत्वात् तस्य ।

आहारपरिश्रावणम् ।

॥ सूत्रं–जे भिक्खू असणं वा ४ अणागाढे परिसावेइ परिसावंतं वा साइज्जइ ॥ १८४ ॥

जे भिक्खू परिसावियस्स असणं वा ४ तया पमाणं वा भुंजप्पमाणं वा बिंदुप्पमाणं वा आहारं आहारेइ आहारंतं वा साइज्जइ ॥ १८५ ॥

अश् भोजने। खाद भक्षणे। पा पाने । स्वद आस्वादने-एते चतुरो तिम्मि दो अन्नयरं वा जे रातो अणागाढेण आगाढं अणागाढं तंमि जो परिवसावेति तस्स चउगुरुं आणाति विराहणा य भवति इमा निज्जुत्तिगाहा ।

जे भिक्खू असणादि, रातो अणागाढणिक्खवेज्जाहि सो आणा अणवत्थं मिच्छत्तविराहणं पावे ।१९७ ।

(आगाढचातुर्विध्यमागाढशब्दे)

अणागाढे इमं सुत्तं अणागाढं परिवसावेति तस्स य सोहि संजमो य विराहणादोसा य तत्थ संजमे इमा विराधणा ॥

संमुच्छंति तहिं वा, अन्ने आगंतुगावलग्गंति ।
परनोपरगलमाणा, विसएमेव असणादि ॥ १८९ ॥

असणादिए परिवेसाविते किमिरसगादीपाणा संमुच्छंति अन्ने वा मुच्छियमसगमक्कोडगपिवीलिगादी पडंति तक्केंति परंपरतो वा भवंति तं परिवासिदव्वं मच्छियगपइंगमुसगादि तक्केंति, मच्छियातो गिहिकोइलिया तक्केंति, गिहकोइलगं मज्जारो तक्केंति, मज्जारं साणो तक्केंति, एस तक्केंता परंपरओ अह च भायणं परिगलिति तत्थ वि परिगलितं पत्ते चेव तक्केंत परंपरओ, अत्र मधुबिंदोपाख्यानं द्रष्टव्यं एसा संजमविराहणा

लाला तया विसो वा, उंदरपिंडी व पडणसुक्कं वा ।
घरकोइलसुत्तेज्जा पिवीलिगा मरणतो णाणं ॥ १९२ ॥

भत्ते पाणे वा परिवासियअविते सप्पादिणा जंघासएण लालाविससंमिस्सा मुक्का हवेज्जा तया विसेण वा फंसितं हवेज्जा तेहिं वासगतेहिं वीयं निसंठं तं पडेज्जा। घरकोइलो वा सुत्तेज्जा गिहकोकिल अवयवसंमिस्सेण मुत्तेण पोट्टे किल गिहकोइला संमुच्छंति मुइंगा संमुदि वा पडिपायत्थ मुइंगासु मेहा परिहायति। मेहापरिहाणीए णाणं विराहणा सेसेसु आयविराहणा परियावणा परियावणादि जाव चरिमं पावती वितियपदे आगाढो कारणे निक्खिवंतो अदोसो तं च इमं ॥

वितियपदं गेलन्नो,अद्धाणो मे य उत्तमट्ठेय ।
एतेहि कारणेहिं, जयणाए णिक्खमे भिक्खू ॥१९३॥

गिलाणस्स पदं दिवं अलभंते अद्धाण पावं णाणं असंथरणे दुब्भिक्खे य असंथरंते उत्तमट्ठपडिवन्नस्स असमाहाणे तक्खणमलंभे एवमादिकारणेहिं जयणा ते परिवासेज्जा इमा जयणागाहा ॥

सवकुपमुहे वा, दद्दरमतणातीअपरि–भुंजंते ।
उंदरभए सरावं, कंटियउवरिं अहेभूत्ति ॥ १९४ ॥

लाउए सवोढं उज्झति अप्पमुहे वा कुडमुहादिसु तत्थ बोढुं चम्मेण वणेण वा चीरेण दद्देति दद्दरासति सरावादीपिधाणं दातुं संधिमयणेण लिंपति छगणेण मट्टियाए वा ततो अच्चाबाहे एगंत ठवेंति, जत्थ उंदरभयं तत्थ सिक्कं एकातुं वेहासे ठवेंति, जदि रज्जुए उंदरा अवतरंति तत्थंतरा सरावं ठवेंति, कंटकाउ कालं वा कदमे उड्डमुहा करेंति। एसा उवरिरिक्खा भूमिठियस्स वा अहोभूती करेंति परिगलणभया चेहा सट्ठियस्स अहोभूती करिज्जति जत्थ पिवीलिगभयं तसगायणत्थि रज्जवा मूसगेहिं छिदेण भयं तत्थिमा आलयविही ।

ईसिं भूमिमपत्तं, असणं वा विच्छिणरक्खट्ठा ॥
पडिलेहणभयकाले, अगीय अंतरं न आमंतु ।१९५।

भूमिए ईसिं अपत्तं रज्जुए वसारेंति आसणं वाहेट्ठा अणप्फिडंतं ठवंत्ति किमेवं ठविज्जति जदि मूसगेण रज्जू छिज्जति तो सपाणभोयणं पडितं पिण भिज्जति रक्खियं भवति पुव्वावरासु य सज्झासु पडिलेहपमज्जणा करेंति अगीतगिलाणा जत्थ वसहीए, तत्थ ठवेंति ते वा अगीय–गिलाणा [illegible] ठवेत्ति । नि०चू० ११ उ.॥

आहारप्रतिपादकत्वात् प्रज्ञापनाया अष्टाविंशे पदे, [illegible] । प्रज्ञा० १ पद ॥

आहारएसणा–**आहारैषणा**–स्त्री०–आहारस्य एषणा ग्रहणाद् गवेषणादिग्रहणस्तदर्थसूचकत्वादाहारैषणा। द्रुमपुष्पिका नाम नि दशवैकालिकस्य प्रथमे अध्ययने, दश० १ अ० ॥

आहारओ–**आहारतस्**– अव्य० ल्यप् लोपे कर्मणि पंचमी । आहारमाश्रित्येत्यर्थे, "आहारओ पंचकवज्जणेण" आहारमाश्रित्य पञ्चकं वर्जयन्ति । "लसणं पलांडुः करभीक्षीरं गोमांसं मद्यं चेत्येतत्पंचकवर्जनेन मोक्षं वदन्ति।" सूत्र० १श्रु०७अ०॥

आहारग–**आहारक**– न०–चतुर्दशपूर्वविदाऽऽह्रियते गृह्यते इत्याहारकमथवा ऽऽह्रियन्ते गृह्यन्ते केवलिनः समीपे सूक्ष्म जीवादयः पदार्था अनेनेत्याहारकम् ।अनु०। विशे०। स्था०। ठा० २। शरीर भेदे, स० ।

अणाहारगशब्दे दंडकसुक्तम् ॥

ओजोलोमप्रक्षेपाहाराणामन्यतमाहारमाहारयतीति आहारकः। अनाहारकविलक्षणे जीवे, कर्म० ॥ चतुर्दशपूर्वविदा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तथाविधकार्योत्पत्तौ विशिष्टलब्धिवशादाह्रियते निवर्त्यते इत्याहारकं । अथवाऽऽह्रियंते गृह्यंते तीर्थकरादि समीपे सूक्ष्मजीवादयः पदार्थो अनेनेत्याहारकं । कृत्यबहुलमिति कर्मणि करणे वा णकः । यदवादि " कज्जंमि समुप्पन्ने, सुयकेवलिणा विसिट्ठलद्धीए । जं इत्थ आहरिज्जइ, जणंति आहारगं तं तु ॥१॥ " कार्य्यं चेदं । पाणिदय-रिद्धिदरिसण, छउमत्थो वग्गहण हेउ वा* संसयवुच्छेयत्थं, गमणं जिणपायमूलम्मि २ । कर्म० । एतच्चाहारकं कदाचनापि लोके सर्वथा पि न भवति तच्चाऽभवनं जघन्यत एकं समयमुत्कर्षतः षण्मासान् यावत् । उक्तंच " आहारगाई लोके छम्मासा जा न होंति विकयाई । उक्कोसेणं नियमा, एकं समयं जहन्नेणं ,, जी० १ प्र. । प्रज्ञा० २० पद । पं० सं० । द्वा. । आव० । सूत्र० ।

आहारकशरीरं चतुः कृत्वा मोक्ष इति न सर्वस्य चतुर्दशपूर्विण इति (समुग्घाय) शब्दे ॥ ओगाहणशब्दे तदवगाहना॥

आहारकाः सदैवानाहारका विग्रह गतौ सदैवानाहारकाः भवन्ति, स्था० २ ठा० ॥ आहारकशरीर वति, विशे० ॥ आहारकशरीरलब्धिसंपन्ने कल्प ० ॥

आहारगंगोवंगणाम–आहारकाङ्गोपाङ्गनामन्– न०–अङ्गोपाङ्गनामकर्मभेदे, यदुदयादाहारकशरीरत्वेन परिणतानां पुद्गलानामङ्गोपाङ्गविभागपरिणतिरुपजायते, कर्म० ॥

आहारगजुगल–आहारकयुगल– न०–आहारशरीराहारकांगोपांगलक्षणे आहारकद्विके, कर्म० ।

आहारगणाम–आहारकनामन्– न०–आहारकनिबंधने नाम्नि कर्म० ॥

आहारगदुग–आहारकद्विक– न० आहारकशरीराहारकांगोपांगलक्षणे नामकर्म्मोत्तरप्रकृतिद्वयेऽर्थे, पं० सं. ॥

आहरगलद्धि–आहारकलब्धि– स्त्री० आहारकशरीरकरणशक्तौ, आहारकशरीरं च हस्तप्रमाणमेकस्मिन् भवे, द्विः संसारे च चतुः कृत्वस्तीर्थकरस्फीतिदर्शनार्थं चतुर्मासाः । ग० २ अधि । प्रव ० ॥

आहारगवग्गणा–आहारकवर्गणा– स्त्री० आहार एवाहारकस्तत्प्रायोग्यवर्गणा आहारकवर्गणा आहारकशरीरग्रहणप्रायोग्यवर्गणायाम् कर्म्म० प्र० । वग्गणाशब्दे स्वरूपं ।

आहारगसमुग्घाय–आहारकसमुद्घात–पु० आहारके प्रारभ्यमाणे समुद्घात आहारकसमुद्घातः । प्रव० ॥ आहारकर्मविशेष, पं० सं. ॥ चतुर्दशपूर्वविद आहारकलब्धिमंत कश्चित्संदेहापगमाय तीर्थकरांतिकगमनार्थमाहारकशरीरं समुपादातुं बहिरात्मप्रदेशप्रक्षेपो, आचा० ॥ आहारकसमुद्घातस्तु जीवप्रदेशान् शरीराद्बहिर्निष्क्रम्य बाहल्यमात्रमायामतश्च संख्येयानि योजनानि दण्ड निसृजति निसृज्य च यथा स्थूलानाहारकशरीरनामकर्मपुद्गलान् शातयति ॥ स्था० ठा. ७ । प्रज्ञा० ॥

आहारगसरीरकायप्पओग–आहारकशरीरकायप्रयोग–पु० आहारकशरीरनिवृत्तेः प्रधानेऽङ्गे । भ० ८ श० १ उ० ।

आहारगुत्त–आहारगुप्त–त्रि० अनतिमात्राप्रस्निग्धाहारभोजिनि, आव० ४ अ. । सूत्र० ॥

* सुहुमंपच्छावगहणहेउं, इति पाठो जीवाभिगम टीकायाम् ।

आहारजातित्ति–आहारजतृप्ति–स्त्री० भोजनजनितबुभुक्षोपशमे, पंचा० ६ वृ. ॥

आहारजाइ-आहारजाति-स्त्री०अभ्यवहार्यसामान्ये, पंचा.५वृ.

आहारजात-आहारजात-न० अभ्यवहार्यसामान्ये पंचा०१०वृ.

आहारणीइ–आहारनीति–स्त्री० संस्कृताहारजक्षणप्रकारे, ऋषभस्वामिनो गृहावासात् पूर्वमसंस्कृताहारेण आसन् ते च तदा ऋषभस्वामिनाऽऽहारिणः कृताः इति उसभशब्दे उक्तं । आ० चू० ॥

आहारणीहार–आहारनिहार–पु० विसर्जने, विड्विसर्जने, नि० चू० २ उ० ॥

आहारपरिण्णा–आहारपरिज्ञा–स्त्री० आहारस्य परिज्ञाप्ररूपके सूत्रकृतांगस्य २ श्रु० द्वितीयेऽध्ययने, स्था०७ ठा. । आव० । प्रश्न० ५ अ० । द्वा० ॥

आहारपच्चक्खाण–आहारप्रत्याख्यान–न०सदोषाहारपरिहारे, तत्फलं यथा ॥

आहारपच्चक्खाणेणं भंते! जीवे किं जणयइ ? आहारपच्चक्खाणेणं जीवियासंसप्पओगं वोच्छिंदइ जीवियासंसप्पओगं वोच्छिंदित्ता जीवे आहारमंतरेण न संकिलिस्सइ ॥ ३५ ॥ उत्त. २९ अ. ॥

हेभदन्त ! आहारस्य प्रत्याख्यानेन सदोषाहारत्यागेन उपधासादिना जीवः किं फलं जनयति गुरुराह हेशिष्य ! आहारप्रत्याख्यानेन जीवो जीविताशंसप्रयोगं व्यवच्छिनत्ति । जीविते प्राणधारणे आशंसा अभिलाषस्तस्याः प्रयोगो व्यापारो जीविताशासंसप्रयोगस्तं व्यवच्छिनत्ति निवारयति जीविताशंसारहितो मुनिर्न क्लेशभाक् स्यात् इति भावः ॥

दु-ति-चउविहारेसु कप्पम् लघुप्रवचने यथा–

भत्तं धन्नं सव्वं, बदाम अक्खोरुउच्छुगंडुलिया ॥
फलपक्कं सव्वं, बहुविहं खाइमं मेयं ॥ ४८ ॥
दंतवणं तंबोलं, चित्तं तुलसी कुहेडगाईयं ॥
महु पिप्पली सुंठि मरी, पत्तगं जाइफलाणं च ॥४९॥
एलहुगं लविंगं अजमोयतियं तियं च अजयाणं ॥
म कप्पुर-कविट्ठाई, हिंगुलवणयाण असणगं च ॥५०॥
बिडलवण बरिंगव्वुल, कंटकरुक्खाणच्छल्लिया सव्वा ।
फोफलकसेल्लपुक्खा, रजवासपमकूलगयचव्वली ॥
तिव्वुय सुगंधि धसय, पत्तजमी पप्पडी वरहा य ॥
रसजाई भेसज्जपमुहं साइमं अणेगविहं ॥ ५२ ॥
दुविहारे कप्पिज्जइ, पाणं साइ मणेगहासव्वं ॥
तिविहारे पाणं, पुण चउहारे किमवि नो कप्पं ॥५३॥
साइमगयासिमासि, न कप्पए तह पसंग दोसाओ ॥
गुडलवणहिंगुसिंधव, जीरय धरणा वरहा य ॥ ५४ ॥
अजमो अतियं कविट्ठं, आमलगं च तह कपूरकंदा य ॥
अंबोलगं च मूया, एमाइं असणववहारो ॥ ५५ ॥
चउहारे रयणीए, कप्पिज्जइ जाणिमाणिं वत्थूणि ॥

समन्नागकया तिहल्ला, चूनिंबोसीर चंदणयं ॥ ५६ ॥
गोमुत्तं कडुरोहिणी, वधी अभया य रोहिणी तुग्गा ॥
गुग्गुलवया करीरय, झिंबपंचग नासगणो ॥ ५७ ॥
तह आसगंधि वंजी, चीरुहलिद्दा य कुंदरुकुट्ठा ॥
विसनाइ य धमासो, बोलय बीया अरिट्ठा य ॥ ५८ ॥
मींमज्ञ मजिट्ठकंकेल्लि, कुमारि कंथेरं बेरकट्ठा य ॥
कप्पारुबीय पत्तय, अगुरु तुरुष्का य तंतु वमा ॥ ५९ ॥
धवखयरपल्लासाई, कंटकरुक्खाणबुल्लियासाणा ॥
जं कडुयरसपरिगयं, आहारं पिच्छ अणाहारं ॥ ६० ॥
इचाइ जं अणिट्ठं, पंकुवमंतं नवे अणाहारं ॥
जं इच्छाए भुंजइ, तं सव्वं हवइ आहारं ॥ ६१ ॥

आहारपज्जत्ति–आहारपर्याप्ति– स्त्री० आहारपुद्गलग्रहणपरिणमनहेतावात्मनः शक्तिविशेषे,–पं० सं० ॥ यया बाह्यमाहारमादाय खलरसरूपतया परिणमयति साऽऽहारपर्याप्तिः । । कर्म० । दर्श० । जी० १ प्र. । नं० । प्रज्ञा० १ पद ॥ प्रव० ॥ पर्याप्तिर्नाम शक्तिस्तत्र यया शक्त्या करणभूतया भुक्तमाहारं खलरसरूपं च या करोति सा ॥ सू० १ ल. ।

आहारपूइ–आहारपूति–स्त्री० (असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे जए व गेलन्ने । अद्धाण रोहए वा, गहणं आहारपूइए ३०७) इत्युक्तलक्षणायामाहारशुद्धौ, नि० चू० १ ल. ।

आहारपोसह–आहारपोषध– पु० आहारः प्रतीतस्तद्विषयस्तन्निमित्तं पोषधश्चाहारपोषधः । आहारविशेषत्यागे, " आहारपोसहो दुविहो, देसे सव्वे य देसे अ अमुगा विगति आयंबिलं एक्कसि वा दो वा १ सव्वे चउविहोत्ति आहारो अहोरत्तं पच्चक्खा " आव० ६ अ. । आहारपोषधो देशतो विवक्षिते विकृतेरविकृत एवाऽऽम्लस्य वा सकृदेव द्विरेव वा भोजनमिति सर्वतस्तु चतुर्विधस्याहारस्याहोरात्रं यावत्प्रत्याख्यानं । ध० २ अधि. ।

आहारसण्णा–आहारसंज्ञा– स्त्री० क्षुद्वेदनीयोदयात्कावलिकाद्याहारार्थं पुद्गलोपादानक्रियैव संज्ञायतेऽनया तस्या नित्याहारसंज्ञा ॥ भ० ७ श. ८ उ. । स्था० १० ठा. ॥ आहाराभिलाषरूपे क्षुद्वेदनीय प्रभवे आत्मपरिणामविशेषे, कर्म० ॥ अभिलाषश्च ममैवंरूपं वस्तु पुष्टिकारि तद्यदीदमवाप्यते ततः समीचीनं भवतीत्येवं शब्दार्थोल्लेखानुबद्धः स्वपुष्टिनिमित्तभूतप्रतिनियत वस्तु प्राप्त्यध्यवसायरूपः । जी० १ प्र. । प्रज्ञा० ७ उ. ।

संज्ञाशब्दवक्तव्यता (सण्णा) शब्दे ।

चउहिं ठाणेहिं आहारसण्णा समुप्पज्जइ । तं जहा ओमकोट्ठयाए छुहावेयणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं मईए तदट्ठोवओगेणं ॥ स्था. ४ ठा. ॥

टी०–अवमकोष्ठतया रिक्तोदरतया मत्या आहारकथाश्रवणादिजनितया तदर्थोपयोगेन सततमाहारचिन्तयेति ॥

आहारतृष्णाख्ये कर्म्मणि, मोहाभिव्यक्तचैतन्यस्य, द्वा. ३० द्वा. ।

आहारादिचागणुट्ठाण–आहारादित्यागानुष्ठान न० भोजनदेहसत्काराऽब्रह्मव्यापारपरिहारकरणे । पंचा० १० वृ. ॥

आहारिज्जमाण–आह्रियमाण त्रि० संगृह्यमाणे, अभ्यवह्रियमाणे च, भ० १ श. १ उ. ॥ खाद्यमाने, स्था० १० ठा. ।

आहारिज्जस्समाण–आहरिष्यमाण त्रि०–अनागते काले आहारं करिष्यमाणे भ. १ श. । १ उ० ।

अहारित्तए–अहर्तुम् अव्य०–अभ्यवहर्तुमित्यर्थे आचा० ।

आहारित–आहारित– त्रि० भुक्ते, तं० ॥ आहारत्वेन गृहीते, अनु० ॥

आहारेयव्व–आहर्तव्य– त्रि० अभ्यवहार्ये स्था० ३ ठा. ॥

आहारेमाण–आहारयत्, त्रि० अभ्यवहरति, स्था० ६ ठा. आचा० ॥

आहारेसणा–आहारैषणा–स्त्री० अभ्यवहार गवेषणायां दश० १ अ. ।

आहारोवचय–आहारोपचय– त्रि० आहारेणोपचयोऽस्य । आहारोपचिते, " आहारोवचया देहा परीसहपभंगुरा " आचा० ७ अ. २ उ. ।

आहारोवचिय–आहारोपचित–त्रि० आहाररूपतया संचितेषु, भ० १६ श. २ उ. ।

आहावणा–आज्ञावना–स्त्री० उद्देशमात्रे अपरिगणनायाम् पिं० ॥

आहि–आधि–पुं० शारीरमानसपीडाविशेषे, षो० १५ विव. । मनः पीडायां, । भ० १ श. १ उ. ।

आहिंडग–आहिण्डक–पु० भ्रमणशीले गच्छानिर्गतसाधौ, औ० ।

इदानीमाहिण्डकान् प्रतिपादयन्नाह ॥

उवएस अणुवएसा, दुविहा आहिंडगा समासेणं ।
उवएसदेसदंसण, थूभाई हुंति णुवएसा ॥ ८७ ॥

तत्र एके उपदेशाहिण्डका अपरे अनुपदेशाहिण्डका एवमेतत् द्विधा अहिण्डका मुणितव्यास्तत्र उवदेसन्ति । द्वारपरामर्शः (देसदंसणत्ति) देशदर्शनार्थं द्वादशवर्षाणि यः पर्यटतिस सूत्रार्थौ गृहीत्वा एति उपदेशाहिण्डका अनुपदेशोत्वमी भवंति (थूभाई होंति णुवएसा) स्तूपादिगमनशीला अनुपदेशाहिण्डकाः औ० । व्य० ।

आहिंडिऊण–आहिण्ड्य– अव्य० परिभ्रम्येत्यर्थे, । संथा० ।

आहिक–आधिक्य– न० सजातीयपरिणामप्राचुर्ये । द्वा० ॥

आहिदेविय–आधिदैविक– न० यक्षराक्षसग्रहाद्यावेश हेतुके दुः खादौ, स्था. ठा० ॥

आहिभोतिय–अधिभौतिक– न० मनुष्यपशुपक्षिमृगसरीसृपस्थावरनिमित्ते दुः खादौ, स्था० ठा० ॥

आहिय–आख्यात–त्रि० प्रतिपादिते, कथिते, । सूत्र० १ श्रु १ । स्था० अनु० । आख्यानकप्रतिबद्धे, सू० प्र. । आविर्भाविते, भावे क्तः अभिप्राये, इहमेगेसि आहियं । सूत्र० ॥ श्रु० अ

आहित–त्रि० प्रवचन ऋषिभाषितादौ आत्मनि वा व्यवस्थिते सूत्र. । व्यवस्थापिते, स्था. ४ ठा. । निवेशिते, जं० । ढौकिते, अनुष्ठिते, । सूत्र० । प्रयोगविश्रसाभ्यां स्वकर्मपरिणत्या वा जनिते । आचा० । समंताद्धिते च, सूत्र० ॥

आहियग्गि–आहिताग्नि–पु० कृतावसथादिब्राह्मणे, दश. अ. ८ उ. १ । अग्निं गृहीत्वा ऋषभचितायां स्थापितवन्तस्तेन कारणेनाहिताग्नयः । आ० म० प्र. ॥

आहियविसेसत्त–आहितविशेषत्व–न० शेषपुरुषवचनापेक्षया शिष्योत्पादनमतिविशेषतायां । रा० । सत्यवचनातिशये, । सम० ।

आहीर – आभीर – पु० गोपालप्रधाने देशभेदे । कल्प.
(आभीरदेशे अचलपुरासन्ने कृष्णवेणानद्योर्मध्ये ऽब्रह्म

द्वीपः। कल्प.। अहिर इति ख्याते शूद्रजातीये, सूत्र. १ श्रु. १ अ.॥

आहु–आहोतृ–त्रि० दातरि, । ज्ञा. १ अ. । औ० ॥

आहुणिज्ज–आहवनीय–त्रि० सम्प्रदानभूते ज्ञा० १ अ.। औ०॥

आहुणिज्जमाण–आधूयमान–त्रि० कम्पमाने विद्रवमुपागते, । ज्ञा० ए अ. । औ० ॥

आहुणिय–आधुनिक–पु० अष्टाशीतेर्महाग्रहाणां पंचमे, । दो आहुणिया, स्था० २ ठा.। कल्प०। जं०। सू० प्र० ॥

आहूय–आहूत–त्रि० कृताऽऽह्वाने, वाच० । अ. व. ।

आहूय–अव्य० उपादायेत्यर्थे, (कम्मआहूय जंच्छ्रां) कर्मा-हूय ॥ आचा०

आहेउं-आधातुं-अव्य० आधानं कर्तुमित्यर्थे।सूत्र०, १ श्रु. एअ.।

आहेण– न० विवाहोत्तरं वधूप्रवेशे वरगृहे क्रियमाणे भोजने । । आचा० २ श्रु० १ अ० ४ उ० ॥

आहेवच्च–आधिपत्य– न० । अधिपतेः कर्माधिपत्यम्–रक्षार्थम् जं० । कल्प० । स० । न० । प्रज्ञा० । आ० म० प्र० । ज्ञा० । वि० । स्वामितायाम् । स्था० ए ठा. । तदाश्रितलोकेभ्यः आधिक्येन तेष्ववस्थायित्वे, औ० ॥

आहेवण–आक्षेपण–न० पुरक्षोभादिकरणे, प्रश्न० २ द्वा. ॥

आहोहिय–आधोऽवधिकः– पु०–नियतक्षेत्रविषयाव धिज्ञानिनि ॥ भ. ७ श. ७ उ. । स. प्रज्ञा. ।

आभोगिकः– पु०–आभोग उपयोगः स प्रयोजनं यस्य तदा भोगिकम् उपयोगप्रधाने,। कल्प० ॥

इति श्रीमद्बृहत्सौधर्म्मतपागच्छीय--कलिकालसर्व्वज्ञ

श्रीमद्भट्टारक-जैनश्वेताम्बराचार्य्य १००८ श्री

श्री विजय—राजेन्द्रसूरिविरचिते

अभिधानराजेन्द्रे "आकारादि

शब्दसङ्कलनम् "

॥ समाप्तम् ॥

अभिधानराजेन्द्रः ।

(इकार)

इ-इ-पु. अस्य विष्णोरपत्यम् अ. इञ् कामदेवे, गायत्री । एका० । स हि रुक्मिण्यां विष्णोरंशात् कृष्णात् जातः । तत्कथा च यथा-रुक्मिण्यां वासुदेवाच्च, लक्ष्म्यां कामो धृतव्रतः । शम्बरान्तकरो जज्ञे, प्रद्युम्नः कामदर्शनः । हरि० १६३ अ. । एवं व्युत्पत्तिमत्त्वेन कामदेवस्यैव इशब्दार्थता नाभिलाषस्येति बहवः । कामदेवदैवत्याच्च अभिलाषे औपचारिक इत्यन्ये । वाच० । कम्पे, सायके, सर्पे, सरसीरुहकेसरे, । शक्रचापे, बाणे कमलायाम्, रचनायाम्, क्षोणीभृत्कुहरे, पद्मदले, ज्ञाने, गतौ च । एका० । नञर्थकस्य अ इत्यस्यर्थम् अ इञ् । भेदे ३ सरोषोक्तौ, ४ निराकरणे, ५ अनुकम्पायाम्, ६ गदे, ७ विस्मये, ८ निन्दायाम् ९ सम्बोधने, च । अव्य० चादि । निपातैकाच्कत्वात् अस्य प्रगृह्यसंज्ञा तेन इ इन्द्र इत्यादौ न सन्धिः । वाच० वाक्यालंकारे, च । सहि निपातः पादपूरणाय प्रयुज्यते "इत्थी वा जुई वा" इ शब्दो निपातो वाक्यालङ्कारार्थ इति । औप० । ज्ञा० १ अ० । " वसने इ वा पढमराया इ वा, पढमभिक्खायरे इ वा, पढमजिणे इ वा पढमतित्थंकरे इ वा " क. सू० । इकारः सर्वत्र वाक्यालंकारे इति वृत्तिः । कल्प. । (सुत्तंमि अणुसाई इह इं पुण अत्यतो निसेहेइ) व्य० । इ पादपूरणे इति वृत्तिः व्य. ५ उ. ॥ तथा चाह वररुचिः स्वप्राकृतलक्षणे । " इजेरापादपूरणे इति" आ. म . द्वि. । "इह इं भणिया पुरिसजाया" । व्य. सू. । इ इति पादपूरणे इति वचनात् सानुस्वारता प्राकृतत्वात् । प्राकृते हि पदान्ते सानुस्वारता भवतीति । व्य० १ उ. ।

इ-इ गतौ-भ्वादि० सकर्म० अनिट् अयाति ऐषीत् इयाय ईयतुः ईयुः इययिथ इयेथ आयत् । इ ई इति प्रश्लेषात् अयं च धातुः कटी गतौ इत्यत्र लब्धः । सि० कौ० । वाच० ॥

इ (क्) । इक् स्मरणे इति वचनादिति भ० १ श० २ उ० । आधिपूर्वक एव कित् । कित्करणमधीगर्थस्यादौ विशेषार्थम् । अदादि० पर० सक० अनिट् अध्येति अध्यैषीत् । वाच० ॥

इ (ङ्) इङ्-अध्ययने "इङ् अध्ययने इति वचनादीति" भ० १ श० १ उ० ॥ अध्ययने अधिपूर्व एव ङित् अदा० आत्म० सक० अनिट् अधीते अधीयीत अध्यैष्ट । वाच० ।

इ (ण्) इण् गतौ "इण् गताविति वचनाद्दिति भ० १ श. १ उ. ॥ णित् इङो भेदार्थम् अदा० पर. सक. अनिट् एति इतः यन्ति इयात् इहि एत आयत् अगात् । वाच० ॥

इ (त्)-इत्-त्रि० एति गच्छति इ क्विप् गत्वरे, व्याकरणोक्ते प्रक्रियाकालोच्चारिते अस्थायिनि वर्णभेदे, यथा तिप् सिप् इत्यादौ पकारादि ॥ वाच० ।

इ (स्)-इष्-त्रि० इष् इच्छायां क्विप् । इच्छायुक्ते १ कर्मणि क्विप् इष्यमाणे, २ त्रि० ३ अन्ने, इष्यते इष् अन्तर्भूतण्यर्थे कर्मणि क्विप् ४ एषणीये, इष्-गतौ भावे क्विप् । ५ यात्रायाम्, स्त्री० वाच०

इइ (ति) इति-अव्य० इण् क्तिन् १ आद्यर्थे " गई इय " इति शब्दाद्यर्थस्ततश्च "गइइंदियकाए" इत्यादि द्वारकलापेऽवधिर्वक्तव्य इति । विशे० । इयत्ताप्रदर्शने, माने, वाच० (सम्मत्तंति) इति शब्दः इयत्ताप्रदर्शनार्थः एते क्षुधादयः सम्यक्त्वान्ता द्वाविंशतिरिति न न्यूनाधिकाः परिषहा भवन्तीति । प्रव० ८४ द्वा. । उपप्रदर्शने, " महया अणसद्देइ वा " इह संधिप्रयोगादितिशब्दो द्रष्टव्यः स चोपप्रदर्शने इति वृत्तिः । ज्ञा० १ अ० । " इति चोदकदिट्ठंतं परिहंतु कधिज्जते ससज्जावो उवदंसणे इति „ । नि. चू. ३ उ. ॥ औप. । स्था० ठा० ३ । सूत्र० २ श्रु० ४ अ. । विशे. । " इच्चेवं संवच्छरियं थेरकप्पं " इतिः रूपप्रदर्शने तं पूर्वोपदर्शितं सांवत्सरिकं स्थविरकल्पमिति वृत्तिः । कल्प० । नि० चू. ४ उ. । "असोगवणेइ वा " इति शब्द उपप्रदर्शने अनुस्वारलोपः संधिश्च प्राकृतत्वादिति भ० १ श. १ उ. । औप० । प्रश्न० । गच्छा० । " इति भो इति भोत्ति ते अप्पमप्पस्स किच्चाइं । करणिज्जाइं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति " (इति भोत्ति) एतत् कार्यमस्ति भोशब्दश्चामन्त्रणे इति । भ० ३ श. १ उ. ॥ " उल्लेखे " इतिशब्द उल्लेखार्थ इति । रा० । " तए णं से पालए देवे तस्स णं दीवस्स जाणविमाणस्स अंतो बहुसमरमणिज्जं भूमिभागं विउव्वइ से जहा नामए आलिंगपुक्खरेइ वा " इत्यादि इति । शब्द उपमाभूतवस्तुपरिसमाप्तिद्योतक इति आ. म. प्र० । इति शब्दाः सर्वेऽपिस्वस्वोपमाभूतवस्तुसमाप्तिद्योतका इति, जं० । राय० ॥ "तत्थ णं जे ते किण्हा मणीतणा य तेसि णं अयमेया रूवेवण्णावासे पण्णत्ते तंजहा से जहा णामए जीमूतेइ वा "इत्यादि सूत्रं इतिशब्द उपमाभूतवस्तुनामपरिसमाप्तिद्योतकः इति । जं० ॥ एवकारार्थे, अहवा इतिशब्द एवकारार्थे द्रष्टव्य इति नि० चू० २ अ० ॥ "अहवा इतिसद्दो एवार्थे" नि० चू० अ१'०। एवं प्रकारार्थे, एवंप्रकारेणेत्यर्थे, पो० प्र० १० । "महब्भयं दुःक्ख त्ति बेमि" ॥ इतिशब्द एवमर्थे, एवमहं ब्रवीमीत्यर्थः । आचा ६ अ० । अमुना प्रकारेणेत्यर्थे, । सूत्र. २ श्रु० ५ अ० । "मिच्छा पावयणेति य इत्येवं प्रकारे" स्था० ठा० ९ ॥ पूर्वप्रक्रान्तपरामर्शे, ॥ " इतिकम्मं परिण्णाय,, इतिः पूर्वप्रक्रान्तपरामर्शक इति । आचा० २ अ० ६ उ० ॥

उचितं खलु कायव्वं, सव्वत्थ सया णरेण बुद्धिमता ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इइ फलसिद्धी णियमा, एस च्चिय होइ आणत्ति ॥

इत्यनेनोचितकरणेन फलसिद्धिरिति वृत्तिः । पंचा० ६ वृ० इह विज्जामणुसंचरे" इतीत्येवंरूपां विद्यां सम्यग् ज्ञानपालन रूपामन्विति अङ्गीकृत्य संचरेत् सम्यक् संयमाऽध्वनि यायादिति सूत्रार्थ इति ॥ उत्त०२२अ० ॥ इति संखाए" इतिःरूपप्रदर्शने, इत्येतत्पूर्वोक्तनीत्योपायचस्यानोत्पादादिकामिति वृत्तिः आचा०१श्रु०३ अ० । "थिरसंघयणं तिकट्टु त्तं अणुप्पविसामि" इति कृत्वा इति हेतोस्तदनु प्रविशामीति वृत्तिः । ज० १५ श. १ उ० " अधारणिज्जमितिकट्टु तुरए निगिण्हइ " इति कृत्वा इति हेतोरित्यर्थः । ज० १३श०७उ० । समाप्तौ, इा०२ अ० । परिसमाप्तिप्रदर्शने, " से हु मुणी परिन्नाय कम्मोति बेमि " इतिशब्द एतावानयमात्मपदार्थविचारः कर्मबन्धहेतुविचारश्च सकलोद्देशकेन परिसमापित इति प्रदर्शकः आचा ० १ अ ० १ उ० सूत्र० । सम० । विपा० । वाक्यसमाप्तौ, इति शब्दो वाक्यसमाप्त्यर्थ इति । विशे० । यथा- " गिहत्यधम्माओ चुक्कति " ग० । दर्श० । वाक्यार्थसमाप्तौ पंचा० । यथा-" से अट्ठी संजयोत्ति" इति शब्दो व्यवस्थितवाक्यार्थपरिसमाप्तौ, प्रभ० सं० द्वा० ४ ॥ अधिकारपरिसमाप्तिद्योतके, यथा" से केणट्ठेणं भंते। एवं इह भरहे वासे " । २ । इति सूत्रेण नामार्थे प्रच्छतो गौतमस्य प्रतिवचनाय "तउथणं विणीआए रायहाणीए भरहे णाम राया चाउरंतचक्कवट्टी समुप्पज्जित्था " इत्यादिसूत्रैर्भरतचरित्रं प्रपञ्चितं तच्च परिसमाप्तमित्यर्थः । जं० । स्वरूपपरामर्शे, अस्माद्धेतोरित्यर्थे,-उत्त० ।

जाणाहि मे जायण जीविणोत्ति, सेसावसेसं लभऊतवस्सी।

जानीतावगच्छत (मेत्ति) सुप्तत्वात् मां (जायजीविणोत्ति) याचनेन जीवनं प्राणधारणमस्येति याचनजीवनं आर्षत्वादिकारः पठ्यते च " जायणजीविणोत्ति" इतिशब्दः स्वरूपपरामर्शकस्तत एवं स्वरूपं यतश्चैवमतो मह्यमपि वृद्धयमिति भावः । कदाचिदुत्कृष्टमेवासौ दावत् इति तेषामाशयः स्यादत आह । अथवा जानीत मा याचनजीवितं याचनेन जीवनशीलत्वात् द्वितीयार्थे षष्ठी । पाठान्तरे तु प्रथमा । इतीत्यस्माद्धेतोः किमित्याह-शेषा विशेषमुद्धरितस्याप्युरुरितमन्तः प्राप्तमित्यर्थः । लभतां प्राप्नोतु तपस्वी यतिर्वराको वा । उत्त० १२ अ० ॥

आमिपगे इत्यादिषु इतिशब्दो हेत्वर्थे,स्था० ३ ठा० ॥

प्रकाशने , निदर्शने , प्रकारे , अनुकर्षे , प्रकरणे, स्वरूपे , सान्निध्ये, विवक्षानियमे, मते, प्रत्यक्षे, व्यवस्थायाम, परामर्शे, माने, प्रकर्षे, उपक्रमे च । तत्र स्वरूपद्योतकता त्रिधा ॥ " शब्दस्वरूपद्योतकता प्रातिपदिकार्थे द्योतकता वाक्यार्थद्योतकताचेति तत्र शब्दस्वरूपद्योतकत्वे तद्योगेन प्रथमा " वीरेति मङ्गलं नाम यस्य वाचि प्रवर्तते " ॥ " अत एव गवित्याह , भूसत्तायमितीदृशमिति " भर्तृहरिः ॥ प्रातिपदिकार्थद्योतकत्वे प्रथमा । "क्रमादमुं नारद इत्यबोधि सः " । (इत्यादौ) माघ० । वदन्त्यपर्णेति च तां पुराविदः । कुमारसम्भ० । वाक्यार्थद्योतकत्वेन प्रथमा । निपातेनाभिहिते प्रातिपदिकार्थे एव प्रथमाविधानात् । वाक्यस्य च शक्त्या लक्षणया वा एकार्थबोधकत्वाभावेन प्रातिपदिकत्वाभावात् ॥ भूसत्तायामितीदृशं " भर्तृ० । " श्रुतार्थस्य परित्यागादश्रुतार्थस्य कल्पनात् । प्राप्तस्य बाधादित्येवं परिसंख्या त्रिदोषिका ,, मीमांसकाः । तत्र हेतौ इतीव धारामवधीर्य ,, । नैष० । "इति स्म सा कारुतरेण लेखितं " नैष० । प्रकारे, "इति मदमदनाभ्यां रागिणः स्पष्टरागाः " माघ० प्रकाशार्थे, "इतिहरि" इत्यादौ अव्ययी० । इदमर्थे, धिरोधिसिद्धमितिकर्तुमुद्यतं । प्रकरणे , इति कृत्यमिति कर्तव्यम इति वृत्तम् । वाच० ॥ इण् गतौ भावे क्तिन् । आव० । गतौ, संथा० । चेष्टायाम । आव० । ज्ञाने, वाच० । प्रवृत्तौ, च स्त्री० । स्था० ठा० ८ ।

इइ (ति) कह-इतिकथ-त्रि० इति इत्थं कथा यस्य । अर्थशून्यवाक्यप्रयोक्तरि, अश्रद्धेयवचने, । वाच० ।

इइ (ति) कायव्वया-इतिकर्तव्यता-स्त्री० इत्येवं रूपा कर्तव्यानां भावः कर्तव्यता ।

सर्वत्रानाकुलता, यतिभावाव्ययपरा समासेन ।
कालादिग्रहणविधौ, क्रियेति कर्तव्यता भवति ॥

इत्युक्तलक्षणायां क्रियायाम, इति कर्तव्यता माह (सर्वत्रेत्यादि) सर्वत्र सर्वस्मिन्ननाकुलता निराकुलता अत्वरा यतेर्भावः सामायिकरूपस्तस्याऽव्ययपराव्ययाभावनिष्ठाऽनाकुलता वा यतिभावाव्ययपरा न किंचिदतिभावाद् ध्येत्यपगच्छतीति कृत्वा तथोच्यते ।विशेष्यत्वात् क्रियाभिसंबध्यते समासेन संक्षेपेण कालादिग्रहणविधौ कालस्वाध्यायादिग्रहणविधिविषया क्रिया चेष्टा स्वशास्त्रप्रसिद्धा इतिकर्तव्यता भवति इत्येवं रूपा कर्तव्यानां भावः कर्तव्यतोच्यते षो० ३ विव० ।

इइ (ति) ह-इतिह-अव्य० इति एवं ह किल द्वन्द्वः । उपदेशपरंपरायाम, यथाऽत्र वटे यक्ष इत्युपदेशपरंपरैव न तु केनापि दृष्ट्वा तथा कथितमिति तस्य प्रसिद्धिमात्रता इति हेमचन्द्रः । भि० को० । वाच.

इइ (ति)हास-इतिहास-पु॰ इतिह पारम्पर्योपदेश आस्तेऽस्मिन् । आस आधारे घञ्-६ त. वाच. पुराणे,- (इतिहासपञ्चमाणं) इतिहासः पुराणं पंचमो येषां ते तथेति । कल्प० । इतिहासः पुराणमुच्यते इति । औप० । पुरुषस्य द्वासप्ततिकलान्तर्गते कलाविशेषे, कल्प० " धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेशसमन्वितम् ॥ पूर्ववृत्तकथायुक्तमितिहासं प्रचक्षते " ॥ उक्तलक्षणे पुरावृत्तप्रकाशके भारतादिग्रंथे, ॥ वाच० ।

इ ओ(त्तो)(दो) (एत्तो) इतस्-अव्य० इदम-तसिन् इशादेशः "तो दो तसो वा" प्रा० ८ । २ । १६०इति प्राकृतसूत्रेण तो दो इत्यादेशौ वैकल्पिकौ । पंचाशके। एत्तो इति । अस्मादित्यर्थे, वाच० (इओ चुतेसु दुहमट्टदुग्गं) इतः स्थानाच्युतो जन्मान्तरं गत इति। सूत्र. १ श्रु. १० अ० ॥ (इत्र आउक्खए चुया) इतो मनुष्यजन्मनः सकाशादायुः क्षये मरणे सति च्युता इति प्रश्न. १ द्वा० । (एत्तोऽणाभोगंमि विपक्खवणिज्जो इमो होइ) एतोच्चि इतोऽस्मादाज्ञारुचित्वात् प्रज्ञापनीयो भवतीति योगः । पंचा० ३ वृ. ॥ इतः स दैत्यः प्राप्तश्रीर्नेत एवार्हति क्षयम् । " इतो निषीदेति विसृष्टभूमिः " ॥ कुमा. । प्रयुक्तमप्य स्त्रमितो वृथा स्यात् " रघुः । वाच० ।

इंखिणिया-इंखिणिका-स्त्री० परनिन्दायाम् । " अदु इंखिणिया उपाविया " इंखिणिया परनिंदा तु शब्दस्यैवकारार्थत्वात् पापिकैव दोषवत्येव अथवा स्वस्थानादधमस्थाने पातिकेति वृत्तिः । सूत्र० १ श्रु० २ अ० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इंखिणिका हि कर्णमूले घंटिकां चालयन्ति ततो यक्षाः स्वच्छा-गम्य तासां कर्णेषु किमपि प्रश्नविवक्षितं कथयन्तीत्युक्तलक्षणे नैमित्तिकविशेषे, च (इंखिणियारूयं वा पुच्छा) इति आ० म० प्र० । नि. चू. ॥

इंखिणी–इङ्खिणी–स्त्री० अन्यनिन्दायाम्, (अह सेयकरी अन्नेसि इंखिणी) अथाऽनंतरमसौ अश्रेयस्करी पापकारिणी इंखिणीति निन्दा अन्येषामतो न कार्येति वृत्तिः । सूत्र० १ श्रु० २ अ० ॥

इंग–इङ्ग–पु० इगि भावे घञ् । १ चलने, २ कम्पने, ३ इङ्गिते, च कर्तरि अच् । जङ्गमे, त्वया सृष्टमिदं सर्वं, यच्चेङ्गं यच्च नेङ्गति भा. व० अद्भुते, च । वाच० ॥

इंगाल–अङ्गार–पु. विगतधूमज्वाले दह्यमाने इन्धनादिके, उत्त. ३६ अ. । अंगार इत्येतत् प्रकरणे एवंविधाः शब्दाः ।

इंगालकम्म–अङ्गारकर्मन्–न० अंगारकरणपूर्वकस्तद्विक्रय एवं यदन्यदपि वह्निसमारम्भपूर्वकं जीवानामिष्टकादिपाकरूपं तदङ्गारकर्म तस्मिन्, ॥ उपा. अ. १ ॥

इंगिअ (य) इङ्गित–न० प्रा० । इगि भावे क्तः । चलने, । हृद्गतभावावेदके, वाच. । निपुणमतिगम्ये प्रवृत्तिनिवृत्तिसूचके ईषद्भ्रूशिरः कंपादिके आकारे चेष्टाविशेषे, उत्त. १ अ. । "इंगिअचितियपत्तियवियाणिया-" उत्त. अ० १ । इङ्गितेन नयनादिचेष्टाविशेषेण चिन्तितं परेण हृदि स्थापितं प्रार्थितं चाऽभिलषितं च जानन्ति यास्तथा तान्निरिति वृत्तिः । दशा. । "आलोइयं इंगियमेव णच्चा, जो छंदमाराहइ एस पुज्जो" । दश. ९ अ ३. उ अगोपांगादिमोटनात्मके स्वचित्तविकारसूचके चेष्टाविशेषे, च (न जं पियं इंगियपेहियं वा—इंगितमङ्गोपाङ्गादिमोटनं स्वचित्तविकारसूचकं तच्च स्त्रीणां न साधुना रागेण द्रष्टव्यमिति । उत्त. ।

इंगिअज्ज–इंगितज्ञ–पु० "ज्ञोञ" पाद. २–सू. ८३ इति सूत्रेण अस्य लुक्वा । नयनादिचेष्टाविशेषज्ञे, प्रा० व्या० ।

इंगिअण्णु–इंगितज्ञ–पु० नयनादिचेष्टाविशेषज्ञे, प्रा० व्या० ।

इंगिअ (य) मरण–इंगितमरण–न० इंगिते प्रदेशे मरणमिंगितमरणम्, मरणविशेषे, तद्वक्तव्यता इंगिणीमरणशब्दे । ग. । पंचा. । दश. ।

इंगिणी–इंगिनी–स्त्री० इंग्यते प्रतिनियतदेश एव चेष्ट्यतेऽस्यामनशनक्रियायामितीङ्गिनी श्रुतविहिते क्रियाविशेषे, तद्विशिष्ट यावत्कथिकानशनतपोभेदे, च । ध. ३ अधि. । उत्त. । सम. ।

इंगिणीमरण–इंगिनीमरण– न० इंग्यते प्रतिनियतदेश एव चेष्ट्यतेऽस्यामनशनक्रियायामिति इंगिनी श्रुतविहितः क्रियाविशेषस्तद्विशिष्टमनशनमिंगिनी तया मरणमिङ्गिनीमरणम् । सम. १७ स. । तदुपलक्षितं वा मरणमिङ्गिनीमरणम् ॥ ध. ३ अधि. । उत्त. ५ अ० । प्रव. । पण्डितमरणविशेषे, । तद्धि चतुर्विधाहारस्य प्रत्याख्यातुर्निष्प्रतिकर्मशरीरस्येङ्गितदेशाभ्यंतरवर्तिन एवेति । सम. १७ स. । तल्लक्षणं चेदम् ॥ "इंगियदेसंमि सयं, चउव्विहाहारचायनिप्फन्नं । उव्वत्तणाइजुत्तं, नन्नेण उ इंगिणीमरणं" ॥ ९१ ॥ स्था २ ठा० ॥ अत्र नियमाच्चतुर्विधाहारविरतिः परपरिकर्मविवर्जनं च भवति । स्वयं पुनरिंगितदेशाऽभ्यंतरे उद्वर्तनादिचेष्टात्मकं परिकर्म यथासमाधि विदधाति । प्रव. द्वा० । दश. । संथा० ॥

धर्मसंग्रहेऽपि " इंगिनीमरणं चेष्टा, वतामाहारवर्जनात् ॥ " आहारवर्जनात्सर्वाहारपरित्यागात् चतुर्विधाहारपरित्यागेनेत्यर्थः । इंगिनीमरणमुक्तलक्षणं चेष्टावतां परिमितचेष्टासहितानां सर्वाहारत्यागाद्भवति । अयं भावः । अस्य प्रतिपत्ता तेनैव क्रमेणायुषः परिहाणिमवबुध्य तादृशसंहननाभावात्पादपोपगमनकर्तुमशक्तः स्तोककालजीवितानुसारेण संलेखनां कृत्वा प्रव्रज्याकालादारभ्य च विकटनां दत्त्वा चतुर्विधाहारं नियमात्प्रत्याख्याति । तथाविध एव च स्थण्डिले एकाकी छायात उष्णं उष्णतश्च छायां संक्रामन्निङ्गितदेशे सचेष्टः सम्यग्ध्यानपरायणः प्राणान् जहाति । अयं च परकृतपरिकर्मरहितः स्वयं तत् करोति । ध. ३ अधि. ।

अथ भक्तपरिज्ञातोऽस्याः को विशेष इत्याह ।

आयपरपडिकम्मं, भत्तपरिन्ना य अणुन्नाता ।
परवज्जिया य इंगिणि, चउव्विहाहारविरई या ॥

भक्तपरिज्ञायां द्वे अपरिज्ञाते तद्यथा आत्मना स्वयं परिकर्म परेण च इंगिनी पुनः परवार्जिता परस्तत्र परिकर्म न कार्यते । तथा भक्तपरिज्ञायां चतुर्विधस्य त्रिविधस्याहारस्य विरतिर्भवति इंगिन्यां तु नियमाच्चतुर्विधाहारविरतिः ।

परपरिकर्मविवर्जनमेव भावयति ।

ठाणं निसीय तुयट्टण, इत्तरियाइं जहा समाहीए ।
सयमेव य सो कुणति, उवसग्गपरीसहा य अहियासे ॥
संघयणधितीजुत्तो, नवदसपुव्वा सुएण अंगा वा ।
इंगिणियातोवगमं, नीहारी वा अनीहारी ॥

स्थानं ऊर्ध्वस्थानं निषीदनमुपवेशनं च त्वग्वर्तनं शयनं एतानि इत्वरकाणि स यथासमाधि स्वयमेव करोति न तु परतः कारयति । तथा दिव्यादीन् उपसर्गान् क्षुधादिपरिसहांश्च सम्यगध्यास्ते सहते । तथाहि चतुर्विधाहारप्रत्याख्यानात्तस्य पानकमपि भवति । नाप्यपवादतश्चरमाहारदानमिति । तथा संहननेन त्रयाणामाद्यानामन्यतमेन धृत्या च युक्तस्तथा श्रुतेन सूत्रतो यस्य पूर्वाणि नवदश वा केवलानि अंगानि । स इङ्गिनीमरणं प्रतिपद्यते । व्य० द्वि० १० उ० ।

निशीथचूर्णौ तु ।

जाव अज्जो णिच्छिज्जति ताव णेयव्वं पंचधाउ लेवणं इंगिणीमरणं । परणओ इंगिणीए अप्पं वेयावच्चं परो न करेइ णियमा चउविहाहारविरई जइ थंडिं पडिवज्जइ तो आणीहारिमं अह गच्छे तो णीहारिमं पढमाविइयसंघयणी पडिवज्जइ जेण अहीयं णवमपुव्वस्स तइयं आयारवत्थुं एक्कारसंगी वा पडिवज्जइ धितियवज्जकुड्डसामाणं सव्वाणि उवसग्गाणि अहियासेइ । नि० चू० ११ उ० ।

इंगिनीमरणमाह ।

पव्वज्जादी काउं, नेयव्वं जाव होइवोच्छित्ती ।
पंच तुलेऊण तवो, इंगिणिमरणं परिणओ उ ॥

प्रव्रज्यादिकं प्रव्रज्या शिष्या ग्रहणं व्रतारोहः अर्थग्रहणमनियतं वा संगच्छस्य परिपूर्णस्य निवृत्तिं गच्छनिवृत्तिकरणेन च तीर्थस्याव्यवच्छेदः कृतः तत आह । तावदुद्यातव्यं यावद्भवति व्यवच्छित्तिः तत्पर्यंतं कृत्वा पंचतपः तत्र सत्त्वैकत्वबललक्षणानि तोलयित्वा स इंगिनीमरणं परिणतः प्रतिपन्नो भवति । व्य० १० उ० ॥

(अस्य सविचाराविचारत्वसपरिकर्माऽपरिकर्मत्वनिर्हारित्वानिर्हारित्वानि मरणशब्दे ।)

(अस्य पण्डितमरणेषु मध्यमत्वं पण्डितमरण शब्दे) ।

इंगिनी मरणं विशिष्टतरधृति संहननवतामेव भवतीति पण्डितमरणशब्दे ।

इंगिनीमरण च्चाणक्यः प्रतिपन्नस्तद्यथा ॥

पाडलिपुत्तंमि पुरे, चाणक्को नाम विस्सुओ आसी ।
सव्वारंजनिवत्तो, इंगिनीमरणं अह निवत्तो ॥

पाटलीपुत्रे पुरे चाणक्यनामा मन्त्री विश्रुतः ख्यात आसीत् सर्वारम्भनिवृत्तः त्यक्तसर्वराज्यव्यापारः इंगिणीमरणं इंगितप्रदेशाद्बहिर्निर्गमरूपं मरणमथ निवृत्तः सुतः आस्त ततः गोवाटके इंगिनीमरणं प्रतिपद्य तस्मिन्करीषे सुतः इंगिनीमरणेन व्यवस्थितः । इदम् ।

इंगियदेसंमि सयं चउव्विहाहारवाय निप्पन्नं ।
अप्पडिकम्मे नियमा अन्नेण य इंगिणीमरणं ॥

इह यच्चाणक्यस्य इंगिनीमरणं भणितं न पुनरिंगनीमरणमेव यतः श्रावकाणां पादपोपगमेंगिनीमरणनिषेधः । यदाह । " सव्वावि य अज्जाउ, सव्वे वि य पढमसंघयणवज्जा । सव्वे वि देसविरया, पच्चक्खाणाओ मरंति " इति । संथा० ।

इंगिनीमरणविधानम् यथा ।

इंगिणिमरणविहाणं, आपवज्जं तु वियडणं दाओ
संलेहणं च काओ, जहासमाही जहाकालं ॥

इंगितमरणविधानमेतदाप्रव्रज्यमेव प्रव्रज्याकालादारभ्य विकटनां कृत्वा संलेखनां च कृत्वा यथासमाधि कुर्वतो भाव तथ्य यथा कालमिति गाथार्थः ।

पच्चक्खइ आहारं, चउव्विहं णियमओ गुरुसमीवे ।
इंगिअदेसंमि तहा, चिट्ठं पि हु इंगिअं कुणइ ॥

प्रत्याख्यात्याहारमशनादिचतुर्विधं नियमात्तान् त्रिविधं गुरु समीपे इंगितदेशे तथा परिमिते चेष्टामपींगितं करोतीति गाथार्थः ।

उव्वत्तइ परिअत्तइ, काइअमाईसु होइ विजासाउ ।
किंचंपि अप्प णच्चि, अज्जं जइ नियमेण धिइवज्जेउ ॥

उद्वर्तते परावर्तते कायिकादिषु प्रयाति विभाषा प्रकृतिमात्मसात्करोति वा न वा कृत्यमप्यात्मनैव युंक्ते । उपाधिप्रत्युपेक्षणादिनियमेन धृतिबली स भगवानिति गाथार्थः । पं. व० २ द्वा ।

(इङ्गितमरणवक्तव्यता मरणशब्दे वक्ष्यते ।)

इंगियागारसंपन्न–इंगिताकारसंप्रज्ञ–पु० इंगितं निपुणमतिगम्य प्रवृत्तिनिवृत्तिसूचक मिंषद् भ्रूशिरःकंपादि आकारः स्थूलधीसंवेद्यः प्रस्थानादिभावाभिव्यंजको दिगवलोकनादिः अनयोर्द्वन्द्वे इंगिताकारौ सम्यक् प्रकर्षेण जानातीति इङ्गिताकारसंप्रज्ञः । इङ्गिताकारयोः प्रकर्षेण ज्ञातरि, । उत्त. १ अ० ।

इंगिताकारसंपन्न–पु० इंगिताकाराभ्यां संपन्नो युक्तः इंगिताकारसंपन्नः । इंगिताकाराभ्यां युक्ते. उत्त. १ अ० ।

इंगियागारसंपन्नो, से वीणीए त्ति वुच्चइ" इंगिताकारौ तावद्यौत गुरुगतौ सम्यक् प्रकर्षेणजानाति इंगिताकारसंप्रज्ञः । यद्वा इंगिताकाराभ्यां गुरुभावपरिज्ञानमेव कारणे कार्योपचारादिंगिताकारशब्देनोक्तं तेन संपन्नो युक्तः स इत्युक्तविशेषणान्वितो विनीतो विनयान्वित इति सूत्रपरामर्शेनोच्यते । तीर्थकृद्गणधरादिभिरिति गम्यते । उत्त. १ अ० ।

इंगुई–इंगुदी–स्त्री, वनस्पतिविशेषे, तत्फलेन तैलविधानं भवतीति । आचा० श्र० उ० ॥

इंत– यत्–त्रि. आगच्छति, (इंतस्स पच्चुगच्छणया) आगच्छतो गौरस्याऽभिमुखं गमनमिति भ० । श. १४ उ. ३ ॥

इंद–इन्द्र–पु० इन्दतीतीन्द्रः । अनु० । इदि परमैश्वर्ये इति धात्वनुसारादिन्दनादिन्द्र आत्मा । सर्वद्रव्योपलब्धिसर्वोपभोगरूपपरमैश्वर्ययोगात् । आत्मनि, (जीवे) नं. १ द्वा. । आ० म० । स्था. ।

इन्दो जीवो सव्वोवलद्धिभोगपरमेसरत्तणओ ।

इदिपरमैश्वर्ये इन्दनात्परमैश्वर्ययोगादिन्द्रो जीवः । परमैश्वर्यमस्य कुत इत्याह (सव्वो) इत्यादि आवरणाभावे सर्वस्यापि वस्तुन उपलंभाज्ञानाभावेषु सर्वस्यापि त्रिजगद्गतस्य वस्तुनः परिभोगाच्च परमेश्वरो जीव इति तस्य परमैश्वर्यम विशे० ।

इन्दनादिन्द्रः परमैश्वर्ययुक्त इत्यर्थः एवं भूतेन चार्थेन युक्तमिदं नाम । परमार्थतस्त्रिदशाधिपे एव वर्तते तस्य तात्विकपरमैश्वर्ययुक्तत्वात् । आ० म० प्र० । अनु० ॥ इन्द्रः शक्रः पुरन्दरः । सूत्र० २ श्रु० ७ अ० । प्रश्न० । राज० सहस्राक्षः । प्रति. । इति पर्यायाः । परमैश्वर्ययोगादिन्द्रः प्रभौ, (परमेश्वरे,) स्था. ठा० ४ । महति, च । स्था. ४ ठा० । ऐश्वर्यान्विते त्रि. भूपमात्रे, उपमितसमासे उत्तरपदस्थः श्रेष्ठत्वद्योतकमनुजेन्द्रः वारणेन्द्र इत्यादि । वाच० ।

इन्द्रशब्दस्य निक्षेपः स्थानाङ्गे दर्शितो यथा.

तओ इन्दा पण्णत्ता तंजहा नामिन्दे ठवणिंदे दव्विंदे ॥

(तओ इन्देत्यादि) व्याख्या सा च सुकरैव न वरं ।

नामेन्द्रः ।

इन्दनादैश्वर्यादिन्द्रः नाम संज्ञा तदेव यथार्थमिन्द्रेत्यक्षरात्मकमिन्द्रो नामेन्द्रः । अथवा सचेतनस्याचेतनस्य वा यस्येन्द्र इत्ययथार्थं नाम क्रियते स नामनामवतोरभेदोपचारात् नाम चासाविन्द्रश्चेति नामेन्द्रः । अथवा नाम्नैवेन्द्र इति इन्द्रार्थशून्यत्वान्नामेन्द्र इति ।

नामलक्षणं पुनरिदम् ।

" यद्वस्तुनोऽभिधानं, स्थितमन्यार्थे तदर्थनिरपेक्षं ॥
पर्यायानभिधेयं, च नाम यादृच्छिकं च तथा"॥ १ ॥ इति

अयमर्थः यद्वस्त्वित्यादिना यथार्थमिन्द्रइत्याद्युक्तं स्थितमित्यादिना त्वयथार्थं गोपालदारकेन्द्रेत्यादि यादृच्छिकमनर्थकं डित्थादीति । अथवा यदिन्दनाद्यर्थनिरपेक्षं गोपालादि वस्तुन इन्द्र इत्यादिकमभिधानमयथार्थतया शक्रादावन्यत्रार्थे स्थितं तन्नामेति । इन्द्रादिवस्तुनोवाऽभिधानमिन्दनाद्यर्थनिरपेक्षं सद्गोपालादावन्यत्रार्थे स्थितं तन्नामेति । स्था. ३ ठा० ॥

अत्ताभिप्पायकया, सन्ना चेयणमचेयणे वावि ।
ठवणादीनिरविक्खा, केवलसन्नाउ नामिंदो ॥

चेतनेऽचेतने वा द्रव्ये या आत्माभिप्रायेण स्वेच्छया इन्द्र प्रभृतिसंज्ञा कृता साऽपि स्थापनादिसापेक्षा स्यादत आह । स्थापनादीनां स्थापनाद्रव्यभावादीनां निरपेक्षा । किमुक्तं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भवति । यत्र स्थापनादीनामेकमपि नास्ति किन्तु केवला एका संज्ञा तदर्थनिरपेक्षा स नामेन्द्रः । उक्तं नामेन्द्रलक्षणम् । वृ. १ उ. ॥

स्थापनेन्द्रमाह ॥

तथा इन्द्राद्यभिप्रायेण स्थाप्यत इति स्थापना लेप्यादिकर्म सैवेन्द्रः स्थापनेन्द्रः । इन्द्रप्रतिमा साकारस्थापनेन्द्रः अक्षादिन्यासस्त्वितर इति । स्थापनालक्षणमिदम् । यत्तु तदर्थवियुक्तं, तदभिप्रायेण यच्च तत्करणम् । लेप्यादिकर्म तत्स्थापनेति क्रियतेऽल्पकालञ्चेति ॥ १ ॥ तथा "लेप्पगहत्थी हत्थित्ति एस, सब्भाविआ भवे ठवणा । होइ असब्भावो पुण, हत्थित्ति निरागिई अक्खोत्ति" ॥ २ ॥ ॥ स्था. ३ ठा० ।

अधुना स्थापनेन्द्रलक्षणमाह ॥

सब्भावमसब्भावे, ठवणा पुण इंदकेउ माईया ।
इत्तरमणित्तरा वा, ठवणा नामं तु आवकहं ॥

स्थापना स्थापनेन्द्रः पुनः सद्भावेऽसद्भावे च इन्द्रकेत्वादिका इन्द्रकेतुप्रभृतिको द्रष्टव्यः । अत्रादिशब्दादिन्द्रप्रतिमाऽक्षवराटकादिपरिग्रहः । इयमत्र भावना । या इन्द्र इति स्थापना अक्षवराटकादिष्वसद्भावेन या चेन्द्रकेत्विन्द्रप्रतिमादिषु सद्भावतः स स्थापनेन्द्रः । इह नामस्थापनयोः कः प्रतिविशेष उच्यते (इतर इत्यादि) स्थापना इत्वरा च भवति यावद्द्रव्यभाविनी अयावद्द्रव्यभाविनी चेत्यर्थः । नाम पुनर्नियमात् यावत्कथिकं यावद्द्रव्य भावी एष प्रतिविशेषः । वृ.१उ.॥

संप्रति नामेन्द्रस्थापनेन्द्रयोः प्रकारान्तरेण प्रतिविशेष-मभिधित्सुराह ।

जह ठवणिंदो थुव्वइ, अणुग्गहत्थी हि तह न नामिन्दो ।
एमेव दव्वभावे, पूयाथुतिलद्धिनाणत्तं । १ ।

यथा स्थापनेन्द्रः अनुग्रह एवार्थोऽनुग्रहार्थः स येषामस्ति अनुग्रहार्थिनस्तैर्वाणिज्यैः स्तूयते पुष्पादिभिरर्च्यते च न तथा नामेन्द्रो माणवकस्ततो महान् नामेन्द्रस्थापनेन्द्रयोः प्रतिविशेषः । एवमेव अनेनैव प्रकारेण द्रव्येन्द्रे भावेन्द्रे च पूजास्तुतिलब्धिनिर्नानात्वमवसातव्यम् तद्यथा । द्रव्येन्द्रोऽपि नामेन्द्र इवानुग्रहार्थिभिः न स्तूयते नापि पूज्यते यस्तु भावेन्द्रः स स्थापनेन्द्र इव स्तूयते पूज्यते च ततो द्रव्येन्द्रभावेन्द्रयोरपि महान् प्रतिविशेषः । अन्यच्च द्रव्येन्द्र इन्द्रलब्धिहीनो यस्तु भावेन्द्रः स तल्लब्धिसंपन्नस्तथाहि स सामानिकत्रायस्त्रिंशकादिपरिवृतो विशिष्टद्युतिमान् स्फीतं राज्यमनुभवति उपयोगचिन्तायामपि भावेन्द्र उपयोगलब्धिमान् द्रव्येन्द्र उपयोगलब्ध्या परित्यक्त इति वृ. १ उ. ॥

द्रव्येन्द्रमाह ।

तथा द्रवति गच्छति तांस्तान्पर्यायान्द्रूयते वा तैस्तैः पर्यायैर्द्रोर्वा सत्ताया अवयवो विकारो वा वर्णादिगुणानां द्राव समूह इति द्रव्यम् । तच्च भूतभावं भाविभावं चेति आह च " दवए दुयते दोरव, यवो विगारो गुणाणसंदावो ॥
दव्वं भव्वं भावस्स भूयभावं च जं जोग्गंति ॥ तथा " भूतस्य भाविनो वा भावस्य हि कारणं तु यल्लोके । तद्द्रव्यं तत्त्वज्ञैः सचेतनाचेतनं गदितम्" ॥ १ ॥ तथा अनुपयोगो द्रव्यमप्रधानञ्चेति तत्र द्रव्यं चासाविन्द्रश्चेति द्रव्येन्द्रः ॥ स्था० ३ ठा०॥

स च द्विधा । आगमतो नो आगमतश्च । तत्रागमतः स्वलक्षणमागममधिकृत्य ज्ञानापेक्षयेत्यर्थः । नो आगमतस्तु तद्विपर्ययमाश्रित्य तत्रागमत इन्द्रशब्दोऽध्येताऽनुपयुक्तो द्रव्येन्द्रोऽनुपयोगो द्रव्यमिति वचनात् । अयमेवार्थो मङ्गलमाश्रित्य भाष्ये उक्तस्तथाहि "आगमओ णुवउत्तो, मंगलसद्दाणुवासिओ वत्ता । तन्नाणलद्धिजुत्तो, विणोवउत्तोत्ति नो दव्वंति" तथा नो आगमतस्त्रिविधो द्रव्येन्द्रस्तद्यथा ज्ञशरीरद्रव्येन्द्रो भव्यशरीरद्रव्येन्द्रो ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तो द्रव्येन्द्रश्चेति ॥ तत्र ज्ञस्य शरीरं ज्ञशरीरं ज्ञशरीरमेव द्रव्येन्द्रः ज्ञशरीरद्रव्येन्द्रः एतदुक्तं भवति । इन्द्रपदार्थज्ञस्य यच्छरीरमात्मरहितं तद्गततकालानुभूततद्भावानुवृत्त्या सिद्धशिलातलादिगतमपि घृतघटान्यायेन नो आगमतो द्रव्येन्द्र इति । इन्द्रज्ञानशून्यत्वाच्च तस्येह सर्वनिषेध एव नोशब्दार्थः । तथा भव्यो योग्य इन्द्रशब्दार्थं ज्ञास्यति यो न तावद्विजानाति स भव्यः इति तस्य शरीरं भव्यशरीरं तदेव भव्येन्द्रो भव्यशरीरद्रव्येन्द्रः अयमत्र भावार्थो भाविनीं वृत्तिमङ्गीकृत्येन्द्रोपयोगाधारत्वान्मधुघटादिन्यायेनैव तद्बालादिशरीरं भव्यशरीरद्रव्येन्द्र इति नो शब्दः पूर्ववत् । उक्तञ्च मङ्गलमधिकृत्य "मंगलपयत्थजाणय, देहो भव्वस्स वा स जीवो त्ति । नो आगमओ दव्वं, आगमरहिओत्ति जं भणियंति" ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्त द्रव्येन्द्रो भावेन्द्रकार्येष्वव्यापृत आगमतोऽनुपयुक्तद्रव्येन्द्रवत् । तथा यच्छरीरमात्मद्रव्यं वातीतभावेन्द्रपरिणामं तदुभयातिरिक्तद्रव्येन्द्रो ज्ञशरीरद्रव्येन्द्रवत् । तथा यो भावेन्द्रपर्यायशरीरयोग्यः पुद्गलराशिर्यश्च भावीन्द्रपर्यायमात्मद्रव्यं तदप्युभयातिरिक्तो द्रव्येन्द्रः भव्य शरीरद्रव्येन्द्रवत् । स चायमवस्थाभेदेन त्रिविधस्तद्यथा एकभविको बद्धायुष्कोऽभिमुखनामगोत्रश्चेति । तत्रैकस्मिन् भवे तस्मिन्नेवातिक्रान्ते भावी एकभविको योऽनन्तर एव भावेन्द्रतयोत्पत्स्यते इति स चोत्कर्षतस्त्रीणिपल्योपमानि भवन्ति देवकुर्वादिमिथुनकस्य भवनपत्यादीन्द्रतयोत्पत्तिसंभवादिति । तथा स एवेन्द्रायुर्बन्धानन्तरं बद्धमायुरनेनेति बद्धायुरुच्यते । स चोत्कर्षतः पूर्वकोटित्रिभागं यावद्भवत्यस्मात्परतः आयुष्कबन्धाभावात् । तथा अभिमुखे सम्मुखे जघन्योत्कर्षाभ्यां समयान्तर्मुहूर्तानन्तर भावितया नामगोत्रे इन्द्रसम्बन्धिनी यस्य स तथा । तथा भावैश्वर्ययुक्ततीर्थकरादिभावेन्द्रापेक्षयाऽप्रधानत्वाच्छक्रादिरपि द्रव्येन्द्र एव द्रव्यशब्दस्याप्रधानार्थेऽपि प्रवृत्तेः ॥ स्था० ठा० ३ ॥

॥ द्रव्येन्द्रलक्षणमाह ।

दव्वं पुण तल्लद्धी, जस्सातीता भविस्सते वा वि ।
जीवो वि अणुवउत्तो, इंदस्स गुणे परिकहेइ ॥

द्रव्यं द्रव्यविषयः पुनरिन्द्रो यस्य तल्लब्धिरिन्द्रलब्धिरतीता भविष्यति स च प्रतिपत्तव्यः । किमुक्तं भवति । यस्सइन्द्रत्वमिन्द्रत्वं प्राप्तो यश्च प्राप्स्यति स यथाक्रमं भूतभावत्वाद्भाविभावत्वाच्च द्रव्येन्द्रः । उक्तं च । "भूतस्य भाविनो वा, भावस्य हि कारणं तु यल्लोके । तद्द्रव्यं तत्त्वज्ञैः, सचेतनाचेतनं कथितम्" यो वापि इन्द्रस्य गुणान् परस्मै परिकथयति परमनुपयुक्तः सोऽपि द्रव्येन्द्रः अनुपयोगो द्रव्यमिति वचनात् वृ० १ उ० ॥ उक्तो द्रव्येन्द्रः ॥

भावेन्द्रमाह ।

भावेन्द्रस्त्विह त्रिस्थानकानुरोधाल्लोकस्तल्लक्षणं चेदमभाषमिन्द्रनक्रियानुभवनलक्षणपरिणाममाश्रित्येन्द्रः इन्दनपरिणामेन भवतीति वा स चासाविन्द्रश्चेति भावेन्द्रो यदाह " भावो विवक्षितक्रिया-नुभूतियुक्तो हि वै समाख्यातः । सर्वज्ञैरिन्द्रादिव-दिहेन्दनादिक्रियानुभवात् ॥ १ ॥ सच द्विधा आगमतो नो आगमतश्च तत्रागमत इन्द्रज्ञानोपयुक्तो जीवो भावेन्द्रः कथ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मिहेन्द्रोपयोगमात्रात्तन्मयतावगम्यते । नह्यग्निज्ञानोपयुक्तो माणवकोऽग्निरेव दहनपचनप्रकाशनाद्यर्थक्रियाप्रसाधकत्वाभावादिति चेन्नाभिप्रायापरिज्ञानात् । संविद्ज्ञानमवगमो भाव इत्यनर्थान्तरं । तत्रार्थाभिधानप्रत्ययास्तुल्यनामधेया इति सर्ववादिनामविसंवादस्थानं यथा कोऽयंघटः किमयमाह घटशब्दं किमस्य ज्ञानं घट इति अग्निरिति च यज्ज्ञानं तदव्यतिरिक्तो ज्ञाता तल्लक्षणो गृह्यते । अन्यथा तज्ज्ञानेसत्यपि नोपलभ्येताऽतन्मयत्वात् प्रदीपहस्तान्धवत् पुरुषान्तरवद्वा । नचानाकारं तत्पदार्थान्तरवच्छिन्नविवक्षितं पदार्थापरिच्छेदप्रसंगात् बन्धाद्यभावश्च ज्ञानाऽज्ञानसुखदुःखपरिणामान्यत्वादाकाशवच्चानलः सर्वत्र दहनाद्यर्थक्रियाप्रसाधको भस्मकव्याग्निना व्यभिचारादिति कृतं प्रसंगेन । नो आगमतो भावेन्द्र इन्द्रनामगोत्रे कर्मणि वेदयन् परमैश्वर्यभाजनं सर्वनिषेधवचनत्वान्नोशब्दस्य यतस्तत्र नेन्द्रपदार्थज्ञानमिन्द्रव्यपदेशनिबन्धनतया विवक्षितमिन्दनक्रियाया एव च विवक्षितत्वात् । अथवा तथाविधज्ञानक्रियारूपो यः परिणामः स नागम एव केवलो न चानागम इत्यतो मिश्रवचनत्वान्नोशब्दस्य नो आगमत इत्याख्यायत इति । ननु नामस्थापनाद्रव्येष्विन्द्राभिधानं विवक्षितभावशून्यत्वात् द्रव्यत्वं च समानं वर्तते अतश्च क एषां विशेषः आहच " अभिहाणं दव्वत्तं, तदत्थसुत्तत्तणं च तुल्लाइं । को भाववज्जियाणं नामाईणं पइविसेसोत्ति " ॥ १ ॥ अत्रोच्यते यथा हि स्थापनेन्द्रः खलु इन्द्राकारो लक्ष्यते तथा कर्तुः सद्भूतेन्द्राभिप्रायो भवति तथा दृष्टुस्तदाकारदर्शनादिन्द्रप्रत्ययस्तथा प्रणतिकृतधियश्च फलार्थिनः स्तोतुं प्रवर्तन्ते, फलं च प्राप्नुवन्ति । केचिद्देवतानुग्रहाच्च तथा नामद्रव्येन्द्रयोरिति तस्मात्स्थापनायास्तावदित्थं भेद इति । आह च " आगारानिप्पाओ,बुद्धिकिरिया फलं च पायए । जह दीसइ ठवणिन्दे, न तहा नामिन्द दव्विन्दे त्ति,, । यथा च द्रव्येन्द्रो भावेन्द्रकारणतां प्रतिपद्यते तथोपयोगापेक्षायामपि तदुपयोगतामादधात्यनुपयुक्ताश्च न तथा नामस्थापनेन्द्रावित्ययं विशेष इति । आह च " भावस्स कारणं जह, दव्वं भावो य तस्स पज्जाओ । उवओगपरिणमइओ, न तहा नामं न वा ठवणंत्ति " ॥ स्था० ३ ठा० ॥

अत्र पर आह ॥

न हि जो घडं वियाणइ, सो उ घडी भवइ नो य वा अग्गी॥
नाणात्तिय भावोत्ति य, एगट्ठमतो अदोसोत्ति ॥ १ ॥

न हि यो घटं विजानाति स घटी भवति यस्य चा-ग्निविज्ञानं सोऽग्निः प्रत्यक्षे विरोधात् ततो यदुक्तमिन्दस्स चाहिगारं विजाणमाणो तदुवउत्तो इति, तन्मिथ्या । अत्र सूरिराह । ज्ञानमिति भाव इति वा च शब्दाद्व्यवसाय इति उपयोग इति वा एकार्थमतोऽदोषः । इयमत्र भावना । अर्थाभिधानप्रत्ययास्तुल्यनामधेयास्तथाहि घटोऽपि बाह्यो घट इत्युच्यते घटशब्दोऽपि घट इति घटज्ञानमपि घट इति । ज्ञानं च ज्ञानिनोऽपृथक् घटज्ञान्यपि घट इत्युच्यते अग्निज्ञान्यपि अग्निरित्यदोषः ॥

एतदेव भावयति ॥

जमिदं नाणं इन्दो, तव्वतिरित्तेति तनो य तब्भावं ॥
तम्हा खलु तब्भावं, वयंति जो जस्स उवउत्तो ॥ १ ॥

यदिदमिन्द्र इति ज्ञानं तस्मात्तज्ज्ञानी इन्द्रज्ञानी व्यतिरिच्यते तस्माद्यो यत्रेन्द्रादावुपयुक्तः तस्य तद्भावमिन्द्रादिभावं तत्त्वविदस्सूरयो वदन्ति । ज्ञानज्ञानिनोरभेद एव कथं सिद्ध इति चेदुच्यते विपक्षेऽनेकदोषप्रसंगात् ॥

तमेवाह ॥

चेयणस्स उ जीवा, जीवस्स उ चेयणा उ अन्नत्ति ।
दुविहं अलक्खणं खलु,हाविज्ज न य बन्धमोक्खाउ ॥

चैतन्यस्य जीवा जीवस्य चेतनाया अन्यत्वे द्वयं जीवद्रव्यमलक्षणं चेतनालक्षणो जीव इति लक्षणरहितं भवेत् । चेतनाया घटादिवज्जीवादप्येकान्तव्यतिरिक्तत्वाल्लक्ष्याभावे च लक्ष्यस्याऽप्यभाव इति खरश्रृंगवदत्यन्तमसन् जीवोऽप्यत्यन्तमसन् स न बध्यते बन्धस्य वस्तुधर्मत्वान्नापि मुच्यते बन्धाभावादिति बन्धमोक्षावपि न स्यातामथ मन्येथा अचेतनोऽपि संबध्यते मुच्यते चेति तदप्ययुक्तमचेतनानामप्येवंधर्मास्तिकायादीनां बन्धमोक्षप्रसक्तेस्तस्मात्साधूक्तमिन्द्रशब्दार्थं जानन् तदुपयुक्तोभावेन्द्र इति । वृ० १ उ० ॥ उक्ता नामस्थापनाद्रव्येन्द्राः ।

इदानीं भावेन्द्रं त्रिस्थानकावतारेणाह ।

तओ इंदा पन्नत्ता तंजहा णाणिन्दे दंसणिंदे चरित्तेन्दे ।

(तओइंदेत्यादि-) कंठ्यं नवरं ज्ञानेन ज्ञानस्य ज्ञाने वा इन्द्रः परमेश्वरो ज्ञानेन्द्रोऽतिशयवत् श्रुता द्यन्यतरज्ञानवशाद्विवेचितवस्तुविशारदः केवली वा एवं दर्शनेन्द्रः क्षायिकसम्यग्दर्शनी चारित्रेन्द्रो यथाख्यातचारित्रः एतेषां च भावेन सकलभावप्रधानक्षायिकलक्षणेन विवक्षितक्षायोपशमिकलक्षणेन वा भावतः परमार्थतो वेन्द्रत्वात् सकलसंसार्यप्राप्तपूर्वगुणलक्ष्मीलक्षणपरमैश्वर्ययुक्तत्वात् भावेन्द्रतावसेयेति ।

भावेन्द्रलक्षणमाह ।

जो पुण जहत्थ जुत्तो, सुद्धणयाणं तु एस भाविन्दो ।
इन्दस्स व अहिगारं, वियाणमाणो तदुवउत्तो ॥१॥

यः पुनर्यथार्थेन यथावस्थितेन अर्थेन परमैश्वर्यलक्षणेन इदि परमैश्वर्ये इति वचनात् साक्षादिन्द्रनामगोत्राणि कर्माणि वेदयमान इत्यर्थः स भावेन्द्रः । एष शुद्धनयानां शब्दादीनां यथावस्थितार्थग्राहकाणां वर्तमानविषयिकाणां संमतो न शेषाणामिन्द्रादिः । अथवा इन्द्रस्य इन्द्रशब्दस्याधिकारमर्थं जानन् तदुपयुक्तस्तस्मिन्निन्द्रशब्दार्थे उपयुक्तो भावेन्द्रः उपयोगो भावनिक्षेप इति वचनात् ॥ उक्तमाध्यात्मिकैश्वर्यापेक्षया भावेन्द्रत्रैविध्यम् ।

अथवा ह्यैश्वर्यापेक्षया तदेवाह ।

तओ इन्दा पन्नत्ता तं जहा-देविंदे असुरिंदे मणुस्सिंदे ।

तओ इंदेत्यादि भवितार्थनवरं देवा वैमानिका ज्योतिष्कवैमानिका वा रूढेः । असुरा भवनपतिविशेषा भवनपतिव्यन्तरा वा सुरपर्युदासात् मनुजेन्द्रश्चक्रवर्त्यादिरिति ॥ स्था० ३ ठा० ॥

तेचेन्द्रा स्थानाङ्गे चतुःषष्टिर्दर्शितास्तत्र देवेन्द्रा यथा ।

दो असुरकुमारिंदा पन्नत्तातंजहा चमरे चेव बली चेव । दो नागकुमारिंदा पन्नत्ता तंजहा धरणे चेव भूयाणंदे चेव । दो सुवण्णकुमारिंदा पन्नत्ता तंजहा वेणुदेवे चेव वेणुदाली चेव । दो विज्जुकुमारिंदा पं० तं० हरिचेव हरिस्सहे चेव । दो अग्गिकुमारिंदा पं० तं० अग्गिसिहे चेव अग्गिमाणवे चेव । दो दीवकुमारिंदा पं० तं० पुन्ने चेव वसि-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ड्डे चेव । दो उदधिकुमारिंदा पं० तं० जलकंते चेव जल्लप्पभे चेव । दो दिसाकुमारिंदा पं० तं० अमियगई चेव अमियवाहणे चेव । दो वाउकुमारिंदा पं० तं० वेलंबे चेव पभंजणे चेव । दो थणियकुमारिंदा पं० तं० घोसे चेव महाघोसे चेव ।

(दोअसुरेत्यादि) अच्चुयत्तेवेत्येतदन्तं सूत्रं सुगमम् । नवरं असुरादीनां दशानां भवनपतिनिकायानां मेर्वपेक्षया दक्षिणोत्तरदिग्द्वयाश्रितत्वेन द्विविधत्वाद्विंशतिरिन्द्रास्तत्र चमरो दाक्षिणात्यो बली त्वौदीच्य इत्येवं सर्वत्र स्था० ॥ २ ठा० ॥

एतेषां सङ्ग्रहो यथा ॥

"चमरे १ धरणे २ तह वेणुदेव ३ हरिकंत ४ अग्गिसीहे य ५ । पुन्ने ६ जलकंते वि य, ७ अमिय ८ विलंबे य ९ घोसेय"॥ १० ॥ एते दक्षिणनिकायेन्द्रा इतरे तु " बलि १ भूयाणंदे २ वेणुदालि ३ हरिस्सहे ४ अग्गिमाणव ५ वसिट्ठे ६ जलप्पभे ७ अमियवाहणे ८ पहंजणे ९ महाघोसे " ॥ प्र० टी. । ३ श० १ उ० ।

व्यन्तरेन्द्रा यथा ।

दो पिसायइंदा पं० तं० काले चेव महाकाले चेव । दो भूयइंदा पं० तं० सुरूवे चेव पडिरूवे चेव । दो जक्खिंदा पं० तं० पुन्नभद्दे चेव माणिभद्दे चेव । दो रक्खसिंदा पं० तं० भीमे चेव महाभीमे चेव । दो किन्नरिंदा पं० तं० किन्नरे चेव किंपुरिसे चेव । दो किंपुरिसिंदा पं० तं० सप्पुरिसे चेव महापुरिसे चेव । दो महोरगिंदा पं० तं० अइकाये चेव महाकाये चेव । दो गंधव्विंदा पं० तं० । गीयरई चेव गीयजसे चेव । स्था० ॥

एवं व्यन्तराणामष्टनिकायानां द्विगुणत्वात् षोडशेन्द्राः । स्था० । २ ठा० ॥ एतेषु च प्रतिनिकायं दक्षिणोत्तरभेदेन द्वौ द्वाविन्द्रौ स्याताम् ।

अणपन्निकायादीनां व्यंतरविशेष वाणव्यन्तरनिकायानामिन्द्रा यथा ।

दो अणपन्निंदा पं० तं० संनिहिए चेव समाणेचेव । दोपणपन्निंदा पं० तं० धाए चेव विधाये चेव । दो इसिवाइंदा पं० तं० इसिचेव इसिवाले चेव । दो भूयवाइंदा पं० तं० ईसरे चेव महेसरे चेव । दो कंदिंदा पं० तं० सुवच्छे चेव विसाले चेव दो महाकंदिंदा पं० तं० हासे चेव हासरई चेव । दो कुंभइंदा पं० तं० सेए चेव महासेए चेव ॥ दो पयगिंदा पं० तं० पए चेव पयगवई चेव ॥

अणपन्निकायादीनामल्पर्द्धिकानामेवव्यंतरविशेषनिकायानांद्विगुणत्वात् षोडशेति । स्था० २ ठा० ॥

ज्योतिष्कदेवानामिन्द्रा यथा ॥

जोइसियाणं देवाणं दो इंदा पं० तं० चंदे चेव सूरे चेव ॥

ज्योतिष्काणां त्वसंख्यातचन्द्र सूर्यत्वे ऽपि जातिमात्राश्रयणाद्द्वावेव चन्द्रसूर्याख्याविन्द्रावुक्तौ ॥ स्था० २ ठा० ॥

सौधर्मादिकल्पेन्द्रा यथा ॥

सोहम्मीसाणेसु णं कप्पेसु दो इंदा पं० तं० सक्के चेव ईसाणे चेव एवं सणंकुमारमाहिंदेसु कप्पेसु दो इंदा पं० तं० सणंकुमारे चेव माहिंदे चेव । बंभलोए य लंतगे दो इंदा पं० तं० बंभे चेव लंतए चेव महासुक्क सहस्सारेसु णं कप्पेसु दो इंदा पं० तं० महासुक्के चेव सहस्सारे चेव आणय-पाणया-रण-च्चुतेसु णं कप्पेसु दो इंदा पं० तं० पाणए चेव अच्चुए चेव ॥

सौधर्मादि कल्पानान्तु दशेन्द्राः स्था० २ ठा० ॥ अंतिम देवलोक चतुष्टय इन्द्रद्वय सद्भावादिति प्र० ३ श० १ उ० ॥ इत्येवं सर्वेऽपिचतुः षष्ठिरिति 'देवेन्द्रस्तव'प्रकीर्णके च सर्वे इन्द्रा गाथया प्रदर्शिता स्तद्यथा ॥

बत्तीसा देविंदा, जस्स गुणेहिं उवहम्मिया अयं ।
नो तस्स वि य च्छेयं, पायच्छायं नु वेहामो ॥ ६ ॥
बत्तीसं देविंदत्ति, जणियमित्तं निसापि यं जणइ ।
अंतरजासं ताहे, को होमा को वहहोणं ॥ ७ ॥
कयरे ते बत्तीसं, देविंदा को व कत्थ परिवसइ ।
केवइया कस्स ठिई, को भवणपरिग्गहो तस्स ॥ ८ ॥
केवइया च विमाणा, भवणा नगरा च हुंति केवइया ।
पुढवीण य बाहुल्लं, उच्चत्तविमाणवन्नो वा ॥ ९ ॥
कारंति व कालेण, उक्कोसं मज्झिमजहन्नं ।
उस्सासो निस्सासो, ओही विसओ व को केसिं ॥ १० ॥
विणय उवयार उवहंसि,या इहा स व समुच्चहंतीए ।
पडिपुच्छि उ पियाए, जणसु अणु तं निसामेह ॥ ११ ॥
सुअणाणसागराओ,सुविणं उ पडिपुच्छणाइ यं लद्धं ।
पुण वागरणावलिअं, नामा वलियाइ इंदाणं ॥ १२ ॥
सुणु वागरणावलिअं, रयणं वयणं सियं च वीरेहिं ।
तारावलिव्व धवलं, हियएण पसन्नचित्तेणं ॥ १३ ॥
रयणप्पभाइ कुम निकुम, वासीसु तणु तेजलेसागा ।
वीसं विकसियणयणा, भवणवई मे निसामेह ॥ १४ ॥
दो भवणवई इंदा, चमरे वइरोअण असुराणं ।
दो नाग कुमारिंदा, भूयाणंदे य धरणे य ॥ १५ ॥
दो सुयणु सुवण्णिंदा, वेणुदेवेय वेणुदालिंदा ।
दो दीवकुमारिंदा, पुन्ने य तहा वसिट्ठे य ॥ १६ ॥
दो उदहिकुमारिंदा, जलकंते जलप्पभे य नामेणं ।
अमियगइ अमियवाहण, दिसाकुमाराण दो इंदा ॥ १७ ॥
दो वा उ कुमारिंदा, वेलंब पभंजणा य नामेणं ।
दो थणिय कुमारिंदा, घोसे य तहा महाघोसे ॥ १८ ॥
दो विज्जुकुमारिंदा, हरिकंत हरिस्सहे य नामेणं ।
अग्गिसिह अग्गिमाणव, हूयासणवइ वि दो इंदा ॥ १९ ॥
एए विकसियनयणे दस, दिसीविय सिय जसा मए कहिया ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुण वाणमंतराणं जवणवई आणुपुव्वीए ॥ ६७ ॥
पिसाय जूअ जक्खा य, रक्खसा किन्नरा य किंपुरिसा ।
महोरगा य गंधव्वा, अट्ठविहा वाणमंतरा ॥ ६८ ॥
एए हुंति समासेणं, कहिया जे वाणमंतरा देवा ।
पत्तेयं पियनुच्छं सोलस इंदे महिड्ढिए ॥ ६९ ॥
काले य महाकाले, सुरूव पडिरूव पुन्न जद्देय ।
अमरवई माणजद्दे, जीमे य तहा महाजीमे ॥ ७० ॥
किन्नर किंपुरिसे खलु, सप्पुरिसे खलु तहा महापुरिसे ।
अईकाय महाकाए, गीयरई चेव गीयजसे ॥ ७१ ॥
सन्निहि ए सामाणे, धाए विधाये इसीय इसिवाए ।
इस्सर महिस्सरेया हवइ सुवत्थे विसालेय ॥ ७२ ॥
हासे हासरई वि अ सेए अ तहा जवे महासेए ।
पयए पययवई, वि य नेयव्वा आणुपुव्विए ॥ ७३ ॥
अप्पड्ढिया उ तारा, नक्खत्ता खलु तओ महड्ढिए ।
नक्खत्ते हिं तु गहा गहेहिं सूरा तउ चंदा ॥ ७६ ॥
कप्पवई विय वुच्छं, बारस इंदे महिड्ढिए ॥ ६४ ॥
पढमो सोहम्मवई, ईसाणवइए सवाभिओ बीओ ।
तत्तो सणंकुमारो, हवइ चउत्थोउ माहिंदो ॥ ६५ ॥
पंचमए बंभिंदो, छट्ठो पुण लंत उन्नुदेविंदो ।
सत्तम ओ महसुक्को, अट्ठमउ जवे सहस्सारो ॥ ६६ ॥
नवमो अ आणतिंदो, दसमो पुणपाणतेंददे विंदो ।
आरण इकारसमो, बारसमो अच्चुए इंदो ॥ ६७ ॥
एए बारस इंदा, कप्पवई कप्पसामिया जाणिया ॥
आणाईसरियं, वा तेण परं नत्थि देवाणं ॥६८॥ दे० प०

इन्द्राणां भवनस्थित्यादिवक्तव्यता तत्तच्छब्दे ॥
अनीकानि तदधिपतयश्चाऽणीक शब्दे ॥
अग्रमहिष्यो ऽग्गमहिसी शब्दे ॥
उत्पातपर्वता उप्पायपव्वय शब्दे कल्पेन्द्रा कप्प शब्देऽपि ॥
परिषदः परिसइ–शब्दे विमानानि विमाण शब्दे ॥
लोकपाला लोकपाल शब्दे ॥
सामानिकाः सामाणिय शब्दे ॥

इन्द्राणामेकाऽवतारित्वानेकावतारित्वादि-प्रश्नोत्तरमुखेन प्रतिपादितं यथा । सम्प्रति ये इन्द्राः संति ते सर्व्वेऽप्येकातवारिणो नवति प्रश्नः । संप्रति ये इन्द्राः संति तेषां मध्ये केचनैकावतारिणो न सर्वे इत्युत्तरमिति । ही० र० । इन्द्रायतने, च

इंदस्स वा जावकोट्टकिरियाए वा उवलेवण संमज्जण आवरिसणए धूवपुप्फगंधमल्लादिआइं दव्वावसयाइं करेंति ॥

अत्रोपचारादिन्द्रादिशब्देन तदायतनमप्युच्यत इति–अनु० टी० इन्द्र देवताके ज्येष्ठा नक्षत्रे, अधिष्ठातरि अधिष्ठेयस्योपचारात् । जं ७ व० । स्था० २ ठा. । अनु. । जेठा इंददेवयाए । इति ज्यो०, । विष्कुम्भादिषु योगेषु षड्विंशो योगे, वाच० ॥
कृष्णस्य शुक्लस्य च पक्षस्य पञ्चदशदिवसेषु स्वनामख्याते सप्तमे दिवसे, कल्प० । सूर० । जी० । पुरस्थे स्वनामख्याते श्रेष्ठिदारके, (तत्कथा सामाइय शब्दे) अष्टव्याकरणान्तर्गते व्याकरण विशेषे, आव. ४ अ. ॥ कुटजवृक्षे राज्ञी, च धरणिः । भारतवर्षीय द्वीपभेदे, शब्द मा० । इंदो ग्रंथ प्रसिद्धे, षण्मात्रा प्रस्तारे, आद्यन्तगुरुत्वेन लघुद्वयमध्येन युते चतुर्थे भेदे, इन्द्रवारुणयाम् स्त्री० टाप् ॥ वाच० ॥
ऐन्द्र–त्रि० इन्द्रस्येदम् इन्द्रसम्बन्धिनि, (ऐन्द्रं धाम हृदि स्मृत्वा) ऐन्द्र मिति । इदिपरमैश्वर्य्ये इति धात्वनुसारादिन्द्र आत्मा तस्य सम्बन्धि ऐन्द्रं धामेति । नयो० ।

इंदकंत–इन्द्रकान्त– न० विमानविशेषे सम० १९ स० ॥

इंदका (गा) इय–इन्द्रकायिक– पुं० त्रीन्द्रियसंसारसमापन्नजीवविशेषे, प्रज्ञा० १ पद० । जी० । (बोधव्वा इंदगाईका) उत्त० ३६ अ० । कायिका इत्यपि कुन्थुवल्लोकप्रसिद्धा त्रीन्द्रियाः । उत्त० टी० ॥

इंदकील–इन्द्रकील–पुं० गोपुरावयवविशेषे । औप० । (गोमेज्जमयाइंदकीला) संपाटितकपाटद्वयाधारभूतः प्रवेशमध्यभाग इति । राज० । गोपुरकपाटयुगसंनिवेशस्थानमिति । जं० ३ ब० २ व० । जं० । इन्द्रस्य कील इव अत्युच्चत्वात् मन्दरपर्वते इन्द्रस्य कील इव इन्द्रध्वजे । न० । वाच० ॥

इंदकुंजर–इन्द्रकुञ्जर– पुं० ६ त० ऐरावते, तस्यामृतमन्थनकाले इन्द्रेण गृहीतत्वात् तथात्वम् यथाह "श्वेतैर्दन्तैश्चतुर्भिस्तु, महाकायस्ततः परम् । ऐरावतो महानागोऽभवद्वज्रभृता धृतः ॥ आ०आ० । इन्द्रगजशक्रगजादयोऽप्यत्र० । वाच० ॥

इंदकुंभ–इन्द्रकुम्भ–पुं० कुम्भानामिन्द्रः इन्द्रकुम्भो राजदन्तादित्वादिन्द्रशब्दस्य पूर्वनिपातः । महाकलशे, राज० । महिंदकुंभसमाणा) कुम्भाना मिन्द्र इन्द्रकुभो महाँश्चासाविन्द्रकुंभश्च तस्य समाना महेन्द्रकुंभसमाना महाकलशप्रमाणा इति जं० १प्र० । जी० । राज० । वीतशोकाया राजधान्या उत्तर पूर्व दिग्भागस्थिते उद्याने, (वीसोए वीयसोगाए रायहाणीए उत्तर पुरच्छिमे दिसीभाए इंदकुंभणामं उज्जाणे इति, ज्ञा० ८ अ. । नेमिजिनस्य प्रथम शिष्ये, च । सम० २४ स. ।

इंदकुमारिया–इन्द्रकुमारिका–स्त्री. स्वनाम ख्यातायां योषिति । आ. म १ अ. ।

इंदकेउ–इन्द्रकेतु–पुं० इन्द्रयष्टयाम, प्रश्न० ४ द्वा० (सोइंदकेऊंपासेसि लोकेण महिज्जंतं) इति आ० चू० ॥

इंदगोवग–इन्द्रगोपक–पुं०इन्द्रं गोपायतीति । नि० चू० । गोपो रक्षकोऽस्य वर्षाभवत्वादस्य । वाच० । प्रथमप्रावृट्कालभाविनि कीटविशेषे, स हि प्रवृद्धः सन्नीषत्पाएडुरक्तो भवतीति । राज. । आ–म–प्र० । प्रज्ञा० । ज्ञा. । आचा० । जी. (इंदगोवगसमप्पभेसु ॥) इन्द्रगोपको वर्षासु कीटकविशेषस्तेन च समा प्रभा येषां ते तथा तेषु रक्तेष्वित्यर्थः । ज्ञा. । अयञ्च विकलेन्द्रियजीवविशेष इति–अनु. । स च संसारसमापन्नत्रीन्द्रियजीवविशेष इति–प्रज्ञा० पद. १ । जी. । (इंदगोवमाइया णेगहा एवमाइओ) इन्द्रगोपादिकाः इन्द्रगोपको (ममोला) इति प्रसिद्ध एवमादिकास्त्रीन्द्रिया अनेकधा जीवा इति. उत्त ३ अ. ।
चउरिंदिय इंदगोवादि । नि० चू० १ अ० ।

इंदग्गह–इन्द्रग्रह–पुं० ग्रहविशेषे । जी० ३ प्र. ।

इंदग्गि–इन्द्राग्नि–पुं० द्वि० व० इन्द्रश्चाग्निश्च देवताद्वन्द्व० । शक्राग्न्योर्मिलितयोर्देवतयोः । वाच० । विशाखानक्षत्राधिष्ठातरि

देवे, अनु० । "दो इंदग्गी" अष्टाशीतिमहाग्रहान्तर्गते सप्तर्षिंशत्तमे महाग्रहे च । स्था० २ ठा० । विसाहा इंदग्गिदेवयाए इति । ज्यो० । तदधिष्ठातृके विशाखानक्षत्रे च । अधिष्ठातर्यधिष्ठ यस्योपचारादिति । जं० ७ वक्ष० । कल्प० ।

इंदचंदण-इन्द्रचन्दन-न०-इन्द्रप्रियं चन्दनम् शा० त० हरिचन्दने, वाच० ।

इंदचिब्भिडी-इन्द्रचिर्भिटी-स्त्री०-इन्द्रस्यात्मनः प्रिया चिर्भिटी शा०त० लताभेदे, सा च इन्द्रतुल्यवर्णकुसुमा पुष्पान्वित मञ्जरीका दीर्घवृन्ता युग्मफलान्विता कट्वी शीतवीर्य्या पित्त श्लेष्मकासव्रणदोषकृमिनाशिनी चक्षुष्या च । राजनिघं० । वाच० ।

इंदजव-इन्द्रयव-न०-पु०-इन्द्रस्य कुटजवृक्षस्य यवाकृतिबीजत्वात् यव इव बीजम् । कुटजवृक्षस्य यवाकारे तिक्तरसे स्वनामख्याते बीजे, "ऐन्द्रो यवस्त्रिदोषघ्नः, संग्राही कटुशीतलः । ज्वरातिसाररक्तार्शः-कृमिवीसर्पकुष्ठनुत् ॥ दीपनो गुदकीलास्रवातास्रश्लेष्मशूलजित् । भाव० प्र० । वाच० ।

इंदजसा-इन्द्रयशस्-स्त्री०-पाञ्चालदेशस्थकाम्पिल्यनगरस्य ब्रह्मनामकराज्ञो भार्यायाम्, तस्य च चतस्रो भार्याः । "इंदवसु १ इंदजसा २ इंदसिरी ३ चुलणीदेवी ४ य" । उत्त. १३ अ० ॥

इंदजाल-इन्द्रजाल-न०-द्वासप्ततिकलान्तर्गते कलाविशेषे, कल्प. । इन्द्रेण कौशल्यादैश्वर्येण जालं कुहुकैरावरणं यथास्थितवस्तुदर्शनाक्षमत्वसाधनात् । इन्द्रस्य परमेश्वरस्य जालं मायेव वा मन्त्रौषधादिना अन्यथास्थितस्य वस्तुनोऽन्यथात्वेन दर्शनसाधने (कुहक) (बाजी) १ पदार्थे, २ मायारूपे जाले च । इन्द्रेण इन्द्रकृतेन योगविशेषेण जालं कुहोपायभेदे च । इन्द्रजालं च द्रव्यविशेषसंयोगेन अद्भुतवस्तुदर्शकव्यापारः (क्यामेष्टरि) इति भारतभाषाप्रसिद्धः । मन्त्रद्रव्य विशेषेण वस्तुनोऽन्यथाकरणञ्च । वाच० ।

इंदजालि (न्) इन्द्रजालिन्- त्रि०-खेचरत्वादिस्वपरहासोत्पादके विस्मापके, स्था० ४ ठा० ॥

इंदजालिय-इन्द्रजालिक-त्रि०-इन्द्रजालं शिल्पतयास्त्यस्य ठन् । इन्द्रजालकारके, । इन्द्रजालिकीत्यप्यत्र स्त्रियां ङीप् वाच० । आ० म० । विशे० ।

इंदज्झय-इन्द्रध्वज-पु०-इन्द्रत्वसूचको वा ध्वज इन्द्रध्वज इति । अतिमहति ध्वजे, । प्रव० ४० द्वा० ॥

"आगासगओ कुडिभी सहस्स परिमंडियाभिरामो इंदज्झओ पुरओ गच्छइ" ॥

(आगासगओत्ति) आकाशगतोऽत्यर्थं तुङ्गमित्यर्थः (कुडिभित्ति) लघुपताकाः संजायन्ते । तासहस्त्रैः परिमण्डितश्चासावभिरामश्चातिरमणीय इति विग्रहः । (इंदज्झओत्ति) शेषध्वजापेक्षयातिमहत्वात् इन्द्रश्चासौ ध्वजश्च इन्द्रध्वज इति । (पुरओत्ति) जिनस्याग्रतो गच्छतीति द्वात्रिंशत्तमोऽतिशयः । सम० ३४ स० ॥

इंदज्झया-इन्द्रध्वजा-स्त्री०-इन्द्रसम्बन्धिन्यां तत्संतोषाय स्थापितायां ध्वजायाम्, वाच० । तदुत्पत्तिरावश्यकचूर्णौ भरतकथामधिकृत्योक्ता यथा—

ताहे सो सक्कं भणति भुञ्जेहिं केरिसेण रूवेण तत्थ अत्थ हाति ताहे सक्को भणति ण सक्का तं माणुसेणं दट्ठुं । ताहे सो भणति । तस्स आकितिं पेच्छामि । ताहे सक्को भणति जेण तुमं उत्तमपुरिसो तेण ते अहं दामि एग पदेसं ताहे एगं अंगुलिं सव्वालंकारविभूसितं काऊण दाएति सो तं दट्ठूणं अतीव हरिसं गतो । ताहे तस्स अट्ठाहियं महिमं करेति ताए अंगुलीए आकितिं काऊण पच्छा स इंदज्झया एवं वरिसे वरिसे इंदमहो पवत्तो । पढम उस्सवो भरहो भणति तुमं सि देविंदो अहं मणुस्सिंदो मित्तामो एवं होजात्ति । आ. चू २० अ. ॥

इंदट्ठाण-इन्द्रस्थान-न०-भवननगरविमानरूपे चमरादिसम्बन्ध्याश्रये, स्था० ६ ठा० ॥ तत्रेन्द्रोपपातविरहितकालो यथा—

इंदट्ठाणे णं भंते ! केवतियं कालं विरहिते उववाते णं पन्नते ? गो० ! जहन्नेणं एकं समयं उक्कोसेणं छम्मासा

(इंदट्ठाणेणमित्यादि) इन्द्रस्थानं भदन्त ! कियन्तं कालमुपपातेन विरहितं प्रज्ञप्तम् ! भगवानाह गौतम ! जघन्येनैकं समयं यावत् उत्कर्षतः षण्मासान् । जी० ३ प्र० ॥ भ० ॥

स्थानाङ्गेऽपि ।

एगमेगे णं इंदट्ठाणे उक्कोसेणं छम्मासे विरहिए उववाएणं

(एगेत्यादि) एकैकमिन्द्रस्थानं चमरादिसम्बन्ध्याश्रयो भवननगरविमानरूपमुत्कर्षेण षण्मासान् यावद्विरहितमुपपाते नेन्द्रापेक्षयेति । स्था. ६ ठा. ॥ इन्द्रोपपातविरहिते इन्द्रस्थाने किं भवतीति जीवाभिगमे प्रतिपादितम् । तद्यथा—

तेसिं णं भंते ! जया देवाणं इंदे चयति से कहमिदाणीं पकरेंति ? गो० ! चत्तारि पंच सामाणिया तट्ठाणं उवसंपज्जित्ताणं विहरंति जाव तत्थ अन्ने इंदे उववन्ने भवति ॥

पुनः प्रश्नयति (तेसिणं भंते इत्यादि) तेषां भदन्त ! ज्योतिष्कदेवानां यदा इन्द्रश्च्यवते तदा ते देवा इदानीं इन्द्रविरह काले कथं प्रकुर्वन्ति । भगवानाह । गौतम ! यावच्चत्वारः पंच वा सामानिका देवाः समुदितीभूय तत्स्थानमुपसंपद्य विहरंति तदिन्द्रस्थानं परिपालयन्तीति वक्तव्यमाह यावदन्यस्तत्र इन्द्र उपपन्नो भवति । जी० ३ प्र० ॥

एवं बाह्यज्योतिष्कदेवेन्द्रस्थानेऽपि तथाच सूर्यप्रज्ञप्तौ ।

ता तेसिणं देवाणं जाव इंदे चयति से कथमिदाणिं पकरेंति ता चत्तारि पंच सामाणियदेवा तट्ठाणं उवसंपज्जित्ताणं विहरंति जाविंदा तत्थोववन्नगा इत्थं इंदे उववन्ने भवति ता इंदट्ठाणे केवतियं कालं विरहिते उववाते पन्नत्ते ता जहन्नेणं एकं समयं उक्कोसेणं छम्मासे ॥

(ता तेसिणंत्ति) ता इतिपूर्ववत् तेषां ज्योतिष्काणां देवानां यदा इन्द्रश्च्यवते तदा ते देवा इदानीं इन्द्रविरहकाले कथं प्रकुर्वन्ति भगवानाह ता इत्यादि पूर्ववत् चत्वारि पंच वा सामानिका देवाः समुदितीभूय तत्स्थानमिन्द्रमुपसम्पद्य विहरंति तदिन्द्रस्थानं परिपालयन्तीति वक्तव्यमाह । यावदिन्द्रः तत्रेन्द्र उपपन्नो भवति (ता इंद ट्ठाणेणत्ति) ता इति पूर्ववत् इन्द्रस्थानं कियन्तं कालमुपपातेन विरहितं प्रज्ञप्तं ? भगवानाह (ता इत्यादि) जघन्येन एकं समयं यावत् उत्कर्षेण षण्मासान् ॥ सूर्य० १७ पा. ॥ इन्द्राणां प्रत्येकं स्थानानि तत्तद्देवस्थाननिरूप

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

णावसरे (गण) शब्दे । इन्द्रयष्टिस्थापनाय कृते स्थाने च ॥

जेणेव इन्दट्ठाणे तेणेव उवागए ।

(इंदट्ठाणेत्ति) यत्रेन्द्रयष्टिरूर्ध्वी क्रियत इति। अन्त० ।

इंदणक्खत्त–इन्द्रनक्षत्र–न०–इन्द्रस्वामिकं नक्षत्रम् । ज्येष्ठानक्षत्रे, तस्य तत्स्वामिकत्वात्तथात्वम् । इन्द्रनामकं नक्षत्रम् । फाल्गुनीनक्षत्रे च । वाच० ।

इंदणाग–इन्द्रनाग– पु०–वसंतपुरस्थे स्वनामख्याते श्रेष्ठिकुमारे, तेन च बालतपसा सामायिकं लब्धमिति (सामाइय) शब्दे । आ० म० द्वि० ॥

इंदणील–इन्द्रनील–पु०–इन्द्र इव नीलः श्यामः। वाच० । खर वादरपृथिवीकायात्मके नीलरत्नविशेषरूपे मणिविशेषे, उत्त० सूत्र० १ श्रु० ३ अ० । राज० । जी० । प्रज्ञा० । कल्प० । औप० । (नीलम) इति ख्याते मरकतमणौ, तल्लक्षणमुक्तं रत्नपरीक्षायाम् । " क्षीरमध्ये क्षिपेन्नीलं क्षीरश्चेन्नीलतां व्रजेत् । इन्द्रनील इति ख्यातं सर्व्वरत्नोत्तमोत्तमम् " वाच० ।

इंदतोया–इन्द्रतोया–स्त्री० इन्द्रमैश्वर्यान्वितं तोयमस्याः, इन्द्रेण पूरितं तोयमस्या वा । गन्धमादनसमीपस्थे नदीभेदे ॥ इन्द्रतोयां समासाद्य गंधमादनसन्निधौ । भा. प० २४ वाच. ॥

इंददत्त–इन्द्रदत्त–पु० स्वनामख्यातेऽभिनंदनजिनस्य प्रथमभिक्षादातरि, सम० २४स०। आ.म. । वासुपूज्यजिनस्य पूर्वभवके पतन्नामधेये च। सम.२४स.॥ इन्द्रपुरनगरस्थे स्वनामख्याते नृपे, तत्कया मानुष्यदुर्लभत्वे । तितिक्षायाम् शीघ्रे च सम्भवाति आ. म. । आ. क. । आ. चू० । उत्त. । पं० व० । आव. । व्य. । विपा. । नि०चू. । इन्द्रपुरं नगरं इंददत्तो राया । इति । आ. चू.१अ०। इन्दपुरे इंददत्ते य । व्य. १ खं० ६ उ०।

इंदपुरइंददत्ते, बावीससुआ सुरिंददत्ते अ ।

महुराए जिअसत्तू सयंवरो निव्वुई एव ॥ ८० ॥

अस्य व्याख्या ॥ कथानकादवसेया । तच्चेदं । इंदपुरं नगरं इंददत्तो राया तस्स इट्ठाणं देवी से बावीसं पुत्ता अन्ने जणंति एगाए देवीए ते सव्वे रन्नो पाणसमा अन्ना एका धूया अमच्चस्स सा उं परिणय तेण दिट्ठा सा अन्नया कयाइ न्हाया स माणी अत्थइ ताहे रायाए दिट्ठा का एसा तेहिं जणियं तुज्झ देवी ताहे सो ताए समं एकं रत्तिपुत्तो वेला जं च रायाए उल्लवियं सच्चकारो तेण तं पत्तए लिहियं सो य सार वेइ नवन्हं मासाणं दारओ जाओ तस्स दासचेडाणि तद्दिवस जायाणि तं अग्गियओ पव्वयओ बहुलिया सागरग ताणि सह जायाणि तेण कलायरियस्स उवणीओ तेण लेहाइयाओ बावत्तरिकलाओ गहियाउ जाहे ताओ गाहेइ आयरिओ ताहे ताणि कट्टेति किं ठिय पुव्वपरिच्चएण ताणि रोडेंति सो वि ताणि न गणेइ गहियाओ कलाओ ते अन्ने गाहिज्जंति बावीसं पि कुमारा जस्स ते अप्पिज्जंति आयरियस्स तं पिट्टंति मत्थएहिं य हणंति अह उवज्झाओ ते पिट्टेइ अपढंते ताहे सहेंति माइमिस्सिगाणं ताहे ताओ जणंति । किं सुलभाणि पुत्तजम्माणि ताहे न सिक्खियाइ इय महुराय जितसत्तुराया तस्स सुया निव्वुइनाम कन्नगा सा अलंकियपसाउवणीया राया जणइ जो ते रोयइ सो ते भत्ता ताहे ताए नायं जो सूरो वीरो वक्कंता सा पुण रज्जं देज्जा ताहे सा तं बलवाहणं गहाय गया इंदपुरं नगरं रायसपुत्ता बहवे अहवा तूओ पयट्टिउ ताहे आवाहिया सव्वे रायाणो ताहे तेण रायाणएण सुयं अहासाए हट्ठतुट्ठा

उसियपडागं नगरं कयं रंगो कओ तत्थ चक्कं तत्थ एगंमि अक्खे अट्ठ चक्काणि तेसिं पुरउ धूया ठविया सा पुण पुच्छिमि विंधेयव्वा राया सन्नद्धो निग्गतो सहपुत्तेहिं ताहे सा कन्ना सव्वालंकारभूसियाए भंभिया से अत्थइ सो रंगो रायाणय ते पत्तेयदंरुजटभोयणा जारिसो दोवती ए ए तत्थ रन्नो जेट्ठपुत्तो सिरिमालीनामकुमारो भणिओ एस दारिया रज्जं च भोत्तव्वं सो वि तुट्ठो अहं नूणं अब्भहिंतो रातिहिं अब्भहिओ ताहे सो भणति विंदेहित्ति ताहे सो अकयकरणो तस्स समूहस्स मज्झे तं धणु घेत्तुं चेव न वातेइ किहविणेण गहियं तेण जंतो पव्वइत्तो वच्चउत्ति करुं मुंरुं तं भमं एवं कासहणा अरयंघो हीणं कासइ दो तिन्नि अन्नेसिं वाहिरेण चेवणिंति तेण वि अमच्चेण सो णत्तगो णत्ता विओ तद्दिवसमाणिओ तत्थ अत्थइ ताहे राया ओहयमणसंकप्पो करयलपल्लत्थमुहो अहो अयं लोयमज्झे पुत्तेहिं धरिसिओत्ति अत्थइ ताहे सो अमच्चो पुच्छइ किं तुज्झ देवाणुप्पिया ओहया जाव झायह ताहे सो भणइ एएहिं अप्पहाणो कओ ताहे भणइ अत्थि पुत्तो अन्नो वि तुब्भं कहिं सुरिंददत्तो नाम कुमारो तं सो वि ताव विन्नासेउ ताहे तं राया पुच्छइ कहं मम एरिसो पुत्तो ताहे ताणि सिट्ठाणि रहस्साणि ताहे राया तुट्ठो भणइ सेयं तवपुत्ता एते अट्ठचक्के भेत्तूण रज्जसोक्खं निव्वुत्तिदारियं पावित्तए ताहे सो कुमारो ठाणं आलीढं गाहऊण गेण्हइ धनु लक्खाभिमुहं सरं संधेइ ताणि तस्स रूवाणि ते य कुमारा सव्व ओरोडावेंति अन्ने यदोन्नि पुरिसा असिव्वग्गहत्थो ताहे सो एगा मं रन्नो उवज्झायस्स य करेइ सो वि से उवज्झाओ भयं दाएइ एए दोन्नि पुरिसा जइ फिडसि सीसं ते फिडइ तेसिं दोण्हवि पुरिसाणं तेण चत्तारि ते य बावीसं अगणेंतो ताणं अट्ठण्ह रहचक्काणं छिद्दाणि जाणिऊण एगम्मि छिद्दे नाऊण अप्फिडियाए दिट्ठिए तंमि लक्खत्तेण अन्नमियमणं आऊणमाणेण साधीतंया अच्छिंमि विद्धा तत्थ उक्कुट्ठसीहनायसाधुकारो दिन्नो एसा दव्वतितिक्खा एस चेव विनासा जावे वि उपसंहारो।जहा कुमारो तहा साहू, जहा ते चत्तारि तहा चत्तारि कसाया, जहा ते बावीसं कुमारा तहा बावीसं परीसहा, जहा ते रूवे मणुसा तहा रागदोसा,जहा पुत्तलिगा विंधेयव्वा तहा आराहणा,जहा निव्वुत्तिदारिया तहा सिद्धितितिक्खत्ति गयं ॥ आव० ४ अ० ।

" आसीदिन्द्रपुरं नाम, नगरं गुरुकं गुणैः ।
तत्राभवच्छ्रियामिन्द्र, इन्द्रदत्तो महीपतिः ॥ १ ॥
प्रीतिपात्रः कलत्राणां, तस्य द्वाविंशतिः सुताः ॥
बभूवुर्भूमिपालस्य, प्राणेभ्योऽप्यतिवल्लभाः ॥ २ ॥
अन्या भार्या भवत्तस्य, नृपस्यामात्यपुत्रिका ॥
सा च तेन परं दृष्टा, पाणिग्राहं प्रकुर्वता ॥ ३ ॥
अथान्यदा कदाचित्सा, ऋतौ स्नाता विलोकिता ॥
राज्ञा पृष्टाश्च पार्श्वस्था, यथैषा कस्य का च भोः ॥ ४ ॥
ते ऊचुर्देव देवी ते, ततो राजा तया सह ॥
रात्रिमेकामुवासाथ, तस्या गर्भोऽभवत्तदा ॥ ५ ॥
सा च पूर्वममात्येन, भणिताऽऽसीद्यदा तव ॥
गर्भो भूतो भवेद्भद्रे, तदा त्वं मे निवेदयेः ॥ ६ ॥
ततः सा गर्भसंभूतिं, राजसंवासवासरं ॥
मुहूर्तं राजजल्पं च पितुः सर्वं न्यवेदयत् ॥ ७ ॥
सत्यंकाराय तत्सर्वं, व्यलिखत्सोऽपि पत्रकं ॥
सम्यक् तां पालयामास, काले भ्आजनि दारकः ॥ ८ ॥
तद्दिने दासरूपाणि, ययुश्चत्वारि तद्गृहे ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अग्निकः पर्वतश्चाथ, बहुलीसागरस्तथा ॥ ९ ॥
सुरेन्द्रदत्त इत्येषा, राजसूनोः कृताभिधा ॥
कलासूरेरसौ पार्श्वे, कलाः काले गृहीतवान् ॥ १० ॥
गृह्णतश्च कलास्तस्य, चक्रिरे तानुपद्रवान् ॥
न चासौ नाविभक्तत्वान्नृपस्तत्सु व्यजीगणत् ॥ ११ ॥
ते च द्वाविंशतिः पुत्रा ग्राह्यमाणाः कलाः किल ॥
निघ्नन्तिस्म कलाचार्यं, गालीस्तस्य तथा ददुः ॥ १२ ॥
सूरिणा ताडितास्ते तु, स्वमातृभ्यो न्यवेदयन् ॥
तं च ताः कुपिताः शापै–श्चक्रुरुद्वेगभाजनम् ॥ १३ ॥
एवं ते यथुरज्ञाना, सूरिणा समुपेक्षिताः ॥
इतश्च मथुरानाथ, आसीत्पर्वतको नृपः ॥ १४ ॥
तत्सुता निर्वृतिर्नाम, यौवनोद्भेद सुन्दरा ॥
वरार्थं तेन सावाचि, भर्त्तारं वृणु वाञ्छितम् ॥ १५ ॥
सा पुनस्तमनुज्ञाप्य चचालेन्द्रपुरं प्रति ॥
राजपुत्रा यतस्तत्र भूयांसः सन्तिसद्गुणाः ॥ १६ ॥
ततः सेन्द्रपुरं प्राप-दाप्तलोकसमन्विता ॥
तुष्टेन चेन्द्रदत्तेन राज्ञाऽकारि पुरे महः ॥ १७ ॥
निर्वृत्या भणितं राज्ञो, राधावेधं करिष्यति ॥
यः कुमारः स मे भर्ता भविष्यत्यपरो न तु ॥ १८ ॥
तदाकर्ण्य नृपो रंगं कारयमास तत्र च ॥
एकत्राक्षेऽष्ट चक्राणि तत्पुरः पुत्रिका तथा ॥ १९ ॥
सा च चक्षुषि वाणेन, भेत्तव्याधो विवर्तिना ॥
ततः सैन्ययुतो राजा, रंगे तस्थौ सपुत्रकः ॥ २० ॥
निर्वृतिश्चैकदेशेऽस्य, स्थिताऽलङ्कृतविग्रहा ॥
यथास्वं च निविष्टेषु, सामंतनागरादिषु ॥ २१ ॥
आदिशत् ज्येष्ठपुत्रोऽथ, राज्ञा श्रीमालिनामकः ।
भित्त्वा राधां गृहाणेमां, कन्यां राज्यं च पुत्रक ॥ २२ ॥
ततः सोऽशिक्षितत्वेन, साध्वसोत्कंपिविग्रहः ।
शशाक नैव तां भेत्तु–मेवं ते शेषका अपि ॥ २३ ॥
ततो राजा स्वपुत्राणां, मूर्खतां वीक्ष्य तत्क्षणात् ।
शुशोच हस्तविन्यस्तगंडो भून्यस्तदृष्टिकः ॥ २४ ॥
ततोऽमात्यस्तमापृच्छत्, देवः किं दैन्यवान् भवान् ।
सोऽवोचत्दुःसुतैरेतैरहं भो धर्षितो जने ॥ २५ ॥
ततोऽमात्योऽवदद्भूपं यथान्योपि च ते सुतः ।
विद्यते सोऽपि देवेन राधावेधे नियुज्यतां ॥ २६ ॥
राजाऽवोचत्कुतो मेऽन्यः, सुतोऽमात्योऽप्युवाच तम् ।
मद्दौहित्रस्ततः पत्रं दर्शयामास तस्य तत् ॥ २७ ॥
संजातप्रत्ययो राजा संतुष्टस्तं बभाण च ।
आनयाऽमात्य तत्पुत्रं, तस्य ते सोऽप्यदर्शयत् ॥ २८ ॥
आश्लिष्य मूर्ध्नि चाघ्राय, तं बभाषे सुतोत्तमम् ।
कन्यां गृहाण राज्यञ्च जित्वा राधां त्वमद्भुतां ॥ २९ ॥
यदादिशति तातस्तत्करोमीत्यभिधाय सः ।
धनुर्वेदोपदेशेन राधां भेत्तुमुपस्थितः ॥ ३० ॥
तान्यस्य चेटरूपाणि ते च द्वाविंशतिः सुताः ।
कृतासीनरौ द्वौ च नाना चक्रुरुपद्रवान् ॥ ३१ ॥
कलाचार्योऽप्यऽवोचत्तं न चेद्राधां विभेत्स्याति ॥
तदेतौ च शिरो वत्स छेत्स्यैते दारुणौ नरौ ॥ ३२ ॥
ततोसाववगण्यैतान् बध्वलक्षोऽप्रमादवान् ।
चक्राणामंतरं ज्ञात्वा राधां द्रागिति विद्धवान् ॥ ३३ ॥
ततश्चास्फालितं तूर्यं साधुकारः कृतो जनैः ।
राजादिस्तोषितो लोकः ऊढाकन्या च तेन सा ॥३४॥ पंचा०

श्रावस्तीवास्तव्ये कपिलपितुः काश्यपस्य मित्रे, कपिलस्योपाध्याये स्वनामख्याते ब्राह्मणे, उत्त०७अ०। तथा च कपिलकथायाम् "सावत्थीए णयरीए पिइमित्तो इन्ददत्तो नाम माहणो इति" उत्त० । तत्कथा कपिलशब्दे । मथुरानगरस्थे स्वनामख्याते पुरोहिते च । तत्कथा यथा–मथुरायां इन्द्रदत्तः पुरोहितोऽस्ति स जिनशासनप्रत्यनीकः स्वगवाक्षस्थः सन् अधोनिर्गच्छतो जैनयतेर्मस्तकोपरि निजचरणं वितनं करोति । एवं निरन्तरं कुर्वाणं तं दृष्ट्वा साधुर्न कोपि कुप्यति परमेकः श्रावकः कुपितः तत्पादच्छेदप्रतिज्ञामकरोत् अन्यानि तच्छिद्राणि अलभमानेन, तेन श्रावकेण तत्स्वरूपं गुरोः पुरः कथितम् । गुरुणोक्तं सह्यते सत्कारपुरस्कारपरीषहः साधुनेति । तेन स्वप्रतिज्ञा कथिता । गुरुभिरुक्तम् । अस्य गृहे किं जायमानमस्ति तेनोक्तं नवीनप्रासादे राजा निमन्त्र्यमाणोऽस्ति पुरोहितेन । गुरुभिरुक्तं तर्हि त्वं तत्प्रासादे प्रविशन्तं राजानं करे धृत्वा प्रासादोऽयं पतिष्यतीति कथय । अहं च प्रासादं विद्यया पातयिष्यामि । ततस्तेन तथाकृते प्रासादः पतितो राज्ञोक्तं किमिदञ्जातं । श्रेष्ठिनोक्तं महाराज ! अनेन तव मारणाय कपटं मण्डितमभूत् ततो रुष्टेन राज्ञा स पुरोहितस्तस्य श्रेष्ठिनोऽर्पितः स च श्रेष्ठी इन्द्रकीलके तस्य पादं क्षिप्त्वा प्रतिज्ञापूरणार्थं च पिष्टमयं पादं कृत्वा छिन्नवान् उक्तवांश्च सर्वं तत्स्वरूपं पुरोहितेनोक्तमतः परं नैवेदृशं करिष्यामीति । आनुकंपेन श्रावकेण स मुक्तः । उत्त० २ अ० ॥

इत्थमिंददत्तो पुरोहिओ गवक्खट्ठिओ मिच्छदिट्ठी अहोवयंतस्स साहुस्स मत्थए उवरि पायं कुणंतो सेट्ठिणा गुरुभत्तिए पायहीणो कओ" ती० ॥

इंददारु–इन्द्रदारु– पु० इन्द्रस्य तद्ध्वजस्य साधनं दारु देवदारु वृक्षे इन्द्रद्रुमादयोप्यत्र । वाच० ॥

इंददिन्न–इन्द्रदिन्न–पु० कौटिकगच्छस्थे सुस्थितसुप्रतिबुद्धापरनामधेययोः कौटिककाकन्दकयोः शिष्ये स्वनामख्याते आचार्ये, " सुट्ठियसुप्पडिबुद्धाणं कोडियकाकंदगाणं वग्घावच्च सगुत्ताणं अंतेवासी थेरे अज्जइंददिन्ने कोसियगुत्ते ॥ इति "—कल्प० । " तदनु च सुहस्तिशिष्यौ, कौटिककाकंदकावजायेताम् । सुस्थितसुप्रतिबुद्धौ, कौटिकगच्छस्ततः सम भूत् ॥ तत्रेन्द्रदिन्नसूरि–र्भगवान् श्रीदिन्नसंज्ञसूरीन्द्रः ॥ इति गच्छा० ॥

अयं च खरतरगच्छपट्टावल्यनुसारेण वीरजिनात्त्रयोदशः ॥ तपागच्छपट्टावलीप्रमाणतो दशमः ।

इंदपव्वय–इन्द्रपर्वत– पु० इन्द्रनामकपर्वतः । महेन्द्रपर्वते, इन्द्रवर्णः पर्वतः । नीलवर्णे गिरिभेदे, वाच० ॥

इंदपाडिवया–इन्द्रप्रतिपत्– स्त्री० अश्वयुक्पूर्णिमायां अनन्तरभाविन्याम्महाप्रतिपदि तस्यां चास्वाध्याय इति— । स्था० ४ ठा० ।

इंदपुर–इन्द्रपुर–न०इन्द्रदत्तनृपस्य भारतवर्षस्थे स्वनामख्याते नगरे, आव० ४ अ० ८ हा० ॥ आ० चू० । आ. म. । स्था० । इहेव जंबूदीवे भारहेवासे इंदपुरणामणयरे, ॥ इति विपा०१० अ०।व्य०। "पुरमिन्द्रपुरं नाम साक्षादिन्द्रपुरं किल"॥ आ० क० ॥ माणीपुरस्थे स्वनामख्याते नगरे च ॥ " माणीपुरं णयरं णागदत्ते गाहावई इंदपुरे अणगारे पडिलाभिए जाव सिद्धे इति " विपा० ७ अ० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इंदपुरग–इन्द्रपुरक–न० (वेसवाडिय) गणस्य चतुर्षु कुलेषु चतुर्थे कुले, । तह होइ इंदपुरगं च । कल्प०–

इंदपुरोहित–इन्द्रपुरोहित– पु०–६ त० । सुराचार्य्यबृहस्पतौ–वाच० ।

इंदभूइ–इन्द्रभूति–पु०–स्वनामख्याते महावीरस्य प्रथमगणधरे प्रथमगणनायके प्रथमशिष्ये, प्रव० ८ द्वा० । सम० । सूत्र० । "समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अंतेवासी इंदभूई अणगारे गोयमसगोत्तेणं इति । कल्प० । अन्त० । विपा० । "जिणवीरस्सेक्कारस पढमो से इंदभूइयत्ति णामेण इंदभूइत्ति गोयमो वंदिऊण विविहेण" । चं०प्र० १पा०॥

तत्कथा च –" इंदभूईणामो पंचखंडियसयपरिवारो सव्वप्पहाणो मगहा विसए सो य अक्खरीक्खितो मक्खितो य मज्झिमा य अच्छति इय भज्जाणो वेयुज्जायं पासित्ता हरिसियमणो चिंतेऊणं भासति तेसिं पुरओ अहो मया मंतेहिं सुरा आहूया जे जण्णे समुवट्ठिता एवं वोत्तूणं खंडिकेहिं सह निग्गतो वज्जाणं अ पासमाणो उत्तरपुरच्छिमे दिसि भाए देवसन्निवायं पासति भासति किमेतंति । अण्णेहिं से कहितं जहा एस सिद्धत्थरायपुत्तो महावीरवद्धमाणो तवं काउं केवली जाओ किन्न सव्वण्णू सव्वभावदरिसी तं वयणं सोओ भासति अमरिसिओ को अण्णो ममाहितो अन्नहितो जस्स देवा एंति ताहे वच्चामो जणं पराजिणंमि किं सो जाणति एति ण पणिहाणेण पहावितो पंचखंडियसतपरिवारो देवदाणव अत्थो भगवता से कहितो एत्थ समंतो संबुद्धो य भणइ पंचखंडियसते एस सव्वण्णू अहं पव्वयामि तुब्भे जाहिच्छितं करेहि ते भणंति जदि तुब्भे परिसगा होंता पव्वयह तो अहं का अण्णा गमिस्सि एवं सो पंचसयपरिवारो पव्वत्तितो । आ० चू० १ अ० ॥

ते हि देवाः स्वं यज्ञवाटं परिहृत्य समवसरणभुवि निपतितवन्तः तांश्च तथा दृष्ट्वा लोकोऽपि तत्रैव जगाम भगवन्तं त्रिदशलोकेन पूज्यमानं दृष्ट्वा अतीव हर्षं चक्रे प्रवादश्च सञ्जातः । सर्वज्ञो ऽत्र समवसृतस्तं देवाः पूजयन्तीति । अत्रान्तरे स्वल्वाकर्णितसर्वज्ञप्रवादो ऽमर्षाध्मातइन्द्रभूतिर्भगवन्तं प्रतिप्रस्थितः

"सोऊण कीरमाणिं, महिमं देवेहिं जिणवरिंदस्स ॥
अह अहं माणीय, अमरिसिओ इंदभूइत्ति" ॥ १ ॥

श्रुत्वा जनपरंपरात् आकर्ण्य पाठान्तरतो दृष्ट्वा वा महिमां पूजां देवैः क्रियमाणां जिनवरेन्द्रस्य भगवतो वर्द्धमानस्वामिनः अथास्मिन् प्रस्तावे एति आगच्छति भगवत्समीपं अहमेव विद्वानिति मानोऽस्येति अहं मानी अमर्षो मत्सरविशेषः स संजातोऽस्य सोऽमर्षितः मयि सति कोऽन्यः सर्वज्ञ इत्यपनयाम्यद्य सर्वज्ञवादमित्यादिसंकल्पकलुषितान्तरात्मा कोऽसावित्याह । इंद्रभूतिरितिनाम्ना प्रथितः स च भगवत्समीपं प्राप्य भगवन्तञ्च चतुस्त्रिंशदतिशयसमन्वितं देवासुरनरेश्वरपरिवृतं दृष्ट्वा साशङ्कसद्भतस्तस्थौ ॥

एतदेव सविस्तरं भाष्यकार आह ।

मोत्तूण ममं लोगा, किं वच्चइ तस्स पायमूलंमि ।
अन्नो वि जाणइ मए, ठियंमि कत्तो च्चियं एयं ॥

मां सकलशास्त्रपारगं मुक्त्वा किमेष लोकस्तस्य पादमूलं व्रजति नचासौ मदपेक्षया किमपि जानाति तथाहि मयि प्रतिवादिनि स्थिते अन्योऽपि किमपि जानातीति कौतस्त्यमेतत् ! नैवैतत् संभवतीति भावः ॥

पुनरप्याह ॥

वंचेज्ज व मुक्खजणो, देवा उ कहमणेण विम्हयं नीया ।
वंदंति संथुणंति य, जेण सव्वण्णुबुद्धीए ॥

वञ्चयेत् तत्पादमूलं मूर्खजनो मूर्खतया युक्तायुक्तविवेकविकलत्वात् देवास्तु कथमनेन विस्मयं नीता येन विस्मयनयनेन सर्वज्ञबुद्ध्या तं वन्दन्ते संस्तुवन्ति च ।

अहवा जारिसतोच्चिय, सो नाणी तारिसा सुरा ते वि ।
अणुसरिसो संजोगो, गामनडाणं च मुक्खाणं ॥

अथवा यादृश एव स ज्ञानी तेऽपि सुरास्तादृशा एव मूर्खा इत्यर्थः । ततोऽनुसदृशोऽनुरूपः संयोगस्तस्य ज्ञानिनः एतेषां च देवानाम् । कयोरिवेत्याह– ग्रामनटयोरिव मूर्खयोर्यथा ग्रामे मूर्खो नटोऽपि तथाविधविद्याविकलत्वात् मूर्ख इति परस्परं तयोः संयोगोऽनुरूपमेवमेषाऽपीति ॥

काउं हयप्पयावं, पुरतो देवाण दाणवाणं च ।
नासेहं नीसेसं, खणेण सव्वन्नुवायं से ॥

देवानां च दानवानां च पुरतोऽग्रे तथाविधप्रश्नजालैर्हतप्रताप कृत्वा क्षणमात्रेण (से) तस्य सर्वज्ञवादं निःशेषमहं नाशयामि ॥

इय वोत्तूणं पत्तो, दट्ठूणतिलोकपरिवुडं वीरं ।
चोत्तिसातिसएहिं, स संकितो वट्ठितो पुरतो ॥

इति पूर्वोक्तमुक्त्वा प्राप्तो भगवत्समीपं दृष्ट्वा च भगवन्तं वीरं त्रैलोक्यपरिवृतं चतुस्त्रिंशदतिशयनिधिं स शङ्कितः पुरतोऽवस्थितः ॥

अत्रान्तरे ।

आभट्ठो य जिणेणं, जाइजरामरणविप्पमुक्केणं ।
नामेण य गुत्तेण य, सव्वण्णू सव्वदरिसीणं ॥

आभाषितः संलपितो जिनेन भगवता महावीरेण जातिः प्रसूतिर्जरावयोहानिलक्षणा मरणञ्च दशविधप्राणविप्रयोगरूपमेभिर्विप्रमुक्तस्तेन कथमाभाषित इत्याह नाम्ना हे इन्द्रभूते! इत्येवंरूपेण तथा गोत्रेण च यथा हे गौतमगोत्र ! किं विशिष्टेन जिनेनेत्याह । सर्वज्ञेन सर्वदर्शिना, आह- यो जरामरणविप्रमुक्तः स सर्वज्ञ एवेति गतार्थमिदं विशेषणमितिचेन्न नयवादपरिकल्पितजात्यादिविप्रमुक्तनिरासार्थत्वात् । तथाहि–कैश्चित् गुणविप्रमुक्तमोक्षवादिभिरचेतना मुक्त इष्यते ततस्तन्निरासार्थमुक्ते । सर्वज्ञेन सर्वदर्शिनेति इत्थं नामगोत्राभ्यां संलपितस्य तस्य चिन्ताऽभवत् तथा चाह–

हे इंदभूइ गोयम ! सागयमुत्ते जिणेण चिंतेइ ।
सो मं पि मे वियाणइ अहवा को मं न याणाई ॥

हे इन्द्रभूते ! गौतम ! स्वागतमिति जिनेनोक्ते स चिन्तयति अहो नामापि मे विजानाति अथवा सर्वत्र प्रसिद्धोऽहं को मां न जानाति ।

जइ वा हियगयं मे, संसय मण्णेज्ज अहव छिंदेज्जा ।
ततो होज्ज विम्हतो मे, इय चिंततो पुणो भणिओ ॥

यदि मे हृद्गतं संशयं मन्येत जानीयात् अथवा छिन्द्यादपनयेत् ततो मे विस्मयो भवेत् भविष्यति इति चिन्तयन् पुनरपि भगवता भणितः । किं भणित इत्याह–

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किमन्ने अत्थि जीवो, उयाहु नत्थित्ति संसओ तुज्झ ।
वेयपयाण य अत्थं, न याणसी तेसिमो अत्थो ॥

हे गौतम ! किं मन्यसे अस्ति जीव उत नास्तीति नन्वयमनुचित एव संशयो यतोऽयं संशयस्तव विरुद्धवेदपदश्रुतिनिबन्धन इति । तान्यमूनि वेदपदानि " विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय पुनस्तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्यसंज्ञास्तीत्यादि " तथा स वै अयमात्मा ज्ञानमय इत्यादीनि च एतेषां च वेदपदानामयमर्थो भवतश्चेतसि विपरिवर्त्तते । विज्ञानमेव घनानन्दादिरूपत्वात् विज्ञानघनः स एव एतेभ्योऽध्यक्षतः परिच्छिद्यमानस्वरूपेभ्यः पृथिव्यादिलक्षणेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय उत्पद्य पुनस्तान्येवानुविनश्यति तान्येव भूतानि अनुसृत्य विनश्यति तत्रैवाव्यक्तरूपतया संलीनो भवतीति भावः न प्रेत्यसंज्ञास्ति मृत्वा पुनर्जन्म प्रेत्येत्युच्यते तत्संज्ञास्ति न परलोकसंज्ञाऽस्तीति भावः । ततः कुतो जीवः युक्त्योपपन्नश्चायमर्थ इति ते मतिः यतो नासौ प्रत्यक्षेण परिगृह्यते अतीन्द्रियत्वात् नाप्यनुमानेन यतस्तल्लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धपूर्वकञ्च । न चात्र लिङ्गिना सह सम्बन्धः प्रत्यक्षगम्यो लिङ्गिनोऽतीन्द्रियत्वात् । नाप्यनुमानगम्योऽनवस्थाप्रसक्तेस्तदपि हि लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धग्रहणपूर्वकं तत्रापि चेयमेव वार्ता, इत्यनवस्थानुषङ्गः । नाप्यागमगम्यः परस्परविरुद्धार्थतया तयागमानां प्रमाणत्वाभावात् । तथाहि केचिदेवमाहुः "एतावानेव लोकोऽयं, यावदिन्द्रियगोचरः । भद्रे वृकपदं पश्य यद्वदन्त्य बहुश्रुताः " इत्यादि । अपरे प्राहुर्नरूपमीक्षवः पुद्गला इत्यादि पुद्गले रूपं निषेधयन्ति अन्तर्भूत आत्मेत्यर्थः अन्ये पुनरेवम् " अकर्ता निर्गुणो भोक्ता " इत्यादि । अपरे एवम् " स वै अयमात्मा ज्ञानमय इत्यादि, नचैते सर्व एव प्रमाणम् परस्परविरोधात् व्यर्थाभिधायकपरस्परविरुद्धवाक्यपुरुषव्रातवत् आत्मानं विद्मः किमस्ति नास्तीत्ययं तवाभिप्रायः । तत्र वेदपदानां चार्थं न जानासि च शब्दात् युक्तिहृदयं च । तथाहि वेदपदानामयमर्थः विज्ञानघन एवेति ज्ञानोपयोगदर्शनोपयोगरूपं विज्ञानं ततोऽनन्यत्वात् आत्मा विज्ञानघनः प्रतिप्रदेशमनन्तविज्ञानपर्यायः संघातात्मकत्वात् वा विज्ञानघन एव शब्दोऽवधारणे विज्ञानघनादनन्यघनत्वात् विज्ञानघन एव एतेभ्यो भूतेभ्यः क्षित्युदकादिभ्यः समुत्थाय कथंचिदुत्पद्येति घटविज्ञानपरिणतो हि आत्मा घटाद्भवति तद्विज्ञानक्षयोपशमनस्य तत्सापेक्षत्वात् अन्यथा निरालम्बनतया तस्य मिथ्यात्वप्रसक्तेरेवं सर्वत्र भावनीयम् । तत उक्तं तेभ्यः समुत्थाय कथंचिदुत्पद्येति पुनस्तान्येव भूतानि अनु विनश्यति ते विवक्षितेषु भूतेषु व्यवहितेषु वा आत्मापि तद्विज्ञानघनात्मना उपरमते अन्यविज्ञानात्मना उत्पद्यते यदि वा सामान्यचैतन्यरूपतयाऽवतिष्ठत इति न प्रेत्यसंज्ञास्ति न प्राकृतिकघटादिविज्ञानसंज्ञाऽवतिष्ठते । सांप्रतविज्ञानोपयोगनिश्चितत्वात् अथवा एवं व्याख्या विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय पुनस्तान्येवानुविनश्यतीत्येतन्न यतः प्रेत्यसंज्ञास्ति परलोकसंज्ञास्ति । यदप्युक्तं नासौ प्रत्यक्षेण परिगृह्यते इति तदप्यसमीचीनमात्मनः प्रत्यक्षसिद्धात्तद्गुणस्य ज्ञानस्य स्वसंवेदनप्रमाणसिद्धत्वात्तथाहि स्वसंविदिता एवावग्रहेहापायादय उदयन्ते लीयन्ते वा ततस्तद्गुणस्य स्वसंविदितत्वात् सिद्धमात्मनः प्रत्यक्षत्वम् । अथ ब्रवीष्व भूतगुणश्चैतन्यं तथा वेदेऽप्युक्तम् "एतेभ्यो भूतेभ्यस्समुत्थायेत्यादि" ततः कथं ज्ञानस्य स्वसंविदितत्वे ते आत्मनः प्रत्यक्षत्वं ज्ञानस्यात्मगुणत्वाभावात्–तदयुक्तम् भूतगुणत्वे सति पृथिव्याः काठिन्यस्यैव सर्वत्र सर्वदा चोपलम्भप्रसंगात् । न च सर्वत्र सर्वदा चोपलभ्यते चैतन्यं लोष्ठादौ मृतावस्थायां चानुपलम्भात् । अथ तत्रापि चैतन्यमस्ति केवलं शक्तिरूपेण ततो नोपलभ्यते तदसम्यग्विकल्पद्वयानतिक्रमात् सा–हि शक्तिश्चैतन्याद्विलक्षणा उत चैतन्यमेव यदि विलक्षणा ततः कथमुच्यते शक्तिरूपेण चैतन्यमस्ति न हि पटे विद्यमाने पटरूपेण घटस्तिष्ठतीति वक्तुं शक्यं तथाचाहान्योऽपि "रूपान्तरेण यदि तत्तदेवास्तीति मा रटीः । चैतन्यादन्यरूपस्य भावे तद्विद्यते कथम् " । अथ द्वितीयः पक्षस्तर्हि चैतन्यमेव तत्कथमनुपलभ्यः आवृतत्वादनुपलम्भ इतिचेत्तस्यावृत्तिरावरणं तच्चावरणं किं भूतानां विवक्षितपरिणामाभाव–मुत परिणामान्तर–माहोस्विदन्यदेव भूतातिरिक्तं किञ्चित् । तत्र न तावद्विवक्षितपरिणामाभावः एकान्ततुच्छरूपतया तस्यावारकत्वायोगात् अन्यथा तस्याप्यतुच्छरूपतया भावरूपतापत्तिर्भावत्वे पृथिव्यादीनामन्यतमो भावो भवेत् "पृथिव्यादीन्येव भूतानि तत्त्वानीति वचनात्" पृथिव्यादीनि च भूतानि चैतन्यस्य व्यञ्जकानि नावारकाणीति कथमावारकत्वं तस्योपपत्तिमत्–अथ परिणामान्तरं तदयुक्तं परिणामान्तरस्यापि भूतस्वभावतया भूतवद्व्यञ्जकत्वस्योपपत्तेर्नावारकत्वस्य, अथान्यदेव भूतातिरिक्तं किञ्चित्–तदतीवासमीचीनम् । भूतातिरिक्ताऽभ्युपगमे चत्वार्येव पृथिव्यादीनि भूतानि तत्त्वानीति तत्त्वसंख्याव्याघातप्रसंगात् अपि चेदं चैतन्यं प्रत्येकं वा भूतानां धर्मः समुदायस्य वा न तावत्प्रत्येकमनुपलम्भात् नहि प्रतिपरमाणुसंवेदनमुपलभ्यते । अपि च यदि प्रतिपरमाणुसंवेदनं भवेत्तर्हि पुरुषसहस्रचैतन्यवृन्दमिव परस्परं भिन्नस्वभावमिति नैकरूपं भवेत् । अथ चैकरूपमुपलभ्यते अहं पश्यामि अहं करोमीत्येवं सकलशरीराधिष्ठितानेकस्वरूपतयानुभवात् अथ समुदायस्य धर्मस्तदप्यसत्प्रत्येकमसत्समुदायेऽपि न भवति यथा रेणुषु तैलं स्यादेतन्मद्याङ्गेषु प्रत्येकं मदशक्तिरदृष्टापि समुदायेऽपि भवन्ती दृश्यते तद्वच्चैतन्यमपि भविष्यति को दोषः तदसम्यक् प्रत्येकमपि मद्याङ्गेषु मदशक्त्यनुयायिमाधुर्यादिगुणदर्शनात् तथाहि दृश्यते माधुर्यमिक्षुरसे धातकीपुष्पे च मनाक् विकलतोत्पादि, न चैवं चैतन्यं सामान्यतोऽपि भूतेषु प्रत्येकमुपलभ्यते ततः कथं समुदाये तद्भवितुमर्हति मा प्रापत्सर्वस्य सर्वत्राभावप्रसक्तातिप्रसङ्गात् । किंच यदि चैतन्यं भूतधर्मत्वेन प्रतिपन्नं ततोऽवश्यमस्यानुरूपो धर्मः प्रतिपत्तव्यः आनुरूप्याभावे जलकाठिन्ययोरिव परस्परधर्मधर्मिभावोऽनुपपत्तः नच भूतानामनुरूपो धर्म्मी वैलक्षण्यात् तथाहि चैतन्यं बोधस्वरूपममूर्तं च भूतानि तद्विलक्षणानि ततः कथमेषां परस्परं धर्मधर्मिभावः । नापि चैतन्यमिदं भूतानां कार्यमत्यंतविलक्षणतया कारणभावस्याप्ययोगात् तथा चोक्तम् " काठिन्याबोधरूपाणि, भूतान्यध्यक्षसिद्धितः । चेतना जगतद्रूपा सा कथं तत्फलं भवेत्" अपिच यदि भूतकार्यं चैतन्यं तर्हि किं न सकलमपि जगत् प्राणिमयं भवति परिणतिविशेषसद्भावाभावादिति चेन्ननु सोऽपि परिणतिविशेषसद्भावः सर्वत्रापि कस्मान्न भवति सोऽपि हि भूतमात्रनिमित्तक एव ततः कथं तस्यापि क्वचित् कदाचिद्भावः । अन्यच्च स किंरूपः परिणतिविशेष इति वाच्यं कठिनत्वादिरूप इति चेत्तथाहि काष्ठादिषु दृश्यन्ते घुणादिजन्तवो जायमानास्ततो यत्र कठिनत्वा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दिविशेषवस्तत्प्राणिमयं न शोवमिति तदप्यसत् व्यभिचारदर्शनात् तथाहि विशिष्टेऽपि कठिनत्वादिविशेषे कचिद्भवन्ति काश्चित्त कठिनत्वादिविशेषमन्तरेणापि संस्वेदजा नभसि च मूर्च्छिता जायन्ते किंच समानयोनिका अपि विचित्रवर्णसंस्थानाः प्राणिनो दृश्यन्ते। तथाहि—गोमयाद्येकयोनिसंभविनोऽपि केचिन्नीलजन्तवोऽपरे पीतकायाः अन्ये विचित्रवर्णाः संस्थानमप्येतेषां परस्परं विभिन्नं तद्यदि भूतमात्रनिमित्तं चैतन्यं तत एकयोनिकाः सर्वेऽप्येकवर्णसंस्थाना भवेयुर्नभवन्ति तस्मादात्मन एव तत्तत्कर्मवशात्तथा तथोत्पद्यन्ते इति। स्यादेतत् आगच्छन् गच्छन् वा आत्मा नोपलभ्यते केवलं देहे सति संवेदनमुपलभामहे देहाभावे च तस्यामेवावस्थायां न, तस्मान्नात्मा किंतु संवेदनमात्रमेवैकं तच्च देहकार्यं देहे एव च समाश्रितं कुड्य इव चित्रवत् नहि चित्रं कुड्यविरहितमवतिष्ठते नापि कुड्यान्तरं संक्रामति आगमनं वा कुड्यान्तरात् किंतु कुड्य एवोत्पन्नं कुड्य एव च विलीयते एवं संवेदनमपि तदप्यसत् आत्मा हि स्वरूपेणामूर्त आन्तरमपि शरीरमतिसूक्ष्मत्वान्न चक्षुर्विषयस्तदुक्तमन्यैरपि "अन्तरा भवदेहेऽपि सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यते। निष्क्रामन् प्रविशन्वात्मा नाभावो नीक्षणादपि" तत आन्तरशरीरयुक्तोऽप्यात्मा आगच्छन् गच्छन् वा नोपलभ्यते लिङ्गतस्तूपलभ्यते। तथाहि कृमेरपि जन्तोस्तत्कालोत्पन्नस्याप्यस्ति निजशरीरविषयः प्रतिबन्धः उपघातमुपलभ्य पलायनदर्शनात् यश्च यद्विषयप्रतिबन्धः स तद्विषयपरिशीलनाभ्यासपूर्वकस्तथादर्शनात् न खल्वत्यन्तापरिज्ञातगुणदोषवस्तुविषये कस्याप्याग्रह उपजायते ततो जन्मादौ शरीराग्रहः शरीरपरिशीलनाभ्यासजनितसंस्कारनिबन्धन इति। सिद्धमात्मनो जन्मान्तरादागमनं तथा च केचित्पठन्ति "शरीराग्रहरूपस्य नभसः संभवो यदा। जन्मादौ देहिनो दृष्टः किं न जन्मान्तरा गतिः ,, ॥ अथागतिः प्रत्यक्षतो नोपलभ्यते ततः। कथमनुमानादवसीयते नैष दोषः अनुमेयविषये प्रत्यक्षवृत्तेरनभ्युपगमात् परस्परविषयपरिहारेण हि प्रत्यक्षानुमानयोः प्रवृत्तिरिष्यते ततः कथं स एव दोषः। आह च "अनुमेयेऽस्ति नाध्यक्षमिति कैवात्र दुष्टता। अध्यक्षस्यानुमानस्य विषयो विषयो न हि" अथ तज्जातीयेऽपि प्रत्यक्षवृत्तिमन्तरेण कथमनुमानमुदयितुमुत्सहते न खलु यस्याग्निविषया प्रत्यक्षवृत्तिर्महानसेऽपि नासीत्तस्याप्यत्र क्षितिधरादौ धूमाद्धूमध्वजानुमानं भवति तदन्यसम्यक् अत्रापि तज्जातीये प्रत्यक्षवृत्तिभावात् तथा ह्याग्रहोऽन्यत्र परिशीलनाभ्यासप्रवृत्तः प्रत्यक्षत एवोपलब्धस्ततस्तदुपष्टम्भेनेहाप्यनुमानं प्रवर्तते उक्तंच "आग्रहस्तावदभ्यासात् प्रवृत्त उपलभ्यते। अन्यत्राध्यक्षतः साक्षात्ततो देहेऽनुमा न किम्" यो पि च दृष्टान्तः। प्रागुपन्यस्तः सोऽप्ययुक्तो वैषम्यात् तथाहि चित्रमचेतनं गमनस्वभावरहितश्च आत्मा च चेतनः कर्मवशाद्गत्यागती च कुरुते ततः कथं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः साम्यं ततो यथा कश्चिद्देवदत्तो विवक्षिते ग्रामे कतिपयदिनानि गृहारम्भं कृत्वा ग्रामान्तरे गृहान्तरमास्थायावतिष्ठते तद्वदात्मापि विवक्षिते भवे देहं परिहाय भवान्तरे देहान्तरमारचय्यावतिष्ठते। यच्चोक्तम् तच्च संवेदनं देहकार्यमिति चाक्षुषादिकं संवेदनं देहाश्रितमपि कथंचित् भवतु चक्षुरादीन्द्रियद्वारेण तस्योत्पत्तिसंभवात् यत्तु मानसं तत्कथं न हि तद्देहकार्यमुपपत्तिमत् युक्त्ययोगात्। तथाहि तन्मानसं ज्ञानं देहादुत्पद्यमानमिन्द्रियरूपाद्वा समुद्भवतानीन्द्रियरूपाद्वा केशनखादिलक्षणात्

तत्र न तावदाद्यः पक्ष इन्द्रियरूपादुत्पत्ताविन्द्रियबुद्धिवद्वर्तमानार्थग्रहणप्रसक्तेः इन्द्रियं हि वार्तमानिक पदार्थे व्याप्रियते तत्सामर्थ्यादुपजायमानं मानसमपि ज्ञानं इन्द्रियज्ञानमिव वर्तमानार्थग्रहणपर्यवसितसत्ताकमेव भवेत् अथ यदा चक्षू रूपविषये व्याप्रियते तदा रूपे विज्ञानमुत्पादयति न शेषकालं ततस्तदपि विज्ञानं वर्तमानार्थविषयं वर्तमाने पदार्थे चक्षुषो व्यापारात्। रूप विषयव्यापार्यमाणे च मनोज्ञानं ततो न तत्प्रतिनियतकालविषयम् एवं शेषेष्वपि इन्द्रियेषु वाच्यम् ततः कथमिव मनोज्ञानस्य वर्तमानार्थग्रहणप्रसक्तिस्तदसाधीयो यत इन्द्रियाश्रितं तदुच्यते यदीन्द्रियव्यापारमनुसृत्योपजायते इन्द्रियाणां च व्यापारः प्रतिनियते एव वार्तमानिके स्वस्वविषये मनोज्ञानमपि यदीन्द्रियव्यापाराश्रितं तत इन्द्रियज्ञानमिव वार्तमानिकार्थग्राहकमेव भवेत् अन्यथा इन्द्रियाश्रितमेव तत्र स्यात् तथा च केचित्पठन्ति "अक्षव्यापारमाश्रित्य भवदक्षजमिष्यते। तद्व्यापारो न तत्रेति कथमक्षजवं भवेत्।" अथानीन्द्रियरूपादिति पक्षस्तदप्ययुक्तस्तस्याचेतनत्वात् नन्वचेतनत्वादिति कोऽर्थः यदीन्द्रियविज्ञानरहितत्वादिति तादिष्यते एव यदि नामानिन्द्रियविज्ञानं ततो न भवति मनोविज्ञानं तु कस्मान्न भवति। अथ मनोविज्ञानं नोत्पादयतीत्यचेतनत्वं तदा तदेव विचार्यमाणमिति प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्धो हेतुः तदप्यसत् अचेतनत्वादिति किमुक्तं भवति स्वनिमित्तविज्ञानैः स्फुरद्विद्रूपतयानुपलब्धेः स्पर्शादयो हि स्वस्वनिमित्तविज्ञानैः स्फुरद्विद्रूपा उपलभ्यन्ते ततस्तेभ्यो ज्ञानमुत्पद्यते इति युक्तं केशनखादयस्तु न मनोज्ञानेन तथा स्फुरद्विद्रूपा उपलभ्यन्ते कथं तेभ्यो मनोज्ञानं भवतीति प्रतिध्यायन्तु सुधियः आह च "चेतयन्तो न दृश्यन्ते केशश्मश्रुनखादयः। ततस्तेभ्यो मनोज्ञानं भवतीत्यतिसाहसम्" अपि च यदि केशनखादिप्रतिबद्धं मनोज्ञानं ततस्तदुच्छेदे मूलत एव न स्यात् तदुपघाते चोपहतं भवेन्न च भवति तस्मान्नायं पक्षः क्षोदक्षमः। किंच मनोज्ञानस्य सूक्ष्मार्थनेतृत्वस्मृतिपाटवादयो विशेषा अन्वयव्यतिरेकाभ्यां व्यत्यासपूर्वका दृष्टाः तथाहि तदेव शास्त्रमीहापोहादिप्रकारेण यदि पुनः पुनः परिभाव्यते ततः सूक्ष्मसूक्ष्मतरार्थावबोध उल्लसति स्मृतिपाटवं चापूर्वमुज्जृम्भते एवं चैकशास्त्रे अभ्यासतः सूक्ष्मार्थनेतृत्वशक्तौ पाटवशक्तौ चोपजातायामन्येष्वपि शास्त्रान्तरेषु अनायासेनैव सूक्ष्मार्थावबोधः स्मृतिपाटवं चोल्लसति तदेवमभ्यासहेतुकाः सूक्ष्मार्थनेतृत्वादयो मनोज्ञानस्य विशेषदृष्टाः। अथ च कस्यचिदिह जन्माभ्यासव्यतिरेकेणापि दृश्यन्ते ततोऽवश्यं पारलौकिकाभ्यासहेतुका इति प्रतिपत्तव्यं कारणेन सह कार्यस्यान्यथानुपपन्नत्वप्रतिबन्धेन दृष्टतत्कारणस्यापि तत्कार्यत्वविनिश्चितेः। ततः सिद्धः परलोकयायी जीवः। सिद्धे च तस्मिन् परलोकयायिनि यदि कथंचिदुपकारी चाक्षुषादेर्विज्ञानस्य देहो भवेत् न कश्चिद्दोषः क्षयोपशमहेतुतया देहस्यापि कथंचिदुपकारित्वाभ्युपगमात्. न चैतावता तन्निवृत्तौ सर्वथा तन्निवृत्तिः नहि वह्निरासादितविशेषो घटो वह्निनिवृत्तौ समूलोच्छेदं निवर्तते केवलं विशेष एव कश्चनापि यथा सुवर्णस्य द्रवता एवमिहापि देहनिवृत्तौ ज्ञानविशेष एव कोऽपि तत्प्रतिबद्धो निवर्तते न पुनः समूलं ज्ञानमपि यदि पुनर्देहमात्रनिमित्तकमेव विज्ञानमिष्यते देहनिवृत्तौ च निवृत्तिमत् तर्हि देहस्य तस्य भस्मावस्थायां मा भूत्देहे तु तथाभूते एवावतिष्ठमाने मृतावस्थायां कस्मान्न भवति प्राणापानयोरपि हेतुत्वात्तद्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मात्रेण भवतीति चेन्न प्राणापानयोर्ज्ञानहेतुत्वायोगात् ज्ञानादेव च तयोरपि प्रवृत्तिस्तथाहि यदि मन्दौ प्राणापानौ विवक्षुमिष्यते ततो मन्दौ भवतः दीर्घौ चेत्तर्हि दीर्घाविति यदि पुनर्देहमात्रनिमित्तौ प्राणापानौ प्राणापाननिमित्तं च विज्ञानं तर्हि नैत्यमिच्छावशात् प्राणापानप्रवर्त्तमाना दृष्टप्राणापाननिमित्तं च यदि विज्ञानं ततः प्राणापाननिर्ह्रासातिशयसंभवे विज्ञानस्यापि निर्ह्रासातिशयौ स्याताम् अवश्यं हि कारणे परिहीयमाने अभिवर्द्धमाने च कार्यस्यापि हानिरुपचयश्च भवति यथा महति मृत्पिण्डे महान् घटोऽल्पे चाल्पीयान् अन्यथा कारणमेव तत्र स्यात् भवतः प्राणापाननिर्ह्रासातिशयसंभवे विज्ञानस्यापि विनिर्ह्रासातिशयौ, विपर्ययस्यापि भावात् मरणावस्थायां प्राणापानातिशयसंभवेऽपि विज्ञानस्य ह्रासदर्शनात् । स्यादेतत् तस्यदानीं वातपित्तादिभिर्दोषैर्देहस्य विगुणीकृतत्वात् प्राणापानातिशयसंभवेऽपि चैतन्यस्यातिशयसंभवो ऽत एव मृतावस्थायामपि चैतन्यदेहस्य विगुणीकृतत्वात् तदसमीचीनतरमेवं सति मृतस्यापि पुनरुज्जीवनप्रसक्तेः । तथाहि मृतस्य दोषाः समीभवन्ति समीभवनं च दोषाणामवसीयते ज्वरादिविकारादर्शनात् समत्वं चारोग्यं तथा चाहुर्वृद्धाः " तेषां समत्वमारोग्यं क्षयवृद्धी विपर्यय " इति । आरोग्यलाभाच्च देहस्य पुनरुज्जीवनं भवेत् अन्यथा चेह कारणमेव चेतसो न स्यात् तद्विकाराभावाभावाभ्युपगमात् एवं हि देहकारणता विकारस्याश्रेया स्यात् यदि पुनरुज्जीवनं भवेत् स्यादेतदयुक्तमिदं पुनरुज्जीवनप्रसंगापादानं यतो यद्यपि दोषा देहस्य वैगुण्यमाधाय निवृत्तास्तथापि न तत्कृतस्य वैगुण्यस्य निवृत्तिः न हि दहनकृतो विकारः काष्ठे दहननिवृत्तौ निवर्त्तमानो दृष्टः तदयुक्तमिह हि कश्चित्किंचिदनिवर्त्यं विकारारम्भकम् । यथा वह्निः काष्ठे श्यामतामात्रमपि वह्निना कृतं काष्ठे वह्निनिवृत्तौ निवर्त्तते किंचित्पुनः कश्चिन्निवर्त्यविकारारम्भकं यथा स एवाग्निः सुवर्णे तथाहि अग्निना क्रमात्सुवर्णे भवति अग्निनिवृत्तौ निवर्त्तते तत्र वातादयो दोषा निवर्त्यं विकारारम्भकाश्चिकित्साप्रयोगदर्शनात् । यदि पुनरनिवर्त्यं विकारारम्भका भवेयुस्तर्हि तद्विकारनिवर्त्तनाय चिकित्सा विधीयेत वैफल्यप्रसंगात् न च वाच्यं मरणात् प्राग्दोषा अनिवर्त्यविकारारम्भका मरणकाले च निवर्त्यविकारा इति एकस्य एकत्रैव निवर्त्यानिवर्त्यविकारारम्भकत्वायोगात् । न ह्येकमेव तत्रैव निवर्त्यविकारारम्भकं चानुभवितुमर्हति तथा दर्शनात् । ननु द्विविधो हि व्याधिः साध्योऽसाध्यश्च । तत्र साध्यो निवर्त्यस्वभावस्तमेवाधिकृत्य चिकित्सा फलवती असाध्यो ऽनिवर्त्तनीयः न च साध्यासाध्यभेदो न वा व्याधिद्वैविध्यमप्रतीतं सकललोकप्रसिद्धत्वात् व्याधिश्च दोषेण कृतस्ततः कथं दोषाणां निवर्त्यानिवर्त्यविकारारम्भकत्वमनुपपन्नमिति तदप्यसत् भवन्मते साध्यासाध्यव्याध्यनुपपत्तेस्तथाह्यसाध्यता व्याधेः कश्चिदायुःक्षया च तथाहि तस्मिन्नेव व्याधौ समानेऽप्यौषधवैद्यसंपर्के कश्चिन्म्रियते कश्चिन्नकश्चित्पुनः प्रतिकूलकर्मोदयात् प्रतिकूलकर्मोदयजनितो हि श्वित्रादिव्याधिरौषधसहस्रैरपि कश्चिदसाध्यो भवति एतच्च द्विविधमपि व्याधेरसाध्यत्वमर्हतामेव मते संगच्छते न भवतो भूतमात्रतत्त्ववादिनः कश्चित्पुनरसाध्यो व्याधिर्दोषकृतविकारनिवर्त्तनसमर्थौषधस्याभावात् वैद्यस्य वा वैद्यौषधसंपर्काभावे हि व्याधिः प्रवर्धन् सकलमप्यायुरुपक्रमते न तु वैद्यौषधसंपर्काभावादेवास्माकमपि पुनरुज्जीवनं भविष्यति न हि तदस्ति किञ्चिदौषधं वैद्यो वा यत्पुनरुज्जीवयति तदप्ययुक्तं वैद्यौषधं हि दोषविकारनिवर्त्तनार्थमिष्यते न पुनरत्यन्तासतश्चैतन्यस्योत्पादनार्थं तथाभ्युपगमात् दोषकृताश्च विकारा मृतावस्थायां स्वयमेव निवृत्ता ज्वरादेरदर्शनात्ततः किं वैद्यौषधान्वेषणेनेति तदवस्थ एव पुनरुज्जीवनप्रसंगः । अपि कश्चिद्दोषाणामुपशमेऽप्यकस्मान्म्रियते कश्चिच्चातिदोषदुष्टत्वेऽपि जीवति तदेतद्भवन्मते कथमुपपत्तिमर्हति तथा च केचिद्ब्रुवते " दोषस्योपशमेऽप्यस्ति मरणं कस्यचित्पुनर्जीवनं दोषदुष्टस्याप्येतन्न स्याद्भवन्मते " अर्हतां तु शासने यावदायुःकर्म्म विजृम्भते तावद्दोषैरतिपीडितोऽपि जीवति आयुःकर्म्मक्षये च दोषाणामधिकृतावपि म्रियते तन्न देहमात्रकारणं संवेदनम् । अन्यच्च देहः कारणं संवेदनस्य सहकारिभूतं वा भवेदुपादानभूतं वा यदि सहकारिभूतं तदिष्यत एव देहस्यापि क्षयोपशमहेतुतया कथंचिद्विज्ञानहेतुत्वाभ्युपगमात् । अथोपादानभूतं तदयुक्तमुपादानं हि तत्तस्य यद्विकारेणैव यस्य विकारो यथा मृद्घटस्य न च देहविकारेणैव विकारः संवेदस्य देहाविकाराभावेऽपि भयशोकादिना तद्विकारदर्शनात् तन्न देहउपादानं संवेदनस्य तथा च परेऽप्युपादानलक्षणमपरे अधिकृत्य हि यद्वस्तुना यः पदार्थो विकार्यते उपादानं तत्तस्य युक्तं गोमयादिवत् एतेन यदुच्यते मातापितृचैतन्यमेतच्चेतनस्योपादानमिति तदपि प्रतिक्षिप्तं तत्रापि तद्विकारे विकारित्वं तदविकारे वा विकारित्वमिति नियमादर्शनात् । अन्यच्च यत् यस्योपादानं तत्तस्मादभेदेन व्यवस्थितं यथा मृदो घटः मातापितृचैतन्यं सुतचैतन्यस्योपादानं ततः सुतचैतन्यं मातापितृचैतन्यादभेदेन व्यवतिष्ठेत न व्यवतिष्ठते तस्माद्यत्किञ्चिदेतत् तन्न भूतधर्मो भूतकार्यं वा चैतन्यं किंचात्मनो गुण इति तद्गुणस्य प्रत्यक्षसिद्ध आत्मा अनुमानसिद्धश्च तच्चानुमानमिदं रूपादीन्द्रियाणि विद्यमानप्रयोजकानि कर्म्मकरणत्वे सति ग्राह्यग्राहकरूपत्वात् यः कर्म्मकरणे सति ग्राह्यग्राहकरूपः स विद्यमानप्रयोजको यथा संदंशो यः पिण्डकेकर्मकरणरूपाणि च सन्ति ग्राह्यग्राहकरूपाणि रूपादीन्द्रियाणि ततो विद्यमानप्रयोजकानीति न चेन्द्रियाणां स्वत उपलम्भकत्वं येन रूपादिग्रहणं प्रति तेषां कर्तृत्वमेवोपगम्येत न करणत्वमचेतनत्वेन स्वत उपलम्भकत्वायोजनात् तथा चात्र प्रयोगः यदचेतनं तन्नोपलब्धं यथा घटोऽचेतनानि च द्रव्येन्द्रियाणि न चायमसिद्धो हेतुः यतः खलु द्रव्येन्द्रियाणि निर्वृत्युपकरणरूपाणि निर्वृत्त्युपकरणे च पुद्गलमयं पुद्गलमयं च सर्वमचेतनं पुद्गलानां काठिन्यावबोधरूपतया चैतन्यं प्रति धर्म्मित्वायोगात् धर्म्मानुरूपो हि सर्वत्रापि धर्म्मी यथा काठिन्यं प्रति पृथिवी यदि पुनरनुरूपत्वाभावेऽपि धर्म्मधर्म्मिभावो भवेत् ततः काठिन्यजलयोरपि संभवेत् तन्न भवति तस्मादचेतनाः पुद्गलाः तथाचोक्तं " बाहसनावममुत्तं, विसयपरिच्छेयगं च चेयन्नं । विवरीयसहावाणि य, भूयाणि जगप्पसिद्धाणि ॥ १ ॥ ता धम्मधम्मिभावो, कहमेएसिं अणुब्भवगामेय । अणुरूवत्ताभावे, काठिन्नज्ञाण किं न भवे ॥ २ ॥ ततः स्वत उपलम्भकत्वाभावात् रूपादिग्रहणं प्रतीन्द्रियाणां करणभाव एव न कर्तृभाव इति स्थितम् । अथ चेदमनुमानं स भोक्तृकमिदं शरीरं भोग्यत्वात् स्थाल्यस्थितौदनवत् भोग्यता च शरीरस्य जीवेन तथा निवसता भुज्यमानत्वात् द्वयोरपि च प्रयोगयोः साध्यसाधनप्रतिबन्धसिद्धदृष्टान्ते प्रत्यक्षप्रमाणसिद्धेति नास्ति लिङ्गलिङ्गी संबन्धाग्रहरूपदोषावकाशः । आगमगम्योऽप्येष जीवः तथा चागमः " अणिंदियगुणं जीवं, दुन्नेयं मंसचक्खुणा । सिद्धं पस्संति

सव्वन्नू, नाणसिद्धा य साहुणो" अत्र ज्ञानसिद्धाः साधवो भवस्थकेवलिनः शेषं सुगमम् भवागमानां परस्परविरुद्धार्थ तया सर्वेषामप्यप्रामाण्यमभ्युपेयं सर्वज्ञसूत्रस्यावश्यं प्रमाणत्वेनाभ्युपगमार्हत्वादन्यथाप्यसम्यक् प्रमाणाप्रमाणविभागापरिणतेः प्रेक्षावतां क्षतिप्रसंगात् । अथ कथमेतत् प्रत्येयं यथायमागमः सर्वज्ञमूल इति उच्यते–यदुक्तोऽर्थः प्रत्यक्षेणानुमानेन वा न बाध्यते नापि पूर्वापरव्याहतः सोऽवसीय सर्वज्ञप्रणीतोऽन्यस्य तथारूपत्वासंम्भवात् ततस्तस्माद्धत्सिद्धं तत्सर्वं सुसिद्धम् । उक्तञ्च " दिट्ठेणं इट्ठेण य, जंमि विरोहो न हुज्जइ कहिं वि । सो आगमतत्ता जं, नाणं तं सम्मनाणं ति ॥ ततः प्रत्यक्षानुमानागमप्रमाणसिद्धत्वाद्धिदपदप्रतिष्ठितत्वाच्च सौम्य ! अस्ति जीव इति प्रतिपत्तव्यम् ॥ आ० म० द्वि० ॥ (इह वेद पदोपन्यासस्तेन वेदानां प्रमाणत्वेनाङ्गीकृतत्वात्) । आहच–

छिन्नंमि संसयंमि, जाइजरामरणविप्पमुक्केणं ।
सो समणो पव्वइओ पंचहिं सह खंडियसएहिं ॥

उक्त प्रमाणेन जिनेन भगवता वर्द्धमानस्वामिना जरामरणाभ्यामुक्तलक्षणाभ्यां विप्रमुक्त इव विप्रमुक्तः तेन छिन्ने निराकृते संशये स इन्द्रभूतिः पंचभिः खण्डिकशतैः छात्रशतैः सह श्रमणः प्रव्रजितः सन् साधुः संवृत्त इत्यर्थः । आ० म० द्वि. । आव० ॥ आ० चू० ।

कल्पसुबोधिन्यामिन्द्रभूतेः कथा विस्तरेण एवं प्रतिपादिता यदा भगवान् महावीरो विहरन् अपापापुर्यां महसेनवने जगाम तत्र च यज्ञं कारयतः सोमिलविप्रस्य गृहे बहवो ब्राह्मणाः मिलिताः (कल्प०) अन्येऽपि उपाध्याय शङ्कर ईश्वर शिवजी जानी गङ्गाधर महीधर भूधर लक्ष्मीधर श्रीधर पिण्ड्या विष्णु मुकुन्द गोविन्द पुरुषोत्तम नारायण दुबे श्रीपति उमापति विद्यापति गणपति जयदेव व्यास महादेव शिवदेव गङ्गापति गौरीपति त्रिवाडी श्रीकण्ठ नीलकण्ठ हरिहर रामजी रावल मधुसूदन नरसिंह कमलाकर जोसी पुनो रामजी शिवराम इत्यादयो मिलिताः सन्ति अत्रान्तरे च–भगवन्नमस्यार्थं मागच्छतः सुरासुरान् विलोक्य ते अचिन्तयन् अहो यज्ञस्य महिमा यदेते सुराः साक्षात्समागताः अथ तान् यज्ञमण्डपं विहाय प्रभुपार्श्वे गच्छतो विलोक्य द्विजाः विषेदुस्ततोऽमी सर्वज्ञं वन्दितुं यान्ति इति जनश्रुत्या श्रुत्वा इन्द्रभूतिः सामर्षश्चिन्तयामास । अहो मयि सर्वज्ञे सत्यपि अपरोऽपि स्वं सर्वज्ञं ख्यापयति दुःश्रवमेतत् कर्णकटु कथं नाम श्रूयते । किं च कदाचित्कोऽपि मूर्खः केनाचिद्धूर्तेन वञ्च्यते अनेन सुरा अपि वञ्चिताः यदेवं यज्ञमण्डपं विहाय तत्समीपं गच्छन्ति । अथवा यादृशोऽयं सर्वज्ञस्तादृशा एवैते सुरा अनुरूप एव संयोगः यतः—

" पश्यानुरूपमिन्दि–न्दिरेण माकन्दशेखरो मुखरः ।
अपि च पिचुमन्दमुकुल-मौकुलिकुलमाकुलं मिलति " ॥ १ ॥
(तथापि नाहमेतस्य सर्वज्ञाटोपं सहे)
यतः । व्योम्नि सूर्यद्वयं किं स्या–द्गुहायां केसरिद्वयम् ।
प्रत्याकारे च खड्गौ द्वौ, किं सर्वज्ञावहं स च ॥ २ ॥

ततो भगवन्तं वन्दित्वा प्रतिनिवर्तमानान् सोपहासं जनान् पप्रच्छ भो भो दृष्टः स सर्वज्ञः कीदृशः किंस्वरूप इति जनैस्तु " यदि त्रिलोकी गणनापरः स्या–त्तस्यासमाप्तिर्यदि नायुषः स्यात् ॥ पारेपरार्ध्यं गणितं यदि स्यात्, गुणेयनिःशेषगुणोऽपि स स्यात् ॥ १ ॥

इत्याद्युक्ते सति स दध्यौ ॥

नूनमेष महाधूर्तो मायायाः कुलमंदिरम् ॥
कथं लोकसमस्तोऽपि. विभ्रमे पातितोऽमुना " ॥ २ ॥
न क्षमे क्षणमात्रं तु तं सर्वज्ञं कदाचन ॥
तमस्तोममपाकर्तुं. सूर्यो नैव प्रतीक्षते ॥ ३ ॥
वैश्वानरः करस्पर्शं केशरोल्लुञ्चनं हरिः ॥
क्षत्रियश्च रिपुक्षेत्रं न सहन्ते कदाचन ॥ ४ ॥

गता गौडदेशोद्भवा दूरदेशं भयाज्जर्जरा गौर्जरास्त्रासमीयुः । मृता मालवीयास्तिलङ्गास्तिलंगो-द्भवा जाङ्गिरे पण्डिता मद्भयेन ,, ॥ ५ ॥ अरे लाटजाताः क याताः प्रणष्टाः प्रविष्टा अपि द्राविडा व्रीडयार्ता ॥ अहो वादिलिप्सातुरे मय्यमुष्मिन्, जगत्युत्कटे वादिदुर्भिक्षमेतत् ॥ ६ ॥ " तस्य ममाग्रे कोऽसौ, वादी सर्वज्ञमानमुद्वहति ॥ इति तत्र गन्तुमुक्तं, तमग्निभूतिर्जगादेवम् ,, ॥ ७ ॥ " किं तत्र वादिकीटे, तव प्रयासेन यामि यत्रोऽहम् ॥ कमलोन्मूलनहेतो–र्नेतव्यः किं सुरेन्द्रगजः ,, ॥ ॥ ८ ॥ अकथयदथेन्द्रभूतिर्यद्यपि मद्भ्रातृजय्य एवासौ । तदपि प्रवादिनाम श्रुत्वा स्थातुं न शक्नोमि ॥ ९ ॥ चित्रं चैव त्रिजगति सहस्रशो निर्जिते मया वादैः ॥ क्षिप्रचटस्थाल्यामिव कङ्कुदुकोऽसौ स्थितो वादी ॥ १० ॥

अस्मिन्नजिते सर्वं जगज्जयोद्भूतमपि यशो नश्येत् ।
अल्पमपि शरीरस्थं शल्यं प्राणान् वियोजयति ॥ ११ ॥
छिद्रे स्वल्पेऽपि पोतः किं, पाथोधौ न निमज्जति ।
एकस्मिन्निष्टके कृष्टे, दुर्गः सर्वोऽपि पात्यते ॥ १२ ॥

इत्यादि विचिन्त्य विरचितद्वादशतिलकः स्वर्णयज्ञोपवीतभूषितः स्फारपीताम्बराडम्बरः कैश्चित्पुस्तकपाणिभिः कैश्चित् कमण्डलुपाणिभिः कैश्चिद्दर्भपाणिभिः सरस्वतीकण्ठाभरण वादिविजयलक्ष्मीशरण-वादिमदगञ्जनवादिमुखभञ्जन–वादिगजसिंह–वादीश्वरलिंह–वादिसिंहाष्टापद–वादिविजयविशद–वादिवृन्दभूमिपाल–वादिशिरिकाल- वादिकदलीकृपाण–वादितमभाण–वादिगोधूमघरट्टमर्दित––वादिमरट्ट वादिघटमुद्गर–वादिघूकभास्कर–वादिसमुद्रागस्ति- वादितरून्मूलनहस्ति—वादिसुरेन्द्र–वादिगरुडगोविन्द ––वादिजनराज—वादिकंसकृष्ण–वादिहरिणहरि—वादियूथमल्ल––वादिहृदयशल्य—वादिगणजीवक-वादिशलभप्रदीपक—वादिचक्रचूडामणि––पण्डितशिरोमणि––विजितानेकवादिसरस्वतीलब्धप्रसाद इत्यादिविरुदवृन्दमुखरितादिकृन्तकैः पंचभिश्छात्रशतैः परिवृत इन्द्रभूतिर्वीरसमीपं गच्छंश्चिन्तयामास । अहो धृष्टेनानेन किमेतत् कृतम् । यदहं सर्वज्ञाटोपेन प्रकोपितः

यतः " समीराभिमुखस्थेन, दवाग्निर्ज्वालितोऽमुना ।
कपिकच्छूलता देह–सौख्यायालिङ्गिता ननु ॥ १ ॥ "
(कि मेतेन अधुना निरुत्तरीकरोमि यतः)
तावद्गर्जति खद्योतस्तावद्गर्जति चन्द्रमाः ।
उदिते तु सहस्रांशौ न, खद्योतो न चन्द्रमाः ॥ २ ॥
सारङ्गमातङ्गतुरङ्गयूथाः पलाय्यतामाशु वनादमुष्मात् ॥
साटोपकोपस्फुटकेशरश्रीर्मृगाधिराजोऽयमुपैतवान् यत् ३
मम भाग्यभराद्यच्च, वाद्ययं समुपस्थितः ॥
अद्य तां रसनाकण्डू–मपनेष्ये विनिश्चितम् ॥ ४ ॥
लक्षणे मम दक्षत्वं साहित्ये संहिता मतिः ॥
तर्के कर्कशतात्यर्थं क शास्त्रे नास्ति मे श्रमः ॥ ५ ॥
अभेद्यं किमु वज्रस्य, किमसाध्यं महात्मनां ॥
क्षुधितस्य न किं खाद्यं किं न वाच्यं खलस्य च ॥ ६ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तथा ममापि त्रैलोक्य-जित्वरस्य महौजसः ॥
अजेयं किमिवास्तीह तद्गच्छामि जयाम्यमुम् ॥ ७ ॥
इत्यादि चिन्तयन् प्रभु-मवेक्ष्य सोपानसंस्थितो दध्यौ ।
किं ब्रह्मा किं विष्णुः सदाशिवः शङ्करः किं वा ॥ ८ ॥
चन्द्रः किं स न यत्कलङ्ककलितः सूर्योऽपि नो तीव्ररुक्
मेरुः किं न स यन्नितान्तकठिनो विष्णुर्न यत् सोऽसितः ॥
ब्रह्मा किं न जरातुरः स च जरातीरुर्न यत्सोऽतनु-
र्ज्ञातं दोषविवर्जिताखिलगुणाकीर्णोऽन्तिमस्तीर्थकृत् ॥ ९ ॥
हेमसिंहासनासीनं सुरराजनिषेवितम् ॥
दृष्ट्वा वीरं जगत्पूज्यं चिन्तयामास चेतसि ॥ १० ॥
कथं मया महत्त्वं हा, रक्षणीयं पुरार्जितम् ॥
प्रासादं कीलिकाहेतो-र्भङ्क्तुं को नाम वाञ्छति ॥ ४ ॥
एकेन चाजितेनापि मानहानिस्तु का मम ॥
जगत्त्रैत्रस्य किं नाम करिष्यामि च सांप्रतम् ॥ ५ ॥
अविचारितकारित्वं महो मे मदुर्धियः ॥
जगदीशावतारं य-ज्जेतुमेनं समागतः ॥ ६ ॥
अस्याग्रेऽहं कथं वक्ष्ये पार्श्वे यास्यामि वा कथम् ॥
संकटे पतितोऽस्मीति शिवा रक्षतु मे यशः ॥ ७ ॥
कथञ्चिदपि भाग्येन चेद्भवेदत्र मे जयः ॥
तदा पण्डितमूर्द्धन्यो भवामि भुवनत्रये ॥ ८ ॥
इत्यादि चिन्तयन्नेष सुधा मधुरया गिरा ॥
आभाषितो जिनेन्द्रेण नामगोत्रोक्तिपूर्वकम् ॥ ९ ॥
हे गौतमेन्द्रभूते त्वं सुखेनागतवानसि ॥
इत्युक्ते ऽचिन्तयद्वेत्ति नामापि किमसौ मम ॥ १० ॥
जगत्त्रितयविख्यातं को वा नाम न वेत्ति माम् ॥
जनस्याबालगोपालं प्रच्छन्नः किं दिवाकरः ॥ ११ ॥
प्रकाशयति गुप्तं चेत्संदेहं मे मनःस्थितम् ॥
तदा जानामि सर्वज्ञ-मन्यथा तु न किंचन ॥ १२ ॥
चिन्तयन्तमिति प्रोचे प्रभुः को जीवसंशयः ॥
विभावयसि नो वेद पदार्थं शृणु तान्यथ ॥ १३ ॥
समुद्रो मथ्यमानः किं गङ्गापूरोऽथवा किमु ॥
आदिब्रह्मध्वनिः किं वा वीरे वेदध्वनिर्बभौ ॥ १४ ॥

वेदपदानि च " विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्यसंज्ञास्तीति " त्वं तावदेतेषां पदानामर्थमेवं करोषि यत् विज्ञानघनो गमनागमनादिचेष्टावान् आत्मा एतेभ्यो भूतेभ्यः पृथिव्यप्तेजो वाय्वाकाशेभ्यः समुत्थाय प्रकटीभूय मद्यांगेभ्यो मदशक्तिरिव ततस्तानि भूतान्येव अनुविनश्यति तत्रैव विलयं याति जले बुद्बुद इव ततो भूतातिरिक्तस्य आत्मनो—ऽभावात् न प्रेत्यसंज्ञाऽस्तीति मत्वा पुनर्जन्म नास्तीति । परमयुक्तोऽयमर्थः शृणु तावदेतेषामर्थम् । विज्ञानघन इति कोऽर्थः विज्ञानघनो ज्ञानदर्शनोपयोगात्मकं विज्ञानं तन्मयत्वादात्माऽपि विज्ञानघनः प्रति देशं प्रदेशमनन्तज्ञानपर्यायात्मकत्वात् स च विज्ञानघन उपयोगात्मक आत्मा कथंचिद्भूतेभ्यस्तद्विकारेभ्यो वा घटादिभ्यः समुत्तिष्ठते उत्पद्यत इत्यर्थः । घटादिज्ञानपरिणतो हि जीवो घटादिभ्य एव हेतुभूतेभ्यः भवति घटादिज्ञानपरिणामस्य घटादिवस्तुसापेक्षत्वात् । एवं च एतेभ्यो भूतेभ्यो घटादिवस्तुभ्यस्तत्तदुपयोगरूपतया जीवः समुत्थाय समुत्पद्य तान्येव अनुविनश्यति कोऽर्थः तस्मिन् घटादौ वस्तुनि नष्टे व्यवहिते वा जीवो ऽपि तदुपयोगरूपतया नश्यति अन्योपयोगरूपतया उत्पद्यते सामान्यरूपतया अवतिष्ठते ततश्च न प्रेत्यसंज्ञाऽस्ति कोऽर्थः न प्राक्तनी घटाद्युपयोगरूपा संज्ञा भवति इते वर्तमानोपयोगेन तस्या नाशितत्वादिति । अपरं च स वै अयमात्मा ज्ञानमय इत्यादि, तथा ददद्कोऽर्थः दमो दानं दया इति दकारत्रयं यो वेत्ति स जीवः किंच विद्यमानभोक्तृकमिदं शरीरं भोग्यत्वात् ओदनादिवत् इत्याद्यनुमानेनापि । तथा " क्षीरे घृतं तिले तैलं काष्ठे ऽग्निः सौरभं सुमे । चन्द्रकान्ते सुधा यद्व-त्तथात्माप्यङ्गतः पृथक्" ॥ एवं च प्रभुवचनैश्छिन्नसंदेहः श्रीइन्द्रभूतिः पंचशतपरिवारैः प्रव्रजितः । तत्क्षणाच्च " उप्पन्नेइ वा १ विगमेइ वा २ धुवेइ वा ३ इति" प्रभुवदनात्त्रिपदीं प्राप्य द्वादशाङ्गीं रचितवान् । कल्प० ॥

इन्द्रभूतिवर्णको यथा–

तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अंतेवासी इंदभूती णामं अणगारे गोयमगोत्तेणं सत्तुस्सेहे समचउरंससंठाणसंठिए वज्जरिसहनारायसंघयणे कणगपुलगणिघसपम्हगोरे उग्गतवे दित्ततवे तत्ततवे महातवे उराले घोरे घोरगुणे घोरतवस्सि घोरबंभचेरवासी उच्छूढसरीरे । संखित्तविउलतेउल्लेस्से चउद्दसपुव्वी चउणाणोवगए सव्वक्खरसन्निवाती समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामंते उड्ढंजाणू अहोसिरे झाणकोट्ठोवगए संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ ॥

(तेणमित्यादि) तेन कालेन तेन समयेन श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य (जेट्ठेत्ति) प्रथमः (अन्तेवासित्ति) शिष्यः अनेन पदद्वयेन तस्य सकलसंघनायकत्वमाह (इंदभूइत्ति) इन्द्रभूतिरिति मातृपितृकृतं नामधेयं (नामंति) विभक्तिविपरिणामात् नाम्नेत्यर्थः अन्तेवासी किल विवक्षया श्रावकोऽपि स्यादित्यत आह । (अणगारत्ति) नास्त्यगारं विद्यत इत्यनगारः अयञ्चावगीतगोत्रोऽपि स्यादित्यत आह (गोतमगोत्तेणंति) गौतमसगोत्र इत्यर्थः । अयञ्च तत्कालोचितदेहमानापेक्षया न्यूनाधिकदेहोऽपि स्यादित्यत आह (सत्तुस्सेहेत्ति) सप्तहस्तोच्छ्रयः अयंच लक्षणहीनोऽपि स्यादित्यत आह (समचउरंससंठाणसंठिएत्ति) समं नाभेरुपरि अधश्च सकलपुरुषलक्षणोपेतावयवतया तुल्यं तच्च तच्चतुरस्रं च प्रधानं समचतुरस्रमथवा समाः शरीरलक्षणोक्तप्रमाणा विसंवादिन्यश्चतस्रोऽश्रयो यस्य तत्समचतुरस्रम् । अश्रयस्त्विह चतुर्दिग्भागोपलक्षिताः शरीरावयवा इति । अन्ये त्वाहुः–समा अन्यूनाधिकाश्चतस्रोऽप्यश्रयो यत्र तत् समचतुरस्रम् अश्रयश्च पर्यंकासनोपविष्टस्य जानुनोरन्तरम् आसनस्य ललाटोपरिभागस्य चान्तरं दक्षिणस्कन्धस्य वामजानुनश्चान्तरं वामस्कन्धस्य दक्षिणजानुनश्चान्तरमिति अन्ये त्वाहुर्विस्तारोत्सेधयोः समत्वात् समं चतुरश्रं तच्च तत्संस्थानं चाकारः समचतुरश्रसंस्थानं तेन संस्थितो व्यवस्थितो यः स तथा । अयं च हीनसंहननोऽपि स्यादित्यत आह (वज्जरिसहणारायसंघयणेत्ति) इह संहननमस्थिसंचयविशेषः वज्रादीनां लक्षणमिदम्— " रिसहो य होइ पट्टो, वज्जं पुण कीलियं वियाणाहि । उभओमक्कडबंधो णारायं तं, वियाणाहि त्ति " तत्र वज्रं च तत्कीलिकाकीलितकाष्ठसम्पुटोपमसामर्थ्ययुक्तत्वात् । ऋषभश्च लोहादिमयपट्टवद्धकाष्ठसम्पुटोपमसामर्थ्यान्वितत्वात् । वज्रर्षभः स चासौ नाराचं च उभयतो मर्कटबन्धनिबद्धकाष्ठसम्पुटोपम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सामर्थ्योपेतत्वात् वज्रर्षभनाराचं तत्संहननमस्थिसंचयविशेषोऽनुत्तमसामर्थ्ययोगाद्यस्यासौ वज्रर्षभनाराचसंहननः । अन्ये तु कीलिकादिमत्त्वमस्थ्नामेव वर्णयन्ति अयञ्च निन्द्यवर्णोऽपि स्यादित्यत आह (कणयपुलयनिघसपम्हगोरे) कनकस्य सुवर्णस्य (पुलगत्ति) यः पुलको लवस्तस्य यो निकषः कषपट्टके रेखालक्षणः तथा (पम्हत्ति) पद्मपक्ष्माणि केसराणि तद्वद्गौरो यः स तथा । वृद्धव्याख्या तु--कनकस्य न लोहादेर्यः पुलकः सारो वर्णातिशयस्तत्प्रधानो यो निकषो रेखा तस्य यत्पक्ष्म बहुलत्वं तद्वद्गौरो यः स तथा अथवा कनकस्य यः पुलकोद्भूतत्वे सति बिन्दुस्तस्य निकषो वर्णतः सदृशो यः स तथा (पम्हत्ति) पद्मं तस्य चेह प्रस्तावात्केसराणि गृह्यन्ते ततः पद्मवद्गौरो यः स तथा । ततः पदद्वयस्य कर्मधारयः-अयञ्च विशिष्टचरणरहितोऽपि स्यादित्यत आह (उग्गतवेत्ति) उग्रमप्रधृष्यं तपोऽनशनादि यस्य स उग्रतपाः यदन्येन प्राकृतपुंसा न शक्यते चिन्तयितुमपि तद्विधेन तपसा युक्त इत्यर्थः (दित्ततवेत्ति) दीप्तं जाज्वल्यमानदहन इव कर्मवनगहनदहनसमर्थतया ज्वलितं तपो धर्मध्यानादि यस्य स तथा (तत्ततवेत्ति) तप्तं तपो येनासौ तप्ततपाः एवं हि तेन तत्तपस्तप्तं येन कर्माणि सन्ताप्यन्ते न तपसा स्वात्माऽपि तपोरूपः सन्तापितो यतोऽन्यस्यास्पृश्यमिव जातमिति (महातवेत्ति) आसंशादोषरहितत्वात् प्रशस्ततपाः (उरालेत्ति) भीम उग्रादिविशेषणविशिष्टतपःकरणात्पार्श्वस्था नामल्पसत्त्वानां भयानक इत्यर्थः । अन्ये त्वाहुः ॥ (उरालेत्ति) उदारः प्रधानः (घोरेति) घोरो निर्घृणः परिषहेन्द्रियादिरिपुगणविनाशमाश्रित्य निर्दय इत्यर्थः ॥ अन्ये त्वात्मनिरपेक्षं घोरमाहुः (घोरगुणेत्ति) घोरा अन्यैर्दुरनुचरा गुणा मूलगुणादयो यस्य स तथा (घोरतवस्सित्ति) घोरैस्तपोभिः स्तपस्वीत्यर्थः (घोरबंभचेरवासित्ति) घोरं दारुणमल्पसत्त्वैर्दुरनुचरत्वाद्यद्ब्रह्मचर्यं तत्र वस्तुं शीलं यस्य स तथा (उच्छूढसरीरेत्ति) उच्छूढं उज्झितमिवोज्झितं शरीरं येन तत्संस्कारत्यागात्स तथा (संखित्तविउलतेयलेसेत्ति) संक्षिप्त शरीरान्तर्लीनत्वेन ह्रस्वतां गता विपुला विस्तीर्णा अनेकयोजनप्रमाणक्षेत्राश्रितवस्तुदहनसमर्थत्वात्तेजोलेश्या विशिष्टतपोजन्यलब्धिविशेषप्रभवा तेजोज्वाला यस्य स तथा । मूलटीकाकृता तु (उच्छूढसरीरसंखित्तविउलतेयलेसेत्ति) कर्मधारयं कृत्वा व्याख्यातमिति (चउद्दसपुव्वित्ति) चतुर्दश पूर्वाणि विद्यन्ते यस्य तेनैव तेषां रचितत्वादसौ चतुर्दशपूर्वी अनेन तस्य श्रुतकेवलितामाह स चावधिज्ञानादिविकलोऽपि स्यादत आह (चउनाणोवगएत्ति) केवलज्ञानवर्जज्ञानचतुष्कसमन्वित इत्यर्थः उक्तविशेषणद्वययुक्तोऽपि कश्चिन्न समयश्रुतविषयव्यापिज्ञानो भवति चतुर्दशपूर्वविदां षट्स्थानकपतितत्वेन श्रवणादित्यत आह-(सव्वक्खरसन्निवाइत्ति) सर्वे च ते अक्षरसन्निपाताश्च तत्संयोगाः सर्वेषां वाक्षराणां सन्निपाताः सर्वाक्षरसन्निपातास्ते यस्य ज्ञेयतया सन्ति स सर्वाक्षरसन्निपाती । श्राव्याणि वा श्रवणसुखकारीणि अक्षराणि साकल्येन नितरां वदितुं शीलमस्येति श्राव्याक्षरसन्निवादी । स च एवं गुणविशिष्टो भगवान् विनयराशिरिव साक्षादिति कृत्वा शिष्याचारत्वाच्च (समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामंते विहरतीति) योगस्तत्र दूरं च विप्रकृष्टं सामन्तञ्च सन्निकृष्टं तन्निषेधाददूरसामन्तं तत्र नातिदूरे नातिनिकट इत्यर्थः । किंविधः संस्तत्र विहरतीत्यत आह (उड्ढंजाणुत्ति) ऊर्ध्वे जानुनी यस्यासावूर्ध्वजानुः । शुद्धपृथिव्यासनवर्जनादौपग्रहिकनिषद्याया अभावाच्चोत्कुटुकासन इत्यर्थः (अहोसिरेत्ति) अधोमुखो नोर्ध्वं तिर्यग्वा विक्षिप्तदृष्टिः किंतु नियतभूभागनियमितदृष्टिरिति भावः ॥ (झाणकोट्ठोवगएत्ति) ध्यानं धर्म्यं शुक्लं वा तदेव कोष्ठः कुसूलो ध्यानकोष्ठस्तमुपगतस्तत्र प्रविष्टो ध्यानकोष्ठोपगतो यथा हि कोष्ठके धान्यं प्रक्षिप्तमविप्रसृतं भवत्येवं स भगवान् ध्यानतो विप्रकीर्णेन्द्रियान्तःकरणवृत्तिरिति (संजमेणंति) संवरेण (तवसात्ति) अनशनादिना चशब्दः समुच्चयार्थो लुप्तोऽत्र द्रष्टव्यः संयमतपोग्रहणं चानयोः प्रधानमोक्षाङ्गत्वख्यापनार्थं प्रधानत्वं च संयमस्य नवकर्मानुपादानहेतुत्वेन तपसश्च पुराणकर्मनिर्जरणहेतुत्वेन भवति चाभिनवकर्मानुपादानात् पुराणकर्मक्षपणाच्च सकलकर्मक्षयलक्षणो मोक्ष इति ॥ (अप्पाणं भावेमाणे विहरइ इति) आत्मानं वासयन्तिष्ठतीत्यर्थः । भ० १ श० १ उ० । चं० प्र० ॥ पद्मग्रहणेन पद्मकेसराण्युच्यन्ते अवयवे समुदायोपचारात् यथा देवदत्तस्य हस्ताग्ररूपोऽवयवोऽपि देवदत्तः तथा च देवदत्तस्य हस्ताग्रं स्पृष्ट्वा लोको वदति देवदत्तो मया स्पृष्ट इति. । सू० प्र० पा० चन्द्र० (गणधर शब्देऽस्य मातापितृपुरादीनि)

इंदभेसज्ज–इन्द्रभेषज– न० इन्द्रेण प्रकाशितं भेसजम । भुवनव्याम । शब्दरत्न० । वाच० ।

इंदमह–इन्द्रमह– पु० इन्द्रः शक्रस्तस्य महः प्रतिनियतदिवसभावी उत्सव इन्द्रमहः । प्रतिनियतदिवसभाविनि इन्द्रसन्तोषार्थे महोत्सवरूप महामहभेदे, । जी० ३ प्र० । जं० । ज्ञा० आचा० । रा० । "इंदमहेइवा" । भ० श० ९ उ० ३३ । विपा० । इंदमहो आसोयपुण्णिमाए भवतीति । आ० चू० अ० ४ ॥ आव० । स्था० । प्रव० । नि० चू० । " इंदाइमहापायं पइनियया ऊसवा होंति" ॥ उत्सवाः प्रायः प्रतिनियता वर्षमध्ये प्रतिनियतभाविन इन्द्रादिमहा इति । आ० म० प्र० । अयंच भरतकालादेव प्रवृत्त इति । आ० म० प्र० (प्रवृत्तिकारणमिदज्झया शब्दे) ।

इंदमहकामुग–इन्द्रमहकामुक–पु० इन्द्रमहे वर्षादिकाले कामुकः कामयिता । कुक्कुरे, वर्षादावेव तेषां व्यवायधर्म्मो लोकप्रसिद्धः । वाच० ॥

इंदमुद्धाभिसित्त–इन्द्रमूर्द्धाभिषिक्त–पु० एकैकपक्षस्य पञ्चदशदिवसेषु स्वनामख्याते सप्तमे दिवसे, "इंदमुद्धाभिसित्तेय" चं० १० पाहु० । ज्यो० । जं० ॥

इंदय–इन्द्रक–पु. इन्द्रशब्दार्थे, स्था. ६ ठा० ।

इंदयणिरय–इन्द्रकनिरय–पु० निरयेन्द्रकमहानिरये, स्था. ६ ठा० ।

इंदराय–इन्द्रराज–पुं. इन्द्रे, । "घणसमए इंदरायस्स" ति० ॥

इंदलट्ठि–इन्द्रयष्टि–स्त्री० इन्द्रकेतौ, निव्वत्तमहेव्व इंदलट्ठी विमुक्कसंधिबंधणा ॥ ज्ञा० १ अ० ॥

इंदवज्जा–इन्द्रवज्रा–स्त्री० स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः उक्ते एकादशाक्षरपादके वर्णवृत्तभेदे, वाच० । वृत्तर० ॥

इंदवंसा–इन्द्रवंशा–स्त्री० स्यादिन्द्रवंशा ततजैरसंयुतैः वृत्तर० उक्ते द्वादशाक्षरपादके वर्णवृत्तभेदे, वाच. ॥

इंदवसु–इन्द्रवसु–स्त्री० पांचालदेशस्थकांपिल्यनगरनिवासिब्रह्मदत्तस्य जायायाम् । उत्त० १३ अ० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इंदवागरण–इन्द्रव्याकरण–न० शब्दशास्त्रभेदे, कल्प० ।

तच्च भगवत ऋषभदेवस्य समये संजातम् ॥

अह तं अम्मा पियरो, जाणित्ता अहियअट्ठवासं तु ।
कयकोउयलंकारं, लेहायरियस्स उवणेंति ॥

अथ भीषणानन्तरं कियत्कालातिक्रमे भगवन्तमधिकाष्टवर्षं मातापितरौ ज्ञात्वा कृतानि कौतुकानि रक्षादीनि अलङ्काराश्च केयूरादयो यस्य स तथा तं प्रवरहस्तिस्कन्धगतं तु परितो-मुक्ताजालमाल्यदाम्ना छत्रेण ध्रियमाणेन चामराभ्यां वीज्यमानं मित्रज्ञातिपरिजनसमेतं लेखाचार्याय उपाध्यायाय उपनयतः । पाठान्तरं वा " उवणीसु " उपनीतवन्तौ उपाध्यायस्य महासिंहासनं रचितं अत्रान्तरे देवराजस्य शक्रासनकम्पो बभूव । अथावधिना च प्रयोजनविधि विज्ञाय अहो सत्यपत्यस्नेहविलसित शुभमत्रयगुरुं प्रति मातापितृभ्यां भगवन्तमपि लेखाचार्यायापनेतुमभ्युद्यताविति संप्रधार्यागत्य च उपाध्यायपरिकल्पिते बृहदासने भगवन्तं निवेश्य शब्दलक्षणं पृष्टवान् । कल्प० ॥

अमुमेवार्थं प्रतिपादयति ।

सक्को य तस्समक्खं, भयवंतं आसणे निवेसित्ता ।
सद्दस्स लक्खणं पुच्छे, वागरणं अवयवा इंदं ॥

शक्रो देवराजस्तत्समक्षं लेखाचार्यसमक्षं भगवन्तं तीर्थकरमासने निवेश्य शब्दलक्षणं पृच्छति भगवता च व्याकरणमभ्यधायि । " व्याक्रियन्ते लौकिकाः सामयिकाश्च शब्दा अनेनेति व्याकरणं " शब्दशास्त्रं तदवयवाः केचन उपाध्यायेन गृहीतास्ते च संदर्भितास्ततः ऐन्द्रं व्याकरणं संजातम् । आ० म० द्वि० । आ० चू० ॥

इंदसत्तु–इन्द्रशत्रु–पुं० इन्द्रः शत्रुः शातयिता यस्य । वृत्रासुरे, वाच० ॥

इंदसम्म (न्) इन्द्रशर्मन्–पुं० आस्थिकग्रामस्थस्य शूलपाणियक्षस्यार्चके ब्राह्मणे , " इन्द्रशर्मा भृतिन्दत्त्वा श्चास्यैस्तस्यार्चकः कृतः " इति ॥ आ० क० । आ० चू० । " तत्थ इंदसम्मो नाम परियारगो कओ " ॥ आ० म० द्वि० । मोराकसंनिवेशस्थे स्वनामख्याते गृहपतौ च (तत्कथा महावीरस्य मोराकसन्निवेशगतस्य विहारसमय–महावीरशब्दे वक्ष्यते)

इंदसलह–इन्द्रशलभ–पुं० इन्द्रजातः वर्षाकालजातशलभः । इन्द्रगोपे, वाच० ॥

इंदसिरि–इन्द्रश्री–स्त्री० पंचालदेशस्थकाम्पिल्यनगरनिवासिनो ब्रह्म (राज) दत्तस्य भार्यायाम्, उत्त० १३ अ० ।

ऐन्द्रश्री–स्त्री० इन्द्रो जीवस्तस्येयमैन्द्री सा चासौ श्रीश्चैन्द्रश्रीः। आत्मगुणलक्ष्म्याम्. " ऐन्द्रश्रीसुखमग्नेन, लीलालग्नमिवाखिलम् सच्चिदानन्दमग्नेन, पूर्णं जगदवेक्ष्यते ।१। " अष्ट० १ प्र० ।

इंदसेढि–ऐन्द्रश्रेणि–स्त्री० इन्द्राणामियमैन्द्री सा चासौ श्रेणिश्चेति ऐन्द्रश्रेणी । इन्द्रपंक्तौ, " ऐन्द्रश्रेणिनता प्रतापभवनं भव्याङ्गिनेत्रामृतं सिद्धान्तोपनिषद्विचारचतुरैः प्रीत्या प्रमाणीकृता । मूर्तिः स्फूर्तिमती सदा विजयते जैनेश्वरी विस्फुरन्मोहोन्मादघनप्रमादमदिरामत्तैरनालोकिता " ॥ १ ॥ प्रति० ।

इंदसेणा–इन्द्रसेना–स्त्री० ६ त० । इन्द्रस्य कटके, " गंधव्वनट्टइयगयरहवलभोगियाण सव्वइंदाणं । बेमाणियाणि य सहा, कहिया य अहोविभाणेसु " ॥४५॥ संथा० सू० । (स्वरूपमधिप-तयश्च भणिय शब्दे) जंबूमंदरोत्तरवर्तिन्यां रक्तवतीम्महानदीं-समुपयान्त्यामहानद्याम्, । स्था० १० ठा० ।

इंदा–इन्द्रा–स्त्री० इदि रन् इन्द्रवारुण्याम्, । राजनि ० । शक्याम्, शब्दर० । वाच ० ॥ जम्बूमन्दरोत्तरवर्तिन्यां रक्तवतीं महानदीं समुपयान्त्याम्महानद्याम्, स्था० १० ठा० । धरणस्य नागकुमारेन्द्रस्य स्वनामख्यातायामग्रमहिष्याम्, स्था. ६ ठा० ।

ऐन्द्री–स्त्री. इन्द्रो देवता यस्याः सा ऐन्द्री । पूर्वस्यान्दिशि स्था० १० ठा० । भ० । विशे० । " इंदा विजयदाराणुसारतो " ॥ ऐन्द्री दिक् विजयद्वारानुसारतः प्रतिपत्तव्या यत्र विजयद्वारं सा ऐन्द्रीति भावार्थः । आ० म० द्वि० ॥ या रुचकात् विजयद्वारानुसारेण विनिर्गता दिक् सा ऐन्द्री । ऐन्द्री नामपूर्वेत्यर्थः ॥ आ० म० द्वि० ॥

इंदाणी–इन्द्राणी–स्त्री० इन्द्रस्य पत्नी । ङीप् आनुक् च । इन्द्रस्याग्रमहिष्याम्, । स्था० ४ ठा. ।

इंदायरिय–इन्द्राचार्य–पुं० योगविधिकारके स्वनामख्याते-आचार्ये, जैनइ० ॥

इंदासण–इन्द्रासन–पुं० इन्द्र आत्मा अस्यते विक्षिप्यतेऽनेन असु क्षेपे करणे ल्युट् । (सिद्धि) संविदाख्ये तत्सेवने हि आत्मनो विक्षिप्तत्वात्तस्य तथात्वम् । पञ्चमात्रिकस्य प्रस्तावे आदिलघुके शेषगुरुद्वयात्मके प्रथमे भेदे, वाच० ॥

इंदाहिट्ठिय–इन्द्राधिष्ठित–त्रि० इन्द्रयुते, " इंदाहिट्ठिया " इति । इन्द्राधिष्ठिता तद्युक्तत्वादिति । भ० ३ श० १ उ० । " दसकप्पा इंदहिट्ठिया पण्णत्ता " । सौधर्मादीनामिन्द्राधिष्ठितत्वमेतेष्विन्द्राणां निवासादिति वृत्तिः । स्था० १० ठा० ।

इंदाहीण–इन्द्राधीन–त्रि० इन्द्रवश्ये, भ० ३ श० १ उ० ।

इंदाहीणकज्ज–इन्द्राधीनकार्य–त्रि० इन्द्रवश्यकार्ये, भ० ३ श० १ उ० ॥

इंदिय–इन्द्रिय–न० इदि परमैश्वर्ये इदितो नुम् इन्दनादिन्द्र आत्मा (जीव) सर्वे विषयोपलब्धि (ज्ञान) भोगलक्षणपरमैश्वर्ययोगात् तस्य लिङ्गं चिन्हमविनाभाविलिङ्गसत्तासूचनात् प्रदर्शनादुपलम्भनाद् व्यञ्जनाच्च जीवस्य लिङ्गमिन्द्रियलिङ्गमिन्द्रियविषयोपलम्भनात् ज्ञापकत्वसिद्धिः तत्सिद्धौ उपयोगलक्षणो जीव इति जीवत्वसिद्धिः । अष्ट० । आ० म० द्वि० । तेन दृष्टं सृष्टं जुष्टं दत्तमिति वा इन्द्रियम् । स्था० ५ ठा० । इन्द्रियमिति निपातनसूत्राद्रूपनिष्पत्तिः–नं० । जी० । विशे० । पा० । पं० सं० । इन्द्रशब्दादियप्रत्यय इति । प्रज्ञा० १५ पद । आ० चू० ॥ श्रोत्रादौ, । उत्त० १६ अ० । सूत्र० । नयनवदनजघनवक्षःस्तनाभिकक्षादौ, उत्त० १६ अ० " नो निग्गंथे इत्थीणं इंदियाइं मणोहराइं मणोरमाइं आलोइत्ता निज्झाइत्ता भवति " उत्त०

इंदो जीवो सव्वो–वलद्धिभोगपरमेसरत्तणओ ।
सोत्ताइभेयमिंदिय–मिह तल्लिंगाइ भावाओ ॥

इदि परमैश्वर्ये इन्दनात्परमैश्वर्ययोगादिन्द्रो जीवः परमैश्वर्यमस्य कुत इत्याह (सव्वो इत्यादि) आवरणाभावे सर्वस्यापि वस्तुन उपलम्भाभावेषु सर्वस्यापि त्रिजगत्कृतस्य वस्तुनः परिभोगाच्च परमेश्वरो जीव इति तस्य परमैश्वर्यं तस्येन्द्रस्य जीवस्य लिङ्गं चिन्हं तेन दृष्टं वा निपातनादिहेन्द्रियमुच्यते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तल्लिङ्गादिभावादिति । तच्च श्रोत्रादिभेदं श्रोत्रनयनघ्राणरसनस्पर्शनभेदात्पञ्चविधमित्यर्थः । विशे० ॥

स्था० । प्रव० । सूत्र० । पञ्च स्पर्शादीनि बुद्धीन्द्रियाणि वाक्पाणिपादपायूपस्थरूपाणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि एकादशं मन इति सांख्याः । सूत्र० १ श्रु० १ अ० ।

तस्य च नोइन्द्रियत्वं स्थानाङ्गे उक्तम् । तद्यथा—

छहिं इन्दियत्था पण्णत्ता तंजहा सोइंदियत्थे जाव फासिंदियत्थे नो इंदियत्थे ।

तत्र श्रोत्रेन्द्रियादीनामर्था विषयाः शब्दादयः मनस आन्तरकरणत्वेन करणत्वात्करणस्य चेन्द्रियत्वात्तत्रान्तररूढ्या वा मनस इन्द्रियत्वात्तद्विषयस्येन्द्रियार्थत्वेन षडिन्द्रियार्था इत्युक्तम् । औदारिकादित्वार्थपरिच्छेदकत्वलक्षणधर्मे द्वयोपेतमिन्द्रियं तस्यौदारिकादित्वधर्मलक्षणदेशनिषेधात्नोइन्द्रियमनः सादृश्यार्थत्वाद्वा नोशब्दस्यार्थपरिच्छेदकत्वे नेन्द्रियाणां सदृशमिति तत्सहचरमिति वा नोइन्द्रियं मनस्तस्यार्थो विषयो जीवादिर्नो इन्द्रियार्थ इति । स्था० ६ ठा० ।

१—इन्द्रियाणां पञ्चत्वेऽपि नामादितश्चातुर्विध्यं द्रव्यादितो द्वैविध्यं तत्संस्थानञ्च ।

२—इन्द्रियाणां बाहुल्यपृथक्त्वप्रदेशावगाहनास्तदुद्घात वेदना च ।

३—इन्द्रियाणां पृथुत्वं तदवगाहना च ।

४—इन्द्रियाणामल्पबहुत्वं तद्गुणाश्च ।

५—नैरयिकादिषु संस्थानाद्यल्पबहुत्वचिन्तनम् ।

६—इन्द्रियाणां वर्त्तमानार्थग्राहकत्वम् ।

७—इन्द्रियाणां स्पृष्टास्पृष्टविषयता तद्ग्रहणप्रकारश्च ।

८—इन्द्रियाणां प्रविष्टाप्रविष्टविषयचिन्तनम् ।

९—श्रोत्रलक्षणादीन्द्रियाणां प्राप्यकारित्वं नयनमनसोरप्राप्यकारित्वम् ।

१०—इन्द्रियाणां विषयनिरूपणम् ।

११—इन्द्रियासंभृतत्वरूपस्येन्द्रियासम्वरदोषस्य चाभिधानम् ।

१२—इन्द्रियाणां गुणागुणदोषाभिधानम् ।

१३—अनामितानि चेन्द्रियाणि दुःखाय भवन्ति इत्यत्रोदाहरणानि ।

१४—इन्द्रियाश्रितत्वे जीवानां भेदाः ।

(१) इन्द्रियाणां पञ्चत्वेऽपि नामादितश्चातुर्विध्यं द्रव्यादितो द्वैविध्यं तत्संस्थानञ्च ।

कइणं भंते ! इंदिया पण्णत्ता ? गोयमा ! पंचिंदिया पण्णत्ता तंजहा सोइंदिए चक्खिंदिए घाणिंदिए जिब्भिंदिए फासिंदिए ।

कति कियत्संख्याकानि णमिति वाक्यालङ्कारे भदन्त ! इन्द्रियाणि प्राग्निपतितशब्दार्थानि वक्तव्यानि भगवानाह । गौतम ! पञ्चेन्द्रियाणि प्रज्ञप्तानि तान्येव नामत आह " सोइंदिय " इत्यादि । प्रज्ञा० १५ पद ।

एतानि च पञ्चापि इन्द्रियाणि नामादिभेदाच्चतुर्विधानि

तं नामाइ चउद्धा, दव्वं निव्वित्ति उवगरणं च ।
आगासे निव्वित्ति, चिंताइज्झाय माऊभो ॥

तत्रामेन्द्रियस्थापनेन्द्रियमित्यादि भेदाश्चतुर्धा तत्र ज्ञभव्यशरीरव्यतिरिक्तं द्रव्यं द्रव्येन्द्रियं निर्वृत्तिरुपकरणं चेति द्विभेदम् । विशे० ।

भावतो लब्ध्युपयोगात्मकानि आह च तत्त्वार्थसूत्रकृत् निर्वृत्युपकरणे द्रव्येन्द्रियं लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियमिति । तत्र निर्वृत्तिर्नाम प्रतिविशिष्टः संस्थानविशेषः साऽपि द्विविधा बाह्याभ्यन्तरा च तत्र बाह्या पर्पटिकादिरूपा सा च विचित्रा न प्रतिरूप नियतरूपतयोपदेष्टुं शक्यते ॥ तथाहि । मनुष्यश्रोत्रे नेत्रयोरुभयपार्श्वतो भाविनी भ्रुवौ चोपरितनश्रवणबन्धापेक्षया समे वाजिनीनेत्रयोरुपरि तीक्ष्णे चाग्रभागे इत्यादि जातिभेदान्नानाविधा आभ्यन्तरा तु निर्वृत्तिः सर्वेषामपि जन्तूनां समानतामेवाधिकृत्य वक्ष्यमाणानि संस्थानादिविषयाणि सूत्राणि केवलं स्पर्शनेन्द्रियस्य निर्वृत्तेर्बाह्याभ्यन्तरभेदा न प्रतिपत्तव्याः पूर्वसूरिभिर्निषेधात् । प्रज्ञा० १५ पद । आ० म० द्वि० । तत्त्वार्थमूलटीकायामनभ्युपगमात् । जी० १ प्र० ।

इन्द्रियाणां संस्थानान्याह ।

पुप्फं कलंबुयाए, धन्न—मसूरादिमुत्तचंदो य ।
होई खुरुप्पनाणा, किई य सोइंदियाईणं ॥

श्रोत्रस्यान्तर्निर्वृत्तिः कदम्बपुष्पाकारमांसगोलकरूपा दृष्टव्या । चक्षुषस्तु धान्यमसूराकारा, घ्राणस्य अतिमुक्तककुसुमचन्द्रकाकारा, रसनस्य क्षुरप्राकारा, स्पर्शनं तु नानाकृतिर्द्रष्टव्यमित्येष श्रोत्रादीनां तन्निर्वृत्तेराकार इति । विशे० ।

तथाच प्रज्ञापनाया पञ्चदशे पदे ।

सोइंदिए णं भन्ते ! किं संठिए पण्णत्ते ? गोयमा ! कलंबुयापुप्फसंठाणसंठिए पण्णत्ते चक्खिंदिएणं पुच्छा गोयमा ! मसूरा चंदसंठाणसंठिये पण्णत्ते, घाणिंदिएणं पुच्छा गोयमा ! अइमुत्तगचंदसंठाणसंठिए पण्णत्ते, जिब्भिंदिएणं पुच्छा गोयमा ! खुरुप्पसंठाणसंठिए पण्णत्ते फासिंदिएणं पुच्छा गोयमा ! नाणासंठाणसंठिए पण्णत्ते,

तत्रान्तः श्रोत्रेन्द्रियस्यान्तर्मध्ये नेत्रगोचरोऽतीता केवलिदृष्टा अतिमुक्तककुसुमाकारा देहावयवरूपा काचिन्निर्वृत्तिरस्ति शब्दग्रहणोपकारे वर्तते चक्षुरिन्द्रियस्यान्तर्मध्ये केवलिगम्या धान्यमसूराकारा काचिन्निर्वृत्तिरस्ति या रूपग्रहणोपकारे वर्तते । घ्राणेन्द्रियस्यान्तर्मध्ये केवलिदृष्टा अतिमुक्तककुसुमाकारा देहावयवरूपा काचिन्निर्वृत्तिरस्ति या गन्धग्रहणोपकारे वर्तते । रसनेन्द्रियस्यान्तर्मध्ये जिनगम्या क्षुरप्रहरणाकारा देहावयवरूपा काचिन्निर्वृत्तिरस्ति या रसग्रहणोपकारे वर्तते । स्पर्शनेन्द्रियस्यान्तः केवलिदृष्टा देहाकारा काचिन्निर्वृत्तिरस्ति या स्पर्शग्रहणोपकारे वर्त्तते ॥ तंदु० ॥

उपकरणं खड्गस्थानीया बाह्या निर्वृतिर्या खड्गधारासमानास्वच्छतरपुद्गलसमूहात्मिका अभ्यन्तरा निर्वृत्तिस्तस्याः शक्तिविशेषः इदञ्चोपकरणरूपं द्रव्येन्द्रियमन्तरेनिर्वृत्तेः कथं चिदर्थान्तरं शक्तिशक्तिमतोः कथंचिद्भेदात्कथञ्चिद्भेदश्च सत्यामपि तस्यामान्तरनिर्वृत्तौ द्रव्यादिनापकरणस्य विघातसम्भवात् तथाहि—सत्यामपि कदम्बपुष्पाद्याकृतिरूपायामान्तरनिर्वृत्तावतिकठोरतरघनगर्जितादिना शक्त्युपघाते सति नपरिच्छेत्तुमीशते जन्तवः शब्दादिकमिति । प्रज्ञा० १५ पद ।

विसयग्गहणसमत्थं, उवगरणिंदियं तरं तं पि ।
जं ते ह तदुवघाए गिण्हइ निव्वत्तिभावे वि ॥

तस्य एव कदम्बपुष्पाकृतिमांसगोलकरूपायाः श्रोत्राद्यन्तर्नि-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वृत्तेर्यद्विषयग्रहणसमर्थं शक्तिरूपमुपकरणं द्रव्येन्द्रियमुच्यते इति शेषः । यथा खड्गस्य छेत्री शक्तिर्वह्नेर्वा दाहादिकाशक्तिस्तथेदमपि श्रोत्राद्यन्तर्निर्वृत्तेर्विषयग्रहणसमर्थशक्तिरूपं द्रष्टव्यम् । तर्ह्यन्तर्निर्वृत्तिरेव तच्छक्तिरूपत्वान्न पुनर्भेदान्तरमित्याशंक्याह । तदपीन्द्रियान्तरं द्रव्येन्द्रियस्य भेदान्तरमित्यर्थः कुत इत्याह (जमित्यादि) यस्मादिह कदम्बपुष्पाद्याकृतेर्मांसगोलकाकारायाः श्रोत्राद्यंतर्निर्वृत्तेर्या शब्दादेर्विषयच्छेत्री शक्तिस्तस्या वातपित्तादिना उपघाते विनाशे सति यथोक्तांतर्निर्वृत्तिसद्भावेपि न शब्दादिविषयं गृह्णाति जीव इत्यतो ज्ञायते अस्त्यन्तर्निर्वृत्तिशक्तिरूपमुपकरणेन्द्रियं द्रव्येन्द्रियस्य द्वितीयो भेद इति। विशे० "इंदियाणि दुविहाणि दव्विंदियाणि भावेंदियाणि अ दव्विंदियं दुविहं णिव्वत्तणाए उवकारणे य णिव्वत्तणाए जहा लोहकारो भणितो एतेण लोहेण परसुं वासिं थोभणयं च णिवत्तेहिति तेण तं गहाय ततोहिं पमाणेहिं खंडियाणि जाव कम्मस्स समत्थाणि सा णिव्वत्तणा कज्जसमत्थाणि जायाणि उवगरणाइं" ॥ आ० चू० २ अ० ॥ भावेन्द्रियमपि द्विधा लब्धिरुपयोगश्च तत्र लब्धिः श्रोत्रेन्द्रियादिविषयस्तदावरणक्षयोपशमः उपयोगः स्वस्वविषये लब्ध्यनुसारेणात्मनः परिच्छेदव्यापारः। जी० १ प्र० । "भावेंदियं दुविहं लद्धिए उवओगत्तो य जाणि जेण जीवेण लद्धाइं इंदियाणि सा लद्धा एगिंदियाणं एगा फासिंदियलद्धि बेंदियाणं तेइंदियाणं चउरिंदियाणं पंचेंदियाणं पंचविहो उवओगो-जाहे जेण इंदिएण उवउज्जति सव्वजीवा य किर उवओगं पडुच्च एगिंदिया" आ०-चू० २ अ०॥

तदाह ॥

लद्धुवओगो भाविं-दियं तु लद्धित्ति जो खओवसमो ।
होइ तदावरणाणं, तल्लाभे चेव सेसं पि ॥ १ ॥

लब्ध्युपयोगो भावेंद्रियं तत्र यदावरणानां तेषामिन्द्रियाणामावारककर्म्मणां क्षयोपशमो भवति जीवस्य सा लब्धिः शेषमपि द्रव्येन्द्रियं तल्लाभ एव लब्धिप्राप्तावेव भवतीति द्रष्टव्यमिति ॥

उपयोगः क इत्याह ॥

जो सविसयवावारो, सो उवओगो स चेगकालम्मि ॥
एगेण होइ तम्हा, उवओगाओ उ सव्वो वि ॥१॥

यः श्रोत्रादीन्द्रियस्य स्वविषये शब्दादौ परिच्छेद्य व्यापारः स उपयोगः स चैकस्मिन्काले एकेनैव श्रोत्राद्यन्तरेण इन्द्रियेण भवति न बहुभ्यादिभिः तस्मादुपयोगमाश्रित्य सर्वोपि जीव एकेन्द्रिय एव सर्वस्मिन्काले देवादीनामप्येकस्यैव श्रोत्राद्यन्तरेन्द्रियोपयोगस्य सद्भावादिति । यद्युपयोगतः सर्वोपि जीव एकेन्द्रियस्तर्ह्येकेन्द्रियो द्वीन्द्रिय इत्यादिर्भेदः कथमागमनिर्दिष्ट इत्याह—

एगेंदियाइभेया, पडुच्च सेसेंदियाणि जीवाणं ॥
अहवा पडुच्च लद्धिं-दियं पि पंचेंदिया सव्वे ॥ १ ॥

अतो जीवानामेकेन्द्रियादयो भेदाः शेषाणि निर्वृत्त्युपकरणलब्धीन्द्रियाणि प्रतीत्य द्रष्टव्यं तानि यस्य यावन्ति तावद्भिर्व्यपदेश इति न तूपयोगतः अथवा लब्धीन्द्रियमप्याश्रित्य वक्ष्यमाणयुक्तितः सर्वे पृथिव्यादयोऽपि जीवाः पञ्चेन्द्रिया एवेति कुतः सर्वे पञ्चेन्द्रिया इत्याह ॥

जं किर बउलाईणं, दीसइ सेसेंदिओवलंभो वि ॥
तेण त्थि तदावरण-क्खओवसमसंभवो तेसिं ॥१॥

यस्मात् किल बकुलचंपकतिलकविरहकादीनां वनस्पतिविशेषाणां स्पर्शनाच्छेषाणि यानि रसनघ्राणचक्षुःश्रोत्रलक्षणानीन्द्रियाणि तत्संबन्ध्युपलम्भो दृश्यते तेन ज्ञायते तेषामपि बकुलादीनां तदावरणक्षयोपशमसंभवो रसनादीन्द्रियावारककर्मक्षयोपशमस्य या च यावती मात्रा अस्तीति अन्यथा हि बकुलस्य शृंगारितकामिनीवदनार्पितचारुमदिरागण्डूषेण चंपकस्यातिसुरभिगन्धोदकसेचनेन तिलकस्य कामिनीकटाक्षविक्षेपेण विरहकस्य पञ्चमोद्गारश्रवणेन पुष्पपल्लवादिसंभवो न घटेत। विशे० ॥ यद्यपि द्रव्यरूपं भावरूपं चेत्यामिन्द्रियमनेकप्रकारं तथापीह बाह्यनिर्वृत्तिरूपमिन्द्रियं गृहमवगन्तव्यं तदेवाधिकृत्य व्यवहारप्रवृत्तेः तथाहि बकुलादयः पञ्चेन्द्रिया इव भावेन्द्रियपञ्चकविज्ञानसमन्विता अनुमानतः प्रतीयन्ते तथापि न ते पञ्चेन्द्रिया इति व्यवह्रियंते बाह्येन्द्रियपञ्चकासंभवात् । जी० १ प्र० ॥

पंचिंदियव्व बउलो, नरोव्व सव्वविसयोवलंभाउ ॥
तह वि न भण्णइ पंचें-दिओत्ति वज्झिंदियाभावा ॥१॥

पंचेंद्रिय इव बकुल इति प्रतिज्ञा सर्वेषामपि शब्दरूपादिविशेषाणामुपलम्भादिति हेतुः नरवदिति दृष्टान्तः । ननु बकुलस्य रसनेन्द्रियोपलम्भ एवोक्तस्तत्कथमस्य सर्वविषयोपलम्भसंभव इति सत्यम् मुख्यस्तावत्स एव संभवति गौणवृत्त्या तु शेषेन्द्रियविषयोपलम्भोऽप्यस्य संभाव्यते शृङ्गारितस्वरूपतरुणीमदिरागण्डूषार्पणात् तस्यां च तनुलतास्पर्शाद्यस्य चंदनादिगन्धशोभनरूपमधुरोल्लापलक्षणानां पञ्चानामपीन्द्रियविषयाणां संभवादिति अन्यथा वा पञ्चेन्द्रियत्वमस्य सुधिया भावनीयं तर्ह्येकेन्द्रियो बकुलः कथं प्रसिद्धः पञ्चेन्द्रियोऽपि कस्मान्न व्यपदिश्यत इत्याह ॥ तथापि पञ्चेन्द्रियोऽसौ न भण्यते बाह्यानां निर्वृत्त्यादि द्रव्येन्द्रियाणामभावादिति ॥

अमुमेवार्थं कुंभकारव्यपदेशदृष्टांतेन समर्थयन्नाह ॥

सुत्तो वि कुंभनिव्वत्ति, सत्तिजुत्तोत्ति जह सघरुकारो ।
लद्धेंदिएण पंचें-दिओ तहाबज्झिरहिओ वि ॥

सुबोधार्थमिन्द्रियाणां लाभक्रम उच्यते। तत्र यदा द्रव्येन्द्रियसामान्यं भावेन्द्रियसामान्यं वाश्रित्य पृच्छ्यते तदा तल्लाभे चैव "सेसंपित्ति" प्रागुक्तवचनाल्लब्धिमाश्रित्य प्रथमं भावेन्द्रियलाभस्ततो द्रव्येन्द्रियलाभ इति द्रष्टव्यम् । यस्तु द्रव्येन्द्रियभावेन्द्रियसामान्याद्भिन्नः कुतो लाभः पृच्छ्यते विशेषरूपतया पृच्छ्यते इत्यर्थः तदित्थं द्रष्टव्यं प्रथममिन्द्रियावरणक्षयोपशमरूपा लब्धिर्भवति ततो बाह्यान्तरभेदभिन्नं निर्वृत्तेः शक्तिरूपमुपकरणं तदनन्तरं चेन्द्रियार्थोपयोग इत्येतदेवाह ॥

लाभक्कमे उ लद्धी, निव्वउवगरणउवओगो ।
या दव्वेंदिय भाविं—दिय सामन्नओ कओ भिन्नो ॥

व्याख्यातार्थां तदेव व्याख्यातमिन्द्रियस्वरूपम । विशे० नं० । तं० । आ० म० द्वि० । प्रज्ञा० । जी० । स्था० । पा० । अष्ट० । आचा० ।

द्रव्येन्द्रियभावेन्द्रियभेदाः यथा--

कतिविहा णं भंते! इंदिया पण्णत्ता ? गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता, तं जहा दव्विंदिया य भाविंदिया य । कइणं भंते!

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दव्विंदिया पणत्ते ? गोयमा ! अट्ठदव्विंदिया पण्णत्ते, तंजहा दो सोत्ता दो नेत्ता दो घाणा जीहा फासे । नेरइयाणं भंते ! कइ दव्विंदिया पणत्ता ? गोयमा ! अट्ठा एते चेव एवं असुरकुमाराणं जाव थणियकुमाराण वि । पुढविकाइयाणं भंते ! कइ दव्विंदिया पण्णत्ता ? गोयमा ! एगे फासिंदिए पण्णत्ते । एवं जाव वणस्सइकाइयाणं । बेइंदियाणं भंते ! कइ दव्विंदिए पण्णत्ते ? गोयमा ! दो दव्विंदिया पण्णत्ता, तं जहा फासिंदिए य जिब्भिंदिए य । तेइंदियाणं पुच्छा, गोयमा ! चत्तारि दव्विंदिया पण्णत्ता दो घाणा जीहा फासिंदिए । चउरिंदियाणं पुच्छा, गोयमा ! छ-दव्विंदिया पण्णत्ता, तं जहा–दो नेत्ता दो घाणा जीहा फासे सेसाणं जहा नेरइयाणं जाव वेमाणियाणं । एगमेगस्स णं भंते ! नेरइयस्स केवइया दव्विंदिया अईया ? गोयमा ! अणंता । केवइया बद्धेल्लगा ? गोयमा ! अट्ठ । केवइया पुरक्खडा ? गोयमा ! अट्ठ वा सोलस वा सत्तरस वा संखेज्ज वा असंखेज्ज वा अणंता वा । एगमेगस्स णं भंते ! असुरकुमारस्स केवइया दव्विंदिया अतीता ? गोयमा ! अणंता । केवइया बद्धेल्लगा ? अट्ठ ! केवइया पुरक्खडा ? अट्ठ वा नव वा संखिज्जा वा असंखिज्जा वा अणंता वा । एवं जाव थणियकुमाराणं ताव जाणियव्वं । एवं पुढविकाइयआउकाइयवणस्सइकाइयस्स वि नवरं केवइया बद्धेल्लगत्ति पुच्छा, एवं उत्तरं एके फासिंदिए दव्विंदिए एवं तेउकाइय । वाउकाइयस्स वि नवरं पुरक्खडा नव वा दस वा । एवं बेइंदियाए वि नवरं बद्धेल्लगपुच्छाए, दोन्नि । एवं तेइंदियस्स वि बद्धेल्लगा चत्तारि । एवं चउरिंदियस्स वि नवरं बद्धेल्लगा ! पंचिंदियतिरिक्खजोणियमणुस्सवाणमंतरजोइसिय सोहम्मीसाणगदेवस्स जहा असुरकुमारस्स । नवरं मणुस्सस्स पुरक्खडा कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि जस्स अत्थि अट्ठ वा नव वा संखिज्जा वा असंखिज्जा वा अणंता वा । सणंकुमारमाहिंदबंभलंतगसुक्कसहस्सार आणयपाणयआरणअच्चुयगेविज्जगदेवस्स जहा नेरइयस्स । एगमेगस्स णं भंते ! विजय-वेजयंत-जयंत-अपराजियदेवस्स केवइया दव्विंदिया अतीता ? गोयमा ! अणंता, केवइया बद्धेल्लगा ? अट्ठ । केवइया पुरक्खडा ? अट्ठ वा सोलस वा चउवीसा वा संखेज्जा वा । सव्वट्ठसिद्धगदेवस्स अतीता अणंता बद्धेल्लगा अट्ठ पुरक्खडा अट्ठ । नेरइया णं भंते ! केवइया दव्विंदिया अतीता ? गोयमा ! अणंता । केवइया बद्धेल्लगा ? गोयमा ! असंखिज्जा । केवइया पुरक्खडा ? गोयमा ! अणंता । एवं जाव गेवेज्जगदेवाणं नवरं मणुस्साणं बद्धेल्लगा सिय संखिज्जा सिय असंखिज्जा । विजयवेजयंतजयंत अपराजियदेवाणं पुच्छा, गोयमा ! अतीता अणंता बद्धेल्लगा असंखिज्जा पुरक्खडा असंखिज्जा सव्वट्ठसिद्धगदेवाणं पुच्छा, गोयमा ! अतीता अणंता वा बद्धेल्लगा संखिज्जा पुरक्खडा संखेज्जा ॥

(कइविहाणं भंते इंदिया पण्णत्ता इति) द्रव्येन्द्रियं सुगमं प्राग्भावितत्वात् । (कइविहेणं भंते! दव्विंदिया पण्णत्ता इति) द्रव्येन्द्रियसंख्याविषयं दण्डकसूत्रं पाठसिद्धम् । अतीतानागतबद्धपुरस्कृतद्रव्येन्द्रियचिन्तायाम्–यो नैरयिको ऽनन्तरमनुष्यत्वमवाप्य सेत्स्यति तस्य मानुषभवसम्बन्धीन्यष्टौ, यः पुनरन्यतरभवे तिर्यक् पञ्चेन्द्रियत्वमवाप्य तत उद्वृत्तो मनुष्येषु गत्वा सेत्स्यति तस्याष्टौ तिर्यक्पञ्चेन्द्रियभवसम्बन्धीन्यष्टौ मनुष्यभवसम्बन्धीनीति षोडश । यः पुनरनन्तरं नरकादुद्वृत्तस्तिर्यक् पञ्चेन्द्रियत्वमवाप्य तदनन्तरमेकभवे पृथिवीकायादिको भूत्वा मनुष्येषु समागत्य सेत्स्यति तस्याष्टौ तिर्यक्पञ्चेन्द्रियभवसम्बन्धीनि एकं पृथिवीकायादिभवसम्बन्धि अष्टौ च मनुष्यभवसम्बन्धीनि इति सप्तदश संख्येयकालं संसारावस्थायिनः संख्येयानि असंख्येयकालमसंख्येयानि अनन्तकालमनन्तानि, असुरकुमारसूत्रे–पुरक्खडा अट्ठ वा नव वा इत्यादि । तत्रासुरभवादुद्वृत्त्यानन्तरभवे मनुष्यत्वमवाप्य सेत्स्यतोऽष्टौ, असुरकुमारादयस्त्वीशानपर्यन्ताः पृथिव्यब्वनस्पतिषूत्पद्यन्ते ततो योऽनन्तरभवे पृथिव्यादिषु गत्वा तदनन्तरं मनुष्यत्वमवाप्य सेत्स्यति तस्य नव संख्येयादिभावना प्राग्वत् पृथिव्यब्वनस्पतिसूत्रे पुरक्खडा अट्ठ वा नव वेति ॥ पृथिव्यादयो ह्यनन्तरमुद्वृत्य मनुष्येषूत्पद्यन्ते सिद्ध्यंति च तत्र योऽनन्तरभवे मनुष्यत्वमवाप्य सेत्स्यति तस्य मनुष्यभवसम्बन्धीन्यष्टौ यस्त्वनन्तरमेकं पृथिव्या भवमवाप्य तदनन्तरं मनुष्यो भूत्वा सेत्स्यति तस्य नव तेजोवायवो ऽनन्तरमुद्वृत्ता मनुष्यत्वमेव न प्राप्नुवन्ति द्वित्रिचतुरिन्द्रियास्त्वनन्तरं मनुष्यत्वमवाप्नुवन्ति परं न सिद्ध्यन्ति, ततस्तेषां सूत्रेषु जघन्यपदे नवनवेति वक्तव्यं शेषभावना प्रागुक्तानुसारेण कर्त्तव्या, मनुष्यसूत्रे पुरस्कृतानि द्रव्येन्द्रियाणि कस्यापि सन्ति कस्यापि न सन्तीति तद्भव एव सिद्ध्यतो न सन्ति शेषस्य सन्तीति भावः यस्यापि सन्ति सोऽपि यद्यनन्तरभवे भूयोऽपि मनुष्यो भूत्वा सेत्स्यति तस्याष्टौ यः पुनः पृथिव्याद्येकभवान्तरितो भूत्वा सिद्धिगामी तस्य नव शेषभावना प्राग्वत् । सनत्कुमारादयो देवा अनन्तरमुद्वृत्ताः न पृथिव्यादिष्वायान्ति किन्तु पञ्चेन्द्रियेषु ततस्ते नैरयिकवद्वक्तव्याः तथाचाह–" सणंकुमारमाहिंद बंभलोयलंतगसुक्कसहस्सार आणय पाणय आरण अच्चुय गेवेज्जगदेवस्सय जहा नेरइयस्स " विजयादिदेवचतुष्टयसूत्रेषु योऽनन्तरभवे मनुष्यत्वमवाप्य सेत्स्यति तस्याष्टौ यः पुनरेकवारं मनुष्यो भूत्वा भूयोऽपि मनुष्यत्वमवाप्य सेत्स्यति तस्य षोडश यस्त्वपान्तराले देवत्वमनुभूय मनुष्यो भूत्वा सिद्धिगामी तस्य चतुर्विंशतिर्मनुष्यभवे ऽष्टौ देवभवेऽष्टौ भूयोऽपि मनुष्यभवे अष्टाविति संख्येयानि संख्येयं कालं संसारावस्थायिन इह विजयादिषु चतुर्षु गताः प्रभूतमसंख्येयमनन्तं वा कालं संसारे नावतिष्ठन्ते ततः संखेज्जा वा इत्येवोक्तं " मा संखेज्जा अणंता वा" इति सर्वार्थे सिद्धस्त्वनन्तरभवे नियमतः सिद्ध्यति ततस्तस्याऽजघन्योत्कृष्टपुरस्कृता अष्टाविति । बहुवचनचिन्तायां नैरयिकसूत्रे बद्धानि द्रव्येन्द्रियाणि असंख्येयानि नैरयिका

णामसंख्यातत्वात् एवं शेषसूत्रेष्वप्युपयुज्य वक्तव्यं नवरं मनुष्यसूत्रे " सियसंखेज्जा " इह सम्मूर्छिममनुष्याः कदाचित्सर्वथा न सन्ति तदन्तरस्य चतुर्विंशतिमुहूर्त्तप्रमाणस्य प्रागभिधानात्, तत्र यदा पृच्छासमये सर्वथा न सन्ति तदा संख्येयानि गर्भजमनुष्याणां संख्येयत्वात्। यदा तु संमूर्छिमा अपि सन्ति तदा असंख्येयानि । सर्वार्थसिद्धमहाविमानदेवाः संख्येया बादरत्वे महाशरीरत्वे च सन्ति परिमितक्षेत्रवर्तित्वात् ततो बद्धानि पुरस्कृतानि वा तेषां द्रव्येन्द्रियाणि संख्येयानि ॥

एगमेगस्स णं भंते ! नेरइयस्स नेरइयत्ते केवइया दव्विंदिया अतीता ? गोयमा ! अणंता । केवइया बद्धेल्लगा ? अट्ठ । केवइया पुरक्खडा ? गोयमा ! कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि । जस्स अत्थि अट्ठ वा सोलस वा चउवीसं वा संखिज्जा वा असंखिज्जा वा अणंता वा । एगमेगस्स णं भंते ! नेरइयस्स असुरकुमारत्ते केवइया दव्विंदिया अतीता ? गोयमा ! अणंता । केवइया बद्धेल्लगा ? गोयमा ! नत्थि । केवइया पुरक्खडा ? गोयमा ! कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि । जस्स अत्थि अट्ठ वा सोलस वा चउवीसं वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा । एवं जाव थणियकुमारत्ते । एगमेगस्स णं भंते ! नेरइयस्स पुढविकाइयत्ते केवइया दव्विंदिया अतीता ? गोयमा ! अणंता । केवइया बद्धेल्लगा ? गोयमा ! णत्थि । केवइया पुरक्खडा ? गोयमा ! कस्सइ अत्थि कस्सइ णत्थि जस्स अत्थि एक्को वा दो वा तिन्नि वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा । एवं जाव वणस्सइकाइयत्ते । एगमेगस्स णं भंते ! नेरइयस्स बेइंदियत्ते केवइया दव्विंदिया अतीता ? गोयमा ! अणंता । केवइया बद्धेल्लगा ? गोयमा ! णत्थि, केवइया पुरक्खडा ? गोयमा ! कस्स अत्थि कस्स नत्थि । जस्स अत्थि दो वा चत्तारि वा छ वा संखिज्जा वा असंखिज्जा वा अणंता वा । एवं तेइंदियत्तेवि नवरं पुरक्खडा चत्तारि वा अट्ठ वा बारस वा संखिज्जा वा असंखिज्जा वा अणंता वा । एवं चउरिंदियत्तेवि नवरं पुरक्खडा छ वा बारस वा अट्ठारस वा संखिज्जा वा असंखिज्जा वा अणंता वा । पंचिंदियतिरिक्खजोणियत्ते जहा असुरकुमारत्ते । मणुस्सत्ते वि एवं चेव नवरं केवइया पुरक्खडा अट्ठ वा सोलस वा चउवीसं वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा, सव्वेसिं मणुस्सवज्जाणं पुरक्खडा मणुस्सत्ते कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थित्ति एवं न वुच्चइ । वाणमंतरजोइसियसोहम्मग जाव गेवेज्जगदेवत्ते अतीता अणंता । बद्धेल्लगा नत्थि । पुरक्खडा कस्स अत्थि कस्स नत्थि जस्स अत्थि अट्ठ वा सोलसं वा चउवीसं वा संखिज्जा वा असंखिज्जा वा अणंता वा । एगमेगस्स णं भंते ! नेरइयस्स विजयवेजयंतजयंतअपराजितदेवत्ते केवइया दव्विंदिया अतीता ? नत्थि केवइया बद्धेल्लगा ? नत्थि । केवइया पुरक्खडा ? कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि जस्स अत्थि अट्ठ वा सोलस वा । सव्वट्ठसिद्धदेवत्ते अतीता नत्थि, बद्धेल्लगा नत्थि, पुरक्खडा कस्स अत्थि कस्स नत्थि जस्स अत्थि अट्ठ । एवं जहा नेरइए दंडओ नीतो तहा असुरकुमारेणवि नेयव्वो जाव पंचिंदियतिरिक्खजोणिएणं नवरं जस्स सट्ठाणे जइ बद्धेल्लगा तस्स तइ जाणियव्वा । एगमेगस्स णं भंते ! मणुस्सस्स नेरइयत्ते केवइया दव्विंदिया अतीता ? गोयमा ! अणंता केवइया बद्धेल्लगा नत्थि केवइया पुरक्खडा ? कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि जस्स अत्थि अट्ठं वा सोलसं वा चउवीसं वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा । जाव एवं पंचिंदियतिरिक्खजोणियत्ते नवरं एगिंदियविगलिंदिएसु जस्स जत्ति पुरक्खडा तस्स तत्तिया जाणियव्वा । एगमेगस्स णं भंते ! मणुस्सस्स मणुस्सत्ते केवइया दव्विंदिया अतीता ? गोयमा ! अणंता । केवइया बद्धेल्लगा ? गोयमा ! अट्ठ, केवइया पुरक्खडा कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि जस्स अत्थि अट्ठं वा सोलसं वा चउवीसं वा संखिज्जा वा असंखिज्जा वा अणंता वा । वाणमंतरजोइसिय जाव गेवेज्जगदेवत्ते जहा नेरइयत्ते । एगमेगस्स णं भंते ! मणुस्सस्स विजयवेजयंतजयंतअपराजियदेवत्ते केवइया दव्विंदिया अतीता ? गोयमा ! कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि जस्स अत्थि अट्ठं वा सोलसं वा । केवइया बद्धेल्लगा णत्थि । केवइया पुरक्खडा कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि जस्स अत्थि अट्ठं वा सोलसं वा । एगमेगस्स णं भंते ! मणुस्सस्स सव्वट्ठसिद्धगदेवत्ते केवइया दव्विंदिया अतीता ? गोयमा ! कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि जस्स अत्थि अट्ठ, केवइया बद्धेल्लगा णत्थि, केवइया पुरक्खडा कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि जस्स अत्थि अट्ठ । वाणमंतरजोइसिया जहा नेरइए । सोहम्मगदेवेवि जहा नेरइए नवरं सोहम्मगदेवस्स विजयवेजयंतजयंतअपराजियदेवत्ते केवइया अतीता ? कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि जस्स अत्थि अट्ठ केवतिया बद्धेल्लगा णत्थि, केवतिया पुरक्खडा कस्सइ अत्थि कस्सइ णत्थि जस्स अत्थि अट्ठ वा सोलस वा । सव्वट्ठसिद्धदेवत्ते जहा नेरइयस्स एवं जाव गेवेज्जगदेवस्स सव्वट्ठसिद्धदेवत्ते ताव नेयव्वं । एगमेगस्स णं भंते ! विजयवेजयंतजयंतअपराजियदेवस्स नेरइयत्ते केवइया दव्विंदिया अतीता ? गोयमा ! अणंता, केवइया बद्धेल्लगा ? णत्थि, केवतिया पुरक्खडा ? नत्थि । एवं जाव पंचिंदियतिरिक्खजोणियत्ते । मणुस्सत्ते अणंता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अतीता बद्धेल्लगा णत्थि, पुरक्खमा अट्ठ वा सोलस वा चउवीसं वा संखेज्जा वा । वाणमंतरजोइसियत्ते जहा नेरइयत्ते । सोहम्मदेवत्ते अतीता अणंता बद्धेल्लगा अत्थि पुरक्खमा कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि जस्स अत्थि अट्ठ वा सोलस वा चउवीसं वा संखेज्जा वा । एवं जाव गेवेज्जगदेवत्ते विजयवेजयंतजयंत अपराजितत्ते अतीता कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि जस्स अत्थि अट्ठ । केवतिया बद्धेल्लगा अट्ठ, केवतिया पुरक्खमा कस्स अत्थि कस्स नत्थि जस्स अत्थि अट्ठ । एगमेगस्स णं भंते ! विजयवेजयंतजयंतअपराजियदेवस्स सव्वट्ठसिद्धदेवत्ते । केवइया दव्विंदिया अतीता ? गोयमा ! णत्थि । केवतिया बद्धेल्लगा णत्थि, केवतिया पुरक्खमा कस्सइ अत्थि कस्सइ णत्थि जस्स अत्थि अट्ठ । एगमेगस्स णं भंते । सव्वट्ठसिद्धगदेवस्स नेरइयत्ते केवतिया दव्विंदिया अतीता ? गोयमा ! अणंता । केवइया बद्धेल्लगा नत्थि, पुरक्खमा नत्थि । एवं मणुस्सवज्जं जाव गेवेज्जगदेवत्ते मणुस्सत्ते अतीता अणंता, केवइया बद्धेल्लगा नत्थि । केवइया पुरक्खमा अट्ठ । विजयवेजयंतापराजियदेवत्ते अतीता कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि, जस्स अत्थि अट्ठ । केवइया बद्धेल्लगा ? णत्थि । केवइया पुरक्खमा ? णत्थि । एगमेगस्स णं भंते ! सव्वट्ठसिद्ध देवस्स सव्वट्ठसिद्धदेवत्ते केवइया दव्विंदिया अतीता ? गोयमा ! णत्थि, केवइया बद्धेल्लगा ? अट्ठ । केवइया पुरक्खमा , नत्थि । नेरइयाणं भंते ! नेरइयत्ते केवइया दव्विंदिया–अतीता ? गोयमा ! अणंता । केवइया बद्धेल्लगा ? असंखेज्जा । केवइया पुरक्खमा ? अणंता । नेरइयाणं भंते ! असुरकुमारत्ते केवतिया दव्विंदिया अतीता ? गोयमा ! अणंता । केवइया बद्धेल्लगा ? नत्थि, केवइया पुरक्खमा ? अणंता । एवं जाव गेविज्जगदेवत्ते । नेरइयाणं भंते ! विजयवेजयंतजयंतापराजियदेवत्ते केवइया दव्विंदिया अतीता ? नत्थि । केवतिया बद्धेल्लगा ? नत्थि, केवइया पुरक्खमा ? असंखेज्जा । एवं सव्वट्ठसिद्धदेवत्तेवि एवं जाव पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं सव्वट्ठसिद्ध देवत्ते भाणियव्वं । नवरं वणस्सइकाइयाणं विजयवेजयंतजयंतापराजियदेवत्ते सव्वट्ठसिद्धदेवत्ते य पुरक्खमा अणंता । सव्वेसिं मणुस्ससव्वट्ठसिद्धगवज्जाणं सट्ठाणे बद्धेल्लगा असंखेज्जा परट्ठाणे बद्धेल्लगा नत्थि । मणुस्सा णं भंते ! नेरइयत्ते अतीता अणंता । बद्धेल्लगा नत्थि । पुरक्खमा अणंता । एवं जाव गेविज्जदेवत्ते नवरं सट्ठाणे अतीता अणंता । बद्धेल्लगा सिय संखिज्जा सिय असंखिज्जा । पुरक्खमा अणंता । मणुस्सा णं भंते ! विजयवेजयंतजयंतापराजियदेवत्ते केवतिया दव्विंदिया अतीता ? गोयमा ! संखिज्जा दव्विंदिया अतीता केवतिया बद्धेल्लगा नत्थि, केवतिया पुरक्खमा सिय संखिज्जा सिय असंखिज्जा । एवं सव्वट्ठसिद्धदेवत्ते वि वाणमंतरजोइसियाणं देवाणं एवं चेव सोहम्मदेवाणं एवं चेव नवरं विजयवेजयंतजयंतापराजियदेवत्ते अतीता असंखेज्जा बद्धेल्लगा नत्थि, पुरक्खमा असंखिज्जा । सव्वट्ठसिद्धदेवत्ते अतीता नत्थि बद्धेल्लगा नत्थि पुरक्खमा असंखिज्जा । एवं जाव गेविज्जदेवाणं । विजयवेजयंतजयंतापराजियाणं देवाणं भंते !

नेरइयत्ते केवतिया दव्विंदिया अतीता ! गोयमा ! अणंता । केवइया बद्धेल्लगा नत्थि । केवइया पुरक्खमा णत्थि । एवं जाव जोइसियत्ते नवरं एसिं मणुस्सत्ते अतीता अणंता केवइया बद्धेल्लगा नत्थि, पुरक्खमा असंखेज्जा । एवं जाव गेवेज्जगदेवत्ते सट्ठाणे अतीता असंखेज्जा । केवइया बद्धेल्लगा असंखेज्जा । केवइया पुरक्खमा असंखेज्जा । सव्वट्ठसिद्धगदेवत्ते अतीता णत्थि, बद्धेल्लगा णत्थि, पुरक्खमा असंखेज्जा । सव्वट्ठसिद्धगदेवाणं भंते ! नेरइयत्ते केवइया अतीता ? गोयमा ! अणंता, केवइया बद्धेल्लगा णत्थि । केवइया पुरक्खमा नत्थि । दारं । कतिणं भंते ! भाविंदिया पण्णत्ता ? गोयमा ! पंचभाविंदिया पण्णत्ता तंजहा–सोइंदिए जाव फासिंदिए । नेरइयाणं भंते ! कइ भाविंदिया पण्णत्ता ? गोयमा ! पंच भाविंदिया पण्णत्ता, तंजहा–सोइंदिए जाव फासिंदिए । एवं जस्स इंदिया तस्स तत्तिया भाणियव्वा । जाव वेमाणियाणं ॥ एगमेगस्स णं भंते ! नेरइयस्स केवइया भाविंदिया अतीता गोयमा ! अणंता । केवइया बद्धेल्लगा पंच । केवइया पुरक्खमा पंच वा दस वा एकारस वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा । एवं असुरकुमारस्स वि नवरं पुरक्खमा पंच वा दस वा छ वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा । एवं जाव थणियकुमारस्स । एवं पुढविकाइया आउकाइया वणस्सइकाइस्स वि । बेइंदिय-तेइंदिय चउरिंदियस्स वि । तेउकाइय-वाउकाइयस्स वि । एवं चेव नवरं पुरक्खमा छ वा सत्त वा संखिज्जा वा असंखिज्जा वा अणंता वा । पंचिंदियतिरिक्खजोणियस्स जाव ईसाणस्स जहा असुरकुमारस्स । नवरं मणुस्सस्स पुरक्खमा कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि त्ति भाणियव्वं । सणंकुमार जाव गेवेज्जगस्स जहा नेरइयस्स । विजय-वेजयंत-जयंत-अपराजियदेवस्स अतीता । अणंता बद्धेल्लगा पंच, पुरक्खमा पंच वा दस वा पण्णरस वा संखिज्जा वा । सव्वट्ठसिद्धगदेवस्स अतीता अणंता, बद्धेल्लगा पंच, केवइया पुरक्खमा पंच । नेरइयाणं भंते ! केवइया भाविंदिया अतीता ?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गोयमा ! अणंता, केवइया बद्धेल्लगा असंखेज्जा, केवइया पुरक्खमा अणंता । एवं जहा दव्विंदियासु पोहत्तेणं दंडओ जणिओ तहा जाविंदिएसु पोहत्तेणं दंडओ जाणियव्वो । नवरं वणस्सइकाइयाणं बद्धेल्लगावि अणंता ॥ एगमेगस्स णं जंते ! नेरइयस्स नेरइयत्ते केवइया जाविंदिया अतीता ? गोयमा ! अणंता, बद्धेल्लगा पंच, पुरक्खमा कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि जस्स अत्थि पंच वा दस वा पन्नरस वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा । एवं असुरकुमाराणं जाव थणियकुमाराणं । नवरं बद्धेल्लगा नत्थि । पुढविकाइयत्ते जाव बेइंदियत्ते जहा दव्विंदिया, तेइंदियत्ते तहेव नवरं पुरक्खमा तिण्णि वा छ वा नव वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा । एवं चउरिंदियत्ते वि नवरं पुरक्खमा चत्तारि वा अट्ठ वा बारस वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा । एवं ते चेव गमो चत्तारि नेयव्वो, जे चेव दव्विंदिएसु नवरं तातिय-गमो जाणियव्वो, जस्स जइ जे इंदिया ते पुरक्खमेसु मुणेयव्वा, चउत्थगमो जहेव दव्विंदिया जाव । सव्वट्ठसिद्धगदेवाणं सव्वट्ठसिद्धगदेवत्ते केवतिया जाविंदिया अतीता नत्थि । बद्धेल्लगा संखेज्जा पुरक्खमा नत्थित्ति

(एगमेगस्स णं जंते नेरइयस्स नेरइयत्ते इत्यादि कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थित्ति) यो नरकादुद्वृत्तो भूयोऽपि नैरयिकत्वं नायास्यति तस्य न जवन्ति यस्त्वयास्यति तस्य सन्ति सोपि यद्येकवारमागामी ततोऽष्टौ द्वौ वारौ चेत्तर्हि षोडश यदि वा त्रीन् वारान् ततश्चतुर्विंशतिसंख्येयानि वारान् आगामी न संख्येयानीत्यादि मनुष्यत्वचिन्तायां कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि इति न वक्तव्यं मनुष्यागमनस्यावश्यंभावित्वात् ततो जघन्यपदेऽष्टौ । उत्कर्षतोऽनन्तानीति वक्तव्यं विजयवैजयंत-जयंतापराजितचिन्तायामतीतानि द्रव्येन्द्रियाणि न सन्ति कस्मादिति चेदुच्यते इह विजयादिषु चतुर्षु गतो जीवो नियमात्तत उद्वृत्तो न जातुचिदपि नैरयिकादिपञ्चेन्द्रियतिर्यक्पर्यवसानेषु तथा व्यन्तरेषु ज्योतिष्केषु मध्ये समागमिष्यति तथा स्वाजाव्यान्मनुष्येषु सौधर्मादिषु वा गमिष्यति तत्रापि जघन्यत एकं द्वौ वा जवानुत्कर्षतः संख्येयान् न पुनरसंख्येयाननन्तान्वा ततो नैरयिकस्य विजयादित्वे अतीतानि द्रव्येन्द्रियाणि न सन्तीत्युक्तं पुरस्कृतान्यष्टौ षोडश वा विजयादिषु द्विरुपपन्नस्यानन्तरजवे नियमतो मोक्षगमनात् । एवं यथा नैरयिकत्वादिषु चतुर्विंशतौ स्थानेषु चिन्ता कृता तथा असुरकुमारादीनामपि प्रत्येकं कर्त्तव्या । पूर्वोक्तभावनानुसारेण स्वयमुपयुज्य परिजावनीया जावेन्द्रियसूत्राण्यपि सुगमान्येव केवलं द्रव्येन्द्रियगतभावनानुसारेण तत्र भावना भावयितव्या इति । प्रज्ञा० १५ पद ।

तत्र यानि द्रव्येन्द्रियाणि तानि जीवानां पर्याप्तौ सत्यां भवन्ति यानि च भावेन्द्रियाणि तानि संसारिणां सर्वावस्थाभावीनीति-तं०

(२) इन्द्रियाणां बाहुल्य-पृथक्त्वप्रदेशावगाहना-स्तद्वत्तवेदना च ॥

तत्र बाहुल्यादि यथा—

सोइंदिए णं जंते ! केवइयं बाहल्लेणं पन्नत्ते ? गोयमा ! अंगुलस्स असंखेज्जइजागे बाहल्लेणं पन्नत्ते एवं फासिंदिए

(सो इंदिए णं जंते! केवइयं बाहल्लेणं पन्नत्ते इत्यादि) इदमपि पाठसिद्धं उक्तश्चायमर्थोऽन्यत्रापि " बाहल्लतो य सव्वाइं अंगुलअसंखेज्जभागमिति"अत्राह-यद्यङ्गुलस्यासंख्येयभागो बाहुल्यं स्पर्शनेन्द्रियस्य ततः कथं खड्गक्षुरिकाद्यभिघाते अन्तःशरीरस्य वेदनानुजवः तदेतदसमीचीनं सम्यग् वस्तुतत्त्वापरिज्ञानात्त्वगिन्द्रियस्य विषयः शीतादयः स्पर्शाः यथा चक्षुषो रूपं गन्धो घ्राणस्य स्पर्शनं च खड्गक्षुरिकाद्यभिघाते अन्तः शरीरस्य शीतादिस्पर्शवेदनमस्ति किन्तु केवलं दुःख वेदनं तच्च दुःखरूपवेदनामात्मा सकलेनापि शरीरेणानुजवति न केवलेन त्वगिन्द्रियेण ज्वरादिवेदनावत् ततो न कश्चिद्दोषः अथ शीतजलपानादिपाने अन्तः स्पर्शवेदनाप्यनुभूयते ततःकथंमेतद्यामदाख्यते इति उच्यते-इहत्वगिन्द्रियं सर्वत्रापि प्रदेशपर्यन्तवर्त्ति विद्यते तथा पूर्वसूरिभिः व्याख्यानात्तथा चाह मूलटीकाकारः सर्वप्रदेशपर्यन्तवर्त्तित्वाच्च त्वचोऽभ्यंतरेऽपि शुषिरस्योपरि त्वगिन्द्रियस्य भावादुपपद्यते ततः शीतस्पर्शवेदनानुभवः ॥ प्रज्ञा० १५ पद (तद्घातवेदनाविशेषतोव्याख्याता)

(३) इन्द्रियाणां पृथुत्वं तदवगाहना च ।

पृथुत्वविषयं सूत्रमाह ॥

सोइंदिए णं जंते ! केवइयं पोहत्तेणं पन्नत्ते ? गोयमा ! अंगुलस्स असंखेज्जइजागे पोहत्तेणं पन्नत्ते एवं चक्खिंदिए घाणिंदिए वि जिब्भिंदिएणं पुच्छा, गोयमा ! अंगुलपुहत्तेणं पन्नत्ते फासिंदिएणं पुच्छा, गोयमा ! सरीरपमाणमेत्तेणं पन्नत्ते ।

(पोहत्तेणं पन्नत्ते इत्यादि) इह पृथुत्वं स्पर्शनेन्द्रियव्यतिरेकेण शेषाणामिन्द्रियाणामात्माङ्गुलेन प्रतिपत्तव्यं स्पर्शनेन्द्रियस्य उच्छ्रयांगुलेन । ननु देहाश्रितानीन्द्रियाणि देहश्चोच्छ्रयाङ्गुलेन प्रमीयते " उस्सेहपमाणतो मिणसु देहमिति वचनात् " ततः इन्द्रियाण्यप्युच्छ्रयाङ्गुलेन मातुं युज्यन्ते । नात्माङ्गुलेनेति । तदयुक्तम् जिह्वादीनामुच्छ्रयांगुलेन पृथुत्वं प्रमितमभ्युपगमे त्रिगव्यूतीनां मनुष्याणां रसाद्यव्यवहारोच्छेदप्रसक्तेस्तथाहि-त्रिगव्यूतादीनां मनुष्याणां षड्गव्यूतादीनां च हस्त्यादीनां स्वस्वशरीरानुसारितया अतिविशालानि मुखानि जिह्वाश्च ततो यद्युच्छ्रयाङ्गुलेन तेषां क्षुरप्राकारतयो कस्याभ्यन्तरनिर्वृत्यात्मकस्य जिह्वेन्द्रियस्याङ्गुलपृथुत्वलक्षणो विस्तारः परिगृह्यते तदा अल्पतया न तत्सर्वं जिह्वां व्याप्नुयात् सर्वव्यापित्वाभावे च योऽसौ बाहुल्येन सर्वात्मना जिह्वाया रसवेदनलक्षणप्रतिप्राणप्रसिद्धो व्यवहारः स व्यवच्छेदमाप्नुयादेवं घ्राणादिविषयेपि यथायोगं गन्धादिव्यवहारोच्छेदो जावनीयः तस्मादात्माङ्गुलेन जिह्वादीनां पृथुत्वमवसेयं नोच्छ्रयांगुलेनेति । आह च भाष्यकृत् "इन्द्रियमाणे विणय,जणियजं जंति गाजयाईणं । जिब्भिंदियाइमाणं,संववहारं विरुज्झेज्जा " अस्या अक्षरगमनिका तत उच्छ्रयांगुलमिन्द्रियमानेपि आस्तामिन्द्रियविषयपरिमाणचिन्तायामित्यपिशब्दार्थः जजनीयं विकल्पनीयं क्वापि गृह्यते इत्यर्थः किमुक्तं भवति स्पर्शनेन्द्रियपृथुत्वपरिमाणचिन्तायां ग्राह्यमन्येन्द्रियपृथुत्वपरिमाणचिन्तायां न ग्राह्यं तेषामात्माङ्गुलेन परिमाणकारणादिति कथ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मेतदवसेयमिति चेदत आह यद्यस्मात्सर्वेषामपीन्द्रियाणामुत्कृष्याङ्गुलेन परिणामकारणम् अङ्गुलासंख्येयभागादिशब्दात् द्विगव्यूतादि परिग्रहो जिह्वेन्द्रियादिमानं सूत्रोक्तसंव्यवहारं विरुध्येत । यथानन्तरमेव भावितमिति ।

सम्प्रति कतिप्रदेशावगाहनेति प्रतिपादयति ।

सोइंदिए णं भंते ! कइ पदेसिए पम्मत्ते ? गोयमा ! अणंतपदेसिए पम्मत्ते एवं जाव फासिंदिए सोइंदिए णं भंते ! कइ पदेसोगाढे पण्णत्ते ? गोयमा ! असंखेज्ज पदेसोगाढे एवं जाव फासिंदिए । (टीका न गृहीता)

(४) इन्द्रियाणामल्पबहुत्वं तद्गुणाश्च ।

एतेसि णं भंते ! सोइंदिय चक्खुइंदियघाणिंदियजिब्भिंदियफासिंदियाणं ओगाहणट्ठयाए पदेसट्ठयाए ओगाहणपदेसट्ठयाए कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा ४ गोयमा ! सव्वत्थोवे चक्खिंदिए ओगाहणट्ठयाए । सोइंदिय ओगाहणट्ठयाए संखिज्जगुणे । घाणिंदिय ओगाहणट्ठयाए संखेज्जगुणे । जिब्भिंदियओगाहणट्ठयाए संखिज्जगुणे । फासिंदियओगाहणट्ठयाए असंखेज्जगुणे । पदेसट्ठयाए सव्वत्थोवे । चक्खिंदिएपदेसट्ठयाए सोइंदिए पदेसट्ठयाए संखेज्जगुणे । घाणिंदिए पदेसट्ठयाए संखेज्जगुणे । जिब्भिंदिएपदेसट्ठयाए संखेज्जगुणे । फासिंदियपदेसट्ठयाए असंखेज्जगुणे । ओगाहणपदेसट्ठयाए सव्वत्थोवे । चक्खिंदिए ओगाहणपदेसट्ठयाए सोइंदिए ओगाहणट्ठयाए संखेज्जगुणे । घाणिंदिए ओगाहणट्ठयाए संखेज्जगुणे । जिब्भिंदिए ओगाहणट्ठयाए संखेज्जगुणे फासिंदिए ओगाहणट्ठयाए असंखेज्जगुणे । फासिंदियस्स ओगाहणट्ठयाएहिंतो चक्खिंदिएपदेसट्ठयाए अणंतगुणे । सोइंदिए पदेसट्ठयाए संखिज्जगुणे । घाणिंदिए पदेसट्ठयाए संखिज्जगुणे । जिब्भिंदिए पदेसट्ठयाए संखेज्जगुणे फासिंदिए पदेसट्ठयाए असंखिज्जगुणे ।

(एएसि णं भंते ! इत्यादि) सर्वस्तोकं चक्षुरिन्द्रियमवगाहनार्थतया किमुक्तं भवति सर्वस्तोकप्रदेशावगाढं चक्षुरिन्द्रियं ततः श्रोत्रेन्द्रियमवगाहनार्थतया संख्येयगुणमतिप्रभूतेषु प्रदेशेषु तस्यावगाहनाभावात्ततोऽपि घ्राणेन्द्रियमवगाहनार्थतया संख्येयगुणमतिप्रभूतेषु प्रदेशेषु तस्यावगाहनोपपत्तेस्ततोऽपि जिह्वेन्द्रियमवगाहनार्थतया असंख्येयगुणं तस्याङ्गुलपृथक्त्वपरिमाणविस्तारात्मकत्वात् यस्तु दृश्यते पुस्तकेषु पाठः संख्येयगुण इति सोऽपि पाठो युक्त्युपपन्नत्वात्तथाहि-चक्षुरादीनि त्रीण्यपीन्द्रियाणि प्रत्येकमङ्गुलासंख्येयभागविस्तारात्मकानि जिह्वेन्द्रियं त्वङ्गुलासंख्येयपृथक्त्वविस्तारमतोऽसंख्येयगुणमेव तदुपपद्यते ननु संख्येयगुणमिति ततः स्पर्शनेन्द्रियमसंख्येयगुणम् । तथा ह्यङ्गुलपृथक्त्वप्रमाणविस्तारं जिह्वेन्द्रियंप्रथक्त्वं द्विप्रभृत्या नवभ्यः स्पर्शनेन्द्रियं तु शरीरप्रमाणमिति सुमहदपि तदुपपद्यते संख्येयगुणमिति । यस्तु बहुषु पुस्तकेषु दृश्यते पाठोऽसंख्येयगुणमिति सोऽपपाठो युक्तिविकलत्वात् । तथा ह्यात्माङ्गुलप्रथक्त्वपरिमाणं जिह्वेन्द्रियं शरीरपरिमाणं तु स्पर्शनेन्द्रियशरीरमुत्कर्षतोऽपि लक्षयोजनप्रमाणं ततः कथमसंख्येयगुणमुपपद्यत इति । अनेनैव क्रमेण प्रदेशार्थतयापि सूत्रम् भावनीयम् । उक्तप्रकारेणैव चोभयसूत्रमपि ।

इदानीमिन्द्रियगुणविषयकं सूत्रमाह ।

सोइंदियस्सणं भंते ! केवतिया कक्खडगरुयगुणा पणत्ता ? गोयमा ! अणंता कक्खडगरुयगुणा प० एवं जाव फासिंदियस्स सोइंदियस्स णं भंते ! केवइया मउयलहुयगुणा पणत्ता ? गोयमा ! अणंता । एवं जाव फासिंदियस्स, एतेसि णं भंते ! सोइंदिय-चक्खिंदिय-घाणिंदिय-जिब्भिंदिय फासिंदियाणं कक्खडगरुयगुणाणं मउयलहुयगुणाणं कक्खडगरुयगुणमउयलहुगुणाणय कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा ४ ? गोयमा ! सव्वत्थो वा चक्खिंदियस्स कक्खडगरुयगुणा । सोइंदियस्स कक्खडगरुयगुणा अणंतगुणा । घाणिंदियस्स कक्खडगुरुयगुणा अणंतगुणा । जिब्भिंदियस्स कक्खडगरुयगुणा अणंतगुणा । फासिंदियस्स कक्खडगरुयगुणा अणंतगुणा । मउयलहुयगुणाणं सव्वत्थो वा फासिंदियस्स मउयलहुयगुणा जब्भिंदियस्स मउयलहुयगुणा अणंतगुणा । घाणिंदियस्स मउयलहुयगुणा अणंतगुणा । सोइंदियस्स मउयलहुयगुणा अणंतगुणा । चक्खिंदियस्स मउयलहुयगुणा अणंत गुणा । कक्खडगरुयगुणाणं मउयलहुय गुणाण य सव्वत्थो वा चक्खिंदियस्स कक्खडगरुयगुणा । सोइंदियस्स कक्खडगरुयगुणा अणंतगुणा । घाणिंदियस्स कक्खडगरुयगुणा अणंतगुणा । जिब्भिंदियस्स कक्खडगरुयगुणा अणंतगुणा । फासिंदियस्स कक्खडगरुयगुणा अणंतगुणा । फासिंदियस्स कक्खडगरुयहिंतो तस्स चेव मउयलहुयगुणा अणंतगुणा । जिब्भिंदियस्स मउयलहुयगुणा अणंतगुणा । घाणिंदियस्स मउयलहुयगुणा अणंतगुणा । सोइंदियस्स मउयलहुयगुणा अणंतगुणा । चक्खिंदियस्स मउयलहुयगुणा अणंत गुणा ।

यानि कर्कशगुरुगुणादिसूत्राणि तानि पाठसिद्धानि नवरमल्पबहुत्वे चक्षुःश्रोत्रघ्राणजिह्वास्पर्शनेन्द्रियाणां यथोत्तरं कर्कशगुरुगुणा अमीषामेव च पश्चानुपूर्व्या यथापूर्वं मृदुलघुगुणा अनन्तगुणास्तथैव यथोत्तरं कर्कशतया यथापूर्वं चातिकोमलतयोपलभ्यमानत्वात् युगपदुभयाल्पबहुत्वसूत्रे फासिंदिय-कक्खडगरुयगुणेहिंतो तस्स चेव मउयलहुयगुणा अणंतगुणा इति सरीरेहिं कति पया एव, प्रदेशा उपरि वर्तिनः शीतातपादिसम्पर्कतः कर्कशा वर्तन्ते । अन्ये तु बहवः तदन्तर्गता अपि मृदव इति वदन्ते । स्पर्शनेन्द्रियस्य कर्कशगुणेभ्यो मृदुलघुगुणा अनन्तगुणा इति । प्रज्ञा० १५ पद० ॥

(५) अमूल्यव संस्थानादीन्यल्पबहुत्वपर्यन्तानि द्वाराणि नैरयिकादिकेषु चिन्तयति ॥

नेरइयाणं भंते ! कइ इंदिया पम्मत्ता ! गोयमा ! पंच इंदिया पम्मत्ता तंजहा सोइंदिए जाव फासिंदिए । नेरइया-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

णं भंते ! सोइंदिए किं संठिए पन्नत्ते ? गोयमा ! कलंबुयासंठाणसंठिए पन्नत्ते । एवं जहा ओहिया वत्तव्वया भणिया तहेव नेरइयाणं पि अप्पा बहुया वा दोन्नि वि नवरं नेरइयाणं भंते ! फासिंदियस्स किं संठिए पन्नत्ते गोयमा ! दुविहे पन्नत्ते तंजहा भवधारणिज्जे य उत्तरवेउव्विए य तत्थ णं जेसे भवधारणिज्जे सेणं हुंडसंठाणसंठिए तत्थ णं जे से उत्तरविउव्विए ते चेव सेसं तं चेव । असुरकुमाराणं भंते ! कइ इंदिया पन्नत्ता ? गोयमा ! पंचिंदिया पन्नत्ता एवं जहा ओहियाणं जाव अप्पाबहुगाणि दोन्नि वि नवरं फासिंदिए दुविहे पन्नत्ते तं जहा भवधारणिज्जे उत्तरवेउव्विए य तत्थणं जे से भवधारणिज्जे से णं समचउरंससंठाणसंठिए पन्नत्ते तत्थ णं जे से उत्तरवेउव्विए से णं नाणासंठाणसंठिए सेसं तं चेव एवं जाव थणियकुमाराणं । पुढविकाइयाणं भंते ! कइ इंदिया पन्नत्ता ? गोयमा ! एगे फासिंदिए पन्नत्ते पुढविकाइयाणं भंते ! फासिंदिए किं संठाणसंठिए पन्नत्ते ? गोयमा ! मसूरचंदसंठाणसंठिए पन्नत्ते पुढविकाइयाणं फासिंदिए केवइयं बाहल्लेणं पन्नत्ते ? गोयमा ! अंगुलस्स असंखेज्जइभागं बाहल्लेणं पन्नत्ते पुढविकाइयाणं फासिंदिए केवइयं पोहत्तेणं पन्नत्ते ? गोयमा ! सरीरप्पमाणमेत्तेणं पन्नत्ते पुढविकाइयाणं फासिंदिए कतिपदेसे पन्नत्ते ? गोयमा ! अणंतपदेसिए पन्नत्ते पुढविकाइयाणं भंते ! फासिंदिए कइ पदेसोगाढे पन्नत्ते ? गोयमा ! असंखेज्जपदेसोगाढे पन्नत्ते एतेसि णं भंते ! पुढविकाइयाणं फासिंदियस्स ओगाहणट्ठयाए पदेसट्ठयाए कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा ४ ? गोयमा ! सव्वत्थोवा पुढविकाइयाणं फासिंदिए ओगाहणट्ठयाए ते चेव पदेसट्ठयाए अणन्तगुणे । पुढविकायियाणं भंते ! फासिंदियस्स केवइया कक्खडगरुयगुणा पन्नत्ता ? गोयमा ! अणंता एवं मउयलहुयगुणा वि एतेसि णं भंते ! पुढविकाइयाणं फासिंदियस्स कक्खडगरुयगुणाणं मउयलहुयगुणाणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा ४ ? गोयमा ! सव्वत्थोवा पुढविकाइयाणं फासिंदियस्स कक्खडगरुयगुणा तस्स चेव मउयलहुयगुणा अणंतगुणा एवं आउकाइयाणं वि जाव वणस्सइकाइयाणं नवरं संठाणे इमो विसेसो दट्ठव्वो आउक्काइयाणं थिबुगबिंदुसंठाणसंठिए पन्नत्ते । तेउकाइयाणं सूइकलावसंठाणसंठिए पन्नत्ते । वाउकाइयाणं पडागासंठाण संठिए पन्नत्ते । वणस्सइकाइयाणं णाणासंठाणसंठिए पन्नत्ते, बेइंदियाणं भंते ! कइ इंदिया पन्नत्ता ? गोयमा ! दो इंदिया पन्नत्ता तंजहा जिब्भिंदिए य फासिंदिए य दोण्हं पि इंदियाणं संठाणं बाहल्लं पोहत्तं पदेस ओगाहणा य जहा ओहियाणं भणिया तहा भाणियव्वा नवरं फासिंदिए हुंडसंठाणसंठिए पन्नत्ते इमो विसेसो एतेसि णं भंते ! बेइंदियाणं जिब्भिंदियफासिंदियाणं ओगाहणट्ठयाए पदेसट्ठयाए ओगाहणपदेसट्ठयाए कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा ४ ? गोयमा ! सव्वत्थोवे बेइंदियाणं जिब्भिंदिए ओगाहणट्ठयाए फासिंदिए ओगाहणट्ठयाए असंखेज्जगुणे पदेसट्ठयाए सव्वत्थोवे बेइंदियाणं जिब्भिंदिए पदेसट्ठयाए फासिंदियपदेसट्ठयाए असंखेज्जगुणे ओगाहणपदेसट्ठयाए सव्वत्थोवे बेइंदियस्स जिब्भिंदिए ओगाहणट्ठयाए फासिंदिय ओगाहणट्ठयाए असंखेज्जगुणे फासिंदियस्स ओगाहणट्ठयाएहिंतो जिब्भिंदियपदेसट्ठयाए अणंतगुणे फासिंदियपदेसट्ठयाए असंखेज्जगुणे बेइंदियाणं भंते ! जिब्भिंदियस्स केवइया कक्खडगरुयगुणा प० ? गोयमा ! अणंता एवं फासिंदियस्स वि एवं मउयलहुयगुणा वि एतेसि णं बेइंदियाणं जिब्भिंदियफासिंदियाणं कक्खडगरुयगुणाणं मउयलहुयगुणाणं कक्खडगरुयगुणाणं मउयलहुयगुणाण य कयरे कयरे हिंतो अप्पा वा ४ ? गोयमा ! सव्वत्थोवा बेइंदियाणं जिब्भिंदियस कक्खडगरुयगुणा फासिंदियस्स कक्खडगरुयगुणा अणंतगुणा फासिंदियस्स कक्खडगरुयगुणेहिंतो तस्स चेव मउयलहुयगुणा अणंतगुणा जिब्भिंदियस्स मउयलहुयगुणा अणंतगुणा एवं जाव चउरिंदियत्ति नवरं इंदियपरिवुड्ढिकायव्वा तेइंदियाणं घाणिंदिए थोवे चउरिंदियाणं चक्खिंदिए थोवे सेसं तं चेव । पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं मणुस्साण य जहा नेरइयाणं नवरं फासिंदिए छव्विहसंठाणसंठिए पन्नत्ते तंजहा समचउरंसे णिग्गोहपरिमंडले सादि खुज्जे वामणे हुंडे वाणमंतरजोइसियवेमाणियाणं जहा असुरकुमाराणं ॥

नेरइयाणं भंते ! इत्यादि । सुगमं नवरं नेरइयाणं भंते फासिंदिए किंसंठिए पन्नत्ते इत्यादि । द्विविधं हि नैरयिकाणां शरीरं भवधारणीयमुत्तरवैक्रियं च तत्र भवधारणीयं तेषां भवस्वभावत एव निर्मूलं विलूनपक्षोत्पादितसकलग्रीवादिरोमपक्षिशरीरवदतिबीभत्ससंस्थानोपेतं यदप्युत्तरवैक्रियं तदपि हुण्डसंस्थानमेव तथाहि यद्यपि ते वयमतिसुन्दरं शरीरं विकुर्विष्याम इत्यभिसन्धिना वैक्रियशरीरमारभन्ते तथापि तेषां अत्यन्ताशुभं तथाविधनामकर्मोदयादतीवाशुभतरमेवोपजायते इति-असुरकुमारसूत्रे. भवधारणीयं समचतुरस्रसंस्थानं तथा स्वाभाव्यात्-उत्तरवैक्रियन्तु नानासंस्थितं स्वेच्छया तस्य निष्पत्तिभावात् पृथिव्यादिविषयाणि तु सूत्राणि सुप्रतीतान्येव प्रज्ञा० १५ पद० ॥

(६) इन्द्रियाणां च वर्तमानार्थग्राहकत्वम्

अत्थे य पडुप्पण्णे, विणियोगे इंदियं लहइ ॥

इन्द्रियं पुनश्चक्षुरादिकं विनियोगं व्यापारं लभते प्रत्युत्पन्ने वर्तमानार्थविषयं नातीतानागतार्थविषयमिति भावः ॥ सू० १ ख.। इन्द्रियं हि वार्त्तमानिके पदार्थे व्याप्रियते ततस्तत्सामर्थ्यादुपजायमानं मानसमपि ज्ञानमिन्द्रियज्ञानमिव वर्त्तमानार्थग्रहणपर्यवसितसत्ताकमेव भवेत् ॥ अथ यदा चक्षूरूपविषये व्याप्रियते तदा रूपविज्ञानमुत्पादयति न शेषकाले ततस्तद्रूपविज्ञानं वर्त्तमानार्थविषयं वर्तमाने पदार्थे चक्षुषो व्यापारात् स्वरूपविषयव्यावृत्त्यभावे च मनोज्ञानं ततो न तत् प्रतिनियतकालविषयमेवं शेषेष्वपीन्द्रियेषु वाच्यमानं०॥

(७) श्रोत्रेन्द्रियादीनां प्राप्ताप्राप्तविषयतां प्रतिपादयिषुरादौ विषयांस्तद्ग्रहणप्रकारश्चाह ॥

*दोहिं ठाणेहिं आया सद्दाइं सुणेइ तं देसेण वि आया सद्दाइं सुणेइ सव्वेण वि आया सद्दाइं सुणेइ एवं रूवाइं पासइ गंधाइं आघायइ रसाइं आसाएइ फासाइं पडिसंवेएइ ॥ *

(देसेणविति)। देशेन शृणोत्येकेन श्रोत्रेणैकश्रोत्रोपघाते सति सर्वेण वा ऽनुपहतश्रोत्रेन्द्रियो यो वा संभिन्नश्रोतोऽभिधानलब्धियुक्तः स सर्वैरिन्द्रियैः शृणोतीति सर्वेणेति व्यपदिश्यते एवमिति यथा शब्दान् देशसर्वाभ्यां एवं रूपादीनपि नवरं जिह्वादेशस्य प्रसुप्त्यादिनोपघाताद्देशेनास्वादयतीत्यवसेयमिति। देशसर्वाभ्यां सामान्यतः श्रवणाद्युक्तं विशेषविवक्षायां प्रधानत्वात् देवानां तानाश्रित्य तदाह।

दोहिं ठाणेहिं देवे सद्दाइं सुणेइ तंजहा देसेण वि देवे सद्दाइं सुणेइ सव्वेण वि सद्दाइं सुणेइ जाव णिज्जरेइ ॥

(दोहीत्यादि) एतदपि विवक्षितशब्दादिविशेषापेक्षया सूत्रचतुर्दशकं नेयमिति देशतः सर्वतो वेति अनन्तरोक्ताभावाः शरीर एव सति सम्भवन्तीति देवानां च प्रधानत्वात्तेषामेव। स्था० २ ठा०।

पुट्ठाइं भंते! सद्दाइं सुणेइ अपुट्ठाइं सद्दाइं सुणेइ? गोयमा! पुट्ठाइं सद्दाइं सुणेइ नो अपुट्ठाइं सद्दाइं सुणेइ पुट्ठाइं भंते! रूवाइं पासंति अपुट्ठाइं रूवाइं पासंति? गोयमा! नो पुट्ठाइं रूवाइं पासंति अपुट्ठाइं रूवाइं पासंति पुट्ठाइं भंते! गंधाइं अग्घाति अपुट्ठाइं गंधाइं अग्घाति? गोयमा! पुट्ठाइं अग्घाइ नो अपुट्ठाइं अग्घाइ। एवं रसाण वि फासाण वि नवरं रसाइं आस्साइ फासाइं पडिसंवेदेति अभिलाओ कायव्वो ॥

(सद्दाइं सुणेइ इत्यादि) प्राकृतत्वात्सूत्रे शब्दशब्दस्य नपुंसकत्वमन्यथा पुंस्त्वं प्रतिपत्तव्यं। स्पृष्टान् भदन्त! श्रोत्रेन्द्रियमिति कर्तृपदं सामर्थ्याल्लभ्यते। शब्दान् शृणोति तत्र स्पृश्यन्ते इति स्पृष्टास्तान् तनौ रेणुमिवालिङ्गितमात्रानित्यर्थः "पुट्ठं रेणुं व तणुंमि" इति वचनात् शब्द्यन्ते प्रतिपाद्यन्ते अर्था एभिरिति शब्दाः तान् शृणोति गृह्णाति उपलभ्यते इति यावत्। किमुक्तं भवति। स्पृष्टमात्राण्यत्र च शब्दद्रव्याणि श्रोत्रेन्द्रियमुपलभन्ते। न तु घ्राणेन्द्रियादिवत् बद्धस्पृष्टानीति कस्मादिति चेदुच्यते इह शब्दद्रव्याणि घ्राणेन्द्रियादिविषयभूतेभ्यो द्रव्येभ्यः सूक्ष्माणि। तथा नि तथा तत्क्षेत्रभाविशब्दयोग्यद्रव्यवासकानि च ततः सूक्ष्मत्वादतिप्रभूतत्वात् तदाऽन्यद्रव्यवासकत्वाच्चात्मप्रदेशैः स्पृष्टमात्राण्यपि निर्वृत्तेन्द्रियमध्ये प्रविश्य झटित्युपकरणेन्द्रियमभिव्यञ्जयन्ति। श्रोत्रेन्द्रियं च घ्राणेन्द्रियाद्यपेक्षया स्वविषयपरिच्छेदे पटुतरं ततः स्पृष्टमात्राण्यपि तानि श्रोत्रेन्द्रियमुपलभन्ते नास्पृष्टान् सर्वथात्मप्रदेशैः संबन्धमप्राप्तान् श्रोत्रेन्द्रियस्य प्राप्तविषयपरिच्छेदस्वभावात् यथा च श्रोत्रेन्द्रियस्य प्राप्तकारितातया नन्द्यध्ययनटीकादौ चर्चितमिति ततोऽवधार्यम (पुट्ठाइं भंते! रूवाइं इत्यादि) ॥ सुगमं निर्वचनमाह। गौतम! न स्पृष्टानि रूपाणि पश्यति चक्षुः किन्त्वस्पृष्टानि चक्षुषोऽप्राप्तिकारित्वाच्च तच्चाप्राप्तिकारित्वं तत्त्वार्थटीकादौ सविस्तरेण प्रसाधितमिति ततोऽवधारणार्थं गन्धादिविषयाणि सूत्राणि सुप्रसिद्धानि नवरं स्पृष्टान् गन्धानाजिघ्रतीत्यादिग्रयप्युक्तं तथापि बद्धस्पृष्टानीति द्रष्टव्यम् यत उक्तमावश्यकनिर्युक्तौ (पुट्ठं सुणेईत्यादि) तत्र स्पृष्टानीति–पूर्ववत् बद्धानिति–आत्मप्रदेशैरात्मीकृतान् "बद्धमप्पीकयं पएसेहिं" इति वचनात्-विशेषणसमासश्च बद्धाश्च ते स्पृष्टाश्च बद्धस्पृष्टास्तान् इहस्पृष्टास्पर्शमात्रेणापि भवन्ति। यथा शब्दस्ततः स्पर्शमात्रव्यवच्छेदेन स्पर्शविशेषप्रतिपत्तिरव्याहता स्यादिति बद्धग्रहणं बद्धरूपा ये स्पृष्टास्तान् परिच्छिनत्ति नान्यानि कस्मादेवमिति चेदुच्यते गन्धादिद्रव्याणां बादरत्वादल्पत्वादभावकत्वाच्च-घ्राणादीन्द्रियाणामपि श्रोत्रेन्द्रियापेक्षया मन्दशक्तिकत्वादिति। प्रज्ञा० पद० १५।

इन्द्रियाणां प्राप्याऽप्राप्यकारित्वम्।

चत्तारि इंदियत्था पुट्ठा वेदेंति। तंजहा। सोइंदियत्थे १ घाणिंदियत्थे २ जिब्भिंदियत्थे ३ फासिंदियत्थे ४

(पुट्ठत्ति) स्पृष्टा इन्द्रियसंबद्धा (वेएंतित्ति) वेद्यन्ते आत्मना ज्ञायन्ते नयनमनोवर्जानां श्रोत्रादीनां प्राप्तार्थपरिच्छेदस्वभावत्वादिति ॥ स्था० ४ ठा०।

आह च ॥

पुट्ठं सुणेइ सद्दं, रूवं पुण पासई अपुट्ठं तु ॥
गंधं रसं च फासं च, बद्धपुट्ठं वियागरे ॥ १ ॥

श्रोत्रेन्द्रियं कर्तृशब्दं कर्मतापन्नं शृणोति। कथंभूतमित्याह ॥ स्पृश्यत इति स्पृष्टस्तं स्पृष्टं तनौ रेणुवदालिङ्गितमात्रमित्यर्थः। इदमुक्तं भवति स्पृष्टमात्राण्येव शब्दद्रव्याणि श्रोत्रमुपलभन्ते यतो घ्राणादीन्द्रियविषयभूतद्रव्येभ्यस्तानि सूक्ष्माणि बहूनि भावकानि च पटुतरं च श्रोत्रेन्द्रियं–विषयपरिच्छेदे घ्राणेन्द्रियादिगणादिति श्रोत्रेन्द्रियस्य च कर्तृत्वं शब्दश्रवणान्यथानुपपत्तेर्गम्यते। एवं घ्राणेन्द्रियादिष्वपि वाच्यम् तानि पुनः कथं गन्धादिकं गृह्णन्तीत्याह ॥ गन्ध्यत इति गन्धस्तमुपलभते घ्राणेन्द्रियम्। रस्यत इति रसस्तं च गृह्णाति रसनेन्द्रियम् स्पृश्यत इति स्पर्शस्तं च जानाति स्पर्शनेन्द्रियम्। कथंभूतं गन्धादिकमित्याह। बद्धस्पृष्टं तत्र स्पृष्टमितिपूर्ववदेव बद्धं तु गाढतरमाश्लिष्टमात्मप्रदेशैस्तोयवदात्मीकृतमित्यर्थः। ततश्च गंधादिद्रव्यसमूहं प्रथमं स्पृष्टमालिङ्गितं ततश्च स्पर्शनानन्तरं बद्धमात्मप्रदेशैर्गाढतरमागृहीतमेवोपलभते घ्राणेन्द्रियादिकमित्येवं व्याकृर्णीयात् प्ररूपयेत् प्रज्ञापकः। यतो घ्राणेन्द्रियादिविषयभूतानि गन्धादिद्रव्याणि शब्दद्रव्यापेक्षया स्तोकानि बादराण्यभावुकानि स्वविषयपरिच्छेदे श्रोत्रापेक्षया पटूनि च घ्राणादीन्यतो बद्धस्पृष्टमेव गन्धादिद्रव्यसमूहं गृह्णन्ति न पुनः स्पृष्टमात्रमितिभावः ननु यदि स्पर्शनान्तरं बद्धं गृह्णन्ति तर्हि 'पुट्ठबद्ध' मिति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पाठो युक्त इति चेदुच्यते । विचित्रत्वात्सूत्रगतेरित्थं निर्देशो ऽर्थतस्तु यथा त्वयोक्तं तथैव द्रष्टव्यम् । अपरस्त्वाह । यद्बद्धं तत्स्पृष्टं भवत्येव विशेषबन्धे सामान्यबन्धस्यान्तर्भावात् ततः किं स्पृष्टग्रहणेनेति तदयुक्तं सकलश्रोतृसाधारणत्वाच्छास्त्रारम्भस्य प्रपञ्चितज्ञानप्रहार्थमर्थापत्तिगम्यार्थाभिधाने ऽप्यदोषादिति चतुरिन्द्रियं त्वप्राप्तमेव विषयं गृह्णातीत्याह "रूवं पुण पासइ अपुट्ठं त्विति" रूपं कर्मतापन्नं च चक्षुरस्पृष्टमप्राप्तमेव पश्यति पुनः शब्दस्य विशेषणार्थत्वादस्पृष्टमपि योग्यदेशस्थमेव पश्यति नायोग्यदेशस्थसौधर्मादिकटकुड्यादिव्यवहितं वा घटादीति निर्युक्तिगाथार्थः ॥

अथैं तद्व्याख्यानाय भाष्यम् ।

पुट्ठं रेणुं व तणुम्मि, बद्धमप्पीकयं पएसेहिं ।
भिक्काइं चिय गिण्हइ, सद्दव्वाइजुत्ताइं ॥
बहुसुहुमभावुगाई, जं पउयरयं व सोत्तविसाणं ।
गंधाइं दव्वाइं, विवरीयाइं जओ ताइं ॥
फरिसाणन्तरमत्तर, मत्तप्पए समीसीकयाइं ।
घेप्पंति पटुयरविणाइं जं च न घाणाइकरणाइं ॥
स्पृष्टमित्यस्य व्याख्यानम् ॥

(पुट्ठरेणुं व तणुम्मित्ति) । यथा रेणोस्तनौ संबन्धः इत्येतावन्मात्रेण यद्वस्तु संबद्धं तदिह स्पृष्टमुच्यत इति भावः ॥ (बद्धमित्यादि) यदात्मीकृतमात्मना गाढतरमागृहीतमात्मप्रदेशैस्तनुलग्नतोयवन्मिश्रीकृतं तद्बद्धमुच्यते इत्यर्थः ॥ तत्र (भिक्काइं चि) अतिस्पृष्टान्येव शब्दद्रव्याणि गृह्णाति श्रोत्रं यतस्तानि बहूनि सूक्ष्माणि भावुकानि च वासकानि चेत्यर्थः । पटुतरं च श्रोत्रविज्ञानं गन्धादिद्रव्याणि तु विपरीतानि स्तोकबादराभावुकानि यतोऽतस्तानि स्पर्शानन्तरमात्मप्रदेशैर्मिश्रीकृतानि स्पृष्टबद्धानि गृह्यन्ते । घ्राणादिभिः पटुतरविज्ञानानि च न भवन्ति यतो घ्राणादिकारणानीतिगाथात्रयार्थः । अथ रूवं पुण पासइ अप्पुट्ठंमित्यत्रोपपत्तिमाह ।

" अप्पत्तकारिनयणं, णेयं नयणस्स विसयपरिमाणं । आयंगुलेण लक्खं, अइरित्तं जो अणाणंतु " प्रागुक्तयुक्त्या अप्राप्तकारि अप्राप्तस्यैव वस्तुनः परिच्छेदकारि यतो नयनं मनश्च ततो ऽस्पृष्टमेव रूपं पश्यति नयनेन्द्रियम् । विशे० (अधिकं तु विस्तरभयान्न प्रपञ्च्यते तत्ततत्रैव द्रष्टव्यम्)

(८) सम्प्रतीन्द्रियाणामप्रविष्टप्रविष्टविषयचिन्तां कुर्वन्नाह ॥

पविट्ठाइं भंते ! सद्दाइं सुणेइ अपविट्ठाइं सद्दाइं सुणेइ ? गोयमा ! पविट्ठाइं सद्दाइं सुणेइ नो अपविट्ठाइं सुणेइ एवं जहा पुट्ठाणि तहा पविट्ठाणि ॥

(सद्दाइं इत्यादि) पाठसिद्धं नवरं स्पर्शस्तनौ रेणोरिवाऽपि भवति । प्रवेशो मुखे कवलस्येवेति शब्दार्थस्य भिन्नत्वात् भिन्नविषयता स्पृष्टप्रविष्टसूत्राणामिति–प्रज्ञा० १५ पद० ।

(९) श्रोत्रलक्षणादिचतुरिन्द्रियाणां प्राप्यकारित्वं नयनमनसोस्त्वप्राप्यकारित्वम् ।

प्राप्यकारीणीन्द्रियाण्यप्राप्यकारीणिवेति तत्र प्राप्यकारीण्येवेति कणभक्षाक्षपादमीमांसकसाङ्ख्याः समाख्यान्ति । चक्षुः श्रोत्रवर्जाणि नानि तथेति ताथागताः । चक्षुर्वर्जानीति तु तथा स्याद्वादावदातहृदयाः । तत्र प्रथमे प्रमाणयन्ति ।

चक्षुःप्राप्य मतिं करोति विषये बाह्येन्द्रियत्वादितो ।
यद्बाह्येन्द्रियतादिना परिगतं तत्प्राप्यकारीक्षितं ॥
जिह्वावत् प्रकृतं तथा च विदितं तस्मात्तथा स्वीयतां ।
नाऽत्रासिद्धमुखश्च दूषणकणस्तल्लक्षणानीक्षणात् ॥ १ ॥

अक्षिचन्द्रकलनेषु या पुनर्योगपद्यधिषणा मनीषिणाम् ।
पक्ष्मपत्रपटलीविलोपव-त्सत्वरोदयनिबन्धनैव सा ॥२॥
प्रथमतः परिसृत्य शिलोच्चयं निकटतः क्षणमीक्षणमीक्षते ।
तदनु दूरतराम्बरमण्डली तिलककान्तमुपेत्य सितत्विषम् ३
कुर्महेऽत्र वयमुत्तरकेलीं कीदृशी ह्यगिह धर्म्मितयोक्ता ।
किन्तु मांसमयगोलकरूपा सूक्ष्मताभृदपरा किमु काऽपि ॥४॥
आदिमा यदि तदापि किमर्थो लोचनानुसरणव्यसनी स्यात् ।
लोचनं किमुत वस्तुनि गत्वा संसृजोत्प्रिय इव प्रणयिन्याम् ॥५॥
प्रत्यक्षबाधः प्रथमप्रकारे प्राकारपृथ्वीधरसिन्धुरादिः ।
संलक्ष्यते पक्ष्मपुटोपटंकी प्रत्यक्षकाले कलयाऽपि नो यत् ॥६॥
पक्षेऽपरत्राऽपि स एव दोषः सम्पंक्त वस्तु प्रतिवीक्ष्यतेऽक्षि ।
संसर्प्पणे वाऽस्य सकोटरत्वप्राप्त्यापुमान् किन जरद्गुमःस्यात् ॥

चक्षुषः सूक्ष्मतापक्षे सूक्ष्मता स्यादमूर्तता ।
यद्वाल्पपरिमाणत्व-मित्येषा कल्पनोभयी ॥ ८ ॥

स्याद्व्योमवद्व्यापकता प्रसक्तस्था सर्वोपलम्भः प्रथमप्रकारे । प्राकारकान्तारविहारहार मुख्योपलम्भो न भवेद्द्वितीये ॥९॥ न खलु न खलु शास्त्रं स्वप्रमाणात्प्रविष्टं पटकटशकटादौ भेदकारि प्रसिद्धम् । अथ निगदसि तस्मिन् रश्मिचक्रं क्रमेण, प्रसरति तत एतत्स्यादनल्पप्रकाशम् ॥ १० ॥ तथाहि-प्रोद्दाममाणिक्यकणानुकारी दीपाङ्कुरस्त्विट्पटलीप्रभावात् । किं नैव कश्मीरजकज्जलादीन्प्रथीयसोऽपि प्रथयत्यशेषान् ॥ ११ ॥ नन्वेवमध्यक्षनिराक्रिया स्यात्पक्षे पुरस्तादुपलक्षितेऽस्मिन् । प्रौढप्रभामण्डलमण्डितोऽर्थो नाभासते यत्प्रतिभासमानः ॥ १२ ॥ अथाप्यनुद्भूततया प्रभायाः पदार्थसंपर्कजुषोप्यनीक्षा । सिद्धिस्तदानीं कथमस्तु तस्या ब्रवीषि चेत्तैजसताख्यहेतोः ॥ १३ ॥ रूपादिमध्ये नियमेन रूपप्रकाशकत्वेन च तैजसत्वम् । प्रभाषसे चक्षुसि संप्रसिद्धं यथा प्रदीपाङ्कुरविद्युदादौ ॥ १४ ॥ तदिदं घुसृणविमिश्रणमंभ्रपुरन्ध्रीकपोलपालीनाम् । अनुहरते व्यभिचाराद्रूपक्षणसंनिकर्षेण १५ ॥ द्रव्यत्वरूपेऽपि विशेषणे स्याद्धेतोरनैकान्तिकताञ्जनेन । तस्यापि चेत्तैजसतां तनोषि, तन्वादिना किन्तु तदाऽपराद्धम् ॥ १६ ॥ सौवीरसौवर्चलसैन्धवादि निश्चिन्वते पार्थिवमेव धीराः क्षुदानुभावोपगमोऽस्य तस्मा–दयुक्त एव प्रतिभात्यमीषाम् ॥ १७ ॥ तथाच–सौवीरसौवर्चलसैन्धवादिकं स्यादाकरोद्भूतिवशेन पार्थिवम् । मृदादिवन्न व्यभिचारश्चेतनं चामीकरेणानुगुणं निरीक्ष्यते ॥ १८ ॥ चामीकरादेरपि पार्थिवत्वं लिंगेन तेनैव निवेदनीयम् । शाब्दप्रमाणेन न चाऽत्रबाधा पक्षस्य यच्छास्ति तदत्र सिद्धम् ॥ १९ ॥ अञ्जनं मरिचरोचनादिकं पार्थिवं ननु तवापि सम्मतम् । अञ्जनेऽपि तदसौ प्रवृत्तिमा–नप्रयोजकविडम्बडम्बरी ॥ २० ॥ हनूमल्लाङ्गलांगूल–लम्बात्ते साधनादतः । न सिद्धिस्तैजसत्वस्य दृष्टसुस्पष्टदूषणात् ॥ २१ ॥ चक्षुर्न तैजसमभास्वरतिग्मभावाद्रम्भोवदित्यनुमितिप्रतिषेधनाच्च । सिद्धिं दधाति नयनस्य न तैजसत्वं तस्मादमुष्य घटते किमु रश्मिवत्ता ॥ २२ ॥ अपिच । प्रत्यक्षबाधःसमलाक्षि पक्षे न रश्मयो यदृशि दृष्टपूर्वाः । तथा च शास्त्रेण तवैव काश्चा–तीतत्वदोषोऽभ्युदपादि हेतोः ॥ २३ ॥ अनुद्भवद्रूपजुषो भवेयुश्चेद्रश्मयस्तत्र ततो न दोषः । नन्वेवमेतस्य पदार्थसार्थप्रकाशकत्वं न सुवर्णवत् स्यात् ॥ २४ ॥ आलोकसाचिव्यवशादथास्य प्रकाशकत्वं घटनामियर्ति । नन्वेवमेतत्साचिवस्य किं स्यात्प्रकाशकत्वं न कुटीकुटादेः २५ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अथास्तु कामं ननु तैजसत्व-मुत्तेजितं किं न भवेच्चयास्य। तथा च नव्यस्त्वदुद्रष्टपेषो-ऽद्वैतप्रवादोऽजनि तैजसत्वे ॥२६॥ उत्पद्यन्ते तरणिकिरणश्रेणिसंपर्कतश्च-त्तत्रोद्भूताः सपदि रुचयो लोचने रोचमानाः। यद्गृह्यन्ते न खलु तपनालोकसंपर्कतान-स्तस्मिन्हेतुर्भवति हि दिवा दीपभासामभासः॥२७॥ अत्रेयं प्रतिक्रियः-मुष्टिग्राह्ये कुवलयदलश्यामलिम्नाऽविलिप्ते स्फीते ध्वान्ते स्फुरति चरतो घूककाकोदरादेः। किं ल्वदयंते क्षणमपि रुचो लोचनेनैव यस्मादालोकस्य प्रसरणकथा काचिदप्यत्र नास्ति ॥२८॥ उत्पत्तिरुद्भूततयाथ तासां तत्रैव यत्रास्ति रवि प्रकाशः। काकोदरादेरपि तर्हि नैताः कीदृप्रकाशे कुशला भवेयुः ॥ २९ ॥ अविवरतिमिरव्यतिकर-परिकरितापवर कोदरे क्वचन। वृषदंश दृशि न दृष्टा मरीचयः किमु कदाचिदथ ॥ ३० ॥ अत एव विलोकयन्ति सम्य-क्तिमिराङ्कुरकर्बितेऽपि कोणे। मूषकपरिपन्थिनः पदार्थान् ज्वलनालोकविजृम्भणं विनैव ॥ ३१ ॥ अत्रोत्तरम-त्राकचिक्यप्रतीभास-मात्रमत्रास्ति वज्रवत्। नांशवःप्रसरन्त स्तु, प्रेक्ष्यन्ते सूक्ष्मका अपि ॥ ३२ ॥ मार्जारस्य यदीक्षण प्रणयिनः केचिन्मयूखाः सखे विद्येरन् न तदा कथं निशि भृशं तच्चक्षुषा प्रेक्षते। प्रोन्मीलत्करपुञ्जपिञ्जरतनौ संजातवत्सुन्दरे प्रोज्जृम्भेत तथापि हन्त धिषणा दीपप्रदीपाद्यथा ॥ ३३ ॥ कृशतरतया तेषां नोचेदुदेति मतिस्तव प्रभवति कथं तस्याप्यस्मिन्नसौ निरुपप्लवा। घटनांशुणा साक्षात्प्रेक्षाविधौ हि ततिस्त्विषां न खलु न समा धीमन्! सा चोभयत्र विभाव्यते ॥ ३४ ॥ अमूदृग्मणिकारीणां तस्मादस्ति स्वयोग्यता। यया तमस्यपीक्षन्ते, न चक्षूरश्मिवत्पुनः ॥३५॥ इत्थं न चक्षुषि कथंचिदपि प्रयाति, संसिद्धिपद्धतिमियं खलु रश्मिवत्ता। तस्मात्कथं कथय तार्किकचक्षुषः स्यात् प्राप्यैव वस्तुनि मतिः प्रतिबोधकत्वम् ॥ ३६ ॥ बहिरर्थग्रहोन्मुख्यं बहिःकारणजन्यता। स्थायित्वं वा बहिर्देशे किं बाह्येन्द्रियता भवेत् ॥ ३७ ॥ तत्रादिमायां भिदि चेतसा स्या-द्धेतस्य हेतोर्व्यभिचारचिह्नम् अप्राप्यकारि प्रकरोति यस्मान्मन्दा किनी मन्दरबुद्धिमेतत् ॥ ३८ ॥ दोषः स एवोत्तरकल्पनायां यदात्मनः पुद्गल एव बाह्यः। चेतश्च तस्मादुपजायमानं मतद्बहिःकारणजन्यताभृत् ॥ ३९ ॥ चेतः सनातनतया कलितस्वरूपं सर्वोपकृष्टपरिमाणपवित्रितं च। प्रायः प्रियप्रणयिनं प्रणयातिरेकादेतत्करोति हृदये ननु तर्कतज्ज्ञाः ॥४०॥ एतदत्र वितर्कीक्रियमाण प्रस्तुतेतरदिव प्रतिभाति। विस्तराय च भवेदिति चिन्त्यं तद्विलोक्य गुरुगुम्फितवृत्तिम् ॥ ४१ ॥ पक्षे तृतीये विषयप्रदेशः शरीरदेशो यदि वा बहिः स्यात्। स्थायित्वमाद्ये विषयाश्रितत्वं यद्वा प्रवृत्तिर्विषयोन्मुखी स्यात् ॥ ४२ ॥ प्राचीनपक्षे प्रतिवाद्यसिद्धिः कलङ्कपङ्कः समुपैति हेतोः। स्याद्वादिना यत्प्रतिवादिनास्य नाङ्गीकृतं मयसमाश्रितत्वम् ॥ ४३ ॥ पक्षे तया साधनशून्यतास्मिन् दृष्टान्तदोषः प्रकटः पटूनाम्। जिह्वेन्द्रियं नार्थं समाश्रितं य-द्विलोकयामासुरमी कदाचित् ॥ ४४ ॥ द्वितीयकल्पे किमसौ प्रवृत्ति-रर्थाभिमुख्येन विसर्पणं स्यात् ॥ आश्रित्य किं वा विषयप्रपञ्च-प्रतीतिसंपत्प्रतिबोधकत्वम् ॥ ४५ ॥ पक्षे पुरश्चारिणि सिद्धिवन्ध्यं स्यात्साधनं जैनमतानुगानाम्। यस्माच्च तैर्लोचनरश्मिचक्र-मङ्गीकृतं वस्तुमुखं प्रसर्पत् ॥ ४६ ॥ निदर्शनस्य स्फुटमेव दृष्टं वैकल्यमत्रैव हि साधनेन। पदार्थसार्थं प्रति यन्नसर्पज्जिह्वेन्द्रियं केनचिदिष्टपूर्वम् ॥ ४७ ॥ पक्षान्तरे तु व्यभिचारमुद्रा किं चेतसा नैव समुज्जजृम्भे। यस्मात्तदप्राप्यसुपर्वशैलस्वर्गं समुत्पादयति प्रतीतिम् ॥४८॥ शरीरस्य बहिर्देशे स्थायित्वं यदि जल्प्यते। बाह्येन्द्रियत्वमत्र स्यात्संदिग्धव्यभिचारिता ॥ ४९ ॥ अप्रामार्थपरिच्छेदे नापि साध्यं न विद्यते। हेतोर्बाह्येन्द्रियत्वस्य विरोधो बत कश्चन ॥ ५० ॥ क्वचित्साध्यनिवृत्त्या तु हेतुव्यावृत्तिदर्शनात् प्रतिबन्धप्रसिद्धिश्चेत्तदात्रापि कथं न सा ॥ ५१ ॥ रसन-स्पर्शन-घ्राणश्रोत्रान्येन्द्रियता बलात्। चक्षुरप्राप्याधिक्षातृ-मनोवत् प्रतिपाद्यताम् ॥ ५२ ॥ साध्यव्यावृत्तितोऽत्रापि हेतुव्यावृत्तिरीक्षता। नच कश्चिद्विशेषोऽस्ति, येनैकत्रैव सा मता ॥ ५३ ॥ बाह्येन्द्रियत्वं सकलङ्कमेव न तार्किकान् प्रीणयितुं तदीशे। अचिभ्रमो दुर्नयगामिनीनां वैदग्ध्यभाजो भजते न चेतः ॥ ५४ ॥ किंचात्र संसूचितमादिशब्दात् वृत्ते पुरश्चारिणि कारकत्वं। यत्प्राप्यकारित्वसमर्थनाय नेत्रस्य तत्काणदगञ्जनाभम् ॥५५॥ यस्मादिदं मन्त्रजपोपसर्प-स्तोद्दामरामाव्यभिचारदोषात्। उत्तालवेताल करालकेलि-कलंकितश्रीकामिवावजाति ॥५६॥ तथाहि। कनकनिकषस्निग्धां मुग्धां मुहुर्स्मभुरस्मितां चटुलकुटिलभ्रूविभ्रान्तिं कटाक्षपटुच्छटाम्। त्रिजगति गतां कश्चिन्मंत्री समानयति क्षणात्तरुणरमणीमारान्मन्त्रान्मनोभुवि संस्मरन् ॥५७॥ कश्चिदत्र गदति स्म यत्पुनर्मन्त्रमन्त्रणगवीसमानयत्। युक्तमेव मदिरेक्षणादिकं तेन नाभिहितदूषणोदयः ॥ ५८ ॥ मन्त्रस्य साक्षाद्घटना प्रियादिना परंपरातो यदि वा निगद्यते। साक्षाच्च तावद्यदयं विहायसो ध्वनिस्वरूपस्तव सम्मतो गुणः ॥ ५९ ॥ ततोऽस्य तैनैव समं समस्ति संसक्तिवार्ता न तु पद्ममद्भ्या। अथाङ्गनाशब्दनवेदनं स्या, न्मन्त्रस्तथाप्यास्त्वयमात्मनैव ॥ ६० ॥ अथापि मन्त्रस्य निवेद्यते त्वया संसक्तिरेतत्पतिदेवतात्मना। संतापपोषप्रगुणा च सा प्रियां प्रियं प्रति प्रेरयति स्वयोगिनीम् ॥ ६१ ॥ ब्रूमहेऽत्र ननु देवतात्मनां मन्त्रवर्णविसरस्य का घटा। अम्बरस्य गुण एव तत्कथं देवतात्मनि भजेत संगतिम् ॥ ६२ ॥ आश्रयद्वारतोऽप्यस्य संसर्गो नास्ति सर्वथा। व्यापकद्रव्ययोर्यस्मा-त्संसर्गो नामुना मतः ॥ ६३ ॥ व्यापकेषु वदनि व्यतिषङ्ग-यस्तु तेन मनसा ध्वनिना वाऽतीतवस्तुनिचयेण विमृश्य स्पष्ट एव विलसन्-व्यभिचारः ॥ ६४ ॥ अयस्कान्तादनेकान्त-स्तयाऽत्र परिभाव्यताम्। आक्षेपश्च समाधिश्च ज्ञेयो रत्नाकरादिह ॥ ६५ ॥ कारकत्वमपि तच्च शोभते प्राप्यकारिणि यदीक्षणे मतम्। प्राप्य वस्तु वितनोति तन्मतिं नैव चक्षुरिति तत्त्वनिर्णयः ॥ ६६ ॥ अद्रिचन्द्रकाननेषु यत्यदः प्राक् प्ररूपितमुपैति नो घटाम्। रश्मिसंचयविपञ्चितं हि तत्ते च तत्र नितरां व्यपाकृताः ॥ ६७ ॥ किंच। चक्षुरप्राप्यधीकृत्, व्यवधिमतोऽपि प्रकाशकं यस्मात्। अन्तःकरणं यद्वद्व्यतिरेके स्यात् पुना रसना ॥ ६८ ॥ अथ द्रुमादिव्यवधानभाजः प्रकाशकत्वं ददृशे न दृष्टौ। ततोऽस्य यं हेतुरसिद्धतायां धौरेयभावं चिरमाबभूव ॥ ६९ ॥ एतत्र युक्तं शतकोटिकाच-स्वच्छोदकस्फाटिकभित्तिमुख्यैः। पदार्थपुञ्जे व्यवधानभाजि संजायते किं नयनाच्च संवित् ॥ ७० ॥ दम्भोलिप्रभृतिभिर्नित्यभिदुराश्चेदोत्विषश्चक्षुषः संसर्गोपगताः पदार्थपटलीं पश्यन्ति तत्र स्थिताम्। एवं तर्हि समुच्छलन्मलभरे भित्वा जलं तत्क्षणा-त्तेनाप्यन्तरितास्थिमीननिमिषा नालोकयेयुर्न किम् ॥ ७१ ॥ विभ्यता-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्तेन तेचेद्विमब्रजअजरातिक प्रजन्ते न शान्ति, किं चाम्नः काचकूपोदरविवरगतं निष्पतेत्तत्तदानीम् । दोषश्चैनैष तूर्णं यद्यमुदयते नूतनव्यूहरूपः सर्पेयुस्तर्हि नैताः कथमपि रुध्वयो लोचनस्यापि तस्मिन् ॥ ७२ ॥ भवति परिगमश्चे ल्लेगवत्वादमीषां कतिपयकलयास्तु क्षीरपातस्तदानीम् । न च भवति कदाचिद्बुद्बुदस्यापि तस्मात्प्रपतनमिति युक्तस्तस्य नाशः किमाशु ॥ ७३ ॥ किंच ॥ कलशकुलिशप्राकारद्यत्रिविष्टपकन्दरा–कुहरकलितं विश्वं वस्तु प्रतीक्षणभंगुरम् । ज्वलनकलिकावलिकिलिवस्मिन्निरन्तरताभ्रमः प्रभवति वह्नित्यं शाक्यः कथं प्रतिहन्यते ॥ ७४ ॥ तस्थौ स्थेमा तदस्मिन् व्यवधिमदमुना प्रेक्ष्यते येन सर्वम् तत्सिद्धा नेत्रबुद्धिर्व्यवधिपरिगतस्यापि भावस्य सम्यक् । कुड्याद्यग्रन्थबुद्धिर्भवति किमु न चेत्तेदृशी योग्यतास्य प्राप्तस्यापि प्रकाशे प्रभवति न कथं लोचनाद्यर्थबुद्धिः ॥ ७५ ॥ किं वा न प्रतिभासते शशधरं कर्मापि तद्रूपवत् दूराद्वेल्लिसत्तदस्य हृदये लक्ष्येत किं लाञ्छनम् । तस्माद्वकृपि योग्यतैव शरणं साक्षी च नः प्रत्यय–स्तत्सर्कप्रगुण प्रतीहि नयनेष्वप्राप्यधीः कर्तृताम् ॥ ७६ ॥ रत्ना० २ परि० ५ सूत्रे ।

तथा। च विशेषावश्यकेऽपि नाविन्द्रियत्वे तुल्येऽपि कंयम्मुख परीक्षिका यच्चतुर्ष्व स्पर्शनादीन्द्रियेषु प्राप्यकारिताऽभ्युपगम्य नतु नयनः सोरित्याह–

उवघायाणुग्गहओ, जंताइं पत्तकारीणि ।

तत्र विषयभूतं शब्दादिकं वस्तुप्राप्तं संश्लेषद्वारेणासादितं कुर्वन्ति परिच्छिन्दन्तीति प्राप्तकारीणि प्राप्यकारीणि स्पृष्टार्थग्राहीणीत्यर्थः । कुतः पुनरेतान्येव प्राप्यकारीणीत्याह । उपघातश्चानुग्रहश्चोपघातानुग्रहौ तयोर्दर्शनात्कर्कशकम्बलादिस्पर्शने, त्रिकटुकाद्यास्वादने, अशुच्यादिपुद्गलाघ्राणे, भेर्यादिशब्दश्रवणे, त्वक्क्षतनाद्युपघातदर्शनाच्चंदनादिस्पर्शने, क्षीरशर्कराद्यास्वादने, कर्पूरपुद्गलाघ्राणे, मृदुमन्दशब्दाद्याकर्णने तु शैत्याद्यनुग्रहदर्शनादित्यर्थः । नयनस्य तु निशितकरपत्रप्रोल्लसत्खड्गादिवीक्षणेऽपि पाटनाद्युपघातानवलोकनाच्चन्दनागरुकर्पूराद्यवलोकनेऽपि शैत्याद्यनुग्राहाननुभवात् । मनसस्तु वह्न्यादिचिन्तनेऽपि दाहाद्युपघातादर्शनाज्जलचन्दनादिचिन्तायामपि च पिपासोपशमाद्यनुग्रहाऽसंभवाच्चेति ।

अत्र परः प्राह ।

जुज्जइ पत्तविसयया, फरिसणरसणेण सोत्तघाणेसु ।
गिण्हंति सविसयं चिअ, जुत्ताई जिन्नदेसं पि ॥ २०५ ॥

प्राप्तः स्पृष्टो विषयो ग्राह्यवस्तुरूपो ययोस्ते प्राप्तविषये तयोर्भावः प्राप्तविषयता सा युज्यते घटते । कास्मन्नित्याह । स्पर्शनं रसनं चेति समाहारद्वन्द्वस्तस्मिन् स्पर्शनरसनेन्द्रिय इत्यर्थः । अनन्तरप्रतिषेधमाह । न श्रोत्रघ्राणयोः प्राप्तविषयता युज्यते । यस्मात्कारणादितो विवक्षितात्स्वदेशाद्भिन्नदेशमपि स्वविषयमेव गृह्णीतोऽस्यार्थस्यानुभवसिद्धत्वात् न हि शब्दः कश्चिच्छ्रोत्रेन्द्रिये प्रविशन्नुपलभ्यते नापि श्रोत्रेन्द्रियं शब्ददेशे गच्छत् समीक्ष्यते न चान्यथामन्येनापि प्रकारेण विषयस्पर्शनं घटते । दूरे एष कस्यापि शब्दः श्रूयत इत्यादि जनोक्तिश्च श्रूयते कर्पूरकुंकुमकुसुमादीनां दूरस्थानामपि गन्धो निर्विवादमनुभूयते च तस्मात् श्रोत्रघ्राणयोः प्राप्तविषयता न युज्यत एवेति गाथार्थः । अत्रोच्यते–

पावंति सद्दगंधा, ताइं गंतुं सयं न गिण्हंति ।
जं ते पोग्गलमइया, सकिरिया वाउवहणाउ ॥ २०६ ॥
धूमोव्व संहरण उ, दाराणु विहाणओ विसेसेणं ।
तोयव्व नियंवाइसु, पडिघायाओ पवाउव्व ॥ २०७ ॥

(पवंति सद्दगंधा ताइंति) शब्दगन्धौ कर्तृभूतौ ते श्रोत्रघ्राणेन्द्रिये कर्मतापन्ने अन्यत आगत्य प्राप्नुतः स्पृशत इति प्रतिज्ञा । अनन्तरप्रकारप्रतिषेधमाह । गंतुं सयं न गिण्हंतित्ति) ताइंति–संबध्यते अत्रापि । ततश्च ते श्रोत्रघ्राणे कर्तृभूते पुनः स्वयं शब्दगन्धदेशं गत्वा न गृह्णीतः शब्दगन्धाविति विभक्तिव्यत्ययेन संबध्यते आत्मनोऽग्राहकरणत्वाच्छ्रोत्रघ्राणयोः स्पर्शनरसनवदिति । ननु शब्दगन्धावपि श्रोत्रघ्राणे कुतः प्राप्नुत इत्याह । (जं ते पोग्गलमइया सकिरियत्ति) यस्मात्कारणात्तौ शब्दगन्धौ सक्रियौ गत्यादिक्रियावन्तौ तस्मादन्यत आगत्य श्रोत्रघ्राणे प्राप्नुतः कथंभूतौ सन्तौ सक्रियौ तावित्याह । पुनः पुद्गलमयौ यदि पुनरपौद्गलिकत्वादमूर्तौ स्यातां तदा यथा जैनमतेन सक्रियेष्वाकाशादिषु गतिक्रिया नास्ति तथैव तयोरपि न स्यादित्यालोच्य पुद्गलमयत्वविशेषणमकारि पुद्गलमयत्वे सति सक्रियाविति भावः ॥ यच्चैवंभूतं तत्र गतिक्रियास्त्येव यथा पुद्गलस्कन्धेष्वित्याह–ननु पुद्गलमयत्वेऽपि सति शब्दगन्धयोर्गतिक्रियाऽस्तीति कुतो निश्चीयत इत्याह (वाउवहणाउ धूमोव्वत्ति) वायुना वहनं नयनं वायुवहनं तस्मादिदमुक्तं भवति यथा पवनाद् धूम इव गतिक्रियाभाजौ तौ तयाविशेषण द्वारानुविधानतस्तोयवत्तद्वत्तावेतौ तथा पर्वतनितम्बादिषु प्रतिघातात्प्रतिस्खलनात् वायुवदेतौ गतिक्रियाश्रयाविति गाथाद्वयार्थः । हेत्वन्तरेणापि शब्दगन्धयोः सुयुक्तिकं गतिक्रियावत्त्वं समर्थयन्नाह–

गेण्हंति पत्तमत्थं, उवघायाणुग्गहोवलद्धीओ ॥
वाहिज्जपूइनासा–रिसादओ कहमसंबद्धे ॥ २०८ ॥

प्राप्तमन्यत आगत्यात्मना सह संबद्धं शब्दगन्धलक्षणमर्थं गृह्णीतः श्रोत्रघ्राणेन्द्रिये इति गम्यते । एतेन शब्दगन्धयोरागमनक्रिया प्रतिज्ञाता भवति कुतः प्राप्तमेव गृह्णीत इत्याह उपघातश्चानुग्रहश्चोपघातानुग्रहौ तयोरुपलब्धेः तथाहि भेर्यादिमहाशब्दप्रवेशे श्रोत्रस्य बाधिर्यरूप उपघातो दृश्यते कोमलशब्दश्रवणे त्वनुग्रहः घ्राणस्याप्यशुच्यादिगन्धप्रवेशे पूतिरोगाऽर्शोव्याधिरूप उपघातोऽवलोक्यते कर्पूरादिगन्धप्रवेशे त्वनुग्रहः शब्दगन्धासंबन्धेऽपि श्रोत्रघ्राणयोरेतावनुग्रहोपघातौ भविष्यत इति चेदित्याह (वाहिज्जेत्यादि) बाधिर्यं च पूतिश्च नासाकोथलक्षणो रोगविशेषः नासार्शांसि च तानि आदिर्येषां शेषोपघातानुग्रहाणां ते यथाभूताः कथमुपगच्छेयुःक सति इत्याह (असंबद्धेत्ति) स्वहेतुभूते शब्दगन्धलक्षणवस्तुनीति गम्यते । इदमुक्तं भवति । श्रोत्रघ्राणाभ्यां सह संबद्धा एव शब्दगन्धाः स्वकार्यभूतं बाधिर्योपघातमनुग्रहं वा जनयितुमलं नान्यथा सर्वस्यापि तज्जननप्रसंगातिप्रसङ्गादिति गाथार्थः । तदेवं स्पर्शनरसनघ्राणश्रोत्राणां प्राप्यकारित्वं समर्थितम् ॥ विशे० ॥ आ० चू० ॥

साम्प्रतं नयनमनसोरप्राप्यकारित्वसमर्थनायाह ।

कथमप्राप्यकारित्वं नयनमनसोरिति उच्यते विषयकृतानुग्रहोपघाताभावात् तथाहि यदि प्राप्तमर्थं चक्षुर्मनो वा गृह्णीयात् तर्हि यथा स्पर्शनेन्द्रियं स्रक्चन्दनादिकमङ्गारादिकं च प्राप्तमर्थं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिच्छिन्दत्तत्कृतानुग्रहोपघातभाग् भवति तथा चक्षुर्मनसी अपि भवेतां विशेषाभावात् न च भवतस्तस्मादप्राप्यकारिणी तेन तु दृश्यते एवं चक्षुषो विषयकृतावनुग्रहोपघातौ । तथाहि-घनपटलविनिर्मुक्ते नभसि सर्वतो निविडतरतमोऽपेतकरप्रसरमभिसर्पयन्तमंशुमालिनमनवरतमवलोकमानस्य भवति चक्षुषो विघातः शशाङ्ककरकदम्बकं यदि वा तरङ्गमालोपशोभितं जलं तरुमण्डलं च शाद्वलं निरन्तरं निरीक्ष्यमाणस्य चानुग्रहः । तदेतदपरिभावितभाषितं यतो न ब्रूमः सर्वथा विषयकृतावनुग्रहोपघातौ न भवतः किं त्वेतावदेव वदामो यदा विषयं विषयतया चक्षुरवलम्बते तदा तत्कृतावनुग्रहोपघातौ तस्य न भवत इति तदप्राप्यकारि । शेषकालं तु प्राप्तेनोपघातकेनोपघातो भविष्यत्यनुग्राहकेण चानुग्रहस्तथांशुमालिनो रश्मयः सर्वत्रापि प्रसरमुपाददाना यदांशुमालिनः सन्मुखमीक्ष्यते तदा ते चक्षुर्देशमपि प्राप्नुवन्ति ततश्चक्षुः संप्राप्तास्ते स्पर्शनेन्द्रियमिव चक्षुरुपघ्नन्ति शीतांशुरश्मयश्च स्वभावत एव शीतलत्वादनुग्राहकास्ततस्ते चक्षुः संप्राप्तास्सन्तस्तत्स्पर्शनेन्द्रियमिव चक्षुरनुगृह्णंति तरङ्गमालासंकुलजलावलोकने च जलकणसंपृक्तसमीरावयवसंस्पर्शतोऽनुग्रहो भवति शाद्वलतरुमण्डलावलोकनेपि शाद्वलतरुच्छायासंपर्कशीतभूतसमीरणसंस्पर्शात् शेषकालं तु जलाद्यवलोकने अनुग्रहाभिमान उपघाताभावादवसेयो भवति । चोपघाताभावेऽनुग्रहाभिमानो यथातिसूक्ष्माक्षरनिरीक्षणान्निवर्त्य यथा सुखं नीलरत्नवस्त्राद्यवलोकने इत्थं चैतदङ्गीकर्तव्यमन्यथा समासेन संपर्के यथा सूर्यमीक्षमाणस्य सूर्येणोपघातो भवति तथा हुतवहजलशूलाद्यालोकने दाहक्लेदपाटनादयोपि कस्मान्न भवन्ति अपिच यदि चक्षुः प्राप्यकारि तर्हि स्वदेशगतरजोमलाञ्जनशलाकादिकं किं न पश्यति तस्मादप्राप्यकार्येव चक्षुः । ननु यदि चक्षुरप्राप्यकारि तर्हि मनोवत् कस्मादविशेषेण सर्वानपि दूरं व्यवहितानर्थान्न गृह्णाति यदि हि प्राप्तं परिच्छिन्द्यात् तर्हि यदेवानावृतमदूरदेशं वा तदेव गृह्णीयात् नावृतं दूरदेशं वा तत्र चक्षूरश्मीनां गमनासंभवे संपर्कासंभवात् ततो युज्यते चक्षुषो ग्रहणाग्रहणेनान्यथा तथाचोक्तम् " प्राप्यकारि चक्षुरुपलब्ध्यनुपलब्ध्योरनावरणेतरापेक्षणाच्च " । यदि हि चक्षुरप्राप्यकारि भवेत् तदावरणभावादनुपलब्धिरन्यथोपलब्धिरिति न स्यात् । नहि तदावरणमुपघातकरणसमर्थं प्राप्यकारित्वे तु मूर्तद्रव्यप्रतिघातादुपपत्तिमानव्याघातात् अतिदूरे च गमनाभावादिति प्रयोगश्चात्र न चक्षुषो विषयपरिमाणमप्राप्यकारित्वान्मनोवत् तदेतदयुक्ततरं दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वात् न खलु मनो ऽप्यशेषान् विषयान् गृह्णाति तस्यापि सूक्ष्मेष्वागमगमादिष्वर्थेषु मोहदर्शनात् तस्माद्यथा मनो प्राप्यकार्यपि स्वावरणक्षयोपशमापेक्षत्वान्नियतविषयं तथा चक्षुरपि स्वावरणक्षयोपशमसापेक्षत्वादप्राप्यकार्यपि योग्यदेशावस्थितनियतविषयमिति न व्यवहितानुपलम्भप्रसंगो नापि दूरदेशस्थितानामिति । अपिच दृष्टमप्राप्यकारित्वेऽपि तथा स्वभावविशेषाद्योग्यदेशापेक्षणं यथा ऽयस्कान्तस्य न खल्वयस्कान्तोऽयसो ऽप्राप्यकर्षणे प्रवर्तमानः सर्वस्याप्ययसो जगद्वर्तिन आकर्षको भवति किंतु प्रतिनियतस्यैव । शङ्करस्वामी प्राह अयस्कान्तोऽपि प्राप्यकारी अयस्कान्तच्छायाणुभिः समाकृष्यमाणवस्तुनः संबन्धभावाद् केवलं ते छायाणवः सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यन्ते इति तदेतदुन्मत्तप्रलपितं तद्ग्राहकप्रमाणाभावात् नाहि तत्र छायाणुसंभवग्राहकं प्रमाणमस्ति न चाप्रमाणकं प्रतिपत्तुं शक्यम् अथास्ति तद्ग्राहकं प्रमाणमनुमानम्-इह यदाकर्षणं तत्संसर्गपूर्वकं यथाऽयोगोलकस्य संदंशेनाकर्षणं चायसोऽयस्कान्तेन तत्र साक्षादयस्कान्ते संसर्गः प्रत्यक्षबाधित इति अर्थात् छायाणुभिः सह दृष्टव्य इति तदपि बालिशजल्पितं हेतोरनैकान्तिकत्वात् मन्त्रेण व्यभिचारात् । तथाहि-मन्त्रः स्मर्यमाणोऽपि विवक्षितं वस्तु आकर्षति न च कोऽपि तत्र संसर्ग इति । अपिच यथा छायाणवः प्राप्तमयः समाकर्षन्ति तथा काष्ठादिकमपि प्राप्तं कस्मान्न कर्षन्ति शक्तिप्रतिनियमादिति चेन्मनसः शक्तिप्रतिनियमोऽप्राप्तावपि तुल्य एवेति व्यर्थं छायाणुपरिकल्पनम् अन्यस्त्वाह अस्ति चक्षुषः प्राप्यकारित्वे व्यवहितार्थानुपलब्धेरनुमानं प्रमाणं तदयुक्तमपि हेतोरनैकान्तिकत्वात् । काचाभ्रपटलस्फटिकैरन्तरितस्याप्युपलब्धेः अथैवमाचक्षीथाः नयनरश्मयो निर्गत्य तमर्थं गृह्णन्ति नायनाश्च रश्मयस्तैजसत्वान्न तेजोद्रव्यैः प्रतिस्खल्यन्ते ततो न कश्चिद्दोषः तदपि न मनोरमं महाज्वालादौ स्खलनोपलब्धेस्तस्मादप्राप्यकारि चक्षुरिति स्थितम् नं० आ० म० (मनसो ऽप्राप्यकारिता मनः शब्देपि) तथाच विशेषावश्यके—

नयनमनसोरप्राप्यकारित्वमभिधित्सुर्नयनस्य तावदाह-

लोयणमपत्तविसयं, मणो व्व जमणुग्गहाइ सुण्णंति ।
जलसूरालोयाइसु, दीसंति अणुग्गहोवघाया ॥

अप्राप्तोऽसंबद्धोऽसंश्लिष्टो विषयो ग्राह्यवस्तुरूपो यस्य तदप्राप्तविषयं लोचनमप्राप्यकारीत्यर्थः इति प्रतिज्ञा । कुत इत्याह-यद्यस्मादनुग्रहादिशून्यमादिशब्दादुपघातपरिग्रहः ग्राह्यवस्तुकृतानुग्रहोपघातशून्यत्वादित्यर्थः अयं च हेतुः मनोवदिति दृष्टान्तः । यदि हि लोचनं ग्राह्यवस्तुना सह संबध्य तत्परिच्छेदं कुर्यात् तदग्न्यादिदर्शने स्पर्शनस्येव दाहाद्युपघातः स्यात् कोमलतल्पाद्यवलोकने त्वनुग्रहो भवेत् न चैवं तस्मादप्राप्यकारि लोचनमिति भावः मनस्यप्राप्यकारित्वं परस्यासिद्धमिति कथं तस्य दृष्टान्तत्वेनोन्यास इति चेत्सत्यं किन्तु वक्ष्यमाणयुक्तिभिस्तत्र तत्सिद्धमिति निश्चित्य तस्येह दृष्टान्तत्वेन प्रदर्शनमित्यदोषः । अथ परो हेतोरसिद्धतामुद्भावयन्नाह (जलसूरेत्यादि) आदिशब्द आलोकशब्दश्च प्रत्येकमभिसम्बध्यते ततश्च जलादीनामालोके लोचनस्याऽनुग्रहो दृश्यते सूरादीनां त्वालोके उपघात इत्यतोऽनुग्रहादिशून्यत्वादित्यसिद्धो हेतुरित्यर्थः । इदमुक्तं भवति जलघृतनीलवनवनस्पतीन्दुमण्डलाद्यवलोकने नयनस्य परमाश्वासलक्षणोनुग्रहः समीक्ष्यते सूरसितभित्त्यादिदर्शने तु जलविगलनादिरूप उपघातः संदृश्यत इत्यतः किमुच्यते (जमणुग्गहाइसुण्णंतीति) गाथार्थः ॥ अत्रोत्तरमाह—

रूऊज्ज पाविउं रवि-कराइणा फरसणं व को दोसो ॥
मणिज्जाणुग्गहं पि व उवघायाभावओ सोम्मे ॥ २१० ॥

अयमत्र भावार्थः अस्मदभिप्रायानभिज्ञोऽप्रस्तुताभिधायी परो न हि वयमेवं ब्रूमो यच्चक्षुषः कुतोऽपि वस्तुनः सकाशात्कदापि सर्वथैवानुग्रहोपघातौ न भवतस्ततो रविकरादिना दाहात्मकतोपघातवस्तुना परिच्छेदानन्तरं पश्चाच्चिरमवलोकयतः प्रतिपत्तुश्चक्षुः प्राप्य समासाद्य स्पर्शनेन्द्रियमिव दहनं दाहादिलक्षणस्तस्योपघातः क्रियत इत्यर्थः एतावता चाप्राप्यकारित्वचक्षुरादिनामस्माकं को दोषो न कश्चिद् दृष्टस्य बाधितुमशक्य-

स्वादितिभावः । तथा यत्स्वरूपेणैव सौम्यं शीतलं शीतरश्मिजलघृतचन्दनादिकं वस्तु तस्मिन्निरवलोकिते उपघाताभावादनुग्रहमिव मन्येत चक्षुः को दोषः इत्यत्रापि संबध्यते न कश्चिदित्यर्थः इति गाथार्थः आह यदुक्तन्यायेनोपघातकानुग्राहकवस्तुभ्य उपघातानुग्रहाभावं चक्षुषो न ब्रूषे तर्हि यदुक्ते तत्कथय इत्यासङ्क्याह ॥

गंतुं न रूवदेसं, पासइ पत्तं सयं च नियमो यं ।
एत्तेण उ मुत्तिमया उवघायाणुग्गहा होज्जा ॥

अयं नियमः इदमेवाऽस्माभिर्नियम्यत इत्यर्थः किं तदित्याह रूपस्य देशो रूपदेशः आदित्यमण्डलादिसमाक्रान्तप्रदेशरूप स्तं गत्वा तल्लग्नवतस्तं समालिंग्य चक्षुर्न पश्यति न परिच्छिनत्यन्यथाश्रुतत्वाद्रूपमिति गम्यते (पत्तंसयंचत्ति) स्वयं वा अन्यत आगत्य चक्षुर्देशं प्राप्तं समागतं रूप चक्षुर्न पश्यति किंत्वप्राप्तमेव योग्यदेशस्थं विषयं तत्पश्यति अत्राह परो नन्वनेन नियमेनाप्राप्यकारित्वं चक्षुषः प्रतिज्ञातं भवति नच प्रतिज्ञामात्रेणैव हेतुपन्या समन्तरेण समीहितवस्तु सिद्धिरतो हेतुरिहवक्तव्यः (जमणुग्गहाइ सुणंती) इत्यनेन पूर्वोक्ता गाथावयवेन विषयकृतानुग्र होप घातशून्यत्वलक्षणीयमभिहित एवेति चेदहो जराविधुरितस्येव सूरेर्विस्मरणशीलता यतो (जमणुग्गहाइसुणंतीत्यनेन) विषयादनुग्रहोपघातौ चक्षुषो निषेधयति (रूज्जेज्ज पाविज्जं रविकराइणा फरिसणंचे) इत्यादिना तु पुनरपि तावत्तौ तस्य समनुजानीत अतो न विद्मः कोप्येष वचन क्रम इति नैतदेवमभिप्रायापरिज्ञानाद्यतः प्रथमत एव विषय परिच्छेदमात्रकालेऽनुग्रहोपघातशून्यताहेतुत्वेनोक्ता पश्चात्तु चिरमवलोकयतः प्रतिपत्तुः प्राप्तेन रविकिरणादिना चन्द्रमरीचिनीरादिना वा मूर्तिमता सता एव केनाप्युपघातकेनानुग्राहकेन च विषयेणोपघातानुग्रहौ भवेताम् । अपीत्येतदेवाह । (एत्तेण उ मुत्तिमया इत्यादि) अनेनाभिप्रायेण तौ पुनरपि समनुज्ञायेते न विस्मरणशीलतया यदि पुनर्विषयपरिच्छित्तिमात्रमपि तमप्राप्यचक्षुर्न करोतीति नियम्यते तदा वह्निविषजलाभिकण्टक-करवाल-करपत्र-सौवीराञ्जनादि परिच्छित्तावपि तस्य दाहस्फोटक्लेदपाटनमीलनरोगतादिलक्षणो पघातानुग्रहप्रसङ्गः नहि समानतायामपि प्राप्तौ रविकरादिना तस्य भवन्ति दाहादयो न वन्ह्यादिभिः । तस्माद्व्यवस्थितमिदं विषयमप्राप्यैवं चक्षुः परिच्छिनत्ति अंजनदहनादिकृतानुग्रहोपघातशून्यत्वान्मनोवत् । परिच्छेदानन्तरं तु पश्चात्प्राप्तेन केनाप्युपघातकेन अनुग्राहकेण वा मूर्तिमता द्रव्येण तस्योपघातानुग्रहौ न निषिध्येते विषशर्करादिभक्षणे मूर्छास्वास्थ्यादय इव मनस इति । अत्राऽपरः प्राह-नयनात्तायना रश्मयो निर्गत्य प्राप्य च रविबिम्बरश्मय इव वस्तुप्रकाशयन्तीति नयनस्य प्राप्यकारिता प्रोच्यते सूक्ष्मत्वेन च तेषां वन्ह्यादिभिर्दाहादयो न भवन्ति रविरश्मिषु तथा दर्शनात्तदेतदयुक्ततरं तेषां प्रत्यक्षादिप्रमाणाग्राह्यत्वेन अरूतानुमशक्यत्वात्तथाविधानामप्यस्तित्वकल्पनेऽति प्रसङ्गाद्वस्तुपरिच्छेदान्यथानुपपत्तेस्ते सन्तीति कल्प्यत इति चेन्न तानन्तरेणापि तत्परिच्छेदोपपत्तेः नहि मनसोरश्मयः सन्ति न च तदप्राप्तं । वस्तु परिच्छिनत्ति वक्ष्यमाणयुक्तिभ्यस्तस्य तत्सिद्धेः न च रविरश्म्युदाहरणमात्रेणाचेतनानां नयनरश्मीनां वस्तुपरिच्छेदो युज्यते नखदन्तजालतलादिगतशरीररश्मीनामपि स्पर्शाविषयवस्तुपरिच्छेदप्रसङ्गादित्यलं विस्तरेणेति गाथार्थः । तदेव मञ्जनज्वलनादिविषयविहितानुग्रहोपघातशून्यत्वलक्षणहेतोर प्राप्यकारितां चक्षुषः प्रसाध्य हेत्वन्तरेणापि तस्य तां प्रसाधयितुमाह-

जइ पत्तं गिण्हिज्जउ तग्गयमंजणरओमलाइयं ॥
पिच्छेज्ज यं न पासइ अपत्तकारि तओ चक्खु ॥ १७॥

यदि तु प्राप्तं विषयं चक्षुर्गृह्णीयादित्युच्यते तदा तद्गतमात्मसंबद्धमञ्जनरजोमलशलाकादिकं पश्येदविशेषात् तस्य निर्विवादमेव तत्प्राप्तत्वेनोपलम्भः यस्माच्च न पश्यति ततोऽप्राप्यकारि चक्षुरिति स्थितम् । यद्यप्राप्यकारि चक्षुस्तर्ह्यप्राप्तत्वाविशेषात्सर्वस्याप्यशेषस्याविशेषेणग्राहकं स्यान्न प्रतिनियतस्येति चेन्न ज्ञानदर्शनावरणादेस्तत्प्रतिबन्धकस्य सद्भावान्मनसा व्यभिचाराच्च तथा ह्यप्राप्यकारित्वे सत्यपि नाविशेषेण सर्वार्थेषु मनः प्रवर्तते इन्द्रियाद्यप्रकाशितेषु सर्वथा अदृष्टाश्रुतार्थेषु तत्प्रवृत्त्यदर्शनादित्यलं प्रसंगेनेति गाथार्थः । तदेवं व्यवस्थापिता चक्षुषोऽप्राप्यकारिता-विशे० ॥

तदेवं नयनमनसोर्विस्तरेणाप्राप्यकारितायां साधितायां नयन पक्षेऽद्यापि दूषणशेषमुत्पश्यन् परःप्राह-

जइ नयणिंदि य पत्तकारि सव्वत्थ गिण्हए कम्हा ॥
गहणागहणं किंकयमपत्त विसयत्त सामन्ने ॥ ? ॥

यदुक्तं युक्तिभ्यो नयनेन्द्रियमप्राप्तकारि तर्हि सर्वमपि त्रिभुवनान्तर्वर्ति वस्तुनि कुतश्चं कस्मान्न गृह्णाति अप्राप्तित्वाविशेषादेतत्सत्यीकरोति अप्राप्तो विषयो यस्य तदप्राप्तविषयं तद्भावोऽप्राप्तविषयत्वं तस्मिन् सामान्येऽविशिष्टेऽपि सति यदिदं कस्यचिदर्थस्य ग्रहणं कस्यचिदग्रहणं तत्किकृतं किं निबन्धनं नेह किंचिन्निबन्धनमुत्पश्यामः इतिभावः इतिगाथार्थः । तस्माद्धो आचार्य ? तस्य चक्षुषो विषयपरिमाणोऽनैयत्यमाप्नोतीत्येतदेवाह—

विसयपरिमाणमनियमपत्त विसयत्ति तस्स मणसोव्व ।
मणसो वि विसय नियमो नक्कमइ जओ समवत्थ ।

विषयस्य ग्राहकस्य परिमाणमनियतमपरिमितं प्राप्नोति तस्य चक्षुष इति ज्ञानहेतुमाह अप्राप्तविषय इति कृत्वा मनसहावेति दृष्टान्तप्रयोगः यदप्राप्तमपि विषयं परिच्छिनत्ति न तस्य तत्परिमाणं युक्तं यथा मनसः । अप्राप्तं विषयमनुगच्छति चक्षुस्तस्माच्च तस्य तत्परिमाणं युक्तमिति । अथेह प्रयोगे दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्ये सूरिरुपदर्शयति मनसो दृष्टान्तीकृतस्याप्राप्यकारिणो विषयनियमोऽस्त्येवेति शेषः । कुत इत्याह । (मन सत्ति) तदपिमनः सर्वेष्वर्थेषु न क्रामति न प्रसरति इति गाथार्थः । तथाहि—

अत्थगहणेसु मुज्झइ सत्तेसु वि केवलाई गम्मेसु ।
तं किं कयमगहणं अपत्तकारित्तसामन्ने ॥

अर्थाएव मतेर्दुः प्रवेशत्वाद्गहनानि तेष्वनन्तेषु सत्स्वपि विद्यमानेष्वपि कथंभूतेष्वित्याह । केवलं केवलज्ञानमादिर्येषामवधिज्ञानागमादीनां तानि केवलादीनि तैर्गम्यन्ते ज्ञायन्ते केवलादिगम्यानि तेष्वेवं भूतेष्वर्थगहनेषु सत्स्वपि कस्यचिन्मन्दमतेर्जन्तोर्मनो मुह्यति कुण्ठी भवति । तदवगमनाय न प्रभवति तान् गहनभूतान् केवलादिगम्यान् ततोऽप्यर्थान्न गृह्णाति तात्पर्यं तत्र तदत्राहमपि भवन्तं पृच्छामि तदेतन्मनसोऽगृहणमर्थानां किं कृतं किं निबन्धनमप्राप्तकारित्वसामान्येऽप्राप्तकारित्वे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तुल्येऽहीत्यर्थः । तस्मान्मनसोऽपि विषयपरिमाणसद्भावाद्नन्तरगाथोक्तसाध्यविकलो दृष्टान्त इति स्थितमिति गाथार्थः ॥ तत्किंकृतमग्रहणमर्थानामपीत्यत्रपराऽभिप्रायं आशङ्कमानःप्राह

कम्मोदय उव्वसाहा चउव्व नणु लोयणे वि तं तुल्लं ।
तुल्लो व उवालंभो एसो संपत्त विसए वि ॥

यत्केषांचिदर्थानां मनसो ग्रहणं तत्तदावरणकर्मोदयाद्वा स्वभावाद्वा इति परो ब्रूयात्त्वेतल्लोचनेपि तुल्यं यतस्तदप्यप्राप्यकारित्वे तुल्येऽपि कर्मोदयात् तत्स्वभावाद्वा कांश्चिदेवार्थान् गृह्णाति न सर्वानिति तदेवं नयनस्य प्राप्यकारित्वेऽतिप्रसङ्गलक्षणं प्राप्तकारिवादिना यद्दूषणमुक्तं तत्परिहृतम् अथवा यो नयनमनसोः प्राप्यकारित्वमभ्युपगच्छति तस्याप्येतद्दूषणमापतत्येव यन्न द्वयोर्दूषणं न तदेकस्य दातुमुचितमित्येतच्चेतसि निधाय प्राह 'तुल्लोवेत्यादि' वा इत्यथवा एषोऽतिप्रसंगलक्षणउपालम्भस्तुल्यः समानः केत्याह संप्राप्तविषयत्वेपि नयनमनसोरभ्युपगम्यमाने तथाह्यत्रापि शक्यते वक्तुं यदि प्राप्तमर्थं गृह्णाति चक्षुस्तर्हीतिसंप्राप्तनयनाञ्जनरजोमलशलाकादीन् कस्मान्न गृह्णाति। मनोऽपि प्राप्तान् सर्वानपि किमिति न गृह्णाति यत्प्राप्तिकाले पटादयो न प्राप्ता एवेति चेन्न तदप्राप्तौ हेत्वभावात्तथाहि न तावत्कटकुड्यादयस्तेषामाचारकास्तैरन्तरितानामपि मेर्वादीनां मनसोऽपरिच्छेदानुभवात्कर्मोदयात्स्वभावाद्वा प्रतिनियतमेव मनः प्राप्नोतीति चेन्नन्वेतदप्राप्यकारिणो नयनस्यापि समानमिति गाथार्थः । तस्मात्किमिह स्थितमित्याह ॥

सामत्थाभावाओ मणोव्व विसयपरउ पगिएहेइ ॥
कम्मक्खओवसमओ साणुग्गहओ य सामत्थं ॥ १ ॥

चक्षुः सिद्धान्तनिर्दिष्टं नियतविषयपरिमाणात्परतो न गृह्णातीति प्रतिज्ञा चक्षुषश्चेह कर्तृत्वं प्रक्रमाल्लभ्यते सामर्थ्याभावादिति हेतुर्मनोवदिति दृष्टान्तः सामर्थ्याभावो नयनस्य कुत इत्याह (कम्मक्खओ इत्यादि) तदावरणकर्मक्षयोपशमात् स्वानुग्रहतश्चाऽप्राप्तेष्वपि केषुचिद्योग्यदेशावस्थितेष्वर्थेषु परिच्छेदे कर्तव्ये लोचनस्य सामर्थ्यं भवति इदमुक्तं भवति अप्राप्तत्वे समानेऽपि येष्वर्थेषु ग्रहणविषये कर्मक्षयोपशमो भवति तथा स्वस्यात्मनो रूपालोके नमस्कारादिसामर्थ्यः । सकाशादनुग्रहो भवति तेष्वर्थेषु कर्मक्षयोपशमसद्भावाच्छेषसामग्र्यनुग्रहाच्चक्षुषो ग्रहणसामर्थ्यं भवति येषु त्वर्थेषु ग्रहणविषये कर्मक्षयोपशमः शेषसामग्र्यनुग्रहश्च नास्ति तेषु तस्य सामर्थ्याभाव इत्यर्थापत्तित एव गम्यते तस्माद्व्यवस्थितमप्राप्यकारित्वं नयनस्य । विशे० ॥

इहसुगतमतानुसारिणः श्रोत्रमप्राप्यकारि प्रतिपद्यन्ते तथाच तद्ग्रन्थाः चक्षुः श्रोत्रं मनोऽप्राप्यकारीति तदयुक्तमिहाप्राप्यकारि तत्प्रतिपत्तुं शक्यते यस्य विषयकृतानुग्रहोपघाताभावो यथा चक्षुर्मनसोः । श्रोत्रेन्द्रियस्य च शब्दकृत उपघातो दृश्यते सद्योजातबालकस्य समीपे महाप्रयत्नताडितझल्लरीरणत्कारश्रवणतो यद्वा विद्युत्प्रपाते तत्प्रत्यासन्नदेशवर्तिनां निर्घोषश्रवणतो व धिरीभावदर्शनात् । शब्दपरमाणवो हि उत्पत्तिदेशादारभ्य सर्वतो जलतरंगन्यायेन प्रसरमाजिगृह्णानां श्रोत्रेन्द्रियदेशमागच्छन्ति ततः संभवत्युपघातः । ननु यदि श्रोत्रेन्द्रियं प्राप्तमेव शब्दं गृह्णाति नाप्राप्तं तर्हि यथा गन्धादौ गृह्यमाणेन तत्र दूरासन्नादिभेदप्रतीतिरेवं शब्दोऽपि न स्यात् प्राप्तो हि विषयः परिच्छिद्यमानः सर्वोपि सन्निहित एव तत्कथं तत्र दूरासन्नादिभेदप्रतीतिर्भवितुमर्हति अथ च प्रतीयते शब्दो दूरासन्नादितया तथा च लोके वक्तारः श्रूयते कस्यापि दूरे शब्द इति । अन्यच्च यदि प्राप्तः शब्दो गृह्यते श्रोत्रेन्द्रियेण तर्हि चाण्डालोक्तोऽपिशब्दः श्रोत्रेन्द्रियेण श्रोत्रेन्द्रियसंस्पृष्टो गृह्यते इति श्रोत्रेन्द्रियस्य चाण्डालस्पर्शदोषप्रसंगः तत्र श्रेयः एवेवीप्रतिष्ठामभितिष्ठति श्रोत्रेन्द्रियस्य प्राप्यकारित्वं तदेतदिति महामोहमलीमसभाषितं यतो यद्यपि शब्दोऽप्राप्तो गृह्यते श्रोत्रेन्द्रियेण तथाऽपि यत उत्थितः शब्दस्तस्य दूरासन्नत्वे शब्देऽपि स्वभाववैचित्र्यसंभवात् दूरासन्नादिभेदप्रतीतिर्भवति । तथाहि-दूरादागतः शब्दः क्षीणशक्तित्वात् क्लिन्न उपलभ्यते स्पष्टरूपो वा ततो लोके लोको वदति दूरे शब्दः श्रूयते यस्य च वाक्यस्यायं भावार्थो दूरादागतः शब्दः श्रूयते इति स्यादेतदेवमतिप्रसंगः प्राप्नोति तथाह्येतदपि वक्तुं शक्यते दूरे रूपमुपलभ्यते किमुक्तं भवति दूरादागतं रूपमुपलभ्यते ततश्चक्षुरपि प्राप्यकारि प्राप्नोति न चेष्यते तस्मान्नैतत्समीचीनमिति तदयुक्तं यत इह चक्षुषो रूपकृतावनुग्रहोपघातौ नोपलभ्येते श्रोत्रेन्द्रियस्य तु शब्दकृत उपघातोऽस्ति एतच्च प्रागेवोक्तं ततो नातिप्रसंगावानमुपपत्तिमत् । अन्यच्च प्रत्यासन्नोऽपि जनः पवनस्य प्रतिकूलमवतिष्ठमानः शब्दं न शृणोति पवनवर्त्मनि तु वर्तमानो दूरदेशस्थितोऽपि शृणोति तथाच लोके वक्तारो न वयं प्रत्यासन्ना अपि त्वदीयं वचः श्रुणुमः पवनस्य प्रतिकूलमवस्थानात् यदि पुनरप्राप्तमेव शब्दं रूपमिव जनाः प्रभिणुयुस्तर्हि वातस्य प्रतिकूलमप्यवतिष्ठमाना रूपमिव शब्दं यथावस्थितं प्रत्यासन्नाः प्रभिणुयुर्न च प्रभिएवन्ति तस्मात्प्राप्ता एव परमाणवः श्रोत्रेन्द्रियेण परिगृह्यन्ते इत्यवश्यमभ्युपगन्तव्यं तथा च सति पवनस्य प्रतिकूलमप्यवतिष्ठमानानां श्रोत्रेन्द्रियं न शब्दपरिमाणवो वैपुल्येन प्राप्नुवन्ति तेषामन्यथा वातेन नीयमानत्वात् ततो न ते शृण्वन्तीति न काचित् क्षितिः । यदपि चोक्तं चाण्डालस्पर्शदोषः प्राप्नोतीति तदपि चेतनाविकलपुरुषभाषितमिवासमीचीनं स्पर्शास्पर्शव्यवस्था या लोके काल्पनिकत्वात् तथाहि न स्पर्शस्य व्यवस्था लोके पारमार्थिकी तथाहि यामेव भुवमग्रे चाण्डालः स्पृशन् प्रयाति तामेवपृष्ठतः श्रोत्रियोऽपि, तथा यामेव नावमधिरोहतिस्म चाण्डालस्तामेवारोहति श्रोत्रियोऽपि, तथा स एव मारुतश्चाण्डालमपि स्पृष्ट्वा श्रोत्रियमपि स्पृशति, न च तत्र लोके स्पर्शदोषव्यवस्था तथा शब्दपुद्गलसंस्पर्शेऽपि न भवतीति न कश्चिद्दोषः । अपि च यदा लोके केतकीदलनिचयं शतपत्रादिपुष्पनिचयं वा शिरसि निबध्य वपुषि वा मृगमदचन्दनाद्यवलेपनमारचय्य विपणिं वीथ्यामागत्य चाण्डालोऽवतिष्ठते तदा तत्केतकीदलादिगन्धपुद्गलाः श्रोत्रियादिनासिकास्वपि प्रविशन्ति ततस्तत्रापि चाण्डालस्पर्शदोषःप्राप्नोतीति तद्भयाभयानासिकेन्द्रियमप्राप्यकारि प्रतिपत्तव्यं नचैतद्भवतोऽप्यागमे प्रतिपाद्यते ततो बालिशजल्पितमेतदितिकृतं प्रसंगेनेति।नं०।आ.म.।

तथा रत्नावतारिकायाम् "बौद्धाः पुनरिदमाहुः श्रोत्रं न प्राप्य बुद्धिमाधत्ते । दिग्देशव्यपदेशान् करोति शब्दे यतो इत्थम् ॥ ११ ॥ तथाहि । प्राच्यामभ्रविजृम्भते जलमुचा मत्यूर्जितं गर्जितं प्रोन्मीलत्ययमेष चातकरवो क्षामक्षण दक्षिणः। केकाः केकिकुटुम्बकस्य विलसन्त्येताः कलाः काननाद्दिग्देशव्यपदेशयानिति न किं शब्देस्ति संप्रत्ययः ॥ १० ॥ प्राप्यकारि यदि तु श्रवणं स्यात्तर्हि तत्र न कथंच न सैषः । प्रस्तुतः समुदयाद्यपदेशः शर्करास्पृशि यथा रसनायाम् ॥ १५ ॥ वेश्यानुरागप्रतिमं तदेतत् सुस्पृष्टव्यभिचारदोषात् । घ्राणं यदेतद्

व्यपदेशभाजं प्राप्तप्रकाशं कुरुते मनीषाम् ॥८०॥ तथाच "मन्दं-मन्दमुदेत्ययं परिमलप्राग्माधवीमण्डपाद्भूय: सौरभमुद्गमं-त्युपवने फुल्लाःस्फुटं मल्लिकाः । गन्धो बन्धुर एष दक्षिणगिरेः श्रीचन्दनात्प्रासवानित्येतन्ननु विद्यते तनुभृतां घ्राणात्तथा प्रत्ययः ॥ ८१ ॥ अस्ति त्वगिन्द्रियेणापि व्यभिचारविनिश्चयः । शेमुषीमादधानेन दिग्देशव्यपदेशिनी ॥८२॥ तथाहि । सेयं समीरलहरी हरिचन्दनेन्दु-संवादिनी वनभुवः प्रसभं प्रवृत्ता । स्फीतस्फुरत्पुलकपल्लवितांगयष्टिमातनोति तरुणी करपल्लवश्च ८३ अथानुमानादधिगम्य तेषां हेतूंस्ततस्तद्व्यपदेशिनीधीः । न घ्राणतः स्पर्शनतश्च तादृक् प्रत्यक्षरूपा प्रथते मनीषा ॥ ८४ ॥ श्रोत्रेपि सर्वं तदिदं समानमालोकमानोऽपि न मन्यसे किम् । इत्थम्प्रतीकामपिकामिनीनां य-त्संमन्यते कामुक एव साध्वीम्॥८५ स्मृत्वा यथैव प्रतिबन्धमाशु शंखादिशब्दोऽयमिति प्रतीतिः । प्राच्यादिदूरादिगतेऽपि शब्दे तथैव युक्ता प्रतिपत्तिरेषा ॥ ॥ ८६ ॥ दिग्देशानां श्रुतिविषयता किंच नो युक्तियुक्ता युक्तत्वे वा भवति न कथं ध्यानरूपत्वमेषाम् । तस्माद्भिन्नप्रमितिविषयास्ते विशिष्यन्ति शब्दं सिद्धे चैवं भवतु सुतरां साधने साध्यसिद्धिः ॥८७॥ अपिच । शृणुते यदि विनैव संगतिं किं तदानुगुणमारुते ध्वनौ । दूरतोऽपि धिषणा समुन्मिषे-दन्यथा तु निकटेऽपि नैव सा ॥ ८८ ॥ मुहुर्मरुति मन्थरं स्फुरति सानुलोमागमे समुल्लसितवल्लकीकणककाकलीकन्दुला । सकामतनकामिनी कलितयोजनाडम्बरा न किं निशि निशाम्यते सपदि दूरतः काकली ॥ ८९ ॥ पटुघटितकपाटसंपुटौघे भवति कथं सदनेऽपि शब्दबुद्धिः । पटुघटितकपाटसंपुटौघे भवति कथं सदनेऽपि गन्धबुद्धिः ॥ ९० ॥ तथाहि । कर्पूरपारीपरिरंभभाजी श्रीखण्डखण्डे मृगनाभिमिश्रे । धूमायमाने पिहितेऽप्यगारे गन्धप्रबन्धो बहिरभ्युपैति ॥ ९१ ॥ द्वारावृतेऽपि सदने प्रणयप्रकर्षा-देवं प्रिये स्फुरदपत्रपया स्खलंती । द्वारि स्थितस्य सरसाकुलबालिकायाः कर्णातिथीभवति मन्मथसूक्तिमुद्रा ॥९२ ॥ एवं च प्राप्त एवैष शब्दः श्रोत्रेण गृह्यते । श्रोत्रस्यापि ततः सिद्धा-निर्बाधा प्राप्यकारिता, ॥९३॥ रत्ना० २ प० ॥

(१०) संप्रति इन्द्रियाणां विषयपरिमाणनिरूपणार्थमाह–

सोइंदियस्स णं भंते ! केवतिए विसए पन्नत्ते ? गोयमा ! जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागे उक्कोसेणं बारसहिं जोयणेहिंतो छिन्ने पुग्गले पुट्ठे पविट्ठाइं सद्दाइं सुणेइ । चक्खिदियस्स णं भंते ! केवतिए विसए पन्नत्ते ? गोयमा ! जहन्नेणं अंगुलस्स संखेज्जइभागो उक्कोसेणं सातिरेगाओ जोयणसयसहस्साओ अच्छिन्ने पुग्गले अपुट्ठे अपविट्ठाइं रूवाइं पासति । घाणिंदियस्स पुच्छा, गोयमा ! जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागो उक्कोसेणं नवहिं जोयणेहिं छिन्ने पोग्गले पुट्ठे पविट्ठाइं गंधाइं अग्घाइं । एवं जिब्भिंदियस्स वि । फासिंदियस्स वि ॥

इह श्रोत्रादीनि प्राप्तविषयपरिच्छेदत्वात् अङ्गुलासंख्येयभागादप्यागतं शब्दादिद्रव्यं परिच्छिन्दन्ति नयनं वा प्राप्यकारीति तज्जघन्यतोऽङ्गुलसंख्येयभागादव्यवहितं परिच्छिनत्ति किमुक्तं भवति अङ्गुलसंख्येयभागमात्रे व्यवस्थितं पश्यन्ति ननु ततो[illegible]मिति प्राणिप्रसिद्धश्चायमर्थः । तथाच गातिस[illegible]दिकं चक्षुः पश्यति । उक्तञ्च– "अवरमसंखेज्जगुणं [illegible] नयणभत्तं । संखेज्जंगुलभागा नयणस्सइत्ति" उत्कर्षतस्तु श्रोत्रेन्द्रियं द्वादशभ्यो योजनेभ्य आगतान् अच्छिन्नान् अव्यवहितान् नान्यैः शब्दान्तरैर्वातादिकैर्वा प्रतिहतशक्तिकानित्यर्थः पुद्गलान् अनेन पौद्गलिकशब्दो नाम्बरगुण इति प्रतिपादितम् । यथाच शब्दस्य पौद्गलिकता तथा तत्वार्थटीकायाम् प्रपञ्चितमिति न भूयः प्रपञ्च्यते स्पृष्टान् स्पृष्टमात्रान् शब्दान् प्रविष्टान् निर्वृतीन्द्रियमध्यप्रविष्टान् शृणोति न परतोऽप्यागतान् कस्मादिति चेदुच्यते परत आगतानां तेषां मन्दपरिणामत्वभावात् तथाहि परतः आगताः खलु ते शब्दपुद्गलास्तथा स्वाभाव्यात् मन्दपरिणामास्तथोपजायन्ते येन स्वविषयं श्रोत्रविज्ञानं नोत्पादयितुमीश्वराः । श्रोत्रेन्द्रियस्यापि तथाविधमद्भुततरं बलं न विद्यते येन परतोऽपि आगतान् शब्दान् शृणुयादिति चक्षुरिन्द्रियमुत्कर्षतः सातिरेकात् योजनशतसहस्रादारभ्याच्छिन्नान् कटकुड्यादिभिरव्यवहितान् पुद्गलान् अस्पृष्टान् दूरस्थितान् अत एवाप्रविष्टान् (रूवाइत्ति) रूपात्मकान् पश्यति परतोऽव्यवहितस्यापि परिच्छेदे चक्षुषः शक्त्यभावात् नन्वङ्गुलमिह त्रिधा तद्यथा आत्माङ्गुलमुच्छ्रयाङ्गुलं प्रमाणाङ्गुलञ्च तत्र "जेणं जयामणासा तेसिं जं होइ माणरूवं तं । तं भणियमिहायांगुलमणियपमाणं पुण इमन्तु" इत्येवं रूपमात्माङ्गुलं "परमाणू तसरेणू रहरेणू अग्गयं च वालस्स । लिक्खा जूया य जवा अट्ठगुणा विवड्ढिया कमसो । तत्रेन्द्रियविषयपरिमाणं किमात्माङ्गुलेनाहोस्वित् उच्छ्रयांगुलेन उच्यते आत्माङ्गुलेन तथा चाह चक्षुरिन्द्रियविषयपरिमाणचिंतायां भाष्यकृत् "अप्पत्तकारि नयणं मणो य नयणस्स विसयपरिमाणं । आयांगुलेण लक्खं अयरित्तं जोयणाणं तु" । प्रज्ञा. १५ पद ।

अंगुलजोयणलक्खो समहिओ नव बार मुक्कसो विसओ ।
चक्खू तिय–सोयाणं अंगुल असंखभागियंते ॥

अस्या व्याख्या-स्वं च तदंगुलं च स्वांगुलं भगवदपभादेरारभ्य यस्य यद्भवति तेनांगुलेन योजनलक्षः समधिकः किंचिद्विषयोत्थपरिच्छित्तेश्चक्षुषः नव द्वादशयोजनानि सांगुलेनेत्यत्रापि द्रष्टव्यः । उत्कर्षत उत्कृष्ट ततस्त्रिश्रोत्राणां यथाक्रमं योज्यं-तत्र त्रयाणां स्पर्शनरसनघ्राणानां नव योजनानि श्रोत्रेन्द्रियस्य पुनर्द्वादश जघन्यतः पुनरंगुलासंख्येयभागिति गाथार्थः । दर्श० । ननु देहप्रमाणमुच्छ्रयांगुलेन क्रियते देहाश्रितानि चेन्द्रियाणि ततस्तेषां विषयपरिमाणमपि उच्छ्रयांगुलेन कर्तुमुचितं कथमुच्यते आत्मांगुलेनेति नैष दोषः यद्यपि हि नाम देहाश्रितानीन्द्रियाणि तथापि तेषां विषयपरिमाणमात्मांगुलेनैव देहादन्यत्वाद्विषयपरिमाणस्य तथा चामुमेवार्थमाक्षेपपुरस्सरं भाष्य कृदप्याह । "नणु भणियमुस्सयंगुल, पमाणतो जीवदेहमाणाइं । देहपमाणं तं चिय न उ इंदियविसयपरिमाणं" ॥ १ ॥ अत्र देहपमाणन्तं चिय इति यत्र उच्छ्रयांगुलमेयत्वं नोक्तं तद्देहप्रमाणमात्रमेव नत्विन्द्रियविषयपरिमाणं तस्यात्माङ्गुलप्रमेयत्वादिति अथ यदि विषयपरिमाणमिन्द्रियाणामुच्छ्रयाङ्गुलेन स्यात्ततः को दोष आपद्येत पञ्चधनुःशतानि मनुष्याणां विषयव्यवहारविच्छेदस्तथाहि यद्भरतस्यात्माङ्गुलं तन्किल प्रमाणाङ्गुलं तच्च प्रमाणाङ्गुलमुच्छ्रयाङ्गुलसहस्रेण भवति– "उस्सेहंगुलमेगं हवइ पमाणंगुलसहस्सगुणमितिवचनात्" । ततो भरतसगरादिचक्रवर्तिनां या अयोध्यादयो नगर्यो ये तु स्कन्धावारा आत्माङ्गुलेन द्वादशयोजनायामतया सिद्धान्ते प्रसिद्धास्ते उच्छ्रयाङ्गुलप्रमित्या अनेकानि योजनसहस्राणि स्युः तथा च सति तत्रायुधशालादिषु ताडितभेर्यादिशब्दश्रवणेनसर्वेषामा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पठेत "बारसहिंजोयणेहिं आभिगिएहपसहं" इतिवचनात् । अथ च समग्रनगरव्यापी समस्तस्कन्धावारव्यापी च विजयढक्कादिशब्द आगमे च प्रतिपाद्यते तथैव च जनव्यवहारस्तत एवमागमे प्रसिद्धः पञ्चधनुःशतादिमनुष्याणां विषयव्यवहारो व्यवच्छेदं माप्रापदित्यात्माङ्गुलेनेन्द्रियाणां विषयपरिमाणमवसातव्यं नोच्छ्रयांगुलेन तथाचाप्यक्तत्–"जं तेण पंचधणुसय, नरादिविसयविवहारवोच्छेओ। पावइ सहस्सगुणियं. जेण पमाणंगुलं तत्तो" ॥ १ ॥ अत्र तस्मादात्माङ्गुलेनैवेन्द्रियाणां विषयपरिमाणं नोच्छ्रेधाङ्गुलेनेति । उपसंहारवाक्यं स्वतः परिभावनीयम् ॥ प्रज्ञा० १५ पद ॥ अपिच यानि देहस्यात्मभूतान्येवेन्द्रियाणि तान्यपि तावत्सर्वाण्युच्छ्रयांगुलेन मीयन्ते किंपुनरिन्द्रियविषयपरिमाणमिति दर्शयति ॥

इंदियमाणे वि तयं, जयणिज्जं जंति गाउआइणि ।
जिब्भिंदियाइमाणं, संववहारे वि रुज्झेज्जा ॥

इन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि तानि चेह "कायम्ब पुष्फुगोल य मसूरअइमुत्तयस्स कुसुमं" चेत्यादिना प्रोक्तानि द्रव्येन्द्रियाणि गृह्यन्ते तेषां मानं प्रमाणमङ्गुलासंख्येयभागादिकं तत्रापि-कर्तव्ये गृहीतव्ये बोधव्य वा तदुच्छ्रयांगुलं भजनीयं कापि व्यापार्यते कापि नेत्यर्थः स्पर्शनेन्द्रियमेकं तेन मीयते शेषाणि त्वात्मांगुलेनैवेति भावः कुत इत्याह (जमित्यादि) यद्यस्मात्रिगव्यूतीत्यादिमानानां युगलधर्मिणां जिह्वेन्द्रियादिमानं यदुच्छ्रयांगुलेन गृह्यते तदा संव्यवहारे कल्पद्रुमरसादिपरिज्ञानलक्षणे विरुद्ध्येत न घटेतेत्यर्थः । इदमुक्तं भवति "बाहल्लओ य सव्वाइं अंगुल असंखभागं पमेव पुहुत्तओ नवरं अंगुलपुहुत्तस्स णं इत्यादि वचनात् अंगुलप्रथक्त्वविस्तरं जिह्वेन्द्रियं निर्णीतं त्रिगव्यूतादिमानानां च जन्तूनां च तदनुसारितया विशालानि तुण्डानि जिह्वा च ततो यद्युच्छ्रयांगुलेन तयोःक्षुरप्राकारतयोक्तस्य जिह्वेन्द्रियस्यांगुलपृथक्त्वलक्षणो विस्तरो गृह्येत तदाऽत्यल्पतया सर्वामपि जिह्वां न व्याप्नुयात् ततश्च सर्वव्यापितया रससंवेदनलक्षणो व्यवहारो न घटते. तस्मादात्मांगुलेनैव जिह्वादिमानं घटते ततश्च देहात्मभूतानीन्द्रियाण्यपि सर्वाण्युच्छ्रयांगुलेन यदा न मीयन्ते तदा इन्द्रियविषयपरिमाणस्य दूरे वार्ता इति गाथार्थः । तदेवं "उस्सेहपमाणओ मिणे देहं" इत्यत्र पारिशेष्याद्देहशब्देन यल्लभ्यते तद्दर्शयन्नाह—

तणुमाणं चिय तेणं, हविज्ज भणियं सुए वि तं चेव ।
एएण देहमाणाइ, नारयाईण मिज्जन्ति ।

तस्मादिन्द्रियपरिमाणे इन्द्रियविषयपरिमाणे चैकान्तेनोच्छ्रयांगुलेनेष्यमाणे दोषस्य दर्शितत्वात्पारिशेष्यात्तनुमानमेव तेनोत्सेधांगुलेन भवेत्त पुनरिन्द्रियपरिमाणं विषयपरिमाणं वेति भावः ॥ युगलधर्मिणां रससंवेदनव्यवहारस्य चक्रवर्तिभरतनगर्यादिषु भेर्यादिशब्दश्रवणव्यवहारस्य चाऽभावप्रसङ्गस्य दर्शितत्वादिति । किंचेन्द्रियपरिमाणं तद्विषयपरिमाणं चोच्छ्रयांगुलेन परः स्वमनीषिकयाऽर्थापत्त्यैव श्रुतेन पुनः श्रुते साक्षादेतत् काप्यभिहितं किं पुनस्तर्हि साक्षाच्छ्राऽभिहितमित्याह (भणिअं सुए वि तं चेवेत्यादि) श्रुतेपि तदेव देहमानमेवोच्छ्रयांगुलेन भणितं नान्यदिति केन पुनर्निग्रन्थेन सूत्रेऽभिहितमित्याह (एएणेत्यादि) अर्थनिर्देश एवायं सूत्रालापकस्त्वेव द्रष्टव्यस्तद्यथा "इमेणं उस्सेहंगुलपमाणेणं नेरइय तिरिक्खजोणिय मणुस्सदेवाणं सरीरावगाहणा उ मिज्जति" ॥ तदस्मिन् सूत्रे शरीरावगाहनैवोच्छ्रयांगुलमेयत्वेनोक्ता नत्विन्द्रियपरिमाणाद्यतस्तदात्मांगुलेनैव द्रष्टव्य मिति गाथार्थः ॥ विशे० ॥

तस्मात्सर्वमिन्द्रियविषयपरिमाणमात्माङ्गुलेनैवेति स्थितं ननु भवत्वात्मांगुलेन विषयपरिमाणं तथाधिकृतसूत्रोक्तं चक्षुरिन्द्रिय विषयपरिमाणं न घटते अधिकस्यापि तद्विषयपरिमाणस्यागमान्तरे प्रतिपादनात् तथाहि–पुष्करद्वीपार्द्धे मानुषोत्तर पर्वतसमीपवर्तिनो मनुष्याः कर्कसंक्रान्तौ प्रमाणांगुलनिष्पन्नैः सातिरेकैः एकविंशति योजनलक्षैर्व्यवस्थितमादित्यमवलोकमानाः प्रतिपाद्यन्ते ॥ शास्त्रान्तरे च तथा तद्ग्रन्थाः "इगवीसं खलु लक्खा, चउतीसं चेव तह सहस्साइं-तह पंचसया भणिया, सत्ततीसाए अतिरित्ता ॥ १॥ इइ नयणविसयमाणं, पुक्खरवरदीवद्धवासमणुयाणं। पुव्वेण य अवरेण य.पिहिं पिहिं होइ मणुयाणं॥२॥ इत्यादि ॥ ततः कथमधिकृतसूत्रात्मांगुलेनापि घटते प्रमाणांगुलेनापि व्यभिचारिभावात् । तथाच– " लक्खेहिं एक्कवीसाए, साइरं गेहिं पुक्खरद्धंमि ॥ उदए पेच्छन्ति नरा, सूरं उक्कोसए दिवसं ॥३॥ ण य णिंदियस्स तम्हा, विसयप्पमाणं जहा सुए भणियं ॥ आउस्सेहपमाणं गुलाणएक्केण वि न जुत्तं ॥ ४ ॥ " प्रज्ञा० १५ पद ।

ननु पुष्करवरद्वीपस्य मानुषोत्तरपर्वतद्विधाकृतस्यार्वाग्भागवर्तिन्यर्द्धे मानुषोत्तरसन्निधानुत्कृष्टे दिवसे कर्कटकसंक्रान्त्यामुदये उपलक्षणत्वादस्तसमये च नरा मनुष्याः सूरमादित्यं पश्यन्ति अवलोकयंति, कियद्दूरं व्यवस्थितमित्याह सातिरेकैरेकविंशतिलक्षैर्योजनानां । एतदुक्तं भवति " सियालीससहस्सा,दोयसया जोयणाण तेवट्ठा। एगवीससट्ठिभागा कक्कडमाइम्मिपेच्छनरा " इति वचनादर्थादत्र कर्कसंक्रान्तावुत्कृष्टे दिवसे एतावति दूरे व्यवस्थितं सूर्यं मनुष्याः पश्यन्ति यथा–पुष्करार्द्धमानुषोत्तरसमीपे प्रमाणंगुलनिष्पन्नैः सातिरेकैरेकविंशतियोजनलक्षैर्व्यवस्थितमादित्यं तत्र दिने तन्निवासिनो लोकाः समवलोकयन्ति तत्र भ्रमति बाहुल्यात्सूर्याणां च शीघ्रतरगतित्वादुक्तं च " इगवीसमित्यादि " तस्मान्नयनेन्द्रियस्य सातिरेकयोजनलक्षस्वरूपं विषयपरिमाणं यथा श्रुते प्रज्ञापनादिकेऽभिहितं तथा तेन प्रकारेणात्मांगुलोत्सेधांगुलप्रमाणांगुलानामेकेनापि गृह्यमाणं न युक्तं प्रमाणांगुले निष्पन्नस्यापि योजनलक्षस्य च निष्पन्नसातिरेकैकविंशतियोजनलक्षेभ्यः एकविंशतितमभागवर्तित्वेन बृहदन्तरत्वात्तस्मादेकत्र सातिरेकं लक्षमन्यत्र सातिरेकैकविंशतिलक्षाणि योजनानां नयनस्य विषयप्रमाणंब्रुवतः श्रुतस्य पूर्वापरविरोध इति परस्योक्तमिति गाथाद्वयार्थः ॥ विशे० ॥ तथा–नयनस्य विषयोऽप्रकाशकवस्तुपर्वताद्याश्रित्यात्मांगुलेन सातिरेकं योजनलक्षं स्यात् प्रकाशकेत्वादित्यचन्द्रादिवदधिकमपिविषयपरिमाणं स्यात् नात्र विषयनियमः कोपि निर्दिष्टोऽस्ति सिद्धान्ते यतः पुष्करवरद्वीपार्द्धे मानुषोत्तरपर्वतसमीपे कर्कसंक्रान्तौ मनुष्याः प्रमाणांगुलजैः सातिरेकैरेकविंशति योजनलक्षैर्व्यवस्थितं रविं पश्यन्तः प्रोच्यन्ते शास्त्रान्तरे इति तद्धु० ।

सत्यमेतत् । केवलमिदं सूत्रं प्रकाश्यविषयं द्रष्टव्यं न तु प्रकाशकविषयं ततः– प्रकाशकोऽधिकरणमपि विषयपरिमाणं न विरुध्यते-इति न कश्चिद्दोषः । कथमेव विभोऽर्थोऽवसीयत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इति चेदुच्यते पूर्वसूरिकृतव्याख्यानात् सकलमपि हि कालिकश्रुतं पूर्वसूरिकृतव्याख्यानानुसारेणैव व्याख्यानयन्ति महाधियो न यथाक्षरमात्रसन्निवेशं पूर्वगतसूत्रार्थसङ्ग्रहपरम्परा, कालिकस्तु तस्य क्वचित्सङ्क्षिप्तस्याप्यर्थस्य महता विस्तारेण क्वचिद्विस्तारवतोऽप्यतिसंक्षेपेणाभिधाने अर्वाक्तनैः स्वमति यथा वस्थितार्थतया ज्ञातुमशक्यत्वादत एवोक्तमिदमन्यत्र- " जं अइ जणियमित्यादि" तस्मात् पूर्वसूरिकृतव्याख्यानान्नाधिकृत ग्रन्थविरोधः ॥ आहच भाष्यकृत् " सुत्ताभिप्पाओ यं पयासयणिज्जे तयं न उ पयासए । वक्खाणओ विसेसो न हि संदेहादिलक्खणया । प्रज्ञा० १५ पद ॥

सातिरेकयोजनलक्षं नयनविषयप्रमाणं श्रुवतः सूत्रस्यायमभिप्रायः इयं विवक्षा यदुत स्वयं तेजोरूपप्रकाशरहितत्वात्परप्रकाशनीयं यद्वस्तु पर्वतगर्तादिकं तत्रैव तत्सातिरेकयोजनलक्षं नयनविषयप्रमाणतया द्रष्टव्यं । नतु स्वयमेव तेजोयुक्तत्वेन प्रकाशे चन्द्रार्कादिके प्रकाशके वस्तुनि, एतदुक्तं भवति कश्चिन्निर्मलचक्षुर्जीवः सातिरेकयोजनलक्षे स्थितं पर्वतादिकं वीक्षत इति प्रकाशनीयपर्वतगर्तादिके वस्तुनि नयनस्य तद्विषयप्रमाणमुक्तं प्रकाशकत्वादित्यादिकेऽनियमः । कुतः पुनरयं सूत्राभिप्रायो गम्यत, इत्याह-व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः कर्तव्या नतु संदेहादुभयपक्षोक्तिलक्षणत्वात्सूत्रस्य सर्वज्ञप्रणीतस्यासकृताऽसमञ्जसाभिधायिता व्यवस्थापनीया व्याख्यानात्सूत्रं विषयविभागेन धारणीयं न तूभयपक्षोक्तिमानप्रमितेस्तद्विरोध उद्भावनीय इत्यर्थः । उक्तंच । "जं जइ सुत्ते भणियं तहेव जइ तं वियालणा नत्थि । किं कालियाऽणुओगो दिट्ठो दिट्ठिप्पहाणेहिं । " तदेवमप्राप्तकारिता विचारप्रक्रमेण नयनस्य विषयप्रमाणमुक्तम् ॥ विशे० ॥

तथा घ्राणेन्द्रियजिह्वेन्द्रियस्पर्शनेन्द्रियाणि गन्धादीनुत्कर्षतो नवयोजनेभ्यः आगतान् अविच्छिन्नान् द्रव्यान्तरैरप्रतिहतशक्तिकान् परिच्छिन्दति न परत आगतान् परत आगतानां मन्दपरिणामत्वाभावात् घ्राणादीन्द्रियाणां च तथारूपाणामपि तेषां परिच्छेदं कर्तुमवशक्यत्वात्-आह च भाष्यकृत् । "बारसहिंतो सुत्तं, सेसाणं नवहि जोयणेहिंतो । गिण्हंति पत्तमत्थं पत्तो परतो न गिण्हंति " (प्रज्ञा० १५ पद) मेघगर्जितादिशब्दमुत्कृष्टतो द्वादशयोजनेभ्यः समायातं गृह्णाति श्रोत्रम्, उक्तशेषाणि त्विन्द्रियाणि घ्राणरसनस्पर्शनलक्षणानि गन्धरसस्पर्शलक्षणमर्थमुत्कर्षतो नवयोजनेभ्यः प्राप्तं गृह्णन्ति ॥ इतः परतोऽप्यायातं शब्दादिकमेतानि न गृह्णन्ति । ननु मेघगर्जितादि विषयः शब्दः प्रथमप्रावृषि दूरे प्रथममेघवृष्टौ सत्यां मृत्तिकादिगन्धश्च दूरादप्यायातो गृह्यमाणः समनुभूयते रसस्पर्शौ तु कथमिति चेदुच्यते-दूरादागतानां गन्धद्रव्याणां रसोपि तावत्कश्चिद्भवत्येव स च तेषां जिह्वासंबन्धे सति यथासंभवं कदाचित् केनचित् गृह्यत एव । तथा च वक्तारो भवन्ति "कटुकस्य तीक्ष्णादेर्वा वस्तुनः संबंधी अयं गन्ध" इति । यदिह कटुकत्वं तीक्ष्णादित्वं चोच्यते तद्रसस्यैव धर्मस्तत्श्च ज्ञायते जिह्वासंबन्धि तेषां कटुकादिरसोऽपि गृहीत इति स्पर्शोऽपि शीतादिदूरादपि शिशिरः पवनः सरित्समुद्रादेर्मध्येनायातस्य वातादेरनुभूयत एवेति । यद्येवं तर्हि द्वादशनवयोजनेभ्यः परतोऽप्यागताः शब्दगन्धादयः किमिति न गृह्यन्त इत्याह-

दव्वाणं मंदपरिणा-मत्ता परओ न इंदियबलं पि ।
अन्तरमसंखिज्जंगुल-भागओ नयणवज्जाणं ॥

द्वादशनवयोजनेभ्यः परतः समायातानां शब्दादिगन्धादिद्रव्याणां मन्दपरिणामत्वात्, यत्र परतः समायातानां तेषां तथाविधपरिणामो भवति येन श्रोत्रघ्राणादिविज्ञानं जनयेयुः । श्रोत्रादीन्द्रियाणामपि च तथाविधं बलं न भवति येन परतः समायातानि शब्दादिद्रव्याणि गृहीत्वा स्वविज्ञानं जनयन्तु तदेवमुक्तमिन्द्रियाणां उत्कृष्टं विषयपरिमाणम् । अथ जघन्यं तदभिधित्सुराह (अवरमित्यादि) अवरं जघन्यं विषयप्रमाणमुच्यते किमित्याह । असंख्याततमाद् अङ्गुलादसंख्येयभागादागतं गन्धादिकं घ्राणादीनि गृह्णन्ति किमेतत्सर्वेषामपीन्द्रियाणां जघन्यविषयप्रमाणं नेत्याह नयनवर्जानां नयनस्य तर्हि का वार्ता इत्याह-

संखिज्जइ भागाओ, नयणस्स मणस्स न विसयपमाणं ।
पोग्गलमित्तनिबंधा, भावाओ केवलस्सेवा ॥

अङ्गुलासंख्येयभागाद् अङ्गुलसंख्येयभागमवधी कृत्वा नयनस्य जघन्यं विषयपरिमाणमतिसंनिकृष्टस्याञ्जनशलाकारजोमलादेस्तेनानुपलम्भादिति भावः । मनसस्तु क्षेत्रतो नास्त्येव विषयप्रमाणं नियमेन दूरे आसन्ने च तत्प्रवर्तत इत्यर्थः कुत इत्याह । पुद्गलमात्रस्य निबन्धो नियमस्तस्याः भावान्मूर्तामूर्तसमस्तवस्तुविषयत्वेन पुद्गलेष्वेवेदं प्रवर्तत इत्येवं भूतस्य नियमस्याभावात्केवलस्यैवेत्यर्थः । इह यत्पुद्गलमात्रनिबन्धं नियतं न भवति न तस्य विषयपरिमाणमस्ति यथा केवलस्य, पुद्गलमात्रनिबंधाऽनियतं च मनस्ततो नास्य विषयपरिमाणं यस्य तु विषयपरिमाणं तत्पुद्गलमात्रनिबंधरहितमपि न भवति यथाऽवधिमनःपर्यायज्ञाने इति । अत्राह-नन्वऽनैकान्तिकोऽयं हेतुर्मतिश्रुतज्ञानाभ्यां व्यभिचारात्तयाहि मूर्तामूर्तसमस्तवस्तुविषयत्वेन तावन्नैते पुद्गलमात्रनिबन्धनियताऽथ च दृश्यते श्रोत्रादीन्द्रियप्रभवयोस्तयोर्द्वादशयोजनादिकं क्षेत्रतो विषयप्रमाणमिति तदेतदसमीक्षिताभिधानमेव यतः इन्द्रियप्रभवयोरेवतयोरिदं विषयपरिमाणं इन्द्रियाणि च पुद्गलमात्रनिबन्धनियतान्येवेति कुतो व्यभिचारः । मनःप्रभवयोस्तु तयोरस्ति पुद्गलमात्रनिबन्धाभावः केवलं तयोः क्षेत्रतो विषयपरिमाणमपि नास्त्यतः कुतोऽनैकान्तिकतेत्यलं विस्तरेणेति । विशे० । आ० म० प्र० । तं० । आ० चू० । इन्द्रियाणि च रक्षणीयानि । उक्तंच-

"इन्द्रियाणि न गुप्तानि लालितानि न चेच्छया । मानुष्यं दुर्लभं प्राप्य न भुक्तं विशेषितम्" इति । आचा० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

(११) अथेन्द्रियासम्भृतानां स्वरूपस्येन्द्रियासंवरदोषस्य चाभिधायकं गाथाकदम्बकं ज्ञाताधर्मकथायाः सप्तदशेऽध्ययने यथा-

कललिरिभिय महुरतंती-तल ताल वंसककुदाभिरामेसु ।
सद्देसु रज्जमाणा रमंति सोइंदियवसट्टा ॥ १ ॥
सोइंदियदुदंत-त्तणस्स अह एत्तिओ हवइ दोसो ॥
दिवगरुवमसहंतो, वहबंधं तित्तिरो पत्तो ॥ २ ॥
थण-जहण-वयण-कर-चरण-णयण-गव्वियविलासियगइसु
रूवेसु रज्जमाणा, रमंति चक्खिंदियवसट्टा ॥ ३ ॥
चक्खिंदियदुदंत-त्तणस्स अह एइओ हवइ दोसो ॥
जं जलणंमि जलंते, पयइ पयंगो अबुद्धीओ ॥ ४ ॥
अगुरुवरपवरधूवण-उयमल्लाणुलेवणविहीसु ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गंधेसु रज्जमाणा, रमंति घाणिंदियवसट्टा ॥ ५ ॥
घाणिंदियदुदंत-त्तणस्स अह एत्तिओ हवइ दोसो ॥
जं ओसहिगंधेणं, बिलाओ णिद्धावई उरगो ॥ ६ ॥
तित्त-कडुय-कसायं, महुरं-बहु खज्ज-पेज्ज-लेज्जेसु ॥
आसायंमि उ गिद्धा, रमंति जिब्भिंदियवसट्टा ॥ ७ ॥
जिब्भिंदियदुदंत-त्तणस्स अह एत्तिओ हवइ दोसो ॥
जं गललग्गुक्खित्तो, फुरइ थलविरेल्लिओ मच्छो ॥८॥
उउजयमाणसुहेसु य, सविभवहिययगमणणिव्वुइकरेसु ।
फासेसु रज्जमाणा, रमंति फासिंदियवसट्टा ॥ ९ ॥
फासिंदियदुदंत-त्तणस्स अह एत्तिओ हवइ दोसो ॥
जं खणइ मत्थयं कुं-जरस्स लोहंकुसो तिक्खो ॥१०॥
कलरिभियमहुरतंती-तलताल वंसककुहाभिरामेसु ॥
सद्देसु जेण गिद्धा, वसट्टमरणं ण ते मरए ॥ ११ ॥
थणजहण वयण कर चरण णयण गव्विय विलासियगइसु ॥
रूवेसु जेण रत्ता, वसट्टमरणं ण ते मरए ॥ १२ ॥
अगुरुवर पवर धूवण, उउयमल्लाणु लेवणविहीसु ॥
गंधेसु जेण गिद्धा, वसट्टमरणं ण ते मरए ॥१३ ॥
तित्तं कडुयकसायं, महुरं बहु खज्ज पेज्ज लेज्जेसु ॥
सादेसु जेण गिद्धा, वसट्टमरणं ण ते मरए ॥१४॥
उउभयमाणसुहेसु य, सविभवहिययमणणिव्वुइकरेसु ।
फासेसु जेण गिद्धा, वसट्टमरणं ण ते मरए ॥१५ ॥
सद्देसु य भद्देसु य, पावएसु सोय विसयमुवगएसु ॥
तुट्ठेण व रुट्ठेण व, समणेण सया ण होयव्वं ॥ १६ ॥
रूवेसु य भद्दगेसु, पावएसु चक्खुविसयमुवगएसु ॥
तुट्ठेण व रुट्ठेण व, समणेण सया ण होयव्वं ॥१७ ॥
गंधेसु य भद्देसुय, पावएसु घाणविसयमुवगएसु ॥
तुट्ठेण व रुट्ठेण व, समणेण सया ण होयव्वं ॥ १८ ॥
रसेसु य भद्दएसु य, पावएसु जिब्भविसयमुवगएसु ॥
तुट्ठेण व रुट्ठेण व, समणेण सया ण होयव्वं ॥ १९॥
फासेसु य भद्देसुय, पावएसु कायविसयमुवगएसु ॥
तुट्ठेण व रुट्ठेण व, समणेण सया ण होयव्वं ॥२० ॥

(कलरिभियमहुरतंतीत्ति) कला अत्यन्तश्रवणहृदयहरा अव्यक्तध्वनिरूपाः अथवा कलावन्तः परिमाणवन्त इत्यर्थः । रिभिता स्वरघोलना प्रकारवन्तः मधुराः श्रवणसुखकरा ये तन्त्रीतलताल-वंशास्ते तथा । तत्र तन्त्री वीणा तलताला हस्तताला अथवा-तला हस्तास्ताला कंसिकाः वंशा वेणवः इह च तन्त्र्यादयः कलादिभिः शब्दधर्मैर्विशेषिताः शब्दकारणत्वात्ते च ते ककुदाः प्रधानाः स्वरूपेणाभिरामाश्च मनोज्ञा इति कर्मधारयोऽतस्तेषु रमन्ते रतिं कुर्वन्तीति योगः । (सद्देसु रज्जमाणा रमंति सोयंदियवसट्टेत्ति) शब्देषु मनोज्ञध्वनिषु श्रोत्रविषयेषु रज्यमाना रागवन्तः श्रोत्रेन्द्रियस्य वशेन वशेन ऋताः पीडिता इति विग्रहः ये शब्देषु रज्यन्ते तत्कारणेषु तन्त्र्यादिषु श्रोत्रेन्द्रियवशाद्रमन्ते इति वाक्यार्थः । अनेन च कार्यतः श्रोत्रेन्द्रियस्वरूपमुक्तम् ॥ १॥ (सोइंदियदुद्दंतेत्ति) कण्ठ्या ॥ नवरं शाकुनिक-पुरुषसंबन्धी पंजरस्थतित्तिरिर्द्दीपिक उच्यते ॥ तस्य यो रवस्तमसहमानः स्वनिलयान्निर्गतो वन्धममरणं बन्धं च पंजर-बंधनं प्राप्त इति ॥ २॥ (थणजघणवयणेत्ति) स्तनादिषु तथा गर्वितानां सौभाग्यमानवतीनां स्त्रीणां या विलासिता जातविलासाः सविकारा गतयः तासु चेत्यर्थः (रूवेसु रज्जमाणा रमंति) ॥ प्रतीतमेव ॥ ३ ॥ (चक्खिंदियत्ति) ॥ ४ ॥ कंठ्या ॥ (अगरुवरपवरणेत्ति) कंठ्या नवरम् अगरुवरः कृष्णागरुः प्रवरधूपनानि गन्धयुक्त्युपदेशाविरचिता धूपविशेषाः (उउयत्ति) ऋतौ २ यान्युचितानि तानि आर्तवानि माल्यानि जात्यादिकुसुमानि अनुलेपनानि च श्रीखण्डकुंकुमादीनि विधय एतत्प्रकारा इति ॥ ५ ॥ (घाणिदियदुद्देत्ति ॥ ६ ॥ कंठ्या । (तित्तकडुयत्ति) पुर्ववन्नवरं तिक्तानि निम्बवटकादीनि कटुकानि शृंगबेरादीनि कषायाणि मुद्गादीनि अम्लानि तक्रादिसंस्कृतानि मधुराणि खंडादीनि खाद्यानि कूरमोदकादीनि पेयानि जलमद्यदुग्धादीनि लेह्यानि मधुशिखरिणी प्रभृतीनि आस्वादे रसे॥७॥ (जिब्भिदियत्ति)कण्ठ्या । नवरं गलं बडिशं तत्र लग्नः कण्ठे विद्धत्वात् उत्क्षिप्तो जलादुद्धृतस्ततः कर्मधारयः स्फुरति स्पन्दते स्थले भूतले (विरल्लिओत्ति) प्रसारितः क्षिप्त इत्यर्थः यः स तथा । उउभयमाणे–कंठ्या ॥ नवरं ऋतुषु हेमंतादिषु भजमानानि सेव्यमानानि यानि सुखानि सुखकराणि तानि तया तेषु सविभवानि समृद्धियुक्तानि महाधनानीत्यर्थः । हितकानि प्रकृत्यनुकूलानि सविभावानां वा श्रीमतां हितकानि यानि तानि तथा मनसो निर्वृत्तिकराणि यानि तानि तथा ततः पदत्रयस्य तद्द्वयस्य वा कर्मधारयस्तत्ते स्रक्चन्दनाङ्गनावसनतुल्यादिषु द्रव्येष्विति गम्यते ॥ ९ ॥ फासिंदियदुद्दंतेत्ति–नावनाप्रतीतैव ॥१०॥ अथेन्द्रियाणां संवरे गुणमाह–(कलरिभियमुहुरेत्ति) पूर्ववन्नवरमिह तन्त्र्यादयः शब्दकारणत्वेनोपचाराच्छब्दा एव व्यवस्थिताः अतः शब्देष्वित्येव तस्य विशेषणतया व्याख्येयास्तथावशेनेन्द्रियपारतन्त्र्येण ऋताः पीडिता वशार्ताः वशो वा विषयपारतन्त्र्यं ऋताः प्राप्ताः वशार्ताः तेषां मरणं वशार्तमरणं वशार्त्तमरणं (वा नतेमरएत्ति) म्रियन्ते छान्दसत्वादेकवचनप्रयोगेपि बहुवचनं व्याख्यातमिति ॥ ११ ॥ (थणजघणेत्ति) ॥ १२ ॥ एवमन्यास्तिस्रो-गाथा पूर्वोक्ता वाच्या ॥ १५ ॥ उपदेशमिन्द्रियाश्रितमाह (सद्दसुयभद्दत्ति) कंठ्यम् । नवरं । भद्रकेषु मनोज्ञेषु पापकेष्वमनोज्ञेषु क्रमेण तुष्टेन रागवता रुष्टेन रोषवतेति ॥ १६ ॥ एवमन्या अपि चतस्रोऽध्येतव्याः । इह विशेषोपनयमेवमाचक्षते "जह सो कालियदीवो, अणुवमसोक्खो तहेव जाइधम्मो य । जह आसा तह साहु, वणियव्वणुकूलकारि जणो ॥ १ ॥ जह सद्दाइअगिद्धो, पत्ता नो पासबंधणं आसा । तह विसएसु अगिद्धा, वज्झंति न कम्मणो साहू ॥ २ ॥ तह सच्छंदविहारो, आसाणं तह इहं वरमुणीणं । जरामरणाइवज्जिय–सायत्ताणंदनिव्वाणं ॥३॥ जह सद्दाइसु गिद्धा, बद्धा आसा तहेह विसयरया । पावंति कम्मबंधं परमा सुहकारणं घोरं ॥४॥ जह ते कालियदीवा णीया अण्णत्थ दुहगणं पत्ता । तह धम्मपरिब्भट्ठा, अधम्मपत्ता इहं जीव ॥ ५ ॥ पावंति कम्मनरवइ-वसया संसार वाहियालीए । आसप्पमद्दएहि व नेरइयाईहिं-पिदुक्खाइंति । ज्ञा० १७ अ० ।

(१२) पञ्चेन्द्रियेषु गुप्तागुप्तयोर्गुणदोषौ ज्ञाताधर्मकथायां कूर्माभिधाने चतुर्थेऽध्ययने यथा—

तेणं कालेणं तेणं समएणं वाणारसी नाम नयरी होत्था वन्नओ तीसेणं वाणारसीए नयरीए उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए गंगाए महानईए मयंगतीरद्दहे णामं दहे होत्था अणुपुव्वसुजायवप्पगंभीरसीयलजले अच्छविमलसलिलपलिच्छिन्ने संछन्नपत्तपुप्फपलासे बहुउप्पलपउमकुमुयनलिनसुभगसोगंधियपुंडरियमहापुंडरीयसयपत्तसहस्सपत्तकेसरपुप्फोवचिए पासादिए ॥ ४ ॥ तत्थ णं बहूणं मच्छाण य कच्छभाण य गाहाण य मगराण य सुसुमाराण य सयाणि य साहस्सियाणि य जूहा य निब्भयाइं निरुव्विग्गाइं सुहं सुहेणं अभिरममाणाइं विहरंति तस्स णं मयंगतीरद्दहस्स अदूरसामंते एत्थणं महं एगे मालुया कच्छए होत्था वन्नओ तत्थणं दुवे पावसियालगा परिवसंति पावा चंडा रुद्दा तल्लिच्छा साहसिया लोहितपाणिआमिसत्थी आमिसाहारा आमिसप्पिया आमिसलोला आमिसं गवेसमाणा रत्तिवियालचारिणो दिया पच्छिण्णया वि चिट्ठंति तएण ताओ मयंगतीरद्दहातो अन्नया कयाइं सूरियंसि चिरत्थमयंसि लुलियासज्झाए य विरलमाणुसंसि णिसंतं पडिनिसंतंसि दुवे कुम्मगा आहारत्थी आहारंति गवेसमाणा सणियं २ उत्तरंति तस्स य मयंगतीरद्दहस्स परिपेरे तेणं सव्वतो समंता परिघोलेमाणे २ वित्तिं कप्पेमाणे विहरंति तयाणंतरं च णं ते पावसियालगा आहारत्थी आहारं जाव गवेसमाणा मालुया कच्छयातो पडिणिक्खमंति जेणेव मयंगतीरद्दहे तेणेव उवागच्छंति तस्सेव मयंगतीरद्दहस्स परिपेरे तेणं सव्वओ समंता परिघोलेमाणा २ वित्तिं कप्पेमाणे विहरंति तएणं ते पावसियाला ते कुम्मए पासंति जेणेव कुम्मए तेणेव पहारेत्थगमणा ते तएणं ते कुम्मगा ते पावसियाले एज्जमाणे २ पासंति २ त्ता भीया तत्था तासिया उव्विग्गा संजायभया हत्थे य पाए य गीवाओ सएहिं काएहिं संहरंति २ त्ता णिच्चला णिप्फंदा तुसणिया संचिट्ठंति तएणं ते पावसियाला जेणेव ते कुम्मगा तेणेव उवागच्छंति २ त्ता ते कुम्मगा सव्वतो समंता उव्वतेंति आसारेंति चालेंति घट्टेंति फंदेंति खोभेंति नहेहिं आलुपंति दंतेहि य अक्खोडेंति नो चेव णं संचाएंति तेसिं कुम्मगाणं सरीरस्स आबाहं वा उप्पाइत्तए छविच्छेयं वा करित्तए तए णं ते पावसियालगा ते कुम्मए दोच्चं पि तच्चं पि सव्वतो समंता उव्वत्तेंति जाव नो चेव णं संचाएंति करित्तए ताहे संता तंता परितंता णिव्विण्णा समाणा सणियं २ पच्चोसक्कंति एगंतमवक्कमंति णिच्चला णिप्फंदा तुसिणिया संचिट्ठंति तए णं एगे कुम्मए ते पावसियालए चिरगते दूरं गए जाणेत्ता सणियं २ एगं पायं निक्खुभंति तत्थ णं ते पावसियाला तेणं कुम्मएणं सणियं २ एगं पायं णिणियं पासंति २ त्ता सिग्घं चवलं तुरियं चंडं जइणवेगासियं जेणेव से कुम्मए तेणेव उवागच्छइ २ त्ता तस्स णं कुम्मस्स तं पायं नखेहिं आलुपंति दंतेहिं अक्खोडेंति ततो पच्छा मंसं च सोणियं च आहारेंति २ त्ता ते कुम्मगं सव्वतो समंता उव्वत्तेंति नो चेव णं संचाएंति करेत्तए ताए दोच्चं पि अवक्कमंति एवं चत्तारि पाया जाव सणियं २ गीवं णिणेइ २ त्ता तएणं ते पावसियालगा तेणं कुम्मएणं गीवं णीणियं पासंति २ त्ता सिग्घं चवलं नहेहिं दंतेहिं कवालं विहाडेंति २ त्ता तं कुम्मगं जीवियाउ ववरोवेंति मंसं च सोणियं च आहारेंति एवामेव समणाउसो जो अम्हं णिग्गंथो वा निग्गंथी वा आयरियउवज्झायाणं वा अंतिते पव्वइए समाणे पंच य से इन्दिया अगुत्ता भवंति सेणं इह भवे चेव बहूणं समणाणं समणीणं सावयाणं सावियाणं हीलणीज्जे परलोगे वि य णं आगच्छइ बहूणं दंडणाणि य जाव अणुपरियट्टइ जहा व से कुम्मए अगुत्तिंदिए तएणं ते पावसियालगा जेणेव से दोच्चे कुम्मए तेणेव उवागच्छइ २ त्ता तं कुम्मए सव्वतो समंता उव्वत्तिंति जाव दंतेहिं निक्खोडेंत्ति जाव करित्तए तएणं ते पावसियालगा दोच्चं पि जाव नो संचाएंति तस्स कुम्मस्स किंचि आबाहं वा जाव छविच्छेयं वा करित्तए ताहे तंता परितंता णिव्विण्णा समाणा जामेव दिसं पाउब्भूया तामेव दिसं पडिगया तएणं से कुम्मए तेणेव पावसियालए चिरए दूरगए जाणित्ता सणियं २ गीवं णिणेत्ति २ दिसावलोयं करेंति जमगसमगं चत्तारि पाए नीणेइ २ त्ता ताए उक्किट्ठाए तुरियाए कुम्मगतीए वीतीवयमाणे २ जेणेव मयंगतीरद्दहे तेणेव उवागच्छइ २ त्ता मित्तणाइनियगसयणसंबंधिपरियणेणं सद्धिं अभिसमन्नागए यावि होत्था एवामेव समणाउसो जो अम्हं समणो वा २ पंच य से इंदिया तिगुत्ताइं भवति जाव जहा से कुम्मए गुत्तिंदिए ।

(टीका सुगमत्वाद्व्याख्यातापि न गृहीता) नवरं "विसएसु इंदियाइं, रुंभंता रागदोसनिम्मुक्का । पावंति निव्वुइ सुहं-कुम्मुव्व मयंगदहसोक्खं ॥ १ ॥ इयरे उ अणत्थ, परंपराउ पावंति पावकम्मवसा । संसारसागरगया, गोमाउ गसियकुम्मो व्व । ज्ञा० ४ अ० ॥

(१३) तानि चानामितानि दुःखाय भवन्तीत्यत्र घ्राणेन्द्रिये उदाहरणम्—

कुमारो गंधप्पिओ सो अणवरयं नावाकडएण खेल्लइ । माइ सवत्तीए पयस्स मंजूसाए विसं छोढूण नदीए पवाहियं तेणं दिट्ठा उत्तारिया उग्घाडिऊण पलोइउं पवत्तो पडिमंजूसाइए दिट्ठो समुग्गको दिट्ठो सो अणेण उग्घाडिऊण उंघित्तो मतो य एवं दुक्खाय घाणिंदियं । आ० म० द्वि० ॥ फासिंदिए उदाहरणम्—

वसंतपुरे नयरे जियसत्तूराया कुसुमालिया से भज्जा तासे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अतीव सुकुमालो फासो राया रत्तिदिनं चिंतेइ सो ताए निच्चमेव परिभुज्जमाणो अच्छई एवं कालो वच्चई निव्वेहिं समं मंतिऊण तीए सह निच्छूढो पुत्तो ज्जेट्ठुरवितो ते अडवीए वच्चंति सातिसाइया जं मग्गइ। अच्छीणि से वच्छाणि माघीहेहिन्ति। सिरारुहिरं पज्जिया रुहिरे मूलिया छुहा जेण न थिज्जइ। छुहाइया ऊरुमंसं दिन्नं ऊरुगं सो रोहिणीए रोहियंजणवयं पत्ताणि आभरणगाणि सात्रवियाणि एत्थ वाणियत्तं करेइ पंगुय से वीहाए सो वम्मो घट्टितो सो भणइ न सक्कुणोमि एगागिणी गिहे वि चिट्ठिउं विइज्जयं लाभाहिं चिंतियं वणेण निव्वाकपंगू सो जणो य ततो नेणसा नेहुवालो निजुत्तो तेण गीयछलियकहाइहिं आवज्जिया पच्छा सा तत्थेव सम्मा जत्तारस्स छिद्दाणि मग्गई जाहे न लहइ ताहे उज्जाणिया एगतो सुविज्झो यहुमज्जं पाएत्ता गंगाए पक्खित्तो सा वि तं दव्वखाइऊण तं वहइ गायंति घरेघरे पुच्छिया भणइ मायापिईहिं एरिसो दिन्नो किं करेमि सो य राया कच्छनगरे उच्छलितो रुक्खच्छायाए पसुत्तो न परावत्तइ छाया तत्थ राया अपुत्तो मतो आसो अहिवासितो तत्थ गतो जयजयसद्देण परिवोहितो राया जातो ताणि वि तत्थ गयाणि रन्नो कहियं अन्नो वि याणिसा पुच्छियासा कहइ। अम्मापिईहिं दिन्नो राया भणइ "बाहुभ्यां शोणितं पीतं ऊरुमांसं च भक्षितम्। गंगायां वाहिता जर्ता साधु साधु पतिव्रते" निव्विसयाणि आणत्ताणि एवं फासिंदिय दोएहं वि दुक्खाय विसेसिता सुकुमालियाए किं च "शब्दासङ्गे यतो दोषा मृगादीनां शरीरजाः। सुखार्थी सततं विद्वान् शब्दे किमिव संगवान् ?॥ १ ॥ पतंगानां क्षयं दृष्ट्वा सद्यो रूपप्रसंगतः। स्वच्छचित्तस्य रूपेषु किं व्यर्थः संगसंभवः ॥ २ ॥ उरगान् गन्धदोषेण परतन्त्रान् समीक्ष्य कः। गन्धासक्तो भवेल्लोके स्वभक्तं वा न चिन्तयेत् ॥ ३ ॥ रसास्वादप्रसंगेन मत्स्या उत्सादिता यतः। ततो दुःखादिजनने रसे कः संगमाप्नुयात् ॥ ४ ॥ स्पर्शातिरिक्तचित्तानां हस्त्यादीनां समीक्षित अस्वातन्त्र्यं समीक्ष्यापि कः स्यात्स्पर्शनसंगतः ॥ ५ ॥ एवंविधानीन्द्रियाणि संसारवर्द्धकानि विषयलालसानि दुर्जेयानि दुरन्तानि। आ० म० द्वि०। आ० चू०(अथान्यान्युदाहरणानि 'सोइंदियादि' शब्दे)

(१४) इन्द्रियमाश्रित्य जीवानां भेदा यथा–

दुविहा सव्वजीवा पण्णत्ता तंजहा सेंदिया चेव अणिंदिया चेव ॥

दुविहेत्यादि। कंठ्या चेयं नवरं सेन्द्रियाः संसारिणोऽनिन्द्रिया अपर्याप्तकेवलीसिद्धाः। स्था० २ ठा०।

अहवा छव्विहा सव्वजीवा पण्णत्ता तंजहा एगिंदिया जाव पंचिंदिया अणिंदिया। स्था० ६ ठा०।

एकेन्द्रियाः द्वीन्द्रियाः त्रीन्द्रियाः चतुरिन्द्रियाः असंज्ञिसंज्ञिभेदभिन्नाश्च पंचेन्द्रियाः एते च सर्वेऽपि प्रत्येकमपर्याप्ताश्च। तत्र एकं स्पर्शनलक्षणमिन्द्रियं येषां ते एकेन्द्रियाः पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः ते प्रत्येकं द्विधा सूक्ष्मा बादराश्च तत्र सूक्ष्मनामकर्मोदयात् सूक्ष्माः सकललोकव्यापिनः बादरनामकर्मोदयात् बादरा लोकप्रतिनियतदेशवर्त्तिनः। तथा द्वे स्पर्शनरसनलक्षणे इन्द्रिये येषां ते द्वीन्द्रियाः शंखश्च शुक्तिका–चंदनक कपर्दक जलूकी कृमि गंडोलक पूतरकादयः। तथा त्रीणि स्पर्शन–रसन–घ्राणलक्षणानि इन्द्रियाणि येषां ते त्रीन्द्रियाः यूका-मत्कुण-गर्दभेन्द्रगोप-कुंथु-मकोट-पिपीलि-उद्देहिका कर्पासास्थिक-त्रपुस-बीजक-तुम्बुरुकादयः। चत्वारि स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुर्लक्षणानि इन्द्रियाणि येषां ते चतुरिन्द्रियाः। भ्रमर–मक्षिका दंश-मशक–वृश्चिक–कीट–पतंगादयः। पंच स्पर्शनरसन घ्राणचक्षुः श्रोत्रलक्षणानि इन्द्रियाणि येषां ते पंचेन्द्रियाः। मत्स्य–मकर मनुजादयः ते च। द्विभेदाः। संज्ञिनोऽसंज्ञिनश्च तत्र संज्ञानं संज्ञा चेतनमद्धाविनावश्यंभावपर्यालोचनं सा विद्यते येषां ते संज्ञिनः विशिष्टस्मरणादिरूपमनोविज्ञानभाज इत्यर्थः। यथोक्तं। मनो विज्ञान विकला असंज्ञिनः एते च सर्वेऽपि प्रत्येकं सपर्याप्ताश्च। पं०सं०१ द्वा.। अनिन्द्रिया अपर्याप्ताः केवलिनः सिद्धाश्चेति। स्था०६ठा०। एकेन्द्रियादीनाम्बहवो भेदास्तत्तच्छब्देऽपि द्रष्टव्याः (इन्द्रियमाश्रित्य बन्धोदयसत्तासंबन्धानां विचारः 'कम्म' शब्दे) रेतसि, वीर्ये, च। वाच०।

ऐन्द्रिय--त्रि० इन्द्रियेण प्रकाश्यते अण्। इन्द्रियप्रकाश्ये प्रत्यक्षात्मके ज्ञानभेदे, तस्येदं अण् इन्द्रियसंबंधिनि, वाच०।

इंदियअवाय–इन्द्रियापाय–पुं० इन्द्रियैरपाय ईहितस्य निर्णयरूपोऽध्यवसायः इन्द्रियापायः। ईहितं शार्ङ्ग एवायम्। शार्ङ्ग एवायमित्यादिरूपेन्द्रियैः कृतेऽवधारणात्मके निर्णये,। "कइविहेणं भंते ! इंदियअवाए पण्णत्ते सोइंदिए अवाए जाव फासिंदिय अवाए एवं नेरइयाणं जाव वेमाणियाणं जस्स जइ इंदिया अत्थि"। प्रज्ञा० १५ पद०।

इंदियउग्गहणा–इन्द्रियावग्रहणा–स्त्री० इन्द्रियैः परिच्छेदे, स च परिच्छेदो ऽपायादिभेदादनेकधेति। तद्भेदादि प्रज्ञापनायाम् यथा–

कइविहाणं भंते ! इंदियओगाहणा पण्णत्ता ? गोयमा ! पंचविहा इंदियओगाहणा पण्णत्ता तंजहा-सोइंदिय ओगाहणा जाव फासिंदिय ओगाहणा एवं नेरइयाणं जाव वेमाणियाणं नवरं जस्स जइ इंदिया तस्सतइ अत्थि।

(कतिविहेत्ति)। कतिविधं कतिप्रकारं भदन्त ! इन्द्रियैरवग्रहणं परिच्छेदं प्रज्ञप्तः। प्रज्ञा १५ पद। (अपायेहा वग्रहादयस्तत्तच्छब्दे द्रष्टव्याः)।

इंदियउवओगद्धा–इन्द्रियोपयोगाद्धा--स्त्री० इन्द्रियोपयोगस्याद्धाकाले, स च यावन्तं कालमिन्द्रियैरुपयुक्त आस्ते तावत् काल इति। प्रज्ञा० १५ पद।

कति विहाणं भंते ! इन्दियउवओगद्धा पण्णत्ता ? गोयमा ! पंचविहा इंदियउवओगद्धा पण्णत्ता तंजहा सोइंदियउवओगद्धा जाव फासिंदियउवओगद्धा एवं नेरइयाणं जाव वेमाणियाणं नवरं जस्स जइ इंदिया अत्थि। एतेसि णं भंते ! सोइंदिय–चक्खिंदिय–घाणिंदिय जिब्भिंदिय फासिंदियाणं जहन्नियाए उवओगद्धाए उक्कोसियाए उवओगद्धाए जहन्नुक्कोसियाए उवओगद्धाए कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा ४ गोयमा ! सव्वत्थो वा चक्खिंदियस्स जहन्निया उवओगद्धा सोइंदियस्स जहन्निया उवओगद्धा विसेसाहिया, घाणिंदियस्स जहन्निया उवओगद्धा विसेसाहिया, जिब्भिंदियस्स जहन्निया उवओगद्धा विसेसाहिया, फासिंदियस्स

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जहन्निया उवओगद्धा विसेसाहिया, उक्कोसियाए उवओगद्धाए सव्वत्थो वा चक्खिंदियस्स उक्कोसिया उवओगद्धा, सोइंदियस्स उक्कोसिया उवओगद्धा विसेसाहिया, घाणिंदियस्स उक्कोसिया उवओगद्धा विसेसाहिया, जिब्भिंदियस्स उक्कोसिया उवओगद्धा विसेसाहिया, फासिंदियस्स उक्कोसिया उवओगद्धा विसेसाहिया, जहन्नुक्कोसियाए उवओगद्धाए सव्वत्थो वा। चक्खिंदियस्स जहन्निया उवओगद्धा सोइंदियस्स जहन्निया उवओगद्धा विसेसाहिया, घाणिंदियस्स जहन्निया उवओगद्धा विसेसाहिया, जिब्भिंदियस्स जहन्निया उवओगद्धा विसेसाहिया, फासिंदियस्स जहन्निया उवओगद्धा विसेसाहिया, फासिंदियस्स जहन्नियाहिंतो उवओगद्धाहिंतो, चक्खिंदियस्स उक्कोसिया उवओगद्धा विसेसाहिया, सोइंदियस्स उक्कोसिया उवओगद्धा विसेसाहिया, घाणिंदियस्स उक्कोसिया उवओगद्धा विसेसाहिया, जिब्भिंदियस्स उक्कोसिया उवओगद्धा विसेसाहिया, फासिंदियस्स उक्कोसिया उवओगद्धा विसेसाहिया। प्रज्ञा० १५ पद। (टीका सुगमत्वान्न व्याख्यातेति न गृहीता.)

इंदियउवचय-इन्द्रियोपचय-पुं० उपचीयते उपचयक्रीयते इन्द्रियमनेनेत्युपचयः प्रायोग्यपुद्गलसंग्रहणसम्पत् इन्द्रियाणामुपचयः इन्द्रियोपचयः इन्द्रियोपचयलक्षणः परिणामः (भ० २० श० ३ उ०) इन्द्रियपर्याप्तौ, प्रज्ञा०। तद्भेदाः यथा-

कइविहे णं भंते ! इंदियउवचए पण्णत्ते ? गोयमा ! पंचविहे इंदियउवचए पण्णत्ते तंजहा-सोइंदियउवचए चक्खिंदियउवचए घाणिंदियउवचए जिब्भिंदियउवचए फासिंदियउवचए नेरइयाणं भंते ! कतिविहे इंदियउवचए पण्णत्ते ? गोयमा ! पंचविहे इंदियउवचए पण्णत्ते तंजहा सोइंदियउवचए जाव फासिंदियउवचए एवं जाव वेमाणियाणं नवरं जस्स जइ इंदिया तस्स तइविहो चेव इंदियउवचओ भणियव्वो ॥

(इंदियोपचए पण्णत्ते इत्यादि) सुगमं (जस्स जइ इंदिया इत्यादि) यस्य नैरयिकादेर्यति यावन्ति इन्द्रियाणि सम्भवन्ति तस्य तति विधस्तावत्प्रकार इन्द्रियोपचयो वक्तव्यः तत्र नैरयिकादीनां स्तनितकुमारपर्यवसानानां पञ्चविधः पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतीनामेकविधो द्वीन्द्रियाणां द्विविधः त्रीन्द्रियाणां त्रिविधश्चतुरिन्द्रियाणां चतुर्विधः तिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकानां पञ्चविधः। क्रमश्चैवं स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणीति॥ प्रज्ञा. १५ पद ॥

इंदियगोयर-इन्द्रियगोचर-पुं० इन्द्रियस्य गोचरः विषयः। शब्दादिषु विषयेषु, ते हि प्रतिनियतमेकैकस्येन्द्रियस्य ग्राह्या यथा श्रोत्रस्य ग्राह्यः शब्दः, त्वगिन्द्रियस्य स्पर्शस्तद्विशिष्टद्रव्यञ्च, चक्षुषो रूपं तदाश्रयद्रव्यञ्च, रसनाया रसः, घ्राणस्य गन्ध इत्यादि। एवमन्यान्यपि न्यायादिमते तत्तदिन्द्रियग्राह्याण्युक्तानि यथा "घ्राणस्य गोचरो गन्धो गन्धत्वादिरपि स्मृतः। तथा रसो रसज्ञायास्तथा शब्दोऽपि च श्रुतेः"। आदिपदात् सुरभित्वासुरभित्वयोर्ग्रहणं तथा रसत्वं माधुर्यादिसहितः एवं शब्दत्वतारत्वमन्दत्वादिसहितः "उद्भूतरूपं नयनस्य गोचरो द्रव्याणि तद्वन्ति पृथक्त्वसंख्ये। विभागसंयोगपरापरत्वस्नेहद्रवत्वं परिमाणयुक्तम्" वाच॥

इंदियगाम-इन्द्रियग्राम-पुं० ६त० इन्द्रियसमुदाये, "बलवानिन्द्रियग्रामः पण्डितोऽप्यत्र मुह्यति" आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ०।

इंदियचोर-इन्द्रियचौर-इन्द्रियरूपे चौरे, "जिणवयण अणुगया मे, होउ मई झाणजोगमल्लीणा। तांहे इंदियचोरा, करिंति तवसंजमविलोमं ॥ ८१॥" महा० प०॥

इंदियजय-इन्द्रियजय-पुं० इन्द्रियाणां श्रोत्रादीनां जयः। इन्द्रियजयः। इन्द्रियाणामत्यन्ताशक्तिपरिहारेण स्वस्वविकारनिरोधे, ध० १ अधि०। "अजिइंदियहि चरणं, कट्ठं व घुणेहिं कीरइ असारं। तो धम्मत्थीहिं दढं, जइयव्वं इंदियजयम्मि ॥४॥ इन्द्रियपराजयग्रन्थे, तत्स्वरूपच्याष्टकं यथा—

> बिभेषि यदि संसारा-न्मोक्षप्राप्तिञ्च काङ्क्षसि।
> तदेन्द्रियजयं कर्तुं स्फोरय स्फारपौरुषम् ॥ १॥
> वृत्तास्तृष्णाजलापूर्णे-रालवालैः किलेन्द्रियैः।
> मूर्च्छामतुच्छां यच्छन्ति विकारविषपादपाः॥ २॥
> सरित्सहस्रदुष्पूरसमुद्रोदरसोदरः।
> तृप्तिमानिन्द्रियग्रामो भव तृप्तोऽन्तरात्मना॥ ३॥
> आत्मानं विषयैः पाशै-र्भववासपराङ्मुखैः।
> इन्द्रियाणि निबध्नन्ति मोहराजस्य किङ्कराः॥ ४॥
> गिरिमृत्स्नां धनं पश्य-न्धावतीन्द्रियमोहितः।
> अनादिनिधनं पार्श्वे ज्ञानधनं न पश्यति॥ ५॥
> पुरःपुरस्स्फुरत् तृष्णा मृगतृष्णानुकारिषु।
> इन्द्रियार्थेषु धावन्ति त्यक्त्वा ज्ञानामृतं जडाः॥ ६॥
> पतङ्गभृङ्गमीनेभ-सारङ्गा यान्ति दुर्दशाम्।
> एकैकेन्द्रियदोषाच्च दुष्टैस्तैर्पञ्चभिः॥ ७॥
> विवेकद्विपहर्यक्षैः-समाधिधनतस्करैः।
> इन्द्रियैर्न जितो योऽसौ धीराणां धुरि गण्यते ॥८॥ अष्ट०॥

"संयमाद् ग्रहणादीनामिन्द्रियाणां जयस्ततः"।

टी०-संयमादिग्रहणादयो ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वानि तत्र ग्रहणमिन्द्रियाणां विषयाभिमुखीवृत्तिः, स्वरूपं सामान्येन प्रकाशकत्वम्, अस्मिता अहङ्कारानुगमः, अन्वयार्थवत्त्वे प्राग्युक्तलक्षणे। तेषां यथाक्रमं संयमादिन्द्रियाणां जयो भवति। तदुक्तं ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजय इति। द्वा० २६ द्वा०।" आपदां कथितः पन्था इन्द्रियाणामसंयमः। तज्जयः संपदां मार्गो येनेष्टं तेन गम्यताम् १॥ इन्द्रियाण्येव तत्सर्वं यत्स्वर्गनरकावुभौ। निगृहीतानि सृष्टानि स्वर्गाय नरकाय चेति" सर्वथेन्द्रियजयस्तु यतीनामेव इह तु सामान्यतो गृहस्थधर्म एवाधिकृतस्तेनैवमुक्तं युक्तमिति। ध० १ अ०। पंचानामपि स्पर्शादीनामिन्द्रियाणां जयो दमनं यस्मादसाविन्द्रियजयः इन्द्रियजयहेतुत्वादिन्द्रियजयः। तपोविशेषे,-तल्लक्षणादि यथा " पुरिमड्ढेक्कासणं निव्विगई अ आयंबिलोववासेहिं। एगलयाइ य पंचहिं होइ तवो इंदियजओ त्ति" तपति निर्दहति दुष्कर्माणीति तपः तत्तु नानाविधोपाधिनिबन्धनत्वादनेकप्रकारं तत्रेन्द्रियजयमूलत्वाज्जिनधर्मस्य प्रथममिन्द्रियजयाह्वं यत्तपः तदाह प्रथमदिने पूर्वार्द्धं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वितीयदिने एकाशनकं तृतीयदिने विकृतिकं चतुर्थदिने आचाम्लं पञ्चमदिने उपवासः इत्येवं पञ्चभिस्तपोदिनैरेकालता-श्रेणिः परिपाटी चैवैकार्थाः । एवैकं चेन्द्रियमाश्रित्यैवं स्वरूपा एकैका लता क्रियते ततः पञ्चभिर्लताभिः पञ्चविंशत्या दिवसैरिन्द्रियजयाख्यस्तपोविशेषः भवति इन्द्रियाणां स्पर्शनादीनां पञ्चानामपि जयो दमनं यस्मादसाविन्द्रियजयः । इन्द्रियजयहेतुत्वादिन्द्रियजयः । यद्यपि सर्वाण्यपि तपांसीन्द्रियजये प्रभविष्णूनि तथापीन्द्रियजयमालम्ब्य क्रियमाणत्वादस्यैव तपसस्तद्धेतुत्वं पूर्वसूरिभिरभिहितमेवमुत्तरत्रापि वाच्यम् । प्रव० २७० द्वा० ॥

इंदियट्ठाण–इन्द्रियस्थान– न० स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राख्यानीन्द्रियाणि तेषां स्थानान्यवकाशाः । श्रोत्रादीन्द्रियाणामुपादानकारणेषु आकाशादिषु, । (पंचिंदियट्ठाणाणि) इन्द्रियाणां चामूनि स्थानानि तद्यथा-श्रोत्रेन्द्रियस्याकाशं सुषिरात्मकत्वात् । घ्राणेन्द्रियस्य पृथिवी तदात्मकत्वात् । चक्षुरिन्द्रियस्य तेजस्तद्रूपत्वात् । रसनेन्द्रियस्यापः । स्पर्शनेन्द्रियस्य वायुरिति । सूत्र० १ श्रु० १ अ० ॥

इंदियणिग्गह–इन्द्रियनिग्रह–पु० इन्द्रियाणां श्रोत्रादीनां निग्रहो नियन्त्रणं स्पर्शादिविषयेषु लाम्पट्यपरिहारेण वर्त्तनम् । तदात्मके संयमभेदे, ध० ३ अधि० । इष्टेतरेषु शब्दादिषु रागद्वेषाकरणे च । " इंदियाणं च निग्गहो " इन्द्रियाणां च श्रोत्रादीनां निग्रह इष्टेतरेषु शब्दादिषु रागद्वेषाकरणमनगारगुणः । आव० ४ अ० ॥

इंदियणिरोह–इन्द्रियनिरोध– पु० इन्द्रियाणां स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्ररूपाणां निरोधः स्वस्वविषयेभ्यो निवर्त्तनम् । इष्टानिष्टविषयेषु रागद्वेषाभावे, । ध० ३ अधि० ॥ चक्षुरादिकरणपञ्चकसंयमे; सम्म० । तदात्मके करणभेदे च । ध० ३ अधि० । ओघ० ।

इंदियणिव्वत्तणा–इन्द्रियनिर्वर्त्तना– स्त्री० इन्द्रियाणां निर्वर्त्तना बाह्याभ्यन्तररूपा या निर्वृत्तिराकारमात्रस्य निष्पादनम् । इन्द्रियाकारमात्रस्य निष्पादने, तद्भेदादि यथा–

कतिविहा णं भंते ! इंदियनिव्वत्तणा पन्नत्ता ? गोयमा ! पंचविहा इंदियनिव्वत्तणा पन्नत्ता तंजहा सोइंदियनिव्वत्तणा जाव फासिंदिय निव्वत्तणा एवं नेरइयाणं जाव वेमाणियाणं नवरं जस्स जइ इंदिया अत्थि तस्स तइया चेव सोइंदियनिव्वत्तणा णं भंते ! कइ समइया पन्नत्ता ? गोयमा ! असंखेज्जा समया अंतो मुहुत्तिया पन्नत्ता । एवं जाव फासिंदियनिव्वत्तणा । एवं नेरइयाणं जाव वेमाणियाणं ।

निर्वर्तना नाम बाह्याभ्यन्तररूपा या निर्वृत्तिराकारमात्रस्य निष्पादनं तदनन्तरं सा निर्वर्तना कति समया भवतीति प्रश्ने ऽसंख्येयाः समयास्तस्या भवेयुरिति निर्वचनं वाच्यम् । प्रज्ञा० १५ पद ।

इंदियणाण–इन्द्रियज्ञान–न० इन्द्रियेण जनितं ज्ञानम् । प्रत्यक्षे ज्ञाने, वाच० ।

इंदियणाणावरण–इन्द्रियज्ञानावरण–न० इन्द्रियशब्दादिसामान्योपयोगावरणे, व्य०१० उ० । (एतद्भेदादिदृष्टान्ताः परिणामय-शब्दे)

इंदियत्थ–इन्द्रियार्थ– पु० इन्द्रियैरर्थ्यन्ते अधिगम्यन्त इतीन्द्रियार्थाः । ठा० ४ । अर्थ्यन्ते ऽभिलष्यन्ते क्रियार्थिभिरित्यर्थाः इन्द्रियाणामर्था इन्द्रियार्थाः । स्था०५ठा० । प्रव० । नि०चू० ।

"चत्तारि इंदियत्था पुट्ठा वेदेति तंजहा सोइंदियत्थे, घाणिंदियत्थे, जिब्भिंदियत्थे, फासिंदियत्थे" टी०(पुट्ठत्ति) इन्द्रियसम्बद्धा वेद्यन्ते आत्मना ज्ञायन्ते नयनमनोवर्जानां श्रोत्रादीनां प्राप्तार्थपरिच्छेदस्वभावादिति । उक्तञ्च । " पुट्ठं सुणेइ सद्दमित्यादि" ॥ स्था० ४ । "पंच इंदियत्था पन्नत्ता तंजहा सोइंदियत्थे जाव फासिंदियत्थे " श्रूयतेऽनेनेति श्रोत्रं तच्च तदिन्द्रियं श्रोत्रेन्द्रियं तस्यार्थो ग्राह्यः श्रोत्रेन्द्रियार्थः शब्दः एवं क्रमेण रूपरस गन्धस्पर्शाश्चक्षुराद्यर्था इति । स्था० ५ ठा० । अस्य षड्विधत्वमपि "छ इंदियत्था पन्नत्ता तंजहा सोइंदियत्थे जाव फासिंदियत्थे नो इंदियत्थे" स्था० ६ ठा० ॥

इन्द्रियार्थानामतीतप्रत्युत्पन्नानागतभेदा यथा–

दस इंदियत्थातीता पन्नत्ता तंजहा देसेण वि एगे सद्दाइं सुणिंसु सव्वेण वि एगे सद्दाइं सुणिंसु । देसेण वि एगे रूवाइं पासिंसु सव्वेण वि एगे रूवाइं पासिंसु । एवं गंधाइं रसाइं फासाइं जाव सव्वेण वि एगे फासाइं पडिसंवेदेंसु । दस इंदियत्था पडुप्पन्ना पन्नत्ता तंजहा देसेण वि एगे सद्दाइं सुणेंति सव्वेण वि एगे सद्दाइं सुणेंति । एवं जाव फासाइं । दस इंदियत्था अणागया पन्नत्ता तंजहा देसेण वि एगे सद्दाइं सुणिस्संइ सव्वेण वि एगे सद्दाइं सुणिस्सइ । एवं जाव सव्वेणवि एगे फासाइं पडिसंवेदिस्सइ ।

(दस इंदियेत्यादि) कण्ठ्या नवरं (देसेणविति) विवक्षितशब्दसमूहापेक्षया देशेन देशतः कांश्चिदित्यर्थः एकः कश्चित् श्रुतवानिति (सव्वेणवित्ति) सर्वतया सर्वानित्यर्थः । इन्द्रियापेक्षया वा श्रोत्रेन्द्रियेण देशतः संभिन्नश्रोत्रोऽभिप्रयुक्तावस्थायां सर्वेन्द्रियैः सर्वतोऽथवैककर्णेन देशत उभाभ्यां सर्वत एवं सर्वत्र । स्था १० ठा० ।

तुल्ले वि इंदियत्थे, एगो सज्जइ विरज्जई एगो ।
अज्झत्थं तु पमाणं, न इंदियत्था जिणा बेंति ॥

तुल्येऽपि समानेऽपि इन्द्रियार्थे इन्द्रियविषये रूपादौ रागद्वेषतान्त्रिको रज्यते रागमुपगच्छति । द्वितीयो विरज्यते विषयपरिणामस्य दारुणतां परिभावयन् विरक्तो भवति । तस्मात्प्रायश्चित्तापत्त्यनापत्तिविषये अध्यात्मनान्तरपरिणामस्य प्रमाणं न इन्द्रियार्था इति जिना भगवन्तः सर्वज्ञा ब्रुवते । व्य०प्र०२ उ० ॥
(इन्द्रियार्थेषु रागकरणे प्रायश्चित्तं–विसय-शब्दे) (इन्द्रियार्थसंवेदनप्रकार–इंदिय-शब्दे)

इंदियत्थ (वि) कोवण–इन्द्रियार्थ (वि) कोपन– न० इन्द्रियार्थानां शब्दादिविषयाणां विकोपनं विकोप इन्द्रियार्थविकोपनम् । कामविकारे, स्था० ९ ठा० । (एतस्य रोगोत्पत्तिकारणता रोगुप्पत्ति-शब्दे) ॥

इंदियपज्जत्ति–इन्द्रियपर्याप्ति– स्त्री० यया धातुरूपतया परिणमितमाहारमिन्द्रियरूपतया परिणामयति सा इन्द्रियपर्याप्तिः । तथा चायमर्थोऽन्यत्रापि ग्रन्थान्तरेणोक्तः पञ्चानामिन्द्रियाणां प्रायोग्यान् पुद्गलान् गृहीत्वाऽनाभोगनिर्वर्तितेन वीर्येण

तद्भावनयनशक्तिरिन्द्रियपर्याप्तिरिति, पर्याप्तिभेदे, प्रज्ञा० १ पद । प्रव० । कर्म० । नं० । पं० सं० ॥

इंदियपय-इन्द्रियपद- न० इन्द्रियवक्तव्यता प्रतिबद्धे प्रज्ञापनायाः पञ्चदशे पदे, । न०२श०४उ० । अत्र च द्वावुद्देशकौ तत्र च प्रथमोद्देशके ये ऽर्थाधिकारास्तत्संग्राहकमिदं गाथाद्वयम्

संठाणं वाहल्लं, पोहत्तं कइ पदेस ओगाढे ।
अप्पा बहुपुट्ठपविट्ठ वि, विसय परिमाण अणगारे ॥ १ ॥
अदाय आसियमणी, दुद्धपणे तेल्लफाणियवसा य ।
कंबलथूणाथिग्गल, दीवोदहि लोगलोगे य ॥ २ ॥

(संठाणं बाहल्लमित्यादि) प्रथममिन्द्रियाणां संस्थानं वक्तव्यम् । संस्थानं नाम आकारविशेषः ततो बाहुल्यं वक्तव्यं बाहुल्यं नाम बहुलता पिण्डत्वमिति भावः । तदनन्तरं पृथुत्वं विस्तारः । तदनन्तरं (कति पदेशत्ति) कतिप्रदेशमिन्द्रियमिति वक्तव्यम् । ततः (ओगाढमिति) कति प्रदेशावगाढमिन्द्रियमिति वाच्यम् । तदनन्तरमवगाहनादिविषयं कर्कशादिगुणविषये चाल्पबहुत्वं ततः (पुट्ठत्ति) स्पृष्टग्रहणमुपलक्षणं तेन स्पृष्टास्पृष्टविषयं सूत्रं वक्तव्यं तदनन्तरं (पविट्ठत्ति) प्रविष्टाप्रविष्टविषयचिन्ताविषयं ततो विषयपरिमाणं ततो ऽनगारविषयं तदनन्तरं वशाविषयं ततः कम्बलविषयं ततः स्थूणाविषयं तदनन्तरं (थिग्गलत्ति) आगासथिग्गलविषयं ततो द्वीपोदधिविषयं ततो लोकविषयं तदनन्तरमेवालोकविषयमिति । प्रज्ञा० १५ पद १ उ० ।

अथ द्वितीये त्वर्थाधिकारसंग्राहकं गाथाद्वयम् ।

इंदिय उवचयनिव्व-त्तणायसमया भवे असंखेज्जा ।
लद्धी उवओगद्धा, अप्पा बहुए विसेसहिया ॥ १ ॥
ओगाहणा अवाए, ईहा तह वंजणा वग्गहे य ।
दव्विंदिय भाविंदिय, तीया बद्धा पुरेक्खडाया य ॥ २ ॥

(इंदिय उवचय इत्यादि) प्रथमत इन्द्रियाणामुपचयो वक्तव्यः उपचीयते उपचयक्रीयते इन्द्रियमनेनेत्युपचयः प्रायोग्यपुद्गलसंग्रहणसम्पत इन्द्रियपर्याप्तिरित्यर्थः । तदनन्तरं निर्वर्तना वक्तव्या । निर्वर्तना नाम बाह्याभ्यन्तररूपाया निर्वृत्तिराकारमात्रस्य निष्पादनं तदनन्तरं सा निर्वर्त्तना कति समया भवतीति प्रश्ने ऽसंख्येयाः समयास्तस्या भवेयुरिति निर्वचनं वाच्यं तत इन्द्रियाणां लब्धिस्तदावरणकर्मक्षयोपशमरूपा वक्तव्या । तत उपयोगाद्धा तदनन्तरमल्पबहुत्वे चिन्त्यमाने पूर्वस्याः २ उत्तरोत्तरा उपयोगाद्धा विशेषाधिका वक्तव्या ततः (ओगाहणा इति) अवग्रहणं परिच्छेदो वक्तव्यः स च परिच्छेदोऽपायादिभेदादनेकधेति तदनन्तरमपायो वक्तव्यस्तत ईहा तदनन्तरं व्यञ्जनावग्रहश्चशब्दस्यानुक्तार्थसमुदायकत्वादर्थावग्रहश्च वक्तव्यः । तदनन्तरं द्रव्येन्द्रियभावेन्द्रियसूत्रं ततो ऽतीतबद्धपुरस्कृतानि द्रव्येन्द्रियाणि तदनन्तरं भावेन्द्रियाणि विचिन्तनीयानि । प्रज्ञा १५ पद० २ उ० ।

इंदियपरिणाम-इन्द्रियपरिणाम- पु० इन्दनादिन्द्रः आत्मज्ञानलक्षणपरमैश्वर्ययोगात्तस्येदमिन्द्रियमिति । निपातनादिन्द्रशब्दादियप्रत्ययः । इन्द्रियाण्येव परिणामः इन्द्रियपरिणामः । इन्द्रियरूपे जीवस्य परिणामभेदे, प्रज्ञा० १३ पद ।

इंदियबल-इन्द्रियबल- न० इन्द्रियाणां चक्षुरादीनां बलं स्वस्वविषयग्रहणपाटवमिन्द्रियबलम् । इन्द्रियाणां स्वविषयग्रहणपाटवे, (इंदियबलपुट्ठिवड्ढणं) इन्द्रियबलस्य पुष्टिरतिशायी पोषः इन्द्रियबलपुष्टिस्तां वर्द्धयन्ति नन्द्यादित्वादन । इन्द्रियबलपुष्टिवर्द्धनाः । जी० ३ प्रति० (अस्य बहु भेदा वीरिय-शब्दे द्रष्टव्याः)

इंदियमोहिय-इन्द्रियमोहित- त्रि० विषयासक्ते, अष्ट० ॥

इंदियलद्धि-इन्द्रियलब्धि- स्त्री० इन्द्रियाणां लब्धिः । तदावरणकर्मक्षयोपशमरूपायां पञ्चेन्द्रियत्वप्राप्तौ, । प्रज्ञा० १५ पद । तद्भेदा यथा "कति विहा णं भंते ! इंदियलद्धि पण्णत्ता ? गोयमा ! पंचविहा इंदियलद्धि पण्णत्ता तंजहा-सोइंदियलद्धी जाव फासिंदियलद्धी । एवं नेरइयाणं नवरं जस्स जइ इंदिया अत्थि तस्स तावइया भाणियव्वा" प्रज्ञा० १५ पद ॥

इंदियवसट्ट-इन्द्रियवशार्त्त- त्रि० इन्द्रियवशेन तत्पारतन्त्र्येण ऋतः । पीडितः इन्द्रियवशार्तः इन्द्रियवशं वा ऋतो गतः इन्द्रियवशार्तः । इन्द्रियपारतन्त्र्येण पीडिते, इन्द्रियपारतन्त्र्यं गते च । भ० १२ श० २ उ० ॥

इंदियविजय-इन्द्रियविजय- पु० तपोविशेषे, पंचा० १७ वि० । (एतद्वक्तव्यता इंदियजय शब्दे) ॥

इंदियविभत्ति-इन्द्रियविभक्ति- स्त्री० इन्द्रियविभागे, सा च पञ्चधा-एकेन्द्रियविकलेन्द्रियपञ्चेन्द्रियभेदात् । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० ।

इंदियविसय-इन्द्रियविषय- पु० इन्द्रियाणां चक्षुरादीनां विषयाः मनोज्ञरूपादय इन्द्रियविषयाः । चक्षुरादीनां विषयेषु रूपादिषु, उत्त० ५ अ० । इन्द्रियविषयभेदा इन्द्रियविषयपुद्गलपरिणामभेदाश्च भगवत्यास्तृतीयशतकदशमोद्देशके जीवाभिगमस्य ज्यौतिष्कोद्देशके च प्रतिपादिता (विसय शब्दे द्रष्टव्या)

इंदियविसयवसगय-इन्द्रियविषयवशगत- त्रि० इन्द्रियाणां चक्षुरादीनां विषया मनोज्ञरूपादयस्तद्वश गताः प्राप्ता इन्द्रियवशगताः । रूपादिविषयवशगते, । उत्त० ५ अ० ॥

इंदियवीरिय-इन्द्रियवीर्य- न० श्रोत्रेन्द्रियादीनां स्वस्वविषयग्रहणसामर्थ्ये, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । (तद्भेदा निक्षेपावसरे वीरियशब्दे, बलशब्दे च) ॥

इंदियसंवरण-इन्द्रियसंवरण- न० पञ्चेन्द्रियाणि तेषां संवरणं इष्टानिष्टविषयेषु रागद्वेषाभ्यां प्रवर्तमानानां निग्रहणमिन्द्रियसंवरणम् । इन्द्रियाणां निग्रहणे, । पा० सू० ॥

इंदियसण्णिगरिस-इन्द्रियसन्निकर्ष- पु० इन्द्रियस्य स्वस्वविषयैः सह सन्निकर्षः सम्बन्धभेदः । प्रत्यक्षसाधने इन्द्रियस्य स्वस्वविषयैः संबन्धभेदरूपे-प्रत्यक्षजनकव्यापारे, । वाच० ।

इंदियावरण-इन्द्रियावरण- न० इन्द्रियविषयेष्वेव शब्दादिषु विशेषोपयोगावरणे, व्य० द्वि० १० उ० । (एतद्भेदादिवक्तव्यता दृष्टान्त-परिणामक शब्दे)

इंदीवर-इन्दीवर- न० हरितभेदे वनस्पतिविशेषे, । प्रज्ञा० १ पद । नीलोत्पले उत्पलमात्रे च । वाच० । निलुप्पलं वियाणह कुवलयमिंदीवरं च ॥ प्रा० ना० ॥

इंदु-इन्दु- पु० उन्दति चन्द्रिकया भुवं क्लिन्नां करोति उन्द्-उ आदेरिच्च । चन्द्रे, प्रा० ना० ॥

इंदुत्तरवडिंसग-इन्द्रोत्तरावतंसक- न० विमानविशेषे, सम० १५ स० ।

इंधण-इन्धन- न० इध्यतेऽनेन इन्ध् करणे ल्युट् । काष्ठतृणकरी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धारी, " जह चिरसंचियमिंधण मन लोयवण सहिओ डुहं डहइ " इन्धनं काष्ठादीनि । आव० ५ अ० । कोद्दवपलालमादी इंधणेण फलाइ पच्चंति । नि० चू० १५ उ० । दाह्ये, काष्ठादौ च । " ओसारिए धणजरो जह परिहाइ कमसो हुआसो वा" अपसारितेंधनजरो ऽपनीतकाष्ठसंघात इति । आव० ५ अ० । इन्धयति इन्ध णिच्-ल्यु० दीपनकर्त्तरि, त्रि० भावे ल्युट् । उज्ज्वालने, न । वाच० । उद्दीपने, उत्त. १४ अध्य० ।

ईंधणधूम–इन्धनधूम–पु० दारुधूमे, नि० चू० १ उ० ।

ईंधणपलियाम–इन्धनपर्याम–न-इन्धनपक्के आम्रफले, कोद्दव पलालमादी इंधणेण फलाइ पच्चंति ॥ जहा कोद्दव पलालेणं अंबगादि फलाणि वेढे ता पाविज्जं आदिग्गहणेण सालिपलालेण वि तत्थ जेण पक्का फला ते इंधण पलियामं भणति । नि० चू० १५ उ० ।

ईंधणसाला–इन्धनशाला–स्त्री–यत्र तृणकरीषकचवरास्तिष्ठन्त्येवम्भूते गृहे, बृ० २ उ० । इंधणसाला जत्थ तणा करिसतारात्थंसि" । नि० चू० १६ उ० ।

इंधिय–इन्धित– त्रि–प्रज्वालिते, " सद्देहिं रूवेहि य गंधिते तु मोहग्गि संदिप्पत्ति हिणसत्ते " स्त्रियाः शब्दे यैश्च इन्धितः प्रज्वलितो मोहाग्निः कस्यापि हीनसत्त्वस्य भुक्तभोगिनो ऽभुक्त भोगिनो वा संदीप्यत इति । बृ० ४ उ० ।

इक–इक– न० देशी–क्कापि प्रवेशने, तथा च विशेषावश्यके सामायिकनिरुक्तिमधिकृत्योक्तम् " इकमप्पए पवेसण मेयं सा सामाइयं नेयं " इकशब्दो देशीवचनः क्कापि प्रवेशार्थे प्रवर्तते इति । विशे० ॥

इक्कड–इक्कड–न-ढंढणसदृशे तृणविशेषे, । प्रश्न० । ३ सं० द्वा० पर्व्वक (ग) जातीये वनस्पतिविशेषे, । प्रज्ञा० १ पद सूत्र० । वणस्सइभेआ इक्कडा लाडाणं पसिद्धा इति । नि० चू० २ उ० । आचा० । बृ० ।

इक्कडमय–इक्कडमय–त्रि० इक्कडो वनस्पतिभेदः (नि० चू० २ उ०) तन्मये संस्तारकादौ, –बृ० ३ उ० ।

इक्खण–ईक्षण–न०–ईक्ष भावे ल्युट् । पर्यालोचने, "तम्हादवि इक्खपंडिए " ईक्षस्व तद्विपाकं आलोचयेति सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । दर्शने, करणे, नेत्रे, वाच० ।

इक्खाग (गु) इक्ष्वाकु–न०–आर्यकुलभेदे, अनु० । प्रज्ञा० । तच्च प्रथमप्रजापतेर्नाभेयस्य भगवत ऋषभदेवस्य कुलमिति । स्था० ६ ठा० । कुलार्येषु ऋषभदेवस्वामिवंशोद्भवेषु, । औप० कल्प० । भ० । आचा० । कोशलजनपदे च । यत्रायोध्या नगरीति, ज्ञा० ८ अ० ।

ऐक्ष्वाक–पु०–इक्ष्वाकुवंशोद्भवे, आ० क० । ऋषभदेवस्वामिनो वंशस्य तद्वंशजानां चेक्ष्वाकुनामकरणं यथा " देसूणगं च वरिसं सक्कागमणं च वंसठवणा य " आ० म० प्र० । सक्को वंसठवणे इक्खु अगू तेण होंति इक्खागा" ति० । कथानकशेषं " जीयमेवं तीय पच्चुप्पाम्रमणागयाणं देवाणं पढमतित्थयराणं वंसट्ठवणं करेत्तए ततो तियसगण संपरिवुडो सक्को आगतो पच्छा किहरिक हत्थतो पविसामित्ति महंतं इक्खु लट्ठिं गहाय आगतो इतो य नाभिकुलगरो उसभसामिणा अंकगएण अत्थइ सक्केण य भवागएण इक्खु लट्ठिहत्थगएणं जएणं विजएणं भयवं वद्धाविओ । भयवया लट्ठीसु दिट्ठी पाडिया ताहे सक्केणं भणियं भयवं इक्खु अगू अक्कु भक्खणं भक्खयसि ताहे सामिणा पसत्थ लक्खणधरो अलंकियविभूसिओ दाहिणहत्थो पसारितो अतीव भगवयस्स तासु हरिसो जातो तएणं सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो अयमेयारूवे संकप्पे समुप्पज्जित्ता जम्हा भयवं तित्थयरो इक्खुं अभिलसइ तम्हा इक्खागुवंसो भवउ । आ० म० प्र० । गाथाक्षरगमनिका अथ सञ्जातकिञ्चिदूनवर्षे भगवति प्रथमजिनवंशस्थापनं । शक्रः स्वजातामिति विचिन्त्य कथं रिक्तपाणिः स्वामिसमीपं यास्यामीति महतीमिक्षुयष्टिमादाय नाभिकुलकराङ्कस्थस्य प्रभोरग्रे तस्थौ इक्षौ चेक्षुयष्टिं हृष्टवदनेन स्वामिना करं प्रसारिते इक्षुं भक्षयसीति भणित्वा तां दत्वा इक्ष्वभिलाषात्स्वामिनो वंश इक्ष्वाकुनामा भवतु । कल्प० । आ० चू० । शक्रः सौधर्मेन्द्रो वंशस्थापने प्रस्तुत इक्षुं गृहीत्वा आगतः अक अग कुटिलायां गतौ अनेकार्थत्वाद्धातूनां अक्कु धातो रौणादिके उण् प्रत्ययः अकुशब्दो ऽभिलाषार्थः ततः स्वामी इक्षोः आकुनाभिलाषेण करं प्रासारयत् शक्रः आर्पयत् तेन कारणेन भवति । इक्ष्वाकुवंशभवाः ऐक्ष्वाकाः । आ० क० । " आसी य इक्खु भोई इक्खागा तेण खत्तिया होंति " क्षत्रिया येन कारणेन बाहुल्येनेक्षुभोजिन आसन् तेन कारणेन ते क्षत्रिया इक्ष्वाकवो लोके ख्याताः । आ० म० प्र० । आ० चू० ।

इक्खाग (गु) कुल–इक्ष्वाकुकुल—न०–इक्ष्वाकूणां कुलं इक्ष्वाकुकुलम् । ऋषभदेवस्वामिवंशे, । आ० म० प्र० ।

इक्खाग (गु) भूमि–इक्ष्वाकुभूमि– स्त्री०—अयोध्यायाम्, तीर्थ० " इक्खागभूमिउज्झा, सावत्थि विणीय कोसलपुरं च" आव० २ अ० ।

इक्खाग (गु) राय–इक्ष्वाकुराज– पु०–इक्ष्वाकूणामिक्ष्वाकुवंशजानामथवा इक्ष्वाकुजनपदस्य राजा । इक्ष्वाकुवंशीयानां कोशलजनपदस्य वा नृपे, । ज्ञा० ८ अ० । उत्त० । पडिवुद्धी इक्खागराया" स्था० ७ ठा० ।

इक्खाग (गु) वंश–इक्ष्वाकुवंश–पु–ऋषभदेवस्य वंशे, "आसीइक्खाग वंस संभूओ नाभिनामकुलगरो" इति० ति० । (वक्तव्यता इक्खाग (गु) शब्दे)

इक्खु (उच्छु)–इक्षु– पु०– इष्यते ऽसौ माधुर्यात् " इक्खु प्रवासीक्षौ " इति प्राकृत सूत्रणादेरत उत्वम् प्रा० व्या १ पाद ८ अध्या० आर्षे इक्खु इति च भवति प्रा० व्या० । मधुररसोपेते असिपत्रे स्वनामख्याते, वाच० । पर्वकवनस्पतिकायभेदे, उत्त० । प्रज्ञा० । चतुर्विंशतिधान्यान्तर्गत धान्यभेदे, प्रव० १५६ द्वा० । इक्षुयष्टिका सम्भाव्यत इति । धर्म० १ अधि० "उच्छु जवसालिकालिया इति " औप० " इक्षुग्रहणाग्रहणे यथा– "से भिक्खु वा भिक्खुणी वा अभिकंखेज्जा उच्छुवणं उवागच्छित्तए जे तत्थ ईसरे जाव उग्गहंसि अह भिक्खू इच्छेज्जा उच्छुं भोत्तए वा पायए वा सेज्जं उच्छू जाणेज्जा स अंडं जाव णो पडिगाहेज्जा अतिरिच्छच्छिण्णं तहेव तिरिच्छच्छिण्णं तहेव से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण अभिकंखेज्जा अंतरुच्छुयं वा उच्छुगंडियं वा उच्छुचोयगं वा उच्छुसालगं वा उच्छुडालगं वा भोत्तए वा पायए वा सेज्जं पुण जाणेज्जा अंतरुच्छुयं वा जाव डालगं वा स अंडं जाव णो पडिगाहेज्जा से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण जाणेज्जा अंतरुच्छुयं वा जाव डालगं वा अप्पंडं जाव पडिगाहेज्जा अतिरिच्छच्छिण्णं तहेव पडिगाहेज्जा । इक्षुसूत्रत्रयमप्याम्रवन्नेयमिति नवरं अंतरुच्छूयंति पर्वमध्यमिति आचा० २ श्रु० १ अ० ८ उ० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जे भिक्खू वा जाव समाणे सेज्जं पुण जाणेज्जा उच्छुं वा काणं अंगारियं संमिस्सं विगदूसितं वा वेत्तगंवा कंदलिउसइजसुयगं वा अच्छुयरं वा तहप्पगारं आमं असत्थपरिणयं जाव । आचा० २ श्रु० १ अ० ८ उ० ।

सचित्ताचित्तेक्षुभक्षणाभक्षणे प्रायश्चित्तम् यथा—

जे भिक्खू वा सचित्तं उच्छुं भुंजइ भुंजतं वा साइज्जइ ।४। जे भिक्खू सचित्तं उच्छुं विडंसइ विडंसंतं वा साइज्जइ ।५। जे भिक्खू सचित्तं उच्छुं वा, उच्छुपेसियं वा, उच्छुभित्तिं वा, उच्छुसालगं वा, उच्छुडालगंवा उच्छु चोयगंवा विडंसइ विडंसंतं वा साइज्जइ ।६। जे भि० सचित्तं उच्छुं वा उच्छुपे० वा उच्छुभित्तिंवा उच्छु चोयगवा विडंसइ०७जे भिक्खू सचित्तं पइट्ठियं उच्छुंभुंजइ भुंजंतंवा साइज्जइ ।८। जेभिक्खू सचित्तं पइट्ठियं उच्छुं विडंसइ विडंसंतं वा साइज्जइ ।९। जे भिक्खू सचित्तं पइट्ठियं उच्छुंवा उच्छुपेसियं वा उच्छुभित्तिं वा उच्छुसालगं वा उच्छुडालगं वा उच्छुचोयगं वा भुंजइ भुंजंतं वा साइज्जइ । १० । जे भिक्खू सचित्तं पइट्ठियं उच्छुं वा उच्छुपेसियं वा उच्छुभित्तिं वा उच्छुसालगंवा उच्छुचोयगं वा विडंसइ विडंसंतं वा साइज्जइ । ११ ।

असे दो सचित्तपइट्ठिते सुत्ता ।

भुंजंति जे भिक्खू तो भिन्ना पुण विडंसति णायव्वा जीवजुअं सचित्तं अचित्तं सवेयणपतिट्ठं ।

एतेसिं चेव चउण्हं सुत्ताणं इमो अतिदेसो ।

सचित्तं च फलेहिं, पणरसे जोग मो समक्खातो ।
सो चेव णिक्खमेसो, सोलसमे होति उक्खंमि ।३१८।

कक्खा अणादियाय देसा चउण्हं पच्छित्तं इमे तत्थ विभागसुत्ता जे भिक्खू सचित्तं अंतरुच्छुगं वा भुंजति इत्यादि जे सचित्तं अंतरुच्छुगं वा विडंसइ इत्यादि असे सचित्तपइट्ठिते दो सुत्तं ।

पव्वसहितं तु खंडं, तस्स वि य अंतरुच्छुयं होइ ।
डगमल्लवक्कलच्छेदो, मा य पुण अल्लिपाल्लिपरिहीणं । ३१९।

पर्व उभयो पव्वदेससहितं खंडं पुव्वं उभयो पेरुरहियं अंतरुच्छियं चक्कलिच्छेदछिण्णं डगलं भण्णति सोयं अब्भंतरोगिरा ।

चोयं तु होइ हीरो, सगले पुण तस्स बाहिरा छल्ली ।
कोणं पुण मक्कं मा, इतरजुतं तप्पइट्ठं तु । ३२० ।

वंसहीरसंठितो चोपयं भण्णति सालगं वा हरिच्छल्ली भण्णति पुण काणियं अंगारइयं वा वुत्तयं सियालादीहिं वा खइयं उवरि सुक्कं इयरंति सचित्तस्सं अहो सचित्तत्तंमि सचित्तविभागे पतिट्ठियं भण्णति । नि० चू० १६ उ० ।

(गोचरचर्य्यायां सचित्तेक्षुग्रहणाग्रहणे-गोयरचरिय-शब्दे)

इक्खु (उच्छु) करण-इक्षुकरण-न० क्षेत्रकरणभेदे, तच्च लाङ्गलादिना संस्कारस्तेति । सूत्र० १ श्रु० १ अ० । इक्षवः क्रियन्ते यत्र तदिक्षुकरणम् । इक्षुवाटे, बृ० १ उ० ।

इक्खु (उच्छु) खंड-इक्षुखण्ड-न० पर्वसहितेक्षुच्छेदे, । नि० चू० १६ उ० । इक्षुखण्डं चापरिणतं तद्धि पर्वतो यद्वर्त्तते तद्गण्डिकेतिभिरि । दश० ३ अ० ।

इक्खु (उच्छु) गंडिया-इक्षुगण्डिका-स्त्री० सपर्वेक्षुशकले, । आचा० १ श्रु० १ अ० १० उ० ।

इक्खु (उच्छु) घर-इक्षुगृह-न० दशपुरनगरस्थे उद्याने, यत्रार्यरक्षितस्तोशलिपुत्राद्याचार्य्याद्दीक्षां जग्राहेति । विशे० । आ० म० । आ० चू० ।

इक्खु (उच्छु) चोयग-इक्षुचोदक-न० पीलितेक्षुक्षोदिकायाम्, । आचा० १ श्रु० १ अ० १० उ० ।

इक्खु (उच्छु) जंत-इक्षुयंत्र-न० इक्षोर्निष्पीडनं यन्त्रं शा०त० । इक्षुनिष्पीडके यन्त्रे, वाच० ।

इक्खु (उच्छु) डालग-इक्षुडालक-न०इक्षुशाखैकदेशे, आचा० १ श्रु० १ अ० १० उ० । अवल्कले इक्षुच्छेदे च । डालगम् वक्किलच्छेदो इति । नि० चू० १ उ० ।

इक्खु (उच्छु) पेसिया-इक्षुपेशिका- स्त्री० इक्षुगण्डिकायाम् नि० चू० १६ उ० ।

इक्खु (उच्छु) भित्ति-इक्षुभित्ति-स्त्री० इक्षुखण्डे, नि० चू० १६।

इक्खु (उच्छु) मेरग-इक्षुमेरक-न०अपनीतत्वचीक्षुगण्डिकायाम्, आचा० १ श्रु० १ अ० १० उ० ।

इक्खु (उच्छु) लट्ठि-इक्षुयष्टि- स्त्री०इक्षुदण्डे, आ० चू० ४ अ० । आ० म० प्र० । प्रा० व्या० ।

इक्खु (उच्छु) वण-इक्षुवन-न- इक्षोः पर्व (ग) कवनस्पतिविशेषस्य वने, आचा० १ श्रु० १ अ० १० उ० ।

इखु (उच्छु) वाड-इक्षुवाट- पु०इक्षोः पर्वगवनस्पतिविशेषस्य वाटे, " सुचिरं पियत्थमाणो नलथंभो उच्छुवाडमज्झंमि " आव० ३ अ० ।

इखु (उच्छु) वाडिया-इक्षुवाटिका- स्त्री० पर्वगवनस्पतिकायभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

इक्खु (उच्छु) सालग-इक्षुसालक-न०इक्षोर्दीर्घशाखायाम्, । आचा० १ श्रु० १ अ० १० उ० । बाह्यत्वचि च " सालगं पुण तस्स बाहिरा छल्ली " नि० चू० १६ उ० ।

इखा-इत्था-अ०ज्ञात्वेत्यर्थे, आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

इखेवं-इत्येवम्- अ०पूर्वप्रकान्तपरामर्शे, " इच्चेवं पडिलेहंति " सू० १ श्रु० ३ अ० । "इच्चेवमाहु से वीरे" सूत्र० १श्रु० ४ अ० ।

इच्छ-इष्-धा० वाञ्छायाम्, तुदा० पर० सेट् वेट् कः "गमिष्यमासां छः" इति प्राकृतसूत्रेण छकारः इच्छइ-इच्छति । प्रा० व्या० ८ अध्या० ४ पाद । "इच्छामि खमासमणो वंदिउं" इषु इच्छायामित्यस्योत्तमपुरुषैकवचनम् । आव० ३ अ० । अनु+ अन्वेषणे, प्रति×प्रतिग्रहे, प्राप्तौ च । परि× अन्वेषणे च । अभि+ सम्यगिच्छायाम्, । वाच० ॥

इच्छंकाण-इच्छाध्यान-न०इच्छा संज्ञाप्यमानज्ञानस्यार्थस्याभिलाषातिरेकस्तस्या ध्यानमिच्छाध्यानम् । छिमाषार्थिनः कोटिसुवर्णलाभेऽपि प्रवर्द्धमानलोभस्य कपिलस्येव सम्भाव्यमानलाभार्थाभिलाषातिरेकध्याने, । आतुर० ॥

इच्छंत-इच्छत्-त्रि० वाञ्छति, "इच्छंतो हियमप्पणो" उत्त० १ अ० ।

इच्छक्का (च्छाका) र-इच्छाकार-पु०पयणमिच्छा स्वाभिप्राय स्तया करणं तत्कार्येनिर्वर्त्तनमिच्छाकारः । गच्छा० २ अधि० । विवक्षितक्रियाप्रवृत्त्यभ्युपगमः । अनु० । इच्छया बलाभियोगमन्तरेण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कारः इच्छाकारः इच्छाक्रियेत्यर्थ इति । स्था० १० ठा० । प्रव० । आ० म० प्र० । इच्छायाः करणमिच्छाकार इति । बृ० १ उ० । स्वकीयाभिप्राये, । "इच्छाकारेण संदिसह भगवन् देवसिअं आलोएमि" इच्छाकारेण निजेच्छयेति । आत्मीयेच्छयेति । स्वकीयाभिप्रायेण न पुनर्बलाभियोगेनेति च । ध० २ अधि० । तदात्मके षष्ठे सामाचारीभेदे च । इच्छाकारो अ छट्ठओ इति । उत्त० २६ अ० । इच्छाकारेण ममेदं कुरु इच्छाप्रधानया क्रियया न बलाभियोगपूर्विकयेति । स्था० १० ठा० । इच्छाकारेण ममेदं कुरु तत्र चाहं करोमीति निर्देशोऽभ्युपगमो वा इच्छाकार इति । ध० ३ अधि० । प्रव० । आ० म० प्र० । बृ० । "इच्छाकारो य सारणे" इति । उत्त० २६ अ० । सारणे इति औचित्येनात्मनः परस्य वा कृत्यंप्रतिप्रवर्तने । तत्रात्मसारेण यथेच्छाकारेण युष्मच्चिकीर्षितं कार्यमिदमहं करोमीति । अन्यसारेण च मम पात्रलेपनादि इच्छाकारेण कुरुतेति ग० २ अधि० । अस्य च प्रयोगः स्वार्थम्परार्थं वा चिकीर्षन् यद्वा परमभ्यर्थयते इति । स्था० १० ठा० "इच्छाकारपओगो णाम जं इच्छया करणं तं बलाभियोगादिणा अब्भयस्स अत्थस्स संपयत्थं इच्छकारसद्दं पउज्जंति । आ० चू० २ अ० । उत्सर्गतः साधूनां सति सामर्थ्ये कार्यार्थपरो नाभ्यर्थयितव्यः अनिगूहितबलवीर्येण भाव्यं तत्कार्यस्य असामर्थ्ये अप्रावीण्ये वा रत्नाधिकं विहायान्येषामभ्यर्थनाविषयमिच्छाकारं करोति । यदि वा नाभ्यर्थितोऽपि कोऽप्यन्यस्तत्प्रयोजनकरणशक्तो निर्जरार्थी साधुः कंचन साधुं चिकीर्षितकार्यं विनाशयन्तं गुरुतरकार्यकरणासमर्थमविनाशयन्तमभ्यभ्यर्थयन्तं वाभिलषितकार्यकरणायान्यतरं साधुं दृष्ट्वा तत्कार्यं कर्तुकामस्तत्रापि इच्छाकारं प्रयुञ्जीत । इच्छाकारेण युष्मदीयमिदं कार्यं करोमीति युष्माकमिच्छाक्रियया करोमि न बलादित्यर्थः । ध० ३ अधि० ।

तत्रेच्छाकारो येष्वर्थेषु क्रियते तत्प्रदर्शनार्थमाह ।

जइ अब्भत्थेज्ज परं, कारणजाते करेज्ज से को वि ।
तत्थ वि इच्छाकारो, न कप्पइ बलाभिओगो उ ॥

यदि इत्यभ्युपगमे अन्यथा साधूनामकारणे अभ्यर्थना नैव कल्पते । ततश्च यदि अभ्यर्थयेत् परमन्यं साधुं ग्लानादौ कारणजाते समुत्पन्ने सति ततस्तेनाभ्यर्थयमानेन इच्छाकारः प्रयोक्तव्यः । यदि वा अनभ्यर्थितोऽपि कोऽप्यन्यः साधुः (से) तस्य कर्तुकामस्य कस्यचित् साधोः कारणजातं कुर्यात् । तत्रापि तेनानभ्यर्थितेन साधुना तस्य चिकीर्षितं कर्तुकामेन इच्छाकारः प्रयोक्तव्यः । इह विरलाः केचिदनभ्यर्थिता एव परकार्यकर्तार इति कोपातिग्रहणम् । अथ कस्मादिच्छाकारप्रयोगः क्रियते । उच्यते-बलाभियोगो मा भूदिति हेतोस्तथा चाह अतो न कल्पते बलाभियोगः साधूनाम् तत इच्छाकारप्रयोगः कर्तव्यः । तु शब्दः कश्चिद्बलाभियोगो मा भूदिति कल्पते इति सूचनार्थः ।

उक्तगाथावयवार्थप्रतिपादनार्थमाह ।

अब्भुवगमंमि निज्जइ, अब्भत्थेउं न वट्टइ परो उ ।
अणिगूहियबलविरिएण, साहुणा ताव होयव्वं ॥

यदि अभ्यर्थयेत्परमित्यस्मिन् यदि शब्दप्रदर्शिते अभ्युपगमे सति ज्ञायते किमित्याह । अभ्यर्थयितुं न वर्तते न युज्यते परः । किमित्यत आह-न निगूहिते बलवीर्ये येनासावनिगूहितबलवीर्यस्तेन । बलं शारीरं, वीर्यं मानसशक्तिविशेषः तावच्छब्दः प्रस्तुतार्थप्रदर्शकः । एवमनिगूहितबलवीर्येण तावत्साधुना भवितव्यम् । पाठान्तरं वा "अणिगूहियबलवीरिएण जेण साहुणा होयव्वं" अस्यायमर्थो येन कारणेन अनिगूहितबलवीर्येण साधुना भवितव्यमिति युक्तिः अतोऽभ्यर्थयितुं न युज्यते पर इति आहेत्थं तर्ह्यभ्यर्थनाविषयेच्छाकारोपन्यासोऽनर्थकः । उच्यते —

जइ होज्ज तस्स अनलो, कज्जस्स वियाणइ न तं वाणं ।
गिलाणाइ विहिपहोज्जा, वावडो कारणेहिं सो ॥

यदि भवेत्तस्य प्रस्तुतस्य कार्यस्यानलो समर्थः यदि वा न विजानाति तत्कार्यं कर्तुं वाणमिति निपातः पादपूरणार्थः ग्लानादिर्वा भवेत् व्यापृतः कारणैरसौ तदा संजातद्वितीयपदाभ्यर्थनागोचरमिच्छाकारं रत्नाधिकं विहायान्येषां करोति तथा चाह

रत्ताणि य वज्जेत्ता, इच्छाकारं करेइ सेसाणं ।
एयं मज्झं कज्जं, तुब्भेह करेह इच्छाए ॥

रत्नानि द्विविधानि द्रव्यरत्नानि भावरत्नानि च । तत्र मरकतवज्रेन्द्रनीलवैडूर्यादीनि द्रव्यरत्नानि सुत्रमधिकृत्य तेषामनैकान्तिकत्वादनात्यन्तिकत्वाच्च । भावरत्नानि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि सुखनिबन्धनतामङ्गीकृत्य तेषामैकान्तिकत्वात् आत्यन्तिकत्वाच्च भावरत्नमधिको रत्नाधिकस्तं वर्जयित्वा इच्छाकारं करोति । शेषाणां कथमित्याह । एतन्मम कार्यं वस्त्रसीवनिकादिरूपं कुरुत इच्छया न बलाभियोगेनेति । तत्र यदुक्तम् । (जइ अब्भत्थेज्ज परं कारण जाते इति) तत्र प्रथमगाथया यदीत्यस्य भावार्थ उपदर्शितः । द्वितीयगाथया कारणजातानि कथितानि । अनया तु पूर्वार्द्धेनाभ्यर्थनाविषयो दर्शितः । उत्तरार्द्धेन त्वभ्यर्थनायाः स्वरूपम् । संप्रति "करेज्जवासे कोई" इति अस्य गाथावयवस्यावयवार्थः प्रतिपादनीयस्तत्रान्यकरणसंभवकारप्रतिपादनायाह ॥

अहवा वि विणासंतं, अब्भत्थं तं च अण्णदट्ठूणं ।
अन्नो कोइ भणिज्जा, तं साहुनिज्जरट्ठाए ॥

अथवेति "जइ अब्भत्थेज्ज परं कारणजाए" इत्यपेक्षया प्रकाशे ततो द्योतनार्थं विनाशयन्तं चिकीर्षितं कार्यमपिशब्दात्सोऽन्यस्मिन् गुरुतरे कार्ये समर्थस्ततो यदि स तत्र व्यापृतो भवति तर्हि तेन गुरुतरप्रयोजनं सीदतीति परिभाव्य विनाशयन्तमपि, यदि वा स्वयमसमर्थतया अभिलषितकार्यकरणाय साधुमन्यमभ्यर्थयन्तं दृष्ट्वा निर्जरार्थी कोऽप्यन्यः साधुः साधुं भणेत् । किं भणेदित्याह—

अहं यं तुज्झमेयं, करेमि कज्जं तु इच्छकारेण ।
तत्थ वि से इच्छइ से, करेइ मज्जायमूलीयं ॥

अहमित्यात्मनिर्देशो युष्माकमेतत् कर्तुमभीष्टं कार्यं करोमि इच्छाकारेण युष्माकमिच्छाक्रियया न बलादित्यर्थः तत्रापि स कारापकः साधुः इच्छति इच्छाकारं (से) तस्य स्वयमिच्छाकारेण कर्तुमभ्युद्यतस्य करोति नन्वसौ तेनेच्छाकारेण याचितस्ततः किमर्थमिच्छाकारं करोतीत्यत आह-मर्यादामूलीयम् । मर्यादा साधूनां व्यवस्था तस्या मूलं मर्यादामूलं तत्र भवो मर्यादामूलीय इच्छाकारस्तं निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां विभक्तीनां प्रायो दर्शनमिति हेतौ द्वितीया । ततोऽयमर्थः मर्यादामूलभूत इच्छाकारस्तथाहि-साधूनामियं मर्यादा न किंचिदपस्यापि व्यतिरेकेण कश्चित्कारयितव्यः । तदेवं व्याख्यातोऽधिकृतो गाथावयवः ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संप्रति तत्थवि इच्छाकार इत्यत्र योऽपिशब्दस्तस्य विषयं प्रदर्शयति—

अहवा सयं करेंतं, किं वा अन्नस्स वा वि दट्ठूणं ।
तस्स वि करेइ इत्थं, मज्झं पि इमं करेहेत्ति ॥

अथवा स्वकमात्मीयं पात्रलेपनादि किं कुर्वन्तं अन्यस्य वा किंचित् कुर्वन्तं दृष्ट्वा तस्यापि आस्तां प्रागुक्तस्येत्यपि शब्दार्थः आपन्नप्रयोजनः सन् इच्छाकारं कुर्यात्—कथमित्याह-ममापीदं पात्रलेपनादि इच्छाकारेण कुरुतेति ॥

इदानीमभ्यर्थितसाधुविषयं विधिं प्रदर्शयति॥

तत्थ वि सो इच्छं से, करेइ दीवेइ कारणं वा वि ।
इहरो अणुग्गहत्थं, कायव्वं साहुणा किच्चं ॥

तत्रापि एवमभ्यर्थनेऽपि साधोरभ्यर्थितसाधुरिच्छाकारं करोति इच्छाम्यहं तव करोमि। अथ तेन गुर्वादिसत्कं कार्यान्तरं कर्तव्यं तर्हि दीपयति कारणं वापि इतरथा गुर्वादिकार्यकर्तव्याभावे सत्यनुग्रहार्थमवश्यं साधोः कृत्यं कर्तव्यमिति । अपिशब्दात् किमेच्छाकारविषयविशेषप्रदर्शनायैवाह—

अहवा नाणाईणं, अट्ठाए जइ करेज्ज किच्चाणं ॥
वेयावच्चं किंची, तत्थवि तेसिं भवे इच्छा ॥ १ ॥

अथवा ज्ञानादीनामादिशब्दाद्दर्शनचारित्रपरिग्रहः ! अर्थाय यदि कुर्यात् कृत्यानामाचार्यादीनां वैयावृत्त्यं कश्चित्साधुः पाठान्तरं च किंचीति किंचिदपि श्रावणादि तत्रापि तेषां कृत्यानां—तं साधुं वैयावृत्त्ये नियोजयतां भाव इच्छाति भवेदिच्छाकार इच्छाकारपुरस्सरं योजनीय इत्यर्थः किमित्यत आह यस्मात्—

आणा बलाभियोगो, निग्गंथाणं न कप्पए काउं ।
इच्छा पउंजियव्वा, सेहए रयणिए तह ॥

आज्ञापि ममाज्ञा भवतेदं कार्यमेवंरूपा तथा विवक्षितं कार्यमाज्ञापितस्याप्यकुर्वतो बलात्कारेण नियोजनं बलाभियोग एतौ द्वावपि निर्ग्रन्थानां न कल्पते कर्तुं किन्तु इच्छेति इच्छाकारः प्रयोक्तव्यः प्रयोजनेऽनुत्पन्ने सति शैक्षके तथा रत्नाधिके च आज्ञापादिप्रक्रमेण आद्यन्तग्रहणान्मध्यस्यापि ग्रहणमिति व्याख्यायान्येषु च एषु तावत्स उक्तः । अपवादतस्त्वाज्ञाबलाभियोगावपि दुर्विनीते प्रयोक्तव्यौ तेन चेहोत्सर्गतः संवास एव न कल्पते बहुजनादिकारणप्रतिबद्धतया त्वपरित्याज्यः अयं विधिः प्रथममिच्छाकारेण योज्यते कुर्वन्नाज्ञया पुन र्बलाभियोगेनेति आह च ॥

जह जच्चवाहलाणं, आसाणं जणवएसु जायाणं ।
सयमेव खलिणगहणं, अहवावी बलाभियोगेणं ॥
पुरिसज्जाए वि तहा, विणीय विणयंमि नत्थि अभियोगे।
सेसंमि उ अभिओगो, जणवयजाए जहा आसो ॥

यथा जात्यवाह्लिकानामश्वानां जनपदेषु मगधादिषु जातानां च शब्दलोपोऽत्र दृष्टव्यः स्वयमेव खलीनग्रहणं भवति । अथवाऽपि बलाभियोगेन खलीनं कविकं किमुक्तं भवति । यथा जात्यवाह्लीकानामश्वानां स्वयमेव खलीनग्रहणं भवति जनपदजातानां च बलाभियोगेन एवं पुरुषजातेऽपि जातशब्दः प्रकारवचनः पुरुष प्रकारेऽपि कथंभूते इत्याह (विणीय विणय इति) विविधप्रकारं नीतः प्रापितो विनयो येन स विनीतविनयस्तस्मिन्नाभियोगः स्वयमेव विनये प्रवर्तनात् खलीनग्रहणं जात्यवाह्लीकस्येवातः (सेसंमि उ अभियोगोत्ति) शेषे विनयरहिते अभियोगो बलाभियोगः प्रवर्तते कथानकाजनपदजाते यथा चैव गाथाद्वयसमुदायार्थः । अवयवार्थस्तु दत्तसयस्तश्चेदं । " वाहलविसए एगो आसकिसोरो सो दमिज्जिउकामो वेयालियवेलाए अहियासकाणि ए माए ! अत्थेऊण वाहियालिए नीओ खलिणं से ढोइयं सयमेव तेणगहियं विणीय इत्ति राया सयमेवारूढो मोयहियइच्छियं वूढो रन्ना उयरिऊण आहारअयणादिणा सम्मं पडियारेउ पइदियहं च मुक्कत्तणं तो एवं वहति न तस्स बलाभिओगो पवत्तइ । अवरो पुण मगहादिजणवयजाओ आसो सो दमिज्जिउकामो वियालवेलाए हिओ वासित्तो मायरं पुच्छत्ति किमेयंति ताए भणियं पुत्त ! विणयगुणफलं ते एयं कल्लं पुण मा खलीणं पडिच्छिहसि मा वा वहिहिसि तेण तहेव कयं रन्ना चिरं कोरकरेण पिट्टितो बलाविकवियं दारुण वाहिओ पुणा जवसंसे निरुद्धे तेण माऊए कहिए सा भणइ पुत्त ! तुब्भे दिट्ठियफलमिणं तं दिट्ठो भयमग्गो जो मग्गो ते रुच्चइ तं करेहिसि एस दिट्ठंतो अयमुवणतो जो सयं न करेइ वेयावच्चादि तत्थ बलाभिओगो विपयट्ठा विज्जइ जणवयजाए जहा आसो इति " तस्माद्बलाभियोगमन्तरेणैव मोक्षार्थिना स्वयमेव प्रत्युतेच्छाकारं दत्वा अनभ्यर्थितेनैव वैयावृत्त्यादिकर्तव्यम् । तथापि अनभ्यर्थितस्य स्वयमिच्छाकारकरणं न युक्तमित्याशङ्क्याह—

अब्भत्थणाए मरुओ, वानरओ चेव होइ दिट्ठंतो ।
गुरुकरणे सयमेव य, वाणियगा दोन्नि दिट्ठंता ॥

अभ्यर्थनायां मरुको दृष्टान्तः पुनः शिष्यनोदनायां वानरकश्चैव भवति दृष्टान्तः गुरुकरणे स्वयमेव तु द्वौ वणिजौ दृष्टान्तः एष गाथा समासार्थो व्यासार्थः कथानकेभ्योऽवसातव्यस्तानि चामूनि " एगस्स साहुस्स लद्धी अत्थि सो न करेइ वेयावच्चं बालवुड्ढाणं आयरिएण चोइओ भणइ को मं अब्भत्थेइ आयरिएण भणितो तुमं अब्भत्थणं मग्गंतो चुक्किहिसि जहा सो मरुगो नाणमयमत्तो कत्तियपुन्निमाए नरिंदजणवएसु दाणं देउमब्भुट्ठिएसु न तत्थ वच्चई भज्जाए भणितो जाहे सो भणइ एगं ताव सुद्दाणं परिग्गहं करेमि बियं घरं तेसिं गच्छामि जस्स आसत्तमस्स कुलस्स कज्जं सो मम अणेत्ता देइ एवं सो जाव जीवाए दरिद्दो जातो एवं तुमं पि अत्थणं मग्गमाणो चुक्किहिसि निघए एतेसिं बालवुड्ढाणं झाणे चेव अहं अप्पणो वेयावच्चं करेमि अन्ने अब्भियवरंतगा तुज्झ चिए सअट्ठि एवं चेव विराहिति ततो सो एवं भणिओ एवं सुंदरं जाणंता अप्पणा कीस न करेह । आयरिया भणंति सरिसो तुमं तस्स वानरस्स जहा एगो वानरो रुक्खे अत्थइ वासासु सीतवातेहिं झज्जितो ताहे सुघराए सउणिगाए भणिओ वानर! पुरिसोसि तुमं निच्छयं वहसि बाहुदंडाइं जो पायवस्स सिहरेणं करेसि कुडिपमाहिं वासो एवं विभणिओ तुण्हि को अत्थइ ताहे सो दोच्चंपि तच्चंपि भणइ ततो सो रुट्ठो तं रुक्खं दुरिहिउ माढत्तो सा नट्ठा तेण तीसे तं घरं सुन्नं विक्खिन्नं भणइ न विसिसमं महत्तरिआ न विसिसमं सोहि वावणिट्ठा वा सुघरे अत्थसु विघरा जा नच्चासि लोग तित्तिसु सुइं इदाणिं अत्थ एवं तुमं पि ममं चेव उवरिएण जाओ किन्न मम अन्नं पि निजदारं अत्थि तेण ममं बहुतारियाणि घरा तं लाहं चुक्किहामि जहा सो वाणियगो दो वाणि जाव ववहरंति एगो पढमपाउसो मज्झं दायव्वं होहितित्ति सयमेव पासादपुप्फिमा

ए घरं पुच्छा इतो वीराणं अद्धं वा तिभागं वा दाऊण वा विसस्सयं ववहरइ तेण तद्दिवसं विकुणो लाहलद्धो इयरो चुक्को एवं तो अचिंतणेण सुत्तत्था नासंति ते ह्रियते नट्ठेहिं गच्छसारवणा भावेण गच्छस्स अपरिमियप्पणो बहुतरं मे नासइ इति तथा चाह * सुत्तत्थेसु अचिंतण, आदेसे वुड्ढसेहगेलन्ने । बाले खमगे वाइ, इड्ढीमाई अणिड्ढिया १ एएहिं कारणेहिं–तु बज्झूतो उ होइ आयरिओ । वेयावच्चे करणं, कायव्वं तस्स सेसेहिं २ जेण कुलं आयत्तं, तं पुरिसं आयरेण रक्खेज्जा । नहि तुंबंमि विणट्ठे, अरया साहरया होंति ३ * आदेशो प्राघूर्णके वृद्धे शैक्षके ग्लाने तथा बाले लघुवयसि क्षपके च यद्याचार्यः स्वयं वैयावृत्त्यं करोति तर्हि सूत्रार्थयोरचिन्तनं भवति तथा वादिनि आगते ऋद्धिमति च नगरश्रेष्ठ्यादौ आदिशब्दाद्राजादिपरिग्रहः । आचार्ये वैयावृत्त्याय पानकादिगते प्रवचनलाघवं भवति अनर्द्धिका एते अनीश्वरप्रव्राजिता एते इत्यर्थः । तत एतैः कारणैराचार्यः शेषसाधूनामरकप्रायाणां तुम्बभूतो भवति ततो वैयावृत्त्यविषये यत् करणं करणीयं तत्तस्य शेषैः कर्त्तव्यं न पुनः स स्वविषये परविषये वा वैयावृत्त्ये प्रवर्तमान उपेक्षणीय एतदेवाह (जेणेत्यादि) येन पुरुषेण कुलमायत्तं तं पुरुषमादरेण रक्षेत् यतो नहु नैव तुम्बे विनष्टे अरकाः साधारकाः साधारा भवन्ति आह इच्छाकारेणाहं तत्र प्रथमालिकादिकमानयामीत्याद्यभिधाय यदा लब्ध्याभावान्न संपादयति तदा निर्जरालाभविकलस्तस्येच्छाकारस्ततः किं तेनेत्याशङ्क्याह * वेयावच्चे अब्भु–ट्ठियस्स सद्धाए काउकामस्स । लाभो चेव तवस्सिस्स होइ अद्दीणमणसस्स * वैयावृत्त्ये संयमव्यापारे अभ्युत्थितस्य, तथा श्रद्धया प्रसन्नेन मनसा इह लोकपरलोकाशंसाविप्रमुक्तेन कर्तुकामस्य (लाभो चेव तवस्सिस्सत्ति) प्रकारेणाऽपि निर्जराया लाभ एव तपस्विने भवति अलब्ध्यादौ अदीनं मनो यस्यासावदीनमनास्तस्यादीनमनसः ॥ आ० म० द्वि० । पंचा० । आ० चू० ।

इच्छमाण–इच्छत्–त्रि० अभिलष्यति, पंचा० ५ विव० ॥

इच्छा–इच्छा–स्त्री० एषणमिच्छा—इषु इच्छायाम् । इष–भावे श प्रत्ययः स्था० १० ठा० । आ० म० प्र० । मायाकषायभेदे, सम० ५२ स० । अभिलाषे, प्रश्न ५ द्वा० । पंचा० । आव० । सूत्र० । दश० । स्था० । वृ० । " इच्छामि खमि (इउं) का उस्सग्गं " इषु इच्छायामित्यस्योत्तमपुरुषैकवचनस्य " इषुगमयमां छ "इति छत्वे इच्छामीति भवति इच्छाम्यभिलषामि स्थातुमिति । आव० ५ अ० । सन्नाव्यमानलाभस्यार्थस्याभिलाषातिरेके, आतु० । आगतानागतान्यतरार्थप्रार्थनायाम् , ध० ३ अधि० । अभिप्राये, नं० । ग० । विशे० । चेतःप्रवृत्तौ, आचा० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । अभ्युपगमे, ध० २ अधि० प्रीतौ, द्वा० २० द्वा० । प्रीतिसाधकभावाभिलाषे, अष्ट० २७ । स्पृहायाम, अष्ट० ११ । परिग्राह्यवस्तुविषयकवाञ्छाकरणे, संथा० । पंचा० । अन्तःकरणप्रवृत्तौ, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । इन्द्रियमनोनुकूलायाम्प्रवृत्तौ, आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । विवक्षितक्रियाप्रवृत्त्यभ्युपगमे, अनु० ॥

एतस्य निक्षेपो यथा—

नामं ठवणा दविए, खित्ते काले तहेव भावे अ ।
एसो खलु इच्छाए, निक्खेवो छव्विहो होइ ॥ १ ॥

नामस्थापने गतार्थे द्रव्येच्छा सचित्तादिद्रव्याभिलाषः । अनुपयुक्तस्य वेच्छामीत्येवं भणतः क्षेत्रेच्छा मगधादिक्षेत्राभिलाषः । कालेच्छा रजन्यादिकालाभिलाषः " रयणिमहिसारियाउ, चोरा परदारिया य इच्छंति । तालायरा सुभिक्खं, बहुधन्ना केइ दुब्भिक्खं " भावेच्छा प्रशस्तेतरभेदा प्रशस्तज्ञानाद्यभिलाषः । आव० ३ अ० । आ० चू० ॥

विस्तरेणेच्छानिक्षेपमाह ॥

जाइं इच्छइ अत्थं, नामादि तस्स सा हवई इच्छा ।
नामंमि जं तु नामं, इच्छसि नामं व जं जस्स ॥ २ ॥

यो नाम यमर्थं नामादिलक्षणमिच्छति तस्य सा भवति इच्छा यो नामेच्छसि तस्य नामेच्छा । स्थापनामिच्छतः स्थापनेच्छा । एवं द्रव्येच्छादिकमपि भावनीयम् । इच्छायाश्च निक्षेपः षोढा । तद्यथा—नामेच्छा स्थापनेच्छा द्रव्येच्छा क्षेत्रेच्छा कालेच्छा भावेच्छा । तत्र नामेच्छामभिधित्सुराह–नाममित्यादिना तु नामविषया इच्छा इयं नाम देवदत्तादिकस्य नाम इच्छा नामेच्छेति भावः । अथवा यस्येति नाम स नामनामवतोरभेदोपचारात् नाम चासौ इच्छा च नामेच्छा ।

स्थापनेच्छामाह ।

एमेव होइ ठवणा, निक्खिप्पइ इच्छ एव जं ठवणं ।
सो मित्ताई जह सं–भवतु दव्वादिसुं भणसु ॥ ३ ॥

एवमेवानेनैव नामगतेन प्रकारेण भवति स्थापनेच्छा अतिदेशोक्तमेव यदिच्छेति निक्षिप्यते सा स्थापना चासाविच्छा च स्थापनेच्छेति व्युत्पत्तेः । अथवा यतः स्थापनामिच्छति सा स्थापनेच्छा स्थापनीया इच्छा स्थापनेच्छेति व्युत्पत्तेः । द्रव्येच्छा द्विधा आगमतो नोआगमतश्च । तत्र आगमत इच्छा पदार्थज्ञाता तत्र चानुपयुक्तो नोआगमतस्त्रिधा—ज्ञशरीरभव्यशरीरे प्राग्वत् तद्व्यतिरिक्ता च यद्द्रव्यमिति सा च त्रिधा सचित्तद्रव्येच्छा अचित्तद्रव्येच्छा मिश्रद्रव्येच्छा । तत्र सचित्तद्रव्येच्छा त्रिधा-द्विपदचतुष्पदापदभेदात् । तत्र द्विपदा सचित्तद्रव्येच्छा यत् स्त्रियमिच्छति पुरुषमिच्छति इत्येवमादि । चतुष्पदसचित्तद्रव्येच्छा यदश्वमिच्छति गावमिच्छतीति । अपदसचित्तद्रव्येच्छा आम्रस्येच्छा मातुलिङ्गस्येच्छेत्यादि । अचित्तद्रव्येच्छा सुवर्णद्रव्येच्छा हिरण्येच्छादि । मिश्रद्रव्येच्छा सुवर्णाद्यलंकारविभूषितस्य द्विपदादेरिच्छा । अथवा द्रव्यादिषु क्षेत्रकालेषु यथासंभवं स्वामित्वादि । स्वामित्वं त्वकरणाकरणानि भणतः स्वामित्वादिभिः प्रकारैः द्रव्यक्षेत्रकालेच्छा वक्तव्येति भावः । तत्र स्वामित्वेन द्रव्येच्छा यथा आत्मनः पुत्रमिच्छति इत्यादि करणेन यथा मद्याद्यभ्यवहृतेन तैरिच्छा कामेच्छा वा जायते इत्यादि । अधिकरणे यथा सुप्रतारितायां शय्यायां स्थितस्य कामेच्छा समुत्पद्यते क्षेत्रकालावचेतनौ ततो न तयोः स्वयं स्वामित्वेनेच्छा भवति ततः करणाधिकरणाभ्यां तत्र योजना तत्र क्षेत्रेण लब्धेन क्रीडनेच्छा वपनेच्छा जायते । अधिकरणेन यथा गृहे स्थितस्य भोगेच्छा कामेच्छा वा, सद्गुरुकुलवासे सम्यगनुष्ठानेच्छा वा समुपजायते इत्यादि । कालेकरणे यथा यौवनकालेन धनेच्छा कामेच्छा वा जायते इत्यादि । अधिकरणे यथा हेमन्ते रात्रौ शीतेन पीडितः सूर्योद्गमकालमिच्छति । भावत इच्छा द्विधा–आगमतो नोआगमतश्च तत्रागमतः इच्छेति पदार्थज्ञाता तत्र चोपयुक्त "उपयोगो भावनिक्षेप " इति वचनात् नो आगमत आह–

भावे पसत्थमपस–त्थिया य अपसत्थियं तु इच्छामो ।
इच्छामो य पसत्थं, नाणादीयं तिविहमित्थं ॥ ४ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आगमतो भावत इच्छा द्विधा प्रशस्ताऽप्रशस्ता च । मकारो लाक्षणिकः । तत्राऽज्ञानादिविषया इच्छा अप्रशस्ता, प्रशस्ता ज्ञानादिविषया । व्य० प्र० ३ उ० ।

इच्छाविनिवृत्तेः फलं यथा–

कंखिज्जइ जो अत्थो, संपत्तीए न तं सुहं तस्स ॥
इच्छाविणिवित्तीए, जं खलु बुच्छप्पवाओ अं ॥ ९६ ॥

कांक्ष्यतेऽभिलष्यते योऽर्थः आदिसंप्राप्त्या न तत्सुखं तस्यार्थस्य इच्छाविनिवृत्त्या यत्खलु सुखरूपावादोऽयमाप्तप्रवादोयमिति गाथार्थः ।

मुत्तीए वभिचारो, तत्तो जं सा जिणेहिँ पन्नत्ता ॥
इच्छा विणिवित्तीए, चेव फलं परिसं पत्तं ॥ ९७ ॥

मुक्त्या व्यभिचारस्तत्काङ्क्षणे तत्प्राप्त्यैव सुखभावादेतदाशङ्क्याह । तत्र यद्यस्मादसौ मुक्तिर्जिनैः प्रज्ञप्ता तीर्थकरैरुक्ता इच्छाविनिवृत्तेरेव फलं न पुनरीच्छापूर्वकमिति प्रकर्षप्राप्तसामायिकं संयतादेराराज्योत्कर्षेण निष्ठाप्राप्तमिति गाथार्थः । किञ्च–

जमिच्छाए जायइ, संपत्ती तं पकुव्विमं भणिअं ।
मुत्ती पुण तदभावे, जमणिच्छा केवली भणिया ॥ ९८ ॥

यस्यार्थस्येच्छया प्रवृत्तिनिमित्तभूतं यज्जायते संप्राप्तिस्तमर्थं विजयादिकं प्रतीत्येदं भणितं काङ्क्ष्यते इति । मुक्तिः पुनस्तदभावे इच्छाऽभावे जायते । कुत इत्याह-यद्यस्मादनिच्छाः केवलिनो भणिताः "अमनस्काः केवलिन" इति वचनादिति गाथार्थः । पं० व० १ द्वा० । पक्षस्य पञ्चदशसु रात्रिषु स्वनामख्यातायामेकादश्यां रात्रौ च । ज्यो० ४ पा० ॥ जं० ॥ चं० ।

ईप्सा–स्त्री० आप्तुमिच्छा आप्–सन्–अ । आप्तुमिच्छायाम्, इच्छायां च । वाच० ।

इच्छाकाम–इच्छाकाम–पु०-एषणमिच्छा सैव चित्ताभिलाषरूपत्वात्काम इच्छाकामः । इच्छारूपे कामे, " इच्छा पसत्थमपसत्थिगा य " । इच्छा प्रसस्ताऽप्रशस्ता च । अनुस्वारो ऽलाक्षणिकः सुखमुखोच्चारणार्थः । तत्र प्रशस्ता धर्मेच्छा मोक्षेच्छा । अप्रशस्ता युद्धेच्छा राज्येच्छा । व्यक्ता इच्छाकामा इति । दश० २ अ० ।

इच्छागहण–इच्छाग्रहण–न०अभिप्रायपरीक्षणे, बृ०१ उ० ।

इच्छाछंद–इच्छाछन्द–पु० यथाछन्दे, "घसो उ अहा छंदो इच्छाछंदुत्ति एगट्ठा" २८ इति । आव० ३ अ० ।

इच्छाजम–इच्छायम–पु० यमभेदे,–" इच्छायमो यमेष्विच्छा, युता तत्सत्कथामुदा"–इच्छेति तद्वता यमवता कथातो या मुत् प्रीतिस्तया युता सहिता यमेष्विच्छा इच्छायम उच्यते इति । द्वा० २० द्वा० ।

इच्छाजोग–इच्छायोग–पु० इच्छाप्रधानो योगो व्यापारः इच्छा योगः । योगभेदे, तल्लक्षणं यथा–

चिकीर्षोः श्रुतशास्त्रस्य, ज्ञानिनोऽपि प्रमादिनः ।
कालादिविकलो योग इच्छायोग उदाहृतः ॥ २ ॥

चिकीर्षोः तथाविधक्षयोपशमाभावे ऽपि निर्व्याजमेव कर्त्तुमिच्छोः श्रुतार्थस्य श्रुतागमस्य अर्थ्यते ऽनेन तत्त्वमिति कृत्वाऽर्थशब्दस्यागमवचनत्वात् । ज्ञानिनोऽपि अवगतानुष्ठेयतत्त्वार्थस्यापि प्रमादिनो विकथादिप्रमादवतः कालादिना विकलोऽसम्पूर्णो योगश्चैत्यवन्दनादिव्यापार इच्छायोग उदाहृतः प्रतिपादितः ।

प्रधानस्येच्छायोगत्वे तदङ्गस्यापि तथात्वमिति दर्शयन्नाह ।

साङ्गमप्येककं कर्म्म, प्रतिपन्ने प्रमादिनः ॥
न त्विच्छायोगत इति श्रवणादत्र मज्जति ॥ ३ ॥

साङ्गमपि अङ्गसाकल्येनाविकलमपि एककं स्वल्पं किञ्चित्कर्म प्रतिपन्ने बहुकालव्यापिनि प्रधाने कर्म्मण्यारब्धे प्रमादिनः प्रमादवतः नत्वेच्छायोगत इति श्रवणादत्र इच्छायोगे निमज्जति निमग्नं भवति । अन्यथा हीच्छायोगाधिकारी भगवान् हरिभद्रसूरिर्योगदृष्टिसमुच्चयप्रकरणप्रारम्भे मृषावादपरिहारेण सर्वतोचित्यारम्भप्रदर्शनार्थं न त्विच्छायोगतो योगमित्यादिनाविवक्षत् । वाङ्नमस्कारमात्रस्याल्पस्य विशिशुद्धस्यापि संभवात् । प्रतिपत्तस्वपर्यायान्तर्भूतत्वेन च प्रकृतनमस्कारस्यापीच्छायोगभजनत्वमदुष्टमिति विभावनीयम् । द्वा० १९ द्वा० ।

इच्छाणुलोम–इच्छानुलोम–त्रि० इच्छाऽनुकूले, प्रतिपादयितुर्या इच्छा तदनुलोमा तदनुकूला इच्छा इच्छानुलोमा । भाषाभेदे, स्त्री० । भ०१०श०३ उ० । इच्छानुलोमा नाम यथा कश्चित् किंचित् कार्यमारभ्यमाणः कंचन पृच्छति स प्राह–करोतु भवान् ममाप्येतदभिप्रेतमिति । प्रज्ञा० ११ पद ॥

इच्छाणुलोमिय–ऐच्छानुलोमिक–त्रि० इच्छा चेतःप्रवृत्तेरभिप्रायस्तस्यानुलोममनुकूलम् तत्र भवमैच्छानुलोमिकम् । इच्छाभावानुकूल्यताभाजि, । आचा० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० ॥

इच्छापणीय–इच्छाप्रणीत–त्रि० । इन्द्रियमनोविषयानुकूला प्रवृत्तिरिहेच्छा तया विषयाभिमुखमभिकर्मबन्धसंसाराभिमुखं वा प्रकर्षेण नीतः इच्छाप्रणीतः । इच्छया विषयाभिमुखं कर्मबन्धाभिमुखं संसाराभिमुखं वा नीते, " इच्छापणीता वंका णिकेया " ये चैवंभूतास्ते वङ्का निकेता वङ्कस्यासंयमस्याऽऽमर्यादया संयमावधिभूतया निकेतभूता आश्रया इति । आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ॥

इच्छापरिमाण–इच्छापरिमाण– न० इच्छाया धनादिविषयस्याभिलाषस्य परिमाणं नियमनमिच्छापरिमाणम् । देशतः परिग्रहविरतिरित्यर्थः । स्था० ५ ठा० । इच्छा परिग्राह्यवस्तुविषया वाञ्छा तस्यास्तया परिग्राह्यवस्तूनाम्परिमाणमियत्ता इच्छापरिमाणम् । पंचा० १ विव० । धनधान्यादिनवविधपरिग्रहप्रमाणलक्षणव्रतलक्षणे पञ्चमे अणुव्रते, । तल्लक्षणं यथा–

परिग्रहस्य कृत्स्नस्याऽमितस्य परिवर्जनात् ॥
इच्छापरिमाणकृतिं जगदुः पञ्चमं व्रतम् ॥ २९ ॥

परिगृह्यत इति परिग्रहस्तस्य कीदृशस्य कृत्स्नस्य नवविधस्येत्यर्थः चतुःषष्टिभेदोऽप्येष नवविधपरिग्रहे अन्तर्भवतीति, न कोपि विरोधः । पुनः कीदृशस्य तस्य अमितस्य परिमाणरहितस्य परिवर्जनात्त्यागात् त्यागनिमित्तभूतेनेत्यर्थः इच्छाया अभिलाषस्य यत्परिमाणमियत्ता तस्य कृतिःकरणं तां पञ्चमं व्रतं अधिकारादणुव्रतं जगदुर्गुरव ऊचुर्जिना इति संटङ्कः । इदमत्र तात्पर्यम् परिग्रहविरतिर्द्विधा सर्वतो देशतश्च । तत्र सर्वथा सर्वभावेषु मूर्छात्यागः सर्वतः तदेव देशतस्तत्र श्रावकाणां सर्वतस्तत्प्रतिपत्तेरशक्तौ देशतस्ताभिच्छापरिमाणरूपांप्रतिपद्यतेयतः "अपरिमिअपरिग्गहं समणोवासओ पच्चक्खाइ । इच्छापरिमाणं उवसंपज्जइ से अ परिग्गहे दुविहे पण्णत्ते तंजहा सचित्तपरिग्गहे अचित्तपरिग्गहे अ त्ति । ध० २ अधि० । परिग्रहणं परिग्रहः अपरिमितश्चासौ परिग्रहश्चेति समासः अपरिमितप-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रिमाणस्तत्र श्रमणोपासकः प्रत्याख्याति सचित्तादेः परिमाणात् परिग्रहाद्विरमतीति भावना । इच्छायाः परिमाणं तदुपसंपद्यते सचित्तादिगोचरेच्छापरिमाणं करोतीत्यर्थः । स च परिग्रहः द्विविधः प्रकृतस्तद्यथेति प्राग्वत् । सह चित्तेन सचित्तं द्विपदचतुष्पदादि तदेव परिग्रहस्सचित्तपरिग्रहः । अचित्तं वस्तु रत्नकुप्यादि तदेवाचित्तपरिग्रहः । आव० ६ अ० ॥

ननु गृहे स्वल्पद्रव्येऽपि सति परिग्रहपरिमाणे तु द्रव्यसहस्रलक्षादिप्रतिपत्त्या इच्छावृद्धिसंभवात् को नाम गुण इति चेन्मैवम् इच्छावृद्धिस्तु संसारिणां सर्वदा विद्यमानैव यतो नमिराजर्षिवचनमिन्द्रं प्रति-" सुवन्न रुप्पस्स य पव्वया भवे, सिया हु केलाससमा असंखया । नरस्स लुद्धस्स न तेहि किंचि, इच्छा हु आगाससमा अणंतया " एवं चेच्छाया अनन्तत्वे तदियत्ताकरणं महते गुणाय यतः "जह २ अप्पो लोहो, जह २ अप्पो परिग्गहारंभो । तह २ सुहं पवड्डइ, धम्मस्स य होइ संसिद्धी " तस्मादिच्छाप्रसरं निरुध्य सन्तोषे यतितव्यं सुखस्य संतोषमूलत्वात् । यदाह-आरोग्गसारिअं माणुसत्तणं सच्चसारिओ धम्मो । विज्जा निच्छयसारा, सुहाइँ संतोससाराइं " । तदेवमेतद्व्रतस्याऽत्रापि संतोषसौख्यलक्ष्मीस्थैर्यजनप्रशंसादिफलं परत्र तु नरामरसमृद्धिसिद्ध्यादि । अतिलोभाभिभूततया चैतद्व्रतस्यास्वीकृतौ विराधनायां दारिद्र्यदास्यदौर्भाग्यदौर्गत्यादि । यतः " महारंभयाए महापरिग्गहाए कुणिमाहारेणं पंचिंदियवहेणं जीवा नरयाउअं अज्जेइन्ति " । मूर्छावान् हि उत्तरोत्तराशाकदर्थितो दुःखमेवानुभवति । यदाह-" उक्खणइ खणइ निहणइ, रत्तिं न सुअइ दिआ विअ ससंको । लिंपइ ठएइ सययं, लंछिअ पडिलंछिअं कुणइ " । १ । परिग्रहत्वमपि मूर्छयैव मूर्छामन्तरेण धनधान्यादेरपरिग्रहत्वात् । यदाह " अपरिग्रह एव भवेद्वस्त्राभरणाद्यलंकृतोऽपि पुमान् । ममकारविरहिते सति, ममकारे सङ्गवानग्नः " ॥ १ ॥ तथा "जंपि वत्थं व पायं वा, कंबलं पायपुंछणं । तं पि संजमलज्जट्ठा, धारिंती परिहरंती अ १ न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा । मुच्छापरिग्गहो वुत्तो, इइवुत्तं महेसिणत्ति" । तेन मूर्छानियमनार्थं सर्वमूर्छात्यागाशक्तस्यैतत् पञ्चममणुव्रतम् ॥ ध० २ अधि० । तथाच पञ्चाशके-

इच्छापरिमाणं खलु, असयारंभविणिवित्तिसंजणगं ।
खेत्ताइवत्थुविसयं, चित्ताद्यविरोहओ चित्तं ॥ १७ ॥

इच्छा परिग्राह्यवस्तुविषया वाञ्छा तस्यास्तथा परिग्राह्यवस्तुनः परिमाणमियत्ता इच्छापरिमाणं खलु वाक्यालंकारे पञ्चमाणुव्रतं भवतीति प्रक्रमः । तच्चेच्छापरिमाणं किंफलमित्याह । असदारम्भविनिवृत्तिसंजनकमसुन्दरारम्भप्रवृत्तिनिबन्धनम् । भवति हीच्छापरिमाणे कृते इच्छाविषयीकृतकातिपयपदार्थानां किंचिन्न शुभव्यापारैरपि प्राप्तेरसुन्दरतरव्यापारेभ्यो विनिवृत्तिर्यतः-प्रभूतार्थप्राप्त्यर्थमेव द्यूतघाताद्यसुन्दरव्यापारेषु प्रायः प्राणिनः प्रवर्तन्ते इति । तच्च क्षेत्रादिवस्तुविषयं क्षेत्रादीनि भूविशेषप्रभृतीनि वस्त्वन्यर्थो विषयो गोचरोऽस्येति विग्रहस्तदुक्तम् ॥ "धणं धन्नं खेत्तं वत्थु रुप्पं सुवन्नं कुवियं दुपयं चउप्पयं चेत्यादि " अत्रचादिशब्दः प्रकारवचने क्षेत्रादयः क्षेत्रप्रकारा धनादय इत्यर्थः । चित्तं मन आदिर्येषां वित्तदेशवंशादीनां ते तथा तेषामविरोध आनुकूल्यमनुरूपं चित्ताद्यविरोधस्तस्याः चित्ताद्यविरोधतः(चित्ताद्यविरोहओत्ति) पाठान्तरं तत्र च वित्ताद्यविरोधतो वृत्ताद्यविरोधतो वेति व्याख्येयम् । किमित्याह ॥ चित्तं बहुप्रकारमेतत्तथाहि कश्चिन्निःस्वोऽपि विपुलचित्तो भवति अन्यस्त्वन्यथा । तथा कस्यचिद्भूरिवित्तमन्यस्य स्तोकम् । तथा क्वचिद्देशेऽत्यन्तं धान्यचतुष्पदादिसंग्रहो विधीयते अन्यत्र तु न तथा । कोऽपि राजवंश्योऽन्यो ब्राह्मणवणिग्वंश्यादिस्तस्य च प्रायो राज्यादिसंभवासंभवौ स्त इत्येवं स्वचित्तवित्तादीनामविरोधेनानेकविधपुंभिस्तद्विधीयमानमनेकधा भवतीति गाथार्थः ॥ पंचा १ विव० ।

(इच्छापरिमाणव्रतस्योदाहरणम्, विस्तरतः स्वरूपश्चानन्दकथायामाणंदशब्दे) " तत्थय पंचमाणुव्वए अनियतस्स दोसाणि य तस्स गुणा तत्थोदाहरणं । "लुद्धनंदो कुसीमूलियं लुद्धनंदो जिणद्दो सावगो पुइओ भंडागारवई थविओ ॥ आव० ६ अ० । परिग्गहे असंतुट्ठस्स दोसा संतुट्ठस्स गुणा तत्थ उदाहरणम ॥ लुद्धणंदो कुसीसा तो उद्धीहिं त्रिक्कियासो एमंताएप गमणं । पुत्तेहिं पिल्लियातो अड्डक्खिज्जती भमा लोएण दिट्ठा णो कहितं लुद्धणंदेणं पाया भग्गा सावगो पूजितो । एवं जधा णामोक्कारे । आ० चू० ६ अ० ।

अहवा वाणिगिणी रयणाणि विक्किणइ छुहाए मरंति सेट्ठेण भणिया पतिओ पडिक्कओ नत्थि अन्नस्स नियाणि ताए भणइ जं जोग्गं तं देहि सो तत्थ देइ सुभिक्खे तीए भत्तारो आगओ पुच्छइ रयणाणि केहिं भणई वत्तियाणि मे कहिं दिन्नाणि सा भणइ गोहुम सेइयाए एक्केक्कं दिन्नं अमुगस्स वाणियगस्स सो वाणियगो तेण भणिओ रयणाणि अप्पेहि पूरं वा मोल्लं देहि सो नेच्छइ तओ रन्नो मूलं गओ परिसे अग्घे वट्टमाणे पयस्स मणिरयणस्स एएण पत्तियं दिन्नं सो विन्नासिओ पढमं पुण ताणि रयताणि रयणाणि सावगस्स विक्केण याणि गाइयाणि तेण परिग्गहपयाणातिरित्ता इति काऊं न गहियाणि सावगेण नेच्छइ सो पुइओ, । आव० ६ अ० । एवमादिकारणा पुणो इमा भावेज्ज संतोसं गहियमादीणि आयामणमाणेण एवं गेण्हिस्सामो णं त्ति ओ । आ० चू० ६ अ० ।

इदं चातिचाररहितमनुपालनीयं तथाचाह ।

इच्छापरिमाणस्स समणोवासएणं इमे पंच अइआरा जाणिअव्वा न समायरिअव्वा तंजहा खित्तवत्थुप्पमाणाइक्कमे । १ । हिरन्नसुवन्नप्पमाणाइक्कमे । २ । धणधन्नप्पमाणाइक्कमे । ३ । दुपयचउप्पयप्पमाणाइक्कमे । ४ । कुविअप्पमाणाइक्कमे । ५ ।

इच्छापरिमाणस्य श्रमणोपासकेनामी पञ्चातिचारा ज्ञातव्या न समाचरितव्याः । तद्यथा । क्षेत्रवास्तुप्रमाणातिक्रमः तत्र सस्योत्पत्तिभूमिः क्षेत्रं तच्च सेतुकेतुभेदाद्द्विविधं तत्र सेतुक्षेत्रमरघट्टादिसेक्यं केतुक्षेत्रं पुनराकाशपतितोदकनिष्पाद्यं वास्त्वगारं तदपि त्रिविधं खातमुत्सृतं खातोत्सृतं तत्र खातं भूमिगृहकादि उत्सृतं प्रासादादि खातोत्सृतं भूमिगृहकस्योपरि प्रासादादि एतेषां क्षेत्रवास्तुप्रमाणातिक्रमः । प्रत्याख्यानकालं गृहीतप्रमाणोल्लङ्घनमित्यर्थ इति । तथा हिरण्यसुवर्णप्रमाणातिक्रमस्तत्र हिरण्यं रजतमघटितं घटितं वानेकप्रकारं द्रव्यादि सुवर्णप्रतीतमेव तदपि घटिताघटितमेव तद्ग्रहणाच्चेन्द्रनीलमरकताद्युपलग्रहः अकारगमनिका पूर्ववत् । तथा धनधान्यप्रमाणातिक्रमः तत्र धनं गुडखण्डशर्करादिगोमहिष्यजाविकारं प्रतुगादि, धान्यं व्रीहिकोद्रवमुद्गमाषतिलगोधूमयवादि अकारगमनिका प्राग्वदेव । तथा द्विपदचतुष्पदप्रमाणातिक्रमः । तत्र द्विपदानि दासीदासमयूरहंसादीनि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चतुष्पदादि हस्त्यश्वमहिष्यादीनि अक्षरगमनिका प्राग्वदेव । तथा द्विपदचतुष्पदप्रमाणातिक्रमः । तत्र कुप्यमासनशयनभंडकरोट्टकलोहाद्युपस्करजातमुच्यते एतद्ग्रहणाच्च वस्त्रकंबलापरिग्रहः । अक्षरगमनिकापूर्ववत् । एतान् क्षेत्रवास्तुप्रमाणातिक्रमादीन् समाचरन्नतिचरति पञ्चमाणुव्रतमिति । "एत्थ दोसा जीवघायाइया भाणियव्वा"। आव०६अ०।श्राव०।

तत्थ खेत्तवत्थुपमाणादिसु जं पमाणं गहितं तं णातिकमिअव्वं । अहवा जं पणं गहीतं तो अहीतं चारेणिओ अणुवेज्जा पेरिमूले वा देज्जा असमत्थो तं धणादिकाउ ताहे खेत्तं वत्थु वा देज्जा एवं पविरक्षा विरक्षवित्थरो विभासियव्वो सो य सावगो चितेज्जा जहा मए दव्वप्पमाणं जं गहितं तं अज्जावि न पूरेति । एसो य धारणितो तस्स दाणे इमं देति तिमिसापि किल दव्वलेक्खगो चेव इमं देति ते ममापि किल दव्वलेक्खगे चेव इमं । एवं खेत्तवत्थुप्पमाणातिकमणं कुणंतो अतियरति । एवमादि विभासा सव्वत्थ एसो विभागे जवसंपुणो सयसहस्से वा कोडिए वा सव्वंगणिज्जमाणं । तस्स एसेव एक्को अतियारो विभागे पदे पदे अतियारो विभासियव्वो एयाणं मूलप्पमाणे गहिते संववहारेणवि वा सया ण कयविक्कयस्स दिवे २ परिमाणं करेति जं धरत्तिण न करेति । तस्स य एव वक्खातित्ति आरंभपरिग्गहदमणचाहणादि एएसु एदेसु विभासियव्वं । जधाविहं एत्थ भावणा "जह २ अप्पो लोभो, जध जध ४ अप्पो परिग्गहारंभो । तह २ सुहं पवड्ढति, धम्मस्स य होति संसिद्धी " धन्ना परिग्गहं उज्झि-ऊण मूलमिह सव्वपावाणं। धम्मचरणंपवन्ना, मणेण एवमविचिंतेज्जा " आ.चू.६अ.

धनधान्यक्षेत्रवास्तु, रूप्यं स्वर्णं च पञ्चमे ॥
गोमनुष्यादिकुप्यं चे, त्येषां संख्या व्यतिक्रमः ॥ ४७ ॥

धनं धान्यं क्षेत्रं वास्तु रूप्यं सुवर्णं गोमहिष्यादिकुप्यं चेति पञ्चानां संख्या यावज्जीवं चतुर्मासादिकालावधियत्परिमाणं गृहीतं तस्य ये अतिक्रमा उल्लंघनानि ते पञ्चमे पञ्चमाणुव्रतेऽतिचारा ज्ञेयास्तत्र धनं गणिमधरिममेयपरिच्छेद्यभेदाच्चतुर्धा यदाह " गणिमं पुंगफलाइ , धरिमं तु कुंकुमगुडाइ । मेज्जं चोप्पलोणाइ, रयणवत्थाइपरिच्छेज्जं ॥ १ ॥ धान्यं चतुर्विंशतिधा व्रताधिकार एवोक्तं सप्तदशधापि यतः " साली १ जव २ वीहि ३ कुद्दव, ४ रालय ५ तिल ६ मुग्ग ७ मास ८ चवल ९ चणा १० तुवरि ११ मसूर १२ कुलत्था, १३ गोधूम १४ निप्पाव १५ अयसि १६ सिणा ॥ १७ ॥ धनं च धान्यं चेति समाहारः । अत्राग्रे च समाहारनिर्देशात्परिग्रहस्य पञ्चधात्वेनातिचारपञ्चकं सुयोज्यं भवति । क्षेत्रं च वास्तु चेति समाहारद्वन्द्वः तथा रूप्यं रजतं घटितमघटितं चानेकप्रकारमेवं सुवर्णमपि रूप्यं च स्वर्णं चेति समाहारः गावश्च मनुष्याश्चेति गोमनुष्यं तदादि यस्येति समासः गवादिमनुष्यादि चेत्यर्थः । तत्र गवादि गोमहिषमेषाविककरभसरभहस्त्यश्वादि मनुष्यादि पुत्रकलत्रदासदासीकर्मकरशुकसारिकादि, तथा कुप्यं रूप्यस्वर्णव्यतिरिक्तं कांस्यलोहताम्रसीसकत्रपुमृद्भाण्डत्वचिसारविकारोदंकिकाप्रमञ्चकमञ्चिकामसूरकरथशकटहलादिगृहोपस्काररूपमिति यच्चात्र क्षेत्रादिपरिग्रहस्य नवविधत्वेन नवसंख्यातिचारप्राप्तौ पञ्चसंख्यात्वमुक्तं तत्सजातीयत्वेन शेषभेदानामत्रैवान्तर्भावात् । शिष्यहितत्वेन च प्रायःसर्वत्र मध्यमगतेर्विवक्षितत्वात् पञ्चकसंख्ययैवातिचारपरिगणनमनुचितमतो धनधान्यादिसंख्ययातिचाराणां गुणनमुपपन्नमिति धर्मबिन्दुवृत्तौ । ननु प्रतिपन्नसंख्यातिक्रमा भङ्गा एव स्युः कथमतिचारा इत्यत आह ॥

बन्धनाद्योजनात् दाना-द्गर्भतो भावतस्तथा ॥
कृतेच्छापरिमाणस्य, न्याय्याः पञ्चापि न हमी ॥

बन्धनात् योजनात् दानात् गर्भतो भावत इत्यमी गृहीतसंख्यातिक्रमाः पञ्चापि पञ्चसंख्याका अपि कृतेच्छापरिमाणस्य प्रतिपन्नपञ्चमव्रतस्य श्रावकस्य न न्याय्या न घटमाना व्रतमालिन्यहेतुत्वात् । अयं भावः । न साक्षात्संख्यातिक्रमः किन्तु व्रतसापेक्षस्य बन्धनादिभिः पञ्चभिर्हेतुभिः स्वबुद्ध्या व्रतभङ्गमकुर्वत एवातिचारा भवन्ति बन्धनादयश्च यथासंख्येन धनधान्यादीनां परिग्रहविषयाणां संबध्यन्ते तत्र धनधान्यस्य बन्धनात् संख्यातिक्रमो यथा कृतधनधान्यपरिमाणस्य कोऽपि लभ्यमन्यद्वा धनं धान्यं च ददाति तच्च व्रतभङ्गभयाच्चतुर्मासादिपरतो गृहगतधनादिविक्रये वा कृते ग्रहीष्यामीति भावनया बन्धनात् नियन्त्रणात् रज्ज्वादिसंयमनात्सत्यंकारदानादिरूपाद्वा स्वीकृत्य तद्गृह एव स्थापयतोऽतिचारः ॥ १ ॥ तथा क्षेत्रवास्तुनो योजनात् क्षेत्रवास्त्वन्तरमीलनात् गृहीतसंख्यातिक्रमोऽतिचारो भवति तथाहि किलैकमेव क्षेत्रं वास्तु चेत्यभिग्रहवतोऽधिकतरतदभिलाषे सति व्रतभङ्गभयात् प्राक्तनक्षेत्रादिप्रत्यासन्नं तद्गृहीत्वा पूर्वेण सह तस्यैकत्वकरणार्थं वृत्तिभीत्याद्यपनयने च तत्तत्र योजयतो व्रतसापेक्षत्वात्कथंचिद्विरतिबाधनाच्चातिचारः ॥ २ ॥ तथा रूप्यस्वर्णस्य दानाद्वितरणाद्गृहीतसंख्याया अतिक्रमः । यथा केनापि चतुर्मासाद्यवधिना रूप्यादिसंख्या विहिता तेन च तुष्टराजादेः सकाशादधिकं तल्लब्धं तच्चान्यस्मै व्रतभङ्गभयात् ददाति पूर्णेऽवधौ ग्रहीष्यामीति भावनयेति व्रतसापेक्षत्वात्कथंचिद्विरतिबाधाच्चातिचार इति ॥ ३ ॥ गोमनुष्यादेर्गर्भतः संख्यातिक्रमो यथा किल केनापि संवत्सराद्यवधिना द्विपदचतुष्पदानां परिमाणं कृतं तेषां च संवत्सराद्यवधिमध्य एव प्रसवेऽधिकद्विपदादिभावाद्व्रतभङ्गः स्यादिति तद्भयात्कियत्यपि काले गते गर्भग्रहणं कारयतो गर्भस्थद्विपदादिभावेन बहिर्गततदभावेन च कथंचिद् व्रतभङ्गादतिचारः ॥ ४ ॥ कुप्यस्य भावतः संख्यातिक्रमो यथा कुप्यस्य या संख्या कृता तस्याः कथंचिद्द्विगुणत्वे भूते सति व्रतभङ्गभयात्तेषां द्वयेनैकैकं महत्तरं कारयतः पर्यायान्तरकरणेन संख्यापूरणात् स्वाभाविकसंख्याबाधनाच्चातिचारः । अन्ये त्वाहुः तदर्थित्वेन विवक्षितकालावधेः परतोऽहमेतत् करोटिकादिकुप्यं ग्रहीष्याम्यतो नान्यस्मै देयमिति पराप्रदेयतया व्यवस्थापयतोऽतिचारः । नामत उक्ताः पञ्चातिचाराः॥ ध०२अधि ।

इच्छापरिमाणकिइ—इच्छापरिमाणकृति—स्त्री० इच्छाया अभिलाषस्य यत्परिमाणमियत्ता तस्य कृतिः करणं इच्छापरिमाणकृतिः । पञ्चमेऽणुव्रते, ध० २ अधि० । (तद्वक्तव्यता इच्छापरिमाण शब्दे)

इच्छामि (मे) त्त—इच्छामात्र—न० अभिप्रायमात्रे, सूत्र १ श्रु० ७ अ० ।

इच्छामुच्छा—इच्छामूर्छा—स्त्री० इच्छा च परधनं प्रत्यभिलाषः मूर्छा तत्रैव गाढाभिष्वङ्गरूपा तद्धेतुकत्वाददत्तग्रहणस्येति । इच्छामूर्छा त्रिंशत्स्वधर्मेषु सप्तविंशोऽधर्मद्वारभेदे, प्रश्न०५द्वा० ।

इच्छालोभ—इच्छालोभ—पु० इच्छा अभिलाषः सा चासौ लोभश्च इच्छालोभः । शुक्लशुक्लोऽतिशुक्लो यथा । महालोभे,

" इच्छालोभे व उवहिमइरेगोत्ति " स्था० ६ ठा० । " इच्छालोभं न सेवेज्जा"। इच्छारूपो लोभः इच्छालोभस्तद्वर्तिऽव्याभिलाषादिको निदानविशेषस्तमसौ निर्जरापेक्षी न सेवेत सुरर्द्धिदर्शनमोहितो ब्रह्मदत्तवन्निदानं न कुर्यादित्यर्थः। आचा० १ श्रु० ८ अ० ८ उ० । "इच्छालोभे मोत्तिमग्गस्स पलिमंथू आहारोवहिदेहेसु इच्छालोभे उ सज्जई"। स्था० ६ ठा० ।

इच्छालोभिय- इच्छालोभिक-त्रि० इच्छालोभो यस्यास्ति स इच्छालोभिकः। महेच्छे, अधिकोपधौ, स्था० ६ ठा० (अस्य मुक्तिमार्गपरिमन्थत्वं पलिमंथशब्दे)

इच्छालोल-इच्छालोल-पु० इच्छा अभिलाषः सा चासौ लोल श्चेच्छालोलो महालोभ इत्यर्थः यथा निद्रानिद्रा महानिद्रेति । अधिकोपकरणादिमेलनलक्षणे महालोभे, "इच्छालोलेय उवहिमतिरागात्" इच्छालोलस्तु स उच्यते यल्लोभाभिभूतत्वेनोपधिमतिरिक्तं गृह्णाति इति । " इच्छालोले मोक्खमग्गस्स पलिमन्थू " इच्छालोलो मोक्षमार्गस्य प्रतिमन्थुः स च "इच्छालोलेयउवहिमतिरेगा लहुओ तिविहं च तहिं अतिरेगे जे भणिय दोसा " बृ० ६ उ० ।

इच्छिय-इच्छित-त्रि० इच्छा संजाता ऽस्येति इच्छितः तारकादित्वादितच् । स्पृहायुक्ते, । वाच०

ईप्सित- त्रि० आप् सन् क्त० । मनोवाञ्छिते, तं०। पं० सू० । जं० । पं० भा० । ज्यो० । ज्ञा० । " इच्छियमेयं देवाणुप्पिया" इति-कल्प० । क्रियाफलेन प्राप्तुमिष्टे, कर्तुरीप्सिततमं कर्म । पा०।" निर्वर्त्यश्च विकार्यं च प्राप्यश्चेति त्रिधा मतम् । तच्चेप्सिततमं कर्म्म, चतुर्धान्यत्तु कल्पितम्" भर्तृ० इच्छाविषये,-वाच०

इच्छियकामकामि (न्)-ईप्सितकामकामिन्-त्रि० ईप्सितान् मनोवाञ्छितान् कामान् शब्दादीन् कामयन्ते अर्थात् भुज्यन्ते इत्येवं शीला ये ते तथा ईप्सितकामकामिनः । मनोवाञ्छितशब्दादिविषयभोक्तरि,। "इच्छियकामकामिणो इति"।जं०।२वक्ष.

इच्छियत्थ-ईप्सितार्थ- पु० मनोवाञ्छितेऽर्थे, पं० भा० "सुत्तत्थ णिज्जराओ मोक्खो वा इच्छियत्थोत्तु"- पं० भा० । एवं गुणजुत्तो विशेष्यः ईप्सितानर्थाननुप्राप्नोति लभत इत्यर्थः । पं० सू० ।

इच्छियपडिच्छिय-इच्छितप्रतीच्छित-त्रि० इच्छासञ्जाताऽस्येति इच्छितं प्रतीच्छा संजाताऽस्येति प्रतीच्छितम् इच्छितं च तत् प्रतीच्छितं च इच्छितप्रतीच्छितम् । इच्छाप्रतीच्छोभयधर्मे, । " इच्छियपडिच्छियाएण " इच्छाया अवग्रह इच्छितप्रतीच्छितेन इच्छितप्रतीच्छितम् आभवनव्यवहारस्थापना यथा यत्पथि लभ्यते तदस्माकं यद्ग्रामे तत् युष्माकम् यद्वा यत्सचित्तं तदस्माकं यदचित्तं तद्युष्माकम् । अथ वा या स्त्रीव्रतग्रहणार्थमुपतिष्ठति सा अस्माकं पुरुषो युष्माकम् । यद्वा बालो युष्माकं वृद्धोऽस्माकम् । अथवा यः सार्थेन सह भजतां लाभः सोऽस्माकं अस्माकं सार्थे युष्माकम्। यदि वा-यो यत्र लभ्यते तत्तस्यैव एवं भूतेनेच्छितप्रतीच्छितेन य आभवनव्यवहारः स इच्छाया अवग्रहः । व्य० द्वि० ४ उ० ।

ईप्सितप्रतीप्सित-त्रि० ईप्साप्रतीप्सोभयधर्मोपेते, । ज्ञा० १ अ.

इष्टप्रतीष्ट-त्रि० इच्छाप्रतीच्छोभयधर्मोपेते, " इच्छियमेयं पडिच्छियमेयं इच्छियपडिच्छियमेयं " इच्छियंति-इष्टं ईप्सितं वा पडिच्छियंति प्रतीष्टं प्रतीप्सितं वा अभ्युपगतमित्यर्थः इष्टप्रतीष्टमीप्सितप्रतीप्सितं वा । धर्मद्वययोगात्-अत्यन्तादरख्यापनाय चैवं निर्देशः । ज्ञा० १ अ० । "इच्छियमेयं देवाणुप्पिया पडिच्छियमेयं देवाणुप्पिया इच्छियपडिच्छियमेयं देवाणुप्पिया" इच्छियमेयंति ईप्सितं तत् पडिच्छियमेयंति प्रतीष्टं युष्मन्मुखाद्यत्तदेव गृहीतमिच्छियपडिच्छियंति उभयधर्मोपेतम् । कल्प० ।

इच्छियव्व-ईप्सितव्य-त्रि० सर्वैरपि मुमुक्षुभिरीप्स्यते प्राप्तुमर्थ्यत इतीप्सितव्यः। व्यवहारे,। "तत्तो य इच्छियव्वे, आयारे चेव ववहारे " व्यवहारस्यैतान्येकार्थिकानि । व्य० १ उ० ।

एष्टव्य-त्रि० इषुवाञ्छायाम् तव्य । प्रार्थनीये, । आव० ४ अ०

इज्जंजलि-इज्याञ्जलि-पु० यजनमिज्या इत्यर्थः तद्विषयो जलस्याञ्जलिः इज्याञ्जलिः यागदेवतापूजावसरभावीति हृदयम्। अथवा यजनमिज्या पूजा गायत्र्यादिपाठपूर्वकं विप्राणां सन्ध्यार्चनमित्यर्थस्तत्राञ्जलिः इज्याञ्जलिः अथवा देशीयभाषया इज्येति माता तस्या नमस्कारविधौ तद्भक्तैः क्रियमाणः करकुड्मलमीलनलक्षणोऽञ्जलिरिज्याञ्जलिः । यागदेवतापूजावसरभाविनि जलाञ्जलौ, विप्राणां गायत्र्यादिपाठपूर्वकसन्ध्यार्चनविषयके जलाञ्जलौ,-मातुर्नमस्कारार्थंतद्भक्तैः क्रियमाणे करकुड्मलमीलने च । अनु० । (कुप्रावचनिकभावावश्यकमधिकृत्य व्याख्यातम्)

इज्जंति-इयन्ती-स्त्री० आगच्छन्त्याम्-" दिव्वंसो सिरिमिज्जंति, दंडेन पडिसेहए"-दश० ८ अ० २ उ० ।

इज्जा-इज्या- स्त्री० यजनमीज्या यज्-भावे क्यप् स्त्रीत्वाट्टाप् । यागे, (देवपूजायाम्) अनु० पूजायाम्, स्था० १० ठा । भ० । औप० । यजनमिज्या पूजा गायत्र्यादिपाठपूर्वके विप्राणां सन्ध्यार्चने, देशीभाषया मातरि च । अनु० । यजेर्दानार्थत्वात् २ दाने, संग्रामे च । कर्मणि क्यप् ४ प्रतिमायाम्, ५ कुट्टिमन्याञ्च । जुके, अमर० । वाच० ।

इज्जिस-इज्यैष-त्रि० इज्यां पूजामिच्छत्येषयति वा यः स इज्यैषः। पूजाभिलाषिणि,-भ० ए श० ३३ उ०। इज्यां पूजां इच्छन्त्येषयन्ति वा ये ते इज्यैषास्त एव। स्वार्थे इकप्रत्ययविधानादिज्यैषिकाः । पूजाभिलाषिणः,-भ० ।

इज्झ-इन्ध-दीप्तौ-रुधा०-आ०-अक०-सेट्-निष्ठायामनिट् वर्तमाने चातो निष्ठा । वाच० इन्धौ झा-इति-प्रा-सूत्रेण संयुक्तस्य झा इत्यादेशः । इज्झइ-इन्धे-प्रा० व्या० २ पा० ८ अ० ।

इज्झमाण-इध्यमान-त्रि० दीप्यमाने, पुव्वावरदाहिणुत्तराग पाहिं वा पाहिं मंदायं मंदा इमे इज्झमाणा, इति । राज० ॥

इट्टगा-इष्टका-स्त्री० इष् तकन् टाप् । इष्टिका पितृदैवत्ये इति नियमान्नित्वम् । (ईट) मृदादिनिर्मिते मृतखण्डभेदे,-दारपिहुवारं भण्णति तं पुव्वकथमिट्टगादिं ठइय मुग्घाडेति । नि० चू० १ उ० । पिं० । "पयावेह इट्टकाओ ममघरट्ठयाए" पाचयत चेष्टका गृहार्थमिति । प्रश्न० २ द्वा० ॥

इट्टगापाग-इष्टकापाक-पु० इष्टकापचने, पिं० ॥

इट्टा-इष्टा-स्त्री० ष्टस्यानुष्ट्रेष्टासंदष्टे ८ अ० २ पा०। इति प्रा० सूत्रेण इष्टा शब्दस्य निषेधान्न ठः । प्रा० । इष्टकायाम्, स्था० ८ ठा०॥

इट्टाल-इट्टाल-न० इष्टकायाम्, " होज्ज कट्ठसिलं वा वि इट्टालं वा वि एगया ठवियंसं कमट्ठाए, तं च होज्ज चलाचलं ६५"

भवेत् काष्ठं शिला वापि इष्टकं वाप्येकदा एकस्मिन् काले प्रावृडादौ स्थापितं संक्रमार्थं तत्र भवेच्चलाचलमप्रतिष्ठितं न तु स्थिरमेवेति सूत्रार्थः । दश० ५ अ० ॥

इट्ठावाय–इष्टापाक–पु० इष्टकायाः पचनस्थाने,–'इट्ठा वाएइ वा'। स्था० ८ ठा० ॥

इट्ठ–इष्ट– त्रि० इष्यते स्म प्रयोजनवशात् अर्थे क्रियार्थिभिरितीष्टः । स्था० २ ठा० । विपा० । औप० । भ० । जं० । इष् कर्मणि क्तः । इस्यानुस्वेष्टासंदष्टे ८ अ० २ पा० । इति–प्रा० सूत्रेण ठः प्रा० व्या० । अभिप्रेते, " आरंभ मिट्ठोज्जति आसवाय "–यथा ऽऽरम्भस्तयाऽऽस्रवाय कर्मोपादानायेष्टोऽभिप्रेत इति । सू० ३ ऊ० । अभिमते, । प्रश्न० ३ द्वा० । विशे० । पंचा० । षो० । अभिलषणीये, आव० ४ अ० । अभिलाषाविषयभूते, ज्ञा० ८ अ० । अभीप्सिते, जी० ३ प्रति० । अविरोधिनि,–ल० । इच्छाविषये, तं० । राज० । मनस इच्छामापन्ने, जी० १ प्र० । इन्द्रियमनःप्रमोददायिनि,–ज्ञा० १८ अ० । ईप्सिते, पंचा० १२ विव० । योग्ये, । विशे० । वल्लभे, प्रिये, औप० । अष्ट० । ज्ञा० । नि० । पंचा० । " इट्ठेहिं कंतेहि य विप्पहूणा— " सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ ऊ० । विहिते,–उत्त० १६ अ० । इष्टश्च इच्छाविषयः तच्च द्विविधं गौणं मुख्यं च । तत्र इतरेच्छानधीनेच्छा विषयो मुख्यं तत्साधनं गौणम् । तत्र मुख्यमिष्टं सुख दुःखाभावश्च । तदिच्छाया इतरेच्छानधीनत्वात् । तत्साधनं पाकभोजनादि गौणं सुखं दुःखाभावेच्छयैव तदिच्छायः समुन्मेषात् । अनिष्टमिष्टमिश्रञ्च त्रिविधं कर्म चोच्यते । इच्छया कल्पिते,–"इष्टकृतिरष्टगुणिता व्येकाक्षिता विभाजितेष्टेन" लीला० । वाच० । यज् भावे क्त–यज्ञादौ,–न० आव० १अ० । आ० म० प्र० । कर्मणि क्त–पूजिते,–औप० । एकाग्निकर्मणि, पु० संस्कारे, न० । वाच० । ऋत्विग्भिर्मन्त्रसंस्कारैः–ब्राह्मणानां समक्षतः । अन्तर्वेद्यां हि यद्दत्तमिष्टं तदभिधीयते । १ । द्वा० १ द्वा० । प्रति० । " एकाग्निकर्महवनं त्रेतायां यच्च हूयते । अन्तर्वेद्याञ्च यद्दत्तमिष्टं तदभिधीयते" जातुकर्णोक्ते धर्मकार्ये, न० । "इष्टं दत्तमधीतं वा विमृश्येत्यनुकीर्तनात्"—देवलः । ज्ञानतोषिते, । वाच० ।

इट्ठगंध–इष्टगन्ध– पु० कर्मधारय० । सुगन्धौ, इष्टो गन्धो ऽस्य । सुगन्धिद्रव्ये, त्रि० वालुकायाम्, न० मेदि० । ज्ञा० । पंचा० । औ० । वाञ्छिते, । पंचा० १२ विव० । औ० ।

इट्ठतत्तदंसणवाइ [न्]–इष्टतत्त्वदर्शनवादिन्–पु० बौद्धभेदे, ल० ।

इट्ठतर–इष्टतर–त्रि० अभीप्सिततरे, । " तेणं किण्हमणी पत्तो इट्ठयरए चेव " । ते कृष्णमणय इति जीमूतादेरिष्टतरका एवं कृष्णेन वर्णेन अभीप्सिततरका एवेति । राज० । जी० ।

इट्ठपुर–इष्टपुर–न० इष्टं पुरं पत्तनमिष्टपुरम् ॥ इष्टपत्तने,–"अरुविसपच्चवायं, वोलेत्ता देसओवदेसेण । पावंति जहिट्ठपुरं भवारुविं पि तहा जीवा" अटवी प्रतीता सप्रत्यपायां व्याघ्रादिप्रत्यपायबहुलाम् (वोलेत्ता) उल्लङ्घ्य देशकोपदेशेन निपुणमार्गज्ञोपदेशेन प्राप्नुवन्ति यथा इष्टपुरमिष्टपत्तनम् । आ० म० द्वि० ।

इट्ठफल–इष्टफल–त्रि० इष्टं वाञ्छितं फलं साध्यं यस्य तदिष्टफलम् । वाञ्छितसाधके, अभिमतेऽर्थे, ईप्सितेऽर्थे च । पंचा० विव० । ४ अविरोधिनि फले, ल० ।

इट्ठफलसाहग–इष्टफलसाधक–त्रि० ईप्सितार्थनिष्पादके, पंचा० ४ विव० ।

इट्ठफलसिद्धि–इष्टफलसिद्धि– स्त्री० अभिमतार्थनिष्पत्तौ, पंचा० ४ विव० । अविरोधिफलनिष्पत्तौ, ल० ॥

इट्ठरूव–इष्टरूप– त्रि० इष्टस्वरूपे, "सुबाहुकुमारे इट्ठे इट्ठरूवे" । विपा० २ अ० १ श्रु० ॥

इट्ठवं–इष्टवत्– त्रि० यज्–इष् क्त–वतु–स्त्रीयां ङीप् । यजनकर्तरि, इच्छायुक्ते च । इष्टकर्मकर्तरि, त्रि० स्त्रियां ङीप् । वाच० ॥

इट्ठसद्द–इष्टशब्द–पु० वीणादिसंबन्धिनि शब्दे, वीणादिसंबन्धाद्भवन्तीष्टाः शब्दादयः इति । प्रज्ञा० २३ पद ॥

इट्ठसिद्धि–इष्टसिद्धि–स्त्री० अभिमतार्थनिष्पत्तौ, "सो उ मंगलसद्दं सुणंमि जहा व इट्ठसिद्धित्ति" श्रुत्वा आकर्ण्य मङ्गलमित्येवंरूपो मङ्गलभूतो वा विजयसिद्ध्यादिशब्दो मङ्गलशब्दस्तं शकुने शकुनविषये यथा तु यद्वदेव इष्टसिद्धिरभिमतार्थनिष्पत्तिर्भवति । पंचा० ४ विव० ॥

इट्ठसुय–इष्टसुत–पु० वल्लभे पुत्रे,–"इट्ठसुयं पेल्लिऊण कीलंतं" पंचा० ७ विव० ॥

इट्ठस्सर–इष्टस्वर– पु० वल्लभस्वरे,–प्रज्ञा० २३ पद ॥

इट्ठापुत्त–इष्टापूर्त–न० इष्टं च पूर्तं च द्वयोः समाहारद्वन्द्वः । पृषोदरादित्वात् पूर्वपदस्य दीर्घः । इष्टशब्दोक्ते ऋत्विग्भिरिति लक्षिते दाने, " वापीकूपतडागादि–देवतायतनानि च । अन्नप्रदानमाराम–पूर्तमित्यभिधीयते " इति । पूर्ते च । प्रति० वाच० । इष्टापूर्तैर्दाक्षिणपुरुषत्वानभिज्ञो हीष्टापूर्तकारी कामोपहतमना बध्यते–इति " इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढाः । " नाकस्य पृष्ठे तेन सुकृतेन भूत्वा इमं लोकं हीनतरं वा विशन्तीति वचनात्, स्या० १५ श्लो० । " स्तोकानामुपकारः स्यादारम्भाद्यत्र भूयसां तत्रानुकम्पा न मता यथेष्टापूर्तकर्मसु । " द्वा० १ द्वा० । इष्टापूर्तं न मोक्षाङ्गं सकामस्योपवर्णितम् । प्रति० ।

इट्ठावत्ति–इष्टापत्ति–स्त्री० ६ त० कर्मधा० वा । इष्टस्यापत्तौ, इष्टायामापत्तौ च । वादिना दर्शितापत्तेः प्रतिवादिन इष्टत्वे हि सा भवति इष्टापत्तौ दोषान्तरमाह । वाच० ।

इण्णिक्क–इण्णिक्क–पु० वनभवे शाके, हेम० । अपूर्वे, चालनीशाद्रितशिरा इण्णिक्कोऽथाधिरूढवान् । आ० क० ।

इड्ढि (ड्ढि) (रिद्धि) ऋद्धि–स्त्री० ऋध् भावे–क्तिन् । इत्कृपादौ ८ अ० १ पा० । इति प्राकृतसूत्रेणेत्वम्–प्रा० ॥ रिः केवलस्य ८ अ० १ पा० । इति सूत्रेण रि इत्यादेशः प्रा० । श्रद्धर्द्धि मूर्द्धार्द्धेऽन्ते वा । ८ अ० २ पा० । इति सूत्रेण वा ढः । तपोमाहात्म्यरूपायामामर्षौषध्यादिकायां लब्धौ, (सम्पदि) उत्त० ३ अ० दश० । स्था० । नं० । विशे० । आचा० । आ० चू० । षो० (ऋद्धिभेदाः लब्धिशब्दे व्याख्यास्यन्ते–अस्य विस्तरतः सर्वे भेदाः लब्धिशब्दे ऋद्धेर्बहुवक्तता समिद्धि शब्देऽपि) " नात्थि नूणं परे लोए, इड्ढी वा वि तवस्सिणो । अदुवा वंचिओ मित्ति, इइ भिक्खू न चिंतए " । उत्त० ३ अ० ।

ऋद्धिर्वा तपोमाहात्म्यरूपा अपिः पूरणे कस्य तपस्विनः सा च आमर्षौषध्यादिः पादरजसा प्रशमनं सर्वरुजां साधवः क्षणात् कुर्युः त्रिभुवनविस्मयं जनान् दद्युः कामांस्तृणाग्रात् "धर्मान्मूलान्मिश्रित–काञ्चनवर्णादिसर्गसामर्थ्यम् । अद्भुतभीमोरुशिलासहस्रसंपातशक्ति"श्चेत्यादिका च तस्या अप्यनुपलभ्यमानत्वादिति भावः । उत्त० ३ अ० । ईश्वरत्वे, "णेगविहा इड्ढीओ

णेगविहत्ति णाणप्पगारा का ता इड्ढीओ इड्ढित्ति इस्सरियत्तं तं पुण विज्जामंतं तवोमंतं वा विउव्वणागासगमथविजंगणा णादि ऐश्वर्यमिति- नि० चू० १ उ० । स्था० ॥ नरेन्द्रपूजाचार्यत्वादिके, स्था० ३ ठा० । शक्तौ, । ज० १० श० ३ उ० । आत्मशक्तौ प्रव०२१४द्वा० । चक्रवर्तिमप्यधो नयेदित्यादिकायां विकरणशक्तौ, " अप्परए महड्ढिए " ऋद्धिर्विकुर्वाणा तया सहित इति । उत्त० १ अ० ॥ सम्पत्तौ, पंचा० ८ । " इड्ढीण मूलमेसो " ऋद्धीनां सम्पदां मूलमिव मूलं कारणमेष धर्म इति । पंचा० ८ विव० । परिवारादिके, प्रज्ञा०२ पद० । तं० । औ० स्था० । धनसुवर्णादिसम्पत्तौ, । विपा० ३ अ० । दशा० । सम० । स्था० । प्रभूतवस्त्रपात्रादिके, स्था० ५ ठा० । राज्यैश्वर्यादिके, आतु० । विभूतौ, आव० ४ अ० । स्था० । विमानवस्त्रभूषणादिकायां समृद्धौ, स्था० ३ ठा० । उप० । तृणाग्रादपि हिरण्यकोटिरित्यादिरूपायां समृद्धौ, उत्त० १ अ० । ऋद्धेर्भेदा यथा-धम्मिड्ढी भोगिड्ढी पाविड्ढी इअ तिहा भवे इड्ढी ध० २ अधि ॥

तिविहा इड्ढी पन्नत्ता तंजहा देविड्ढी राइड्ढी गणिड्ढी । देविड्ढी तिविहा पण्णत्ता तंजहा विमाणिड्ढी विगुव्विणिड्ढी परियाराणिड्ढी । अहवा देविड्ढी तिविहा पण्णत्ता तंजहा सचित्ता अचित्ता मीसिया । राइड्ढी तिविहा पण्णत्ता तंजहा रण्णो अइयाणिड्ढी रण्णो णिज्जाणिड्ढी रण्णो बलवाहणकोस कोट्ठागारिड्ढी । अहवा राइड्ढी तिविहा पण्णत्ता तंजहा सचित्ता अचित्ता मीसिया । गणिड्ढी तिविहा पण्णत्ता तंजहा णाणिड्ढी दंसणिड्ढी चरित्तिड्ढी अहवा गणिड्ढी तिविहा पण्णत्ता तंजहा सचित्ता अचित्ता मीसिया ॥

(तिविहा इड्ढीत्यादि) सूत्राणि सप्त सुगमानि नवरं देवस्येन्द्रादेः ऋद्धिरैश्वर्यं देवर्द्धिरेवं राज्ञश्चक्रवर्त्यादेर्गणिनो गणाधिपतेराचार्यस्येति विमानानां विमानलक्षणा वा ऋद्धिः समृद्धिर्द्वात्रिंशल्लक्षादिकं बाहुल्यं महत्त्वं रत्नादिरमणीयत्वं चेति--विमानर्द्धिर्भवति च द्वात्रिंशल्लक्षादिकं सौधर्मादिषु विमानबाहुल्यं यथोक्तम् । बत्तीसट्ठावीसा, बारस अट्ठ चउरो सयसहस्सा । आरणे बंभलोगे, विमाणसंखाभवे एसा ॥ १ ॥ पंचास चत्तछच्चेव, सहस्सालंतसुक्क सहस्सारे ॥ सय चउरो आणय, पाणएसु तिन्नारणच्चुयए ॥ २ ॥ एक्कारसुत्तरं हेट्ठी-मेसु सत्तुत्तरं च मज्झिमए । सयमेगं उवरिमए, पंचेव अणुत्तर विमाणत्ति ॥३॥ उपलक्षणं चैतत् भवननगराणामिति वैक्रियकरणलक्षणा ऋद्धिर्वैक्रियऋद्धिः । वैक्रियशरीरैर्हि जम्बूद्वीपद्वयमसंख्यातान्वा द्वीपसमुद्रान् पूरयन्तीत्युक्तञ्च भगवत्यां चमरेणं भंते ! के महिड्ढिए इत्यादि । परिचारणा कामसेवा तद्ऋद्धिः अन्यान् देवान् अन्यसत्का देवीः स्वकीया देवीरभियुज्यात्मानं च विकृत्य परिचारयति इत्येवमुक्तलक्षणेति ॥ १ ॥ सचित्ता स्वशरीराग्रमहिष्यादिविषया सचेतनवस्तुसंपद् अचेतना वस्त्राभरणादिविषया । मिश्रा अलंकृतदेव्यादिरूपा ॥२॥ अतियानं नगरप्रवेशस्तत्र ऋद्धिस्तोरणहट्टशोभाजनसंमर्दादिलक्षणा निर्याणं नगरान्निर्गमस्तत्रऋद्धिःहस्तिकल्पनसामन्तपरिवारादिका ॥३॥ बलञ्चतुरङ्गंवाहनानि वेगसरादीनि कोशो भाण्डागारं कोष्ठा धान्यभाजनानि तेषामगारं गृहं गेहं कोष्ठागारं धान्यगृहमित्यर्थः तेषां तान्येव वा ऋद्धिर्या सा तथा ॥४॥ सचित्तादिका पूर्ववद्भावनीयेति ॥५॥ ज्ञानर्द्धिर्विशिष्टश्रुतसंपत् --दर्शनर्द्धिः प्रवचने निश्शङ्कितादित्वं प्रवचनप्रभावकशास्त्रसम्पच्च । चारित्रर्द्धिः निरतिचारता ॥ ६ ॥ सचित्ता शिष्यादिका अचित्ता वस्त्रादिका मिश्रा तथैवेति इह च विकुर्वणादि ऋद्धयोऽन्येषामपि भवन्ति केवलं देवादीनां विशेषवत्यस्ता इति तेषामेवोक्ता इति । स्था० ३ ठा.

देवानामृद्धयो यथा ॥

सोधम्मीसाणं देवाणं केरिसगा इड्ढी पण्णत्ता ? गोयमा ! महिड्ढिया महज्जुइया जाव महाणुभागा इड्ढी पण्णत्ता जाव अच्चुओ गेवेज्जअणुत्तरा य सव्वे महिड्ढिया जाव सव्वे महाणुभावा अणिंदा जाव अहमिंदाणामं ते देवगणा पण्णत्ता समणाउसो ॥

(सोहम्मीत्यादि) सौधर्मेशानयोर्भदन्त ! कल्पयोर्देवाः कीदृशा ऋद्ध्या प्रज्ञप्ता भगवानाह-गौतम ! महर्द्धिका यावन्महानुभागा अमीषां पदानां व्याख्यानं पूर्ववत् एवं तावद्वक्तव्यं यावदनुत्तरोपपातिका देवाः । जीवा० ४ प्र० २ उ० ॥

सर्वजीवानां येषु यया शक्तिर्नास्ति तया आह ॥

छहिं ठाणेहिं सव्वजीवाणं णत्थि इड्ढीति वा जाव परक्कमेति वा-तं० जीवं वा अजीवं करणयाए अजीवं वा जीवं करणयाए एगसमएणं वा दो भासाओ भासित्तए सयं कडं वा कम्मं वेएमि वा मा वा वेएमि । परमाणुपोग्गलं वा छिंदित्तए वा भिंदित्तए वा अगणिकाएण समोदहित्तए बहिया वा लोगंता गमणयाए ।

(छहीत्यादि) । षट्सु स्थानेषु सर्वजीवानां संसारिमुक्तस्वरूपाणां नास्ति ऋद्धिर्विभूतिरिति इत्येवं प्रकारा यथा जीवादिरजीवादिः क्रियते वा विकल्पे एवं द्युतिः प्रभा माहात्म्यमित्यर्थः । यावत्कारणात् । "जसेइ वा बलेइ वा वीरिए वा पुरिसक्कारपरक्कमेइ वत्ति" इदं च व्याख्यातमनेकश इति न व्याख्यायते तद्यथा- ॥ जीवं वेत्यादि-जीवस्याजीवस्य करणतायां जीवमजीवं कर्तुमित्यर्थः १ अजीवस्य वा जीवस्य करणतायां २ (एगसमएणंवत्ति)युगपद्वा द्वे भाषे सत्यासत्यादिके भाषितुमिति ३ स्वयं कृतं वा कर्म वेदयामि वा मा वा वेदयामि इत्येवमवशेवेदनेऽवेदने वा नास्ति बलमिति प्रक्रमोऽयं अभिप्रायो नहीच्छावशतःप्राणिनां कर्मणःक्षपाक्षपणे स्तो बाहुबलेन इवाग्नित्वनाभोगनिर्वर्तिते ते भवतोऽन्यत्र केवलिसमुद्घातादिति ४ परमाणुपुद्गलं वा छेत्तुं खड्गादिना द्विधीकृत्य भेत्तुं वा सूच्यादिना विदूध्वा छेदादौ परमाणुत्वहानेरग्निकायेन वा समवदग्धुमतिसूक्ष्मत्वेनादाह्यत्वात्तस्येति ५ बहिस्ताद्वा लोकात्गमनतायाम् ६ अलोके कस्यापि लोकतापत्तेरितिजीवमजीवं कर्तुमित्युक्तम् । स्था० ६ ठा० । गोचरचर्याभूमिभेदे, यस्यामेकां दिशमभिगृह्योपाश्रयान्निर्गतः प्राञ्जलेनैव यथा समश्रेणिव्यवस्थितगृहपङ्क्तौ भिक्षां परिभ्रमन् तावद्याति यावत्पङ्क्तौ चरमगृहं ततो भिक्षां गृण्हन्नप्राप्तेऽपि प्राञ्जलयैव गत्या प्रतिनिवर्तते सा ऋद्धिरिति । वृ० १ उ० । वृद्धौ, सम्पत्तौ, सिद्धौ च । (ऋद्धिदर्शनेन सामायिकं लभ्यते तत्कथा च दसारणभद्दशब्दे)

इड्ढि [ऋद्धि] अप्पवट्टण-ऋद्ध्यप्रवर्तन-न० ऋद्धीनामामर्षौषध्यादीनामनुपजीवनेनाप्रवर्तनमव्यापारणम् । आमर्षौषध्यादीनामप्रवर्तने, द्वा० १८ द्वा०

Jain Education International. For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इड्ढीगारव–ऋद्धिगौरव–न० ऋद्ध्या नरेन्द्रादिपूजालक्षणया आचार्यत्वादिलक्षणया वाऽभिमानादिद्वारेण गौरवम् । ऋद्धे वा गौरवमृद्धिगौरवम् । भावगौरवभेदे,-तत्र ऋद्धिप्रत्य-भिमानप्राप्तिप्रार्थनाद्वारेणात्मनोऽशुभो भावो भावगौरवमित्य-र्थः । स्था० ३ ठा० ॥

इड्ढिगारवज्झाण–ऋद्धिगौरवध्यान-न० राज्यैश्वर्यादिरूपा ऋद्धि-स्तया गौरवमात्मोत्कर्षरूपं तस्य ध्यानं दशार्णभद्रस्येव ऋद्धि-गौरवध्यानम् । दुर्ध्यानभेदे,-आतु० ॥

इड्ढिपत्त–ऋद्धिप्राप्त– पुं० ऋद्धिरामर्षौषध्यादिलक्षणा तां प्राप्तः ऋद्धिप्राप्तः आमर्षौषध्यादिलक्षणामृद्धिम्प्राप्ते, । न० । ऋद्धि-ञ्च प्राप्नोति प्रथमतो विशिष्टमुत्तरोत्तरमपूर्वार्थप्रतिपादकं श्रुतम-वगाहमानः श्रुतसामर्थ्यतस्तीव्रतीव्रतरशुभभावनाभिरोहन्न प्रमत्तः सन् । उक्तञ्च "अवगाहते च स श्रुतजलधिं प्राप्नोति चा-वधिज्ञानम् । मनसः पर्यायं वा ज्ञानं कोष्ठादिबुद्धिर्वा" इति । प्रज्ञा० २१ पद ॥

प्राप्तर्द्धि– पुं० आमर्षौषध्यादिका ऋद्धिः प्राप्ता यैस्ते प्राप्तर्द्धयः प्राप्तामर्षौषध्यादिके, "इड्ढीपत्ते य वोच्छामि" इह गाथाभङ्गभ-याद्व्यत्ययोऽन्यथा निष्ठान्तस्य बहुव्रीहौ पूर्वनिपात एव भव-तीति । विशे० ॥

इड्ढिपत्ताणुओग–ऋद्धिप्राप्त्यनुयोग–पुं० प्राप्तामर्षौषध्यादिक-स्य व्याख्याने, विशे० । (तच्च विस्तरतो लद्धिशब्दे द्रष्टव्यम्)

इड्ढिपत्तारिय–ऋद्धिप्राप्तार्य–पुं० आर्यभेदे,-"से किंतं इड्ढिप-त्तारिया छव्विहा पण्णत्ता तंजहा अरिहंता चक्कवट्टी बलदेवा वासुदेवा चारणा विज्जाहरा" प्रज्ञा० १ पद । स्था० ॥

इड्ढिमं (त)–ऋद्धिमत्– त्रि० ऋद्धिरामर्षौषध्यादिका सम्पत्-तदेवं रूपा प्रचुरा प्रशस्ताऽतिशायिनी वा ऋद्धिर्विद्यते येषान्ते ऋद्धिमन्तः । प्राप्तामर्षौषध्यादिऋद्धिके, । स्था० ५ ठा० । "इड्ढिमं णाम ईसरोत्ति" नि० चू० १५ उ० । महर्द्धिके, "एगे णं इड्ढिमंतेणं वाणियएणं" ऋद्धिमत्वे महर्द्धिकतायामिति, । सू० ३ उ० ॥ सम्पदुपेते, । दश० ७ अ० । तद्भेदा यथा । "पंचविहा इड्ढिमंता मणुस्सा पण्णत्ता तंजहा अरहंता चक्कवट्टी बलदेवा वासुदेवा भावियप्पाणो अणगारा" । भावितः सद्वासनया वासित आत्मा यैस्ते भावितात्मानोऽनगारा इति एतेषां च ऋ-द्धिमत्त्वमामर्षौषध्यादिभिः अर्हदादीनां तु चतुर्णां यथासंभ-वमामर्षौषध्यादिनाऽर्हत्वादिना चेति । स्था० ५ ठा० २ उ० ॥ "इड्ढिमंतं नरिंदस्स, इड्ढिमंतं तु आलवे" । ऋद्धिमन्तं सम्प-त्पुत्रं नरं दृष्ट्वा किमित्याह । ऋद्धिमन्तमिति ऋद्धिमानयमि-त्येवमालपेत् । व्यवहारतो मृषावादादिदोषपरिहारार्थमिति सूत्रार्थः । दश० ७ अ० ॥

इड्ढिमपुत्त–ऋद्धिमत्पुत्र–पुं० राजादौ, -इड्ढिमपुत्तो वा राजा-दीत्यर्थ इति ॥ नि० चू० १ उ० ॥

इड्ढिरससायगारवपर–ऋद्धिरससातगौरवपर–त्रि० ऋद्ध्या-दिषु गौरवमादरस्तत्प्रधाना ऋद्धिरससातगौरवपरा । ऋद्धिरससातादरप्रधाने, ऋद्धिरससायगारवपरा बहवे करणालसा परूवेंति । प्रश्न० २ द्वा० ॥

इड्ढिरससायगुरुय–ऋद्धिरससातगुरुक–त्रि० ऋद्धिराचार्यत्वा-दौ नरेन्द्रादिपूजा रसा मधुरादयो मनोज्ञाः सातं सुख-मेतानि गुरूण्यादरविषया यस्य सोऽयमृद्धिरससातगुरुकः । अथवा एभिर्गुरुकस्तेषां प्राप्तावभिमानतोऽप्राप्तौ च प्रार्थनातोऽ-शुभभावोपात्तकर्मभारतया लघुः । ऋद्धिरससातानामादर-कारके,-ऋद्धिरससातैरलघौ च । स्था० ३ ठा० ॥

इड्ढिरससायगुरुया छज्जीवनिकायघायनिरयाए ।
जे उवदिसंति मग्गं कुमग्गमग्गस्सिता ते उ ॥ १५ ॥

(इड्ढिरसेत्यादि ।) ये केचन अपुष्टधर्माणः शीतलविहारिणः ऋद्धिरससातगौरवेण गुरुका गुरुकर्माण आधाकर्माद्युपभोगेन षड्जीवनिकायव्यापादरताश्चापरे तेभ्यो मार्गं मोक्षमार्गमा-त्मानुचीर्णमुपदिशन्ति तथाहि शरीरमिदमाद्यं धर्मसाधनमिति मत्वा कालसंहननादिहानेश्चाधाकर्माद्युपभोगेऽपि न दोषाये-त्येवं प्रतिपादयन्ति । तदेवं प्रतिपादयन्तः कुत्सितमार्गास्ती-र्थकरास्तन्मार्गाश्रिता भवन्ति तु शब्दादेतेऽपि स्वयूथ्या एतदुप-दिशन्तः कुमार्गाश्रिता भवन्तीति किं पुनस्तीर्थिका इति । सूत्र० नि० १ श्रु० ११ अ० ॥

इड्ढिविभूसा–ऋद्धिविभूषा–स्त्री० ऋद्ध्या सत्कारेण निर्यामि-तायां विभूषायाम्, "इड्ढिविभूसा य परिकम्मे" इड्ढिसक्कारेण निज्जामिया विभूसेति । आव० ५ अ० ॥

इड्ढिसंजुत्त–ऋद्धिसंयुक्त– त्रि० ऋद्धयो नानाप्रकारा आमर्षौ-षध्यादयो लब्धयस्ताभिः संयुक्तः समन्वितः । आमर्षौषध्यादिल-ब्धिसमन्विते, । षो० १५ विव० ॥

इड्ढिसक्कारसमुदय–ऋद्धिसत्कारसमुदय– पुं० ऋद्धिसत्कारस-मुदाये, "इड्ढीसक्कारसमुदएणं ममं सरीरगस्स णीहरणं करेह" ऋद्ध्या ये सत्काराः पूजाविशेषास्तेषां यः समुदायः स तथा तेन अथवा ऋद्धिसत्कारसमुदायैरित्यर्थः । समुदयश्च जनानां सङ्घ इति । भ० १५ श० १ उ० । ऋद्ध्या वस्त्रसुवर्णा-दिसम्पदा सत्कारः पूजाविशेषस्तस्य समुदायो यः स तथेति । विपा० ३ अ० ॥

इड्ढिसिय–इड्ढिसिय– इड्ढिसियत्ति रूढिगम्या इति भ० ७ श० ३३ उ० ॥

इणं–एतत्–त्रि० विप्रकृष्टवर्तिनि, दे० ना० ॥

इणमो–एतत्–त्रि० अदूरवर्त्तिनि, दे० ना० ॥

इणिहं–इदानीम्–अ० एतत्कालेऽर्थे, दे० ना० ॥

इत्त–मत्–प्र० अस्त्यर्थे, आल्विल्लोल्लालवन्तमन्तेत्तेरमणामतोः ५९ इति मतोरित्तेत्यादेशः यथा–कव्वइत्तो माणइत्तो ' प्रा० ८ अ० २ पा० ।

इत्तर–इत्वर–त्रि० इण गतौ करप् १ पथिके २ नीचे ३ क्रूरकर्मणि च ४ खण्डे–पुं० स्त्रियां करबन्तत्वात् ङीप् सा चाभिसारिकायां स्त्रियाञ्च । वाच० । स्तोके (अल्पे) अनु० । उत्त० । नि० चू० अल्पकाले, अल्पकालीने, ध० २ अधि० । पंचा० । परिमित काले, । प्रव० ६ द्वा० । दश० । अल्पावस्थायिनि, । "इयमित्तरा णिविती" विवर्योपभोगकालपर्यन्तभाविनी इत्वराऽल्पावस्था-यिनी निवृत्तिरिति । आ० । इत्वरमल्पकालं यावच्चतुर्मासा-दिकालावच्छेदेनेत्यर्थ इति । पंचा । (इत्वरानशनस्य वक्तव्य ता ' अणसण ' शब्दे । चिलातादिगतस्थापनाया इत्वरत्वं ' ठवणा ' शब्दे । इत्वर व्रतानि 'वय' शब्दे । इत्वरचारित्राणि ' चरित्त ' शब्दे । स्थविरकल्पस्येत्वरत्वं ' कप्प ' शब्दे) प्रति क्रमणविशेषे च । तच्च स्वल्पकालिकं दैवसिकरात्रिकादि । स्था०

६ ठा० । पडिक्कमणं देवसिअं राइअं च इत्तरिअं " इत्वरं स्वल्पकालिकं दैवसिकादि इति । आव० ४ अ० ।

इत्तरकाल–इत्वरकाल–त्रि० । स्वल्पकाले, अनु० ।

इत्तरपरिग्गहा–इत्वरपरिग्रहा–स्त्री० इत्वरमल्पमुच्यते तत इत्वरमल्पं परिग्रहो यस्याः सा इत्वरपरिग्रहा इत्वरकालं परिग्रहो यस्याः सा तया कालशब्दलोपोऽत्र द्रष्टव्यः । अथवा इत्वरी-प्रतिपुरुषमयनशीला वेश्येत्यर्थः परिगृह्यत इति परिग्रहा कांचित्कालं भाटीप्रदानादिना संगृहीता इत्वरी चाऽसौ परिग्रहा च सा तया पुंवद्भावश्चात्र कार्यः। प्रव० ७ द्वा० । भाटीप्रदानेन कियन्तमपि कालं दिवसमासादिकं स्ववशीकृतायां वेश्यायाम्, आव० ६ अ०। (तां चासेवमानरूपस्य चतुर्थाणुव्रतस्य स्वदारसन्तोषस्यातिचार इति ' सदारसंतोस ' शब्दे)

इत्तरपरिग्गहिया–इत्वरपरिगृहीता–स्त्री० इत्वरकालं परिगृहीता कालशब्दलोपादित्वरपरिगृहीता, कियन्तमपि कालं दिवसमासादिकं भाटीप्रदानेन स्ववशीकृतायाम् वेश्यायाम् आव ६ अ० । ध० ।

इत्तरपरिग्गहियागमण–इत्वरपरिगृहीतागमन–न० इत्वरमल्पकालं भाटीप्रदानतः केनचित्स्ववशीकृता वेश्या तस्यां गमनम् । ध० २ अधि० । भाटीप्रदानेन कियन्तमपि कालं दिवसमासादिकं स्ववशीकृतायां मैथुनासेवनं, । आव० ६ अ० ॥ (चतुर्थाणुव्रतरूपस्वदारसंतोषस्यायमतिचार इति ' सदार संतोस' शब्दे)

इत्तरवास–इत्वरवास–पु० स्तोकनिवासे, "इह जीवियमेव पासहा, तरुणे एव वाससयस्स तुट्टती । इत्तरवासे य बुज्झह, गिद्धनरा कामेसु मुच्छिया" ॥ ८ ॥ साम्प्रतं सुबह्वप्यायुर्वर्षशतं तच्च तदन्ते त्रुट्यति । तच्च सागरोपमापेक्षया कतिपयनिमेषप्रायत्वात् इत्वरं वासकल्पं वर्त्तते स्तोकनिवासकल्पमित्येवं बुध्यध्वं यूयमिति । सूत्र० १ श्रु० २ अ० ॥

इत्तरिय–इत्वरिक–त्रि० इत्वरे स्तोके काले भवमित्वरिकम् नियतकालावधिके, उत्त० ३० अ० । इत्वरः स्तोकः कालो यत्रास्ति तदित्वरिकम् । मुहूर्त्तादिप्रमाण । पंचा० १० विव० । इत्वरोऽल्पः कालो वत्सरादिर्यस्यास्ति वैयावृत्यादेरसावित्वरिकः। पंचा० १२ विव० । स्वल्पकालीने, "इत्तरियं णाम थोवं इति" नि० चू० २ उ० । (इत्वरिकाऽनशनस्य वक्तव्यता " अणसण " शब्दे । इत्वरिकमरणवक्तव्यता ' मरण ' शब्दे । इत्वरिकोपधिप्रतिलेखना 'पडिलेहणा' शब्दे । इत्वरिकसामायिकवक्तव्यता ' सामाइय ' शब्दे इत्वरिक वैयावृत्त्यवक्तव्यता वेयावच्च शब्दे) ॥

इत्तरी–इत्वरी–स्त्री० इत्वरी प्रतिपुरुषमयनशीला । भाटीप्रदानेन स्तोककालं परिगृहीतायां वेश्यायाम् । पंचा० १ विव० ॥

इत्तिअ–एतावत्–त्रि० एतत्परिमाणे, । एतदः परिमाणे डावतु प्रत्ययः । ' यत्तदेतदोऽतोरित्तिअ एतल्लुक् च' । ८ । २ । १५६ इति प्राकृतसूत्रेण-एतदं लुक्त्वा डावतु स्थाने इत्तिअ आदेशः । प्रा० व्या० ।

इत्तो (इदो)–(इओ) इतस्–अव्य० इदम्–तसिल् अस्मादित्यर्थे ' त्तो दो तसो वा' । ८ । २ । १६० । इति प्राकृतसूत्रेण तसः स्थाने त्तो दो इत्यादेशौ वा । प्रा० व्या० । अस्मिन्नित्यर्थे च । वाच० ॥

इत्थम्–इत्थम्–अव्य० इदम्–थमु–इदंप्रकारेण इत्थं भावः इत्थंभूतः । वाच० । इदं प्रकारमापन्ने, । प्रज्ञा० २ पद । अनेन प्रकारेणेत्यर्थे च । विशे० । उक्तप्रकारेणेत्यर्थे, । द्वा० २१ द्वा० ॥ पूर्वोक्तप्रकारेणेत्यर्थे, । ठ० ॥

इत्थंथ–इत्थंस्थ त्रि० इत्थं तिष्ठतीति इत्थंस्थः । आ० म० द्वि० । प्रज्ञा० । अनेन प्रकारेण स्थिते, विशे० । " इत्थंथं च चयइ सव्वसो सिद्धे वा हवइ सासए " दश० ९ अ० ४ उ० ॥

इत्थि (त्थी) आणमणी–स्त्र्याज्ञापनी–स्त्री० आज्ञाप्यतेऽआज्ञासम्पादने प्रयुज्यतेऽनया सा आज्ञापनी । स्त्रिया आज्ञापनी स्त्र्याज्ञापनी । स्त्रिया आदेशदायिन्यामभाषायाम् । प्रज्ञा० २ पद ।

इत्थि (त्थी) कम्म–स्त्रीकर्मन्–न० स्त्रियो नरतिरश्च स्तासां कर्म वशीकरणादिकर्म । स्त्रीणां वशीकरणादिकर्मणि, "परिग्गहित्थिकम्मं च तं विज्जं परिजाणिया " सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ॥

इत्थि– (त्थी) कला–स्त्रीकला–स्त्री० महिलागुणे, ते च चतुष्षष्टिसंख्याकाः । " चोसट्ठिं महिलागुणे " जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तौ तु चतुष्षष्टिः स्त्रीकलाश्चेमाः । नृत्यम् १ औचित्यं २ चित्रं ३ वादित्रं ४ मन्त्रम् ५ ज्ञानं ६ विज्ञानं ७ दण्डः ८ जलस्तम्भः ९ गीतगानं १० तालमानं ११ मेघवृष्टिः १२ फलाकृष्टिः १३ तन्त्रम् १४ आरामगोपनम् १५ आकारगोपनं १६ धर्मविचारः १७ शकुनसारः १८ क्रियाकल्पः १९ संस्कृतजल्पः २० प्रासादनीतिः २१ धर्मरीतिः २२ वर्णिकावृद्धिः २३ स्वर्णसिद्धिः २४ सुरभितैलकरणं २५ लीलासंचरणं २६ हयगजपरीक्षणं २७ पुरुषस्त्रीलक्षणं २८ हेमरत्नभेदः २९ अष्टादशलिपिपरिच्छेदः ३० तत्कालबुद्धिः ३१ वस्तुसिद्धिः ३२ कामविक्रिया ३३ वैद्यकक्रिया ३४ कुम्भभ्रमः ३५ सारिश्रमः ३६ अञ्जनयोगः ३७ चूर्णयोगः ३८ हस्तलाघवं ३९ वचनपाटवम् ४० भोज्यविधिः ४१ वाणिज्यविधिः ४२ मुखमण्डनं ४३ शालिखण्डनं ४४ कथाकथनं ४५ पुष्पग्रन्थनं ४६ वक्रोक्तिः ४७ काव्यशक्तिः ४८ सर्वभाषाविशेषः ४९ अभिधानज्ञानं ५० भूषणपरिधानं ५१ भृत्योपचारः ५२ गृहाचारः ५३ वेशरचनं ५४ व्याकरणं ५५ परनिराकरणं ५६ रन्धनं ५७ केशबन्धनं ५८ वीणानादः ५९ वितण्डावादः ६० अंकविचारः ६१ लोकव्यवहारः ६२ अन्त्याक्षरिका ६३ प्रश्नप्रहेलिका ६४ इति । अत्रोपलक्षणादुक्तातिरिक्ताः स्त्रीपुरुषकला ग्रन्थान्तरे लोके च प्रसिद्धा ज्ञेयाः । अत्र च पुरुषकलासु स्त्रीकलानां स्त्रीकलासु च पुरुषकलानां सङ्कर्यं तदुभयोपयोगित्वात् । ननु तर्हि ' चोसट्ठिं महिलागुणे इति ' ग्रन्थविरोध उच्यते न ह्ययं ग्रन्थः स्त्रीमात्रगुणख्यापनपरः किंतु स्त्रीस्वरूपप्रतिपादकस्तेन क्वचित् पुरुषगुणत्वेऽपि न विरोधः । कलाद्वयस्योक्तसंख्याकत्वं तु प्रायो बहूपयोगित्वादित्यलं विस्तरेण । जं० २ वक्ष० ।

इत्थि (त्थी) कलेवर–स्त्रीकलेवर–न० योषिच्छरीरे,

अब्बंभे पुण विरई, मोहदुगंछा स तत्तचिंता य ।
इत्थीकलेवराणं, तव्विरएसुं च बहुमाणो ४६ ॥

अब्रह्मणि स्त्रीपरिभोगलक्षणे पुनःशब्दो विशेषणे तद्भावना चैवं गुर्वादिषु स्मरणं कर्त्तव्यमब्रह्मणि पुनर्विरतिर्निवृत्तिः कार्या तथा मोहजुगुप्सा स्त्रीपरिभोगहेतुवेदादिमोहनीयनिन्दा यथा धिग्लज्जनीयमतिगोप्यमदर्शनीयं बीभत्समुल्बणं मलाविलप्रतिगन्धि तद्याचते कामिजनस्तदेवम् । किंवा दुनोति न मनोभवं वा मनसा इत्यादि । तथा स्वतत्त्वचिन्तास्वरूपचिन्तनं केषां स्त्रीकलेवराणां योषिद्देहानां यथा शुक्रशोणितसम्भूतं नवच्छिद्रं मलोल्बणमस्थिशृङ्खलिकामात्रं हन्त योषिच्छरीरकं तद्विर-

सेष्वब्रह्मनिवृत्तेषु मुनिषु । चशब्दः समुच्चये बहुमानोऽसरङ्ग-प्रीतिरूपो विधेयो यथा-धन्यास्ते वन्दनीयास्ते तैस्त्रैलोक्यं पवित्रितं । यैरेष भुवनक्लेशी काममल्लो निपातितः । पंचा० १ विव० ॥

इत्थि (त्थी) कहा–स्त्रीकथा–स्त्री० स्त्रीणां स्त्रीषु वा कथा स्त्रीकथा । स्त्रीकथाविकथाभेदे, इयं च कथेत्युक्तापि स्त्री-विषयत्वेन संयमविरुद्धत्वाद्विकथेति भावनीयेति । स्त्रीकथाया भेदा यथा—

इत्थी कहा चउव्विहा पण्णत्ता तंजहा इत्थीणं जाइकहा इत्थीणं कुलकहा इत्थीणं रूवकहा इत्थीणं नेवत्थकहा ।

ब्राह्मणीप्रभृतीनामन्यतमाया या प्रशंसा निन्दा वा सा जात्या जातेर्वा कथेति जातिकथा । यथा-धिक् ब्राह्मणीर्धवाभावे, या जीवन्ति मृता इव । धन्या मन्ये जनैः शूद्रीः पतिलक्षेऽप्यनिन्दिता ॥ १ ॥ एवं मुग्रादिकुलोत्पन्नानामन्यतमायाः यत्प्रशंसादि सा कुलकथा । यथा-अहो चौलुक्यपुत्रीणां, साहसं जगतोऽधिकं । पत्युर्मृत्यौ विशत्यग्नौ, या प्रेमरहिता अपि ॥ २ ॥ आन्ध्रीप्रभृतीनामन्यतमायाः रूपस्य यत् प्रशंसादि सा रूपकथा । यथा-चन्द्रवक्त्रा सरोजाक्षी, सद्गीः पीनघनस्तनी । किं लाटी नामतः सा स्या–देवानामपि दुर्लभा ॥ ३ ॥ तासामेवान्यतमायाः कच्छबन्धादि नेपथ्यस्य यत्प्रशंसादि सा नेपथ्यकथेति । यथा—धिङ्नारीरौदीच्या, बहुवसनाच्छादिताङ्गलतिकत्वात् । यद्यौवनं न यूनां, चक्षुर्मोदाय भवति सदा ॥ स्था० ४ ठा० ॥

तत्र जातिकथा–ब्राह्मणीप्रभृतीनामन्यतमां प्रशंसति द्वेष्टि वा कुलप्रसूतानामन्यतमां, रूपकथा आन्ध्रीप्रभृतीनामन्यतमाया रूपं प्रशंसति "आन्ध्रीणां च भ्रुवं लीला चलितं भूतले भुवे । आसज्य राज्यभारं स्वं, सुखं स्वपिति मन्मथ–इत्यादिना द्वेष्टि वा तथा नेपथ्यकथान्ध्रीप्रभृतीनामेवान्यतमायाः कथादिनेपथ्यं प्रशंसति द्वेष्टि वा । आव ४ अ० । जाति कथायां ब्राह्मणीप्रभृतीनामन्यतमां प्रशंसति द्वेष्टि वा, कुलकथायां पुनरुग्रादिकुलप्रसूतां वा । रूपकथा या रूपोद्देशेन विधीयते यथा । "आन्ध्रीणां रूपसौन्दर्यं, कालिङ्ग्या जघनं परम् । लाट्या विलसितं चारु कर्णाट्यास्सुरतिप्रदा" ॥ अथवा निन्दति । मालविकी स्वनाला प्या, वराकी रूपवर्जिता । सौराष्ट्री कच्छजातापि, त्याज्या दुर्भगशेखरा ॥ नेपथ्यं केशचीवरसमारचनरूपं तद्रूपकथा नेपथ्यकथा—यथा । लाट्यास्तु कञ्चुकश्चरुरांश्च्यासीमन्तको नघः । वेणिबन्धस्तु सौराष्ट्र्याः, कालिङ्ग्या नीविबन्धनम् । दश० ॥ इत्थिकहा–पसंसा निंदा सरूवा जहा सा तणुय तणू सुभगा सोममुही पउमपत्तनयणिल्ला गुरुयनियंबा उन्नयपओहरा ललियगयगमणा ॥ तहा करहगई कागसरा य दुब्भगा लंबजठरा पिंगच्छी दुःसीला दुप्भासा धिक्कीकोनिय इति ग० १ अधि० । आ० चू० । स्त्रीकथा दूरतस्त्याज्या तथा च-"सा तन्वी सुभगा मनोहररुचिः कान्तेक्षणा भोगिनी, तस्या हारि नितम्बबिम्बमथवा विप्रेक्षितं सुभ्रुवः । धिक्कृतामुष्ट्रगतिं मलीमसतनुं काकस्वरां दुर्भगा–मित्थं स्त्रीजनवर्णनिन्दनकथा दूरेस्तु धर्मार्थिनाम" ॥ इति ॥ ध० २० । (स्त्रीकथापरित्यागस्य ब्रह्मचर्यसमाधिस्थानत्वं 'बंभचेरसमाहिट्ठाण' शब्दे 'बंभचेरगुत्ति' शब्दे च)

आयपरमोहुदीरण उड्डाहो सुत्तमाइपरिहाणी ।
बंभवए य अगुत्ती, पसंगदोसा य गमणाइ ॥१२१॥

इत्थिकहं करेंतस्स अप्पणो मोहोदीरणं भवति-जस्स वा करेंत्ति परस्स तस्स मोहोदीरणं भवति-इत्थिकहं करेंतो सुओ लोएणं उड्डाहो अहो ज्झाणोवउत्ता तवस्सिणो जाव इत्थिकहं करेंति ताव सुत्तपरिहाणी आदिसहातो अत्थस्स अण्णेसिं च संजमो गाणं बंभव्वए अगुत्ती भवति भणियं च "वसहिकहणिसेज्जिंदिय, कुडुंतरपुव्वकीलियपणीते । अतिमायाहारविभू-सणायणं च बंभगुत्तीओ" ॥ एवं अगुत्ती भवति पसंग एव दोसो पसंगदोसो कहापसंगाओ वा दोसा भवंति ते य गमणादी गमणं उ णिक्खमई आदिसद्दाओ वा कुलिंगी भवति स लिंगठितो वा आगारिं पडिसेवति संजतिं वा हत्थकम्मं वा करेति स्त्रीकथायां प्रायश्चित्तम् । इत्थीणं कहा–इत्थिकहा सा चउव्विहा इमा—

जातीकथं कुलकथं, रूवकथं बहुविहं च सिंगारं ।
एता कथा कथिंते, चतुजमला कालगा चतुरो ॥११९॥

जातिमादिया उ (चउजमलत्ति) चत्तारि जमला मासउविज्जंति माससामण्णे किं गुरुगा लहुगा भण्णति (कालगा) कालगतिगुरुगा मासा तेहिं चउहिं मासेहिं चउगुरुगत्ति भणियं भवति परिसगा चउगुरुगा चउरो भण्णति भवंति जाइकहाए चउगुरुं, कुलकहाए चउगुरुं, रूवकहाए चउगुरुं, सिंगारकहाए चउगुरुं एवं चउरो जातिए तवकालेहिं लहुगं कुलेकालगुरुं तवे लहुगं रूवे तवगुरुगं काललहुं सिंगारे दोहिं विगुरुं अहवा चत्तारि जमला जातिमातिसु भवंति के ते कालगा चउरो चउगुरुगत्ति भणियं भवति तवकालविसेसो तहेव अहवा चउरोत्ति संखा जमलं दो ते य तवकाला ताणि तवकाला जुयलाणि चउरत्ति भणियं भवति कालगा इति बहुवयणा चउगुरु ताणि चउगुरुगाणि चउरो भणाऊस्स वक्खाणगाहा इमा ॥

माति समुत्थातिपिति, वंसकुलं अहव ओग्गादी ।
वण्णाकित्तियरूवं, गतिपेहिति भास सिंगारे ॥१२०॥

माउप्पसादा रूवं भवति जहा सोमलेप्पणं एवं आ कहा सा जाइकहा । पिउपसादा रूवं भवति जहा एगो सुवण्णगारो अव्वत्थं रूवस्सी गणिगाहिं भाडिदाउं णिज्जाति रिक्खकाले जातेण जाया सा रूवस्सिणी भवति एवं कुलकहा सेसं कंठं । नि० चू० १ उ० ॥

इत्थि (त्थी) काम–स्त्रीकाम–पु० स्त्रीप्रधानाः कामाः स्त्रीकामाः । स्त्रियोपलक्षिता वा काम्यन्त इति कामाः स्त्रीकामाः रूपादिविषयेषु मदनकामविषयभूतासु स्त्रीषु कामेषु, शब्दादिषु च । स्त्रीकामेषु प्रसक्तानान्नरकयातना भवतीति यथा—

एवमेव ते इत्थिकामेहिं मुच्छिया गिद्धा गढिया अज्झोववन्ना जाव वासाइं चउपंचमाइं छद्दसमाइ वा अप्पतरो वा भुज्जतरो वा कालं भुंजित्तु भोगभोगाइं पविसुत्ता वेरायतणाइं संचिणित्ता बहूइं पावाइं कम्माइं उसन्नाइं संभारकडेण कम्मणा से जहा णामए अयगोलइ वा सेलगोलइ वा उदगंसि पक्खित्ते समाणे उदगतलमइवइत्ताइ अहे धरणितलपइट्ठाणे भवइ एवमेव तहप्पगारे पुरिसजाते वज्जबहुले धुतबहुले पंकबहुले वेरबहुले आपत्तियबहुले दंभबहुले णियडिबहुले साइबहुले अयसबहुले उसन्नतसपाणघाती कालमासे कालं किच्चा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धरणितलमइवत्ताइ अहे णरगतलपइट्ठाणे भवइ ॥६५॥

ते च विषयासक्ततया एतत्कुर्वन्तीत्येतद्दर्शयितुमाह (एव मेव इत्यादि) एवमेव पूर्वोक्तस्वभावा एवं ते निष्कृपा निरनुक्रोशा बाह्याभ्यन्तरपर्षदोरपि कर्णनासाविकर्त्तनादिना दण्डपातनस्वभावाः । स्त्रीप्रधानाः कामाः स्त्रीकामाः यदि वा स्त्रीषु मदनकामविषयभूतासु कामेषु च शब्दादिषु इच्छाकामेषु मूर्च्छिता गृद्धा ग्रथिता अध्युपपन्नाः एते च शक्रपुरंदरादिवत् पर्यायाः कथञ्चिद्भेदं वाऽऽश्रित्य व्याख्येयाः । ते च भोगासक्ता व्यपगतपरलोकाध्यवसाया यावद्वर्षाणि चतुः पञ्च षट् सप्त वा दश वाऽल्पतरं वा कालं भुक्त्वा भोगासक्ततया च परपीडोत्पादनतो वैरायतनानि वैरानुबन्धाननुप्रसूयोत्पाद्य विधाय तथा सञ्चयित्वा सञ्चिन्त्योपचित्य बहूनि प्रभूततरकालस्थितिकानि क्रूराणि क्रूरविपाकानि नरकादिषु यातनास्थानेषु क्रकचपाटनशाल्मल्यवरोहणतप्तत्रपुपानात्मकानि कर्माण्यष्टप्रकाराणि बद्धस्पृष्टनिधत्तनिकाचनावस्थानि विधाय तेन च संभारकृतेन कर्मणा प्रेर्यमाणास्तत्कर्मगुरवो वा नरकतलप्रतिष्ठानां भवन्तीत्युत्तरक्रियया पादितबहुवचनरूपयेति संबन्धः । अस्मिन्नेवार्थे सर्वलोकप्रतीतं दृष्टान्तमाह (से जहा णामए ति) तद्यथा नामायोगोलकोऽयस्पिण्डः शिलागोलको वृत्ताश्मशकलं वा उदके प्रक्षिप्तः समानसलिलतलमतिवर्त्यातिलङ्घ्याऽधो धरणीतले प्रतिष्ठानो भवति । अधुना दार्ष्टान्तिकमाह (एवमेवेत्यादि) यथासावयोगोलको वृत्तत्वाच्छीघ्रमेवाधो यात्येवमेव तथा प्रकारः पुरुषजातः तमेव लेशतो दर्शयति । वज्रवद्वज्रं गुरुत्वात्कर्म तद्बहुलस्तत्करणप्रचुरस्तथा बध्यमानकर्म गुरुरित्यर्थः । तथा धूयत इति धूतं प्राग्बद्धं कर्म तत्प्रचुरः । पुनः सामान्येनाह पङ्कयतीति पङ्कं पापं तद्बहुलस्तथा । तदेव कारणतो दर्शयितुमाह । वैरबहुलो वैरानुबन्धप्रचुरस्तथा (पत्तियंति) मनसो दुष्प्रणिधानं तत्प्रधानस्तथा दम्भो मायया परवञ्चनं तदुत्कटस्तथा निकृतिर्मायावेषभाषापरावृत्तिरूपतना परद्रोहबुद्धिस्तन्मयस्तथा सातिबहुल इति सातिशयेन द्रव्येणापरस्य हीनगुणस्य द्रव्यस्य संयोगः सातिस्तद्बहुलस्तत्करणप्रचुरस्तथाऽयशोऽश्लाघा संवृत्ततया निन्दा यानि यानि परापकारभूतानि कर्मानुष्ठानानि विधत्ते तेषु तेषु कर्मसु करचरणच्छेदनादिषु अयशोभाग्भवतीति स एवंभूतः पुरुषः कालमासे स्वायुषः क्षये कालं कृत्वा पृथिव्या रत्नप्रभादिकायास्तलमतिवर्त्य योजनसहस्रपरिमाणमतिलङ्घ्य नरकतलप्रतिष्ठानोऽसौ भवति ॥ ६५ ॥

एवमेव ते इत्थिकामेहिं मुच्छिया गिद्धा गढिया गरहिया अज्झोववन्ना जाव वासाइं चउपंचमाइं छद्दसमाइं अप्पयरो वा भुज्जयरो वा भुंजित्तु भोगभोगाइं कालमासे कालं किच्चा अन्नयरेसु आसुरिएसु किब्बिसिएसु ठाणेसु उववत्तारो भवंति ततो विप्पमुच्चमाणे भुज्जो भुज्जो एलमूयत्ताए तमूयत्ताए जाइ मूयत्ताए पच्चायंति ॥ २१ ।

एवमेव पूर्वोक्तेनैव कारणत्वेनातिमूढत्वादिना परमार्थमजानानास्ते तीर्थिकाः स्त्रीप्रधानाः कामाः स्त्रीकामाः । यदि वा स्त्रीषु कामेषु च शब्दादिषु मूर्च्छिता गृद्धा ग्रथिता अध्युपपन्नाः । अत्रात्यादरख्यापनार्थं प्रभूतपर्यायग्रहणं एतच्च स्त्रीषु शब्दादिषु च प्रवर्त्तनं प्रायः प्राणिनां प्रधानं संसारकारणं तथाचोक्तं " मूलमेय महम्मस्स महादोससमुस्सयमित्यादि" स्त्रीसक्तस्यावश्यंभाविनी शब्दादिविषयासक्तिरित्यतः स्त्रीकामग्रहणं तत्र चासक्ताः यावन्तं कालमासते तत्सूत्रेणैव दर्शयति । यावद्वर्षाणि चतुः पञ्चषड्दशकानि । अयं च मध्यमकालो गृहीतः । एतावत्कालोपादानं च साभिप्रायं प्रायस्तीर्थिका अतिक्रान्तवयस एव प्रव्रजन्ति तेषां चैतावानेव कालः संभाव्यते यदि वा मध्यग्रहणात्तत ऊर्ध्वमधश्च गृह्यते इति दर्शयति । तस्माच्चोपात्तादल्पतरप्रभूततरो वापि कालो भवति । तत्र च ते त्यक्त्वापि गृहवासं भुक्त्वा भोगभोगान् इति स्त्रीभोगे सति अवश्यं शब्दादयो भोगा भोगभोगास्तान् भुक्त्वा ते च किल वयं प्रव्रजिता इति न च भोगेभ्यो विनिवृत्ताः यतो मिथ्यादृष्टितया ज्ञानान्धत्वात्सम्यग्विरतिपरिणामरहितास्ते चैवंभूतपरिणामाः स्वायुषः कालमासे कालं कृत्वा निकृष्टतपसोऽपि सन्तोऽन्यतरेष्वासुरिकेषु किल्विषिकेषु स्थानेषूत्पादयितारो भवन्ति । ते ह्यज्ञानतपसा मृता अपि किल्विषिकेषु स्थानेषूत्पत्स्यन्ते तस्मादपि स्थानादायुषः क्षयाद्विप्रमुच्यमानाश्च्युताः किल्विषिकबहुलास्तत्कर्मशेषेणैलवन्मूका एलमूकास्तद्भावेनोत्पद्यन्ते । किल्विषिकस्थानाच्च्युतः सन्ननन्तरभवे वा मानुषत्वमवाप्य यथैलमूकोऽव्यक्तवाक् समुत्पद्यत इति । तथा (तमूयत्ताए त्ति) तमस्त्वेन जात्यन्धतया अत्यन्ताऽज्ञानावृततया वा तथा जातिमूकत्वेनापगतवाच इह प्रत्यागच्छन्तीति । सूत्र० २ श्रु० २ अ० । द्श० ।

इत्थि (त्थी) कामभोग—स्त्रीकामभोग— पुं० स्त्रीप्रधाना स्त्रियोपलक्षिता वा काम्यन्त इति कामा भुज्यन्त इति भोगाः स्त्रीकामभोगाः । स्त्र्यादिकामभोगेषु, स्त्रीकामभोगासक्तानां परिणाममाह—

एवमेव ते इत्थिकामभोगेहिं मुच्छिया गिद्धा गढिया अज्झोववन्ना लुद्धा रागदोसवसट्टा ते णो अप्पाणं समुच्छेदेंति, ते णो परं समुच्छेदेंति, णो अन्नाइं पाणाइं भूताइं जीवाइं सत्ताइं समुच्छेदेंति, पहीणा पुव्वसंजोगं आयरियं मग्गं असंपत्ता इति ते णो हव्वाए णो पाराए अंतरा कामभोगेसु विसन्ना ॥ १७ ॥

एवमेव पूर्वोक्तप्रकारेण स्त्रीप्रधानाः स्त्रियोपलक्षिता वा काम्यन्त इति कामा भुज्यन्त इति भोगास्तेषु सातबहुलतयाऽजितेन्द्रियाः सन्तस्तेषु कामभोगेषु मुर्च्छिता एकीभावतामापन्ना गृद्धाः काङ्क्षावन्तो ग्रथिता अवबद्धा अध्युपपन्ना आधिक्येन भोगेषु लुब्धा रागद्वेषार्त्ता रागद्वेषवशगा कामभोगान्धा वा त एवं कामभोगेषु आश्रवबद्धा सन्तो नात्मानं संसारात्कर्मपाशाद्वा समुच्छेदयन्ति मोचयन्ति नापि परं सदुपदेशदानतः कर्मपाशावपाशितं समुच्छेदयन्ति कर्मबंधांस्त्रोटयन्ति नाप्यन्यान् दशविधप्राणवर्तिनः प्राणान् प्राणिनस्तथा वाऽभूवन् भवन्ति भविष्यन्ति च भूतानि तथा वा आयुष्कधारणाज्जीवास्तांस्तथासत्त्वास्तथाविधवीर्यान्तरायक्षयोपशमापादितवीर्यगुणोपेतास्तांश्च समुच्छेदयन्ति । असदभिप्रायप्रवृत्तत्वात् । ते चैवंविधास्तज्जीवतच्छरीरवादिनो लोकायतिका अजितेन्द्रियतया कामभोगावसक्ताः पूर्वसंयोगात्पुत्रदारादिकात्प्रहीणाः प्रभ्रष्टा आराद्याताः सर्वहेयधर्मेभ्यः इत्यार्यो मार्गः सदनुष्ठानरूपस्तमसंप्राप्ता इत्येवं पूर्वोक्तया नीत्या ऐहिकामुष्मिकलोकद्वयसदनुष्ठानभ्रष्टा अन्तराल एव भोगेषु विषण्णास्तिष्ठन्ति । सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

इत्थि (त्थी) गण—स्त्रीगण—पुं० स्त्रीसमूहे, । "नो इत्थिगणाणं सेविता भवइ" नो स्त्रीगणानां पर्युपासको भवेदिति । स्था० ९ ठा० ।

इत्थि (त्थी) गब्भ—स्त्रीगर्भ— पुं० स्त्रियाः सम्बन्धी गर्भः स-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीवपुद्गलपिण्डकः स्त्रीगर्भः । स्त्रीसम्बन्धिनि सजीवपुद्गलपिण्डके, भ० ५ श० ४ उ० । (तद्वक्तव्यता 'गब्भ' शब्दे)

इत्थि (त्थी) गुम्म-स्त्रीगुल्म-न० युवतिजने, । "इत्थिगुम्मं परिविवुडे"- ॥ स्त्रीगुल्मेन युवतिजनेन सार्द्धमपरपरिवारेण स परिवृतो वेष्टित इति। दशा० १० अ० ॥

इत्थि (त्थी) चिंध-स्त्रीचिन्ह-न० स्त्रिया असाधारणं चिह्नम् । योनौ, स्त्रिया असाधारणे चिह्ने, स्तनादौ,-स्त्रीलक्षणे, वाच०।

इत्थि (त्थी) चोर-स्त्रीचौर-पु० स्त्रियाः सकाशात् स्त्रीमेव चोरयन्ति स्त्रीरूपा वा ये चौरास्ते स्त्रीचौराः । चौरविशेषे, प्रश्न० ३ द्वा० ॥

इत्थि (त्थी) जण-स्त्रीजन-पु० योषिज्जने आचा० १श्रु० ४ अ.

इत्थि (त्थी) जिय-स्त्रीजित-त्रि० स्त्रिया जितः जिन्क स्त्रीवश्ये, । स्त्रीजितस्पर्शमात्रेण सर्वं पुण्यं प्रणश्यति । न भूमौ पातकी पापात् पापिनां स्त्रीजितात्परः । वाच० ।

इत्थि (त्थी) ट्ठाण-स्त्रीस्थान-न० स्त्रियः तिष्ठन्ति येषु तानि स्थानानि निषद्याः स्त्रीस्थानानि । स्त्रीणां निषद्यायाम्, " नो इत्थिट्ठाणाइं सेवित्ता भवइ " स्था० ९ ठा० ॥

इत्थि (त्थी) णपुंसग-स्त्रीनपुंसक-न० नपुंसकभेदे, " इत्थिणपुंसगा अपच्चावणिज्जत्ति " नि० चू० १ उ० ॥

इत्थि (त्थी) णाम-स्त्रीनामन्-न० कर्मविशेषे, स्त्रीपरिणामः स्त्रीत्वं यदुदयाद् भवति। द्वा० ८ अ० ॥

इत्थि (त्थी) णामगोयकम्म-स्त्रीनामगोत्रकर्मन्-न० स्त्री नाम-स्त्रीपरिणामः स्त्रीत्वं यदुदयाद्भवति तत्स्त्रीनामभिति गोत्रमभिधानं यस्य तत् स्त्रीनामगोत्रम् । अथवा यत्स्त्रीप्रायोग्यं नाम कर्मगोत्रं च तत् स्त्रीनामगोत्रकर्म्म । स्त्रीप्रायोग्ये नाम कर्म्मणि, गोत्रकर्मणि च । द्वा० ८ अ० ।

इत्थि (त्थी) तित्थ-स्त्रीतीर्थ-न० स्त्री योषित्तस्यास्तीर्थकरत्वेनोत्पन्नायास्तीर्थं द्वादशाङ्गं संघो वा स्त्रीतीर्थम् । मल्लितीर्थंकरप्रणीते द्वादशाङ्गे, तत्सम्बन्धिनि संघे च। स्था० १० ठा० (स्त्रीतीर्थस्याश्चर्यत्वम् 'अच्छेर' शब्दे)

इत्थि (त्थी) दोस-स्त्रीदोष-पु० स्त्रीणां दोषे, " इत्थिदोसं संकिणो होंति " स्त्रिया सह उल्लपन्तं दृष्ट्वा स्त्रीदोषाशङ्किनश्च ते भवन्तीति। सूत्र० १श्रु० ४ अ० १ उ० (ते च स्त्रीदोषा 'इत्थी' शब्दे द्रष्टव्याः)

इत्थि (त्थी) पच्छाकड-स्त्रीपश्चात्कृत-पु० पश्चात्कृतस्त्रीत्वे, (इत्थिपच्छा कओ वंधइ) भावप्रधानत्वान्निर्देशस्य स्त्रीत्वं पश्चात्कृतं भूततां नीतं येनावेदकेनासौ स्त्रीपश्चात्कृत इति। भ० ८ श० ८ उ० ॥

इत्थि (त्थी) पण्णवणी-स्त्रीप्रज्ञापनी-स्त्री० स्त्रीलक्षणप्रतिपादिकायाम् योनिर्मृदुत्वमस्थैर्यं मुग्धतेत्यादिरूपायाम्भाषायाम्, प्रज्ञा० ११ पद ।(तद्वक्तव्यता 'भासा' शब्दे)

इत्थि (त्थी) परिण्णज्झयण-स्त्रीपरिज्ञाध्ययन-न० सूत्रकृताङ्गस्य चतुर्थेऽध्ययने, तत्र द्वावुद्देशकौ तदर्थसङ्ग्रहसूत्रकृताङ्गनिर्युक्तौ यथा—

पढमे संथवसंलव, माइहि खलणाउ होंति सीलस्स ॥
बितिए इहेव खलिय-स्स अवत्था कम्मबंधो य ॥५८॥

प्रथमे उद्देशके अध्ययनार्थाधिकारः तद्यथा स्त्रीभिः सार्द्धं संस्तवेन परिचयेन यथा संलापेन भिन्नकथाद्यालापेनादिग्रहणादङ्गप्रत्यङ्गनिरीक्षणादिना कामोत्कान्तकारिणा भवेदल्पसत्त्वस्य शीलस्य चारित्रस्य स्खलनाऽनुशब्दात्तत्परित्यागो वेति। द्वितीये त्वयमर्थाधिकारस्तद्यथा शीलस्खलितस्य साधोरिहैवास्मिन्नेव जन्मनि स्वपक्षपरपक्षकृता तिरस्कारादिका विडम्बना तत्प्रत्ययश्च कर्मबन्धस्ततश्च संसारसागरपर्यटनमिति किं-स्त्रीभिः कश्चित् शीलात् प्रच्याव्यात्मवशीकृतो येनैव मुच्यते कृत इति दर्शयितुमाह—

सूरा मो मन्नंता, कति वयियाहि उवहिप्पहाणाहिं ।
गहियाहुं अभय पज्जोय-कूलवालादिणो बहवे ॥५९॥

बहवः पुरुषा अभयप्रद्योतकूलवालादयः शूरा वयमित्येवं मन्यमानाः मो इति निपातो वाक्यालंकारार्थः कृत्रिमाभिः सद्भावरहिताभिः स्त्रीभिस्तयोपधिर्माया तत्प्रधानाभिः कृतकपटशताभिर्गृहीत्वा आत्मवशतां नीताः केचन राज्यादपरे शीलात् प्रच्याव्येहैव विडम्बनां प्रापिताः। अभयकुमारादिकथानकानि च मूलादावश्यकादवगन्तव्यानि कथानकत्रयोपन्यासस्तु यथा क्रमं मर्त्यबुद्धिविक्रमात्यन्तबुद्धिविक्रमतपस्वित्वख्यापनार्थं इति। यत एवं ततो यत्कर्तव्यं तदाह ॥

तम्हा ए उ वीसंभो, गंतव्वो णिच्चमेव इत्थीसु ॥
पढमुद्देसे भणिया, जे दोसा ते गणंतेणं ॥ ६० ॥

(तम्हेत्ति) यस्मात् स्त्रियः सुगतिमार्गार्गला माया प्रधाना वञ्चना निपुणास्तस्मादेतदवगम्य नैव विश्रम्भो विश्वासस्तासां विवेकिना नित्यं सदा गन्तव्यो यातव्यः कर्तव्य इत्यर्थः। ये दोषाः प्रथमोद्देशके अस्योपलक्षणार्थत्वात् द्वितीये च तान् गणयता पर्यालोचयता तासां मूर्त्तिमत्कपटराशिभूतानामात्महितमिच्छता न विश्वसनीयमिति । सूत्र० १श्रु० ४ अ० १ उ०। (विस्तरतः एतदध्ययनार्थाः 'इत्थी'-शब्दे)

इत्थि (त्थी) परिण्णा-स्त्रीपरिज्ञा-स्त्री० सूत्रकृताङ्गस्य चतुर्थेऽध्ययने, सम० २३ स० ।

इत्थि (त्थी) परिसह-स्त्रीपरिषह-पु० स्त्रियाः परिषहणं च तन्निरपेक्षत्वम् ब्रह्मचर्यमित्यर्थः । भ० ८ श० ८ उ० । तयायतेः स्तृणातेर्वा ड्रटि टित्वान्ङीपि स्त्री सैव तद्गतरागहेतुगतिविभ्रमेङ्गिताकारविलोकनेऽपि " त्वग्रुधिरमांसमेदस्नास्थ्यस्थिशिराव्रणैः सुदुर्गन्धः । कुचनयनजघनवदनोरुमूर्च्छितो मन्यते रूपम् ।१। तथा"निष्ठीवनं जुगुप्सत्यधरस्थं पिबति मोहितः प्रसभम् । कुचजघनपरिश्रावं नेच्छति तन्मोहितो भजते । २। इत्यादि भावनातोऽभिधास्यमाननीतितश्च परिषह्यमाणत्वात्परिषहः स्त्रीपरिषहः । उत्त० २ अ० । प्रव० । परिषहभेदे, अस्यायमर्थो न स्त्री तस्यायमङ्गप्रत्यङ्गसंस्थानहसितललितविभ्रमाद्याश्चित्तक्षेपकारिणीश्चेष्टाश्चिन्तयेत्र जातुचिच्चक्षुरपि निक्षिपेन्मोक्षमार्गार्गलासु ललनासु कामबुद्ध्येति । प्रव० ८६ द्वा० । आव० । उक्तं च "दुर्ध्यानसङ्कल्पका हि मोक्षद्वारार्गलाः स्त्रियः। चिन्तिता धर्मनाशाय चिन्तयेदिति नैव ताः"। उत्त०।

संगो एस मणुस्साणं, जाओ लोगंमि इत्थिओ ॥
जस्स एया परिन्नाया, सुकडं तस्स सामणं ॥१६॥
एवमादाय मेहावी, पंकभूया उ इत्थिओ ॥
नो ताहिं विहन्नेज्जा, चरेज्जत्तगवेसए ॥ १७ ॥

सङ्गं त्ति आसक्तिमनुभवन्ति रागादिवसगा जन्तवोऽनेति सङ्ग एषोऽनन्तरं वक्ष्यमाणो मनुष्याणां पुरुषाणाम् । तमेवाह । जा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भोतीत्यविशेषाभिधानं ततो याः काश्चन मानुष्यो देव्यस्तिरश्च्यो वा (लोगंमित्ति) लोके तिर्यग्लोकादौ स्त्रियो नार्या एताश्च हावभावादिभिरत्यन्तमासक्तिहेतवो मनुष्याणामित्येवमुक्तमन्यथा हि गीतादिष्वपि सजति एव मनुष्याः मनुष्योपादानं च तेषामेव मैथुनसंज्ञातिरेकः प्रज्ञापनादौ प्ररूपित इति अतः किमित्याह । (जस्सेत्ति) यस्य यतेः एताः स्त्रियः (परिन्नायेत्ति) सर्वप्रकारं ज्ञाताः परिज्ञातास्तत्र ज्ञपरिज्ञयेह परत्र च महानर्थहेतुतया विदिताः तथाचागमः " विभूसा इत्थि संसग्गी, पणीयं रसभोयणं । णरस्सत्तगवेसिस्स, विसं तालउडं जहा" ॥ १ ॥ प्रत्याख्यानकपरिज्ञया च तत एव च प्रत्याख्याताः (सुकडंति) सुकृतं सुष्ठ्वनुष्ठितं पाठान्तरः सुकरं वा सुखेनैवानुष्ठातुं शक्यं (तस्सत्ति) सुपव्यत्ययात्तेन (सामण्णंति) श्रामण्यं व्रतं किमुक्तं भवत्यवद्यहेतुत्यागो हि व्रतरागद्वेषावेव तत्त्वतस्तद्धेतू उक्तनीतितश्च न स्त्रीभ्यः परं तन्मूलमिति तत्प्रत्याख्यानतः सुकृतत्वं श्रामण्यस्य यद्वोक्तनीतितः स्त्रिय एव दुस्त्यजास्ततस्तत्त्यागे सत्कर्मैवापरमिति तत्प्रत्याख्यानतः सुकृतत्वं श्रामण्यस्योच्यते । वक्ष्यति हि "एए य संगे समइक्कमित्ता, सुदुत्तरा चेव भवंति सेसा ॥ जहा महासागरमुत्तरित्ता, णई भवेज्जा अवि गंगा समाणा" ॥ १ ॥ अतः किंविधेयमित्याह । (एयमादाय) एवमित्यनन्तरोक्तप्रकारेणात्यन्तासक्तिहेतुत्वलक्षणेनाज्ञाय स्वरूपाभिव्याख्या अवगम्य मेधाव्यवधारणशक्तिमान् पङ्कः कर्दमस्तद्भूता मुक्तिपथप्रवृत्तानां विबन्धकत्वेन मालिन्यहेतुत्वेन च तदुपमास्तु रवधारणार्थः । ततः पङ्कभूता एव स्त्रियः । पठ्यते च "एवमादाय मेहावी जहा एया लहुस्सिगत्ति " । एवमनन्तरमेव वक्ष्यमाणमर्थमादाय बुद्ध्या गृहीत्वा मेधावी तमेवाह यथेत्युपदर्शने एताः स्त्रियः (लहुस्सिगत्ति) तुच्छाशयत्वादिना लघ्वास्ततः किमित्याह । नो नैव ताभिः स्त्रीभिर्विनिहन्यात् विशेषणसंजमजीवितव्यव्यपरोपणात्मकेनातिशयेन च सामस्त्यतदुच्छेदरूपेणातिपातयेदात्मानमिति गम्यते । कृत्यमाह चरेत् धर्मानुष्ठानमासेवेत । आत्मानं गवेषयेत् कथं ममात्मा भवान्निस्तारणीय इत्यन्वेषयेत " आत्मगवेषकः सिद्धिस्वरूपापत्ति " रिति वचनात् । सिद्धिर्वात्मा ततः कथं ममासौ स्यादित्यन्वेषकः आत्मगवेषको यद्वात्मानमेव गवेषयते इत्यात्मगवेषकः किमुक्तं भवति चित्रालंकारशालिनीरपि स्त्रियोऽवलोक्य तद्दृष्टिन्यासस्य दुष्टतावगमात् झगिति ताभ्यो दृगुपसंहारत आत्मान्वेष्यैव भवति उक्तंहि– "चित्तभित्तिं न निज्झाए, नारिं वा सुअलंकियं । भक्खरं पिव दट्ठूणं, दिट्ठिं पडिसमाहरे" ॥

संप्रति प्रतिमाद्वारं विवृण्वन् यस्यैताः परिज्ञाता इत्यादि सूत्रसूचितं चैदंयुगीनजनदाढ्योत्पादकं दृष्टान्तमाह ॥

उसभपुरं रायगिहं, पाडलिपुत्तस्स होइ उप्पत्ती ।
णंदे सगडालथूल-भद्दसिरीयेगा वररुई य ॥ ३६ ॥
तिण्हं अणगाराणं, अभिग्गहो आसि चउण्हमासाणं ।
वसहीमेत्तनिमित्तं, को हिं उसिओ णिसामेह ॥ ३७
गणियाघरम्मि एको, वितितो उसितो उ वग्घवसहीए ।
ततितो सप्पवसहिए, को दुक्करकारओ एत्थ ॥ ३८ ॥
वग्घो वा सप्पो वा, सरीरपीलाकरो उ वत्तव्वो ।
णाणं च दंसणं वा, चारित्तं वा ण पच्चलो भेत्तुं ॥ ३९ ॥
भगवं पि थूलभद्दो, तिक्खे चंकमिओ ण पुण छिन्नो ।
अग्गिसिहाए वत्थो, चाउम्मासे ण पुण दड्ढो ॥ ४० ॥
अन्नो वि य अणगारो, भणमाणो इंपि थूलभद्दसमो ।
कंबलओ य चंदणियाए मइलितो एगराईए ॥ ४१ ॥

(उभस गाथाषट्कं) वृषभपुरं राजगृहं पाटलिपुत्रस्य भवत्युत्पत्तिः नन्दः शकटालः स्थूलभद्रश्रीयकौ वररुचिस्त्रयाणामनगाराणामभिग्रह आसीत् (चउण्हमासाणं) सुव्व्यत्ययाच्चतुर्षु मासेषु वसतिमात्रनिमित्तं कः कुत्रोषितो निशामयत । गणिकागृहे एको, द्वितीय उषितस्तु व्याघ्रवसतौ, सर्पवसतौ तृतीयः, को दुष्करकारकोऽत्र तेषु मध्ये व्याघ्रो वा सर्पो वा शरीरपीडाकरस्तु वक्तव्यो ज्ञानं वा दर्शनं वा चारित्रं वा न प्रत्यलो भेत्तुं भगवानपि स्थूलभद्रस्तीक्ष्णे निशितासिधारादौ चङ्क्रमितो न पुनः छिन्नो अग्निशिखायामुषितश्चातुर्मास्यां न पुनः दग्धः अन्यो पि चानगारो भणन्नहमपि स्थूलभद्रसमः कम्बलकश्चंदनिकायामुच्चारभूमौ मलिनित इति निर्युक्ति गाथाषट्काक्षरार्थः । एतदर्थस्तु वृद्धसंप्रदायादवसेयः । उत्त० २ अ० ॥ स च थूलभद्द–शब्दे) " जहा थूलभद्दे णित्थिपरिसहो अहियासितो तहाहियासियव्वा ण जहा तेण णाहियासिओत्ति ,, उत्त० २ अ० (स्थूलभद्रकथा ' थूलभद्द शब्दे)

स्त्रीपरिषहोपपत्तौ किंविदध्यादित्याह—

से पभूतदंसी पभूतपरिण्णाणे उवसंते समिते सहिते सया जए दट्ठु विप्पडिवेदेति अप्पाणं किमेस जणो करिस्सति एस से परमारामो जाओ लोगंमि इत्थिओ मुणिणा हु एयं पवेदितं उवाहिज्जमाणे गामधम्मेहिं अवि णिब्बलासए अवि ओमोदरियं कुज्जा अवि उड्ढं ठाणं ठाइज्जा अवि गामाणुगामं दूइज्जा अवि आहारं वोच्छिंदिज्जा अवि चए इत्थीसु मणं पुव्वं दंडा पच्छा फासा पुव्वं फासा पच्छा दंडा इच्चेते कलहा संगकरा भवंति पडिलेहाए आगमेत्ता आणविज्जा अणासेवणाएत्ति बेमि ।

(सेइत्यादि) स साधुः प्रभूतं प्रमादविपाकादिकमतीतानागतवर्तमानं वा कर्म्म विपाकं द्रष्टुं शीलमस्येति प्रभूतदर्शी सांप्रतेक्षितया न यत्किञ्चनकारीत्यर्थः तथा प्रभूतं सत्वरक्षणोपायपरिज्ञानं संसारमोक्षकारणं परिज्ञानं वा यस्य स प्रभूतपरिज्ञानः यथावस्थितसंसारस्वरूपदर्शीत्यर्थः । किञ्च उपशान्तः कषायानुदयादिन्द्रियनोइन्द्रियोपशमाद्वा तथा पञ्चभिः समितिभिः समितः सम्यग् वा मोक्षमार्गमितस्समितस्तथा ज्ञानादिभिः सहितः समन्वितः सह हितेन वा सहितः । सदा सर्वकालं यतः सदायतः । स एवंभूतो ऽप्रमत्तो गुरोरन्तिकमावसत् प्रमादजनितस्य कर्म्मणोऽन्तं विधत्ते स च स्त्र्याद्यनुकूलपरीषहोपपत्तौ किं विदध्यादित्याह (दट्ठु इत्यादि) दृष्ट्वा अवलोक्य स्त्रीजनमुपसर्गकरणायोद्यतमात्मानं विप्रतिवेदयाति पर्यालोचयति तद्यथा सम्यग्दृष्टिरस्मि तथा त्रिलसपञ्चमहाव्रतभारशरच्छशांकनिर्म्मलकुललब्धजन्माकार्याकारणतयोत्थित इत्येवमात्मानं पर्यालोचयति तं च स्त्रीजनं किमेष स्त्रीजनो मम त्यक्तजीविताशस्योज्झितैहिकसुखाभिलाषस्योपसर्गादिकं कुर्यादथवा वैषयिकसुखस्य दुःखप्रतीकाररूपत्वात्किमेष स्त्रीजनः सुखं विदध्याद्-यो वा पुत्रकलत्रादिको जनो मम मृत्युना जिघृक्षितस्य व्याधिना वा द्विप्सितस्य

किं तत् प्रतीकारादिकं कुर्यादिति यदि वैनं स्त्रीजनस्य स्वभावं चिन्तयेदिति सूत्रेणैव दर्शयति (एससे इत्यादि) स एष स्त्रीजन आरामयतीत्यारामः परमश्चासावारामश्च परमारामः ज्ञाततत्त्वमपि जनं हासविलासोपाङ्गनिरीक्षणादिभिर्विब्बोकैर्मोहयतीत्यर्थः याः काश्चनास्मिँल्लोके स्त्रियस्ता मोहरूपाः विज्ञाय यावन्न परित्यजन्ति तावत् स्वत एव परित्यजेत एतच्च तीर्थकरेण प्रवेदितमिति दर्शयितुमाह (मुणिणा इत्यादि) मुनिना श्रीवर्द्धमानस्वामिना उत्पन्नज्ञानेनैतत् पूर्वोक्तं यथा स्त्रियो भावबन्धनरूपाः प्रवेदितं प्रकर्षेणादौ व्याख्यातमिति एतच्च वक्ष्यमाणं प्रवेदितमित्याह (उब्बाहिज्ज इत्यादि) उत्प्राबल्येन मोहोदयाद्बाध्यमानः पीड्यमानः कैर्ग्रामधर्मैर्ग्रामा इन्द्रियग्रामास्तेषां धर्माः स्वभावा यथा स्वविषयेषु वर्त्तनं तैरुद्बाध्यमानो गच्छान्तर्गतः सन् गुर्वादिनानुशास्यते कथमनुशास्यत इत्यत आह (अवि इत्यादि) अपि संभावनायां निर्बलं निस्सारमन्तःप्रान्तादिकं यद्द्रव्यं तदाशकस्तद्भोजी स्यादिति वा निर्गतं बलं सामर्थ्यमस्येति निर्बलः एवंभूतः सन्नाशी तदभावे च ग्रामधर्मोपशमदर्शनाद्बलहानिश्चाहारहान्या स्यादिति दर्शयति अप्यवमौदर्यं कुर्याद्यदि ह्यन्तप्रान्तासिनोऽपि न मोहोपशमः स्यात्ततस्तदपि वल्लचनकादिना द्वात्रिंशत् कवलमात्रं गृह्णीयात्तेनाप्यनुपशमे कायोत्सर्गादिना कायक्लेशं कुर्यादित्येतद्दर्शयति अप्यूर्ध्वस्थानं तिष्ठेच्छीतोष्णादौ कायोत्सर्गातापनां कुर्यात्तेनाप्यनुपशमे ग्रामानुग्राममपि विहरेन्निष्कारणे विहारो निषिद्धो मोहोपशमनार्थन्तु कुर्यात् किम्बहुना येन येनोपायेन विषयेच्छा निवर्तते तत्तत्कुर्यात्पर्यन्ते आहारमपि व्यवच्छिन्द्यादपि पातमपि विदध्यात् अप्युद्बन्धनं कुर्यान्न च स्त्रीषु मनः कुर्यादित्याह (अवि इत्यादि) अपिः समुच्चये स्त्रीषु यन्मनःप्रवृत्तं तत्परित्यजेत तत्परित्यागे हि कामाद्धिरूपा अपि दूरत एव परित्यक्ता भवन्त्युक्तञ्च "काम ! जानामि ते रूपं, सङ्कल्पात्किल जायसे । न त्वां संकल्पयिष्यामि, ततो मे न भविष्यसि " किं पुनः कारणं स्त्रीषु मनो न विधेयमित्याह (पुव्वं इत्यादि) स्त्रीसङ्गप्रसक्तानामपरमार्थदृशां पूर्वं प्रथममेव तत्सङ्गाविच्छेदार्थमर्थोपार्जनप्रवृत्तस्य कृषिवाणिज्यादिक्रियाः कुर्वतोऽगणितक्षुत्पिपासाशीतोष्णादिपरीषहस्यैहिकरूपाश्च दुःख दण्डास्ते च स्त्रीसंभोगात्प्रथममेव क्रियन्त इति पूर्वमित्युक्तं पश्चाच्च विषयनिमित्तजनितकर्मविपाकापादितनरकादिदुःखविशेषाः स्पर्शा भवन्ति यदि वा स्त्र्याद्यकार्यप्रवृत्तस्य पूर्वं दण्डपाताः पश्चाद्धस्तपादच्छेदादिकाः स्पर्शा भवन्ति यदि वा पूर्वं स्पर्शाः पश्चाद्दण्डपाता इति अथवा पूर्वं दण्डास्ताडनादिकाः पश्चात् स्पर्शाः संबाधनालिङ्गनचुम्बनादिकास्तद्यथा वन्यानीतावरुद्धराजकुमारीगवाक्षनिपतदाचीलग्रहणाद्राजपुरुषावलोकनतापनेन मूर्च्छिता राजकुमारी, तद्दर्शनतो वणिग्दत्तस्याग्रतो दण्डाः पश्चात् स्पर्शा इति । पूर्वं वा सुखादिस्पर्शाः पश्चाद्दण्डो ललिताङ्गकस्येवान्येषाञ्चोपपतीनामिति । किञ्च (इच्चेए इत्यादि) इत्येते स्त्रीसंबन्धाः कलहः संग्रामस्तत्रासङ्गः संबन्धः कलहासङ्गस्तत्करा भवन्ति यदि वा कलहः क्रोध आसङ्गो राग इत्यतो रागद्वेषकारिणो भवन्ति यद्येवं ततः किं कुर्यादित्याह (पडिलेहाए इत्यादि) ऐहिकामुष्मिकापायतः स्त्रीरुत्प्रेक्षया (आगमित्ति) ज्ञात्वा आज्ञापयेदात्मानमनासेवनयेति इति अधिकारपरिसमाप्तौ ब्रवीम्यहं तीर्थकरवचनानुसारेण ।

दुःखं च ताः परिहर्तुमिति पुनरपि तत्परिहरणोपायमाह—

से णो काहिए णो पासणिए णो संपसारए णो ममाए णो कयकिरिए वयगुत्ते अज्झप्पसंवुडे परिवज्जए सदा पावं एयं मोणं समणुवासेज्जासि त्ति बेमि ॥

(से णो काहिएत्ति) स स्त्रीसङ्गपरित्यागी स्त्रीनेपथ्यकथां शृङ्गारकथां वा न कुर्यादेवं च तास्त्यक्ता भवन्ति तथा (णो पासणिए) तासां नरकवीथीनां स्वर्गापवर्गमार्गार्गलानामङ्गप्रत्यङ्गादिकं न पश्येद्यतस्तन्निरीक्ष्यमाणं महतेऽनर्थाय भवतीत्युक्तं च " सन्मार्गे तावदास्ते प्रभवति पुरुषस्तावदेवेन्द्रियाणां, लज्जां तावद्विधत्ते विनयमपि समालम्बते तावदेव । भ्रूचापाकृष्टमुक्ताः श्रवणपथजुषो नीलपक्ष्माण एते, यावल्लीलावतीनां न हृदि धृतिमुषो दृष्टिबाणाः पतन्ति " । तथा (णो संपसारए) ताभिर्नरकविश्रम्भभूमिभिः सार्द्धं न संप्रसारणं पर्यालोचनमेकान्ते निजस्वस्त्रादिभिरपि कुर्यादित्युक्तञ्च "मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत् । बलवानिन्द्रियग्रामः पण्डितोऽप्यत्र मुह्यति" त्येवमादि । तथा (णो ममाए) न तासु स्वार्थपरासु ममत्वं कुर्यात्तथा (णो कयकिरिए) कृतानुष्ठिता तदुपकारिणी मण्डनादिका क्रिया येन स कृतक्रिय इत्येवंभूतो न भूयान्न स्त्रीणां वैयावृत्त्यं कुर्यात्काययोगनिरोध इति भावस्तथा (वयगुत्ते) तथैताः शुभानुष्ठानपरिपथिनीर्न वाग्मात्रेणाप्यालापयेदिति वाग्योगनिरोधस्तथा (अज्झप्पसंवुडे) आत्मन्यध्यध्यात्म मनस्तेन संवृतोऽध्यात्मसंवृतः स्त्रीभोगाद्दत्तमनाः सूत्रार्थोपयुक्तनिरुद्धमनोयोग एवंभूतश्च किमपरं कुर्यादित्याह (परि इत्यादि) परिः समन्ताद्वर्जयेत् परिहरेत् सदा सर्वकालं पापं किल्बिषं तदुपादानं वा कर्म उपसंहरणार्थमाह (एयं इत्यादि) एतदुद्देशकादेरारभ्योक्तं मुनेरिदं मौनं मुनिभावो वा तदात्मनि समनुवासयेदात्मनि विदध्यात् । आचा० १ श्रु० अ० ४ उ० २ ।

इत्थि (स्त्री) परिसहविजय–स्त्रीपरिषहविजय–पु० एकान्तेष्वारामभवनादिप्रदेशेषु नवयौवनमदप्रमत्तासु शुभमनःसङ्कल्पमपहरन्तीषु प्रमदास्वत्यन्तसंवृतेन्द्रियान्तःकरणस्याशुचिकुणपपिण्ड एष इत्येवमशुभभावनावशतो यत्तत्कृतललितहसितमृदुभाषणसविलासनिरीक्षणचङ्क्रमणादिरूपाणां मन्मथशराणां विफलताकरणमेष स्त्रीपरिषहविजयः । स्त्रीपरिषहविफलताकरणे, । पं० सं० ४ द्वा० ॥

इत्थि (स्त्री) पोसय–स्त्रीपोषक–पु० स्त्रियं पोषयन्तीति स्त्रीपोषकः । स्त्रीपोषकेऽनुष्ठानविशेषे, " ओसियाओ वि इत्थिपोसे " स्त्रियं पोषयन्तीति स्त्रीपोषकाः अनुष्ठानविशेषास्तेषूषिता अपि व्यवस्थिता अपि पुरुषा मनुष्या भुक्तभोगिनोऽपि स्त्रीणां वशं व्रजन्तीति । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ॥

इत्थि (स्त्री) पुंसलक्खणा–स्त्रीपुंसलक्षणा–स्त्री० स्त्रीपुंसयोः लक्षणमस्याम् । स्तनश्मश्रुप्रभृतिस्त्रीपुरुषचिह्नधारिण्यां स्त्रीयाम् पोटायाम्, । अमरः ॥

इत्थि (स्त्री) भाव–स्त्रीभाव–पु० स्त्रीणां कटाक्षसंदर्शनादिके भावे, " सिंगारियाइं इत्थिभावाइं अवदंसेमाणि " शृङ्गाररसवतः स्त्रीस्वभावान् कटाक्षसन्दर्शनादीनीति । उपा० ८ अ०

इत्थि (स्त्री) भोग–स्त्रीभोग–पु० स्त्रिया सह हास्यादिकरणे, तच्च जिनमन्दिरस्यान्तर्निषिद्धमिति । दर्श० ॥

इत्थि (स्त्री) मज्झगय–स्त्रीमध्यगत–त्रि० " इत्थीसु अभ-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

योद्दियासु मज्झं भवति " तत्र गते, मज्झं दोऽर्द्धंतगत इति । नि० चू० ८ उ० ॥

इत्थि (त्थी)रज्ज–स्त्रीराज्य–न० स्त्रीस्वातन्त्र्ये,तन्निषिद्धमेव, स्त्रीराज्यस्यातिनिन्दनीयत्वमाह ॥

घणगज्जियहयकुहए, विज्जुदुग्गिज्झ गूढहिययाओ ।
अज्जा अवारियाओ, इत्थीरज्जं न तं गच्छं ॥ ९५ ॥

यत्र गच्छे आर्याः (अवारिआओत्ति) अनिवारिताः अकृत्यं कुर्वन्त्यः तत्परिवर्तकेनानिषिद्धा निरङ्कुशा इत्यर्थः वर्तन्ते । कथंभूताः आर्याः (घण गज्जिय इत्यादि) अत्र कुहकशब्देन धावतोऽश्वस्य उदरप्रदेशसमीपे संमूर्च्छितवायुविशेष उत्पद्यते स प्रोच्यते यत उक्तं परिशिष्टपर्वणि श्रीहेमचन्द्रसूरिपादैः । "दध्यौ न स्वर्णकारोपि, चरितं योषितामहो । अश्वानां कुहकारावमिव को वेत्तुमीश्वरः ॥ १ ॥ तथैकारोऽप्यत्यथानिर्देशाश्चार्षत्वात्ततोऽयमर्थः । घनगर्जितहयकुहकवद्विद्युद्वत्क्रमेण गूढं मायाकरणत्वेनाऽलक्षणीयाशयं दुर्ग्राह्यं चास्थिरत्वेन गृहीतुमशक्यमाशयं हृदयं यासां तास्तथा संभवति चार्याणामपि कासांचित् स्त्रीजातित्वेन एवंविधत्वे यत उच्यते स्त्रीमधिकृत्य लोकेपि-"अश्वप्लुतं माधवगर्जितं च स्त्रीणां चरित्रं भवितव्यतां च । अवर्षणं चाप्यतिवर्षणं च देवो न जानाति कुतो मनुष्यः ॥ १ ॥ तथा" जलमज्झे मच्छपयं, आगासे पक्खियाण पयपंती । महिलाण हियमग्गो, तिन्नवि लोए न दीसंति ॥ २ ॥ तथा । यदि स्थिरा भवेत् विद्युत्, तिष्ठन्ति यदि वायवः । दैवात्तथापि नारीणां, न स्थेम्ना स्थीयते मनः ॥३॥ तत्स्त्रीराज्यमुच्यते न स गच्छ आर्याणां हि स्त्रीजातित्वेन सर्वकालं तथाविधपरिवर्तकपारतन्त्र्येणैवावस्थानं समुचितं नतु स्वातन्त्र्येण कदाचिदपि यतो लोकेऽप्युच्यते–पिता रक्षति कौमारे, भर्त्ता रक्षति यौवने । पुत्रस्तु स्थविरे भावे, न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति । ग० २ अधि० (आर्याणां स्वातन्त्र्यनिषेधः अज्जा शब्दे विस्तरेण द्रष्टव्यः) ॥

इत्थि (त्थी) रयण–स्त्रीरत्न–न० पञ्चेन्द्रियरत्नविशेषे,स्था०, ७ ठा० । स्त्रीरत्नमत्यद्भुतकामसुखनिधानमिति । प्रव० २१४ द्वा० स्त्रीरत्नस्पर्शे लोहपुरुषस्य गलनं यदा स्त्रीरत्नं लोहपुरुषं स्पृशति तदा स गलति तत्कथमिति प्रश्नः । स्त्रीरत्नस्पर्शाल्लोहपुरुषगलनमुत्कृष्टातिशयितकामविकारजनितप्रबलोष्ण-तापविशेषादित्युत्तरम् । ही० ।

इत्थि(त्थी)राग–स्त्रीराग–पुं० भामिन्यभिलापे, । द्वा० २६ द्वा० ।

इत्थि (त्थी) रूव–स्त्रीरूप–स्त्र्याकारे, । तं० ।

इत्थि (त्थी) लक्खण–स्त्रीलक्षण–न० सामुद्रिकप्रसिद्धे–(जं०) द्वासप्ततिकलान्तर्गते कलाविशेषे, । ज्ञा० १ अ० । ओघ० । कल्प० । स्त्रीलक्षणं रक्तकरचरणादिकम् । इति । तत्प्रतिपादके पापश्रुताध्ययने च । सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

इत्थि (त्थी) लिंग–स्त्रीलिङ्ग–न० स्त्रीया लिङ्गं स्त्रीलिङ्गम् । स्त्रीत्वे, तच्च त्रिधा वेदः शरीरनिर्वृत्तिः नेपथ्यं च । प्रज्ञा० १ पद । आ० म० प्र० । नं० । स्त्रिया इव लिङ्गं तत्कार्यं यस्य तत् स्त्रीलिङ्गविहितव्याकरणोक्तसंस्कारयुक्ते शब्दभेदे,-पुं० ६ त स्त्री० स च नदी महीत्यादिरिति–अनु० । चिह्नेन स्तनादौ न० । वाच० ।

इत्थि (त्थी) लिंगसिद्ध–स्त्रीलिङ्गसिद्ध–पुं० स्त्रिया लिङ्गं स्त्रीलिङ्गं स्त्रीत्वस्योपलक्षणमित्यर्थः । तच्च त्रिधा । वेदः शरीरनिर्वृत्तिर्नेपथ्यं च । तत इह शरीरनिर्वृत्त्या प्रयोजनं न वेदनेपथ्याभ्यां वेदे सति सिद्धत्वाभावात् नेपथ्यस्य चाप्रमाणत्वात् । आह च नन्द्यध्ययनचूर्णिकृत्" इत्थीए लिंगं इत्थिलिंगं इत्थिउवलक्खणं ति वुत्तं भवइ तं च तिविहं वेदो सरीरनिव्वत्ती नेवत्थे च इह सरीरनिव्वत्तीए अहिगारो न वेयनेवत्थेहिं ति" । ततस्तस्मिन् लिङ्गे वर्तमानाः सन्तो ये सिद्धास्ते स्त्रीलिङ्गसिद्धाः । प्रज्ञा० १ पद० । आ० म० प्र० । न० । सिद्धभेदे, तथा च ललितविस्तरायाम (तीर्थसिद्धावतीर्थसिद्धतीर्थकरसिद्धा ऽतीर्थकरसिद्धाः स्वयंबुद्धसिद्धप्रत्येकबुद्धसिद्ध बुद्धबोधितसिद्धाप्रतिपाद्योक्तम) एते च सर्वेपि स्त्रीलिङ्गसिद्धाः केचित् २ पुंल्लिङ्गसिद्धाः केचिन्नपुंसकलिङ्गसिद्धाः इति आह तीर्थकरा अपि लिङ्गसिद्धा भवन्तीत्याह यत उक्तं सिद्धप्राभृते " सव्वत्थो वा तित्थयरी सिद्धा तित्थगरितित्थे णो तित्थगरसिद्धा संखेज्जगुणा इति " ल० ॥

स्त्रीणां सिद्धिर्यथा ।

एगोवि णमुक्कारो, वीरवरवसहस्स वद्धमाणस्स ।
संसारसागराओ, तारइ नरं व नारिं वा ॥

इति महावीरस्तुतिमप्रतिपाद्योक्तम् । स्त्रीग्रहणं तासामपि तद्भव एव संसारक्षयो भवतीति ज्ञापनार्थं वचः । यथोक्तं यापनीतंत्रे "णो खलु इत्थि अजीवो, ण यासु अभव्वाणया वि दंसणविरोहिणी, णो अमाणुसा, णो अणारिउप्पत्ती, णो असंखेज्जाउया, णो अइकूरमई, णोण उवसंतमोहा, णो ण सुद्धाचारा णो असुद्धबोंदी ववसायवज्जिया, णो अपुव्वकरणविरोहिणी, णो ऽणवगुणठाणरहिया, णो अजोग्गा लद्धिए, णो अकल्लाणभायणं ति, कहं न उत्तमधम्मसाहिगत्ति" तत्र न खल्विति । नैव स्त्री अजीवो वर्तते । किन्तु जीव एव जीवस्य चोत्तमधर्मसाधकत्वाविरोधस्तथादर्शनात् । न जीवोऽपि सर्व उत्तमधर्मसाधको भव्यत्वाभव्येन व्यभिचारात् । तद्व्यपोहायाह न चास्वभव्यजातिप्रतिषेधोऽयं । यद्यपि काचिदभव्या तथापि सर्वैवाभव्या न भवति संसारनिर्वेदनिर्बाधधर्मद्वेषशुश्रूषादिदर्शनात् । भव्योऽपि कश्चिद्दर्शनविरोधी यो न सेत्स्यति तन्निरासायाह । नो दर्शनविरोधिनी । दर्शनमिह सम्यग्दर्शनं परिगृह्यते तत्त्वार्थश्रद्धानरूपं न तद्विरोधिन्येवास्तिक्यादिदर्शनात् । दर्शनाविरोधिन्यपि अमानुषी नेष्यत एव तत्प्रतिषेधायाह । नो अमानुषी । मानुष्यजातौ भावात् । विशिष्टकरचरणोरुग्रीवाद्यवयवसन्निवेशदर्शनात् । मानुष्यप्यनार्योत्पत्तिरनिष्टा तदपनोदायाह ॥ नो अनार्योत्पत्तिः अनार्येष्वप्युत्पत्तेः तथा तास्वदर्शनात् । आर्योत्पत्तिरप्यसंख्येयायुर्नाधिकृतसाधनायेत्येतदधिकृत्याह । नो असंख्येयायुः । सर्वैव संख्येयायुर्युक्ताया अपि भावात् तथा दर्शनात् । संख्येयायुरपि क्रूरमतिः प्रतिषिद्धा तन्निराचिकीर्षयाह । नातिक्रूरमतिः । सप्तमनरकायुर्निबन्धनरौद्रध्यानाभावात् ॥ तद्वत्प्रकृष्टशुभध्यानाभाव इतिवत् । न तेन तस्य प्रतिबन्धाभावात् तत्फलवदितरफलभावेनानिष्टप्रसङ्गात् । अक्रूरमतिरपि रतिलालसाऽनुन्दरैव तदपोहायाह । नो न उपशान्तमोहा काचिदुपशान्तमोहापि संभवति तथा दर्शनात् । उपशान्तमोहाप्यशुद्धाचारा गर्हिता तत्प्रतिक्षेपायाह । नो नशुद्धाचारा काचित् शुद्धाचारापि भवत्यौचित्येन पराकरणवर्जनाद्याचारदर्शनात् । शुद्धाचाराप्यशुद्धबो-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दिरसाध्वी तदपनोदायाह । नो अशुद्धवेदिः । काचित् शुद्धा तनुरपि भवति । प्राक्कर्म्मा तु चेद्यतः संसर्जनाद्यशुध्यदर्शनात् । कक्षास्तनादिदेशेषु शुद्धवेदिरपि व्यवसायवर्जिता निन्दितैव तन्निरासायाह । नो व्यवसायवर्जिता काचित्परलोकव्यवसायिनी शास्त्रात्तत्प्रवृत्तिदर्शनात् सव्यवसायाप्यपूर्वकरणविरोधिन्येव तत्प्रतिषेधमाह । नो अपूर्वकरणविरोधिनी । अपूर्वकरणासंभवस्य । स्त्रीजातावपि प्रतिपादितत्वात् । अपूर्वकरणवत्यपि नवगुणस्थानरहिता नेष्टसिद्धये इष्टसिध्यर्थमाह । नो नवगुणस्थानरहिता तत्संभवस्य तस्याः प्रतिपादितत्वात् । नवगुणस्थानसंगतापि लब्धयोग्या अकारणमधिकृतविधिरित्येतत्प्रतिक्षेपायाह । नायोग्या लब्धेः । आमर्षौषध्यादिरूपायाः कासाञ्चित्येनेदानीमपि दर्शनात् कथं द्वादशाङ्गप्रतिषेधः तथाविधविग्रहे ततो दोषात् । श्रेणिपरिणतौ तु कालग्रस्यतद्भावतो भावो विरुद्ध एव । अभियोग्याप्यकल्याणभाजनोपघातादभिलषितार्थसाधनायालमित्यत आह नाकल्याणभाजनं तीर्थकरजननात् नातः परं कल्याणमस्ति यत एवमतः कथं नोत्तमधर्मसाधिकेत्युत्तमधर्म्मसाधिकेव अनेनतत्तत्काले क्रियतावद्गुणसंयमान्वितैर्वोत्तमधर्म्मसाधिकेति विद्वांसः । केवलसाधकश्चायं सति च केवले नियमान्मोक्ष इति । ल० ।

एतेन यदाहुराशाम्बराः-न स्त्रीणां निर्वाणमिति तदपास्तं द्रष्टव्यम् । स्त्रीनिर्वाणस्य साक्षादनेन सूत्रेणाभिधानात् । तत्प्रतिषेधस्य युक्त्यनुपपन्नत्वात् । तथाहि-मुक्तिपथो ज्ञानदर्शनचारित्राणि । "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग इति वचनात् " सम्यग्दर्शनादीनि पुरुषाणामिव स्त्रीणामप्यविकलानि दृश्यन्ते । तथाहि दृश्यन्ते स्त्रियोऽपि सकलमपि प्रवचनार्थमभिरोचयमानाः जानते च षडावश्यककालिकोत्कालिकादिभेदभिन्नं श्रुतं, परिपालयन्ति सप्तदशप्रकारमकलङ्कं संयमं, धारयन्ति च देवासुराणामपि दुर्द्धरं ब्रह्मचर्यं, तप्यन्ते च तपांसि मासक्षपणादीनि, ततः कथमिव न तासां मोक्षसंभवः । (नग्नः)-एतदस्ति स्त्रीणां सम्यग्दर्शनं ज्ञानं वा न पुनश्चारित्रं संयमाभावात् तथाहि स्त्रीणामवश्यं वस्त्र परिभोगेन भवितव्यमन्यथा विवृताङ्ग्यस्तास्तिर्यक्स्त्रिय इव पुरुषाणामभिभावनीया भवेयुः । लोके च गर्होपजायेत ततोऽवश्यं ताभिर्वस्त्रं परिभोक्तव्यम् । वस्त्रपरिभोगे च सपरिग्रहता सपरिग्रहत्वे च संयमाभाव इति ॥

(सैद्धान्तिकः)तदसमीचीनं सम्यक्सिद्धान्तापरिज्ञानात्परिग्रहो हि परमार्थतो मूर्च्छाभिधीयते "मुच्छा परिग्गहो वुत्तो" इति वचनात् । तथाहि मूर्च्छारहितो भरतश्चक्रवर्ती सान्तः पुरोप्यादर्शकगृहेऽवतिष्ठमानो निष्परिग्रहो गीयते । अन्यथा केवलोत्पादो न संभवेत् । अपिच-यदि मूर्च्छाया अभावेऽपि वस्त्रसंसर्गमात्रं परिग्रहो भवेत्ततो जिनकल्पप्रतिपन्नस्य कस्यचित्साधोस्तुषारकणानुषक्ते प्रपतति शीते केनाप्यविषह्योपनिपातमयशीतमिति विभाव्य धर्मार्थिना शिरसि वस्त्रे प्रक्षिप्ते तस्य सपरिग्रहता भवेत् । नचैतदिष्टं तस्मान्न वस्त्रसंसर्गमात्रं परिग्रहः किन्तु मूर्च्छा । सा च स्त्रीणां वस्त्रादिषु न विद्यते धर्मोपकरणमात्रतया तस्योपादानात् । न खलु ता वस्त्रमन्तरेणात्मानं रक्षयितुमीशते नापि शीतकालादिषु षाड्दशायां स्वाध्यायादिकं कर्तुं ततो दीर्घतरसंयमपरिपालनाय यतनया वस्त्रं परिभुञ्जाना न ताः परिग्रहवत्यः । अथोच्येत संभवतिनाम स्त्रीणामपि सम्यग् दर्शनादिकं रत्नत्रयं परं न तत्संभवमात्रेण मुक्तिपदप्रापकं भवति किन्तु प्रकर्षप्राप्तमन्यथा दीक्षानन्तरमेव सर्वेषामप्यविशेषेण मुक्तिपदप्राप्तिप्रसक्तिः सम्यग्दर्शनादिरत्नत्रयप्रकर्षश्च स्त्रीणामसम्भवी ततो न निर्वाणमिति । तदप्ययुक्तं स्त्रीषु रत्नत्रयप्रकर्षस्सम्भवति सम्भवग्राहकं प्रमाणं विजृम्भते देशकालविप्रकृष्टेषु प्रत्यक्षस्याप्रवृत्तेस्तदप्रवृत्तौ चानुमानस्याप्यसम्भवात् । नापि तासु रत्नत्रयप्रकर्षासम्भवप्रतिपादकः कोप्यागमो विद्यते प्रत्युत सम्भवप्रतिपादकः स्थाने २ ऽस्ति यथा इदमेव प्रस्तुतं सूत्रं ततो न तासां रत्नत्रयप्रकर्षासम्भवोऽथ मन्येथाः स्वभावत एवातपेनेवच्छाया विरुध्यते स्त्रीत्वेन सह रत्नत्रयप्रकर्षस्ततस्तदसंभवोऽनुमीयते तदयुक्तमुक्तं युक्तिविरोधात् तथाहि रत्नत्रयप्रकर्षः स उच्यते ततोऽनन्तरमुक्तिपदप्राप्तिः स चायोग्यवस्था चरमसमयभावी अयोग्यवस्था चास्मादृगप्रत्यक्षा ततः कथं विरोधगतिः नहि अदृष्टेन सह विरोधःप्रतिपत्तुं शक्यते मा प्रापत पुरुषेष्वपि प्रसङ्गः ॥

(नग्नः) ननु जगति सर्वोत्कृष्टपदप्राप्तिः सर्वोत्कृष्टेनाध्यवसायेनावाप्यते नान्यथा एतच्चोभयोरप्यावयोरागमप्रामाण्यबलतः सिद्धम् । सर्वोत्कृष्टदुःखस्थानं सर्वोत्कृष्टसुखस्थानं च । तत्र सर्वोत्कृष्टदुःखस्थानं सप्तमनरकपृथ्वी अतः परं परमदुःखस्थानस्याभावात् । सर्वोत्कृष्टसुखस्थानं तु निःश्रेयसम् । तत्र स्त्रीणां सप्तमनरकपृथिवीगमनमागमे निषिद्धं निषेधस्य च कारणं तद्गमनयोग्यतथाविधसर्वोत्कृष्टमनोवीर्यपरिणत्यभावः । ततः सप्तमपृथिवीगमनवत्त्वाभावात् संमूर्च्छिमादिवत् । अपिच यासां वादलब्धौ विकुर्वणत्वादिलब्धौ पूर्वगतश्रुताधिगतौ च न सामर्थ्यगतिस्तासां मोक्षगमनसामर्थ्यमित्यतिदुःश्रद्धेयम् ॥

(सैद्धान्तिकः)तदेतदयुक्तं यतो यदि नाम स्त्रीणां सप्तमनरकपृथिवीगमनं प्रति सर्वोत्कृष्टमनोवीर्यपरिणत्यभावस्तत एतावता कथमवसीयते निःश्रेयसमपि प्रति तासां सर्वोत्कृष्टमनोवीर्यपरिणत्यभावो ? नहि यो भूमिकर्षणादिकं कर्म कर्तुं न शक्नोति स शास्त्राण्यप्यवगाढुं न शक्नोतीति प्रत्येतुं शक्यं प्रत्यक्षविरोधात् । अथ संमूर्च्छिमादिषूभयत्रापि सर्वोत्कृष्टमनोवीर्यपरिणत्यभावो दृष्टस्ततोऽत्रावसीयते । ननु यदि तत्र दृष्टस्तर्हि कथमत्रावसीयते न खलु बहिर्व्याप्तिमात्रेण हेतुर्गमको भवति किन्त्वन्तर्व्याप्त्या, अन्तर्व्याप्तिश्च प्रतिबन्धबलेन । नचात्र प्रतिबन्धो विद्यते न खलु सप्तमपृथिवीगमनं निर्वाणगमनस्य कारणम् नापि सप्तमपृथिवीगमनाविनाभाविनिर्वाणगमनम् चरमशरीरिणां सप्तमपृथिवीगमनमन्तरेणैव निर्वाणगमनाभावात् । न च प्रतिबन्धमन्तरेण एकस्याभावेऽन्यस्यावश्यमभावो मा प्रापत् यस्य तस्य वा कस्यचिदभावे सर्वस्याभावप्रसङ्गः । यद्येवं तर्हि कथं सम्मूर्च्छिमादिषु निर्वाणगमनाभाव इति । उच्यते-तथा भवस्वाभाव्यात् । तथाहि संमूर्च्छिमादयो भवस्वभावत एव न सम्यग्दर्शनादिकं यथावत्प्रतिपत्तुं शक्नुवन्ते ततो न तेषां निर्वाणसंभवः । स्त्रियस्तु प्रागुक्तप्रकारेण यथावत्सम्यग्दर्शनादिरत्नत्रयसम्पद्योग्यास्ततस्तासां न निर्वाणगमनाभावः । अपिच भुजपरिसर्प्पाः द्वितीयामेव पृथिवीं यावद्गच्छन्ति न परतः परपृथिवीगमनहेतुस्तथारूपमनोवीर्यपरिणत्यभावात् तृतीयां यावत् पक्षिणश्चतुर्थीं चतुष्पदाः पञ्चमीमुरगाः । अथ च सर्वेप्यूर्ध्वमुत्कर्षतः सहस्रारं यावद्गच्छन्ति तस्मादधोगतिविषये मनोवीर्यपरिणतिवैषम्यादर्शनादूर्ध्वगतावपि च न तद्वैषम्यम् । आह च "विषमगतयोप्यधस्ता-दुपरिष्टात्तुल्यमा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सहस्रारम् । गच्छन्ति च तिर्यञ्च–स्तदधोगत्यूनता हेतुः ॥१॥ तथाच सति सिद्धं स्त्रीपुंसामधोगतिवैषम्येऽपि निर्वाणं समम् । यदप्युक्तमपि च यासां वादलब्ध्यावित्यादि तदप्ययुक्तम् वादविकुर्वणत्वादिलब्धिविरहेऽपि विशिष्टपूर्वगतश्रुताभावेऽपि मानुषादीनां निःश्रेयसपदाधिगमश्रवणादाहच वादविकुर्वणत्वादिलब्धिविरहश्रुते कनीयसि च जिनकल्पमनःपर्यवविरहेऽपि न सिद्धिविरहोऽस्ति । अपिच यदि वादादिलब्धिभाववत् निःश्रेयसाभावोऽपि स्त्रीणामभविष्यत् ततस्तथैव सिद्धान्ते प्रत्यपादयिष्यत् यथा जंबुयुगद्वारात् केवलज्ञानाभावो, न च प्रतिपाद्यते तस्मादुपपद्यते स्त्रीणां निर्वाणमिति कृतं प्रसङ्गेन । प्रज्ञा० १ पद । नं० ॥

रत्नाकरावतारिकायामपि अथ दिक्पटाः प्रकटयन्ति भवत्वेतादृशस्वरूपो मोक्षः स तूपात्तस्त्रीशरीरस्यात्मनः इति न मृष्यामहे । न खलु स्त्रियो मुक्तिभाजो भवन्ति । तथाच प्रभाचन्द्रः । स्त्रीणां न मोक्षः पुरुषेभ्यो हीनत्वान्नपुंसकादिवदिति । अत्र ब्रूमः सामान्येनात्र धर्मित्वेनोपात्ताः स्त्रियो विवादास्पदीभूता वा प्राचि पक्षे पक्षैकदेशसिद्धसाध्यता असंख्यातवर्षायुष्कदुःषमादिकालोत्पन्नतिरश्चीदेव्यभव्यादिस्त्रीणां भूयसीनामस्माभिरपि मोक्षाभावस्याभिधानात्, द्वितीये तु न्यूनता पक्षस्य विवादास्पदीभूतेति विशेषणं विना नियतस्त्रीलाभाभावात् । प्रकरणादेव तल्लाभे पक्षोपादनमपि तत एव कार्यं न स्यात् तथाप्युपादाने नियतस्यैव तस्योपादानमवदातं यथा धानुष्कस्य नियतस्यैव लक्षस्योपदर्शनमिति हेतूकृतः पुरुषापकर्षोऽपि योषितां कुतस्त्यः किं सम्यग्दर्शनादिरत्नत्रयाभावेन विशिष्टसामर्थ्यासत्त्वेन पुरुषानभिवन्द्यत्वेन स्मारणाद्यकर्तृत्वेनामहर्द्धिकत्वेन मायादिप्रकर्षवत्त्वेन वा । प्राचि प्रकारे कुतः स्त्रीणां रत्नत्रयाभावः सचीवरपरिग्रहत्वेन चारित्राभावादिति चेत्तदचतुरस्रम् । यतः परिग्रहरूपता चीवरस्य शरीरसंपर्कमात्रेण परिभुज्यमानत्वेन मूर्च्छाहेतुत्वेन वा भवेत् । प्रथमपक्षे क्षित्यादिना शरीरसंपर्किणाप्यपरिग्रहेण व्यभिचारः । द्वितीयप्रकारे चीवरपरिभोगस्तासामशक्यत्यागतया गुरूपदेशाद्वा । नाद्यःपक्षो यतः संप्रत्यपि प्राणानपि त्यजन्त्यो याः संदृश्यन्ते तासामैकान्तिकात्यन्तिकानन्दसंपदर्थिनीनां बाह्यचीवरं प्रति का नामाशक्यत्यागता । नग्नयोगिन्यश्च काश्चिदिदानीमपि प्रेक्ष्यन्त एव द्वितीयपक्षोऽपि न सूक्ष्मः यतो विश्वजनीनेन विश्वदर्शिना परमगुरुणा भगवता मुमुक्षुपक्ष्मलाक्षीणां यदेव संयमोपकारि तदेव चीवरोपकरणं “ नो कप्पइ निग्गंथीए अचेलाए होत्तए त्यादिना” पदिष्टं प्रतिलेखनकमण्डलुप्रमुखवदिति कथं तस्य परिभोगात्परिग्रहरूपता प्रतिलेखनादिधर्मोपकरणस्यापि तत्प्रसङ्गात् । तथा च यत्संयमोपकाराय वर्तते प्रोक्तमेतदुपकरणं धर्मस्य हि तत्साधनमतोऽन्यदधिकरणं महार्हन् उपकारकं हि करणमुपकरणम् अधिक्रियन्ते घाताय प्राणिनोऽस्मिन्निति त्वधिकरणम् अथ प्रतिलेखनं तावत्संयमप्रतिपालनार्थं भगवतोपदिष्टं वस्त्रं तु किमर्थमिति तदपि संयमप्रतिपालनार्थमेवेति ब्रूमः । अभिभूयन्ते हि प्रायेणाल्पसत्त्वतया विवृताङ्गोपाङ्गसंदर्शनजनितचित्तभेदैः पुरुषैरङ्गना अकृतप्रावरणा घोटिका इव घोटकैः । ननु यासामतितुच्छसत्त्वानां प्राणिमात्रेणाप्यभिभवस्ताः कथं सकलत्रैलोक्याभिभावककर्मराशिप्रक्षयलक्षणं मोक्षं महासत्त्वप्रसाध्यं प्रसाधयन्तीति चेत्तदयुक्तम् यतो नात्र शरीरसामर्थ्यमतिरिक्तं यस्य भवति तस्यैव निर्वाणोपार्जनगोचरेण सत्त्वेन भवितव्यमिति नियमः समस्त्यन्यथा पङ्ग्वादीनामत्यन्तरोगिणः पुमांसोऽपि स्त्रीभिरभिभूयमाना दृश्यन्त इति तेऽपि तुच्छशरीरसत्त्वाः कथं तथाविधसिद्धिनिबन्धनसत्त्वकभाजो भवेयुः । यथा तु तेषां शरीरसामर्थ्यासत्त्वेऽपि मोक्षसाधनसामर्थ्यमविरुद्धं तथा स्त्रीणामपि । सत्यपि वस्त्रे मोक्षाभ्युपगमे गृहिणः कुतो न मोक्ष इति चेन्ममत्वसद्भावाद्धि गृही वस्त्रे ममत्वरहितो, ममत्वमेव परिग्रहः । सति हि ममत्वे नग्नोऽपि परिग्रहवान् भवति शरीरेऽपि तद्भावात् । आर्यिकायाश्च ममत्वाभावादुपसर्गाद्यासक्तमिवाम्बरमपरिग्रहः । न हि यतेरपि ग्रामं गृहं वनं वा प्रतिवसतो ममत्वादन्यच्छरणमस्ति नच निगृहीतात्मनां महात्मनां कासांचित्क्वचिदपि मूर्च्छाऽस्ति । तथाहि “निर्वाणश्रीप्रभवपरमप्रीतिलीनस्पृहाणां, मूर्च्छा तासां कथमिव भवेत्क्वापि संसारभागे । भोगे रागे रहसि सजने सज्जने दुर्जने वा, यासां स्वान्तं किमपि भजते नैव वैषम्यमुद्राम् । उक्तञ्च “ अवि अप्पणो वि देहंमि, नायरंति ममाइयंति” एतेन मूर्च्छाहेतुत्वेनेत्यपि पक्षः प्रतिक्षिप्तः शरीरवच्चीवरस्यापि काश्चित्प्रति मूर्च्छाहेतुत्वाभावेन परिग्रहरूपत्वाभावात् । तन्न सम्यग् रत्नत्रयाभावेन स्त्रीणां पुरुषेभ्योपकर्षः नापि विशिष्टसामर्थ्यासत्त्वेन, यतस्तदपि तासां किं सप्तमपृथ्वीगमनाभावेन वादादिलब्धिरहितत्वेनाल्पश्रुतत्वेनानुपस्थाप्यता पाराञ्चितकशून्यत्वेन वा भवेत् । न तावदाद्यः पक्षो यतोऽत्र सप्तमपृथ्वीगमनाभावो यत्रैव जन्मनि तासां मुक्तिगामित्वं तत्रैवोच्यते सामान्येन वा प्राचि पक्षे चरमशरीरिभिरनेकान्तः । द्वितीयेत्वयमाशयो यथैव स्त्रीणां सप्तमपृथ्वीगमनसमर्थतीव्रतराशुभपरिणामे सामर्थ्याभावादपकर्षस्तथा मुक्तिगमनयोग्योत्कृष्टशुभपरिणामेऽपि चरमशरीरिणान्तु प्रसन्नचन्द्रराजर्षिप्रमुखाणामुभयत्रापि सामर्थ्यान्नैकत्राप्यपकर्षस्तदयुक्तं यतो नायमविनाभावः प्रामाणिको यदुत्कृष्टाशुभगत्युपार्जनसामर्थ्याभावे सत्युत्कृष्टशुभगत्युपार्जनसामर्थ्येनापि न भवितव्यम् । अन्यथा प्रकृष्टशुभगत्युपार्जनसामर्थ्याभावे प्रकृष्टाशुभगत्युपार्जनसामर्थ्यं नास्तीत्यपि किं न स्यात्तथा चाभव्यानां सप्तमपृथिवीगमनं न भवेत् । अथ वादादिलब्धिराहितत्वेन स्त्रीणां विशिष्टसामर्थ्यासत्त्वं यत्र खल्वैहिकवादित्रिक्रिया चारणादिलब्धीनामपि हेतुः संयमविशेषरूपं सामर्थ्यं नास्ति तत्र मोक्षहेतुस्तद्भविष्यतीति कः सुधीः श्रद्दधीत तदचारु व्यभिचारात् । मासतुषादीनां तदभावेऽपि विशिष्टसामर्थ्योपलब्धेः । नच लब्धीनां संयमविशेषहेतुकत्वमागमिकं कर्मोदयक्षयक्षयोपशमोपशमहेतुकतया तासां तत्रोदितत्वात्तथा चावाचि “उदयखयखओवसमो-वसमसमुत्था बहुप्पगारा उ । एवं परिणामवसा, लद्धीओ हवंति जीवाणं” चक्रवर्तित्वबलदेववासुदेवत्वादिप्राप्तयोऽपि हि लब्धयो नच संयम सद्भावनिबन्धनास्तत्प्राप्तिः सन्तु वा तन्निबन्धनाल्लब्धयस्तथापि स्त्रीषु तासां सर्वासामभावोऽभिधीयते नियतानामेव वा । नाद्यःपक्षश्चक्रवर्त्यादिलब्धीनां कासांचिदेव तासु प्रतिषेधादामर्षौषध्यादीनां तु भूयसीनां भावात् । द्वितीयपक्षे तु व्यभिचारः पुरुषाणां सर्वेषां वादिलब्ध्यभावेऽपि विशिष्टसामर्थ्यस्वीकारात् । अकेशवानामेवातीर्थकरचक्रवर्त्यादीनामपि च मोक्षसंभवात् अल्पश्रुतत्वमपि मुक्तयवाप्त्यानुमितविशिष्टसामर्थ्यैर्माषतुषादिभिरेवानैकान्तिकमित्यनुद्घोष्यमेव । अनुपस्थाप्यता पाराञ्चितकशून्यत्वेनेत्यप्ययुक्तं, यतो न तन्निषेधाद्विशिष्टसामर्थ्याभावः प्रतीयते योग्यतापेक्षो हि विधिः शास्त्रे वि-

द्युध्युपदेशः उक्तंच । 'संवरनिर्जररूपो बहुप्रकारस्तपोविधिः शास्त्रे रोगचिकित्साविधिरिव-कस्यापि कथंचिदुपकारी " पुरुषानभिवन्द्यत्वमपि योषितां नापकर्षाय । यतस्तदपि सामान्येन गुणाधिकपुरुषापेक्षं वा । आद्ये असिद्धतादोषः तीर्थकरजनन्यादयो हि पुरंदरादिभिरपि प्रणताः किमङ्ग ! शेषपुरुषैः । द्वितीये तु शिष्या अपि आचार्यैर्नाभिवन्द्यन्त एवेति ते पि ततोऽपकृष्यमाणत्वेन निर्वृत्तिभाजो न भवेयुः । नचैवं चाणक्यादिशिष्याणां शास्त्रे तच्छ्रवणादिति मूलहेतोर्व्यभिचारः । एतेन स्मरणाद्यकर्तृकत्वमपि प्रतिक्षिप्तम् । अथ पुरुषविषयं स्मारणाद्यकर्तृत्वमत्र विवक्षितं नतु स्मारणाद्यकर्तृत्वमात्रम् । न च स्त्रियः कदाचन पुंसां स्मारणादीन् कुर्वन्तीति न व्यभिचार इति चेत्तर्हि पुरुषेति विशेषणं करणीयं करणेप्यसिद्धतादोषः स्त्रीणामपि कासांचित्पारगतागमरहस्यवासितसप्तधातूनां कापि तथाविधावसरे समुच्छृङ्खलप्रवृत्तिपराधीनसाधुस्मारणादेरविरोधात् । अथामहर्द्धिकत्वेन स्त्रीणां पुरुषेभ्योऽपकर्षः सोऽपि किमाध्यात्मिकीं समृद्धिमाश्रित्य बाह्यां वा । नाध्यात्मिकीं सम्यग्दर्शनादिरत्नत्रयादेस्तासामपि सद्भावात् । नापि बाह्यमेवं हि महत्यास्तीर्थकरलक्ष्म्या गणधराद्यश्चक्रधरादिलक्ष्म्याश्चेतरक्षत्रियादयो न भाजनमिति तेषामप्यमहर्द्धिकत्वेनापकृष्यमाणत्वान्मुक्त्यभावो भवेत् । अथ यासौ पुरुषवर्गस्य महती समृद्धिस्तीर्थकरत्वलक्षणा सा स्त्रीषु नास्तीत्यमहर्द्धिकत्वमासां विवक्ष्यते तदानीमप्यसिद्धता स्त्रीणामपि परमपुण्यपात्रभूतानां कासांचित्तीर्थकृत्त्वाविरोधात्तद्विरोधसाधकप्रमाणस्य कस्याप्यभावादेतस्याद्यापि विवादास्पदत्वादनुमानान्तरस्य चाभावात् । मायादिप्रकर्षवत्त्वेमत्यप्यप्रशस्यं तस्य स्त्रीपुंसयोस्तुल्यत्वदर्शनादागमे च श्रवणात् श्रूयते हि चरमशरीरिणामपि नारदादीनां मायादिप्रकर्षवत्त्वं तत्र पुरुषेभ्यो हीनत्वं स्त्रीनिर्वाणनिषेधे साधीयान् हेतुः यत्पुनर्निर्वाणकारणं ज्ञानादिपरमप्रकर्षः स्त्रीषु नास्ति, परमप्रकर्षत्वात्सप्तमपृथ्वीगमनकारणापुण्यपरमप्रकर्षवदिति तन्नैवोक्तं तत्र मोहनीयस्थितिपरमप्रकर्षेण स्त्रीवेदादिपरमप्रकर्षेण च व्यभिचारः । नास्ति स्त्रीणां मोक्षः परिग्रहवत्त्वात् गृहस्थवदित्यपि न पेशलं धर्मोपकरणचीवरस्यापरिग्रहत्वेन प्रसाधितत्वादिति स्त्रीनिर्वाणे संक्षेपेण बाधकोद्धारः । साधकोपन्यासस्तु मनुष्यस्त्री काचिन्निर्वात्यविकलतत्कारणत्वात्पुरुषवत् । निर्वाणस्य हि कारणमविकलं सम्यग्दर्शनादिरत्नत्रयं तच्च तासु विद्यत एवेत्यादित एवोक्तमिति । नासिद्धमेतद्विपक्षान्नपुंसकादेरत्यन्तव्यावृत्तत्वाच्च विरुद्धमनैकान्तिकं वा तथा मनुष्यस्त्रीजातिः कयाचिद्व्यक्त्या मुक्त्यविकलकारणवत्या तद्वती प्रव्रज्याधिकारित्वात्पुरुषवत् । न चैतदसिद्धं साधनं " गुव्विणी बालवच्छा य पव्वावेउं न कप्पइ इति" सिद्धान्तेन तासां तदधिकारित्वप्रतिपादनाद्विशेषनिषेधस्य शेषाभ्यनुज्ञानान्तरीयकत्वात् दृश्यन्ते च सांप्रतमप्येताःकृतशिरोलुञ्चना उपात्तपिच्छिका कमण्डलुप्रमुखयतिलिङ्गाश्चेति कुतो नैतासां प्रव्रज्याधिकारित्वसिद्धिर्यतो न मुक्तिः स्यादिति । रत्ना० ७ परि० ॥

इत्थि (त्थी) लिंगसिद्धकेवलनाण-स्त्रीलिङ्गसिद्धकेवलज्ञान-न० स्त्रीलिंगे वर्तमाना ये सिद्धास्तेषां केवलज्ञानं स्त्रीलिङ्गसिद्धकेवलज्ञानम् । केवलज्ञानभेदे, । आ० म० प्र० । इत्थिलिंगेण सिद्धाणं जं नाणं तं इत्थिलिंगसिद्धकेवलनाणंति । आ० चू० १ अ० ॥

इत्थि (त्थी) वउ-स्त्रीवाक्-स्त्री० खट्वालतेत्यादिलक्षणायां स्त्रीलिङ्गप्रतिपादिकायाम्भाषायाम्,-प्रज्ञा० ११ पद० ॥

इत्थि (त्थी) वयण-स्त्रीवचन-न० वचनभेदे,-स्त्रीवचनं वीणा कन्यादीति । आचा०२ श्रु० १ अ० ३ उ० । प्रज्ञा० ॥

इत्थि (त्थी) वस-स्त्रीवश-पु० ६ त० स्त्रीवशीभूते, स्त्र्यायत्ततायां च । वाच० । व्य० । " इत्थी वसंगया बाला " स्त्रीवशङ्गता यतो युवतीनामाज्ञायां वर्तन्ते बाला अज्ञा रागद्वेषोपहतचेतस इति । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० ।

स्त्रीवशङ्गतानामधमत्वञ्च यथा–

सरंगुलि वगुड्डावे, किंकरे तित्थएहायए चेव ।
गच्छावरं खिहदासु–एएपुरिसाधमाउत्त ॥

जदा इत्थी भणितो रंधेहि तदा भणंति अहं वट्टेमि ताव तुमं अधिकरणीति त्थारं अवणेहित्ति तस्स त्थारे अवणीते सरंगुलीतो भणति इत्थीवयणाओ दग माणेति सो य भोगसं कितो अप्पभाए व सुहसुत्ते पगे रोरुंतो आणेतित्ति वग्गु भावो किंकरो पजाते उट्ठितो इत्थी भणति किंकरेमि त्ति जं भणति तं करेतित्ति तित्थएहाय तो जयासि णं मग्गति च तदा इत्थी भणाति गच्छ तलागं तत्थ एहातो कलसं भरेतुमा गच्छाहिसि गच्छावरंसी भोयणकाले परिवेसणाए इतो वाहित्ति भणिताहे गिच्छो इव रिक्खंतो भोयणं वट्टेति इत्थी भणितो कम्मं करेहित्ति ताहे पडिभणति हंद अप्पयं हंदत्ति गेण्ह अप्पयं पुत्तभरं एयं गेण्ह जा कम्मं करेमीत्यर्थः । एते त्थ पुरिसा अधमा । नि० चू० १५ उ० ।

धिं तेसिं गामनगराणं, जेसिं इत्थी पणायिगा ।
ते य धिकया पुरिसा, जे इत्थीण वसंगया ॥

धिक्शब्दायां तेषां ग्रामनगराणां येषां स्त्रीप्रणायिका प्रकर्षेण स्वतन्त्रतया नायिका अत्र धिग्योगे द्वितीयाप्राप्तावपि षष्ठी प्राकृतत्वात्तथा तेऽपि पुरुषा धिक्कृता धिक्कारं प्राप्तवन्तो ये स्त्रीणां वशमायत्ततां गताः । तथा ।

इत्थीओ बलवं जत्थ, गामेसु नगरेसु वा ।
सो गामो नगरं वावी, खिप्पमेव विणिस्सई ॥

यत्र ग्रामेषु नगरेषु वा स्त्रियो बलवत्यः स ग्रामो नगरं वा क्षिप्रमेव विनश्यति । बहुवचनेनोपसंहारो जातौ बहुवचनमेकवचनं भवतीति ज्ञापनार्थः ॥ व्य० प्र० १उ० ।

इत्थि (त्थी) विग्गह-स्त्रीविग्रह पु-स्त्रीशरीरे, । व्य-प्र० ४ उ० । आचा० ।

इत्थि (त्थी) विण्णवणा-स्त्रीविज्ञापना-स्त्री० युवतिप्रार्थनायाम्, (रमणीसम्बन्धे) सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० (अत्र दोषादोषविचारः इत्थी शब्दे)

इत्थि (त्थी) विप्पजह-स्त्रीविप्रजह-पु० स्त्रियो विविधैः प्रकारैः प्रकर्षेण च जहाति त्यजतीति स्त्रीविप्रजहः तणादयो बहुलमिति बहुलवचनाच्छः । स्त्रीपरित्यागवति, " नारीसु नो पगिज्झिज्जा इत्थीविप्पजहे अणगारे " इति-उत्त० ८ अ० ।

इत्थि (त्थी) विप्परियासिया-स्त्रीविपर्यासिका-स्त्री० स्वाप्नान्तिकक्रियाविशेषे, "इत्थिए विप्परियासो इत्थीविपरियासो । स्वप्ने स्त्रिया ब्रह्मचर्यविनाश इत्यर्थः विपर्यासो नाम अब्रह्मचरेमिति " आ० चू० ४ अ० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इत्थि (त्थी) विलोयण–स्त्रीविलोचन–न० त्रैतिलापरनाम-धेये अशसंज्ञके करणभेदे, विशे० (तदानयनादिकरण-शब्दे वक्ष्यते)

इत्थि(त्थी)वेय–स्त्रीवेद–पुं०स्त्रियं यथावस्थितस्वभावतस्तत्स-म्बन्धविपाकतश्च वेदयति ज्ञापयतीति स्त्रीवेदः । वैशायिकादिके स्त्रीस्वभावाविर्भावके कामशास्त्रे,।"सुपुरिसा इत्थिवेय खेयणा" स्त्रीवेदे खेदज्ञाः स्त्रीवेदो मायाबहुल इति निपुणा अपि स्त्रीणांवशं भजन्तीति। सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । वेद्यत इति वेदः स्त्रियाः वेदः स्त्रीवेदः स्त्रियाः पुमांसं प्रत्यभिलाषः। तद्विपाकवेद्यं कर्म्मा ऽपि स्त्रीवेदः। स्त्रियाः पुमांसं प्रत्यभिलाषे, तद्विपाकवेद्ये नोकषा यवेदनीयकर्म्मविशेषे च । प्रज्ञा० २३ पद० । यदुदयात्स्त्रियाः पुरुषं प्रत्यभिलाषो भवति । यथा पित्तवशान्मधुरद्रव्यं प्रति स फुंफुमादाहसमः यथा २ ज्वाल्यते तथा २ ज्वलति दहति च एवमबलापि यथा २ संस्पृश्यते पुरुषेण तथा २ अस्या अधिकत-रोऽभिलाषो जायते भुज्यमानायान्तु तत्प्रकारीयदाहतुल्योऽभि-लाषो मन्द इति स्त्रीवेदोदयः। कर्म्म० । स्था० । पं० सं० । सम्प्रतिः स्त्रीवेदकर्मोदयजनितो यः स्त्रीवेदःसकिंस्वरूप इत्यावेदयन्नाह।

इत्थिवेदेणं भंते ! किंपकारे पं० गो० फुंफुअग्गिसमा-

णे पण्णत्ते सेत्तं इत्थियाओ ॥

(इत्थीवेदे णं भंते इत्यादि) स्त्रीवेदेणमिति पूर्ववत् भदन्त-किंप्रकारः किंस्वरूपः प्रज्ञप्तः । भगवानाह गौतम ! फुंफुकाग्नि समानः फुंफुका शब्दो देशीरूपत्वात् कारिषवाचकस्ततः कारिषाग्निसमानः परिमलनमदनदाहरूप इत्यर्थः प्रज्ञप्तः। जी० २ प्रति० ॥ (स्त्रीवेदस्य स्थितिः ठिई शब्दे । स्त्रीणां स्वभावादि इत्थी शब्दे) ॥

इत्थि (त्थी) वेयण्ण–स्त्रीवेदज्ञ–पुं० स्त्रीवेदो मायाप्रधान इत्येवं निपुणे, । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ॥

इत्थि(त्थी) संकिलिट्ठ–स्त्रीसंक्लिष्ट–त्रि० स्त्रीप्रतिषेविनि, प्रव०।

इत्थि (त्थी) संग–स्त्रीसङ्ग–पुं० स्त्रीषु प्रवर्तने, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ॥ (तस्य प्रधानं संसारकारणमिति इत्थी शब्दे)

इत्थि (त्थी) संपक्क–स्त्रीसम्पर्क–पुं० स्त्रीभिः सह संवासे,सूत्र० १ श्रु०४ अ० १ उ० । (स च साधुभिर्न विधेय इति इत्थी शब्दे)

इत्थि (त्थी) संपरिवुड–स्त्रीसंपरिवृत–त्रि० स्त्रीभिः समन्ता-त्परिवेष्टिते, "समंता परिवेट्ठिओ परिवुडो भण्णति परिमाण जाव तिण्णि चउरो पंच वा वागरणाणि परतो उड्ढादि अप-रिमाणं कहं करेंतस्स चउगुरुगं आणादिया य दोसा एस सुत्तत्थो इमा णिज्जुत्तीगाहा—

मज्झे दोण्हंत गतो, ससंति ऊसगादि वड्ढेंतो ॥

चउदिसितिताहिंतुवरुो, पास गताहिंव अप्फुसंतो ॥९०॥

अहवा एगदिसि तियाहिं वि अफुसंताहिं परिवुडो भण्ण-ति । नि० चू० २ उ० ॥

इत्थि (त्थी) संवास–स्त्रीसंवास–पुं० स्त्रीभिः सार्द्धं परिभोगे,

जतुकुंभे जोइउवगूढे, आसुभि तत्तेणासमुवयाइ ॥

एवि त्थियाहिं अणगारा, संवासेण णासमुवयंति ।२७।

(जतुकुंभेत्यादि) यथा जातुषः कुम्भो ज्योतिषाग्निनोपगू-ढः समालिङ्गितोऽभितप्तोग्निनाभिमुख्येन सन्तापितः क्षिप्रं नाशमुपैति द्रवीभूय विनश्यत्येवं स्त्रीभिः सार्धं संवसनेन प-रिभोगेनानगारा नाशमुपयान्ति सर्वथा जातुषु कुम्भवत् व्रत-काठिन्यं परित्यज्य संयमशरीराद्भ्रश्यन्ति । सूत्र० १ श्रु०४ अ० १ उ० । स्त्रीभिः सार्द्धमेकत्र वसतौ, ॥

एवं विवेगमादाय, संवासो न विकप्पए दविए ॥

तदेवमनन्तरोक्तया नीत्या विपाकं स्वानुष्ठानमाश्रय प्राप्य विवेकमिति वा कचित्पाठस्तद्विपाकं विवेकश्चादाय गृही-त्वा स्त्रीभिश्चारित्रपरिपन्थिनीभिः सार्धं संवासो वसतिरेकत्र न कल्पते न युज्यते कस्मिन्द्रव्यभूते मुक्तिगमनयोग्ये रागद्वेष-रहिते वा साधौ यतस्ताभिः सार्धं संवासोऽवश्यं विवेकिनाम-पि सदनुष्ठानविघातकारीति । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

इत्थि (त्थी) संसत्त–स्त्रीसंसक्त–त्रि० स्त्रीभिः संगते, " कुड कोप्परमादीहिं स घट्टंतो संसत्तो भवति दिट्ठीए वा परोप्परं संसत्तो संगतो इति " तथा च निर्युक्तिः संसत्ते ऊरुगादि घट्टंतो इति ॥

दुविधं च होति मज्झं, संसत्ता दिट्ठिदिट्ठिअंतो वा ॥

भावो व तासु णिहितो, एमे वि त्थीए पुरिसेसु॥९१॥

च सद्दाओ संसत्तं पि दुविधं ऊरुगादि घट्टेंतो संसत्तो दिट्ठि एवा इत्थीण वा मज्झे अहवा संसत्तस्स इमं वक्खाणं तेण तासु भावो णिहितो णिवेसितो ताहिं वा तम्मिणि सेवितो परस्पर गूढानीत्यर्थः। नि०चू०। स्त्रीभिः समाकीर्णे (सेविते) स्थानादौ च। स्था.१०ठा. (तच्च साधुभिर्वर्जनीयमिति बंभचेरगुत्ति शब्दे)

इत्थि (त्थी) सद्धा–स्त्रीश्रद्धा–स्त्री० स्त्रीश्रद्धाने,सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । (तत्कथादिकं इत्थी शब्दे)

इत्थि (त्थी) सहाव–स्त्रीस्वभाव–पुं० स्त्रीया इव स्वभावो यस्य । अन्तःपुररक्षके महल्लके, ६ त० स्त्रीणां शीले च । वाच० । सूत्र० । (स्त्रीस्वभावपरिज्ञाने कथानकं इत्थी शब्दे)

इत्थि (त्थी) सेवा–स्त्रीसेवा–स्त्री-६ त० स्त्रीसम्भोगे, अथवा यत्सधर्मेण नारीसेवने, । वाच० । स्त्रीसेवाद्य इह परत्र वा अकल्याणकारिणि इति । व्य० । " अन्नपानैर्हरेद्बालां यौव-नस्थां विभूषया । वेश्यां स्त्रीमुपचारेण वृद्धां कर्कशसेवया " इति–आ० म० द्वि० । आ० चू० ।

इत्थी–स्त्री–स्त्री०स्त्यायतेस्तृणातेर्वा ड्रट् टित्वाद्ङीपि स्त्रीति प्रव० ८६ द्वा० । उत्त० । " स्त्रिया इत्थी " १३० इति सूत्रेण स्त्रीशब्दस्य इत्थी इत्यादेशो वा–पक्षे–थीति। प्रा० ८ अ०२पा० योषिति,–अनु० । पंचा० । तं० ।

(१) स्त्रीलक्षणं तच्छब्दनिक्षेपश्च ।

(२) स्त्रीवक्तव्यता तद्भेदवर्णनञ्च ।

(३) स्त्रीणां स्वभावादिपरिहानस्यावश्यकता । तत्कृत्यव-र्णनञ्च ।

(४) स्त्रीसम्बन्धे दोषाः ।

(५) कतमाभिः स्त्रिभिस्सार्द्धं न विहर्त्तव्यम् ।

(६) इह लोके एव स्त्रीसम्बन्धविपाकः ।

(७) स्त्रीसंस्पर्शे दोषाः ।

(८) भोगीनां विडम्बना ।

(९) स्त्रियो विश्वास्याकार्यं कुर्वन्ति ।

(१०) स्त्रीणां स्वरूपस्य शरीरस्य चातिनिन्दनीयत्वम् ।

(११) स्त्रीचरित्रं वैराग्योत्पादनाय द्रष्टव्यम् ।

(१२) स्त्रीणामशुचित्वं सर्वस्वापकर्षकत्वञ्च ।

(१३) स्त्रीणां बन्धनकारणत्वं तत्स्नेहानुगतस्य दुःखानि च ।

(१४) स्त्रीसंसर्गस्य सर्वथा परित्याज्यत्वं तत्यागे कारणानि च ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(१५) स्त्रीषु शक्तस्य परिग्रहित्वं तासु सर्वेन्द्रियगुप्तेन भाव्यम्।
(१६) स्त्रीकरस्पर्शादिनिषेधः ।
(१७) स्त्रिया सार्द्धं विहारस्वाध्यायाहारोच्चारप्रस्रवणपरिष्ठापनिका धर्मकथादिनिषेधः ।
(१८) स्त्रीणां निर्ध्यानादिनिषेधः ।
(१९) स्त्रीस्थानदूषणं तत्प्रसङ्गत्यागस्तत्सङ्गातिक्रमे गुणाश्च ।
(२०) मतान्तरीयपूर्वपक्षदूषणानि ।

(१) स्त्रीलक्षणं तच्छब्दनिक्षेपो यथा ।

" योनिर्मृदुत्वमस्थैर्य्य-म्मुग्धता क्लीवता तनौ । पुंस्कामितेति लिङ्गानि सप्त स्त्रीत्वे प्रचक्षते इति । तथान्यत्राप्युक्तम् । "स्तनकेशवती स्त्री स्यादिति " । स्था० ३ ठा० । जी० । स्त्रीशब्दस्य निक्षेपो यथा-तत्र नाम स्थापने क्षुण्णत्वादनादृत्य स्त्रीशब्दस्य द्रव्यादिनिक्षेपार्थं निर्युक्तिकार आह—

दव्वाभिलाव चिंधे, दव्वे भावे य इत्थिणिक्खेवो ।
अहिलावे तह सिद्धी, भावे वेयंमि उवउत्तो ॥ ५६ ॥

तत्र द्रव्यस्त्री द्वेधा । आगमतो नो आगमतश्च । आगमतः स्त्रीपदार्थज्ञस्तत्र चानुपयुक्तो ऽनुपयोगो द्रव्यमिति कृत्वा नो आगमतो ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्ता त्रिधा । एकभविका बद्धायुष्काभिमुखनामगोत्रा चेति । चिह्नयते ज्ञायतेऽनेनेति चिह्नं स्तननेपथ्यादिकं चिह्नमात्रेण स्त्रीचिह्नं स्त्री । अपगतस्त्रीवेदच्छद्मस्थः केवली वा अन्यो वा स्त्रीवेषधारी यः कश्चिदिति । वेद स्त्री तु पुरुषाभिलाषरूपः स्त्रीवेदोदयः । अभिलाषभावौ तु निर्युक्तिकृदेव गाथापश्चार्द्धेनाह । अभिलाप्यते इत्यभिलापः स्त्रीलिङ्गाभिधानशब्दः । तद्यथा । शाला माला सिद्धिरिति । भावस्त्री तु द्वेधा । आगमतो नो आगमतश्च । आगमतः स्त्रीपदार्थज्ञस्तत्र चोपयुक्त उपयोगो भाव इति कृत्वा नो आगमतस्तु भावविषये निक्षेपे वेदे स्त्रीवेदरूपे वस्तुन्युपयुक्ता तदुपयोगानन्यत्वाद्भावस्त्री भवति । यथा अग्नावुपयुक्तो माणवकोऽग्निरेव भवत्येवमत्रापि । यदि वा स्त्रीवेदनिर्वर्तकान्युदयप्राप्तानि यानि कर्माणि तेषूपयुक्तेति तान्यनुभवन्ति भावस्त्रीति एतावानेष स्त्रियो निक्षेप इति । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

(२) स्त्रीवक्तव्यता तद्भेदवर्णनञ्च ।

से किं तं इत्थीओ २ तिविहाओ पण्णत्ताओ तंजहा तिरिक्खजोणित्थीओ मणुस्सत्थीओ देवित्थीओ से किं तं तिरिक्खजोणित्थीओ २ तिविधाओ पण्णत्ताओ तंजहा जलयरीओ थलयरीओ खहयरीओ । से किं तं जलयरीओ २ पंचविधाउ पण्णत्ताउ तंजहा मच्छीउ जाव सुसुमारीउ सेत्तं जलयरीउ । से किं तं थलयरीउ २ दुविहाउ पण्णत्ताओ तंजहा चउप्पदीउ य परिसप्पिणीउ य । से किं तं चउप्पदीउ २ चउव्विहाउ पण्णत्ता तंजहा एगखुरीउ जाव सणप्फईउ । सेकिंतं परिसप्पिणीउ २ दुविहा पण्णत्ता तंजहा उरगपरिसप्पिणीउ य भुयगपरिसप्पिणीओ य । से किं तं उरगपरिसप्पिणीओ २ तिविधाओ पण्णत्ताओ तंजहा अहीओ अयगरीओ महोरगीओ सेत्तं उरगपरिसप्पिणी । से किं तं भुयपरिसप्पिणी २ अणेगविधाओ पण्णत्ताओ तंजहा गोहीओ णउलीओ सेधाओ सेल्लाओ सरडीओ सेरंधीओ सावाओ खराओ पंचलोइयाओ चउप्पइयाओ मूसियाओ मुसुंसियाओ घरोलियाओ गोहियाओ जोहियाओ थिरावलियाओ सेत्तं भुयपरिसप्पिणीओ । से किं तं खहयरीओ २ चउव्विहा पण्णत्ताओ तंजहा चम्मपंखीओ जाव सेत्तं खहयरीओ सेत्तं तिरिक्खजोणित्थियाओ । से किं तं मणुस्सित्थियाओ २ तिविधाओ पण्णत्ताओ तंजहा कम्मभूमियाओ अकम्मभूमियाओ अंतरदीवियाओ । से किं तं अंतरदीवियाओ २ अट्ठावीसतिविधाओ पण्णत्ता तंजहा एगुरुईओ आभासीओ जाव सुद्धदंताओ सेत्तं अंतरदीवे । से किं तं अकम्मभूमियाओ २ तीसतिविधाओ पण्णत्ता तंजहा पंचसु हेमवएसु पंचसु एरण्णवएसु पंचसु हरिवासेसु पंचसु रम्मगवासेसु पंचसु देवकुरूसु पंचसु उत्तरकुरूसु सेत्तं अकम्मभूमगमणुस्सीओ । से किं तं कम्मभूमियाओ २ पण्णरसविधाओ पण्णत्ताओ तंजहा पंचसु भरहेसु पंचसु एरवएसु पंचसु महाविदेहेसु सेत्तं कम्मभूमगमणुस्सीओ ३ ।

(सेकिंतमित्यादि) अथ कास्ता स्त्रियः सूरिराह स्त्रियस्त्रिविधाः प्रज्ञप्तास्तिर्यग्योनिस्त्रियो मनुष्यस्त्रियो देवस्त्रियश्च (सेकिंतमित्यादि) तिर्यग्योनिस्त्रियस्त्रिविधास्तद्यथा जलचर्यः स्थलचर्यः खचर्यश्च (सेकिंतमित्यादि) मनुष्यस्त्रियोऽपि त्रिविधास्तद्यथा कर्मभूमिका अकर्मभूमिका अन्तरद्वीपिकाश्च । कृष्यादिकर्मप्रधाना भूमिः कर्मभूमिः भरतादिका पञ्चदशधा तत्र जाताः कर्मभूमिजा एवमकर्मभूमिजा नवरमकर्मभूमिर्भोगभूमिरित्यर्थः । देवकुर्वादिका त्रिंशद्विधा अन्तरे मध्ये समुद्रस्य द्वीपा ये ते तथा तेषु जाता आन्तरद्वीपास्त एवान्तरद्वीपिकाः । स्था० ३ ठा० ॥

से किं तं देवित्थियाओ २ चउव्विहाओ पण्णत्ताओ तंजहा भवनवासिदेवित्थियाओ वाणमंतरदेवित्थियाओ जोतिसियदेवित्थियाओ वेमाणियदेवित्थियाओ से किंतं भवणवासिदेवित्थियाओ २ दसविधाओ पण्णत्ताओ तंजहा असुरकुमारभवणवासिदेवित्थियाओ जाव थणितकुमारभवणवासिदेवित्थियाओ सेत्तं भवणवासिदेवित्थियाओ । से किं तं वाणमंतरदेवित्थियाओ २ अट्ठविधाओ पण्णत्ताओ तंजहा पिसायवाणमंतरदेवित्थियाओ जाव सेत्तं वाणमंतरदेवित्थियाओ । से किं तं जोतिसियदेवित्थियाओ २ पंचविहाओ पण्णत्ताओ तंजहा चंदविमाणजोतिसियदेवित्थियाओ सूरविमाणदेवित्थियाओ गहविमाणदेवित्थियाओ णक्खत्तविमाणदेवित्थियाओ ताराविमाणजोतिसियदेवित्थियाओ सेत्तं जोतिसियदेवित्थियाओ । से किं तं वेमाणियदेवित्थियाओ २ दुविहाओ पण्णत्ताओ तंजहा सोहम्मकप्पवेमाणियदेवित्थियाओ ईसाणकप्पवेमाणियदेवित्थियाओ सेत्तं वेमाणित्थियाओ । जी० २ प्रति० । (सुगमत्वाट्टीका न व्याख्याता)

स्त्रियो देवमानुषभेदाद्द्विविधा एताश्च सचित्ताःअचित्तास्तु प्रस्तरलेप्यचित्रादिनिर्मिताः । ध० २ अधि० । शब्देन वयसा च स्त्री त्रिविधा मन्दशब्दा मध्यमशब्दा तीव्रशब्दा चेति । वय-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सा तु स्थविरा मध्यमा तरुणी चेति । पुनरेकैका त्रिविधा अपभ्राषणभर्तृका प्रोषितभर्तृका स्वाधीनभर्तृका चेति । सू० १ उ० । मुग्धा मध्या प्रौढा चेति । उत्त० १६ अ० । "इत्थीओ दुविधा अदुगुंछिता य बंभणखत्तियवेसिसुद्दियदुगुंछिता संभोईय अक्खरियाओ अहवा णरुवरूवादियाओ असंजोइअइत्थियाओ एताओ वि दुविधा सपरिग्गहा अपरिग्गहाओ य । नि० चू० १६ उ० ॥

चत्तारि धूमसिहाओ पण्णत्ताओ तंजहा वामा णाममेगा वामावत्ता । ४ । एवामेव चत्तारित्थियाओ पण्णत्ता तंजहा वामा णाममेगा वामावत्ता । ४ । चत्तारि अग्गिसिहाओ पण्णत्ताओ तंजहा वामाणाममेगा वामावत्ता । ४ । एवामेव चत्तारि त्थियाओ पण्णत्ताओ तंजहा वामा णाममेगा वामावत्ता । ४ । चत्तारि वायमंडलिया पण्णत्ताओ तंजहा वामा णाममेगा वामावत्ता । ४ । एवामेव चत्तारि त्थियाओ पण्णत्ताओ तंजहा वामा णाममेगा वामावत्ता ॥ ४ ॥

धूमशिखा वामा वामपार्श्ववर्त्तितयाऽनुकूलस्वभावतया वा वामत एवावर्तते या तथा चलनात्सा वामावर्त्ता १० स्त्रीपुरुषवद् व्याख्येया कम्बुदृष्टान्ते सत्यपि धूमशिखादिदृष्टान्तानां स्त्रीदार्ष्टान्तिके शब्दसाधर्म्येणोपपन्नतरत्वाद्भेदेनोपादानमिति ११ एवमग्निशिखापि १२ वातमण्डलिका मण्डलेनोर्ध्वप्रवृत्तो वायुरिति इह च स्त्रियो मालिन्योपतापचापल्यस्वभावा भवन्तीत्यभिप्रायेण तासु धूमशिखादृष्टान्ततयोपन्यास इति । उक्तञ्च " चवला मइलणसीला, सिणेहपरिपूरिया विग्यावेइ । दीवयसिहिव्व महिला, लरूप्पसरा जयं देइ त्ति" ॥

चत्तारि कूडागारसालाओ पण्णत्ताओ तंजहा गुत्ता णामेगा गुत्तदुवारा, गुत्ता णामेगा अगुत्तदुवारा, अगुत्ता णामेगा गुत्तदुवारा, अगुत्ता णामेगा अगुत्तदुवारा । एवामेव चत्तारि त्थीओ पण्णत्ताओ तंजहा गुत्ता णामेगा गुत्तिंदिया गुत्ताणामेगा अगुत्तिंदिया ४ ॥

तथा कूटस्येव आकारो यस्याः शालायाः गृहविशेषस्य सा तथा । अयं च स्त्रीलिङ्गदृष्टान्तः स्त्रीलक्षणदार्ष्टान्तिकार्थसाधर्म्यवशात्तत्र गुप्ता परिवारा वृता गृहान्तर्गता वस्त्राच्छादिताङ्गा गूढस्वभावा वा । गुप्तेन्द्रिया तु निगृहीतानौचित्यप्रवृत्तेन्द्रिया एवं शेषा भङ्गा ऊह्याः । स्था० ४ ठा० । पद्मिनी चित्रिणी हस्तिनी शङ्खिनीति चतुर्विधाः स्त्रिय इति । उत्त० । १६ अ० ।

एतासां लक्षणादिकम्–"पद्मिनी चित्रिणी चैव शङ्खिनी हस्तिनी तथा । शशो मृगो वृषोऽश्वश्च स्त्रीपुंसोर्जाति लक्षणम् । भवति कमलनेत्रा नासिकाक्षुद्ररन्ध्रा अविरलकुचयुग्मा चारुकेशी कृशाङ्गी । मृदुवचनसुशीला गीतवाद्यानुरक्ता सकलतनुसुवेशा पद्मिनी पद्मगन्धा १ भवति रतिरसज्ञा नातिखर्वा न दीर्घा तिलकुसुमसुनासा स्निग्धनीलोत्पलाक्षी । घनकठिनकुचाढ्या सुन्दरी वरुशीला सकलगुणसमेता चित्रिणी चित्रवक्त्रा २ । दीर्घातिदीर्घनयना वरसुन्दरी या कामोपभोगरसिका गुणशीलयुक्ता । रेखात्रयेण च विभूषितकण्ठदेशा सम्भोगकेलिरसिका किल शङ्खिनी सा । ३ । स्थूलाधरा स्थूलनितम्बभागा स्थूलाङ्गुली स्थूलकुचा सुशीला । कामोत्सुका गाढरतिप्रिया या नितम्बखर्वा करिणी मता सा ४ शशके पद्मिनी तुष्टा चित्रिणी रमते मृगे । वृषभे शङ्खिनी तुष्टा हस्तिनी रमते हये । ५ पद्मिनी पद्मगन्धा च मीनगन्धा च चित्रिणी । शङ्खिनी क्षारगन्धा च मदगन्धा च हस्तिनी । ६ याच स्त्रीणामुष्णस्वभावत्वं "गिम्हो इत्थियत्ति" ग्रीष्मास्त्री भवतीति । औप० ॥

(३) स्त्रीणां स्वभावादि परिज्ञानस्यावश्यकता तत्कृत्यवर्णञ्च

तत्र स्वभावपरिज्ञानं यथा ॥

जस्सित्थिओ परिण्णाया सव्वकम्मावहाओ से दक्खू ॥

यस्य स्त्रियः स्वरूपतस्तद्विपाकतश्च परिज्ञाता भवन्ति । सर्वं कर्म्मावहन्तीति सर्वकर्म्मावहाः सर्वपापोपादानभूताः स एवाकोस्त एव यथावस्थितं संसारस्वभावं ज्ञातवानिति । एतदुक्तं भवति स्त्रीस्वभावपरिज्ञानेन तत्परिहारेण च स भगवान् परमार्थदर्श्यभूदिति । आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

स्त्रीणां स्वभावादिपरिज्ञानञ्च निर्युक्तौ यथा ॥

सुसमत्थावसमत्था, कीरंति अप्पसत्तिया पुरिसा ॥
दीसंती सूरवादी, णारीवसगा ण ते सूरा ॥ ६१ ॥

परानीकविजयादौ सुष्ठु समर्था अपि सन्तः पुरुषाः स्त्रीभिरात्मवशीकृता असमर्था भ्रूक्षेपमात्रभीरवः क्रियन्तेऽल्पसात्त्विकाः स्त्रीणामपि पादपतनादिचाटुकरणेन निःसाराः क्रियन्ते । तथा दृश्यन्ते प्रत्यक्षेणोपलभ्यन्ते । शूरमात्मानं वदितुं शीलं येषां ते शूरवादिनोऽपि नारीवशगाः सन्तो दीनतां गताः एवंभूताश्च न ते शूरा इति । तस्मात् स्थितमेतदविश्वास्याः स्त्रिय इति । उक्तं च । को वीससेज्ज तासिं, कतिवय भरियाण दुक्खियट्ठाणे । खणरत्त विरत्तेणं, धिरत्थु इत्थीण हिययाणं ॥ १ ॥ अण्णं भणंति पुरओ, अण्णं पासेइ विब्भमाणीओ । अण्णं च तासिं हियए, जं च खमं तं करिंति पुणो ॥ २ ॥ को एयाणं णाहिइ, वेत्तलया गुम्मगुविलहिययाणं । भावं भग्गासाणं, तत्थुप्पण्णं भणंतीणं ॥ ३ ॥ महिलायरत्तमेत्ता, लच्छुखंडं च सक्करा चेव । सा पुण विरत्तमित्ता, णिंबंकूरे विसेसेति ॥४॥ महिला दिज्ज करेज्ज व, मारिज्ज वसं भविज्जवमणुस्सं तुट्ठा जीवाविज्जा, अहवरणरकं च पावेज्जा ॥५॥ ण वि रक्खं तेसु कयं, ण वि णेहं ण वि य दाणसम्माणं ॥ ण कुलं ण पुव्वयं आय–त्तं च शीलं महिलियाओ । ६ मा वीसंभह ताणं, महिलाहिययाण कवडभरियाणं । णिण्णेहनिद्दयाणं, अलियवयणजंपणरयाणं ॥७॥ मारेइ जियंतं पि हु मयं पि अणुमरइ काइ भत्तारं ॥ विसहरगइवच्चरियं, वंकविवंकं महेलाणं ॥ ८ ॥ गंगाए वालुयं सा–गरे जलं हिमवओ य परिमाणं ॥ जाणंति बुद्धिमंता, महिला हिययं ण जाणंति ॥ ९ ॥ रोवावंति रुवंति य, अलियं जंपंति पत्तियावंति ॥ कयकेणय खंति विसं, मरंति ण य जंति सब्भावं ॥ १० ॥ चिंतिंति कज्जमण्णं, अण्णं संठवइ भासई अण्णं ॥ आढवइ कुणइ अण्णं, माइणभूणियम्मि सारो ॥ ११ ॥ असयारंभाण तहा, सव्वेसिं लोग गरहणिज्जाणं ॥ परलोगवेरियाणं, कारणयं चेव इत्थीओ । ॥ १२ ॥ अहवा को जुवईणं, जाणइ चरियं सहावकुडिलाण । दोसाण आगरो च्चिय, जाणे सरीरे वसइ का सा ॥ १३ ॥ मूलं दुच्चरियाणं, हवइ च णरयस्स वत्तिणी विउला । मोक्खस्स महाविग्घं, वज्जेयव्वा सया नारी ॥१४॥ धण्णा ते वरपुरिसा, जे च्चिय मोत्तूण णिययजुवईओ । पव्वइया कयनियमा, सिवमयलमणुत्तरं पत्ता ॥ १५ ॥"

अधुना यादृक्शूरो भवति तादृशं दर्शयितुमाह ॥

धम्मम्मि जो दढमई, सो सूरो सत्तिओ य वीरो य ॥
णहु धम्मणिरुस्साहो, पुरिसो सूरो सुबलिओ य ॥ ६२ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्म्मे श्रुतचारित्राख्ये दृढा निश्चला मतिर्यस्य स तथा एवंभूतः स इन्द्रियनोइन्द्रियारिजयाच्छूरस्तथा सात्विको महासत्त्वोपेतोऽसावेव वीरः स्वकर्मदारणसमर्थोऽसावेवेति किमिति यतो नैव धर्मनिरुत्साहः सदनुष्ठाननिरुद्यमः सत्पुरुषाचीर्णमार्गपरिभ्रष्टः पुरुषः सुष्ठु बलवानपि शूरो भवतीति ॥

एतानेव दोषान् पुरुषसंबन्धेन स्त्रीणामपि दर्शयितुमाह ।

एते चेव य दोसा, पुरिससमाए विइत्थियाणं पि ।
तम्हाण अप्पमाओ, विरागमग्गंमि तासिं तु ॥६३॥

ये प्राक् शीलप्रध्वंसादयः स्त्रीपरिचयादिभ्यः पुरुषाणामभिहिता एत एव न न्यूनाधिकाः पुरुषेण सह यः समयः संबन्धस्तस्मिन् स्त्रीणामपि यस्माद्दोषा भवन्ति तस्मात्तासामपि विरागमार्गे प्रवृत्तानां पुरुषपरिचयादिपरिहारलक्षणोऽप्रमाद एव श्रेयानिति । स्त्रीपरिज्ञाध्ययने च विस्तरेण स्त्रीपरिज्ञानम्प्रतिपादितम् तद्यथा—

जे मायरं च पियरं च, विप्पजहा य पुव्वसंजोगं ।
एगे सहिते चरिस्सामि, आरतमेहुणो विवित्तेसु ॥१॥

यः कश्चिदुत्तमसत्त्वो मातरं पितरं जननीं जनयितारमेतद्ग्रहणादन्यदपि भ्रातृपुत्रादिकं पूर्वसंयोगं तथा श्वश्रूश्वशुरादिकं पश्चात्संयोगञ्च विप्रहाय त्यक्त्वा चकारौ समुच्चयार्थौ एको मातापित्राद्यभिष्वङ्गवर्जितः कषायरहितो वा तथा सहितो ज्ञानदर्शनचारित्रैः स्वस्मै वा हितः स्वहितः परमार्थानुष्ठानविधायी चरिष्यामि संयमं करिष्यामीत्येवं कृतप्रतिज्ञः । तामेव प्रतिज्ञां सर्वप्रधानभूतां लेशतो दर्शयति आरतमुपरतं मैथुनं कामाभिलाषो यस्यासावारतमैथुनस्तदेवंभूतो विविक्तेषु स्त्रीपशुपण्डकवर्जितेषु स्थानेषु चरिष्यामीत्येवं सम्यगुत्थानेनोत्थाय विहरतीति कचित्पाठो (विवित्तेसित्ति) विविक्तं स्त्रीपण्डकादिरहितं स्थानं संयमानुपरोध्येषितुं शीलमस्य तथेति ।

तस्यैवं कृतप्रतिज्ञस्य साधोर्यद्भवत्यविवेकिस्त्रीजना-
त्तद्दर्शयितुमाह—

सुहुमे णं तं परक्कम्म, छन्नपएण इत्थिओ मंदा ।
उवायं पि ता उ जाणंसु, जहा लिस्संति भिक्खुणो एगे॥२॥

तं महापुरुषं साधुं सूक्ष्मेणापरकार्यव्यपदेशभूतेन छन्नपदेनेति छद्मना कपटजालेन पराक्रम्य तत्समीपमागत्य यदि वा पराक्रम्येति शीलस्खलनयोग्यतापत्त्या अभिभूय काः स्त्रियः कूलवालकादीनामिव मागधगणिकाद्या नानाविधकपटशतकरणदक्षा विविधविब्बोकवत्यो भावमन्दाः कामोद्रेकविधायितया सदसद्विवेकविकलाः समीपमागत्य शीलात् ध्वंसयन्ति । एतदुक्तं भवति भ्रातृपुत्रव्यपदेशेन साधुसमीपमागत्य संयमाद्भ्रंशयन्ति तथा चोक्तम् । " पियपुत्त भाइकिरुगा, णत्तू य किरुगा य सयणकिरुगा य ॥ एते जोव्वणकिरुगा, पच्छन्नपइमहिलियाणं " यदि वा छन्नपदेनेति गुप्ताभिमानेन । तद्यथा । "काले प्रसुप्तस्य जनार्दनस्य, मेघान्धकारासु च शर्वरीषु ।मिथ्या न भाषामि विशालनेत्रे, ते प्रत्यया ये प्रथमाक्षरेषु" इत्यादि ॥ ताः स्त्रियो मायाप्रधानाः प्रतारणोपायमपि जानन्त्युत्पन्नप्रतिभतया विदन्ति ।पाठान्तरं वा ज्ञातवत्यः यथा श्लिष्यन्ते विवेकिनोऽपि साधव एके तथाविधकर्मोदयात्तासु सङ्गमुपयान्ति ॥

तानेव सूक्ष्मप्रतारणोपायान् दर्शयितुमाह—

पासे भिसं णिसीयंति, अभिक्खणं पोसवत्थं परिहिंति ।
कायं अहे वि दंसंति, बाहू उद्धट्टु कक्खमणुव्वज्जे ॥३॥

पार्श्वे समीपे भृशमत्यर्थमुरुपीडमतिस्नेहमाविष्कुर्वत्यो निषीदन्ति विश्रम्भमापादयितुमुपविशन्तीति । तथा कामं पुष्णातीति पोषं कामोत्कोचकारि शोभनमित्यर्थः । तच्च तद्वस्त्रं तदभीक्ष्णमनवरतं तेन शिथिलादिव्यपदेशेन परिदधति स्वाभिलाषमावेदयन्त्यः साधुप्रतारणार्थं परिधानं शिथिलीकृत्य पुनर्निबध्नन्तीति । तथाऽधःकायमूर्वादिकमनङ्गोद्दीपनाय दर्शयन्ति प्रकटयन्ति तथा बाहुमुत्कृत्य कक्षामादर्श्याऽनुकूलं साध्वभिमुखं व्रजेत् गच्छेत् संभावनायां लिङ् संभाव्यते एतदनङ्गप्रत्यङ्गसंदर्शकत्वं स्त्रीणामिति ॥ ३ ॥ अपिच—

सयणासणेहिं जोगेहिं, इत्थिओ एगता णिमंतंति ॥
एयाणि चेव से जाणे, पासाणि विरूवरूवाणि ॥४॥

शय्यतेऽस्मिन्निति शयनं पर्यङ्कादि तथाऽऽस्यतेऽस्मिन्नित्यासनमासन्दकादीत्येवमादिना योग्येनोपभोगार्हेण कालोचितेन स्त्रियो योषित एकदेति विविक्तदेशकालादौ निमन्त्रयन्त्यभ्युपगमं ग्राहयन्ति। इदमुक्तं भवति। शयनासनाद्युपभोगं प्रति साधुं प्रार्थयन्ति । एतानेव शयनासननिमन्त्रणरूपान् स साधुर्विदितवेद्यः परमार्थदर्शी जानीयादवबुध्येत । स्त्रीसंबन्धिकारिणः पाशयन्ति बध्नन्तीति पाशा स्तान्विरूपरूपान् नानाप्रकारानिति । इदमुक्तं भवति । स्त्रियो ह्यासन्नगामिन्यो भवन्ति । तथाचोक्तं । "अंबं वा निंबं वा, अब्भासगुणेन आरुहइ वल्ली । एवं इत्थी तो वि, जं आसन्नं तमिच्छंति " । १ । तदेवं भूताः स्त्रियो ज्ञात्वा न ताभिः सार्धं साधुः सङ्गं कुर्याद्यतस्तदुपचारादिकः सङ्गो दुष्परिहार्यो भवति ; तदुक्तं । " जं इच्छसि घेत्तुं जे, पुव्विं तं आमिसेण गिण्हाहि । आमिसपासनिबद्धो, काहिइ कज्जं अकज्जं वा ॥ २ ॥ ४ ॥ किञ्च—

नो तासु चक्खु संधेज्जा, नो वि य साहसं समभिजाणे ॥
णो सहियं पि विहरेज्जा, एवमप्पासु रक्खिओ होइ॥५॥

नो नैव तासु शयनासनोपमन्त्रणपाशावपाशिकासु स्त्रीषु चक्षुर्नेत्रं संदध्यात्संधयेद्वा न तद्दृष्टौ स्वदृष्टिं निवेशयेत्। सति च प्रयोजने ईषदवज्ञया निरीक्षेत । तथाचोक्तं । " कार्येऽपीषन्मतिमान्निरीक्षते योषिदङ्गमस्थिरया । अस्निग्धया दृशाऽवज्ञया ह्यकुपितोऽपि कुपित इव ॥ १ ॥ तथा नापि च साहसमकार्यकरणं तत्प्रार्थनया समनुजानीयात्प्रतिपद्येत । तथा ह्यसति साहसमेतत्संग्रामावतरणवन्नरकपातादिविपाकवेदिनोऽपि साधोर्योषिदासञ्जनमिति । तथा नैव स्त्रीभिः सार्धं ग्रामादौ विहरेत् गच्छेत् । अपि शब्दात्र ताभिः सार्धं विविक्तासनो भवेद्यतो महापापस्थानमेतद्यतीनां यत् स्त्रीभिः सहसाङ्गत्यमिति ॥ तथाचोक्तम् "मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत् ॥ बलवानिन्द्रियग्रामः पण्डितोऽप्यत्र मुह्यति ॥ १ ॥ एवमनेन स्त्रीसङ्गवर्जनेनात्मा समस्तापायस्थानेभ्यो रक्षितो भवति । यतः सर्वापायानां स्त्रीसंबन्धः कारणमतः स्वहितार्थी तत्सङ्गं दूरतः परिहरेदिति ॥ ५ ॥

कथं चैताः पाशा इव पाशिका इत्याह ।

आमंतिय उस्सविय, भिक्खुआयसा निमंतंति ॥
एताणि चेव से जाणे, सद्दाणि विरूवरूवाणि ॥ ६ ॥

स्त्रियो हि स्वभावेनैवाकर्तव्यप्रवणाः साधुमामन्त्र्य यथाहममुकस्यां वेलायां भवदन्तिकमागमिष्यामीत्येवं संकेतं ग्राहयित्वा तथा (उस्सवियत्ति) संस्थाप्योच्चावचैर्विश्रम्भजनकैरालापैर्विश्रम्भे पातयित्वा पुनरकार्यकरणायात्मना निमन्त्रयन्त्या-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्मनोपभोगेन साधुमभ्युपगमं कारयन्ति। यदि वा साधोर्भयापहरणार्थं ता एव योषितः प्रोचुस्तथया भर्तारमामन्त्र्यापृच्छ्याहमिहायाता तथा संस्थाप्य भोजनपदधावनशयनादिकया क्रिययोपचर्य ततस्तवान्तिकमागतेत्यतो भवता सर्वा भर्तृजनितामाशङ्कां परित्यज्य निर्भयेन भाव्यमित्येवमादिकैर्वचोभिर्विश्रम्भमुत्पाद्य भिक्षुमात्मना निमन्त्रयन्ते। युष्मदीयमिदं शरीरकं यादृक्षस्य क्षोदीयसो गरीयसो वा कार्यस्य क्षमं तत्रैव निमज्जतामित्येवमुपप्रलोभयन्ति । स च भिक्षुरवगतपरमार्थ एतानेव विरूपरूपान्नानाप्रकारान् शब्दादीन् विषयान् तत्स्वरूपनिरूपणतो ज्ञपरिज्ञया जानीयाद्यथैते स्त्रीसंसर्गापादिताः शब्दादयो विषयादुर्गतिगमनैकहेतवः सन्मार्गार्गलारूपा इत्येवमवबुध्येत । यथा प्रत्याख्यानपरिज्ञया च तद्विपाकावगमेन परिहरेदिति। ६।

(४) स्त्रीसम्बन्धे दोषा यथा—

मणबंधणेहिं णेगेहिं, कलुण विणीय मुवगसित्ताणं ॥
अदु मंजुलाइं जासंति, आणवयंति भिन्नकहाहिं ॥७॥

मनो बध्येत यैस्तानि मनोबन्धनानि मञ्जुलालापस्निग्धावलोकनाङ्गप्रत्यङ्गप्रकटनादीनि । तथाचोक्तं । " णाहपियकंतसामियदइयजियाओ तुमं मह पिओ त्ति । जीए जीयामि अहं पहवसितं मे शरीरस्स ॥ १ ॥ इत्यादिभिरनेकैः प्रपञ्चैः करुणालापविनयपूर्वकम् (उवगसिताणंति) उपसंश्लिष्य समीपमागत्याऽथ तदनन्तरं मञ्जुलानि पेशलानि विश्रम्भजनकानि कामोत्कोचकानि वा भाषन्ते । तदुक्तं "मितमहुररिभिय जंपुल्ल एहिं इसीकडक्खहसिएहिं । सविगारेहि य रागं हिययं पिहियं मयत्थीए॥२॥ तथा भिन्नकथाभी रहस्यालापैर्मैथुनसंबद्धैर्वचोभिः साधोश्चित्तमादाय तमकार्यकरणं प्रत्याज्ञापयन्ति प्रवर्तयन्ति स्ववशं वा ज्ञात्वा कर्मकरवदाज्ञां कारयन्तीति ॥ ७ ॥ अपिच-

सीहं जहा व कुणिमेणं, निब्भयमेगचरंति पासेणं ॥
एवं थियाउ बंधंति, संवुडं एगतियमणगारं ॥ ८ ॥

यथेति दृष्टान्तोपदर्शनार्थे । यथा बन्धनविधिज्ञा सिंहं पिशितादिना मिषेणोपप्रलोभ्य निर्भयं गतभीकं निर्भयत्वादेवैकचरं पाशेन गलयन्त्रादिना बध्नन्ति बध्वा च बहुप्रकारं कदर्थयन्त्येवं स्त्रियो नानाविधैरुपायैः पेशलभाषणादिभिः (एगतियंति) कंचन तथाविधमनगारं साधुं संवृतमपि मनोवाक्कायगुप्तमपि बध्नन्ति स्ववशं कुर्वन्तीति । संवृतग्रहणं त्र स्त्रीणां सामर्थ्योपदर्शनार्थम् यथाहि । संवृतोपि ताभिर्बध्यते किंपुनरपरोऽसंवृत इति ॥ ८ ॥ किञ्च ।

अह तत्थ पुणो णमयंती, रहकारो व णेमि अणुपुव्वी ॥
बद्धे मिए व पासेणं, फंदंते वि ण मुच्चए ताहो ॥९॥

अथेति स्ववशीकरणादनन्तरं पुनस्तत्र स्वाभिप्रेते वस्तुनि नमयन्ति प्रह्वं कुर्वन्ति । यथा रथकारो वार्धकिर्नेमिकाख्यं चक्रबाह्यभ्रमिरूपमानुपूर्व्या नमयत्येवं ता अपि साधुं स्वकार्यानुकूल्ये प्रवर्तयन्ति । स च साधुर्मृगवत् पाशेन बद्धो मोक्षार्थं स्पन्दमानोपि ततः पाशान्न मुच्यत इति ॥ ९ ॥ किञ्च ।

अह सेणु तप्पई पच्छा, भोच्चा पायसं च विसमिस्सं ॥
एवं विवेगमादाय, संवासो न विकप्पए दविए ॥ १० ॥

अथासौ साधुः स्त्रीपाशावबद्धो मृगवत् कूटके पतितः सन् कुटुम्बकृते अहर्निशं क्लिश्यमानः पश्चादनुतप्यते । तथाहि । गृहान्तर्गतानामेतदवश्यं संभाव्यते । तद्यथा । " कोऽथय ओको समावित्तु कोहो वणाहिं काहो विज्झउ वित्तको उग्घाडउ पहियउ परिणीयउ कोवकुमारओ पडियतो जीवस रूप्परेहि परबंधइ पवेइ जारओ "। तथा " यन्मया परिजनस्यार्थे-कृतं कर्म सुदारुणम्॥ एकाकी तेन दह्येहं गतास्ते फलभागिनः " ॥ १ ॥ इत्येवं बहुप्रकारं महामोहात्मके कुटुम्बकूटके पतिता अनुतप्यन्ते । अमुमेवार्थं दृष्टान्तेन स्पष्टयति । यथा कश्चिद्विषमिश्रं भोजनं भुक्त्वा पश्चात्तत्र कृतावेगाकुलितोऽनुतप्यते । तद्यथा । किमेतन्मया पापेन साम्प्रतेक्षिणा सुखरसिकतया विपाककटुकमेवंभूतं भोजनमास्वादितमिति । एवमसावपि पुत्रपौत्रदुहितृजामातृस्वसृभ्रातृव्य भागिनेयादीनां भोजनपरिधानपरिणयनालङ्कारजातमृतकमेतद्व्याधिचिकित्साचिन्ताकुलोपगतस्वशरीरकर्तव्यः प्रनष्टैहिकामुष्मिकानुष्ठानोऽहर्निशं । तद्व्यापारव्याकुलितमतिः। परितप्यते । तदेवमनन्तरोक्तया नीत्या विपाकं स्वानुष्ठानस्यादाय प्राप्य विवेकमिति वा कश्चित्पात्रस्तद्विपाकं विवेकं चादाय गृहीत्वा स्त्रीभिश्चारित्रपरिपन्थिनीभिः सार्धं संवासो वसतिरेकत्र न कल्प्यते न युज्यते कस्मिन्द्रव्यभूते मुक्तिगमनयोग्ये रागद्वेषरहिते वा साधौ । यतस्ताभिः सार्धं संवासोऽवश्यं विवेकिनामपि सदनुष्ठानविघातकारीति ॥ १० ॥

स्त्रीसंबन्धदोषानुपदर्श्योपसंहरन्नाह ।

तम्हा उ वज्जए इत्थी, विसलित्तं च कंटगं नच्चा ॥
उए कुलाणि वसवत्ती, आघाते ण से वि णिग्गंथे॥११॥

यस्माद्विपाककटुः स्त्रीभिः सह संपर्कस्तस्मात्कारणात् स्त्रियो वर्जयेत्। तुशब्दात्तदालापमपि न कुर्यात् । किंतदित्याह । विषोपलिप्तं कण्टकमिव ज्ञात्वाऽवगम्य स्त्रियं वर्जयेदिति । अपिच । विषदिग्धकण्टकः शरीरावयवे भग्नः सन्ननर्थमापादयेत् स्त्रियस्तु स्मरणादपि । तदुक्तं । "विषस्य विषयाणां च दूरमत्यन्तमन्तरम्। उपयुक्तं विषं हन्ति विषयाः स्मरणादपि" ॥ १॥ तथा "वरिविसखइयं विसय, सुहुइक्क सुविसेण मरंति ॥ विसयामिसपुणघाहिया, णरणरएहिं पडंति "॥ १ ॥ तथौज एकोऽसहायः सन् कुलानि गृहस्थानां गृहाणि गत्वा स्त्रीणां वशवर्ती तन्निर्दिष्टवेलागमनेन तदानुकूल्यं भजमानो धर्ममाख्याति योऽसावपि न निर्ग्रन्थो न सम्यक् प्रव्रजितो निषिद्धाचरणसेवनादवश्यं तत्रापायसंभवादिति । यदा पुनः काचित्कुतश्चिन्निमित्तादागन्तुमसमर्था वृद्धा वा भवेत्तदा परिसहायः साध्वभावे एकाक्यपि गत्वाऽपरस्त्रीवृन्दमध्यगतायाः पुरुषसमन्विताया वा स्त्रीनिन्दा विषयजुगुप्साप्रधानं वैराग्यजननं विधिना धर्मं कथयेदपीति ॥ ११ ॥

अन्वयव्यतिरेकाभ्यामुक्तोर्थः सुगमो भवतीत्यभिप्रायवानाह।

जे एय उंछमणुगिद्धा, अन्नयरा हुंति कुसीलाणं ॥
सुतवस्सिए वि से भिक्खू नो विहरे सहाण मित्थीसु॥१२॥

ये मन्दमतयः पश्चात्कृतसदनुष्ठानाः सांप्रतेक्षिण एतदनन्तरोक्तम् (उंछंति) जुगुप्सनीयं गर्ह्यं तदत्र स्त्रीसंबन्धादिकमेकाकी स्त्रीधर्मकथनादिकं वा ऊह्यं । तदनु तत्प्राति ये गृद्धा अध्युपपन्ना मूर्च्छितास्ते हि कुशीलानां पार्श्वस्थावसन्नकुशीलसंसक्तयथाच्छन्दरूपाणामन्यतरा भवन्ति यदि वा काथिकपश्यकसंप्रसारकमामकरूपाणां वा कुशीलानामन्यतरा भवन्ति तन्मध्यवर्तिनस्तेपि कुशीला भवन्तीत्यर्थः। यत एवमतः सुतपस्व्यपि विकृष्टतपोनिष्टप्तदेहोपि भिक्षुः साधुरात्महितमिच्छ-

न् स्त्रीभिः समाधिपरिपन्थिनीभिः सह न विहरेन्न कचिद्गच्छेन्नापि संतिष्ठेत तृतीयार्थे सप्तमी । णमिति वाक्यालंकारे । ज्वलिताङ्गारपुञ्जवद्दूरतः स्त्रियो वर्जयेदिति भावः ॥ १ ॥

(५) कतमाभिः पुनः स्त्रीभिः सार्धं न विहर्तव्य-मित्येतदाशङ्क्याह ॥

अविधूयराहि सुण्हाहिं, धातीहिं अदुव दासीहिं ॥
महतीहि वा कुमारीहिं, संथवं से न कुज्जा अणगारे ॥ १३ ॥

अपि शब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते । (धूयराहिचि) दुहितृभिरपि सार्धं न विहरेत्तथा स्नुषाः सुतभार्यास्ताभिरपि सार्धं न विविक्तासनादौ स्थातव्यम् । तथा धात्र्यः पञ्चप्रकाराः स्तन्यदायिन्यो जननीकल्पास्ताभिश्च सार्कं न स्थेयम् । अथवा सन्तां तावदपरा योषितो या अप्येता दास्यो घटयोषितः सर्वापसदास्ताभिरपि सह संपर्कं परिहरेत् । तथा महतीभिः कुमारीभिर्वाशब्दाल्लघ्वीभिश्च सार्धं संस्तवं परिचयं प्रत्यासत्तिरूपं सोऽनगारो न कुर्यादिति । यद्यपि तस्यानगारस्य तस्यां दुहितरि स्नुषादौ वा न चित्तान्यथात्वमुत्पद्यते तथापि च तत्र विविक्तासनादावपरस्य शङ्कोत्पद्यते अतस्तच्छङ्कानिरासार्थं स्त्रीसंपर्कः परिहर्तव्य इति ॥ १३ ॥

अपरस्य शङ्का यथोत्पद्यते तथा दर्शयितुमाह ॥

अदुणा इणं च सुहीणं वा, अप्पियं दट्ठु एगता होंति ॥
गिद्धा सत्ता कामेहिं, रक्खण पोसणे मणुस्सोसि ॥ १४ ॥

विविक्तयोषिता सार्धमनगारमथैकदा दृष्ट्वा योषिज्जातीनां सुहृदां वा अप्रियं चित्तदुःखासिका भवत्येवं च ते समाशङ्केरन् यथा सत्त्वाः प्राणिन इच्छामदनकामैर्गृद्धा अध्युपपन्नास्तथाह्येवंभूतोऽप्ययं श्रमणः स्त्रीवदनावलोकनासक्तचेताः परित्यक्तनिजव्यापारोऽनया सार्धं निर्ह्रीकास्तिष्ठति । तदुक्तम् ।
मुण्डं शिरो वदनमेतदनिष्टगन्धि, भिक्षाटनेन भरणं च हतोदरस्य । गात्रं मलेन मलिनं गतसर्वशोभं, चित्रं तथापि मनसो मदनेऽस्ति वाञ्छा ॥ १ ॥ तथातिक्रोधाध्मातमानसाश्चैवमूचुर्यथा रक्षणं पोषणं चेति विगृह्य समाहारद्वन्द्वः तस्मिन् रक्षणपोषणे सदादरं कुरु । यतस्त्वमस्या मनुष्योऽसि मनुष्यो वर्तसे यदि वा परं वयमस्या रक्षणपोषणव्यापृतास्त्वमेव मनुष्यो वर्तसे यतस्त्वयैव सार्धमियमेकाकिन्यहर्निशं परित्यक्तनिजव्यापारा तिष्ठतीति ॥ १४ ॥

किंचान्यत् ॥

समणं पि दट्ठु दासी-णं तत्थ वि ताव एगे कुप्पंति ॥
अदु भोयणेहि णत्थेहि, इत्थिदोससंकिणो होंति ॥ १५ ॥

श्राम्यतीति श्रमणः साधुः अपिशब्दो भिन्नक्रमः । तमुदासीनमपि रागद्वेषविरहान्मध्यस्थमपि दृष्ट्वा श्रमणग्रहणं तपःखिन्नदेहोपलक्षणार्थं तदेवंभूतेऽपि विषयद्वेषिण्यपि साधौ तावदेके केचन रहस्यस्त्रीजल्पनकृतदोषत्वात्कुप्यन्ति । यदि वा पाठान्तरं " समणं दट्ठूणुदासीणं " श्रमणं प्रव्रजन्तं उदासीनं परित्यक्तनिजव्यापारं स्त्रिया सह जल्पन्तं दृष्ट्वोपव्रज्य तत्राप्येके केचन तावत् कुप्यन्ति किंपुनः कृतविकारमिति भावः । अथवा स्त्रीदोषाशङ्किनश्च ते भवन्ति ते चामी स्त्रीदोषाः भोजनैर्नानाविधैराहारैर्न्यस्तैः साध्वर्थमुपकल्पितैरेतदर्थमेव संस्कृतैरियमेनमुपचरति तेनायमहर्निशमिहागच्छतीति । यदि वा भोजनैः श्वशुरादीनां न्यस्तैरर्धदत्तैः सद्भिः सा वधूः साध्वागमनेन समाकुलीभूता सत्यन्यास्मिन् दातव्येऽन्यद्दत्तवती ततस्ते स्त्रीदोषाशङ्किनो भवेयुर्यथेयं दुःशीलाऽनेनैव सहास्त इति । निदर्शनमत्र यथा कयाचिद्वध्वा ग्राममध्यप्रारब्धनटप्रेक्षणैकगतचित्तया पतिश्वशुरयोर्भोजनार्थमुपविष्टयोस्तण्डुला इति कृत्वा राइकाः संस्कृत्य दत्तास्ततोऽसौ श्वशुरेणोपलक्षिता निजपतिना क्रुद्धेन ताडिता अन्यपुरुषगतचित्तेत्याशङ्क्य स्वगृहान्निर्धाटितेति ॥ १५ ॥

कुव्वंति संथवं ताहिं, पब्भट्ठा समाहिजोगेहिं ॥
तम्हा समणा ण समें-ति आयहियाए सण्णिसेज्जाओ ॥ १६ ॥

ताभिः स्त्रीभिः सन्मार्गभ्रष्टाभिः सह संस्तवं तद्गृहगमनालापदानसंप्रेक्षणादिरूपं परिचयं तथाविधमोहोदयात्कुर्वन्ति विदधति । किंभूताः प्रकर्षेण भ्रष्टाः स्खलिताः समाधियोगेभ्यः समाधिर्धर्मध्यानं तदर्थं तत्प्रधाना वा योगाः मनोवाक्कायव्यापारास्तेभ्यः प्रच्युताः शीतलविहारिण इति । यस्मात् स्त्रीसंस्तवात्समाधियोगपरिभ्रंशो भवति तस्मात्कारणात् श्रमणाः सत्साधवो (णसमेंतिं) न गच्छन्ति । सद्भोभनाः सुखोत्पादकतयाऽनुकूलत्वान्निषद्या इव निषद्याः स्त्रीभिः कृता माया यदि वा स्त्रीवसतिरिति आत्महिताय स्वहितं मन्यमानाः एतच्च स्त्रीसंबन्धपरिहरणं तासामप्यैहिकामुष्मिकापायपरिहाराद्धितमिति । क्वचित्पश्चार्धमेवं पठ्यते ॥ तत्राह " समणाउ जहाहि अहिताओ सन्निसेज्जाओ " अयमस्यार्थः यस्मात्स्त्रीसंबन्धोऽनर्थाय भवति तस्मात् हे श्रमण साधो तु शब्दो विशेषणार्थः विशेषेण सन्निषद्या स्त्रीवसतिस्तत्कृतोपचाररूपा वा माया आत्महिताद्धेतोर्जहाहि परित्यजेति ॥ १६ ॥
किं केचनाभ्युपगम्यापि प्रव्रज्यायां स्त्रीसम्बन्धं ।

कुर्युर्येनैवमुच्यते ओमित्याह ॥

बहवे गिहाइं अवहट्टु, मिस्सीभावं पत्थुया य एगे ।
धुवमग्गमेव पवयं-ति वाया वीरियं कुसीलाणं ॥ १७ ॥

बहवः केचन गृहाण्यपहृत्य परित्यज्य पुनस्तथाविधमोहोदयान्मिश्रीभाव इति द्रव्यलिङ्गमात्रसद्भावाद्भावतस्तु गृहस्थसमकल्पा इत्येवंभूता मिश्रीभावं प्रस्तुताः समनुप्राप्ता न गृहस्था एकान्ततो नापि प्रव्रजितास्तदेवंभूता अपि सन्तो ध्रुवो मोक्षः संयमो वा तन्मार्गमेव प्रवदन्ति तथाहि ते वक्तारो भवन्ति यथाऽयमेवास्मदारब्धो मध्यमः पन्थाः श्रेयान् तथा ह्यनेन प्रवृत्तानां प्रव्रज्यानिर्वहणं भवतीति तदेतत्कुशीलानां वाचाकृतं वीर्यं नानुष्ठानकृतम् । तथाहि-ते द्रव्यलिङ्गधारिणो वाङ्मात्रेणैव वयं प्रव्रजिता इति ब्रुवते न तु तेषां सातगौरवविषयसुखप्रतिबद्धानां शीतलविहारिणां सदनुष्ठानकृतं वीर्यमस्तीति ॥ १७ ॥ अपिच ॥

सुद्धं रवति परिसाए, अह रहस्सम्मि दुक्कडं करेंति ।
जाणंति य णं तहाविया, माइल्ले महासढेयंति ॥ १८ ॥

स कुशीलो वाङ्मात्रेणाविष्कृतवीर्यः पर्षदि व्यवस्थितो धर्मदेशनावसरे सत्यात्मानं शुद्धमपगतदोषमात्मानमात्मीयानुष्ठानं वा रौति भाषते । अथाऽनन्तरं रहस्येकान्ते दुष्कृतं पापं तत्कारणं वा ऽसदनुष्ठानं करोति विदधाति तच्च तस्यासदनुष्ठानं गोपायतोऽपि जानन्ति विदन्ति के तथारूपमनुष्ठानं विदन्तीति तथाविदः इङ्गिताकारकुशला निपुणास्तद्विद इत्यर्थः । यदि वा सर्वज्ञाः एतदुक्तं भवति । यद्यप्यपरः कश्चिदकर्तव्यं तेषां न वेत्ति तथापि सर्वज्ञा विदन्ति तत्परिज्ञानेनैव

किं न पर्याप्तं यदि वा मायावी महासत्त्वोऽयमित्येवं तथाविदस्तद्विदो जानन्ति । तथाहि प्रच्छन्नकार्यकारी न मां कश्चिज्जानातीत्येवं रागान्धो मन्यते अथ च तं तद्विदो वदन्ति । तथाचोक्तं । "न य लोणं लोणिज्जइ णय ओपिज्जइ घयं च तेल्लं वा । किह सक्का वंचेउं अत्ता अणहूय कल्लाणो" ॥ १ ॥ १८ ॥

किंचान्यत् ॥

सयं दुक्कडं च न वदति, आइट्ठो वि पकत्थति बाले ।
वेयाणु वीइमाकासी, चोइज्जंतो गिलाइसे भुज्जो ॥१९॥

स्वयमात्मना प्रच्छन्नं यद्दुष्कृतं कृतं तदपरेणाचार्यादिना पृष्टो न वदति न कथयति यथाहमस्याऽकार्यस्य कारीति स च प्रच्छन्नपापो मायावी स्वयमवदन् यदा परेणादिष्टश्चोदितोऽपि सन् बालोऽज्ञो रागद्वेषकलितो वा प्रकत्थते आत्मानं श्लाघमानोऽकार्यमपलपति वदति च यथाहमेवंभूतमकार्यं कथं करिष्ये इत्येवं धाष्टर्यात्प्रकत्थते । तथा वेदः पुंवेदोदयस्तस्यानुवीच्याऽऽनुकूल्यं मैथुनाभिलाषं तन्माकार्षीरित्येवं भूयः पुनश्चोद्यमानोऽसौ ग्लायति ग्लानिमुपयात्यकर्णश्रुतं विधत्ते मर्मविद्धो वा सखेदमिव भाषते । तथा चोक्तम् । "संभाव्यमानपापोऽह-मपापेनापि किं मया । निर्विषस्यापि सर्पस्य, भृशमुद्विजते जन" इति अपिच ।

उसिया वि इत्थिपोसेसु पुरिसा इत्थिवेयखेदन्ना ।
पन्ना समन्निता वेगे, नारीण वसं उवकसंति ॥ २० ॥

स्त्रियं पोषयन्तीति स्त्रीपोषका अनुष्ठानविशेषास्तेषूषिता व्यवस्थिता अपि पुरुषा मनुष्या भुक्तभोगिनोऽपीत्यर्थः स्त्रीवेदज्ञाः स्त्रीवेदो मायाप्रधान इत्येवं निपुणा अपि तथा प्रज्ञया औत्पत्तिक्यादिबुद्ध्या समन्विता युक्ता अप्येके महामोहान्धचेतसो नारीणां सम्यक् स्त्रीणां संसारावतरणवीथीनां वशं तदायत्ततामुपसामीप्येन कषन्ति व्रजन्ति यद्यदास्ताः स्वप्नायमाना अपि कार्यमकार्यं वा ब्रुवते तत्तत्कुर्वते न पुनरेतज्जानन्ति यथैता एवंभूता भवन्तीति । तद्यथा "एता हसन्ति च रुदन्ति च कार्यहेतो-र्विश्वासयन्ति च नरं न च विश्वसन्ति । तस्मान्नरेण कुलशीलसमन्वितेन, नार्यः श्मशानघटिका इव वर्जनीया ॥ १ ॥ तथा "समुद्रवीचीव चलस्वभावाः संध्याभ्ररेखेव मुहूर्त्तरागाः । स्त्रियः कृतार्थाः पुरुषं निरर्थकं निष्पीडितालक्तकवत्त्यजन्ति ॥ २ ॥" अत्र च स्त्रीस्वभावपरिज्ञाने कथानकमिदम् । तद्यथैको युवा स्वगृहान्निर्गत्य वैशिकं कामशास्त्रमध्येतुं पाटलिपुत्रं प्रस्थितः । तदन्तरालेऽन्यतरग्रामवर्तिन्यैकया योषिताऽभिहितस्तद्यथा सुकुमारपाणिपादशोभनाकृतिस्त्वं क्व प्रस्थितोऽसि तेनापि यथास्थितमेव तस्य कथितम् । तया चोक्तं वैशिकं पठित्वा मम मध्येनागन्तव्यं तेनापि तथैवाभ्युपगतम् । अधीत्य चासौ मध्येनायातस्तया च स्नानभोजनादिना सम्यगुपचरितो विविधहावभावैश्चापहृतहृदयः संस्तां हस्तेन गृह्णाति ततस्तया महता शब्देन फूत्कृत्य जनागमनावसरे मस्तके वारिवर्द्धनिका प्रक्षिप्ता । ततो लोकस्य समाकुले एवमाचष्टे यथायं गले लग्नेनोदकेन मनाक् मृतस्ततो मयोदकेन सिक्त इति गते च लोके किं त्वया वैशिकशास्त्रोपदेशेन स्त्रीस्वभावानां किं परिज्ञातमित्येवं स्त्रीचरित्रं दुर्विज्ञेयमिति नात्रास्था कर्तव्येति तथाचोक्तम् । "हृद्यन्यद्वाच्यन्यत्कर्मण्यन्यत्पुरोऽथ पृष्ठेऽन्यत् ॥ अन्यत्तव मम चान्यत् स्त्रीणां सर्वं किमप्यन्यत् " ॥ २० ॥

साम्प्रतमिहलोक एव स्त्रीसम्बन्धविपाकं दर्शयितुमाह ॥

अवि हत्थपादच्छेदाए, अदुवा वद्धमंस उक्कंते ।
अवि तेय साभितावणाणि, निच्छतियय खारसिंचणाइं च ॥

स्त्रीसंपर्को हि संसर्गिणां हस्तपादच्छेदनाय भवति । अपि संभावने संभाव्यत एतन्मोहातुराणां संबन्धात् हस्तपादच्छेदादिकम् । अथवा वर्ध्रमांसोत्कर्तनमपि तेजसाऽग्निनाऽभितापनानि स्त्रीसंबन्धिभिरुत्तेजितैराजपुरुषैर्भटिमकाण्यपि क्रियन्ते या दारिकास्तथा वास्यादिना तक्षयित्वा क्षारोदकसेचनानि च प्रापयन्तीति ॥ २१ ॥ अपिच—

अदु कण्णणासच्छेदं, कंठच्छेदणं तितिक्खंति ॥
इत्थ पावसंतत्ता, न य विंति पुणो न काहिंति ॥२२॥

अथ कर्णनासिकाच्छेदं तथा कण्ठच्छेदनं च तितिक्षन्ते स्वकृतदोषान्सहन्ते इत्येवं बहुविधां विडम्बनामस्मिन्नेव मानुषे च जन्मनि पापेन पापकर्मणा संतप्ता नरकातिरिक्तां वेदनामनुभवन्तीति । न च पुनरेतदेवं भूतमनुष्ठानं करिष्याम इति ब्रुवत इत्यवधारयन्तीति यावत् । तदेवमैहिकामुष्मिका दुःखविडम्बना अप्यङ्गीकुर्वन्ति न पुनस्तदकरणतया निवृत्तिं प्रतिपद्यन्त इति भावः ॥२२॥ किंचान्यत्—

सुतमेतमेवमेगेसिं, इत्थि वेदेति हु सुयक्खायं ॥
एवं पि तावदित्ताणं, अदुवा कम्मणा अवकरेंति ॥२३॥

श्रुतमुपलब्धं गुर्वादेः सकाशाल्लोकतो वा एतदिति यत्पूर्वमाख्यातम् । तद्यथा । दुर्विज्ञेयं स्त्रीणां चित्तं दारुणः स्त्रीसंबन्धविपाकस्तथा चलस्वभावाः । स्त्रियो दुष्परिचारा अदीर्घप्रेक्षिण्यः प्रकृत्या लघ्व्यो भवन्त्यात्मगर्विताश्चेत्येवमेकेषां स्याख्यातं भवति लोकश्रुतिपरंपरया चिरंतनाख्यासु वा परिज्ञातं भवति । तथा स्त्रियं यथावस्थितस्वभावतस्तत्संबन्धविपाकतश्च वेदयति ज्ञापयतीति स्त्रीवेदो वैशिकादिकं स्त्रीस्वभावाविर्भावकं शास्त्रमिति । तदुक्तम् । "दुर्ग्राह्यं हृदयं यथैव वदनं यद्दर्पणान्तर्गतं, भावः पर्वतमार्गदुर्गविषमः स्त्रीणां न विज्ञायते ॥ चित्तं पुष्करपत्रतोयतरलं नैकत्र संतिष्ठते नार्यो नाम विषाङ्कुरैरिव लता दोषैः समं वर्धिता ॥ १ ॥ अपिच । "सुट्ठु वि जियासु सुट्ठु वि, पियासु सुट्ठु लद्धपसरासु । अडईसु महिलियासु य, वीसंभो नेव कायव्वो ॥ १ ॥ उज्झेउ अंगुलीसो, पुरिसो सयलंमि जीवलोयम्मि । कामे तएण नारी, जेण न पत्ताइ दुःखाइं ॥ २ ॥ अह एयाणं पगई सव्वस्स करेंति वेमणस्साइं । तस्स ण करेंति णवरं, जस्स अलं चेव कामेहिं ॥ ३ ॥ किंच कार्यमहं न करिष्यामीत्येवमुक्त्वापि वाचा (अदुवासि) तथा पि कर्मणापि क्रियया ऽपकुर्वन्तीति विरूपमाचरन्ति । यदि वा ऽग्रतः प्रतिपाद्यापि शास्तुरेवापकुर्वन्तीति ॥ २३ ॥

सूत्रकार एवं तत्स्वरूपाविष्करणायाह ॥

अन्नं मणेण चिंतेति वाया अन्नं च कम्मणा अन्नं ॥
तम्हा ण सद्दहे भिक्खू बहुमायाओ इत्थिओ णच्चा ॥२४॥

पातालोदरगम्भीरेण मनसाऽन्यच्चिन्तयन्ति तथा श्रुतमात्रपेशलया विपाकदारुणया वाचा अन्यद्भाषन्ते । तथा कर्मणानुष्ठानेनान्यन्निष्पादयन्ति यत एवं बहुमायाः स्त्रिय इति एवं ज्ञात्वा तस्मात्तासां भिक्षुः साधुर्न श्रद्दधीत तत्कृतया माययाऽऽत्मानं न प्रतारयेत् । दत्तावैशिकवत् । अत्र चैतत्कथानकम् । दत्तावैशिक एकया गणिकया तैस्तैः प्रकारैः प्रतार्यमाणोऽपि तां नेष्टवान् ततस्तयोक्तं किं मया दौर्भाग्यकलङ्काङ्कितया जीवन्त्या

प्रयोजनमहं त्वत्परित्यक्ताऽग्नौ विशामि ततोऽसावबोचत् मायया इदमप्यस्ति वैशिके तदाऽसौ पूर्वं सुरङ्गामुखे काष्ठसमुदायं कृत्वा तं प्रज्वाल्य तत्रानुप्रविश्य सुरङ्गया गृहमागता । दत्तकोऽपि इदमपि चास्ति वैशिके इत्येवमसौ विप्रपन्नापि वातिकैश्चितायांप्रक्षिप्तस्तथापि नासौ तासु श्रद्धानं कृतवानेवमन्येनापि न श्रद्धातव्यमिति ॥ २४ ॥ किंचान्यत् ॥

जुवती समणं बूया विचित्तलंकारवत्थगाणि परिहित्ता ॥
विरता चरिस्सहं रुक्खं धम्ममाइक्खणे जयंतारो ॥२५॥

युवतिरभिनवयौवना स्त्री विचित्रवस्त्रालंकारविभूषितशरीरा मायया श्रमणं ब्रूयात् । तद्यथा । विरताहं गृहपाशात्र ममानुकूलो भर्त्ता मह्यं चासौ न रोचते परित्यक्ता चाहं तेनेत्यतश्चरिष्यामि धर्ममाचक्षाणेति अस्माकं हे भयत्रातर्यथाहमेवं दुःखानां भाजनं न भवामि तथा धर्ममावेदयाति ॥

किंचान्यत्–

अदु साविया पवाएणं, अहमासि साहम्मिणी य समणाणं ।
जतुकुंभे जहा उपज्जोइ, संवासे वि दु विसीएज्जा ॥२६॥

अथवा ऽनेन प्रवादेन व्याजेन साध्वन्तिकं योषिदुपसर्पेत । यथाहं श्राविकेति कृत्वा युष्माकं श्रमणानां साधर्मिणीत्येवं प्रपञ्चेन नेदीयसी भूत्वा कूलवालुकमिव साधुं धर्माद्भ्रंशयाति एतदुक्तं भवति योषित्सान्निध्यं ब्रह्मचारिणां महते ऽनर्थाय तथाचोक्तम् "तज्ज्ञानं तच्च विज्ञानं तत्तपः स च संयमः । सर्वमेकपदे भ्रष्टं सर्वथा किमपि स्त्रियः १ " अस्मिन्नेवार्थे दृष्टान्तमाह यथा जातुषः कुम्भो ज्योतिषोऽग्नेः समीपे व्यवस्थित उपज्योतिर्वर्ती विलीयते द्रवत्येवं योषितां संवासे सान्निध्ये विद्वानप्यास्तां तावदितरो योऽपि विविक्तचेष्टोऽसावपि धर्मानुष्ठानं प्रति विषीदेत शीतलविहारी भवेदिति । २६ ।

(७) एवं तावत्स्त्री सान्निध्ये विपाकान् प्रदर्श्य तत्संस्पर्शजं दोषं दर्शयितुमाह—

जतुकुंभे जोइ उवगूढे, आसुभितत्तेण समुवयाइ ।
एवि त्थियाहिं अणगारा, संवासेण णासमुवयंति ॥२७॥

यथा जातुषः कुम्भो ज्योतिषाग्निनोपगूढः समालिङ्गितोऽग्नितप्तोऽग्निनाभिमुख्येन संतापितः क्षिप्रं नाशमुपैति द्रवीभूय विनश्यत्येवं स्त्रीभिः सार्द्धं संवसनेन परिभोगेनानगारा नाशमुपयान्ति सर्वथा जातुषकुम्भवत् । व्रतकाठिन्यं परित्यज्य संयमशरीराद्भ्रश्यन्ति । २७ ।

कुव्वंति पावगं कम्मं, पुट्ठा वेगे व माहिसु ॥
नोहं करेमि पावंति, अंके साइणी ममे सत्ति ॥ २८ ॥

तासु संसाराभिष्वङ्गिणीष्वभिसक्ता अवधीरितैहिकामुष्मिकापायाः पापं कर्म मैथुनासेवनादिकं कुर्वन्ति विदधाति । परिभ्रष्टाः सदनुष्ठानादेके केचनोत्कटमोहा आचार्यादिना चोद्यमाना एवमाहुर्वक्ष्यमाणमुक्तवन्तः । तद्यथा नाहमेवंभूतकुलप्रसूतः एतदकार्यं पापोपादानभूतं करिष्यामि ममैषा दुहितृकल्पा पूर्वमङ्कशायिनी आसीत् तदेषा पूर्वाभ्यासेनैव मय्येवमाचरति न पुनरहं विदितसंसारस्वभावः प्राणात्ययेऽपि व्रतभङ्गं विधास्य इति ॥ किंच–

बालस्स मंदयं बीजं, जं च कडं अवजाणई भुज्जो ॥
दुगुणं करेइ से पावं, पूयणकामो विसन्नेसी ॥ २९ ॥

बालस्याज्ञस्य रागद्वेषाकुलितस्यापरमार्थदृश एतद्द्वितीयमाद्यमज्ञत्वमेकं तावदकार्यकरणेन चतुर्थव्रतभङ्गो द्वितीयं तदपलपनेन मृषावादः । तदेव दर्शयति यत्कृतमसदाचरणं भूयः पुनरपरेण चोद्यमानोऽपजानीतेऽपलपति नैतन्मया कृतमिति स एवंभूतोऽसदनुष्ठानेन तदपलपनेन च द्विगुणं पापं करोति । किमर्थमपलपतीत्याह । पूजनं सत्कारपुरस्कारस्तत्कामस्तदभिलाषी न मे लोके अवर्णवादः स्यादित्यकार्यं प्रच्छादयति । विषण्णोऽसंयमस्तमेषितुं शीलमस्येति विषण्णैषी । किंचान्यत् ॥

संलोकणिज्जमणगारं, आयगयं निमंतणेणाहंसु ॥
वत्थं च ताय पायं वा, अन्नं पाणगं पडिग्गहे ॥ ३० ।

संलोकनीयं संदर्शनीयमाकृतिमन्तं कंचनानगारं साधुमात्मनि गतमात्मगतमात्मज्ञमित्यर्थः । तदेवंभूतं काश्चन स्वैरिण्यो निमन्त्रणेन निमन्त्रणपुरःसरमाहुरुक्तवत्यः । तद्यथा हे त्रायिन् ! साधो ! वस्त्रं पात्रमन्यद्वा पानादिकं येन केनचिद्भवतः प्रयोजनं तदहं भवते सर्वं ददामीति मद्गृहमागत्य प्रतिगृहाण त्वमिति

उपसंहारार्थमाह ॥

णीवारमेवं बुज्झेज्जा, णो इच्छे अगारमागंतुं ॥
बद्धे विसयपासेहिं, मोहमावज्जइ पुणो मंदि ॥३१॥

एतद्योषितां वस्त्रादिकमामन्त्रणं नीवारकल्पं बुध्येत जानीयात् यथाहि नीवारेण केनचिद्भक्ष्यविशेषेण सूकरादिर्वशमानीयते एवमसावपि तेनामन्त्रणेन वशमानीयते अतस्तं नेच्छेदगारं गृहं गन्तुम् । यदिवा गृहमेवावर्त्तो गृहावर्त्तो गृहं भ्रमस्तं नेच्छेत् नाभिलष्येत् । किमिति यतो बद्धो वशीकृतो विषया एव शब्दादयः पाशा रज्जुबन्धनानि तैर्बद्धः परवशीकृतः स्नेहपाशानपत्रोटयितुमसमर्थः सन्मोहं चित्तव्याकुलत्वमागच्छति । किं कर्तव्यमूढो भवति पौनःपुन्येन मन्दोऽज्ञो जड इति । उक्तः प्रथमोद्देशकः । सांप्रतं द्वितीयः समारभ्यते । अस्य चायमभिसंबन्धः इहानन्तरोद्देशके स्त्रीसंस्तवात्चारित्रस्खलनमुक्तं स्खलितशीलस्य या अवस्था इहैव प्रादुर्भवति तत्कृतकर्मबन्धश्च तादिह प्रतिपाद्यते इत्यनेन संबन्धेनायातस्योद्देशकस्यादिमसूत्रम् ॥

ओए सया ण रज्जेज्जा, भोगकामी पुणो विरज्जेज्जा ॥
भोगे समणाण सुणेह, जह भुंजंति भिक्खुणो एगे ॥१॥

अस्य चानन्तरं परस्परसूत्रसंबन्धो वक्तव्यः । स चायं संबन्धो विषयपाशैर्मोहमागच्छति । यतोऽत ओज एको रागद्वेषवियुतः स्त्रीषु रागं न कुर्यात् । परस्परसूत्रसंबन्धस्तु संलोकनीयमनगारं दृष्ट्वा च यदि काचिद्योषित् साधुमशनादिना नीवारकल्पेन प्रतारयेत्तत्रौजः सन्न रज्येतेति तत्रौजो द्रव्यतः परमाणुर्भावतस्तु रागद्वेषवियुतः स्त्रीषु रागादिद्वैषवक्ष्यमाणनीत्या नानाविधा विडम्बना भवन्ति तत्कृतश्च कर्मबन्धस्तद्विपाकाच्चामुत्र नरकादौ तीव्रा वेदना भवन्ति यतोऽत एतन्मत्वा भावौजः सन् सदा सर्वकालं वाऽनर्थखनिषु स्त्रीषु न रज्येत । तथा यद्यपि मोहोदयात् भोगाभिलाषी भवेत्तथाप्यैहिकामुष्मिकापायान् परिगणय्य पुनस्ताभ्यो विरज्येत । एतदुक्तं भवति कर्मोदयात्प्रवृत्तमपि चित्तं हेयोपादेयपर्यालोचनया ज्ञानाङ्कुशेन निवर्तयेदिति । तथा श्राम्यन्ति तपसा खिद्यन्तीति श्रमणास्तेषामपि भोगा इत्येतच्छृणुत यूयम् । एतदुक्तं भवति गृहस्थानामपि भोगा विडम्बनाप्राया यतीनां तु भोगा इत्येतदेव विडम्बनाप्रायं किं पुनस्तत्कृतावस्था । तथाचोक्तं मुण्डं शिर इत्यादि पूर्ववत् । यथा यया च भोगानेकेऽपुष्टधर्माणो भिक्ष-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वो यतयो विडम्बनाप्रायान् भुञ्जते तथोद्देशकसूत्रेणैव वक्ष्यमाणेनोत्तरत्र महता प्रबन्धेन दर्शयिष्यामि । अन्यैरप्युक्तम् । " कृशः काणः खञ्जः श्रवणरहितः पुच्छविकलः क्षुधा क्षामो जीर्णः पिठरककपालार्पितगलः । व्रणैः पूयक्लिन्नैः कृमिकुलशतैराविलतनुः शुनीमन्वेति श्वा हतमपि च हन्त्येव मदनः ॥ "

(८) भोगिनां विडम्बनां दर्शयितुमाह ॥

अह तं तु भेदमावन्न–मुच्छितं भिक्खु काममतिवट्टं ॥
पलिभिंदियाणं तो पच्छा, पादुद्धट्टु मुद्धि पहणंति ॥ २ ॥

अथेत्यानन्तर्यार्थः । तुशब्दो विशेषणार्थः स्त्रीसंस्तवादनन्तरं भिक्षुं साधुं भेदं शीलभेदं चारित्रस्खलनमापन्नं प्राप्तं सन्तं स्त्रीषु मूर्च्छितं गृद्धमध्युपपन्नं तमेव विशिनष्टि । कामेष्विच्छामदनरूपेषु मतेर्बुद्धेर्मनसो वा वर्तनं प्रवृत्तिर्यस्यासौ काममतिवर्त्तः कामाभिलाषुक इत्यर्थः । तमेवंभूतं परिभिद्य मदभ्युपगतः श्वेतकृष्णप्रतिपन्नो मद्वशक इत्येवं परिज्ञाय यदि वा परिभिद्य परिसार्यात्मसात्कृतं चोपलार्येति । तद्यथा मया तव लुञ्चितशिरसो जल्लमलाविलतया दुर्गन्धस्य जुगुप्सनीयकक्षावक्षोबस्तिस्थानस्य कुलशीलमर्यादालज्जाधर्मादीन् परित्यज्यात्मा दत्तस्त्वं पुनरकिंचित्कर इत्यादि भणित्वा प्रकुपितायास्तस्या असौ विषयमूर्च्छितस्तत्प्रत्यापनार्थं पादयोर्निपतितः । तथा चोक्तम् । " व्याभिन्नकेसरबृहच्छिरसश्च सिंहा नागाश्च दानमदराजिकृशैः कपोलैः । मेधाविनश्च पुरुषाः समरे च शूराः स्त्रीसन्निधौ परमकापुरुषा भवन्ति " ॥ १ ॥ ततो विषयेष्वेकान्तेन मूर्च्छित इति परिज्ञानात्पश्चात्पादं निजवामचरणमुद्धृत्योत्क्षिप्य मूर्ध्नि शिरसि प्रघ्नन्ति ताडयन्त्येवं विडम्बनां प्रापयन्तीति" ॥ २ ॥ अन्यच्च–

जइ केसिआणं मए भिक्खु, णो विहरे सह णमित्थिए ।
केसाण वि हं लुंचिस्सं, नन्नत्थ मए चरिज्जासि ॥ ३ ॥

केशाः विद्यन्ते यस्याः सा केशिका णमिति वाक्यालंकारे । हे भिक्षो ! यदि मया स्त्रिया भार्यया केशवत्या सह नो विहरेस्त्वं सकेशया स्त्रिया भोगान् भुञ्जानो व्रीडां यदि वहसि ततः केशानप्यहं त्वत्सङ्गमाकाङ्क्षिणी लुञ्चिष्याम्यपनेष्यामि । आस्तां तावदलंकारादिकमित्यपि शब्दार्थः अस्य चोपलक्षणार्थत्वादन्यदपि दुष्करं विदेशगमनादिकं तत्सर्वमहं करिष्ये त्वं पुनर्मया रहितो नान्यत्र चरेः । इदमुक्तं भवति मयारहितेन भवता क्षणमपि न स्थातव्यमेतावदेवाहं भवन्तं प्रार्थयामि अहमपि यद्भवानादिशति तत्सर्वं विधास्य इति ॥ ३ ॥

(९) इत्येवमतिपेशलैर्विश्रम्भजननैरापातभद्रकैरालापैर्विश्रम्भयित्वा यत्कुर्वन्ति तद्दर्शयितुमाह ॥

अह णं स होई उवलद्धो, तो पेसंति तहा भूएहिं ।
अलाउच्छेदं पेहेहिं, वग्गुफलाइं आहराहित्ति ॥ ४ ॥

अथेत्यानन्तर्यार्थः णमिति वाक्यालंकारे विश्रम्भालापानन्तरं यदासौ साधुर्मदनुरक्त इत्येवमुपलब्धो भवत्याकारैरिङ्गितैश्चेष्टया वा मद्वशग इत्येवं परिज्ञातो भवति ताभिः कपटनाटकनायिकाभिः स्त्रीभिस्ततस्तदभिप्रायपरिज्ञानादुत्तरकालं तथाभूतैः कर्मकरव्यापारैरपशब्दैः प्रेषयन्ति नियोजयन्ति । यदि वा तथाभूतैरिति लिङ्गस्थयोग्यैर्व्यापारैः प्रेषयन्ति तानेव दर्शयितुमाह । अलाबु तुम्बं छिद्यते येन तदलाबुच्छेदं पिप्पलकादि शस्त्रं (पेहाहित्ति) प्रेक्षस्व निरूपय लभस्वेति येन पिप्पलकादिना लब्धेन पात्रादेर्मुखादि क्रियत इति तथा वल्गूनि शोभनानि फलानि नारिकेरादीनि अलाबुकानि वा त्वमाहरानयेति । यदि वा वाक्फलानि च धर्मकथारूपाया व्याकरणादिव्याख्यानरूपाया वाचो यानि फलानि वस्त्रादिलाभरूपाणि तान्याहरेति ॥ ४ ॥ अपिच ॥

दारूणि सागपागाए, पज्जोओ वा भविस्सती राओ ।
पाताणि य मे रयावेहि, एहि ता मे पिट्ठओ मद्दे ॥ ५ ॥

यथा दारूणि काष्ठानि शाकं पत्रवल्लुलादिकं तत्पाकार्थं क्वचिदन्नपाकायेति पाठस्तत्राप्यमोदकादिकमिति रात्रौ रजन्यां प्रद्योतो वा भविष्यतीति कृत्वा अतोऽटवीतस्तमाहरेति । तथा पात्राणि पतद्गृहादीनि रञ्जय लेपय येन सुखेनैव भिक्षाटनमहं करोमि । यदि वा पादावलक्तकादिना रञ्जयेति । तथा परित्यज्यापरं कर्म तावदागच्छ मे मम पृष्ठमुत्प्राबल्येन मर्दय बाधते ममाङ्गमुपविष्टाया अतः संहारय पुनरपरं कार्यशेषं करिष्यसीति ॥ ५ ॥ किंच—

वत्थाणि य मे पडिलेहेहि, अन्नं पाणं च आहरा हित्ति ।
गंधं च रओहरणं च, कासवगं मे समणु जाणाहि ॥ ६ ॥

वस्त्राणि चाम्बराणि मे मम जीर्णानि वर्तन्तेऽतः प्रत्युपेक्षस्वान्यानि निरूपय यदि वा मलिनानि रजकस्य समर्पय मदुपाधिं वा मूषिकादिभयात्प्रत्युपेक्षस्वेति । तथा अन्नपानादिकमाहरानयेति तथा गन्धं कोष्ठपुटादिकं ग्रन्थिं वा हिरण्यं तथा शोभनं रजोहरणं तथा लोचं कारयितुमहमशक्तेत्यतः काश्यपं नापितं मच्छिरो मुण्डनाय श्रमणानुजानीहि येनाहं बृहत्केशानपनयामीति ॥ ६ ॥

किंचान्यत्-

अदु अंजणिं अलंकारं, कुक्कुहयं मे पयच्छाहि ॥
लोद्धं च लोद्धकुसुमं च, वेणुपलासियं च गुलियं च ॥ ७ ॥
कुट्ठं तगरं च अगरुं, संपिट्ठं सम्म उसिरेणं ।
तेल्लं मुहभिंजाए, वेणुफलाइं सन्निधानाए ॥ ८ ॥

अथ शब्दोऽधिकारान्तरप्रदर्शनार्थः पूर्वं लिङ्गस्थोपकरणान्यधिकृत्याभिहितमधुना गृहस्थोपकरणान्यधिकृत्याभिधीयते तद्यथा (अंजणीमिति) अञ्जनिकां कज्जलाधारभूतां नलिकां मम प्रयच्छस्वेत्युत्तरत्र क्रिया । तथा कटककेयूरादिकमलंकारं वा तथा (कुक्कुहयंति) खुंखुणकं मे मम प्रयच्छ येनाहं सर्वालङ्कारविभूषिता वीणाविनोदेन भवन्तं विनोदयामि । तथा लोध्रं च लोध्रकुसुमं च । तथा (वेणुफलासियंति) वंशात्मिका श्लक्ष्णत्वक्काष्ठिका सा दन्तैर्वामहस्तेन प्रगृह्य दक्षिणहस्तेन वीणावद्वाद्यते । तथौषधगुटिकां तथाभूतामानय येनाहमविनष्टयौवना भवामीति ॥ ७ ॥ तथा (कुट्ठमित्यादि) कुष्ठमुत्पलकुष्ठं तथाऽगरं तगरं च एते द्वे अपि गन्धिकद्रव्ये एतत्कुष्ठादिकमुशीरेण वीरणीमूलेन संपिष्टं सुगन्धि भवति यतस्तत्तथा कुरु तथा तैलं लोध्रकुङ्कुमादिना संस्कृतं मुखमाश्रित्य (भिजपंत्ति) अभ्यङ्गाय ढौकयस्व । एतदुक्तं भवति । मुखाभ्यङ्गार्थं तथाविधं संस्कृतं तैलमुपाहरेति येन कान्त्युपेतं मे मुखं जायेत (वेणुफलाइंति) वेणुकार्याणि करण्डकपेटिकादीनि सन्निधिः सन्निधानं वस्त्रादेर्व्यवस्थानं तदर्थमानयेति ॥ ८ ॥

किंच—

नंदी चुण्णगाइं पाहराहिं, छत्तोवाणहं च जाणाहि ॥
सत्थं च सूवच्छेज्जाए, आणीलं च वत्थयं रयावेहि ॥ ९ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुफणिं च सागपागाए आमलगाइं दगाहरणं च ।
तिलगकरणिमंजणसलागं घिंसु मे विहूणयं विजाणेहिं ।१०।

(नंदी चुस्रगाइंति) द्रव्यसंयोगनिष्पादितोष्ठमृक्षणचूर्णोऽ निधीयते । तमेवंभूतं चूर्णं प्रकर्षेण येन केनचित्प्रकारेणाहरानयेति । तथाऽऽतपस्य वृष्टेर्वा संरक्षणाय छत्रं तथोपानहौ च ममानुजानीहि । न मे शरीरमेभिर्विना वर्तते ततो ददस्वेति । तथा शस्त्रं दात्रादिकं सूपच्छेदनाय पत्रशाकच्छेदनार्थं ढौकयस्व । तथा वस्त्रमम्बरं परिधानार्थं गुलिकादिना रञ्जय यथा नीलमीषन्नीलं सामस्त्येन वा नीलं भवत्युपलक्षणार्थत्वादूक्तं यथा भवतीति ॥९॥ तथा (सुफणिं चेत्यादि) सुष्ठु सुखेन वा फणथते क्वाथ्यते तक्रादिकं यत्र तत्सुफणिस्थालिपिठरादिकं भाजनमभिधीयते तच्छाकपाकार्थमानय । तथा आमलकानि धात्रीफलानि स्नानार्थं पित्तोपशमनायाभ्यवहारार्थं वा । तथोदकमाह्नियते येन तदुदकाहरणं कुटवर्धनिकादि अस्य चोपलक्षणार्थत्वाद् घृततैलाद्याहरणं सर्वं वा गृहोपस्करं ढौकस्वेति । तिलकः क्रियते यया सा तिलककर्णी दन्तमयी सुवर्णात्मिका वा शलाका यया गोरोचनादियुक्तया तिलकः क्रियते इति । यदि वा गोरोचनया तिलकः क्रियते सा च तिलककर्णीत्युच्यते । तिलकाः क्रियन्ते पिष्यन्ते वा यत्र सा तिलककर्णीत्युच्यते तथाऽञ्जनं सौवीरकादि शलाका अक्ष्णोरञ्जनार्थं शलाका अञ्जनशलाका तामाहरेति । तथा ग्रीष्मे उष्णाभितापे सति मे मम विधूनकं व्यजनकं विजानीहि ॥

संडासगं च फणिहं च, सीहलिपासगं च आणाहि ।
आदंसगं च पयच्छाहि, दंतपक्खालणं पवेसाहि ॥ ११ ॥
पूयफलं तंबोलयं, सूई सुत्तगं च जाणाहि ।
कोसं च मोयमेहाए, सुप्पुक्खलगं च खारगालणं च ॥१२॥

एवं संडासिकं नासिकाकेशोत्पाटनं फणिहं केशसंयमनार्थं कङ्कतकं तथा (सीहलिपासगंति) वीणासंयमनार्थमूर्णामयं कङ्कणं चानय ढौकयेति । एवमासमन्ताद् दृश्यते आत्मा यस्मिन् स आदर्शः स एव आदर्शकस्तं प्रयच्छ ददस्वेति । तथा दन्ताः प्रक्षाल्यन्ते अपगतमलाः क्रियन्ते येन तद्दन्तप्रक्षालनं दन्तकाष्ठं तन्मदन्तिके प्रवेशयेति ॥११॥ (पूयफलं चेत्यादि) पूगफलं प्रतीतं ताम्बूलं नागवल्लीदलं तथा सूचीं च सूत्रं च सूच्यर्थं वा सूत्रं जानीहि ददस्वेति । तथा कोशमिति वारकादिभाजनं तन्मोचमेहाय समाहर तत्र मोचः प्रस्रवणं कायिकेत्यर्थः । तेन मेहः सेचनं तदर्थं भाजनं ढौकय । एतदुक्तं भवति बहिर्गमनं कर्तुमहमसमर्था रात्रौ भयादतो मम यथा रात्रौ बहिर्गमनं न भवति तथा कुरु । एतच्चान्यस्याप्यधमतमकर्तव्यस्योपलक्षणं द्रष्टव्यम् । तथा शूर्पं तण्डुलादिशोधनार्थं तथोदूखलं तथा किंचन क्षारस्य सर्जिकादेर्गालनकमित्येवमादिकमुपकरणं सर्वमप्यानयेति ॥ १२ ॥

किंचान्यत् ॥

चंदालगं च करगं च, वच्चघरं च आउसो खणइ ।
सरपायं च जयाए, गोरहगं च सामणेए य ॥ १३ ॥
घडिगं च सडिंडिमयं च, चेलगोलं कुमार भूयाए ।
वासं समभिआवसु, आवसहं च जाण भत्तं च ॥१४॥

चंदालकमिति देवतार्चनिकाद्यर्थं ताम्रमयं भाजनमेतच्च मथुरायां चन्दालकत्वेन प्रतीतमिति । तथा करको जलाधारो मदिराभाजनं वा तदानयेति क्रिया । तथा वर्चोगृहं पुरीषोत्सर्गस्थानं तदायुष्मन् मदर्थं खन संस्कुरु । तथा शरा इषवः पात्यन्ते क्षिप्यन्ते येन तच्छरपातं धनुस्तज्जाताय मत्पुत्राय कृते ढौकय । तथा (गोरहगंति) त्रिहायणं बलीवर्दं च ढौकयेति (सामणएत्ति) श्रमणस्यापत्यं श्रामणिस्तस्मै श्रामणये त्वत्पुत्राय गन्त्र्यादिकृते भविष्यतीति ॥१३॥ तथा (घडिगंचेत्यादि) घटिकां मृन्मयकुल्लुडिकां डिण्डिमेन पटहकादिवादित्रविशेषेण सह तथा (चेलगोलंति) वस्त्रात्मकं कन्दुकं कुमारभूताय क्षुल्लकभूताय राजकुमारभूताय वा मत्पुत्राय क्रीडनार्थमुपानयेति । तथा वर्षमिति । प्रावृट्कालोऽयमभ्यापन्नोऽभिमुखं समापन्नोऽत आवसथं गृहं प्रावृट्कालनिवासयोग्यं तथा भक्तं च तन्दुलादिकं तत्कालयोग्यं जानीहि निरूपय निष्पादय येन सुखेनैवाऽनागतपरिकल्पितावसथादिना प्रावृट्कालोऽतिवाह्यत इति । तदुक्तं " मासैरष्टभिरह्ना च, पूर्वेण वयसाऽऽयुषा । तत्कर्तव्यं मनुष्येण, यस्यान्ते सुखमेधते " ॥ १४ ॥ एवं च ।

आसंदियं च नवसुत्तं, पाउल्लाइं संकमट्ठाए ।
अदु पुत्तदोहलट्ठाए–आणप्पा हवंति दासा वा ॥१५॥

मौञ्जे काष्ठपादुके वा संक्रमणार्थं पर्यटनार्थं निरूपय यतो नाहं निरावरणपादा भूमौ पदमपि दातुं समर्थेति । अथवा पुत्रे गर्भस्थे दौहृदः पुत्रदौहृदः अन्तर्वत्नी फलादावभिलाषविशेषस्तस्मै तत्संपादनार्थं स्त्रीणां पुरुषाः स्ववशीकृता दासा इव क्रयक्रीता इवाज्ञाप्या आज्ञापनीया भवन्ति । यथा दासा अलज्जितैर्योग्यत्वादाज्ञाप्यन्ते एवं तेऽपि वराकाः स्नेहपाशावपाशिता विषयार्थिनः स्त्रीभिः संसारावतरणवीथीभिरादिश्यन्त इति ॥ १५ ॥

अन्यच्च–

जाए फले समुप्पन्ने, गेण्हसु वा णं अहवा जहाहि ।
अह पुत्तपोसिणो एगे, भारवहे हवंति उट्टा वा । १६ ।

जातपुत्रः स एव फलं गृहस्थानाम्, तथाहि पुरुषाणां कामभोगफलं तेषामपि फलं प्रधानं कार्यं पुत्रजन्मेति । तदुक्तम् । "इदं तत्स्नेहसर्वस्वं, सममाढ्यदरिद्रयोः । अचन्दनमनौशीरं, हृदयस्यानुलेपनम् ॥ १ ॥ यत्तच्छपनिकेत्युक्तं, बालेनाव्यक्तभाषिणा हित्वा सांख्यं च योगं च, तन्मे मनसि वर्तते–" ॥२॥ यथा लोके पुत्रसुखं नाम द्वितीयं सुखमात्मन इत्यादि । तदेवं पुत्रः पुरुषाणां परमाभ्युदयकारणं तस्मिन्समुत्पन्ने जाते तदुद्देशेन याः विडम्बनाः पुरुषाणां भवन्ति । अमुं दारकं गृहाण त्वमहन्तु कर्मासक्ता न मे ग्रहणावसरोऽस्ति । अथ चैनं जहाहि परित्यज नाहमस्य वार्तामपि पृच्छाम्येवं कुपिता सती ब्रूते मयाऽयं नव मासानुदरेणोढस्त्वं पुनरुत्सङ्गेनाप्युद्वहने स्तोकमपि कालमुद्विजस इति । दासदृष्टान्तस्त्वादेशदानेनैव साम्यं भजते नादेशनिष्पादनेनैव तथाहि दासो भयात्कदाचिदादेशं विधत्ते स तु स्त्रीवशगोऽनुग्रहं मन्यमानो मुदितश्च तथा देशं विधत्ते " यदेव रोचते मह्यं, तदेव कुरुते प्रिया । इति वेत्ति न जानाति, तत्प्रियं यत्करोत्यसौ ॥ १ ॥ ददाति प्रार्थितप्राणान् मातरं हन्ति तत्कृते ॥ किं न दद्यात्किं न कुर्यात्स्त्रीभिरभ्यर्थितो नरः ॥२॥ स्नाति शौचं पानीयं, पार्श्वे प्रक्षालयत्यपि । श्लेष्माणमपि गृह्णाति, स्त्रीणां वशागतो नरः ॥ ३ ॥ तदेवं पुत्रनिमित्तमन्यद्वा यत्किंचिन्निमित्तमुद्दिश्य दासमिवादिशन्ति । अथ तेऽपि पुत्रान्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पोषितुं शीलं येषां ते पुत्रपोषिण उपलक्षणार्थत्वादस्य सर्वादेशकारिण एके केचन मोहोदये वर्तमानाः स्त्रीणां निर्देशवर्तिनोऽपहस्तितैहिकामुष्मिकापाया उष्ट्रा इव परवशा भारवाहा भवन्तीति ॥ १६ ॥

किंचान्यत् ॥

राओ वि उट्ठिया संता, दारगं च संठवंति धाई वा ।
सुहिरामणा वि ते संता, वत्थधोवा हवंति हंसा वा ॥ १७ ॥

रात्रावप्युत्थिताः सन्तो रुदन्तं दारकं धात्रीवत् संस्थापयन्त्यनेकप्रकारैरुल्लापैः । तद्यथा ॥ " सामिउसणीगरस्स–णणकनरस्स य हत्थकप्पगिरिपट्टणसीहपुरस्स चउणयस्स भिन्नस्स य कुच्छिपुरस्स य कणकुज्जआयामुहसोरियपुरस्स य " इत्येवमादिभिरसंबद्धैः क्रीडनकालापैः स्त्रीचित्तानुवर्तिनः पुरुषास्तत्कुर्वन्ति येनोपहास्यतां सर्वस्य व्रजन्ति सुष्ठु ह्रीर्लज्जा तस्यां मनोऽन्तःकरणं येषां ते सुह्रीमनसो लज्जालवोऽपि ते सन्तो विहाय लज्जां स्त्रीवचनात्सर्वजघन्यान्यपि कर्माणि कुर्वते तान्येव सूत्रावयवेन दर्शयति । वस्त्रधावका वस्त्रप्रक्षालका हंसा इव रजका इव भवन्ति अस्य चोपलक्षणार्थत्वादन्यदपि उदकवाहनादिकं कुर्वन्ति ॥ १७ ॥

किमेतत् केचन कुर्वन्तीति येनैवमभिधीयते ।

बाढं कुर्वन्तीत्याह ॥

एवं बहुहिकए पुव्वं, भोगत्थाए जो भियावन्ना ॥
दासेमिव पेसे वा, पसुभूतेव सेण वा केई ॥ १८ ॥

एवमिति पूर्वोक्तं स्त्रीणामादेशकारणं पुत्रपोषणवस्त्रधावनादिकं तद्बहुभिः संसाराभिष्वङ्गिभिः पूर्वं तथापरे कुर्वन्ति करिष्यन्ति च ये भोगकृते कामभोगार्थमैहिकामुष्मिकापायमपर्यालोच्याभिमुख्येन भोगानुकूल्येनापन्ना व्यवस्थिताः सावद्यानुष्ठानेषु प्रतिपन्ना इति यावत् । तथा यो रागान्धः स्त्रीवशीकृतः स दासवदशङ्किताभिस्ताभिः प्रत्यपरेऽपि कर्मणि नियोज्यते । तथा वागुरापतितपरवशो मृग इव धार्यते नात्मवशो भोजनादिक्रियामपि कर्तुं लभते । तथा प्रेष्य इव कर्मकर इव क्रीत इव वर्चःशोधनादावपि नियोज्यते । तथा कर्तव्याकर्तव्यविवेकरहिततया हिताहितप्राप्तिपरिहारशून्यत्वात् पशुभूत इव यथा हि पशुराहारभयमैथुनपरिग्रहाभिज्ञ एवं केवलमसावपि सदनुष्ठानरहितत्वात्पशुकल्पः । यदि वा स स्त्रीवशगो दासमृगप्रेष्यपशुभ्यो प्यधमत्वान्न कश्चित्, एतदुक्तं भवति सर्वाधमत्वात्तस्य तत्तुल्यं नास्त्येव येनासावुपमीयेत । अथवा न स कश्चिदित्युभयभ्रष्टत्वात् । तथाहि न तावत्प्रव्रजितोऽसौ सदनुष्ठानरहितत्वान्नापि गृहस्थस्ताम्बूलादिपरिभोगरहितत्वाल्लोचिकामात्रधारित्वाच्च । यदि वा ऐहिकामुष्मिकानुष्ठायिनां मध्ये न कश्चिदिति ॥ १८ ॥

सांप्रतमुपसंहारद्वारेण स्त्रीसङ्गपरिहारमाह ॥

एवं खु तासु विन्नप्पं, संथवं संवासं च वज्जेज्जा ।
तज्जातिआइ मे कामा, वज्जकरा य एवमक्खाए ॥ १९ ॥

एतत्पूर्वोक्तं खु शब्दो वाक्यालंकारे तासु यत्स्थितं तासां वा स्त्रीणां संबन्धि यद्विज्ञप्तमुक्तं । तद्यथा । यदि सकेशया सह न रमसे ततोऽहं केशानप्यपनयामि इत्येवमादिकम् । तथा स्त्रीभिः सार्धं संस्तवं परिचयं तत्संवासं च स्त्रीभिः सहैकत्र निवासं चात्महितमनुवर्तमानः सर्वापायभीरुस्त्यजेत्यजत् । यतस्ताभ्यो जातिरुत्पत्तिर्येषां ते कामास्तज्जातिकामा रमणीसंपर्कोत्थास्तथाऽवद्यं पापं वज्रं वा गुरुत्वादधःपातकत्वेन पापमेव तत्करणशीला अवद्यकरा वज्रकरा वेत्येवमाख्यातास्तीर्थंकरगणधरादिभिः प्रतिपादिता इति ॥ १९ ॥

सर्वोपसंहारार्थमाह ॥

एवं भयं ण से याय इइ, से अप्पगं निरुंभित्ता ।
णो इत्थिणो पसुभिक्खुणो सयं पाणिणा णलिज्जेज्जा ॥ २० ॥

एवमनन्तरनीत्या भयहेतुत्वात्स्त्रीभिर्विज्ञप्तं तथा संस्तवस्तत्संवासश्च भयमित्यतः स्त्रीभिःसार्धं संपर्को न श्रेयसे असदनुष्ठानहेतुत्वात्तस्येत्येवं परिज्ञाय स भिक्षुरवगतकामभोगविपाक आत्मानं स्त्रीसंपर्कान्निरुध्य सन्मार्गेऽव्यवस्थाप्य यत्कुर्यात्तद्दर्शयति । न स्त्रियं नरकवीथिप्रायां नापि पशुं लीयेताश्रयेत स्त्रीपशुभ्यां सह संवासं परित्यजेत् । " स्त्रीपशुपण्डकवर्जिता शय्येति " वचनात्तथा स्वकीयेन पाणिना हस्तेनावाच्यस्य (ण लिज्जेज्जति) न संबाधनं कुर्यात् । यतस्तदपि हस्तसंबाधनं चारित्रं शबलीकरोति । यदि वा स्त्रीपश्वादिकं स्वेन पाणिना न स्पृशेदिति । २० । अपिच ।

सुविसुद्ध लेसे मेहावी, परकिरिअं च वज्जए नाणी ॥
मणसा वयसा काएण, सव्वफाससहे अणगारे ॥ २१ ॥

सुष्ठु विशेषेण शुद्धा स्त्रीसंपर्कपरिसंहाररूपतया निष्कलङ्का लेश्यान्तःकरणवृत्तिर्यस्य स तथा स एवंभूतो मेधावी मर्यादावर्ती परस्मै स्त्र्यादिपदार्थाय क्रिया परक्रिया तां च ज्ञानी विदितवेद्यो वर्जयेत्परिहरेत् । एतदुक्तं भवति । विषयोपभोगोपाधिना नान्यस्य किमपि कुर्यात् नाप्यात्मनः स्त्रिया पादधावनादिकमपि कारयेत् । एतच्च परक्रियावर्जनं मनसा वचसा कायेन वर्जयेत्तथा औदारिककामभोगार्थं मनसा न गच्छति नान्यं गमयति गच्छन्तमपरं नानुजानीते एवं वाचा कायेन च सर्वेऽप्यौदारिके नव भेदा एवं दिव्येऽपि नव भेदास्ततश्चाष्टादशभेदभिन्नमपि ब्रह्म बिभृयात् । यथा च स्त्रीस्पर्शपरिषहः सोढव्य एवं सर्वानपि शीतोष्णदंशमशकतृणादिस्पर्शानपि सहेत । एवं च सर्वस्पर्शसहोऽनगारः साधुर्भवतीति ॥ २१ ।

क एवमाहेति दर्शयति ।

इच्चेव माहु से वीरे, धुअरए धुअमोहे से भिक्खू ।
तम्हा अज्झत्थ विसुद्धे, सुविमुक्के आमोक्खाए परिव्वएज्जासि ।

(पाठान्तरं विहरे आमुक्खाए त्तिबेमि) इच्चेवमाहुरित्यादि (इत्येवं यत्पूर्वमुक्तं तत्सर्वं स वीरो भगवानुत्पन्नदिव्यज्ञानः परहितैकरत आह उक्तवान् । यत एवमतो धूतमपनीतं रजः स्त्रीसंपर्कादिकृतं कर्म येन स धूतरजाः । तथा धूतो मोहो रागद्वेषरूपो येन स तथा । पाठान्तरं वा धूतोऽपनीतो रागमार्गो रागपन्था यस्मिन् स्त्रीसंस्तवादिपरिहारात्तत्तथा तत्सर्वंभगवान् वीर एवाह । यत एवं तस्मात्स भिक्षुरध्यात्मविशुद्धः सुविशुद्धान्तःकरणः सुष्ठु रागद्वेषात्मकेन स्त्रीसंपर्केण मुक्तः सन्नामोक्षायाशेषकर्मक्षयं यावत् परि समन्तात्संयमेऽनुष्ठाने व्रजेद्गच्छेत्संयमोद्योगवान् भवेदिति ॥ सूत्र० ॥ २ श्रु० ४ अ० ।

(१०) स्त्रीस्वरूपस्य स्त्रीचरित्रस्य चातिनिन्दनीयत्वम् ।

तत्र स्वरूपनिन्दा यथा—

हा असुइसमुप्पनिया, निग्गया जेण चेव दारेणं ।
सत्ता मोहपसत्था, रमंति तत्थेव असुइदारम्मि ॥ ३ ॥

हा इति खेदे अशुचिसमुत्पन्ना अपवित्रोत्पन्ना येनैव द्वारेण निर्गताः चशब्दाद्योगत्वमापन्नाः सत्त्वा जीवाः मोहप्रसक्ता विषमरक्ताः रमन्ते क्रीडयन्ति । तत्रैवाशुचिद्वारे वेदोक्त–

समुद्रप्रसूतकुमारवदिति । एवं शरीराशुचित्वे सति शिष्यः प्रज्ञापयति ।

किह ताव घरकुडीरी, कइसहस्सेहिं अपरितंतेहिं ।
वन्निज्जइ असुइबिलं, जघणं ति सकज्जमूढेहिं ॥ ४ ॥

हे पुज्याः ! कथं तावद् गृहकुट्याः स्त्रीदेहस्येत्यर्थः अपरितः तैरश्रान्तैः परिश्रममगणद्भिः स्वकार्यमूढैः स्वस्वार्थमौख्यगतैः कविसहस्रैः (जघणंति) स्त्रीकट्यग्रभागं जगरूपमित्यर्थः वर्ण्यते वचनविस्तारेण विस्तार्यते । किंभूतं जघनम् अशुचिविलं परमापवित्रविवरम् उक्तं च " चर्मखण्डं सदाच्छिन्नमपानोद्गारवासितम् । तत्र मूढाः क्षयं यान्ति प्राणैरपि धनैरपि" ॥ ४ ॥ (तत्र प्राणैः शाक्यादयः क्षयङ्कताः धनैर्धम्मिल्लादय इति)

रागेण न जाणंति, वराया कलमलस्स निद्धमणं ।
ताणं परिणंदंती, फुल्लं नीलुप्पलवणं च ॥ ५ ॥

हे शिष्य ! तीव्रकामरागेण न जानन्ति हृदये, च शब्दादन्येषां न कथयन्ति वराकास्तपस्विनः कलमलस्यापवित्रमलस्य निर्द्धमनं खालु इति (ताणंति) णं वाक्यालङ्कारे तज्जघनं (परिणंदंतीत्ति) परमविश्वासका वर्णयन्ति कथं चकार इवार्थे इव उत्प्रेक्षते फुल्लं प्रफुल्लं विकसितमित्यर्थः नीलोत्पलवनमिन्दीवरकाननम् ॥ ५ ॥

कित्तियमित्तं वन्ने, अमिज्झमइयंमि वच्चसंघारो ।
रागो हु न कायव्वो, विरागमूले सरीरम्मि ॥ ६ ॥

कियन्मात्रं कियत्प्रमाणं (वन्नेत्ति) वर्णयामि शरीरे वपुषि हु यस्मादेवं तस्माद्रागो न कर्त्तव्यः । स्थूलभद्रवज्रस्वामिजम्बूस्वाम्यादिवत् । किंभुते अमेध्यं प्रचुरमस्मिन्निति अमेध्यमये गूयात्मके इत्यर्थः । वर्चस्कसंघाते परमापवित्रविष्ठासमूहे (विरागमुलेत्ति) विशिष्टो रागो विरागः मनोज्ञराग इत्यर्थः । तस्य मूलं कारणं कामासक्तानामङ्गारवतीरूपदर्शने चण्डप्रद्योतस्येव । यद्वा विगतो रागो मन्मथभावो यस्मात्स विरागो वैराग्यमित्यर्थः तस्य मूलं कारणं काष्ठश्रेष्ठिरिव तस्मिन्विरागमूले ॥ ६ ॥

किमिकुलसयसंकिन्ने, असुइयमचुक्खे असासयमसारे ।
सेयमलपुव्वडम्मी, निव्वेयं वच्चह सरीरे ॥ ७ ॥

कृमिकुलशतसंकीर्णे (असुइयमचुक्खत्ति) अशुचिके अपवित्रमलव्याप्ते (अचुक्खे) अशुद्धे सर्वथा धौतुमशक्यत्वात् । अशाश्वते क्षणं २ प्रतिविनश्वरत्वात् । असारे सारवर्जिते (सेयमलपुव्वडम्मित्ति) दुर्गन्धिस्वेदमलचिगचिगायमाने एवंविधे शरीरे जीवा यूयं निर्वेदवैराग्यं व्रजत गच्छत विक्रमयशोनृपस्येवेति ॥ ७ ॥

दंतमलकन्नगूहग, सिंहाणमले य लालमलबहुले ।
एयारिसबीभत्थे, दुगुच्छणिज्जम्मि को रागो ॥ ८ ॥

दन्तमल-कर्णमल-गूथकसिंघाणमले चशब्दः शरीरगतानेकमलग्रहणसूचनार्थः । लालामलबहुले एतादृशबीभत्से जुगुप्सनीये सर्वथा निन्द्ये वपुषि को रागः ॥

को सडणपडणविकिरण-विद्धंसणचयणमरणधम्मम्मि
देहम्मी अहिलास, कुहियकढणकट्ठभूयम्मि ॥ ८ ॥

देहे शरीरे कोऽभिलाषो वाञ्छा किंभूते शटनपतनविकिरणविध्वंसनच्यवनमरणधर्मे । तत्र शटनं कुष्ठादिनाङ्गुल्यादेः पतनं बाह्वादेः खड्गच्छेदादिना विकिरणत्वं विनश्वरत्वं, विध्वंसनं रोगज्वरादिना जर्जरीकरणम्, च्यवनं हस्तपादादेर्देशक्षयः मरणं सर्वथा क्षयः । पुनः किंभुते कुथितकठिनकाष्ठभूते । विनष्टकर्कशदारुतुल्ये ॥ ८ ॥

कागसुणगाणभक्खे, किमिकुलभत्ते य वाहिभत्ते य ।
देहम्मि मच्छभत्ते, सुसाणभत्तम्मि को रागो ॥ १० ॥

देहे को रागः । किंभूते काकश्वानयोः शृकारीभक्षणयोर्भक्ष्ये खाद्ये कृमिकुलभक्ते च व्याधिभक्ते च मत्स्यभक्ते श्मशानभक्ते च ॥ १० ॥

असुई अमिज्झपुन्नं, कुणिमकलेवरकुडियपरिसवंति ।
आगंतुयसंठवियं, नवछिड्डमसासयं जाणे ॥ ११ ॥

अशुचि सदाऽविशुद्धममेध्यपूर्णं विष्ठाभृतम् (कुणिमकलेवरकुडीति) मांसशरीरहड्डयोर्गृहम् (परिसवंतीत्ति) परिस्रवत् सर्वतो गलत् आगन्तुकसंस्थापितं मातापित्रोः शोणितशुक्रपुद्गलैर्निष्पादितं नवच्छिद्रं नवरन्ध्रोपेतम् । अशाश्वतमस्थिरम् । एवंविधं वपुस्त्वं जानीहीति ॥ ११ ॥

पिच्छसि मुहं सतिलयं, सविसेसं राएण अहरेणं ॥
सकडक्खं सवियारं, तरलच्छि जुव्वणत्थीए ॥ १२ ॥

(जुव्वणत्थीपत्ति)यौवनस्त्रियास्तरुण्या मुखं तुण्डं नरकतुण्डं साधुसंयमनृपविषखण्डं त्वं पश्यसि नन्दिषेणशिष्याईल्लकस्थूलभद्रसतीर्थ्यकवत् किंभूतं सतिलकं सपुण्ड्रम् सविशेषं कुङ्कुमकज्जलादिविशेषसहितं केन सह रागेण ताम्बूलादिरागवता अधरेणोष्ठेन सह सकटाक्षमर्द्धवीक्षणसहितम् सविकारं भ्रूचेष्टासहितं यथा तपस्विनामपि मन्मथविकारजनकं तरले चपले काकलोचनवत् अक्षिणी यत्र तत्तरलाक्षि इति

पिच्छसि बाहिरमट्ठं, न पिच्छसी उज्जरं कलिमलस्स ॥
मोहेण न चयंतो, सीसघडिकं जियं पियासि ॥ १३ ॥

एवं त्वं बहिर्मृष्टं बाह्यभोगे मण्डितं पश्यसि सरागदृष्ट्या विलोकयसि न पश्यसि अन्धवत् विलोकयसि (उज्जरंति) मध्यगतं कुचेष्टां कुर्वन् (सीसघडी कांजियपियसित्ति) मस्तकघटीरसमपवित्रं पिबसि पानं करोषि चुम्बनादिप्रकारेणेति ॥ १३ ॥

सीसघडी निग्गालं, जं निट्ठुहसी दुगुंच्छसी जं च ।
तं चेव रागरत्तो, मूढो अइमुच्छिओ पियसि ॥ १४ ॥

मस्तकोद्भवापवित्ररसं यन्निष्ठं नयासि मूत्कृतयसि जुगुप्ससे कुत्सां करोषीत्यर्थः । यद्वा त्वं तदेवरागरक्तो विषयासक्तो मूढो महामोहं गतः अतिमूर्च्छितः तीव्रगृद्धिं गतः पिबसि ॥ १४ ॥

पूइयसीसकवालं, पूइयनासं च पूइदेहं च ।
पूइयछिद्दविछिद्दं पुइयचम्मेण यं पिणद्धं ॥ १५ ॥

पूतिकशीर्षकपालं दुर्गन्धिमस्तककर्परं पूतिकनासमपवित्रनासिकं पूतिदेहं दुर्गन्धिगात्रं पूतिकछिद्रविछिद्रम् अपवित्रलघुविवरबृहद्विवरं पूतिकचर्मणा अशुभाजिनेन पिनद्धं नियन्त्रितम् ॥ १५ ॥

अंजणगुणसुविसुद्धं, न्हाणुव्वट्टणगुणेहिं सुकुमालं ।
पुप्फुम्मीसियकेसं, जणई बालस्स तं रागं ॥ १६ ॥

अञ्जनगुणसुविशुद्धं तत्राञ्जनं लोचनकज्जलं गुणा नारकगोफणकरालङ्कारिकादयस्तैः सुष्ठु विशुद्धमत्यर्थशोभायमानं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्नानोद्वर्तनगुणैः सुकुमारम् । तत्र स्नानमनेकधा क्षालन मुद्वर्तनं पिष्टिकादिना मलोत्तारणं गुणा धूपनादिप्रकाराः यद्वा स्नानोद्वर्तनाभ्यां गुणास्तैर्मृदुत्वं गतं पुष्पमिश्रितं केशमनेककुसुमवासितकुन्तलमेवंविधं तन्मुखं मस्तकं शरीरं वा बालस्य मन्मथकर्कशबाणविद्धत्वेन सदसद्विवेकविकलस्य जनयति उत्पादयति रागं मन्मथपारवश्यं येन गुर्वादिकमपि न गणयति नन्दिसेणाषाढभूतिमुन्यादिवत् ॥ १६ ॥

जं सीसपूरओ त्ति य, पुप्फाइँ भणंति मंदविन्नाणा।
पुप्फाइं चिय ताइं, सीसस्स य पूरयं सुणह ॥ १७ ॥

मन्दविज्ञाना मन्मथग्रहग्रथिलीकृताः (जंति) यानि पुष्पाणि कुसुमानि शीर्षपूरको मस्तकाभरणमिति भणन्ति कथयन्ति पुष्पाण्येव तानि शीर्षस्य पूरकं शृणुत यूयमिति ॥

मेओवसायरसिया, खेले सिंघाणए य बुज्झए यं ।
अह सीसपूरओ जे, नियगसरीरम्मि साहीणो ॥१८॥

मेदोऽस्थिकृत् वसावसासा चशब्दोऽनेकशरीरान्तर्गतावयवग्रहणार्थः। रसिका प्रणाद्युत्पन्नाः (खेत्रेत्ति) कण्ठमुखश्लेष्मा (सिंघाणेत्ति) नासिकाश्लेष्मा (पयंति) वर्चस्कमेतन्मेदादिकं (बुभएयं) क्षपयं मस्तके प्रक्षेपयत । अथ शीर्षपूरको (जे) भवतां निजकशरीरे स्वाधीनः स्वायत्तो वर्तते।१८।

सा किर दुप्पडिपूरा, वच्चकुडी दुप्पया नवच्छिड्डा ।
उक्कडगंधविलित्ता, बालजणो अइमुच्छियं गिद्धो ॥१९॥

सा वर्चस्ककुटी विष्ठाकुटीरिका (किरत्ति) निश्चये दुष्प्रतिपूरा पूरयितुमशक्येत्यर्थः । किंभूता द्विपदा नवच्छिद्रा उत्कटगन्धविलिप्ता तीव्रदुर्गन्धव्याप्ता एवंविधा शरीरकुटी वर्तते । तां च बालजनो मूर्खलोकः अतिमूर्छितं यथा स्यात्तथा गृद्धो लम्पटत्वं गतः ॥ १९ ॥

कथं गृद्ध इत्याह—

जं पेमरागरत्तो, अवयासेऊण गूढमुत्तोलिं ।
दंतमलचिक्कणंगं, सीसघडिकंजियं पियसि ॥ २० ॥

यस्मात्प्रेमरागरक्तः कामरागग्रथिलीकृतो लोकः (अवयासेऊणत्ति) अवकाश्य प्रकाश्य प्रकटीकृत्येत्यर्थः (गूढमुत्तोलिति) अपवित्रं रामाङ्गं पुच्छिद्रं वा जुगुप्सनीयं दन्तानां मलः पिप्पिका दन्तमलस्तेन सह चिक्कणाङ्गं चिगचिगायमानमङ्गं शरीरमालिङ्ग्य च शीर्षघटीकाञ्जिकं कपालकर्परस्थरसं चुम्बनादिप्रकारेण (पियसीत्ति) पिबसि अतृप्तवत् घुण्टयस्यतः ॥ २० ॥

दंतमुसलेसु गहणं, गयाणमंसे य ससयमीयाणं ।
बालेसु य चमरीणं, चम्मनहे दीवियाणं च ॥ २१ ॥

गजानां दन्तमुसलेषु (गहणंतीति) ग्रहणमादानं लोकानां वर्तते। मांसे चशब्दाद्रसास्रृगादौ शशकमृगाणां ग्रहणं वर्तते। चमरीणां बालेषु ग्रहणं द्वीपिकानां चित्रकव्याघ्रादीनां चर्मनखे ग्रहणं चशब्दादनेकतिरश्चामनेकावयवग्रहणं वर्तते। को भावः यथा गजादीनां तिरश्चां दन्तादिकं सर्वेषां भोगाय भवति तथा मनुष्यावयवो न भोगाय भवति पश्चादतः कथ्यतेऽनेनादौ जिनधर्मो विधेय इति ॥ २१ ॥

पूइयकाए य इहं, चवणमुहे निच्चकालवीसत्थो ॥
आइक्खसु सब्भावं, किम्हिसि गिद्धो तुमं मूढ ॥२२॥

इह पूतिककाये अपवित्रवपुषि च्यवनमुखे मरणसन्मुखे नित्यकालविश्वस्तः सदा विश्वासं गतः (आइक्खसुत्ति) आख्याहि कथय सद्भावं हार्दं (किम्हिसित्ति) कस्मादसि गृद्धस्त्वं मूढो मूर्खः यद्वा हे मूर्ख यद्वा हे मूढ ब्रह्मदत्तदशमुखादिवत्।२२।

दंता वि अकज्जकरा, वाला वि विवड्ढमाणबीभत्था ।
चम्मं पि य बीभत्थं, भण किं तसितं गओ रागं ॥२३॥

दन्ता अपि अकार्यकरा वाला अपि विवर्द्धमानाः सर्पवत् बीभत्सा भयंकराः चर्मापि च बीभत्सं भण कथय किं (तसित्ति) तस्मिन् शरीरे (तमित्ति) त्वं रागं गतः ॥२३॥

सिंभे पित्ते मुत्ते, गूहम्मि य वसाइ दंतकुंडीसु ।
भणसु किमत्थं तुज्झं, असुइम्मि वड्ढिओ रागो ।२४।

(सिंभेत्ति) कफे पित्तमायुषि मूत्रे प्रस्रवणे गूथे विष्ठायां (वसाइत्ति) वसायाः (दन्तकुण्डीसुत्ति) हड्डुभाजने यद्वा मकारोऽलाक्षणिकः दन्तकुड्यां यद्वा (दंतकुंडीसुत्ति) दंष्ट्रासु भण कथय किमर्थं तवाशुचावपि वर्द्धितो रागः ॥२४॥

जंघडियासु ऊरू, पइट्ठिया तट्ठिया कडीपिट्ठी ।
कडियट्ठिवेढियाइं, अट्ठारसपिट्ठिअट्ठीणि ॥२५॥

(जङ्घडियासुऊरुत्ति) जङ्घास्थिकयोरूरुप्रतिष्ठितौ स्थापितौ यद्वा जङ्घास्थितयोरूरू भवतः (पइट्ठियत्ति) अत्रायं पदस्कन्धः तयोरूर्वोः स्थिता तत्स्थिता कटिः श्रोणिर्भवति कट्यां प्रतिष्ठिता स्थापिता (पिट्ठित्ति) पृष्ठिर्भवति कट्यास्थिवेष्टितानि अष्टादश १८ पृष्ठयस्थीनि भवन्ति शरीर इति ॥ २५ ॥

दो अच्छि अट्ठियाइं, सोलस गीवट्ठियामुणेयव्वा ।
पिट्ठिप्पइट्ठियाओ, बारस किल पंसुली हुंति ॥२६॥

द्वे अक्ष्यस्थिनी भवतः षोडश ग्रीवास्थीनि ज्ञातव्यानि पृष्ठिप्रतिष्ठिताः द्वादश किलेति प्रसिद्धौ पंशुल्यो भवन्ति ॥२६॥

अट्ठिय कठिणे सिरन्हा, रूबंधणे मंसचम्मलेवम्मि ।
विट्ठा कोट्ठागारे, को वच्चघरो व मे रागो ॥

अस्थिभिः (कठिणे) कठिने यद्वा कठिनानि अस्थिकानि यत्र तत्तथास्मिन् सिराश्नसानां अभ्यौतराणां बन्धनं यत्र तत्तथा तस्मिन्, मांसचर्मलेपे विष्ठाकोष्ठाकारे वर्चस्कगृहोपमे कलेवरे रे जीव तव को रागः ॥२७॥

जह नाम वच्चकूवो, निच्चं भिणिभिणिभणंतकायकली ।
किमिएहिं सुलसुलायइ, सो एहिं य पूइयं वहइ ॥२८॥

यथेति दृष्टान्तोपदर्शने नामेति कोमलामन्त्रणे संभावने वा (वच्चकूवोत्ति) वर्चस्ककूपो विष्ठाभृतकूपो भवति किंभूतः भिणिभिणिरितिशब्दं (भणंतत्ति) भणन् भृशं कथयन् काककलिर्वायससंग्रामो यत्र स भिणिभिणित्यभणत्काककलिःकृमिकैर्विष्ठामीलकृभिः सुलुसुलेत्येवं शब्दं करोतीति सुलुसुलायते श्रोतोभिश्च रेलकैः पूतिकं परमदुर्गन्धं वहति स्रवति इत्यर्थः यथा विष्ठाकूपः तथेदमपि शरीरं ज्ञातव्यं मृतावस्थायां रोगाद्यवस्थायां वेति । २८ ।

अथ शरीरस्य शवावस्थां दर्शयति गाथात्रयेण ।

उव्विद्धनयणं खगमुह, विकड्ढियं विप्पइन्नबाहुलयं ।
अंतविकड्ढियमालं, सीसघडी पागडीघोरं ॥

भिणि भिणि भणंत सद्दं, विसप्पियं सुलुसुलितमंसोडं ।
मिसि २ मिसंत किमियं, थिवि थिवि थिवि अंतबीभच्छं॥

पागडिएणं पसुलियं, विगरालं सुक्क संधिसंघायं ।
पडियं निच्चेयणयं, सरीरमेयारिसं जाण ॥ ३१ ॥

उद्धृते निष्कासिते काकादिभिर्नयने लोचने यस्य शवस्य यस्मिन् यस्माद्वा तदुद्धृतनयनं खगमुखैर्विहङ्गतुण्डैः (विकट्टियत्ति) विकर्तितं विशेषेण कर्तितं पाटितं खगमुखविकर्तितम् विप्रकीर्णौ अवकीर्णौ विरलावित्यर्थः (बाहुलयंति) बाहू प्रविष्टौ यस्य शवस्य तत् प्रकीर्णबाहुः (अंतविकड्डियमालंति) विकर्षितान्त्रमालं शृगालादिभिरिति (सीसघडियाघडिति) प्रगटया शीर्षघटिकया तुम्बलिकया घोरं रौद्रम् ॥ २९ ॥ (भिणिभिणीति भणंतत्ति) धातूनामनेकार्थत्वादुत्पद्यमानः भिणिभिणीति शब्दो यत्र तत् भिणिभिणिभणच्छब्दं मक्षिकादिभिर्गणगणायमानमित्यर्थः । अङ्गादिशिथिलत्वेन विस्तारं व्रजन् (सुलुसुलंतमंसपोडंति) सुलुसुलायमानमांसपुटम् (मिसिमिसिमिसंतकिमियंति) मिसिमिसीति मिसन्तः शब्दं कुर्वन्तः कृमयो यत्र तन्मिसिमिसिमिसत्कृमिकं (थिविथिविथिविविअंतबीभच्छंति) थवथवायमानैरन्त्रैर्वीभत्सं रौद्रमित्यर्थः ॥ ३० ॥ प्रकटिताः प्रकटत्वं प्राप्ताः पांशुलिका यत्र तत्प्रकटितपांशुलिकं विकरालं भयोत्पादकम् । शुष्काश्च ताः संधयश्च शुष्कसंधयस्तासां संघातः समुदायो यत्र तच्छुष्कसंघातं पतितं गर्तादौ निश्चेतनकं चैतन्यवर्जितं शरीरं वपुः एतादृशं पूर्वोक्तधर्मयुक्तं त्वं (जाणत्ति) जानीहि ' जाणे ' इति पाठे तु निश्चेतनकं शरीरमहमीदृशं जानामीति ॥ ३१ ॥

वच्चाओ असुइतरं, नवहिं सोएहिं परिगलंतेहिं ।
आममल्लगरूवे, निव्वेयं वच्चह शरीरे ॥ ३२ ॥

नवभिः श्रोतोभिः परिगलद्भिः वर्चस्काद्गूथात् अशुचितरमपवित्रतमम (आममल्लगरूवेत्ति) अपक्वशरावतुल्ये शरीरे निर्वेदं वैराग्यं व्रजत-विष्णुश्रीशरीरे विक्रमयशोराजस्येव । ३२।

दो हत्था दो पाया, सीसं उच्चं पियं कवंधम्मि ।
कलमलकोट्ठागारं, परिवहसि दुयादुयं वच्चं ॥ ३३ ॥

द्विहस्ते द्विपादे (सीस उच्चप्पियंति) शीर्षमुत्प्राबल्येन चर्पितं यत्र तच्छीर्षोच्चर्पितं तस्मिन् यद्वा शीर्षे उत्प्राबल्येन चर्पितमाक्रमितं यत्तत्तथा तस्मिन् । प्राकृतत्वात् अनुस्वारः शीर्षोच्चर्पिते कलमलकोष्ठागारे एवंविधे कबन्धे (दुयादुयंति) शीघ्रं २ किं वर्चस्कं परिवहसि त्वमिति अत्र यथायोगं विभक्तिविपरिणामो ज्ञेय इति ॥ ३३ ॥

तं च किर रूववंतं, वच्चंतरायमग्गमाइसं ।
परगंधेहिं सुगंधयं, मन्नंतो अप्पणो गंधं ॥ ३४ ॥

चपुनस्तच्छरीरं (किरत्ति) संभावनायां रूपवत् व्रजत् राजमार्गं (आइसंति) प्राप्तं तत्र परगन्धैः पाटलचम्पकादिभिः सुगन्धकं जातं तत्र च त्वमात्मनो गन्धं (मन्नंतोत्ति) जानन् हर्षयसीति ॥ ३४ ॥

परगन्धं दर्शयति-

पाडलचंपयमल्लिय-अगरुयचंदणतुरुक्ख मीसं वा ।
गंधं समोयरंतो, मन्नंतो अप्पणो गंधं ॥ ३५ ॥

पाटलचम्पकमल्लिकागुरुकचन्दनतुरुष्कमिश्रं वा अथवा मिश्रं संयोगोत्पन्नं यक्षकर्दमादिकं गन्धकस्तूर्यादिकं किंभूतं (समोयरंतोति) सर्वतो विस्तरत् एवंविधं परगन्धमात्मगन्धमिति (मन्नंतोत्ति) जानन् हर्षयसीति ॥ ३५ ॥

सुहवाससुरहिगंधं, वायसुहं अगरुगंधियं अंगं ।
केसा न्हाणसुगंधा, कयरो ते अप्पणो गंधो ॥ ३६ ॥

शुभवासैः सुन्दरचूर्णैः सुरभिगन्धं सुष्ठु गन्धं शुभवाससुरभिगन्धं वातैः शीतलादिभिः सुखं शुभं वा यत्र तत् वातसुखम अगरुगन्धो धूपनादिप्रकारेण जातोऽस्येति अगरुगन्धि तमेवंविधमङ्गं गात्रं वर्तते (केसान्हाणसुगंधत्ति) ये च केशाः कचाः ते स्नानेन सवनेन सुगन्धा वर्तन्ते अथ कथय त्वं कतरः कतमः ते तवात्मनो गन्ध इति ॥ ३६ ॥

अच्छिमलो कन्नमलो, खलो सिंघाणओ य पूओ य ।
असुई मुत्तपुरिसो, एसो ए अप्पणो गंधो ॥ ३७ ॥

अक्षिमलो दूषिकादिः कर्णमलः श्लेष्मा कण्ठमुखश्लेष्मा (सिंघाणओत्ति) नासिका श्लेष्मा चशब्दादन्योऽपि दन्तमलजिह्वामलगुह्यमलकक्षामलादिः किंभूतः (पूओयत्ति) पूतिको दुर्गन्धः तथा अशुचि सर्वप्रकारैरशुभं मूत्रपुरीषं प्रश्रावगूथमेषोऽनन्तरोक्तस्ते तवात्मनो गन्धः ॥ ३७ ॥

(११) अथ वैराग्योत्पादनार्थं स्त्रीचरित्रं दर्शयति यथा-

जाओ चिय इमाओ इत्थियाओ अणेगेहिं कइवरसहस्सेहिं विविहपासपडिबद्धेहिं कामरागमोहेहिं वन्नियाओ ताओ वि एरिसाओ-तंजहा पगइविसमाओ १ पियवयणवल्लरीओ २ कइयवपेमगिरितडिओ ३ अवराहसहस्सघरणीओ ४ पभवो सोगस्स ५ विणासो बलस्स ६ सूणा पुरिसाणं ७ नासो लज्जाए ८ संकरो अविणयस्स ९ निलओ नियडीणं १० खणी वइरस्स ११ सरीरं सोगस्स १२ भेओ मज्जायाणं १३ आसाओ रागस्स १४ निलओ दुच्चरियाणं १५ माइए संमोहो १६ खलणा नाणस्स १७ चलणं सीलस्स १८ विग्घो धम्मस्स १९ अरी साहूणं २० दूसणं आयारपत्ताणं २१ आरामो कम्मरयस्स २२ फलिहो मुक्खमग्गस्स २३ भवणं दरिद्दस्स २४ अवि याओ इमाओ आसीविसो विव कुवियाओ २५ मत्तगओ विव मयणपरवसाओ २६ वग्घी विव दुट्ठहिययाओ २७ तणच्छन्नकूवो विव अप्पगासहिययाओ २८ मायाकारओ विव उवयारसयबंधणपओत्ताओ २९ आयरियसविधं पिव बहुगिज्झसब्भावाओ ३० फुंफुया विव अंतोदहणसीलाओ ३१ नग्गयमग्गे विव अणवट्ठियचित्ताओ ३२ अंतो दुट्ठवणो विव कुहियहिययाओ ३३ किण्हसप्पो विव अविस्ससणिज्जाओ ३४ संघारो विव छन्नमायाओ ३५ संज्झब्भरागो विव मुहुत्तरागाओ ३६ समुद्दवीची विव चलस्सभावाओ ३७ मच्छो विव दुप्परियत्तणसीलाओ ३८ वानरो विव चलचित्ताओ ३९ मच्चु विव निव्विसेसाओ ४० कालो विव निरणुकंपाओ ४१ वरुणो विव पासहत्थाओ ४२ सलिलमिव निम्नगामिणीओ ४३ किवणो विव उत्ताणहत्थाओ ४४ नरओ विव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्तासणिज्जाओ ४५ खरो विव दुस्सीलाओ ४६ दुट्ठ सो विव दुद्दमाओ ४७ बालो इव मुहुत्तहिययाओ ४८ अंधयारमिव दुप्पवेसाओ ४९ विसवल्ली अणल्लीय णिज्जाओ ५० दुट्ठगहा इव वावी अणवगाहाओ ५१ ठाणभट्ठो विव इस्सरो अप्पसंसणिज्जाओ ५२ किंपागफलमिव मुहमहुराओ ५३ रित्तमुट्ठी विव बा- लोभणिज्जाओ ५४ मंसपेसीगहणमिव सोवद्दवा ओ ५५ जलियचुडली विव अमुच्चमाणडहणसीलाओ ५६ अरिट्ठमिव दुल्लंघणिज्जाओ ५७ कूडकरिसावणो विव कालविसंवायणसीलाओ ५८ चंडसीलो विव दुक्ख- रक्खियाओ ५९ अइविसाओ ६० दुगुंछियाओ ६१ दु- रुवचाराओ ६२ अगंभीराओ ६३ अविस्ससणिज्जाओ ६४ अणवत्थियाओ ६५ दुक्खरक्खियाओ ६६ दुक्ख पालियाओ ६७ अरइकराओ ६८ कक्कसाओ ६९ दढ वेराओ ७० रूवसोहग्गमउम्मत्ताओ ७१ भुयगगइकुडि- लहिययाओ ७२ कंतारगईठाणभूयाओ ७३ कुलसयण- मित्तभेयण कारिकाओ ७४ परदोसपगासियाओ ७५ कय- ग्घाओ ७६ बलसोहियाओ ७७ एगंतहरणलोकाओ ७८ चंचलाओ ७९ जोईभंडोवरागो विवमुहरागविरागाओ ८० अवि याइं ताओ अंतरंगभंगसयं ८१ अरज्जुओ पासो ८२ अदारुया अडवी ८३ अणालयस्स निलओ ८४ अइक्खवेयरणी ८५ अणामियावाहि ८६ अवि ओगो विप्पलावो ८७ अरु उवसग्गो ८८ रइवंतो ८९ चित्त विब्भमो ९० सव्वंगओ दाहो ९१ अणब्भपावज्जा- सणी ९२ असलिलप्पवाहो ९३ समुद्दरओ ९४ ॥

(जाओ चिय इमाओ) इत आरभ्य [समुद्दरओ] इति पर्यन्तं गद्यं या एव इमा वक्ष्यमाणाः स्त्रियः अनेकैः कविवरसहस्रैः विविधपाशप्रतिबद्धैः कामरागमोहैर्मन्मथरागमूढैः (वन्नियाओत्ति) वर्णिताः शृङ्गारादिवर्णनप्रकारेणेति (ताओ विचि) ता अपि ईदृशा वक्ष्यमाणस्वरूपा ज्ञातव्याः तद्यथा (पगइविसमाओत्ति) प्रकृत्या स्वभावेन विषमा वक्रभावयुक्ता आवश्यकोक्तपतिमारिकावत् १(पिय०) प्रियवचनवल्लर्यो मिष्टवाणीमञ्जर्योऽज्ञातसूत्रोक्तजिनपालजिनरक्षितोपसर्गकारिणी रत्नद्वीपदेवीवत् २ (कइय०) कैतवप्रेमगिरितटयः कुशिष्यकूलवालकपातिका मागधिकागणिकावत् ३ (अवरा०) अपराधसहस्रगृहरूपाः ब्रह्मदत्तमातृचुलनीवत् ४ (पभवो०) अयं स्त्रीरूपो वस्तुस्वभावप्रभव उत्पत्तिस्थानं कस्य शोकस्य सीतागते रामस्येव ५ (विणा०) विनाशो वंशस्य पुरुषवलस्य क्षयहेतुत्वात् । उक्तंच । "दर्शने हरते चित्तं, स्पर्शने हरते बलम् । सङ्गमे हरते वीर्यं, नारी प्रत्यक्षराक्षसी" ॥ इति यद्वा विनाशः क्षयः कस्य बलस्य सैन्यस्य कोणिकस्त्रीपद्मावतीवत् ६ (सूणा०) पुरुषाणां शूना वधस्थानं सूरिकन्ताराज्ञीवत् ७ नाशो लज्जाया लज्जाभावरहितत्वात् लक्ष्मणप्रार्थनकारिकासूर्पणखावत् । यद्वा लज्जानाशः अस्याः सङ्गे पुरुषस्य लज्जानाशो भवति गोविन्दद्विजपुत्रवत् । यद्वा नाशः क्षयः लज्जायाः पतिव्रज्जायाः संघस्याऽऽषाढसूतियतिचारित्रम्रुष्टिकामटपुत्रीवत् ८ (संक०) संकरउत्कटकक्करफट इति जनोक्तिः कस्य अविनयस्य श्वेताङ्गुल्यादिपुरुषाणां भार्यावत् ९ (निय०) निलयो गृहं कासां प्रकृत्यान्तरदम्भानामित्यर्थः चण्डप्रद्योतप्रेषिता अभयकुमारवञ्चिकावेश्यावत् १० (खणीति) खानिराकरः कस्य वैरस्य जमदग्नितापसस्त्रीरेणुकावत् ११ शरीरं शोकस्य वीरककादम्बिकस्त्रीवनमालावत् १२ भेदो नाशः मर्य्यादायाः कुलरूपायाःश्रीपतिश्रेष्ठिपुत्रीवत् यथा मर्यादायाः संयमलक्षणाया विनाशः आर्द्रकुमारसंयमस्यार्द्रकुमारपूर्वभवस्त्रीवत् १३ (आसाओत्ति) आशा वाञ्छा रागस्य कामरागस्य तद्धेतुकत्वात् । यद्वा आश्रयः स्थानं रागस्य उपलक्षणत्वाद् द्वेषस्यापि आर्षत्वादाकारः । यद्वा आ ईषदपि अदति न स्वादः आ अस्वादः कस्य [रागस्सत्ति] धर्मरागस्य १४ (निव०) निलयो गेहं केषां दुश्चरित्राणां सूर्यगमचौरभगिनीवीरमतीवत् १५ (माई०) मातृकायाः समूहः कमलश्रेष्ठिसुतापद्मिनीवत् १६ (खल०) स्खलनाः खण्डनाः ज्ञानस्य श्रुतज्ञानादेः उपलक्षणाच्चारित्रादे रथनेमिकुलवालकमुनिप्रकादिवद्गुप्रसङ्गे तदभावत्वात् । अर्द्धककुलककवत् १७ (चल०) चलनं शीलस्य ब्रह्मव्रतस्य ब्रह्मचारिणां तस्याः सङ्गे तत्र तिष्ठतीति भावः १८ (विग्घो०) विघ्नमन्तरायं धर्मस्य श्रुतचारित्रादेः १९ (अरी०) अरिर्निर्दयो रिपुः केषां साधूनां मोक्षपथसाधकानां चारित्रप्राणविनाशकहेतुत्वात् महानरककारागृहप्रक्षेपकत्वाच्चकूलवालुकस्य मागधिकावेश्यावत्२० [दूस०] दूषणं कलङ्कः केषां (आया०) ब्रह्मचर्याद्याचारपप्रानाम् २१ आरामः कृत्रिमवनं कस्य कर्मरजसः कर्मपरागस्य । यद्वा कर्म च निविडमोहनीयादि, रजश्च कामः, चश्च चौरः, रच तस्यारामं वाटिका २२ (फलिहा०) अर्गला यद्वा झम्पकः मोक्षमार्गस्य शिवपथस्य २३ भवनं गृहं दरिद्रस्य २४ (अवियाइंइमाउत्ति) अपि च या इमा वक्ष्यमाणाः स्त्रियः एवंविधा भवन्ति (आसिवि०) विव शब्द इवार्थे आदी विषवत् दृष्टिविषभुजंगमवत् कुपिताःकोपकृता भवन्ति२५ (मत्त.) मतंगजःउन्मत्तमतंगज इव मदनपरवशा मन्मथविह्वला भवन्ति अभयाराज्ञीवत् २६ (वग्घी०) व्याघ्रीवत् दुष्टहृदयाः दुष्टचित्ताः पालगो मात्रपरमातृमहालक्ष्मीवत् २७ (तण०) तृणछन्नकूप इव तृणसमूहाच्छादितान्धवत् अप्रकाशहृदयाः शतकश्रावकभार्यारेवतीवत् २८ (माया०) मायाकारक इव परवञ्चकमृगाधिबन्धक इव उपचारशतबन्धनशतप्रयुक्ताः प्रयोक्त्र्यो वा तत्रोपचारशतानि उपचारिकवचनचेष्टादिशतानि बन्धनानि रज्जुबन्धादानि बन्धनशतानि च तेषां(पओत्ता ओत्ति) प्रयोगकर्त्र्यः २९ (आयरि०) अत्रापि च इवार्थे आचार्यसविधमिवानुयोगकृतसर्वोपमिव बहुभिरनेकप्रकारैरनेकगुरुर्वैवा ग्राह्यो ग्रहीतुं शक्यः । यद्वा आर्षत्वात् (अगिज्झत्ति) अग्राह्यः सर्वथाग्रहीतुमशक्यः सद्भाव आन्तरचित्ताभिप्रायो यासां ता बहुग्राह्यसद्भावाः । बहुग्राह्यसद्भावा वा ३० (फुंफुग०) फुंफुकः करीषाग्निः कोलकस्तद्वत् अन्तर्दहनशीलाः पुरुषाणामन्तर्दुःखाग्निज्वालनत्वात् । उक्तंच- "पुत्रश्च मूर्खो विधवा च कन्या, शठं च मित्रं चपलं कलत्रम् । विलासकालेऽपि दरिद्रता च विनाग्निना पञ्च दहन्ति देहम्" ३१ (नगय०) विषमपर्वतमार्गवत् अनवस्थितचित्ता नैकत्रस्थापितान्तःकरणा इत्यर्थः अनङ्गसेनसुवर्णकारजीवस्त्रीवत् यद्वा नमकमार्गवत् जिनकल्पिकपथवत् । नैकत्रचित्ताः यद्वा नमकमार्गवत् भूताचेष्टिताचारवत्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नैकत्र स्थानचित्ताः ३२ (अंतोदु०) अन्तर्दुष्टव्रणवत् कुथितहृदयाः तिव्रजलोन्मत्तरामावत् ३३ (किण्ह०) कृष्णसर्पवत् (अवि०) विश्वासं कर्तुमयोग्या इत्यर्थः ३४ (संघा०) संहारवत् बहुजन्तुक्षयवच्छन्नमायाः प्रच्छन्नमातृकाः ३५ (संज्झ०) सन्ध्याभ्ररागवत् मुहूर्तरागाः। तथाविधदुष्टवेश्यावत्–३६ (समुद्द०) समुद्रवीचिवत्सागरतरङ्गवच्चलस्वभावाः चञ्चलस्वाभिप्रायाः ३७ (मच्छो०) मत्स्यवद्दुष्परिवर्तनशीलाः महता कष्टेन परिवर्तनं पश्चाद्वालयितुं शीलं स्वभावो यासां तास्तथा ३८ (वानर०) वानरवत् चलचित्ताः चपलाभिप्रायाः ३९ (मच्चु विव) मृत्युवत् मरणवत् निर्विशेषाः विशेषवर्जिताः ४० (कालोत्ति०) दुर्भिक्षकाल एकान्तदुःषमाकालो वा यद्वा लोकोक्तौ दुष्प्रसर्पस्तद्वत् निरनुकम्पा दयांशवर्जिता कीर्तिधरराजभार्यासुकोसलजननीवत् । ४१ (वरु०) वरुणवत् पाशहस्ताः पुरुषाणामालिङ्गनादिभिः कामपाशबन्धनहेतुहस्तत्वात् ४२ (सलि०) सलिलमिव जलमिव प्रायो नीचगामिन्यः स्वकान्तनृपनदीप्रक्षेपिका अधमपङ्गुकामिका राज्ञीवत् ४३ [किव०] कृपणवत् उत्तानहस्ताः सर्वेभ्यो मातृपितृबन्धुकुटुम्बादिभ्यो विवाहादावादानहेतुत्वात् ४४ (नरओ०) नरकवत् आसनीया दुष्टकर्मकारित्वात् महाभयङ्कराः ब्रह्मणात्साध्वीजीववेश्यादासीघातिका कुलपुत्रभार्यावत् ४५ [खरो०] खरवत् विष्ठालक्षकगर्दभवत् दुःशीलाः दुष्टाचाराः निर्लज्जत्वेन यत्र तत्र ग्रामनगरारण्यमार्गक्षेत्रगृहोपाश्रयचैत्यगृहगर्तवाटिकादौ पुरुषाणां वाञ्छाकारित्वात् । तथाविधवेश्यादुष्टदासीरण्डिकामुण्डिकादीनामिव ४६ [दुट्ठस्सो०] दुष्टाश्ववत् कुललक्षणघोटकवत् दुर्दमाः सर्वप्रकारैर्निर्लज्जीकृता अपि पुनः पुरुषसंयोगे स्वकामाभिप्रायकर्षणहेतुत्वात् ४७ [बालो] बालवत् शिशुवत् मुहूर्तहृदयाः मुहूर्तानन्तरं प्रायोऽन्यत्र रागधारकवत् कपिलब्राह्मणासक्तदासीवत् ४८ [अंधकार०] कृष्णचतुर्दश्यादिभवमन्धकारमरुणवरसमुद्रोद्भवतमस्कायं वा तद्वत् दुष्प्रवेशाः मायामहान्धकारगहनं येन देवानामपि दुष्प्रवेशत्वात् ४९ [विस०] विषवल्लीवत् हालाहलविषलतावत् [अणा०] अनाश्रयणीयाः सर्वथा सङ्गादिकर्तुमयोग्यास्तात्कालप्राणप्रयाणहेतुत्वात् पर्वतकराजस्य नन्दपुत्रीविषकन्यावत् ५० [दुग्गाहा इव०] दुष्टग्राहा निर्दयमहामकरादिजलजन्तुसेवितवापीवत् । अनवग्राह्या महता कष्टेनापि अप्रवेशयोग्याः सुदर्शनश्रेष्ठिवत् ५१ [ठाणभ०] स्थानभ्रष्टः ईश्वरो ग्रामनगरादिनायकस्तद्वत् । यद्वा स्थानं चारित्रगुरुकुलवासादिकं तस्माद्भ्रष्टः ईश्वरश्चारित्रनायकः साधुरित्यर्थस्तद्वत् । यद्वा स्थानं सिद्धान्तव्याख्यानरूपं तस्माद्भ्रष्टस्तत्सूत्रप्ररूपणेन ईश्वरो गणनायक आचार्य इत्यर्थः तद्वत् । यद्वा स्थानभ्रष्टो दुराचारे रक्त इत्यर्थः ईश्वरः सत्यकी विद्याधरस्तद्वत् अप्रशंसनीयाः साधुजनैः प्रशंसां कर्तुं योग्या नेत्यर्थः ५२ (किंपाग०) किंपाकफलमिव मुखे आदौ मधुरा महाकामरसोत्पादिका परं पश्चाद्विपाकदारुणाः ब्रह्मदत्तचक्रिवत् ५३ (रित्तमु०) रिक्तमुष्टिवत् पोल्लकमुष्टिकवत् बाललोभनीयाः अव्यक्तजनलोभनयोग्या वल्कलचीरीतापसवत् ५४ [मंस०] मांसपेशीग्रहणमिव सोपद्रवा यथा केनापि सामान्यपक्षिणा कुतश्चित् स्थानान्मांसपेशीप्राप्तौ तस्य अन्यदुष्टपक्षिकृतानेकशरीरपीडाकारिण उपद्रवा भवन्ति तथा रामाग्रहणेऽनेके इह भवे परभवे दारुणा उपद्रवा जायन्ते । यद्वा यथा मत्स्यानां मांसपेशीग्रहणं सोपद्रवं तथा नराणामपीति

५५ [जलि०] अमुञ्चन्ति अत्यजमानाः [जलियचुडलीविव त्ति] प्रदीप्ततृणपूलिकेव दहनशीलाः ज्वालनस्वभावाः ५६ [अरि०] अरिष्टमिव दुर्लङ्घनीयाः ५७ [कूड०] कूटकार्षापण इवासत्यनाणकविशेष इव कालविसंवादनशीला कालविख्यातस्वभावा अकालचारिण्य इत्यर्थः ५८ [चंड०] चण्डशील इव तीव्रकोपीव दुःखरक्षिता ५९ [अतिविसाओत्ति०] अतिविषादा दारुणविषादहेतुत्वात् यद्वा [अतीति] अतिक्रान्तो गतोऽकार्यकरणे विषादः खेदो यासां तास्तथा यद्वा अतीति विषं अतिविषम् आ समन्तात् ददति पुरुषाणां सूरिकान्तावत् यास्ता अतिविषादाः यद्वा अतीति भृशं दीति नानाविधः स्वादो विषयलाम्पट्यो यासां ता अतिविषादाः अथवा अतिविषयात् प्रबलपञ्चेन्द्रियलाम्पट्यात् षष्ठीं नरकभूमिं यावत् सुसढमातृवत् गच्छन्ति यास्ता अतिविषयगाः प्राकृतत्वात् यकारलोपे सन्धिः । यद्वा स्वेन्द्रियविषयाप्राप्तौ अतिविषादा इति । यद्वा अतिवृषं तीव्रं पुण्यं येषान्ते अतिवृषाः मुनयस्तेषामासमन्तात् वसत्यन्तो बहिश्च कायन्ति यमयन्ति यम इवाचरन्ति चारित्रप्राणकर्षणत्वेन यास्ताः अतिवृषाकाः यद्वा कायन्ति अभ्यन्ति समितिगृहज्वालनत्वेन यास्ताः अतिवृषाकाः यद्वा लोकानामतिवृषे तीव्रपुण्यधने आ भृशं चायन्ति चोरयन्ति यास्ताः अतिवृषाचाः ६० (दुगुंछि) जुगुप्सिकाः जुगुप्सां कर्तुं योग्याः मुनीनाम् ६१ (दुरु०) दुरुपचाराः दुष्टोपचारान्वितो वचनादिविस्तारो यासां तास्तथा ६२ अगम्भीरा गम्भीरगुणरहिताः ६३ (अवि०) अविश्वसनीया विश्रम्भं कर्तुमयोग्याः ६४ (अण०) अनवस्थिताः नैकस्मिन् पुरुषे तिष्ठन्तीत्यर्थः ६५ (दुक्ख०) दुःखरक्षिता कष्टेन रक्षणयोग्याः यौवनावस्थायाम् ६६ (दुक्खपा०) दुःखपालिता दुःखेन पालयितुं शक्या बालावस्थायाम् ६७ (अरइ०) अरतिकराः उद्वेगजनिकाः ६८ (कक्क०) कर्कशा इह परत्र कर्कशदुःखोत्पादकत्वात् ६९ दृढवैरा इह परत्र दारुणवैरकारणत्वात् ७० [रूव०] रूपसौभाग्यमदमत्ताः तत्र रूपं चार्वाकृतिः सौभाग्यं स्वकीर्तिश्रवणादिरूपं मदो मन्मथजगर्वः ७१ [भुय०] भुजगगतिवत् कुटिलहृदयाः ७२ [कंता०] कान्तारगतिस्थानभूताः कान्तारे दुष्टश्वापदाकुले महारण्ये गतिश्चैकाकित्वेन गमनं स्थानं चैकाकित्वेन वसनं तयोर्भूतास्तुल्याः दारुणमहाभयोत्पादकत्वात् ७३ (कुलस०) कुलस्वजनमित्रभेदनकारिकाः वंशज्ञातिसुहृद्विनाशजनिकाः ७४ [पर०] परदोषप्रकाशिकाः अन्यदोषप्रकटकारिकाः ७५ (कय०) कृतं वस्त्राभरणपानादिप्रदत्तं घ्नन्ति सर्वथा नाशयन्तीत्येवं शीलाः कृतघ्नाः ७६ [बलसो०] बलं पुरुषवीर्यं प्रतिसङ्गमसङ्गं वा शोधयन्ति गालयन्तीत्येवं शीला बलशोधिकाः । यद्वा बलेन स्वसामर्थ्यलक्षणेन च निशादौ जारपुरुषादीनां शोधिकास्तच्चुम्बिकारिका बलशोधिकाः । यद्वा वलयोरलयोरैक्याद्वरशोधिकाः स्वेच्छया पाणिग्रहणकरणत्वात् धम्मिलस्त्रीवृन्दवत् ७७ (एगं०) एकान्ते विजने हरणं नेतव्यं पुरुषाणां विषयार्थमेकान्तहरणम् यद्वा एकान्ते दूरग्रामनगरदेशादौ स्वकुटुम्बादिजनरहिते हरणं तत्र पुरुषाणां विषयार्थं लात्वा गमनमित्यर्थः तत्र कोलाः वनसूकरतुल्याः यथा सूकरः किमपि सारं कन्दादिकं भक्ष्यं प्राप्य विजने गत्वा भक्षयति तथेमाः ७८ [चंच०] चञ्चलाश्चपलाः ७९ [जोइसंभो०] ज्योतिर्भाण्डोपरागवत् अग्निभाजनसमीपरागवत् [मुहरा०] मुखरागविरागा यथाग्निभाजनसमीपे मुखं रागवद्भवति अन्ते विरागं तथेमाः। यद्वा (जोइसंभोविरागाओत्ति) पाठे तु ज्योतिर्भाण्डस्येवो-

परागाः यथा ज्योतिर्नारुमग्निभाजनमुपसमीपे रागवद्भवति तथेमाः वस्त्रादिभिरुप समीपे रागवत्यो भवन्तीत्यर्थः ८० [अवियाइंति] अपि चेति अभ्युच्चये आ इति वाक्यालंकारे [तओत्ति] ताः स्त्रियः [अंतर०] अन्तरङ्गसङ्गशतमभ्यन्तरविघटनशतम् अस्यापेक्षयायात पुरुषस्य परस्परं मैत्र्यादिविनाशहेतुत्वात् । यद्वा अन्तर्मध्ये [रंगत्ति] पुरुषाणां असमतचारित्रादिरागस्तस्य भङ्गशतं तस्य विघ्नहेतुत्वात् ८१(अरज्जु) अरज्जुकः पाशः रज्जुकं विना बन्धनमित्यर्थः ८२ [अदा] अदारु काष्ठादिरहिता अटवी कान्तारं यथा दारुका अटवी मृगतृष्णाहेतुर्नवति तथेमाः यथा काष्ठादिरहिता अटवी कदापि न ज्वलति यथेयमपि पापं कृत्वा न ज्वलति न पश्चात्तापं करोतीत्यर्थः नूपुरपण्डितासुवर्णकारश्रावकभार्यावत् । ८३ [अणाल०] न आलस्यमनुत्साहो ऽनालस्यं तस्य निलयः अकार्यादौ सादरं प्रवृत्तिहेतुत्वात् ८४ [अइक्खवेयरणीत्ति.] ईकदर्शनाङ्गनयोरिति वचनात् अनैकवैतरणी अदृश्यवैतरणी परमाधार्मिकविकुर्वितनरकनदी तत्सङ्गे तद्वासिहेतुत्वात् अतीवतरणी वा ८५ [अणा०] अनामिको नामरहितो व्याधिरसाध्यरोग इह परत्र तत्कारणत्वात् ८६ [अविओ०] न वियोगः पुत्रमित्रादिविरहः अवियोगः विप्रलापः तीव्रखेदः ८७ अरुक् रोगरहित उपसर्गः [अरु०] यद्वा आर्षत्वाद्धकारलोपे अरूपो रूपरहित उपसर्ग उत्पातः ८८ [रइ०] रतिः कामप्रिया विद्यतेऽस्येति रतिमान् कन्दर्पोऽयमिति ८९(चित्त विब्भम) चित्तभ्रमकारणम् यद्वा रतिमान् सुखदायी मनोभ्रमो मनोविकारः ९०[सव्वंग०] सर्वाङ्गगः सर्वशरीरव्यापीदाहः ९१ [अणब्भया वज्जासणीति] अनभ्रका अभ्ररहिता वज्राशनिर्विद्युत् । यद्वा इयं स्त्री [असणीत्ति] अशनिर्विद्युत् किंभूता अनभ्रका मेघरहिता वा पुनः किंभूता वज्रा वज्रतुल्या इत्यर्थः दारुणविपाका [अप्पसूया वज्जासणीत्ति] पाठे अप्रसूता अपत्यजन्मरहिता [वज्जेत्ति] वर्ज्या सुन्दराकारा एवंविधा रामा [असणि०] अशनिर्विद्युद्बालानां नरकादौ दारुणदहनहेतुत्वात् "अप्पसूयावज्जासुणीति" पाठे तु अप्रसूता नवयौवना परिणीता अपरिणीता वा सालङ्कारा अनलङ्कारा वा गुणज्ञा अगुणज्ञा वा एवंविधा रामा (सुणीति) हरूकिकाशुनीवत् मारुजीवत्[वज्जेति]वर्ज्या सर्वथा साधुभिर्मोक्षकाङ्क्षिः ब्रह्मचारिभिश्चतुर्थव्रतरक्षां काङ्क्षद्भिर्वर्जनीयेत्यर्थः । कायवाङ्मनोभिरिति ९२ [असाविस्सवाहोत्ति०] अजलप्रवाहः "असविस्सवाहोत्ति" पाठान्तरम् । अजलप्रवाहः जलं विनाऽपि रेल्लिरित्यर्थः ९३ [समुद्दरओत्ति] समुद्रवेगः केनापि धर्तुमशक्यत्वात् 'समच्छरओत्ति' पाठे तु सम्यगर्द्धं यस्मात्स समर्द्धः एवंविधः [रओत्ति] वेगः परमस्नेहवतां बान्धवानां परस्परं स्त्रीकलहे सति गृहार्द्धकरणहेतुत्वात् भद्रातिभद्राख्यौ श्रेष्ठिपुत्राविव ९४ ॥

अवि याइं तासिं इत्थियाणं अणेगाणी नाम निरुत्ताणि पुरिसे कामरागपडिबद्धे नाणाविहेहिं उवायसयसहस्सेहिं वहबंधणमाणयंति पुरिसाणं नो अन्नो एरिसो अरी- अत्थि ओत्ति नारिओ तंजहा नारी समाननराणं अरिओ नारिओ १ नाणा विहेहिं कम्मेहिं सिप्पयाइहिं पुरिसे मोहंतित्ति महिलाओ २ पुरिसे मत्ते करंतित्ति पमयाओ ३ महंतं कलिजणयंतित्ति महिलियाओ ४ पुरिसे हावभावमाईहिं रमंतित्ति रामाओ ५ पुरिसे अंगाणुराए करंतित्ति अंगणाओ ६ नाणाविहेसु जुद्धजंभणसंगामाडविसु मुहाणगिण्हणसीउण्हदुक्खकिलेसमाईसु पुरिसे लालयंतित्ति ललणाओ ७ पुरिसे जोगनिओएहिं वसे उवंतित्ते जोसियाओ ८ पुरिसे नाणाविहेहिं भावेहिं वयंतित्ति वणियाओ ९ काई पमत्तभावं काई पणयं सविब्भमं काई सससंसासिव्व ववहरंति काई सत्तुव रोरो इव काई पयएसु पणमंति काई उवणएसु उवणमंति काई कोउय नमंतिओ काओ सुकडक्खनिरिक्खिएहिं सविलासमहुरेहिं उवहसिएहिं उवग्गाहिएहिं उवसद्देहिं गुरुगदरिसणेहिं भूमिलिहणविलिहणेहिं च आरुहणनट्टणेहिं च बालयउवगूहणेहिं च अंगुलिफोडणथणपीलणकडितडजायणाहिं तज्जणाहिं च अवि याइं ताओ पासोव्व वसिउं जे पंकुव्व खुप्पिउं जे मच्चुव्व मरिउं जे अगणिव्व डहिउं जे असिव्व छिज्जिउं जे ॥

(अवियाइंति) पूर्ववत् [तासिं इति] तासामुक्तवक्ष्यमाणानां स्त्रीणामधमाधमानां दासीकुरण्डादीनामनेकानि विविधप्रकाराणि नामनिरुक्तानि नामपदभञ्जनानि भवन्ति पुरिसे इत्यादि यावत् [नारीओत्ति] व्याख्याति कथं ना-आ-अरि- इति ना इति नानाविधैरुपायशतसहस्रैः कामरागप्रतिबद्धं पुरुषं वधबन्धनं प्रति, आ-इति आणयन्ति प्रापयन्ति [अरीत्ति] पुरुषाणां च नान्यदृशः अरिः शत्रुरस्तीति नार्यः [तंजहत्ति] तत्पूर्वोक्तं यथेति दर्शयति नारीति [तण्डु०] [नार्यादिशब्दानां व्युत्पत्तयस्तत्तच्छब्दे द्रष्टव्याः][काइपमत्तभावंति] काश्चित् कामिन्यः प्रकर्षेण मत्तभावमुन्मत्तभाव व्यवहरन्ति स्वचेष्टां दर्शयन्तीत्यर्थः । क इव श्वासीव श्वासरोगीवत् । पुरुषाणां स्नेहभावोत्पादनार्थं [काईस०] काश्चित् शत्रुवत् प्रवर्तयन्ति मारणार्थं मर्मस्थानग्रहणेन । यद्वा स्वभर्त्रादीनां भयोत्पादनार्थं रिपुवत्प्रवर्तयन्ति [रोरो] काश्चित् कामतृष्णातृषिताः रोर इव रङ्क इव रङ्कपुरुषाणामपि पादयोः पादान् वा प्रणमन्ति लगन्तीत्यर्थः । [काईउव०] काश्चित् उपनयैर्नृत्यप्रकारैरुपनमन्ति स्वसकलाङ्गादिदर्शनार्थम् (काईकोउत्ति०) काश्चित् कौतुकं वक्रनयनादिभवं कृत्वा विधाय नमन्ति नराणां हास्याद्युत्पादनार्थम् । काओ इति पदमग्रेपियोज्यम् (सुकडक्खनिरिक्खिएहिंति) काश्चित् सुकटाक्षनिरीक्षितैः सुष्ठु नेत्रविकारनिरीक्षणैर्बालानापातयन्तीति विशेषः तैः काश्चित् पुरुषानामोहयन्ति इति (उवहसिएहिंति.) उपहसितैः काश्चित् हास्यचेष्टाकरणैः कामिनां हास्यमुत्पादयन्तीति (उवग्गाहिएहिंति) उपग्रहीतानि पुरुषस्याश्लिङ्गनैः कान्तनयनाश्लिङ्गग्रहणकरग्रहणादीनि तैः काश्चित् नराणां स्वप्रेमभावं दर्शयन्तीति (उवसद्दिएहिंति) उपशब्दानि सुरतावस्थायां बलबलायमानादीनि शब्दकरणानि प्रच्छन्नसमीपशब्दकरणानि वा तैः काश्चित् कामिनां कामरागं प्रकटयन्तीति (गुरुगदरिसणेहिंति) गुरुकाणि च प्रौढानि पयोधरनितम्बादीनि स्थूलत्वात्सुन्दराणि वा यानि दर्शनानि च आकृतयः तानि गुरुकदर्शनानि तैर्दूरस्था एव काश्चित् कामिनां स्ववशं कुर्वन्तीति । यद्वा [गु] इति गुह्यप्रकाशनेन पुरुषं पातयन्ति । यद्वा गु इति गुरुं स्वजनकभर्त्रादिकम-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पि विप्रतार्यकार्ये प्रवर्तयन्तीति (१) रु इति रोदनकरणेन पुरुषं सस्नेहं कुर्वन्ति (२) ग इति स्वपितृगृहगमनादिप्रस्तावे पुरुषमत्यन्तरागवन्तं कुर्वन्तीति (३) द इति दर्शनेन रक्तकृष्णादिदन्तदर्शनेन कामिनो मोहयन्तीति (४) रि इति संभाषणे रे मां मुञ्च रे मां मा कदर्थयेत्यादिकथनेन कुरामाः पुरुषं सकामं कुर्वन्तीति आर्षत्वात् रि इति । यद्वा अरि इति रतिकलहे अरे मया सह मा कुरु उपहासमित्यादि रतिकलहकरणेन पुरुषं क्रीडयन्तीति आर्षत्वात् अरि इति (५) स इति अन्योन्यशृङ्गारगीतादिकशब्दकरणेन साधूनपि सकामान्कुर्वन्तीति (६) ण इति सकज्जलकविकारसजलाभ्यां नेत्राभ्यां पुरुषं सकामं स्ववशंगतं स्वकार्यकर्तारमपराधभोक्तारं कुर्वन्तीति (७) गुरुगद्दरिशनैरिति । (भूमिलिहणविलिहणेहिंचेति) भूमिलिखनानि भूमौ पदादिनाऽक्षरलेखनानि विलिखनानि विशेषतो रेखास्वस्तिकादिकरणानि तैः स्वगुह्यं पुरुषान् ज्ञापयन्तीति भूमिलिखनविलिखनैरिति चकारोऽत्र समुच्चयार्थः (आरुहणनट्टणेहिंचेत्ति) आरोहणानि वंशाग्रादिचटनानि नर्तनानि भूमौ नृत्यकरणानि तैरारोहणनर्तनैः पुरुषादिकमाश्चर्यवन्तं कुर्वन्तीति (बालयउवगूहणेहिंचेति) बालका मूर्खाः कामिन इत्यर्थः तेषामुपगूहनानि प्रच्छन्नरक्षणादीनि तैर्बालकोपगूहनैः कुरण्डाः स्वकामेच्छां पूरयन्तीति । यद्वा बालकाः केशकलापास्तैरुपगूहनानि रचनाः स्वरुचवस्त्राच्छादितादीनि तैर्मन्मथप्रस्तावसमाचमान् स्ववशं कृत्वा बलीवर्दवत् वाहयन्तीति । च शब्दात्कपिवन्नाटयन्ति अश्ववारयन्ति श्रेणिकभार्या चेल्लणा श्रीराज्ञीवत् । स्वार्थप्राप्तौ प्राणत्यागमपि कुर्वन्तीति (अंगुलि०) अङ्गुलीस्फोटनानि क्रीडिकाकरणानि । यद्वा अङ्गुलीनां परस्परं ताडनानि । स्तनपीडनानि कराभ्यां पयोधरचापनानि हस्ताभ्यां कुचमर्दनानि वा कटितटयातनानि श्रोणिभागपीडनानि कराभ्यां वक्रगत्या वा तैः कामिनां चित्तान्यान्दोलयन्तीति (तज्जणाहिंचेति) तर्जनानि अङ्गुलिमस्तकतृणादिचालनानि तैर्मन्मथपीडामुत्पादयन्ति कामिनां च शब्दादुत्कटनेपथ्यकरणैराभरणशब्दोत्पादनैः सविलासगत्या चतुष्पथादौ प्रवर्तनैरित्याद्यनेकप्रकारैर्नरान् वृषभतुल्यान् कुर्वन्त्यतः संयमार्थिभिः साधुभिरासां सङ्गस्त्याज्य इति । तथा (अविथाइंति) पूर्ववत् "ताओपासोयवसिअंजे" इति प्राकृतत्वाल्लिङ्गव्यत्ययः । या करण्डादयः स्त्रियः सन्ति जगति [ताओत्ति] ताः पुरुषान् पाशवत् नागपाशवागुरादिबन्धनवत् बसित धातूनामनेकार्थत्वात् बन्धितुं वर्तन्ते इह परभवे नराणां बन्धनकारणत्वात् [पंकुव्वखुप्पिअंजोत्ति] ताओत्ति अग्रेपि अनुवर्तते याः कुट्टिन्यादयः सन्ति ताः नराणां पङ्कवत् । अगाधा इव बहुलसमुद्रादिकर्दमवत् क्षेप्तुं वर्तन्ते [मच्चुव्वमरिअंजत्ति] याः स्वैरिण्यादयः सन्ति ताः नराणां मृत्युवत् कृतान्तवत् मारयितुं मारणार्थमित्यर्थः प्रवर्तन्ते । [अगणिव्वडहिंअंजत्ति] या जगति गणिकादयः सन्ति ताः कामिनामग्निवद्दग्धुं ज्वालयितुं परिभ्रमन्ति [असिव्वच्छिदिज्जिअंजत्ति] या मृगाक्षयामाक्षतरुणी परिव्राजिकादयः सन्ति ताः कौटिल्यकरण्डाः साधूनपि असिवत्खड्गवच्छेत्तुं द्विधाकर्तुमुत्सहन्ते ।

अथ स्त्रीवर्णनं पद्येन वर्णयति यथा—

अमिभासिमारित्थीणं, कंतारकवाडचारयसमाणं ।
घोरनिउरंबकंदर, चलंतबीभत्थभावाणं ॥ १ ॥

नारीणां सर्वथा विश्वासो न विधेयः । किंभूतानाम् असिमसीसदृशीनां करवालकज्जलतुल्यानाम् । अयमाशयः यथा खड्गः पाणिस्थतरत्वाधारान्निर्दयतया छेदयति तथा अनार्या नार्योऽपि नरानिह परत्र दारुणदुःखोत्पादनेन छेदयन्ति । यथा च कज्जलं स्वभावेन कृष्णमस्य श्वेतपत्रादिसंगमे सति तस्य कृष्णत्वं जनयति, तयोन्मत्तनारी स्वभावेन कृष्णा दुष्टान्तःकरणत्वात्तत्संगमे उत्तमकुलोत्पन्नानामुत्तमानामपि कृष्णत्वमुत्पादयति यशोधनक्षयराजविडम्बनादिहेतुत्वात् । पुनः किंभूतानां कान्तारकपाटचारकसमानाम् अरण्यकपाटकारागृहतुल्यानाम् । अयमाशयः । यथा गहनं वनं व्याघ्राद्याकुलं जीवानां भयोत्पादकं भवति तथा नराणां नार्योऽपि भयं जनयन्ति धनजीवितादिविनाशहेतुत्वेनेति यथा प्रतोल्यां कपाटे दत्ते केनापि गन्तुं न शक्यते तथा नरे नारीकपाटद्वये दत्ते सति केनापि कुत्रापि धर्मवनादौ गन्तुं न शक्यते । यथा च जीवानां कारागृहं दुःखोत्पादकं भवति तथा नराणां नार्योऽपीति । पुनः किंभूतानां (घोरनि०) घोरा रौद्राः प्राणनाशहेतुत्वात् । निकुरम्बं घनं अगाधमित्यर्थः यत्कामिति जलं तस्य दरो भयं यस्माद्भावात्स लङ्कापुराधिपदेवरतिराजस्येव स निकुरम्बकन्दरः । कमिति अव्ययशब्द उदकवाचकः । चलन् पुरुषं २ प्रति भ्रमन् बीभत्सो भयङ्करः इह परत्र महाभयोत्पादकत्वादेवंविधो भाव आन्तरमायावक्रस्वभावो यासां ता घोरनिकुरम्बकन्दरचलद्बीभत्सभावास्तासां घोरभावानाम् ॥ १ ॥

दोससयगग्गरीणं, अजससयविसप्पमाणहिययाणं ।
कइयवपन्नत्तीणं, ताणं अन्नायसीलाणं ॥ २ ॥

दोषशतगर्गरिकाणां दोषाः परस्परकलहमत्सरगालिप्रदानमर्मोद्घाटनकलङ्कप्रदानजल्पनशापप्रदानस्वपरप्राणघातचिन्तनादयस्तेषां शतानि तेषाम् । गर्गरीका भाजनविशेषास्तासां दोषशतगर्गरिकाणाम् [अजस०] न यशःशतानि अयशःशतानि तेषु विसर्पि विस्तारं गच्छद्धृदयं मानसं यासां ताः अयशः शतविसर्पद्धृदयास्तासाम् । तथा [कइयवत्ति [कैतवानि कपटानि नेपथ्यभाषामार्गगृहपरावर्तादीनि [पन्नत्तीत्ति] प्रज्ञाप्यन्ते याभिस्ताः कैतवप्रज्ञप्तयः यद्वा कैतवानां दम्भानां प्रकृष्टाः ज्ञप्तयो ज्ञानानि कमलश्रेष्ठिसुतापद्मिनीवद्यासु ताः कैतवप्रज्ञप्तयः । यद्वा कैतवेषु प्रज्ञाया बुद्धेराधिराज्यं यासां तास्तासां कैतवप्रज्ञप्तीनाम् । तथा [ताणंति] तासां नारीणां अज्ञातशीलानां पण्डितैरप्यऽज्ञातस्वभावानाम् । यदुक्तं– " देवाणदाणवाणं, मंतं निमंतनिउणा जे । इत्थीचरियम्मि पुणो, ताण वि मंता कहं नट्ठा १ जालंधरेहिं भूमिहरेहिं विविहेहिं अंगरक्खेहिं । निवरक्खियावि होए, रमणी धम्ममग्गाय २ मच्छपयं जलमज्झे आगासे पंखियाण पयपंती । महिलाण हिययमग्गो, तिन्नि वि लोए न दीसंति ३" इति यया न ज्ञातं नाङ्गीकृतं शीलं ब्रह्मस्वरूपं याभिस्ता अज्ञातशीलास्तासाम् । यद्वा नञः कुत्सार्थत्वात्कुत्सितं ज्ञातं शीलं साध्वीनां याभिः परिव्राजिकायोगिन्यादिभिस्ता अज्ञातशीलास्तासां मुनिवरैः प्रसङ्गैकान्तजल्पनैकत्रवासविश्वाससहचलनादिव्यापारो वर्जनीय इति ॥ २ ॥

अन्नं रयंति अन्नं, रमंति अन्नस्स दिंति उल्लावं ।
अन्नो कडयंतरिओ, अन्नो पडयंतरे ठविओ ॥ ३ ॥

ह्रियादिगुणसंभवे अन्यं स्वभावसमीपस्थं नरं रञ्जयन्ति अर्धवीक्षणादिना कामरागवन्तं कुर्वन्तीत्यर्थः । पल्ल-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पतिरघुभ्रातरं प्रति अगरुदत्तस्यामिदं नमस्करोति वत । यद्वा स्वकुशीलत्वं केनापि ज्ञाते सति (अन्नं रिंगंतित्ति) अन्यद्धिप भक्षणकाद्यभक्षणादिकं रचयन्ति कपटेन निष्पादयन्ति । यद्वा जारस्य स्वान्तःकरणज्ञापनाय [अन्नंरयंतित्ति] अन्यद्द्राम-व्यतिरिक्तं तृणतन्तुदण्डादिकं रदन्ति उत्पाटनं कुर्वन्तीत्यर्थः । रद विलेखने इति विलेखनमुत्पाटनमिति । यद्वा अन्यं रयन्तीति अन्यं स्वकान्तव्यतिरिक्तं पुत्रभ्रातृकान्तमित्रादिकं प्रति रामा अधमकामाः रय गतौ रवु गतौ वा रयन्ते रवंति वा गच्छन्ति । तथा [अन्नं रमंतित्ति] अन्यं स्वकान्तव्यतिरिक्तं नरं रमन्ते मैथुनतत्पराः क्रीडयन्तीत्यर्थः पाताङ्गसुन्दरीवत् । कृतादि प्रकारेण क्रीडयन्ति वा [अन्नस्सदिंति उल्लावंति] अन्यस्यो कव्यतिरिक्तस्य ददति प्रयच्छन्ति उल्लापं वचनं बोलरूपम् । यद्वा अनेक नरपरिवृता अपि अन्यस्य नरस्य मार्गादिगच्छतः स्थितस्य वा तत्प्राबल्येन लापं मन्मथोद्दीपनशब्दं ददतीति । उल्लापयन्ति पाठे तु कामिनरविड्यादिसंस्तवे सति उन्मत्ता कुरामाः अन्यस्मै ददति उल्लातं प्रबलपादप्रहारमित्यर्थः । तथा अन्यः कश्चिद्द्वीवर्दरूपः कटान्तरितः कटान्तर्वर्ती प्रच्छन्नक्षितो भवतीति । तथा अन्यस्तत्कटाक्षबाणसमूहेन ग्ला नीकृतः । पटकान्तरे वस्त्रविशेषान्तरे स्थापितो भवेत् ग्लानवत् इति । ३ ।

गंगाए वालुयाए, सागरजलं हिमवओय परिमाणं ।
उग्गस्स तवस्स गइ, गब्भुप्पत्तिं च विलयाए ॥ ४ ॥
सिंहे कुंभयुयारस्स, पुट्टलकुकुहाइयं अस्से ।
जाणंति बुद्धिमंता, महिलाहियियं न याणंति ॥ ५ ॥

गङ्गायां वालुकां वालुकणान्सागरे समुद्रे जलं जलपरिमाण-मित्यर्थः । हिमवतो महाहिमवन्नगस्य परिमाणमुर्ध्वाधस्तिर्य कूपरिधिप्रतरघनमानम् । उग्रस्य तीव्रस्य तपसो गतिं फल प्राप्तिरूपां गर्भोत्पत्तिं च (वियाएत्ति) वनिताया नार्याः सिंहे कुंभयुयारमिति रूढि गम्यं (पुट्टलंति) जठरोद्भवं (कुकुहा-इयंति) गतिकाले शब्दविशेषमश्वघोटके जानन्ति अवगच्छ-न्ति बुद्धिमन्तः प्रज्ञावन्तः महिलायाः कूटकपटद्रोहपरवञ्चन परायाः प्रबलमन्मथाग्निप्रगल्भायमानायाः अतर्कितातुच्छो च्छलितकलकलेद्गच्छद्गीयमानमधुरगेयध्वनिमुग्धीकृतमुनि वरायाः ललाटे पट्टतटघटितघनश्रीखण्डतिलककन्दचकोरी-कृतचतुरायाः पीनपयोधरपीठलुठत्मिमिलामलकस्थूलमुक्ता-फलहारश्वेतद्युतिविषभुजंगमगतविवेकचैतन्यकृतानेकपातक-नायाः हृदयं गूढान्तः करणं न जानन्ति न सम्यगवगच्छन्ती-ति । उक्तं च " स्त्रीजातो दाम्भिकता, भीरुकता जूयसी वणि-ग्जातौ । रोषः क्षत्रियजातौ, द्विजातिजातौ पुनर्लोभः ॥१॥ न स्नेहेन न विद्यया न च धिया रूपेण शौर्येण वा, नेष्र्याविषाद भयार्थदानविनयक्रोधक्षमामार्दवैः । लज्जायौवनभोगसत्यकरु-णासत्यादिभिर्वा गुणैः गृह्यन्ते न विभूतिभिश्चललना दुःशील चित्ता यतः " ॥ २ इति ।

एरिसगुणजुत्ताणं, ताणं कइयव्व संठियमणाणं ।
न हु भे वीससियव्वं, महिलाणं जीवलोगम्मि ॥

ईदृशगुणयुक्तानामुक्तवक्ष्यमाणलक्षणान्वितानां तासां नारी-णां कपिवच्चानरवत्संस्थितमनसां नैव भवद्भिः विश्वसितव्य महिलानां जीवलोके इति ॥ ६ ॥

निद्धब्भयं च खलयं, पुप्फेहिं विवज्जियं च आरामं ।
निद्दुद्धियं च धेणुं, लोए वि अतिल्लियं पिंडं ॥ ७ ॥

यादृशमिति गम्यते निर्धान्यकं धान्यकणविवर्जितं चारामं ता दृशं तरुणीमारामं शुभभावनाकुसुमरहितत्वात् । यादृशा नि र्दुग्धिका दुग्धरहिता धेनुर्गौस्तादृशा शुभप्रवर्तिनीधर्मध्यानदुग्धा-भावात्तथा लोके अपि शब्दः पूरणार्थे यादृशं (अतिल्लियंति) सर्वथा तैलांशरहितं पिण्डं खलखण्डं तादृशं महिलाव्याघ्री मण्डलं परमार्थेन स्नेहतैलविवर्जितत्वात् । ७ ।

जेणंतरेणलोय--णाणि निमिसंति तेण य वियसंति ।
तेणंतरे वि हियय, चित्तसहस्साउलं होइ ॥ ८ ॥

स्त्रीणां येन परमवल्लभेन सर्वार्थसंप्राप्तिकारकेणान्तरेण विना लोचनानि प्रफुल्लनेत्राणि तत्क्षणे निमिषन्ति संकुचितमात्रं गच्छन्तीत्यर्थः च पुनस्तेनैव परमवल्लभेन स्वार्थप्राप्त्यकारके णान्तरेण विना विकसन्ति प्रफुल्लनेत्राणि भवन्तीत्यर्थः । तेणं तरे इति प्राकृतत्वात्सप्तम्यर्थे सप्तमी अपि शब्द एवार्थे तथा कुलस्त्रीणां हृदयं कदाचित्स्ववल्लभे प्रवर्तते स्ववल्लभे सत्यपि कदाचित्तासां चित्तं स्वमानसं सहस्राकुलं स्वकान्तव्यति-रिक्तपुरुषान्तरसहस्रेषु आकुलं मन्मथभावेन परिभ्रममाणं भवतीत्यर्थः । शाकिनीवत् । अतो मुनिवरैरत्नत्रयरक्षणपरे र्मुक्तगृहारम्भभरैरासां कुरण्डकुण्डमीदासीयोगिन्यादीनां यथा कथंचित्परिचयो न कार्य इति । अस्या अन्यदपि व्याख्यान्तरं सद्गुरुप्रसादात्कार्यमिति ॥ ८ ॥ तन्दु० ॥

(१२) स्त्रीणामशुचित्वं यथा—

"मंसे इमं मुत्तपुरीसमीसं, सिंहाणखेलाण य निज्झरंतं । एवं अणिच्चं किमिआण वासं, पासं नराणं मइवाहिराणं " इत्यादि—धर्म० ।

सर्वस्वापकर्षकत्वं यथा—

नो रक्खसीसु गिज्झे—ज्जा गंडवत्थासुणेगचित्तासु ।
जाओ पुरिसं पलोभित्ता, खेलंति जहाव दासेहिं ॥१०॥

नो नै वराक्षस्य इव राक्षस्यः स्त्रियस्तासु यथा हि राक्षस्यो रक्तसर्वस्वमपकर्षन्ति जीवितं च प्राणिनामपहरन्त्येवमेता अपि तत्त्वतो हि ज्ञानादीन्येवं जीवितं स्वार्थं च तानि चताभिरपह्रिय न्त एव तथा च हारिद्रः " भ्रातोद्धतो दहति हुतभुग्देहमेकं नराणां, मत्तो नागः कुपितभुजगश्चैकदेहं तथैव । ज्ञानं शीलं विनय विभवौदार्यविज्ञानदेहान्सर्वानर्थान् दहति वनिता मुष्मि कानैहिकांश्च " (गिज्झिज्जत्ति) गृध्येदभिकाङ्क्षावान् भवेत् कीदृशीषु (गंडवत्थासुत्ति) गण्ड गण्ड इह चोपचितपिशि-तपिण्डरूपतया गलत्पूतिरुधिराद्रैतासं नवात्थ च तदुपमत्वा-द्गण्डके कुचावुक्तौ । ते व क्षसि यासां तास्तथाभूतास्तासु वैरा ग्योत्पादनार्थं चैवमुक्तम् । तथा अनेकान्यनैकसङ्ख्यानि चञ्च-लतया चित्तानि मनांसि यासां तास्तासु अनेकचित्तासु आह च " अन्यस्याङ्के ललति विशदं चान्यमालिङ्ग्य शेते, अन्यं वाचा वपति हसयत्यन्यमन्यं च रौति । अन्यं दृष्ट्या स्पृशति-कशति प्रोज्झति चान्यमिष्टं,नार्यो नृत्यत्स्तभित इव धिक् चञ्चला-वालिकाश्च " तथा (जाउत्ति) याः पुरुषं मनुष्यं कुलीनम-पीति गम्यते प्रलोभ्य स्वमेव शरणमेव च प्रीतिकृदित्यादिका-भिर्वाग्भिर्विप्रतार्य क्रीडन्ति (जहावत्ति) वा शब्दस्यैवका-रार्थत्वाद्यथैव दासैः पहागच्छ मा वद त्वं माथासीरित्यादि-विवक्षितप्रभृतिभिः क्रीडाभिर्विलसन्तीति सूत्रार्थः ॥ १० ॥

पुनस्तासामेवातिहेयतां दर्शयन्नाह ।

नारीसु नोपगिज्झिज्जा, इत्थिविप्पयहे अणगारे ।

धम्मं च पेसलं नच्चा, तत्थ ठविज्ज भिक्खुमप्पाणं ॥ १७ ॥

नारीषु नो नैव प्रगृध्येत्प्रशब्द आदिकर्मणि ततो गृद्धिमारम्भेतापि न । किं पुनः कुर्यादिति भावः (इत्थीविप्पजहिय त्ति) स्त्रियो विविधैः प्रकारैः प्रकर्षेण च जहाति त्यजति इति स्त्रीविप्रजहः जणादयो बहुलमिति बहुलवचनाच्च । यद्वा (इत्थिय त्ति) स्त्रियो (विप्पजहे त्ति) विप्रजह्यात्पूर्वत्र नारीग्रहणान्मनुष्यस्त्रिय एवोक्ताः इह च देवतिर्यक्संबन्धिन्योपि त्याज्यतयोच्यन्ते इति न पौनरुक्त्यमुपदेशत्वाद्वा । अणगारः प्राग्वत् । उत्त० ८ अ०॥

(स्त्रीणां दुर्ग्राह्यहृदयत्वम् 'इत्थिरज्ज' शब्दे)

[१३] स्त्रीणां बन्धकारणत्वं-यथा——

वाउव्वं जालमच्चेति पिया लोगंसि इत्थिओ ॥ ८ ॥
इत्थिओ जे ण सेवंति आइमोक्खा हु ते जणा ॥
ते जणा बंधणुम्मुक्का, नावकंखंति जीवियं ॥ ९ ॥

वायुर्यथा सततगतिरस्खलितयाऽग्निज्वालां दहनात्मिकामप्येति अतिक्रामति पराभवति न तया पराभूयते एवं लोके मनुष्यलोके हावभावप्रधानत्वात्प्रिया दयितास्तत्प्रियत्वाच्च दुरतिक्रमणीया अत्येत्यातिक्रामति न ताभिर्जीयते तत्स्वरूपावगमात्तज्जयविपाकदर्शनाच्चेति । तथा चोक्तम् ॥ स्मितेन भावेन मदेन लज्जया, पराङ्मुखैरर्धकटाक्षवीक्षितैः । वचोभिरीर्ष्याकलहेन लीलया, समस्तभावैः खलु बन्धनं स्त्रियः ॥ १ ॥ स्त्रीणां कृते भ्रातृयुगस्य भेदः, संबन्धिभेदे स्त्रिय एव मूलम् । अप्राप्तकामा बहवो नरेन्द्रा, नारीभिरुत्सादितराजवंशाः ॥ २ ॥ इत्येवं तत्स्वरूपं परिज्ञाय तज्जयं विधत्ते नैताभिर्जीयत इति स्थितम् । अथ किं पुनः कारणं स्त्रीप्रसङ्गाश्रवद्वारेण शेषाश्रवद्वारोपलक्षणं क्रियते न प्राणातिपातादिनेति । अत्रोच्यते केषांचिद्दर्शनिनामङ्गनोपभोग आश्रवद्वारमेव न भवति । तथा चोचुः । "न मांसभक्षणे दोषो, न मद्ये न च मैथुने । प्रवृत्तिरेषा भूतानां, निवृत्तिस्तु महाफला" ॥ इत्यादि तन्मतव्युदासार्थमेवमुपन्यस्तमिति । यदि वा । मध्यमतीर्थकृतां चतुर्याम एव धर्म इह तु पञ्चयामो धर्म इत्यस्यार्थस्याविर्भावनायानेनोपलक्षणमकारि । अथवा । पराणि व्रतानि सापवादानीदं तु निरपवादमित्यस्यार्थस्याविर्भावनाय प्रकटनायैवमकारि । अथवा । सर्वाण्यपि व्रतानि तुल्यानि एकखण्डेन सर्वविराधनमिति कृत्वा येन केनचिन्निर्देशो न दोषायेति । [इत्थिओ इत्यादि] ये महासत्त्वाः कटुविपाकोऽयं स्त्रीप्रसङ्ग इत्येवमवधारणतया स्त्रियः सुगतिमार्गार्गलाः संसारवीथीभूताः सर्वाविनयराजधान्यः कपटजालशताकुला महामोहनशक्तयो न सेवन्ते न तत्प्रसङ्गमभिलषन्ति ते एवंभूता जना इतरजनातीताः साधवः आदौ प्रथमं मोक्षोऽशेषद्वन्द्वो परमरूपो येषान्ते आदिमोक्षाः । हुरवधारणे । आदिमोक्षा एव तेऽवगन्तव्याः । इदमुक्तं भवति सर्वाविनयास्पदभूतः स्त्रीप्रसङ्गो यैः परित्यक्तस्त एवादिमोक्षाः प्रधानभूतमोक्षाख्यपुरुषार्थोद्यताः । आदिशब्दस्य प्रधानवाचित्वाच्च केवलमुद्यतास्ते जनाः स्त्रीपाशबन्धनोन्मुक्ततयाऽशेषकर्मबन्धनोन्मुक्ताः सन्तो नावकाङ्क्षन्ति नाभिलषन्ति असंयमजीवितमपरमपि परिग्रहादिकं नाभिलषन्ति । यदि वा परित्यक्तविषयेच्छाः सदनुष्ठानपरायणा मोक्षैकताना जीवितं दीर्घकालजीवितं नाभिकाङ्क्षन्ति इति ॥ ९ ॥ सूत्र० २ श्रु० १५ अ०।

नारीस्नेहे दुःखं यथा "नारीनेहाणुगया, गणइ न सीलं कुलं धणं धम्मं । दाणं पाणेन गुणे, गुरुवयणं कुगइगमणं पि" दर्श० ।

(१४) स्त्रीसंसर्गश्चावश्यकपरित्याज्यस्तथा च ।

वशीकुर्वन्ति ये लोके, मृगान् दर्शनतन्तुना । संसर्गवागुराभिस्ते, स्त्रीव्याधाः किन्न कुर्वते" पंचा० १० विव० ।

स्त्रीसंसर्गपरित्यागे कारणमाह ।

जहा कुक्कुडपोयस्स, निच्चं कुललओ भयं ।
एवं खु बंभयारिस्स, इत्थीविग्गहओ भयं । ५४ ।

यथा कुक्कुटपोतस्य कुक्कुटचेल्लकस्य नित्यं सर्वकालं कुललतो मार्जाराद्भयमेवमेव ब्रह्मचारिणः साधोः स्त्रीविग्रहात् स्त्रीशरीरात् विग्रहग्रहणं मृतविग्रहादपि भयख्यापनार्थमिति सूत्रार्थः । यतश्चैव मतः-

चित्तभित्तिं न निज्झाए, नारिं वा सुअलंकियं ।
भक्खरं पिव दट्ठूणं, दिट्ठिं पडिसमाहरे ॥ ५५ ॥

चित्रभित्तिं चित्रगतां स्त्रियं न निरीक्षेत न पश्येत् नारीं वा सचेतनामेवं स्वलंकृतामुपलक्षणमेतदनलंकृतां वा न निरीक्षेत कथंचिद्दर्शनयोगेऽपि भास्करमिवादित्यमिव दृष्ट्वा दृष्टिं प्रतिसमाहरेत् द्रागेव विनिवर्तयेदिति सूत्रार्थः । किंबहुनाह-

हत्थपायपडिच्छिन्नं, कन्ननासविगप्पियं ।
अवि वाससयं नारिं, बंभयारी विवज्जए ॥ ५६ ॥

हस्तपादप्रतिच्छिन्नामिति प्रतिच्छिन्नहस्तपादां कर्णनासाविकृतामिति विकृतकर्णनासामपि वर्षशतिकां नारीमेवंविधामपि किमङ्ग पुनस्तरुणीं तां तु सुतरामेव ब्रह्मचारी चारित्रधनो महाधन इव तस्करान् विवर्जयेदिति । अपि च ।

विभूसा इत्थिसंसग्गो, पणीयं रसभोयणं ।
नरस्सत्तगवेसिस्स, विसं तालउडं जहा ॥ ५७ ॥

विभूषा वस्त्रादिराढा स्त्रीसंसर्गः येन केनचित्प्रकारेण संबन्धः प्रणीतं रसभोजनं गलत्स्नेहरसाभ्यवहारः एतत्सर्वमेव विभूषादि नरस्यात्मगवेषिणः आत्महितान्वेषणपरस्य विषं तालपुटं यथा तालमात्रव्यापत्तिकरविषकल्पमाहितमिति सूत्रार्थः ।

अंगपच्चंगसंठाणं, चारुल्लवियपेहियं ।
इत्थीणं तं न निज्झाए, कामरागविवड्ढणं ॥ ५८ ॥

अङ्गप्रत्यङ्गसंस्थानमित्यङ्गानि शिरःप्रभृतीनि प्रत्यङ्गानि नयनादीनि एतेषां संस्थानं विन्यासविशेषस्तथा चारु शोभनं लपितं जल्पितं प्रेक्षितं निरीक्षितं स्त्रीणां संबन्धि तदङ्गप्रत्यङ्गसंस्थानादि न निरीक्षेत न पश्येत् । किमित्यत आह । कामरागविवर्द्धनमिति एतद्धि निरीक्ष्यमाणं मोहदोषान्मैथुनाभिलाषं वर्द्धयति अत एवास्य प्राक् स्त्रीणां निरीक्षणप्रतिषेधाकृतार्थतायामपि प्राधान्यख्यापनार्थो भेदेनोपन्यास इति सूत्रार्थः । दश० ८ अ०॥ तथा चान्यत्रापि-

"आवर्तः संशयानामविनयभवनं पत्तनं साहसानां, दोषाणां संनिधानं कपटशतगृहं क्षेत्रमप्रत्ययानाम् । स्वर्गद्वारस्य विघ्नं नरकपुरमुखं सर्वमायाकरण्डं, स्त्रीयन्त्रं केन सृष्टं विषममविषमयं सर्वलोकस्य पाशः ॥ १ ॥ नो सत्येन मृगाङ्क एष वदनीभूतो न चेन्दीवर-द्वन्द्वं लोचनतां गतं न कनकैरप्यङ्गयष्टिः कृता । किन्त्वेवं कविभिः प्रतारितमनास्तत्त्वं विजानन्नपि, त्वङ्मांसास्थिमयं वपुर्मृगदृशां मत्वा जनः सेवते ॥ २ ॥ यदेतत्पूर्णेन्दुद्युतिहरमुदाराकृतिधरं, मुखाब्जं तन्वङ्ग्याः किल वसति यत्राऽधरमधुः । इदं तत्किं पाकद्रुमफलमिवातीव वि-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रसं, व्यतीतेऽस्मिन् काले विषमिव भविष्यत्यसुखदम् ॥ ३ ॥
दीर्घेणाक्षिचलेन वक्रगतिना तेजस्विना भोगिना,
नीलाब्जद्युतिनाऽहिना वरमहं दष्टो न तच्चक्षुषा ॥
दष्टे सन्ति चिकित्सका दिशि दिशि प्रायेण पुण्यार्थिनो,
मुग्धाक्षीक्षणवीक्षितस्य न हि मे वैद्यो न वाप्यौषधम् ॥ ४ ॥
संसार ! तव निस्तर-पदवी न दवीयसी ।
अन्तरा दुस्तरा न स्युर्यदि रे मदिरेक्षणाः ॥ ५ ॥
नूनं हि ते कविवरा विपरीतबोधा,
ये नित्यमाहुरबला इति कामिनीनाम् ।
याभिर्विलोलतरतारकदृष्टिपातैः,
शक्रादयोऽपि विजितास्त्वबलाः कथं ताः ॥ ६ ॥
जल्पन्ति सार्द्धमन्येन, पश्यन्त्यन्यं सविभ्रमाः ।
हृदये चिन्तयन्त्यन्यं, प्रियः को नाम योषिताम् ॥ ७ ॥

सव्वत्थे इत्थिवग्गम्मि, अप्पमत्तो सया अविस्सत्थो ।
नित्थरइ बंभचेरं, तव्विवरीओ न नित्थरइ ॥ ६७ ॥

सर्वत्र सर्वस्मिन् प्रव्रजिता प्रव्राजितरूपे स्त्रीवर्गे अप्रमत्तः निद्राविकथादिप्रमादरहितः सदा सर्वकालमविश्वस्तो विश्वासरहितः श्वसन् निस्तरति पालयतीत्यर्थः ... मैथुनत्यागरूपं तद्विपरीतः उक्तविशेषणरहितो न निस्तारेण निर्वहति ब्रह्मचर्यमिति गाथार्थः । ग० २ अधि० । [साध्वीसंसर्गो दोषायेति ' अज्जिया ' शब्दे ॥ स्त्रीसंसर्गादि परित्यागो बंभचेरगुत्ति शब्दे]

[१५] स्त्रीषु सक्तस्य परिग्रहोऽवश्यं भवतीति यथा—

इत्थीसु सत्ते य पुढो य बाले, परिग्गहं चेव पकुव्वमाणे ॥

स्त्रीषु रमणीष्वासक्तो ऽध्युपपन्नः पृथक् २ तद्भाषितहसितविब्बोकशरीरावयवेष्विति बालबद्बालोऽज्ञः सदसद्विवेकविकलस्तदवसक्ततया च नान्यथा द्रव्यमन्तरेण तत्संप्राप्तिर्भवतीत्यतो येन केनचिदुपायेन तदुपायभूतं परिग्रहमेव प्रकर्षेण कुर्वाणः पापं कर्म समुच्चिनोतीति । सूत्र० १ श्रु० १० अ० । [स्त्रीषु कामेषु चासक्तानामवश्यं नरकयातना भवतीति ' इत्थिकाम ' शब्दे] स्त्रीषु च सर्वेन्द्रियगुप्तेन भाव्यम् तथा च ॥

सव्विंदियाभिनिव्वुडे पयासु, चरे मुणी सव्वतो विप्पमुक्के।

सर्वाणि च तानीन्द्रियाणि च स्पर्शनादीनि तैरभिनिर्वृतः संवृतेन्द्रियो जितेन्द्रिय इत्यर्थः । क्व प्रजासु स्त्रीषु तासु हि पञ्च प्रकारा अपि शब्दादयो विषया विद्यन्ते तथा चोक्तम् । "कलानि वाक्यानि विलासिनीनां, गतानि रम्याण्यवलोकितानि । रतानि चित्राणि च सुन्दरीणां, रसोऽपि गन्धोऽपि च चुम्बनादेः ॥ १ ॥ तदेवं स्त्रीषु पञ्चेन्द्रियविषयसम्भवात्तद्विषये संवृतसर्वेन्द्रियेण भाव्यमेतदेव दर्शयति चरेत्संयमानुष्ठानमनुतिष्ठेन्मुनिः साधुः सर्वतः सबाह्याभ्यन्तरात्सङ्गाद्विशेषेण प्रमुक्तो निःसङ्गो निष्किञ्चनश्चेत्यर्थः । सूत्र० १ श्रु० १ अ० । स्त्रीणां दर्शननिषेधो यथा— " स्त्रीरम्याङ्गेक्षणतरलितविलोचनो हि दीपशिखायां शलभ इव विनाशमुपयाति । ध० ३ अधि० । [अत्र प्रायश्चित्तं रायपिंड शब्दे]

[१६] स्त्रीकरस्पर्शादिनिषेधो यथा—

जत्थित्थीकरफरिसं, अंतरियं कारणे वि उप्पन्ने ।
दिट्ठीविसदित्तग्गी, विसं व मुणिवज्जए गच्छे । ८३ ।

यत्र गणे स्त्रीकरस्पर्शः अथवा स्त्रियाः करेण स्पर्शः स्त्रीकरस्पर्शस्तमुपलक्षणत्वात् स्त्रीपादादिस्पर्शं च कथंभूतम् [अंतरियंति] अपि शब्दस्येहापि सम्बन्धादन्तरितमपि वस्त्रादिना जातान्तरमपि किं पुनरनन्तरितं कारणेऽपि कण्टकरोगोन्मत्तत्वादि उत्पन्ने सञ्जाते सति किं पुनः अकारणे दृष्टिविषश्च सर्पविशेषः दीप्ताग्निश्च ज्वलितवह्निर्विषं च हालाहलादीनि समाहारद्वन्द्वः तदिव वर्जयेत् उत्सर्गमार्गेण दूरतः त्यजेन्मुनिः समुदायः [गच्छत्ति] स गच्छः स्यादिति शेषगाथा छन्दः ।

बालाए वुड्ढाए, नत्तु अ दुहिआइ अहव भइणीए ।
न य कीरइ तणुफरिसं, गोयम ! गच्छं तयं भणियं ॥ ८४ ॥

इहाङ्गस्पर्शस्य सर्वत्र सम्बन्धात् बालाया अपि अप्राप्तयौवनाया अपि किं पुनः प्राप्तयौवनायाः वृद्धाया अपि अतिक्रान्तयौवनाया अपि किंपुनरनतिक्रान्तयौवनायाः एवंविधायाः कस्या इत्याह । नप्तृका पौत्री तस्या अपि दुहिता पुत्री तस्या अपि अथवा भगिनी स्वसा तस्या अपि नालबद्धोपलक्षणत्वादस्य दौहित्रीभ्रातृजामातुलीपितृष्वसृमातृष्वसृजननीमातामहीग्रहः । कोऽर्थः नप्तृकादिकानामेकादशानां नालबद्धानामपि स्त्रीणां किं पुनरनालबद्धानां तनुस्पर्शः उपलक्षणत्वात्सविलासशब्दश्रवणादि च यत्र गच्छे न च नैव क्रियते हे गौतम ! स गच्छो भणित इति इह हि सम्बन्धिन्या अपि स्त्रिया अङ्गस्पर्शादिवर्जनं स्त्रीस्पर्शस्योत्कटमोहोदयहेतुत्वात् ॥

जत्थ इत्थीकरफरिसं, लिंगी अरिहा वि सयमवि करिज्जा ।
तं निच्छयओ गोयम ! जाणिज्जा मूलगुणभट्ठं ॥ ८५ ॥

यत्र गणे स्त्रीकरस्पर्शम् लिङ्गं विद्यते अस्याऽसौ लिङ्गी साधुवेषवान् अर्होऽपि पदव्यादिप्राप्त्यादियोग्योऽपि स्वयमपि अपेरेवकारार्थत्वात् स्वयमेव कुर्यात्तं गच्छं निश्चयतो हे गौतम ! जानीयान्मूलगुणभ्रष्टं चारित्ररहितमिति ॥ ८५ ॥ स्त्रीकरस्पर्शादिकमुत्सर्गपदेन निषिध्याथापवादपदेनापि निषिध्यति ॥

कीरइ बीयपएणं, सुत्तमभणियं न जत्थ विहिणाओ ॥
उप्पन्ने पुण कज्जे, दिक्खा आयंकमाईए ॥ ८६ ॥

अपेर्गम्यमानत्वादुत्सर्गपदापेक्षया द्वितीयपदेनापि अपवादपदेनापीत्यर्थः [सुत्तम भणियंति] मकारस्यालाक्षणिकत्वात्सूत्राभणितं सूत्राननुज्ञातं सर्वथागमनिषिद्धं स्त्रीकरस्पर्शादिकमित्यर्थः । ग० २ अधि० । [कण्टकोद्धरणवक्तव्यता विस्तरेण कण्टकुद्धरण शब्दे]

। १७ । स्त्रियाः सार्द्धं विहारस्वाध्यायाहारोच्चारप्रस्रवणपरिष्ठापनिकाधर्मकथादिनिषेधो यथा—

जे भिक्खू आगंतागारेसु वा आरामागारेसु वा गहावइसु-
गहा वइकुलेसु वा परियागसहेसु वा एगो एगइत्थीए सद्धिं
विहारं वा करेइ सज्झायं वा करेइ असणं वा ४ आहा-
रेइ उच्चारं वा पासवणं वा परिट्ठवेइ अण्णयरं वा अण-
रियं मेहुणं अस्सणं पाओगकहं कहेइ कहंतं वा साइ-
ज्जइ ॥ १ ॥ नि० चू० ७ उ० ।

कहिता खलु आगारो, ते उ कहिं कतिविधा उ विसेगा ।
आगंतागारादिसु, सविगारविहारमादीया ।

सत्तमस्स अंतसुत्ते त्थीपुरिसागारा कहिता ते कहिं हवेज्ज आगंतागारादिसु ते आरामादिसु ते आगंतरादि इह समाणं कतिविहा ते आगारा विसेया । इह अपुव्वरुवियाणि

एगा साहू ए… इत्थियाए सद्धिं समाणं गामाओ गामंतरं अहवा… गतं चंकमणं सज्झायं करेति असणादियं वा आहारेति उच्चारं पासवणं परिट्ठवेति एगो एगित्थीए सद्धिं वियारभूमिं गच्छा… अणारिया कामकहा णिरतरं वा अप्पियं कहं कहेति कामनिठुरकहाओ एता चेव असमणपाउग्गं अथवा देसभत्तकहादिसंजमोवकारिका ण भवति सा सव्वा असमाणपाउग्गा ।

आगंतारे आरा-मा गारमिह कुलावसहे य ।
पुरिसित्थिएगणेगं, चउक्कभयणा दुपक्खे वि ॥ २ ॥

एगो एगित्थिए सद्धिं… अणेगित्थिए सद्धिं, अणेगा एगित्थीए, अणेगा अणे… ॥

जा कामकहा साहा, तणारिया लोकिकी च उत्तरिया ।
णिठुरभल्ली कहणं, भागवतपदोसखामणया ॥ ३ ॥

तत्थ लोइया णरवाहणरयकथा लोगुत्तरिया तरंगवती मलयवती मगधसेणादि णिठुरं णामवल्ली घरकहणं एगो साधू भरूदखिणायहं सच्छेहेणयामो य भागवएण पुच्छितो किमेयं भल्ली घरंति तेण साहुणा वारवतिदाहतो आरब्भ जहा वासुदेवे य पयाओ जहा य कूरवागा भंजणं कोसंवीरणपवेसो जहा जरकुमारागमो जहा य जरकुमारेण भल्लिणा हओ मओ य एवं भल्लिघरुप्पत्ति सव्वा कहिया ताहे सो भागवतो पदुट्ठो चिंतेति । जइ एयं न भविस्सति तो एस समणो घातयव्वो सो गहिओ दिट्ठो यणेण पादे भल्लिए विद्धो ताहे आगंतूण तं साहुं खामेति भणति य मए एवं चिंतियमासी तं खमेज्जासि एवमादी णिठुरा एवमादिपुरिसाणं वित्ताणं जुज्जेति कहिओ किमु वा एगित्थियाणं ॥

अवि मायरं पि सद्धिं, कथा तु एगागियस्स पडिसिद्धा ।
किं पुण अणारियादी, तरुणित्थीहिं सहगतस्स ॥ ४ ॥

माइभगिणीमादीहिं अगम्मित्थीहिं सद्धिं एगागियस्स धम्मकहावि ण वट्टति किं पुण अण्णाहिं तरुणित्थिहि सद्धिं ॥

अण्णावि अप्पसत्थासु, कथा किमु अणारिय असज्झा ॥
चंकमणसज्झायभोयण-उच्चारेसुं तु सविसेसा ॥ ५ ॥

अणाइ वि धम्मकहा अवि सहाओ सवेरग्गं सावित्थीएसु एगागियासु विरुद्धा किंपुण अणारिया जोग्गा अणारिया सा य कामकहा असब्भा जोग्गा असज्झा । अहवा असब्भा जत्थ लल्लिविज्जंति चंकमणे सति विब्भमललितागारं दट्ठुं मोहुब्भवो भवति सज्झाए मणहरसद्देण भोयणदाणग्गहणातो विसंभे उच्चारे ऊरु गाहित्थणंगदरिसणं ॥

भयणपदा चउण्हं, अण्णतरजुते तु संजते संते ।
जे भिक्खू विहरेज्जा, अहवा विकरेज्ज सज्झायं ॥ ६ ॥

भयणपदा चउत्थगो पुव्वुत्तो ॥

असणादी वाहारे, उच्चारादि व आतरेज्जा ।
ठिठुरमसाधुजुत्तं, अण्णतरकधं व जो कधए ॥ ७ ॥

सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं तु निवं ।
पाविति जम्हा तम्हा, एते तु पदे विवज्जेज्जा ॥ ८ ॥

दिट्ठे संकोइगापि जम्हा एते दोसा तम्हा ण कप्पति विहरणादि काउं कारणे पुण करेज्जा ॥ ८ ॥

वितिय पदमणप्पज्झे, गेलण्णुवसग्गरोहगट्ठाणे ।
संजमभयवासासु य, खत्तियमादीसु विण्णायं ॥ ९ ॥

अणप्पज्झो सो सव्वाणि विहारादीणि करेज्ज । इदाणिं गेलण्णे ॥ ९ ॥

खमए सदेसम्मि वओत्थे, गेलण्णे जा विधी समक्खाता ।
सा चेव य वितियपदे, गेलण्णे अट्ठमुद्देसे ॥ १० ॥

कंठ्या ॥ नि० चू० ८ उ० ॥

इदाणिं ससमयवासं तिण्णिवि दाराए एगगहाएदेसत्ति आकुयय गाहा । आउमादिया संभमाबोहियमच्छादिभय गोयरं- अरुता वासेण अब्भवहतो एगाणिलए वि होज्जा-

जलसंभमे थलादिसु, चिट्ठंताणं भवेज्ज चउभंगो ।
एगतरुवएसए वा, वूढगले ते व सव्वत्तो ॥६५॥

एगतरज्झामिए उ, वसयमिरुज्झेज्ज वावि भावसदी ।
एमेवय वा ताम्मिवि, तेण भयावाणिए लुकारं ॥६६॥

भोइतमाई विरुद्धे, रोधेरहादिणं तु संभमो होज्जा ।
वोहियमित्थ भएत्ता, गुत्तिणिमित्तं च एगत्था॥ ६७ ॥

एगो एगत्थीए समं हवेज्ज आउक्कायसंभमेण उदगवाहगे एगं उण्णयं थलं पव्वयं रुक्खं वा तत्थ चिट्ठंताणं चउभंगसंभवे वा खेत्ताओ खेत्तं संकमेज्जा इत्थ वि चउभंगसंभवो । एगतर वसहीए वा खेत्ताउ खेत्तं कमिज्जंति । एवं चउभंग संभवो हवेज्जा एवं वा तो वि चउभंगसंभवो तेणगभएण वा गुत्ते चउभंगसंभवेण णिलुक्का अच्छंति । भोइस्स भोतियस्स विरोहा एवं गामस्स य रट्ठस्स य परिसंभमे चउभंगसंभवो तेणगभएण वा गुत्ते हवेज्जा । बोहियमच्छभएण पलायाणं चउभंगसंभवेण विहारसज्झायं असणादिया उच्चारादिया वा एकत्थ णिलुक्कारसंभवो हवेज्जा गुत्ती वा रक्खणं करेत्ताणं संभवेज्जा ॥

पुव्वपविट्ठेगतरे, वासभएणं विसेज्ज अण्णतरा ।
तत्थ रहिते परमुहो, णयसुं णेसुं जतीहुंति ॥

वासासु वासावासे पडते संजतो संजती वा किंचि णिरोवणारि संठाणपविट्ठं हवेज्ज पच्छा इयरं पविसिज्जा विच्छउण विरहिये दोवि परोप्परं मुहा अच्छंति । सज्झायहाय सुट्ठुवि वासे पडते संजती सुसट्ठाणे णो पविसंति । नि० चू० ८ उ० ।

जे भिक्खू उज्जाणंसि वा उज्जाणगिहंसि वा । उज्जाणसालंसि वा णिज्जासिणंसि वा णिज्जाणगिहंसि वा सिज्जाणसालंसि वा एको एगित्थीए सद्धिं विहारं वा करेइ सज्झायं वा करेइ असणं वा ४ आहारेइ उच्चारं वा पासवणं वा परिट्ठवेइ अण्णयरं वा अणारियं मेहुणं असमणपओगकहं कहेइ कहंतं वा साइज्जइ ।

उज्जाणं जत्थ लोगो उज्जाणियाए वच्चति जं वाहसिणगारस्स उवकंठं ठियं तं उज्जाणं । रायादियाण णिग्गमणठाणं णिज्जाणिया नगरागमे वा जं ठियं वियं तं णिज्जाणं एतेसु चेव गिहा किरिया उज्जाणणिज्जाणगिहणगरेपागारो तस्सेव देसे अट्टालगं पागारस्स अहो अट्टालत्थो रहमग्गो चरिया बलाणगं दार वा बलाणगा पागारपडिनिबद्धा तण अंतरं गोपुरं जेण जणो दगस्स वच्चति सो दगपहो दगवाहो दगमग्गो दगजामं दगतीरं सुण्णं गिहं सुण्णागारं देसे पडिय सडियं भिण्णागारं अधोविसालं च उवरि संवट्टं तं कूडागारं धण्ण

गारं कोट्ठागारं वज्झादितणट्ठाणं अवोपगासं तणसला सालिमादि तुसट्ठाणं तुससाला मुग्गादियाणं तुसा गोकरिसो गोमयं गोणादि जत्थ चिट्ठंति सा गोसाला गिहं च जुगादिजाणाण अकुड्डसाला सकुड्डं गिहं अस्सादिश्र वाहणाताणं सालगिहं वा खिक्कयं जंरू जत्थ कूट्टंति सा सालागिहं वा पासंडिणो परियागा तेसिं आवासथो सालागिहं वा कूडादिया जत्थ कम्मविज्जंति सा कम्मं तं सालागिहं वा महंतं पाहुणे बहुते वा महंतं गिहं महागिहं बहुसु वा जणारएसु महागिहं महाकुलापिज्झकुलादी पाहुणे बहुजणो अणाइ बहुत्ते इमा संगहगाहा ॥

उज्जाणट्ठाण दगे, सुण्णाकूडातुसतुसे गोमे ।
गोमग्गाणापाणिगा, परियागमहाकुले सेव ॥ ८५ ॥

एवंति जहा पच्छिमसुत्ते एवं एतेसु उस्सग्गाववातेण चउभंगसं नवो वत्तव्वो इमं उज्जाणंवक्खाणं ।

संजमदुज्जाणगिहा–णिग्गमणगिहा विणियमाईणं ।
इतरे णगरादिणिग्गमे, सुयसज्जादिणिज्जाणगेहा उ ॥८६॥

उज्जाण संजमादिया गाहा इयवेत्ति णिज्जाणे वणियमादिया णिग्गमगहियं कयं णिज्जाणगिहं अहवा पच्छद्धेणं विसियं वक्खाणं सालगिहाण इमो विसेसो ॥

सालातुअरे पविट्ठा, गेहं कुड्डसहितं तु णेगविधं ।
वणिजं रूसालपरिजि–च्छुगादिमहबहुगवाहसे ॥८७॥

जे भिक्खू अट्टंसि वा अट्टालियंसि वा चरियंसि वा पागारंसि वा दारंसि वा गोपुरंसि वा एको एगित्थीए सद्धिं विहारं वा करेइ सज्झायं वा करेइ असणं वा ४, आहारेइ उच्चारं वा पासवणं वा परिट्ठवेइ अन्नयरं वा अणारियं मेहुणं अस्सवणपओगकहं कहेइ कहंतं वा साइज्जइ ॥ ३ ॥ जे भिक्खू दगंसि वा दगमग्गंसि वा दगपहंसि वा दगतिरंसि वा एगो एगित्थीए सद्धिं विहारं वा करेइ असणं वा ४, आहारेइ उच्चारं वा पासवणं वा परिट्ठवेइ अन्नयरं वा अणारियं मेहुणं अस्सवणपओगकहं कहेइ कहंतं वा साइज्जइ ॥४॥ जे भिक्खू सुन्नगिहंसि वा सुन्नसालंसि वा भिन्नगिहंसि वा भिन्नसालंसि वा भिन्नगिहंसि वा भिन्नसालंसि वा कूडागारंसि वा कोट्ठागारंसि वा एगो एगित्थीए सद्धिं विहारं वा करेइ सज्झायं वा करेइ असणं वा ४, आहारेइ उच्चारं वा पासवणं वा परिट्ठवेइ अन्नयरं वा अणारियं मेहुणं अस्सवणपओगकहं कहेइ कहंतं वा साइज्जइ ॥ ५ ॥ जे भिक्खू तणगिहंसि वा तणसालंसि वा तुसगिहंसि वा तुससालंसि वा भुसगिहंसि वा भुससालंसि वा एको एगित्थीए सद्धिं विहारं वा करेइ सज्झायं वा करेइ असणं वा ४, आहारेइ उच्चारं वा पासवणं वा परिट्ठवेइ अन्नयरं वा अणारियं मेहुणं अस्सवणपओगकहं कहेइ कहंतं वा साइज्जइ ॥ ६ ॥ जे भिक्खू जाणगिहंसि वा जाणसालंसि वा जुग्गगिहंसि वा जुग्गसालंसि वा भुसगिहंसि वा भुससालंसि वा एगो एगित्थीए सद्धिं विहारं वा करेइ सज्झायं वा करेइ असणं वा ४, आहारेइ उच्चारं वा पासवणं वा परिट्ठवेइ अन्नयरं वा अणारियं मेहुणं अस्सवणपओगकहं कहेइ कहंतं वा साइज्जइ ॥ ७ ॥ जे भिक्खू पणियसालंसि वा पणियगिहंसि वा कुवियसालंसि वा कुवियगिहंसि वा एगो एगित्थीए सद्धिं विहार वा करेइ सज्झायं वा करेइ असणं वा ४, आहारेइ उच्चारं वा पासवणं वा परिट्ठवेइ अन्नयरं वा अणारियं मेहुणं अस्सवणपओगकहं कहेइ कहंतं वा साइज्जइ॥ ८ ॥ जे भिक्खू गोणसालंसि वा गोणगिहंसि वा महाकुलंसि वा महागिहंसि वा एगो एगित्थीए सद्धिं विहारं करेइ सज्झायं वा करेइ असणं वा ४, आहारेइ उच्चारं वा पासवणं वा परिट्ठवेइ अन्नयरं वा अणारियं मेहुणं अस्सवणपओगकहं कहेइ कहंतं वा साइज्जइ ॥९॥ जे भिक्खू राओ वा वियाले वा इत्थीमज्झगए इत्थीसंसत्ते इत्थिपरिवुडे अपरिमाणाए कहं कहेइ कहंतं वा साइज्जइ ॥ १० ॥

संझाराती भणिता, संझाएतु विगमो वियालो उ ।
केसिवीवोच्चत्थं, एक्कएणतरे दुविधकाले ॥ ८८ ॥

रातीति रातिसंझातीए विगमो वियालो अथवा जेसिं काले चोरादिया रंजति सा रातीसंझावगमेत्यर्थः । तेच्चियभिमकाले वि गच्छंति सो वियालो संध्येत्यर्थः ॥

इत्थीणं मज्झम्मि, इत्थी संसत्तपरिवुडे ताहि ।
चतुपरिमाणं तेण, परं कहं तस्स आणादि ॥ ८९ ॥

इत्थीसु भयो वियासु मज्झे भवति उरुकोप्परमादीहिं संघट्टंतो संसत्तो भवति दिट्ठीए वा परोप्परं संसत्तो संरूत्तो समंता परिवेट्टिओ परिवुडो भण्णति परिमाणं जाव तिण्णि चउरो पंच वा वागरणाणि परतो छट्ठादि अपरिमाणकहं कहेंतस्स चउगुरुगं आणादिया एक्के सा एसा सुत्तत्था इमा णिज्जुत्ती ॥

मज्झं दोएहंतगतो, संसत्ते ऊरुगादिवट्टेंतो ।
चतुदिसि ठिताहिं तुवरुो, पासगताहि व अप्फुसंतो ॥९०॥

अहवा एगदिसि ठियाहिं वि अप्फुसंतीहिं परिवुडो भण्णति

दुविधं च होति मज्झं, संसत्ता दिट्ठिदिट्ठिअंतो वा ।
भावो व तासु णिहितो, एमेवित्थीश्र पुरिसेसु ॥९१॥

चसद्दाओ संसत्तंपि दुविधमुरुगादिघट्टेंतो संसत्तो दिट्ठीए वा इत्थीण वा मज्झे अथवा संसत्तस्स इमं वक्खाणं तेण तासु भावो णिहितो णिवेसितो परस्परगृद्धानीत्यर्थः इमे दोसा ॥

इत्थीणातिसुहीणं, अवियत्तं असि यावणा भेदो ।
आतपरतदुभए वा, दोसा संकादिगा चेव ॥९२॥

इत्थीणं जेण ततो भाया पिया पुत्तभवयमादी ताणवा जे-सुही मित्ता एतेसिं अवियत्तं हवेज्ज अवियत्ते वा उप्पहोदिया असिया वेंति क रातो क तेसिं अण्णेसिं वा वसहिमादियाणं वोच्छेदं करेज्जा आयपरओ भयसमुत्थाण एक्कतो मिलिया ण दोसा होज्ज अहवा संकातिए ते रातो मिलिता किं पुण अणायारं करेज्ज संकिते चउगुरु णिस्संकिते मूलं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गेएहणादिया दोसा तम्हा णो रातो इत्थीणं धम्मो कहेयव्वो भवे कारणे ॥

बितियपदमणप्पज्झे, णातीवग्गो य सणिसेज्जासु ॥
णाती वा रुवसग्गे, रएणो अंतेपुरादीसु ॥ ए३ ॥

अणवज्जो वा णातिवग्गं वा सो विरस्स गतो ताहे भणेज्जा रत्तिधम्मं कहेह ताहे सो कहेज्ज वरं कोइ धम्मपव्वज्जं वा पमि वज्जेज्ज सावगसेज्जातरकुलेसु वा असंकणिज्जेसु अडुट्ठसीले वा णाणायारेसु उवसग्गा वा जहा अंतेपुरे अभिजुत्तो अहवा राया भणेज्ज अंतेपुरस्स धम्मं कहेह ताहे कहेज्जा तत्थिम विधाणं ॥ ९३ ॥

णो सम्मम्मि ठिओ दि-ट्ठि मियसंवतो इसेसि विकिठीसु।
वेरग्ग पुरिसविमिस्स, तासु किढिगा जुताणं वा ॥ ए४ ॥

णो सेज्जे ठितो भणइ य दूरे ठायइ मा याम संघट्टेइ तासु विट्ठि असंवतो इसवुड्ढासु विट्ठिबंधे तो वेरग्गकहं कहेति पुरु सविमिस्साणं वा कहेति अहवा सव्वा इत्थीओ ताहे थेरविमिस्साणं कहेति ।

जे भिक्खू सगणिच्चियाए वा णिग्गंथिए सद्धिं गामाणुगामं दुइज्जमाणे पुरओ गच्छमाणे पिट्ठओरियमाणीये ओहयमणसंकप्पे चिंतासोगसागरं संपविट्ठे करतलपल्हत्थमुहे अट्टज्झाणोवगए विहारं वा करेइ जाव कहंतं वा साइज्जइ ॥ ११ ॥'

सगणेच्चियासस्सिस्सिणि,अथवा वि सगच्छवासिणी भणितो
परासिस्सिणि परगच्छे, णातव्वा परिगणिच्चाओ ॥ ए५ ॥

सगणेच्चिया ससिस्सिणी वा सगच्छवासिणी वा परगणेच्चिगा।

पुरतोवग्गमतो वा, सपव्ववाते य पिट्ठतो ।
वच्चंताणं तेसिं, चउक्कभयणा अ वोच्चत्थं ॥ ए६ ॥

तो अग्गतो २ ठितो साहू वच्चति अथवा पिट्ठितो साधु वच्चति एत्थ चउभंगो ॥

पुरतो वच्चति साधू, अथवा पिट्ठेण एत्थ चउभंगो ।
अथव ण पुरतो वा उ, पिट्ठे वा एत्थ वा चउरो ॥ ए७॥

पुरतो साधू वच्चति णो मग्गतो पुरतो मग्गओ वच्चति बहूसु पुरतो वि मग्गतो भणो पुरतो णो मग्गतो पक्खापक्खीसु णो वा अहवा इमो चउभंगो । पुरतो सावायणो पिट्ठतो णो पुरतो पिट्ठओ सावायं, पुरतो वि सावातं पिट्ठतो वि, सावातं णो पुरतो णो पिट्ठतो, सावातं णिज्झए अवोच्चत्थं गंतव्वं पुरओ साधू पिट्ठतो स तीतो ॥

भयणपदाण चतुण्हं, अणंतरा तेण संजती सहिते ।
ओहतमणसंकप्पे, जे कुज्जाविहारमादीणि ॥ ए८॥

संजतिसहिओ अह ओहयमणसंकप्पो विहरति ॥

सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराहणा तहा दुविधं।
पावति जम्हा तेणं, एते तु पदे विवज्जेज्जा ॥ एए॥

सो पुण किं ओहयमणसंकप्पो विहरति भगति ॥

अतिति करणे पुच्छा, किं कहितेणं अणिग्गह समत्थे ।
दुक्खमणाए किरिया, सिट्ठे सात्तं ण हावेस्स ॥ १०० ॥

ताओ ओहयमणसंकप्पं दट्ठुं पुच्छति जेट्ठतो किं अधिइं करेह ताहे संजतो भणेज्जा जो णिग्गहसमत्थो ण भवति तस्स किं कहिएणं ताहे संजतीओ भणति दुक्खे आणा ते किरिया ण कज्जति णाए पुण दुक्खापडिआरो सो अप्पणो सत्तिं ण हावेस्स एवं भणिते तहवि गारवेण अकहंते संजतीताइं भणंति ॥

अम्हं करेति अरती, सुइतदुक्खं इमं असीसंतं ।
इति अणुरत्तं भावं, णातु भावं पदंसेंति ॥ १०१॥

असीसंतं अकहिज्जंतं ताओ अणुगतभावाओ णातं अज्झुट्ठधम्मो अप्पणो भावं दंसेति आकारविकारा य करेज्ज एवं सपरोभयसमुत्था दोसा भवंति किं–चान्यत् ॥

पंथे तिण वारिणेम्मं, उवस्सगादीसु एस चेव गमो ।
णिस्संकिता हु पंथे, इत्थमणिच्छे य वा ताहे ॥ १०२ ॥

णिज्जमे तं गेमंता ण पुरतो उवस्सए वि ओहियमणसंकप्पेण अत्थियव्वं संजती जइ इच्छेति ताहे चरित्तविराहणा अह णो इच्छति ताहे संजयस्स आयविराहणाति ताए वेहाण संकरेज्ज । कारणे—

बितियपदमणप्पज्झे, गेलएणुविसग्ग दुविधमद्धाण ।
उवधासरीरतेणग–संजमतयखेत्तसंकमणे ॥ १०३॥

अणपज्झो ओहयमणसंकप्पो भवे गेलन्ने इमं ।

पाउग्गस्स अलंभे, एगागिगिलाणखत्तिआदिसु वा ।
संभिगमादि उसग्गा, मुच्चेज्ज कथं व इति चिंता ॥ १०४॥

गिलाण पाउग्गं ण लब्भति ताहे अद्धिति करेज्ज खत्तिआदिसु वा गिलाणिसु अद्धिति करेज्ज उवसग्गे इमं संभियण उवसग्गिज्जंतो उवस्सग्गिज्जंतिसु वा चिंतं करेज्ज उवसग्गे संभियणं अप्पणो संजतीणं वा उवसग्गे करिंति कहं मुंचज्जामो त्ति चिंतं करेज्ज उवहीसरीरतेणयत्ति–अस्य व्याख्या–

उवधिसरीरचरित्ता, जावमुच्चे ज्ज किएहु आवाय ।
ववसाय सहायस्स वि, सीतति चित्तं धितिमतो वि ॥ १०५॥

उवधि तेण सरीरतेणगा य संजती वा चारि त्तगेण वा कहिं एतेहिंतो अविग्घेण णित्थरेज्ज एरिसे कज्जे समत्थस्सवि चित्तं सीदति । अद्धाणेति—

परिसंतो अद्धाणे, दगगिंगभयसंजमे वरोतएहा ।
वोहियमेत्थ जए वा, तिविताए होति एगस्स १०६ ॥

अद्धाणपरिसंतो तण्हा खुहंतो वा अद्धाणं कहं णित्थरेज्ज दगवाइसंजमे अग्गिसंभमे भयादिसंभमे वा चिंता भवे वोहियमेत्थ भयेण वा चिंताए परो भवेज्ज । नि० चू० ८ उ०।

(१८) स्त्रीणां निध्यानादिनिषेधो यथा—

एवइयं वइयरं सोचा, दुक्खसंताव वेसिणा इत्थीपरिग्गहारंभो, वचाघोरं तवं चरे । १ । वियासणत्था सयिया परंमुही, अलंकिया वा अनलंकिया वा, निरिक्खमाणोपमया हिं दुव्वलं, मणुस्समालेहगयावि किस्सइ ।२। चित्तभित्तिं न निज्झाए, नारिं वा सुअलंकियं । भक्खरं पिव दट्ठूणं, दिट्ठिं पडिसमाहरे ।३। हत्थपायपलिच्छिन्नं, कन्ननासोट्ठ कत्तियं । यप्पयं सकमाणीय, कुड्डनाहोदरोरुयं । ४ । तमवित्थियं दुरयणेणं, बंभयारी विवज्जए । थेरज्जजणा इत्थी, पव्वंगुज्झमजोव्वणा । ५ । कुम्मकुमारी पउत्थ—वइवालविहवं तहेव य । अंतेउरवासिणी चेव,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परपासंकसंसियं । ६ । दिक्खियं साहुणी वा वि, वेसं तइय नपुंसगं । कणिहं गोणिं खरिं चेव, वडविं अविलं अविं तहा । ७ । सप्पित्थिं पसुलिं वा वि, जमरोगमहिलं तहा । विरिसं सहमचेलिक्कं, एवमादी य विस्थिओ । ८ । गमंति जत्थ रयणीए, अह परिक्खे दिणस्स वा । तं वसहिं सन्निवेसंवा, सव्वोवाएहिं सव्वहा । ९ । दूरदूरयदूरेणं, बंभयारी विवज्जए । एएसिं सद्धिं सं-लावं, अद्धाणं वा वि गोयमा ! । १० । अन्नासु वा वि इत्थीसु, खणद्धं पि विवज्जए ॥ से जयवं ! किमत्थीयं, णोणं णिज्जाएज्जा गोयमा ! णो णं-णिज्जाएज्जा । से जयवं ! किंसुणियच्छवत्थालंक-रियविहूसियं इत्थीयं नो णं निज्जाए उयाहु णं विणियं-स णं ? गोयमा ! उभे पहाविणं णो णं णिज्जाए । से जयवं ! किमित्थियं नो आलावेज्जा गोयमा ! नो णं आलावेज्जा । से जयवं ! किमित्थीसु सद्धिं खणद्धमवि नो वसेज्जा, गोयमा ! णो णं संवसेज्जा । से जयवं ! किमित्थीसु सद्धिं नो अद्धाणं पडिवज्जेज्जा । गोयमा ! एगो बंभयारी एगत्थीए सद्धिं नो पडिवज्जेज्जा । से जयवं ! केणट्ठेणं एवंवुच्चइ जहा णं नो इत्थीण निज्जा-एज्जा नो ण मालवेज्जा नोणं तिए सद्धिं परिवसेज्जा नो णं अद्धाणं पडिवज्जेज्जा गोयमा ! सव्वप्पयारोहिं णं सव्वित्थिओ अच्चत्थमओकमत्ताए ओगेणं संबंधु किज्जमाणी कामग्गीए संपलित्ता सहावओ चेव विस-एहिं वाहिज्जमाणी अणुसमयं उत्तिसिं विदिसासु णं सव्वत्थ विसए पच्छिज्जा जाव णं सव्वत्थ विसए प-छिज्जा ताव णं सव्वत्थ पयारेहिं णं सव्वत्थ सव्वहापुरि से संकप्पेज्जा । ताव णं सोइंदिओवओगत्ताए चक्खुइंदि ओवओगत्ताए रसणिंदिओवओगत्ताए घाणिंदिओव-ओगत्ताए फासिंदि ओव ओगत्ताए जत्थ णं केइपुरिसे कंत रूवेइ वा अकंतरूवेइ वा पडुप्पन्नजोव्वणेइ वा अपडुप्पन्न-जोव्वणेइ वा गयजोव्वणेइ वा दिट्ठपुव्वेइ वा इड्ढिमंतेइ वा अणिड्ढिमंतेइ वा इड्ढिपत्तेइ वा अणिड्ढिपत्तेइ वा विसया उरेइ वा निविण्णकामजोगेइ वा उद्धयावोंदिएइ वा अणु-द्धयवोंदिएइ वा । महासत्तेइ वा हीणसत्तेइ वा महापु-रिसेइ वा कापुरिसेइ वा समणेइ वा माहणेइ वा अन्नयरेइ वा निंदियाहिं महीणं जाइएहिं वा तत्थणं ईहापोहवीमंसं पडंजित्ताणं जाव णं संयोगसंपत्तिं परिकप्पे ताव णं से चित्ते संखुद्धे भवेज्जा । जाव णं से चित्ते संखुद्धे भवेज्जा ताव णं से चित्ते विसंवएज्जा जावणं से चित्ते विसंवएज्जा ताव णं से देहेमए णं अद्धासेज्जा । जाव णं से देहेमए अद्धासेज्जा ताव णं से दरविदरे इहपरलोगावाए पम्हुसे-ज्जा । जाव णं से दरविदरे इहपरलोगावाए पम्हुसेज्जाताव णं वेबाअज्जं जयं अयसं अकित्तिमरं उच्चाणाओ निय-ट्ठाणं ठाएज्जा । जाव णं उच्चट्ठाणाओ नियट्ठाणं ठाएज्जा ताव णं [चणेज्जा] वद्वेज्जा असंखेया ओ समयावलिया जाव णं नीयंति असंखेज्जाओ समयावलिओ [ताव णं जं पढमसमयाउ] ताव णं जं पढमसमयाओ कम्मट्ठिइयं तं बीय-समयं पडुच्चावइया दिणाणं समयाणं संखेज्जं असंखेज्जं अ-णंतं वा अणुक्कमसो कम्मट्ठिइं संचणिज्जा जाव णं अणुक्क-मसो अणंतं कम्मट्ठिइं संचिणइ ताव णं असंखेज्जाइं अव-सप्पिणीओसप्पिणी कोडिलक्खाइं जाव णं काले णं परिवत्तंति तावइ यं कालं दोसुं चेव नरयतिरिच्छासु गतीसु उक्कोसट्ठिइयं कम्मं आसंकलेज्जा जाव णं उक्कोसट्ठितीयं कम्ममासं कलेज्जा ताव णं सेत्तिणुज्जत्तिं विवण्णकंतिं विवलिय-लावण्णसरीयं निप्पट्ठादित्तेया बोंदी भवेज्जा । जाव चुयकंति लावण्णसिरियं दित्तेया बोंदी भवेज्जा जावणं से सि इज्जा फरिसिंदिए ताव णं सव्वहा विवट्टेज्जा सव्वत्थ चक्खुरागे जावणं सव्वत्थ विवट्टेज्जा चक्खुरागे ताव णं दारुणे नयणजुयले भवेज्जा जावणं दारुणे नयणजुयले य भवेज्जा ताव णं रागंधत्ताए न गणेज्जा सुमहंतगुरुदोसे वयभंगे न गणेज्जा सुमहंत गुरुदोसे नियम भंगे न गणेज्जा । सुमहंतघोरपावकम्मसमायरणं सील खंडणं न गणेज्जा सुमहंतसव्वगुरुपावकम्मं समायरणं सं-जमं विराहणं न गणेज्जा घोरंधयारं परलोगदुक्खभयं न गणेज्जा । आइयं न गणेज्जा । सकम्मगुणट्ठाणभं न गणेज्जा । स सुरासुरस्स तिणं जगस्स अलं गणिज्ज आणं न गणेज्जा अणंतहुत्तो चुलसीइजोणिलक्खपरिवत्तगब्भ-यरं परं अलद्धणिमिसिद्धसोक्खं चउगइसंसारदुक्खं ण पासिज्जा जं पासिणिज्जं पासेज्जाणं अपासणिज्जणं सव्वजणसमूहमज्झसन्निविट्ठट्ठियाणि वक्कवक्कमियनिरक्खि ज्जमाणी वा दिप्पंतकिरणजालं दसदिसी पयासयसवंततेय यसी सूरिए वि तहावि ण पासेज्जा । सुअंधयारे सव्वे दिसाभाए जाव णं एगधत्ताए ण गणेज्जा । सुमहल्लगुरुदोसे वयभंगे नियमभंगे सीलखंडणे संजमविराहणे परलोगभए आणाभंगाइक्कमो अणंतसंसार भए पासेज्जा । अपासणि-ज्जे सव्वजणपयडदिणयरे वि ण मन्नेज्जा सुअंधयारे सव्वेदिसाभाए जाव णं न गणेज्जा सुमहल्लगुरुदोसे वयभंगे नियमभंगे सीलखंडणीया अच्चंतनिब्भड्डसोहग्गाइसाए वित्थीए रागारुणपंकुए दुद्दंसणिज्जे अणिरिक्खणिज्जे वयणकमले भवेज्जा । जाव णं अच्चंत निब्भड्ड जाव भवेज्जा ताव णं फुरफुरेज्जा सणियं सणियं पोंडफुडिनियंब व-त्थोरुदृत्थ बाहुलइयउरकंठपएसे जाव णं फुरफुरेति पोंड-

फुम नियंवबत्थोरुहत्थबाहुलइयउरु कंठप्पएसे तावणं । मोदायमाणी अंगपाळियाहिं निरुवलक्खे वा सोवलक्खे वा भंजेज्जा सव्वंगोवंगे जाव णं मोदायमाणी अंगपाळियाहिं भंजेज्जा सव्वंगोवंगे ताव णं मयणसरसन्निवाएणं जज्जरियसंभिन्ने सव्वरोमकूवे तणू जवेज्जा । जाव णं मयणसरसन्निवाएणं विच्छसिए वोंदी जवेज्जा ताव णं तहा परिणमेज्जा । तणू जहा णं मणगं पयलंति धातूवो जाव णं मणगं पयलंति धातूओ ताव णं अच्चत्थं वाहिज्जंति पोग्गलनियं बोरुबाहुलइयाओ जाव णं अच्चत्थं बाहुं बाहिज्जइ नियंवं ताव णं दुक्खेहिं धरेज्जा गत्तयट्ठिं जाव णं दुक्खेणं धरेज्जा गत्तयट्ठिं तावणं से णो वलक्खेज्जा तिर्यसरीरावत्थं जाव णं णोवलक्खेज्जा । अतीयं सारीरवत्थं ताव णं दुवालसेहिं समएहिं दरनिव्वट्टं भवे वोंदी जाव णं दरनिव्वट्टं भवे वोंदी ताव णं पमिक्खलेज्जा । से ऊसासे नीसासे ताव णं मंदं मंदं ऊसासेज्जा मंदं मंदं नीसासेज्जा जाव णं एयाइं इतियाइ भावंतरअवत्थंतराइं विहारेज्जा ताव णं जहा गहच्छत्थे केइ पुरिसेइ वा इत्थिए वा विसंवुलाए पिसायाए भारतिए असंबद्धं संवलियं विसंखुलं तं अच्चत्थं उल्लाविज्जा एवं गिया णं इत्थीयं विसमावन्नमोहणमम्मणुल्लावणं पुरिसे दिट्ठपुव्वेइ वा अदिट्ठपुव्वेइ वा कंतरूवेइ वा अकंतरूवेइ वा गइजोव्वणेइ वा परुपन्नजोव्वणेइ वा महासत्तेइ वा हीणसत्तेइ वा सप्पुरिसेइ वा कापुरिसेइ वा इड्ढिमंतेइ वा अणिड्ढिमंतेइ वा विसउच्छेइ वा निव्विन्नकामभोगेइ वा समणेइ वा माहणेइ वा जाव णं अन्नयरे वा केई निंदिया हमहीण जावइए वा अच्चत्थेणं सपज्जरेणं आमंतेमाणि उल्लावेज्जा जाव णं संखेज्जभेदभिन्नेणं सरागेणं सरेणं दिट्ठिएइ वा पुरिसो ल्लावेज्जा निज्जाएज्ज वा ताव णं जं न असंखेज्जाइं अवसप्पिणीए सप्पिणीकोडिलक्खाइं दोसुं नरयतिरिच्छासु गतिसु उक्कोसट्ठितीयं कम्मं आसंकलिउं आसिउं तं निबंधिज्जा नो णं वच्छफुट्ठं करेज्जा । सेवि णं जं समयं पुरिसस्स णं सरीरावयवफरिसिणाभिमुहं भणिज्जा णोणं फरिसेज्जा तं समयं चेव तं कम्मट्ठिइं बद्धपुट्ठं करेज्जा ? नो णं वच्छपुट्ठनिकायंतिए याव सारिच्छिओ गोयम ! संजोगेणं संजुज्जेज्जा से वि णं संजोए पुरिसायते पुरिसो वि णं जेणं ण संजुज्जे से धम्मे जेणं संयुज्जे से अधम्मे । से भयवं ! केणट्ठेणं एवं वुच्चइ जहा पुरिसे वि णं ण संजुज्जे से धम्मे जे णं संजुज्जे से णं अधम्मे गोयम ! जेणं सत्तीए इत्थीए पावए बद्धपुट्ठकम्मट्ठिई चिट्ठइ सेणं पुरिससंगेणं निकाइज्जइ । तणं तु बद्धपुट्ठनिकाइएणं कमेणं सा वराई तं तारिसं अज्झवसायं पडुच्चा एगिंदियत्ताए पुढवादिसु गया समाणा अणंतकालपरियट्टेण विणं णोणं पावेज्जा बेइंदियत्तणं एवं कहवि बहुके मे अणंतकालाओ एगिंदियत्ताणं खविय बेइंदियत्तणं तेइंदियत्तणं चउरिंदियत्तमविसेयणं बेइयत्ता पंचिंदियत्तेणं आगया समाणि दुब्भगित्थिसपंडतेरिच्छा वेयमाणी हाहाभूयकट्ठसरणासिविणेवि अदिट्ठसोक्खा निच्चं संतावुव्वेसिया सुहिसयणबंधवविवज्जिया । आजम्मं कुच्छणिज्जं गरहणिज्जं निंदणिज्जं खंसणिज्जं बहुकम्मं तेहिं अणेगवाहुसएहिं लद्धोदरभरण सव्वलोगपरिभूया चउगइए संसारेज्जा अन्नं च णं गोयम ! जाव इयतीए पायइत्थीए । बद्धपुट्ठनिकाइककम्मट्ठिइं समज्जियं इत्थियं अभिलासिउकामे पुरिसा उक्किट्ठ २ यरं अणंतकम्मट्ठिइं बद्धपुट्ठनिकाइयं समज्जिणेज्जा (समुच्चिणेज्जा) तेणं अट्ठेणं गोयम ! एवं वुच्चइ जहा णं पुरिसे विणं जेणं नो संजुज्जे सेणं धम्मे जेणं संजुज्जे सेणं अधम्मे। भयवं ! पुरिसेणं पुच्छा जाव णं च णं वयासि, गोयम ! छव्विहे पुरिसे नेयं तंजहा अहमाहमे १ अहमे २ विमज्झिमे ३ उत्तमे ४ उत्तमुत्तमे ५ सव्वुत्तमुत्तमे ६ तत्थ णं जे सव्वुत्तमुत्तमे पुरिसे सेणं पुव्वंगुब्भवयोव्वणं सव्वुत्तमरूवलावन्नकंतिकलियाए वि इत्थए नियं वा रूढो वा स सयं पि चिट्ठिज्जा णो णं मणसा वि तं इत्थियं अभिलसेज्जा । जे णं से उत्तमुत्तमे से णं जइ कहवि तुम्हतिहाएणं मणसा सममेकं अभिलसेज्जा तहावि बीयसमए मणसं निरुंभिय अत्ताणं अप्पाणं निंदेज्जा गरहेज्जा न पुणो बीएणं नत्थ मे इत्थियं मणसा वि उ अभिलसेज्जा । जेणं से उत्तमे सेणं जइ कहवि खणमुहुत्तं वा इत्थियं कामेज्जमाणे पक्खेज्जा तओ मणसा अभिलसेज्जा जाव णं जामच्छजामं वा णो णं इत्थीए संकप्पं विकप्पं समायरेज्जा । जइ णं बंभयारिकियपच्चक्खाणाभिग्गहे अहाणंतो बंभयारी नो कयपच्चक्खाणाभिग्गहे तो णं नियकलत्ते भयणाए उए तिव्वे कामेसु अभिलासे भविज्जा तस्स एयस्स णं गोयम ! अत्थि बंधे किंतु अणंतसंसारइत्तणं नो निबंधेज्जा । जे णं सेज्जा जे णं से वि मज्झिमेणं से णं नियकलत्तेणं सद्धिं नियमं समायरिज्जा णो णं परकलत्तेणं एसे य णं जइ पच्छा उग्गबंभयारी नो भवेज्जा नो णं अज्झवसायविसेसं तं तारिसमंगीकाऊण अणंतसंसारियत्तणे भयणा जओ णं जे केइ अभिगयजीवाइपयत्थे सव्वभव्वसत्ते आगमाणुसारेणं सुसाहूणं धम्मोवट्ठंभदाणाइदाणसीलतवभावणामई स चउव्विहे धम्मखंधे समणुट्ठेज्जा । सेणं जइ कहइ निय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मवयजंगं न करेज्जा तओ णं सायपरंपरएणं सुमाणुसत्तंसुदेवत्ताए । जाव णं अपरिवडियसम्मत्ते निसग्गेण अभिगमणे वा जाव अट्ठारससीलंगसहस्सधारी भवित्ताणं निरुद्धा सव्वदारे विहूयरयमले पावकम्मं खवेत्ताणं सिज्झेज्जा। जे य णं से अहमे सेणं सपरिदारासत्तमाणासे अणुसमयं कूरज्झवसायज्झवसियचित्तेहिं सारंजपरिग्गहाइसु अभिरए भवेज्जा तहा णं जे य से अहमाहमे सेणं महापावं कम्मं सव्वाओ इत्थीओ वाया मणसा य कम्मुणा तिविहं तिविहेणं । अणुसमयाभिलसेज्जा तहा अच्चंतकूरवज्झवसायअज्झवसिएहिं सारंभपरिसत्ते कालगमेज्जा एसिं दोएहंपि णं गोयम ! अणंतसंसारयत्तणं णेयं । भयवं! जेणं से अहमे जे विणं से अहमाहमे पुरिसे तेसिं च दोएहं पि यं अणंतसंसारियत्तणं समक्खायं तो य णं एगे अहमे एगे अहमाहमे एतेसिं दोएहंपि पुरिसावत्था णं को पइविसेसो गोयम! जेणं से अहम पुरिसे सेणं जइवि उ सपरदारासत्तमाणसे कूरज्झवसायअज्झवसिएहिं सारंभपरिग्गहासत्तचित्ते तहवि णं दिक्खियाहिं साहुणीहिं अन्नयरासु च सीलसंरक्खणपोसहोववासनियराहिं दुक्खियाहिं गारत्थीहिं वा सद्धिं आवाहिअ पिछियामंतिए वि समाणे णो वियमं समायरेज्ज। जे य णं से अहमाहमे पुरिसे सेणं नियजणणिपभिई जाव णं दिक्खियाइहिं साहुणीहिंपि समं वियमं समारिज्जा तेणं चेव से महापावकम्मे सव्वहमाहमे समक्खा एसेणं गोयमा ! पइविसेसे तहा य जेणं से अहमपुरिसे सेणं अणंतेणं कालेणं बोहिणं पावेज्जा । जओ णं से अहमाहमे महापावकारी दिक्खियाहिं पि साहुणीहिं पि समं वियमं समायरिज्जा सेणं अणंतहुतोवि अणंतसंसारमाहिंडिऊणंपि बोहिं नो पावेज्जा। एसे य णं गोयम! वितिए पइविसेसे तत्थ णं जे से सव्वुत्तमे सेणं छउमत्थवीयरागेण य जेणं तु मे उत्तमुत्तमे मेणं अणिड्डिपत्तिचीए जाव णं उवसमायरेज्जा ताव णं निउणीए जेणं च से उत्तमे सेणं अप्पमत्तसंजए णो एवमेएसिं निरूवणाकुज्जा जे उणं मिच्छदिट्ठी भवित्ताणं उग्गबंभयारी भवेज्जा हिंसारंभपरिग्गहाइणं वीरए सेणं मिच्छदिट्ठी चेव णेए णोणं सम्मदिट्ठी तेसिं च णं अविइयजीवाइपयत्थसब्भावाणं गोयम! नो णं उत्तमुत्तमे अभिनंदणिज्जे वा संसणिज्जेवा भवइ जे उत्तमेणं ते अणंतरभविए दिव्वोएलए विसए पच्छेज्जा अच्छंवकयादिइ ते दिव्वित्थियादओ संविक्खियत्तऊणं बंभव्वयाओ परिहरिज्जा णियाण कम्मे वा हवेज्जा जे य णं से वि मज्झिमे सेणं तं तारिसमज्झवसायमंगीकिच्च ण विहरिज्जा विरयाविरए दहव्वे तदा णं जे से अहमे जे य णं से अहमाहमे तेसिं तु णं एगंतेणं जहा इत्थीसु तहा णं नेइजोवणं कमेइ त्तिई समज्जेज्जा णवरं पुरिसस्स णं संचिक्खणंगे संबेत्थरुहोवरतलपक्खएसु लिंगे य अहिययरंरागमुप्पज्जे एवं एते चेव छ पुरिसविभागे कासिं च इत्थीणं गोयमा ! भव्वसत्तं सम्मत्तदढत्तं च अंगीकाऊणं जावणं सव्वुत्तमे पुरिसाविभागे ताव णं चिंताणिज्जे नोणं सव्वेसिमित्थीणं । एवं तु गोयमा ! जीए इत्थीए तिकालं पुरिससंजोगसंपत्तीण संजया अहाणं पुरिससंजोगसंपत्तीए वि साहुणीए जाव णं तेरसमे चोदसमे पन्नरसमे णं च समयेणं पुरिसेण सद्धिं ण संजुत्ता णो वि यं संसमायरियं सेणं जहा घणकट्ठतणदारुसमिद्धे केइ गामेइ वा नगरेइ वा रत्नोइ वा संपलित्ते चंडानिलसंधुकिए य पलित्ताणं णिज्झिय २, चिरेणं उवसमेज्जा एवं तु णं गोयमा ! से इत्थी कामग्गीसंपलित्ता समाणि णिज्झिय २, समयचउक्केणं उवसमेज्जा एवं इगवीसइमे बावीसइमे जाव णं सत्तावीसइमे समए जहाणं पदीवसिहा वावन्ना पुणरवि उसयं वा तहा विहेणं चुन्नयोगेणं वा पयलेज्जा एवं सा इत्थी पुरिसदंसणेण वा पुरिसालावगदंसणेण वा मदणं कंदप्पेणं कामग्गीए पुणरवि पयलेज्जा एत्थं च गोयमा! जात्थियं भएण वा लज्जाए वा कुलंकुसेण वा जाव णं धम्मसद्धाएणं वा तवे य णं अहियासेज्जा नोणं वियमं समायरिज्जा, से णं धन्ना से पुण पुन्ना, से य णं वंदा, से णं पुज्जा, से णं दट्ठव्वा, से णं सव्वलक्खणा, से णं सव्वकल्लाणं कारया, से णं सव्वुत्तममंगलनिही, से णं सुयदेवया, से णं सरस्सती, से णं अंबहुंडी, से णं अच्चुया, से णं इंदाणि, से णं परमवित्तुतमासिद्धी मुत्तीसासयासिवगइत्ति। जे इत्थियं ते चेवणं नो अहियासेज्जा वियमं वा समायरेज्जा से णं अधन्ना, से णं अवंदा, से णं अपुज्जा, से णं अदट्ठवा, से णं अलक्खणा, से णं भग्गलक्खणा सेणं सव्वअमंगलअकल्लाणभायणा, से णं भट्ठसीला, से णं भट्ठायारा, से णं परिभट्ठचारित्ता, से णं निंदणिया, से णं गरहणिया, से णं खिंसणिज्जा, से णं कुच्छणिज्जा, से णं पावा, सेणं पावपावा, से णं महापावा, से णं अपवित्तात्ति एवं तु गोयमा ! चपुलणत्ताए, भीरुत्ताए, कायरत्ताए, लोलत्ताए, उम्मायओ वादप्पओ वा कंदप्पओ वा अणप्पवसओ वा । आउट्टियए वा जमित्थियं संजमाओ परिभस्सिय दूरट्ठाणे वा गामे वा नगरे वा रायहाणीए वा वेसग्गहणं अच्छडिय पुरिसे णं सद्धिं वियमं समायरेज्जा भूओ २ पुरिसं कामेज्ज वा रामेज्ज वा अहाणं तमेवा दोयत्थियं कज्जमइ परिकप्पेताणं तमा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इत्रेज्जा तं चेव आई व माणीय सिया णं उम्मायओ वा दप्पओ वा कंदप्पओ वा अणवस्सओ वा आउट्टियाए वा कइया परिए वा सामन्नं संजप्पइ वा रायसंसिए वा वामयलच्छिजुत्तेइ वा सवोलच्छिजुत्तेइ वा जोगचुअलच्छिजुत्तेइ वा विन्नाणलच्छिजुत्तेइ वा जुगुप्पहाणेइ वा पवयणप्पजावगेइ वा तमित्थियं अन्नं वा रामेज्ज वा कामेज्ज वा अजिलसेज्ज वा जुंजेज्ज वा परिजुंजेज्ज वा जाव णं वियमं वा समायरेज्जा । से णं दुरंतपंतलक्खणे, अडमे, अवंदे, अदट्ठव्वे अपवित्ते, अपसत्थे, अकल्लाणे, अमंगले, निंदणिज्जे, गरहणिज्जे, खिसणिज्जे, कुच्छणिज्जे, से णं पावे, से णं पावपावे, से णं महापावे, से णं महापावपावे, से णं जट्ठसीले से णं जट्ठायारे, से णं निन्नट्ठचारित्ते महापावकम्मकारिजयणं पायणि पायच्छित्तमब्जट्ठिज्जा तओणं मंदतुरगेणं, वइरेणं सरीरेणं, उत्तमेणं संघयणेणं, उत्तमेणं पोरुसेणं, उत्तमेणं सत्तेणं उत्तमेणं तत्तपरिमाणेणं, उत्तमेणं वीरियसामत्थेणं, उत्तमेणं संवेगेणं, उत्तमाए धम्मसद्धाए, उत्तमेणं आउक्खएणं तपायच्छे तमणुचरेज्जा । तेणं तु गोयमा ! साहूणं महाणुजागाणं अट्ठारसपरिहारट्ठाणाई णववंजचेरगुत्तिउवागरिज्जत्ति । से जयवं ! किं पच्छित्तेणं सुज्झेज्जा गोयम ! अत्थेगे जेणं सुज्झेज्जा अत्थेगे जेणं नो सुज्झेज्जा । से जयवं ! केणट्ठेणं एवं वुच्चई जहा णं गोयम ! अत्थेगे जेणं सुज्झेज्जा अत्थेगे जेणं नो सुज्झेज्जा । गोयम ! अत्थेगे-जेणं नियडिप्पहाणे सढसीले वंकसमायरे से णं असल्लेया लोइत्ताणं ससल्ले चेव पायच्छित्तमणुचरेज्जा सेणं अविसुद्धसकलुसे से णं णो सुज्झेज्जा अत्थेगे जेणं उज्जुपद्धरसरलसहावे जहावत्तं णीसल्लं णीसंकं सुपरिफुडं आलोइत्ताणं जहोवइट्ठं चेव पायच्छित्तमणुचेट्ठिज्जा से णं निम्मलनिकलुसविसुद्धासए विसज्जेज्जा । एतेणं एवं वुच्चइ जहा णं गोयम ! अत्थेगे जेणं सुज्झेज्जा अत्थेगे जेणं नो सुज्झेज्जा तहा णं गोयम ! इत्थीय णामं पुरिसाणं महंमाणं सव्वपावकम्माणं वसुहारातमरय पंकखाणी सोग्गईमग्गसणं अग्गला नारयावयारस्स अंसमोयरज्जवेमणी अजूमयं विसकंदलिं अणग्गिणियं चडुलिं अजीयणं विसूइयं अणामियं वाहिं अवेयणं मुच्छं अणोवसग्गं मारिं अणियलं गुत्तिं अरज्जुए पासे आहअो मच्चू तहा य णं गोयम ! इत्थी संजोगे पुरिसाणं मणसावेणं अचिंतिणिज्जे अवयुज्झवसणिज्जे अप्पसत्थणिज्जे अपसत्थाणिज्जे अदीणिज्जे अवियप्पाणिज्जे असंकप्पणिज्जे अणजिलसणिज्जे असंजरणिज्जे तिविहं तिविहेणंति जओणं इत्थीणं नाम पुरिस्स णं गोयम ! सव्वप्पगारेसु पि दुस्साहियं विज्जं पि वा दोसुप्पायणं सरंजसंजगं पि वा अपुट्ठधम्मं अलियचारित्तं पि व अणालोइयं अणिंदियं अगरहियं अकयपायच्छत्तज्झवसायं पडुव अणंतसंसारपरियट्टणदुक्खसंदोहं कयपायच्छित्तं विसोहिं पि व पुणो असंजमायरणं महंत पावकम्मसंचयहिंसं पि व सयलतेलोकनिंदियं आदिट्ठ परलोगपच्चवायघोरंधयारणरयवासो इव णिरंतराणेग दुक्खनिहिंति अंगपच्चंगसंठाणं चारुल्लवियपेहियं अच्छी णं तं न णिज्झाए कामरागविवड्ढणं तहा य इत्थीओ नाम गोयम ! पलयकालरयणीमिव सव्वकालं तणो वलिताओ जवंति विज्जु इव खणदिट्ठनट्ठपेमाओ जवंति सरणागयवायगा इव एक्कजमियाओ तक्खणपसूयजीवंतमुद्धनियसिसुजक्खओ इव महापावकम्माओ जवंति । खरपवणुद्धचालियलवणोदहिवेला इव बहुविहविकप्पकल्लोलमालाहिं ण खणंपि एगत्थ असंठियमाणुसाओ जवंति सयंजुरमणोवहीमिव दुक्खगाहकइतवाओ जवंति पवणो इव चडुलसहावाओ जवंति अग्गी इव सव्वजक्खाओ । वाओ इव सव्वफरिसाओ तक्करो इव परत्थलोलाओ साणो इव दाणमेत्तमित्तिओ मच्छो इव हत्थपरिचत्तनेहाओ एवमाई अणेगदोसलक्खपाडिपुन्नसव्वंगोवंगसब्जितरवाहिराणं महापावकम्माणं अविणयविसमंजरीणं तत्थुप्पन्नअणत्थगत्थ पसूईणं इत्थी य णं अणवरयनिब्जरंतदुग्गंधा सुइविलीण कुच्छणिज्ज निंदणिज्ज खिसणिज्ज सव्वंगोवं गाणं सब्जितरवाहिएणं परमत्थओ महासत्ताणं निविम्नकामजोगाणं गोयम ! सव्वुत्तमुत्तमपुरिसाणं के नाम सुइत्तेसु विन्नाया धम्माहम्मेखणमवि अजिलासं गच्छिज्जा जासिं च णं अनिलसिऊणं कामे पुरिसे तज्जोणिसंमुच्छिमं पंचिंदियाणं एकपसंगेणं चेव णवण्हं सयसहस्सेणं णियमाओ उद्दवगे जवेज्जा ते य अच्चंतसुहमुत्ताओ मंसचक्खुणो ण पासिया एएणं अट्ठेणं एवं वुच्चई जहा णं गोयमा ! णो इत्थीणं आलवेज्जा नो असंलवेज्जा नो उल्लवेज्जा नो इत्थीणं अंगोवंगाई संणिरिक्खेज्जा जाव णं नो इत्थीए सार्द्धं रागे वंजयारि अद्धाणं पविवज्जेज्जा । महा० २ अ० ॥ २

(२०) स्त्रीस्थानदूषणमाह ।

जहा विरालावसहस्स मूले, न मूसगाणं वसही पसत्था । एमेव इत्थी निलयस्स मज्झे, न बम्जयारिस्स खमो निवासो ॥ १३ ॥

यथा विडालावसथस्य मूले विडालस्य आवसथं गृहं विडालावसथं तस्य मूले समीपे मूषकाणां उन्दुराणां वसतिः स्थितिः न प्रशस्ता न समीचीना जवति विडालगृहसमीपे मूषकस्थितिर्मरणायैव एवममुना दृष्टान्तेन स्त्रीनिलयस्य स्त्रिया

सहितो निलयो गृहं स्त्रीनिलयस्तस्य स्त्रीनिलयस्य मध्ये ब्रह्मचारिणो निवासः क्रमो युक्तो नास्ति । तत्र वसमानस्य ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्यस्य नाश एव स्यादिति भावः ॥ १३ ॥

स्त्र्यादिरहिते स्थाने वसमानेनापि स्त्रीसम्पाते किं कर्तव्यं तदाह ।

न रूपलावरणविलासहासं, न जंपियं इंगियपेहियं वा ।
इत्थीण चित्तंसि निवेसइत्ता, दट्ठुं ववस्से समणे तवस्सी ॥ १४ ॥

तपस्वी श्रमणः स्त्रीणामेतत्सर्वमेतच्चेष्टितं चित्ते स्वकीये मनसि सन्निवेश्य सम्यगवधार्य द्रष्टुं न व्यवस्येत दर्शनायोद्यमो न भवेत् । कोऽर्थः साधुः स्त्रीणामेतच्चेष्टितं स्वहृदि धृत्वा एतच्चेष्टितं द्रष्टुं व्यवसायं न कुर्यात् । यतो हि । पूर्वं मनसः इच्छायाः प्रवृत्तिस्ततश्चक्षुरादीनामिन्द्रियाणां प्रवृत्तिरिति । तत्स्त्रीणां किं किं चेष्टितं तदाह रूपं स्त्रीणां गौरादिवर्णो लावण्यं नयनाह्लादकः कश्चिद्गुणविशेषः, विलासो विशिष्टनेत्रचेष्टाविशेषः, अथवा मन्थरगतिकरणादिको, हास्यं स्मितमीषद्दन्तानां जल्पितं मन्मनोल्लापादिकम् इङ्गितमङ्गोपाङ्गादिमोटनं स्वचित्तविकारसूचकं, वीक्षितं वक्रावलोकनम् रूपञ्च लावण्यं च विलासश्च हास्यं च रूपलावण्यविलासहास्यानि तेषां समाहारो रूपलावण्यविलासहास्यमेतत्सर्वं स्त्रीणां साधुना रागेण न द्रष्टव्यमिति भावः

अदंसणं चेव अपत्थणं च, अचिंतणं चेव अकित्तणं च ।
इत्थीजणस्सारियझाणजुग्गं, हियं सया बम्भवए रयाणं ॥ १५ ॥

ब्रह्मव्रते ब्रह्मचर्ये रतानां सावधानानां साधूनामेतदार्यध्यानं योग्यं हितं वर्तते । आर्यं च तद्ध्यानं च आर्यध्यानं सम्यग्ध्यानं धर्मशुक्लादिकं तस्य योग्यं हितं पथ्यं धर्मध्यानस्य स्थैर्यकारकं भवति कोऽर्थः यदा हि ब्रह्मचर्यधारिणः एतत् कुर्वन्ति तदा तेषां धर्मध्यानं स्थिरं स्यादित्यर्थः । तत्किं किमार्यध्यानयोग्यं तदाह । स्त्रीणामदर्शनं रागेण अनवलोकनं च पादपूरणे एव निश्चये । पुनः किं स्त्रीणामप्रार्थनमभिलाषस्याकरणं पुनः स्त्रीणामचिन्तनं यत् कदाचित् रूपादिकं दृष्टं तस्य चेतसि न स्मरणमपरिभावनमित्यर्थः । पुनः स्त्रीणामकीर्तनं यत्कदाचिद्रूपेण नाम्ना गुणेन वा न कीर्त्तनमकीर्त्तनं नाम गुणोच्चारणस्य अकरणम् यदि ब्रह्मचारी स्त्रीणां दर्शनं प्रार्थनं चिन्तनं कीर्तनं करोति तदा तस्य आर्यध्यानस्य उत्तमध्यानस्य स्थैर्यं न स्यात् एतत्कर्मध्यानस्य योग्यं हितं नास्ति । ननु कश्चिद्वक्ष्यति "विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः" तत् किं विविक्तशयनासनसेवनेन इति चेत्तत्राह ।

कामं तु देवीहिं विभूसियाहिं, न चाइया खोभइउं तिगुत्ता ।
तहा वि एगंतहियं ति नच्चा, विवित्तवासो मुणिणं पसत्थो ॥ १६ ॥

हे शिष्य ! तथापि मुनीनां विविक्तभाव एकान्तस्थाननिवासः प्रशस्तः । किं कृत्वा विविक्तभावमेकान्तहितं मत्वा तथा इति कथं यद्यपि त्रिगुप्तास्तिसृभिर्गुप्ताः मुनयः काममत्यर्थं देवीभिः क्षोभयितुं ध्यानाच्चालयितुं न 'चाइया' इति न शक्तिताः कीदृशीभिर्देवीभिः आभूषणयुक्ताभिः । यदि देवाङ्गनाभिरप्सरोभिरङ्गनाभिरपि साधवो ध्यानान्न चालितास्तदा मानुषीभिस्तु क्षोभं प्रापयितुमशक्या एव तथापि स्त्रीप्रसङ्गत्यागं मुनीनामेकान्ते [illegible] आश्रये स्थितिः श्रेयसीति भावः ॥ १६ ॥

स्त्रीप्रसङ्गत्यागं पुनराह [illegible] ।

मोक्खाभिकंखिस्स विमाणवस्स, संसारभीरुस्स ठियस्स धम्मे । न तारिसं दुत्तरमत्थि लोए, जहित्थिओ बालमणोहराओ ॥ १७ ॥

मोक्षाभिकाङ्क्षस्य मोक्षाभिलाषुकस्य मानवस्य संसारभीरोरपि तथा धर्मे स्थितस्य श्रुतधर्मे स्थितस्य अत्र संसारे तादृशं दुस्तरमन्यत् किमपि नास्ति यथा लोके संसारे स्त्री दुस्तरास्ति । कीदृशी स्त्री बालमनोहरा बालानामविवेकिनां मनांसि हरतीति बालमनोहरा । तुशब्दः पादपूरणे विशेषार्थे च ।

स्त्रीसङ्गातिक्रमे गुणमाह ॥

एए य संगे समइक्कमित्ता, सुहुत्तरा चेव भवंति सेसा ।
जहा महासागरमुत्तरित्ता, नई भवे अवि गंगा समाणा ॥ १८ ॥

मनुष्याणामेतान् स्त्रीसंबन्धिसङ्गान् समतिक्रम्य शेषाः धनधान्यादिसंबन्धाः सुखोत्तराश्चैव भवन्ति । सुखेनोत्तीर्यन्ते इति सुखोत्तराः यथा महासागरं स्वयंभूरमणसदृशं समुद्रमुल्लङ्घ्य गङ्गा नदी अपि सुखोत्तरा सुखोल्लङ्घ्या एव तथा येन स्त्रीसङ्गस्त्यक्तस्तस्य अन्यसङ्गो धनधान्यादिसंयोगः सुत्यज एव (अत्र गाथायां चतुर्थपादे छन्दोलुरोधात् " गंगा भवेज्जा विणई समाणा " इति पाठो युक्तः) १८ ॥ उत्त० ३२ । अ० ।

स्त्रीस्थानदर्शनादिपरिहारस्य ब्रह्मचर्यसमाधिस्थानत्वे श्लोकाः प्रतिपादिताः ।

जं विवित्तमणाइन्नं, रहियं इत्थिजणेण य ।
बंभचेरस्स रक्खट्ठा, आलयं तु निसेवए ॥ १ ॥

साधुर्ब्रह्मचारी तमालयं तमुपाश्रयं निषेवते । तुः पादपूरणे तं कं य आलयो विविक्त एकान्तभूतः तत्रत्यवास्तव्यस्त्रीजनेन चशब्दात् पशुपण्डकैरपि रहितः पण्डकशब्देन नपुंसक उच्यते कालाकालविभागागतसाध्वीजनं श्राद्धीजनं चाश्रित्य विविक्तत्वं ज्ञेयं यदुक्तम्- "अट्ठमी पक्खिये मोत्तुं वयणा कालमेव य । सेसकालम्मि इंतीओ, नेया उ अकालचारीओ " ॥ १ ॥ तस्मात् य आलयस्त्र्यादिभिरसेवितस्तमालयं ब्रह्मचारी साधुश्च निषेवते इत्यर्थः । पुनर्यश्चालयः अनाकीर्णो गृहस्थानां गृहाद्दूरवर्ती किमर्थं ब्रह्मचर्यस्य रक्षार्थं यो हि स्वब्रह्मचर्यं रक्षितुमिच्छति स एतादृशमुपाश्रयं निषेवते अत्र लिङ्गव्यत्ययः प्राकृतत्वात् ॥ १ ॥

मणपल्हायजणणी, कामरागविवड्ढणी ।
बंभचेररओ भिक्खू, थीकहं तु विवज्जए ॥ २ ॥

अथ द्वितीयं ब्रह्मचर्यरतो भिक्षुः स्त्रीकथां विवर्जयेत् स्त्रीणां कथा स्त्रीकथा तां त्यजेत् कीदृशीं कथां मनःप्रह्लादजननीमन्तःकरणस्य हर्षोत्पादिकां पुनः कीदृशीं कामरागविवर्द्धनीं विषयरागस्य अतिशयेन वृद्धिकर्त्रीम् ॥ २ ॥

समं च संथवं थीहिं, संकहं च अभिक्खणं ।
बम्भचेररओ भिक्खू, निच्चसो परिवज्जए ॥ ३ ॥

ब्रह्मचर्यरतो भिक्षुर्नित्यशो निरन्तरं सर्वदा स्त्रीभिः समं संस्तवं अर्थात् एकासने स्थित्वा परिचयं च पुनः अभीक्ष्णं वारं २ संकथां स्त्रीजातिभिः सह स्थित्वा बह्वीं वार्त्तां परिवर्जयेत् सर्वथा त्यजेत् ॥ ३ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अंगपच्चगसंठाणं, चारुल्लवियपेहियं ।
बंभचेररओ त्थीणं, चक्खू गिज्झं विवज्जए ॥ ४ ॥

ब्रह्मचर्यरतः साधुः स्त्रीणामङ्गप्रत्यङ्गसंस्थानं चक्षुर्ग्राह्यं विवर्जयेत् । अङ्गं मुखं प्रत्यङ्गं स्तनजघननाभिकक्षादिकं संस्थानकं कटिविषये हस्तं दत्वा ऊर्ध्वस्थायित्वं पुनः स्त्रीणां चारुलपित प्रेक्षितं चक्षुर्ग्राह्यं विशेषेण वर्जयेत् । चारु मनोहरं यदुल्लपितं मन्मनादि जल्पनं प्रकृष्टमीक्षितं वक्रावलोकनमेतत्सर्वं परित्यजेत् कोऽर्थः ब्रह्मचारी हि स्त्रीणामङ्गप्रत्यङ्गं संस्थानं चारु भणितं कटाक्षैरवलोकनमेतत्सर्वं दृष्टिविषयमागतमपि ततः स्वकीयचक्षुरिन्द्रिय, बलान्निवारयेदित्यर्थः ॥ ४ ॥

कूइयं रुइयं गीयं, हसियं थणियकंदियं ।
बंभचेररओ त्थीणं, सोयगिज्झं विवज्जए ॥ ५ ॥

ब्रह्मचर्यरतः स्त्रीणां कूजितं रुदितं गीतं हसितं स्तनितं क्रन्दितं श्रोत्रग्राह्यं कर्णाभ्यां गृहीतुं योग्यं विशेषेण वर्जयेत् न शृणुयादित्यर्थः ५ ।

हासं कीडं रयं दप्पं, सह भुत्तासणाणि य ।
बंभचेर रओ थीणं, नाणुचिंते कयाइ वि ॥ ७ ॥

ब्रह्मचर्यरतो ब्रह्मचारी स्त्रीणां हास्यं पुनः क्रीडां तथा रतं मैथुनप्रीतिं दर्पं स्त्रीणां मानमर्दनादुत्पन्नं गर्वं पुनः सहसा अपत्रासितानि सहसा कारेण आगत्य पश्चात्पराङ्मुखस्थितानां स्त्रीणां नेत्रे हस्ताभ्यां निरुध्य भयोत्पादनहास्योत्पादनानि सहसा वित्रासितानि उच्यन्ते एतानि पूर्वानुभूतानि कदापि न अनुचिन्तयेत् न स्मरेत् (अत्र सहसाद वित्तासगाणिय " इति क्वचित्पाठस्तदनुसारेण व्याख्यातम्) । अथ च सह भुक्तासनानि न अनुचिन्तयेत् सह इति स्त्रिया सार्द्धं भुक्तमेकासने उपविशन् एवं भोजनानि कृतान्यपि न स्मरेत् सहासनभुक्तानि इति वक्तव्ये सह भुक्तासनानि इति प्राकृतत्वात् ॥ ७ ॥ उत्त० १६ अ० । (स्त्रीप्रसङ्गे दोषस्तत्र दोषादोषविचारश्च मेहुण शब्दे) ।

सांप्रतं मतान्तरं दूषणाय पूर्वपक्षयितुमाह ।

एवमेगे उ पासत्था, पन्नवंति अणारिया ।
इत्थी वसंगया बाला, जिणसासण परम्मुहा ॥ ९ ॥
जहा गंडं पिलागं वा, परि पीलेज्ज मुहुत्तगं ।
एवं विन्नवणित्थिसु, दोसो तत्थ कओ सिया ॥ १० ॥

तु शब्दः पूर्वस्माद्विशेषणार्थः । एवमिति वक्ष्यमाणया नीत्या यदि वा प्राक्तन एव श्लोकोत्रापि संबन्धनीयः (एवमिति) प्राणातिपातादिषु वर्तमाना एक इत्या दि बौद्धविशेषा नीलपटादयो नाथवादिकमण्डलप्रविष्टा वा शैवविशेषाः सदनुष्ठानात् पार्श्वे तिष्ठन्तीति पार्श्वस्थाः स्वयूथ्या वापार्श्वस्थावसन्नकुशीलादयः स्त्रीपरीषहपराजितास्त एवं प्रज्ञापयन्ति प्ररूपयन्ति अनार्याः अनार्यकर्मकारित्वात् । तथाहि । ते वदन्ति । " प्रियादर्शनमेवास्तु किमन्यैर्दर्शनान्तरैः । प्राप्यते येन निर्वाणं सरागेणापि चेतसा " । किमित्येवं तेऽभिदधतीत्याह । स्त्रीवशंगताः यतो युवतीनामाज्ञायां वर्तन्ते बाला अज्ञा रागद्वेषोपहतचेतस इति रागद्वेषजिनो जिनास्तेषां शासनमाज्ञा कषायमोहोपशमहेतुभूता तत्पराङ्मुखाः संसाराभिष्वङ्गिणो जैनमार्गविद्वेषिण एतद्वक्ष्यमाणमूचुरिति ॥ ९ ॥ यदूचुस्तदाह (जहा गंडमित्यादि) यथेत्युदाहरणोपन्यासार्थः । यथा येन प्रकारेण कश्चित् गण्डी पुरुषो गण्डं समुत्थितं पिटकं वा तज्जातीयकमेव तदाकृतोपशमनार्थं परिपीड्य पूयरुधिरादिकं निर्गाल्य मुहूर्तमात्रं सुखितो भवति न च दोषेणानुषज्यते । एवमत्रापि स्त्रीविज्ञापनायां युवतिप्रार्थनायां रमणीसंबन्धे गण्डपरिपीडनकल्पे दोषस्तत्र कुतः स्यात् । न ह्येतावता क्लेदापगममात्रेण दोषो भवेदिति । स्यात्तत्र दोषो यदि काचित्पीडा भवेत् ॥ १० ॥

दृष्टान्तेन दर्शयति–

जहा मंधादए नाम, थिमिअं भुंजती दगं ।
एवं विन्नवणित्थीसु, दोसो तत्थ कओ सिआ ॥ ११ ॥
जहा विहंगमा पिंगा, थिमिअं भुंजती दगं ।
एवं विन्नवणित्थीसु, दोसो तत्थ कओ सिआ ॥ १२ ॥
एवमेगे उ पासत्था, मिच्छदिट्ठी अणारिआ ।
अज्झोववन्ना कामेहिं, पूयणे व्व तरुणए ॥ १३ ॥

यथेत्ययमुदाहरणोपन्यासार्थः । मन्धादन इति मेष नामशब्दः संभावनायाम् यथा मेषस्तिमितमनालोडयन्नुदकं पिबत्यात्मानं प्रीणयति न च तथान्येषां किंचनोपघातं विधत्ते । एवमत्रापि स्त्रीसंबन्धे न काचिदन्यस्य पीडा आत्मनश्च प्रीणनमतः कुतस्तत्र दोषः स्यादिति ॥ ११ ॥ अस्मिन्नेवानुपघातार्थे दृष्टान्तबहुत्वख्यापनार्थं दृष्टान्तान्तरमाह । (जहाविहंगमा इत्यादि) यथा येन प्रकारेण विहायसा गच्छतीति विहंगमा पक्षिणी (पिंगेति) कपिञ्जला साकाश एव वर्तमाना स्तिमितं निभृतमुदकमापिबत्येवमत्रापि गर्भप्रधानपूर्विकया क्रियया अरक्त द्विष्टस्य पुत्राद्यर्थं स्त्रीसंबन्धं कुर्वतोपि कपिञ्जलाया इव न तस्य दोष इति । सांप्रतमेतेषां गण्डपीडनतुल्यं स्त्रीपरिभोगं मन्यमानानां तथैडकोदकपानसदृशं परपीडाऽनुत्पादकत्वेन परात्मनोश्च सुखोत्पादकत्वेन किल मैथुनं जायत इत्यध्यवसायिनां तथा कपिञ्जलोदकपानं यथा तडागोदकासंस्पर्शेन किल भवत्येवमरक्तद्विष्टतया दर्भाद्युच्चारणात् स्त्रीगात्रस्पर्शेन पुत्रार्थं न कामार्थं ऋतुकालाभिगामितया शास्त्रोक्तविधानेन मैथुनेपि न दोषानुषङ्गस्तथोचुस्ते " धर्मार्थं पुत्रकामस्य स्वदारेष्वधिकारिणः । ऋतुकाले विधानेन दोषस्तत्र न विद्यते" इति

एव मुदासीनत्वेन व्यवस्थितानां दृष्टान्तेनैव निर्युक्तिकारो गाथात्रयेणोत्तरदानायाह ।

[जह णाममण्डलग्गे ण, सीसं छित्तूण कस्सइ मणसो ॥
चिट्ठेज्ज पराहुत्तो, किं नाम ततो ण घेप्पेज्जा ॥ ५३ ॥
जह णाविसगंडूसं, कोतीघेत्तूण नाम तुण्हिको ।
अणेण अदीसंतो, किं नाम ततो नवमरेज्जा ॥ ५४ ॥
जह नाम सिरिघराउ, कोइरयणेण णामघेत्तूणं ।
अत्थेज्ज पराहुत्तो, किं णाम ततो न घेप्पेज्जा ॥ ५५] ॥

यथा नाम कश्चिन्मण्डलाग्रेण कस्यचिच्छिरश्छित्वा पराङ्मुखस्तिष्ठेत् । किमेतावतोदासीनभावावलम्बनेन न गृह्येत नापराधी भवेत् । तथा यथा कश्चिद्विषगण्डूषं गृहीत्वा पीत्वा नाम तूष्णीं भावं भजेदन्येन वाप्यदृश्यमानोसौ किं नाम ततो सावन्यादर्शनात् न म्रियेत । तथा यथा कश्चिच्छ्रीगृहाद्भाण्डागाराद्रत्नानि महार्घ्याणि गृहीत्वा पराङ्मुखस्तिष्ठेत् किमेतावतासौ न गृह्येतेति । अत्र च यथा कश्चित् शठतया अज्ञतया वा

शिरच्छेदे विषमएरूषरत्नप्रहाराख्ये सत्यपि दोषत्रये माध्यस्थ्यमवलम्बेत न च तस्य तद्दवलम्बनेपि निर्दोषतेति । एवमहान्त्यवश्यं भाविरागकार्यमैथुने सर्वदोषास्पदे संसारवर्द्धके कुतो निर्दोषतेति। तथाचोक्तम् "प्राणिनां बाधकं चैतच्छास्त्रेगीतं महर्षिभिः। नलिकातप्तकणक प्रवेशज्ञानतस्तथा ॥१॥ मूलं चैतदधर्मस्य भवभावप्रवर्धनम् ॥ तस्माद्विषान्नवत्याज्यमिदं पापमनिच्छतेति " निर्युक्तिगाथात्रयतात्पर्यार्थः ॥ १२ ॥

साम्प्रतं सूत्रकार उपसंहारव्याजेन गएरूपीरूनादिदृष्टान्तवादिनां दोषोद्भिभावयिषयाह । (एवमेगे इत्यादि) एवमिति गएरूपीरूनादिदृष्टान्तबलेन निर्दोषं मैथुनमिति मन्यमाना एके स्त्रीपरीषहपराजिताः सदनुष्ठानात्पार्श्वे तिष्ठन्तीति पार्श्वस्था नाथवादिकमएरूलचारिणः तुशब्दात् स्वयूथ्या वा तथा विपरीता तत्त्वग्राहिणी दृष्टिर्दर्शनं येषां ते । तथा आराद्दूरं याता गता सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यार्या न आर्या अनार्याः । धर्मविरुद्धानुष्ठानात्त एवंविधा अभ्युपपन्ना गृद्धाश्च इच्छामदनरूपेषु कामेषु कामैर्वा करणभूतैः सावद्यानुष्ठानैष्विति । अत्र लौकिकं दृष्टान्तमाह । यथा वा पूतनाडाकिनी तरुणके स्तनन्धये ऽभ्युपपन्ना एवं तेऽप्यनार्याः कामेष्विति । यदिवा (पूयणत्ति) गड्डुरिका आत्मीये ऽपत्येऽभ्युपपन्ना एवं ते ऽपीति कथानकं चात्र । यथा किल सर्वपशूनामपत्यानि निरूदके कूपे ऽपत्यस्नेहपरीक्षार्थं क्षिप्तानि तत्र चापरा मातरः स्वकीयस्तनंधयशब्दाकर्णनेपि कूपतटस्था रुदन्त्यस्तिष्ठन्ति । उरभ्री त्वपत्यातिस्नेहेनान्धा अपायमनपेक्ष्य तत्रैवात्मानं क्षिप्तवतीत्यतो ऽपरपशुभ्यः स्वापत्ये ऽभ्युपपन्नेति ।

एवं ते ऽपि कामाभिष्वङ्गिणां दोषमाविष्कुर्वन्नाह ।

अणागयमपस्संता, पच्चुप्पन्नगवेसगा ॥
ते पच्छा परितप्पंति, खीणे आउम्मि जोव्वणे ॥ १४ ॥
जेहिं काले परिक्कंतं, न पच्छा परितप्पए ॥
ते धीरा बंधणुम्मुका, नावकंखंति जीविअं ॥ १५ ॥

अनागतमेष्यत् कालमनिवृत्ता नरकादियातनास्थानेषु महादुःखमपश्यन्तो ऽपर्यालोचयन्तस्तया प्रत्युत्पन्नं वर्तमानमेव वैषयिकं सुखाभासमन्वेषयन्तो मृगयमाणा नानाविधैरुपायैर्भोगान् प्रार्थयन्तस्ते पश्चात् क्षीणे स्वायुषि जातसंवेगा यौवने वा अपगते परितप्यन्ते शोचयन्ते पश्चात्तापं विदधति । उक्तंच । " हतं मुष्टिभिराकाशं तुषाणां कएरूनं कृतम् । यन्मया प्राप्य मानुष्यं सदर्थे नादरः कृतः ॥ १ ॥तथा । " विहवा वलेवनरिपाहि जाइं कीरंति जोव्वणमएण ॥ वयपरिणामे सरियाइं ताइंहिं अपक्खुडुकंति ॥ १ ॥ ॥ १४ ॥ ये तूत्तमसत्वतया अनागतमेव तपश्चरणादावुद्यमं विदधति न ते पश्चाच्छोचन्तीति तद्दर्शयितुमाह । (जेहिंकालेइत्यादि) यैरात्महितकर्तृभिः काले धर्मार्जनावसरे पराक्रान्तमिन्द्रियकषायपराजयायोद्यमो विहितो न ते पश्चान्मरणकाले वृद्धावस्थायां वा परितप्यन्ते न शोकाकुला भवन्ति । एकवचननिर्देशस्तु सौत्रश्छान्दसत्वादिति । धर्मार्जनकालस्तु विवेकिनां प्रायशः सर्व एव । तस्मात्स एव प्रधानपुरुषार्थः प्रधान एव च प्रायशः क्रियमाणो धर्मः प्राञ्चति । ततश्चायं बाल्यप्रभृत्यकृतविषयासङ्गतया कृततपश्चरणास्ते धीराः कर्मविदारणसहिष्णवो बन्धनेन स्नेहात्मकेन कर्मणा चोत्प्राबल्येन मुक्ता नावकाङ्क्षन्ति असंयमजीवितम् । यदिवा जीविते मरणे वा निस्पृहाः संयमोद्यमवन्तो भवन्तीति ॥ १५ ॥ अन्यच्च--

जहा नई वेयरणी, दुत्तरा इह संमता ।
एवं लोगंसि नारीओ, दुत्तरा अमईमया ॥ १६ ॥
जेहिं नारीण संजोगा, पूयणा पिट्ठतो कता ॥
सव्वमेयं निराकिच्चा, ते ठिया सुसमाहिए ॥ १७ ॥

य येत्युदाहरणोपन्यासार्थः यथा वैतरणी नदीनां मध्ये ऽत्यन्तवेगवाहित्वात् विषमतटत्वाच्च दुस्तरा दुर्लङ्घ्या एवमस्मिन्नपि लोके नार्यो ऽमतिमता निर्विवेकेन हीनसत्वेन दुःखेनोत्तीर्यन्ते । तथाहि । ता हावभावैः कृतविद्यानपि स्वीकुर्वन्ति । तथाचोक्तं " सन्मार्गे तावदास्ते प्रभवति पुरुषस्तावदेवेन्द्रियाणां, लज्जां तावद्विधत्ते विनयमपि समालम्बते तावदेव ॥ भ्रूचापाक्षेपमुक्ताः श्रवणपथजुषो नीलपक्ष्माण एते यावल्लीलावतीनां न हृदि धृतिमुषो दृष्टिबाणाः पतन्ति,,। तदेवं वैतरणी नदीवत् दुस्तरा नार्यो भवन्तीति ॥ १६ ॥ अपिच (जेहीत्यादि) यैरुत्तमसत्वैः स्त्रीसङ्गविपाकवेदिभिः पर्यन्तकटवो नारीसंयोगाः परित्यक्तास्तथा तत्सङ्गार्थमेव यस्त्रालंकारमाल्यादिभिरात्मनः पूजनाकामविभूषा पृष्ठतः कृता परित्यक्तेत्यर्थः । सर्वमेतत्स्त्रीप्रसङ्गादिकं क्षुत्पिपासादि प्रतिकूलोपसर्गकदम्बकं च निराकृत्य ये महापुरुषसेवितपथं प्रति प्रवृत्तास्ते सुसमाधिना स्वस्थचित्तवृत्तिरूपेण व्यवस्थिता नापसर्गैरनुकूलप्रतिकूलरूपैः प्रक्षोभ्यन्ते । अन्ये तु विषयाभिष्वङ्गिणः स्त्र्यादिपरीषहपराजिता अङ्गारोपरिपतितमीनवद् रागाग्निना दह्यमाना असमाधिना तिष्ठन्तीति ॥ १७ ॥

स्त्र्यादिपरीषहपराजयस्य फलं दर्शयितुमाह

एते ओघं तरिस्संति, समुद्दं ववहारिणो ॥
जत्थपाणा विसन्नासि, किच्चंती सयकम्मणा ॥ १८ ।
तं च भिक्खू परिणाय, सुव्वते समिते चरे ॥
मुसावायं च वज्जिज्जा--दिन्नादाणं च वोसिरे ॥१९॥

य एते अनन्तरोक्तानुकूलप्रतिकूलोपसर्गजेतार एते सर्वे ओघं संसारं दुस्तरमपि तरिष्यन्ति । ऽत्रौघदृष्टान्तमाह । समुद्रं लवणसागरमिव व्यवहारिणः सांयात्रिका यानपात्रेण तरन्त्येवं भवौघमपि संसारसंयमयानपात्रेण यतयस्तरिष्यन्ति । तथा तीर्णास्तरन्ति चेति । भवौघमेव विशिनष्टि । भवौघे संसारसागरे प्राणाः प्राणिनः स्त्रीविषयसङ्गाद्विषण्णाः सन्तः कृत्यन्ते पीड्यन्ते स्वकृतेनानुष्ठितेन पापेन कर्मणा असद्वेदनीयोदयरूपेणेति ॥ १८ ॥ साम्प्रतमुपसंहारव्याजेनोपदेशान्तरविधित्सयाह । (तंचभिक्खूइत्यादि) तदेतद्यथा प्रागुक्तं यथा वैतरणीनदीवत् दुस्तरा नार्यो यैः परित्यक्तास्ते समाधिस्थाः संसारं तरन्ति स्त्रीसङ्गिनश्च संसारान्तर्गताः स्वकृतकर्मणा कृत्यन्त इति तदेतत्सर्वं भिक्षणशीलो भिक्षुः परिज्ञाय हेयोपादेयतया बुध्वा शोभनानि व्रतान्यस्य सुव्रतः पञ्चभिः समितिभिः समित इत्यनेनोत्तरगुणवेदनं कृतमित्येवम्भूतश्चरेत्संयमानुष्ठानं विदध्यात् । तथा मृषावादमसद्भूतार्थभाषणं विशेषेण वर्जयेत्तथा अदत्तादानञ्च व्युत्सृजेद्दन्तशोधनमात्रमप्यदत्तं न गृह्णीयात् । आदिग्रहणात् मैथुनादेः परिग्रह इति । तच्च मैथुनादिकं यावज्जीवमात्महितं मन्यमानः परिहरेत् । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ॥

(स्त्रियां जातमपत्यं पुरुषस्यैवेति-अपच्च-शब्दे । स्त्रीपुरुषयोरन्तरं ' अणंतर ' शब्दे । स्त्रीगर्भेयकाल्यता ' गब्भ ' शब्दे । स्त्रीभ्यो दृष्टिवादो न दीयत इति ' दिट्ठिवाय ' शब्दे । स्त्रीणां

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मोक्षसिद्धिः ' इत्थीलिंगसिद्ध ' शब्दे । स्त्रीवसतिकृतस्य निन्दा ' इत्थिवस ' शब्दे । स्त्रीशब्दयुक्ते स्थाने न स्थातव्यमिति ' वसही ' शब्दे । स्त्रीसंसक्तस्थानादिनिषेधो 'बंभचेरसमाहिट्ठाण ' शब्दे 'बंभचेर गुत्ति' शब्दे च । स्त्रीणां स्वातन्त्र्यनिषेधः ' इत्थिरक्ख शब्दे ')

इदं–इदम्–त्रि०'इदि' कमि नलोपश्च । पुरोवर्तिनि,। सूत्र०१श्रु० ३ अ० । प्रत्यक्षे, । नि० चू० १ उ० । प्रत्यक्षासन्ने च । आ० चू० ४ अ० । इणमेव खणंवियाणिया" । इदमः प्रत्यक्षासन्नवाचित्वादिति । सूत्र १ श्रु० २ अ० । " आरंभं जं दुक्खमिणंति णच्चा " इदमिति प्रत्यक्षगोचरापन्नमिति । आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । सूत्र० । प्रश्न० । "इहाविदं सुयक्खायं" ॥ प्रत्यक्षासन्नवाचित्वादिदम इति ।सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । अस्य च सर्वस्याम् विभक्तौ ॥ ' इदम इमः ८ । ३ । ७२ । इति प्राकृतसूत्रेण इमादेशः इमो-इमे-इमं । इमेण-स्त्रीयामपि-इमा सौ" पुंस्त्रियोर्नवाऽयमिमिआ सौ" ८ । ३ । ७३ इति प्राकृत सूत्रेण अयमिति पुंलिङ्गे इमिआ इति स्त्रीलिङ्गे वैकल्पिक आदेशः । अहवा अंक अकज्जो-इमिआ वाणिअधूआ । पक्षे इमो इमा-" षष्ठीसप्तम्योः स्सिस्सयोरत्" ८ । ३ । ७४ । इति प्राकृतसूत्रेणेदमः स्सिं स्स इत्येतयोः परयोर्वा अद्भवति अस्सिं अस्स । पक्षे इमादेशोपि । इमस्सिं इमस्स-बहुलाधिकारादन्यत्रापि अद् भवति । एहि-एसु-आहि एभिः एषु आभिरित्यर्थः 'ङेर्मेन हः, । ८ । ३ । ७५ । इति प्राकृतसूत्रेण कृतेमादेशात्परस्य ङेः स्थाने मेन सह वैकल्पिके हादेशे, इह पक्षे इमस्सिं इमम्मि । नन्थः । ८ । ३ । ७६ । इति प्राकृतसूत्रेण इदमः परस्य ङेः स्सिम्मित्था इतिप्राप्तस्त्थो निषिध्यते । इह इमस्सिं इमम्मि । णोऽम शस्टाभिसि । ८ । ३ । ७७। इति प्राकृतसूत्रेणामशस्टाभिस्सु इदमो वा ण इत्यादेशो भवति णं पेच्छ । णे पेच्छ । णेण-णेहिं कअं। पक्षे इमं इमे इमेण इमेहिं । द्वितीयैकवचनेऽमि । अमेणम् । ८ । ३ । ७८ । इति प्राकृतसूत्रेणामा सहितस्येदम स्थाने इणम् इत्यादेशो वा भवति इणं पेच्छ पक्षे इमं सौ- अमि च नपुंसके । " क्लीबे स्यमेदमिणमो च" ८ । ३ । ७९ । इति प्राकृतसूत्रेण स्यम्भ्यां सहितस्य इदम इणमो इणम् च नित्यमादेशो भवति । इदं इणमो इणं । धणं चिट्ठइ पेच्छ वा । प्रा० व्या० ।

इदा (या)णिं-इयाणिंह-इदानीम्-अव्य० इदमीदानीम् ।सम्प्रत्यर्थे,–वाच० इआणिं कोणो कं पत्तव्वयं इच्छइ- । अनु० । 'इयाहिए गच्छं' ॥इदानीं गच्छामीति ।स्था० ३ ठा० । 'कामं खलु आउसो इदाणिं ति'–आचा ० २ श्रु० १ अ० १० उ० । " मांसादेर्वा । इतिप्राकृतसूत्रेणानुस्वारस्य विकल्पेन लोपे इयाणि इयाणिं ।दाणि दाणिं ।प्रा० व्या०।

इन्दुर–इन्दुर–न० कोष्ठिकामुखगन्धया उपरि दीयमाने सुंवादिन्यूते ढंकनकादिके, अनु० । महति पिठके, येन समस्तापि रसवतीस्थग्यते-राज० ।

इदं–इदएद–पुं०भ्रमरे, दे०ना० ॥

इद्ध-इद्ध-न-इन्ध भावे क-आतपे, दीप्तौ, आश्चर्ये च । कर्त्तरि-क्त ।दीप्ते, गन्धे च । त्रि० । वाच० ।

इध–इह–अव्य०'इहहचोर्हस्य' इति प्राकृतसूत्रेण शौरसेन्यां धः। प्रा० व्या० । इदं इहशादेशः । अस्मिन्काले देशे दिशि वा इत्यर्थे, वाच० ॥

इंध–(चिण्ह) चिह्न–न०'चिह्ने न्धो वा'। इति वा न्धादेशः। पक्षे पवादः पक्षे लोपि । ' कगचजतदपयवां प्रायो लुक् ' ॥ इति प्राकृतसूत्रेण वा चस्य लुक् । लक्षणे, प्रा० व्या० ।

इब्भ–इभ्य–पुं-इभो हस्ती तत्प्रमाणं द्रव्यमर्हतीति इभ्यः । अनु० । दण्डादित्वाद् यत् । वाच० । हस्तिप्रमाणद्रविणराशिपतौ; । औप० । यद्द्रव्यस्तूपान्तरित उच्छ्रितकदलिका दण्डो हस्ती न दृश्यते ते इभ्या इति जनश्रुतिरिति । स्था० ६ ठा० । जं ० । महाधनपतौ, भ०९ श. ३३ उ० । आ० म० । अधिकतरद्रव्यो वा इभ्य इति । अनु० । " अह्ना इब्भा धणिणो । इति । प्रा० को० । नृपे, हस्तिपके च । पुं- । वाच० । स्वनामख्याते वसन्तपुरस्थे श्रेष्ठिनि च । " वसन्तपुरनामास्ति, वसन्तर्तु समं पुरम् । श्रेष्ठी तत्रेभ्यनामाऽभू–त्प्रेयसी तस्य धारिणीति-" । आ० क० । वणिजि, दे० ना० ।

इब्भग (य) इभ्यक–त्रि-स्वार्थे कन् इभ्यशब्दार्थे, । आ० म० प्र० । स्त्रियां तु टापि वा अत इत्वम् ।इभ्यका इभ्यिका-इभजात्यायां स्त्रियाम् । वाच० ।

इब्भगेहि– इभ्यकगेहिन्–पुं-इभ्यवासके, इब्भगेहिणाणि णाणाविहभक्खहत्थगयाणि स गिहेहिंतो निग्गयाणि । आ० म० प्र० ।

इब्भजाइ–इभ्यजाति–स्त्री० आर्यजातौ,

छव्विहा जाइ आरिया मणुस्सा पण्णत्ता तंजहा अंबट्ठा य कलंदा य, वेदेहा वेदिगाइया । हरिया चुंचुणा चेव, छ एेया इब्भजाइओ ॥ १ ॥

जातिर्मातृकः पक्षस्तया आर्या अपाया निर्दोषा जात्यार्या विशुद्धमातृका इत्यर्थः । अम्बष्ठेत्याद्यनुष्टुप्प्रतिकृतिः षडप्येता इभ्यजातय इति । इभमर्हन्तीतीभ्या यद्द्रव्यस्तूपान्तरित उच्छ्रितकदलिका दण्डो हस्ती न दृश्यते ते इभ्या इति श्रुतिस्तेषां जातय इभ्यजातयस्ता एता इति । स्था० ६ ठा० ।

इब्भदास–इभ्यदास–पुं० स्वनामख्याते श्रेष्ठिनि, । ती० ।

इभ–इभ–पुं०इण्–भ– किच्च । हस्तिनि,। जं० २ व० । अनु० ।

इमड्डी–इमड्डी-स्त्री० इः कामस्तस्य महाः कामिन्यः स्त्रियाम्,गा.

इ (मा) (मिआ) मी–इयम् स्त्री० प्रत्यक्षायाम् " पुंस्त्रियोर्नवायमिमिआ सौ–८ । ४–७३ इति प्राकृतसूत्रेण स्त्रीलिङ्गे इमि आदेशः । आजातेः पुंसः ।८। ३। ३२ इति जाति वाचिनः पुलिङ्गाद्वा आत्वम् । इमिए, इमाए, इमिणं इमाणं। प्रा० व्या० ।

इय–इक–देशी० क्वापि प्रवेशार्थे,–इकमिति देशीपदं क्वापि प्रवेशार्थे वर्त्तत इति आ० म० द्वि० एतस्य निक्षेपो यथा इकमपि चतुर्धा तद्यथा नामेकं स्थापनेकं द्रव्येकं भावेकं च । तत्र नामस्थापने प्रतीते । द्रव्येकं "दोहारस्सविइगाहमेयाइं तु दव्वाइं " द्वारे इति सूत्रे दवरके मौक्तिकान्यधिकृत्य भाविपर्यायापेक्षया हारस्य मुक्ताफलकलापस्य विनिवेशनं प्रवेशनम् " ए आ अंतुदव्वम्मि" एतान्युदाहरणानि द्रव्ये द्रव्यविषयाणि "णाणाइतियं तस्साया पोयणं भावसामाई"तस्येति सामादि सम्बन्धे । तस्य सामादेरात्मनि प्रोतनमात्मनि प्रवेशनं भावेकमिति । आ० म० द्वि० । आ० चू० ।

इत–त्रि० गते, समियं उदाहु सम्यक् इतं गतमिति । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । आचा० । स्था० । ज्ञाते,परिच्छिन्ने, । आचा० १ श्रु०८ अ० ७ उ०। प्राप्ते,विशे०।इतो इतः स्थित इत्यनर्थान्तरम् । नं० । विशे० । प्राप्ते क्तः । गतौ, ज्ञाने च । वाच० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'इतो तो वाक्यादौ' । इति प्राकृतसूत्रेण वाक्यादौ इति शब्देकारस्याकारः । 'इअ जं पिआ बलाणे' इआविअसिअ कुसुमसरो इति । प्रा० व्या० । इति एवमर्थे, "इय सिद्धाणं सोक्खं" इति एवं सिद्धानां सौख्यमिति । औप० । "इय सव्वगुणाहाणं" एवमुक्तेन प्रकारेण सर्वगुणाधानम् इति । आव० । नि० चू० ॥

इयर–इतर–त्रि० इना कामेन तीर्य्यते तृ अप् । तराति पचाद्यच् वा । नीचे, पामरे, । वाच० ।

इत्तरिए अय अहमंसिपुण विसिट्ठे जाइकुल बलाइगुणोववेए एवं अप्पाणं समुक्कस्से ॥

इतरोयं जघन्यो हीनजातिकः कुलबलरूपादिभिर्दूरमपकृष्टः सर्वजनावगीतोयमिति । अहं पुनर्विशिष्टजातिकुलबलादिगुणोपेत एवमात्मानं समुत्कर्षयेदिति । सूत्र० २ श्रु० २ अ० ॥ "इयराइयरहिं कुलेहिं" इतरे सामान्यसाधुभ्यो विशिष्टतराः साधव इति । आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ० ॥

इयरकुल–इतरकुल–न० अन्तप्रान्तकुले, आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ० ॥

इयरेयर–इतरेतर–त्रि० इतरद्वित्वं समासवद्भावश्च । अन्योन्यशब्दार्थे, । उत्त० १ अ० ॥

इयरेयरसंजोग–इतरेतरसंयोग–पुं० इतरेतरस्य परस्परस्य संयोगो घटना । परस्परघटनायाम्, तदात्मसंयोगभेदे च उत्त० १ अ० । (तद्वक्तव्यतासंजोगशब्दे)

इयरेयरसावेक्ख–इतरेतरसापेक्ष्य–त्रि० परस्पराविरोधिनि, इतरेतरसापेक्षात्वेषां पुनरात्तवचनपरिणत्या इतरेतरसापेक्षा परस्पराविरोधिनीति । षो० ।

इयरेयरस्सय–इतरेतराश्रय–पुं० इतरेतर आश्रयति आ–श्रि–अच् अन्योन्याश्रये तर्कदोषभेदे, वाच० ।

इयरेयराभाव–इतरेतराभाव–पु० इतरेतरस्मिन्नभावः । अभावविशेषे, इतरेतराभावं वर्णयन्ति स्वरूपान्तरात्स्वरूपव्यावृत्तिरितरेतराभाव इति । स्वभावान्तरान्न पुनः स्वस्वरूपात्तथाऽसत्त्वप्रसक्तेः स्वरूपव्यावृत्तिः स्वस्वभावव्यवच्छेद इतरेतराभावो ऽन्यापोहनमानिगद्यते ॥ उदाहरणमाहुर्यथास्तम्भस्वभावात्कुम्भस्वभावव्यावृत्तिरिति । रत्ना० ।

इर–इर–धा० ईर्षायाम्, कण्ड्वादित्वाद् यक् । उभ० । इर्याति इर्य्यते वाच० । 'किये रे हिर किलार्थे वा' ८।२।८६। इति सूत्रेण किलार्थे तस्य प्रयोगबोधनात् । तस्स इर किलार्थे, प्रा० व्या० । पादपूरणे च । अव्य. व्य० । ईजे इराः पादपूरणे । ८ ।२।१७ इति सूत्रात् " गेण्हइ कलमगोवि ' । इति । प्रा० ।

इरमंदिर–इरमन्दिर–पु० करभे, दे० ना०

इराव–इराव–देशी–गजे, दे० ना० ।

इरिआ–ईर्या–स्त्री–कुत्थाम,–दे० ना० ।

इरिण–इरिण–देशी–कनके, दे० ना० ।

इरियज्झयण–ईर्याध्ययन–न० आचाराङ्गश्रुतस्कन्धस्य प्रथम चूलिकान्तर्गते तृतीयेऽध्ययने, तच्चाचाराङ्गपञ्चमाध्ययनावन्त्यास्यस्य चतुर्थोद्देशकसूत्रम् । गामाणुगामं दुइज्जमाणस्स दुज्जायं दुपरक्कमित्यादिनेर्यासंक्षेपेण व्यावर्णितेत्यत ईर्याध्ययनं निर्व्यूढमिति ।

अत्र अय उद्देशा उद्देशार्थाधिकारमधिकृत्याह निर्युक्तिकारः

सव्वेवि यदवि इरिय विसोहि-कारगा तहवि अत्थिपविसेसो ।
उद्देसे उद्देसे, वोच्छामि समासओ किंपि ॥ २८ ॥

पढमे य उवागमणि-ग्गमो य अद्धाजाणि च जयणा ।
बितिए आरूढ छलणं, जंघा संतारपुच्छाया ॥ २९ ॥
तइयम्मि अदंसणया–अप्पडिबंधो य होइ उवहिम्मि ।
वज्जेयव्वं च सया, संसारियरायगिहगमणं ॥ ३० ॥

(सव्वेत्यादि) सर्वेपि यद्यपि यद्यपीर्याविशुद्धिकारकास्तथापि प्रत्युद्देशकमस्ति विशेषस्तं च यथाक्रमं किञ्चिद्वक्ष्यामि इति यथाप्रतिज्ञातमाह (पढमाहा) प्रथमोद्देशके वर्षाकालादावुपागमनं स्थानं तथा निर्गमश्च शरत्कालादौ यथा भवति तदत्र प्रतिपाद्यमध्वानि यतना चोति द्वितीयोद्देशकेन घावारूढस्य छलनं प्रक्षेपणं व्यवर्ण्यते जंघा संतारे च पानीये यतना तथा नानाप्रकारे च प्रश्ने साधुना यद्विधेयमेतच्च प्रतिपाद्यमिति (तइयम्मि गाहा) तृतीयोद्देशके यत्रि कश्चिदुदकादीनि पृच्छति तस्य जानताप्यदर्शनता विधेयेत्ययमधिकारः तथोपधावप्रतिबन्धो विधेयस्तदपहरणे च स्वजनराजगृहगमनञ्च वर्जनीयं न च तेषामाख्येयमिति । आचा० २ श्रु० ३ अ० १ उ० ॥

इरियट्ठ–ईर्य्यार्थ–त्रि० ईर्य्याविशुद्ध्यर्थे, तदर्थमाहारकरणेऽनातिक्रमः 'इरियट्ठाए य' ईर्यागमनं तस्या विशुद्धिर्युगमात्रनिहितदृष्टित्वमीर्य्याविशुद्धिस्तस्यै इदमीर्याविशुद्ध्यर्थम् । इह च विशुद्धिशब्दलोपादीर्य्यार्थमित्युक्तम् बुभुक्षितो हीर्य्याशुद्धावशक्तः स्यादिति । स्था० ६ ठा० (तदर्थमाहारकरणे नातिक्रम इति 'आहार' शब्दे)

इरिया–ईर्या–स्त्री–ईरणमीर्या ईरगतिप्रेरणयोरस्माद्भावे ण्यत् । गमने, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० । आचू० । स्था० । आव० । उत्त० । सूत्र० । ईर्यानिक्षेपणार्थं निर्युक्तिकृदाह ।

णामं ठवणा इरिया, दव्वे खेत्ते य कालभावे य ।
एसो खलु इरियाए, णिक्खेवोछव्विहो होइ ॥ ३३ ॥
दव्वइरिया उ तिविहा, सचित्ताचित्तमीसगा चेव ।
खेत्तम्मि जम्मि खेत्ते, काले कालो जहिं जोए ॥ ३४ ॥

तत्र द्रव्येर्या सचित्ताचित्तमिश्रभेदात्त्रिविधा ईरणमीर्य्या गमनमित्यर्थः । तत्र सचित्तस्य वायुरुषादेर्द्रव्यस्य यद्गमनं सा सचित्तद्रव्येर्या एवं परमाण्वादिद्रव्यस्य गमनमचित्तद्रव्येर्य्या । तथा मिश्रद्रव्येर्या रथादिगमनमिति । क्षेत्रेर्या यस्मिन् क्षेत्रे गमनं क्रियते ईर्या वा वर्ण्यते । एवं कालेर्य्यापि द्रष्टव्येति । आचा० । भावेर्य्याप्रतिपादनायाह– ।

भावइरिया उ दुविहा, चरणगई संजमगई य ।
समणस्स कहं गमणं, दोसं होइ परिसुद्धं ॥ ३५ ॥

भावविषयेर्या द्विविधा चरणेर्य्या संयमेर्य्या च । तत्र संयमेर्या सप्तदशविधसंयमानुष्ठानं यदि वा असंख्येयेषु संयमस्थानेष्वेकस्मात्संयमस्थानादपरं संयमस्थानं गच्छतः संयमेर्या भवति । चरणेर्या तु अभ्रवनूभञ्चरगत्यर्थाः चरतेर्भावे ल्युट् चरणं तद्रूपेर्या चरणेर्या । चरणं गतिः गमनमित्यर्थः तच्च श्रमणस्य कथं केन प्रकारेण भावरूपगमनं निर्दोषं भवतीत्याह–

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आलंबणे य काले, मग्गे जयणा य चेव परिसुद्धं ।
भंगेहिं सोलसविधं, उपरिसुद्धं पसत्थं तु ॥ २६ ॥

तं प्रवचनसंघगच्छाचार्यादिप्रयोजनं कालः साधूनां विहरणयोग्योऽवसरे मार्गो जनैः पदक्षुण्णः पन्था यतना उपयुक्तस्य युगमात्रदृष्टित्वं तदेवमालम्बनकालो मार्गयतना पदैरेकैकपदव्यभिचारादेर्भङ्गास्तैः षोडशविधं गमनं भवति तस्य च यत्परिशुद्धम् । तदेव प्रशस्तं भवतीति दर्शयितुमाह—

चउकारण परिसुद्धं, अहवा वि होज्ज कारणाजाए ।
आलंबण जयणाए, काले मग्गेय जइयव्वं ॥ २७ ॥

चतुर्भिः कारणैः साधोर्गमनं परिशुद्धं भवति तद्यथा आलम्बनेन दिवा मार्गेण यतनया गच्छत इति अथवा अकालेऽपि ग्लानाद्यालम्बनेन यतनया गच्छतः शुद्धमेव गमनं भवत्येवं भूते च मार्गे साधुना यतितव्यमिति । आचा० २श्रु० ३ अ० १ उ० (गमनं च यथा कर्त्तव्यन्तथेर्य्याध्ययने आचाराङ्गे प्रतिपादितं विहार-शब्दे द्रष्टव्यम्) "इरियं च पडिक्कमेज्जा" ईरणमीर्य्या तां च सूक्ष्मां कायवाग्गतां मनोगतां वा प्रशस्तां प्रत्याचक्षीत इति । आचा० १ श्रु० ८अ० । ७ उ० । ईरणमीर्या गमनम् । तत्कार्य्ये कर्म्मणि च । "एगंतस्स पसंतस्स, न होंति इरियादयो गुणा" ईरणमीर्य्यागमनमित्यर्थः इह ईर्य्याकार्य्यं कर्म ईर्य्याशब्देन गृह्यते कारणे कार्योपचारादिति । आ० म० द्वि० । ईर्य्यासमितौ, "धणुपरक्कमं किच्चा जीवं च इरियं सया,, जीव प्रत्यञ्चामीर्य्यामीर्य्यासमितिमिति । उत्त० ईरणमीर्य्या तत्सूत्रोच्चारणपुरस्सरकायोत्सर्गात्मके सामाचारिभेदे च । ग० २ अधि ।

इरियापच्चय—ईर्य्याप्रत्यय—न० ईरणमीर्य्या गमनं तेन जनितमीर्य्या प्रत्ययम् । कर्मभेदे, सूत्र १ श्रु० २ अ० (एतद्वक्तता इरियावहिय शब्दे)

इरियावह—ईर्य्यापथ—पु० ईरगतिप्रेरणयोरस्माद् भावे ण्यत् । ईरणमीर्य्या तस्याः (तयावा) पन्था 'ईर्य्यापथः । सूत्र० ।२ श्रु० २ अ०॥ स्था० । ईरणमीर्य्या गमनं तद्विशिष्टः पन्था ईर्य्यापथः । प्रव० ३द्वार । ईर्य्या गमनं तद्विषयः पन्था ईर्य्यापथः । भ० ११ श० १० उ० । आव० । गमनमार्गे, भ० ३ श० ३ उ० । कश्चेर्य्यायाः पन्था भवति यदाश्रिता सा भवतीति । आचा० २ अ० १ उ० । ईरणमीर्य्या तत्सम्बद्धः पन्था ईर्य्यापथस्तत्प्रत्ययं कर्मेर्य्यापथम् । सूत्र० १ श्रु० १ अ० । ईर्य्यापथप्रत्ययमीर्य्यापथम् । प्रति० । कर्मभेदे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० । एतदुक्तं भवति पथि गच्छतो यथा कथंचिदनभिसन्धेर्यत्प्राणिव्यापादनं भवतीति । सूत्र० १ श्रु० २ अ० । (अस्य बन्धनकारणत्वविचारः कम्मबंध शब्दे) ।

इरियावहकिरिया—ईर्य्यापथक्रिया—स्त्री० क्रियाभेदे, सा च यदुपशान्तमोहादेरेकविधकर्मबन्धनमिति । स्था० ५ ठा० । ईर्य्यापथक्रिया तूपशान्तमोहादारभ्यसयोगिकेवलिनं यावदिति । सूत्र० २ श्रु० २ अ० (एतस्या विस्तरेण वक्तव्यता इरियावहिया शब्दे) ।

इरियावहिय-ईर्य्यापथिक-न० ईरगतिप्रेरणयोरस्माद्भावे ण्यत् ईरणमीर्य्या तस्याः पन्था ईर्य्यापथस्तत्र भवमीर्य्यापथिकम् । आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० । ईरणमीर्य्या तस्यास्तया वा पन्था ईर्य्यापथः स विद्यते यस्य तदीर्य्यापथिकम् । एतच्च शब्दव्युत्पत्तिमात्रम् प्रवृत्तिनिमित्तं तु इदम् सर्वत्रोपयुक्तस्य निकषायस्य समीक्षितमनोवाक्कायक्रियस्य या क्रिया तया यत्कर्म तदीर्य्यापथिकम् । सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

ऐर्य्यापथिक-न० ईरणमीर्य्या गमनन्तत्प्रधानः पन्था मार्गः ईर्य्यापथस्तत्र भवमैर्य्यापथिकम् । केवलयोगप्रत्यये कर्मभेदे, भ० ८ श० ८ उ० । कश्चेर्य्यायाः पन्था भवति यदाश्रिता सा भवत्येतच्च व्युत्पत्तिनिमित्तं यतस्तिष्ठतोपि तद्भवति प्रवृत्तिनिमित्तं तु स्थित्यभावस्तच्चोपशान्तक्षीणमोहसयोगिकेवलिनां भवति । सयोगिकेवलिनोऽपि हि तिष्ठतोपि सूक्ष्मगात्रसञ्चारा भवत्युक्तञ्च "केवलीणं भंते! अस्सिं समयंसि जेसु आगासपदेसेसु हत्थं वा पायं वा ओगाहित्ताणं पडिसाहरेज्जा पभूणं भंते ! केवलीतेसु चेवागासपदेसेसु पडिसाहरित्तए णो इणट्ठे समट्ठे । कहं केवलिस्सणं चलाइं सरीरोवगरणाइं भवंति चलोवगरणाइं भवंति एणत्ताए केवलिणो संचाएत्ति तेसु चेवागासपदेसेसु हत्थं वा पायं वा पडिसाहरित्तए" तदेवं सूक्ष्मेतरगात्रसञ्चाररूपेण योगेन यत्कर्म्म बध्यते तदीर्य्यापथिकमीर्याहेतुकमित्यर्थः । तच्च द्विसमयस्थितिकमेकस्मिन् समये बद्धं तृतीयसमये तदपेक्षया चाकर्मतेति कथमित्युच्यते यतस्तत्प्रकृतितः सातावेदनीयमकषायत्वात् स्थित्यभावेन बध्यमानमेवं परिशटति अनुभावतोनुत्तरोपपातिकसुखातिशायिप्रदेशतः स्थूलसूक्ष्मशुक्लादिबहुप्रदेशाभिति उक्तञ्च—

अप्पं बायरमउयं, बहुं च लुक्खं च सुक्किलं चेव ।
मंदं महव्वतंतिय सातावहुलं च तं कम्मं ॥

अल्पं स्थितितः स्थितेरभावात् बादरं परिणामतोनुभावतो मृद्वनुभावं बहु प्रदेशैः सूक्ष्मं स्पर्शतो वर्णेन शुक्लमन्दं लेपतः स्थूलचूर्णं मुष्टिमुक्तं कुड्यापतित लेपवत् महाव्ययमेकसमयेनैव सर्वापगमात्ततो बहुलमनुत्तरोपपातिकसुखातिशा (शा) या यान्ति उक्तमीर्यापथिकम् । आचा० १श्रु० २ अ० १ उ० (एतस्य बन्धविचारः कम्मबंध शब्दे) त्र्यांत्रिंशे स्थाने च । आव० । ऐर्य्यापथिकः केवलयोगप्रत्ययः कर्मबन्ध उपशान्तमोहादीनां सातवेदनीयबन्ध इति । सम० १३ स० (विस्तरेणैतस्य वक्तव्यता इरियावहिया शब्दे)

इरियावहियबंध—ऐर्य्यापथिकबन्ध—पुं० ईर्य्या गमनम् तत्प्रधानः पन्था मार्ग ईर्य्यापथस्तत्र भवमैर्य्यापथिकम् । केवलयोग प्रत्ययं कर्म तस्य यो बन्धस्स तथा । ऐर्य्यापथिककर्मणो बन्धे, ।
तद्वक्तव्यता यथा ।

इरियावहियाणं भंते ! कम्मं किं णेरइओ बंधइ, तिरिक्खजोणिओ बंधइ, तिरिक्खजोणिणी बंधइ, मनुस्सो बंधइ, मणुस्सी बंधइ, देवो बंधइ देवी बंधइ ? । गो० ! णो णेरइओ बंधइ, णो तिरिक्खजोणिओ बंधइ, णो तिरिक्खजोणिणी बंधइ, णो देवो बंधइ, णो देवी बंधइ, पुव्वपडिवण्णए पडुच्च मणुस्सा य मणुस्सीओ य बंधंति । पडिवज्जमाणए पडुच्च मणुस्सो वा बंधइ मणुस्सी वा बंधइ मणुस्सा य वा बंधंति मणुस्सीओ य वा बंधंति अहवा-मणुस्सो य मणुस्सी य बंधइ । अहवा मणुस्सो य मणुस्सीओ य बंधंति । अहवा मणुस्सा य मणुस्सी य बंधइ-

अहवा मणुस्सा य मणुस्सीओ य बंधंति । तं भंते ! किं इत्थी बंधइ, पुरिसो बंधइ, णपुंसगो बंधइ, इत्थीओ बंधंति पुरिसा बंधंति णपुंसगा बंधंति । णो इत्थी णो पुरिसो णो णपुंसगो बंधइ ? गोयमा ! णो इत्थी बंधइ णो पुरिसो बंधइ, जाव णो णपुंसगा बंधंति । पुव्वपडिवन्नए पडुच्च अवगयवेदा बंधंति, पडिवज्जमाणए पडुच्च अवगयवेदो वा बंधइ अवगयवेदा वा बंधति । जइ भंते ! अवगयवेदो वा बंधइ अवगयवेदा वा बंधंति तं भंते ! किं इत्थी पच्छाकडो बंधइ १ पुरिसपच्छाकडो बंधइ २ णपुंसगपच्छाकडो बंधइ ३ इत्थी पच्छाकडा बंधंति ४ पुरिसपच्छाकडा बंधंति ५ णपुंसगपच्छाकडा बंधंति ६ । उदाहु इत्थीपच्छाकडो य पुरिसपच्छाकडो य बंधइ १ उदाहु इत्थी पच्छाकडो य पुरिसपच्छाकडो य बंधंति २ उदाहु इत्थी पच्छाकडा य पुरिसपच्छाकडो य बंधइ ३ उदाहु इत्थी पच्छाकडा य पुरिसपच्छाकडा य बंधंति ४ उदाहु इत्थीपच्छाकडो य णपुंसगपच्छाकडो य बंधइ ४ उदाहु पुरिसपच्छाकडो य णपुंसगपच्छाकडो य बंधइ ४ उदाहु इत्थीपच्छाकडो य पुरिसपच्छाकडो य णपुंसगपच्छाकडो य बंधइ ८ एवं एए छव्वीसं भंगा । जाव उदाहु इत्थी पच्छाकडा य पुरिसपच्छाकडा य णपुंसगपच्छाकडा य बंधंति ! गोयमा ! इत्थी पच्छाकडो वि बंधइ, पुरिसपच्छाकडो वि बंधइ, णपुंसगपच्छाकडो वि बंधइ । इत्थी पच्छाकडा वि बंधंति, पुरिसपच्छाकडा वि बंधंति, णपुंसगपच्छाकडा वि बंधंति । ६ । अहवा इत्थीपच्छाकडो य पुरिसपच्छाकडो य बंधइ १२ एवं एए छव्वीसं भंगा जाणियव्वा जाव । अहवा इत्थी पच्छाकडा य पुरिसपच्छाकडा य णपुंसगपच्छाकडा य बंधंति, । तं भंते ! किं बंधी बंधइ, बंधिस्सइ १ बंधी बंधइ न बंधिस्सइ २ बंधी न बंधइ बंधिस्सइ ३ बंधी न बंधइ न बंधिस्सइ ४ न बंधी बंधइ बंधिस्सइ ५ न बंधी बंधइ न बंधिस्सइ ६ न बंधी न बंधइ बंधिस्सइ ७ न बंधी न बंधइ न बंधिस्सइ ८ गोयमा ! भवागरिसं पडुच्च अत्थेगइए बंधी बंधइ बंधिस्सइ, अत्थेगइए बंधी बंधइ न बंधिस्सइ, एवं तं चेव सव्वं जाव । अत्थेगइए न बंधी न बंधइ न बंधिस्सइ । गहणागरिसं पडुच्च अत्थेगइए बंधी बंधइ बंधिस्सइ एवं जाव अत्थेगइए न बंधी बंधइ बंधिस्सइ णो चेव णं न बंधी बंधइ न बंधिस्सइ । अत्थेगइए न बंधी न बंधइ बंधिस्सइ । अत्थेगइए न बंधी न बंधइ न बंधिस्सइ । तं भंते ! किं साइयं सपज्जवसियं बंधइ, साइयं अपज्जवसियं बंधइ अणाइयं सपज्जवसियं बंधइ अणाइयं अपज्जवसियं बंधइ ? गोयमा ! साइयं सपज्जवसियं बंधइ, णो साइयं अपज्जवसियं बंधइ, णो अणाइयं सपज्जवसियं बंधइ णो अणाइयं अपज्जवसियं बंधइ ।

(नो नेरइओ इत्यादि) मनुष्यस्यैव तद्बन्धो यस्माद्बन्धाडुपशान्तमोहक्षीणमोहसयोगिकेवलिनामेव तद्बन्धनमिति (पुव्वपडिवन्नए इत्यादि) पूर्वं प्राक्काले प्रतिपन्नमैर्यापथिकबन्धकत्वं यैस्ते पूर्वप्रतिपन्नकास्तान् तद्बन्धकत्वद्वितीयादिसमयवर्तिन इत्यर्थः । ते च सदैव बहवः पुरुषाः स्त्रियश्च सन्ति उभयेषां केवलिनां सदैव भावादत उक्तम् " मणुस्सा य मणुस्सीओ य बंधंतित्ति " (पडिवज्जमाणयेत्ति) प्रतिपद्यमानकाऐर्यापथिककर्मबन्धनप्रथमसमयवर्तिन इत्यर्थः । एषां च विरहसम्भवादेकदा मनुष्यस्य स्त्रियाश्च एकयोगे एकत्वबहुत्वाभ्यां चत्वारो विकल्पाः, द्विकयोगे तथैव चत्वारः, एवमेते सर्वेऽप्यष्टावेतदेवाह (मणुस्सो वा इत्यादि) एषां च पुंस्त्वादि तत्तल्लिङ्गापेक्षया न तु वेदापेक्षया क्षीणोपशान्तवेदत्वात् । अथ वेदापेक्षस्त्रीत्वाद्यधिकृत्याह "तं भंते । किमित्यादि नो इत्थी इत्यादिना" च पदत्रयनिषेधेनावेदकः प्रश्नितः उत्तरे तु षण्णां पदानां निषेधः सप्तमपदोक्तस्तु व्यपगतवेदस्तत्र च पूर्वप्रतिपन्नाः प्रतिपाद्यमानकाश्च भवन्ति तत्र पूर्वप्रतिपन्नकानां विगतवेदानां सदा बहुत्वभावादाह (पुव्वपडीत्यादि) प्रतिपद्यमानकानान्तु सामयिकत्वात् विरहभावेनैकादिसम्भवाद्विकल्पद्वयमत एवाह ।(पडिवज्जमाणेत्यादि) अपगतवेदमप्यैर्यापथिकबन्धमाश्रित्य स्त्रीत्वादिभूतभावापेक्षया विकल्पयन्नाह । "जइ इत्यादि तं भंते ! ! तदा भवन्त ! तद्वा कर्म इत्थी पच्छाकडेति भावप्रधानत्वान्निर्देशस्य स्त्रीत्वं पश्चात्कृतं भूततां नीतं येनावेदकेनासौ स्त्रीपश्चात्कृत एवमन्यावपि इहैकैकयोगे एकत्वबहुत्वाभ्यां षड्विकल्पाः, द्विकयोगे तु त्रिषु द्विकयोगेषु तथैव द्वादश, त्रिकयोगे पुनस्तथैवाष्टावेते च सर्वे षड्विंशतिः । सूत्रे च चतुर्भङ्ग्यष्टभङ्गीनां प्रथमं विकल्पा दर्शिताः सर्वान्तिमश्चेति । अथैर्यापथिककर्मबन्धनमेव कालत्रयेण विकल्पयन्नाह (तं भंते इत्यादि) तदैर्यापथिककर्मबन्धी बद्धवान् बध्नाति भन्त्स्यति चेत्येको विकल्पः । एवमन्ये ऽपि सप्त भङ्गा एषां च स्थापना उत्तरन्तु (भवेत्यादि) भवे अनेकशोपशमादिश्रेणिप्राप्त्या आकर्ष ऐर्यापथिककर्मानुग्रहणं भवाकर्षस्तं प्रतीत्य अस्त्येको भवत्येकः कश्चिज्जीवः प्रथमवैकल्पिकः । तथाहि पूर्वभवे उपशान्तमोहसत्वे सत्यैर्यापथिकं कर्म बद्धवान् वर्तमानभवे चोपशान्तमोहत्वे बध्नाति अनागते च उपशान्तमोहावस्थायां भन्त्स्यति । १ । द्वितीयस्तु यः पूर्वस्मिन् भवे उपशान्तमोहत्वं लब्धवान् वर्तमाने च क्षीणमोहत्वं प्राप्तः स पूर्वं बद्धवान् वर्तमाने च बध्नाति शैलेश्यवस्थायां पुनर्न भन्त्स्यति । २ । तृतीयः पूर्वजन्मनि उपशान्तमोहत्वे बद्धवान् तत्प्रतिपतितो न बध्नाति अनागते च मोहावस्थायां भन्त्स्यति । ३ । चतुर्थस्तु शैलेशीपूर्वकाले बद्धवान् शैलेश्यां च न बध्नाति न च पुनर्भन्त्स्यति । ४ । पञ्चमस्तु पूर्वजन्मनि नोपशान्तमोहत्वं लब्धवानिति न बद्धवान् अधुना लब्धमिति बध्नाति पुनरप्येष्यत्काले उपशान्तमोहाद्यवस्थायां भन्त्स्यतीति । ५ । षष्ठः पुनः क्षीणमोहत्वादि न लब्धवान् न पूर्वं बद्धवान् । अधुना तु क्षीणमोहत्वं लब्धमिति बध्नाति शैलेश्यवस्थायां पुनर्न भन्त्स्यतीति । ६ । सप्तमः पुनर्भव्यस्य, स हि अनादौ काले न बद्धवान्

अधुनापि कश्चिन्न बध्नाति कालान्तरे तु भन्त्स्यतीति । ७ । अष्टमस्त्वभव्यस्य स तु प्रतीत एव । (गहणागरिसमित्यादि) एकस्मिन्नेव भवे ऐर्यापथिककर्मपुद्गलानां ग्रहणरूपो य आकर्षोऽसौ ग्रहणाकर्षस्तं प्रतीत्यास्त्येकः कश्चिज्जीवः प्रथमवैकल्पिकः । तथाहि-उपशान्तमोहादिरैर्यापथिकं कर्म बध्नाति तदातीतसमयापेक्षया बद्धवान् वर्तमानसमयापेक्षया च बध्नाति अनागतसमयापेक्षया तु भन्त्स्यतीति । १ । द्वितीयस्तु केवली स ह्यतीतकाले बद्धवान् वर्तमाने च बध्नाति शैलेश्यवस्थायां पुनर्न भन्त्स्यतीति । २ । तृतीयस्तु उपशान्तमोहत्वे बद्धवांस्ततःप्रतिपतितस्तु न बध्नाति पुनस्तत्रैव भवे उपशमश्रेणिप्रतिपन्नो भन्त्स्यतीति एकभवे चोपशमश्रेणी द्विः प्राप्यत एवेति । ३ । चतुर्थः पुनः सयोगित्वे बद्धवान् शैलेश्यवस्थायां न बध्नाति न च भन्त्स्यतीति । ४ । पञ्चमः पुनरायुषः पूर्वभागे उपशान्तमोहत्वादि न लब्धमिति न बद्धवान् अधुना तु लब्धमिति बध्नाति । तदद्धाया एव चैष्यत्समये तु पूर्वं पुनर्भन्त्स्यतीति । ५ । षष्ठस्तु नास्त्येव तत्र न बद्धवान् बध्नातीत्यनयोरुपपद्यमानत्वेऽपि न भन्त्स्यतीत्यस्यानुपपद्यमानत्वात्, तथाह्यायुषः पूर्वभागे उपशान्तमोहत्वादि न लब्धमिति न बद्धवांस्तल्लाभसमये च बध्नाति ततोऽनन्तरसमयेषु च भन्त्स्यत्येव न तु न भन्त्स्यति समयमात्रस्य बन्धस्येहाभावात्, यस्तु मोहोपशमनिर्ग्रन्थस्य समयानन्तरमरणेनैर्यापथिककर्मबन्धः समयमात्रो भवति नासौ षष्ठविकल्पहेतुस्तदनन्तरमैर्यापथिककर्मबन्धाभावस्य भवान्तरवर्तित्वात् ग्रहणाकर्षणस्य चेह प्रक्रान्तत्वात् । यदि पुनः सयोगिचरमसमये बध्नाति ततोऽनन्तरं न भन्त्स्यतीति विवक्ष्येत तदा यत्सयोगिचरमसमये बध्नातीति तद्बन्धपूर्वकमेव स्यान्नाबन्धपूर्वकं तत्पूर्वसमयेषु तस्य बन्धकत्वात् । एवं च द्वितीय एव भङ्गः स्यान्न पुनः षष्ठ इति । ६ । सप्तमः पुनर्भव्यविशेषस्य, अष्टमस्त्वभव्यस्येति । इह च भवाकर्षापेक्षेषु अष्टासु भङ्गकेषु "बंधी बंधइ बंधिस्सइ" इत्यत्र प्रथमे भङ्गे उपशान्तमोहः । 'बंधी बंधइ न बंधिस्सइ' इत्यत्र द्वितीये क्षीणमोहः । 'बंधी न बंधइ बंधिस्सइ' इत्यत्र तृतीये उपशान्तमोहः । 'बंधी न बंधइ न बंधिस्सइ' इत्यत्र चतुर्थे शैलेशीगतः । 'न बंधी बंधइ बंधिस्सइ' इत्यत्र पञ्चमे उपशान्तमोहः । 'न बंधी बंधइ न बंधिस्सइ' इत्यत्र षष्ठे क्षीणमोहः । 'न बंधी न बंधइ बंधिस्सइ' इत्यत्र सप्तमे भव्यः । 'न बंधी न बंधइ न बंधिस्सइ' इत्यत्राष्टमेऽभव्यः । ग्रहणापेक्षेषु पुनरेतेषु एव प्रथमे उपशान्तमोहः क्षीणमोहो वा, द्वितीये तु केवली, तृतीये उपशान्तमोहः, चतुर्थे शैलेशीगतः, पञ्चमे उपशान्तमोहः क्षीणमोहो वा, षष्ठः शून्यः, सप्तमे भव्यो भाविमोहोपशमो भाविमोहक्षयो वा, अष्टमे त्वभव्य इति अथैर्यापथिकबन्धमेव निरूपयन्नाह "तमित्यादि" तदैर्यापथिकं कर्म साइयं सपज्जवसियमित्यादिचतुर्भङ्गी, तत्र चैर्यापथिककर्मणः प्रथम एव भङ्गे बन्धोऽन्येषु तदसम्भवादिति, भ० ८ श० ८ उ० ।

इरियावहिया-ईर्यापथिका-स्त्री०-ईरणमीर्या गमनमित्यर्थः पथि जाता पथिका ईर्या चासौ पथिका च ईर्यापथिकेति । गमनप्रधानमार्गोत्पन्ने, आ० चू० ४ अ० ।

ऐर्यापथिकी-स्त्री० ईरणमीर्या गमनं तद्विशिष्टस्तत्प्रधानो वा पन्था ईर्यापथस्तत्र भवा ऐर्यापथिकी । स्था० २ ठा० । आव० ४ अ० । व्युत्पत्तिमात्रमिदं प्रवृत्तिनिमित्तं तु यः केवलयोगप्रत्यय उपशान्तमोहादित्रयस्य सातवेदनीयकर्मबन्धः सा ऐर्यापथिकी । प्रव० १२१ द्वा० । क्रियाभेदे,

अजीवकिरिया दुविहा पण्णत्ता तंजहा इरिआवहिआ चेव संपराइया चेव ।

यत्केवलयोगप्रत्ययमुपशान्तमोहादित्रयस्य सातवेदनीयकर्मतया जीवस्य पुद्गलराशेर्भवनं सा ऐर्यापथिकी क्रिया । इह जीवव्यापारेऽप्यजीवप्रधानत्वविवक्षया अजीवक्रियेयमुक्ता कर्मविशेषो वैर्यापथिकी क्रियोच्यते यतोऽभिहितम् "इरियावहिया किरिया दुविहा बज्झमाणा वेइज्जमाणा य जा पढमसमये बद्धा, बीयसमये वेइया सा बद्धा पुट्ठा वेइया णिज्जिण्णा से य काले अकम्मं वा वि भवइत्ति । स्था० २ ठा० ।

तत्स्वरूपं यथा—

एसाउ लोगवत्ती, इरिआवहिअं अओ पचक्खामि ।
इह खलु अणगारस्स, समिई गुत्तीसु गुत्तस्स ॥६०॥
सययं तु अप्पमत्तस्स, भवओ जाव चक्खुपम्हंपि ।
निवयइ ता सुहुमा हु, इरिआवहिआ किरिअ एसा ॥६१॥

इह खल्वनगारस्य साधोः समितिषु ईर्यासमित्यादिषु मनोगुप्त्यादिषु गुप्तस्य संवृतस्य सततमेवाप्रमत्तस्य उपशान्तमोहक्षीणमोहसयोगिकेवलिलक्षणस्थानकत्रयवर्तिनः । अन्येषां तु अप्रमत्तानामपि कषायप्रत्ययकर्मबन्धसद्भावेन केवलयोगनिमित्तकर्मबन्धोदयसंभवाभावादप्रमत्तशब्देनात्र ग्रहणं भगवतः पूज्यस्य यावच्चक्षुः पक्ष्मापि निपतति स्पन्दते इदं च योगस्योपलक्षणं ततोऽयमर्थो यावच्चक्षुर्निमेषोन्मेषमात्रोऽपि योगः संभवति तावत्सूक्ष्मा एकसामयिकबन्धत्वेनात्यल्पा सातबन्धलक्षणा क्रिया भवति । एषा हु स्फुटमैर्यापथिकी क्रिया भवेदिति । प्रव० १२१ द्वा० । आव० ।

विस्तरेण तस्याः स्वरूपं सा कस्य भवति किंभूता वा
किंकर्मफला वा इत्येतद्दर्शयितुमाह—

अहावरे तेरसमे किरियाट्ठाणे इरियावहिए त्ति आहिज्जइ इह खलु अत्तत्ताए संवुडस्स अणगारस्स इरियासमियस्स भासासमियस्स एसणासमियस्स आयाणभंडमत्तणिक्खेवणासमियस्स उच्चारपासवणखेलसिंघाणजल्लपारिट्ठावणियासमियस्स मणसमियस्स वयसमियस्स कायसमियस्स मणगुत्तस्स वयगुत्तस्स कायगुत्तस्स गुत्तिंदियस्स गुत्तबंभयारिस्स आउत्तं गच्छमाणस्स आउत्तं चिट्ठमाणस्स आउत्तं णिसियमाणस्स आउत्तं तुयट्टमाणस्स आउत्तं भुंजमाणस्स आउत्तं भासमाणस्स आउत्तं वत्थं पडिग्गहं कंबलं पायपुंछणं गिण्हमाणस्स वा णिक्खिवमाणस्स वा जाव चक्खुपम्हणिवायमवि अत्थि विमाया सुहुमा किरिया इरियावहिया नाम कज्जइ सा पढमसमए बद्धा पुट्ठा बितीयसमए वेइया तइय समए णिज्जिण्णा सा बद्धा पुट्ठा उदीरिया वेइया णिज्जिण्णा सेयकाले अकम्मया वि भवंति एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जंति आहिज्जइ तेरसमे किरियाट्ठाणे इरियावहिए त्ति आहिज्जइ ॥ से बेमि जे य अतीता जे य पडुप्पन्ना जे य आगमिस्सा अरिहंता भगवंता सव्वे ते एयाइ-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चेव तेरसकिरियाट्ठाणाइं जासिंसु वा जासेंति वा जासिस्संति वा पन्नविंसु वा पन्नविंति वा पन्नविस्संति वा एवं चेव तेरसमं किरियाट्ठाणं सेविंसु वा सेविंति वा सेविस्संति वा ॥२३॥

इह जगति प्रवचने संयमे वा वर्तमानस्य । खलु शब्दो ऽवधारणे ऽलंकारे वा । आत्मनो भावः आत्मत्वं तदर्थमात्मत्वार्थं संवृतस्य मनोवाक्कायैः परमार्थत एवंभूतस्यैवात्मभावोऽपरस्य त्वसंवृतस्यात्मतत्वमेव नास्ति सद्भूतात्मकार्यकारणात् । तदेवमात्मार्थं संवृतस्यानगारस्येर्यापथिकादिभिः पञ्चभिः समितिभिर्मनोवाक्कायैः समितस्य तथा तिसृभिर्गुप्तस्य पुनर्गुप्तिग्रहणमेताभिरेव गुप्तिभिर्गुप्तो भवतीत्यस्यार्थस्याविर्भावनायात्यादरख्यापनार्थं वेति । तथा गुप्तेन्द्रियस्य नवब्रह्मचर्यगुप्त्युपेतब्रह्मचारिणश्च सततस्तथोपयुक्तं गच्छतस्तिष्ठतो निषीदतो मुनेस्त्वग्वर्त्तनां कुर्वाणस्य तथोपयुक्तमेव वस्त्रं पतद्ग्रहं कम्बलं वा पादपुञ्छनकं वा गृह्णतो निक्षिपतो वा यावच्चक्षुःपक्ष्मनिपातमप्युपयुक्तं कुर्वतः सतोऽत्यन्तमुपयुक्तस्याप्यस्ति विद्यते । विविधामात्राविमात्रा तदेवंविधा सूक्ष्माक्षिपक्ष्मसंचलनरूपादिकेर्यापथिका नाम क्रिया केवलिनापि क्रियते । तथाहि । सयोगिजीवो न शक्नोति क्षणमप्येकं निश्चलः स्थातुमग्निना ताप्यमानोदकवत्कार्मणशरीरानुगतः सदा परिवर्तयन्नेवास्ते । तथाचोक्तं "केवलीणं भंते! अस्सि समयंसि जेसु आगासपएसेसु" इत्यादि तदेवं केवलिनोपि सूक्ष्मगात्रसंचारा भवन्तीह च कारणे कार्योपचारात्तया क्रियया यद्बध्यते कर्म तस्य कर्मणो या अवस्थास्ताः क्रियाः ता एव दर्शयितुमाह । (सापढमसमये इत्यादि) या सावकाषायिणः क्रिया तया यद्बध्यते कर्म तत्प्रथमसमय एव बद्धं स्पृष्टं चेति कृत्वा तत्क्रियैव बद्धस्पृष्टेत्युक्ता तथा द्वितीयसमये वेदितेत्यनुभूता तृतीयसमयेऽतिजीर्णा । एतदुक्तं भवति । कर्मयोगनिमित्तं बध्यते तत्स्थितिश्च कषायायत्ता तदभावाच्च न तस्य सांपरायिकस्येव स्थितिः किंतु योगसद्भावाद्बध्यमानमेव स्पृष्टतां संश्लेषं याति । द्वितीयसमये त्वनुभूयते तच्च प्रकृतितः सातावेदनीयं स्थितितो द्विसमयस्थितिकमनुभावतः शुभानुभावमनुत्तरोपपातिकदेवसुखातिशायि देशतो बहुप्रदेशमस्थिरबन्धं बहुव्ययं च । तदेवं सेर्यापथिका क्रिया । प्रथमसमये बद्धस्पृष्टा द्वितीयसमये उदिता वेदिताऽतिजीर्णा भवति (सेयंकालेत्ति) आगामिनि तृतीयसमये तत्कर्मापेक्षया कर्मतापि च भवति । एवं तावद्वीतरागस्येर्याप्रत्ययिकं कर्माधीयते संबध्यते । तदेतत्त्रयोदशं क्रियास्थानं व्याख्यातम् । ये पुनस्तेभ्योऽन्ये प्राणिनस्तेषां सांपरायिको बन्धस्ते तु यानि प्रागुक्तानीर्यापथवर्ज्यानि द्वादश क्रियास्थानानि तेषु वर्तन्ते तेषां तद्वर्तिनामसुमतां मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगनिमित्तः सांपरायिको बन्धो भवति । तत्र च प्रमादस्तत्र कषाया योगाश्च नियमाद्भवन्ति । कषायिणश्च योगा योगिनस्त्वेते भाज्याः । तत्र प्रमादकषायप्रत्ययिको बन्धोऽनेकप्रकारा स्थितिः । तद्रहितस्तु केवलयोगप्रत्ययिको द्विसमयस्थितिरेवेर्याप्रत्ययिक इति स्थितम् ॥ सूत्र० २ श्रु० २ अ० । भ० । आव० । प्रा० चू० । (चतुर्विंशतिदण्डकेऽस्या वक्तव्यता किरि- [illegible]) ईर्यापथिकयाः प्रतिक्रमणावश्यकता यथा ईर्यापथप्रथमप्रतिक्रमणं कृत्वा न किंचिदन्यत् कुर्यात्तद्शुद्धतापत्तेरिति । दश० चूलि० २ ।

तथा च महानिशीथे—

गोयमा णं अप्पडिक्कंताए इरियावहियाए न कप्पइ चेव काउं किंचि चिइवंदणा झायाइयं फलासायमभिकंखुगाणं एएणं अट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ जहाणं गोयमा ! समुत्तत्थोभयपंचमंगला थिरपरिचयं काऊणं तओ इरियावहियं अज्झीए से भयवं कय एए विहिए तमिरियावहीए महीए गोयमा ! जहा णं पंचमंगलमहसुयं खंधे से भयवमिरियावहियमहिज्जित्ताणं । महा० १ अ० ।

एतस्याः प्रतिक्रमणं स्वरूपञ्च यथा—

इच्छामि पडिक्कमिउं इरियावहियाए । विराहणाए गमणागमणे । पाणक्कमणे बीयक्कमणे हरियक्कमणे । ओसाउत्तिंगपणगदगमट्टीमक्कडासंताणासंकमणे जेमे जीवा विराहिया एगिंदिया बेइंदिया तेइंदिया चउरिंदिया पंचेंदिया अभिहया वत्तिया लेसिया । संघाइया संघट्टिया परियाविया किलामिया उद्दविया ठाणओ ठाणं संकामिया जीवियाओ ववरोविया तस्स मिच्छामि दुक्कडं ।

इच्छाम्यभिलषामि प्रतिक्रमितुं निवर्तयितुमीर्यापथिकायां विराधनायां योऽतिचार इति गम्यते । तस्येति योगः अनेन क्रियाकालमाह 'मिच्छामि दुक्कडंति' अनेन तु निष्ठाकालमिति तत्रेरणमीर्या गमनमित्यर्थः तत्प्रधानः पन्था ईर्यापथः तत्र भवा ईर्यापथिका तथा किंविशिष्टायामित्यत आह । विराध्यन्ते दुःखं स्थाप्यन्ते प्राणिनोऽनयेति विराधना क्रिया तस्यां विराधनायां तस्या योऽतिचार इति वाक्यशेषस्तस्येति योगः विषयमुपदर्शयन्नाह गमनं चागमनं चेत्येकवद्भावस्तस्मिंस्तत्र गमनं स्वाध्यायादिनिमित्तं वसतिरिति आगमनं प्रयोजनपरिसमाप्तौ पुनर्वसतिमेवेति तत्रापि यः कथं जातोतिचार इत्यत आह । 'पाणक्कमणे, प्राणिनो द्वीन्द्रियादयस्त्रयो गृह्यन्ते तेषामाक्रमणं पादेन क्षीरणं प्राण्याक्रमणं तस्मिन्निति तथा बीजाक्रमणे अनेन बीजानां जीवत्वमाह-हरिताक्रमणे अनेन तु सकलवनस्पतिरेव तथा अवश्यायोत्तिङ्गपनकदगमृत्तिकामर्कटसंतानसंक्रमणे सति तत्रावश्यायोजलविशेषः इह चावश्यायग्रहणमिति स यतःशेषजलसंभोगपरिहरणार्थमित्येवमन्यत्रापि भावनीयम् उत्तिङ्गा गर्दभाकृतयो ये जीवाः कीटिका नगराणि वा पनक उल्लि दगमृत्तिका चिक्खलः अथवा दगग्रहणादप्कायः मृत्तिकाग्रहणात्पृथिवीकायः मर्कटसंतानं कोलिकाजालमुच्यते ततश्चावश्यायश्चोत्तिङ्गश्चेत्यादिद्वन्द्वः अवश्यायोत्तिङ्गपनकदगमृत्तिकामर्कटसंतानास्तेषां संक्रमणमाक्रमणं तस्मिन्किंबहुना कियन्तो भेदनाख्यास्यन्ते सर्वे ये मया जीवा विराधिता दुःखेन स्थापिताः एकेन्द्रियाःपृथिव्यादयः द्वीन्द्रियाः कृम्यादयः त्रीन्द्रियाः पिपीलिकादयश्चतुरिन्द्रिया भ्रमरादयः पञ्चेन्द्रिया मूषिकादयः अभिहता अभिमुख्येन हताश्चरणेन घट्टिताः उत्क्षिप्य क्षिप्ता वा वर्त्तिताः पुञ्जीकृताः धूल्या वा स्थिता इति श्लेषिताः श्लिष्टा भूरित्यादिषु वा लगिताः संघातिताः अन्योन्यं गात्रैरेकत्र लगिताः संघट्टिताः मनाक् स्पृष्टाः परितापिताः समन्ततः पीडिताः क्लामिताः समुद्घातं नीताः ग्लानिमापादिता इत्यर्थः । अपद्राविताः उत्त्रासिताः स्थानात्स्थानं संक्रामिताः स्वस्थानात्परस्थानं नीताः जीविताद्व्यपरोपिता मारिता इत्यर्थः एवं यो जातोतिचारः तस्येत्येतावता क्रियाकालमाह । तस्स मिच्छामि दुक्कडमनेन निष्ठाकालमाह मिथ्यादुष्कृतं पूर्ववदेवं तस्येत्युभयत्र

योजना सर्वत्र कार्य्या । आव० ४ अ० । इच्छामि पडिक्कमितु तिपुव्वभणितं एस संखेवत्थो इरियावहियाए" विस्तरस्तु गमणेत्यादि । आ० चू० ४ अ० ।

ननु द्वयोः श्राद्धयोः प्रतिक्रमणकरणसमयेऽथवा सामायिके कृते सति एकस्य हस्तादपरेण चरवलके पातिते उभयोर्मध्ये कस्येर्यापथिकी समायाति किमुभावपि प्रतिक्रामतः एको वेति । (उत्तरम्) अत्र द्वयोः श्राद्धयोः प्रतिक्रमणकरणादौ सावधानतयैकेन चरवलको गृहीतो भवति अथ यदि द्वितीयहस्तलगनेन हेतुना पतति तदा तस्येर्य्यापथिकी समायाति यदि च गृहीतो ऽसावधानतयैव तदोभयोरपीर्य्यापथिकी समायातीति । १ । तथा यः शुद्धक्रियां कुर्वाणः शुद्धाचारं च पालयन् ईर्यापथिकीमागतां न जानाति स कियद्भिर्मुहूर्तैस्तां प्रतिक्रामतीति (उत्तरम्) अत्र शुद्धक्रियायां क्रियमाणायां सोपयोगतया प्रमार्जनादिविधिनोपवेशनादिषु ईर्यापथिकी नायाति यतस्तामाश्रित्य कालमानमुक्तं ज्ञातं नास्ति तथापि क्रियान्तरे क्रियमाणे ईर्यापथिकी प्रतिक्रम्यते यतो महत्यां वेलायां मनोवचः कायोपयोगानां सम्यगवबोधो न भवतीति ॥२॥ ईर्य्या गमनं तस्याः पन्था मार्ग ईर्य्यापथ स्तत्र भवा या समितिः ईर्य्यासमितिलक्षणा सा ऐर्य्यापथिकी । समितिभेदे, स्था० ६ ठा० । (तद्वक्तव्यता इरियासमिइ शब्दे । ऐर्यापथिक्यापरिमन्युः कप्प शब्दे । उच्चारादौ ईर्याप्रतिक्रान्तकथा इति पडिक्कमण शब्दे)

इरियासमिइ–ईर्य्यासमिति–स्त्री० सम्यगितिः प्रवृत्तिः समितिः ईर्य्यायां गमने, समितिश्चकुर्यापारपूर्वतयेतीर्य्यासमितिः । समितिभेदे, । स्था० ८ ठा० । आव० । पा० । सम० । प्रव० । तत्स्वरूपं धर्मसंग्रहे यथा- त्रसस्थावरजन्तुजाताभयदानदीक्षितस्य मुनेरावश्यके प्रयोजने गच्छतो जन्तुरक्षानिमित्तं स्वशरीररक्षानिमित्तं च पादाग्रादारभ्य युगमात्रक्षेत्रं यावन्निरीक्ष्य ईरणं ईर्या गतिस्तस्यां समितिरीर्यासमितिर्यदाहुः "पुरओ जुगमायाए, पेहमाणो महिं चरे । वज्जंतो बीअहरिआइं, पाणे अ दगमट्टिअं ॥ १ ॥ उवायं विसमं खाणुं, विज्जलं परिवज्जए । संकमेण न गच्छेज्जा, विज्जमाणे परक्कमे" २ एवंविधोपयोगेन गच्छतो यतेः कथंचित्प्राणिवधोऽपि प्राणिवधपापं न भवति यदाह "उच्चालिअम्मि पाए, इरिआसमिअस्स संकमट्ठाए । वा वज्जिज्जकुलिंगी मरिज्ज तज्जोगमासज्ज ॥ १ ॥ न य तस्स तन्निमित्तो, बंधो सुहुमो वि देसिओ समए । अणवज्जो उपओगेण, सव्वभावेण सो जम्हा २ तथा " जिअदुमरउ यजीवो, अजयाचारस्स निच्छओ हिंसा । पयदस्स णत्थि बंधो,हिंसा मित्तेण समिदस्स,, । ध० ३ अधि० । प्रव० । जीवसंरक्खण जुगमेत्तंतरदिट्ठस्स अप्पमादिणो संजमो य करणुप्पायणाणिमित्तं जा गमणकिरिया सा इरियासमिती । नि० चू० १ उ० । ईर्य्यासमितिर्नाम रथशकटयानं वाहनाक्रान्तेषु सूर्यरश्मिप्रतापितेषु प्रासुकविविक्तेषु पथिषु युगमात्रदृष्टिना भूत्वा गमनागमनं कर्त्तव्यमिति । आव० ४ अ० । ईर्य्यासमितेर्विस्तरेण स्वरूपमाह ।

आलंबणेण काले, मग्गेण जयणाए य ।
चउकारणपरिसुद्धं, संजए इरियं रिए ।

आलम्बनेन कालेन मार्गेण यतनया च चतुःकारणैरेभिरेव आलम्बनादिभिः परिशुद्धा निर्दोषा चतुःकारणपरिशुद्धा तां संयतो यतिरीर्यां गतिं (रिएज्ज) ईयेतानुप्रार्नविपयतया प्राप्नुयात् यद्वा सुव्यत्ययाच्चतुःकारणपरिशुद्धया ईर्य्यारीयेत गच्छेत् आलम्बनादीन्येव व्याख्यातुमाह–

तत्थालंबणं णाण–दंसणं चरणं तहा ।
काले य दिवसे वुत्ते, मग्गाउप्पहविवज्जए ॥

वज्जए तत्र तेष्वालम्बनादिषु मध्ये आलम्बनं यदालम्ब्य गमनमनुज्ञायते निरालम्बनस्य हि नानुज्ञातमेव गमनं ततः किमित्याह–ज्ञानं सूत्रार्थोभयात्मकागमरूपं दर्शनं दर्शनप्रयोजनं चरणं चारित्रं तथा शब्दोऽनुक्तसमुच्चयार्थत्वेन ग्लित्वादिनक्षुसूचकस्ततोऽयमर्थः प्रत्येकं ज्ञानादीन्याश्रित्य द्विकादिसंयोगेन वा गमनमनुज्ञातमालम्बनेति व्याचष्टे कालश्च प्रस्तावादीर्यया दिवस उक्तस्तीर्थकृदादिभिरिति गम्यते रात्रौ ह्यचक्षुर्विषयत्वेन पुष्टतरालम्बनं विना नानुज्ञातमेवं गमनं मार्गेणेति द्वारं व्याख्यातुमाह मार्ग इह सामान्येन पन्थाः स उत्पथेनोन्मार्गेण वर्जितो रहितः उत्पथवर्जितः उक्तसम्बन्धः उत्पथे हि व्रजत आत्मसंयमविराधनादयो दोषाः। यतनेति द्वारं वुवूर्षुराह।

दव्वओ खेत्तओ चेव, कालओ भावओ तहा ।
जयणा चउव्विहा वुत्ता, तं मेवि तयओ सुण ।'

(दव्वओ इत्यादि) सुगममेव नवरं तामिति चतुर्विधयतनां मे कीर्तयतः सम्यक् प्ररूपाभिधानद्वारेण संशब्दयतः शृणुवा कर्णय शिष्येति गम्यते । यथा प्रतिज्ञातमेवाह–

दव्वओ चक्खुणा पेहे, जुगमेत्तं च खेत्तओ ।
कालओ जाव रीएज्जा, उवउत्ते य भावओ ॥

द्रव्यत इति जीवादिकद्रव्यमाश्रित्येयं यतना यच्चक्षुषा दृष्ट्या प्रेक्षेतावलोकयेत्प्रक्रमात् जीवादिकं द्रव्यमवलोक्यं च संयमात्मविराधना परिहारेण गच्छेदिति भावो युगमात्रं च चतुर्हस्तप्रमाणं प्रस्तावात्क्षेत्रं प्रेक्षेत इयं क्षेत्रतो यतना कालतो यतना यावत् (रीएज्जत्ति) रीयते यावन्तं कालं पर्यटति तावत् कालमिति गम्यते उपयुक्तश्च भावतो दत्तावधानो यद्रीयते इयं भावमङ्गीकृत्य यतना। उपयुक्तत्वमेव स्पष्टयितुमाह ।

इंदियत्थे विवज्जत्ता, सज्झायं च पंचहा ।
तम्मुत्ती तप्पुरक्कारे, उवउत्तो रियं रए ॥

इन्द्रियार्थान् शब्दादीन् विवर्ज्य तदनाध्यवसानतः परिहृत्य स्वाध्यायं चैव चः समुच्चये एवकारोऽपि शब्दार्थस्ततोयमर्थान् केवलमिन्द्रियार्थान् विवर्ज्य किंतु स्वाध्यायं चापि पञ्चधेति वाचनादिभेदतः पञ्चप्रकारं गत्युपयोगोपघातित्वात्तस्तत्र तस्यामेव ईर्यायां मूर्तिः शरीरमर्थाद् व्याप्रियमाणा यस्याऽसौ तन्मूर्त्तिस्तथा तामेव पुरस्करोति तत्रैवोपयुक्ततया प्राधान्येनाङ्गीकुरुते इति तत्पुरस्कारोऽनेन कायमनसोस्तत्परतोक्ता वचसो हि तत्र व्यापार एव न समस्ति एवमुपयुक्तः सन्नीर्या रीयेत यतिरिति शेषः । सर्वत्र च संयमात्मविराधनैव विपक्षे दोष इति सूत्रपञ्चकार्थः । उत्त० ४ अ० ।

ईर्य्यासमितौ उदाहरणं यथा-एको साहू समणगुणभाविओ इरियासमिइए जुत्तो विहरइ । एत्थंतरे सक्कआसणं चलियं । पउत्तावही साहुं दट्ठुं परमभत्तीए वंदइ पसंसइ य देवसभामज्झम्मि तओ मिच्छदिट्ठी एगो देवो असद्दहंतो समागओ साहुस्स, वियारभूमिं पइट्ठियस्स पुरओ मच्छियप्पमाणाओ मंडुक्कलियाओ विउव्वइ । पच्छओ य मत्तहत्थि तहा वि गई न भिंदइ । तओ हत्थिणा उक्खिविऊण भूमिए पाडियो न य सो भयं न य सरीर गणइ । किं तु ससा मे मारियत्ति । जीवदयापरिणओ अत्थइ । स देवोवि अचालियं तं साहुं पेहत्त इदव्वुत्तं तं निवेयत्ता देवलोगं गओत्ति" पा० । "अहवाअर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हणओ समितो असमितो देवताए पादो छिण्णो अप्पए संधितो इत्यधिकम् " आ० चू० ४ अ० । (अस्याः प्रवचनमातृत्वम् पवयणमायाशब्दे) (ईर्य्यासमितौ अनाभोगप्रतिसेवनं भवतीति पडिसेवणाशब्दे) (ईर्य्यासमितेः परिमन्थवः कप्प शब्दे)

इरियासमिइजोग–ईर्य्यासमितियोग–पु० ईर्य्यासमितिव्यापारे, "जे एवं इरियासमिइजोगेण भाविओ भवति अंतरप्पा इति" प्रश्न० १ द्वा० ।

इरियासमिय–ईर्य्यासमित–पु० ईरणं गमनमीर्य्या तस्यां समितः (सम्यक्प्रवृत्तः भ० २ श० १ उ०) (उपयुक्तः । प्रव० ७२ द्वि०) दत्तावधान ईर्य्यासमितः । पुरतो युगमात्रभूभागन्यस्तदृष्टिगामिनि, आचा० २ श्रु० ६ अ० । आव० " इरियासमिए सया जये" ईरणमीर्य्या गमनं तस्यां समितः सम्यक्प्राप्तः ईर्य्यासमितः ईर्य्यासमितता प्रथमभावना यतोऽसमितः प्राणिनो हिंस्यात् सदाऽतो यत्तः सर्वकालमुपयुक्त इति । आव० ४ अ० प्रव० । (ईर्य्यासमितस्य विस्तरेण वक्तव्यता इरियासमिइ शब्दे) (ईर्य्यासमितस्य प्राणातिपातविरमणव्रतस्य प्रथम भावना भवतीति पाणाइवायवेरमण शब्दे–भावनाशब्दे च द्रष्टव्यम्)

इला–इला–स्त्री० इल्-क-भूमौ, वाच० । जम्बूद्वीपान्तर्गते वर्षभेदे, आ० क० । इलावर्धनगरस्थायां स्वनामख्यातायां देवतायाम् । आ० म० द्वि० । आ० चू० (तत्कथा इलापुत्त शब्दे) पश्चिमरुचकवास्तव्ये दिक्कुमारीभेदे च । ति० ।

इलाकूड–इलाकूट–न० क्षुद्रहिमवद्वर्षधरपर्वतस्थे इलादेव्यधिष्ठिते कूटभेदे, । स्था० ४ ठा० ।

इलादेवी–इलादेवी–स्त्री० पश्चिमरुचकवास्तव्ये दिक्कुमारीभेदे, आ० क० । जं० । आ० म० प्र० । स्था० ।

इलादेवीकूड–इलादेवीकूट– न० क्षुद्रहिमवद्वर्षधरपर्वतस्थे इलादेव्यधिष्ठिते कूटभेदे, जं० २ वक्ष० ।

इलापुत्त–इलापुत्र–पु० इलावर्द्धनपुरस्थे इलादेवी प्रसादाज्जाते स्वनामख्याते श्रेष्ठिसुते, तत्कथा यथा ।

एकस्मिन् कुत्रचिद्ग्रामे श्रुत्वा धर्मं गुरोः पुरः ।
द्विज एकः सपत्नीकः परिव्रज्यामुपाददे । १ ।
तप्यते स्म तपस्तीव्रं प्रीतिर्नोगात्परं मिथः ।
धिग्जेति स्त्रीशुद्धसङ्गा विचिकित्सा व्यधात्पुनः । २ ।
मृत्वा तौ जग्मतुः स्वर्गं तत्र सौख्येन तिष्ठतः ।
इतश्च भरतेऽमुष्मिन्निलामण्डलमण्डनम् । ३ ।
इलावर्धननाम्नास्ति पुरं प्रस्पर्द्धितं परैः ।
सत्योपयाचिता तस्मिन्निलानाम्न्यस्ति देवता । ४ ।
एका च श्रेष्ठिनी तत्र सिषेवे तां सुतार्थिनी ।
स च द्विजामरः स्वर्गाच्च्युत्वा तस्याः सुतोऽभवत् । ५ ।
तस्येलापुत्र इत्याख्यां चक्रेत्युत्सवपूर्वकम् ।
स्त्रीजीवो विचिकित्सातः संजज्ञे मंखपुत्रिका । ६ ।
प्राप्तौ स्मरकरिक्रीडा-वनं द्वावपि यौवनम् ।
नृत्यन्तीं मंखपुत्रीं ता-मिलापुत्रोऽभ्यदृक्षत । ७ ।
अभवत्प्राग्भवे प्रेम्णानुरागस्तस्य तां प्रति ।
नैव तस्य ददुस्ते तां सुवर्णेनापि तोलिताम् । ८ ।
अकुर्या निश्चिरस्माकमियं नेमां ददामहे ।
यदि नः सहचारी स्यादस्माद्विद्या च शिक्षते ॥ ९ ॥
सदाऽस्मेन वसने नृपमापि धने न च ।
भुक्त्वा कुटुम्बं तत्कामस्तेषां सोथानुगोऽभवत् । १० ।
शिक्षितः सोथ तद्विद्यां विवाहायार्जितुं धनम् ।
बेन्नातटपुरं गत्वा ययाचेऽवसरं नृपः ॥ ११ ॥
इलापुत्रस्य नाट्यस्या ऽवसरोऽदायि भूभुजा ।
स्वयं शान्तःपुरः सोथ पौराः सर्वेपि चाविशन् ॥ १२ ॥
न्यस्तस्तत्र महान् वंशः फलकं तस्य चोपरि ।
न्यस्तौ द्वौ द्वौ तथा लोहकीलकौ फलकान्तयोः ॥ १३ ॥
तस्योपरि ननर्तोच्चैरिलापुत्रो धनाशया ।
धनिनां द्वारि सौवर्ण-यष्ट्यां क्रीडां मयूरवत् ॥ १४ ॥
अधस्तान्मंखपुत्र्या च गायकीवृन्दयुक्तया ।
गीतं गीतं रसस्फीतं प्रीतं सामानिकैर्गतः ॥ १५ ॥
सच्छिद्रपादुकापादः करोपात्तासिखेटकः ।
उत्पत्योत्पत्य गगने ददानः करणानि सः ॥ १६ ॥
अप्रमत्तः सप्तसप्तपुरः पश्चान्मुखानि च ।
फलकप्रान्तकीलेषु प्रवेशयति पादुके ॥ १७ ॥
एवं कृते भवल्लोकः सर्वः सर्वस्वदानधीः ।
राज्ञा दत्ते परं त्यागे प्राक् पश्चाद्ददते परे ॥ १८ ॥
नट्यां रक्तो नृपस्तानि भूयो भूयोऽप्यदापयत् ।
तन्मृत्युमीहते राजा स पुनर्धनमीहते ॥ १९ ॥
ज्ञातं तेनाप्यथ यथा नट्यां राजापि रागवान् ।
स च तत्र स्थितो दृष्ट्वा निकटे श्रेष्ठिनो गृहे ॥ २० ॥
युवतीः सादरं साधु प्रति भोजनतत्पराः ।
साधुदृष्टिः पुनर्भक्त-शुद्धौ तासां न वीक्षणे ॥ २१ ॥
दध्यौ निर्विषया होते धिग्मां विषयरागिणम् ।
तदेवं भावयन् प्राप ज्ञानं तत्रैव केवलम् ॥ २२ ॥
राज्ञोऽपि श्चिन्तितध्यानात्तल्लेभे मङ्खपुत्र्यपि ।
पट्टराज्ञ्यपि तत्तद्भावयन्ती समासदत् ॥ २३ ॥
श्रुत्वापरागं स्वं लोकाद् ध्यात्वा दुश्चिन्तितं च तत् ।
विरक्तो भावनासक्तः प्राप भूपोऽपि केवलम् ॥ २४ ॥
चतुर्णां केवलोत्पत्तौ तत्रयुर्व्यन्तरामराः ।
साधुवेषं ददुस्तेषां वंशं स्वर्णोत्पलं व्यधुः ॥ २५ ॥
आश्चर्यकर्मिलापुत्रः प्रत्यबुध्यत्ततो जनः ।
सम्यक्त्वाभिग्रहादीनां कोपि किंचित्प्रपन्नवान् ॥ २६ ॥

आ० क० । आ० चू० । आ० म० द्वि० । विशे० ।

इलावइ–इलापति–पु० ऐलापत्यगोत्रस्य प्रकाशके आद्यपुरुषे, । नं०

इलवच्चा–इलापत्या–स्त्री० स्वनामख्यातायां तृतीयरात्रौ, । कल्प०

इलावद्धण–इलावर्द्धन– न० इलापुत्रस्य निवासस्थाने पुरभेदे, इतश्च भरतेऽमुष्मिन्निलामण्डलमण्डनम् । इलावर्द्धननामास्ति पुरं प्रस्पर्द्धितम्परैः । इति० । आ० क० । आ० म० । आ० चू० ।

इलिया–इलिका– स्त्री० तृणपत्रनिसृते द्वीन्द्रियजीवविशेषे, । आचा० । द्वीन्द्रियेलिकायाश्चतुरिन्द्रियत्वे हीरप्रश्ने पण्डितविरावर्षिगणिकृतप्रश्नेषु प्रश्नो यथा-द्वीन्द्रियेलिका स्फुटित्वा चतुरिन्द्रियभ्रमरी कथं भवति । उत्तरम् । इलिकाकलेवरमध्ये इलिकाजीवोऽपरो वा भ्रमरीत्वेनागत्योत्पद्यत इति । ही० ।

इलियागइ–इलिकागति–स्त्री० इलिकाया इव गतिरिलिकागतिः परलोकगमनार्थं गतिविशेषे, तस्याःस्वरूपं यथा-"इलिका पुच्छदेशमपरित्यज्य स्वमुखेनाग्रेतनं स्थानं शरीरप्रसारणेन संस्पृश्य ततः तथा पुच्छं संहरति एवं जीवोपि कश्चिदुत्पत्तिस्थानगमनकाले स्वप्रदेशैरुत्पत्तिस्थानं संस्पृश्य परभवायुःप्रथमसमये शरीरं परित्यजति । पं० सं० २ द्वा० ।

Jain Education International — For Private & Personal Use Only — www.jainelibrary.org

इल्ल–इल्ल–मतुवर्थके प्रत्यये, "मतुवत्थं च मुणेअह आले इल्लचणं च मतुवं च इति " पं० सं० ३ द्वा० । भाव० ।

इल्ली–देशी० शार्दूले, सिंहे, वर्षआणे च । दे० ना० ।

इल्लीर–देशी०वृषयाम्, वृष्टिवारणे गृहद्वारे च, दे० ना० ।

इल्लो–देशी०दरिडे, कोमले, प्रतीहारे, लविते, कृष्णवर्णे च दे०ना०

इव–इव– अव्य० सादृश्ये, उत्प्रेक्षायाम, तं० । ईषदर्थे वाक्यालंकारद्योतकता चास्य तत्र उपमायामिवेन नित्यसमासो विभक्त्यलोपश्चेति वार्तिकेन नित्यसमासः । विभक्तेर्लोपाभावश्च । वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये । रघुः अस्य च " मिवपिव विव व्व व विअ इवार्थे वा ८ । २ । ८२ । इति प्राकृतसूत्रेणवार्थे एतेषामेव प्रायः प्रयोगो जवति । कुमुअं मिव-चंदणं पिव हंसो विव. साअरोव्व खारोओ. सेसस्सव निम्मोओ (फुल्लंनीलुप्पलवणं व । तं०)कमलं विअ पक्के निलुप्पसमाल इवेति । प्रा० व्या० ।

इस–इष– गतौ,सर्पणे च । दिवा० पर० सक० सेट् इष्याति ऐष्यत्-ऐषीत्-इषित एषित्वा । अनु-अन्वेषणे, गवेषणे । वाच० ।

इ(रि)सि-ऋषि-पुं०पश्यन्तीति ऋषयः । औप० । उपा० । ऋणर्ज्वृषभर्तुर्षौ वा ८ । १ । ४१ । इति सूत्रेण वैकल्पिको ' रि ' इत्यादेशः । रिसी पक्षे । इत् कृपादौ । ८ । १ । १२८ । इति सूत्रेणेकारादेशः । इसी । अतिशयज्ञानिनि साधौ, औ० । अवध्यादिज्ञानवति, उपा० । ज्ञानिनि । भ० ९ श० ३२ उ० । प्रत्येकबुद्धसाधौ, । पा० ॥ ऋषीणामुत्तमं ह्येतन्निर्दिष्टं परमर्षिभिः । हिंसादोषनिवृत्तानां व्रतशीलविवर्धनम् ॥ ७॥ पश्यन्ति यथा वस्थितमिति ऋषयो मुनय इति । हा० । मूलोत्तरगुणयुते साधौ, ध० ३० अधि० । मुनौ, उत्त० १२ अ० । गणधरव्यतिरिक्ताः शेषाः जिनशिष्या ऋषयः इति । सम० । २४ स० । पं० चू० । जे णामिवं " ता इसिणा स एसो, । स एष ऋषिर्वर्तते येन ऋषिणाहं वान्ता त्यक्तेति । उत्त० १२अ० ।

ऋषेर्लक्षणं यथा ॥

अनिएअवासो समुआणचरिआ, अण्णाय उंछं पयरिक्कया य । अप्पोवही कलहविवज्जणा य, विहार चरिआ इसिणं पसत्था ॥ ५ ॥

अनियतवासो मासकल्पादिना अनिकेतवासो वा अगृहे उद्यानादौ वासः तथा समुदानचर्या अनेकत्र याचितभिक्षाचरणम् अज्ञातोञ्छं विशुद्धोपकरणग्रहणविषयं (पइरिक्कया य) विजनैकान्तसेविता च अल्पोपधित्वमनुल्बणयुक्तस्तोकोपधिसेवित्वे कलहविवर्जना च तथा तद्वासिना भण्डनविवर्जना विवर्जनं विवर्जना श्रवणकथादिना परिवर्जनमित्यर्थः । विहारचर्या विहरणस्थितिर्विहरणमर्यादा इयमेवंभूता ऋषीणां साधूनां प्रशस्ता व्याक्षेपाभावात् । आज्ञापालनेन भावचरणसाधनात्पवित्रेति सूत्रार्थः । दश० २ चूलि० । कपिलादीनामृषीणामिति । हा०२३ द्वा० । स्वनामख्याते ऋषिवादीन्द्रभेदे च । स्था० २ ठा० ।

इसिगुत्त–ऋषिगुप्त– पुं० वशिष्ठसगोत्रस्यार्यसुहस्तिनः शिष्ये,वशिष्ठसगोत्रे स्वनामख्याते स्थविरे, । तस्मात् माणवगणो निर्गतः तथाच " थेरेहिं तो णं इसिगुत्तेहिंतो वासिट्ठसगोत्तेहिं तो एत्थ णं माणवगणे णामं गणे णिग्गए इति । स्वनामख्याते माणवगणस्य प्रथमे कुले च ॥ कल्प० ।

इसिण–इसिन– पुं–अनार्यदेशभेदे, ज्ञा० १ अ० ।

इसिणिया–इसिनिका– स्त्री०इसिनामकानार्यदेशोद्भवायां नार्याम्, प्रज्ञा० १ पद ।

इसितडाग–ऋषितडाग –पुं० तोशलिदेशस्थे शैलपुरनगरस्थे स्वनामख्याते सरसि, " सेलपुरेइसि तडागम्मि होति अट्ठाहिया । महिमा तोसलिदेशे शैलपुरे नगरे ऋषितडागे सरसि प्रतिवर्षं महता विच्छर्देनाष्टाहिका महती महिमा भवतीति । वृ० १ उ० । तोशलिनगरस्थे स्वनामख्याते सरसि च । "तोसलीनगरम्मि इसिवालो,, तोशलिनगरवास्तव्येन वणिजा ऋषिपालो नाम वाणमन्तर उज्जयनी कुत्रिकापणात्क्रीत्वान्ते बुद्धिमाहात्म्येन सम्यगाराधितस्ततस्तेन ऋषितडागनाम सरः कृतमिति वृ० ३ उ० ।

इसिदास–ऋषिदास–पुं० राजगृहस्थे स्वनामख्याते श्रेष्ठिनि, अणु० ३ व० ३ अ० । (तद्वक्तव्यता धन्नश्रेष्ठिवत् अणुत्तरोववाइय शब्दे)

इसिदासज्झयण–ऋषिदासाध्ययन–न० । ऋषिदासवक्तव्यताप्रतिबद्धेऽनुत्तरोपपातिकदशायास्तृतीयवर्गस्य तृतीयेऽध्ययने, अणु० । वाचनान्तरापेक्षया प्रथमेऽध्ययने च । स्था०१० ठा० ।

इसिदिण्ण (दत्त) ऋषिदत्त– पुं० भरतवर्षवासिसुमतिजिनसमानकालिके ऐरावतवर्षवासिनि जिनभेदे,-"सुमई य भरहवासे इसिदिण्णजिणो य एरवणयवासे य " ति० । सम० । सुस्थितसुप्रतिबुद्धानां कौटिककाकन्दकानां शिष्ये, काश्यपगोत्रोत्पन्ने स्वनामख्याते स्थविरे च ॥ कल्प० ।

इसिदत्तय–ऋषिदत्तक–पुं० स्थविरात् रिसिगुत्तान्मानवगणस्य द्वितीये कुले, कल्प० ।

इसिपरिसा–ऋषिपरिषत्–स्त्री० पश्यन्तीति ऋषयोऽवध्यादिज्ञानवन्तः (उपा०२अ०) त एव परिषत्परिवारः ऋषिपरिषत् अतिशयज्ञानिसाधूनाम्परिवारे, औ० ॥ महइमहालियाए परिसाए " । पश्यन्तीति ऋषियो ज्ञानिनस्तद्रूपा पर्षत्परिवारः ऋषिपर्षत्तस्यै । भ० ९ श० ३३ उ० ।

इसिवाल–ऋषिपाल–पुं० स्वनामख्याते ऋषिवादिव्यन्तरनिकाये इन्द्रभेदे,-स्था० २ ठा० । स्वनामख्याते वाणव्यन्तरे च । स च तोशलिनगरवास्तव्येन वणिजा ऋषिपालो नाम वाणव्यन्तर उज्जयनीकुत्रिकापणात् क्रीत्वा तेन बुद्धिमहात्म्येन सम्यगाराधित इति । वृ० ३ उ० ।

इसिवालिय–ऋषिपालित–पुं० ऋषिवादिव्यन्तरनिकायेन्द्रभेदे, इसिवालियमयमहिया इति-इसिवालियस्स जहसुरवरकारयस्स वीरस्स जेहिंसया थुवंता सव्वे इंदा पवरकित्तिया ३।१६० ७ प० । आर्यशान्तिसैनिकस्य माठरसगोत्रस्य शिष्ये, स्वनामख्याते स्थविरे च । तन्निर्गतायां स्वनामख्यातायां शाखायाम् स्त्री० टाप्० "थेरेहिंतो अज्जुइसिवालिएहिं तो इत्थणं अज्जुइसिवालिया साहा णिग्गया इति " कल्प० ।

इसिभद्दपुत्त–ऋषिभद्रपुत्र–पुं०स्वनामख्याते श्रावके, ऋषिभद्रपुत्रवत्संविग्नगीतार्थगुरुसमीपश्रवणसमुत्पन्नप्रवचनार्थकोशलेन भावश्रावकेण भाव्यमिति । ध० र० ।

ऋषिभद्रपुत्र कथाचैवं—

तेणं कालेणं तेणं समएणं आलंभियाणामं णयरी होत्था वण्णओ संखवणे चेइए वण्णओ तत्थणं आलंभियाए णयरीए बहवे इसिभद्दपुत्तप्पमोक्खा समणोवासगा परि-

वसंति अड्ढे जाव अपरिभूए अभिगयजीवा जीवा जाव विहरंति तएणं तेसिं समणोवासयाणं अन्नदा कयावि एगयओ समुवागयाणं सहियाणं समुविट्ठाणं सण्णि सण्णाणं अयमेयारूवे मिहोकहा समुल्लावे अब्भत्थिए समुप्पज्जित्था देवलोएसु णं अज्जो देवाणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? तएणं से इसिभद्दपुत्ते समणोवासए देवट्ठिइगहियट्ठे ते समणोवासए एवं वयासि देव लोएसु णं अज्जो देवाणं जहण्णेणं दसवाससहस्साइं ठिई पण्णत्ता तेण परं समाहिया दुसमयाहिया जाव दससमयाहिया संखेज्जसमयाहिया असंखेज्जसमयाहिया उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमट्ठिई पण्णत्ता तेण परं वोच्छिण्णा देवा य देवलोगा य तएणं ते समणोवासगा इसिभद्दपुत्तस्स समणोवासगस्स एवमाइक्खमाणस्स जाव एवं परूवेमाणस्स एयमट्ठं णो सद्दहंति णो पत्तियंति णो रोयंति एयमट्ठं असद्दहमाणा अपत्तियमाणा अरोएमाणा जामेव दिसिं पाउब्भूया तामेव दिसं पडिगया । तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे जाव समोसढे जाव परिसा पज्जुवासइ तएणं ते समणोवासगा इमी से कहाए लद्धट्ठा समाणा हट्ठतुट्ठा एवं जहा तुंगियोद्देसए जाव णमंसंति । तएणं समणे भगवं महावीरे तेसिं समणोवासगाणं तीसेय महई धम्मकहा जाव आणाए आराहए भवई । तएणं ते समणोवासगा समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठा उट्ठाए उट्ठेंति उट्ठेइत्ता समणं भगवं महावीरं वंदंति णमंसंति वंदित्ता णमंसित्ता एवं वयासि एवं खलु भंते ! इसिभद्दपुत्ते समणोवासए अम्हं एवमाइक्खइ जाव एवं परूवेइ देवलोएसु णं अज्जो ! देवाणं जहण्णेणं दसवाससहस्साइं ठिई पण्णत्ता तेण परं समयाहिया जाव तेण परं वोच्छिण्णा देवा य देवलोगा य । से कहमेयं भंते ! एवं अज्जो ! त्ति समणं भगवं महावीरे ते समणोवासए एवं वयासी जेणं अज्जो ! इसिभद्दपुत्ते समणोवासए तुज्झं एवमाइक्खई जाव परूवेइ देवलोगेसुणं अज्जो देवाणं जहण्णेणं दसवाससहस्साइं ठिई पण्णत्ता तं चेव समयाहिया जाव तेण परं वोच्छिण्णा देवा य देवलोगा य सच्चेणं एसमट्ठे अहं पुण अज्जो ! एवमाइक्खामि जाव परूवेमि देवलोगेसुणं अज्जो ! देवाणं जहण्णेणं दसवाससहस्साइं तं चेव जाव तेण परं वोच्छिण्णा देवा य देवलोगा य सच्चेणं एसमट्ठे । तएणं ते समणोवासगा समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियाओ एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म समणं भगवं महावीरं वंदंति णमंसंति वंदित्ता नमंसित्ता जेणेव इसिभद्दपुत्ते समणोवासए तेणेव उवागच्छंति उवागच्छइत्ता इसिभद्दपुत्तं समणोवासगं वंदंति णमंसंति एयमट्ठं सम्मं विणएणं भुज्जो भुज्जो खामेंति । तएणं ते समणोवासगा पसिणाइं पुच्छंति २ त्ता अट्ठाइं परियादियंति २ त्ता समणं भगवं महावीरं वंदंति णमंसंति वंदइत्ता णमंसित्ता जामेव दिसिं पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगया भंतेति ? भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदइ णमंसइ २ त्ता एवं वयासी पभूणं भंते ! इसिभद्दपुत्ते समणोवासए देवाणुप्पियाणं अंतिए मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे गोयमा ! इसिभद्दपुत्तेणं समणोवासए बहुहिं सीलव्वय गुणव्वय वेरमण पच्चक्खाण पोसहोववासेहिं अहापरिग्गहिएहिं तवोकम्मेहिं अप्पाणं भावेमाणे बहूहिं वासाइं समणोवासगपरियागं पाउणिहिति २ त्ता मासियाए संलेहणाए अत्ताणं झूसेहिति २ त्ता सट्ठिभत्ताइं अणसणाए छेदेइ छेदेइत्ता आलोइय पडिक्कंते समाहिपत्ते कालमासे कालं कि॰ ; सोहम्मे कप्पे अरुणाभे विमाणे देवत्ताए उववज्जिहि॰ त्ति । तत्थणं अत्थेगइयाणं देवाणं चत्तारि पलि॰ ॰वमाइं ठिई पण्णत्ता- तत्थणं इसिभद्दपुत्तस्स देवस्स चत्तारि पलिओवमाइं ठिई भविस्सई । सेणं भंते ! इसिभद्दपुत्ते देवत्ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं जाव कहिं उववज्जिहिइ ? गोयमा महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ जाव अंतं काहिति सेवं भंते भंतेत्ति । भगवं गोयमे जाव अप्पाणं भावेमाणे विहरइ तएणं समणे भगवं महावीरे अन्न या कयावि आलंभियाओ णयरीओ संखवणाओ चेइयाओ पडिणिक्खमइ पडिणिक्खमइत्ता बाहिरिया जणवयविहारं विहरइ । तेणं कालेणं तेणं समएणं आलंभिया णामं णयरी होत्था । वण्णओ संखवणे चेइए वण्णओ तत्थणं संखवणस्स चेइयस्स अदूरसामंते पोग्गले णामं परिव्वाए परिवसइ । रिउव्वेय जउव्वेय जाव नएसु सुपरिनिट्ठिए छट्ठं छट्ठेणं अणिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं उड्ढं बाहाओ जाव आयावेमाणे विहरइ । तएणं तस्स पोग्गलस्स छट्ठं छट्ठेणं जाव आयावेमाणस्स पगइभद्दयाए जहा सिवस्स जाव विभंगे णामं अण्णाणे समुप्पण्णे सेणं तेणं विभंगे णामं अण्णाणेणं समुप्पण्णेणं बंभलोए कप्पे देवाणं ठिई जाणइ पासइ । तएणं तस्स पोग्गलस्स परिव्वायस्स अयमेयारूवे अब्भत्थिए जाव समुप्पज्जित्था । अत्थिणं मम अतिसेसे णाणदंसणे समुप्पण्णे देवलोएसु णं देवाणं जहण्णेणं दसवाससहस्साइं ठिई पण्णत्ता तेण परं समयाहिआ दुसमयाहिया जाव असंखेज्ज–

समयाहिया उक्कोसेणं दससागरविमाइं ठिई पन्नत्ता तेण परं वोच्छिन्ना देवा य देवलोगा य एवं संपेहेइ संपेहेइत्ता आयावणभूमीओ पच्चोरुहइ पच्चोरुहइत्ता तिदंडकुंडिआ जाव धाउरत्तवत्थाओ य गेण्हंति २ त्ता जेणेव आलंभिया णयरी जेणेव परिव्वायगावसहे तेणेव उवागए भंडगणिक्खेवं करेइ करेइत्ता आलंभियाए णयरीए सिंगाडग जाव पहेसु अन्नमन्नस्स एवमाइक्खइ जाव परूवेइ अत्थिणं देवाणुप्पिया ! मम अतिसेसे णाणदंसणे समुप्पन्ने देवलोएसु णं देवाणं जहन्नेणं दसवाससहस्से तहेव जाव वोच्छिन्ना देवा य देवलोगा य तएणं आलंभियाए णयरीए एवं एएणं अभिलावेणं जहा सिवस्स तं चेव जाव से कहमेयं मन्नेणं एवं ? सामी समोसढे जाव परिसापडिगया भगवं गोयमे तहेव भिक्खायरियाए तहेव बहुजणसद्दं निसामेइ तहेव सव्वं भाणियव्वं जाव अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि एवं भासामि जाव परूवेमि देवलोएसु णं देवाणं जहन्नेणं दसवाससहस्साइं ठिई पन्नत्ता तेण परं समयाहिया दुसमयाहिया जाव उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं ठिई पन्नत्ता तेण परं वोच्छिन्ना देवा य देवलोगा य । अत्थि णं भंते ! सोहम्मे कप्पे दव्वाइं सवन्नाइंपि अवन्नाइंपि तहेव जाव हंता अत्थि। एवं ईसाणे वि एवं जाव अच्चुए वि एवं गेविज्जविमाणेसु अणुत्तरविमाणेसु वि ईसिप्पब्भाराए वि जाव हंता अत्थि । तएणं सा महइ महालिया जाव पडिगया । तएणं आलंभियाए णयरीए सिंगाडगतिगअवसेसं जहा सिवस्स जाव सव्वदुक्खप्पहीणे णवरं तिदंडकुंडियं जाव धाउरत्तवत्थपरिहिए परिवडियविब्भंगे आलंभियं णयरं मज्झं मज्झेणं णिगच्छइ जाव उत्तरपुरच्छिमं दिसीभागं अवक्कमइ, अवक्कमइत्ता तिदंडकुंडियं च जहा खंदओ जाव पव्वइओ सेसं जहा सिवस्स जाव अव्वाबाहं सोक्खमणुभवंति सासयं सिद्धा सेवं भंते भंतेत्ति । भ० ११ श० १२ उ० ।

इसिभासिय-ऋषिभाषित-न० ऋषयः प्रत्येकबुद्धसाधवस्तेऽत्र नेमिनाथतीर्थवर्तिनो नारदादयो विंशतिः । पार्श्वनाथतीर्थवर्तिनः पञ्चदश वर्द्धमानस्वामितीर्थवर्तिनो दश आहत्य– तैर्भाषितानि पञ्चचत्वारिंशत्संख्यान्यध्ययनानि श्रवणादिकारवन्ति ऋषिभाषितानि अङ्गबाह्येषु उत्कालिकश्रुतविशेषेषु,

अत्रवृद्धसंप्रदायः।"सौरियपुरे नयरे सुरंबरो नाम जक्खो धणंजओ सेट्ठी सुभद्दा भज्जा तेहिं अन्नया सुरंबरो विन्नत्तो जहा ॥ जइ अम्हाणं पुत्तो होहित्तो तुब्भे महिससयं देमोत्ति।एवं ताणं संजाओ पुत्तो एत्थंतरे भगवं वद्धमाणसामी ताणि संबुज्झिहिंतित्ति सोरियपुरमागओ तओ सेट्ठी सज्जातिनिमाओ संबुद्धो अणुव्वयाणि गहियाणि सो जक्खो सुविणए महिसे मग्गइ तेण विसेट्ठिणा पिट्ठमया दिन्नत्ति। सामिणो दुन्निसीसा धम्मघोसो धम्मजसो य एगस्स असोगवरपायवस्स हेट्ठा परियट्टंति। ते पुव्वण्हे ट्ठिया अवरण्हेवि छाया न परियत्तइ तओ एक्को भणइ तुब्भे एसा लद्धी ओ भणइ तुब्भंति। तओ एक्को काइयभूमिं गओ जाव छाया तहेव अत्थइ तओ वि इओ वि गओ तत्थवि तहेव अत्थइ तेहिं नायं जहा न एक्कस्स विलद्धी। तओ सामी पुच्छिओ भगवया भणियं जहा इहेव सोरियपुरे समुद्दविजओ राया आसि जन्नदत्तो तावसो। सोमजसा तावसी ताण पुत्तो नारओ ताणिओ उंछवित्तीणि एक्कदिवसं जिमंति एक्कदिवसं उववासं करेंति। अन्नया ताणि तं नारयं पुव्वण्हे असोगपायवस्स हेट्ठा ठवेऊणं उंछंति इओ य वेयड्ढाओ वेसमणकाइया तिरियं जंभगदेवा तेणं तेणं वीइवयंता पेच्छंति तं दारयं ओहिणा आभोइंति। सो ताओ चेव देवनिकायाओ तओ ते तस्साणुकंपाए तं छायं थंभंतित्ति । एवं सो उस्सुक्कबालभावो अन्नया तेहिं जंभगदेवेहिं पन्नत्ति पाइयाओ विज्जाओ पाढिओ तओ कंचणकुंडियाए मणियाओ याहिं आगासे हिंडइ अन्नया बारवइं गओ वासुदेवेण पुच्छिओ किं सोयंति सो न मयाति कहेउं तओ अन्नकहा एवं खेयं काऊण अइट्ठिओ गओ पुव्वविदेहं तत्थ य सीमंधरं तित्थयरं जुगबाहुवासुदेवो पुच्छइ । किं सोयंति तित्थगरेण भणियं सव्वं सोयंति जुगबाहुणा एक्कवयणेणं वि सव्वं उवलद्धं नारओ वि तं निसुणित्ता उप्पइऊणं अवरविदेहं गओ तत्थ वि जुगंधरं तित्थयरं महाबाहु वासुदेवो तं चेव पुच्छइ। भगवया वि तं चेव वारियं महाबाहुस्स वि तं सव्वमुवगय नारओ वि तं सुणित्ता बारवइं गओ वासुदेवं भणइ किं ते तदा पुच्छिय वासुदेवो भणइ किं सोयंति नारओ भणइ सव्वं सोयंति । वासुदेवो भणइ किं सव्वंति तओ नारओ खुभिओ न किंचि उत्तरं देइ । तओ कण्हवासुदेवेण भणियं । जत्थ ते तं पच्छियं तत्थ एयंपि पुच्छियव्वं जुत्तं तिखिसिओ ताहे नारओ भणइ सव्वं भट्टारओ न पुच्छिओत्ति चिंतेउमारद्धो जा ईसरिया संबुद्धो पढममज्झयणं सोयव्वमेव इत्यादि वदति एवं सोऽपि बहूवाणित्ति ॥ पा० । उत्तराध्ययनादिके (देवेन्द्रस्तवादिके) श्रुतविशेषे, आ० म० प्र० । 'इसिभासिए य जहा' ऋषिभाषितेषूत्तराध्ययनादिषु । सूत्र० ।

इसिभासियज्झयण-ऋषिभाषिताध्ययन-न० प्रश्नव्याकरणदशायास्तृतीयेऽध्ययने, । स्था० १० ठा० ॥

इसिया-इषिका-स्त्री० मुञ्जागर्भभूतायां शलाकायाम्, 'से जहाणामए केइ पुरिसे मुंजाओ इसियं अभिणिव्वाट्टित्ता णं उवदंसेज्जा इसियंति' तद्गर्भभूतां शलाकां पृथक्कृत्य दर्शयेदिति । सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

इसिवंस-ऋषिवंश-पुं० । गणधरव्यतिरिक्ताः शेषा जिनशिष्या ऋषयस्तेषां वंशे, तद्वंशप्रतिपादके समवायाङ्गादिश्रुते च । 'इसिवंसे इय' गणधरवंश इति च गणधरव्यतिरिक्ताः शेषा जिनशिष्या ऋषयस्तद्वंशप्रतिपादकत्वादृषिवंश इति च । तत्प्रतिपादनं चात्र पर्यूषणाकल्पस्य समस्तस्य ऋषिवंशपर्यवसानस्य समवसरणप्रतिक्रमेण भणितत्वात् । सम० २ स० ।

इसिवाइ (न्) ऋषिवादिन्-पुं० पिशाचादिव्यन्तरनिकायानामुपरिवर्तिनि व्यन्तरनिकायविशेषे, औ० ।

इसिवाइय-ऋषिवादिक-पुं० पिशाचादिव्यन्तरनिकायानामुपरिवर्तिनि व्यन्तरजातिविशेषे, प्रश्न० ४ द्वा० । प्रव० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऋषिवादित–पुं० पिशाचादिव्यन्तरनिकायानामुपरि वर्तिनि व्यन्तरनिकायभेदे, प्रव० १९ द्वा० ।

इसिसत्त–ऋषिसत्त्व–पुं० ऋषिणा सप्त ऋषिसप्तः मत्रीयतपःप्रभावात्पुंसको भव त्वामिति ऋषिशापाज्जाते नपुंसकभेदे, ग० १ अधि० (अस्य प्रव्रज्याया युक्तायुक्तत्वविचारो णपुंसग शब्दे)

इसिसेट्ठ–ऋषिश्रेष्ठ–पुं० मुनिश्रेष्ठे.

जोहेसु णाए जह वीससेणे, पुप्फेसु वा जह अरविंदमाहु ।
खत्तीणसेट्ठे जह दंतवक्के, इसीण सेट्ठे तह वद्धमाणे ॥

योधेषु मध्ये ज्ञातो विदितो दृष्टान्तभूतो वा विश्वा हस्त्यश्वरथपदातिचतुरङ्गबलसमेता सेना यस्य स विश्वसेनश्चक्रवर्ती यथाऽसौ प्रधानपुष्पेषु च मध्ये यथाऽरविंदप्रधानमाहुः तथा क्षतात्त्रायन्त इति क्षत्रियास्तेषां मध्ये दान्ता उपशान्ता यस्य वाक्येनैव शत्रवः स दान्तवाक्यश्चक्रवर्ती । यथा ऽसौ श्रेष्ठः तदेवं बहून् दृष्टान्तान् प्रशस्तान् प्रदर्श्याऽधुना भगवन्तं दार्ष्टान्तिकं स्वनामग्राहमाह । तथा ऋषीणां मध्ये श्रीमान् वर्द्धमानस्वामी श्रेष्ठ इति ॥२२॥ सूत्र० । १ श्रु० ६ अ० ।

इसु–इषु–पुं० शरे, सूचकत्वात् इषूपमया भिक्षा ग्रहणविध्यर्थके द्रुमपुष्पिकाध्ययने, " जह रहितो अणुवउत्तो इसुणा लक्खं न विधइ तहेव । साधू गोयरपत्तो संजमलक्खंपि णायव्वो " दश० १ अ० ।

इस्स (ईस) र–ईश्वर–पुं०ईश्–वरच्–ईश् ऐश्वर्ये ऐश्वर्येण युक्त ईश्वरः । नि० चू० ९ अ० । ईश्वरश्च अणिमाद्यष्टविधैश्वर्ययुक्ते क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टे सर्वजगत्कारके पुरुषविशेषे,– " अणिमाद्यष्टविधैश्वर्ययुक्त ईश्वर इत्येके " । जीवा० ३ प्रति० । स्था० । आचा० । अनु० । " तथा च पतञ्जलिः । क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वर इति । सम्म० । टा० ।

ईश्वरवादिनश्च सर्वं जगदीश्वरकृतं मन्यन्ते ईश्वरं च सहसिद्धं ज्ञानवैराग्यधर्मैश्वर्यरूपं चतुष्टयं प्राणिनां च स्वर्गापवर्गयोः प्रेरकमिति तदुक्तं " ज्ञानमप्रतिघं यस्य, वैराग्यं च जगत्पतेः । ऐश्वर्यं चैव धर्मश्च स हि सिद्धं चतुष्टयम्" । १ । अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः । ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा ॥ २ ॥ तदसमीचीनम् । ईश्वरग्राहकप्रमाणाभावात् । अथास्ति तद्ग्राहकप्रमाणमनुमानम् । तथाहि यत् स्थित्वाऽभिमतफलसंपादनाय प्रवर्त्तते तद्बुद्धिमत्कारणाधिष्ठितं यथा वास्या छेदीकरणादौ प्रवर्तते च स्थित्वा सकलमपि विश्वं स्वफलसाधनायेति न खलु वास्यादयः स्वत एव प्रवर्तन्ते तेषामचेतनत्वात् स्वभावत एव चेत् प्रवर्तन्ते तर्हि सदैव तेषां प्रवर्तनं भवेत् न च भवति तस्य स्थित्वा स्थित्वा प्रवर्तनं केनचित्प्रेक्षावता प्रवर्तकेन भवितव्य सकलस्यापि च जगतः स्थित्वा स्थित्वा स्वफलं साधयतः प्रवर्तक ईश्वर एवोपपद्यते नान्यः इतीश्वरसिद्धिः । तथा अपरमनुमानं यत्पारिमाण्डल्यादिलक्षणसन्निवेशविशेषभाक् तच्चेतनावता कृतं यथा घटादिपारिमाण्डल्यादिसन्निवेशविशेषभाक् भूभूधरादिकमपि तदेतदयुक्तं सिद्धसाधनेन पक्षस्य प्रसिद्धसंबन्धत्वात् तथाहि सकलमपीदं विश्ववैचित्र्यं कर्मनिबन्धनमिच्छामो—यतो अमी वैताढ्यहिमवदादयः पर्वता भरतैरावतविदेहान्तरद्वीपादीनि च क्षेत्राणि तथा तथा प्राणिनां सुखदुःखादिहेतुतया यत्परिणमन्ते तत्र तथा तथा परिणमने तत्तन्निवासिनामेव तेषां जन्तूनां कर्मकारणमवसेयं नान्यत्तथाच दृश्यते एव पुण्यवति राज्यमनुशासति भूपतौ तत्कर्मप्रभावतः सुभिक्षादयः प्रवर्तमाना कर्म च जीवाश्रितं जीवाश्च बुद्धिमन्तश्चेतनावत्त्वात् ततो बुद्धिमत्कारणाधिष्ठितत्वे चेतनावत्कृतत्वे च साध्यमाने सिद्धसाधनम् । अथ बुद्धिमान् चेतनावान् वा विशिष्ट एवेश्वरः कश्चित्साध्यते तेन न सिद्धसाधनं तर्हि दृष्टान्तस्य साध्यविकलता वास्यादौ घटादौ चेश्वरस्याधिष्ठायकत्वेन कारणत्वेन वा व्याप्रियमाणस्यानुपलभ्यमानत्वात् वर्द्धकिकुम्भकारादीनामेवं तत्र तत्रान्वयव्यतिरेकता व्याप्रियमाणानां निश्चीयमानत्वात् । अथ वार्द्धक्यादयोपीश्वरप्रेरिता एव तत्र तत्र कर्मणि प्रवर्तन्ते न स्वतस्ततो न दृष्टान्तस्य साध्यविकलता । नन्वेवं तर्हि ईश्वरोप्यन्येनेश्वरेण प्रेरितः स्वकर्मणि प्रवर्तते न स्वतो विशेषाभावात् सोऽप्यन्येनेश्वरेण प्रेरित इति विकालसंध्यायां तमःसंततिरिवादृष्टपर्यन्तान्यान्यमापादयन्ती प्रसरत्यनवस्था । अथमन्येथा वर्द्धक्यादिको जन्तुः सर्वोपि स्वरूपेणाज्ञस्ततः सप्रेरित एव स्वकर्मणि प्रवर्तते भगवांस्त्वीश्वरः सकलपदार्थज्ञाता ततो नासौ स्वकर्मण्यन्यं स्वप्रेरकमपेक्षते तेन नानवस्था, तदप्यसत् इतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गात् तथाहि सकलपदार्थयथावस्थितस्वरूपज्ञातृत्वे सिद्धे सत्यन्याप्रेरितत्वसिद्धिः अन्याप्रेरितत्वसिद्धौ च सकलजगत्कारणतः सर्वज्ञत्वसिद्धिरित्येकासिद्धावन्यतरस्याप्यसिद्धिः । अपिच यद्यसौ सर्वज्ञो वीतरागश्च तत्किमर्थमन्यं जनमसद्व्यवहारे प्रवर्तयति मध्यस्था हि विवेकिनः सद्व्यवहार एव प्रवर्तयन्ति नासद्व्यवहारे, स तु विपर्ययमपि करोति ततः कथमसौ सर्वज्ञो वीतरागो वा । अथोच्यते सद्व्यवहारविषयमेव भगवानुपदेशं ददाति तेन सर्वज्ञो वीतरागश्च यश्चाधर्मकारिजनसमूहः तं फलमसदनुभावयति येन स तस्मादधर्माद्व्यावर्तते तत उचितफलदायित्वाद्विवेकवानेव भगवानिति न कश्चिद्दोषः तदप्यसमीक्षिताभिधानं यतः पापेपि प्रथमं स एव वर्तयति नान्यो न च स्वयं प्रवर्त्तते तस्याज्ञत्वेन पापे धर्मे वा स्वयं प्रवृत्तेरयोगा ततः पूर्वं पापे प्रवर्तयते तत्फलमनुभाव्य पश्चात्कर्म्मे प्रवर्तयतीति केयमीश्वरस्य प्रेक्षापूर्वकारिता । अथ पापे ऽपि प्रथमं प्रवर्तयति तत्कर्माधिष्ठित एव तथाहि तदेवं तेन जन्तुना कृतं कर्म्म यद्वशात्पाप एव प्रवर्त्यत ईश्वरोपि च भगवान् सर्वज्ञः तथा रूपं तत्कर्म साक्षात् ज्ञात्वा तं पाप एव प्रवर्त्तयति तत उचितफलदायित्वात्प्रेक्षापूर्वकारीति । ननु तदपि कर्म तेनैव कारितं ततस्तदपि कस्मात्प्रथमं कारयतीति स एवाप्रेक्षापूर्वकारिताप्रसङ्गः अथाधर्म्ममसौ न कारयति किंतु स्वत एव सोऽधर्म्ममाचरति अधर्मकारिणं तु तत्तत्फलमसदनुभावयति तदन्येश्वरवत् । यथाहि तदन्येश्वरराजादयो नाम धर्मे जनं प्रवर्तयन्ति अधर्मफलं तु प्रेक्षादिकमनुभावयन्ति तद्वद्भगवानीश्वरोपि, तदप्ययुक्तमन्ये हीश्वराः पापप्रतिषेधं कारयितुमीशाः नहि नाम राजानोऽपि उग्रशासनाः पापे मनोवाक्कायनिमित्ते सर्वथा प्रतिषेधयितुं प्रभविष्णवः स तु भगवान् धर्माधर्मविधिप्रतिषेधविज्ञापनसमर्थ इष्यते तत्कथं पापे प्रवृत्तं न प्रतिषेधयति अप्रतिषेधश्च परमार्थतः स एव कारयति तत्फलस्य पश्चादनुभावनादिति तदवस्थ एव दोषः । अथ पापे प्रवर्तमानं प्रतिषेधितुमशक्त इष्यते तर्हि नैवोद्रेकैरिदमभिधातव्यं सर्व–

मीश्वरेण कृतमिति । अपिच यद्यसौ स्वयमधर्मं करोति तथा धर्ममपि करिष्यति फलं च स्वयमेव भोक्ष्यन्ते ततः किमीश्वर कल्पनया विधेयमिति । उक्तंच " अशक्तवाऽन्येश्वराः पाप-प्रतिषेधं न कुर्वते । स त्वत्यन्तमशक्तेभ्यो, व्यावृत्तमतिरिष्यते १ अथाप्यशक्त एवासौ, तथा सति परिस्फुटम् । नेश्वरेण कृतं सर्वमिति वक्तव्यमुच्चकैः ॥ २ ॥ पापवत्स्वार्थकारित्वात् धर्मादिरपि किं तत "इति । अथ ब्रुवीथाः स्वयमसौ धर्माधर्मौ करोति तत्फलं त्वीश्वर एव भोजयति तस्य धर्माधर्मफलभोगे स्वयमशक्तत्वादिति, तदप्यसत् यतो यो नाम स्वयं धर्माधर्मौ विधातुमलं स कथं तत्फलं स्वयमेव न भोक्तुमीशो नहि पक्तुमोदनं समर्थो नहि भोक्तुमिति लोके प्रतीतम् । अथवा भवत्वेतदपि तथापि धर्मफलमुन्मत्तदत्ताङ्गनासंस्पर्शादिरूपमनुभावयतु तस्येष्टत्वादधर्मफलं तु नरकप्रयातादिरूपं कस्मादनुभावयति नहि मध्यस्थभावमवलम्बमानाः परमकरुणापरीतचेतसः प्रेक्षावन्तो निरर्थके परपीडाहेतौ कर्मणि प्रवर्तन्ते क्रीडार्था भगवतः तथा प्रवृत्तिरिति चेत् यद्येवं तर्हि कथमसौ प्रेक्षावान् तस्य हि प्रवर्तने क्रीडामात्रमेव फलं ते पुनः प्राणिनः स्थाने स्थाने प्राणैर्वियुज्यन्ते । उक्तंच " क्रीडार्थो तस्य वृत्तिश्चेत्प्रेक्षापूर्वक्रिया कुतः । एकस्य क्षणिका तृप्तिः, अन्यः प्राणैर्वियुज्यते ॥ १ ॥ " अपिच क्रीडा लोके सरागस्योपलभ्यते भगवांश्च वीतरागस्ततः कथं तस्य क्रीडा सङ्गतिमङ्गति । अथ सोपि सराग इष्यते तर्हि शेषजन्तुरिवावीतरागत्वान्न सर्वज्ञो नापि सर्वस्य कर्तेत्यापतितम् । अथ रागादिकृतोऽपि स सर्वज्ञः सर्वस्य कर्ता च भवति तथा स्वभावत्वात् ततो न कश्चिद्दोषो नहि स्वभावे पर्यनुयोगो घटनामुपपद्यते । उक्तंच । " इदमेवं भवत्येतत्, कस्य पर्यनुयोज्यताम् । अग्निर्दहति नाकाशं, कोऽत्र पर्यनुयोज्यताम् " ॥ तदेतदसम्यक् यतः प्रत्यक्षतः तथारूपे स्वभावे च गते यदि पर्यनुयोगो विधीयते तत्रेदमुत्तरं विजृम्भते । यथा स्वभावे पर्यनुयोगो भवतीति यथा प्रत्यक्षेणोपलभ्यमाने वह्नेर्दाह्यं दहतो दाहकत्वरूपे स्वभावे, तथाहि यदि तत्र कोपि पर्यनुयोगमाधत्ते यथा कथमेष वह्निर्दाहकस्वभावो जातो यदि वस्तुत्वेन तर्हि व्योमादिकं न दाहकस्वभावं भवति वस्तुत्वादविशेषादिति तत्रेदमुत्तरं विधीयते दाहकत्वरूपो हि स्वभावो वह्नेः प्रत्यक्षत एवोपलभ्यते ततः कथमेष पर्यनुयोगमर्हति न हि दृष्टेऽनुपपन्नता नाम तथाचोक्तम् । स्वभावोऽध्यक्षतःसिद्धो यदि पर्यनुयुज्यते । तत्रेदमुत्तरं वाच्यं, न दृष्टेऽनुपपन्नता ॥ १ ॥ ईश्वरस्तु सर्वजगत्कर्तृत्वेन सर्वज्ञत्वेन च नोपलब्धस्ततस्तत्र तथास्वभावत्वकल्पनादवश्यं पर्यनुयोगमाश्रयते । यदि पुनरदृष्टेपि तथा स्वभावत्वकल्पनापर्यनुयोगानाश्रयोऽभ्युपगम्यते तर्हि सर्वोपि वादी तं तं पक्षमाश्रयन् परेण विक्षोभितस्तत्र तत्र तथा २ स्वभावताकल्पनेन परं निरुत्तरीकृत्य लब्धजयपताक एव भवेत् ॥ उक्तंच ॥ अन्यथा "यत्किंचिदात्माभिमतं विधाय, निरुत्तरस्तत्र कृतः परेण ॥ वस्तुस्वभावैरिति वाच्यमित्थं, तदुत्तरः स्याद्विजयी समस्तः ॥ किंच ॥ सर्वं यदि जगदीश्वरकृतं मन्यते तर्हि सर्वाण्यपि शास्त्राणि सकलदर्शनगतानि तेन प्रवर्तितानीति प्राप्तं तानि च शास्त्राणि परस्परं विरुद्धार्थानि ततो ध्रुवं कानिचित्सत्यानि कानिचिदसत्यानि ततः सत्यासत्योपदेशदानात्कथमसौ प्रमाणम् । उक्तंच । " शास्त्रान्तराणि सर्वाणि, यदीश्वरविकल्पतः ॥ सत्यासत्योपदेशस्य, प्रमाणंवानतः कथम् ॥ १ ॥ अथ सकलानि शास्त्राणि ईश्वरकारितानि किंतु सत्यान्येव ततो न कश्चिद्दोषावकाशस्तर्हि शास्त्रान्तरवदेव नरेश्वरेणान्यदपि व्यधायीति हता तव पक्षसिद्धिरिति । अन्यच्च यादृग्भूतं संस्थानादि बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वेनोपलब्धं तादृग्भूतमेवान्यत्रापि बुद्धिमन्तमात्मनो हेतुमनुमापयति यथा जीर्णदेवकुलकूपादिगतं न शेषं नहि सन्ध्याभ्ररागवल्मीकादिगतं संस्थानाद्यात्मनो बुद्धिमन्तं कर्तारमनुमापयति तथा प्रतीतेरभावात् तद्वत्तस्य संस्थानादेर्बुद्धिमत्कारणत्वेन निश्चयाभावात् तथा भूभूधरादिगतमपि संस्थानादिकं न बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वेन निश्चितमिति कथं तद्वशाद्बुद्धिमतः कर्तुरनुमानम् । अथ मन्येथास्तदपि संस्थानादि तादृग्भूतमेव संस्थानादिशब्दवाच्यत्वात् नचैवं तत्कर्तुर्बुद्धिमतोऽनुमाने काञ्चिदपि बाधामुपलभामहे ततः सर्वं सुस्थितमिति तदयुक्तं शब्दादिरूढवशाज्जात्यन्तरेपि प्रवर्तन्ते ततः शब्दसाम्यात् । यदि तथारूपवस्त्वनुमानं तर्हि गोत्वाच्छागादीनामपि विषाणितामनुमीयतां विशेषाभावात् । अथ तत्र प्रत्यक्षेण बाधोपलभ्यते ईश्वरानुमानेन ततो न कश्चिद्दोष इति तदेतदतीव प्रमाणमार्गानभिज्ञतासूचकं यतो यत एवं तत्र प्रत्यक्षेण बाधोपलम्भोऽत एव नान्यत्रापि शब्दसाम्यात्तथारूपवस्त्वनुमानं कर्तव्यं प्रत्यक्षत एव शब्दसाम्यस्य वस्तुतथारूप्येण सहाविनाभावित्वस्याभावावगमात् । न च बाधकमत्र नोपलभ्यते इत्येवानुमानं प्रवर्तते किंतु वस्तुसंबन्धबलात् तथाचोक्तम् " ननु बाध्यत इत्येव-मनुमानं प्रवर्तते ॥ संबन्धदर्शनात् तस्य प्रवर्तनमिहेष्यते "-इति स च संबन्धोऽत्र न विद्यते तद्ग्राहकप्रमाणाभावात् ततोऽनैकान्तिकता हेतोरित्थं चैतदङ्गीकर्तव्यमन्यथा यो यो मृद्विकारः स स कुम्भकृतो यथा घटादिर्मृद्विकारश्चायं वल्मीकस्तस्मात्कुम्भकारकृत इत्यप्यनुमानं समीचीनतामाचनीस्कन्देत बाधकमात्रादर्शनात् । तथाहि यदि तत्र कुम्भकारः कर्ता भवेत्तर्हि कदाचिदुपलभ्येत न चोपलभ्यते तस्मादेव तदयुक्तमिति तदेतदीश्वरानुमानेपि समानम् ॥ यदि हि सर्वस्यापि वस्तुजातस्येश्वरः कर्ता क्वचित्कदाचिदुपलभ्येत न चोपलभ्यते तस्मादप्यलीकमिति कृतं प्रसङ्गेन । नं० ॥

अथ तदभिमतमीश्वरस्य जगत्कर्तृत्वाभ्युपगम-
मिथ्याभिनिवेशरूपं निरूपयन्नाह ॥

कर्तास्ति कश्चिज्जगतः सचैकः, स सर्वगः स स्ववशः स नित्यः । इमाः कुहेवाकविडम्बनाःस्यु-स्तेषां न येषामनुशासकस्त्वम् ॥ ६ ॥

जगतः प्रत्यक्षादिप्रमाणोपलक्ष्यमाणचराचररूपस्य विश्वत्रयस्य कश्चिदनिर्वचनीयस्वरूपः पुरुषविशेषः कर्ता स्रष्टाऽस्ति विद्यते । तेहीत्थं प्रमाणयन्ति उर्वीपर्वततर्वादिकं सर्वं बुद्धिमत्कर्तृकं कार्यत्वाद्यद्यत्कार्यं तत्तत्सर्वं बुद्धिमत्कर्तृकं यथा घटस्तथाचेदं तस्मात्तथा । व्यतिरेके व्योमादि । यश्च बुद्धिमांस्तत्कर्ता स भगवानीश्वर एवेति । नचायमासिद्धो हेतुर्यतो भूभूधरादेः स्वस्वकारणकलापजन्यतया अवयवितया वा कार्यत्वं सर्ववादिनां प्रतीतमेव । नाप्यनैकान्तिको विरुद्धो वा विपक्षादत्यन्तव्यावृत्तत्वात् । नापि कालात्ययापदिष्टः प्रत्यक्षानुमानागमाबाधितधर्मधर्म्यनन्तरप्रतिपादितत्वात् । नापि प्रकरणसमः तत्प्रतिपन्थिधर्मोपपादनसमर्थं प्रत्यनुमानाभावात् । न च वाच्यमीश्वरः पृथ्वीपृथ्वीधरादेर्विधाता न भवति अशरीरित्वान्निर्वृतात्मवदिति प्रत्यनुमानं तद्बाधकमिति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यतोऽत्रेश्वररूपो धर्मी प्रतीतोऽप्रतीतो वा प्ररूपितः । न तावदप्रतीतो हेतोराश्रयासिद्धिप्रसङ्गात् । प्रतीतश्चेत्केन प्रमाणेन स प्रतीतस्तेनैव किं स्वयमुत्पादितं स्वतनुर्न प्रतीयते इत्यतः कथमशरीरत्वं तस्मान्निरवद्य एवायं हेतुरिति । सचैक इति च पुनरर्थे स पुनः पुरुषविशेष एकोऽद्वितीयः बहूनां हि विश्वविधातृत्वस्वीकारे परस्परविमतसंभावनाया अनिवार्यत्वादेकैकस्य वस्तुनोऽन्यान्यरूपतया निर्माणे सर्वमसमञ्जसमापद्येतेति । तथा (स सर्वग इति) सर्वत्र गच्छतीति सर्वगः सर्वव्यापी तस्य हि प्रतिनियतदेशवर्त्तित्वेऽनियतदेशवृत्तीनां त्रिभुवनान्तर्वर्त्तिपदार्थसार्थानां यथावन्निर्माणानुपपत्तिः कुम्भकारादिषु तथा दर्शनात् । अथवा सर्वं गच्छति जानातीति सर्वगः सर्वज्ञः सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्था इति वचनात् सर्वज्ञत्वाभावे हि यथोचितोपादानकारणाद्यनभिज्ञत्वादनुरूपकार्योत्पत्तिर्न स्यात् । तथा स स्ववशः स्वतन्त्रः सकलप्राणिनां स्वेच्छया सुखदुःखयोरनुभावनसमर्थत्वात्तथा चोक्तम् "ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा, अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोरिति" पारतन्त्र्ये तु तस्य परमुखप्रेक्षितया मुख्यकर्तृत्वव्याघातादनीश्वरत्वापत्तिः । तथा (स नित्य इति) अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकरूपस्तस्य ह्यनित्यत्वे परोत्पाद्यतया कृतकत्वप्राप्तिः । अपेक्षितपरव्यापारो हि भावः स्वभावनिष्पत्तौ कृतक इत्युच्यते यश्चापरस्तत्कर्ता कल्प्यते स नित्योऽनित्यो वा स्यान्नित्यश्चेदधिकृतेश्वरेण किमपराद्धम् । अनित्यश्चेत्तस्याप्युत्पादकान्तरेण भाव्यं तस्यापि नित्यानित्यत्वविकल्पकल्पनायामनवस्थादौस्थ्यमिति तदेवमेकत्वादिविशेषणविशिष्टो भगवानीश्वरस्त्रिजगत्कर्त्तेति पराभ्युपगममुपदर्श्योत्तरार्द्धेन तस्य दुष्टत्वमाचष्टे । इमा एता अनन्तरोक्ताः कुहेवाकविडम्बनाः कुत्सिताः हेवाका आग्रहविशेषाः कुहेवाकाः कदाग्रहा इत्यर्थः त एव विडम्बना विचारचातुरीबाह्यत्वेन तिरस्काररूपत्वाद्विगोपकप्रकारास्त्युर्भवेयुस्तेषां प्रामाणिकापसदानां येषां हे स्वामिन् ! त्वं नानुशासको न शिक्षादाता तदभिनिवेशानां विडम्बनारूपत्वज्ञापनार्थमेव पराभिप्रेतपुरुषविशेषणेषु प्रत्येकं तच्छब्दप्रयोगमसूयागर्भमाविर्भावयांचकार स्तुतिकारः । तथाचैवमेव निन्दनीयं प्रति वक्तारो वदन्ति " स मूर्खः स पापीयान् स दरिद्रः इत्यादि " त्वमित्येकवचनसंयुक्तयुष्मच्छब्दप्रयोगेण परेशितुः परमकारुणिकतयाऽनपेक्षितस्वपरपक्षविभागमितरशास्तॄणामसाधारणमद्वितीयं हितोपदेशकत्वं ध्वन्यते । अतोऽत्रायमाशयो यद्यपि भगवान् विशेषेण सकलजगज्जन्तुजाते हितावहां सर्वेभ्य एव देशनावाचमाचष्टे तथापि सैव केषांचिन्निचितनिकाचितपापकर्मकलुषितात्मनां रुचिरूपतया न परिणमते अपुनर्बन्धकादिव्यतिरिक्तत्वेनायोग्यत्वात्तथा च कादम्बर्यां बाणोऽपि बभाण " अपगतमले हि मनसि स्फटिकमणाविव रजनिकरगभस्तयो विशन्ति सुखमुपदेशगुणा गुरुवचनममलमपि सलिलमिव महदुपजनयति । श्रवणस्थितं शूलमभव्यस्येति " यतो वस्तुवृत्त्या न तेषां भगवाननुशासक इति । नचैतावता जगद्गुरोरसामर्थ्यसंभावना, नहि कालदष्टमनुज्जीवयन् समुज्जीवितेतरदष्टको विषभिषगुपालम्भनीयोऽतिप्रसङ्गात् । स हि तेषामेव दोषः । न खलु निखिलभुवनाभोगमवभासयन्तोऽपि भानवीया भानवः कौशिकलोकस्यालोकहेतुतामभजमाना उपालम्भसंभावनास्पदम् तथा च श्रीसिद्धसेनः " सद्धर्मबीजवपनानघकौशलस्य, यल्लोकबान्धव ! तवापि खिलान्यभूवन् । तन्नाद्भुतं खगकुलेष्विह तामसेषु सूर्यांशवो मधुकरीचरणावदाताः ॥ १ ॥

अथ कथमिव तत्कुहेवाकानां विडम्बनारूपत्वमिति ब्रूमः यत्तावदुक्तं परैः "क्षित्यादयो बुद्धिमत्कर्तृकाः कार्यत्वाद् घटवदिति तदयुक्तं व्याप्तेरग्रहणात् । साधनं हि सर्वत्र व्याप्तौ प्रमाणेन सिद्धायां साध्यं गमयेदिति सर्ववादिसंवादः । स चायं जगन्ति सृजन् सशरीरोऽशरीरो वा स्यात् सशरीरोऽपि किमस्मदादिवद्दृश्यशरीरविशिष्ट उत पिशाचादिवददृश्यशरीरविशिष्टः । प्रथमपक्षे प्रत्यक्षबाधस्तमन्तरेणापि च जायमाने तृणतरुपुरन्दरधनुरभ्रादौ कार्यत्वस्य दर्शनात् । प्रमेयत्वादिवत्साधारणानैकान्तिको हेतुः । द्वितीयविकल्पे पुनरदृश्यशरीरत्वे तस्य माहात्म्यविशेषः कारणमाहोस्विदस्मदाद्यदृष्टवैगुण्यम् । प्रथमप्रकारः कोशपानप्रत्यायनीयः तत्सिद्धौ प्रमाणाभावात् । इतरेतराश्रयदोषापत्तेश्च । सिद्धे हि माहात्म्यविशेषे तस्यादृश्यशरीरत्वं प्रत्येतव्यं तत्सिद्धौ च माहात्म्यविशेषसिद्धिरिति । द्वैतीयीकस्तु प्रकारो न संवरत्येव विचारगोचरं संशयानिवृत्तेः । किं तस्यासत्त्वाददृश्यशरीरत्वं वान्ध्येयादिवत् किंवाऽस्मदाद्यदृष्टवैगुण्यात्पिशाचादिवदिति निश्चयाभावात् । अशरीरश्चेत्तदा दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्याद्विरुद्धो हेतुः । घटादयो हि कार्यरूपाः सशरीरकर्तृका दृष्टा अशरीरस्य च सतस्तस्य कार्यप्रवृत्तौ कुतः सामर्थ्यमाकाशादिवत् । तस्मात्सशरीराशरीरलक्षणे पक्षद्वयेऽपि कार्यत्वहेतोर्व्याप्त्यसिद्धिः । किंच त्वन्मतेन कालात्ययापदिष्टोऽप्ययं हेतुः धर्म्येकदेशस्य तरुविद्युदभ्रादेरिदानीमप्युत्पद्यमानस्य विधातुरनुपलभ्यमानत्वेन प्रत्यक्षबाधितधर्म्यनन्तरहेतुभणनात्तदेवं न कश्चिज्जगतः कर्ता । एकत्वादीनि तु जगत्कर्तृत्वव्यवस्थापनायानीयमानानि तद्विशेषणानि षण्ढं प्रति कामिन्या रूपसंपन्निरूपणप्रायाण्येव तथापि तेषां विचारासहत्वख्यापनार्थं किंचिदुच्यते तत्रैकत्वचर्चस्तावत् बहूनामेककार्यकरणे वैमत्यसंभावनेति नायमेकान्तः । अनेककीटिकाशतनिष्पाद्यत्वेऽपि शक्रमूर्ध्नोऽनेकशिल्पिकल्पितत्वेऽपि प्रासादादीनां नैकसरघानिर्वर्तितत्वेऽपि मधुच्छत्रादीनां चैकरूपताया अविगानेनोपलम्भात् । अथैतेष्वप्येक एवेश्वरः कर्तेति ब्रूषे एवं चेद्भवतो भवानीपतिं प्रति निरुपमा वासना तर्हि कुविन्दकुम्भकारादितिरस्कारेण पटघटादीनामपि कर्ता स एव किं न कल्प्यते । अथ तेषां प्रत्यक्षसिद्धं कर्तृत्वं कथमपह्नोतुं शक्यं तर्हि कीटिकादिभिः किं तव विराद्धं यत्तेषामसदृशतादृशप्रयाससाध्यं कर्तृत्वमेकहेलयैवापलप्यते तस्माद्वैमत्यभयान्महेशितुरेकत्वकल्पनाभोजनादिव्ययभयात्कृपणस्यात्यन्तवल्लभपुत्रकलत्रादिपरित्यजनेन शून्यारण्यानीसेवनमिव । तथा सर्वगतत्वमपि तस्य नोपपन्नं तद्धि शरीरात्मना ज्ञानात्मना वा स्यात् । प्रथमपक्षे तदीयेनैव देहेन जगत्त्रयस्य व्याप्तत्वादितरनिर्मेयपदार्थानामाश्रयानवकाशः । द्वितीयपक्षे तु सिद्धसाध्यताऽस्माभिरपि निरतिशयज्ञानात्मना परमपुरुषस्य जगत्त्रयक्रोडीकरणाभ्युपगमात् । यदि परमेवं भवत्प्रमाणीकृतेन वेदेन विरोधः । तत्र हि शरीरात्मना सर्वगतत्वमुक्तम् । " विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतः पाणिरुत विश्वतः पादिति श्रुतेः " यच्चोक्तम् । तस्य प्रतिनियतदेशवर्तित्वे त्रिभुवनगतपदार्थानामनियतदेशवृत्तीनां यथावन्निर्माणानुपपत्तिरिति । तत्रेदं पृच्छ्यते स जगत्त्रयं निर्मिमाणस्तक्षादिवत्साक्षाद्देहव्यापारेण निर्मिमीते यदि वा संकल्पमात्रेण । आद्ये पक्षे एकस्यैव भूभूधरादेर्विधानेऽक्षोदीयसः कालक्षेपस्य संभवाद्बहीयसाप्यनेहसा न परिसमाप्तिः । द्वितीयपक्षे तु संकल्पमात्रेणैव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न्वितकार्यकल्पनायां नियतदेशस्थायित्वेपि न किंचिद्दूषणमुत्पश्यामः नियतदेशस्थायिनां सामान्यदेवानामपि संकल्पमात्रेणैव तत्तत्कार्यसंपादनप्रतिपत्तेः ॥

किंच तस्य सर्वगतत्वेऽङ्गीक्रियमाणेऽशुचिषु निरन्तरसन्तमसेषु नरकादिस्थानेष्वपि तस्य वृत्तिः प्रसज्यते तथा चानिष्टापत्तिः। अथ युष्मत्पक्षेऽपि यदा ज्ञानात्मना सर्वजगत्त्रयं व्याप्नोतीत्युच्यते तदाऽशुचिरसास्वादादीनामप्युपलम्भसंभावनान्नारकादिदुःखस्वरूपसंवेदनात्मकतया दुःखानुभवप्रसङ्गाच्चानिष्टापत्तिस्तुल्यैवेति चेत्तदेतदुपपत्तिभिः प्रतिकर्तुमशक्तस्य धूलिभिरेवावकरणं यतो ज्ञानमप्राप्यकारि स्वस्थानस्थमेव विषयं परिच्छिनत्ति न पुनस्तत्र गत्वा तत्कुतो भवदुपालम्भः समीचीनः। तर्हि भवतोप्यशुचिज्ञानमात्रेण तद्रसास्वादानुभूतिस्तन्त्रावे हि स्रक्चन्दनाङ्गनारसवत्यादिचिन्तनमात्रेणैव तृप्तिसिद्धौ तत्प्राप्तिप्रयत्नवैफल्यप्रसक्तिरिति। यत्तु ज्ञानात्मना सर्वगतत्वे सिद्धसाधनं प्रागुक्तं तच्छक्तिमात्रमपेक्ष्य मन्तव्यं तथा च वक्तारो भवन्ति। "अस्य मतिः सर्वशास्त्रेषु प्रसरति इति"। न च ज्ञानं प्राप्यकारि तस्यात्मधर्मत्वेन बहिर्निर्गमाभावाद्बहिर्निर्गमे चात्मनोऽचैतन्यापत्त्याऽजीवत्वप्रसङ्गान्नहि धर्मो धर्मिणमतिरिच्य क्वचन केवलो विलोकितः। यत्त परे दृष्टान्तयन्ति " यथा सूर्यस्य किरणा गुणरूपा अपि सूर्यान्निष्क्रम्य भुवनं भासयन्त्येवं ज्ञानमप्यात्मनः सकाशाद्बहिर्निर्गत्य प्रमेयं परिच्छिनत्तीति " तत्रेदमुत्तरं किरणानां गुणत्वमसिद्धं तेषां तैजसपुद्गलमयत्वेन द्रव्यत्वात्। यश्च तेषां प्रकाशात्मा गुणः स तेभ्यो न जातु पृथग्भवतीति। तथा च धर्मसंग्रहण्यां श्रीहरिभद्राचार्यपादाः " किरणा गुणा न दव्वं, तेसिं पयासो गुणो न वा दव्वं। जं नाणं आयगुणो, कहमद्दव्वो स अन्नत्थ १" "गंतूण न परिछिंदइ, नाणं नेयं तयम्मि देसम्मि। आयत्थम्मिय नवरं, अचिंतसत्तीउ विन्नेयं ॥ २ ॥ लोहोवलस्स सत्ती, आयत्था चेव भिन्नदेसम्मि। लोहं आगरिसंती दीसइ इह कज्जपच्चक्खा ॥ ३ ॥ एवमिह नाणसत्ती, आयत्था चेव हंदि लोगंतं। जइ परिछिंदइ सव्वं,को णु विरोहो भवे तत्थ ' ॥ ४ ॥ इत्यादि अथ सर्वगः सर्वज्ञः इति व्याख्यानं तत्रापि प्रतिविधीयते। ननु तस्य सार्वज्ञ्यं केन प्रमाणेन गृहीतं प्रत्यक्षेण परोक्षेण वा। न तावत्प्रत्यक्षेण तस्येन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नतयाऽतीन्द्रियग्रहणासामर्थ्यात्। नापि परोक्षेण तद्धि अनुमानं शाब्दं वा स्यात्। न तावदनुमानं तस्य लिङ्गग्रहणलिङ्गिलिङ्गसंबन्धस्मरणपूर्वकत्वान्न च तस्य सर्वज्ञत्वेऽनुमेयं किंचिदव्यभिचारिलिङ्गं पश्यामस्तस्याऽत्यन्तविप्रकृष्टत्वेन तत्प्रतिबद्धलिङ्गसंबन्धग्रहणाभावात्। अथ तस्य सर्वज्ञत्वं विना जगद्वैचित्र्यमनुपपद्यमानं सर्वज्ञत्वमर्थादापादयतीति चेन्न अविनाभावाऽभावात्। न हि जगद्वैचित्री तत्सार्वज्ञ्यं विनाऽन्यथा नोपपन्ना। द्विविधं हि जगत् स्थावरजङ्गमभेदात् तत्र जङ्गमानां वैचित्र्यं स्वोपात्तशुभाऽशुभकर्मपरिपाकवशेनैव। स्थावराणां तु सचेतनानामियमेव गतिः अचेतनानां तु तदुपभोगयोग्यतासाधनत्वेनानादिकालसिद्धमेव वैचित्र्यमिति। नाप्यागमस्तत्साधकः। स हि तत्कृतोऽन्यकृतो वा स्यात्। तत्कृत एव चेत्तस्य सर्वज्ञतां साधयति। तदा तस्य महत्त्वक्षतिः स्वयमेव स्वगुणोत्कीर्तनस्य महतामनधिकृतत्वात्। अन्यच्च तस्य शास्त्रकर्तृत्वमेव न युज्यते। शास्त्रं हि वर्णात्मकम्। ते च ताल्वादिव्यापारजन्याः। स च शरीर एव सम्भवी। शरीराऽभ्युपगमे च तस्य पूर्वोक्ता एव दोषाः। अन्यकृतश्चेत्सोऽन्यः सर्वज्ञोऽसर्वज्ञो वा। सर्वज्ञत्वे तस्य द्वैतापत्त्या प्रागुक्ततदेकत्वाभ्युपगमबाधः। तत्साधकप्रमाणचर्चायामनवस्थापातश्च। असर्वज्ञश्चेत् कस्तस्य वचसि विश्वासः अपरं च भवदभीष्ट आगमः प्रत्युत तत्प्रणेतुरसर्वज्ञत्वमेव साधयति पूर्वाऽपरविरुद्धाऽर्थवचनोपेतत्वात्। तथाहि " न हिंस्यात्सर्वभूतानि " इति प्रथममुक्त्वा पश्चात्तत्रैव पठितम् "षट्शतानि नियुज्यन्ते पशूनां मध्यमेऽहनि। अश्वमेधस्य वचनान्न्यूनानि पशुभिस्त्रिभिः।" तथा "अग्नीषोमीयं पशुमालभेत" " सप्तदश प्राजापत्यान् पशूनालभेत " इत्यादिवचनानि कथमिव न पूर्वापरविरोधमनुरुध्यन्ते। तथा " नानृतं ब्रूयात् " इत्यादिनाऽनृतभाषणं प्रथमं निषिध्य पश्चाद् " ब्राह्मणार्थेऽनृतं ब्रूयादित्यादि " तथा " न नर्मयुक्तं वचनं हिनस्ति न स्त्रीषु राजन्न विवाहकाले। प्राणात्यये सर्वधनापहारे पञ्चाऽनृतान्याहुरपातकानि ॥ १ ॥ तथा " परद्रव्याणि लोष्ठवत् " इत्यादिना अदत्तादानमनेकधा निरस्य पश्चादुक्तं " यद्यपि ब्राह्मणो हठेन परकीयमादत्ते छलेन वा, तथापि तस्य नाऽदत्तादानम्। यतः सर्वमिदं ब्राह्मणेभ्यो दत्तम्। ब्राह्मणानां तु दौर्बल्याद्वृषलाः परिभुञ्जते तस्मादपहरन् ब्राह्मणः स्वमादत्ते स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते वस्ते स्वं ददातीति। तथा " अपुत्रस्य गतिर्नास्ति " इति लपित्वाऽनेकानि सहस्राणि कुमारब्रह्मचारिणां दिवं गतानि विप्राणामकृत्वा कुलसंतति, मित्यादि कियन्तो वा दधिमाषभोजनात्कृपणा विवेच्यन्ते। तदेवमागमोपि न तस्य सर्वज्ञतां वक्ति। किंच सर्वज्ञः सन्नसौ चराचरं चेद्विरचयति तदा जगदुपप्लवकरणवैरिणः पश्चादपि कर्त्तव्यनिग्रहान् सुरवैरिण एतदाधिक्षेपकारिणश्चास्मदादीन् किमर्थं सृजतीति तन्नायं सर्वज्ञः। तथा स्ववशत्वं स्वातन्त्र्यं तदपि तस्य न क्षोदक्षमम्। स हि यदि नाम स्वाधीनः सन् विश्वं विधत्ते परमकारुणिकश्च त्वया वर्ण्यते तत्कथं सुखितदुःखिताद्यवस्थाभेदवृन्दस्थपुटितं घटयति भुवनमेकान्तशर्मसंपत्कान्तमेव तु किं न निर्मिमीते। अथ जन्मान्तरोपार्जिततत्तदीयशुभाशुभकर्मप्रेरितः संस्तथा करोतीति दत्तस्तर्हि स्ववशत्वाय जलाञ्जलिः। कर्मजन्ये च त्रिभुवनवैचित्र्ये विशिष्टहेतुकविष्टपसृष्टिकल्पनायाः कष्टैकफलत्वाद्स्मन्मतमेवाङ्गीकृतं प्रेक्षावता। तथा चायातोऽयं " घट्टकुट्यां प्रभातमिति " न्यायः। किंच प्राणिनां धर्माधर्मावपेक्षमाणश्चेदयं सृजति प्राप्तं तर्हि यदयमपेक्षते तन्न करोति इति। नहि कुलालो दण्डादि करोति एवं कर्मापेक्षश्चेदीश्वरो जगत्कारणं स्यात्तर्हि कर्मणीश्वरोऽनीश्वरः स्यादिति। तथा नित्यत्वमपि तस्य स्वगृह एव प्रणिगद्यमानं हृद्यम्। स खलु नित्यत्वेनैकरूपः सन् त्रिभुवनसर्गस्वभावोऽतत्स्वभावो वा प्रथमविधायां जगन्निर्माणात् कदाचिदपि नोपरमेत। तदुपरमे तत्स्वभावत्वहानिः। एवं च सर्गक्रियाया अपर्यवसानादेकस्यापि कार्यस्य न सृष्टिः। घटो हि स्वारम्भक्षणादारभ्यापरिसमाप्तेरन्त्यक्षणं यावन्निश्चयनयाभिप्रायेण न घटव्यपदेशमासादयति जलाहरणाद्यर्थक्रियायामसाधकतमत्वात्। अतत्स्वभावपक्षे तु न जातु जगन्ति सृजेत्तत्स्वभावायोगाद्गगनवत्। अपिच तस्यैकान्तनित्यस्वरूपत्वे सृष्टिरिव संहारोपि न घटते नानारूपकार्यकरणे नित्यत्वापत्तेः। स हि येनैव स्वभावेन जगन्ति सृजेत्तेनैव तानि संहरेत्स्वभावान्तरेण वा तेनैव चेत् सृष्टिसंहारयोर्यौगपद्यप्रसङ्गः स्वभावाभेदात्। एकस्वभावात्कारणादनेकस्वभावकार्योत्पत्तिविरोधात्। स्वभावान्तरेण चेन्नित्यत्वहानिः। स्वभावभेद एव हि लक्षणमनित्यतायाः। यथा

पार्थिवशरीरस्याहारपरमाणुसहकृतस्य प्रत्यहमपूर्वापूर्वोत्पादेन स्वभावभेदादनित्यत्वम् । एवञ्च भावानां सृष्टिसंहारयोः शम्भौ स्वभावभेदः । रजोगुणात्मकतया सृष्टौ,तमोगुणात्मकतया संहरणे, सात्त्विकतया च स्थितौ, तस्य व्यापारस्वीकारात् एवं चावस्थाभेदस्तद्भेदे चावस्थावतोऽपि भेदान्नित्यत्वक्षतिः । अथास्तु नित्यस्तथापि स कथं सततमेव सृष्टौ न चेष्टते । इच्छावशाच्चेन्ननु ता अपीच्छाः स्वसत्तामात्रनिबन्धनात्मलाभाः सदैव किं न प्रवर्तयतीति स एवोपालम्भः । तथा शम्भोरष्टगुणाधिकरणत्वे कार्यभेदाऽनुमेयानां तदिच्छानामपि विषमरूपत्वान्नित्यत्वहानिः केन निवार्यते इति । किंच प्रेक्षावतां प्रवृत्तिः स्वार्थकारुण्याभ्यां व्याप्ता ततश्चायं जगत्सर्गे व्याप्रियते स्वार्थात्कारुण्याद्वा न तावत्स्वार्थात्तस्य कृतकृत्यत्वात् । न च कारुण्यात्परदुःखप्रहाणेच्छा हि कारुण्यं ततः प्राक् सर्गाज्जीवानामिन्द्रियशरीरविषयानुत्पत्तौ दुःखाभावेन कस्य प्रहाणेच्छाकारुण्यम् । सर्गोत्तरकाले तु दुःखिनोऽवलोक्य कारुण्याभ्युपगमे दुरुत्तरमितरेतराश्रयम् । कारुण्येन सृष्टिः सृष्ट्या च कारुण्यमिति । नास्य जगत्कर्तृत्वं कथमपि सिध्यति तदेवमेवंविधदोषकलुषिते पुरुषविशेषे यस्तेषां सेवाहेवाकः स खलु केवलं बलवन्मोहविडम्बनापरिपाक इति । अत्र च यद्यपि मध्यवर्तिनी नकारस्य घण्टालालान्यायेन योजनादर्थान्तरमपि स्फुरति यथा ' इमाः कुहेवाकविडम्बनास्तेषां न स्युर्येषां त्वमनुशासक इति ' तथापि सोऽर्थः सहृदयैर्न हृदये धारणीयोऽन्ययोगव्यवच्छेदस्याधिकृतत्वादिति काव्यार्थः । स्या० ६ श्लोक ।

ईश्वरस्य जगदकर्तृत्वं यथा ।

उवगरणाभावाओ निच्चेट्ठामुत्तयाइ उ वावि ।
ईसरदेहारंभे वि तुल्लया वाऽणवत्था वा ॥

नायमीश्वरः जीवादिरकर्मा शरीरादिकार्याण्यारभते उपकरणाभावाद्दण्डाद्युपकरणरहितकुलालवत् । न च कर्म विना शरीराद्यारम्भिजीवादीनामन्यदुपकरणं घटते । गर्भाद्यवस्थास्वन्योपकरणासंभवाच्छुक्रशोणितादिग्रहणस्याप्यकर्मणोऽनुपपत्तेः । अथवा ऽन्यथा प्रयोगः क्रियते निश्चेष्टत्वादिना कर्मशरीराद्यारभते निश्चेष्टत्वादाकाशवत्तथा ऽमूर्तत्वादाकाशवत्तथा ऽशरीरत्वान्निष्क्रियत्वात्सर्वगतत्वादाकाशवदेव तथा एकत्वादेकपरमाणुवदित्यादि । अत्रोच्यते शरीरवानीश्वरः सर्वाण्यपि देहादिकार्याण्यारभते । नन्वीश्वरदेहारम्भोपि तर्हि तुल्यता पर्यनुयोगस्य तथाहृकर्मा नारभते निजशरीरमीश्वरो निरुपकरणत्वाद्दण्डादिरहितकुलालवदिति । अथान्यः कोपीश्वरस्तच्छरीरारम्भाय प्रवर्तते ततः सोपि शरीरवानशरीरो वा यद्यशरीरस्तर्हि नारभते निरुपकरणत्वादित्यादि सैव वक्तव्यता अथ शरीरवान् तर्हि तच्छरीरारम्भेपि तुल्यता सोप्यकर्मा निजशरीरं नारभते निरुपकरणत्वादित्यादि । अथ तच्छरीरमन्यः शरीरवांस्तर्हि तच्छरीरारम्भेपि तुल्यता नारभते ऽतस्तस्याप्यन्य इत्येवमनवस्था । अनिष्टं च सर्वमेतत्तस्मान्नेश्वरो देहादीनां कर्ता किंतु कर्म सद्वितीयो जीव एव निष्प्रयोजनश्चेश्वरो देहादीन् कुर्वन्नुन्मत्तकल्प एव स्यात् । सप्रयोजनकर्तृत्वे पुनरनीश्वरप्रसङ्गः । न चानादिशुद्धस्य देहादिकारणेच्छा युज्यते तस्या रागविकल्परूपत्वात् ॥ विशे० ॥ तथाच 'इणमन्नं तु अन्नाणं, इहमेगेसिमाहियं । ईसरेण कडे लोए' इत्युपक्रम्य 'असो तत्तमकासीयं अयाणंतामुसं वहे ' इत्युपसंजहार । सूत्र० १ श्रु० १ अ० ।

"ईश्वरकर्तृके सुखदुःखे अपि न भवतः यतासावीश्वरो मूर्तोऽमूर्तो वा । यदि मूर्तस्ततः प्राकृतपुरुषस्येव सर्वकर्तृत्वाभावः। अथाऽमूर्तस्तथा सत्याकाशस्येव सुतरां निष्क्रियत्वम् । अपिच यद्यसौ रागादिमांस्ततोऽस्मदाद्यव्यतिरेकाद्विश्वस्याकर्तैव । यथासौ विगतरागस्ततस्तत्कृतं सुभगदुर्भगेश्वरदरिद्रादि जगद्वैचित्र्यम् न घटां प्राञ्चति ततो नेश्वरः कर्तेति । सूत्र० ॥ यथा कथंचिदीश्वरस्य कर्तृत्वं सूत्रकृताङ्गे प्रतिपादितम् ।

तथेश्वरोपि कर्ता आत्मैवहि तत्र तत्रोत्पत्तिद्वारेण सकलजगद्व्यापनादीश्वरः । तस्य सुखदुःखोत्पत्तिकर्तृत्वं सर्ववादिनामविगानेन सिद्धमेव । यच्चात्र मूर्तादि दूषणमुपन्यस्तं तदेवंभूतेश्वरसमाश्रयेण दूरोच्छेदितमेवेति ॥ सूत्र० १ श्रु० १ अ० ९ उ० । ऐश्वर्येण ज्ञानाद्यतिशयलक्षणेन युक्त ईश्वरः परमब्रह्मवादीनां मुक्ते-बौद्धानाम्बुद्धे अर्हतां जिने च । द्वा० १६ द्वा० - यो० वि० ।

तेषामीश्वरत्वं यथा-

महेशानुग्रहात्केचि-द्योगसिद्धिं प्रचक्षते ।
क्लेशाद्यैरपरामृष्टः, पुंविशेषः स चेष्यते । १ ।

केचित्पातञ्जला महेशानुग्रहात् योगस्योक्तलक्षणस्य सिद्धिमयोगक्षेमलक्षणां प्रचक्षते प्रकथयन्ति स च महेशः पुंविशेषः पुरुषविशेषः इष्यते । कीदृश इत्याह क्लेशाद्यैः क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टोऽस्पृष्टस्त्रिष्वपि कालेषु तथाच सूत्रं "क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष इष्यते । कीदृश इत्याह-ईश्वर इति अत्र क्लेशा अविद्यास्मिता रागद्वेषाभिनिवेशा वक्ष्यमाणलक्षणाः क्लेशमूलाः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः अस्मिन्नेव जन्मन्यनुभवनीयो दृष्टजन्मवेदनीयो जन्मान्तरानुभवनीयोऽदृष्टजन्मवेदनीयस्तीव्रसंवेगेन हि कृतानि पुण्यानि देवताराधनादीनि कर्माणि इहैव जन्मनि फलं जात्यायुर्भोगलक्षणं प्रयच्छन्ति । यथा नन्दीश्वरस्य भगवन्महेश्वराराधनबलादिहैव जन्मनि जात्यादयो विशिष्टाः प्रादुर्भूता न चैतदनुपपत्तिः सदनुष्ठानेन प्रतिबन्धकापनयने केदारान्तरे जलापूरणवत्पाश्चात्यप्रकृत्यापूरणेनैव सिद्धिविशेषोपपत्तेस्तदुक्तम् । " जन्मौषधिमन्त्रतपः समाधिजाः सिद्धयः सिद्धिश्चोत्कर्षविशेषः कायकारणस्य जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्या पूराभिमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवदिति । सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगः सति मूले क्लेशरूपबीजे तेषां कुशलाकुशलं कर्मणां विपाकः फलं जात्यायुर्भोगा भवन्ति जातिर्मनुष्यादिरायुश्चिरकालं शरीरसंबन्धो भोगा विषयाः इन्द्रियाणि सुखदुःखसंविच्च कर्मकरणभावसाधनव्युत्पत्त्या भोगशब्दस्य, इदमत्र तात्पर्यम् । चित्तं हि द्विविधं साशयमनाशयं च । तत्र योगिनामनाशयं तदाह । ध्यानजमनाशयम् अत एव तेषामशुक्लाकृष्णं कर्म तदाह कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषां शुभफलदं कर्म यागादि शुक्लम् अशुभफलदं ब्रह्महत्यादि कृष्णम् उभयसंकीर्णं शुक्लकृष्णम् । तत्र शुक्लं दानतपःस्वाध्यायादिमतां पुरुषाणां कृष्णं नारकिणां, शुक्लकृष्णं मनुष्याणां योगिनां तु विलक्षणमिति साशयं चित्तमयोगिनाम् तत्र फलत्यागानुसंधानाभावात्फलजनकं कर्माशयस्ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानां द्विविधा हि कर्मवासनाः स्मृतिमात्रफलाजात्यायुर्भोगफलाश्च तत्राद्या येन कर्मणा यादृक् शरीरमारब्धं देवमानुषतिर्यगादिभेदेन जात्यन्तरशतव्यवधानेन पुनस्तथाविधस्यैव शरीरस्यारम्भे तदनुरूपामेव स्मृतिं जनयन्ति,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्यादृशीं च व्यञ्जयन्ति देवादिभवे नारकादि शरीरोपभोगस्मृतिवत् । न चातिव्यवहितयोः स्मृतिसंस्कारयोर्जन्यजनकभावानुपपत्तिर्दूरानुभूतस्याप्यविचलितचित्ते वासनात्मना स्थितस्योद्बोधविशेषसहकारेण स्मृतिविशेषपरिणामे व्यवधानाभावात्तदुक्तम् । जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात् ताश्च सुखसाधना वियोगाध्यवसायसङ्कुलस्य मोहलक्षणस्य बीजस्यानादित्वादादिरहितास्तदुक्तं तासामनादित्वमाशिषो नित्यत्वात् द्वितीयाया अपि चित्तभूमावेवानादिकालं संचिता यथा यथा पाकमुपयान्ति तथा तथा गुणप्रधानभावेन स्थिता जात्यायुर्भोगलक्षणं कार्यमारभन्त इति । तदेतत्कर्माशयफलं जात्यादिविपाक इति । यद्यपि सर्वेषामात्मनां क्लेशादिस्पर्शो नास्ति तथापि ते चित्तगतास्तेषां व्यपदिश्यन्ते यथा योधगतौ जयपराजयौ स्वामिनः, अस्य तु त्रिष्वपि कालेषु तथाविधोऽपि क्लेशादिपरामर्शो नास्तीति विलक्षणोऽयमन्येभ्यः ॥ १ ॥

ज्ञानमप्रतिघं यस्य, वैराग्यं च जगत्पतेः ।
ऐश्वर्यं चैव धर्मश्च, सहसिद्धं चतुष्टयम् ॥ २ ॥
सात्त्विकः परिणामोऽत्र, काष्ठा प्राप्ततयेष्यते ।
नाऽप्रमाणाऽक्षिकामात्र, इति सर्वज्ञतास्थितिः ॥ ३ ॥
ऋषीणां कापिलादीना-मप्ययं परमो गुरुः ।
तदिच्छया जगत्सर्वं, यथाकर्म विवर्त्तते ॥ ४ ॥

ज्ञानादयोऽप्यप्रतिपक्षाः सहजाश्च शुद्धसत्त्वस्यानादिसंबन्धात् यथा हीतरेषां सुखदुःखमोहतया विपरिणतं चित्तं निर्मले सात्त्विके धर्मात्मपक्षे प्रतिसंक्रान्तचिच्छायासंक्रान्तं संवेद्यं भवति नैवमीश्वरस्य किन्तु तस्य केवल एव सात्त्विकः परिणामो भोग्यतया व्यवस्थित इति । किंच प्रकृतिपुरुषसंयोगवियोगयोरीश्वरेच्छाव्यतिरेकेणानुपपत्तेरनादिज्ञानादिमत्त्वमस्य सिद्धम् । २ । अत्रेश्वरे सात्त्विकपरिणामः काष्ठाप्राप्ततयाऽत्यन्तोत्कृष्टत्वेनेष्यते तारतम्यवतां सातिशयानां धर्माणां परमाणावल्पत्वस्येवाकाशे परममहत्त्वस्येव काष्ठाप्राप्तिदर्शनात् । ज्ञानादीनामपि चित्तधर्माणां तारतम्येन परिदृश्यमानानां क्वचिन्निरतिशयत्वे सिद्धे न पुन रल्पप्रमाणाक्षिकयेन्द्रियद्वाराप्राप्तमुपनीतमिति हेतोः सर्वविषयत्वादेतच्चित्तस्य सर्वज्ञतया स्थितिः प्रसिद्धिस्तदुक्तम् 'तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्' । ३ । अयमीश्वरः कपिलादीनामपि ऋषीणां परम उत्कृष्टो गुरुस्तदुक्तं 'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदा'दिति तस्येश्वरस्येच्छया सर्वं जगत् यथाकर्म कर्मानतिक्रम्य विवर्त्तते उच्चावचफलभाग्भवति न च कर्मणैवान्यथासिद्धिरेककारकेण कारकान्तरानुपक्षयादिति भावः । ४ । एतद्दूषयति—

नैतद्युक्तमनुग्राह्य-तत्स्वभावत्वमन्तरा ।
नाणुः कदाचिदात्मा स्या-द्देवतानुग्रहादपि ॥ ५ ॥
उभयोस्तत्स्वभावत्व-भेदे च परिणामिनि ।
अत्युत्कर्षश्च धर्माणा-मन्यत्राति प्रसङ्गकः ॥ ६ ॥

एतदीश्वरानुग्रहजन्यत्वं योगस्य न युक्तमनुग्राह्यतत्स्वभावत्वमनुग्राह्यस्वभावत्वमन्तरा विना यतः देवताया अनुग्रहादपि अणुतरात्माभवन्वितीच्छालक्षणो कदाचिदपि अणुरात्मा न स्यात् स्वभावापरावृत्तेः । ५ । उभयोरीश्वरात्मनोस्तत्स्वभावत्वभेदे च व्यक्तिकालफलादिभेदेन विचित्रानुग्राह्यानुग्राहकस्वभावभाजत्वे च परिणामिता स्यात् स्वभावभेदस्यैव परिणामभेदार्थत्वात्तथा चायं सिद्धान्तः । ज्ञानादिधर्माणामप्युत्कर्षेणेश्वरसिद्धिरित्यपि च नास्ति यतो धर्माणामप्युत्कर्षः साध्यमानो ज्ञानादावन्यत्राज्ञानादावतिप्रसङ्गकोऽनिष्टसिद्धिकृत् अप्युत्कृष्टज्ञानादिमत्त्वयेश्वरस्येव तादृशाज्ञानादिमत्तया तत्प्रतिपक्षस्यापि सिद्ध्यापत्तेरित्थं च ज्ञानत्वमुत्कर्षापकर्षाऽऽश्रयवृत्ति उत्कर्षापकर्षाश्रयवृत्तित्वान्महत्त्ववदित्यत्र ज्ञानत्वं न तथा चित्तधर्ममात्रवृत्तित्वादज्ञानत्ववदिति प्रतिरोधो द्रष्टव्यः । प्रकृतिपुरुषसंयोगवियोगौ च यदि तात्त्विकौ तदात्मनोऽपरिणामित्वं न स्यात् तयोर्द्विष्ठत्वेन तस्य जन्यधर्माश्रयत्वक्षतेः । नो चेत्कयोः कारणमीश्वरेच्छा । किंच प्रयोजनाभावादपि नेश्वरो जगत् कुरुते । न च परमकारुणिकत्वाद्भूतानुग्रह एवास्य प्रयोजनमिति भोजस्य वचनं साम्प्रतम् । इत्थं हि सर्वस्यायमिष्टमेव संपादयेदित्यधिकं शास्त्रवार्तासमुच्चयविवरणः ।

आर्षं व्यापारमाश्रित्य, तदाज्ञापालनात्मकम् ।
युज्यते परमीशस्या-नुग्रहस्तत्र नीतितः ॥ ७ ॥
एवं च प्रणवेनैत-ज्जपात्प्रत्यूहसंक्षयः ।
प्रत्यक् चैतन्यलाभश्चे-त्युक्तं युक्तं पतञ्जलेः ॥ ८ ॥
प्रत्यूहा व्याधयः स्त्यानं, प्रमादालस्यविभ्रमाः ।
संदेहा विरती भूम्य-लाभश्चाप्यनवस्थितिः ॥ ९ ॥
धातुवैषम्यजो व्याधि-स्त्यानं चाकर्मनिष्ठता ।
प्रमादो यत्न आलस्य-मौदासीन्यं च हेतुषु ॥ १० ॥

आर्षं ततः सामर्थ्यप्राप्तं न तु प्रसह्य तेनैव कृतं तदाज्ञापालनात्मकं व्यापारमाश्रित्य परं केवलं तत्र नीतितोऽस्मत्सिद्धान्तनीत्या ईशस्यानुग्रहो युज्यते तदुक्तम् । आर्षं व्यापारमाश्रित्य तत्र दोषोऽपि विद्यत इति ॥ ७ ॥ एवं चार्षव्यापारेणेशानुग्रहाद्वारे च प्रणवेनोंकारेणैतस्येश्वरस्य जपात्प्रत्यूहानां विघ्नानां संक्षयः विषयप्रातिकूल्येनान्तः करणाभिमुखमञ्चति यत्तत्प्रत्यक् चैतन्यं ज्ञानं तस्य लाभश्चेति पतञ्जलेरुक्तं युक्तं तस्य वाचकः प्रणवस्तज्जपस्तदर्थभावनं ततः प्रत्यक्चैतन्याधिगमोऽन्तरायाभावाश्चेति सूत्रप्रसिद्धेर्गुणविशेषवतः पुरुषस्य प्रणिधानस्य महाफलत्वात् ॥ ८ ॥ व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तराया इति ॥ ९ ॥ धातुवैषम्यजो धातूद्रेकादिजनितो व्याधिर्ज्वरातीसारादिः स्त्यानं चाकर्मनिष्ठतादित एव कर्मप्रारम्भः प्रमादो यत्नः आरब्धेऽप्यनुत्थानशीलता आलस्यं च हेतुषु समाधिसाधनेष्वौदासीन्यं माध्यस्थ्यं न तु पक्षपातः ॥ १० ॥

विभ्रमो व्यत्ययज्ञानं, संदेहः स्यादिवेत्ययम् ।
अखेदो विषयावेशा-त्खेदविरतिः किल ॥ ११ ॥
भूम्यलाभः समाधीनां, भुवःप्राप्तिः कथंचन ।
लाभेऽपि तत्र चित्तस्या-प्रतिष्ठात्वनवस्थितिः ॥ १२ ॥
रजस्तमोमयाद्दोषा-द्विक्षेपाच्चेतसो ह्यमी ।
सोपक्रमाजपाभ्यासं, यान्ति शक्तिं हतिं परे ॥ १३ ॥
प्रत्यक् चैतन्यमप्यस्मा-दन्तर्ज्योतिः प्रथामयम् ।
बहिर्व्यापाररोधेन, जायमानं मतं हि नः ॥ १४ ॥
योगातिशयतश्चायं, स्तोत्रकोटिगुणः स्मृतम् ।
योगदृष्ट्या सुधर्दृष्टो, ध्यानविश्रामभूमिका ॥ १५ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विभ्रमो व्यत्ययज्ञानं रजते रङ्गशुक्तिवदिष्टसाधनेपि योगः इष्टसाधनत्वं निश्चयः संदेहोयं योगः स्याद्वा नवेत्याकारविषयविशालाहीन्द्रियार्थव्याक्षेपलक्षणादखेदोनुपरमलक्षणः किलाविरतिर्भवेत् ११ (भूम्यलाभइति) कुतोपि हेतोः समाधीनां ध्रुवः स्थानस्याप्राप्तिर्भूम्यलाभः लाभेपि समाधिभूमावपि तत्र समाधिभुवि चित्तस्याप्रतिष्ठानिवेशस्त्वनवस्थितिः ॥ १२ ॥ अमी हि रजस्तमोमयाद्दोषाच्चेतसोविक्षेपे एकाग्रताविरोधिनः परिणामाः सोपक्रमा अपवर्तनीयकर्मजानिताः सन्तो जपाद्भगवत्प्रणिधानाच्चाशं यान्ति परिनिरुपक्रमा शक्तिहतिदोषानुबन्धशक्तिभङ्गमुपयथापि योगप्रतिबन्धसामर्थ्यमेवापगच्छन्तीति भावः ॥ १३ ॥ अस्माद्भगवज्जपाद्वहिर्व्यापाररोधेन शब्दादिबहिरर्थग्रहत्यागेनान्तर्ज्योतिः प्रयाज्ञानादिविशुद्धिविस्तारस्तन्मयं प्रत्यक्चैतन्यमपि हि जायमानं मतं नोस्माकं तथैव भक्तिश्रद्धाद्यतिशयोपपत्तेः ॥ १४ ॥

योगातिशयतश्चाभ्यन्तरपरिणामोत्कर्षाच्चायं जपः स्तोत्रकोटिगुणःस्मृतश्चिरंतनाचार्यैः वाग्योगापेक्षया मनोयोगस्याधिकत्वादत एव मौनविशेषेणैव जपः प्रशस्यते तथा बुधैर्विशारदैर्योगदृष्ट्या योगजप्रातिभज्ञानेन ध्यानस्य विश्रामभूमिका पुनरारोहस्थानं दृष्टः ॥ १५ ॥

ननु यदि यादृश ईश्वरोऽभ्युपगतस्तादृशस्य भवद्भिरनभ्युपगमात्कथमार्थव्यापारेणापि तदनुग्रहसिद्धिरित्याशङ्कायां विषयविशेषपक्षपातेनैव समाधानाभिप्रायवानाह ॥

माध्यस्थ्यमवलम्ब्यैव, देवतातिशयस्य च ।
सेवा सर्वैर्बुधैरिष्टा, कालातीतोऽपि यज्जगौ ॥ १६ ॥

माध्यस्थ्यमनिर्णीतविशेषकलहाभिनिवेशाभावलक्षणमवलम्ब्य देवतातिशयस्य च विशिष्टदेवताख्यस्य च सेवा स्तवनध्यानपूजनादिरूपा सर्वैर्बुधैरिष्टा तन्निमित्तकफलार्थत्वेनाभिमता स्तवनादिक्रियायाः स्वकर्तृकायाः फलदानसमर्थत्वेपि स्तवनीयाद्यालम्बनत्वे ततस्तस्यास्तोत्रादेः फललाभस्य स्तोतव्यादिनिमित्तकत्वव्यवहारादयस्मात्कालातीतोपि शास्त्रकृद्विशेषो जगौ । १६ ।

अन्येषामप्ययं मार्गो, मुक्ताविद्यादिवादिनाम् ।
अभिधानादिभेदेन, तत्त्वनीत्या व्यवस्थितः ॥१७॥
मुक्तो बुद्धोऽर्हन्वापि य-दैश्वर्येण समन्वितः ।
तदीश्वरः स एव स्या-त्संज्ञाभेदोऽत्र केवलम् ॥१८॥

अन्येषामपि तीर्थान्तरीयाणां किं पुनरस्माकमयमस्मदुक्तो मार्गो देवतादिगोचरो मुक्तादिवादिनामविद्यादिवादिनां च मतेनाभिधानादीनां नामविशेषणादीनां भेदेपि तत्त्वनीत्या परमार्थत एकविषयतया व्यवस्थितः प्रतिष्ठितः ॥१७॥

मुक्तः परमब्रह्मवादिनां बुद्धो बौद्धानाम् अर्हन् जैनानां वापीति समुच्चये यद्यस्मादैश्वर्येण ज्ञानाद्यतिशयलक्षणेन समन्वितो युक्तो वर्तते तत्तस्मादीश्वरोऽस्मदुक्तः स एव मुक्तादिः स्यात् संज्ञाभेदो नामनानात्वमत्र मुक्तादिप्रज्ञापनायां केवलम् ॥ १८ ॥

अनादिशुद्ध इत्यादि-र्यो भेदो यस्य कल्प्यते ।
तत्र तन्त्रानुसारेण, मन्ये सोऽपि निरर्थकः ॥ १९ ॥
विशेषस्यापरिज्ञाना-द्युक्तानां जातिवादतः ।
प्रायो विरोधतश्चैव, फलाभेदाच्च भावतः ॥ २० ॥
अविद्या क्लेशकर्मादि, यतश्च भवकारणम् ।
ततः प्रधानमेवैतत्, संज्ञाभेदमुपागतम् ॥ २१ ॥

अनादिशुद्ध इत्येवंरूप आदिर्यस्य स तथा । तत्रानादिशुद्धःसर्वगतश्च शैवानां सोऽर्हन्न सर्वगतश्च जिनानां स एव प्रतिक्षणभङ्गुरः सौगतानां यः पुनर्भेदो विशेषो यस्येश्वरस्य कल्प्यते तस्य तस्य तन्त्रस्य दर्शनस्यानुसारेणानुवृत्त्याभन्ये प्रतिपद्ये सोपि विशेषः किंपुनः प्रागभिहितः संज्ञाभेद इत्यपि शब्दार्थः निरर्थको निष्प्रयोजनः ॥१९॥ विशेषस्य मुक्तादेर्देवताविशेषगतस्यापरिज्ञानादर्वाग्दर्शितप्रत्यक्षेण तथा युक्तानामनुमानरूपाणां जातिवादतोऽसिद्धत्वादिहेतुदोषोपपातेनानुमानाभासत्वात्प्रायो बाहुल्येन विरोधतश्चैव वेदान्तिबौद्धादियुक्तीनामेकेषां हि नित्य एवात्मा प्रपञ्चाधिष्ठातृत्वादपरेषां चार्थक्रियाकारित्वस्य स्वभावभेदनियतत्वेनानित्य एवेति फलस्य क्लेशक्षयलक्षणस्य गुणप्रकर्षविशेषवत्पुरुषाराधनसाध्यस्य कस्मिन्नित्यानित्यत्वादौ विशेषे आराध्यगते सत्यभेदादविशेषाच्च भावतः परमार्थतः गुणप्रकर्षविषयस्य बहुमानस्यैव फलदायकत्वात्तस्य सर्वज्ञमुक्तादावविशेषादिति ॥ २० ॥ अविद्या वेदान्तिनां, क्लेशः सांख्यानां, कर्म जैनानाम्, आदिशब्दाद्वासना सौगतानां पाशः शैवानां यतो यस्माच्चकारो वक्तव्यान्तरसूचनार्थः भवकारणं संसारहेतुस्ततस्तस्मादविद्यादीनां भवकारणत्वाद्धेतोः प्रधानमेवैतदस्मदभ्युपगतं भवकारणं सत्संज्ञाभेदं नामनानात्वमुपागतम् ॥ २१ ॥

अत्रापि परपरिकल्पितविशेषनिराकरणायाह ।

अस्यापि योऽपरो भेद-श्चित्रोपाधिस्तथा तथा ।
गीयतेऽतीतहेतुभ्यो, धीमतां सोप्यपार्थकः ॥ २२ ॥

अस्यापि प्रधानस्यापि योऽपरो भवकारणत्वात्सर्वाभ्युपगतादन्यो भेदो विशेषश्चित्रोपाधिर्नानारूपमूर्तत्वामूर्तत्वादिलक्षणस्तथातथा तत्तद्दर्शनभेदेन गीयते वर्ण्यते अतीतहेतुभ्योऽनन्तरमेव विशेषस्यापरिज्ञानादित्यादिश्लोकोक्तेभ्यो धीमता बुद्धिमता सोपि किंपुनर्देवतागत इत्यपि शब्दार्थः । अपार्थकोऽपगतपरमार्थप्रयोजनः सर्वैरपि भवकारणत्वेन योगापनेयस्यास्यापगमादन्यस्य विशेषस्य सतोऽप्यकिंचित्करत्वात् । २२ ॥

ततोऽस्थानप्रयासोयं, यत्तद्भेदनिरूपणम् ।
सामान्यमनुमानस्य, यतश्च विषयो मतः ॥ २३ ॥

यत एवं ततः सतो विशेषस्यापार्थकत्वाद्धेतोरस्थानप्रयासोयं तत्त्वचिन्तकानां यत्तद्भेदस्य देवादिविशेषस्य निरूपणं गवेषणं यतश्चानुमानस्य देवताविशेषादिग्राहकत्वेनाभिमतस्य सामान्यं विषयो मतोऽतोपि सर्वविशेषानुगतस्य तस्याप्रतीतेरस्थानप्रायासोऽयम् इत्थं च भवकारणमाज्ञानात्तदपनयनार्थं गुणवत्पुरुषविशेषाराधनं कर्तव्यं विशेषविमर्शस्तु निष्प्रयोजन इति कालातीतमतं व्यवस्थितम् । एतस्माच्चास्माकमपि । विशेषविमर्शाक्रमस्य स्वाग्रहच्छेदाय सामान्ययोगप्रवृत्त्यर्थमनुमतम् अन्यस्य तु निरभिनिवेषस्य शास्त्रानुसारेण विशेषविमर्शोपि भगवद्विशिष्टोपासनारूपतया श्रद्धामलक्षालनेन तत्त्वज्ञानगर्भवैराग्यजीवानुभूतत्वाद्विशिष्टनिर्जराहेतुरिति न सर्वथा तद्वैफल्यमित्यभिप्रायः ॥ २३ ॥

आस्थितं चैतदाचार्यै-स्त्याज्ये कुचितिकाग्रहे ।
शास्त्रानुसारिणस्तर्का-त्सम्यग्भेदानुपग्रहात् ॥ २४ ॥

एतच्च कालातीतमतमाचार्यैः श्रीहरिभद्रसूरिभिरास्थितमङ्गीकृतं कुचितिकाग्रहे कौटिल्यावेशे त्याज्ये परिहार्ये कुचितिकात्यागार्थमित्यर्थः । शास्त्रानुसारिणस्तर्कादर्थसिद्धौ सत्यामिति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गम्यं नाऽभेदस्य संज्ञाविशेषस्यानुपग्रहादनभिनिवेशात्सर्वार्थसिद्धौ नाममात्रक्लेशो हि धीमप्रतिपन्थी न तु धर्मवादेन विशेषविमर्शोपीति भावस्तदिदमुक्तम् । " साधुचैतद्यतो नीत्या, शास्त्रमत्र प्रवर्त्तकम् । तथाभिधानभेदात्तु-भेदः कुचितिकाग्रहः ॥ विपश्चितां न युक्तोय-मैदंपर्यप्रियाहिते । यथोक्तास्तु पुनश्चारु, हन्तात्रापि निरूप्यताम् ॥ उभयोः परिणामित्वं, तथाभ्युपगमाद् ध्रुवम् । अनुग्रहात्प्रवृत्तेश्च, तथाभावेदतः स्थितम् ॥ आत्मनां तत्स्वभावत्वे, प्रधानस्यापि संस्थिते । ईश्वरस्यापि सन्न्याया-द्विशेषोऽधिकृतो भवेत् ॥४॥ इति ॥

अथ विशेषविमर्शो शास्त्रतर्कयोर्द्वयोरुपयोगप्रस्थानमाह ।

अस्थानं रूपमन्धस्य, यथा सन्निश्चयं प्रति ।
तथैवातीन्द्रियं वस्तु, छद्मस्थस्यापि तत्वतः ॥२५॥

अस्थानमविषयो रूपं नीलकृष्णादिलक्षणमन्धस्य लोचनव्यापारविकलस्य यथा सन्निश्चयं विशदालोचनं प्रत्याश्रित्य तथैवोक्तन्यायेनैवातीन्द्रियं वस्त्वात्मादिविशेषरूपं छद्मस्थस्यार्वाग्दृशः परमार्थतत्वतः परमार्थनीत्या ॥ २५ ॥

हस्तस्पर्शसमं शास्त्रं, तत एव कथञ्चन ।
अत्र तन्निश्चयोपि स्या-त्तथा चन्द्रोपरागवत् ॥ २६ ॥

हस्तस्पर्शसमं तद्वस्तूपलब्धिहेतुहस्तस्पर्शसदृशं शास्त्रमतीन्द्रियार्थगोचरं तत एव शास्त्रादेव कथञ्चन केनापि प्रकारेणात्र छद्मस्थे प्रमातरि तन्निश्चयोऽप्यतीन्द्रियवस्तुनिर्णयोऽपि स्यात्तथा वर्त्तमानत्वादिविशेषेण चन्द्रोपरागवच्चन्द्रराहुस्पर्शवत् । यथा शास्त्रात्सर्वविशेषानिश्चयेऽपि चन्द्रोपरागः केनापि विशेषेण निश्चीयते एव तथान्यदपि अतीन्द्रियं वस्तु तत्तच्छद्मस्थेन निश्चीयत इति भावः ॥ २६ ॥

इत्थं ह्यस्पष्टता शाब्दे, प्रोक्ता तत्र विचारणम् ।
माध्यस्थ्यनीतितो युक्तं, व्यासोपि यददो जगौ ॥ २७ ॥

इत्यमुक्तदृष्टान्तेन हि शाब्दे ज्ञानस्पष्टता प्रोक्ता तत्रास्पष्टे शाब्दज्ञाने माध्यस्थ्यनीतितो विचारणं युक्तं तर्कस्य प्रमाणानुग्राहकत्वात्तेनैवैदंपर्यशुद्धेस्तस्याश्च स्पष्टताप्रायत्वात् यद्यस्माददो वक्ष्यमाणं व्यासोऽपि जगौ ॥ २७ ॥

आर्षधर्मोपदेशं च, वेदशास्त्राविरोधिना ।
यस्तर्केणानुसंधत्ते, स धर्मं वेद नेतरः ॥ २८ ॥

शास्त्रादौ चरणं सम्यक्, स्याद्वादन्यायसंगतम् ।
ईशस्यानुग्रहस्तस्मा-द्दृष्टेष्टार्थाविरोधिनः ॥ २९ ॥
यद्यातव्यं जिनैः सर्वै-र्दत्तमेव तदेकदा ।
दर्शनज्ञानचारित्र-मयो मोक्षपथः सताम् ॥ ३० ॥
जिनेभ्यो याचमानेभ्यो, लब्धं धर्ममनाप्तयं ।
तं विक्रयं विना भाग्यं, केन मूल्येन लप्स्यते ॥ ३१ ॥
अनुष्ठानं ततः स्वामि-गुणरागपुरःसरम् ।
परमानन्दतः कार्यं, मन्यमानैरनुग्रहम् । ३२ ।

आर्षमित्याद्यस्य स्पष्टम् । द्वा० १६ द्वा० । यो० बि० ।

विशेषस्यापरिज्ञानात्, युक्तीनां जातिवादनः ।
प्रायो विरोधतश्चैव, फलाभेदाच्च भावतः ॥

विशेषस्य मुक्ताविद्वत्ता विशेषगतस्याऽपरिज्ञानात्संवेदनादर्शाऽर्शि प्रत्यक्षेण तथा युक्तीनामनुमानरूपाणां जातिवादतोऽसिद्धादिहेतुदोषोपघातेनानुमानाभासत्वात् । प्रायो बाहुल्येन चैवेति पूर्ववत् । तथाहि साङ्ख्यः शैवश्च सर्वक्षणिकवादिनं सौगतं प्रत्याह । तु यथा भवदाराध्यो बुद्धोऽर्थक्रियां देशनादिकां स्वक्षणे पूर्वं पश्चाद्वा कुर्यादिति त्रयी गतिः । तत्र न तावदाद्यः पक्षः कक्षीकरणीयः समकालभाविनि व्यापाराभावात् । इतरथैकक्षणवर्त्तिनां समर्थार्थक्षणानामितरेतरकार्यकरणभावः प्रसज्येत । न चैतद्दृष्टमिष्टं वा अथ स्वक्षणात् ऊर्ध्वं कार्यं विधत्ते इति मन्येथा एतदप्यसाधीयो विनष्टस्य कार्यकरणाक्षमत्वात् अन्यथा मृतस्य शिखिनः केकायितं स्यात् । एवं च क्षणिकादर्थाद्यावर्त्तमानाऽर्थक्रियावीरादर्शशकुनिन्यायेन नित्यमेव भावनाश्रयतया प्रतिपद्यते इति नित्यरूपोऽस्य प्रधानादिवद्ध ईश्वरनामा आप्तविशेषोऽभ्युपगन्तुं मुधोपाचित इति । बौद्धः पुनः आह । ईश्वरोऽप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावो भवद्भिरभ्युपगम्यते । नच नित्यस्य कथंचिदप्यर्थक्रिया युज्यते । नित्यो ह्यर्थक्रमेण यौगपद्येन वार्थक्रियां कुर्वीत । न तावत्क्रमेण सन्निहितसर्वशक्तेः सहकारिभिश्चानाधेयातिशयस्य युगपदेव त्रैकालिकसर्वकार्यकरणप्रसङ्गात् । नापि यौगपद्येन यतस्तत्र युगपदेव सर्वकार्यकरणेन कृतस्य पुनः करणाभावेन च द्वितीयक्षणेऽर्थक्रियाविरहलक्षणं बलादसत्वमाढौकमानं न केनापि निरोद्धुं पार्यते इति प्रतिक्षणं परिवर्तमानाऽपरापररूपः सर्वार्थक्रियाऽक्षमोऽभ्युपगन्तुं युक्तोऽसाविति । फलाभेदाच्च फलस्य भेदक्लेशक्षणस्य गुणप्रकर्षरूपपुरुषाराधनासाध्यस्य क्वचिन्नित्यानित्यत्वादौ विशेषे आराध्यगते सत्यप्यभेदादविशेषात् । भावतः परमार्थतः गुणप्रकर्षविषयस्य बहुमानस्यैव फलदायकत्वात् तस्य सर्वत्र मुक्तादावविशेषादिति । यो० बि० ।

परतीर्थिकाभिमतेश्वरस्य निराकरणम् ।

नन्वियं त्रिभुवनभवनान्तर्वर्त्तमानान्तरितानन्तरितपदार्थप्रथा त्वत्तीर्थनाथवृत्तिर्न भवति यतो भूभूधरप्रभृतिपदार्थप्रबन्धविधानद्वारा प्रमथपतेरेवेयमुपपद्यते यदेतदनुमानमत्र प्ररूप्यते न्यायतात्पर्यावबोधप्रधानमनोवृत्तिविद्वद्वृन्देन विवादपदभूतं भूभूधरादिबुद्धिमद्विधेयं यतो निमित्ताधीनात्मलाभं यन्निमित्ताधीनात्मलाभं तद्बुद्धिमद्विधेयं यथा मन्दिरं तथा पुनरेतत्तेन तथा न तावन्निमित्ताधीनात्मलाभत्वं वादिनः प्रतिवादिनो वा प्रतीतं यतो भूभूधरादेरात्मीयात्मीयनिमित्तव्रातनिर्वर्तनीयता भुवनभाविभवभृत्प्रतीतैव । नापि दोलायमानवेदनानिमित्तं मतिमन्निर्वर्तनीयेतराम्बरादिपदार्थतोऽत्यन्तव्यावृत्तत्वेन । नापि विरुद्धतावरोधदुर्धरमम्बरादितोऽत्यन्तव्यावृत्तत्वेनैव नापि तुरीयव्याप्यामता प्रतिबद्धमिन्द्रियवेदनेनानुमाननाम्ना राद्धान्ताभिधानेन वा मानेनाबाधिताभिप्रेतधर्मधर्म्यनन्तरप्रतिपादितत्वेन । नापि प्रत्यनुमानापमानता निबन्धनमेतत्परिपान्थिधर्मोपपादनप्रत्यक्षानुमानाभावेन । ननु भवतीदं तावदनुमानं परिपन्थिधर्मोपपादनप्रत्यक्षम् । यथा भूताभिसूभूभूधरादिविधाता न भवति वपुर्बन्ध्यत्वेन निर्वृत्यात्मवत्तद्नयदात्तं यतोऽत्र त्रिनेत्ररूपो धर्मी धर्मधनेन प्रतिपन्नोऽप्रतिपन्नो वा प्ररूपितः । न तावदप्रतिपन्नो यद्येवमाधारद्वारा प्रतीमत्वोपपद्यो वपुर्बन्ध्यताव्याप्योपनिपातो भवन्निरोद्धुं न पार्यते । यदि पुनः प्रतिपन्नोऽयं धर्मी तदा येन मानेन प्रतिपत्तिर्मन्मथप्रत्यर्थिनोऽनिर्धीयते तेन तस्यादिविधानव्युत्पन्नमतेरेवेयमिति तत्रोपाद्गीगमाना वपुर्बन्ध्यता बाधितवर्त्मैवेति न नाम प्रथ-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

र्तितु पर्याप्नोति। तदेवं निमित्ताधीनात्मलाभताव्याप्यमत्यन्तपूतरूपं पर्वतादेर्धीमदेतुताप्रतिपादनावदातमेवेति तत्राभिधीयते यदिदं तावन्निमित्ताधीनात्मलाभत्वं व्याप्यमाक्षिप्तं तद्द्रव्यद्वारा पर्यायद्वारा वेति भेदोऽत्रयी। यद्याद्यः पन्थाः श्रयते तदानीमप्रतीतिर्नाम व्याप्योपतापः। यतो द्रव्यरूपतया पृथ्वीपर्वतादेर्नित्यत्वमेव प्रतिवादिनाऽभ्युपेयते। ननु भूभूधराद्यमुत्पादवदवयवित्वेन यदेवं तदेवं यथेन्दीवरमवयविरूपं पुनरिदं तदुत्पादं वेत्यनुमानेन तन्नित्यता निर्मूलोन्मूलितैवेति नैतद्धीमद्वृत्तिविधानप्रधानं यतो भूभूधरादेरवयवित्वमवयवारभ्यत्वेन। यद्यावयवव्रातवर्तमानतया मन्यते न प्रथमविधा विबुधावधानधाम यतो न नाम तत्पृथ्वीपृथ्वीधरप्रभृतिद्रव्यमभूतपूर्वमवयववृन्देन निर्वर्तितमिति प्रतिवादिनः प्रतीतिर्विद्यते। यदि पुनरवयववृत्तिभेदोऽभिधीयते तदानीमवयवत्वेन दोद्वायमानमतः यतोऽवयवोऽयमवयवोऽयमितीत्थं बुद्धिबोधमवयवत्वमवयवितानवृत्ति भवति न पुनरुत्पादपराधीनं नियत्वेन। ननु नायमनेन दुर्भेदप्रतिपादनेन प्रतीतोऽयमवयवी तावद्यदि वितलैरविवादेन पत्रपत्रपात्रदात्रादिरिति न नाम न प्रतीतोऽपि स्यात्मापि तथा नियमेन प्रतीतो वर्तते न पुनरुत्पादवानित्यनुमेयतत्तुल्यताद्विरुद्धवृत्तितोपद्रवः। यदि तु पर्यायद्वारा निमित्ताधीनात्मलाभत्वं भूभूधरादेरभिधीयते तदा नरामरादिपर्यायद्वारोत्पद्यमानात्मनोऽपि बुद्धिमद्धेतुत्पाद्यत्वमापद्यते। ननु नरामराद्युत्पादनप्रत्यक्षधर्माधर्मोत्पाद्यानुभवायतनभूता तथाविधा तनुरेवोत्पद्यते न पुनरात्मा स्वयमात्मतोऽप्यनादिनिधनत्वेन यदि पुनरात्माप्युत्पत्तिविपत्तिधर्मा भवति तदानीं भूतमात्रतत्त्ववादिमतापत्तिरात्मनः पूर्वोत्तरभवानुयायिनो भेदिनोऽनभ्युपेतत्वेनेति, तन्न बन्धुरं यतो यद्यात्मनोऽभिन्नरूपतैवावेद्यते तदान्यतरनरामरादिभववर्त्यैवायमपरिमेयानुभवनी। यतस्तद्भवपर्यायं प्रबन्धानुभवनेन द्वितीयादिभवानुभवाय भवितुमुपपद्यते, वेद्यते त्वनेनेयं भवपर्यायपरंपरेति। तद्रूपतया यमुत्पत्तिमानिति नियम्यते। नाप्येवंभूतमात्रतत्त्ववादितापत्तिरात्मनो द्रव्यरूपतया नित्यताभ्युपायेन पूर्वोत्तरभवप्रतीतितः। तन्मतेन तु न नाम द्रव्यतया नित्यं वेदनं वर्त्तते यतो भूतधर्मतयानेन प्रतिपादितमेतत्। तथैतदनुमानधर्मीन्द्रियोद्भूतबोधेनार्हतो बाध्यते रूपं ध्वनिरपि नयनोत्थप्रथाप्रत्ययमित्यादिवत्। यतोऽत्र दोदुह्यमानविधानतत्परनरव्यापारः पृथ्वीपृथ्वीधरातरुपुरंदरधनुरादिर्भावव्रातो धर्मी प्ररूपितः। तत्र त्वभ्रतरुविद्युदादेरिदानीमप्युत्पद्यमानतया वेद्यमानतनोर्विधातानोपलभ्यते। ननु भवत्येव बाधेयं यद्येतद्विधानावधानप्रधानः पुमानिन्द्रियप्रभवप्रभाललम्बनीभूतोऽभ्युपेतो भवति यावताऽतीन्द्रियोऽयमिति नायमुपद्रवः प्रभवति तदनभिधानीयम्। यतो व्याप्तिप्रतिपादनप्रत्यक्षं मानमत्रेन्द्रियद्वारोद्भूतं वेदनं तथाभिमतम्। धूमानुमानवत् धूमानुमितेरपि न पारावारोद्भवौर्वतनूनपात्तदितरतनूनपात्तुल्यत्वेन व्याप्तिप्रतीतेतीन्द्रियोद्भवबोधनबोध्यतावालम्बनेनैवानेनानुमानेन भवितव्यमन्यथा तु तेन व्याप्तिप्रतीतिर्दुरुपपादैव। ततोऽपि तत्र व्याप्त्यनालम्बनीभूतेन तेन बुद्धिमन्निमित्तेनानुमेयतापि नाद्रियते। तथात्वेन प्रतिपादितत्वे तत्तदतीन्द्रियबोधावबोध्यतया नियमेनाभ्युपेतव्यम् यदि तु तयाभ्युपेयते तदा नैतन्निमित्तं तरुविद्युदादेरुपलभ्यते। ततोऽनेन वेदनेनात्र बाधो भवत्येव। ननु धूमानभ्यारण्य तनूनपातोऽप्येवमनेन वेदनेन बाधो भवति यतो भवत्रापि विधीयमानानुमानेन प्रमाता तनूनपादिन्द्रियवेदनेन वेद्यते। तदमनोरमं यतोऽत्रानुमातुर्व्यवधिर्विद्यते व्यवधिमान् पुनः पदार्थोनेन्द्रियालम्बनीभवतीति तदनालम्बनीभूतः पर्वततनूनपात् तेन बाधितुं पार्यते। यदा पुनः प्रमाता तत्र प्रवृत्तो भवति तदानीमव्यवधानवानयं तनूनपातेनोपलभ्यते। तरुविद्युदभ्रादिबुद्धिमन्निमित्तं तु तत्र प्रवर्तमानेनापि नितरामवधानवतापि नोपलभ्यते ततो भवति तदिन्द्रियोद्भवबोधबाधेति ततोऽपि तथाविधधर्म्यनन्तरनिमित्ताधीनात्मलाभत्वरूपव्याप्यप्रतिपादनेन त्वन्मतेन तुरीयव्याप्यासत्त्वोपनिपातः मन्मतेन त्वन्तर्व्याप्तेरभावेनानियतप्रतिपत्तिनिमित्तताऽत्र व्याप्यपराभूतिः तथेदं निमित्ताधीनात्मलाभत्वम्। यदि तन्मात्रमेव व्याप्यत्वेन प्रतिपाद्यते तदानभिप्रेतपदार्थप्रतीतिनिर्वर्तनपर्यासमनुपलब्धपूर्वोत्पत्तिव्यापारेन्द्रमूर्ध्नो मर्त्यपूर्वत्वप्रतीत्यर्थोपात्तमृन्मयत्ववत्। न नाम निपेन्द्रमूर्ध्नो मृन्मयत्वमपि विद्यते। ननु यद्यपि मृन्मयत्वं तुल्यमेवोभयत्रापि तथापि नेन्द्रमूर्धान्यो मानवपूर्वत्वेन प्रतीतो विद्यते। ततो विवादपदापन्नोऽप्ययं तत्तुल्यत्वेन न मर्त्यनिर्वर्त्यो भवति तन्नावदातं यतोऽत्रापि न भूभूधरभुवनादि प्रायः पदार्थोऽन्यो बुद्धिमन्निमित्तोपेतः परिज्ञावितो वर्तते। ततो विवादपदप्रतिबद्धोऽप्ययं न तया भवितुं लभते। ननु निपादिर्विद्यते बुद्धिमन्निमित्तोपेतः परिज्ञावितोऽसौ विवादापन्नोऽपि तथाऽनुमातुमनुरूपः। तदवद्यं यतोऽन्यत्रापि निपादिरेवमानवनिर्वर्त्यो विभावितो विद्यते। ततः पुरंदरमूर्धापि तन्निर्वर्त्यत्वेन नितरां भवितव्यम्। ननु नरनिर्मितनिपादितः पुरंदरमूर्ध्नो वैरूप्यमुपलभ्यते ततो न तत्र मर्त्यनिर्वर्त्यतानुमानमुपपन्नं यद्येवं तदानीमेतद्वैरूप्यं निपादितो भूभूधरभुवनादेरपि परिज्ञाव्यते यतो निपादिनाऽनुपलब्धबुद्धिमद्व्यापारात्मनाप्युपलभ्येन नियमतो निर्वर्तितोऽयं मतिमतेति बुद्धिरुत्पाद्यते, न पुनर्भुवनादिना। ततो न निमित्ताधीनात्मलाभत्वमात्रं बुद्धिमद्धेतुत्वप्रतीतिविधानबन्धुरं यदा तु धरित्रीधरित्रीधरत्रिभुवनादिविधानं न प्रतीतं तदानीं त्रिनयनो भुवनभवनान्तर्भावि भावव्रातप्रद्योतनप्रवणवेदनप्रदीपवानिति निर्धनदानमनोरथप्रथैवेयमित्यादिवचनद्वयेन स्यादिकवचनत्रयेण वर्णैस्तुभिर्निरधिकैरेशभिरयं व्यधायि शिवसिद्धिविध्वंसः अति+ते, सि, टा, ङस्, इत्यत्र एव विभक्तयः तथदधन, पवभम यरलव. एते एवात्रवर्णाः। १ रत्ना०। (जिनानामीश्वरत्वं जिनमहत्सहस्त्रनामशिकायामपि सा च 'जिण' शब्दे)

आढ्ये, वाच०। प्रभौ,। दशा० ९ अ०। सम०। दर्श०।

ग्रामनगरादिनायके, तं०। ईश ऐश्वर्ये ऐश्वर्येण युक्तः-ईश्वरः ग्रामभोगिकादिके, अणिमाद्यष्टविधैश्वर्ययुक्ते च। जी० ३ प्रति० नि० चू०। "ईसर भोइय माई" ईश्वरो भोगिकादिर्ग्रामस्वामिप्रभृतिक उच्यते, सू० ६ ब०। पंचा०। नियुक्ते, आचा०। युवराजादिके, भ० ९ श० ३३ उ०॥ राज०। माण्डलिके, अमात्ये च। ईश्वरो युवराजो माण्डलिकोऽमात्यो वेति। अनु०। स्था०। ईश्वरो युवराजस्तदन्ये च महर्द्धिका इति। भ० २ श० १ उ०। ऐश्वर्यान्वितस्त्रियां टाप्०। प्रभवादिमध्ये एकादशे वत्सरे च॥ तत्फलम्। सुभिक्षं क्षेममारोग्यं, कार्पासस्य महर्घता। लवणं मधुगव्यं च, ईश्वरे दुर्लभस्प्रिये। वाच०। स्वनामख्याते भूतवादिव्यन्तरविशेषनिकायेन्द्रे, स्था०२ ठा० जम्बूद्वीपस्य बाह्यवेदिकाया उत्तरदिशि स्थिते स्वनामख्याते महापातालकलशे। स्था०४ठा०।(तद्वक्तव्यता 'महापाताल' शब्दे) मेरोरुत्तरस्यां दिशि वर्तमाने स्वनामख्याते महापातालकलशे च। जी० ३ प्रति०। (तद्वक्तव्यता 'महापातालकलस' शब्दे)

(राजपुरीनगरस्थे स्वनामख्याते नृपे, तत्कथा कुक्कुरेस्सर-शब्दे) स्वनामख्याते मुनिवरे च, स चागीतार्थदोषेण दुःख-मवाप्य गोशालको जातस्तथा च महानिशीथे ।

से भयवं णो वि याणाहिं, ईसरो कोवि मुणिवरो ।
किंवा अगियत्थ दोसेणं, पत्तं तेणं कहाहिणो ॥
चउवीसिगाए अन्नेवि, एत्थ भरहम्मि गोयमा ।
पढमे तित्थंकरे जइया, विहीपुव्वेण निव्वुरे ॥
तइया निव्वाणमहिमा ए–गंतरूवे सुरासुरे ।
निवयंते उप्पयंते, दट्ठुय एवं तवासिओ ॥

अहो अच्छेरयं अज्ज–मल्लोयम्मि य पच्छिमो ।
ण इंदजालसुमिणं वा, विदिट्ठे कत्थइ पुणो ॥
एवं वितिहापोहाए, पुव्वीं जाइं सरित्तुमो ।
मोहं गंतूण खणमेक्कं, मारुयासासिओ पुणो ॥
थरथरस्स य कंपंतो निंदिउं गरहिउं चिरं ।
अत्तारं गोयमा ! धणियं, सामत्तं गहिय मुज्झओ ॥
अह पंचमुट्ठियं लोयं,जा वा हवइ महायसो ॥
से विणयं देवया तस्स. रयहरणं ताव ढोयई ।
उग्गं कंउं तवचरणं, तस्स दट्ठूण ईसरो ॥

लोओ पूयकरेमाणा, जाव उ गंतूण पुच्छइ ।
केणं तं दिक्खिओ कत्थ, उप्पन्ने को कुले तव ॥
सुत्तत्थं कस्स वा मूले, साइसयं हेसमज्झिय ।
सो पत्तेयबुद्धे जाव, सव्वं तस्स वियागरे ॥
जाइकुलं दिक्खा सुत्तं, अत्थं जह य समज्झियं ।
तं सोऊण अहन्नो सो, इमं चिंतेइ गोयमा ॥
अलिया अणारिओ एस, लोगट्ठे तेण परिसुसे ।
ता जारिसमे सज्झाएइ, तारिसं सो वि जिणवरो ॥
ण किंचेत्थ वियारेणं, मुम्हिकेई वरं ठिए ।
अहवा णाहिहि मो भयवं, देवदाणवपणमिओ ॥
मणासायं पि जं मज्झं, तं पि छिंभिज्ज संसयं ।
तावे स जो हो उ सो होउ, किं वियारेण एत्थ मे ॥
अनिणंदामीह पव्वज्जं, सव्वदोसविमोक्खणिं ।
ता पत्तिगओ जिणिंदस्स, सया से आतणक्खई ॥
जुवणोमं जिणवरं, तो वि गणहरमासियं ।
वि ओ परिनिव्वुयम्मि, भगवंते धम्मतित्थयरे ॥
जिणाभिहियं सुत्तत्थं, गणहरो जाय रूवई ।
तायपालावगं एयं, वक्खाणम्मि समागयं ॥
पुढवीकाइगमं एगो, वावा एसो असंजओ ।
ता ईसरो वि चिंतेइ, सुहुमे पुढविकाइए ॥
सव्वत्थउद्दविज्जंति, को ताई रक्खिउं तरे ।
हुई करेइ अत्ताणं, एत्थं एस महायसो ॥
असद्धेयं जणे मयले, किमट्ठयपच्चइक्खइ ।

अच्चंतकड्यभं एवं, वक्खाणं तस्स वीफुरं ॥
कंठं सोसोयरं लाभे, एरिसं कोणुचिट्ठए ।
ता एयं विप्पएत्तूणं, सामग्गं किंचिमज्झिमं ॥
जं वा तं वा कहे धम्मं, तालोउन्हाण उट्ठइ ।
अह वा हाहा अहं मूढो, पावकम्मा णराहमो ॥
णवरं जइ णाणुचिट्ठामि, अन्नो न चिट्ठंती जणे ।
जेणायमणंतनाणीहिं, सव्वन्नूहिं पवेदियं ॥
जो एहिं अन्नहा वाए, तस्स आढो ण वज्जई ।
ताहमेयस्स पच्छित्तं, घोरमइदुक्करं चिरं ॥
लहुं सिग्घसुसिग्घयरं, जाव मत्थूण मे भवे ।
आसायणाकयं पावं, आसंजेण विद्धुव्वती ॥
दिव्वं वाससयं पुन्नं, अह सो पच्छित्तमणुचरे ।
तं तारिसं महाघोरं, पायच्छित्तं सयं मई ॥
काउं पच्छियबुध्दस्स, सया मे पुण वीगओ ।
तत्थावि जा सुणेवक्खा, ता वहिगारमिमागयं ॥
पुढवादीणं समारंभं, साहू तिविहेण वज्जए ।
दढमूढो हुओ जोई,ताईसरो मुक्कमूलओ ॥
चिंवं तेयं जहिच्छजए, को ण ताईसमारभे ।
पुढवीए नावए सेव, समासीणो विचिट्ठई ॥
अग्गीए रद्धयक्खाइ, असणखाइमसाइम ।
अन्नं व विणा पाणेणं, खणमेक्कं जीवए कहं ॥
वा किं पि तं पत्थवक्खेज्ज, संपवुयमच्छंतियं ।
इमस्सेव समागच्छे, ण उ णायं कोइ सद्दहे ।
ता चिट्ठंतु ताव एसेत्थं, वरं सो चेव गणहरो ।
अहवा एसो उणमज्झं, एकोवि जाणियंकरे ।
अलिया एवंविहं धम्म, किंचुद्देसे य तं पिओ ॥
साहिज्जइ जो स वि किंचि, ण तु सामच्चंतकड्यरं ॥
अहवा चिट्ठंतु तावेव, अहयं सयमेव वागरं ॥
सुहं सुहेण जं धम्मं, सव्वोवि अणुट्ठए जणो ॥
न काल्लं कडयकस्सज्ज, धम्मस्सिमति जा विचिंतइ ॥
घरं भिंतो सणीताव, निवाडिउ तस्सोवरि ।
गोयम ! निहणं गओ ताहे, उववन्ना सत्तमा एसो
सासणे सुयनाणसंसग्ग, पीडणीयत्ताइ ईसरो ।
तत्थं तं दारुणं दुक्खं, नरए अणुभविउ चिरं ॥

इहागओ समुद्दम्मि, महामच्छो भवे उण ।
पुणोवि सत्तमाएय, तित्तीसं सागरोवमे ॥
दुव्विसहं दारुणं दुक्खं, अणुचिट्ठिऊण इहागओ ।
तिरियपक्खीसु उववन्नो. कागत्ताए स ईसरो ॥
तओ वि पढमियं गंतु. उवट्टित्ता इहागओ ।
दुट्ठसाणो भवेत्ताण. पुणरवि पढमियं गओ ॥
उव्वाट्टित्ता तओ इहइं. खरो होइं पुणो मओ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उववन्नो रासहत्ताए, ऊभवगहणे निरंतरं ॥
ताहे माणुस्स जाईए, एसिमुप्पन्नो मत्रो ।
उववन्नो वयणरत्ताए, माणुसत्तसमागओ ॥
तओ वि मरिउ समुप्पन्नो, मज्जारत्ता स ईसरो।
पुणो वि नरयं गंतु (इह,)सीहत्तेण पुणो मओ ॥
उववज्जियं चउत्थीए, सीहत्तेण पुणोविहं ।
मरिऊणं चउत्थीए, गंतुं इह समागओ ॥
तओ वि नरयं गंतुं, चक्कियत्तेण ईसरो ।
तओ वि कुट्ठिहोऊणं, बहुदुक्खट्ठिओ मओ ॥
किमिएहिं खज्जमाणस्स, पन्नासं सहिवच्छरे ।
जा काम निज्जरा जाया, तीए देवेसु वज्जिओ ॥
तओ इहईनरिस्सत्तं, लच्छूणं सत्तमिं गओ ।
एवं नरगतिरिच्छेसु, कुच्छिय माणुएसु ईसरो ॥
गोयम! सुइपरिब्भमिऊं, घोरदुक्खसुदुक्खिओ ।
संपइ गोसालओ जाओ, एससउ वीसरज्जिओ ॥
तम्हा एहि वियाणित्ता, अचिरागीयत्थेमुणी !
जवेज्जा विदियपरमत्थे, सारासारपरसुए । इति ॥

महा० ६ अ० ॥ स्वनामख्यातेऽभिनन्दनजिनस्य यक्षे च । तथा च प्रवचनसारे श्रीअभिनन्दनस्येश्वरो यक्षः श्यामकान्तिर्गजवाहनश्चतुर्भुजो मातुलिङ्गाक्षसूत्रयुक्तदक्षिणकरकमलद्वयो नकुलाङ्कुशान्वितो वामपाणिद्वयश्चेति । प्रव० २७द्वा० ।

इस्स (ईस) रकम-ईश्वरकृत-त्रि० ईश्वरविरचिते, "ईसरेण कडेलोए" । सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । (जगत ईश्वर कृतत्वनिराकरणम् 'इस्सर' शब्दे-)

इस्स (ईस) रकमवाइ [न्] -ईश्वरकृतवादिन्-पुं० जगदीश्वरकृतत्ववादिनि वादिविशेषे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० (तन्मतनिराकरणमिस्सरशब्दे)

इस्स (ईस) रकारय-ईश्वरकारक-पुं० जगदीश्वरकृतत्ववादिनि वादिविशेषे,- सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० । (तन्मत निराकरण 'मिस्सर'शब्दे)॥

इस्स (इसर) रवाई (न्) ईश्वरवादिन्-पुं० । ईश्वरस्य जगत्कारणतद्वादिनि प्रवादिविशेषे; सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० । तन्मतमाचाराङ्गे दर्शितम्-तद्यथा वैशेषिकास्तनुभुवनकरणादिकमीश्वरकर्तृकमिति प्रतिपन्नास्तदुक्तम् "अन्यो जन्तुरनीशः स्यादात्मनः सुखदुःखयोः । ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वे" इत्यादिकं प्रवादमात्मीयप्रवाहेन पर्यालोचयेत्तद्यथा इन्द्रधनुरादीनां विश्रसापरिणामलब्धात्मलाभानां तदतिरिक्तेश्वरादिकारणपरिकल्पनायामतिप्रसङ्गः स्यात्तथा घटपटादीनां दण्डचक्रचीवरसलिलकुलालतुरीवेमशलाकाकुविन्दादिव्यापारानन्तरावाप्तात्मलाभानां तदनुपलब्धव्यापारेश्वरस्य करणपरिकल्पनायां रासभादेरपि किं न स्यात्तु करणादीनामप्यवन्ध्यं स्वकृतकर्मोपादितं वैचित्र्यं कर्मणोऽनुपलब्धेः कुत एतदिह चेत्समानः पर्यनुयोगोऽपि च तुल्ये मातापित्रादिके कारणे अपत्यवैचित्र्यदर्शनात्तदधिकेन निमित्तेन भाव्यं तच्चास्मत्पक्षे कर्मेति दृष्टव्यं नान्यथा सुखदुःखसुभगदुर्भगादिजगद्वैचित्र्यं स्यादिति । आचा० १ श्रु० । अ० ।

(विस्तरेणैतन्मतनिराकरणमिस्सरशब्दे)

इस्स (ईस) राविभूइ-ईश्वरविभूति-स्त्री० ६ तत्पुरुष०ईश्वरस्य विभूतौ, नृपे च । वाच० ।

इस्स (ईस) रसरिस-ईश्वरसदृश-त्रि० ईश्वरस्थानीये, (ईसरसरिसो गुरु) ईश्वरसदृश ईश्वरस्थानीय इति । व्य० १ उ० । वाच० ॥

इस्स (ईस) रिय (या) मय-ऐश्वर्यमद-पुं० ऐश्वर्येण मदः ऐश्वर्यमदः । मदस्थानभेदे,-स्था० ८ ठा० । सम० । प्रश्न० ।

इस्स (ईस) रिय (प) सिद्ध-ऐश्वर्यसिद्धि-स्त्री० ईश्वरत्वसिद्धौ,-साचाष्टगुणा तद्यथा-"अणिमा लघिमा गरिमा प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं प्रतिघातित्वं यत्र कामावसायित्वम् इति- । सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

इस्स (ईस) रीकय-ईश्वरीकृत- त्रि० अनीश्वरे-ईश्वरीकृते, (ईसरेण अदुवा गामेणं अणिस्सरे ईसरीकए) ईश्वरेण प्रभुणा अथवा ग्रामेण जनसमूहेनानीश्वर ईश्वरीकृत इति । सम० २९ स० । दशा० ।

इस्सास-इष्वास-पुं०इषवोऽस्यन्तेऽनेन । असु क्षेपे करणे घञ् षष्ठीतत्पु० । धनुषि, शरक्षेपके, त्रि० (तीरन्दाज) मेदि० । वाच० ।

इह-इह-अव्य० "इदम इमः ८ । ३ । ७२ । इति प्राकृतसूत्रेणेदम इमादेशः । ङेर्मेन हः ८ । ३ । ७५ । इति प्राकृतसूत्रेण इदमः कृते मादेशात्परस्य ङेस्थाने मेन सह ह आदेशो वा । प्रा० । ङे स्सिम्मित्था ८ ।३। ५९ । इति प्राकृतसूत्रेण त्थादेशः प्राप्तः ' नत्थः ' ८ । ३ । ७६ । इति प्राकृतसूत्रेण निषिद्धः । इह इमस्सि इमम्मि । प्रा० । अस्मिन्काले देशे दिशि वा इत्यर्थे, तत्र सिद्धमिहभूतं भूतगत्या जगत्या । नैष० । अनुभूयमाने लोके च । वाच० । (इह सावसेसकम्मा) इह तिर्यग्लोके किंभूताः सावशेषकर्माणः । "जं वि य इह माणुसत्तणं आगया" येऽपि चेह मर्त्यलोके मनुष्यत्वमागता इति । "अबुहा इह हिंसंति तसे पाणे" इह जीवलोके हिंसन्ति घ्नन्ति त्रसान् प्राणान् । प्रश्न० १ द्वा० । "इह खलु छज्जीवणिकायाणामज्झयणं" इहेति लोके प्रवचने वेति । दश० ४ अ० । "इहं वा जत्थ अन्नेसु वा भवग्गहणेसु" (इहं वित्ति) बिन्दुलोपात् इह वास्मिन् वाऽनुभूयमाने भवे मनुष्यजन्मनीति । पा० । इह खलु अणादिजीवे इहलोक इति- पं० सू० । जेणेह णिव्वहे भिक्खू इहास्मिन् लोके इति- सूत्र० १ श्रु० ९ अ० । 'इहेव माणुस्सए भवे' इहैव प्रत्यक्षे मानुष्यके भवे इति । स्था० ८ ठा० । 'के वा इओ चुयो इहपेच्चा भविस्सामि' कोवादेवादिरितो मनुष्यादेर्जन्मनश्च्युतो विनष्ट इह संसारे प्रेत्य जन्मान्तरे भविष्याम्युत्पत्स्यामीति-। वाक्योपन्यासे, " इह खलु पाईणं वा पडीणं वा दाहिणं वा उदीणं वा " इहेति वाक्योपन्यासे प्रज्ञापकक्षेत्रे वेति । आ० चा० १ श्रु० १ अ० ।

इहगय-इहगत- त्रि० इह व्यवस्थिते, " से भंते किं इह गए पोग्गले परियाइत्ता विकुव्वइ " इह पृच्छको गौतमस्तदपेक्षया इहशब्दवाच्यो मनुष्यलोकस्ततश्च इह गतान् नरकलोकव्यवस्थितानिति । भ० ७ श० । उ० ।

इहत्थ-इहार्थ- त्रि० इहैव जन्मन्यर्थप्रयोजनमभोगसुखादिर्यस्य सः । भोगपुरुषे, । स्था० ४ ठा० ।

इहत्थ-त्रि० इहैव जन्मन्यास्था वा इदमेव साधिति बुद्धि-

येस्य स इहास्थः। भोगपुरुषे, इह लोकपरिबद्धे च। स्था० ४ ठा०
इहस्थ-इहैव विवक्षिते ग्रामादौ तिष्ठतीति इहस्थस्तत्प्रतिबन्धात्। विवक्षिते ग्रामादौ प्रतिबद्धे,-स्था० ४ ठा०।

इहपरलोयविरुद्ध-इहपरलोकविरुद्ध- त्रि० इह लोकविरुद्धे निन्दादिके, परलोकविरुद्धे खर कर्मादिके, इहलोकपरलोकविरुद्धे गर्दभादिके च। ध० र०। इह लोके विरुद्धकारिणो वधबन्धादयो दोषाः परलोके च नरकगमनादय इति। तथाचाह-

इह परलोयविरुद्धं, न सेवए दाणविणयसीलड्ढो।
लोयप्पिओ जणाणं, जणेइ धम्मम्मि बहुमाणं ॥

इह लोकविरुद्धं परनिन्दादि यदुक्तं। "सव्वस्स चेव निंदा विसेसओ तह य गुणसमिद्धाणं। उजुधम्म करण हसणं रीढा जण पूयणिज्जाणं"। १। बहुजण विरुद्धसंगो, देसादायार लंघणं तह य। उब्भण भोगो य तहा दाणाइवियम मन्नेसिं। २। साहु वसणम्मि तोसो सइसामत्थम्मि अपडियारो य। एमाइयाइं इत्थं लोगविरुद्धाइं नेयाणित्ति"। ३। परलोकविरुद्धं खरकर्मादि तद्यथा। "बहुधा खरकर्मित्वं सीरपतित्वं च शुल्कपालत्वम्। विरतिं विनापि सुकृती करोति नैवंप्रकाराणम्"। उभयलोकविरुद्धं द्यूतादि। तथाथा॥ "द्यूतं च १ मांसं च २ सुरा च ३ वेश्या ४ पापर्द्धि ५ चौर्ये ६ परदारसेवा ७। एतानि सप्त व्यसनानि लोके-पापाधिके पुंसि सदा भवन्ति॥ इहैव निन्द्यते शिष्टै-र्व्यसनासक्तमानसः। मृतस्तु दुर्गतिं याति, गतत्राणो नराधम" इति। ध० र०।

इहपरलोयावाय-इहपरलोकापाय- पुं० ऐहिकामुष्मिकविरोधिनि-तथाचावश्यके-

रागदोसकसाया, सवाइ किरियासु वट्टमाणाणं।
इहपरलोगावाए, झाइज्जा वज्जपरिवज्जी ॥

रागद्वेषकषायाश्रवादिक्रियासु वर्तमानानामिह परलोकापायान्ध्यायेत्। यथा रागादिक्रियैहिकामुष्मिकविरोधिनी। उक्तंच "रागसंपद्यमानोपि, दुःखदो दुष्टगोचरः। महाव्याध्यभिभूतस्य, अपथ्यान्नाभिलाषवत्। १। द्वेषः संपद्यमानोऽपि, तापयत्येव देहिनम्। कोटरस्थो ज्वलन्नाशु, दावानल इव द्रुमम्। २। दृष्टा द्रव्यादिभिन्नस्य, रागस्यामुष्मिकं फलम्। दीर्घः संसार एवोक्तः, सर्वज्ञैः सर्वदर्शिभि रित्यादि। ३। दोसानलसंसत्तो, इहलोगे चेव दुक्खिओ जीवो। परलोगम्मि य पावो, पावपरिणामओ तत्तो ॥ ४ ॥ इत्यादि- तथा-कषायप्रायाः क्रोधादयस्तदपायाः पुनः। "कोहो पीइं विणासेइ माणो विणयनासणो। माया मित्ताणि नासेइ, लोभो सव्वविणासणो ५ कोहो य माणो य अणिग्गहीया, माया य लोभो य पवड्ढमाणा। चत्तारि एए कसिणो कसाया, सिंचंति मूलाइं पुणब्भवस्स" । ६। तथा आश्रवाः कर्मबन्धहेतवो मिथ्यात्वादयस्तदपायाः पुनः। मिच्छत्तमोहियमती, जीवो इह लोग एव दुक्खाइं। निरओवमाइ पावो, पावति य समाइगुणहीणो। ७। "अज्ञानं खलु कष्टं क्रोधादिभ्योपि सर्वदोषेभ्यः। अर्थं हितमहितं वा न वेत्ति येनावृतो लोकः। ८। जीवा पावंति इहं पाणवधादविरतिपावेण। नियसु य घायणमादी, दोसे जणगरि(हि)ए पावे। ९। परलोगम्मिवि एवं, आसव किरियाहि अज्जिए कम्मे। जीवाण चिरमवायणि-रयादिगतिगमंताणं १० इत्यादि- आदिशब्दः स्वगतानेकभेदज्ञापकः प्रकृतिस्थित्यनुभावप्रदेशबन्धः भेदग्राहक इत्यन्ये। क्रियासु कायिक्यादिभेदाःपञ्च एताः पुनरुत्तरत्र संक्षेपेण वक्ष्यामः। विपाकः पुनः "किरियासु वट्टमाण, काइगमाईसु दुक्खिया जीवा। इहचेव य परलोगे संसारपवड्ढगा भणिया" ततश्चैवं रागादिक्रियासु वर्तमानानामपायान्ध्यायेत्। किं विशिष्टः सन्नित्याह। वर्ज्यपरिवर्जी तत्र वर्जनीयं वर्ज्यमकृत्यं परिगृह्यते तत्परिवर्जी अप्रमत्त इति गाथार्थः। आव० ४ अ०।

इहभव-इहभव- पुं० अत्र भवे,-दशा० १ अ०।

इहभवेणगेभवे तस्स विप्पनासासि सव्वनासोत्ति एवं जप्पति मुसावायी।

इह भवे एव प्रत्यक्षजन्मैव एको भव एकं जन्म नान्यः परलोकोऽस्तिप्रमाणाविषयत्वात् तस्य शरीरस्य विविधैः प्रकारैः प्रकृष्टो नाशः प्रणाशस्तस्मिन् सति सर्वनाश इति नात्मा शुभाशुभरूपं वा कर्माविनष्टमवशिष्यते। एतमेवोक्तप्रकारेण (जंपति) जल्पन्ति मृषावादिनः मृषावादिनां चैषां जातिस्मरणादिना जीवपरलोकसिद्धेरिति। प्रश्न २ द्वा०। (परलोकसिद्धेर्बहुवक्तव्यता परलोगशब्दे) यो यादृगिह भवे परत्र भवे स तादृशोऽन्यादृशो वेति निर्णीतं यथा. अणंते निइए लोए। नास्यान्तोऽस्तीत्यनन्तः न निरन्वयनाशेन नश्यति इत्युक्तं भवतीति। तथाहि यो यादृगिहभवे स तादृगेव परभवेऽप्युपपद्यत पुरुषः पुरुष एवाङ्गनाङ्गनैवेत्यादि-सूत्र० १श्रु० १ अ०।

विस्तरेणैतदुक्तता सुधर्मगणधरसंवादे यथा-

किं मन्ने जारिसो इह, भवम्मि सो परभवे वि।
वेयपयाण य अत्थं, न याणसी तेसि मो अत्थो ॥

त्वमेवं मन्यसे यो मनुष्यादिर्यादृश इहभवे स तादृशः परभवेपि नन्वयमनुचितस्ते संशयो यतो धर्मो विरुद्धवेदपदश्रुतिनिबन्धनो वर्तते। तानि चामूनि "पुरुषो वै पुरुषत्वमश्नुते, पशवः पशुत्वमित्यादि। तथा "शृगालो वै एष जायते यः सुपुरीषो दह्यते इत्यादि-एषां च वेदपदानाममुमेवार्थं मन्यसे त्वं पुरुषो मृतः सन् परभवे पुरुषत्वमेवाश्नुते प्राप्नोति। यथा पशवो गवादयःपशुत्वमेवेत्यादि। अमूनि किल भवान्तरगतजन्तुसादृश्यप्रतिपादकानि। तथा शृगालो वैत्यादीनि वैसादृश्याख्यापकानीत्यतस्तव संशयः। अयं चायुक्त एव यतो अमीषां वेदपदानां नायमर्थः किन्तु वक्ष्यमाणलक्षण इति। अत्र भाष्यम्।

कारणसरिसं कज्जं, बीयस्सेवंकुरोत्ति मन्नंतो।
इहभवसरिसं सव्वं, जमवेसि परेसि तमजुत्तं ॥

सुधर्माणं प्रति भगवानुवाच। इह कारणानुरूपमेव कार्यं भवति यथा यवबीजानुरूपो यवाङ्कुरः इह भवकारणं चान्यजन्म ततस्तेनापि इहभवसदृशेन भवितव्यमित्येवं मन्यमानस्त्वं यदिह भवसदृशं सर्वं पुरुषादिकं परभवेप्यवैषि तदयुक्तमेवेति कुत इत्याह।

जाइ सरोसिंगाउ, भूतणओ सासवाणुलित्ताउ।
संजायइ गोलोमा-विलोमसंजोगउ दुव्वाइ ॥
रुक्खायुर्वेदेजोणि-विहाणेयविसरसंहिंसो।
दीसइ जम्हा जम्मं, सुहम्मतो नायमेगत्तो ॥

ततः कारणानुरूपं कार्यमिति। सुधर्मन्नायमेकान्ततो यतः शृङ्गादपि शरो जायते तस्मादेव च सर्षपानुलिप्ताद्भूतृणकः शष्पसंघातो जायते। तथा गोलोमाविलोमाभ्यां दूर्वा भवति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इत्येवं वृक्षायुर्वेदे विलक्षणानेकद्रव्यसंयोगजन्मानो वनस्पतयो दृश्यन्ते। तथा योनिविधाने च योनिप्राभृते विसदृशानेकद्रव्यसंयोगयोनयः सर्पसिंहादिप्राणिनो मणयो हेमादयश्च पदार्था नानारूपाः समुपजायन्ते अतः कैयं कार्यस्य कारणानुरूपतेति। अथवा यत एव कारणानुरूपं कार्यमत एव भवान्तरे विचित्ररूपता जन्तूनामिति दर्शयति ।

अहव जउच्चियबीया-णुरूवजम्मं मयं तओ चेव ।
जीवं गिण्ह भवाओ, भवंतरे चित्तपरिणामं ॥
जेण भवंकुरबीयं, कम्मं विचित्तं तओभिहियं ।
हेउविचित्तत्तणओ, भवंकुरविचित्तया तेणं ॥
जइ पडिवन्नं कम्मं, हेउ विचित्तत्तओ विचित्तं च ।
तो तप्फलं विचित्तं, पडिवज्ज संसारिणो सोम्म ॥

अथवा यत एव बीजानुरूपं कारणानुगुणं कार्याणां जन्म मतं तत एवेह भवाङ्कुरान्तरे जीवं गृहाण प्रतिपद्यस्व । कथंभूतं जातिकुलबलैश्वर्यरूपादि विचित्रपरिणामम् । यदि नाम बीजानुरूपं जन्म तथापि कथं भवान्तरे विचित्रता जीवानामित्याह। जेण भवंकुरेत्यादि येन यस्मान्नारकतिर्यगादिरूपेण भवनं भवः स एवाङ्कुरस्तस्य बीजमिह कर्मैवावसेयं तच्च मिथ्यात्वाविरत्यादिहेतुवैचित्र्याद्विचित्रं तस्मान्मयाभिहितं तस्मात्तज्जन्यस्य भवाङ्कुरस्यापि जात्यादिभेदेन विचित्रता । ततो यदि त्वया कर्म प्रतिपन्नं हेतुवैचित्र्याच्च यदि च तद्वैचित्र्यमभ्युपगतं ततः संसारिणो जीवस्य तत्फलमपि नारकतिर्यङ्मनुष्यामररूपेण भवनरूपं सौम्य ! विचित्ररूपं प्रतिपद्यस्वेति ।

अत्र प्रमाणमुपचरयन्नाह ।

चित्तं संसारित्तं, विचित्तकम्मफलभावओ हेऊ ।
इह चित्तं चित्ताणं, कम्माणफलं च लोगम्मि ॥

चित्रं संसारिजीवानां नारकादिरूपेण संसारित्वमिति प्रतिज्ञा विचित्रस्य कर्मणः फलरूपत्वादिति हेतुः। इह यद्विचित्रहेतुकं तद्विचित्रमुपलभ्यते यथेह विचित्राणां कृषिवाणिज्यादिकर्मणां लोक इति । तदेवं कर्मवैचित्र्ये प्रमाणमाह ।

चित्ता कम्मपरिणई, पोग्गलपरिणामओ जहा बज्झा।
कम्माण चित्तया पुण, तब्हेउ विचित्तभावाओ ॥

इह चित्रा कर्मपरिणतिः पुद्गलपरिणामात्मकत्वादिह यत्पुद्गलपरिणामात्मकं तद्विचित्रपरिणतिरूपं दृश्यते । यथा बाह्यो भ्रादिविकारो वा पृथिव्यादिविकारो वा यत्तु विचित्रपरिणतिरूपं न भवति तत्पुद्गलपरिणामात्मकमपि न भवति यथा आकाशम् । यः पुनः पुद्गलपरिणामसाम्येपि कर्मणामावर्णादिभेदेन विशेषतो विचित्रता सा तद्धेतुवैचित्र्यादवगन्तव्या विचित्राश्च मिथ्यात्वादयः प्रद्वेष मनिह्नवादयश्च कर्महेतव इति।
अथ पराभ्युपगमेनैव परभवे जीवानां वैसदृश्यं साधयन्नाह।

अहवा इहभवसरिसा, परलोगो वि जइ सम्मओ तेणं ।
कम्मफलं पि इहभव-सरिसं पडिवज्ज परलोए॥
किं भणियमिहं मणुया, नाणागइकम्मकारिणो संति।
जइ ते तप्फलभाजो, परे वि तो सरिसया जुत्ता ॥

अथवा यदि इह भवसदृशः परलोकसंमतो भवतः ततः कर्मफलमपि परलोके इह भवसदृशं इहत्य विचित्रशुभाशुभक्रियानुरूपं विचित्रं प्रतिपद्यस्वेति । एवं मुकुलितं प्रतिपादितमेव भावयति (किंभणियमित्यादि) किमेतावता प्रतिपादितं भवति इह तावन्मनुष्याः नानागतिहेतुभूतविचित्रक्रियानुष्ठायिनः सन्तीति प्रत्यक्षत एव लक्ष्यन्ते ततो यदि ते परलोके तत्क्रियाफलभाज इष्यन्ते ततो यथेहत्यक्रियाणां स सदृशता तया परलोकगतजन्तूनामपि सैव युक्ता । ननु योत्र यादृशः स परत्रापि तादृश एवेति अत्र पराभिप्रायमाशङ्क्य परिहरन्नाह।

अह इहसफलं कम्मं, न परेत्तो सव्वहा न सरिसत्तं।
अकयागमकयनासा, कम्माभावो ह वा पत्तो ।
कम्माभावेह कओ, भवंतरं सरिसया व तदभावे।
निक्कारणओव्वन्ना, जइ तो नासो वि तह चेव ।

अथैवं ब्रूषे इह सफलं कर्मेति इह भव संबन्धे तत्कृष्यादि क्रियारूपं कर्म सफलं नतु परभविकदानादिक्रियारूपं कर्म। ततश्च तत्फलं भवान्नपरलोके जन्तुवैसदृश्यम् । अत्रोत्तरमाह । (तोसव्वहेत्ति) तत एवं सति यत्त्वयाभिप्रेतं तत्सर्वथा परभवे जीवानां सदृशत्वं न स्यात्सद्धि कर्मणा जन्यते ॥ तच्च नास्ति पारभविकक्रियाणां त्वया निष्फलत्वाभ्युपगमत्वान्निष्फलत्वे च कर्माभावादथ कर्माभावेपि भवेत्सादृश्यं तर्ह्यकृतस्यैव तस्य निर्हेतुकस्यागमः प्राप्नोति कृतस्य च दानहिंसादिक्रियाफलरूपस्य कर्मणो नाशः प्रसजति । अथवा मूलत एव कर्मणामभावः प्राप्तः दानहिंसादिक्रियाणां निष्फलत्वाभ्युपगमान्मूलत एव कर्मणो बन्धोपि न स्यादिति भावः । ततः किमित्याह। कर्माभावेच कारणभावात्कुतो भवान्तरं तदभावे च दूरोत्सारितमेव सादृश्यम। अथ कर्माभावेपि भव इष्यते तर्हि निष्कारण एवासौ स्याद्यदि चैवमयमिष्यते ततो नाशोपि तस्य भवस्य निष्कारण एव स्यादतो व्यर्थस्तपोनियमाद्यनुष्ठानप्रयासः। निष्कारणे च भवे ऽभ्युपगम्यमाने वैसादृश्यमपि जीवानां निष्कारणं किं नेष्यते विशेषाभावादिति ।

अथ प्रेरकमाशङ्क्य परिहरन्नाह ।

कम्माभावे वि मई, को दोसो होज्ज जइ सभावोयं ।
जह कारणाणुरूवं, घडाइकज्जं सहावेणं ॥

अथ परस्यैवंभूता मतिः स्याद्युत कर्माभावेऽपि यदि सद्भावरूपःस्वभाव एवायं स चेत्तर्हि को दोषः स्याद्विनापि कर्म यदि स्वभावादेव भवः स्यात्तर्हि किं दूषणं भवेन्न किंचिदित्यर्थः । दृष्टान्तमाह । यथा कर्म विनापि मृत्पिण्डादिकारणानुरूपंघटादिकार्यं स्वभावेनैवोत्पद्यमानं दृश्यते तथा सदृशप्राणिजन्मपरंपरारूपो भवोपि स्वभावादेव भविष्यति । अत्रोच्यते । ननु घटोऽपि स्वभावत एव जायते कर्तृकरणाद्यपेक्षित्वात्तस्य, ततश्चेहापि कर्तुरात्मनः पारभविकस्य च शरीरादिकार्यस्य करणं संभाव्यते। तच्च कर्तृकार्याभ्यां भिन्नं लोकेपि दृश्यते ।कुलालघटाभ्यां चक्रादिवच्चेहात्मनः शरीरादिकार्यं कुर्वतः करणं तत्कर्मेति प्रतिपद्यस्वेति। स्यादेतद्घटादेः प्रत्यक्षसिद्धत्वाद्भवन्तु कुलालादयः कर्तारः, शरीरादिकार्यं त्वभ्रादिविकारवत्स्वभावतोपि भविष्यति ततो न कर्मसिद्धिस्तदयुक्तम् । यतो न स्वाभाविकं शरीरादि आदिमत्प्रतिनियताकारत्वाद्घटवदिति। किंच कारणानुरूपमेव कार्यमित्येवं परभवे सादृश्यं त्वया ऽभ्युपगम्यते तदपि स्वभाववादिनस्तवाभ्रादिविकारदृष्टान्ते परिहीयते। अभ्रादिविकारस्य स्वकारणभूतपुद्गलद्रव्यादतिविलक्षणत्वादिति । अपिच ।

होज्ज सहावो वत्थुं, निक्कारणया व वत्थुधम्मो वा ।

जइ वत्थुं नत्थि तओ, णुवलब्भीओ खपुप्फं च ॥
अच्चंतमणुवलम्भो, विअ अह तउ अत्थि नत्थि तो कम्मं।
हेऊ वि तदत्थित्तो, जो नणु कम्मस्स विसयव्व ॥
कम्मस्स वाभिहाणं, होज्ज सभावो त्ति होउ को दोसो।
निच्चं च सो सभावो, सरिसो एत्थं च को हेऊ ॥

एतद्गाथात्रयमपि प्रायः पाठेनैव व्याख्यातार्थं नवरं निधामित्याह तृतीयगाथोत्तरार्द्धम् । इदमत्र हृदयं स स्वभावो नित्यं सदृश एव त्वयाऽभ्युपगन्तव्यो भवान्तरे सदृशस्यैव मनुष्यादिभवस्य जननात्तस्य च स्वभावस्य नित्यसदृशत्वे को हेतुर्न कश्चिदित्यभिप्रायः । स्वभावतः यद्ययं स्वभावः सदृश इति चेन्ननु भवविसदृशतायामप्येतद्वक्तुं शक्यत एवेति । किंच

मुत्तो वा मुत्तो वा, जइ मुत्तो तो न सव्वदा सरिसो ।
परिणामो पयं पिव, न देहहेऊ जइ अमुत्तो ।
उवगरणाभावाओ, न य हवइ सुहम्म सो अमुत्तो वि ।
कज्जेसु मुत्तिमत्ता, सुहसंवित्ताहिओ चेव ।

सस्वभावो मूर्तोऽमूर्तो वा यदि मूर्तस्तर्हि कर्मणा सह तस्य को विशेषः, संज्ञान्तरमात्रविशिष्टकर्म्मैवेत्थमुक्तं स्यादिति । न चासौ सर्वदैव सर्वथा सदृशो युज्यते परिणामित्वादुग्धादिवदथवा मूर्तत्वादेवाभ्रादिविकारवदिति । अमूर्तोऽसौ स्वभावस्तर्हि नैव देहादीनामारम्भको ऽनुपकरणत्वाद्दण्डादिविकलकुलालवदमूर्तत्वादाकाशवत् (नय हवइ सुहम्मसो अमुत्तो विति) किंच सुधर्मन्नितोऽपि स स्वभावो ऽमूर्तो न युक्तः शरीरादेस्तत्कार्यस्य मूर्तिमत्त्वाद्यदमूर्त्तस्य नभस इव मूर्त्तं कार्यमुपपद्यते । तथा सुखसंवित्त्यादेश्च नायं मूर्त्तः । इदमुक्तं भवति । कर्म्म तावद्भवता नेष्यते स्वभाववादित्वात्ततश्च शरीरादीनि सुखदुःखसंवित्त्यादीनि च स्वभावस्यैव कार्याण्येष्टव्यानि न तस्य वा मूर्त्तत्वेनैतान्युपपद्यन्ते । ततो यथा द्वितीयगणधरवादे कार्यस्य मूर्तत्वात्सुखसंवित्त्यादेश्च कर्मणो-मूर्तत्वं साधितं तथेह स्वभावस्यापि साधनीयम् । तथाच प्रागुक्तम् आह । "नणु मोत्तेमयमुत्तं,चिय कज्जमुत्ति मत्ताउ । इह-जइ मुत्तित्तणओ, घडस्स परमाणवो मुत्ता । तह सुह संवित्तीउ, संविश्चिवेयणुब्भवाओ य । वज्भवलाहाणीउ, परिणामा माउयविएणेयमिति"

अथनिष्कारणता स्वभावमिति द्वितीयविकल्पमधिकृत्याह

अहवा कारणउ च्चिय, सभावउत्तो वि सरिसया कत्तो।
किमकारणाउ न भवे, विसरिसया किंच विच्छित्ती ॥

अथ स्वभावत एव भवोत्पत्तिरित्यत्र अकारणत एवेत्ययमथोभिप्रेतः (ताविति) तथापि हन्त ! परभवे सदृशता कुतः कोऽभिप्राय इत्याह । यथा कारणतः सदृशता भवति तथा किमित्यकारणत एव विसदृशता न स्यादकस्माच्चाकारणतो भवविच्छित्तिः कस्माच्च स्यादकस्माच्च भवेत्खरविषाणादिरपि भवेच्छरीरादीनां च कारणत्वासेन चाभ्रादीनामिव प्रतिनियताकारणत्यादिरूपता न स्यात्तस्माच्चाकारणता स्वभावत इति ।

अथ वस्तुधर्मोमाधिति तृतीयविकल्पमाश्रित्याह।

अहव सहावो धम्मो, वत्थुस्स न सो वि सरिसओ निच्चं।
उप्पायट्ठिइभंगा, चित्ता जं वत्थुपज्जाया ॥

अथ वस्तुनो धर्मस्वभावः सोऽपि सर्वदैव सदृशो न घटत इति । किं कथं सर्वदैव शरीरादीनां सदृशतां अनयेत्कथं पुनरस्य सदैव सदृशता न घटत इत्याह ॥ (उप्पायेत्यादि) यद्यस्मादुत्पादस्थितिभङ्गादयश्चित्रा वस्तुपर्याया न च ते सदैवावस्थितसादृश्याः नीलादीनां वस्तुधर्माणां प्रत्यक्षत एवान्यान्यरूपतया परिणतिदर्शनात् । किंच वस्तुधर्मोसौ भवत्स्वभाव आत्मधर्मो वासौ स्यात्पुद्गलधर्मो वा । यद्यात्मधर्मस्तर्हि नासौ शरीरादीनां कारणम् अमूर्तत्वादाकाशादिवदथ पुद्गलधर्मस्तर्हि कर्म्मैवासौ कर्मणोऽपि हि पुद्गलास्तिकायधर्मत्वेनास्माभिरभ्युपगतत्वादिति । किंच ॥

कम्मस्स वि परिणामो, सुह धम्मधम्मो सपोग्गलमयस्स।
हेऊ चित्तो जगओ, होइ सहावोत्ति को दोसो ॥

सुधर्मन्नसौ वस्तुधर्मो भवत्स्वभावो धर्मो भवति को दोषो न कश्चित् युक्तियुक्तत्वात्किविशिष्टो धर्म इत्याह । परिणामकस्य कर्मणः कथंभूतस्य पुद्गलमयस्य कथंभूतो यः कर्म्मपरिणाम इत्याह । हेतुः कस्य जगतो जगद्वैचित्र्यस्य तदेवं कर्मलक्षणस्य वस्तुनःपरिणामरूपो धर्मो भवति स्वभावो नात्र काचिद्दोषापत्तिरस्माकमपि सम्मतो ऽयमर्थः केवलं सर्वदा सदृशोसौ न भवति किन्तु चित्रो मिथ्यात्वादिहेतुः वैचित्र्याद्विचित्रो विविधस्वभावः । अतो न तस्मात्परभवे सादृश्यमेव किन्तु विचित्ररूपतेति यदिवा किमनेनाव्यापकेन मिथ्यारूपेण चैकान्तवादेन, सर्वव्यापकमवितथरूपं चानेकान्तवादमेव दर्शयन्नाह ।

अहवा सव्वं वत्थु, पइक्खणं चिय सुहम्म धम्मेहिं।
संभवइ चेइ केहि वि, केहि वि तदवत्थमच्चंतं ॥
तं अप्पणो विसरिसं, न पुव्वधम्मेहिं पच्छिमिल्लाणं ।
सयलस्स तिहुयणस्स व, सरिसं सामन्न धम्मेहिं ॥

अथवा सुधर्मन्किमेक एव परभवः सर्वमेव हि घटपटादिकं भुवनान्तर्गतं वस्तु कैश्चित्पूर्वपर्यायैः समानासमानपर्यायैः प्रतिक्षणमुपपद्यते । कैश्चित्पुनरुत्तरपर्यायैः समानासमानपर्यायैर्व्येति व्युपरमति । कैश्चित्तदवस्थमेवास्ते । ततश्चैवं सति तद्वस्त्वात्मनो पूर्वं धर्म्मैरुत्तरोत्तरधर्माणां न सदृशं किं पुनरन्यवस्तूनाम् । सामान्यधर्मैस्तु सर्वस्यापि त्रिभुवनस्य समानं किंपुनरेकस्यैव निजपूर्वजन्मन इति ।

ततः किं स्थितमित्याह ।

को सव्वहेव सरिसो, सरिसो वा इहभवे परभवे वा ।
सरिसासरिसं सव्वं, निच्चानिच्चाइरूवं च ॥

को ह्यथोऽर्थान्तरैरात्मना वा स इहभवेऽपि सर्वथा सदृशोऽसदृशो वा किंपुनः परभवे । तस्मात्सर्वमपि वस्तु स्वधर्म्मेणापि सह समानासमानरूपमेवेहभवेपीति कुतः परभवे सादृश्यमेव प्रतिज्ञायते । इति भवत इति भावः । तथा सर्वमपि नित्यानित्याद्यनन्तधर्म्मात्मकमिति ।

अमुमेवार्थं दृष्टान्तेन प्रतिपादयितुमाह ।

जह नियएहिं वि सरिसो, न जुवा भुवि बालवुड्ढधम्मेहिं।
जगओ विसमो सत्ताइ, एहिं तह परभवे जीवो ॥

यथेह युवा निजैरप्यतीतानागतैर्बालवृद्धत्वादिपर्यायैरात्मनोऽपि सर्वथा न समानः सत्तादिभिस्तु समान्यपर्यायैर्जगति न केनचिन्न समानस्तथायमपि जीवः परलोकं गतः सर्वेणापि सह समानासमानरूप एवेति । कुतः सर्वथा सादृश्यमिति ।

एतदेव दृष्टान्तेन भावयति ॥

मणुओ देवीभूओ, सरिसो सत्ताइएहि जगओ वि ।

देवीईहिं वि सरिसो, निच्चानिच्चो वि एमेव ॥

मनुष्यो मृत्वा देवत्वमापन्नो जगत्त्रयस्यापि सत्त्वादिभिः पर्यायैः सदृशो देवत्वादिभिस्तु विसदृशः इति नैकान्तेन क्वापि सदृशता । तथा द्रव्यतयासौ नित्यः पर्यायतया त्वनित्य इत्यापि वक्तव्यमित्याह । नन्वस्माभिरपि नैकान्तेन परजवे सादृश्यमभ्युपगम्यते किंतु समानजात्यन्वयमात्रमेवेष्यते पुरुषादिर्मृतः पुरुषादिरेव भवतीति । एतदप्ययुक्तं कर्मजनितो हि परभव इति साधितम् । तच्च मिथ्यात्वादि विचित्रहेतुजन्यत्वाद्विचित्रमेवेत्यतस्तज्जन्यः परजवो विचित्र एव युज्यते नतु समानजात्यन्वयः सिध्यतीति । किंच ॥

उक्करिसा वकरिसा, न समाणाए वि जेण जाईए ।

सरिसग्गाहे जम्हा, दाणाइ फलं विही तम्हा ॥

सदृशग्रहे समानजातीयताग्रहे सति येन यस्मादीश्वरदरिद्रकुलीनाकुलीनादिरूपेणोत्कर्षापकर्षौ न घटां प्राञ्चतः । यो हि यादृशः इहभवे स यदि परभवेऽपि तादृश एव तर्हि य इह भवे ईश्वरः स परजवेऽपि तादृश एव एवं दरिद्रेष्वपि वाच्यं ततश्चेह भवात्परभवे सर्वप्रकारैरप्युत्कर्षापकर्षौ न स्यातां किंत्वेकान्तसदृशतैव भवेत् (तम्हत्ति) तस्मान्मोक्तव्योयं सादृश्यग्रह इति प्रक्रमाद्गम्यम् । अथेत्थमावक्षीथाः मा भूतामुत्कर्षापकर्षौ का नो हानिरित्याह (जम्हा दाणाइ फलं विहित्ति) यकारस्य गम्यमानत्वाद्यस्मादित्थं परत्रोत्कर्षापकर्षयोरभावे दानादिफलं वृथा संपद्यते लोको हि परत्र देवादिसमृद्धिप्राप्त्या आत्मन उत्कर्षार्थं दानादि प्रवृत्तिं विदधाति यदि चोक्तयुक्त्या उत्कर्षाद्यभावाद्दरिद्रो दानतपस्तीर्थावगाहनाद्यपि कृत्वा ऽमुत्र दरिद्र एव स्यात्तर्हि क तद्दानादिफलमित्यपार्थिका दानादौ प्रवृत्तिस्ततस्माज्ञ विधेयः सादृश्यग्रह इति । अपि चैतस्मिन् सादृश्यग्रहे वेदपदानामप्यप्रमाण्यमापद्यत इति दर्शयन्नाह ।

जं च सिलोगो वइए, स जायए वेयविहियमिच्चाइ ।

सग्गीयं जं च फलं, तमसंबद्धं सरिसयाए ॥

यच्च शृगालो वै एष जायते यः स पुरीषो दह्यत इत्यादि वेदविहितं तदपि परजवसदृशताग्रहे संबद्ध एव स्यात्पुरुषादेरमुत्र शृगालताद्यनुपपत्तेः तथा यदप्यग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः स त्वन्यथाऽग्निष्टोमेन यमराज्यमभिजायत इत्यादिकं स्वर्गीय फलसूचकत्वात्स्वर्गीयं फलं तदप्यसंबद्धं भवेन्मनुष्यस्य त्वदभिप्रायेण देवत्वानुपपत्तेरिति पुरुषो वै पुरुषत्वमश्नुते पशवः पशुत्वमित्यादीनां च वेदानामयमर्थः । कोऽपि पुरुषः खल्विह जन्मनि प्रकृत्या भद्रको विनीतः सानुक्रोशोऽमत्सरश्च मनुष्यनामगोत्रे कर्मणि च भूतः सन् पुरुषत्वमश्नुते नतु नियमेन सर्व एव अन्यस्यान्यकर्मवशगस्यान्यथाप्युत्पत्तेः । एवं पशवोऽपि केचिन्मायादिदोषवशात्पशुनामगोत्रे कर्मणि बद्धा परभवे पशवो जायन्ते नतु सर्वेऽपि नियमेन कर्मापेक्षित्वार्थं जीवगतेरिति । विशे० (च्युतिसमये इहभवः परभवो वेति करणशब्दे चिन्तयिष्यामि)

इहजवियाउय–इहजविकायुष्–न० वर्तमानजवायुषि, । भ० ५ श० ३ उ० ।

इहय–इहक–त्रि० " स्वार्थे कश्चवा ८ ।२। १६४ ।" इति प्राकृतसूत्रेण स्वार्थे कः । प्रा० । अस्मिन्नित्यर्थे,—वाच० ।

इहरा–इतरथा–अव्य० "इहरा इतरथा" पा० २।२२ इति प्राकृतसूत्रेण इहरा इति इतरथार्थे वा प्रयोक्तव्यं । पक्षे यथा प्राप्तम् अन्यथार्थे,"इहरा नीसासखेहिं" पक्षे इअरहा । प्रा० । नि० चू० । " इहरा सपरुवघाओ " इतरथा अन्यथेति । दर्श० । " इहरा समूहसिद्धो " इतरथोक्तप्रकारादन्यथा समूहो रत्नानां सिद्धो निष्पन्न इति–सम्म० इहरा वि य वीयमेयस्स" इतरथान्यथा भावव्यतिरेकेणेत्यर्थः इति । पंचा० २ विव० । " इहरा अणत्थगंतं " पंचा० ६ विव० ।

इहलोइय ऐहलौकिक–त्रि० इहलोके भवः ठञ् द्विपदवृद्धिः वाच० । ऐहिके,–'अन्नस्स पाणस्सिह लोइयस्स' अन्नस्य पानस्य वा कृते ऽन्यस्य वैहिकार्थस्य वस्त्रादेः कृते इति । सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । इहलोकप्रयोजने, 'इहलोइया वि किं पुण' ऐहलौकिकी इहलोकप्रयोजनापि कृष्यादिकापीत्यर्थः । पंचा० ४ विव० इहलोकगते, " इहलोइया विहाणित्ति " ऐहलौकिक्यपि इहलोकगताऽपि न केवलं परलोकगता हानिरिति । पंचा० ३ विव० । इहलोककृते, इहजन्मभवे च " इयलोइयाइं परलोइयाइं भीमाइं अणेगरूवाइं अविसुन्निदुब्भिगंधाइं सद्दाइं अणेगरूवाइं" इहलोके भवा ऐहलौकिका मनुष्यकृताः के ते स्पर्शा दुःखविशेषाः । यद्विवा इहैव जन्मनि ये दुःखयन्ति दण्डप्रहारादयः प्रतिकूलोपसर्गास्त इहलौकिका इति । आचा० १ श्रु० ९ अ० ३ उ० । इहलोके भव ऐहलौकिकः । व्यवसायभेदे, य इह भवे वर्तमानस्य निश्चयोऽनुष्ठानं वा स ऐहलौकिको व्यवसाय इति स्था० ३ ठा० ।

इहलोय–इहलोक–पु० इदम् प्रथमार्थे ह । कर्म० इहलोकः समानलोकः सदृशलोको यथा मनुजो मनुष्यस्य तिर्यङ् तिरश्च इति दर्श० । अस्मिन् लोके, आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० "इहलोगदुहावहं विऊ" इहास्मिन्नेव लोके हिरण्यस्वजनादिकं दुःखमावहतीति । सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । मनुष्यलोके, स्था० ३ ठा० । आव० । " इहलोगपडिणीए " इहलोकस्य प्रत्यक्षस्य मानुषत्वलक्षणपर्यायस्य प्रत्यनीक इति । भ० ८ श० ८ उ० इहलोगो मणुस्सस्स लोगो इति । आ० चू० । अस्मिन् जन्मनि, आचा० १ श्रु. ५ अ० ४ उ० । मनुष्यजन्मनि, स्था० ४ ठा० ।

इहलोगगवेसग–इहलोकगवेषक– त्रि० अन्योन्यभक्तपानाद्युपभोगेन केवलस्येहलोकस्यैवान्वेषके, बृ० १ उ० ।

इहलोगपडिणीय–इहलोकप्रत्यनीक– त्रि० इहलोकस्य प्रत्यक्षमानुषत्वलक्षणपर्यायस्य प्रत्यनीकः इन्द्रियार्थप्रतिकूलकारित्वात्पञ्चाग्नितपस्विवदिहलोकप्रत्यनीकः । इन्द्रियार्थप्रतिकूलकारिणि, गतिमप्रतीत्य मनुष्यलोकप्रत्यनीकरूपे प्रत्यनीकभेदे,–इहलोकोपकारिणां भोगः साधनादीनामुपद्रवकारिणि, इहलोको मनुष्यलोकस्तस्य प्रत्यनीकता तद्वितथप्ररूपणेति इहलोकप्रत्यनीकः । मनुष्यलोकस्य वितथप्ररूपणाकर्तरि च । स्था० ३ ठा० ।

इहलोकपडिबद्ध–इहलोकप्रतिबद्ध–त्रि० निर्वाहादिमात्रार्थिनि प्रव्रज्याभेदे, स्त्री–टाप् इहलोकप्रतिबद्धा निर्वाहादिमात्रार्थिनामिति–स्था० ४ ठा० (विशेषार्थस्तु पवज्जा शब्दे)

इहलोइयपरलोइय–ऐहलौकिकपारलौकिक–त्रि० इह परत्र च भव ऐहलौकिकपारलौकिकः । इह परत्र च भवे, तदात्मके व्यवसायभेदे च । यस्त्विह परत्र च स ऐहलौकिकपारलौकिक इति । स्था० ३ ठा० ।

इहलोइयपारलोइयकज्ज–ऐहलौकिकपारलौकिककार्य–न० वर्तमानभवपरभवप्रयोजनसाध्ये,—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इहलोइयपारलोइय–कज्जाणं पारलोइयं अहिगं ।
तं पि हु भावपहाणं, सो विय इयकज्जगम्मोत्ति ॥

ऐहलौकिकपारलौकिककार्ययोर्वर्तमानभवपरभवप्रयोजनयोः साध्ययोर्मध्ये पारलौकिकं पारभविकं प्रधानतरं विशेषतस्तस्य साधनीयत्वात्तदसाधने बहुतमानर्थसंभवात्पारलौकिककृत्यं च जिनपूजेत्यतो नान्यदुपयोगस्थानं लष्टतरं प्रवरसाधनानामिति । तत्र च यत्प्रधानं तद्दर्शयितुमाह । (तं पि हुत्ति) तत्पुनः पारलौकिककार्यं भाव आत्मपरिणामः प्रधानः साधकतयोत्तमो यस्मिंस्तद्भावप्रधानं शुभभावसाध्यमतोसौ भावविशेषो विशिष्टपारलौकिककार्यार्थिनां समाश्रयणीय इति हृदयम् । यदि भावप्रधानं ततः किमित्याह (सोवियत्ति) स पुनः पारलौकिककार्यहेतुभूतो भाव इति कार्यगम्य इत्येवंविधमनन्तरोक्तं यत्कार्यं भावस्य कृत्यं पूजार्थप्रवरपुष्पाद्युपादानरूपं तेन यो गम्यो निश्चेतव्यः स इति कार्यगम्यः । इतिशब्दः समासाविमुक्तं भवति । परलोकसाधन हेतुभूतशुभभावकार्यत्वात्प्रवरसाधनोपादानस्य शुभभावं सफलयद्भिस्तद्विधेयं भवतीति गाथार्थः । पंचा० ४ विव० ।

इहलोगभय–इहलोकभय– न० इहलोकः समानलोकः सदृशलोको यथा मनुजो मनुष्यस्य तिर्यङ् तिरश्चस्तस्माद्भयमिहलोकभयम्– । दर्श० । मनुष्यादिकस्य सजातीयादन्यस्मान्मनुष्यादेरेव सकाशाद्यद्भयं भवति तदिहलोकभयम्– । इहाधिकृतभीतिमतो जातौ लोकस्ततो भयमिति व्युत्पत्तिः । स्था०७ ठा० । आव० । सम० । भयभेदे,–तत्र यथा राजामात्यरक्षकादेरकार्यकरणं प्रति प्रजादीनां सिंहादेर्वा मृगादीनामिति–दर्श० ।

इहलोगवेयण–इहलोकवेदन– न० इहास्मिन् लोके जन्मनि वेदनमनुभवनमिहलोकवेदनम्- । इहलोकानुभवने,- आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० ।

इहलोगवेयणवेज्ज–इहलोकवेदनवेद्य– त्री० इहास्मिन् लोके वेदनमनुभवनमिहलोकवेदनं तेन वेद्यमनुभवनीयमिहलोकवेदनवेद्यम् । इहलोकानुभवेनानुभवनीये, आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० ।

इहलोगवेयणवेज्जावडिय,– इहलोकवेदनवेद्यापतित– त्रि० ऐहिकभवानुबन्धिनि, "इह लोगवेयणवेज्जावडियं । जं आउट्टीकम्मं तं परिणाय विवेगमेति " इहास्मिन् लोके जन्मनि वेदनमनुभवनमिह लोकवेदनं तेन वेद्यमनुभवनीयमिहलोकवेदनवेद्यं तत्रापतितमिहलोकवेदनवेद्यापतितम्– । इदमुक्तं भवति-प्रमत्तयतिना ऽपि यदकामतः कृतं कर्म कायसंघट्टादिना तदैहिकभवानुबन्धि तेनैव भवेन क्षप्यमाणत्वादिति । आचा० १ श्रु० ५ अ० ।

इहलोगसंवेगिणी– इहलोकसंवेगिनी– स्त्री० इहलोको मनुष्यजन्म तत्स्वरूपकथनेन संवेगिनी इहलोकसंवेगिनी सर्वमिदं मानुषत्वमसारमध्रुवं कदलीस्तम्भसमानमित्यादिरूपे संवेगिन्याः कथायाः प्रथमे भेदे, स्था० ४ ठा० ।

इहलोगावेक्खा–इहलोकापेक्षा–स्त्री० इहलोकालम्बने,

विहियाणुट्ठाणमिणंति–एवमेयं सयाकरेत्ताण ।
होइ चरणस्स हेऊ, णो इह लोगादवेक्खाए । ४ ।

विहितमाप्तागमे विधेयतयानुमतं यदनुष्ठानं क्रिया तद्विहितानुष्ठानमिदं जिनभवनादिकरणलक्षणमिति । अनेनोल्लेखेन एवमनेन भावस्तवानुरागलक्षणेन सूत्रविधिलक्षणेन वा प्रकारेण एतज्जिनभवनादिविधानं सदा सर्वकालं कुर्वतां विदधतां भवति जायते । चरणस्य सर्वविरतिरूपचारित्रस्य हेतुर्निमित्तम् । तदेव जिनभवनादि । उक्तविपर्यये यद्भवति तदाह नो नैव इह लोकाद्यपेक्षया ऐहभविककीर्त्यादिपारभविकदेवत्वराज्यादिपदार्थालम्बनेन । चरणस्य हेतुर्भवति एतज्जिनभवनादिविधानं निदानदूषितत्वादिति गाथार्थः । पंचा० ६ विव० ।

इहलोगासंसप्पओग–इहलोकाशंसाप्रयोग– पुं० । इहलोको नरलोकस्तत्राशंसा राजा स्यामित्याद्यभिलाषस्तस्याः प्रयोगो व्यापार इह लोकाशंसाप्रयोगः । धर्म० २ अधि० । अपश्चिममारणान्तिकसंलेखनाजोषणाराधनाया अतिचारविशेषे,– उपा० । स च श्रेष्ठी स्यां जन्मान्तरे ऽमात्यो वेत्येवं रूपा प्रार्थनेति । उपा० १ अ० । आव० आव० ॥

(ईकार)

ई–ई– अव्य० क्विप्- विषादे, दुःखभावनायाम्, क्रोधे, अनुकम्पायां, प्रत्यक्षे, सन्निधौ, सम्बोधने,- वाच० "ईः कुत्सार्थे पि पापेपि निषेधे, नयनभ्रमे । ६। एका० । पादपूरणे च । "ई जेरा पादपूरणे" ८ । २ । १७ । इति । प्रा० मेदिन्यामयं सान्ततया पठितः । पृषोदरादित्वात्साधुः । वाच० ।

ई– स्त्री० लक्ष्म्याम्, वाच० । ई रमा मदिरा मोदे, महानन्दे शिरोभ्रमे । स्त्रीलिङ्गोयमुणाद्यन्तो, नातोस्माल्लोपनं सुपः । ७ । ई यौयोत्र जसो रूपं, स्यादमारूपमीः शसि । ई शब्दो ऽव्ययपर्याये व्ययं वृद्धैः प्रदर्शितम् । ८ । एका० ।

ईति–ईति–पुं० ईयते ई-क्तिच् (१) डिम्बे, २ उत्पादिते,-त्रि० । ३ प्रवासे, । " अतिवृष्टिरनावृष्टिः शलभाः मूषिकाः खगाः । प्रत्यासन्नाश्च राजानः षडेता ईतयः स्मृताः 'इत्युक्ते ४ कृषेरुपद्रवभेदे च । स्त्री० निरातङ्का निरीतयः' रघुः । वाच० ईतिर्धान्याद्युपद्रवकारी प्रचुरमूषिकादिप्राणिगण इति । सम० ३४ स० । जं० । प्रचुरशलभशुकमुषिकाद्या धान्यादिविनाशका इति । प्रव० ४० द्वा० । प्रायो वर्षासु शस्योपद्रवकारिणो मूषिकादय इति । दर्श० ॥

ईरण–ईरण–न० ईर्–भावे ल्युट् प्रेरणे, आव० ४ अ० । " इन्द्रियाणि समीरए ' इन्द्रियाणीष्टानिष्टविषयेभ्यः सकाशाद्रागद्वेषाकरणतया सम्यगीरयेदिति । आचा० १ श्रु० ९ अ० उ० । गतौ, आ० म० द्वि० । स्था० । आचा० । कथने, 'घोरे धम्मे उदीरए ' इत्यत्रावल्येन ईरितः कथितः प्रतिपादितस्तीर्थकरगणधरादिभिरिति । आचा० १ श्रु० ८ अ० ७ उ० । युच्

ईरणा तत्रैव स्त्री० । नन्द्या-ल्यु प्रेरके, त्रि० समीरणः प्रेरयिता जवेति-कुमा० । वाच० ।

ईरिय-ईरित- त्रि०प्रेरिते,-आव ४ अ० । दर्श० । चोदिते- "समीरिया कोट्टवलिं करिंति" समीरिताः पापेन कर्मणा चोदितास्ताश्चारकान् कुट्टयित्वा खण्डशः कृत्वा नगरबलिवन्दितश्चेतश्चाक्षिपन्तीत्यर्थः इति । सूत्र० १ श्रु० ५ अ०२ उ० कथिते, प्रतिपादिते, आचा० १ श्रु० ६ अ० ५ उ० । " संक्षेपाभिरपेक्षाणां यतीनां धर्म ईरितः" ईरितः प्रोक्त इति-धर्म० ४ अधि० । जनिते,-कृते च । " ससद्दफासाफरुसा उदीरिया" तत्प्राबल्येनेरिता जनिता कृता इत्यर्थ इति । आचा० ।

ईसओ-देशी, रोजाख्ये मृगे, दे० ना० ।

ईसक्ख-ईशाख्य- त्रि० ईश ईश्वर इत्याख्या प्रसिद्धिर्येषां ते ईशाख्याप्रसिद्धे ईश्वरे, ईशनमीशो भावे घञ् प्रत्ययः । ऐश्वर्यमित्यर्थः । ईश ऐश्वर्ये इति वचनात् । तत ईशमैश्वर्यमात्मनः ख्यान्ति अन्तर्भूतण्यर्थतयाऽऽख्यापयन्ति प्रथयन्तीति ईशाख्याः । आत्मन ऐश्वर्यस्य प्रसिद्धिकारके,-जी०- ३ प्रति० । प्रज्ञा० ।

ईसत्त-ईशत्व- न० सर्वत्र प्रभविष्णुतारूपे सिद्धिविशेषे, ठा०- २६ ठा० ।

ईसत्थ-इषुशास्त्र- न० । चतुष्षष्ठिकलान्तर्गते कलाभेदे, ज्ञा० १ अ० । स च धनुर्वेदः- प्रश्न० ५ द्वा० । ईसत्थंति प्राकृतशैल्या इषु शास्त्रं नागबाणादिदिव्यास्त्रादिसूचकं शास्त्रम् इति- जं० २ वक्ष० । सम० तथाचावश्यके भगवत ऋषभदेवस्य वर्णनमुपक्रम्योक्तम् "ईसत्थं धणुवेयो" इषु शास्त्रं नाम धनुर्वेदः स च तदैव राजधर्मे सति प्रावर्त्ततेति- आ० म० प्र० ।

ईस-ईश- पुं०ईश-- क- ईश्वरे, प्रज्ञा० २ पद । जी० । परमेश्वरेषु, महादेवे, रुद्रसङ्ख्यातुल्यसङ्ख्याकत्वात् एकादशसंख्यायाम्, आर्द्रानक्षत्रे च । वाच० । ईशनमीशो भावे घञ० ऐश्वर्ये, ईश ऐश्वर्ये इति वचनात् प्रज्ञा० २ पद ।

ईस-देशी० कीलके, दे० ना० ।

ईसमित्त-ईशमित्र- न०कुबेरे, - प्रा० को० ।

ईसर-देशी० मन्मथे, दे० ना० ।

ईस सह-ईशसख-पुं०षष्ठीतत्पु० टच्-समा० कुबेरे-बहु० न टच् ईशसखा इत्येव ईशमित्रादयोऽप्यत्र- वाच० ।

ईसा-ईर्ष्या--स्त्री० परगुणासहने, उत्त० ३४ अ० ।

ईर्ष्या०स्त्री ईर्ष्य भावे स्त्रीत्वात् टाप् । अक्षमायामपरशुभ्रसहिष्णुतायाम्, । वाच० । प्रतिपक्षाभ्युदयोपलम्भजनितो मत्सरविशेष ईर्ष्येति । आव०४ अ० । सम० । आ० म० द्वि० । पैशून्यं साहसं द्रोहमीर्ष्या सूयाऽथ दूषणम् । वाग्दण्डजञ्च पारुष्यं क्रोधजो ऽपि गणोऽष्टकः । मनुः । एतेषाञ्च । क्रोधप्रभवत्वात् क्रोधजत्वम्- । अत एव । "क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रति कोपः-पा० द्रुहादयो ऽपि-कोपप्रभवा एव गृह्यन्तेऽतो विशेषणं सामान्येन यं प्रति कोप इति सि० कौ० । धरणेन्द्रभवनपतीनामग्रमहिषीनां प्रथमपर्षदि- स्था० ३ ठा० ।

ईषा स्त्री० ईश्-क-शकटस्य दोषकाष्ठे, हलयुगयोर्मध्यस्थकाष्ठे, लाङ्गलदण्डे च । वाच० ।

ईसाण-ईशान- पुं० सकलविमानप्रधानेशानावतंसकविमानविशेषे, अनु० । सकलविमानप्रधानेशानावतंसकविमानविशेषोपलक्षिते स्वनामख्याते ऊर्ध्वलोकविशेषे,- अनु० । कल्पभेदे,-स्था०१० ठा० । विशे० । आ० चू० । देवलोकभेदे, । तल्लोकवासिनि कल्पोपपन्नके वैमानिकदेवभेदे, प्रव० द्वा० । विशे० ईशानकल्पस्थे ईशानदेवेन्द्रे च । स्था० १० ठा० विशे० । सम० । ईशानस्थानशब्दे वक्तव्यता- (ईशानेन्द्रवक्तव्यता ठाणशब्दे ईसाणिंदशब्दे ऽपि-) । प्रभौ, । " ईशामृतत्वस्येशानः " अमृतत्वस्यामरणभावस्य मोक्षस्येशानः प्रभुरिति । विशे० । आ० म० द्वि० । ईश-ताच्छील्ये चानश्-ऐश्वर्यशीले,- रुद्रमूर्तिभेदे,- पुं० । "अहोरात्रभवेषु त्रिंशन्मुहूर्तेषु स्वनामख्याते एकादशे मुहूर्ते,-जं०७ वक्ष० । दश० प० । कल्प० । ज्यो० । समवायांगे तु षोडशो मुहूर्त इति । सम० ३ स० ।

ईसाणकप्प-ईशानकल्प-पुं० मेरोरुत्तरवर्त्तिनि परिपूर्णचन्द्रमण्डलसंस्थानसंस्थिते कल्पविशेषे, राज० । तद्वक्तव्यता ठिइशब्दे-)

ईसाणवडिंसय-ईशानावतंसक- पुं० ईशानकल्पस्थसकलविमानप्रधाने स्वनामख्याते विमाने,-अनु० । तथाच-प्रज्ञापनायामप्यत्रविमानावतंसकान्प्रतिपाद्योक्तम् "मज्झइत्थ ईसाणवडिंसए" मध्ये ईशानावतंसक इति-प्रज्ञा० २ पद० ॥

ईसाणिंद-ईशानेन्द्र--पुं० । ईशानकल्पस्थवैमानिकदेवानामिन्द्रे,

तद्वर्णको यथा-

तेणं कालेणं तेणं समएणं ईसाणे देविंदे देवराया सूलपाणी वसहवाहणे उत्तरड्ढलोगाहिवई अट्ठावीसविमाणवाससयसहस्साहिवई अरयंबर वत्थधरे आलइयमालमउडे नवहेमचारुचित्तचंचलकुंडलविलिहिज्जमाणगंडे जाव दसदिसाओ उज्जोवेमाणे उज्जोवेमाणे ईसाणकप्पे ईसाणवडिंसए विमाणे जहेव रायप्पसेणइज्जे जाव दिव्वं देविड्ढिं ॥

(जहेव रायप्पसेणइज्जेत्ति) यथैव राजप्रश्नीयाख्ये अध्ययने सूरिकाभदेवस्य वक्तव्यता तथैवचेहेशानेन्द्रस्य किमन्ते त्याह (जावदिव्वं देवड्ढिमिति)सा चेयमर्थसंक्षेपतः सभायां सुधर्मायामीशाने सिंहासने अशीत्या सामानिकसहस्रैश्चतुर्भिर्लोकपालैरष्टाभिः सपरिवाराभिरग्रमहिषीभिः सप्तभिरनीकैः सप्तभिरनीकाधिपतिभिश्चतसृभिश्च अशीतिभिरात्मरक्षकदेवसहस्राणामन्यैश्च बहुभिर्देवैर्देवीभिश्च परिवृतो महता नृत्तनाट्यादिरवेण दिव्यान् भोगभोगान् भुञ्जानो विहरति स्म ।

जाव जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडिगए भंते ! त्ति भगवं ! गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ २ त्ता एवं वयासी अहो णं भंते ! ईसाणे देविंदे देवराया महिड्ढिए ईसाणस्स णं भंते ! सा दिव्वा देविड्ढी कहिं गते कहिं अणुपविट्ठे ? गोयमा ! सरीरं गए से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ सरीरं गए ? गोयमा ! से जहा नामए कूडागार सालासिया दुहओलित्ता गुत्तागुत्तदुवारा णिवाया णिवायगंभीरा तीसेणं कूडागारं जाव कूडागारसालादिट्ठंतो भाणियव्वा ईसाणेणं भंते ! देविंदे देवरन्नो सा दिव्वा देविड्ढी दिव्वा देवजुत्ती दिव्वे देवाणुभावे किण्णालद्धे किण्णापत्ते किण्णा अभिसमण्णागए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

केवा एस आसी पुव्व जवे किन्नामए वा किंगोत्ते वा कयरंसि गामंसि वा नयरंसि वा जाव सन्निवेसंसि वा किं वा दच्चा किं वा जोच्चा किं वा किच्चा किं वा समयारित्ता कस्स वा तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा अंतिए एगमवि आयरियं धम्मियं सुवयणं सोच्चा निसम्म जेसं ईसाणेणं देविंदेणं देवरन्ना सा दिव्वा देविड्ढि जाव अभिसमणागया एवं खलु गोयमा ! ।

इतश्च जम्बूद्वीपमवधिनाऽऽलोकयन् भगवन्तं महावीरं राजगृहे वर्तमानं दृष्ट्वा च ससम्भ्रममासनादुत्थायोत्थाय च सप्ताष्टानि पदानि तीर्थकराभिमुखमाजगाम । ततो ललाटतटघटितकरकुड्मलो भवन्तं वन्दित्वा चाभियोगिकदेवान् शब्दयाञ्चकार । एवं च तानवादीत् गच्छत भो राजगृहं नगरं महावीरं भगवन्तं वन्दध्वं योजनपरिमण्डलं च क्षेत्रं शोधयत कृत्वा चैवं मम निवेदयत । ते पि तथैव चक्रुः । ततोसौ पदात्यनीकाधिपतिं देवमेवमवादीत् भो २ देवानुप्रिय ! ईशानावतंसके विमाने घण्टामास्फालयन् घोषणां कुरु यदुत गच्छति भो ईशानेन्द्रो महावीरस्य वन्दनाय ततो यूयं शीघ्रं महर्द्ध्या तस्यान्तिकमागच्छत । कृतायां च तेन तस्यां बहवो देवाः कुतूहलादिभिस्तत्समीपमुपागतास्तैश्च परिवृतोसौ योजनलक्षप्रमाणयानविमानारूढो ऽनेकदेवगणपरिवृतो नन्दीश्वरद्वीपे कृतविमानसंक्षेपो राजगृहनगरमाजगाम । ततो भगवन्तं त्रिः प्रदक्षिणीकृत्य चतुर्भिरङ्गुलैर्भूमिमप्राप्तं विमानं विमुच्य भगवत्समीपमागत्य भगवन्तं वन्दित्वा पर्युपास्ते स्म । ततो धर्मं श्रुत्वैवमवादीत् । भदन्त ! यूयं सर्वं जानीथ पश्यथ केवलं गौतमादीनां महर्षीणां दिव्यं नाट्यविधिमुपदर्शयितुमिच्छामीत्यभिधाय दिव्यं मण्डपं विकुर्वितवान् । तन्मध्ये मणिपीठिकां तत्र च सिंहासनं ततश्च भगवन्तं प्रणम्य तत्रोपविवेश । ततश्च तस्य दक्षिणाद् भुजादष्टोत्तरं शतं देवकुमाराणां वामाच्च देवकुमारीणां निर्गच्छति स्म । ततश्च विविधातोद्यवर्गीतध्वनिरञ्जितजनमानसं द्वात्रिंशद्विधं नाट्यविधिमुपदर्शयामासेति (तएणं से ईसाणे देविंदे २ तं दिव्वं देविड्ढी) यावत्करणादिदमपरं वाच्यं यदुत " दिव्वं देवजुइं दिव्वं देवाणुभावं पडिसाहरइ पडिसाहरइत्ता खणेण जाए एगभूए तएणं ईसाणे २ समणं भगवं महावीरं वंदित्ता नमंसित्ता नियगपरियालसंपरिवुडे त्ति " (परियालत्ति) परिवारः । (कूडागार सालादिट्ठंतोत्ति) कूटाकारेण शिखराकृत्योपलक्षिता शाला या सा तया तया दृष्टान्तो यः स तथा । सत्वैवं भगवन्तं गौतम एवमवादीत् ईशानेन्द्रस्य सा दिव्या देवर्द्धिः क गता । गौतम ! शरीरकमनुप्रविष्टा । अथ केनार्थेनैवमुच्यते ? गौतम ! यथा नाम कूटाकारशाला स्यात् तस्याश्चादूरे महान् जनसमूहस्तिष्ठति स च महाभ्रादिकमागच्छन्तं पश्यति दृष्ट्वा च तां कूटाकारशालामनुप्रविशति एवमीशानेन्द्रस्य सा दिव्या देवर्द्धिः शरीरकमनुप्रविष्टेति । भ० ३ श० १ उ० । (शक्रेशानयोर्विवादः विवायशब्दे) शक्रस्येशानसमीपे प्रादुर्भावः पाउब्भाव शब्दे) (ईशानेन्द्रस्य पूर्वभवकथा तामलि शब्दे वक्ष्यामि यावत्तस्य तत्र स्थितिः)

ईसालु–ईर्ष्यालु–त्रि० ईर्ष्यां लाति-ला-वा-कु-ईर्ष्यायुक्ते, वाच० । ईर्ष्यालवो हि अन्तरुपतापपरा एव भवन्ति निष्कारणमंयेति । यतः "यद्यपि का नो हानिः परकीयां चरति रासभो द्राक्षाम् । असमञ्जसं तु दृष्ट्वा तथापि परिखिद्यते चेतः " इति । द्रव्य० । नपुंसकभेदे, । स च यस्य प्रतिसेव्यमानां वनितां विलोक्य प्रकाममीर्ष्याऽभिलाषो जायते स ईर्ष्यालुरिति । ग० १ अधि० । ध० । प्रव० । ईर्ष्यालुर्नाम यस्य प्रतिसेव्यमानं दृष्ट्वा ईर्ष्या मैथुनाभिलाष उत्पद्यते सोऽपि निरुद्धवेदः कालान्तरेण वैराशिको भवतीति-बृ० ४ उ० ।

ईसालु–ईर्ष्यावत्– त्रि० " आल्विल्लोल्लालवन्तमन्तेत्तेरमणा मतोः " ८ । २ । १५९ । इति प्राकृतसूत्रेण मतोः स्थाने आलुरादेशः । ईर्ष्यायुते,- प्रा० ।

ईसि–(ईसिं) (ईसी) ईषत् अव्य०-ईष भावे-इः स्वमादौ ८ । २ । इतिप्राकृतसूत्रेणेत्वम । वा स्वरेमश्च-८ । १ । २४ । इतिप्राकृतसूत्रेण बाहुलकाधिकारान्मकारादन्यस्यापि व्यञ्जनस्य मकारः " अन्त्यव्यञ्जनस्य " ८ । १ । ११ इति प्राकृतसूत्रेण वा लुक् प्रा० । अल्पे, - सम० ३४ स० । स्तोके,- प्रज्ञा० ३६ पद० अल्पभावे, नि० चू० १ उ० । मनागित्यर्थे,-प्रज्ञा० १७ पद जी० । औप० । आ० म० प्र० । जं० " ईसिं असोगवरपायवे " ईषत् मनागिति- राज० । " ईसिं पाडेइ " मनागनगारं भूम्यां पातयति- इति - भ० १६ श० ३ उ० । " ईसिं खंधसमल्लीणे' । इह स्कन्धस्यूरुमित्युच्यते तस्याशोकवरपादपस्य ईषन्मनाक् सम्यग्लीनस्तदासन्न इत्यर्थः । राज० । किञ्चिदर्थे च- सूक्ष्मार्थे च । ईषत्प्राग्भाराख्ये लोकाग्रस्थे पृथिवीविशेषे च- स्था० ८ ठा० । औप० (तद्वक्तव्यता ईसिपब्भारा शब्दे)

ईसिअं–देशी० शबरशिरः पत्रपुटे वशायिते च । दे०ना० ।

ईसिं–(ईसिं) (ईसी) उट्ठावलंबि (न्)-ईषदोष्ठावलम्बिन्–त्रि० ईषत् मनाक् ततः परमास्वाद्यतया झटित्येवाग्रतो गच्छति ओष्ठे अवलम्बते लगतीत्येवं शील ईषदोष्ठावलम्बी । मनागोष्ठावलम्बिनि । " ईसिं उट्ठावलम्बिणी "– प्रज्ञा० १७ पद० ।

ईसि–(ईसिं) (इसी) तंबच्छिकरणी–ईषत्ताम्राक्षिकरणी–स्त्री० ईषन्मनाक् ताम्रे अक्षिणी क्रियेते अनया इति ईषत्ताम्राक्षिकरणी । मदिराम्–मद्यस्य प्रायः सर्वस्यापि तथा स्वभावत्वादिति– प्रज्ञा० १७ पद० ।

ईसि (ईसिं-इसी) तुंग–ईषत्तुङ्ग– त्रि० मनागुच्चे, जं० ४ वक्ष० ।

ईसिदंत–ईषद्दन्त– पुं० मनाग्दन्ते, औप० ।

ईषद्दान्त– त्रि० मनागाहितादिशक्ये गजादौ,–जं० ३ वक्ष० ।

ईसि (ईसिं-ईसी) पण्णवणिज्ज–ईषत्प्रज्ञापनीय– त्रि० । मनाक्प्रज्ञापयितुं शक्ये,-पंचा० १२ विव० ।

ईसि (इसिं-इसी) पब्भार– ईषत्प्राग्भार– त्रि० ईषत्कुब्जे पंचा० १८ विव० ।

ईसि (ईसिं,-ईसी) पब्भारगय–ईषत्प्राग्भारगत–त्रि० ईषदवनते, अत एव अ० । ईषत्कुब्जे, नद्यादिकुस्तटीस्थिते च । (ईसीपब्भारगओ) ईषत्प्राग्भारगत ईषत्कुब्जो नद्यादिकूलस्तटीस्थितो वासौ स्यादिति । पंचा० १८ विव० ।

ईसि (इसिं-ईसी) पब्भारा–ईषत्प्राग्भारा– स्त्री० ईषदल्पा रत्नप्रभादिपृथिव्या इव महान् प्राग्भारो महत्त्वं यस्याः सा ईषत्प्राग्भारा । औप० । ईषदल्पो रत्नप्रभाद्यपेक्षया प्राग्भार उच्छ्रयादिलक्षणो यस्याः सा ईषत्प्राग्भारा । ऊर्ध्वलोकाग्रस्थे सिद्धानां निवासभूते पृथ्वीभेदे,–(ईसिपब्भारापुढवी) ईषत्प्राग्भारा ऊर्ध्वलोके भवतीति । स्था० ४ ठा० । (ईसीप-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ब्भाराणामा य) (इसित्ति) अल्पभावे अ इति प्रायो वृत्त्या भार इति भारक्रांतस्स पुरिसस्स पायं पायसो ईसिणयं भवति आए वड्डित्ता सा पुढवी ईसीपब्भारा णाम इति एतमभिहणंतस्स सायदव्वट्ठसिद्धविमाणाओ उवरिं वा रसहिं जोयणेहिं भवति तेण सा ऊर्ध्वलोगचूला भवतीति । नि० चू० १ उ० ।

अस्या अयं स्वरूपो हौपपातिके यथा ।

बहुसमरमणिज्जओ भूमिभागाओ उड्ढं चंदम्मि सूरियग्गहगणणक्खत्ततारारूवाणं बहुइं जोयणसहस्साइं बहुइं जोयणसयसहस्साइं बहुइं जोयणकोमीओ बहुजोयणकोमाकोमीओ उड्ढंतरं उप्पइत्ता सोहम्मीसाणं कुमारमाहिंदबंभलंतगमहासुक्कसहस्सारआणतपाणतआरणच्चु – यातिन्निय अट्ठारे गेविज्जविमाणवासते विती वइत्ता विजयवेजयंतजयंतअपराजियसव्वट्ठसिद्धस्स य हाविमाणस्स सव्वउपरिल्लातो थूभियग्गतो दुवालसजोयणाइं अवाहाए एत्थ णं इसीपब्भारा णाम पुढवी पण्णत्ते पणयालीसं जोयणसयसहस्साइं आयामविक्खंभेणं एगा जोयणकोमी बयालीसं सयसहस्साइं तीसं च सहस्साइं दोण्णि य अउणापण्णे जोयणसए किंचि विसेसाहिए परिरएणं इसियपब्भाराएणं पुढवीए बहुमज्झदेसभाए अट्ठजोयणणक्खत्ते अट्ठजोयणाइं बाहुल्लेणं तयाणंतरं च णं माताए २ परिहायमाणी २ सव्वेसु चरिमपेरंतेसु मच्छियपत्तातो तणुयतरा अंगुलस्स असंखेज्जइभागबाहुल्लेणं पण्णत्ता ।

(बहुसमेत्यादि) बहुसत्वेन रमणीयो यः स तथा स्यात् (अवाहेत्ति) अबाधयान्तरेण । औप० । ईषत्प्राग्भारायाः पृथिव्या बहुमध्यदेशभागे अष्टयोजनिकमायाम-विष्कम्भाभ्यामष्टयोजनप्रमाणं क्षेत्रं चाष्टौ योजनानि बाहुल्येन स्थौल्येनोच्चैस्त्वेनेति भावः प्रज्ञप्ता तदनन्तरं सर्वासुदिक्षु विदिक्षु च मात्रया स्तोकया २ प्रदेशप्रहाण्या परिहीयमाना सर्वेषु चरमान्तेषु मक्षिकापत्रतोऽप्यतितन्वी अङ्गुलासंख्येयभागं बाहुल्येन प्रज्ञप्ता स्थापना । प्रज्ञा० २ पद ।

ईसीपब्भाराए, सायाए जोयणस्स लोगंतो ।
बारसहिं जोयणेहिं, सिद्धीसव्वट्ठसिद्धातो ॥

ईषत्प्राग्भारा सिद्धभूमिस्तस्या सीताया इति द्वितीयं नाम ऊर्ध्वं योजने इति कान्ते लोकान्तः सापि च ईषत्प्राग्भाराख्या सिद्धिः सर्वार्थसिद्धाद्वारविमानादूर्ध्वं द्वादशभिर्योजनैर्भवति । अन्ये तु व्याचक्षते सर्वार्थसिद्धविमानाद् द्वादशभिर्योजनैर्लोकान्तक्षेत्रलक्षणेपि तत्त्वं पुनः केवलिनो विदन्ति तस्मिन् लोकान्ते ईषत्प्राग्भारोपलक्षिते मनुष्यक्षेत्रपरिमाणे सिद्धाः प्रतिस्थिताः । उक्तंच 'अत्थीसीपब्भारोवलक्खियं मणुयलोय परिमाणं । लोगग्गनभोभागो सिद्धक्खेत्तं जिणक्खाय, सम्प्रति परिधिप्रतिपादनेस्या एवोपायतः प्रमाणमभिधित्सुराह ।

एगा जोयणकोमी, बायालीसं च सहस्साइं ।
तीसं चेव सहस्सा, दो चेव सया अउणवन्ना ॥

इह ईषत्प्राग्भारो य आयामविष्कम्भाभ्यां पञ्चचत्वारिंशद्यो जनलक्षाणि प्रमाणम् । अतो विक्खंभवग्गह, गुणकरणी वट्टस्स परिरओ होइ । इति परिधिगणितेन परिधिपरिमाणमेका योजनानां कोटी द्वाचत्वारिंशल्लक्षाणि त्रिंशत्सहस्राणि द्वे शते एकोनपञ्चाशदधिके १४२३०२४९ शेषं त्वधिकमल्पत्वान्न विवक्षितं प्रज्ञापनातो चाऽवसेयमिति ।

सम्प्रति तस्या एव बाहुल्यं प्रतिपादयति ।

बहु मज्झ देसभागे, अट्ठेव य जोयणाणि बाहुल्लं ।
चरिमंते सुय तणुई, अंगुल संखेज्जई भागं ॥

मध्यदेशभाग एव बहुमध्यदेशभागो बहुशब्दस्य स्तोकपरिहारार्थमात्रत्वात् । स च बहुमध्यदेशभाग आयामविष्कम्भाभ्यामष्टयोजनप्रमाणस्तत्र बाहुल्यमुच्चैस्त्वमष्टैवयोजनानि ततो यथोक्तप्रमाणाद् बहुमध्यदेशभागात् चरमेषु सर्वासु दिक्षु विदिक्षु च योजनं गत्वा अङ्गुलपृथक्त्वं तथाङ्गुलप्रमाणं (परिहाइत्ति) परिहीयते एवमनेन प्रकारेण हानिभावे सति तस्यास्तावत्प्रमाणमहत्याः पृथिव्याः । अपि शब्दो भिन्नक्रमो मक्षिकापत्रादपि तनुतराः किमुक्तं भवति । घृतपूर्णतथाविधकरोटिकाकारेति भावस्थापना । आ० म० द्वि० ।

अस्याः स्वरूपमौपपातिके यथा—

ईसीपब्भाराणं पुढवीसिया संखतलविमल सोल्लियमुणालदगरयतुसार गोक्खीरहारवण्णा उत्ताणयछत्तसंठाणसंठिया सव्वज्जुण सुवण्णमई अच्छासण्हालण्हा घट्ठामट्ठा णीरया णिम्मला णिप्पंका णिक्कंकडच्छायासमरीचियासुप्पभा पासादिया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा इसीपब्भारा । औप० ।

सा च ईषत्प्राग्भारा पृथिवी श्वेता श्वेतत्वमेवोपमया प्रकटयति (संखदलविमलेत्यादि) शङ्खदलस्य शङ्खदलचूर्णस्य विमलो निर्मलः स्वस्तिकः शङ्खदलविमलस्वस्तिकः स च मृणालं चन्द्रकरजश्च तुषारं च हिमं च गोक्षीरं च हारश्च तेषामिव वर्णो यस्याः सा । तथा उत्तानकमुत्तानीकृतं यच्छत्रं तस्य यत्संस्थानं येन संस्थिता उत्तानच्छत्रसंस्थानसंस्थितत्वं च प्रागुपदर्शितस्थापनातो भावनीयम् । (सव्वज्जुणसुवण्णमयी) सर्वात्मना श्वेतसुवर्णमयी । प्रज्ञा० २ पद । आ० म० द्वि० ।

सव्वट्ठविमाणाउ, सव्वु परिसाउधुब्भिय ।
बारसहिं जोयणेहिं, ईसिपब्भार पुढवीउ ॥ १६ ॥
निम्मलदगरयवन्ना, तुसार गोक्खीरहारसरिवंना ।
उत्ताणगछत्त संठाणा, भणिया जिणवरिंदेहिं ॥१७॥
ईसी पब्भाराए, सायाए जोयणम्मि लोगंते ।
बारसहिं जोयणेहिं, सिद्धा सव्वट्ठसिद्धाओ ॥१८॥
पणयालीसं आयाम, वित्थडा होइ सत्तसहस्साइं ।
तं पि तिगुणं विसेसं, परिरओ होइ बोधव्वो ॥१९॥
एगा जोयणकोमी, बायालीसं च सयसहस्साइं ।
तीसं च सहस्साइं, दो य सया अउणवीसाउ ॥२०॥
खेत्तसमयविधिना अ–ट्ठेवजोयणाइं बाहल्लं ।
परिहाइयचरिमंते, मच्छियपत्ता तणुयरा ॥२१॥
गंतूण जोयणं जोय, णंतु परिहाइ अंगुलपहत्तं ।
संखतलसंनिगासा, पेरंता होंति पत्तागूसा ॥२२॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अङ्कण सुनगमया, नामेण सुदंसणा पन्नासा य ।
संखतल संनिगासा,वत्तागारा य सा पुढवी।।१३।।ती०द०प.

उत्तराऽध्ययनेऽपि यत्संस्थाना यत्प्रमाणा यद्वर्णा च तदभिधानायाह ।

वारसहिं जोयणेहिं, सव्वट्ठस्सुवरिंनवे ।
ईसीपब्भारनामा, पुढवी छत्तसंठिया ।।

द्वादशभियोजनैः प्रक्रत्यादित्वात्तृतीया सर्वार्थस्य सर्वार्थनाम्नो विमानस्योपर्य्यूर्ध्वं भवेत्तस्मादीषत्प्राग्भारेतिनाम यस्याः सा ईषत्प्राग्भारनामा । अतो बहुव्रीहेरिति निषेधान्नान्तत्वेपि ङीप् न भवति। ईषदादिनामोपलक्षणं चैतदनेकनामत्वाभिधेयत्वात्तस्या उक्तंहि "ईसीती वा ईसीपब्भारा वा तणुतणुत्तीति वा सिद्धीति वा सिद्धालपत्ति वा मुत्तीइ वा मुत्तालपइ वा लोयगोइ वा लोयगाथूभइ वा लोयपडिबुज्झणाइ वा सव्वपाणभूयजीवसत्तसुहावहाइवेत्यादि " पृथिवी भूमिः छत्रमातपत्रं तत्संस्थितमिव संस्थितं संठानमस्या इति छत्रसंस्थिता । इह च विशेषानभिधानेपि उत्तानमेव छत्रं गृह्यते यत आह । भगवान् भद्रबाहुः । उत्ताणयछत्तय संठियाओ भणिया जिणवरेहिंति,–

पणयालीस सय सहस्सा, जोयणाणं तु आयया ।
तावइयं विच्छिन्ना, तिगुणा तस्सेव साहिय परिरया ।।
अट्ठजोयण बाहल्ला, सामज्झम्मि आहिया ।
परिहायमाणपरं, तामच्छीय पत्ताओ तणुयरी ।।

पञ्चचत्वारिंशत्सहस्राणि योजनानां तु पूरणे आयतता दीर्घता (तावइयं चेवत्ति) तावतश्चैव प्रमाणात्सहस्रा द्विस्तरतोपि च पञ्चचत्वारिंशच्छतसहस्रप्रमाणेति भावस्त्रिगुणाः (तस्सेवत्ति) प्राग्वत् । तस्माद्युक्तरूपाद्यो याः परिधयः परिधिरिह च त्रिगुण इत्यभिधानेऽपि विशेषाधिकं द्रष्टव्यं " सव्ववट्टंति गुणं सविसेसमिति " वचनादन्यथाहि पञ्चत्रिंशल्लक्षाधिकयोजनकोटिरेवैतत् परिमाणं स्यात्तथा च सूत्रान्तरविरोधो यत्सूत्रोक्तं "एगा जोयणकोडी बायालीसं भवे शय सहस्सा । तीसं चेव सहस्सा दो चेव सया अउणव–न्नत्ति" । पठन्ति च "तिओणसाहियपरिरयात्ति" अष्टौ अष्टसंख्यानि योजनानि बाहुल्यं स्थौल्यमस्या इत्यष्टयोजनबाहल्या (से) तस्येषत्प्राग्भारा किं सर्वत्राप्येवमाह । आदिमध्ये मध्यप्रदेश व्याख्याता किमित्येवमत आह । परिसमन्ताद्धीयमाना (परिहियमानी चरिमंतेत्ति) चरिमान्तेषु सकलदिग्भागवर्तिषु पर्यन्तप्रदेशेषु मक्षिकायाः पत्रं पक्षो मक्षिकापत्रमपिशब्दस्य गम्यमानत्वात् तस्मादपि तनुतरी आतिपरिकृशेति यावत् । हानिश्चात्र विशेषानविधानेपि प्रतियोजनमङ्गुलपृथुत्वं द्रष्टव्या तथाचान्यत्राचाचि " गंतूण जोयणं तु परिहोइ अंगुलपुहत्तात्ति" अत्र केचित्पठन्ति ।।

अज्जुण सुवन्नगमई, सा पुढवी निम्मला सभावेण ।
उत्ताणगछत्तगसं–ठिया य भणिया जिणवरेहिं ।।
संखकुंदसंकासा पंडरा निमला सुसुभा ।।

तत्र च अर्जुनं शुक्लं तच्च तत्सुवर्णकं तेन निर्वृताऽर्जुनसुवर्णकमयी सतीषत् प्राग्भारा (निम्मला) स्वच्छा । किमुपाधिवशात इत्याह । स्वभावेन स्वरूपेण उत्तानकमूर्ध्वमुखं यच्छत्रमेव छत्रकं तत्संस्थिताच भणितोक्ता जिनवरैः प्राक् सामान्यतः छत्रसंस्थितेव भणितोक्ता जिनवरैः। प्रागित्युक्तमिह तत्तानत्वं तद्विशेष उच्यत इति न पौनरुक्त्यम् । संखाककुंदानि प्रतीतानि तत्संकाशा वर्णतस्तत्सदृशी अत एव (पंडुरत्ति) पाण्डुरा श्वेता निर्म्मला निष्कलङ्का शुभा अत्यन्तकल्याणवहा सुखावहा सुखहेतुत्वेन इति सार्द्धसूत्रत्रयार्थः । उत्त० ३६ अ० । ईषत्प्राग्भारायाः अष्टौ नामधेयानि यथा ।

इसिप्पब्भाराएणं पुढवीए अट्ठनामधेज्जा पण्णत्ता तं जहा ईसीइ वा ईसिप्पब्भाराइ वा तणुइ वा तणुतणुइ वा सिद्धिइ वा सिद्धालएइ वा मुत्तीइ वा मुत्तालएइ वा स्था० ८ ठा० ।

प्रज्ञापनायां द्वादश नामधेयानि यथा—

ईसीपब्भाराएणं पुढवीए दुवालस नामधेज्जा पण्णत्ता तंजहा-ईसीति वा, ईसीपब्भाराइ वा, तणुत्ति वा, तणुतणुयरीति वा, सिद्धित्ति वा, सिद्धालएत्ति वा, मुत्तिइ वा, मुत्तालएइ वा, लोयग्गेति वा लोयग्गथुभियाति वा, लोयपडिबुज्झणाइ वा सव्वपाणभूयजीवसत्तसुहावहाइ वा । प्रज्ञा० २ पद ।

ईसीइवत्ति–पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् (तणुत्तिवा) तन्वी वा शेषपृथिव्यपेक्षयाऽतितनुत्वात् । तनुभ्योऽपि जगत्प्रसिद्धेभ्यस्तन्वी मक्षिकापत्रतोऽपि पर्यन्तप्रदेशेऽतितनुत्वात्तनुतन्वी । सिद्धिरिति वा-सिद्धिक्षेत्रस्य प्रत्यासन्नत्वात् । सिद्धिक्षेत्रस्य प्रत्यासन्नतयोपचारात्सिद्धा नामालयः सिद्धालयः एवं मुक्तिरिति वा मुक्त्यालय इतिवेत्यपि परिभावनीयम् । तथा लोकाग्रे वर्त्तमानत्वाल्लोकाग्रमिति लोकाग्रस्य स्तूपिकेव लोकाग्रस्तूपिका तया लोकाग्रेण प्रत्यूह्यते इति लोकाग्रप्रतिवाहिनी (लोयगपडिबुज्झत्ति) लोकाग्रमिति प्रतिबुध्यते अवसीयते या लोकाग्रं वा प्रतिबुध्यते यया सा तथेति (सव्वपाणेत्ति) प्राणा द्वित्रिचतुरिन्द्रिया इति भूतास्तरवो जीवाः पञ्चेन्द्रियाः शेषाः प्राणिनः सत्त्वा उक्तञ्च-"प्राणा द्वित्रिचतुः प्रोक्ता भूताश्च तरवः स्मृताः । जीवाः पञ्चेन्द्रिया ज्ञेया शेषा सत्त्वा उदीरिताः " सर्वेषां प्राणभूतजीवसत्त्वानां सुखावहा उपद्रवकारित्वाभावात्सर्वप्राणभूतजीवसत्त्वसुखावहाः । प्रज्ञा० २ पद ।। एतेषाञ्च पृथिव्यादितया तत्रोत्पन्नानां सा सुखावहा शीतादिदुःखहेतूनामभावादिति । औप० । ईषदिति वा नामरत्नप्रभाद्यपेक्षया ह्रस्वत्वात्तस्य एवं प्राग्भारस्यन्हस्वत्वात्तस्या ईषत्प्राग्भारेति वा अत एव तनुरिति वा तन्वीत्यर्थः । अतितनुत्वात्तनुतनुरिति वा । सिध्यन्ति तस्यामिति सिद्धिरिति वा । सिद्धानामाश्रयत्वात्सिद्धालय इति वा । मुच्यन्ते सकलकर्मभिस्तस्यामिति मुक्तिरिति वा मुक्तानामाश्रयत्वान्मुक्तालय इति वेति । स्था० ८ ठा० । ईसीति वा ईषद्रूपा पृथिव्यन्तरापेक्षया इति-शब्द उपदर्शने वा शब्दो विकल्पने । औप० ।

ईसि (ईसिं) (ईसी) पुरेवाय–ईषत्पुरोवात– त्रि० मनाक् सस्नेहवाते,–भ० ५ श० २ उ० ।

ईसि (ईसिं) (ईसी) मत्त–ईषन्मत्त– त्रि० यौवनारम्भवर्तित्वान्मनाग्मत्ते गजादौ, जं० ३ वक्ष० । औप० ।

ईसि (ईसिं) (इसी)रहस्स–ईषद्ध्रस्व– त्रि० ईषत्स्पृष्टे ह्रस्वे- "ईसिं रहस्स पंचक्खर उच्चारणद्धाए" (ईसिंति) ईषत्स्पृष्टानि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ह्रस्वानि च यानि पञ्चाक्षराणि तेषां यदुच्चारणं तस्य योऽद्धा कालस्तस्य तथेति । औप० ।

ईसि (ईसिं) (ईसीं) विच्छेयकडुआ-ईषद्विच्छेदकटुका-स्त्री० ईषद् मनाक् व्यवच्छेदे सति तत ऊर्ध्वं कटुका पश्चादित्यर्थ- सम्पर्केन उपलक्ष्यमाणत्यक्तवीर्येति । मनाग्व्यवच्छेदे सति उपलक्ष्यमाणत्यक्तवीर्यायामदिरायाम्, । प्रज्ञा० १७ पद ।

ईसिं (ईसि) (ईसीं) सिलिंद (ध) पुप्फप्पगास-ईषच्छिलीन्ध्र (सिलीन्ध्र) पुष्पप्रकाश-त्रि० ईषन्मनाक् शिलीन्ध्रपुष्पप्रकाशानि शिलीन्ध्रपुष्पसदृशवर्णानि- ईषच्छिलीन्ध्रपुष्पसदृशवर्णे, जी० ३ प्रति । ईषच्छ्वेते " ईसिं सिलिंधपुप्फप्पगासा- इति मनाक् सिलीन्ध्रकुसुमप्रभानि ईषत्सितानि इत्यर्थः । सिलीन्ध्रं भूमिस्फोटकं छत्रकम्- । औप० ।

ईसित्त-ईशित्व- न० अणिमाद्यन्तर्गते सिद्धिविशेषे, ईशित्वञ्च वशित्वञ्च तथा कामावसायिता- सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

ईहण-ईक्षण-न० ईक्ष भावे ल्युट् दर्शने, करणे ल्युट् २ नेत्रे, तत्र दर्शने० । वाच० ।

ईहणिय-ईक्षणिक-त्रि० ईक्षणं हस्तरेखादीक्षणेन शुभाशुभदर्शनं शिल्पमस्य ठन् शुभाशुभफलकथनेनोपजीविनि सामुद्रिके, स्त्रियां टाप् मङ्खश्च देशवृत्तांश्च नक्षत्रेक्षणिकैः सह । मनु० । वाच० ।

ईहा-ईहा-स्त्री०ईह-अ-चेष्टायाम्, उद्यमे, वाञ्छायाञ्च । वाच० । वितर्के-सम्म० । ईह चेष्टायाम् ईहनमीहा (आभिनिबोधिकज्ञान) मतिज्ञानविशेषे, विशे० । आ० चू० । आ० म० प्र० । ओघ० । प्रव० । प्रज्ञा० । सा च सतामन्वयिनां व्यतिरेकिणां चार्थानां पर्यालोचना । विशे० । तथाच भाष्यम् । " ईहासेसा- सव्वं " शेषाभिधानानि त्वीहा विमर्षणमार्गणगवेषणा संज्ञा- लक्षणानि सर्वाण्यपि ईहान्तर्भावीनि द्रष्टव्यानीति । विशे० । प्रज्ञा० । वियालणंति वा मग्गणंति वा ईहणंति वा एगट्ठंति । आ० चू० १ अ० । अन्वयव्यतिरेकधर्मपर्यालोचनरूपा ईहेति विशे० । ईहा दीर्घपर्यालोचनमिति । नं० । " तहवियारणे- ईहा " तथेत्यानन्तर्ये विचारणं पर्यालोचनमर्थानामिति वर्तते, ईहनमीहा तां ब्रुवत इति योगः । आ० म० प्र० । नं० । ईहा स्थाणुरयं पुरुषो वेत्येवं सदर्थालोचनाभिमुखा मतिश्चेष्टेति ज्ञा० ३ अ० । दश० । नं० । " थाणुमनुसाणुगया, जह ईहा- देवदत्तस्स" ईहा सदर्थपर्यालोचनात्मिका स्थाणु मनुष्यानुगता किमयं स्थाणुः किं वा पुरुष इत्येवंरूपा यथेहा देवदत्तस्य- जीवतो धर्म इति । ग० २ अ० । पूर्वपरपर्यालोचनमीहेति दर्श० । " ईहएवावि " पूर्वापराविरोधनं पर्यालोचयति अपि- शब्दः पर्यालोचने किञ्चित्स्वगुरुमप्युत्प्रेक्ष्यत इति सूचनार्थः नं० । आ० म० प्र० । सदर्थाभिमुखो वितर्क इति० । ज्ञा० १ अ० । सद्भूतवस्त्वन्वेषणरूपा चेष्टा ईहेत्युच्यत इति । ओघ० । अवगृहीतविषयाकाङ्क्षणमीहेति । सम्म० । तदर्थगतसद्भूतविशेषालोचनमीहेति । राज० । ईहा किमिदमित्यमुनान्यथेत्येवं सदर्थालोचनाभिमुखा मतिचेष्टा इति । औप० । " ईहायाः स्वरूपं यथा । ईह चेष्टायामीहनमीहा सद्भूतार्थपर्यालोचनरूपा चेष्टा इत्यर्थः किमुक्तं भवति । अवग्रहादुत्तरकालमवायात्पूर्वं सद्भूतार्थ- विशेषोपादानाभिमुखा असद्भूतार्थविशेषपरित्यागाभिमुखाः प्रायोऽत्र मधुरत्वादयः शाङ्खादिशब्दधर्मा दृश्यन्ते न कर्कश-

निष्ठुरतादयः शार्ङ्गादिशब्दधर्मा इत्येवंरूपो मतिविशेष ईहा । आह च भाष्यकृत् " भूयाभूयविसेसा दाणच्चायाभिमुहमीहा" प्रज्ञा० १५ पद । नं० । आ० म० प्र० । अवगृहीतार्थविशेषाकाङ्क्षणमीहेति अवगृहीतोऽवग्रहेण विषयीकृतो योऽर्थोऽवान्तर मनुष्यत्वादिजातिविशेषलक्षणस्तस्य विशेषः । कर्णाटलाटादिभेदस्तस्याकाङ्क्षणं भवितव्यता प्रत्ययरूपतया ग्रहणाभिमुख्यमीहेत्यभिधीयते । रत्ना० १ परि० ।

तथाच—ईहां व्याचिख्यासुराह ।

इय सामण्णग्गहणा, णंतरमीहा सदत्थमीमंसा ।
किमिदं सद्दो सदो, को होज्जव संखसंगाणं ॥

इति शब्दउपदर्शने इत्येवं प्रागुक्तेन प्रकारेण नैश्चयिकार्थावग्रहे यत्सामान्यग्रहणं रूपाद्यव्यावृत्त्या व्यक्तवस्तुमात्रग्रहणमुक्तं तथा व्यवहारार्थावग्रहेपि यदुत्तरविशेषापेक्षया शब्दादिसामान्यस्य ग्रहणमभिहितं तस्मादनन्तरमीहा प्रवर्तते कथंभूतेयमित्याह सतस्तत्र विद्यमानस्य गृहीतार्थस्य विशेषविमर्शद्वारेण मीमांसा विचारणा केनोल्लेखेनेत्याह । किमिदं वस्तु मया गृहीतं शब्दोऽशब्दो वा रूपरसस्पर्शरूपः इदं च निश्चयार्थावग्रहादनन्तरभाविन्या ईहायाः स्वरूपमुक्तम् । अथ व्यवहारार्थावग्रहानन्तरभाविन्याः स्वरूपमाह । (को होज्जवेत्यादि) वा इत्यथवा व्यवहारावग्रहेण शब्दे गृहीते इत्यमीहा प्रवर्तते शाङ्खशार्ङ्गयोर्मध्ये कोऽयं भवेच्छब्दः शाङ्खः शार्ङ्गो वेति । ननु किं शब्दोऽशब्दो वेत्यादि किं संशयज्ञानमेव कथमीहा भवितुमर्हति सत्यं किन्तु दिग्मात्रमेवेदमिह दर्शितं परमार्थतस्तु व्यतिरेकधर्मनिराकरणपरोऽन्वयधर्मघटनप्रवृत्तश्चापायाभिमुख एव बोध ईहा द्रष्टव्या । तद्यथा ' अरण्यमेतत्सविताऽस्तमागतो, न चाऽधुना संभवतीह मानवः । प्रायस्तदेतेनखगादिभाजा, भाव्यं रतिप्रियतमारिसमाननाम्नेति ' एतच्च प्रागुक्तमपि मन्दमतिस्मरणार्थं पुनरप्युक्तमिति गाथार्थः । विशे० । प्रव० ।

ईहा पञ्चविधा यथा- ।

कति विहाणं भंते ! ईहा पण्णत्ता ? गोयमा ! पंचविहा पण्णत्ता तंजहा सोइंदियईहा जाव फासिंदिय- ईहा एवं जाव वेमाणियाणं नवरं जस्स जइ इंदिया ॥

प्रज्ञा० १५ पद । ईहापि मनःसहितेन्द्रियपञ्चकजन्यत्वात् षोढैव- प्रव० २१ द्वा० । तथाचाह ॥

से किं तं ईहा ईहा छव्विहा पण्णत्ता तंजहा सोइंदिय ईहा चक्खिंदियईहा घाणिंदियईहा जिब्भिंदियईहा फासिं- दियईहा नो इंदियईहा तीसेणं इमे एगट्ठिया णाणा- घोसा णाणावंजणा पंच नामधिज्जा भवंति तंजहा आभो- गणया मग्गणया गवेसणया चिंता वीमंसा सेत्तं ईहा ।

अथ केयमीहा । ईहा षड्विधा प्रज्ञप्ता तद्यथा । श्रोत्रेन्द्रियेहा इत्यादि । तत्र श्रोत्रेन्द्रियेणेहा श्रोत्रेन्द्रियेहा । श्रोत्रेन्द्रियार्थावग्रहमधिकृत्य या प्रवृत्ता ईहा सा श्रोत्रेन्द्रियेहा इत्यर्थः । एवं शेषा अपि भावनीयाः (तीसेणमित्यादि) सुगमं नवरं सामान्यत एकार्थिकानि विशेषचिन्तायां पुनर्भिन्नार्थानि तत्र (आभोगणयत्ति) आभोग्यतेऽनेनेति आभोगनम् अर्थावग्रहसमयमनन्तरमेव सद्भूतार्थविशेषाभिमुखमालोचनं तस्य भाव आभोगनता । तथा मार्ग्यते अनेनेति मार्गणं सद्भूतार्थ- विशेषाभिमुखमेव तदूर्ध्वमन्वयव्यतिरेकधर्मान्वेषणं तद्भावो

मार्गणता तथा गवेष्यतेऽनेनेति गवेषणं तत ऊर्ध्वं सद्भूतार्थविशेषाभिमुखमेव व्यतिरेकधर्मपरित्यागतोऽन्वयधर्माध्यासालोचनं तद्भावो गवेषणता । ततो मुहुर्मुहुः क्षयोपशमविशेषतः स्वधर्मानुगतसद्भूतार्थविशेषचिन्तनं चिन्ता तत ऊर्ध्वं क्षयोपशमविशेषात्स्पष्टतरं सद्भूतार्थविशेषाभिमुखमेव व्यतिरेकधर्मपरित्यागतोऽन्वयधर्मापरित्यागतो ऽन्वयधर्मविमर्शनं विमर्शः । सप्तमीहेति निगमनम् । नं० टी० । अत्र केचिदीहां संशयमात्रं मन्यन्ते-तदयुक्तम् । संशयो हि नामाज्ञानमिति ज्ञानांशरूपा चेहा ततस्सा कथमज्ञानरूपा भवितुमर्हतीति-नं० । उक्तंच । ईहा संसयमेत्तं केइ मसयं अओ तमन्नाणं । मइनाणं सा चेहा कहमन्नाणंतई जुत्तं " । आ० म० । नन्वीहापि किमयं शाङ्गः किंवा शार्ङ्ग इति एवंरूपतया प्रवर्तते संशयोपि चैवमेव ततः कोऽनयोः प्रतिविशेषः । उच्यते इह यद् ज्ञानं शाङ्गशार्ङ्गादिविशेषाननेकानालम्बनेन चासद्भूतं विशेषमपासितुं शक्नोति किन्तु सर्वात्मना संशयानमिव वर्तते कुण्ठीभूतं तिष्ठतीत्यर्थः । सदसद्भूतविशेषापर्युदासपरिकुण्ठितं संशयज्ञानमुच्यते, यत्पुनः सद्भूतार्थविशेषविषये हेतूपपत्तिव्यापारपरतया सद्भूतार्थविशेषोपादानाभिमुखमसद्भूतविशेषत्यागाभिमुखं च तदीहा । आह च भाष्यकृत् "जं अणेगत्थालंबण-मपज्जुदासपरिकुंठियं चित्तं । सइइव सव्वप्पणओ, तं संसयरूवमन्नाणं ॥ १ ॥ जं पुण सयत्थहेऊ, वयत्ति वावारतप्परममोहं । भूयाभूयविसेसो, पादाणाभिमुहमीहा " नं० । बुद्धिभेदे,-अवग्रहे बुद्धिः अपायधारणे मतिरिति-नं० । बुद्धिगुणभेदे, पंचा० ७ विव० । मतिसम्पद्भेदे, स्था० ८ ठा० । सा च तदर्थविशेषालोचनमिति-दशा० ४ अ० । अवगृहीतस्यार्थस्यासद्भूतविशेषपरित्यागेन सद्भूतविशेषादानाभिमुखो बोधविशेष ईहेति-व्य० द्वि० १० उ० ॥

ईहामई-ईहामति- स्त्री० ईहैव मतिः । तदर्थविशेषालोचनरूपे मतिभेदे,-भेयमाहणमिहेहा' स्था० ५ ठा०-तस्याश्च षड्विधत्वं । तथा-"छव्विहा ईहामई पन्नत्ता तंजहा खिप्पमीहई बहुमीहइ जाव असंदिद्धमीहइ " स्था० ६ ठा० (टीका उवग्गहमइ शब्दे-)

ईहामिय-ईहामृग- पुं० ईहां मृगयते अण् ईहाप्रधानो मृगः । पशुभेदे वृके,-औप० । राज० । ज्ञा० । आ० म० प्र० । जी० कल्प० । ईहामृगा वृका वरगडा जीवा इति लोके । कल्प० । ईहामिय उसभ तुरग मकर विहग वालग किंनर रुरु सरभ कुंजर वणलय पउमलय भत्तिचित्तं तत्र ईहामृगा वृका-भ० ११श०११उ० । कल्प० । दिव्ये नाट्यविधिविशेषे,-तथाच राजप्रश्नीये सूर्याभस्याज्ञया श्रमणस्य भगवतो महावीरस्यान्तिके समागतैर्देवकुमारैर्देवकुमारीभिश्च दर्शितं द्वात्रिंशद्भेदं नाट्यविधिमुपक्रम्योक्तम्-तत्तेणं ते बहवे देवकुमारा य देवकुमारीयाओ य समणस्स भगवओ महावीरस्स ईहामिय उसभ तुरगणरमगर विहग वालग किंणर रुरु सरभ चर कुंजर वणलय पउमलय भत्तिचित्तं णाम दिव्वं णट्टविहं उवदंसेइ- ईहया समिया ईहासाध्यो मृगः । कृत्रिममृगे, अलंकारशास्त्रलक्षिते नाटकभेदे, राज० ।

ईहिय-ईहित- त्रि० ज्ञाते "जस्सिमाओ सव्वओ सुप्परिण्णाया भवन्ति सुष्ठु शङ्कादिव्युदासेन प्रत्युपेक्षिताः प्रति उप सामीप्येन ईक्षिता ज्ञाता भवन्तीति । आचा० ।

ईहित- त्रि० ईह क्त चेष्टिते, निष्पादिते, । "सव्वीमा गंतुमीहियं" अनुष्ठितान्येन भक्तिमताऽपरानागन्तुकानुद्दिश्येहितं चेष्टितं निष्पादितमिति-सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । "नज्जई नाणीहियं,, नचानीहितमविचारितं ज्ञायतेऽपायविषयं तावातीति । विशे० ॥

इति श्री-बृहत्सौधर्मतपागच्छीय-कलिकालसर्वज्ञ
श्रीमद्भट्टारक-जैनश्वेताम्बराचार्य श्री १००८
श्रीविजयराजेन्द्रसूरि-विरचिते अभि-
धानराजेन्द्रे इकारेकारादि शब्द
सङ्कलनं समाप्तम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अभिधानराजेन्द्रः ।

(उकार)

उ–उ–अव्य० उ-क्विप् न लुक् सम्बोधने, कोपवचने, अनुकम्पायाम्, नियोगे, अङ्गीकारे, प्रश्ने च । हेमचन्द्रः । अवधारणे, आ० म० द्वि० । चकारार्थे, न० । अन्तिके, विशे० भृशार्थे, (भृश शब्दस्यार्थे) आ० म० द्वि० । (उपयोगकरणे,) "उत्ति उवओगकरणे" उ इत्येतदक्षरमुपयोगकरणे, "उ त्ति य उस्सक्कणाकम्मे" उ इति अष्वष्कणाकर्मणि वर्तते । आ०म०द्वि० । अतति सातत्येन तिष्ठति अत- कु– शिवे, वाच० । ब्रह्मणि, गा० तोये, तोयधौ, धरणिधरे, अवसाने, वितर्के, वञ्चनायाम्, व्यसने, अव्य० हरमौलौ, भृचौ, हरौ, तपसि, द्रुमाङ्के, चन्द्रायां, गिरौ, भूमौ विलोकने, एका० । उपाध्याये, तस्याऽऽद्याक्षरेण ग्रहणात् । गा० । उशब्दात् स्वरूपार्थे कारः उकारः पञ्चमस्वरे, स च उदात्तानुदात्तस्वरितभेदात् प्रथमं त्रिधा । पुनः अनुनासिकाननुनासिकभेदेन प्रत्येकं द्विधेति षड्विधः । कारतकारानुत्तरस्तु ह्रस्वदीर्घप्लुतभेदेन प्रत्येकं त्रिविधोऽपि प्रत्येकं प्रागुक्तभेदषट्कात् अष्टादशविधः । चन्द्रमण्डले च । तत्र मकारान्तस्यैव तन्नामतेति बहवः । उ इत्येतदक्षरस्य निपातत्वात् प्रगृह्यसंज्ञेति । अच्परत्वे न सन्धिः उ उमेशः । सच चादिगणीयः । वाच० ।

उअत्तंत–उद्वर्तमान–त्रि० उद्वृत्य वर्तमाने, । उअत्तंतम्मि बहो पाणाणं तेण पुव्व उसित्तं । उभत्तंतम्मि इति प्राकृतत्वात्पुंस्त्वनिर्देशः । बृ० १ उ० ।

उअविय-उद्दापित०त्रि० । उच्छिष्टे, "इहरा भेणिसिजत्तं उअविअं चेव गुरुमाई" बृ० १ उ० ।

उइ (दि) ओइ (दि) अ–उदितोदित-त्रि० उदितश्चासावुन्नतकुलबलसमृद्धिनिरवद्यकर्मनिरत्युदयवान् । उदितश्च परमसुखसंदोहोदयेनेत्युदितोदितः । सर्वथाऽभ्युदयवति पुरुषे, यथा भरतः । उदितोदितत्वं चास्य सुप्रसिद्धम् । स्था० ४ ठा० । पुरिमतालाऽधिपतौ राजभेदे, उदितोदितस्य राज्ञः श्रीकान्तपतेः पुरिमतालपुरे राज्यमनुशासतः श्रीकान्तपतेर्निमित्तं वाणारसी वास्तव्येन धर्मरुचिना राज्ञा सर्वबलेन समागतम् । नं० । आ० चू० ।

उइ (दि) ण्ण–उदीर्ण– त्रि० उदयप्राप्ते, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । प्रश्न० । उत्त० । प्रज्ञा० । उदिते. स्था० ५ ठा० । उत्त० । ज० । विपाकोदयमागते, । प्रज्ञा० १९ पद । आचा० । उदीरणाकरणेनोदिते, भ० १ श० ७ उ० । उत्कटे, स्था० ५ ठा० । उदीच्य– त्रि० उत्तरे, उत्तरदिग्भवे, आ० म० द्वि० ।

उइ (दि) ण्णकम्म–उदीर्णकर्मन्– त्रि० उदीर्णमुदयप्राप्तं कटुविपाकं कर्म येषां ते तथा । मिथ्यात्वहास्यरत्यादीनामुदये वर्तमानेषु,–"उदीण्णकम्माण उदिण्णकम्मा पुणो पुणो ते सरहं दुहेति" सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

उइ [दि] ण्ण बलवाहण–उदीर्णबलवाहन– पुं० स्त्री० उदीर्णमुदयप्राप्तं बलं येषां तानि उदीर्णबलानि । उदीर्णबलानि वाहनानि यस्य स उदीर्णबलवाहनः । उदयप्राप्तबलयुग्वाहने, बलं चतुरङ्गं गजाश्वरथसुभटरूपं वाहनं शिबिकावेसरप्रमुखम्, बलं च वाहनं च बलवाहने, उदीर्णे उदयप्राप्ते बलवाहने यस्य स उदीर्णबलवाहनः । उत्त० १८ अ० । उदीर्णमुदयप्राप्तं बलं चतुरङ्गं वाहनं च गिल्लिथिल्ल्यादिरूपं यस्य सोऽयमुदीर्णबलवाहनः । बलं शारीरं सामर्थ्यं वाहनं गजाश्वादि, पदात्युपलक्षणं चैतत् । उदयप्राप्तबलवाहनविशिष्टे, "कंपिल्ले णयरे राया उदिण्णबलवाहणे णामेण संजओ णाममिगवहणिमाए" उत्त० १ अ० ।

उइ [दि] ण्णमोह–उदीर्णमोह– त्रि० ६ ब० । उत्कट (वेद) मोहनीये "अणुत्तरोववाइयाणं भंते ! देवा किं उदिण्णमोहा उवसंतमोहा खीणमोहा" भ० ५ श० ४ उ० ।

उइ [दि] ण्णवेय–उदीर्णवेद– त्रि० उदीर्णो विपाकापन्नो वेदो यस्य स तथा ॥ वेदानां विपाकमप्राप्ते, उदीर्णवेदो हि पुमान् स्त्रियं कामयते, साऽपीतरं, नपुंसकस्तूभयमिति ॥ आचा १ श्रु० १ अ० । ०।

उइ [दि] य–उदित– त्रि० वद्-क० संप्र० गदिते, निष्पन्नस्यैवं खलु जिनबिम्बस्योदिता प्रतिष्ठा–। षो० । उक्ते, द्वा० १ अ० "उभयसि वा उदयत्ति वा पगडुमिति । नि० चू० १०उ० ।

उइ (दि) यत्थमिय–उदितास्तमित–त्रि० उदितश्चासौ तथैव अस्तमितश्च भास्कर इव सर्वसमृद्धिप्रधत्वाद्दुर्गतिगतत्वाच्चेति उदितास्तमितः । पूर्वमुदिते पश्चादस्तमिते, यथा ब्रह्मदत्तचक्रवर्ती । स हि पूर्वमुदित उन्नतकुलोत्पन्नत्वादिना स्वभुजोपार्जितसाम्राज्यत्वेन च पश्चादस्तमितः । अतथाविधकारणकुपितब्राह्मणप्रयुक्तपशुपालधनुर्गोलिकाप्रक्षेपणोपायप्रस्फोटिताक्षिगोलकतया मरणानन्तराप्रतिष्ठानमहानरकवेदनाप्राप्ततया चेति, स्था० ४ ठा० ।

उई (दी) ण–उदीचीन–त्रि० उत्तरे,–स्था० ५ ठा० ।

उई (दी) णा–उदीचीना–स्त्री० उत्तरस्यां दिशि, "दो दिसाओ कप्पइ पाईणं चेव उदीणं चेव" स्था० २ ठा० । उई (दी) णवाहिण विस्थिण्णे अद्धचंदसंठाणसंठिए उदग्दक्षिणविस्तीर्णोऽर्द्धचन्द्रसंस्थानसंस्थितः । राज० ।

उई (दी) णपाईण–उदीचीनप्राचीन–स्त्री० उदगेव उदीचीनं प्रागेव च प्राचीनमुदीचीनं च तद्धदीच्या आसन्नत्वात् प्राचीनं च तत्प्राच्याः प्रत्यासन्नत्वादुदीचीनप्राचीनं दिगन्तरम् । क्षेत्रदिगपेक्षया पूर्वोत्तरदिशि, (जम्बूद्दीवे णं दीवे सूरिया उदीणपाईणमुग्गच्छइ) भ० ५ श० १ उ० ।

उई(दी)णवाय–उदीचीनवात–पुं० उदीचीन उत्तरः वातः उदीचीनवातः । उदीच्या दिशः समागच्छति बादरवायुकायिकभेदे, प्रज्ञा० १ पद० । स्था० ।

उई (दी) त्ता–उदीरयित्वा–अव्य० उत्प्राबल्येन ईरयित्वा कथयित्वेत्यर्थे, "अणुत्तरं धम्ममुईरइत्ता" । सूत्र० १ श्रु० ६अ.

उई (दी) रण–उदीरण–न० उद्-ईर-ल्युट् उच्चारणे-वाच०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुदयप्राप्तस्य (दलिकस्य) करणेनाकृष्योदये प्रक्षेपणे, स्था० ४ ठा० ।

उई (दी) रणा–उदीरणा–स्त्री० अनुदयप्राप्तं कर्म दलिकमुदीर्यत उदयावलिकायां प्रवेश्यते यया सा उदीरणा । उदयावलिकातो बहिर्वर्तिनीनां स्थितीनां दलिकं कषायैः सहितेन वा योगसंज्ञितेन वीर्यविशेषेण समाकृष्योदये प्रवेशनरूपे करणभेदे, पं० सं० । तेषामेव कर्मपुद्गलानामकालप्राप्तानां जीवसामर्थ्य विशेषादुदयावलिकायां प्रवेशनमुदीरणा तेषामेव कर्मपुद्गलानां बन्धसंक्रमाभ्यां लब्धाऽऽत्मलाभानां निर्जरणसंक्रमणकृतस्वरूपप्रच्युत्यभावे सद्भावः सत्ता । कर्म० । आन्तरशक्तिविशेषे, । स्था० । "जीवाणं दोहिं ठाणेहिं पावकम्म उदीरेइ तंजहा । अब्भोवगमिया चेव वेयणाए उवक्कमियाए चेव वेदणाए एवं वेदेति एवं णिज्जरेति अब्भो० वे० उव० वेय० " (व्याख्या स्व स्व शब्दे) स्था० २ ठा० । सूत्र० । अस्या निश्शेषा वक्तव्यता यथा तत्र चैते अर्थाधिकारास्तद्यथा लक्षणं, भेदः, साद्यनादिप्ररूपणा, स्वामित्वम्, उदीरणा, प्रकृतिस्थानानि, तत्स्वामित्वं चेति ॥

तत्र पुरतो लक्षणभेदयोः प्ररूपणार्थमाह ॥

जं करणे णो कड्ढिय, उदए दिज्जइ उदीरणा एसा ॥
पगइट्ठिइ अणुभाग–प्पएसमूलुत्तरविभागा ॥ २२५ ॥

अत्र पूर्वार्द्धेन लक्षणं ततस्तत्प्ररूपणार्थमाह । यत्र यत्परमाणात्मकं दलिकं करणेन योगसंज्ञिकेन वीर्यविशेषेण कषायसहितेन असहितेन वा उदयावलिका बहिर्वर्तिनीभ्यः स्थितिभ्योऽप्याकृष्य उदये दीयते उदयावलिकायां प्रक्षिप्यते एषा उदीरणा च वक्तव्या "उदयावलिया बाहिरल्लाट्ठिईहिंतो कसायसहिएण वा जोगसन्नेणं करणेणं दलियमाकड्ढिय उदयावलियाए पवेसयाणं " उदीरणत्ति सा च किंभूतेत्यत आह । प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशमूलोत्तरविभागा । प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशैर्मूलप्रकृतिभिरुत्तरप्रकृतिभिश्च कृत्वा विभागो भेदो यस्याः सा तथा । इदमुक्तं भवति । सा उदीरणा चतुर्विधा तद्यथा प्रकृत्युदीरणा स्थित्युदीरणा अनुभागोदीरणा प्रदेशोदीरणा च । एकैकापि द्विधा मूलप्रकृतिविषया उत्तरप्रकृतिविषया च । तत्र मूलप्रकृतिविषया अष्टधा उत्तरप्रकृतिविषया चाष्टपञ्चाशदधिकशतभेदा तदेवमुक्तौ लक्षणभेदौ । सम्प्रति साद्यनादिप्ररूपणा कर्तव्या । सा च द्विधा मूलप्रकृतिविषया उत्तरप्रकृतिविषया च ॥

तत्र प्रथमतो मूलप्रकृतिविषयामाह ॥

मूलप्पगईसु पंचण्हं, तिहा दोण्हं चउव्विहा होइ ॥
आउस्स साइ अधुवा, दसुत्तरसयउत्तरासिं पि ॥ २२६ ॥

मूलप्रकृतिषु मध्ये पञ्चानां मूलप्रकृतीनां ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायाणां यावन्मोहगुणस्थानं यस्य समयावलिकाशेषं न भवति तावत्सर्वजीवानामुदीरणाऽवश्यं भाविनी नामगोत्रयोस्तु यावत्सयोगिचरमसमयस्तावत् । ततः एषामनादिरुदीरणा ध्रुवा अभव्यानां अध्रुवा, भव्यानां तु द्वयोर्वेदनीयमोहनीययोरुदीरणा चतुर्विधा तद्यथा सादिरनादिर्ध्रुवा ऽध्रुवा च । तत्र वेदनीयस्य प्रमत्तगुणस्थानकं यावत् उदीरणा न परतः । मोहनीयस्य सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानकं यावत् न परतः । ततोऽप्रमत्तादिगुणस्थानकेभ्यः प्रतिपतितो वेदनीयस्य उपशान्तमोहगुणस्थानकेभ्यः[*] प्रतिपतितमोहनीयस्योदीरणा सादिः तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिः । ध्रुवाध्रुवे पूर्ववत् । आयुषः पुनरुदीरणा सादिरध्रुवा च । तथा ह्यायुषः पर्यन्तावलिकायां नियमादुदीरणा न भवन्ति । ततो ऽध्रुवा पुनरपि परभवोत्पत्तिप्रथमसमये प्रवर्तते ततः सादिरिति तदेवं मूलप्रकृतिषु साद्यनादिप्ररूपणा । सम्प्रत्युत्तरप्रकृतिषु तां चिकीर्षुराह (दसुत्तरेत्यादि) सादिरध्रुवा चेत्यनुवर्त्यते । उत्तरासामपि उत्तरप्रकृतीनामपि । दशोत्तरशतसंख्यानां पञ्चविधज्ञानावरण दर्शनावरणचतुष्टयमिथ्यात्वतैजससप्तकवर्णादिविंशतिस्थिरास्थिरशुभाशुभगुरुलघुनिर्माणान्तराय । पञ्चकरूपाष्टाचत्वारिंशद्वर्जानां सर्वशेषप्रकृतीनामित्यर्थः । उदीरणा द्विधा तद्यथा । सादिरध्रुवा चासाच साद्यध्रुवता अध्रुवोदयत्वादेव सिद्धा ।

मिच्छत्तस्स चउद्धा, तिहा य आवरण विग्ध चउदसगे ।
थिरसुभ सेयर उवग्घा, यवज्जधुव बंधिनामेय ॥ २२७ ॥

मिथ्यात्वस्योदीरणा चतुर्धा । तद्यथा सादिरनादिः ध्रुवा अध्रुवा च तत्र सम्यक्त्वं गतस्य पुनरनादिर्भवति । ततोऽसौ सादिः तत्स्थानमप्राप्तस्य त्वनादिः । अभव्यानां ध्रुवा, भव्यानामध्रुवा । तथा ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्टयान्तरायपञ्चकरूपाणां चतुर्दशप्रकृतीनामुदीरणा त्रिःप्रकारा । तद्यथा अनादिर्ध्रुवा अध्रुवा च । तथा ह्येतासां प्रकृतीनां ध्रुवोदयत्वेनानादिरुदीरणा । अभव्यानां ध्रुवा । भव्यानां तु क्षीणमोहगुणस्थानके आवलिकाशेषे व्यवच्छेदे भवा ध्रुवा । तथा स्थिरशुभे सेतरे । अस्थिराशुभसहितयोस्तयोरुपघातं वर्जयित्वा शेषाणामध्रुवबन्धिनीनां च तैजससप्तकागुरुलघुवर्णादिविंशतिनिर्माणलक्षणानां सर्वसंख्यया त्रयस्त्रिंशत्संख्यानामुदीरणा त्रिधा । तद्यथा अनादिर्ध्रुवा अध्रुवा च । तत्रानादित्वं ध्रुवोदयत्वात् ध्रुवा अभव्यानाम । अध्रुवा भव्यानां सयोगिकेवलिचरमसमये व्यवच्छेदाभावात् । शेषाणां चाध्रुवोदयानां दशोत्तरशतसंख्यानामध्रुवोदयत्वात् उदीरणा सादिरध्रुवा च प्रागेवोक्ता । तदेवं कृता साद्यनादिप्ररूपणा ।

सम्प्रति मूलप्रकृत्युदीरणास्वामिनमाह ।

घाईणं छउमत्था, उदीरगा रागिणो य मोहस्स ।
तइया उ पमत्ता, जोगंता उ त्ति दोण्हं च ॥ २२८ ॥

घातिप्रकृतीनां ज्ञानावरणीयान्तरायदर्शनावरणीयान्तरायरूपाणां सर्वेऽपि छद्मस्थाः क्षीणमोहपर्यवसाना उदीरकाः मोहनीयस्य तु रागिणः सरागास्सूक्ष्मसंपरायपर्यवसाना उदीरकाः तृतीयवेदनीयस्य आयुषश्च प्रमत्ताः प्रमत्तगुणस्थानकपर्यन्ताः सर्वेऽप्युदीरकाः । केवलमायुषः पर्यन्तावलिकायां नोदीरका भवन्ति । तथा द्वयोरप्यनामगोत्रयोर्योगिनः सयोगिकेवलिपर्यवसानाः सर्वेऽप्युदीरकाः । इतिशब्दो भिन्नक्रमो गाथापर्यन्ते योजनीयः । स च मूलप्रकृत्युदीरणापरिसमाप्तिद्योतको वेदितव्यस्तदेवं मूलप्रकृत्युदीरणास्वाम्युक्तः ।

साम्प्रतमुत्तरप्रकृत्युदीरणास्वामिनमाह ।

विग्धावरण धुवाणं, छउमत्थो जोगिणो उ धुवा ।
उवघायस्स तणुत्था, तणुकिट्टीणं तणुयरागा ॥ २२९ ॥

विघ्न इति अन्तरायं ततोऽन्तरायपञ्चकं ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्टयरूपाणां चतुर्दशानां ध्रुवोदयप्रकृतीनां सार्थच्छद्मस्था उदीरकाः । तथा (धुवाणंति) नाम ध्रुवोदयानां

अपर्याप्तानां त्रिसंख्यानां तैजसकार्मणवर्णादिविंशतिस्थिरास्थिरशुभाशुभगुरुलघुनिर्माणरूपाणां योगिनः सयोगिकेवलिपर्यन्ता उदीरकाः । उपघातिनाम्नस्तु तनुस्थाः शरीरस्थाः शरीरपर्याप्त्यपर्याप्त्युदीरकाः तनुकिट्टीकृतां सूक्ष्मकिट्टीकृताम् अर्थात् लोभसत्कानां तनुकरागाः सूक्ष्मसंपराया यावच्चरमसमयावलिका न भवति तावदुदीरकाः ।

तसबायरपज्जत्ते, सेयरगइजाइ दिट्ठिवेयाणं ।
आऊणं तन्नामा, पत्तेयसरीरस्स उ तणुत्था ॥२३०॥

त्रसबादरपर्याप्तानां सेतराणां संप्रति ज्ञापना स्थावरसूक्ष्मपर्याप्तसहितानामित्यर्थः । तथा चतसृणां गतीनां, पञ्चानां च जातीनां, तिसृणां दृष्टीनां दर्शनानां मिथ्यादर्शनादीनां, त्रयाणां वेदानां नपुंसकवेदादीनां, चतुर्णां आयुषां सर्वसंख्यया पञ्चविंशतिप्रकृतीनां यथास्वं तन्नामास्तन्नामप्रकृतिनामान उदीरणास्तद्यथा त्रसनामकर्मणस्ते च शरीरे अपान्तराले गतौ च वर्तमाना उदीरकाः । एवं सर्वेषामपि भावनीयम् तथा प्रत्येकनाम्नः शरीरस्य तनुस्था देहस्थाः तुरेवार्थे देहस्था एव प्रवर्त्तन्ते इति गाथार्थः ॥ २३० ॥

आहारयओ णिग्घा, सरीर उगवेयप्पमोत्तूणं ।
ओरालाए एवं, तदुवंगाए तसजियाओ व्व ॥२३१॥

ये नरा मनुष्यास्तिर्यञ्च आहारका ओजोलोमप्रक्षेपाहाराणामन्यतममाहारं गृह्णन्ति तत औदारिक उपलक्षणमेतत् औदारिकबन्धनचतुष्टयस्यौदारिकसंघातस्य । औदारिकाः किं सर्वेपि नित्याः शरीरद्विकवेदकान् प्रमुच्य शरीरद्विकं आहारकवैक्रियलक्षणानां तत्स्थानात्परित्यज्यन्ते हीनौदारिकसङ्घातस्य औदारिकाः किं सर्वेपि नेत्याह । शरीरद्विकवेदकान् प्रमुच्य शरीरद्विकमाहारकवैक्रियलक्षणं तत्स्थावरा एवमुक्तेन प्रकारेण (तदुवंगाएत्ति) तदङ्गोपाङ्गनाम्नः औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम्न उदीरका वेदितव्याः । केवलं ते त्रसकायिका एव न स्थावरास्तेषां तदुदयाभावात् ।

वेउव्विगाय सुरने–रइया आहारगा नरो तिरिओ ।
सन्नी बायरपवणो, लद्धिपज्जत्तगो होज्जा ॥२३२॥

वैक्रियशरीरनाम्नः उपलक्षणमेतत् वैक्रियसंघातस्य सुरा नैरयिका वा गृह्णन्तो यश्च नरस्तिर्यङ् वा सञ्ज्ञी वैक्रियलब्धिमान् यश्च बादरपवनो दुर्भगनामोदयी लब्धिपर्याप्तको वैक्रियशरीरलक्षणलब्ध्या पर्याप्तस्ते सर्वेऽप्युदीरकाः ।

वेउव्वियंग उवंगतणु–त्तुल्ला पवणबायरं हिच्चा ।
आहारगा य विरओ, विउव्वंतो पमत्तेय ॥२३३॥

वैक्रियाङ्गोपाङ्गनाम्न उदीरकास्तत्तनुतुल्या वैक्रियशरीरनाम्न उदीरकाः प्रागुपदिष्टास्त एव वैक्रियाङ्गोपाङ्गनाम्नोऽपि वेदितव्या इत्यर्थः । किं सर्वेऽपि नेत्याह । बादरपवनं बादरवायुकायिकं हित्वा परित्यज्य शेषा द्रष्टव्याः । आहारकशरीरनाम्नोपि विरतसंयतस्तत् आहारकशरीरं कुर्वन् प्रमत्तः प्रमादमुपगतस्सन् उदीरको भवति ।

छण्हं आणं संघय–णाणं सगला तिरिय नरा ।
देहत्था पज्जत्ता, उत्तमसंघयणाणो सेढी ॥ २३४ ॥

सकलाः पञ्चेन्द्रियास्तिर्यञ्चो मनुष्याश्च देहस्थाः शरीरनामोदये वर्तमाना लब्ध्या पर्याप्ताः षण्णां संहननानामुदीरका भवन्ति । इहोदयप्राप्तानामेवोदीरणा प्रवर्तते नान्येषां ततो यस्यात्तं यत्संस्थानं संहननं वा उदयप्राप्तं वा भवति तत्तदा उदीर्यते । नान्यदा चेति द्रष्टव्यम् । तथा उत्तमसंहननो वज्रर्षभनाराचसंहननः श्रेणीः क्षपकश्रेणीर्भवति न शेषसंहननः । तेन क्षपकश्रेणिं प्रतिपन्ना वज्रर्षभनाराचसंहननमेवोदीरयन्ति न शेषसंहननानि उदयाभावादित्यवसेयम् ।

चतुरंसस्स तणुत्था, उत्तरतणु सगलभोगभूमिगया ।
देवा इयरे हुंमा, तस तिरिय नरा य सेवट्टा ॥२३५॥

चतुरस्रस्य समचतुरस्रसंस्थानस्य तनुस्थाः शरीरस्थाः उत्तरतनव आहारकोत्तरवैक्रियशरीरिणो मनुष्यास्तिर्यञ्चः सकलाः सकलेन्द्रियाः पञ्चेन्द्रिया इत्यर्थः । तथा भोगभूमिगता देवाश्च उदीरका भवन्ति (इयरेहुंमत्ति) इतरे उक्तशेषाः एकेन्द्रियविकलेन्द्रियनैरयिका अपर्याप्तकाश्च पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्या एते सर्वेऽपि शरीरस्थाः हुंडसंस्थानस्योदीरका भवन्ति (तस तिरियनरा यसेवट्टित्ति) अत्र इतरे इत्यनुवर्तते उक्तशेषास्त्रसा द्वीन्द्रियादयः । पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्याश्च सेवार्तः सेवार्तसंहननोपेताः सेवार्तसंहननस्योदीरकाः

संघयणाणि न उत्तरे, तणुसु तन्नामगा भवंतरगे ।
आणुपुव्वीणं परघा–इस्स उ देहीण पज्जत्ता ॥२३६॥

उत्तरतनुषु वैक्रियाहारकशरीरेषु संहनना न भवन्तीति षण्णां संहनननामेकतरमपि संहननं न भवति तेन एकस्यापि संहननस्योदीरका न भवन्ति । तथा आनुपूर्वीणां नारकानुपूर्व्यादीनां चतसृणां तन्नामिका तत्तदानुपूर्व्यापि नारकादिनामानो भवापान्तरालगतौ वर्त्तमाना उदीरका वेदितव्याः । तद्यथा–नारकानुपूर्व्या नारको भवापान्तरालगतौ वर्तमान उदीरकस्तिर्यगानुपूर्व्यास्तिर्यङ् इत्यादि । तथा पराघातनाम्नः शरीरपर्याप्तपर्याप्ताः सर्वेऽप्युदीरकाः ।

बायर पुढवी आयव, णामवज्जियत्तु सुहुमतसा ।
उज्जोयणामतिरिए, उत्तरदेहे य देवजई ॥२३७॥

आतपनामा बादरपृथ्वीकायिक उदीरकः चशब्दस्यानुक्तार्थसमुच्चायकत्वात् बादरपृथ्वीकायिको पर्याप्तो द्रष्टव्यः । तथा सूक्ष्मान् सूक्ष्मैकेन्द्रियान् सूक्ष्मत्रसांश्च तेजोवायुकायिकान् वर्जयित्वा शेषास्तिर्यञ्चः पृथिव्यम्बुवनस्पतयो विकलेन्द्रियाः पञ्चेन्द्रियाः लब्धिपर्याप्ता उद्योतनाम्नो यथासंभवमुदीरकाः भवन्ति । तथा उत्तरदेहे उत्तरशरीरे यथासंभवं वैक्रिये आहारके च वर्तमानो देवो यतिश्च उद्योतनामा उदीरको भवति । २३७ ।

सगलो पइछगई, उत्तरतणुदेवभोगभूमिगया ।
इट्ठसराय तसो वि य, इतरासिं सनेरइया ॥२३८॥

सकलः पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्यो वा शरीरपर्याप्तापर्याप्तः प्रशस्तविहायोगतिः उदये वर्तमानस्तया उत्तरस्यां तनौ वैक्रियशरीररूपायां वर्तमानाः सर्वे तिर्यञ्चो मनुष्याश्च तथा सर्वे देव भोगभूमिकागता द्रष्टव्याः । इष्टगते प्रशस्तविहायोपगतेरुदीरकः । तथा इष्टस्वराः सुस्वरनामानस्त्रसा द्वीन्द्रियादयोऽपि शब्दात्प्रागुक्ताश्च पञ्चेन्द्रियतिर्यगादयो भाषापर्याप्त्यापर्याप्ता यथासंभवमुदीरकाः । तथा इतरस्याप्रशस्तविहायोगतिदुःस्वरनाम्नास्त्रसा विकलेन्द्रियाः सनैरयिका नैरयिकसहितास्तथा पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्याः केचन यथासंभवमुदीरका वेदितव्याः ।

उस्सासस्स सराण य, पज्जत्ता आणपाणभासासु ।
सव्वसुरुस्सासो, भासा वि य भासुरुज्जाति ॥२३९॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उच्छ्वासस्वरशब्दयोः एतत्प्राणभाषाशब्दाभ्यां सह यथासंख्येन योजना । सा चैवं उच्छ्वासनाम्नः प्रायः पानपर्याप्तापर्याप्ताः सर्वेऽप्युदीरकाः (सराणयत्ति) द्वित्वेपि बहुवचनं प्राकृतत्वात् । ततः स्वरयोः सुस्वरदुःस्वरयोः प्रागुक्ता उदीरकाः सर्वेऽपि भाषापर्याप्तापर्याप्ता द्रष्टव्याः । यद्यपि स्वरयोः प्रागेवोदीरका उक्तास्तथापि ते भाषापर्याप्तापर्याप्ता एवोदीरका वेदितव्या इति विशेषोपदर्शनार्थं पुनरुपादानम् । तथा सर्वज्ञानां केवलिनामुच्छ्वासभाषे यावन्नाद्यापि निरोधमुपगच्छतस्तावदुदीरितेऽत्र निरोधानन्तरमुदयाभावान्नोदीरणा भवति ।

देवोसुभगाएय, णामगज्जवकंति उदयकित्तीए ।

पज्जत्तो वज्जियास, सुहुमे नेरइया सुहुमतेसु तसे ।२४०।

देवो इत्यादौ जीतावेकवचनं केचिद्देवाः केचित्तिर्यङ्मनुष्या गर्भव्युत्क्रान्ताः सुभगादेयनाम्न उदीरकोपेतास्तदुदये वर्तन्ते । तथा सूक्ष्मैकेन्द्रियसहितान् नैरयिकान् सूक्ष्मत्रसांश्च वर्जयित्वा शेषाः पर्याप्तकनामोदये वर्तमाना यशःकीर्तेरुदीरकाः ॥

गोउत्तमस्स देवा, नरा य वयणो चउएहमियराइ ।

तव्वइरित्ता त्तिरय—गरस्स सव्वसायापज्जवे ॥ २४१ ॥

सर्वे देवा मनुष्या अपि केचिदुच्चैःकुलसमुत्पन्नास्तथा प्रव्रजिता नीचैर्गोत्रिणोऽपि पञ्चमहाव्रतसमलङ्कृतगात्रयष्टयः उच्चैर्गोत्रस्योदीरकास्तया इतरासां चतसृणां प्रकृतीनां दुर्भगानादेयायशःकीर्तिनीचैर्गोत्राणां तद्व्यतिरिक्तानामुक्तव्यतिरिक्ता नावेदितव्यास्तत्र दुर्भगानादेययोरेकेन्द्रियविकलेन्द्रियसंमूर्छिमतिर्यङ्मनुष्यनैरयिकाः । अयशःकीर्तेःसर्वे सूक्ष्माः सर्वे च नैरयिकाःसर्वे सूक्ष्मात्रसाः सर्वेऽप्यपर्याप्तकनामोदये वर्तमानाः । नीचैर्गोत्रस्य पुनः सर्वे नैरयिकाः सर्वे तिर्यञ्चो मनुष्या अपि विशिष्टकुलोत्पन्नान् व्रतिनश्च मुक्त्वा शेषाः सर्वेऽप्युदीरका द्रष्टव्याः । तथा तीर्थकरनाम्नः सर्वज्ञतायां सत्यां भवेदुदीरणा नान्यदा उदयाभावात् ।

इंदिअपज्जत्तीए, दुसमयपज्जत्तगा य पाउग्गा ।

निद्दा पयलाणं खी—णराग खवगेय परिवज्जिय ॥ २४२ ॥

इन्द्रियपर्याप्त्यापर्याप्तास्ततो द्वितीयसमयादारभ्य इन्द्रियपर्याप्त्यनन्तरसमयादारभ्य इत्यर्थः । निद्राप्रचलाप्रायोग्या भवन्ति । किं सर्वे नेत्याह । क्षीणरागान् क्षपकांश्च परित्यज्य उदीरणा हि उदये सति नान्यथा न च क्षीणक्षपकयोर्निद्राप्रचलयोरुदयः संभवति " निद्दादुगस्स उदओ खीणखवगे परिवज्जति " प्रामाण्यात् ततस्तान् वर्जयित्वा शेषा निद्राप्रचलयोरुदीरका वेदितव्याः ॥

निद्दानिद्दाईण वि, असंखवासा य मणुयतिरिया य ॥

वेउव्वियाहारतणू, वज्जित्ता अप्पमत्ते य ॥ २४३ ॥

असंख्येयवर्षायुषो मनुष्यतिर्यञ्चो वैक्रियशरीरिणो प्रमत्तसंयतांश्च मुक्त्वा शेषाः सर्वेऽपि निद्रानिद्राप्रचलास्त्यानर्द्धीनामुदीरका वेदितव्याः ।

वेयणीयाणप्पमत्ता, ते ते वेयगा कसायाणं ।

हासाई छक्कस्सं, अपुव्वकरणस्स चरमंते ॥ २४४ ॥

वेदनीययोः सातासातरूपयोः प्रमत्ताप्रमत्तगुणस्थानकपर्यन्ताः सर्वेऽप्युदीरकाः । तथा ये जीवा येषां कषायाणां वेदकास्ते तेषां कषायाणामुदीरका वेदितव्याः । यतो यानेव कषायान् वेदयते तानेव बध्नाति । "जे वेयइ संबंधे" इति वचनात् । उदये च सत्युदीरणा ततो युक्तमुक्तं "ते ते बंधंतगा कसायाणमिति" तत्र मिथ्यादृष्टिसास्वादना अनन्तानुबन्धिनामुदीरकास्तेषां तद्वेदकत्वात् । अप्रत्याख्यानावरणानां देशविरतिपर्यन्ताः संज्वलनक्रोधमानमायालोभानां स्वस्वबन्धव्यवच्छेदावधिका उदीरकाः हास्यादिषट्कस्यापूर्वगुणस्थानका उदीरकाः ।

जावूण खणो पढमो, संहरइ हासाणमेव मियरासिं ।

देवा नेरइया भव—ट्ठिई केइ नेरइया ॥ २४५ ॥

यावत् प्रथमः क्षणः किञ्चिदूनो भवति प्रथममन्तर्मुहूर्तं यावदित्यर्थःतावन्नियमाद्देवाः सुस्वररतिहास्यानामुदीरका वेदितव्याः । परस्त्वनियम एवं किंचिदूनं प्रथमक्षणं यावन्नैरयिका इतरासामसातावेदनीयारतिशोकप्रकृतीनां नियमादुदीरकाः । परस्तु तीर्थकरकेवलज्ञानलाभादौ विनिर्यासोपि भवति । केचित्पुनर्नैरयिकाः सकलामपि भवस्थितिं यावद् असातवेदनीयारतिशोकानामुदीरका भवन्ति । एवमेकैकप्रकृत्युदीरणास्वामित्वमुक्तम् । संप्रति प्रकृत्युदीरणास्थानमाह ।

पंचएहं च चउएहं च एकाइजा दसएहं तु ।

तिगहीणाए मोहे, मिच्छे सत्ताए जाव दसए ॥ २४६ ॥

द्वितीयकर्मणि दर्शनावरणीयलक्षणे पञ्चानां चतसृणां प्रकृतीनां युगपदुदीरणा भवति । तत्र चतसृणां चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनावरणरूपाणां ध्रुवा छद्मस्थानामुदीरणा । एतासां मध्ये निद्रापञ्चकमध्यादन्यतमप्रकृतिप्रक्षेपे पञ्चानामुदीरणा । तथा मोहे मोहनीये एकादित्रिकहीना तावद् द्रष्टव्या यावद्दशानामेतदुक्तं भवति मोहनीये कर्मणि उदीरणामधिकृत्य एकादीनि त्रिकहीनानि दशपर्यन्तानि नव प्रकृत्या स्थानानि भवन्ति। तद्यथा

१	२	४	५	६	७	८	९	१०

संप्रत्येषामुदीरणास्थानानां स्वामिनमाह ॥ 'मिच्छे सत्ताइ जाव' दश मिथ्यादृष्टेः सप्तादीनि दशपर्यन्तानि चत्वारि उदीरणास्थानानि भवन्ति । तद्यथा सप्त अष्टौ नव दश । तत्र मिथ्यात्वमप्रत्याख्यान प्रत्याख्यानावरणसंज्वलनक्रोधादीनामन्यतमे त्रयः क्रोधादिकाः । यत एकस्मिन् क्रोधे उदीयमाने सर्वे क्रोधा उदीर्यन्ते । एवं मानमायालोभेषु द्रष्टव्याः । न च युगपदुदीरणेष्वन्यतमे त्रयो गृह्यन्ते तथा त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः । तथा हास्यरत्यरतियुगले रतिशोकयुगलयोरन्यतरद्युगलम् । एतासां सप्तप्रकृतीनां मिथ्यादृष्टौ उदीरणा ध्रुवा । अत्र च भङ्गाश्चतुर्विंशतिस्तद्यथा हास्यरत्यरतियुगले अरतिशोकयुगले च प्रत्येकमेकैको भङ्गः प्राप्यते इति द्वौ भङ्गौ तौ च प्रत्येकं त्रिष्वपि वेदेषु प्राप्येते इति । द्वौ त्रिभिर्गुणितौ जाताः षट् । ते च प्रत्येकं क्रोधादिषु चतुर्षु प्राप्यन्ते इति षट् चतुर्भिर्गुणिताश्चतुर्विंशतिरिति । एतस्मिन्नेव सप्तके भये वा जुगुप्सायामनन्तानुबन्धिना वा क्षिप्ते अष्टानामुदीरणानां भयादौ प्रत्येकमेकैका भङ्गकानां चतुर्विंशतिः प्राप्यते इति तिस्रश्चतुर्विंशतयोऽत्र द्रष्टव्याः । ननु च मिथ्यादृष्टेरवश्यमनन्तानुबन्धिनामुदयः संभवति उदये च सत्यवश्यमुदीरणा तत्कथं मिथ्यादृष्टेरनन्तानुबन्ध्युदयरहितः प्राप्यते सप्तानामष्टानां वा अनन्तानुबन्धिरहितानामुदीरणा संभवेत् । उच्यते इह सम्यग्दृष्टीनां सतां कैश्चित् प्रथमतोऽनन्तानुबन्ध्युदयरहितः प्रयोजितः तत्रैव च स मिथ्यात्वे न मिथ्यात्वादिकषाय उक्तस्तथाविधसामग्र्यभावात् । ततः कालान्तरे मिथ्यात्वं गतः सन् मिथ्यात्वप्रत्ययतो भूयोऽप्यनन्तानुबन्धिनो बध्नाति । ततो बन्धा–

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वलिकाया यावन्नाद्याप्यतिक्रामति तावत्तेषामुदयो न भवति, उदयाभावाच्च उदीरणाया अप्यभावः । बन्धावलिकायां पुनरतीतायामुदयसंभवाद्भवत्येवोदीरणा । ननु कथं संबन्धसमयादारभ्य आवलिकायामतीतायामुदयोऽपि संभवति ततो ऽबाधाकालक्षये सति उदयः । अबाधाकालश्चानन्तानुबन्धिनां जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतः चत्वारि वर्षसहस्राणि इति । नैष दोषः यतो बन्धसमयादारभ्य तेषां तावत्सत्ता भवति । सत्तायां च सत्यां पतद्ग्रहता तस्यां च सत्यां शेषप्रकृतिदलिकं संक्रामति सङ्क्रम्य तस्य च स संक्रमावलिकायामतीतायामुदयः उदये च सत्युदीरणा । ततो बन्धसमयादनन्तरमावलिकायामतीतायामुदीरणाभिधीयमाना न विरुध्यते । तथा तस्मिन्नेव सप्तके भयजुगुप्सानन्तानुबन्धिनां बन्धिषु प्रक्षिप्तेषु दशानामुदीरणा । अत्रैव भङ्गकानां चतुर्विंशतिस्तदेवं मिथ्यादृष्टेर्मोहनीयस्योदीरणास्थानान्युक्तानि ।

साम्प्रतं सासादनसम्यग्दृष्ट्यादीनामाह ।

सासायणम्मि सत्ताइ, नव अविरइए गाइ परम्मि पंचाइ ।
अट्ठविरए चउराइ, सत्त उवोवारिल्लम्मि ॥ २४७ ॥

सासादने सम्यग्दृष्टौ सम्यग्मिथ्यादृष्टौ च सप्तादीनि नवपर्यन्तानि त्रीणि त्रीण्युदीरणास्थानानि भवन्ति तद्यथा सप्त अष्टौ नव । तत्र सासादनसम्यग्दृष्टेरनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणसंज्वलनक्रोधादीनामन्यतमे चत्वारः क्रोधादिकाः । त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः । द्वयोर्युगलयोरन्यतरद्युगलमिति । सप्तमिति सप्तानामुदीरणा ध्रुवा । अत्र प्रागुक्तक्रमेण भङ्गकानामेका चतुर्विंशतिः । सम्यग्दृष्टिमिथ्यादृष्टिरनन्तानुबन्धिवर्जास्त्रयोऽन्यतमे क्रोधादयः त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः । द्वयोर्युगलयोरन्यतरद् युगलं सम्यग्मिथ्यात्वं चेति सप्तानामुदीरणा । अत्र च द्वे चतुर्विंशती भङ्गकानां भयजुगुप्सयोस्तु युगपत्प्रक्षिप्तयोः सप्तानामुदीरणा । अत्रापि तिस्रश्चतुर्विंशतयोऽत्र चैका चतुर्विंशतिः । अस्मिन्नेव षट्के भयजुगुप्सावेदकसम्यक्त्वानामन्यतरक्षिप्ते सप्तानामुदीरणास्थानानि भवन्ति । तद्यथा षट् सप्त अष्टौ नव । तत्रौपशमिकसम्यग्दृष्टेः क्षायिकसम्यग्दृष्टेर्वा अविरतस्य अनन्तानुबन्धिवर्जास्त्रयोऽन्यतमक्रोधादिकाः । त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः द्वयोर्युगलयोरन्यतरद्युगलमिति षण्णामुदीरणा । अत्र चैका चतुर्विंशतिर्भङ्गकानां " परम्मि पंचाइ अट्ठत्ति " विरतसम्यग्दृष्टिपरस्मिन् देशविरते पञ्चादीनि अष्टपर्यन्तानि चत्वारि उदीरणास्थानानि । तद्यथा पञ्च षट् सप्त अष्टौ तत्र प्रत्याख्यानावरणसंज्वलनसंज्ञौ क्रोधादीनामन्यतमौ द्वौ क्रोधादिकौ । त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः । द्वयोर्युगलयोरन्यतरद् युगलम् । एतासां पञ्चानां प्रकृतीनां देशविरतस्योदीरणा ध्रुवा । एषा चौपशमिकसम्यग्दृष्टेः क्षायिकसम्यग्दृष्टेर्वा अवगन्तव्या । अत्र च प्रागुक्तक्रमेण चतुर्विंशतिर्भङ्गकानाम् । संप्रति प्रमत्ताप्रमत्तभेदयोर्भावात् युगपत् उदीरणास्थानान्याह "विरइए चउराइ सत्तत्ति" विरते प्रमत्ते अप्रमत्ते च चतुरादीनि सप्तपर्यन्तानि चत्वारि उदीरणास्थानानि भवन्ति । तद्यथा चत्वारि पञ्च षट् सप्त । तत्र संज्वलनक्रोधादीनामन्यतम एकः क्रोधादिः । त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः । द्वयोरन्यतरद्युगलमित्येतासां चतसृणां प्रकृतीनां विरतस्य क्षायिकसम्यग्दृष्टेरौपशमिकसम्यग्दृष्टेर्वा उदीरणा ध्रुवा अत्रैका भङ्गकानां तिस्रश्चतुर्विंशतयः । तथा तस्मिन्नेव चतुष्के भयजुगुप्सावेदकसम्यक्त्वानामन्यतमस्मिन् प्रक्षिप्ते पञ्चानामुदीरणा । अत्र भङ्गकानां भयजुगुप्सावेदकसम्यक्त्वेषु युगपत् प्रक्षिप्तेषु सप्तानामुदीरणा अत्रैका चतुर्विंशतिर्भङ्गकानां भयजुगुप्सानाम् । संप्रत्यपूर्वकरणस्योदीरणास्थानान्याह (उवोवारिल्लम्मित्ति) वरिता उपरितेन अपूर्वकरणेन चतुरादीनि षट्पर्यन्तानि त्रीण्युदीरणास्थानानि आह । तद्यथा चतस्रः पञ्च षट् । तत्र चतुर्णां संज्वलनक्रोधादीनामेकतमः । क्रोधादित्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः । द्वयोर्युगलयोरन्यतरद्युगलमित्येतासां चतसृणां प्रकृतीनां विरतस्य क्षायिकसम्यग्दृष्टेर्वा उदीरणाऽत्र द्वे चतुर्विंशती भङ्गकानामेताश्चापूर्वकरणसत्का भयजुगुप्सयोस्तु युगपत्प्रक्षिप्तयोः षण्णामुदीरणा । अत्र चैका चतुर्विंशतिर्भङ्गकानाम् एताश्चापूर्वकरणसत्काश्चतुर्विंशतयः । अस्मिन्नेव चतुष्के भयजुगुप्सायां वा क्षिप्तानां पञ्चानामुदीरणा । अत्र द्वे चतुर्विंशती भङ्गकानां भयजुगुप्सयोस्तु युगपत्प्रक्षिप्तयोः षण्णामुदीरणा । अत्रैका चतुर्विंशतिः । चतुर्विंशतयः परमार्थतः प्रमत्ताप्रमत्तचतुर्विंशतिका भिन्नस्वरूपा इति न पृथक् गणयिष्यन्ते ।

सम्प्रत्यनिवृत्तिबादरस्योदीरणास्थानान्याह ।

अनियट्टिम्मि दुगेगं, लोभो तणुरागजोगचउवीसा ।
एकग छक्कार-दसत्तचउक्क एक्काउ ॥२४८॥

(अनियट्टित्ति) अनिवृत्तिबादरे द्वे उदीरणास्थाने । तद्यथा द्वे प्रकृती एका च तत्र चतुर्णां संज्वलनक्रोधादीनामेकतमं क्रोधादित्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः । अत्र त्रिभिर्वेदैश्चतुर्भिः संज्वलनैर्द्वादश भङ्गाः । वेदेषु क्षीणेषूपशान्तेषु वा संज्वलनक्रोधादीनामेकतमं क्रोधादित्रयाणां वेदानामन्यतममुदीरयन्ति । तत्र चत्वारो भङ्गाः (लोभोतणुरागजोगत्ति) तनुरागयोग्यस्य सूक्ष्मसंपरायस्य सूक्ष्मलोभकिट्टीर्वेदयमानस्य लोभ एवैको मोहनीयमध्ये उदीरणायोग्यो भवति । संप्रति चतुरादिषु दशपर्यन्तेषु उदीरणास्थानेषु विरतायां यावत्यश्चतुर्विंशतयो भवन्ति तावतीर्निरूपयति- (चउवीसेत्ति) दशोदीरणायामेका चतुर्विंशतिः, नवोदीरणायां षट्, अष्टोदीरणायामेकादश सप्तोदीरणायां दश षडुदीरणायां सप्त पञ्चकोदीरणायां चतस्रः, चतुरुदीरणायामेकेति । एताश्चतुर्विंशतयः प्रागेव भवन्ति । केवलं संज्ञिनाममात्रमिदैकं स्वधिया परिभावनीयम् । तदेवमुक्तानि मोहनीयस्योदीरणास्थानानि दश । तद्यथा एकचत्वारिंशत् द्विचत्वारिंशत्पञ्चाशत् एकपञ्चाशत् द्विपञ्चाशत् त्रिपञ्चाशत् चतुःपञ्चाशत् पञ्चपञ्चाशत् षट्पञ्चाशच्चेति । तत्र तैजससप्तकं वर्णादिविंशतिरगुरुलघुस्थिरास्थिरे शुभाशुभे निर्माणमित्येतासां त्रयस्त्रिंशत् प्रकृतीनामुदीरणा ध्रुवा । तत्र मनुष्यगतिपञ्चेन्द्रियजातित्रसबादरपर्याप्तसुभगादेययशःकीर्तिरूपे अष्टके प्रक्षिप्ते सति एकचत्वारिंशद्भवति एतासां चैकचत्वारिंशत्प्रकृतीनां केवलिसमुद्घातगतः कार्मणकाययोगे वर्तमानः केवली उदीरको भवति । एवैव चैकचत्वारिंशत्तीर्थकरनामसहिता द्विचत्वारिंशद्भवति । तस्याश्च तीर्थकरकेवली समुद्घातगतः कार्मणकाययोगे वर्तमान उदीरकः । तस्यामेवैकचत्वारिंशति औदारिकसप्तके षण्णां संस्थानानामेकैकमेतत्संस्थानं वज्रऋषभनाराचसंहननम् । उपघातप्रत्येकमित्येकादशके प्रक्षिप्ते सति द्विपञ्चाशद्भवति । अत्र षड्भिः संस्थानैः षड् भङ्गास्ते च वक्ष्यमाणाः सामान्यमनुष्यभङ्गग्रहणेन गृहीता द्रष्टव्याः ।

एवमुत्तरत्रापि। एतस्याश्च द्विपञ्चाशतः सयोगिकेवलिसमुद्घातगतौदारिकमिश्रकाययोगे वर्तमाने उदीरकः एषैव च द्विपञ्चाशत्तीर्थकरनामसहिता त्रिपञ्चाशत्केवलमिह संस्थानं समचतुरस्रमेव वक्तव्यम्। अस्या अप्युदीरकाः सयोगकेवलितीर्थकरौदारिकमिश्रकाययोगे वर्तमाना वेदितव्याः। तथा सैव द्विपञ्चाशत् पराघातः उच्छ्वासनामप्रशस्ताप्रशस्तविहायोगतिरन्यतरा विहायोगतिः सुस्वरदुःस्वरयोरन्यतरनामेति प्रक्षेपात्त्रिपञ्चाशत् षट्पञ्चाशद्भवति। एवं च सयोगिकेवल्यौदारिककाययोगे वर्तमान उदीरकः सप्तपञ्चाशदेव वाग्योगनिरोधे षट्पञ्चाशत् उच्छ्वासेऽपि च निरुद्धे चतुःपञ्चाशत् अत्र द्विपञ्चाशच्चतुःपञ्चाशदूर्ध्वेषु शेषेषु तु पञ्चसु तीर्थकृताम्। तदेवमुक्तानि केवलिनामुदीरणास्थानानि। संप्रत्येकेन्द्रियाणामभिधीयन्ते। एकेन्द्रियाणामुदीरणास्थानानि पञ्च। तद्यथा द्विचत्वारिंशत्पञ्चाशत् एकपञ्चाशत् द्विपञ्चाशत् त्रिपञ्चाशच्चेति तत्र तिर्यग्गतितिर्यगानुपूर्वी। स्थावरनाम एकेन्द्रियजातिः बादरसूक्ष्मयोरेकतरयोः पर्याप्तापर्याप्तयोरेकतरं दुर्भगमनादेययशःकीर्त्ययशःकीर्त्योरेकतरमित्येता नव प्रकृतयः। प्रागुक्ताभिर्ध्रुवोदीरणाभिस्त्रयस्त्रिंशत्संख्याकाभिः सह सम्मिश्रा द्विचत्वारिंशद् भवन्ति। अत्र च भङ्गाः पञ्च। तद्यथा बादरसूक्ष्माभ्यां प्रत्येकं पर्याप्तापर्याप्ताभ्यामयशःकीर्त्या सह चत्वारि, बादरपर्याप्तयशःकीर्तिभिश्चैकः। सूक्ष्मापर्याप्ताभ्यां सह यशःकीर्तेरुदयो न भवति, तदभावाच्च नोदीरणेति कृत्वा तदाश्रिता विकल्पा न भवन्ति। एषा द्विचत्वारिंशदपान्तरालगतौ वर्तमानस्य वेदितव्या। ततः शरीरस्थस्यौदारिकशरीरौदारिकसंघातौदारिकबन्धनचतुष्टयहुण्डसंस्थानोपघातप्रत्येकसाधारणाभ्यामयशःकीर्त्या सह द्वौ सूक्ष्मस्य पर्याप्तापर्याप्तकप्रत्येकसाधारणैरयशःकीर्त्या सह चत्वारि इति दश बादरवायुकायिकस्य वैक्रियं कुर्वतः औदारिकषट्कस्थाने वैक्रियषट्कमवगन्तव्यम्। ततश्च तस्यापि पञ्चाशदेवोदीरणा योग्या भवन्ति केवलमिह बादरपर्याप्तप्रत्येकायशःकीर्तिपदैः एष एव भङ्गः तैजसकायिकवायुकायिकयोर्हि साधारणयशःकीर्त्योरुदयो न भवति तदभावाच्च नाप्युदीरणा ततस्तदाश्रिता भङ्गा न प्राप्यन्ते। तदेवं सर्वसंख्यया पञ्चाशदेकादश भङ्गास्ततः शरीरपर्याप्तापर्याप्तस्य पराघाते उच्छ्वासक्षिप्ते एकपञ्चाशद्भवति। अत्र भङ्गाः षट्। तद्यथा-बादरस्य प्रत्येकसाधारणयशःकीर्त्ययशःकीर्तिपदैश्चत्वारः। सूक्ष्मप्रत्येकसाधारणाभ्यामयशःकीर्त्या सह द्वौ बादरवायुकायिकस्य च वैक्रियं कुर्वतः शरीरपर्याप्तापर्याप्तपराघाते क्षिप्ते एका प्रागुक्ता पञ्चाशत् भवति पञ्चाशदत्र च प्रागवदेक एव भङ्गः। सर्वसंख्यया चैकपञ्चाशदतः सप्त भङ्गाः। ततः प्राणापानपर्याप्तापर्याप्तस्य उच्छ्वासे क्षिप्ते द्विपञ्चाशद्भवति। अत्रापि भङ्गाः षट्। तद्यथा बादरस्योद्योतेन सहितस्य प्रत्येकसाधारणयशःकीर्त्ययशःकीर्तिपदैश्चत्वारः। आतपसहितस्य प्रत्येकयशःकीर्त्ययशःकीर्तिपदैर्द्वौ भङ्गौ। बादरवायुकायिकस्य वैक्रियं कुर्वतः प्राणापानपर्याप्तापर्याप्तस्य उच्छ्वासे क्षिप्ते प्रागुक्ता एकपञ्चाशत् द्विपञ्चाशत् भवति। तत्र च प्राग्वदेक एव भङ्गः। तैजसकायिकवायुकायिकयोर्हि आतपोद्योतयशःकीर्तीनामुदयाभावात् उदीरणा न भवति। ततस्तदाश्रिता भङ्गाः अत्र न प्राप्यन्ते। सर्वसंख्यया द्विपञ्चाशद्भङ्गास्त्रयोदश तथा-प्राणापानपर्याप्तापर्याप्तस्य उच्छ्वाससहितायां द्विपञ्चाशत्। आतपोद्योतयोरन्यतरस्मिन् क्षिप्ते त्रिपञ्चाशद्भवति अत्र भङ्गाः षट्। अत्र भङ्गा ये प्रागातपोद्योतान्यतरसहितायां द्विपञ्चाशदभिहिताः सर्वसंख्यया चैकेन्द्रियाणां भङ्गा द्विचत्वारिंशत् द्वीन्द्रियाणामुदीरणास्थानानि षट्। तद्यथा द्विचत्वारिंशदपान्तरालगतौ वर्तमानस्यावसेयाः। अत्र च भङ्गास्त्रय तद्यथा अपर्याप्तकनामोदये वर्तमानस्यायशःकीर्त्या सह एको भङ्गः पर्याप्तकनामोदये वर्तमानस्य यशःकीर्त्ययशःकीर्तिभ्यां द्वाविंशतिः। ततः शरीरस्थस्यौदारिकसप्तकं हुण्डकसंस्थानसंघातसंहननमुपघातनामप्रत्येकनामेत्येकादशकं प्रक्षिप्यते तिर्यगानुपूर्वी चापनीयते। ततो जाता द्विपञ्चाशत्। अत्र च भङ्गास्त्रयस्ते च प्रागिव द्रष्टव्याः। ततः शरीरपर्याप्तापर्याप्तस्य विहायोगतिपराघातयोः प्रक्षिप्तयोः चतुःपञ्चाशत् भवति। अत्र यशःकीर्त्ययशःकीर्तिभ्यां द्वौ भङ्गौ ततः प्राणापानपर्याप्तस्य उच्छ्वासे क्षिप्ते पञ्चाशत् सुस्वरदुःस्वरयोरेकतरस्मिन् पञ्चाशद्भवति। अत्रापि प्रागिव द्वौ भङ्गौ। अथवा शरीरपर्याप्तौ उच्छ्वासे अनुदिते सदुद्योतनाम्नि तूदिते पञ्चपञ्चाशद्भवति। अत्र दुःस्वरसुस्वरयशःकीर्त्ययशःकीर्तिभ्यां द्वौ भङ्गौ सर्वेऽपि षट्पञ्चाशति षट् भङ्गाः ततो भाषापर्याप्तापर्याप्तस्य स्वरसहितायां षट्पञ्चाशति उद्योतनाम्नि प्रक्षिप्ते सप्तपञ्चाशद् भवति अत्र सुस्वरदुःस्वरयोर्यशःकीर्त्ययशःकीर्तिपदैश्चत्वारो भङ्गाः सर्वे द्वीन्द्रियाणां भङ्गा द्वाविंशतिः। एवं त्रीन्द्रियजातिश्चतुरिन्द्रियाणां चतुरिन्द्रियजातिरभिधातव्या। प्रत्येकं भङ्गा द्वाविंशतिरवसेया। सर्वसंख्यया विकलेन्द्रियाणां भङ्गाः षट्षष्टिः। तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां वैक्रियलब्धिरहितानामुदीरणास्थानानि षट्। तद्यथा द्विचत्वारिंशत् द्विपञ्चाशत् षट्पञ्चाशत् सप्तपञ्चाशच्चेति। तत्र तिर्यग्गतितिर्यगानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजातित्रसनामबादरनामपर्याप्तापर्याप्तयोरेकतरं सुभगादेययुगलदुर्भगानादेययुगलयोरेकतरं युगलं यशःकीर्त्ययशःकीर्त्योरेकतरोऽन्ये तावत्यः प्रकृतयः प्रागुक्तास्त्रयस्त्रिंशत्संख्यकाभिर्ध्रुवोदीरणाभिः सह चत्वारिंशत् अपान्तरालगतौ वर्तमानस्य वेदितव्याः। अत्र च भङ्गाः पञ्च। तत्र पर्याप्तकनामोदये वर्तमानस्य सुभगादेययुगलदुर्भगानादेययुगलाभ्यां यशःकीर्त्ययशःकीर्तिभ्यां चत्वारो भङ्गाः। अपर्याप्तकनामोदये वर्तमानस्य दुर्भगानादेयायशःकीर्तिभिः एक एव भङ्गः। इह सुभगादेये दुर्भगानादेये वा युगपदुदयमायातस्तत उदीरणापि युगपदेवेति पञ्चैव भङ्गाः। अपरे पुनराहुः। सुभगादेययोर्दुर्भगानादेययोर्वा नैरयिका वा तेन युगपदेका उभयोर्भावनियमोऽन्यादर्शनात्। ततः पर्याप्तकनामोदये वर्तमानस्य सुभगदुर्भगादेयानादेययशःकीर्त्ययशःकीर्तिभिरष्टौ भङ्गाः। अपर्याप्तकनामोदये वर्तमानस्य तु दुर्भगानादेयायशःकीर्तिभिरेक इति। सर्वसंख्यया द्विचत्वारिंशत् नव ततः शरीरस्थस्यौदारिकसप्तकं षण्णां संस्थानानामेकतमसंहननमुपघातं प्रत्येकनामेत्येकादशकं प्रक्षिप्यते तिर्यगानुपूर्वी चापनीयते ततो द्विपञ्चाशद्भवति अत्र भङ्गानां पञ्चचत्वारिंशत् तद्यथा पर्याप्तकस्य षड्भिः संस्थानैः षड्भिः संहननैः सुभगादेयानादेययशःकीर्तिभिरेक इति। तत्र पर्याप्तकस्य षड्भिः संस्थानैः षड्भिः संहननैः सुभगदुर्भगाभ्यामादेयानादेयाभ्यां यशःकीर्त्ययशःकीर्तिभ्यां द्वे शते अष्टाशीत्यधिके। अपर्याप्तकस्य तु प्रागुक्तस्वरूप एक एवेति। तस्यामेव द्विपञ्चाशति शरीरपर्याप्तापर्याप्तपराघातप्रश-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्ताप्रशस्तान्यतरविहायोगतौ च प्रक्षिप्तायां चतुःपञ्चाशद्भवति । अत्र पर्याप्तानां प्राक् चतुश्चत्वारिंशतं भङ्गकानमुक्तम् । तेदेवमुक्तविहायोगतिद्विकगुणितमवगन्तव्यम् तथाच सत्यत्र भङ्गानां द्वे शते अष्टाशीत्यधिके भवतः मतान्तरेण पुनः पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि ततः प्राणापानपर्याप्तापर्याप्तस्य उच्छ्वासक्षिप्ते पञ्चपञ्चाशद्भवति । अत्रापि प्रागिव भङ्गानां द्वे शते अष्टाशीत्यधिके मतान्तरेण पञ्चशतानि षट्सप्तत्यधिकानि ततः प्राणापानपर्याप्तापर्याप्तस्य उच्छ्वासक्षिप्ते पञ्चपञ्चाशद्भवति अत्रापि प्रागिव सर्वसंख्यया पञ्चाशति स्वमतेन भङ्गकानां पञ्च शतानि षट्सप्तत्याधिकानि । मतान्तरेण तु द्विपञ्चाशदधिकानि एकादश शतानि । ततो भाषापर्याप्तापर्याप्तस्य सुस्वरदुःस्वरयोरन्यतरस्मिन् क्षिप्ते षट्पञ्चाशद्भवति । तत्र स्वमतचिन्तायां उच्छ्वासेन द्वे शते अष्टाशीत्यधिके भङ्गकानां प्राक् लब्धे ते इह स्वरद्विके तु गण्यते ततो लब्धानि पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि । मतान्तरेण पुनरिह द्विपञ्चाशद्भवति । अत्र स्वमतचिन्तायां प्रागिव द्वे शते अष्टाशीत्यधिके भङ्गकानां मतान्तरेण पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि सर्वसंख्यया स्वमतेन षट्पञ्चाशति भङ्गा अष्टशतानि चतुःषष्ट्यधिकानि । मतान्तरेण सप्तदश शतान्यष्टाविंशत्यधिकानि ततः स्वरसहितायां षट्पञ्चाशत्शतानि षट्सप्तत्यधिकानि । मतान्तरेण द्विपञ्चाशदधिकानि एकादश शतानि त एवात्राऽपि द्रष्टव्याः । तथा तेषामेव तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां वैक्रियं कुर्वतामुदीरणास्थानानि पञ्च भवन्ति तद्यथा एकपञ्चाशत् त्रिपञ्चाशत् चतुःपञ्चाशत् षट्पञ्चाशच्चेति । तत्र वैक्रियसप्तकं समचतुरस्रसंस्थानमुपघातं प्रत्येकमिति प्रकृतिदशकं प्रागुक्तायां तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां प्रायोग्या द्विचत्वारिंशत्प्रक्षिप्यते तिर्यगानुपूर्वी चापनीयते तत एकपञ्चाशद्भवति । अत्र सुभगादेययुगलदुर्भगानादेययुगलयशः कीर्त्ययशःकीर्तिपर्याप्तिपदैश्चत्वारो भङ्गाः । मतान्तरेण पुनः सुभगदुर्भगाभ्यामादेयानादेयाभ्यां यशः कीर्त्ययशःकीर्तिभ्यां च पर्याप्तकेन सहाष्टौ भङ्गाः ततः शरीरपर्याप्तापर्याप्तस्य पराघाते प्रशस्तविहायोगतौ च प्रक्षिप्तायां पञ्चाशद्भवति । अत्रापि प्रागिव चत्वारो भङ्गाः । मतान्तरेण पुनरष्टौ ततः प्राणापानपर्याप्तापर्याप्तस्य उच्छ्वासनाम्नि प्रक्षिप्ते चतुःपञ्चाशद्भवति । अत्रापि प्रागिव स्वमतेन भङ्गाश्चत्वारो मतान्तरेणाष्टौ सर्वसंख्यया चतुःपञ्चाशत् । स्वमतेनाष्टौ भङ्गाः । मतान्तरेण षोडश । ततो भाषापर्याप्तापर्याप्तस्य उच्छ्वाससहितायां पञ्चपञ्चाशति उद्योते क्षिप्ते षट्पञ्चाशद्भवति अत्रापि भङ्गाः स्वमतेन चत्वारो मतान्तरेणाष्टौ । सर्वस्यसंख्यया वैक्रियं कुर्वतां तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां भङ्गा अष्टाविंशतिः मतान्तरेण षट्पञ्चाशत् । सामान्येन तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां स्वमतेन भङ्गाश्चतुर्विंशतिशतानि द्वादशाधिकानि, मतान्तरेण एकोनपञ्चाशच्छतानि द्विषष्ट्यधिकानि ।

सम्प्रतिमनुष्याणामुदीरणास्थानानि प्रतिपाद्यन्ते । तत्र केवलिनां प्रागेवोक्तानि अन्येषां तु पञ्च । तद्यथा द्विचत्वारिंशद् त्रिपञ्चाशच्चतुःपञ्चाशत्पञ्चपञ्चाशत् षट्पञ्चाशच्चेति । एतानि सर्वाण्यपि यथाप्राक् तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामुक्तानि तथैवात्रापि वक्तव्यानि नवरं तिर्यग्गतितिर्यगानुपूर्व्योः स्थाने मनुष्यगतिमनुष्यानुपूर्व्यौ वक्तव्ये पञ्चपञ्चाशत् षट्पञ्चाशच्च उद्योतरहिता वक्तव्या वैक्रियाहारकसंयतान्मुक्त्वा स्वमतेन द्विचत्वारिंशति पञ्च त्रिपञ्चाशति पञ्च शतानि षट् सप्तत्यधिकानि परमतेन तु यथाक्रम | १ | २ | ७ | ८ | ५ | ७ | ६ | ५७६ | ११५२ | वैक्रियमपि कुर्वतां मनुष्याणामुदीरणास्थानानि पञ्च भवन्ति । तद्यथा एकपञ्चाशत् त्रिपञ्चाशच्चतुःपञ्चाशत् षट्पञ्चाशच्चेति । तत्र एकपञ्चाशत् त्रिपञ्चाशच्च यथा प्राग्वैक्रियं मुक्त्वा तथात्रापि द्रष्टव्या चतुःपञ्चाशत् उच्छ्वाससहितायां प्रागिव स्वमतेन चत्वारो भङ्गाः मतान्तरेणाष्टौ । उत्तरवैक्रियं कुर्वतां संयतानामुद्योतनाम्नोदयं गच्छति नान्येषां ततस्तेन सह चतुःपञ्चाशदुच्छ्वासप्रशस्त एवैको भङ्गो भवति संयतानां दुर्भगानादेयायशःकीर्त्युदयाभावात् । सर्वसंख्यया चतुःपञ्चाशत् । स्वमतेन भङ्गाश्चत्वारो मतान्तरेणाष्टौ । अथवा संयतानां स्वरे अनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते पञ्चपञ्चाशद्भवति । अत्रापि प्रागिव एक एव भङ्गः सर्वसंख्यया पञ्चपञ्चाशति स्वमतेन पञ्च भङ्गाः मतान्तरेण नव पञ्चपञ्चाशति सुस्वरसहितायामुद्योते क्षिप्ते षट्पञ्चाशद् भवति तस्याश्चैक एव प्रशस्तो भङ्गः । सर्वसंख्यया वैक्रियमनुष्याणामन्यमतेनैकोनविंशतिभङ्गा मतान्तरेण पञ्चत्रिंशत् ।

संप्रत्याहारकं कुर्वतामुदीरणास्थानान्युच्यन्ते आहारकसंयतानामुदीरणास्थानानि पञ्च । तद्यथा एकपञ्चाशत् त्रिपञ्चाशच्चतुः पञ्चाशत् पञ्चपञ्चाशत् षट्पञ्चाशच्चेति । तत्राहारकसप्तकं समचतुरस्रसंस्थानमुपघातं प्रत्येकमिति प्रकृतिदशकं प्रागुक्तायां मनुष्यगतिप्रायोग्यायां द्विचत्वारिंशति प्रक्षिप्यते मनुष्यानुपूर्वी चापनीयते । ततः एकपञ्चाशद्भवति केवलमिह सर्वाण्यपि पदानि प्रशस्तानि एवेति कृत्वा एक एव भङ्गः । शरीरपर्याप्तापर्याप्तस्य प्रशस्तविहायोगतिपराघातयोः प्रक्षिप्तयोस्त्रिपञ्चाशद्भवति । अत्राप्येक एव भङ्गः शरीरपर्याप्तः । ततः प्राणापानपर्याप्तापर्याप्तस्य उच्छ्वासे क्षिप्ते चतुःपञ्चाशद्भवति । अत्राप्येक एव भङ्गः । सर्वसंख्यया चतुःपञ्चाशति द्वौ भङ्गौ ततो भाषापर्याप्तापर्याप्त उच्छ्वाससहितायां चतुःपञ्चाशति सुस्वरे क्षिप्ते पञ्चपञ्चाशद्भवति । अत्रापि प्राग्वदेक एव भङ्गः । अथवा प्राणापानपर्याप्तापर्याप्तस्य स्वरे अनुदिते उद्योतनाम्नि उदिते पञ्चपञ्चाशद् भवति अत्राप्येक एव भङ्गः सर्वसंख्यया पञ्चपञ्चाशति द्वौ भङ्गौ । ततो भाषापर्याप्तापर्याप्तस्य स्वरसहितायां पञ्चपञ्चाशति उद्योते क्षिप्ते षट्पञ्चाशद्भवति । अत्राप्येक एव भङ्गः आहारकशरीरिणः सर्वसंख्यया सप्त भङ्गाः । तदेवं मनुष्याणां सामान्यवैक्रियशरीराहारकशरीरकेवलिनां भङ्गाः सर्वसंख्यया त्रयोदश शतानि चतुस्त्रिंशदधिकानि भवन्ति । परमतेन षड्विंशतिशतानि पञ्चाशदधिकानि ।

देवानामुदीरणास्थानानि षट् । तद्यथा द्विचत्वारिंशत् एकपञ्चाशत् त्रिपञ्चाशत् चतुःपञ्चाशत् पञ्चपञ्चाशत् षट्पञ्चाशच्चेति । तत्र देवगतिर्देवानुपूर्वीपञ्चेन्द्रियजातिः । त्रसनामबादरनामपर्याप्तनामशुभगादेययुगलदुर्भगानादेययुगलयोरेकतरं युगलं यशःकीर्त्ययशःकीर्त्योरेकतरेऽन्या नवप्रकृतयो नवोदीरणाभिश्चध्रुवत्रिंशत्संख्याकाभिः सह संमिश्रा द्विचत्वारिंशद्भवति । अत्र शुभगादेयदुर्भगानादेययुगलयशःकीर्तिभ्यां चाष्टौ भङ्गाः ततश्शरीरस्थस्य वैक्रियसप्तकं समचतुरस्रसंस्थानमुपघातं प्रत्येकमित्येता दश प्रकृतयः प्रक्षिप्यन्ते देवानुपूर्वी चापनीयते । ततः एकपञ्चाशत् भवति । अत्रापि प्रागिव स्वमतेन चत्वारो भङ्गाः मतान्तरेणाष्टौ । ततः शरीरपर्याप्तापर्याप्तस्य पराघातप्रशस्तविहायोगत्योः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रक्षिप्तयोः त्रिपञ्चाशद्भवति । अत्रापि प्रागिव स्वमतेन चत्वारो भङ्गा मतान्तरेणाष्टौ। देवानां प्रशस्तविहायोगतेरुदयाभावात् तदाश्रिता भङ्गा न प्राप्यन्ते । ततः प्राणापानपर्याप्तापर्याप्तस्य उच्छ्वासे क्षिप्ते चतुः पञ्चाशद्भवति । अत्रापि स्वमतेन चत्वारो भङ्गाः मतान्तरेणाष्टौ । अथवा शरीरपर्याप्तापर्याप्तस्य उच्छ्वासे अनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते चतुःपञ्चाशद्भवति अत्रापि प्रागिव स्वमतेन भङ्गाश्चत्वारो, मतान्तरेणाष्टौ । अथवा शरीरपर्याप्तापर्याप्तस्य उच्छ्वासे अनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते च सर्वसंख्यया चतुःपञ्चाशत् स्वमतेनाष्टौ भङ्गा मतान्तरेण षोडश ततो भाषापर्याप्तापर्याप्तस्य उच्छ्वाससहितायां चतुःपञ्चाशति सुस्वरे क्षिप्ते पञ्चपञ्चाशद्भवति अत्रापि स्वमतेन भङ्गाश्चत्वारो मतान्तरेणाष्टौ सर्वसंख्यया पञ्चपञ्चाशत् । स्वमतेनाष्टौ भङ्गा मतान्तरेणापि तु षोडश भाषापर्याप्तापर्याप्तस्य सुस्वरसहितायां पञ्चपञ्चाशति उद्योते क्षिप्ते षट्पञ्चाशद्भवति । अत्रापि स्वमतेनैव चत्वारो भङ्गा मतान्तरेणाष्टौ सर्वसंख्यया देवानां स्वमतेन द्वात्रिंशद्भङ्गाः मतान्तरेण चतुःषष्टिः । नैरयिकाणामुदीरणास्थानानि पञ्च । तद्यथा-द्विचत्वारिंशदेकपञ्चाशत् त्रिपञ्चाशच्चतुःपञ्चाशत्पञ्चपञ्चाशच्चेति । तत्र नरकगतिनरकानुपूर्व्योः पञ्चेन्द्रियजातित्रसबादरपर्याप्तदुर्भगानादेयायशःकीर्तिश्च इत्येता नव प्रकृतयो ध्रुवोदीरणाभिस्त्रयस्त्रिंशत्संख्याकाभिः सह सम्मिश्रा द्विचत्वारिंशद्भवति । अत्र च सर्वाण्यपि पदानि अप्रशस्तान्येवेति कृत्वा एक एव भङ्गः । ततश्शरीरस्थस्य वैक्रियसप्तकहुण्डकसंस्थानमुपघातप्रत्येकमिति दश प्रकृतयः प्रक्षिप्यन्ते । नरकानुपूर्वी चापनीयते । तत एकपञ्चाशद् भवति । अत्राप्येक एव भङ्गः । ततः शरीरपर्याप्तापर्याप्तस्य पराघातप्रशस्तविहायोगत्योः प्रक्षिप्तयोः त्रिपञ्चाशद्भवति । अत्राप्येक एव भङ्गः । ततः प्राणापानपर्याप्तापर्याप्तस्य उच्छ्वासे क्षिप्ते चतुःपञ्चाशद्भवति । अत्राप्येक एव भङ्गः । ततो भाषापर्याप्तापर्याप्तस्य दुःस्वरे क्षिप्ते पञ्चपञ्चाशद्भवति । अत्राप्येक एव भङ्गः । सर्वसंख्यया नैरयिकाणां पञ्च भङ्गाः । तदेवमुक्तानि नामकर्मण उदीरणास्थानानि ।

संप्रत्येतान्येव गुणस्थानकेषु दर्शयति ।

गुणिसु नामस्स तत्र, सत्त तिण्णि अट्ठ च छप्पं च ।
अप्पमत्ते दो एक, पंचसु एक्कम्मि अट्ठ ॥ २४९ ॥

नाम्नो नामकर्मणो गुणिषु गुणस्थानेषु मिथ्यादृष्टिप्रभृतिषु सयोगिकेवलिपर्यन्तेषु यथासंख्यया नवादिषु सङ्ख्या उदीरणास्थानानि भवन्ति । तत्र मिथ्यादृष्टिषु नवोदीरणास्थानानि । तद्यथा त्रिचत्वारिंशत् पञ्चाशत् द्विपञ्चाशत् त्रिपञ्चाशदेकपञ्चाशद् द्विपञ्चाशत् त्रिपञ्चाशत् चतुःपञ्चाशत् षट्पञ्चाशच्चेति । अमूनि च सर्वाण्यपि मिथ्यादृष्टीन्येकेन्द्रियादीन्यधिकृत्य स्वयं परिभावनीयानि । सास्वादनसम्यग्दृष्टेरुदीरणास्थानानि सप्त । तद्यथा द्विचत्वारिंशत् पञ्चाशत् एकपञ्चाशत् द्विपञ्चाशत् पञ्चपञ्चाशत् षट्पञ्चाशत्सप्तपञ्चाशच्चेति । तत्र द्विचत्वारिंशत् बादरैकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यदेवानां सास्वादनसम्यग्दृष्टीनामपान्तरालगतौ वर्तमानानामवसेया । तथा एकेन्द्रियाणां शरीरस्थानां पञ्चाशत् देवानां शरीरस्थानामेकपञ्चाशद्विकलेन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्याणां शरीरस्थानां द्विपञ्चाशत् एवं नैरयिकाणां पर्याप्तानां सासादनसम्यक्त्वे वर्तमानानां पञ्चपञ्चाशत् । तिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यदेवानां पर्याप्तानां षट्पञ्चाशत् । तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामुद्योतवेदकानां पर्याप्तानां सप्तपञ्चाशत् । सम्यग्मिथ्यादृष्टेस्त्रीण्युदीरणास्थानानि । तद्यथा पञ्चपञ्चाशत्सप्तपञ्चाशच्चेति । तत्र देवनैरयिकाणामेव पञ्चपञ्चाशदविरतसम्यग्दृष्टेरष्टावुदीरणास्थानानि तद्यथा द्विचत्वारिंशदेकपञ्चाशच्चेति । तत्र नैरयिकदेवतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्याणां द्विचत्वारिंशद् देवनैरयिकाणामेकपञ्चाशत् तिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्याणां द्विपञ्चाशत्, देवनैरयिकतिर्यङ्मनुष्याणां त्रिपञ्चाशत् देवनैरयिकाणामेकपञ्चाशत् सप्तपञ्चाशच्चेति । तिर्यक्पञ्चेन्द्रियवैक्रियतिर्यङ्मनुष्याणां त्रिपञ्चाशच्चतुःपञ्चाशदेतेषामेव पञ्चपञ्चाशदपि तदेव तिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्याणां षट्पञ्चाशत् तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामुद्योतवेदिकानां सप्तपञ्चाशत्, देशविरतस्योदीरणास्थानानि षट् । तद्यथा एकपञ्चाशत् त्रिपञ्चाशच्चतुःपञ्चाशत् पञ्चपञ्चाशत् षट्पञ्चाशत् सप्तपञ्चाशच्चेति । तत्र एकपञ्चाशत् त्रिपञ्चाशच्चतुःपञ्चाशत् पञ्चपञ्चाशच्चेति । तिर्यग्मनुष्याणां वैक्रियशरीरे वर्तमानानामवगन्तव्या । तिर्यग्मनुष्याणामेव स्वभावस्थानां वैक्रियशरीरिणां षट्पञ्चाशत् तेषामेव तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामुद्योतसहितानां सप्तपञ्चाशत् प्रमत्तसंयतानामुदीरणास्थानानि पञ्च तद्यथा एकपञ्चाशद् द्विपञ्चाशत् त्रिपञ्चाशत् चतुःपञ्चाशत् पञ्चपञ्चाशत् षट् पञ्चाशच्चेति । तत्र पञ्चाप्येतानि वैक्रियशरीरिणामाहारकशरीरिणां वा द्रष्टव्यानि षट् पञ्चाशत् पुनरौदारिकस्थानमवगन्तव्यम् । अप्रमत्तसंयतानां द्वे उदीरणास्थाने तद्यथा पञ्चपञ्चाशत् षट्पञ्चाशच्चेति । तत्र षट्पञ्चाशदौदारिके स्थाने इह केषांचित् वैक्रियशरीरस्थानामाहारकशरीरस्थानां वा संयतानां वा सर्वपर्याप्तापर्याप्तानां कियत्कालप्रमत्तभावो पि लभ्यते इति तेषां द्वे अप्युक्तरूपे उदीरणास्थाने । एकः पञ्च मुहूर्ताः पञ्चसु गुणस्थानकेषु अपूर्वकरणानिवृत्तबादरसूक्ष्मसंपरायोपशान्तमोहक्षीणमोहरूपेषु एकमुदीरणास्थानं भवति । षट् पञ्चाशत् सा च औदारिकशरीरस्थानमिति (एकम्मिअट्ठत्ति) एकस्मिन् सयोगिकेवलिगुणस्थानके अष्टावुदीरणास्थानानि तद्यथा एकचत्वारिंशत् द्विचत्वारिंशत् द्विपञ्चाशत् त्रिपञ्चाशत् चतुःपञ्चाशत् पञ्चपञ्चाशत् षट्पञ्चाशत् सप्तपञ्चाशच्चेति । एतानि च प्रागेव सप्रपञ्चं भावितानि इति नेह भूयो भाव्यन्ते । तदेवं चिन्तितानि गुणस्थानकेषु उदीरणा स्थानानि ।

संप्रति कस्मिन्नुदीरणास्थाने कति भङ्गाः प्राप्यन्ते इति चिन्तायां तन्निरूपणार्थमाह ।

ठाणकमेण भंगा, वि एक्कतीसेक्कारस ।
इगतीस वा बारस-सए य इगवीसछच्चसया ॥२५०॥
छह छहिया नव सया य; एगहिया य अउणुत्तारि ।
णाओ चउदस सयाणि, गुण नउइसया पंच ॥२५१॥

स्थानक्रमेण एकचत्वारिंशत्येको भङ्गः । स च तीर्थकरकेवलिनः द्विचत्वारिंशति विंशतिर्भङ्गाः । तत्र नैरयिकानधिकृत्य एकः एकेन्द्रियानधिकृत्य पञ्च द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियानधिकृत्य प्रत्येकं त्रिकं त्रिकं प्राप्यते इति नव । तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य पञ्च,मनुष्यानप्यधिकृत्य पञ्च,तीर्थकरमधि-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कृत्य एकः । देवानधिकृत्य चत्वारः । ये पुनः सुभगादेययोर्दुर्भगानादेययोश्च केवलकेवलयोरप्युदयमिच्छन्ति तन्मतेन द्विचत्वारिंशति त्रिचत्वारिंशद्भङ्गाः । यतस्तन्मतेन तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य नव, मनुष्यानधिकृत्य नव,देवानधित्याष्टौ भङ्गाः प्राप्यन्ते शेषं तथैव । पञ्चाशत्येकादश भङ्गास्ते चैकेन्द्रियान्देवानधिकृत्य प्राप्यन्ते । अन्यत्र पञ्चाशतः प्राप्यमाणत्वात् । एकपञ्चाशत्येकविंशति भङ्गाः। तत्र नैरयिकानधिकृत्य चत्वारो वैक्रियमनुष्यानाधिकृत्य चत्वारः आहारकशरीरिणः संयतानधिकृत्य नव देवानाश्रित्य चत्वार इत्येकविंशतिः। मतान्तरेण पुनर्वैक्रियतिर्यङ्मनुष्यदेवानाधिकृत्य प्रत्येकमष्टावष्टौ भङ्गाः प्राप्यन्ते इत्येकपञ्चाशति तदपेक्षया त्रयस्त्रिंशद्भङ्गाः । (सत्तरसतिंसयपत्ति) त्रिंशद्द्वादशाधिका त्रिंशति भङ्गानां द्विपञ्चाशतिरवगन्तव्याः । तत्र एकेन्द्रियानाश्रित्य त्रयोदश द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियानधिकृत्य प्रत्येकं त्रिकं प्राप्यते इति नव। तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य पञ्चचत्वारिंशतं मनुष्यानप्यधिकृत्य पञ्चचत्वारिंशतम् । अत्रापि मतान्तरेण तिर्यक्पञ्चेन्द्रियान् मनुष्यांश्चाधिकृत्य प्रत्येकं द्वे द्वे शते भङ्गानामेकोनवत्यधिके प्राप्येते इति तदपेक्षया द्विपञ्चाशद्भङ्गानां शतानि षट् प्राप्यन्ते । त्रिपञ्चाशति भङ्गानामेकविंशतिः तद्यथा मनुष्यांश्चाधिकृत्य प्रत्येकं द्वे द्वे शते भङ्गानामेकोननवत्यधिके प्राप्येते तदपेक्षया मनुष्यदेवानधिकृत्य प्रत्येकमष्टौ भङ्गाः प्राप्यन्ते इति तदपेक्षया त्रिपञ्चाशति त्रयस्त्रिंशद्भङ्गाः चतुःपञ्चाशति भङ्गानां षट् शतानि षडुत्तराणि तद्यथा नैरयिकाणां प्रत्येकमष्टावष्टौ भङ्गाः प्राप्यन्ते इति तदपेक्षया त्रिपञ्चाशति त्रयस्त्रिंशद्भङ्गाः चतुःपञ्चाशति भङ्गानां षट्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियान् स्वभावस्थानधिकृत्य द्वे शते अष्टाशीत्यधिके वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्याष्टौ स्वभावस्थान्मनुष्यानधिकृत्य द्वे शते अष्टाशीत्यधिके वैक्रियमनुष्यानधिकृत्य द्वे शते अष्टाशीत्यधिके वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्याष्टौ स्वभावस्थान् मनुष्यानधिकृत्य द्वे शते अष्टाशीत्यधिके वैक्रियमनुष्यानधिकृत्य चत्वारः संहतान् वैक्रियशरीरिणः संयतानधिकृत्य द्वौ देवानधिकृत्योद्योतेन सहैकः । आहारिकशरीरिणः संयतानधिकृत्य पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य षोडश मनुष्यानधिकृत्य पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि वैक्रियमनुष्यानधिकृत्य नव देवानधिकृत्य षोडश भङ्गाः प्राप्यन्ते शेषं तथैवेति तदपेक्षया चतुःपञ्चाशदधिकानि द्वादश शतानि पञ्चशतानि भङ्गानां नव शतानि एकाधिकानि । तद्यथा नैरयिकानधिकृत्यैकः द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियानधिकृत्य प्रत्येकं चत्वारः २ प्राप्यन्ते इति द्वादश । तिर्यक्पञ्चेन्द्रियान् स्वभावस्थानधिकृत्य प्रत्येकं चत्वारःप्राप्यन्ते इति द्वादश तिर्यक्पञ्चेन्द्रियान् स्वभावस्थानाधिकृत्य द्वे शते अष्टाशीत्यधिके वैक्रियशरीरिणोऽधिकृत्य चत्वारः वैक्रियसंयतानधिकृत्योद्योतेन सहैकः आहारकशरीरिणोऽधिकृत्य चत्वारः तीर्थकरमधिकृत्यैकः देवानधिकृत्याष्टाविति । मतान्तरेण तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य द्विपञ्चाशदधिकान्येकादश शतानि । वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य षोडश मनुष्यान् स्वभावस्थानधिकृत्य पञ्च शतानि षट् सप्तत्यधिकानि वैक्रियमनुष्यानधिकृत्य नव देवानधिकृत्य षोडश भङ्गाः प्राप्यन्ते शेषं तथैवेति । तदपेक्षया पञ्चपञ्चाशति पञ्चाशीत्यधिकसप्तदश शतानि षट्पञ्चाशति भङ्गानामेकोनसप्तत्यधिकानि चतुर्दश शतानि तद्यथा द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियानधिकृत्य प्रत्येकं षट् प्राप्यन्ते इति अष्टादश । तिर्यक्पञ्चेन्द्रियान् स्वभावस्थानधिकृत्याष्टौ शतानि चतुर्दशशतानि चतुःषष्ट्यधिकानि वैक्रियशरीरिणोऽधिकृत्य चत्वारःमनुष्यानधिकृत्य पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि, वैक्रियशरीरिणः संयतानधिकृत्योद्योतेन सहैकः । आहारकशरीरिणः संहतानधिकृत्यैकः तीर्थकरमाश्रित्यैकः देवानधिकृत्य चत्वारः । अत्र मतान्तरेण तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य सप्तदश शतानि भङ्गानां भवन्ति सप्तपञ्चाशद्भङ्गानां पञ्चाशति एकोननवत्यधिकानि प्रत्येकं चत्वारः २ प्राप्यन्ते इति द्वादश । तिर्यक्पञ्चेन्द्रियान धिकृत्य पञ्च शतानि एकादश शतानि भङ्गानां प्राप्यन्ते षट्सप्तत्यधिकानि तीर्थकरमाश्रित्यैक इति । अत्रापि मतान्तरेण तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य द्विपञ्चाशदधिकानि एकादश शतानि भङ्गानां प्राप्यन्ते शेषं तथैवेति । तदपेक्षया सप्तपञ्चाशत् पञ्चषष्ट्यधिकान्येकादश शतानि भङ्गानां भवन्ति ।

(अनयोर्व्याख्या पुस्तकान्तरे एवं दृश्यते । तद्यथा)

" स्थानक्रमेण एकचत्वारिंशत्येको भङ्गः । स च तीर्थकरकेवलिनः द्विचत्वारिंशति त्रिशङ्गाः । तत्र नैरयिकानधिकृत्य एकः एकेन्द्रियानधिकृत्य पञ्च द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियानधिकृत्य प्रत्येकं त्रिकं त्रिकं प्राप्यते इति नव । तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य पञ्च, मनुष्यानप्यधिकृत्य पञ्च, तीर्थकरमधिकृत्य एकः देवानधिकृत्य चत्वारः । ये पुनः सुभगादेययोर्दुर्भगानादेययोश्च केवलकेवलयोरप्युदयमिच्छन्ति तन्मतेन द्विचत्वारिंशति द्विचत्वारिंशद्भङ्गाः यतस्तन्मतेन तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाण्यधिकृत्य नव, मनुष्यानाधिकृत्य नव, देवानधिकृत्याष्टौ भङ्गाः प्राप्यन्ते शेषं तथैव । पञ्चाशत्येकादश भङ्गास्ते चैकेन्द्रियानेवाधिकृत्य प्राप्यन्ते अन्यत्र पञ्चाशतोऽप्राप्यमाणत्वात् एकपञ्चाशत्येकविंशतिभङ्गाः तत्र नैरयिकानधिकृत्य चत्वारो वैक्रियमनुष्यानप्यधिकृत्य चत्वारः आहारिकशरीरिणः संयतानधिकृत्य एकः देवानाश्रित्य चत्वारः इत्येकविंशतिः । मतान्तरेण पुनर्वैक्रियतिर्यङ्मनुष्यदेवानधिकृत्य प्रत्येकमष्टावष्टौ भङ्गाः प्राप्यन्ते इत्येकपञ्चाशति तदपेक्षया त्रयस्त्रिंशद्भङ्गाः (सत्तरसतिंसयपत्ति) स द्वादशाधिका त्रिंशतिभङ्गानां द्विपञ्चाशत्यवगन्तव्या । तत्र एकेन्द्रियानाश्रित्य त्रयोदश द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियानधिकृत्य प्रत्येकं त्रिकं प्राप्यते इति नव, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानाधिकृत्य पञ्चचत्वारिंशतं मनुष्यानप्यधिकृत्य पञ्चचत्वारिंशतमिति । अत्रापि मतान्तरेण तिर्यक्पञ्चेन्द्रियान् मनुष्यांश्चाधिकृत्य प्रत्येकं द्वे द्वे शते भङ्गानामेकोननवत्यधिके प्राप्येते इति तदपेक्षया द्विपञ्चाशति भङ्गानां शतानि षट् प्राप्यन्ते । त्रिपञ्चाशति भङ्गानामेकविंशतिः । तद्यथा नैरयिकानधिकृत्य एकः एकेन्द्रियानाधिकृत्य षट् वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियानाधिकृत्य चत्वारः वैक्रियमनुष्यानप्याधिकृत्य चत्वारः आहारिकशरीरिणोऽधिकृत्य पुनरेकस्तीर्थकरमप्याश्रित्यैकः देवानप्याधिकृत्य चत्वारः अत्रापि मतान्तरेण वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यदेवानधिकृत्य प्रत्येकमष्टावष्टौ भङ्गाः प्राप्यन्ते इति तदपेक्षया त्रिपञ्चाशति त्रयस्त्रिंशद्भङ्गाः चतुःपञ्चाशति भङ्गानां षट् शतानि षडुत्तराणि । तद्यथा नैरयिकानधिकृत्यैकः द्वीन्द्रियांस्त्रीन्द्रियांश्चतुरिन्द्रियानधिकृत्य प्रत्येकं द्वौ द्वौ प्राप्येते इति षट् । तिर्यक्पञ्चेन्द्रियान् स्वभावस्थानधिकृत्य द्वे शते अष्टाशीत्यधिके वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियानाधिकृत्याष्टौ स्वभावस्थान्मनुष्यानधिकृत्य द्वे शते अष्टाशीत्यधिके वैक्रिय-

मनुष्यानधिकृत्य चत्वारः संयतान् वैक्रियशरीरिणोऽधिकृत्य चत्वारः। संयतानधिकृत्य द्वौ, देवाधिकृत्योद्योतेन सहैकः, आहारिकशरीरिणः संयतानधिकृत्य द्वौ, देवानधिकृत्य षोडश, मनुष्यानधिकृत्य पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि चाष्टाविति। अत्रापि मतान्तरेण प्रकृतिकतिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य षोडश मनुष्यानधिकृत्य पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि वैक्रियमनुष्यानधिकृत्य नव, देवानधिकृत्य षोडश भङ्गाः प्राप्यन्ते शेषं तथैवेति। तदपेक्षया चतुःपञ्चाशति द्व्यधिकानि द्वादश शतानि पञ्च शतानि भङ्गानां नव शतानि एकाधिकानि तद्यथा नैरयिकानधिकृत्यैकः द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियानधिकृत्य प्रत्येकं चत्वारः प्राप्यन्ते इति द्वादश। तिर्यक्पञ्चेन्द्रियान् स्वभावस्थानधिकृत्य प्रत्येकं चत्वारः प्राप्यन्ते इति द्वादश। तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि वैक्रियशरीरिणोऽधिकृत्याष्टौ, मनुष्यान् स्वभावस्थानधिकृत्य द्वे शते अष्टाशीत्यधिके, वैक्रियशरीरिणोऽधिकृत्य चत्वारः, वैक्रियसंयतानधिकृत्योद्योतेन सहैकः, आहारिकशरीरिणोऽधिकृत्य द्वौ, तीर्थकरमधिकृत्यैकः, देवानधिकृत्याष्टाविति। मतान्तरेण तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य द्विपञ्चाशदधिकान्येकादश शतानि वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य षोडश मनुष्यान् स्वभावस्थानधिकृत्य पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि, वैक्रियमनुष्यानधिकृत्य नव, देवानधिकृत्य षोडश भङ्गाः प्राप्यन्ते। शेषं तथैवेति तदपेक्षया पञ्चपञ्चाशति पञ्चाशीत्यधिकानि सप्तदश शतानि षट्पञ्चाशति भङ्गानामेकोनसप्तत्यधिकानि चतुर्दश शतानि तद्यथा द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियानधिकृत्य प्रत्येकं षट् प्राप्यन्ते इति अष्टादश, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियान् स्वभावस्थानधिकृत्याष्टौ शतानि चतुःषष्ट्यधिकानि, वैक्रियशरीरिणोऽधिकृत्य चत्वारः मनुष्यानधिकृत्य पञ्चशतानि षट्सप्तत्यधिकानि वैक्रियशरीरिणः संयतानधिकृत्य उद्योतेन सह एकः, आहारकशरीरिणः संयतानधिकृत्यैकः तीर्थकरमाश्रित्यैकः, देवानाश्रित्य चत्वारः। अत्र मतान्तरेण तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य सप्तदश शतान्यष्टाविंशत्यधिकानि, वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्याष्टौ, मनुष्यानधिकृत्य द्विपञ्चाशदधिकानि भङ्गानां भवन्ति। सप्तपञ्चाशति भङ्गानां पञ्चशती एकोननवत्यधिका। तद्यथा द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियानधिकृत्य प्रत्येकं चत्वारः २ प्राप्यन्ते इति द्वादश, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य पञ्चाश (तानि) ति एकादश शतानि भङ्गानां प्राप्यन्ते षट्सप्तत्यधिकानि। तीर्थकरमाश्रित्यैक इति। अत्रापि मतान्तरेण तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य द्विपञ्चाशदधिकानि एकादश शतानि भङ्गानां प्राप्यन्ते। शेषं तथैवेति। तदपेक्षया सप्तपञ्चाशति पञ्चषष्ट्यधिकान्येकादश शतानि भङ्गानां भवन्ति "॥

संप्रति गतिमाश्रित्य स्थानप्ररूपणां करोति।

पणनवगडक्काणि, गइसुट्ठाणि सेसकम्माणं।

एगेगमेव भेने य, साहित्तिगे य पगईओ ॥२५२॥

नरकगतावुदीरणास्थानानि पञ्च तद्यथा द्विचत्वारिंशत् एकपञ्चाशत् त्रिपञ्चाशत् चतुःपञ्चाशत् पञ्चपञ्चाशच्चेति। तिर्यग्गतावेकचत्वारिंशत् वर्ज्यानि शेषाणि नवोदीरणास्थानानि मनुष्यगतावपि सयोगिकेवल्यादीनधिकृत्य पञ्चाशत्वर्ज्यानि शेषाणि नवोदीरणास्थानानि देवगतौ षडुदीरणास्थानानि मनुष्यगतिसयोगिकेवलिनी तद्यथा द्विचत्वारिंशदेकपञ्चाशत् त्रिपञ्चाशत् चतुः पञ्चाशत् पञ्चपञ्चाशत् षट्पञ्चाशच्चेति। एतानि च सर्वाण्यपि प्राक् सप्रपञ्चं भावितानीति नेह भूयो भाव्यन्ते। तदेवमुक्तानि नामकर्मणः सप्रपञ्चमुदीरणास्थानानि। संप्रति शेषकर्मणामुदीरणास्थानप्रतिपादनार्थमाह (सेसकम्माणंति) शेषकर्मणां ज्ञानावरणवेदनीयायुर्गोत्रान्तरायप्रकृतीनामुदीरणास्थानमेकैकमवगन्तव्यं तद्यथा ज्ञानावरणान्तराययोः पञ्चप्रकृत्यात्मकमेकैकमुदीरणास्थानं वेदनीयायुर्गोत्राणान्तु वेद्यमानैकप्रकृत्यात्मकं नह्यमीषां द्व्यादिकाः प्रकृतयो युगपदुदीर्यन्ते युगपदुदयाभावात् एतच्च ज्ञानावरणीयवेदनीयानामेकैकमुदीरणास्थानं प्रागुक्तैकैकप्रकृत्युदीरणायां स्वामित्वं साधयित्वा निश्चित्य गुणस्थानेषु नारकादिषु गतिषु स्वयमेव ज्ञेयं ज्ञातव्यम्। तदेवमुक्ताः प्रकृत्युदीरणाः। सम्प्रति स्थित्युदीरणाभिधानावसरस्तत्र चेति अर्थाधिकारास्तद्यथा लक्षणं भेदः साद्यनादिप्ररूपणा अद्धाच्छेदः स्वामित्वं चेति॥

तत्र लक्षणभेदयोः प्रतिपादनार्थमाह।

संपत्तिए य उदये, पओगओ दिस्सए उईरणा सा।

सेचिकाठिईहिं जाही, दुविहा मूलोत्तगाए य ॥२५३॥

इह द्विविध उदयः संप्राप्त्युदयोऽसंप्राप्त्युदयश्च। तत्र यत्कर्म दलिकं कालप्राप्तं सदनुभूयते स संप्राप्त्युदयः। तथाहि कालक्रमणे कर्मदलिकस्योदये हेतुद्रव्यक्षेत्रादिसामग्रीसंप्राप्तौ सत्यामुदयः संप्राप्त्युदयः। यत्पुनरकालप्राप्तं कर्म तद्दलिकमुदीरणा। तथा चाह या स्थितिरकालप्राप्तापि सती प्रयोगेणउदीरणाप्रयोगेण संप्राप्त्युदये पूर्वोक्ते स्वरूपे प्रक्षिप्ता सती दृश्यते केवलचक्षुषा सा स्थित्युदीरणा। एष लक्षणनिर्देशः। अधुना भेद उच्यते (संचिकेत्यादि) इह यासां स्थितीनां भेदः परिकल्पना संभवति ताः पुरुषपरिभाषया संचिका इत्युच्यन्ते ताश्च द्विधा उदीरणायाः प्रायोग्याः अप्रायोग्याश्च काश्चाप्रायोग्या इति चेदुच्यते बन्धावलिका गताः संक्रमावलिकागताश्च उदयावलिकागताश्च प्रायोग्याः "सकम्मबंध उदयवट्टणालिइईणा करणाइ' इति वचनप्रामाण्यात् शेषाश्च सर्वा अपि प्रायः प्रायोग्याः तत्रोदये सति यासां प्रकृतीनामुत्कृष्टबन्धः संभवति तासामुत्कर्षत आवलिका द्विकहीना सर्वाप्युत्कृष्टा स्थितिरुदीरणाप्रायोग्या तथाहि उदयोत्कृष्टबन्धानां तुल्ययासंभवमुदीरणाप्रायोग्याः। आवलिकाद्विकहीनायाश्चोत्कृष्टा स्थितेर्यावन्तः समयास्तावन्त उदीरणायाः प्रभेदाः तथाहि उदयावलिकाया उपरिवर्तिनी समयमात्रा स्थितिः कस्याप्युदीरणाप्रायोग्यस्य तावन्यवशेषीकृता तिष्ठति एवं कस्यापि द्विसमयमात्रा कस्यापि त्रिसमयमात्रा एव। तावद्वाच्यम् आवलिका द्विकहीना कस्यापि सर्वाप्युत्कृष्टा स्थितिरिति। अक्षरयोजना त्वियम् सचिकास्थितिभ्य उदीरणाप्रायोग्याभ्यो यकाभ्यो यावतीभ्य आवलिकाद्विकहीनोत्कृष्टस्थितिसमयप्रमाणाभ्य इत्यर्थः उदीरणाप्रयोगेण समाकृष्य स्थितिः संप्राप्त्युदये दीयते तावती तावद्भेदप्रमाणा सा एषा उदीरणा। तदेवं कृता भेदप्ररूपणा। संप्रति साद्यनादिप्ररूपणा संकर्त्तव्या। सा च द्विधा मूलप्रकृतिविषया उत्तरप्रकृतिविषया च।

तत्र मूलप्रकृतिविषयां साद्यनादिप्ररूपणार्थमाह।

मूलाठिइअजहन्ना, मोहस्स चउव्विहा तिहा सिया।

वेउणिया उण दुहासे, सविगप्पा उ उज्जासि ॥२५४॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूलस्थितिशब्दात्प्राकृतत्वात् प्रत्येकं षष्ठीविभक्तिलोपः ततो ऽयमर्थः मूलप्रकृतीनां मध्ये मोहस्य मोहनीयस्थितेरुदीरणा अजघन्या चतुर्विधा चतुःप्रकारा तद्यथा सादिरनादिर्ध्रुवाऽध्रुवा च। तथा मोहनीयस्य जघन्या स्थित्युदीरणा सूक्ष्मसंपराय क्षपकस्य स्वगुणस्थानकसमयाधिकावलिका शेषे वर्तमानस्य भवति शेषकालं त्वजघन्या नामाशेषे वर्तमानस्य भवति। ततो ऽन्यत्र सर्वत्राप्यजघन्या सा चोपशान्तमोहगुणस्थानकेषु न भवति ततः प्रतिपाते च भवति ततोऽसौ सादिः तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिः। ध्रुवा अभव्यानाम्, अध्रुवा भव्यानां, शेषा ज्ञानावरणदर्शनावरणनामगोत्रान्तरायाणां स्थित्युदीरणा। अजघन्या त्रिधा त्रिप्रकारा तद्यथा अनादिर्ध्रुवा अध्रुवा च तथाहि ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायाणां जघन्या स्थित्युदीरणा क्षीणकषायस्य स्वगुणस्थानसमयाधिकावलिका शेषे वर्तमानस्य भवति शेषकालं त्वजघन्या सा चानादिः सदैव भावात् ध्रुवाध्रुवे पूर्ववत्। नामगोत्रयोस्तु जघन्या स्थित्युदीरणा सयोगिकेवलिचरमसमये सा चानादिरध्रुवा च। ततोऽन्या सर्वाप्यजघन्या सा चानादिः ध्रुवाध्रुवे पूर्ववत्। वेदनीयायुरजघन्या स्थित्युदीरणा द्विधा तद्यथा सादिरध्रुवा च तथा सर्वो हि वेदनीयस्य जघन्या स्थित्युदीरणो एकेन्द्रियस्य सर्वस्तोकस्थितिसत्कर्मणो लभ्यते ततस्तस्यैव समयान्तरे प्रवर्द्धमानसत्कर्मणो ऽजघन्या ततः पुनरपि जघन्येति जघन्या। अजघन्या च सादिरध्रुवा च आयुषः पर्यन्तावलिकायां न भवति परभवोत्पत्तिसमये च भवति सा च सादिरध्रुवा च। तथा सर्वासां प्रकृतीनां शेषविकल्पा उत्कृष्टानुत्कृष्टजघन्यलक्षणा द्विधा द्विप्रकारा यथा साद्यो ध्रुवाश्च तथाहि सर्वेषामपि कर्मणामायुर्वर्जानामुत्कृष्टा स्थित्युदीरणा मिथ्यादृष्टेरुत्कृष्टे संक्लेशे वर्तमानस्य कियत्कालं प्राप्यते। ततः समयान्तरे तस्याप्यनुत्कृष्टा ततः पुनरपि समयान्तरे उत्कृष्टा संक्लेशे विशुद्धा प्रायः प्रतिसमयमन्यथाभावात् ततो द्वे अपि साद्यध्रुवे। जघन्या च द्विधा प्रागेव भाविता आयुषां तु विकल्पत्रये युक्तिः प्राक्तन्येव प्रायोऽवसेया। तदेवं कृता मूलप्रकृतिविषया साद्यनादिप्ररूपणा।

संप्रत्युत्तरविषयां तां चिकीर्षुराह ।

मिच्छत्तस्स चउद्धा, अजहन्ना धुवउदीरणाण तिहा ।
सेसविगप्पा दुविहा, सव्वविगप्पा य सेसाणं ॥२५५॥

मिथ्यात्वस्य अजघन्या स्थित्युदीरणा चतुर्विधा तद्यथा सादिरनादिर्ध्रुवाध्रुवा च। तत्र मिथ्यादृष्टेः प्रथमसम्यक्त्वमुत्पादयतो मिथ्यात्वस्य प्रथमस्थितौ समयाधिकावलिका शेषायां जघन्या स्थित्युदीरणा सादिरध्रुवा च सम्यक्त्वाच्च प्रतिपतितो जघन्या सा च सादिस्तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिः ध्रुवाध्रुवे अभव्यभव्यापेक्षया। तथा ध्रुवोदीरणानां पञ्चविधज्ञानावरणचक्षुरचक्षुरवधिकेवलदर्शनावरणपञ्चविधान्तरायतैजससप्तकवर्णादिविंशतिस्थिरास्थिरशुभाशुभागुरुलघुनिर्माणाख्यानामजघन्या स्थित्युदीरणा त्रिधा। तत्र प्रथमानादिर्ध्रुवाध्रुवा च तथाहि ज्ञानावरणपञ्चकान्तरायपञ्चकचक्षुरचक्षुरवधिकेवलदर्शनावरणरूपाणां चतुर्दशप्रकृतीनां क्षीणकषायस्य स्वगुणस्थानकसमयाधिकावलिका शेषे वर्तमानस्य स्थित्युदीरणा। सा च सादिरध्रुवा च। शेषा सर्वाप्यजघन्या सा चानादिः सदैव भावात् ध्रुवाध्रुवे पूर्ववत्। तैजससप्तकादीनां च त्रयस्त्रिंशत्संख्याकानां नाम्नः प्रकृतीनां जघन्या स्थित्युदीरणा सयोगिकेवलिचरमसमये सा च सादिरध्रुवा च ततोऽन्या सर्वाप्यजघन्या सा चानादिः। ध्रुवाध्रुवे पूर्ववत्। एतासामेव मिथ्यात्वादिप्रकृतीनामष्टचत्वारिंशत्संख्याकानां शेषविकल्पा उत्कृष्टानुत्कृष्टजघन्यलक्षणा द्विप्रकारास्तद्यथा साद्यो ध्रुवाश्च। तथा ह्येतासामुत्कृष्टा स्थित्युदीरणा मिथ्यादृष्टेरुत्कृष्टे संक्लेशे वर्तमानस्य कियत्कालं लभ्यते ततः समयान्तरे तस्याप्यनुत्कृष्टा ततो द्वे अपि साद्यध्रुवे जघन्या च प्रागेव भाविता (सव्वविगप्पा य सेसाणं ति) शेषाणां शेषप्रकृतीनां दशोत्तरशतसंख्यानां सर्वे विकल्पा उत्कृष्टानुत्कृष्टजघन्यरूपा विकल्पास्तद्यथा साद्यो ध्रुवाश्च साद्यध्रुवत्वं चाध्रुवोदयत्वाद्भावनीयम् कृता साद्यनादिप्ररूपणा ॥

संप्रत्यद्धाच्छेदस्य स्वामित्वस्य च प्रतिपादनार्थमाह ॥

अद्धाओ सामित्तं, पि ठइ संकमे जहा नवरि ॥
तव्वेइसु निरइयगई, एवा विनिसुहिट्ठिम्मखीईसु ॥२५६॥

अद्धाच्छेदः स्वामित्वं च यथा स्थितिसंक्रमेऽभिहितं तथैवात्राप्यवगन्तव्यं नवरमयं विशेषः संक्रमकरणे तद्वेद्येष्वपि स्थितिसंक्रम उक्तः। उदयाभावेऽपि संक्रमस्य भावात्। उदीरणा पुनरियं तदुदयेष्वेव वेदितव्या। उदयाभावे उदीरणाया अभावात्। इदमपि संक्षिप्तमुक्तमिति किंचिद्विशेषतो भाव्यते। तत्र येषां कर्मणामुदये सति बन्धोत्कृष्टा स्थितिस्तेषां ज्ञानावरणपञ्चकान्तरायपञ्चकदर्शनावरणचतुष्टयतैजससप्तकवर्णादिविंशतिनिर्माणस्थिराशुभागुरुलघुमिथ्यात्वषोडशकषायत्रसबादरपर्याप्तप्रत्येकदुःस्वरदुर्भगानादेयायशःकीर्तिवैक्रियसप्तकपञ्चेन्द्रियजातिहुण्डोपघातपराघातोच्छ्वासातपोद्योताशुभविहायोगतिनीचैर्गोत्ररूपाणां षडशीतिसंख्यानां बन्धावलिकायामतीतायामुदयावलिकात उपरितनी सर्वापि स्थितिः उदीरणाप्रायोग्या केवलं तानि कर्माणि वेद्यमानानां वेदितव्या। उदयसत्तैवोदीरणाया अभावात्। बन्धावलिकारहिता च सर्वा स्थितिः। इह आवलिकाद्विकरूपोऽद्धाच्छेदस्तदुदयवतस्तूदीरणा स्वामिनः येषां तु कर्मणां मनुजगतिसातवेदनीयस्थिरादिषट्कहास्यादिषट्कवेदत्रयशुभविहायोगतिप्रथमसंस्थानपञ्चकप्रथमसंहननपञ्चकोच्चैर्गोत्ररूपाणामेकोनत्रिंशत्संख्याकानामुदये सति संक्रमेणोत्कृष्टा स्थितिः। तेषामावलिका त्रिकहीना सर्वा स्थितिरुदीरणा प्रायोग्या केवलं तानि कर्माणि वेद्यमाना वेदितव्या अत्र बन्धावलिका संक्रमावलिरहिता च सर्वा स्थितिर्यत्स्थितिरिह आवलिकात्रिकरूपोऽद्धाच्छेदस्तदुदयवन्त उदीरणास्वामिनः। एवमुत्तरत्रापि यावत् यावानुदीरणाया अयोग्यः कालस्तावानद्धाच्छेदस्तदुदयवन्तस्तूदीरणास्वामिनो वेदितव्याः। तथा सप्ततिसागरोपमकोटीप्रमाणा मिथ्यात्वस्य स्थितिर्मिथ्यादृष्टिना बद्धा च ततो ऽन्तर्मुहूर्तकालं यावन्मिथ्यात्वमनुभूय सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते ततः सम्यक्त्वे सम्यङ्मिथ्यात्वे चान्तर्मुहूर्तोना मिथ्यात्वस्थितिः सकलामपि संक्रमयति संक्रमावलिकायां चातीतायामुदीरणायोग्या तत्र संक्रमावलिकातिक्रमेऽपि सान्तर्मुहूर्ता नैव ततः सम्यक्त्वमनुभवतः सम्यक्त्वस्यान्तर्मुहूर्तोना सप्ततिसागरोपमकोटाकोटिप्रमाणा उत्कृष्टा स्थितिरुदीरणा योग्या ततः कश्चित् सम्यक्त्वेऽप्यन्तर्मुहूर्तं स्थित्वा सम्यग्मिथ्यात्वं प्रतिपद्यते ततः सम्यग्मिथ्यात्वमनुभवतः सम्यग्मिथ्यात्व-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्यान्तर्मुहूर्ते द्विकोना सप्ततिसागरोपमकोटाकोटिप्रमाणा उत्कृष्टा स्थितिरुदीरणायोग्या भवति । तथा आहारकसप्तमप्रमत्तेन सता तद्योग्योत्कृष्टसंक्लेशेनोत्कृष्टस्थितिकं बद्ध तत्कालोत्कृष्टस्थितिकं मूलप्रकृत्यभिन्नप्रकृत्यन्तरदलिकं च तत्र संक्रमितमतस्तत्सर्वोत्कृष्टा तत्सागरोपमकोटाकोटीस्थितिकं जातं बन्धानन्तरं चान्तर्मुहूर्त्तमतिक्रम्य आहारकशरीरमारभते । तच्चारभमाणो लब्ध्युपजीवनेनौत्सुक्यभावतः प्रमादभाग्भवति ततस्तस्य प्रमत्तस्य सत आहारकशरीरमुत्पादयतः आहारकसप्तस्यान्तर्मुहूर्त्तोना उत्कृष्टा स्थितिरुदीरणायोग्या । अत्र प्रमत्तस्य सत आहारकशरीरारम्भत्वात् उत्कृष्टस्थित्युदीरणा स्वामित्वप्रमत्तसंयत एव वेदितव्या । शेषप्रकृतीनां सूत्रकृदेव विशेषमाचष्टे (निरयगएवावित्ति) नरकगतेरपिशब्दात् नरकानुपूर्व्याश्च तिर्यक्पञ्चेन्द्रियो मनुष्यो वा उत्कृष्टां स्थितिं बध्वा उत्कृष्टस्थितिबन्धानन्तरं चान्तर्मुहूर्त्ते व्यतिक्रान्ते सति तिसृषु अधस्तनपृथवीषु मध्ये अन्यतरस्यां समुत्पन्नस्तस्य प्रथमसमये नरकगतेरन्तर्मुहूर्त्तहीने सर्वापि स्थितिर्विंशतिसागरोपमकोटाकोटीप्रमाणा उदीरणा योग्या भवति । नरकानुपूर्वी चापान्तरालगतौ समयत्रयं यावदुत्कृष्टा स्थितिरुदीरणायोग्या भवति । अधस्तनपृथिवीत्रयग्रहणे किं प्रयोजनमिति चेदुच्यते । इह नरकगत्यादीनामुत्कृष्टां स्थितिं बध्नन् अवश्यं कृष्णलेश्यापरिणामेऽतो भवति कृष्णलेश्यापरिणामः पञ्चमपृथिव्यामुत्पद्यते । मध्यमकृष्णलेश्यापरिणामः षष्ठपृथिव्यामुत्कृष्टकृष्णलेश्यापरिणामः सप्तमपृथिव्यामित्यधस्तनपृथिवीत्रयग्रहणं कृतम् ॥

देवगतिदेवमणुआ-णुपुव्वि आयावविगलसुहमतिगं ।
अंतोमुहुत्तभागा, ताव ए गूणंतरुक्कस्स ॥ २५७ ॥

देवगतिर्देवानुपूर्वीमनुष्यानुपूर्वीणामातपस्य विकलत्रिकस्य द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियजातिरूपस्य सूक्ष्मत्रिकस्य सूक्ष्मसाधारणापर्याप्तकलक्षणस्य स्वस्वोदये वर्त्तमाना अन्तर्मुहूर्त्तभागा उत्कृष्टा स्थितिबन्धाध्यवसायानन्तमुहूर्त्तं कालं यावत्परिभ्रष्टाः सन्तस्तावदूनामन्तर्मुहूर्त्तोनां तत्तदुत्कृष्टां देवगत्यादिना उत्कृष्टां स्थितिमुदीरयन्ति । इयमत्र भावना । इह कश्चित् तथाविधपरिणामविशेषभावतो नरकगतेरुत्कृष्टां स्थितिं दशसागरोपमकोटाकोटीप्रमाणां बद्धुमारभते ततस्तस्यां देवगतिस्थितौ बध्यमानायामावलिका उपरि बन्धावलिकाहीना आवलिकामात्रहीना जाता देवगतिं च बध्नन् जघन्येनाप्यन्तर्मुहूर्त्तं कालं यावत् बध्नाति बन्धानन्तरं च कालं कृत्वा अनन्तरसमये देवो जातस्ततस्तस्य देवत्वमनुभवतो देवगतिरन्तर्मुहूर्त्तोना विंशतिसागरोपमकोटाकोटीप्रमाणा उत्कृष्टा स्थित्युदीरणायोग्या भवति । ननूक्तयुक्त्यनुसारेणावलिकाधिकान्तर्मुहूर्त्तोना प्राप्नोति कथमुच्यते अन्तर्मुहूर्त्तोनेति नैष दोषः यत आवलिका प्रक्षेप्येति तदन्तर्मुहूर्त्तमेव केवलं गृहान्तरमवगन्तव्यमित्येवं देवानुपूर्व्या अपि वाच्यम् । तथा कश्चिन्नरकानुपूर्व्या उत्कृष्टां स्थितिं विंशतिसागरोपमकोटाकोटीप्रमाणां बध्वा ततः शुभपरिणामविशेषतो मनुष्यानुपूर्व्या उत्कृष्टां स्थितिं पञ्चदशसागरोपमकोटाकोटीप्रमाणां बद्धुमारभते ततस्तस्यां मनुष्यानुपूर्व्यां स्थितौ बध्यमानायामावलिकायामुपरि बन्धावलिकाहीनामावलिकामुपरितनीं सकलामपि नारकानुपूर्वीं स्थितिं संक्रमयति ततो मनुष्यानुपूर्व्या अपि विंशतिसागरोपमकोटाकोटीप्रमाणा स्थितिरावलिकामात्रहीना जाता मनुष्यानुपूर्वीं च बध्नन् जघन्येनाप्यन्तर्मुहूर्त्तं कालं यावद्भवति तथान्तर्मुहूर्त्तमावलिकोनविंशतिसागरोपमकोटाकोटीप्रमाणा उदीरणा योग्या । ननु मनुष्यगतेरपि पञ्चदशसागरोपमकोटाकोट्यो बन्धेनोत्कृष्टा स्थितिः प्राप्यते तथा मनुष्यानुपूर्व्या अपि तत्वेकस्या अपि विंशतिस्तत उभयोरपि संक्रमोत्कृष्टे संक्रमोत्कृष्टत्वात् विशेषे च कथं मनुष्यगतेरिव मनुष्यानुपूर्व्या अपि आवलिकात्रिकहीनोत्कृष्टा स्थितिरुदीरणायोग्या न भवति तत्र युक्तं मनुष्यानुपूर्व्या अनुदयसंक्रमोत्कृष्टत्वात् तदुक्तं "मणुयाणुपुव्विमीसग, आहारग देवजुअलविगलाणि । सुहुमातिगं तित्थ अणुदय संकमणे उक्कोसा," अनुदयः संक्रमोत्कृष्टानां च जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्त्तोनाया एवोत्कृष्टस्थितेरुदीरणायोग्यत्वात् मनुष्यगतिस्तूदयसंक्रमोत्कृष्टा तदुक्तं "मणुयगई साईयं सम्मं थिरहा सइय छवेय सुभ । खगई रिसभ चउरंस पणुच्च उदसंकमुक्कोसा ।" ततस्तस्या आवलिकात्रिकहीने चोत्कृष्टा स्थितिरुदीरणायोग्या भवति एवमातपादीनामप्यन्तर्मुहूर्त्तोना उत्कृष्टा स्थितिरुदीरणा योग्या भवतु आतपानामनुबन्धोत्कृष्टं ततस्तस्य स्थितीनां प्रकृतीनामन्तर्मुहूर्त्तोना उत्कृष्टा स्थितिरुदीरणायोग्या भवतु आतपानामनुबन्धोत्कृष्टा ततस्तस्य बन्धोदयावलिकाद्विकरहिते चोत्कृष्टस्थितिरुदीरणा प्रायोग्या भावनीया । ननु अनुदयसंक्रमोत्कृष्टा स्थितीनां प्रकृतीनामन्तर्मुहूर्त्तोना उत्कृष्टा स्थितिरुदीरणा योग्या भवतु कथमुच्यते अन्तर्मुहूर्त्तोनेति उच्यते इह देव एवोत्कृष्टे संक्लेशे वर्तमान एकेन्द्रियाणामेकेन्द्रियप्रायोग्याणामातपस्थावरैकेन्द्रियजातीनामुत्कृष्टां स्थितिं बध्नाति नान्यः स च तां बध्वा तत्रैव देवभवे अन्तर्मुहूर्त्तं कालं यावत् अवतिष्ठते ततः कालं कृत्वा बादरपृथ्वीकायिकेषु मध्ये समुत्पद्यते समुत्पन्नस्सन् शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तः आतपनामोदये वर्त्तमानस्तमुदीरयति तत एवं सति तस्यान्तर्मुहूर्त्तोनैवोत्कृष्टा स्थितिरुदीरणा योग्या न भवति आतपग्रहणं चोपलक्षणं तेनान्यासामपि स्थावरैकेन्द्रियजातिनरकद्विकतिर्यग्द्विकौदारिकसप्तकान्त्यसंहनननिद्रापञ्चकरूपाणामेकोनविंशतिसंख्याकानामनुदयबन्धोत्कृष्टानामन्तर्मुहूर्त्तोना उत्कृष्टा स्थितिरुदीरणायोग्या वेदितव्या । तत्र स्थावरैकेन्द्रियजातिनरकद्विकानां भावना कृता शेषाणां क्रियते । तत्र नारकस्तिर्यग्द्विकौदारिकसप्तकान्त्यसंहनननामुत्कृष्टां स्थितिं बध्वा ततो मध्यमपरिणामस्तत्र तत्र चान्तर्मुहूर्त्ते गते सति निद्रोदये उत्कृष्टोदीरणां करोति ।

तिरियथरस्स पल्लासं, खिज्जइमे जहन्नगे इत्तो ।
थावर जहन्नसंते, ए समं अहिगं व बंधंतो ॥२५८॥
गंतूणावलिमित्तं, कसाय बारसग भय दुगंछाणं ।
निद्दा य पंचगस्स य, आया उज्जो य नामस्स ॥२५९॥

इह पूर्वं तीर्थकरनाम्नः स्थितिशुभैरध्यवसायैरपवर्त्यापवर्त्य पल्योपमासंख्येयभागमात्रा शेषीकृता ततोऽनन्तरसमये उत्पन्नकेवलज्ञानः स तामुदीरयति उदीरयतश्च प्रथमसमये उत्कृष्टा उदीरणा सर्वदैव च इयन्मात्रैव स्थितिरुत्कृष्टा तीर्थकरनामतः उदीरणायोग्या प्राप्यते नाधिकेति । तदेवमुत्कृष्टस्थित्युदीरणास्वामित्वमुक्तम् । सम्प्रति जघन्यस्थित्युदीरणास्वामित्वमाह । (जहन्नगे इत्तो त्ति) इत ऊर्ध्वं जघन्ये जघन्यस्थित्युदीरणायाः स्वामित्वमभिधीयते प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति । (थावरजहन्नसंतेत्यादि) स्थावरस्य सतोऽसज्जघन्यस्थित्युदीरणा सर्वस्तोकं स्थितिसत्कर्म तेन समधिकं वा मनागभ्य-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

णाभिनवकर्मा स एव जघन्यस्थितिकर्मा स्थावर एकेन्द्रियो बध्नन् बन्धावलिकायामतीतायामित्यर्थः । आद्य द्वादशकषायभयजुगुप्सानिद्रापञ्चकातपोद्योतनाम्नामेकविंशतिप्रकृतीनां जघन्यां स्थित्युदीरणां करोति इहातपोद्योतवर्जनामैकोनविंशतिप्रकृतीनां ध्रुवबन्धित्वादातपोद्योतयोस्तु प्रतिपक्षाभावात् अन्यत्र जघन्यतरा स्थितिर्न प्राप्यते ततः एकेन्द्रिय एव यथोक्तस्वरूपम् । आसां प्रकृतीनां जघन्यस्थित्युदीरणास्वामी ।

एगिंदिय जोग्गाणं, इयरा बंधत आलिगं गंतु ।
एगिंदियागए त–ट्ठिय जाईणमवि एवं ॥ २६० ॥

एकेन्द्रियाणामेव उदीरणा संप्रति या योग्याः प्रकृतयस्ता एकेन्द्रिययोग्याः । एकेन्द्रिया जातिस्थावराः सूक्ष्मसाधारणनामानस्तासामेकेन्द्रियो जघन्यास्मिन् स्थितिः सत्सत्कर्मा इतरा एकेन्द्रियजात्यादिप्रतिपक्षभूता द्वीन्द्रियजात्यादिकाः प्रकृतीर्बध्नाति । तद्यथा एकेन्द्रियजातिद्वीन्द्रियजातित्रीन्द्रियजातिचतुरिन्द्रियजातिस्थावरसूक्ष्मसाधारणानां त्रसबादरप्रत्येकनामानि ततः एकेन्द्रियजात्यादीनं बध्नाति ततो बन्धावलिकां गत्वा अतिक्रम्य बन्धावलिकायाश्चरमसमये एकेन्द्रियजात्यादीनां जघन्यां स्थित्युदीरणां करोति । इयमत्र भावना एकेन्द्रियः सर्वजघन्यस्थितिसत्कर्मा द्वीन्द्रियजातीः सर्वा अपि परिपाट्या बध्नाति ततस्तावद्बन्धानन्तरमेकेन्द्रियजातिर्बद्धुमारभते ततो बन्धावलिकायाश्चरमसमये पूर्वबद्धायास्तस्या एकेन्द्रियजातेर्जघन्यां स्थित्युदीरणां करोति । इह बन्धावलिकाया अनन्तरसमये बन्धावलिका प्रथमसमयबद्धा । अपि च ता उदीरणामायान्ति ततो जघन्या स्थित्युदीरणा न प्राप्यते इति कृत्वा बन्धावलिकायाश्चरमसमये इत्युक्तं यावता कालेन प्रतिपक्षभूताः प्रकृतीर्बध्नाति तावता कालेनान्यूना एकेन्द्रियजातिस्थितिर्भवति ततस्तोकतरा प्राप्यते, इति प्रतिपक्षभूतप्रकृतिबन्धोपादानम् । एवं स्थावरसूक्ष्मसाधारणानामपि भावना कर्त्तव्या केवलमेतेषां प्रतिपक्षभूताः प्रकृतयः त्रसबादरप्रत्येकनामानो वेदितव्याः । (एगेंदियागयत्ति) जातीनामपि द्वीन्द्रियादिजातीनामपि एवं पूर्वोक्तप्रकारेण एकेन्द्रियादागतस्तत्स्थितिक एकेन्द्रिययोग्यतया जघन्यस्थितिका जघन्यां स्थित्युदीरणां करोति । अत्रापीयं भावना । एकेन्द्रियो जघन्यस्थितिः सत्कर्मा एकेन्द्रियभवादुद्वृत्य द्वीन्द्रियेषु मध्ये समुत्पन्नस्ततः पूर्वबद्धां द्वीन्द्रियजातिमनुभवितुमारभते । अनुभवप्रथमसमयादारभ्य च एकेन्द्रियजातिर्दीर्घकालं बद्धुं लग्नस्ततस्तथैव त्रीन्द्रियजातिर्बद्धुमारभते ततो बन्धावलिकायाश्चरमसमये तस्या द्वीन्द्रियजातिरेकेन्द्रियजातिभवोपार्जितस्थितिसत्कर्मापेक्षया, अन्तर्मुहूर्त्ते चतुष्टयबन्धावलिकाचरमसमये ग्रहणे च कारणं प्रागेवोक्तम् । एवं त्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियजात्योरपि भावना कार्या ।

वेयणियनो कसाया, मम्मत्तसंघयणपंचनीयाए ।
तिरिय दुगअयमदुभगणा, पुज्जाणं च संतिगए॥२६१॥

सातासातवेदनीयहास्यरत्यरतिशोकपर्याप्तकान्तिमपञ्चसंहनननीचैर्गोत्रतिर्यग्गतितिर्यगानुपूर्व्ययशःकीर्त्तिदुर्भगानादेयरूपाणामष्टादशप्रकृतीनां संज्ञिपञ्चेन्द्रियगते जघन्या स्थित्युदीरणा । भावना त्वियम् । एकेन्द्रिया जघन्यस्थितिसत्कर्मा एकेन्द्रियभवादुद्वृत्य पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियेषु मध्ये समुत्पन्नः उत्पत्तिप्रथमसमयादारभ्य च सातवेदनीयमनुभवन् असातवेदनीयं बृहत्तरमन्तर्मुहूर्त्तं कालं यावत् बध्नाति ततः पुनरपि सातं बद्धुमारभते ततो बन्धावलिकायाश्चरमसमये पूर्वबद्धस्य सातवेदनीयस्य जघन्यां स्थित्युदीरणां करोति एवमसातवेदनीयस्यापि द्रष्टव्यं केवलं सातवेदनीयस्थाने असातवेदनीयमुच्चारणीयम् । असातवेदनीयस्य सातवेदनीयमिति हास्यरत्यरतसातवद्भावना कार्या आसमाप्तम् । अपर्याप्तकम् नाम एकेन्द्रियो जघन्यस्थितिसत्कर्मा एकेन्द्रियभवादुद्वृत्य पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियमध्ये समुत्पन्न उत्पत्तिप्रथमसमयादारभ्य च पर्याप्तकनाम बृहत्तरमन्तर्मुहूर्त्तं कालं यावद् बध्नाति ततः पुनरपि अपर्याप्तकनाम बद्धुमारभते बन्धावलिकायाश्चरमसमये पूर्वबद्धस्यापर्याप्तकनाम्नो जघन्यां स्थित्युदीरणां करोति संहननपञ्चकस्य तु मध्ये वेद्यमानं संहननं मुक्त्वा शेषसंहननं प्रत्येकं बन्धकालोऽतिदीर्घो वक्तव्यः । ततो वेद्यमानसंहननस्य बन्धे बन्धावलिकाचरमसमये स्थित्युदीरणा नीचैर्गोत्रमसातवद्वेदितव्यम् । तथा तैजस्कायिको वायुकायिको बादरसर्वजघन्यस्थितिसत्कर्मा पर्याप्तसंज्ञितिर्यक्पञ्चेन्द्रियेषु मध्ये समुत्पन्नस्ततो बृहत्तरमन्तर्मुहूर्त्तं कालं यावन्मनुजगतिं बध्नाति तद्बन्धानन्तरं च तिर्यग्गतिं बद्धुमारभते । तत आवलिकायाश्चरमसमये तस्यास्तिर्यग्गतिर्जघन्यां स्थित्युदीरणां करोति एवं तिर्यगानुपूर्व्या अपि वक्तव्यं नवरमपान्तरालगतौ तृतीयसमये जघन्या स्थित्युदीरणा वाच्या अयशःकीर्त्तिदुर्भगानादेयानां चासातस्यैव भावना कार्या केवलमिह प्रतिपक्षप्रकृतीनां यशःकीर्तिसुभगादेयानां बन्धो वाच्यः ।

अमणागयस्स चिरइअंत, सुरनरयगइउवंगाणं ।
अणुपुव्वीतिसमइगे, नराए एगेंदिआगयगे ॥२६२॥

अमनस्कादसंज्ञिपञ्चेन्द्रियादुद्वृत्य देवेषु वा मध्ये समागतस्य सुरगतिनरकगतिवैक्रियाङ्गोपाङ्गनाम्ना स्वस्वायुर्दैर्घ्यस्थित्यन्ते जघन्या स्थित्युदीरणा । एतदुक्तं भवति असंज्ञिपञ्चेन्द्रियः सर्वजघन्यां सुरगतिस्थितिं बध्वा बन्धानन्तरं च दीर्घकालं तत्रैव स्थित्वा देवेषु नारकेषु वा मध्ये पल्योपमासंख्येयभागमात्रायुःस्थितिकः समुत्पन्नस्ततस्तस्य देवस्य नारकस्य वा स्वस्वायुषश्चिरस्थित्यन्ते चरमसमये वर्त्तमानस्य यथायोगं देवगतिनरकगतिवैक्रियाङ्गोपाङ्गनाम्नां जघन्या स्थित्युदीरणा स एवासंज्ञिपञ्चेन्द्रियो देवस्य नारकस्य वा भवस्यापान्तरालगतौ वर्त्तमानो यथासंख्यं देवानुपूर्वीनारकानुपूर्व्योश्च तृतीयसमये जघन्यां स्थित्युदीरणां करोति । (नराए एगेंदिआगयगेत्ति) एकेन्द्रियः सर्वजघन्यमनुष्यानुपूर्वीस्थितिः सत्कर्मा एकेन्द्रियभवादुद्वृत्य मनुष्येषु मध्ये उत्पद्यमानोऽपान्तरालगतौ वर्त्तमानो मनुष्यानुपूर्व्यास्तृतीयसमये जघन्यस्थित्युदीरणास्वामी भवति ।

समया हिग्गलगाए, पढमट्ठिइओ सेसवेलाए ।
मिच्छत्ते वेरासु य, संजलनासु वि य सम्मत्ते ॥२६३॥

इह अन्तरकरणे कृते अधस्तनी स्थितिः प्रथमा स्थितिरित्युच्यते । उपरितनी तु द्वितीयेति । तत्र प्रथमस्थितेः शेषवेलायां समयाधिकावलिकाप्रमाणायां मिथ्यात्ववेदत्रिकं संज्वलनचतुष्कं सम्यक्त्वानां जघन्यस्थित्युदीरणा भवति नवरं सम्यक्त्वसंज्वलनलोभयोः क्षये उपशमे वा जघन्या स्थित्युदीरणा द्रष्टव्या ।

पल्लासंखियभागणुदए, एगिंदिआगए मिस्से ।
वेसत्तभागवेउ-व्विआए पवणस्स तस्स ॥२६४॥

पल्योपमासंख्येयभागाभ्युदये एकं सागरोपमं तावन्मात्रं सम्यग्मिथ्यात्वस्थितिसत्कर्मा एकेन्द्रियभवाद् वृत्य संज्ञिपञ्चेन्द्रियमध्ये समयतस्तस्य यतः समयादारभ्य अन्तर्मुहूर्त्तानन्तरं सम्यङ्मिथ्यात्वस्योदीरणापगमिष्यति तस्मिन् सम्यङ्मिथ्यात्वप्रतिपन्नस्य चरमसमये सम्यङ्मिथ्यात्वस्य जघन्या स्थित्युदीरणा एकेन्द्रियस्तत्कर्मणो जघन्यस्थितिसत्कर्मणश्च सकाशादधोवर्त्तमानं सम्यङ्मिथ्यात्वमुदीरणायोग्यं न भवति तावन्मात्रस्थितिके तस्मिन्नवश्यं मिथ्यात्वोदयसम्भवस्तद्बन्धसंभवात् । तथा यैः सप्तभिर्भागैस्सागरोपम भ-क्तास्ति तौ द्वौ सप्तभागौ यस्य वैक्रियषट्कस्य वैक्रियशरीरवैक्रियसंघातवैक्रियबन्धनचतुष्टयरूपस्य तद् द्विसप्तभागैर्वैक्रियं ततो विशेषणसमासः प्राकृतत्वात् स्त्रीत्वनिर्देशः । इहापि च " पल्लासंखियभागेण " इत्यनुवर्त्तते ततश्च द्विसप्तभागैर्वैक्रियषट्कस्य पल्योपमासंख्येयभागहीनस्य पवनस्य बादरवायुकायिकस्य तस्य वैक्रियपर्यन्तसमये जघन्या स्थित्युदीरणा । एतदुक्तं भवति बादरवायुकायिकः पल्योपमासंख्येयभागहीनसागरोपमद्विसप्तभागप्रमाणैर्वैक्रियषट्कस्य जघन्यस्थितिसत्कर्म बहुशो वैक्रियमारभ्य चरमसमये वैक्रियारम्भे चरमसमये वर्त्तमानो जघन्यस्थित्युदीरणां करोति अनन्तरसमये च वैक्रियषट्कमेकेन्द्रियसत्कर्म जघन्यषट्कर्मापेक्षया स्तोकतरमिति कृत्वा उदीरणायोग्यं न भवति । किंतूद्वलनायोग्यम् ।

चउरुवसमत्तपेम्मं, पच्छामिच्छं खवेत्तु तेत्तीसा ।
उक्कोससंजमद्धा, अंते सुतणुउवंगाणं ॥२६५॥

संसारपरिभ्रमणेन चतुरो वारान् प्रेम मोहनीयमुपशमय्य ततो मिथ्यात्वमुपलक्षणमेतत् सम्यक्त्वं सम्यग्मिथ्यात्वं क्षपितं क्षपयित्वा त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिको देवो जातः । ततो देवभवाच्च्युत्वा मनुष्येषु मध्ये समुत्पन्नस्ततो वर्षाष्टकानन्तरं तत्समयसंयमप्रतिपन्नोऽप्रमत्तभावे चाहारकसप्तकं बद्धवांस्ततो देशानां पूर्वकोटिं यावत्संयमं परिपालितवांस्ततो देशोनपूर्वकोटिपर्यन्ते आहारकशरीरं कृत्वा(सुतणु त्ति)आहारकशरीरम (उवंग त्ति) आहारकाङ्गोपाङ्गं बहुवचनादाहारकबन्धनचतुष्टयाहारकसंघातपरिग्रहः तेषां जघन्यां स्थित्युदीरणां करोति इह मोहोपशमं कुर्वन् शेषनामकर्मप्रकृतीनां घातादिभिः प्रभूतं स्थितिसत्कर्म घातयति । देवभवे चापवर्त्तनाकरणेनापवर्त्तयति ततः आहारकसप्तकं बन्धकाले स्तोकमेव स्थितिसत्कर्म संक्रमयति ततो देशोनपूर्वकोट्युपादानम् ।

छउमत्थ खीणरागे, चउदससमयाहि गालिगट्ठिइए ।
सेसाणुदीरणंते, भिन्नमुहुत्तो ठिईकालो ॥२६६॥

छद्मस्थक्षीणरागस्य पञ्चविधज्ञानावरणचक्षुरवधिकेवलदर्शनावरणपञ्चविधान्तरायलक्षणानां चतुर्दशप्रकृतीनां समयाधिकावलिका शेषायां स्थितौ जघन्या स्थित्युदीरणा शेषाणां च प्रकृतीनां मनुजगतिपञ्चेन्द्रियजातिप्रथमसंहननौदारिकसप्तकसंस्थानषट्कोपघातप्रशस्ताप्रशस्तविहायोगतित्रसबादरपर्याप्तप्रत्येकशुभगसुस्वरादेययशःकीर्त्तितीर्थकरोच्चैर्गोत्रलक्षणानां द्वात्रिंशत्प्रकृतीनां पूर्वोक्तानां च नाम ध्रुवोदीरणायां त्रयस्त्रिंशत्प्रकृतीनां सर्वसंख्यया पञ्चषष्टिसंख्याकानां सयोगिकेवलिचरमसमये जघन्या स्थित्युदीरणा तस्याश्च जघन्यायाः कालो भिन्नमुहूर्त्तोऽन्तर्मुहूर्त्तमित्यर्थः । आयुषामप्युदीरणान्ते जघन्या स्थित्युदीरणा । संप्रति भागोदीरणावसरस्तत्र च इमे अर्थाधिकारास्तद्यथा संज्ञाशुभाशुभविपाकसूचनार्थमाह ।

अणुभागुदीरणाए, सन्ना य सुभासुभविभागो य ।
अणुभागबंधभणिआ, णाणत्तं पच्चया चेमे ॥२६७॥

अनुभागोदीरणायां संज्ञाशुभाशुभविपाकश्च यथा शतकाख्ये ग्रन्थे अनुभागा बन्धाभिधानावसरे भणितास्तथाऽत्रापि द्रष्टव्याः । तत्र संज्ञासंज्ञिभेदात् स्थानसंज्ञा घातिसंज्ञा च । संज्ञा चतुर्धा एकस्थानको द्विस्थानकस्त्रिस्थानकश्चतुःस्थानकश्च । घातिसंज्ञा त्रिप्रकारा तद्यथा सर्वघाती देशघाती अघाती च । तथा शुभकर्मणामनुभागः क्षीरखण्डोपमः । अशुभकर्मणां त्वशुभघाति घोषातकीनिम्बरसोपमः । एषा च स्थानसंज्ञा घातिसंज्ञा शुभाशुभप्ररूपणा च प्रागनुभागसंक्रमाभिधानावसरे सप्रपञ्चं कृतेति न भूयो विज्ञायते । विपाकश्चतुर्विधः पुद्गलविपाकः क्षेत्रविपाको भवविपाको जीवविपाकश्च । तत्र पुद्गलानधिकृत्य यस्य रसस्य विपाकोदयः स पुद्गलविपाकः । स च संस्थानषट्कसंहननषट्कातपशरीरपञ्चकाङ्गोपाङ्गत्रयोद्योतनिर्माणस्थिरास्थिरवर्णादिचतुष्कागुरुलघुशुभाशुभपराघातोपघातप्रत्येकसाधारणनाम्ना षट्त्रिंशत्प्रकृतीनामवगन्तव्यः । तथाहि संस्थाने नामादीनि औदारिकादिपुद्गलानेवाधिकृत्य स्वविपाकमुपदर्शयन्ति तत आसां रसः पुद्गलविपाक एव । नन्वनया युक्त्याऽरत्योरत्योरपि रसः पुद्गलविपाक एव प्राप्नोति । तथाहि कण्टकादिसंस्पर्शादरतिविपाकोदयो भवति स्रक्चन्दनादिसंस्पर्शात्तु रतेः तत्कथं स नोक्तः । उच्यते रत्यरतिविपाकस्य पुद्गलव्यभिचारात् । तथाहि कण्टकादिसंस्पर्शव्यतिरेकेऽपि प्रियस्मरणादिना कदाचिदुपरत्योर्विपाकोदयो दृश्यन्ते ततोऽनयोरनुभागजीवविपाक एव युक्तो न पुद्गलविपाक एवं क्रोधादिविपाको भावनीयः । उक्तं च ।

अरइ रईणं उदयो किन्न भवे पोग्गलानि संपप्पा ।
अप्पुट्ठेहि वि कम्मो एवं कोहाइयाणं पि ॥

अस्याश्चाक्षरगमनिका । अरतिरत्योरुदयो विपाकोदयः पुद्गलान् प्राप्य किन्न भवति भवत्येवेति भावः । ततः कथं तयोः रसपुद्गलविपाको नोच्यन्ते अत्राचार्यः काक्वा प्रत्युत्तरमाह (अप्पुट्ठेहिं वि कम्मो) अत्र सप्तम्यर्थे तृतीया ततोऽयमर्थः । अस्पृष्टेष्वपि पुद्गलेषु किं न तयोररत्यरत्यो र्विपाकोदयो भवति भवत्येवेति भावः । ततः पुद्गलव्यभिचारात् तयो रसपुद्गलविपाको न भवति किं तु जीवविपाक एव एवं क्रोधादीनामपि वाच्यम् । तथा क्षेत्रमधिकृत्य यस्य रसस्य विपाकोदयः स रसः क्षेत्रविपाकः । स च चतसृणामानुपूर्वीणामवगन्तव्यः । तथा भवमधिकृत्य यस्य रसस्य विपाकोदयः स रसो भवविपाकः स च चतुर्णामायुषामवसेयः । अथोच्यते ततः कथं तासां रसो भवविपाको नाभिधीयते तदयुक्तं व्यभिचारात् । तथाहि आयुषां स्वभवमन्तरेण परभवे संक्रमेणाप्युदयो भवति ततः सर्वथा स्वभवाव्यभिचारात्तानि भवविपाकान्युच्यन्ते गतीनां पुनः परभवेऽपि संक्रमेणोदयो भवति ततः स्वभवव्यभिचारात् न ता भव-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विपाकशून्याः । उक्तं च " आउव्वभवविवागाई गईत आउस्स परभवे जम्हा । नो सव्वहा वि उदओ गईण पुण संकमेणत्थि " सुगमा शेषाणां त्वष्टसप्ततिसंख्यानां प्रकृतीनां जीवविपाको रसः जीवमधिकृत्य विपाको यस्यासौ जीवविपाकः (नाणत्तं पच्चयामित्ति) नानात्वं विशेषो यस्तत्र शतकाख्ये ग्रन्थे अनुभागबन्धेनोक्तं तदिह वक्ष्ये उक्तस्य च विशेषमित्यर्थस्तथा तत्र बन्धमाश्रित्य अन्ये एवं मिथ्यात्वादयः प्रत्ययाः उक्ताः । इह उदीरणामाश्रित्य अन्ये एवं वक्ष्यमाणा ज्ञातव्याः तत्र नानात्वप्ररूपणार्थमाह ।

मीसुदुट्ठाणे सव्वघाइ, दुट्ठाण एगट्ठाणे य
सम्मत्तमंतरायं च, देसघाई अचक्खू अ ॥ २६८ ॥

सम्यङ्मिथ्यात्वं स्थानसंज्ञामधिकृत्य द्विस्थानकं द्विस्थानकरसोपेतं घातिसंज्ञामधिकृत्य सर्वघातिसम्यक्त्वं पुनरुत्कृष्टोदीरणामधिकृत्य द्विस्थानकरसोपेतं जघन्योदीरणां त्वधिकृत्य एकस्थानकं घातिसंज्ञामधिकृत्य च देशघाति वेदितव्यम् । एतच्च तत्र सर्वथा नोक्तं किंत्विहैव यत्र तत्राऽनुसारेण भागबन्धमाश्रित्य शुभाशुभप्ररूपणा कृता । नच सम्यक्त्वसम्यङ्मिथ्यात्वयोर्बन्धः संभवति तत एतद्वर्जा एव तत्राशुभप्रकृतयो निर्दिष्टाः उदीरणा त्वेतयोरपि भवति तत इह विशेषेणैव तयोरुपादानम् । तथान्तरायपञ्चकप्रकारम् । उत्कृष्टामनुभागोदीरणामधिकृत्य द्विस्थानके एकस्थानके च घातिसंज्ञामधिकृत्य देशघाति वेदितव्यम् । बन्धं प्रतीत्य पुनश्चतुःप्रकारेऽपि रसस्तद्यथा-चतुःस्थानके त्रिस्थानके द्विस्थानके एकस्थानके च । अचक्षुर्दर्शनं घातिसंज्ञामधिकृत्य देशघाति ।

ठाणेसु चउसु अपुमं, दुट्ठाणे कक्खडं च गुरुकं च ।
अणुपुव्वीओ तीसं, नरतिरियगंत जोग्गा य ॥२६९॥

नपुंसकवेदो बन्धं प्रतीत्य त्रिप्रकारे रसे । तद्यथा चतुःस्थानके त्रिस्थानके द्विस्थानके च । अत्र तूत्कृष्टामनुभागोदीरणामधिकृत्य चतुःस्थानके अनुत्कृष्टां त्वधिकृत्य चतुःस्थानके त्रिस्थानके एकस्थानके च । ननु बन्धाभावे कथमुदीरणायामेकस्थानको रसो नपुंसकवेदस्य प्राप्यते उच्यते क्षपणाकाले रसघातं कुर्वतः तस्य एकस्थानकस्यापि रससंभवात् । तथा कर्कशनाम गुरुनाम च बन्धं प्रतीत्य चतुःस्थानके त्रिस्थानके द्विस्थानके च । इह त्वनुभागोदीरणामधिकृत्य द्विस्थानके तथा चतस्र आनुपूर्व्यो यावन्नरतिरश्चामुदयं प्रति एकान्तयोग्यास्त्रिंशत् प्रकृतयस्तद्यथा-मनुष्यायुस्तिर्यगायुर्गतिर्मनुष्यगतिरेकेन्द्रियजातिर्द्वीन्द्रियजातिस्त्रीन्द्रियजातिश्चतुरिन्द्रियजातिरौदारिकसप्तकम् । आद्यन्तवर्जसंस्थानचतुष्टयसंहननषट्कमातपस्थावरसूक्ष्मपर्याप्तसाधारणं चेति । ता अपि बन्धं प्रतीत्य चतुःस्थानके त्रिस्थानके द्विस्थानके च । इह त्वनुभागोदीरणामुत्कृष्टानुत्कृष्टां चाधिकृत्य द्विस्थानके रसे वेदितव्याः ।

वेया एगट्ठाणे, दुट्ठाणे वा अचक्खुचक्खू अवेदा ।
जस्सत्थि एगमवि, अक्खरं तु तस्सेगठाणाणि ॥२७०॥

स्त्रीवेदः पुरुषवेदोऽनुभागोदीरणामुत्कृष्टामधिकृत्य द्विस्थानके अनुत्कृष्टां त्वधिकृत्य द्विस्थानके एकस्थानके वाऽवगन्तव्यौ । एवमचक्षुश्चक्षुर्दर्शनावरणे च बन्धं प्रतीत्य पुनः स्त्रीवेदश्चतुःस्थानके त्रिस्थानके द्विस्थानके वा पुरुषवेदोऽचक्षुर्दर्शनावरणे चक्षुर्दर्शनावरणे च चतुःप्रकारेऽपि । तद्यथा चतुःस्थानके त्रिस्थानके द्विस्थानके एकस्थानके च । ननु " देसघाई अचक्खुयत्ति " प्रागेवोक्तं तत्किमर्थं पुनरिहाचक्षुर्दर्शनावरणोपादानमुच्यते स्थाननियमार्थम् । पूर्वं हि देशघातित्वमेवाचक्षुर्दर्शनावरणस्योक्तमत्र तु रसस्थाननियमः । (जस्सत्थिएत्ति) यस्य जीवस्य एकमप्यक्षरं सर्वपर्यायैः परिज्ञातं वर्त्तते तस्य श्रुतकेवलिनो मतिश्रुतावधिदर्शनावरणप्रकृतीनामनुभागोदीरणायामेकस्थानको रसः प्राप्यते शेषाणां तु बन्धे अनुभागोदीरणायां च चतुःप्रकारेऽपि रसः । तद्यथा । चतुःस्थानकः त्रिस्थानको द्विस्थानक एकस्थानकश्च ।

मणनाणं सेससमं, मीसगसम्मत्तमवि य पावेसु ।
छट्ठाणवडियहीणा, उक्कोसाणुभागुदीरणा कुणइ ।२७१।

मनःपर्यायज्ञानं शेषैः कर्मभिः समं वेदितव्यम् । इयमत्र भावना । यथा शेषकर्मणामनुभागोदीरणा चतुःस्थानकस्य त्रिस्थानकस्य द्विस्थानकस्य चरमस्य भवति तथा मनःपर्यायज्ञानावरणकर्मणामनुभागोदीरणा वरणस्यापि द्रष्टव्या एवं पुनर्मनःपर्यायज्ञानावरणस्य चतुःप्रकारोऽपि रसो भवति शेषकर्मणां तु बन्धे त्रिप्रकारस्तद्यथा चतुःस्थानकस्त्रिस्थानको द्विस्थानकश्च । तानि च शेषकर्माण्यमूनि । तद्यथा केवलज्ञानावरणं निद्रापञ्चकं केवलदर्शनावरणं च सातासातवेदनीये, मिथ्यात्वं द्वादश कषायाः षट् नोकषायाः नरकायुर्देवायुः नरकगतिर्देवगतिः पञ्चेन्द्रियजातिस्तैजससप्तकं वैक्रियसप्तकमाहारकसप्तकं समचतुरस्रसंस्थानं हुण्डकसंस्थानं वर्णपञ्चकं गन्धादिकं रसपञ्चकं स्निग्धरूक्षमृदुलघुशीतोष्णरूपं षट्कम् अगुरुलघूपघातं पराघातमुच्छ्वासोद्योतप्रशस्ताप्रशस्तविहायोगतित्रसबादरपर्याप्तप्रत्येकस्थिरास्थिरशुभाशुभदुर्भग दुःस्वरसुस्वरानादेययशःकीर्त्तिनिर्माणतीर्थकरायशोगोत्रनीचैर्गोत्राणि च । एतेषां च एकोत्तरशतं संख्यानां शेषकर्मणामुत्कृष्टामनुभागोदीरणामधिकृत्य चतुःस्थानको रसः । अनुत्कृष्टां त्वधिकृत्य चतुःस्थानकस्त्रिस्थानको द्विस्थानकश्च मतिश्रुतावधिमनःपर्यायज्ञानावरणचक्षुरचक्षुरवधिदर्शनावरणानामुत्कृष्टामनुभागोदीरणामधिकृत्य रसः । स च घाती अनुत्कृष्टां त्वधिकृत्य सर्वघाती देशघाती वा । केवलज्ञानावरणनिद्रापञ्चकमिथ्यात्वद्वादशकषायाणामुत्कृष्टामनुत्कृष्टां वा अनुभागोदीरणामधिकृत्य रसघाती सर्वघाती सातासातवेदनीयायुश्चतुष्टयसकलनामप्रकृतिगोत्रद्विकानामुत्कृष्टामनुत्कृष्टां वा उदीरणामधिकृत्य रसः सर्वघाती अनुत्कृष्टां त्वधिकृत्य सर्वघाती वा प्रतिपत्तव्यः । इदानीमशुभप्रकृतिविषयविशेषमाह (मीसगसम्मत्तेत्ति) अपि च सम्यग्मिथ्यात्वं सम्यक्त्वं चानुभागोदीरणामधिकृत्य पापेषु पापकर्मसु मध्येऽवगन्तव्यम् । घातिस्वभावतया तयो रसस्य अशुभत्वात् शेषप्रकृतयस्तु यथाशतकग्रन्थे अनुभागबन्धे शुभाशुभाश्चोक्तास्तथात्राप्यवगन्तव्याः । कीदृशे अनुभागसत्कर्मणि वर्त्तमान उत्कृष्टामनुभागोदीरणां करोति उच्यते-(छट्ठाणवडियहीणेत्ति) अनुभागसत्कर्मणि षट्स्थापनाः पतितहीनादपि उत्कृष्टामनुभागोदीरणां करोति उच्यते प्रवर्त्तते एतदुक्तं भवति यः सर्वोत्कृष्टमनुभागं सत्कर्म तस्मिन् अनन्तभागहीने वा संख्यातभागहीने वा असंख्येयगुणहीने वा अनन्तगुणहीने वा उत्कृष्टा अनुभागोदीरणा प्रवर्त्तते यतोऽनन्तानन्तस्पर्द्धकानामनुभागे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्षपते अनन्तानि स्पर्द्धकानि उत्कृष्टरसान्यद्यापि तिष्ठन्ति । ततोऽनन्तभागेऽपि शेषे मूलानुभागसत्कर्मापेक्षयाऽनन्तगुणहीना उत्कृष्टानुभागोदीरणा लभ्यते किं पुनरसंख्येयगुणहीनादावनुभागकर्मणीति ।

संप्रति विपाके विशेषमाह ।

विरियंतरायकेवल–दंसणमोहणीयणाणवरणाणं ।
असमत्थपज्जएसु, सव्वदव्वेसु वि विवागो ॥२७२॥

वीर्यान्तरायकेवलदर्शनावरणाष्टाविंशतिविधमोहनीयपञ्चविधज्ञानावरणानां पञ्चत्रिंशत्प्रकृतीनां समस्तपर्यायेषु सर्वद्रव्येषु सर्वजीवद्रव्येषु विपाकः । तथाहि इमा वीर्यान्तरायाः पञ्चत्रिंशत् प्रकृतयो द्रव्यतः सकलमपि जीवद्रव्यमुपघ्नन्ति पर्यायतस्तु न सर्वानपि यथा मेघैरतिनिचिततरैरपि सर्वात्मनान्तरितयोरपि सूर्याचन्द्रमसोर्न तत्प्रभा सर्वथा अपनेतुं शक्यते उक्तञ्च "सुट्ठु वि मेहसमुदिए, होइ पहा चंदसूराणंपि" तथा अत्रापि भावनीयम् ।

गुरुलघुगाणंतपए, सिएसु चक्खुस्स रूवदव्वेसु ।
ओहिस्स गहणधारण, जो गइससंतरायाणं ॥२७३॥

चक्षुषश्चक्षुर्दर्शनावरणगुरुलघुकाः अनन्तप्रादेशकाः स्कन्धास्तेषु विपाकः अवधिदर्शनावरणस्य रूपिद्रव्येषु शेषान्तरायाणां दानलाभोपभोगान्तरायाणां ग्रहणधारणयोग्येषु पुद्गलद्रव्येषु विपाको न शेषेषु यावत्स्वेव हि विषये चक्षुर्दर्शनादीनि व्याप्रियन्ते तावत्स्वेव विषये चक्षुर्दर्शनावरणादीन्यपि तत उक्तरूपो विषयनियमो न विरुद्ध्यते । शेषप्रकृतीनां तु यथा प्राग्विपाकोऽभिहितः पुद्गलविपाकादिस्तथैवात्रावगन्तव्यः । संप्रति प्रत्ययप्ररूपणा कर्त्तव्या प्रत्ययोऽपि द्विधा परिणामप्रत्ययो भवप्रत्ययश्च । तत्र परिणामप्रत्ययमधिकृत्याह ॥

वेउव्वीय तेयग, कम्मवन्नरसगंधनिद्धलुक्खाउ ॥
सीउण्हथिरसुभेयर, अगुरुलघुगा य नरतिरिय ॥२७४॥

वैक्रियसप्तकं तैजसकार्मणग्रहणात्तैजससप्तकं गृहीतम् । तथा वर्णपञ्चकं गन्धद्विकरसपञ्चकं स्निग्धरूक्षशीतोष्णस्थिरास्थिरशुभाशुभगुरुलघूनि चानुभागोदीरणामधिकृत्य तिर्यग्मनुष्याणां परिणामप्रत्ययानि वैक्रियसप्तकं तिर्यङ्मनुष्यगतिमनुष्याणां गुणविशेषसमुत्थलब्धिप्रत्ययं ततस्तदुदीरणापि तेषां गुणपरिणामप्रत्यया तैजससप्तकादयस्तु तिर्यङ्मनुष्यैरन्यथाऽन्यथा विपरिणमय्य उदीर्यन्ते ततस्तासामपि प्रकृतीनामनुभागोदीरणा तिर्यग्मनुष्याणां परिणामप्रत्यया ।

चतुरंस मउय लहुगा, परघाउज्जुप्पइट्ठखगइसरा ॥
पत्तेगतणू उत्तरतणू, सो दोसोत्ति य तणुतइया ॥२७५॥

समचतुरस्रसंस्थानमृदुलघुपराघातोद्योतप्रशस्तविहायोगतिसुस्वरप्रत्येकनामानोऽष्टौ प्रकृतयः । उत्तरतन्वर्थे वैक्रियाहारकलक्षणयोरनुभागोदीरणामधिकृत्य परिणाममधिकृत्य परिणामप्रत्यया वेदितव्या यत उत्तरवैक्रिये आहारके वा शरीरे सति समचतुरस्रसंस्थानामनुभागोदीरणां प्रवर्तमाना उत्तरवैक्रियादिशरीरपरिणामापेक्षा । ततः एषापि परिणामप्रत्यया वेदितव्या तथा तृतीया तनुराहारकशरीरमाहारकशरीरग्रहणाच्चाहारकसप्तकं गृहीतं द्रष्टव्यम् । तत अनुभागोदीरणामधिकृत्य परिणामप्रत्ययं वेदितव्यम् । आहारकसप्तकं हि मनुष्याणां गुणपरिणामप्रत्ययं भवति । ततस्तदनुभागोदीरणामधिकृत्य परिणामप्रत्ययं वेदितव्यम् । आहारकसप्तकं हि मनुष्याणां गुणपरिणामप्रत्ययं भवति ततस्तदनुभागोदीरणापि गुणपरिणामप्रत्ययैवेति ॥

देसविरयविरयाणं, सुभगाएज्जसकित्तिउच्चाणं ॥
पुव्वाणुपुव्वगाए, असंखभागो त्थियाईणं ॥२७६॥

देशविरतानां विरतानां च सुभगादेययशःकीर्त्युच्चैर्गोत्राणामनुभागोदीरणा परिणामकृता तथाहि सुभगादिप्रत्ययकृततदुर्भगादिप्रकृत्युदये सुतेऽपि यो देशे विरतिं वा प्रतिपद्यते तस्यापि देशविरत्यादिगुणप्रभावतः सुभगादीनामेव प्रकृतीनामुदयकोटिपूर्वकमुदीरणायोग्या गुणपरिणामे च प्रत्ययतो वेदितव्या । इदमुक्तं भवति । स्त्रीवेदादीनामतिजघन्यानुभागस्पर्द्धकादारभ्य क्रमेण संख्येयो भागो देशविरतादीनामुदीरणायोग्यो गुणप्रत्ययतो भवति । परस्त्वनुभागोदीरणामिति ।

तित्थंकरघाईण य, परिणामप्पच्चयाणि सेसाओ ।
भवपच्चया उ पुत्ता, वियपुव्वत्तसेसाणं ॥२७७॥

तीर्थंकरघातिकर्माणि च पञ्चविधज्ञानावरणनवविधदर्शनावरणनवनोकषायवर्ज्या मोहनीयपञ्चविधान्तरायरूपाणि सर्वसंख्यया एकोनचत्वारिंशत्प्रकृतयोऽनुभागोदीरणामधिकृत्य तिर्यङ्मनुष्याणां परिणामप्रत्ययाः । एतदुक्तं भवति । आसां प्रकृतीनामनुभागोदीरणा तिर्यङ्मनुष्याणां परिणामप्रत्यया भवति परिणामो ह्यन्यथाभावेन नयनम् । तत्र तिर्यञ्चो मनुष्या वा गुणप्रत्ययेन अन्यथा बद्धानामन्यथा परिणमय्य एतामुदीरणां कुर्वन्ति । (सेसाओ भवपच्चयाउत्ति) शेषाः प्रकृतयः सातासातवेदनीयआयुश्चतुष्टयं पञ्चकौदारिकसप्तकं संहननषट्कंप्रथमवर्ज्यं स्वस्थानपञ्चककर्कशगुरुस्पर्शानुपूर्वीचतुष्टयोपघाततपोच्छ्वासप्रशस्तविहायोगतित्रसस्थावरबादरसूक्ष्मपर्याप्तापर्याप्तसाधारणदुर्भगदुःस्वरानादेयायशःकीर्तिनिर्माणनीचैर्गोत्ररूपाः षट्पञ्चाशत्संख्या अनुभागोदीरणामधिकृत्य भवप्रत्यया वेदितव्याः । एतासामनुभागोदीरणा भवप्रत्ययतो भवतीत्यर्थः । (पुव्वत्ताविति) पूर्वोक्ता अपि प्रत्ययाः पूर्वोक्तशेषाणां प्रागुक्ततिर्यङ्मनुष्यव्यतिरिक्तानां भवप्रत्यया अनुभागोदीरणा वेदितव्या । तथाहि देवनारकैतरहितैश्च तिर्यङ्मनुष्यैर्नवानां नोकषायाणां पश्चानुपूर्व्या उत्कृष्टानुभागस्पर्द्धकादारभ्येत्यर्थः । असंख्येया अनुभागा भवप्रत्ययादेवोदीर्यन्ते । तथा वैक्रियसप्तकं तैजससप्तकवर्णपञ्चकगन्धद्विकरसपञ्चकस्निग्धरूक्षशीतोष्णस्पर्शस्थिरास्थिर–शुभाशुभगुरुलघुप्रकृतीनां देवा नैरयिकाश्च भवप्रत्ययतोऽनुभागोदीरणां कुर्वन्ति । तथा समचतुरस्रसंस्थानस्य भवधारणीये शरीरे वर्त्तमाना भवप्रत्ययादनुभागोदीरणां देवाः कुर्वन्ति । मृदुलघुस्पर्शपराघातोद्योतप्रशस्तविहायोगतिसुस्वरप्रत्येकनाम्नामुत्तरवैक्रियशरीरिणामुक्ताःशेषाणां भवप्रत्ययतोऽनुभागोदीरणा प्रवर्त्तते । सुभगादेययशःकीर्त्युच्चैर्गोत्राणामनुभागोदीरणा गुणहीनास्य भवप्रत्ययतोऽवसेया । गुणवतां तु गुणप्रत्यया । तथा सर्वेषां पराघातिकर्मणामनुभागोदीरणा भवप्रत्यया देवनारकानां तदेव प्रत्ययप्ररूपणा । संप्रति साद्यनादिप्ररूपणा कर्तव्या सा च द्विधा मूलप्रकृतिविषया उत्तरप्रकृतिविषया च । तत्र प्रथमतो मूलप्रकृतिविषयां तां कुर्वन्नाह ।

घाईणं अजघन्ना, दोण्हमणुयकोसिया तिविहाओ ।
वेयणिएणुक्कोसो, अनुजहन्ना मोहणीये ॥ २७८ ॥

साइअणाइधुव, अधुवा य तस्सेसिगाय दुविगप्पा ।
आउस्स साइअधुवा, सव्वविगप्पाउ विन्नेया ॥ १९९ ॥

मोहनीयवर्ज्यानां त्रयाणां घातिकर्मणामजघन्या अनुभागोदीरणा त्रिधा त्रिप्रकारा तद्यथा अनादिर्ध्रुवा अध्रुवा च तथा येषां क्षीणकषायस्य समयाधिकावलिकायां शेषायां स्थितौ जघन्या अनुभागोदीरणा च सादिरध्रुवा च। शेषकालं त्वजघन्या सा चानादिर्ध्रुवोदीरणात्वात् । ध्रुवाध्रुवे अभव्यभव्यापेक्षया तथा द्वयोर्नामगोत्रयोरनुत्कृष्टानुभागोदीरणा त्रिधा तद्यथा अनादिर्ध्रुवा अध्रुवा च तथा ह्यनयोरुत्कृष्टानुभागोदीरणा सयोगिकेवलिनि सा च सादिरध्रुवा च। शेषकालं त्वनुत्कृष्टा सा चानादिर्ध्रुवोदीरणात्वात् । ध्रुवाध्रुवे पूर्ववत् । तथा वेदनीये अनुत्कृष्टा मोहनीये वा अजघन्यानुभागोदीरणा चतुःप्रकारा तद्यथा सादिरनादिर्ध्रुवाध्रुवा च। तथाहि उपशान्तश्रेण्यां सूक्ष्मसंपरायगुणस्थाने यद्बन्धसातवेदनीयं तस्य सर्वार्थसिद्धिसंप्राप्तौ प्रथमसमये या उदीरणा प्रवर्त्तते सा उत्कृष्टा। सा च सादिरध्रुवा च ततोऽन्या सर्वाप्यनुत्कृष्टा सा चाप्रमत्तगुणस्थानकादौ न भवति ततः प्रतिपाते च भवति ततोऽसौ सादिः तत्र स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिः ध्रुवाध्रुवे पूर्ववत्। तथा मोहनीयस्य जघन्यानुभागोदीरणा सूक्ष्मसंपरायस्य क्षपकस्य समयाधिकावलिका शेषायां स्थितौ भवति सा च सादिस्तदनन्तरसमये वा भावादध्रुवा शेषकालं त्वजघन्या सा चोपशान्तमोहगुणस्थानके न भवति। ततः प्रतिपाते च भवति ततोऽसौ सादिः । तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिः । ध्रुवाध्रुवे पूर्ववत् । (तस्सेसियदुविगप्पत्ति) तच्छेषा रीतिः उक्तरीतिव्यतिरिक्ता विकल्पा द्विप्रकारा ज्ञातव्या तद्यथा सादयो ध्रुवाश्च । तथाहि चतुर्णां घातिकर्मणामुत्कृष्टा अनुत्कृष्टा च अनुभागोदीरणा मिथ्यादृष्टौ पर्यायेण लभ्यते। ततो द्वे अपि साद्यध्रुवे उत्कृष्टा च प्रागेव भाविता । तथा नामगोत्रवेदनीया जघन्या अजघन्या वानुभागोदीरणा मिथ्यादृष्टौ पर्यायेण लभ्यते ततो द्वे अपि साद्यध्रुवे उत्कृष्टा च प्रागेव भाविता । आयुषां तु सर्वे विकल्पाः साद्यध्रुवाः सा च साद्यध्रुवता अध्रुवोदीरणात्वादवसेया। तदेवं कृता मूलप्रकृतिविषया साद्यनादिप्ररूपणा।

संप्रत्युत्तरप्रकृतिविषयां तां चिकीर्षुराह ।

मउलहुगाणुक्कोसा, चउव्विहा तिण्हमवि य जहन्ना ।
इगधुवा य अधुवा, वीसाए होय णुक्कोसा ॥ २०० ॥
तेत्तीसाए अजहन्ना, तिया पयासिसेसविगप्पा ।
सव्वविगप्पा सेसा, एयावि अधुवा य साई य ॥ २०१ ॥

मृदुलघुस्पर्शयोरनुत्कृष्टा अनुभागोदीरणा चतुर्विधा तद्यथा सादिरनादिर्ध्रुवा अध्रुवा च तथा ह्यनयोरुत्कृष्टानुभागोदीरणा आहारकशरीरस्य संयतस्य भवति । सा च सादिरध्रुवा च ततोऽन्या सर्वाप्यनुत्कृष्टा सापि चाहारकशरीरमुपसंहरतः सादिस्तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिः । ध्रुवाध्रुवे पूर्ववत्। तथा त्रयाणां मिथ्यात्वगुरुकर्कशानामजघन्यानुभागोदीरणा चतुर्विधा तद्यथा सादिरनादिर्ध्रुवाऽध्रुवा च । तत्र सम्यक्त्वं संयमं च युगपत्प्रतिपत्तुकामस्य जन्तोर्मिथ्यात्वस्य जघन्यानुभागोदीरणा सा चानादिरध्रुवा च । ततोऽन्या सर्वाप्यजघन्या सा च सम्यक्त्वात्प्रतिपतितसादिः तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिः । ध्रुवाध्रुवे पूर्ववत् । कर्कशगुरुस्पर्शयोर्जघन्यानुभागोदीरणा आहारकशरीरसंयतस्य केवलिसमुद्घातान्निवर्तमानस्य षष्ठसमये भवति सा च सादिरध्रुवा च। समयमात्रत्वात्ततोऽन्या सर्वाप्यजघन्या सापि केवलिसमुद्घातान्निवर्तमानस्य सप्तमे समये भवतीत्यादि सादिः। ध्रुवाध्रुवे पूर्ववत्। तथा तैजससप्तकमृदुलघुवर्जशुभवर्णाद्येकादशगुरुलघुस्थिरशुभनिर्माणनाम्नां विंशतिप्रकृतीनामनुत्कृष्टाऽनुभागोदीरणा त्रिधा तद्यथा अनादिर्ध्रुवा अध्रुवा च। तथा ह्येतासामुत्कृष्टानुभागोदीरणा सयोगिकेवलिचरमसमये ततोऽन्या सर्वाप्यनुत्कृष्टा सा चानादिर्ध्रुवोदीरणात्वात् । ध्रुवाध्रुवे पूर्ववत् । तथा पञ्चविधज्ञानावरणचक्षुरचक्षुरवधिकेवलदर्शनावरणकृष्णनीलदुरभिसुरभिगन्धतिक्तकटुरूक्षशीतास्थिराशुभपञ्चविधान्तरायरूपाणां त्रयोविंशतिप्रकृतीनामजघन्या अनुभागोदीरणा त्रिधा तद्यथा अनादिर्ध्रुवाध्रुवा च । तथा ह्येतासां स्वस्वोदीरणापर्यवसाने जघन्यानुभागोदीरणा सा च सादिरध्रुवा च । ततोऽन्या सर्वाप्यजघन्या सा चानादिध्रुवोदीरणत्वात् ध्रुवाध्रुवे पूर्ववत् (पयासेसविगप्पत्ति) एतासां पूर्वोक्तानां शेषप्रकृतीनां शेषविकल्पा मृदुलघुविंशतीनां जघन्या जघन्योत्कृष्टा मिथ्यात्वगुरुकर्कशत्रयोविंशतीनां चोत्कृष्टजघन्याः सादयोऽध्रुवाश्च भवन्ति । तथाहि मृदुलघुविंशतीनां जघन्या अजघन्या चानुभागोदीरणा मिथ्यादृष्टौ पर्यायेण लभ्यते ततो द्वे अपि साद्यध्रुवे उत्कृष्टा च प्रागेव भाविता । तथा कर्कशगुरुमिथ्यात्वत्रयोविंशतीनां चोत्कृष्टजघन्या सादयो ध्रुवाश्च भवन्ति । तथाहि मृदुलघुविंशतीनामुत्कृष्टा अनुत्कृष्टा चानुभागोदीरणा मिथ्यादृष्टौ पर्यायेण लभ्यते अशुभप्रकृतित्वात् ततो द्वे अपि साद्यध्रुवे जघन्या च प्रागेव भाविता । शेषाणामुक्तव्यतिरिक्तानां प्रकृतीनां दशोत्तरशतसङ्ख्यानां सर्वे विकल्पा उत्कृष्टानुत्कृष्टजघन्याजघन्यरूपाः सादयोऽध्रुवाश्चावगन्तव्याः । सा च साद्यध्रुवता अध्रुवोदीरणत्वादवसेया। कृता साद्यनादिप्ररूपणा। संप्रति स्वामित्वमभिधातव्यं तच्च द्विधा उत्कृष्टोदीरणाविषयं जघन्योदीरणाविषयं च तत्र प्रथमत उत्कृष्टोदीरणाविषयं स्वामित्वमाह ॥

दाणाइ अचक्खूणं, जेट्ठा आयम्मि हीण लद्धिस्स ।
सुहुमस्स चक्खुणो पुण, तेइंदियसव्वपज्जत्ते ॥ २०२ ॥

सूक्ष्मस्य सूक्ष्मैकेन्द्रियस्य हीनलब्धिकस्य सर्वस्तोकदानाद्यचक्षुर्दर्शनविज्ञानलब्धियुक्तस्यादौ प्रथमसमये वर्तमानस्य पञ्चविधान्तरायाचक्षुर्दर्शनावरणरूपाणां षण्णां प्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागोदीरणा भवति । तथा त्रीन्द्रियस्य सर्वाभिः पर्याप्तस्य पर्याप्तिचरमसमये चक्षुर्दर्शनावरणस्योत्कृष्टा अनुभागोदीरणा ।

निद्दापंचगस्स य, मज्झिमपरिणामसंकिलिट्ठस्स ।
अपुमादि असायाणं, निरये जेट्ठठिई सम्मत्तो ॥ २०३ ॥

मध्यमपरिणामस्य तत्प्रायोग्यसंक्लेशयुक्तस्य सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्तस्य निद्रापञ्चकस्योत्कृष्टानुभागोदीरणा अत्यन्तविशुद्धस्य अत्यन्तसंक्लिष्टस्य वा निद्रापञ्चकस्योदय एव भवतीति कृत्वा मध्यमपरिणामग्रहणम् । तथा अपुमादीनां नपुंसकवेदादीनां रतिशोकभयजुगुप्सानामसातस्य चोत्कृष्टानुभागोदीरणास्वामी नैरयिको ज्येष्ठस्थितिक उत्कृष्ट-

स्थितिकः समाप्तः सर्वपर्याप्तिभिः पर्याप्तः सर्वसंक्लिष्टो वेदितव्यः
पंचेदियतसबायर-पज्जत्तगसायसुसुरगईणं ।
वेउब्वियसासाणं, देवो जेट्ठट्ठिई सम्मत्तो ॥ १७४ ॥
देवो ज्येष्ठस्थितिकः उत्कृष्टस्थितिकस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिकः समाप्तः सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्तः सर्वविशुद्धः पञ्चेन्द्रियजातित्रसबादरपर्याप्तसातवेदनीयसुस्वरदेवगतिवैक्रियसप्तकोच्छ्वासरूपाणां दशप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागोदीरणास्वामी।
सम्मत्तमीसगाणं, से काले गहिहि तित्थमिच्छत्तं ।
हस्सरईणसहस्सा—रगस्सपज्जत्तदेवस्स ॥ १७५ ॥
योऽनन्तरे समये मिथ्यात्वं प्रदीप्यते तस्य सर्वसंक्लिष्टस्य सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वयोर्यथासंख्यं संभवमुदये सत्युत्कृष्टानुभागोदीरणा । तथा सहस्रारकदेवस्य सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्तस्य हास्यरत्योरुत्कृष्टानुभागोदीरणा ।
गइहुंडुवघायाणि—ट्ठखगइनीयाण दुहचउक्कस्स ।
निरउक्कस्सम्मत्ते, असमत्ता पन्नरसंते ॥ १७६ ॥
नैरयिक उत्कृष्टस्थितौ वर्त्तमानः सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्तः सर्वोत्कृष्टसंक्लेशयुक्तो नरकगतिहुंडसंस्थानोपघातोऽप्रशस्तविहायोगतिनीचैर्गोत्राणां (दुहचउक्कस्सत्ति) दुर्भगदुःस्वरानादेयायशःकीर्तिरूपस्य सर्वसंख्यया नवानां प्रकृतीनां हुंडसंस्थानमुत्कृष्टानुभागोदीरणास्वामी । तथा अपर्याप्तकनाम्नो मनुष्योऽपर्याप्तश्चरमसमये वर्तमानः सर्वसंक्लिष्ट उत्कृष्टानुभागोदीरणास्वामी । संक्लितिर्यक्पञ्चेन्द्रियादपर्याप्तान्मनुष्योऽपर्याप्तसंक्लिष्टतर इति तिर्यग्मनुष्यग्रहणम् ।
कक्खडगुरुसंघयणा, पुच्छी पुमसंठाणतिरियनामाणं ।
पंचिंदियतिरिक्खो, अट्ठमवासट्ठवासाउ ॥ १७७ ॥
कर्कशगुरुस्पर्शयोरादिवर्ज्यानाञ्च पञ्चानां संहननानां स्त्रीवेदपुरुषवेदयोः आद्यन्तवर्ज्यानां चतुर्णां संस्थानानां तिर्यग्गतेश्च सर्वसंख्यया चतुर्दशप्रकृतीनां तिर्यक्संक्लिष्टपञ्चेन्द्रियोऽष्टवर्षायुरष्टमे वर्तमाने सर्वसंक्लिष्ट उत्कृष्टानुभागोदीरणास्वामी।
मणुओरालियसत्तग—वज्जरिसहनारायसंघयणं ।
मणुओतिपल्लपज्ज—त्तो आउगं पि संकिट्ठो ॥ १७८ ॥
मनुष्यः पल्योपमायुःस्थितिकः सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्तः सर्वविशुद्धो मनुष्यगत्यौदारिकसप्तकवज्रर्षभनाराचसंहननरूपाणां नवानां प्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागोदीरणास्वामी । तथा सर्वोत्कृष्टस्वस्वस्थितौ वर्तमानः सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्तश्च स्वकीयानामायुषां सर्वविशुद्धो नारकायुषस्तु सर्वसंक्लिष्ट उत्कृष्टानुभागोदीरको भवति ।
हस्सट्ठिइपज्जत्ता, तन्नामविगलजाइसुहुमाणं ।
थावर निगोयएगिं—दियाणमवि बायरो नवरि ॥ १७९ ॥
ह्रस्वस्थितिकाः पर्याप्तकास्तन्नामानो द्वीन्द्रिया जातिसूक्ष्मकर्मानुसारिनाम्नो विकलेन्द्रियजातीनां सूक्ष्मनाम्नश्चोत्कृष्टानुभागोदीरणास्वामिनः । एतदुक्तं भवति द्वित्रिचतुरिन्द्रियाः सूक्ष्माश्च सर्वजघन्यस्थितौ वर्तमानाः सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्ताः सर्वसंक्लिष्टा यथासंख्यं द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियजातिनाम्नां सूक्ष्मनाम्नश्चोत्कृष्टानुभागोदीरणास्वामिनः ह्रस्वस्थितौ वर्तमानाः सर्वसंक्लिष्टा भवन्ति इति कृत्वा तदुपादानम् । तथा स्थावरसाधारणैकेन्द्रियजातिनाम्नां जघन्यस्थितौ वर्तमानो बादरैकेन्द्रियः सर्वपर्याप्तिभिः पर्याप्तः सर्वसंक्लिष्टः स्थावरनाम्नः स्थावरसाधारणनाम्नः साधारण एकेन्द्रियजातेश्चोत्कृष्टानुभागोदीरणास्वामिनो भवतः । बादरस्य महान् सर्वसंक्लेशो भवतीति कृत्वा तदुपादानम् ।
आहारतणुपज्जत्त, गोउत्तरं समयओ य बहुगाणं ।
पत्तयखगइपराघा—याहारतणुण य विसुद्धो ॥ १८० ॥
समचतुरस्रसंस्थानमृदुलघुस्पर्शप्रत्येकप्रशस्तविहायोगतिपराघाताहारकसप्तकरूपाणां त्रयोदशप्रकृतीनामाहारकशरीरी संयतस्य सर्वपर्याप्तिभिः पर्याप्तः सर्वविशुद्ध उत्कृष्टानुभागोदीरणास्वामी ।
उत्तरवेउव्विजत्तो—यणामथाऽऽखरपुढवी ।
निरयगईणं भणिआ, तइए समयाणुपुव्वीणं ॥ १८१ ॥
उत्तरवैक्रिये वर्तमानो यातिः सर्वाभिः पर्याप्ताभिः पर्याप्तः सर्वविशुद्ध उद्योतनाम्न उत्कृष्टानुभागोदीरणास्वामी तथा खरपृथ्वीकायिक उत्कृष्टायां स्थितौ वर्तमानः सर्वपर्याप्तिपर्याप्तः सर्वविशुद्ध आतपनाम्नः उत्कृष्टानुभागोदीरणास्वामी तथा मनुष्यदेवतानुपूर्व्योर्विशुद्धा नरकतिर्यगानुपूर्व्योः संक्लिष्ट निजकगतीनां तृतीयसमये वर्तमाना उत्कृष्टानुभागोदीरकाश्च भवन्ति ।
लोगंते सेसाणं, सुभाणमियरासि चउसु वि गईसु ।
पज्जत्तकम्मिच्छस्सो, हीणमणो किलट्ठस्स ॥ १८२ ॥
योगिनः सयोगिकेवलिनस्ते सर्वापवर्तमानस्य शेषाणामुक्तव्यतिरिक्तानां शुभप्रकृतीनां तैजससप्तकमृदुलघुवर्ज्यशुभवर्णादिकादशकागुरुलघुस्थिरशुभसुभगादेययशःकीर्तिनिर्माणोच्चैर्गोत्रतीर्थकरनाम्नां पञ्चविंशतिसंख्यानामुत्कृष्टानुभागोदीरणा भवति इतरासां च शुभप्रकृतीनां मतिश्रुतमनःपर्यायकेवलज्ञानावरणकेवलदर्शनावरणमिथ्यात्वषोडशकषायकर्कशगुरुवर्ज्यशेषकुवर्णादिसप्तकास्थिराशुभरूपाणामेकत्रिंशत्प्रकृतीनां चतसृष्वपि गतिषु मिथ्यादृष्टेः सर्वपर्याप्तिपर्याप्तस्य उत्कृष्टे संक्लेशे वर्तमानस्योत्कृष्टानुभागोदीरणा भवति तथा अवधिज्ञानावरणदर्शनावरणयोस्तस्यैव चतुर्गतिकस्य मिथ्यादृष्टेरनवधिकस्य वधिलब्धिरहितस्योत्कृष्टानुभागोदीरणा भवति अवधिलब्धियुक्तस्य हि प्रभूतोऽनुभागः क्षयं याति तत उत्कृष्टो न लभ्यते इति न लब्धिकस्येत्युक्तम् । तदेवमुक्तमुत्कृष्टानुभागोदीरणास्वामित्वम् ।
सम्प्रति जघन्यानुभागोदीरणास्वामित्वं प्रतिपादयन्नाह ॥
सुयकेवलिणो मइसुय—अचक्खुचक्खुणुदीरणा मंदा ॥
विपुलपरमोहिणाणं, मणणाणोहि दुगस्सावि ॥ १८३ ॥
मतिश्रुतज्ञानावरणचक्षुरचक्षुर्दर्शनावरणानां श्रुतकेवलिनश्च तुर्दशपूर्वधरस्य क्षीणकषायस्य समयाधिकावलिका शेषायां स्थितौ वर्तमानस्य मन्दा जघन्यानुभागोदीरणा वर्तते । तथा क्षीणकषायस्य विपुलमतिमनःपर्यायज्ञानस्य समयाधिकावलिका शेषायां स्थितौ वर्तमानस्यावधिज्ञानावरणावधिदर्शनावरणयोर्जघन्यानुभागोदीरणा ।
खवणाएविग्घकेवल, संजलणाण य नो कसायाणं ॥
सयसयउदीरणंते, निद्दापयलाणमुवसंते ॥ १८४ ॥
क्षपणायां स्थितस्य पञ्चविधान्तरायकेवलज्ञानावरणकेवलदर्शनावरणसंज्वलनचतुष्टयनवनोकषायरूपाणां विंशतिप्रकृ-

तीनां स्वस्वोदीरणापर्यवसाने जघन्यानुभागोदीरणा । तथा निद्राप्रचलयोरुपशान्तमोहे जघन्यानुभागोदीरणा लभ्यते तस्य सर्वविशुद्धत्वात् ॥

निद्दानिद्दाईणं, पमत्तविरये विसुज्झमाणम्मि ॥
वेयगसम्मत्तस्स, सगखवणोदीरणा चरमे ॥ २९५ ॥

निद्रानिद्रादीनां निद्रा २ प्रचला २ स्त्यानर्द्धीनां प्रमत्तस्य संयतस्य विशुध्यमानस्य अप्रमत्तभावाभिमुखजघन्यानुभागोदीरणा प्रवर्तते । तथा क्षायिकसम्यक्त्वमुत्पादयतो मिथ्यात्वसम्यङ्मिथ्यात्वयोः क्षपिते । तयोर्वेदकसम्यक्त्वस्य क्षायोपशमिकस्य क्षपणकाले चरमोदीरणायां समयाधिकावलिकाशेषायां स्थितौ सत्यां प्रवर्तमानायां जघन्यानुभागोदीरणा भवति सा च चतुर्गतिकानामन्यतरस्य वेदितव्या ॥

से काले सम्मत्तं, ससंजमगिएहओ य तेरसगं ॥
सम्मत्तमेव मीसे, आऊण जहन्नट्टिईसु ॥ २९६ ॥

अनन्तरे काले द्वितीयसमये यः सम्यक्त्वं संयमसहितं ग्रहीष्यति तस्य त्रयोदशानां मिथ्यात्वानन्तानुबन्धिचतुष्टयाप्रत्याख्यानावरणरूपाणां प्रकृतीनां जघन्यानुभागोदीरणा । अयमिह संप्रदायः । योऽनन्तरसमये सम्यक्त्वं संयमसहितं ग्रहीष्यति तस्य मिथ्यादृष्टेर्मिथ्यात्वेनानन्तानुबन्धिनाम, तथा यो विरतिसमये संयमं ग्रहीष्यति तस्याप्रत्याख्यानावरणकषायाणां जघन्यानुभागोदीरणा मिथ्यादृष्ट्यपेक्षया हि अविरतिसम्यग्दृष्टिरनन्तगुणविशुद्धस्ततोऽपि देशविरतोऽनन्तगुणविशुद्ध इत्युक्तक्रमेणैव जघन्यानुभागोदीरणासंभवः । तथा सम्यक्त्वमवसीयते इति यः सम्यग्मिथ्यादृष्टिरनन्तरसमये सम्यक्त्वं प्रतिपत्स्यते तस्य सम्यग्मिथ्यात्वस्य जघन्यानुभागोदीरणा सम्यङ्मिथ्यादृष्टिर्युगपत् सम्यक्त्वं संयमं च न प्रतिपद्यते तथा विशुद्धेरभावात् किन्तु केवलं सम्यक्त्वमेवेतिकृत्वा तदेवं केवलमुक्तम् । तथा चतुर्णामायुषामात्मीयात्मीयजघन्यस्थितौ वर्तमाना जघन्यमनुभागमुदीरयन्ति । तत्र त्रयाणामायुषां संक्लेशादेव जघन्यस्थितिबन्धो भवतीति कृत्वा जघन्यानुभागोऽपि तत्रैव लभ्यते । तथा नरकायुषो विशुद्धिवशाज्जघन्यः स्थितिबन्धः ततो जघन्यानुभागोऽपि नरकायुषस्तत्रैव लभ्यते । तथा च सति त्रयाणामायुषामतिसंक्लिष्टो जघन्यानुभागोदीरकः नरकायुषस्त्वतिविशुद्ध इति ॥

पोग्गलविवागियाणं, भवाइसमये विसेसमवि चासिं ।
आइतणूणं दोएहं, सुहुमो वाउअप्पाउ । २९७ ।

पुद्गलविपाकिन्यः प्रकृतयः तासां सर्वासामपि भवादपि समये भवप्रथमसमये जघन्यानुभागोदीरणा एतच्च सामान्येनोक्तं ततः अमुकस्यामुक उदीरक इत्येवंरूपं विशेषमपि आसां प्रकृतीनां वक्ष्यामि । प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति । (आइ इत्यादि) आद्योर्द्वयोस्तन्वोः शरीरयोरौदारिकवैक्रियरूपयोर्यथासंख्यं सूक्ष्मो वायुकायिकश्चाल्पायुर्जघन्यानुभागोदीरकः । इह शरीरग्रहणेन बन्धनसंघाता अपि गृहीता द्रष्टव्याः । तत एतदुक्तं भवति औदारिकशरीरौदारिकसंघातौदारिकबन्धनचतुष्टयरूपस्यौदारिकषट्कस्याप्यपर्याप्तकसूक्ष्मैकेन्द्रियो वायुकायिकवैक्रियषट्कस्य च पर्याप्तौ बादरवायुकायिकोऽल्पायुर्जघन्यानुभागोदीरको भवति ।

बेइंदिअप्पाउग, निरयचिरट्ठिई असएिणणो वावि ।
अंगोवंगाण हारग, जइ णो अप्पकालम्मि । २९८ ।

द्वयोरङ्गोपाङ्गयोरौदारिकाङ्गोपाङ्गवैक्रियाङ्गोपाङ्गनाम्नोर्यथासंख्यमल्पायुर्द्वीन्द्रियस्तथा असंज्ञी सन् जातो नारकश्चिरस्थितिकः स च जघन्यानुभागोदीरको भवति इयमत्र भावना द्वीन्द्रियोऽल्पायुरौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम्न उदयप्रथमसमये जघन्यमनुभागमुदीरयति तथा संज्ञिपञ्चेन्द्रियः पूर्वोद्वर्तितवैक्रियाङ्गोपाङ्गस्तोककालं बद्ध्वा स्वभूमिकानुसारेण चिरस्थितिको नैरयिको जातस्तस्य वैक्रियाङ्गोपाङ्गनाम्न उदयप्रथमसमये वर्तमानस्य जघन्यानुभागोदीरणा । तथाऽऽहारकस्य प्राकृतत्वात् अत्र स्त्रीत्वनिर्देशः शरीरग्रहणेन च बन्धनसंघाता अपि गृह्यन्ते तत आहारकसप्तकस्य यतेराहारकशरीरमुत्पादयतः संक्लिष्टस्य अल्पे काले प्रथमसमये इत्यर्थः जघन्यानुभागोदीरणा ।

अमणो समचउरंसं, रिसहएय ओसगचिरट्ठिई सेसे ।
संघयणाणयमाणु, ओहुंडुवगघायाणमवि सुहुमो । २९९ ।

असंज्ञिपञ्चेन्द्रियोऽल्पायुरिति संक्लिष्टप्रथमसमये तद्भवस्थ आहारकः समचतुरस्रसंस्थानवज्रर्षभनाराचसंहननयोर्जघन्यमनुभागमुदीरयति अल्पायुर्ग्रहणं संक्लेशार्थम् । तथा असंज्ञिपञ्चेन्द्रिय आत्मीयायामुत्कृष्टस्थितौ वर्तमान आहारको भवप्रथमसमये शेष इति । तथा शेषाणां संहननानां सेवार्तवज्रर्षभनाराचवर्जानां पूर्वकोट्यायुर्मनुष्या आहारकस्वभवप्रथमसमये वर्तमाना जघन्यानुभागोदीरकाः इह दीर्घायुर्ग्रहणं विशुद्धसैक्ष्यपञ्चेन्द्रियापेक्षया च प्रायोग्या मनुष्या अल्पबला इति मनुष्योपादानम् । तथा सूक्ष्मैकेन्द्रियः सुदीर्घायुःस्थितिकः आहारकप्रथमसमये हुंडोपघातनाम्नोर्जघन्यानुभागोदीरकः

सेवट्टस्स बेइंदिय, बारसवासस्स मउयलहुगाणं ।
सन्निविसुद्धाणुणा-हारगस्स वीसा अइकिलिट्ठे । ३०० ।

द्वीन्द्रियसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य स्वभूमिकानुसारेणातिविशुद्धस्यानाहारकस्य जघन्यानुभागोदीरणा । तथा तैजससप्तकमृदुलघुवर्जशुभवर्णादिकादशकागुरुलघुस्थिरशुभनिर्माणरूपाणां विंशतिप्रकृतीनां संक्लिष्टोऽपान्तरालगतौ वर्तमानोऽनाहारको मिथ्यादृष्टिर्जघन्यानुभागोदीरणास्वामी वेदितव्यः ।

पत्तेगमुरालसमं, इयरं हुंडेण तस्स परघाओ ।
अप्पाउस्स य आया, उज्जोयाणमवि तज्जोगो ॥ ३०१ ॥

प्रत्येकनाम औदारिकेण समं वक्तव्यम् । औदारिकस्येव प्रत्येकनाम्नोऽपि सूक्ष्मैकेन्द्रियसमये वर्तमानो जघन्यानुभागोदीरको वेदितव्य इत्यर्थः । तथा हुंडेन समानमेतत् साधारणनाम्नो वक्तव्यम् । तथा सूक्ष्मैकेन्द्रियस्याहारकस्य प्रथमसमये हुंडनाम्नो जघन्यानुभागोदीरणा प्रागभिहिता तथा साधारणनाम्नोऽपि वक्तव्येत्यर्थः । तथा सूक्ष्मैकेन्द्रिय सूक्ष्ममपर्याप्तस्याल्पायुष इति संक्लिष्टस्यापर्याप्तचरमसमये वर्तमानस्य पराघातनाम्नो जघन्यानुभागोदीरणा । तथा आतपोद्योतनाम्नोस्तद्योगः पृथिवीकायिकः शरीरपर्याप्तापर्याप्तः प्रथमसमये वर्तमानः संक्लिष्टो जघन्यानुभागोदीरकः ।

जानाउज्जोयकरणं, तित्थगरस्स नवगस्स जोगंते ।
करकम्मगुरूणमंते, नियत्तमाणस्स केवलिणो ॥ ३०२ ॥

आयोजिकाकरणं नाम केवलिसमुद्घातादर्वाक् भवति तत्राङ् मर्यादायाम् आमर्यादया केवलदृष्ट्या योजनं व्यापारणमायोजनं च तथातिशुभयोगानामवस्थेयमायोजनमायोजिका तस्याः करणमायोजिकाकरणं केचिदाचार्या वर्जितकरणमित्याहुस्तत्रायं शब्दार्थः आवर्जितनामाभिमुखीकृतस्तथा च

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मोक्षे यत्नारः आवर्जितोऽयं मया संमुखीकृत इत्यर्थः । ततश्च तथा जघन्येनावर्जितस्य मोक्षगमनं प्रत्यभिमुखीकृतस्य करणं शुभयोगव्यापारणमावर्जितकरणम् । अपरे " आनावस्सिय-करण"मिति पठन्ति तत्रायं शब्दसंस्कारेऽवश्यंकरणम् तथाहि समुद्घातं केचित्कुर्वन्ति केचिन्न कुर्वन्ति । इदं त्वावश्यकरणं सर्वेऽपि केवलिनः कुर्वन्तीति तत्रायोजिकाकरणमवश्यंकरणम् तथाहि समुद्घातं केचित्कुर्वन्ति च । करणमसंख्येयसमयात्मक-मन्तर्मुहूर्तप्रमाणम् । यत उक्तम् । प्रज्ञापनायाम्-" कइ समए णं भंते ! आउज्जियाकरणे पन्नत्ते गोयमा ! असंखिज्जसमइए अंतोमुहुत्तए पन्नत्ते । इति तत्रा " तत्राद्या प्राप्यते । ताव-त्तीर्थकरकेवलिनः तीर्थकरनाम्नो जघन्यानुभागोदीरणा आ-योजिकाकरणो हि प्रभूतानुभागोदीरणा प्रवर्तते इत्यर्थाद् ग्रहणम् तथा नीलकृष्णदुरभिगन्धतिक्तकटुशीतरूक्षस्थिरशुभ-रूपस्य प्रकृतिनवकस्य सयोगिकेवलिचरमसमये जघन्यानु-भागोदीरणा तस्यैव सर्वविशुद्धत्वात् । कर्कशगुरुस्पर्शयोस्तु केवलिसमुद्घातेन वर्तमानस्य केवलिनः प्रथमसंहारसमये जघन्यानुभागोदीरणा ।

सेसाण य गइबेइम-माज्झिमपरिणामपरिणयउ होज्जा ।
पच्चयसुभासुभवि य, चिंयइए नउ विहागे य ॥३०३॥

शेषाणां सातवेदनीय गतिचतुष्टयजातिपञ्चकानुपूर्वीच-तुष्टयाऽऽद्यसंस्थानविहायोगतिद्विकत्रसस्थावरबादरसूक्ष्मपर्या-प्तापर्याप्तसुभगसुस्वरदुःस्वरानादेयायशःकीर्त्ययशःकीर्त्युच्चै-र्गोत्रनीचैर्गोत्राख्यानां चतुस्त्रिंशत्संख्यानां प्रकृतीनां तत्प्रकृतीनां सादेयवर्तमानाः सर्वेऽपि जीवा मध्यमपरिणामपरिणता जघ-न्यानुभागोदीरणामपरिस्राता जघन्यानुभागोदीरणास्वामिनो भवन्ति । सा च सर्वासां प्रकृतीनां सामान्येन जघन्योत्कृष्टानु-भागोदीरणा । स्वामित्वपरिज्ञानार्थमुपायोपदेशमाह (पच्च-यादि) प्रत्ययपरिणामप्रत्ययो भवप्रत्ययश्च प्रकृतीनां शुभ-त्वमशुभत्वं च विपाकादि एतान् सम्यक् चिन्तयित्वा परि-भाव्य जघन्योत्कृष्टानुभागोदीरणास्वामी यथायज्ज्ञेयोऽव-गन्तव्यः । तथाहि । परिणामप्रत्ययानुभागोदीरणा प्राय उत्कृष्टा भवति भवप्रत्यया तु जघन्या शुभानाञ्च संक्लेशप्र-योजनं जघन्यानुभागोदीरणा अशुभानां च विशुद्धौ विपर्यासे तूत्कृष्टा इत्यादि परिभाव्य तत्तत्प्रकृत्युदयवतां जघन्योत्कृष्टा-नुभागोदीरणास्वामित्वमवगन्तव्यम् । इति तदेवमुक्ता अनु-भागोदीरणा । संप्रति प्रदेशोदीरणाभिधानावसरस्तत्र च द्वावर्थाधिकारौ । तद्यथा साद्यनादि प्ररूपणार्थमाह सा च द्विधा मूलप्रकृतिविषया उत्तरप्रकृतिविषया च तत्र मूलप्रकृतिविषयां साद्यनादिप्ररूपणां चिकीर्षुराह ।

पंचण्हमणुक्कोसा, तिहा पएसे चउव्विहा दोण्हं ।
सेसविगप्पा दुविहा, सव्वविगप्पा य आउस्स ॥३०४॥

ज्ञानावरणदर्शनावरणनामगोत्रान्तरायरूपाणां पञ्चानां मूल-प्रकृतीनामनुत्कृष्टा प्रदेशविषया उदीरणा त्रिधा त्रिप्रकारा त-द्यथा अनादिर्ध्रुवाध्रुवा च । तथाह्येतासामुत्कृष्टा प्रदेशोदीर-णा गुणितकर्मांशस्य स्वोदीरणापर्यवसाने लभ्यते सा च सा-दिरध्रुवा च । ततोऽन्या सर्वाप्यनुत्कृष्टा सा चानादिर्ध्रुवोदीर-णत्वात् ध्रुवाध्रुवे अभव्यभव्यापेक्षया तथा द्वयोर्वेदनीयमोहनी-ययोरनुत्कृष्टा प्रदेशोदीरणा चतुर्विधा तद्यथा सादिरनादि-र्ध्रुवाध्रुवा च । तथाहि वेदनीयस्योत्कृष्टा प्रदेशोदीरणा प्रमत्त-भावाभिमुखस्य सर्वविशुद्धस्य मोहनीयस्य पुनः स्वोदीरणा-पर्यवसाने सूक्ष्मसंपरायस्य ततो द्वयोरपि एषा साद्यनादीध्रु-वा ततोऽन्या सर्वाप्यनुत्कृष्टा सापि चाप्रमत्तगुणस्थानका-त्प्रतिपतितो वेदनीयस्योपशान्तमोहगुणस्थानकाच्च प्रतिपति-तो मोहनीयस्य सादिः तत्स्थानमप्राप्तस्य द्वयोरप्यनादिः ध्रुवाध्रुवे पूर्ववत् (सेसविगप्पत्ति) एतासां सप्तानामपि मूलप्रकृतीनां शेषा उक्तव्यतिरिक्ता विकल्पा जघन्योत्कृष्टा द्विधा द्विप्रकारास्तद्यथा साद्योऽध्रुवाश्च । तथाह्येतासां सप्तानामतिसंक्लिष्टा मिथ्यादृष्टौ जघन्या प्रदेशोदीरणा सा च सादिरध्रुवा च । संक्लेशपरिणामाच्च च्युतस्य मिथ्यादृष्टेरप्य-जघन्यतः सापि सादिरध्रुवा च । उत्कृष्टा च प्रागेव भाविता आयुषः सर्वेऽपि विकल्पा जघन्योत्कृष्टानुत्कृष्टा द्विविधास्तद्य-था साद्योऽध्रुवाश्च । सा च साद्यध्रुवता अध्रुवोदीरणत्वाद-वसेया । सम्प्रत्युत्तरप्रकृतीनां साद्यनादिप्ररूपणामाह ।

मिच्छत्तस्स चउद्धा, सगयालाएहिं तिहा अणुक्कोसा ।
सेसविगप्पा दुविहा, सव्वविगप्पा य सेसाणं ॥३०५॥

मिथ्यात्वस्यानुत्कृष्टा प्रदेशोदीरणा चतुर्विधा । तद्यथा-सादिरनादिर्ध्रुवाध्रुवा च तथाहि योऽनन्तरसमये सम्यक्त्वं संयमसहितं प्रतिपत्स्यते तस्य मिथ्यादृष्टेर्मिथ्यात्वस्योत्कृष्टा प्रदेशोदीरणा सा च सादिरध्रुवा च समयमात्रत्वात् ततोऽन्या सर्वाप्यनुत्कृष्टा सापि च सम्यक्त्वात्प्रतिपतिता भवति सादिः तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिः । ध्रुवाध्रुवे पूर्ववत् । तथा सप्त-चत्वारिंशत्प्रकृतीनामनुत्कृष्टा प्रदेशोदीरणा त्रिधा । तद्यथा । अनादिर्ध्रुवा अध्रुवा च । तथाहि । पञ्चविधज्ञानावरणपञ्चवि-धान्तरायचतुर्विधदर्शनावरणरूपाणां चतुर्दशप्रकृतीनां क्षीण-कषायस्य गुणितकर्मांशस्य स्वस्वोदीरणापर्यवसाने उत्कृष्टा-प्रदेशोदीरणा । सा च सादिरध्रुवा च ततोऽन्या सर्वाप्यनु-त्कृष्टा सा च अनादिः ध्रुवोदीरणत्वात् ध्रुवाध्रुवे पूर्ववत् । तथा तैजससप्तकवर्णादिविंशतिस्थिरास्थिरशुभाशुभगुरुलघुनिर्मा-णनाम्नां त्रयस्त्रिंशत्संख्याकानां प्रकृतीनां गुणितकर्मांशो-ऽस्य सयोगिकेवलिनश्चरमसमये उत्कृष्टा प्रदेशोदीरणा । सा च सादिरध्रुवा च । ततोऽन्या सर्वाप्यनुत्कृष्टा सा चानादिर्ध्रु-वोदीरणत्वादासां ध्रुवाध्रुवे पूर्ववत् (सेसविगप्पादुविहत्ति) उक्तशेषा विकल्पा जघन्याजघन्योत्कृष्टरूपा द्विविधास्त-द्यथा साद्यो ध्रुवाश्च । तथाहि सर्वासामप्युक्तप्रकृतीनामतिसं-क्लिष्टपरिणामेति मिथ्यादृष्टौ जघन्या प्रदेशोदीरणा लभ्यते अतिसंक्लिष्टस्य परिणामप्रत्ययत्वे सा जघन्या ततो द्वे अपि साद्यध्रुवे उत्कृष्टा च प्रागेव भाविता शेषाणां चोक्तव्यतिरि-क्तानां प्रकृतीनां दशोत्तरशतसंख्यानां सर्वेऽपि विकल्पा जघ-न्याजघन्योत्कृष्टा द्विविधास्तद्यथा साद्यो ध्रुवाश्च साद्यध्रुवता च ध्रुवोदीरणत्वादवसेया । कृता साद्यनादिप्ररूपणा । संप्रति स्वामित्वमभिधातव्यं तच्च द्विधा उत्कृष्टजघन्याप्रदेशोदीरणा-स्वामित्वात् । तत्र प्रथमत उत्कृष्टोदीरणास्वामित्वमाह ।

अणुभागुदीरणा ए, जहन्नसामीव एस जेट्ठाए ।
घाईणं अन्नयरो, ओहीण विणोहिलंभेण ॥३०६॥

घातिकर्मणां सर्वेषामपि अनुभागोदीरणायां यो यो जघन्या-नुभागोदीरणास्वामी प्राक् प्रतिपादितः स एवोत्कृष्टप्रदेशोदी-रणायाः स्वामी गुणितकर्मांशो वेदितव्यः नवरमन्यत इति श्रुतकेवली इतरो वा अवधिज्ञानावरणावधिदर्शनावरणयोर-वधिलब्धिहीनोत्कृष्टप्रदेशोदीरकोऽवसेयः । (असीति) वेदम-तिसंक्लिष्टमुक्तमिति विशेषता विज्ञाप्यते अवधिज्ञानावरणव-र्ज्यानां चतुर्णां ज्ञानावरणानां चक्षुरचक्षुःकेवलदर्शनावरणानां

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्षीणकषायश्रुतिकेवलिन इतरस्य वा गुणितकर्मांशस्य समयाधिकावलिका शेषायां स्थितौ उत्कृष्टा प्रदेशोदीरणा अवधिज्ञानावरणयोः पुनरवधिज्ञानलब्धिरहितस्य क्षीणकषायस्य समयाधिकावलिका शेषायां स्थितौ उत्कृष्टा प्रदेशोदीरणा निद्राप्रचलयोरुपशान्तकषायस्य प्रमत्तसंयते अप्रमत्तभावाभिमुखे स्त्यानर्द्धित्रिकस्य मिथ्यात्वानन्तानुबन्धिकषायाणामनन्तरसमये सम्यक्त्वं संयमसहितं प्रतिपत्तुकामस्य मिथ्यादृष्टेश्चरमसमये सम्यग्मिथ्यात्वस्य सम्यक्त्वप्रतिपत्स्युपान्त्यसमये अप्रत्याख्यानावरणकषायाणां प्रदेशविरतस्यानन्तरसमयाधिकावलिका शेषायां चरमसमये क्षपकस्य हानिः हानाविषट्कस्यापूर्वकरणगुणस्थानकचरमसमये सर्वत्र गुणितकर्मांशस्योत्कृष्टा प्रदेशोदीरणा वेदितव्या ।

वेयाणियाणं गहिहिं, से कालिअप्पमाईमिय विरओ ।
संघयणपगतणुजुग, उज्जो वा अप्पमत्तस्स ॥ ३०७ ॥

यः प्रमत्तो द्वितीये समये अप्रमादं प्रहीष्यति सोऽप्रमत्तो नविष्यति प्रमत्तो न पञ्चकवैक्रियसप्तकाहारकसप्तकोद्योतनाम्नामुत्कृष्टा प्रदेशोदीरणा ।

देवनिरयाउ गाणं, जहन्नजेट्ठट्ठिई गुरुअ साए ।
इयराउग वि अट्ठम वासे, णेयो अट्ठवासाउ ॥३०८॥

देवनारकायुर्वेदनीयकर्म देवनारकौ जघन्योत्कृष्टस्थितिकौ गुरुदुःखयोरुदये वर्तमानौ उत्कृष्टप्रदेशोदीरकौ वेदितव्यौ । एतदुक्तं भवति । देवो दशवर्षसहस्रायुःस्थितिको गुरुदुःखोदये वर्तमानो देवायुष उत्कृष्टप्रदेशोदीरकस्तथा नैरयिकस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमायुःस्थितिको गुरुदुःखोदये वर्तमानो नरकायुष उत्कृष्टप्रदेशोदीरकः प्रभूतं हि दुःखमनुभवन् प्रभूतान् पुद्गलान् परिसाटयति इति तदुपादानम् । इतरायुषोस्तिर्यग्मनुष्यायुषोर्यथासंख्यं तिर्यग्मनुष्योऽष्टवर्षायुषोऽष्टमे वर्षे वर्तमानो गुरुदुःखोदये युक्त उत्कृष्टप्रदेशोदीरको भवति

एगंततिरिगजोग्गा, नियग विसिट्ठे तसु तह अपज्जत्तो ।
संमुच्छिममणुअंते, तिरियगई देसविरयस्स । ३०९ ।

एकान्तेन तिरश्चामेवोदयं प्रति प्रायोग्याः प्रकृतयस्तासामेकेन्द्रियजातिद्वीन्द्रियजातित्रीन्द्रियजातिचतुरिन्द्रियजात्यातपस्थावरसूक्ष्मसाधारणनाम्नामष्टानां निजकविशिष्टेषु निजनिज प्रकृतावविशिष्टेषु यथा एकेन्द्रियजातिस्थावरनाम्नो बादरपृथिवीकायिके सर्वविशुद्धे आतपनाम्नः खरबादरपृथ्वीकायिके सूक्ष्मस्य पर्याप्तसाधारणविकलेन्द्रियनाम्नां तन्नामसु पर्याप्तेषु सर्वविशुद्धेषु उत्कृष्टा प्रदेशोदीरणा देशविरतस्य तस्य सर्वविशुद्धत्वात् ।

आणुपुव्वीगइदुगाणं, सम्मदिट्ठीउ दुजगईणं ।
नीयस्स य से काले, गहियविरयत्ति सो चेव ।३१०।

चतसृणामानुपूर्वीणां तस्यां तस्यां गतौ वर्तमानः तृतीये समये सर्वविशुद्धसम्यग्दृष्टिरुत्कृष्टप्रदेशोदीरकः केवलं नरकतिर्यगानुपूर्व्योः क्षायिकसम्यग्दृष्टिर्वक्तव्या देवनारकगत्योरपि स एव क्षायिकसम्यग्दृष्टिरुत्कृष्टप्रदेशोदीरकः तथा योऽनन्तरसमये संयमं प्रतिपत्स्यते स एवाविरतसम्यग्दृष्टिर्दुर्भगादीनां दुर्भगदुःस्वरानादेयायशः कीर्तीनां नीचैर्गोत्रस्योत्कृष्टप्रदेशोदीरकः ।

जोगं उदीरगाणं, जोगंते सरदुगाणुपाणूणं ।
नियगंते केवलिणो, सव्वविसुद्धीए सव्वासिं ॥३११॥

योग्यन्तदीरणायोगी सयोगी केवली अन्ते चरमसमये उदीरको यासां ता योग्यन्तोदीरकास्तासां मनुजगतिपञ्चेन्द्रियजात्यौदारिकसप्तकतैजससप्तकसंस्थानषट्कप्रथमसंहननवर्णादिविंशत्यगुरुलघूपघातपराघातविहायोगतिद्विकत्रसबादरपर्याप्तप्रत्येकस्थिरास्थिरशुभाशुभसुभगादेययशः कीर्तिनिर्माणतीर्थकरोच्चैर्गोत्राणां द्विषष्टिसङ्ख्यानां प्रकृतीनां संयोगिकेवली चरमसमये उत्कृष्टप्रदेशोदीरकः । तथा केवलिनः स्वरद्विकप्राणापानयोर्निजकान्ते स्वस्वनिरोधकाले उत्कृष्टा प्रदेशोदीरणा तथाहि स्वरनिरोधकाले सुस्वरदुःस्वरयोः प्राणापाननिरोधकाले च प्राणापाननाम्न उत्कृष्टा प्रदेशोदीरणा इह सर्वकर्मणामुत्कृष्टप्रदेशोदीरणायामेषा परिभाषा " यो यः स्वस्वोदीरणाधिकारी स स तस्य कर्मणः स्वामी वेदितव्यः" । आयुर्व्यतिरेकेण चान्यत्र सर्वत्रापि गुणितकर्मांशत्वेन दानान्तरायादीनामपि पञ्चानां प्रकृतीनामुत्कृष्टप्रदेशोदीरणास्वामित्वं चेति ॥

संप्रति जघन्यप्रदेशोदीरणास्वामित्वमाह ।

तप्पगइ उदीरगत्ति, संकिलिट्ठभावे अमत्थपगईण ।
णेयो जहन्नसामी, अणुभागो य तित्थयरे ॥३१२॥

यस्तासां प्रकृतीनामुदीरकः सोऽतिसंक्लिष्टभावोऽति संक्लिष्टपरिणामः क्षपितकर्मांशः सर्वप्रकृतीनां स्वस्वयोग्यानां ज्ञानावरणदर्शनावरणीयानां सातासातवेदनीययोर्मिथ्यात्वस्य षोडशानां कषायाणां नोकषायाणां सर्वसंख्यया पञ्चत्रिंशत्संख्यानां प्रकृतीनां मिथ्यादृष्टिः सर्वपर्याप्तिपर्याप्तः सर्वसंक्लिष्टो निद्रापञ्चकतत्प्रायोग्यसंक्लेशयुक्तो जघन्यप्रदेशोदीरणास्वामी । तथा योऽनन्तरसमये मिथ्यात्वं यास्यति सोऽतिसंक्लिष्टः सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वयोर्जघन्यप्रदेशोदीरणास्वामी भवति । तथा गतिचतुष्टयपञ्चेन्द्रियजात्यौदारिकसप्तकवैक्रियसप्तकतैजससप्तकसंस्थानषट्कवर्णादिविंशत्युप - घातोपघातागुरुलघूच्छ्वासोद्योतविहायोगतिद्विकत्रसबादरपर्याप्तप्रत्येकस्थिरास्थिरशुभाशुभदुर्भगसुस्वरदुःस्वरादेयानादेययशःकीर्तिनिर्माणोच्चैर्गोत्रपञ्चविधान्तरायरूपाणां एकोननवतिसंख्यानां प्रकृतीनां संज्ञिपर्याप्तसर्वोत्कृष्टसंक्लेशयुक्तो जघन्यप्रदेशोदीरणास्वामी आहारकस्य वाऽऽहारशरीरी तत्प्रयोग्यसंक्लेशयुक्त आनुपूर्वीणामपि आतपस्य खरबादरपृथिवीकायिकः सर्वसंक्लिष्ट एकेन्द्रिजातिस्थावरसाधारणनाम्नामेकेन्द्रियः सर्वोत्कृष्टसंक्लेशयुक्तः सूक्ष्मनाम्नः सूक्ष्मैकेन्द्रियसर्वसंक्लिष्टो जघन्यप्रदेशोदीरणास्वामी अपर्याप्तकनाम्नः पुनरपर्याप्तमनुष्यसर्वसंक्लिष्टश्चरमसमये वर्तमानो जघन्यप्रदेशोदीरको भवति । तथा द्वित्रिचतुरिन्द्रियजातीनां यथाक्रमं द्वित्रिचतुरिन्द्रियाः सर्वाः संक्लिष्टा जघन्यप्रदेशोदीरणास्वामिनः (अणुभागोयतित्थयरेत्ति) तीर्थकरनाम्न एव जघन्यानुभागोदीरणास्वामी प्राक् प्रतिपादितः स एव जघन्यप्रदेशोदीरणास्वामी अपि वेदितव्यः तीर्थकरकेवली यावदद्यापि योजिकाकरणमारभते तावत्तीर्थकरनाम्नो जघन्यप्रदेशोदीरको वेदितव्य इत्यर्थः ।

ओहि ओहिजुए अइ—सुहवेयआउगाणं तु ॥
पढमस्स जहन्नट्ठिइ, सेसाणुक्कोसगट्ठिईउ ॥ ३१३ ॥

अवधिज्ञानावरणावधिदर्शनावरणयोरवधिज्ञानलब्धियुक्तः सर्वसंक्लिष्टो जघन्यप्रदेशोदीरणास्वामी । अवधिज्ञाने क्षेत्रादितो बहवः पुद्गलाः परिक्षीणा इत्यवधिज्ञानलब्धिग्रहणम् । तथा चतु-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

णोमप्यायुषां स्वभूमिकानुसारेणातीव सुखमनुभवन् जघन्यप्रदेशोदीरको भवति। तत्र प्रथमस्य नरकायुषो दशवर्षसहस्रप्रमाणं जघन्यस्थितौ वर्तमानो नैरयिकः स हि शेषनारकापेक्षया अतिशयेन सुखी शेषाणां च तिर्यग्मनुष्यदेवायुषामुत्कृष्टस्थितौ वर्तमानो नैरयिकः। स हि शेषनारकः स्वस्वयोग्यतानुसारेण परमसुखिनो यथासंख्यंतिर्यङ्मनुष्यदेवा जघन्यप्रदेशोदीरणास्वामिनो वेदितव्याः । इति उदयोदीरणयोः स्वामित्वेन भेदो नास्ति ॥

उई (दी) रिज्जमाण–उदीर्यमाण–त्रि० उद्-ईर-य-शानच् । उदीरणानामनुदये प्राप्तं चिरेणागामिना कालेन यद्वेदितव्यं कर्म दलिकं तस्य विशिष्टाऽध्यवसायलक्षणेन करणेनाकृष्योदये प्रक्षेपणं सा चाऽसंख्येयसमयवर्तिनी तया च पुनरुदीरणया उदीरणाप्रथमसमय एव । भ० १ श० १ उ०। उदयमुपनीयमाने,–प्रज्ञा० २३ पद । " उदीरिज्जमाणे उदीरए " भ० १ श० १ उ० ।

उई (दी) रिय–उदीरित–त्रि० । उत्प्राबल्येनेरितो जनितः। कृते, " ससद्दफासाफरुसाउदीरिया " अर्फिकृते, आचा०। " महागुरूणिस्स यराउदीरिता " उत्प्राबल्येनेरितः कथितः। प्रतिपादिते, 'धीरे धम्मे उदीरिए ' आचा० ७ अ० ३ चू० । उत्प्राबल्येन प्रेरिते, राइयाणं वेइयाणं चालियाणं घट्टियाणं खोभियाणं उदीरियाणं केरिसए सद्दे भवति। राज०। जी०। उदयमुपनीते, प्रज्ञा० २३ पद । भ० । उदीरितास्तु स्वभावतोऽनुदितान् पुद्गलान् उदयप्राप्ते कर्मदलिके करणविशेषेण प्रक्षिप्य यान् वेदयते इति तत्त्वम् । भ० १ श० १ उ० ।

उई (दी) रेंत–उदीरयत्–त्रि०वस्त्वन्तरं प्रेरयति,-स्था०७ठा० ।

उउ–ऋतु–पुं० ऋ तु किच्च । " उदृत्वादौ ८ । १ । ३ । " ऋतु इत्यादिषु शब्देष्वादेरृत उद् भवति-प्रा०। ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः षोडश स्मृताः इति मनूक्ते स्त्रीणां शोणितदर्शनयोग्यगर्भधारणसमर्थे काले, । वाच० । नि० चू० । लोकरूढ्या षष्ट्यहोरात्रप्रमाणद्विमासात्मके कालविशेषे, व्य० १ उ० । जी० । स्था० । भ० । जी० । " दो मासा उऊ " । अ० ६ श० ७ उ० । अनु० । स्था० । ज्ञा० । औ० । जं० । ते च षट्-"तत्थ खलु इमे छ उऊ पण्णत्ता तंजहा पाउसे १ वरिसारत्ते २ सरदे ३ हेमन्ते ४ वसन्ते ५ गिम्हे ६ । ता सव्वे वि णं परिचंदे उऊ दुवे दुवे मासानि च उप्पएणं आदाएणं गणिज्जमाणसातिरेगाइं एगूणसट्ठि २ रातिंदिनाइं रातिंदियग्गेणं आहितेत्ति " । तत्राऽस्मिन् मनुष्यलोके प्रतिसूर्यायनं प्रतिचन्द्रायनं च खल्विमे षट् ऋतवः प्रज्ञप्तास्तद्यथा-प्रावृट्, वर्षारात्रः शरदो, हेमन्तो, वसन्तो, ग्रीष्मः। इह लोके अन्यथाभिधाना ऋतवः प्रसिद्धास्तद्यथा प्रावृट् शरद्, हेमन्तः शिशिरो, वसन्तो ग्रीष्मश्चेति। जिनमते तु यथोक्ताभिधाना एव ऋतवः । तथाचोक्तम् " पाउस वासारत्तो, सरओ हेमंत वसंत गिम्हो य । एए खलु छ प्पि उऊ, जिणवरदिट्ठा मए सिट्ठा " चं० प्र० १२ पाहु । सू० प्र० । स्था० । जं० ।

ऋतुपरिमाणविचारः ।

एतो उउपरिमाणं, वोच्छामि अहाणुपुव्वीए ।

अतो मण्डलेषु नक्षत्रसूर्यशशिनां प्रतिमुहूर्त्तं गतिपरिमाणप्रतिपादितानामनन्तरमृतुपरिमाणं सूर्यर्तुपरिमाणं चन्द्रर्तुपरिमाणं च यथानुपूर्व्या क्रमेण वक्ष्यामि । प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयितुकामः प्रथमतः सूर्यर्तुपरिमाणं प्रतिपादयति ।

बे याइच्चा मासा, एकसट्ठिं ते भवंतहोरत्ता ।
एयं उउपरिमाणं, अवगयमाणो जिणा विंति ॥

यौ द्वावादित्यौ मासौ सूर्यमासौ यावदहोरात्रपरिगणनया एकषष्टिरहोरात्रा भवन्ति । तथाहि सूर्यमासस्त्रिंशदहोरात्र एकस्य चाहोरात्रस्य चार्द्धं ततो द्वौ सूर्यमासावेकषष्टिरहोरात्रा भवन्ति। एतत् एतावत् क्रमतः सूर्यर्तोः परिमाणमपगतमानाः। मानग्रहणमुपलक्षणमपगतसकलक्रोधमानादिवर्गाः जिनास्तीर्थकृतो ब्रुवते ।

सांप्रतमीप्सितसूर्यर्त्वानयने करणमभिधित्सुराह ।

सूरउउस्साणयणे, पव्वपंचरसगुणं नियमा ।
तिहि संक्खित्तं संतं, बावट्ठिभागपरिहीणं ॥
दुगुणे गट्ठीए जुयं, बावीससएण भाइए नियमा ।
जं लद्धं तस्स पुणो, छहिहिय सेस उऊ होइ ॥
सेसाणं अंसाणं, बेहि उ भागाहि तेसि जं लद्धं ।
ते दिवसा नायव्वा, होंति सचत्तस्स अयणस्स ॥

सूर्यस्य सूर्यसंबन्धेन ऋतोरानयने पर्वपर्वसंस्थानं नियमात्पञ्चदशगुणं कर्त्तव्यम् । पर्वणां पञ्चदशतिथ्यात्मकत्वात् । इयमत्र भावना । इह ऋतव आषाढादिप्रभवाः युगं च प्रवर्तते श्रावणबहुलपक्षे प्रतिपद् आरभ्यते । ता युगादितः प्रवृत्तानि यानि पर्वाणि तत्संख्या पञ्चदशगुणा क्रियते कृत्वा च पर्वणामुपरि या विवक्षितदिनमभिव्याप्य तिथयस्तास्तत्र संक्षिप्यन्ते इत्यर्थः । ततो " बावट्ठीभागपरिहीणांति " प्रत्यहोरात्रमेकैकेन द्वाषष्टिभागेन परिहीयमाने ये निष्पन्ना अवमरात्रास्तेऽप्युपचारात् द्वाषष्टिभागास्ते परिहीनपर्वसंख्यानं कर्तव्यं ततो (दुगुणत्ति) द्वाभ्यां गुण्यते गुणयित्वा च एकषष्ट्यायुतं क्रियते । ततो द्वाविंशेन शतेन भाजितं यल्लब्धं तस्य षड्भिर्भागे हृते यच्छेषं स ऋतुरनन्तरातीतो भवति । येऽपि अंशा शेषा उद्धरिताः तेषां द्वाभ्यां भागे हृते यल्लब्धं ते दिवसाः प्रवर्तमानस्य ऋतोर्ज्ञातव्याः । एष करणगाथाक्षरार्थः । संप्रति करणभावना क्रियते । तत्र युगे प्रथमे दीपोत्सवे केनापि पृष्टः कः सूर्यर्तुरनन्तरमतीतः को वा संप्रति वर्तते । तत्र युगादितः सप्तपर्वाण्यतिक्रान्तानीति संध्रियन्ते । तानि पञ्चदशभिर्गुण्यन्ते । जातं पञ्चोत्तरशतम् । एतावति विकाले द्वाववमरात्रावभूतामिति द्वौ ततः पात्येते स्थितं पश्चात् त्र्युत्तरं शतं (१०३) ततो द्वाभ्यां गुण्यते जाते द्वे षडुत्तरे (२०६) तत्रैकषष्टिः प्रक्षिप्यते द्वे शते सप्तषष्ट्यधिके (२६७) तयोर्द्वाविंशतेन भागो व्हियते लब्धौ द्वौ तौ षड्भिर्भागं न सहेते इति न तयोः षड्भिर्भागहारः । शेषास्त्र्यंशा उद्धरन्ति त्रयोविंशतिः । तथा समर्द्धजाता एकादश अर्द्धं च सूर्यर्तुश्चाषाढादिस्तत आगतं द्वावृतू अतिक्रान्तौ तृतीयश्च ऋतुः संप्रति प्रवर्तते । तस्य च प्रवर्तमानस्यैकादश दिवसा अतिक्रान्ता द्वादशो वर्तते इति । तथा युगे प्रथमायामक्षयतृतीयायां केनापि पृष्टं के ऋतवः पूर्वमतिक्रान्ताः को वा संप्रति वर्तते तत्राक्षयतृतीयायां प्रथमायाः प्राङ्युगस्यादितः पर्वाण्यतिक्रान्तान्येकोनविंशतिः ततः एकोनविंशतिः पञ्चदशभिर्गुण्यते जाते द्वे शते पञ्चाशीत्यधिके (२८५) अक्षयतृतीयायां किल पृष्टमिति पर्वणामुपरितन्यस्तिथयः प्रक्षिप्यन्ते जाते द्वे शते अष्टाशीत्यधिके (२८८) तावति काले अवमरात्राः पञ्च भवन्ति । पञ्च ततः पात्यन्ते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाते द्वे शते त्र्यशीत्यधिके (२८३) ते द्वाभ्यां गुण्यंते जातानि पञ्च शतानि षट्षष्ट्यधिकानि (५६६) तान्येकषष्टिसहितानि क्रियन्ते जातानि षट् शतानि सप्तविंशत्यधिकानि (६२७) तेषां द्वाविंशेन शतेन भागो ह्रियते लब्धाः पञ्च पश्चाद् शाडुद्धरन्ति सप्तदश तेषामर्द्धं लब्धाः साद्धा अष्टौ। आगतं पञ्च ऋतवोऽतिक्रान्ताः षष्ठस्य च ऋतोः प्रवर्तमानस्याष्टौ दिवसा गताः नवमो वर्तते। तथा युगे द्वितीये संवत्सरे केनापि पृष्टं कियन्त ऋतवोऽतिक्रान्ताः को वा संप्रति वर्त्तते। तत्रैतावति काले पर्वाण्यतिक्रान्तानि एकत्रिंशत्पञ्चदशभिर्गुण्यते जातानि चत्वारि शतानि पञ्चषष्ट्यधिकानि (४६५) अवमरात्राश्चैतावति काले व्यतिक्रामन्त्यष्टौ ततोऽष्टौ पात्यानि शेषाणि चत्वारि शतानि सप्तपञ्चाशताधिकानि (४५७) तानि द्विगुणानि क्रियन्ते जातानि नवशतानि चतुर्दशोत्तराणि (९१४) तथैकषष्टिप्रक्षेपे जातानि नव शतानि पञ्चसप्तत्यधिकानि (९७५) एतेषां द्वाविंशत्यधिकशतेन भागहरणं, लब्धाः सप्त उपरिष्टादंशा उद्धरन्ति एकविंशतिशतं (१२१) तस्य द्वाभ्यां भागे हृते लब्धाः षष्टिसार्द्धाः सप्तानां च ऋतूनां षड्भिर्भागे हृते लब्ध एककः। एक उपरिष्टात्तिष्ठन्ति आगतमेकसंवत्सरोऽतिक्रान्तः। एकस्य च संवत्सरस्योपरि प्रथम ऋतुः प्रावृण्नामा निर्गतो द्वितीयस्य च षष्टिर्दिनान्यतिक्रान्तान्येकषष्टितमं वर्तते इति एवमन्यत्रापि भावना कार्या।

सांप्रतममूनामृतूनां नामान्याह ॥

पाउस वासारत्ता, सरओ हेमंत वसंत गिम्हो य।
एए खलु छप्पि उऊ, जिणवरदिट्ठा मए सिट्ठा ॥

प्रथम ऋतुः प्रावृड्नामा द्वितीयो वर्षारात्रः तृतीयः शरच्चतुर्थो हेमन्तः, पञ्चमो वसन्तः, षष्ठो ग्रीष्मः। एते षडपि ऋतवः एवं नामतो जिनवरदृष्टाः सर्वज्ञदृष्टा मया शिष्टाः कथिताः। साम्प्रतमेतेषामृतूनां मध्ये क ऋतुः कस्यां तिथौ समाप्तिमुपयातीति परस्य प्रश्नमाशङ्क्य तत्परिज्ञानाय करणमाह।

इच्छा उऊ बुगुणितो, रूवोणगुणिओ उ पव्वाणि।
तस्सद्धं होइ तिही, जत्थसमत्ता उऊ तीसं ॥

यस्मिन् ऋतौ ज्ञातुमिच्छा स ऋतुः ध्रियते तत्संख्या ध्रियते इत्यर्थः ततः स द्विगुणितः सन् रूपोनः क्रियते। ततः पुनरपि स द्वाभ्यां गुण्यते गुणयित्वा च प्रतिराश्य तद् द्विगुणितश्च सन् भवन्ति तावन्ति पर्वाणि ज्ञातव्यानि तस्य च प्रतिराशि तस्यार्द्धं क्रियते। तत्रार्द्धे यावत् भवति तावत्यस्तिथयः प्रतिपत्तव्याः। यासु युगमध्ये त्रिंशदपि ऋतवः समाप्ताः समाप्तिमेष्यन्तीति करणगाथाक्षरार्थः। संप्रति करणभावना विधीयते। किल प्रथम ऋतुर्ज्ञातुमिष्टो यथा युगे कस्यां तिथौ प्रथमतः प्रावृड्लक्षण ऋतुः समाप्तिमुपयातीति। तत्र एकको ध्रियते स द्वाभ्यां गुण्यते जाते द्वे स्वरूपोनः क्रियते। जात एकक एवं स भूयोऽपि द्विगुण्यते द्वे रूपे प्रतिराश्यते तयोरर्द्धे जातमेकं रूपमागतं। युगादौ द्वे पर्वणी अतिक्रम्य प्रथमायां तिथौ प्रतिपदि प्रथमः प्रावृड्नामा ऋतुः समाप्तः। तथा द्वितीये ऋतौ ज्ञातुमिच्छति द्वौ स्थापितौ तथा द्वाभ्यां गुणने जाताश्चत्वारस्ते रूपोनाः क्रियन्ते। जातास्त्रयस्ते भूयो द्विगुण्यन्ते जाताः षट् ते प्रतिराश्यन्ते प्रतिराशीनां चार्द्धः क्रियते जातास्त्रय आगतं युगादितः षट् पर्वाण्यतिक्रम्य तृतीयायां तिथौ द्वितीय ऋतुः समाप्तिमुपागमत्। तथा तृतीये ऋतौ ज्ञातुमिच्छति त्रयो ध्रियन्ते। द्वाभ्यां गुण्यन्ते जाताः षट् ते रूपोनाः कृताः सन्तो जाताः पञ्च ते भूयो द्विगुण्यन्ते जाता दश ते प्रतिराशीनां चार्द्धं लब्धाः पञ्च। आगतं युगादित आरभ्य दश पर्वाण्यतिक्रम्य पञ्चम्यां तिथौ तृतीय ऋतुः समाप्तिमियाय। तथा षष्ठ ऋतौ ज्ञातुमिच्छति षट् स्थाप्यन्ते। ते द्वाभ्यां गुण्यन्ते जाता द्वादश रूपोनाः सन्तो जाता एकादश ते द्विगुण्यन्ते। जाता द्वाविंशतिः। सा प्रतिराशि तयोरर्द्धं क्रियते। जाता एकादश। आगतं युगादितो द्वाविंशतिपर्वाण्यतिक्रम्य एकादश्यां तिथौ षष्ठ ऋतुः समाप्नोति। तथा युगे नवमे ऋतौ ज्ञातुमिच्छता नव स्थाप्यन्ते ते द्वाभ्यां गुण्यन्ते जाता अष्टादश ते रूपोनाः क्रियन्ते। जाताः सप्तदश ते भूयो द्विगुण्यन्ते जाताश्चतुस्त्रिंशत्। संप्रतिराश्यते तस्या अर्द्धं क्रियते जाताः सप्तदश आगतं युगादितश्चतुस्त्रिंशत्पर्वाण्यतिक्रम्य द्वितीये संवत्सरे पौषमासे शुक्लपक्षे द्वितीयस्यां तिथौ नवम ऋतुः परिसमाप्तिं गच्छति। तथा त्रिंशत्तमे ऋतौ जिज्ञासति त्रिंशद् ध्रियते सा द्विगुण्यते जाता षष्टिः सा रूपोना क्रियते जाता एकोनषष्टिः सा भूयो द्वाभ्यां गुण्यते जातमष्टादशोत्तरं शतं तत् प्रतिराश्यते तस्यार्द्धं क्रियते जाता एकोनषष्टिः। आगतं युगादितोऽष्टादशोत्तरपर्वाण्यतिक्रम्य एकोनषष्टितमायां तिथौ। किमुक्तं भवति। पञ्चमे संवत्सरे प्रथमे आषाढमासे शुक्लपक्षे चतुर्दश्यां त्रिंशत्तम ऋतुः समाप्तिमुपायासीत् व्यवहारतः प्रथमाषाढपर्यन्त इत्यर्थः संप्रति वर्षाकाले शीतकाले ग्रीष्मकालेषु चतुर्मासप्रमाणेषु यस्मिन् पर्वणि कर्ममासापेक्षयाऽधिकोऽहोरात्रः सूर्यर्तुपरिसमाप्तौ भवति तत्प्रतिपादयन्नाह ॥

तइयम्मि उ कायव्वा, अतिरत्तं सत्तम पव्वम्मि।
वासहिमागिम्हकाले, चाउम्मासे विहीयन्ते ॥

वर्षाहिमग्रीष्मकालेषु प्रत्येकं चतुर्मासेषु चतुर्मासप्रमाणेषु पृथक् अतिरात्रा अधिका अहोरात्रा विधीयन्ते तद्यथा एकस्तृतीयपर्वण्यपरः सप्तमपर्वणि। इयमत्र भावना। सूर्यर्तुचिन्तायां कर्ममासापेक्षया वर्षाकाले आषाढादौ तृतीये पर्वणि गते कोऽप्यधिकोऽहोरात्रो द्वितीयः सप्तमे पर्वणि हेमन्तकालेऽपि एकस्तृतीये पर्वणि द्वितीयः सप्तमे ग्रीष्मकालेऽपि एकस्तृतीये पर्वणि द्वितीयः सप्तमे। अत्राह पूर्वपूर्वावमरात्रसहितमुक्तम्। इदानीं त्वधिकरात्रोपेतमिति किमत्र एवकरणमत आह ॥

उउराहियं अतिरत्तं, जुगसहियं होइ ओमरत्तं तु।
रविसाहियं अइरत्तं, सहितहियं ओमरत्तं तु ॥

इह एव ऋतुसहितं विवक्षते तदा विवक्षितं तृतीयादिकं वर्षाकालादिसम्बन्धि अतिरात्रमधिकरात्रम्। सूर्यर्तुपरिसमाप्तिचिन्तायां तस्मिन् विवक्षिते तृतीयादौ पर्वणि कर्ममासापेक्षयाऽधिकोऽहोरात्रो भवति। तथाहि कर्ममासस्त्रिंशता दिनैः सूर्यमासस्त्रिंशता मासद्वयात्मकश्च ऋतुः। ततः सूर्यर्तुपरिसमाप्तौ कर्ममासापेक्षयैकोऽधिकोऽहोरात्रो भवतीति। तथा युगे चन्द्राभिवर्द्धितरूपं संवत्सरपञ्चकान्ते च पञ्चापि संवत्सराश्चन्द्रमासापेक्षया ततो यदि पर्वयुगसहितं चन्द्रमासापेक्षं विवक्ष्यते तदा विवक्षितं पर्वतृतीयादिकं वर्षाकालादिसम्बन्धि अवमरात्रोपेतं भवति कर्ममासापेक्षया तस्मिन् तृतीयादौ पर्वणि नियमादेकोऽहोरात्रः पततीति भावः। एतदेवाह

(रविसहियमित्यादि) रविसहितमिति रात्रं किमुक्तं भवति । रविमासनिपात्यमानर्तुचिन्तायां तस्मिन् तृतीयादौ पर्वाकाशादिसंबन्धिनि पर्वणि तत्र सूर्यर्तुपरिसमाप्तौ कर्ममासापेक्षया एकैकोऽधिकोऽहोरात्रः प्राप्यते इति शशिसहितमवमरात्रं चन्द्रनिपादितास्तिथीरधिकृत्य कर्ममासापेक्षया विवक्षितं तृतीयादि पर्वहीनरात्रं भवतीत्यर्थः । सम्प्रति येषु मासेषु सूर्यर्तुपरिसमाप्तिचिन्तायां पूर्वपूर्वसूर्यर्तुगततिथ्यपेक्षयाधिकोऽहोरात्रः परिवर्द्धते तान् प्रतिपादयति । आषाढ बहुलपक्षे तथा भाद्रपदमासे बहुलपक्षे एवं कार्तिके पौषे फाल्गुने वैशाखे चातिरात्रं बोद्धव्यम् । पूर्वपूर्वसूर्यर्तुगतितिथ्यपेक्षया एतेषु षट्सु मासेषु अधिकोऽहोरात्रो ज्ञातव्यो न शेषेषु मासेषु । एतदेव सविशेषमाह ।

एक्कंतरिया मासा, तिही य जासु ता उऊ समप्पंति ।
असाढाई मासा, भद्दवयाइ तिहि सव्वा ॥

इह सूर्यर्तुचिन्तायां मासा आषाढादयो द्रष्टव्याः आषाढमासादारभ्य ऋतूनां प्रथमतः प्रवर्तमानत्वात् तिथयः सर्वा अपि भाद्रपदादिषु मासेषु प्रथमादीनामृतूनां परिसमाप्तत्वात् । तत्र येषु मासेषु यासु वा तिथिषु ऋतवः प्रावृडादयः परिसमाप्नुवन्ति ते आषाढादयो मासास्ताश्च तिथयो भाद्रपदादिमासानुगताः सर्वा अपि एकान्तरिता वेदितव्याः । तथा हि प्रथम ऋतुः भाद्रपदे मासि समाप्तिमुपैति तत एको मासश्च युगप्रक्रमणप्रस्तावादपान्तराले त्यक्तः । कार्तिके मासे द्वितीय ऋतुः परिसमाप्तिमियर्ति । एवं तृतीयः पौषमासे, चतुर्थः फाल्गुने, पञ्चमो वैशाखे, षष्ठः आषाढे, एवं शेषा अपि ऋतवः षट्सु मासेष्वेकान्तरेषु परिसमाप्तिमाप्नुवन्ति नाशेषेषु मासेषु । तथा प्रथम ऋतुः प्रतिपदि समाप्तिमेति द्वितीयः तृतीयस्यां, तृतीयः पञ्चम्यां, चतुर्थः सप्तम्यां पञ्चमो नवम्यां, षष्ठः एकादश्यां, सप्तमस्त्रयोदश्यामष्टमः पञ्चदश्याम् एते सर्वेऽपि ऋतवो बहुलपक्षे ततो नवम ऋतुः शुक्लपक्षे द्वितीयायां, दशमश्चतुर्थ्यामेकादशः षष्ठ्यां, द्वादशोऽष्टम्यां, त्रयोदशो दशम्यां, चतुर्दशो द्वादश्यां पञ्चदशश्चतुर्दश्याम् एते सप्त ऋतवः शुक्लपक्षे । एते ऋतवः शुक्लपक्षे भाविनः । पञ्चदशापि ऋतवो युगस्यार्द्धे भवन्ति । तत उक्तक्रमेणैव शेषा अपि पञ्चदश ऋतवो द्वितीये युगस्यार्द्धे भवन्ति । तद्यथा–षोडशः ऋतुर्बहुलपक्षे प्रतिपदि, सप्तदशः तृतीयाया–मष्टादशः पञ्चम्यामेकोनविंशतितमः सप्तम्यां, विंशतितमो, नवम्या,–मेकविंशतितम एकादश्यां, द्वाविंशतितमः त्रयोदश्यां त्रयोविंशतितमः पञ्चदश्यामेते षोडशादयस्त्रयोविंशतिपर्यन्ताः । अष्टौ बहुलपक्षे ऋतवः शुक्लपक्षे द्वितीयायां चतुर्विंशतितमः पञ्चविंशतितमश्चतुर्थ्यां, षड्विंशत्तमः षष्ठ्यां, सप्तविंशतितमोऽष्टम्याम् अष्टाविंशतितमो दशम्या, मेकोनत्रिंशत्तमो द्वादश्यां त्रिंशत्तमश्चतुर्दश्यामेवमेते सर्वेऽपि ऋतवो मासेष्वेकान्तरितेषु तिथिष्वपि चैकान्तरितासु भवन्ति । सांप्रतमेतेषु ऋतुषु चन्द्रनक्षत्रयोगं च प्रतिपादयिषुस्तद्विषयं करणमाह ।

तित्तिसया पंचहिगा, अंसा छेओ सयं च चोत्तीसं ।
एगाइ त्ति उत्तरगुणा, धुवरासीए स बोधव्वा ॥

त्रीणि शतानि पञ्चोत्तराणि अंशा विभागाः किंरूपच्छेदकृता एते इत्याह च्छेदशतं चतुस्त्रिंशं किमुक्तं भवति चतुस्त्रिंशदधिकशतच्छेदेन छिन्नं यदहोरात्रं तस्य सत्कानि त्रीणि शतानि पञ्चोत्तराण्यंशानामिति अयं ध्रुवराशिर्बोद्धव्यः । एष च ध्रुवराशिरेकादिकोत्तरगुण ईप्सितेन ऋतुना एकादिना त्रिंशत्पर्यन्तेनाद्युत्तरेण एकस्मादारभ्य तत ऊर्ध्वमुत्तरवृद्धेन गुणयतेति गुणो गुणितः कर्तव्यस्ततोऽस्मात् शोधकानि शोधयितव्यानीति प्रतिपादनार्थमाह ।

सत्तट्ठि अद्धखेत्ते, दुगातिगगुणियासमे दिवड्ढखित्ते ।
अट्ठासीई पुस्से–सोज्झा अभिइम्मि बायाला ॥

इह यत्र अर्द्धक्षेत्रं तत्र सप्तषष्टिं शोध्यानि च - सप्तषष्टिः समे समक्षेत्रे द्विगुणिता सती शोध्या एकोत्तरे द्वे शते तत्र शोध्ये इति भावः । इह सूर्यस्य पुष्यादीनि नक्षत्राणि शोध्यानि चन्द्रस्याभिजिदादीनि तत्र सूर्यनक्षत्रयोगचिन्तायां पुष्ये पुष्यविषया अष्टाशीतिः शोध्यानि चन्द्रनक्षत्रयोगचिन्तायामभिजिति द्विचत्वारिंशत् ।

एयाणि सोहइत्ता, जं संतं तु होइ नक्खत्तं ।
रविसोमाणं नियमा, तीसाए उउसमत्तीसु ॥

एतानि अनन्तरोदितानि अर्धक्षेत्रद्व्यर्धक्षेत्रविषयाणि शोधकानि शोधयित्वा यदुक्तप्रकारेण नक्षत्रं शेषं भवति सर्वात्मना शुद्धिमश्नुते तत्र क्षेत्रं रविसोमयोः सूर्यस्य चन्द्रमसश्च नियमाद् ज्ञातव्यम् । क इत्याह त्रिंशत्यपि ऋतुसमाप्तिषु एवं करणगाथात्रयाक्षरार्थः । संप्रति करणभावना क्रियते तत्र प्रथम ऋतुः कस्मिंश्चन्द्रनक्षत्रे समाप्तिमुपैतीति जिज्ञासायामनन्तरोदितः पञ्चोत्तरत्रिशतप्रमाणो ध्रुवराशिर्ध्रियते स एकेन गुणितस्तदेव भवतीति ततोऽनेन ध्रुवराशिर्जातस्तत्राभिजितो द्विचत्वारिंशत् शुद्धा स्थिते पश्चाद् द्वे शते त्रिषष्ट्यधिके (२६३) ततश्चतुस्त्रिंशेन शतेन श्रवणः शुद्धः । शेषजातमेकोनत्रिंशच्छतं (१२९) तेन च धनिष्ठा शुद्ध्यति तत आगतमेकोनत्रिंशं शतं चतुस्त्रिंशदधिकशतं भागानाम् धनिष्ठास्त्कमवगाह्य चन्द्रः प्रथमे सूर्यर्तुं समापयति । यदि द्वितीयसूर्यर्तुजिज्ञासा तदा स ध्रुवराशिः पञ्चोत्तरशतत्रयप्रमाणस्त्रिभिर्गुण्यते जातानि नव शतानि पञ्चदशोत्तराणि (९१५) तत्राभिजितो द्विचत्वारिंशत् शुद्धा स्थितानि शेषाण्यष्टौ शतानि त्रिसप्तत्यधिकानि (८७३) ततश्चतुस्त्रिंशेन शतेन श्रवणशुद्धिमुपगत स्थितानि शेषाणि सप्त शतानि एकोनचत्वारिंशदधिकानि (७३९) ततोऽपि चतुस्त्रिंशेन शतेन धनिष्ठा शुद्धा जातानि षट् शतानि पञ्चोत्तराणि (६०५) ततोऽपि सप्तषष्ट्या शतभिषक् शुद्धा स्थितानि पश्चात्पञ्च शतानि अष्टात्रिंशदधिकानि (५३८) तेभ्योऽपि चतुस्त्रिंशेन शतेन पूर्वभद्रपदा शुद्धा स्थितानि चत्वारि शतानि चतुरधिकानि (४०४) ततो द्वाभ्यां शताभ्यामेकोत्तराभ्यामुत्तरभद्रपदा शुद्धा स्थिते शेषे त्रिकोनसप्ततिचतुस्त्रिंशदधिकं शतं भागानामवगाह्य द्वितीयं सूर्यर्तुं चन्द्रः परिसमापयति । एवं शेषेष्वपि ऋतुषु भावनीयम् । संप्रति सूर्यनक्षत्रयोगभावना क्रियते स एव पञ्चोत्तरशतप्रमाणो ध्रुवराशिः प्रथमसूर्यर्तुजिज्ञासायामेकेन गुण्यते एकेन च गुणने तावानेव जातस्तत्र पुष्यसत्काष्टाशीतिः शुद्धा स्थिते शेषे द्वे शते सप्तदशोत्तरे (२१७) ततः सप्तषष्ट्या अश्लेषा शुद्धा स्थितं शेषं सार्द्धशतं (१५०) ततोऽपि चतुस्त्रिंशच्छतेन मघा शुद्धा स्थिताः षोडश आगतं पूर्वाफाल्गुनीनक्षत्रस्य षोडश चतुस्त्रिंशदधिकानि शतभागानवगाह्य सूर्यः प्रथमर्तुं समापयति । तथा द्वितीयसूर्यर्तुजिज्ञासायां ध्रुवराशिः पञ्चोत्तरशत-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्रयप्रमाणस्त्रिभिर्गुण्यते जातानि नव शतानि पञ्चदशोत्तराणि (९१५) ततोऽष्टाशीत्या पुष्यः शुद्धिमगमत् स्थितानि पश्चादष्टौ शतानि सप्तविंशत्यधिकानि (८२७) तेभ्यः सप्तषष्ट्या अश्लेषा शुद्धा स्थितानि शेषाणि षट् शतानि षड्विंशत्यधिकानि (६२६) तेभ्यश्चतुस्त्रिंशदधिकेन शतेन पूर्वफाल्गुनी शुद्धा स्थितानि पश्चाच्चत्वारि शतानि द्विनवत्यधिकानि (४९२) ततोऽपि द्वाभ्यां शताभ्यामेकोत्तराभ्यामुत्तरफाल्गुनी शुद्धा स्थिते द्वे शते एकोननवत्यधिके (२८९) ततोऽपि चतुस्त्रिंशेन शतेन हस्तः शुद्धः स्थितं पश्चात्सप्तपञ्चाशदधिकं शतं (१५७) ततोऽपि चतुस्त्रिंशेन शतेन चित्रा शुद्धा स्थिता पश्चात्त्रयोविंशतिः आगतं स्वातेस्त्रयोविंशतिं चतुस्त्रिंशदधिकशतं भागानामवगाह्य सूर्यो द्वितीयं ऋतुं परिसमापयति। एवं शेषेष्वपि ऋतुषु भावनीयम् तदेवमुक्ताः सूर्यर्त्तवः॥

संप्रति चन्द्रर्तुप्रतिपादनार्थमाह

चत्तारि उ सयाइं वि, उत्तराइं जुगम्मि चंदस्स ।
तेसिं पि य करणविहिं, वोच्छामि अहाणुपुव्वीए ॥

इह एकस्मिन् नक्षत्रपर्याये षट् ऋतवो भवन्ति यथा सूर्यस्य चन्द्रस्यापि च नक्षत्रपर्याया युगसप्तषष्टिसंख्यास्ततः सप्तषष्टिः षड्भिर्गुण्यते जातानि चत्वारि शतानि द्व्युत्तराणि एतावन्तो युगे चन्द्रस्य ऋतवो भवन्ति तेषामपि चन्द्रर्तूनां परिज्ञानाय करणविधिं यथानुपूर्व्या क्रमेण वक्ष्यामि। तत्र प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयितुकामः प्रथमतश्चन्द्रर्तुपरिमाणमाह

चंदस्स उ परिमाणं, चत्तारि य केवला अहोरत्ता ।
सत्तत्तीसं अंसा, सत्तसट्ठिकरणछेएण ॥

चन्द्रस्य चन्द्रसंबन्धिन ऋतोः परिमाणं चत्वारः केवलाः परिपूर्णा अहोरात्राः सप्तषष्टिच्छेदकृतेन च छेदेन सप्तत्रिंशदंशाः । किमुक्तं भवति सप्तविंशत्सप्तषष्टिभागा दिनस्य तथा ह्येकस्मिन् नक्षत्रपर्याये षट् ऋतव इति प्रागेव भावितम् । नक्षत्रपर्यायश्चन्द्रविषयस्य परिमाणं सप्तविंशतिरहोरात्रा एकस्य चाहोरात्रस्य एकविंशतिः सप्तषष्टिभागाः तत्राहोरात्राणां षड्भिर्भागे हृते लब्धानि चत्वारि दिनानि, त्रीणि शेषाणि तिष्ठन्ति तानि सप्तषष्टिभागकरणार्थं सप्तषष्ट्या गुण्यन्ते जाते द्वे शते एकोत्तरे (२०१) तत उपरितना एकविंशतिः सप्तषष्टिभागाः प्रक्षिप्यन्ते जाते द्वे शते द्वाविंशे (२२२) तेषां षड्भिर्भागे हृते लब्धाः सप्तत्रिंशत्सप्तषष्टिभागा इति॥

संप्रति चन्द्रऋतोरानयनार्थं करणमाह ॥

चंदं उउ आणयंतो, पव्वरस संगुणं नियमा ।
तिहि संखित्तं संतं, बावट्ठी भागपरिहीणं ॥
चोत्तीससयाभिहियं, पंचुत्तरतिसयं संजयं वि भए ।
छहिं उदसुत्ताराहियं, सएहिं लद्धा उऊ होंति ॥

विवक्षितस्य चन्द्रर्त्तोरानयने कर्त्तव्ये युगादितो यत्पर्वसंख्या समतिक्रान्तं तत्पञ्चदशगुणं नियमात् कर्त्तव्यं ततस्तिथिसंक्षिप्तमिति यास्तिथयः पर्वणामुपरि विवक्षितात् दिनात् प्रागतिक्रान्तास्तास्तत्र संक्षिप्यन्ते ततो द्वाषष्टिभागे द्वाषष्टिभागनिष्पन्नेऽवमरात्रे परिहीनं विधेयं तत एवंभूतं सच्चतुस्त्रिंशेन शतेनाभिहितं कर्त्तव्यं तदनन्तरं च पञ्चोत्तरैस्त्रिभिः शतैः संयुक्तं सत् षड्भिर्दशोत्तरैः शतैर्विभजेत विभक्ते च सति यं लब्धा भवन्ति ते ऋतवो भवन्ति ज्ञातव्याः । एष करणगाथाक्षरार्थः । संप्रति करणभावना क्रियते । कोपि पृच्छति युगादितः प्रथमे पर्वणि पञ्चम्यां कश्चन्द्रर्तुर्वर्त्तते तत्रैकमपि पर्व परिपूर्णमत्र नाद्याप्यगादिति युगादितो दिवसाद्रूपोना ध्रियन्ते ते चात्र चत्वारस्ते चतुस्त्रिंशेन शतेन गुण्यन्ते जातानि पञ्च शतानि षट्त्रिंशदधिकानि (५३६) तत्र भूयस्त्रीणि शतानि पञ्चोत्तराणि प्रक्षिप्यन्ते जातान्यष्टौ शतान्येकचत्वारिंशदधिकानि (८४१) तेषां षड्भिः शतैर्दशोत्तरैर्भागो ह्रियते लब्धः प्रथम ऋतुः अंशा उद्धरन्ति द्वे शते एकत्रिंशदधिके (२३१) तेषां चतुस्त्रिंशेन शतेन भागहरणं लब्ध एकः अंशानां चतुस्त्रिंशेन शतेन भागे हृते यल्लभ्यते ते दिवसा ज्ञातव्याः शेषास्त्वंशा उद्धरन्ति सप्तनवतिस्तेषां द्विकेनापवर्तनायां लब्धाः सार्द्धा अष्टाचत्वारिंशत् सप्तषष्टिभागा आगतं युगादितः पञ्चम्यां प्रथमः प्रावृड्लक्षण ऋतुरतिक्रान्तो द्वितीयस्य एको दिवसो गतो द्वितीयस्य च सार्द्धा अष्टचत्वारिंशत् सप्तषष्टिभागाः । तथा कोपि पृच्छति युगादितो द्वितीये पर्वणि एकादश्यां कश्चन्द्रर्तुरिति तत्रैकं पर्वातिक्रान्तमिति एको ध्रियते स पञ्चदशभिर्गुण्यते जाताः पञ्चदश एकादश्यां किल पृष्टमिति तस्याः पाश्चात्या दश ये दिवसास्ते प्रक्षिप्यन्ते जाता पञ्चविंशतिः सा चतुस्त्रिंशेन शतेन गुण्यते जातानि त्रयस्त्रिंशत् शतानि पञ्चाशदधिकानि (३३५०) तेषु त्रीणि शतानि पञ्चोत्तराणि प्रक्षिप्यन्ते जातानि षट्त्रिंशत् शतानि पञ्चपञ्चाशदधिकानि (३६५५) तेषां षड्भिः शतैर्दशोत्तरैर्भागो ह्रियते लब्धाः पञ्च अंशा अवतिष्ठन्ते षट् शतानि पञ्चोत्तराणि (६०५) तेषां चतुस्त्रिंशेन शतेन भागे हृते लब्धाश्चत्वारो दिवसाः (४) शेषास्त्वंशा उद्धरन्ति एकोनसप्ततिः (६९) तस्या द्विकेनापवर्तनायां लब्धाः सार्द्धाश्चतुस्त्रिंशत्सप्तषष्टिभागाः आगतं पञ्च ऋतवोऽतिक्रान्ताः षष्ठस्य च ऋतोश्चत्वारो दिवसाः पञ्चमस्य च दिवसस्य सार्द्धाश्चतुश्चत्वारिंशत्सप्तषष्टिभागाः । एवमन्यस्मिन्नपि दिवसे चन्द्रर्तुरवगन्तव्यः ।

संप्रति चन्द्रर्तुपरिसमाप्ति दिवसानयनाय करणमाह ।

रविधुवरासी पुव्वंच, गुणिय जयपसणेण छेएण ।
जं लद्धं सो दिवसो, सोमस्स उऊ समत्तीए ।

इह यः पूर्वसूर्यर्तुप्रतिपादने ध्रुवराशिरभिहितः पञ्चोत्तराणि त्रीणि शतानि चतुस्त्रिंशद्भागास्तस्मिन् पूर्वगुणिते ईप्सितेन एकादिना द्व्युत्तरचतुः शततमपर्यन्तं न द्व्युत्तरवृद्धेन एकस्मादारभ्य तत ऊर्ध्वं द्व्यन्तरवृद्ध्या प्रवर्द्धमानेन गुणितस्यकेनात्मीयेन छेदेन चतुस्त्रिंशदधिकशतरूपेण भक्ते सति यल्लब्धं सोमस्य ऋतुसमाप्तौ दिवसो ज्ञातव्यः । यथा केनापि पृष्टं चन्द्रस्य ऋतुः प्रथमः कस्यां तिथौ परिसमाप्तिं गत इति तत्र ध्रुवराशिः पञ्चोत्तरशतत्रयप्रमाणो ध्रियते (३०५) स एकेन गुण्यते जातस्तावानेव ध्रुवराशिस्ततःस्वकीयेन छेदेन चतुस्त्रिंशदधिकशतप्रमाणेन भागो ह्रियते लब्धौ द्वौ शेषस्तिष्ठति सप्तत्रिंशद्द्विकेनापवर्तना क्रियते जाताः सार्द्धा अष्टादश । आगतं युगादितो द्वौ दिवसावतिक्रम्य तृतीये दिवसेऽष्टादशसु सप्तषष्टिभागेषु प्रथमश्चन्द्रर्तुः परिसमाप्तिं गच्छति द्वितीयचन्द्रर्तुपरिसमाप्तिजिज्ञासायां स ध्रुवराशिः पञ्चोत्तरशतत्रयप्रमाणस्त्रिभिर्गुण्यते जातानि पञ्चदशोत्तराणि नव शतानि (९१५) तेषां चतुस्त्रिंशदधिकेन शतेन भागो ह्रियते लब्धाः षट् शेषमुद्धरति एकादशोत्तरशतं तस्य द्विके-

नापवर्तनायां लब्धाः सार्द्धाः पञ्चपञ्चाशत्सप्तषष्टिभागाः आगतं युगादितः षट्सु दिवसेष्वतिक्रान्तेषु सप्तमस्य च दिवसस्य सार्द्धेषु पञ्चपञ्चाशत्संख्येषु भागेषु द्वितीयश्चन्द्रर्तुः परिसमाप्तिं गच्छति द्व्युत्तरचतुःशततमजिज्ञासायां स ध्रुवराशिः पञ्चोत्तरशतत्रयप्रमाणोऽष्टभिः शतैस्त्र्युत्तरैर्गुण्यते द्व्युत्तरवृद्ध्या हि द्व्युत्तरचतुःशततमस्य त्र्युत्तराष्टशतप्रमाण एव राशिर्भवति । तथाहि यस्य एकस्मात्पूर्वेद्व्युत्तरवृद्ध्या राशिश्चिन्त्यते तस्य स द्विगुणो रूपोनो भवति तथा द्विकस्य त्रीणि त्रिकस्य पञ्च चतुष्कस्य सप्त अत्रापि च द्व्युत्तरचतुःशततमप्रमाणस्य राशेर्द्व्युत्तरवृद्ध्या राशिश्चिन्त्यते ततोऽष्टौ शतानि त्र्युत्तराणि भवन्ति एवंभूतेन च राशिना गुणने जाते द्वे लक्षे चतुश्चत्वारिंशत्सहस्राणि नव शतानि पञ्चदशोत्तराणि (२४४९१५) तेषां चतुस्त्रिंशदधिकेन शतेन भागो ह्रियते लब्धानि अष्टादश शतानि सप्तविंशत्यधिकानि (१८२७) अंशाश्चोद्धरन्ति सप्तनवतिस्तस्या द्विकेनापवर्तना लब्धाः सार्द्धा अष्टाचत्वारिंशत्सप्तषष्टिभागाः आगतं युगादितोऽष्टादशसु दिवसशतेषु सप्तविंशत्यधिकेष्वतिक्रान्तेषु ततः परस्परसार्द्धेष्वष्टाचत्वारिंशत्संख्यासु सप्तषष्टिभागेषु द्व्युत्तरचतुःशततमस्य चन्द्रर्तोः परिसमाप्तिरिति ।

सम्प्रति चन्द्रर्तुषु नक्षत्रयोगपरिज्ञानाय करणमाह ॥

सो चेव धुवो रासी, गुणरासी वि य हवंति चेव ।
नक्खत्तं सोहणिय, परिजाण पुव्वभणियाणि ॥

युगे चन्द्रर्तौ नक्षत्रयोगपरिज्ञानार्थं स एव पञ्चोत्तरशतत्रयप्रमाणो ध्रुवराशिर्वेदितव्यः गुणराशयोऽपि गुणकारराशयोऽपि एकाद्युत्तरवृद्ध्या त एव भवन्ति ज्ञातव्या ये पूर्वमुद्दिष्टाः नक्षत्रशोधनान्यपि च परिजानीहि । तान्येव यानि पूर्वं भणितानि द्विचत्वारिंशत्प्रभृतीनि ततः पूर्वकरणे विवक्षिते चन्द्रर्तौ नक्षत्रयोग इति जिज्ञासायां स एव पञ्चोत्तरशतत्रयप्रमाणो ध्रुवराशिः ध्रियते (३०५) स एकेन गुण्यते एकेन गुणितः सन् स तावानेव भवति ततो जातो द्वाचत्वारिंशत् शुद्धा शेषे तिष्ठतो द्वे शते त्रिषष्ट्यधिके (२६३) ततश्चतुस्त्रिंशेन शतेन श्रवणः शुद्धः स्थितं पश्चादेकोनत्रिंशच्छतं (१२९) तस्य द्विकेनापवर्तना क्रियते जाताः सार्द्धाश्चतुःषष्टिभागाः आगतं धनिष्ठायाः सार्द्धमेकेन चतुःषष्टिभागानवगाह्य चन्द्रः प्रथमं स्वऋतुं परिसमापयति द्वितीयश्चन्द्रर्तुजिज्ञासायां स एव ध्रुवराशिः पञ्चोत्तरशतत्रयप्रमाणस्त्रिगुण्यते जातानि नव शतानि पञ्चदशोत्तराणि (९१५) तत्राभिजितो द्वाचत्वारिंशत् शुद्धा स्थितानि शेषाण्यष्टौ शतानि त्रिसप्तत्यधिकानि (८७३) ततश्चतुस्त्रिंशेन शतेन श्रवणः शुद्धमुपगतः स्थितानि शेषाणि सप्तशतानि एकोनचत्वारिंशदधिकानि (७३९) ततोऽपि चतुस्त्रिंशेन शतेन धनिष्ठा शुद्धा जातानि षट्शतानि पञ्चोत्तराणि (६०५) ततोऽपि सप्तषष्ट्या शतभिषक् शुद्धा स्थितानि पश्चात्पञ्च शतानि अष्टत्रिंशदधिकानि (५३८) एतेभ्योऽपि चतुस्त्रिंशेन शतेन पूर्वभद्रपदा शुद्धा स्थितानि चत्वारि शतानि चतुरधिकानि (४०४) तेभ्योऽपि द्वाभ्यां शताभ्यामेकोत्तराभ्यामुत्तरभद्रपदा शुद्धा स्थिते शेषे द्वे शते त्र्युत्तरे (२०३) ताभ्यामपि भागानवगाह्य द्वितीयं स्वं ऋतुं चन्द्रः परिष्ठापयति । तथा द्व्युत्तरचतुःशततमचन्द्रर्तुजिज्ञासायां ध्रुवराशिः पञ्चोत्तरशतत्रयप्रमाणोऽष्टभिः शतैस्त्र्युत्तरैर्गुण्यते जाते द्वे लक्षे चतुश्चत्वारिंशत्सहस्राणि नव शतानि पञ्चदशोत्तराणि (२४४९१५) तत्रार्द्धक्षेत्रेषु षट्सु नक्षत्रेषु प्रत्येकं सप्तषष्टिरंशा द्व्यर्द्धक्षेत्रेषु षट्सु नक्षत्रेषु प्रत्येकं द्वे शते एकोत्तरे अंशानां पञ्चदशसु नक्षत्रेषु प्रत्येकं चतुस्त्रिंशच्छतमिति षट्सप्तषष्ट्या गुण्यन्ते जातानि चत्वारि शतानि द्व्युत्तराणि (४०२) तथा षट् एकोत्तरेण शतद्वयेन गुण्यन्ते जातानि द्वादश शतानि दशोत्तराणि । (१२१०) एते च त्रयोऽपि राशय एकत्र मील्यन्ते मीलयित्वाऽवतिष्ठन्तेऽभिजितो द्वाचत्वारिंशत् प्रक्षिप्यन्ते जातानि षट्त्रिंशच्छतानि षष्ट्यधिकानि (३६६०) एतावानेको नक्षत्रपर्यायस्तत एतत्पूर्वस्य राशेर्भागो ह्रियते लब्धाः षष्टिर्नक्षत्राणि पर्यायाः पश्चादवतिष्ठन्ते पञ्चपञ्चाशदधिकानि त्रयस्त्रिंशच्छतानि (३३५५) तत्राभिजितो द्वाचत्वारिंशच्छुद्धाः स्थितानि शेषाणि त्रयस्त्रिंशच्छतानि त्रयोदशाधिकानि (३३१३) तेषां त्रिभिः सहस्रैर्द्व्यशीत्यधिकैरनुराधान्तानि नक्षत्राणि शुद्धानि शेषं ते द्वे शते एकत्रिंशदधिके (२३१) ततः सप्तषष्ट्या ज्येष्ठा शुद्धा स्थितं चतुःषष्ट्यधिकं षोडशशतं (१६६४) ततोऽपि चतुस्त्रिंशेन शतेन मूलं शुद्धं स्थिता पश्चात् त्रिंशत् (३०) आगतं पूर्वफाल्गुनीनक्षत्रस्य त्रिंशतं चतुस्त्रिंशदधिकशतं भागानामवगाह्य द्व्युत्तरचतुःशततमं स्वऋतुं चन्द्रः परिसमापयति । ज्यो० १४ पाहु० । चं० प्र० ।

उउंबर [उंबर] उ [डु] डुंबर–पुं० उं शम्भुं वृणोति उम्बरः पृषो० ह्रस्य वा डत्वम् । वाच० डुर्गाद्रेयुडुम्बरपादपतत्पादपीठेऽन्तर्द्धः । २७० । ८ । २ । इति उडुम्बरशब्दमध्यवर्तिनः वा लुक् । प्रा० । (गूलर) इति प्रसिद्धे बहुबीजके वृक्षविशेषे, जी० १ प्रति० । आचा० । देहल्याम्, आ० म० द्वि० । गृहेलुके, गृहावयवविशेषे, आचा० । ताम्रे, नपुंसके, कुष्ठभेदे च । वाच० । प्रज्ञा० ।

उउंब (उंब) रदत्त–उडुम्बरदत्त– पुं० पाटलीखण्डनगरवास्तव्ये सागरदत्तसार्थवाहसुते, । तद्वक्तव्यता यथा-पाटलीखण्डे नगरे सागरदत्तसार्थवाहसुत उडुम्बरदत्ता नाम्नाऽभूत् स च षोडशभी रोगैरेकदाऽभिभूतो महाकष्टमनुभूय मृतः । स च जन्मान्तरे विजयपुरराजस्य कनकरथनाम्नो धन्वन्तरिनामा वैद्य आसीत् मांसप्रियो मांसोपदेष्टा चेति कृत्वा नरकभुक्तवानिति । स्था० १० ठा० ।

जइ णं भंते उक्खेवो सत्तमस्स एवं खलु जंबू तेणं कालेणं तेणं समएणं पाडलिसंडे णयरे वणसंडे उज्जाणे उंबरदत्ते यक्खे तत्थ णं पाडलिसंडे णयरे सिद्धत्थ राया तत्थ णं पाडलिसंडे णयरे सागरदत्तसत्थवाहे होत्था । अड्ढे गंगदत्ता भारिया तस्स णं सागरदत्तस्स पुत्ते गंगदत्ताए भारियाए अत्तए उंबरदत्ते णामं दारए होत्था । अहीणं तेणं कालेणं तेणं समएणं जाव परिसागया तेणं कालेणं तेणं समएणं भगवं गोयमे तहेव जेणेव पाडलिसंडे णयरे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता पाडलिसंडे णयरे पुरच्छिमेण दुवारेणं अणुप्पविसत्ति तत्थ णं पासइ एगं पुरिसं कच्छुल्लं कोढियं दो उयरियं भगंदलियं अरिसिल्लं कासिल्लं सासिल्लं सूय मुहं सूयहत्थं सूयपायं सडियहत्थंगुलियं सडियपायं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गुलियं संडियकसणासियं रसियए य पूयए य थिविथिविर्त्त वणमुहं किमिउप्पुयतपगलंतपूयरुहिरं लालापगलंतकसणासं अभिक्खणं २ पूयकवले य रुहिरकवले य किमियकवले य वममाइ कट्ठाइं कलुणाइं वीसराइं कूवमाणं मच्छिया चडगरपहगरेण अणिज्जमाणमग्गं फुट्टहडाहडसीसं दंडं खंडवसणं खंडमल्लखंडहत्थगयं गिहे२ देहं बलियाए वित्तिं कप्पेमाणे पासइ२त्ता तदा भगवं गोयमे उच्चणियजाव अडइ अहापज्जत्तं गिण्हइ२त्ता पाडलीसंडाओ णयराओ पडिणिक्खमइ२त्ता जेणेव समणे भगवं तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता भत्तपाणं पडिदंसेइ समणेणं अब्भणुण्णाए जाव बिलमिव पन्नगभूए अप्पाणेणं आहारमाहारेइ संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ तएणं से भगवं गोयमे दोच्चंपि छट्ठक्खमणपारणगंमि पढमाए पोरसीए सज्झाइं जाव पाडलिसंडं णयरं दाहिणिल्लेणं दुवारेणं अणुप्पविस्सइ । तं चेव पुरिसं पासइ २ त्ता कच्छुल्लं तहेव जाव संजमेणं विहरइ तएणं से गोयमे तच्चं छट्ठं तहेव जाव पच्चच्छिमिल्लेणं दुवारेणं अणुप्पविसमाणे तं चेव पुरिसं कच्छुल्लं पासइ २ त्ता चउत्थं छट्ठं उत्तरेणं इमे अज्झत्थिए समुप्पन्ने । अहो णं इमे पुरिसे पुरा पोराणाणं जाव एवं वयासी एवं खलु अहं भंते ! छट्ठस्स जाव रियंते जेणेव पाडलिसंडे णयरे तेणेव उवागच्छइ २ त्ता पाडलिपुरे पुरच्छिमिल्लेणं दुवारेणं अणुप्पविट्ठे तत्थ णं एगं पुरिसं पासइ कच्छुल्लं जाव कप्पेमाणे । तंजहा अहं दोच्चं छट्ठपारणए दाहिणिल्ले दारए तहेव तच्चं छट्ठं पच्चच्छिमेणं तहेव ते अहं चउत्थं छट्ठपारणए पाडलि उत्तरदारे अणुप्पविट्ठे तं चेव पुरिसं पासामि कच्छुल्लं जाव वित्तिं कप्पेमाणे विहरइ चिंता मम पुव्वभवे पुच्छा वागरेइ । एवं खलु गोयमा तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जंबूदीवे २ भारहे वासे विजयपुरे णामं णयरे होत्था रिद्धइ तत्थ णं विजयपुरे णयरे कणगरहे णामं राया होत्था । तस्स णं कणगरहस्स रण्णो धणंतरिणामे वेज्जे होत्था अट्ठंगाउव्वेदे पाढए तंजहा कोमारभिच्चं १ सालागे २ सल्लकहत्ते ३ कायतिगिच्छा ४ जंगोले ५ भूयवेज्जे ६ रसायणे ७ वाजीकरणे ८ सिवहत्थे ९ सुहहत्थे १० लहुहत्थे ११ तएणं धणंतरीवेज्जे विजयपुरे णयरे कणगरहस्स रण्णो अंतेउरे अण्णेसिं च बहूणं राईसर जाव सत्थवाहाणं अण्णेसिं च बहूणं दुब्बलाण य गिलाणाण य वाहियाण य रोगियाण य सणाहाण य अणाहाण य समणाण य माहणाण य भिक्खुयाण य करोडियाण य कप्पडियाण य आउराण य अप्पेगइयाणं मच्छमंसाइं उवदिसाइ अप्पेकच्छभमंसाइं अप्पेगाहमंसाइं अप्पेमगरमंसाइं अप्पेसुसमारमंसाइं अयमंसाइं एवं एलारोज्झ सूयरमिगससयगोमंसा महिसमंसा अप्पेतित्तिरमंसा अप्पेवट्टकलावककवोतकुक्कुडमयूरमंसा अण्णेसिं च बहूणं जलयरथलयरखहयरामाईणं मंसा अप्पाणं वीयसंसे धणंतरियवेज्जे तेहिं मच्छमंसेहिय जाव मयूरमंसेहिय अण्णेहि य बहूहिं जलयरथलयरखहयरमंसेहि य जाव मयूरसएहि य सोल्लेहि य तिलिएहिय भज्जिएहि य सुरं च ५ आसाएमाणे ४ विहरइ तएणं से धणंतरी वेज्जे एए कम्मे ४ सुबहु पावं समज्जिणित्ता बत्तीसससयाइं परमाउं पालइत्ता कालमासे कालं किच्चा छट्ठीए पुढवीए उक्कोसं बावीसं सागरोवमाइं उववण्णे तएणं णरगा उव्वट्टित्ता इहेव पाडलिसंडे णयरे सागरदत्ते सत्थवाहे गंगदत्ता भारिया जायणिंदूया वि होत्था । जा जा जाया दारगा विणिघायमावज्जंति तएणं तीसं गंगदत्ताए सत्थवाहिए अण्णया कयावि पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि कुडुंबजागरियं जागरमाणे २ अयं अज्झत्थिए ४ समुप्पन्ने एवं खलु अहं सागरदत्ते णं सत्थवाहेणं सद्धिं बहूहिं वासाइ उरालाइ माणुस्सगाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरइ णो चेव णं अहं दारगं वा दारियं वा पयामि तं धण्णाउणं ताओ अम्मआयो संपुण्णाओ कयत्थाओ कयपुण्णाओ कयलक्खणाओ सुलद्धेणं तासिं अम्मयाणं माणुस्सए जम्मजीवियफले जासिं मण्णे णियगकुच्छि संभूयगाइं थणदुद्धलुद्धगाइं मम ण पयांवियाति थणमूलक्खदेसभागं अतिसरमाणगइं मुद्धगाइं पुणो य कोमलकमलोवमेहिं हत्थेहिं गिण्हिऊण उच्छंगं णिवेसियाइं दिंति समुल्लावए सुमहुरे पुणो मंजुलप्पभणिए अहण्णा अधण्णा अपुण्णा अकयपुण्णा एत्तो एकतरमवि णपत्ता तं सेयं खलु ममं कल्लं जाव जलंते सागरदत्तं सत्थवाहं आपुच्छित्ता सुबहु पुप्फवत्थगंधमल्लालंकारे गहाय बहुहिं मित्तणाइ णियगसयणसंबंधि परिजणमहिलाइं सद्धिं पाडलिसंडाओ णयराओ पडिणिक्खमइ २ त्ता बहिया जेणेव उंबरदत्तस्स जक्खस्स जक्खायतणे तेणेव उवागच्छइ २त्ता तत्थ णं उंबरदत्तस्स जक्खस्स महरिहं पुप्फच्चणं करेइ२ त्ता जाणुपायवडियाए उवाएत्तए जइ णं अहं देवाणुप्पिया दारगं वा दारियं वा पयामि तो णं अहं जायं च दायं च भायं च अक्खयणिहिं च अणुवड्ढेमि त्ति कट्टु उववाय उवाइणित्तए एवं संपेहइत्ता २ कल्लं जाव जलंते जेणेव सागरदत्ते सत्थवाहे तेणेव उवागच्छइ २ त्ता सागरदत्तं सत्थवाहं एवं वयासी एवं खलु अहं देवाणुप्पिया तुब्भेहिं सद्धिं जाव

ए पत्ता तं इच्छामि णं तं देवाणुप्पिया तुब्भेहिं अब्भ-णुसाया जाव उवाइणित्तए तएणं से सागरदत्ते सत्थ-वाहे गंगदत्तं भारियं एवं वयासी ममंपि णं देवाणु-प्पियाए सचेव मणोरहे कहणं तुमं दारगं वा दारियं वा पयाएज्जामि गंगदत्तं भारियं एवमट्ठं अणुजाणीइ। तए णं सा गंगदत्ता भारिया एय मट्ठं अब्भणुणाया समाणी सुबहु जाव मित्तणाई सद्धिं ताओ गिहाओ पडिणिक्खमइ २ त्ता पाडलिसंडं णयरं मज्झं मज्झेणं णिगच्छइ २ त्ता जेणेव पुक्खरिणी तेणेव उवागच्छइ २ त्ता पुक्खरिणीए तीरे सुबहुपुप्फगंधमल्लाउकारं ठवे इ २ त्ता पुक्खरिणीओ गाहेइ २ त्ता जलमज्जणं करेइ जल-कीडं करेइ २ त्ता एहाया कयकोउयमंगला उल्लपडि-साडिया पुक्खरिणी। पच्चुत्तरइ २ त्ता तं पुप्फु गिण्हइ २ त्ता जेणेव उंबरदत्तस्स जक्खस्स जक्खायतणे तेणेव उवागच्छइ २ त्ता उंबरदत्तस्स जक्खस्स आलोए पणा-मं करेइ २ त्ता लोमहत्थं परामुसइ २ त्ता उंबरदत्तं जक्खं लोमहत्थएणं पमज्जइ २ त्ता दगधाराए अब्भुक्खेइ २ त्ता पम्हलगाइलम्छीओ लूहेइ सेयाइं वत्थाइं परिहेइ मह-रिहं पुप्फारुहणं वत्थारुहणं मल्ला गंधा चुण्णारुहणं करेइ २ त्ता धूवं डहइ २ त्ता जाणुपायपडिया एवं व-यासी जइ णं अहं देवाणुप्पिया दारगं दारियं पयामि तोणं जाव उवाइणइ २ त्ता जामेव दिसिं पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगया तएणं से धणंतरी वेज्जे ताओ णरगाओ अणंतरं उवट्टित्ता इहेव जंबूदीवे २ भारहे वा से पाडलीसंडे णयरे गंगदत्ताए कुच्छिंसि पुत्तत्ताए उव-वण्णे तएणं तीसे गंगदत्ताए भारिया तिण्हं मासाणं बहु पडिपुण्णाणं अयमेयारूवे दोहले पाउब्भूए धण्णाउणं ताओ अम्मयाओ जाव फलं भाओणं विपुलं असणं ४ उवक्खडावेइ २ त्ता बहुहिं जाव मित्तपरिवुडाओ तं विपुलं असणं ४ सुरं च ६ पुप्फ जाव गहाइ पाडलि-संडं णयरं मज्झं मज्झेणं पडिणिक्खमइ २ त्ता जेणेव पुक्खरिणी तेणेव उवागच्छइ २ त्ता पुक्खरिणीओ गाहेइ २ त्ता एहाया जाव पायच्छित्ताओ तं विपुलं अ-सणं ४ बहुहिं मित्तणहाई जाव सद्धिं आसाएइ ४ दो-हलं विणेइ एवं संपेहेइ कल्लं जाव जलंते जेणेव साग-रदत्तसत्थवाहे गंगदत्ता भारिया एयमट्ठं अणुजाणइ तएणं सा गंगदत्तेणं सत्थवाहेणं अब्भणुणाया समाणं विपुलं असणं ४ उवक्खडावेइ तं विउलं असणं ४ सुरं च सुबहु पुप्फं परिगिण्हावेइ २ त्ता बहुहिं जाव एहाया कयवलिकम्मा जेणेव उंबरदत्तजक्खस्स जक्खायतणे जाव धूवं डहेइ २ त्ता जेणेव पुक्खरिणी तेणेव उवाग-च्छइ २ त्ता तएणं ताओ मित्त जाव महिलाओ गंगदत्ता सत्थवाहिं सव्वालंकारविभूसियं करेइ तं सा गंगद-त्ताहिं मित्त अण्णेहिं बहुहिं णयरमहिलाहिं सद्धिं तं विपुलं असणं ४ सुरं च ६ आसाएमाणी ४ दोहलं विणेइ २ त्ता जामेव दिसिं पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगया ते एवं सा गंगदत्ता भारिया पसत्थ दोहला तं गब्भं सुहं सुहेणं परिवसइ तएणं सा गंगदत्ता णवण्हं मासाणं जाव दारगं पयाया ठिया जाव णामे जम्हाणं अम्हं इमे दारए उंबरदत्तस्स जक्खस्स उवाइय लद्धे तं होऊणं दारए उंबरदत्ते णामेणं तएणं से उंबरदत्ते दारए पंचधाई परिगाहिए परिवड्ढइ तएणं तस्स उंबरद-त्तस्स दारगस्स अण्णया कयावि सरीरगंसि जमगसम-गमेव सोलसरोगायंका पाउब्भूया तंजहा सासे १ खासे २ जाव कोढे तएणं से उंबरदत्ते दारए सोलसरोगाइं कहिं अभिभूए समाणे सडियहत्थं जाव विहरइ एवं खलु गोयमा उंबरदत्ते दारए पोरा पुराणाणं जाव विह-रइ तएणं उंबरदत्ते दारए कालमासे कालं किच्चा कहिं गच्छिहिति कहिं उववज्जिहिति गोयमा उंबरदत्ते दारए बावत्तरिं वासाइं परमाउसं पालइ २ त्ता कालमासे कालं किच्चा इमी से रयणाए णेरइयत्ताए उववज्जिहिति संसारो तहेव पुढवीए तओ हत्थिणाउरे णयरे कुक्-कुडत्ताए पच्चायाहिंति जायामित्ते चेव गोट्ठिल्लवहिंति तत्थेव हत्थिणाउरे णयरे सेट्ठी कुलंसि बोहिं सोहम्मे महाविदेहे सिज्झिहिति निक्खेवो सत्तमं अज्झयणं सम्मत्तं । वि० ७ अ०।

पाटलिखण्डस्य नगरस्य वनखण्डे उद्याने पूज्यमाने यक्षे च। वि० ७ अ०।

उउंब (उंब)रपणग उदुम्बरपञ्चक—न० उदुम्बरकेणोपलक्षितं पञ्चकमुदुम्बरपञ्चकम । वट १ पिप्पलो २ उदुम्बर ३ प्लक्ष ४ काकोदुम्बरी ५ फलप्रकणे फलविशेषपञ्चके, मशकाकारसू-क्ष्मबहुजीवाचितत्वाद्वर्जनीयं तते योगशास्त्रे उदुम्बरवट-प्लक्षकाकोदुम्बरशाखिनाम् । पिप्पलस्य च नाश्नीयात्फलं कृमिकुलाकुलम् । १ । लोकेपि "कोपि कापि कुतोपि कस्य-चिद्दहो चेतस्यकस्मादुत्तः । केनापि प्रविशत्युदुम्बरफलप्राणि-क्रमेण क्षणात् । येनास्मिन्नपि पाटिते विघटिते विस्फोटिते त्रोटिते निष्पिष्टे परिगालिते विदलिते निर्यान्त्यसौ वा न वा। ध० २ अ० द्वाविंशत्यभक्ष्य,पञ्चा भक्ष्याणीति प्र०५द्वा०२३७०।

उउंब (उंब) रपुप्फ (प्फ)—उदुम्बरपुष्प—न० (गूलरफूल) उदुम्बरवृक्षकुसुमे, "उंबरपुप्फं पिव दुल्लहे" उदुम्बरपुष्पं ह्यलभ्यं भवति अतस्तेनोपमानम्। भ० । ७ श० ३३ उ० ।

उउंब (उंब) रवच्च—उदुम्बरवर्चस्—न० उदुम्बरफलसमा-कीर्णे, "उंबरस्स फला जत्थ किरियरे सबाधिज्जंति तं उंबरव-च्चं भणति"। नि० चू० ३ उ० ।

उउंब (उंब) रीय–ऋतुम्बरीय–पुं० प्रत्युडुम्बरं रूपको दातव्य इत्येवं लक्षणे करे, " जोयंत उंबरीयस्स " सू० ३ ऊ० ॥

उउ (ऊ) परियट्ट–ऋतुपरिवर्त–पुं० ऋत्वन्तरे, आचा० २ श्रु० १ अ० १ उ० ।

उउदेवी–ऋतुदेवी–स्त्री० वसन्तग्रीष्मवर्षाशरद्धेमन्तशिशिराभिधानदेवतासु, पंचा० २ विव० ।

उउबद्ध–ऋतुबद्ध– पुं० शीतकाले, उष्णकाले च । औ० । अष्टौ मासा ऋतुबद्धसंज्ञकाः । आचा० २ श्रु० १ अ० १ उ० । आ० म० ।

उउमास–ऋतुमास–पुं० ऋतुः किल लोकरूढ्या षष्ट्यहोरात्रप्रमाणो द्विमासात्मकस्तस्यार्द्धमपि मासोऽवयवः समुदायोपचारात् ऋतुरेवार्थात्परिपूर्णत्रिंशदहोरात्रप्रमाणो मासः ऋतुमासः । कर्ममासापरपर्याये मासभेदे, एष एव ऋतुमासः । कर्ममास इति वा व्यवह्रियते । उक्तंच "एसो चेव उउमासो कम्ममासो सावणमासो भण्णइ" इति । व्य०१ खं० १ उ० । "उउमासो तीसदिणो, आइच्चो तीस होइ अद्धं च" ५ व्य० प्र० १ उ० । नि०चू० ।

पंच संवच्छरियस्स णं जुगस्स रिउमासेणं मिज्जमाणस्स इगसट्ठिं उउमासा पएणत्ता ॥

अथैकषष्टिस्थानकं तत्र पञ्चेत्यादि पञ्चभिः संवत्सरैर्निर्वृत्तमिति पञ्चसांवत्सरिकम् । तस्य णमिति वाक्यालङ्कारे युगस्य कालमानविशेषस्य ऋतुमासेन चन्द्रादिमासेन मीयमानस्य एकषष्टिः ऋतुमासाः प्रज्ञप्ताः । इह चायं भावार्थः युगं हि पञ्चसंवत्सरान्निष्पादयति तद्यथा चन्द्रश्चन्द्रोभिवर्द्धितश्चेति । तत्र एकोनत्रिंशदहोरात्राणि द्वात्रिंशच्च द्विषष्टिभागा अहोरात्रस्येत्येवं प्रमाणेन २९ । ३२ । ६२ कृष्णप्रतिपदामारभ्य पौर्णमासीनिष्ठितेन चन्द्रमासेन द्वादश मासपरिमाणश्चन्द्रसंवत्सरस्तस्य च प्रमाणमिदम् । त्रीणि शतान्यह्नां चतुः पञ्चाशदुत्तराणि द्वादश च द्विषष्टिभागा दिवसस्य ३५४ । १२ ६२ । तथा एकत्रिंशदह्नामेकविंशत्युत्तरं च शतं चतुर्विंशत्युत्तरशतं भागानां दिवसस्येत्येवंप्रमाणो ऽभिवर्द्धितमास इति । एतेन ३१ । १२१ । १२४ । च मासेन द्वादशमासप्रमाणोऽभिवर्द्धितसंवत्सरो भवति स च प्रमाणेन त्रीणि शतानि अह्नां त्र्यशीत्यधिकानि चतुश्चत्वारिंशच्च द्विषष्टिभागा दिवसस्य ३८३ । ४४ । ६२ । तदेवं त्रयाणां चन्द्रसंवत्सराणां द्वयोश्चाभिवर्द्धितसंवत्सरयोरेकीकरणे जातानि दिनानां त्रिंशदुत्तराणि अष्टादश शतानि अहोरात्राणाम् १८३० ऋतुमासश्च त्रिंशताहोरात्रैर्भवतीति त्रिंशता भागहारे लब्धा एकषष्टिः ऋतुमासा इति । स०६१ स० ।

उउय–ऋतुज–त्रि० कालोचिते, "उउयपिंडमनिहारिसगंधिएसु" प्रश्न० ५ द्वा० ।

उउलच्छि–ऋतुलक्ष्मी–स्त्री–ऋतुसंपदि, ज्ञा० ९ अ० ।

उउलच्छिसमत्थजायसोह —ऋतुलक्ष्मीसमस्तजातशोभ— त्रि० ऋतुलक्ष्म्येव सर्वर्तुककुसुमसंपदा समस्ता सर्वा समस्तस्य वा जाता शोभा यस्य स तथा । सर्वर्तुषु कुसुमसम्पदा सामस्त्येन शोभमाने, "उउलच्छिसमत्थजाय सोहेप इट्ठगंधधूयाभिरामो' ज्ञा० ९ अ० ।

उउवास–ऋतुवर्ष–पुं०–द्व० स० । ऋतुबद्धकालवर्षाकालयोः, "उउवासे पणगचउमासे" प्रव० ७० द्वा० ।

उउ [ऊ] संधि–ऋतुसन्धि–पुं०ऋतोः पर्यवसाने, आचा० २ श्रु० १ अ० १ उ० ।

उउसंवच्छर–ऋतुसंवत्सर–पुं० ऋतवो लोकप्रसिद्धा वसन्तादयस्तत्प्रधानः संवत्सरः ऋतुसंवत्सरः । चन्द्र० १ पा० । त्रिंशदहोरात्रप्रमाणैर्द्वादशभिर्ऋतुमासैः श्रावणमासकर्ममासपर्यायैर्निष्पन्नेषष्ट्यहोरात्रशतत्रयमाने,। स्था० ५ ठा० । सावन संवत्सरपर्याये संवत्सरभेदे, तत्त्वं च यथा ।

विसमं पवालिणो परि–णमंति अणुडुसुदेंति पुप्फफलं ।
वासं ण सम्मवासइ, तमाहु संवच्छरं कम्मं ॥

विषमेण वैषम्येण प्रवालं पल्लवाङ्कुरस्तद्विद्यते येषां ते प्रवालिनो वृक्षा इति गम्यते । परिणमन्ति प्रवालवत्तालक्षणया अवस्थया जायन्ते । अथवा प्रवालिनो वृक्षाः परिणमन्ति अङ्कुरोद्भेदाद्यवस्थां यान्ति । तथा अनृतुषु अस्वकाले ददति प्रयच्छन्ति पुष्पफलं यथा चैत्रादिषु कुसुमादिदायिनोपि स्वरूपेण चूताः माघादिषु पुष्पादि प्रयच्छन्तीति यथा वर्षं वृष्टिंमेघो न सम्यग्वर्षति यत्रेति गम्यते तमाहुर्लक्षणतः संवत्सरं कार्मणं यस्य स ऋतुसंवत्सरः सावनसंवत्सरश्चेति पर्यायौ । स्था० ५ ठा० । जो० ॥

ता एएसिणं पंचएहं संवच्छराणं तच्च उउसंवच्छरस्स उउमासेति स तिमुहुत्तेणं अहोरत्तेणं गणिज्जमाणे केवतिए रातिंदियग्गेणं आहितातिं वदेज्जा । ता तीसेणं राइंदियग्गेणं आहितेति वदेज्जा । ता से णं केवतिए मुहुत्तग्गेपुच्छा ता णवमुहुत्तसताई णवमुहुत्तग्गेणं आहितेति वदेज्जा । ता एस णं अद्धाडुवालसखुत्तकडा उउसंवच्छरे ता सेणं केवतिते राइंदियग्गेणं आहितेति । ता तिण्णि सट्ठे रातिंदियसते राइंदियग्गेणं आहितातिं वदेज्जा । ता से णं केवतिते मुहुत्तग्गेणं आहिते ता दसमुहुत्तसहस्सातिं अट्ठ य मुहुत्तसताई मुहुत्तग्गेणं आहिता ॥

तृतीयं ऋतुसंवत्सरविषयं प्रश्नसूत्रं सुगमम् । भगवानाह । (तातीसेणमित्यादि)ता इति पूर्ववत् त्रिंशद्रात्रिंदिनानि (३०) रात्रिंदिवाग्रेण ऋतुमास आख्यात इति वदेत । तथाहि ऋतुमासयुगे एकषष्टिस्ततो युगसत्कानां त्रिंशदधिकानामहोरात्राणामेकषष्ट्या भागो ह्रियते लब्धाः त्रिंशदहोरात्राः (३०) (तासेणमित्यादि) मुहूर्तविषयं प्रश्नसूत्रं सुगमम् भगवानाह "ता नव मुहुत्तसयाई " इत्यादि । नव मुहूर्त्तशतानि मुहूर्त्ताग्रेणाख्यात इति वदेत् । तथाहि त्रिंशद्रात्रिंदिनानि ऋतुमासपरिमाणमेकैकस्मिंश्च रात्रिंदिवे त्रिंशन्मुहूर्त्तास्ततः त्रिंशन्त्रिंशता गुण्यते नव शतानि भवन्तीति । (ता एएसिणामित्यादि) प्राग्वद्भावनीयम् । चं० १२ पा० ॥

उउसुह–ऋतुसुख– त्रि० ऋतौ कालविशेषे सुखः सुखहेतुः ऋतुसुखः । कालोचितसुखप्रदे, "उउसुहसिवच्छायसमणुबद्धेण" ऋतौ कालविशेषे सुखा सुखहेतुः ऋतुसुखा शिवा निरुपद्रवा छाया आतपवारणलक्षणा तया समनुबद्धमनवच्छिन्नं यत्तत्तथा । तेन छत्रेण । औ० ।

ऋतुसुख – पुं० कालोचिते, प्रश्न० ४ द्वा० ॥

उंछ–उञ्छ– न० उञ्छ्यते अल्पाल्पतया गृह्यते इत्युञ्छः । भक्तपानादौ, स्था०४ठा० । जुगुप्सनीये भैक्ष्ये, सूत्र०१श्रु० ३अ० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तन्निक्षेपो तथा "अट्ठा उंछं चउव्विहं, दव्वे भावे य होइ नायव्वं । दव्वुंछणेगविहं तावसमाईण मुणेयव्वं " व्य० द्वि० १० उ० । (एतद्व्याख्या अण्णायउंछअभिग्गह शब्दे) उञ्छमिवोञ्छम् । अल्पाल्पगृहीते भैक्ष्ये, प्र०१द्वा० । अज्ञातपिण्डोञ्छसूचकत्वादेतत्पदस्य" उञ्छमिति द्रुमपुष्पिकाऽध्ययने, द०१अ० ।

उंछजीविया–उञ्छजीविका–स्त्री० एषणायाम्, स्था०४ ठा०

उंछजीवियासंपन्न–उञ्छजीविकासम्पन्न– त्रि० एषणानिरते, स्था० ४ ठा० ।

उंछवित्ति–उञ्छवृत्ति–त्रि०कणश आदानरूपेण उञ्छेन जीविकावति, तत्पुत्रो नारदस्तेषामुञ्छवृत्त्या च भोजनम् । तदप्येकान्तरं ते चाऽशोकाशो नारदं सुतम् । आ० क० । आव०

उंजण–उञ्जन–न० उत्सेचने, " ण उंजिज्जा ण घट्टिज्जा, णो णं णिव्वावए मुणी " द०८अ० ।

उंजायण–उञ्जायन– पुं० वाशिष्ठगोत्रे ऋषिभेदे, तत्प्रवर्तितगोत्रजे च । स्था० ७ ठा० ।

उंडिया–उण्डिका–स्त्री० अभिनवनगरादेर्निवेश्यमानस्य योग्यभूमियोग्यनार्थायामक्षरसहितमुद्रायाम, वृ० १ उ० ।

उंडी–उण्डी–स्त्री० पिण्ड्याम, ज्ञा० ३ अ० । वृ० ।

उंडेरिय–उण्डेरिक–न० तिलकुट्टिकया अर्चनीये स्वादिमभेदे, यदीप्सितं लप्स्यामहे तदा तवौण्डेरकादि दास्यामः । स्था०४ ठा० । आ० म० द्वि० ।

उंदुर– (रू) उन्दर (रू) पुं०–स्त्री उन्द उरु मूषके, आ० म० प्र० । उंदुरो वा लालं सुत्तमुकं वा मुंचज्जो । नि० चू० ११ उ० ।

उंदुरक–उन्दुरक–न० देवतादि पुरतो वृषभगर्जितादिकरणे, ग० २ अधि० ।

उंदर (रू) माला–उन्दुर (रू) माला–स्त्री० मूषकस्रजि, उपा० १ अ० ।

उंदुरमालापरिणद्धसुकयचिण्ह-उन्दरमालापरिणद्धसुकृतचिह्न–त्रि० उन्दुरमालया मूषकस्रजा परिणद्धं परिणतं सुकृतं सुष्ठु रचितं चिह्नं स्वकीयलाञ्छनं येन तत्तथा तस्मिन् ।उपा० १अ० ।

उंबर–उम्बर–पुं० उमित्यव्यक्तशब्दं वृणाति वृ० अच्–द्वारोर्ध्वकाष्ठे, वाच० । देहल्याम, २ आ० म० द्वि । आव० । गन्धर्वभेदे च । वाच० ।

उंभ–उम्भ–धा–उब्भा–प० पूरणे, आ० म० द्वि० । विशे० ।

उक्कुक्कुर–उत् स्था–धा० (उठना) स्थित्याधारादूर्ध्वपतने उद ष्ठकुकुरौ ८।४।१७ इति उत्पूर्वस्य स्थाधातोः कुक्कुर इत्यादेशः । उक्कुक्कुरइ उत्तिष्ठति । प्रा० ।

उक्क–उत्क–त्रि० उद्गतं मनोऽस्य उद्० नि०क०वाच० । उत्कण्ठिते, " अणुक्कसाई अप्पिच्छे अण्णाएसी अलोलुए " उत्त० ।

उक्कंचण–उत्कञ्चन–न० शूलाद्यारोपणार्थमूर्ध्वकुञ्चने, सूत्र० २ श्रु०२अ०।ज्ञा०।उत्कोचायां च । दशा०२अ० । तच्च हीनगुणस्य गुणोत्कर्षप्रतिपादनम । ज्ञा० २ अ० । दीनानूर्ध्वं दण्डयतः भ० ११ श० ११ उ० । मुग्धवञ्चनप्रवृत्तस्य समीपवर्तिविदग्धरक्षणार्थं क्षणं क्षणमव्यापारतयाऽवस्थानम् । उपा० १ अ० । औ० । मूर्खं प्रति तत्प्रतिरूपदानादिकमसद्व्यवहारं कर्तुं प्रवृत्तस्य पार्श्ववर्तिविचक्षणभयात् क्षणं यत्तदकरणमुत्कुञ्चनमित्यन्ये । ज्ञा० १८ अ० "उक्कं च णं नज्झातिणा" वसतेर्यान्यादिना कचवरनिष्काशनमिति संभाव्यते । नि० चू० ५ उ० ।

उक्कंछण–उत्कञ्छन–न० दण्डकोपरिकम्बीनां बन्धनरूपे वसतिपरिकर्मणि, ग० १ अधि० ।

उक्कंठा–उत्कण्ठा–स्त्री० " ङञणनो व्यञ्जने " ८ । १ । २५ । इत्यनेन णकारस्यानुस्वारो वा । प्रा० । वर्गेऽन्त्यो वा ८।१।३०। इत्यनेनानुस्वारस्य णकारो वा । प्रा० । इष्टप्राप्त्याय कालासहनरूपे औत्सुक्ये, २ वाच० ।

उक्कंपिय–उत्कम्पित–त्रि० चञ्चलीकृते, कल्प० ।

उक्कंबण–उत्कम्बन–न० दण्डकोपरि कम्बीनां बन्धनरूपे वसतिपरिकर्मणि, वृ० १ उ० । ग० । नि० चू० ।

उक्कंबिय–उत्कम्बित–त्रि०वंशादिकम्बाभिरवबद्धे,आचा० १श्रु०।

उक्कच्छिया–औपकच्छिकी–स्त्री०कक्षायाः समीपमुपकक्षं तत्र भवा औपकक्षिकी । अध्यात्मादित्वादिकण् प्रत्ययः । साध्व्युपकरणभेदे, । वृ० ३ उ० । साप्येवंविधा स्यूता समचतुरस्रा सार्द्धहस्तमाना चतुरोऽङ्गानां दक्षिणपार्श्वं पृष्ठं चाच्छादयति । वामस्कन्धे वामपार्श्वे च वीटकप्रतिबद्धा परिधीयते । यदुक्तम् " ठाए ३ अणुकुरुए उरोरुहे कंचुओ असीविअओ । एमेव य उक्कच्छिअ सा नवरं दाहिणे पासे स्ति । ध० ३अधि० । वेगच्छिया उपडो कंचुकमुत्काढियं च छादेति । संघाडओ उ चउरो तत्थ दुहत्थाउ वसधयिउत्ति । वृ० ३ उ० ।

उक्कट्ठि–उत्कृष्टतस्–अव्य० उत्कर्षवशेनेत्यर्थे, सू० प्र० १९ पा०

उक्कड–उत्कट–त्रि० प्रकर्षपर्यन्तवर्तिनि, प्रश्न० १ द्वा० । तीव्रे, आचा० । उरूते, कल्प० । प्रचुरे, आव० ५ अ० । कलुषत्वे, व्य० २ खं०२उ० । उक्कडफुडकुडिल जडुलकक्खडवियडफडाडोयकरणदच्छं । उत्कटो बलवतान्येनाध्वंसनीयत्वात् स्फुटो व्यक्तप्रयत्नविहितत्वात् कुटिलो वक्रस्तत्स्वरूपत्वाज्जटिलः स्कन्धदेशे केसरिणामिवाहीनां केसरसद्भावात् कर्कशो निष्ठुरो बलवत्वात् विकटो विस्तीर्णो यः स्फटाटोपः फणासंरम्भः तत्करणे दक्षो यः स तथा तम् । भ०१५ श० १ उ० । रक्तेक्षौ, शरे च । पुं० विषमे, त्रि० सैंहीलतायां च स्त्री० । वाच० ।

उक्कडगंधविलित्त-उत्कटगन्धविलिप्त–त्रि० तीव्रदुर्गन्धव्याप्ते, नं०।

उक्कत्त उत्कृत्त–त्रि० शरीरादूरीकृतचर्मणि, " कप्पिओ फालिओ छिन्नो उक्कत्तो य अणेगसो " उत्त० १९ अ० ।

उक्कत्तग–उत्कर्तक–पुं० चौरभेदे, ये गेहाद् ग्रहणं निष्काशयन्ति प्रश्न० ३ द्वा० ।

उक्कत्तिअ–मुत्कर्तित–त्रि० धूर्तादित्वात् तन्नागस्य न टः । उच्छिन्ने, प्रा० ।

उक्कप्प–उत्कल्प–पुं० ऊर्ध्वं कल्प उत्कल्पः उद्गमैषणोत्पादनाशुद्धसमाचारे, । पं० भा० । "उक्कप्पो उ इदाणिं, उद्धं कप्पादि होति ओकप्पो । अहवा विच्छिन्नकप्पो, उक्कप्पो अहवण अवत्तो ॥ उग्गमउप्पायणए–सणेसु णिक्खो कंदमूलफले गिहिवे पावकियासु य, ओकप्पं तं वियाणाहि ॥ णामणिथंभणिलेसणि, वेताली चेव अरूवेताली । आवाणपाउणेसु य, अएहेसु य एवमादीसु । तस्सणिमिद्दियमुज्झण-संसेइमच्छणामअभिओगे गेहाइ घच्चण तहघंर, दंडथेज य अगिणस्स । णामाणि रुक्खफलाणं, परिमाणं वेउलाणधूमादि । थंभणिपदम्मि ण चलति, लेसणिलेसेत्ति अंगाइं । विद्दिट्ठाण य आणणि

अहव णिमुक्कावणम्मि वेताली । उट्ठावेऊण णिवातो, तक्खणए सुरुवेताली । गब्भाणं आदाणं, करेति तह सारणं च गब्भाणं । अभिओगवसीकरणे, विज्जा जोगादिएहिं कुणति । विच्छिगमच्छिगमसरे, मंडुक्के मच्छए तहा पक्खी । सम्मुच्छ वेमादी, जो जोएी पाहुडेणं च । पसुलद्धवियं जागं, आहव्वणं संतरोद्दकम्मेयं । कोहादिवंसदंसो, थंभणिअगाणिस्स मंतेणं पमादि अकरणिज्जं, निक्कारणे जे करेति तू भिक्खू । सव्वो सो उक्कप्पो,, दारं पं० भा० । पं० चू० ॥

उक्कम–उत्क्रम– पुं० उत्–क्रम–घञ्–अवृद्धिः । पश्चादानुपूर्वीभवने, वि० ७ अ० । विशे० । उत्क्रान्तौ ऊर्ध्वगतौ च वाच०॥

उक्कमंत–उत्क्रममाण– त्रि० ऊर्ध्वं क्रामति, "उक्कमंतेसु पाणेसु" आ० म० प्र० ।

उक्कमवोच्छिज्जमाणबंधोदया–उत्क्रमव्युच्छिद्यमानबन्धोदया– स्त्री० उत्क्रमेण पूर्वमुदयः पश्चाद्बन्ध इत्येवं लक्षणेन व्यवच्छिद्यमानौ बन्धोदयौ यासां ता उत्क्रमव्यवच्छिद्यमानबन्धोदयाः । बन्धव्यवच्छित्तिपूर्वकोदयव्यवच्छित्तिमतीषु प्रकृतिषु, पं० सं० ।

उक्कमसेढी–उत्क्रमश्रेणी– स्त्री० विपरीतपरिभाषायाम्, रू० ।

उक्कमित्त–उपक्रान्त– त्रि० उपक्रमकारणैरुपक्रान्ते क्षीणे, "अहवा उक्कमित्तेभवंतिए" सूत्र० १ श्रु० २ अ० ।

उक्कर–उत्कर– पुं० समूहे, कल्प० । संघाते, आव० ४ अ० । उन्मुक्तकरे, करस्तु गवादीन् प्रतिवर्षं राजदेयं द्रव्यम् । भ० ११ श० ११ उ० । ज्ञा० । जं० ।

उक्करड–उत्करट– पुं० करटस्य सदाऽध्यायिनि, आ० म० द्वि० । (तत्कथा वक्करड शब्दे)

उक्करिज्जमाण–उत्कीर्यमाण– त्रि० छुरिकादिभिरुत्कारिकया भिद्यमाने, आ० म० प्र० ।

उक्करियाभेय–उत्करिकाभेद– पुं० एरण्डबीजानामिव बीजभेदे भ० ५ श० ४ उ० ।

उक्करिस–उत्कर्ष– पुं० उत्कर्षणे, उत्सेके, "अतसमुक्करिसत्थं" सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

उक्कल–उत्कट– त्रि० प्रकृष्टे, स्था० ५ ठा० ।

उत्कल– त्रि० वृद्धिमति, ।

पंच उक्कला पण्णत्ता तंजहा दंडुक्कले रज्जुक्कले तेणुक्कले देसुक्कले सव्वुक्कले ।

उत्कटा उत्कला वा तत्र दण्ड आज्ञापराधिदण्डनं वा सैन्यं वा उत्कटः । प्रकृष्टो यस्य तेन वोत्कटो यः स दण्डोत्कटो दण्डेन वोत्कलति वृद्धिं याति यः स दण्डोत्कल इत्येवं सर्वत्र । नवरं राज्यं प्रभुता स्तेनाश्चौरा देशो मण्डलं सर्वमेतत्समुदयति । स्था० ५ ठा० ।

औत्कल–उत्कलाऽभिजनोऽस्य अण् औत्कलः । तद्देशानां राजनि, वाच० फाल्गुमत्या भ्रातरि कलिङ्गस्य सहोदरे पल्लीवास्तव्ये, २ आचा० २ श्रु०२अ०११उ० ।(सज्झानिक्केपेकथा)

उक्कलिअंड–उत्कलिकाण्ड– न० लूतापुटाण्डे अण्डसूक्ष्मे, कल्प०

उक्कलिआ–उत्कलिका– स्त्री० लघुतरे समुदाये, औ० । भ० । त्रीन्द्रियजीवभेदे, (लूतेति संभाव्यते) प्रज्ञा० १ पद । जी० । ज्ञा० । लहरी, देवोत्कलिकादेव लहरिः इति लहरिपरत्वेन उत्कलिकाशब्दस्य व्याख्यानात् स्था०४ठा० । अन्यत्र देवोत्कलिका तत्सम्पातविशेषः । स्था० ३ ठा० । उत्कण्ठायाम्, कामादिजातायां स्मृतौ, कोरके, हेलायां च । हेम० ।

उक्कलियावाय–उत्कलिकावात– पुं० वायुकायविशेषे, स्थित्वा स्थित्वोत्कलिकाभिर्यो वाति स उत्कलिकावातः । आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ० । उत्कलिकाभिः प्रचुरतराभिः सम्मिश्रो यो वातः स उत्कलिकावातः । जीवा० १ प्रति० । उत्त० ॥

उक्कस–उत्कर्ष– पुं० उत्कृष्यते आत्मा दर्पाध्मातो विधीयतेऽनेनेत्युत्कर्षः । माने, "उक्कसं जलणं णूमं मज्झत्थं च विगिंचए" सूत्र०१ श्रु०१ अ० । भावे घञ् । प्राशस्त्ये, अतिशये, उत्कर्षान्विते, उत्पादनकर्षणे, उद्धरणे, वाच० ।

उक्कसण–उत्कर्षण– न० उत्क्रमणे, निवर्तने, उद्गतेन प्रेरणमुक्कसणम् । नि० चू० १८ उ० । गर्वकरणे, सूत्र० १ श्रु०१३अ० ।

उक्कस्स–उत्कर्षवत्– त्रि० अष्टमदस्थानानामन्यतमेनोत्सेकं कुर्वति, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ।

उक्कस्समाण–अपक(र्ष)सत्– त्रि० ह्रसति, स्था० ५ ठा० ।

उक्कस्समाणी-अपक(र्ष)सन्ती- स्त्री० पञ्चपनकयोः परिह्रसत्याम्, णिग्गंथे णिग्गंथी सेसंसि वा पंकंसि वा पणगंसि वा उदगंसि वा उक्कस्समाणि वा । स्था० ५ ठा० । बृ० ।

उक्कसावंत–उत्कर्षयत्– त्रि० उत्क्रमयति, स्थानान्तरं नयति णावं उक्कसावेइ उक्कसावंतं वा साइज्जइ उक्कसावेइ स्थलस्थाज्जले कारयति जलस्थान्स्थले कारयति । नि०चू०१० उ०

उक्का–उल्का– स्त्री० उष् दाहे, क नि षस्य लः । सर्वत्र लवराम् चन्द्रे ८ । २ । ७९ इति ललुक् । प्रा० । " अनादौ शेषादेशयोर्द्वित्वम् । ८ २ ८९ । इत्यनेन ककारस्य द्वित्वम् । प्रा० । चुडुल्याम्, जी० १ प्रति । सा च सरेखा प्रकाशयुक्ता उल्का व्य० द्वि० ८ उ० । प्रव० । आव० । प्रज्ञा० । नं० । उपरि प्रकाशमधस्तादन्धकार ईदृक् शिखमुखो दिग्दाह उल्का आ० चू० । नि० चू० । "उक्कामहसरारेहा पगासकारिणी य अहवा रेहा । विरहितो विप्फुलिंगो, पहासकरो " आ०चू० ४ अ० । निपतत्तो ज्योतिः पिण्डस्य रेखायुक्तस्योल्केत्याख्या । औ० । ये मूलाश्रितो विकृष्य विकृष्याग्निकणाः प्रसर्पन्ति ते उल्का उच्यन्ते । जी० ३ प्रति । उल्का गगनाग्निः । दश० ४ अ० । उल्का अग्निपिण्डः । स्था०८ ठा० । उद्योतो भूमाववतिष्ठितो गगनतलवर्ती दिग्दाह इति प्रसिद्ध उल्का । स्था० आव० । उत्त० । शुष्कतृणवल्कादिवेष्टिते (मशाल इति प्रसिद्धे) दीपभेदे, ज्योतिषोक्ते नाक्षत्रिकदशाभेदे च । वाच० ।

उक्कामुह–उल्कामुख–पुं० अश्वकर्णनाम्नो ऽन्तर्द्वीपस्य पूर्वोत्तरस्यां विदिशि अष्टौ योजनशतानि अतिक्रम्याष्टयोजनशतायामविष्कम्भे एकोनत्रिंशदधिकपञ्चविंशतियोजनशतपरिक्षेपे पद्मवरवेदिकावनखण्डमण्डितपरिसरे जम्बूद्वीपवेदिकातो ऽष्टयोजनशतप्रमाणान्तरे अन्तरद्वीपे, तद्वास्तव्ये मनुष्ये च । स्था० ४ ठा० । (अंतरदीव शब्दे वर्णक उक्तः) उल्केव मुखमस्य । प्रेतभेदे, जन्तुभेदे, स्त्री० ङीप् वाच० ।

उक्कारियाभेय–उत्कारिकाभेद–पुं० एरण्डबीजानामिव एकस्भेदे, स्वरूपं च ॥

से किं तं उक्कारियाभेदे ? जाणं मूसयाण वा तिलसिंगाण वा मंडूसाण वा मुग्गसिंगाण वा माससिंगाण वा एरंडबीयाण वा फुडिया उक्कारियाए भवति सेत्तं उक्कारियाभेदे । प्रज्ञा० ११ पद । स्था० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उक्कालिय–उत्कालिक–न० ऊर्ध्वं कालात्पठ्यत इत्युत्कालिकम्। दशवैकालिकादीनि। स्था०। कालवेला (पञ्चविधस्वाध्यायिक) मात्रवर्ज्यशेषकालानियमेन पठ्यमाने श्रुतविशेषे, अनु०।पा०। "जं पुण कालवेलावज्जं पढिज्जइ तं उक्कालियंति नं०।"

सेकिंतं उक्कालिअं उक्कालिअं अणेगविहं पण्णत्ता तंजहा दसवेयालियं कप्पिया कप्पियं चुल्लकप्पसुयं महाकप्पसुयं उववाइयं रायपसेणियं जीवाभिगमो पण्णवणा महापण्णवणा पमायप्पमायं नंदी अणुओगदाराइं देविंदत्थओ तंदुलवेयालियं चंदाविज्झयं सूरपण्णत्ति पोरिसिमंडलं मंडलप्पवेसो विज्जाचरणविणिच्छिओ गणिविज्जा झाणविभत्ती मरणविभत्ती आयविसोही वियरागसुयं संलेहणासुयं विहारकप्पो चरणविही आउरपच्चक्खाणं महापच्चक्खाणं एवमाइ सेत्तं उक्कालियं।नं०।पा०। अनु० आ० म० द्वि०।

उक्कावाय–उल्कापात–पुं० ६ त०। उल्का आकाशजातस्यापात उल्कापातः। स्था०। व्योम्नि सम्मूर्च्छितज्वलनपतनरूपे लोकप्रसिद्धे सादिपारिणामिकेऽर्थे, अनु०। जी०। सरेखे सोद्योते वा तारकस्यैव पाते, भ० ३ श० ६ उ०। उल्कापातादिदोषाश्च वायव्यादिमण्डलेषु प्रवृत्ताः शक्राग्निकुल्पीराभिधायिनो भवन्ति। सूत्र० २ श्रु० २ अ०।

उक्कास–उत्कास–पुं० अभिमानात्स्वकीयसमृद्ध्यादेः प्रकाशनरूपे मोहनीयकर्मभेदे, भ० १२ श० ५ उ०।

उक्कासहस्स–उल्कासहस्र–न० अग्निपिण्डसहस्रे, स्था०८ठा.।

उक्कि (क) ट्ठ उत्कृष्ट–त्रि० कृषि विलेखने इत्यस्य धातोरुत्पूर्वस्य निष्ठान्तस्येदं रूपम्। उत्–कृष–क्त वृ० १ अ०। इत्कृपादौ ८।१।१२८ इति ऋत इत्वम्।प्रा०। आर्षे तु "तदा संवरमुक्कट्टं" प्राकृतशैल्या उत्कृष्टम्। दश० ४ अ०। प्रधाने, "धम्मो मंगलमुक्कट्ठमहिंसा संजमो तवो"। दश० १ अ०। भ०। प्रशस्ते, जी० ३ प्रति०। प्रव०। कर्षणयुक्ते क्षेत्रादौ च। वाच०। उन्मुक्तकृष्टे, कृष्टं कर्षणं लव्यग्रहणायाः कर्षणम् जं० ३ वक्ष०। उत्कर्षवति, वि० ३ अ०। हर्षवशाज्जायमाने उत्कर्षे, आ० म० प्र०। कल्प०। गेरुयवण्णियसेढिय, सोरट्ठि पिट्ठकुक्कसकए य। उक्किट्ठमसंसट्ठ, संसट्ठे चेव बोधव्वे" उत्कृष्टशब्देन कालिङ्गालाबुत्रपुषफलादीनां शस्त्रकृतानि श्लक्ष्णखण्डानि भण्यन्ते। दश० १ अ०।

उक्किट्ठवणग–उत्कृष्टवर्णक–पुं० प्रधानचन्दनके, उक्किट्ठवण्णगोपरि, समवसरणविवरूपस्स" पंचा० २ विव०।

उक्किट्ठसंकिलेस–उत्कृष्टसंक्लेश–पुं० इह सर्वोत्कृष्टस्थितिजनकानि चरमपङ्क्तिनि दर्शितानि यानि स्थिति बन्धाध्यवसायस्थानानि तेषां मध्ये यच्चरममध्यवसायस्थानं तदुत्कृष्टसंक्लेश उच्यते। अथवा चरमस्थितिबन्धाध्यवसायस्थानमुत्कृष्टसंक्लेश उच्यते। इति परिभाषिते ऽर्थे, कर्म०।

उक्किट्ठसरीर–उत्कृष्टशरीर–त्रि० उत्कर्षवच्छरीरे, "उक्किट्ठे उक्किट्ठसरीरे भविस्सइ" वि० ७ अ०। आ० म०।

उक्किट्ठा-उत्कृष्टा-स्त्री० प्रशस्तायां गतौ, जी० ३ प्रति०। मनोहरायां गतौ, कल्प०। "उक्किट्ठाए तुरियाए चंडाए चवलाए जयणाए उद्धुयाए दिव्वाए देवगईए" राय०।

उक्किट्ठि–उत्कृष्टि–स्त्री० हर्षविशेषप्रेरिते ध्वनिविशेषे, आ० म० द्वि०। आनन्दमहाध्वनौ, औ०। वि०। बकारपूर्वके कलकले, अत्र चतुर्थप्रायश्चित्तेन शुद्धिः। जीत०।

उक्किण्ण–उत्कीर्ण–त्रि० उत् कृ क्त-नष्टे, आ० चू० २ अ०। अतीव व्यक्ते, प्रज्ञा०। शिलादिषु उत्कीर्यकृते नामकादिरूपे पदभेदे, दशा० २ अ०। उद्–कृ–कर्तरि क्त उल्लिखिते, कृतवेधे, ऊर्ध्वक्षिप्ते लिखिते च। वाच०।

उक्किण्णंतर–उत्कीर्णान्तर–त्रि० ६ ब० अतीव व्यक्तान्तरे,प्रज्ञा०। जी०। उक्किण्णंतरविउलगंभीरखायफलिहा (असुरकुमारावासाः) उत्कीर्णमुत्करमुत्कीर्य्य पालीरूपं कृतमन्तरालं ययोस्ते उत्कीर्णान्तरे ते विपुलगम्भीरे खातपरिखे येषां तानि उत्कीर्णान्तरविपुलगम्भीरखातमध उपरि च समपरिखा उपरि विशाला अधः संकुचिता तयोरन्तरेषु पाली अस्तीति भावः। स०।

उक्कित्तण–उत्कीर्तन–न० उत् कृत् ल्युट् संशब्दने, विशे०। आव०। आ० म० द्वि०। व्य०। अनु०। नत्वा जिनं प्रवक्ष्यामि पर्य्यायोत्कीर्त्तनं मुदा० ह०। देवनामादेरुच्चैः कीर्तने च। वाच०

उक्कित्तणाणुपुव्वी-उत्कीर्त्तनानुपूर्वी–स्त्री० उत्कीर्तनं संशब्दनमभिधानोच्चारणं तस्यानुपूर्वी अनुपरिपाटिः। आनुपूर्वीभेदे, अनु० ॥

उक्कित्तिय–उत्कीर्तित–त्रि० कथिते, चं० २ पाहु०।

उक्किरिज्जमाण–उत्कीर्य्यमाण–त्रि० छुरिकादिभिरुत्कारिकया भिद्यमाने, जं० १ वक्ष०। कोट्ठपुडाण वा उक्किरिज्जमाणा ण व विक्किरिज्जमाणाण वा। आ० म० प्र०। जी० ॥

उक्कीरमाण–उत्कीरत्–त्रि० वेधनकेन विकिरति, खनित्रादिना मृत्स्नं कुर्वाणे, तं च केइ उक्कीरमाणं पासित्ता वएज्जा किं भवं उक्कीरसि, अनु०। कर्म० ॥

उक्कुज्जिय–उत्कूजित–न० उत्—कूज्—भावे क्त उपरि हुमिति करणे, उवरिहुत्ति करणं उक्कुज्जियं। नि० चू०। कर्तरि क्तः कृताव्यक्तमहाध्वनौ, प्रश्न० १ द्वा० ॥

उत्कुब्ज्य– अव्य० ऊर्ध्वं कायमुन्नम्य ततः कुब्जीभूयेत्यर्थे, "असंजए भिक्खू परियाए उक्कुज्जिया आवउक्कुज्जिया" आचा० २ श्रु० १ अ० ७ उ०।

उक्कुट्ठ–उत्कुष्ट– न० पीलुपर्णिकादेरुदूखलचूर्णिते आर्द्रपर्णचूर्णे. आचा० २ श्रु० १ अ० ६ उ०। सचित्तवणस्स ३ चुण्णा उक्कुट्ठो भण्णइ। नि० चू० ४ उ०। उक्कुट्ठो णाम सचित्तवणस्सइपत्तकुरुफलाणि वा उक्खले बुज्झंति। नि० चू० १ उ०।

उक्कुडुग–उत्कुटुक–न० यथास्थानमनवस्थिते, जं०२ वक्ष०। यथास्थानमनिविष्टे, भ० ७ श० ६ उ०। आसने, पुताल्लगने स्था० १ अ०। भूमावन्यस्तपुततयोपविष्टे, प्रव० ६७ द्वा० पंचा०। "आगम्मुक्कुडुओ संतो पुच्छेज्जा पंजलिउडो" गुरोः समीपमागत्य उत्कुटकोन्मुक्तासनः कारणतः पादपुञ्छनादिस्थः सन् शान्तो वा। उत्त० १ अ०। आ० म०। यथा कुक्कुडिया पादं पसारी तु लहुं चेव। झडिति एवं साहु जाहे परितंतो ताहे भूमिं अच्छिवंतो पसारेति लहुं वा उट्ठेतं संथारए उवेति। आ० चू० ४ अ०। "उक्कुडुए वा जाव पलासे वा तस्स लाभे संवसेज्जा तस्स अलाभे उक्कुडुए वाणे सज्जिए व विहरेज्जा दुच्चा उग्गहपडिमा" आचा० २ श्रु० २ अ० २ उ० जिनकल्पं प्रतिपन्नः पुनर्नियमादुत्कुटुकः। चू० १ उ०।

उक्कुडुया-उत्कुटुका-स्त्री० आसनालग्नपुतः पादाभ्यामवस्थितः उत्कुटुकस्तस्य या सा उत्कुटुका । निषद्याभेदे, स्था० ५ ठा० ग्रा० म० द्वि० ।

उक्कुडुयासण-उत्कुटुकासन-न० पीठादौ पुताग्रलगनेनोपवेशने, स्था० ५ ठा० वृ० ।

उक्कुडुयासणिय-उत्कुटुकासनिक-पुं० उत्कुटुकासनं पीठादौ पुताग्रलगनेनोपवेशनरूपमभिग्रहतो यस्यास्ति स उत्कुटुकासनिकः । उत्कुटुकासनेनैवोपविशामीत्यभिग्रहधारिणि साधौ उत्कुटुकासनिकत्वमत्यनुज्ञातं तीर्थकृता कायक्लेशाख्यतपोभेदे एषः । स्था० ५ ठा० ।

उक्कुरुड-उत्कुरुट-पुं० इष्टकाकाष्ठादिराशिरूपेऽर्थे कचवरपुञ्जे, "ठिईइ पव्ववाया तणपुंजपराग्गगुम्मउक्कुरुडे" वृ० १ उ० । आ० म० द्वि० ।

उक्कुस-गम-धा० गतौ, भ्वादि-" गमेरइ अइच्छाणुवज्जावसज्जोक्कुसे० ८ । ४ । १६२ इति सूत्रेण गमधातोरुक्कुसादेशः उक्कुसइ गच्छति । प्रा० ।

उक्केर-उत्केर-पुं० उप्पको उप्पीलो उक्केरो पहयरोगणो पयरो प्रा० को० । उत्पीडने, उत्कारिकाभेदेन भिन्ने, " दुंदुभिसमारोहे भेए उक्कारिया य उक्केरे" सूत्र० १ श्रु० १ अ० ७ उ० ।

उक्कोडभंग-उत्कोटभङ्ग-पुं० कोटभङ्गशब्दार्थे,"खोडभंगो त्ति वा एगट्ठं" व्य० प्र० १ उ० ।

उक्कोडा-उत्कोटा-स्त्री० उत्कोचायां लञ्चायाम्, औप० । ज्ञा० । " उक्कोडाहि य परायवोहि य दिज्जेहिं य " वि० १ अ० ।

उक्कोडालंचणपासमग्गणपरायण-उत्कोटालञ्चनपार्श्वमार्गणपरायण-त्रि० उत्कोटालञ्चयोर्द्रव्यबहुत्वेतरत्वाद्विभिर्लोके प्रतीतेनदयोः पार्श्वात् गुप्तिगतनरसमीपात्तन्मार्गणं याचनं तत्परायणस्तन्निष्ठः । चौर्यविशेषतत्परेषु, (" उक्कोडालंचणपास मग्गणपरायणेह गोम्मिगभडेहिं" प्रश्न० ३ द्वा० ।

उक्कोडिय-उत्कोटिक-त्रि० उत्कोटा उत्कोचा लञ्चेत्यर्थः । तया ये व्यवहारन्ति औत्कोटिकाः । लञ्चया ऽसद्व्यवहारिषु, औ० । ज्ञा० ।

उक्कोया-उत्कोचा-स्त्री० लञ्चायाम्, मूर्खं प्रति तत्प्रतिरूपदानादिकमसद्व्यवहारं कर्तुं प्रवृत्तस्य पार्श्ववर्तिविचक्षणभयात् विचक्षण यशादकरणम् । ज्ञा० १८ अ० ।

उक्कोस-उत्कर्ष-पुं० उत्कृष्यत इत्युत्कर्षः । उत्कृष्टे, "एसा खलु गुरुगत्ती उक्कोसो एस वा ण धम्मो उ" पञ्चा० २ विव० । चं० प्रव० । गुणाभिमाने, स्था० ४ ठा० । सूत्र० । आत्मनः परस्य वा मानादिक्रियोत्कृष्टताकरणे, भ० १२ श० ५ उ० । तत्स्वरूपे मोहनीयकर्मणि, । स० ५२ स० । प्रकर्षे, तद्योगात्कर्षतीति वा व्युत्पत्तेः । उत्कृष्टे, " तओ वियरुदत्तीओ पणिगाहित्तए तंजहा उक्कोसा मज्झिमा जहण्णा" स्था० ३ ठा०

उत्कृष्ट-त्रि० उत्-कृष्-क्त केनाप्फुल्लादयः ८ । ४ । ५६ इति उत्पूर्वस्य कृष्धातोः क्तसहितस्य उक्कोसादेशः । उत्कर्षवति, प्रा० ।

उत्क्रोश-पुं० कुररे, प्रश्न० १ द्वा० । उच्चैः क्रन्दिनि, त्रि० । तत त्वतुरथ्याम् उत्करा उत्क्रोशीवः तत्सन्निहिते देशादौ, वाच०

उक्कोसंत-उत्क्रोशत्-त्रि० क्रन्दति, प्रश्न० १ द्वा० ।

उक्कोसग-उत्कर्षक-पुं० उत्कर्षतीत्युत्कर्षः । उत्कर्षे वर्तमानके-षकः "उत्कृष्टे, तताणं च उत्तमकट्ठपत्ते उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवइ " चं० १ पाहु० । सू० प्र० । आव० ।

उक्कोसट्ठिइय-उत्कर्षस्थितिक-पुं० उत्कर्षा उत्कर्षवत्संख्यासमयापेक्षया स्थितिर्येषां ते तथा । तेषामसंख्यातसमयस्थितिकानामित्यर्थः । तेषु, स्था० ११ ठा० ।

उक्कोसपएसिय-उत्कर्षप्रदेशिक-पुं० उत्कर्षन्तीत्युत्कर्षाः उत्कर्षवन्तः उत्कृष्टसंख्याः परमाणवः प्रदेशा अणवस्ते सन्ति येषान्ते उत्कर्षप्रदेशिकाः । तेषु, स्था० १ ठा० ।

उक्कोसपद-उत्कृष्टपद-न० उत्कृष्टत्वे, "उक्कोसपदे अट्ठ अरिहंता" उत्कृष्टतोऽष्टावर्हन्तो भवन्ति स्था० ८ ठा० ।

उक्कोसमयपत्त-उत्कर्षमदप्राप्त-त्रि० उत्कर्षेण मदं प्राप्त उत्कर्षमदप्राप्तः । उत्कर्षतो मत्ते, जी० ३ प्रति० ।

उक्कोसिय-उत्कोशिक-पुं० गोत्रविशेषप्रवर्तके ऋषिभेदे, " थेरस्स णं अज्जवइरसेणस्स उक्कोसियगोत्तस्स" कल्प० ।

उक्कोसिया-उत्कर्षिका-स्त्री० उत्कर्षवत्याम्, पञ्चा० ८ विव० । उत्कृष्टायाम्, सू० प्र० १ पाहु० ।

उक्कच्छ-उक्ष-पुं० सम्बन्धे, न० । आ० म० प्र० । परिधानवस्त्रस्यैकदेशे, आह च निशीथचूर्णिकृत् । परिधानवत्थस्स अभितरसुसाए उवरिकालेणाभिहंता उक्खो भणइ एस संयतीनां भवति वृ० १ उ० । नि० चू० । अवसेकादि, सिक्ते, वाच० ।

उक्ख (क्खा) अ-उत्खात-न० उत्-खन्-क्त । आत्वम् । वा यत्योत्खातादावातः ८ । १ । ६७ इत्यनेनादेरकारस्यात्वविकल्पः । ऊर्ध्वमवदीर्णे, प्रा० ।

उक्खंभ-उत्तम्भ-पुं० उत्-स्तम्भ-घञ् उत्प्राबल्येन स्तम्भने, संथा० ।

उक्खंभिय-उत्तम्भिक-त्रि० उत् प्रावल्येन स्तम्भनमुत्तम्भः उत्तम्भ एव उत्तम्भिकः स्वार्थे इकण प्रत्ययः । अवष्टम्भनके; प्रतिस्तम्भनवहकादौ, उत्तभ्यते स्थिरीक्रियते जीवो मुक्तिकारणेषु यनेति पर्यन्ताराधने, "भणवेरिसस्स गणिओ संथारो केरिसे वओ गासे" संथा० ।

उक्खमक्खु-देशी-पुनः पुनः शब्दार्थे,उक्तं " उवक्खमक्खुत्ति वा लुओ लुओत्ति वा पुणो पुणो त्ति वा एगट्ठं" व्य० द्वि० १ उ० ।

उक्खणण-उत्खनन-न० उत्पाटने, प्रश्न० १ द्वा० ।

उक्खणिऊण-उत्खाय-अव्य० उत्-खन्-ल्यप् उत्पाट्येत्यर्थे, अप्पणो अच्छी जल्लीए उवक्खणिऊण सिवगस्स ढापति" नि० चू० १ उ० ।

उक्खण्णिय-उत्खर्ज्य-अव्य० कण्डूयनं कृत्वेत्यर्थे, आचा० २ श्रु० १ अ० ६ उ० ।

उक्खलग-उदूखल-न० (ओखली) इति प्रसिद्धे कण्डनोपकारिणि गृहोपकरणे, " को संयमो वमेहाए सुव्वंकखलगं च खारं गालणं च " सूत्र० १ श्रु० ४ अ० ।

उक्खलिया-उत्खलिका-स्त्री० स्थाल्याम्, उवक्खलिया थाली आ साधुणिमित्तं सा अहाकम्मिया" नि० चू० १ उ० ।

उक्खिवित्तु-उत्क्षिप्य-अव्य-उत् क्षिप् ल्यप् ऊर्ध्वं क्षिप्त्वेत्यर्थे, तं उक्खिवित्तु न णिक्खिवे आसएणकुए " दश० ५ अ० ।

उक्खा-उखा-स्त्री० स्थाल्याम्, पिं० । एगाओ उक्खातो परिए सिज्झमाणे पहाए एकस्माप्तिठरकात् गृहीत्वा कूरादिकम् आचा० २ श्रु० १ अ० १ उ० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उक्खित-उत्क्षिप्त-त्रि० सिक्ते, "चंदणोक्खित्तगाय सरीरे" सूत्र. २ श्रु० २ अ० ।

उत्क्षिप्त त्रि० उत् क्षिप्-क्त ऊर्ध्वमाकाशे क्षिप्ते, ज्ञा० १० अ० । उपाद्भुद्धृते, ज्ञा०१७ अ० । उत्पाटिते, आव० १ अ० । प्रथमतः समारभ्यमाणे गेयभेदे, रा० । जं० । उच्चाटिते च धुस्तूरे पुं० वाच० ।

उक्खित्तकण्णणास-उत्क्षिप्तकर्णनास-त्रि० ब० उत्पाटितकर्णनासिके, विपा० १ अ० ।

उक्खित्तचरग-उत्क्षिप्तचरक-पुं० स्वप्रयोजनाय पाकभाजनादुद्धृतं तदर्थमभिग्रहविशेषाच्चरति तद्गवेषणाय गच्छतीत्युत्क्षिप्तचरकः । स्था० ५ ठा० । दायकेन पूर्वमेव भाजनादुद्धृतस्य गवेषके, प्रतिग्रहविशेषधारिणि, ध० ३ अधि० । भिक्षाचरकभेदे, औप० । पं० व. ।

उक्खित्तणाय-उत्क्षिप्तज्ञात-न० मेघकुमारजीवेन हस्तिभवे वर्त्तमानेन यः पाद उत्क्षिप्तस्तेनोपलक्षितं मेघकुमारचरितमुत्क्षिप्तमेवोच्यते । उत्क्षिप्तमेव ज्ञातमुदाहरणं विवक्षितार्थसाधनमुत्क्षिप्तज्ञातम् । मेघकुमारचरितरूपे ज्ञाताधर्मकथायाः प्रथमाऽध्ययनोक्ते मेघकुमारचरिते, ज्ञातनायोऽस्येवं नायनीयो दयादिगुणवन्तः सहन्त एव देहकष्टमुत्क्षिप्तैकपादो मेघकुमारजीवो हस्ती वेति । एतदर्थाभिधायके ज्ञाताधर्मकथायाः प्रथमे ऽध्ययने च । ज्ञा० १ अ० । स० आव० । प्रश्न०

उक्खित्तणिक्खित्तचरय-उत्क्षिप्तनिक्षिप्तचरक-पुं० पाकभाजनादुत्क्षिप्य निक्षिप्तं तत्रवान्यत्र च स्थाने यत्तदुत्क्षिप्तनिक्षिप्तम् । अथवा उत्क्षिप्तं च निक्षिप्तं च यश्चरति स तथोच्यते अभिग्रहविशेषधारिणि भिक्षाचरके, औ० । सूत्र० ।

उक्खित्तपसिणवागरण-उत्क्षिप्तप्रश्नव्याकरण-त्रि० उत्क्षिप्तानीवोत्क्षिप्तानि अविस्तारिरूपाणि प्रच्छनीयत्वात्प्रश्नाव्याक्रियमाणत्वाच्च व्याकरणानि यानि तानि तथा । संक्षिप्तप्रश्नोत्तरेषु । भ० १६ श० ५ उ० ।

उक्खित्तपुव्ववसहि-उत्क्षिप्तपूर्ववसति-पुं०क०स० अस्यां वसत यूयमिति साधूनामादौ दर्शितायां वसतौ, आचा०२ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

उक्खित्तभत्त- उत्क्षिप्तभक्त न० पूज्यभक्ते, पूज्यभक्तमुत्क्षिप्तभक्तं पट्टकभक्तमेतान्येकार्थिकानि । बृ० ३ उ ० ।

उक्खित्तविवेग-उत्क्षिप्तविवेक-पुं० उत्क्षिप्तस्य शुष्कौदनादिभक्ते निक्षिप्तपूर्वस्याचामाम्लप्रत्याख्यानवतामयोग्यस्याद्रवविकृत्यादिद्रव्यस्य विवेको निःशेषतया पृथक्करणमुद्धरणमुत्क्षिप्तविवेकः । आचामाम्लादिप्रत्याख्यानानां भोक्तव्यद्रव्यस्याऽकल्पनीयद्रव्येण संस्पर्शे तदुद्धरणरूपे प्रत्याख्यानाकारे, । "आयंबिलं पच्चक्खाइ अन्नत्थणा भोगे णं सहसागारेणं लेवालेवेणं उक्खित्तविवेगेणं" पंचा० ५ विव० । ध० । आ० चू० ।

उक्खित्तय-उत्क्षिप्तक-न. उत् क्षिप्-क-ककारात्पूर्वं दीर्घत्वं प्राकृतत्वात् । प्रथमतः समारभ्यमाणे गेयादौ, जं० १ वक्ष० जी० । रा० । स्था० ।

उक्खिप्प--उत्क्षिप्य--अव्य० उत् क्षिप् ल्यप् "ऊर्ध्वं क्षिप्त्वेत्यर्थे उक्खिप्पपादं रीएज्जा" आचा २ श्रु २ अ ३ उ ।

उक्खिप्पमाण-उत्क्षिप्यमाण-त्रि० ऊर्ध्वं क्षिप्यमाणे, (उक्खिप्पमाणेहिं) प्रकीर्णैरुत्क्षिप्यमाणैरित्यर्थः । प्रश्न० ३४ द्वा० ।

उक्खिवंत-उत्क्षिपत्-त्रि० उत् क्षिप्-शतृ- । उत्क्षिपेर्गुलुगुञ्छोत्थंघाल्लत्थे, ८ । ४ । ४३ इत्यादिसूत्रस्य वैकल्पिकत्वाद् गुलुगुञ्छादयः प्रेरणे, प्रा० ।

उक्खिवणा-उत्क्षेपणा-स्त्री० उद्घाटनायां साधूनां संघाद्बहिःकरणे, " अच्छिद्दओ य उक्खवणा " बृ० १ उ० ।

उक्खुम-तुम्-धा० भेदे, तुदा० कुटा०पर. सक. सेट्. (तुडेस्तोडतुट्टखुट्टोक्खुडोल्लुक्कणिलुक्कलुक्कोल्लूराः ८ ।४। ११६। इति तुडेरुक्खुडादेशः उक्खुडइ तुडति प्रा० ।

उक्खेव-उत्क्षेप पुं० उत्-क्षिप्-घञ् उत्पाटने, ओ० कर्तरि अच् उत्क्षेपकारके, त्रि० वाच० प्रारम्भ वाक्ये, निर० ।

उपक्षेप-पुं. उपोद्घाते; "उक्खेवो तइयस्स" उपा० १अ. हस्तोत्पाटने, (उक्खेवेणं देंतिणिक्खावि उवणाति) व्य. ३ उ० ।

उक्खेवग--उत्क्षेपक--त्रि० उद्. क्षिप् ण्वुल् ऊर्ध्वप्रक्षेपे, उत्क्षेपाहारके चौरे च । वाच० वंशादलादिमये मुष्टिग्राह्यदण्डमध्यभागे, वायूदीरणके वस्तुनि, भ०९ श० ३३ उ० । ज्ञा० १ । प्रश्न० ८ ।

उक्खेवण--उत्क्षेपण--न० उत्-क्षिप् ल्युट् उत्खनने; समुद्धरणे, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । न्यायवैशेषिकप्रसिद्धे पञ्चानां कर्मणामन्यतमस्मिन्, तच्च यदूर्ध्वाधः प्रदेशाभ्यां संयोगविभागकारणं कर्मोत्पद्यते । यथा शरीरावयवे तत्सम्बन्धे वा मूर्तिमति मुसलादौ द्रव्ये ऊर्ध्वभाग्भिराकाशप्रदेशाद्यैः संयोगकारणमधोदिग्भागावच्छिन्नैश्च तैर्विभागकारणं प्रयत्नवशाद्यत्कर्म तदुत्क्षेपणमुच्यते । सम्म० ।

उग्गल्लफलग--उग्गल्लफलक-न० आर्यकप्रभृतीनां वेश्या समागते चम्पकपट्टादिफलके, व्य. ४ उ० ।

उग्गहिया--उद्गृहीता-त्रि० पञ्चम्यामेषणायाम, आचा० २ श्रु० १ अ. १० उ. ।

उग्ग-उद्-घट-धा. उद् घट चेष्टायाम, णि. उद् घटेरुग्गः ८ । ४ । ३३ । उत्पूर्वस्य घटेर्ण्यन्तस्य उग्ग इत्यादेशः । उग्गइ उद्घटयति । प्रा० ।

उग्र-पुं० उच्. रक् गश्चान्तादेशः । क्षत्रियाच्छूद्रायां शूद्रायामुत्पन्ने संकीर्णवर्णे, वाच० उग्रदण्डकारित्वादुग्रः कल्प० । आ० म० प्र० । आदिदेवावस्थापिते आरक्षवंशज क्षत्रियभेदे. ज्ञा० १ अ० । स्था० । आचा० । बृ० । कल्प० । अनु० । औ० भ० । दुष्टे, अतिउग्ग दंडणिज्जम्मे आयरिया उग्गा हुंतित्ति वुत्तं भवति नि० चू० । स्वभावत उदात्ते, भ० १० ४ उ० । प्रज्ञा० तीव्रे, तं० । अप्रधृष्ये, ज्ञा० १ अ० । रा० । चं० । संस्था० । उत्कटे, उत० २० अ० ।

उग्गकुल-उग्रकुल-न० ६ त. आरक्षिकाणां कुले, आचा० २ श्रु० १ अ० २ उ० ।

उग्गच्छ-उद्गत्य-अव्य० क्रमेण तत्रोद्गमनं कृत्वेत्यर्थे, भ० ५ श० १ उ० ।

उग्गगंध-उग्रगन्ध-पुं० उग्रः गन्धः पुष्पादावस्य चम्पके, कट्फले, अर्जकवृक्षे, लशुने, च । हिङ्गुनि, न० । उत्कटगन्धान्विते त्रि० । यवान्याम्, वचायाम्, अजमोदायां, च । स्त्री० टाप् मेदि० ।

उग्गतव–उग्रतपस्–त्रि० उग्रमप्रधृष्यं तपोऽनशनादि यस्य स तथा । रा० । वि० । ज्ञ० । तीव्रतपसि, संथा० । यदन्येन प्राकृतेन पुंसा न शक्यते चिन्तयितुमपि मनसा (तेन) विधिना तपसा युक्ते, रा० । उत्त० । स्था० । ज्ञा० । नि० ।

उग्गतेय–उग्रतेजस्–त्रि० ६ ब० । तीव्रप्रभावे, तीव्रविषे, "आसीविस उग्गतेयकप्पा" प्रश्न० १ सं० द्वा० ।

उग्गपव्वइय–उग्रप्रव्राजित–पुं० उग्राः सन्तः प्रव्रजिताः । दीक्षामाश्रितेषु, आदिदेवेनारक्षकत्वेन नियुक्तानां वंशजेषु, औ० ।

उग्गपुत्त–उग्रपुत्र–पुं० ६ त. उग्राणां पुत्राः । उग्राणां कुमारेषु, क्षत्रियजातिविशेषेषु, सूत्र० २ श्रु० १३ अ० भ० ॥

उग्गपुरिस–उग्रपुरुष–पुं० उग्रपुरुषविशेषे, स्था० । (व्याख्या पुरिसशब्दे-)

उग्गम–उद्गम–पुं० उद्गमनमुद्गमः पिण्डादेः प्रभवे,

तत्थुग्गमोपसूई, पभवो एमादि होंति एगट्ठा ।
सो पिंडस्सिह पगओ, तस्स य दोसा इमे होंति ॥

तत्रेत्युद्गमोत्पादनैषणासु मध्ये उद्गमनमुद्गमः । प्रसवनं प्रसूतिः । प्रभवनं प्रभवः (एमाइत्ति) एवमाद्यः आदिशब्दादुद्भवादिपरिग्रहः भवन्ति स्युरेकार्थाः । अनन्याभिधेयाः शब्दा इति गम्यम् (सोत्ति) स चोद्गमः सचेतनाचेतनमिश्रद्रव्यादिद्रव्यविषयत्वेन बहुविषयोपि सन् पिण्डस्य भैक्ष्यस्याधिकृतः प्रस्तुतः । इह पिण्डाधिकारे दोषा दूषणानि तस्य पिण्डोद्गमस्य इमे वक्ष्यमाणा भवन्ति वर्तन्ते । ये हि साध्वर्थं पाकस्थापनप्रकाशनादयो भक्तादिवस्तुनो भक्तस्थापितत्वप्रकटत्वादिरूपेण भवनलक्षणमुद्गमं दूषयन्ति ते उद्गमदोषा इति गाथार्थः । पंचा० १३ विव० । तत्र प्रथमत उद्गमस्य एकार्थिकानि नामानि नामादिकांश्च भेदान् प्रतिपादयति ॥

उग्गम उग्गोवण मग्गणाय एगट्ठियाणि एयाणि ।
नामं ठवणा दविए भावम्मि य उग्गमो होइ ॥

उद्गम उद्गोपना मार्गणा च एकार्थिकान्येतानि नामानि स च उद्गमश्चतुर्धा भवति तद्यथा (नामंति) नामोद्गमः यत् उद्गम इति नाम अथवा जीवस्य अजीवस्य वा यदुद्गम इति नाम स नामनामवतोरभेदोपचारात् । यद्वा नाम्ना उद्गमो नामोद्गम इति व्युत्पत्तेर्नामोद्गमः । स्थापनोद्गम उद्गमः स्थाप्यमानो द्रव्ये द्रव्यविषयो भावे भावविषयः । तत्र द्रव्योद्गमो द्विधा आगमतो नो आगमतश्च । नो आगमतोपि त्रिधा । ज्ञशरीरभव्यशरीरतद्व्यतिरिक्तभेदात् । तत्र आगमतो नो आगमतश्च ज्ञशरीरभव्यशरीररूपौ द्रव्यगवेषणावत् भावनीयौ । ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं तु द्रव्योद्गमम् ॥

तथा नो आगमतो भावोद्गमं च प्रतिपादयति ॥

दव्वम्मि लड्डुगाई, भावे तिविहोग्गमो मुणेयव्वो ॥
दंसणनाणचरित्ते, चरित्तुग्गमेणेत्थ अहिगारो ॥ ८३ ॥

द्रव्ये द्रव्यविषये उद्गमो लड्डुकादौ लड्डुकादिविषयो लड्डुकादेः संबन्धी वेदितव्यः । अत्रादिशब्दाज्ज्योतिरादिपरिग्रहः । तथा भावे भावविषये त्रिविधस्त्रिप्रकारो ज्ञातव्यः । तद्यथा दर्शने दर्शनविषयो ज्ञाने ज्ञानविषयश्चारित्रे चारित्रविषयः । अत्र तु चारित्रोद्गमेनाधिकारप्रयोजनम् चारित्रस्य प्रधानमोक्षाङ्गत्वात् । तथाहि ज्ञानदर्शने सती अपि न चारित्रमन्तरेण कर्ममलापगमाय प्रभवतः श्रेणिकादौ तयोपलम्भात् चारित्रं पुनरवश्यं ज्ञानदर्शनाविनाभावित्वरूपेणापि वाभिनवकर्मोपादाननिषेधपूर्वोपार्जितकर्मापगमकरणस्वरूपम् ततस्तत्प्रधानंमोक्षस्याङ्गं तत्प्रधानानुयायिन्यश्च प्रेक्षावतां प्रवृत्तयः । ततोत्र चारित्रोद्गमेन प्रयोजनम् । लड्डुकादेरित्यत्रादिशब्देन लब्धं ज्योतिरुद्गमादिरूपं द्रव्योद्गमं विवरीतुमाह ॥

जोइसतणोसहीणं,मेहरिणकराणमुग्गमो दव्वे ।
सो पुण जत्तो य जया, जहा य दव्वुग्गमो दव्वो ॥८३॥

ज्योतिषां चन्द्रसूर्यादीनां तृणानां दर्भाणामौषधीनां शाल्यादीनां जीमूतानां ऋणस्य उत्तमर्णा यदा तद्द्रव्यस्य कराणां राजदेयभागानाम् । उपलक्षणमेतत् । अन्येषामपि द्रव्याणां य उद्गमः स द्रव्यसंबन्धी वेदितव्यः । स पुनर्द्रव्योद्गमो यतो यस्मात्सकाशात्स यदा यस्मिन् काले यथा च येन प्रकारेण भवति तथा वाच्यः । तत्र ज्योतिषां मेघानां च आकाशादेशात् तृणानामौषधीनां च भूमेर्ऋणस्य व्यवहारादेः कराणां नृपतिनियुक्तपुरुषादेः तथा यदि ज्योतिषां मध्ये सूर्यस्य प्रभाते शेषाणां तु कस्यापि कस्यांचिद्वेलायां तृणादीनां प्रायः श्रावणादौ तथा यथेति ज्योतिषां मेघानां चाकाशे प्रसरणेन तृणानामौषधीनां च भूमीं स्फोटयित्वा ऊर्ध्वं निस्सरणेन ऋणस्य पञ्चकशतादिवर्द्धनरूपेण कराणां प्रतिवर्षं गृहस्य द्रम्मद्वयादिप्राप्तमित्येवंरूपेण । एवं शेषाणामपि द्रव्याणां यतो यदा यथा च यथासंभवमुद्गमो भावनीयः । इह प्राक् " दव्वम्मिलड्डुगाइ " इत्युक्तं तेन च लड्डुकप्रियकुमारकथानकं सूचितमतस्तदेवेदानीं गाथात्रयेणोपदर्शयति ।

वासहरा अणुजत्ता, अत्थाणी जोग्गकिड्डुकाले य ।
घडगसरावेसु कया उ, मोयगा लड्डुगपियस्स ॥८४॥
जोग्गा अजिण्णमारुय, निसग्गुब्भवो सुइसमुत्थो ।
आहारुग्गामचिंता, असुइ त्ति दुहा मलप्पभवो ॥८५॥
तस्सेवं वेरग्ग–ग्गमेण सम्मत्तनाणचरणाणं ।
जुगवंकमुग्गमो वा, केवलनाणुग्गमो जाउ ॥८६॥

वासगृहात् वासभवनात् अनुयात्रानिर्गमः । तत आस्थान्य योग्या क्रीडा सा व्यधीयत । ततः काले भोजनवेलायां तस्य लड्डुकप्रियस्य मोदकप्रियस्य कुमारस्य योग्या घटेषु सरावेषु च कृत्वा मोदका जनन्या प्रेषिताः । ते च परिजनेन सह स्वेच्छं तेन भुक्तास्ततो भूयोपि योग्यक्रीडानिरीक्षणासक्तचित्ततया तस्य रात्रौ जागरणभावतस्ते मोदका न जीर्णास्ततोऽजीर्णदोषप्रभावतोऽतीव पूतिगन्धिमारुतनिसर्गोऽभवत् । तत आहारोद्गमचिन्ता जाता । यथा त्रिसमुत्था घृतगुडकणिक्कासमुद्भवा एते मोदकास्ततः शुचिसमुत्थाः । सूत्रे च जातावेकवचनम् । केवलं द्विधा मलप्रभवोऽयं देहस्ततस्तत्संपर्कतोऽशुचयो जाता इत्येवं तस्य वैराग्योद्गमेन ज्ञानदर्शनचारित्राणां युगपत्क्रमेण वा उद्गमो जातस्ततः केवलज्ञानोद्गम इति गाथाक्षरार्थः । भावार्थस्तुकथानकादवसेयस्तच्चेदम् । श्रीस्थलकं नाम नगरं तत्र राजा भानुस्तस्य भार्या रुक्मिणी तयोः सरूपनामा तनयः स च यथासुखं पञ्चभिर्धात्रीभिः परिपाल्यमानः प्रथमसुरकुमार इवानेकसुजनहृदयाभिनन्दितं कुमारभावमधिरुरोह । ततः शुक्लपक्षचन्द्रबिम्बमिव प्रतिदिवसं कलाभिरभिवर्द्धमानः क्रमेण कमनीयकामिनीजनमनःप्रह्लादकारिणीं यौवनिकामधिजगाम । तस्मै च स्वभावत एव

रोचन्ते मोदकास्ततो लोके तस्य मोदकप्रिय इति नाम प्रसिद्धिमगमत्। स च कुमारोऽन्यदा वसन्तसमये वासभवनात्प्रातरुत्थाय आस्थानमण्डपिकायामाजगाम। तत्र च निजशरीरलावण्यिमापाकृतसुरसुन्दरीरूपाहङ्कारमनोहरविलासिनीजनगीतनृत्यादिकं परिभावयितुं प्रावर्त्तत। तत्र च स्थितस्य भोजनवेलायामागतायां भोजननिमित्तं जननी प्रधानसरावसंपुटेषु शेषपरिजननिमित्तं च घटेषु कृत्वा मोदकान् प्रेषितवती। ततस्तेन परिजनेन सह मोदका यथेच्छं बुभुजिरे। ते च रात्रावपि गीतनृत्यादिव्याक्षिप्तचित्ततया जागरणभावतो न जीर्णास्ततोऽजीर्णदोषप्रभावतोऽधोवातोऽतीव पूतिगन्धिर्निर्जगाम। तद्गन्धपुद्गलाश्च सर्वतः परिभ्रमन्तस्तन्नासिकां प्रविविशुः। ततस्तथारूपं पूतिगन्धमाघ्राय चिन्तयामास। यथामी मोदका घृतगुडकणिक्कादिनिष्पन्नास्ततः शुचिद्रव्यसमुत्था एवैते। केवलमयं यो देहो जननीशोणितजनकशुक्ररूपो द्विधा मलप्रभवत्वादशुचिरूपस्तत्संपर्कवशतोऽशुचिरूपो जातः। दृश्यन्ते च कर्पूरादयोऽपि पदार्थाः स्वरूपतः सुरभिगन्धयोऽपि देहसंपर्कतः क्षणमात्रेण दुरभिगन्धयो जायमानाः। क्षणान्तरे शरीरगन्धस्यैव पूत्यात्मकस्योपलम्भात् इत्थमशुचिरूपस्यानेकापायशतसंकुलस्य शरीरस्यापि कृते ये गृहमासाद्य नरकादिकुगतिविनिपातकारीणि पापकर्माणि सेवन्ते ते सचेतना अपि मोहमयनिद्रोपहतविवेकचेतनत्वादचेतना एव परमार्थतो वेदितव्याः। यदपि च तेषां शास्त्रादिपरिज्ञानं तदपि परमार्थतः शरीरायासफलम्। यस्मात्तदपि पापानुबन्धिकर्मोदयतस्तथाविधक्षायोपशमनिबन्धनत्वादशुभकर्मकार्यमेवेति तत्त्ववेदिनामुपेक्षास्पदम्। विद्वत्ता हि सा तत्त्ववेदिनां प्रशंसार्हा या यथावस्थितवस्तुविविधहेयोपादेयहानोपादानप्रवृत्तिफला यां तु सकलजन्माभ्यासप्रवृत्त्या कथमपि परिपाकमागतापि सती सदैव तथाविधपापकर्मोदयवशात् एकान्ताशुचिरूपेष्वपि युवतिजनवदनजघनवक्षोरुहादिशरीरावयवेषु रामणीयकव्यावर्णनफला सा इह लोकेऽपि शरीरायासफला परलोके च कुगतिविनिपातहेतुरित्युपेक्षणीया ये पुनः परमर्षयः सर्वदैव सर्वज्ञमतानुसारितत्त्वागमशास्त्राभ्यासतो विदितयथावस्थितहेयोपादेयवास्तवा इत्थं शरीरस्याशुचिरूपतां परिज्ञाय युवतिकलेवरेषु नाभिरज्यन्ते नापि कर्माणि स्वशरीरकृते पापानि समाचरन्ति किंतु शरीरादिनिस्पृहतया निरन्तरं सम्यक्शास्त्राभ्यासतो ज्ञानामृताम्भोधिनिमग्नाः समभिन्नशत्रवः परीषहादिभिरजिताः सकलकर्मनिर्मूलनाय यतन्ते धन्यास्ते तत्त्ववेदिनस्तानहं नमस्करोमि। तदनुष्ठितं च सर्वमिदानीमनुतिष्ठामि इत्येवं तस्य मोदकप्रियस्य कुमारस्य वैराग्योद्गमेन सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणामुद्गमो बभूव। ततः केवलज्ञानोद्गम इति तदेवमुक्तं मोदकप्रियकुमारकथानकम्। संप्रति यदुक्तं चारित्रोद्गमेनाधिकार इति तत्र चारित्रोद्गमेनाधिकारः शुद्धस्य उद्गमो नाशुद्धस्य। अशुद्धस्य मोक्षलक्षणकार्यसंपादकत्वायोगात् न खलु बीजमुपहतमङ्कुरं जनयति। सर्वत्राप्यनुपहतस्यैव कारणस्य कार्यजनकत्वात् चारित्रस्य च शुद्धौ कारणं द्विधा तद्यथा। आन्तरं बाह्यं च। ते द्वे अपि प्रतिपादयति।

दंसणनाणप्पभवं, चरणं सुद्धेसु तेसु तस्सुद्धी।
चरणेण कम्मसुद्धी, उग्गमसुद्धा चरणसुद्धी य॥

इह यतो ज्ञानदर्शनप्रभवं चारित्रं ततस्तयोः शुद्ध्योस्तस्य चारित्रस्य शुद्धिर्भवति नान्यथा। तस्मादवश्यं चारित्रशुद्धिनिमित्तं चारित्राणां सम्यग्ज्ञानसम्यग्दर्शने च यतितव्यम्। यतश्च निरन्तरं सद्गुरुचरणकमलपर्युपासनापुरस्सरं सर्वज्ञमतानुसारितत्त्वागमशास्त्राभ्यासकरणम्। एतेन चारित्रशुद्धेरान्तरं कारणमुक्तम्। अथ चारित्रशुद्ध्यापि किं प्रयोजनं येनेत्थं तच्छुद्धिरन्विष्यते। अत आह। "चरणेण कम्मसुद्धी" चरणेन विशुद्धेन कर्मणा ज्ञानावरणीयादिकस्य शुद्धिरपगमो भवति। तदपगमे चात्मनो यथावस्थितस्वरूपलाभात्मको मोक्षस्ततो मोक्षार्थिना चरणशुद्धिरपेक्ष्यते तथा न केवलयोरेव ज्ञानदर्शनयोः शुद्धौ चारित्रशुद्धिः किन्तूद्गमशुद्धौ च चारित्रशुद्धिरेतेन बाह्यं कारणमुक्तम्। ततश्चरणशुद्धिनिमित्तं सम्यग्दर्शनज्ञानवतापि नियमत उद्गमदोषपरिशुद्ध आहारो ग्राह्यः। ते च उद्गमदोषाः षोडश। तानेव नामतो निर्दिशति।

आहाकम्मुद्देसिय, पूइकम्मे य मीसजाए य।
ठवणा पाहुडियाए, पाओयरकीयपामिच्चे॥
परियट्टिए अभिहडे, उब्भिन्ने मालोहडे इ य।
अच्छिज्जे अणिसिट्ठे, अज्झोयरए य सोलसमे॥

(एतद्व्याख्या अहाकम्म शब्दे) दर्श०। पं०चू०। ध०। केचित्पञ्चदश मन्यन्ते ते चैवं व्याख्यानयन्ति ननु चामी षोडश उच्यन्ते "अज्झोयरओ मीसजायं च दोहिं पि एक्को चेव" भेद आधाकर्मादीनां व्याख्या अन्यत्र अहाकम्मादिशब्देषु विशोधिकोट्यविशोधिकोटिविभागः।

संप्रत्येतेषामेव विभागमाह॥

एसो सोलस भेओ, दुहा कीरइ उग्गमो।
एगा विसोहिकोडी, अविसोही उ वावए॥

षोडशभेद उद्गमः सामान्येन द्विधा तद्यथा एका विशोधिकोटिः एको भेदो विशोधिकोटिरूपः। अपरा चाविशोधिकोटिरविशोधिकोटिरूपः। द्वितीयो भेद इत्यर्थः। तत्र यस्मिन् दोषदुष्टे भक्ते तावन्मात्रे अपनीते सति शेषं कल्प्यते स दोषो विशोधिकोटिः शेषस्त्वविशोधिकोटिः।

तत्र प्रथमतोऽविशोधिकोटिमाह।

आहाकम्मुद्देसिय, चरमतिगं पूइमीसजाए य।
बायरपाहुडिया वि य, अज्झोयरए चरिमदुगं॥

आधाकर्मप्रभेदमौद्देशिकस्य विभागौद्देशिकस्यान्त्यभेदत्रयं तथा पूतिभक्तं पानरूपं मिश्रजातं पाषण्डिगृहमिश्ररूपं साधुगृहमिश्ररूपम्। बादराप्राभृतिका अध्यवपूरकस्य च चरमद्विकं स्वगृहपाषण्डिमिश्रस्वगृहसाधुरूपम्। एते उद्गमदोषा अविशोधिकोटिरूपाः अनया चाविशोधिकोट्या स्पृष्टं शुद्धं भक्तम्।

यद्दोषदुष्टं भवति तद्दोषमाह।

उग्गमकोडीअवयव-लेवालेवे य अकयए कप्पे-
कंजिय आयामगचाउ, लेयसंसट्ठपूईओ

उद्गमकोट्या उद्गमदोषरूपया अविशोधिकोट्या अवयवेन शुष्कसिक्थादिना तथा लेपेन तक्रादिना अलेपेन वल्लचनकादिना संसृष्टं तद्भक्तं तस्मिन्नुज्झितेऽपि कृते अकृते कल्पे। अकृतकल्पत्रये इत्यर्थः पात्रे यत्पश्चात्परिगृह्यते तत्पूतिमवगन्तव्यम्। इह कश्चित् मतिदौर्बल्यादित्थं विकल्पते। यथा तदेव साधूनाधाय निर्वर्तितं तदेवैकमोदनमाधाकर्म भवति न शेषमवश्रावणकाञ्जिकादि तत्संसृष्टं पूति न भवतीति ततस्तदभिप्रायनिराकरणार्थमाह (कंजिएत्यादि) इह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साध्वर्थमोदने निर्वर्त्यमाने यत्तत्सकाञ्जिकादि तदप्याधाकर्मादि तदवयवरूपत्वात् । ततः काञ्जिकेन आयामेन अवश्रावणेन वा उष्णोदकेन च यत्संसृष्टं तदपि पूतिर्भवति । एतदेव रूपकत्रयेण भाष्यकृत् व्याख्यानयति ॥

सुक्केण वि जं छिक्कं तु, असुइणा धोवए जहा लोए ।
इह सुक्केण वि छिक्कं, धोवइ कम्मेण भाणं तु ।
लेवालेवत्ति जं वुत्तं, जं पि दव्वमलेवडं ।
तं पि घेत्तूण कप्पंति, तक्काकिइमलेवडं ।
आहाइ जं कीरइ तं तु कम्मं, वज्जेहि उप्पन्नममग्गणं व ।
सौवीर विस्सामणतंडुलोया, कम्मंति तो तग्गहणं करेति ।

सुगमं नवरम् । आद्यरूपकेणावयव इति पदं व्याख्यातं द्वितीयरूपकेण लेवालेवईत्ति तत्रायं भावार्थः यद्यपि वल्लचनकादि द्रव्यमलेपकृत् तदपि प्रथममनाभोगादिकरणतः पात्रे गृहीत्वा पश्चात्कथमपि परिज्ञाते परित्यज्य पात्रं कल्पयंति । कल्पत्रयेण प्रक्षालयंति । किं पुनस्तक्रादिकं लेपकृद् गृहीत्वा तत्र सुतरां कल्पत्रयेण प्रक्षालनं कर्त्तव्यमिति परिज्ञापनार्थं । लेपालेप इत्युक्तम् । तथा यदेव मुख्यवृत्त्या साधुनाथाय क्रियते तदेवाधाकर्मनान्यदिति बुद्ध्या शिष्या वर्जयिष्यन्ति ओदनमेकैकं केवलं न शेषं तन्दुलोदकादिकं ततो गुरवो भद्रबाहुस्वामिनः सौवीरां विश्रामणतन्दुलोदकान्यप्याधाकर्मेति परिज्ञापनार्थं तद्ग्रहणं सौवीरादिग्रहणं विशेषतः कुर्वन्ति । तदेवं शोधिकोटिरुक्ता ।

संप्रति विशोधिकोटिमाह ।

सेसा विसोहिकोडी, भत्तं पाणं विगिंच जहसत्तिं ।
अणलक्खिय मीसदव्वे, सव्वविवेगे य वा सुद्धो ॥

शेषा औद्देशिकं नवविधमपि च विभागौद्देशिकमुपकरणं पूतिमिश्रस्याद्यो भेदः स्थापना सूक्ष्मप्राभृतिका प्रादुष्करणं क्रीतं प्रामित्यकं परिवर्त्तितमभ्याहृतमुद्भिन्नं मालापहृतमाच्छेद्यमनिसृष्टमध्यवपूरकस्याद्यो भेदश्चेत्येवंरूपाणि विशोधिकोटिः विशुध्यति शेषं शुद्धं भक्तम् यस्मिन्स्तूत्सृष्टे यद्वा विशुद्ध्यति पात्रमकृतकल्पत्रयमपि यस्मिन्नुज्झिते सा विशोधिः सा चासौ कोटिश्च भेदश्च विशोधिकोटिः । उक्तं च "उद्देसियम्मि नवगं, उवगरणं जं च पूइयं होइ, । जावंति य मीसगयं च, अज्झोयरए पढमपयं । परियट्टिए अभिहडे, उब्भिन्ने मालोहडेई य अच्छिज्जे अणिसट्ठे, पाउयरकीयपामिच्चे । सुहमा पाहुडिया वि य, ठवियगपिंडो य जो भवे दुविहो । सव्वोविएसरासी, विसोहिकोडी मुणेयव्वो । अत्र विधिमाह (विगिंच जहसत्ति) अनया विशोधिकोट्या यत्संसृष्टमशं पानं वा तद्यथाशक्ति विगिंच परित्यज । इयमत्र भावना । भिक्षामटता पूर्वं पात्रे शुद्धं भक्तं यस्मिन्नेव तत्रैवानाभोगादिकरणवशतो विशोधिकोटिदोषं गृहीतं पश्चाच्च कथमपि ज्ञातं यथैतद्विवक्षितं विशोधिकोटिदोषदुष्टं मया गृहीतमिति ततो यदि तेन विनापि निर्वहति तर्हि सकलमपि तद्विधिना परित्याजयति, अथ न निर्वहति तर्हि यदेव विशोधिकोटिदोषदुष्टं तदेव तावन्मात्रं सम्यक् परिज्ञाय त्यजति । पुनरलक्षितेन सदृशवर्णगन्धादितया पृथक् परिज्ञातुमशक्येन मिश्रितं भवति । यद्वा द्रव्येण भक्तादिना अन्यत् भक्तादि तदा सर्वस्यापि तस्याविवेकः कृते च सर्वात्मना विवेके यद्यपि केचित्सूक्ष्मा अवयवा लग्ना भवन्ति यद्यपि तत्र पात्रे ऽकृतकल्पे ऽप्यन्यत्परिगृह्णन् शुद्धो यतिस्त्यक्तभक्तादेर्विशोधिकोटित्वात् । विवेकश्चतुर्धा भवति । तद्यथा द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च । तथाचाह ॥

दव्वाइओ विवेगो, दव्वे जं जं जहिं खित्ते ।
काले अकालहीणं, असढो जं पस्सइ भावो ॥

द्रव्यादिको द्रव्यक्षेत्रकालभावविषयो विवेकः तत्र यद्द्रव्यं परित्यजति स द्रव्यविवेकः । तथा परित्याज्यं यत्र परित्यज्यते स क्षेत्रविवेकः क्षेत्रविकः क्षेत्रविवेकः इति व्युत्पत्तेः । तथा यद्विशोधिकोटिदोषदुष्टमकालहीनं शीघ्रं परित्यजति एष कालतो विवेकः । इह यदेव दोषदुष्टं भक्तादिपरिज्ञातं तदेव तत्कालविलम्बाभावेन परित्यक्तव्यम् । परित्यागबुद्ध्या वा पृथक् भिन्ने स्थाने कर्तव्यमन्यथा भावतस्तत्परिग्रहात्संयमहानिप्रसक्तेः । तत उक्तमकालहीनमिति तथा यः असठो ऽरक्तद्विष्टः सन् दोषदुष्टं पश्यति दृष्ट्वा वा कालहीनं शीघ्रं परित्यजति स भावे भावतो विवेकः । इह निर्वाहे सति विशोधिकोटिदोषसन्मिश्रं सकलमपि परित्यक्तम् । अनिर्वाहे तु तावन्मात्रं तत्र विधिमुपदर्शयितुकामः प्रथमतश्चतुर्भङ्गिकामाह ।

सुक्कोल्लसरिसपाए, असरिसपाए य एत्थ चउभंगो ।
तुल्ले तुल्लनिवाए, तत्थ दुवे दुल्लतुल्लाउ ॥

अत्र शुष्कस्य आर्द्रस्य च सदृशे समाने ऽन्यस्मिन् वस्तुनि मध्ये पाते सति तथा ऽसदृशे असमाने ऽन्यस्मिन् वस्तुनि मध्ये पाते सति चतुर्भङ्गी भवति । सूत्रे च पुंस्त्वनिर्देश आर्षत्वात् । चत्वारो भङ्गा भवन्तीत्यर्थः ते चामी । शुष्के शुष्कं पतितं, शुष्के आर्द्रम्, आर्द्रे शुष्कम्, आर्द्रे, आर्द्रमिति । तत्र येन २ पदेन यौ यौ भङ्गौ लब्धौ तौ तौ तथा दर्शयति (तत्थ त्ति) तत्र तुल्ये समाने सति अन्यस्मिन् वस्तुनि मध्ये तुल्यनिपाते सति चतुर्भङ्गी सदृशस्य वस्तुनः प्रक्षेपे द्वौ प्रथमचतुर्थरूपौ भङ्गौ लब्धौ तौ च " सुक्कोल्लसरिसपाए " इत्यनेन पदेन सूचितौ । तथा द्वौ भङ्गौ द्वितीयतृतीय रूपौ । अतुल्यात् विसदृशत्वात् प्रक्षिप्यमाणौ लब्धौ । तौ च "असरिसपाए य" इत्यनेन पदेनोक्तौ तदेवं चतुर्भङ्गिकामभिधाय सप्रत्ययनैवोद्धरणविधिमाह ।

सुक्के सुक्कं पडियं, विगिंचिउं होइ तं सुहं पढमे ।
बीयंमि दव्वं छोढुं, गालंति दव्वं करं दाउं ॥
तइयंमि करं छोढुं, उल्लिंचइ उयणाइ जं तरइ ।
दुल्लहदव्वं चरिमे, तत्तियमेत्तं विगिंचंति ।

शुष्के वल्लचनकादौ मध्ये यत् शुष्कं वल्लचनकादि पतितं तत्सुखं जलादिकमनन्तरेण "विगिंचिउं होइ" । परित्यक्तुं भवति । परित्याज्यं भवतीत्यर्थः । एष प्रथमो भङ्गः । तथा द्वितीयो भङ्गः तथा द्वितीये भङ्गे शुष्के वल्लचनकादौ मध्ये आर्द्रे तीमनादिविशोधिकोटिदोषवत्पतितमित्येवंरूपे द्रवं काञ्जिकादि तत्र मध्ये ऽपसृतं प्रक्षिप्य पश्चात्पात्रमवनम्य पात्रकर्णैकदेशे च शुद्धभक्तपानरक्षणार्थं करं च दत्त्वा सर्वं द्रवं गालयन्ति । तथा तृतीये शुद्धम् । आर्द्रे तीमनादौ मध्ये पतितं शुष्कतरं वल्लचनकादिरूपमोदनमित्येवंरूपे तत्र तीमनादौ मध्ये करं हस्तं प्रक्षिप्य ओदनादि यद् यावन्मात्रं शक्नोति तावन्मात्रमशठः सन् उल्लिञ्चति आकर्षति ततः शेषं तीमनादिकं लभते । तथा चरमे आर्द्रे आर्द्रे पतितमित्येवंरूपे यदि तद्द्रव्यं दुर्लभमन्यत्र न प्राप्यते तत्र उद्देशतस्तावन्मात्रं परित्यजन्ति । तथाचाह ।

संथरे सव्वमुज्झंति, चउभंगो असंथरे ।
असढो सुज्झई जेसु, मायावी जेसु वज्झई ॥

संस्तरे निर्वाहे सति सर्वमपि पात्रे स्थितं विशोधिकोटिसंबद्धमुज्झति । असंस्तरे अनिर्वाहे पुनश्चतुर्भङ्गी चत्वारोऽन्तरोक्ता भङ्गाः । सूत्रे च पुंस्त्वनिर्देश आर्षत्वात् । कथंभूतास्ते भङ्गा इत्याह ॥ येषु भङ्गेषु असठोऽरक्तद्विष्टः सन् वर्त्तमानः शुद्ध्यति शुद्धमापद्यते । मायावी च येषु बध्यते तदेवं विशोधिरूपं कोटिद्वयं सप्रपञ्चमुक्तमिदानीं तदेवोपसंहारव्याजेन संक्षेपत आह ।

कोडीकरणं दुविहं, उग्गमकोडी विसोहिकोडी य ।
उग्गमकोडीछक्कं, विसोहिकोडी अणेगविहा ॥

कोडीकरणं दुविहं द्विप्रकारं द्विधा कोटिरित्यर्थः तद्यथा उद्गमकोटिर्विशोधिकोटिश्च । तत्रोद्गमकोटिषट्कमाधाकर्मिकौद्देशिकान्त्यतो दानुकादिषड्भेदा । विशोधिकोटिः पुनरनेकविधा । औद्देशिकादिरूपा । संप्रत्यन्यथाकोटीः प्रतिपादयति

नव चेव अट्ठारसगं, सत्तावीसा तहेव चउपन्ना ।
नउइ दो चेव सयाउ, सत्तरा होइ कोडीणं ॥

प्रथमतः कोटयो नव भवन्ति । तद्यथा स्वयं हननमन्येन घातनमपरेण हन्यमानस्यानुमोदनम् । तथा स्वयं पचनमन्येन पाचनं तत्परेण पच्यमानस्यानुमोदनं तथा स्वयं करणम् अन्येन कारणं करणपरेण क्रियमाणस्यानुमोदनम् । इहाद्याः षट् विशोधिकोटयोऽनियमास्तु तिस्रो विशोधिकोटयः । एता अपि नवकोटीः कोपि रागेण सेवते कोपि द्वेषेण ततो द्विकेन गुणिता अष्टादश भवन्ति । अथवा एवं ताः कोऽपि मिथ्यादृष्टिः कुशास्त्रसंपर्कसमुत्थवासनावसतो निःशङ्कं सेवते । कोपि सम्यग्दृष्टिः सन् विरतोऽप्यनाभोगादिकारणतोऽपरिज्ञानतः कोपि पुनः सम्यग्दृष्टिरपि सन् अविरतत्वेन गार्हस्थ्यमवलम्बमानः ततो मिथ्यात्वादिरूपेण त्रिकेण नवगुणितां सप्तविंशतिर्भवति । रागद्वेषौ त्वत्र पृथग्विवक्ष्येते यदा पृथग्विवक्ष्येते तदा ताभ्यां सप्तविंशतिर्गुणिता चतुःपञ्चाशद्भवति । तथा तथैव नव कोटयः कदाचित् पुष्टमालम्बनमधिकृत्य दशविधक्षान्त्यादिधर्मपरिपालनार्थं सेव्यन्ते । यथा दुर्भिक्षे । यदा तु पृथक् विवक्ष्येते तदा ताभ्यां सप्तविंशतिर्गुणिता कान्तारे वान्येन फलादिना ऽभ्यवहृते नाहं देहं धृत्वा क्षान्तिमार्दवार्जवं यच्च मास्य पालयिष्यामीति (हंतीति) एवमन्येन घातनाद्यपि भावनीयम् । ततो नव दशभिर्गुणिता जाता नवतिः । इयं च सामान्यवृत्तेः चारित्रनिमित्ता केचित्पुनश्चारित्रनिमित्ता विशिष्टज्ञानलाभसंभवनिमित्ता च यथास्मिन् कान्तारादावनेन फलादिना ऽभ्यवहृतेन देहमहं धृत्वा क्षान्त्यादिकं पालयिष्यामि प्रभूतानि च शास्त्राण्यधिष्ये इति (हंतीत्यादि) एषा च ज्ञानस्य प्राधान्यविवक्षणात् ज्ञाननिमित्ता भण्यते । केचित् पुनश्चारित्रनिमित्ता दर्शनस्थिरीकरणहेतुशास्त्रपरिज्ञाननिमित्तां च यथाऽस्मिन् कान्तारादावनेन फलादिनाभ्यवहृतेन देहं परिपाल्य क्षान्त्यादिकं पालयिष्यामि दर्शनं च निर्मलं विधास्ये इति (हंतीत्यादि) एषा च दर्शनस्य प्राधान्यविवक्षणाद्दर्शननिमित्ताभिधीयते । तत एवंप्रकारा नवतिरिति त्रिभिर्नवतिर्गुण्यते ततो द्वे शते सप्तत्यधिके कोटीनां भवति । उक्तंच "रागाइ मिच्छाइ रागाई समणधम्म नाणाई । नव नव सत्तावीसा, नवन उईए उ गुणेकारा" या तु दर्शनस्थिरीकरणार्थं प्रभूतशेषशास्त्रावगाहनार्थं चारित्रार्थं च सेव्यते सा सामान्यतश्चारित्रनिमित्तायामन्तर्भाव्यते ततोऽतस्तत्रोक्तभेदसंख्यानियमव्याघातः । संप्रत्युद्गमद्वारदोषाणां वक्ष्यमाणोत्पादनाद्वारदोषाणां च यतः संभवस्तदुत्थितान् वैवक्त्येनाह ।

सोलस उग्गमदोसे, गिहिणउ समुट्ठिए वियाणाहि ।
उप्पायणा यदोसे साहू उ समुट्ठिओ जाण ॥

एतान् अनन्तरोक्तान् षोडशसंख्यान् उद्गमदोषान् गृहिणः सकाशादुत्थितान् विजानीहि । तथा ह्याधाकर्मादिदोषदुष्टं भक्तादिगृहस्थैरेव क्रियते ये तु उत्पादनाया दोषा वक्ष्यमाणास्तान् साधुतः साधोः सकाशादुत्थितान् जानीहि । धात्रीत्वादीनां साधुभिरेव क्रियमाणत्वात् । तदेवमुक्तमुद्गमद्वारम् । पिं० । पञ्चा० । इहाधाकर्म्म औद्देसिकचरमभेदत्रयम् । आहारादतिमिश्रजातान्त्यभेदद्वयं बादरप्राभृतिका अध्यवपूर्विकान्त्यभेदद्वयं चाविशोध्यन्ते कोटिं पुरीषलवेनेव तदवयवेनापि स्पृष्टं सर्व्वमाहरतोऽप्यविशुद्धकोटयः । तत्संपृक्तं चाभ्यादिसंस्तरे साधवः सर्वं त्यजन्ति । असंस्तरे तु विविच्य तदेव त्यजन्ति घृतादिकमपि तावन्मात्रमेव त्यजन्ति शेषं यद्यपि तदवयवयोगस्तथापि शुद्धत्वमिति । जीत० । प्रव० । स्था० ।

उग्गमं से य पुच्छेज्जा, कस्सट्ठा केण वा कडं ।
सोच्चा निस्संकियं सुद्धं, पडिगाहिज्ज संजए ॥

उद्गमं तत्प्रसूतिरूपं (से) तस्य शङ्कितस्याशनादेः पृच्छेत् तत्स्वामिनं कर्मकरं वा यथा कस्यार्थमेतत्केन वा कृतमिति श्रुत्वा तद्वचनं न भवदर्थं किंत्वन्यार्थमित्येवंभूतं निःशङ्कितं शुद्धं सत् ऋजुत्वादिभावगत्या प्रतिगृह्णीयात्संयतः विपर्ययग्रहणे दोषादिति सूत्रार्थः । तथा " असणं पाणगं वावि खाइमं साइमं तहा । पुप्फेसु होज्जउम्मीसं बीएसु हरिएसु वा " दश० ५ अ० ध० ।

षोडशानामुद्गमदोषाणां प्रायश्चित्तमभिधित्सुराह ।

गुरुगा आइ य चरमातिग, मीसवायरसपच्चवायहडे ।
कडपूइए य गुरुगो, अज्झोयरए य चरमदुगे ॥

आधाकर्म्म गृह्णतः प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः (चरमातियत्ति) औद्देशिकं द्विविधमोघेन विभागेन च । तत्र विभागतो द्वादशविधं तद्यथा उद्दिष्टं कृतं कर्म्म च । उद्दिष्टं चतुर्विधमौद्देशिकं समुद्देशिकमादेशिकं समादेशिकम् । कृतमपि चतुर्विधं तद्यथा उद्देशकृतं समुद्देशकृतमादेशकृतं समादेशकृतं च । कर्मापि चतुःप्रकारं तद्यथा उद्देशकर्म समुद्देशकर्म आदेशकर्म समादेशकर्म च । त्रयचतुष्कका द्वादश इह यावन्तः केचन भिक्षाचराः समागच्छन्ति तावतः सर्वान् उद्दिश्य यत् क्रियते तदौद्देशिकमुच्यते । पाषण्डिन उद्दिश्य क्रियमाणं समुद्देशं श्रमणानुद्दिश्यादेशं निर्ग्रन्थानधिकृत्य समादेशम् । उक्तंच " जावंति य उद्देसो, पासंडीणं भवे समुद्देसो । समणाणं आदेसो, निग्गंथाणं समादेसो " एतस्मिन् द्वादशविधे विभागोद्देशके यच्चरमं त्रिकं समुद्देशकर्म आदेशकर्म समादेशकर्म च तत्र गृह्यमाणे प्रत्येकं चत्वारो गुरुकास्तपःकालविशेषिताः (मीसंति) मिश्रजातं त्रिविधं यावन्तिकमिश्रं पाषण्डिकमिश्रं स्वगृहमिश्रं च । तत्र पाषण्डिकमिश्रे स्वगृहमिश्रे च प्रत्येकं चत्वारो गुरुकास्तपः कालगुरवः (बायरत्ति) द्विविधा प्राभृतिका सूक्ष्मा बादरा च तत्र बादरायां गृह्यमाणायां चत्वारो गुरुकाः (सपच्चवायाहडेत्ति) यत्र यत्र ग्रामादेः सप्रत्यपाय-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मभ्याहृतं तत्र तत्र चत्वारो गुरुकाः । तदेव येषूक्तम भेदेषु गुरुकास्ते उक्ताः । संप्रति येषु मासगुरु तान् प्रतिपादयति (कम्मयइएय इत्यादि) कृते औद्देशिके चतुःप्रकारेऽपि प्रत्येकं मासगुरुकं तपः कालविशेषितम् । तद्यथा यावन्तिके मासगुरु समुद्देशकृते तपोगुरुकं मासगुरु, आदेशकृते कालगुरुकं मासगुरु. समादेशकृते मासगुरु द्वाभ्यां गुरुकं तपोगुरुकं कालगुरुकं च (पूतिएत्ति) भावपूतिकं द्विविधं सूक्ष्मं बादरं च । तत्र सूक्ष्मे नास्ति प्रायश्चित्तं बादरं द्विविधम् उपकरणे भक्तपाने च । अथ भक्तपानपूतिकं मासगुरु (अज्झोयरएय चरम कुगसि) अध्यवपूरकं त्रिविधं तद्यथा यावन्तिकमध्यवपूरकं पाषण्डाध्यवपूरकं स्वगृहाध्यवपूरकं च । तत्र पाषण्डाध्यवपूरके स्वगृहाध्यवपूरके च प्रत्येकं मासगुरु उक्तानि गुरुकप्रायश्चित्तान्यधुना लघुकप्रायश्चित्तान्यभिधित्सुराह ।

ओहविभागुद्देसे, चिरठविए पागडे य उवगरणे ।
लोउत्तरपामिच्चे, परियट्टियकाय पर भावे ॥
सग्गामभिहडम्मि विजहन्न, जावंति आयरे लहुओ ।
इत्तरठविए सुहुमा, पणगं लहुगा य सेसेसु ॥

ओघौद्देशिके मासलघु, विभागौद्देशिके उद्देसे मासलघु, समुद्देशे मासलघु तपो गुरु आदेशे मासलघु कालगुरु, समादेशे मासलघु । द्वाभ्यां गुरु । स्थापितं द्विविधं चिरस्थापितमित्वरस्थापितं च । तत्र चिरस्थापिते मासलघु, प्रादुष्करणं प्रकाशकरणम् । तत्र प्रगटकरणे मासलघु, उपकरणपूतिके मासलघु, प्रामित्यं द्विविधं, लौकिकं लोकोत्तरिकं च । लोकोत्तरिके मासलघु । परिवर्त्तितमपि द्विधा लौकिकं लोकोत्तरिकं च । तत्र लोकोत्तरिके परिवर्तिते मासलघु । क्रीतं द्विविधम् । द्रव्यक्रीतं भावक्रीतं च । तत्र द्रव्यक्रीतं द्विविधम् आत्मद्रव्यक्रीतं परद्रव्यक्रीतं च । भावक्रीतमपि द्विधा आत्मभावक्रीतं परभावक्रीतं च तत्र परभावक्रीते मासलघु स्वग्रामाभ्याहृते मासलघु (गंठित्ति) ग्रन्थिपिहितमुच्यते । यत्र गुरुघृतादिभाजनमुखं पोतेन चर्मणा वा स्थगयित्वा दवरकेणोपरि ग्रन्थिर्दीयते ग्रन्थिसहिता मुद्रा वा तदुपचाराद् ग्रन्थिरित्यर्थः तस्मिन्नुद्भिद्यमाने मासलघु मालापहृतं त्रिविधं जघन्यमुत्कृष्टं च तत्र मालापहृते मासलघु तथा यावन्तिकेऽध्यवपूरके मासलघु तदेवं यत्र मासलघुत्वास्थानमुक्तमिदानीं ययोः पञ्चरात्रिंदिवानि ते उच्येते (इत्तरठविय इत्यादि) इत्वरस्थापिते पञ्चरात्रिंदिवानि सूक्ष्मप्राभृतिकायामपि पञ्चरात्रिंदिवानि (लहुकाय सेसेसुत्ति) येऽन्ये उद्गमदोषास्तेषु सर्वेष्वपि प्रत्येकं चत्वारो लघुकास्तद्यथा । औद्देशिके कर्मणि यावन्तिके १ मिश्रजात २ प्रकाशकरणे ३ आत्मद्रव्यक्रीते ४ परद्रव्यक्रीते ५ आत्मभावक्रीते लौकिके प्रामित्ये ७ लौकिके परिवर्तिते ८ परग्रामाभ्याहृतनिःप्रत्यपाये ९ पिहितोद्भिन्ने १० कपाटोद्भिन्ने ११ उत्कृष्टमालापहृते १२ अच्छेद्ये १३ अनिसृष्टे १४ एतेषु चतुर्दशसु स्थानेषु चत्वारो लघुकाः बृ० १ उ० । जीतकल्पे तु यथायथमाचाम्लं पुरिमार्द्धनिर्विकृतिकं वा प्रायश्चित्तम् ।

उद्देसियचरिमतिगे, कम्मेपासंडसघरमीसे य ।
बायरपाहुडियाए, सपच्चवयाहडे लोभे ॥
अयरं अणंत निक्खित्तं, पिहिय साहय मीसियाईसु ।
संयोग सयंगाले, दुविहनिमित्ते य खमणं तु ॥

औद्देशिकचरमत्रिके कर्मोद्देशकर्मसमादेशलक्षणे कर्मणि आधाकर्माख्यपाषण्डमिश्रेषु गृहामिश्रे च सुष्ठुतिशयेन गृहाः सुगृहा अनगारास्तैःसह मिश्रजाते इत्यर्थः । बादरप्राभृतिकायां सप्रत्यपाये परग्रामात् हृते लोभपिण्डे अपूरतिरोव्यवधाने नितरां तिरोव्यवहितमनन्तरितमित्यर्थः तच्चानन्तरितमनन्तरकाये निक्षिप्तम् । तथा संहृतमनन्तरकायेन पिहितम् तथा मिश्रितम् आदिग्रहणादनन्तरकायापरिणतमनन्तरकायगर्द्दितं च । तेषु अन्तरेन्तरनिक्षिप्तसंहृतपिहितमिश्रितादिषु संयोगसाङ्गारयोः सर्वप्रकारयोः संयोगसाङ्गारान्वितभोजने च द्विविधनिमित्ते च वर्तमाननिमित्तं भविष्यति । निमित्तकथने क्षपणं तु इह सूत्रे धिक् पदमधिकमक्षरं काधिकार्थं संसूचकं भवति । अत्र च तुःशब्दोऽधिकस्तेन गुर्वचित्तापिहिते गुरुसंहृते गुरुणि शिलापुत्रकादिके दर्वीकरोटिकादेरुपरि भोगासंहृते उत्क्षेपोत्सारिते गलत्कुष्ठपादुकारूढयोश्चेति सूच्यते एतेषु सर्वेषु क्षपणं प्रायश्चित्तमित्यर्थः । अध्यवपूरकादिदोषप्रायश्चित्त माह ।

अज्झोयरकम्मपूइय, मायाणं ते परंपरगए ।
मीसाएं ताणंतर गयाइं एगमासणयं ॥

सूचकत्वात् सूत्रस्य (अज्झोयरत्ति) अध्यवपूरकान्त्यभेदद्वये (कम्मत्ति) कृतोद्देशकृतसमुद्देसकृतदेशाख्ये विभागौद्देशिकद्वितीयभेदचतुष्टये (पूइयत्ति) भक्तपानपूतिकर्मणि मायायां मायापिण्डे (अणंतेत्ति) एकारो लाक्षणिकः (परंपगयत्ति) गतशब्दो निक्षिप्तवाची चकारात्पिहितादिग्रहः । ततश्च सचित्तोनन्तकायपरंपरानिक्षिप्तपिहितसंहृतगर्द्दितं चेत्यर्थः । तथा मिश्रानन्तानतन्तरगतादिके च अत्रापि गतशब्दो निक्षिप्तार्थः आदिशब्दात्पिहितादिग्रहस्तेन सचित्ताचित्तरूपानन्तकायादित्रिहितनिक्षिप्तपिहितसंहृतोन्मिश्रापरिणतगर्द्दिते इत्यर्थः (एगमासणयति) एकाशनं प्रायश्चित्तम् । इदानीं येषु पुरिमार्द्धप्रायश्चित्तं तान् गाथात्रयेणाह ॥

ओहविभागुद्देसो-वगरणपूइय ठवियपागडिए ॥
लोगुत्तरपरियट्टिय, पमेय परभावकीए व ॥
सग्गामाहडदद्दर-जहन्नमालोहज्झरेपढमे ॥
सुहुमितिगिच्छासंथव, तिगम विनयदायमोवहए ॥
पत्तय परंपरठविय-पिहियं मीसे अणंतराईसु ॥
पुरिमड्ढं संकाए, जं संकइ तं समावज्जे ॥

सामान्यौद्देशिके विभागोद्देशोद्दिष्टोद्देशसमुद्देशोत्कृष्टसमादेशाख्यं विभागोद्देशिकप्रथमभेदचतुष्टयम् । उपकरणं पूतिकाचिरस्थापनाकपटकरणम् । एषां द्वन्द्वस्तस्मिन् लोकोत्तरपरिवर्तते प्रामित्ययोः परभावक्रीते अत्रापि द्वन्द्वः ॥४१ ॥ स्वग्रामाहृते दर्दरोद्भिन्ने जघन्यमालापहृते (इज्झरे पढमेत्ति) चकारोऽत्र लाक्षणिकत्वाद् यावदर्थिकः मिश्राख्येऽध्यवपूरकप्रथमभेदे इहापि द्वन्द्वःसूक्ष्मचिकित्सावचनसंप्रातिका पूर्वं पश्चात्संस्तवमुदकार्द्रम्रक्षितमिश्रकर्दममृक्षितरूपं प्रथ्वीमुक्षितमुदकार्द्रम्रक्षितं मिश्रमृक्षितो द्वन्द्वाख्यत्रिविधप्रत्येकम्रक्षितं चेति त्रिकं मूक्षितं पिञ्जनं लोचयन्ती कर्त्तयन्ती क्षायकाय दत्ते तत्सहायको पहृतम् । एषामपि द्वन्द्वः तस्मिन् यथोक्तम् । "बाले वुड्ढे मत्ते उम्मत्तेवपयजरिए य पण्णत्ति से वसवज्जा एसि दायगा वहर्य ॥२॥" तदत्र पुरिमार्द्धप्रस्तावनाज्ञेयम् । एतेभ्यो दायकेभ्यो ग्राहकाणामाचामाम्लप्रायश्चित्तस्योक्तत्वात् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(पत्तेयपरंपरठवियपिहियम्मि) सुब्लोपः प्राकृतत्वादेकशब्दस्य चोपलक्षणत्वात् सचित्तपृथिव्यादिषट्कायपरस्थापिततः पिहितष्विति ज्ञेयम् । स्थापितं निक्षिप्तमुच्यते । बहुवचनात्संहृतच्छर्दितयोश्च (मीसयणंतराईसुत्ति) सूचकत्वात्सूत्रस्य मिश्रपृथिव्यादिषट्कायानन्तरनिक्षिप्तसंहृतोन्मिश्रापरिणतच्छर्दितेष्वित्यर्थः । उन्मिश्रापरिणतयोश्चानन्तरे विशोधने योज्यम् । किं तर्हि मिश्रषट्कायोन्मिश्रं मिश्रषट्कायापरिणतं चेत्येव योज्यम् एषु सर्वेषु मासार्द्धप्रायश्चित्तशङ्कायां दोषमाशङ्कते तस्यामप्येकान्तदोषश्च प्रायश्चित्तमापद्यते । जीत० । नि० । चू० । आव० (नावादिविषय उद्गमदोषो णावादिशब्दे)

उग्गमउप्पायणेसणासुपरिसुद्ध-उद्गमोत्पादनैषणासुपरिशुद्ध-त्रि० उद्गमश्च आधाकर्मादिः षोडशविधः उत्पादना च धात्र्यादिका षोडशविधैव उद्गमोत्पादने एतद्विषया या एषणा पिण्डविशुद्धिस्तया सुष्ठु परिशुद्धो यः स उद्गमोत्पादनैषणासुपरिशुद्धः । द्वाचत्वारिंशत्पिण्डदोषरहिते, ज्ञ० ७ श० १ उ० ।

उग्गमदोस-उद्गमदोष-पुं० उद्गमनमुद्गमः पिण्डादेः प्रभव इत्यर्थः । तस्य दोषः । स्था० ३ ठा० । उद्गमविषयो दोषः । आधाकर्मादिषु पिण्डग्रहणदोषेषु, आचा० । उत्त० । (ते च उग्गमशब्दे दर्शिताः)

उग्गममाण-उद्गच्छत्-त्रि० प्रवृद्धिं गच्छति, "सब्बो वि किसलओ खलु, उग्गममाणे अणंतओ भणिओ" । प्रज्ञा० १ पद ।

उग्गमविसोहि-उद्गमविशोधि-स्त्री० भक्तनिरवद्यतारूपे उद्गमोपाधिके, विशोधिभेदे च । स्था० १० ठा० ।

उग्गमित-उद्गमित-त्रि० उपार्जिते, "वत्थपादादि उग्गमियं । नि० चू० २ उ० ।

उग्गमोवघाय-उद्गमोपघात-पुं० उद्गमनमुद्गमः पिण्डादेः प्रभव इत्यर्थः । इह चाभेदविवक्षया उद्गमदोष एवोद्गमोऽतस्तेन (स्था० ३ ठा०) आधाकर्मादिना षोडशविधेनोपहननं विराधनं चारित्रस्याकल्प्यता भक्तादेः स उद्गमोपघातः । स्था० १० ठा० । पिण्डादेरकल्पनीयताकरणे उपघातभेदे, । स्था० ३ ठा० ॥

उग्गय-उद्गत- त्रि० । उद्-गम्-क्त- । अग्रिमभागे, । मनागुद्गते, राय० । ऊर्ध्वगते, व्यवस्थिते च । ज्ञा० १ अ० । संभूते, आव० ३ अ० । उदिते, । उग्गय इति वा उद्गच्छति वा एगट्ठमिति । नि० चू० १० उ० । भावे क्तः । उद्गतौ, । 'कंबुग्गएणगंभीरं' । कण्ठाग्रा यदुद्गतमुद्गतिः । स्वरांशमलक्षणा क्रिया तेन । स्था० ७ ठा० ।

उग्रक- त्रि० उत्कटे, स्था० ७ ठा० ।

उग्गयमुत्ति-उद्गतमूर्ति-पुं० स्त्री० मूर्तिः शरीरमुद्गते रवौ प्रतिश्रयाद् बहिः प्रचारवती मूर्तिरस्येत्युद्गममूर्तिको मध्यमपदलोपी समासः । सूर्योद्गतावेव आहारग्राहके, बृ० २ उ० । नि० चू० ।

उग्गयवित्ति-उद्गतवृत्ति- पुं० स्त्री० उद्गते आदित्ये वृत्तिर्जीवनोपायो यस्य स उद्गतवृत्तिकः । सूर्योद्गमने सति भिक्षयित्वा भोक्तरि, "उग्गयवित्ती मुत्ती मणसंकप्पे य होंति आएसा" उद्गते रवौ वृत्तिर्वर्तनं यस्य स उद्गतवृत्तिः । पाठान्तरेणोद्गतमूर्तिरिति वा । उद्गते सूर्ये वृत्तिः शरीर वृत्तिनिमित्तं बहिः प्रचारो यस्य स उद्गतवृत्तिः । बृ० २ उ० । नि० चू० १ उ० "भिक्खू य उग्गयवित्तिए अणत्थमिय संकप्पे संथडिए" बृ० २ उ० । (व्याख्या राइभोयणशब्दे)

उग्गवई-उग्रवती-स्त्री० लोकोत्तररीत्या नन्दानाम्न्यां प्रथमतिथिरात्रौ, जं० ७ वक्ष० । सू० प्र० । चं० प्र० ॥

उग्गविस-उग्रविष-पुं० उग्रं दुर्जरत्वाद्विषं यस्य स उग्रविषः । दुर्जरविषे सर्पे, ज्ञा० ९ अ० । जी० । उपा० । प्रज्ञा० ॥

उग्गविहार-उग्रविहार-पुं० क० स० उत्कृष्टे विहरणे, "अत्युग्रकर्मेद्धनो दहनोग्रविहारतः " । ध० ४ अधि० ।

उग्गविहारि-उग्रविहारिन्-त्रि० सदनुष्ठानव्यवस्थितसदाचारे, म० १० श० ४ उ० ।

उग्गसेण-उग्रसेन-पुं० । उग्रा सेना यस्य । धृतराष्ट्रपुत्रभेदे, कुरुवंश्ये नृपभेदे, यदुवंश्ये नृपभेदे, वाच० । "वसुदेवहिण्डया मस्य वक्तव्यता तत एवाऽवसेया । उग्गसेणपामोक्खाणं सोलसण्हं राइसहस्साणं" आ० म० द्वि० । अन्त० । "अहं च भोगरायस्स तं च सि अंधगवण्हिणो" दश० २ अ० । ग० ।

उग्गसेणगढ-उग्रसेनगढ-न० । जीर्णगढे, "उग्गसेणगढं ति वा खंगारगढं ति वा, जुण्णगढं ति वा, जुण्णगढस्स णामाइं" ती० ।

उग्गह-अवग्रह-पुं० अवग्रहः अनिर्देश्यसामान्यमात्ररूपार्थग्रहणरूपे श्रुतनिश्रितमतिज्ञानभेदे, तं आह च चूर्णिकृत् "सामण्णस्स रूवादि विसेसणरहियस्स अणिद्देसस्स अवग्गहणमवग्गह-इति" । नं० । विशे० । रूपरसादिभेदैरनिर्देश्यस्याव्युत्क्रमरूपस्य सामान्यार्थस्यावग्रहणं परिच्छेदनमवग्रहः । "अत्थाणं उग्गहणं अवग्गहं इति " निर्युक्तिगाथां व्याख्यानयन् भाष्यकृदाह " सामण्णत्थावग्गहणमुग्गहो " विशे० । (व्याख्या आभिणिबोहिय शब्दे) सम्म० । आ० म० प्र० । तत्र विषयविषयिसन्निपातानन्तरमाद्यग्रहणमवग्रहो विषयस्य द्रव्यपर्यायात्मनोऽर्थस्य विषयिणश्च निर्वृत्युपकरणलक्षणस्य द्रव्येन्द्रियस्येत्युपलब्ध्युपयोगस्वभावेन्द्रियस्य विशिष्टपुद्गलपरिणतिरूपस्यार्थग्रहणयोग्यतास्वभावस्य च यथाक्रमेण सन्निपातो योग्यदेशावस्थानं तदनन्तरोद्भूतं सत्तामात्रदर्शनस्वभावदर्शनमनुत्तरपरिणामस्यविषयव्यवस्थापनाधिकाररूपमतिपाद्यमवग्रहः । व्य० द्वि० १० उ० ।

(१) अवग्रहभेदाः ।
(२) अवग्रहे दण्डकः ।
(३) अवग्रहनिक्षेपः ।
(४) द्रव्यादितश्चातुर्विध्यं देवेन्द्रादितः पञ्चविधत्वं तत्र बलीयस्त्वे तारतम्यनिरूपणम् ।
(५) अदत्तादानदोषनिवृत्त्यर्थमवग्रहानुज्ञापनम् ।
(६) विधवाप्यनुज्ञापनीया ।
(७) साधर्मिकावग्रहे उपनिमन्त्रणम् ।
(८) अवग्रहयोग्यं क्षेत्रमवग्रहप्रतिषेधश्च ।
(९) ब्राह्मणाद्यवगृहीते अवग्रहः ।
(१०) पथ्यवग्रहः ।
(११) आम्रेक्षुवनादावबग्रहे आम्रफलादिभोजनं लशुनवनादावग्रहश्च ।
(१२) स्वामिना त्यक्ते अत्यक्ते वावग्रहः ।
(१३) राजावग्रहो देवेन्द्रावग्रहश्च ।
(१४) राजपरिवर्तेऽवग्रहः ।
(१५) अवग्रहक्षेत्रमानम् ।
(१६) क्षेत्रत्यागसन्नागतेषु सापेक्ष्यावग्रहपरिपूर्तिः ।
(१७) अवग्रहे सप्त प्रतिमाः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(१) अवग्रहभेदानाह–

से किं तं उग्गहे? २ दुविहे पन्नत्ते तंजहा अत्थोग्गहे य वंजणुग्गहे य । से किं तं वंजणुग्गहे ? वंजणुग्गहे चउव्विहे पन्नत्ते तंजहा सोइंदियवंजणुग्गहे घाणिंदिय वंजणुग्गहे जिब्भिंदियवंजणुग्गहे फासिंदियवंजणुग्गहे. सेत्तं वंजणुग्गहे। से किं तं अत्थुग्गहे २ छव्विहे पन्नत्ते तंजहा सोइंदियअत्थुग्गहे चक्खिंदियअत्थुग्गहे घाणिंदियअत्थुग्गहे जिब्भिंदियअत्थुग्गहे फासिंदियअत्थुग्गहे नोइंदियअत्थुग्गहे । तस्स णं इमे एगट्ठिया नाणाघोसा नाणावंजणा पंचनामधिज्जा भवंति । तंजहा उगिण्हणया उगिण्हओ अवधारणया सवणया अवलंबणया मेहा सेत्तं उग्गहे ॥

अथकोऽयमवग्रहः सूरिराह । अवग्रहो द्विविधस्तद्यथा अर्थावग्रहश्च व्यञ्जनावग्रहश्च ॥ नं० । (तस्सणमि– त्यादि) तस्य सामान्येनावग्रहस्य णमिति वाक्याऽलंकारे अमूनि वक्ष्यमाणानि एकार्थिकानि (नाना घोसाणित्ति) घोषा उदात्तादयः स्वरविशेषाः । आह चूर्णिकृत् "घोसाउ उदत्ताइओ सरविसेसा" नाना घोषा येषां तानि नानाघोषाणि । तथा नाना व्यञ्जनानि कादीनि येषां तानि नानाव्यञ्जनानि । पञ्चनामान्येव नामधेयानि भवन्ति तद्यथेति तेषामेवोपदर्शने (उगिण्हणया इत्यादि) यदा पुनरवग्रहाविशेषाननपेक्ष्यामूनि पञ्चापि नामधेयानि चिन्त्यन्ते तदा परस्परं भिन्नार्थानि वेदितव्यानि । तथाहि इहावग्रहस्त्रिधा तद्यथा व्यञ्जनावग्रहः सामान्यार्थावग्रहः विशेषसामान्यार्थावग्रहश्च । तत्र विशेषसामान्यार्थावग्रहः औपचारिकः स चानन्तरमेवाग्रे दर्शयिष्यते । नं० । कर्म० । विशे० ।

तत्थुग्गहो दुरूवो, गहणं जहोज्जवंजणत्थाणं ।
वंजणओ य जमत्थो, तेणाई एतयं वोच्छं ॥

तत्रावग्रहणमवग्रहो द्विरूपो यथा भवति तथा प्रोच्यते । कथमित्याह यद्यस्माद्ग्रहणं व्यञ्जनार्थयोरेव भवेदन्यस्य ग्राह्यस्याभावात्ततश्च विषयद्वैविध्यादवग्रहो द्विविध इति भावः । अपरं यद्यस्मात्कारणाद्वक्ष्यमाणन्यायेन प्राप्यकारिष्विन्द्रियेषु व्यञ्जनावग्रहादनन्तरमेवार्थो ऽर्थावग्रहो भवति तेनादौ– प्रथमतस्तकं व्यञ्जनावग्रहमेव वक्ष्ये इति गाथार्थः । विशे० । नं० । आ० चू० । प्रव० । भ० (व्यञ्जनावग्रहादीनां व्याख्याऽन्यत्र व्यञ्जनावग्रहे मल्लकप्रतिबोधकदृष्टान्तश्च आभिणिबोहिय शब्दे) ।

(२) अवग्रहे दण्डकः ।

नेरइयाणं भंते ! कतिविहे उग्गहे पन्नत्ते? गोयमा ! दुविहे उग्गहे पन्नत्ते तंजहा अत्थोवग्गहे वंजणोवग्गहे एवं असुरकुमाराणं जाव वेमाणियाणं पुढविक्काइयाणं भंते! कतिविहे उग्गहे पन्नत्ते? गोयमा ! दुविहे उग्गहे पन्नत्ते तंजहा अत्थोग्गहे य वंजणोग्गहे य पुढविकाइयाणं भंते ! वंजणोग्गहे कइविहे पन्नत्ते? गोयमा ! एगे फासिंदियवंजणोग्गहे पन्नत्ते । पुढविकाइयाणं भंते ! कइविहे अत्थोग्गहे पन्नत्ते । एगे फासिंदिय अत्थोग्गहे पन्नत्ते एवं जाव वणस्सइकाइयाणं एवं बेइंदियाणवि । नवरं बइंदियाणं वंजणोग्गहे दुविहे पन्नत्ते एवं तेइंदिय चउरिंदियाण वि नवरं इंदियपरिवुड्डी कायव्वा । चउरिंदियाणं वंजणोग्गहे तिविहे पन्नत्ते अत्थोवग्गहे चउव्विहे पन्नत्ते सेसाणं जहा नेरइयाणं जाव वेमाणियाणं ।

टीका सुगमत्वान्न गृहीता अवधारणमवग्रहः । सुन्दरा एत इत्यवधारणम् । उत्त० । सम्म०, । आ० चू० । अयं गृह्णातीत्यवग्रहः । उपधौ,–ओघ० । पतद्ग्रहे, " सुरमुक्को लोपणं उग्गहं च घेत्तूणं–" पंचा० ३ विव० । "भगद्वारे अवग्रह इति योनिद्वारस्य सामायिकी संज्ञा" बृ० ३ उ० । प्रव० । अवगृह्यते स्वामिना स्वीक्रियते यः सोऽवग्रहः । राजावग्रहादौ, प्रति० । अवग्रहणीये वस्तुनि,–प्रश्न० ३ द्वा० । आश्रये, " उग्गहं च अजाइत्ता, अविदिन्ने उ उग्गहे" ध० ३ अधि० ।

(३) अवग्रहनिक्षेपो यथा ।

नामं ठवणा दविए, खित्ते काले तहेव भावे य ।
एसो अवग्गहस्स, निक्खेवो छव्विहो होइ ॥

सचित्तादिद्रव्यग्रहणं द्रव्यावग्रहः क्षेत्रावग्रहो यो यं क्षेत्रमवगृह्णाति तत्र वसामः । ततः सक्रोशं योजनं कालावग्रहो यो यं कालमवगृह्णाति वर्षासु चतुरो मासान् ऋतुबद्धे मासं भावावग्रहः । प्रशस्तेतरभेदः । प्रशस्तो ज्ञानाद्यवग्रह इतरस्तु क्रोधाद्यवग्रह इति । अथवावग्रहः पञ्चधा ।

द्रव्यादितश्चातुर्विध्यमाह ।

(४) द्रव्यादितश्चातुर्विध्यं देवेन्द्रादितः पञ्चविधत्वं तद्बलीयस्त्वे तारतम्यनिरूपणं च । तत्र ।

दव्वे खेत्ते काले, भावे विय उग्गहो चउद्धाउ ।
देविंदराय उग्गहो, गिहवइसागारियसाहम्मी ॥३४॥
दव्वुग्गहोउ तिविहो, सचित्ताचित्तमीसिओ चेव ।
खेत्तुग्गहो वि तिविहो, दुविहे कालुग्गहो होइ ॥३५॥

द्रव्यावग्रहः क्षेत्रावग्रहः कालावग्रहो भावावग्रहश्चेति । एवं चतुर्विधोऽवग्रहः । यदिवा सामान्येन पञ्चविधोऽवग्रहस्तद्यथा देवेन्द्रस्य लोकमध्यवर्त्ती रुचकदक्षिणार्द्धमवग्रहः राज्ञश्च-क्रवर्त्यादेर्भरतादिक्षेत्रं गृहपतेर्ग्राममहत्तरादेर्ग्रामपाटकादिकमवग्रहः । तथा सागारिकस्य शय्यातरस्य पाटशालादिकसाधर्म्मिकाः साधवो ये मासकल्पेन तत्रावस्थितास्तेषां वसत्यादिरवग्रहः । सपादयोजनमिति तदेवं पञ्चविधोऽवग्रहः । वसत्यादिपरिग्रहं च कुर्वता सर्वार्थतेति यथावसरमनुज्ञाप्या इति । आ०म० प्र० । आचा० । प्रव० । भ० ।

तेणं कालेणं तेणं समयेणं सक्के देविंदे देवराया वज्जपाणी पुरंदरे जाव भुंजमाणे विहरइ इमं च णं केवलकप्पं जंबुद्दीवे २ विउलेणं ओहिणाणेणं आभोएमाणे २ पासइ समणं भगवं महावीरं जंबूदीवे दीवे जहा ईसाणे तइयसए तहेव सक्केणवि णवरं आभिओगेणं सद्दावेइ पायत्ताणियाहिवइं हरिणेगमेसिं सुघोसघंटापालओ विमाणकारी पालगं विमाणं उत्तरिल्ले णिज्जाणमग्गे दाहिणपुरच्छि–

मिह्ने रत्तिकरपज्जए सेसं तं चेव णामगं सावेत्ता पज्जुवासइ धम्मकहा जाव पडिगया तए णं से सक्के देविंदे देवराया समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं धम्मं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठसमणं भगवं महावीरं वंदइ णमंसइ वंदइत्ता णमंसइत्ता एवं वयासी कइणं भंते? उग्गहे पण्णत्ते सक्क! पंचविहे उग्गहे पण्णत्ते तंजहा देविंदोग्गहे रायोग्गहे गहवइउग्गहे सागारियउग्गहे साहम्मियउग्गहे जे इमे अज्जत्ताए समणा णिग्गंथा विहरंति एसि णं अहं उग्गहं अणुजाणामीतिकट्टु समणं भगवं महावीरं वंदइ णमंसइ वंदइत्ता णमंसइत्ता तमेव दिव्वं जाणविमाणं दुरूहइ दुरूहइत्ता जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडिगए भंते त्ति । भगवं गोयम ! समणं भगवं महावीरं वंदइ णमंसइ वंदइ २ त्ता एवं वयासी जं णं भंते ! सक्के देविंदे देवराया तुब्भे एवं वन्दति सच्चे णं एसमट्ठे हंता सच्चे णं । भ० १६ श० २ उ० ।

अथ कतिविधोऽयमवग्रह उच्यते

देविंदरायगहवइ, उग्गहो सागारिए अ साहम्मि ।
पंचविहम्मि परूविए, नायव्वा जो जहिं कमइ ॥

देवेन्द्रः शक्र ईशानो वा स यावतः क्षेत्रस्य प्रभवति तावान् देवेन्द्रावग्रहः राजा चक्रवर्तिप्रभृतिको महर्द्धिकः पृथ्वीपतिः स यावतः षट्खण्डभरतादेः क्षेत्रस्य प्रभुत्वमनुभवति तावान् राजावग्रहः । गृहपतिः सामान्यमण्डलाधिपतिस्तस्याऽऽध्य, ऽधिपत्यविषयभूतं यद् भूमिखण्डं स गृहपत्यवग्रहः । सागारिकः शय्यातरस्तस्य सत्तायां यद्गृहपाटकादिकं स सागारिकावग्रहः । साधर्मिकाः समानधर्माणः साधवस्तेषां संबन्धि सक्रोशयोजनादिकं यदा भाव्यं क्षेत्रं स साधर्मिकावग्रहः । एष पञ्चविधोऽवग्रहः । एतस्मिन् पञ्चविधेऽवग्रहे वक्ष्यमाणभेदे प्ररूपिते सति ज्ञातव्यो विधिरित्युपस्कारो यो यत्र देवेन्द्रादौ क्रमतेऽवतरति स तत्रावतारणीय इति संग्रहगाथासमासार्थः ।

सांप्रतमेतामेव विवरीषुरमीषां पञ्चानां मध्ये कः कस्माद्बलीयानिति जिज्ञासायां तावदिदमाह ।

हेट्ठिल्ला उवरिल्लेहिं, बाहिया न उ लहंति पाहन्नं ।
पुव्वाणुन्ना भिनवं, चउसु भयपच्छिमे भिनवा ॥

अधस्तना देवेन्द्रावग्रहादय उपरितनै राजावग्रहादिभिर्यथाक्रमं बाधिता द्रष्टव्याः । अत एव न तु नैव लभन्ते प्राधान्यमुत्तमत्वम् । किमुक्तं भवति । राजावग्रहे राजैव प्रभवति न देवेन्द्रस्ततो देवेन्द्रानुज्ञातेऽप्यवग्रहे यदि राजा नानुजानीते तदा न कल्प्यते तदवग्रहे स्थातुम् । अथानुज्ञातो राज्ञा स्वविषयावग्रहः परं न गृहपतिना ततस्तदवग्रहेऽपि न युज्यतेऽवस्थातुम् । अथानुमतं गृहपतिना स्वभूमिखण्डेऽवस्थानं परं न सागारिकेण स्वावग्रहे ततोऽपि न कल्प्यते वस्तुम् । अथानुज्ञातः सागारिकेण स्वावग्रहः परं न साधर्मिकैस्तथापि न कल्प्यते इत्येवमुपरितनैरधस्तना बाध्यन्ते तथानुपूर्वामनुज्ञामभिनवांचतुर्षु भजनां विकल्प्य केषांचित्साधूनां पूर्वानुज्ञा तदपरेषाम भिनवेति भजना कार्येत्यर्थः । अथ केयं पूर्वानुज्ञा काऽभिनवानुज्ञेत्युच्यते । ईहाया अवग्रहः पुरातनसाधुभिरनुज्ञापितः स यत्पाश्चात्यैरेवमेव परिभुज्यते न भूयोऽनुज्ञाप्यते सा पूर्वानुज्ञा यथा चिरंतनकालवर्तिभिः साधुभिर्देवेन्द्रे यदवग्रहमनुज्ञापितः सैव पूर्वानुज्ञा । सांप्रतकालीनसाधूनामप्यनुवर्तते न पुनर्भूयोऽप्यनुज्ञाप्यते अभिनवानुज्ञानामभावात् । यदा किलान्यो देवेन्द्रः समुत्पद्यते तदा तत्कालवर्त्तिभिः साधुभिर्यदसाव भिनवोत्पन्नतयाऽवग्रहोऽनुज्ञाप्यते सा तेषामभिनवाऽनुज्ञा तदपरेषां पूर्वानुज्ञा एवं शेषनृपतिगृहपतीनामपि पूर्वाभिनवानुज्ञे भावनीये । सागारिकोऽपि प्रथमत उपागतैः साधुभिर्यदुपाश्रयमनुज्ञाप्यते सा तेषामभिनवानुज्ञा तेषु साधुषु तत्र स्थितेषु यदन्ये साधवः समागत्य तदनुज्ञापितावग्रहं परिभुञ्जते सा पूर्वानुज्ञा तदेवं चतुर्ष्ववग्रहेषु पूर्वाभिनवानुज्ञयो र्भजना भाविता । तथा पश्चिमे साधर्मिकावग्रहे भिनवानुज्ञैव भवति न पूर्वानुज्ञा । तथाहि यो यदावग्रहार्थं साधर्मिकमुपसंपद्यते स सर्वोऽपि तदानीं तमनुज्ञाप्यैवावतिष्ठते नान्यथेत्यभिनवानुज्ञैवैका ।

अथामीषां पञ्चानामपि भेदानाह ।

दव्वाई एक्केक्के, चउहा खित्तं तु तत्थ पाहन्ने ।
तत्थेव य जे दव्वा, कालो भावो असामित्ते ॥

एकैकोऽवग्रहश्चतुर्धा द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च । तत्र प्रथमतः क्षेत्रावग्रहः प्ररूप्यते कुतो हेतोरिति चेदुच्यते क्षेत्रं पुनः स्वतन्त्रेषु द्रव्यादिषु मध्ये प्राधान्येन वर्तते इहावग्रहस्य प्ररूप्यमाणत्वात्तस्य च तत्त्वतः शक्रादिक्षेत्ररूपतयाभिधीयमानत्वादिति भावः । यतश्च तत्रैव क्षेत्रे यानि द्रव्याणि यश्च कालो भावश्च एतेषां क्षेत्रमध्ये भूतस्वामित्वे वर्तते क्षेत्रस्यैव संबन्धित्वादन्येषां तस्मिंश्च प्रथमं प्ररूपिते द्रव्यादयस्तदन्तर्गताः प्ररूपिता एव भवन्तीति प्रथमतः क्षेत्रावग्रहं प्ररूपयति.

पुव्वावरायया खलु, सेढी लोगस्स मज्झयारम्मि ।
जो कुणइ दुहा लोगं, दाहिण तह उत्तरद्धं च ॥

इह सर्वस्यापि लोकस्य मध्यकारे मध्यभागे मन्दरस्य पर्वतस्योपरि श्रेणिराकाशप्रदेशपङ्क्तिरेकप्रादेशिकी पूर्वापरयोर्दिशोरायता प्रदीर्घा समस्ति या श्रेणिर्लोकमेकरूपमपि द्विधा करोति । तद्यथा दक्षिणलोकार्द्धमुत्तरलोकार्द्धं च । तत्र दक्षिणलोकार्द्धस्य शक्रः प्रभुत्वमनुभवति उत्तरलोकार्द्धस्य पुनरीशानकल्पनायकस्तथा दक्षिणलोकार्द्धे यान्यावलिकाप्रविष्टानि पुष्पावकीर्णानि वा विमानानि शक्रस्यैव भाव्यानि यानि पुनरुत्तरार्द्धे तानि सर्वाण्यपि द्वितीयकल्पाधिपतेः । अथ यानि मध्यमश्रेण्यां तानि कस्य भवन्तीत्याह ।

साधारण आवलिया, मज्झम्मि अवड्ढचंदकप्पाणं ।
अद्धं च परिक्खेवे, तेसिं अद्धं च सक्खित्ते ॥

अपार्द्धचन्द्रकल्पयोरर्द्धचन्द्राकारयोः सौधर्मेशानकल्पयोः पूर्वापरायतायां मध्यमश्रेण्यां या विमाननामावलिका सा साधारणा शक्रेशानयोः । किमुक्तं भवति । तस्यां मध्यमश्रेण्यां पूर्वस्यामपरस्यां च दिशि त्रयोदशस्वपि प्रस्तटेषु यानि विमानानि तानि कानिचित् शक्रस्य कानिचिदीशानस्याभाव्यानि । तत्र यानि वृत्ताकाराणि तानि सर्वाण्यपि शक्रस्यैव, यानि पुनस्त्र्यस्राणि चतुरस्राणि वा तान्येकं शक्रस्य एकमीशानस्येत्येवमुभयोरपि साधारणानि तथा चोक्तम् "जे दक्खिणेण इंदा, दाहिणओ आवली भवे तेसिं । जे पुण उत्तरइंदा, उत्तरओ

आवली तेसिं। पुव्वेण पच्छिमेण य जे वट्टा ते विदाहिणल्लस्स। तंसचउरंसगा पुण, सामन्ना हुंति दुण्हंपि" तेषां च मध्यमश्रेणिगतानां विमानानामर्द्धं स्वस्वक्षेत्रे कल्पसीमानि प्रतिष्ठितं तदपरमर्द्धं परक्षेत्रे परकल्पसीमनीति ।

अथ शक्रमुद्दिश्य क्षेत्रावग्रहप्रमाणमाह ।

सेढीइ दाहिणेणं, जो लोगा उड्ढमासकविमाणा ।
हेट्ठावि अ लोगंते, खित्तं सोहम्मरायस्स ॥

सौधर्मराजस्य सौधर्म्मकल्पाधिपतेरेतावत्क्षेत्रमाधिपत्यविषयभूतं तिर्यग्दिशमधिकृत्य श्रेण्याः पूर्वोक्ताया दक्षिणे दक्षिणस्यां दिशि यावल्लोक इति तीर्यग्लोकपर्यन्त ऊर्ध्वदिशमाश्रित्य आ पादपूरणे यानि स्वामिनि विमानानि स्तूपध्वजकलिताभि अधोदिशमुद्दिश्य यावदधस्ततो लोकान्त इति भावितो देवेन्द्रक्षेत्राऽवग्रहः ।

सम्प्रति चक्रिणः क्षेत्रावग्रहमाह ।

सरगोयरो अ तिरियं, बावत्तरिजोयणाइं उड्ढं तु ।
अह लोगगामगत्ताइ, हेट्ठओ चक्किणो खित्तं ॥

यावच्छरस्य बाणस्य गोचरो विषयस्तावच्चक्रिणस्तिर्यक्क्षेत्रम । इदमुक्तं भवति। चक्रवर्ती दिग्विजययात्रां कुर्वन् मागधादिषु तीर्थेषु यन्नामाङ्कितं बाणं निसृजति स पूर्वदक्षिणापरसमुद्रेषु द्वादशयोजनान्त यावद्गच्छति एतावांस्तच्चक्रिणस्तिर्यगवग्रहः। स एव बाणः क्षुल्लहिमवत्कुमारदेव साधनार्थं चक्रिणैव निसृष्ट ऊर्ध्वं द्वासप्ततियोजनानि यावद्गच्छति तावानूर्ध्वमवग्रहः । अधःपुनरधोलोकग्रामास्तथा गर्ता आदिशब्दाद्वापीकूपभूमिगृहादिपरिग्रहः । इयमत्र भावना । जम्बूद्वीपापरविदेहवर्त्तिनलिनावती वप्राभिधानविजययुगलसमुद्भवा योजनसहस्रा श्रेण्या समयप्रसिद्धा। ये अधोलोकग्रामास्तेषु ये चक्रवर्तिनः समुत्पद्यन्ते तेषां त एवाधः क्षेत्रावग्रहास्तदपरेषां तु गर्ता कूपभूमिगृहादिकमिति प्ररूपितो राज्ञः क्षेत्रावग्रहः ।

अथगृहपतिसागारिकयोस्तमाह ।

गहवइओ आहारो, चउदिसि सागारियस्स घरवगडा ।
हेट्ठा अवागडाई, उड्ढं गिरिगहधयरुक्खा ॥

गृहपतेर्मण्डलेश्वरस्य यावानाधारो विषयः प्रभुत्वविषयभूतश्चतसृषु दिक्षु तावानस्योत्कृष्टतिर्यगवग्रहः । सागारिकस्य शय्यातरस्य गृहवगडागृहवृत्तिपरिक्षेप उत्कृष्टतिर्यगवग्रहः द्वयोरपि चाधस्तादपागतागडादयः अपागतो ह्रदो वा अगडः कूपः आदिशब्दात् वाप्यादय ऊर्ध्वं गिरिगेहध्वजवृक्षाः गिरयः पर्वता गृहध्वजा गृहोपरिवर्तिन्यःपताका वृक्षाःसहकारादयः । साधर्मिकाणां तु क्षेत्रावग्रहः कुतोपि हेतोरत्र नोक्तः परं बृहद्भाष्ये इत्थमभिहितः "खित्तोग्गहो सकोसं जोयण साहम्मियाण बोधव्वं। उद्दिसिजा एगदिसि उज्जाणं वा मरुंबाऽ" मरुम्बाडी भवनं यावदुत्कृष्टःक्षेत्रावग्रहः शेषं सुगमम ।

अथ जघन्यक्षेत्रावग्रहमभिधातुकाम आह ।

अजहन्नमणुक्कोसो, पढमो जो आविचक्कवट्टीणं ।
सेसाभि रोहगाइ, सुजहन्नओगहवईणं च ॥

प्रथमो देवेन्द्रावग्रहोऽजघन्योत्कृष्टो न जघन्यो नचोत्कृष्टः किन्तु जघन्योत्कृष्टरहितः सर्वदैवैकरूपत्वात् यश्चाप्यवग्रहः चक्रवर्तिना सम्बन्धी सोऽप्यजघन्योत्कृष्टः चक्रवर्तिनामाधिपत्यक्षेत्रस्यैकरूपत्वात् । शेषनृपाणां चक्रवर्तिव्यतिरिक्तानां नृपतीनां गृहपतीनां च रोधकादिषु जघन्यः क्षेत्रावग्रहो ज्ञातव्यः। रोधनं रोधकःपरचक्रेण नगरादेर्वेष्टनम् आदिशब्दादन्यस्याप्येवंविधस्य परिग्रहः । इयमत्र भावना । कोऽपि बलवान् राजा माण्डलेश्वरो वा कस्याप्यल्पबलस्य नरपतेर्गृहपतेर्वा ह्यनिर्वृतमात्मसात्कृत्य यदा तदीयं नगरादि निरुध्यावतिष्ठते तदा तस्य तावान्नगरादिमात्रको जघन्यः ।

नगराइ निरुद्धघरे, रायाणुन्नाउ दुचरिमजहन्नो ।
उक्कोसे उ अनियओ, अचक्किमाई चउण्हंपि ॥

द्वौ चरमौ सागारिकसाधर्मिकौ तयोरयं जघन्यःक्षेत्रावग्रहो नगरादौ केनचिद्राज्ञा निरुद्धे बहिर्वास्तव्यजनैरभ्यन्तरतः प्रविशद्भिःशय्यातरगृहं साधर्म्मिकोपाश्रयो वा यदा प्रेर्येत तदा या काचित्तस्यामनुज्ञा यथैतावति प्रदेशे युष्माभिः स्थातव्यमेतावत्यस्माभिरिति स जघन्यक्षेत्रावग्रहः । उत्कृष्टः पुनरवग्रहो नियतःकस्याप्यल्पीयान् कस्यापि भूयानिति भणः केषामित्याह अचक्रवर्त्यादीनां चतुर्णामपि यश्चक्रवर्त्ती न भवति किं तु सामान्यपार्थिवः स नञः पर्युदासप्रतिषेधात्तत्सदृशग्राहकत्वादचक्री भण्यते । आदिशब्दाद्गृहपत्यादयो गृह्यन्ते ।

अथसागारिकावग्रहस्य विशेषत उपयोगित्वाद्विधिमाह ।

अणुन्नाए वि सव्वम्मि, उग्गह घरसामिणा ।
तहावि न सीमं छिंदंति, साहू तप्पियकारिणो ॥

गृहस्वामिना शय्यातरेण भाजनधावनकायिक्यादिव्युत्सर्जनस्वाध्यायादिकं यत्र यत्र भावनां रोचते तत्र तत्र कुरुते ते च यद्यप्यसावप्यवग्रहेऽनुज्ञातस्तथापि साधवस्तस्य सागारिकस्य प्रियकारिणः समाधिविधित्सवः सीमां मर्यादां न छिन्दन्ति निर्धारयन्ति व्यवस्थां पालयन्तीत्यर्थः। तामेव सीमामभिधत्ते ।

जाणट्ठया भायण धावणाई,वोसट्ठया अत्थए इउगम्मि ।
अभिग्गहं चेव अहिट्ठियंते,मासो वओ वा करेज्जमंतुं ॥

स्थानार्थे भाजनधावनबोधनाद्यर्थं द्वयोरुच्चारप्रश्रवणयोरर्थाय (अत्थाणत्ति) उपविश्यावस्थानं तदुक्तं च तन्निमित्तकं मितावग्रहमेव परिमितमेवावग्रहमधितिष्ठन्ति । किमुक्तं भवति। साधवो व्यवस्थां स्थापयन्तः शय्यातरमामन्त्र्य ब्रुवते श्रावक ! वयमियति प्रदेशेऽध्यासिष्यामहे नेतः परम । अत्र भाजनानि धाविष्यामो नान्यत्र यदि नाम ग्लानादेरत्राशुकारसंभवो भवेत्तताऽत्र परिष्ठापयिष्यते । अत्र पुनः कायिकी व्युत्सृज्यते इह पुनः साधवो भाजनरञ्जनादिकं कुर्वन्तः कियतीमपि वेलामासिष्यन्ते एवं व्यवस्थाप्य मितमेवावग्रहमाधितिष्ठन्ति।कुत इत्याह अमात्यो वा सागारिकोऽन्यो वा तदीयो वयस्यस्वजनादिः स बालवृद्धाकुलेन गच्छेनातिप्राचुर्येण।क्रान्ते कायिक्यादिना वा विनाशितेऽवग्रहे मन्युमप्रीतिक कुर्यात । अपि च तथा साधुभिरप्रमत्तैस्तत्र स्थातव्ये तथा शय्यातरश्चिन्तयेत् अहो निभृतस्वभावा अमी मुनयो यद्येतावन्तोऽपि सन्तः स्वसमयोदितमाचारमाचरन्तोऽपि परस्परं विकथादिकमकुर्वन्तो निर्व्यापारा इव लक्ष्यन्ते तत्सर्वथा कृतार्थोऽस्म्यहममीषां भगवतां शय्यायाः प्रदानेन तीर्णप्रायो मयायमपारोऽपि संसारपारावार इति प्ररूपितः क्षेत्रावग्रहः ॥

संप्रति द्रव्यावग्रहमाह ॥

वयणमचित्तमीसग, दव्वा खलु उग्गहेसु एएसु ।
जो जेण परिग्गहिओ, सो दव्वे उग्गहो होइ ॥

एतेषु देवेन्द्राद्यवग्रहेषु यानि चेतनानि स्त्रीपुरुषादीनि अचि-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यानि वस्त्रपात्रादीनि मिश्राणि सभाण्डोपकरणस्त्रीपुरुषादीनि यानि द्रव्याणि स द्रव्ये द्रव्यविषयोऽवग्रहः । कथंभूत इत्याह । यो येन शक्रादिना परिगृहीतः स तस्य संबन्धी द्रव्यावग्रहः । किमुक्तं भवति । देवेन्द्रावग्रहेऽत्र यानि सचित्ताचित्तमिश्राणि द्रव्याणि तानि सर्वाण्यपि देवेन्द्र द्रव्यावग्रहः । एवं राजावग्रहादिष्वपि भावना कार्या ॥

अथ कालावग्रहमाह

दोसागराउ पढमो, चक्की सत्तसय पुव्वचुलसीई ।
सेसानिवंसि मुहुत्तं, जहन्नमुक्कोसए जयणा ॥

प्रथमो देवेन्द्रावग्रहः स द्वे सागरोपमे यावद्भवति शक्रस्य द्विसागरोपमस्थितिकत्वात् चक्री चक्रवर्त्यवग्रहे जघन्यतः सप्तवर्षशतानि ब्रह्मदत्तवत् । उत्कर्षतः पुनश्चतुरशीतिपूर्वशतसहस्राणि भरतचक्रवर्तिवत् । तथा च चूर्णिः "चक्कवट्टि उग्गहो जहन्नेणं सत्तवाससया बंभदत्तस्स उक्कोसेणं चुरासीइ पुव्वसय सहस्साइं भरहस्स" अत्र परः प्राह । तत्र ब्रह्मदत्तः कुमारतायामष्टाविंशतिमाण्डलिकत्वे षट्पञ्चाशतं दिग्विजये षोडशवर्षाण्यतिक्रम्य षट्वर्षशतान्येव चक्रवर्तिपदवीमनुबभूव । भरतोऽपि सप्तसप्ततिपूर्वलक्षाणि कुमारभावमनुभूय वर्षसहस्रं माण्डलिकत्वमनुपाल्य षष्टिवर्षसहस्राणि विजययात्रायां व्यतीत्य ततः किंचिदूनानि षट्पूर्वलक्षाणि सर्वं भूमिश्रियं बुभुजे ततः कथमनयोः सप्तवर्षशतानि चतुरशीतिपूर्वलक्षाणि च यथाक्रमं चक्रवर्त्यवग्रहः प्रतिपाद्यमानो न विरुध्यते । नैष दोषः यतो योग्यतामङ्गीकृत्य भरतादयो जन्मन एव चक्रवर्तिनो मन्तव्याः । यत उत्पन्नमात्र एव चक्रवर्तिनि तदीयतथाविधाद्भुतभाग्यसंभारसमावर्जितास्तदानीं क्षेत्रनिवासिदेवता उत्पन्नोऽयं सकलमहीवलयस्वामीति प्रमादभाजस्तदानुकूल्यवृत्तयस्तथाविधाभिलाषिणस्तत्प्रत्यनीकयुक्तप्रत्यूहापहाराय प्रवर्तन्त इति समीचीनमेव यथोक्तमवग्रहकालमानम् । अन्यथा वा बहुश्रुतैरुपयुज्य निर्वचनीयमिति (सेसानिवंसिमुहुत्तंति) चक्रवर्तिनं मुक्त्वाऽन्यः शेषो नृपस्तस्य जघन्यतो मुहूर्त्तं कालावग्रहः । कृतराज्याभिषेकस्यान्तर्मुहूर्त्तादूर्ध्वं मरणाद्राज्यपदपरिभ्रंशाद्वा शेषनृपतीनामुत्कृष्टे कालावग्रहे भजना कार्या । किमुक्तं भवति । अन्तर्मुहूर्त्तादारभ्य समयवृद्ध्या वर्द्धमानानि चतुरशीतिपूर्वलक्षाणि यावद्यान्यायुःस्थानानि तेषां मध्ये येषां नृपतीनामायुस्थानं निर्वर्तितं यो वा यावन्तं कालं राज्यैश्वर्यमनुभवति तस्य स उत्कृष्टः कालावग्रहः ॥

एवं गहवइसागा-रिए वि चरिमे जहन्नओ मासा ।
उक्कोसो चउमासा, दोसुवि भयणा उ कज्जम्मि ॥

एवं गृहपतिसागारिकयोरपि शेषनृपतिवज्जघन्योत्कृष्टश्च कालावग्रहो द्रष्टव्यः । इह च यद्यपि शेषनृपतिगृहपतिसागारिकाणामायूंषि पूर्वकोटिपर्यवसितान्यपि संभाव्यन्ते तथापि चूर्णिकृता किमपि बाहुल्यादिकारणमुद्दिश्य चतुरशीतिपूर्वलक्षपर्यन्तान्येवाभिहितानीत्यत्रापि तदनुरोधेन तथैव व्याख्यातानि । तथा चरमे साधर्मिकावग्रहे ऋतुबद्धे मासकल्पविहारिणां जघन्यो मासमेकमुत्कृष्टो वर्षासु चतुरो मासान् कालावग्रहः (दोसु वि भयणाउ कज्जम्मित्ति) द्वयोरपि जघन्योत्कृष्टयोः कार्ये समापतिते भजना । किमुक्तं भवति ग्लानादिभिः कारणैः कदाचिदृतुबद्धे मासौ वर्षासु चत्वारो मासा न प्रतिपूर्येरन्नतिरिक्ता वा भवेयुः । गतः कालावग्रहः ।

अथ भावावग्रहमाह ।

चत्तारो दइअम्मि, खओवसमियम्मि पच्छिमो होइ ।
मणसीकरणमणुन्नं च, जाण जं जत्थ कम्मइ ॥

चत्वारो देवेन्द्रराजगृहसागारिकाणामवग्रहा औदयिके भावे वर्त्तन्ते ममेदं क्षेत्रमित्यादि मूर्च्छायास्तेषु सद्भावात्तस्याश्च कषायमोहनीयोदयजन्यत्वात् । पश्चिमः साधर्मिकावग्रहः स क्षायोपशमिके भावे वर्त्तते कषायमोहनीयक्षयोपशमयुक्ततया ममेदं क्षेत्रं ममायमुपाश्रय इत्यादिमूर्च्छायाः साधूनामभावात् । एष भावावग्रहः । तदेवं प्ररूपितः पञ्चविधोऽप्यवग्रहः । अथ यदुक्तं द्वारगाथायां "पंचविहम्मि परूवियनायव्वो जो जहिं कमइत्ति" तदिदानीं भाव्यते "मणसीकरणमणुन्नं चेत्यादि" मनसि करणमनुज्ञां च जानीहि । यद्यत्र देवेन्द्रावग्रहादौ क्रामति अवतरति तत्र मनसि चेतसि करणमनुजानीताम् । यस्यावग्रह इति मनस्येवानुज्ञापनमिति हृदयं यत्पुनर्वचसाऽनुज्ञाप्यते साऽनुज्ञाऽन्तर्भूतण्यर्थत्वादनुज्ञापनेति भावः तत्र देवेन्द्रे राजावग्रहयोर्मनसैवानुज्ञापनं करोति गृहपत्यवग्रहस्य मनसा वा वचसा वा सागारिकसाधर्मिकावग्रहयोर्नियमाद्वचसाऽनुज्ञापना । यथानुज्ञापना यथानुजानीतास्माकं शय्यां वस्त्रपात्रशैक्षादिकं चेत्यादि ।

अथ भावावग्रहं प्रकारान्तरेणाह ॥

भावावग्गहो अहव दुहा, मइगहणे अत्थ वंजणे उ मई ।
गहणे जत्थ उ गिण्हइ, मणसीकरणअकरणतिविहं ॥

अथवा भावावग्रहो द्विधा मतिभावावग्रहो ग्रहणभावावग्रहश्च । तत्र मतिर्मतिज्ञानरूपो भावावग्रहो भूयोऽपि द्विधा व्यञ्जनावग्रहोऽर्थावग्रहश्च गाथायां बन्धानुलोम्येन पूर्वमर्थशब्दस्य निर्देशः ग्रहणे ग्रहणविषये भावावग्रहः । यत्र तु यस्मिन् पुनर्देवेन्द्रावग्रहादौ यदा साधुः किंचिद्वस्तुजातं गृह्णाति सचित्तमचित्तं मिश्रं वा तस्य तद्ग्रहणं भावावग्रहः (मणसिकरणत्ति) मनसि करणस्योपलक्षणत्वादनुज्ञापनायाश्चाकरणे त्रिविधं प्रायश्चित्तम् । एतदेव सविशेषमाह ।

पंचविह परूविए स, उग्गहो जाणएण घेत्तव्वो ।
अन्नाएउग्गहिए, पायच्छित्तं भवे तिविहं ॥

पञ्चविधेऽवग्रहे प्ररूपितेऽतीदं तात्पर्यमभिधीयते स एवं विधोऽवग्रहो ज्ञापकेन पञ्चप्रकारोऽवग्रहःस्वरूपवेदितो गृहीतव्यो नाज्ञापकेन कुत इत्याह अज्ञातेऽनधिगमे सति यदवग्रहमवगृह्णाति ततस्तस्मिन्नवगृहीते त्रिविधं प्रायश्चित्तं भवति तदेवाह ।

इक्कडकठिणे मासो, चाउम्मासो अपीढफलएसु ।
कडकिंचे पणगं, छारे तह मल्लगाईसु ॥

इक्कडः दवणी कठिनः शरस्तम्बस्तयोः संस्तारके मासलघुकाष्ठमयेषु पीठेषु फलकेषु च प्रत्येकं चत्वारो मासलघवः काष्ठं च काष्ठशकलं कलिञ्चं च वंशदलं काष्ठकलिञ्चं तत्र तथा क्षारे भस्मनि मल्लकादिषु मल्लकं शरावमादिशब्दाद्घृगलादिपरिग्रहः । एतेषु सर्वेष्वपि पञ्चकं पञ्चरात्रिंदिवानि इति त्रिविधं प्रायश्चित्तमज्ञातावग्रहरूपस्यावग्रहणे द्रष्टव्यम् । उक्तोऽवग्रहकल्पिकः । व्य० १ उ० ।

साम्प्रतं द्रव्याद्यवग्रहप्रतिपादनायाह ।

दव्वुग्गहो उ तिविहो, सच्चित्ताचित्तमीसिओ चेव ।
खेत्तुग्गहो वि तिविहो, दुविहो कालुग्गहो होइ ॥

द्रव्यावग्रहस्त्रिविधः शिष्यादेः सचित्तो रजोहरणादेरचित्तः शिष्यरजोहरणादेर्मिश्रः । क्षेत्रावग्रहोऽपि सचित्तादिस्त्रिविध एव । यदि वा ग्रामनगरारण्यभेदादिति । कालावग्रहस्तु ऋतुबद्धवर्षाकालभेदाद् द्विधेति । भावाऽवग्रहप्रतिपादनार्थमाह ॥

मइउग्गहो य गहणो-ग्गहो य भावग्गहो दुहा होइ ।
इंदियणोइंदिअत्थ-वंजणोग्गहो होइ दसहा य ॥

भावावग्रहो द्वेधा तद्यथा मत्यवग्रहो ग्रहणावग्रहश्च । तत्र मत्यवग्रहो द्विधा अर्थावग्रहो व्यञ्जनावग्रहश्च तत्रार्थावग्रह इन्द्रियनोइन्द्रियभेदात् षोढा व्यञ्जनावग्रहस्तु चक्षुरिन्द्रियमनोवर्जं चतुर्धा स एव सर्वोऽपि मतिभावावग्रहो दशधेति ।

ग्रहणावग्रहार्थमाह ॥

गहणोग्गहम्मि अपरि-ग्गहस्स गहणस्सगहणपरिणामो ।
कह पडिहारियापडिहा-रियं व होइ जइयव्वं ॥

अपरिग्रहस्य साधोर्यदा पिण्डवसतिवस्त्रपात्रग्रहणपरिणामो भवति तदा स ग्रहणभावावग्रहो भवति तस्मिंश्च सति कथं केन प्रकारेण ममेदं वसत्यादिकं प्रातिहारिकमप्रातिहारिकं वा भविष्यतीति यतितव्यमिति । प्रागुक्तश्च देवेन्द्राद्यवग्रहः पञ्चविधोऽप्यस्ति स ग्रहणावग्रहे द्रष्टव्य इति । आचा० ७ अ० ।

एमेव बहूणं पि, पिंडं भवरोग्गहस्स उ विभागो ।
किं कतिविहो कस्स कम्मिव, केवइयं वा भवे कालं ॥

अत्र प्रथमपदव्याख्याऽनुपयुक्तत्वान्न गृहीता भावावग्रहस्य विभागो वक्तव्यस्तमेवाह । किं कतिविधः कस्य वा कस्मिन्वा कियन्तं कालं भवत्यवग्रहः । तत्र किमित्याद्यद्वारव्याख्यानार्थमाह ।

किं उग्गहो त्ति भणिए, तिविहो उ होति चित्तादी ।
एक्केक्को पंचविहो, देविंदादी मुणेयव्वा ॥

किमवग्रह इति भणिते पृष्टे सूरिराह । त्रिविधो भवत्यवग्रहश्चित्तादिः सचित्तोऽचित्तो मिश्रश्च । पुनरेकैकः कतिविधः इति प्रश्नमुपजीव्याह एकैकः । पञ्चविधः पञ्चप्रकारो ज्ञातव्यः कोऽसावित्याह देवेन्द्रादि देवेन्द्रावग्रहो राजावग्रहो माण्डलिकावग्रहः शय्यातरावग्रहः साधर्मिकावग्रहश्च ।

गतं कतिविधद्वारमिदानीं कस्य न भवतीति प्रतिपादयति ।

कस्स पुण उग्गहो त्ति, परपासंडीण उग्गहो नत्थि ।
निण्हग सेवे संयति, अगीते गीतएक्के वा ॥

कस्य पुनरवग्रहो भवतीति शिष्यप्रश्नमाशङ्क्य प्रोच्यते परपाषण्डिनामवग्रहो नास्ति ये च निह्नवा ये च सन्नायाश्च संयत्यो गीतार्थपरिगृहीता ये चागीतार्था गीतार्थनिश्रामनुपगता यश्च निष्कारणमेकाकी गीतार्थ एतेषां सर्वेषामप्यवग्रहो नास्ति (अस्य बहुवक्तव्यता अर्थसंपयाशब्दे)

वुड्ढावासातीते, कालातीतेन उग्गहो तिविहो ।
आलंबणे विसुद्धो, उग्गहो उ कज्जवुच्छेओ ॥

वृद्धावासातीते मरणेन प्रतिलग्नतया वा आरोगीभूतेन वा ऋणेन वा वृद्धावासे वा अतीते काले अतीते ऋतुबद्धे काले मासाधिके अवग्रहस्त्रिविधोऽपि न भवति । सचित्तस्याचित्तस्य मिश्रस्य च ग्रहणं न कल्प्यते इति भावः । कुत इत्याह । आलम्बने वृद्धावासलक्षणे विशुद्धे परिसमाप्ते यस्तत्कार्यभूतोऽवग्रहस्तस्यापि व्यवच्छेदो भवति कारणभावे कार्यस्याभावात् वस्तु मन्यते । कालातीते विनावग्रहस्य व्यवच्छेदस्तं प्रति दृष्टान्तमाह ।

आगासकुच्छिपूरो, उग्गहपडिसेहियम्मि कालम्मि ।
न हु होति उग्गहो सो, काले दुगे वा अणुण्णातो ॥

यथा कोऽपि पुरुषो बुभुक्षया पीडितः सन् चिन्तयति पूरयाम्युदरमाकाशेन मे बुभुक्षापगच्छति । स यथा आकाशस्य एवमेवावग्रहे प्रतिषेधितो यः कालो वर्त्तते तस्मिन्नुत्पादितः सोऽवग्रहोऽवग्रहो न भवति प्रतिषिद्धकालाचीर्णत्वात् । अथवा प्रकारान्तरेण कालद्विकेनानुज्ञातोऽवग्रहः कथमिति चेदाह ।

गिम्हाणं चरिमासो, जहि कत्तो तत्थ जति पुणो वासं ।
वासंति अब्भखेत्तो, संती दोसुं पि तो लाभो ॥

यत्र ग्रीष्माणामुष्णकालस्य चरमः पश्चादाषाढनामा मासः कृतस्तत्र यदि पुनरन्यक्षेत्रेऽसति तथाविधान्यक्षेत्राभावतो वर्षे च वर्षाकालं तिष्ठति ततो द्वयोरपि कालयोर्ग्रीष्मचरममासयोर्वर्षावस्थयोस्ततो लाभो भवति । एवं कारणतो द्वयोरपि कालयोः सचित्तादिलाभोऽनुज्ञात इत्यर्थः ।

एमेव य समतीते, वासे तिन्नि दसगा उ उक्कोसो ।
वासनिमित्त ठियाणं, उग्गहो मासछक्कोसे ॥

एवमेव अनेनैव प्रकारेण वर्षे वर्षाकाले समतीते यदि मेघो वर्षति ततोऽन्यद्दिवसदशकं स्थीयते तस्मिन्नपि समाप्तिमुपगते यदि पुनर्वर्षति ततो द्वितीयं दिवसदशकं स्थातव्यं तस्मिन्नप्यतीते पुनर्वृष्टौ तृतीयमपि दशकं तिष्ठति । एवमुत्कर्षतस्त्रीणि दिवसदशकानि वर्षानिमित्तस्थितानामुत्कृष्टोऽवग्रहः षण्मासप्रमाणो भवति । तद्यथा एको ग्रीष्मचरममासश्चत्वारो वर्षाकालमासाः षष्ठो मार्गशीर्षो दिवसदशकत्रयलक्षण इति । व्य० ४ उ० । नि० चू० ५ ॥

अदत्तादानदोषनिवृत्त्यर्थमवग्रहोऽनुज्ञापनीयः ॥

समणे भविस्सामि अणगारे अकिंचणे अपुत्ते अपसु परदत्तभोगी पावं कम्मं णो करिस्सामीति समुट्ठाए सव्वं भंते ! अदिण्णादाणं पच्चक्खामि से अणुपविसित्ता गामं वा जाव रायहाणिं वा णेवा सयं अदिण्णं गिण्हेज्जा णेवऽण्णेणं अदिण्णं गिण्हावेज्जा णेवण्णं अदिण्णं गिण्हंतं पि समणुजाणेज्जा । जेहिं वि सद्धिं पव्वइए तेसिं पियाइं भिक्खू छत्तयं वा मत्तयं वा दंडगं वा जाव चम्मच्छेदणगं वा तेसिं पुव्वामेव उग्गहं अणणुण्णविय अपडिलेहिय अपमज्जिय णो गिण्हेज्ज वा पगिण्हेज्ज वा तेसिं पुव्वामेव उग्गहं अणुण्णविय पडिलेहिय पमज्जिय तओ संजयमेव उगिण्हेज्ज वा पगिण्हेज्ज वा से आगंतारेसु वा ४ अणुवीइ उग्गहं जाएज्जा । जे तत्थ ईसरे जे तत्थ समाहिट्ठाए ते उग्गहं अणुण्णवेज्जा कामं खलु आउसो अहालंदं अहापरिण्णातं वसामो जाव आउसो जाव आउसंतस्स उग्गहे जाव साहम्मियाए जाव उग्गहं उगिण्हिस्सामो तेण परं विहरिस्सामो ॥

श्रमयतीति श्रमणस्तपस्वी यतोऽहमत एवंभूतो भविष्यामीति दर्शयति । अनगारोऽगा वृक्षास्तैर्निष्पन्नमगारं तन्न विद्यत इति अनगारस्त्यक्तगृहपाश इत्यर्थस्तथा अकिंचनो न

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विद्यते किमप्यस्येत्यकिंचनः निष्परिग्रह इत्यर्थः। तथा अपुत्रः स्वजनबन्धुरहितो निर्मम इत्यर्थः। एवमपशुः द्विपदचतुष्पदादिरहितः यत एवमतः परदत्तभोजी सन् पापं कर्म्म न करिष्यामीत्येवं समुत्थायैतत्प्रतिज्ञो भवामीति दर्शयति। यथा सर्वं भदन्तादत्तादानं प्रत्याख्यामि दन्तशोधनमात्रमपि परकीयमदत्तं न गृह्णामीत्यर्थः तदनेन विशेषणकदम्बकेनापरेषां शाक्यसरजस्कादीनां सम्यक् श्रवणत्वं निराकृतं भवति। स चैवंभूतोऽकिंचनः श्रमणोऽनुप्रविश्य ग्रामं वा यावद्राजधानीं वा नैव स्वयमदत्तं गृह्णीयान्नैवापरेण ग्राहयेन्नाप्यपरं गृह्णन्तं समनुजानीयाद्यैर्वा साधुभिः सह सम्यक्प्रव्रजितस्तिष्ठति वा तेषामपि संबन्ध्युपकरणमननुज्ञाप्य न गृह्णीयादिति दर्शयति। तद्यथा छत्रकमिति छद् अपवारणे छादयतीति छत्रं वर्षाकल्पादि। यदि वा कारणिकः कश्चित् कुंकणदेशादावतिवृष्टिसंभवाच्छत्रकमपि गृह्णीयाद्यावच्चर्म्मच्छेदनकमप्यननुज्ञाप्य प्रत्युपेक्ष्य च नावगृह्णीयात् सकृत्प्रगृह्णीयादनेकशः तेषां च संबन्धि यथा गृह्णीयात्तथा दर्शयति। पूर्वमेवताननुज्ञाप्य प्रत्युपेक्ष्य चक्षुषा प्रमृज्य रजोहरणादिना सकृदनेकशो वा गृह्णीयादिति किञ्च (से इत्यादि) स भिक्षुरागन्तागारादौ प्रविश्यानुविचिन्त्य च पर्यालोचयति विहारयोग्यं क्षेत्रं ततोऽवग्रहं वसत्यादिकं याचेत। यश्च याचयस्तं दर्शयति। यस्तत्रेश्वरो गृहस्वामी तथा यस्तत्राधिष्ठाता गृहपतिना निक्षिप्तभरः कृतस्तानवग्रहं क्षेत्रावग्रहमनुज्ञापयेद्याचेत कथमिति दर्शयति (काममिति) तवेच्छया खल्विति वाक्यालंकारे। आयुष्मन्! गृहपते (अहालंदमिति) यावन्मात्रं कालं भवाननुजानीते (अहापरिन्नायंति) यावन्मात्रं क्षेत्रमनुजानीषे तावन्मात्रं कालं तावन्मात्रं च क्षेत्रमाश्रित्य वयं वसाम इति यावदिहायुष्मन् यावन्मात्रं कालमिहायुष्मतोऽवग्रहो यावन्तश्च साधर्म्मिकाः साधवः समागमिष्यन्ति तावन्मात्रमवग्रहं गृहीष्यामस्ततऊर्ध्वं विहरिष्याम इति। आचा० २ श्रु० ७ अ० १ उ० ॥

(६] विधवाप्यनुज्ञापनीया।

सागारियअहिगारे, अणुवत्तं तम्मि को विसो होति।
संदिट्ठो वपहू वा, विहवा सुत्तस्स संबंधो ॥

इह पूर्वसूत्रात्सागारिकाधिकारः शय्यातराधिकारोऽनुवर्त्तते तस्मिन् अनुवर्त्तमाने सूत्रे कोऽपि स सागारिकः कोऽपि प्रभुरिति प्रतिपाद्यमित्येष विधवा सूत्रस्य संबन्धः। अस्य व्याख्या। न विद्यते धवो भर्त्ता यस्याः सा विधवा ततो दुहिता जातिकुलवासिनी पितृगृहवासिनी वा इत्यादि। अथवा समासकरणादिदं द्रष्टव्यम् या दुहिता विधवा या च ज्ञातिकुलवासिनी दुहिता। ज्ञातिकुलवासिनी नाम या गृहजामातुर्दत्ता साप्यवग्रहमनुज्ञापयितव्या किमङ्ग! पुनः पिता वा भ्राता वा पुत्रो वा स सुतरामनुज्ञापयितव्यः। तथा चाह (से यावतीत्यादि) ततो द्वावप्यवग्रहमवगृहीतव्याविति सूत्राक्षरार्थः॥

संप्रति भाष्यकारो व्याख्यानमाह।

विगयधवा खलु विधवा, धवं तु भत्तारमहु नेरुत्ता।
धारयति धीयते वा, दधाति वा तेण उ धवोत्ति

विगतधवा खलु विधवा। विगतो धवोऽस्या इति व्युत्पत्तेः धवं तु भर्त्तारमाहुर्नैरुक्ता निरुक्तिशास्त्रविदः। कया व्युत्पत्त्येत्याह। धारयति तां स्त्रियं धीयते वा तेन पुंसा सा स्त्री दधाति सर्वात्मना पुष्णाति तेन कारणेन निरुक्तिवशात् धव इत्युच्यते ॥

विधवा वा णुण्णविज्जइ, किं पुण पिय माइभायपुत्तादी।
सो पुण पभुवाऽपभुवा, अपहू पुण तत्थिमो होइ ॥

विधवाऽप्यनुज्ञाप्यते किं पुनः पिता माता भ्राता पुत्रादिर्वा स सुतरामनुज्ञाप्यः केवलं पुनः पुत्रभ्रातृप्रभृतिको द्विधा। प्रभुर्वा भवेदप्रभुर्वा। तत्र पुनरप्रभव इमे वक्ष्यमाणा भवन्ति तानेव निर्युक्तिकृदाह।

आदेसदाससभइए, विरिक्कजामाइए उ दिष्णा य।
अस्सामिमासो लहुतो, सेसपभूणुग्गहेणं वा ॥

आदेशः प्राघूर्णको दासो ऽकिंचनो भृतकः कर्म्मकरो विरिक्तो गृहीतरिक्तादिभागः पुत्रो भ्राता अन्यो वा तथाऽन्यत्र पृथग्गृहे जामातरि एतेऽस्वामिनोऽप्रभव एतान् यदि अनुज्ञापयति तदा प्रायश्चित्तं मासलघु शेषाः प्रभवः स्वामिनस्तान् अनुज्ञापयेत (अणुग्गहेणंवाति) अप्रभूणामपि येषां प्रभुणानुग्रहः कृतो यथा त्वया कृतं दत्तं वा तत्प्रमाणमिति तेन वा अनुग्रहेणाप्रभूनपि अनुज्ञापयेत नान्यथा।

अप्रभूणामनुज्ञापने दोषमाह।

दियराओ निच्छुहणा, अप्पहुदोसा आदिन्नदाणं च।
तम्हा उ अणुष्णवए, पभुं च पभुणा च संदिट्ठं ॥
गहपतिगहवतिणिं वा, अविभत्तसुतो अदिष्णकष्णा वा ॥

अप्रभूणामनुज्ञापने दोषा दिवा रात्रौ वा निष्काशनं तत्र जनगर्हाविनाशादयो दोषा न केवलं निष्काशनमदत्तादानं च। यस्मादप्रभूणामनुज्ञापने एते दोषास्तस्मात्प्रभुं प्रभुसंदिष्टं वाऽनुज्ञापयेत्। तमेव दर्शयति (गहपतित्ति) वाशब्दादविभक्तभ्रातृपितृव्यादिर्वा प्रभवति। अथवा या दुहिता विधवा निसृष्टा गृहे प्रमाणीकृता सापि प्रभवति। यदि वा यः स्वयं दातुं प्रभुणा आदिष्टः सोऽपि प्रभवति। एताननुज्ञापयेत्। व्य० ७ उ०।

(७) अवगृहीते चावग्रहे उत्तरकालविधिः साधर्मिकागमने उपनिमन्त्रणम्।

से किं पुण तत्थोग्गहंसि एवोग्गहियंसि जे तत्थ साहम्मिया संभोतिय समणुण्णा उवागच्छिज्जा जे तेण सयमेसियाए असणे वा ४ तेण ते साहम्मिया संभोइया समणुण्णा उवणिमंतेज्जा णो चेव णं परवडियाए उगिज्झिय उगिण्हिय उवणिमंतेज्जा से आगंतारेसु वा ४ जाव से किं पुण तत्थोग्गहंसि एवोग्गहियंसि जे तत्थ साहम्मिया अण्णसंभोइया समणुण्णा उवागच्छेज्जा। जे तेणं सयमेसियए पीढे वा फलए वा सेज्जासंथारए वा तेण ते साहम्मिए अण्णसंभोइए समणुण्णे उवणिमंतेज्जा णो चेव णं परिवडियाए उगिज्झिय उगिण्हिय उवणिमंतेज्जा से आगंतारेसु वा ४ जाव।

(से इत्यादि) तदेवमवगृहीतेऽवग्रहे स साधुः किं पुनः कुर्यादिति दर्शयति। ये तत्र केचन प्राघूर्णकाः साधर्म्मिकाः साधवः संभोगिका एकसमाचारीप्रविष्टाः समनोज्ञा उद्युक्तविहारिण उपागच्छेयुरातिवयसो भवेयुस्ते चैवंभूता ये तेनैव साधुना परलोकार्थिना स्वयमेषितव्यास्ते च स्वयमेवागता भवेयुस्तांश्चाशनादिना स्वयमाहृतेन स साधुरुपनिमन्त्रयेद्यथा गृहीत यूयमेतन्मयानीतमशनादिकं क्रियतां ममानुग्रह इत्येवमुपनिमन्त्र-

येन्नैवं (परवड्डियाएत्ति) परानीतं यदशनादि तत् गुरुसम-क्षमाश्रित्य नोपनिमन्त्रयेत्। किं तर्हि स्वयमेवानीतेन निमन्त्र-येदिति । तथा (सेइत्यादि) पूर्वसूत्रवत्सर्वं नवरमसांभो-गिकान् पीठफलकादिनोपनिमन्त्रयेद्यस्तेषां तदेव पीठकादि संभोग्यं नाशनादीति ।

(सूत्रम्) अत्थि या इत्थ केइ उदस्स य परियावन्नए यअचित्ते परिहरणे रिह सव्वे व उग्गहस्स पुव्वाणुण्ण-वणा चिट्ठइ अहालंदमवि उग्गहो ॥

अस्य संबन्धमाह ।

असहीणेसु वि साहम्मि, तेसुइतिएसु उग्गहो वुत्तो ।
अयमपरो आरंभो, गिहीवि जदे उग्गहे होइ ॥

अत्राधीनेष्वपि क्षेत्रान्तरं गतेषु साधर्मिकेषु इत्येषोऽवग्रहः प्रोक्तः। अयं पुनरपरः प्रकृतसूत्रस्यारम्भो गृहिभिर्विजदः परि-त्यक्तो यः प्रतिश्रयस्तद्विषयेऽवग्रहो भवति । अनेन संबन्धेना-यातस्यास्य व्याख्या। अस्ति वात्रानन्तरस्तत्र प्रस्तुते प्रतिश्रये किंचिदाहारार्थं भक्तादिकं गृहस्थसत्कमुपाश्रये पर्यापन्नं वि-स्मृतं परित्यक्तमुपाश्रयपर्यापन्नम् अचित्तं प्रासुकं परिहर-णार्थं साधूनां परिभोक्तुं योग्यं तत्र सैवावग्रहस्य पूर्वानुज्ञा-पना तिष्ठति तत्रोपाश्रये तिष्ठद्भिः पूर्वमेवानुजानीत प्रायोग्यमि-त्येव यदवग्रहोऽनुज्ञापितः सैवानुज्ञापना पश्चादुपाश्रयं पर्या-पन्नगृहणेऽप्यवतिष्ठते न पुनरभिनवमनुज्ञापनं कर्तव्यमिति भावः। कियन्तं कालमित्याह । यथालन्दमपि मध्यमलन्दमा-त्रमपि कालं यावदवग्रह इति सूत्रार्थः ।

अथामुमेव सूत्रार्थं भाष्यकृत्प्रतिपादयति ।

आहारो उवही वा, आहारो भुंजणारिहे कज्जा ।
दुविहपरिहारअरिहो, उवही विय कोयि णावि कोयि ॥

इह सूत्रे किंचिद्ग्रहणे न आहार उपधिर्वा गृहीतः परिहर-णार्हग्रहणेन तु संप्रकरपरिभोगार्हः। तत्राहारः कश्चिद्भोज-नार्हो भवति कश्चित्तु न भवतीति । उपधिरपि कश्चिद्द्विविध-परिहारसाधारणार्हपरिभोगरूपस्यार्हो भवति कश्चिच्च न भवति । तथाहि ।

संससासवपिसियं, आहारो अणुवभोज्ज इच्चादि ।
सुसिरातिणवकलइयो, परिहारे अणरिहो उवही ॥

संसक्तं द्वीन्द्रियादिजन्तुमिश्रं भक्तपानम् । आसवो मद्यम् पिशितं पुद्गलम्। इत्यादिक आहारो अनुपभोज्यः साधूनामुप-भोक्तुमयोग्यः शुषिरतृणवल्कलादिक उपधिरपि परिहारस्या-नर्हो मन्तव्यः। अर्थादापन्न ओदनादिक आहारो वस्त्रादि-कश्चोपधिः परिभोगार्ह इति ।

वायंते अणुण्णवणा, पायोग्गे होइ तप्पढमयाए ।
सो चेव उग्गहो खलु, चिट्ठइ कालो उ लंदक्खो ॥

साधुभिः प्रतिश्रये तिष्ठद्भिस्तत्प्रथमतया या प्रायोग्यस्यानु-ज्ञापना कृता भवति सा पश्चादुपाश्रयपर्यापन्नस्यापि ग्रहणे अव-गृहीतिष्ठति । न पुनर्भूयोऽनुज्ञाप्यते । या तु सूत्रे लन्दाख्या लन्द इत्यभिधानं स कालः प्रतिपत्तव्यः इति कृता सूत्रव्या-ख्या भाष्यकृता ।

संप्रति निर्युक्तिविस्तरः ।

पुव्वंसहा दुविहे, दव्वे आहार जाव अवरण्हे ।
उवहिस्स ततियदिवसे, इतरे गाहियम्मि जयणाए ॥

पूर्वं प्रथमं तिष्ठन्त यत्र वृषभाः समन्तादुपाश्रयमेवावलोकयन्तो द्विविधे द्रव्ये उपयोगं प्रयच्छन्ति। द्विविधं द्रव्यं नाम आहा-र उपधिश्च । तत्राघूर्णकादयो गृहिणो विस्मृत्य परित्यज्य वा गता भवेयुः। तेषु गतेषु यावदपराह्णो भवति तावदाहारं न गृह्णन्ति परतस्तु गृह्णन्ति उपधेस्तु तृतीये दिवसे गते ग्रहणं कुर्वन्ति इतरन्नाम अर्थजातं तत्कथाचिदगारिणां विस्मृतं भवे-त् तदेकान्ते निक्षेपणीयम् (गहियंतित्ति) यदि धानिकादि-भिर्गृहीतं तथा प्रातिवासिकैर्नष्टो भवेत्तथा तत्रापि यत्तेषां वि-स्मृतं तद्यथोक्तविधिना गृह्णन्ति। एष निर्युक्तिगाथासमासार्थः। सांप्रतमेनामेव विवृणोति ॥

पायं सायं मज्झं–वि यवसभा उवस्सयसमंता ।
एहिंति अपिहाए, लहुगो वेसाइमे तत्थ ॥

प्रातः प्रभाते सायं संध्यायां मध्याह्ने च कालत्रये वृषभा उपा-श्रयं समन्तात् प्रत्युपेक्षन्ते अप्रत्युपेक्षमाणानां लघुको मासः। दोषाश्चेमे । तत्राप्रत्युपेक्षणे भवन्ति ॥

साहम्मियअधम्मिय, गारत्थिणिक्खिवणवोसिरणरज्जु ।
गिण्हणकड्ढणववहार, पच्छकडुड्डाहणिव्विसए ॥

सधर्मिणी संयमी अन्यधर्मिणी परतीर्थिका अगारस्थी अविरतिका एता प्रद्विष्टाः सत्यः साधुप्रतिश्रयसमीपे अर्थ-जातस्य निक्षेपणं कुर्युः। यद्वा बालकं व्युत्सृज्य गच्छेयुः। परि-षहपराजितो वा कोऽपि संयतो रज्जुबन्धनेन म्रियेत। तत्र राज-पुरुषैर्ज्ञाते सति ग्रहणाकर्षणव्यवहारः पश्चात्कृतोड्डाहनिर्वि-षयाज्ञापनादयो दोषा भवन्ति । इदमेव भावयति ॥

नोदण कुविय साहम्मिणि, परतित्थियणिग्गीउदिट्ठिरागेण ।
अणुकंपनहिच्छदा–रिज्जवालं अगारी वा ॥

सधर्मिणी काचिच्च खण्डितशीला गर्भवती उड्डाहोऽयमि-ति मन्यमानैः साधुभिर्गाढं नितरां रजोहरणादिलिङ्गं बहिः कृत्वा भवेत् ततः सा मदीयलिङ्गमपहृतमिति मन्यमाना तयानो-दनया कुपिता सती स्वयमपत्यजातं तदाश्रयसमीपे परि-त्यजेत् परतीर्थिनी तु दृष्टिरागेण अस्माकमपयशः प्रवाहो भविष्यतीति कृत्वा संयतानामुपाश्रयसंनिधौ बालकं उत्सृजेत् परं लोकश्चिन्तयिष्यति एतैरेवैतज्जनितमिति । अथवा अगारी काचिदनुकम्पया यदृच्छया बालकं तत्र प्रक्षिपत् तत्रानुकम्प-या नाम दुष्कालादौ काचिद्दुःस्था योषिज्जीवनाय स्वापत्यं तदाश्रयान्तिके त्यजति यरमेते अनुकम्पापरायणा अमुं बाल-कं शय्यातरस्यापरस्य वा ईश्वरस्य गृहे निक्षेप्स्यन्तीति यदृच्छया अभिसंधिमन्तरेणैवमेव व्युत्सृजति ॥

हाउं व तरेउं वा, अचयंता तेणगा भिवत्थादी ।
एएहिं वि य जणियं, तहिं व दोसा उजुणादिट्टा ॥

स्तेनकादयो वस्त्रादिकं हर्तुं वा तरीतुं वा (अचयता) अशक्नुवन्तः साधूनां प्रतिश्रयसन्निधौ परित्यजेयुः। उपलक्षण-मिदं तेनान्यतीर्थिकादयः प्रत्यनीकतया हिरण्यसुवर्णादिकम-पहृत्य तत्र निक्षिपेयुः ततो यदि वृषभाः त्रिसंध्यं च सात प्रत्युपेक्षन्ते तदा लोको ब्रूयात् एतैरेवैतदपत्यजातं जनित सुवर्णार्थमत्र प्रक्षिप्तमिति । यस्तु देहे द्रोहो द्रव्यार्थवैरादिक-रणव्यपरोपितस्य पुरुषादेः शरीरमित्यर्थस्तत्र प्रतिचरणा कर्तव्या । सम्यक् प्रतिचर्यं यदि कोऽपि न पश्यति तदा परि-ष्ठापनीयामिति हृदयम् । तच्च परावग्राहपरकीयनिवेशनादौ (निवोज्झंति) परित्यजन्ति। किंतु परैरपि गृहीते तच्च नाग इति

अप्पडिचरपडिचराणं, दोसा य गुणा य वणिया एए ।
एतेण सुत्तं न कतं, सुत्तनिवातो इमो तत्थ ॥

अप्रतिचरणप्रतिचरणयोः प्रतिश्रयस्याप्रत्युपेक्षणाप्रत्युपेक्षणयोर्यथाक्रममेते दोषा गुणाश्च वर्णिताः । परमेतेन पर्यन्तसूत्रं न कृतं न विहितं किंतु सामाचारीप्रकाशनार्थं सर्वमेतद्व्याख्यातमिति । सूत्रनिपातः पुनरयं तत्रेति सूत्रनिपातस्यैवोपदर्शनार्थः ॥

आगंतुगागारट्ठियाणं, कज्जे आदेसमादिणा कोइ ।
वसिउं विस्समिउं वा, उज्झित्तु गया अणाभोगा ॥

इह यत्रागारिण आगत्यागत्य तिष्ठन्ति तदागन्तुकागारम् । तत्र कार्ये कारणविशेषतः स्थितानां प्रकृतसूत्रमवतरति कथमित्याह । आदेशप्राघूर्णकास्तत्र केचित्पथिका आगन्तुकागारे रजन्यां वासमुपगता दिवा वा भोजनार्थं विश्रामं कृतवन्तस्तत उषित्वा विश्रम्य वा किंचित् द्रव्यजातमनाभोगमानिच्छन्तो गताः । किंतु स त्यजेदित्याह ।

समिइसत्तुसागरस-सिणेहगुलल्लोणमादि आहारो ।
ओहे उवग्गहम्मि य, होउवही अट्ठजातं वा ॥

इहाहार उपधिश्चेति द्विविधं द्रव्यं भवति । तत्राहारः समितिसक्तुशाकरसस्नेहगुडलवणादिकः । समितिः कणिक्का शेषं प्रतीतम् । उपधिस्तु द्विधा भवति ओघ उपधिः उपग्रहे वा । औघोपधिरुपग्रहोपधिश्चेत्यर्थः । अर्थजातं द्रव्यं यद्वा परित्यक्तं भवेत् तत्राहारोपधिविषयं तावद्विधिमाह ।

काऊण स सागरिए, पडियरणा हारजात अवरण्हे ।
एमेव य उवहिस्सवि, सुण्णे दोसा य गहणाइ ॥

आहारसागारिके प्रदेशे कृत्वा तावत्प्रतिचरणं कुर्वन्ति यावदपराह्णः संजायते । एवमेवोपधेरपि शून्ये भूभागे स स्थापनीयः अन्तिकं वा अपहृतमेव तत्र जनदृष्टे मतिदोषा ग्रहणकर्षणादयो भवेयुः ॥

अहवा छुभेज्ज कोयि, उग्गामगवेरियं च हंतूणं ।
देहाण मइत्थी वा, परिसहपराजितो वा वि ॥

अथवा कश्चिदुद्भ्रामकं पारदारिकं वैरिणं वा हत्वा प्रत्यनीकतया तत्र प्रक्षिपेत् । स्त्री वा काचिदत्यन्तदुःखिता वैहायसमरणमुपाश्रयसमीपे कुर्यात् । परीषहपराजितो वा संयत एव कोऽपि रज्जुबन्धनेन म्रियेत " वरं प्रवेष्टुं ज्वलितं हुताशनं नवापि भग्नं चिरसंचितं व्रत " मिति कृत्वा ।

दविय संखडे वा, पुरिसत्था मेहुणो विसेसो वि ।
एमेव समागम्मि, चित्तं काए गिण्हणादीणि ॥

कोऽपि कंचित्पुरुषं द्रव्यार्थं जातनिमित्तं यद्वा असंखडं कलहो वैरमित्यर्थः तेन वा कंचिद् व्यपरोप्य संयतोपाश्रयसमीपे परित्यजेत् एवं स्त्रियमपि कांचिद्विनाश्य प्रक्षिपेत् । नवरं मैथुने विशेषः । किमुक्तं भवति सपत्नीं चतुर्थव्रतविघ्नकारिणीं मत्वा अपरोऽप्यत्र तत्र व्युत्सृजेत् अनायासप्रयासा भूयादिति कृत्वा । एवमेव श्रमणेऽपि गन्तव्यम् । तमपि कश्चिदुपकरणद्रव्यार्थं वैरेण वा मारयेदित्यर्थः । तत्र साधून् शङ्केरन् ततो ग्रहणाकर्षणादीनि पदानि प्राप्नुवन्ति यत एवमतः ।

कालम्मि पहुप्पंते, वसभादी ठवित्तु पडियरणं ।
रक्खंति साणमादी, छण्णजादिट्ठमपेहिं ॥

त्रिसंध्य वृषभैः समं ततो वसतिः प्रत्युपेक्षणीया । प्रत्युपेक्षितायां च यदि किंचित् कलपस्यकादिकं पश्यति कालश्च पूर्यते ततस्तत्त्वरादिषु स्थापयित्वा प्रतिचरणं कुर्वाणः प्रच्छन्नावकाशास्थिताः श्वानमार्जारादिना विनाश्यमानं रक्षन्ति यावत्कदपस्यकादिकमन्यैर्दृष्टमिति ।

वोलं पभायकाले, करिंति जणजाणट्ठयावसमा ।
पडियरणा पुण देहे, परगहेणिव उज्झंति ॥

यत्तत्र हिरण्यसुवर्णादि केनचित्परित्यक्तं भवति तत्प्रभातकाल एव प्रत्युपेक्षमाणाः सम्यगवनिरीक्ष्य वृषभा जनज्ञापनार्थं बोलं कुर्वन्ति । यथा केनचित्पापिनेदं हिरण्यादिकमस्मदपयशोऽर्थं निहितम् एवं शोकादयश्च द्विविधस्यापि द्रव्यस्य द्वारकर्तव्याः । किं कारणमाह ते परा यावदप्रतिचरन्तीत्युच्यते ।

वोच्छिज्जई ममत्तं, परेण तेसिं च तेण जति कज्जं ।
गिण्हंता वि विसुद्धा, जतिवि ण वोच्छिज्जती भावो ॥

अपराह्णात्परतस्तेषां पथिकानामाहारममत्वं व्यवच्छिद्यते । तेषां साधूनां च यदि तेनाहारेण कार्यं भवति ततो गृह्णतोऽपि विशुद्धाः । यद्यपि च भावस्तेषां तदुपरि न व्यवच्छिद्यते तथाप्यपसभयादूर्ध्वं गृह्णतां न कश्चिद् दोषः । उपधिं तु तृतीयदिवसे पूर्णे गृह्णन्ति एतावता तद्विषयममत्वस्य व्यवच्छेदात् ।

अव्वोच्छिन्ने भावे, विरागयाणं पि तं पयंसिति ।
पाबवणमणिच्छंते, कप्पं तु करेंति परिभुत्ते ॥

अथ तेषामद्यापि भावो न व्यवच्छिद्यते ततोऽव्यवच्छिन्ने भावे तेषां स्ववस्त्राणि गवेषयतां चिरादायातानामपि तमुपधिं तु दर्शयन्ति । एवं च तेषां प्रज्ञापनां कुर्वन्ति । अस्माभिरेतानि वस्त्राणि स्वीकृतानि ततोऽनुग्रहं मन्यमानाः साधूनामनुजानीथ एवमुक्ते यद्यनुजानते ततः सुन्दरम् । अथ नेच्छन्त्यनुज्ञातुं तानि वस्त्राणि परिभुक्तानि तत आत्मव्रतरक्षणार्थं कल्पं कुर्वन्ति ।

अथार्थजातविषयविधिमाह ।

पत्तो नियत्तपुट्ठा, करीदि दापंति पत्थणा एधे ।
दरिसिंति अपिच्छंतो, को पुच्छति केण ठवियं च ॥

इहोपाश्रये यद्यर्थजातं पतितमुपलभ्यते तदा तदप्यल्पसागारिके स्थाप्यते । शैक्षकादयश्च दूरे कर्त्तव्याः । प्रत्यवनिवृत्तेश्च भूयस्तत्रैव समायातैर्गृहिभिः पृष्टाः कुत्रास्माकं तदर्थजातमिति ततः करादिना हस्ताङ्गुल्यादिसंज्ञया दर्शयन्ति । अत्र प्रदेशे एनं प्रेक्षध्वम् । अथ ते न पश्यन्ति ततः स्वयमेव तदर्थजातं दर्शयन्ति । यदि ते पृच्छेयुः केनेदमत्र स्थापितं ततो वक्तव्यं के पृच्छन्ति केन स्थापितं चेति । एवं तावदुपाश्रयपर्यापन्ने आहारादौ विधिरुक्तः ।

अथ शय्यातरादिगृहपर्यापन्नो विधिमाह ।

भमाहइभयणट्ठे, गहियागहिएसु सिज्जादी ।
गेण्हंति असंचइओ, संचइयं वा असंथरणे ॥

भटा राजपुरुषास्तदादिभयात् नष्टे शय्यातरादौ अथवा शय्यिकाः प्रातिवेश्मिकास्तैर्गृहीतृभिर्धनिकैरागृहीता ऋणं दापयितुमारब्धास्ततस्तेषु शय्यिकादिषु नष्टेषु तत्र य आहारोऽसंचयिको दधिघृतादिस्तं गृह्णन्ति । अथ असंस्तरणे तत्र संचयिकमप्युपध्यादिकं गृह्णन्ति ।

सो विक्खेतरणट्ठे, एमेव य होइ उवहिगहणं पि ।
पुव्वागएसु कहणं, भुंजंति दिसो व मट्ठेवि ॥

प्रातिवेश्मिकादिसापेक्षो वा नष्टो भवेत् इतरो वा निरपेक्षः । सापेक्षो नाम भूयस्तत्रैवागन्तुकामस्तद्विपरीतो निरपेक्षस्तत्रोभयस्मिन्नपि नष्टे एवमेवाहारवदुपधेरपि ग्रहणं कुर्वन्ति ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सापेक्षयतिषु च प्रत्यागतेषु कथयन्ति कथितं च यस्तमनुज्ञातं सत्परिभुञ्जन्ति । ये तु निरपेक्षयतयस्तेषु निर्विचारमेव परिभुज्यते । एवं (अट्ठेविति) अर्थजातेऽपि ग्रहणं मन्तव्यम् ।

अत्रैवाशङ्कापरिहारावाह ।

पाउग्गमणुण्णवियं, जति मणसि एवमातिपसंगो त्ति ।

आउरजेसज्जसमा, तह संजमसाहगं जं तु ॥

यद्येवं मन्यसे प्रायोग्यं साधूनामुचितं यत्तदेव साधुनाननुज्ञापितं नेतरत्प्रायोग्यमर्थजातादि तत एवमननुज्ञापितमप्यर्थजातं गृह्णतामतिप्रसङ्गो भवति तत्राप्यभिधीयते नैकान्तेनार्थजातमप्रायोग्यं यत आतुरो रोगी तस्य भेषजोपमा कर्तव्या । यथा पुनरस्याभिनवोदीर्णे ज्वरादौ यदौषधं प्रतिषिध्यते तदेवान्यस्यामवस्थायां तस्यैवानुज्ञाप्यते एवमर्थजातमपि पुष्टकारणाभावे प्रतिषिद्धम् । यत्तु दुर्भिक्षादौ संयमस्य साधकं तदनुज्ञातमेव । बृ० ३ उ० ।

किञ्च ।

से किं पुण तत्थोग्गहंसि एवोग्गहियंसि जे तत्थ गाहावईण वा गाहावइपुत्ताण वा सूती वा पिप्पलए वा कण्णसोहणए वा णहच्छेदणए वा तं अप्पणो एगस्स अट्ठाए पडिहारियं जाइत्ता णो अण्णमण्णस्स देज्ज वा अणुपदेज्ज वा सयं करणिज्जं तिकट्टु से तमादाए तत्थ गच्छेज्जा २ पुव्वामेव उत्ताणए हत्थे कट्टु भूमीए वा ठवेत्ता इमं खलु इमं खलु इमं खलु त्ति आलोएज्जा णो चेव णं सयं पाणिणा परपाणिंसि पच्चप्पिणेज्जा ॥

(८) स सागारिकानुदकसलीकमुपाश्रयमवग्रहं नानुज्ञापयेत् यत्र कर्मकरा आक्रोशन्ति यावत्स्नान्ति तत्रापि नावग्रहः ।

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण उग्गहं जाणेज्जा अणंतरहियाए पुढवीए ससणिद्धाए पुढवीए जाव संताणए तहप्पगारं उग्गहं णो उगिण्हेज्जा २ से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण उग्गहं जाणेज्जा थूणंसि वा ४ तहप्पगारे अंतलिक्खजाए दुब्बद्धे जाव णो उग्गहं उगिण्हेज्जा २ से भिक्खू वा २ सेज्जं पुण उग्गहं जाणेज्जा कुलियंसि वा जाव णो उगिण्हेज्ज वा से भिक्खू वा २ खंधंसि वा अण्णयरे वा तहप्पगारे जाव णो उगिण्हेज्ज वा २ सेज्जं पुण उग्गहं जाणेज्जा ससागारियं सगणियं सउदयं सइत्थिं सखुड्डं सपसु समत्तपाणं णो अण्णस्स णिक्खमणपवेस जाव धम्माणुजोगचिंताए सेवं णच्चा तहप्पगारे उवस्सए ससागारिए जाव सखुड्डपसुभत्तपाणे णो उग्गहं उगिण्हेज्ज वा २ से भिक्खू वा २ सेज्जं पुण उग्गहं जाणेज्जा गाहावइकुलस्स मज्झं मज्झेण गंतुं पंथे पडिबद्धं वा णो अण्णस्स जाव से एवं णच्चा तहप्पगारे उवस्सए णो उग्गहं उगिण्हेज्ज वा २ से भिक्खू वा २ सेज्जं पुण उग्गहं जाणेज्जा । इह खलु गाहावई वा जाव कम्मकरीओ वा अण्णमण्णं अक्कोसंति वा तहेव तेल्लादि सिणाणादि सीओदगवियडादि णिगिणाइ य जहा सेज्जाए आलावगा । णवरं उग्गहवत्तव्वता । से भिक्खू वा २ सेज्जं पुण उग्गहं जाणेज्जा आइण्णं संलेक्खाणो अण्णस्स जाव चिन्ताए तहप्पगारे उवस्सए णो उग्गहं उगिण्हेज्जा जाव एयं खलु तस्स भिक्खुस्स वा २ सामग्गियं उग्गहपडिमाए । पढमो उद्देसओ सम्मत्तो ॥

(९) ब्राह्मणाद्यवगृहीतेऽवग्रहः ।

से आगंतारेसु वा ४ अणुवीयि उग्गहं जाएज्जा जे तत्थ ईसरे समाहिट्ठाए ते उग्गहं अणुण्णवित्ता कामं खलु आउसो अहालंदं अहापरिण्णायं वसामो जाव आउसो जाव आउसंतस्स उग्गहे जाव साहम्मियाए ताव उग्गहं उगिण्हेस्सामो तेण परं विहरिस्सामो । से किं पुण तत्थ उग्गहंसि एवोग्गहियंसि जे तत्थ समणाण वा माहणाण वा दंडए वा छत्तए वा जाव चम्मच्छेदणए वा तओ अंतोहिंतो बाहिं णीणेज्जा बाहिया वा णो अंतो पवेसेज्जा णो सुत्तं वाणं पडिबोहेज्जा णो तेसिं किंचि वि अप्पत्तियं पडिणीयं करेज्जा ॥

स भिक्षुरागन्त्रागारादावपरब्राह्मणाद्युपभोगसामान्ये कारणिकः स्वामीश्वरादिकं पूर्वक्रमेणावग्रहं याचेत । तस्मिंश्चावगृहीते अवग्रहे यत्तत्र श्रमणब्राह्मणादीनां छत्राद्युपकरणजातं भवेत्तस्यैवाभ्यन्तरतो बहिर्निष्कामयेन्नापि ततोऽभ्यन्तरं प्रवेशयेन्नापि ब्राह्मणादिकं सुप्तं प्रतिबोधयेन्नच तेषां (अप्पत्तियंति) मनसः पीडां कुर्यात्तथा प्रत्यनीकतां प्रतिकूलतां न विदध्यादिति । आचा० २ श्रु० ७ अ० २ उ० ।

(१०) पथ्यवग्रहोऽनुज्ञापयितव्यः ।

अनुज्ञापयन्तो अस्य संबन्धमाह ।

उग्गहदुम्मि दिट्ठे, कहियं पुण सो अणुण्णवेयव्वो ।

अद्धाणादीएसु वि, संभावणसुत्तसंबंधो ॥

अवग्रहस्य प्ररूपणेकपुनः सोऽवग्रहोऽनुज्ञापयितव्यः इति चिन्तायामधिकृतसूत्रेणोच्यते पथ्यप्यवग्रहोऽनुज्ञापयितव्यः । अपि शब्दः संभावनायामास्तां ग्रामे नगरे वा किंतु संभाव्यमानायामध्वन्यपि । तथा चाह अध्वादिकेष्वप्यनुज्ञापयितव्यः । एष संभावनासूत्रस्य संबंधः । संप्रति भाष्यविस्तरः ।

अद्धाण पुव्वभणियं, सागारियमग्गणा इहं सुत्ते ।

मग्गण परिग्गहिए सा, गारियसेसभयणा य ॥

अध्वानि यद्वक्तव्यं तत्सर्वं कल्पाध्ययने भणितमिहापि पुनः सूत्रेऽध्वानं व्रजतां सागारिकमार्गणा शय्यातरमार्गणा क्रियते तथा केनाचित्परिगृहीते वृक्षादौ सति शेषसागारिके भजना-यदि विस्तारान्ति तर्हि यावद्भिस्तद्गृहीतं वृक्षादि तावतः शय्यातरान् करोति असंस्तरणे एकमपि शय्यातरमिति भावार्थः ।

संप्रति पूर्वार्द्धव्याख्यानमाह ।

दिणे दिणे जस्स उवल्लियंती, जं की हवंते वयणाल्लियं वा ।

सागारिए होंति स एवमेक्क, रीठागए सुत्तु जहिं वसंति ॥

दिने दिने यस्य भर्मी गम्भीं वहन्तीमुपलीयन्ते आश्रयन्ति साधवो यदि वा पल्लिका नाम यत्र मध्याह्ने साधर्मिकास्तिष्ठन्ति यत्र वा वसन्ति तत्र वस्त्रादिभयं कुवशयनं कुर्वन्ति तां वा यस्य दिने उपजीवन्ते तदा स एकः सागारिकः

शय्यातरो भवति । रीढागतेषु तु अवइया यत्र तत्र गतेषु साधुषु यत्र रात्रौ वसन्ति तद्दिवसं स शय्यातरः । इयमत्र भावना । यस्य न नियमेन भक्तं वा पराक्रिकां वा प्रतिदिनमुपग्रीयन्ते किंतु यदृच्छया कस्मिंश्चिद् दिने कस्यापि तदा यां यां रात्रिं यस्य जपाश्रयादिकमुपग्रीयन्ते तस्मिन् २ दिने स शय्यातरः

वीसमंता वि छायाए, जे तहिं पढमंतिया ।
पुच्छिउं तेवि चिट्ठंय, पंतिए किमु जहिं वसो ॥

विश्राम्यन्तोऽपि छायायां ये तत्र पथिकाः प्रथमं स्थितास्तिष्ठन्ति तानपि दृष्ट्वा तत्र तिष्ठेत नान्यथा किं पुनर्यत्र च साधुस्तत्र सुखरात्रं ते अनुज्ञापयितव्यास्ततो भवन्ति ते शय्यातराः संप्रति य स्सप्परिग्गहिए सागारिए सेसए भयणा" इति व्याख्यानयन्नाह

वसतिं वा जहिं रत्तिं, एगेगमपरिग्गहे ।
सत्तिए उत्तरे कुज्जा, वा वंते गमसंथरे ॥

यत्र वृक्षस्याधस्तादन्यत्र वा एकस्य वा परिग्रहे अनेकस्य वा परिग्रहे अनेकस्य वा पथिकस्य संवस्तस्य परिग्रहे साधवो रात्रौ वसन्ति तहिं सर्वानपि तान् शय्यातरान् कुर्युः । अथ न संस्तरन्ति तदात्ममध्ये एकं शय्यातरं स्थापयति । शेषान् निर्विशन्ति । एवा शेषे सागारिके भजना । व्य० ७ उ० ७ उ० ।

आम्रभुवनादावग्रहे आम्रफलादिभोजनं तथुनवनादावग्रहश्च । तत्र आम्रवनादौ अवग्रहे आम्रफलभोजनम् ।

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा अभिकंखेज्जा अंबवणं उवागच्छित्तए जे तत्थ ईसरे जे तत्थ समाहिट्ठाए ते उग्गहं अणुजाणावेज्जा कामं खलु जाव विहरिस्सामो से किं पुण तत्थोग्गहंसि वा एवोग्गहियंसि वा भिक्खू वा भिक्खुणी वा इच्छेज्जा अंबंभोत्तए वा सेज्जं पुण अंबं जाणेज्जा स अंडं जाव ससंताणं तहप्पगारं अंबं अफासुयं जाव णो पडिगाहेज्जा । से भिक्खू वा २ सेज्जं पुण अंबं जाणेज्जा अप्पंडं जाव संताणगं अतिरिच्छच्छिन्नं अवोच्छिन्नं अफासुयं जाव णो पडिगाहेज्जा । से भिक्खू वा २ सेज्जं पुण अंबं जाणेज्जा अप्पंडं जाव संताणगं तिरिच्छच्छिन्नं वोच्छिन्नं फासुयं जाव पडिगाहेज्जा । से भिक्खू वा भिक्खुणी वा अभिकंखेज्जा अंबभित्तगं वा, अंबपेसियं वा, अंबचोयगं वा, अंबसालगं वा, अंबदालगं वा, भोत्तए वा पायए वा सेज्जं पुण जाणेज्जा अंबभित्तगं जाव अंबदालगं वा स अंडं जाव संताणगं अफासुयं जाव णो पडिगाहेज्जा । से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण जाणेज्जा अंबभित्तगं वा अप्पंडं वा जाव संताणगं अतिरिच्छच्छिन्नं वा अफासुयं जाव णो पडिगाहेज्जा । से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण जाणेज्जा अंबभित्तगं वा अप्पंडं जाव संताणगं तिरिच्छच्छिन्नं वोच्छिन्नं फासुयं जाव पडिगाहेज्जा ॥

स भिक्षुः कदाचिदाम्रवनेऽवग्रहमीश्वरादिकं याचेत तत्रस्थश्च सति कारणे आम्रं भोक्तुमिच्छेत्तच्चाम्रं साण्डं ससन्तानकमप्रासुकमिति च मत्वा न प्रतिगृह्णीयादिति । किंच (सेत्यादि) स भिक्षुर्यत्पुनराम्रमल्पाण्डमल्पसन्तानकं वा जानीयात्किंत्वतिरश्चीनच्छिन्नं तिरश्चीनमपाटितम् । तथा व्यवच्छिन्नं न खण्डितं यावदप्रासुकं न प्रतिगृह्णीयादिति । तथा (सइत्यादि) स भिक्षुरल्पाण्डमल्पसंतानकं तिरश्चीनच्छिन्नं तथा व्यवच्छिन्नं यावत्प्रासुकं कारणे सति गृह्णीयादिति । एवमामावयव एव संबन्धिसूत्रत्रयमपि नेयमिति । नवरम् (अंबभित्तयं) आम्रार्द्धमाम्रपेसी आम्रफाली (अंबचोयगं ति) आम्रछल्ली सालगं रसं (दालगं ति) आम्रश्लक्ष्णखण्डानीति ॥

इक्षुवनादावग्रहः

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा अभिकंखेज्जा उच्छुवणं उवागच्छित्तए जे तत्थ ईसरे जाव उग्गहंसि अह भिक्खू इच्छेज्जा उच्छुं भोत्तए वा पायए वा सेज्जं उच्छुं जाणेज्जा से अंडं जाव णो पडिगाहेज्जा अतिरिच्छच्छिन्नं तहेव तिरिच्छच्छिन्नं तहेव से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण अभिकंखेज्जा अंतरुच्छुयं वा उच्छुगंडियं वा उच्छुचोयगं वा उच्छुसालगं वा उच्छुडालगं वा । भोत्तए वा पायए वा सेज्जं पुण जाणेज्जा । अंतरुच्छुयं वा जाव डालगं वा स अंडं जाव णो पडिगाहेज्जा वा से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण जाणेज्जा अंतरुच्छुयं वा जाव डालगं वा अप्पंडं जाव पडिगाहेज्जा अतिरिच्छच्छिन्नं तिरिच्छच्छिन्नं तहेव पडिगाहेज्जा

लशुनवनादावग्रहः

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा अभिकंखेज्जा लहसणवणं उवागच्छित्तए तहेव तिण्णि वि आलावगा णवरं लहसुणं से भिक्खू वा भिक्खुणी वा अभिकंखेज्जा लहसुणं वा लहसुणकंदं वा लहसुणचोयगं वा लहसुणनालगं वा भोत्तए वा पायए वा सेज्जं पुण जाणेज्जा लहसुणं वा जाव लहसुणबीयं वा स अंडं जाव णो पडिगाहेज्जा । एवं अतिरिच्छच्छिन्ने वि तिरिच्छच्छिन्ने पडिगाहेज्जा ॥ आचा० २ श्रु० ७ अ० २ उ० ।

सागारिकेण भद्रक प्रधानेन स्वीकृतेऽवग्रहः (सागारियशब्दे)

(१२) स्वामिना त्यक्ते अत्यक्ते वाऽवग्रहः ।

(सूत्रम्) से वत्थूसु अव्वावडेसु अव्वोगडेसु अपरपरिग्गहेसु अमरपरिग्गहिएसु सव्वे व उग्गहस्स पुव्वाणुन्नवणा चिट्ठइ । अहालंदमवि उग्गहे ॥

अस्य संबन्धमाह ।

गिहिउग्गह सामिजढे, इति एसो उग्गहो समक्खातो ।
सामिजढे अजढे वा, अयमन्नो होइ आरंभो ॥

स्वामिना जढः परित्यक्तो यो गृहिणां संबन्धी अवग्रहस्तद्विषय इत्येषो ऽवग्रहोऽवग्रहविधिः समाख्यातः । अयं पुनरन्यः प्रस्तुतसूत्रस्यारम्भः स्वामिना त्यक्ते अत्यक्ते वा अवग्रहो भवतीति अनेन संबन्धेनायातस्यास्य व्याख्या (से) तस्य भिक्षोः वास्तुषु गृहेषु कथंभूतेषु अव्यापृतेषु शटितपतिततया व्यापारविरहितेषु अव्याकृतेषु दायादिभिरविभक्तेषु ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अथवा पुनीतकाले केनाप्यनुज्ञातमिति न ज्ञायते यत्तदव्याकृतं तेषु। तथा अपरपरिगृहितेषु परैरन्यैरनधिष्ठितेषु अमरपरिगृहीतेषु देवैः स्वीकृतेषु सैवावग्रहः तत्पूर्वानुज्ञापना तिष्ठति। यथा संदमप्यवग्रहे किमुक्तं भवति यावन्तं कालं तानि वस्तूनि तेषां पूर्वस्वामिनामवग्रहे वर्तन्ते तावन्तं कालं सैव पूर्वानुज्ञापना तिष्ठति न पुनर्भूयोऽप्यवग्रहोऽनुज्ञापनीय इति सूत्रार्थः ।

संप्रति निर्युक्तिविस्तरः ॥

खित्तं वत्थुं सेतुं, केतुं साहारणं च पत्तेयं ।
अव्वोवरूमव्वोअम-अपरममरपरिग्गहं चेव ॥

इह वास्तु सामान्यतो द्विधा क्षेत्रं वास्तु गृहं वास्तु च। क्षेत्रं द्विधा सेतु केतुगृहं च तत्र अरघट्टजलेन यत्सिच्यते तत्सेतु। वृष्टिजलेन तु यन्निष्पद्यते तत्केतु । गृहं पुनः खातोच्छ्रितोभयभेदात् त्रिधा वक्ष्यते । क्षेत्रं गृहं चोभयमपि द्विधा । साधारणं प्रत्येकं च । साधारणं बहूनाम्, सामान्यं प्रत्येकम् एकस्वामिनस्त्र पदानि पश्चार्द्धेन संग्रहीतुमाह। अव्यापृतमव्याकृतमपरपरिगृहीतममरपरिगृहीतं चेति । अथ साधारणपदं विवृणोति।

होइ य गणगोट्ठीणं, सेणिसाहारणं च दुगमाई ।
वत्थुम्मि एत्थ यपयं, उत्थितखाते तदुभयम्मि ॥

गणगोष्ठीनां श्रेणीनां वा (दुगमाइत्ति) द्वित्रिप्रभृतिसंख्यकानां द्व्यादिजनप्रतिबद्धानां वा यत्क्षेत्रं वास्तु वा सामान्यं तत्साधारणमुच्यते । अत्र तु वास्तुना अधिकारो न क्षेत्रेण तच्च वास्तु त्रिधा । उत्थितं खातं तदुभयं च उत्थितं प्रासादः । खातं भूमिगृहं तदुभयमधो भूमिगृहयुक्तः प्रासादः ।

अव्यापृतादिपदानि व्याचष्टे ।

सडियपडियं न कीरइ, जहियं अव्वावडं तयं वत्थू ।
अव्वोगडमविभत्तं, अणहिट्ठियमपरपक्खेणं ।

यत् शटितं पतितं यत्र व्यापारः केनापि न क्रियते यत्तद्वास्तु अव्यापृतमुच्यते । अव्याकृतं नाम यद्दायादैरविभक्तम् अपरपरिगृहीतं नाम यदन्यपक्षेणान्यदीयवशेनानाधिष्ठितं नास्य परिगृहीतं स्वयमेव तस्य शय्यातर इति भावः । इदानीमेव भावयति ।

अवरो सुविहियसामी, जेण वि दिष्णं तु तप्पढमताए ।
अमरपरिग्गहियं पुण, इत्ताखिया रुक्खमादी य ॥

अपरो नाम तत्प्रथमतया साधूनां यद्दत्तं स एव तस्य स्वामी नान्यः कश्चित् । न परोऽपर इति समासाश्रयणात्। अमरपरिगृहीतं पुनर्देवकुलिका वा वृक्षादिकं वा वानमन्तराधिष्ठितं मन्तव्यम । अथाव्याकृतादिषु दृष्टान्तानुपदर्शयति ।

अव्वावडे कुडुंबी, काणिक्कावोगडे य रायगिहे ।
अपरपरोसादेवउ, अमरसक्खे पि सायघरे ॥

अव्यापृते गृहे कुटुम्बिदृष्टान्तः । अव्याकृते तु राजगृहे (काणिक्कति) पाषाणमधः एकेष्टका वा वलिकामहत्यश्च काणिक्का लभ्यन्ते तन्मध्ये गृहकारापको वणिग् दृष्टान्तः । परपरिगृहीते ऽपि स एव दृष्टान्तः । अपरपरिगृहीते वृक्षपिशाचगृहं वा निदर्शनं भवतीति निर्युक्तिगाथासमासार्थः ।

अथैनामेव विवरीषुः कुटुम्बिदृष्टान्तमाह ।

नम्मवणं पासाए, संखडिजक्खेण भिणायकंदी य ।
असुं वावारणं, कुणंति अव्वावडं तेणं ॥

कुडुंबिएणं सुंदरं घरं कारियं समत्तं तंमि संखडं काउं कले पविसामिमित्ति चिन्तेइ नवरं वाणमंतरेण रत्तिं भणति । जइ पविसिहिसि तो ते कुलं उत्थाएमि तेण कंदियाहि फलिहिऊण मुक्कं वावारं वासे न करेइ । अन्नया साहूहिं आगएहिं सो कुडुंबी अणुन्नविओ तेण भणइ दिवयाए परिग्गहियं । तओ से अवाओ भविस्सइ । साहूहिं भणितो अणुजाणसु तुमं संभिस्सामो वयं देवयाए तओ तेण अणुन्नाए तेहिं काउस्सग्गेण जक्खो आकंपिओ भणइ । उवरिल्लभूमियं मोत्तुं वासत्था अत्थ हते ठिया तेसु गतेसु जे अन्ने साहुणो इंति ते तत्थेव ठायंति। सच्चेव उग्गहस्स पुव्वाणुन्नवणा । अथ गाथाक्षरार्थः । कुटुम्बिना प्रासादस्य निर्मापणं कृतं ततः संखडिः कर्तुमारब्धो यक्षेण च स्वप्ने निवेदितं यदि प्रासादं प्रवेक्ष्यसि ततः सकुटुम्बं भवन्तं व्यपरोपयिष्यामीति तेन कण्टिकाभिः परिक्षिप्तं तद्गृहम् अन्यमपि च व्यापारं तत्र न करोति तेनाव्यापृतमुच्यते । अव्याकृते दृष्टान्तमाह ।

दत्तु असीयंवघरं महल्लं, कालेण तं खीणधणं च जायं ।
ते उंबरीयस्स भयाउ कुट्टी, दाउं य मोल्लंवघरं जईणं ॥

सगेणं इड्डिमंतेण वाणिएण रायगिहे नयरे स जालमाला वा घालपंकइगाहिं गिहं कारियं सोयं तम्मि निम्माविय पंच तीहुओ पुत्तो सो पुट्ठी जाओ । क्षीणविभव इत्यर्थः । तत्थयं उंबरीअकरो घिप्पइ ते तं दाउं अवयंता एगपासे कुट्टियं काउं ठिया तं च तेहिं संजयाण दिन्नं । अथाक्षरगमनिका। ऋद्धिमत्वे महर्द्धिकतायां कस्यापि वणिजो गृहं महल्लं महाजनाकुलमासितं कालेन तत् क्षीणधनं च शब्दादल्पमानुषं च संजातं ते च तदीयाः पुत्रा उंबरीयस्य प्रत्युदुम्बरं रूपको दातव्य इत्येवंलक्षणस्य करस्य भयादेकस्मिन् पार्श्वे कुटीं कृत्वा मोल्लं च गृहपतीनां दत्वा कुटीरके स्वयं स्थिताः । एतदव्याकृतमुच्यते। अथ पूर्वानुज्ञापनां व्याख्याति ।

पुव्विट्ठियणुण्णविय-ठायं तम्मेवि तत्थ ते य गता ।
एवं सुण्णसुण्णे, सो चेव य उग्गहे होइ ॥

अव्यापृते अव्याकृते वा पूर्वं साधवोऽनुज्ञाप्य स्थिताः तेषां मासकल्पे वर्षावासे वा पूर्णे शून्यभूते तत्र प्रतिश्रये अपूर्णे वा कल्पे अशून्यपदोपाश्रये अन्ये साधवस्तिष्ठन्ति ततः पूर्वसाधवः कल्पं समाप्यान्यत्र गताः परं शून्ये अशून्ये वा तत्र तिष्ठतां तेषां स एवावग्रहो भवति न पुनर्भूयोऽनुज्ञापयन्ति ।

अपरपरिगृहीतं व्याचष्टे ।

अपरपरिग्गहितं पुण, अपरे जत्ती जइ उ चिंति ।
अव्वोकडं पितं चिय, दोण्हि वि अच्छी अ परसद्दो ॥

पुनःशब्दो विशेषणार्थः स चैतद्विशिनष्टि अपरिगृहीतं नाम येन साधूनां तद्दत्तं स एव स्वामी नान्य इति तावदपरिगृहीतस्यैकाऽर्थः प्रयुक्तः। यद्वा न परे अपरा यतयस्तत्रोपयन्ति तेनतदपरपरिगृहीतमव्याकृतमपि तदेव मन्तव्यम् । सर्वेषामपि साधूनां साधारणमिति कृत्वा तदेव द्वावप्यर्थावपरशब्दे भवतः। एको न परोऽपरस्तेन परिगृहीतमपरपरिगृहीतम् द्वितीयोऽपरैः साधुभिःपरिगृहीतमपरपरिगृहीतमिति । अमरपरिगृहीतं तु वृक्षे वृक्षस्याधस्ताद्वा गृहं मन्तव्यम्। तत्र गृहे यदि पूर्वं साधवो ऽनुज्ञाप्य स्थितास्तदा शेषाणां स एवावग्रहो भवति।

अथ वृक्षविषयं विधिमाह ।

भूयाइपरिग्गहिते, दुमम्मि तमणुण्णवित्तु सज्झायं ।

एगेण अणुषविए, सो चेव य उग्गहो होइ ॥

भूतादिना व्यन्तरेण परिगृहीतो यो द्रुमस्तत्र स्वाध्यायार्थं कदाचित्स्थातव्यं भवति । तं च व्यन्तरमनुज्ञाप्य स्वाध्यायं करोति । एवमेकेनापि तस्मिन्ननुज्ञापिते शेषाणां साधूनां स वृक्ष एवावग्रहो भवति । अथासौ वृक्षः परपरिगृहीतो ऽप्यस्ति ततः

सामी अणुष्पविज्जइ, दुमस्स जस्सोग्गहो व्व असहीणा ।

कूरसुरपरिग्गहिते, दुमम्मि कणिट्ठगाण गमो ॥

यस्तस्य द्रुमस्य स्वामी सोऽनुज्ञाप्यते । अथासौ न स्वाधीनस्ततोऽस्वाधीने तस्मिन् यस्यायमवग्रहः सोऽनुजानीतामिति वक्तव्यम् । अथासौ द्रुमः क्रूरसुरपरिगृहीतस्ततो येषामगारिणां सत्कस्तेषामागन्तुमसौ न ददाति तत्र कणेष्टका गृहगमो मन्तव्यः । तं सुरं कायोत्सर्गेणानुकम्प्य स्वाध्यायादि कुर्वन्तीति भावः । तत्र चायं विधिः ।

निच्छंतेण व अघे, ईसालुसुरेण जं अणुष्णायं ।

तत्थ वि सो चेव गमो, सागारियंकम्मि मग्गणता ॥

ईर्ष्यालुसुरेण अन्येन गृहिणा आगच्छता वृक्षमूलादिकं साधूनामनुज्ञातं तत्रापि स एव गमः पूर्वानुज्ञापनावस्थानलक्षणो विज्ञेयो नवरं तत्र स्थितानां सागारिकपिण्डस्य मार्गणा कर्तव्या । तामेवाह ।

जक्खो चि य होइ तरो, बलिमादी गिण्हणा भवे दोसा ।

सुविणा उवरिं एवा, संखडिकारोवणाणिक्खं ॥

येन यक्षेण स द्रुमः परिगृहीतः स एव तत्र स्थितानां तरूणां शय्यातरो भवति । ततो यस्तस्य बलिकूरादि निवेद्यते स शय्यातरपिण्ड इति कृत्वा परिह्रियते । वृ० ३ उ० ।

राजावग्रहो देवेन्द्राऽवग्रहश्च ।

(सूत्रम्) से अणुकड्डेसु वा अणुभित्तिसु वा कुणरियासु वा अणुफरियासु वा अणुपंथेसु वा अणुमगेसु वा संधेवग्गहए पुव्वाणुण्णवणा चिट्ठइ अहालंदमवि उग्गहे ।

अस्य संबन्धमाह ।

जे चेव दोण्णि य गता, सागारियरायउग्गहो होंति ।

तेसिं इह परिमाणं, णिवोग्गहम्मी विसेसेणं ॥

यावेव द्वौ सागारिकराजावग्रहौ पूर्वसूत्रयोः प्रकृतौ तयोरेवेह सूत्रे परिमाणमुच्यते तथापि नृपावग्रहपरिमाणं विशेषेणाभिधीयते अनेन संबन्धेनायातस्यास्य व्याख्या (से) तस्य निर्ग्रन्थस्य अनुकुड्येषु वा कुडयसमीपवर्तिषु प्रदेशेषु एवमनुभित्तिषु वा अनुपरिखासु वा अनुपथेषु वा अनुमर्यादासु वा इह परिखानगरप्राकारयोरपान्तराले हस्ताष्टकप्रमाणो मार्गः । परिखा खातिका मर्यादा सीमा शेषं प्रतीतम् । एतेषु सैवावग्रहस्य पूर्वानुज्ञापना तिष्ठति यथालन्दमपि कालमवग्रह इति सूत्रार्थः ।

अथ निर्युक्तिविस्तरः ।

अणुकुड्ड भित्तीसुं, चरियाए गारपंथफरिहासु ।

अणुमग्गे सीमाए, णायव्वं जं जहिं कमति ॥

अनुशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते अनुकुड्यानुभित्त्योः अनुचरिकाप्राकारपथपरिखासु च (अणुमग्गसीमाए) मर्यादा सीमा ततोऽनुमर्यादायामनुसीमायामित्येकोऽर्थः । एष्वनुज्ञातव्यम् । यथात्र सागारिकराजावग्रहानुज्ञापनम् ।

एतां निर्युक्तिगाथां व्याख्यानयति ।

उवकुड्डं अणुकुड्डं, कुड्डसमीवं व होइ एगट्ठं ।

एमेवासेसएसु वि, तेसि पमाणं इमं होइ ॥

अनुशब्दस्य समीपार्थद्योतित्वादनुकुड्यमुपकुड्यं कुड्यसमीपमिति चैकार्थम् । एवमेव शेषेष्वपि अनुभित्त्यादिषु पदेषु मन्तव्यम् । तेषामनुकुड्यादीनामवग्रहविषयमिदं प्रमाणं भवति ।

वतिभित्तिकडगकुड्डे, पंथेपमए उग्गहो रयणी ।

अणुचरियाए अट्ठउ, चउरो रयणी उ परिहाए ॥

वृत्तौ वर्तुलादिपरिक्षेपरूपायां भित्तौ इष्टकादिनिर्मितायां कटके वलये च कुड्ये पथि धर्ममर्यादायां (चरंपणिम्ति) एकहस्तमात्रावग्रहो भवति । अनुचरिकायामष्टौ हस्ताः परिखायां चत्वारो रत्नयः । इदमेव भावयति ।

वतिसामिणोवतीतो, हत्थो सोवग्गहो ण खंतिस्स ।

तहि ममकारो जति त्रिय, पणिम्मगभूमीए ॥

गृहपतिविविक्तताया वृत्तेः स्वामी तस्य वृत्तेः परतो हस्तमात्रमवग्रहो भवति शेषस्तु सर्वोऽपि नरपतेरवग्रहो मन्तव्यः । अथ किंकारणं वृत्तिस्वामिनो वृत्तेः परतोऽप्यवग्रहो भवति इत्याह तस्य गृहपतेः परतो हस्तप्रमाणे भूभागे ममकारो भवति । अतो यद्यपि (निम्माणिन्ति) मूलपादान्ते च तावद्विवक्षितगृहसत्का भूमिस्तथापि वृत्तेः परतो हस्तमेकं तस्यावग्रहः एवं भित्तिकुड्यादिष्वपि भावनीयम् ।

हत्थं हत्थं मोत्तुं, कुड्डादीणं तु मज्झिमो रण्णो ।

जत्थ न पूरइ हत्थो, मज्झे तिभागो बहीं रण्णो ॥

तेषामेव कुड्यादीनां हस्तं हस्तमुभयोरपि गृहयोर्मुक्त्वा मध्यमः सर्वोऽपि राज्ञोऽवग्रहः । यत्र तु गृहस्यापान्तरालस्यातिस्तोकतया हस्तो न पूर्यते तत्र मध्यमत्रिभागो राज्ञः द्वौ द्वौ गृहस्वामिनोः । एतदवग्रहपरिमाणमुक्तम् । अत्र चोच्चारादीनि स्थानानिवन्दनादीनि वा कुर्वन् यदि कुड्यादीनां हस्ताभ्यन्तरे करोति ततो गृहपत्यवग्रहो मनसि क्रियते हस्ताद्बहिश्चरिकाप्राकारपरिखादिषु च राजावग्रहोऽनुज्ञाप्यते । अटव्यामपि यद्यसौ राजा प्रभवति तदा तस्यैवावग्रहः स्मर्यते । अथासौ तत्र न प्रभवति ततो देवेन्द्रावग्रहो मनसि क्रियते । वृ० ३ उ० ।

(१४) राजपरिवर्तेऽवग्रहः

"से रज्जपरियट्टेसु" इत्यादिसूत्रद्वयस्य संबन्धप्रतिपादनार्थमाह ।

सागरियसाहम्मिय-उग्गहगहणं तु वत्तमाणम्मि ।

सुत्तमयंतिमसुत्तं, भवंति रायुग्गहे थेरा ॥

पूर्वसूत्रेभ्यः सागारिकावग्रहग्रहणमनुवर्तते ततोऽपि परतरेभ्यः साधर्मिकावग्रहणं तस्मिन् अनुवर्तमाने अवग्रहप्रदणप्रस्तावात् सप्तमोद्देशकस्यान्तिमं सूत्रम् । सूत्रद्वयं राजावग्रहे स्थविराः कर्तारः स्थापयन्ति एषोऽधिकृतसूत्रद्वयसंबन्धोऽनेन संबन्धेनायातस्यास्य व्याख्या (से) तस्य भिक्षो राजपरावर्तेषु राजपरावर्तो नामाप्रेतनो राजा कालगतो नवोऽभिषिक्तस्तेषु । पुनः कथंभूतेषु इत्याह संस्तृतेषु न कोऽपि तद्राज्यं विलुम्पतीति भावः । अथवा अव्याकृतेषु येषां दायादानां सामान्यं तद्राज्यं तैरविभक्तेषु । अनवच्छिन्नेषु तस्मिन्नेव वंशे अनुवर्तमानेषु अत एवापरपरिगृहीतेषु सैवावग्रहस्य पूर्वा अनुज्ञापना तिष्ठति या तस्य वंशस्यादावनुज्ञापना कृता कियन्तं कालं पुनः सैव पूर्वानुज्ञा तिष्ठति तत आह यथालन्दमप्यवग्रहः । किमुक्तं भवति यावन्तं कालं स वंशोऽनुवर्तते तावन्तमपि कालमवग्रहे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राजावग्रहे सैव पूर्वानुज्ञापना वर्तते न पुनरन्यस्मिन् राज्ञि उपविष्टे स भूयोऽवग्रहोऽनुज्ञापयितव्यः। एष प्रथमसूत्रस्यार्थः। द्वितीयस्योच्यते (से) तस्य भिक्षो राजपरावर्तेषु अन्येषु राज्यं प्रतिपन्नेषु असंस्तृतेषु त्रुटितपूर्वराज्यसंस्थितेषु अव्याकृतेषु अन्यवंशीयैर्दायादैर्वा विभज्य समीकृतेषु व्यवस्थितेषु पूर्ववंशेषु अत एव परपरिगृहीतेषु भिक्षुभावस्यार्थाय भिक्षुभावो नाम ज्ञानदर्शनचारित्राणि तेषामेव भिक्षुशब्दप्रवृत्तिनिमित्तत्वात्तदेव प्रथमोद्देशके सप्रपञ्चं भावितं तस्यार्थाय स भिक्षुभावः परिपूर्णो भूयादित्येवमर्थमित्यर्थः। अन्यथा सचित्तादीनामनुज्ञापनेऽदत्तादानं स्यात्। द्वितीयेऽपि वारमवग्रहोऽनुज्ञापयितव्यः एष द्वितीयस्यापि सूत्रार्थः ।

सांप्रतमेनामेव व्याख्यां भाष्यकृदप्याह ।

संथडमो अविसुत्तं, पडिवक्खो वा न विज्जती जस्स ।
अणहिट्ठियमत्तेण व, अब्वोगडदाइसामन्नं ॥

संस्तृतं नाम राज्यं यदविसुसं मो इति पादपूरणे यस्य वा प्रतिपक्षो न विद्यते नाप्यन्येन केनाप्यधिष्ठितम् । अव्याकृतं नाम दायिनां सामान्यं न पुनस्तैर्विभक्तम् ।

अब्वोगडं अविगडं, संदिट्ठं वा वि जं हवेज्जाहि ।
अव्वोच्छिन्नपरंपर–मागयतस्सेव वंसस्स ॥

अव्याकृतं नाम यदविकृतं न केनापि विकारमापादितम् यदि वा यद्भवेत् पूर्वराजेन संदिष्टं यथा एतस्मै राज्यं देयमिति तत अव्याकृतम्। अव्यवच्छिन्नं नाम यत्तस्यैव वंशस्य परंपरया समागतमिति ।

पुव्वाणुन्ना जा पुव्व–एहिं राईहिं इह अणुन्नाया ।
अंदंतु होइ कालो, चिट्ठइ जा उग्गहो तेसिं ॥

पूर्वानुज्ञा नाम या पूर्वकै राजभिरनुज्ञाता ," अद्धासंदमवीत्यत्र अंदो नाम भवति कालस्ततोऽयमर्थो यावन्तं कालं तेषामवग्रहस्तावन्तमपि कालं सैवावग्रहे पूर्वानुज्ञा । तदेवं प्रथमसूत्रव्याख्या कृता । संप्रति द्वितीयसूत्रव्याख्यानार्थमाह ।

जं पुण असंथडं वा, समडं तह वोगडं व वोच्छिन्नं ।
नंदमुरियाण व जहा, वोच्छिन्नो जत्थ वंसो उ ॥

यत्पुनरसंस्तृतं शकटमिव शराकतया संवरीतुमशक्नुवत्तया व्याकृतं दायादैरन्यवंशैर्वा विभज्य अङ्गीकृतम्। व्यवच्छिन्नं यत्र नन्दमौर्याणामिव वंशो व्यवच्छिन्नः ।

तत्थ उ अणुन्नविज्जइ, भिक्खुब्भावट्ठमग्गहो नियमं ।
दिक्खा भिक्खूभावो, अहवा वयव्वयादीउ ॥

तत्र नियतमवश्यंभावेन भिक्षुभावार्थी यथावस्थितभिक्षुभावः तत्रैव भिक्षुभाव इत्याह । दीक्षादिरादिशब्दात्सम्यग्ज्ञानादिपरिग्रहः । भिक्षुभावोऽथवा तृतीयव्रतादिकं भिक्षुभावः । तत्रैव भिक्षुशब्दस्य परमार्थत्वात्तदेवं कृता सूत्रव्याख्या । संप्रति निर्युक्तिविस्तरः ।

रण्णा कालगयम्मि, अथिरगुरुगा अणुन्नवे तम्मि ।
आणादिणो य दोसा, विराहणा इमेसु गणासु ॥

राज्ञि कालगते ये द्वौ त्रयो वा दायिनस्तेषां मध्ये यः स्थिरः सोऽनुज्ञापयितव्यः। यदि पुनरस्थिरमनुज्ञापयन्ति तदा तेषां प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः आज्ञादयश्च दोषास्तथा विराधना आत्मविराधना संयमविराधना वा । एषु वक्ष्यमाणेषु स्थानेषु तान्येवाह ।

धुवमासे तस्स मज्झे, वसधेरेथेरमज्झ संताहे ।

दोसो गयपरदोसो, अणणुन्नवणे थिरे गुरुगा ॥

ध्रुवमन्यस्मिन्नन्यवंशजे अस्थिरे तस्य वा पूर्वराजस्य संबन्धिनां दायिनामेकस्मिन् अस्थिरे संयतैरनुज्ञापितःसन् चिन्तयति स तथा विचिन्तनास्ति । तया भावस्यान्यथाभाव इति स एको मुक्तसन्नाहो वर्तते। तं च विश्वस्तं ज्ञात्वाऽन्यदा सोऽन्येन दायादिना मारितो राज्यमधिष्ठितम् ततः स राजा चिन्तयति। संयतैर्ममामित्रपरिगृहीतैर्येन कारणेनावग्रहमनुज्ञापितस्ततः स प्रसिद्धो द्वयोरेकतरस्य प्रद्वेषं कुर्यात्।किमुक्तं भवति निर्विषयत्वादि कुर्यात्। जीवितचारित्रयोर्वा भेदं कुर्यात्तस्मात् यः स्थिरः सोऽनुज्ञापयितव्योऽननुज्ञापने प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः ।

अणणुन्नविए दोसा, पच्छा वा अप्पितो अवसे वा ।
पत्तेपुव्वममंगल, निच्छुभणे य दोसपत्थारो ॥

यदि स्थिरो नानुज्ञाप्यते तदा एतस्मिन्ननुज्ञापिते दोषाः सर्वे सामान्यपाखण्डाः समीपमागता निर्ग्रन्थानां पुनरवज्ञां कृत्वा स्थितास्ततः प्रद्वेषितो निष्काशनादि कुर्यात् तस्मादव्यवच्छिन्नवंशे सोऽवश्यमवग्रहमनुज्ञापयितव्यः । किं पूर्वं पश्चात् मध्ये वा तत्र यदि सर्वैरन्यैः पाखण्डैरनुज्ञापिते स पश्चादनुज्ञाप्यते ततः स चिन्तयति अहमेतेषामप्रियोऽवज्ञा यतो ममैतैः क्रियते तेन पश्चादागताः। अथ प्राप्ते राज्ये पूर्वमनुज्ञाप्यते तदा कदाचिदमङ्गलं मन्येत ततो (निच्छुभणंति). निष्काशनं कुर्यात्प्रद्वेषतः प्रस्तारो जीवनात् व्यपरोपणं क्रियेत तस्मान्मध्येऽनुज्ञापयितव्यः । यदि पुनर्भद्रक इति ज्ञातो भवति चानुज्ञाप्यमाना मङ्गलमिति मन्यते तदा पूर्वमप्यनुज्ञापनीयः। अथ कथमस्थिरा ज्ञातव्यः कथं वा भद्रकः कथं वा पूर्वकमनुज्ञाप्यमानो मङ्गलं मन्यते इति तत आह ।

ओहादी आभोगण, निमित्तविसएण वा वि नाऊण ।
भद्दगपुव्वमणुन्ना, वपंतमसाय मज्झम्मि ॥

अवध्यादीनामतिशयेनादिशब्दान्मनःपर्यवज्ञानश्रुतातिशयविशेषपरिग्रहोऽथवा निमित्तविशेषेण । अथात्मनोऽवध्याद्यतिशयो निमित्तविशेषो वा न विद्यते तदा अन्यानवध्याद्यतिशयिनो निमित्तविशेषं ज्ञात्वा दृष्ट्वा भद्रकमनुज्ञापयेत । प्रान्तमनुज्ञातं वा मध्ये ।

एएणं विहिणाउ, सो णुन्नवितो जहेव रज्जेहिं ।
राया किं देमित्ति य, जं दिन्नं अन्नरादीहिं ॥

एतेनानन्तरोदितेन विधिना सोऽनुज्ञापितो राजा यदा वदेत किं ददामीति तदा वक्तव्यं यद्दत्तमन्यै राजभिस्तद्देहीति ।

जाणंतो अणुजाणइ, अजाणओ भणति तेहिं किं दिन्नं ?
पायोग्गंति य भणिए, किं पाउग्गं इमं सुणसु ॥

एवमुक्ते जानानः सर्वमनुजानाति अज्ञायको ब्रूते तैरन्यै राजादिभिः किं दत्तं तत्र प्रायोग्यमिति भणितव्यम् । तस्मिन् भणितेषु न ब्रूते किं प्रायोग्यमिति ततो वक्तव्यं शृणुत इदं प्रायोग्यं तदेवाह ।

आहर उवहिसेज्जा, ठाणनिसीयणतुयट्टगमणादी ।
थीपुरिसाण य दिक्खा, दिन्ना णो पुव्वराईहिं ॥

नोऽस्माकं पूर्वराजैराहार उपधिः शय्या स्थानमूर्ध्वस्थानं निषदनं त्वग्वर्त्तो गमनमादिशब्दादागमनपरिग्रहस्तथा स्त्रीपुरुषाणां दीक्षा अनुज्ञाकारेण दत्ता ।

जहो एवं विरइ–प्पंते पुण दिक्खवज्जमियराणि ॥

इय सिट्ठा इय काउं, निग्गं ते गुरुगा य आणादी ॥

एवं कथिते सति यो भद्रकः स सर्वविरतिप्रान्तः पुनर्दीक्षावर्जमितराणि सर्वाण्यप्याहारादीनि अनुजानाति प्रव्रज्यां पुनर्नोज्ञापयति तत्र यदि तस्य राज्ञोऽनुशिष्टमकृत्वा आदिशब्दात् विद्यादि वा प्रभुकरणं वा अकृत्वा यदि तद्विषयात् निर्गच्छन्ति तदा तेषां प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुका आज्ञादयश्च दोषाः।

चेइय सावगपव्वइउ–काम अंतरंतबालवुड्ढा य ।

जत्ता अजंगमा वि य, अजत्ति तित्थस्स परिहाणी ॥

अन्यच्च चैत्यानि तेन परित्यक्तानि श्रावका ये च प्रव्रजितुकामास्तथा । अतरन्तो ग्लाना बाला वृद्धा अजङ्गमाश्चैते सर्वे परित्यक्ता भवन्ति तस्तीर्थकराज्ञाखण्डनात् । तीर्थस्य च परिहाणिरापादिता । तथा हि ये तत्र विषये प्रव्रजितुकामास्ते न प्रव्रजिष्यन्ति श्रावका अपि सम्यक्त्वमणुव्रतानि च गृह्णन्तो न ग्रहीष्यन्ति ततो भवति तीर्थस्य व्यवच्छेदः । यद्येवं तर्हि तत्रैव तिष्ठन्तु । तत्राप्याह ॥

अत्थंताए वि गुरुगा, अजत्ति तित्थस्स हाणि जा वुत्ता ।

जाणमाण जाण चेसा, अत्थंति अणेत्थ वच्चंति ॥

तत्र तिष्ठतामपि प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुका मासाः देशान्तरे भव्यलोकस्यामतिबोधेन शोभतो भ्रष्टत्वात् । तथा तीर्थकराणामभक्तिं तिष्ठद्भिः कृत्वा तदाज्ञाखण्डनात्तीर्थस्य हानिरापादिता तथा स्वयमेव तेन राज्ञोक्ते स्त्रीपुरुषा न दीक्षितव्या इति । यद्येवं तर्हि किं कर्तव्यमत आह । स्वयं भणन्तः प्रज्ञापयन्तोऽन्यैर्ज्ञापयन्तस्तिष्ठन्ति । तथापि चेत्स नेच्छेत्तर्हि ततो देशात् व्रजन्ति ।

अह पुण हवेज्ज दोन्नी, रज्जाइं तस्स नरवरिंदस्स ।

तहियं अणुजाणंतो, दोसुवि रज्जसु अप्पबहुं ॥

अथ पुनस्तस्य नरवरेन्द्रस्य स्वयमन्यैर्वा प्रज्ञाप्यमानस्य कदाचिद् द्वे राज्ये भवतस्तत्र तयोर्द्वयो राज्ययोर्मध्ये एकत्र काप्यनुजानाति । यथा मम द्वे राज्ये तत्र तयोर्द्वयोर्मध्ये यत्रैकत्र भवद्भ्यो रोचते तत्र प्रव्राजयत द्वितीये नानुजानामि । एवमुक्ते अल्पबहु परिभाव्य यत्र ब्रूयात् तीर्थप्रव्रज्याविलासस्तत्र स्थातव्यमेतदेव स्पष्टतरमाह ॥

एक्काहि विदिन्नं रज्जे, रज्जे एगत्थ होइ अविदिन्नं ।

एगत्थ इत्थियत्तो, पुरिसव्वायाय एगत्थ ॥

एकत्र एकस्मिन् राज्ये वितीर्णमनुज्ञातं भवति । एकस्मिन् राज्ये वितीर्णे यत्रानुज्ञातं तत्र स्त्रियः पुरुषा वा अनुज्ञाताः । अथवा एकत्र राज्ये स्त्रियोऽनुजानीत एकत्र पुरुषाननुजानीते ।

थेरा तरुणा य तहा, दुग्गया अड्ढया य कुलपुत्ता ।

जाणवयानागरया, अब्भंतरयो कुमारा य ।

अथवा एकत्र राज्ये स्थविराननुजानात्येकत्र तरुणान् । अथवा एकत्र दुर्गतकान् परत्र आढ्यान् । यदि वैकत्र कुलपुत्रानपरत्राभीरान् एवमेकत्र जानपदानन्यत्र नागरकान् । एकत्राभ्यन्तरकान् अभ्यन्तरका नाम ये राजानमतिप्रत्यासन्नीभूयावलगन्ति कुमारा राज्ञो दायादाः । एवमनुज्ञाते किं कर्तव्यमित्याह ।

ओहीमादी उ जत्थ, बहुतरया उ पव्वयंति तहिं ।

ते विंति समणुजाणसु, असती पुरिसेव जे बहुगा ॥

अवध्यादिनादिशब्दात् श्रुतातिशयविशेषेण निमित्तविशेषेण वा ज्ञात्वा यत्र बहुतरकाः अनुज्ञाताः सन्ति अवध्यादेर्निमित्तविशेषस्य वा अभावे ये बहवः पुरुषास्तानेवानुज्ञापयति न शेषान् स्तोकानप्रव्रजतोनिति ॥

एयाण वि धरति तहिं, कम्मघणो पुण भणेज्ज तत्थ ।

इय दिट्ठा उ अमंगल्ल, मा वा दिक्खेज्ज अत्थत्ता ॥

एतानि अनन्तरोदितानि प्रान्तोऽपि मनाग्भद्रकः सन् तत्रात्मीये राज्ये वितरति । यः पुनः कर्मघनो निबिडपापकर्मा तत्रानुज्ञापनायां क्रियमाणायामिदं ब्रूयात् दृष्टा अपि सन्तो यूयममङ्गलास्तस्मादप्रतिष्ठन्तो मा कंचन दीक्षयेयुरिति । वा शब्दो व्यपेक्षया विकल्पने ।

मा वा दच्छामि पुणो, अभिक्खणं वेंति कुणति निव्विसए

पव्वयंतो भणति ततो, भरहाहिवाति संति तुमंति ॥

यदि वा मा पुनर्भूयो द्रक्ष्याम्येतान् । अभीक्ष्णं वा ब्रुवन्ति स्वयमन्यैर्वा पुनः पुनर्विज्ञपन्तीति कृत्वा निर्विषयान्करोति ततो यः प्रव्रजन् वक्ष्यमाणगुणोपेतो ब्रूते नासि त्वं सकलस्य भरतस्यापि पतिर्येन निर्विषयस्याज्ञापनेऽस्माकं भयं स्यात्तत्र स्यातु न दास्यसि ततो ऽन्यत्र यास्यामः । तथा इदमपि ब्रूते ।

केवइयं वा एयं, गोपयमेत्तं इमं तुहं रज्जं ।

जं पेल्लिउ नासिपगं, मंतिय मुहुत्तमित्तेण ॥

कियद्वा एतद्गोष्पदमात्रमिदं च राज्यं यत् प्रेर्यं मुहूर्तमात्रेण तं दृष्ट्वा गम्यते । एवमुक्ते स राजा प्राह ।

जं होउ तं होउ, पव्वावमि अहं तु अप्पणो रज्जे ।

सो भणइ नीहमिज्जं, रज्जा तो किं बहुं णाउं ॥

स राजा ब्रूते यत् यावन्मात्रं तावन्मात्रं वा भवतु आत्मनो राज्ये तावदहं प्रव्राजयामि । तस्मात्किमत्र बहुना मम राज्याद्यूयं निर्गच्छतेति । एवमुक्ते यत्कर्तव्यं तदाह ।

अणुसट्ठी धम्मकहा, वज्जनिमित्तादिएहिं आउट्टो ।

आउट्टि य सुभकरणं, जहा कयं विण्हुणा पुव्वि ॥

अनुशिक्षया अनुशासनेन धर्मकथया विद्यया निमित्तेन आदिशब्दान्मन्त्रेण चूर्णयोगैर्वा तं राजानमावर्तयेत् अनुकूलयेत् । अत्रैवमपि न तिष्ठति तर्हि तस्मिन् प्रस्थिते प्रभोरन्यस्य करणं कर्तव्यम् । यथा कृतं विष्णुना विष्णुकुमारेण । अथ कीदृशस्तं राजानमन्यप्रभुकारणे प्रेरयन्तीत्यत आह ।

वेउव्वियलद्धी वा, ईसत्ये विज्जतो रसवल्ली वा ।

तवलद्धिपुलातो वा, पेल्लेति तमेतरे गुरुगा ॥

यो वैक्रियलब्धिमान् यो वा इषुशास्त्रे निर्मातोऽनेकैरपि पुरुषसहस्रैर्दुर्जयः । अथवा विद्यावशवान् यदि वौरसबली साधर्मिको ऽथवा तपोलब्धिपुलाकः स तमन्यप्रभुकरणेन प्रेरयति । यस्तु सत्यामपि शक्तौ प्रभुमन्यं न करोति तस्मिन्नितरस्मिन्प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः । कथमन्यं प्रभुं करोतीत्यत आह ।

तं घेत्तुं बंधिऊण, पुव्वरज्जं ठवेंति उ समत्थो ।

असती अणुवसमंते, निग्गंतव्वं ततो ताहे ॥

तं राजानं गृहीत्वा बन्धनेन च बद्ध्वा समर्थस्तस्य पुत्रं राज्ये स्थापयति । असति सामर्थ्ये अनुशिष्यादिभिरुपशमयति । स च तथोपशम्यमानोऽपि नोपशाम्यति तर्हि ततो देशान्निर्गन्तव्यम् । तथा चाह यतनामाह ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नत्तादिफासुयणं, अझज्झमाणे य पणगहाणीए ।
अद्धाणे कायव्वा, जयणा उग्गा जहिं जणिया ॥

अध्वनि मार्गे प्रासुके जक्तादावलज्यमाने पञ्चकहान्या यतना कर्त्तव्या । यत्र ग्रामे नगरे अरण्ये वा पूर्वं कल्पाध्ययने भणिता । व्य० द्वि० ७ उ० ।

(१५) अवग्रहक्षेत्रमानम् ।

(सूत्रम्) सगामंसि वा जाव संनिवेसं वा कप्पइ निग्गथाण वा निग्गंथीण वा सव्वओसमंता सकोसं जोयणं उग्गहं तु गिण्हित्ताणं चिट्ठित्तए ॥

अस्य संबन्धमाह ।

गामाइयाण वेसिं, उग्गहपरिमाणजाणणासुत्तं ।
कालस्स वा परिमाणं, वुत्तं इहइं तु खेत्तस्स ॥

तेषामनन्तरसूत्रोक्तानां ग्रामादीनां कियानवग्रहो जवतीति शङ्कायामवग्रहपरिमाणज्ञापनार्थमिदं सूत्रमारभ्यते । यद्वा पूर्वसूत्रेषु " अहालंदमवि उग्गहे इत्यादि " जणता अवग्रहविषयकालस्य परिमाणमुक्तमिदं तु क्षेत्रस्य तदेवोच्यते । एतेन संबन्धेनायातस्यास्य व्याख्या अथ ग्रामे वा नगरे वा यावत्संनिवेशे वा कल्प्यते निर्ग्रन्थानां चावग्रहः सर्वतः सर्वासु दिक्षु समन्तात् चतसृष्वपि विदिक्षु सक्रोशं योजनमवग्रहमवगृह्य स्थातुमिति सूत्रार्थः । अथ भाष्यविस्तरः ।

उड्डमहे तिरियं पि य, सकोसं होइ सव्वतो खित्तं ।
इंदपदमाइएसुं, विदिसिं सेसेसु चउ पंच ॥

ऊर्ध्वदिगधो दिग् (तिरियंपियंति) तिर्यक्पूर्वदक्षिणापरोत्तरालक्षणाश्चतस्रो दिशः एतासुपदिक्षु गिरिमार्गस्थितानां सर्वतः सक्रोशयोजनं क्षेत्रं जवति तच्च इन्द्रपदादिषु संजवति इन्द्रपदो नाम गजाग्रपदगिरिस्तस्य ह्युपरिष्टात् ग्रामो विद्यते । अधोऽपि ग्रामो मध्यमश्रेण्यामपि ग्रामस्तस्य चतसृष्वपि दिक्षु ग्रामाः सन्ति ततो मध्यमश्रेणिग्रामे स्थितानां षट्सु दिक्षु क्षेत्रं भवति । आदिशब्दादन्योऽपि य ईदृशः पर्वतस्तस्य परिग्रहः शेषेषु पर्वतेषु चतसृषु पञ्चसु वा क्षेत्रं सक्रोशं योजनक्षेत्रं जवति समभूमिकायां व्याघाताभावे दिक्चतुष्टयक्षेत्रं व्याघातं प्रतीत्य पुनरित्थम् ।

एगं व दो व तिण्णि व, दिसा अकोसं तु सव्वतो वा वि ।
सव्वत्तो तं अकोसे, अगुज्जणोज्ज जा खेत्तं ॥

एकदिग्भाविना पर्वतादिव्याघातेन किंचिद् ग्रामादिकमेकस्यां दिशि अक्रोशं भवति सक्रोशयोजनावग्रहरहितमित्यर्थः । एवं दिग्द्वयजाविना व्याघातेन द्वयोर्दिशोरक्रोशं त्रिदिग्भाविना तिसृषु दिक्षु दिक्चतुष्टयजाविना तु सर्वतोऽप्यक्रोशं जवति । तत्र च सर्वतोऽक्रोशे ग्रामादौ बाह्यान् यावत्क्षेत्रं ततः परमक्षेत्रमिति । किं च ।

संजमआयविराहण, जत्थ जवे देहउवधितेणा वि ।
तं खलु ए होइ खेत्तं, उग्घेयव्वं च किं तत्थ ॥

यत्र ग्रामादौ प्राप्तानां संयमात्मविराधना जवति यत्र च देहोपधिस्तेना जवन्ति तत् खलु क्षेत्रं न जवति । किंवा तत्रावग्रहीतव्यं येन क्षेत्रमुच्यते । अथ किं पुनः क्षेत्रमित्याह ।

खेत्तं चलमचलं वा, इंदमणिंदं सकोसमकोसं ।
वाघातम्मि अकोसं, अणभिजले सावए तेणे ॥

यत्रावग्रहो विचारयितुमुपक्रान्तस्तत् क्षेत्रं चलमचलं वा भवेत् । चलं व्रजिकादिः अचलं ग्रामादिः । पुनरेकैकं द्विधा इन्द्रमिन्द्रकीलादियुक्तमानिन्द्रं वा तद्विपरीतम् । तत्र यदचलमनिन्द्रं वा तस्मात्सक्रोशमक्रोशं वा पश्चानुपूर्व्या । अथ तानेव जेदान् व्याचिख्यासुरिदमाह । (वाघायम्मीत्यादि) यत्र यस्यां दिशि व्याघातस्तत्रस्यमक्रोशं भवति । कः पुनर्व्याघात इति चेदत आह । अटवी तस्यां दिशि वर्त्तते (अजत्ति) समुद्रो नदी वा ये श्वापदा वा सिंहव्याघ्रादयस्तत्र सन्ति । स्तेना वा उपधिशरीरहरा विद्यन्ते एतैः कारणैः ग्रामादिकनिरुद्धा ग्रामा गोकुलाद्यभावादवग्रहीतव्यं किमपि तत्र नास्ति । अथ सक्रोशमाह ।

सेसे सकोसमंमल, मूलनिबंधणअणुमयंताणं ।
पुव्वट्ठिताण उग्गहो, सममंतरपल्लिगा दोण्हं ॥

शेषं नाम यदनन्तरोक्तव्याघातरहितं तत्र मूलनिबन्धनं मण्डलमनुमतां सर्वतः सक्रोशं योजनमवग्रहो जवति । कथमिति चेदुच्यते । मूलग्रामादेकैकस्यां दिशि योजनार्द्धमर्द्धक्रोशेन समधिकं तावदवग्रहो भवति । स च पूर्वापराभ्यां दक्षिणोत्तराभ्यां वा कृत्वा सक्रोशं योजनं भवति । यद्वा गतिप्रत्यागतिभ्यामेकस्यामपि दिशि योजनं मन्तव्यं तत्र सक्रोशे अक्रोशे वा ये पूर्वस्थितास्तेषामवग्रहो भवति । यत्र समकमनुज्ञापितं तत् क्षेत्रं साधारणम् । अथ संवद्धेषु क्षेत्रेषु समकमेवानुज्ञापितं ततो यदि द्वे अन्तरपल्लिके तत एकेषामेका अपरेषामप्येका । अथैकैवान्तरपल्लिका ततो द्वयोरपि साधारणः । अथ बहुतरक्षेत्रान्तरपल्लिकास्ततः को विधिरित्याह ।

खेत्तरसंतो दूरे, आसन्ने वा तिताण समगंतुं ।
अच्छच्छं वा दुगाई, गच्छाण साहारणा होई ॥

द्वित्रिप्रभृतिषु संबन्धेषु क्षेत्रेषु समकमनुज्ञाप्य स्थितानां काश्चिदन्तरपल्लिकाः क्षेत्रान्तः क्षेत्रस्याभ्यन्तरे जवन्ति (दूरेत्ति) काश्चित्तु दूरे याभ्यः समुदानमूलग्रामानीयमानं क्षेत्रातिक्रान्तं जवतीति कृत्वा प्रथममालिकायां तन्निषाहीते (आसन्नेत्ति) काश्चित्पुनरासन्ने याभ्यः समुदानं मूलग्राममानीयमानं क्षेत्रातिक्रान्तं न जवति ततो यावत्यस्ता अन्तरपल्लिकास्तासां सर्वासामपि अर्द्धं वा अर्द्धार्द्धं वा चतुर्भाग इत्यर्थः । वा शब्दात्त्रिभागादिकं चाल्लिकादीनां द्वित्रिप्रभृतीनां गच्छानां साधारणं जवति । अथात्रैव जाव्यनोभाव्यविधिमाह ।

तणडगलछारमल्लग, संथारगजत्तपाणमादीणं ।
सल्लिलं ते अस्सामी, खेत्तिय ते मोत्तु गुणवणा ।

तृणडगलक्षारमल्लकसंस्तारकभक्तपानादीनां सति विद्यमाने प्राघूर्णे लाजे क्षेत्रिका अस्वामिनः अक्षेत्रिकाणामप्येतान्याजवन्तीत्यर्थः (ते मोत्तु गुणवणत्ति) येषां तृणादीनां क्षेत्रिकैरनुज्ञापना कृता तानि मुक्त्वा तान्यक्षेत्रिकाणां नो भवन्तीति जावः । किं पुनः क्षेत्रिकाणां जवतीत्युच्यते ।

ओहो उवग्गहो विय, सचित्तं वा वि खेत्तियस्सेते ।
मोत्तूणं पडिहारिय, संथरंतेवणुण्णवणा ॥

ओघोपधिरुपग्रहोपधिश्च । सचित्तं वा शैक्षादिकम् । एतानि क्षेत्रिकस्याजवन्ति । यद्यक्षेत्रिका एतेषामेकतरं गृह्णन्ति तदा प्रायश्चित्तं परं मुक्त्वा प्रातिहारिकं द्विविधमप्युपधिं तं गृहस्थेभ्यो मार्गयन्तो न प्रायश्चित्तजाज इति हृदयम् । यः पुनर प्रातिहारिकस्तं न लजन्ते । अथ शीतादिना परिताप्यन्ते तत

एवमसंस्तरद्भिर्वस्त्रादेरनुज्ञापना कर्त्तव्या क्षेत्रिकैरपि संस्तरद्भि तेषामनुज्ञा कर्त्तव्या ।

जइ पुण संथरमाणा, ण दिंति इतरे व तेसिं गएहंति ।
तिविधं आदेसो वा, तेण वि ण जाय परिहाणी ॥

यदि पुनः संस्तरन्तः क्षेत्रिकाः असंस्तरन्तः सक्षेत्रिकाणां वस्त्रादिकं न प्रयच्छन्ति इतरे वा अक्षेत्रिका असंस्तरन्तोऽपि तेषां क्षेत्रिकाणामनापृच्छ्य वस्त्रमोटिका वा गृह्णन्ति ततस्त्रिविधं जघन्यमध्यमोत्कृष्टनिष्पन्नं पञ्चकमासलघुचतुर्लघुलक्षणं प्रायश्चित्तम् । सूत्रस्यादेशाद्वा नवमं तेन व स्त्रादिना जायते परिहाणिस्तन्निष्पन्नमपि तेषां प्रायश्चित्तम् ।

इदमेव व्यक्तीकरोति ॥

जे खेत्तिया मोत्तिए देंति थागं, लंजेवि आगंतु वयं तहाणं ।
पेल्लंति वा गंतु असंथरम्मि, चिरं व दोएहंपि विराहणाओ ॥

ये क्षेत्रिका वयमिति कृत्वा भक्तपानादेः प्राचुर्येण लाभेऽपि अन्येषां(थागं)अवकाशं न प्रयच्छन्ति तत आगन्तुकानां व्रजतां या परिहाणिर्भवति ततस्तेषां प्रायश्चित्तम् । अथ क्षेत्रिणामसंस्तरणेऽप्यागन्तुकाः प्रेरयन्ति प्रेष्यं विना तिष्ठन्ति ते चागन्तुकाः आदेशिकाः प्राघूर्णकाश्च ततश्चिरं वा प्रभूतं कालं वाशब्दादल्पं वा कालं न संस्तरणं तेषां भवेत् ततो द्वयेषामप्यागन्तुकानां वास्तव्यानां च या विराधना तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् । यत एवमतः ।

अत्थि हु वसज्जगामा, कुदेसणगरोवमासुहविहारा ।
बहुवरयुवग्गहकरी, सामच्छेदेण वसियव्वं ।

सन्ति विद्यन्ते वृषभग्रामा इहाचार्य आत्मद्वितीयो गणावच्छेदकश्चात्मतृतीय एष पञ्चको गच्छो भवति । ईदृशास्त्रयो गच्छाः पञ्चदश जनाः एते यत्र ऋतुबद्धे निर्वहन्ति वर्षासु पुनः सप्तको गच्छस्तद्यथा आचार्य आत्मतृतीयो गणावच्छेदक आत्मचतुर्थः । ईदृशास्त्रयो गच्छाः पञ्चविंशतिजना भवन्ति । एते यत्र वर्षावासे जघन्येन निर्वहन्ति ते वृषभग्रामा उच्यन्ते ते च कीदृशा इत्याह । कुदेशस्य यन्नगरं तेनोपमा येषां ते कुदेशनगरोपमास्ते च सुखविहाराः सुलभभक्तपाना निरुपद्रवाश्च । अत एव बहूनामन्यतरोक्तप्रमाणानां त्रिप्रभृतीनां गच्छानामुपग्रहकरस्ततस्तेषु सीमाच्छेदेन बहुभिरपि गच्छैर्वस्तव्यम् । न कैरपि परस्परं मत्सरो विधेय इति भावः । सीमाच्छेदो नाम साहिका ग्रामार्द्धवाटकादिविभजनम् । यथा अस्यां साहिकायां भवद्भिः पर्यटनीयम् अस्यां पुनरस्माभिरित्यादि । यद्वा ये तत्र क्षेत्रे समर्कं प्राप्तास्तैः समच्छेदेन वस्तव्यं यथा युष्माकं सचित्तमस्माकमचित्तम् । अथवा युष्माकमन्तः अस्माकं बहिः युष्माकं स्त्रियो ऽस्माकं पुरुषाः युष्माकं श्राद्धाः अस्माकमश्राद्धाः । अथवा यो यल्लप्स्यते तत्तस्यैव न दातव्यम् । इदमेव व्याख्यानयति ॥

एक्कवीस जहस्रेणं, पुव्वट्ठिते उग्गहो इतरे ।
पल्लीपडिवसज्जे वा, सीमाए अंतरागासे ॥

पूर्वोक्तनीत्या वर्षासु एकविंशतिजना उपलक्षणत्वादृतुबद्धे पञ्चदश जना यत्र जघन्येन संस्तरन्ति स वृषभग्राम उच्यते । उत्कर्षतस्तु द्वयोरपि कालयोर्द्वात्रिंशत्सहस्रसंख्याको गच्छो यत्र संस्तरति स वृषभग्रामः । यत्र ये पूर्वस्थितास्तेषामवग्रहः इतरे भक्तपानमात्रसंतुष्टास्तिष्ठन्ति तत्र च सीमाच्छेदो विधातव्यः । कथमित्याह (पल्लीत्यादि) युष्माभिरन्तरपल्ल्यां पर्यटनीयमस्माभिः प्रतिवृषभग्रामे प्रतिवृषभो नाम मूलग्रामाद्‌ द्वयोजने महाग्रामः । अथवा अन्तरपल्ल्याः प्रतिवृषभस्य वा अर्द्धं युष्माकमर्द्धमस्माकमेवं सीमायां मूलग्रामस्य प्रतिवृषभग्रामस्य चान्तरा यो ग्रामस्तस्याप्यर्द्धं युष्माकमर्द्धमस्माकमेतच्चावग्रहमनिन्द्यं च क्षेत्रं मन्तव्यम् ।

अथानवग्रहसैन्द्रक्षेत्रमाह ॥

इंदक्कीलमणोग्गहो, जत्थ य राया जहिं च पंच इमो ।
सत्थसन्तपुरोहिया, सेणावतिसत्थवाहे य ॥

इन्द्रकीलको नाम इन्द्रस्थूणा सा यत्रोत्तिष्ठति इदं मातृकायास्तत्रायमवग्रहो न भवति । अनिन्द्रकीलकोऽपि यत्र राजा मूर्द्धाभिषिक्तः परिवसति (रायाजहिंपंचत्ति) यत्र पञ्च वसन्ति । श्रेष्ठी अमात्यः पुरोहितः सेनापतिः सार्थवाहश्चेति ॥

अहण सीए व समो–सरे वा विराहणा अणुयाणे ।
एतेसु णत्थि उग्गहो, वसहीए य मग्गणं असेसे ॥

अथ शीर्षकं नाम यतः परं समुदायेन गन्तव्यं सम्यग्मार्गवहनात्तत्र मिलितानाम् समवसरणं नाम कुलसमवायो गणसमवायः संघसमवायो वा एतेषु वसता तदवग्रहस्य मार्गणा कर्त्तव्या । अथ किमर्थमेतेष्ववग्रहो न भवतीत्युच्यते ।

बहुजणसमागते तेसु, होति बहुगच्छमणिवातो य ।
मो पुव्वं तु तदट्ठा–पेल्ले व अकोविया खेत्तं ॥

तेष्विन्द्रकीलकादिषु बहुप्रभूतस्य जनस्य समागमो भवति अश्वशीर्षकादिषु च बहूनां गच्छानां सन्निपातो मीलको भवति । अतः केचिदकोविदस्तदर्थं क्षेत्रमिदमस्माकमेवाभाव्यं भवत्विति कृत्वा पूर्वमन्ये इह प्रथमं समागत्य मा क्षेत्रं प्रेरयेयुरित्येतेषु नावग्रहो ऽधिक्रियते । इदमेव भावयति ।

सड्ढादसं वा उवाहिम्मि सिड्ढा,
सिड्ढे रहस्सम्मि करेज्ज गंतुं ।
एमाइयंते यणमच्छरेणं,
तित्थस्स सड्ढी उहतो वि हाणी ॥

तथेन्द्रकीलादौ श्राद्धा केषांचिदाचार्याणामुपधिं वस्त्राद्युपकरणं दातुं लग्नास्ते च व वर्त्तन्ते अस्माकमिदं गृहीतुमिति भणित्वा ते निषिद्धाः ततः श्राद्धाः पृच्छेयुः प्रेषणीयान्यन्यभानि वस्त्राणि किमिति न कल्प्यन्ते ततो दूरस्थावास्माकममूनि आभवन्तीति लक्षणं तेषां पुरतः कथयितव्यम् । तदेव विशिनष्टि कथिते सति ते श्राद्धाः मन्युमप्रीतिं वा कुर्वीरन् । ये च सल्लब्धयो धर्मकथादिलब्धिसंपन्नास्ते मत्सरिणः वयं किमपि तावन्न लप्स्यामहे अतः किमर्थमेवं प्रयासं कुर्म इत्यनुशयेन तीर्थे धर्मकथादिना नं प्रभावयन्ति । ततो (उहतो विहाणित्ति) द्वयोरपि सचित्ताचित्तलाभयोः परिहाणिर्भवति । तत्र सचित्तहानिः कोऽपि देशविरतिं वा न प्रतिपद्यते । अचित्तहानिराहार वस्त्रादि तथाविधं न प्राप्यते अत एव तेषु नावग्रहो भवति । वसतिं प्रतीत्य पुनरेतेष्वपि भवति कथमित्याह ।

एगालयट्ठियाणं, तुमग्गणा सूरिमग्गणा नत्थि ।
आसण्णे तुट्ठियाणं, तत्थ इमा मग्गणा होइ ॥

एकालय एकस्यां वसतौ स्थितानामवग्रहस्य मार्गणा भवति तत्र यः पूर्वं तस्यां वसतौ स्थितस्तस्य सचित्तमचित्तं वा आभवति असमकं तौ बहवः स्थितास्तदा साधारणा सा वसतिः । ये तु तस्या वसतेर्दूरे स्थितास्तेषामवग्रह-

स्य मार्गणा नास्ति । ये पुनरासन्ने स्थितास्तेषामियमवग्रहस्य मार्गणा भवति ।

सज्झायकालकाइय–निल्लेवण भत्तपाण असति अंतो ।
वसहिगमो पेल्लंते, वसहए पुण असेसु पुण ॥

अन्तः प्रतिश्रयस्याभ्यन्तरे यदि स्वाध्यायभूमेः कायिकभूमेः पात्रनिर्लेपनभूमेरासन्नं भ्रामादिभिक्षामुपवेशनं तद्भूमे-श्चाभावस्ततो या बहिः स्वाध्यायभूमिप्रभृतयस्ताः समकमनुज्ञापिताः साधारणाः । अथैके पूर्वस्थिता अपरे च पश्चात्, ततः पूर्वस्थितानामवग्रहः पश्चादागतास्तु पूर्वस्थितानन्नुज्ञापयन्ति यदि ते प्रेर्यमाणा अवकाशेन जानन्ति इतरे च ते तमप्रेर्यमाणं प्रेरयन्ति ततो वसतिविषयेऽपि स एव प्रायश्चित्तादिगमो भवति । यः पूर्वं क्षेत्रं प्रेरयतामुपलक्षणत्वादननुज्ञापयितुं चोक्तः वसतिः पुनरिह या समापूर्णा श्रमणराजकुला तस्याः प्रेरणायां दोषाः मन्तव्याः । उक्तमचलक्षेत्रम् ॥

अथ चलमाह ।

वइगामत्थो सेणा, संवट्ट चउविहं चलं खेत्तं ।
एतेसिं णाणत्तं, वोच्छामि अहाणुपुव्वीए ॥

व्रजिकार्थसेनासंवर्त्त इति चतुर्विधं चलक्षेत्रम् । एतेषां चतुर्णामपि नानात्वं वक्ष्यामि यथानुपूर्व्या प्रतिज्ञातमेव करोति ।

जेणोग्गहिता वइगा, मागंतह दूहजंकिपरिभोगा ।
समवइगपुव्वउग्गह साहारण जं व णीसाए ॥

येन साधुना सा व्रजिका पूर्वमवगृहीता स व्रजिकावग्रहस्य स्वामी भवति । तस्य व्रजिकावग्रहस्य किं प्रमाणमिति चिन्तायां नैगमपक्षाश्रिता इमे आदेशाः । तत्रैक आचार्यदेशीयो भणति यावत्प्रमाणं भूभागं गावश्चारश्चरितुं व्रजन्ति तावान् व्रजिकाया अवग्रहः । अपरो ब्रवीति । (तहत्ति) तीर्थं जलपानस्थानमित्येकोऽर्थस्तत्र जलपानार्थं गावो यावद्गच्छन्ति अन्यः प्राह (दुहत्ति) यत्रोपस्थाने गावो दुह्यन्ते । आचार्यः प्राह अयोऽप्येते अनादेशाः अयन्तु समीचीन आदेशः (जंकिपरिभोगेत्ति) यावति भूभागे भणिका गत्वा तिष्ठन्ति यावच्च व्रजिकायाः समीपे गोभिःपरिभुक्तं एतावद्व्रजिकावग्रहस्य प्रमाणं मन्तव्यम् । तत्र च यदि समकं द्वौ साधुवर्गावेकस्यां व्रजिकायां स्थितौ तदा साधारणा सा व्रजिका । अथैकः पूर्वं स्थितो द्वितीयस्तु व्रजिकान्तरेण समं पश्चादायातस्ततः पूर्वस्यावग्रहो भवति । अथ परस्परनिश्रया स्थितस्ततः साधारणं तत् क्षेत्रम् । यस्याश्च व्रजिकाया निश्रया द्वितीया व्रजिका स्थिता तस्यां ये साधवस्तेषामवग्रह आभवतीति संग्रहगाथासमासार्थः ।

अथैनामेव विवरीषुरनादेशत्रयं निरस्याचार्यो यं तं तावद्विभावयति ।

णिगोयरे णोवणगोणियाणं, णोवड्डुज्झेति व जत्थ गावे ।
अब्भत्थगेणोदिसु जत्थ सुण्णं, स उग्गहो सेसमणुग्गहो तु ॥

न गोचरो गवां चारिस्थानं नैव च गवां यत्र पानं नैव यत्रोपस्थाने गावो दुह्यन्ते किंतु व्रजिकाया अटव्यामेव गवादिभिर्यावत्क्षुण्णम् । आदि शब्दात्स्त्रीभिश्चयावदाक्रान्तं तावानवग्रहः शेषं तु गोचरादिस्थानं सर्वमप्यनवग्रहः ।

जइ समगं दो वइगा–ट्ठितानुसाधारणं ततो खेत्तं ।
अणवइगाएसहिता, तत्थेवओट्ठिया अप्पत्ता ॥

यदि समकमेकस्यां व्रजिकायां द्वौ गच्छौ स्थितौ ततः साधारणं तत्क्षेत्रम् । अथ काचिद्व्रजिका पूर्वं साधुभिरवगृहीता–

तत्रान्ये साधवोऽन्यया व्रजिकया सहिताः पश्चादागतास्तत्र च व्रजिकायां स्थितास्तदा ते पश्चादागता अप्रभवः पूर्वस्थिता एव स्वामिन इति ।

अन्नोन्नं णीसाए, ठियाण साधारणं तु दोण्हं पि ।
णीसट्ठिताए अपभे, तत्थ वत्थव्वत्थवसंता ।

अथ पूर्वस्थिताः पश्चादागता अन्योन्यं परस्परं निश्रया स्थितास्तेषां द्वयेषामपि साधारणं क्षेत्रम् । अथ पूर्वस्या व्रजिकाया निश्रया स्थितायाः आगन्तुकव्रजिकायां ये साधवो वर्तन्ते तेऽत्र तत्र अन्यत्र ये वसन्तो ऽवग्रहस्याप्रभवो न स्वामिनः किमर्थमन्यस्या व्रजिकाया निश्रां सा व्रजिका प्रतिपद्यते । उच्यते ।

दुग्गट्ठि आवीर अहिट्ठिए वा, करेण वाणेव ठिएहिं पुव्वं ।
जएण तेयस्सव कारणेणं, वपंतगाणं खलु होइ णिस्सा ॥

दुर्गे स्तेनपरचक्राद्यगम्यस्थाने स्थिता साऽन्या व्रजिका । यद्वा धीरेण स्वामिना अधिष्ठिता अथवा तैः प्रथमव्रजिकासंबन्धिभिर्गोकुलिकैस्तत्र निपानं जलपानस्थानं कृतमस्ति ततो यस्य वा कारणेन तस्यां व्रजिकायां तिष्ठतामपरेषां गोकुलिकानां निश्रा भवति एवमादिका व्रजिका येन कारणेन पूर्वस्या निश्रां प्रतिपद्यते तदभिहितम् । अथ गन्तुकायाः निश्रा यथा पूर्वं प्रतिपद्यते तथा दर्शयति ।

भयेण उत्थेउमणा, वइगा अण्णाय तत्थ जइ पज्जा ।
पच्छापत्ते निस्सा, जे पुव्वट्ठियाण ते पहुणो ॥

काचिद् व्रजिका भयेनोत्थातुमना प्रचलितुकामा अन्या च नवा व्रजिका यदि तत्रागच्छेत्सा च बलवता परिगृहीता ततः पश्चात्प्राप्ताया अपि तस्या निश्रा पूर्वं प्रतिपद्यते ततो ये पूर्वस्थिताः साधवस्ते अवग्रहस्य न प्रभवः किंतु पश्चात्प्राप्ता इति । अथ व्रजिकाया एव प्रकारान्तरमाह ।

वइयाए उट्ठियाए, अत्थंते अहव होज्ज गेलन्नं ।
अन्ने तत्थ पविट्ठा, तम्मिव अन्नम्मि वा होंतु ॥

यस्यां व्रजिकायां साधवः स्थिताः । अन्या च तत्रागन्तुकामा तैः श्रुता तत उत्थितायामपि व्रजिकायां तिष्ठताम् । अथवा ग्लानत्वं कस्यापि साधोर्भवेत् ततस्तत्रैव स्थितानामन्ये गोकुलिकाः साधुभिः सहितास्तत्र व्रजिकास्थाने प्रविष्टास्ते च तत्र अन्यत्र तीर्थे गाः पानीयं पातुं ययुरन्यत्र वा ततोऽवग्रहमार्गणा क्रियते ।

जइ वा कुडीपडालिसु, पुव्विल्लकतासु ते ठिता संता ।
अण्णम्मिवि पज्जेत्ता, तुहे अस्सामिणो होंति ॥

वा शब्दः प्रकारान्तरद्योतकः यदि ते आगन्तुकाः पूर्वगोकुलिककृतासु कुटीपटालिकासु स्थितास्ततोऽन्यस्मिन्नपि तीर्थे गाः पाययन्तोऽस्वामिनो भवन्ति ततो यदि ते पूर्वस्थिताः साधवो निष्कारणिकास्तदा न प्रभवः । अथ ग्लानादिकारणे स्थितास्तदा ते स्वामिनो नागन्तुकास्तत्रावग्रहस्य प्रभवः

अन्नत्थ वावि काउं, पाइंति कइल्ल पज्जइ निव्वाणो ।
ते खलु न हुंति पहुणो, स जवे तहे पहू हुंति ॥

यद्वा पूर्वकृताः कुटीपटालिका वर्जयित्वा अन्यत्र स्थाने स्थिता आगन्तुका गोकुलिका यदि पूर्वैः कृते निपाते गाः पाययन्ति तदा ते आगन्तुकाः साधवो न प्रभवो भवन्ति । यदि तु स्वभवे तीर्थे स्वाभाविके निपाते पाययन्ति तदा आगन्तुकाः साधवः प्रभव इति ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एमेव मासकप्पे, अतीरिए उट्ठिया य पत्थियरा ।
पुव्विल्ला हुंति पहू-पुण्णे हरिए न लहंति ॥

एवमेव अतिरिक्ते असंपूर्णे मासकल्पे उत्थिता या पूर्वव्रजिका तत्र ग्रामा ततः पूर्वसाधव एव प्रभवः । अथ मासकल्पः पूर्णस्ते च दृष्ट्वा दृष्ट्वाना अपि तत्रैव स्थितास्ततो नावग्रहं लभन्ते पश्चादायाता एव तत्र प्रभव इति ।

फासुगगोयरभूमी, उच्चारे चेव वसहीए ।
इट्ठावि अणंते व, तदभावे पच्छ जे पत्ता ॥

अथ तत्र प्रासुका गोचरभूमिः उच्चारभूमिश्च विद्यते वसतिश्च उचिता प्राप्यते । अन्यच्च तत्र तथाविधमास्ति ततो दृष्ट्वा अपि च मनन्तरोक्तयुक्त्या लभन्ते तदभावे अनन्तरोक्तकारणाभावे ये पश्चादायातास्त एव लभन्ते । गतं व्रजिकाद्वारम् ।

अथ सार्थद्वारमाह ।

जेण ग्गहिओ सत्थो, जेण य सत्थ होइ समदोण्हंति ।
जा वच्चा पत्थसत्था, पुव्वट्ठियसाहारणं जं च ॥

येन साधुना सार्थः पूर्वं गृहीतो येन वा सार्थवाहः पूर्वमनुज्ञापितस्तस्यावग्रह आभवति । अथ समकमनुज्ञापितस्ततो द्वयोरप्यवग्रहः यावन्तश्च प्रति सार्था भी अनार्यमर्यालघुतरास्तत्र समागत्य मिलन्ति तेषु च साधवस्ते पूर्वस्थितानामुपसंपन्ना भवन्ति । यत्र परस्परनिश्रया द्वौ सार्थौ तिष्ठतस्ततः साधारणं मन्तव्यमिति । एतदेव स्पष्टयति ।

सत्थे महप्पधाणा, एक्केणक्केण सत्थवाहेउ ।
ओपुच्छियावि दिण्णो, दोण्हवि मिलिया व एगट्ठा ॥

सार्थे ये केऽपि अथवा प्रधानाः पुरुषास्ते एकेनानुज्ञापिता एकेन साधुना सार्थवाह आदिष्टस्ताभ्यां चोभयोरपि वितीर्णमनुज्ञापितं ततो येन कृतं नातिक्रम्यते तेन यस्मै प्रदत्तं तस्यावग्रहः ॥ अथ द्वावप्यनतिक्रमणीयौ ततो द्वयोरपि साधारणं क्षेत्रम् । अथ द्वावप्येकत्र मिलितौ अनुज्ञापितौ ततो येन पूर्वमनुज्ञापितस्तस्यावग्रह इति ।

इंतं महल्लसत्थं, डहरा गोपारिच्छएण तो पजुणो ।
तुरियं वा आधावति, मएण एमेव अस्सामी ॥

महल्लं बृहत्तरं कमपि सार्थमागच्छन्तं डहरको लघुतरः । सार्थप्रतिकृते ततो ये लघुतरसार्थवासिनः साधवस्ते नावग्रहस्य प्रभवः । यो वा सार्थो भयेन त्वरितं बृहत्तरसार्थं मिलनाय धावति तत्रापि ये साधवस्ते एवमेव स्वामिनः । बृहत्तरवासिन एवावग्रहस्य स्वामिन इति भावः ।

अह वीमज्झंगिणादी, दुग्गं वा एत्थ दोन्नि वसिऊणं ।
वाले हामो पभाए, णिस्सा साधारणं कुणइ ॥

द्वौ सार्थमेकत्र मिलितौ परस्परमित्थं निश्रां कुरुते यथा यदिदमटवीमध्ये नदी दुर्गं वा विद्यते अत्र द्वयेऽपि जना रात्रावुषित्वा प्रभाते चलयिष्यामः । पुरतो गमिष्यामः इति परस्पर साधारणां निश्रां यत्र कुरुतस्तत्र सचित्तादिकं सर्वमपि साधारणम् । गतं सार्थद्वारम् । अथ सेनाद्वारमाह ।

सेणाए जत्थ राया, अरणे अहो जत्थ पविट्ठो ।
सो सेसम्मि उग्गहो, जो उ वइगा य सो इहइं ॥

यत्र यस्यां सेनायां राजा भवति तत्रावग्रहो न भवति यत्र वा ग्रामादौ क्षेत्रे स राजा प्रविष्टस्तत्र यद्यप्यन्ये साधवः पूर्वस्थिताः सन्ति तथापि यावन्तं कालं स तत्रास्ते तावन्नावग्रहः ॥ शेषं नाम यत्र ग्रामादौ राजा न प्रविष्टो यो वा शून्यसेनो राजक इत्यर्थस्तत्रावग्रहो भवति परं तत्र यो व्रजिकायां गम उक्तः स इहापि मन्तव्यः । गतं सेनाद्वारम् ।

अथ संवर्तद्वारमाह ।

नागर गो संवट्टो, अणोग्गहो जत्थ वा य विहो सो ।
सेसम्मि उग्गहो जो, गामाउ सत्थम्मि सो इहइं ॥

नागरको नगरसम्बन्धी संवर्तोऽनवग्रहो न तत्रावग्रहो भवति । यत्र वा ग्रामादौ स नागरकः संवर्तः प्रविष्टस्तत्रापि नावग्रहः । शेषो ग्रामेयकसंवर्तस्तत्रावग्रहो भवति परं य एव सार्थे ग्राम उक्तः स एवेह द्रष्टव्यः ॥ बृ० ३ उ० ।

(१६) क्षेत्रत्यागसमय एवागता अपरे तर्हि स एवावग्रहः ।
(सूत्रम्) जद्दिवसं समणे निग्गंथा सिज्जासंथारयं विप्पजहंति । तद्दिवसं अवरे समणा निग्गंथा हव्वमागच्छिज्जा सव्वे व उग्गहस्स पुव्वाणुण्णवणा चिट्ठइ अहालंदमवि उग्गहो ॥

अस्य सूत्रस्य कः संबन्ध इत्याह ।

उग्गहए व उवगतो, सागारिय उग्गहा उ साधम्मी ।
रहितं व होइ खित्तं, केवतिकालं स संबंधो ॥

पूर्वसूत्रे तावदवग्रह एव प्रकृतः प्रस्तुतो वर्तते । “दोच्चंपि अप्पुच्छावित्ता” इति वचनात् । इदमपि प्रकृतसूत्रमवग्रहविषयम् । यद्वा पूर्वसूत्रद्वये सागारिकावग्रह उक्तः इह तु सागारिकावग्रहादनन्तरं साधर्मिकावग्रहः प्रतिपाद्यते । अथवा पूर्वसूत्रेषु संस्तारकं प्रत्यर्प्य विहारः कर्तव्य इत्युक्तमत्र तु विहारे कृते तैः साधुभिर्विहरितमपि तत्क्षेत्रं कियन्तं कालमवग्रहयुक्तं भवतीति निरूप्यते एष संबन्धः । अनेनायातस्यास्य व्याख्या (जद्दिवसंति) प्राकृतत्वात्सप्तम्यर्थे द्वितीया ततो यस्मिन्दिवसे श्रमणा निर्ग्रन्थाः शय्या च वसतिः संस्तारकश्च । तृणफलकात्मकं शय्यासंस्तारकम् अत्र शय्याग्रहणेन ऋतुबद्धकालः सूचितः संस्तारकग्रहणेन तु वर्षाकालः । अथ कारणजाते ऋतुबद्धो यः संस्तारको गृह्यते इति कृत्वा संस्तारकग्रहणेन द्वावपि गृहीतौ ततः मासकल्पे वर्षावासे वा पूर्णे शय्या संस्तारकं वा यस्मिन् दिवसे पूर्वस्थिताः साधवो विप्रजहति परित्यजन्ति तद्दिवस एवापरे श्रमणा निर्ग्रन्थास्तत्र क्षेत्रे हव्वं शीघ्रमागच्छेयुः ततः क्षेत्रावग्रहस्य पूर्वानुज्ञापना तिष्ठति । किमुक्तं भवति । य एव ततः क्षेत्रान्निर्गतास्तेषामेवावग्रहेण तत्क्षेत्रं यत्तु तद्दिवसमन्ये आगतास्ते क्षेत्रोपसंपन्ना इति कृत्वा यत्तत्र सचित्तादिकं तत्पूर्वस्थितानामाभाव्यं कियन्तं कालं यावदित्याह (अहालंदमवि उग्गहे) इह यस्यां वेलायां ते साधवो निर्गतास्तावतीं वेलां यावद् द्वितीयेऽप्यह्नि तेषामेवावग्रहो भवतीति वक्ष्यते । यतो यथालन्दमिहाष्टपौरुषीप्रमाणं मध्यमं गृह्यते एतावन्तमपि कालं तदीय एवावग्रहे तत्क्षेत्रम् अतो यद्यागन्तुकास्तत्र सचित्तादिग्रहणं कुर्वन्ति तदा साधर्मिकाः स्तैन्यप्रत्ययं प्रायश्चित्तमापद्यन्ते । अत्र तु सचित्तेनाधिकार इति सूत्रार्थः । अथ निर्युक्तिविस्तरः । तत्र सचित्तावग्रहदोषविषय इति कृत्वा प्रथमतस्तदुत्पत्तिं दर्शयति ।

मुत्तत्थतदुभयोवि–मारए य धम्मकहिवाई ।
कालडुअम्मि व संते, उवसंतो म अप्पगामजणा ॥

कालधर्मे ऋतुबद्धवर्षावासलक्षणे कस्मिंश्चित्क्षेत्रे वसतां स्वग्रामजनमक्रोशयोजनाभ्यन्तरवर्तिग्रामजनश्चोपशान्तः प्रतिबद्धः

कथमित्याह । सूत्रमर्थस्तदुभयविशारद आचार्यः सातिशयं प्रवचनव्याख्यानं करोति । क्षपको मासक्षपणादितपस्तप्यते धर्मकथाक्षीराश्रवादिलब्धिसंपन्नतया वैराग्यजननीं धर्मकथां विदधाति । वादी परवादिनं निरुत्तरीकरोति । एवमादिभिः प्रभावकैः स्वग्रामीणोऽन्यग्रामीणश्च ब्रूयात् जातः प्रव्रज्यायां परिणतः कृतः ॥

नीरोगेण सिवेण य, वासो वासासु णिग्गया साहू ।
अन्ने वि य विहरंता, तं चेवय आगता खित्तं ॥

नीरोगेण ग्लान्यभावेन शिवेन च राजादौ स्थाप्युपप्लवाभावेन वर्षावासं कृत्वा ते साधवो निर्गताः । इह वर्षावासे भूयान् काल एकत्र स्थीयते ततः प्रभूतलोकस्योपशमो भवतीत्यभिप्रायेण वर्षावासग्रहणं कृतम् । अन्यथा ऋतुबद्धेऽपि मासकल्पानन्तरमेव विहारः संभवति एवं ते ततः क्षेत्रान्निर्गताः अन्ये च साधवो विहरन्तस्तदेव क्षेत्रमागतास्तत्रावग्रहचिन्तां चिकीर्षुराह ।

खित्तोग्गहप्पमाणं, तद्दिवसं केति के तहोरत्तं ।
जं वेला णिग्गयाणं, तं वेलं अन्नदिवसम्मि ॥

इह केचिदाचार्याः क्षेत्रावग्रहस्य कालप्रमाणं ब्रुवते यस्मिन्दिवसे ते निर्गतास्तमेवैकं दिवसमवग्रहस्तत ऊर्ध्वं रात्राववग्रहो व्यवच्छिद्यते । केचित्तु भणन्ति अहोरात्रमवग्रहः । द्वितीयेऽह्नि सूर्योदयेऽवग्रहो व्यवच्छिद्यत इति भावः । सूरिराह द्वावप्येतावनादेशौ अयं पुनरादेशो यस्यां वेलायां निर्गतास्तस्यामेव वेलायां यावदन्यस्मिन् दिवसे अवग्रहो भवति ततः परं व्यवच्छिद्यते इत्थं कालतः प्रमाणमुक्तम् । क्षेत्रतस्तु सर्वतः क्रोशयोजनमवग्रहस्तत ऊर्ध्वमनवग्रह इति ।

खित्तम्मि य वसहीय य, उग्गहो तहिं सिक्खमग्गणा होइ ।
ते वि य पुरिसा दुविहा, रूवं जाणं अजाणं व ॥

इहावग्रहः क्षेत्रे वा भावे वा वसतौ वा यदिन्द्रकीलादिवर्जितं ग्रामनगरादि तदिह क्षेत्रं मन्तव्यं तत्रावग्रहं प्रतीत्य शैक्षमार्गणा कर्त्तव्या । कस्य भवति कस्य वा नेति विचारयितव्यमित्यर्थः । यत्पुनरिन्द्रकीलकादियुक्तं तदवग्रहयोग्यं क्षेत्रं न भवतीत्यक्षेत्रमभिधीयते तत्र वसतिविषया शैक्षमार्गणा भवति । सा चोपरिष्टात्करिष्यते । क्षेत्रविषयां तावत्करोति (ते वि य इत्यादि) ये पुरुषास्तत्र क्षेत्रे प्रव्रज्यां ग्रहीतुमायातास्ते द्विविधाः एके रूपं जानन्तो परे अजानन्तः । इदमेव व्यक्तीकरोति ।

जाणंता जाणंता, चउव्विहा तत्थ होंति जाणंता ।
उभयं रूपं सद्दं, चउत्थओ होइ जसकित्ती ॥

जानन्तोऽजानन्तश्चेति शैक्षा द्विविधाः । तत्र जानन्तस्तावच्चतुर्विधास्तद्यथा एकः शैक्षो विवक्षितक्षेत्रस्थितस्याचार्यादिरुभयं रूपं शब्दं च जानाति । धर्मकथाश्रवणार्थं शिष्यः समागतो रूपेण च तमुपलक्षयतीत्यर्थः । द्वितीयो रूपं जानाति न शब्दम् तृतीयः शब्दं न तद्रूपं चतुर्थश्च पुनर्यशःकीर्तिं जानाति यशः सर्वदिग्गामिनी प्रसिद्धिः सैवैकदिग्गामिनी कीर्त्तिः यश उपलक्षिता कीर्तिर्यशः कीर्तिरिति समासः । यस्तु रूपशब्दयशःकीर्तीनामेकमपि न जानाति सोऽजानान उच्यते अथ द्वितीयभङ्गमादौ कृत्वा यथाक्रममभूनेव भङ्गान् व्याचष्टे ।

उच्चारचेतिमाति सु, पासति रूपं विणिग्गयस्सा गो ।
रत्ति उ निंतोणितो, कासगमादी सुणति सद्दं ॥

चाउत्थो जसकित्ति, सुणइ सगेमेव सागिहवासी वा ।
उभयं रूवं सद्दं, किंचि व ण जाणते चरिमो ॥

उच्चारभूमिचैत्यवन्दनादिषु कार्येषु विनिर्गतस्याचार्यादे रूपं पश्यति चैको द्वितीयः शैक्षः पश्यति न पुनः स्वरेण जानीते उपाश्रये तस्यानागमनात् । तृतीयस्तु शैक्षः कर्षणादिकर्षकः कृषीवलस्तत्प्रभृतिकः सकलमपि दिवसं क्षेत्रादौ स्थित्वा रात्रौ प्रदोषे गृहमुपागच्छन् प्रभाते च भूयोऽपि निर्गच्छेत् । धर्मकथायांप्रवर्तते न तु रूपमवलोकते चतुर्थस्तु शैक्षः स्वग्रामवासी वा दूरस्थः सन् तद्रूपं पश्यति न च धर्मकथादिशब्दं शृणोति किन्तु लोकमुखेन तेषामाचार्यादीनां यशःकीर्तिं शृणोति । यस्तु चरमोऽजानानः शैक्षः स रूपशब्दात्मकमुभयं कीर्तिं च न जानाति परं गृहवासनिर्विण्णतया प्रव्रज्यां ग्रहीतुमायातः । वास्तव्यशैक्षः पञ्चविध उक्तः ।

वायाहुओ ति एवं, पंचविहो आणुपुव्वीए ।
एएसिं संहाणं, पत्तेयं मग्गणा इणमो ॥

वाचाहूतो नाम आगन्तुकः शैक्षः सोऽप्येवमेव तस्य शैक्षवत्पञ्चविध आनुपूर्व्या यथोक्तपरिपाट्या वक्तव्यः । अथैतेषां दशानामपि शैक्षाणां प्रत्येकं पृथक् २ इयमेतेषु द्वारेषु मार्गणाविचारणा भवति तान्येव द्वाराण्यभिधित्सुः श्लोकचतुष्टयमाह ।

अव्वाघाए पुणो होइ, जावज्जीवपराजिए ।
वाघाओ संपए वावि, उद्धिओ विहरंतिते ॥
पढमे विय दिवसे तु, कहकप्पो उ जाणते ।
जाणाविए कहं कप्पो, पच्छन्ने तहमेविया ॥
उत्ताअणुकए यावि, कहं कप्पो निधारणे ।
एगगामे अभिच्छंते, कहं कप्पो विहिज्जते ॥
दुविहा मग्गणा सीसे, एगविहा य पडिच्छए ।
पडिसेहियवच्चंते, कहं कप्पो विहिसाइ ॥

न विद्यते व्याघातः प्रव्रज्याविघ्नो यस्यासा अव्याघातः शैक्षपूर्वसाधुषु क्षेत्राद्विर्गतेष्वपि प्रव्रज्यां गृह्णाति न पुनः कालक्षेपं करोतीति भावः (पुणेहोइत्ति) पुनर्भूयोऽपि यदा किल ते साधवः समायास्यन्ति तदा प्रव्रजिष्यामीति कश्चित् शैक्षो ब्रूयात् (जावज्जीवपराजिअत्ति) यदा यदा अहं प्रव्रजितुमभिलषामि तदा २ भवैर्विघ्नैरुत्तिष्ठमानैर्यावज्जीवमहं पराजितः अत एव मे सांप्रतमपि व्याघात उत्थितो यदेवं साधवो विहारं कृतवन्त इति कश्चिद् ब्रूयात् । एषां शैक्षाणामेकतरे प्रथमद्वितीयदिवसयोः प्रव्रजितुमुपस्थिते ज्ञायके कथञ्चन प्रकारेण कल्पः पूर्वसाधुसमीपे प्रेषणादिको विधिर्विधीयते तथा वास्तव्ये वाचनाहूते वा त्वमस्माकं न भवसीति ज्ञापिते कथं कल्पो भवेत् । ऋजुर्नाम य आचार्यादिरेतान् शैक्षान् पूर्वसाधुसमीपे प्रहिणोति तद्विपरीतो अनृजुः । एतयोश्चिन्ता कर्त्तव्या । अभिधारणमेकमनेकान् वा साधून् सम्यगाधाय शैक्षस्य गमनं तत्र कथमाभाव्यानाभाव्यता क्रियते (एगगामेत्ति) यत्र ग्रामे क्षेत्रिका स्थितास्तत्रैव केनापि धर्मकथिना कोऽपि मिथ्यादृष्टिरुपशमितः स कस्य भवति (अइच्छंतेत्ति) कमप्याचार्यमभिधार्यातिक्रामति विवक्षितक्षेत्रमतीत्याग्रतो गच्छति शैक्षे कथं कल्पो विधीयते । तथा शिष्ये शिष्यविषया द्विधा अज्ञातके शैक्षके द्विप्रकारा मार्गणा भवति प्रतीच्छके च एकविधा केवलमज्ञातक विषया मार्गणा (पडिसेहियव-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संतेत्ति) भगवता प्रतिषिद्धज्ञानप्रतिचारणाव्यापृतैः शैक्षो न प्रव्राजनीयो ये तु तं प्रव्राज्यान्यत्र प्रेषयन्ति तैः प्रेषिते तस्मिन् गच्छान्तरं प्रव्रजति कथं कल्पो विधीयते । इत्येतत्सर्वं निरूपणीयम् । तत्र संगारः संकेतः स दत्तो यस्य शैक्षस्य स संगारदत्तः । आहिताग्न्यादेराकृतिगणत्वात् क्तान्तस्य परनिपातः । तस्मिन्नपि कथं कल्पो विधीयते । इत्येतत्सर्वं निरूपणीयमिति द्वारश्लोकचतुष्टयसमासार्थः । अथ विस्तरार्थं विभणिषुः प्रथमतो ये पूर्वमुभयज्ञादयः पुरुषा उक्तास्तद्विषयवक्ष्यमाणः प्रेषणविधिसंग्रहायाह ।

चत्तारि णवगजाणं-तगम्मि जाणादिए वि चत्तारि ।
अभिधारणम्मि एए, खित्तम्मि विपरिणया वा वि ॥

यः पूर्वमुभयज्ञरूपज्ञादिभेदाच्चतुर्धा ज्ञायक उक्तस्तत्र प्रत्येकं चत्वारो नवकाः प्रेषणनवप्रकाररूपा भवन्ति तथा यो ऽजानानः सन् साधुभिस्त्वमस्माकं न भवसि किंतु पूर्वसाधूनामित्येवं ज्ञापितः तत्रापि चत्वारो नवकाः । अभिधारणं नाम मनसि करणं ततः क्षैत्रिकं मनसिकृत्य यद्येते अव्याघातादय आगताः तदा विपरिणता अपि क्षेत्रस्वामिन एव भोग्या इति संग्रहगाथासमासार्थः । अथैनामेव विवरीषुरव्याघातद्वारमङ्गीकृत्य तावदाह ।

पियमप्पियसब्भावे, दट्ठुं पुच्छंति भावसाहंति ।
कुत्थगता ते भगवं, पुट्ठव्वे भणंति किं तेहिं ॥

क्षैत्रिकेषु निर्गतेषु यः साधुरुभयज्ञः शैक्षः सन् प्रव्रजामीत्यभिप्रायेणागतो यावदागन्तुकान् साधून् पश्यति ततस्ते साधवस्तस्य प्रियमप्रियं वा भावं प्रहसितमुखतया दीनमुखतया वा दृष्ट्वा पृच्छन्ति किमेवं प्रहृष्टवदनश्चिन्तापरो वा पश्यसि एवं दृष्ट्वा तेन स्वरूपे कथिते सति (साहंति) सद्भावं कथयन्ति यथागतास्ते अन्यविहारेणेति समाख्यस्य यान्येवं पृच्छेत् कुत्र गतास्ते भगवन्तः एवं पृष्टाः सन्तो भणन्ति किं तैर्भवतः प्रयोजनम् स प्राह—

पव्वइहिंति ग ' णिते, अनुगच्छगया वयंति दिक्खेओ ।
तेसि समीवं णामो, णयवाहण ते नयं सोयं ॥

प्रव्रजिष्याम्यहमिति तेन भणिते साधवो वदन्ति ते क्षैत्रिका अमुकऽत्र ग्रामादौ गताः वयं भवन्तं दीक्षयित्वा प्रव्राज्य तेषां समीपे नयामः । स च तकमनन्तरोक्तं वचनं तव नैव व्याहन्ति न विकुट्टयति तथेति प्रतिपद्यत इत्यर्थः एषोऽव्याघात उच्यते ।

संघाडग एगेणं, पंकवएसेव मुंडिए तिण्णि ।
तरुणेमज्झेथेरे, एक्केक्के तिण्णि नव एते ॥

ततः साधवस्तं प्रव्राज्य संघाटकेन सह क्षैत्रिकाणामन्तिकं प्रेषयन्ति । अथ संघाटको न पूर्यते तत एकं साधुं सहायं दत्त्वा त्राजयन्ति तस्याप्यभावे एकाकिनमपि विसर्जयन्ति परं पन्थानमुपदिशेयुः । यतः तरुणस्य त्रयः प्रकाराः मध्यमस्थविरयोरप्येवमेव प्रत्येकं त्रयः एते नव भवन्ति एष प्रथमो नवकः ।

पढमदिणसग्गामे, एक्को णवगो वितिज्जए वितिओ ।
एमेव परग्गामे, पढमे वितिए य जे णवगा ॥

एष एकः प्रथमो नवकः प्रथमदिने स्वग्रामे प्रव्राज्य प्रेषयतां मन्तव्यः । द्वितीये दिवसे एवमेव द्वितीयो नवकः एवं ग्रामे द्वौ नवकौ उक्तौ परग्रामेऽप्येवमेव प्रथमद्वितीयदिवसयोर्द्वौ नवकौ एवमेते चत्वारो नवकाः मुण्डितं प्रेषयतां भवन्ति ।

एमेव य मुंडियस्स वि, चउरो नवगा हवंति कायव्वा ।
एमेव य इत्थीण वि, णवगाण चउक्कगा दुण्णि ॥

एवमेव वा मुण्डितस्यापि प्रेष्यमाणस्य चत्वारो नवकाः कर्तव्या भवन्ति एवमेते द्वे नवकचतुष्टये पुरुषाणामुक्ते स्त्रीणामप्येवमेव द्वौ नवकानां चतुष्कौ संघाटकात्मद्वितीयादिभिः प्रकारैः कर्त्तव्यौ । अथ क्षैत्रिकाणामन्तिके न प्रेषयन्ति किंतु स्वयमेव स्वीकुर्वन्ति ततश्चत्वारो गुरुकाः ।

अथ किमर्थममुण्डितं प्रेषयन्तीत्युच्यते ।

सागारियसंकाए, णिच्छति घिच्छंति वा सयं मासे ।
तत्थ अच्छु पुणरवि, पच्चिइह समुंडितो एवं ॥

सागारिकाः संज्ञातकास्तेषां शङ्कया माममी उपप्राजयेयुरिति बुद्ध्या स्वग्रामे नेच्छति स शैक्षः प्रव्रजितुम् । यद्वा अमी साधवः प्रव्राजितं न मां ग्रहीष्यन्ति यदि च तान् साधून् न द्रक्ष्यामि ततः पुनरपि अत्रैव प्रत्येष्यामि प्रत्यागमनं करिष्य इति बुद्ध्या नागन्तुकैरात्मानं मुण्डापयति एवममुण्डितं प्रेषयन्ति एतं तावदुभयज्ञविषयो विधिरुक्तः ।

अथ रूपज्ञादिविषयं तमेवातिदिशन्नाह ।

एमेव य णवगकमो, सद्दं रूवं च होइ जाणंतो ।
जो पुण किंचि जाणति, ण ते वयं सिस्सते तस्स ॥

एष एव नवकक्रमः शब्दं रूपं च जानाति शैक्षे वक्तव्यः शब्दमेव रूपकेण इत्यर्थः । यः पुनः शैक्षः कीर्तिमेव जानाति न रूपं न वा शब्दं तस्य शिष्यत्वे निवेद्यते ते वयं न भवामो येषां सकाशे भवान् प्रव्रजितुमायात इति ततो ब्रूयात् ।

किं न व कप्पइ तुब्भे, दिक्खेउं तेसि तो न अम्हाणं ।
तत्थ वि सो चेव गमो, णवगाणं जो पुरा भणितो ॥

किंवा युष्माकं दीक्षयितुं न कल्प्यते ततः साधुभिर्वक्तव्यं तेषामेव त्वमाभवसि नास्माकमेवमुक्ते यद्यसौ भणति यद्येवं तर्हि मां प्रव्राज्य तत्र प्रेषयत अमुण्डितं वा विसर्जयत ततस्तत्रापि स एव गमः प्रकारो यं संघाटकात्मद्वितीयादिभिर्भेदैर्निष्पन्नानां नवकानां पुरा भणितः ॥ अथ " अभिधारणम्मि एए, खित्तम्मि विपरिणया वा वि" इति पश्चार्द्धं व्याचष्टे ।

विपरिणया निज्जातिते, अम्हे तुब्भ भणंत संतेहिं ।
तह वि य ण वि ते तेसिं, अव्वाहयमादिया होंति ॥

ये अव्याघातादयो वालाः शैक्षा अत्र प्रस्तुतास्ते क्षैत्रिकमभिधार्य प्रथममागता अपि कुतोऽपि हेतोस्तं प्रति विपरिणतास्ततो यद्यागन्तुकान् भणन्ति वयं युष्माकं सकाशे प्रव्रजिष्यामोऽत्रं प्रर्याप्तं तैः पूर्वसाधुभिरिति तथा ऽप्येवं ब्रुवाणे अपि ते अव्याघातादयस्ते चागन्तुकानां न भवन्ति किंतु क्षैत्रिकस्यैव भवन्ति । गतमव्याघातद्वारम् । अथ पुणो दाइं ति द्वारमाह ॥

एहिंति पुणो दाइं, पुट्ठे सिच्छम्मिई य मणसाणा ।
बहुदोसे माणुस्से, अणुसासणणवग तह चेव ॥

आगन्तुकसाधूनां समीपे कुत्र गता इति पृष्टे ततस्तैः शिष्टाः अमुकत्र गता इति कथिते स शैक्षो ब्रूयात् (एहिंतिपुणो दाइंति) यदा ते पुनरप्यत्रागमिष्यन्ति तदा प्रव्रजिष्यामि य एवं भणति स वक्तव्यः । सौम्य ! बहुदोषे बह्वन्तराये मानुष्ये मा प्रमादं कुरु एवमनुशासनं कृत्वा तथैव नवकगमनप्रेषणं कर्त्तव्यम् । अनुशासनमेव विशेषत उपदर्शयति ।

जं कल्ले कायव्वं, णरेण अज्जेव तं वरं काउं ।

मच्चू अकलुणहियओ, न हु दीसति आवयंतो वि ॥

यद्वा दीक्षाग्रहणादिकार्यं कल्ये द्वितीयदिने नरेण कर्त्तव्यं तदद्यैव कर्त्तुं वरं प्रशस्यं यतो मृत्युरकरुणहृदयः स्वभावादेव कठोराशयस्तथा कथमप्यापतति । यथा आपतन्नपि न दृश्यते उक्तं " स्वकार्यमद्य कुर्वीत पूर्वाह्णे चापराह्णिकम् । को हि तद्वेत्ति कस्याद्य, मृत्युसेना पतिष्यति । " तथा ।

तुरह धम्मं काउं, मा हु पमायं खणं पि कुव्वीथ ।

बहुविग्घो हु मो मा, अवरसं पडिच्छावि ॥

भव्यास्त्वरध्वं धर्मं कर्त्तुं मा क्षणमपि प्रमादं कुरुध्वं कुत इत्याह ॥ बहवश्चाग्निविषविश्वयिकाशमुपघाताभिदाहादिभेदादनेके विघ्ना जीवितान्तरायाः । यस्मादसौ बहुविघ्नो हुशब्दो यस्मादर्थे अपिशब्दस्य चानुक्तस्यापि गम्यमानत्वात् । यस्मान्मुहूर्त्तोऽपि बहुविघ्नः आस्तां प्रहरदिवसादिरतो महाभाग मा प्रव्रज्याग्रहणे अपराह्णमपि प्रतीक्षिष्ठाः । एवमेव कृत्वा चतुर्भिर्नवकैस्तथैव प्रेषणीयम् । गतं पुणो दाइंति द्वारम् ।

अथ यावज्जीवपराजितद्वारमाह ॥

बहुसो उवद्वियस्सा, विग्घा उट्ठिंति जज्जियसि जोमि ।

अणुसासणपन्नवणा, णवगा य जावसमुमुयरे ॥

क्षेत्रिकाणां गमनवृत्तान्तं ज्ञात्वा कोऽपि शैक्षो ब्रूयाद्बहुशोऽनेकशः प्रव्रज्याग्रहणोपायस्थितोऽहं परं वारं वारं विघ्ना नवनवा उत्तिष्ठन्ति अतो यदयं यावज्जीवमहं तैर्विघ्नैर्जितोऽस्मि यदेते साधवो विहृतवन्तः अतः परं तेषु समागतेषु प्रव्रजिष्यामि । एवं ब्रुवाणस्यानुशासनं कर्त्तव्यम् । भद्र ! साम्प्रतं तव चारित्रावारकाणामनुदयो वर्त्तते अतो मा प्रमादीः को जानाति भूयोऽपि तेषामुदयो भवेत् । आवश्यकादिनिर्दिष्टश्च कूर्मधर्मदृष्टान्तस्तत्पुरतः प्ररूपणीयः । एवमनुशिष्य प्रस्थापनं कर्त्तव्यं तत्र च तथैव मुणिकृतेन तयोः प्रत्येकं चत्वारो नवका भवन्ति । एवं प्रथमद्वितीयदिवसयोरव्याहतादीनां कल्पो विधीयते । अथ ज्ञापिते कथं कल्पो वास्तव्ये वाताहृतेऽपि वेति द्वारमाह ।

वाताहते वि णवगा, ता हव जाणाविए अइयरे य ।

एमेव य वत्थव्वे, णवगाण गमो अजाणंते ॥

वाताहृतो द्विधा ज्ञापित इतरश्च । यः क्षेत्रिकाणां यशःकीर्तिमपि न जानाति स आगन्तुकसाधुभिरुत्थमस्माकं न भवसि ये गतास्तेषामेवाभवसीति सद्भावावगमं कारितो ज्ञापित उच्यते । इतरो नाम यशःकीर्तिज्ञस्तत्र ज्ञापिते इतरस्मिन् वाताहृते प्रव्रजितुमायाते तथैव चत्वारो नवका भवन्ति । वास्तव्योऽपि शैक्षोऽयं क्षेत्रिकाणां यशःकीर्तिमपि न जानाति तत्रापि नवकानां गम एवमेव मन्तव्यः । अथ वास्तव्यो वाताहृतो वा यः कीर्तिमपि न जानाति स कीदृशो भवेदुच्यते ।

वत्थव्वे वायाहड, सेवगपरतित्थिवणियए य ।

सव्वे ते उज्जुगाअ-ण्णिणाइमेलाइ वा जत्थ ॥

वास्तव्यो वा वाताहृतो वा यो राजकुलसेवको यो वा परतीर्थिको यश्च वणिक् एते असन्निहितत्वेन यशःकीर्तिमपि गुरूणां न जानीयुः परं प्रथमद्वितीयदिवसयोः प्रव्रजितुमायातास्तेऽपि क्षेत्रिकाणामाभाव्याः । अथ ऋजुअनृजुद्वारचिन्ता क्रियते । य आचार्य ऋजुर्भवति स सर्वानप्येतान् क्षेत्रिकाणामर्पयति । यत्र वा क्षेत्रिका भवन्ति तत्र संघाटकादिभिः प्रकारैः प्रेषयित्वा वा सह मीलयति ।

माइल्ले वारसगं, जाणगजाणं वि एय चत्तारि ।

पच्छव्वे वायहडे, ण लभति चउरो अणुग्घाया ॥

यस्तु मायावी अनृजुः सन् प्रेषयति तत्र च प्रकाराणां द्वादशकं भवति । तानेवाग्रे वक्ष्यति । तथा ज्ञायके ज्ञापिते च समुदिताश्चत्वारः प्रकारा भवन्ति । तद्यथा ज्ञापकं प्रथमदिवसे न प्रेषयति । १ द्वितीये तमेव न प्रेषयति । एवं ज्ञापितस्यापि द्वौ प्रकारौ एतैश्चतुर्यमाणैश्च प्रकारैर्वास्तव्यं वाताहृतं वा अप्रेषयतश्चत्वारोऽनुद्घाता मासाः नव तान् शिक्षान् लभते कुलस्थविरादिभिर्वेद्वारक्षेत्रिकाणां दाप्यते इत्यर्थः ॥

अथात्रैव प्रायश्चित्तवृद्धिमाह

सत्तरत्तं तवो होति, ततो च्छेदो पहावई ।

छेदेण छिन्नपरियाए, ततो मूलं ततो दुगं ॥

प्रागिव दृष्टव्यम् प्रकारद्वादशकमाह ।

तरुणे मज्झिमथेरे, तद्दिणबितिए य छक्कं इक्कं ।

एमेव परग्गामे, छक्कं एमेव इत्थीसु ॥

पुरिसित्ति गाण एते, दो वारसगा उ मुंडिए होंति ।

एमेव व सासिहम्मि य, जाणगजाणाविए भयणे ॥

तरुणमध्यमस्थविरान्प्रत्येकं तद्दिवसे द्वितीयदिने वा प्रेषयत एकं प्रकारषट्कं भवति एतच्च स्वग्रामविषयं परग्रामे एवमेव प्रकारषट्कं सर्वेऽप्येते द्वादश प्रकाराः पुरुषेषु भणिता एवमेव च स्त्रीष्वपि प्रकारद्वादशकं भवति । एते द्वे द्वादशके पुरुषस्त्रीणां मुण्डितविषये भवतः । एवमेव च शैक्षकेऽपि शैक्षद्वादशकद्वयं तदेवं ज्ञापिते च प्रत्येकं (भयणात्ति) भङ्गकविकल्पास्तेषां चत्वारि द्वादशकानि भवन्ति । अथवा ॥

अव्वाहायपुणोघात, जावज्जीवपराजिया ।

तद्दिणपेसणीया-सग्गामे पकारवारसहा ॥

अव्याघातपुनरागतप्रव्रजितयावज्जीवपराजिताश्चेति त्रयः शैक्षाः । एतान् तद्दिने वा प्रेषयन् प्रकारषट्कम् । एतच्च स्वग्रामे इतरस्मिन् वा परग्रामे भवतीति कृत्वा द्वाभ्यां गुणितं द्वादशधा भवति । अथ ऋजु अनृजुलक्षणमाह ।

जाणंतमजाणंते, णाइश्चयसेवाअमाइल्लो ।

सो चेव उजुओ खलु, अणुजुओ जाणअप्पेति ॥

जानतोऽजानतो वा शैक्षान् योऽमायावी सक्षेत्रिकाणां समीपे स्वयं याति परहस्तेन वा प्रेषयति स एव ऋजुक उच्यते । अनृजुस्त्वसौ अभिधीयते यो न समर्पयति न वा प्रेषयति । अथैते वास्तव्यवाताहृता जानन्तोऽजानन्तो वा अनृजुभिः प्रव्राजितास्ते स्वयं पश्चात्परिज्ञायन्ते । उच्यते ततोऽनुयानादिषु यत्र मिलितास्तत्र क्षेत्रिकैः कश्चिदनृजुः प्रव्रजितो वाताहृतः पृष्टः कथं भवान्प्रव्रजितः स भणति ।

तुज्झे वि य नीमाए, अहमागतो दिक्खितो वहोहिं ।

अम्हे किं न पवइया, पुट्ठावणते परिकहेमु ॥

युष्माकमेव निश्रया अहमागतः । अमीभिः स्वपक्षाद्दीक्षितः मया भूशममी पृष्टास्तत एभिराख्यातं वयं किं प्रव्रजिता न भवामो यदेव तान् मार्गयसि । यद्वा न पृष्टाः सन्तः किमपि व्याख्यातवन्तः । एवं रूपशब्दे यशःकीर्तिज्ञो वक्ति । यस्तु कीर्तिमपि न जानाति स ब्रूयात् ।

वायाहडो तु पुट्ठो, जणाइ अमुगदिए अमुगकालम्मि ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एतेहिं दिक्खितो हं, तुम्हे वि सुणासि तत्थासी ॥
तुशब्दस्य विशेषणार्थतया यो वाताहृतो यशःकीर्त्योरपि अज्ञायकः स पृष्टो भणति । अमुकदिने प्रतिपदादौ अमुष्मिन्काले मार्गशीर्षादौ मासे दीक्षितोऽहमेतैः दीक्षानन्तरं च शृणोमि । यथा स्वयमपि तत्रासीदिति ।

एमेव य जसकीत्ती, जाणंते जदा तदा जाणाति ।
तस्स वि तहेव पुच्छा, पावयणिओ वा जहा जातो ॥
एवमेव वास्तव्यो ऽपि यो यशःकीर्तिं जानाति तस्यापि तथैव स्नानादौ यदा पृच्छा कृता भवति तदा जायते । यदा वा असौ प्रावचनिको बहुश्रुतो जातस्तदा स्वयमेव जानाति नाहममीषामाभाव्यः । एवं तावत् सचित्तविषयो विधिरुक्तः ।
अथाचित्तादिविषयं तमेव निर्दिशन्नाह ।

एमेव य अचित्ते, दुविहे उवहिम्मि मीसते चेव ।
पुच्छा अपुव्वमुवहिं, दट्ठूण अणुज्जु पूयाणं ।
एवमेते अचित्ते द्विविधे ओघोपग्रहोपधिभेदाद् द्विप्रकारे उपधौ मिश्रके च सोपधिकशैक्षे विधिर्मन्तव्यः । कथं पुनरसावाभाव्यो वा ज्ञायते इत्याह । अपूर्वं सारतरमुपधिं दृष्ट्वा अनृजुभूतानां तेषामन्तिके पृच्छा भवति । केनिकैरयं कदा कुत्र वा गृहीत इत्येवं ते प्रष्टव्या इति भावः ।

एवं वासावासे, उडुबद्धे पंथे जत्थ वा ठाति ।
सव्वत्थ वा होति उग्गहो, केसिं वि पदीवदिट्ठंतो ॥
एवं वर्षावासे ऋतुबद्धे वा मासद्वयं दिवसपञ्चकं च पूर्वावग्रह इति । पथि वा व्रजतो यत्र क्वापि आचार्यस्तिष्ठति तत्र सर्वतः सक्रोशं योजनमवग्रहो भवति तत्राप्येवमेव सचित्तादीनामाभाव्यानाभाव्यविधिरवसातव्यः । केषांचिदाचार्याणामयमभिप्रायः मार्गं गच्छतां पृष्ठतो नास्त्यवग्रहः ॥ अयं वादेशः कुत इत्याह प्रदीपदृष्टान्तोऽत्र भवति । यथाहि प्रदीपः सर्वतः प्रकाशयति नैकामपि दिशं प्रकाशशून्यां करोति एवमवग्रहोऽपि सर्वतो भवति न कुत्रचिन्न भवत्यपीति । एवं तावत् क्षेत्रे सचित्तादिविषयो विधिरुक्तः ।
अथाक्षेत्रे तमेव निर्दिशति ।

अक्खित्ते वसधीए, जाणविए वि एमेव ।
उज्जुगमणुज्जुगे या, सो चेव गमो हवइ तत्थ ॥
अक्षेत्रे इह कालादियुक्ते नगरादौ सक्रोशं योजनमवग्रहो भवति किं तु तत्र यस्यां वसतौ यः पूर्वस्थितस्तस्यां सचित्तादिकं यदुपतिष्ठते तत्तस्याभवति न पश्चादागतानां तत्रापि य एव क्षेत्रे गम उक्तः स एव सर्वोऽपि ज्ञापके ज्ञापिते च ऋजुके अनृजुके च वक्तव्य इति । अथ कथं कल्पोऽभिधारणीय इति निर्वचनमाह ।

अणिदिट्ठ सण्णि सण्णि, गहितागहिए य सच्छंदो ।
णिदिट्ठलिंगसहितो, सण्णी तस्सेव णस्सस्स ॥
अभिधारणं प्रव्रज्यार्थमाचार्यादेर्मनसा संकल्पनम् तच्च द्विधा अनिर्दिष्टं निर्दिष्टं च अनिर्दिष्टं नाम धारयन् कमप्याचार्यविशेषतो न निर्दिशति स च अभिधारको द्विधा संज्ञी असंज्ञी च पुनरेकैको द्विधा गृहीतलिङ्गोऽगृहीतलिङ्गश्च एष सर्वोऽप्योघतः सामान्येनाचार्यविशेषमनिर्दिश्य प्रव्रजन् स्वच्छन्द आभाव्यो भवति यस्यान्तिके प्रव्रजति तस्यैवासौ शिष्य इत्यर्थः । निर्दिष्टं पुनरभिधारणं तदुच्यते यत्रामुकस्याचार्यस्य समीपे प्रव्रजिष्यामीति निर्देशं करोति एषोऽपि द्विधा संज्ञी असंज्ञी च । पुनरेकैको द्विधा लिङ्गसहितो लिङ्गरहितश्च । तत्र लिङ्गसहितः संज्ञी यमाचार्यमभिधार्य गच्छति । विपरिणतोऽपि तस्यैवासौ भवति नान्यस्य ।

णिदिट्ठे असण्णी, गहियागहिए य अगहिए सण्णी ।
तस्सेव अविपरिणतेवि, परिणते जस्स इच्छाया ॥
असंज्ञी नाम गृहीतलिङ्गोऽगृहीतलिङ्गो वा भवतु । यस्तु संज्ञी श्रावकः सोऽगृहीतलिङ्ग एते द्वयोऽप्यपरिणते भावे यं निर्दिष्टमाचार्यमभिधार्य गच्छन्ति तस्यैव भवन्ति । अथ तं प्रति भावो विपरिणतस्ततो यस्य सकाशे तेषां प्रव्रजितुमिच्छा तस्यैव ते शिष्याः ॥
अथ किंकारणं लिङ्गसहितो व्रजतीत्याह ॥

चारियसमुदाणट्ठा, तेण व गिहत्थन्ति धम्मसड्ढा वा ।
एएहि लिंगसहितो, सण्णी व सिया असण्णी व ॥
चारिको हरिकस्तद्विषया शङ्का मा भूदिति बुद्ध्या लिङ्गं गृहीत्वा व्रजति तथा समुदानं भैक्षं तदर्थं लिङ्गं गृह्णाति गृहीतलिङ्गो हि सुखेनैव भिक्षामाप्नोति । स्वभावापान्तराले गृहिभ्रान्त्या धर्मश्रद्धालवो वा तिष्ठन्ति एतैः कारणैः संज्ञी वा असंज्ञी साधुसमाचारीनिपुणो लिङ्गसहितः स्यादिति । इह यो निर्दिशन् प्रव्रजति एकमनेकान् वा निर्दिशेत् तत्र योऽनेकान् निर्दिशति स एवं संकल्पयति यो मे प्रतिभाष्यते तस्य सकाशे प्रव्रजिष्यामि । तद्विषयं विधिमाह ।

णेगा उदिस्स गतो, लिंगेणं फासितो तु एकेणं ।
दट्ठुं व अचक्खुस्स, णिदिट्ठाणं गतो तस्स ॥
अनेकानाचार्यानुद्दिश्य लिङ्गेन सहितानां बहूनां निर्दिष्टानामन्तिके गतस्तत्र चैकेनास्फालितः सादरमाभाषितो यदि तमभ्युपगतस्तदा तस्यैवासौ शिष्यः । अथाभाषितोऽपि तमचक्षुष्यमनिर्दिष्टं दृष्ट्वा निर्दिष्टमेव कमप्यन्यमुपगतस्तदा तस्याभवति । इदमेव सविशेषमाह ।

णिदिट्ठमणिदिट्ठं, अब्भुवगयलिंगिणो लभइ अण्णो ।
लिंगी व अलिंगी वा, सच्छंदेण य अणिदिट्ठो ॥
निर्दिष्टमनिर्दिष्टं वा आचार्यमभिधार्य गच्छन् लिङ्गी लिङ्गसहितः शैक्षो यमाचार्यमभ्युपगतस्तस्यैवाभवति नैवान्यस्तं लभते । यस्त्वनिर्दिष्टो नाद्यापि कमप्यभ्युपगतः स लिङ्गी वा भवतु अलिङ्गी वा स्वच्छन्देन यमभिलषति तस्याभवति ।

एमेव असिह सण्णी, णिदिट्ठस्सुवगतो ण अण्णस्स ।
अब्भुवगतो वि ससिहो, जस्सिच्छति दो असण्णीव ॥
लिङ्गसहितः संज्ञी निर्दिष्टानां बहूनां मध्ये यमेवाभ्युपगतस्तस्यैवाभवति एवमेव शिखाकोऽपि संज्ञी बहून् निर्दिश्यागतो वा यस्यैव निर्दिष्टस्यान्तिके उपगतः प्रव्रजितुं परिणतस्तस्यैवासौ शिष्यो भवति नान्यस्य यस्तु सशिखाकः संज्ञी स कमप्यभ्युपगतोऽपि यदि पश्चाद्विपरिणतस्तदा यस्यान्तिके प्रव्रजितुमिच्छति तस्याभवति (दोहअसण्णित्ति) द्वौ वा शिखाकसशिखाकलक्षणौ यौ असंज्ञिनौ तावपि पूर्वं कंचनाभ्युपगतौ पश्चाद्विपरिणतौ स्वच्छन्देन यदुपकण्ठे प्रव्रजनस्तस्याभाव्यो । अस्यैवार्थस्य सुखावबोधाय भङ्गकानाह ।

णिदिट्ठस्ससमाणि, अब्भुवगतेतरअट्ठ लिंगिणो भंगा ।
एवमसिहे वि ससिहे वि, अट्ठ सव्वे चउव्वीसं ॥
कमप्याचार्यं निर्दिश्य गच्छन् निर्दिष्टः संज्ञी श्रावकः अन्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पगतः प्रव्रजितुं परिणतः । एतैस्त्रिभिः पदैः (इयरंमि) प्रतिपक्षपदसहितैरष्टौ भङ्गा लिङ्गिनो लिङ्गसहितस्य गच्छतो भवन्ति । तथाहि निर्दिष्टः संज्ञी अभ्युपगतः १ निर्दिष्टः संज्ञी अनभ्युपगतः ।२। निर्दिष्टो ऽसंज्ञी अभ्युपगतः ३ निर्दिष्टो ऽसंज्ञी अनभ्युपगतः ४ अनिर्दिष्टपदेनाप्येवं चत्वारो भङ्गा लभ्यन्ते एते अष्टौ भङ्गा लिङ्गिन उक्ताः । अशिखाके चैवमेव प्रत्येकमष्टौ भङ्गा भवन्ति सर्वेऽप्येते मीलिताश्चतुर्विंशतिभङ्गा जायन्ते एतेषु विधिमाह ।

पढम बिति तातिय पंच, सत्तम नवम तेरसेसु भंगेसु ।
विपरिणतो वि तस्सेव, होइ सेसेसु सच्छंदो ॥

प्रथमद्वितीयतृतीयपञ्चमसप्तमनवमत्रयोदशेषु विपरिणतोऽपि यं निर्दिश्यागतो यं वा अभ्युपगतस्तस्यैवाभवति शेषेषु चतुर्थषष्ठाष्टमदशमैकादशद्वादशचतुर्दशादिषु चतुर्विंशतिषु सप्तदशसु भङ्गेषु स्वच्छन्दः स्वेच्छः यः प्रतिभावी तस्यैवाभवतीत्यर्थः । इदमेव व्यक्तीकुर्वन्नाह ।

सव्वो लिंगी असिहो य, भावतो जस्स अब्भुवगतो सो ।
णिद्दिट्ठमणालिंगी, तस्सेवाणब्भुवगतोत्ति ॥

सर्वो लिङ्गी अशिखाकश्च श्रावको यस्यान्तिकेऽभ्युपगतः स एव तं लभते । किमुक्तं भवति यो लिङ्गसहितोऽभ्युपगतः स निर्दिष्टोऽनिर्दिष्टो वा संज्ञी असंज्ञी वा भवतु यश्चाशिखाकः श्रावकोऽभ्युपगतः सोऽपि निर्दिष्टो वा भवतु एष सर्वोऽपि यमेवाभ्युपगतो विपरिणतोऽपि तस्यैवाभवति एतेन प्रथमतृतीयपञ्चमसप्तमनवमत्रयोदशभङ्गास्सूचिताः । तथा यो लिङ्गी निर्दिष्टः संज्ञी च स यद्यप्यनभ्युपगतस्तथापि यमेव निर्दिश्यागतस्तस्यैवाभवति न पुनर्विपरिणतोऽप्यन्यस्यानेन द्वितीयो भङ्गो गृहीतः । शेषेषु तु सप्तदशस्वपि गतेषु यत्राभ्युपगतस्तत्राविपरिणतस्तस्यैव विपरिणतस्तु स्वेच्छायां यत्र तु नाभ्युपगतस्तत्र विपरिणतोऽविपरिणतो वा यथा स्वच्छन्दमाभाव्य इति गतं कथं कल्पोऽभिधारण इति द्वारम् ।

अथैकग्रामे इति द्वारमाह ।

असन्नी उवसमितो अ-प्पणो इच्छीइ अन्नहिं तस्स ।
दट्ठूणं च परिणए, उवसमिते जस्स वा खेत्तं ॥

केनचिद्धर्मकथिना कश्चिदसंज्ञी मिथ्यादृष्टिरुपशमितः प्रव्रज्याभिमुखीकृतः स यावन्नाद्यापि सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते तावत्प्रव्रजन् क्षेत्रिकस्याभवति । अथ सम्यक्त्वं प्रतिपन्नस्तस्य क्षेत्रमन्यस्याचार्यस्य सत्कं ततोऽसावात्मन इच्छया आभवति यदि क्षेत्रिकस्योपाविष्टस्ततस्तस्यैव अथोपशामयत उपस्थितस्तत्रोपशामयत एव एतौ द्वौ मुक्त्वा अन्यस्य नाभवति (अन्नहिंत्ति) अथान्यक्षेत्राद्बहिरुपशमितस्तदा तस्योपशामकस्याभवति । अथ केनापि नो कथितः परमन्यं कमप्याचार्यादिकं दृष्ट्वा स्वयमेव प्रव्रज्यायां परिणतस्ततोऽसौ क्षेत्राद्बहिरुपशान्त उपशामक आभवति । मूर्त्तिदर्शनद्वारेणोपशमनकारिण इत्यर्थः । अथ क्षेत्रान्तरुपशान्तस्ततो यस्य सत्कं क्षेत्रं तस्याभाव्यः । अमुमेवार्थं सविशेषमाह ।

परखित्ते वसमाणो, अइक्कमंतो व ण लभति असमत्तंथि ।
दट्ठूण पुव्वसम्मी, गाहितसम्माति सो लभति ॥

परक्षेत्रे मासकल्पे वर्षावासे वा वसन् अतिक्रामन् वा परक्षेत्रमध्यगतो गन्तुमनास्तत्रावस्थितो ऽसंज्ञिनमप्रतिपन्नसम्यक्त्वं स्वयमुपशामितमपि न लभते । अथ कंचिन्मिथ्यादृष्टिं सम्यक्त्वमादिशब्दादणुव्रतानि वा ग्राहयित्वा क्षेत्रान्तरं गतः भूयोऽप्यन्यदा तदेव क्षेत्रमायातः स च प्रागुपशामित इदानीं पूर्वसंज्ञी लभ्यते ततस्तं पूर्वसंज्ञिनं सम्यक्त्वादिग्राहितं स उपशमच्छन्देन लभते । किमुक्तं भवति । उपशमिकं क्षेत्रिकं वा यमभिरोचयति तस्याभवति । एवं त्रयाणां वर्षाणामागतो मन्तव्यः । त्रिषु वर्षेषु पूर्णेषु स पूर्वसंज्ञी क्षेत्रिकस्यैवाभाव्यो नोपशामयतः ॥ आह च चूर्णिकृत् "तिसु वरिसेसु पुण्णेसु खेत्तियस्स वा भवति । तो उवसामितस्सत्ति" गतमेकग्रामद्वारम् ॥

अथातिक्रामन् द्वारमाह ।

मग्गंतो अण्णखित्ते, अभिधारितो उ भावतो तस्स ।
खित्तम्मि खित्तियस्स, बाहिं वा परिणतो तस्स ॥

शैक्षः कंचिदाचार्यं मार्गयन् व्रजति तस्य चान्यक्षेत्रे परकीयक्षेत्राभ्यन्तरे पथि गच्छतः कश्चिद्धर्मकथी मिलितः स यद्याकर्षणहेतोस्तस्य धर्मं कथयति तदा यमाचार्यमभिधारयन् व्रजति तस्याभवति । अथ भावतः स्वभावादेव कथयति ततस्तस्य धर्मकथिकस्याभवति । तुशब्दो विशेषणे स चैतद्विशिनष्टि यदि क्षेत्राभ्यन्तरे स्वभावतः कथयति ततः क्षेत्रिपरिणतः प्रव्रज्याभिमुखीभूतः क्षेत्रिकस्य भवति बहिस्तु परिणतस्तस्य कथयत आभाव्य इति । इदमेव व्याचष्टे ॥

अभिधारिंतो वच्चति, पुच्छित्तो साहुवच्चतो तस्स ।
परिसगतो व कहइ, कट्टए हेउं न तं लभति ॥

कंचिदाचार्यमभिधारयन् शैक्षो व्रजति तस्य कोऽपि साधुः पथि गच्छन् मिलितस्तेन च पृष्टोऽमुक आचार्यः कुत्रास्ते साधुराह किं तेन भवतः प्रयोजनम् । स प्राह । तस्यान्तिके प्रव्रजितुकामोऽहं परं दृष्ट्वा तस्य व्रजत एवाकर्षणहेतोः (साहत्ति) धर्मं कथयति यद्वा ग्रामे क्वापि पर्षदन्तर्गतस्य धर्मं कथयत उपस्थितस्ततो वन्दित्वा तथैव स्वाभिप्राये कथिते स आकर्षणहेतोर्विशेषतो धर्मं कथयति कथिते च यद्यसौ प्रव्रजितुमभिलषति ततो न तं शैक्षं लभते । अभिधारिताचार्यस्यैव स आभवति ॥

उज्जुकहए परिणतं, अंतोखित्तस्स खित्तिओ लभइ ।
खित्तबहिं तु परिणयं, लभउज्जुकहीण खलु माई ॥

अथासौ कथको धर्मकथी ऋजुकः सद्भावतः कथयति नाकर्षणहेतोः स च प्रव्रज्यायां परिणतः क्षेत्रान्तः परिणते क्षेत्रिको लभते क्षेत्राद्बहिः परिणतं तु ऋजुको धर्मकथी लभते न खलु मायी मायावान् ।

परिणमइ अंतरा अं-तरा य भावोणियत्ति तत्तो मे ।
खित्तम्मि खित्तियस्स, बहिं तु परिणतो तस्स ॥

अथ अन्तरान्तरा तस्य भावः प्रव्रज्यायां परिणमते निवर्त्तते वा ततः क्षेत्रे परिणतः क्षेत्रिकस्याभवति बहिस्तु परिणतस्तस्य धर्मकथिकस्याभवतीति । गतमतिक्रामन् द्वारम् ॥ अथ द्विधा मार्गणा शिष्ये एकविधा च प्रतिच्छके इति यदुक्तं तत्र प्रतीच्छकविषयां तावदेकविधां केवलसज्ञातीयविषयां मार्गणामाह ॥

माया पिया य भाया, भगिणी पुत्तो तहेव धुत्ता य ।
छप्पेते नालबद्धा, सेसए भवंति आयरिया ॥

माता पिता भ्राता भगिनी पुत्रस्तथैव दुहिता वा एतेऽप्येते अनन्तरवल्लीमधिकृत्य नालबद्धा मन्तव्याः । एते च अभिधारयन्तः प्रतीच्छकस्याभवन्ति । उपलक्षणमिदं तेन परावल्लीबद्धा अपि वक्ष्यमाणाः षोडश जना अभिधारयन्तस्तस्यैवाभवन्ति । शेषास्तु ये नालबद्धा भवन्ति तेषु आचार्याः

प्रभवन्ति न प्रतीच्छकः इदमेव व्यक्तीकुर्वन् परंपरावल्लीं प्रतिपादयति ।

माओ माया पिया भाया, भगिणी य एव पिउणो वि ।
भायादिपुत्तधूता, सोलसगं होइ बावीसं ।
बावीस छसति एए, पडिच्छओ जाति य तमभिधारंति ।
अभिधारमणभिधारं, णायमणाते तरेण लभे ॥

मातुः संबन्धिनो माता पिता भ्राता भगिनी चेति चत्वारो जनाः पितुःसंबन्धिनोऽप्येवमेव चत्वारो जनाः (भायादिपुत्तधूयति) भ्रातुः संबन्धिनः पुत्रो दुहिता चेति जनद्वयम् आदिशब्दात् भगिन्या अप्यपत्यं भागिनेयः भागिनेयी चेति द्वयम् । पुत्रस्यापत्यं पौत्रः पौत्री चेति द्वयम् । दुहितुरपत्यं दौहित्रो दौहित्री चेति । सर्वसंख्यया षोडशकं भवति । षट् वाऽनन्तरषष्ठीजना अत्र प्रक्षिप्यन्ते ततो द्वाविंशतिर्भवति द्वाविंशतिमप्येतान् जनान् प्रतीच्छको लभते। यदि च तं प्रतीच्छकमभिधारयन्तस्ततस्तेऽप्याचार्यस्यैवाभाव्या इति नव इतरे जनाः ये व्यतिरिक्तास्तानभिधारयतो वा ज्ञातकान् वा अज्ञातकान् वा प्रतीच्छको लभते । अथ शिष्यविषयां द्विविधां मार्गणामाह ।

णायगमणायगा पुण, सीसे अभिधारमणभिधारे य ।
दो वयरादिहंता स-व्वे वि भवति आयरिए ॥

द्विविधा मार्गणा तत्र ये शिष्यस्य ज्ञातकाः स्वजना ये चाज्ञातका अस्वजनास्ते तमभिधारयन्तो वा अनभिधारयन्तो वा सर्वेऽप्याचार्यस्याभवन्ति न शिष्यस्य कुत इत्याह वज्रस्वरदृष्टान्तात् " दासेणसेस्वरो किओ दासो वि सेस्वरोविमे इति " निदर्शनात् । अथ परिसेढय कई कप्पो विहज्जइ इति द्वारं निरूपयन्नाह ।

पुव्वुप्पन्न गिलाणे, असंथरं ते य चउगुरुच्छेई ।
वयमाणइमे संघा-पच्छप्पेतण लभंति ॥

एकत्र ग्रामे गच्छः स्थितस्तेषां च ग्लान उत्पन्नस्तत्प्रतिचरणे साधवो व्यापृताः सन्तः सर्वेऽपि भिक्षामटितुं न प्रभवन्ति ततश्च संस्तरणं संज्ञानमेव ग्लानोऽपूर्वोत्पत्तेरसंस्तरणं शैक्ष उपस्थितस्ते च ग्लानकार्यभृत्यतया शैक्षं वापयितुं न पारयन्ति । अतो भगवद्भिः प्रतिषिद्धं न तैः शैक्षो दीक्षणीयः । यदि दीक्षयन्ति ततश्चतुरो गुरुकाः । अथालोजनादौ अमीषां प्रकाराणां कृत्वा प्रेषयन्ति (वयमाण इत्यादि) तं शैक्षं मुण्डयित्वा व्रज त्वमेकाक्येवामुकाचार्यसन्निधाविति वदन्तो विसर्जयन्ति । यद्वा तस्यैकं कमपि सहायं संघाटकं वा समर्पयन्ति एते त्रयः प्रकारा मुण्डितस्य भवन्ति । अमुण्डितस्याप्येते त्रयः एते षडपि तं शैक्षं न लभन्ते । षड्भिः प्रकारैः प्रेषयन्त इत्यर्थः । येषां समीपे प्रेषयन्ति तेषामेवासौ शिष्यः । अथात्मसमीपे स्थापयन्ति तत इमे दोषाः ।

आयरिय गिलाण गुरुगा, सहस्सा अकरणम्मि ।
चउलहुगा परितावण, णिप्फण्णदुहतो भंगे य मूलं तु ॥

शैक्षं प्रव्राज्य तदैया कृत्यव्याकुलाः सन्तो यद्याचार्याणां ग्लानस्य वा वैयावृत्त्यं न कुर्वन्ति ततश्चतुर्गुरुकः । अथ शैक्षस्य न कुर्वन्ति ततश्चतुर्लघुकः । अथ ग्लानादीनामनागाढमागाढं वा परितापना भवति तत आत्मनिष्पन्नम् (दुहतो भंगेयत्ति) शैक्षस्य यन्निष्क्रमणं ग्लानस्य च यन्मरणमेष द्विधा भङ्ग उच्यते तत्र मूलं भवति । अथ द्वितीयपदमाह ।

संथरमाणे पच्छा, जायं गहिते व पच्छगेलन्नं ।
अप्पव्वइते पव्वइए, संघाडगे व वयमाणे ॥

इह गच्छे ग्लानो विद्यते परं नागाढं ग्लानत्वं ततः संस्तरन्ति ते शैक्षमपि वर्तापयितुमाचार्याणामपि कर्तुमेवं प्रव्राजिताः । शैक्षः पश्चात्तद्ग्लानत्वमागाढं समजनि ततो वर्तनपरिवर्तनादिव्यापृताय वेलावद्भिक्षां न हिण्डते येऽपि हिण्डन्ति तेऽपि न शक्नुवन्ति सर्वेषामपि पर्याप्तमानेतुमेवमसंस्तरणं जातम् यद्वा मूलत एव ग्लानत्वं पूर्वं नासीत् किंतु पश्चात् शैक्षे गृहीते प्रव्राजिते सति ग्लानत्वमुत्पन्नं ततोऽसौ षड्भिः प्रकारैः प्रेषणीयः । तद्यथा अप्रव्राजितोऽमुण्डितः प्रव्राजितो मुण्डितः एष द्विविधोऽपि त्रिधा संघाटकेन एकसाधुना (वयमाणत्ति) एकाकी व्रजते व्रजमानैरेकाकित्वेनेत्यर्थः । अथ संथरमाणे पच्छा जायंति पदं विशेषतो व्याचष्टे ।

नागाढं पउणिस्सइ, अचिरेणं तं च जायमागाढं ।
सेहं वहा वेओ, ण भवति गिलाणकिच्चं वा ॥

पूर्वमनागाढं ग्लानत्वं भवेत् ततः शैक्षे उपस्थिते चिन्तितम् । अचिरेणैवायं ग्लानः प्रगुणीभविष्यति । ततः शैक्षे प्रव्राजिते तद्ग्लानत्वमागाढं जातं ततस्ते शैक्षं वर्तापयितुं ग्लानकृत्यं च कर्तुं समकमेव न चरन्ति न शक्नुवन्ति । अतोऽन्येषां समीपे प्रेषयन्तः शुद्धाः ।

अपडिच्छमाण तेसिं जं, सेहविया वमाउ पावेंति ।
तं चेव पुव्वभणियं, परितावणसेहभंगाइ।

इतरे नाम येषां समीपे प्रेष्यते । यदि ते न प्रतीच्छन्ति तदा चतुर्गुरुकः । यच्च ते शैक्षव्यापृताः प्राप्नुवन्ति तन्निष्पन्नं तेषामप्रतीच्छतां प्रायश्चित्तम् । किं पुनस्ते प्राप्नुवन्तीत्याह । तदेव पूर्वभणितं परितापनशैक्षभङ्गादिकमत्र दोषजातं मन्तव्यम् । किमुक्तं भवति ग्लानोऽप्रतिचर्यमाणः परिताप्येत शैक्षो वैयावृत्त्येऽभिधीयमाने प्रतिभज्येत । आदिशब्दाद् ग्लानस्य मरणं वा भवेत् ।

संखडिए वा अट्ठा, असुंडियं वा य पेसंती ।
वयमाणे एगेण य, संघाडएण ण लभंति ॥

संखडिकरणं तस्या वा अर्थाय मनोज्ञाहारलम्पटशैक्षममुण्डितं वा प्रेषयन्ति तत्रापि (वयमाणित्ति) एकाकितया प्रेषणेन एकसाधुना संघाटकेन च षट् प्रकारा भवन्ति । एतैः षड्भिरपि प्रेषयन्तो न लभन्ते । इदमेव व्याख्यानयति ।

होहिंति ण मग्गाइं, आवाहविवाहपव्वयमहादी ।
सेहस्स व सागारियं, विहाभिस्सइ विनेसिंति ॥

इह शैक्षः केषांचिदुपस्थितस्तत्र चावाहविवाहपर्वतमहादीनि प्रकाराणि नवाग्राणि प्रत्यासन्नानि भविष्यन्ति । आवाहो वध्वा वरगृहानयनं विवाहः पाणिग्रहणं पर्वतमहः प्रतीतः । आदिशब्दात् तडागनदीहृदादिपरिग्रहः । शैक्षस्य च तत्र सागारिकस्तत्प्रव्राजनभयम् । यद्वा यद्येष शैक्षोऽत्र स्थास्यति तदा संखडिभोजनगृहमाविद्रास्यति । स विनश्यति । यदि च वयमनेनैव सह गच्छामस्ततः संखडेः स्फिटामः अत एवमन्यत्र प्रेषयाम इति विचिन्त्य षड्भिःप्रकारैस्तं प्रेषयन्ति । ते च लभन्ते येषामन्तिके प्रेषयन्ति तेषामेव स आभवतीति । गतं प्रतिषिद्धे व्रजति कथं कल्पो विधीयत इति द्वारम् । संप्रति संगारदत्ते कथं कल्पो विधीयते इति द्वारमाह ।

गिहियाणं संगारो, संगारं संगिते करेमाणे ।
अणुमोयति सोहिंसं, पव्वाविनो जेण तस्सेव ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गृहिणां संबन्धी यः संगारो युष्मदन्तिके अस्माभिरसंयतः कालादूर्ध्वं प्रव्रज्या ग्रहीतव्येति संकेतस्तं प्रतीच्छन् संयतः स्वयं च तैः सार्द्धं संगारममुष्मिन् दिनेऽमुष्मात् प्रव्राजयिष्यामीति लक्षणं कुर्वन् हिंसां यावदसौ न प्रव्रजति तावन्तं कालं षट्कायविराधनालक्षणामनुमोदयति स च शैक्षस्तं प्रति विपरिणतो येन प्राव्रजितस्तस्यैवाभवति न संकेतदायिन इति । किञ्च ।

विप्परिणमइ सव्वं व, परओ असमत्तअणातित्थीव ।
मोत्तुं वासावासं, ण होइ संगारतो इहरा ॥

संकेतकरणानन्तरं शैक्षः स्वयं वा विपरिणमति परतो वा परेण स्वजनादिना स विपरिणम्येत आसन्नविहारिषु वा प्रव्रजेत् अन्यतीर्थिको भवेत् । अतो वर्षावासं मुक्त्वा इतरथा पुष्टालम्बनं विना संगारो न प्रतीच्छनीयो न वा कर्त्तव्यः किमर्थं पुनः संगारमसौ करोतीत्याह ।

संखडसज्झायावी, खित्तं मोत्तव्वयं व मा होज्जा ।
एएहिं कारणेहिं, संगारकरंति चउगुरुगा ॥

संखडिस्तत्र ग्रामे उपस्थितानां परिहर्त्तुं न शक्नोति संज्ञातका वा तस्य तत्र भूयांसस्तेषामाग्रहात् शक्नोति गन्तुं क्षेत्रं वा तदतीव सस्निग्धमधुराहारादिलाभापन्नं शैक्षस्य च तत्र सागारिकं ततस्तन्मोक्तव्यं माभूत् । एतैरेवमादिभिः कारणैः । शैक्षस्य संगारं यः करोति तस्य चतुर्गुरु ।

अथ गृहस्थाः किमर्थं संगारं कुर्वन्तीत्याह ।

रिणवाहिं मोक्खेउं, कुडुंबवित्तिं वतित्थि ते गिण्हे ।
एमादि अणाउत्ते, करिंति गिहिणो उ संगारं ॥

ऋणं वा व्याधिं वा मोक्षयितुं अपनेतुं कुटुम्बस्य वा पश्चान्निर्वहणायोग्यां वृत्तिं संपादयितुं यद्वा ग्रीष्मस्तदानीमतिक्रान्तो वर्षावास आयातः एवमादिभिः कारणैः शैक्षस्यानायुक्ते अक्षणिकतायां गृहिणः संगारं कुर्वन्ति । अथ द्वितीयपदेन संगारे प्रतीष्यमाणे आभाव्यविधिमाह ।

अगविट्ठोमित्ति अहं, लब्भति असढेहिं विपरिणतो वि ।
वोयं तप्पाहिंति व, ते वियणं अंतरा गंतु ॥

संगारे कृते यश्च श्लैष्मलानादिकार्यव्यापृतैः स शैक्षो न गवेषितस्तदाऽसावगवेषितो नैकमपि वारमहममीभिर्गवेषित इति बुद्ध्या विपरिणतोऽपि लभ्यते तेषामेवाभवतीत्यर्थः । परं तेऽपि साधवस्तमन्तरा गन्तुं वा नोदयेयुरिति संकेतस्मारणपुरस्सरं शिक्षयन्ते अथ स्वयं गन्तुं न प्रभवन्ति ततः (तप्पाहिंति) संदेशं तस्य प्रेषयन्ति ।

एवं खलु अच्छिन्ने, वेला तहेव दिवसेहिं ।
वेला पुण्णमपुण्णे, वाघाए होइ चउभंगो ॥

एवं तावदच्छिन्ने अनियते संगारे विधिरुक्तः यस्तु छिन्नः संगारस्तत्र विधिरभिधीयते छिन्नो नाम क्षेत्रतः कालतश्च प्रतिनियतः । क्षेत्रतो ग्रामनगरखण्डादौ प्रव्रज्यादानार्थं भवद्भिः समागन्तव्यं कालतो वेलया दिवसैर्मासैश्च प्रतिनियतैस्तत्र च वेलाया उपलक्षणत्वाद्दिवसैश्च (पुण्णमपुण्णम्मि) पूर्णे अपूर्णे वा संगारे काले व्याघातो भवेत् । तत्र चेयं चतुर्भङ्गी । कालपूर्णो निर्घातं प्राप्तः, १ कालः पूर्णः संघातः, २ संजातकालोऽव्याघातपूर्णपरं निर्व्याघातं तत्र प्राप्तः, ३ कालोऽप्यपूर्णो व्याघातोऽपि जात, इति ४ अथवा अन्यया चतुर्भङ्गी संयतस्य व्याघातो न गृहस्थस्य, गृहस्थस्य व्याघातो न संयतस्य । द्वयोरपि व्याघातः । द्वयोरप्यव्याघातः ।

तत्र संयतस्य व्याघाते विधिमाह ।

मंदट्ठिगा ते तहियं वि पत्ते, जे तिंमणा ते य सदा ण होंति ।
स लब्भती अप्पगतो तहेव, दप्पट्ठिया जे ण उ ते लभंति ॥

यत्र ग्रामादौ संकेतः कृत आसीत् तत्र स शैक्षः प्राप्तः साधवस्तु न प्राप्तास्ततो यद्येवं मन्यते मन्दार्थिनस्ते सद्विषये मन्दप्रयोजना अत एव नायाता इति बुद्ध्या विपरिणतः । ते च साधवो यदि शठप्रव्राजिकादिप्रतिबन्धयुक्ता न भवन्ति ग्लानादिकार्यव्यापृता यतो याता इति भावः ततः स शैक्षोऽन्यगतोऽप्यन्यमाचार्यमभ्युपगतोऽपि तैः साधुभिर्लभ्यते । ये तु दर्पतः स्थितास्ते नैव तं लभन्ते येन प्रव्राजितस्तस्यैवासौ शिष्य इति ।

पंथेधम्मकहिस्सा, उवसंतो अंतरा उ अप्पस्स ।
अभिधारितो न तस्स उ, इयरे पुण जो उ पव्वावे ॥

यद्यसौ येन साधुना संकेतो दत्तस्तदभिमुखं प्रस्थितः पथि गच्छन् अन्तरा अन्यस्य धर्मकथिनः समीपे धर्ममाकर्ण्योपशान्तः स च स्वयमभिधारयन् गच्छति तदा तस्यैवाभिधारितस्याभवति । इतरः पुनरनभिधारयिता ततो धर्मकथी प्रव्राजयति । इदमेव व्याचष्टे ।

पुण्णेहिं पि दिणेहिं, उवसंतः अंतरा उ अप्पस्स ।
अभिधारित्ता तस्स उ, इयरं पुण जो उ पव्वावे ॥

पूर्णैरपिशब्दादपूर्णैरपि दिवसैरन्तरा पथि वर्तमानोऽन्यस्य सकाशे उपशान्तः सन् अभिधारयति प्रव्रजामि तावदहममीषां समीपे परं पूर्वेषामेवाहं शिष्यः एवमभिधारयन् तस्यैव पूर्वाचार्यस्याभवति इतरो नाम यः पूर्वेषां विपरिणतस्तं प्रव्राजयति तस्यैव स शिष्यः । नियमप्रदर्शनार्थमिदमाह

णूणादिसमोसरणे, दट्टूण चित्तं तु परिणतो अण्णं ।
तस्सेव से ण पुरिसे, एमेव पहम्मि दव्वं ते ॥

न्यूनादौ समवसरणे तं पूर्वाचार्यं दृष्ट्वाऽपि यद्यन्यमेव परिणतः प्रतिपन्नस्तदा तस्यैवासौ शिष्यो न पूर्वस्य एवमेव पथि व्रजतामप्यनाघातानामाभाव्यविधिरवगन्तव्यः । अथ कः संयतस्य गृहस्थस्य वा व्याघातो न भवतीत्याह ।

गेलण्णतेणग नदी, सावयपडणीयवालमहिया वा ।
इइ समणे वाघातो, महिगा वज्जा उ सेहस्स ॥

ग्लानत्वं तस्य साधोरुत्पन्नं स्तेनका वा अन्तराले द्विविधा नदी वा पूर्णा श्वापदा वा व्याघ्रादयः । पथि तिष्ठन्ति प्रत्यनीको वा तं प्रतिचरन्नास्ते व्यालाः सर्पास्ते वा पथि गच्छन्तं दशन्ति महिका वा पतितुमारब्धा य एवं श्रमणे व्याघातः संभवति शैक्षस्यापि महिकावर्जः सर्वोऽप्येष एव व्याघातो वक्तव्यः । पूर्वं स्वयं विपरिणतमाश्रित्य विधिरुक्तः । अथान्येन विपरिणामितस्य विधिमाह ।

विप्परिणामियभावो, ण लब्भते तं च णो वियाणामो ।
विप्परिणामियकहणा, तम्हा खलु होति कायव्वा ॥

विपरिणामितो विवक्षिताचार्यादुत्तारितो भावो यस्य स विपरिणामितभावः एवंविधः शैक्षो लभ्यते विपरिणामकस्य भवतीति भावः । शिष्यः प्राह तमेव विपरिणमनं तावद्वयं न विजानीमः । सूरिराह । यत एवं भवतो जिज्ञासा तस्माद्विपरिणामनं विपरिणामितं तस्य कथना प्ररूपणा कर्त्तव्या भवति । तामेवाह ।

दिट्ठपादिट्ठविदेसत्थ, वि गिलाणे मंद धम्म अपसुत्ते ।

णिप्पत्ती णत्थि तस्स, तिविहं गरहं व मा वत्तति ॥

शैक्षः कमप्याचार्यमभिधार्य गच्छन् मार्गे कमपि साधुं दृष्ट्वा पृच्छति अमुक आचार्यो भवद्भिः कदाचित् दृष्ट उताहो न दृष्टः एवं दृष्टे स साधुर्विपरिणामनं बुद्ध्वा भणति । किं तैः करिष्यसि शैक्षः प्राह । प्रव्रजितुकामोऽहं तेषां समीपे एवं श्रुत्वा साधुर्दृष्टानपि तान् न मया दृष्टा इति अथवा स्वदेशस्थानपि भणति विदेशस्थास्ते एवमग्लानानपि ग्लानास्ते व्रज त्वमपि तस्य द्वितीयः । अथवा ब्रवीति यस्तस्य पार्श्वे प्रव्रजति सोऽवश्यं ग्लानो ग्लानवैयावृत्ये वा नित्यं व्यापृतो भवति । अथवा मन्दधर्मिणस्ते ततः किं तव मन्दधर्मता रोचते । यद्वाऽसौ अल्पश्रुतस्त्वं च ग्रहणधारणासमर्थस्तस्य पार्श्वे गतः किं करिष्यसि त्वमेव वा तं पाठयिष्यसीति । अथवा तस्य शिष्याणां निष्पत्तिरेव नास्ति यं प्रव्राजयति स सर्वोऽपि व्रती भज्यते म्रियते वेति भावः । त्रिविधां वा नामवाक्कायभेदात् ज्ञानदर्शनचारित्रभेदाद्वा त्रिप्रकारां गर्हां वक्ष्यमाणरीत्या यदाऽसौ करोति सा विपरिणामता मन्तव्या । एनां कुर्वन्सश्चतुर्गुरुकम् न च तं शैक्षं लभते अतो नैवं कथनीयम् । किंतु दृष्टादिपदेषु सद्भावः कथनीयः । कथमित्याह ।

जइ पुण तेण ण दिट्ठा, णेव सुया पुच्छितो भणति ।
अन्ने गया विदेसं, तो साहइ जत्थ ते विसए ॥

योऽसौ शैक्षेण पृष्टस्ततो यदि ते सूरयो न दृष्टा नैव श्रुतास्ततः पृष्टः सन् भणति अहं न जानामि । अन्यान् अपरान् साधून्पृच्छ । अथ जानाति ततो यथा वस्थितं कथनीयं यदि विदेशगतास्ततो यत्र विषये देशे ते वर्त्तन्ते तं कथयति । अथ नाख्याति हीनाधिकं वा आख्याति ततोऽपरिणामेनाभवति

सेसेसु असब्भावं, णातिक्खमंदधम्मवज्जेसु ।
गूहयते सब्भावं, विप्परिणति हीणकहणे वा ॥

शेषेषु ग्लानादिषु पदेषु मन्दधर्मवर्जेषु सद्भावं व्याख्याति यद्यप्यसौ ग्लानो ऽल्पश्रुतो वा शिष्यनिष्पत्तिर्वा तस्य नास्ति तथापि तत्र कथनीयम् । यस्तु मन्दधर्मपार्श्वस्थादिस्तत्र सद्भावः कथनीयो मा संसारं पारं गन्तुकामः सुतरां संसारे पतिष्यतीति कृत्वा यस्तु ज्ञानदर्शनचारित्रतपःसंपन्नो वादी धर्मकथी संग्रहोपग्रहकारी तद्विषयं सद्भावं यदि गूहयति अपलपति हीनकथनं वा करोति अधिकमप्यन्याचार्येभ्यो हीनं कृत्वा कथयतीत्यर्थः । एषा विपरिणामता मन्तव्या । अथ त्रिविधां गर्हां व्याचिख्यासुस्तत्स्वरूपं तावदाह ।

सीसो कंपणगरिहा, हत्थविलंबि य अहो य हकारो ।
वेल्लाकरणाय दिसा, चिट्ठतिणामं ण घेत्तव्वं ॥

गर्हा नाम शैक्षेण पृष्टस्सन् शीर्षकम्पनं करोति हस्तौ वा धुनीते विलम्बितानि वा करोति हस्तावोष्ठौ वा विलम्बयतीत्यर्थः । यद्वा ब्रवीति । अहो प्रव्रज्यां हाकारं वा करोति हाहा कष्टं यदेवं नष्टो लोकः (वेल्लत्ति) नामापि न वर्त्तते । अस्यां वेलायां गृहीतुमिति । कर्णौ वा तदीयनामग्रहणे स्थगयति यस्यां वा दिशि स तिष्ठति तस्यां न स्थातव्यमिति ब्रवीति । उपलक्षणत्वादक्षिणी वा निमीलयति यद्वा तामपि तस्यातिपात्रेन ग्रहीतव्यमतः आस्तामेतद्विषयं पृच्छादिकमिति ।

नाणे दंसणचरणे, सुत्ते अत्थे य तदुभए चेव ।
अह होति तिहा गरहा, कायो वाया मणो वावि ॥

ज्ञाने दर्शने चारित्रे चेति त्रिविधा गर्हा भवति । तत्र ज्ञानगर्हा नाम न उपस्थितेनैव किंतु तदीयेन ज्ञानेन । दर्शनगर्हा तु मिथ्यादृष्टिर्नास्तिकप्रायोऽसौ । चारित्रगर्हा सातिचारं चारित्रो ऽचारित्री वासौ । अथवा सूत्रे अर्थे तदुभये चेति त्रिविधा गर्हा । तत्र सूत्रं तस्य शङ्कितं स्खलितमर्थं पुनरवबुध्यते १ यद्वा अर्थं नावबुध्यते सूत्रं पुनर्जानाति २ उभयमपि वा तस्याविशुद्धं जानाति वा किमपीति ३ अथवा कायवाग्मनोभेदात् त्रिधा गर्हा । तत्र कायगर्हा तेषामाचार्याणां शरीरं हुण्डकादिसंस्थानं विरूपं वा । वाग्गर्हा मन्मनं काहलं वा ते जल्पन्ति । मनोगर्हा न तेषां तथाविधोहापोहपाटवं भवाग्रहणसामर्थ्यमिति । अथैषा त्रिविधा गर्हा भवति ।

प्रकारान्तरेण गर्हामेवाह ।

पव्वयसि ओम कस्स स-कासे अमुगस्स निद्दिट्ठो ।
आयपराधिगसंसी, उवहणति परं इमेहिं तु ॥

कोऽपि शैक्षः केनापि साधुना पृष्टः प्रव्रजसि त्वं स प्राह ओम कस्य सकाशे इति पृष्टः सन् भूयोऽप्याह अमुकस्य समीपे । एवं निर्दिष्टे उक्ते स साधुः आत्मानं परस्मादधिकं शंसितुमाख्यातुं शीलमस्येत्यात्मपराधिकशंसी परममीभिः वचनैरुपहन्ति । तद्यथा ॥

अबहुस्सुतो वि एव्वं, जहच्छंदा तेसु वा संसग्गी ।
ओमसा संसग्गी व, तेसु एक्केकए दुन्नि ॥

अहं बहुश्रुतः सोऽबहुश्रुतः । अहं विशुद्धपाठकः स पुनरविशुद्धपाठी । यद्वा यथाच्छन्दास्ते आचार्यास्तैर्वा यथाच्छन्दैः सह ते गाढतरं संसर्गिणः । गाथायां तृतीयार्थे सप्तमी । अवसन्ना वा तैः सार्द्धं संसर्गिणो वा एवं पार्श्वस्थादावप्येकैकस्मिन् भेदौ द्वौ द्वौ दोषावेवमेव वक्तव्यौ ।

अथ कायवाङ्मनोगर्हामेव प्रकारान्तरेणाह ।

सीसोकंपणहत्थे, कण्णदिसा अत्थि काइगी गरहा ।
वेल्ला अहो य हात्तिय, णामत्ति काइगी गरहा ॥

शीर्षकम्पनं हस्तविलम्बनं कर्णस्य अन्यस्यां दिशि स्थापनम् । अक्षिनिमीलनमनिमिषलोचनस्य वा क्षणमवस्थानम् । एषा सर्वाऽपि कायिकी गर्हा यत्तु यस्यां वेलायां नाम न गृहीतव्यम् अहो कष्टं हाहाकारकरणं नाम च तस्य कदापि न ग्रहीतव्यमित्यादिभाषणं सा कायिकी गर्हा ।

अह माणसिगी गरहा, निज्जाति णित्तवत्तरागेहिं ।
धीरत्ताए ए यं पुण, अभिणंदइ य तं वयणं ॥

अथानन्तरं मानसिकी गर्हा मनसि तमाचार्यं जुगुप्सते कथमेतत् ज्ञायते इत्याह नेत्रवक्त्रयोः संबन्धिनोर्ये रागा मुकुलनविकाशनवनाद्यो विकारास्तैः सूच्यते मानसिकी गर्हेति भणिता साध्विदं कृत्यमेतद्भव्यानामित्यादिवचोभिर्न तदीयं वचनमभिनन्दति धीरतया वा तूष्णीकमास्ते । एवमन्यतरस्मिन् गर्हाप्रकारे कृते तस्य शङ्का भवति अवश्यमकार्यकारी स आचार्यादिः संभाव्यते । भवामी साधवोऽलीक भाषन्ते । अहमपि तत्र गत आत्मानं नाशयिष्यामीति ।

एताणि य अन्नाणि य, विपरिणमणपदाणि सेहस्स ।
उवहिणियइप्पहाणो, कुव्वति अणज्जया केइ ॥

एतानि चानन्तरोक्तानि अन्यानि च द्रव्यक्षेत्रकालभावाः शैक्षस्य विपरिणमनपदानि भवन्ति । तत्र द्रव्यतो मनोज्ञाहरादि ददाति । क्षेत्रतः प्रवातनिवाते मनोऽनुकूले प्रदेशे तं स्थाप

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यति। कालतो वेलायामेव भोजयति। भावतस्तस्याकर्षणार्थं हितयुक्तमुपदेशं ददाति। एवं केचिदनृजुकाः शठा उपधिः परवञ्चनाभिप्रायो निकृतिः कैतवार्थं प्रयुक्तवचनाकाराच्छादनं ते प्रधाने येषां ते तथाविधविपरिणामनपदानि कुर्वन्ति।

उपसंहरन्नाह।

एए सामयरं, कप्पं जो अतिचरेज्ज लोजेण।
थेरे कुलगणसंघे, चाउम्मासा भवे गुरुगा॥

एतेषामन्याहतादिद्वारकलापप्रतिपादितानां कल्पानामन्यतरकल्पं विधाय आचार्यादिर्लोभदोषतोऽतिचरेत् अतिक्रामेत् तं सम्यक् ज्ञात्वा कुलगणस्थविरं कुलादिसमवायेन वा तस्य पार्श्वात् शैक्षमाकृष्य चत्वारो मासा गुरुकास्तस्य प्रायश्चित्तं दातव्यम्। अथ स्थविरैः समवायेन वा भणितोऽपि तं शैक्षं न समर्पयति ततः कुलगणसंघबाह्यः क्रियते॥ बृ० ३ उ०॥ (साधारणावग्रहस्थितानां कस्य क्षेत्रमिति खेत्तशब्दे) वर्षास्ववग्रहः पज्जुसणा शब्दे) (अवग्रहस्य ऊर्ध्वतो मानं सागारिय शब्दे)।

(१७) अवग्रहे सप्त प्रतिमाः।

साम्प्रतमवग्रहविशेषानधिकृत्याह।

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा आगंतारेसु वा ४ जावोग्गहियंसि जे तत्थ गाहावईण वा गाहावइपुत्ताण वा इच्चेयाइं आयतणाइं उवातिकम्म अह भिक्खू जाणेज्जा इमाहिं सत्तहिं पडिमाहिं उग्गहं उगिण्हित्तए तत्थ खलु इमा पढमा पडिमा। से आगंतारेसु वा अणुवीति उग्गहं जाएज्जा जाव विहरिस्सामो पढमा पडिमा। अहावरा दोच्चा पडिमा जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवति अहं च खलु अन्नेसिं भिक्खूणं अट्ठाए उग्गहं गिण्हिस्सामि अन्नेसिं भिक्खूणं उग्गहिए उग्गहे उवल्लिस्सामि दोच्चा पडिमा। अहावरा तच्चा पडिमा जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवति अहं च खलु अन्नेसिं भिक्खूणं अट्ठाए उग्गहं गिण्हिस्सामि अन्नेसिं च उग्गहिए उग्गहे णो उवल्लिस्सामि तच्चा पडिमा। अहावरा चउत्था पडिमा जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवति अहं च खलु अन्नेसिं भिक्खूणं अट्ठाए उग्गहं णो उगिण्हिस्सामि अन्नेसिं च उग्गहे उग्गहिए उवल्लिस्सामि चउत्था पडिमा। अहावरा पंचमा पडिमा जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवति अहं च खलु अप्पणो अट्ठाए उग्गहं उगिण्हिस्सामि णो दोण्हं णो तिण्हं णो चउण्हं णो पंचण्हं पंचमा पडिमा। अहावरा छट्ठा पडिमा से भिक्खू वा से भिक्खुणी वा जस्सेव उग्गहे उवल्लिएज्जा जे तत्थ अहासमण्णागते तंजहा। उक्कडे वा जाव पलाले वा तस्स लाभे संवसेज्जा तस्स अलाभे उक्कुडुए वा णेसज्जिए वा विहरेज्जा छट्ठा पडिमा। अहावरा सत्तमा पडिमा से भिक्खू वा से भिक्खुणी वा अहासंथडमेव उग्गहं जाएज्जा तंजहा पुढविसिलं वा कट्ठसिलं वा अहासंथडमेव तस्स लाभे संवसेज्जा तस्स अलाभे उक्कुडुए वा णेसज्जिए वा विहरेज्जा सत्तमा पडिमा इच्चेतासिं सत्तण्हं पडिमाणं अण्णयरं जहा पिंडेसणाए सुयं मे आउसंतेणं भगवया एवमक्खायं। इह खलु थेरेहिं भगवंतेहिं पंचविहे उग्गहे पण्णत्ते तंजहा देविंदोग्गहे रायोग्गहे गाहावइउग्गहे सागारियउग्गहे साहम्मियउग्गहे एयं खलु तस्स भिक्खू वा भिक्खुणी वा सामग्गियं उग्गहपडिमा समत्ता॥

स भिक्षुरागन्तागारादाववग्रहे गृहीते ये तत्र गृहपत्यादयस्तेषां संबन्धीन्यायतनानि पूर्वं प्रतिपादितान्यतिक्रम्येत्येतानि च वक्ष्यमाणानि कर्मोपादानानि परिहृत्यावग्रहं ग्रहीतुं जानीयात्। अथ भिक्षुः सप्तभिः प्रतिमाभिरभिग्रहविशेषैरवग्रहं गृह्णीयात्तत्रेयं प्रथमा प्रतिमा। तद्यथा स भिक्षुरागन्तागारादौ पूर्वमेव विचिन्त्यैवंभूतः प्रतिश्रयो मया ग्राह्यः नान्यथाभूत इति प्रथमा। तथास्य च भिक्षोरेवंभूतोऽभिग्रहो भवति तद्यथा अहं च खल्वन्येषां साधूनां कृतेऽवग्रहं ग्रहीष्यामि याचिष्ये अन्येषां चावग्रहे गृहीते तरितुं पास्यथिष्ये वत्स्यामीति द्वितीया प्रतिमा। सामान्येन इयं तु गच्छान्तर्गतानां संभोगिकानामसंभोगिकानां चोद्युक्तविहारिणां यतस्तेऽन्योन्यार्थं याचन्त इति। तृतीया त्वियं अन्यार्थमवग्रहं याचिष्ये ऽन्यावगृहीते तु न स्थास्यामीति एषा त्वाहालंदिकानां यतस्ते सूत्रार्थविशेषमाचार्यादभिकाङ्क्षन्ते आचार्यार्थं याचन्ते। चतुर्थी पुनरहमन्येषां कृते ऽवग्रहं न याचिष्ये अन्यावगृहीते च वत्स्यामीतीयं तु गच्छे एवाभ्युद्यतविहारिणां जिनकल्पाद्यर्थं परिकर्म कुर्वताम्। अथापरा पञ्चमी अहमात्मकृते ऽवग्रहमवग्रहीष्यामि न चापरेषां द्वित्रिचतुःपञ्चानामिति। इयं तु जिनकल्पिकस्य। अथापरा षष्ठी यदीयमवग्रहं ग्रहीष्यामि तदीयमवक्कडादिसंस्तारकं ग्रहीष्यामीतरथोत्कुटुको वा निषण्ण उपविष्टो वा रजनीं गमयिष्यामीत्येषापि जिनकल्पिकादेरिति। अथापरा सप्तमी एषैव पूर्वोक्ता नवरं यथा संस्कृतमेव शिलादिकं ग्रहीष्यामि नेतरदिति शेषमात्मोत्कर्षवर्जनादि पिण्डैषणावज्ज्ञेयमिति। किञ्च (सुयमित्यादि) श्रुतं मया आयुष्मता भगवतैवमाख्यातम्। इह खलु स्थविरैर्भगवद्भिः पञ्चविधो ऽवग्रहो व्याख्यातस्तद्यथा देवेन्द्रावग्रह इत्यादि सुगमं यावदुद्देशकसमाप्तेरिति। आचा० २ श्रु०७ अ०१ चू०।

तिहिं उत्तराहिं तिहिं रोहिणीहिं कुज्जा उग्गहवसहिट्ठाणं द० प०। आत्मवनव्यापारे, व्य० द्वि०४ उ०। अवष्टम्भे, ओ०। गृहस्थाणिक्षे, उपाश्रयान्तर्वर्तिनि अवगाह्ये वस्तुनि च। प्रश्न०। वृष्टिजलप्रतिबन्धे, अनावृष्टौ, च निग्रहे, गजसमूहे। अवग्राहस्तु शापे, वाच०।

उद्ग्रह-पुं०विधिग्रहणे द्वा०।

उग्गहजायण-अवग्रहयाचन-न. अनुज्ञापितपानाशाने, आलोच्याऽवग्रहयाञ्चाऽभीक्ष्णाऽवग्रहयाचनम्। ध० २ अधि०।

उग्गहणंतग-अवग्रहानन्तक- न० अवग्रह इति योनिद्वारस्य सामयिकी संज्ञा तस्याऽनन्तकं वस्त्रमवग्रहानन्तकम्। पुंस्त्वं प्राकृते। नौनिभे मध्यभागविशाले पर्यन्तभागयोस्तु तनुके गुह्यरक्षार्थं क्रियमाणे उपकरणभेदे, बृ० ३ उ०। तच्च निर्ग्रन्थैर्न ग्राह्यं निर्ग्रन्थीभिस्तु ग्राह्यम्॥

(सूत्रम्) नो कप्पइ निग्गंथाणं उग्गहणंतगं वा उग्गह

पट्टगं वा धारित्तए वा परिहरित्तए वा ।

अथास्य सूत्रस्य कः संबन्ध इत्याह ।

उभयम्मि विय विसिट्ठं, वत्थग्गहणं तु वणियं एयं ।
जं जस्स होति जोग्गं, इदाणि तं तं परिकहइ ॥

उभयं भिक्षाभिन्ने सूत्रद्वयमेतस्मिन्नविशिष्टमिदं साधूनां कल्पते न कल्पते वा इत्यादि । विशेषरहितमिदमनन्तरोक्तं वस्त्रग्रहणं वर्णितमिदानीं तु यद्यस्य संयत्या वा योग्यं तत्तत्सूत्रेणैव साक्षात्परिकथयतीत्यनेन संबन्धेनायातस्यास्य व्याख्या । नो कल्पते निर्ग्रन्थानामवग्रहानन्तकं वा गुह्यदेशविधानवस्त्रं तस्यैवाच्छादकं पट्टं धारयितुं वा परिहर्तुं वा इति सूत्रसंक्षेपार्थः । अथ निर्युक्तिविस्तरः ।

निग्गंथोग्गहधरणे, चउरो लहुगा य दोस आणादी ।
अतिरेगओवहित्ता, लिंगभेदवितियं अरिसमादी ॥

निर्ग्रन्थानामवग्रहानन्तकपट्टयोर्धारणे चत्वारो लघुमासाः । आज्ञादयश्च दोषाः । अतिरिक्तोपधित्वादधिकरणं भवेत् । तथा लिङ्गभेदः कृतो भवति । साधूनां लिङ्गनिश्चितं न भवतीत्यर्थः । द्वितीयपदविषयमर्शो रोगादिकं तत्रावग्रहानन्तकं पट्टकं वा धारयेत् । द्वितीयपदमेव भावयति ।

भगंदलं जस्स रिसा व णिच्चं, गालेंति पूयं वि ससोणियं वा ।
उड्डाह सज्झायदयाणिमित्तं, सो उग्गहं बंधति पट्टगं च ॥

भगंदरः गुह्यसंधौ व्रणविशेषोऽर्शांसि वा यस्य नित्यं पूयं वा रसिकां वा शोणितं वा गलति स उड्डाहः स्वाध्यायदयानिमित्तम् अहो अमी ईदृश एव धाव्यन्ते यो भगन्दरादिरोगवान् बहिर्गन्तुमसहिष्णुस्तस्य पट्टो रुधिरं चोपाश्रये कचिन्मात्रके धाव्यते ततस्तत्प्लावनं हस्तशताद्बहिः । अथासौ बहिर्गन्तुमसहिष्णुस्ततो विचारभूमौ गतः स्वयमेवावग्रहपट्टकं रुधिरं च धावति । पट्टबन्धने विधिमाह ।

ते पुण होंति दुगादी, दिवसंतरिएहिं वज्झए तेहिं ।
अरुगं इहरा कुत्थइ, तेवि य कुव्वंति णिच्चोल्ला ॥

ते पुनरवग्रहानन्तकपट्टा द्विकादयो त्रिप्रभृतिसंख्याकाः कर्तव्याः । तैर्दिवसान्तरितैर्व्रणो बध्यते । किमुक्तं भवति येनावग्रहानन्तकेन पट्टकेन यो ऽद्य व्रणो बद्धः द्वितीयदिवसे स उन्मोच्य प्रक्षाल्य वा परिभोग्यो विधेयः । यः पुनराद्यदिनेन परिभुक्तः तेन तस्मिन् दिने व्रणो बन्धनीयः । इतरथा प्रतिदिनं तेनैव पट्टेन बन्धे दीयमाने अरुकं व्रणः कुथ्यति प्रतिभावमुपगच्छति । तेऽपि च पट्टाः प्रतिदिनं बध्यमानतया नित्यं सदैवार्द्राः सन्तः कुथ्यन्ति । अतो द्व्यादयः पट्टाः कर्तव्याः ॥

[सूत्रम्] कप्पइ निग्गंथी उग्गहणंतगं वा उग्गहपट्टगं वा
धारित्तए वा परिहरित्तए वा ॥

अस्य व्याख्या प्राग्वत् । अथ भाष्यविस्तरः ।

निग्गंथीण अगिण्हे, चउरो गुरुगा य आयरियमादी ।
तत्थ तिणिय ओगाहण, णिवारणे निउहसण्णं ॥

निर्ग्रन्थीनामवग्रहानन्तकस्य पट्टकस्य वा अग्रहणे चतुर्गुरुकाः । इदं सूत्रमाचार्यः प्रवर्तिनीं न कथयति चत्वारो गुरवः । प्रवर्तिनी संयतीं न कथयति चत्वारो गुरवः । आर्यिका न प्रतिशृण्वन्ति मासलघु भिक्षादौ गच्छन्ती यद्यवग्रहानन्तकं वा न गृह्णाति तत एते दोषाः । तत्र त्रिकस्य भिक्षां गच्छन्त्या अवगाहनं प्रसरणमन्येषु दिवसेषु अवग्रहानन्तकपट्टाभ्यां निवारितमासीत् परं तद्दिवसमग्रहीतयोरुधिरमवगाढं ततो लोकस्तद् दृष्ट्वा उपहसनं कुर्यात् । कथमिति चेदुच्यते ॥

खाइगयाए निग्गयं, रुहिरं दट्ठुमसंजता वदे ।
निगहेवत केणयं जणो, दोसमिणं असमिक्खदिक्खिओ ॥

भिक्षायां गतायास्तस्या रुधिरं निर्गतं दृष्ट्वा असंयता वदेयुः बत इत्याभाषणे भो भो लोका धिगहो केनायं स्त्रीलक्षणो जनोऽमुं दोषमसमीक्ष्य दीक्षितः । अपि च ।

छक्कायाण विराहणा, पडिगमणादीणि जाणि ठाणाणि ।
तब्भाव पिच्छिऊणं, वितियं असती अहव जुण्णा ॥

शोणिते परिगलिते षट्कायानां विराधना भवति सा च दृष्टव्यमिति कृत्वा प्रतिगमनान्यन्यतीर्थिकगमनादीनि यानि स्थानानि कुर्यात् तन्निष्पन्नं प्रवर्तिन्याः प्रायश्चित्तम् । सचासौ शोणितपरिगलनलक्षणो भावश्च तद्भावस्तं प्रेक्ष्य विलोक्य तरुणा उपसर्गयेयुरिति वाक्यशेषः । द्वितीयपदमत्राभिधीयते (असइत्ति) नास्त्यवग्रहानन्तकमथवा जीर्णा स्थविरा सा संयती अतो विद्यमानमपि न गृह्णीयादपि ।

अथेदमेव भावयति ।

दिट्ठं तदिट्ठव्वमहं जणेण,
लज्जाए कुज्जा गमणाइगाइं ।
लज्जाइभंगो वहविज्जती से,
लज्जाविणासे य स किं न कुज्जा ॥

यत्पुनर्द्रष्टव्यं तत् दृष्टं तावज्जनेन अतो नाहमत्र स्थातुं शक्नोमीति कृत्वा लज्जया गमनादीनि गृहवासे यानादीनि कुर्यात् । यद्वा तस्याः संयत्या लज्जाया भङ्गो भवेत् लज्जाविनाशे च सा किं नामाकृत्यं न कुर्यात् । तथा ।

तं पासिउं भावमुदिण्णकम्मा,
दट्ठेज्ज वा सा वि य तत्थ भज्जे ।
तं लोहियं वा विसरक्खमादी,
घेत्तूण समालभन्ति जोगयंति ॥

तं रुधिरपरिगलनरूपं भावं दृष्ट्वा केचित्तरुणा उदीर्णकर्माणश्चतुर्थप्रतिसेवनार्थं प्रेरयेयुः । साऽपि च संयती तत्र भजेत सङ्गं कुर्यात् यद्वा तल्लोहितं सरजस्कादयः कापालिकप्रभृतयः समालभ्य गृहीत्वा विद्याप्रयोगेणाभियोजयन्ति वशीकुर्वन्ति यत एवमतः ।

अंतो घरंसिम वय तं करेति, जहा णडी रंगमुवेउकामा ।
लज्जापहीणा अह सा जणोघं, संपप्पते ते य करोति हावे ॥

यथा नटी नर्तकी रङ्गं नाट्यस्थानमुपैतुकामा गृहस्यैवान्तर्मध्ये अयं लज्जाया अभिभवं करोति । अथानन्तरं सा लज्जाप्रहीणा सती जनौघं जनसमुदायं संप्राप्य तान् भावानङ्गविक्षेपादीन् करोति । एवं संयत्यपि भिक्षां गन्तुमनाः प्रतिश्रयमध्य एवावग्रहानन्तकादिभिरुपकरणैरात्मानं प्रावृतं करोति ततो भिक्षां पर्यटन्ती त्वरणादिष्वनवलोकमानेष्वपि सुखेनैव लज्जां पराजयते । अथ द्वितीयपदमाह ।

असईया णंतगस्स उ, पणतिणिगा वासुओ गेण्हे ।
निग्गमणं पुण दुविहं, विधि अपही तत्थिमा आविहो ॥

अवग्रहानन्तकस्याभावे पञ्चपञ्चाशद्वर्षीया उत्तीर्णा वा संयती

ज्ञानयोनिकतया न गृह्णीयादपि । इह च भिक्षाया निर्गमनं द्विविधं विधिना अविधिना च । तत्र तावदयमविधिः ।

उग्गहमादीहि विणा, दुस्सिवसिया वा विउक्खुल्लणवत्था ।
एक्का दुएय अविहा, चउगुरु आणा य अणवत्था ॥

अवग्रहानन्तकादिभिर्विना भिक्षां निर्गच्छति । दुर्निवसिता वा भिक्षां पर्यटति । एका वा द्वे वा भिक्षायां गच्छतः एष सर्वोऽप्यविधिरुच्यते । अत्र चतुर्गुरुकाः । आज्ञा च भगवतां विराधिता स्यात् । अनवस्था च एकामविधिना निर्गच्छन्तीं दृष्ट्वा अन्याऽपि निर्गच्छतीत्येवंलक्षणा भवति । तथा ।

मिच्छत्तपवडियाए, वायण चउव्वयम्मियाउवरो ।
गोयरगयावगाहिया, धरिसणदोसे इमे लहति ॥

अवग्रहानन्तकादिभिर्विना भिक्षां गता सहसा मूर्च्छादिना प्रपतेत् ततः प्रपतितायाः वातेन वा प्रावरणे समुत्क्षिप्ते अप्रावृतत्वं दृष्ट्वा लोके मिथ्यात्वं गच्छेत् । यथा नास्त्यमीषाममुष्य दोषस्य प्रतिषेधः कथमन्यथैयमित्थं निर्गच्छेत् । गोचरगता वा काचिदविधिनिर्गता केनचिद्विटेन गृहीता धर्षणदोषानमून् वक्ष्यमाणान् लभते । ते चोपरि दर्शयिष्यन्ति ।

अथ विधिनिर्गमे गुणमाह ।

अड्डोरुगादीहमिया सणादी, सा रक्खिया होति पदे वि जाव
तिण्हं पि चेलेण जणो भिजातो, एक्कं वराविप्पमुचेति णासं

या अर्द्धोरुकदीर्घनिवसनादिभिः सुप्रावृता निर्गता सा केनचित् धर्षितुमारब्धाऽपि पदादावपि यावत् संरक्षिता भवति तिसृणां च संयतीनां चेलेनाभिजातः शिष्टो जनो भवान् मिलतीति शेषः । या पुनरेकाम्बरा निर्गच्छति सा क्षिप्रं शीघ्रं विनाशं संयमपरिभ्रंशमुपैति ।

उव्वोल्लिए गुज्झम पस्सतो सा, हाहक्कितस्सेव महाजणेणं ।
धिधिति उच्छुक्कितताल्लियस्स, पत्तो समं रणदवो व वेदो ॥

विधिनिर्गतयोः केनचित्प्रत्यनीकेनोद्वेल्लिते उत्सारितेऽपि बाह्योपकरणे यावदसौ गुह्यं न पश्यति तावन्महाजनेन हाहाकृतो धिग्धिगिति भणनपूर्वकं च भुक्कितो गाढं जुगुप्सितस्ताडितश्चासौ ततस्तस्यैवंविधां विडम्बनां प्रापितस्य वेदो मोहोदयोऽरण्यदव इव सद्यः शमं प्राप्तः ।

अथ विधिनिर्गमने दोषानाह ।

तत्थे व य पडिबंधो, पडिगमणादीणि ठाणाणि ।
डिंभो य बंभचेरे, विधिणिग्गमणे पुणो वोच्छं ॥

येन सा अविधिनिर्गता धर्षिता तत्रैव प्रतिबन्धोऽनुरागो भवेत् तदनुरक्ता वसतिप्रतिगमनादीनि स्थानानि करोति तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तं प्रवर्तिन्या ऋतुसमयगृहीतायाश्च कस्याश्चित् डिम्भबन्धो भवेत् ततश्च महती प्रवचनापभ्राजना ब्रह्मचर्यविराधना च परिस्फुटैव तस्याः संजायते । विधिनिर्गमने पुनर्भूयोऽपि गुणान् वक्ष्ये । एतच्च सांन्यासिकीकृत्य प्रथमं विधिनिर्गमने दोषशेषमाह ।

न केवलं जा उविहम्मिआ सती,
सवचतामेति मधूमुहे जणा ।
उवेति अन्ना वि उ वच्चपत्ततं,
अपाउता जा अणियास्सिया य ॥

न केवलमेव सती साध्वी विधर्म्मिता शीलधर्मोद्भाविता सैव मधुमुखे च जने दुर्जनलोके सवाच्यतां सकलङ्कतामुपगच्छति । अन्याऽप्येतद्व्यतिरिक्ताऽपि वाच्यपात्रं वचनीयदोषयतामुपैति । याऽप्रावृत्ता औपग्रहिकाद्युपरितनोपकरणरहिता अनिवसिता च । अथावग्रहानन्तकाद्यधस्तनोपकरणवर्जिता भवति । किं च "ण भूसणं भूसयते सरीरं" भूषणं शरीरं न भूषयति किंतु शीलं ब्रह्मचर्यं ह्रीश्च लज्जा एतदेव द्वयं स्त्रिया विभूषणम् । अमुमेवार्थं प्रतिवस्तूपमया दृढयति । गीर्वाणी संस्कारयुक्ताऽपि संसदि सभायां यद्यसाधुवादिनी जकारमकाराद्यसभ्यप्रलापिता तदा अपेशला । शिष्टजनजुगुप्सनीयतया न शोभना भवति एवमियमपि स्त्री हारादिविभूषिताऽपि यदि विशाललज्जाविकला तदा शिष्टजनस्य जुगुप्सनीया भवति । अतः स्त्रियाः शीलं लज्जा च विभूषणम् । एतच्च शीलद्वयं संयत्या विधिप्रावरणे भवति अतस्तदेवाभिधित्सुराह ।

पट्टोरग चलणी, अंतोबहरादिराणियंसणिया ।
संजामिखुज्जकरणी, अणेगतो वसतिकाले ॥

पट्टकोऽर्धोरुकश्च चालनिका अन्तर्निवसति बहिर्निवसति संघट्टिका कुब्जकरणी उपलक्षणत्वादवग्रहानन्तकं कञ्चुक औपग्रहिकी अनागत एव वसतिकाले भिक्षासमये इतराण्युपकरणानि साध्व्या प्रावरणीयानि इदमेव विभावयिषुराह ।

उग्गहणंतगविएहिं, अज्जाओ अतुरिया उच्छिवखस्स ।
जोहोव्वलंखिया वा, अगिण्हणे गुरुग आणादी ॥

अथावग्रहानन्तकादिभिरुपकरणैरार्याः संयत्यो भिक्षाचरिता आत्मानं भावयन्ति क इवेत्याह । योध इव लंखिकेव वा यथा योधः संग्रामशिरसि प्रवेष्टुमानः सन्नाहं पिनह्यति यथा च लंखिका रङ्गभुवं प्रविशन्ती पूर्वं चलनकादिना गूढाऽपि नग्नमिवात्मानं करोति एवमार्याऽप्यवग्रहानन्तकादिषु प्रावृता निर्गच्छति । अथैतान्युपकरणानि न गृह्णाति ततश्चतुर्गुरुकाः आज्ञाभङ्गादयश्च दोषाः । अथ विशेषज्ञापनार्थमिदमाह ।

जोहोमरुंडजडो, णाइणी लंखिया रथडिखंभो ।
अज्जानिक्खम्गहणा, आहरणा होंति णायव्वा ।

आर्याया भिक्षाग्रहणे यदुपकरणप्रावरणं तत्रैतानि उदाहरणानि ज्ञातव्यानि । तद्यथा योधः प्रतीतः मरुण्डजडो मरुण्डस्य रजोहस्ती २ नाटकिनी नर्तकी ३ लङ्खिका वंशाग्रनर्तकी ४ कदलीस्तम्भः प्रतीतः । तत्र योधदृष्टान्तमाह ।

विणिओ पराजितो मा-रिओ य संखे अवमितो जोहो ।
सावरणो पडिपक्खो, जयं च कुरुते विवक्खस्स ॥

योधः संख्ये संग्रामे अवमितः प्रविशन् व्रणितः पराजितो मारितो वा जायते । व्रणितो नाम परैः प्रहारजर्जरीकृतः पराजितः पराभग्नः मारितः पञ्चत्वं प्रापितः । यस्तु सावरणस्तस्य प्रतिपक्षो वक्तव्यः । किमुक्तं भवति यः सन्नाहं पिनह्य रणशिरसि प्रविशति स न प्रहारैर्जर्जरीभवति न वा पराजयते न वा मरणमासादयति । प्रत्युत विपक्षजयं कुरुते । एवमार्याऽपि यथोक्तोपकरणप्रावरणमन्तरेण भिक्षां प्रविष्टा तरुणैरुपद्रूयते सुप्रावृता तु सर्वथैव तेषामगम्या भवति । उक्तो योधदृष्टान्तः । संप्रति मरुण्डजडदृष्टान्तं गाथाचतुष्टयेनाह ।

विहिवसता उ मुरुंडं, आपुच्छति पव्वया महं कत्थ ।
पासंडे य परिक्खति, वेसग्गहणेण सो राया ॥
कोंवेहिं व धरिसणा, माउग्गामस्स होइ कुसुमपुरे ।
उज्जावणा पयणे, णिवारणे पावकम्माणं ॥
उज्झसु चीरे सा या, विणिवयहेसु यति जे जहा चायं ।

उच्छूरिया णडा विव, दीसति कुप्पसमादीहिं ॥
धिद्धिक्कतो वहेक्का, तो य लोएण तज्जितो मित्तो ।
उब्भोडिते णयाणि वा–रितो ततो रायसीहेण ॥ १४ ॥

कुसुमपुरे नगरे मुरुंमो राया तस्स भगिणी विहवा सा अन्नया रायं पुच्छइ अहं पव्वइउकामा तो आइसह कत्थ पव्वयामित्ति । तओ राया पासंडीणं वेसग्गहणेण परिक्खं करेइ । हत्थिमिंठा संदिट्ठा जहा पासंडिगाओ गामेसु हत्थिं सांभिजाह भणिज्जाह या पोत्तं मुयाहि अन्नहा हमिणे उवद्दवेस्सामित्ति । एक्कम्मि य मुक्के मा धाविह तो वग्गहा देह जीवसत्थे मुक्का तओ एगेण मिंठेण चाए रायपहे तहा कयं जाव नग्गीभूया रक्खा सव्वं दिट्ठं नवरं अज्जा वि ही ए पविट्ठा रायपहोत्ति णाए हत्थिसाहिओ सुयसुपुच्छति तए पढमं मुहपोत्तिया मुक्का ततो निसिज्जा एवं जाणि वाहरिल्लाणि चीवराणि ताणि पढमं मुयइ जाव बहूहिं वि मुक्केहिं नडी वि व कंचुकादीहिं सुप्पाउया दीसइ ताहे लोगेण अकंदो कओ हा पाव किमेवं महासई तवस्सिणं अभिद्दवेसित्ति रन्नावि ओलोयणवारिओ वितियं व एस धम्मो सव्वन्नुदिट्ठो अन्नेण य बहुजणेण कया सासणस्स पसंसा ॥

अथाक्षरार्थो विधवा स्वसा मुरुण्डं राजानमापृच्छति कुत्राहं प्रव्रजामीति । ततः स राजा वेषग्रहणेन पाखण्डिनः परीक्षते परीक्षार्थमेवं चक्रे हस्तिमिण्ठैः कुसुमपुरे मातृग्रामस्य पाखण्डिस्त्रीजनस्य धर्षणा भवति वर्त्तमाननिर्देशस्तत्कालापेक्षया तदानीं प्रवचनस्योद्भावना प्रभावना समजनि । ये च पापकर्माणः संयतीरभिद्रवितुमिच्छन्ति ते निवारणाय न शक्यन्ते । अतस्तदेवंविधेन एषा धनच्छलयितुमिति कृत्वा कथं पुनरेतत् संवृत्तमित्याह (उज्झन्तीवरेइत्यादि) विधिनिर्गता संयती अभिहिता उज्झ परित्यज चीवराणि साऽप्येवमभिहितवती नृपपथे राजमार्गे यानि यथा बहिरुपकरणानि तानि तथा मुञ्चति एवं बहुषु वस्त्रेषु मुक्तेष्वपि यदा सा नटीवत् कार्पासिकादिभिः कञ्चुकादिभिर्वस्त्रैरुच्छुरिता सुप्रावृता दृश्यते तदा लोकेन स मिण्ठो धिग्धिक्कृतो हा हा कृतश्च तथा तर्जितो गाढं निर्भर्त्सितः ततश्चावलोकन स्थितेन गवाक्षोपविष्टेन राजसिंहेनासौ निवारितः सर्वज्ञदृष्टश्चायं धर्म इति कृत्वा साधूनां समीपे भगिनी प्रव्रज्याग्रहणार्थं विसर्जितेति उक्तो मुरुण्डराजदृष्टान्तः ।

अथ नर्तकीलङ्खिकादृष्टान्तद्वयमाह ।

पाए वि उक्खिवंती, न लज्जती णट्टिया सुणेवत्था ।
उच्छुरिया वा रंगम्मि, लंखिया उप्पयंतीति ॥

यथा नर्तकी सुनेपथ्या सती पादावप्युत्क्षिपन्ती न लज्जते । लङ्खिका वा रङ्गचत्वरे उत्पतन्ती परिकरणशतान्यपि कुर्वती यथा उच्छुरिता सुप्रावृता सती न लज्जते । एवं संयत्यपि सुप्रावृता न लज्जत इति उपनयः । अथ कदलीस्तम्भदृष्टान्तमाह ।

कयलीखंभो व जहा, उव्विल्लेउं सुदुक्करं होति ।
इय अज्जा उवसग्गे, सीलस्स विराहणा दुक्खं ॥

कदलीस्तम्भो यथा पटलबहलत्वादुद्वेल्लयितुमुद्वेष्टयितुं सुदुष्करं भवति एवमार्यिकाऽपि बहूपकरणप्रावृता नोद्वेष्टयितुं शक्या इत्येवं येषामादिभिर्दृष्टान्तैर्विधिनिर्गताया आर्यायाः केनचिदुपसर्गे क्रियमाणेऽपि शीलस्य विराधना दुष्करा मन्तव्या । किञ्च ।

एक्का मुक्का य धरिसिया, णिवेदणजतणा य होति कायव्वा ।
वाहारिता जहि तथा, भज्जातरादी सयं वावि ॥

एका काचिद्विधिनिर्गताऽपि मुक्ता एका परैर्धर्षिता ततो यतनया यथा शेषसंयतसंयतीजनो न जानाति तथा गुरूणां निवेदना कर्त्तव्या । अथ सा वाहाडिता ततो न परित्यक्तव्या किंतु शय्यातरादिना स्वयं वा तस्य वालोपनं विधेयमिति निर्युक्तिगाथासमासार्थः । अथैनामेव विवृणोति ।

विहिणिग्गताउ एक्का, मायारियाए गहिता गिहत्थेहिं ।
संवरिए भावेण य, फिडिया अविराहियचरित्ता ॥

एका काचिद्विधिनिर्गता गोचरचर्यायां पर्यटन्ती गृहस्थैर्गृहीता परं संवृतप्रभावेण सुप्रावरणमाहात्म्येन सा अविराधितचारित्रा स्फिटिता ॥

लोएण वारितो वा, दट्ठूण सयं च तं सुणेवत्थं ।
सुदिट्ठं तु वसंतो, सविएह उवसामयतीय ॥

येन सा धर्षितुमारब्धा स लोकेन धिक्कारपुरस्सरं वारितः । स्वयं वा तां संयतीं सुनेपथ्यां सुप्रावृतां दृष्ट्वा सुदृष्टममीषां धर्मरहस्यमिति कृत्वा उपशान्तः सन् सविस्मयः पश्चात्तां संयतीं क्षामयति ।

अणाभोगपमादेण व, असती पट्टस्सणि अवग्गहणे ।
विहिणिग्गतमाहच्च, वाहाडितधारणे गुरुगा ॥

सा कदाचिदनाभोगेनात्यन्तस्मृत्या प्रमादेन वा विकथानिद्रादिप्रमत्ततया अवग्रहपट्टस्य वा अभावे एवमेव भिक्षार्थं निर्गता एवमविधिनिर्गता वा (आहच्च) कदाचित्प्रच्छन्ने अवकाशे गृहीता ततो गुरूणां यतनया निवेदनीयम् । अथ सा कदाचिद्वाहाडिता ततो यस्तां वाहडयति निष्काशयतीत्यर्थः तस्य चतुर्गुरुकाः ॥ कुत इत्याह ।

निच्छूढपडुट्ठा सा, भणेइ तेहिं व कत्तमेत्तं च ।
राएगिहीहि सयं वा, तंच सासंति मा वितियं ॥

सा निर्यूढा निष्काशिता सती साधूनामुपरि प्रद्वेषं यायात् प्रद्विष्य च भणति । एतैरेव श्रमणैरित्थं ममैतत् कृतमिति ततो न परित्यक्तव्या येन च धर्षिता तमनवस्थाप्रसङ्गवारणार्थं राजा प्रशासयन्ति गृहिभिर्वा शिक्षयन्ति यदि प्रभवस्ततः स्वयमपि शासन्ते मा द्वितीयं वारमित्थं प्रवर्त्तयेयमिति कृत्वा, । अथ तस्याः सारणविधिमाह ॥

दुविहा णायमणाया, अगीयअन्नायसण्णिमादी तु ।
सज्झावम्मि कहिते, सारिता जाव णं पि यती ॥

या वाहाडिता सा द्विधा ज्ञाता अज्ञाता च ज्ञातगर्भा अज्ञातगर्भा चेत्यर्थः । तत्र या अज्ञाता सा अगीतार्था यथा न जानन्ति तथा संज्ञी श्रावकस्तदादिकुलेषु स्थाप्यते । तेषां संज्ञिप्रभृतीनां सद्भावः प्रथममेव कथनीयः कथिते च सद्भावे ते मातापितृसमानतया तां तावत् सारयन्ति प्राशुकेन प्रत्यवतारेण पालयन्ति यावत्तदीयस्तनयः स्वजागरस्तन्यं पिबति स्तन्यपानान् निवर्त्तत इत्यर्थः ॥

जत्थ उ जणेण णातं, उवस्सया तत्थ णाय निक्खं ।
किं सक्का उड्डेउं, बेंति अगीते असति सद्दे ॥

यत्र तु जनेन ज्ञातव्यं यैषा वाहाडिता तत्रोपाश्रय एव स्थाप्यते न श्रावकादिकुलेषु । न च सा भिक्षायां हिण्डापयितव्या किंतु शेषसाध्वीभिः साधुभिर्वा तस्याः प्रायोग्यं भक्तपानमानीय दातव्यम् । यदगीतार्था भणन्ति किमेवं कीदृश्याः सं-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्रहः क्रियते ततः सूरयो ब्रुवते यदि नाम न संगृह्यते ततः कथयत किं सांप्रतमेषा शक्या परित्यक्तुम् । अथैवं प्रज्ञापिता अपि न प्रतिबेधन्ते ततः श्राद्धान् प्रज्ञापयन्ति । यथा ।

दुरतिकम्मं खु विधियं, अवि य अकामा तवस्सिणी गहिता ।
को जाणति अमस्स त्ति, वित्तं सारवो तेणं ॥

कुरवधारणे दुरतिक्रममेव प्रतिकर्तुमशक्यमनेन केनाप्यकार्यकारिणेदमकार्यं विहितं ततः किं क्रियते । अपि च अकामा अनिच्छन्ती बलादेव तेन पापात्मना तपस्विनी गृहीता । ततः को जानाति अन्यस्या अप्येवंविधो वृत्तान्तः परवशतया भवेत् । तदेनां संप्रति सारयामः परिपालयाम इत्यर्थः ।

मा य अवसकाहिह, किं ण सुतं केसि सच्चईणं ते ।
जंमणे णय वयजंगो, संजातो तेसि अज्जाणं ॥

हुं हुं विध्वस्तशीलेयमित्येवमस्यास्त्ववर्णमवज्ञां वा मा कार्षुः । किं न श्रुतं नवद्भिः कसिसत्यकिनोर्जन्म । यया तावार्यिकायां पुरुषसंवासमन्तरेणापि कथंचिदुपात्तवीर्यपुद्गलायां प्रमुखवातेन च तयोरार्यिकयोर्न व्रतभङ्गः संजायते विशुद्धपरिणामत्वात् । अनयोः कथाक्रमः पञ्चकल्पावश्यकटीकाद्यामवसातव्यः ।

अवि य हु इमेहिं पंचहिं, ठाणेहि त्थीअ संवसंतीवि ।
पुरिसेण लजति गब्भं, लोएण वि गीइयं एयं ॥

अपिचेत्यभ्युच्चये हु निश्चितं तदेतैः पञ्चभिः स्थानैः स्त्री पुरुषेण सममवसन्त्यपि गर्भं लभते न केवलमस्माभिरेतदुच्यते । किंतु लोकेनापि गीतं संशब्दितमेतत् । तान्येवोपदर्शयति ।

दुव्वियडदुणिसण्णा, सयं परो वासि पोग्गले जुंजति ।
वत्थे वा संसट्ठे, दगआयमणेण वा पविसे ॥

विवृता अनावृता सा चोत्तरीयापेक्षयाऽपि स्यादतो दुःशब्देन विशेष्यते । दुष्टु विवृता दुर्विवृता परिधानवर्जितेत्यर्थः । एवं दुर्विवृता सती दुर्निषण्णा दुष्टु विरूपतयोपविष्टा सा चासौ दुर्विवृता दुर्विवृतदुर्निषण्णा सा शुक्रपुद्गलान् कथंचित्पुरुषनिःसृतान् संगृह्णीयात् स्वयं वा पुत्रार्थितया शीलरक्षिकतया च शुक्रपुद्गलान् योनावनुप्रवेशयेत् । परो वा श्वश्रूप्रभृतिकः पुत्रार्थमेव (से) तस्याः योनौ प्रक्षिपेत् वस्त्रं वा शुक्रपुद्गलसंसृष्टमुपलक्षणत्वात्तथाविधमन्यदपि केशत्वक्कण्डूयनार्थं रक्तनिरोधार्थं वा तया प्रयुक्तं तदनु प्रविशेत् । अनाभोगेन वा तथाविधं वस्त्रं परिहितं सद्योनिमनुप्रविशेत् । को जानते न वा तस्या आचमन्त्याः पूर्वपतिता उदकमध्यवर्तिनश्च शुक्रपुद्गलाः अनुप्रविशेयुः । एवं पुरुषसंवासमन्तरेणापि गर्भसंभवे भवन्तो नास्या अवज्ञां कर्तुमर्हन्ति । एवं प्रज्ञाप्य तेषां श्राद्धानां गृहे तां स्थापयन्ति । गता ज्ञातविषया यतना ।

अथाज्ञातविषयां तामाह ॥

अविदियजणगब्भम्मिय, सण्णिगादीसु तत्थ वसमत्था ।
लाढेंति फासुएणं, लिंगविवेगो य जा पियति ॥

जनेनाविदितो यो गर्भस्तत्र ये मातापितृसमानाः संज्ञिन आदिशब्दाद्यथाभद्रका वा तेषां गृहेषु तत्र वा अन्यत्र वा ग्रामे स्थापयन्ति ते च संज्ञिप्रभृतयस्तां प्रासुकेन भक्तपानेन लालयन्ति यापयन्तीत्यर्थः । यावच्चापत्यं मातुः स्तन्यं पिबति । तावत्तया लिङ्गविवेकः कर्तव्यः ॥

एएसिं असतीए, सघायगणाउवचकिढफासुं ।
अम्मो वि जो परिणतो, स सिट्ठवेसइतरागारीए ॥

तेषां संज्ञिप्रभृतीनामभावे ये तस्याः संयत्याः संज्ञातकास्तेषां गृहेषु स्थाप्यन्ते अभावे यः संयतो नालबद्धः सोऽपि यदि किढो वृद्धस्तदाऽसौ श्राद्धवेषं कार्यते ततस्ते पुत्रकाद्वारेण यापयन्तौ तिष्ठतः । नालबद्धस्याभावे अन्योऽपि यो वयसा परिणतः स श्राद्धपुत्रवेषं कार्यते इतरा अगारीवेषं करोति इतराऽपि गृहिलिङ्गं करोति । अत्रेयं प्रायश्चित्तमार्गणा ॥

मूलं वा जाव सणो, छेदो छगुरुगं जं जहा लहुअं ।
वितियपदे असतीए, लवस्सए व अहव जुण्णा ॥

यदि तया प्रतिसेव्यमानया स्वादितं ततो मूलम् । वाशब्द उत्तरापेक्षया विकल्पार्थः (जाव सणत्ति) पश्चाद्व्याख्यास्यते । गर्भमाहृतं दृष्ट्वा स्वादयति छेदः । अपत्यं जातं दृष्ट्वा सहायकं मे भविष्यतीति स्वदयन्त्याः षड्गुरवः । यथा पुनरस्वादितं तस्याः परप्रत्ययनिमित्तं यत्किमपि यथा लघु प्रायश्चित्तं दातुं युज्यते तद्दातव्यं (जावत्ति) यावत्तस्या अपत्यं स्तन्यपानोपजीवि भवति तावत्तपोर्हं प्रायश्चित्तं न दातव्यम् । द्वितीयपदे अवग्रहानन्तकस्याभावे उपाश्रये वा तिष्ठन्ति । अथवा जीर्णाः स्थविराः शासयन्ति अतो ऽवग्रहानन्तकं न गृह्णात्यपि । अस्या एव पूर्वार्द्धं व्याख्याति ॥

सेविज्जंते अणुमए, मूलं छेओ किंरिमं दिस्स ।
होहिति सहागतं मे, जातं दट्ठूण छग्गुरुगा ॥

सेव्यमानया यदनुमतं ततो मूलम् । अथ किरिमं गर्भं दृष्ट्वा हर्षमुद्वहति ततश्छेदः । पुत्रभाण्डं दृष्ट्वा सहायकं मे भविष्यतीत्यभ्यनुमन्यते षड् गुरवः ।

तेण परं चउगुरुगा, छम्मासा जा ण ताव पूरिंति ।
जातु तवारिहसोही, अणुवत्थणिए तमातं देंती ॥

ततः परं जन्मान्तरं यावत्षण्मासा न पूर्यन्ते तावद्यत्र यत्र स्वादयति तत्र २ चतुर्गुरवः । यावत्तस्या अर्हा सोधिरुक्ता तामनपगतस्तन्ये स्तन्यपानादनपगते अपत्यभाण्डे न ददाति मा शून्यं भविष्यतीति कृत्वा ।

मेहुणे गब्भेआ–हिते य सा निज्जियं जति णतीए ।
परपच्चया लहुसगं, तहावि सेह दिंति पच्छित्तं ॥

मैथुने प्रतिसेव्यमाने गर्भे च आहृते यद्यपि तया न स्वादितं तथापि परप्रत्ययार्थं मा भूदीतार्यानामप्रत्यय इत्यर्थः यथा लघुकं प्रायश्चित्तं तस्याः सूरयः प्रयच्छन्ति । अथ यस्तस्याः खिंसां करोति तस्य प्रायश्चित्तमाह ।

खिंसाए होंति गुरुगा, लज्जाणिच्छकतो य गमणादी ।
दप्पकते वाउट्टे, जति खिंसति तस्स वि तहेव ॥

यस्तस्याः खिंसां विध्वस्तशीलत्वान्मलिनेयमित्येवं करोति तस्य संयतस्य संयत्या वा चतुर्गुरुकाः प्रायश्चित्तम् । सा च खिंसिता सती लज्जया प्रतिगमनादीनि कुर्यात् निर्लज्जा वा निर्लज्जा भवेत् तत एव सर्वजनप्रकटमात्मानं प्रतिसेवयेत् । अथ दर्पतस्तया मैथुनं प्रतिसेवितं परं पश्चादावृत्ता आलोचनाप्रायश्चित्तप्रतिपत्त्यादिना प्रतिनिवृत्ता तामपि यः खिंसति तस्यापि तथैव चतुर्गुरु । किं कारणमिति चेदत आह ।

उम्मग्गेण वि गंतुं, ण होति किं सा तवाहिणी मलिला ।
कालेण फुंफुगा वि य, विज्झयं वह संदे गेरुणं ॥

उन्मार्गेणापि गत्वा सलिला नदी पश्चात्किं श्रोतोवाहिनी मार्गगामिनी न भवति भवत्येवेति भावः । फुंफुंकारीषाग्निः सोऽपि (वहसहेसेऊणंति) ज्वालयित्वा भृशमुद्दीप्तो भूत्वेत्यर्थः कालेन गच्छति विलीयते विलयं याति उपनययोजना सुगमा । वृ० ३ उ० । ध० । प्रव० ।

उग्गहपट्ट-अवग्रहपट्ट- पुं० अवग्रहस्य योनिद्वारस्य पट्टः । गुह्यदेशपिधानवस्त्रे, स च बीर्यपातसंरक्षणार्थं च घनं घनवस्त्रेण पुरुषसमानकर्कशस्पर्शपरिहरणार्थं च मसृणं मसृणवस्त्रेण क्रियते प्रमाणेन च देहं स्त्रीशरीरमासाद्य तद्विधीयते । देहो हि कस्याश्चित्तनुः कस्याश्चित्तु स्थूलः ततस्तदनुसारेण विधेयमित्यर्थः ॥

पट्टो वि होइ एक्को, देहपमाणेण सो उ भइयव्वो ।
छादंतोग्गहणंतं, कडिबद्धो मल्लकच्छो वा ॥

पट्टोऽपि गणनयैको भवति स च पर्यन्तभागवर्तिचाटकबन्धकः प्रथुत्वेन चतुरङ्गुलप्रमाणः समतिरिक्तो वा दीर्घेण तु स्त्रीकटीप्रमाणः स च देहप्रमाणेन भक्तव्यः । पृथुलघुकटीभागयोर्दीर्घः । संकीर्णकटीभागयोस्तु ह्रस्व इत्यर्थः । वृ० ३ उ० । (स च निर्ग्रन्थीभिरेव ग्राह्यो न निर्ग्रन्थैरिति उग्गहणंतग शब्दे)

उग्गहपडिमा-अवग्रहप्रतिमा- स्त्री० अवगृह्यत इत्यवग्रहो वसतिस्तत्प्रतिमा अभिग्रहः अवग्रहप्रतिमा । वसतिविषयकाभिग्रहेषु, (ताः सप्त उग्गह शब्दे दर्शिताः) तत्प्रतिपादके आचाराङ्गस्य षोडशे अध्ययने च । आचा० २ श्रु० १ अ० १ उ० प्रश्न० । स० । आव० । स्था० ।

उग्गहमइसंपया-अवग्रहमतिसम्पद्- स्त्री० सामान्यार्थस्य अशेषविशेषनिरपेक्षानिर्देश्यरूपादेरवग्रहणमवग्रहः स चासौ मतिसंपच्चावग्रहमतिसम्पद् । मतिसंपद्भेदे, दशा० ४ अ० । (मइसंपया शब्देऽस्या भेदाः)

उग्गहसमिइजोग-अवग्रहसमितियोग- पुं० अवग्रहणीयतृणादिविषयसम्यक्प्रवृत्तिसम्बन्धिनि, प्रश्न० ३ द्वा० ॥

उ (ओ) ग्गहाइकहणा-अवग्रहादिकथना- स्त्री० अवग्रहस्य " देविंदरायगहवइसागारसाहम्मिउग्गहो चेवेत्येवंविधस्यादिशब्दाद्राजरक्षितास्तपस्विनो भवन्तीत्यादेश्च यदाह "क्षुद्रलोकाकुले लोके, धर्मं कुर्युः कथं हि ते । क्षान्तदान्तार्यहन्तार, स्तांश्चेद्राजा न रक्षतीति" कथना प्ररूपणा अवग्रहादिकथना । देवेन्द्राद्यवग्रहस्य राजवर्णनस्य प्ररूपणायाम्, " विसयपवेस रक्खो, उद्दंसणं उग्गहाइ कहणा य " पंचा०१७विव० ।

उग्गहिय-अवग्रहीत- न० परिवेषणार्थमुत्पाटिते, स्था० ३ठा०

अवग्रहिक- न० अवग्रहोऽस्याऽस्तीति । वसतिपीठफलकादौ औपग्रहिकदण्डकादिके उपधिजाते, स्था० १० ठा० । तद्भेदाः ॥

(सूत्रम्) तिविहे उग्गहिए पण्णत्ते जं च साहरइ जं च आसगम्मि पक्खिवति ॥

अस्य सम्बन्धमाह ॥

पगया अभिग्गहा खलु, सुद्धपरा ते य जोगवुड्ढीए ।
इति उवहडसुत्ताओ, तिविहं च अवग्गहिय एए ॥

प्रकृताः खल्वनन्तरसूत्रे शुद्धोपहृतादिष्वभिग्रहास्ते चाभिग्रहाः शुद्धतरा भवन्ति । योगवृद्ध्या उत्तरोत्तरयोगवृद्धिकरणेन इति अस्मात् कारणात् उपहृतस्तत्रानन्तरं त्रिविधं द्विविधं वा प्रगृहीतमुक्तमनेन संबन्धेनायातस्यास्य व्याख्या । त्रिविधमवगृहीतं प्रज्ञप्तं यदवगृह्णाति यच्च संहरति यच्च आस्यके प्रक्षिपति । एके एवमाहुर्द्विविधमवगृहीतं प्रज्ञप्तं यदवगृह्णाति यच्च संहृतम् । एष सूत्राक्षरसंस्कारः । सम्प्रति भाष्यविस्तरः ।

पग्गहियं साहरियं, पक्खिवयंतं च आसए तह य ।
तिविहं दुविहं पुण, पग्गहियं चेव साहरियं ॥

यत्प्रगृहीतं यच्च संहृतं यच्चास्ये प्रक्षिप्यमाणमेतत्त्रिविधमवगृहीतम् । द्विविधं पुनरवगृहीतमादेशान्तरेणेदं प्रगृहीतं संहृतं च । अथादेशस्य किं लक्षणमत आह ।

बहुसुतमाइण्णं तु, नयाहयप्पेहिं जुगपहाणेहिं ।
आदेसो सो उ भवे, अहवा वि नयंतरविगप्पो ॥

यद्बहुश्रुतैराचीर्णं नचान्यैर्युगप्रधानैर्बाधितं स भवति नाम आदेशः । अथवा नयान्तरविकल्प आदेशः । तद्वशात्सूत्रमेवमुपन्यस्तमिति ॥

सांप्रतमवगृहीतादिपदव्याख्यानार्थमाह ।

साहीरमाण गहियं, दिज्जंतं जं च होइ पाउग्गं ।
पक्खेवए दुगुंछा, आदेसो कुरुमहादीसु ॥

इह अनानुपूर्व्या ग्रहणं बन्धानुलोमतस्तत एवं द्रष्टव्यम् । गृहीतं नाम यद्दीयमानं यच्च भवति प्रायोग्यं संहृतं नाम संह्रियमाणम् । आस्ये प्रक्षिप्यमाणं प्रतीतम् । अत्राह ननु "जं च आसगम्मि पक्खिवइ " इत्यस्यायमर्थः यत् आस्ये मुखे प्रक्षिपति तच्चोच्छिष्टमिति लोके जुगुप्सा ततः कथं तद् गृह्यते सूरिराह (आदेसो कुरुमहादीसु) कुटो घटस्तस्य यन्मुखं तदादिष्वादिशब्दात् पिठरमुखादिपरिग्रहस्तत्र आदेशव्याख्यानम् । किमुक्तं भवति पिठरमुखादीन्यधिकृत्य " जं च आसगम्मि पक्खिवति " इति सूत्रं व्याख्यातमतो न कश्चिद्दोषः । अथापहृतसूत्रस्यावगृहीतसूत्रस्य च परस्परं कः प्रतिविशेषस्तमाह ।

उग्गहियम्मि विसेसो, पंचमपिंडेसणाउ छट्ठीए ।
तं पि हु अलेवकडं, नियमा पुव्वकडं चेव ॥

उपहृतसूत्रे पञ्चमी पिण्डैषणा उक्ता अवगृहीतसूत्रे पुनरस्मिन् अयं विशेषो यत्पञ्चपिण्डैषणातः परा या षष्ठी पिण्डैषणा तस्या अभिधानमिति । तदपि च हु निश्चितं यदलेपकृतं नियमाच्च पूर्वोद्धृतमिति ।

संप्रति दिज्जंतं जं च होति पाउग्गमित्यस्य व्याख्या ।

भुंजमाणस्स उक्खित्तं, पडिसिद्धं च तेण उ ।
जहण्णोवहडं तं तु, हत्थस्स परियत्तणे ॥

परिवेषकः पट्टिकायां कूरं गृहीत्वा दक्षिणहस्तेन तलं प्रायोग्यस्य दातुकामस्तस्य भाजने क्षिपामीति व्यवसितं तच्च तथा भुञ्जानस्याक्षिप्तं न भुञ्जानेन प्रतिषिद्धं पर्याप्तं मा मह्यं देहि । अस्मिन् देशकाले साधुना तत्र प्राप्तेन धर्मलाभितं ततः परिवेषको ब्रूते साधो ! धारय पात्रमेतद्गृहाण ततः साधुना पात्रं धारितं तत्रानेन प्रक्षिप्तमिदं हस्तस्य हस्तमात्रस्य परिवर्त्तनात्, गाथायां सप्तमी पञ्चम्यर्थे जघन्यमुपहृतं भवति । एतेन दीयमानमपि व्याख्यातम् । यच्च भवति प्रायोग्यमित्यनेन शुद्धसंसृष्टयोः प्रागुक्तयोरन्यतरद् गृहीतम् । तदेवं " जं च उगिण्हइ इति व्याख्यातम् । संप्रति जं च साहरियमिति व्याख्यानाय तत्साहरियति गाथाशकलमुक्तं तद्भावयति ।

अद्धसाहरिमाणं तु, वड्डेउं जो उ दावए ।
ठाणादचलितो तत्तो, छट्ठा एसा वि एसणा ॥

अथ वर्द्धापयितुं संन्हियमाणं यो दापयेत् तस्य वचनतः स परिवेषकस्तस्मात्स्थानतो मनागप्यचलितो दद्यात् एतत्संन्हियमाणमुच्यते । एषाऽपि षष्ठी एषणा ऊष्ण्या । व्य० द्वि० । ८ उ० । आचा० ।

उग्गहिया–अवगृहीता–स्त्री० भोजनकाले भोक्तुकामस्य शरावादिषूपहृतमेव भोजनजातं यत्ततो गृह्णतः पञ्चम्यां पिण्डैषणायाम्, स्था० ७ ठा० । पंचा० । ध० । सूत्र० । (पिंडेसणाशब्देऽस्याः स्वरूपम्)

उग्गाढ–उद्गाढ–न० उद् गाह क्त० । अतिशये, अत्यन्ते, अतिशययुक्ते, त्रि० वाच० । प्रगुणीभूते च । " इयाणिं किं भणिदामो जं तुज्झ ह पज्जत्तं तं उग्गाढम्मि काहामो" वृ० १ उ० ।

उग्गाल–उद्गार–पुं० उद्-गृ ऋदोरप् बाधित्वा "उन्योर्ग्रः इति घञ् । उद्वमने, वाच० । आचीर्णे, प्रव० ३८ द्वा० । उद्गारश्चाजीर्णरोगलिङ्गं नागवायुकार्य्यम् " वाच० (रात्रावुद्गारे आगते तस्य प्रत्युद्गिरणे दोषस्तं च राइभोयण शब्दे दर्शयिष्यामि)

[सूत्रं] जे भिक्खू राओ वा वियाले वा सपाणे सभोयणे उग्गाले आगच्छेज्ज तं विगिंचमाणे वा विसोहेमाणे वा णाइक्कमइ तं उग्गिलेत्ता पच्चोगिलमाणे राइभोयणपडिसेवणपत्ते जो तं पच्चागिलंतं वा साइज्जइ ॥ ३५१॥

रातिवियालाण पुव्वकतवक्खाण सह पाणेण सपाणं सहभोयणेण सभोयणं उग्गिरणं एतयोरेकत्वात्स एव उग्गालो भवति । सित्य विरहियं केवलं उदएण सह गच्छतीत्यर्थः भत्तं वा उदएण सह आगच्छति उभयं वा तं जो उग्गिभत्ता पच्चोगिलति अत्तं वा सातिज्जति कहं पुण सातिज्जति कस्स वि उग्गालो आगतो तेण अन्नस्स सट्ठिं उग्गालो मे आगतो पच्चुंगिलितव्वए तेण भणियं सुंदरं कयं एसा सातिज्जणा तस्स पायच्छित्तं चउगुरु आणादिया य दोसाओ सुत्तत्थो । नि० चू० १० उ० ।

उग्गिण्ण–उद्गीर्ण–त्रि० वान्ते, ज्ञा० १ अ० ।

उग्गोवणा–उद्गोपना–स्त्री० विवक्षितस्य पदार्थस्य जनप्रकाशचिकीर्षारूपायामेषणायाम्, पिं० ।

उग्गोवेमाण–उद्गोपयत्–त्रि० विमोहयति, उग्गोवेमाणे उग्गोवेइ । भ० १६ श० ६ उ० ।

उग्घव–पूरि–धा० पूर् पूर्त्तौ, णिच् "पूरेरग्घाडोग्घवोद्धुमांगुमांगुमाहिरे " ८ । ४ । ६८ । इति पूरेरुग्घवादेशः । उग्घवइ । पूरयति । प्रा० ।

उग्घाइम–उद्घातिम–न० उद्घातो भागपातस्तेन निर्वृतमुद्घातिमम् । लघुनि, स्था० ३ ठा० ।

उग्घाइय–उद्घातित–त्रि० उद्घातो भागपातो यत्रास्ति तदुद्घातिकम् । लघुनि प्रायश्चित्ते, स्था० ५ ठा० । (अणुग्घाइय शब्देऽस्य निक्षेपः) विनाशिते, स्था० १० ठा० ।

यत उक्तम् " अद्धेण छिन्नसेसं पुव्वद्धेणं तु संजुयं काउं । दिज्जाइ लहुयदाणं गुरुदाणं तत्तियं चेवत्ति ॥ १॥ भावना मासार्द्धेन छिन्ने जातानि पञ्चदश दिनानि ततो मासापेक्षया पूर्वतपःपञ्चविंशतितमं तदर्द्धं सार्द्धद्वादशकं तेन संयुतं मासार्द्धजातानि सप्तविंशतिदिनानि सार्द्धानीत्येवं कृत्वा यद्दीयते तल्लघुमासदानमेवमन्यान्यपि । स्था० ३ ठा० ।

उग्घाड–उद्घाट–पुं० उद् घट्. घञ् । वाच० । अदत्तार्गले, ईषत्स्थगिते च । आव० ४ अ० ।

उग्घाडकवाड–उद्घाटकपाट–त्रि० निरर्गलितकपाटे, ओ० ।

उग्घाडकवाडउग्घाडणा–उद्घाटकपाटोद्घाटना–स्त्री. उद्घाटमदत्तार्गलमीषत्स्थगितं वा किं तत्कपाटं तस्योत्पाटनं सुतरां प्रेरणमुद्घाटकपाटोद्घाटनमिदमेवोद्घाटकपाटोद्घाटना । कपाटमुद्घाट्य भिक्षणरूपे भिक्षातिचारे, " पडिक्कमामि गोयरचरियाए उग्घाडकवाडउग्घाडणाए" आव० ४ अ० ।

उग्घाडण–उद्घाटन–न. कपाटस्य सुतरां प्रेरणे, आव०४अ०

उग्घाडिय–उद्घाटित–त्रि० उद् घट् णिच्. । किञ्चित्स्थगिते, आ० चू० ४ अ० । अनावृते, "तस्स उ अणंतभागो, णिच्चुग्घाडो य सव्वजीवाणं" विशे०। "ते वि तेण उग्घाडिया" आ० म० द्वि० । आच्छादनरहिते प्रकाशिते, आवरणरहिते प्रकाशिते, आवरणरहिते कृतोद्घाटने, वाच० ।

उग्घाडियण्णु–उद्घाटितज्ञ–त्रि० उद्घाटितं प्रकाशितं यथा तथा जानाति । विज्ञे, वाच० । कथितमात्रज्ञे विनेये, नं० ।

उग्घाय–उद्घात–पुं० उद् हन् घञ् । (ठोकर लगना) प्रतिघाते, आरम्भे, उत्तुङ्गे, मुद्गरे, शास्त्रे, ग्रन्थपरिच्छेदे, वाच० लघूकरणलक्षणे, प्रायश्चित्तदानायाभागपाते, स्था० ३ ठा० । आचारप्रकल्पाध्ययने च । आव० ४ अ० ।

उग्घायण–उग्घायतन–न. प्रवाहत एव पूज्यस्थाने, तत्रागजन्नप्रवेशाय मार्गे च । "उग्घायणेसु वा सेयणवहंसि वा अमयरंसि वा तहप्पगारंसि" २ आचा० २ श्रु० ३ अ० ।

उग्घुस–मृज्–धा० शुद्धौ, लवणे च । "मृजेरुग्घुस०" ८ । ४ । ५ इति मृजेरुग्घुसादेशः । उग्घुसइ मार्जयति । प्रा० ।

उग्घोसिय–उद्घृष्ट–त्रि. संमार्जिते "उग्घोसिय सुणिम्मलंव" प्रश्न० ५ द्वा० ।

उग्घोसेमाण–उद्घोषयत्–त्रि० उद्घोषणां कुर्वति, "सद्देणं उग्घोसेमाणे" रा० ॥

उचिअ–उचित–त्रि. । शस्ते, परिचिते, युक्ते, वाच० । योग्ये, ज्ञा० १ अ० । सङ्गते, पंचा० १ विव० । अनुरूपे, आव० ३ अ० ।

उचिअ(य) करण–उचितकरण–न० आज्ञाराधनायाम्, पंचा० ६ विव० ।

उचिअ– (य) करणिज्ज–उचितकरणीय–त्रि० विहितकर्तव्ये, पंचा० १ विव० ।

उचिअ– (य) किच–उचितकृत्य–त्रि० यथार्हदानादौ ध० २ अधि० ।

उचिअ (य) जोग–उचितयोग–पुं. उचितः स्वभूमिकायोग्यो योगो व्यापारः । स्वाध्यायाध्ययनादिके संगतव्यापारे, पंचा० ५ विव० ।

उचिअ– (य) ट्ठिइ–उचितस्थिति–स्त्री० अनुरूपप्रतिपत्तौ, ध० १ अधि० पंचा०

उचिअ(य)त्त–उचितत्व–न० योग्यतायाम्, पंचा० १० विव० ।

उचिअ (य) त्थापायण–उचितार्थापादन–न० अनुरूपवस्तुसंपादने, पंचा० ९ विव० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उचिअ [य] पवित्तिप्पहाण-उचितप्रवृत्तिप्रधान-न० सम्य-
ग्व्यवहारे, पंचा० ११ विव० ।

उचिआ [या] चरण-उचिताचरण-न० ६ त० उचितका-
र्यस्याचरणे, तच्च पित्रादिविषयं नवविधमिहापि स्नेहवृद्धि-
कीर्त्यादिहेतुर्हितोपदेशमालागाथाभिः प्रदर्श्यते ।

सामन्ने मणुअत्ते, जं केई पाउणंति इह कित्तिं ।
तं मुणह निच्चिअप्पं, उचिआचरणस्स माहप्पं ॥ १ ॥
तं पुण पिइ १ माइ २ सहो-
अरेसु ३ पणयिणी ४ अवच्च ५ सयणेसु ६ ।
गुरुजण ७ नायर ८ परति-
त्थिएसु ९ पुरिसेण कायव्वं ॥ २ ॥

तत्र पितृविषयं कायवाग्मनांसि प्रतीत्य त्रिविधमौचित्यं
क्रमेणाह ।

पिउणो तणु सुस्सूसं, विणएणं किंकरुव्व कुणइ सयं ।
वयणं पि से पडिच्छइ, वयणाओ अपडिअं चेव ॥ ३ ॥

तनुशुश्रूषां चरणक्षालनसंवाहनोत्थापननिवेशनादिरूपां दे-
शकालसात्म्यौचित्येन भोजनशयनीयवसनाङ्गरागादिसंपाद-
नरूपां च विनयेन नतूपरोधावज्ञादिभिः स्वयं करोति नतु
भृत्यादिभ्यः कारयति । यतः "गुरोः पुरो निषण्णस्य, या शोभा
जायते सुत । उच्चैः सिंहासनस्थस्य शतांशेनापि सा कुतः १
(अपडिअंति) वदनादपतितमुच्चार्यमाणमेवादेशं प्रमाण-
मेव करोमीति सादरं प्रतीच्छति न पुनरनाकर्णितशिरोधून-
नकालक्षेपार्धविधानादिभिरवजानाति ।

चित्तं पि हु अणुअत्तइ, सव्वपयत्तेण सव्वकज्जेसु ।
उवजीवइ बुद्धिगुणे, निअसब्भावं पयासेइ ॥ ३४ ॥

स्वबुद्धिविचारितमवश्यविधेयमपि कार्यं तदेवारभते यत्पि-
तुर्मनोऽनुकूलमिति भावः । बुद्धिगुणान् शुश्रूषादीन् सकलव्य-
वहारगोचरांश्चोपजीवति । अभ्यस्यति बहुदृश्वानो हि पितृ-
प्रभृतयः सम्यगाराधिताः प्रकाशयन्त्येव कार्यरहस्यानि निज-
सद्भावं चित्ताभिप्रायं प्रकाशयन्ति ।

आपुच्छिऊण पयट्टइ, करणिज्जेसु निसेहिओ ठाइ ।
खलिए खरंपि भणिओ, विणीअयं न हु विलंघेइ ॥ ५ ॥
सविसेसं परिपूरइ, धम्ममणोरहे तस्स ।
एमाइउचिअकरणं, पिउणो जणणीइ वि तहेव ॥ ६ ॥

तस्य पितुरितरानपि मनोरथान् पूरयति श्रेणिकाभिल्लणादे-
रभयकुमारवत् । धर्मानुगतांस्तु देवपूजागुरुपर्युपास्तिधर्मश्र-
वणविरतिप्रतिपत्त्यावश्यकप्रवृत्तिसप्तक्षेत्री वित्तव्ययतीर्थया-
त्रादीननाथोद्धरणादीन्मनोरथान् सविशेषं बहुमानेनेत्यर्थः
कर्त्तव्यमेव चैतत् सदपत्यमिह लोकगुरुषु पितृषु नचार्हद्रू-
र्मसंयोजनमन्तरेणात्यन्तं दुष्प्रतिकारेषु तेषु अन्योऽस्ति
प्रत्युपकारप्रकारः । तथाच स्थानाङ्गसूत्रम् " तिण्हं दुप्पडि-
आरं समणाउसो । तंजहा अम्मापिउणो १ भट्टिस्स २
धम्मायरिअस्स ३ इत्यादि " समग्रोऽप्यालापको वाच्यः ॥

अथ मातृविषयौचित्ये विशेषमाह ॥

नवरं सेसविसेसं, पयमइभावाणुवित्तिमप्परिमं ।
इत्थीसहावसुलहं, पराभवं वहइ न हु जेणं ॥ ७ ॥

(सविसेसंति) जनकान्मातुः पूज्यत्वादपि यदाह मनुः उपा-
ध्यायाद्दशाचार्या आचार्येभ्यः शतं पिता । सहस्रं तु पितुर्मा-
ता गौरवेणातिरिच्यते । "

उचिअं एअंपि सहो-अराम्मि जं निअइ अप्पसममेअं ।
जिट्ठं च कणिट्ठं पि हु, बहु मन्नइ सव्वकज्जेसु ॥ ८ ॥
दंसइ न पुढो भावं, सब्भावं कहइ पुच्छइ अ तस्स ।
ववहारम्मि पयट्टइ, न निगूहइ थेवमाविहविणं ९ ॥
अविणीअं अणुअत्तइ, मित्तेहिं तो रहो उवालभइ ।
सयणजणाओ सिक्खं, दावइ अन्नावए सेणं ॥ १० ॥
हिअए ससिणेहो वि हु, पयडइ कुविअं व तस्स अप्पाणं ।
पडिवन्नविणयमग्गं, आलवइ अ धम्मपिम्मपरो ॥ ११ ॥
तप्पणइणिपुत्ताइसु, समदिट्ठी होइ दाणसम्माणे ।
सावक्कम्मि उ इत्तो, सविसेसं कुणइ सव्वं पि ॥ १२ ॥

(पयट्टइत्ति) व्यवहारे प्रवर्तते नत्वव्यवहारे इति ॥
(समादिट्ठित्ति) स्वपत्न्यपत्यादिष्विव समदृष्टिः (साव-
क्कमिति) सापत्न्येऽपरमातृक भ्रातरि तत्र हि स्तोकेऽप्यन्तरे
व्यक्तीकृते तस्य वैचित्यं जनापवादश्च स्यात् । एवं पितृमातृ-
भ्रातृतुल्येष्वपि यथार्हमौचित्यं चिन्त्यम् । यतः "जनकश्चोप-
पकर्त्ता च यस्तु विद्याप्रयच्छकः । अन्नदः प्राणदश्चैव पञ्चैते
पितरः स्मृताः १ राज्ञः पत्नी गुरोः पत्नी पत्नीमाता तथैव च ।
स्वमाता चोपमाता च पञ्चैता मातरः स्मृताः २ सहोदरः
सहाध्यायी, मित्रं वा रोगपालकः । मार्गे वाक्यसखा यस्तु
पञ्चैते भ्रातरः स्मृताः ३ " भ्रातृभिश्च मिथो धर्मकार्यविषये
स्मरणादि सम्यक्कार्यम् । यतः " भवगिहमज्झम्मि पमाय-ज-
लण जलिअम्मि मोहनिद्दाए । उट्ठवइ जोसुअंतं, सो तस्स
जणो परमबंधू १ " भ्रातृवन्मित्रेष्वप्येवमनुसर्तव्यम् ।

इअजाइगयं उचिअं, पणइणिविसयंपि किं पि जं पेमो ।
सप्पणायवयणसम्माण, पेण तं अभिमुहं कुणइ ॥ १३ ॥
सुस्सूसाइपयट्टइ, वत्थाभरणाइसमुचिअं देइ ।
नाडयपिच्छणयाइसु, जणसंमद्देसु वारेइ ॥ १४ ॥
रुंभइ रयणिपयारं, कुसीलपासंडिसंगमवणेइ ।
गिहकज्जेसु निओअइ, न विओअइ अप्पणा सद्धिं ॥ १५ ॥

रजन्यां प्रचारं राजमार्गेषु गमनागमनादिकं निरुणद्धि धर्मावश्य-
कादिप्रवृत्तिनिमित्तं च जननीभगिन्यादिसुशीलललनावृन्द-
मध्यगतामनुमन्यत एव (नविओअइत्ति) न वियोजयति यतो
दिनसाराणि प्रायः प्रेमाणि यथोक्तम् । " अवलोअणेण आ-
लाव-वणेण गुणकित्तणेण दाणेणं । छंदेण वट्टमाणस्स, निब्भरं
जायए पिम्मं १ अदंसणेण अइदं-सणेण दिट्ठं अणालवंतेणं ।
माणेण पवासेण य, पंचविहं झिज्जए पिम्मं २ ।

अवमाणं न पयासइ, खलिए सिक्खेइ कुविअमणुणेइ ।
धणहाणिवुड्ढिधम्मं, न वइअरं पयडइ न तीसे ॥ १६ ॥

अपमानं निर्हेतुकं नास्यै प्रदर्शयति स्खलिते किंचिदपराधे
निभृतं शिक्षयति । कुपितां चानुनयति । अन्यथा सहसाका-
रितया कूपपाताद्यप्यनर्थं कुर्यात् (पयडइत्ति) धनहानि-
व्यतिकरं न प्रकटयति प्रकटितं तु धनहानिव्यतिकरे तुच्छ-
तया सर्वत्र तद्वृत्तान्तं व्यञ्जयति । धनवृद्धिव्यतिकरे च व्य-
क्तीकृते निरर्गलव्यये प्रवर्तते तत एव गृहे स्त्रियाः प्राधान्यं
न कार्यम् ।

Jain Education International　　For Private & Personal Use Only　　www.jainelibrary.org

गुरुकुलुग्गयाहिं परिणय-वयाहिं निच्चम्म धम्मनिरयाहिं
सयणे रमणीहिं पि, पालणइ समाणधम्माहिं ॥ १७ ॥
रोगाइसु नो विक्खिवइ, सुसहाओ होइ धम्मकज्जेसु ॥
एमाइपणइणिगायं, उचिअं पाएण पुरिसस्स ॥ १८ ॥
पुत्तं पइ पुण उचिअं, पिउणो लालेइ बालभावम्मि ।
उम्मीलिअबुद्धिगुणं, कलासु कुसलं कुणइ कमसो ॥१९॥
गुरुदेवधम्मसुहिसयण, परिचयं कारवइ निच्चं पि ।
उत्तमलोएहिं समं, मित्तीभावं रयावेइ ॥ २० ॥
गिण्हावेइ अ पाणिं, समाणकुलजम्मरूवकन्नाणं ।
गिहभारम्मि निजुंजइ, पहुत्तणं वि अ रइकमेण ॥२१॥
पच्चक्खं न पसंसइ, वसणोवहयाण कहइ पुरवत्थं ।
आयं वयमवसेसं च, सोहए सयमिमेहिं जो ॥ २२ ॥
प्रत्यक्षे गुरवः स्तुत्याः परोक्षे मित्रबान्धवाः। कर्मान्ते दासभृत्याश्च पुत्रा नैव मृताः स्त्रियः १ इति वचनात्पुत्रप्रशंसा नैव युक्ता। अन्यानिर्वाहादर्शनादिहेतुना चेत्कुर्यात् तदाऽपि न प्रत्यक्षं गुणवृद्ध्यभावाभिमानादिदोषापत्तेः। द्यूतादिव्यसनिनां निर्द्धनत्वन्यक्कारतर्जनताडनादिदुरवस्थाश्रवणे तेऽपि नैव व्यसने प्रवर्तन्ते आयं व्ययं व्ययाद्युक्तमिलितशेषं च पुत्रेभ्यः शोधयति। एवं च पत्न्याः प्रभुत्वं पुत्राणां स्वच्छन्दत्वमपास्तम्।
दंसेइ नरिंदसभं, देसंतरभावपयडणं कुणइ ।
इच्चाइअवच्चगयं, उचिअं पिउणो मुणेअव्वं ॥ २३ ॥
सयणेसु समुचिअमिणं, जं तेनिअगेहवुड्ढिकज्जेसु ।
सम्माणिज्जसया वि हु, करिज्जहाणीसु वि समीवे ॥२४॥
सयमवि तेसिं वसणा, सव्वे सुट्टो अव्वमंति अम्मिसया ।
खीणविहवाणरोगा, उराणकायव्वमुद्धरणं ॥ २५ ॥
खाइज्ज पिट्ठिमंसं, न तेसि कुज्जा न सुक्ककलहं च ।
तदमित्तेहिं मित्तिं, न करिज्ज करिज्ज मित्तेहिं ॥ २६ ॥
तयभावे तग्गेहे, न वइज्ज वइज्ज अत्थ संबंधं ।
गुरुदेवधम्मकज्जेसु, एगचित्तेहिं होअव्वं ॥ २७ ॥
एमाइसयणोचिअ, मह धम्मायरिअ समुचिअं भणिमो।
भत्तिबहुमाणपुव्वं, तेसितिसं जं पि पणिवाओ ॥२८॥
तदंसिअनीईए, आवस्सयपमुहकिच्चकरणं च ।
धम्मोवएससवणं, तदंतिए सुद्धसद्धाए ॥ २९ ॥
आएसं बहुमन्नइ, इमेसि मणसा वि कुणइ नावन्नं ।
रुंभइ अवन्नवायं, थुइवायं पयडइ सया वि ॥ ३० ॥
न हवइ छिद्दप्पेही, सुहिव्व अणुअत्तए सुहदुहेसु ।
पडिणीअपच्चवायं, सव्वपत्तेण वारेइ ॥ ३१ ॥
खलिअम्मि चोइओ गुरु-जणेण मन्नइ तहत्ति सव्वं पि।
चोएइ गुरुजणं पि हु, पमायखलिएसु एगंते ॥३२॥
कुणइ विणओवयारं, भत्तीए समयसमुचिअं सव्वं ।
गाढं गुणाणुरायं, निम्मायं वहइ आयम्मि ॥ ३३ ॥
भावोवयारमेसिं, देसंतरिओ वि सुमिरई सया वि ।
इअ एवमाइगुरुजण,समुचिअमुचिअं मुणेअव्वं ॥३४॥
जत्थ सयं निवसिज्जइ, नयरे तत्थेव जे किर वसंति ।
ससमाणवित्तिणो ते, नायरया नाम वुच्चंति ॥ ३५॥
समुचिअमिणमो तेसिं, जमेगचित्तेहिं समसुहदुहेहिं ।
वसणूसवतुल्लगमा-गमेहिं निच्चं पि होअव्वं ॥३६॥
कायव्वं कज्जे वि हु, नइक्कमिकेण दंसणं पहुणो ।
कज्जो न मंतभेओ, पेसुन्नं परिहरेअव्वं ॥ ३७ ॥
समुवट्ठिए विवाए, तुलासमाणेहिं चेव ठायव्वं ।
कारणसाविक्खेहिं, विहुणे अन्नो न नयमग्गो ॥३८॥
बलिएहिं दुब्बलजणो, सुंककराईहिं नाभिभवियव्वो।
थोवावराहदोसे, विदंडणूमिं न नेअव्वो ॥ ३९ ॥
कारणिएहिं समं, कायव्वो जो न अत्थसंबंधो ।
किं पुण पहुणा सद्धिं, अप्पहिअं अहिलसंतेहिं॥४०॥
एअं परुप्परं ना-यराण पाएण समुचिआचरणं ।
परतित्थिआण समुचिअ,मह किं पि भणामि लेसेणं॥४१॥
एएसिं तित्थिआणं, भिक्खट्ठमुवट्ठिआण निअगेहे ।
कायव्वमुचिअकिच्चं, विसेसओ रायमहिआणं ॥४२॥
जइ वि मणम्मि न भत्ती, न पक्खवाओ अ तग्गयगुणेसु।
उचिअं गिहागएसु, तहवि हु धम्मो गिहीण इमो ॥४३॥
गेहागयाणमुचिअं, वसणावडिआण तह समुद्धरणं ।
दुहिआण दया एसो, सव्वेसिं सम्मओ धम्मो ॥४४॥
मुंचंति न मज्जायं, जलनिहिणो नाचलावि हु चलंति ।
न कयावि उत्तमनरा, उचिआचरणं विलंघंति ॥४५॥
तेणं चिअ जगगुरुणो, तित्थयरा वि हु गिहत्थवासम्मि।
अम्मापिऊणमुचिअं, अब्भुट्ठाणाइ कुव्वंति ॥ ४६ ॥
इत्थं नवधौचित्यम्। इत्थं च व्यवहारशुद्ध्यादिभिरर्थोपार्जनं विशेषतो गृहिधर्म इति निष्कर्षः॥ टीका सुगमत्वान्न गृहीता धर्म २ अधि०।

उचिआ(या) णुट्ठाण-उचितानुष्ठान-न. आप्तोपदिष्टत्वेन विहितक्रियारूपत्वे, "उचियाणुट्ठाणओ चिचित्त जइ जोगतुल्लमोएसं" पंचा० ६ विव०।

उच्च-उच्च-त्रि० उत्क्षिप्य वाहू मीयते उपर्युपरि निचिये-रवयवैश्चीयतेऽसौ वा उद्० चि. ड. वाच०। समुच्छ्रिते, उपा० २ अ०। उच्चं द्रव्यभावभेदाद् द्विधा। द्रव्योच्चं धवलगृहवासि, भावोच्चं जात्यादियुक्तम्। द० ५ अ०। उत्कृष्टे, सूत्र० १ श्रु०१० अ०। उच्चस्थानस्थितत्वेन ऊर्ध्वीकृतकन्धरतया वा दृश्यते, भावतस्त्वहो अहं लब्धिमानिति मदाध्मातमानसः उत्त० १ अ०। "उच्चं अगोत्तं च गतिं उवेति" उच्चां मोक्षाख्यां सर्वोत्तमां वा गतिं व्रजन्ति। सूत्र० १ श्रु० १३ अ०।

उच्च [अ] उच्चैस्-अव्य० उद्. चि. डैसि.। "उच्चैर्नीचैरायः अः ८।१। ५४। इति उच्चैः शब्दघटकस्यैतोऽत्वम्. प्रा०। उच्चशब्दात् सिद्धमिति केचित् उच्चैः शब्दस्य रूपान्तरनिवृत्त्यर्थे वचनम्। प्रा०। तुङ्गत्वे, महति, उच्चदेशजाते, वाच०॥

उच्चंतय-उच्चन्तक-पुं० दन्तरोगे, जी० ३ प्रति०। जं०। रा०।

उच्चट्ठाण-उच्चस्थान- न० ग्रहाणामादित्यादीनां मेषादिषु

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनीचस्थानेषु, तानि च दशादिषु भंशांशकेष्वेवमवसेयानि । अजवृषभमृगाङ्गनाकर्कमीनवणिजांशकेष्विनाद्युच्चाः । दश १० शिख्य ३ ष्टाविंशति २८ तिथी १५ न्द्रिय ५ त्रिघन २७ विंशपु । ज्ञा० "उच्चट्ठाणाट्ठिपसुगहेसु" अर्काद्युच्चान्यज १ वृष २ मृग ३ कन्या ४ कर्क ५ मीन वणिजोंऽशैः । दिग्दहनाष्टाविंशति २८ तिथी १५ षु ५ नक्षत्र २७ विंशतिभिः । २० । अयं भावः मेषादिराशिस्थाः सूर्यादय उच्चास्तत्राऽपि दशादीनंशान् यावत्परमोच्चाः । एषां फलं तु । सुखी १ भोगी २ धनी ३ नेता ४ जायते मण्डलाधिपः । ५ । नृपतिश्चक्रवर्ती च क्रमादुच्चग्रहे फलम् ॥ १ ॥ " तिहिं उच्चेहिं नरिंदो, पंचहिं तह होइ अद्धचक्की अ । छहिं होइ चक्कवट्टी सत्तहिं तित्थंकरो होइ " कल्प० ।

उच्चत्त–उच्चत्व– न० उच्च–त्व. । उच्चत्वे, स्था० २ ठा० । वस्तुनोऽनेकधोच्चत्वमूर्ध्वस्थितस्यैकमपरं तिर्य्यक् स्थितस्याऽन्यत् गुणोन्नतिरूपम् । स्था० १ ठा० (ज्योतिषिकाणामुच्चत्वं जोइसिय शब्दे)

उच्चत्तभयग–उच्चत्वभृतक– पुं० भृतकभेदे, मूल्यकालनियमं कृत्वा यो नियतं यथावसरं कर्म कार्य्यते स उच्चत्वभृतकः । स्था० ४ ठा० ।

उच्चत्तरिया–उच्चत्तारिका– स्त्री० ब्राह्मलिपिभेदे, स० ।

उच्चंपिय–उच्चम्पित– त्रि० प्राबल्येनाक्रमिते, "सीसं उच्चं पियं कयंमिम य " तं० ।

उच्चफल–उच्चफल– त्रि० उच्चं चिरकालभावि फलं यस्मात्स उच्चफलः । चिरकालेनोपकारिणि, "उच्चफलो अह खुड्डो, स भणित्थो" व्य० प्र० ३ उ० ॥

उच्चक्खित्त–उच्चक्षिप्त– त्रि० यद्दृष्टेरुपरि बाहुं प्रसार्य्य देयवस्तु ग्रहणाय पात्रं ध्रियते तत्र व्याप्रियमाणे, पिं० ।

उच्चय–उच्चय– पुं० उद्० चि० अच्० । ऊर्ध्वचयने, भ० ८ श० ७ उ० । पुष्पादेरुच्चोभने, नारीकट्यं शुकग्रन्थौ, " नीविः स्यादुच्चयोऽथ यम० " उत्कृष्टाश्रये । बृहत्समुदाये, च । कर्मणि अच् हस्ताभ्यामुद्धृत्यावचिते, निवारे, वाच० ॥

उच्चयबंध–उच्चयबन्ध– पुं० उच्चय ऊर्ध्वं चयनं राशीकरणं तद्रूपो बन्ध उच्चयबन्धः । अल्लियावणबन्धभेदे, भ० ८ श० ७ उ० ।

उच्चवेउं–उच्चयित्वा– अव्य० उच्चैः कृत्येत्यर्थे, बृ० १ उ० ।

उच्चसद्द–उच्चशब्द– पुं० बृहति शब्दे, व्य० द्वि० ७ उ० ।

उच्चाकुइय–उच्चाकुचिक–पुं० अनीचाऽपरिष्पन्द्य शय्याके, "आणापाणमेयंअभिग्गहियसिज्जासणियस्स उच्चाकुइयस्स " उच्चाऽकुचशय्यावत्त्वं सप्रयोजनं पक्षमध्ये सकृद्वा शय्याबन्धकत्वम् । कल्प० ।

उच्चाकुया–उच्चाकुचा– स्त्री० उच्चा हस्तादि यावत् येन पिपीलिकादेर्बाधो न स्यात् सर्पादेर्वा दंशो न स्यात् अकुचा कुच परिस्पन्द इति वचनात् परिस्पन्दरहिता निश्चलेति यावत् ततः कर्मधारये उच्चाकुचा । अनीचाऽपरिस्पन्दायां कम्बादिमय्यां शय्यायाम्, कल्प० ॥

उच्चागय–उच्चागज– त्रि० उच्चो योऽगः पर्वतो हिमवान् तत्र जातमुच्चागजम् । हिमाचलोद्भवे, उच्चागयठाणलट्ठसंठिअं । कल्प० ॥

उच्चागोय–उच्चैर्गोत्र– न० गोत्रकर्मभेदे, यदुदयात्पुनर्निर्धनः कुरूपो बुद्ध्यादिपरिहीणोऽपि पुरुषः सुकुलजन्ममात्रादेव लोकात्पूजां लभते तदुच्चैर्गोत्रम् । यदुदयाद्वा समजातिकुलप्राप्तिसत्काराभ्युत्थानाञ्जलिप्रग्रहादिरूपपूजालाभश्च तदुच्चैर्गोत्रम् । कर्म० । इक्ष्वाकुवंशादिके, उच्चैर्गोत्रमेषामित्युच्चैर्गोत्राः । उच्चैर्गोत्रोद्भवेषु इक्ष्वाकुहरिवंशादिकुलोद्भवेषु, उच्चागोयावेगे णीयागोयावेगे । सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

उच्चणागरी–उच्चनागरी– स्त्री० सुस्थितसुप्रतिबुद्धस्थविरान्निर्गतस्य कौटिकगणस्य प्रथमशाखायाम्, कल्प० ॥

उच्चागोयणिबंध–उच्चैर्गोत्रनिबन्ध– पुं० लोकपूज्यतानिबन्धनोच्चैर्गोत्राभिधानकर्मबन्धने, " उच्चागोयणिबंधो सासणवन्नो य लोगम्मि " पंचा १२ विव० ।

उच्चाडण–उच्चाटन– न० उद्. चट् णिच् ल्युट् । उत्पाटने, स्वस्थानाद् विश्लेषणे, "उच्चाटनं स्वदेशादेर्भ्रंशनं परिकीर्तितम्" इत्युक्ते षट्कर्मान्तर्गतेऽभिचारभेदे च । वाच० ।

उच्चायप्पमाण–उच्चात्मप्रमाण– त्रि० उच्चमात्मप्रमाणं येषां ते तथा । स्वप्रमाणात उच्चे, कल्प० ।

उच्चार–उच्चार–पुं० उद् चर्–णिच्. घञ्. । उच्चारणे, उच्चैश्चारो गतिः । गृहादीनां राशिनक्षत्रान्तरसञ्चारे, वाच० । शरीरादुत्प्राबल्येन च्यवतेऽपयाति उच्चरतीति चोच्चारः । विष्ठायाम्, आचा० २ श्रु० ३ अ० १३ उ० । स० । आव० । ज्ञा० । कल्प० । तं० । दशा० । स्था० । (अस्य परिष्ठापनं पारिट्ठावणिया शब्दे वक्ष्यते) बृहच्छरीरचिन्तायाम्, दर्श० । विड्विसर्जने, ध० २ अधि० । जं० (पुरीषोत्सर्गप्रक्रिया–थंडिल शब्दे) (आचार्यस्य वसतावेव विड्विसर्जनमतिसय शब्दे)

उच्चारणिरोह–उच्चारनिरोध–पुं० । विसिसृक्षायां सत्यामपि बलात्पुरीषरोधे, एष च रोगकारणम् । स्था० ९ ठा० ।

उच्चारपडिक्कमण–उच्चारप्रतिक्रमण–न० उच्चारोत्सर्गे विधाय ईर्यापथिकप्रतिक्रमणरूपे प्रतिक्रमणभेदे, स्था० ६ ठा० ।

उच्चारपासवण–उच्चारप्रस्रवण–न० । उच्चारः प्रस्रवणं च द्वन्द्वः पुरीषमूत्रयोः तद्विसर्गप्रतिपादके आचाराङ्गस्य द्वितीयश्रुतस्कन्धस्य तृतीये ऽध्ययने च । आचा० २ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

उच्चारपासवणकिरिया–उच्चारप्रस्रवणक्रिया–स्त्री० उच्चारप्रस्रवणकर्त्तव्यतायाम्, "उच्चारपासवणकिरियाए उव्वाहिज्जमाणे आचा० २ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

उच्चारपासवणखेलसिंघाणजल्लपारिट्ठावणियासमइ–उच्चारप्रस्रवणखेलश्रृङ्घाणजल्लपारिष्ठापनिकसमिति–स्त्री० उच्चारादीनां पारिष्ठापनिकारूपा समितिः । समितिभेदे, "इत्थ इमं आहारणं एगेणं खुड्डगेण वि वसंते किहव्व विनयेहि य थंडिलं काइय लोयतो राया थंडिलं नापेहयंती न वोसिरो देवयाए श्लेष्मा जल्लो मलः सामग्गोओ अणुकंपाए य कत्थ दिट्ठा भूमिस्ति वासरियंति" । पा० । सूत्र० । स्था० । उच्चारपासवणखेलसिघाणगपारिट्ठावणियासमितीए । एत्थ वि सत्त भंगा । तत्थ उदाहरणं । धम्मरुई पारिठावणिया समितो समाहिपरिट्ठावणे अभिग्गहमाहणं सक्कासणचलणं मिच्छदिट्ठि आगमणं किं विल्लिया विउव्वणं काइया ससंजता । वाहाभिज पमत्त उ निग्गतो पेच्छति । ताहे सरंतो साहू जं किलामिज्जति त्ति । एवंणातो देवेण वारितो वंदित्ता गतो । वितियं दिठ्ठिवागए चेल्लओ तेण थंडिलं न पडिलेहिता वियाले सा-

रत्ति काइयाओ । जातो न पेहितंति न वोसिरंति । देवताए उज्जोतो कतो अणुकंपाए दिठा भूमित्ति वोसिरियं । एस समित्तो । बितिओ असमितो चउव्वीसं उच्चारपासवणभूमीसु । तिण्हि कालभूमीओ न पडिलेहेति भणति । किमेत्थ उट्ठो उवविसेज्ज देवता उट्ठरूवेण तत्थ ठिता वितियाए गतो तत्थ वि एवं ततियाए ताहे तेण उट्ठवितो तत्थ देवताए पडिचोदितो कीस सत्तवीसं न पडिलेहेसि समं पडिवण्णो । एस पारिठावणियासमिती ॥ आ० चू० ।

उच्चारपासवणभूमि–उच्चारप्रस्रवणभूमि–स्त्री० पुरीषमूत्रोत्सर्गस्थण्डिले, पंचा १अ० । उच्चारपासवणभूमिं पडिलेहेइ, प्र २ श० १ उ० । (अत्रोत्सर्गोऽस्याः प्रत्युपेक्षणं च थंडिल शब्दे)

उच्चारपासवणविहिसत्तिकय–उच्चारप्रस्रवणविधिसप्तैकक–पुं० पुरीषमूत्रोत्सर्गप्रतिपादके आचाराङ्गद्वितीयश्रुतस्कन्धस्य द्वितीयचूडायाश्चतुर्थेऽध्ययने, स्था० ७ठा० । आचा० ॥

उच्चारभूमिसंपन्न–उच्चारभूमिसंपन्न–त्रि० उच्चारप्रस्रवणादिभूमियुक्ते,"उच्चारभूमिसंपन्नं इत्थीपसुविवज्जियं" दश० ।

उच्चारिय–उच्चारित–त्रि. उच्चार–तारका–इतच् । कृतविष्ठोत्सर्गे, उद् चर् णिच् कर्मणि क्त । यस्योच्चारणं कृतं तादृशवर्णादौ, उद्– अन्तर्भूतण्यर्थे, चर क्त । उच्चारितोऽप्युक्तार्थे, वाच० ॥ " उच्चारिय सरिसाई-सेसाइं वि कोवणट्ठाए । बृ० । दश० ।

उच्चाइय–उच्चाल्य– अव्य. उद्.चल. ल्यप् । ऊर्ध्वमुत्क्षिप्येत्यर्थे, उच्चालिय णिहणीसु" । आचा० १श्रु० ८ अ० १ उ० ।

उच्चलिय–उच्चालयितृ–त्रि० अपनेतरि, " उच्चालइ यं तं जाणेज्जा दुरालइयं"॥ आचा० १श्रु० ३ अ० ।

उच्चालित–त्रि० उद्,चल्,णिच्,क्त० । उत्पाटिते, "उच्चालियम्मि पाए इरियासमियस्स संकमट्ठाए" ओ० । नि०चू० ।

उच्चाविइत्ता–उच्चैःकृत्वा–अव्य० उत्पाट्येत्यर्थे, " दो वि पाए, उच्चाविइत्ता सव्वओ समंता समभिलोएज्ज„द्वावपि पादौ उच्चैःकृत्वा द्वावपि पार्ष्णी, उत्पाट्येत्यर्थे, प्रज्ञा० १ ७ पद० ।

उच्चावय–उच्चावच–त्रि० उच्चं च अवचं च उच्चावचम् । उत्त० । अनुकूलप्रातिकूले, भ० १ श० ७ उ० । अधमोत्तमेषु नानाप्रकारे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० । " हसंतो नाभिगच्छेज्जा कुलं उच्चावए सया" उच्चं द्रव्यभावभेदाद् द्विधा द्रव्योच्चं धवलगृहवासि भावोच्चं जात्यादियुक्तमेवमपि द्रव्यतः कुटीरकवासी भावतो जात्यादिहीनमिति, दश० ५ अ० । " उच्चावयाहिं सेज्जाहिं तवस्सी भिक्खू थामवं ऊर्ध्वचित्ता " उच्चा उपलिप्ततदाद्युपलक्षणमेतत् यद्वा शीतातपनिवारकत्वादिगुणैः शय्यान्तरोपरिस्थितत्वेनोच्चास्तद्विपरीतास्त्ववचा अनयोर्द्वन्द्वे उच्चावचाः । नानाप्रकारा वोच्चावचास्ताभिः शय्याभिर्वसतिभिः । उत्त० ८ अ० । सूत्र० । " अह भिक्खू उच्चावयं मणं णियच्छेज्जा " उच्चावचं शोभनादौ मनः कुर्यादिति । तत्रोच्चं नाम मैवं कुर्वन्तु अवचं नाम एवं कुर्वन्त्विति । आचा० २ श्रु० २ अ० १ उ० । उत्कृष्टतरे, औ० । असमञ्जसे, " उच्चावयाहिं आउसणाहिं " ज० १५ श० १ उ० । स्था० ।

उच्चव्रत-न० उच्चानि महान्ति व्रतानि येषां तानि उच्चव्रतानि आकारः प्राकृतत्वात् । महाव्रतधरेषु, " उच्चावयाइं मुणिणो चरंति, ताइं तु खेत्ताइं सुपेसलाइं" उत्त० १५ अ० । क० । स० शेषव्रतापेक्षया महाव्रतेषु, उत्त० १ अ० ।

उच्चासण–उच्चासन–न० उन्नतासने, जी० ३ प्रति० । गुरोरासनादुच्चैरासने, ध० २ अ० । अलावे संलावे उच्चसेणा समासणे अंतरभासाए उवरिभासाए जं किंचि मज्झं ममविणयपरिहीणं सेहे राइणियस्स उच्चासणम्मि संचिट्ठित्ता णिसीइत्ता वा तुयट्टित्ता भवति आसायणासेहस्स । आव० ४ अ० ।

उच्चिय–उचित–न० उच्चताकरणे, उत्पादने च । औ० ।

उच्चुप्-चट-धा० भेदे. भ्वा. पर. सक. सेट्–धातवोऽर्थान्तरेऽपि ८।४।५८। इत्यनेन चटतेरुच्चुप् । उच्चुपइ चटति प्रा० ।

उच्चूर–उच्चूर–त्रि० नानाविधे, व्य० प्र० ३ उ० ।

उच्चे–उच्चैस्– अव्य० उद् चि० डैसि० । तुङ्गत्वे, उन्नते, महति, ऊर्ध्वदेशजाते, वाच० " नाइ उच्चेव नीए वा णासन्ने नाइदूरओ " उच्चैः स्थाने मालादौ, उत्त० १ अ० । " तत्राऽस्य विषयतृष्णा प्रभवत्युच्चैर्न दृष्टिसम्मोहः " उच्चैरत्यर्थे, न० । षो० । प्रति० । उच्चैरिष्टानिष्टेषु वस्तुषु । उच्चैरतीव कल्पितेषु इष्टानिष्टेषु, द्वा० १८ द्वा० ।

उच्छ (च्छाण) उक्षन्–पुं० उक्ष् कनिन् । गोऽक्षादौ ८।२।१७। इति संयुक्तस्य च्छः । प्रा० " पुंस्यन आणो राजवच्च ८ । ३ ५६ । इति अनः स्थाने आण इत्यादेशः । वृषभे, प्रा० ।

उच्छंग–उत्सङ्ग–पुं० सञ्ज् आधारे घञ् । मध्यभागे, वाच० । " उच्छंगे णिवसेत्ता " आ० म० द्वि० । वि० । उत्सङ्ग इव उत्सङ्गः । पृष्ठदेशे, औ० । ज्ञा० । उत्क्रान्तः सङ्गम् अत्या० स० । सन्यासिनि, सङ्गरहिते तत्त्वज्ञे, प्रा० । स० । ऊर्ध्वतः संसर्गे च । वाच० ।

उच्छंघ–उन्नमि–उद् नम् णिच्० धा० । " उन्नमेरुच्छंघोल्लाल-गुलुगुच्छोप्पेला "८।४।३६ इति उत्पूर्वस्य नमेण्यन्तस्य उच्छंघ आदेशः । उच्छंघइ उन्नमयति । प्रा० ।

उच्छत्त–अपच्छत्र–न० अपशब्दं विरूपं छत्रं स्वदोषाणां परगुणानां चावरणमपच्छत्रम् चतुर्दशे गौणालीके, प्रश्न० १ द्वा० ।

उच्छत्र–न० उच्छत्रं वा न्यूनत्वम् । चतुर्दशे गौणालीके, प्रश्न० १ द्वा० ।

उच्छरंत–आस्तृणवत्–त्रि० आच्छादयति, " अणिएहिं उच्छरंता अभिभूय हरंति परधणाई " प्रश्न ३ द्वा० ।

उच्छलणा–उच्छलन–स्त्री० अपवर्तनायाम्, अपप्रेरणायाम्, प्रश्न. ३ द्वा० ।

उच्छलिय–उच्छलित–त्रि० ऊर्ध्वगते, प्रश्न० ३ द्वा० ।

उच्छल्ल–उच्छल–धा० उद्-शल-भ्वा० ऊर्ध्वपतने, "उच्छल उच्छल्लः ।८।४।७३। उच्छलतेरुच्छल्लादेशः । उच्छल्लइ उच्छलति प्रा. ।

उच्छल्ल–उच्छलत्–पुं० ग्रहणे, " तज्जणगलुच्छल्ल उच्छल्लणाहिं " गलुच्छल्लंति गलग्रहणम् । प्रश्न० ३ द्वा० ।

उच्छल्लिय-उच्छल्य-अव्य० एकपार्श्वेन स्थित्वेत्यर्थे, "पत्तगबंधे, पइरिक्तुच्छल्लिय पुणो पहे उरणिया" नि०चू० १ उ० ।

उच्छव–उत्सव–पुं० उद्० सू० अप्० " सामर्थ्योत्सुकोत्सवे वा " ८।२।२२ एषु संयुक्तस्य छो वा भवति । प्रा० । आनन्दजनकव्यापारे, विवाहादौ, वाच० । इन्द्रोत्सवादौ, ज्ञा० १ अ० ।

उच्छादणया–उच्छादनता–स्त्री० सचित्ताऽचित्ततत्कृतवस्तु-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

च्छेदने, अंगाणं संतुसराणं घाताए वाहाए उच्छादणयाए" भ० १५ श० १ उ० ।

उच्छायणा–उच्छादना–स्त्री० जालैरपि व्यवच्छेदने,ज्ञा०१७अ०।

उच्छाय–उच्छ्राय–पुं० उद्-श्रि करणे अच् घञ् वा । उत्सेधे, स्था० ७ ठा० ।

उच्छार-आ-क्रम धा०स्वा० आत्म० आक्रमणे, "आक्रमेरोहावो-च्छारच्छुन्दाः" ८ । ४ । १६० आक्रमेरेते आदेशा भवन्ति । उच्छारइ आक्रामति (ते) (केवलस्तु परस्मैपदी) प्रा० ।

उच्छाह–उत्साह-पुं० उद्-सह-घञ् । "थोत्साहे थो ह्रस्व रः" ८ । २ । ४८ । उत्साहशब्दे संयुक्तस्य थो वा भवति " त-त्सन्नियोगे च ह्रस्व रः । उत्थारो उच्छाहो " थाऽभावे । "ह्रस्वात् थ्यश्चत्सप्सामनिश्चले ८ । २ । २१ । इति त्सत्वागस्य छः । " अनुत्साहोत्सन्ने त्स च्छे " ८ । १ । ११४ । इत्यत्र उत्सा-हपर्युदासात् छपरस्यादेरुत ऊत्वं न । प्रा० । पराक्रमे, जो-गोत्ति वा विरियं ति वा सामत्थं ति वा परक्कमेति वा उच्छा-होति वा एगट्ठा ॥ आ० चू० १ अ० । पं० सं० । आ० म० । वीर्ये,सम० । श्रवणाविविषये उत्कलिकाविशेषे, जं०२०पा० उद्यमे, सू० प्र० २० पा० । अध्यवसाये, कर्त्तव्यकृत्ये, स्थिरतरे प्रयत्ने, कल्याणे, श० रत्ना० । सूत्रे, मेदि० कार्य्या-रम्भेषु संरम्भः स्थेयानुत्साह उच्यते सा० द० उक्तलक्षणे वीररसस्य स्थायिभावे च । वाच० ।

उच्छाहिय-उत्साहित-त्रि० त्वमेवाऽस्य कार्य्यस्य करणे समर्थ इत्येवमुत्कर्षिते, पिं० ॥

उच्छिंपग-अवच्छिम्पक–पुं० चौरविशेषे, प्रश्न० । ३ द्वा० ।

उच्छिंपण-उत्क्षेपण–न० जलमध्यान्मत्स्यादीनामाकर्षणे, प्रश्न० २ द्वा० ।

उच्छिएण-उच्छिन्न-त्रि० उद्-छिद् निर्वंशसत्ताके, स्था०५ठा०।

उच्छिएणसामिय–उच्छिन्नस्वामिक–त्रि० निःसत्तीभूतप्रभुषु, उच्छिन्नसामियाइं वा उच्छिन्नसेउयाइं वा उच्छिन्नगोत्तागा-राइं वा धनानि । भ० ३ श० ७ उ० ।

उच्छिय–उच्छ्रित–त्रि०उद् श्रि कर्त्तरि क्त । उन्नते, संजाते, स-मुन्नके, प्रवृद्धे । मेदि० वाच० ऊर्ध्वीकृते, औ० ।

उच्छु–इक्षु–पुं० इष्यते ऽसौ माधुर्यात् इष् कसु । प्रवासीक्षौ ८ । १ । ९५ । इति आदेरित उत्वम् वा । प्रा० । मधुररसयुक्ते असिपत्रे, वाच० (इक्षुशब्दस्य व्याख्या इक्खु प्रकरणे उक्ता)

उच्छुअ–उत्सुक-त्रि० उत्सुकवति, प्रेरणे, " मितद्रादित्वात्-रुकन् सामर्थ्योत्सुकोत्सवे वा ८ । २ । २२ । इति संयुक्तस्य त्सत्वागस्य वा छः । उच्छुओ ऊसुओ प्रा० । इष्टावासये काल-क्षेपासहिष्णौ, इष्टार्थोद्युक्ते च । वाच० ।

उच्छुजइत्ता–अवक्षिप्य–अव्य० अपसदं किञ्चित् क्षिप्त्वेत्यर्थे, उच्छुजइत्ता सावत्थीए णयरीए " भ० १५ श० १ उ० ।

उच्छूढ-उच्छूढ–त्रि० मुषिते, " उच्छूढेवि तदुभये सपक्खपर-पक्खतदुभयं होइ" बृ० १ उ० । त्यक्ते, संस्था० । स्वस्थाना-दवक्षिप्ते, निष्काशिते, "आयाणफलियउच्छूढदीहबाहू " । तं० । औ० ।

उच्छूढसरीर–उच्छूढशरीर-पुं० उच्छूढमुज्झितमुज्झितमिव उ-ज्झितं संस्कारपरित्यागाच्छरीरं येन स उच्छूढशरीरः । चं०प्र० १पाहु० । सू० प्र० । शरीरसंस्कारं प्रति निस्पृहत्वात्यक्तशरीर-कल्पे तादृशे मुनौ, ज्ञा० १ अ० । औ० । भ० । त्रि० "घोरतव-स्सी घोरबंभचारी उच्छूढसरीरे संखित्तविउलतेयलेस्से" वि० १ अ० ।

उच्छूढसरीरगि (घ] र-उच्छूढशरीरगृह–त्रि० उच्छूढं त्यक्तं शरीरगृहं यैस्ते उच्छूढशरीरगृहाः । शरीरगृहयोर्निःस्पृह-त्वात्यक्तपरिकर्मसु, संस्था० ।

उच्छूर–तुद-धा-भेदे तुदा० कुटा० पर० सेट् । तुदेरुच्छोड तुट्ट खुट्ट खुडोक्खुडोल्लुक्कणिल्लुक्कलुक्कोच्छूराः ८ । ४ । ११६ । इत्यनेन सूत्रेण तुदेरुच्छूरादेशः । उच्छूरइ तुदति । प्रा० ।

उच्छेइ-[ण्] उच्छेदिन्-त्रि० नाशके, ज्ञा० २१ द्वा० ।

उच्छेद [य] उच्छेद–पुं० उद्-छिद्-भावे-घञ् । अत्प्राबल्येन छेदो विनाशः । एकान्तोच्छेदे, निरन्वये नाशे, दश० १ अ० । आ० म० द्वि० । "उच्छेओ सुत्तत्था णं ववच्छेउत्ति वुत्त भवति" नि० चू० १ उ० ।

उच्छोव–उत्क्षेप–पुं० यत्र पतितुमारब्धं तत्राऽन्यस्येष्टकादेः सं-स्थापने, व्य० द्वि० ४ उ० ।

उच्छोभ–उत्क्षोभ–न० अत्प्राबल्येन गता शोभा सौजन्यं सर्व-जनवल्लभता यस्मात्तदुच्छोभम् ॥ पैशुन्ये कर्णजपत्वे, "इहरा सयरयणाओ उच्छोभाईहिं भंतणो बहुया" दर्श० ॥

उच्छोलंत–उच्छोलत्–त्रि० सम्मूलयति, रा० सकृत्पादादेः प्र-क्षालनं कुर्वति च । "उच्छोलंतं वा पधावंतं वा साइज्जइ" नि० चू० १७ उ० ।

उच्छोलण-उच्छोलन–न० सकृत्सुकेन क्षालने' आचा० "पक्क-सिं उच्छोलणा " नि० चू०२ उ० । मुखनयनककाहस्तपादानां प्रक्षालने, व्य० द्वि० ७ उ० । अयतनया शीतोदकादीनां हस्त-पादादिप्रक्षालने, "उच्छोलणं च कक्कं च तं विज्जं परियाणिया" सूत्र १ श्रु० ९ अ० । (उच्छोलनाऽप्यत्र)

उच्छोलणापहोय-उच्छोलनाप्रधौत-त्रि० उच्छोलनेन प्रभूतजल-क्षालनक्रियया धौता धौतगात्रा ये ते तथा । प्रचुरजलेन धौत-शरीरेषु, औ० ।

उच्छोलणापहोइ-उच्छोलनाप्रधाविन्–त्रि० उच्छोलनयोदका-यतनया प्रकर्षेण धावति पादादिशुद्धिं करोति यः स तथा । अयतनया प्रभूतजलेन पादादिप्रक्षालके, दश० ४ अ० ।

उच्छोलावंत–उच्छोलयत्–त्रि० अन्येन सकृज्जलेन क्षालनं कार-यितरि " उच्छोलावंतं वा पधोवावंतं वा साइज्जइ " नि० चू० १६ उ० ।

उज्जम–उद्यम–पुं० उद्-यम-घञ् । न वृद्धिः । प्रयासे, प्रयत्न-भेदे, उद्योगे, उत्तोलने च । वाच० अनालस्ये, ग० १ अधि० ज्ञानतपो ऽनुष्ठानादिषूत्साहे, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । औ० ।

उज्जमंत–उद्यच्छत्–त्रि० उद्यमं कुर्वति, प्रति० । अत्यर्थमपि प्रयतमाने, अप्पच्छंतकायसुट्ठवि उज्जमंता तद्दिवसुज्जुत्तकम्म कयदुक्खसंठवियसित्थपिंडसंचयपरा" प्रश्न० ३ द्वा० । त्रिवि-धायामपि सामाचार्य्यां यथाशक्ति उद्यमं कुर्वति, व्य. प्र०१उ० ।

उज्जमन–उद्यमन–न० उद्यमकरणे, । व्य० प्र० १ उ० । उत्क्षे-पणे, उत्तोलने, वाच० ॥

उज्जममाण–उद्यच्छत्–त्रि० उद्यमं कुर्वति, "ण करोति दुक्खमो-क्खं उज्जममाणावि संजमतवेसु " सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उज्जममाणस्स गुणा, जह हुंति ससत्तिओ तवसु ।
एमेव जहासत्ती, संजममाणे कहं न गुणा ? "

उद्यच्छत उद्यमं कुर्वतः तपःश्रुतयोरिति योगः गुणास्तपो ज्ञानाव्याप्तिनिर्जरादयो यथा भवन्ति स्वशक्तितः स्वशक्त्युद्यमवत एवमेव यथाशक्ति शक्त्यनुरूपमित्यर्थः (संजममाणे कहं ण गुणत्ति) संयममाने संयमं पृथिव्यादिसंरक्षणादिलक्षणं कुर्वति सति साधौ कथं न गुणाः गुणा एवेत्यर्थः। अथ वा कथं गुणा येनाविकलसंयमानुष्ठानरहितो विराधकः प्रतिपाद्यत इत्यत्रोच्यते ॥ आव० ३ अ० ।

उज्जय–उद्यत–त्रि० उद् यम् कर्तरि क्त.। उद्यमयुक्ते, कृतोद्यमे, भावे क्तः उद्यमेन धर्मेनियमनार्थत्वे कर्मणि क्तः। उत्तोलिते, वाच० । उद्यतविहारिणि, व्य० प्र० १ उ ॥

उज्जयंत–उज्जयन्त–पुं० रैवतकगिरौ, हेम० । वाच० । यत्राऽरिष्टनेमिः सिद्धः । आ. म. प्र. । तद्वक्तव्यता यथा ॥

नामभिः श्रीरैवतको, जयन्ताद्यैः प्रयामि तम् ।
श्रीनेमिपावितं स्तौमि, गिरनारगिरीश्वरम् ॥ १ ॥
स्थाने देशः सुराष्ट्राख्यं, बिभर्ति भुवनेष्वसौ ।
यद्भूमिकामिनीभाले, गिरिरेष विशेषकः ॥ २ ॥
शृङ्गारयन्ति खङ्गाराः दुर्गं श्रीऋषभादयः ।
श्रीपार्श्वस्तेजलपुरं,-भूषितैतदुपत्यकम् ॥ ३ ॥
योजनद्वयतुङ्गेऽस्य, शृङ्गे जिनगृहावलिः ।
पुण्यराशिरिवाभाति, शरद्भ्रांशुनिर्म्मला ॥ ४ ॥
सौवर्णदण्डकलशा–मलशारकशोभितम् ।
चारु चैत्यं चकास्त्यस्यो–परि श्रीनेमिनः प्रभोः ॥ ५ ॥
श्रीशिवासूनुदेवस्य, पादुकात्र निरीक्षिता ।
स्पृष्टार्चिताऽपशिष्टानां, पापव्यूहं व्यपोहति ॥ ६ ॥
प्राज्यं राज्यं परित्यज्य, जरत्तृणमिव प्रभुः ।
बन्धून् विधूय च स्निग्धान्, प्रपेदेऽत्र महाव्रतम् ॥ ७ ॥
अत्रैव केवलं देवः, स एव प्रतिलब्धवान् ।
जगज्जनहितैषी स, पर्यणैषीच्च निर्वृतिम् ॥ ८ ॥
अत्र एवात्र कल्याण, त्रयमन्दिरमादधे ।
श्रीवस्तुपालो मन्त्रीश–श्चमत्कारितभव्यकृत् ॥ ९ ॥
जिनेन्द्रबिम्बपूर्णेन्दु–मण्डपस्था जना इह ।
श्रीनेमिर्मज्जन कर्त्तु–मिन्द्रा इव चकासति ॥ १० ॥
गजेन्द्रपदनामास्य, कुण्डं मण्डयते शिरः ।
सुधाविधैर्जलैः पूर्णं, स्नानार्हं तत्स्वनक्रमैः ॥ ११ ॥
शत्रुंजयावतारे च, वस्तुपालेन कारिते ।
ऋषभः पुण्डरीकोष्टा–पदानन्दीश्वरास्तथा ॥ १२ ॥
सिंहयाना हेमवर्णाः, सिद्धबुद्धसुतान्विताः ।
कष्माण्डलुम्बभृत्यानि, रत्नं वा संघविघ्नहृत ॥ १३ ॥
श्रीनेमिपत्प्रसूत–मवलोकननामकम् ।
विलोकयन्तः शिखरं, यान्ति भव्याः कृतार्थताम् ॥ १४ ॥
शाम्बोजाम्बवतीजात–स्तुङ्गे शृङ्गेऽस्य कृष्णजः ।
प्रद्युम्नश्च महाद्युम्न-स्तेपाते दुस्तपं तपः ॥ १५ ॥
नानाविधौषधिगणा, जाज्वल्यन्त्यत्र रात्रिषु ।
किंच घण्टाक्षरच्छत्र-शिलाशालन्त उच्चकैः ॥ १६ ॥
सहस्राम्रवणं लक्षा–रामोन्येऽपि वनव्रजाः ।
मयूरकोकिलाभृङ्गी-संगीतसुभगा इह ॥ १७ ॥
न स वृक्षो न सा वल्ली, न तत्पुष्पं न तत्फलम् ।
नश्यतेऽत्रानिपुणैर्ये-दित्थैतिह्यविदो विदुः । १८ ।
राजीमती गृहागर्जे, कैर्न नामात्र वन्द्यते
रथनेमिर्ययोन्मार्गा-त्सन्मार्गमवतारितः ।१९ ।
पूजास्तवनदानादि, तपश्चात्र कृतानि वै
संपद्यन्ते मोक्षसौख्य-हेतवो भव्यजन्मनाम् । २० ।
दिग्भ्रमावपि योत्राद्रौ, काप्यमार्गेऽपि संचरेत्
सोऽपि पश्यति चैत्यस्था, जिनार्चास्तैपितार्चिता : । २१ ।
काश्मीरगतरत्नेन, कूष्माण्डसदृशेन च ।
लेप्यबिम्बास्पदे न्यस्ता, श्रीनेमेर्मूर्तिराश्मनी । २२ ।
नदीनिर्झरकुण्डानां, खनीनां वीरुधामपि ।
विदांकरोच्चात्र संख्यां, संख्यावानपि कः खलु । २३ ।
आसेवनकरूपाय, महातीर्थाय तायिने ।
चैत्यालंकृतशीर्षाय, नमः श्रीरैवताद्रये । २४ ।
स्तुतो मयेति सूरीन्द्र, वर्णितो श्रीजिनप्रभ ! ।
गिरिनारस्तु रैहेम-सिद्धभूमिर्मुदेस्तु वः ॥ २५ ॥

——:*:——

अत्थि सुरट्ठविसाणं, उज्जितो नाम पव्वओ रम्मो ।
तस्सिहरे आरुहिओ, भत्तीए नमह नेमिजिणं ॥ १ ॥
अंबाइअंबदेविं, एहवणवणगंधधूवदीवेहिं ।
पूइयकयप्पणामा, ता ओअह जेण अत्थात्थि ॥ २ ॥
गिरिसिहरकुहरकंदर–निज्झरणकवाडविअडकूवेहिं ।
जोएह सत्तवायं,अह भणियं पुव्वसूरीहिं । ३ ।
कंदप्पकप्पराग, कुणइविद्दवणनमिनाहस्स ।
निव्वाणसिलानामेण, अत्थि भुवणम्मि विक्खिया । ४ ।
तस्स य उत्तरपासे,दसधणुहेहि अहो मुहविवरं ।
दारम्मि तस्स लिंगं,अवयाणे धणुह चत्तारि ।५ ।
तस्स पसुमुत्तगंधो, अत्थि रसो पलसएण सय संब ।
विंधेवि कुणइ तारं, ससिकुंदसमुज्जलं सहसा । ६ ।
पुव्वादिसाए धणुहं–तरेसु तस्सेव अत्थि जागवई ।
पाहणमाया दाहिण, दिसागए चारस धणूहिं । ७ ।
दिस्सइ अ तस्स पयरो,हिंगुलवण्णो अद्दिमरसो ।
विंधेइ सव्वलोहे, फरिसेणं अग्गिसंगेणं । ८ ।
उज्झिते अत्थि नई, विहलानामेण पव्वई पढिमं ।
दावेइ अंगुलीए, फरिसरसो पव्वई हारं । ९ ।
सक्कावयार उज्झित, गिरिवरे तस्स उत्तरे पासे ।
सोवाणं पंतिआए, पारेवय वण्णिआ पुढवी । १० ।
पंचगवत्ते बद्धा, पिंडी धमिया करेइ वरतार ।
फेडइ दारिद्दवाहिं, उत्तराइदुक्खकंतारं । ११ ।
सिहरे विसाउसिंगे, विसंत पाय कुट्टिमा जत्थ ।
तस्सासन्ने सिहरे, कण्हरूहरूपाम होतारं । १२ ।
उज्जतंरे घयवाण, तत्थ य सुद्दारयानरो अत्थि ।
सोवामकपाळिओ, उग्घाडइ विवरवरदारं । १३ ।
हत्थसपण पविट्ठो, दिक्खइ सोवण्णवण्णिआ सक्खो ।
नीलराणंसवता, सहस्सत्ते हीर सो नूणं । १४ ।
तग्गहिऊण निउत्तो, हणुवंतं भिवइ धामपाएण ।
सो ढक्कइ वारदारं, जेण न जाणइ अण्णा को वि ॥ १५ ॥
उज्जितसिहर उवरिं, कोहिं रुहरं खु नाम विक्खायं ।
अवरेण तस्स य सिला, तदुभयपासे मुओ संतु ॥ १६ ॥
तं अयसि तिल्लमीसं, थंभइ पडिवायबंगिअं बंगं ।
होगच्च वाहिहरणं, परितुट्ठा अंबिआ जस्स ॥ १७ ॥
येगवई नामनई, मणसिजवण्णाइ तत्थ पाहाणा ।
तो पिंडधम असंते, समसुद्धा होइ वरतारं ॥ १८ ॥
उज्जंते नाणसिला, तस्स अहोकण य वण्णिआ पुढवी ।
उक्करयमुत्तपिंडी, खइरंगारे भवे हेमं ॥ १९ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नाणसिला कयपुढवी, पिच्छिरूा य पव्वगव्वेण ।
वहणाए वसइ रसो, सहस्सवेही हवइ हेमं ॥ २० ॥
गिरिवरमासन्नहिअं, अग्घायं तित्तविसारणं नाम ।
सिद्धवरूगादपीके, वेला का तत्थ धम्माणं ॥ २१ ॥
सत्ता नामेण नई, सुधम्मातित्थम्मि सद्धु अपहाणा ।
पभिवाएण य सुच्चं, करेति हेमं न संदेहो ॥ २२ ॥
विमुक्कलयम्मि नयरे, मउअहरं अत्थि सेलगं दिव्वं ।
तस्स य मज्झिम्मि ठिओ, गणवइरसकूरू कवरिंव ॥ २३ ॥
कववासी कयपूओ, गणवइओ वग्गिऊण पवरक्खा ।
मा खेवी अत्थि अत्थं, भइयं गंतव्व संदेहो ॥ २४ ॥
सहसा सवंति तित्थं-करं च रुक्खेण मणहरं सम्मं ।
तत्थ य तु रयावारा, पाहाणा तेसि दो भाया ॥ २५ ॥
इक्को पारयजाओ, पिट्ठो सुत्तेण अंधमूसाए ।
धमिओ करेइ तारं, उत्तारइ दुक्खकंतारं ॥ २६ ॥
अवओअणसिहरसिहा, अवरेणं तत्थ वररसो सव्वईसु ।
अपरो केसरिवण्णो, करेइ सुच्चं वरं हेमं ॥ २७ ॥
गिरिपज्जुण्णयारे, अंबिअ आरत्तमए पंच ।
नामेण तत्थ वियआ, पुढवी हिमघाय होइ वरहेमं ॥ २८ ॥
नाणसिला सब्भंते, तस्स य मूलम्मि मट्टिआ पीआ ।
साहामि अग्गोवेणं, ठायामुक्कं कुणइ हेमं ॥ २९ ॥
उज्जंतपढमसिहरे, आरुहिओ दाहिणेण अवयरिओ ।
तिसि धणूसयमित्ते, पुक्करजंविलं नाम ॥ ३० ॥
उग्घाडिऊं विलं दि-क्खिऊण निज्ञणेण तत्थ गंतव्वं ।
दंरुंतराणि वारस, दिव्वुरसो जंबुफलसरिसो ॥ ३१ ॥
जत्र घोसिअम्मि जंगे, सहस्सजाएण विधए तारं ।
हेमं करइ अवस्सं, इहतं सुंदरं सहसा ॥ ३२ ॥
को इंरिभवण पुव्वेण, उत्तरे जाव ताव सा भूमी ।
दीसइ अ तत्थ पडिमा, सेलमया वासुदेवस्स ॥ ३३ ॥
तस्सुत्तरेण दीसइ, हत्थेसु अदसयपव्वई पडिमा ।
अवराह मुहर अंगुट्ठि, आइ सा दावए विवरं ॥ ३४ ॥
नवधणुहाइपविठो, दिक्खइ तुराइं दाहिणुत्तरओ ।
हरियालसक्खवण्णो, सहस्सवेहीरसो णूणं ॥ ३५ ॥
उज्जिंते नाणसिओ, विक्खाया तत्थ अत्थि पाहाणं ।
ताणं उत्तरपासे, दाहिण य अहोमुहो विवरो ॥ ३६ ॥
तस्स य दाहिणजाए, देसधणुभूमी हरिगुसुयवण्णो ।
अत्थि रसो सयवेही, विंधइ सुच्चं न संदेहो ॥ ३७ ॥
कसहरिसिहाइकूले, पाहाणा ठाणसंगमो अत्थि ।
गयवरसिंमा किद्या, मज्झिमफरिसेण ते वेही ॥ ३८ ॥
जिनजवणदाहिणेणं, नउई धणुहेहिं भूमिजलु अयरी ।
तिग्मिणुअरत्तविद्धा, पडिवाए बंवए हेमं ॥ ३९ ॥
वेगवई नामनई, मणसिलवण्णा य तत्थ पाहाणा ।
सव्वस्स पंचवेहं, सवंति धमिआतयं सिग्घं ॥ ४० ॥
इय उज्जयंतकप्पं, अविअप्पं जो करेइ जिणभत्तो ।
कोहंडिकयपणामो, सो पावइ इच्छियं सुक्खि ॥४१॥ ती० ।

उज्जयग–उद्यतक–न० प्रामित्याऽपरनामके उद्गमदोषके. ॥ आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० ।

उज्जयमइ–उद्यतमति–त्रि० ६ व० । प्रवृत्तचित्ते, " संजममिउ उज्जयमइस्स " दश० ५ अ० ।

उज्जयमरण–उद्यतमरण–न० इङ्गिनीमरणादिके पण्डितमरणे, आचा०१श्रु०८ अ०७ उ० । (वर्णगिगिनीमरणशब्दे उक्तम्)

उज्जल–उज्ज्वल–त्रि० उद् ज्वल अच् । दीप्ते, विशदे, वाच० । निर्मले, औ० । रा० । जी० । प्रशस्ते, तं० । भास्वरे, रा० । स० । शुक्ले, रा० । विपक्षलेशेनाप्यकलङ्किते, प्रश्न० १ द्वा० । भ० । स्था० । ज्ञा० । " उज्जलचलंतकिससुकुमालपवालसोहियवरंकुरग्गसिहरए" औ० । "तेणं तत्थ उज्जलं विउलं विउलंपगाढं वेयणं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति" तामुज्ज्वलां लोमालुनाविनोत्कटामित्यादि । सूत्र २ श्रु० २ अ० । उज्ज्वलां दुःखरूपतया आज्वल्यमानां सुखलेशेनाप्यकलङ्किताभिति भावः । जी० ३ प्रति० । शृङ्गारे रसे, पुं० स्वर्णे, न० वाच० ।

उज्जलंत–उज्ज्वलत्–त्रि० भासमाने, तं० ।

उज्जलणेवत्थ–उज्ज्वलनेपथ्य–न० निर्मलवेषे, भ०७श०८उ० ।

उज्जलणेवत्थहव्वपरिवच्छिय–उज्ज्वलनेपथ्यशीघ्र (हव्य) परिक्षिप्त–त्रि० उज्ज्वलनेपथ्येन निर्मलवेषेण(हव्वंति) शीघ्रं परिक्षितः परिगृहीतः परिवृतो यः स तथा । कृतसत्वरसुवेषे, भ० ७ श० ७ उ० ।

उज्जलिय–उज्ज्वलित–त्रि० उद्गता ज्वाला यस्य स तथा ऊर्ध्वगतज्वालायुकेऽग्नौ, जी० ३ प्रति० । उद् ज्वल क. उद्दीप्ते, औ० । उद्दीपने, ज्ञा० १ अ० ।

उज्जल्ल–उज्जल्ल–त्रि० उद्गतो जल्लः शुष्कप्रस्वेदो यस्य सः । उत्कटशुष्कप्रस्वेदवति, " मुंडा कंडूविणट्ठंगा उज्जल्ला असमाहिता " सूत्र १ श्रु० ३ अ० ।

उज्जवण–उद्यापन–न० उद्. या. णिच्-पुक्. ल्युट् । व्रतसमाप्तिकृत्ये, तस्य कर्त्तव्यता । तथा नमस्कारावश्यकसूत्रोपदेशमालादिज्ञानदर्शनविविधतपःसंबन्धिपूद्यापने जघन्यतोऽप्येकैकं तत्प्रतिवर्षं विधिवत्कार्यं नमस्कारस्योपधानोद्वहनादिविधिपूर्वकमालारोपणेनावश्यकादिसूत्राणामेवं गाथासंख्याचतुश्चत्वारिंशदधिकपञ्चशत्यादिमोदकनालिकेरादिढौकना - दिना उपदेशमालादीनां सौवर्णादिगर्भदर्शनमोदकसङ्ख्यनादिना दर्शनादिना द्वात्रिंशदादिविविधतपसामपि तत्तदुपवासादिसंख्यनाणकचर्णलिकानालिकेरमोदकादिनानाविधवस्तुढौकनादिनोद्यापनानि कार्याणि ॥८॥ ध० २ अधि० ।

उज्जाण–उद्यान–न० वस्त्राभरणादिसमलंकृतविग्रहाः सस्त्रिहितासनाद्याहारा मदनोत्सवादिषु क्रीडार्थं लोका यान्ति यत्र तच्चम्पकादितरुखण्डमण्डितमुद्यानम् । अनु० । ऊर्ध्वं यानमस्मिन्नित्युद्यानम् । आव० ४ अ० । ऊर्ध्वं विलम्बितानि प्रयोजनाभावाद्यानानि यत्र तदुद्यानम् । नगरात्प्रत्यासन्नवर्तीनि यानवाहनक्रीडागृहाद्याश्रये, रा० । पुष्पफलोपेतवृक्षशोभिते बहुजनभोग्ये उद्यानिकास्थाने, कल्प० । न० । पुष्पादिमद्वृक्षसंकुले उत्सवादौ, बहुजनभोग्ये कानने, प्रश्न० ५ द्वा० रा० । जी० । द० । दशा० । न० । अनु० । ज्ञा० । स्था० । जं० । " उज्जाणाइ वा वणाइ वा वणसंडाइ वा वावीइ वा पुक्खरणीइ वा" उद्यानानि पत्रपुष्पफलच्छायोपशोभितानि बहुजनस्य विविधवेषस्योन्नतमानसस्य भोजनार्थं यानं येष्विति । स्था. २ ठा० । स० । सामान्यवृक्षवृन्दयुक्ते नगरासन्ने, ज्ञा० १ अ० जनक्रीडास्थाने, दशा० ५ अ० । "उज्जाणं जत्थ लोगो उज्जाणियाए वच्चति जं वा ईसिं णगरस्स उवकंठं ठियं उज्जाणं नि० चू०८उ० । प्रतिलोमगामिनि,त्रि. । नि० चू०१ उ० । ऊर्ध्वं यानमस्मिन्नित्युद्यानम् । ऊर्ध्वं यानमुद्यानम् । मार्गस्योन्नते भागे, उदके, तत्थ मंदा विसीयंति, उज्जाणंसिव दुब्बला " सूत्र० १ श्रु० ३ अ० । आव० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उज्जाणजत्ता–उद्यानयात्रा–स्त्री० उद्यानगमने, ज्ञा० १ अ० ।

उज्जाणसंठिय–उद्यानसंस्थित–त्रि० उद्यानाकृतौ, ता उज्जाणसंसंठिताणं ताव क्खेत्ते " चन्द्र० २ पाहु० ।

उज्जाणसिर–उद्यानशिरस्–न० उट्टंकमस्तके, " तत्थ मंदा विसीयंति उज्जाणंसि जरग्गवा" सूत्र० १ श्रु० २ अ० ।

उज्जाणियलेण–औद्यानिकलयन–न० उद्यानगतजनानामुपकारकगृहे, नगरप्रवेशगृहे च । भ० १४ श० १ उ० ।

उज्जाणिया–उद्यानिका–स्त्री० वस्त्राभरणादिसमलंकृतविग्रहाणां सन्निहितासनाद्याहारमदनोत्सवादिषु क्रीडार्थमुद्याने गमने, अनु० "उज्जाणे उज्जाणियाए गया" आ० म० द्वि० ।

उज्जावल्ल–ऊर्ज्जावल्ल–न० प्रचुततरभाषणे ऽपि प्रवर्धमानबले, १ व्य० ।

उज्जालण–उज्ज्वालन–न० उद् ज्वल् ल्युट् । 'अर्द्धविध्मातस्याग्नेः सकृदिन्धनप्रक्षेपेण ज्वालने, दश० ५ अ० ।

उज्जालिय–उज्ज्वाल्य– अव्य० अर्धे विध्मातं सकृदिन्धनप्रक्षेपेण ज्वालयित्वेत्यर्थे, दश० ५ अ० ।

उज्जालेत्ता–उज्ज्वाल्य–अव्य० उज्ज्वालनं कृत्वेत्यर्थे, " उज्जालेत्ता पज्जालेत्ता कायं आयावेज्जा" आचा० १ श्रु० ७ अ० ३ उ० ।

उज्जित–उज्जयन्त– पुं० गिरिनारनामके पर्वतविशेषे, पंचा० २० विव० । "उज्जिंतए चेव पवंदिया उ सुरट्ठं" आव० ४ अ० यत्र " उज्जितसेलसिहरे पंचहिं छत्तीसाहिं अणगारसएहिं सद्धिं अरिष्टनेमिः सिद्धः " कल्प० । आ० म० प्र० । (तद्वर्णनं उज्जयंत शब्दे उक्तम्)

उज्जिंभ–उज्जृम्भ–पुं० उद्-जृभि-घञ् । विकाशे, स्फुटने, उद्गता जृम्भा यस्मात् प्रा० ब० मुखविकाशनभेदे, कर्तरि अच् । प्रकाशान्विते उज्जृम्भावति, वाच० ।

उज्जु–ऋजु–त्रि० अर्जयति गुणान् अर्ज्ज कु नि० ऋजादेशः । "उदृत्वादौ" ८ । १ । ६ । अनेनादेरृत उत्वम् प्रा० । प्रगुणे, सूत्र० २ श्रु० । अवक्रे, औ० । सूत्र० । स्था० । "तं मग्गं उज्जुपावित्ता ओहं तरति दुत्तरं " ऋजु प्रगुणं यथाऽवस्थितपदार्थस्वरूपनिरूपणद्वारेणावक्रम् सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । रागद्वेषवक्रत्ववर्जिते, स्था० ४ ठा० । अविपरीतस्वभावे, स्था० २ ठा० । कौटिल्यरहिते, आचा० १ श्रु० १ अ० । प्रज्ञा० । सरले, जं० २ वक्ष० । औ० । अच्युतपञ्चवृत्तौ, पंचा० । संयमे, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । मायारहिते संयमवति, दश० ५ अ० । अमायाविनि, नि० चू० १ उ० । " धम्मविउत्ति उज्जु आवट्टे " ऋजोर्ज्ञानदर्शनचारित्राख्यस्य मोक्षमार्गस्यानुष्ठानादकुटिलः यथावस्थितपदार्थस्वरूपपरिच्छेदाद्वा ऋजुः सर्वोपाधिशुद्धोऽवक्र इति आचा० १ श्रु० २ अ० । " उवेहमाणो सद्दरूवेसु उज्जुमाराभिसंकी " शब्दरूपादिषु यौ रागद्वेषौ तावुपेक्षमाणः अकुर्वन् ऋजुर्भवति यतिर्भवति यतिरेव परमार्थत ऋजुः परस्त्वन्यथाभूतरूपादिपदार्थान्यथाग्रहणाद्वक्रः । आचा० १ श्रु० २ अ० "पियधम्मो दढधम्मो संविग्गो जिइंदिओ उज्जू" आ० म० द्वि० । मार्गभेदे, ऋजुरादावन्तेऽपि ऋजुः प्रतिभाति तत्वतोऽपि ऋजुरेवेति तत्कल्पे पुरुषभेदे यः पूर्वापरकालापेक्षया अन्तस्तत्वबहिस्तत्वापेक्षया वेति । स्था० ३ ठा० वसुदेवपुत्रभेदे, पुं० वाच० ।

उज्जोत–पुं० उद्योतयतीत्युद्योतः पचादित्वादच् । आर्षत्वादुज्जातिप्रकाशे, " भज्जाए सीउण्हं तसुउज्जुच्छायातवेचेव । उत्त० १ अ० ।

उज्जुआयया–ऋज्वायता–स्त्री० ऋज्वी सरला सा चासावायता च दीर्घा ऋज्वायता । श्रेणि (प्रदेशपंक्ति) भेदे, स्था० ७ ठा० । यया जीवादय ऊर्ध्वलोकादेरधोलोकादौ ऋजुतया यान्तीति । भ० २५ श० ३ उ० ।

उज्जुकड–ऋजुकृत–त्रि० ऋजु मायाविरहितं कृतमनुष्ठितमस्य– निर्मायितपोधर्मयुक्ते, " अकिंचणा उज्जुकडा निरामिसा परिग्गहारंभनियत्तदोसा " उत्त० १४ अ० ।

ऋजुकृत्–त्रि० ऋजुरकुटिलसंयमदुष्प्रणिहितमनोवाक्कायनिरोधः सर्वसत्वसंरक्षणप्रवृत्तत्वादेकरूपः सर्वत्राकुटिलगतिरिति । यावत् । यदि वा मोक्षस्थानगमनऋजुश्रेणिप्रतिपत्तिः सर्वसञ्चारसंयमात्कारणे कार्योपचारं कृत्वा संयम एव सप्तदशप्रकार ऋजुस्तत्करोतीति ऋजुकृत् ऋजुकारिणि, अशेषसंयमानुष्ठायिनि संपूर्णानगारे, "जहा अणगारे उज्जुकडे णियायपडिवन्ने " आचा० १ श्रु० १ अ० उ० ।

उज्जुग (य) ऋजुक–न० दृष्टिवादस्य अष्टाशीतिसूत्रेषु प्रथमसूत्रे, सम० ।

ऋजुग–त्रि० ऋजु यथा तथा गच्छति गम् ड० । सरलव्यवहारिणि, बाणे, पुं० वाच० । मायारहिते, पिं० । सरले, उपा० १ अ० । सूत्र० । ज्ञा० । आचा० । अवक्रे, तं० । "उज्जुयभूयस्स धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ " आचा० १ श्रु० १ अ० "से हु समणे सुयक्खाए उज्जुए संजए" प्रश्न० ५ द्वा० । संस्फुटे, तिविहे ते गच्छम्मि उज्जुयवाउलणसाहणा चेव० ' ऋजुसंस्फुटमेव व्यावृतसाधना व्यावृतक्रिया कथनं कर्तव्यम् १ व्य० प्र० १ उ० । जी० " उज्जुयसमसंहियजच्चतणुकसिणनिद्धआएज्जलडहरोमराई " ऋजुका न वक्रा समाना न क्वचिदुन्नता संहिता संतता नत्वपान्तराले व्यवच्छिन्ना सुजाता सुजन्मा न तु कालादिवैगुण्यतो दुर्जन्मा अत एव जात्या प्रधाना तन्वी न तु स्थूरा कृष्णा न तु मर्कटवर्णा कृष्णमपि किंचित् निर्दीप्तिकं भवति तत आह स्निग्धा आदेया दर्शनपथमुपगता सती उपादेया सुभगा इति भावः । एतदेव विशेषणद्वारेण समर्थयते । लटहा सलावण्या अत आदेया तथा सुकुमारा अकठिना । तत्राकठिनमपि किञ्चित् कर्कशस्पर्शं भवति तत आह मृद्वी अत एव रमणीया रम्या रोमराजिस्तनूरुहपङ्क्तिर्येषां ते ऋजुकसमसंहितजात्यतनुकृष्णा सुगन्धादेयलटहसुकुमारमृदुरमणीयरोमराजयः ॥ जी० ३ प्रति ।

उज्जुग– (य) भूय–ऋजुकभूत–त्रि० सरलीभूते, सो हि. उज्जुयभूयस्स धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ,, ॥ उत्त. विलरूपे लयनसूक्ष्मभेदे, ॥ कल्प ॥

उज्जुग [य]या–ऋजुकता–स्त्री० ऋजुकभावे, कर्मणि–वा–तल. । अमायिनो भावे कर्मणि च । स्था० ३ ठा० ।

उज्जुगा [या] ऋज्वी–स्त्री. ऋजु स्त्रियां वा ङीप् । आर्जववत्यां स्त्रियाम्, वाच० ॥ माया भगिणी धूया मेहावी उज्जुयाय आणती य, ऋजुकामकुटिलामाहृताम । व्य. द्वि० ७ उ० ।

अट्ठसु गोचरभूमिषु प्रथमगोचरभूमौ, उज्जुगआइओ चेव बहिरंतो उज्जुगं भाविता ठाउ स णियट्ट, ॥ पं० व० । ऋज्वी स्ववसतेर्ऋजुमार्गेण समश्रेणिव्यवस्थितगृहपङ्क्तौ भिक्षाग्रहणेन पङ्क्तिसमापने ततः द्वितीयपङ्क्तौ पर्यन्तेऽपि भिक्षाग्रहणेन ऋ-

जुगत्यैव निवर्तन्ते च भवन्ति । ध० २ अधि० ॥ यस्यामेकां दिशमभिगृह्य गोचराश्रयान्निर्गतः प्राञ्जलिनैव यथासमश्रेणिव्यवस्थितः गृहपङ्क्तौ भिक्षां परिभ्रमन् तावद्याति यावत्पङ्क्तौ च रमगृहं ततो भिक्षामगृह्णन्नेव अपर्याप्तेऽपि प्राञ्जलिर्यथागत्या प्रतिनिवर्तते सा ऋज्वी । ग० १ अधि० ।

उज्जुजड्ड-ऋजुजड-पुं० ऋजवोऽशठास्ते च ते जडाश्च विशिष्टोहावैकल्येनोक्तमात्रग्राहिण ऋजुजडाः। पंचा० १६ अ० । शिक्षाग्रहणतत्परतया ऋजुबुद्ध्याप्रतिपाद्यतया मूर्खेषु प्रथमतीर्थकृत्साधुषु " पुरिमा उज्जुजडाओ वक्क जड्डा य पच्छिमा " उत्त० २६ अ० । (एषां स्वरूपं नटदृष्टान्तेन कप्प शब्दे दर्शयिष्यते)

उज्जुत्त-उद्युक्त-त्रि० उद् युज् क्त । उद्यमवति, संस्था० । उद्यते, आव० ३ अ० । सावधाने, " तम्हा चंदगविज्झं सकारणं उज्जुएण पुरिसेण " आतु० । उद्यमपरे, विशे० । अप्रमादिनि,नं० । ग० । सूत्रार्थतदुभयग्रहणे अपरितान्ते, पं० चू०। उपयुक्ते, व्य० प्र० १ उ० ।

उज्जुदंसि (ण्) ऋजुदर्शिन्-पुं० ऋजुर्मोक्षं प्रति ऋजुत्वात् संयमस्तं पश्यन्त्युपादेयतयेति ऋजुदर्शिनः । संयमप्रतिबद्धे " णिग्गंथा उज्जुदंसिणो " दश० ३ अ० ।

उज्जुधम्मकरणहसण-ऋजुधर्मकरणहसन-न०ऋजूनामव्युत्पन्नबुद्धीनां धर्मकरणे स्वबुद्ध्यनुसारेण कुशलानुष्ठानासेवने हसनमुपहासः ऋजुधर्मकरणहसनम् । अव्युत्पन्नमतीनां धर्मानुष्ठाने प्रवृत्तानाम् धूर्त्तविडम्बिनः खल्वेते इत्यादिरूपे उपहासे, । एतल्लोकविरुद्धत्वात्त्याज्यम् । बहवो ह्यव्युत्पन्ना एव लोकास्ते च तद्धर्माचारहसने सति विरुद्धा एव भवन्ति । पंचा० २विव०।

उज्जुपण्ण-ऋजुप्राज्ञ- पुं०-ऋजवश्च प्राज्ञाश्च ऋजुप्राज्ञाः शिक्षाग्रहणतत्परेषु, प्रकृष्टबुद्धिषु च । मध्यमतीर्थकृत्साधुषु, " मज्झिमा उज्जुपण्णाओ, तेण धम्मे दुहा कए " उत्त० २६ अ० (नटप्रेक्षादर्शने तेषां स्वरूपविवेकः कप्प शब्दे) अकुटिलमतौ, ति० । " उज्जुपण्णे मणुव्विग्गे,अवक्खित्तेण चेयसा, दश०५अ०।

उज्जुभाव-ऋजुभाव- पुं० सरलत्वे, " से उज्जुभावं पडिवज्जसंजए, णिव्वाणमग्गं विरए उवेइ " ॥ उत्त० २१ अ० ॥

उज्जुभावासेवण-ऋजुभावासेवन- न० ६ त० । कौटिल्यत्यागरूपस्य ऋजुभावस्यानुष्ठाने, तच्च ऋजुभावासेवनमिति । ऋजुभावस्य कौटिल्यत्यागरूपस्यासेवनमनुष्ठानं देशकेनैव कार्यमेवं हि तस्मिन् । अविप्रतारणकारिणि, संभाविते, । स हि शिष्यस्तदुपदेशान्न कुतोऽपि दूरवर्तिः स्यादिति । ध०१अधि०।

उज्जु (रिउ) मइ-ऋजुमति- स्त्री० " रिजुसामन्नं तम्मतगाहिणी रिज्जुमइ मणोनाणं । पायं विसेसविमुहं घडमित्तं चिंतियं मुणइ" पा० । आ० चू० । मननं मतिः संवेदन मित्यर्थः ऋज्वी सामान्यग्राहिणी मतिर्ऋजुमतिः । नं० । आ० म० प्र० । सामान्यग्राहिण्यां मतौ, नं० । सा च घटोऽनेन चिन्तित इत्यध्यवसायनिबन्धना मनोद्रव्यपरिच्छित्तिरिति । नं०, कर्म० । अर्द्धतृतीयाङ्गुलन्यूनमनुष्यक्षेत्रवर्तिसंज्ञिपञ्चेन्द्रियमनोद्रव्यप्रत्यक्षीकरणहेतुमनः पर्यायज्ञानभेदे, । ग० १ अधि० । सामान्यघटादिवस्तुमात्रचिन्तनप्रवृत्तं मनः परिणामग्राहि किञ्चिदविशुद्धतरमर्द्धतृतीयाङ्गुलहीनमनुष्यक्षेत्रविषयं ज्ञानमृजुमतिः अवधिभेदः । प्रव० ॥

ऋजुमति-त्रि० ऋज्वी मतिर्यस्यासावृजुमतिः ऋजुमतिलब्धिप्राप्ते नं० । उज्जुमती नाम मणोगतं भावं पडुच्च सामत्थतेमगाहिणी मती जस्स सो उज्जुमती भण्णति। आ० चू०१ अ०। ऋजुमतयस्तु सर्वतः सार्द्धद्व्यङ्गुलाधिके मनुष्यक्षेत्रे स्थितानां संज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां मनोगतं जानन्ति । कल्प० । प्रव० । (अस्य क्षेत्रविषयमानं मणपज्जव शब्दे) मार्गप्रवृत्तबुद्धौ च । "तवोगुणपहाणस्स उज्जुमइ खंति संजमारस्स" दश० ४अ०।

उज्जुमउयपीवरपुट्ठसंहयंगुलि-ऋजुमृदुकपीवरपुष्टसंहताङ्गुलि-त्रि. ऋजवोऽवक्रा मृदवोऽकठिनाः पीवराः अकृशाः पुष्टा मांसलाः संहताः सुश्लिष्टाः अङ्गुलयो यस्य स तथा। स्वलक्षणयुक्ताङ्गुलिके, जी० ३ प्रति० ।

उज्जुया-ऋजुता -स्त्री० निकृतिपरेऽपि मायापरित्यागे; द्वा० ।

उज्जुयार-ऋजुचार-त्रि० अकौटिल्येन प्रवर्तमाने यथोपदेशं यः प्रवर्तते न तु पुनर्वक्रतयाऽऽचार्यादिवचनं विलोमयति प्रतिकूलयति "जस्सखिप्प चेव सुउज्जुयारे " सूत्र० १ श्रु० ५ अ० ।

उज्जुवालिया-ऋजुपालिका-स्त्री० स्वनामख्याते नदीविशेषे, सा जृम्भिकग्रामनगरस्य बहिर्वहति यस्यास्तीरे भगवतो वीरस्य केवलज्ञानमुत्पन्नम् । कल्प० ॥

उज्जुववहार-ऋजुव्यवहार- पुं० ऋजु प्रगुणं व्यवहरणमृजुव्यवहारः । एकविंशतिभावश्रावकगुणानां चतुर्थे गुणे, ॥ अधुना ऋजुव्यवहारीति चतुर्थभावश्रावकलक्षणं यथा ।

उज्जुववहारो चउहा, जहत्थभणणं अवंचगा किरिआ ।
हुंतावायपगासण, मित्तीभावो असब्भावो ॥

ऋजु प्रगुणं व्यवहरणं ऋजुव्यवहारः । स चतुर्धा यथार्थभणनमविसंवादिवचनम् १ अवञ्चका पराव्यसनहेतुक्रियामनोवाक्कायव्यापाररूपा २ (हुंतावायपगासणत्ति) हुंतत्ति प्राकृतशैल्या भाविनोऽशुद्धव्यवहारकृतो येऽपायास्तेषां प्रकाशनं प्रकटनं करोति भद्र! मा कृथाः पापानि चौर्यादीनि इह परत्र चानर्थकारिणीत्यादिभिः शिक्षयति ३ मैत्रीभावः सद्भावो निष्कपटतायाः ४ । ध० २ अधि० । इत्युक्त ऋजुव्यवहारे यथार्थभणनस्वरूप : प्रथमो भेदः । संप्रति द्वितीयं भेदमाह । (अवंचिगाकिरियत्ति) अवञ्चिका पराव्यसनहेतुः क्रिया मनोवाक्कायव्यापाररूपा तत्र द्वितीयमृजुव्यवहारलक्षणम् उक्तंच तप्पभिरूव गविहिणा, उवायबाई हिकण मप्पहियं । दिंतो लिंतो वि परं, नववए सुद्धधम्मत्थी ॥ १ ॥ " वंचणकिरियाइ इहं पि केवलं पावमेव पिच्छंतो । तत्तो हरिनन्दी इव, नियत्तए सव्वहासु मई २ " इति कः पुनरयं हरिनन्दी तत्कथोच्यते ।

उसेणिपुरवरीए, वहिया वणवीहिया इ ववहरइ ।
हरिनंदि वणी दारिद-रुद्दद्दोलि दुमविहगो ॥ १ ॥
आसन्नसंनिवेसा उ, भम्मया आगया वणे तस्स ।
आहीरी ववहरिउं, एगा घयमाइ घित्तूण ॥ २ ॥
विकिणिउं किणिउं वा, लोणलिल्लाइसापयं पेइ ।
सिद्धिविसिट्ठ रूवग, दुमास्स कप्पासमप्पेसु ॥ ३ ॥
सो य समग्गो समए, तम्मि य तो तोलिउं दुवे वारे ।
इगरूवगस्स अप्पइ, सा मुद्धा बंधए गंठिं ॥ ४ ॥
तं तह ददुं सिट्ठी, विचिंतए परववंचणानिउणो ।
अज्ज मए अज्जिणिओ, अकिलेसं रूवगो एगो ॥ ५ ॥
इय चिंतिउं विसज्जइ, इमो अणुयुत्तमुज्जयं सव्वो ।
इत्तो नवणिनिमित्तं, पत्तो सगेहिणी तत्थ ॥ ६ ॥
सा चमणिं उवणेउं, भणिया घयखंडसमिय मइणि ।
पयाई गिण्ह सिग्घं, करेसु तं घेवरे पवरे ॥ ७ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सा ताइं गहिय सगिहे, गंतुं तुट्ठा करेइ घयपुन्ने।
सिट्ठी गहियहट्टाउ न्हाउं पत्तो नई इत्तो । ८ ।
कत्तो य आगओ त-म्मिहम्मि जामाउओ वयस्ससंजुओ ।
छुहिओ सगुत्तिसुत्ते, ते घयपुन्ने गओ तुरियं । ९ ।
अइन्हाउ गिहे पत्तो, सिट्ठी साहाविय चिय कुभत्तं ।
परिविट्ठि दट्ठुं सुट्ठु, रुट्ठो भणइ इय भज्जे ! ॥ १० ॥
किं अज्ज से घयपुन्ना, न कया सा भणइ ते कया किंतु ।
अणुताव तावियमणो, इय अप्पं निंदए सिट्ठी ॥ १२ ॥
हा वंचिया मुहाए, धण तव लुद्धेण सा मए सुद्धी ।
अन्नेहिं तयं भुत्तं, पावं मह चेव संजायं ॥ १३ ॥
हट्टी इत्तिरकालं, परवंचणपवणमाणसेण मए ।
दुसहदुहनरयदाम-मिइं घणं कह कओ अप्पा ॥ १४ ॥
इय झूरंतो जायइ, किं पि सुभागमभाओ ताव ।
मग्गम्मि मुणी एगं, गच्छंतं दट्ठुमिय भणइ ॥ १५ ॥
भयवं ! पडिक्खसु खणं, भणइ इमो गच्छिमो सकज्जेण ।
सिट्ठी वि आह किं को वि, नाह परिभमइ परकज्जे ॥१६॥
अइसयनाणी साहू, भणेइ तं चिय भमेसि परकज्जे ।
सामं मे इव पुट्ठो, बुद्धो तेणेव वयणेण ॥ १७ ॥
हरिनंदी आणंदिय-हियओ वंदिय मुणिं भणइ कत्थ ।
चिट्ठह तुब्भे भयवं, ! भणइ मुणी इत्थ उज्जाणे ॥ १८ ॥
तो मुणिकहियं धम्मं, सोउं चिन्तवइ एहु तुह समीवे ।
गिण्हिस्समहं दिक्खं, नवरं पुच्छियससयणमां ॥ १९ ॥
पणमित्तु मुणिं गेहे, पत्तो मेलित्तु जं पए सयणे ।
इह तारिसो न भज्जो, ता दिसि जत्ताइ गच्छामि ॥ २० ॥
इत्थ दुवे सत्थाहा, एगो नियरयणपणगमप्पेइ ।
तह नेइ इच्छिय पुरं, पुव्व वि दत्तं न मग्गेइ ॥ २१ ॥
बीओ न देइ किं चि वि, इच्छिय नयरं च नहु पराणेइ ।
पुव्वज्जियं पि गिण्हइ, वयमित्तो भणइ केण समं ॥ २२ ॥
ते विंति पढमएणं, सिट्ठी वज्जरइ निथइ आगंतु ।
तो ते पमोयकलिया, चलिया सह तेण मग्गम्मि ॥ २३ ॥
हयघसहाइं अदट्ठुं, भणंति ते कत्थ सत्थवाहो सो ।
नियहनिसण्णमसोग-हिट्ठओ संसए सिट्ठी ॥ २४ ॥
तो तिविम्हइयमणा, सयणा नमिउं मुणिं समासीणा ।
पणमिय पुच्छइ सिट्ठी, को इत्थ पसत्थ सत्थाहो ॥२५॥
साहू साहइ इह स-व्वभावभेया दुहा उ सत्थाहो ।
तत्थ य पढमो नियओ, सगुज्जुओ सयणुवग्गुत्ति ॥२६॥
सो दुहियस्स वि जीवस्स, देइ न य कहावि किंपि सुकयधणं ।
परभवपहे पयट्टस्स, तस्स न पयं पि सह चलइ ॥ २७ ॥
कलहाइएहिं एसो, लुंपइ पुव्वज्जियं पि सुकयलवं ।
बीओ पुण सत्थाहो, सुगुरु गुणरयणगणकलिओ ॥ २८ ॥
जिणसासणसुरूागर, संभूए निम्मले य सत्थाए ।
सो संमं देइ निए, पंचमहव्वयमहारयणे ॥ २९ ॥
जं तेहि पंचरयणेहिं, अज्जियं सुहकरं सुकयदव्वं ।
नय त कयावि गिण्हइ, कमेण पावेइ सियनयरं ॥ ३० ॥
इय सोउं संविग्गो, हरिनंदी गिण्हए समणधम्मं ।
सयणा वि ससत्तीए, धम्मं गहिउं गया सगिहे ॥ ३१ ॥
हरिनंदीपरवंचण-किरिया सक्किरियाइं सो सणिकरवि ।
कयसक्किरिओ अकिरिय-ठाणम्मि कमेण संपत्तो ॥ ३२ ॥
इत्यवेत्य हरिनन्दिवज्जनाः-पापसंतमसदर्शयामिनीम ।
तां विमुच्य परवञ्चिकां क्रियां,सक्रियाः स्त यदिवा क्रियेच्छवः
इति हरिनन्दिकथा ॥

इत्युक्तऋजुव्यवहारेऽवञ्चिकाक्रियेति द्वितीयो भेदः ।
संप्रति भाव्यपायप्रकाशनस्वरूपं तृतीयं भेदमाह ।
(हुंतावायपगासणहुंतत्ति) प्राकृतशैल्या भाविनोऽऋजुव्यवहारकृतो येऽपायास्तेषां प्रकाशनं प्रकटनं करोति भद्र ! मा कृथाः पापानि चौर्यादीनि इह परत्र चानर्थकारीणीत्याश्रितं शिक्षयति। भद्रश्रेष्ठीव निजपुत्रं धनं न पुनरन्यायप्रवृत्तमभ्युपेक्षत इति भावः ।

भद्रश्रेष्ठिकथा चैवम् ॥

हरिवेढं पि व भद्दिल, पुरमत्थि सुधम्मसंगयं सुगयं ।
तत्थ सुपसत्थनयकुंज-केसरी केसरी राया ॥ १ ॥
सिट्ठी भद्दो भद्दो, दंतीव दाणपसरदुल्ललिओ ।
तस्स य वंचणपवणो, धणलुद्धमणो धणो तणओ ॥ २ ॥
मुणिचित्तं च सकरुणं, सअज्जुणं पंडवाण सिन्नं च ।
ते कीलिउं कया वि हु, दुवे वि उज्जाणमणुपत्ता ॥ ३ ॥
उच्चुदसभा भारं, निवूढदयंपरूढगुरुवंसं ।
से अंपि वसुपइट्ठं, सुपइट्ठमुणिं नियंति तहिं ॥ ४ ॥
ते तं समणुधम्म-मुत्तमंगसुनिविट्ठकरयला नमिओ ।
निसियंति भवियगणे, तो धम्मं कहइ इय सुमुणी ॥ ५ ॥
कमलसरं पिव मरुमं-डलम्मि तमसम्मि रयणदीवं च ।
नरभवमिह दुलहं लहिय, कुणह सत्तीइ जिणधम्मं ॥ ६ ॥
इय सुणिउं पियपुत्ता, पहिट्ठचित्ता गहिंतु गिहधम्मं ।
मुणिचरणे जयसरणे, नमिओ पत्ता निए सरणे ॥ ७ ॥
भाविबहुभद्द सहोह, सुंदरो भद्दमाणसो भद्दो ।
ववहारसुद्धिनिरओ, गिहिधम्मं पालयइ विसुद्धं ॥ ८ ॥
हट्टम्मि ठिओ निच्चं, धणो पुणो लुद्धओ धणे धणियं ।
कूडकयतुल्लमाणो, कूडाईहिं च ववहरइ णिच्चं ॥ ९ ॥
अणविक्खिउं अपाए, तेणाणीयं पि लेइ पच्छन्नं ।
तं नाउं सो उ पिउणा, मिउणा वयणेण इय भणियो ॥ १० ॥
वच्छ अवत्थ पच्छा-अपत्थभत्तं व दोसपडिहत्थं ।
अन्नाएण हाविअस्स, ए अज्जणं सज्जणा विंति । ११ ।
अन्नाएण वि दत्तं , दव्वमसुद्धं असुद्धदव्वेण ।
आहारो वि असुद्धो, तेण असुद्धं सरीरं पि । १२ ।
देहेण असुद्धेण, जं जं किज्जइ कयावि सुहकिच्चं ।
तं तं न होइ सफलं , बीयं पिव ऊसरानिहत्तं । १३ ।
किंचि भविअवाय अन्ना-नयपहपहियाणनराण चिंतेसु ।
निच्छियकज्जलपसरो , अजसभरो फुरइ भवणम्मि । १४ ।
इह य पिवि हुंति कारा , पवासवहबंधहत्थछेयाई ।
परलोए पुण दारुण, नरगाईसु दुक्खरिंछोली । १५ ।
संपासंपायवलं, जलजलण नरिंदमाइसाहीणं ।
विहविलवं नाउ अनाय, वज्जओ कोह विज्ज इहं । १६ ।
वच्छ वियाणसु अन्नाय, अज्जियं पि विहवभरं ।
पज्जंते अइविरसं, सुज्जय भवपूलभावं व । १७ ।
अइलोहनेहपूरिय, अन्नायगईवभाविणा इमिणा ।
नियवयनरभंजण खं-जणेण कोमइलए अप्पं । १८ ।
इय जं पिओ वि पिउणा, सो गुरुणा लोहकम्मणा मलिणो ।
न हु किंपि तं पवज्जइ, चिट्ठइ पुव्वं व अनयपरो । १९ ।
अह चोरे णिक्केणं, वरकुंडलजुयलसंजुयं हारं ।
उवणीयं जाति धणो, धणेण थोवेण गिण्हेइ । २० ।
चोरकराओ कइया, वि जाव रयणावलिं स गिण्हेइ ।
निवसिरिहरिओ विमलो, तो पत्तो तस्स हट्टम्मि । २१ ।
तेण य भणिओ वरासि य, संचए दंसए धणो जाव ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ताव धणगहियाए, परियारयणावहीज्झत्ति । २२ ।
तं गहिउं अवक्कमियं, विमश्रो पुच्छेइ सिट्ठि किं एयं ।
जा किं पि न सो जंपइ, सुहिश्रो ता जंपए विमश्रो । २३ ।
अन्नं पि इमीइ समं, नहुवरहारकुंकलाइयं ।
तुह पासे तं पि अहं, मन्ने ता सहु मइप्पेसु । २४ ।
अम्मह निवेण नाणे, धणेण देहेण वा न ऊट्टिहिसि ।
अह इण हणिस्ति जणिओ, संपत्तो तक्खरो तत्थ । २५ ।
वक्को तेण धणो विम-अपुच्छिओ सो भणइ जहा अज्ज ।
सक्को इक्को चोरो, से हिज्जंतेण तेण इमो । २६ ।
कहिओ मो सट्टाणं, नरवरआहरणमाइसव्वाणं ।
सो रयणावलिसाहिओ, स तेण मीओ निवसमीवे । २७ ।
सो भिवमिज्जासुरेण, निवेण से हाविओ धणो अहियं ।
रयणावलिकुंकलहा-रमाइसव्वं समप्पेइ । २८ ।
इय सोऊण अवुद्दो, भद्दो गंतूण निवइपासम्मि ।
बाढं पत्तयविहवं, कह कहमवि मोयए पुत्तं । २९ ।
तो भाउ बहुअथायं, चइऊण पुहवि उज्जमं बभणं ।
दिक्खं गिण्हिय जाओ, जहो जहाण आभागी । ३० ।
मुक्कववहारसुरूी, सुमहंतसमुल्लसंतधणगड्डी ।
परिचत्तविमलभावो, नरए पत्तो धणो पावो । ३१ ।
इत्येवमाकर्ण्य सकर्णलोका, भद्रस्य भद्रंकरणं चरित्रम् ।
तन्नाम्यपायापसरेण मुक्तां, श्रयन्तु नित्यं व्यवहारशुद्धिम् ।३२।
इति भद्रश्रेष्ठिकथा ।
इत्युक्तऋजुव्यवहारे भाव्यपायप्रकाशनमिति तृतीयो भेदः ।
संप्रति सद्भावतो मैत्रीभाव इति चतुर्थं भेदमाह ॥
(मित्तीभावो य सब्भावत्ति) मित्रस्य भावः कर्म वा मैत्री तस्या भावो भवनं सत्ता सद्भावान्निष्कपटतया सुमित्रवन्नि-ष्कपटमैत्रीं करोतीत्यर्थः । मैत्रीकपटभावयोश्छायातपयोरिव विरोधात् । उक्तं च "शाठ्येन मैत्रीं कलुषेण धर्मं, परोपतापेन समृद्धिभावम् । सुखेन विद्यां पुरुषेण नारीं वाञ्छन्ति ये व्यक्तमपण्डितास्ते । इति चतुर्थ ऋजुव्यवहारभेदः ।
सुमित्रकथा चैवं ।
सुपुरिस पुरुखसुकरे, वरवत्थे सिरिपुरम्मि नयरम्मि ।
सिट्ठी आसिनदीणो, समुद्ददत्तो समुद्दव्व ॥ १ ॥
सब्भावसारमित्ती, महंतदिप्पंतकंतिकयसोहो ।
पुत्तो तस्स सुमित्तो, मिणुव्व परं असत्तासो ॥ २ ॥
निरुम्मो चत्त पुणो, लोहमओ मग्गणुव्व पीडहरो ।
परमम्मभेहणपरो, मित्तो तस्स त्थि वसुमित्तो ॥ ३ ॥
पुत्रवियं कहस्सि पिउणो, ववहरणत्थं सुमित्त वसुमित्तो ।
संगहिय पउरपणिया, वणिया देसंतरे चलिया ॥ ४ ॥
मित्तपओसी वो सु-करिसपरो कोसिउव्व वसुमित्तो ।
तक्कमणो मित्तधणं, कुणइ विवायं इय पहम्मि ॥ ५ ॥
जीवाण जओ धम्माओ, किं व पावाउ कहसु मह मित्त ।
भणइ सुमित्तो धम्मओ, नाणुजओ न खण पावाउ ॥ ६ ॥
(यतः)दविणमखं कुलममलं, आणइसरियं अउरपुरं विरियं ।
सुरसंपयं सिवपयं, धम्मा उचियजियाण धुवं ॥ ७ ॥
जइ पुण पावेण बुद्धि, रिद्धिसंसिद्धिमाइयो हुज्जा ।
तो हुज्ज न को वि इहं, जओ दरिद्दो असिद्धो य ॥ ८ ॥
दक्खियमिणं वि मयलं-जणो ससीहयमिणं विमिणनाहो ।
सीहो तत्र पावा ज-इत्ति इय भणइ वसुमित्तो ॥ ९ ॥
इय विवयंता दुन्नि वि, सव्वस्स पणम्मि निम्मयपइन्ना ।
अन्नायअमनामे, कमेण कमिवि गया गामे ॥ १० ॥
तत्थ य वसुमित्तेणं, मच्छरभरपूरिएण नियपक्खं ।
पुट्ठा गामीणजणा, पावा उ जउ त्ति जंपंति ॥ ११ ॥
जे परवंचणपउणा, विगलियकरुणा सया असच्चवयणा ।
तप्पच्चक्खं पिच्छइ, अतुच्छअच्छोहसंपन्ना ॥ १२ ॥
अन्यैरप्युक्तम् । नातीव सरलैर्भाव्यं, गत्वा पश्य वनस्थलीम् ।
सरलास्तत्र छिद्यन्ते कुब्जास्तिष्ठन्ति पादपाः ॥ १३ ॥
गुणानामेव दौरात्म्याद् धुरि धूर्यो नियुज्यते ।
असंजातकिणस्कन्धः सुखं जीवति गौर्गलिः ॥ १४ ॥
उत्तरदाणअसत्तो, तस्स सुमित्तो मुरुक्खसत्थस्स ।
वसुमित्तेणं सव्वा, उद्दालिओ गहियसव्वस्सं ॥ १५ ॥
सो पगामी अडवी-इनिवडिओ आहिंडुक्खतत्तो वि ।
पगईइमित्तभावेण, परिगउ चिंतए एवं ॥ १६ ॥
भुज्जंतो रेजियपुव्वं, जम्म कडुकम्मरुक्खफलमेयं ।
काऊणं संतोसं, वसुमित्ते वज्जिसुपओसं ॥ १७ ॥
इय चिंतिउं सुमित्तो, निसाइसावयगणाण वीहंतो ।
इक्कस्स निमुक्को गरु-यविडवविडविस्स कुहरम्मि ॥ १८ ॥
इत्तो निसुणइ दीवं-तरो उवत्ताण रुक्खसिहरम्मि ।
सो पक्खीणुलवियं, महल्लविहगेण पुट्ठाणं ॥ १९ ॥
भो विहगा कहह मह, कत्तो को इत्थ आगओ इण्हिं ।
दीवंतरामिपक्खेणं, किंकिरदट्ठं व निसुयं वा ॥ २० ॥
तेहिं वि जं जह दिट्ठं, सुयं व दीवंतरेसु वा सव्वं ।
तह चेव तस्स कहियं, एगो पुण भणइ तत्थ इमं ॥ २१ ॥
ताय अहं पउमपत्तो, सिंहलदीवा उ तत्थ नरवइणो ।
अत्थि जियमयणघरिणी, धूया धूयामयरणेहा ॥ २२ ॥
तीसे य अत्थि वियणइ-पीडियाए तइज्जओ मासो ।
विज्जेहिं विपडिसिद्धा, तो पिउणा दाविओ पडहो ॥ २३ ॥
जो मह धूयं पउणेइ, तस्स वियरेमि रज्ज अद्धमहं ।
सीहसमं विय नय को वि, पडहंपछिवइ पुण तया । २४ ।
अज्ज दिणं अट्ठीपढ-हयस्स तातीनयणरोगस्स ।
किं नत्थि ओसहामिह, किंवा अत्थत्ति मह कहसु । २५ ।
अह भणइ वुड्ढपक्खी, जाणंतेहिं वि जह तहा एयं ।
दिवसम्मि वि न कहिज्जइ, किं पुण रयणीइ हेपुत्तो । २६ ।
तेणुत्तं महगरुयं, कुट्टं न य कोइ सुणइ इह ताय ।
ता कहसु आइ सो वि हु, सुयपुव्वं अत्थमह एयं । २७ ।
अद्धाणं पवभमेहिं, इह निसि वासिएहिं जणलाहूहिं ।
संबक्खणुत्ति कहिओ, एस तरु नयणरोगहरो ॥ २८ ॥
जइ कोइ एइ तरुणो, पत्तरसेतीए अत्थि सुखिविज्जा ।
तो सा पउणिज्जइ लहु, इय सा उचिंतइ सुमित्तो ॥ २९ ॥
उज्जीवहियामित्तीए, मंदिरं दुइय दहणजलवाहा ।
सन्नाणरयणजलही, न अन्नहा बिंति जइणमुणी ॥ ३० ॥
इय नत्थि य तरुणं सर-जइलाइं गहिउं सो अप्पं ।
बंधइ सिंहलदीवा, गयजाडरुस्स चरणम्मि ॥ ३१ ॥
नीओ तेण तहिं सो, खिविउं पडहं गओ निवइ पासे ।
विहिओ वि य पणिवत्तीं, रन्ना पुट्ठो कुसलवत्तं ॥ ३२ ॥
वाहरिय मयणरेहं, पलिमंडलमाइकालनिवइ पासे ।
लोयणवेयणरहियं, करेइ तेणं दलरसेण ॥ ३३ ॥
परिणाविय नियकन्नं, दिन्नं रन्ना य तस्स रज्जद्धं ।
सो तत्थच्छइ सुत्थिय, हियओ सव्वेसि हिययमिट्ठो ।३४।
वसुमित्तो वहणेणं, कया वि तत्थागयो विणिज्जेण ।
निवदंसणाइपत्तो, गाहिउं कोसल्लियं बहुयं ॥ ३५ ॥
तत्थ सुमित्तं सुमहं-तराय लच्छीइ वड्ढ दिप्पंतं ।
सो चत्तमित्तभावो, असक्किओ चिंतए एवं ॥ ३६ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एसो पयडपडंसो, जइ कहमवि मज्झ मइयरं रन्नो ।
पायडइ तओ पहुणा, हिय सव्वस्सो विणस्सामि ॥३७॥
केणावि उ वायएं, तायं मारिमुत्तिचिंतेउं ।
पाहुडमप्पितुमिवइ-रायपासम्मि आसीणो ॥ ३८ ॥
विजणं आणित्तु इमो, सुमित्तभवणम्मि जाइ मायाए ।
पुच्छियकुसलाणंतरं, परुप्परं जाव अच्छंति ॥ ३९ ॥
ताव सुमित्तपुत्तं, सुमित्तघरमित्त कइवयदिणाणि ।
मा मं जाणा विउजसु, रन्नो तेणावि पडिवन्नं ॥ ४० ॥
अवरदिणे वसुमित्तो, रहम्मि विन्नवइ नरवयं एवं ।
परदोसमाहणं जइ, वि देवजुत्तसुपुरिसाणं ॥ ४१ ॥
तहवि हु गुरुअववाओ, पहुणो मा होउ इय पयंपेमि ।
एसो वह जामाऊ, मग्गइ पुरं विक्कउं बसुओ ॥ ४२ ॥
तं सोऊण विसन्नो, कराळकुलिसाहओ व्व नरनाहो ।
तं वुत्तंतं सव्वं, सुबुद्धिसचिवस्स साहेइ ॥ ४३ ॥
सो परिभणेइ जइ देव, एवमेयं तओ गुरुअवसो ।
ववहारयारट्ठाणं, अभिमाहिवेसु तुह नयरी ॥ ४४ ॥
सहसा निवो वि अंपइ, जा परूहवइ न हु इमं ताए ।
तो पच्छन्नं एयं, वा धायसुमेति तम्हत्ति ॥ ४५ ॥
आमंति मंति वुत्ते, रहम्मि पुट्ठा निवेण नियधूया ।
किं अकुलीणवियारो, सव्वविओ को वित्ते पइणा ॥४६॥
सा जणइ अविकलंको, ससिणो किर अत्थि न उण मह पइणो।
केवलगुणमयसुत्ती, पकुव्वपरगुज्झरक्खट्ठा ॥ ४७ ॥
नियपच्चाइ मरोहिं, इत्तो पिच्छणय पिच्छणामिसेण ।
सचिवेण सहु सुमित्तो, संझासमयम्मि वाहिरओ ॥ ४८ ॥
पुन्नभरपेरिएणं, तेण वि नियवेसमप्पवं तइया ।
पट्ठाविओ वसुमित्तो, सुबुद्धिपुरिसेहि सो निहिओ ॥४९॥
तं नावं ति निवो कह, मह दुहिया होहि जाव फूरेइ ।
सा ताव तत्थ आगं-तु पुच्छिए किं इमं ताय ॥ ५० ॥
तुह वेहव्वकरोइ, वच्छे पावुत्ति जंपिए रन्ना ।
सा भणइ तुज्झ आमा-डगो गिहे चिट्ठए ताय ॥ ५१ ॥
तं आयन्नियरन्ना, रहम्मि पुट्ठो पयंपइ सुमित्तो ।
भञ्जत्थमणो सव्वं, तं वसुमित्तस्स वुत्तंतं ॥ ५२ ॥
ता चिंतइ नरिंदो, मित्तीभावत्तणं इमस्स अहो ।
गरुअदरजीवस्स, महो अहो धम्मसुथिरत्तं ॥ ५३ ॥
इय चिंतिओ चमक्किय-मणो निवो कहइ मंतिपवराण ।
सब्भावकरमित्ति, वुत्तं वित्तं सुमित्तस्स ॥ ५४ ॥
तयणु सुमित्तेणं तहिं, पियरो आणाविया पहिट्ठेण ।
नयरिपवेसो रन्ना, कराविओ गुरु विभूईए ॥ ५५ ॥
जायायवं सहुद्धी, स परेसि सुहाणकारओ जाओ ।
परिवज्जियपव्वज्जो, कमासुमित्तो गओ सुगइं ॥ ५६ ॥
मित्तीभावविरहिओ, अहिओ सपरेसि सययवसुमित्तो ।
मरिऊण गओ नरए, भमिही संसारमइघोरं ॥ ५७ ॥
एवं सुमित्रस्य समस्तसर्व-संदेहमित्रस्य निशम्य वृत्तम् ।
भव्या जना दुस्कममासविव्या सद्भावमैत्र्यां भृशमाद्रियध्वम् ॥
इति सुमित्र कथा ॥

इत्युक्त ऋजुव्यवहारे सद्भावमैत्रीलक्षणश्चतुर्थो भेदस्तद्युक्तो निगदितं चतुर्विधमप्यृजुव्यवहारस्वरूपम् ।

सांप्रतमस्यैव विपर्यये दोषदर्शनपूर्वकं विधेयतामाह—

अन्नह जणणाईसु, अबोहिबीयं परस्स नियमेण ।
तत्तो भवपरिवड्ढी, ता होज्जा उज्जुववहारं ॥ ४८ ॥

अन्यथा जननमयथार्थजल्पनमादिशब्दाद्वञ्चकक्रियादोषापेया सद्भावमैत्रीपरिग्रहस्तेषु सत्सु श्रावकस्येति भावः । अबोधिर्धर्मा-प्राप्तेर्बीजं मूलकारणं परस्य मिथ्यादृष्टेर्नियमेन निश्चयेन भवतीति शेषः । तथाहि श्रावकमेतेषु वर्त्तमानमालोक्य वक्तारः संजपन्ति धिगस्तु जैनं शासनं यत् श्रावकस्य शिष्टजननिन्दितेऽलीक-भाषणादौ कुकर्मणि निवृत्तिर्नापि दृश्यते इति निन्दाकरणाद्मी प्राणिनो जन्म कोटिष्वपि बोधिं न प्राप्नुवन्तीत्यबोधिबीजमिदमु-च्यते । ततश्चाबोधिबीजाद्भवपरिवृद्धिर्भवति तन्निन्दाकारिणस्त-न्निमित्तभूतस्य श्रावकस्यापि यदवाचि । शासनस्योपघातो योऽ नाभोगेनापि वर्त्तते । स तन्मिथ्यात्वहेतुत्वाद्—न्येषां प्राणिनामिति ॥१॥ बध्नात्यपि तदेवालं, परं संसारकारणम् । विपाक दारुणं घोरं, सर्वानर्थविवर्द्धनमिति । ततस्तस्मात्कारणाद्दुरयाद्भावे ऋजु व्यवहारी प्रगुणव्यवहारवान् भवतो भावश्रावक इति । उक्तमृजु-व्यवहार इति चतुर्थं भावश्रावकलक्षणम् । ध० र० ॥

उज्जुसंधिसंखेडय—ऋजुसन्धिसंखेटक—पुं० सरले गन्तव्यविभि-भागे, "मग्गाउ उज्जुसंधि, संखेडयं पवेदेइ । उज्जुसंधिसंखेडया वा सगडमग्गं पवेदेइ" नि. चू. १३ उ० ।

उज्जुसुत्त (य)—ऋजुसूत्र. —पुं० अतीतानागताभ्युपगमकुटि-लतापरिहारेण ऋज्वकुटिलं वर्त्तमानकालभावि वस्तु सूत्रयति गमयति अभ्युपगच्छतीति ऋजुसूत्रः । अतीतानागतयोर्विना-शानुत्पत्तिभ्यामभ्युपगमश्च कुटिल इति भावः । ऋज्ववक्रं श्रुत-मस्येति ऋजुश्रुतः । शेषज्ञानैर्मुख्यतया तथाविधपरोपकारसा-धनश्रुतज्ञानमेवैकमित्यर्थः । उक्तंच "सुयनाणे अणिउत्तं, केवले वयणंतरं ॥ अप्पणो य परेसि च, जम्हा तं परिभावग" मिति स्व-नामख्याते सप्तानां मूलनयानां चतुर्थे नये, अनु० । प्र० । ठ० । ग० । स्था० । सूत्र० । अष्ट० ॥ अयं हि द्रव्यं सदपि गुणीभावा-न्नार्पयति पर्यायास्तु क्षणध्वंसिनः प्रधानतया दर्शयतीति । उ-दाहरन्ति—यथा सुखविवर्तः संप्रत्यस्तीत्यादिरिति । अनेन हि वाक्येन क्षणस्थायि सुखाख्यं पर्यायमात्रं प्राधान्येनापि दर्श्यते । तदधिकरणभूतं पुनरात्मद्रव्यं गौणतया नार्पयति । आदिशब्दाद् दुःखपर्यायोऽधुनास्तीत्यादिकं प्रकृतनयनिदर्शनमभ्यूहनीयम् अस्यनिरुक्तिगर्भमतम् ।

पच्चुप्पन्नग्गाही, उज्जुसुओ णयविही मुणेअव्वो ।

अयं च नयो वर्त्तमानमपीच्छन् स्वकीयमेवेच्छति परकीय-स्य स्वाभिमतकार्यासाधकत्वेन वस्तुतोऽसत्त्वादिति । अपरं च भिन्नलिङ्गैर्भिन्नवचनैश्च शब्दैरेकमपि वस्त्वभिधीयत इति प्रति-जानीते यथा तटः तटी तटमित्यादि । यथा गुरुर्गुरव इत्यादि तथा इन्द्रादिर्नामस्थापनादिभेदात्प्रतिपद्यते वक्ष्यमाणनयस्त्व-तिविशुद्धत्वाल्लिङ्गवचनभेदाद्वस्तुभेदं प्रतिपत्स्यते । नामस्थापना द्रव्याणि च नाभ्युपगमिष्यतीति भावः । इत्युक्त ऋजुसूत्रः अनु० ।

एतदेव विस्तरेणाह ।

उज्जुसुयं नाणमुज्जु—सुयमस्स सो यमुज्जुसुओ ।
सूचयइ वा जमुज्जुं, वत्थुं तेणु त्ति सुत्तोत्ति ॥

ऋजुश्रुतं ज्ञानं बोधरूपं ततश्च ऋज्ववक्रं श्रुतमस्य सोऽयमृजु-श्रुतः । वा अथवा ऋज्ववक्रं वस्तु सूचयतीति ऋजुसूत्र इति । कथं पुनरेतदभ्युपगतस्य वस्तुनोऽवक्रत्वमित्याह

पच्चुप्पन्नं संपय—मुप्पन्नं जं च जस्स पत्तेयं ।
तं ऋजुतदेव तस्स, त्थि उ वक्कमन्नं निजमसंतं ॥

यत्सांप्रतमुत्पन्नं वर्त्तमानकालीनं वस्तु यच्च यस्य प्रत्येकमा-त्मीयं तदेतदुभयस्वरूपं वस्तु प्रत्युत्पन्नमुच्यते तदेवासौ नयः प्रतिपद्यते तदेव वर्तमानमात्मीयं च वस्तु तस्य ऋजुसूत्रनय-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्याऽस्ति अन्यत्तु शेषमतीतानागतं परकीयं च यद्यस्मादसद्विद्यमानं ततोऽसत्वादेव तदृजुसूत्रस्तत्यसावीति अत एवोक्तं निर्युक्तिकृता " पच्चुप्पन्नग्गाही, उज्जुसुत्तनयविही मुणेयव्वेत्ति "

एतन्मतमेव प्रमाणतः समर्थयन्नाह ।

न वि गयमणागयं वा, जावो णुवलंजओ खपुप्फं च ।
न य निप्पओयणाउ, परकीयं परधणमिवत्थि ॥

विगतं विनष्टमतीतमनागतं त्वनुत्पन्नम । एतदुभयरूपमपि न भावं न वस्त्वनुपलम्भात्खपुष्पवदिति। न च परकीय वस्त्वति निष्प्रयोजनत्वात्प्रयोजनाकर्तृत्वात्परधनवदिति ।

अथ व्यवहारनयं युक्तितः स्वपक्षं ग्राहयन्नाह ।

जइ न मयं सामन्नं, संववहारोवलद्धिरहियंति ।
नाणागयमस्स व तहा, परक्कमवि निप्फलतणओ ॥

हेव्यवहारनयवादिन् ! यदि तव व्यवहारानुपयोगादनुपलम्भाच्च सामान्यं न मतं संग्रहस्य सम्मतमपि नेष्टमित्यर्थः । ननु तथा तेनैव प्रकारेणैव व्यवहारानुपयोगादनुपलम्भाच्च गतमतिक्रान्तमेष्यच्चानागतं वस्तु नाभ्युपगतस्त्वं युक्तः समानत्वात् तथा परकमपि परकीयमपि वस्तु मैषीः स्वप्रयोजनासाधकत्वेन निष्फलत्वात्परधनवदिति । अथ यदसौ नयोऽभ्युपगच्छति तत्सर्वमुपसंहृत्य दर्शयति ।

तम्हा निययं संपय– कालीणं लिंगवयणभिन्नं पि ।
नामाइभेयविहियं, पडिवज्जइ वत्थुमुज्जुसुओ ॥

तस्मादृजुसूत्रनयः प्रतिपादितयुक्तितो वस्तु प्रतिपद्यते । कथंभूतं निजकमात्मीयं न परकीयं तदपि सांप्रतकालीनं वर्तमानं न त्वतीतानागतरूपम् तच्च निजं वर्तमानं च वस्तु लिङ्गवचनभिन्नमपि प्रतिपद्यते । तत्रैकमपि त्रिलिङ्गं यथा तटस्तटी तटमित्यादि । तथैकमप्येकवचनं बहुवचनवाच्यं यथा गुरुर्गुरवः आपो जलं दाराः कलत्रमित्यादि । तथा नामादिभेदविहितमप्यसौ वस्तु अभ्युपगच्छति । नामस्थापनाद्रव्यभावरूपांश्चतुरोऽपि निक्षेपान् सामान्यत इत्यर्थः तदिह लिंगवयणेत्यादिना अभ्युपगमच्छेदोपन्यासेन वक्ष्यमाणशब्दनयेन सहास्याभ्युपगमभेदो दर्शितः शब्दनयो हि लिङ्गभेदाद्वचनभेदाच्च वस्तुनो भेदमेव प्रतिपत्स्यते न पुनरेकत्वम् । तथा नामादिनिक्षेपेऽप्येकमेव भावनिक्षेपं मंस्यते न तु शेषनिक्षेपत्रयमिति तदेवमुक्तः ऋजुसूत्रनयः विशे० । (एतन्मतदूषणं सद्दनय शब्दे) ।

भावत्वे वर्तमानत्व–व्याप्तिधीरविशेषिता ।
ऋजुसूत्रश्रुतः सूत्रे, शब्दार्थस्तु विशेषितः ॥ २९ ॥

भावत्वे वर्तमानत्वव्याप्तिधीरतीतानागतसंबन्धाभावव्याप्यत्वोपगन्तृता अविशेषिता शब्दाद्यभिमतविशेषा पक्षपातिनी सूत्रे ऋजुसूत्रनयः श्रुतः सूत्रं च"पच्चुप्पन्नग्गाही, उज्जुसूओ य ण विहि मुणेयव्वोत्ति " अत्र प्रत्युत्पन्नमेव गृह्णातीत्येवं शीलः इत्यत्रार्थे तात्पर्यादुक्तार्थलाभः । अविशेषितपदकृत्यमाह शब्दार्थस्तु विशेषित इति । तथाच विशेषितार्थग्राहिणि शब्दादिनये नातिव्याप्तिरिति भावः । सतां सांप्रतनामार्थानामभिधानपरिज्ञानमृजुसूत्र इति तत्वार्थभाष्यम् । व्यवहारातिशायित्वलक्षणमभिप्रेत्य तदतिशयप्रतिपादनीयमेतदुक्तं व्यवहारो हि सामान्यं व्यवहारानङ्गत्वान्न सहते कथं तदर्थमपि परकीयमतीतमनागतं चाभिधानमपि तथाविधार्थवाचकं ज्ञानमपि तथाविधार्थविषयमविचार्य सहेतेत्यस्याभिमानो न चायं मृषाभिमानः स्वदेशकालयोरेव सत्ताविश्रामात् । यथा कथंचित्संबन्धस्य सत्ताव्यवहाराङ्गत्वे प्रतिप्रसङ्गात् । नच देशकालयोः सत्त्वं विहायान्यदतिरिक्तं सत्वमस्ति तयोरन्यता प्रकृते स्यादसत्ताबोधोऽपि चात्र तत्र खरशृङ्गादाविव सत्ताप्रतिक्षेपी । विकल्पसिद्धेऽपि धर्मिणि निषेध प्रवृत्तेस्तत्र तत्र व्यवस्थापितत्वादिति दिग् ॥ २६ ॥

अन्यमप्यत्र विशेषमाह ।

इष्यतेऽनेन नैकत्रा–वस्थान्तरसमागमः ।
क्रियानिष्ठाभिदाधार–द्रव्यभावाद् यथोच्यते ॥ ३० ॥

अनेनर्जुसूत्रनयेनैकधर्मिणि अवस्थान्तरसमागमः भिन्नावस्थावाचकपदार्थान्वयो नेष्यते न स्वीक्रियते कुतः क्रिया साध्यावस्थाऽनिष्ठा च सिद्धावस्था तयोर्या भिदा भिन्नकालसंबन्धस्तदाऽऽधारस्यैकद्रव्यस्याभावादत्रार्थेऽभियुक्तसंमतिमाह यथोच्यतेऽभियुक्तैः

पलालं न दहत्यग्नि–र्भिद्यते न घटः क्वचित् ।
नासंयतः प्रव्रजति, भव्यासिद्धो न सिध्यति ॥ ३१ ॥

अत्र दहनादिक्रियाकाल एव तन्निष्ठाकाल इति, दह्यमानादेर्दग्धत्वाद्यव्यभिचारात्तदवस्थाविलक्षणपलालाद् व्यवस्थावच्छिन्नेन समं दहनादिक्रियान्वयस्यायोग्यत्वात्पलालं न दहत्यग्निरित्यादयो व्यवहारा निषेधमुखा उपपद्यन्ते । विधिमुखस्तु व्यवहारोऽत्रापलालं दह्यतेऽघटो भिद्यते संयतः प्रव्रजति सिद्धः सिध्यतीत्येवमाकार एव द्रष्टव्यः । अत एव"सो समणे पव्वइओ"त्ति नये कृतकरणपरिसमाप्तिः सिद्धस्याऽपि साधने करणव्यापारानुपरमादिति ॥ नयो० ॥

अथ ऋजुसूत्रनयस्य भेदमाह ॥

स्वानुकूलं वर्त्तमान–मृजुसूत्रो हि भाषते ।
तत्र क्षणिकपर्यायं, सूक्ष्मः स्थूलो नरादिकम् १३ ॥

हि निश्चितं ऋजुसूत्रो नयः । वर्तमानं केवलमतीतानागतकालरहितं भाषते मनुते । तदपि कीदृशं स्वानुकूलं स्वस्यात्मनोऽनुकूलं कार्यप्रत्ययं मनुते परंतु परप्रत्ययं न मनुते। सोऽपि ऋजुसूत्रो द्विभेदो द्विप्रकारः । एकः सूक्ष्म ऋजुसूत्रः ।१। अपरः स्थूल ऋजुसूत्रः ।२। तत्र सूक्ष्मस्तु क्षणिकपर्यायं मनुते क्षणिकाः पर्यायाः परतोऽवस्थान्तरभेदात् पर्यायाणां स्ववर्त्तमानतायां क्षणावस्थायित्वमेवोचितमिति । स्थूलस्तु मनुष्यादिपर्यायं वर्त्तमानं मनुते अतीतानागतादिनारकादिपर्यायं न मनुते यो हि व्यवहारनयः कालत्रयवर्तिपर्यायग्राहकस्तस्मात् स्थूल ऋजुसूत्रव्यवहारनयेन शंकरत्वं न लभते । अथ च ऋजुवर्त्तमानक्षणस्थायिपर्यायमात्रप्राधान्यतः सूत्रयन्नभिप्राय ऋजुसूत्रनय इति अतीतानागतकाललक्षणकौटिल्यवैकल्यात्प्राञ्जलमिति ॥ द्र० ६ अ० । पर्यायनयभेदाः । ऋजुसूत्रादयः । " तत्रर्जुसूत्रनीतिः स्या–च्छुद्धपर्यायसंश्रिता । नश्वरस्यैव भावस्य, भावा स्थितिवियोगतः ॥ देशकालान्तरसंबन्धस्वभावरहितं वस्तुतत्वं सांप्रतिकमेकस्वाभावमकुटिलमृजुसूत्रयतीति । ऋजुसूत्रः न ह्येकस्वभावस्य नानादिकालसंबन्धित्वस्वभावमनेकत्वं युक्तमेकस्यानेकत्वविरोधात् । न हि स्वरूपभेदादन्यो वस्तुभेदः स्वरूपस्यैव वस्तुत्वापत्तेः । तथाहि विद्यमानेऽपि स्वरूपे किमपरमभिन्नं वस्तु यद्रूपनानात्वेऽप्येकं स्यादिति । यद्वस्तुरूपं येन स्वभावेनोपलभ्यते तत्तेन सर्वात्मना विनश्यति न पुनः क्षणान्तरसंस्पर्शीति क्षणिकं क्षणकान्तरसम्बन्धे तत्क्षणकान्तरस्य क्षणान्तराकारविशेषप्रसङ्गात् अतो जातस्य यदि द्वितीयक्षणसंबन्धः प्रथमक्षणस्वभावं नापनयति तदा कल्पान्तरावस्थानसंबन्धोऽपि तत्रापनयन् स्वभावभेदं वा कथं न वस्तुभेदः अन्यथा सर्वत्र सर्वदा भेदाभावप्रसक्तिः । अक्षणिकस्य क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियानुपप-

तेरसत्वं सह कार्युपढौकितातिशयमनङ्गीकुर्वतस्तदपेक्षायोगाद्क्रमेण कार्यकारिणस्सर्वकार्यमेकदैव विदध्यादिति न क्रमकर्तृत्वम् न वा कदाचनापि स्वं कार्यमुत्पादयेत् निरपेक्षस्य निरतिशयत्वान्न हि निरपेक्षस्य कदाचित्करणमकरणं वा विरोधात् तत्कृतानुकारं स्वभावभूतमङ्गीकुर्वतः क्षणिकत्वमेव । व्यतिरिक्तत्वे वा संबन्धासिद्धिरपरोपकारकल्पनेऽनवस्थाप्रसक्तिः । युगपदपि न नित्यस्य कार्यकारित्वं द्वितीयेऽपि क्षणे तत्स्वभावात् । ततस्तदुत्पत्तितः तत्क्रमप्रसक्तेः । क्रमाक्रमव्यतिरिक्तप्रकारान्तराभावाच्च न नित्यस्य सत्वमर्थक्रियाकारित्वलक्षणत्वात्तस्य प्रध्वंसस्य च निर्हेतुकत्वेन स्वभावतो भावात् स्वरसभङ्गुरा एव सर्वे भावाः इति पर्यायाश्रितर्जुसूत्राभिप्रायस्तदुक्तम् । अतीतानागता देव, कालसंस्पर्शविवर्जितम् । वर्तमानतया सर्वमृजुसूत्रेण सूत्र्यते ॥ सम्म० । स्या० (अयं च नयो सूक्ष्मनयत्वेनानुयोगद्वारादिषूक्तः संमतिकृता पुनः पर्यायनयभेदत्वेनाभ्युपगतः पज्जायणय शब्दे ऽस्य विस्तरतो वर्णनं करिष्यते) (क्षणिकवादः खणियवायशब्दे) एकत्वानेकत्वसमस्तधर्मकलापविकलतायास्तदपि विज्ञानवादिपरिकल्पितम् विज्ञानशून्यरूपेण ऋजुसूत्रयतीति ऋजुसूत्रः । माध्यमिकदर्शनाऽवलम्बिनि सर्वभावानां नैरात्म्यं प्रतिपादयति पर्यायास्तिकनयभेदे,(तन्मतं सुण्णवायशब्दे)

उज्जुसुत्त (य)वयणविच्छेद–ऋजुसूत्रवचनविच्छेद–पुं० ऋजु वर्तमानसमयं वस्तुस्वरूपावच्छिन्नत्वात्तदेव सूत्रयति परिच्छिनत्ति नातीतानागतं तस्यासत्त्वेन कुटिलत्वात् तस्य वचनं पदं वाक्यं वा तस्य विच्छेदोऽन्तःसीमेति यावत् ऋजुसूत्रवचनस्येति कर्मणि षष्ठी । ऋजुसूत्रस्यैवायमर्थो नान्यस्येति प्ररूपयतो विच्छिद्यमाने वचने, “मूलणिमेणं पज्जव–णयस्स उज्जुसुयवयणविच्छेदो,तस्स उ सद्दाई आसाइपसाहासुहुमभेआ” सम०

उज्जुसुत्ता(या) भास–ऋजुसूत्राभास–पुं० ऋजुसूत्रवदाभासते ऋजुसूत्राभासः । सर्वथा द्रव्यापलापिनि, ऋजुसूत्रवदाभासमाने नयाभासे, र० ॥

उज्जुसेढि–ऋजुश्रेणि–स्त्री० ऋजुः सरला चासौ श्रेणी च । सरलाकाशप्रदेशपङ्क्तौ, । (उज्जुसेढिपत्ते अफुसमाणगई अड्डं एगसमइएणं अविग्गहेणं तत्थ गंता सागारोवउत्ते सिज्झइ) उत्त० २९ अ० ।

उज्जेणी–उज्जयिनी–स्त्री० अवन्तीजनपदराजधान्याम, “उज्जेणीए नयरीए अवंति नामेण य विस्सुओ ”संस्था० (उज्जेणि शब्दे वक्ष्यते) आव० ४ अ० ॥

उज्जेणग–उज्जयनक–पुं० स्वनामख्याते श्रावकभेदे, उज्जेणगस्स सावगस्स तत्थ णियलिंगेणं कालगयस्स मिच्छत्तं जायं, आव० ४ अ० ॥

उज्जोइय-उद्योतित–त्रि० उत् द्युत्. क्त. रत्नप्रदीपादिभिःप्रकाशिते, ग० १ अधि० । ध० । तं० । औ० ॥

उज्जोएमाण–उद्योतयत्–त्रि० प्रकाशयति, “दस दिसाउ उज्जोएमाणा पभासेमाणा” जीवा० ३ प्रति० । स्थूलवस्तूपदर्शनतः प्रकाशयति, स्था० ८ ठा० । सूत्र० । औ० । उपा० ॥

उज्जोय–उद्योत–पुं० उद्. द्युत्–अच्. । वर्तितृणचुडाकाष्ठादिभिः अग्निप्रकाशने, आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० । वस्तुप्रभासने, स्था० ४ ठा० । वस्तुविषये प्रकाशे, नं० । आ० म० प्र० । औ० । “ देवुज्जोयं करेंति ” रा० । “उज्जोओ तह य अंधकारो पयसो अ कुलक्खाणं परिणामो” सूत्र० १ अ० । अस्य निक्षेपः ।

सांप्रतमुद्योत उच्यते तत्राह–

दुविहो खलु उज्जोओ, नायव्वो दव्वभावसंजुत्तो ।
अग्गी दव्वुज्जोओ, चंदो सूरो मणी विज्जू ॥

द्विविधो द्विप्रकारः खलुशब्दो सूक्ष्मभेदापेक्षया न वक्ष्यपेक्षयेति विशेषणार्थः । उद्योत्यते प्रकाश्यते अनेनेति उद्योतो ज्ञातव्यो विज्ञेयो द्रव्यभावसंयुक्तः । द्रव्योद्योतो भावोद्योतश्चेति भावः । तत्र द्रव्योद्योतोऽग्निश्चन्द्रः सूर्यो मणिश्चन्द्रकान्तादिलक्षणो विद्युत् प्रतीता । एते द्रव्योद्योताः । एतैर्घटादीनामुद्योतनेऽपि तद्गतायाः सम्यक्प्रतीतेरभावात् सकलवस्तुधर्मानुद्योतना च न ह्यग्न्यादिभिः सदसन्नित्याद्यनन्तधर्मात्मकस्य वस्तुनः सर्व एव धर्माधर्मास्तिकायादयो वा द्योत्यन्ते तस्मादग्न्यादयो द्रव्योद्योता इति

अधुना भावोद्योतमाह ।

नाणं भावुज्जोओ, जह भणियं सव्वभावदंसीहिं ।
जस्स उवओगकरणे, भावुज्जोयं वियाणाहि ॥

ज्ञायते यथावस्थितं वस्त्वनेनेति ज्ञानम् । सतो भावोद्योतः तेन घटादीनामुद्योतने तद्गतायाः सम्यक्प्रतिपत्तेः स्वभावात्तस्य तदात्मकत्वात् । एतावता वा विशेषेणैव ज्ञानं भावोद्योत इति प्राप्तमत आह यथा भणितं यथावस्थितं सर्वभावदर्शिभिस्तथा यद् ज्ञानं सम्यग्ज्ञानमिति भावः । तत्रापि विशेषणोद्योतः किं तु तस्य ज्ञानस्योपयोगकरणे सति भावोद्योतं विजानीहि नान्यदा तदेव तस्य वस्तुनोऽतत्वसिद्धेः । इत्थमुद्योतस्वरूपमभिधाय साम्प्रतं येनोद्योतेन लोकस्योद्योतकरा जिना भवन्ति किंतु तीर्थकरनामकर्मोदयतोऽनु सत्वार्थसंपादनेन भावोद्योतकराः पुनर्भवन्ति जिनवराश्चतुर्विंशतिरिति । अत्र पुनःशब्दो विशेषणार्थः । स चैतत् विशिनष्टि । आत्मानमधिकृत्य केवलज्ञानेनोद्योतकरा लोकप्रकाशकवचनप्रदीपापेक्षया तु शेषकतिपयभव्यविशेषानधिकृत्योद्योतकरा अत एवोक्तं भवन्ति कोऽर्थः न भवन्ति न तु भवन्त्येवं कांश्चन प्राणिनोऽधिकृत्योद्योतकरत्वस्यासंभवात् । चतुर्विंशतिग्रहणमधिकृतावसर्पिणीगततीर्थकरसंख्याप्रतिपादनार्थमुद्योतनाधिकार एव द्रव्योद्योतः । द्रव्योद्योतोद्योतभावोद्योतोद्योतयोर्विशेषप्रतिपादनार्थमाह ।

दव्वुज्जोओजोओ, पभासई परिमियम्मि खित्तम्मि ।
भावुज्जोओजोओ, लोगालोगं पगासेइ ॥

द्रव्योद्योतोद्योतो द्रव्योद्योतप्रकाशः पुद्गलात्मकत्वात्तथाविधपरिणामयुक्तत्वाच्च प्रकाशयति । पाठान्तरं प्रभासते परिमिते क्षेत्रे अत्र यदा प्रकाशयति तदा प्रकाश्यं वस्तु अध्याह्रियते यदा तु प्रभासते तदा स एव दीप्यते इति गृह्यते भावोद्योतोद्योतो लोकं प्रकाशयति प्रकटार्थम् । उक्तः उद्योतः । आ० म० द्वि० ॥ आ०चू० । उद्योतो यद्यपि लोके भेदेन प्रसिद्धो यथा सूर्यगत आतपः चन्द्रगतः प्रकाश इति तथाप्यातपशब्दश्चन्द्रप्रभायामपि वर्तते इति । सूत्रकृदाह “ उज्जोवेंति तवंति पगासेंति आहितेति वदेज्जा ” चं० ३ पाहु० । दिवा उद्योतो रात्रावन्धकार इति दण्डकश्च अंधयार शब्दे उक्तः ।

ऊर्ध्वलोके तिर्यग्लोके च उद्योतः ॥

उड्ढलोगेणं चत्तारि उज्जोयं करेंति तंजहा देवा देवीओ विमाणा आभरणा तिरिक्खलोगेणं चत्तारि उज्जोयं करेंति चंदा सूरा मणी जोती । स्था० ४ ठा० ॥

उज्जोयकरण–उद्योतकरण–न० प्रकाशकरणे, आचा० १ श्रु० १ अ० ४ उ० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उज्जोयग—उद्योतक—त्रि० उद्योतयति प्रकाशयति केवलज्ञानदर्शनाभ्यामिति । अवयवतः स्फुटप्रकाशके, " सव्वजगुज्जोयगस्स " नं० ॥

उज्जोयगर—उद्योतकर—त्रि० उद्योतकरणशीला उद्योतकरास्तान् लोकस्य केवलालोकेन तत्पूर्वकवचनदीपेन वा सर्वलोकप्रकाशकरणशीलानित्यर्थः । उद्योतकरणशीले तीर्थकृदादौ, आ० म० द्वि० । प्रकाशकारिणि, प्रश्न० २ सं० द्वा०।

लोगस्स उज्जोअगरे, धम्मतित्थयरे जिणे ।
अरिहंते कित्तइस्सं, चउवीसं पि केवली ॥ १ ॥
उसभमजिअं च वंदे, संभवमभिणंदणं च सुमइं च ।
पउमप्पहं सुपासं, जिणं च चंदप्पहं वंदे ॥ २ ॥
सुविहिं च पुप्फदंतं, सीअलसिज्जंस वासुपुज्जं च ।
विमलमणंतं च जिणं, धम्मं संतिं च वंदामि ॥ ३ ॥
कुंथुं अरं च मल्लिं, वंदे मुणिसुव्वयं नमि जिणं च ।
वंदामि रिट्ठनेमिं, पासं तह वद्धमाणं च ॥ ४ ॥
एवं मए अभिथुआ, रयमलपहीणजरमरणा ।
चउवीसं पि जिणवरा, तित्थयरा मे पसीयंतु ॥ ५ ॥
कित्तियवंदियमहिया, जे ए लोगस्स उत्तमा सिद्धा ।
आरुग्गबोहिलाभं, समाहिवरमुत्तमं दिंतु ॥ ६ ॥
चंदे सुनिम्मलयरा, आइच्चेसु अहियं पयासयरा ।
सागरवरगंभीरा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ॥ ७ ॥

अस्य व्याख्या तल्लक्षणं चेदम् । " संहिता च पदं चैव पदार्थः पदविग्रहः । चालना प्रत्यवस्थानं, व्याख्या सूत्रस्य षड्विधाः तत्रास्खलितपदोच्चारणं संहिता सा च प्रतीता अधुना पदानि लोकस्योद्योतकरात् धर्मतीर्थकरान् जिनान् अर्हतः कीर्तयिष्यामि चतुर्विंशतिमपि केवलिन इति । अधुना पदार्थः लोक्यते प्रमिणा दृश्यते इति लोकः । अयं चेह तावत्पञ्चास्तिकायात्मको गृह्यते । तस्य लोकस्य उद्योतकरणशीला उद्योतकरास्तान् केवलालोकेन तत्पूर्वकवचनदीपेन वा सर्वलोकप्रकाशकरणशीलानित्यर्थः । तस्माद् दुर्गतौ प्रपतन्तमात्मानं धारयतीति धर्म्मः । उक्तंच । " दुर्गतिप्रसृतान् जन्तूनस्माद्धारयते ततः । धत्ते चैतान् शुभस्थाने, तस्माद्धर्म इति स्मृतः ॥ " तीर्यते संसारसागरोऽनेनेति तीर्थं धर्म एव धर्म्मप्रधानं वा तीर्थं धर्म्मतीर्थं तत्करणशीला धर्म्मतीर्थकरास्तान् । तथा रागद्वेषकषायेन्द्रियपरीषहोपसर्गाऽष्टप्रकारकर्म्मजेतृत्वाज्जिनास्तान् तथा अशोकाद्यष्टमहाप्रातिहार्यरूपां पूजामर्हन्तीत्यर्हन्तस्तान् अर्हतः कीर्त्तयिष्यामि स्वनामभिः स्तोष्ये चतुर्विंशतिरितिसंख्या । अपिशब्दो भावतस्तदन्यसमुच्चयार्थः केवलज्ञानमेषां विद्यते इति केवलिनः तान् केवलिन इति पदार्थः । पदविग्रहोऽपि यानि समासभाञ्जि पदानि तेषु दर्शित एव । संप्रति चालनावसरस्तत्र तिष्ठतु तावत्सूत्रस्पर्शिकानिर्युक्तिरेवोच्यते । स्वस्थानत्वात् । उक्तं च " अक्खलियसंहियाइ—वक्खाणचउक्कए दरिसियम्मि । सुत्तप्फासियनिज्जुत्ति, वित्थरत्थो इमो होइ " आ० म० द्वि० । ध० । ईश्वरसिद्धिविषये कृतबहुश्रमे विद्वद्वृन्दे, उद्योतकरस्तु प्रमाणयति । भुवनहेतवः प्रधानपरमाणवोऽदृष्टाः स्वकार्योत्पत्तावतिशयवद्बुद्धिमन्तमधिष्ठातारमपेक्षन्ते स्थित्वा प्रवृत्तेस्तन्तुतुर्य्यादिवदिति ॥ सम्म० ॥

उज्जोयगसूरि—उद्योतनसूरि— पुं० देवसूरिशिष्यनेमिचन्द्रशिष्ये वर्द्धमानसूरिगुरौ वटगच्छस्य प्रथमाचार्य्ये, ' तस्माच्च विमलचन्द्रः, सदेमसिद्धिर्वभूव सूरिवरः । उद्योतनश्च सूरिः, शोषितदुरिताङ्कुरव्यूहः । अथ युगनवनन्द (९९४) मिते, वर्षे विक्रमनृपादतिक्रान्ते । पूर्वावनितो विहरन्, सोऽर्बुदसुगिरेः समीपमागात् । तत्र वटेलीखेटक—सीमावनिसंस्थवरवटाधः । सुमुहूर्ते सूपदेष्टान् सूरीन् संस्थापयामास । ख्यातस्ततो गणोऽयं वटगच्छाख्योऽपि बृहद्गच्छ इति । ग० । पं० व० । अयं च विक्रमसंवत् (९९४) मालवदेशाच्छत्रुञ्जयं गच्छन् मार्गे एव देवलोकं गतः । जै० इ० ॥

उज्जोयणाम—उद्योतनामन्—न० उद्योतनिबन्धनं नाम नामकर्मभेदे,

अणुसिणपयासरूवं, जियंगमुज्जोयएइ हुज्जोया ।
जइ देवुत्तरविक्किय, जोइसखज्जोयमाइव्व ॥ ४५ ॥

इहोद्योतादुद्योतनामोदयेन जीवाङ्गं जन्तुशरीरमुद्योतत्वे उद्योतं करोति कथमित्याह । अनुष्णप्रकाशरूपमुष्णप्रकाशरूप हि वह्निरप्युद्योतत इति तद्व्यवच्छेदार्थमनुष्णप्रकाशरूपमित्युक्तम् । आह क इवोद्योतोदयाज्जन्तुशरीराण्यनुष्णप्रकाशरूपमुद्योतं कुर्वन्तीत्याह । यतिदेवोत्तरवैक्रियज्योतिष्कखद्योतादय इव । तत्र यतयश्च साधवो देवाश्च सुरा यतिदेवाः यतिदेवैर्मूलशरीरापेक्षयोत्तरकालं क्रियमाणं वैक्रियं यतिदेवोत्तरवैक्रियं ज्योतिष्काश्चन्द्रग्रहनक्षत्रताराः खद्योताः प्रतीताः ततो यतिदेवोत्तरवैक्रियं च ज्योतिष्काश्च खद्योताश्च ते आदिर्येषां रत्नौषधीप्रभृतीनां ते यतिदेवोत्तरवैक्रियज्योतिष्कखद्योतादयस्त इव । अत्र मकारो लाक्षणिकः । अयमर्थः यथा यतिदेवोत्तरवैक्रियं चन्द्रग्रहादिज्योतिष्काः एव खद्योतरत्नौषधीप्रभृतयश्चानुष्णप्रकाशात्मकमुद्योतं विदधति तथा यदुदयाज्जन्तुशरीराण्यनुष्णप्रकाशरूपमातपमातन्वन्ति तदुद्योतनामेत्यर्थः । कर्म० । पं० सं० । प्रव० । आ० ॥

उज्जोयदुग—उद्योतद्विक—न० उद्योतातपलक्षणे नामकर्मप्रकृतियुग्मे, कर्म० ॥

उज्जोयफुड—उद्योतस्पृष्ट—त्रि० प्रकाशसंयुते, उज्जोयफुडम्मि तु दप्पणम्मि संजुज्जते जया देहो होति ततो पलिबिंबं छायावण्णाससंजोगा,, । नि० चू० १३ उ० ॥

उज्जोवित—उद्योतित—त्रि० उद्- द्युत्- णिच्- । क- । रत्नप्रदीपादिभिर्दीप्ते, नि० चू० ५ उ० ॥

उज्झअ—उज्झक—त्रि० सद्विवेकशून्ये, " भिक्खा तिव्वाभितावेणं उज्झआ असमाहिआ" सद्विवेकशून्या भिक्षा पात्रादित्यागात्परगृहप्रोञ्जितयोहेशकादिभोजित्वात् । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ।

उज्झण—उज्झन—न० उज्झ्-ल्युट्- । बहिर्नयने, विशे० । परित्यागे, ओ० ।

उज्झणविहि—उज्झनविधि—पुं० परिष्ठापनविधौ, व्य० द्वि० ७ उ०

उज्झणा—उज्झना—स्त्री० उज्झ. णि. युच् । उत्सर्गे, अवकिरणे, आव० ४ अ० ॥

उज्झर—अवझर—पुं० पर्वततटादुदकस्याऽधःपतने, ज० ५ श, ७ उ० । निर्झरविशेषे, ज्ञा० ५ अ० । प्रवाहे च, । नं० । जं० ।

उज्झररव—अवझररव—पुं० निर्झरशब्दे, ज्ञा० १ अ० ॥

उज्झरवण्णी—अवझरपर्णी—स्त्री० उदकपाते, इगवातो सीतमारा साय उज्झरवणी भण्णति, नि० चू ५ उ० ।

उज्झाअ—उपाध्याय—पुं० उप, अधि. इ. अण. । " ऊच्चोपे" ८ । १ । ३७

उपशब्दे आदेः स्वरस्य परेण सस्वरव्यञ्जनेन सह उत, ओच्चावे-शौ वा भवतः । इति कत्वे संयोगादित्वाद्ध्रस्वः । पाइके, प्रा० ॥

उज्झित्तं-उज्झित्वा-अव्य० परित्यज्येत्यर्थे, "उज्झित्तं बाले वेरस्स आभागी भवन्ति ." सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

उज्झिऊण-उज्झित्वा-अव्य० उज्झ त्वा इह्-परित्यज्येत्यर्थे,'अपसत्थं पणिहाणं उज्झिऊण समणेणं । व्० ८ अ० ।

उज्झित्तए-उज्झितुम्-अव्य० सर्वस्यादेशविरतेस्त्यागतः परित्यक्तुमित्यर्थे, उपा० २ अ० ॥ " सीलव्वयगुणवेरमणपच्चक्खाणपोसहोववासाई चालित्तए वा खोभित्तए खंमित्तए भंजित्तए वा उज्झित्तए " ज्ञा० ८ अ० ।

उज्झिय-उज्झित-न० परित्यागे, अनु० ॥ उज्झ. कर्मणि. क्त. । रहिते, अष्ट० । जिल्ल, भिणंति वा उज्झियंति वा पगठ्ठमिति । आव० ४ अ० ।

चतुर्थ्यां वस्त्रपात्रादि प्रतिमायाम् ॥

दव्वाइदव्वहीणा-हियं तु अमुगं च मे न घेत्तव्वं ।

दोहि विचारवनिसिट्टं, तमुज्झिउज्झइणो नड्डं ॥

उज्झितं चतुर्धा । द्रव्यक्षेत्रकालभावोज्झितभेदात्तत्र द्रव्योज्झितं यथा केनचिदगारिणा प्रतिज्ञातमियत्प्रमाणात् हीनाधिकं पात्रममुकं वा कमठकप्रतिग्रहादिकं पात्रं मया न गृहीतव्यं तदेव केनचिदुपनीतं ततः प्रागुक्तयुक्त्या द्वाभ्यामपि भावतो निसृष्टं तदेव जाचितमनवजाचितं वा दीयमानं द्रव्योज्झितम् ।

क्षेत्रोज्झितमाह ।

अमुगुब्भवं एधारे, लवणीयं तं च केणई तस्स ।

जं तुज्झेतरहाई, सदेस बहुपसदेसे वा ॥

अमुकदेशोद्भवं पात्रं न धारयामि तदेव च केनचिदुपनीतं तदुभाभ्यामपि पूर्वोक्तहेतोः परित्यक्तं क्षेत्रोज्झितम् यद्वा पात्रमुज्झेयुर्भरतादयो भरतो नटः आदिशब्दाच्चारणादिपरिग्रहः स्वदेशं गताः सन्तो बहुपात्रदेशे वा तदपि क्षेत्रोज्झितम् ।

कालोज्झितमाह ।

दगदोच्छिगाइ पुव्वे-काले जुग्गं तदत्थहिं उज्झे ।

होहिइ वएस्स काले, अजोग्गयमणागयं उज्झे ॥

दोच्छिकं तुम्बकं दकस्य जलस्य यच्छ्रियते तुम्बकं तत्रादिशब्दात्तत्र तुम्बकादिकं च यत्पूर्वस्मिन् ग्रीष्मादौ काले योग्यं तदन्यस्मिन् वर्षाकालादावुज्झेत् भविष्यति वा पश्यति काले ऽयोग्यमतोऽनागतमेव यदुज्झेत् तदेतदुभयथापि कालोज्झितं ज्ञातव्यम् ।

भावोज्झितमाह ।

लध्दूण अन्नमन्ने, पत्ते दो देइ अन्नस्स ।

सो वि अनिच्छइ ताई, भावुज्झिय एवमाईयं ॥

लब्ध्वा अन्यान्यभिनवानि पात्राणि पुराणानि स गृही अन्यस्य कस्यचिद्ददाति अपि च तानि दीयमानानि अपि यदा नेच्छति तदा एवमादिकं भावोज्झितं द्रष्टव्यम् ॥ बृ० १ उ० । नि. चू. । स्था.

उज्झियकप्प-उज्झितकल्प-पुं० उज्झितरूपे कल्पनीयेऽर्थे, अंतगमुज्झियकप्पे, नयजूमि खणंति इहरहावितिषि असज्झाइयप्पमाणं अंसय जिभंति वा उज्झियंति वा पगट्ठं तं च कप्पे वा उज्झियं जूमीए जइ कप्पे ता कप्पं ॥ आव० ४ अ० ।

उज्झियथोवमाहार-उज्झितस्तोकाहार-पुं० उज्झितधर्मो स्तोकः स्वल्प आहारो यस्य स उज्झितस्तोकाहारः । सप्तमपिण्डैषणाविषयकाभिग्रहधारके, ॥ आव० ३ अ० ।

उज्झियधम्मग-उज्झितधर्मक-त्रि० परित्यक्तजनधर्मके, 'अप्पोसिया भोयणजाए बहु उज्झियधम्मए " आचा० १ श्रु० १ अ० ६ उ० ।

उज्झियधम्मा-उज्झितधर्म्मा-स्त्री० यत्परित्यागार्हं भोजनजातमन्ये च द्विपदादयो नावकाङ्क्षन्ति तदर्द्धत्यक्तं वा गृह्णतः सप्तम्यां पिण्डैषणायाम्, पंचा० १८ विव० । स्था० । ध० । सूत्र० । आ० चू.

उज्झियधम्मिय-उज्झितधर्मिक-त्रि० उज्झितं परित्यागः स एव धर्मः पर्यायो यस्यास्ति तदुज्झितधर्मिकम् । सप्तमपिण्डैषणापरिशुद्धे, । अणु० ॥ अह उज्झियधम्मिया पुव्वदेसे किर पुव्वएह रत्तं जं तं अवरएहे परिहविज्जाति साधुआगमणं च तंपि जहण्णगतं वा देज्जा हत्थगं वा देज्जा कप्पति जिणकप्पितस्स पंचविहिभाहणं थेराणं सत्तविहि एताप्ति सत्तएहं पिंडेसणाणं केइ पढंति सत्तएहं पाणेसणाणं एवं पणेए वि चउत्थी अप्पलेवा तिलोदगादी । आ० चू० ४ अ० ।

उज्झियय-उज्झितक-पुं० विजयमित्रसार्थवाहस्य सुभद्रायां भार्य्यायामुत्पन्ने सुते, तद्वक्तव्यता दुःखविपाकानां द्वितीये ऽध्ययने दर्शिता तद्यथा-

जइणं भंते ! समणेणं जाव संपत्तेणं दुहविवागाणं पढमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पएणत्ते दोच्चस्सणं भंते ! अज्झयणस्स दुहविवागाणं समणेणं जाव संपत्तेणं के अट्ठे पएणत्ते तएणं सुहम्मे अणगारे जंबू अणगारं एवं वयासी । एवं खलु जंबू तेणं कालेणं तेणं समएणं वाणियगामे णाम णयरे होत्था रिद्ध ३ तस्स णं वाणियगामस्स उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए दुईपलासे णामं उज्जाणे होत्था । तत्थ णं दुईपलासे सुहम्मस्स जक्खस्स जक्खायतणे होत्था । वएणओ तत्थ णं वाणियगामे मित्ते णामं राया होत्था । तत्थ णं मित्तस्स रएणो सिरीणामं देवी होत्था । वएणओ तत्थ णं वाणियगामे कामज्झया णामं गणिया होत्था । अहीण जाव सुरूवा बावत्तरिकलापंमिया चउसट्ठिगणियागुणोववेया एकूणतीसे विसेसे रममाणी एकतीसरइगुणप्पहाणा बत्तीसपुरिसोवयारकुसला णवंगसुत्तपमिबोहिया अट्ठारसदेसीभासाविसारया सिंगारागारचारुवेसाइगीयरइगंधव्वणट्टकुसला संगयगयजणियविहियविलाससललियसंलावनिउणजुत्तोवयारकुसला सुंदरथणजहणवयणकरचरणलावएणविलासकलिया ऊसियधयासहस्सलंभा विदिण्णछत्तचामरवालवेयणिकया कणीरहप्पयाया होत्था । बहुणं गणियासहस्साणं आहेवच्चं पोरेवच्चं सामित्तं भट्टित्तं महत्तरगत्तं आणाईसरसेणावच्चं करेमाणी पालेमाणी विहरइ । तत्थ णं वाणियगामे विजयमित्ते णामं सत्थवाहे परिवसइ । अड्ढे तस्स णं विजयस्स मित्तसुभद्दाणामं भारिया होत्था । अहीण तस्स णं विजयमित्तस्स पुत्ते सुभद्दाए भारियाए अत्तए उज्झिए णामं दारए होत्था । अहीण जाव सुरूवा तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं जाव समोसढे परिसा निग्गया राया विनिग्गया जहा कूणिओ निग्गओ धम्मो कहिओ परिसा राया पमिगया । तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स जगवओ महावीरस्स जेट्ठे अंतेवासी इंदभूई जाव तेयलेसे छट्ठं छट्ठेणं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जहा पएणत्तीए पढमं जाव जेणेव वाणियगामे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता वाणियउच्चनीयकुलाइं अडमाणे जेणेव रायमग्गे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता तत्थणं बहवे हत्थी पासई सणद्धबद्धवम्मियगुडिए उप्पीलियकयत्थे उदामियघंटे णाणामणिरयणविविहगेवज्जे उत्तरंकचुइज्जे पडिकप्पिए झयपडागवरपंचामेला आरूढे हत्थारोहे गहिया उहपहरणए अपो य तत्थ बहवे आसे पासई सएणद्धबद्धवम्मियगुडिए आविद्धगुडे उसारियपक्खरे उत्तरकंचुइयओचूलमुहचंडाधरचामरथासकपरिमंडियकडिए आरूढस्सारोहे गहियाओ हप्पहरणे तेसिं च णं पुरिसाणं मज्झगयं एगं पुरिसं पासइ अवउडगबंधणं उक्तकषणासं णेहतुप्पियगयं बज्झकरकडिजुयणियत्थं कंठेप्प गुणरत्तमल्लदामं चुएणगुंडियगायं चुएणयं वज्झपाणपीयं तिलं २ चेव छिज्जमाणं काकणिमंसाइं खावियंतं णवीखक्खरसएहिं हम्ममाणं अणेगणरणारिसंपरिवुडे चच्चरे चच्चरे खंडपडहएणं उग्घोसिज्जमाणं इमं च णं पयारूवं उग्घोसएणं सुणेइ णो खलु देवाणुप्पिया उज्झियगस्स दारगस्स केई राया रायपुत्तो वा अवरज्जइ । अप्पणो से सयाइं कम्माइं अवरज्जइ तएणं से भगवं, गोयमस्स तं पुरिसं पासित्ता इमे अज्झत्थिए ४ अहोणं इमे पुरिसे जाव णिरयपडिरूवयं वेयणं वेएसि त्ति कट्टु वाणियगामे णयरे उच्चणीयकुले २ जाव अडमाणे अहापज्जत्तं समुदाणं गेएहइ त्ता णियगामं णयरं मज्झं मज्झेणं जाव पडिदंसेइ समणं भगवं महावीरं वंदइ णमंसइ एवं वयासी एवं खलु अहं भंते तुब्भेहिं अब्भणुएणाए समाणे वाणियगामं जाव तहेव निवेएइ सेणं भंते पुरिसे पुव्वभवे केआसि जाव पच्चणुब्भवमाणे विहरइ । एवं खलु गोयमा ! तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जंबूदीवे दीवे भारहे वासे हत्थिणाउरे णामं णयरे होत्था । रिद्ध तत्थ णं हत्थिणाउरे णयरे सुणंदे णामं राया होत्था । महियाहिमवंतमलयमंदरतत्थ णं हत्थिणाउरे णयरे बहुमज्झदेसभाए तत्थ णं महं एगे गोमंडवे होत्था । अणेगखंभसयसएिणविट्ठे पासाईए ४ तत्थ णं बहवे णयरे गोरुवासणाहा य अणाहा य णयरगावीओ य णयरवलीवद्दा य णयरपडियाओ य णयरमहिसओ य णयरवसभा य पउरतणपाणीय णिब्भया णिरुव्विया सुहं सुहेणं परिवसइ । तत्थ णं हत्थिणाउरे भीमणामे कूडग्गाहे होत्था । अहम्मिए जाव दुप्पडियाणंदे तस्स णं भीमस्स कूडग्गाहस्स उप्पला णामं भारिया होत्था । अहीण तएणं साउप्पला कूडग्गाहिणी अएणया कयाइ आवएणसत्ता जाया वि होत्था । तएणं तीसे उप्पलाए कूडग्गाहिणीए तिएहं मासाणं बहुपडिपुएणाणं अयमेया रूवे दोहले पाउब्भूए धएणाउणं ताओ अम्मयाओ ४ जाव सुलद्धे जाणं

बहुणं बहुणं णयरगोरूवाणं सएणहाण य जाव वसभाण य ऊहेहि य थणेहि य वसणेहि य छिप्पाहि य कुकुहेहिं य वहाहि य कएणाहि य अक्खिहि य णासाहि य जिब्भाहि य ओट्टेहि य कंवलेहि य सोल्लेहि य तलंतेहि य भज्जिएहि य परिसुक्केहि य लावणेहि य सुरं च महुं च मेगरं च जाइं च सिंधुं च पसएणं च आसाए माणीओ विसाएमाणीओ परिभाएमाणीओ परिभुंजमाणीओ दोहलं विणज्जंति तं जइणं अहमवि बहुणं णयरं जाव विणिज्जामि तिकट्टु तंसि दोहलंसि अविणिज्जमाणंसि सुक्का भुक्खा निम्मंसा उलग्गाउलग्गसरीरा नित्तेयादीणं च मणवयणा पंडुल्लुइयमुही इमं च णं भीमे कूडग्गाहे जेणेव उप्पला कूडग्गाहणीए तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता उहय जाव पासइ पासइत्ता एवं वयासी ॥ किएणं तुमं देवाओ हयज्झिया हिंसि तएणं सा उप्पला भारिया भीमकूडग्गाहं एवं वयासी । एवं खलु देवा ममं तिएहं मासाणं बहुपडिपुएणाणं दोहलं पाउब्भूए धएणाणं ४ जाउणं बहुणं गोरूवाणं ऊहेहि य जाव लावणएहि य सुरं च ६ आसाएमाणीओ ४ दोहलंविणिंति तए णं अहं देवाणुप्पिया तंसि दोहलंसि अविणिज्जमाणंसि जाव झियामि । तएणं से भीमकूडग्गाहे उप्पलं भारियं एवं वया० माणं तुमं देवाणुप्पिया उहज्झियासि अहएणं तं तहा करिस्सामि जहा णं तव दोहलस्स संपत्ती भविस्सइ ताहिं इट्ठाहिं कंताहिं जाव समासासेइ तएणं से भीमे कूडग्गाहे अद्धरत्तकालसमयंसि एगे अवीए सएणद्धजावपहरणे साओ गेहाओ णिगच्छइ णिगच्छइत्ता हत्थिणाउरं मज्झं मज्झेणं जेणेव गोमंडवे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता बहुणं णयरगोरूवाणं जाव वसभाण य अप्पेगइयाणं ऊहे छिंदइ अप्पेगइयाणं कंवलए छिंदइ अप्पेगइयाणं अएणमएणाणं अंगोवंगाइ विंगेइ विंगेइत्ता जेणेव सए गिहे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता उप्पलाए कूडग्गाहणीए ववणेइ तएणं सा उप्पला भारिया तेहिं बहुहिं गोमंसेहिं सोल्लेहिं सुरं च आसाएमाणीए ४ तं दोहलं विणेइ तएणं सा उप्पला कूडग्गाहणी संपुएणदोहला समाणीयदोहला विच्छिएणदोहला संपएणदोहला तं गब्भं सुहं सुहेणं परिवसइ । तए णं सा उप्पला कूडग्गाही अएणया कयाई नवएहं मासाणं बहुपडिपुएणाणं दारगं पयाया । तए णं तेणं दारएणं जायमित्तेणं चेव महया २ सद्देणं विघुट्ठे विसरे आरसिए तएणं तस्स दारगस्स आरोयसद्दं सोच्चा णिसम्म हत्थिणाउरे णयरे बहवे णयरगोरूवा जाव वसभाए य भीया ४ उव्विग्गा सव्वओ समंता विप्पलाइत्ता तएणं तस्स दारगस्स अम्मापियरो अयमेया रूवे णामधेज्जं करेइ जम्हा णं अम्हं इमेणं दारएणं जायमित्तेणं चेव महया २ सद्देणं विघुट्ठे विस्सरे आरसिए तएणं

एयस्स दारगस्स आरसियसद्दं सोच्चा णिसम्म हत्थिणाउरे बहवे णयरे गोरूवा जाव भीया ४ सव्वओ समंता विप्पलाइत्था तम्हाणं होउं अम्हं दारए गोत्तासे णामेणामेणं तए णं से गोत्तासे दारए उम्मुक्कबालभावे जाव जाए यावि होत्था । तए णं से भीमे कूडग्गाहे अन्नया कयाइं कालधम्मुणा संजुत्ते तएणं से गोत्तासे दारए बहुणं मित्तणाइं णियगसयणसंबंधिपरिजणेणं सद्धिं संपरिवुडे रोयमाणे कंदमाणे विलवमाणे भीमस्स कूडग्गाहस्स णीहरणं करेइ करेइत्ता बहुइलोइयमयकिच्चाइं करेइ करेइत्ता तएणं से सुणंदे राया गोत्तासं दारयं अन्नयाकयावि सयमेव कूडग्गाहेत्ताए ठवेइ । तए णं से गोत्तासे दारए कूडग्गाहे जाएयावि होत्था । अहम्मिए जाव दुप्पडियाणंदे तए णं से गोत्तासे दारए कूडग्गाहे कल्लाकल्लिं अद्धरत्तकालसमयंसि एगे अबीए सन्नद्धबद्धकवए जाव गहिया उहपहरणे साओ गिहाओ णिज्जइ जेणेव गोमंडवे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता बहु णं णयरगोरूवाणं सणाहा य जाव वियंगत्तेइ वियंगत्तेइत्ता जेणेव सए गिहे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता तएणं से गोत्तासे कूडग्गाहे तेसिं बहुहिं गोमंसेहिं सोल्लेहिं सुरं च ६ आसाएमाणे ४ विहरइ तए णं से गोत्तासे कूडग्गाहे एयकम्मे एयपहाणे एयविज्जे एयसमायारे सुबहुपावं कम्मं समज्जिणित्ता पंचवाससयाइं परमाउं पालइत्ता अट्टदुहट्टोवगए कालमासे कालं किच्चा दोच्चाए पुढवीए उक्कोसं तिसागरो णेरइयत्ताए उववण्णे । तएणं सा विजयमित्तस्स सत्थवाहस्स सुभद्दा भारिया जाइ णिंदुया वि होत्था । जाया दारगा विणी हायमावज्जंति तएणं से गोत्तासे कूडग्गाहे दोच्चाओ पुढवीओ अणंतरं उव्वट्टित्ता इहेव वाणियग्गामे णयरे विजयमित्तस्स सत्थवाहस्स सुभद्दा भारिया कुच्छिंसि पुत्तत्ताए उववण्णे । तए णं सा सुभद्दा सत्थवाही अन्नया कयावि णवण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं दारयं पयाया । तए णं सा सुभद्दा सत्थवाही तं दारगं जायमेत्तयं चेव एगंते उक्कुरुडियाए उज्झावेइ उज्झावेइत्ता दोच्चं पि गिण्हावेइ गिण्हावेइत्ता आणुपुव्वेणं सा रक्खमाणी गोवेमाणी संवड्ढेइ तओ णं तस्स दारगस्स अम्मापियरो एक्कारसमे दिवसे णिवत्ते संपत्ते बारसाहे अयमेयारूवे गोणं गुणणिप्फण्णं णामधेज्जं करेइ जम्हा णं अम्हं इमं दारए जायमेत्ताए चेव एगंते उक्कुरुडियाए उज्झिए तम्हाणं होउं अम्हं दारए उज्झियणामेणं तए णं से उज्झिए दारए पंचधाई परिग्गहिए तंजहा खीरधाई १ मज्जणधाई २ मंडणधाई ३ कीलावणधाई ४ अंकधाई ५ जहा दढपइण्णे जाव णिव्वाय णिव्वाघायगिरिकंदरमल्लीणेव चंपगपायवे सुहं सुहेणं विहरइ । तए णं से विजयमित्ते सत्थवाहे अन्नया गणिमं च धरिमं च मेज्जं च पारिच्छेज्जं च चउव्विहं भंडगं गहाय लवणसमुद्दं पोयवहणेणं उवगए । तएणं से विजयमित्ते तत्थ लवणसमुद्दे पोत्ते विवत्तए णिबुडं भंडसारे अत्ताणे असरणे कालधम्मुणा संजुत्ते तएणं तं विजयसत्थवाहं जे जहा बहवे ईसरतलवरकोडुंबियइब्भसेट्ठिसत्थवाहा लवणसमुद्दो पोयविवत्तियं निव्वुडभंडसारं कालधम्मुणा संजुत्तं सुणेइ ते तहा हत्थणिक्खेवं च बाहिरभंडसारं च गहाइ एगं तं अवक्कमइ । तए णं सा सुभद्दा सत्थवाही विजयमित्तं सत्थवाहं लवणसमुद्दे पोयविवित्तिं णिव्वुडं कालधम्मुणा संजुत्तं सुणेइ सुणेइत्ता महया पइसोएणं अप्फुण्णा समाणी परसुनियत्ता विव चंपगलया धसइ धरणीतलंसि सव्वं गेहिं सन्निपाडिया तएणं सा सुभद्दा मुहुत्तंतरेणं आसत्था समाणी बहुहिं मित्त जाव परिवुडा रोयमाणी कंदमाणी विलवमाणी विजयमित्तं सत्थवाहं लोइयाइं मयं किच्चाइं करेइ करेइत्ता तएणं सा सुभद्दा अन्नया कयावि लवणसमुद्दोतरं च लच्छिविणासं च पोतविणासं च पतिमरणं च अणुचिंतेमाणी २ कालधम्मुणा संजुत्ता । तएणं णायरगुत्तिया सुभद्दं सत्थवाहिं कालगयं जाणित्ता उज्झियगं दारगं सओ गिहाओ णिच्छुभंति छुभंतित्ता तं गिहं अण्णस्स दलयंति । तएणं से उज्झियदारए सयाओ गिहाओ निच्छुढे समाणे वाणियग्गामे णयरे सिंघाडगजावपहेसु जूयखलएसु वेसियाघरएसु पाणागारेसु य सुहं सुहेणं परिवड्ढइ । तएणं से उज्झिए दारए अणोहट्टए अणिवारए सच्छंदमइसयरप्पयारे मज्जप्पसंगी चोरजूयवेसदारप्पसंगी जाएयावि होत्था । तए णं से उज्झिए अन्नया कामज्झियाए गणियाए सद्धिं संपलिग्गे जाएयावि होत्था कामज्झियाए गणियाए सद्धिं उरालाइं माणुस्सगाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरइ तएणं तस्स मित्तस्स रण्णो अन्नया कयावि सिरीए देवीए जोणीसूलपाउब्भूए या वि होत्था । णो संचाएइ मित्ते राया सिरीए देवीए सद्धिं उरालाइं माणुस्सगाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरइ विहरित्तए तए णं से मित्ते राया अन्नया कयावि उज्झियए दारए कामज्झियाए गणियाए गिहाओ णिच्छुभावेइ णिच्छुभावेइत्ता कामज्झियं गणियं अब्भिंतरयं ठवेइ । कामज्झियाए गणियाए सद्धिं उरालाइं जाव विहरइ तएणं से उज्झियदारए कामज्झियाए गणियाए गिहाओ णिच्छुभविसमाणे कामज्झियाए गणियाए मुच्छिए गिद्धे गढिए अज्झोववण्णे अण्णत्थ कत्थइ सुयं च रतिं च धितं च अविंदमाणे तच्चित्ते तम्मणे तल्लेसे तदज्झवसाणे तदट्ठोवउत्ते तयप्पियकरणे तब्भावणाभाविए कामज्झियाए गणियाए बहूणि अंतराणि य छिद्दाणि य विवराणि य पडिजागरमाणे २ विहरइ । तए णं से उज्झिए य दारए अन्नया कामज्झियं गणियं अंतरं

लभेइ कामज्झियं गणियं गेहिं रहस्सइगं अणुप्पविसइ अणुप्पविसइत्ता कामज्झियाए गणियाए सर्द्धि उरालाइं जाव विहरइ। इमं च णं मित्ते रायाए हाए जाव कयवलि-कम्मा कयकोउयमंगलपायच्छित्ते सव्वालंकारविभूसिय-माणस्स वागुराए परिखित्ते जेणेव कामगणियाए गिहे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता तत्थ णं उज्झियए दारए कामज्झ-याए गणियाए सर्द्धि उरालाइं जाव विहरमाणं पासइ पासइत्ता आसुरुत्ते ४ तिवलिं भिउडिं णिलाडे साहट्टु उज्झियं दारयं पुरिसेहिं गिण्हावेइ गिण्हावेइत्ता अट्ठिमुट्ठि-जाणुकोप्परप्पहाणं संभग्गमहियमत्तं करेइ करेइत्ता अवउ-डगबंधणं करेइ करेइत्ता एएणं विहारेणं वज्झं आणावेइ। एवं खलु गोयमा! उज्झियए दारए पुरा पोराणाणं जाव पच्चणुब्भवमाणे विहरइ। उज्झएणं भंते दारए पणवीसं वासाइं परमाउं पालइत्ता अज्जेवइभागावसेसे दिवसे सूलभिन्ने कए समाणे कालमासे कालं किच्चा कहिं गमिहिंति कहिं उववज्जिहिंति? गोयमा! उज्झियए दारए पणवीसं वासाइं प० अज्जेवइ भागावसेसे दिवसे सूलभिन्ने कए समाणे कालमासे कालं किच्चा इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए णेरइय-त्ताए उववज्जिहिंति सेणं तओ अणंतरं उववज्जित्ता इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे वेयड्ढगिरिपायमूले वाणरकुलंसि वाणरत्ताए उववज्जिहिति सेणं तत्थ उम्मुक्कबालभावे तिरियभोए मुमुच्छिए गिद्धे गढिए अज्झोववण्णे जाए वाणर-पल्लेए वहेइ। एय कम्मे ४ कालमासे कालं किच्चा इहेव जंबुद्दीवे भारहे वासे इंदपुरे णयरे गणियाकुलंसि पुत्तत्ताए पच्चायाहिंति तएणं तं दारगं अम्मापियरो जायमेत्तं कं वद्धेहिंति। तएणं तस्स दारगस्स अम्मापियरो णिव्वत्तबा-रसाहे दिवसे इमं एयारूवं णामधेज्जं करेहिंति। होउणं पियसेणे णपुंसए तएणं से पियसेणे णपुंसए उम्मुक्कबालभावे जोव्वणगमणुपत्ते विण्णयपरिणयमित्ते रूवेण य जोवणेण य लावण्णेण य उक्किट्ठे उक्किट्ठसरीरा भविस्सइ। तएणं से पियसेणे णपुंसए इंदपुरे णयरे बहवे राईसर जाव पभियओ बहुहि य विज्जापओगेहि य मंतचुण्णेहि य उड्डावणेहि य णिण्हवणेहि य पण्हवणेहि य वसीकरणेहि य अभिओ-गेहि य अभियोगित्ता उरालाइ माणुस्सए भोगभोगाइं भुं-जमाणे विहरिस्सइ। तए णं से पियसेणे णपुंसए एयकम्मे ४ सुबहुपावकम्मं समज्जिणित्ता इक्कवीसं वाससयं परमाउं पालइत्ता कालमासे कालं किच्चा इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए णेरइयत्ताए उववज्जिहिंति। तओ सिरिसिवे सुसंसारो तहेव जाव पढमो जाव पुढविसेणं तओ अणंतरं उवट्टित्ता इहेव जंबुद्दीवे भारहे वासे चंपाए णयरीए महिसत्ताए पच्चायाहिं ति सेणं तत्थ अण्णया कयावि गोट्ठिल्लएहिंजी-वियाओ विवरोविसमाणे तत्थेव चंपाए णयरीए सेट्ठिकुलं-सि पुत्तत्ताए पच्चायाहिंति सेणं तत्थ उम्मुक्कबालभावे तहा रूवाणं थेराणं अंतिए केवलं बोहियअणगारे सोहम्मे कप्पे जहापढमो जाव अंतं करेहिंति णिक्खेवो बिइयं अज्झयणं सम्मत्तं। वि०२अ०॥ (टीका शब्दार्थमात्रदर्शिनीत्युपेक्षिता)

उज्झिया–उज्झिका– स्त्री० धनसार्थवाहसुतस्य धनपालस्य भार्यायाम। ज्ञा० ७ अ।

उज्झे–यूयम्-युष्मान्–भे तुब्भे उज्झे तुम्ह तुय्हे उय्हे जसा ८।३।६१। वो तुब्भे उज्झे तुय्हे उय्हे भे शसा ८।३।९३। इति च युष्मच्छब्दस्य जसा सह शसा सह च उज्झे इत्यादेशः। यूयं पदस्य युष्मान् पदस्य चार्थे, प्रा०॥

उट्ट–उष्ट्र–पुं० स्त्री० उष्० ष्ट्रन् किच्च० ह्रस्वात्थ्यश्चत्सप्सामनिश्चले ८।२।३४। इति उष्ट्रपर्य्युदासात् ष्ट्र भागस्य ट्ठः। प्रा०। (ऊंट) इति प्रसिद्धे करभपर्याये चतुष्पदभेदे, प्रज्ञा०। प्र०। 'अह भंते उट्टे गोणे खरे घोडए' प्रज्ञा०११पद। स्त्रियां जातित्वात् ङीष् वाच०। कर्म०। जलचरविशेषे च०। मग्गु उट्टा दगरक्खसो सूत्र० १ श्रु० ७ अ०।

उट्टपाय–उष्ट्रपाद–पुं० ६ त०। करभचरणे, "धणस्स कण्णिय हत्थस्स इमेयारूवे वे जमणामए उट्टपाएति वा" उष्ट्रपाद इति वा करभचरणो हि भागद्वयरूपोऽन्तश्चाधस्तात् भवतीति तेन युक्तप्र-देशस्य साम्यम्। अणु०॥

उट्टलिंड–उष्ट्रलिण्ड–न०क्रमेलकपुरीषपिण्डे, दश०॥(उष्ट्रलिण्ड-संसूचितकथा जावग शब्दे)

उट्टिय–औष्ट्रिक–त्रि० उष्ट्राणामिदमौष्ट्रिकम्। (उष्ट्रसम्ब-न्धिनि,) उष्ट्रलोममये सूत्रभेदे, अनु०। स्था०। उट्टियं कंबलं उट्टियं कंबलं वा पायपुञ्छणं भवति, नि० चू० १६ उ०॥ "उचितप्रमाणे, णासुत्थ' अंतरहिं उट्टियाहिं उदगस्स घडएहिं" उष्ट्रिका बृहन्मृण्मयभाण्डं तत्पूरणप्रयोजना ये घटा-स्ते उष्ट्रिका उचितप्रमाणा नातिलघवो महान्तो वेत्यर्थः। उपा० १ अ०।

उट्टिया–उष्ट्रिका–स्त्री० उष्ट्रस्याकारः पृष्ठावयव इव आकारोऽस्याः अच्। मृण्मये मद्यभाण्डभेदे, सुरातैलादिभाजनविशेषे, उपा० ७ अ०।'उट्टियाकभल्ल संठाणसंठियं'उष्ट्रिकाभाजन विशेषस्तस्या-कभल्लं कपालं तत्संस्थानं तत्संस्थितम्। उपा० २ अ०।

उट्टियासमणा–उष्ट्रिकाश्रमण–पुं० उष्ट्रिका महामृन्मयोभाज-नविशेषस्तत्र प्रविष्टा ये श्राम्यन्ति तपस्यन्तीत्युष्ट्रिकाश्रमणाः। आजीवकश्रमणभेदेषु, औ०॥

उट्टी–उष्ट्री–स्त्री० उष्ट्रजातिस्त्रियाम, "उट्टीणं ताणि णो हुंति" उ-ष्ट्रीणां तानि दध्यादीनि न भवन्ति माहुरभावादितिपिं० व०।ध०।

उट्ठ–उत्स्था०धा० उदः परस्य तिष्ठतः ठक्कुरइत्यादेशौ वा भवतः। उत्थाने, उट्ठइ उक्कुरइ। प्रा०॥

उट्ठ–ओष्ठ–पुं० उष्यते उष्णाहारेण उष् कर्मणि थन्। दशन-च्छदे, निरुपपदोष्ठशब्दश्च प्रायेण उत्तरोष्ठ एव कविभिः प्रयुज्यते ताम्रौष्ठपर्यस्तरुचः स्मितस्य, कुमा० उपपदे तूभयतः उभामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे। वाच०। उपचियसिलप्पवाल बिंबफलसण्णिहा-हरोट्ठा। प्रज्ञा० २ पद०।

उट्ठंत–उत्तिष्ठत्–त्रि०उत्थानं कुर्वति। प्रा०॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उट्ठच्छिण्णग-ओष्ठच्छिन्नक-त्रि० ६ ब० खण्डितोष्ठे, औ०।

उट्ठा-उत्था-स्त्री० उत्थानमुत्था ऊर्ध्ववर्तने, "उट्ठाए उट्ठेइ" नि०। रा०। वि० ॥ उत्थानमुत्था ऊर्ध्ववर्त्तनं तया उत्तिष्ठति ऊर्ध्वीभवति। इह उट्ठे इत्युक्ते क्रियारम्भमात्रमपि प्रतीयेत तथा वक्तुमुत्तिष्ठत इति ततस्तद्व्यवच्छेदार्थमुक्तमुत्थायेति उपागच्छतीत्युत्तरक्रियापेक्षया उत्थानक्रियायाः पूर्वकालताभिधानायोत्थायोत्थायेति क्त्वाप्रत्ययेन निर्दिशति। यद्यपि द्वयोः क्रिययोः पूर्वोत्तरनिर्देशाच्यां पूर्वकाल आक्षेपलभ्य एव तथापि भुक्त्वा व्रजतइत्यादौ द्वयोः क्रिययोर्यौगपद्यदर्शनादानन्तर्यसूचनार्थमित्यमुपन्यासः उत्थानक्रियासव्यपेक्षत्वादुपागमनक्रियाया इति जं० १ वक्ष०।

उट्ठाण-उत्थान-न० उद्+स्था+ल्युट्। ऊर्ध्वीभवने, भ०। ७ श० ७ उ०। श्रवणाय गुरुं प्रत्यभिमुखगमने, चं० प्र० २० पाहु०। सू० प्र०। गुरुमागच्छन्तं दृष्ट्वा ऊर्ध्वभवने, बृ० ३ उ०। उत्थानमुपविष्टः सन् यदूर्ध्वीभवति, उपा० ६ अ०। औ०। देहचेष्टाविशेषे, प्रज्ञा० २३ पद। स्था०। उत्पत्तौ, ज्ञा० १४ अ०। उद्वसने, नं०। प्रथमप्रक्रमने, उत्त० ११ अ०। चित्तदोषे, उत्थाने निर्वेदात् करणमकरणोदयं सदैवास्याः षो० १ विव०। करणे ल्युट्। रणे, उत्साहे, पौरुषे, हर्षे च। अधिकरणे ल्युट्। राज्यचिन्तनरूपे तन्त्रे, प्राङ्गणे चैत्ये प्रबोधे च। वाच०।

उट्ठाणकम्मबलवीरियपुरिसक्कारपरक्कम-उत्थानकर्मबलवीर्यपुरुषकारपराक्रम-उत्थानं चेष्टाविशेषः कर्म च भ्रमणादिक्रिया बलं च शारीरसामर्थ्यं वीर्यं च जीवप्रभवं पुरुषकारश्चाभिमानविशेषः पराक्रमश्च पुरुषकार एव निष्पादितस्वविषय इति विग्रहे द्वन्द्वैकवद्भावः। वीर्यान्तरायक्षयक्षयोपशमसमुत्थजीवपरिणामविशेषाणामुत्थानादीनां समूहे, न०। एतेषु प्रत्येकशब्दो योजनीयो वीर्यान्तरायक्षयक्षयोपशमवैचित्र्यतः प्रत्येकं जघन्यादिभेदैरनेकत्वेऽप्येषामेकजीवस्यैकदा क्षयक्षयोपशममात्राया एकविधत्वादेक एव जघन्यादिरेतद्विशेषो भवति कारणमात्राधीनत्वात्कार्यमात्राया इति सूत्रभावार्थः। शेषं प्राग्वदिति। स्था० १ ठा० ॥

उट्ठाणपारियावणिय-उत्थानपारियापनिक-न० परियानं विविधव्यतिकरपरिगमनं तदेव पारियापनिकश्चरितमुत्थानाज्जन्मन आरभ्य पारियापनिकमुत्थानपारियापनिकम्। भ० १५ श० १ उ०। उत्थानं चोत्पत्तिः पारियापनिका च कालान्तरं यावत्स्थितिरिति उत्थानपारियापनिकम्। आजन्मचरित्रे जीवनचरित्रे, "सव्वं च सं उट्ठाणपारियावणियं परिकहेइ" ज्ञा० १७ अ०। गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स उट्ठाणपारियावणियं परिकहियं'। भ० १५ श० १ उ०।

उट्ठाणसुय-उत्थानश्रुत-न० उत्थानमुद्वसनं तद्धेतुः श्रुतमुत्थानश्रुतम्। कालिकश्रुतभेदे, नं०। "परियट्टिज्जइ अहियं उट्ठाणसुयं तु तत्थ उट्ठेइ" ॥ यत्र प्रणिधाय उत्थानश्रुतं परावर्त्यते तत्र कुलग्रामदेशादि उत्तिष्ठति उद्वसीभवतीत्यर्थः "तत्थ त्रयोदशवर्षपर्यायस्य दीयते व्य० द्वि० १ उ०। तच्च शून्यतादिते कार्ये उपयुज्यते अत्र चूर्णिकारकृता भावना सज्जेसेणस्स कुलस्स वा गामस्स वा नगरस्स वा रायहाणीए वा समणे कयसंकप्पे आसुरुत्ते चंडक्किए अप्पसन्ने अप्पसन्नलेसे वि समासुहासणत्थे उवउत्ते समाणे उट्ठाणसुयमज्झयणं परियट्टेइ तं च एक्कं दो वा तिण्णि वा वारे ताहे से कुले वा गामे वा जाव रायहाणी वा ओहयमणसंकप्पे विलवंते दुयं दुयं पहावेंति। ते उद्वेइ उव्वसइत्ति भणियं होत्ति। नं०। पा०।

उट्ठाय-उत्थाय-अव्य० उद्० स्था० ल्यप्०। उद्यतविहारे प्रतिपद्येत्यर्थे, । "अहाणुयं वंदिस्सामि जहा से समणे भगवं उट्ठायसंखाए" आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ०।

उट्ठिअ (य)-उत्थित-त्रि० उद्० स्था० क्त०। उदयप्राप्ते, रा०। अभ्युद्गते, "उट्ठियं पि सूरे" अभ्युद्गते आदित्ये, । अनु०। सो उट्ठितो चिंतेइ" आ० म० द्वि०। समुत्पन्ने, प्रश्न० ३ द्वा०। औ०। प्राबल्येनोत्थानेन संयमानुष्ठानरूपेण उत्प्राबल्येन स्थित उत्थितः। आचा० १ श्रु० ६ अ० ५ उ०। धर्मचरणायोद्यतेषु ज्ञानदर्शनचारित्रोद्योगवत्सु, आचा० १ श्रु० ४ अ० १ उ०। "अह पासविवेगमुट्ठिए अवि तिन्ने इह भासई धुवं" सूत्र० १ श्रु० २ अ०। नि० चू०। उद्वसिते, बृ० ३ उ०। ओ०। वृद्धियुक्ते, उत्थानयुक्ते, अनुपविष्टे, उत्पन्ने च। वाच० ॥ "एओ वि उट्ठिआ संता दारगं च संजयंति धाई वा" सूत्र० १ श्रु० ४ अ० ॥

उट्ठित्ता-उत्थाय-उद्-स्था० ल्यप्- उत्थानं कृत्वेत्यर्थे, "संकाभीओ न गच्छेज्जा- उट्ठित्ता- अन्नमासणं" ॥ उत्त० २७ अ०।

उट्ठिअ (य) दंड-उत्थितदण्ड-पुं० ६ त०। कृतप्रायश्चित्तशुद्धौ, उट्ठियदंडो साहू अचिरेण उवेति सासयं ठाणं। पच्छित्तेण जया उट्ठितं पावं भवति तदा। विसुद्धचरणो मुक्खं पावति०। नि० चू० २० उ०।

उट्ठित्तु-उत्थाय-अव्य० उद्- स्था० ल्यप्०। उत्थानं कृत्वेत्यर्थे, उट्ठित्तु सपरिवारो" पं० व०।

उडुज्झहइत्ता-अवष्ठीव्य--अव ष्ठीव् ल्यप्। निष्ठीवनं कृत्वेत्यर्थे, उडुज्झहइत्ता सावत्थीए णयरीए सिंघाडग जाव पहेसु आकड्ढविकड्ढिं करेमाणे० भ० १५ श० ७ उ०।

उडंक-उड्डंक-पुं० आयोदधौम्यशिष्यवेदनामकस्य मुनेः शिष्यभेदे, भार्गवे गौतमस्य शिष्यभेदे च। वाच०। "उडंकेण उसिकारिसिपत्तीरूववती दिट्ठाए समं अधिगमं गतो सो तओ णिग्गच्छंतो उडंकेण दिट्ठो. नि० चू० १२ उ०।

उडय-उटज-पुं० न० उटेभ्यो जायते जन. ड। पत्रादिनिर्मितशालायाम्, वाच० ॥ तापसाश्रमे, नि०। जी०। स्था०। "जेणेव सए उडए तेणेव उवागच्छति किढिणसंकाइयं ठवेति" नि० "अमहं दियाय राओ य, हुणामि महुसप्पिसं। तेण मे उडओ दड्ढो, जायं सरणओ भयं" नि० चू० १ उ०।

उडु-उडु-स्त्री. न. उड्-वा० कु०। नक्षत्रे, उत्त० ११ अ०। जले च। स्त्रीत्वे वा ऊङ्। कौ०। वाच०।

ऋतु-पुं० प्रावृडादौ, चं० प्र०। (उत्र प्रकरणे सर्वेऽर्था दर्शिताः)

उडुज्झमाण-अपोह्यमान-त्रि० नियमने, पंकंसि वा पणगंसि वा उदगंसि वा उडुज्झमाणि वा अपोह्यमानां वा पङ्केन उदकेन वा नीयमानाम्। बृ० ६ उ०।

उडुवइ- उडु (डू) पति-पुं० उडूनां नक्षत्राणां पतिः प्रभुरुडुपतिः चन्द्रे, उत्त० ११ अ०। प्रश्न०। जं०। तं० औ०। "चन्द्रः शशी निशाकरो रजनिकर उडुपतिरित्येवमादयः चन्द्रपर्यायाः। आ० म० द्वि०।

जहा से उडुवई चंदे, नक्खत्तपरिवारिए।
पडिपुण्णे पुण्णमासीए, एवं हवइ बहुस्सुए ॥ २५ ॥

यथा स उडूनां नक्षत्राणां पतिः प्रभुरुडुपतिः। कल्याइ चन्द्रः शशी नक्षत्रैरश्विन्यादिभिरुपलक्षणत्वाद् ग्रहैस्ताराभिश्च परिवारः परिकरः संजातोऽस्येति परिवारितो नक्षत्रपरिवारितः प्रतिपूर्णसमस्तकालोपेतः। स चेदृक् कदा भवत्यत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आह । पौर्णमास्यामिह च चन्द्र इत्युक्ते मा भूत् रामचन्द्रादावपि संप्रत्यय इत्युडुपतिग्रहणम् । उडुपतिरपि च कश्चिदेकाकयेव भवति मृगपतिवदत उक्तं नक्षत्रपरिवारितः । सोऽप्यपरिपूर्णोऽपि द्वितीयादिषु संभवतीति परिपूर्णः पौर्णमास्यामित्युक्तमेवं भवति बहुश्रुतोऽसावपि हि नक्षत्राणामिवानेकसाधूनामधिपतिस्तथा तत्परिकरितः सकलकलोपेतत्वेन प्रतिपूर्णश्च भवतीति सूत्रार्थः । उत्त० ११ अ० । चन्द्रमण्डले, ज्यो० जीवे, वरुणे च० । वाच० ॥

उडुवर–उडुवर–पुं० सूर्ये, "तिहि सहस्से सगडे छव्व सए उडुवरो हरइ," तं० ।

उडुवाडियगण–उडुपाटितगण–पुं० भद्रयशानिर्गते गणे, "थेरेहिंतो भद्दजसेहिंतो भारद्दायसगोत्तेहिंतो एत्थ णं उडुवाडियणामं गणे णिग्गए" कल्प० ।

उडुविमाण–उडुविमाण–न० सौधर्मेशानयोः प्रथमप्रस्तटवर्तिनि चतसृणां विमानावलिकानां मध्यभागवर्तिनि वृत्ते स्वनामख्याते विमानकेन्द्रे, "उडुविमाणे णं विमाणे पणयालीसं जोयणसयसहस्साइं आयामविक्खंभेणं" पं०सं० । सौधर्मकल्पे प्रथमे विमाने, स्था० ४ ठा० ।

उड्ड–उ (ओ) ड्र–पुं० प्राच्यदेशभेदे, स च मिथिलादेशात्पूर्वस्यां दिशीति प्रतीयते । वाच० ॥ तद्देशजे मनुष्ये च । स च देशोऽनार्यक्षेत्रम् । तद्वासी जनश्च म्लेच्छजातीयः । प्रव० २७ अधि० । सूत्र० । प्रश्न० । वाच० । सर्वत्र उड्रशब्दश्रवणात् उकारादित्वम् । रघुनन्दनेन तु ओड्रश " देशान्यवस्थितमित्युक्तत्वात् " ओकारादित्वमपि अस्य देशवाचित्वात् तस्य राजा तदस्याभिजन इत्यर्थे च । अण् ओम् । तद्राजे, तद्वासिनि च । बहुषु तस्य लुक् । उड्र तद्राजेषु तन्निवासिषु च । वाच० ।

उड्डंचग–उड्डञ्चक–पुं० व्याकुष्टौ, उड्डंचगा वाउट्टी, नि० चू० १ उ० उड्डंचका उद्घट्टकास्तान् कुर्वन्ति " वृ० १ उ० ॥

उड्डं (ई) मग–उद्दण्डक–पुं० वानप्रस्थतापसभेदेषु, ऊर्ध्वीकृतदण्डा ये सञ्चरन्ति । औ० । भ० ॥

उड्डुय–उड्डारित–न० (डकार) इति प्रसिद्धे उद्गारे, " जंभाइएणं उड्डुएणं वायणिसग्गेणं " आव० ५ अ० । ध० ।

उड्डावण–उड्डापन–न० आकर्षणे, "हिययउड्डावणे का उड्डावणहेउ" हृदयोड्डापनं चित्ताकर्षणहेतुः । ज्ञा० १४ अ० ।

उड्डाह–उड्डाह–पुं० उपघाते, "गेलन्नं दिट्ठ उड्डाहो, उड्डाह उपघातः प्रवचनस्य भवति । ओ० । प्रवचनलाघवे, उड्डाहो नाम अहो अमीषामनुकम्पा ये विविक्तानामपि अस्माकं चीवराणि न प्रयच्छन्ति । वृ० १ उ० । उड्डाहो नाम एते मायावन्तः पापा वा परोपघातकारिणश्च । वृ० ३ उ० । मालिन्ये, व्य० प्र० २ उ० । खिंसायां च । "वोच्छेय पओसाई उड्डाहमनाणि वाओ य" प्रवचनस्य उड्डाहः खिंसा । पिं० । नि० चू० ॥

उड्डेंत–उड्डीयमान–त्रि० प्रत्यासन्नमाकाशे परिभ्रमति, रा० ।

उड्डोय–देशी० पुं० (डकार) इति प्रसिद्धे उद्गारे, उड्डोए वा वातणिसग्गे वा करेमाणे आचा० २ श्रु० ।

उड्ढ–ऊर्ध्व–त्रि० उद्–ह्वाङ्–ड–पृषो० ऊरादेशः । उच्चे, उपरि उपरितने च । वाच० । उड्ढं वूरं वीइवइत्ता । स० । ऊर्ध्वमुपरि, अनु० । ऊर्ध्वलोके, प्रश्न० अध० ३ द्वा० । स्था० । सर्वोपरिस्थिते मोक्षे, " बहिया उड्ढमादाय णावकंखे कयाइ वि " ऊर्ध्वलोकाग्रस्थानं मोक्षम् । उत्त० ६ अ० " तम्हा उड्ढंति पासहा अद्दक्खु कामाइं रोगवं" ऊर्ध्वं मोक्षं योषित्परित्यागादूर्ध्वं यद् भवति " सूत्र० १ श्रु० २ अ० । उत्पादिते, हेम० । अनुपविष्टे, दण्डायमाने, उत्क्षिप्ते, वाच० । मुक्ते च । अनु० । वमने, न० । वृ० १ उ० ।

उड्ढंक–उड्ढंक–न० मार्गस्योपरि भूभागे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ।

उड्ढं (ड्ढ) जाणु–ऊर्ध्व (र्द्ध) जानु–त्रि० ऊर्ध्वे जानुनी यस्यासावूर्ध्वजानुः । शुद्धपृथिव्यासनवर्जनादौपग्रहिकनिषद्याया अभावाच्चोत्कुटुकासने, " उड्ढं जाणू अहोसिरे झाणकोट्ठोवगए " भ० १ श० १ उ० । जं० । सू० प्र० । औ० । वि० । चन्द्र० । ज्ञा० । सो उड्ढंजाणू अहोसिरो चिंतंतो चिट्ठइ आव० ४ अ०

उड्ढकंडूयग–ऊर्ध्वकण्डूयक–त्रि० तापसभेदेषु, ये नाभेरुपर्येव कण्डूयन्ति नाधः । भ० ११ श० ९ उ० ।

उड्ढकाय–ऊर्ध्वकाय–पुं० न० ऊर्ध्वं कायस्य एकदे० ३ त० । देहस्योर्ध्वभागे, काके च । " ते उड्ढकाएहिं पखज्जमाणा अवरेहिं । खज्जंति सणप्फएहिं " ऊर्ध्वैः काकैः वैक्रियैः प्रखाद्यमानाः । सूत्र० १ श्रु. ५ अ. ७ श्रु० ।

उड्ढगारवपरिणाम–ऊर्ध्वगौरवपरिणाम–पुं० आयुःपरिणामभेदे, येन आयुः स्वभावेन जीवस्योर्ध्वदिशि गमनशक्तिलक्षणपरिणामो भवति स ऊर्ध्वगौरवगमनशक्तिलक्षणपरिणामो भवति स ऊर्ध्वगौरवपरिणामः । इह गौरवशब्दो गमनपर्यायः । स्था० १० ठा. ।

उड्ढचर–ऊर्ध्वचर–त्रि० उपरिचरे गृध्रादौ, आचा० १ श्रु० ८ अ० ८ उ.

उड्ढणिरोह–ऊर्ध्वनिरोध–पुं० वमननिरोधे, "उड्ढणिरोहे कुट्ठं, ऊर्ध्वं वमनं तन्निरोधे कुष्ठं भवति । वृ. ३ उ० ।

उड्ढत्ता–ऊर्ध्व (र्द्ध) ता–स्त्री० मुख्यतायाम्, अहत्ताए नो उड्ढत्ताए कुक्खत्ताए नोसुहत्ताए भुज्जो परिणमंति, भ० ६ श० ३ उ० ।

उड्ढत्तासामण्ण–ऊर्ध्व (र्द्ध) तासामान्य–न० ऊर्ध्वमुल्लेखिताऽनुगताकारस्यत्वयेन परिछिद्यमानमूर्ध्वतासामान्यम् । सामान्यभेदे, तत्स्वरूपं यथा पूर्वापरपरिणामसाधारणद्रव्यमूर्ध्वतासामान्यं कटककङ्कणाद्यनुगामिकाञ्चनवदिति पूर्वापरपर्यायोरनुगतमेकं द्रव्यं द्रवति तांस्तान् पर्यायान् गच्छतीति व्युत्पत्त्या त्रिकालानुयायी यो वस्त्वंशस्तदूर्ध्वतासामान्यमित्यभिधीयते निदर्शनमुक्तमेव । र० ॥ (अत्र क्षणिकवादिबौद्धपूर्वपक्ष उत्तरं च खणिअशब्दे)

अथ सामान्यं द्विप्रकारं दर्शयन्नाह ।

ऊर्ध्वतादिमसामान्यं, पूर्वापरगुणोदयम् ।
पिण्डाश्रितादिसंस्थाना–नुगैका मृद्यथा स्थिता ॥ ४ ॥

पूर्वः प्रथमोऽपरोऽग्रेतनो यो गुणो विशेषस्तयोरुदयकरणं पूर्वापरगुणोदयं पूर्वापरपर्याययोरनुगतमेकं द्रव्यं त्रिकाली यो वस्त्वंशस्तदूर्ध्वतासामान्यमित्यभिधीयते । निदर्शनमुक्तमेव । यथा पिण्डो मृत्पिण्डः आश्रितः कुसूल इत्यादयोऽनेके संस्थाना आकृतयस्तासु अनुगता पूर्वापरसाधारणपरिणामद्रव्यरूपा मृत्तिका तथाकारा स्थिता एतदूर्ध्वतासामान्यं कथ्यते यदि च पिण्डकुसूलादिपर्यायेषु अनुगतमेकं मृद्द्रव्यं न कथ्यते तर्हि घटादिपर्यायेषु अनुगतं घटादिद्रव्यमपि न कथ्यते तदा च सर्वं विशेषरूपं भवतः क्षणिकवादिबौद्धमतमायाति, अथवा सर्वद्रव्येषु एकमेव द्रव्याणां गच्छतीति ततः घटादिद्रव्ये अथवा तदन्तर्वर्तिसामान्यमृदादिद्रव्ये वानुभवानुसारेण परोर्ध्वतासामान्यमवश्यमङ्गीकर्तव्यम् । घटादिद्रव्याणि स्तोकपर्यायव्यापीनि पुनर्मृदादिद्रव्याणि बहुपर्यायव्यापीनि सन्ति इत्थं नरनारकादिद्रव्याणां विशेषो ज्ञातव्यः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत्सर्वमपि नैगमनयमतम् । तथा ऋजुसंग्रहनयमते तु सद्द्वैतवादेन एकमेव द्रव्यमापद्यते इति ज्ञेयम् । द्र० ॥

उड्ढदिसाइक्कम--ऊर्ध्वदिगतिक्रम--पुं० दिग्व्रतस्यातिचारभेदे, उपा० १ अ० ।

उड्ढदिसिप्पमाणाइक्कम--ऊर्ध्व (र्ध्व) दिक्प्रमाणातिक्रम--पुं० दिग्व्रतग्रहणे, ऊर्ध्वदिशि यावत्प्रमाणं परिगृहीतं तस्यातिलङ्घनरूपे, दिग्व्रतातिचारे, आव० ६ अ० ॥ उपा० ।

उड्ढदिसिव्वय--ऊर्ध्वदिग्व्रत--न० ऊर्ध्वं दिक् तत्सम्बन्धि तस्या व्रतम् । एतावती दिगूर्ध्वं पर्वताद्यारोहणादवगाहनीया न परत इत्येवंभूते दिग्व्रतभेदे, आव० ६ अ० ।

उड्ढदेह--ऊर्ध्वदेह-- पुं०-न० ऊर्ध्वं देहस्य शरीरस्योर्ध्वदेहे "खाणु व्व उड्ढदेहो, काउस्सग्गं तु ठाइज्जा" स्थाणुरिवोर्ध्वदेहो निष्प्रकम्पः । आव० । ६ अ० ॥

उड्ढपाअ--ऊर्ध्वपाद--त्रि०६ त० ऊर्ध्वचरणे, "कंदंतो कंदुकुंभीसु उड्ढपाओ अहोसिरो" उत्त० १९ अ० ॥ "उड्ढपाया सुवइ तहा तुमं मरणं करेहिहित्ति" आ० म० प्र० ॥

उड्ढबद्ध--ऊर्ध्वबद्ध--त्रि० वृक्षशाखादौ बद्धे " रसंतो कंदुकुंभीसु, उड्ढबद्धो अबंधवो " ॥ उत्त० १९ अ० ।

उड्ढभागि (ण्) ऊर्ध्वभागिन्--त्रि० गगनतलभागिनि, उड्ढवाएसु उड्ढभागी भवति ऊर्ध्वं गतेषु वातेषूर्ध्वभागी भवत्यप्कायो गगनगत वातवशाद्दिवि सम्मूर्च्छते उद्गम । सूत्र० २ श्रु० ३ अ० ।

उड्ढमुइंग--ऊर्ध्वमृदङ्ग--पुं० ऊर्ध्वमुखे मृदङ्गभेदे, भ० ११श०१०उ० ।

उड्ढमुइंगाकारसंठिय--ऊर्ध्वमृदङ्गाकारसंस्थित--त्रि० ऊर्ध्वमूर्ध्वमुखो यो मृदङ्गस्तदाकारेण संस्थितो यः स तथा । शरावसम्पुटाकारे, भ० ११ श० १० उ० ।

उड्ढमुह--ऊर्ध्वमुख--त्रि. ऊर्ध्वं मुखमस्य । ऊर्ध्वगतप्रथमप्रसरे, ऊर्ध्वस्थिताग्रभागे , उन्नमितवदने च । स्वाङ्गत्वात् स्त्रियां ङीष् । ऊर्ध्वं मुखस्य एकदेशी. तत्पुरुषः । मुखस्योर्ध्वभागे, न० वाच० । " उड्ढमुहलोमजालसुकुमालणिद्धमउअआवत्तपसत्थलोमविरइ असरिवच्छच्छण्णविउलवच्छे " ॥ ऊर्ध्वं मुखं भूमेरुद्गच्छतामङ्कुराणामिव येषां तानि ऊर्ध्वमुखानि यानि लोमानि तेषां जालं समूहो यत्र स तथा । अनेन च श्रीवत्साकारव्यक्तिर्दर्शिता । अन्यथाऽधोमुखैस्तैः श्रीवत्साकारानुद्भवः स्यात् । सुकुमालस्निग्धानि नवनीतपिण्डादिद्रव्याणि तानीव मृदुकानि आवर्तैश्चिकुरसंस्थानविशेषैः प्रशस्तानि माङ्गल्यानि दक्षिणावर्तानीत्यर्थः । यानि लोमानि तैर्विरचितो यः श्रीवत्सो महापुरुषाणां वक्षान्तर्वर्ती अत्युन्नतोऽवयवस्ततः पूर्वपदेन कर्मधारयस्तेन छन्नमाच्छादितं विपुलवक्षो यस्य स तथा ॥ जं० २ वक्ष० ॥

उड्ढरहिय-- और्ध्वरथिक-- पुं० द्रुमके, और्ध्वरथिकशब्दोऽस्ति 'कष्टेनेष्टविशिष्टार्था महापुरीमिव मनुजगतिमनुप्रविशन्ति जन्तवोऽनुप्रविश्यापि चास्यामौर्ध्वरथिका इवाकृतसुकृतसंभारा निरीक्षितुमपि नैनं क्षमन्ते । उत्त० १ अ० । उत्तराध्ययनबृहद्वृत्तिप्रथमपत्रे स कस्य वाचकः इति हीरविजयसूरिं प्रति कल्याणविजयगणिकृतप्रश्नो यथा अस्योत्तरं हीरविजयसूरिकृतम् ॥ तथा च ऊर्ध्वरथिकशब्दमाश्रित्य सिद्धान्तविषमपदपर्यायान्तर्गतोत्तराध्ययनविषमपर्याये द्रुमकवाचकत्वमुक्तमस्ति ॥ ३ ॥ ही० ।

उड्ढरेणु--ऊर्ध्वरेणु--स्त्री० पुं० जालप्रभाभिव्यङ्ग्यः स्वतः परतो वा ऊर्ध्वाधस्तिर्यक्चलनधर्मा रेणुरूर्ध्वरेणुः । प्रव०२५४द्वा० ॥ ऊर्ध्वाधस्तिर्यक्चलनधर्मोपलभ्ये रेणौ, तद्रूपेऽष्टश्लक्ष्णश्लक्ष्णिकात्मके प्रमाणभेदे, भ० ६ श० ७ उ० । ज्यो० ॥

उड्ढलोम--ऊर्ध्वरोमन्--पुं० ऊर्ध्वानि रोमाण्यस्य । ऊर्ध्वमुखतया विकटरोम्णि यमदूतादौ, कुशद्वीपसीमापर्वते च । ऊर्ध्वमुखरोमयुक्ते, त्रि० वाच० । "घोरयपुच्छं व तस्स कविलफरुसाउ उड्ढलोमाओ, परुषे कर्कशस्पर्शे ऊर्ध्वरोमिकेन तिर्यग्गतेनेत्यर्थः इंष्ट्रिके उत्तरोष्ठरोमाणि, उपा० । २ अ० ॥

उड्ढलोग (य) ऊर्ध्वलोक--पुं० ऊर्ध्वमुपरि व्यवस्थितो लोक ऊर्ध्वलोकः अथवा ऊर्ध्वशब्दः शुभपर्यायस्तत्र च क्षेत्रस्य शुभत्वात्तदनुभावाद् द्रव्याणां प्रायः शुभा एव परिणामा भवन्त्यतः शुभपरिणामद्रव्यायोगादूर्ध्व शुभो लोक ऊर्ध्वलोकः । उक्तंच "उड्ढंति उवरि जं चिय, सुभखेत्तं खेत्तओ य दव्वगुणा । उप्पज्जंति सुभावा, तेण तओ उड्ढलोगोत्ति " रुचकप्रतरद्वयस्य मध्ये एकस्मादुपरितनप्रतरादारभ्योर्ध्व नवयोजनशतानि परिहृत्य परतः किञ्चिन्न्यूनसप्तरज्ज्वायते क्षेत्रलोकभेदे, अनु० । आ० म० द्वि० ।

उड्ढलोगचूला--ऊर्ध्वलोकचूला-- स्त्री० " उड्ढलोगस्स चूला सिहा " ऊर्ध्वलोकस्य चूला शिखा । ऊर्ध्वलोकचूडा । ईषत्प्राग्भारास्ये क्षेत्रचूलाभेदे, नि० चू० १ उ० । "ईसीपब्भारा णामा य ईसित्ति " अप्पभावे य इति प्रायोवृत्त्या । भारोक्कंतस्स पुरिसस्स गयं पायसो ईसेणयं भवति जाव एवं ठिता सा पुढवी ईसीपब्भारा णाम इति एतमभिहाणंतस्स सायदव्वट्ठसिद्धिविणाउ उवरिं बारसेहिं जोयणेहिं भवति तेण सा उड्ढलोगचूला भवति । नि० चू० १ उ० ॥

उड्ढलोगवत्थव्व--ऊर्ध्वलोकवास्तव्य-- त्रि० ऊर्ध्वलोकवासिनि, " उड्ढलोगवत्थव्वाओ अट्ठ दिसाकुमारीओ " ऊर्ध्वलोकवास्तव्या नन्दनकूटनिवासिन्य इत्यर्थः । ज्ञा० ८ अ० ।

उड्ढलोग (य) विभत्ति--ऊर्ध्वलोकविभक्ति--स्त्री० स्थानाश्रयणात्क्षेत्रविभक्तिभेदे, । सा च ऊर्ध्वलोकविभक्तिः सौधर्माद्या उपर्युपरि व्यवस्थिता द्वादश देवलोकाः नवग्रैवेयकानि पञ्चमहाविमानानि तत्रापि विमानकेन्द्रकावलिप्रविष्टपुष्पावकीर्णकवृत्तत्र्यस्रचतुरस्रविमानस्वरूपनिरूपणामिति ॥ सूत्र० १ श्रु० ५ अ० ।

उड्ढवाइयगण--ऊर्ध्ववातिकगण--पुं० श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य नवगणानां पञ्चमे गणे, स्था० ९ ठा० । " थेरेहिंतो भद्दजसेहिंतो भारद्दायसगोत्तेहिंतो एत्थ णं उडुवाडिय णामं गणे णिग्गए " कल्प० ॥

उड्ढवाय--ऊर्ध्ववात पुं० ऊर्ध्वमुच्छलन् यो वाति वातः स ऊर्ध्ववातः । बादरवायुकायभेदे, जीवा० १ प्रति० । स्था० । प्रज्ञा० । ऊर्ध्वगतो वातः सुश्रुतोक्ते स्वाभाविकगतिरोधेन ऊर्ध्वगते वायौ, स च मूत्रादिवेगधारणाद् भवति । वाच० ॥

उड्ढा--ऊर्ध्वम्--अव्य० दिग्भेदे, स्था० ६ ठा० ।

उड्ढाइक्कम--ऊर्ध्वादिक्रम--पुं० ऊर्ध्वादिषु ऊर्ध्वाधस्तिरश्चीषु दिक्षु क्रमः क्रमणं विवक्षितक्षेत्रात्परत इति गम्यते अथ ऊर्ध्वादिक्रमः । ऊर्ध्वदिक्प्रमाणातिक्रमाधोदिक्प्रमाणातिक्रमातिर्यग्दिक्प्रमातिक्रम--लक्षणे दिग्व्रतातिचारत्रये, पंचा० १ विव ।

उड्ढोववष्ठग--ऊर्ध्वोपपन्नक--पुं० सौधर्मादिभ्यो द्वादशेभ्यः कल्पेभ्यः ऊर्ध्वं ग्रैवेयकानुत्तरविमानेषूपपन्ना उत्पन्नाः । कल्पातीतेषु देवेषु, जं० ७वक्ष० । जी० ऊर्ध्वलोकेषूपपन्नेषु, स्था० २ठा० ।

जे देवा उड्डोववन्नगा ते दुविहा पन्नत्ता । कप्पोववन्नगा विमाणोववन्नगा ।

ऊर्ध्वलोकस्तत्रोपपन्नका उत्पन्ना ऊर्ध्वोपपन्नकास्ते च द्विधा कल्पोपपन्नकाः सौधर्म्मादिदेवलोकोत्पन्नकास्तथा विमानोपपन्नकाः ग्रैवेयकानुत्तरलक्षणविमानोत्पन्नाः कल्पातीता इत्यर्थः । स्था० २ ठा० ।

उण-पुनर्-अव्य. पनस्तुनौ वा अरि पृषो. प्राकृते स्वरादसंयुक्तस्यानादेः इत्यनुवृत्तिसहितस्य । कगचजतदपयवां प्रायो लुगि " ति सूत्रस्य क्वचिदादेरपि लुग्विधानात्पकारस्य वा लुक् स उण स पुनः । प्रा० । द्वितीयवारे, प्रथमे भेदे च । अमरः (पुणशब्दे सर्वेऽर्थाः प्रदर्शयिष्यन्ते)

उण्ण (उरण) ऊर्ण-त्रि०ऊर्णा अस्त्यस्य कारणत्वेन अर्श० अच् । मेषलोमरचिते वस्त्रादौ, मेषलोम्नि,स्त्री० ललाटस्था चिन्हभेदे, वाच० । शब्दे, स च वर्णात्मकोऽर्थः स्थानोर्णार्थालम्बनं तद्न्ययोगपरिज्ञवनम्, षो० । ३ विव० ।

उण्णइज्जमाण-उन्नीयमान-त्रि० उन्नतिं क्रियमाणे, उन्नतिं प्राप्यमाणे, औ० ॥

उण्णकप्पास-ऊर्णकार्पास-पुं० कर्म० स० । मेषलोम्नि, उण्णत्तिवा ऊणगाइए भवंति तस्स रोमा कव्वणिज्जा कप्पासो भण्णत्ति अहवा उण्णए कप्पासो । जे भिक्खू साणकप्पासा उ वा उण्णकप्पासाउ वा । नि० चू० १ उ० ।

उण्णणाज-ऊर्णनाभ-पुं० ऊर्णेव सूत्रं नाभौ गर्भेऽस्य अच् समा० । लूतायाम्, दीर्घादिरयमिति केचित् । वाच० "ऊर्णनाभ इवांशूनां, चन्द्रकान्त इवाम्भसाम्" ऊर्णनाभोऽत्र कर्मठको व्याख्यातःसम० ।

उण्णमणी-उन्नमनी-स्त्री० उण्णमिय जासियं वि, उण्णमणी इति निरुक्ते द्वितीयगौणानुज्ञायाम्, पं०भा० । नं० ॥

उण्णमिय-उन्नम्य-अव्य० उद्.नम् ल्यप् । उन्नतीकृत्येत्यर्थे, । "उण्णमिय २ उण्णमिय २ णिज्झाएज्जा" आचा० २ श्रु० १ अ० ५ उ० ।

उण्णय-उन्नत(य)-त्रि० उद्० नम्० क्त० । उच्चे, रा० । अभ्युन्नते, जं० २ वक्ष० । तुङ्गे, तं० । प्रश्न० । गुणवति, औ० "उज्जलय चरियदारगोपुरतोरणउण्णयसुविभत्तरायमग्गा " । उन्नतानि गुणवन्ति उच्चानि च । ज्ञा० १ अ० । स्था० । उन्नतः स्वभावतः शरीरेणोच्छ्रितः भावतस्त्वभिमानग्रहग्रस्तः । सूत्र० १ श्रु० १६ अ० । स्था० (पुरिसजाय शब्दे विवरणम्) उच्छ्रितं नतं पूर्वप्रवृत्तं नमनमभिमानाद्धुन्नतमुच्छ्रितो वा नयो नीतिरभिमानादेव उन्नयो नयाभाव इत्यर्थः । मानविशेषे, पुं० तत्परिणामजनके कर्मणि च नपुं० । भ० १२ श० ५ उ० । मोहनीये, स० । उण्णयरइयतलिणतंबसुइणिद्धनक्ख -उन्नतरतिदतलिनताम्रशुचिस्निग्धनख- उन्नता ऊर्ध्वं नता रतिदा रमणीया स्तलिनाः प्रतलास्ताम्रा ईषद्रक्ताः शुचयः पवित्राः स्निग्धाः स्निग्धच्छाया नखा यस्य । सुलक्षणयुक्तपादाङ्गुलीके, त्रि० जी० ३ प्रति० ।

उण्णयतणुतंबणिद्धनख-उन्नततनुताम्रस्निग्धनख-त्रि०उन्नता अनिम्नास्तनवः प्रतलास्ताम्रा अरुणाः स्निग्धाः कान्ताः नखाः पादाङ्गुल्यवयवा यस्य स तथा । सुलक्षणयुक्तपादाङ्गुलीके, औ० । जी० । तं० ।

उण्णयमण-उन्नतमनस्-त्रि० प्रकृत्या औदार्य्यादियुक्तमनसि, स्था० ४ ठा० ।

उण्णयमण्ण-उन्नतंमन्य-त्रि० उन्नतमात्मानं मन्यते यः स तथा आत्मानमुन्नतिमन्तं मन्यमाने, आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० ।

उण्णयमाण-उन्नतमान-त्रि० उन्नतो मानोऽस्येत्युन्नतमानः । गर्वाध्माते, " उण्णयमाणे य णरे महंतमोहेण मुज्झसि " उन्नतो मानोऽस्येति उन्नतमानः । उन्नतं चात्मानं मन्यते स चैवंभूतो नरो मनुष्यो महता मोहेन प्रबलमोहनीयोदयेनाज्ञानोदयेन वा मुह्यति कार्य्याकार्य्यविकलो भवति । आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० ।

उण्णयावट्ट-उन्नतावर्त्त-पुं० उन्नत उच्छ्रितः स चासावावर्त्तश्चेति उन्नतावर्त्तः । आवर्त्तभेदे, स च पर्वतशिखरारोहणमार्गस्य- वातोत्कलिकाया वा । स्था० ४ ठा० ।

उण्णयासण-उन्नतासन-न० उच्चासने, रा० । जं० । जी० ॥

उण्णा-उ (ऊ) र्णा-स्त्री०ऊर्णूयते आच्छाद्यते, ऊर्णु का न्हस्वः मेषादिलोम्नि, ललाटस्थलोमसमूहात्मके चिह्नभेदे, वाच० । दीर्घादिरयमिति बहवः वाच० । स्था० आ० म० प्र० ।

उण्णाग-उन्नाक-पुं० स्वनामख्याते सन्निवेशे, यत्र महावीरस्वामिना विहृतम् । "ततो सामी उण्णागं वच्चति तत्थंतरा बहूवरं सपडिहुत्तं पईताणि पुण दोवि विरूवाणि दंतुराणि य तत्थ गोसालो भणइ अहो इमो सुसंजोगे" आ०म०द्वि० ।

उण्णाम-उन्नाम-पुं०प्रणतस्य मदानुप्रवेशादुन्नमनमुन्नामः मानविशेषे, तत्परिणामजनके मोहनीयकर्मणि च । भ० । श० १२ श० ५ उ० । स० ॥

उण्णिद्द-उन्निद्र-त्रि० उद्गता निद्रा मुद्रा यस्य । विकसिते, निद्रारहिते च । वाच० उन्निद्रं विजृम्भितं हसितं उद्बुद्धमित्यादि पर्यायाः । विशे० ।

उण्णिय-और्णिक-त्रि०ऊर्णाया निमित्तं संयोग उत्पातो वा ठञ् । तन्निमित्तादौ, स्त्रियां ङीप् । वाच० । ऊर्णामये सूत्रादौ, आ० म० प्र० । ऊर्णरोमनिष्पन्ने वस्त्रे, सू० २ उ० । नि० चू० ॥ उण्णलोममये रजोहरणे, स्था०५ ठा० । जीत० ॥

उन्नीत-त्रि० उद्-नी क-ऊर्ध्वं नीते, वितर्किते च । वाच० । पृथग्व्यवस्थापिते, "द्वाभ्यां नयाभ्यामुन्नीतमपि शास्त्रं कणाशिना" । नयो० ।

उण्णु-(न्नु) इतो-उन्नुइतो-देशीपदमेतत् । गर्वे वर्त्तते इत्यस्मिन्नर्थे, एवं भणितो संतो उण्णुइतो सो कहेइ सव्वं तु । व्य०द्वि०१०उ० ।

उण्ह-उष्ण-पुं० । उषति दहति जन्तूनित्युष्णः उष् नक् उत्त०१ श्र० । सूर्यादिपरितापे, पिं० । आहारपाकादिकारणे, ज्वलनाद्य- श्रु० । गुणे स्पर्शभेदे, कर्म० । ग्रीष्मर्त्तौ, पलाण्डौ च । अर्श० अच् । तद्वति, आलस्यरहिते, दक्षे च । वाच० । सीएण उण्हेण सिकेण लुक्खेण काऊण रुहेण सगेण" आचा० १ श्रु० ५ अ० ६ उ० । (उष्णशब्दनिक्षेपः सीउण्ह शब्दे)

उण्ह (उसिण) परि (री) सह-उष्णपरि (री) षह-पुं० उष्दाहे इत्यस्यौणादिकनक्प्रत्ययान्तस्य उष्णं निदाघादितापात्मकम्-तदेव परीषहः उष्णपरीषहः । उत्त०२ अ० । प्र० । स च उष्णेन तप्तो नैवोष्णं निन्देच्छायां च न स्मरेत् ।वीजनं व्यजनं गात्राभिषेकादि च वर्जयेत्' । ध०३अधि० ॥ पाठान्तरेण । "उष्णतप्तो न तं निन्देच्छायामपि न संस्मरेत् । स्नानगात्राभिषेकादि-वर्जनं वाऽपि वर्जयेत्" । आ० म० द्वि० ।

पुट्ठे गिम्हाहि तावेणं, विमणेसुप्पिवासिए ॥
तत्थ मंदा विसीयंति, मच्छा अप्पोदए जहा ॥ ५ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्रीष्मे ज्येष्ठाषाढाख्ये अभितापस्तेन स्पृष्टःस्पृष्टो व्याप्तः सन् । विमना विमनस्कः सुष्ठु वा अतिशयेन पातुमिच्छा पिपासा तां प्राप्तो नितरां तृडभिभूतो बाहुल्येन दैन्यमुपयातीति दर्शयति ॥ तत्र तस्मिन्नुष्णपरीषहोदये मन्दा जडा अशक्ता विषीदन्ति । पराभङ्गमुपयान्ति । दृष्टान्तमाह । यथा मत्स्या अल्पोदके विषीदन्ति । गमनाभावान्मरणमुपयान्त्येवं सत्त्वाभावात्संयमात् भ्रश्यन्त इति । इदमुक्तं भवति । यथा मत्स्या अल्पत्वादुदकस्य ग्रीष्माभितापेन तप्ता अवसीदन्त्येवमल्पसत्त्वाश्चारित्रप्रतिपत्तावपि जलमलक्लेदक्लिन्नगात्रा बहिरुष्णाभितप्ताः शीतलान् जलाश्रयान् जलाधारगृहचन्दनादीनुष्णप्रतीकारहेतूननुस्मरन्त आकुलितचेतसः संयमानुष्ठानं प्रति विषीदन्ति॥५॥सूत्र०१श्रु.३अ०।

उसिणपरियावेणं, परिदाहेण तज्जिए ।
घिंसु वा परियावेणं, सायं नो परिदेवए ॥ ८ ॥

उष्णमुष्णस्पर्शवद्भूशिलादि तेन परितापः तेन तथा परिदाहेन बहिः स्वेदमलाभ्यां वह्निना वान्तश्च तृष्णया जनितनिदाघस्वरूपेण तर्जितो भर्त्सितोऽत्यन्तपीडित इति यावत् । तथा ग्रीष्मे वाशब्दात् शरदि वा परितापेन रविकिरणादिजनितेन तर्जित इति संबन्धः । किमित्याह । सातं सुखं प्रतीति शेषं न परिदेवेत किमुक्तं भवति । नारीकुचोरुकरपल्लवोपगूढैः क्वचित्सुखं प्राप्ताः क्वचिदङ्गारैर्ज्वलितैस्तीक्ष्णैः पक्वाःस्म नरकेष्वित्यादि परिभावयन् हा कथं मम मन्दभाग्यस्य सुखं स्यादिति न प्रलपेत । यद्वा सातमिति सातहेतुं प्रति यथा हा कथं कदा वा शीतकालः शीतांशुकरकलापदयो वा मम सुखोत्पादकाः संपत्स्यन्त इति न परिदेवेत इति सूत्रार्थः ॥

उपदेशान्तरमाह ।

उण्हाहितत्तो मेहावी, सिणाणं नो वि पत्थए ।
गायं नो परिसिंचिज्जा, न वीएज्जा य अप्पयं ॥९॥

मेधावी मर्यादानतिवर्त्ती स्नानं शौचं देशसर्वभेदभिन्नं नाभिप्रार्थयेत नैवाभिलषेत् पतन्ति च (नो वि पत्थइत्ति) अपिभिन्नक्रमत्वात्प्रार्थयेदपि न किन्तु पुनः कुर्यात्तथागात्रं शरीरं नो परिसिञ्चेन्न सूक्ष्मोदकबिन्दुभिरार्द्रीकुर्यात् न वीजयेच्च तालवृन्तादिना (अप्पयंति)आत्मानमथ वाऽल्पमेवाल्पकं किं पुनर्बहिति सूत्रार्थः । साम्प्रतं शिलाभारमनुस्मरन् उवरितावेणत्यादिसूत्रावयवसूचितमुदाहरणं निर्युक्तिकृदाह–

तगराए अरिहमित्तो, अरिहग्ध तोयजद्दा य ।
वणियमहिलं चइत्ता, तत्तम्मि सिलायले विहरे ॥

तगरायामर्हन्मित्रो दत्तोर्हन्नकश्च भद्रा चावणिग्महिलां त्यक्त्वा शिलातले विहरेत्ति व्यहार्षीदिति गाथाक्षरार्थो भावार्थस्तु वृद्धसंप्रदायादवसेयः । सचायं तगरा नयरी तत्थ अरहमित्तो नाम आयरिओ तस्स समीवे दत्तो नाम वाणियओ भद्दाए भारियाए पुत्तेण य अरहत्तएणं सद्धिं पव्वइत्तो । सो तं खुड्डगं कयाइं भिक्खाए नहिंडावेइ पढमालियाईहिं किं भिच्छिएहिं पोसेत्ति सो सुकुमालो साहूण अप्पत्तियणतरंति किं चि भणिउं । अन्नया सो खंतो कालगतो साहूहिं दो तिन्नि वा दिवसे दाउं भिक्खस्स उपरितो सो सुकुमालसरीरो गिम्हे उवरिहेट्ठाए डज्झंतो पस्सेयतण्हाभिभूतो छायाए वीसमंतो पोसियवइयाए वणियमहिलाए दिट्ठो उरालसुकुमालसरीरोत्ति काउं तीसे तहिं अज्झोववाओ जाओ । चेडीए सद्दावितो किं मग्गसि । भिक्खं दिन्ना से मोयगा पुच्छिओ कीस तुमं धम्मं करेसि । भणति सुहनिमित्तं । सा भणति ता मए चेव समाणं भोगे भुंजाहि । सो य उण्हेण तज्जिओ उवसग्गज्जितो य पडिभग्गो भोगे भुंजति । सो साहूहिं सव्वे-हिं मग्गिओ नो दिट्ठो अप्पसागारिअं पविट्ठो पच्छा से माया उम्मत्तिया जाया पुत्तसोगेण णयरं परिभमंती अरहन्नयं विलवंती जं जहिं पासति तं तहिं सव्वं भणति अत्थि ते कोवि अरहन्नको दिट्ठो एवं विलवमाणा भमति जाव अन्नया तेण पुत्तेण ओलोयणगएण दिट्ठा पच्चभिन्नाया तहेव उत्तरित्ता पाएसु पडिओ तं पेच्छिऊण तहेव सत्थचित्ता जाया ताए भणिओ पुत्त पव्वयाहि मा दोग्गइं जाहि । सिस्सो भणति न तरामि काउं संजमं यदि परं अणसणं करेमि एवं करेहि मा असंयतो भवाहि मा संसारं भमिहिसि । पच्छा सो तहेव तत्ताए सिलाए पाओवगमणं करेति मुहुत्तेण सुकुमालसरीरो उण्हेण विलाओ पुव्विं तेण णाहियासिओ पच्छा तेण अहियासितो एवं अहियासियव्वं उण्हे'उत्त०पा० तगरानगर्यामर्हन्मित्राचार्यपार्श्वे दत्तनामा वणिक् भद्रा भार्या र्हन्नकपुत्रेण समं प्रव्रजितः । पिता सर्ववैयावृत्त्यकरणेन इतस्ततः परिभ्रम्य भव्यभिक्षाभोजनसम्पादनेन स बालोऽत्यन्तं सुखीकृतः उपविष्ट एव भुङ्क्ते कदापि भिक्षार्थं न भ्रमति । तद्भिक्षार्थं स्वभिक्षार्थश्च पितुरेव भ्रमणात् । अन्यदा पितरि मृते साधुभिः प्रेरितः स बालो ग्रीष्मे मासे भिक्षार्थङ्गतः । तापाभिभूतः प्रोत्तुङ्गगृहच्छायायामुपविशति पुनस्तत उत्तिष्ठति शनैः शनैर्याति एवं कुर्वन्तमतिसुकुमारं तमर्हन्नककुमारं रूपेण कन्दर्पावतारं दृष्ट्वा काचित्प्रोषितवणिग्भार्या आकार्य गृहे स्थापितवती तया सह स विषयासक्तोऽभूत् । अथ तन्माता साध्वी पुत्रमोहेन ग्रथिलीभूता अरे अर्हन्नक ! अर्हन्नक ! इति निर्घोषयन्ती चतुष्पथादिषु भ्रमति । एकदा गवाक्षस्थेन अर्हन्नकेन तादृशावस्था माता दृष्टा संजातात्यन्तसंवेगः स गवाक्षादुत्तीर्य पादयोः पतित्वा मातरमेवमाह । हेमातः सोऽहमर्हन्नक इति तद्वचःश्रवणात् स्वस्थचित्ता माता तमेवमाह । वत्स भव्यकुलजातस्य तव केयमवस्था । स प्राह । मातश्चारित्रं पालयितुमहं न शक्नोमि । सा प्राह तर्हि अनशनं कुरु मातृवचसा स तप्तशिलायां सुप्त्वा पादोपगमनञ्चकार सम्यगुष्णपरीषहं विषह्य समाधिभाग् देवत्वं प्राप्तवान् । एवं अन्यैरपि साधुभिरुष्णपरीषहः सोढव्यः । उत्त २ अ०। (परीसहशब्देऽन्यत्)

उण्ह (उसिण) परियाव–उष्णपरिताप–पुं० उष्णमुष्णस्पर्शवद्भूशिलादि तेन परितापः । उत्त० २ अ० । आतापनादौ, भूशिलाद्यौष्ण्यहेतुके दाहे, उत्त० १ अ० ।

उण्हफासणाम–उष्णस्पर्शनामन्–न० नामकर्मभेदे, यदुदयाज्जन्तुशरीरं हुतभुजादिवद् भवति तदुष्णस्पर्शनाम । कर्म० ।

उण्हयर–उष्णतर–न० कषायः शोकवेदोदययोश्च दाहकत्वादुष्णः सर्वं वा मोहनीयमष्टप्रकारं वा कर्मोष्णं ततोऽपि तद्दाहकत्वादुष्णतरम् । तपसि, " झज्झइ तिव्वकसाओ, सोगाभिभूओ उइण्णवेओ य । उण्हयरो होइ तवो, कसायमाई वि जं डहइ " आचा० नि० २ अ० । (सीउण्ह शब्दे विवृतिः)

उण्हवण–उष्णापन–न० उष्णीकरणे, पिं० ॥

उण्हाभि (हि) तत्त–उष्णाभितप्त–त्रि०उष्णेनात्यन्तपीडिते, "उण्हाहितत्तो मेहावी सिणाणं नो विपत्थए" उत्त० २ अ० ।

उण्हाभिहय–उष्णाभिहत–त्रि०सूर्यखरप्रतापाभिभूते " वण्हाभिहए तण्हाभिहए दवग्गिजालाभिहए " जी० ३ प्रति० ।

उण्हीस–उष्णीष–पुं०न० उष्णमीषते हिनस्ति उष्णम् ईष शक० पररूपम् । "सूक्ष्मश्नष्णस्नह्नह्नक्ष्णां ण्हः" ।८।२।७५। सूत्रेण ष्णभागस्य णकाराक्रान्तो हकारः । प्रा० । शिरोवेष्टनवस्त्रे, (पागडी)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किरीटे च । " पवित्रं केश्यमुष्णीषं, वातातपरजोऽपहम् । वर्षानिव्ररजोधर्म-हिमादीनां निवारणम् " वाच० ॥

उण्होदग-उष्णोदक-न० क. स. अग्निना तप्तजले, क्वथ्यमानपादशेषाद्धविशेषपादादिहीनके जले, " अष्टमेनांशशेषेण, चतुर्थेनार्धकेन वा । अथवा क्वथनेनैव, सिद्धमुष्णोदकं वदेदिति । वाच० पुप्फोदएहि य गंधोदएहि य उण्होदएहि य सुभोदएहि य कल्प०।

उण्होआ-उष्णोपग्ना-स्त्री० तैलपायिकानामके कीटभेदे, सङ्गमकः सौधर्मकल्पवासी देवः वीरमुपसर्गयन् " उण्होआ विउव्वइ उण्होआ णाम तेल्लपाइया तो ताओ तिक्खेहिं तुंडेहिं अतीव दंसंति " आ० म० द्वि० ।

उत्त-उक्त-त्रि० वच. बुहा. गौणे कर्मणि क्त. । यस्य ज्ञानाय कथ्यते तादृशे, अनुक्तेनापि वक्तव्यं, सुहृदा हितमिच्छता । गौणकर्मसमभिव्याहारे तु मुख्ये कर्मणि क्तः । वाच० । अभिहिते, "तत्थुत्तो तं जिणमयणाइ" पंचा० ६ विव० । भणिते, आख्यातके, नि० । वुत्त वक्तं भणितमिति वुत्तशब्दस्योक्तेत्यनुवादः । आव० ५ अ० ॥ उत्तराध्ययने तु व्युक्तेत्यनुवादः । उत्त० १ अ० ॥

उत्त-त्रि० उन्द क्लेदने क्त-वा तस्य नः । क्लिन्ने आर्द्रवस्तुनि, वाच० । स्वनामख्याते वनस्पतिभेदे, पुं० । अनु० ।

उप्त-त्रि० वप्-क्त । निक्षिप्ते, ध० १ अधि० । कृतवापे धान्यादौ क्षेत्रे, वाच० । कर्षक इव बीजवपनं कृत्वा निष्पादिते, " देव उत्ते अयमोए बंभउत्तेत्तियावरे " । सूत्र०१ श्रु०१ अ०३ उ० ।

उत्तण-उत्तृण-न० उन्नतं तृणमुत्तृणम् । ऊर्ध्वगते तृणे, " खित्तखिल्लभूमिवल्लराई उत्तणघणसंकडाइं रुज्झंतु " उत्तृणैः स्तृणैर्घनमत्यर्थं संकटानि सङ्कीर्णानि यानि तानि तथा । प्रश्न० १ द्वा० उद्गतानि तृणानि यत्र उन्नततृणके, "उत्तणाणि वणाणि निप्पक्ष-सत्त्वं का मेहणि" उद्गतानि तृणानि येषु वनेषु तानि तथा । अनु०।

उत्तत्थ-उत्त्रस्त-त्रि० उन्नतत्रासे, प्रश्न० अध० ३द्वा० । भयाज्ञातोत्कम्पादिभयभावे, "उत्तत्था तसिया उव्विग्गा संजायभया " भ०३ श०१ उ० । "उत्तत्थसुभजयसंतत्था" प्रश्न० अध०३द्वा०।

उत्तप्पसरीर-उत्तप्तशरीर-त्रि० देदीप्यमानशरीरे, रा० ।

उत्तम-उत्तम-त्रि० उद्-तमप्० । स्वरूपतः सुन्दरे, कल्प० । भ० । प्रशंसास्पदीभूते, जं० २ वक्ष० । औ० । सर्वोत्कृष्टे, आव० २ अ० । महति, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । प्रधाने, पंचा० ए विव० प्रश्न०।संस्था।"अयं से उत्तमे धम्मे,पुव्वट्ठाणस्स पग्गहे"आचा० १ श्रु०८अ०। "बंभचेरं उत्तमतवनियमनाणदंसणचरित्तविणयमूलं" प्रश्न० ३ द्वा० । प्रज्ञा० । संयमे, पुं० दशा०५अ० । गिरीणामुत्तमत्वादुत्तमः । मेरौ, "ता उत्तमंसि पव्वयंसि" चं० प्र० १पाहु० । सू० प्र०। अन्त्ये, त्रि० उत्तमैकार्थ्यां च० पा०उत्तमशब्दोऽन्त्यार्थः उत्तानपादस्य पुत्रभेदे, ध्रुवस्य भ्रातरि पुं० वाच० ॥

उत्तमस्-त्रि० ऊर्ध्वं तमसोऽज्ञानाद्यस्तत्तथा अज्ञानरहिते, ल०१अ०

कित्तियवंदियमहिया, जे लोगस्सुत्तमा सिद्धा ॥

कीर्तिताः स्वनामभिः प्रोक्ता वन्दितास्त्रिविधयोगेन सम्यक् स्तुता महिताः पुष्पादिभिः पूजिताः । क एते इत्यत आह ये एते लोकस्य प्राणिलोकस्य मिथ्यात्वादिकर्ममलकलङ्काभावेनोत्तमाः प्रधानाः ऊर्ध्वं वा तमसः इत्युत्तमसः । उत्प्राबल्येनोर्ध्वगमनोच्छेदनेष्विति वचनात् । प्राकृतशैल्या पुनरुत्तमा उच्यन्ते । (सिद्धा इति) सितं ध्मातं बध्यमेषामिति सिद्धाः कृतकृत्या इत्यर्थः । ल० ।

अस्यैव व्याख्यां निर्युक्तिकृदाह ।

मिच्छत्तमोहणिज्जा, नाणावरणाचरित्तमोहाउ ।
तिविहतमा उम्मुक्का, तम्हा ते उत्तमा हुंति ॥ ५५ ॥

मिथ्यात्वमोहनीयास्तथा ज्ञानावरणास्तथा चारित्रमोहादित्यत्र मिथ्यात्वमोहनीयग्रहणेन दर्शनसप्तकं गृह्यते । तत्रानन्तानुबन्धिनश्चत्वारः कषायास्तथा मिथ्यात्वादित्रयं च ज्ञानावरणं मतिज्ञानावरणभेदात्पञ्चविधं चारित्रमोहनीयं पुनरेकविंशतिभेदं तच्चानन्तानुबन्धिरहिताः द्वादशकषायास्तथा नव नोकषाया इति अस्मादेव यतस्त्रिविधतमसः किमुन्मुक्ताः प्राबल्येन मुक्ताः पृथग्भूता इत्यर्थः । तस्मात्ते भगवन्तः किमुत्तमा भवन्ति ऊर्ध्वं तमोवृत्तेरिति गाथार्थः ॥ आव० २ अ० । आ० चू० ।

उत्तमंग-उत्तमाङ्ग-न० क. स. सर्वावयवानां प्रधानावयवे, स०। शिरसि च । सूत्र० १ श्रु०५ अ० २ उ० । उत्त०। नं० । मस्तकस्य अङ्गेषूत्तमत्वं चक्षुरादीन्द्रियाधारत्वात्, वाच० । तात्स्थ्यात्केशेषु, "लोयविरलुत्तमंगं" अत्र उत्तमाङ्गशब्देन उत्तमाङ्गस्थाः केशा उच्यन्ते । पिं० ॥

उत्तमकट्ठपत्त-उत्तमकष्टप्राप्त-त्रि० परमकष्टावाप्ते, भ०७ श०६उ०

उत्तमकाष्ठाप्राप्त-त्रि० उत्तमावस्थां गते, परमकाष्ठाप्राप्ते, "दूसमदूसमाए समाए उत्तमकट्ठपत्ताए भरहस्स केरिसए आगारभावपडोयारे पवत्ते " भ० ७ श० ६ उ० । परमप्रकर्षप्राप्ते, प्रकृष्टावस्थां गते, सू० प्र० १ पाहु० ।

उत्तमकट्ठा-उत्तमकाष्ठा-स्त्री० प्रकृष्टावस्थायाम्, जं० २ वक्ष० ।

उत्तमकुल-उत्तमकुल-न० उग्रभोगादिके चान्द्रादिके वा कुले, " उत्तमकुले वि जायं णिक्कासिज्जइ तपंगच्छे " ग०२ अधि०

उत्तमगुण-उत्तमगुण-पुं० प्रधानगुणे, पंचा० ४ विव० ।

उत्तमगुणबहुमाण-उत्तमगुणबहुमान-पुं० उत्तमगुणेषु प्रधानगुणेषु जिनेषु वीतरागत्वादिषु वा जिनगुणेषु, बहुमानः पक्षपातः उत्तमगुणबहुमानः उत्तमगुणपक्षपाते, " उत्तमगुणबहुमाणो पयमुत्तमसत्तमज्झयारम्मि " पंचा० ४ विव० ।

उत्तमगुणोघ-उत्तमगुणौघ-पुं० अनहङ्कारिणि, " ण करोति अहंकारं परिसओ उत्तमगुणो य " पं० भा० ॥

उत्तमजणसेविय-उत्तमजनसेवित-त्रि०गणधरसेविते, गणधराणामुत्तमत्वात् । "उत्तममियं पयं जिण-बोहिं लोगुत्तमेहिं पन्नत्तं । उत्तमकजसंजणयं, उत्तमजणसेविता लोए " पंचा० ११ विव० ।

उत्तमजत्ता-उत्तमयात्रा-स्त्री० प्रधानयात्रायाम्, पंचा०ए विव.

उत्तमजोगित्त-उत्तमयोगित्व-न० अयोगित्वलक्षणे संवरद्वारे, स्था० ५ ठा० ॥

उत्तमट्ठ-उत्तमार्थ-पुं० उत्तमश्चासावर्थश्च उत्तमार्थः । प्रकृष्टपदार्थे, " इच्चेयं महव्वयउच्चारणा उवत्तया जुत्तपायगभाणे परमट्ठे उत्तमट्ठे " उत्तमश्चासावर्थश्चोत्तमार्थः । प्रकृष्टपदार्थे, मोक्षफलसाधकत्वेन महाव्रतानां सर्ववस्तुप्रदानत्वादिति । पा० ॥ उत्तमः प्रधानोऽर्थो मोक्षो यस्मात्स उत्तमार्थः । पर्यन्तसमयाराधनारूपे जिनाज्ञाराधने,"निरट्ठिया णिप्फर्इ उ तस्स, जे उत्तमट्ठे विवज्जासमेइ" उत्त०२०अ०। अनशने,"इच्छामि भंते उत्तमट्ठं पडिक्कमामि" (अणसणशब्दे विवरणमुक्तम्) कालधर्मे, आव.४अ० ।

उत्तमट्ठगवेसय-उत्तमार्थगवेषक-त्रि०मोक्षाभिलाषिणि. " ण वि रुट्ठो ण वि तुट्ठो, उत्तमट्ठगवेसओ " उत्त० २५ अ० ॥

उत्तमट्ठपत्त-उत्तमार्थप्राप्त- त्रि०उत्कृष्टानर्थप्राप्ते,"सुसुमाए समाए उत्तमट्ठपत्ताए भरहस्स केरिसए आयारभावपडोयारे पवत्ते" उत्तमांस्तत्कालापेक्षयोत्कृष्टानर्थानायुष्कादीन् प्राप्ता उत्तमार्थप्राप्ताः । भ० ६ श० ७ उ० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्तमट्ठाण-उत्तमस्थान- न० मोक्षस्थाने, " धीरो अमूढसण्णी- सो गच्छइ उत्तमट्ठाणं " ॥ आतु० ॥

उत्तमड्ढि (रिद्धि) उत्तमर्द्धि- स्त्री० प्रधानविभवे, "सेया य उत्तमा खलु, उत्तमरिद्धीए कायव्वा " पंचा० ६ विव० ॥

उत्तमणिदंसण-उत्तमनिदर्शन-न०इन्द्रादिलक्षणेषु, प्रधानसत्व-ज्ञातेषु, पंचा० १६ विव० ॥

उत्तमणिदंसणजुय-उत्तमनिदर्शनयुत- त्रि० अहीनोदाहरणवति, "उत्तमणिदंसणजुत्रं विचित्तणयगब्भणरं चेव " पं०व० ॥

उत्तमधम्मपसिद्धि-उत्तमधर्मप्रसिद्धि-स्त्री०प्रधानधर्मस्य पूजाकाले, प्रकृष्टपुण्यकर्मबन्धरूपस्य अशुभकर्मक्षयरूपस्य च कालान्तरक्रमेण यथाख्यातचारित्ररूपस्य निष्पत्तौ, जिनशासनप्रकाशे च । "उत्तमधम्मपसिद्धि-पूयाए जिणवरिंदाणं" पंचा०४विव० ।

उत्तमपसत्यज्झाण-उत्तमप्रशस्तध्यान- न० प्रकृष्टशुभयोगे, " उत्तमपसत्थज्झाणो, हियएणं इमं विचिंतेइ " पं०व० ॥

उत्तमपुरिस-उत्तमपुरुष-पुं० । तीर्थकृच्चक्रवर्तिबलदेववासुदेव-लक्षणेषु प्रधानपुरुषेषु, "अरहंतचक्कवट्टी, बलदेवा चेव वासुदेवा य । एए उत्तमपुरिसा. नहु तुच्छकुलेसु जायंति. आ० म० द्वि० । "णव दसारमंडलाहोत्था तंजहा उत्तमपुरिसा मज्झिमपुरिसा. उत्तमपुरुषास्तीर्थकरादीनां चतुः पञ्चाशदुत्तमपुरुषाणां मध्यवर्तित्वात्० । स० । कुम्मुण्णया जोणी उत्तमपुरिसमाऊणं" स्था०३ ठा०

उत्तमपोग्गल-उत्तमपुद्गल-पुं० आत्मनि, प्रधानवाची वा पुद्गलशब्दस्ततश्चायमर्थः उत्तमोत्तमे महतोऽपि महीयसि, "से परिप उत्तमपोग्गले "सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ॥

उत्तमफलसंजणय-उत्तमफलसंजनक-त्रि० मोक्षजनके, पं० व० ।

उत्तमबलविरियसत्तजुत्त--उत्तमबलवीर्यसत्त्वयुक्त--त्रि० उत्तमैर्बलवीर्यसत्त्वैर्युक्ते, उत्तमयोर्बलवीर्ययोः सत्वेन (सत्तया) युक्ते च । भ० ए श० ३३ उ० ।

उत्तममग्ग-उत्तममार्ग-पुं०ज्ञानस्य प्राधान्यं व्यवहारस्य च गौणता यत्र तस्मिन्, द्व० ॥

उत्तमाविउव्वि (ण्)-उत्तमविकुर्विन्--त्रि० उत्तमं विकुर्वन्तीत्येवंशीलाः । उत्तमविकुर्वणशीलेषु, जी० ४ प्रति० ।

उत्तमसुत्त-उत्तमसूत्र--न० कर्म० स. । छेदश्रुते, दृष्टिवादे च । किंपुण तं उत्तमसुत्तं उच्यते "छेयसुत्तमुत्तमसुयं, अहवा दिट्ठिवाओ भण्णइ । छेयसुयं कम्हा, उत्तमसुत्तं भणंति जम्हा । तत्थ स पायच्छित्तो विही भण्णति-जम्हा य तेण चरणविसुद्धी करेति तम्हा तं उत्तमसुत्तं दिट्ठिवाओ वा" नि० चू० १ए उ० ।

उत्तमसुयवण्णिय--उत्तमश्रुतवर्णित--त्रि० प्रधानागमाभिहिते, पंचा० ए विव० ।

उत्तमा--उत्तमा--स्त्री० पूर्णभद्रस्य यक्षेन्द्रस्य तृतीयायामग्रमहिष्याम्, स्था० ४ ठा० । भ० । (अग्गमहीसीशब्दे सा उक्ता) लोकोत्तरीत्या प्रतिपद्रात्रौ, चं० १ पाहु० । कल्प० । जं० । ज्यो० ॥

उत्तमागार--उत्तमाकार--पुं० उत्तरङ्गादिरूपे उपरितनेष्वाकारेषु, तेसिणं दाराणं उत्तमागारा सोलसविहेहिं रयणेहिं उवसोभिया, रा० ॥

उत्तमोत्तम-उत्तमोत्तम-त्रि०महतोऽपि महीयसि, सू०१ श्रु०१३अ०

उत्तर-उत्तर--न० उत्तीर्यते प्रकृताभियोगोऽनेन उद्. तृ०अच्. उद् तरप् वा । राजसमीपे वादिकृताभियोगापनोदके उत्तराख्ये व्यवहाराङ्गे, द्वितीयपादे, प्रश्नश्रोतृधिया प्रशस्तस्य खण्डनमुत्तरम्. इत्युक्ते दोषभञ्जनवाक्ये, जिज्ञासितविषयावेदके वाक्ये, अनन्तरे, वाच० ॥

अस्य निक्षेपः ॥

णामं ठवणा दविए, खेत्तदिसा ताव खेत्तपण्णवए ।
पइकालं संचयपहा- णणाणकमगणणतो भावे ।
जहण्णुत्तरं खलु, उक्कोसं वा अणुत्तरं होइ ।
सेसाइं अणुत्तराइं, अणुत्तराइं च णायाइं ॥

इह च सुपो यत्रादर्शनं तत्र सूत्रत्वेन छान्दसत्वाल्लुक् तथोत्तरनिक्षेपप्रस्तावात्सूचकत्वात्सूत्रस्य 'कमउत्तरेण य गय 'मित्युत्तरत्र श्रवणाच्च (नामंति) नामोत्तरं (ठवणत्ति) स्थापनोत्तरमित्याद्यभिलापः कार्यस्तत्र नामोत्तरमिति नामैव यस्य वा जीवादेरुत्तरमिति नाम क्रियते।स्थापनोत्तरमक्षरादि उत्तरमिति वर्णविन्यासो वा द्रव्योत्तरमागमतो ज्ञानानुपयुक्तो नोआगमतो ज्ञशरीरभव्यशरीरे तद्व्यतिरिक्तं चातद्व्यतिरिक्तं त्रिधा सचित्ताचित्तमिश्रभेदेन तत्र च सचित्तं पितुः पुत्रः अचित्तं क्षीराद्दधि, मिश्रं जननी शरीरतो रोमादिमदपत्यम् । इह च द्रव्यपर्याययोरभयात्मकत्वेऽपि वस्तुनो द्रव्यप्राधान्यविवक्षया पित्रादीनां द्रव्योत्तरत्वं भावनीयम् । क्षेत्रोत्तरं मेर्वाद्यपेक्षया यदुत्तरं यथोत्तराः कुरवः यद्वा पूर्वं शालिक्षेत्रं तदेव पश्चादिक्षुक्षेत्रं दिगुत्तरमुत्तरा दिग्दक्षिणादिगपेक्षत्वादस्य । तापक्षेत्रोत्तरं यत्तापदिगपेक्षयोत्तरमित्युच्यते यथा सर्वेषामुत्तरो मन्दरादिः प्रज्ञापकस्य वामं प्रत्युत्तरमेकदिगवस्थितयोर्देवदत्तयज्ञदत्तयोर्देवदत्तात्परो यज्ञदत्तः उत्तरः । कालोत्तरं समयादावलिका आवलीकातो मुहूर्त्तमित्यादि । सञ्चयोत्तरं यत्सञ्चयस्योपरि यथा धान्यराशेः काष्ठम् । प्रधानोत्तरं त्रिविधं सचित्ताचित्तमिश्रभेदात् । सचित्तप्रधानोत्तरमपि त्रिविधमेव तद्यथा द्विपदं चतुष्पदमपदं च । तत्र द्विपदमनुत्तरपुण्यप्रकृतितीर्थकरनामाद्यशुभवनस्तीर्थकरश्चतुष्पदमनन्यसाधारणशौर्यधैर्यादियोगतः सिंहः,अपदं रम्यत्वसुरसेव्यत्वादिभिर्जात्यजाम्बूनदादिमयी जम्बूद्वीपमध्यस्थिता सुदर्शना जम्बूः अचित्तमचिन्त्यमहात्म्यश्चिन्तामणिः मिश्रं तीर्थकर एव गृहस्थावस्थायां सर्वालङ्कारालंकृतः । ज्ञानोत्तरं केवलज्ञानं विलीनसकलावरणत्वेन समस्तवस्तुस्वभावावभासितया च । यद्वा श्रुतज्ञानं तस्य स्वपरप्रकाशकत्वेन केवलादपि महर्द्धिकत्वात् । उक्तं च "सुयनाणं महिड्ढीयं, केवलं तयणंतरं । अप्पणो य परेसिं च जम्हा तं परिभावणत्ति" क्रमोत्तरं क्रममाश्रित्य यद्भवति तच्चतुर्विधं द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च । तत्र द्रव्यतः परमाणोर्द्विप्रदेशिकस्ततोऽपि त्रिप्रदेशिक एवं यावदन्त्योऽनन्तप्रदेशिकः स्कन्धः क्षेत्रतः एकप्रदेशावगाढाद् द्विप्रदेशावगाढः ततोऽपि त्रिप्रदेशावगाढ एवं यावदवसानवर्त्यसंख्येयप्रदेशावगाढः । कालतः एकसमयस्थितेर्द्विसमयस्थितिस्ततोऽपि त्रिसमयस्थितिरेवं यावदसंख्येयसमयस्थितिः । भावत एकगुणकृष्णाद् द्विगुणकृष्णस्ततोऽपि त्रिगुणकृष्ण एवं यावदनन्तगुणकृष्णो यतो वा क्षायोपशमिकादिभावादनन्तरं यः क्षायिकादिर्भवति (गणनुत्तरत्ति) गणनोत्तरमेककाद् द्विकस्ततोऽपि त्रिक एवं यावच्छीर्षप्रहेलिका । भावोत्तरं क्षायिको भावस्तस्य केवलज्ञानदर्शनाद्यात्मकत्वेन सकलौदयिकादिभावप्रधानत्वादर्हैवमस्य प्रधानोत्तर एवान्तर्भावाद्युक्तं भेदेनाभिधानम् । यद्वैवमन्योन्यमिदमुच्यते एवं हि नामादिचतुष्टय एव सर्वनिक्षेपाणामन्तर्भावात्तदेवाभिधेयं तत इहान्यत्र यन्नामादिचतुष्टयाधिकनिक्षेपाभिधानं तच्छिष्यमतिव्युत्पादनार्थं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सामान्यविशेषोत्पत्त्यात्मकत्वख्यापनार्थं च सर्ववस्तूनामिति भावनीयमिति गाथार्थः ॥ इहानेकधोत्तराभिधानेऽपि क्रमोत्तरमेवाधिकरिष्यते विषयकारणे च विषयी सुकरतो भवतीति मन्वानो यथास्य संभवो यत्र चासंभवो यत्र चोभयं तदाह । (जहण्णि) जघन्यं सोत्तरं खलुरवधारणे सोत्तरमेव (उक्कोसंति) उत्कृष्टं वाशब्दस्यैवकारार्थस्य भिन्नक्रमत्वादनुत्तरमेव भवति शेषाणि मध्यमान्युत्तराणीति । अर्शआदित्वेनाजन्तत्वान्मतुब्लोपाद्वोत्तरवन्त्यनुत्तराणि च ज्ञेयानि द्रव्यक्रमोत्तरादीनि हि जघन्यान्येकप्रदेशिकादीन्युपरि द्विप्रदेशिकादिवस्त्वन्तरभावात्सोत्तराण्येव तदपेक्षयैव तेषां जघन्यत्वात् । उत्कृष्टानि त्वन्त्यान्यनन्तप्रदेशिकादीन्यनुत्तराण्येव तदुपरि वस्त्वन्तराभावादन्यथोत्कृष्टत्वायोगात् । मध्यमानि तु द्विप्रदेशिकादीनि त्रिप्रदेशिकाद्यपेक्षया सोत्तराण्येकप्रदेशिकाद्यपेक्षया त्वनुत्तराण्युपरितनवस्त्वपेक्षयैव सोत्तरत्वादिति गाथार्थः ॥ उत्त० १ अ० । (शेषग्रन्थ उत्तरज्झयणशब्दे) अधिके, सूत्र० १ श्रु० २ अ० । उत्कृष्टे, उत्त० ३ अ० । प्रधाने, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । स्था० । तं० । अनु० "उत्तरा महुरुल्लाव पुत्ता ते ताव खुड्डया" उत्तराः प्रधानाः उत्तरोत्तरजाता वा सूत्र० १ श्रु० ३ अ० । वृक्षौ, "कप्पगुत्तरा" कति प्रदेशा उत्तरे वृद्धौ यस्या सा तथा भ० १३ श० ४ उ० । उपरिवर्तिनि, अनुत्तरविमानाख्येषु देवेषु, सर्वोपरिवर्तित्वात्तेषाम् । उत्त० ३२ अ० । ऐरावते भविष्यति द्वाविंशे तीर्थकरे, स० । ति० । प्रव०

पक्कुल्लावजया वा, कज्जं पि न सेसया उदीरेंति ।

पाएण अहो तोसिव, उत्तरि सोवाहणेणं ति ॥

पादेन सोपानहा आहत इत्युत्तरसदृशोत्तरकारी उत्तरः । इयमत्र भावना । केनापि कश्चित्सोपानहा पदेनोपहतः तेन च गत्वा राजकुले निवेदिते कारणिकैश्च स आकारितः । कित्वयैव आहतः न मया किं तु सोपानहा पादेन एवं सोऽपि दुर्व्यवहारं कुर्वन् गीतार्थन सूत्रोपदेशतः उपालब्धः सन्नेतादृशैरक्षरवचनैरुत्तरं ददाति । ततः कदुत्तरकरणात्स उत्तर इत्युक्तलक्षणे अप्रशंसनीये व्यवहारिणि, व्य० प्र० १ उ० । स्थविरस्यार्य्यमहागिरेः प्रथमशिष्ये, व्य० द्वि० १ उ० । " तणविणणसंजयहा मूलगुणा उत्तरा पज्जणया " उत्तराः उत्तरगुणरूपाः " श्रु० १ उ० ।

उत्तरंग-उत्तराङ्ग-न० द्वारस्योपरि तीर्यग्व्यवस्थितमङ्गमुत्तराङ्गम् द्वारस्योपरि तीर्यग्व्यवस्थिते काष्ठे, जं० १ वक्ष० " जोई सामए उत्तरंगे " जी० ३ प्रति० ।

उत्तरकंचुय-उत्तरकञ्चुक-पुं० तनुत्राणविशेषे, विपा० २ अ० ।

उत्तरकट्ठोवगय-उत्तरकाष्ठोपगत-त्रि० उत्तरां दिशमुपगते, स० ।

उत्तरकरण-उत्तरकरण-न० उत्तरत्र करणमुत्तरकरणम् । द्रव्यकरणभेदे, तद्य " उत्तरकरणं वंजणं अत्थो उ उवक्खरो सव्वे " उत्तरत्र करणमुत्तरकरणम् कर्णवेधादि । यदि वा तन्मूलकरणं घटादिकं येनोपस्कारेण दण्डचक्रादिना अभिव्यज्यते स्वरूपतः प्रकाश्यते तदुत्तरकरणं कर्तुरुपकारकः सर्वोऽप्युपस्कारार्थ इत्यर्थः (प्रपञ्चतः करणशब्दे) भावकरणभेदे, " उत्तरकमसु य जो वन्नणवगादी भोअणादीसु " सूत्र० १ श्रु० १ अ० । (उत्तरकरणं क्रमश्रुतयौवनवर्णादिचतूरूपम करणशब्दे दर्शयिष्यते) मूलतः स्वहेतुत उत्पन्नस्य पुनरुत्तरकालं विशेषाधानात्मके करणे, " उत्तरकरणेण कयं, जं किंचि संखयं तु णायव्वं " उत्त० नि० । जे भिक्खू सूईए उत्तरकरणं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा कारेति कारेंतं वा साइज्जइ नि० चू० १ उ० । (सूच्या उत्तरकरणं सूई शब्दे)

(सूत्रम्) तस्स उत्तरि (री)करणेणं पायच्छित्तकरणेणं

अत्रत्योत्तरकरणेति सूत्रावयवं विवृण्वन्नाह ।

खंडिअविराहिआणं, मूलगुणाणं स उत्तरगुणाणं ।

उत्तरकरणं कीरइ, जह सगडरहंगगेहाणं ॥ ९९ ॥

खण्डितविराधितानां खण्डिताः सर्वथा भग्ना विराधिता देशतो भग्ना मूलगुणानां प्राणानां प्राणातिपातादिनिवृत्तिरूपाणां सह उत्तरगुणैः पिण्डविशुद्ध्यादिनिवर्त्तन्त इति सोत्तरगुणास्तेषामुत्तरकरणं क्रियते आलोचनादीनां पुनः संस्करणमित्यर्थः । दृष्टान्तमाह यथा शकटरथाङ्गगेहानां बहिश्चक्रगृहाणामित्यर्थः । तथाच शकटादीनां खण्डितविराधितानामक्षरावलिकादिनोत्तरकरणं क्रियत इति गाथार्थः । आव० ५ अ० ।

उत्तरकिरिय-उत्तरक्रिय-न० उत्तरा उत्तरवैक्रियशरीराश्रया गतिलक्षणा क्रिया यत्र गमने तदुत्तरक्रियम् । उत्तरवैक्रियशरीराश्रयगत्या गमने, "जयाणं वा उ याए, उत्तरकिरियं रीयइ" अनु० ॥

उत्तरकुरा (रु) -उत्तरकुरु-पुं० स्त्री० प्राकृते चैकवचनमाकारान्तता च । जी० ३ प्रति० ॥ जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य उत्तरेण गन्धमादनमाल्यवद्भ्यामावृत्तेऽर्द्धचन्द्राकारे उत्तरतो विस्तृते स्वनामख्याते कुरुभेदे, स्था० २ ठा० ॥ एते चाकर्मभूमिभेदाः । स्था० ६ ठा० । प्रव० । तेषां प्रमाणादिव्यवस्था चेत्थम् ।

कहिणं भंते महाविदेहे वासे उत्तरकुराणामंकुरा पणत्ता गोयमा ! मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरेणं णीलवंतस्स वासहरपव्वयस्स दक्खिणेणं गंधमायणस्स वक्खारपव्वयस्स पुरच्छिमेणं मालवंतस्स वक्खारपव्वयस्स पच्चच्छिमेणं एत्थ णमुत्तरकुरा णामं कुरा पण्णत्ता । पाईणपडीणायया उदीणदाहिणविच्छिण्णा अद्धचंदसंठाणसंठिआ इक्कारसजोयणसहस्साइं अट्ठयबायाले जोअणसए दोण्णि अ एगूणवीसइभाए जोयणस्स विक्खंभेणं तीसे जीवा उत्तरेणं पाईणपडीणा य या दुहा वक्खारपव्वयं पुट्ठा तंजहा पुरच्छिमिल्लाए कोडिए पुरच्छिमिल्लं वक्खारपव्वयं पुट्ठा एवं पच्चच्छिमिल्लाए जाव पच्चच्छिमिल्लं वक्खारपव्वयं पुट्ठा ते व णं जोयणसहस्साइं आयामेणं तीसेणं धणुं दाहिणेणं सट्ठिं जोअणसहस्साइं चत्तारि अ अट्ठारसे जोअणसए दुवालसए एगूणवीसइभाए जोयणस्स परिक्खेवेणं ॥

क भदन्त! महाविदेहे वर्षे उत्तरकुरवो नाम्ना कुरवः प्रज्ञप्ताः गौतम! मन्दरस्य पर्वतस्योत्तरतो नीलवतो वर्षधरपर्वतस्य दक्षिणतो गन्धमादनस्य वक्षस्कारपर्वतस्य पूर्वतो वक्ष्यमाणस्वरूपस्य माल्यवतः पश्चिमतः । अत्रान्तरे उत्तरकुरवो नाम्ना कुरवः प्रज्ञप्ताः प्राक्पश्चिमायता उत्तरदक्षिणविस्तीर्णा अर्द्धचन्द्राकारा एकादशयोजनसहस्राण्यष्टौ शतानि द्वाचत्वारिंशदधिकानि द्वौ चैकोनविंशतिभागौ योजनस्य विष्कम्भेन । अत्रोपपत्तिर्यथा महाविदेहविष्कम्भात् (३३६८४) कला (४) इत्येवं रूपान्मेरुविष्कम्भेऽपनीते शेषस्यार्द्धे कृते उक्ताङ्कराशिः स्यात् ननु वर्षवर्षधरादीनां क्रमव्यवस्था प्रज्ञापकापेक्षया अस्ति । यथा प्ररूपकासन्नं भरतं ततो हिमवानित्यादि ततो विदेहकथनानन्तरं क्रमप्राप्ता देवकुरूर्विमुच्य कथमुत्तरकुरूणां निरूपणमुच्यते चतुर्दिग्मुखे विदेहे प्रायः सर्वे प्रादक्षिण्येन व्यवस्थाप्यमाने समये श्रूयते तत प्रथमत उत्तरकु-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रुकथनं ततः पार्श्वस्थौ विद्युत्प्रभसौमनसौ विहाय गन्धमादनमाल्यवद्वक्षस्कारप्ररूपणं भरतासन्नविजयान् विहाय कच्छमहाकच्छादिविजयकथनं चेति । अथैतासां जीवानाह (तीसेइत्यादि) तासामुत्तरकुरूणां सूत्रे एकवचनं प्राकृतत्वाज्जीवा उत्तरतो नीलवद्वर्षधरासन्ना कुरुचरमप्रदेशश्रेणिः पूर्वापरायता द्विधा पूर्वपश्चिमभागाभ्यां वक्षस्कारपर्वतं स्पृष्टा एतदेव विवृणोति । तद्यथा पौरस्त्यया कोट्या पौरस्त्यं वक्षस्कारपर्वतं माल्यवन्तं स्पृष्टा पाश्चात्यया पाश्चात्यं गन्धमादननामानं वक्षस्कारपर्वतं स्पृष्टा त्रिपञ्चाशद्योजनसहस्राणि आयामेन तत्कथमित्युच्यते । मेरोः पूर्वस्यां दिशि भद्रशालवनमायामतो द्वाविंशतियोजनसहस्राणि एवं पश्चिमायामपि उभयोर्मीलने जातं चतुश्चत्वारिंशत्सहस्राणि मेरुविष्कम्भे दशसहस्रयोजनात्मके प्रक्षिप्ते जातं चतुःपञ्चाशद्योजनसहस्राणि एकैकस्य वक्षस्कारगिरेः वर्षधरसमीपे पृथुत्वं पञ्चयोजनशतानि ततो द्वयोर्वक्षस्कारगिर्योः पृथुत्वपरिमाणं योजनसहस्रं ततः पूर्वराशिरपनीयते जातः पूर्वराशिस्त्रिपञ्चाशद्योजनसहस्राणीति । अथैतासां धनुः पृष्ठमाह (तीसेणं धणुं दाहिणेणमित्यादि) तासां धनुः पृष्ठं दक्षिणतो मेरोर्वासन्न इत्यर्थः षष्टियोजनसहस्राणि चत्वारि च योजनशतानि अष्टादशानि अष्टादशाधिकानि द्वादश चैकोनविंशतिभागान् योजनस्य परिक्षेपेण । तथाहि एकैकवक्षस्कारगिरेरायामस्त्रिंशद्योजनसहस्राणि द्वे च नवोत्तरे षट् च कलाः । ततो द्वयोर्वक्षस्कारयोरायाममीलने यथोक्तं मानमिति ॥ जं० ४ वक्ष० ।

अथैतासां स्वरूपप्ररूपणायाह ॥

उत्तरकुराएणं भंते ! कुराए केरिसए आगारभावपडोयारे पएणत्ते ? गोयमा ! बहुसमरमणिज्जभूमिभागे पएणत्ते से जहाणामए आलिंगपुक्खरेति वा जाव एवं एगोरुगदीववत्तव्वया जाव देवलोगपरिग्गहाणं ते मणुयगणा पणत्ता समणाउसो !!

(उत्तरकुराएणं भंते इत्यादि) उत्तरकुरूणां सूत्रे एकवचनं प्राकृतत्वात् कीदृश आकारभावस्य स्वरूपस्य प्रत्यवतारसंभवः प्रज्ञप्तः ! भगवानाह गौतम ! बहुसमरमणीयो भूमिभाग उत्तरकुरूणां प्रज्ञप्तः (सेजहानामए इत्यादि) जगत्युपरि वनखण्डवर्णकवत् तावद्वक्तव्यं यावत्तृणानां मणीनां च वर्णो गन्धः स्पर्शः शब्दश्च सवर्णकः परिपूर्णं भक्तो भवति ॥ पर्यन्तसूत्रं चेदं दिव्वं नट्टसज्जं गेयं पगीयाणं भवे एयारूवे सिया हंता सिया इति" जी० ३ प्रति ॥ अत्रेदमवधेयम् ॥ (सूत्रपाठे जाव एवं एगोरुगदीववत्तव्वया इति । एकोरुकद्वीपवर्णक एव स्मारितः वृत्तिकृता तु एतादृशं पाठमनन्यमानेन एकोरुकवक्तव्यतायामकिञ्चिद्धृत्वा इहैव व्याख्यातमित्यस्माभिरपि अन्तरद्वीपशब्दे एकोरुकवक्तव्यता मूलसूत्रैरेव प्रदर्शिता इह तु तादृशानि सूत्राणि परिकल्प्य टीका संयोजिता) उत्तरकुरुषु आकारप्रत्यवतारस्य वर्णकः सुषमसुषमाभरतवर्षस्येव भावनीया सा ओसप्पिणीशब्दे व्याख्यास्यते नवरम् ॥

उत्तरकुराणं कुराए छव्विधा मणुस्सा अणुसज्जंति । तंजहा पम्हगंधा १ मियगंधा २ अममा ३ सहा ४ तेयली ५ सणिचारी ६

(उत्तरकुराएणं भंते इत्यादि) उत्तरकुरुषु कुरुषु भदन्त ! कतिविधा जातिभेदेन कतिप्रकारा मनुष्या अनुसजन्ति सन्तानेनानुवर्त्तन्ते ? भगवानाह-गौतम ! षड्विधा मनुजा अनुसजन्ति तद्यथा पद्मगन्धा इत्यादि जातिवाचका इमे शब्दाः अत्र विनेयजनानुग्रहाय उत्तरकुरुविषयसूत्रसंकलनार्थं संग्रहणीगाथात्रयमाह-

उसुजीवा धणुपट्ठं, भूमी गुम्मा य हेरुउद्दाला ।
तिलगलयावणराई, रुक्खामणुया य आहारे ॥
गेहा गामाय असी, हिरणरायाय दासमाया य ।
आरवरणा मत्तवि, वाहमहनट्टसगरा य ॥
आसगावो सीहा, सालीथाणुयगड्डुदंसाही ।
गहजुद्धरोगट्ठिइ, उव्वट्टणा य अणुवट्टणा चेव ॥

अस्य व्याख्या प्रथममुत्तरकुरुविषयमिषुजीवाः धनुःपृष्ठप्रतिपादनकं सूत्रं तदनन्तरं (भूमिरित्ति) भूमिविषयं सूत्रं ततो (गुम्मा इति) गुल्मविषयं सूत्रं तदनन्तरं हेरुतालवनविषयं सूत्रं ततः । (उद्दाला इति) उद्दालाविषयं तदनन्तरं (तिलगइति) तिलकपदोपलक्षितं ततो लताविषयं तदनन्तरं वनराजिविषयं ततो (रुक्खाइति) दशविधकल्पपादपविषया दश सूत्रदण्डका (मणुया य इति) त्रयो मनुष्यविषयाः सूत्रदण्डकास्तद्यथा आद्यः पुरुषविषयो द्वितीयः स्त्रीविषयस्तृतीयः सामान्यतः उभयविषयः । तत (आहारे इति) आहारविषयस्तदनन्तरं (गेहा इति) गृहविषयौ दण्डकौ आद्यो गृहाकारवृक्षाभिधायी अपरो गेहाद्यभावविषय इति ततो (गामा इति) ग्रामाद्यभावस्तदनन्तरम् (असीति) अस्याद्यभावविषयस्ततो हिरण्याद्यभावविषयस्तदनन्तरं राजाद्यभावविषयस्ततो दासाद्यभावविषयस्ततो मात्रादिविषयस्तदनन्तरमरिवैरिप्रभृतिविषयस्तदनन्तरं मित्राद्यभावविषयस्तदनन्तरं विवाहपदोपलक्षितस्तत्प्रतिषेधविषयः तदनन्तरं महप्रतिषेधविषयः ततो नृत्तपदोपलक्षितप्रेक्षाप्रतिषेधः तदनन्तरं शकटादिप्रतिषेधविषयः ततोऽश्वादिपरिभोगप्रतिषेधविषयः तदनन्तरं स्त्रीगव्यादिपरिभोगप्रतिषेधविषयः । ततः सिंहादिश्वापदविषयः तदनन्तरं शाल्याद्युपभोगप्रतिषेधविषयस्ततः स्थाण्वादिप्रतिषेधविषयस्तदनन्तरं गर्तादिप्रतिषेधविषयस्ततो दंशाद्यभावविषयस्ततोऽह्यादिविषयस्तदनन्तरं ग्रह इति ग्रहदण्डादिविषयस्ततो युद्ध इति युद्धपदोपलक्षितो डिम्बादिप्रतिषेधविषयः सूत्रदण्डकस्ततो रोगइति रोगपदोपलक्षितो दुर्भूतादिप्रतिषेधविषयस्तदनन्तरं स्थितिसूत्रं ततोऽनुषञ्जनसूत्रमिति ॥

संप्रति उत्तरकुरुनामियमकपर्वतवक्तव्यतामाह-

कहिणं भंते ! उत्तरकुराए जमगा नामं दुवे पव्वता पण्णत्ता ? गोयमा ! नीलवंतस्स वासहरपव्वयस्स दाहिणेणं अट्ठचोत्तीसं जोयणसत्ते चत्तारिय सत्तभागे जोयणसहस्स आबाधाए सीताए महाणतीए उभओ कूले एत्थ णं उत्तरकुराए कुराए जमगा णाम दुवे पव्वता पण्णत्ता एगमेगेणं जोयणसहस्समउड्ढं उच्चत्तेणं अड्ढाइं जोयणसयाइं उव्वेहेणं मूले एक्कमेक्कं जोयणसहस्सं आयामविक्खंभेणं मज्झे अद्धट्ठमाइं जोयणसताइं आयामविक्खंभेणं उवरिं पंचजोयणसयाइं आयामविक्खंभेणं मूले तिन्नि जोयणसहस्साइं एकं वा बट्ठं जोयणसयं किंचि विसेसाहियं परिक्खेवेणं दो जोयणसहस्साइं तिन्नि य बावत्तरे जोयणसते किंचि विसेसूणे परिक्खेवेणं उवरिं पण्णरस एक्कासीते जोयणसते किंचि विसेसाहिया परिक्खेवेणं पण्णत्ता मूलविच्छिण्णा मज्झे संखित्ता उप्पिं तणुया गोपुच्छसंठाणसंठिता सव्वकणगामया अच्छा सण्हा जाव पडिरूवा पत्तेयं २ पउमवरवेतिया परिक्खित्ता पत्तेयं २ वणसंडपरिक्खित्ता वण्णओ दोण्हं वि तेसिणं जमगपव्वयाणं उप्पिं बहुस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रमणिज्जभूमिभागे पण्णत्ते वणओ जाव आसयंति ।

क भदन्त ! उत्तरकुरुषु कुरुषु यमकौ नाम द्वौ पर्वतौ प्रज्ञप्तौ ? भगवानाह गौतम ! नीलवतो वर्षधरपर्वतस्य दाक्षिणात्याच्चरमान्ताच्चरमरूपात् पर्यन्तादष्टौ योजनशतानि चतुस्त्रिंशानि चतुस्त्रिंशदधिकानि चतुरश्च योजनस्य सप्त भागान् अबाधया कृत्वा अपान्तराले मुक्त्वेति भावः। अत्रान्तरे शीताया महानद्याः पूर्वपश्चिमयोर्दिशोरुभयोः कूलयोरत्र एतस्मिन् प्रदेशे यमकौ नाम द्वौ पर्वतौ प्रज्ञप्तौ । तद्यथा एकः पूर्वकूले एकः पश्चिमकूले प्रत्येकं योजनसहस्रमुच्चैस्त्वेन अर्द्धतृतीयानि योजनशतानि ऊर्द्धेन अवगाहेन मेरुव्यतिरेकेण शेषशाश्वतपर्वतानां सर्वेषामपि शेषणोच्चैस्त्वापेक्षया चतुर्भागस्यावगाहभावात् मूले एकं योजनसहस्रं विष्कम्भः (१०००) मध्ये अर्द्धशतोनाष्ट योजनशतानि (७५०) उपरि पञ्चयोजनशतानि (५००) मूले त्रीणि योजनशतानि एकं च द्वाषष्टं द्वाषष्ट्यधिकं योजनशतं किञ्चिद्विशेषाधिकं परिक्षेपेण प्रज्ञप्तौ (३१६२) मध्ये द्वे योजनसहस्रे त्रीणि योजनशतानि द्वासप्तत्यधिकानि (२३७२) किञ्चिद्विशेषाधिकानि परिक्षेपेण प्रज्ञप्तौ । उपरि एकं योजनसहस्रं पञ्चशतानि एकाशीतीनि एकाशीत्यधिकानि योजनशतानि किञ्चिद्विशेषाधिकानि (१५८१) परिक्षेपेण एवं च तौ मूले विस्तीर्णौ मध्ये संक्षिप्तौ उपरि तनुकावत एव गोपुच्छसंस्थानसंस्थितौ (सव्वकणगमया इति) सर्वात्मना कनकमयौ (अच्छा जाव पडिरूवा इति) प्राग्वत् तौ च प्रत्येकं २ पद्मवरवेदिकया परिक्षिप्तौ प्रत्येकं २ वनखण्डपरिक्षिप्तौ पद्मवरवेदिकावर्णको वनखण्डवर्णकश्च जगत्युपरि पद्मवरवेदिकावनखण्डवर्णकवत् वक्तव्यः (जमकपव्वयाणमित्यादि) यमकपर्वतयोरुपरि प्रत्येकं बहुसमरमणीयो भूमिभागः प्रज्ञप्तः भूमिभागवर्णनं च "से जहा नामए आलिंगपुक्खरेइ वा" इत्यादि प्राग्वत् तावद्वक्तव्यं यावद्वाणमंतरा देवा देवीउ य आसयंति सयंति जाव पच्चणुभवमाणा विहरंति ॥

तेसि णं बहुसमरमणिज्जाणं भूमिभागाणं बहुमज्झदेसभाए पत्तेयं २ पासायवडेंसका पण्णत्ता तेणं पासायवडेंसका बावट्ठि जोयणाइं अद्धजोयणं च उड्ढं उच्चत्तेणं एक्कतीसं जोयणाइं कोसं च विक्खंभेणं अब्भुग्गतभूसित वण्णाओ भूमिभागाओ उल्लोत्ता दो जोयणाइं मणिपेढियाओ उवरि सीहासणा सपरिवारा जाव जमगा चिट्ठंति ।

(तेसिणमित्यादि) तयोर्बहुसमरमणीययोर्भूमिभागयोर्बहुमध्यदेशभागे प्रत्येकं प्रत्येकं प्रासादावतंसकः प्रज्ञप्तः । तौ च प्रासादावतंसकौ द्वाषष्टिर्योजनानि अर्द्धयोजनं चोर्द्धमुच्चैस्त्वेन एकत्रिंशद्योजनानि क्रोशं चैकं विष्कम्भेन " अब्भुग्गयं मूसिय पहसियाइवे " त्यादि यावत् पडिरूवा इति प्रासादावतंसकवर्णनमुल्लोचवर्णनं भूमिभागवर्णनं मणिपीठिकावर्णनं सिंहासनवर्णनं विजयदूष्यवर्णनमङ्कुशवर्णनं दामवर्णनं च निरवशेषं प्राग्वद्वक्तव्यम् नवरमत्र मणिपीठिकायाः प्रमाणमायामविष्कम्भाभ्यां द्वे योजने बाहल्येन एकं योजनं शेषं तथैव (तेसिणं सिहासणाणमित्यादि) तयोः सिंहासनयोः प्रत्येकम् (अवरुत्तरेणंति) अपरोत्तरस्यां वायव्यामित्यर्थः उत्तरपूर्वस्यां च दिशि अत्र एतासु तिसृषु दिक्षु यमकयोर्यमकनाम्नोर्यमकपर्वतस्वामिनोर्देवयोः प्रत्येकं प्रत्येकं चतुर्णां सामानिकसहस्राणां योग्यानि चत्वारि भद्रासनसहस्राणि प्रज्ञप्तानि । एवमेतेन क्रमेण सिंहासनपरिवारो वक्तव्यो यथा प्राक् विजयदेवस्य (तेसिणमित्यादि) तयोः प्रासादावतंसकयोः प्रत्येकमुपरि अष्टावष्टौ मङ्गलकानि प्रज्ञप्तानि इत्याद्यपि प्राग्वत्तावद्वक्तव्यं यावत् सयसहस्सपत्तगा इतिपदम् ।

सम्प्रति नामनिबन्धनं पिपृच्छिषुरिदमाह ॥

से केणट्ठे णं भंते एवं वुच्चंति जमगा पव्वया २ गोयमा ! जमगेसु णं पव्वतेसु तत्थ २ देसे २ तहिं २ बहूउ खुड्डियाउ वावीउ जाव बिलपंतियाउ तासु णं खुड्डा खुड्डिया जाव बिलपंतियासु बहूइं उप्पलाइं जाव सतसहस्सपत्ताइं जमगप्पभाइं जमगवण्णाइं जमगा एत्थ णं दो देवा महिड्ढिया जाव पलिओवमट्ठितिया परिवसंति तेणं तत्थ पत्तेयं २ चउण्हं सामाणियसाहस्सीणं जाव जमगाणं पव्वयाणं जमिगाण य रायहाणीणं अण्णेसिं च बहूणं वाणमंतराणं देवाण य देवीण य आहेवच्चं जाव पालेमाणा विहरंति । से तेणट्ठेणं गोयमा एवं वुच्चइ जमगपव्वया २ अदुत्तरं चेणं गोयमा ! जाव णिच्चा ।

अथ केनार्थेन केन कारणेन एवमुच्यते यमकपर्वतो यमकपर्वताविति भगवानाह गौतम ! यमकपर्वतयोरणमिति वाक्यालंकारे क्षुल्लिकासु वापीषु पुष्करिणीषु यावद्विलपङ्क्तिषु बहूनि उत्पलानि यावत्सहस्रपत्राणि यमकप्रभाणि यमका नाम शकुनिविशेषास्तत्प्रभाणि तदाकाराणि एतदेव व्याचष्टे यमकवर्णाभानि यमकसदृशवर्णानीत्यर्थः यमकौ च यमकनामानौ च तत्र तयोर्यमकपर्वतयोः स्वामित्वेन द्वौ देवौ महर्द्धिकौ यावन्महाभागौ पल्योपमस्थितिकौ परिवसतस्तौ च तत्र प्रत्येकं प्रत्येकं चतुर्णां सामानिकसहस्राणां चतसृणामग्रमहिषीणां सपरिवाराणां तिसृणामभ्यन्तरमध्यबाह्यरूपाणां यथासंख्यमष्टादश द्वादश दशसहस्रसंख्याकानां सप्तानामनीकाधिपतीनां षोडशानामात्मरक्षकदेवसहस्राणां (जमगपव्वयाणं जमगाण य रायहाणीयमिति) स्वस्य स्वस्य यमकपर्वतस्य स्वस्याः यमिकाभिधाया राजधान्या अन्येषां च बहूनां वानमन्तराणां देवानां देवीनां च स्वस्वयामिकाभिधराजधानीवास्तव्यानामाधिपत्यं यावद्विहरतः यावत्करणात् "पोरेवच्चं सामित्तं भट्टित्तमित्यादि" परिग्रहस्ततो यमकाकारयमकवर्णोत्पलादियोगात् यमकाभिधदेवस्वामिकत्वाच्च तौ यमकपर्वताविन्युच्येते । यथा चाह (सेएणट्ठेणमित्यादि ।)

संप्रति यमकाभिधराजधानीस्थानम् ।

कहिणं भंते जमगाणं देवाणं जमगाओ नाम रायहाणीओ पण्णत्ताओ ? गोयमा ! जमगाणं पव्वयाणं उत्तरेणंति तिरियमसंखेज्जदीवसमुद्दे वितिवइत्ता अण्णम्मि जंबूदीवे २ बारसजोयणसहस्साइं उगाहित्ता एत्थ णं जमगाणं देवाणं जमिगाओ णाम रायहाणीओ पण्णत्ताओ बारसजोयणसहस्साइं जहा विजयस्स जाव महिड्ढिया ॥

जमगा देवाः क भदन्त! यमकयोर्देवयोः संबन्धिन्यौ यमिके नामराजधान्यौ प्रज्ञप्ते भगवानाह गौतम! यमकपर्वतयोरुत्तरतोऽन्यस्मिन् असंख्येयतमे जम्बूद्वीपे २ द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्य अत्रान्तरे यमकदेवयोः संबन्धिन्यौ यमकराजधान्यौ प्रज्ञप्ते ते चाविशेषेण विजयराजधानीसदृश्यौ वक्तव्ये जी० ३ प्रति० ॥

संप्रति ह्रदवक्तव्यतामभिधित्सुराह ॥

जंबूमंदरउत्तरेणं उत्तरकुराए कुराए पंचमहद्दहा पण्णत्ता तंजहा नीलवंतद्दहे एरावणद्दहे उत्तरकुरुद्दहे चंदद्दहे मालवंतद्दहे ।

नीलवन्तमहाह्रदो विचित्रचित्रकूटपर्वतसमवक्तव्यताभ्यां यम-

काभिधानाभ्यां स्वसमाननामदेवावासाभ्यां पर्वताभ्यामनन्तरं रूपव्यस्ततो दक्षिणतः शेषाश्चत्वार इति एते च सर्वेऽपि प्रत्येकं द्वाभ्यां दशभिःकाञ्चनकाभिधानैर्योजनशतोच्छ्रितैर्योजनशतमूलविष्कम्भैः पञ्चाशद्योजनमानमस्तकविस्तारैः स्वसमाननामदेवाधिवासैः प्रत्येकं दशयोजनान्तरैः पूर्वापरव्यवस्थितैर्गिरिभिरुपेता एतेषां च विचित्रकूटादिपर्वतह्रदनिवासिदेवानामसंख्येयतमजम्बूद्वीपे द्वादशयोजनसहस्रप्रमाणास्तन्नामिका नगर्यो भवन्तीति ॥

नीलवद्ध्रदादीनां विशेषवर्णकः ।

कहि णं भंते ! उत्तरकुराए२ नीलवंतद्दहे नाम दहे पन्नत्ते ? गोयमा ! जमगाणं पव्वयाणं दाहिणेणं अट्ठचोत्तीसे जोयणसये चत्तारि सत्तभागे जोयणस्स अबाधाए सीताए महाणतीये बहुमज्झदेसभाए एत्थणं उत्तरकुराए २ नीलवंतद्दहे नामं दहे पन्नत्ते उत्तरदक्खिणाए पाईपडीणविच्छिन्ने एगं जोयणसहस्सं आयामेणं पंचजोयणसयाति विक्खंभेणं दस जोयणाइं उव्वेहेणं अच्छे सण्हे रययामयकूले चउक्कोणे समतीरे जाव पडिरूवे उभओपासिं दोहि य पउमवरवेतियाहिं दोहिं वणसंडेहिं सव्वतो समंता संपरिक्खित्ते दोण्हवि वण्णओ नीलवंतद्दहस्स णं तत्थ २ जाव बहवे तिसोमाणपडिरूवका पन्नत्ता वण्णओ भाणियव्वो तोरणेत्ति ॥

क भदन्त ! उत्तरकुरुषु कुरुषु नीलवन्तन्ह्रदो नाम ह्रदः प्रज्ञप्तः ? भगवानाह गौतम ! यमकपर्वतयोर्दाक्षिणात्याच्चरमान्तादर्वाक् दक्षिणाभिमुखमष्टौ चतुस्त्रिंशानि चतुस्त्रिंशदधिकानि योजनशतानि चतुरश्च सप्त भागान् योजनस्य अबाधया कृत्वेति गीयते अपान्तराले मुक्त्वेति भावः। अत्रान्तरे शीताया महानद्या बहुमध्यदेशभागे (एत्थणंति) एतस्मिन्नवकाशे उत्तरकुरुषु कुरुषु नीलवत् ह्रदो नाम ह्रदः प्रज्ञप्तः स च किं विशिष्ट इत्याह उत्तरदक्षिणायतः प्राचीनापाचीनविस्तीर्णः उत्तरदक्षिणाभ्यामवयवाभ्यामायतः उत्तरदक्षिणायतः प्राचीनापाचीनाभ्यामवयवाभ्यां विस्तीर्णः प्राचीनापाचीनविस्तीर्णः । एकं योजनसहस्रमायामेन पञ्चयोजनशतानि विष्कम्भतः दशयोजनान्युद्वेधेन उण्डत्वेन अच्छस्फाटिकवद्बहिर्निर्मलप्रदेशः श्लक्ष्णः श्लक्ष्णपुद्गलनिर्मापितबहिःप्रदेशः । तथा रजतमयं रूप्यमयं कूलं यस्यासौ रजतमयकूल इत्यादि विशेषणकदम्बकं जगत्युपरि वाप्यादिवत् तावद्वक्तव्यं यावदिदं पर्यन्तपदं " परिहत्थभमंतमच्छकच्छपअणेगसउणमिहुणपविचरिए इति" (उभयेपासेत्यादि) स च नीलवन्नामह्रदः शीताया महानद्या उभयोः पार्श्वयोः बहिर्विनिर्गतः स तथाभूतः सन् उभयोः पार्श्वयोर्द्वाभ्यां पद्मवरवेदिकाभ्यां द्वितीये पार्श्वे द्वितीयया पद्मवरवेदिकया इत्यर्थः । एवं द्वाभ्यां वनखण्डाभ्यां सर्वतः सर्वासु दिक्षु समन्ततः सामस्त्येन संपरिक्षिप्तः पद्मवरवेदिकावनखण्डवर्णकश्च प्राग्वत् । (नीलवंत दहस्स णं तत्थ तत्थेत्यादि) नीलवद्ध्रदस्य णमिति वाक्यालङ्कारे तत्र देशे तस्य२ देशस्य तत्र तत्र प्रदेशे बहूनि त्रिसोपानप्रतिरूपकाणि प्रतिशिष्टरूपकाणि त्रिसोपानानि प्रज्ञप्तानि वर्णकस्तेषां प्राग्वद्वक्तव्यः । (तेसिणमित्यादि) तेषां च त्रिसोपानप्रतिरूपकाणां पुरतः प्रत्येकं २ तोरणं प्रज्ञप्तं (तेणंतोरणाइत्यादि) तोरणवर्णनं पूर्ववत्तावद्वक्तव्यम् यावद्दयो "सयसहस्सपत्तगा" इति पदम् ॥

तस्सणं नीलवंतद्दहस्सणं दहस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं एगे महं पउमे पन्नत्ते जोयणं आयामविक्खंभेणं तं तिगुणं सविसेसं परिक्खेवेणं अद्धजोयणं बाहल्लेणं दसजोयणाइं उव्वेहेणं दो कोसे ऊसिते जलंतीतो सातिरेगाइं दसजोयणाइं सव्वग्गेणं पन्नत्ते तस्सणं पउमस्स अयमेतारूवे वण्णावासे पन्नत्ते तंजहा वइरामता मूला रिट्ठामते कंदे वेरुलिया मए णाले वेरुलियामता बाहिरपत्ता जंबूणयमया अब्भंतरपत्ता तवणिज्जमया केसरा कणगामई कण्णिया नाणामणिमया पुक्खलत्थिरया साणं कण्णिया अद्धजोयणं आयामविक्खंभेणं तं तिगुणं सविसेस परिक्खेवेणं कोसं बाहल्लेणं सव्वकणगामई अच्छा सण्हा जाव पडिरूवा तीसेणं कण्णियाए उवरिं बहुसमरमणिज्जदेसभाए पन्नत्ते जाव मणीहिं तस्सणं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थणं एगे महं भवणे पन्नत्ते कोसं च आयामेणं अद्धकोसं च विक्खंभेणं देसूणं कोसं उड्ढं उच्चत्तेणं अणेगखंभसतसन्निविट्ठं सभावण्णओ । तस्स णं भवणस्स तिदिसिं ततो दारा पन्नत्ता तंजहा पुरच्छिमेणं दाहिणेणं उत्तरेणं तेणं दारा पंचधणुसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं अड्ढाइज्जाइं धणुसयाइं विक्खंभेणं तावतियं चेव पवेसेणं से ताव कणगथूभियागा जाव वणमालाउत्ति तस्सणं भवणस्स अंतो बहुसमरमणिज्जभूमिभागे पन्नत्ते से जहानामए आलिंगपुक्खरेति वा जाव मणीणं वण्णओ तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थणं मणिपेढिया पन्नत्ता पंचधणुसयाइं आयामविक्खंभेणं अड्ढाइज्जाइं धणुसताइं बाहल्लेणं सव्वमणामणिमती ।

(तस्सणमित्यादि) तस्य नीलवन्नाम्नो ह्रदस्य बहुमध्यदेशभागे अत्र महदेकं पद्मं प्रज्ञप्तम् योजनमायामतो विष्कम्भतश्च अर्द्धं योजनं बाहुल्येन दशयोजनानि उद्वेधेन उण्डत्वेन जलपर्यन्तात् द्वौ क्रोशावुच्छ्रितं सर्वाग्रेण सातिरेकाणि दशयोजनानि प्रज्ञप्तानि ।तस्य पद्मस्य अयं वक्ष्यमाण एतद्रूपोऽनन्तरमेव वक्ष्यमाणस्वरूपो वर्णावासो वर्णकनिवेशः प्रज्ञप्तस्तद्यथा वज्रमयं मूलं रिष्टरत्नमयः कन्दो वैडूर्यरत्नमयो नालः वैडूर्यरत्नमयानि बाह्यपत्राणि जाम्बूनदमयानि अभ्यन्तरपत्राणि तपनीयमयानि केसराणि कनकमयी पुष्करकर्णिका नानामणिमयी पुष्करस्थिबुका (साणं कण्णिका अद्धमित्यादि) सा कर्णिका अर्द्धयोजनमायामविष्कम्भाभ्यां क्रोशमेकं बाहुल्यतः सर्वात्मना कनकमयी अच्छा यावत्प्रतिरूपा यावत्करणात् "सण्हा घट्टा मट्ठा नीरया इत्यादि परिग्रहः" (तीसेणं कण्णियाए इत्यादि) तस्याः कर्णिकाया उपरि बहुसमरमणीयो भूमिभागः प्रज्ञप्तस्तद्वर्णनं च " सेजहानामए आलिंगपुक्खरेइ वा' इत्यादिना ग्रन्थेन विजयराजधान्या उपकारिकालयनस्येव तावद्वक्तव्यं यावन्मणीनां स्पर्शवक्तव्यता परिसमाप्तिः (तस्सणमित्यादि) तस्य बहुसमरमणीयस्य भूमिभागस्य बहुमध्यदेशभागे अत्र महदेकं भवनं प्रज्ञप्तं क्रोशमायामतोऽर्द्धक्रोशं विष्कम्भतो देशोनं क्रोशमूर्द्धमुच्चैस्त्वेन अनेकस्तम्भशतसन्निविष्टमित्यादि तद्वर्णनं विजयराजधानीगतसुधर्म्मासभाया इव तावद्वक्तव्यं यावदिदं सूत्रं (दिव्वतुडियसद्दसंपणादितेत्ति) तदनन्तरं सूत्रमाह । (सव्वरयणामए इत्यादि) सर्वात्मना रत्नमयं अच्छं यावत्

प्रतिरूपं यावत् करणात् 'सएहे लएहे घट्ठे मट्ठे इत्यादि' परिग्रहः ॥ (तस्सणमित्यादि) तस्य भवनस्य त्रिदिशि त्रिसृषु दिक्षु एकैकस्यां दिशि एकैकद्वारभावेन त्रीणि द्वाराणि प्रज्ञप्तानि तद्यथा पूर्वस्यामुत्तरस्यां दक्षिणस्यां (तेणं दारा इत्यादि) तानि द्वाराणि पञ्चधनुःशतानि ऊर्ध्वमुच्चैस्त्वेन अर्द्धतृतीयानि धनुःशतानि विष्कम्भेन तावदेव अर्द्धतृतीयानि धनुःशतानीति भावः प्रवेशेन (सेयावरकणगथूभियागा इत्यादि) द्वारवर्णनं विजयद्वारस्येव तावदविशेषेणावसातव्यं यावत् 'वणमालाओ' इति वनमालावक्तव्यतापरिसमाप्तिः (तस्सणमित्यादि) तस्य भवनस्य उल्लोचान्तर्बहुसमरमणीये भूमिभागे मणीनां वर्णगन्धरसस्पर्शवर्णनं प्राग्वत् (तस्सेत्यादि) तस्य बहुसमरमणीयस्य भूमिभागस्य बहुमध्यदेशभागे मणिपीठिका प्रज्ञप्ता पञ्चधनुःशतानि आयामविष्कम्भाभ्यामर्द्धतृतीयानि धनुःशतानि बाहुल्येन सर्वात्मना मणिमयी अच्छा यावत् प्रतिरूपा इति प्राग्वत् ॥

तीसेणं मणिपेढियाए उवरिं एत्थणं एगे महं देवसयणिज्जे पण्णत्ते देवसयणिज्जस्स वण्णओ से णं पउमे अण्णेणं अट्ठसतेणं तदद्धुच्चत्तप्पमाणमेत्तेणं पउमाणं सव्वतो समंता संपरिक्खित्ते तेणं पउमा अद्धजोयणं आयामविक्खंभेणं तं तिगुणं सविसेसं परिक्खेवेणं कोसं बाहल्लेणं दसजोयणाइं उव्वेहेणं कोसं ऊसिया । जलं ताओ सातिरेगाति दसजोयणाति सव्वग्गेणं पण्णत्ताइं तेसिणं पउमाणं अयमेतारूवे वण्णावासे पण्णत्ते तंजहा वतिरामयामूला जाव णाणामणिमया पुक्खलत्थिभगया ता उणं कण्णिया उक्कोसं आयामविक्खंभेणं तं तिगुणसपरिक्खेवेणं अद्धकोसं बाहल्लेणं सव्वकणगामईउ अच्छाउ जाव पडिरूवाउ तासि णं कण्णिया उप्पिं बहुसमरमणिज्जा भूमिभागा जाव मणीणं वण्णो गंधो फासो तस्सणं पउमस्स अवरुत्तरेणं उत्तरपुरच्छिमेणं एत्थणं नीलवंतद्दहकुमारस्स देवस्स चउण्हं सामाणियसाहस्सीणं चत्तारि पउमसाहस्सीउ पण्णत्ताउ एवं सव्वो परिवारो नवरि पउमाणं भाणियव्वो । सेणं पउमे अण्णेहिं तेहिं पउमपरिक्खेवेणं सव्वतो समंता संपरिक्खित्ते तंजहा अब्भिंतरएणं मज्झिमएणं बाहिरएणं अब्भिंतरएणं पउमपरिक्खेवे बत्तीसं पउमसयसाहस्सीउ पण्णत्ताउ मज्झिमएणं पउमपरिक्खेवो चत्तालीसं उपउमसयसाहस्सीओ पण्णत्ताओ बाहिरएणं पउमपरिक्खेवे अडयालीसं पउमसयसाहस्सीउ पण्णत्ताओ एवामेव स पुव्वावरेणं एगा पउमकोडीउ वीसं च पउमसतसहस्सा भवंतीतिमक्खाया । से केणट्ठेणं भंते एवं वुच्चति नीलवंतद्दहे ? गोयमा ! णीलवंतद्दहेणं तत्थ २ जाव उप्पलोति जाव सयसहस्सपत्ताइं नीलवंतप्पभाति नीलवंतवण्णाभाति नीलवंतद्दहकुमारेय एत्थ सो चेव गमो जाव णीलवंतद्दहे २ ॥

तीसेणमित्यादि) तस्या मणिपीठिकाया उपरि अत्र महदेकं देवशयनीयं प्रज्ञप्तम् । शयनीयवर्णकः प्राग्वत् । (तस्सण मित्यादि) तस्य भवनस्योपरि अष्टावष्टौ स्वस्तिकादीनि मङ्गलकानि इत्यादि पूर्ववत्तावद्वक्तव्यम् यावत् बहवः सहस्रपत्रहस्तका इति मूलत इदमधिकं दृश्यते " (सेणमित्यादि) तत् पद्ममन्येन अष्टशतेन पद्मानां तदर्द्धोच्चत्वप्रमाणमात्राणां तस्य मूलपद्मप्रमाणस्यार्द्धं तदर्द्धं तच्च तदुच्चत्वप्रमाणं च तदर्द्धोच्चत्वप्रमाणं तदर्द्धोच्चत्वप्रमाणं मात्रा येषां तानि तथा तेषां सर्वासु दिक्षु समन्ततः सामस्त्येन संपरिक्षिप्तं तदर्द्धोच्चत्वप्रमाणमेव तेषां भावयति (पउमा इति) तानि पद्मानि प्रत्येकमर्द्धयोजनमायामविष्कम्भाभ्यां क्रोशमेकं बाहुल्येन दशयोजनानि उद्वेधेन क्रोशमेकं जलपर्यन्तादुच्छ्रितं सातिरेकाणि दशयोजनानि सर्वाग्रेण (तेसिणमित्यादि) तेषां पद्मानामयमेतद्रूपो वर्णावासः प्रज्ञप्तः वज्रमयानि मूलानि रिष्टरत्नमयाः कन्दा वैडूर्यरत्नमया नालाः तपनीयमयानि बाह्यपत्राणि जाम्बूनदमयानि बाह्यपत्राणि तपनीयमयानि केसराणि कनकमय्यः कर्णिका नानामणिमयाः पुष्करास्थिभागाः (ताओणं कण्णियाउ इत्यादि) ताः कर्णिकाः क्रोशमायामविष्कम्भाभ्यामर्द्धं क्रोशं बाहुल्येन सर्वात्मना कनकमय्यः अच्छाउ जाव पडिरूव इति प्राग्वत् । (तेसिणं कण्णियाणमित्यादि) तासां कर्णिकानामुपरि बहुसमरमणीयो भूमिभागः प्रज्ञप्तः तस्य वर्णकः पूर्ववत्तावद्वक्तव्यो यावन्मणीनां स्पर्शः (तस्सणमित्यादि) तस्य मूलभूतस्य पद्मस्य अपरोत्तरेण अपरोत्तरस्यामेवमुत्तरस्यामुत्तरपूर्वस्यां सर्वसंकलनया तिसृषु दिक्षु अत्र नीलवतो नागकुमारेन्द्रस्य नागकुमारराजस्य चतुर्णां सामानिकसहस्राणां योग्यानि चत्वारि पद्मसहस्राणि प्रज्ञप्तानि (एतेणमित्यादि) एतेनानन्तरोदितेनाभिलापेन यथा विजयस्य सिंहासनपरिवारोऽभिहितस्तथा इहापि पद्मपरिवारो वक्तव्यस्तद्यथा पूर्वस्यां दिशि चतसृणामग्रमहिषीणां योग्यानि चत्वारि महापद्मानि दक्षिणपूर्वस्यामभ्यन्तरपर्षदोऽष्टानां देवसहस्राणां योग्यान्यष्टौ पद्मसहस्राणि दक्षिणस्यां मध्यपर्षदो दशानां देवसहस्राणां योग्यानि दशपद्मसहस्राणि दक्षिणापरस्यां बाह्यपर्षदो द्वादशानां देवसहस्राणां द्वादश पद्मसहस्राणि पश्चिमायां सप्तानामनीकाधिपतीनां योग्यानि सप्तमहापद्मानि प्रज्ञप्तानि तदनन्तरं तस्य द्वितीयस्य पद्मपरिक्षेपस्य पृष्ठतश्चतसृषु दिक्षु षोडशानामात्मरक्षकदेवसहस्राणां योग्यानि षोडशपद्मसहस्राणि प्रज्ञप्तानि । तद्यथा चत्वारि पद्मसहस्राणि पूर्वस्यां दिशि चत्वारि पद्मसहस्राणि पश्चिमायां चत्वारि पद्मसहस्राणि उत्तरस्यामिति । तदेवं मूलपद्मस्य त्रयः पद्मपरिक्षेपा अभूवन् अन्येऽपि च त्रयो विद्यन्ते इति तत्प्रतिपादनार्थमाह । (सेणंपउमे इत्यादि) तत्पद्ममन्यैरनन्तरोक्तपरिक्षेपत्रिकव्यतिरिक्तैस्त्रिभिः पद्मपरिक्षेपैः सर्वतः सर्वासु दिक्षु समन्ततः सामस्त्येन संपरिक्षिप्तम् । तद्यथा अभ्यन्तरेण मध्यमेन बाह्येन च । तत्राभ्यन्तरपद्मपरिक्षेपे सर्वसंख्यया द्वात्रिंशत् पद्मशतसहस्राणि प्रज्ञप्तानि (३२०००००) मध्यमे परिक्षेपे चत्वारिंशत् पद्मशतसहस्राणि(४००००००)बाह्यपद्मपरिक्षेपे अष्टाचत्वारिंशत् पद्मशतसहस्राणि प्रज्ञप्तानि (४८०००००) एवमेव अनेनैव प्रकारेण (सव्वावरेणंति) सह पूर्वं यत्र येन वा सपूर्वं तत् अपरं च सपूर्वापरं तेन सपूर्वापरेण पूर्वापरसमुदायेनेत्यर्थः एका पद्मकोटी विंशतिश्च पद्मशतसहस्राणि भवतीत्याख्यातं मया शेषैश्च तीर्थकृद्भिरेतेन सर्वतीर्थकृतामविसंवादिवचनतामाह । कोट्यादिका च संख्या स्वमीलितायां द्वात्रिंशदादिशतसहस्राणामेकत्र मीलने यथोक्तसंख्याया अवश्यं भावात् संप्रति नामान्वर्थं पिपृच्छिषुराह । अथ केनार्थेन एवमुच्यते नीलवद्ध्रदो नीलवद्ध्रद इति भगवानाह । गौतम ! नीलवद्ध्रदे तत्र तत्र देशे तस्य तस्य देशस्य तत्र तत्र प्रदेशे नीलवद्ध्रदे बहूनि उत्पलानि पद्मानि यावत् सहस्रपत्राणि नीलवद्ध्रदप्रभाणि नीलवन्नाम ह्रदाकाराणि नीलवद्वर्णानि नीलवन्नाम वर्षधरपर्वतस्तद्वर्णानीति भावः । नीलवन्नामा च नागकुमारेन्द्रो नागकुमार-

राजो महर्द्धिक इत्यादि यमकदेववन्निरवशेषं वक्तव्यं यावद्विहरति । ततो यस्मात्तत्रतानि पद्मानि नीलवद्वर्णानि नीलवन्नामा च तदधिपतिर्देवस्ततस्तद्योगादसौ नीलवन्नामा ह्रदः । तथाचाह (से एएणट्ठेणमित्यादि) कहिणं भंते ! नीलवंतद्दहस्सेत्यादि राजधानीविषयं सूत्रं समस्तमपि प्राग्वत् ॥

नीलवद्ह्रदे काञ्चनपर्वताः ।

नीलवंतेणं पुरच्छिमपच्चच्छिमेणं दस दस जोयणाति अबाहाए एत्थणं दस दस कंचणगपव्वता पन्नत्ता तेणं कंचणगपव्वता एगमेगं जोयणसतं उड्ढं उच्चत्तेणं पणवीसं २ जोयणाति उव्वेहेणं मूले एगमेगं जोयणसतं विक्खंभेणं मज्झे पन्नत्तरिं जोयणाइं आयामविक्खंभेणं उवरिं पन्नासं जोयणाइं विक्खंभेणं मूले तिन्नि सोले जोयणसते किंचिविसेसाहिता । परिक्खेवेणं मज्झे दोन्नि सत्ततीसे जोयणसते किंचि विसेसाहिता परिक्खेवेणं उवरिं एगं अट्ठावन्नं जोयणसतं किंचि विसेसाहिया । परिक्खेवेणं मूले विच्छिन्ना मज्झे संखित्ता उप्पिं तणुया गोपुच्छसंठाणसंठिया सव्वकंचणमया अच्छा पत्तेयं २ पउमवरवेइयापरिक्खित्ता पत्तेयं २ वणसंडपरिक्खित्ता तेसिणं कंचणगपव्वताणं उप्पिं बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे जाव आसयन्ति पत्तेयं २ पासायवडेंसगा सद्धा बावट्ठिं जोयणिया अद्धं एकतीसं जोयणाइं कोसं च विक्खंभेणं मणिपेढिया दो जोयणिया सिंहासणा सपरिवारा । से केणट्ठेणं भंते एवं वुच्चइ कंचणगपव्वया गोयमा ! कंचणगेसुणं पव्वतेसु तत्थ२वाविसु उप्पलाइं जाव कंचणवन्नाभा जाति कंचणगा जाव देवा महिड्ढिया जाव विहरंति उत्तरेणं कंचणगाणं कंचणियाउ रायहाणीओ अण्णम्मि जंबू तहेव सव्वं भाणियव्वं (नीलवंतद्दहस्सणमिति) नीलवतो ह्रदस्य (पुरच्छिमपच्चच्छिमेणं) पूर्वस्यां पश्चिमायां च दिशि प्रत्येकं दशयोजनान्यबाधया कृत्वेति गम्यतेऽपान्तराले मुक्त्वेतिभावः । दश दश काञ्चनपर्वता दक्षिणोत्तरश्रेण्योः प्रज्ञप्ताः ते काञ्चनपर्वताः प्रत्येकमेकं योजनशतमूर्ध्वमुच्चैस्त्वेन पञ्चविंशतिर्योजनान्युद्वेधेन मूले एकं योजनशतं विष्कम्भेन मध्ये पञ्चसप्ततिर्योजनानि विष्कम्भेन उपरि पञ्चाशद्योजनानि विष्कम्भेन मूले त्रीणि षोडशोत्तराणि योजनशतानि (३१६) किञ्चिद्विशेषाधिकानि परिक्षेपेण मध्ये द्वे सप्तत्रिंशे योजनशते (२३७) किञ्चिद्विशेषोने परिक्षेपेण उपरि एकमष्टापञ्चाशद्योजनशतं (१५८) किञ्चिद्विशेषोनं परिक्षेपेण अत एव मूले विस्तीर्णा मध्ये संक्षिप्ता उपरि तनुका अत एव गोपुच्छसंस्थानसंस्थिताः सर्वात्मना कनकमयाः (अच्छा जावपडिरूवाइति) प्राग्वत् । तथा प्रत्येकं प्रत्येकं पद्मवरवेदिकया परिक्षिप्ताः । प्रत्येकं वनखण्डपरिक्षिप्ताश्च पद्मवरवेदिका वनखण्डवर्णनं प्राग्वत् । (तेसिणमित्यादि) तेषां काञ्चनपर्वतानामुपरि बहुसमरमणीया भूमिभागाः प्रज्ञप्ताः तेषां च वर्णनं प्राग्वत् तावद्वक्तव्यं यावत्तृणानां मणीनां च शब्दवर्णनमिति (तेसिणमित्यादि) तेषां च बहुसमरमणीयानां भूमिभागानां बहुमध्यदेशभागे प्रत्येकं प्रत्येकं प्रासादावतंसकः प्रज्ञप्तः प्रासादवक्तव्यता सर्वा यमकपर्वतोपरि प्रासादावतंसकयोरिव निरवशेषा वक्तव्या यावत्परिवारसिंहासनवक्तव्यतापरिसमाप्तिः संप्रति नामान्वर्थं पिपृच्छिषुराह- सेकेणट्ठेणमित्यादि प्राग्वत् नवरं यस्मादुत्पलादीनि काञ्चननामानश्च देवास्तत्र परिवसन्ति तत्काञ्चनप्रभोत्पलादियोगात् काञ्चनकाभिधदेवस्वामिकत्वाच्च ते काञ्चनका इति तथाचाह । सेएणट्ठेणमित्यादि काञ्चनिकाश्च राजधान्यो यामिका राजधानीवद्वक्तव्या ॥

उत्तरकुरुह्रदाः ॥

कहि णं भंते उत्तरकुराए उत्तरकुरुद्दहे नाम दहे पन्नत्ते ? गोयमा ! नीलवंतद्दहस्स २ दाहिणेणं अट्ठचोत्तीसे जोयणसए एवं चेव गमोणेयव्वो जो णीलवंतद्दहस्स सव्वेसिं सरिसके दहसरिसनामा य देवा सव्वेसिं पुरच्छिमपच्चच्छिमे णं कंचणपव्वता दस२ एकप्पमाणा उत्तरेणं रायहाणी अण्णम्मि जंबुद्दीवे चंददहे एरावणदहे मालवंतदहे एवं एक्केको णेयव्वो ॥

क भदन्त ! जम्बूद्वीपे उत्तरकुरुषु कुरुषु उत्तरकुरुह्रदो नाम ह्रदः प्रज्ञप्तः । भगवानाह । गौतम ! नीलवतो ह्रदस्य दाक्षिणात्याच्चरमपर्यन्तादष्टौ चतुस्त्रिंशानि चतुस्त्रिंशदधिकानि योजनशतानि चतुरश्च योजनस्य सप्त भागा अबाधया कृत्वेति गम्यते शीताया महानद्या बहुदेशभागे अत्र उत्तरकुरुर्नाम ह्रदः प्रज्ञप्तः यथैव प्राक् नीलवतो ह्रदस्य आयामविष्कम्भोद्वेधपद्मवरवेदिकावनखण्डत्रिसोपानप्रतिरूपकतोरणमहामूलभूतपद्माष्टशतपद्मपरिवारपद्मशेषपरिधिपरिक्षेपत्रयवक्तव्यतोक्ता तथाऽन्यूनातिरिक्ता वक्तव्या । (मूलटीकयोः पाठभेदः) नामकारणं पिपृच्छिषुरिदमाह- "से केणट्ठेणं भंते इत्यादि प्राग्वत्" नवरमुत्पलादीनि यस्मात् उत्तरकुरुह्रदप्रभाणि उत्तरकुरुह्रदाकाराणि तेन तानि तदाकारयोगात् उत्तरकुरुनामाऽत्र तत्र देवः परिवसति तेन तद्योगात् ह्रदोऽप्युत्तरकुरुः नचैवमितरेतराश्रयदोषप्रसङ्गः उभयेषामपि नाम्नामनादिकालं तथाप्रवृत्तेः । एवमन्यत्रापि निर्दोषता भावनीया । उत्तरकुरुनामा च तत्र देवः परिवसति तद्वक्तव्यता च नीलवन्नागकुमारवद्वक्तव्या ततोऽप्यसावुत्तरकुरुरिति । राजधानीवक्तव्यता काञ्चनकपर्वतवक्तव्यता च राजधानीपर्यवसाना प्राग्वत् । चन्द्रह्रदवक्तव्यतामाह । (कहिणं भंते इत्यादि) प्रश्नसूत्रं सुगमं भगवानाह- गौतम ! उत्तरकुरुह्रदस्य दाक्षिणात्याच्चरमान्तादर्वाक् दक्षिणस्यां दिशि अष्टौ चतुस्त्रिंशानि योजनशतानि चतुरश्च सप्त भागान् योजनस्य अबाधया कृत्वेति शेषः । शीताया महानद्या बहुमध्यदेशभागे अत्र अस्मिन्नवकाशे उत्तरकुरुषु चन्द्रह्रदो नाम ह्रदः प्रज्ञप्तः । अस्यापि नीलवद्ह्रदस्येव आयामविष्कम्भोद्वेधपद्मवरवेदिकावनखण्डत्रिसोपानप्रतिरूपकतोरणमूलभूतमहापद्माष्टशतपद्मपरिवारपद्मशेषपद्मपरिक्षेपत्रयवक्तव्यता वक्तव्या । नामान्वर्थसूत्रमपि तथैव नवरं यस्मात् उत्पलादीनि चन्द्रह्रदप्रभाणि चन्द्रह्रदाकाराणि चन्द्रवर्णानि चन्द्रनामा च देवस्तत्र परिवसति तस्माच्चन्द्रह्रदाभोत्पलादियोगात् चन्द्रदेवस्वामिकत्वाच्चन्द्रह्रद इति । चन्द्राराजधानीवक्तव्यता काञ्चनकपर्वतवक्तव्यता च राजधानीपर्यवसाना प्राग्वत् । सांप्रतमैरावतह्रदवक्तव्यतामाह । कहिणं भंते इत्यादि प्रश्नसूत्रं पाठसिद्धं निर्वचनमाह । गौतम ! चन्द्रह्रदस्य दाक्षिणात्याच्चरमान्तादर्वाक् दक्षिणस्यां दिशि अष्टौ चतुस्त्रिंशादियोजनशतानि चतुरश्च सप्त भागान् योजनस्याबाधया कृत्वेति शेषः । शीताया महानद्या बहुमध्यदेशभागे अत्र एतस्मिन्नवकाशे ऐरावतह्रदो नाम ह्रदः प्रज्ञप्तः । अस्यापि नीलवन्नाम्नो ह्रदस्येवायामविष्कम्भादिवक्तव्यता पर्यवसाना वक्तव्या । अन्वर्थसूत्रमपि तथैव नवरं यस्मादुत्पलादीनि ऐरावणह्रदप्रभाणि ऐरावतो नाम हस्ती तद्वर्णानि च ऐरावतश्च नामा तत्र देव

परिवसति तेन ऐरावत न्हद इति ऐरावतराजधानीवत् काञ्चनकपर्वतवक्तव्यताऽपि राजधानीवक्तव्यता पर्यवसाना तथैव अधुना माल्यवन्नामन्हदवक्तव्यतामाह (कहिणं भंते इत्यादि) सुगमं भगवानाह गौतम ! ऐरावतन्हदस्य दाक्षिणात्याच्चरमान्तादर्वाक् दक्षिणस्यां दिशि अष्टौ चतुस्त्रिंशानि योजनशतानि चतुरश्च सप्तभागान् योजनस्य अबाधया कृत्वेति शेषः । शीताया महानद्या बहुमध्यदेशभागे अत्र एतस्मिन्नवकाशे उत्तरकुरुषु कुरुषु माल्यवन्नामा न्हदः प्रज्ञप्तः स च नीलवद्ध्रदवत् आयामविष्कम्भादिना तावद्वक्तव्यो यावत् पद्मवक्तव्यतापरिसमाप्तिः । नामान्वर्थसूत्रमपि तथैव यस्मादुत्पलादीनि माल्यवद्ध्रदप्रभाणि माल्यवद्ध्रदाकाराणि माल्यवन्नामा वक्षस्कारपर्वतस्तद्वर्णानि तद्वर्णाभानि माल्यवन्नामा च तत्र देवः परिवसति तेन माल्यवद्ध्रद इति । माल्यवती राजधानी विजयाराजधानीवद्वक्तव्या काञ्चनकपर्वतवक्तव्यतापर्यवसाना प्राग्वत् । जी० ३ प्रति० । (उत्तरकुरुगतजम्बूसुदर्शनवर्णकोऽन्यत्र) उत्तरकुर्वधिपतौ देवे, पुं० अथोत्तरकुरुनामार्थं पिपृच्छिषुरिदमाह ।

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ उत्तरकुरा २ गोयमा ! उत्तरकुराए उत्तरकुरुणामं देवे परिवसइ महिड्ढिए जाव पलिओमट्ठिइए से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ उत्तरा २ उत्तरकुराए उत्तरकुरुणामं देवे परिवसइ महिड्ढिए जाव पलिओवमट्ठिई से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ उत्तरकुराए अदुत्तरं च णं जाव सासए ।

से केणट्ठेणमित्यादि प्रतीतं नवरम् उत्तरकुरुनामाऽत्र देवः परिवसति तेनेमा उत्तरकुरव इत्यर्थः । जं०२वक्ष० । द्वाविंशतीर्थकृतो निष्क्रमणशिविकायाम्, स्त्री० । स० ।

उत्तरकुरुकूड–उत्तरकुरुकूट–न० माल्यवद्वक्षस्कारपर्वतस्य तृतीये कूटे, स्था० ए ठा० । मेरोरुत्तरपूर्वस्यां दिशि, माल्यवद्वर्षधरपर्वतस्य तृतीयं कूटं हिमवत्कूटप्रमाणं कूटसदृशनामकश्चात्र । देवः । जं०४ वक्ष० । महाविदेहे, गन्धमादनस्य वक्षस्कारपर्वतस्य चतुर्थे कूटे, स्था० १० ठा० । जं० ।

उत्तरकुरुदह–उत्तरकुरुन्हद–पुं० उत्तरकुरुषु तृतीये ह्रदे, स्था० ६ ठा० । (तन्नामादिरुत्तरकुरुशब्दे उक्तम्) ॥

उत्तरकुरुमाणुसच्छरा–उत्तरकुरुमानुषाप्सरस्–स्त्री० उत्तरकुरुषु मानुषरूपासु अप्सरस्सु, प्रश्न० अध० ४ द्वा० ।

उत्तरकूलग–उत्तरकूलग–पुं० वानप्रस्थतापसभेदेषु, यैर्गङ्गायामुत्तरकूल एव वस्तव्यम् । नि० । भ० ॥

उत्तरकोडि–उत्तरकोटि–स्त्री० गान्धारग्रामस्य सप्तम्यां मूर्छनायाम्, स्था० ७ ठा० ।

उत्तरगंधारा–उत्तरगान्धारा–स्त्री० गान्धारग्रामस्य पञ्चम्यां मूर्च्छनायाम्, ॥ स्था० ७ ठा० ॥

उत्तरगुण–उत्तरगुण–पुं० मूलगुणापेक्षया उत्तरभूता गुणा वृक्षस्य शाखा इवोत्तरगुणाः । भ०७ श० २ उ० । सर्वतः पिण्डविशुद्ध्यादिषु, देशतो दिग्व्रतादिषु, पंचा० ५ विव० ।

शेषाः पिण्डविशुद्ध्याद्याः, स्युरुत्तरगुणाः स्फुटम् ।
एषां चानतिचाराणां, पालनं ते त्वमी मताः ॥ ४७ ॥

शेषा उक्तमूलगुणेभ्योऽवशिष्टास्ते के इत्याह । पिण्डविशुद्ध्याद्या इति पिण्डविशुद्धिराहारादिनिर्दोषता सा आदौ येषां भेदानां ते पिण्डविशुद्ध्याद्याः सप्ततिभेदा इत्यर्थः । उत्तरगुणा उत्तरगुणसंज्ञकाः स्फुटं प्रकटं स्युर्भवेयुरिति संबन्धस्तत्रादिशब्दगृहीता भेदास्त्विमे "पिंडविसोही समिई, भावणपडिमा य इंदियनिरोहो । पडिलेहणगुत्तीओ, अभिग्गहा चेव करणं तु" धर्म०३अधि० (पाठान्तरेण) "पिंडस्स जा विसोही, समिईओ भावणा तवो दुविहा । पडिमा अभिग्गहा वि य, उत्तरगुण मो वियाणाहि" १ सूत्र०श्रु०१४अ० । (एतद्व्याख्या पायच्छित्तशब्दे) पिण्डविशुद्ध्यादयः सार्थाः स्वस्वस्थाने) महाव्रतावतेषु, सूत्र० । व्य० नि० चू० । पंचा० । जीत० । आव० । (मूलगुणानामिवोत्तरगुणानामपि भङ्गो नेष्ट इत्यतिचारशब्दे उक्तम्)

उत्तरगुणकप्पिय–उत्तरगुणकल्पिक–पुं०

आहारउवहिसेज्जा, उग्गमउप्पादणेसणा सुद्धा ।
जो परिगिण्हति णियतं, उत्तरगुणकप्पिओ स खलु ॥

य आहारोपधिशय्या उद्गमोत्पादनैषणा । शुद्धा नियतं निश्चितं परिगृह्णाति स खलु उत्तरगुणकल्पिको मन्तव्यः । इत्युक्तरूपे उत्तरगुणयुक्तसामाचारीभेदे, बृ० ६ उ० ।

उत्तरगुणपच्चक्खाण–उत्तरगुणप्रत्याख्यान–न० मूलगुणापेक्षया उत्तरभूता गुणा वृक्षशाखा इवोत्तरगुणास्तेषु प्रत्याख्यानमुत्तरगुणप्रत्याख्यानम् । प्रत्याख्यानभेदे, ॥ तद्भेदा यथा–

उत्तरगुणपच्चक्खाणे णं कइविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते तंजहा सव्वुत्तरगुणपच्चक्खाणे य देसुत्तरगुणपच्चक्खाणे य । सव्वुत्तरगुणपच्चक्खाणे णं भंते ! कइविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! दसविहे पण्णत्ते तंजहा अणागयमइक्कंतं, कोडिसहियं नियंठियं चेव । सागारमणागारं परिमाणकडं निरवसेसं ॥

अनागतादीनां च व्याख्याऽन्यत्र ॥ भ०७ श० २ उ० । "मूलगुणउत्तरगुणा, जे मे णाराहिया पमाएणं । तमहं सव्वं निंदे, पडिक्कमे आगामिस्साणं" इति रूपम् । आतु० । पंचा० । आ० क० ।

उत्तरगुणपडिसेवणा उत्तरगुणप्रतिसेवना–स्त्री० उत्तरगुणविषये प्रतिसेवनायाम्, "इदाणिं उत्तरगुणपडिसेवणा भण्णति ते उत्तरगुणा पिंडविसोहाइ अणेगविहा तत्थ पिंडे ताव दप्पियं कप्पियं च पडिसेवणं भण्णत्ति" ॥ नि० चू० १ उ०(सर्वं पडिसेवणाशब्दे वक्ष्यते)

उत्तरगुणलद्धि–उत्तरगुणलब्धि–स्त्री० उत्तरगुणाः पिण्डविशुद्ध्यादयस्तेषु चेह प्रक्रमात्तपो गृह्यते तस्य लब्धिः । तपोलब्धौ, "उत्तरगुणलद्धिसमग्गाणस्स विज्जाचारणलद्धिणाम लद्धि समुपज्जइ" । भ० २० श० ६ उ० ॥

उत्तरगुणसड्ढा–उत्तरगुणश्रद्धा–स्त्री० प्रधानतरगुणाभिलाषे, पंचा.

उत्तरगुणासेवणासिक्खग–उत्तरगुणासेवनाशिक्षक–त्रि० उत्तरगुणविषये सम्यक् पिण्डविशुद्ध्यादिकान् गुणान् आसेवमाने, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

उत्तरचावाला–उत्तरचावाला–स्त्री० नगरभेदे, ताहे सामी उत्तरचावालं उच्चलो तस्स अंतरा कणगखलं नाम उत्तमपदम् ।" आ० चू० २ अ० । ततः स्वामी उत्तरचावालां गतः तत्र पक्षक्षपणपारणे नागसेनगृहे क्षीरभोजनेन प्रतिभाजानि प्रादुर्भूतानि । आ० क० । आ० म० द्वि० ॥

उत्तरचूल–उत्तरचूड–न० वन्दनकं दत्वा शब्देन मस्तकेन वन्दे इत्यभिधानरूपे एकोनविंशतमे वन्दनकदोषे, ध.२ अधि० । आव० ।

उत्तरचूलिया–उत्तरचूलिका–स्त्री० "वाऊणं वंदणगं मत्थएण वंदामि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चूलियाए सा " यद्वन्दनकं दत्वा पश्चान्महता शब्देन मस्तकेन वन्दे इति यत्र भूते तदुत्तरचूलिका मन्तव्या । बृ० ३ उ० । आव० चू० ।

उत्तरज्झयण-उत्तराध्ययन- न० बहुव० उत्तराणि प्रधानानि अध्ययनानि रूढिवशाद्विनयश्रुतादीनि षट्त्रिंशदुत्तराध्ययनानि सर्वाण्यपि चाध्ययनानि प्रधानान्येव तथापि अमून्येव रूढ्या उत्तराध्ययनशब्दवाच्यत्वेन प्रसिद्धानि । नं० । अङ्गबाह्ये कालिकश्रुतभेदे, पा० ।

उत्तराध्ययनशब्दनिरुक्तिं निर्युक्तिकृद्विस्तरेणाह ।

णामं ठवणा दविए, खेत्तदिसा ताव खेत्तपण्णवए ।
पइकालं संचयपहा-णणाणयकमगणणतो भावे ॥
जहणं उत्तरं खलु, उक्कोसं वा अणुत्तरं होइ ।
सेसाइं अणुत्तराइं, अणुत्तराइं च णामाइं ॥

(नामोत्तरव्याख्या उत्तरशब्दे दर्शिता) उत्तरस्यानेकविधत्वेन यदत्र प्रकृतं तदाह ।

कम उत्तरेण पगयं, आयारस्से व उवरिमाइं तु ।
तम्हाउ उत्तरा खलु, अज्झयणा होंति णायव्वा ॥

क्रमापेक्षमुत्तरं क्रमोत्तरं शाकपार्थिवादित्वान्मध्यमपदलोपी समासस्तेन प्रकृतमधिकृतमिह च क्रमोत्तरेणेति भावः क्रमोत्तरेणैतानि हि श्रुतात्मकत्वेन क्षायोपशमिकभावरूपाणि तद्रूपस्यैवाचाराङ्गस्योपरि पाठ्यमानत्वेनोत्तराणीत्युच्यन्ते अत आह (आयारस्से व उवरिमाइं तु) एवकारो भिन्नक्रमस्ततश्चाचारस्योपर्येवोत्तरकालमेवेमानीति हृदि विपरिवर्तमानतया प्रत्यक्षाणि पठितवन्त इति गम्यते । तुर्विशेषणे विशेषश्चायं यथा शय्यंभवं यावदेष क्रमस्तदाचारतस्तु दशवैकालिकोत्तरकाले पठ्यन्त इति (तम्हाउत्ति) तुः पूरणे यत्तदोश्च नित्यमभिसंबन्धस्ततो यस्मादाचारस्योपर्येवेमानि पठितवन्तस्तस्मादुत्तराण्युत्तरशब्दवाच्यानि खलुर्वाक्यालङ्कारेऽवधारणे वा तत उत्तराण्येवाध्ययनानि विनयश्रुतादीनि भवन्ति ज्ञातव्यानि अन्यत्र बोद्धव्यानि प्राकृतत्वाच्च लिङ्गव्यत्यय इति गाथार्थः । आह यद्याचारस्योपरि पठ्यमानत्वेनोत्तराण्यमूनि तत्कियन्त एवाचारस्य प्रसूतिरेषामपि तत एवाभिधेयमपि यदेव तस्य तदेवान्यथेतिसंशयापनोदायाह ।

अंगप्पभवा जिणभा-सिया य पत्तेयबुद्धसंवाया ।
बंधे मोक्खे य कया, छत्तीसं उत्तरज्झयणा ॥

अङ्गाद् दृष्टिवादादेः प्रभव उत्पत्तिरेषामित्यङ्गप्रभवानि यथा परीषहाध्ययनम् । वक्ष्यति हि "कम्मप्पवायपुव्वे, सत्तरसे पाहुडम्मि जं सुत्तं । सणयं सोदाहरणं, तं चेव इहंपि नायव्वं" जिनभाषितानि यथा द्रुमपत्रकाध्ययनं तद्धि समुत्पन्नकेवलेन भगवता महावीरेण प्रणीतं यद्वक्ष्यति " तन्निस्साए भगवं, सीसाणं देइ अणुसट्ठिं ति " चः समुच्चये प्रत्येकबुद्धाश्च संवादश्च प्रत्येकबुद्धसंवादस्तस्मादुत्पन्नानीति शेषः । तत्र प्रत्येकबुद्धाः कपिलादयस्तेभ्य उत्पन्नानीति । यथा कापिलीयाध्ययनम् वक्ष्यति हि " धम्मदुयागीअं" तत्र कपिलेनेति क्रमः संवादसंगतः प्रश्नोत्तरवचनरूपस्तत उत्पन्नानि यथा केशीगौतमीये वक्ष्यति च "गोतमकेसीओ या, संवाय समुट्ठियं तु जमेयमित्यादि " ननु स्थविरविरचितान्येवैतानि यत आह चूर्णिकृत् । " सुत्तं थेराण अत्तागमोत्ति" नन्द्यध्ययनेऽप्युक्तम् "जस्स जे तिया सिस्सा उप्पत्तियाए वेणइयाए कम्मयाए पारिणामिया चउव्विहाए बुद्धीए उववेया तस्स तत्तियाइं पइण्णगसहस्साइं" प्रकीर्णकानि चामूनि तत्कथं जिनदेशितत्वादि न विरुध्यते । उच्यते तथा स्थितानामेव जिनादिवचसामिह दृब्धत्वेन तद्देशितत्वाद्युक्तमिति न विरोधः । बन्धः आत्मकर्मणोरत्यन्तं संश्लेषस्तस्मिन् मोक्षस्तयोरैवात्यन्तिकः पृथग्भावस्तस्मिंश्च कृतानि कोऽभिप्रायो यथा बन्धो भवति यथा च मोक्षस्तथा प्रदर्शकानि । तत्र बन्धे यथा " आणाअणिद्देसकरेत्ति " मोक्षे यथा " आणानिद्देसकरेत्ति " आज्ञां यथाक्रमश्चाविनयो मिथ्यात्वाद्यविनाभूतत्वेन बन्धस्य विनयश्चान्तरतपोरूपत्वेन मोक्षस्य कारणमिति तत्वतस्तौ यथा भवतस्तदेवोक्तं भवति मोक्षप्राधान्येऽपि बन्धस्य प्रागुपादानमनादित्वोपदर्शनार्थम् । यद्वा " बंधे मोक्खेयत्ति " च शब्द एवकारार्थो भिन्नक्रमश्च । ततो बन्ध एव सति यो मोक्षस्तस्मिन् कृतान्यनेनानादिमुक्तमन्तव्यवच्छेदश्च कृतस्तत्र हि मोक्षशब्दार्थानुपपत्तिः सकलानुष्ठानवैकल्यापत्तिश्च किमेतं कतिचिदेव नेत्याह । षट्त्रिंशत्संख्यानि कोऽर्थः सर्वाण्येतदुत्तराध्ययनानीति गाथार्थः । उत्त० १ अ० ।

। तानि च षट्त्रिंशदमूनि ॥

छत्तीसउत्तरज्झयणा पण्णत्ता तंजहा । विणयसुयं १ परीसहा २ चाउरंगीज्जं ३ असंखयं ४ अकामसकाममरणीज्जं ५ पुरिसविज्जा ६ उरब्भिज्जं ७ काविलियं ८ नमिपव्वज्जा ९ दुमपत्तयं १० बहुसुयपुज्जा ११ हरिएसिज्जं १२ चित्तसंभूयं १३ उसुयारिज्जं १४ सभिक्खुगं १५ समाहिट्ठाणाइं १६ पावसमणिज्जं १७ संजइज्जं १८ मियाचारिया १९ अणाहपव्वज्जा २० समुद्दपालिज्जं २१ रहनेमिज्जं २२ गोयमकेसीज्जं २३ समितीओ २४ जन्नतिज्जं २५ सामायारी २६ खलुंकेज्जं २७ मोक्खमग्गगई २८ अप्पमाओ २९ तवोमग्गो ३० चरणविही ३१ पमायट्ठाणाइं ३२ कम्मपयडी ३३ लेसज्झयणं ३४ अणगारमग्गे ३५ जीवाजीवविभत्ती य ३६ ॥ छत्तीसं उत्तरज्झयणा ॥ स० । व्य० । आव० ४ अ० ।

उत्तरज्झाय -उत्तराध्याय-पुं० उत्तरा प्रधाना अध्याया अध्ययनानि । उत्तराश्च ते अध्यायाश्च उत्तराध्यायाः । विनयादिषु षट्त्रिंशत्युत्तराध्ययनेषु, "छत्तीसं उत्तरज्झाए भवसिद्धिए सम्मत्तिवेत्ति" उत्त० ३६ अ० ॥

उत्तरड्ढकच्छ-उत्तरार्द्धकच्छ-पुं० कच्छविजयस्य वैताढ्यपर्वतेन विभक्तस्य उत्तरार्द्धे, ॥

कहि णं भंते जंबुद्दीवे दीवे महाविदेहे वासे उत्तरड्ढकच्छे णामं विजए पण्णत्ते ? गोयमा ! वेअड्ढस्स पव्वयस्स उत्तरेणं णीलवंतस्स वासहरपव्वयस्स दाहिणेणं मालवंतस्स वक्खारपव्वयस्स पुरच्छिमेणं चित्तकूडस्स वक्खारपव्वयस्स पच्चच्छिमेणं एत्थ णं जंबुद्दीवे दीवे जाव सिज्झंति तहेव णेअव्वं जं० ४ वक्ष० । टीकासुगमत्वान्न गृहीता ॥ (सिन्धुकूटाद्यन्यत्र) कच्छविजयविभाजकस्य वैताढ्यपर्वतस्याष्टानां कूटानामष्टमे कूटे, जं० ४ वक्ष० ।

उत्तरड्ढभरह-उत्तरार्द्धभरत- न० वैताढ्यपर्वतेन द्विधा विभक्तस्य भरतवर्षस्य उत्तरार्द्धे ॥

अथोत्तरार्द्धभरतवर्षं क्वास्तीति प्रश्नसूत्रमाह ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहि णं जंबुद्दीवे उत्तरड्ढभरहे णामं वासे पण्णत्ते? गोयमा! चुल्लहिमवंतस्स वासहरपव्वयस्स दाहिणेणं वेअड्ढस्स पव्वयस्स उत्तरे णं पुरच्छिमलवणसमुद्दस्स पच्चच्छिमेणं पच्चच्छिमलवणसमुद्दस्स पुरच्छिमेणं । एत्थ णं जंबुद्दीवे दीवे उत्तरड्ढभरहे णामं वासे पण्णत्ते पाईणपडीणायए उदीणदाहिणविच्छिण्णे पलिअंकसंठिए दुहा लवणसमुद्दपुट्ठे पुरच्छिमिल्लाए कोडीए पुरच्छिमिल्लं लवणसमुद्दं पुट्ठे पच्चच्छिमिल्लाए जाव पुट्ठे गंगासिंधूहिं महाणईहिं तिभागपविभत्ते दोण्णि अट्ठतीसे जोयणसए तिण्णि अ एगूणवीसइभागे जोयणस्स विक्खंभेणं तस्स बाहापुरच्छिमपच्चच्छिमेणं अट्ठारसबाणउए जोयणसए सत्त य एगूणवीसइभागे जोयणस्स अद्धभागं च आयामेणं तस्स जीवा उत्तरेणं पाईणपडीणाययया दुहा लवणसमुद्दं पुट्ठा तहेव जाव चोद्दसजोयणसहस्साइं चत्तारि अ एक्कहत्तरे जोयणसए छच एगूणवीसइभाए जोयणस्स किंचिविसेसूणे आयामेणं पण्णत्ता। तीसे धणुपिट्ठे दाहिणेणं चोद्दसजोयणसहस्साइं पंचअट्ठावीसजोयणसए एक्कारसयएगूणवीसइभाए जोयणस्स परिक्खेवेणं ॥

दक्षिणार्द्धभरतसमगमकत्वेन व्यक्तं नवरं (पलिअंकत्ति) पर्यङ्कवत्संस्थितं संस्थानं यस्य तत्तथा द्वे शते अष्टात्रिंशदधिके त्रींश्चैकोनविंशतिभागान् योजनस्य विष्कम्भेनेति अस्य शरस्तु प्राच्यशरसहितस्वक्षेत्रविस्तारो योजनतः [५२६] कलावतस्तु [१००००] अथास्य बाहे आह इत्यादि तस्योत्तरार्द्धभरतस्य बाहा पूर्वोक्तरूपा पूर्वापरयोर्दिशोरेकैकाष्टादशयोजनशतानि द्विनवतियोजनाधिकानि सप्त चैकोनविंशतिभागान् [$\frac{७}{१९}$] योजनस्य अर्द्धभागं चैकोनविंशतितमभागस्य योजनस्याष्टत्रिंशत्तमभागमित्यर्थः ॥ अत्र करणं यथा गुरुधनुःपृष्ठं कलारूपं [२७६०४३] अस्मात् [२०४१३२] कलारूपं लघुधनुः पृष्ठं शोध्यते जातं [७१९११] अर्द्धे कृते जातं कला [३५९५५] कलार्द्धं च तासां योजनानि [१८९२] कलाः [७] कलार्द्धं चेति एतच्चैकैकस्मिन् पार्श्वे बाहाया आयाममानम् । अथास्य जीवामाह (तस्सजीवा उत्तरेणमित्यादि) तस्य जीवा प्रागुक्तस्वरूपा उत्तरेण क्षुद्रहिमवद्दिशि प्राचीनायता द्विधा लवणसमुद्रं स्पृष्टा तथैव दक्षिणार्द्धभरतजीवासूत्रादेव "जावत्ति पच्चच्छिमिल्लं लवणसमुद्दं पुट्ठेति" पर्यन्तं सूत्रं ह्येयमिति भावः (चउद्दसत्ति) चतुर्दशयोजनसहस्राणि चत्वारि चैकसप्तत्यधिकानि योजनशतानि षट् चैकोनविंशतिभागान् योजनस्य किञ्चिद्विशेषोनाः प्रज्ञप्ताः । अत्र करणं यथा कलीकृतो जम्बूद्वीपव्यासः [१९] शून्यं [५] इषूनितः [१९५] शून्यं [४] इषुगुणः [१९५] शून्यं [८] चतुर्गुणः [७८६] शून्यं [८] एष उत्तरभरतार्द्धजीवावर्गः । अस्य वर्गमूले लब्धाः कलाः [२७४९५४] शेषकलांशाः [२९७८०४] छेदः [५४९९०८] अस्य कलानां [१९] भागे योजनं (१४४७१) [$\frac{५}{१९}$] उद्धरितैः शेषकलांशैर्मध्ये प्रक्षिप्तैः षष्ठिकलाः किञ्चिद्विशेषोना विवक्षिता इति । अथास्य धनुःपृष्ठमाह-[तीसेइत्यादि] तस्या उत्तरार्द्धभरतजीवाया दक्षिणपार्श्वे धनुःपृष्ठम् । अर्थादुत्तरार्द्धभरतस्य चतुर्दशयोजनसहस्राणि पञ्चशतान्यष्टाविंशत्यधिकानि एकादश चैकोनविंशतिभागान् योजनपरिक्षेपेण परिधिना प्रज्ञप्तमिति शेषः । अत्र करणम् । यथा उत्तरार्धभरतस्य कलीकृत इषुः [१००००] अस्य वर्गः [१] शून्यं [८] स च षड्गुणः [६] शून्यं (८] सोऽप्युत्तरार्द्धभरतजीवावर्गेण [७५६००००००००] इत्येवंरूपेण मिश्रितो जातः (७६२) शून्यम् (८) एष उत्तरार्द्धभरतस्य जीवावर्गः । अस्य मूले लब्धाः कलाः (२७६०६३] शेषकलांशाः (२६२१५१) छेदराशिः (५५२०२६) कलानामेकोनविंशत्या भागे (१४५२८) [$\frac{११}{१९}$] अत्र शेषांशानामविवक्षितत्वाच्चैकादशकलानां साधिकत्वसूचा । अत्र दक्षिणार्द्धभरतादिक्षेत्रसंबन्धिशरादिचतुष्कस्य सुखेन परिज्ञानाय यन्त्रस्थापना, ।

क्षेत्रनाम	शर प्रमाणम्	बाहाप्रमाणम्	जीवाप्रमाणम्	धनुःपृष्ठम्
दक्षिणभरतार्द्ध	२३८ योजन भागाः ३।१९	❀	९७४८ योजन भागाः १२।१९	९७६६ योजन भागाः १।१९
वैताढ्यपर्वतः	२८८ योजन भागाः १३।१९	४८८ योजन भागाः १६।१९	१०७२० योजन भागाः १२।१९	१०७४३ योजन भागाः १५।१९
उत्तरभरतार्द्ध	५२६ योजन भागाः ६।१९	१८९२ योजन भागाः ७।१९	१४४७१ योजन भागाः ६।१९	१४५२८ योजन भागाः ११।१९

यथा एषां च शरादीनां करणविधिप्रसङ्गतोऽत्र दर्शितः अतः परमुत्तरत्र क्षुद्रहिमवदादिसूत्रेषु स न दर्शयिष्यते विस्तरभयात् तज्जिज्ञासुना तु क्षेत्रविचारवृत्तितोऽवसेय इति ॥

अथोत्तरार्द्धभरतस्वरूपं पृच्छति ॥

उत्तरभरहस्स णं भंते ! वासस्स केरिसए आयरभावपडोयारे पण्णत्ते गोयमा ! बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते से जहा णामए आलिंगपुक्खरेइ वा जाव कित्तिमेहिं चेव । अकित्तिमेहिं चेव । उत्तरड्ढभरहे णं भंते ! वासे मणुआणं केरिसए आयारभावपडोयारे पण्णत्ते ? गोयमा ! तेणं मणुया बहुसंघयणा जाव अप्पेगइआ सिज्झंति जाव सव्वदुक्खाणमंतं करेंति ॥

उत्तरभरहस्सणमित्यादि व्यक्तम् । अत्रैव मनुष्यस्वरूपं पृच्छति "उत्तरड्ढभरहे" इत्यादि इदमपि प्राग्वत् यावदेके केचन सर्वदुःखानामन्तं कुर्वन्तीति नन्वत्रत्यमनुष्याणामर्हदाद्यभावेन मुक्त्यङ्गभूतधर्मश्रवणाद्यभावात् कथं मुक्त्यवाप्तिः सूत्रस्यौचित्यमञ्चतीति चेदुच्यते चक्रवर्तिकाले अप्रावृतगुहाद्वयावस्थानेन गतागतदक्षिणार्द्धभरतवासिसाध्वादिभ्यो वाऽन्यदापि विद्याधरश्रमणादिभ्यो वा जातिस्मरणादिना वा मुक्त्यङ्गावाप्तेर्मुक्त्यवाप्तिसूत्रमुचितमेवेति ॥ (ऋषभकूटवक्तव्यताऽन्यत्र) वैताढ्य-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर्वतस्याष्टमकूटस्योत्तरार्द्धभरतकूटस्य स्वामिदेवे च । जं० १ वक्ष० ।

उत्तरड्डभरहकूड–उत्तरार्द्धभरतकूट–न० जम्बूद्वीपे वैताढ्यपर्वतस्याष्टमे कूटे, उत्तरार्द्धभरतनाम्नो देवस्य वासभूतं कूटमुत्तरार्द्धभरतकूटम् मध्यमपदलोपी समासः । तद्विधे च । जं० १ वक्ष० । (अस्य मानादि वैताढ्यपर्वतवक्तव्यतायां वक्ष्यते)

उत्तरड्डभरहा–उत्तरार्द्धभरता–स्त्री० उत्तरार्द्धभरतकूटस्य स्वामिन उत्तरार्द्धभरतकूटनाम्नो राजधान्याम् ॥ जं० १ वक्ष० ।

उत्तरड्डमाणुसक्खेत्त–उत्तरार्द्धमानुष्यक्षेत्र– न० मनुष्यक्षेत्रस्यार्द्धमर्द्धमनुष्यक्षेत्रमुत्तरं च तदर्द्धमनुष्यक्षेत्रम् । मनुष्यक्षेत्रस्योत्तरेऽर्द्धे, तत्र भवोऽप्युत्तरार्द्धमानुष्यक्षेत्रः उत्तरार्द्धमनुष्यक्षेत्रभवे "उत्तरड्डमाणुस्सक्खेत्ताणं छावट्ठिं चंदा य भासिं तु" । स० ।

उत्तरण–उत्तरण–न० बाहुजङ्घादिना समुद्रं वा नद्यादेः पारागमने स्था० ५ ठा० । नावादिना संघट्टादिभिः प्रकारैर्नद्यादेः पारगमने, सू० ६ अ० । (संयतैर्यथा नदी उत्तीर्यते तथा णई शब्दे वक्ष्यते) अवतरणे च ॥ " उत्तरणं चंदसूराणं " भगवतो महावीरस्य वन्दनार्थमवतरणमाकाशात्समवसरणभूम्यां चन्द्रसूर्ययोः शाश्वतविमानोपेतयोर्बभूवेदमप्याश्चर्यमेवेति ॥ स्था० १० ठा० ॥

उत्तरदारियणक्खत्त–उत्तरद्वारिकनक्षत्र–न० उत्तरं द्वारं येषामस्ति तानि उत्तरद्वारिकाणि तानि च नक्षत्राणि । उत्तरस्यां दिशि गम्यते येषु तादृशेषु नक्षत्रेषु, " साइयाई सत्त णक्खत्ता उत्तरदारिया पण्णत्ता तंजहा साई विसाहा अणुराहा जिट्ठा मूलो पुव्वासाढा उत्तराआसाढा " स्था० ७ ठा० ।

उत्तरदाहिणायय–उत्तरदक्षिणायत–त्रि० उत्तरदक्षिणस्यामायते, " उत्तरदाहिणायए पाईण विच्छिण्णे । जं० ४ वक्ष० ।

उत्तरपओगकरण–उत्तरप्रयोगकरण–न० निष्पत्तेरुत्तरम् । निष्पादनरूपे जीवप्रयोगकरणभेदे, आ० चू० २ अ० (तस्य स्वरूपं करणशब्दे प्रपञ्चतो वक्ष्यते)

उत्तरपगइ–उत्तरप्रकृति–स्त्री० ज्ञानावरणदर्शनावरणादीनां पञ्चनवाद्यासु अवान्तरप्रकृतिषु भेदेषु, उत्त० ३३ अ० । यथा ज्ञानावरणीयं पञ्चधा मतिश्रुतावधिमनःपर्यायकेवलावरणभेदात् । तत्र केवलावारकं सर्वघाति । शेषाणि देशसर्वघातीन्यपि दर्शनावरणीयं नवधा निद्रापञ्चकदर्शनचतुष्टयभेदात् । तत्र निद्रापञ्चकं प्राप्तदर्शनलब्ध्युपयोगोपघातकारि दर्शनचतुष्टयं तु दर्शनलब्धिप्राप्तेरेवात्रापि केवलदर्शनावरणं सर्वघाति शेषाणि तु देशतः । वेदनीयं द्विधा सातासातभेदात् । मोहनीयं द्विधा दर्शनचारित्रभेदात् तत्र दर्शनमोहनीयं त्रिधा मिथ्यात्वादिभेदात् बन्धतस्त्वेकविधम् । चारित्रमोहनीयं षोडशकषायनवनोकषायभेदात् पञ्चविंशतिविधम् । अत्रापि मिथ्यात्वं संज्वलनवर्ज्यं द्वादशकषायाश्च सर्वघातिन्यः । शेषास्तु देशघातिन्य इति । आयुष्कं चतुर्धा नारकादिभेदात् । नाम द्विचत्वारिंशद्भेदं गत्यादिभेदात् त्रिनवतिभेदं चोत्तरोत्तरप्रकृतिभेदात् । गतिश्चतुर्धा । जातिरेकेन्द्रियादिभेदात्पञ्चधा । शरीरमौदारिकादिभेदात्पञ्चधा औदारिकवैक्रियाहारकभेदादङ्गोपाङ्गं त्रिधा । निर्माणनाम सर्वजीवशरीरावयवनिष्पादकमेकधा । बन्धननाम औदारिककर्म्मवर्गणैकत्वापादकं पञ्चधा । संघातनामौदारिकादिकर्म्मवर्गणारचनाविशेषसंस्थापकं पञ्चधा । संस्थानानि चतुरस्रादि षोढा । संहननं वज्रऋषभनाराचादि षोढैव स्पर्शोऽष्टधा । रसः पञ्चधा । गन्धो द्विधा । वर्णः पञ्चधा । आनुपूर्वी नारकादि चतुर्धा । विहायोगतिः प्रशस्ताप्रशस्तभेदात् द्विधा । अगुरुलघूपघातपराघातातपोद्योतोच्छ्वासप्रत्येकसाधारणत्रसस्थावरशुभाशुभसुभगदुर्भगसुस्वरदुःस्वरसूक्ष्मबादरपर्याप्तकापर्याप्तकस्थिरास्थिरत्वानादेयायशःकीर्त्त्ययशःकीर्तितीर्थकरनामानि प्रत्येकमेकविधानीति । गोत्रमुच्चनीचभेदात् द्विधा । अन्तरायं दानलाभभोगोपभोगवीर्यभेदात्पञ्चधा । आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० ॥

उत्तरपच्चच्छिमिल्ल–उत्तरपश्चिम–पुं० वायव्यकोणे, चं० १ पाहु० ॥

उत्तरपुरच्छिम–उत्तरपौरस्त्य– पुं० ईशानकोणे, जी० १ प्रति० । भ० । रा० । क० । औ० । " तीसे णं मिहिलाए बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए एत्थणं माणिभद्दे णामं चेइए होत्था " सू० प्र० १ पाहु० । चं० प्र० ॥

उत्तरपुरच्छिमा–उत्तरपौरस्त्या–स्त्री० ऐशान्यां दिशि, स्था० १० ठा० ।

उत्तरपोट्ठवया–उत्तरप्रौष्ठपदा– स्त्री० उत्तरभाद्रपदा नक्षत्रे, असमासे " उत्तरा प्रोट्ठवया–उत्तरा प्रौष्ठपदा " सूर्य० ४ पाहु० ॥

उत्तरफग्गुणी–उत्तरफाल्गुनी– स्त्री० फलति–फलनिष्पत्तौ फलेर्गुक् च उणा० उनन् गुक् च गौरा० ङीष्–कर्म० । अभिजिदादिषु एकोनविंशे नक्षत्रे, जं० ७ वक्ष० । वाच० । "उत्तरफग्गुणी णक्खत्ते दुतारे पण्णत्ते" स्था० २ ठा० । उत्तरफाल्गुनीनक्षत्रस्य " अर्यमा देवता " ज्यो० ॥

उत्तरफग्गुणीसणिच्छरसंवच्छर–उत्तरफाल्गुनीशनैश्चरसंवत्सर पुं–शनैश्चरसंवत्सरभेदे, यत्र उत्तरफाल्गुनीनक्षत्रेण सह शनैश्चरो योगमुपयाति । जं० ७ वक्ष० ।

उत्तरवलिस्सह– उत्तरबलिकसह– पुं०—स्थविरमहागिरेः प्रथमे शिष्ये, ततो निर्गते स्वनामख्याते गणे च । " थेरेहिंतो णं उत्तरबलिस्सहेहिंतो तत्थ णं उत्तरबलिस्सहे नामं गणे निग्गए" कल्प० ॥ महावीरस्य नवानां गणानां द्वितीये गणे, "उत्तरबलियस्स य गणो उत्तरबलिस्सहगणेत्ति वा " द्विधा रूपोपलब्धिः अनुवादानुपलम्भान्न तत्त्वनिश्चयः ॥ स्था० ९ ठा०

उत्तरभद्दवया–उत्तरभद्रपदा–स्त्री० अभिजिदादीनां नक्षत्राणां षष्ठ नक्षत्रे, ज्यो० । " उत्तरभद्दवयाणक्खत्ते दुतारे पण्णत्ता " स्था० ९ ठा० । जं० । (उत्तराभाद्रपदनक्षत्राणामभिवृद्धिदेवता विषयः सर्वो णक्खत्तशब्दे वक्ष्यते)

उत्तरभद्दवयासणिच्छरसंवच्छर–उत्तरभद्रपदाशनैश्चरसंवत्सर– पुं० शनिश्चरसंवत्सरभेदे, यत्र संवत्सरे उत्तरभाद्रपदानक्षत्रेण सह शनैश्चरो योगमुपादत्ते ॥ जं० ७ वक्ष० ।

उत्तरमंदा–उत्तरमन्दा–स्त्री० मध्यमग्रामस्य प्रथममूर्छनायाम, स्था० ७ ठा० । गन्धारस्वरान्तर्गतायां सप्तम्यां मूर्छनायाम, जी० ।

उत्तरमंदामुच्छिया–उत्तरमन्दामूर्च्छिता– स्त्री० मूर्च्छनं मूर्च्छा सा संजाता अस्या इति मूर्च्छिता उत्तरमन्दया मूर्च्छिता उत्तरमन्दामूर्च्छिता । उत्तरमन्दाभिधया गन्धारस्वरान्तर्गतया सप्तम्या मूर्छनया मूर्च्छितायां वीणायाम, "से जहा णामए वयालियाए वीणाए उत्तरमंदामुच्छियाए अंके सुपइट्ठियाए" इह गन्धारस्वरान्तर्गतानां च मूर्च्छनानां मध्ये सप्तमी उत्तरमन्दा मूर्च्छना किलातिप्रकर्षप्राप्ता ततस्तदुपादानं तया च मुख्यवृत्त्या वादयिता मूर्च्छितो भवति परमभेदोपचाराद्वीणापि मूर्च्छितेत्युक्ता । जं० १ वक्ष० । जी० ॥

उत्तरमहुरा–उत्तरमथुरा– स्त्री० नगरीभेदे, " तेणं कालेणं तेणं समएणं उत्तरमहुरा णामं णयरी होत्था । तत्थ य धणधन्नणामणिकुणगरयणपडिपुन्नो जउणामरोहो परिवसइ " दर्श० । (व्रजान्तर्गता मथुरा नगर्येवेयमुत्तरमथुरेति संभाव्यते)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्तरवाय–उत्तरवाद–पुं० उत्तरवादे, "आणाए मामगं धम्मं एस उत्तरवादे इह माणवाण, वियाहिते" आचा० १ श्रु०६ अ०१ उ०।

उत्तरवेउव्विय–उत्तरवैक्रिय–त्रि० भवधारणीयापेक्षयाऽन्यस्मिन्, "उत्तरवेउव्वियं रूवं विउव्वइ" रा० । कल्प० ।

उत्तरवि (वे) कुर्विक–त्रि० उत्तरमुत्तरकालभावि न स्वाभाविकमित्यर्थः विकुर्विकं विकुर्वणं विकुर्वणेन निर्वृत्तं वैकुर्विक विशिष्टवस्त्रविशिष्टाभरणसुश्लिष्टतत्परिधानसमार्चानकुङ्कुमाद्युपलेपनजनितमतिमनोहारि रामणीयकं यस्य स तथा । ज्यो० १प्र०२उ०। उत्तरकालभाविवस्त्राभरणादिविचित्राकृतिभविभूषणभाविते, "दट्ठूण णगं काई उत्तरवेउव्वियं मयणखिण्णा " बृ०६ उ० ।

उत्तरवेउव्विया–उत्तरवैकुर्विकी–स्त्री० अपरभवान्तरवैरिमारकप्रतिघातनार्थमुत्तरकाले या विचित्ररूपा वैक्रयिकी अवगाहना सा उत्तरवैकुर्विकी । शरीरावगाहनाभेदे, ॥ जी० १ प्रति० ।

उत्तर (रा) समा–उत्तरसमा–स्त्री० मध्यमग्रामस्य चतुर्थमूर्च्छनायाम, स्था० ७ ठा० ॥

उत्तरसाला–उत्तरशाला–स्त्री० गृहविशेषे, "जत्थ वा कीडापुव्वगच्छंति ण वसंति ते उत्तरसाला गिहा वत्तव्वा । जे वा पच्छा कीरंति ते उत्तरसाला गिहा अच्छा तिगादिमेरूवा उत्तरसाला, हयगयाण वा साला उत्तरसाला, गिहाण इमं वक्खाणं गाहा "मूल गिहसंबद्धा" गिहाय उत्तरा होंति । जत्थ व ण वसंति राया, पच्छा कीरंति जावते" नि० चू० ८ उ० ।

उत्तरा–उत्तरा–स्त्री० नक्षत्रभेदे, तिस्र उत्तराः । उत्तरे फाल्गुन्यौ उत्तराऽऽषाढा । उत्तरा भाद्रपद् "आषाढा उत्तरा चेव" स्था०– २ ठा० ॥ "पुव्वासाढा तहा उत्तरा चेव" अनु०॥ (णक्खत्तशब्दे– वक्तव्यता) मध्यमग्रामस्य तृतीयमूर्च्छनायाम, स्था० ७ ठा० । स्वनामख्याते दिग्भेदे, स्था० १० ठा० ॥ रुचकपर्वतेऽष्टानां दिकुमारीणां षष्ठ्यां दिकुमार्याम्, स्था०८ ठा०॥ अहिच्छत्रास्थ वापीरूपे तीर्थभेदे, " ससिकराणिम्मलसलिलपडिपुण्णा उत्तराभिहाणा वावि तत्थ मज्जणे कए तवकुं माईआले वेण कुट्ठीणं कुट्ठरोगोवसमो हवइ' ती० ॥ दिगम्बरमतप्रवर्तकस्य शिवभूतेर्भगिन्याम,विशे०।आ०म०द्वि०। तस्य वक्तव्यता बोडियशब्दे वक्ष्यते।

उत्तरात्–अव्य० उत्तरादिग्देशकालविषये, । उत्तरमुत्तरस्मादुत्तरस्मिन्नित्यर्थे, वाच० ।

उत्तराणंदा–उत्तरानन्दा–स्त्री० ऊर्ध्वलोकवास्तव्यानां दिकुमारीणां द्वितीयदिकुमार्याम्, आ०क० ।

उत्तरापह–उत्तरापथ–पुं० उत्तरा उत्तरस्यां पन्था अच् समा० उत्तरस्यां दिशि स्थिते पथि, देशभेदे च । उत्तरपथजन्मानः कीर्तयिष्यामि तानपि । कौलकाम्बोजगान्धारा–किरातान्बर्बरैः सह । वाच० । "पूर्वदिसातो उत्तरापहं गतो " आ० म० द्वि० । " जहा उत्तरापह पच्छा दसु तरुणं तणं उट्ठेइ " आव० ६अ० । " उत्तरापहे टंकणा णाम मेच्छा । आ० चू० २ अ० । आ०म०प्र०

उत्तरायण–उत्तरायन–न० उत्तरा उत्तरस्यामयनं सूर्यादेः (पूर्वपदात्संज्ञायाम्) पा० सूत्रेण णत्वम् । वाच० । सूर्यादेरुत्तरदिग्गमने, स्था० ३ ठा० । उत्तरं च तदयनम् । षण्मासात्मके सूर्यस्य सर्वाभ्यन्तरमण्डलप्रवेशसमये, (तस्य सकरणवक्तव्यता अयणशब्दे उक्ता) ।

उत्तरायणगय– उत्तरायणगत– पुं० सर्वाभ्यन्तरमण्डलप्रविष्टे कर्कसंक्रान्तिदिने, स० ॥

उत्तरायणणियट्ट–उत्तरायननिवृत्त–पुं० उत्तरायणादुत्तरदिग्गमनान्निवृत्तः । प्रारब्धदक्षिणायने, "उत्तरायण णियट्टेणं सूरिए " स्था० ३ ठा० । स० ॥

उत्तरासंग–उत्तरासङ्ग–पुं० उत्तरीयस्य देहे न्यासविशेषे, भ० २ श० ५ उ० " एगसाडियं उत्तरासंगं करेइ " आ० म० प्र० ।

उत्तरासंगकरण–उत्तरासङ्गकरण– न० उत्तरीयस्य न्यासविशेषे, "एगसाडियणं उत्तरासंगकरणेणं एकत्तीकरणेणं" ज्ञा०१श्र०।

उत्तरासाढा–उत्तराषाढा–स्त्री क० स० अश्विन्यादिनक्षत्रेषु एकविंशे नक्षत्रे, वाच० । अभिजिदादिषु अष्टाविंशे च नक्षत्रे, जं० ७ वक्ष० । " उत्तरासाढाणक्खत्ते चउ तारे " पं०सं० । स्था० । उत्तराषाढानक्षत्रस्य विश्वकृद्देवता । ज्यो०(णक्खत्तशब्देऽन्यत्)

उत्तरासाढासणिच्छरसंवच्छर–उत्तराषाढाशनैश्वरसंवत्सर– पुं० शनैश्वरसंवत्सरभेदे, यत्र उत्तराषाढानक्षत्रेण सह शनैश्वरो योगमुपादत्ते जं० ७ वक्ष० ॥

उत्ताहुत्त–उत्तराहूत– त्रि० उत्तराभिमुखे, " थोवावसेसियाए सज्झाए ठाइ उत्तराहुत्तो" आव० ४ अ० ।

उत्तरिज्ज– (रि अ) उत्तरीय–न० उत्तरस्मिन् देहभागे भवः । गहादित्वात् छः" वोत्तरिया नीय तीय कृद्येज्जः " ८ । १ । ४८ । इत्युत्तरीय शब्दे ईयनागस्य द्विरुक्तो जो वा । उत्तरिज्जं उत्तरीअं । प्रा० ॥ उपरिकायाच्छादनवस्त्रे, ज्ञा० १ अ० । प्रश्न० । उत्तरासङ्गे, कल्प० । ज्ञा० । "उत्तरिज्जयं विकड्ढमाणी" उपा० । ८ अ० । शय्याया उपर्याच्छादके प्रच्छदे, " उत्तरिज्जं णाम– पाउरणं अहवा सेज्जाए उवरितं प्रच्छदादि " नि० चू०१५उ०।

उत्तरित्तए–उत्तरीतुम्–अव्य० उद्० तृ० तुमुन् । बाहुजङ्घादिना नद्यादिकं अङ्घयितुं सद्य वा लङ्घयितुमित्यर्थे, "दुक्खुत्तो तिक्खुत्तो वा उत्तरित्तए वा संतरित्तए वा" बृ०४ उ० ।

उत्तरिय–औत्तरिक–त्रि० उत्तरःप्रधानः स एवौत्तरिकः । प्रधाने, स्था० १० ठा० ।

उत्तरिल्ल–औत्तराह–त्रि० उत्तरस्मिन् कालादौ भवः उत्तरादाहञ्. पा० उत्तर आहञ् । उत्तरकालादौ भवे, वाच० । " उज्जुवालियाए नइए तीरे उत्तरिल्ले कूले " आ० म० द्वि० ॥ "उत्तरिल्लाणं असुरकुमाराणं उत्तरिल्लाणं णागकुमाराणं "प्रज्ञा० २पद ।

उत्तरीकरण–उत्तरीकरण–न० अनुत्तरस्योत्तरस्य पुनः संस्कारद्वारेणोपरि करणमुत्तरीकरणम् । ध० २ अधि० । अनुत्तरमुत्तरं क्रियते इति उत्तरीकरणम् कृतिः कारणमिति, आव०५ अ० । यस्यातिचारस्य पूर्वमालोचनादिकृतं तस्यैव पुनः सिद्धये कायोत्सर्गस्य करणे"इच्छामि ठाउं काउस्सग्गं जो मे देवसिओ तस्सुत्तरीकरणेणं पायच्छित्तकरणेणं " ध०२ अधि० (उत्तरकरणशब्दे प्रपञ्चतो व्याख्यातम)

उत्त(रु)रुट्ठ–उत्तरो(रौ)ष्ठ–पुं० उत्तर उपरितन ओष्ठो वा वृद्धिः । श्मश्रूणि,भमुहा अहरुट्ठा, उत्तरुट्ठा अह पुण एवं जाणिज्जा कल्प०

उत्ताड (ल) ण– उत्ताडन–न० उद् तड् णिच्० ल्युट्० आलिङ्गकुतुम्बगोमुखीमर्दलानां वादने, रा० ।

उत्ताडि (लि) ज्जंत–उत्ताड्यमान–त्रि० वाद्यमाने, आलिङ्गकुतुम्बगोमुखीमर्दले, । उत्ताडिज्जंताणं ददरियाणं कुरुवाणं कालिसियाणं मरियाणं उत्तालिज्जंताणं आलिंगणइ कुतुंबीणं गोमुहीणं मद्दलाणं । रा० ।

उत्ताण–उत्तान– त्रि० उद्गतस्तानो विस्तारो यस्य अभिग्रह विशेषादूर्ध्वमुखशयिते, पंचा० १८ विव० । ध० । ऊर्ध्वमुखे च

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वाच० । तादृशे उदके, पुरुषजाते च । स्था० ४ ठा० (पुरुसजायश ब्दे उत्तानसूत्रे प्रकटीभविष्यति)

उत्ताणग-उत्तानक-पुं० उत्तान एव उत्तानकः । पृष्ठतोऽर्वाचनतादौ, आ० म० द्वि० । उच्चयवृक्षे, वाच० । "जीवेणं भंते गब्भगए समाणे उत्ताणए वा पासल्लए वा " भ० १ श० ७ उ० ॥

उत्ताणणयणपेच्छणिज्ज-उत्ताननयनप्रेक्षणीय- त्रि० उत्तानैर्नयनैः प्रेक्षणीयम् । सौभाग्यातिशयादनिमिषैर्लोचनैः प्रेक्षणीये, ज्ञा० १ अ० । नि० । उत्ताणणयणपेच्छणिज्जा पासादीया दरसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा, औ० ॥

उत्ताणत्थ-उत्तानार्थ- त्रि० ६ ब० प्रगटार्थे, सूत्रादर्शेषु टीकायां तु इष्ट इति कृत्वा लिखित उत्तानार्थश्च । सूत्र० १ श्रु० ७ अ०

उत्ताणहत्थ-उत्तानहस्त- त्रि० प्रतिगृहीतुमूर्ध्वमुखहस्ते, "किवणो विव उत्ताणहत्थाओ" स्त्रियः कृपणवत्सर्वेभ्यो मातापितृबन्धुकुटुम्बादिभ्यो विवाहाद्यावादानहेतुत्वात्, तं० ॥

उत्ताणिय-उत्तानिक-पुं० अभिग्रहविशेषात् उत्तानशायिनि, दशा.

उत्तार-उत्तार- पुं० उद्- तृ- णिच्- अच्- "उत्तरणे, अणुसोओ संसारो, पडिसोओ तस्स उत्तारो" दश० २ अ० । उद्गमने, उल्लङ्घने, पारगमने च । उच्चैस्तारः प्रा० स० अत्यन्तोच्चशब्दादौ, त्रि० । वाच० ॥

उत्तारिय-उत्तार्य-त्रि० उद्. तृ. णिच्. कर्मणि यत् उद्गमनीये, ल्यप् उद्गमनं कृत्वेत्यर्थे, अव्य० उद्-तृ-कर्मणि ण्यत् उद्गमनीये, त्रि-वाच०

उत्तारित- त्रि० अवरोहिते, "देवाहिदेवस्स पडिमा कायव्वावीयभए उत्तारिया " आ० म० द्वि० ॥

उत्तारेमाण-उत्तारयत्- त्रि० अवरोहिते, स्था० ५ ठा० ॥

उत्ताल-उत्ताल-त्रि० उद् तूरा० तल प्रतिष्ठायाम्, अच्-प्रतिष्ठिते, महति, । वाच० । तालस्तु कंसिकादिशब्दविशेषः उत्प्राबल्येन अतीतमस्थानतालं वा उत्तालम् । गेयदोषभेदे, " गायंतो मा पगाहि उत्तालं " स्था० ७ ठा० अनु० । जी० । जं० ॥

उत्तासइत्ता-(तृ) उत्त्रासयिता-(तृ)-त्रि० लोष्टप्रक्षेपादिभिः उत्त्रासकारके, "से हंता छेत्ता भेत्ता लुंपित्ता उत्तासइत्ता अकडं करिस्सामि" आचा० २ श्रु० २ अ० १ उ० ।

उत्तासणय-उत्त्रासनक-त्रि० त्रसी उद्वेगे इतिवचनात् । उत्त्रास्यतेऽनेनेति उत्त्रासनः उत्त्रासन एव उत्त्रासनकः । स्मरणेनाप्युद्वेगजनके, भ० ३ श० २ उ० । भयंकरे, ज्ञा० ८ अ० । प्रश्न० । उत्त्रासकारिणि, ज्ञा० ५ अ० । "भीमा उत्तासणा परमकण्हावण्णेणं पण्णत्ता" । प्रज्ञा० २ पद० ।

उत्तासणिज्ज-उत्त्रासनीय- त्रि० महाभयंकरे, ।" नरओविव उत्तासणिज्जाओ" स्त्रियः नरकवत् उत्त्रासनीयाः कुप्रकर्मकारित्वात् महाभयंकराः सक्कणा साध्वी जीवचैश्यादासीघातिका कुलपुत्रभार्यावत् । तं० ॥

उत्तासिय-उत्त्रासित- त्रि० अपद्राविते, आव० ४ अ० ॥

उत्ति-उक्ति- स्त्री० वच्- क्तिन्- संप्र० शब्दशक्तौ, एकयोक्त्या पुष्पदन्तौ दिवाकरनिशाकरौ, वाच० । वाचि, अनु० । विशे० । भणितौ, " गंभीराहरणेहिं उत्तीहि य भावसाराहिं" पंचा० ९ विव० ॥

उत्तिंग-उत्तिङ्ग-पुं० भूम्यां वृत्तविवरकारिणि गर्दभाकारे जीवे, ध० २ अधि० । " उत्तिंगो पणगहो " नि० चू० १३ उ० ॥ " उत्तिंगा भूअका गर्दभाकृतयो जीवाः" कल्प० । आव० । पिपीलिकासंतानके, दशा० ३ अ० । आचा० । कीटिकानगरे, सू० ४ उ० । तृणाग्रे उदकबिन्दौ, आचा० २ श्रु० १ अ० १ उ० । सर्पच्छत्रादौ, च ," गहणे सुमचिट्ठिज्जा बीएसु हरिएसु वा । उदगम्मि तहा निच्चं उत्तिंगपणगेसु वा" दश० ८ अ० । छिद्रे, न० न० । नि० चू० १८ उ० । "णावाए उत्तिंगं हत्थेण वा पाएण सणेवा, उत्तिङ्गं रन्ध्रम्, आचा० २ श्रु० अ० उ० ॥

उत्तिंगलेण-उत्तिङ्गलयन- न० उत्तिङ्गानां लयनं भूमौ उत्कीर्णे गृहमुत्तिङ्गलयनम् । लयनसूक्ष्मभेदे, । कल्प० ॥

उत्तिण्ण-उत्तीर्ण-त्रि० उद् तृ-कर्तरि क्त-निवृत्ते, अष्ट० । पारंगते कर्मणि क्तः कृतोत्तरणे नद्यादौ, वाच० ।

उत्तिम-उत्तम-त्रि० उद् तमप् "इः स्वप्नादौ" ८ । १ ४६ । इत्यादेरस्य इत्वम् । उत्कृष्टे, प्रा० । वाच० । आर्षे उत्तम इत्येव बाहुल्येनोपलभ्यते इति तथैव उत्तमप्रकरणे दर्शितम् ।

उत्तिमट्ठ-उत्तमार्थ-पुं० अनशने, नि० चू० १ उ० ।

उत्तिमट्ठपडिवण्ण-उत्तमार्थप्रतिपन्न-पुं० स्त्री० अनशनप्रतिपन्ने, नि० चू० १ उ० ।

उत्तेइय-उत्तेजित-त्रि० उद्. तेज्-णिच्. क्त. । अधिकं दीपिते, दश० ३ अ० । उत्कृष्टतो जनानीते "संयमास्त्रं विवेकेन शाणेनोत्तेजितं मुनेः" । अष्ट० । प्रेरिते, भावे. क्त. प्रेरणायाम्, उद्दीपने च । न० अश्वगतिभेदे, न० वाच० ।

उत्तेम-उत्तेम-पुं० बिन्दौ, "उत्तेमा वत्थुयायनं समत्ति" ॥ पिं०

उत्थ-उक्थ-न० वच्. थक्. । अप्रगीतमन्त्रसाध्ये स्तोत्रे चतुर्विंशस्तोत्रभेदे, उपचारात् तत्साध्ये उक्थयागे च । वाच० । विशे० ॥

उत्थंघ-रुध्-धा० आवरणे, रु० उभ० द्वि० अनिट् । रुधेरुत्थंघ इत्यादेशो वा भवति । उत्थंघइ रुंधइ । प्रा० । रुणद्धि रुन्धे अरित् अरुधत् अरौत्सीत् वाच० ॥

उद्-क्षिप्-धा० तु० ऊर्ध्वक्षेपे, उत्थंघइ उक्खिवइ उत्क्षिपति । प्रा० ॥

उत्थरमाण-उत्तरत्-त्रि० अभिभवति, "उत्थरमाणे सव्वं महालओ पुव्वमेहणिग्घोसो" आव० ४ अ० ।

उत्थल्ल-उत्स्थल-न० उत् उन्नतानि स्थलानि धूल्युच्छ्रयरूपाणि उत्स्थलानि धूलिपुञ्जेषु, भ० ७ श० ६ उ० ।

उत्थिय-अवस्तृत-त्रि० आच्छादिते, "सुहपुप्फ चत्तचउसं तु गोत्थिया होति कसेसु " पंचा० ८ विव० ।

उत्थुभण-अवस्तोभन-न० अनिष्टोपशान्तये, निष्ठीवनेन थुथुकरणे, एतच्च कौतुकभेदत्वेन साधुभिर्वर्ज्यम् बृ० १ उ० । पं० व० ।

उदउल्ल-उदकार्द्र-त्रि० ३ त० । गलदुदकबिन्दुयुक्ते, दश० ५ अ० । "उदउल्लं बीयसंसत्तं" दश० ६ अ० । "उदउल्लं अप्पणो कायं नेव पुंछे ण संलिहे" दश० ८ अ० । "उदउल्लं वा कायं उदउल्लं वा वत्थं ससणिद्धं वा कायं ससणिद्धं वा वत्थं न मुसेज्जा न संफुसेज्जा " । दश० । ४ अ० (अह पुण एवं जाणेज्जा णो पुरेकम्मकरेणं हत्थेण वा असणं वा ४ अफासुयं अणेसणिज्जं जाव णो पडिगाहिज्जा इत्यादि पुरे कम्मशब्दे वक्ष्यते) आचा० २ श्रु० १ अ० ५ उ । उदकार्द्रं पुनर्यद्बिन्दुसहितं भाजनादि गलद्बिन्दुरित्यर्थः । ओ० । नि० चू० । उदगउल्लेत्यपि रूपं क्वचिद् दृश्यते ॥ कल्प० ॥

उदउल्लाहड-उदकार्द्राहृत- त्रि० उदकार्द्रेण हस्तेन पुरःकर्मसंस्पर्शेनानीते पिण्डे, " सागारिय पिंडुद्देसिय उदउल्लाहडे

चाउम्मासियं सागारियं पिंडुद्देसियं उदउल्लाइमं' नि०चू०२०उ०।

उदओदर–उदकोदर–न० जलोदररोगे, जं० २ वक्ष०।

उदंक-उदङ्क–पुं० उद्यतो येनोदकमुदच्यते तस्मिन्, जं०२ वक्ष०। जी.

उदंच–उदञ्च–त्रि० उद् अञ्च् क्विन्–उदकशब्दार्थे, प्रथमान्तार्थे, दिग्देशादौ, वाच०।

उदंचण–उदञ्चन–न० उद् अञ्च् णिच् करणे ल्युट्। पिधानार्थे पात्रे, (ढक्कन) भावे ल्युट्। ऊर्ध्वक्षेपणे, कर्तरि ल्युट्। उत्क्षेपके, त्रि० वाच०। अनु०।

उदंत–उदन्त–पुं० उद्गतोऽन्तो निर्णयो यस्मात्। वार्तायाम्, । ज्ञा० ८ अ० " गोसे मे वहेज्जह उदंतं" व्य० द्वि० ४ उ०। आ० म० प्र०। साधौ, स्वार्थे कन्। तत्रैव उद्गतोऽन्तो ऽस्य पाकवशात् प्रा० ब० गतलोपः। पाकवशात् प्राप्तान्ते, वाच० ॥

उदंतवाहय–उदन्तवाहक–त्रि० वार्ताहरे, वाच०।

उदक्क–उदर्क–पुं० उद् अर्क–अच् वा घञ् उत्तरकाले, भाविफलके शुभाशुभकर्मणि, वाच०। उदये, " केषांचिद्विषयज्वरातुरमहो चित्तं परेषां विषा–वेगोदर्ककुतर्कमूर्च्छितमथान्येषां तु वैराग्यतः " अष्ट०।

उदग (य) उदक–नं० उन्द् एवुल्. नि. नलोपश्च। जले, (चत्तारि उदगा पण्णत्ता उत्ताणे णाममेगे उत्ताणोदए इत्यादि पुरिसजायशब्दे उत्तानसूत्रावसरे व्याख्यास्यते)(चत्तारि उदगा पण्णत्ता तं जहा कद्दमोदए खंजणोदए वालुओदए सेलोदए इति सदृशान्तो भावशब्दे) उदगं च दुविहं वासु दगं च। नि०चू०१०उ०। तं०। सिरापानीये, दश०४अ०। "जलं उदएण मट्टियाएण य" औ०। "लिहिं उदगेहिं मज्जावेत्ता" त्रिभिरुदकैर्गन्धोदकोष्णोदकशीतोदकैर्माजयित्वा (स्था० ३ ठा०) उदकात्सिद्धिरिति वादिनः।

एगे य सीओदगसेवणेण, हुएण एके पवयंति मोक्खं ॥

तथैके वारिभद्रकादयो भागवतविशेषाः शीतोदकसेवनेन सचित्ताप्कायपरिभोगेन मोक्षं प्रवदन्ति। उपपत्तिं च ते अभिदधति यथोदकं बाह्यमलमपनयति एवमान्तरमपि तस्मादेव यथोदकाच्छुद्धिरुपजायते एवं बाह्यशुद्धिसामर्थ्यदर्शनादान्तरापि शुद्धिरुदकादेवेति मन्यन्ते।

एतेषामुत्तरं यथा ॥

उदगेण ये सिद्धिमुदाहरंति, सायं च पायं उदगं फुसंता।
उदगस्स फासेण सिया य सिद्धि, सिज्झंसु पाणा बहवे दगंसि

तथा ये केचन मूढा उदकेन शीतवारिणा सिद्धिं परलोकमुदाहरन्ति प्रतिपादयन्ति सायमपराह्णे विकाले वा प्रातश्च प्रत्यूषसि च आद्यन्तग्रहणात् मध्याह्ने च तदेवं संध्यात्रयेऽप्युदकं स्पृशन्तः स्नानादिकाः क्रिया जलेन कुर्वन्तः प्राणिनो विशिष्टां गतिमाप्नुवन्तीति केचनोदाहरन्ति। एतच्चासम्यक्। यतो यद्युदकस्पर्शमात्रेण सिद्धिः स्यात् तत उदकसमाश्रिता मत्स्यबन्धादयः क्रूरकर्माणो निरनुक्रोशा बहवः प्राणिनः सिद्ध्येयुरिति। यदपि तैरुच्यते। बाह्यमलापनयनसामर्थ्यमुदकस्य दृष्टमिति तदपि विचार्यमाणं न घटते। यतो यथोदकमनिष्टमलमपनयत्येवमभिमतमप्यङ्गरागं कुङ्कुमादिकमपनयति। ततश्च पुण्यस्यापनयनादिष्टविघातकृद्विरुद्धः स्यात्। किंच यतीनां ब्रह्मचारिणामुदकस्नानं दोषायैव। तथाचोक्तम्। "स्नानं मददर्पकरं, कामाङ्गं प्रथमं स्मृतम्। तस्मात्कामं परित्यज्य, न ते स्नान्ति दमेरताः ॥ अपि च। नोदकक्लिन्नगात्रो हि, स्नात इत्यभिधीयते। स स्नातो यो व्रतस्नातः, स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः॥१४॥

मच्छा य कुम्मा य सिरीसिवा य, मग्गू य उट्टा दगरक्खसा य।
अट्टाणमेयं कुसला वयंति, उदगेण जे सिद्धिमुदाहरंति।१५।

किञ्च यदि जलसंपर्कात्सिद्धिः स्यात्ततो ये सततमुदकावगाहिनो मत्स्याश्च कूर्माश्च सरीसृपाश्च तथा मद्गवस्तथोष्ट्रा जलचरविशेषास्तथोदकराक्षसा जलमानुषाकृतयो जलचरविशेषा एते प्रथमं सिद्ध्येयुर्न चैतद्दृष्टमिष्टम् ततश्च ये उदकेन सिद्धिमुदाहरन्त्येतदस्थानमयुक्तमसांप्रतं कुशला निपुणा मोक्षमार्गाभिज्ञा वदन्ति।१५।

किञ्चान्यत्।

उदयं जइ कम्ममलं हरेज्जा, एवं सुहं इच्छामित्तमेवं ॥
अंधंव णेयारमणुस्सरित्ता, पाणाणि चेवं विणिहंति मंदा।१६।

यद्युदकं कर्ममलमपहरेदेवं शुभमपि पुण्यमपहरेत्। अथ पुण्यं नापहरेदेवं कर्ममलमपि नापहरेत्। अत इच्छामात्रमेवैतद्यदुच्यते जलं कर्मापरिहारीति। एवमपि व्यवस्थिते ये स्नानादिकाः क्रियाः स्मार्तमार्गमनुसरन्तः कुर्वन्ति ते यथा जात्यन्धा अपरं जात्यन्धमेव नेतारमनुसृत्य गच्छन्तः कुपथश्रुतयो भवन्ति नाभिमतं स्थानमवाप्नुवन्ति। एवं स्मार्तमार्गानुसारिणो जलशौचपरायणा मन्दा अज्ञाः कर्तव्याकर्तव्यविवेकविकलाः प्राणिन एव तन्मयान् तदाश्रितांश्च पूतरकादीन् विनिघ्नन्ति व्यापादयन्ति अवश्यं जलक्रियया प्राणव्यपरोपणस्य संभवादिति ॥ १६ ॥

अपि च

पावाइँ कम्माइँ पकुव्वतोहिं, सिओदगं तू जइ तं हरिज्जा।
सिज्झंसु एगे दगसत्तघाति, मुसं वयंते जलसिद्धिमाहु।१७।

पापानि पापोपादानभूतानि कर्माणि प्राण्युपमर्दकारीणि कुर्वतोऽसुमतो यत्कर्मोपचीयते तत्कर्म यद्युदकमपहरेत्। यद्येवं स्यात् तर्हि यस्मादर्थे यस्मात्प्राण्युपमर्दकर्मोपादीयते जलावगाहनाच्चापगच्छति तस्मादुदकसत्त्वघातिनः पापकृद्विष्ठा अप्येवं सिद्ध्येयुः। न चैतद्दृष्टमिष्टं वा। जलावगाहनात्सिद्धिमाहुस्ते मृषा वदन्ति ॥

किंचाऽन्यत् ॥

आहंसु महापुरिसा, पुव्विं तत्ततवोधणा।
उदएण सिद्धिमावन्ना, तत्थ मंदो विसीयति ॥१॥

केचन अविदितपरमार्था आहुरुक्तवन्तः। किं तदित्याह। यथा महापुरुषाः प्रधानपुरुषा वल्कलचीरितारागणर्षिप्रभृतयः। पूर्वं पूर्वस्मिन् काले तप्तमनुष्ठितं तप एव धनं येषां ते तप्ततपोधनाः पञ्चाग्न्यादितपोविशेषेण निष्टप्तदेहास्त एवंभूताः शीतोदकपरिभोगेन उपलक्षणार्थत्वात् कन्दमूलफलाद्युपभोगेन च सिद्धिमापन्नाः सिद्धिं गतास्तत्रैवंभूतार्थसमाकर्णने तदर्थसद्भावावेशात् मन्दोऽज्ञः स्नानादित्याजितः प्रासुकोदकपरिभोगभग्नः संयमानुष्ठाने प्रविषीदति। यदि वा तत्रैव शीतोदकपरिभोगे विषीदति लगति निमज्जतीति यावत्। नचासौ वराक एवमवधारयति यथा तेषां तापसादिव्रतानुष्ठायिनां कुतश्चिज्जातिस्मरणादिप्रत्ययादाविर्भूतसम्यग्दर्शनानां मौनीन्द्रभावसंयमप्रतिपत्त्या अपगतज्ञानावरणादिकर्मणां भरतादीनामिव मोक्षावाप्तिर्न तु शीतोदकपरिभोगादिति ॥ १ ॥ किंचान्यत् ॥

अभुंजिया नमि विदेही, रामगुत्ते य भुंजिया ॥
बाहुए उदगं भोच्चा, तहा तारा गणे रिसी ॥ २ ॥

केचन कुतीर्थिकाः साधुप्रतारणार्थमेवमूचुः। यदि वा स्वयूथ्याः शीतलविहारिण एतद्वक्ष्यमाणमुक्तवन्तस्तद्यथा नमी राजा विदेहो नाम जनपदस्तत्र भवा वैदेहास्तन्निवासिनो लोकास्तेऽस्य

सन्तीति वैदेही । स एवंभूतो नमी राजा अशनादिकमभुक्त्वा सिद्धिमुपगतस्तथा रामगुप्तश्च राजर्षिराहारादिकं भुक्त्वैव भुञ्जान एव सिद्धिं प्राप्त इति ॥ तथा बाहुकः शीतोदकादिपरिभोगं कृत्वा तथा नारायणो नाम महर्षिः परिणतोदकादिपरिभोगात्सिद्ध इति ॥ २ ॥ अपिच—

असिले देवले चेव, दीवायणमहारिसी ।
पारासरे दगंभोच्चा, बीयाणि हरियाणि य ॥ ३ ॥
एते पुव्वं महापुरिसा, आहिता इह संमता ।
भोच्चा बीओदगं सिद्धा, इति मेयमणुस्सुअं ॥ ४ ॥

असितो नाम महर्षिर्देवलो द्वैपायनश्च तथा पराशराख्य इत्येवमादयः शीतोदकबीजहरितादिपरिभोगादेव सिद्धा इति श्रूयते ॥ ३ ॥ एतदेव दर्शयितुमाह । (एते इत्यादि) एते पूर्वोक्ता नम्यादयो महर्षयः (पूर्वमिति) पूर्वस्मिन्काले त्रेताद्वापरादौ महापुरुषा इति प्रधानपुरुषा आसमन्तात् ख्याताः प्रख्याता राजर्षित्वेन प्रसिद्धिमुपगताः इहाप्यार्हतप्रवचने ऋषिभाषितादौ केचन संमता अभिप्रेता इत्येवं कुतीर्थिकाः स्वयूथ्या वा प्रोचुस्तद्यथा एते सर्वेऽपि बीजोदकादिकं भुक्त्वा सिद्धा इत्येतन्मया भारतादौ पुराणे श्रुतम् ॥ ४ ॥

एतदुपसंहारद्वारेण परिहरन्नाह ॥

तत्थ मंदा विसीयंति, वाहच्छिन्नाव गद्दभा ।
पिट्ठतो परिसप्पंति, पिट्ठसप्पी व संभमे ॥ ५ ॥
इहमेगे उ भासंति, सातं सातेण विज्जती ।
जे तत्थ आरिअं मग्गं, परमं च समाहिए ॥ ६ ॥

(तत्थेत्यादि) तत्र तस्मिन् कुश्रुत्युपसर्गोदये मन्दा अज्ञा नानाविधोपसाध्यां सिद्धिगमनमवधार्य विषीदन्ति संयमानुष्ठानेन पुनरेतद्वदन्त्यज्ञाः । तद्यथा येषां सिद्धिगमनमभूत् तेषां कुतश्चिन्निमित्तात् जातजातिस्मरणादिप्रत्ययानामवाप्तसम्यग्ज्ञानचारित्राणामेव वल्कलचीरिप्रभृतीनामिव सिद्धिगमनमभूत् न पुनः कदाचिदपि सर्वविरतिपरिणामभावलिङ्गमन्तरेण शीतोदकबीजाद्युपभोगेन जीवोपमर्दप्रायेण कर्मक्षयोऽवाप्यते । विषीदने दृष्टान्तमाह । वहनं वाहो भारोद्वहनं तेन छिन्नाः कर्षितास्त्रुटिता रासभा इव विषीदन्ति । यथा रासभा गमनपथ एव प्रोज्झितभारा निपतन्ति एवं ते प्रोज्झ्य संयमभारं शीतलविहारिणो भवन्ति । दृष्टान्तान्तरमाह । यथा पृष्ठसर्पिणो भग्नगतयोऽग्न्यादिसंभ्रमे सत्युद्भ्रान्तनयनाः समाकुलाः प्रनष्टजनस्य पृष्ठतः पश्चात्परिसर्पन्ति नाग्रगामिनो भवन्त्यपि तु तत्रैवाग्न्यादिसंभ्रमे विनश्यन्त्येवं तेऽपि शीतलविहारिणो मोक्षं प्रति प्रवृत्ता अपि तु न मोक्षगतयो भवन्त्यपि तु तस्मिन्नेव संसारे अनन्तमपि कालं यावदासत इति ॥ ५ ॥ मतान्तरं निराकर्तुं पूर्वपक्षयितुमाह (इहमेगे इत्यादि) इहेति मोक्षगमनप्रस्तावे एके शाक्यादयः स्वयूथ्या वा लोचादिनोपतप्ताः । तुशब्दः पूर्वस्मात् शीतोदकपरिभोगाद्विशेषमाह । भाषन्ते ब्रुवते । मन्यन्ते च इति क्वचित्पाठः । किं तदित्याह सातं सुखं सातेन सुखेनैव विद्यते भवतीति । तथाच वक्तारो भवन्ति । "सर्वाणि सत्वानि सुखे रतानि, सर्वाणि दुःखाच्च समुद्विजन्ति । तस्मात्सुखार्थी सुखमेव दद्यात्, सुखप्रदाता लभते सुखानि" ॥ १ ॥ युक्तिरप्येवमेव स्थिता । यतः कारणानुरूपं कार्यमुत्पद्यते । तद्यथा शालिबीजाच्छाल्यङ्कुरो जायते न यवाङ्कुर इत्येवं प्रीत्यात्मसुखान्मुक्तिसुखमुपजायते ननु लोचादिरूपात् दुःखादिति । तथा ह्यागमेऽप्येवमेव व्यवस्थितम् ॥ मणुन्नं भोयणं भोच्चा, मणुन्नं सयणासणं । मणुन्नंसि अगारंसि, मणुन्नं झायए मुणी ॥ १ ॥ तथा मृद्वी शय्या प्रातरुत्थाय पेया, भुक्तं मध्ये पानकं चापराह्ने । द्राक्षाखण्डं शर्करा चार्धरात्रे, मोक्षश्चान्ते शाक्यपुत्रेण दृष्टः ॥ १ ॥ इत्यतो मनोज्ञाहारविहारादेश्चित्तस्वास्थ्यं ततः समाधिरुत्पद्यते समाधेश्च मुक्त्यवाप्तिरतः स्थितमेतत्सुखेनैव सुखावाप्तिर्न पुनः कदाचनापि लोचादिना कायक्लेशेन सुखावाप्तिरिति स्थितम् इत्येवं व्यामूढमतयो ये केचन शाक्यादयस्तत्र तस्मिन्मोक्षमार्गप्रस्तावे समुपस्थिते आराज्जातः सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यार्यो मार्गो जैनेन्द्रशासनप्रतिपादितो मोक्षमार्गस्तं ये परिहरन्ति । तथाच । परमं च समाधिज्ञानदर्शनचारित्रात्मकं ये त्यजन्ति तेऽज्ञाः संसारान्तर्वर्तिनः सदा भवन्ति । तथाहि । यत्तैरभिहितं कारणानुरूपं कार्यमिति तन्नायमेकान्तो यतः शृङ्गाच्छरो जायते गोमयाद्वृश्चिको गोलोमाविलोमादिभ्यो दूर्वेति । यदपि मनोज्ञाहारादिकमुपन्यस्तं सुखकारणत्वेन तदपि विसूचिकादिसम्भवाद्व्यभिचारीति । अपिचेदं वैषयिकं सुखं दुःखप्रकारहेतुत्वात् सुखाभासतया सुखमेव न भवति । तदुक्तम् । दुःखात्मकेषु विषयेषु सुखाभिमानः, सौख्यात्मकेषु नियमादिषु दुःखबुद्धिः । उत्कीर्णवर्णपदपंक्तिरिवान्यरूपा, सारूप्यमेति विपरीतगतिप्रयोगात् ॥ १ ॥ इति कुतस्तत्परमानन्दरूपस्यात्यन्तिकैकान्तिकस्य मोक्षसुखस्य कारणं भवति यदपि लोचभूशयनभिक्षाटनपरपरिभवक्षुत्पिपासादंशमशकादिकं दुःखकारणत्वेन भवतोपन्यस्तं तदप्यल्पसत्वानामपरमार्थदृशां महापुरुषाणां तु स्वार्थाभ्युपगमप्रवृत्तानां परमार्थचिन्तकानां महासत्वतया सर्वमेवैतत्सुखायैवेति । तथा चोक्तम् । तणसंथारनिविण्णो वि, मुनिवरो भट्ठरागमयमोहो ॥ जं पावइ मुत्तिसुहं, कत्तो तं चक्कवट्टी वि ॥ १ ॥ तथा । सख्यं दुष्कृतसंक्षया च महतां क्षान्तं पदं वैरिणः, कायस्याशुचिता विरागपदवी संवेगहेतुर्जरा ॥ सर्वत्यागमहोत्सवाय मरणं जातिः सुहृत्प्रीतये, संपद्भिः परिपूरितं जगदिदं स्थानं विपत्तेः कुत इति ॥ १ ॥ अपिचैकान्तेन सुखेनैव सुखेऽभ्युपगम्यमाने विचित्रसंसाराभावः स्यात्तथा स्वर्गस्थानां नित्यसुखिनां पुनरपि सुखानुभूतैस्तत्रैवोत्पत्तिः स्यात्तथा नारकाणां च पुनर्दुःखानुभवात्तत्रैवोत्पत्तेर्न नानागत्या विचित्रता संसारस्य स्यान्नचैतत् दृष्टमिष्टं चेति ॥६॥ सूत्र० १ श्रु० ३ अ० (उदकस्य विषयान्तराणि आउक्काय शब्दे उक्तानि) भविष्यति सप्तमे तीर्थकरे, स० । वनस्पतिविशेषे, यथोक्तम् "उदए अवए पणए इत्यादि " दश ८ अ० । प्रज्ञा० । जलाशयमात्रे, भ० १श० ८ उ० । 'मेदार्य्यगोत्रे, स्वनामख्याते पेढालपुत्रे, पार्श्वापत्यीये निर्ग्रन्थे,

अहेणं उदए पेढालपुत्ते भगवं पासावच्चिज्जे णियंठे मेयज्जे गोत्तेणं, पासावगिच्चो पुच्छियाइओ अज्ज गोयमं उदगो सावगपुच्छा धम्मं सोउ कहियम्मि उवसंता । सूत्र० २ श्रु० ७ अ० ।

(उदकस्य गौतमस्वामिनं प्रति प्रश्नः पच्चक्खाणशब्दे वक्ष्यते) तद्विषयकत्वेन तत्रैवोपन्यसिष्यमाणत्वात् अयं संस्यति ॥ सूत्रकृतद्वितीयश्रुतस्कन्धे नालन्दीयाध्ययनाभिहित स्तद्यथा-उदकनामानगारः पेढालपुत्रः पार्श्वजिनशिष्यो योऽसौ राजगृहनगरबाहिरिकाया नालन्दाभिधानाया उत्तरपूर्वस्यां दिशि हस्तिद्वीपवनखण्डे व्यवस्थितस्तदेकदेशस्थं गौतमं संशयविशेषमापृच्छ्य विच्छिन्नसंशयः सन् चातुर्यामं धर्मं विहाय पञ्चयाम धर्मं प्रतिपेदे इति ॥ स च उत्सर्पिण्यां सप्तमस्तीर्थकरो भविष्यति, स० । कालोदायिप्रभृतिष्वेकादशस्वन्ययूथिकेषु चतुर्थे, भ० ७ श० १० उ० ।

उदग (दग) गब्भ—उदकगर्भ—पुं० (उदकस्य) दकस्यो-

दस्य वा गर्भ इव गर्भः । स्था० ४ ठा० । कालान्तरेण जलप्रवर्षणहेतौ पुद्गलपरिणामे, भ० २ श० ५ उ० ॥

चत्तारि उदगगब्भा पण्णत्ता तंजहा हेमगा अब्भसंथडा सीओसिणा पंचरूविया ॥

दकस्योदकस्य गर्भा इव गर्भा दकगर्भाः कालान्तरे जलवर्षणस्य हेतवः तत्संसूचका इति तत्त्वमिति । अवश्यायः कृपाजलं महिका धूमिका शीतान्यात्यन्तिकानि एवमुष्णो घर्म्म एते हि यत्र दिने उत्पन्नास्तस्मादुत्कर्षेणाव्याहताः सन्तः षड्भिर्मासैरुदकं प्रसुवते अन्यैः पुनरेवमुक्तम् । " पवनाभ्रवृष्टिविद्यु-र्गर्जितशीतोष्णरश्मिपरिवेषाः । जलमत्स्येन सहोक्तो, दशधा चाम्बुप्रजननहेतुः ॥१॥ " तथा-शीतवाताश्च बिन्दुश्च, गर्जितं परिवेषणम् । सर्वगर्भेषु शंसन्ति, निर्ग्रन्थाः साधुदर्शनाः ॥ २ ॥ तथा-सप्तमे सप्तमे मासे, सप्तमे सप्तमेऽहनि । गर्भाः पाकं नियच्छन्ति, यादृशास्तादृशं फलम् ॥ १ ॥" हिमं तुहिनं तदेव हिमकं तस्यैते हैमकाः हिमपातरूपा इत्यर्थः ॥ (अब्भसंथडत्ति) अभ्रसंस्तृतानि मेघैराकाशाच्छादनानीत्यर्थः आत्यन्तिके शीतोष्णे पञ्चानां रूपाणां गर्जितविद्युज्जलवाताभ्रलक्षणानां समाहारः पञ्चरूपं तदस्ति येषां ते पञ्चरूपिका उदकगर्भा इह मतान्तरमेवम् । "पौषे समार्गशीर्षे, संध्यारागाम्बुदाःसपरिवेषाः। नात्यर्थं मार्गशिरे, शीतं पौषेऽतिहिमपातः ॥ १ ॥ माघे प्रबलो वायु-स्तुषारकलुषद्युती रविशशाङ्कौ । अतिशीतं सघनस्य च, भानोरस्तोदयौ धन्यौ ॥ २ ॥ फाल्गुनमासे रूक्ष-श्चण्डः पवनोऽभ्रसंप्लवाः स्निग्धाः । परिवेषाश्च सकलाः, कपिलस्ताम्रो रविश्च शुभः ॥ ३ ॥ पवनघनवृष्टियुक्ताश्चैत्रे गर्भाः शुभाः सपरिवेषाः । घनपवनसलिलविद्युत्स्तनितैश्च हिताय वैशाखे इति ॥४॥" तानेव मासभेदेन दर्शयति " माहे उ हेमगा गब्भा, फग्गुणे अब्भसंथडा । सीओसिणाओ य चित्ते, वइसाहे पंचरूविया ॥ १ ॥ " स्था०४ ठा० । तस्य कालस्थितिः कायठिइशब्दे)

उदगजीव-उदकजीव-पु० उदकमेव जीवः । उदकरूपे जीवे, सचित्ताप्काये, आचा० १ श्रु० १ अ० २ उ० (आउक्कायशब्दे विषय उक्तः)

उदगजोणिय-उदकयोनिक-पुं० उदकं योनिरुत्पत्तिस्थानं येषां ते, 'जलसंभवेषु जीवेषु, " इहेगतिया सत्ता उदगजोणिया उदगसंभवा " सूत्र० २ श्रु० ३ अ० ।

उदकस्य योनयः परिणामकारणभूता उदकयोनयस्त एवोदकयोनिकाः । उदकजननस्वभावेषु, " णो बहवे उदगजोणिया जीवा य पोग्गला य उदगत्ता य वक्कमंति" स्था० ३ ठा०३उ० ।

उदगणाय-उदकज्ञात-न० उदकं नगरपरिखाजलं तदेव ज्ञातमुदाहरणमुदकज्ञातम् । ज्ञाताधर्मकथायाः प्रथमश्रुतस्य द्वादशाऽध्ययनोक्ते उदाहरणे, तत्प्रतिपादकेऽध्ययने च । ज्ञा०१ श्रु०१अ० । आ चू० । आव० । तच्चैवं ।

जइ णं भंते समणे णं भगवया महावीरेणं जाव संपत्ते णं एक्कारसमस्स णायज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते । बारसमस्स णं भंते समणे णं भगवया महावीरेणं जाव संपत्ते णं के अट्ठे पण्णत्ते । एवं खलु जंबू तेणं कालेणं तेणं समएणं चंपाणामं णयरी होत्था । पुण्णभद्दे चेइए तीसेणं चंपाए णयरीए जियसत्तू णामं राया होत्था । तस्स णं जियसत्तुस्स रण्णो धारिणी णामं देवी होत्था । अहीणसुकुमाल जाव सुरूवा तस्स णं जियसत्तुस्स रण्णो पुत्ते धारिणीए अत्तए अदीणसत्तू णामं कुमारे जुवराया वि होत्था । सुबुद्धी अमच्चे जाव रज्जधुरा चिंतए समणोवासए अभिगयजीवाजीवे तीसेणं चंपाए णयरीए बहिया उत्तरपुरच्छिमेणं एगे फरिहोदए यावि होत्था । मेयवसामंसरुहिरपूयपडलपोच्चडे मयगकलेवरसंछण्णे अमणुण्णे वण्णे णं जाव फासेणं से जहा णामए अहिमडेति वा गोमडेति वा जाव मयकुहियविणट्ठकिमिणवावण्णदुरभिगंधकिमिजालाउले संसत्ते असुइविगयबीभच्छदरसणिज्जे भवेयारूवे सिया । णो इणट्ठे समट्ठे एत्तो अणिट्ठतराए चेव जाव गंधेणं पण्णत्ते । तए णं से जियसत्तू राया अण्णया कयाइं ण्हाए कयबलिकम्मे जाव अप्पमहग्घाभरणालंकियसरीरे बहूहिं राईसर जाव सत्थवाहपभिईहिं सद्धिं भोयणमंडवंसि भोयणवेलाए सुहासणवरगए विपुलं असणं ४ भुंजेमाणा जाव विहरइ । जिमियभुत्तुत्तरागए जाव सुइभूए तंसि विपुलंसि असणं ४ जाव विम्हए ते बहवे ईसर जाव पभिई एवं वयासी अहो णं देवाणुप्पिया इमे मणुण्णे असणं ४ वण्णेणं उववेए जाव फासेणं उववेए अस्सायणिज्जे विस्सायणिज्जे पीणणिज्जे दीवणिज्जे सव्विंदियगायपल्हायणिज्जे तए णं ते बहवे राईसर जावप्पभिईओ जियसत्तूरायं एवं वयासी तहेव णं सामी जण्णं तुब्भे वयह अहो णं इमे मणुण्णे असणं पाणं खाइमं साइमं वण्णेणं उववेए जाव पल्हायणिज्जे तए णं जियसत्तू राया सुबुद्धी अमच्चं एवं वयासी अहो णं सुबुद्धि अमच्चे इमे मणुण्णे असणं पाणं खाइमं साइमं जाव पल्हायणिज्जे तए णं सुबुद्धी अमच्चे जियसत्तू रायस्स य एयमट्ठं णो आढाइ णो परियाणाइ जाव तुसिणीए संचिट्ठइ । तए णं जियसत्तू राया सुबुद्धी अमच्चं दोच्चंपि तच्चंपि एवं वयासी अहो णं सुबुद्धी अमच्चे इमं मणुण्णे तं चेव जाव पल्हायणिज्जे तए णं सुबुद्धी अमच्चे जियसत्तुणा दोच्चंपि तच्चंपि एवं वुत्ते समाणे जियसत्तू रायं एवं वयासी । णो खलु सामी अहं एयंसि मणुण्णंसि असणं पाणं खाइमं साइमंसि केइ विम्हए एवं खलु सामि सुब्भिसद्दा वि पोग्गला दुब्भिसद्दत्ताए परिणमंति, दुब्भिसद्दा वि पोग्गला सुब्भिसद्दत्ताए परिणमंति सुरूवा वि पोग्गला दुरूवत्ताए परिणमंति । दुरूवा वि पोग्गला सुरूवत्ताए परिणमंति । सुब्भिगंधा वि पोग्गला दुब्भिगंधत्ताए परिणमंति । दुब्भिगंधा वि पोग्गला सुब्भिगंधत्ताए परिणमंति, सुरसा वि पोग्गला दुरसत्ताए परिणमंति, दुरसा वि पोग्गला सुरसत्ताए परिणमंति । सुहफासा वि पोग्गला दुहफासत्ताए परिणमंति, दुहफासा वि पोग्गला सुहफासाए परिणमंति । पओगवीससा परिणया वि य णं सामी पोग्गला पण्णत्ता तए णं से जियसत्तू राया सुबुद्धिस्स अमच्चस्स एवमाइक्खमाणस्स ४ एयमट्ठं णो अढाइ णो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परियाणइ तुसिणीए संचिट्ठइ तए णं से जियसत्तू राया अन्नया कयाइ एहाए जाव विभूसिए आसखंधवरगए महया भडचडगरआसवाहणिया णिज्जायमाणे तस्स फरिहोदयस्स अदूरसामंते णं वीइयइ तए णं जियसत्तू राया तस्स फरिहोदगस्स अभिभूए समाणे सएणं उत्तरिज्जे णं आसगंपिहेइ एगं तं अवक्कमइ अवक्कमइत्ता ते बहवे राईसरजावपभिइओ एवं वयासी। अहो णं देवाणुप्पिया इमे फरिहोदए अमणुण्णे वण्णेणं गंधेणं रसेणं फासेणं से जहा णामए अहिमडेइ वा जाव अमणामतराए चेव तएणं ते राईसरप्पभिइए जाव एवं वयासी। तहेव णं सामी जणं तुब्भे एवं वयह अहो णं इमे फरिहोदए अमणुण्णे वण्णेणं गंधेणं रसेणं फासेणं से जहा णामए अहिमडेइवा जाव अमणामतराए तएणं से जियसत्तू राया सुबुद्धि अमच्चं एवं वयासी अहोणं सुबुद्धि इमे फरिहोदए अमणुण्णे वण्णेणं गंधेणं रसेणं फासेणं से जहा णामए अहिमडेति वा जाव अमणामतराए तएणं सुबुद्धि अमच्चे जाव तुसिणीए संचिट्ठइ तएणं से जियसत्तू राया सुबुद्धि अमच्चं दोच्चं पि तच्चं पि एवं वयासी अहोणं तं चेव तएणं से सुबुद्धी अमच्चे जियसत्तुणा रण्णा दोच्चंपि तच्चंपि एवं वुत्ते समाणे एवं वयासी णो खलु सामी अम्हं एयंसि फरिहोदगंसि केइ विम्हए एवं खलु सामी सुब्भिसद्दावि पोग्गला दुब्भिसद्दत्ताए परिणमंति तं चेव पओगवीससा परिणया वि यणं सामी पोग्गला पण्णत्ता तएणं जियसत्तू राया सुबुद्धि अमच्चं एवं वयासीमाणं तुमं देवाणुप्पिया अप्पाणं च परं च तदुभयं च बहुहिं य असब्भावुब्भावणाहिं मिच्छत्ताभिणिवेसेण य वुग्गाहेमाणे वुप्पायमाणे विहराहि। तएणं सुबुद्धिस्स अमच्चस्स इमेयारूवे अज्झत्थिए समुप्पज्जित्था अहो णं जियसत्तू राया संते तच्चे तहिए अवितहे संभूए जिणपण्णत्ते भावे णो उवलभंते तं सेयं खलु ममजियसत्तुस्स रण्णो सत्ताणं तच्चाणं तहियाणं अवितहाणं संभूयाणं जिणपण्णत्ताणं भावाणं अभिगमणट्ठयाए एयमट्ठं उवायणावेत्तए एवं संपेहेइ संपेहइत्ता तिपत्तिएहिं पुरिसेहिं मज्झिअंतरावणाओ णवघडए गिण्हइ २ त्ता संझाकालसमयंसि पविरलमणूसंसि णिसंत पडिणिसंतंसि जेणेव फरिहोदए तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता तं फरिहोदगं गिण्हावेइ णवएसु घडएसु पक्खिवावेइ २ त्ता सज्जक्खारं पक्खिवावेइ लंछियमुद्दिए कारावेइ सत्तरत्तं परिवसावेइ दोच्चंपि णवएसु घडएसु गालावेइ २ त्ता णवएसु घडएसु पक्खिवावेइ २ त्ता सज्जक्खारं पक्खिवावेइ २ त्ता लंछिय मुद्दिय कारावे सत्तरत्तं परिवसावेइ २ त्ता तच्चंपि णवएसु घडएसु जाव संवसावेइ २ त्ता एवं खलु एएणं उवाएणं अंतरा गलावेमाणे अंतरापक्खिवावेमाणे अंतरा अवसावेमाणे २ सत्तसत्तए राइंदिइं परिवसावेइ २ त्ता तएणं से फरिहोदए सत्तयंसि २ परिणममाणंसि उदगरयणे जाए यावि होत्था। अच्छे पत्थे जच्चे तणुए फालियवण्णाभे वण्णेणं उववेए ४ आसायणिज्जं जाव सव्विंदियगायपल्हायणिज्जं तएणं सुबुद्धी अमच्चे जेणेव से उदगरयणे तेणेव उवागच्छइ २ त्ता करयलंसि आसादेइ तं उदगरयणं वण्णेणं गंधेणं रसेणं फासेणं उववेयं आसायणिज्जं जाव सव्विंदियगायपल्हायणिज्जं जाणित्ता हट्ठतुट्ठे बहुहिं उदगसंभारणिज्जेहिं दव्वेहिं संभारेइ २ त्ता जियसत्तुस्स रण्णो पाणियधारियं पुरिसं सद्दावेइ २ त्ता एवं वयासी तुमं णं देवाणुप्पिया इमं उदगरयणं गिण्हाहिं २ जियसत्तुस्स रण्णो भोयणवेलाए उवट्ठवेइ तएणं से जियसत्तू राया पाणियधरए पुरिसे सुबुद्धिस्स अमच्चस्स एयमट्ठं पडिसुणेइ २ त्ता तं उदगरयणं गिण्हइ २ त्ता जियसत्तुस्स रण्णो भोयणवेलाए उवट्ठवइ तए णं से जियसत्तू राया तं विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं आसाएमाणा विसाएमाणा जाव विहरइ जिमियभुत्तुत्तरागए वि यणं जाव परमसुइभूए तंसि उदगरयणंसि जाव विम्हए ते बहवे राईसरजांव एवं वयासी। अहो णं देवाणुप्पिया इमे उदगरयणे अच्छे जाव सव्विंदियगायपल्हायणिज्जे तए णं ते बहवे राईसर जाव एवं वयासी तहेणं सामी जण्णं तुब्भे वयह जाव तं चेव पल्हायणिज्जे तए णं जियसत्तू राया पाणियधरयं पुरिसं सद्दावेइ २ त्ता एवं वयासी एस णं देवाणुप्पिया-उदगरयणे कओ आसादिए तए णं से पाणिधरए जियसत्तू रायं एवं वयासी एस णं सामी मए उदगरयणे सुबुद्धिस्स अंतियाओ आसाइए तएणं जियसत्तू राया सुबुद्धि अमच्चं सद्दावेइ २ त्ता एवं वयासी। अहो णं सुबुद्धी अहं तव अणिट्ठे ५ जेणं तुमं ममं कल्लाकल्लिं भोयणवेलाए इमं उदगरयणं ण उवट्ठवेसि तए णं तुमे देवाणुप्पिया उदगरयणे-कओ उवलद्धे तए णं सुबुद्धी अमच्चे जियसत्तु रायं एवं वयासी एस णं सामी सफरिहोदए तए णं से जियसत्तू राया सुबुद्धी अमच्चं एवं वयासी केणं कारणेणं। सुबुद्धी अमच्चे एस फरिहोदए तएणं सुबुद्धी अमच्चे जियसत्तू रायं एवं वयासी एवं खलु सामी तुम्हे तइया मम एवमाइक्खमाणस्स ४ एयमट्ठं णो सद्दह तए णं ममं इमेयारूवे अज्झत्थिए चिंतिए पत्थिए मणोगए संकप्पे समुपज्जित्था। अहो णं जियसत्तू राया संते जाव भावे णो सद्दहइ णो पत्तियइ णो रोयइत्ति तं सेयं खलु मम जियसत्तुस्स रण्णो संताणं जाव संभूयाणं जिणपण्णत्ताणं भावाणं अभिगमणट्ठयाए एयमट्ठं उवायणावेत्तए एवं संपेहेइ २ त्ता एवं चेव जाव पाणियधरियं पुरिसं सद्दावेइ २ त्ता एवं वयासी तुमं णं देवाणुप्पिया उदगरयणं जियसत्तुस्स रण्णो भोयणवेलाए उवणेहि तं एएणं कारणेणं

सामी एस से फरिहोदए तएणं जियसत्तू राया सुबुद्धिस्स अमच्चस्स एवमाइक्खमाणस्स ४ एयमट्ठं णो सद्दहइ २ त्ता असद्दहमाणे ३ अब्भिंतरट्ठाणिज्जे पुरिसे सद्दावेइ २ त्ता एवं वयासी गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया अंतरावणाओ णवघडए गिण्हह जाव उदगसंजारणिज्जेहिं दव्वेहिं संभारेह। ते वि तहेव संजारेइ जियसत्तुस्स रएणो उवणेइ तए णं जियसत्तू राया तं उदगरयणं करयलंसि आसाएइ आसायणिज्जं जाव सव्विंदियगायपल्हायणिज्जं जाणित्ता सुबुद्धिं अमच्चं सद्दावेइ २ त्ता एवं वयासी सुबुद्धि एएणं तुमे संता-तत्थ जाव संजूया जावा कओ उवलद्धा तएणं सुबुद्धी अमच्चं जियसत्तू रायं एवं वयासी एएणं सामी मए संता-जाव जावा जिणवयणाओ उवलद्धा तएणं जियसत्तू राया सुबुद्धिं अमच्चं एवं वयासी तं इच्छामि णं देवाणुप्पियाणं तव अंतिए जिणवयणं णिसामित्तए। तएणं सुबुद्धी अमच्चे जियसत्तुस्स रएणो विचित्तं केवलिपएणत्तं चउज्जामं धम्मं परिकहेइ तमाइक्खेति जहा जीवा बुज्झंति जाव पंच अणुव्वयाणि। तएणं जियसत्तू राया सुबुद्धिस्स अमच्चस्स अंतिए धम्मं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठे सुबुद्धिं अमच्चं एवं वयासी सद्दहामिणं देवाणुप्पिया णिग्गंथं पावयणं ३ जाव से जहेयं तुब्भे वयह तं इच्छामिणं तव अंतियं पंचाणुव्वइयं सत्तसिक्खावइयं जाव उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए अहासुहं देवाणुप्पिया मा पडिबंधं करेह। तएणं जियसत्तू राया सुबुद्धिस्स अमच्चस्स अंतिए पंचाणुव्वइयं जाव दुवालसविहं गिहिधम्मं पडिवज्जइ। तएणं जियसत्तू राया समणोवासए जाए अभिगयजीवाजीवे जाव पडिलाभेमाणे विहरइ। तेणं कालेणं तेणं समएणं थेरा जेणेव चंपाणयरी जेणेव पुण्णभद्दे चेइए तेणेव समवसढे जियसत्तू राया सुबुद्धियाणिगए सुबुद्धी धम्मं सोच्चा जं णवरं देवाणुप्पिया जियसत्तू रायं आपुच्छामि जाव पव्वयामि अहासुहं देवाणुप्पिया मा पडिबंधं करेह तए णं से सुबुद्धी अमच्चे जेणेव जियसत्तू राया तेणेव उवागच्छइ २ त्ता एवं वयासी एवं खलु सामी मए थेराणं अंतिए धम्मे णिसम्मे सेवि य धम्मे इच्छिए पडिच्छिए तए णं अहं सामी संसारभउव्विग्गे भीए जाव इच्छामि णं तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे जाव पव्वइत्तए तएणं जियसत्तू राया सुबुद्धिं अमच्चं एवं वयासी इच्छामि ताव देवाणुप्पिया कइ वयाइं वासाइं उरालाइं जाव भुंजमाणा तओ पच्छाए गयाओ थेराणं अंतिए मुंडे भवित्ता जाव पव्वइस्सामो। तए णं सुबुद्धी णामं अमच्चे जियसत्तुस्स रएणो एयमट्ठं पडिसुणेइ तएणं तस्स जियसत्तुस्स रएणो सुबुद्धिणा सद्धिं विपुलाइं माणुस्सगाइं भोगभोगाइं जाव पच्चणुब्भवमाणस्स दुवालसवासाइं वीइक्कंताइं। तेणं कालेणं तेणं समएणं थेरागमणं जियसत्तू राया धम्मं सोच्चा एवं जं णवरं देवाणुप्पिया सुबुद्धिं अमच्चं आमंतेमि जेट्ठपुत्तं रज्जे ठवेमि तएणं तुब्भे णं जाव पव्वयामि अहासुहं देवाणुप्पिया मा पडिबंधं करेह। तए णं जियसत्तू राया जेणेव सए गिहे सुबुद्धिं अमच्चं सद्दावेइ एवं वयासी एवं खलु मए थेराणं जाव पव्वयामि तुमं णं किं करेसि तए णं सुबुद्धी अमच्चे जियसत्तू रायं एवं वयासी जाव केअण्णे आहारे वा जाव पव्वयामि तं जइ णं देवाणुप्पिया जाव पव्वाहि गच्छ णं देवाणुप्पिया जेट्ठपुत्तं कुडुंबे ठावेहिं सहस्सपुरिसवाहिणी सीयं दुरूहित्ताणं मम अंतिए सीयाओ जाव पाउब्भवइ तएणं से सुबुद्धी अमच्चे सीया जाव पाउब्भवइ। तए णं जियसत्तू राया कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ २ त्ता एवं वयासी गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया अदीणसत्तुस्स कुमारस्स रायाभिसेयं उवट्ठवेह। तहेव कोडुंबियपुरिसा अभिसिंचइ जाव जियसत्तू राया पव्वइए। तए णं जियसत्तू रायरिसी एक्कारसअंगाइं अहिज्जित्ता बहूणि वासाणि परियायं पाउणित्ता मासियाए संलेहणाए सिद्धे। तएणं सुबुद्धी एक्कारसअंगाइं अहिज्जित्ता बहूणि वासाणि जाव सिद्धे एवं खलु जंबू समणेणं भगवया महावीरेणं जाव संपत्तेणं बारसमस्स णायज्झयणस्स अयमट्ठे पएणत्ते त्तिबेमि। "मिच्छत्तमोहियमणा-पावपसत्ता वि पाणिणो विगुणा। फरिहोदगं च गुणिणो, हवंति वरगुरुपसायाओ ?" बारसमं णायज्झयणं सम्मत्तं १२॥ ज्ञा०।

उदगता-उदकता- स्त्री० अप्कायरूपतायाम्, "णो बहवे उदगजोणिया जीवा य पोग्गला य उदगता य वक्कमंति" स्था०३ठा०।

उदगदोणि-उदकद्रोणि- स्त्री० जलभाजने, यत्र तप्तलोहं शीतलीकरणायाक्षिप्यते, "उदगदोणी णिव्वलिए" जं० १६ वा०। १ उ०। दशा० "फलिहगालणा धाणमलं उदगदोणियं" उदकद्रोण्योऽरहट्टजलधारिका इति। दशा० ७ अ०॥

उदगपरिणय-उदकपरिणत- त्रि० उदकदायकावस्थां प्राप्ते, स्था० ३ ठा० ३ उ०॥

उदगपसूय-उदकप्रसूत- त्रि० जलोत्पन्ने कन्दादौ, "उदगपसूयाणि कंदाणि वा मूलाणि वा पत्ताणि वा" आचा०२ श्रु०१ अ०॥

उदगपोग्गल-उदकपौद्गल- न० उदकप्रधानं पौद्गलं पुद्गलसमूहे मेघे, "तत्थ समुट्ठियं उदगपोग्गलं परिणयं वा सिउकामं अन्न देसं साहरेति" स्था० ३ ठा० ३ उ० ॥

उदगमच्छ-उदकमत्स्य- पुं० इन्द्रधनुःखण्डे, 'एष चाशुभसूचक उत्पातविशेषः, भ० ३ श० ६ उ० ॥ अनु० ॥

उदगमाल-पुं० उदकमाला-स्त्री० ६ त० उदकशिखायाम, वेलायाम्, स्था० १० ठा० ॥

लवणस्सणं समुदस्स केमहालए उदगमाले पएणत्ते ? गोयमा ! दसजोयणसहस्साइं उदगमाले पएणत्ते ॥

नदन्त ! लवणस्य समुद्रस्य किंप्रमाणा महत्या उदकमाला समपानीयोपरिभूता षोडशयोजनसहस्रोच्छ्रया प्रज्ञप्ता ? भगवानाह गौतम ! दशयोजनसहस्राणि उदकमाला प्रज्ञप्ता। जी०३ प्रति०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उदगरयण–उदकरत्न– न० उदकमेव रत्नमुदकरत्नम् । उदकजातो, उत्कृष्टे, "अम्मेहिं इमस्स वम्मियस्स पढमाए वम्माए भिंदाए उड्डे उदगरयणे अस्सादिए" भ० १५ श० १ उ० ॥

उदगरस–उदकरस– पुं० जलरसे, तओ समुद्दा पगईए उदगरसेणं पण्णत्ता तंजहा कालोदे, पुक्खरोदे, सयंभूरमणे, स्था० ३ ठा० १ उ० "अप्पेगइयाउ उदगरसे णं पण्णत्ता" जं० १ वक्ष० ॥

उदग (दग) लेव–उदकलेप–पुं० नाभि प्रमाणजलावगाहने, "अंतो मासस्स तओ दगलेवे करेमाणे सबलो" स० । दशा० । जललेपे, "बहु परियावन्ने पाणीसु उदगलेवे तहप्पगारे असणं जाव पडिगाहेज्जा" आचा० २ श्रु० १ अ० ११ उ० ।

उदगवत्थि–उदकवस्ति–स्त्री० जलभृद्दृतौ, जलाधारचर्ममयभाजने, "उदगवत्थिं परामुसइ" ज्ञा० १८ अ० ।

उदगवद्दलय–उदकवार्दलक–न० भाविरेणुसंतापोपशान्तये जलवर्षके वार्दलके, आ० म० द्वि० ।

उदगबिंदु–उदकबिन्दु–पुं० जललवे, पंचा० ४ विव० ।

उदगवेग–उदकवेग–पुं० उदकरये "तिक्खम्मि उदगवेगे विसमम्मि विज्जलम्मि वच्चंतो" व्य० प्र० १ उ० ।

उदगसंभाराणिज्ज–उदकसंभारणीय–न० वालुकमुस्तादौ, उदकवासादौ, "दब्भुतुंठे बहुहिं उदगसंभारणिज्जेहिं" ज्ञा० १३ अ०

उदगसत्थ–उदकशस्त्र–न० उदकं शस्त्रमुदकमेव शस्त्रम् । अप्कायस्य स्वकायपरकायशस्त्रे, आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

उदगसिहा–उदकशिखा–स्त्री० वेलायाम्, स्था० १० ठा० ।

उदग (दग) सीमय–उदक (दक) सीम–पुं० उदक (दक) स्य शीताशीतोदपानीयस्य सीमा यत्रासौ उदक (दक) सीमः मनःशिलाकस्य वेलन्धरनागराजस्यावासपर्वते, जी० ३ प्रति० (तद्वक्तव्यता वेलन्धरशब्देऽवक्ष्यते)

उदग (दग) धारा–उदकधारा–स्त्री० उदकबिन्दुप्रवाहे, ज्ञा० ६ अ० ।

उदगुप्पीला–उदकोत्पीला–स्त्री० तडागादिषु जलसमूहे, ॥भ०॥ ३ श० ६ उ० ॥

उदग्ग–उदग्र–त्रि० उन्नतमग्रं यस्य । उन्नते, स्था० ४ ठा० ॥ उन्नतपर्यवसाने, भ० २ श० १ उ० । उत्त० । उत्कटे, उत्त० १४ अ० । प्रधाने, "जहा से तिक्ख दाढे, उदग्गे दुप्पहंसए" सीहेमियाण पवरे एवं हवइ बहुस्सुए" उत्त० ११ अ०

उदग्गचारित्ततव उदग्रचारित्रतपस् पुं० स्त्री० उदग्रं प्रधानं साध्वाचारं सर्वविरतिप्रकृणं दशविधरूपं चारित्रतपो द्वादशविधं यस्य स उदग्रचारित्रतपाः । प्रधानचारित्रतपस्के, "चित्तो वि कामेहिं विरत्तकामो, उदग्गचारित्ततवो महेसी, उत्त० १३ अ० ॥

उदत्त–उदात्त–पुं० उद्– आ० दा० क्त. वर्णोत्पत्तिस्थानेषु उच्चैरुच्चारिते स्वरे, तद्युक्ते, त्रि० । "अविकत्थनः क्षमावा–नतिगम्भीरो महासत्त्वः । स्थेयान् निगूढमानो, धीरो दान्तो दृढव्रतः कथितः" सा० द. उक्ते (पूर्वपदलोपेन) नायकभेदे, वाच० । कर्तरि क्तः । उदारे "अयं निजः परो वेति, गणना लघुचेतसाम् । उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्" ॥ षो० १४ विवृ० । महति, समर्थे, दातरि, च त्रि० । भावे क्त, दाने, वाद्यभेदे, अलङ्कारभेदे च । वाच० ।

उदत्ताभ–उदात्ताभ–पुं० गौतमगोत्रविशेषभूते पुरुषे, तत्प्रवर्त्तिते गोत्रे, तत्र जाते च । "ते उदात्ताभा" स्था० ७ ठा० ।

उदय–उदय–पुं० उद्. इ. अच्. प्रादुर्भावे, आचा० १ श्रु० १ अ० ६ उ० । उत्पत्तौ,–विशे० । ज्योतिषोक्ते राशेरुदयरूपे लग्ने, । आधारे अच् । "यैर्यत्र दृश्यते भास्वान् स तेषामुदयः स्मृतः" इत्युक्तलक्षणे रवेर्दृष्टियोग्यस्थाने, उदयाचले, पूर्वपर्वते, वाच० । कर्मपुद्गलानां यथास्थितिबद्धानामबाधाकालक्षयेणापवर्तनविशेषतो वा उदयप्राप्तानामनुभवने, विपाकवेदने, क० प्र० । कर्म० । दशा० । प्रव० । उदयावलिकाप्रविष्टानां कर्मपुद्गलानामुद्भूतसमर्थतायाम्, आ० म० प्र० । विपाके,–दश० १ अ० ।

(१) प्रकृत्युदयः तत्र नानात्वं च ।
(२) जघन्योत्कृष्टस्थित्युदयः ।
(३) अनुभागोदयः ।
(४) प्रदेशोदयनिरूपणावसरे साद्यनादिप्ररूपणास्वामित्वं ।
(५) कस्मिन्गुणस्थाने कियत्यः प्रकृतयो भगवतः क्षीणाः ।
(६) उदयहेतुः ।

(१) तद्वक्तव्यता चैवं तत्र प्रकृत्युदयो यथा–

उदओ उदीरणाए, तुल्लो मोत्तूण एक्कचत्तालं ।
आवरणविग्घसंजलण–लोभवेए य दिट्ठिदुगं ॥ ३७८ ॥
आलिगमहिगं वेएति, आउगाणं अप्पमत्तावि ॥
वेयणियाणि दुयदुसमय–तणुपज्जत्ता दायनिद्दाउ ॥ ३७९ ॥
मणुयगइजाइतसबा–यरं च पज्जत्तसुभगमाएज्जं ॥
जसकित्तिमुच्चगोत्तं–पंचाजोगिकेइ तित्थयरं ॥ ३८० ॥

उदय उदीरणायाः तुल्यः किमुक्तं भवति उदीरणायाः प्रकृत्यादयः प्रागुक्ता या च साद्यनादिप्ररूपणा यच्च स्वामित्वमेतत् सर्वमन्यूनातिरिक्तमुदयेऽपि द्रष्टव्यम् । उदयोदीरणयोः सहभावित्वात् । तथाहि यत्र उदयस्तत्रोदीरणा यत्र उदीरणा तत्रोदयः किं सर्वत्राप्येवमिति चेत् उच्यते । अत आह । मुक्त्वा एकचत्वारिंशत् प्रकृतीनामासामुदीरणामन्तरेणापि कियत् कालमुदयस्य प्राप्यमाणत्वात् । तथाहि ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरचतुष्टयान्तरपञ्चकसंज्वलनलोभवेदत्रयसम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वरूपा विंशतिः प्रकृतीः स्वस्वोदयपर्यवसाने आवलिकामात्रं कालमधिकृत्य वेदयन्ति । उदीरणामन्तरेणाऽपि केवलेनोदयेनावलिकामात्रं कालमनुभवन्तीत्यर्थः ॥ तथावलिकामात्रं त्रयाणां वेदानां मिथ्यात्वस्य चान्तरकरणस्य प्रथमस्थितौ आवलिकाशेषायाम् शेषाणां स्वस्वसत्तापर्यवसाने । तथा चतुर्णामप्यायुषां स्वस्वपर्यवसाने आवलिकामात्रं कालमुदय एव भवतीति नोदीरणा मनुष्यायुर्वेदनीययोर्वा प्रमत्ताप्रमत्तसंयतप्रभृतय उदीरणामन्तरेणापि केवलेनैवोदयेन वेदयन्ते न तथा तनुपर्याप्ताः शरीरपर्याप्त्या पर्याप्ताः सन्तो द्वितीयस्य समयादारभ्य शरीरपर्याप्त्यनन्तरसमयादारभ्य इन्द्रियपर्याप्तिचरमसमयं यावत् उदीरणामन्तरेणापि केवलेनैवोदयेन निद्राः पञ्चापि वेदयन्ते । तथा मनुष्यगतिपञ्चेन्द्रियजातित्रसबादरपर्याप्तसुभगादेययशःकीर्त्युच्चैर्गोत्ररूपा नवप्रकृतियोगिकेवलिन उदीरणामन्तरेण स्वकालं यावत् केवलिनि नैवोदयेन वेदयन्ते । तथा तनुपर्याप्ताः शरीरपर्याप्तापर्याप्ताः सन्तो द्वितीयस्य समयादारभ्य शरीरपर्याप्त्यनन्तरसमयादारभ्य इन्द्रियपर्याप्तिचरमसमयं यावत् उदीरणामन्तरेणापि । क० प्र० ।

होइ अणाइअणंतो, अणिसंतो धुवोदयाणुदओ ।
साइसपज्जवसाणो, अधुवाणं तदयमिच्छस्स ॥

इहक प्रकृतयो द्विधा तद्यथा ध्रुवोदया अध्रुवोदयाश्च । तत्र कर्मप्रकृतिका उदयचिन्तायामप्यष्टपञ्चाशदधिकं प्रकृतीनां शतं मन्यन्ते अत ऊर्ध्वं या करणाष्टकपरिसमाप्तेः कर्मप्रकृतिभिः प्रायो व-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

च्यते । ततो ध्रुवोदयाः प्रकृतयोऽष्टचत्वारिंशत्संख्या वेदितव्यास्तद्यथा ज्ञानावरणपञ्चकमन्तरायपञ्चकं दर्शनावरणचतुष्टयं मिथ्यात्वं वर्णादिविंशतिस्तैजसकार्म्मणसमकस्थिरास्थिरे शुभाशुभे अगुरुलघुनिर्म्माणमिति । एतासामष्टचत्वारिंशत्संख्याकानां प्रकृतीनामुदयो त्रिधा । तद्यथा अनाद्यनन्तः अनादिसपर्यवसानस्तत्र अभव्याश्रितानां च ततः कदाचिदपि व्यवच्छेदासंभवात् भव्यानधिकृत्यानादिसपर्यवसानः तेषां मोक्षं प्रतिस्थितानामवश्यमुदयव्यवच्छेदसंभवात् । अध्रुवाणामध्रुवोदयानां प्रकृतीनामुक्तव्यतिरिक्तानां विंशोत्तरशतसंख्यानामुदयसादिपर्यवसानः अध्रुवोदयतः परावृत्य २ तासामुदयभावात् न केवलमध्रुवोदयानामुदयः सादिसपर्यवसानः किन्तु मिथ्यात्वस्य च । तथाहि-सम्यक्त्वात्प्रतिपतितमधिकृत्य मिथ्यात्वस्योदयः । सादिः पुनरपि सम्यक्त्वकल्पानन्यवच्छेदादध्रुवः । तदेवं मिथ्यात्वस्योदयस्त्रिविध आवेदितस्तद्यथा-अनाद्यनन्तानादिसपर्यवसानः । एतौ च द्वावपि भङ्गौ ध्रुवोदयत्वात्सङ्ग्रहणेन गृहीतौ तृतीयस्तु भेदः सादिपर्यवसानलक्षणस्तदयमिच्छसे इत्यनेनावयवेन ...ऽभिहित इति

पयमिठिइमाइया भेया, पुव्वुत्ता इहावि विन्नेया ।
उदीरणउदयाणं, जह नाणत्तं तयं वोच्छं ॥

यथा-किल पूर्वं बन्धविधौ प्रकृतिस्थित्यादयो भेदा उक्तास्तद्यथा प्रकृतिबन्धः स्थितिबन्धोऽनुभागबन्धः प्रदेशबन्धश्च । तथा इहाप्युदयाधिकारे ज्ञेयास्तद्यथा प्रकृत्युदयः स्थित्युदयोऽनुभागोदयः प्रदेशोदयश्च । तत्राचार्यः स्वयमेवाग्रे सप्रपञ्चमुदीरणाकरणं वक्ष्यति उदयोदीरणयोश्च प्रायः स्वामित्वं प्रत्यविशेषः सहभावित्वात् । तथाहि-यत्रोदयस्तत्रोदीरणा यत्रोदीरणा तत्रोदयः । ततो यथा प्रकृत्यादयो भेदा उदीरणाधिकारे वक्ष्यन्ते यच्च स्वामित्वं प्ररूपणादिकं तदेतत्सर्वमन्यूनानतिरिक्तमत्रापि भावनीयम् । यत्पुनर्नानात्वं तदभिधित्सुराह (उदीरणेत्यादि) उदीरणोदययोः प्रकृत्यादिभेदविषये यतो नानात्वं तद्वक्ष्ये शेषं तदुदीरणावद्द्रष्टव्यमिति भावः ।

तत्र प्रकृतिभेदविषये नानात्वं दिदर्शयिषुर्गाथाद्वितयमाह ।

चरिमोदयपुव्वाणं, अजोगिकालं उदीरणा विरहे ।
देसूणं पुव्वकोडी, मनुयाउगवेयणीयाणं ॥
तइयच्चिय पज्जत्ती, जाता निद्दाणहोइ य चउण्हं ।
उदओ आवलिअंते, तेवीसाए उ सेसाणं ॥

चरमोदयानां चरमे अयोगिकेवलिचरमसमये उदयो यासां नामप्रकृतीनां ताश्चरमोदयास्ताश्चेमा नव । तद्यथा मनुष्यगतिपञ्चेन्द्रियजातित्रसनामबादरनामपर्याप्तनामसुभगनामादेययशःकीर्तिनामतीर्थकृतां च भगवतामयोगिकेवलिनां तीर्थनाम च । एतासां नवानां प्रकृतीनामुच्चैर्गोत्रस्य च अयोगिकालस्तावत् कालः यावत् उदीरणाविरहेऽपि उदीरणाया अभावेऽप्युदय एव केवलः प्रवर्तते । तथा मनुष्यायुः सातवेदनीयमसातवेदनीयं चेत्येवंरूपाणां तिसृणां प्रकृतीनां प्रमत्तसंयतगुणस्थानकात्परतः शेषेषु गुणस्थानकेषु वर्तमानानामुत्कर्षतो देशानां पूर्वकोटी यावत् उदीरणामन्तरेण केवल उदयो भवति । स चोत्कर्षत इयान् कालः सयोगिकेवलिगुणस्थानके द्रष्टव्यः शेषस्य गुणस्थानकस्य सर्वस्याप्यन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वात् । अथ कस्मात्सातासातवेदनीयमनुष्यायुषां प्रमत्तसंयतगुणस्थानकात्परत उदीरणा न प्रवर्तते । उच्यते अमीषां ह्युदीरणा संक्लिष्टाध्यवसायवशतः प्रवर्तते तथा स्वाभाव्यात् विशुद्धविशुद्धतराध्यवसायवर्तिनश्चाप्रमत्तसंयतादयस्ततस्तेषां-वेदनीयद्विकमनुष्यायुषोरुदीरणाया अभावः । तथा शरीरपर्याप्त्या-पर्याप्तानां सतां शरीरपर्याप्ति पर्याप्त्यनन्तरसमयादारभ्य यावत्तृतीया पर्याप्तिरिन्द्रियपर्याप्तिः परिसमाप्तिमुपैति तावत्पञ्चानामपि निद्राणां तथा स्वाभाव्यात् नोदीरणा प्रवर्तते किन्तूदय एव केवलस्तथा शेषाणां ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्टयान्तरायपञ्चकसंज्वलनलोभवेदत्रयसम्यक्त्वमिथ्यात्वनारकायुषस्तिर्यगायुर्देवायूरूपाणां त्रयोविंशतिप्रकृतीनामावलिकाः ततोऽन्तर्भूतायामावलिकायामुदय एव केवलोदीरणा । तथाहि-पञ्चानां ज्ञानावरणप्रकृतीनां चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनावरणरूपस्य दर्शनावरणचतुष्टयस्य क्षीणकषायस्य पर्याप्तावलिकायां वर्तमानस्यावलिकायां प्रविष्टत्वान्नोदीरणेत्युदय एव केवलः । एवमेव संज्वलनलोभस्य सूक्ष्मसंपरायपर्यन्तावलिकायां मिथ्यात्वस्त्रीपुंनपुंसकवेदानामन्तरकरणे कृते प्रथमस्थित्यामावलिका शेषाणां नारकायुस्तिर्यगायुर्देवायुषां स्वस्वभवपर्यन्तावलिकायामुदय एव केवलो नोदीरणा । आवलिकान्तर्गतस्य कर्मणः सर्वस्याप्युदीरणा तदत्ययात् इह मनुष्यायुष उदीरणाविरहेऽप्युदयकालः प्रागेव देशोनपूर्वकोटीप्रमाणमुक्तस्ततो मनुष्यायुषो मिथ्यादृष्ट्यादीनां पर्यन्तावलिकायामुदीरणाविरहेऽपि य उदयकाल आवलिकामात्रः स तदन्तर्गत एव वेदितव्य इति पृथङ्नोक्तः । पूर्वकोट्यभिधाने ह्यावलिकामात्रं तदेकदेशतया भूतसामर्थ्यात् उक्तमवशेषं शेषाणां तु प्रकृतीनां यावदुदयस्तावदुदीरणा यावदुदीरणा तावदुदय इति तदेव दर्शितः प्रकृत्युदये उदीरणातो विशेषः । संप्रत्यत्रैव साद्यादिप्ररूपणा कर्तव्या सा च द्विधा मूलप्रकृतिविषया उत्तरप्रकृतिविषया च

तां द्विविधामपि चिकीर्षुराह ।

मोहे चउहा तिविहे, वोससत्तएहमूलपगईण ।
मिच्छत्तउदयऊहा, अधुवधुवाणं दुविहतिविहो ॥

मोहो मोहनीयस्य कर्मण उदयश्चतुर्धा चतुःप्रकारस्तद्यथा सादिरनादिरध्रुवो ध्रुवश्च । तथाहि-उपशान्तगुणस्थानका प्रतिपातिनो भवेत् सादिस्ततस्तत्स्थानमप्राप्तस्यानादिः । ध्रुवाध्रुवावभव्यभव्यापेक्षया, अवशेषाणां सप्तानां मूलप्रकृतीनामुदयस्त्रिविधस्त्रिप्रकारस्तद्यथाऽनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्च । तथाहि-ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायाणामुदयः क्षीणमोहान्त्यसमयं यावत् वेदनीयनामगोत्रायुषां सयोगान्त्यसमयम् । न च क्षीणे भूयः प्रादुर्भवति ततः एतासां सप्तानामप्युदयोऽनादिर्भव्यानामध्रुवः क्षपकश्रेण्यामाह । यथोक्तकाले तथा उदयव्यवच्छेदभावादभव्यानां ध्रुवः कदाचिदपि व्यवच्छेदासंभवात् । कृता मूलप्रकृतिषु साद्यादिप्ररूपणा । सांप्रतमुत्तरप्रकृतिभूतां करोति (मिच्छत्तुदउइत्यादि) मिथ्यात्वस्योदयश्चतुर्धा चतुष्प्रकारस्तद्यथा सादिरनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्च । तत्र सम्यक्त्वात्प्रतिपतितस्य भवेत् सादिस्ततस्तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिर्ध्रुवाध्रुवावभव्यभव्यापेक्षया । तथा अध्रुवाणामध्रुवोदयानां प्रकृतीनामुदयो द्विविधो द्विप्रकारस्तद्यथा । सादिरध्रुवश्च । सा च साद्यध्रुवता अध्रुवोदयत्वभावनीया । तथा ध्रुवाणां ध्रुवोदयानां प्रकृतीनां प्रागुक्तस्वरूपाणां मिथ्यात्ववर्ज्यशेषसप्तचत्वारिंशत्प्रकृतीनामुदयस्त्रिप्रकारस्तद्यथा अनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्च तथाहि घातिध्रुवोदयानां प्रकृतीनां क्षीणमोहगुणस्थानकचरमसमयः यावदुदयानाम ध्रुवोदयानामयोग्यं न समयस्ततस्तत्स्थानमप्राप्तानां सर्वेषामपि संसारजीवानामुदयो ध्रुवोदयो नाम नादिध्रुवाध्रुवौ प्राग्वत् । उक्तः प्रकृत्युदयः

(२) सम्प्रति स्थित्युदयमाह-

उदओ ठिइक्खएणं, संपत्तीए सभावतो पढमो ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सति तम्मिजावत्तीओ, पओगउदीरणा उदओ ॥

इह उदयो द्विधा। तद्यथा स्थितिक्षयेण प्रयोगेण वा। तत्र स्थितिरबाध्यकालरूपा तस्याः क्षयेण इत्यकेआकालमबलावरूपाणामुदयहेतूनामप्राप्तौ सत्यां यः स्वभावत उदयः स स्थितिक्षयेणोदय उच्यते। यो पुनस्तस्मिन्नुदये प्रवर्तमाने सति प्रयोगत उदीरणाकरणरूपेण प्रयोगेण दलिकमाकृष्यानुभवति स द्वितीय उदीरणोदयाभिधान उच्यते। स च उदयसामान्यतो द्विधा। तद्यथा- जघन्य उत्कृष्टश्च। तत्रोत्कृष्टस्थित्युदीरणाद्युत्कृष्टस्थित्युदयस्थित्यान्यधिकस्तथा चाह—

उदीरणाजोग्गाणं, अंइदिट्ठिइए य जोग्गो उ ।
हस्सुदएगट्ठिइणं, निद्दाणा सगिलाणए ॥

उदीरणायोग्यानामुत्कृष्टस्थितीनां प्रकृतीनामुदीरणायोग्येभ्यः स्थितिभ्यः उदययोग्याः स्थितय एकया उदययोग्यया स्थित्या अभ्यधिका वेदितव्याः। तथा ह्युत्कृष्टायां स्थितौ बध्यमानायामबधिकालेऽपि यावद्दलिकं प्ररूपयति तथा बन्धावलिकायामतीतायामनन्तरस्थितौ विपाकोदयेन वर्तमान उदयावलिकान्त उपरिवर्तिनीः सर्वा अपि स्थितीरुदीरयति उदीर्य च वेदयते ततो बन्धावलिकाद्वीनयोः शेषयोः सर्वस्या अपि स्थितेरुदयोदीरणे तुल्ये वेद्यमानायां च स्थितौ उदीरणा न प्रवर्तते किन्तूदय एव केवलस्ततो वेद्यमानायां समयमात्रस्थितिभ्योऽधिका उत्कृष्टस्थित्युदीरणा। तत उत्कृष्टस्थित्युदयाबन्धाधाबलिकोदयावलिकादीनामानुत्कृष्टस्थित्युदय उदयोत्कृष्टप्रधानप्रकृतीः वेदितव्याः। शेषाणां तु यथायोगं तत्राप्युक्तनीत्या उदयस्थित्याऽभ्यधिकोऽवगन्तव्यः। संप्रति जघन्यस्थित्युदये विशेषमाह। (हस्सुदएइत्यादि) प्रागुक्तानां मनुष्यगतिपञ्चेन्द्रियजातित्रसबादरपर्याप्तसुभगादेययशःकीर्तितीर्थकरनामोच्चैर्गोत्रायुश्चतुष्टयसातासातवेदनीयनिद्रापञ्चकज्ञानावरणपञ्चकान्तरायपञ्चकदर्शनावरणचतुष्टयसंज्वलनलोभवेदत्रयसम्यक्त्वमिथ्यात्वरूपाणामेकचत्वारिंशत्संख्याकानां प्रकृतीनां निद्रापञ्चकोनानां सतीनां षट्त्रिंशत्संख्यानां न्हस्वो जघन्यः स्थित्युदय एकस्थितिरवसेया। निद्रायां पुनरेकैकस्थितीनां समये वेदितव्यः। किमुक्तं भवति। उक्तरूपाणां षट्त्रिंशत्प्रकृतीनां जघन्यः स्थित्युदयः समयमात्रैकस्थित्युदयप्रमाणो वेदितव्य इति। समयमात्रा चैका स्थितिश्चरमा स्थितिरवसेया। निद्रापञ्चकस्य ह्युदीरणाया अभावेऽपि शरीरपर्याप्त्यनन्तरं विपाकोदयकाले अपवर्तनाऽपि प्रवर्तते। तत एका स्थितिर्न प्राप्यते इति। तदर्जनशेषं तु सर्वमपि साद्यादिप्ररूपणादिकं स्थित्युदीरणायामेव निरवशेषमवगन्तव्यम्। उक्तः स्थित्युदयः ॥

(३) सम्प्रत्यनुभागोदयमाह ।

अणुजागुदओ वि उदीरणा–ए तुल्लो जहण्णए नवरं ।
आवलिगंतेन सम्म–त्तं वेयखीणंतलोभाणं ॥

अनुभागोदयोऽप्युदीरणायास्तुल्यो यथानुभागोदीरणा सप्रपञ्चमत्र वक्ष्यते तथाऽनुभागोदयोऽपि वक्तव्य इति भावः। किं सर्वथा साम्यमिति चेदत आह। नवरमयं विशेषोऽजघन्यमनुभागोदयं सम्यक्त्ववेदानां क्षीणान्तानां क्षीणमोहगुणस्थानकपर्यवसानानां ज्ञानावरणपञ्चकान्तरायदर्शनावरणचतुष्टयरूपाणां चतुर्दशानां प्रकृतीनां संज्वलनलोभस्य च आवलिकान्ते जानीयात्। इयमत्र भावना। ज्ञानावरणपञ्चकान्तरायपञ्चकदर्शनावरणचतुष्टयवेदत्रयसंज्वलनलोभसम्यक्त्वरूपाणामेकोनविंशतिप्रकृतीनां स्वस्वपर्यवसानसमये उदीरणाया व्यवच्छेदे सति परत आवलिकां गत्वा आवलिकाचरमसमये जघन्यानुभागोदयस्य प्राप्यमाणत्वादिति। तदेवमुक्तोऽनुभागोदयः। पं० सं० ।

(४) संप्रति प्रदेशोदयाभिधानावसरस्तत्र चेमौ अर्थाधिकारौ- तद्यथा साद्यनादिप्ररूपणास्वामित्वं। साद्यनादिप्ररूपणा द्विविधा। मूलप्रकृतिविषया उत्तरप्रकृतिविषया च। तत्र मूलप्रकृतिविषयसाद्यनादिप्ररूपणार्थमाह।

अजहण्णाणुक्कोसा, चउव्विहा छिएहचउव्विहा मोहे ।
आउस्स साइअधुवा, सेसविगप्पा य सव्वेवि । ३५३ ।

मोहनीयायुर्वर्जानां षण्णां कर्मणामजघन्यः प्रदेशोऽयं चतुर्विधस्तद्यथा सादिरनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्च। तथाहि कश्चित् क्षपितकर्मांशो देवलोके देवो जातः स च तत्र संक्लिष्टो भूत्वा उत्कृष्टां स्थितिं बध्नन् उत्कृष्टप्रदेशाग्रमुद्वर्तयति ततो बन्धावसाने कालं कृत्वा एकेन्द्रियेषु उत्पन्नस्तस्य प्रथमसमये प्रागुक्तानां षण्णां कर्मणां जघन्यप्रदेशोदयः। स चैकसामायिक इति कृत्वा सादिरनादिर्ध्रुवश्च। ततोऽन्यः सर्वोऽप्यजघन्यः सोऽपि तस्य द्वितीयसमये प्रवृत् सादिः तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिर्ध्रुवाध्रुवौ पूर्ववत्। तथा तेषामेव षण्णां कर्मणामनुत्कृष्टः प्रदेशोदयश्चिधा त्रिप्रकारस्तद्यथा अनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्च। तथाहि अमीषां षण्णां कर्मणामनुत्कृष्टः प्रदेशोदयः प्रागुक्तस्वरूपस्य गुणितकर्मांशस्य स्वस्वोदयान्तगुणश्रेणिशिरसि वर्तमानस्य प्राप्यते सचैकं सामायिक इति कृत्वा सादिरध्रुवश्च। ततोऽन्यः सर्वोऽप्यनुत्कृष्टः स चानादिः सदैव भावात्। ध्रुवाध्रुवौ पूर्ववत्। तथा मोहे मोहनीये अजघन्योत्कृष्टश्च प्रदेशोदयश्चतुर्विधस्तद्यथा सादिरनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्च। तथाहि- क्षपितकर्मांशस्यान्तरकरणे कृते अन्तरकरणे पर्यन्तसमयविगोपुच्छाकारसंस्थितावलिकामात्रदलिकान्तसमये मोहनीयस्य जघन्यप्रदेशोदयः। स चैकसामायिक इति कृत्वा सादिरध्रुवश्च। ततोऽन्यः सर्वोऽप्यजघन्यः सोऽपि ततो द्वितीयसमये प्रवृत् सादिः तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादि ध्रुवाध्रुवौ पूर्ववत्। तथा गुणितकर्मांशस्य सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानकान्तसमये उत्कृष्टप्रदेशोदयः। स चैकसामायिक इति कृत्वा सादिरध्रुवश्च ततोऽन्यः सर्वोऽप्यनुत्कृष्टः स चोपशमश्रेणितः प्रतिपतितो भवन् सादिस्तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिर्ध्रुवाध्रुवौ पूर्ववत्। आयुषि चत्वारोऽपि भेदा उत्कृष्टजघन्यरूपाः साद्यध्रुवाः। चतुर्णामपि भेदानां यथायोगं नियतकालं भावात्। तथा सर्वेषां कर्मणां प्रागुक्तानां षण्णां मोहनीयस्य उक्तशेषौ विकल्पौ उत्कृष्टजघन्यरूपौ साद्यध्रुवौ तौ च प्रागेव भावितौ कृता मूलप्रकृतीनां साद्यनादिप्ररूपणा।

संप्रत्युत्तरप्रकृतीनां चिकीर्षुराह।

अजहण्णाणुक्कोसो, सगयाला एगचउतिहा चउहा ।
मिच्छत्ते सेसाणं, दुविहा सव्वे य सेसाणं । ३५४ ।

तैजससप्तकवर्णादिविंशतिस्थिरास्थिरनिर्माणागुरुलघुशुभाशुभज्ञानावरणपञ्चकान्तरायपञ्चकदर्शनावरणचतुष्टयरूपाणां सप्तचत्वारिंशत्प्रकृतीनामजघन्यप्रदेशोदयश्चतुर्विधस्तद्यथा सादिरनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्च। तथाहि–क्षपितकर्मांशो देव उत्कृष्टे संक्लेशे वर्तमान उत्कृष्टां स्थितिं बध्नन् उत्कृष्टप्रदेशमुद्वर्तयति। ततो बन्धावसाने कालं कृत्वा एकेन्द्रियेषूत्पद्यते तस्य प्रथमसमये प्रागुक्तानां सप्तचत्वारिंशत्प्रकृतीनां जघन्यप्रदेशोदयः। नवरमाधिकृत्य ज्ञानावरणावधिदर्शनावरणयोर्बन्धावलिकाचरमसमये देवस्य जघन्यप्रदेशोदये वेदितव्यः। सचैकसामायिक इति कृत्वा सादिरध्रुवश्च ततोऽन्यः सर्वोऽप्यजघन्यः। सच द्वितीयसमये प्रवृत् सादिः।

Jain Education International　　For Private & Personal Use Only　　www.jainelibrary.org

तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिः । ध्रुवाध्रुवौ पूर्ववत् । तथा अमूषामेव सप्तचत्वारिंशत् प्रकृतीनामुत्कृष्टः प्रदेशोदयः । स चैकसामायिक इति कृत्वा सादिरध्रुवश्च ततोऽन्यः सर्वोऽप्यनुत्कृष्टः स चानादिः सदैव भावात् । ध्रुवाध्रुवौ पूर्ववत् । तथा मिथ्यात्वे मिथ्यात्वस्य जघन्योऽनुत्कृष्टश्च प्रदेशोदयश्चतुर्विधः तद्यथा सादिरनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्च । तथाहि-क्षपितकर्मांशस्य प्रथमसम्यक्त्वमुत्पादयतः कृतान्तरकरणस्य औपशमिकस्य सम्यक्त्वात्प्रच्युतस्य मिथ्यात्वं गतस्यान्तरकरणपर्यन्तभाविगोपुच्छाकारसंस्थितावलिकामात्रदलिकान्तसमये वर्तमानस्य जघन्यतः प्रदेशोदयः स चैकसामायिक इति कृत्वा सादिरध्रुवश्च ततोन्यः सर्वोऽप्यजघन्यः सोपि द्वितीयसमये भवन् सादिः वेदकसम्यक्त्वाद्वा प्रतिपतितः सादिः तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिः ध्रुवाध्रुवौ पूर्ववत् । तथा कश्चिद्गुणितकर्मांशो यदा देशविरतिगुणश्रेण्यां वर्तमानः सर्वविरतिं प्रतिपद्यते ततस्तन्निमित्तां गुणश्रेणिं करोतीति कृत्वा च तावद्गतो यावत् द्वयोर्गुणश्रेण्योर्मस्तके तदानीं च कश्चिन्मिथ्यात्वं गच्छति । ततस्तस्य मिथ्यात्वस्योत्कृष्टः प्रदेशोदयः स चैकसामायिक इति कृत्वा सादिरध्रुवश्च ततोऽन्यः सर्वोऽप्यनुत्कृष्टः सोऽपि ततो द्वितीयसमये भवन् सादिः वेदकसम्यक्त्वाद्वा प्रतिपतति सादिः तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिः ध्रुवाध्रुवौ पूर्ववत् । एतासां च सप्तचत्वारिंशत्प्रकृतीनां मिथ्यात्वस्य च उक्तशेषौ विकल्पौ जघन्योत्कृष्टरूपौ द्विधा द्विप्रकारौ तद्यथा सादी अध्रुवौ तौ च भावितावेव शेषाणामध्रुवोदयानां प्रकृतीनां दशोत्तरशतसंख्यानां सर्वेऽपि विकल्पा जघन्याजघन्योत्कृष्टानुत्कृष्टरूपा द्विधा ज्ञातव्याः तद्यथा साद्योऽध्रुवाश्च सा च साद्यध्रुवता च अध्रुवोदयत्वादवसेया कृता साद्यनादिप्ररूपणा ।

सम्प्रति स्वामित्वमभ्यभिधानीयं तच्च द्विधा उत्कृष्टप्रदेशोदयस्वामित्वं जघन्यप्रदेशोदयस्वामित्वं च । तत्रोत्कृष्टप्रदेशोदयस्वामित्वप्रतिपादनार्थं संभवतीति गुणश्रेणिः सर्वा अपि प्ररूपयति ॥

सम्मत्तुप्पासावि य, विरए संजोयणाविणासे य ।
दंसणमोहक्खवगे, कसायओ सामगुवसंते ॥ ३९५ ॥
खवगे य खीणमोहे, जिणे य डुविहे असंखगुणसेढी ।
तदओ तव्विवरीओ, कालो संखेज्जगुणसेढी ॥ ३९६ ॥

इह एकादशगुणश्रेणयः तद्यथा सम्यक्त्वोत्पादे प्रथमा, द्वितीया श्रावके देशविरततृतीया विरते सर्वविरते, प्रमत्ते चतुर्थी, संयोजनानामनन्तानुबन्धिनां विसंयोजने पञ्चमी, दर्शनमोहनीयतृतीयक्षपणे षष्ठी, चारित्रमोहनीयोपशमके सप्तमी, उपशान्तमोहनीये अष्टमी, मोहनीयक्षपके नवमी, क्षीणमोहे दशमी, सयोगिकेवलिनि अयोगिकेवलिनित्येकादशीति (असंखगुणसेढीउदयओत्ति) सर्वस्तोकसम्यक्त्वोत्पादगुणश्रेण्यां दलिकं ततोऽपि देशविरतिगुणश्रेण्यामसंख्येयगुणं ततोऽपि सर्वविरतिगुणश्रेण्यामसंख्येयगुणमेवं तावद्वाच्यं यावदयोगिकेवलिगुणश्रेण्यां दलिकमसंख्येयगुणं तस्मात् प्रदेशोदयमप्याश्रित्य एता गुणश्रेणयो यथाक्रममसंख्येयगुणा वक्तव्याः (तव्विवरीओत्ति) सर्वास्वपि एतासु गुणश्रेणिषु कालस्तद्विपरीत उदयविपरीतः संख्येयगुणश्रेण्या तद्यथा अयोगिकेवलिगुणश्रेणिकालोऽसंख्येयगुण एवं तावद्वाच्यं यावत् सम्यक्त्वोत्पादगुणश्रेणिकालः संख्येयः । गुणस्थापना एषा सम्यक्त्वोत्पादगुणश्रेणिः । पुनर्यथोत्तरमसंख्येयगुणदलिकाकालतश्च संख्येयगुणाः उपरिष्टाच्च पृथक्त्वेन यथोत्तरं विशाला विशालतराः । अथोच्यते कथं दलिकं यथोत्तरमसंख्येयगुणं प्राप्यते उच्यते । सम्यक्त्वमिह ह्युत्पादयन् मिथ्यादृष्टिर्भवति ततस्तस्य स्तोकं गुणश्रेणिदलिकं सम्यक्त्वोत्पत्तौ सत्यां पुनः प्रागुक्तगुणश्रेण्यपेक्षया असंख्येयगुणदलिका गुणश्रेणिः विशुद्धत्वात् ततोऽपि सर्वविरतस्य गुणश्रेणिरसंख्येयगुणदलिका तस्यातिविशुद्धत्वात् । एवमुत्तरोत्तरविशुद्धप्रकर्षवशात् यथोक्तमसंख्येयगुणदलिका भावनीया ॥

संप्रति का गुणश्रेणिः कस्यां गतौ प्राप्यते इत्येतन्निरूपणार्थमाह ।

तिन्नविमपढमगिओ, मिच्छत्तगए वि होज्ज अभवे ॥
पगयं तु गुणियकम्मे, गुणसेढी सीसगाणुदये ॥ ३९७ ॥

आद्यास्तिस्रो गुणश्रेणयः सम्यक्त्वोत्पाददेशविरतिसर्वविरतिनिमित्ता झटित्येव मिथ्यात्वं गतस्य अप्रशस्तेन च मरणेन झटित्येव मृतस्य अन्यभवे नारकादिरूपपराभवे किञ्चित्कालमुदयमाश्रित्य प्राप्यन्ते शेषास्तु गुणश्रेणयः परभवनारकादिरूपे न प्राप्यन्ते नारकादिभवो हि अप्रशस्ते मरणे न प्राप्यते न च शेषासु गुणश्रेणिषु सतीष्वप्रशस्तमरणसंभवः किन्तु क्षीणास्वेव । तथा चोक्तम् । "उवसमगुणाओ पढमा, मिच्छत्तगयम्मि आइमा तिन्नि । लब्भंति न सेसा साओ, जं हीणासु असुभमरणं" तथा प्रकृतमत्र उत्कृष्टप्रदेशोदयस्वामित्वे गुणितकर्मांशेन गुणश्रेणिशिरसामुदये वर्तमानेन ।

आवरणविग्घमोहाणं, जिणोदइयाण वा वि नियगंते ।
लहुखवणाए ओहीण-णो हि लद्धिस्स उक्कस्स । ३९८ ।

आवरणं पञ्चप्रकारं ज्ञानावरणं चतुःप्रकारं दर्शनावरणं (विग्घत्ति) पञ्चप्रकारमन्तरायमेतासां चतुर्दशप्रकृतीनां लघुक्षपणायां शीघ्रक्षपणायामर्थमभ्युद्यतस्य । द्विविधा हि क्षपणा लघुक्षपणा चिरक्षपणा च । तत्र योऽष्टवार्षिक एव सप्तमासाभ्यधिकं संयमं प्रतिपन्नस्तत्प्रतिपत्त्यनन्तरं चान्तर्मुहूर्तेन क्षपकश्रेणिमारभते तस्य या क्षपणा सा लघुक्षपणा । यस्तु प्रभूतेन कालेन संयमं प्रतिपद्यते संयमप्रतिपत्तिरप्यूर्ध्वं प्रभूतेन कालेन क्षपकगुणश्रेणिमारभते तस्य या क्षपणा सा चिरक्षपणा तया च प्रभूताः पुद्गलाः परिसटन्ति स्तोका एव च शेषीभवन्ति ततो न तया उत्कृष्टः प्रदेशोदयो लभ्यते । उक्तं लघुक्षपणया अभ्युत्थितस्येति तस्या गुणितकर्मांशस्य क्षीणमोहगुणस्थानकं चरमसमये गुणश्रेणिशिरसि वर्तमानस्योत्कृष्टः प्रदेशोदयो भवति नवरम् । (ओहीणणोहिलद्धिस्सति) अवध्योऽवधिज्ञानमुत्पादयतो बहवः पुद्गलाः परिक्षीयन्ते ततो नावधियुक्तस्योत्कृष्टप्रदेशोदयलब्ध्यभाव इत्यनवधिलब्धियुक्तस्येत्युक्तम् । तथा मोहानां मोहनीयानां प्रकृतीनां सम्यक्त्वसंज्वलनचतुष्टयवेदनयाख्यातमष्टानां गुणितकर्मांशस्य क्षपकस्य स्वस्वोदयचरमसमये उत्कृष्टः प्रदेशोदयः । तथा जिने केवलिनि उदयो यासां ता जिनोदयकास्तासां मध्ये औदारिकसप्तकतैजससप्तकसंस्थानषट्कप्रथमसंहननवर्णादिविंशतिपराघातोपघातादिगुरुलघुविहायोगतिद्विकपर्याप्तप्रत्येकस्थिरास्थिरशुभाशुभनिर्माणरूपाणां द्विपञ्चाशत्प्रकृतीनां गुणितकर्मांशस्यायोगिकेवलिगुणस्थानकचरमसमये उत्कृष्टः प्रदेशोदयः सुस्वरदुःस्वरनिरोधकालोच्छ्वासनाम्नः पुनरुच्छ्वासनिरोधकाले तथा अन्यतरवेदनीयमनुष्यायुर्मनुष्यगतिपञ्चेन्द्रियजातित्रसबादरपर्याप्तसुभगादेययशःकीर्तितीर्थकरोच्चैर्गोत्राणां द्वादशप्रकृतीनां गुणितकर्मांशस्यायोगिकेवलिनश्चरमसमये उत्कृष्टः प्रदेशोदयः ।

उवसंतपढमगुणसेढीए, निद्दाडुगस्स तस्सेव ।
पावइ सीसगमुवयंति, जाव देवस्स सुरनवगं । ३९९ ।

उपशान्तकषायस्यात्मीयप्रथमगुणश्रेणीशिरसि वर्तमानस्य सुरनवकस्य वैक्रियसप्तकदेवद्विकरूपस्योत्कृष्टः प्रदेशोदयः । तथास्यैवोपशान्तकषायस्यात्मीयप्रथमगुणश्रेणीशीर्षकोदयानन्तरसमये प्राप्यतीति तस्मिन् पाश्चात्यसमये जाते देवस्य ततः स्वप्रथमगु-

णश्रेणीशिरसि वर्तमानस्य वैक्रियसप्तकदेवद्धिकरूपस्योत्कृष्टः प्रदेशोदयः।

मिच्छत्ती मीसाणं-ताणुबंधअसमत्थीण मिट्ठीण ।

तिरिउदए गंताण य, बिइया तइया य गुणसेढी ॥४००॥

इह केनचित् देशविरतेन सता देशविरतिप्रत्यया गुणश्रेणिः कृता ततः संयमं प्रतिपन्नस्ततः संयमप्रत्यया गुणश्रेणिः कृता ततो यस्मिन्काले द्वयोरपि गुणश्रेण्योः शिरसि एकत्र मिलतः तस्मिन् काले वर्तमानो गुणितकर्मांशः कश्चिन्मिथ्यात्वं प्रतिपद्यते तस्य तदा मिथ्यात्वानन्तानुबन्धिनामुत्कृष्टः प्रदेशोदयः।यदि पुनः सम्यग्मिथ्यात्वं प्रतिपन्नस्तर्हि २ सम्यङ्मिथ्यात्वस्य स्त्यानर्द्धित्रिकस्य पुनर्मिथ्यात्वं गतस्यागतस्य वा उत्कृष्टःप्रदेशोदयो वाच्यः। यदि स्त्यानर्द्धित्रिकस्य प्रमत्तस्य संयतस्याप्युदयः प्राप्यते तथा तिर्यक्षु इव उदय एकान्तेन यासां तास्तिर्यगुदयैकान्ता एकद्वित्रिचतुरिन्द्रियस्थावरसूक्ष्मसाधारणनामानस्तयोः पर्याप्तनाम्नश्च तिर्यग्भवप्राप्तौ सत्यां देशविरतिसर्वविरतिगुणश्रेणिशिरसोरेकत्र योगे वर्तमानस्य मिथ्यादृष्टेः स्वस्वोदये वर्तमानस्योत्कृष्टः प्रदेशोदयः।

अंतरकरणे करणं, होहिन्ति जयदेवस्स तं मुहुत्तं तो ।

अट्ठण्हकसायाणं, छण्हं पि य नो कसायाणं ॥४०१॥

इह कश्चिदुपशमश्रेणिं प्रतिपन्नोऽनन्तरसमये अन्तरकरणं भविष्यतीति तस्मिन् पाश्चात्यसमये कालं कृत्वा देवो जातः तस्य देवस्य उत्पत्त्यन्तर्मुहूर्त्तात् परतो गुणश्रेणिशिरसोरेकत्र योगे वर्तमानस्य मिथ्यादृष्टेः स्वस्वोदये वर्तमानस्योत्कृष्टः प्रदेशोदयः। इह कश्चित् उपशमश्रेणिं प्रतिपन्नोऽनन्तरसमये अन्तरकरणं भविष्यतीति एतस्मिन् पाश्चात्यसमये कालं कृत्वा देवो जातः तस्य देवस्य उत्पत्त्यनन्तरमन्तर्मुहूर्तात्परतो गुणश्रेणिशिरसि वर्तमानस्यप्रत्याख्यानाप्रत्याख्यानावरणकषायाष्टके वेदत्रिकवर्जानां षण्णां नोकषायाणामुत्कृष्टः प्रदेशोदयः।

हस्सठिई बंधित्ता, अद्धा जोगाइठिइनिसग्गेणं ।

उक्कस्सपएपढमो-देयम्मि सुरनारगाऊणं । ४०२ ।

अद्धा बन्धकालयोगमनोवाक्कायनिमित्तं वीर्यम् आदिस्थितिः प्रथमा स्थितिः तस्यां दलिकनिक्षेपः आदिस्थितिदलिकनिक्षेपः। एतेषामुत्कृष्टपदे सति किमुक्तं भवति उत्कृष्टेन बन्धेन कालेन उत्कृष्टे योगे वर्तमानो ह्रस्वां जघन्यां स्थितिं बध्वा प्रथमस्थितौ च दलिके निक्षेपस्तमुत्कृष्टं कृत्वा मृतः सन् देवो नारको जातः तस्य प्रथमोदये प्रथमस्थित्युदये वर्तमानस्य देवायुषो नारकस्य नारकायुष उत्कृष्टः प्रदेशोदयः। (अद्धाजोगुत्ति) भोगभूमिषु तीर्यक्षु मनुष्येषु वा विषये कश्चित् तीर्यगायुः कश्चित् मनुष्यायुरुत्कृष्टं पल्योपमस्थितिकं बध्वा लघु शीघ्रं च मृत्वा त्रिपल्योपमायुष्के तीर्यक्षु परो मनुष्येषु मध्ये समुत्पन्नस्तत्र च सर्वाल्पजीवितमन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणं वर्जयित्वा अन्तर्मुहूर्तमेकमपवृत्त्येत्यर्थः शेषमशेषमपि स्वस्त्रापवर्त्तनाकरणेनापवर्त्त्यतस्ततोऽपवर्तमानानन्तरप्रथमसमयस्तयोस्तिर्यङ्मनुष्ययोर्यथासंख्यं तिर्यगपि मनुष्यायुषोरुत्कृष्टः प्रदेशोदयः।

दूहगणाएज्जजसगई, दुग अणुपुव्वि तियसगनीयाणं ।

दंसणमोहे खवणे, देसविरइए व गुणसेढी ॥ ४०३ ॥

इहाविरतसम्यग्दृष्टिर्दर्शनमोहनीयत्रितयं क्षपयितुमभ्युद्यतो गुणश्रेणिं करोति। ततः स एव देशविरतिप्रतिपन्नस्ततः सर्वविरतिनिमित्तां गुणश्रेणीं करोति। तत्करणपरिसमाप्तौ सत्यां संक्लिष्टो भूत्वा पुनरप्यविरतो जातः तस्य तिसृणामपि गुणश्रेणीनां शिरसि वर्तमानस्य तस्मिन्नेव भवे स्थितस्य दुर्भगानादेयायशःकीर्तिनीचैर्गोत्राणामुत्कृष्टप्रदेशोदयः। अथ तिर्यक्षु उत्पन्नस्तर्हि तस्य पूर्वोक्तानां तिर्यग्द्विकसहितानामुत्कृष्टप्रदेशोदयः मनुष्यो जातस्तर्हि मनुष्यानुपूर्वीसहितानामिति।

संघयणपंचगस्स य, बियादी तिन्नि होंति गुणसेढी ।

आहारगउज्जो वा-णुत्तरतणु अप्पमत्तस्स ॥ ४०४ ॥

इह कश्चिन्मनुष्यो देशविरतिप्रतिपन्नस्ततः सदेशविरतिप्रत्ययां गुणश्रेणिं करोति। यतः स एव विशुद्धिप्रकर्षवशतः सर्वविरतिप्रतिपन्नस्ततः सर्वविरतिप्रत्ययां गुणश्रेणिं करोति। ततः स एव तथाविधशुभयशसोऽनन्तानुबन्धिनां विसंयोजनायोस्थितस्ततस्तन्निमित्तां गुणश्रेणिं करोति। एवं द्वितीयादयस्तिस्रो गुणश्रेणयो भवन्ति ताश्च कृत्वा तासां शिरसि सुवर्तमानस्य प्रथमसंहननवर्जानां पञ्चानां संहननानां यथायोग्यमुदयप्राप्तानामुत्कृष्टप्रदेशोदयः तथा उत्तरतनौ शरीरे आहारके वर्त्तमानस्याप्रमत्तभावं गतस्य प्रथमगुणश्रेणिशिरसि वर्तमानस्याहारकसप्तकाख्योस्तयोरुत्कृष्टः प्रदेशोदयः।

वेइंदियमावएणो, कम्मं काऊण तस्सिमं खिप्पं ।

आयावस्स उ तव्वे, पढमसमयम्मि व वट्टंतो ॥ ४०५ ॥

गुणितकर्मांशः पञ्चेन्द्रियसम्यग्दृष्टिर्जातः सम्यक्त्वनिमित्तां गुणश्रेणिं कृतवान्। ततस्तस्यां गुणश्रेणितः प्रतिपतितो मिथ्यात्वं गत्वा द्वीन्द्रियमध्ये समुत्पन्नः तत्र च द्वीन्द्रियप्रायोग्यां स्थितिं मुक्त्वा शेषं सर्वमप्यपवर्त्तयति। ततोऽपि मृत्वा एकेन्द्रियो जातः। तत्र एकेन्द्रियसमां स्थितिं करोति शीघ्रमेव च शरीरपर्याप्तस्तस्य तद्वेदिन आतपवेदिनः खरबादरपृथिवीकायिकस्य शरीरपर्याप्त्यनन्तरप्रथमसमये आतपनाम्नः उत्कृष्टप्रदेशोदयः एकेन्द्रियो द्विन्द्रियस्थितिं झटित्येव स्वयोग्यां करोति न त्रीन्द्रियादिस्थितिमिति द्वीन्द्रियग्रहणम् तदेवमुक्त उत्कृष्टप्रदेशोदयस्वामी।

संप्रति जघन्यप्रदेशोदयस्वामित्वमभिधीयते ।

पयगं तु खवियकम्मे, जहन्नदेवट्ठिइं चिरमुहुत्ते ॥

सेसे मिच्छत्तगतो,अतिकिलट्ठो कालयं तु खविगए।४०६।

एगेंदियगो पढमे, समये वमईसु पावरणे ॥

केवलदुगमणपज्जव-चक्खुअचक्खूण आवरणा ॥४०७॥

जघन्यस्वामीति भावप्रधानोऽयं निर्देशःप्राकृतत्वाच्च ततः परस्याः सप्तम्या लुक् ततोऽयमर्थः।जघन्यप्रदेशोदयस्वामित्वे प्रकृतमधिकारः क्षपितकर्मांशेन सूत्रे चात्र सप्तमी तृतीयार्थे वदितव्या।तत्र कश्चित्क्षपितकर्मांशो देवो जघन्यस्थितिर्दशवर्षसहस्रायुरुत्पत्त्यनन्तरं मुहूर्तं गते सति सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते तच्च सम्यक्त्वं दशवर्षसहस्राणि देशोनानि यावत्परिपाल्य अन्तर्मुहूर्त्तावशेषे जीविते मिथ्यात्वं गतः स चातिसंक्लिष्टपरिणामो वक्ष्यमाणकर्मणामुत्कृष्टस्थितिबन्धमारभते प्रभूतं दलिकं तदानीमुद्वर्तयति तावद्यावदन्तर्मुहूर्तम्। ततः संक्लिष्टपरिणाम एव कालं कृत्वा एकेन्द्रियो जातस्तस्य प्रथमसमये मतिज्ञानावरणकेवलदर्शनावरणमनःपर्यवज्ञानावरणचक्षुर्ज्ञानावरणाचक्षुर्दर्शनावरणानां जघन्या प्रदेशोदीरणा स्तोका भवति यतस्तस्यानुभागोदीरणा बह्वी प्रवर्तते। यत्र चानुभागोदीरणा बह्वी तत्र स्तोका प्रदेशोदीरणा ततो "मिच्छत्तगतो अतिकिलिट्ठो" इत्याद्युक्तम् ॥

ओहीण संजमाउ, देवत्तगए यस्स मिच्छत्तं ॥

उक्कोसं बंधठिई बंधे, विकट्ठणा आलिगं गंतु ॥ ४०८ ॥

क्षपितकर्मांशः संयमं प्रतिपन्नः समुत्पन्नावधिज्ञानदर्शनोऽप्रति-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पतितावधिज्ञानदर्शन एष देवो जातस्तत्रचान्तर्मुहूर्ते गते मिथ्यात्वं प्रतिपन्नस्ततो मिथ्यात्वप्रत्ययेनोत्कृष्टां स्थितिं बध्नाति प्रभूतं दलिकं विकर्षयति उद्वर्त्तयति इत्यर्थः । तत आवलिकां गत्वा अतिक्रम्य बन्धावलिकायामतीतायामित्यर्थःअवध्योरवधिज्ञानावरणावधिदर्शनावरणावधिर्जघन्यः प्रदेशोदयः ॥

वेयणियंतरसोगा, चउहिव्व निद्दपलायस्स ॥

उक्कस्स ठिई बंधो, पडिजागा पवेइया नवरं ॥ ४०९ ॥

द्वयोर्वेदनीययोः सातासातयोः पञ्चानामन्तरायाणां शोकारत्युद्वेगौ[illegible]णां च जघन्यः प्रदेशोदयोऽवधिज्ञानावरणस्येव वेदितव्यो निद्राप्रचलयोरपि तथैव केवलमुत्कृष्टस्थिति बन्धात् प्रतिभग्नस्य प्रतिपतितस्य निद्राप्रचलयोरनुभावितुं लभ्यस्य चेति द्रष्टव्यम्। उत्कृष्टस्थिति बन्धो हि अतिशयेन संक्लिष्टस्य भवति नचातिसंक्लेशे वर्तमानस्य निद्रोदयसंभवस्तत उक्तमुत्कृष्टस्थितिबन्धात्प्रतिभग्नस्येति द्रष्टव्यम् ॥

वरिसवरतिरियथावर, नीयंपि मइसमं नवरं ।

तिन्नि निद्दानिद्दा, इंदिय पज्जत्तिपढमसमयम्मि ॥४१०॥

वर्षवरो नपुंसकवेदस्ततो नपुंसकवेदतिर्यग्गतिस्थावरनीचैर्गोत्राणां जघन्यः प्रदेशोदयो मतिज्ञानावरणस्येवास्य निद्रानिद्रादयोऽपि तिस्रः प्रकृतयो जघन्यप्रदेशोदयविषये मतिज्ञानावरणवत् भावनीयाः । नवरमिन्द्रियपर्याप्त्यापर्याप्तप्रदेशप्रथमसमये इति द्रष्टव्यम्। ततोऽनन्तरसमये उदीरणायाः संभवे जघन्यप्रदेशोदयासंभवात् ॥

दंसणमोहे तिविहे, उदीरणुदए य आलिगं गंतुं ॥

सत्तरह एवमेवं, उवसमित्ताण देवे ॥ ४११ ॥

क्षपितकर्मांशे तस्य औपशमिकस्य सम्यग्दृष्टेरौपशमिकसम्यक्त्वात्प्रच्यवमानस्य अन्तरकरणेन स्थितेन द्वितीयस्थितेन सकाशात्सम्यक्त्वादीनां दलिकानि समाकृष्ययान्यन्तराणि चरमसमये आवलिकामात्रभागे गोपुच्छाकारसंस्थाने रचितानि । तद्यथा- प्रथमसमये प्रभूतं दलिकं द्वितीयसमये विशेषहीनं तेषामुदयोदीरणोदय उच्यते तस्मिन् उदीरणोदये आवलिकामात्रं गत्वा आवलिका यावच्चरमसमये विशेषहीनं तेषामुदयोदीरणा उदय उच्यते तस्मिन् उदीरणोदये आवलिकामात्रं गत्वा आवलिकामात्रं यावच्चरमसमये विशेषहीनं समये सम्यक्त्वमिश्रमिथ्यात्वानां स्वस्वोदययुक्तस्य जघन्यप्रदेशोदयः । तथानन्तानुबन्धिवर्जद्वादशकषायवेदपुरुषवेदहास्यरतिभयजुगुप्सारूपाः सप्तदश प्रकृतीरुपशमय्य देवलोकं गत्वा एवमेवेति उदीरणोदयचरमसमये तासां सप्तदशप्रकृतीनां जघन्यः प्रदेशोदयः । आसां हि सप्तदशोपशमय्य देवलोकं गतस्य एवमेवेति उदीरणानामपि प्रकृतीनामन्तरकरणं कृत्वा देवलोकं गतः सन् प्रथमसमये एव द्वितीयस्थितेः सकाशात् दलिकमाकृष्योदयसमयादारभ्य गोपुच्छाकारं विरचयति । तद्यथा उदयसमये प्रभूतं, द्वितीयसमये विशेषहीनं तृतीयसमये जघन्यप्रदेशोदयो लभ्यते ॥

चउरुवसमित्तुपच्छा, संजोई य दीहकालसम्मत्ता ॥

मिच्छत्तगए आवलि-गाए संयोजयणाणं तु ॥ ४१२ ॥

चतुरो वारान् मोहनीयमुपशमय्य पश्चादन्तर्मुहूर्ते गते सति मिथ्यात्वं गतः ततोऽपि मिथ्यात्वप्रत्ययेनासंयोजनात् अनन्तानुबन्धिनो बध्नाति ततः सम्यक्त्वं गतस्तच्च दीर्घकालं द्वात्रिंशत्सागरोपमाणां शतं यावदनुपालयन् समयसम्यक्त्वप्रभावतः प्रभूतान् पुद्गलान् अनन्तानुबन्धिनां संबन्धिनः प्रदेशसंक्रमतः परिसादयति । ततः पुनरपि मिथ्यात्वं गतः मिथ्यात्वप्रत्ययेन च भूयोऽप्यनन्तानुबन्धिनो बध्नाति तस्या आवलिकाया बन्धावलिकायाश्चरमसमये पूर्वबद्धानामनन्तानुबन्धिन्यः जघन्यः प्रदेशोदय आवलिकायाश्चरमसमये इत्युक्तं संसारे चैकजीवस्य चतुष्कृत्व एव मोहनीयस्योपशमनो भवति न पञ्चकृत्वा इति चतुःकृत्वो ग्रहणम् । मोहोपशमनेन किं प्रयोजनमितिचेदुच्यते । इह मोहोपशमं कुर्वन् अप्रत्याख्यानादिकषायेण दलिकमन्यत्र गुणसंक्रमेण प्रभूतं संक्रमयति ततः क्षीणमोहे शेषाणां तेषामनन्तानुबन्धिषु बन्धकाले स्तोकमेव संक्रमयति ततो मोहोपशमग्रहणम् ।

इत्थीए संजमभवे, सव्वनिरुद्धम्मिगंतु मिच्छत्तं ।

देवीए लहुमिच्छी, जेट्ठठिई आलिगं गंतु ॥ ४१३ ॥

संयमेनोपलक्षितो भवः संयमभवस्तस्मिन् सर्वनिरुद्धे अन्तर्मुहूर्तावशेषे स्त्रिया मिथ्यात्वं गतायास्ततोऽनन्तरभवे देवीभूतायाः शीघ्रमेव पर्याप्तायाः उत्कृष्टस्थितिबन्धानन्तरमावलिकां गत्वा आवलिकायाश्चरमसमये स्त्रीवेदस्य जघन्यः प्रदेशोदयः । इयमत्र भावना । क्षपितकर्मांशा काचित् स्त्री देशोनां पूर्वकोटिं यावत्संयममनुपाल्य अन्तर्मुहूर्ते आयुषोऽवशेषे मिथ्यात्वं गत्वा अन्तरभवे देवी समुत्पन्ना शीघ्रमेव पर्याप्ता ततः उत्कृष्टे संक्लेशे वर्तमाना स्त्रीवेदस्योत्कृष्टां स्थितिं बध्नाति । पूर्वबद्धां च उद्वर्त्तयति तत उत्कृष्टबन्धारम्भे परतः आवलिकायाश्चरमसमये तस्याः स्त्रीवेदस्य जघन्यः प्रदेशोदयो भवति ।

अप्पद्धा जोगचियाणं, चउणुक्कस्सगठिईणं ते ।

उवरित्थोवनिसेगे, चिरंति वासाइ वेईणं ॥ ४१४ ॥

अल्पया बन्धाद्धया अल्पेन च योगेन चितानां बद्धानां चतुर्णामप्यायुषां ज्येष्ठस्थितीनामुत्कृष्टस्थितीनामन्ते यासौ अन्तिमे उपरि सर्वोपरितने समये सर्वस्तोकदलिकनिक्षेपे चिरकाले तीव्रासातवेदनया ह्यभिभूतानां क्षपितकर्मांशानां तत्तदायुर्वेदानां जघन्यप्रदेशोदयः तीव्रासातवेदनया ह्यभिभूतानां बहवः पुद्गलाः परिसटन्तीति कृत्वा तीव्रासातवेदग्रहणम् ।

संजोयणा विजोजिय, देवभवे जहन्नगे अइनिरुद्धे ।

बंधियउक्कस्स ठिई, गंतूणो गेंदिया सन्नी ॥ ४१५ ॥

सव्वलहुनरयगए, निरयगई तम्मि सव्वपज्जत्ते ।

पुण तेऽणु पुव्विउ य गई, तुल्ला नेया भवाइम्मि ॥ ४१६ ॥

संयोजनात् अनन्तानुबन्धिनो विसंयोगतः विसंयोजने हि शेषाणामपि कर्मणां भूयांसो पुद्गलाः परिसटन्ति इति तदुपादानं ततो जघन्यदेवत्वं प्राप्तः । तत्र चाभिनिरुद्धे पश्चिमे अन्तर्मुहूर्ते प्रतिपन्नमिथ्यात्व एकेन्द्रियप्रायोग्यां प्रकृतीनामुत्कृष्टां स्थितिं बध्वा सर्वसंक्लिष्ट एकेन्द्रियेषु उत्पन्नस्तत्र चान्तर्मुहूर्तं स्थित्वा असंज्ञिषु मध्ये समायातः । देवो हि मृत्वा नाऽसंज्ञिषु मध्ये समायातः गच्छतीति कृत्वा एकेन्द्रियग्रहणम् । ततो संज्ञिभवात् लघु शीघ्रं मृत्वा नारको जातः सर्वपर्याप्तिभिश्च शीघ्रं पर्याप्तस्तस्मिन् सर्वपर्याप्ति पर्याप्ते नारके नरकगतेर्जघन्यः प्रदेशोदयः । पर्याप्तस्य हि प्रभूताः प्रकृतयो विपाकोदयमायान्ति उदयमागताश्च स्तिबुकसंक्रमेण न संक्रामन्ति तेन प्रकृत्यन्तरदलिकसंक्रमाभावाज्जघन्यप्रदेशोदयः प्राप्यते इति "सव्वपज्जत्त" इत्युक्तम् । आनुपूर्व्यश्चतस्रोऽपि गतितुल्या भवन्ति स्वस्वगतितुल्या ज्ञेया ज्ञातव्याः केवलं भवादौ भवप्रथमसमये वेदितव्याः । तृतीयसमये अन्या अपि बन्धावलिकातीताः कर्मलता उदयमागच्छन्ति ततो भवप्रथमसमयग्रहणम् ।

देवगई ओहि समा, उवरिं उज्जो य वेयगो नाहे ।

आहारजाइअचिर, संजममणुपालिऊणं ते ॥ ४१७ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देवगतौ अवधिसमा ज्ञानावरणसमो अवधिज्ञानावरणस्येति च देवगतेरपि जघन्यप्रदेशोदयो द्रष्टव्यः । किं कारणमिति चेदुच्यते यावदुद्योतस्योदयो न भवति तावद्देवगतौ स्तिबुकसंक्रमो न भवति तत उद्योतवेदकग्रहणम् । उद्योतवेदकत्वंच पर्याप्तस्य भवति नापर्याप्तावस्थायां देवगतिर्जघन्यप्रदेशोदयः । तथा यश्चिरं कालं देशोनपूर्वकोटिरूपं यावत्संयममनुपाल्य अन्तिमे काले आहारकशरीरी जात उद्योतं च वेदयते तस्याहारकसप्तकस्याजघन्यप्रदेशोदयः चिरकालसंयमपरिपालने हि भूयांसः कर्मपुद्गलाः परिसाटिता भवन्तीति कृत्वा चिरकालं संयमग्रहणम् । उद्योतकरणग्रहणं प्रागुक्तमेवानुसर्त्तव्यम ॥ ४१७ ॥

सेसाणं चक्खुसमं, तमिव अन्नम्मि वा भवे अचिरा ।
तज्जोगा बहुगीउ, पदेययं तस्स ता ताओ ॥ ४१८ ॥

उक्तशेषाणां प्रकृतीनां चक्षुःसमं चक्षुर्दर्शनावरणसमं वक्तव्यं तावत् यावदेकेन्द्रियो जातस्ततो येषां कर्मणां तस्मिन्नेवैकेन्द्रियभवे उदयो विद्यते तेषां तत्रैव जघन्यप्रदेशोदयो वाच्यः । येषां तु कर्मणामनुजगतिद्वीन्द्रियादिजातिचतुष्टयाद्यसंस्थानपञ्चकौदारिकाङ्गोपाङ्गसंहननषट्कविहायोगतिद्विकत्रससुभगसुस्वरदुःस्वरादिरूपाणां न तत्रोदयसंभवस्तस्मेकेन्द्रियभवादुद्धृत्य तस्ततुदयायोग्येषु भवेषु उत्पन्नस्य तास्तास्तद्भवयोग्या बह्वीः प्रकृतीर्वेदनीयमानस्य तद्भवयोग्यबहुप्रकृतिर्वेदनं च पर्याप्तस्योपपद्यते ततः सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्तस्य जघन्यप्रदेशोदयः पर्याप्तस्याप्रभूताः बह्व्यः प्रकृतयः उदयमागच्छन्ति उदयप्राप्तानां च प्रकृतीनां स्तिबुकसंक्रमो न भवति तथा च सति विवक्षितप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशोदयो ज्ञेयः परतो गुणश्रेणीदलिकं प्रभूतमवाप्यते इति स न भवति । क० प्र० । पं० सं० ॥

(५) साम्प्रतमुदयस्य प्रायस्तत्समानत्वादुदीरणायाश्च लक्षणकथनपूर्वकं कस्मिन् गुणस्थाने कियन्त्यः प्रकृतयस्तस्य भगवतः क्षीणा इत्येतन्निर्दिदिक्षुराह ॥

उदओ विवागवेअण–मुदीरणा अपत्ति इह दुवीससयं ।
सत्तरसयमिच्छे, मीससम्मआहारजिणणुदया ॥ १३ ॥

इह कर्मपुद्गलानां यथा स्वस्थितिबद्धानामुदयसमयप्राप्तानां यद्विपाकेनानुभवनेन वेदनं स उदय उच्यते (उदीरणाअपत्तित्ति) कर्मपुद्गलानां यथा स्वस्थितिबद्धानां यदप्राप्तकाले वेदनमुदीरणा भण्यते (इहत्ति) इहोदये उदीरणायां च (दुवीससयंति) द्विविंशत्युत्तरं द्वाभ्यामधिकाविंशं शतं द्विविंशशतं मयूरव्यंसकादित्वात्समासस्तत्सामान्यतोऽधिक्रियते इति शेषः । सप्तदशशतमिच्छन्ति मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने उदये भवति । कथमित्याह । (मीससम्मआहारजिणणुदयंत्ति) मिश्रं च (सम्मित्ति) सम्यक्त्वं च (आहारत्ति) इहाहारकशब्देन सर्वत्राहारकशरीर आहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणमाहारकद्विकं गृह्यते ततः आहारकं च (जिणत्ति) जिननाम च मिश्रसम्यक्त्वाहारजिनास्तेषामनुदयात् । इदमत्र हृदयं मिश्रोदयस्तावत्सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थान एव भवति सम्यक्त्वोदयस्त्वविरतिसम्यग्दृष्ट्यादौ आहारकद्विकोदयः प्रमत्तादौ, जिननामोदयः सयोगिकेवल्यादौ, भवति । तत इदं प्रकृतिपञ्चकं द्वाविंशतिशतादपनीयते ततो मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने सप्तदशशतं भवतीति ॥ १३ ॥

सुहुमतिगायवमिच्छं, मिच्छंतमासणेइगारसयं ॥
निरयाणुपुव्विणुदया, उण थावरइगविगलअंतो ॥ १४ ॥

सूक्ष्मत्रिकं सूक्ष्मापर्याप्तसाधारणरूपम् आतपं च मिथ्यात्वं च सूक्ष्मत्रिकातपमिथ्यात्वं मिथ्यात्वे मिथ्यादृष्टावन्तो यस्य तन्मिथ्यात्वान्त एतत्प्रकृतिपञ्चकस्य मिथ्यात्वेऽन्तो भवतीत्यर्थः । अयमत्राशयः । सूक्ष्मनाम्नः उदयस्तु सूक्ष्मैकेन्द्रियेषु, अपर्याप्तनाम्नः सर्वेष्वपि अपर्याप्तकेषु, साधारणनाम्नोऽनन्तवनस्पतिषु, आतपनामोदयेषु, बादरपृथिवीकायिकेषु एव नचैतेषु स्थितो जीवः सास्वादनादित्व लभते नापि पूर्वप्रतिपन्नस्तेषूत्पद्यते सास्वादनस्तु यद्यपि बादरपर्याप्तैकेन्द्रियेषूत्पद्यते तथापि न तस्यातपनामोदयस्तत्रोत्पन्नमात्रस्यासमाप्तशरीरस्यैव सास्वादनत्वगमनात् समाप्ते च शरीरे तत्रातपनामोदयो भवति मिथ्यात्वोदयः पुनर्मिथ्यादृष्टावेव तेनैतासां पञ्चप्रकृतीनां मिथ्यादृष्ट्यावुदयस्यान्तस्तदिदं प्रकृतिपञ्चकं पूर्वोक्तं सप्तदशशतादपनीयते शेषं द्वादशशतं सास्वादने उदयं प्रतीत्य भवति । नरकानुपूर्व्यपनयने च एकादशशतं भवतीत्येतदेवाह । " सासणे इगारसयं नरयाणुपुव्विणुदयत्ति " सास्वादति एकादशशतमुदये भवति नरकानुपूर्व्येनुदयात् नरकानुपूर्व्या उदयो हि नरके वक्रेण गच्छतो जीवस्य भवति । न च सास्वादनो नरकं गच्छति यदुक्तं बृहत्कर्मस्तवभाष्ये " नरयाणुपुव्विउदए, सासण समम्मि होइ नहु उदओ । नरयम्मि जं न गच्छइ, अवणिज्जइ तेण सा तस्स ॥ " ततो नरकानुपूर्वी मिथ्यादृष्टिव्यवच्छिन्नसूक्ष्मत्रिकातपमिथ्यात्वलक्षणं प्रकृतिपञ्चकं च सप्तदशशतादपनीयते शेषं सास्वादने एकादशशतं भवतीति [२] (अणथावरइगविगलअंतुत्ति) (अणत्ति) अनन्तानुबन्धिनश्चत्वारः क्रोधमानमायालोभाः स्थावरनामा (इगत्ति) एकेन्द्रियजातिर्विकलाः पञ्चेन्द्रियजात्यपेक्षया असंपूर्णद्वीन्द्रियजातित्रीन्द्रियजातिचतुरिन्द्रियजातय इत्यर्थः । इत्येतासां नवानां प्रकृतीनां सास्वादनेऽन्त उदयमाश्रित्य भवति । इयमत्र भावना । अनन्ताऽनुबन्धिनामुदये हि सम्यक्त्वलाभ एव न भवति । यदाहुः श्रीभद्रबाहुस्वामिपादाः " पढमिल्लुयाण उदये, नियमा संजोयणा कसायाण । सम्मद्दंसणलंभं, भवसिद्धीया वि न लहंति " नापि सम्यग्मिथ्यात्वं कोऽप्यनन्तानुबन्ध्युदये गच्छति योऽपि पूर्वप्रतिपन्नसम्यक्त्वोऽनन्तानुबन्धिनामुदयं करोति सोऽपि सास्वादन एव भवतीत्युत्तरेष्वासामुदयाभावः । स्थावर एकेन्द्रियजातिविकलेन्द्रियजातयस्तु यथास्वमेकेन्द्रियविकलेन्द्रियवेद्या एव उत्तरगुणस्थानानि तु संज्ञिपञ्चेन्द्रिय एव प्रतिपद्यन्ते पूर्वप्रतिपन्नोऽपि पञ्चेन्द्रियेष्वेव गच्छतीत्युत्तरेष्वासामुदयाभाव इति ॥

मीसे सयमणुपुव्वी–णुदयामीसोदएण मीसंतो ।
चउसयमजए समा–णु पुव्विखेवा वि अकसाया ॥ १५ ॥

मिश्रे सम्यग्मिथ्यादृष्टौ शतमुदये भवति–कथमित्याह । (अणुपुव्वीणुदयत्ति) इहानुपूर्वीशब्देन नरानुपूर्वीतिर्यगानुपूर्वीदेवानुपूर्वीलक्षणा आनुपूर्वीत्रयी गृह्यते तस्या अनुदयान्मिश्रोदयेन च । अयमत्र भावः । नरकानुपूर्वी तावदुदयमाश्रित्य सास्वादने व्यवच्छिन्ना । इह सा न गृह्यते शेषमानुपूर्वीत्रिकं मिश्रदृष्टेर्नोदेति तस्य मरणाभावात् । " न सम्ममीसो कुणइ कालमिति " वचनात् मिश्रप्रकृतिः पुनरत्रोदये प्राप्यते । ततः सास्वादनव्यवच्छिन्नप्रकृतिनवकमानुपूर्वीत्रिकं च पूर्वोक्तैकादशशतादपनीयते शेषातिग्राति प्रकृतीनां नवनवतिः । तत्र मिश्रप्रकृतिप्रक्षेपे जातं शतमिति (मीसंतुत्ति) मिश्रगुणस्थाने मिश्रप्रकृतेरन्तो भवति । एतदुदये हि मिश्रदृष्टिरेव भवति नान्य इति [३] (चउसयमजए समाणुपुव्विखेवत्ति) चतुर्भिरधिकं शतं चतुःशतमुदये भवति केत्याह । अयते अविरतिसम्यग्दृष्टौ कथमित्याह । (सम्मत्ति) सम्यक्त्वम (अणुपुव्वित्ति) आनुपूर्व्यश्चतस्रः तासां क्षेपात्प्रक्षेपात् । इदमुक्तं भवति पूर्वोक्तशतान्मिश्रगुणस्थाने-

च्यवच्छिन्नैका मिश्रप्रकृतिरपनीयते शेषा नवनवतिस्तत्र सम्यक्त्वानुपूर्वीचतुष्कलक्षणं प्रकृतिपञ्चकं क्षिप्यते जातं चतुःशतं यतः सम्यक्त्वमत्र गुण उदयत एव तथा विरतसम्यग्दृशां यथास्वं चतस्रोऽप्यानुपूर्व्य इति (विलियकसायत्ति) द्वितीयकषाया अप्रत्याख्यानावरणाश्चत्वारः क्रोधमानमायालोभाः ।

मणुतिरिणुपुव्विविउव्वट्ठ, दुहगअणाइज्जदुगसत्तरस छेओ ।
सत्तासीइदेसिविरिगइ, आउनिउज्जोय तिकसाया ।। १६।।

(मणुतिरिणुपुव्वित्ति) आनुपूर्वीशब्दस्य प्रत्येकं योजनान्मनुजानुपूर्वी तिर्यगानुपूर्वी (विउव्वट्ठत्ति) वैक्रियाष्टकं वैक्रियशरीरवैक्रियाङ्गोपाङ्गदेवानुपूर्वीदेवायुर्नरकगतिनरकानुपूर्वीनरकायुर्लक्षणं दुर्भगमनादेयद्विकम् । अनादेयायशोकीर्तिरूपमित्येतासां सप्तदशप्रकृतीनामविरतसम्यग्दृष्ट्युदयं प्रतीत्य छेदो भवति ततः इमाः सप्तदश प्रकृतयः पूर्वोक्तचतुःशतादपनीयन्ते शेषाः (सगसीइदेसित्ति) (५) सप्ताशीतिर्देशविरते उदये भवति । इदमत्र तात्पर्यम् । द्वितीयकषायोदये हि देशविरतेर्लाभ आगमे निषिद्धः । यदागमः "बीयकसाया णुदये, अप्पच्चक्खाणावरण । नामधिज्जाणं । सम्मदंसणलंभं, विरयाविरयं न उ लहंति" नापि पूर्वप्रपन्नदेशविरत्यादेर्जीवस्य तदुदयसंभवस्तेनोत्तरेषु तदुदयाभावः मनुजानुपूर्व्यातिर्यगानुपूर्व्योस्तु परभवादिसमयेषु त्रिचपान्तरालगताबुदयसंभवः । स च यथायोगं मनुजतिरश्चां वर्षाष्टकादुपरिष्टात्संभविषु देशविरत्यादिषु गुणस्थानेषु न संभवति । देवत्रिकं नारकत्रिकं च देवनारकवेद्यमेव । न च तेषु देशविरत्यादेः संभवः वैक्रियशरीरवैक्रियाङ्गोपाङ्गनाम्नोस्तु देवनारकेषूदयः । तिर्यग्मनुष्येषु तु प्राचुर्येणाविरतसम्यग्दृष्ट्यन्तेषु । यत्पुनरुत्तरगुणस्थानेष्वपि केषांचिदागमे विष्णुकुमारस्थूलभद्रादीनां वैक्रियद्वि-[illegible] श्रूयते स प्रविरलतरत्वादिना केनापि कारणेन पूर्वाचार्यैर्न विवक्षित इत्यस्माभिरपि नेह विवक्षित इति दुर्भगमनादेयद्विकमित्येतास्तु तिस्रः प्रकृतयो देशविरत्यादिषु गुणप्रत्ययान्नोदयन्त इत्येता अविरतिव्यवच्छिन्ना इति (तिरिगइआउत्ति) तिर्यक्शब्दस्य प्रत्येकं योगात् तिर्यग्गतितिर्यगायुः (निउज्जोयत्ति) नीचैर्गोत्रमुद्योतं वा (तिकसायत्ति) तृतीयः कषायः त्रिकषायः मयूरव्यंसकादित्वात्पूरणप्रत्ययलोपी समासः । प्रत्याख्यानावरणाश्चत्वारः क्रोधमानमायालोभाः (६)

अट्ठच्छेओ इगसी, पमत्तिआहारजुगलपक्खेवा ।
थीणतिगहारदुग, छेओइसयरिअपमत्ते ।। १७ ।।

पूर्वोक्ताष्टप्रकृतीनां देशविरतेः उदयमाश्रित्य छेदो भवति ततः प्रमत्त एकाशीतिर्भवति आहारकयुगलप्रक्षेपात् । इदमत्र हृदयम् । तिर्यग्गतितिर्यगायुषी तिर्यग्वेद्ये एव तेषु च देशविरतान्तान्येव गुणस्थानानि घटन्ते नोत्तराणीत्युत्तरेषु तदुदयाभावः । नीचैर्गोत्रं तु तिर्यग्गतिस्वाभाव्यात् ध्रुवोदयिकं न परावर्त्तते ततश्च देशविरतस्यापि तिरश्चो नीचैर्गोत्रोदयोऽस्त्येव मनुजेषु पुनः सर्वस्य देशविरतादेर्गुणिनो गुणप्रत्ययादुच्चैर्गोत्रमेवोदेतीत्युत्तरत्र नीचैर्गोत्रोदयाभावः । उद्योतनामस्वभावतस्तिर्यग्वेद्यं तेषु च देशविरतान्तान्येव गुणस्थानानि नोत्तराणीत्युत्तरेषु तदुदयाभावः । यद्यपि यतिवैक्रियेऽप्युद्योतनामोदेति "उत्तरदेहि च देवजई इति वचनात्" तथापि स्वल्पत्वादिना केनापि कारणेन पूर्वाचार्यैर्न विवक्षितं तृतीयकषायोदये हि चारित्रजात एव न भवति । उक्तं च पूज्यैः " तइयकसायाणुदए, पच्चक्खाणावरणनामधिज्जाणं । देसिक्कदेसविरइं चरित्तलंभं न उ लहंति " न च पूर्वप्रतिपन्नचारित्रस्य तदुदयसंभव इत्युत्तरेषु तदुदयाभावः । इत्येता अष्टौ प्रकृतयः पूर्वोक्तसप्ताशीतेरपनीयन्ते शेषा एकोनाशीतिः । तत आहारकयुगलं क्षिप्यते यतः प्रमत्तयतिराहारकयुगलस्योदयो भवतीत्येकाशीतिः । (थीणतिगत्ति) स्त्यानर्द्धित्रिकं निद्रा २ प्रचला २ स्त्यानर्द्धिरूपमाहारकद्विकमाहारकशरीराहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणमिति (७) प्रकृतिपञ्चकस्य प्रमत्ते छेदो भवति । ततः पूर्वोक्तैकाशीतेरिदं प्रकृतिपञ्चकमपनीयते । शेषाः षट्सप्ततिरप्रमत्ते उदये भवति । अत्रायमाशयः । स्त्यानर्द्धित्रिकोदयः प्रमादरूपत्वादप्रमत्ते न संभवति आहारकद्विकं च विकुर्वाणो यतिरौत्सुक्यादवश्यं प्रमादवशगो भवत्यत इदमप्यप्रमत्ते उदयमाश्रित्य न जाघटीति । यत्पुनरिदमन्यत्र श्रूयते प्रमत्तयतिराहारकं विकृत्य पश्चाद्विशुद्धिवशात्तत्रस्थ एवाप्रमत्ततां यातीति तत्केनापि स्वल्पत्वादिना कारणेन पूर्वाचार्यैर्न विवक्षितमित्यस्माभिरपि न विवक्षितमिति ।। १७ ।।

सम्मत्तंतिमसंघयण–तियगच्छेओबिसत्तरि अपुव्वे ।
हासाइछक्कअंतो, छसट्ठि अनियट्टि वेयतिगं ।। १८ ।।

सम्यक्त्वमन्तिमसंहननत्रिकमर्द्धनाराचसंहननकीलिकासंहननसेवार्त्तसंहननरूपमित्येतत्प्रकृतिचतुष्टयस्याप्रमत्ते छेदो भवति । तत इदं प्रकृतिचतुष्कं पूर्वोक्तषट्सप्ततेरपनीयते शेषा द्वासप्ततिः (अपुव्वित्ति) अपूर्वकरणे उदये भवतीति । अयमत्राशयः सम्यक्त्वे क्षपिते उपशमिते वा श्रेणिद्वयमारुह्यते इत्यपूर्वकरणादौ तदुदयाभावः । अन्तिमसंहननत्रयोदयेतु श्रेणिरारोढुमेव न शक्यते तथाविधशुद्धेरभावादित्युत्तरेषु तदुदयाभावः (९) (हासाइछक्कअंतुत्ति) हास्यमादौ यस्य षट्कस्य तत् हास्यादिषट्कं हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्साख्यं तस्यान्तोऽपूर्वकरणे भवति संक्लिष्टतरपरिणामत्वादेतस्य उत्तरेषां च विशुद्धतरपरिणामत्वात्तेषां तदुदयाभाव इति उत्तरेष्वप्ययमुदयव्यवच्छेदहेतुरनुसरणीयः । तत इदं प्रकृतिषट्कं पूर्वोक्तद्विसप्ततेरपनीयते शेषाः । (१०) (छसट्ठिअनियट्टित्ति) षट्षष्टिरनिवृत्तिबादरे भवति । उदयमाश्रित्येति शेषः । (वेयतिगं) वेदत्रिकं स्त्रीवेदपुंवेदनपुंसकवेदाख्यम् ।

संजलणतिगं छ छेओ, सट्ठिसुहुमम्मि तुरियलोभंतो ।
उवसंतगुणे गुणसट्ठि, रिसहनारायदुगअंतो ।। १९ ।।

सञ्ज्वलनत्रिकं संज्वलनक्रोधमानमायारूपमित्येतासां षण्णां प्रकृतीनामनिवृत्तिबादरे छेदो भवति तत्र स्त्रियाः श्रेणिमारोहन्त्याः स्त्रीवेदस्य प्रथममुदयच्छेदः ततः क्रमेण पुंवेदस्य नपुंसकवेदस्य संज्वलनत्रयस्य च पुंसस्तु श्रेणिमारोहतः प्रथमं पुंवेदस्योदयच्छेदस्ततः क्रमेण स्त्रीवेदस्य षण्ढवेदस्य संज्वलनत्रयस्य । षण्ढस्य तु श्रेणिमारोहतः प्रथमं षण्ढवेदस्योदयच्छेदः ततः स्त्रीवेदस्य पुंवेदस्य संज्वलनत्रयस्य चैतत्प्रकृतिषट्कं पूर्वोक्तषट्षष्टेरपनीयते शेषाः (सट्ठिसुहुमम्मित्ति) षष्टिः सूक्ष्मसंपराये उदये भवति (११) अत्र च तुर्यलोभान्तश्चतुर्थो लोभान्तः संज्वलनलोभव्यवच्छेद इत्यर्थः । तत इयमेका प्रकृतिः षष्टेरपनीयते शेषा उपशान्तगुणे उपशान्तमोहगुणस्थाने एकोनषष्टिरुदये भवति । (रिसहनारायदुगअंतुत्ति) ऋषभनाराचद्विकं ऋषभनाराचसंहनननाराचसंहननाख्यं तस्यामुपशान्तगुणे भवति प्रथमसंहननेनैव क्षपकश्रेण्यारोहणात् इति क्षीणमोहादौ तदुदयाभावः । उपशमश्रेणिस्तु प्रथमसंहननत्रयेणारुह्यते तत इदं प्रकृतिद्वयं पूर्वोक्तैकोनषष्टेरपनीयते शेषाः (१२)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सत्तात्रअखीणदुचरिमि, निद्दुगंतोश्चरमिपणपन्ना ।
नाणंतरायदंसण, चउछेओ सजोगिबायाला ॥ २० ॥

सप्तपञ्चाशत (खीणत्ति) क्षीणमोहस्य (दुचरिमित्ति) द्विचरमसमये चरमसमयादर्वाक् द्वितीये समये निद्राद्विकस्य निद्राप्रचलाख्यस्य क्षीणद्विचरमसमयेऽन्त इत्येतत्प्रकृतिद्वयं पूर्वोक्तसप्तपञ्चाशतोऽपनीयते ततः (चरमित्ति) चरमसमये क्षीणमोहस्येति शेषः (पणपन्नत्ति) पञ्चपञ्चाशदुदये भवति । इदमुक्तं भवति । निद्राप्रचलयोः क्षीणमोहस्य द्विचरमसमये उदयच्छेदः अपरे पुनराहुः उपशान्तमोहे निद्राप्रचलयोरुदयच्छेदः । पञ्चानामपि निद्राणां घोलनापरिणामे भवत्युदयः । क्षपकाणां त्वतिविशुद्धत्वान्न निद्रोदयसंभवः । उपशमकानां पुनर्नातिविशुद्धत्वात्स्यादपीति (नाणंतरायदंसणचउत्ति) ज्ञानावरणपञ्चकं मतिश्रुतावधिमनःपर्यायकेवलज्ञानावरणरूपमन्तरायपञ्चकं दानलाभभोगोपभोगवीर्यान्तरायाख्यं दर्शनचतुष्कं चक्षुरचक्षुरवधिकेवलदर्शनावरणलक्षणमित्येतासां क्षीणमोहचरमसमये छेदो भवति। (१२) तदनन्तरं क्षीणमोहत्वादित्येतत्प्रकृतिचतुर्दशकं पूर्वोक्तपञ्चपञ्चाशतोऽपनीयते शेषैकचत्वारिंशत्तीर्थकरनामोदयाच्च तत्प्रक्षेपे द्वाचत्वारिंशत्सयोगिकेवलिनि भवतीत्येतदेवाह । (सजोगिबायालत्ति) स्पष्टम् ॥

तित्थुदयाउरला थिर–खगइदुगपरित्ततिगछसंठाणा ॥
अगुरुलघुवन्नचउनिमिण–तेअ कम्माइसंघयणा ॥ २१ ॥

ननु पञ्चपञ्चाशतो ज्ञानावरणपञ्चकमन्तरायपञ्चकं दर्शनचतुष्कलक्षणप्रकृतिचतुर्दशकापनयने एकचत्वारिंशदेव भवति ततः कथमुक्तं सयोगिनि द्विचत्वारिंशदित्याशङ्क्याह (तित्थुदयत्ति) तीर्थोदयात्तीर्थकरनामोदयादित्यर्थः । यतः सयोग्यादौ तीर्थकरनामोदयो भवति यदुक्तम् " उदए जस्स सुरासुर–नरवइनिवहेहिं पूइओ होइ । तं तित्थयरं नामं, तस्सुविवागो हु केवलिणो " ॥ ततः पूर्वोक्तैकचत्वारिंशति तीर्थकरनाम क्षिप्यते । जाता द्विचत्वारिंशत्सा च सयोगिनि भवतीति। (उरला थिरखगइदुगत्ति) द्विकशब्दस्य प्रत्येकं योगात् औदारिकद्विकमौदारिकशरीर औदारिकाङ्गोपाङ्गलक्षणम् । अस्थिरद्विकमस्थिराशुभाख्यम् । खगतिद्विकं शुभविहायोगत्यशुभविहायोगतिरूपं (परित्ततिगत्ति) प्रत्येकत्रिकं प्रत्येकस्थिरशुभाख्यम् । (छसंठाणत्ति) षट्संस्थानानि समचतुरस्रन्यग्रोधपरिमण्डलसादिवामनकुब्जहुण्डस्वरूपाणि संस्थानशब्दस्य च पुंस्त्वं प्राकृतलक्षणत्वात् यदाह । पाणिनिः स्वप्राकृतलक्षणे लिङ्गं व्यभिचार्यपि (अगुरुलघुवन्नचउत्ति) चतुःशब्दस्य प्रत्येकं संबन्धात् अगुरुलघुचतुष्कमगुरुलघूपघातपराघातोच्छ्वासाख्यं वर्णचतुष्कं वर्णगन्धरसस्पर्शरूपं (निमिणत्ति) निर्माणम् । (तेअत्ति) तैजसशरीरम् । (कम्मत्ति) कार्मणशरीरम् । (आइसंहननं ति) प्रथमसंहननं वज्रऋषभनाराचसंहननमित्यर्थः ॥

दूसरसूसरसाया, साएगयरं च तीसवुच्छेओ ।
बारस अजोगिसुभगा–इज्ज जसन्नयरवेयणिअं ॥२२॥

दुःस्वरं सुस्वरं सातं च सुखमसातं च दुःखं सातासाते तयोरेकतरमन्यतरत्सातं वा असातं वेत्यर्थः । ततः एतासां त्रिंशतः प्रकृतीनां सयोगिकेवलिन्युदयव्यवच्छेदः । तत्रैकतरवेदनीयं यदयोगिकेवलिनि वेदयितव्यं तत्सयोगिकेवलिचरमसमये व्युच्छिन्नोदयं भवति (१४) पुनरुत्तरत्रोदयाभावात् दुःस्वरसुस्वरनाम्नोस्तु भाषापुद्गलविपाकित्वाद्वाग्योगिनामेवोदयः शेषाणां पुनः शरीरपुद्गलविपाकित्वात् काययोगिनामेव तेन हि योगेन पुद्गलग्रहणपरिणामालम्बनानि ततस्तेषु गृहीतेष्वेतेषां कर्मणां स्वस्वविपाकेनोदयो भवति । तेनायोगिकेवलिनि तद्योगाभावात्तदुदयाभावः इत्यतस्त्रिंशत्प्रकृतयः पूर्वोक्तद्विचत्वारिंशतोऽपनीयन्ते ततः शेषा द्वादश प्रकृतयोऽयोगिकेवलिन्युदयमाश्रित्य भवन्तीत्येतदेवाह (बारस अजोगीत्यादि) द्वादश प्रकृतयो ऽयोगिकेवलिनि चरमसमयान्ताश्चरमसमये योगिकेवलिगुणस्थानस्यान्तो व्यवच्छेदो यासां ताश्चरमसमयान्तास्ता एवाह सुभगमादेयम् (जसत्ति) यशःकीर्तिनाम अन्यतरवेदनीयं सयोगिकेवलिचरमसमयव्यवच्छिन्नोद्धरितं वेदनीयमित्यर्थः ।

तसतिगपणिंदिमणुया-उगइजिणुच्चंति चरमसमयंता ॥

(तसतिगंति) त्रसत्रिकं त्रसबादरपर्याप्ताख्यं (पणिंदित्ति) पञ्चेन्द्रियजातिः (मणुआउगइत्ति) मनुजशब्दस्य प्रत्येकं योगान्मनुजायुः मनुजगतिः (जिणत्ति) जिननाम (उच्चंति) उच्चैर्गोत्रमिति शब्दो द्वादशप्रकृतिपरिसमाप्तिद्योतक इति । कर्म० २ क०। पं० सं०। एकस्मिन् गुणस्थानेषु, (उदयसत्तास्थानयोजना गुणट्ठाणशब्दे । बन्धोदयसत्तास्थानचिन्ता तत्संवेधश्च कम्मशब्दे । ये परिग्रहा यत्कर्मोदयनिमित्ताः इत्यादि परिसह शब्दे । मारणान्तिक उदयस्तोढव्य इति वेयणा शब्दे)

(६) उदयहेतुं प्रदर्शयति

दव्वं खेत्तं कालो, भवो य भावो य हेयवो पंच ।
हेउसमासेणुदओ, जायइ सव्वाणपगईणं ॥

ईहक् सर्वासां प्रकृतीनां सामान्यतः पञ्च उदयहेतवस्तद्यथा द्रव्यं क्षेत्रं कालो भवो भावश्च । तत्र द्रव्यं कर्मपुद्गलरूपं यद्वि चाबाह्यं किमपि तथाविधमुदयप्रादुर्भावनिमित्तं [illegible]माणं दुर्भाषितभाषापुद्गलद्रव्यक्रोधोदयस्य क्षेत्रमाकाशं [illegible] दिरूपो भवो मनुष्यादिभवः । भावो जीवस्य परिणामविशेषः । एते च नैकैकश उदयहेतवः किन्तु समुदितास्तया वा हेतुसमासेन उक्तस्वरूपाणां द्रव्यादीनां हेतुना समासेन समुदायेन जायते सर्वासां प्रकृतीनामुदयः केवलं क्वापि इत्यादि सामग्री कस्याश्चित्प्रकृतेरुदयहेतुरितिनहेतुत्वव्यभिचारः । उक्ता उदयहेतवः । पं०सं०।

उदयगामिणी– उदयगामिनी– स्त्री० उदयं सूर्योदयं गच्छति मुहूर्तादिना व्याप्नोति गम्–णिनि–ङीप्–सूर्योदयावधिमुहूर्तादिकालव्यापिन्यां तिथौ,कर्माऽनुष्ठाने उदयकाले, क्रियन्मानस्य ग्राह्यता । तन्निर्णयो वैष्णवानां कालमाधवे ग्रन्थे । वाच० ।

उदयजिण–उदयजिन–पुं० भविष्यति सप्तमे तीर्थकरे, स च पूर्वभवे शङ्खनामा श्रावकः । सप्तममुदयजिनं वन्दे जीवं च शङ्खनाम्नः श्रावकस्य । प्रव० ४६ द्वा० ।

उदयट्ठाण–उदयस्थान–न० उदयप्रकारे, । पं०सं० । (बन्धोदयसत्ता आश्रित्य उदयस्थानेषु भङ्गाः कम्मशब्दे)

उदयट्ठि (ण्) उदयार्थिन्–त्रि० लाभार्थिनि, " एवं जहा वणिए उदयट्ठि, आयस्स हेउं पगरेति संगं "सूत्र०२श्रु०६अ० ।

उदयण–उदयन–न० उद्–इ–भावे–ल्युट्–उदये, समाप्तौ च । अगस्त्यमुनौ, कुसुमाञ्जलिप्रभृतिग्रन्थकारके स्वनामख्याते आचार्ये च । वाच०। उदनोऽप्याह । नापि प्रतिपक्षसाधनमनिवर्त्यं प्रथमस्य साधनत्वावस्थितिशङ्कितप्रतिपक्षत्वादिति । र० । मुमुक्षुकर्मव्यापारतन्त्रं तत्वज्ञानवृत्ति नवेति विप्रतिपत्तिविधिकोटिरुदयनाचार्याणाम् । न० । वीणावत्सराजे, उत्त० ३ अ०।

(तत्कथा चैवम् ।)

जइ णं भंते! पंचमस्स अज्झयणस्स उक्खेवओ एवं खलु

जंबू० तेणं कालेणं तेणं समएणं कोसंबीणामं णयरीहोत्था । रिद्ध ३ बाहिं चंदोत्तरणे उज्जाणे सेयज्जदे जक्खे तत्थ णं कोसंबी य णयरीए सयाणिए णामं राया होत्था महया हिमवंत तस्स णं सयाणीयस्स रण्णो मियावतीए देवीए अत्तए उदयणे णामं कुमारे होत्था । अहीणजुवराया तस्स णं उदयणस्स कुमारस्स पउमावई णामं देवी होत्था विपा० ५ अ० ।

(उदयनस्य सोमदत्तपुरोहितसुतबृहस्पतिदत्तं पद्मावत्यां स्वभार्यायामासक्तं दृष्ट्वा तद्विघातनं तच्च वहस्सइदत्त शब्दे) गान्धर्वविद्याप्रगुणे चण्डप्रद्योतभूभुजः पुत्र्या वासवदत्तायाः शिक्षके, आ०क० । आव० । आ०चू० (सेणियशब्दे तत्कथानकम् । यौगन्धरायणसेणियशब्दे तद्विवृतिः) सिन्धुसौवीराधिपतौ च । तद्वृत्तलेशोऽयम् । सिन्धुसौवीरदेशाधिपतिर्दशमुकुटबद्धभूपसेव्यउदयनराजो विद्युन्मालिसमर्पितश्रीवीरप्रतिमार्थेनागतनीरोगीभूतगन्धारश्राद्धार्पितगुटिकाभक्षणतो जाताद्भुतरूपायाः सुवर्णगुलिकाया देवाधिदेवप्रतिमायुतायाः अपहर्तारं मालवदेशभूपसेव्यं चण्डप्रद्योतराजं देवाधिदेवप्रतिमाप्रत्यानयनोत्पन्नसंग्रामे बद्ध्वा पश्चादागच्छन् दशपुरे वर्षासु तस्थौ । वार्षिकपर्वणि च स्वयमुपवासं चक्रे । भूपादिष्टसूपकारेण भोजनार्थं पृष्टेन चण्डप्रद्योतेन विषभिया श्राद्धस्य ममाप्यद्योपवास इति प्रोक्ते धूर्त्तसाधर्मिकेऽप्यस्मिन्नक्षमिते मम प्रतिक्रमणं न शुध्यतीति तत्सर्वस्वप्रदानतस्तद्भाले ममदासीपतिरित्यक्षराच्छादनाय स्वमुकुटपट्टदानतश्च श्रीउदयनराजेन श्रीचण्डप्रद्योतः क्षमितोऽत्र श्रीउदयनराजस्यैवाराधकत्वम् । कल्प० उदयगामिनि, त्रि० । स्था० ४ ठा० ।

उदयणसत्त–उद्यनसत्व– पुं० उदयनमुदयगामि प्रवर्त्तमानं सत्वं यस्य स तथा । तथाविधे पुरुषजातभेदे, स्था०४ठा० ।

उदयत्थमण-उदयास्तमन-न० उदयवेलायामस्तवेलायां च। "उदयत्थमणे सुमुहुत्तसुहदंसणं" कल्प० ।

उदयधम्म–उदयधर्मन्– पुं० धर्मकल्पद्रुमकारके आगमगच्छीये आचार्ये, जै० इ० ।

उदयपत्त–उदयप्राप्त–त्रि० उदिते,–प्रश्न० सं०४ द्वा० ।

उदयप्पभसूरि–उदयप्रभसूरि–पुं० नागेन्द्रगच्छीये स्वनामख्याते सूरिभेदे, "प्रमाणसिद्धान्तविरुद्धमत्र, यत्किञ्चिदुक्तं मतिमान्द्यदोषात् । मात्सर्यमुत्सार्य तदार्यचित्ताः, प्रसादमाधाय विशोधयन्तु । ४ । उर्व्यामेष सुधाभुजां गुरुरिति त्रैलोक्यविस्तारणो, यत्रेयं प्रतिभासरादनुमितिर्निर्दम्भमुज्जृम्भते । किंत्वामी विबुधाः सुधेति वचनोत्कारं यदीयं मुदा, शंसन्ति प्रथयन्ति तामतितमां संवादमेदस्विनीम् । ५ । नागेन्द्रगच्छगोविन्द–वक्षोऽलङ्कारकौस्तुभाः । ते विश्ववन्द्यानयास्तुरुदयप्रभसूरयः ॥ अयमाचार्यः विक्रमसंवत् १२२० वर्षात् १२७७ पर्यन्तं विद्यमान आसीत् । विजयसेनसूरेरयं शिष्यः वीरधवलमहाराजाऽमात्यवस्तुपालस्य मान्य आसीत् आरम्भसिद्धिधर्माभ्युदयग्रन्थौ व्यरीरचत् । द्वितीयोऽप्येतन्नामा रविप्रभसूरेः शिष्यः । नेमिचन्द्रसूरिकृतप्रवचनोद्धारस्योपरि–विषमपदव्याख्यानाम्नीं टीकां कृतवानिति । जै० इ० ।

उदयबंधुक्किट्ठा–उदयबन्धोत्कृष्टा– स्त्री० कर्मप्रकृतिभेदे, यासां प्रकृतिविपाकोदये सति बन्धादुत्कृष्टं स्थितिकर्मावाप्यते ता उदयबन्धोत्कृष्टसंज्ञाः । पं० सं० । "उदउक्कोसापयणाउ" अनायुष आयुश्चतुष्टयरहिताः पञ्चेन्द्रियजातिवैक्रियद्विकहुण्डसंस्थानपराघातोच्छ्वासोद्योतविहायोगतयो गुरुलघुतैजसकार्मणनिर्माणोपघातवर्णादिचतुष्कानि स्थिरादिषट्क त्रसादिचतुष्कमसातवेदनीयं नीचैर्गोत्रं षोडशकषायमिथ्यात्वं ज्ञानावरणपञ्चकमन्तरायपञ्चकं दर्शनावरणचतुष्टयमित्येताः षष्टिः प्रकृतयः उदयबन्धोत्कृष्टाः । एतासामुदयप्राप्तानां स्वबन्धेनत उत्कृष्टा स्थितिरवाप्यते तत एता उदयबन्धोत्कृष्टाभिधेयाः । पं० सं० ॥

उदयवई–उदयावती– स्त्री० कर्मप्रकृतिभेदे, तत्स्वरूपं च "चरमसमयम्मि दलियं, जासिं अन्नत्थसंकमे ताउ । अनुदयवइ इयरीओ, उदयवइ होंति पगईओ" इति अनुदयवतिप्रकृतिभ्यः इतराः प्रकृतय उदयवत्यो भवन्ति । पं० सं ॥

यासां दलिकं चरमसमये स्वविपाकेन वेद्यते संप्रति ता एवोदयवतीः प्रकृतीरभिधातुकाम आह ।

नाणंतराय आउग–दंसणचउवेयणीयमपुमित्थी ।
चरिमुदयउच्चवेयग–उदयवई चरिमलोभो य ॥

ज्ञानावरणपञ्चकमन्तरायपञ्चकमायुश्चतुष्टयं दर्शनचतुष्टयं सातासातवेदनीये स्त्रीनपुंसकवेदौ चरमोदयान्यमनवकरूपास्ताश्चेमाः । मनुष्यगतिः पञ्चेन्द्रियजातित्रसनामबादरनाम पर्याप्तकनाम शुभनामसुस्वरनामादेयनाम तीर्थकरनाम तथा उच्चैर्गोत्रं वेदकसम्यक्त्वं चरमलोभः संज्वलनलोभः इत्येताश्चतुस्त्रिंशत्प्रकृतय उदयवत्यस्तथाहि–ज्ञानावरणपञ्चकान्तरायपञ्चकदर्शनावरणचतुष्टयरूपाणां चतुर्दशप्रकृतीनां क्षीणकषायान्त्यसमये चरमोदयानां च नाम वेदकलक्षणानां सातासातवेदनीययोरुच्चैर्गोत्रस्य च सर्वसंख्यया द्वादशप्रकृतीनामयोगिकेवलिचरमसमये संज्वलनलोभस्य सूक्ष्मसंपरायान्त्यसमये वेदकसम्यक्त्वस्य स्वक्षपणपर्यवसानसमये स्त्रीनपुंसकवेदयोः क्षपकश्रेण्यामनिवृत्तिबादरसंपरायद्धयोः संख्येयेषु भागेष्वतिक्रान्तेषु तदुदयान्त्यसमये आयुषां च स्वस्वचरमसमये स्ववेदनमस्ति । तत एता उदयवत्योऽभिधीयन्ते । यद्यपि सातासातवेदनीययोः स्त्रीनपुंसकवेदयोश्चानुदयवतीत्वमपि संभवति तथापि प्रधानमेव गुणमवलम्ब्य सत्पुरुषा व्यपदेशं प्रयच्छन्तीति उदयवत्यः पूर्वपुरुषैरुपदिष्टाः । पं० सं० ३ द्वा० ।

उदयवल्लभ–उदयवल्लभ– पुं० विक्रमराज्यात् अष्टाविंशत्यधिकचतुर्दशशते (१४२८) वर्षे जाते श्रीपालकथानामग्रन्थकृतौ लब्धिसागरस्य गुरौ । जै०इ० ।

उदयरयणगणि–उदयरत्नगणिन्–पुं० 'स्वनामके मुनिसिंहसूरेः शिष्ये, अनेन विक्रमराज्यात् अष्टाविंशत्यधिकचतुर्दशशते (१४२८) वर्षे रत्नशेखरसूरिकृतश्रीपालचरित्रस्य प्रथमादर्शो लिखितः । जै० इ० ।

उदयवीरगणि–उदयवीरगणिन्–पुं० तपागच्छीये संघवीरगणिनोऽन्तेवासिनि, । जै० इ० ।

उदयसंकमुक्किट्ठा–उदयसंक्रमोत्कृष्टा–स्त्री० कर्मप्रकृतिभेदे, यासां विपाकोदये प्रवर्तमाने सति संक्रमत उत्कृष्टस्थितिसत्कर्म लभ्यते न बन्धतस्ता उदयसंक्रमोत्कृष्टाः । पं० सं०३ द्वा० ।

उदयसंठिइ–उदयसंस्थिति–पुं० सूर्यादेरुदयविधौ, चं० प्र० ८ पाहु० । सू० प्र० । (सूर्यस्य उदयविधौ विप्रतिपत्तिप्रदर्शनपूर्वकसिद्धान्तो यथा–

ता कधं ते उदयसंठिती आहितेति वदेज्जा तत्थ खलु इमाओ तिन्नि पडिवत्तिओ पन्नत्ताओ तत्थेगे एवमाहंसु ता जदा णं जंबूदीवे २ दाहिणड्ढे अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति तता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

णं उत्तरड्ढे वि अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति । जता णं उ तरड्ढे अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति तता णं दाहिणड्ढे वि अ- ट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति । जदा णं जंबुद्दीवे २ दाहिणड्ढे सत्तरसमुहुत्ते दिवसे भवति तया णं उत्तरड्ढे वि सत्तरस मुहुत्ते दिवसे भवति । जया णं उत्तरड्ढे सत्तरस मुहुत्ते दिवसे भवति तदा णं दाहिणड्ढे वि सत्तरस मुहुत्ते दिवसे भवति । एवं परिहावेतव्वं सोलसमुहुत्ते दिवसे पन्नरसमुहुत्ते दिवसे चोद्दस मुहुत्ते दिवसे भवति तेरसमुहुत्ते दिवसे जाव ता जता णं जंबुद्दीवे २ दाहिणड्ढे बारसमुहुत्ते दिवसे तया णं उत्तरड्ढे वि बारसमुहुत्ते दिवसे भवति । जता णं उत्तरड्ढे बारसमुहुत्ते दिवसे भवति तताणं दाहिणड्ढे वि बारसमुहुत्ते दिवसे भवति । तता णं जंबुद्दीवे २ मंदरस्स पव्वयस्स पुरत्थिमं पच्चत्थिमेणं सत्तपन्नरसमुहुत्ते दिवसे भवति सदा पन्नरस मुहुत्ता राई भवति अवट्ठिताणं तत्थ राइंदिया पन्नत्ता समणाउसो एगे ए- वमाहंसु । एगे पुण एवमाहंसु जता णं जंबुद्दीवे २ दाहिणड्ढे अट्ठारस मुहुत्ताणंतरे दिवसे भवति तया णं उत्तरड्ढे वि अट्ठारसमुहुत्ताणंतरे दिवसे भवइ । जया णं उत्तरड्ढे अट्ठा- रसमुहुत्ताणंतरे दिवसे भवति तता णं दाहिणड्ढे वि अट्ठारसमु हुत्ताणंतरे दिवसे भवति । जया णं उत्तरड्ढे अट्ठारसमु- हुत्ताणंतरे दिवसे भवति तता णं दाहिणड्ढे वि अट्ठारसमुहु- त्ताणंतरे दिवसे भवति । एवं परिहावेतव्वं सत्तरस मुहुत्ताणंतरे दिवसे भवति सोलसमुहुत्ताणंतरे पन्नरसमुहुत्ताणंतरे दिवसे भवति एवं परिहावेतव्वं चोद्दसमुहुत्ताणंतरे जाव ॥

(ता कधंत इत्यादि) ता इति पूर्ववत् कथं केन प्रकारेण सूर्य- स्य उदयसंस्थितिस्ते त्वया भगवन्नाख्याता इति वदेत् एवमुक्ते सति भगवानेतद्विषया यावत्यः प्रतिपत्तयः तावतीरुपदर्शयति। (तत्थेत्यादि) तत्र तस्यामुदयसंस्थितौ विषये तिस्रः प्रतिपत्तयः परतीर्थिकाभ्युपगमरूपाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा तत्र तेषां त्रयाणां परती- र्थिकानां मध्ये एके प्रथमाः परतीर्थिका एवमाहुः (ता जयाण- मित्यादि) तत्र यदा णमिति वाक्यालंकारे अस्मिन् जम्बूद्वीपे द्वीपे दक्षिणार्द्धे अष्टादशमुहूर्त्तो दिवसो भवति तदा उत्तरार्द्धेऽपि अष्टादशमुहूर्त्तो दिवसः । तदेवं दक्षिणार्द्धनियमेनोत्तरार्द्धनियम उक्तः । संप्रति उत्तरार्द्धनियमेन दक्षिणार्द्धनियमनमाह (ताज- याणमिदि) तत्र यदा उत्तरार्द्धे अष्टादशमुहूर्त्तो दिवसो भवति तदा दक्षिणार्द्धेऽपि अष्टादशमुहूर्त्तो दिवसः (ताजयाणमित्यादि) यदा जम्बूद्वीपे द्वीपे दक्षिणार्द्धे सप्तदशमुहूर्त्तो दिवसो भवति तदा उत्तरार्द्धेऽपि सप्तदशमुहूर्त्तो दिवसो भवति यदा चोत्तरा- र्द्धे सप्तदशमुहूर्त्तो दिवसो भवति तदा दक्षिणार्द्धेऽपि सप्तदश मुहूर्त्तो दिवसः (एवं इत्यादि) एवमुक्तेन प्रकारेण एकैकमुहूर्त्त- हान्या परिहातव्यम परिहानिमेव क्रमेण दर्शयति । प्रथमत उक्त प्रकारेण षोडशमुहूर्त्तो दिवसो वक्तव्यः तदनन्तरं पञ्चदशमुहूर्त्त- स्ततश्चतुर्दशमुहूर्त्तस्ततस्त्रयोदशमुहूर्त्तः सूत्रपाठेऽपि प्रागुक्तसूत्रा- नुसारेण स्वयं परिभावनीयः । सचैवं " जया णं जंबुद्दीवे दीवे दाहिणड्ढे सोलसमुहुत्ते दिवसे भवइ तया णं उत्तरड्ढे सोलसमु- हुत्ते दिवसे भवइ जयाणं उत्तरड्ढे वि सोलसमुहुत्ते दिवसे भवइ तया णं दाहिणड्ढे वि सोलसमुहुत्ते दिवसे भवइ" इत्यादि

द्वादशमुहूर्त्तदिवसप्रतिपादकसूत्रं साक्षादाह (ता जयाणमि- त्यादि) ता इति तत्र यदा जम्बूद्वीपे दक्षिणार्द्धे द्वादशमुहूर्त्तो दिवसो भवति तदा उत्तरार्द्धेऽपि द्वादशमुहूर्त्तो दिवसः यदा उत्तरार्द्धे द्वादशमुहूर्त्तो दिवसस्तदा दक्षिणार्द्धेऽपि द्वादशमुहू- र्त्तप्रमाणो दिवसः । तदा अष्टादशमुहूर्त्तादिदिवसकाले जम्बू- द्वीपे २ मन्दरस्य पर्वतस्य पूर्वस्यामपरस्यां च दिशि सदा सर्व- काले पञ्चदशमुहूर्त्तो दिवसो भवति सदैव पञ्चदशमुहूर्त्ता रात्रिः । कुत इत्याह । अवस्थितानि सकलकालमेकप्रमाणानि णमिति वाक्यालंकारे तत्र मन्दरस्य पर्वतस्य पूर्वस्यामपरस्यां दिशि रात्रिंदिवानि प्रज्ञप्तानि हेश्रमण ! हेआयुष्मन् ! एतच्च प्रथ- मानां परतीर्थिकानां मूलभूतं स्वशिष्यं प्रत्यामन्त्रणं वाक्यम । अत्रैवोपसंहारमाह । (एगे एवमाहंसु) एके पुनरेवमाहुः यदा जम्बूद्वीपे दक्षिणस्मिन्नर्द्धे अष्टादशमुहूर्त्तानन्तरोऽष्टादशभ्यो मुहूर्त्तेभ्योऽनन्तरो मनाक् हीनो हीनतरो वा यावत्सप्तदशभ्यो मुहूर्त्तेभ्यः किंचित्समधिक एव प्रमाणो दिवसो भवति तदा उत्त- रार्द्धेऽप्यष्टादशमुहूर्त्तानन्तरो दिवसो भवति यदा चोत्तरार्द्धे अष्टादशमुहूर्त्तानन्तरो दिवसो भवति तदा दक्षिणार्द्धेऽपि अष्टा- दशमुहूर्त्तानन्तरो दिवसः । यदा जम्बूद्वीपे दक्षिणार्द्धे सप्तदशमु- हूर्त्तानन्तरो दिवसो भवति तदा उत्तरार्द्धेऽपि सप्तदशमुहूर्त्तानन्तरो दिवसः यदा उत्तरार्द्धे सप्तदशानन्तरो दिवसस्तदा दक्षिणार्द्धेऽपि सप्तदशमुहूर्त्तानन्तरो दिवसः (एवमित्यादि) एवमुक्तेन प्र- कारेण एकैकमुहूर्त्तहान्या परिहातव्यं परिहानिप्रकारमेवाह (सोलसेत्यादि) प्रथमतः षोडशमुहूर्त्तानन्तरो दिवसो वक्तव्यः । ततःपञ्चदशमुहूर्त्तानन्तरस्तदनन्तरं चतुर्दशमुहूर्त्तानन्तरस्ततस्त्र- योदशमुहूर्त्तानन्तरः एतेषां हि मतेन न कदाचनापि परिपूर्णमु- हूर्त्तप्रमाणो दिवसो भवति ततः सर्वत्रानन्तरशब्दप्रयोगः । द्वाद शमुहूर्त्तानन्तरं सूत्रं तु साक्षाद्दर्शयति ॥

ता जयाणं जंबुद्दीवे २ दाहिणड्ढे बारसमुहुत्ताणंतरे दिवसे भव ति तदा णं उत्तरड्ढे वि बारसमुहुत्ताणंतरे दिवसे भवति जता णं उत्तरड्ढे बारसमुहुत्ताणंतरे दिवसे भवति तया णं दाहिण- ड्ढे वि बारसमुहुत्ताणंतरे दिवसे भवति तदा णं जंबुद्दीवे २ मंदरस्स पव्वतस्स पुरत्थिमपच्चत्थिमेणं णो सदा पन्नरसमुहुत्ते दिवसे भवति णो सदा पन्नरसमुहुत्ता राई भवति अणव- ट्ठिताणं तत्थ राइंदिया पन्नत्ता समणाउसो एगे एवमाहंसु एगे पुण एवमाहंसु २ ता जदा णं जंबुद्दीवे २ दाहिणड्ढे अट्ठा- रसमुहुत्ते दिवसे भवति तदा णं उत्तरड्ढे दुवालसमुहुत्ता राई भवति । जया णं उत्तरड्ढे अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति तदा णं दाहिणड्ढे बारसमुहुत्ता राई भवति ता जया णं जंबुद्दीवे २ दाहिणड्ढे अट्ठारसमुहुत्ताणंतरे दिवसे भवति तदा णं उत्तरड्ढे बारसमुहुत्ता राई भवइ । जता णं उत्तरड्ढे अट्ठा- रसमुहुत्ताणंतरे दिवसे भवति तदा णं दाहिणड्ढे बारसमु- हुत्ता राई भवति । एवं णेतव्वं सगलेहि य अणंतरेहि य एक्केके दो दो आलावका सव्वेहिं दुवालसमुहुत्ता राई भवति जाव ता जता णं जंबुद्दीवे २ दाहिणड्ढे बारसमुहु- त्ताणंतरे दिवसे भवति उत्तरड्ढे दुवालसमुहुत्ताराई भवति जया णं उत्तरड्ढे दुवालसमुहुत्ताणंतरे दिवसे भवति तदा णं दाहिणड्ढे दुवालसमुहुत्ता राई भवति । तता णं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमपच्चच्छिमेणं सयावि पन्नरसमुहुत्ते दिवसे जवति । सयाविपन्नरसमुहुत्ता राई जवति वोच्छिन्नाणं तत्थ राइंदिया पन्नत्ता समणाउसो एगे एवमाहंसु ३ वयं पुण एवं वदामो ता जंबुद्दीवे २ सूरियाउ दीणपाईणमुवगच्छंति पाईण दाहिणमागच्छंति पाईण दाहिणमुपगच्छंति दाहिणपडीणमागच्छंति दाहीणपडीणमुवगच्छंति पडीणमुदीणमागच्छंति पडीण उदीणमुपगच्छंति उदीणपाईणमागच्छंति । ता जता णं जंबुद्दीवे २ दाहिणड्ढे दिवसे जवति ता तदा णं उत्तरड्ढे दिवसे जवति । तदा णं जंबुद्दीवे २ मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमपच्चच्छिमेणं राई जवति ता जदा णं जंबुद्दीवे २ मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमेणं दिवसे जवति तदा णं जंबुद्दीवे २ मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरदाहिणेणं राई जवति । ता जदा णं जंबुद्दीवे २ दाहिणड्ढे उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे जवति तदा णं उत्तरड्ढेवि उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे जवति जता णं उत्तरड्ढे उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे जवति तदा णं जंबुद्दीवे २ मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमेणं जहन्निया दुवालसमुहुत्ता राई जवति । ता जता णं जंबुद्दीवे २ मंदरस्स पव्वतस्स पुरच्छिमेणं उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति जता णं पच्चच्छिमेणं उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे जवति तता णं जंबुद्दीवे २ मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरदाहिणेणं जहन्निया दुवालसमुहुत्ता राई जवति । एवं एएणं गमेणं णेतव्वं । अट्ठारसमुहुत्ताणंतरे दिवसे सातिरेगदुवालसमुहुत्ता राई जवति सत्तरसमुहुत्ते दिवसे तेरसमुहुत्ता राई सत्तरसमुहुत्ताणंतरे दिवसे जवति सातिरेगतेरसमुहुत्ता राई जवति सोलसमुहुत्ते दिवसे जवति चोद्दसमुहुत्ता राई जवति । सोलसमुहुत्ताणंतरे दिवसे जवति सातिरेगचोद्दसमुहुत्ता राई जवति । पन्नरसमुहुत्ते दिवसे पन्नरसमुहुत्ता राई पन्नरसमुहुत्ताणंतरे दिवसे सातिरेगपन्नरसमुहुत्ता राई जवति । चोद्दसमुहुत्ते दिवसे सोलसमुहुत्ता राई चोद्दसमुहुत्ताणंतरे दिवसे सातिरेगसोलसमुहुत्ता राई तेरसमुहुत्ते दिवसे सत्तरसमुहुत्ता राई तेरसमुहुत्ताणंतरे दिवसे सातिरेगसत्तरसमुहुत्ता राई । जहन्नए दुवालसमुहुत्ते दिवसे जवति उक्कोसिया अट्ठारसमुहुत्ता राई जवइ एवं जाणितव्वं । ता जदा णं जंबुद्दीवे २ दाहिणड्ढे वासाणं पढमे समए पडिवज्जति तता णं उत्तरड्ढेवि वासाणं पढमे समए पडिवज्जति । जता णं उत्तरड्ढे वासाणं पढमे समए पडिवज्जति तता णं जंबुद्दीवे २ मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमपच्चच्छिमेणं अणंतरपुरक्खडे कालसमयंसि वासाणं पढमे समए पडिवज्जइ ता जया णं जंबुद्दीवे २ मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमेणं वासाणं पढमे समए पडिवज्जइ तता णं पच्चच्छिमेणं वि वासाणं पढमे समए पडिवज्जइ । जया णं पच्चच्छिमे णं वासाणं पढमे समए पडिवज्जई तता णं जंबुद्दीवे २ मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरदाहिणेणं अणंतरपच्छाकयकालसमयंसि वासाणं पढमे समये पडिवन्ने जवति ॥ जहा समओ एवं आवलियाए आणापाणू थोवे लवे मुहुत्ते अहोरत्ते पक्खे मासे उऊ एवं दस आलावका जधा वासाणं एवं हेमंताणं गिम्हाणं च जाणियव्वा ॥

(ता जया णमित्यादि) तत्र यदा जम्बूद्वीपे दक्षिणार्द्धे द्वादशमुहूर्तानन्तरो दिवसस्तदा उत्तरार्द्धेऽपि द्वादशमुहूर्तानन्तरो दिवसः । यदा चोत्तरार्द्धे द्वादशमुहूर्तानन्तरो दिवसस्तदा दक्षिणार्द्धेऽपि द्वादशमुहूर्तानन्तरो दिवसस्तदा चाष्टादशमुहूर्तानन्तरादिदिवसकाले जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य पूर्वस्यामपरस्यां च दिशि नो नैव सदा सर्वकालं पञ्चदशमुहूर्तो दिवसो भवति नापि सदा पञ्चदशमुहूर्ता रात्रिः कुत इत्याह (अणवट्ठियाणमित्यादि) अनवस्थितानि अनियतप्रमाणानि णमिति खलु तत्र मन्दरस्य पर्वतस्य पूर्वस्यामपरस्यां च दिशि रात्रिन्दिवानि प्रज्ञप्तानि हेश्रमण ! हेआयुष्मन् ! अत्रोपसंहारमाह । (एगे एवमाहंसु २) एके पुनरेवमाहुः । ता इति पूर्ववत् जम्बूद्वीपे यदा दक्षिणार्द्धे अष्टादशमुहूर्तो दिवसो भवति तदा उत्तरार्द्धे द्वादशमुहूर्ता रात्रिः। यदोत्तरार्द्धे अष्टादशमुहूर्तो दिवसो भवति तदा दक्षिणार्द्धे द्वादशमुहूर्ता रात्रिः तथा यदा दक्षिणार्द्धे (अट्ठारसमुहुत्ताणंतरेति) अष्टादशभ्यो मुहूर्तेभ्योऽनन्तरो मनाक् हीनो हीनतरो यावत्सप्तदशभ्यो मुहूर्तेभ्यः किञ्चिदधिक एवं प्रमाणो दिवसो भवति तदा उत्तरार्द्धे द्वादशमुहूर्ता रात्रिः । तथा यदा चोत्तरार्द्धे अष्टादशमुहूर्तानन्तरो दिवसस्तदा दक्षिणार्द्धे द्वादशमुहूर्ता रात्रिः (एवमित्यादि) एवमुक्तेन प्रकारेण तावद्वक्तव्यं यावत्त्रयोदशमुहूर्तानन्तरदिवसवक्तव्यता एकैकस्मिश्च सप्तदशादिके संख्याविशेषे सकलैर्मुहूर्तैरनन्तरैश्च किञ्चिदूनैर्द्वावालापकौ वक्तव्यौ सर्वत्र च द्वादशमुहूर्ता रात्रिः तद्यथा । " जयाणं जंबुद्दीवे दीवे दाहिणड्ढे सत्तरसमुहुत्ते दिवसे जवइ तयाणं उत्तरड्ढे दुवालसमुहुत्ता राई जवति जयाणं उत्तरड्ढे सत्तरसमुहुत्ते दिवसे जवइ तया णं दाहिणड्ढे दुवालसमुहुत्ता राई भवइ जया णं जंबुद्दीवे दीवे दाहिणड्ढे सत्तरसमुहुत्ताणंतरे दिवसे हवइ तया णं उत्तरड्ढे दुवालसमुहुत्ता राई जवइ जयाणं उत्तरड्ढे सत्तरसमुहुत्ताणंतरे दिवसे जवइ तया णं दाहिणड्ढे दुवालसमुहुत्ता राई जवइ " एवं षोडशमुहूर्तः। षोडशमुहूर्तानन्तरं पञ्चदशमुहूर्तः पञ्चदशमुहूर्तानन्तरं चतुर्दशमुहूर्तः चतुर्दशमुहूर्तानन्तरं त्रयोदशमुहूर्तः त्रयोदशमुहूर्तानन्तरं द्वादशमुहूर्तगता अपि तत्र आलापका वक्तव्या द्वादशमुहूर्तानन्तरगतमालापकं साक्षादाह (जयाणमित्यादि) यदा जम्बूद्वीपे द्वीपे दक्षिणार्द्धे द्वादशमुहूर्तानन्तरो दिवसो भवति तदा उत्तरार्द्धे द्वादशमुहूर्ता रात्रिर्भवति यदा चोत्तरार्द्धे द्वादशमुहूर्तानन्तरो दिवसो भवति तदा दक्षिणार्द्धे द्वादशमुहूर्ता रात्रिः तदा चाष्टादशमुहूर्तानन्तरादिदिवसकाले जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य (पुरच्छिमपच्चच्छिमेणंति) पूर्वस्यां पश्चिमायां च दिशि नैवास्त्येतत् यदुत पञ्चदशमुहूर्तो दिवसो भवति नाप्यस्त्येतत् यदा पञ्चदशमुहूर्ता रात्रिर्भवतीति कुत इत्याह (वोच्छिन्नाणमित्यादि) व्यवच्छिन्नानि णमिति खलु तत्र मन्दरस्य पर्वतस्य पूर्वस्यां पश्चिमायां च दिशि रात्रिन्दिवानि प्रज्ञप्तानि हेश्रमण ! हेआयुष्मन् ! अत्रैवोपसंहारमाह (एगे एवमाहंसु ३) एताश्च तिस्रोऽपि प्रतिपत्तयो मिथ्यारूपा भगवतोऽननुमतत्वात् । अपि च ये तृतीयावादिनः सदैव रात्रिं द्वादशमुहूर्तप्रमाणामिच्छन्ति तेषां प्रत्यक्षविरोधः । प्रत्यक्षतोऽत्र हीनाधिकरूपा रात्रेरुपलभ्यमानत्वात् ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संप्रति स्वमतं भगवानुपदर्शयति । (वयंपुण इत्यादि) वयं पुनरेवं वक्ष्यमाणेन प्रकारेण वदामस्तमेव प्रकारमाह (ता जंबूद्दीवे दीवे इत्यादि) ता इति पूर्ववत् जम्बूद्वीपे द्वीपे सूर्यौ यथायोगमण्डलपरिभ्रम्या भ्रमन्तौ मेरोरुदक्प्राच्यामुत्तरपूर्वस्यां दिशि उद्गच्छतः तत्र चोद्गत्य प्राग् दक्षिणपूर्वस्यामागच्छतः ततो भरतादिक्षेत्रापेक्षया प्राग् दक्षिणपूर्वस्यामुद्गत्य दक्षिणापरस्यामागच्छतस्तत्रापि च दक्षिणापरस्यामपरविदेहक्षेत्रापेक्षया उद्गत्यापाच्युदीच्यामपरोत्तरस्यामागच्छतस्तत्रापि चापरोत्तरस्यामैरावतादिक्षेत्रापेक्षया उद्गत्य उदक्प्राच्यामुत्तरपूर्वस्यामागच्छतः एवं तावत्सामान्यतो द्वयोरपि सूर्ययोरुदयविधिरुपदर्शितो विशेषतः पुनरयं यदैकः सूर्यः पूर्वदक्षिणस्यामुद्गच्छति तदा अपरः उत्तरस्यां दिशि समुद्गच्छति दक्षिणपूर्वोद्गतश्च सूर्यो भरतादीनि क्षेत्राणि मेरुदक्षिणदिग्वर्तीनि मण्डलपरिभ्रम्या परिभ्रमन् प्रकाशयति अपरोत्तरस्यामुद्गतः सन् तत ऊर्ध्वमण्डलपरिभ्रम्या परिभ्रमन् ऐरावतादीनि क्षेत्राणि मेरोरुत्तरदिग्भावीनि प्रकाशयति भारतश्च सूर्यो दक्षिणापरस्यामागतः सन्नपरविदेहक्षेत्रापेक्षया उदयमासादयति ऐरावतः सूर्यः पुनरुत्तरपूर्वस्यामागतः पूर्वविदेहापेक्षया समुद्गच्छति ततो दक्षिणापरस्यामुद्गतः सन् तत ऊर्ध्वं मण्डलभ्रम्या परिभ्रमन् अपरविदेहान् प्रकाशयति । उत्तरपूर्वस्यामुद्गतः सन् तत ऊर्ध्वं मण्डलगत्या चरन् पूर्वविदेहानवभासयति । तत एव पूर्वविदेहप्रकाशकः सूर्यो दक्षिणपूर्वस्यां भरतादिक्षेत्रापेक्षयोदयमासादयति अपरविदेहप्रकाशकस्त्वपरोत्तरस्यामिति । तदेवं जम्बूद्वीपे सूर्ययोरुदयविधिरुक्तः संप्रतिक्षेत्रविभागेन दिवसरात्रिविभागमाह (ता जयाणमित्यादि) तत्र यदा णमिति वाक्यालंकारे जम्बूद्वीपे २ दक्षिणार्द्धे दिवसो भवति तदा उत्तरार्द्धेऽपि दिवसो भवति एकस्य सूर्यस्य दक्षिणदिशि परिभ्रमणसंभवे अपरस्य सूर्यस्यावश्यमुत्तरदिशि भ्रमणसंभवात् यदा चोत्तरार्द्धे दिवसस्तदा जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य (पुरच्छिमपच्चच्छिमेणंति) पूर्वस्यामपरस्यां च दिशि रात्रिर्भवति तदानीमेकस्यापि सूर्यस्य तत्राभावात् । (ता जया णमित्यादि) तत्र यदा जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य पूर्वस्यां दिशि दिवसो भवति एकस्य सूर्यस्य पूर्वदिग्भागसंभवे अपरस्य सूर्यस्यावश्यमपरस्यां दिशि भावात् । एतच्च प्रागेव भावितम् । यदा च पश्चिमायामपि दिशि दिवसो भवति तदा जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य (उत्तरदाहिणेणंति) उत्तरतो दक्षिणतश्च रात्रिर्भवति (ता जया णमित्यादि) तत्र यदा णमिति प्राग्वत् जम्बूद्वीपे दक्षिणार्द्धे उत्कर्षेण उत्कृष्टोऽष्टादशमुहूर्तप्रमाणो दिवसो भवति तदा उत्तरार्द्धेऽपि उत्कृष्टोऽष्टादशमुहूर्तोऽष्टादशमुहूर्तप्रमाणो दिवसः उत्कृष्टो ह्यष्टादशमुहूर्तप्रमाणो दिवसः सर्वाभ्यन्तरमण्डलचारित्वे तत्र च यदैकः सूर्यः सर्वाभ्यन्तरमण्डलचारी भवति तदा अपरोऽप्यवश्यं तत्समायातश्रेण्या सर्वाभ्यन्तरमण्डलचारी भवतीति दक्षिणार्द्धे उत्कृष्टदिवससंभवे उत्तरार्द्धेऽप्युत्कृष्टदिवससंभवः । यदा उत्तरार्द्धे उत्कृष्टोऽष्टादशमुहूर्तप्रमाणो दिवसो भवति तदा जम्बूद्वीपे २ मन्दरस्य पर्वतस्य (पुरच्छिमपच्चच्छिमेणंति) पूर्वस्यामपरस्यां च दिशि जघन्या द्वादशमुहूर्ता रात्रिर्भवति सर्वाभ्यन्तरं मण्डले चारं चरतोः सूर्ययोः सर्वत्रापि रात्रेर्द्वादशमुहूर्तप्रमाणाया एव भावात् तथा (ताजयाणमित्यादि) तत्र यदा जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य पूर्वस्यां दिशि उत्कर्षेण उत्कृष्टोऽष्टादशमुहूर्तो दिवसो भवति तदा मन्दरस्य पर्वतस्य पश्चिमायामपि दिशि उत्कृष्टोऽष्टादशमुहूर्तो दिवसः कारणं दक्षिणोत्तरार्द्धगतं प्रागुक्तमनुसरणीयम् । यदा च मन्दरपर्वतस्य पश्चिमायामपि दिशि उत्कृष्टोऽष्टादशमुहूर्तो दिवसो भवति तदा जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य (उत्तरदाहिणेणंति) उत्तरतो दक्षिणतश्च जघन्या द्वादशमुहूर्ता रात्रिः । अत्रापि कारणं पूर्वपश्चिमार्द्धे रात्रिगतं प्रागुक्तमनुसरणीयम् । (एवमित्यादि) एवमुक्तेन प्रकारेण एतेनानन्तरोदितेन गमेनालापकगमेन वक्ष्यमाणमपि नेतव्यम् । किं तद्वक्ष्यमाणमित्याह । (अट्ठारसमुहुत्ताणंतरइत्यादि) यदा मन्दरस्य पर्वतस्य दक्षिणोत्तरार्द्धयोः पूर्वपश्चिमयोर्वा अष्टादशमुहूर्तानन्तरः सप्तदशभ्यो मुहूर्तेभ्य ऊर्ध्वं किञ्चिन्न्यूनाष्टादशमुहूर्तप्रमाणो दिवसस्तदा पूर्वपश्चिमयोर्दक्षिणोत्तरार्द्धयोर्वा सातिरेका द्वादशमुहूर्ता रात्रिर्भवतीति एवं शेषाण्यपि पदानि भावनीयानि सूत्रपाठोऽपि प्रागुक्तालापकगमानुसारेण स्वयं परिभावनीयः । स चैवं " ता जयाणं जंबुद्दीवे दीवे दाहिणड्ढे अट्ठारसमुहुत्ताणंतरे दिवसे हवइ तया णं उत्तरड्ढेवि अट्ठारसमुहुत्ताणंतरे दिवसे भवइ जया णं उत्तरड्ढे अट्ठारसमुहुत्ताणंतरे दिवसे हवइ तया णं जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमपच्चच्छिमेणं सातिरेगदुवालसमुहुत्ता राई भवइ ता जया णं जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमेणं अट्ठारसमुहुत्ताणंतरे दिवसे हवइ तया णं पच्चच्छिमेण वि अट्ठारसमुहुत्ताणंतरे दिवसे हवइ । जया णं पच्चच्छिमेण वि अट्ठारसमुहुत्ताणंतरे दिवसे भवइ तया णं जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरदाहिणेणं साइरेगदुवालसमुहुत्ता राई भवइ" एवं सप्तदशमुहूर्तदिवसादिप्रतिपादका अपि सूत्रालापका भावनीयाः (ता जयाणमित्यादि) तत्र यदा जम्बूद्वीपे दक्षिणार्द्धे वर्षाणां वर्षाकालस्य प्रथमः समयः प्रतिपद्यते भवति तदा उत्तरार्द्धेऽपि वर्षाणां प्रथमसमयो भवति समकाले नैयत्येन दक्षिणार्द्धे उत्तरार्द्धे च सूर्ययोश्चारभावात् यदा चोत्तरार्द्धे वर्षाकालस्य प्रथमः समयो भवति तदा जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य (पुरच्छिमपच्चच्छिमेणंति) पूर्वस्यामपरस्यां च दिशि (अणंतरपुरक्खडेत्ति) अनन्तरमव्यवधानेन पुरस्कृतोऽग्रे कृतो यः सोऽनन्तरपुरस्कृतोऽनन्तरद्वितीय इत्यर्थः । तस्मिन् काले (समयंसित्ति) समयः संकेतादिरपि भवति ततस्तद्व्यवच्छेदार्थं कालग्रहणं कालश्चासौ समयश्च कालसमयस्तत्र वर्षाकालप्रथमसमयः प्रतिपद्यते भवति किमुक्तं भवति यस्मिन् समये दक्षिणार्द्धोत्तरार्द्धयोर्वर्षाकालस्य प्रथमः समयो भवति तस्मादूर्ध्वमनन्तरे द्वितीये समये पूर्वपश्चिमयोर्वर्षाकालस्य प्रथमसमयो भवति (ताजयाणमित्यादि) तत्र यदा णमिति प्राग्वत् । जम्बूद्वीपे २ मन्दरस्य पर्वतस्य पूर्वस्यां दिशि वर्षाकालस्य प्रथमः समयो भवति तदा मन्दरस्य पर्वतस्य पश्चिमायामपि दिशि वर्षाकालप्रथमसमयो भवति समकालनैयत्येन पूर्वपश्चिमयोरपि सूर्ययोश्चारचरणात् । यदा च पश्चिमायामपि दिशि वर्षाकालस्य प्रथमः समयः भवति तदा जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य (उत्तरदाहिणेणंति) उत्तरतो दक्षिणतश्च अनन्तरमव्यवधानेन पश्चात्कृतोऽनन्तरपश्चात्कृतस्तस्मिन् कालसमये वर्षाकालस्य प्रथमः समयः प्रतिपन्नो भवति भूत इत्यर्थः । इह यस्मिन् समये दक्षिणार्द्धे उत्तरार्द्धे च वर्षाकालस्य प्रथमः समयो भवति तदनन्तरेऽग्रेतने द्वितीये समये पूर्वपश्चिमयोर्वर्षाणां प्रथमसमयो भवतीति । एतावन्मात्रोक्तावपि यस्मिन् समये पूर्वपश्चिमयोर्वर्षाकालस्य प्रथमः समयो भवति ततोऽनन्तरे पश्चाद्भाविनि समये दक्षिणोत्तरार्द्धयोर्वर्षाकालस्य प्रथमः समयो भवतीति गम्यते तत्किमर्थमस्योपादानम् उच्यते इह प्रभाभ्यामभिहितोऽर्थः प्रपश्चितज्ञानां शिष्याणामतिसुनिश्चितो भवति ततस्तेषामनुग्रहाय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तदुक्तमित्यदोषः ॥ (जहासमयइत्यादि) यथा समय उक्तस्तथा आवलिकाप्राणापानौ स्तोकको लवो मुहूर्त्तोऽहोरात्रः पक्षो मास ऋतुश्च प्रावृडादिरूपो वक्तव्यः एवं च समयागतमालापकमादिं कृत्वा दश आलापका एते भवन्ति ते च समयगतालापकरीत्या स्वयं परिभावनीयास्तद्यथा" जयाणं जंबूदीवे दीवे वासाणं पढमा आवलिया पडिवज्जइ तया णं उत्तरड्ढे वि वासाणं पढमा आवलिया पडिवज्जइ जयाणं उत्तरड्ढे वासाणं पढमा आवलिया पडिवज्जइ तया णं जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमपच्चच्छिमेणं अणंतरपुरक्खडे कालसमयंसि वासाणं पढमा आवलिया पडिवज्जइ ता जयाणं जंबूदीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमेणं वासाणं पढमा आवलिया पडिवज्जइ तया णं पच्चच्छिमेणं च पढमा आवलिया पडिवज्जइ जया णं पच्चच्छिमेणं वासाणं पढमा आवलिया पडिवज्जइ तया णं जंबूदीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरदाहिणेणं अणंतरपच्छाकडकालसमयंसि वासाणं पढमा आवलिया पडिवन्ना भवइ" इदं च प्रागुक्तव्याख्यानुसारेण व्याख्येयं नवरम् (आवलिया पडिवज्जत्ति) आवलिका परिपूर्णा भवति शेषं तथैव एवं प्राणापानादिका अप्यालापका भणनीयाः (एएइत्यादि) यथा वर्षाणां वर्षाकालस्य एते अनन्तरोदिताः समयादिगता अत्र आलापका भणिता एवं (हेमंताणंति) शीतकालस्य (गिम्हाणंति) ग्रीष्मकालस्योष्णकालस्येत्यर्थः । प्रत्येकं समयादिगता दश आलापका भणितव्याः । अयनगतं त्वालापकं साक्षात्पठति ॥

ता जता णं जंबुद्दीवे२दाहिणड्ढे पढमे अयणे पडिवज्जति तदा णं उत्तरड्ढेवि पढमे अयणे पडिवज्जइ जता णं उत्तरड्ढे पढमे अयणे पडिवज्जति तता णं जंबुद्दीवे२ मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमपच्चच्छिमेणं अणंतरपुरक्खडकालसमयंसि पढमे अयणे पडिवज्जति ता जता णं जंबुद्दीवे२ मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमेणं पढमे अयणे पडिवज्जति जया णं पच्चच्छिमेणं पढमे अयणे पडिवज्जति तता णं जंबुद्दीवे मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरदाहिणेणं अणंतरपच्छाकडकालसमयंसि पढमे अयणे पडिवन्ने भवति जहा अयणे तथा संवच्छरे जुगे वाससते एवं वाससहस्से वाससयसहस्से पुव्वंगे पुव्वे एवं जाव सीसपहेलिया पलितोवमे सागरोवमे ता जदा णं जंबुद्दीवे२ दाहिणड्ढे उस्सप्पिणी पडिवज्जति तता णं उत्तरड्ढेवि उस्सप्पिणी पडिवज्जति जता णं उत्तरड्ढे उस्सप्पिणी पडिवज्जति तता णं जंबुद्दीवे२ मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमपच्चच्छिमेणं णेवत्थि ओसप्पिणी णेव अत्थि उस्सप्पिणी अवट्ठिते णं तत्थ काले पण्णत्ते समणाउसो एवं उस्सप्पिणी वि ता लवणे समुद्दे दाहिणड्ढे दिवसे भवति तता णं उत्तरड्ढे दिवसे भवति जता णं उत्तरड्ढे दिवसे भवति तता णं लवणसमुद्दे पुरच्छिमपच्चच्छिमेणं राई भवति जहा जंबुद्दीवे२ तहेव जाव उस्सप्पिणी तहा धायइसंडेणं दीवे सूरिया उदीणं तथेव ता जता णं धायइसंडे दीवे दाहिणड्ढेदिवसे भवति तता णं उत्तरड्ढे वि दिवसे भवति जता णं उत्तरड्ढे दिवसे भवति तता णं धायइसंडे दीवे मंदराणं पव्वताणं पुरच्छिमपच्चच्छिमेणं राई भवति एवं जंबुद्दीवे२ तहा तथेव जाव उस्सप्पिणी कालो एवं जहा लवणे समुद्दे तथेव कालोदे तअब्भिंतरं पुक्खरद्धेणं सूरिया उदीणपाईणमुग्गच्छं तथेव ता जता णं अब्भिंतरपुक्खरद्धेणं दाहिणड्ढे दिवसे भवति तदा णं उत्तरद्धे वि दिवसे भवति जता णं उत्तरद्धे वि दिवसे भवति तता णं अब्भिंतरपुक्खरद्धे मंदराणं पव्वताणं पुरच्छिमे पच्चच्छिमेणं राई भवति सेसं जहा णं जंबुद्दीवे तथेव जाव उस्सप्पिणीओ सप्पिणी ।

ता जताणमित्यादि सुगमम् । (जहाअयणेइत्यादि) यथा अयने आलापको भणितस्तथा संवत्सरे युगे वक्ष्यमाणस्वरूपे चन्द्रादिसंवत्सरपञ्चकात्मके वर्षसहस्रे वर्षशतसहस्रे पूर्वाङ्गे पूर्वे एवं (जाव सीसपहेलियत्ति) अत्र एवं यावत्करणादमून्यपान्तराले पदानि द्रष्टव्यानि " तुडियंगे तुडिए अडडंगे अडडे अववंगे अववे हूहूयंगे हूहूये उप्पलंगे उप्पले पउमंगे पउमे नलिणंगे नलिणे अत्थनिउरंगे अत्थनिउरे अउयंगे अउए नउयंगे नउए चूलियंगे चूलिए सीसपहेलियंगे सीसपहेलिए इति" अत्र चतुरशीतिवर्षलक्षाण्येकं पूर्वाङ्गं चतुरशीतिपूर्वाङ्गलक्षाणि एकं पूर्वमेव पूर्वः पूर्वो राशिश्चतुरशीतिलक्षैर्गुणित उत्तरो राशिर्भवति यावच्चतुरशीतिशीर्षप्रहेलिकाङ्गलक्षाणि एका शीर्षप्रहेलिका एतावान् राशिर्गणितविषयोऽत ऊर्ध्वं गणनातीतः स च पल्योपमादि " पलिउवमे सागरोवमे " अनयोः स्वरूपं संग्रहणीटीकायामुक्तम् । आलापकास्तु स्वयं वक्तव्याः । अवसर्पिण्युत्सर्पिणीविषयमालापकं साक्षादाह (ताजयाणमित्यादि) तत्र यदा जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य दक्षिणार्द्धे अवसर्पिणी प्रतिपद्यते परिपूर्णा भवति तदा उत्तरार्द्धेऽपि अवसर्पिणी प्रतिपद्यते यदा उत्तरार्द्धे अवसर्पिणी प्रतिपद्यते तदा जम्बूद्वीपे२ मन्दरस्य पर्वतस्य पूर्वस्यामपरस्यां च दिशि नैवास्त्यवसर्पिणी नाप्यस्त्युत्सर्पिणी कुत इत्याह अवस्थितो णमिति खलु तत्र पूर्वस्यामपरस्यां च दिशि कालः प्रज्ञप्तो मया शेषैश्च तीर्थकरैः हेश्रमणायुष्मन् ! ततस्तत्रावसर्पिण्युत्सर्पिण्यभावः (एवमुस्सप्पिणीविति) एवमुक्तेन प्रकारेणोत्सर्पिण्यपि उत्सर्पिण्यालापकोऽपि वक्तव्यः । स चैवं "ताजयाणं जंबुद्दीवे दीवे दाहिणड्ढे पढमा उस्सप्पिणी पडिवज्जइ तया णं उत्तरड्ढे वि पढमा उस्सप्पिणी पडिवज्जइ जया णं उत्तरड्ढे वि पढमा उस्सप्पिणी पडिवज्जइ तया णं जंबुद्दीवे२ मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमपच्चच्छिमेणं नेव अत्थि उस्सप्पिणी अवस्सप्पिणी अवट्ठिए णं तत्थ काले पन्नत्ते समणाउसो " तदेवं जम्बूद्वीपवक्तव्यतोक्ता संप्रति लवणसमुद्रवक्तव्यतामाह । (लवणेणं समुद्दे इत्यादि) (तहेवत्ति) यथा जम्बूद्वीपे उद्गमविषये आलापक उक्तस्तथा लवणसमुद्रेऽपि वक्तव्यः । सचैवं "लवणेणं सूरिया उईणपाईणमुग्गच्छ पाईणदाहिणमागच्छंति पाईणदाहिणमुग्गच्छदाहिणपाईणमागच्छंति दाहिणपाईणमुग्गच्छ पाईणउईणमागच्छंति पाईणउईणमुग्गच्छ उईणपाईणमागच्छंति " इदं च सूत्रं जम्बूद्वीपगतोद्गमसूत्रवत्स्वयं परिभावनीयं नवरमत्र सूर्याश्चत्वारो वेदितव्याः " चत्तारि य सागरे लवणे इति वचनात् " ते च जम्बूद्वीपगतसूर्याभ्यां सह समश्रेण्या प्रतिबद्धास्तद्यथा द्वौ सूर्यावेकस्य जम्बूद्वीपगतस्य सूर्यस्य श्रेण्या प्रतिबद्धौ द्वितीयस्य जम्बूद्वीपगतस्य सूर्यस्य श्रेण्या अपरौ तत्र यदैकः सूर्यो जम्बूद्वीपे दक्षिणपूर्वस्यामुद्गच्छति तदा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत्समश्रेण्या प्रतिबद्धौ सूर्यौ लवणसमुद्रे तस्यामेव दक्षिणपूर्वस्यामुदयमागच्छतस्तदैव जम्बूद्वीपगतेन सूर्येण सह तत्समश्रेण्या प्रतिबद्धौ द्वावपरौ लवणसमुद्रे अपरोत्तरस्यां दिशि उदयमासादयतः। तत उदयविधिरपि द्वयोर्द्वयोर्जम्बूद्वीपसूर्ययोरिव भावनीयः। तेन दिवसरात्रिविभागोऽपि क्षेत्रविभागेन तथैव द्रष्टव्यः। तथा चाह। ताजयाणमित्यादि सुगमं नवरं (जहाजंबुद्दीवेइत्यादि) यथा जंबुद्दीवे पुरच्छिमपच्चच्छिमेणं राई भवइ इत्यादिकं सूत्रमुक्तं यावदुत्सर्पिण्यवसर्पिण्यालापकस्तथा लवणसमुद्रेऽप्यन्यूनातिरिक्तं समस्तं भणितव्यं नवरं जम्बूद्वीपे द्वीप इत्यस्य स्थाने लवणसमुद्रे इति वक्तव्यमिति शेषः तदेवं लवणसमुद्रगतापि वक्तव्यतोक्ता। संप्रति धातकीखण्डविषयां तामाह "धायइसंडेणं सूरियाइ इत्यादि" अत्राप्युक्तविधिः प्राग्वद्भावनीया नवरमत्र सूर्या द्वादश "धायइसंडे दीवे बारसचंदा य सूरा य" इतिवचनात्। ततः षट् सूर्या दक्षिणदिक्चारिभिर्जम्बूद्वीपगतलवणसमुद्रगतैः सूर्यैः सह समश्रेण्या प्रतिबद्धाः षट् उत्तरदिक्चारिभिः। संप्रत्यत्रापि क्षेत्रविभागेन दिवसरात्रिविभागमाह (ताजयाणमित्यादि) यदा धातकीखण्डे द्वीपे दक्षिणार्द्धे दिवसो भवति तदा उत्तरार्द्धेऽपि दिवसो भवति यदा उत्तरार्द्धेऽपि दिवसस्तदा धातकीखण्डे मन्दरयोः पर्वतयोः पूर्वार्द्धपश्चिमार्द्धगतयोः प्रत्येकं पूर्वस्यामपरस्यां च दिशि रात्रिर्भवति [एवमित्यादि] एवमुक्तेन प्रकारेण यथा जम्बूद्वीपे उक्तं तथैवात्रापि वक्तव्यं तत्र तावद्यावदुत्सर्पिण्यालापकः। [कालोएइत्यादि] कालोदे समुद्रे यथा लवणेऽभिहितं तथैवाभिधातव्यं नवरं कालोदे सूर्या द्विचत्वारिंशत् तत्रैकविंशतिर्दक्षिणदिक्चारिभिर्जम्बूद्वीपलवणसमुद्रधातकीखण्डगतैः सह समश्रेण्या संबद्धा एकविंशतिरुत्तरदिक्चारिभिः तत उदयविधिर्दिवसरात्रिविभागश्च क्षेत्रविभागेन तथैव वेदितव्यः॥ सांप्रतमभ्यन्तरपुष्करवरार्द्धवक्तव्यतामाह [ता अब्भिंतरपुक्खरद्धे इत्यादि] इदमपि सूत्रं सुगमं [तहेवत्ति] तथैव जम्बूद्वीप इव वक्तव्यं नवरमत्र सूर्या द्वासप्ततिः तत्र षट्त्रिंशद्दक्षिणदिक्चारिभिर्जम्बूद्वीपादिगतैः सह समश्रेण्या प्रतिबद्धाः षट्त्रिंशदुत्तरदिक्चारिभिस्तत उदयविधिर्दिवसरात्रिविभागश्च क्षेत्रविभागेन प्राग्वदवसेयस्तथाचाह [ताजयाणमित्यादि] सुगमम्। सू० प्र० ८ पाहु०।

उदयसाय(ग)र–उदयसागर–पुं० अञ्चलगच्छीये विद्यासागरसूरिशिष्ये, येन विक्रम सं० (१८०४) वर्षे पालिताणय नगरे स्नात्रपञ्चाशिका नामग्रन्थो व्यरचि। जै० इ०।

उदयसिंहमुणि–उदयसिंहमुनि–पुं० तपागच्छीये उदयवीरगणिनः शिष्ये, अनेन– वि० सं० (१६४६) वर्षे रत्नशेखरसूरिकृतश्राद्धप्रतिक्रमणवृत्तिः प्रथमादर्शे लिखिता। जै० इ०।

उदयसेण–उदयसेन– पुं० वीरसेनसूरसेनयोरनयोः पितरि, आचा० १ श्रु० ४ अ० १ उ०। (सम्मशब्दे कथा–)

उदयावलिया–उदयावलिका–स्त्री० षष्ठीतत्पु० उदयवतीनामनुदयवतीनां च प्रकृतीनामुदयसमयादारभ्यावलिकामात्रायां स्थितौ,। "आवलियतिगं पमोत्तूणं" इह उदयवतीनामनुदयवतीनां च प्रकृतीनामुदयसमयादारभ्यावलिकामात्रस्थितिरुदयावलिका वदितव्या तथैव चिरन्तनग्रन्थेषु व्यवहारात्। पं० सं०।

उद(य)र–उदर– न० उद्–ऋ–अच्० जठरे, । प्रश्न० ३ द्वा०। अङ्गान्युपाङ्गानि चेति द्विधा शरीरावयवास्तत्रेदमङ्गम् स्था० ८ ठा०। प्रज्ञा०। उत्त०। आ० चू०। तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेशः उदररोगे, । वाच०। उदराण्यष्टौ।। "पृथक् समस्तैरपि चानिलाद्यैः (४) प्लीहोदरं (५) बद्धगुदं तथैव (६) आगन्तुकं (७) सप्तममष्टमं च जलोदरं चेति भवन्ति तानि"। प्रश्न० सं० ५ द्वा०। विपा०। तं०। उपा०।

उदरंभरि–उदरम्भरि–त्रि० उदरं बिभर्ति–भृ–खि–मुम् च। पञ्चयज्ञाद्यकरणेनात्मोदरमात्रपोषके, । वाच०।

उद(य)रगंठि–उदरग्रन्थि–पुं० उदरे ग्रन्थिरिव गुल्मरोगे हेम०।

उद(य)रत्ताण–उदरत्राण–न० उदरं त्रायतेऽनेन त्रै०ल्युट् (कमरबन्ध) उदरबन्धवस्त्रे। हेम०।

उदराणुगिद्ध–उदरानुगृद्ध–त्रि० उदरेऽनुगृद्ध उदरानुगृद्धः। उदरभरणव्यग्रे तुन्दपरिमृजे, "कुजाइं जे धावति सा लगाइं, आघातिधम्मं उदराणुगिद्धे"। सूत्र० १ श्रु० ८ अ०।

उदरिय–उदरिक–न० जलोदरिके, विपा० १ श्रु० ७ अ०। नि० चू०।

उदवाह–उदवाह–पुं० उदकं वहति। वह अण् उप० स० जलवाहके मेघे, उदकवाहकमात्रे, त्रि०। वाच०। अपकृष्टेऽल्पे उदकवाहने, "उदवाहाइ वा पवाहाइ वा" अपकृष्टानि अल्पान्युदकवाहनानि तान्येव प्रकर्षवन्ति प्रवाहाः। भ० ३ श० ६उ०।

उदहि–उदधि–पुं० उदकानि धीयन्तेऽत्र धा–आधारे कि–उदादेशः समुद्रे,। "जहा से सयंभुउदहीणसेट्ठे णागेसु धरणिंदमाहुसेट्ठे"। सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। "जहा से सयंभुरमणे, उदही अक्खओदए"-उत्त० ११ अ०। (उदधीनां सर्वा वक्तव्यता दीवसागरशब्दे)। ("चत्तारि उदही पण्णत्ता तंजहा उत्ताणे णामभेगे" इत्यादि पुरुषजातशब्दे उदधि सूत्रे वक्ष्यते) (द्वयोऽऽरु समयेन स्पृष्टा नवेति फरिसणा शब्दे) घनोदधौ, स्था० ३ ठा० २ उ० "पुढवीइ वा उदहीइ वा" पृथिवी रत्नप्रभादिका उदधिस्तदधीनोघनोदधिः। स्था०,२ ठा०४ उ०। "वायुपइट्ठिया उदही, उदहिपइट्ठिया पुढवी"। स्था० ४ ठा० २ उ०। आर्यसमुद्रनामके आचार्ये,। आचा०१ श्रु०६ अ०१ उ०। नामैकदेशे नामग्रहणात्। उदधिकुमारे सप्तमभवनवासिनि,। भ० १ श० १ उ०। "दीवदिसा उदहीणं जुवलपाणं वावत्तरिमो य सयसहस्सा" स०। प्रश्न०। जलचये, स्था० ३ ठा० ४ उ०।

उदहिकुमार–उदधिकुमार–पुं० सप्तमे भवनवासिनि, प्रज्ञा० १ पद। स्था०। "उदहिकुमारा णं सव्वे समाहारा सेवं भंते भंते त्ति। भ० १६ श० १३उ०। (उदधिकुमारोद्देशवक्तव्यता वर्णादिव्यवस्था भवणवासिशब्दे। (अन्तक्रियादिदण्डकास्तु अंतकिरियादिशब्देषु)

उदहिकुमारावास-उदधिकुमारावास-पुं०उदधिकुमाराणां भवनावासे," बावत्तरि उदहिकुमारा वाससयसहस्सा पण्णत्ता" स०।

उदहिपइट्ठिय–उदधिप्रतिष्ठित–त्रि०घनोदध्याश्रिते, "उदहिपइट्ठिया पुढवी" भ० १ श० ७ उ०।

उदहिपुहत्त–उदधिपृथक्त्व– न० उदधिपृथक्त्वप्रमाणे प्रभूतसागरोपमशतप्रमाणे, "उदहिपुहुत्तुक्कस्स हयरं पल्लस्स संखतमभागो"। क० प्र०।

उदहिमंगल-उदधिमङ्गल-न०समुद्रज्वलनमङ्गले, पञ्चा०८विव०॥

उदहिमेहला–उदधिमेखला–स्त्री०उदधिर्मेखला इव यस्याः। मध्यस्थाने, समुद्रवेष्टितायां पृथिव्याम्, वाच०॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उदाइ-उदायिन्- पुं० स्वनामख्याते कूणिकराजस्यैकहस्तिनि, उदायिहस्तिनः पूर्वापरभवौ यथा ।

रायगिहे जाव एवं वयासी उदाईणं भंते ! हत्थिराया कओहिंतो अणंतरं उव्वहित्ता उदाई हत्थिरायत्ताए उववन्ने । गोयमा ! असुरकुमारेहिंतो अणंतरं उव्वहित्ता उदाई हत्थिरायत्ताए उववन्ने । उदाईणं भंते ! हत्थिराया कालमासे कालं किच्चा कहिं गच्छिहिति कहिं उववज्जिहिति ? गोयमा ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए उक्कोसं सागरोवमट्ठितीयंसि णिरयावासंसि णेरइयत्ताए उववज्जिहिति से णं भंते ! तओहिंतो अणंतरं उव्वहित्ता कहिं गच्छिहिति गोयमा ! महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ जाव अंतं काहिति । भ० १६ श० १ उ० ।

(टीका सुगमत्वान्न गृहीता) कौण्डिकायनीये गोशालेन षष्ठप्रवृत्तसंहारं गृहीतकलेवरविशिष्टजीवे, "अहण्णं उदाई णामं कुंडियायणिए अज्जुणस्स गोयमपुत्तस्स सरीरगं विप्पजहामि" इति वीरं प्रति मङ्खलिपुत्रो गोशालः । भ० १५ श० १ उ० । कूणिकपुत्रे, तद्वक्तव्यता चैवम् उदायि कौणिकपुत्रो यः कौणिके अपक्रान्ते पाटलिपुत्रं नगरं न्यवीविशत् । यश्च स्वभवनस्य विविक्ते देशे पर्वदिनेष्वाहूय संविग्नगीतार्थसद्गुरुं तत्पर्युपासनापरायणः परमसंवेगरसप्रकर्षमनुस्मरन् सामायिकपौषधादिकं सुश्रमणोपासकप्रायोग्यमनुष्ठानमन्वतिष्ठत् । एकदा च निशि देशनिर्धाटितरिपुराजपुत्रेण द्वादशवार्षिकद्रव्यसाधुना कृतपौषधोपवासः सुखप्रसुप्तः कङ्कायःकर्त्तिकाकण्ठकर्तनेन विनाशित इति ॥ स्था० ९ ठा० । आ० क० (**विस्तरतोऽयमवार्यः संणियशब्दे**) अयं च निर्वर्तिततीर्थकृन्नामकर्मा **उत्सर्पिण्यां** तृतीयः सुपार्श्वनामा तीर्थकरो भविष्यति । "तइओ उदयिजीवो सुपासो" ती० । आ० चू० ।

उदाइंत-उदयमान-त्रि० शोभमाने, । ज्ञा० १ अ० ॥

उदाण-उदान-पुं० अनु-घञ् । ऊर्ध्वं मानोऽस्य कृकाटिकादेशादाशिरोवृत्तौ वायौ, । द्वा० २६ द्वा० । वाच० ।

उदायण-उदायन-पुं० सिन्धुसौवीरेषु वीतिभयनगराधिपतौ स्वनामख्याते राजर्षौ, । तद्वक्तव्यता चैवम् ।

तेणं कालेणं तेणं समएणं सिंधुसोवीरेसु जणवएसु वीतिभयणामं णयरे होत्था । वण्णओ । तस्स णं वीतिभयस्स णयरस्स बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसि भाए एत्थ णं मियवणे णामं उज्जाणे होत्था । सव्वोउयवण्णओ । एत्थ णं वीतिभए णयरे उदायणे णामं राया होत्था । महया वण्णओ, तस्स णं उदायणस्स रण्णो पउमावई णामं देवी होत्था । सुकुमालवण्णओ तस्स णं उदायणस्स रण्णो पभावती णामं देवी होत्था । वण्णओ जाव विहरति । तस्स णं उदायणस्स रण्णो पुत्ते पभावतीए देवीए अत्तए अभीइणामं कुमारे होत्था । सुकुमाल जहा सिवभद्दे जाव पच्चुवेक्खमाणे विहरइ । तस्स णं उदायणस्स रण्णो णियए भायणिज्जे केसी णामं कुमारे होत्था सुकुमाल जाव सुरूवे से णं उदायणे राया सिंधुसोवीरप्पमोक्खाणं सोलसण्हं जणवयाणं वीइभयप्पमोक्खाणं तिण्हं तेसट्ठीणं णगरागरसयाणं महसेणप्पमोक्खाणं दसण्हं राईणं बद्धमउडाणं विदिण्णछत्तचामरवालवियणाणं अण्णेसिं च बहूणं राईसरतलवर जाव सत्थवाहप्पभिईणं आहेवच्चं पोरेवच्चं जाव कारेमाणे पालेमाणे समणोवासए अभिगयजीवाजीवे जाव विहरइ । तए णं से उदायणे राया अण्णया कयाइ जेणेव पोसहसाला तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता जहा संखे जाव विहरइ तए णं तस्स उदायणस्स रण्णो पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि धम्मं जागरियं जागरमाणस्स अयमेयारूवे अज्झत्थिए जाव समुप्पज्जित्था धण्णा णं ते गामागरनगरखेडकब्बडमडंबदोणमुहपट्टणासमसंवाहसण्णिवेसा जत्थ णं समणे भगवं महावीरे विहरइ धण्णा णं ते राईसरतलवर जाव सत्थवाहप्पभिईओ जे णं समणं भगवं महावीरं वंदंति णमंसंति जाव पज्जुवासंति । जइ णं समणे भगवं महावीरे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणु जाव विहरमाणे इहमागच्छेज्जा । इह समोसरेज्जा इहेव वीतीभयस्स णयरस्स बहिया मियवणे उज्जाणे अहापडिरूवं उग्गहं उगिण्हित्ता संजमेणं जाव विहरेज्जा तओ णं अहं समणं भगवं महावीरं वंदेज्जा णमंसेज्जा जाव पज्जुवासेज्जा । तए णं समणे भगवं महावीरे उदायणस्स रण्णो अयमेयारूवं अज्झत्थियं जाव समुप्पण्णं विजाणित्ता । चंपाओ णयरीओ पुण्णभद्दाओ चेइयाओ पडिणिक्खमइ पडिणिक्खमइत्ता पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं जाव विहरमाणे जेणेव सिंधुसोवीरे जणवए जेणेव वीईभये णयरे जेणेव मियवणे उज्जाणे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता जाव विहरइ । तए णं वीईभए णयरे सिंघाडग जाव परिसा पज्जुवासइ । तए णं से उदायणे राया इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे हट्ठतुट्ठकोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ सद्दावेइत्ता एवं वयासी । खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! वीतिभयं णयरं सब्भितरबाहिरियं जहा कूणिओ उववाइए जाव पज्जुवासइ पउमावइपामोक्खाओ देवीओ तहेव पज्जुवासंति धम्मकहा तए णं से उदायणे राया समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं धम्मं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठउट्ठाए उट्ठेइ उट्ठेइत्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो जाव णमंसित्ता एवं वयासी एवमेयं भंते ! तहमेयं भंते ! जाव से जहेयं तुब्भे वदह त्तिकट्टु जं णवरं देवाणुप्पिया ! अभिइकुमारं रज्जे ठावेमि तए णं अहं देवाणुप्पिया णं अंतिए मुंडे भवित्ता जाव पव्वयामि अहासुहं देवाणुप्पिया मा पडिबंधं । तए णं से उदायणे राया समणेणं भगवया महावीरेणं एवं वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठे समणं भगवं महावीरं वंदइ णमंसइ वंदित्ता णमंसित्ता तमेव अभिसेकहत्थिं दुरूहइ दुरूहइत्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियाओ मियवणाओ उज्जाणाओ पडिणिक्खमइ पडिणिक्खमइत्ता जेणेव वीइभए णयरे तेणेव पहारेत्थ गमणाए तए णं

तस्स उदायणस्स रण्णो अयमेयारूवे अज्झत्थिए जाव समुप्पज्जित्था । एवं खलु अभीइकुमारे मम एगे पुत्ते इट्ठे कंते जाव किमंग पुण पासणयाए तं जइ णं अहं अभीइकुमारं रज्जे ठवेत्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिअं मुंडे भवित्ता जाव पव्वयामि तओ णं अभिइकुमारे रज्जे य रट्ठे य जाव जणवए य माणुस्सएसु य कामभोगेसु मुच्छिए गिद्धे गढिए अज्झोववण्णे अणादीयं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंतसंसारकंतारं अणुपरियट्टिस्सत्ति तं णो खलु मे सेयं अभीइकुमारं रज्जे ठावेत्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स जाव पव्वइत्तए सेयं खलु मे णियगं भाइणिज्जं केसीकुमारं रज्जे ठवेत्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स जाव पव्वइत्तए एवं संपेहेइ संपेहेइत्ता जेणेव वीइभए णयरे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता वीइभयं णयरं मज्झं मज्झेणं जेणेव सए गेहे जेणेव बाहिरिया उवट्ठाणसाला तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता अभिसेक्कं हत्थिं ठवेइ अभिसेक्काओ हत्थीओ पच्चोरुभइ पच्चोरुभइत्ता जेणेव सिंहासणे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता सिंहासणवरंसि पुरत्थाभिमुहे णिसीयइ णिसीयइत्ता कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ सद्दावेइत्ता एवं वयासी खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! वीइभयं णयरं सब्भिंतरबाहिरियं जाव पच्चप्पिणंति तए णं से उदायणे राया दोच्चंपि कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ सद्दावेइत्ता एवं वयासी खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! केसिस्स कुमारस्स महत्थं एवं रायाभिसेओ जहा सिवभद्दस्स तहेव भाणियव्वो जाव परमाउं पालयाहिं इट्ठजणसंपरिवुडे सिंधुसोवीरप्पामोक्खाणं सोलसण्हं जणवयाणं वीइभयप्पामोक्खाणं तिण्हि तेसट्ठीणं णगरागरसयाणं महसेणप्पामोक्खाणं दसण्हं राईणं अण्णेसिं च बहूणं राईसर जाव कारेमाणे पालेमाणे विहराहित्तिकट्टु जयजयसद्दं पउंजंति तए णं केसीकुमारे राया जाए महया जाव विहरइ तए णं से उदायणे राया केसिं रायाणं आपुच्छइ तए णं से केसीराया कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ एवं जहा जमालिस्स तहेव सब्भिंतरबाहिरियं तहेव जाव णिक्खमणाभिसेयं उवट्ठावेंति तए णं से केसीराया अणेगगणनायग जाव संपरिवुडे उदायणरायं सीहासणवरंसि पुरत्थाभिमुहे निसियावेइ निसियावेइत्ता अट्ठसएणं सोवण्णियाणं एवं जहा जमालिस्स एवं वयासी भण सामि किं देमो किं पयच्छामो किणा वा ते अट्ठे तए णं से उदायणे राया केसिं रायं एवं वयासी इच्छामि णं देवाणुप्पिया कुत्तियावणाओ एवं जहा जमालिस्स णवरं पउमावई अग्गकेसे पडिच्छइ पियविप्पओगओ दूसहा तए णं से केसीराया दोच्चंपि उत्तरावक्कमणं सीहासणं रयावेइ रयावेइत्ता उदायणं रायं सीयापीतएहिं कलसेहिं सेसं जहा जमालिस्स जाव सण्णिसण्णे तहेव अम्मधाई णवरं पउमावई हंसलक्खणं पडसाडगं गहाय सेसं तं चेव जाव सिविआओ पच्चोरुहइ पच्चोरुहइत्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं जाव वंदइ णमंसइ वंदित्ता णमंसित्ता उत्तरपुरच्छिमं दिसीभागं अवक्कमइ अवक्कमइत्ता सयमेव आभरणमल्लालंकारं तं चेव जाव पउमावई पडिच्छइ जाव घडियव्वं सामी जाव णो पमादीयव्वं तिकट्टु केसीराया पउमावई य समणं भगवं महावीरं वंदंति णमंसंति वंदित्ता णमंसित्ता जाव पडिगया तए णं से उदायणे राया सयमेव पंचमुट्ठियं लोयं सेसं जहा उसभदत्तस्स जाव सव्वदुक्खप्पहीणे । भ० १३ श० ६ उ० ।

इयमेव वक्तव्यता कथान्तरसंवलिता इत्थम् । भरतक्षेत्रे सौवीरदेशे वीतभयनामनगरे उदायनो नाम राजा तस्य प्रभावती राज्ञी तयोर्ज्येष्ठपुत्रोऽभीचिनामाऽभवत् तस्य भागिनेयः केशीनामाऽभूत् । स उदायनसंज्ञो सिन्धुसौवीरप्रमुखषोडशजनपदानां वीतभयप्रमुखत्रिशतत्रिषष्टिनगराणां महासेनप्रमुखाणां दशराजानां बद्धमुकुटानां छत्राणां चामराणां च ऐश्वर्यं पालयन्नास्ति । इतश्चम्पायां नगर्यां कुमारनन्दी नाम सुवर्णकारोऽस्ति । स च स्त्रीलम्पटो यत्र २ स्वरूपां दारिकां पश्यति जानाति वा तत्र तत्र पञ्चशत सुवर्णानि दत्त्वा तां परिणयति । एवञ्च तेन पञ्चशतकन्याः परिणीताः । एकस्तम्भं प्रासादं कारयित्वा ताभिस्समं क्रीडति । तस्य च मित्रं नागिलो नाम श्रावकोऽस्ति । अन्यदा पञ्चशैलद्वीपवास्तव्यहासाप्रहासाभ्यन्तर्यौ स्तः । तयोर्भर्ता विद्युन्माली नाम देवोऽभवत् सोऽन्यदा च्युतः ताभिश्चिन्तितं कमपि व्युद्ग्राहयावः सोऽस्माकं भर्ता भवति स्वयोग्यपुरुषगवेषणाय इतस्ततो व्रजन्तीभ्यां ताभ्यां चम्पानगर्यां कुमारनन्दी सुवर्णकारः पञ्चशतस्त्रीपरिवृतो दृष्टः । ताभ्यां चिन्तितम् । एष स्त्रीलम्पटः सुखेन व्युद्ग्राहयिष्यते । कुमारनन्दी भणति । के भवत्यौ । कुतः समायाते त आहतुः । आवां हासाप्रहासादेव्यौ तद्रूपमोहितः कुमारसुवर्णकारस्ते देव्यौ भोगार्थं प्रार्थितवान् । ताभ्यां भणितं यद्यस्मद्भोगकार्यं तदा पञ्चशैलद्वीपं समागच्छेः । एवं भणिते देव्यौ उत्पतिते गते स्वस्थानम् । राज्ञः सुवर्णं दत्त्वा पटहं वादयति स्म । कुमारनन्दीसुवर्णकारं यः पञ्चशैलद्वीपं नयति तस्य स धनकोटिं ददाति । एकेन स्थविरेण तत्पटहः स्पृष्टः कुमारनन्दिना तस्य कोटिं धनं दत्तं स्थविरोऽपि तद्धनं पुत्राणां दत्त्वा कुमारनन्दिना सह यानपात्रमारूढः समुद्रमध्यं प्रविष्टः । यावद्दूरं गतस्तावदेकं वटं दृष्टवान् । स्थविर उवाच । तस्य वटस्याधः इदं वाहनं निर्गमिष्यति तत्र जलावर्तोऽस्तीति वाहनं भङ्क्ष्यति । त्वं तु एतद्वटशाखामाश्रयेः । वटेऽत्र पञ्चशैलद्वीपात् भारण्डपक्षिणस्समायास्यन्ति सन्ध्यायां तच्चरणेषु स्ववपुः स्ववस्त्रेण दृढं बध्नीयाः । ते च प्रभाते इत उड्डीनाः पञ्चशैलं यास्यन्ति । त्वमपि तैः समं पञ्चशैलं गच्छेः । स्थविरेण एवमुच्यमाने तद्वाहनं वटाधो गतं कुमारनन्दिना वटशाखावलम्बनं कृतं भग्नञ्च तद्वाहनम् । कुमारनन्दी तु भारण्डपक्षिचरणावलम्बेन पञ्चशैले गतः । हासाप्रहासाभ्यां दृष्टः उक्तश्च । तव एतेन शरीरेण आवाभ्यां भोगो न विधीयते । स्वनगरे गत्वाङ्गुष्ठत आरभ्य मस्तकं यावज्ज्वलनेन स्वशरीरं दह यथा पञ्चशैलाधीशो भूत्वाऽस्मद्भोगेहां पूर्णां कुरु ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तेनोक्तं तत्राहं कथं यामि। ताभ्यां करतले समुत्पाट्य स नगरोद्याने मुक्तः। ततो लोकस्तं पृच्छति। किं त्वया तत्राश्चर्यं दृष्टम्। स भणति। दृष्टं श्रुतमनुभूतं पञ्चशैलद्वीपं मया यत्र प्रशस्ते हासाप्रहासाभिधे देव्यौ स्तः। अत्र कुमारनन्दिना तत्र स्वाङ्गुष्ठेऽग्निमारचयित्वा मस्तकं यावत्स्वशरीरं ज्वालयितुमारब्धः। तदा मित्रेणाऽयं वारितः भो मित्र! नैवेदं कापुरुषजनोचितं चेष्टितं न युक्तम्। महानुभाव! दुर्लभं मनुष्यजन्म मा हारय तुच्छमिदं भोगसुखमस्ति। किं च यद्यपि त्वं भोगार्थी तथापि स्वधर्मानुष्ठानमेव कुरु यत उक्तं। "धणओ धणत्थियाणं, कामत्थीणं च सव्वकामकरो। सग्गापवग्गसंगम-हेऊ जिणदेसिओ धम्मो"॥१॥ इत्यादि शिक्षावादैर्मित्रेण स वार्यमाणोऽपि इङ्गिनीमरणेन स मृतः। पञ्चशैलाधिपतिर्जातः तन्मित्रस्य श्रावकस्य महान् खेदो जातः। अहो! भोगकामार्थं जना इत्थं क्लिश्यन्ति जानन्तोऽपि वयं किमत्र गार्हस्थ्ये स्थिताः स्म इति स श्रावकः प्रव्रजितः। क्रमेण कालं कृत्वा अच्युतदेवलोके समुत्पन्नः। अवधिना स स्ववृत्तान्तं जानाति स्म। अन्यदा नन्दीश्वरयात्रार्थं सर्वदेवेन्द्राश्चलिताः स श्रावकदेवोऽपि अच्युतेन्द्रेण समं चलितः। तदा पञ्चशैलाधिपतेस्तस्य विद्युन्मालिनाम्नो देवस्य गले पटहो लग्नः उत्तारितो नोत्तरति। हासाप्रहासाभ्यां उक्तम्। इयं पञ्चशैलद्वीपवासिनो स्थितिः यन्नन्दीश्वरद्वीपयात्रार्थं चलितानां देवेन्द्राणां पुरः पटहं वादयन् विद्युन्मालिदेवस्तत्र याति ततस्त्वं खेदं मा कुरु गललग्नमिमं पटहं वादयन् गीतानि गायन्तीभ्यां आवाभ्यां सह नन्दीश्वरद्वीपे याहि। ततः स तथा कुर्वन् नन्दीश्वरद्वीपोद्देशेन चलितः। श्रावकदेवस्तं सखेदं पटहं वादयन्तं दृष्ट्वा उपयोगेनोपलक्षितवान्। भणति च भोः त्वं मां जानासि स भणति। कः शक्रादिदेवान् न जानाति। ततस्तं श्रावकदेवः तस्य स्वप्राग्भवस्वरूपं दर्शयति स्म। सर्वं पूर्ववृत्तान्तमाख्याति। ततः संवेगमापन्नः स देवो भणति। तदिदानीमहं किं करोमि। श्रावकदेवो भणति श्रीवर्द्धमानस्वामिनः प्रतिमां कुरु यथा तव सम्यक्त्वं सुस्थिरं भवति। यत उक्तम्। "जो कुव्वइ जिणपडिमं, जिणाण जियरागदोसमोहाणं। सो पावइ अन्नभवे, सुहजणणं धम्मवररयणं" ॥१॥ अन्यच्च॥ "दारिद्दं दोहग्गं, कुजाइकुसरीरकुगइकुमईओ। अवमाणरोयसोआ, न हुंति जिणबिंबकारीणं ॥२॥" ततः स विद्युन्माली महाहिमवच्छिखराद्गोशीर्षचन्दनदारु छेदयित्वा श्रीवर्द्धमानस्वामिप्रतिमां निर्वर्तितवान्। तां च मञ्जूषायां क्षिप्तवान्। तस्मिन्नवसरे पणमासान् यावदितस्ततो भ्रमत् वाहनं वायुभिरास्फाल्यमानं विलोकितवान्। तत्र गत्वा चासौ तमुत्पातमुपशामितवान्। सांयात्रिकाणां च तां मञ्जूषां दत्तवान्, भणितवांश्च। देवाधिदेवप्रतिमा चात्रास्ति यत्र चेयं विशेषपूजामाप्नोति तत्रेयं देया देवाधिदेवनाम्नैवेयमुद्घाटयिष्यते भवद्वाहनेऽस्यां स्थितायां न कोऽप्युपद्रवो भविष्यति। ततस्तां लात्वा सांयात्रिका वीतभयपत्तनं प्राप्ताः। तत्रोदायनराजा तापसभक्तस्तस्य सा मञ्जूषा दत्ता। कथितञ्च सुरवचनं मिलितश्च तत्र ब्राह्मणादिको भूरिलोकः भणति च गोविन्दाय नमः इत्युक्ते मञ्जूषा नोद्घाटिता। तत्र केचित् भणन्ति। अत्र देवाधिदेवश्चतुर्मुखो ब्रह्मास्ति अन्ये केचिद्वदन्ति अत्र चतुर्भुजो विष्णुरेवास्ति। केचिद्भणन्ति अत्र महेश्वरो देवाधिदेवोऽस्ति। अस्मिन्नवसरे तत्रोदायनराजपट्टराज्ञी चेटकराजपुत्री प्रभावती नाम्नी श्रमणोपासिका तत्रायाता। तया तस्या मञ्जूषायाः पूजां कृत्वा एवं भणितं "गयरागदोसमोहो, सव्वन्नू अट्ठपाडिहेरसंजुत्तो। देवाहिदेवगुरुओ, अदरामे दंसणं देउ ॥१॥" एवमुक्त्वा तया मञ्जूषायां हस्तेन परशुप्रहारो दत्तः उद्घाटिता सा मञ्जूषा तस्यां दृष्टाऽतीव सुन्दराम्लानपुष्पमालालङ्कृता श्रीवर्द्धमानस्वामिप्रतिमा जातजिनशासनोन्नतिः अतीवानन्दिता प्रभावती एवं बभाण। "सव्वन्नु सव्वदंसण, अपुणभवभवियजिनमणाणंद। जय चिंतामणि जय गुरु, जय जय जिणवीर अकलंको ॥१॥" तत्र प्रभावत्या अन्तःपुरमध्ये चैत्यगृहं कारितं तत्रेयं प्रतिमा स्थापिता। तां च त्रिकालं सा पवित्रा पूजयति। अन्यदा प्रभावती राज्ञी तत्प्रतिमायाः पुरो नृत्यति राजा च वीणां वादयति तदानीं स राजा तस्यां मस्तकं न पश्यति। राज्ञोऽधृतिर्जाता हस्ताद्वीणा पतिता राज्या पृष्टं किं मया दुष्टं नर्तितं राजा मौनमाश्रित्य स्थितः। राजा अतिनिर्बन्धे उक्तवान् यस्तव मस्तकमपश्यमहं व्याकुलीभूतो हस्ताद्वीणां पातितवान् सा भणति मया सुचिरं श्रावकधर्मः न काचिन्मम मरणाद्भीतिरस्ति। अन्यदा तत्प्रतिमापूजनार्थं स्नाता सा राज्ञी स्वचेटीं प्रति वस्त्राण्यानयेत्युवाच। तया च रक्तानि वस्त्राण्यानीतानि राज्ञी क्रुद्धा प्राह। जिनगृहे प्रविशन्त्या मम रक्तानि वस्त्राणि ददासीत्युक्त्वा चेटीमादर्शेन हतवती मर्मणि प्रत्याहारलग्नात्सा मृता। प्रभावत्या चिन्तितं हा! मया निरपराधत्रसजीववधकरणाद्व्रतं भग्नमतः परं किं मे जीवितव्येन ततस्तया राज्या राज्ञे उक्तम्। अहं भक्तं प्रत्याख्यामि राज्ञा नैवेति प्रतिपादितं तया पुनस्तथैवोच्यते। तदा राज्ञा उक्तं च यदि त्वं देवी भूत्वा मां प्रतिबोधयसि तदा त्वं भक्तं प्रत्याख्याहि। राज्या तद्वचोऽङ्गीकृतं भक्तं प्रत्याख्याय समाधिना मृता देवलोकं गता देवोऽभूत्। तां च प्रतिमां कुब्जा देवदत्ता दासी त्रिकालं पूजयति। प्रभावती देवस्तु उदायनं राजानं प्रतिबोधयति। न च स तं बुध्यते राजा तु तापसभक्तोऽतः स देवस्तापसस्वरूपं कृत्वाऽमृतफलानि गृहीत्वा गतो राज्ञे दत्तवान्। राज्ञा तानि आस्वादितानि पृष्टश्च तापसः क्व एतानि फलानि तापसो भणति। एतन्नगराऽरण्येऽस्मदाश्रमोऽस्ति तत्रैतानि फलानि सन्ति। राजा तेन सममेकाक्येव तत्र गतः। तापसैस्समाचारैः स हन्तुमारब्धः राजा ततो नष्टः। तस्मिन्नेव वने जैनसाधून् ददर्श तेषामसौ शरणमाश्रितः। भयं मा कुर्विति राजा आश्वासितः तापसा निवृत्ताः साधुभिश्च तस्यैवं धर्म उक्तः। "धम्मो चेव्वसत्ताणं, सरणं भव सायरे। देवं धम्मं गुरुं चेव, धम्मट्ठत्थी परिक्खए ॥१॥ दस अट्ठदोसरहिओ, देवो धम्मो वि निउणदयसहिओ। सुगुरू य बंभयारी, आरंभपरिग्गहा विरओ ॥२॥" इत्यादिकोपदेशेन स राजा प्रतिबोधितः। प्रतिपन्नो जिनधर्मं प्रभावती देव आत्मानं दर्शयित्वा राजानं च स्थिरीकृत्वा स्वस्थाने गतः। एवमुदायनराजा श्रावको जातः। इतश्च गन्धारदेशवास्तव्यः सत्यनामा श्रावकः सर्वत्र जिनजन्मभूम्यादितीर्थानि वन्दमानो वैताढ्यं यावद्गतः तत्र शाश्वतप्रतिमावन्दनार्थमुपवासत्रयं कृतवान् तपस्तुष्टया तदधिष्ठातृदेव्यास्तस्य शाश्वतजिनप्रतिमा दर्शिता तेन च वन्दिता। अथ तया देव्या तस्मै श्रावकाय कामितगुटिका दत्ता। ततः स निवृत्तो वीतभयपत्तने जीवितस्वामिप्रतिमां वन्दितुमायातः गोशीर्षचन्दनमयीं तां ववन्दे। दैवात्तस्याऽतिसारो रोग उत्पन्नः कुब्जया दास्या प्रतिचरितः स नीरुग् जातः तुष्टेन तेन तस्यै कामाङ्कुशिका गुटिका दत्ता कथितश्च तासां चिन्तितार्थसाधकप्र-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जावः। अन्यदा सा दासी अहं सुवर्णवर्णा सुरूपा जवामीति चिन्तयित्वा एकां गुटिकां जक्षितवती सुवर्णवर्णा सुरूपा जाता। ततस्तस्याः सुवर्णगुलिकेति नाम जातम्। अन्यदा सा चिन्तयति भोगसुखमनुजवामि एष उदायनराजा मम पिता अपरे मनुष्याः केऽपि राजानो न सन्तीति चण्डप्रद्योतमेव मनसि कृत्वा द्वितीयां गुटिकां जक्षितवती तदानीं तस्य चण्डप्रद्योतस्य स्वप्ने देवतया कथितं वीतजयपत्तने उदायनराज्ञो दासी सुवर्णगुलिकानाम्नी सुवर्णवर्णाऽतीव रूपवती त्वद्योग्याऽस्ति। चण्डप्रद्योतेन सुवर्णगुलिकायाः समीपे दूतः प्रेषितः। दूतेन एकान्ते तस्या एवं कथितं चण्डप्रद्योतस्त्वामीहते। तया जणितमत्र चण्डप्रद्योतः प्रथममायातु तं पश्यामि पश्चाद्यद्यारुच्या तेन सह यास्यामि दूतेन गत्वा तस्या वचनं चण्डप्रद्योतस्योक्तं सोऽपि अनिलगिरिहस्तिनमधिरुह्य रात्रौ तत्रायातः। दृष्टस्तया रुचितश्च। सा भणति यदीमां प्रतिमां सार्द्धं नयसि तदाहमायामि नान्यथेति। ततस्तेन तत्स्थानस्थापनयोग्यान्या प्रतिमा तदानीं नास्तीति तस्यां रात्रौ तत्र उषित्वा स्वनगरे पश्चाद्गतः। तत्र तत्सदृशीं जिनप्रतिमां कारयित्वा पुनरत्रायातस्तां प्रतिमां तत्र स्थापयित्वा मूलप्रतिमां दासीं च गृहीत्वा उज्जयिनीं गतः। तत्रानलगिरिणा मूत्रपुरीषे कृते तद्गन्धेन वीतजयपत्तनसत्का हस्तिनो निर्मदा जाताः। उदायनराजेन तत्कारणं गवेषितम्। अनलगिरिहस्तिनः पदं दृष्टम्। उदायनेन चिन्तितं स किमयमत्रायातः गृहमानुषैरुक्तं सुवर्णगुलिका न दृश्यते राज्ञा उक्तं चेटी चण्डप्रद्योतेन गृहीता प्रतिमां विलोकयन्तु तैरुक्तं प्रतिमा दृश्यते परं पुष्पाणि म्लानानि दृश्यन्ते राज्ञा गत्वा स्वयं प्रतिमा विलोकिता पुष्पम्लानदर्शनेन राज्ञा ज्ञातं नेयं सा प्रतिमा किं त्वन्येति विचिन्त्य राज्ञा दूतश्चण्डप्रद्योतान्तिके प्रेषितः। मम दास्या नास्ति कार्यं प्रतिमां त्वरितं प्रेषयेति दूतेन चण्डप्रद्योतस्योक्तं चण्डप्रद्योतः प्रतिमां नार्पयति तदा सैन्येन समं ज्येष्ठमासे उदायनश्चलितः। यावन्मरुदेशे तत्सैन्यमायातं तावज्जलाप्राप्त्या तत्सैन्यं तृषाक्रान्तं व्याकुलीबजूव। तदानीं राज्ञा प्रजावतीदेवश्चिन्तितः तेन समागत्य त्रीणि पुष्कराणि कृतानि तेषु जललाभात्सर्वं सैन्यं सुस्थं जातं क्रमेण उदायनराजा उज्जयिनीं गतः। कथितवांश्च जो चण्डप्रद्योत तव मम च साक्षाद्युद्धं भवतु लोकेन मारितेन अश्वस्थेन रथस्थेन वा त्वया मया च युद्धमङ्गीकुरु चण्डप्रद्योतेनोक्तं रथस्थेनैव त्वया मया च योद्धव्यम्। प्रजाते चण्डप्रद्योतः कपटं कृतवान् स्वयं अनलगिरिहस्तिनमारुह्य सङ्ग्रामाङ्गणे समायातः उदायनस्तु स्वप्रतिज्ञानिर्वाही रथारूढः संग्रामाङ्गणे समायातः। तदानीमुदायनेन चण्डप्रद्योतस्य उक्तं त्वमसत्यप्रतिज्ञो जातः कपटं च कृतवानसि तथापि तव मत्तो मोक्षो नास्तीति जणता उदायनेन रथो मण्डल्यां क्षिप्तः। चण्डप्रद्योतेन तत्पृष्ठेऽनलगिरिहस्ती वेगेन क्षिप्तः। स च हस्ती यं यं पादमुत्क्षिपति तं तमुदायनः शरैर्विध्यते यावत् हस्ती भूमौ निपतितः। तत्स्कन्धादुत्तरन् प्रद्योतो बद्धः तस्य ललाटे मम दासीपतिरित्यक्षराणि लिखितानि। तत उदायनराजेन चण्डप्रद्योतदेशे स्वाधिकारिणः स्थापिताः स्वयं तु चण्डप्रद्योतं काष्ठपञ्जरे क्षिप्त्वा सार्द्धं च नीत्वा स्वदेशं प्रति चलितः। सा प्रतिमा तु ततो न उत्तिष्ठतीति तत्रैव सा मुक्ता। अव्यवच्छिन्नप्रयाणैश्चलितस्य अन्तरा वर्षाकालः समायातस्तेन रुद्धो दशजीराजजिर्धूलीप्राकारं कृत्वा मध्ये स रक्षितः। सुखेन तत्र तिष्ठति यत्स्वयं भुङ्क्ते तच्चण्डप्रद्योतस्यापि जोजयति। एकदा पर्युषणादिनमायातं तदा उदायनेन उपवासः कृतः सूपकारैः चण्डप्रद्योतः पृथग् जोजनार्थं पृच्छ्यते तेरुक्तमद्य पर्युषणादिने उदायनराजा उपोषितोऽस्तीति यद्भवतो रोचते तत्पच्यते। चण्डप्रद्योतेनोक्तं ममाप्यद्योपवासोऽस्ति न ज्ञातं मयाद्य पर्युषणादिनं सूपकारैः चण्डप्रद्योतस्य उक्तमुदायनराजाय तेनापि चिन्तितं जानाम्यहं यथायं धूर्तसाधर्मिकोऽस्ति तथाप्यस्मिन् बद्धे मम पर्युषणा न शुध्यति चण्डप्रद्योतो मुक्तः क्षामितश्च तदक्षराच्छादनानिमित्तं रत्नपट्टस्तस्य मूर्ध्नि बद्धः। स्वविषयश्च तस्य दत्तः। ततः प्रभृति पट्टबद्धा राजानो जाताः। मुकुटबद्धाश्च पूर्वमप्यासन्। वर्षारात्रे व्यतिक्रान्ते उदायनराजस्ततः प्रस्थितः व्यापारार्थं यो वणिग्वर्गस्तत्रायातः स तत्रैव स्थितः दशजीराजभिर्वासितत्वाद्दशपुरं नाम नगरं प्रसिद्धं जातम्। अन्यदा स उदायनराजः पौषधशालायां पौषधिकः पौषधं प्रतिपालयन् विहरति। पूर्वरात्रिसमये च तस्यैतादृशोऽभिप्रायः समुत्पन्नः धन्यानि तानि ग्रामाकरनगराणि यत्र श्रमणो जगवान् श्रीमहावीरो विहरति। धन्यास्ते राजेश्वरप्रभृतयो ये श्रमणजगवतः श्रीमहावीरस्यान्तिके केवलिप्रज्ञप्तं धर्मं शृण्वन्ति। पञ्चाणुव्रतिकं सप्तशिक्षाव्रतिकं द्वादशविधं श्रावकधर्मं च प्रतिपद्यन्ते तथा मुण्डीभूत्वा आगारादनगारितां व्रजन्ति। ततो यदि श्रमणजगवान् श्रीमहावीरः पूर्वानुपूर्व्या चरन् यदीहागच्छेत्ततोऽहमपि जगवतोऽन्तिके प्रव्रजामि। उदायनस्यायमध्यवसायो जगवता ज्ञातः प्रातश्चम्पातः प्रतिनिष्क्रम्य वीतभयपत्तनस्य मृगवनोद्याने जगवान् समवसृतः। तत्र पर्षन्मिलिता उदायनोऽपि तत्रायातो जगवदन्तिके अहं प्रव्रजिष्यामि परं राज्यं कस्मैश्चिद्दास्यामीत्युक्त्वा जगवन्तं वन्दित्वा स्वगृहाभिमुखं चलितः। जगवतापि प्रतिबन्धं मा कार्षीरित्युक्तम्। ततो हस्तिरत्नमारुह्य उदायनराजः स्वगृहे समायातः। तत उदायनस्यैतादृशोऽध्यवसायः समुत्पन्नः यद्यहं स्वपुत्रमजीचिकुमारं राज्ये स्थापयित्वा प्रव्रजामि तदायं राज्ये जनपदे मानुष्यकेषु कामजोगेषु मूर्च्छितोऽनाद्यनन्तं संसारकान्तारं भ्रमिष्यति ततः श्रेयः खलु मम निजकं केसिकुमारं राज्ये स्थापयितुम्। एवं संप्रेक्ष्य शोभने तिथिकरणमुहूर्ते कौटुम्बिकपुरुषानाकार्य एवमवादीत्। क्षिप्रमेव केशिकुमारस्य राज्याभिषेकसामग्रीमुपस्थापयत तैः कृतायां सर्वसामग्र्यां केशिकुमारो राज्येऽभिषिक्तः। ततस्तत्र केशिकुमारो राजा जातः। उदायनराजश्च केशिकुमारराजानं पृष्ट्वा तत्कृतनिष्क्रमणाभिषेकः श्रीमहावीरान्तिके प्रव्रजितः बहूनि षष्ठाष्टमदशमद्वादशमासार्द्धमासक्षपणादीनि तपःकर्माणि कुर्वाणो विहरति। अन्यदा तस्य उदायनराजर्षेरन्तप्रान्ताहारकरणेन महान् व्याधिरुत्पन्नः वैद्यैरुक्तं दध्यौषधं कुरु। स च उदायनराजर्षिर्भैक्ष्यदधिलिप्सया एकाक्येव विहरति। अन्यदा विहरन् वीतजयगतः। तत्र तस्य भागिनेयः केशिकुमारराजोऽमात्यैर्भणितः स्वामिन्नेष उदायनराजर्षिः परीषहादिपराजूतः प्रव्रज्यां मोक्तुकामः एकाक्येव इहायातः। तव राज्यं मार्गयिष्यति। स प्राह दास्यामि तैरुक्तं नैष राजधर्मः। पुनः स प्राह तर्हि किं करिष्यति। ते प्राहुर्विषमिश्रमस्य दीयते राज्ञोक्तं ततस्तैरेकस्याः पशुपाल्या गृहे विषमिश्रितं दधि कारितं तेषां शिक्षया तया तस्य तद्दत्तमुदायनतक्के यावद्देवतयाऽपहृतम्। उक्तं च तस्य देवतया महर्षे! तव विषं दत्तं दध्यात्तस्तेन दध्यौषधं परिहर। तद्वाक्यादृषिः परिहृतं रोगो वर्द्धितुमारब्धः। पुनस्तेन दध्यौषधं कर्तुमारब्धं पुनरपि तदन्तर्विषं देवतयाऽपहृतम्। एवं वारत्रयं जातम्। अन्यदा देवता प्रमत्ता जाता तैश्च विषं दत्तम्। तत उदायनराजर्षिर्बहूनि वर्षाणि श्रामण्यपर्यायं पालयित्वा मासिकया संलेखनया केवलज्ञानमुत्पाद्य सिद्धस्तस्य शय्यातरः कुम्भकारस्तदानीं कचिद्ग्रामान्तरे कार्यार्थं गतोऽभूत् कुपितया च देवतया वीतजयस्योपरि पांशुवृष्टिर्मुक्ता सकलमपि पुरमाच्छादितम्। अद्यापि तथैवास्ति शय्यातरः कुम्भकारस्तु शनिपल्ल्यां मुक्तः। उत्त०१८अ०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१७ अ० । आ० क० । आ० म० ॥ (अभीचिकुमारस्य वक्तव्यता स्वावसरे प्रोक्ता अस्या एव महत्या उदायनवक्तव्यतायाः केचिदंशा अज्जरक्खियनिरववमियासिक्खादिशब्देषु । उदायनस्य पितृष्वसुर्जयन्त्याः श्रमणोपासिकायाः कथा जयंतीशब्दे)

उदार (राल)–उदार–त्रि० उद्–आ–रा–क–दातरि, महति, सरले, दक्षिणे, गम्भीरे, असाधारणे, वाच० । निस्पृहत्वातिरेकादौदार्यवति, । ज० २ श० १ उ० ।

उदारत्त–उदारत्व–न० । अभिधेयार्थस्यातुच्छरूपे, स० । अतिशिष्टगुम्फगुणयुक्ततास्वरूपे अन्यस्वार्थप्रतिपादकतालक्षणे वा द्वाविंशतितमे सत्यवचनातिशये, स० ।

उदासीण–उदासीन–त्रि० उद्–आस–शानच्० । रागद्वेषरहिते मध्यस्थे,"उदासीणे फरुसं वयंति" उदासीना रागद्वेषरहिता मध्यस्था बहुश्रुतत्वे सत्युपशान्तास्तान् स्वशिलाबोदनोद्यतान् कुर्वन्ति । आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० ॥ "समणं पि दट्ठुदासीणं, तत्थ वि ताव एगे कुप्पंति" सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । विवदमानयोरेकतरपक्षानालम्बके जिगीषोर्नृपतेः शत्रुमित्रभूमितो व्यवहिते परतरे मध्यमाद्बाहिरेतस्मादुदासीनो बलाधिकः इत्युक्तलक्षणे राजभेदे, वाच० । उपेक्षमाणे च । स्था० ६ ठा० ।

उदाहड–उदाहृत– त्रि० उद्–आ–हृ–क्त दृष्टान्ततयोपन्यस्ते कथिते, । वाच० । उपन्यस्ते, उदाहृतं तु "समं मईए अहाउ सो विप्परिया समेव" सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

उदाहरंत–उदाहरत्–त्रि० प्रतिपादयति, 'सच्चं असच्चं इति' चिंतयंता, "असाहु साहुत्ति उदाहरंता" । सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

उदाहरण–उदाहरण–न० उदाह्रियते प्राबल्येन गृह्यतेऽनेन दार्ष्टान्तिकोऽर्थ इत्युदाहरणम् । दश० १ अ० । उत्पत्तिधर्मकत्वात्साध्यसाधर्म्यात्तद्धर्मभावी दृष्टान्ते, यथा घट इति वैधर्म्योदाहरणं यदनित्यं न भवति तदुत्पत्तिमदपि न भवति यथाकाशमिति । सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । विशे० ।

मूलभेदतो द्वैविध्यं निदर्शयन्नाह ।

तत्थोदाहरणं दुविहं, चउव्विहं होइ एक्कमेक्कं तु ।
हेऊ चउव्विहो खलु, तेण उ साहिज्जए अत्थ ॥

तत्र शब्दो वाक्योपन्यासार्थो निर्धारणार्थो वा । उदाहरणं पूर्ववल्लक्षणं मूलभेदतो द्विविधं द्विप्रकारं चरितकल्पितभेदात् उत्तरभेदतस्तु चतुर्विधं भवति । तयोर्द्वयोरेकैकमुदाहरणमाहरणतद्देशतद्दोषोपन्यासभेदाच्च वक्ष्यामः ।

नायं आहरणं ति, दिट्ठंतोवमनिदरिसणं चेव ।
एगट्ठं तं दुविहं, चउव्विहं चेव नायव्वं ॥ ५२ ॥

ज्ञायतेऽस्मिन्सति दार्ष्टान्तिकोऽर्थ इति ज्ञातम् । अधिकरणे निष्ठाप्रत्ययः । तत्रोदाह्रियते प्राबल्येन गृह्यतेऽनेन दार्ष्टान्तिकोऽर्थ इत्युदाहरणमिति दृष्टमर्थमन्तं नयतीति दृष्टान्तः । अतीन्द्रियप्रमाणदृष्टं संवेदननिष्ठां नयतीत्यर्थः । उपनीयतेऽनेन दार्ष्टान्तिकोऽर्थः इत्युपमानम् । तथा च निदर्शनं निश्चयेन दर्श्यते अनेन दार्ष्टान्तिक एवार्थ इति निदर्शनम् (एगट्ठंति) इदमेकार्थमेकार्थिकजातम् इह च तत्प्रागुपन्यस्तं द्विविधमुदाहरणं चतुर्विधं चैवाङ्गीकृत्य ज्ञातव्यं प्रत्येकमपि सामान्यविशेषयोः कथंचिदेकत्वादत एव सामान्यस्यापि प्राधान्यख्यापनार्थमेकवचनाभिधानमेकार्थमित्यत्र बहु वक्तव्यं तत्तु नोच्यते ग्रन्थविस्तरभयाद्गमनिकामात्रमेतदिति गाथार्थः ।

साम्प्रतं यदुक्तं तत्रोदाहरणं द्विविधमित्यादि तद्द्वैविध्यादिप्रदर्शनायाह ।

चरियं च कप्पियं वा, दुविहं तत्तो चउव्विहेक्केक्कं ।
आहरणे तद्देसे, तद्दोसे चेवुवन्नासे ॥ ५३ ॥

चरितं कल्पितं चेति द्विविधमुदाहरणम् । तत्र चरितमभिधीयते यद्वृत्तान्तेन कस्यचिद्दार्ष्टान्तिकार्थप्रतिपत्तिर्जन्यते । तद्यथा दुःखाय निदानं यथा ब्रह्मदत्तस्य । तथा कल्पितं स्वबुद्धिकल्पनाशिल्पनिर्मितमुच्यते तेन कस्यचिद्दार्ष्टान्तिकार्थप्रतिपत्तिर्जन्यते । यथा पिप्पलपत्रैरनित्यतायामित्युक्तं च "जह तुब्भे तह अम्हे, तुब्भे वि य होहिया जहा अम्हे । अप्पाहेइ पडंतं, पंडुयपत्तं किसलयाणं ॥ नवि अत्थि नवि य होही, उल्लावो किसलपंडुपत्ताणं । उवमा खलु एस कता भवियजणविबोहणट्ठाए" इत्यादि आह इदमुदाहरणं दृष्टान्त उच्यते तस्य च साध्यानुगमादिलक्षणमित्युक्तं च "साध्येनानुगमो हेतोः साध्याभावे च नास्तिता । ख्याप्यते यत्र दृष्टान्ते, स साधर्म्येतरो द्विधा" अस्य पुनस्तल्लक्षणाभावात्कथमुदाहरणत्वमित्यत्रोच्यते तदपि कथञ्चित्साध्यानुगमादिना दार्ष्टान्तिकार्थप्रतिपत्तिजनकत्वात्फलत उदाहरण इहापि च सोऽस्त्येवेति कृत्वा किं नोदाहरणतेति साध्यानुगमादिलक्षणमपि सामान्यविशेषोभयरूपानन्तधर्मात्मके वस्तुनि सति कथंचिद्भेदवादिन एव युज्यते नान्यस्यैकान्तभेदाभेदयोस्तदभावादिति । तथाहि सर्वथा प्रतिज्ञा दृष्टान्तार्थभेदवादिनोऽनुगमतः खलु घटादौ कृतकत्वादेरनित्यत्वादिप्रतिबन्धदर्शनमपि कृतानुपयोग्येव भिन्नवस्तुधर्मत्वात्सामान्यस्य च परिकल्पितत्वादसत्त्वादित्थमपि च तद्बलेन साध्यार्थप्रतिबन्धकल्पनायामतिप्रसङ्गादित्यत्र बहुवक्तव्यं तत्तु नोच्यते ग्रन्थविस्तरभयादिति । एवं सर्वथा अभेदवादिनोऽप्येकत्वादेव तद्भावो भावनीय इति । अनेकान्तवादिनस्त्वनन्तधर्मात्मके वस्तुनि तद्धर्मसामर्थ्यात्तद्वस्तुनः प्रतिबन्धबलेनैव तस्य तस्य वस्तुनो गमकं भवत्यन्यथा तस्मिन् तत्प्रतिपत्त्यसंभव इति कृतं प्रसङ्गेन । प्रकृतं प्रस्तुमः । चरितं च कल्पितं चेत्यनेन विधिना द्विविधम् । पुनश्चतुर्विधं चतुःप्रकारमेकैकं कथमत आह । उदाहरणं तद्देशस्तद्दोषश्चैवमुपन्यास इति । तत्रोदाहरणशब्दार्थ उक्त एव । तस्य देशस्तद्देशः । एवं तद्दोषः । उपन्यसनमुपन्यासः स च तद्वस्त्वादिलक्षणो वक्ष्यमाण इति गाथार्थः ।

साम्प्रतमुदाहरणमभिधातुकाम आह ।

चउहा खलु आहरणं, होइ अवाओ उवायठवणा य ।
तह य पडुप्पन्नविणा–समेव पढमं चउविगप्पं ॥ ५४ ॥

चतुर्धा खलूदाहरणं भवति । अथ चतुर्धा खलूदाहरणे विचार्यमाणे भेदा भवन्ति । तद्यथा–अपायः उपायः स्थापना च । तथा च प्रत्युत्पन्नविनाशमेवेति । स्वरूपमेषां प्रपञ्चेन भेदतो निर्युक्तिकार एव वक्ष्यति । दश० नि० १ अ० । आव० । (अपायादिशब्देषु अपायाद्युदाहरणानि) एकदेशप्रसिद्ध्या सकलप्रसिद्धार्थकथने, कर्म्मणि–ल्युट्–दृष्ट–सिद्धार्थमुच्यमाने दृष्टान्ते, । प्रकृतासिद्धार्थनिदर्शनरूपे उपोद्धृते च । करणे–ल्युट्–न्यायमते प्रतिवादिना प्रयुक्तप्रतिज्ञादिपञ्चकान्तर्गते व्याप्तिपक्षधर्म्मताप्रदर्शके, वाक्यभेदे कथनमात्रे, लक्षणसम्बद्धतया प्रामाणिकवाक्योपन्यासे, कथाप्रसङ्गे च । भावे–ल्युट् वाच० । काल्पनिकमप्युदाहरणं भवति । न चैतदनुपपन्नमार्षेऽपि काल्पनिकदृष्टान्तस्याप्यनुज्ञानाद्यदाह भगवान् भद्रबाहुस्वामी " चरियं च कप्पियं वा, आहरणं दुविहमेव पन्नत्तं । अट्ठस्स साहणट्ठा, इंधणमिव ओयणट्ठाए " नं०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उदाहिय–उदाहृत–त्रि० व्याख्यात, " जा मा तिण्णि उदाहिया " आचा० १ श्रु० ७ अ० १ उ०।

उदाहु–उताहो–अव्य० विकल्पे; " किं सवं मुणी मुणीए उदाहो जुया संज्ञायरए" उताहो इति विकल्पार्थो निपातः। भ० १५ श० १ उ०। "किं जाणया दिसं उदाहु अजाणया" आचा० २ श्रु०। कदाचिच्छब्दार्थे, आचा० १ श्रु० ७ अ० २ उ०॥

उदाहृतवत्–त्रि० व्याकृतवति, "उयाहु ते आयं काफुसन्ति इति उदाहु धीरे"। आचा० १ श्रु० ७ अ० २ उ०। कथितवति, "एओ धमं तत्थ उदाहु धीरे। सूत्र० १ श्रु० १५ अ०। " एवं से उदाहु अणुत्तरनाणी अणुत्तरदंसी "। उत्त० ६ अ०।

उदि–उदि–पुं० उत्–उत्कृष्ट इः कामो यस्य उदिः ॥ उत्कृष्टकामयुक्ते 'भर्गो देवस्य धीमहि' गा०।

उदुञ्जेय–उदकोद्भेद–पुं० गिरितटादिभ्यो जलोद्भवे, । भ० ३ श० ६ उ०॥

उदूढ–उदूढ–त्रि० उद्० —वह–क्त। जढे, स्थूले, धृते, च। विवाहितस्त्रियाम्, स्त्री०। वाच०।

उदूढ–देशीवचनम्–मुषिते च "उदूढ सेसवाहिं अंतोवि पंचगि एहनद्दम " बृ० १ उ०॥ नि० चू०।

उदूहल–उदूखल–न० ऊर्ध्व खं लाति ला० क० पृषो० नि०। तण्डुलादिखण्डनार्थं काष्ठादिरचिते द्रव्ये, गुग्गुलौ च। वाच०। " पीढं वा फलगं वा णिस्सेणिं वा उदूहलं वा अवहट्टुउस्स विय दुरुहेज्जा " आचा० २ श्रु०।

उद्द–उद्र–पुं० उनत्ति क्लिद्यति उन्द्–रक्। जलविडाले, वाच०। सिन्धुविषये मत्स्ये, तत्सूक्ष्मचर्मनिष्पन्ने वस्त्रे च। आचा० २ श्रु०।

उद्दंडग–उद्दंडक–पुं० वानप्रस्थतापसभेदे, ऊर्ध्वकृतदण्डा ये सञ्चरन्ति, नि० चू० १ उ०। औप०। भ०।

उद्दंडविहार–उद्दण्डविहार–पुं० महानगर्यामादिनाथालये, महानगर्यामुद्दण्डविहारे श्री आदिनाथः॥ ती०।

उद्दंस–उद्दंश–पुं० उद्दशति–उद्–दंश–अच्–मस्तकदंशके, वाच०। मधुमक्षिकायाम्, क०।

उद्दंसंड–उद्दंशाण्ड–न० षष्ठीतत्पु० मधुमक्षिकाणामण्डरूपे अण्डसूक्ष्मभेदे, क०।

उद्दंसग–उद्दंशक–पुं० त्रीन्द्रियजीवभेदे,–प्रज्ञा० १ पद। जी०।

उद्दड्ढ–उद्दग्ध–पुं० रत्नप्रभायाः पृथिव्याः पूर्वावलिकां सीमन्तकप्रभानरकाद्विंशतितमेऽपक्रान्तमहानिरये, स्था० ६ ठा०।

उद्दड्ढमज्झिम–उद्दग्धमध्यम–पुं० रत्नप्रभायाः पृथिव्याः उत्तरावलिकासु सीमन्तकमध्यमान्तरकाद्विंशतितमेऽपक्रान्तमहानिरये, स्था० ६ ठा०।

उद्दड्ढावत्त–उद्दग्धावर्त–पुं० रत्नप्रभायाः पृथिव्याः पश्चिमायां नरकावल्यां सीमन्तकावर्तस्यापरेण विंशतितमेऽपक्रान्तमहानरके,–स्था० ६ ठा०।

उद्दड्ढावसिट्ठ–उद्दग्धावशिष्ट–पुं० रत्नप्रभायाः पृथिव्याः पश्चिमायां नरकावल्यां सीमन्तकावर्तस्यापरेण विंशतितमेऽपक्रान्तमहानरके, स्था० ६ ठा०।

उद्दद्दर–ऊर्ध्वदर–न० ऊर्ध्वं दराः पूर्यते यत्र काले तदूर्ध्वदरम्। प्राकृतशैल्या " उद्ददरं"। ते च दरा द्विविधा धान्यदरा उदरदराश्च। धान्यानामाधारभूता दरा धान्यदराः कटपल्यादयः। उदराण्येव दरा उदरदरास्ते उभयेऽपि यत्र पूर्यन्ते, बृ० १ उ०। सुभिक्षे,। नि० चू० १० उ०। दुविहाओ होंति उदरा, पेट्टे तह धन्नभाणिया" ते उदरा द्विविधास्तद्यथा पोट्टदरा धान्यभाजनदराश्च। पोट्टमुदरं तद्रूपाद्दरा पोट्टदराः। धान्यभाजनानि कटपल्यादयस्तान्येव दरा धान्यभाजनदरा। ऊर्ध्वं यत्र पूर्यन्ते तदूर्ध्वमुदरमुच्यते। बृ० १ उ०। नि० चू०।

उद्दरिय–उद्धृत–त्रि० उद्–हृ–क्त–उद्धृते, गर्वान्विते, वाच०। प्राबल्येन कर्मशत्रुजयं प्रति दर्पिते, । नं०।

उद्दवइत्ता–अपद्रावयितृ–त्रि० प्राणव्यपरोपणात् जीवितविनाशके, "उद्दवइत्ता आहारं आहारेइ इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवइ"। सूत्र० २ श्रु० २ अ०।

उद्दवण–अपद्रावण–न० जीविताद् व्यपरोपणे, । आचा० २ श्रु०। अतिपातनविवर्जितपीडायाम्, । " उद्दवणं पुण जाणासु, अइवायविवज्जियं पीडं " पिं०। सर्वथा जीवविनाशने च। तत्र पृथिव्यम्भसोरन्यन्तरसंमर्दनाद्यैः अप्कायस्य तु षष्ठितापनदण्डाघनिघातनपानपादादिक्षालनैः वनस्पतेः पत्रपुष्पाङ्कुरादित्रोटनादिभिः। अत्र प्रायश्चित्तमाम्ल इति। जीत०। " उद्दवणं मारणं " तत्र प्रायश्चित्तं पाराञ्चितम्। नि० चू० १ उ०।

उद्दवण–अपद्रवण–गौणहिंसायाम्, प्रश्न०–अध० १ द्वा०। विद्यथाऽन्यत्र नयने, बृ० १ उ०।

उद्दवणकर–अपद्रावणकर–पुं० मारणान्तिकभेदकारिणि, ग० १ अधि०।

उपद्रवणकर–पुं० धनहरणाद्युपद्रवकारिणि, एषोऽप्रशस्तमनोविनयभेदः, ग० १ अधि०। औप०।

उद्दवणकरी–अपद्रावणकरी–स्त्री० जीवानामपद्रावणकारिण्याम्, "परितावणकरिं उद्दवणकरिं भूतोवघाइयं अभिकंखणो भासेज्जा " आचा० २ श्रु०।

उद्दविज्जमाण–अपद्राव्यमाण–त्रि० मार्यमाणे, "किलाविज्जमाणस्स वा उद्दविज्जमाणस्स वा जाव लोमुक्खणणं मायमविहिं सासारगं दुक्खं भयं परिसंवेदेति। सूत्र० २ श्रु० १ अ०।

उद्दविय–अपद्रावित–त्रि० उत्त्रासिते, "परिताविया किलामिया उद्दविया ठाणाओ ठाणं संकामिया"। ध० २ अधि०। मारिते, भ० ३ श० १ उ०।

उद्दवेयव्व–अपद्रावयितव्य–त्रि० जीविताद्व्यपरोपयितव्ये "अहं ण उद्दवेयव्वा अन्ने उद्दवेयव्वा एवमेव ते इत्थिकामेहिं मुच्छिया "। सूत्र० २ श्रु० ३ अ०।

उद्दवेहित–उपद्राविष्यत्–त्रि० उपद्रवान् करिष्यति,–भ० १५ श० १ उ०॥

उद्दह–उद्रथ–पुं० उद्गतो रथो यस्मात् १ रथकीले, उन्नतरथतुल्यः पक्षो यस्य। ताम्रचूडविहगे, । मेदिनी०

उद्दाइत्ता–अपद्रूय–अव्य० मृत्वेत्यर्थे, " जम्म जीवा उद्दाइत्ता इत्थेव भुज्जो २ पच्चायंति" स्था० १० ठा०।

उद्दाणभत्तारा–उद्दानभर्तृका–स्त्री० भर्त्रा परिष्ठापितायां स्त्रियाम्, "उद्दाणभत्तारा भत्तारेण परिट्ठाविता " नि० चू० १ उ०

उद्दाम–उद्दाम–त्रि० उद्गतं दाम्नः अच्–समा०। बन्धनरहिते, "ताहे उद्दामं गच्छंतस्स कोविगे ईसि पाणिए तलाए पक्खा भग्गा"। आ० म० द्वि०। अप्रतिनियमे, स्वतन्त्रे, अत्युग्रे च। वाच०। "एवं च कुसलजोगे उद्दामे तिव्वकम्मपरिणामा" पं० चू०। उत्–उत्क-

एं श्रेष्ठं दाम पाशाख्यमस्त्रं यस्य । वरुणे, पुं० । गम्भीरे, । त्रि० । वाच०

उद्दाल--आ--छिद्--धा० हस्तादाकर्षणे, "आच्छेरञ्छोद्दालौ-" ८ । ४ । १२५ । उद्दालइ--आच्छिनत्ति आच्छिन्दति, प्रा० । अवदालन-पुं० अवदलने, पादादिन्यासेऽधोगमने, " गंगापुलिणवालुयउद्दालसालिसए । ज्ञा० १ अ० । चं० । क० । भ० । रा० । उद्दालयति भूमिमुत्किनत्ति उद्-दल-णिच्-एवुल्-बहुवारकवृक्षे, वनकोद्रवे, । वाच० । अवसर्पिण्याः प्रथमारके, भरतक्षेत्रे स्वनामख्याते द्रुमभेदे, । जं० २ वक्ष० । भूकेदारभेदे च । वाच० ।

उद्दालित्ता--उद्दालयितुम्--अव्य० । चर्माणि क्षुरप्रयितुमित्यर्थे, दशा० १ अ० । ओलेणवा वेतेण वा पोतेण वा तयाइ वा कसेण वा छियाए वा लयाए वा पासाइं उद्दालित्ता भवइ" ॥ सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

उद्दाव--उद्द्राव--पुं० उद्--द्रु--घञ्--पलायने, । अमरः । वाच० ।

उद्दावणया--अपद्रावणता--स्त्री० उत्त्रासने, भ० ३ श० ६ उ० ।

उद्दाह--उद्दाह--पुं०प्रकृष्टे दाहे, । स्था० १० ठा० ।

उद्दिट्ठ--उद्दिष्ट--त्रि० उद्--दिश्--क्त० सामान्यतोऽभिहिते, स्था० ५ ठा० । प्रति० । प्रतिपादिते, । सूत्र० १ श्रु० ए अ० । तद्विवक्षितार्थप्रणीते, सूत्र० २ श्रु० ९ अ० । वृ० । निर्दिष्टे, । दशा० । नि० चू० । दानाय परिकल्पिते भक्तपानादिके, । "तस्स अकसिणो इसिणो णायपुत्ता उद्दिट्ठभत्तं परिवज्जयन्ति " सूत्र० २ श्रु० ६ अभिलषिते च । वाच० ।

उद्दिट्ठकड--उद्दिष्टकृत--त्रि० उद्दिष्टमुद्देशस्तेन कृतं विहितं तद-(साध्व)र्थं संस्कृत, " उद्दिट्ठकडं भत्तं विवज्जती किमुपसेसमारंभे " । पंचा० १० विव० । साध्वपेक्षया कृते आधाकर्मादौ, । पंचा० १४ विव० । औद्देशिके, " उद्दिट्ठकडं भुंजइ, छक्कायपमद्दणो घणं कुणइ । पच्चक्खं च जलगए, जो पियइ कस्स सो भिक्खू " । दशा० १० अ० । उद्दिष्टं च कृतं च उद्दिष्टकृतम् आधाकर्मणि, । दशा० ।

उद्दिट्ठपडिमा--उद्दिष्टप्रतिमा--स्त्री० दशमासानात्मार्थिनिष्पन्नमाहारं न भुङ्क्ते इत्येवं रूपायां दशम्यामुपासकप्रतिमायाम्, ध०२अधि० ।

उद्दिट्ठभत्तपरिण्णाय--उद्दिष्टभक्तपरिज्ञात--पुं० उद्दिष्टं तदेव श्रावकमुद्दिश्य कृतं भक्तमोदनादि उद्दिष्टभक्तं तत्परिज्ञातं येनासावुद्दिष्टभक्तपरिज्ञातः।दशमीमुपासकप्रतिमां प्रतिपन्ने श्रावके, स० ।

उद्दिट्ठभत्तवज्जणपडिमा--उद्दिष्टभक्तवर्जनप्रतिमा--स्त्री० दशम्यां श्रावकप्रतिमायाम् , तत्स्वरूपं चैवम् । उद्दिष्टभक्तवर्जनप्रतिमां सा चैव "उद्दिट्ठकडं भत्तं, पि वज्जए किमुय सेसमारंभं । सो होई खुरमुंडो, सिहलिं व धारते को वि । तिव्वं पुट्ठो जाणे, जाणेइ वयइ नो वेति । पुव्वोदियगुणजुत्तो, दसमासा कालमाणेणं" । पंचा० १ अ० । तथा श्रमणेति निर्ग्रन्थस्तेषां स्तदनुष्ठानकरणात्स श्रमणभूतः साधुकल्प इत्यर्थः । चकारः समुच्चये अपिः संभावने भवति । श्रावक इति प्रकृतं हेश्रमण ! हेआयुष्मन् ! इति सुधर्मस्वामिना जम्बूस्वामिनमामन्त्रयतोक्तमित्येकादशीति । इह चेयं भावना । पूर्वोक्तसमग्रगुणोपेतस्य क्षुरमुण्डस्य कृतलोचस्य वा गृहीतसाधुनेपथ्यस्य ईर्यासमित्यादिकं साधुधर्ममनुपालयतो भिक्षार्थं गृहिकुलप्रवेशे सति श्रमणोपासकाय प्रतिमाप्रतिपन्नाय भिक्षां दत्तेति भाषमाणस्य कस्त्वमिति कस्मिंश्चित्पृच्छति प्रतिपन्नश्रमणोपासकोऽहमिति ब्रुवाणस्यास्यैकादश मासान् यावदेकादशी प्रतिमा भवतीति । पुस्तकान्तरे त्वेवं "वाचनादंसणसावए प्रथमा कयवयकं द्वितीया । कयसामाइए तृतीया । पोसहोववासनिरए चतुर्थी । राइभत्तपरिन्नाए पञ्चमी । सचित्तपरिन्नाए षष्ठी । दिया बंभयारी राओ परिमाणकडे सप्तमी । दिआ वि राओ वि बंभयारी असिणाणपयावि भवति वोसट्ठकेसरोमनहे अष्टमी । आरंभपरिन्नाए नवमी । उद्दिट्ठभत्तवज्जए दशमी । समणभूयया वि भवइ त्ति समणाउसो एकादशीति । क्वचित्तु आरम्भपरिज्ञात इति नवमी । प्रेष्यारम्भपरिज्ञात इति दशमी । उद्दिष्टभक्तवर्जकः श्रमणभूतश्चैकादशीति ॥ स० ॥ प्रश्न० ॥

उद्दित्त--उद्दीप्त--त्रि० प्रकाशान्विते, वाच० । "उद्दीविते कुड्डाकडिपणट्ठा । पुढवी दगयारगो य उद्दित्तो (उद्दित्तत्ति) अग्निकायः शीतकाले उद्दीपितो भवति । बृ० १ उ० ।

उद्दिक्त--त्रि० उद् रिच्-क्त-अतिशयिते, अधिके, स्फुटे, । वाच० ।

उद्दिसावित्तए--उद्देशयितुम्--अव्य० आत्मनो गुरुतया व्यवस्थापयितुमित्यर्थे, । चू० १ उ० ।

उद्दिसिऊण--उद्दिश्य--अव्य० अनुज्ञाप्येत्यर्थे, । व्य० ७ उ० ।

उद्दिसिज्जंता--उद्दिश्यमान--त्रि० वाच्यमाने, । आ० म० द्वि० ।

उद्दिसित्तए--उपदेष्टुम्--अव्य० स्वयं धारयितुमित्यर्थे, "दिसं वा अणुदिसं वा उद्दिसित्तए जहा तस्स गणस्स अप्पत्तियं सिया" । व्य० द्वि०२ उ० । योगविधिक्रमेण सम्यग्योगेनाधीष्वेदमित्येवमुद्देष्टुमित्यर्थे, "स जं कायं उद्दिसित्तए" स्था० २ ठा० ।

उद्दिसिय--उद्दिश्य--अव्य० उद्-दिश्--ल्यप्--प्रदर्श्येत्यर्थे, "से भिक्खू वा २ उद्दिसिय उद्दिसिय संथारगं जाएज्ज अंगुलियाए उद्दिसिय उद्दिसिय" उद्दिश्य अङ्गुलीं प्रसार्य । आचा० २ श्रु० १ अ० ।

उद्दिष्ट--त्रि०प्राक् संकल्पिते, "उद्दिसियवत्थं सयं वा ण जाएज्जा आचा०२ श्रु० ॥

उद्दिस्स--उद्दिश्य--अव्य० उद्--दिश्-ल्यप्--आश्रित्येत्यर्थे, "जता महूसवो खलु उद्दिस्स जिणेस कीरई जो उ" पंचा०९ विव० ॥ अङ्गीकृत्येत्यर्थे च । "तत्थ भवे आसंका उद्दिस्स जइ वि कीरए योगो । दशा० १ अ० ।

उद्दीविय--उद्दीपित--त्रि० उज्ज्वालिते, "संधुक्किय मुद्दीविय मुज्जालियं पदीवियं जाण" । को० ।

उद्देस--उद्देश--पुं० उद्दिश्यते नारकादिव्यपदेशेनेति उद्देशः । लोके, । आचा० १ श्रु० १ अ० । उद्दिश्यते इत्युद्देशः । उपदेशे, सदसत्कर्तव्यतादेशे, नारकादिव्यपदेशे, " उद्देसो पासगस्स णत्थि" उद्दिश्यते इत्युद्देश उपदेशः सदसत्कर्तव्यादेशः स पश्यति इति पश्यः स एव पश्यकस्तस्य स विद्यते स्वत एव विदितवेद्यत्वात्तस्य अथवा पश्यतीति पश्यकः सर्वज्ञस्तदुपदेशवर्ती वा तस्य उद्दिश्यत इत्युद्देशो नारकादिव्यपदेश उच्चावचगोत्रादिव्यपदेशो वा स तस्य न विद्यते तस्य प्रागेव मोक्षगमनादिति भावः । आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । गुरुवचने, उत्त०१ अ० । अध्ययने, तदन्तर्गताधिकारे च । "भणिओ वि य दुच्चोच्चिय छठ्ठुद्देसे विसेसणं" नं० । समस्तार्थिनां कृते कल्पिते, ध०३ अधि० ॥ अस्य निरूपः । तत्रोद्देशः षोढा नामोद्देशः स्थापनोद्देशो द्रव्योद्देशः क्षेत्रोद्देशः कालोद्देशो भावोद्देशश्चेति । नामोद्देशो यस्योद्देश इति नाम क्रियते । स्थापनोद्देश उद्देशवतःपुरुषादेः । स्थापना । द्रव्योद्देशं ज्ञभव्यशरीरव्यतिरिक्तं स्वयमेव भाष्यकृदाह ॥

दव्वेणं उद्देसा, उद्दिसति जाव जेण दव्वेणं ।

दव्वं वा उद्दिसते, दव्वजुओ तदट्ठव्वो ॥

द्रव्येण रजोहरणादिना यदुद्देशः यो वा येन सचित्तादिना द्रव्येणोद्दिश्यते तत्र सचित्तेन यथा गोभिर्गोमान् तुरगैस्तुरगपतिः गजैर्गजपतिरिति । अचित्तेन यथा दण्डेन च दण्डी छत्रेण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लशी कपालेन कपालीत्यादि । मिश्रेण यथा शकटेन शाकटिको रथेन रथिक इत्यादि । द्रव्यं वा व्याधिप्रशमनं यदुद्दिशति । अमुकमौषधं द्रव्यं भवता गृहीतव्यमिति । द्रव्यभूतो वा ज्ञानानुपयुक्तः पदं । न श्रुतस्कन्धादिकमुद्दिशति द्रव्यार्थी वा द्रव्यनिमित्तं धनुर्वेदादिकं यदुद्दिसति एष सर्वोऽपि द्रव्योद्देशः ॥

खित्तम्मि जम्मि खित्ते, उद्दिसती जाव जेण खेत्तेण ।

एवमेवय कालस्स वि, भावे उ पसत्थअपसत्थो ॥

क्षेत्रोद्देशे चिन्त्यमाने यस्मिन् क्षेत्रे अङ्गश्रुतस्कन्धादेरुद्देशः क्रियते व्याख्यायते वा यो वा येन क्षेत्रेणोद्दिश्यते यथा भरते भवो भारतः । सुराष्ट्रायां भवः सौराष्ट्रो मगधेषु भवो मागध इत्यादि । एवमेव च यस्मिन् काले अङ्गादिकमुद्दिश्यते येन वा कालेनोद्दिश्यते यथा सुषमायां भवः सौषमः शरदि जातः शारद इत्यादि एष कालोद्देशः । भावोद्देशो द्विधा । प्रशस्तोऽप्रशस्तश्च । उभयमपि दर्शयति ॥

कोहाइ अपसत्थो, णाणमाईय होइ उ पसत्था ।

उदओ वि खलु पसत्थो, तित्थकराहार उदयादा ॥

क्रोधमानादिरौदयिको भावोद्देशः । ज्ञानदर्शनादिक्षायोपशमिक औपशमिकः क्षायिकोपशमिको वा भावः प्रशस्तो भावोद्देशो भवति उदयोऽप्यौदयिको भावोऽपि तीर्थकराहारयशःकीर्त्यादिसत्कर्मोदयरूपप्रशस्तो भवति । आदिशब्दस्य गाथायां व्यत्ययेन निर्देशो बन्धानुलोम्यात् । बृ० ३ उ० । उद्देशनमुद्देशः । सामान्याभिधाने, यथाऽध्ययनमिति । आ० म० प्र० । विशे० । अनु० ॥

उद्देशनिर्देशयोः स्वरूपं भाष्यकृदाह ॥

अज्झयणं उद्देसो, अभिहियं सामाइयंति निद्देसो ।

सामण्णविसिट्ठाणं, अभिहाणं सत्थनामाणं ॥

शास्त्रं च नाम च शास्त्रनामनी तयोः सामान्यविशिष्टयोः सामान्यविशेषभूतयोरोघनिष्पन्ने नामनिष्पन्ने च निक्षेपे यदभिधानमभिहितं तावुद्देशनिर्देशौ यथा संख्येन चेह योजना । तद्यथा-सामान्यस्य शास्त्रस्यौघनिष्पन्ननिक्षेपे यदध्ययनमित्यभिधानमभिहितं स उद्देश इत्युच्यते । नामनिष्पन्ने च निक्षेपे विशिष्टस्य नाम्नो यत्सामायिकमित्यभिधानमभिहितं स निर्देश इत्यभिधीयत इति ॥

अस्य निक्षेपो यथा ॥

नामं ठवणा दविए, खित्ते काले समासउद्देसे ।

उद्देसम्मि य भावे, एमाई होइ अट्ठमओ ॥

नामादिभेदादुद्देशोऽष्टविधस्तद्यथा नामोद्देशः स्थापनोद्देशो द्रव्योद्देशः क्षेत्रोद्देशः कालोद्देश उद्देशोद्देशः समासोद्देशो भावोद्देशो भवत्यष्टमक इति निर्युक्तिगाथासंक्षेपार्थः ॥

तत्र नामोद्देशं व्याख्यातुमाह भाष्यकारः ॥

नामं जस्सुद्देसो, नामेणुद्देसए व जो जेण ।

उद्देसो नामस्स व, नामुद्देसोभिहाणंति ॥

यस्य जीवादेर्वस्तुन उद्देश इति नाम क्रियते स नामोद्देशः । नामरूप उद्देशो नामोद्देशः यथा गोपालदारकादिरुद्देश इति नाम (नामेणुद्देसत्ति) यो वा घटपटस्तम्भादिपदार्थो येन घटपटस्तम्भादिनाम्ना उद्दिश्यते प्रतिपाद्यते सोऽपि घटपटादिपदार्थो नामोद्देश उच्यते । उद्दिश्यतेऽभिधीयते प्रतिपाद्यते निजेन नाम्ना इति कृत्वा उद्देशः (नामस्सवत्ति) नाम्नो वा वस्तु सामान्याभिधानस्योद्देशनमुच्चारणं नामोद्देशः । किमुक्तं भवतीत्याह (अभिहाणंति) वस्तुनः सामान्यं यदभिधानं तन्नामोद्देश इत्यर्थः यथा आम्रादेः वृक्षादिनाम । वा शब्दः सर्वत्र प्रकारान्तरसूचकः ।

अत्र परोऽतिप्रसङ्गमुद्भावयन्नाह ।

एवं नणु सव्वो चिय, नामोद्देसो जओ भिहाणंति ।

दव्वाईणं तेहि व, तेसु व विकीरणगस्स ॥

ननु यदि वस्तुनः सामान्याभिधानमात्रमुद्देशोऽभिधीयते एवं तर्हि सर्व एवायं स्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालाद्युद्देशो नामोद्देश एव प्राप्नोति । यतो द्रव्यादीनामपि हेमरजतादीनां हेमादिकं सामान्याभिधानमिति तैर्वा कुसुम्भहरिद्रादिद्रव्यैर्हेतुभूतैर्वस्त्रादीनां रक्तपीतमित्यादिसामान्याभिधानं प्रवर्तते । तेषु वा दण्डकुण्डलकिरीटादिद्रव्येषु सत्सु दण्डी कुण्डली किरीटीत्यादिकं सामान्याभिधानं प्रवर्तमानं दृश्यते । एवं स्थापनाक्षेत्रादिष्वपि वाच्यम् । ततो य एव द्रव्याद्युद्देशोऽभिमतः स एव सर्वोऽपि नामोद्देशः प्राप्नोतीति उद्देशस्यैकविधत्वादष्टविधत्वं विशीर्यत इति ।

अत्र पराभिहितमभ्युपगम्य परिहारमाह ।

सच्चं सव्वाणुगओ, नामुद्देसोभिहाणमित्तं जं ।

नाणत्तं तह वि मयं, मइकिरियावत्थभेएहिं ॥

सत्यमुक्तं भवता यतो यत्सामान्याभिधानमात्रं नामोद्देशः स खलु सर्वानुगत एव तथापि नामस्थापनाद्रव्याद्युद्देशानां नानात्वं भेदरूपं मतं सम्मतमेव परमार्थवेदिना केनेत्याह । मतिक्रियावस्तुभेदैस्तथाहि-यादृशी नामेन्द्रे मतिस्तादृश्येव न स्थापनेन्द्रादिषूत्पद्यते किंतु विलक्षणैव । न च यां क्रियां नामेन्द्रः करोति तामेव स्थापनाद्रव्येन्द्रादयः किंचित्सदृशीमेव अत एव नामेन्द्रादिवस्तूनां परस्परं भेदो विज्ञेयो भिन्नमित्यादिहेतुत्वात् घटपटादिवस्तुवदिति ॥ करोति तामेव स्थापनां द्रव्येन्द्रादिवस्तुवदिति । एवं प्रस्तुतनामस्थापनाद्रव्याद्युद्देशानामपि मत्यादिभेदाद्भेदो योजनीय इति ॥

अथ स्थापनाद्युद्देशानाह ।

ठवणाए उद्देसो, ठवणुद्देसत्ति तस्स वा ठवणा ।

तं तेण तओ तम्मिव, दव्वाइयाणमुद्देसो ।

दव्वुद्देसो दव्वं, दव्वपई दव्ववंसदव्वो त्ति ।

एवं खेत्तं खेत्ती, खेत्तपई खेत्तजायत्ति ॥

स्थापनाया उद्देशनमुच्चारणं सामान्येनाभिधानं स्थापनोद्देशः तस्य वा उद्देशस्य अक्षरादिषु स्थापना स्थापनोद्देशः । अथ द्रव्योद्देशमाह-द्रव्यादीनामुद्देशो द्रव्योद्देशः । आदिशब्दात् द्रव्यवदादिपरिग्रहः कया पुनर्व्युत्पत्त्या द्रव्यादयो वाच्या भवन्तीत्याह (तम्मित्यादि) तदेव द्रव्यमुद्दिश्यते उच्चार्यते द्रव्यमित्येवं सामान्येनाभिधीयते द्रव्योद्देशः । द्रव्यं च तदुद्देशश्चेति कर्मधारयसमासः । अत्र च पक्षे द्रव्यमेवोद्देशशब्दवाच्यम् । अत एव द्वितीयगाथायामाह (दव्वमिति) अथवा तेन द्रव्येण हेतुभूतेन य उद्दिश्यते अभिधीयते स द्रव्योद्देशो यथा द्रव्यपतिरित्यादि । यदि वा ततस्तस्माद्द्रव्यादुद्देशोऽभिधानप्रवृत्तिर्द्रव्योद्देशो यथा द्रव्यवानित्यादि । अथवा तस्मिन् द्रव्ये सत्युद्देशोऽभिधानप्रवृत्तिर्द्रव्योद्देशो यथा स द्रव्य इत्यादि सिंहासने राजा चूते कोकिलः, वने मयूर, इत्यादि वा । एवमुद्दिश्यते तेन वा, इत्यादिव्युत्पत्त्या क्षेत्रं क्षेत्री क्षेत्रपतिः क्षेत्रे जातं क्षेत्रमित्यादिकः सर्वोऽपि क्षेत्रोद्देश इति ।

कालो कालाईयं, कालो वेयंति कालजायंति ।

संखेवो त्ति समासो, अंगाईणं तओ तिएहं ॥

अंगसुयखंधज्झयणाणं, नियनियपज्जेयसंगहओ ।

होइ समासुद्देसो, जहंगमंगी तदज्झेज्जा ॥
एमेव सुयक्खंधो, जह तस्स तयट्ठविण्णाया ।
अज्झयणं अज्झयणी, तस्स नेया तयत्थण्णो ॥

काल एवोद्दिश्यमानत्वादुद्देशकालः कालोद्देशः । तेन वा कालेनोद्देशः कालोद्देशो यथा कालातीतं कालातिक्रान्तमिदं वस्त्विति । ततो वा कालादुद्देशः कालोद्देशो यथा कालोपेतं कालप्राप्तमिति । तस्मिन्वा काले जातं कालजातमित्यादिकः कालोद्देशः । अथ समासोद्देसं विवक्षुराह (संखेवेत्यादि) संक्षेपेणाविस्तरेण संकोचनं समास उच्यते तत्कोऽयं चेह अङ्गादीनां त्रयाणां विवक्षितः एतदेव दर्शयति (अंगेत्यादि) अङ्गश्रुतस्कन्धोऽध्ययनमित्येष समासो भवति ॥ कुत इत्याह । निजनिजप्रभेदसंग्रहादिति । अस्याङ्गादिसमासस्योद्देशनमभिधानं समासोद्देशक इति दर्शयति । यथा अङ्गमिति तदेवोद्दिश्यमानत्वादुद्देश इत्यर्थः । तेन वाङ्गरूपसमासेनोद्देशो यथाङ्गीति (तस्सतयट्ठेत्ति) अङ्गात्मकसमासोद्देशो यथा तदध्येता अङ्गाध्येता इत्यादि । एवं श्रुतस्कन्धात्मकसमास एवोद्दिश्यमानत्वादुद्देशो यथा तदर्थविज्ञाता श्रुतस्कन्धार्थज्ञ इत्यादि । एवमध्ययनात्मकसमास एवोद्दिश्यते इत्युद्देशो यथाऽध्ययनमिति तेन वा उद्देशो यथाऽध्ययनीति । तस्माद्वा उद्देशो यथा तस्याध्ययनयस्याध्येता । तस्मिन्वा अध्ययने सति उद्देशो यथा तदर्थज्ञोऽध्ययनार्थविदित्यादि विवक्षया सर्वं भावनीयमिति ॥

अथोद्देशोद्देशं भावोद्देशं चाह ।

उद्देसो उभिउद्दे-सणो तयत्थवेत्ता वा ।
उद्देसुद्देसो यं, भावो भाविति भावम्मि ॥

उद्देशः पुलाकोद्देशकादिः स एवोद्दिश्यमानत्वादुद्देशोद्देशः । स चायं विज्ञेयः क इत्याह । पुलाकोद्देशकादिक उद्देशोऽभ्युद्दिश्यमानत्वेनोद्देशोद्देश उच्यते । तेन वा उद्देशोऽभिधानं यथा उद्देशीति । तस्माद्वा उद्देशो यथा उद्देशज्ञः । तस्मिन्वा उद्देशो यथा तस्योद्देशकस्यार्थवेत्ता इत्यादि (भावम्मित्ति) भावविषय उद्देशो भावोद्देशः । क इत्याह (भावोत्ति) औदयिको भाव उद्दिश्यतेऽभिधीयते इत्युद्देशो भावश्चासावुद्देशश्च भावोद्देश इत्यर्थः । तेन वा भावेनोद्देशो भावोद्देशो यथा भावीत्यादि पूर्वोक्तानुसारेण वाच्यमिति गाथात्रयकार्थः ॥ अथोद्देशव्याख्यानेन निर्देशमप्यतिदिशन्नाह ।

एवमेव स णिद्देसो, अट्ठविहो सो वि होइ नायव्वो ।
अविसेसियमुद्देसो, विसेसिओ होइ णिद्देसो ।

एवमेव यथा उद्देश उक्तस्तथा निर्देशोऽप्यष्टविध एव भवति ज्ञातव्यः । सर्वथा साम्यप्रतिषेधार्थमाह । किन्त्वविशेषितसामान्यनामस्थापनादिरूप उद्देशो विशेषितनामादिरूपस्तु स एव निर्देशो भवतीति विशेष इति निर्युक्तिगाथार्थः ॥४६ ॥

भावार्थं तु भाष्यकारः प्राह ॥

नामं जिणदव्वाई, उवणाविसिट्ठवत्थुनिक्खेवो ।
दव्वो गोमं दंडी, रहीति तिविहो सचित्ताइ ॥

वस्तुनः पुरुषादेर्यत्पुरुषादिकं सामान्यं नाम स नामोद्देश उक्तो यत्तु तस्यैव विशेषनामसंग्रह नाम निर्देश उच्यते यथा जिनदत्तादिसामान्यस्य चेन्द्रादेर्वस्तुनः । स्थापना स्थापनोद्देश उक्तः इह तु विशिष्टस्य साधर्म्यादिपर्यायादिवस्तुनो यः स्थापनारूपो निक्षेपः स स्थापनानिर्देशः । द्रव्यस्यापि त्रिविधस्य सचित्तादेर्विशिष्टस्य यो विशिष्टाभिधानरूपो निर्देशः तत्र सचित्तद्रव्यविशेषस्य निर्देशो यथा गौरित्यादि अचित्तस्य तु दण्ड इत्यादि मिश्रस्य तु रथ इत्यादि रथस्य चाश्वादियुक्तस्येह मिश्रता भावनीयेति । तेन वा सचित्तादिद्रव्यविशेषणनिर्देशो यथा गोमानित्यादि दण्डी रथीत्यादि ॥

अथ क्षेत्रकालनिर्देशावाह ॥

खेत्ते भरहं तत्थ व, जवोत्ति मगहत्ति मागहीवत्ति ।
सरउत्ति सारउत्ति य, संवच्छरिउत्ति कालम्मि ॥

क्षेत्रं क्षेत्रमित्यादिकः क्षेत्रोद्देश उक्तः । इह तु तदेव विशिष्टं क्षेत्रं क्षेत्रनिर्देशो यथा भरतमित्यादि । अथवा (मगहत्ति) मगधजनपद इत्यादि तस्मिन्वा क्षेत्रविशेषे भवः क्षेत्रमित्युच्यते यथा भारत इत्यादि एतच्च स्वयमेव द्रष्टव्यम् । मगधेषु भवो मागध इत्यादि एतत्तु गाथायामप्यस्तीति कालो कालोऽयमित्यादिकः कालोद्देश उक्तः । इह तु तस्यैव कालस्य विशिष्टस्य यो निर्देशो विशिष्टमभिधानं स कालनिर्देशो यथा शर इत्यादि । तत्र वा कालविशेषे भवः कालनिर्देशोऽभिधीयते यथा शरदि भवः शारदः । संवत्सरे भवः सांवत्सरिक इत्यादि ॥

अथ समासनिर्देशमुद्देशं निर्देशं चाह ॥

आयारो आयारव, आयारधरे त्ति वा समासम्मि ।
आवस्सय सावासयि, तु तत्थ धरोह वायत्ति ॥
सत्थए परिण्णाइ यत्र, अज्झेया यं समासनिद्देसा ।
उद्देसयनिद्देसो, स पएसो पोग्गलुद्देसो ॥

विस्तरवतो वस्तुनः संक्षेपः समासस्तस्य सामान्याभिधानं समासोद्देशः उक्तः । इह तु तस्यैव समासस्य विशेषाभिधानः समासनिर्देशस्तत्र चाङ्गश्रुतस्कन्धाध्ययनभेदात्त्रिविधः समासोद्देशः पूर्वमुक्त इह तु तेषामेव त्रयाणामङ्गादीनां विशेषाभिधानरूपस्त्रिविध एव समासनिर्देशस्तथा चाह (आयारेत्यादि) आचारप्ररूपणाङ्गविशेषाभिधाननिर्दिश्यमानत्वादाचार इति समासनिर्देशस्तेन वा आचारसमासेन निर्देशो यथा आचारवानित्यादि । तस्माद्वा आचारसमासान्निर्देशो यथा आचारधर इत्यादि । श्रुतस्कन्धसमासनिर्देशो यथा आवश्यकमिति । तेन वा आवश्यकसमासेन निर्देशो यथा आवश्यकीति । अथवा तस्मादावश्यकसमासान्निर्देशो यथा आवश्यकसूत्रार्थधरोऽयमिति । अध्ययनमाश्रित्य समासनिर्देशः क इत्याह ॥ आचाराङ्गे प्रथममध्ययनं शस्त्रपरिज्ञा इत्यादि तेन वा शस्त्रपरिज्ञासमासविशेषेणनिर्देशो यथा (अज्झयणंति) शस्त्रपरिज्ञाध्येता अयमित्यर्थ इत्यादि समासनिर्देशः । उद्देशनिर्देशस्तूच्यते क इत्याह । (पएसो त्ति) अध्ययनस्य प्रदेशोंऽश इत्यर्थः । यथा भगवत्यां पुद्गलोद्देशकस्तस्य निर्देशोऽभिधानमुद्देशनिर्देश इत्यादीति । विशे० ॥ आ०म० प्र० । आ० चू० । वाचयामीति गुरुप्रतिज्ञारूपे. विशे० ॥ इदमध्ययनादि त्वया पठितव्यमिति गुरुवचनविशेषे, ॥

तद्विधिश्चैवम् ॥

तत्राचाराद्यङ्गस्य उत्तराध्ययनादिकालिकश्रुतस्कन्धस्य औपपातिकायुत्कालिकोपाङ्गाध्ययनस्य चायमुद्देशविधिः । इहाचाराद्यन्तरश्रुतमध्येतुमिच्छति यो विनेयः स स्वाध्यायं प्रस्थाप्य गुरुं विज्ञपयति भगवन्नमुकं मम श्रुतमुद्दिशत । गुरुरपि प्रणतोच्छ्राम इति । ततो विनेयो वन्दनकं ददाति ? ततो गुरुरुत्थाय चैत्यवन्दनं करोति तत ऊर्ध्वस्थितो वामपार्श्वकृतशिष्यो योगोत्क्षेपनिमित्तं पञ्चविंशत्युच्छ्वासमानं कायोत्सर्गं करोति "चंदेसु निम्मलयरेत्ति" यावच्चतुर्विंशतिस्तवं चिन्तयतीत्यर्थः । ततः पारित-

कायोत्सर्गः संपूर्णचतुर्विंशतिस्तवं भणित्वा तथास्थित एव पञ्चपरमेष्ठिनमस्कारं वारत्रयमुच्चार्य "नाणं पंचविहं पण्णत्तमित्यादि" उद्देशनंदीं भणति । तदन्ते चैवं पुनः प्रस्थापनं प्रतीत्य साधोरिदमङ्गममुं श्रुतस्कन्धं इदमध्ययनं वा उद्दिसामि क्षमाश्रमणानां हस्तेन सूत्रमर्थं तदुभयं च उद्दिष्टमित्येवं वदति । क्षमाश्रमणानामित्यादि न्यात्मनोऽहंकारवर्जनार्थमभिधत्ते ततो विनय इच्छामीति भणित्वा वन्दनकं ददाति २ तत उत्थितो ब्रवीति संदिशत किं भणामीति । ततो गुरुर्वदति वन्दित्वा प्रवेदयत ततो विनेय इच्छामीति भणित्वा वन्दनकं ददाति ३ ततः पुनरुत्थितः प्रतिपादयति भवद्भिर्ममामुकं श्रुतमुद्दिष्टमिच्छाम्यनुशास्तिम् । ततो गुरुः प्रत्युत्तरयति योगं कुर्विति एवं संदिष्टो विनेय इच्छामीति भणित्वा वन्दनकं ददाति ४ ततोऽत्रान्तरे नमस्कारमुच्चारयन्नसौ गुरुं प्रदक्षिणयति तदन्ते च गुरोः पुरतः स्थित्वा पुनर्वदति भवद्भिर्ममामुकं श्रुतमुद्दिष्टमिच्छाम्यनुशास्तिं ततो गुरुराह योगं कुर्विति । एवं संदिष्ट इच्छामीति भणित्वा वन्दित्वा च पुनस्तथैव गुरुं प्रदक्षिणयति । तदन्ते च पुनस्तथैव गुरुशिष्ययोर्वचनप्रतिवचने तथैव च तृतीयप्रदक्षिणां विदधाति विनेयः । एतानि च चतुर्थवन्दनकादीनि त्रीण्यपि वन्दनकान्येकमेव चतुर्थं गण्यते एकार्थप्रतिबद्धत्वादिति ५ ततस्तृतीय प्रदक्षिणान्ते गुरुर्निषीदति निषण्णस्य च गुरोः पुरतोऽर्द्धावनतगात्रो विनेयो वक्ति युष्माकं प्रवेदितं संदिशत साधूनां प्रवेदयामि । ततो गुरुराह प्रवेदयेति । तत इच्छामीति भणित्वा विनेयो वन्दनकं ददाति । ५ । प्रत्युत्थितश्चोच्चारितपञ्चपरमेष्ठिनमस्कारः पुनर्वन्दनं ददाति । ६ । पुनरुत्थितो वदति युष्माकं प्रवेदितं साधूनां च तं प्रवेदितं सन्दिशत करोमि कायोत्सर्गम् । ततो गुरुरनुजानीते । कुर्विति ततः पुनरपि वन्दनकं ददाति ।७। एतानि सप्तच्छोभवन्दनकानि श्रुतप्रत्ययानि भवन्ति ततः प्रत्युत्थितोऽभिधत्ते अमुकस्योद्देशनिमित्तं करोमि कायोत्सर्गमन्यत्रोच्छ्वसितादित्यादि यावद्व्युत्सृजामीति ततः कायोत्सर्गं स्थितः सप्तविंशतिमुच्छ्वासांश्चिन्तयति " सागरवरगम्भीरेत्ति " यावच्चतुर्विंशतिस्तवं चिन्तयति इत्यर्थः । "उद्देशसमुद्देसे, सत्तावीसं अणुण्णवणियाए " इति वचनात् ततः पारितकायोत्सर्गः संपूर्णं चतुर्विंशतिस्तवं भणित्वा परिसमाप्तोद्देशक्रियत्वाद्गुरोर्ज्येष्ठवन्दनकं ददाति तच्च न श्रुतप्रत्ययं किं तर्हि श्रुतदातृत्वादिना गुरुः परमोपकारी तद्विनयप्रतिनिमित्तमिति ॥ अनु० । आ० म० द्वि० । (श्रुतस्कन्धस्यैवोद्देश इति अणुओगशब्देऽक्तम्) वाचनायां सूत्रप्रदाने, व्य० प्र० १ उ० । श्रुतस्कन्धाङ्गपरावर्तनोत्तरकालं च सप्तविंशत्युच्छ्वासकालः कायोत्सर्गः । " उद्देस समुद्देसे सत्तावीसं " ॥ जी० १ प्रति० । उद्देशो मुहूर्तम् "पुरस्सो हृथो अभिई, अस्सिणी य तहेव य । चत्तारि खिप्पकारीणि, विज्जारंभे सुसोहणा ॥२७॥ विज्जाणं धीरणं कुज्जा" इति ।

कियत्पर्यायस्य किं श्रुतं दातव्यमित्याह ।

णो कप्पति णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा खुड्डागं वा खुड्डियाए वा अवंजणजायस्स आयारकप्पे णामज्झयणे उद्दिसित्तए वा कप्पति निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा खुड्डागस्स वा खुड्डियाए वा वंजणजायस्स आयारकप्पणामं अज्झयणे उद्दिसित्तए वि ३ । व्य० सू० १० उ० ।

न कल्पते निर्ग्रन्थानां वा क्षुल्लकस्य वा क्षुल्लिकाया वा अव्यञ्जनजातस्य व्यञ्जनान्युपस्थरोमाणि जातानि यस्य स तथा तस्य आचारप्रकल्पो नामाध्ययनं निशीथापरपर्यायमुद्देष्टुम् । अत्र कारणं भाष्यकृदाह ।

अहिअट्ठस्स आयारे, अपत्ति ते न उ कप्पति ।
अव्वंजणजातस्स, वंजणाण परूवणा ॥
जहा चरित्तं धारेउ, ऊणट्ठो उ अपच्चलो ।
तहा वि वक्कं वुट्ठाउ, अववायस्स नो सहू ॥

अधिकाष्टवर्षस्याप्यपठितेऽप्याचारे अव्यञ्जनजातस्य । अत्र व्यञ्जनानां प्ररूपणा कर्तव्या सा च सूत्रव्याख्यायां कृता न तु नैव सूरयः प्रकल्पमाचारप्रकल्पनामाध्ययनं ददति कुत इत्याह । (जहेत्यादि) यथा ऊनाष्ट-ऊनाष्टवर्षश्चारित्रं धारयितुमप्रत्यलोऽसमर्थः तथा अजातव्यञ्जनतया अपक्वबुद्धिरपवादमाधारणेन वदति तथा कल्पते निर्गन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा क्षुल्लकस्य वा क्षुल्लिकायावा व्यञ्जनजातस्य आचारप्रकल्पो नामाध्ययनमुद्देष्टुम् । अथ स्तोककालदीक्षितस्यापि ज्ञातव्यञ्जनस्य दीयते किंवा नेत्यत आह । (अतिवासपरियागस्सेत्यादि)ज्ञातव्यञ्जनस्यापि त्रिवर्षपर्यायस्य श्रमणस्य निर्ग्रन्थस्य कल्पते आचारप्रकल्पो नामाध्यनमुद्देष्टुम् । यदि पुनस्त्रयाणां वर्षाणां अभ्यन्तरत उद्दिशति ततस्तस्य प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः त्रिवर्षपर्यायस्याप्यपरिणामकस्यातिपरिणामकस्य चोदितस्य चतुर्गुरुकम् ॥

(सूत्रम्) चउवासपरियागस्स समणस्स निग्गंथस्स कप्पइ सूयगडे नामं अंगे उद्दिसित्तए पंचवासपरियागस्स समणस्स निग्गंथस्स कप्पति दसा कप्पववहारा उद्दिसित्तए वि अट्ठवास परियागस्स निग्गंथस्स कप्पति ठाणसमवाए उद्दिसित्तए दसवासपरियागस्स समणस्स निग्गंथस्स कप्पति विवाहे नामं अंगे उद्दिसित्तए ॥

चतुर्वर्षपर्यायस्य श्रमणनिर्ग्रन्थस्य कल्पते सूत्रकृतं नामाङ्गमुद्देष्टुम् । पञ्चवर्षपर्यायस्य दशकल्पव्यवहारास्त्रिकेऽष्टो नाम वर्ष्य आरभ्य नव वर्षाणि यावत् तत्पर्यायस्य स्थानं समवायस्य दशवर्षपर्यायस्य व्याख्या प्रज्ञप्तिः पञ्चममङ्गमेतदेव सहेतुकं वक्तुकामो भाष्यकृदाह ।

चउवासे सूयगडं, कप्पववहारस्स पंचवासस्स ।
विगइट्ठाणस्स, समवरिसविवाहपण्णत्ती ॥

चतुर्वर्षी पर्यायस्य सूत्रकृतः पञ्चवर्षस्य कल्पव्यवहारावुपलक्षणमेतत् दशाश्रुतस्कन्धश्चाविकृष्टपर्यायस्य स्थानं समवायश्च दशवर्षपर्यायस्य व्याख्या प्रज्ञप्तिरुद्दिश्यते किंकारणमेतावत्कालातिक्रमेण तत आह ॥

चउवासो गाढमती, न कुसमएहिं तु हीनपज्जाओ ।
पंचवरिसओ जोग्गो, अववायस्सत्ति तो दिंति ॥
पंचण्हुवरि विगिट्ठो, सुयथेरा जेण तेण उवगिट्ठो ।
ठाणे महिड्ढियंति य, तेण दसवरिसपरियाए ॥

सूत्रकृताङ्गे त्रयाणां त्रिषष्ट्यधिकानां पाषण्डिकशतानां दृष्टयः प्ररूप्यन्ते । ततो हीनपर्यायो मतिभेदेन मिथ्यात्वं यायात् । चतुर्वर्षपर्यायस्तु धर्मे अवगाढमतिर्भवति ततः कुसमयैर्नापह्रियते । न चतुर्वर्षपर्यायस्य तदुद्देष्टुमनुज्ञातम् । तथा पञ्चमोवर्षोऽपवादस्य योग्य इति कृत्वा पञ्चवर्षस्य दशकल्पव्यवहारान् ददति । तथा पञ्चानां वर्षाणामुपरि पर्यायो विकृष्ट उच्यते । येन कारणेन स्थाने समवाये न चाधीतेन श्रुतस्थविरा भवन्ति तेन कारणेन तदुद्देशनं प्रति विकृष्टपर्यायो गृहीतस्तथा स्थानं समवायश्च महर्द्धिकं प्रायेण द्वादशाना-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मध्यङ्गानां तेन सूचनादिति ॥ तेन तत्परिकर्मितमतौ दशवर्षपर्याये व्याख्या प्रज्ञप्तिरुद्दिश्यते ॥

(सूत्रम्)एक्कारसवासपरियागस्स समणस्स निग्गंथस्स कप्पइ खुड्डियाविमाणविभत्ती । महल्लियाविमाणविभत्ती महल्लिया विमाणे पविभत्ती अंगचूलिया विवाहचूलिया नामं अज्झयणमुद्दिसित्तए ॥

अस्य व्याख्या ॥

एक्कारसवासस्सा, खुड्डिमहल्ली विमाणपविभत्ती ।
कप्पइ य अंगुवंगे, विवाह चेव चूलीयओ ॥
अंगाणमंगचूली, महकप्पसुयस्स वग्गचूली उ ।
विवाहचूलिया पुण, पमत्तीए मुणेयव्वा ॥

एकादशवर्षस्य क्षुल्लिकाविमानप्रविभक्तिर्यत्र कल्पेषु विमानानि वर्ण्यन्ते महती विमानप्रविभक्तिर्यत्र विमानान्येव विमानविस्तरेणाभिधीयन्ते । अङ्गानामुपासकदशाप्रभृतीनां पञ्चानां चूलिका निरावलिका अङ्गचूलिका महाकल्पश्रुतस्य चूलिका वर्गचूलिका व्याख्याचूलिका पुनः प्रज्ञप्त्यर्थाख्या प्रज्ञप्तचूलिका मन्तव्या ॥

(सूत्रम्) वारसवासपरियागस्स समणस्स कप्पइ अरुणोववाए गरुलोववाए वरुणोववाए वेसमणोववाए वेलंधरोववाए । वेलंधरोववाए नामं अज्झयणे उद्दिसित्तए ॥

अत्र भाष्यव्याख्य ॥

वारसवासे अरुणो-ववायवरुणो य गरुलवेलंधरो ।
वेसमणुववाए तहा य, ते कप्पंति उद्दिसिउं ॥

द्वादशपर्यायस्य ।

अरुणोपया लुपरिय-ट्टंतिए तिदेवाउ ।
अंजलिमउलियहत्था, उज्जोवेत्ता दसदिसो उ ॥
नागावरुणोवासं, अरुणा गरुला य वीयगं देंति ।
आगंतूण पवंती, संदि सहा किं करेमित्ति ॥

तेषामरुणोपपातादीनामध्ययनानां ये दशनामानः खल्वरुणादयो देवास्ते यदि तान् प्रणिधायाध्ययनानि परावर्तन्ते तदा ते अञ्जलिमुकुलितहस्ता दशापि दिश उद्योतयन्ति । समागच्छन्ति समागत्य च किंकरभूताः पर्युपासते तथा नागा धरणनामानो वरुणाश्च गन्धोदकादि वर्षन्ति । अरुणा गरुडाश्च बीजकं सुवर्ण ददतः प्रत्यासन्नमागत्य ब्रुवते संदिशत किं कुर्मो वयमिति ।

(सूत्रम्) तेरसवासपरियागस्स समणस्स निग्गंथस्स कप्पइ उट्ठाणसुयसमुट्ठाणसुपदेविंदो देववाए नागए परियावणियाए ।

अस्य व्याख्या ।

तेरसवासे कप्पइ, उट्ठाणसुए तहा समुट्ठाणे ।
देविंदपरियावणिया, नागाण तहेव परियाणी ॥

त्रयोदशवर्षस्य कल्पते उत्थानश्रुतं तथा समुत्थानं समुत्थानश्रुतं देवेन्द्रपरियापनिका नागानां तथैव परियापनिका नागपरियापनिका इत्यर्थः ।

(सूत्रम्) चउद्दसपरियागस्स समणस्स निग्गंथस्स कप्पति सुमिणभावणानामं अज्झयणमुद्दिसित्तए ॥

चतुर्दशवर्षपर्यायस्य श्रमणस्य निर्ग्रन्थस्य कल्पते महास्वप्नभावना नामाध्ययनमुद्देष्टुम " चोद्दसवासुद्दिसए " इत्यादि भाष्यगाथोत्तरार्द्धं सुप्रतीतमधुनार्थमाह ।

इत्थं तीसं सुमिणा, वायाला चेव हुंति महसुमिणो ।
वावत्तरि सव्वसुमिणा, वन्निज्जंते फलं तेसिं ॥

अत्र महास्वप्नभावनाध्ययने त्रिंशत् सामान्यस्वप्नाः द्वाचत्वारिंशन्महास्वप्ना वर्ण्यन्ते फलं चैषां स्वप्नानां वर्ण्यते ॥

(सूत्रम्) पन्नरसवासपरियागस्स समणस्स निग्गंथस्स कप्पइ । चारणभावणानाममज्झयणमुद्दिसित्तए ॥

अत्र भाष्यम् ॥

पन्नरसे चारणभा-वणं ति उद्दिसिए उ अज्झयणं ।
चारणलद्धी तहियं, उप्पज्जंते उ अहियम्मि ॥

पञ्चदशे पञ्चदशवर्षपर्यायस्य चारणभावनेत्यध्ययनमुद्दिश्यते तस्य कोऽतिशय इत्याह चारणलब्धिस्तस्मिन्नधीते उत्पद्यते येन वा तपसा कृता चारणलब्धिरुपजायते तदुपवर्ण्यते ॥

(सूत्रम्) सोलसवासपरियागस्स समणस्स निग्गंथस्स कप्पइ तेअनिसग्गानामंअज्झयणे उद्दिसित्तए सत्तरसवासपरियागस्स समणस्स णिग्गंथस्स कप्पति आसीविसभावणा नामं अज्झयणमुद्दिसित्तए । अट्ठारस वासपरियागस्स समणस्स निग्गंथस्स कप्पति दिट्ठीविसभावणानामज्झयणमुद्दिसित्तए । एगूणवीसवासपरियागस्स समणस्स निग्गंथस्स कप्पइ दिट्ठिवायनामंगे उद्दिसित्तए वीसतिवासपरियाए समणे निग्गंथे सव्वसुयाणुवाती भवति ॥

अस्य व्याख्या

तेअनिसग्गा सोलस, आसीविसभावणं च सत्तरसे ।
दिट्ठिविसमट्ठारस, एगुणवीसइदिट्ठिवाओ उ ॥

षोडशवर्षे तेजोनिसर्गो नामाध्ययनमुद्दिश्यते । सप्तदशे वर्षे आशीविषभावनानामोद्दिश्यते दृष्टिविषभावनानामाष्टादशे वर्षे एकोनविंशतितमे वर्षे दृष्टिवादो नाम द्वादशमङ्गमुद्दिश्यते । सांप्रतमेतेषामध्ययनानामतिशयानाह ।

तेयस्स निसरणं खलु, आसीविसतं तहेव दिट्ठिविसं ।
लद्धीतो समुप्पज्जे, समहीएसु तु एएसु ॥

एतेषु तेजोनिसर्गप्रभृतिष्वध्ययनेषु यथाक्रमं तेजसो निस्सरणमाशीविषत्वं दृष्टिविषमित्येवं लब्धयः समुत्पद्यन्ते । इयमत्र भावना । तेजोनिसर्गेऽध्ययनेऽधीते तेजोनिस्सरणलब्धिरुत्पद्यते येन वा तपसा कृत्वा तेजोलब्धिर्भवति तत एवमुपवर्ण्यते आशीविषभावनायां पठितायामाशीविषत्वलब्धिर्यैर्वा समाचरैराशीविषतया कर्म बध्यते तान्युपवर्ण्यन्ते । एवं दृष्टिविषभावनायामपि भावनीयम् ॥

दिट्ठिवाए पुण होइ, सव्वभावाण स्वणं नियमा ।
सव्वसुयाणुवाई-वीसइवासे उ बोधव्वो ॥

दृष्टिवादे पुनर्भवति सर्वभावानां रूपणं प्ररूपणं नियमात् विंशतिवर्षः पुनः सर्वश्रुतानुपाती भवति सर्वमपि श्रुतं यथा भणितं योगेन तस्य पठनीयं भवति । अथ कस्य तीर्थकरस्य काले कियन्ति प्रकीर्णकान्याभवन्नित्यत आह

चउदसयसहस्साइं, पइण्णगाणं तु वद्धमाणस्स ।
सेसाण जत्तिया खलु, सीसा पत्तेयबुद्धा उ ॥

भगवतो वर्द्धमानस्वामिनः तीर्थे चतुर्दश प्रकीर्णकसहस्राण्यभवन् शेषाणां च तीर्थकृतां यस्य यावन्तः शिष्यास्तस्य तावन्ति प्रकीर्णकानि प्रत्येकबुद्धा अपि तस्य तावन्तः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पत्तस्स पत्तकालेय, वयाणि जो उ उद्दिसे तस्स ।
निज्जरलाभो विपुलो, किट्टमाणं पुण तं निसामेह ॥

पात्रस्य योग्यस्य परिणामकस्येत्यर्थः । एतेनापात्रेऽपरिणामके विपरिणामके वा ददानां महतीं श्रुतासातनामेतीति प्रतिपादितम् । प्राप्ते काले यथोदितं एतानि प्रकीर्णकानि च उद्दिशति तस्य सुविपुलो निर्जरालाभः । कथं पुनः स विपुलो निर्जरालाभः । सूरिराह तं विपुलनिर्जरालाभं कथ्यमानं निशमयतो मते कथयति।

कम्ममसंखेज्जभवं, खवेइ अणुसमयमेव आउत्तो ।
अन्नयरगम्मि जोगे, सज्झायम्मी विसेसेण ॥

कर्मज्ञानावरणीयादिकमसंख्येयभावोपार्जितमन्यतरकेऽपि योगप्रतिलेखनादावुक्तोऽनुसमयमेव क्षपयति विशेषतः स्वाध्याये आयुक्तः ।

आयारंगादियाणं, अंगाणं जाव दिट्ठिवातो उ ।
एस विही विष्णेओ, सव्वेसिं आणुपुव्वीए ।

आचारादिकानामङ्गानां यावत् दृष्टिवादो दृष्टिवादपर्यन्तानां सर्वेषामानुपूर्व्या एषोऽनन्तरोदितो विधिर्विज्ञेयः । पात्रस्योचिते काले यदुचितमङ्गं तद्दातव्यं न शेषमित्यर्थः ॥ व्य०१०उ० । त्रिवर्षपर्यायो निर्ग्रन्थ आचारादिकुशल आचार्यादितया कल्पते उद्देशयितुम् ॥

तिवासपरियाए समणे निग्गंथे आयारकुसले संजमकुसले पवयणकुसले पण्णत्तिकुसले संगहकुसले उवग्गहकुसले अक्खयायारे असबलायारे अभिन्नायारे असंकिलिट्ठायारचरित्ते बहुस्सुए बज्झागमे जहन्नेणं आयारकप्पइ उवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए ३ सच्चेव णं से तिवासपरियाए समणे निग्गंथे नो आयारकुसले जाव संकिलिट्ठायारचरित्ते अप्पस्सुए अप्पागमे नो कप्पइ उवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए ४ एवं पंचवासपरियाए समणे निग्गंथे आयारकुसले जाव असंकिलिट्ठायारचरित्ते बहुस्सुए बज्झागमे जहन्नेणं दसाकप्पववहारे दारे कप्पइ आयरियउवज्झायत्ताए उद्देसित्तए ५ सच्चेव णं से पंचवासपरियाए निग्गंथे जाव अप्पसुए अप्पागमे नो कप्पइ आयरियउवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए ६ अट्ठवासपरियाए समणे निग्गंथे आयारकुसले जाव असंकिलिट्ठायारचरित्ते बहुस्सुए बज्झागमे जहन्नेणं ठाणसमवाए कप्पइ से आसे आयरियत्ताए पवित्तित्ताए थेरत्ताए गणित्ताए गणावच्छेइयत्ताए उद्देसित्तए ७ सच्चेव णं अट्ठवासपरियाए समणे निग्गंथे णो आयारकुसले जाव संकिलिट्ठायारचरित्ते अप्पसुए अप्पागमे णो कप्पइ आयरियत्ताए जाव गणावच्छेइयत्ताए उद्दिसित्तए ८ । व्य० सू० ॥

सूत्रषट्कम् । अथास्य पूर्वसूत्रेण सह कः सम्बन्धस्तत आह ।

जावपलिच्छेयस्स उवरि, एगमट्ठाए हो इमं सुत्तं ।
सुयवरणे उवमाणं, समा उ हवंति जा अट्ठी ॥

द्रव्यभावपरिच्छेदोपेतः स्थविरैरनुज्ञातो गणं धारयति । तद्विपरीतो न धारयतीति उक्तम् । तदिदं सूत्रषट्कं भावपरिच्छेदस्य परिमाणार्थं परिमाणप्रतिपादनार्थं भवति वर्तते । यथा चानेन सूत्रषट्केन श्रुतेन वर्षेण च प्रमाणमभिधीयते शेषाश्च या लब्धय आचार्याणामुपाध्यायादीनां योग्या याभिः समन्विताः आचार्यतया उपाध्यायादितया वा उद्दिश्यन्ते । ता अपि प्रतिपाद्यन्ते तत्र श्रुतपरिमाणं "जहन्नेणं आयारपकप्पधरे" इत्यादिनाचारित्रपरिमाणं " तिवासपरियाए" इत्यादिना शेषपदैर्यथायोगं लब्धयः । अनेन संबन्धेनायातस्यास्य व्याख्या । त्रीणि वर्षाणि पर्यायः प्रव्रज्यापर्यायो यस्य स त्रिवर्षपर्यायः । श्राम्यति तपस्यतीति श्रमणः । स च शाक्यादिरपि भवति । ततस्तद्व्यवच्छेदार्थमाह । निर्ग्रन्थः निर्गतो ग्रन्थात् द्रव्यतः सुवर्णादिरूपाद् भावतो मिथ्यात्वादिलक्षणादिति निर्ग्रन्थः । आचारकुशलः ज्ञानादिपञ्चविधाचारकुशलः । तत्र कुशल इति द्विधा द्रव्यतो भावतश्च । तत्र यः कुशं दर्भं दात्रेण तथा लुनाति न कश्चिदपि दात्रेण छिद्यते स द्रव्यकुशलः । यः पुनः पञ्चविधेनाचारेण दात्रकल्पेन कर्म कुशं लुनाति स भावकुशलः तत्रैवं समासः आचारेण ज्ञानाद्याचारेण कर्मकुशलः कर्मच्छेदकः आचारकुशलः आचारविषये सम्यक् परिज्ञानवान् इति तात्पर्यार्थः । अन्यथा तेन कर्मकुशच्छेदकत्वानुपपत्तेः । एवं सर्वत्र भावनीयम् । संयमं सप्तदशविधं यो जानात्येव स संयमकुशलः समासभावना सर्वत्र तथैव । अथवा यः कुशं लुनन् कश्चिद्दात्रेणाच्छिद्यते स लोके तत्त्वतः कुशलो नास्तीति न कुशलशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तं दक्षत्वं तच्च यत्रास्ति तत्र कुशलशब्दोऽपि प्रवर्त्तते इति दक्षवाची कुशलशब्दस्तत एवं समासः । आचारे ज्ञातव्ये प्रयोक्तव्ये वा कुशलो दक्ष आचारकुशलः ॥ एवं संयमकुशलः प्रवचने ज्ञातव्ये कुशलः प्रवचनकुशलः । प्रज्ञप्तिर्नाम स्वसमयपरसमयप्ररूपणा तत्र कुशलः । संग्रहणं संग्रहः । स द्विधा द्रव्यतो भावतश्च । तत्र द्रव्यत आहारोपध्यादीनाम् । भावतः सूत्रार्थौ तयोर्द्विविधेऽपि संग्रहे कुशलः । उप सामीप्येन ग्रहः सोऽपि द्विधा द्रव्यतो भावतश्च । तत्र येषामाचार्य उपाध्यायो वा न विद्यते तान् आत्मसमीपे समानीय तेषामित्वरां दिशं बद्ध्वा तावद्धारयति यावन्निष्पाद्यन्ते एष द्रव्यतः उपसंग्रहः ग्रहउपादाने इति वचनात् यः पुनरविशेषेण सर्वेषामुपकारे वर्तते स भावतः उपग्रहः । अक्षताचारता परिपूर्णाचारता च चारित्रे सति भवति । चारित्रवता नियमतः अक्षताचारोऽप्याचाराः सेव्याः चारित्रवतः चारित्रस्यादानेनेति वचनात् । ततश्चारित्रवानित्युक्तं द्रष्टव्यम् । नन्वेषोऽप्यर्थ आचारकुशलइत्यनेनोपात्त इति किमर्थमस्योपादानमुच्यते चारित्रं खलु प्रधानं मोक्षाङ्गं तदपि कण्ठतो नोक्तमिति तदाशङ्काव्युदासार्थमित्यदोषः । तथा अशबलो यस्य सिताभिनवर्णोपेतबलीवर्द इव न कर्बुर आचारो विनेयशिष्यभावागोचरादिको यस्यासावशबलाचारः । तथा अभिन्नेन केनचिदप्यतीचारविशेषेण खण्डित आचारो ज्ञानाचारादिको यस्यासावभिन्नाचारः । तथा असंक्लिष्ट इह परलोकाशंसारूपसंक्लेशविप्रमुक्त आचारो यस्य सोऽसंक्लिष्टाचारः । तथा बहु श्रुतं सूत्रं यस्यासौ बहुश्रुतः । तथा बहुरागमोऽर्थरूपो यस्य स बह्वागमः । जघन्येनाचारप्रकल्पधरो निशीथाध्ययनसूत्रार्थधर इत्यर्थः जघन्यत आचारप्रकल्पग्रहणादुत्कर्षतो द्वादशाङ्गविदिति द्रष्टव्यम् । स कल्पते यो भवत्युपाध्यायतयोद्देष्टुमिति प्रथमसूत्रार्थः । (सच्चेव णं से ति वासेत्यादि) । सेशब्दोऽथशब्दार्थः । अथ स एव त्रिवर्षपर्यायः श्रमणो निर्ग्रन्थो नो आचारकुशल इत्यादि पूर्वव्याख्यानतः सुगमम् । एवं द्वे सूत्रे पञ्चवर्षपर्यायस्याचार्योपाध्यायत्वोद्देशविषये भावनीये नवरं तत्र जघन्येन दशाकल्पव्यवहारधर इति वक्तव्यम् । ४ । एवमेवाष्टवर्षपर्यायस्याचार्योपाध्याय–

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गणावच्छेदिन्वोद्देशविषये द्वे सूत्रे व्याख्येये केवलं तत्र जघन्येन स्थानसामाचार्या गए इति वाच्यं शेषं तथैव । एष सूत्रषट्कस्य संक्षेपार्थः । अधुना निर्युक्तिविस्तरः । तत्र तावत्सर्वेषामेव सूत्रपदानां सामान्येन व्याख्यां चिकीर्षुरिदमाह । भाष्यकृत् ॥

एक्कारसंगसुत्तत्थ-धारया नवमपुव्वकडजोगी ।

बहुसुय बहुआगमिया, सुत्तत्थविसारया धीरा ॥

एयगुणोववेया, सुयनिघसा णायगामहाणस्स ।

आयरियउवज्झाय-पवत्तिथेरा अणुन्नाया ॥

एकादशानामङ्गानां सूत्रार्थमवधारयन्तीत्येकादशाङ्गसूत्रधारकाः (नवमपुव्वत्ति) अत्रापि सूत्रधारका इति संबध्यते नवमपूर्वग्रहणं च शेषपूर्वाणामुपलक्षणं ततोऽयमर्थः समस्तपूर्वसूत्रधारकाः तथा सूत्रोपदेशेन मोक्षाविरोधीकृतो न्यस्तो योगो मनोवाक्कायव्यापारात्मकः सकृतयोगः स येषामस्ति ते कृतयोगिनः । बहुश्रुताः प्रकीर्णकानामपि सूत्रार्थधारणात् इह पूर्वधरा अपि तुल्येऽपि च सूत्रे मतिवैचित्र्यतोऽर्थागममपेक्ष्य षट्स्थानपतितास्ततः प्रभूतावगमप्रतिपादनार्थमाह। बह्वागमाः बहुः प्रभूतः आगमो येषां ते तथा एतदेवाह । सूत्रार्थाविशारदाः तत्कालापेक्षया सूत्रेऽर्थे च विशारदाः तथा धिया औत्पत्तिक्यादिरूपया बुद्ध्या राजन्ते इति धीरा " एतद्गुणोपपेता इत्यादि " येऽनन्तरगाथायामुक्ता गुणा एतैर्गुणैरुपेता एतद्गुणोपेताः। श्रुतं निघर्षयन्तीति श्रुतनिघर्षाः । किमुक्तं भवति यथा सुवर्णकारस्तापनिकषच्छेदैः सुवर्णं परीक्षते किं सुन्दरमथवाऽसुन्दरमिति । एवं स्वसमयपरसमयान्परीक्षन्ते ते श्रुतनिघर्षा इति यथा नायकाः स्वामिनो महाजनस्य स्वगच्छवर्त्तिनां साधूनामिति भावः । अथवा नायका ज्ञानादीनां प्रापकास्तदुपदेशलाभात् महाजनस्य समस्तस्य संघस्य इत्थंभूता आचार्या उपाध्यायाः प्रवर्तितस्थविरा उपलक्षणमेतद्गणावच्छेदिनश्चानुज्ञाताः तदेवं सामान्यतः सर्वसूत्रपदानामर्थो व्याख्यातः । संप्रत्येकैकस्य सूत्रपदस्यार्थो वक्तव्यस्तत्र येषां पदानां वक्तव्यः तान्युपदिदिक्षुराह ॥

आयारकुसलसंजम-पवयणपन्नत्ति संगहोवग्गहे ।

अक्खुय असबलभिन्न-संकिलिट्ठायारसंकिले ॥

अत्र कुशलशब्दः पूर्वार्द्धे प्रत्येकं सम्बध्यते ततोऽयमर्थः आचारकुशलशब्दस्य प्रवचनकुशलशब्दस्य प्रज्ञप्तिकुशलशब्दस्य संग्रहकुशलशब्दस्य उपग्रहशब्दकुशलस्य च (अक्खुयत्यादि) अत्राचारशब्दसंपन्नः प्रत्येकमभिसम्बन्धनीयः। अक्षताचारसंपन्नस्य अक्षताचारशब्दसंपन्नस्य अक्षताचारस्येत्यर्थः । एवमशबलाचारसंपन्न य अभिन्नाचारसंपन्नस्य संक्लिष्टाचारसंपन्नस्य च व्याख्या कर्त्तव्या ॥ व्य० ॥ (कुशलशब्दव्याख्या स्वस्थाने)

सांप्रतमक्षताचारादिपदानां सामान्येन व्याख्यानमाह ।

आहाकम्मुद्देसिय, ठविय रइय कीय कारियं छेज्जं ।

उब्भिन्ना हडमाले, वणीमगाजीवण निकाए ।

परिहरति असणं पाणं, सेज्जोवहिं पूति संकियं मीसं ।

अक्खुयमभिन्नमसं-किलिड वासए जुत्तो ।

आधाकर्म्मिकं यन्मूलत एव साधूनां कृते कृतम् औद्देसिकमुद्दिष्टादिभेदभिन्नं, स्थापितं यत्संयतार्थं स्वस्थाने परस्थाने वा स्थापितं, रचितं नाम संयतनिमित्तं कांस्यपात्र्यादौ मध्ये भक्तं निवेश्य पार्श्वेषु व्यञ्जनानि बहुविधानि स्थाप्यन्ते । तथा क्रीतेन कारितमुत्पादितं क्रीतकारितम् अच्छेद्यं यत् भृतकादिभ्यस्त्यमाच्छिद्य दीयते । उद्भिन्नं यत्कुतपादिमुखं स्थगितमप्युद्भिद्य ददाति । आहृतं स्वग्रामाद्याहृतादि (मालत्ति) मालापहृतं वनीपकीभूय पिण्डमुत्पाद्यते स पिण्डोऽपि वनीपकः । आजीवनं यदाहारशय्यादिकं जात्याद्याजीवनेनोत्पादितं (निकायत्ति) मम एतावद्दातव्यमिति निकाचितम् एतानि योऽशनपानादिशय्योपधीश्च परिहरति तथा पूतिकं शङ्कितं मिश्रमुपलक्षणमेतदध्यवपूरकादिकं च यश्चावश्यके युक्तः सोऽक्षताचार अभिन्नाचारः संक्लिष्टाचारः । तत्र स्थापितादिपरिहारी अक्षताचारः । अन्याहृतादिपरिहारी अशबलाचारः जात्योपजीवनादि परिहरन् अभिन्नाचारः । सकलदोषपरिहारी असंक्लिष्टः । संप्रति लाघवाय द्वितीयसूत्रगतानि अक्षताचारादीनि पदानि व्याख्यानयति ॥

ओसन्नखुयायारो, सबलायारो य होइ पासत्थो ।

भिन्नायारकुसीलो, संसत्तो संकिलिट्ठो उ ।

अवसन्नः आवश्यकादिष्वनुद्यमः क्षताचारः । तथा पार्श्वस्थोऽन्योऽभ्याहृतादिभोजी शबलाचारः । कुशीलो जात्याजीवनादिपरो भिन्नाचारः संसक्तः संसर्गवशात्स्थापितादिभोजी । संक्लिष्टः संक्लिष्टाचारः । संप्रत्याचारप्रकल्पधर इति पदं व्याख्यानयति ।

...विहो य पकप्पधरो, सुत्ते अत्थेय तदुभये चेव ।

सुत्तधरवज्जियाणं, तिगदुगपरिवड्डणा गच्छे ॥

त्रिविधः खलु प्रकल्पधरस्तद्यथा सूत्रे सूत्रतः अर्थतः तदुभयतश्च । इयमत्र भावना । आचारप्रकल्पधारिणां चत्वारो भङ्गास्तद्यथा सूत्रधरोऽर्थधर अर्थधरो न सूत्रधरः सूत्रधरो नार्थधरः सूत्रधरो नाप्यर्थधरः ४ अत्र चतुर्थो भङ्गः शून्यः । उभयविकलतया आचारप्रकल्पधारित्वविशेषणासंभवात् । आद्यानां त्रयाणां भङ्गानां मध्ये तृतीय भङ्गवर्त्ती स गणे नाद्रियते । यतः स सूत्रधारितया गच्छे गच्छस्य परिवर्द्धको भवति तदभावे द्वितीयभङ्गवर्त्त्यपि तस्यापर्यर्थधारितया सम्यक्परिवर्द्धकत्वात् चायमङ्गवर्ती तथा चाह । सूत्रधरवर्जितानामाचारप्रकल्पितानां गच्छे सम्यक् परिवर्द्धनात्रिकं तृतीयभङ्गं च ततस्त एवोपाध्यायाः स्थाप्या न प्रथमभङ्गवर्तिनः । एवं दशाकल्पव्यवहारधरादिपदानामपि व्याख्या कर्तव्या ॥

अत्र पर आह ॥

पुव्वं वसे ऊणं, दीहं परियायसंघयणसद्धे ।

दसपुव्विए य धीरे, मज्जार परूवणया ॥

ननु पूर्वमाचार्यपदयोग्यस्य दीर्घः पर्यायो वर्णितः संहननं चातिविशिष्टं श्रद्धा च प्रवचनविषयाप्युत्तमा आगमतश्चाचार्यपदयोग्यो जघन्यतोऽपि दशपूर्विकास्तथा धरा बुद्धिचतुष्टयेन विराजमाना ततः एवं पूर्वं वर्णयित्वा यदेवमिदानीं प्ररूप्यते यथा त्रिवर्षपर्याय आचारप्रकल्पधरः उपाध्यायः स्थाप्यते, पञ्चवर्षपर्यायदशाकल्पव्यवहारधर इत्यादि । सैषा प्ररूपणा मार्जारादि न कल्पा । यथाहि मार्जारः पूर्वं महता शब्देनारटति पश्चादेवं शनैः शनैरारटति । यथा स्वयमपि श्रोतुं न शक्नोत्येवं त्वमपि पूर्वमुच्चैः शब्दितवान् । पश्चाच्छनैरिति सूरिराह । सत्यमेतत् केवलं यत्पूर्वमुक्तं तद्यथोक्तन्यायमङ्गीकृत्य संप्रति पुनः कालानुरूपं प्रज्ञाप्यते इत्यदोषस्तथाचात्र पुष्करिण्यादौ यौ दृष्टान्तौ तावेवाह ॥

पुक्खरिणी आयारे, आणयणा तेणगा य गीयत्थे ।

आयारम्मि उ एए, आहरणा होंति नायव्वा ॥

पुष्करिणी वापी आचार आचारप्रकल्पस्य आनयनं स्तेनकाश्री-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रा गीतार्थाः एतानि चत्वार्युदाहरणानि दृष्टान्ताचार्येण ज्ञातव्यानि इमानि च ॥

सत्थपरिण्णछक्काय-अहिगमपिंडउत्तरज्झयणे ।
रुक्खेयवसभगावो, जोहा सोही य पुक्खरिणी ॥

शस्त्रपरिज्ञा षट्कायाधिगमः षट्जीवनिका इदमेकमुदाहरणं पिण्डः उत्तराध्ययनं उत्तराध्ययनानि वृक्षाः कल्पद्रुमादयः वृषभा बलीवर्दाः गावः योधाः शोधिः अत्र दृष्टान्तः पुष्करिणी च सर्वसंख्यया त्रयोदश आहरणानि ॥

एतानि व्याचिख्यासुः प्रथमतः पुष्करिण्याहरणं भावयति ॥

पुक्खरिणीतो पुव्वं, जारिसया उएह तारिसा एहिं ।
तहवि य ता पुक्खरिणी, ता हवंति कज्जइ कीरंति ॥

पूर्वं सुषमसुषमाकाले यादृशः पुष्करिण्यो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तौ वर्ण्यन्ते इदानीं न तादृश्यस्तथापि च न ता अपि पुष्करिण्यो भवन्ति कार्याणि च ताभिः क्रियन्ते । आचारप्रकल्पानयनाहरणमाह ।

आयारपकप्पो उ, नवमे पुव्वम्मि आसि सोधी य ।
तत्तो च्चिय निज्जूढो, इहाणि य तो किं न सुद्धि भवे ॥

आचारप्रकल्पः पूर्वं नवमे पूर्वे आसीत् । शोधिश्च ततोऽभवत् । इदानीं पुनरिहाचाराङ्गे तत एव नवमात्पूर्वान्नियूढ आनीतः ततः किमेष आचारप्रकल्पो न भवति किं वा तत शोधिर्नोपजायते । एषोऽप्याचारप्रकल्पः । शोधिश्चास्मादवशिष्टा भवतीति भावः । अधुनास्तेनकदृष्टान्तभावनार्थमाह ॥

तालुग्घाडिणि ओसो-वणादिविज्जाहिं तेणगा आसि ।
इण्हिं ते उ न संती, तहा वि किं तेणगा न खलु ॥

पूर्वं स्तेनकाश्चौरा विजयप्रभवादयस्तालोद्घाटिन्यवस्वापिन्यादिभिरुपेता आसीरन् ताश्च विद्या इदानीं न सन्ति । तथापि किं खलु ते न भवन्ति भवन्त्येव तैरपि परद्रव्यापहरणादिति भावः । अधुना गीतार्थदृष्टान्तं भावयति ।

पुव्वं चउदसपुव्वी, इण्हिं जहण्णो पकप्पधारीओ ।
मज्झिमगपकप्पधारी, जह सो उ न होइ गीयत्थो ॥

पूर्वं गीतार्थश्चतुर्दशपूर्वी अभवत् । इदानीं स किं गीतार्थो जघन्यः प्रकल्पधारी न भवति भवत्येवेति भावः । शस्त्रपरिज्ञादृष्टान्तमाह

पुव्वं सत्थपरिण्णा, अधीयपढिया य होउ उट्ठवणा ।
इण्हिं छज्जीवणिया, किं सा उ न होउ उट्ठवणा ॥

पूर्वं शस्त्रपरिज्ञायामाचाराङ्गान्तर्गतायामधीतायामर्थतो ज्ञातायां पठितायां सूत्रत उपस्थापना अभूदिदानीं पुनः सा उपस्थापना षड्जीवनिकायां दशवैकालिकान्तर्गतायामधीतायां पठितायां च न भवति । भवत्येवेत्यर्थः । पिण्डदृष्टान्तभावनामाह ।

बितितम्मि बंभचेरे, पंचम उद्देस आमगंधम्मि ।
सुत्तम्मि पिंडकप्पि, इह पुण पिंडेसणाएओ ॥

पूर्वमाचाराङ्गान्तर्गते लोकविजयनाम्नि द्वितीयेऽध्ययने यो ब्रह्मचर्याख्यः पञ्चम उद्देशकस्तस्मिन् यदामगन्धिसूत्रम् । "सव्वामगंधं परिण्णाय निरामगंधं परिव्वयए इति" तस्मिन् सूत्रतोऽर्थतश्चाधीते पिण्डकल्पी आसीत् । इह इदानीं पुनर्दशवैकालिकान्तर्गतायां पिण्डैषणायामपि सूत्रोऽर्थतश्चाधीतायां पिण्डकल्पिकः क्रियते सोऽपि च भवति तादृश इति उत्तराध्ययने दृष्टान्तं भावयति ।

आयारस्स उ उवरिं, उत्तरज्झयणा उ आसि पुव्वं तु ।
दसवेयालियउवरिं, इयाणिं किं ते न होंती उ ॥

पूर्वमुत्तराध्ययनानि आचारस्याचाराङ्गस्योपर्यासीरन् । इदानीं दशवैकालिकस्योपरि पठितव्यानि किं तानि तथा रूपाणि न भवन्ति भवन्त्येवेति भावः । वृक्षदृष्टान्तभावनामाह ।

मत्तंगादी तरुवर, न संति इण्हिं न होंति किं रुक्खा ।
महजूहाहिव दप्पिय, पुव्विं वसभा ण पुण इण्हिं ॥

पूर्वं सुषमसुषमादिकाले मत्ताङ्गादयो दशविधास्तरुवराः कल्पद्रुमा आसीरन् इदानीं ते न सन्ति किं त्वन्ये चूतादयस्ततः किं ते वृक्षा न भवन्ति तेऽपि वृक्षा भवन्तीति भावः । वृषभदृष्टान्तमाह । (महजूहाहिवेत्यादि) पूर्वं वृषभा महायूथाधिपा दर्पिकाः श्वेताः सुजाताः सुविभक्तशृङ्गा आसीरन् इदानीं ते तथाभूता न सन्ति किंतु पञ्चदशादि गोसंख्यातास्ततः किं ते यूथा न भवन्ति भवन्त्येवेति भावः । अधुना गोदृष्टान्तभावनार्थमाह ॥

पुव्वं कोडीबद्धा, जूहाओ नंदगोवमाईणं ।
इण्हिं न संति ताइं, किं जूहाइं न हुंती उ ॥

पूर्वं नन्दगोपादीनां गवां यूथाः कोटीबद्धाः कोटीसंख्याका आसीरन् इदानीं ते तथाभूता न सन्ति किं तु पञ्चदशादि गोसंख्याकास्ततः किं ते यूथा न भवन्ति किंतु भवन्त्येवेति । अधुना योधदृष्टान्तभावनामाह ॥

साहस्सी मल्ला खलु, महपाणा पुव्वं आसि जोहा उ ।
ते तुल्ल नत्थि एण्हिं, किं ते जोहा न होंती तो ॥

पूर्वं योधा महाप्राणाः सहस्रमल्ला आसीरन् इदानीं तेषां तुल्या न सन्ति किंत्वमी ततो हीनास्ततः किं ते योधा न भवन्ति भवन्त्येव कालौचित्येन तेषामपि योधकार्यकरणादिति भावः । शोधिदृष्टान्तमाह ॥

पुव्विं छम्मासेहिं, स होउ परिहारेण सोही उ ।
इण्हिं निव्वडियाहिं, पंचकल्लाणगाईहिं ॥

पूर्वं षड्भिर्मासैः परिहारेण वा परिहारतपसा वा शोधिरासीत् इदानीं निर्विकृतिकादिभिरपि च शोधिः पञ्चकल्याणकदशकल्याणकादिमात्रप्रायश्चित्तदानव्यवहारात् शोधिविषय एव । पुष्करिणीदृष्टान्तमाह ॥

किंव पुण एव सोही, जह पुव्विल्ला सुपच्छिमा सुं च ।
पुक्खरिणीसुं वत्था, इयाणि सुज्झंति तह सोही ॥

किं केन प्रकारेण पुनरधुना एवं निर्विकृतिकादिमात्रेण शोधिर्भवति । सूरिराह । यथा पूर्वासु च पूर्वकालभाविनीषु (पुक्खरिणीसु) प्रभूतजलपरिपूर्णासु वस्त्राणि शुध्यन्ति स्म एवं पश्चिमास्वप्यधुनातनकालभाविनीषु शुध्यन्ति तथा शोधिरपि पूर्वमिवेदानीमपि भवतीति एवं दृष्टान्तानभिधाय दार्ष्टान्तिकयोजनामाह ॥

आयरियादिचोदस, पुव्वादि आसि पुव्विं तु ।
एवं जुवाणरूवा, आयरिया हुंति नायव्वा ॥

एवमन्तरोदितदृष्टान्तकदम्बकप्रकारेण यद्यपि पूर्वमाचार्यादयश्चतुर्दश पूर्वादयश्चतुर्दशपूर्वधरादय आसीरन् तथापीदानीमाचार्या उपलक्षणमेतत् उपाध्यायाश्च युगानुरूपा दशाकल्पव्यवहारधरादयस्तपोनियमस्वाध्यायादियुक्ता द्रव्यक्षेत्रकालभावोचितयतनापरायणा भवन्ति ज्ञातव्याः । संप्रति यावत्पर्यायस्य यावन्ति स्थानानि सूत्रेणानुज्ञातानि तस्य तावन्त्यसंमोहार्थमुपदर्शयितुमाह ॥

तिवरिसएगट्ठाणं, दोन्नियट्ठाणा उ पंचवरिसस्स ।
सव्वाणि विकिट्ठा पुण, वोढुं वा एंति ठाणाइं ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्रिवर्षे त्रिवर्षपर्यायस्य एकमेवोपाध्यायलक्षणं स्थानमनुज्ञातं न द्वितीयमाचार्यत्वलक्षणमपि तस्याल्पपर्यायतया प्रभूतखेदसहिष्णुत्वाभावेनाचार्यपदयोग्यताया अभावात् । पञ्चवर्षस्य पञ्चवर्षपर्यायस्य द्वे स्थाने अनुज्ञाते तद्यथा उपाध्यायत्वमाचार्यत्वञ्चतुर्वर्षवर्षपर्यायतया खेदसहतरत्वाविकृष्टोऽष्टवर्षपर्यायः पुनः सर्वाण्यपि स्थानानि वोढुं सक्नोति बहुतमवर्षपर्यायत्वात् ततस्तस्य सूत्रेणोपाध्यायत्वमाचार्यत्वं गणित्वं प्रवर्तित्वं स्थविरत्वं गणावच्छेदित्वं वाऽनुज्ञातम् । अथ कथं सर्वाणि यथोक्तानि स्थानानि वोढुं शक्नोति तत आह ।

नो इंदियाण य कालेण, जायाणि तस्स दीहेण ।
कायव्वेसु बहूसु य, अप्पा खलु भावितो तेण ॥

तस्य अष्टवर्षपर्यायस्य दीर्घेणाष्टवर्षप्रमाणेन इन्द्रियनोइन्द्रियाणि जातानि भवन्ति कर्त्तव्येषु च बहुष्वात्मा खलु तेन भावितो भवति ततो योग्यत्वात्सर्वाण्यपि स्थानानि तस्यानुज्ञातानि ।

निरुद्धपर्य्यायस्तद्दिवसमुद्देष्टुं कल्पते ॥

(सूत्रम्) निरुद्धपरियाए समणे निग्गंथे कप्पइ तद्दिवसस्स आयरियत्ताए उद्दिसित्तए से किमाहु भंते ? अत्थि णं थेराणं तहारूवाइं कुलाइं कडाइं पत्तियाइं थिज्जाइं वेसासियाइं सम्मयाइं समुइकराइं अणुमयाइं बहुमयाइं भवंति । तेहिं कडेहिं तेहिं पत्तिएहिं थिज्जेहिं तेहिं विसासिएहिं समुइकरेहिं जंसे निरुद्धपरियाए समणे निग्गंथे कप्पइ आयरियउवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए तद्दिवसं ॥ व्य० ३ उ०

अथास्य सूत्रस्य कः सम्बन्ध उच्यते ।

उस्सग्गस्स ववादो, होति विवक्खो उ तेणिमं सुत्तं ।
नियमेण विगिट्ठो पुण, तस्सासी पुव्वपरियातो ॥

इहोत्सर्गस्य विपक्षप्रतिपक्षो भवत्यपवादस्तेन कारणेन " तिवरिसपरियाए समणे निग्गंथे इत्यादि " रूपस्योत्सर्गस्येदमपवादभूतं सूत्रमुच्यते । अनेन सम्बन्धेनायातस्यास्य व्याख्या । निरुद्धो विनाशितः पर्यायोऽस्य स निरुद्धपर्यायः । श्रमणो निर्ग्रन्थः कल्पते युज्यते तद्दिवसं यस्मिन् दिवसे प्रव्रज्यार्थं प्रतिपन्नवान् तस्मिन्नेव दिवसे पूर्वपर्यायः पुनस्तस्य प्रभूततर आसीत् । तथाचाह । (नियमेणेत्यादि) नियमेन तस्य पूर्वपर्यायो विकृष्टो विंशति वर्षाण्यासीत् ततस्तद्दिवसं कल्पते । आचार्योपाध्यायतया उद्देष्टुम् । अत्र शिष्यः प्राह । (से किमाहु ? भंते !) स शब्दोऽथ शब्दार्थः । अथ किं कस्मात् कारणात् भदन्त ! परमकल्याणयोगिन् ! भगवन्त एवमाहुर्यथा तद्दिवसमेव कल्पते आचार्योपाध्याययोरुद्देष्टुं न खलु प्रव्रजितमात्रस्याचार्यत्वादीन्यारोप्यमाणानियुक्तान्यगीतार्थत्वात् अत्र सूरिराह । (अत्थि णमित्यादि) अस्तीति निपातो निपातत्वाच्च बहुवचनेऽप्यविरुद्धस्ततोऽयमर्थः सन्ति विद्यन्ते णमिति वाक्यालंकारे स्थविराणामाचार्याणां तथा रूपाणि आचार्यादिप्रायोग्याणि कुलानि तेन कृतानि गच्छप्रायोग्यतया निर्वर्त्तितानीत्यर्थः । येन यथा कालं तेभ्य आचार्यादिप्रायोग्यं भक्तमुपधिश्चोपजायते । उपलक्षणमेतत् तेन केवलं तथा रूपाणि कुलानि कृतानि किन्त्वाचार्यबालवृद्धग्लानादयोऽपि अनेकधा संग्रहोपग्रहविषयी कृता इति द्रष्टव्य न केवलं कुलानि तथारूपमात्राणि कृतानि किं तु (पत्तियाणित्ति) प्रीतिकराणि वैनयिकानि कृतानि (थेज्जाणित्ति) स्थेयानि प्रीतिकरतया गच्छचिन्तायां प्रमाणभूतानि । अथवा स्थियानीति किमुक्तं भवति । नैकं द्वौ वा वारौ प्रीतिकरणानि कृतानि किन्त्वनेकश इति (वेसासियाणित्ति) आत्मनामन्येषां गच्छवासिनां मायारहितीकृततया विश्वासस्थानानि कृतानि विश्वासे भवानि योग्यानि वैश्वासिकानीति व्युत्पत्तेः अत एव सम्मतानि तेषु तेषु प्रयोजनेष्विष्टानि संमुदिकराणि अविषमत्वेन प्रयोजनकारीणि । सोऽपि च बहुशो विग्रहेषु समुत्पन्नेषु गणस्य संमुदितमकार्षीत् । संमुदिकृततया इष्टेषु च प्रयोजनेष्वनुकल्पेन मतान्यनुमतानि । तथा बहूनां विस्वर्जरूवर्जानां सर्वेषामित्यर्थः । मतानि बहुमतानि भवन्ति तिष्ठन्ति युक्तं तस्य स्यादिदं रूपं ततो यद्यस्मात्तेषु कुलेषु तथारूपेषु कृतेषु प्रीतिकरेषु एवं तेषु स्थेयेषु तेषु वैश्वासिकेषु तेषु समुदिकरेष्वित्यपि भावनीयम् स श्रमणो निर्ग्रन्थो निरुद्धपर्यायोऽभवत् तेन कारणे न संकल्पते आचार्यतया उपाध्यायतया वा उद्देष्टुं तद्दिवसमिति । एष सूत्रसंक्षेपार्थः । व्यासार्थं तु भाष्यकृद्विवक्षुः प्रथमतः (सेकिमाहुभंतेइत्यादि) एतस्येदं व्याख्यानयति ।

चोरएयतिवासादी, पुव्वं वत्रेउं दीहपरियागं ।
तद्दिवसमेव इण्हिं, आयरियादीणि किं देह ॥

चोदयति प्रश्नयति परो यथापूर्वे त्रिवर्षादिकं दीर्घं पर्यायं वर्णयित्वा किमिदानीं तद्दिवसमेव । आचार्यादीनि भावप्रधानोऽयं निर्देशः आचार्यत्वादीनि दत्थ । अत्र सूरिराह ।

भणति तेहिं कायाइ, वेहियाणं तु उवहि भत्ताई ।
गुरुबालासहुमादी, अणेगकारेहु वज्जिया ॥

भण्यते अत्रोत्तरं दीयते तैराचार्यादिपदयोग्यैर्वैनयिकानां विनयमर्हन्तीति वैनयिका आचार्यादयः तेषां कृतान्युत्पादितानि । उपधिभक्तानि । किमुक्तं भवति । तथारूपाणि स्थविराणां वैनयिकानि कुलानि कृतानि येन तेभ्यो यथाकालमुपधिर्भक्तं चोपजायते इति । एतेन "अत्थिणं थेराणं तयारूपाणि कडाणीति" व्याख्यातम् । न केवलं तैस्तथारूपाणि कुलानि कृतानि किं तु गुरुबालासहोदरादय आदिशब्दात् वृद्धग्लानादिपरिग्रहः । अनेकप्रकारैरुपगृहीताः संग्रहोपग्रहाभ्यामुपष्टम्भं नीताः "पत्तियाणीत्ति" सुप्रतीतत्वान्न व्याख्यातम् तथैत्यत्र द्वितीयं व्याख्यानमाह

ताइं पीतिकराइं, असइं कुव्वत्ति होसि थेज्जानि ।
संकियअणवेक्खाए, जिम्हजढा इति विस्संभो ॥

अथ वेति प्रतीतं प्रथमव्याख्यानापेक्षया व्याख्यानान्तरोपदर्शने स्थेयानीति कित्यसकृदिति । तथा वैश्वासिकानीति कोऽर्थः अनपेक्षया स्वपरविशेषाकरणेन प्रभूततराणां संचितान्नेत्यर्थः । वेष्याणि विशेषत एषणीयान्यनिलषनीयानि कृतानि यतस्तानि जिह्मजढानि जिह्मं मायया रहितानि कृतानीति तेषु विश्रम्भो विश्रम्भस्थानत्वात्स्वाध्यायेऽपेक्ष्याणीति संमुइकराणीति व्याख्यानार्थमाह ।

सव्वत्थ अविसमत्ते, ण कारगो होइ संमुई नियमा ।
बहुसो य विग्गहेसुं, अकासि गणसम्मुदिं सो उ ॥

सर्वत्र सर्वेषु प्रयोजनेषु यो नियमादविषमत्वेनाकुटिलतया कारको भवति (सम्मुदित्ति) पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् संमुदिकरः तान्यपि कुलानि तेन तथारूपाणि कृतानि न केवलं तेन कुलानि समुदिकराणि कृतानि । किंतु सोऽपि तु शब्दोऽपिशब्दार्थः । बहुशो बहुभिः प्रकारैर्विग्रहेषु समुत्पन्नेषु बद्धप्रशमनतो गणस्य गच्छस्य सम्मुदिमकार्षीत् शेषाणि तु पदानि सुप्रतीतत्वान्न व्याख्यातानि ॥

थिरपरिचियपुव्वसुतो, सरीरयामावहारविजढो उ ।

पुव्विं विणीयकरणो, करेइ सुत्तं सफलमेयं ॥

स्थिरो नाम अचपलः । परिचितं पूर्वस्मिन्पूर्वपर्याये श्रुतं यस्य स परिचितपूर्वश्रुतः । यदि वा प्रत्यागतस्यापि स्वाभिधानमिव परिचितं पूर्वपठितं यस्य स तथा । ततः पूर्वपदेन विशेषणसमासः । तथा शरीरस्य स्थानप्राणस्तस्यापहारोऽपहरणं तेन विप्रहीणो रहितः शरीरस्थानापहाररहितः । किमुक्तं भवति । पूर्वेण सार्द्धं यत्र वैयावृत्त्यं वाचनादिषु परिहारयितमिति तथा पूर्वं पूर्वपर्याये विनीतानि विशेषतः संयमयोगेषु नीतानि करणानि मनोवाक्कायलक्षणानि येन स विनीतकरणः संयमयोगादिकं सर्वं तेन पूर्वेण परिहीनं कृतमिति भावः । य ईदृशः पूर्वमासीत् । स एतत्सूत्रं सफलं करोति । ईदृशस्य तद्दिवसमाचार्यत्वमुपाध्यायत्वं वा कल्प्यते न शेषस्य तता न कश्चित्पूर्वापरविरोध इति भावः ।

कह पुण तस्स निरुद्धो, परियातो होज्ज तद्दिवसतो उ ।
पुव्वा कयसावेक्खो, सणाईहिं बज्झानीतो ॥

कथं केन प्रकारेण तस्य पूर्वः पर्यायो निरुद्धः कथं तावत्तद्दैवसिकस्तद्दिवसभावी पर्यायोऽभवत् । अत्रोत्तरमाह (पुव्वकयेत्यादि) स्वज्ञातिभिः स्वकीयैः स्वजनैः सापेक्षो गच्छसापेक्षः सन् बद्धानीतः सोऽन्यतः सर्वं संपृष्टनमभूत् एतदेव प्रपञ्चयन्नाह ।

पव्वइज्ज अप्पपंचम, कुमारगुरुमादिउवहिते णयणं ।
निज्जं तस्स निकायण, पव्वतिते तद्दिवसपुच्छा ॥

राजा कोऽप्यमात्यपुरोहितसेनापतिश्रेष्ठिसहितो राज्यमनुशास्ति तेषामेकैकः पुत्रस्तत्र राजपुत्रो राज्ञा राजा भविष्यतीति संभावितः अमात्यपुत्रो अमात्येनामात्यत्वपुरोहितपुत्रः पुरोहितेन पुरोहितत्वे सेनापतिपुत्रः सेनापतिना सेनापतित्वे श्रेष्ठिना श्रेष्ठित्वे तेऽपि पञ्चापि सह क्रीडन्ति । अन्यदा कुमारो राजपुत्र आत्मपञ्चमोऽमात्यपुरोहितसेनापतिश्रेष्ठिपुत्रैः सहेत्यर्थः प्रव्रज्यामगृहीत् । सर्वे च तेऽतीव बहुश्रुता जाता ग्रहणशिक्षामासेवनाशिक्षां चातिशिक्षितवन्तः कुमाणि च प्रतिकराद्विरूपाणि कृतानि । आचार्येण च ते गुर्वादयः संभाविताः । तद्यथा राजपुत्र आचार्यपदे अमात्यपुत्र उपाध्यायत्वे पुरोहितपुत्रः स्थविरत्वे सेनापतिपुत्रो गणित्वे श्रेष्ठिपुत्रो गणावच्छेदित्वे संभावितः राजादीनां चान्ये पुत्रा न विद्यन्ते ततस्ते सूरिसमीपमागत्य विज्ञापयन्ति यथा नयाम एतान् स्वस्थानं पश्चादेतैरेव सह समागत्य वयं प्रव्रजिष्यामः एवमुपधिना मातृस्थानेन विज्ञाप्य तेषां ते नयनमुपकरणं कुर्वन्ति । तस्य च राजकुमारस्यात्मपञ्चमस्य नीयमानस्याचार्यो निकाचनं करोति यथा सम्यक्त्वे नियमतोऽप्रमत्तेन भाव्यं अत्र शिष्यस्य पृच्छा भूयः । प्रव्रजिते सति राजकुमारादौ किमिति तद्दिवसं यस्मिन् दिवसे प्रव्रज्या प्रतिपन्ना तस्मिन्नेव दिने आचार्यादिपदस्थापनाम तोत्तरं वक्तव्यमिति भावार्थः । इति उपधिना तेषां नयनमुक्तं संप्रति प्रकारान्तरेणापहरणमाह ।

पियरो व तावसादी, पव्वजिउमणा उ ते कुराविंति ।
भविया एयाईमुं, ठाणेसु ते जहा कमसो ॥

पितरो वा तेषां । तापसादयः तापसादिरूपतया प्रव्रजितुमनसः । तान् राजपुत्रादीन् (कुराविंति) देशीपदमेतत् अपहारयन्ति । इत्थं च नीताः सन्तस्ते स्वपितृभिर्यथाक्रमं राजादिषु स्थानेषु स्थापिताः ।

निया वि फासुभोजी, पोसहसामाइयपोरिसीकरणं ।
धुवलोयं च करेंता, लक्खणपादेय पुच्छंती ॥
जो तत्थ अमूढ लक्खा, रिउकाले नीए एक्कमेक्कं तु ।
उप्पाएऊण सुयं, ठाविय ताहे पुणो होंति ॥

नीता अपि ते राजकुमारादयः प्रासुकभोजिनः पौषधशालायां प्रतिदिवसं सूत्रपौरुष्या अर्थपौरुष्याश्च करणं ध्रुवमवश्यं लोचं च ते कुर्वन्ति । ब्रह्मचर्यं च परिपालयन्ति । नवरं लक्षणपाठकान् दिने पृच्छन्ति । कस्या महिलाया ऋतुकाले गर्भो लगतीति एवं दृष्ट्वा यासां महिलानां लक्षणपाठका भवन्ति तथैतासामृतुकाले नियमनात् गर्भो लगिष्यतीति ततो या ऋतुकाले अमूढलक्षा ऋतुकालस्य स्वस्य ज्ञात्री तस्यामात्मीयायामेकैकं वारं गत्वा बीजं निक्षिपन्ति । एवं चात्मनोऽनात्मीयं पुत्रमुत्पाद्य यदा यदा यो यो स समर्थो जायते । तदा तदा तं तं स्वस्वस्थाने स्थापयित्वा पुनरागच्छन्तीति ।

अब्भुज्जयमेगयरं, पडिवज्जिउकामथेरअसति अन्ने ।
तद्दिवसमागतेसुं, ठाणेसु ठवेंति तंसेव ॥

यस्मिन् दिवसे ते प्रत्यागतास्तस्मिन्नेव दिवसे स्थविरा आचार्या अभ्युद्यतमेकतरं विहारं जिनकल्पिकं यथालन्दकल्पविहारं वा प्रतिपत्तुकामाः स्थविरत्वात् । अन्यगणधारणेऽसमर्था स्ताद्दृशो न विद्यन्ते ततस्तद्दिवससमागतान् राजकुमारादीन् तेष्वाचार्यत्वादिषु स्थानेषु स्थापयन्ति " पुव्वयते दिवसपुव्वे " यदुक्तं तत्र तामेव पृच्छां भावयति ।

कह दिज्जइ तस्स गणो, तद्दिवसं चेव पव्वइगस्स ।
जएणइ तम्मि ठविए, होंति सुबहुगुणाउ इमे ॥

कथं तस्य राजकुमारस्य प्रव्रजितस्य तद्दिवसमेव यस्मिन् दिने प्रव्रज्या प्रतिपन्ना तस्मिन्नेव दिने गणो दीयते । अत्र सूरिराह जएयते तस्मिन् स्थापने सुष्ठु अतिशयेन बहवो गुणा इमे वक्ष्यमाणा भवन्ति तानेवाह ।

साहु विसीयमाणा, अप्पागेलण्णणिक्खउवगरणा ।
ववहारइत्थियाए, वाएय अकिंचणकरे य ॥
एते गुणा हवंती, तज्जायाणं कुडुंबपरिवड्ढी ।
ओहाणं पि य तेसिं, अणुलोमुवसग्गतुल्लं तू ॥

साधुर्विषीदन् तान् तथाभूतान् दृष्ट्वा स्थिरो भवति । आर्यिका अपि तेषु स्ववंतासि स्थिरा उपजायन्ते (गेलण्णत्ति) ग्लानत्वे साधुनामौषधं सुलभं भवति । वैद्योऽपि तेषां प्रभावतोऽनुकूलां क्रियां करोति । यथा एते राजादिपुत्राः तेषां अस्माकं शिष्या इति । तथा भिक्षा उपकरणमपि साधूनामतिसुलभम् (ववहारो इत्थिया) एते स्त्रिया अपहृतायास्तेषां भयतो व्यवहारो लभते इयमत्र भावना । काचित् रूपवती श्रमणी धर्मतो केनापि राज्ञा गृहीता स्यात् ततस्तेषां गतानां भयेन सा मुच्यते इति वादे च तद्गौरवात्साधवोऽपरिभूता भवन्ति (अकिंचणकरेय त्ति) योऽपि कश्चित्साधूनां प्रत्यनीकः सोऽपि तेषां राजादिकुमारप्रव्रजितानां भयतो न किञ्चित्करोति अथवा किंचनानां साधूनां यदि कथमपि केनाऽप्यर्थजाते प्रयोजनमुपजायते तर्हि तत्सर्वं लोकः प्रायोऽप्रार्थित एव करोति । तदेवमेते अनन्तरोदिता गुणास्तज्जातानां राजादिजातीयानां यतोऽतस्ते निरुद्धपर्यायाः प्रत्यागताः प्रव्राजितास्तद्दिवस एवाचार्यादिपदेषु स्थाप्यन्ते । अयं च गुणः कुटुम्बपरिवृद्धिस्तथाहि यदि नामैते तथाभूतं राज्यादिकमपहाय धर्मं समाचरन्ति ततः किं तेषु तुच्छेषु भोगोपभोगेषु एवमन्येपि संयमे निष्क्रमन्ति ततो भवति गच्छस्य महती वृद्धिः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एतेषामवधानमुन्मज्जनं तदप्यनुलोमोपसर्गतुल्यम्। किमुक्तं भवति । यथा कस्याऽपि साधोः कश्चिदनुलोमान् उपसर्गान् प्रकृतवान् सचैवं चिन्तयति । यदि परमनेनोपायेनाहं मुच्ये नान्यथा ततः एवं विचिन्त्याशठभावः सपरिसेवते स च तथाकृतपरिसेवनोऽप्यशठभाव इत्यखण्डचारित्र इति व्यवह्रियते ॥ एवमेतेऽप्यखण्डचारित्रा एव तत्वतो मन्तव्याः एतदेव लेशतो व्याख्यानयन्नाह ।

साहूणं अज्जाण य, विसीयमाणा ए होंति थिरकरणं ।

जइ एरिसा वि धम्मं, करेंति अम्हं किमंग पुण ॥

साधूनामार्यिकाणां च विषीदतां स्थिरकरणं भवति । तथाहि केचित्साधवो भोगेषु विषीदन्तस्तान् दृष्ट्वा एवं चिन्तयन्ति । यदि तावदीदृशा अपि विपुलराज्यादिका अमी देवकुमारिकाः प्रख्याभिरपि निजमहिलाभिरुपसर्ग्यमाणा धर्म्मं कुर्वन्ते न पुनर्निजं ब्रह्मचर्यं भ्रंशितवन्तोऽत एव ते तद्दिवसं एवाचार्यादिपदेषु स्थापिताः किमङ्ग पुनरस्माभिः सुतरां धर्म्मं समाचरणीयम् । विभवादिपरिभ्रष्टत्वादिति । आर्यिका अपि चिन्तयति । यदि तावदीदृशाः खल्वस्माकं बान्धवाः संपन्नाः कथममन्दपुण्या एतेषां सुखमपि निरीक्ष्यन्ते न सीदन्ति स्वल्वेतादृशधीरपुरुषपरिगृहीता आर्यिका केवलमपरिभूताः सदा वर्त्तन्ते ॥

किंच तत्थ उविएसु, लोगो जयं गौरवं करेति ।

गेलएणोसहिमाई,सुलभं उवकरणं भत्तादी ॥

किं च तत्र तेषु राजकुमारादिष्वाचार्यादिपदेषु स्थापितेषु लोको भयं गौरवं बहुमानं च कुर्वते । ग्लानत्वे भवत्यौषधादिकं सुलभमुपकरणभक्तादि च ।

संजतिमादीगहणे, ववहारे होइ दुप्पधंसो उ ।

तग्गारवा उ वादे, हवंति अपराजिया चेव ॥

संजत्यादीनामादिशब्दात् तथाविधक्षुल्लकादिपरिग्रहः । ग्रहणे अपहारे भवत्यसौ राजकुमारादिदुष्प्रधृष्यः । तथा तद्गौरवात् वादे भवन्ति साधवोऽपराजिता एव ।

पडिणीयाअकिंचिकरा, होंति अवत्तव्वो अट्ठजाए य ।

तज्जायदिक्खिएणं, होइ विवड्ढी वि य गणस्स ॥

प्रत्यनीकाः अकिञ्चित्करा भवन्ति अर्थजाते च समुत्पन्ने कश्चिदपि वक्तव्यो न भवति। किंतु सर्वोऽप्यप्रार्थित एव यथौचित्यं करोति । तथा तेन तज्जातेन राजादिजातेन तद्दिवस एवाचार्यादिपदस्थापितेन गणस्य गच्छस्य वृद्धिर्भवति । शेषं सुप्रतीतत्वान्न व्याख्यातम् ।

(सूत्रम्) निरुद्धवासपरियाए समणे निग्गंथे आयरियउवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए समुत्थे य कप्पति, तस्स णं कप्पस्स देसे अज्झिज्जए भवति से अहिज्जि सामिति अहिज्जिज्जा एवं से कप्पइ आयरियउवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए से य अहिज्जे सामित्ति णो अहिज्जा अ एवं से नो कप्पइ आयरियउवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए १० ।

निरुद्धवासपरियाए समणे निग्गंथे इत्यादि अस्य सम्बन्धमाह

अपवादिं तु निरुद्धं, आयरियत्तं तु पुव्वपरियाए ।

इमतो पुण अववातो, असमत्तसुयस्स तरुणस्स ॥

निरुद्धे । विनाशिते पूर्वपर्याये सत्याचार्यत्वमपवदितुं प्रव्रज्यादिवस एवाचार्यत्वमनुज्ञातुमनन्तरसूत्रेऽपमनेन सूत्रेणाभिधीयमानः पुनरपवादोऽसमाप्तश्रुतस्य तरुणस्य । किमुक्तं भवत्यल्पवर्षपर्यायस्यासमाप्तश्रुतस्यापि चापवादतो गणधरत्वमनुज्ञायते ततोऽनेनाप्यपवादोऽभिधानतो भवति पूर्वसूत्रेणास्य सम्बन्धः। अनेन सम्बन्धेनायातस्यास्य व्याख्या निरुद्धो विनाशितो वर्षपर्यायो यस्य स निरुद्धवर्षपर्यायः । एतदुक्तं भवति । त्रिषु वर्षेषु परिपूर्णेषु यस्य निरुद्धः पूर्वपर्यायो यदि वा पूर्णे त्रिवर्षे समाप्तश्रुतस्य निरुद्धवर्षपर्याय इति । श्रमणो निर्ग्रन्थः कल्पते आचार्योपाध्यायतया । आचार्यतया उपाध्यायतया वा उद्देष्टुमित्याह समुच्छेदकल्पे आचार्ये कालगते अन्यस्मिंश्च बहुश्रुते लक्षणसंपूर्णेऽसति तस्य च आचार्यतया उपाध्यायतया उद्देष्टुमपि तस्य आचारप्रकल्पस्य निशीथाध्ययनस्य देशोऽधीतो भवति सूत्रमधीतमर्थोऽद्यापि नाधीयते यदि वार्थो न परिपूर्णोऽद्याप्यधीत इत्यर्थः । (सेयइत्यादि) स चेदमधीतवान् पाश्चात्यं स्थितं देशमध्येऽधीयते तत एवं सति कल्पते आचार्योपाध्यायतया उद्देष्टुम् यदि पुनः सोऽध्येष्ये इति चिन्तयन्नपि नाधीयते इति संभाव्यते । तत एवं सति न कल्पते । आचार्योपाध्यायतया उद्देष्टुम् एष सूत्रसंक्षेपार्थः । तत्राल्पवर्षपर्यायस्यासमाप्तश्रुतस्यापवादतो गणधरपदानुज्ञानार्थमिदं सूत्रमित्युक्तमतोऽल्पवर्षपर्यायत्वं समाप्तकृतत्वं च भाष्यकृद्भावयति ।

तिण्णि जस्स अ पुण्णा,वासापुण्णेहिं वा तिहिं उतं तु ।

वासेहिं निरुद्धेहिं, लक्खणजुत्तं पसंसंति ॥

यस्य त्रीणि वर्षाणि व्रतपर्यायतयाऽद्याप्यपरिपूर्णानि एतस्यामवस्थायां यदि वा त्रिषु परिपूर्णेषु तस्य तन्निरुद्धवर्षपर्यायत्वमभवत्।स त्रिषु पूर्णेषु अपूर्णेषु वा वर्षेषु निरुद्धेषु आचार्ये कालगते अन्यो बहुश्रुतोऽपि लक्षणसंपूर्णो न विद्यते सचासमाप्तश्रुतोऽपि लक्षणयुक्तो ग्रहणधारणासमर्थश्चेति स्थाप्यते । बहुश्रुतोऽप्यन्यो न स्थाप्यते किं तु सोऽसमाप्तश्रुतोऽपि लक्षणयुक्तः । किं कारणमत आह । लक्षणेत्यादि । लोके वेदे समये च विशारदा नायकत्वपदाध्यारोपे प्रशंसन्ति । लक्षणयुक्तं नेतरं बहुश्रुतमपि ततः स एव स्थाप्यते । अत्र पर आह ।

किं अम्ह लक्खणेहिं, तवसंजमसुट्ठियाणसमणाणं ।

गच्छविवड्ढिनिमित्तं, इच्छिज्जइ सो जह कुमारो ॥

किमस्माकं श्रमणानां तपसंयमसुस्थितानां लक्षणैः केवलं लक्षणविहीनोऽपि बहुश्रुतः स्थाप्यतां येनाऽस्माकं स्वाध्यायवृद्धिर्जायते । आचार्य आह । सोऽल्पश्रुतोऽपि लक्षणयुक्ततया गणधरपदस्थापनायामिष्यते गच्छविवृद्धिनिमित्तं यथा राज्यवृद्धिनिमित्तं राज्ये कुमारः । एतदेव भावयति ॥

बहुपुत्तो नरवई, सामुद्दं जणति कं ठवेमि निवं ।

दोसगुणएगणेगे, सो वि य तेसिं परिकहेइ ॥

कोऽपि बहुपुत्रको नरपतिः सामुद्रिकं सामुद्रलक्षणवेत्तारं जल्पति । तथा कमहं कुमारं नृपं स्थापयामि एवमुक्तः सोऽपि नैगं कुमाराणां यस्य दोषा गुणा वा एकोऽनेके च विद्यन्ते तत्सर्वं परिकथयति तत्र दोषा इमे ॥

निद्धमणं च डमरं, मारीदुब्भिक्खचोरपउराई ।

धणधन्नकोसहाणी, बलवति पच्चंतरायाणो ॥

निर्धूमकं नाम अपलक्षणं यत्प्रभावतो राज्यमनुशासति रन्धनीयमेव न भवति डमरं यद्वशाद्राज्यं डमरबहुलं भवति । प्रभूतस्वदेशोत्थोपप्लवा एवोपजायन्त इत्यर्थः । मारिर्यद्वशान्मारिदोषोपहतं प्रचुरं दुर्भिक्षमुपयाति । चोरप्रचुरं यद्वशाच्चौरा उच्छन्ति । धनहानिर्यतः सर्वत्र धनक्षयः संजायते । धान्यहानिर्य-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्पन्नाभावाद्वृष्टेऽपि मेघे सस्यनिष्पत्तिस्तादृशी नोपजायते । कोशहानिर्यतः कोशक्षयः बलबलमत्यन्तराजकं यतो बलवन्तः प्रत्यन्तराजाः सर्वे भवन्ति एते कस्याप्येकः कस्याप्यनेके दोषाः अधुना गुणमाह ॥

खेमं सिवं सुभिक्खं, निरुवसग्गं गुणेहिँ उववेयं ।
अभिसिंचंति कुमारं, गच्छे वि तयाणुरूवं तु ॥

क्षेमं नाम सुभक्षणं यद्वशात्सर्वत्र राज्ये नीरोगता शिवं यतः सर्वत्र कल्याणं सुभिक्षसंभवः । निरुपसर्गो यतः सकलेऽपि देशे मारिडमराद्युपसर्गासंभवः । एतेऽपि गुणाः कस्याप्येकः कस्याप्यनेके कस्याऽपि सर्वे तत्र यथा सर्वथा दोषोपेतमधिकृतैश्च गुणैः सर्वैरप्युपेतं कुमारं राजामात्यादयो राज्येऽभिषिञ्चन्ति तथा गच्छेऽपि तदनुरूपं राजकुमारानुरूपं सर्वथा दोषविनिर्मुक्तमेकान्ततो गुणैरुपेतमाचार्यादिपदे । सिञ्चन्ति एतदेव स्पष्टयति ॥

जह ते रायकुमारा, सुलक्खणा जे सुहा जणवयाणं ।
संतमविसुयसमिद्धं, नच वेंति गुणे गुणविहूणं ॥

यथा ते राजकुमाराः सलक्षणा ये स्थापिताः सन्तो जनपदानां शुभाः । कल्याणकारिणः त एव स्थाप्यन्ते न शेषास्तथा सूरयोऽपि गच्छवृद्धिमपेक्षमाणाः सन्तमपि श्रुतसमृद्धं गुणविहीनं न गणे स्थापयन्ति ॥

लक्खणजुत्तो जइ वि हु, न समिद्धसुतेण तह वि तं ठवए ।
तस्स पुण होति देसो, असमत्तो पकप्पनामस्स ॥

लक्षणयुक्तो यद्यपि हु निश्चितं स्थापयेत् । तस्य पुनर्देशो भवत्यसमाप्तः ॥ प्रकल्पनाम्नो निशीथाध्ययनस्य कथं पुनर्देशोऽसमाप्त इत्याह ॥

देसो सुत्तमधीतं, न तु अत्था अत्थतो व असमत्ती ।
सगणे अणारिहगीता, सतीपगिएहेज्जमेहिंतो ॥

प्रकल्पं द्विधा शरीरं सूत्रमर्थश्च । तत्र देशः सूत्रमधीतं नत्वर्थः । अथवा अर्थोऽपि कियानधिगतः केवलमर्थतः समाप्तिर्नाभूत् । ततो ये स्वगणे आचार्यलक्षणविहीनतया गीतार्था अपि सन्तोऽनर्हाः आचार्यपदायोग्यास्तेभ्यः आचार्यपदोपविष्टः सर्वथा गृह्णीयात् । अथ स्वगणे गीतार्था न विद्यन्ते । तर्हि तेषामसत्यभावे एभ्यो वक्ष्यमाणेभ्यो गृह्णीयात्तानेवाह ।

संविग्गमसंविग्गे, सारूवियसिद्धपुत्तपच्छिकडे ।
पडिकंत अब्भुत्थिए, संती असत्थ तत्थेव ॥

स्वगणे गीतार्थानामभावे अन्येषां सांभोगिकानां समसुखदुःखानां गीतार्थानामन्तिके गत्वाऽधीते तेषामप्यभावेऽन्यसांभोगिकानां गच्छं प्रविश्य पठति । तेषामप्यभावे पार्श्वस्थादीनां संविग्नपाक्षिकाणामन्तिके केवलं तत्संयमयोगेष्वभ्युत्थाप्य एतावता संविग्नेति व्याख्यातम् । अधुना असंविग्नेत्यादि व्याख्यायते । असंविग्नान् सारूपिकान् संयतरूपधारिणः सिद्धपुत्रप्रच्छन्नान् सिद्धपुत्रान् पश्चात्कृतांश्चाश्रयेत् । कथंभूतानित्याह प्रतिक्रान्ताभ्युत्थितान् असंयमव्यापारान् प्रतिक्रान्तान् संयमं प्रत्यभ्युत्थितान् तेषामप्यसति अभावे अन्यत्र यत्र ते न ज्ञायन्ते तत्र गत्वा तेषामन्तिके अधीते नान्यत्र तेषामगमने तत्रैव पठेत् यत्र ते स्वव्यापारेण स्थिता वर्त्तन्ते । इयमत्र भावना पार्श्वस्थादीनां संविग्नपाक्षिकाणामभावे ये पूर्वं संविग्ना गीतार्था आसीरन् तेषां पश्चात्कृतानां पुनः प्रतिक्रान्ताभ्युत्थितानामन्तिके गृह्णीयात्तेषामप्यभावे संयमयोगं प्रत्यभ्युत्थितानां सिद्धपुत्राणामन्तिके तेषामप्यभावे अन्यत्र तान् संयतरूपकान् कृत्वा तेषामन्तिके अन्यत्रागमने तत्रैव तान् तथारूपान् कृत्वा सागारिकाणामभावे तेषामन्तिकेऽधीते एतदेवाह ।

सगणे परगणे वा, मणुस्रअसोसिं वा वि असतीए ।
संविग्गपक्खियसुं, सरूवि सिद्धे सु पढमं तु ॥

स्वगणे गणधरपदानर्हगीतार्थानामन्तिके परगणे वा मनोज्ञे वा साम्भोगिके तदभावे अन्येषां वा असाम्भोगिकानामन्तिके तेषामप्यसत्यभावे संविग्नपाक्षिकेषु पार्श्वस्थादिषु प्रथममेव प्रतिक्रान्ताभ्युत्थितेषु तेषामप्यभावे सरूपिषु संयतरूपिषु प्रतिक्रान्ताभ्युत्थितेषु पश्चात्कृतेषु तेषामप्यभावे प्रथममेव स्वरूपिषु सिद्धेषु सिद्धपुत्रेषु एतत्प्रतिक्रान्ताभ्युत्थितानधिकृत्योक्तं तदभावे अन्यत्र विधिमाह ।

मुंडं च धरेमाणे, सिहं च फेडं च अणिच्छसासिहे वि ।
लिंगेण मसागारिए, वंदणगादीण हावेंति ॥

ते पश्चात्कृतादयो यदि न प्रतिक्रान्ता अभ्युत्थिताः किं तु लिङ्गतो गृहस्था वर्तन्ते । अन्यत्र गत्वा तान् मुण्डं च धरमाणान् धारयतः कारयति । यदि पुनः सशिखाकाः सन्ति ततः शिखां स्फेटयति । अथ शिखास्फेटनं ते नेच्छन्ति ततः सशिखानपि स्थापयित्वा इत्वरं श्रमणलिङ्गं तेषां समर्पयन्ति । व्याख्यानवेलायां च चोलपट्टकं मुखपोतिकां च ग्राहयन्ति तेषामपि तथाभूतानां पार्श्वे पठता यथा प्रतिरूपश्रुतविनयः प्रयोक्तव्यः । तेषु न वारणीयः । अथ ते अन्यत्र गमनं नेच्छन्ति तर्हि तत्रैवासागारिके सागारिकसंपातरहिते प्रदेशविशेषे लिङ्गेन रजोहरणमुखपोत्तिकादिना श्रमणरूपधारिणः कारयित्वा पठनीयम् । ते च तत्रापि तथा पठन्तो न वन्दनादीनि हापयन्ति ॥

आहारउवहिसेज्जाए, समणमादीसु होइ जइयव्वं ।
अणुमोयणकारावण–सिक्खत्तिपदम्मि तो सुद्धो ॥

तेन तेषां समीपे पठनाहारोपधिशय्यानामेषणादिषु भवति यतितव्यम् । तदाऽनुमोदने कारापणे च न च कारणकारापणानुमोदनदोषैः स परिगृह्यते । यतः शिक्षा मयाऽस्य समीपे गृह्यते इति द्वितीये पदे वर्तते । ततः स शुद्ध इति । इयमत्र भावना । यदि स पार्श्वस्थः पश्चात्कृतादिः पाठयन्नात्मनः आहारोपध्यादिकमात्मनैवोत्पादयति । ततः सुन्दरम् । आत्मना नोत्पादयति । तत आह ।

चोयइ से परिवारं, अकारमाणं जणति वा सड्ढे ।
सव्वोच्छित्तिकरस्स हु, सुयभत्तीए कुणह पूयं ॥

से तस्य परिवारं विनयमकुर्वन्तं चोदयति प्रज्ञापयति । यथा महद्विदं ज्ञानपात्रमतः क्रियतामस्योत्कृष्टाहारसंपादनेन विनय इति परिवारस्याभावे श्राद्धाश्चासिद्धपुत्रपुराणेतररूपान् भणति यथा अव्यवच्छित्तिकरस्यास्य श्रुतभक्त्या कुरुत पूजामिति । एतेनानुमोदनकारापणे व्याख्याते । संप्रति स्वयमुत्पादनमाहारादीनां भावयति ॥

दुविहा सत्ती एसिं, आहारादी करेति ते सव्वं ।
पणहाणीए जयंतो, अट्ठत्ताए वि एमेव ॥

द्विविधस्य प्रतिपरिचारकस्य सिद्धपुत्रादेश्चेत्यर्थः । असत्यभावे तेषां पार्श्वस्थपश्चात्कृतादीनामाहारादिकं स सर्वमात्मना करोति । तत्रापि स प्रथमतः शुद्धमुत्पादलाभे पञ्चकपरिहान्या यतमानोऽशुद्धमपि पञ्चकपरिहानियतनानामशुद्धालाभे पञ्चकप्रायश्चित्तस्थानप्रतिसेवनात् उत्पादयति तदसंभवे दशकप्रायश्चित्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थानप्रतिसेवनात् एवं तावत् यावच्चतुर्गुरुकमसंप्राप्तः। तथापि से तस्योत्पादयति । एवमेवात्मार्थं पञ्चकपरिहान्या यतते । किमुक्तं भवति । उद्गमादिदोषत्रयगुरुमलभमानः पञ्चकादियतनया त्रिभिरपि दोषैर्गुरुकं गृह्णाति स तथा कुर्वन्नपि ज्ञाननिमित्तं प्रवृत्तत्वात् कृतयतनाविषयपुरुषकारत्वात् रागद्वेषविरहितत्वाच्च शुद्ध इति (आचार्योपाध्यायादिषु मृतेषु नवडहरस्य तत्पदे स्थापना)

(सूत्रम्) निग्गंथस्स णं णवडहरतरुणगस्स आयरियउवज्झाए विसंजेज्जा णो से कप्पइ अणायरियउवज्झायस्स होत्तए कप्पइ से पुव्वआयरियं उद्दिसावित्ता ततो पच्छा उवज्झायं से किमाहु भंते दुसंगहिए समणे निग्गंथे तंजहा आयरिएणं उवज्झाएण य ॥

निर्ग्रंथस्सेत्यादि अथास्य सूत्रस्य कः संबन्ध इत्याह ॥

आयरियाणं सीसो, परियातो वावि अह कितो एस ।
सीसाणकेरिसाण व, ठाविज्जइ सो उ आयरिओ ॥

पूर्वसूत्रे आचार्यस्थापनीय उक्तः । आचार्याणां च शिष्या भवन्तीति तद्वक्तव्यतार्थमिदं सूत्रम् अथवा पूर्वसूत्रेषु पर्यायोऽधिकृतोऽस्मिन्नपि च सूत्रे एव पर्यायस्तथा च "नवडहरतरुणग्रहणं" यदि वाऽनन्तरसूत्रे य आचार्यः स्थापनीयः उक्तः स कीदृशानां शिष्याणां स्थाप्यते । इतीदमनेन सूत्रेणोच्यते । अनेन संबन्धेनायातस्यास्य व्याख्या । निर्ग्रन्थस्य णमिति वाक्यालङ्कारे नवडहरतरुणस्य नवस्य डहरस्य तरुणस्य वा आचार्यसहित उपाध्याय आचार्योपाध्यायः । आचार्य उपाध्यायश्चेत्यर्थः । विष्वग्भो यावन्म्रियते ततः से तस्य नवडहरतरुणस्यानाचार्योपाध्यायस्य सतो भवितुं वर्तितुं न कल्पते किं तु पूर्वमाचार्यमुद्देशाः स्थापयित्वा ततः पश्चादुपाध्यायमुद्देशा अप्येवमाचार्योपाध्यायस्य सतो भवितुं कल्पते । से किमाहुः। सेशब्दोऽथशब्दार्थः । अथ भदन्त ! किं कस्मात् कारणात् भगवन्त एवमाहुः सूरिराह । द्वाभ्यामाचार्योपाध्यायाभ्यां संगृहीतो द्विसंगृहितः श्रमणो निर्ग्रन्थः सदा भवति । तद्यथा आचार्येणोपाध्यायेन च एष सूत्रसंक्षेपार्थः व्यासार्थं तु भाष्यकृद्विवकुर्नवादिशब्दार्थानामर्थमाह

तिवरिसो होइ नवो, आसोलसगं तु डहरगं वेंति ।
तरुणो चत्तासत्तरुण, मज्झिमो थेरतो सीसो ॥

प्रव्रज्यापर्यायेण यस्य त्रीणि वर्षाणि नाधिकमित्येष त्रिवर्षो भवति नवः तत्रैव पर्यायेण चत्वारि वर्षाण्यारभ्य यावदाषोडशकं वर्षम् अत्राङ्मर्यादायां यथा आपाटलिपुत्राद्वृष्टो देवः। किमुक्तं भवति । पाटलिपुत्रं मर्यादीकृत्यारतो वृष्टो देवः । इत्यत्र ततोऽयमर्थः । यावत्परिपूर्णानि पञ्चदशवर्षाणि षोडशाद्वर्षाद्वीक्तद्दहरकं ब्रुवन्ते समयविदः । ततो जन्मपर्यायेण षोडशवर्षाण्यारभ्य यावच्चत्वारिंशद्वर्षाणि तावत्तरुणः । ततः परं यावत्सप्ततिरेकेन वर्षेणोना तावन्मध्यमः । ततः परं सप्ततेरारभ्य स्थविरः शिष्यः ॥

अणवकस्स वि डहरग-तरुणगस्स नियमेण संगहं विंति ।
एमेव तरुणमज्झे, थेरम्मि य संगहो नियमे ॥

यः प्रव्रज्यापर्यायेण त्रिवर्षोत्तीर्णः सोऽनवक उच्यते । तस्यापि आस्तां नवकस्येत्यपि शब्दार्थः।डहरकः सन् तरुणकस्तस्य द्वादशवर्षाण्यारतो यावत्पञ्चदशवर्षाणि तावदित्यर्थः नियमेन संग्रहमभिस्थापिताः आचार्योपाध्यायानां संग्रहणं ब्रुवते अभिनवस्थापिताचार्योपाध्यायाः संग्रहीतेन तेनावश्यं वर्त्तितव्यमिति भावः ।

तथा यः प्रव्रज्यापर्यायेण त्रीणि वर्षाणि नाद्याप्युत्तीर्णः स नवकस्तस्मिन्नवके तरुणे मध्यमे स्थविरे च शब्दाड्डहरे च । एवं पूर्वोक्तेनैव प्रकारेण संग्रहं ब्रुवते। किमुक्तं भवति। नवकस्य डहरस्य वा तरुणस्य वा मध्यमस्य वा स्थविरस्य वा नवकत्वादेव नियमाचार्योपाध्यायसंग्रहो वेदितव्य इति ॥

वा खलु मज्झिमथेर-गीयमगीए य होइ नायव्वं ।
उद्दिसिणा उ गीए, पुव्वायरिए उ गीयत्थे ॥

वा शब्दो विभाषायां खलु निश्चितं त्रिवर्षपर्यायोत्तीर्णत्वेनानवके मध्यमे स्थविरे च प्रत्येकं गीते अगीते वर्षाणां नानात्वं ज्ञातव्यम्। तदेवाह ॥ (उद्दिसणा उ अगीते) अगीतार्थे उद्देशना इयमत्र भावना । ये मध्यमाः स्थविरा वा त्रिवर्षपर्यायोत्तीर्णा अप्यगीतार्थास्ते नियमात् यः स्थापितो गणधरः तस्य शिष्या वर्तयन्ते । इति गीतार्थेषु न स्थविरे मध्यमे च पूर्वाचार्यः पूर्वाचार्यसंग्रहः । ये मध्यमा स्थविराः गीतार्थाः पूर्वाचार्यदिशं धारयन्तीति ।

नवडहरतरुणगस्सा, विहीए विसुंजियम्मि आयरिए ।
पच्छन्ने अभिसे तो, नियमा पुण संगहे ठाइ ॥

नवश्च डहरकश्च तरुणश्च समाहारो द्वन्द्वः । तस्य पुनः संग्रहार्थमाचार्ये विष्कम्भिते विधिना नियमेनान्यस्य गणधरस्याभिषेकः कर्त्तव्यः । अविधिना अभिषेककरणे प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुका मासाः । कोऽत्र विधिरिति चेदुच्यते । आचार्यः कालगतो न प्रकाश्यते यावदन्यो गणधरो न स्थापितः तथाचाह (पच्छन्नेत्ति) आचार्ये कालगते प्रच्छन्ने देशे अभिषेकः करणीयः । एतदेवाह ।

आयरिए कालगए, न पगासेज्ज अठविहे गणहरम्मि ।
रण्णेव अणभिसित्ते, रज्जक्खोभो तहा गच्छे ।

अस्थापिते अन्यस्मिन् गणधरे आचार्यः कालगतो न प्रकाश्यते। अत्र दृष्टान्तो राजा काल गतस्तावन्न प्रकाश्यते यावदन्यो नाभिषिच्यते । अन्यथा अनभिषिक्ते राज्ञि यथा राज्यक्षोभो भवति । दायादैः परस्परविरोधतः सर्वं राज्यं विलुप्यते इत्यर्थः तथा गच्छेऽप्यन्यस्मिन्नस्थापिते गणधरे यद्याचार्यः कालगतः प्रकाश्यते तदा गच्छक्षोभो भवति तमेवाह ॥

अणाहोवहाणसच्छंद, खित्तेणा सपक्खपरपक्खे ।
लयकंपणा य तरुणे-सारणमाणोवमाणे य ॥

केषांचिदनाथा वयं जाता इत्यवधानं भवेत् केषांचित् (सच्छंदत्ति) स्वच्छन्दचरिता अपरे केचित् क्षिप्ताः क्षिप्तचित्ता भवेयुः। तथा स्तेनाः स्वपक्षे परपक्षे चोत्तिष्ठन्ति लताया इव साधूनां कम्पनं तथा तरुणानामाचार्यपिपासयाऽन्यत्र गमनम् । तथाऽसारणा संयमयोगेषु सीदतां पुनः संयमाध्वन्यप्रवर्त्तना । तथा मानापमाने च सांप्रतमेतानेव दोषान् व्याचिख्यासुः प्रथमतोऽनाथात्वधानस्वच्छन्दचारित क्षिप्तचित्तत्वानि व्याख्यानयति ।

जायामो अणाहा त्ति, अथाहि गच्छंति केइ ओहावो ।
सच्छंदा व भमंति, केइ खित्ताउ होज्जाहि ।

बाला वृद्धास्तरुणा वा केचिदगीतार्था आचार्याणां विप्रयोग जातावयमनाथा इति विचिन्त्य केचिदन्यत्र गच्छन्ति । केचिदवधावेयुः तथा केचिन्मन्दधर्मश्रद्धाका गणावपकस्य स्वच्छन्दा भ्रमन्ति । अपरे केचिदाचार्यविप्रयोगतः क्षिप्ता क्षिप्तचित्ता अपगतचित्ता भवेयुः । स्वपक्षपरपक्षस्तेनानुलताकम्पनं चाह ।

पासत्थगिहत्थादी, उभिक्खावेज्ज खुड्डगादीओ ।
लया वा कंपमाणा उ, केई तरुणा उ अच्छंति ॥

स्वपक्षपार्श्वस्थादयः परपक्षे गृहस्थादयः। अत्रापि शब्दात्परतो-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

र्थिकग्रहणं क्षुल्लकादीन् उन्निष्क्रामयेयुः । किमुक्तं भवति पार्श्व-स्थादयः क्षुल्लकादीन् विपरिणमय्य पार्श्वस्थादीन् कुर्युः । अन्य-तीर्थिकाः स्वज्ञातयो गृहस्थानिति । लतेव वातेनेव कम्पमानाः संयमे परीषहैः केचित्तरुणास्तिष्ठन्ति । इयमत्र भावना । यथा पद्मलताऽन्यस्मिन्नवष्टम्भासतो वातेन कम्पमाना तिष्ठति । एवं केचित्तरुणा गच्छेऽपि वर्तमानाः संयमानाः संयमे परीषहैः ॥ कम्पमानास्तिष्ठन्तीति । तरुणदोषमस्मारणादोषं चाह ॥

आयरियपिवासाए, कालगयं तु सोउ ते वि गच्छेज्जा ।
गच्छेज्ज धम्मसड्ढा, वि सारयितगच्छस्स असती ॥

केचित्तरुणा आचार्यपिपासयाऽनाचार्यमन्तरेण ज्ञानदर्शनचा-रित्रलाभोऽनुत्तरो भवति तस्मादवश्यमाचार्यसमीपे वर्तितव्य-मित्याचार्यवाञ्छया कालगतं श्रुत्वा तेऽप्यन्यत्र गच्छेयुः । तथा धर्मश्रद्धा अपि केचित् सारयितुरभावे गच्छान्तरं गच्छेयुः । माना पमानदोषमाह ।

माणिया वा गुरुणं तु. थेरादीत्यकेचिओ नात्थि ।
माणं तु तओ अन्नो, अवमाणभयाउवगच्छेज्जा ॥

तत्र केचित्स्थविरादय एवं चिन्तयेयुः यथा सर्वकालं मानिता वयं गुरुभिः । अत्र गाथायाम् ।

पगासिज्जा कालगयं, एएयदोसरक्खट्ठा ।
आगम्मि ववत्थाविए, ताहे पगासेज्ज कालगयं ॥

यस्मादेते दोषास्तस्मादेतद्दोषरक्षार्थमाचार्यं कालगतं न प्र-काशयेत् यदा पुनरन्यो गणधरो व्यवस्थापितो भवति तदाऽन्य-स्मिन् व्यवस्थापिते कालगतं प्रकाशयेत् आचार्योपाध्यायादिषु मृतेषु निर्ग्रन्थ्या आचार्यादिपदोद्देशः ।

(सूत्रम्) निग्गंथीएणं णवडहरतरुणियाए आयरियउवज्झाए पवित्तिणियं विसंजेज्जा णो से कप्पइ अणायरिय अणुवज्झाइयत्ताए अपवत्तिणिए य होत्तए कप्पइ से पुव्वं आयरियं उद्दिसावित्ता तओ पच्छा उवज्झायं ततो पच्छा पवित्तिणियं से किमाहु भंतेति संगहिया स-मणी निग्गंथी तं तह आयरियाणं उवज्झाएणं पवित्ति-णिएय ॥ १२ ॥

निर्ग्रन्थ्या णमिति पूर्ववत् । नवडहरतरुणाया नवाया डहराया-स्तरुण्या वा इत्यर्थः । आचार्योपाध्यायः समासोऽत्र पूर्ववत् आचार्योपाध्यायमेतत् । प्रवर्तिनी च विष्कम्भनुयात् म्रियेत ततः (से) तस्या अनाचार्योपाध्यायाया उपलक्षणमेतत् प्रवर्तिनीर-हितायाश्च नो कल्पते भवितुं किंतु पूर्वमाचार्यमुद्दिश्यापि ततः पश्चादुपाध्यायं ततः पश्चात्प्रवर्तिनीकया भवितुं कल्पते से कि-माहुरित्यादि । अथ भदन्त ! किं कस्मात्कारणाद् भगवन्त एव-माहुः । सूरिराह त्रिभिः संगृहीताः श्रमणी निर्ग्रन्थी सदा भव-ति । तद्यथा आचार्येणोपाध्यायेन प्रवर्तिन्या च एष सूत्रसंक्षे-पार्थः । अत्रायमाक्षेपः । किं कारणं ननु यस्त्रिभिः संगृहीता नि-र्ग्रन्थी भवति । तत्राचार्योपाध्यायसंग्रहे गुणानुपदर्शयति ।

दूरत्थम्मि वि कीरइ, पुरिसे गारवभयं सबहुमाणं ।
छंदेय अवट्टंती, चोएउं जे सुहं होइ ॥

दूरस्थेऽपि पुरुषे स्वपरपक्षेण च क्रियते गौरवं भयं सबहुमानं चेत्यर्थः । इयमत्र भावना यद्यपि नाम आचार्य उपाध्यायो वा संय-तीनां दूरे वर्तते तथापि दूरस्थस्यापि पौरुषस्य गौरवेण भयेन वा कोऽपि संयतीनामपन्यायं न करोति । किं तु स्वपक्षे परपक्षे च सुबहुमानो जायते । तथा संयती प्रवर्तिन्याश्छन्दे अवर्तमाना चोदयितुं जे इति पादपूरणे इति वचनात्सुखं भवति । किमुक्तं भवति आचार्योपाध्यायभयतो न काचिदपि संयती आचारक्षि-तिमाचरति । याऽपि काचिदाचरति । सापि प्रवर्तिन्या सावष्ट-म्भं शिष्यते । अथ शिष्यमाणाऽपि न प्रतिपद्येत ततः प्रवर्तिनी ब्रूते । आचार्यस्योपाध्यायस्य चाहं कथयिष्यामि । ततः सा भी-ता प्रवर्तिन्या उपपाते तिष्ठति । एते आचार्योपाध्यायसंग्रहे गुणाः ॥ संप्रति प्रवर्तिनीसंग्रहे गुणानाह ।

मिहो कहाभट्टरविट्टेराहिं, कंदप्पकिड्डाबउसत्तणेहिं ।
पुव्वावरे ते सुयनिद्दकालं, गिण्हाइ तिणं गणिणीसहीणा ।

मिथः कथापरस्परं भक्तादिविकथाकरणं भट्टराविट्टर नाम तेषु गृहस्थप्रयोजनेषु कुलालविण्टलादिषु वा प्रवर्तनम् । एताभ्यां कन्दर्पक्रीडा कन्दर्पोद्दीपकजननीकायवाक्चेष्टाबकुशत्वं शरीरो-पकरणविभूषाकरणम् । एताभ्यां च तथा पूर्वरात्रे अपररात्रे च गणिन्या प्रवर्तिन्यास्वाधीना सती संगृह्यते । तथा तत्प्रवर्ति-नीसंग्रहोऽपि साध्व्याः श्रेयान् । एतदेवविभावयिषुर्लौकिकमपि क्रियात्रिविधं संग्रहमाह ।

जायं पित्तिवसा नारी, दत्ता नारी पतिव्वसा ।
विहवा पुत्तवसा नारी, नत्थि नारी सयंवसा ॥

जाता सती नारी पितृवशा पितुरायत्ता भवति । दत्ता परि-णीता सती नारी पतिवशा भर्तुरायत्ता । विधवा मृतपतिका ना-री पुत्रवशा । नास्ति एवं च सति नारी कदाचनापि स्वयंवशा । अमुमेवार्थं प्रकारान्तरेणाह ।

जायंपि य रक्खंती, मातापित्तिसासुदेवरादिण्णं ।
पति भायपुत्तविहवं, गुरुगणिगणिणी य अज्जंपि ॥

जातामपि नारीं रक्षतो मातापितरौ । दत्तां परिणीतां रक्षन्ति श्वश्रूदेवरभर्त्रादयः । देवरग्रहणं स्वसुरज्येष्ठादेरुपलक्षणम् । वि-धवां पुनः पिता भ्राता पुत्रो वा यदि जीवन्ति पित्रादयस्तर्हि स-र्वेऽपि रक्षन्ति । एवमार्यिकामपि गुरुराचार्यो गणी उपाध्यायः गणिनी प्रवर्तिनी रक्षति ॥

एगागिणि अपुरिसा, सकवाडघरपरं तु नोपविसे ।
सगणे व परगणे वा, पव्वतिया पीयसंगहिया ॥

यथा भर्त्राद्यधीना नारी एकाकिनी अपुरुषा भर्त्रादिपुरुषरहि-ता सकपाटं परगृहं न प्रविशति एवं प्रव्रजिता त्रिसंगृहीता आचार्योपाध्यायप्रवर्तिनीसंगृहीता स्वगणे परगणे वा एकाकि-नी न गच्छति ।

आयरियउवज्झाया, सययं साहुस्स संगहो दुविहो ।
आयरियउवज्झाया, अज्जाणपवत्तिणी तइयो ॥

संगृह्णातीति संग्रहः । संग्राहक इत्यर्थः साधोः सततं सर्व-कालं संग्रहः संग्राहको द्विविध आचार्योपाध्यायौ । आर्यिकाणां त्रिविधस्तद्यथा आचार्योपाध्यायौ तृतीयः प्रवर्तिनी । अत्रैवा-पवादपदमाह

वितियपदे सा थेरी, जुण्णा गीया य जइ खलु भवेज्जा ।
आयरियादी तिण्हवि, असतीए न उ दिसा विज्जति ॥

द्वितीयपदे अपवादपदे सा प्रव्रजिता स्थविरा वयसा वृद्धा जी-र्णा चिरकालप्रव्रजिता गीता उत्सर्गापवादसामाचारीकुशलतया गीतार्था यदि खलु भवेत् ततः आचार्यादीनामाचार्योपाध्यायप्र-

वर्तिनीनां तिसृणामप्यभावे न संग्राहकमाचार्यमुपाध्यायं प्रवर्तिनीं च उद्देशापयेत् दोषासंभवात् आचार्यादिष्ववधावितेषूद्देशः

(सूत्रम्) भिक्खू गणाओ अवक्कम्म मेहुणधम्मं पडिसेविज्जा तिण्णि संवच्छराइं तस्स तप्पत्तियं णो कप्पइ आयरियत्तं वा उवज्झायत्तं जाव गणावच्छेयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा तिहिं संवच्छरेहिं वीतिक्कंतेहिं चउत्थगंसि संवच्छरंसि पट्ठियंसि उट्ठियंसि ठियंसि उवसंतस्स पडिविरयस्स निव्विगारस्स एवं से कप्पइ आयरियत्तं वा गणावच्छेयत्तं उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा ॥१३॥ गणावच्छेइयत्तं वा अणिक्खिवित्ता मेहुणधम्मं पडिसेवेज्जा जाव तस्स तप्पत्तियं नो से कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा ।१४। गणावच्छेयए गणावच्छेइयत्तं णिक्खिवित्ता मेहुणधम्मं पडिसेविज्जा तिण्णि संवच्छराइं तस्स तप्पत्तियं णो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा तिहिं संवच्छरेहिं वितिक्कंतेहिं चउत्थयंसि संवच्छरंसि पवियंसि पट्ठियंसि उवट्ठियंसि ठियस्स उवसंतस्स उवरयस्स पडिविरयस्स निव्विगारस्स एवं से कप्पइ आयरियत्तं वा गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा ।१५। एवं आयरियउवज्झायगावि दो आलावगा । १६ । १७ ।

अथास्य सूत्रस्य कः सम्बन्धस्तत आह ।

नवतरुणे मेहुण्णं, कोई सेवेज्ज एस संबंधो ।
अबंभलक्खणादि–ब्भसंगहो एत्थ विसए वा ॥
अप्परियाए वि गणो, दिज्जइ वुत्तंति मा अतिपसंगा ।
सेवियमपुण्णपज्जय, दाहिंति गणं अतो सुत्तं ।

पूर्वसूत्रे नवतरुणादिकः साधुरुक्तस्तत्र कोऽपि नवतरुणो मोहोदयवशात् मैथुनं सेवते कृतमैथुनसेवाकस्य च यथाऽऽचार्यत्वादिकमुद्देष्टव्यं तथाऽनेन सूत्रेण प्रतिपाद्यते इत्येष सूत्रसम्बन्धः । अब्रह्मणादेर्हेतोरब्रह्मरक्षणादिनिमित्तं संग्रहः । आचार्यादिकोऽनन्तरसूत्रेऽभिहितः अत्रापि स एव संग्रहोऽभिधीयते इति । अथवा पूर्वतरेषु सूत्रेषु अपर्यायेऽपि गणो दीयते इत्युक्तं तद्विवसाचार्यादिपदानुज्ञानात् त एतत् श्रुत्वा मा अतिप्रसङ्गान्मैथुनं सेवित्वा अपूर्णे पर्याये गणं दास्यन्ति तत एतन्निवारणार्थमिदं सूत्रम् । अनेन सम्बन्धेनायातस्यास्य व्याख्या । भिक्षुर्गणादपक्रम्य मैथुनं प्रतिसेवते तस्य त्रीणि संवत्सराणि यावत्तत्प्रत्ययं मैथुनसेवाप्रत्ययं न कल्पते आचार्यत्वमुपाध्यायत्वं यावत्करणात्प्रवर्तित्वं स्थविरत्वमिति परिग्रहः । गणावच्छेदित्वं वा उद्देष्टुमनुज्ञातुमतोऽपि तस्य कल्पते स्वयं धारयितुं किन्तु त्रिषु संवत्सरेषु व्यतिक्रान्तेषु चतुर्थे संवत्सरे प्रस्थिते प्रवर्तितुमारब्धवति तत्र प्रस्थितत्वमभिमुखीभवनमात्रेऽपि भवति तत आह । अस्थिते प्रवर्तमाने स्थितस्य वर्तमानस्य किं विशिष्टस्य सत इत्याह । उपशान्तस्य उपशान्तवेदोदयस्य तथोपशान्तत्वं प्रवृत्तिनिषेधाद्व्यवसीयते तत आह उपरतस्य मैथुनप्रवृत्तेः प्रतिनिवृत्तत्वं दाक्षिण्यवशादिमात्रतोऽपि भवति । तत आह मैथुनेच्छाप्रातिकूल्येन विरतः तस्य तदापि च प्रतिविरतत्वं विकारादर्शनतोऽपि मैथुनाभिलाषहेतुकविकाररहितस्तस्य कल्पते आचार्यत्वं यावत् गणावच्छेदित्वं वा उद्देष्टुं वा धारयितुं वा एष सूत्रसंक्षेपार्थः । व्यासार्थं तु भावतो भाष्यकृदाह ।

दुविहो माविक्खियरो, निरवेक्खो उदिण्ण जाइजयणाए ।
जोगं च अकाऊणं, जाव स वेस्सादि सेवेज्जा ॥

द्विविधो द्विप्रकारः खलु मैथुनप्रतिसेवकस्तद्यथा सापेक्ष इतरश्च इतरो निरपेक्षः तत्र निरपेक्षो य उदीर्णे वेदोदये यो वा याति योगं यतनया योगमकृत्वा यदि वा स वेश्यादिकां सेवेत । एष त्रिविधोऽपि निरपेक्षः गुरुतीर्थकरापेक्षारहितत्वात् ॥

सावेक्खो उ उदिण्णे, आपुच्छे गुरुं तु सो जति उवेक्खे ।
ता चउगुरुगा भवंति, सीसो व अणापुच्छए गच्छे ॥

यदि पुनरुदीर्णे उदयप्राप्ते मोहे उदिते वेदे इत्यर्थः । गुरुमापृच्छति समापेक्षः सह अपेक्षा यस्यास्ति स समापेक्ष इति व्युत्पत्तेः । तत्रापृच्छायां यदि स गुरुरुपेक्षां कुरुते ततस्तस्य प्रायश्चित्तं चतुर्गुरुका भवन्ति । स च साधुरनापृच्छ्य गुरुं याति तर्हि तस्यापि प्रायश्चित्तं चतुर्गुरुकाः । सा च पृच्छा त्रीन्वारान्कर्तव्या । तथा चाह ।

अहवा सइ दो वारे, आयरिए पुच्छ अकडजोगी वा ।
गुरुगा तिण्णि उ वारे, तम्हा पुच्छेज्ज आयरिए ॥

अथवा । सकृदेकं वारं यद्याचार्यान् पृच्छति तथापि प्रायश्चित्तं चतुर्गुरुकाः अथ द्वौ वारौ पृच्छति न तृतीयमपि वारं तदापि चतुर्गुरुकाः । अथवा वारत्रयपृच्छायामपि कृतायां यदि अकृतयोगी यतनायोगमकृत्वा गच्छति तदानीमपि चतुर्गुरुकाः । यत एवमेकं द्वौ वा वारौ पृच्छायां प्रायश्चित्तं तस्मात्त्रीन् वारान् आचार्यान् पृच्छेत् लोकेऽपि तथा दर्शनात्तथा चाह ।

बंधे य घाते य पमारणे य, दंडेसु अन्नेसु य दारुणेसु ।
पमत्तमत्ते पुण चित्तहेउं, लोए वि पुच्छंति उ तिण्णि वारे ॥

राज्ञा बंधे आदिष्टे यदि वा घाते प्रहारे अथवा प्रमारे कुमरणमारणे अन्येषु च दण्डेषु हस्तपादच्छेदादिषु दारुणेष्वादिष्टेषु लोके त्रीन् वारान् राजा पृच्छ्यते । किमर्थमित्यत आह प्रमत्तेन व्याक्षिप्तेन यदि वा मद्यपानेन मत्तेनादिष्टं भवेत् पश्चात्तस्य पुनश्चित्तमुपजायते । यथा मा मार्यतामिति वारत्रयमनापृच्छायां स दृश्यते किमिति स मारित इति । एवं यथा राजा केनापि त्रीन् वारान् पृच्छ्यते तथाऽऽचार्योऽपि ॥

आलोइयम्मि गुरुणा, तस्स चिकिच्छा विहीए कायव्वा ।
निव्विगितिगयादीया, नायव्वा कमेणिमेणं तु ॥

आलोचिते वारत्रयमापृच्छायां कृतायां गुरुणा आचार्येण तस्योदितवेदस्य साधोर्विधिना चिकित्सा कर्तव्या सा चिकित्सा निर्विकृतिकादिका क्रमेणानेन वक्ष्यमाणेन ज्ञातव्या तमेव क्रममाह ।

निव्वायक्तिय अवमोदरिय, वेयावच्चे तहेव ठाणे य ।
वाहिंडणे य मंडलि–चोयगवयणं च कप्पट्ठी ॥

प्रथमतो निर्विकृतिकं कारयितव्यः तत्र यदि निर्विकृतिकं तपः कुर्वतो नोपशाम्यति वेदस्तर्हि निर्विकृतिकेनावमौदर्यं कारयितव्यं तथाप्यनुपशाम्यति ततश्चतुर्थादिकं कार्यन्ते तथाप्यतिष्ठति वैयावृत्त्यं कारणीयं वैयावृत्त्येनाप्यतिष्ठति स्थानेन कर्ध्वस्थानेन तिष्ठति तथाप्यनुपशाम्यति आहिण्डनं कार्यते । देशकाहिण्डकानां सहायो दीयते इत्यर्थः । तत्र यदि एष परिभ्रमणोपशान्तो भवति वेदस्ततः सुन्दरमथ नोपशाम्यति ततो यदि स बहुश्रुतस्तर्हि स सूत्रमण्डली च दाप्यते । अत्रार्थे चोदकवचनं यथा किमर्थं स मण्डली दाप्यते । सूरिराह । दृष्टान्तोऽत्र कप्पट्ठीति

कुलवधूः । "एगो सेट्ठी तस्स पुत्तो धणोवज्जणनिमित्तं देसंतरं गतो । भारिया सेट्ठिसमीवे मुक्का । सा य सुहभोयणतंबोलवि-लेवणमंडणपसाहणरया घरवावारमकुणंती अन्नया उम्मत्तिया जाया । दासचेडिं भणइ । पुरिसं मग्गेह तीए सेट्ठिणो कहियं तेण चिंतियं । जावज्ज वि न विणस्सति ताव चिंतेमि उवायं सेट्ठिणी भणिया कलहं काऊण तुमं गच्छ जेण सा घरवावारे वु-ज्झति अप्पहा विणिस्सिहिति । एवं सामत्थेऊण अन्नया सेट्ठी घरमागओ आमोक्खं मग्गइ सा न देइ तो सेट्ठिणा महंतो कल-हो कतो सा पेट्टिऊण निस्सारिया । सा य बहू य कलहसद्दं सोऊण तत्थागया सेट्ठिणा भणिया । भत्ति बहूए तुमे अज्जप्प-भिति सव्वो वावारो कायव्वो सा तहेव करितुमारद्धा । तओ तीए वावारवाउलाए भोयणमवि वियालवेलाए कुतो मंडणप-साहणं । दासचेडीए भणियं मग्गितो चिट्ठति पुरिसो कया मेलि-ज्जइ तीए भणियं मरणस्स वि मे अवसरो नत्थि कतो पुरिसस्स" एवं । यथा तस्या गृहव्यापारव्यापृततया वेदोपशान्तिरभूत्तथा ऽस्यापि सूत्रमण्डल्यापि व्यापारव्यापृततया कदाचिद्वेदोपशा-न्तिः संभाव्यते । ततः सूत्रमण्डलीमर्थमण्डलीं च दाप्यत इति व्य० । (अत्राचार्यसाधूनामवधावनविषये बहुवक्तव्यं तच्च व्यवहार-भाष्यतोऽवसेयं लेशत एव किञ्चिदत्रोक्तम्) बहुश्रुतोऽपि पापो न कल्पते आचार्यादितया उद्देष्टुम् ।

(सूत्रम्) बहवे भिक्खुणो बहुस्सु तवब्भागमावहुसो बहुसु आगाढगाढेसु कारणेसु माइमुसावाइअसुइपापजीवी जाव जीवाए तेसिं तप्पतियं नो कप्पइ जाव उद्दिसित्तए वा धारि-त्तए वा एवं गणावच्छेइएया वि एवं आयरियउवज्झाएया-वि बहवे भिक्खुणो बहवे गणावच्छेइया बहवे आयरियउव-ज्झाया बहुसुआ बब्भागमबहुसो बहुसु आगाढागाढेसु माइ-मुसावाइअसुइपावजीवी जाव जीवाए तेसिं तप्पति णो कप्पइ आयरियत्तं वा उवज्झायत्तं वा पवत्तिं वा थेरत्तं वा गणधरत्तं वा गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारि-त्तए वा । इति ववहारस्स तइओ उद्देशो ॥ ३ ॥

सूत्रसप्तकम् अथास्य पूर्वसूत्रैः सह सम्बन्धमाह ॥

वयअतियारे पगते, अयमवि अन्नोउस्स अइयारो ।
इत्तिरियपमत्तं वा, वुत्तं इदमावकहियं तु ॥

पूर्वसूत्रेषु व्रतस्य मैथुनविरत्यादेरतीचारः प्रकृतोऽधिकृतोऽयमपि चान्यस्तस्य व्रतस्यातिचार इति तत्प्रतिपादनार्थमिदं सूत्रसप्तक-म् । अथवा पूर्वसूत्रेषु त्रीणि संवत्सराणि यावदाचार्यत्वादीनि न कल्पते इति वचनादित्वरमपात्रमुक्तमिदं पुनः सूत्रसप्तकेनाभिधी-यमानमपात्रं यावत्कथिकं बहुशो यावज्जीवमाचार्यत्वादीनि क-ल्पन्त इति वक्ष्यमाणात् ॥

अहवा एगहिगारे, उद्देसो तइयओ उ ववहारे ।
केरिसितो आयरिओ, ठविज्जइ केरिसो नेत्ति ॥

अथवेति संबन्धस्य प्रकारान्तरोपदर्शने व्यवहारे तृतीयोद्देशा-काधिकारे यथा कीदृशः आचार्यः स्थाप्यते कीदृशो न । तत्र यादृशः स्थाप्यो यादृशश्च न स्थाप्यस्तादृश उक्तोऽयमन्यो न स्थाप्य-त इति प्रतिपादनार्थमेष सूत्रसप्तकारम्भः ॥

अहवा दीवगमेयं, जह पडिसिद्धो अभिक्खमाइल्लो ।
मागारियसेवि एवं, अभिक्खओहावणकरी य ॥

अथवेति पर्यवत् । दीपकमेतत्सप्तसूत्रकं पूर्वसूत्रेष्वधिकारार्थोद्दी-पनार्थमिदं सूत्रसप्तकमधिकमेवार्थमुपदर्शयति । यथानेन सूत्रसप्तके न अभीक्ष्णं मायी बहुशो मायावी यावज्जीवमाचार्यत्वादिषु पदेषु प्रतिषिद्धस्तथा मैथुनसूत्रपञ्चकमध्ये यो भिक्षुसूत्रे निक्षेपणसूत्र-द्वये च सागारिकसेवी मैथुनप्रतिसेवी संवत्सरत्रयातिक्रमे योग्य उक्तः सोऽप्येवमभीक्ष्णं सागारिकसेवी सन् यावज्जीवं प्रतिषि-द्धो द्रष्टव्यः । तस्यापि यावज्जीवमाचार्यत्वादीनि न कल्पन्ते इति भावस्तथा अवधावनसूत्रकेऽपि यो भिक्षुसूत्रे निष्कारणसूत्रद्वये वर्षत्रयातिक्रमेण योग्य उक्तः सोऽपि यदि अभीक्ष्णमवधावन-कारी भवति ततस्तस्यापि यावज्जीवमाचार्यत्वादिपदप्रतिषेधः । अनेन संबन्धेनायातस्यास्य व्याख्या । भिक्षुर्बहु श्रुतं सूत्रं यस्या-सौ बहुश्रुतः । बहुरागमोऽर्थपरिज्ञानं यस्य स बह्वागमः । तथा कुलप्राप्तं गणप्राप्तं यत्सचित्तादिकं व्यवहारेण छेत्तव्यं कार्यं वा आगाढगाढं कारणं तेषु आगाढागाढेषु बहुप्रभूतेषु बहुशोऽनेक-प्रकारं मायी मायावान् मृषावादी अशुचिराहाद्यर्थमव्यवहारी पापजीवी कोटक्षाद्याजीवी तस्य यावज्जीवं तत्प्रत्ययं मायित्व-मृषावादित्वादिप्रत्ययं न कल्पते आचार्यत्वं वा यावत् गणावच्छे-दित्वं वा उद्देष्टुं वाऽनुज्ञातुं स्वयं वा धारयितुम् । एष प्रथमसूत्र-संक्षेपार्थः । एवं गणावच्छेदकसूत्रमाचार्योपाध्यायसूत्रं च भावनी-यं पाठोऽपि सुप्रतीतः । यथा च त्रीणि सूत्राण्येकत्वेनोक्तानि इत्येवं त्रीणि सूत्राणि बहुत्वे वक्तव्यानि । सप्तमं बहुभिक्षुबहुग-णावच्छेदिबह्वाचार्यविषयं तदपि तथैव । अत्रभाष्यकृदाह ॥

एगत्तबहुत्ताणं, सव्वेसिं तेसिमेगजातीणं ।
सुत्ताणं पिंडेणं, वोच्छं अत्थं समासेणं ॥

एकत्वबहुत्वादिसंबन्धिनां सर्वेषामेतेषां सूत्राणामेकजातीयाना-मेकप्रकाराणां पिण्डेनाप्युक्तो वैविक्त्येन प्रतीतः । तत्र प्रथम-मेकत्वबहुत्वविषयावाक्षेपपरिहारावाह ॥

एगत्तियसुत्तेसुं, भणिएसुं किं बहू पुणोग्गहणं ।
चोयगसुणसू इणमो, जं कारणं पो बहुग्गहणं ॥

एकत्वेनैकवचनेन निर्वृत्तान्यैकत्विकानि तेष्वैकत्विकेषु किं पुन-र्बहुग्रहणं बहुत्वविशिष्टसूत्रचतुष्टयोपादानं सूरिराह । यत्कारणं येन कारणेन मो इति पादपूरणे बहुग्रहणं बहुत्वविशिष्टसूत्रो-पादानं तत्कारणमिदं हे चोदक ! शृणु तदेवाह ।

लोगम्मि सयमवज्झं, होइ अदंडं सहस्स मा एवं ।
होहिति उत्तरियम्मि वि, उत्ता उ कया बहुकए वि ॥

लोके बहुभिरकृत्ये सेवितेऽयं न्यायः शतमवध्यं सहस्रमदण्ड्यं तत एवमौत्तरिकेऽपि लोकोत्तरिकेऽपि व्यवहारे प्रसङ्गो मा भू-दिति तत्प्रतिषेधार्थं चत्वारि सूत्राणि बहुकेऽपि बहुवचने कृतानि । सांप्रतमागाढागाढकारणादीनि पदानि व्याचिख्यासुराह ॥

कुलगणसंघप्पत्तं, सचित्तादी उ कारणागाढं ।
छिद्दाणि निरीहित्ता, मायी तेणेव असुतीउ ॥

सचित्तनिमित्तोऽचित्तनिमित्तो वा यो व्यवहारः कुले छिन्नो यथेदं सचित्तादिकं विवादास्पदीभूतं कुलेन छेत्तव्यमिति तत्कुलप्राप्त-मेवं गणप्राप्तं सङ्घप्राप्तं भावनीयम् । यत्र यत्सचित्तादिकं विवा-दास्पदीभूतं व्यवहारेण छेद्यतया कुलप्राप्तं वा तत्कारणागाढं कारणम् । तथा कथमहमेनं व्यवहारमाहारात्पुरग्रहे वर्तमानं नो-ज्झितं छिद्यामिति बुद्ध्या परेषां छिद्राणि निरीक्ष्यमाणो मायी तेनैव मायित्वेनैव सोऽशुचिः तमेवाशुचि द्रव्यभावभेदतःप्ररूपयति

दव्वे भावे असुती, भावे आहारवंदणादीहिं ।

कप्पं कुणइ अकप्पं, विविहेहि य रागदोसेहिं ॥

अशुचिर्द्विधा द्रव्यतो भावतश्च । तत्र योऽशुचिना लिप्तगात्रो यो वा पुरीषमुत्सृज्य पुतौ न निर्लेपयति स द्रव्यतोऽशुचिः । भावे भावतः पुनरशुचिराहारवन्धनादिभिर्विविधैर्वा रागद्वेषैः कल्प्यमप्यकल्प्यं करोति । किमुक्तं भवति । आहारोपधिशय्यादिनिमित्तं वन्दननैर्वृत्यादिना वा तोषितो यदि वा एष मम स्वगच्छसंबन्धी स्वकुलसंबन्धीति रागतोऽथवा न मामेष वन्दते विरूपं वा भाषितवानित्यादिद्वेषतोऽयं श्रुतोऽयं श्रुतोपदेशेनाभाव्यमनाभाव्यं करोति । अनाभाव्यमप्याभाव्यं सोऽव्यवहारी भावतोऽशुचिः । एतदेव सुव्यक्तमाह ।

दव्वे भावे असुती, दिव्वम्मी विट्ठमादिलित्तो उ ।
पाणतिवायादीहि उ, भावम्मि उ होइ असुईओ ॥

अशुचिर्द्विधा द्रव्ये भावे च तत्र द्रव्ये विष्ठादिना लिप्त आदिशब्दान्मूत्रश्लेष्मादिपरिग्रहः । भावे प्राणातिपातादिभिर्भवत्यशुचिः ॥

तप्पत्तियमेतेसिं, आयरियादी न देंति जा जीवं ।
के पुण भिक्खुइमे य, बहुस्सुयमादिणो हुंति ॥

तत्प्रत्ययं मायावित्वादिप्रत्ययं येषां भिक्षुप्रभृतीनां यावज्जीवमाचार्यादीनि भावप्रधानोऽयं निर्देशः । आचार्यत्वादीनि न ददाति । के पुनस्ते आह । भिक्षुक उपलक्षणमेतत् गणावच्छेदकाचार्योपाध्यायाश्च सूत्रोक्ता न केवलमेते किंत्विमे च बहुश्रुतादयो भवन्त्याचार्यादिपदानामनर्हास्तानेव निर्युक्तिकृदाह ॥

अबहुस्सुते य ओमे, पडिसेवओ यतो अप्पचिंते य ।
निरवेक्खपमत्तमाइ–अणरिहे जुंगिए चेव ॥

अबहुश्रुतोऽवमः प्रतिसेवको यतः आत्मचिन्तकः निरपेक्षः प्रमत्तो मायी अनर्हो जुङ्गिकश्च । एते सूरित्वादिपदानामनर्हाः । सांप्रतमेतानेव व्याचिख्यासुराह ।

अबहुस्सुतो पकप्पो, अणहीओमा तिवरिसऊो ।
निक्कारणे वि भिक्खू, कारणपडिसेवते जो उ ।
अब्भुज्जयअप्पचिंतो, निरवेक्खो बालमादीसु ।
अन्नयरपमायजुत्तो, असव्वरुची होइ माईओ ।
अवलक्खणा अणरिहा, उज्जावाहादि अ जो जुवत्ता ॥
चउरो य जुंगिया खलु, अचंति य भिक्खुणा एते ॥

अबहुश्रुतो नाम येनाचारप्रकल्पो निशीथाध्ययननामकः सूत्रतोऽर्थतश्च नाधीतः अवमो नाम आत्रिवर्षरतो यस्य प्रव्रज्यापर्यायेण त्रीणि वर्षाणि नाद्यापि परिपूर्णानीत्यर्थः । प्रतिसेवको नाम यो भिक्षुः निष्कारणेऽपि कारणाभावेऽपि पञ्चकादीनि प्रायश्चित्तस्थानानि प्रतिसेवते । आत्मचिन्तको योऽभ्युद्यतमरणं वा प्रतिपत्तुं निश्चितो निश्चितवान् निरपेक्षो बालादिषु चिन्तारहितः प्रमत्तः पञ्चानां प्रमादानामन्यतरेण प्रमादेन युक्तः असत्ये मृषाभाषणे असंयमे वा रुचिर्यस्यासावसत्यरुचिर्भवति । मायी किमुक्तं भवत्यभीक्ष्णं मायाप्रतिसेवनशीलो मायीति अपलक्षणं येषामाचार्यलक्षणानि न विद्यन्ते ये च पूर्वमुक्ता अत्यवधावनादय एते सर्वेऽनर्हाः । जुङ्गिका जातिकर्मशिल्पशरीरभेदतश्चतुर्धा । एतेऽपि प्रागुक्ता एते सर्वेऽपि भिक्षवोऽत्यन्तमाचार्यत्वादिपदानामनर्हाः । यदि पुनर्बहुश्रुतो भवेत् अवमोऽपि त्रिवर्षपर्यायोत्तीर्णः प्रतिसेवकोऽप्रतिसेवकोऽप्रतोऽन्ययतनातः प्रतिविरतो निरपेक्षः सापेक्षो भूतः प्रमत्तोऽप्यप्रमत्ततामुपगतस्तदा भवन्त्येतेऽप्याचार्यत्वादिपदानां योग्याः ।

संप्रति सप्तानामपि सूत्राणां संभवविषयमाह ।

अहवा जो आगाढं, वंदणआहारमादि संगहितो ।
कप्पं कुणइ अकप्पं, विविहेहि य रागदोसेहिं ॥
माई कुणइ अकज्जं, को माई जो भवे मुसावाई ।
को पुण मोसावाई, असुई पावसुयजीवी ॥

अथवेति सूत्रव्याख्या प्रकारान्तरोपदर्शने यो वन्दनादिभिः वन्दनवैयावृत्यादिना आहारादिभिराहारोपधिशय्यादिभिरागाढमत्यर्थं संगृहीतः सन् विविधैश्च रागद्वेषैः प्रागुक्तस्वरूपैः कल्प्यमप्याभाव्यमप्यकल्प्यमनाभाव्यं करोति । सप्तानामपि सूत्राणां विषयः (माई कुणइ इत्यादि) कः पुनरेवमकार्यं कल्प्यमप्यनाभाव्यमकल्प्यमप्याभाव्यमित्यर्थः करोति एवं शिष्यस्य प्रश्नमाशङ्क्य सूत्रकृदाह । मायी मायावान् को मायी तत आह यो भवेत् मृषावादी कः पुनः मृषावादी तत आह अशुचिः कोऽशुचिः सूत्रकृदाह पापजीवी एतस्य व्याख्यानं पापश्रुतोपजीवी कोटल्यादिशास्त्रोपजीवीत्यर्थः ।

किह पुण कज्जमकज्जं, करेज्ज आहारमादिसंगहितो ।
जह कम्मिवि नगरम्मा उप्पन्नं संघकज्जं तु ।

कथं पुनराहारादिसंगृहीतः सन् कार्यमुपलक्षणमेतत् आचार्यमपि कार्यं करोति । अत्र सूरिर्निदर्शनमाह । यथा कस्मिंश्चिन्नगरे किमपि सङ्घकार्यमुत्पन्नं सचित्तादिनिमित्तं वास्तव्यसङ्घस्य व्यवहारो जात इत्यर्थः ॥ स च वास्तव्यसङ्घेन छेत्तुं न शक्यते ॥ (अन्यद्वक्तव्यं ववहारशब्दे) एतद्गुणविप्रमुक्ते पुनर्व्यवहरति सुमहती आशातना व्रतलोपश्च तथा चाह–

आगाढमुसावादी, बितियतइए उ लोवति वए उ ।
माई य पावजीवी, असुई किन्ने कणगदंडे ॥

आगाढे कुलकार्ये संघकार्ये वा आभाव्यस्य वाऽनाभाव्यस्य वा ज्ञानतया रागद्वेषाभ्यां वा भणनात् । मृषा वदतीत्येवं शीलः आगाढे मृषावादी द्वितीयतृतीये मृषावादादत्तादानविरतिरूपे व्रते लोपयति । तत्र द्वितीयव्रतलोपो मृषावादभणनात् तृतीयव्रतलोपो ऽनाभाव्यं ग्राहयतोऽनुमतिदोषभावात् । तुशब्दात् शेषाण्यपि व्रतानि लोपयति । एकव्रतलोपे सर्वव्रतलोप इति वचनात् । मायी सत्रमुल्लङ्घ्य शठो सैर्व्यवहारकरणात् । पापजीवी दुर्व्यवहारादिकरणात् । परदत्तापहाराण्युपजीवनात् । अत एवाशुचिर्मृषावादित्वादिदोषदुष्टत्वात् । अशुचित्वादेव यथा कनकदण्डः संक्षालितः स्प्रष्टुं न कल्पते एवमेषोऽपि न कल्पते यावज्जीवमाचार्यत्वादिषु पदेषु स्थापयितुमिति ॥ व्य० ३ उ० ।

(गणान्तरे उद्देशना उद्देसणा शब्दे)

न व्यतिकृष्टदिशामुद्दिशेत् ॥

(सूत्रम्) णो कप्पति णिग्गंथीणं वितिकिट्ठयं दिसं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा ० कप्पति णिग्गंथाणं वितिगिट्ठियं दिसं वा अदिसं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा । ए ।

न कल्पते निर्ग्रन्थीनां व्यतिकृष्टामतिशयेन क्षेत्रतो भावतश्च विकृतां दिशमनुदिशं वा उद्देष्टुमनुज्ञातुं नापि स्वयं धारयितुं वा इत्येष सूत्रद्वयाक्षरार्थः ।

संप्रति भाष्यम् ।

दुविहं पि य वितिगिट्ठं, णिग्गंथीणुद्दिसंति चउगुरुगा ।
आणाइणो य दोसा, दिट्ठंतो होइ कोसलए ॥

द्विविधामपि विकृष्टां क्षेत्रविकृष्टां भावविकृष्टां चेत्यर्थः । निर्ग्रं-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

र्थीनां दिशमुद्दिशति । अस्मिन्प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः आज्ञादयश्च दोषास्तत्र विकृष्टां दिशमुद्दिशतो ये दोषास्तत्र को भवति दृष्टान्तस्तमेव भावयति ।

उवसामिया जयणेए, कोसलेणं गते य मातम्मि ।
तं चेव दिसंती य, निक्खंता अन्नगच्छम्मि ॥
वारिज्जंती वि गया, पडिवन्ना सा य तेण पावेणं ।
जिणवयणबाहिरेणं, कोसलएणं अकुलएणं ॥

एकः कोशलकः कोशलदेशोत्पन्न इत्यर्थः । तेनान्यदेशं गतेन यतमानेन सदनुष्ठानपरायणेन कापि श्राविका उपशामिता स च कोशलकस्तं देशं गतः तस्मिंश्च गते सा श्राविका अन्यस्मिन् गच्छे तत्रागते तस्य समीपे निष्क्रमितुमुपस्थिता यथा मां निष्कामयत परं मम स एव कोशलकः आचार्यः एवं सा तमेव व्यपदिशन्ती तैर्दीक्षिता । सा च दीक्षाप्रतिपत्त्यनन्तरं वार्यमाणाऽपि कोशलसमीपे गता । सा च पापेन जिनवचनबाह्येनाकुलजेन कोशलेन प्रतिपन्ना । एष दोषः क्षेत्रविकृष्टां दिशमुद्दिशतः। अत्र पर आह ॥

कोसलएहिं कारण, गहणं बहुदोसलाउ कोसलगो ।
तम्हा दोसुक्कडया, गहणं इह कोसले कारणमओ ॥

कोशलकस्य ग्रहणं कृतम् । सूरिराह यस्मात्कोशलको देशः स्वभावात् बहून् दोषान् लाति आदत्ते अतिबहुदोषलो बहुदोषवान् तस्मात् दोषोत्कटतयाऽत्र कोशलस्य ग्रहणम् अपि च ।

अंधं अकूरमयं, अविसमरहट्टं अवोगिल्लं ।
कोसलयं च अपावं, सएसु एक्कं न पेच्छामो ॥

अन्धमन्धदेशोत्पन्नमकूरमतकमकूराभिप्रायमपि च महाराष्ट्रकमवोगिल्लमवाचालं कोशलकं चापापं शतेषु मध्ये एकं न प्रेक्षामहे इति प्रसिद्धिरतः कोशलग्रहणम् । पुनरपि प्राह

कोसलए जे दोसा, उद्दिसंतम्मि किन्न सेसाणं ।
ते तेसि होज्ज व न वा, इमेहि पुण नोद्दिसे तेवि ॥

ये दोषा कोशलके दिशमुद्दिशन्ति ते किं न शेषाणां दिशमुद्दिशन्ति किं न भवन्ति भवन्त्येवेति भावः । सूरिराह । ते दोषास्तेषां भवेयुर्वा न वा कोशलके पुनर्नियमाद्भवन्ति देशविशेषजन्मनोऽपि गुणदोषहेतुत्वात्ततः कोशलोपादानम् । एते पुनर्वक्ष्यमाणास्तानपि शेषदेशोत्पन्नान् क्षेत्रविकृष्टांनोद्दिशेत् । अन्यच्च ।

अन्नं उद्दिसिऊणं, निक्खंता वा सरागधम्मम्मि ।
अन्नोन्नम्मि ममत्तं न तु, अगगाणं पि संभवति ॥

वा शब्दो दूषणान्तरसमुच्चये अथवाऽन्यमाचार्यमुद्दिश्य निष्क्रान्ता परमन्योन्यस्मिन् परस्परस्मिन् यन्ममत्वं तत् व्यग्राणामपि व्यग्रचित्तानामपि न तु नैव भवति किन्त्वेकचित्तानामुपजायते सा चैकचित्तता अत्र नास्ति तथा चाह ।

सुचिरं पि सारिया गच्छिहिइत्ति ममयाइ गच्छस्स ।
सोयंतचोयणासु य, परिजूयमित्ति मन्नेज्जा ॥

सुचिरमपि कालं सारिता शिक्षिता सती गमिष्यतीति मन्यमानस्य गच्छस्य न तस्या विषये ममता ममत्वं मायातिसीदन्त्याः संयमयोगेषु शिथिलीभवन्त्या याश्चोदनाः शिक्षास्तासु दीयमानासु साऽन्यत्र गन्तुमनाः परिजूताऽस्मीति मन्यते ततस्तस्या अपि न गच्छस्योपरि ममता । किं च

गमणुस्सुएण चित्तेण, सिक्खातोवि न गेण्हइ ।
वारिज्जंती वि गच्छिज्जा, पंथदोसे इमे लभे ॥

गमनोत्सुकेन चित्ते शिक्षा अपि नानाप्रकारा ग्रहणशिक्षा आसेवनाशिक्षाश्च न गृह्णाति । तथा वार्यमाणाऽपि तस्य क्षेत्रविकृष्टस्यान्यस्याचार्यस्य समीपं गच्छेत् तत्र च पथि दोषानिमान् वक्ष्यमाणान् लभते । अत्र यदुक्तं प्राक् एतैर्वक्ष्यमाणैर्दोषैस्तानपि नोद्दिशेदिति तद्व्याख्यानावसरस्तानेव दोषानाह ॥

मिच्छत्तसोहिसागा-रियादिपासंडतेणसच्छंदा ।
खेत्तविगिट्ठे दोसा, अमंगलं भावविगिट्ठम्मि ॥

मिथ्यात्वं मिथ्यात्वगमनं शोधेरभावस्तथा सागारके अगारसहिते आदिशब्दादनागारे एकाकिन्या उपाश्रये दोषाः । तथा पाषण्डैर्विपरिणामनं स्तेनैरपहारस्तथा स्वच्छन्दा स्यात् न गच्छाधीना तथा च सति भूयांसो दोषाः । एते क्षेत्रविकृष्टे उद्दिश्यमाने दोषाः । भावविकृष्टे उद्दिश्यमाने अमङ्गलं तेन संयमजीविताद्भवजीविताद्वा भ्रश्येत्तस्माद्भावविकृष्टोऽपि नोद्देष्टव्यः । एष द्वारगाथासंक्षेपार्थः । सांप्रतमेनामेव विवरीषुः प्रथमतो मिथ्यात्वद्वारं शोधिद्वारं चाह ॥

उवदेसो तासिं अत्थि, जेणेगागी उ हिंडए ।
इति मिच्छं जणो गच्छे, कत्थमाहिं च कुज्जउ ॥

उपदेशः तासामेकाकिनीनां नास्ति येन स तादृशः स्त्रीजन एकाकी हिंडते । तत इति अस्मात्कारणादुपदेशाभावलक्षणाज्जनः स्त्रीजनो मिथ्यात्वं गच्छेत् । गतं मिथ्यात्वद्वारम् ॥ शोधिद्वारमाह । क्षेत्रप्रायश्चित्तसमापन्ना सती कुत्र शोधिं कुर्यात् । नैव कुत्रापीति भावः एकाकिनीत्वाच्च च प्रायश्चित्तस्थानमप्रायश्चित्तस्थानं वा सा जानाति तत इतोऽपि शोध्यभावः । सागारिकादिद्वारं पाषण्डद्वारमाह ।

सागारमसागारे, एकाए वसुए भवे दोसा ।
चरिगादिविपरिणामण-सपक्खपरपक्खनिएहादी ॥

सागारे आगारसहिते असागारे आगाररहिते उपाश्रये एकस्या एकाकिन्या दोषा भवन्ति । तत्र सागारे दीपस्पर्शनादयो दोषाः । अनागारे कुलटाजारादिप्रवेशनम् । गतं सागारिकादिद्वारम् । पाषण्डद्वारमाह (चरगादित्यादि) स्वपक्षे परपक्षे च विपरिणमनं तत्र स्वपक्षे निह्नवादिभिरादिशब्दात्पार्श्वस्थादिपरिग्रहः । परपक्षे चरकादिभिः । स्तेनद्वारं स्वच्छन्दद्वारं चाह ।

तेणेहि वा विहिज्जइ, सच्छंदुट्ठाणगमणमादीया ।
दोसा भवंति एए, किंच न पाविज्ज सच्छंदा ॥

स्तेनैर्वा द्रव्यापहारिभिर्वा सार्धं गच्छन्ती व्हियते तथा स्वच्छन्दमुत्थानं स्वच्छन्दगमनमित्यादयश्चैते दोषा एकाकिन्या भवन्ति । किं वा स्वच्छन्दा सती सा किं न प्राप्नुयात्सर्वदुःखस्थानमाप्नुयादित्यर्थः।संप्रति भावविकृष्टे दोषानाह ।

गोरवभयसमीकरा, अविदूरत्थे वि होइ जीवंते ।
को दाणिसमुग्घातस्स, कुणइ न य तेण जं किच्चं ॥

अपि दूरस्थेऽपि जीवति सति तद्विषया गौरवभयसमीकरा भवन्ति भूयस्तन्मिलनादिप्रत्याशासंभवात् । इदानीं पुनस्तस्य समुद्घातस्य को गौरवं भयं समीकारं वा करोति नैव कश्चित् यत् यस्मात् न च नैव तेन सर्वप्रयोजनातीतत्वात् ॥

कोसलवज्जा नत्थि य, दोसा सविसेसभवविगिट्ठम्मि ।
दुविहं पी विनिगिट्ठं, तम्हा उ न उद्दिसेज्जाहि ॥

एवं दोषा ये मिथ्यात्वगमनादयः क्षेत्रविकृष्टेऽभिहितास्त एव

सविशेषा भावविकृष्टेऽपि ज्ञातव्याः केवलं कोशलवर्जाः कोशलदोषा हि भावविकृष्टे न भवन्ति मृतत्वेनासंभवात्तस्मात् द्विविधमपि व्यतिकृष्टं क्षेत्रविकृष्टं भावविकृष्टं च नोद्दिशेत् ।

अत्रैवापवादपदमाह ॥

बितियं तिव्वाणुरागा, संबंधी वा न ते य सीयंति ।
इत्तरदिसाउ नयणं, अव्वाहाए य दूरम्मि ॥

द्वितीयपदमपवादमधिकृत्य क्षेत्रविकृष्टमपि उद्दिशेत् । यदि सा धर्मग्राहिपयाचार्ये तीव्रानुरागा भवेत् स चाचार्यस्तस्याः संबन्धिस्वजनो न च ते आचार्याः संयमयोगेषु सीदन्ति उद्यतविहारिण इत्यर्थः केवलं तस्या इत्वरा दिशोऽनुबन्धनीयाः यावत्ते स्वक आचार्यो न मिलति तावद्वयमाचार्या एते उपाध्याया इयं प्रवर्तिनीति ततः स्वाचार्यसमीपे विधिना नयनमव्याघातं च दूरं ते आचार्यास्ततः संदेशं कथयन्ति यथा युष्मदीयधर्मशिष्याऽस्माकं पार्श्वे प्रतिपन्नदीक्षिका वर्तते सा प्रतिग्राह्या ।

भावविगिट्ठे वि एमेव, समुज्जातोत्ति वा न वा ।
तत्थ आसंकिए बंधो, निस्संके उ न बज्झति ॥

भावविकृष्टेऽप्येवमेव द्वितीयपदमवगन्तव्यमिति भावः कथमित्याह । किं समुद्घातकालागतः किं वा नेत्येवं तस्मिन् भावविकृष्टे तस्या बन्धः क्रियते निःशङ्किते तु भावविकृष्टे सा न बध्यते ।

अत्रैव प्रकारान्तरमाह ।

अहवा तस्स सीसं तु, जति सा उ समुद्दिसे ।
विकप्पट्ठे तहिं खेत्ते, जयणा जा उ सा भवे ॥

अथवा यदि सा तस्य शिष्यं समुद्दिशति कथयति मम ते पथाचार्या अहं तु तच्छिष्यसमीपे स्थास्यामीति तदा भावविकृष्टेऽपि तस्या बन्धः क्रियते तत्र या विकृष्टे क्षेत्रे यतनोक्ता सात्रापि भवति ज्ञातव्या तदेवं निर्ग्रन्थीसूत्रं व्याख्यातमधुना कल्पद्वयि द्वारम्

निग्गंथाण वि विगिट्ठो, दोसा ते चेव मोत्तुकोसलयं ।
सुत्तनिवातो निगए, संविग्गे य सेसइत्तरिए ॥

निर्ग्रन्थानामपि विकृष्टे उद्दिश्यमाने य एव निर्ग्रन्थीनां दोषा-मिथ्यात्वादय उक्तास्त एव कोशलकमेकं दोषं मुक्त्वा शेषाः सर्वे निरवशेषा द्रष्टव्याः । यद्येवं तर्हि सूत्रमनर्थकमविषयत्वादत आह "सूत्रनिपातोऽभिगते संविग्ने च शेष इत्वरिकः" इयमत्र भावना । अभिगतो ज्ञाततत्त्वः श्राद्धः पुराणो वा संविग्नः स्वयं योऽपि तस्य धर्मदेशक आचार्यः सोऽपि संविग्नस्तस्मिन् सूत्रनिपातो यस्तु शेषः स्वयं न सम्यक् ज्ञाततत्त्वस्तस्य पथि व्रजतो मिथ्यात्वादयो दोषास्तस्य दीक्षामाधाय इत्वरिको दिग्बन्धः क्रियते पुनः प्रेष्यते एतदेव व्याचिख्यासुराह ।

सड्ढो पुराणो वा जइ, लिंगं घेत्तूण वयति अन्नत्थ ।
तस्स वि विगिट्ठबंधो, जा इच्छइ ताव इत्तरिको ॥

श्राद्धः श्रावकः पुराणः पश्चात्कृतो वाशब्दो विकल्पने अधिगततत्त्वः स्वयं संविग्नो योऽपि तस्य धर्मग्राहक आचार्यः सोऽपि संविग्नः स इत्यंभूतो यदि लिङ्गं गृहीत्वाऽन्यत्र क्षेत्रविकृष्टमूलाचार्यसमीपे व्रजति तस्य विकृष्टो दिग्बन्धः कर्तव्यो यावच्च तत्र तिष्ठति तावत्तस्यात्मीय इत्वरिको दिग्बन्धः ॥

मिच्छत्तादी दोसा, जे वुत्ता ते उ गच्छतो तस्स ।
एगागिस्स वि न भवे, इति दूरगते वि उद्दिसणा ॥

य एव पूर्वं मिथ्यात्वादयो दोषा उक्तास्तेऽपि तस्यैकाकिनोऽपि गच्छतो न भवन्ति ज्ञाततत्त्वत्वात्संविग्नत्वाच्च इति हेतोस्तस्य दूरगतेऽपि क्षेत्रविकृष्टेऽपि गुरावुद्देशनं भवति ।

गीयपुराणोवट्ठं, धारंतो सततमुद्दिसंतं तु ।
ओसन्नं उद्दिसइ, पुव्वदिसं वा सयं धरए ।
चोइज्जंतो जो पुण, उज्जमिहिति तं पि नाम बंधंति ।
सो सततं उद्दिसणा, इति जयणा खेत्तवितिगिट्ठो ॥

गीतो नाम सूत्रार्थनिष्पन्नः । पुराणः पश्चात्कृतश्रमणभावः स निष्क्रमितुकामोऽन्येषामाचार्याणामुपस्थितस्तस्य च पूर्वाचार्योऽवसन्नो विदेशस्थश्च स तं सततमेवाभिधारयति येषां च समीपे निष्क्रामितुमुपस्थितस्तान्प्रति उद्दिशति भणतीत्यर्थः । मम स एवाचार्य इति तं गीतं पुराणमुपस्थितपूर्वमाचार्यमवसन्नमभिधारयन्तं वचसा तमेवोद्दिशन्तं च प्रति यस्य समीपे निष्क्रमितुमुपस्थितः स पूर्वाचार्यो विदेशस्थः योऽन्यस्तस्य संबन्धी संविग्नस्तमुद्दिशति यथा स तवाचार्य इति-अथवा स्वयं तेनात्मीयावसन्ना दिक् धारयितव्या न पुनः स तेन तत्रोद्देशयितव्यः तस्यावसन्नत्वाद्यदि वा तमप्यवसन्नमुद्दिशति । केवलमनेन प्रकारेण । केनेत्यत आह (चोइज्जंतो इत्यादि) यः पुनर्ज्ञायते चोद्यमानः शिष्यमाण उद्यंस्यति संविग्नो भविष्यति तमपि नाम ते आचार्या बध्नन्ति यथा ते तवाचार्य इति ॥ ये पुनर्ज्ञायन्ते न चोद्यमानाः संविग्ना भविष्यन्ति तेषु शेषेषु नोद्देशनमिति भजना । गतं क्षेत्रविकृष्टम् ॥

संप्रति भावविकृष्टमाह ।

एमेव य कालगते, आसन्ने तं च उद्दिसइ गीयत्थो ।
पुव्वदिसधारणं वा, अगीयमुत्तूण कालगयं ॥

एवमेव अनेनैव प्रकारेण कालगते तस्य मूलाचार्यो यदि स्वयं गीतार्थो भवति तदा तस्य येऽन्ये आसन्ने आचार्यास्ते वा उद्दिशन्ति पूर्वदिशं वा धावति । अथ स स्वयमगीतार्थस्तदा तस्य कालगतं मुक्त्वा शेषोऽन्य उद्दिश्यते इति । व्य० द्वि. ७ उ० ।(व्यतिकृष्टकाले स्वाध्यायो नोद्देष्टव्य इति सज्झायशब्दे) उद्देशफलमाह परः किमत्र पुनः कारणं यदुद्देशः क्रियते । अनुद्दिष्टं कस्मान्न पठ्यते तत्राह ।

बहुमाणविणयआउ-त्तताय उद्देसतो गुणा हुंति ।
पढमाए सो उ सव्वो, एत्तो वुच्छं करणकालं ॥

उद्देशे हि क्रियमाणे श्रुतस्य श्रुताधारस्य वाऽध्यापकस्योपरि बहुमानमान्तरः प्रीतिविशेषो भवति विनयश्च प्रयुक्तः स्यादायुक्तता च महती भवति एते उद्देशतो गुणा भवन्ति एष सर्वोऽप्यङ्गादिविषय उद्देशः प्रथमोद्देशः ॥ व्य० ७ उ० ॥

(आचार्येऽवसन्ने उद्देशविधिरवधावनं च ओहावण शब्दे वक्ष्यते) उद्---दिश्---घञ्- अनुसंधाने , अन्वेषणे , अभिलाषे, उपदेशे च । आधारे घञ् । उपदेशे, यथोद्देशं संज्ञापरिभाषम् । वाच० ।

उद्देसण-उद्देशन- न० अङ्गादौ पठने ऽधिकारित्वे, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

उद्देसणाकप्प-उद्देशनकल्प-पुं० वाचनासामाचार्याम् , ।

एसुवसंपदकप्पो, वोच्छं उद्देसकप्प महुणाओ ।
उद्दिसणावायणाभि य, पाढणता चेव एगट्ठा ॥
सुत्तत्थ तदुभयाइं, पव्वायते ताव जाव संधाणं ।
बहुपच्चवायपाए, विजेढ भजियं तु संधाणं ॥
संधाणमंतगमणं, असिवादी पच्चवादणेगविहा ।

विजढे तो णिक्खित्ते, जोगे रुइओ पुणक्खेवा ॥
जदि कारणेण केण वि, णिक्खित्तो तो सउक्खिव पुणो वि ।
अहदप्पाणिक्खित्तो, तो णं उक्खिप्पती जुज्जो ॥
उद्दिट्ठम्मि य अंगे, सुयखंधम्मि य तहेव अज्झयणे ।
आसन्नपुरिसकरणं, तिट्ठाणे होंति पडिसेहा ॥
अंगादि उ दिट्ठो पुरि–सं दट्ठूण अपरिणामादी ।
अत्थति वसट्टरादिहि, अवणीया दीवणाजणं ॥
ताहे णिक्खिप्पत्तीसु, तिट्ठाणे जं तु जणितपडिसेहो ।
तं सुत्तमत्थतदुभए, एतेसिं तिण्ह पडिसेहो ॥ पं० भा० ।

इयाणिं धाइणाकप्पो गाहा ।

सुत्तमत्थतदुभयं, पुण सुत्तत्थ तदुभयं वा ।
ताव वाएइ जाव, संधाणं नाम जणअद्धं ॥

किं निमित्तं न समाणेइ जण अद्धं होज्जा । उच्यते बहुपच्चवायताए विजढे जोगे निक्खित्ते भणियं होइ जइया य संवणा य संवणा नाम पुरवि जो न उक्खेवो समाणणंति वुत्तं होइ जइ असिवाइ कारणेहिं निक्खित्तो जोगो तो से पुणो वि सारिज्जइ । अह दप्पेण सहुयाए वा निक्खवइ ताहे न उक्खिप्पइ पुणो जोगो अहाचार्यो किमर्थं भैक्षं न पर्यटति वैयावृत्यं वा न करोति उच्यते वाएवि ते आयरिओ जो हिंडइ उण्हकाले सीयकालेवासासु हिंडंतो वाएण घेप्पइ सो वाएसु चडंतो कवाडाइं उग्घाडेंतो सुत्तत्थतदुभयाणं परिहाणी गच्छस्स सीसपडिच्छगाणं गिलाणा रोवणा य उण्हकाले वा पित्ताइरोइओ अइबहुयं वा पाणयं पीउ उब्बाइं उ न तरइ समुद्दिसिओ उवगरणं च पडिलेहंतो वाएण घेप्पेज्जा तत्थ वि सुत्तत्थाइपरिहाणी गणालोए जहा गोवालो गावीओ तिण्हि वेलाओ पल्लोएइ पुव्वण्हगब्भणहावरणेसु तहा आयरिओ वि पुव्वण्हे ताव आवासयसुत्तत्थमंडलीए गणालोयं करेइ । मज्झण्हे समुद्देसवेलाए अवरण्हे वि पुणो सज्झायवेलाए आवासए वा को आगओ अणागओ वा परीसहपराइओ वा पिव मुच्छाए वा पडिओ तत्थ नाहिंडइ अत्थंतो सव्वाणि जाइकायकिलेसो य हिंडंतस्स पच्छा किलेसाभिभूओ सुत्तत्थाणि चिंतिऊण देइ न य नासेइ मेढीपमाणं आधार इत्यर्थः। दव्वमेढीए वइच्छा परिगहिया सुहं भमंति भावमेढीए आयरिया मेढीभूया तम्मि य सव्वे सनियट्टंति जाणंति य अत्थंता कोत्थ हिंडइ गिहिनिसेज्जं वा जो वाहेइ तं जाणंतिअत्थंता अकारए आयरिआणं हिंडेताणं जं सरीरस्स अकारयं अवक्खअमाइनीणियं जइ गेण्हइ समुद्दिसइ य सरीरापच्चं गिलाणाइ दोसा अपडिसेहेइ अकारिकमिति ताहे लोओ उड्डहइ । आयरिओ चेव अजिइंदिओ जंपिति निच्छइ किं पव्वइयत्थ वालेण सुएण वा खज्जेज्जा गिलाणारोवणासुत्ताइपरिहाणी गच्छविणासो य मणन्निता गणं न चिंतेइ हिंडंता वालवुड्ढे गिलाणसेहपाहुणयाइवालवुड्ढा य न तरति दीहभिक्खायरियं हिंडिओ गिलाणस्स न कोइवावारिं तओ गेण्हंतओ वा अहवा वारेंति गिलाणस्स गेण्हइ पाउग्गं ते य न गेण्हंति अहवा जं वा तं वा आणेंति ताहे जइ भणंति किं परिसं गिलाणस्स नाणीयं ताहे तेहिं भण्णइ केरिसाएहिं तुब्भे सयमेव हिंडंता किं लभइ दीसंता तुब्भे पडिरूवा लाभीणं एवं सेहपाहुणाणं पि न कोइ गेण्हंतओ संदिसंतो वा जइ पुण अच्छंतो वालवुड्ढादयो सव्वे चिंतंते गिलाणस्स पाहुणयाणं वा पाउग्गं गेण्हावेंतो इच्छित्ति इच्छिए य रायमत्तं दंडभडभोइया वा आगया धम्मं सुणेमो त्ति जाव आयरियं भिक्खं गया ते खिसिऊण पडिगया परिसा आयरिया भिक्खं पिसे न कोइ आणेइ । अह अत्थंतो तेसिं धम्मं कहंतो ते पव्वयंता वा सावगा वा हुंता अहा भद्दया वा दाणसड्ढा वा हुंता पवयणउवग्गहकरा वा हुंता तेसिं चंदगवेज्झसरिसो आगमो " जहा एगेण रन्ना अमच्चेण य धम्मो सुओ ते य अक्खित्ता तेहिं गंतूण अंतेउरं कहियं जहा परिसा तारिसा य आयरिया पच्छा वियदिवसे महादेवी अमच्चा य समागया धम्मं निसामेंति जाव भिक्खं गया पच्छा खिसिउं पडिगया ताओ वि य पव्वयंताओ वि सावियाओ वा हुंताओ एए दोसा । वाई वा आगओ पुच्छइ किं आयरिया केणइ सिट्ठं भिक्खाए गया पच्छा वाई भणइ किह सो अत्था ण जाणिहिइ जो दिवसं भिक्खं हिंडंतो अत्थइ अहवा परिस्संतो सिकाऊण नीसड्डावेइ सो वि उव्वाओ न तरइ उत्तरं दाउं पच्छा पवयणोब्भावणया अह अच्छंदो पच्छा सत्थाणि चिंतंतो न परवाइहेउणा वा निमित्तेण वा पराइणं तो पच्छा पवयणउब्भावणया कया हुंता गाहा "गणहारिस्सा हारो" गाहा "सिद्धं उद्दिट्ठम्मि " उयंगसुयंगअज्झयेण उद्दिट्ठे आसन्नणाम प्राप्य पुरिसं उद्दिसावेउं ताहे अत्थइ अदूरवदूरेहिं अहवा अविणीओ वि गइपडिबद्धो वा अविओ स वि य पाहुडोत्ति एवमादि दोसा पच्छा नाया ताहे निक्खिप्पइ जोगो तिट्ठाणे णागसुत्तत्थतदुभएसु पडिसेहो कारणो वा असिवाइमतिवाएज्जा एस वायणाकप्पो । पं० चू० ॥

उद्देसणकाल–उद्देशनकाल–पुं० उद्देशसमुद्देशानुज्ञानार्थं षड्वन्दनकदानकायोत्सर्गत्रयसमयप्रसिद्धे क्रियाविशेषे, ध० ३ अधि० ॥ उद्देशनकाला यत्र श्रुतस्कन्धेऽध्ययने च यावन्त्यध्ययनानि उद्देशका वा तत्र तावन्त एव उद्देशनकाला उद्देशावसराः श्रुतोपचाररूपाः इति । " छव्वीसं दसाकप्पववहाराणं उद्देसणकाला पण्णत्ता " । सम० । ते चैव दशाश्रुतस्कन्धस्य दशस्वध्ययनेषु दशसु च कल्पस्य षट्सु च व्यवहारस्योद्देशकेष्विति तैरविधिना गृहीतैः ध० ३ अधि० । षड्विंशतिरुद्देशनकाला दशाकल्पव्यवहाराणं तत्र गाथा " दस उद्देसणकाला, दसाण छच्चेव हुंति कप्पस्स । दस चेव ववहारस्स, दसाकप्पस्स हुंति छव्वीसं " ॥ प्रश्न० सं० ५ द्वा ।

खुड्डियाएणं विमाणपविभत्तीए तइए वग्गे चत्तालीसं उद्देसणकाला पण्णत्ता महालियाएणं विमाणपविभत्तीए तइए वग्गे तेयालीसं उद्देसणकाला पण्णत्ता महालियाएणं विमाणपविभत्तीए चउत्थे वग्गे चोयालीसं उद्देसणकाला पण्णत्ता महालियाएणं विमाणपविभत्तीए पंचमे वग्गे पणयालीसं उद्देसणकाला पण्णत्ता नवण्हं बंभचेराणं एकावण्णं उद्देसणकाला पण्णत्ता ॥

(बंभचेराणंति) आचाराः प्रथमश्रुतस्कन्धाध्ययनानां शस्त्रपरिज्ञादीनाम् । तत्र प्रथमे सप्तोद्देशका इति सप्तैवोद्देशनकाला एवं द्वितीयादिषु क्रमेण षट् चत्वारः षट्सप्तैवमेकपञ्चाशदिति ।

अयारस्स णं सचूलियागस्स पंचासीइ उद्देसणकाला पण्णत्ता ।

तत्राचारस्य प्रथमाङ्गस्य नवाध्ययनात्मकप्रथमश्रुतस्कन्धरूपस्य (सचूलियागस्स इति) द्वितीये हि तस्य श्रुतस्कन्धे पञ्च चूलिकास्तासु च पञ्चमी निशीथाख्येह न गृह्यते भिन्नप्रस्थानरूपत्वात्तस्यास्तदन्याश्चतस्रस्तासु च प्रथमद्वितीये सप्तसप्त्यध्ययनात्मिके तृतीयचतुर्थ्यौ चैकैकाध्ययनात्मिके तदेवं

सह चूलिकाभिर्वर्त्तत इति सचूलिकाकस्तस्य पञ्चाशीतिरु-द्देशनकाला भवन्तीति प्रत्यध्ययनमुद्देशनकालानामेतावत्सं-ख्यत्वात्तथाहि प्रथमश्रुतस्कन्धे नवस्वध्ययनेषु क्रमेण सप्त ष-ट् चत्वारश्चत्वारः षट् पञ्च अष्ट चत्वारः सप्त चेति द्वितीयश्रुत-स्कन्धे तु प्रथमचूलिकायां सप्तस्वध्ययनेषु क्रमेण एकादश त्रयस्त्रयः चतुर्षु द्वौ द्वौ द्वितीयायां सप्तैकसराणि अध्ययना-न्येवं तृतीयैकाध्ययनात्मिका एवं चतुर्थ्यपीति सर्वमीलने पञ्चाशीतिरिति । सम० ॥

उद्देसणा–उद्देसना–स्त्री० वाचनायाम्, पाठने, पं० भा० । अ-न्याचार्य्योपाध्यायोद्देशना ॥

(सूत्रम्) भिक्खू य इच्छिज्जा अन्नं आयरियउवज्झायं विहरित्तए नो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेइयं वा आयरियउवज्झायं उद्दिसावित्तए कप्पइ से आपुच्छित्ता आयरिया जाव गणावच्छेइयं वा अन्नं आयरियउवज्झायं उद्दिसावित्तए ते से वियरिज्जा एवं से कप्पइ अन्नं आयरियउवज्झायं उद्दिसावित्तए नो से कप्पइ तेसिं कारणं अदावित्ता अन्नं आयरियउवज्झायं उद्दिसावित्तए कप्पइ से तेसिं कारणं दीवित्तं अन्नं आयरियउवज्झायं उद्दिसावित्तए ॥

अस्य व्याख्या प्राग्वत् । नवरमन्यदाचार्योपाध्यायमुद्देशयितु-माचार्यश्चोपाध्यायश्चाचार्योपाध्यायं समाहारद्वन्द्वः । यद्वा आचा-र्ययुक्त उपाध्याय आचार्योपाध्यायः शाकपार्थिवत्वान्मध्यमपदलोपी समासः आचार्योपाध्यायावित्यर्थः तावन्यानुद्देशयितुमात्मन इच्छेत् ततो नो कल्पते अनापृच्छ्याचार्यं वा यावद्गणावच्छेदकं वा इत्यादि प्राग्वत् द्रष्टव्यम् तथात्वकल्पने तेषामाचार्यादीनां कारणमदापयित्वा अनिवेश्य अन्यमाचार्योपाध्यायमुद्देशयितुमा-त्मनो गुरुतया व्यवस्थापयितुमेष सूत्रार्थः ।

अथ भाष्यम् ।

सुत्तम्मि कड्ढियम्मि, आयरियउवज्झाय उद्दिसा विंति ।
तिण्हट्ठ उद्दिसिज्जा, णाणे खलु दंसणचरित्ते ।

सूत्रे सूत्रार्थे आकृष्टे उक्तम् । निर्युक्तिविस्तर उच्यते । आचार्यो-पाध्यायमभिनवमुद्देशयन् त्रयाणामर्थायोद्दिशेत् । ज्ञानार्थं दर्श-नार्थं चारित्रार्थं चेति ॥

नाणे महकप्पसुतं, सिस्सित्ते को वि उवगए ।
तस्सट्ट उद्दिसिज्जा, सा खलु सेच्छा ण जिणआणा ॥

ज्ञाने तावदभिधीयते । केषांचिदाचार्याणां कुले गणे वा महा-कल्पश्रुतमस्ति तैश्च गणसंस्थितिः कृता योऽस्माकं शिष्यतया गच्छति तस्यैव महाकल्पश्रुतं देयं नान्यस्य तथोत्सर्गतो नो गन्त-व्यम् यद्यन्यत्र नास्ति तदा तस्य महाकल्पश्रुतस्यार्थाय तमन्या-चार्यमुद्दिशेत् । उद्दिश्य वाऽधीते तस्मिन् पूर्वाचार्याणामेवान्तिके गच्छेन्न तत्र तिष्ठेत् । कुत इत्याह । सा खलु तेषामाचार्याणां स्वेच्छा न जिनाज्ञा नहि जिनैरिदं भणितं शिष्यतयोपगतस्य श्रुतं दातव्यमिति ॥

अथ दर्शनार्थमाह

विज्जामंतनिमित्ते, हेऊ सत्तट्ठदंसणट्ठाए ।
चरित्तट्ठ पुव्वगमो, अहव इमे हुंति आएसा ॥

विद्यामन्त्रनिमित्तार्थं हेतुशास्त्राणां च गोविन्दनिर्युक्तिप्रभृतीना-मर्थाय यद्यन्य आचार्य उद्दिश्यते तद्दर्शनार्थं गन्तव्यं चारित्रार्थं पुनरुद्देशेन पूर्वं प्रागुक्त एव गमो भवति । अथवा तत्रैते आदेशा प्रकारा भवन्ति ।

आयरिओवज्झाए, ओसन्नोहाविते विकारगते ।
ओसन्ने छव्विहे खलु, वत्तमवत्तस्स मग्गणया ॥

आचार्य उपाध्यायो वा अवसन्नः संजातः अवधावितो वा गृह-स्थीभूतः कालं गतो वा यद्यवसन्नस्ततः षड्विधो भवेत् पार्श्वस्थोऽवमग्नः कुशीलः संसक्तो नित्यवासी यथाच्छन्दश्चेति । यश्च तस्य शिष्य आचार्यपदयोग्यः स व्यक्तोऽव्यक्तो वा भवेत् तत्रेयं मार्गणा ।

वत्ते खलु गीयत्थे, अव्वत्ते वयण अहव अगीयत्थे ।
वत्तिच्छसारपेच्छण, अहवा सन्ने सयं गमणं ॥

अत्र चत्वारो भङ्गाः । तत्र वयसा व्यक्तः षोडशवार्षिकः श्रुतेन च व्यक्तो गीतार्थः । एष प्रथमो भङ्गः । वयसा व्यक्तः श्रुतेनाव्यक्त एषोऽर्थतो द्वितीयः । श्रुतेन व्यक्तः वयसा अव्यक्तः । अयमर्थतस्तृतीयः अव्वत्ते वयण अहव अगीयत्थात्ति चतुर्थो भङ्गो गृहीतः स चायं वयसाऽप्यव्यक्तः श्रुतेन चाव्यक्त इति ४ तत्र प्रथमभङ्गे द्विधाऽपि व्यक्तस्य इच्छा अन्यमाचार्यमुद्दिशति तावत् तमासन्नीभूतमाचा-र्यं सारयितुं साधुःसंघाटकं प्रेषयति । अथासन्नः स आचार्यस्ततः स्वयमेव गत्वा नोदयति नोदनायां चैवं कालपरिमाणम् ॥

एगाहपणगपक्खे, चाउम्मासोवरिस जत्थ वा मिलइ ।
चोयइ चोयवेइ वा, णेच्छंते सयं तु वट्ठाओ ॥

एकाहं नाम दिने गच्छो नोदयति एकान्तरितं वा तथा प-ञ्चाहं पञ्चानां दिवसानामन्ते एवं पक्षे चातुर्मासे वर्षान्ते वा यत्र वा समवसरणादौ मिलति तत्र स्वयमेव नोदयति अप-रैर्वा स्वगच्छीयैर्नोदनं कारयति यदि सर्वथापि नेच्छति ततः स्वयमेव तं गणं वर्त्तापयति ।

उद्दिसइ व अन्नदिसं, पयावणट्ठा न संगहट्ठाए ।
जइ णाम गारवेण वि, मुपज्जाणिच्छे सयं वाइ ॥

अथवा स उभयव्यक्तोऽन्यां दिशमपरमाचार्यमुद्दिशति । तच्च तस्यावसन्नाचार्यस्य प्रतापनार्थं न पुनर्गणस्य संग्रहोप-ग्रहनिमित्तं स च तत्र गत्वा भणति । अहमन्यमाचार्यमुद्दि-शामि यदि यूयमितस्थानान्नोपरमध्वे ततः स चिन्तयेत् अ-हो अमी मयि जीवत्यप्यपरमाचार्यं प्रतिपद्यन्ते मुञ्चामि पा-र्श्वस्थतां यदि नामैवं गौरवेणापि पार्श्वस्थत्वं मुञ्चे ततः सुन्दरं अथ सर्वथा नेच्छत्युपरन्तुं ततः स्वयमेव गच्छाधिपत्ये ति-ष्ठति गतः प्रथमो भङ्गः । अथ द्वितीयपदमाह ॥

सुअवत्तो वयावत्तो, भणइ गणं तेन सारितुं सत्ता ।
सारेहिं सगणमेवं, अण्णं च वयाम आयरिअं ॥

यः श्रुतेन व्यक्तो वयसा पुनरव्यक्तः स स्वयं गच्छं वर्त्ताप-यितुमसमर्थः ॥ ततः आचार्यं भणति । अहमप्राप्तवयास्तेन त्वदीयं गणं सारयितुं न शक्तः । अतः सारय स्वगणमेनं अहं पुनरन्यस्य शिष्यो भविष्यामि अथवा अहमेते चान्यमाचार्यं व्रजामः उद्दिशामीत्यर्थः ॥

आयरियउवज्झायं, निच्छंते अप्पणा य असमत्थे ।
तिगसंवच्छरपक्खं, कुलगणसंघे दिसाबंधो ॥

एवं भणित आचार्य उपाध्यायो वा यदि नेच्छति संयमे स्थातुं स्वात्मना गणं वर्त्तापयितुमसमर्थः । ततः कुले सत्कमाचा-र्यमुपाध्यायं वा उद्दिशति । तत्र त्रीणि वर्षाणि तिष्ठति तमा-चार्यं सारयति ततः त्रयाणां परमः स चिन्तादिकं कुलाचार्यो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हरतीति कृत्वा गणाचार्यमुद्दिशति तत्र संवत्सरं स्थित्वा संघाचार्यस्य दिग्बन्धं प्रतिपद्य वर्षार्द्धं षण्मासान् तत्र तिष्ठति । कुलगणाश्च संघं सं क्रामन्नाचार्यमिदं भणति ।

सच्चित्तादिहरंता, कुलंपि णेच्छाम जं कुलं तुज्झ ।
वच्चामो अण्णगणं, संघं च तुमं जइ न वयसि ॥

यत् त्वदीयं कुलं त्वदीया आचार्या अस्माकं वर्षत्रयादूर्ध्वं सचित्तादिकं हरन्ति अतः कुलमपि नेच्छामो यदि त्विदानीमपि न तिष्ठति ततो वयमन्यगणं संघं वा व्रजामः ॥

एवं पि अच्छीयंते, नाहेत्त अठ्ठपंचमे वरिसे ।
संजमे व धारइगणं, अनुलोमेणं च सारेइ ॥

एवमर्द्धपञ्चमे वर्षे पूर्वाचार्यो नोदनाभिः प्रतापितोऽपि यदि न तिष्ठति तत एतावता कालेन स श्रुतव्यक्तो वयमपि व्यक्ता जाता इति कृत्वा स्वयमेव गणं धारयति । यत्र च पूर्वाचार्यं पश्यति तत्रानुलोमवचनैस्तथैव सारयति ।

अहव जइ अत्थि थेरा, सत्तापरिकड्ढिऊण तं गच्छं ।
दुहा वत्तसरिसस्स, तस्स उ गमो मुणेयव्वो ॥

अथवा यदि तस्य श्रुतव्यक्तस्य स्थविरस्तं गच्छं परिवर्तयितुं शक्तस्ततः कुलगणसंघेषु नोपतिष्ठेत किन्तु स स्वयं सूत्रार्थौ शिष्याणां ददाति । स्थविरास्तु गच्छं परिवर्त्तयन्ति एवं च द्विधा व्यक्तसादृश्यस्यास्य गमो ज्ञातव्यो भवति गतो द्वितीयभङ्गः ।

अथ तृतीयं भङ्गमाह ।

वत्तवओ उ अगीओ, जइ थेरा तत्थ केइ गीयत्था ।
ते मंतिए पढंतो, चोएइ असइ अण्णत्थ ॥

यो वयसा व्यक्तः परमगीतार्थस्तस्य गच्छे च यदि केऽपि स्थविरा गीतार्थाः सन्ति ततस्तेषां स्थविराणामन्तिके पठन् गच्छमपि परिवर्तयति अवसन्नाचार्यं चान्तरतो नोदयति तेषां गीतार्थस्थविराणामभावे गणं गृहीत्वा अन्यत्रोपसम्पद्यते गतस्तृतीयो भङ्गः । अथ चतुर्थभङ्गमाह ।

जो पुण उभय अवत्तो, वट्टावग असइ सो उद्दिसई ।
सव्वे वि उद्दिसंता, मोत्तूणं उद्दिसंति इमे ॥

यः पुनरुभयथा श्रुतेन वयसा वा व्यक्तस्तस्य यदि स्थविराः धारयितारो विद्यन्ते । अपरे च गच्छवर्त्तापकास्ततोऽसावपि नान्यमुद्दिशति । स्थविराणामभावे स नियमादन्यमुद्दिशति सर्वेऽपि भङ्गचतुष्टयवर्तिनोऽन्यमाचार्यमुद्दिशतोऽमून् मुक्त्वा उद्दिशन्ति तद्यथा ।

संविग्गमगीयत्थं, असंविग्गं खलु तहेव गीयत्थं ।
असंविग्गमगीयत्थं, उद्दिसमाणस्स चउगुरुगा ॥

संविग्नमगीतार्थमसंविग्नं गीतार्थमसंविग्नमगीतार्थं चेति त्रीनप्याचार्यत्वेनोद्दिशतश्चतुर्गुरुकाः एतेन यथाक्रमं कालेन तपसा तदुभयेन चतुर्गुरुकाः कर्तव्याः । अथैवं प्रायश्चित्तवृद्धिमाह ॥

सत्तरत्तं तवो होइ, तओ छेओ य हावई ।
तेणच्छिण्णपरीआए, तओ मूलं तओ दुगं ॥

एतानयोग्यानुद्दिशतो वर्तमानस्य प्रथमं सप्तरात्रं चतुर्गुरु, द्वितीयं सप्तरात्रं षड्लघु तृतीयं षड्गुरु, चतुर्थे चतुर्गुरुकच्छेदः । पञ्चमे षड्लघुकः षष्ठे षड्गुरुकस्तत एकदिवसे मूलं द्वितीये अनवस्थाप्यं तृतीये पाराञ्चिकम् । अथवा षड्गुरुकतपोऽनन्तरं प्रथमत एव सप्तरात्रं षड्गुरुकच्छेदस्ततो मूलानवस्थाप्यपाराञ्चिकानि प्राप्नुवत् । यद्वा तपोऽनन्तरं पञ्चकादिच्छेदः सप्तसप्तदिनानि भवन्ति तेषां प्रायश्चित्तं विज्ञाय संविग्नो गीतार्थः उद्देष्टव्यः । तत्रापि विशेषमाह ।

छट्ठाणविरहियं वा, संविग्गं वा वि वयइ गीयत्थं ।
चउरो य अणुग्घाया, तत्थ वि आणाइणो दोसा ॥

षड्भिः स्थानैर्वक्ष्यमाणैर्विरहितमपि संविग्नं गीतार्थं यदि स दोषकायिकादिसहितं न वदति आचार्यत्वेन उद्दिशति तदा चत्वारोऽनुद्घातास्तत्राप्याज्ञादयो दोषाः । इदमेव व्याचष्टे ॥

छट्ठाणजोणियगो, तत्थ रहियकाइयाइ ता चउरो ।
तं चिय उद्दिसमाणो, छट्ठाणगयाण जे दोसा ॥

षट्स्थानानि नाम पार्श्वस्थः अवसन्नः कुशीलः संसक्तो यथाच्छन्दो नित्यवासी चेति एतैः षड्भिर्विरहिता ये कथिकादयः कथिकप्राश्निकनामाकसम्प्रसारकाख्याश्चत्वारस्तानप्युद्दिशतस्त एव दोषा ये षट्स्थानेषु पार्श्वस्थादिषु गतानां प्रविष्टानां भवन्ति । एष सर्वोऽप्यवसन्ने आचार्ये विधिरुक्तः । अथावधावितकालगतयोर्विधिमाह ॥

ओहावियकालगते, जो अव्वत्तो स उद्दिसावेत्ति ।
अव्वत्ते तिविहे वा, णियमा पुण संगहट्ठाए ॥

अवधाविते कालगते वा गुरौ त्रिविधेऽपि प्रथमभङ्गवर्जे भङ्गत्रयेऽपि योऽव्यक्तः स यदा इत्थं भवति तदा अन्यमाचार्यमुद्दिशति अथवा त्रिविधेऽपि कुलसत्के गणसत्के संघसत्के वाचार्योपाध्याये आत्मना उद्देशं कारयति स चाव्यक्तत्वान्नियमात् संग्रहोपग्रहार्थमेवोद्दिशति आचार्यं गृहीभूतमवसन्नं वा यदा पश्यत्तदेत्थं भणति ।

ओहाविय ओसन्ने, भणइ अणाहो वयं विणा तुज्झे ।
कमसासमसागारिए, दुप्पडिएगंततो तिण्हं ॥

अवधावितस्यावसन्नस्य वा गुरोः क्रमयोः शीर्षं सागारिके प्रदेशे कृत्वा भणति भगवन् अनाथा वयं युष्मान् विना अतः प्रसीद भूयः संयमे स्थित्वा समाधीकुरु निजकल्पानस्मान् । शिष्यः पृच्छति तस्य गृहीभूतस्याचारित्रस्य वा चरणयोः कथं शिरो विधीयते गुरुराह–दुष्प्रतिकरं दुःखेन प्रतिकर्त्तुं शक्यं यतस्त्रयाणां तद्यथा मातापित्रोः स्वामिनो धर्माचार्यस्य च यदुक्तं "तिण्हं दुप्पडिआरं समणाउसो अम्मापिउस्स भट्टिस्स धम्मायरियस्स य इत्यादि" । तत एवमवसन्नेऽवधाविते वा गुरौ विनयो विधीयते । किञ्च ।

जो जेण जम्मि ठाणम्मि, ठाविओ दंसणे व चरणे वा ।
सो तं तओ चुत्तं-म्मिवि, काउं भवे निरणो ॥

यो येनाचार्यादिना यस्मिन् स्थापितस्तद्यथा । दर्शने वा चरणे वा स शिष्यस्तं गुरुं ततो दर्शनाद्भ्रष्टं तत्रैव दर्शने चरणे वा स शिष्यस्तं गुरुं कृत्वा स्थापयित्वा अनृण ऋणमुक्तो भवति । कृतप्रत्युपकार इत्यर्थः । अथ "कप्पइ तेसिं कारणं दीविता इत्यादि" सूत्रावयवं व्याचष्टे ।

भिक्खु वि दीवियकज्जा, विमाउंजता जइ अ तत्थ तं णत्थि ।
णिक्खिवइ वयंति दुवे, भिक्खुकिंदाणि भिक्खिवत ॥

त्रिष्वपि ज्ञानदर्शनचारित्रेषु भजन्तो भिक्षुप्रभृतयो दीपितकार्याः पूर्वोक्तविधिना निवेदितवन्तः स्वप्रयोजनेन गुरुणा विसर्जिता गच्छन्ति । यदि च तत्र गच्छे तदवसन्नादिकं कारणं नास्ति तत उपसंपद्यते नान्यत्रेति ।

(सूत्रम्) गणावच्छेदइए य इच्छिज्जा अन्नं आयरियउवज्झायं

उद्दिसावित्तए नो से कप्पइ गणावच्छेइयत्तं अनिक्खिवित्ता अन्नं आयरियउवज्झायं उद्दिसावित्तए कप्पइ से गणावच्छेइयत्तं णिक्खिवित्ता अन्नं आयरियउवज्झायं उद्दिसावित्तए नो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेइयं वा ३ अन्नं उद्दिसावित्तए कप्पइ से आपुच्छित्ता जाव उद्दिसावित्तए नो से कप्पति तेसिं कारणं अदीवित्ता अन्नं आयरिओवज्झायं उद्दिसावित्तए कप्पइ से तेसिं कारणं दीवित्ता अन्नं जाव उद्दिसावित्तए कप्पइ आयरियउवज्झाए य इच्छेज्जा । अन्नं आयरिओवज्झायं उद्दिसावेत्तए । नो से कप्पइ आयरियउवज्झाए तं अनिक्खिवित्ता अन्नं आयरियउवज्झायं उद्दिसावित्तए कप्पइ आयरियउवज्झाइत्तं निक्खिवित्ता अन्नं आयरियउवज्झायं उद्दिसावित्तए णो से कप्पति अणापुच्छित्ता । आयरियं वा जाव गणावच्छेइयं वा ॥ अन्नं आयरियउवज्झायं उद्दिसावेत्तए कप्पति से आपुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेइयं वा अन्नं आयरियउवज्झायं उद्दिसावेत्तए य तं से वितरंति एवं से कप्पति एवं नो से कप्पइ जाव विहरित्तए तेसिं कारणं अदीवेत्ता अन्नं आयरियउवज्झायं उद्दिसावित्तए कप्पइ तेसिं कारणं दीवित्ता जाव उद्दिसावित्तए ॥

सूत्रद्वयव्याख्या प्राग्वत् अथ भाष्यम् "निक्खिवयवयाति द्दुवे इत्यादि" पश्चार्द्धे द्वौ गणावच्छेदकौ आचार्य उपाध्यायश्च यथाक्रमं गणावच्छेदित्वमाचार्यत्वमुपाध्यायत्वं निक्षिप्य व्रजन्तु यस्तु भिक्षुः स किमिदानीं निक्षिपतु गणाभावात् किमपि तस्य निक्षेपणीयमस्ति तस्य निक्षेपणं नोक्तमिति भावः । अथ गणावच्छेदकाचार्ययोर्गणनिक्षेपणविधिमाह ॥

दुण्हट्ठाए दुण्हवि, णिक्खिवणं होइ उज्जमंतेसु ।
सीयंतेसु य सगणा, वचइ मा ते विणासिज्जा ॥

द्वयोर्ज्ञानदर्शनयोरर्थाय गतयोर्द्वयोरपि गणावच्छेदकाचार्ययोः स्वगणस्य निक्षेपणं ये उद्यच्छन्तः संविग्ना आचार्यास्तेषु भवति अथ सीदन्तस्ते ततस्तं स्वगणं गृहीत्वा व्रजन्ति न पुनस्तेषामन्तिके निक्षिपन्ति । कुत इत्याह मा ते शिष्यास्तत्र मुक्ताः सन्तो विनश्येयुः । इदमेव भावयति ॥

वसम्मि जो गमो खलु, गणवच्छे सो गमो उ आयरिया ।
निक्खिवणे तम्मि चत्ता, जमुद्दिसे तम्मि ते पच्छा ॥

यो गम उभयव्यक्तं भिक्षाबुक्तः स एव गणावच्छेदके आचार्ये च मन्तव्यः । नवरं गणनिक्षेपं कृत्वा तावारमद्वितीयावात्मतृतीयो वा वर्त्तते ततः स्वगच्छे एव यः संविग्नो गीतार्थः आचार्यादिस्तत्रात्मीयसाधून्निक्षिपति। अथासंविग्नस्य पार्श्वे निक्षिपति ततस्ते साधवः परित्यक्ता मन्तव्याः तस्मान्न निक्षेपणीयाः किन्तु येन केन प्रकारेणात्मना सह नेतव्यास्ततोऽयमाचार्यः सगणावच्छेदक आचार्यो यमुद्दिशति तस्मिन् तान् आत्मीयसाधून् पश्चान्निक्षिपति । यथाहं युष्माकं शिष्यस्तथा इमेऽपि युष्मदीयाः शिष्या इति भावः । इदमेवाह ।

जह अप्पगं तहा ते, ते ण य हप्पंत तेण घेत्तव्वा ।
अपहुप्पंते गिण्हइ, संघाडं मुत्तु सव्वे वा ॥

यथा आत्मानं तथा तानपि साधून्निवेदयति तेनाप्याचार्येण प्रमाणेषु साधुषु ते प्रतीच्छकाचार्यसाधवो न ग्रहीतव्याः तस्यैव तान् प्रत्यर्पयति । अथ वास्तव्याचार्यस्य साधवो न पूर्यन्ते ततः एकं संघाटकं तस्य प्रयच्छति तं मुक्त्वा शेषानात्मना गृह्णाति । अथ वास्तव्याचार्यः सर्वथैवासहायस्ततः सर्वानपि गृह्णाति ॥

सुह असुहस्स वि तेण वि, वेयावच्चाइसव्वकायव्वं ।
तेतेसि अणाए सा, वावारेउं न कप्पंति ॥

तेनापि प्रतीच्छकाचार्येणाऽपि तस्याचार्यस्य सहिष्णोरसहिष्णोर्वा वैयावृत्त्यादिकं सर्वमपि कर्त्तव्यं तेऽपि साधवस्तेषामाचार्याणामादेशानन्तरेण व्यापारयितुं न कल्पन्ते । वृ०४ उ ॥

उद्देसिय (उ) –औद्देशिक– न० उद्देशनमुद्देशः यावदर्थिकाद्यिप्रणिधानमित्युद्गमदोषस्तेनोद्गमेन निर्वृत्तं तत्प्रयोजनं चौद्देशिकम् । द्वितीयोद्गमदोषदुष्टे भक्तादौ, तद्भेदोपचारात् द्वितीयोद्गमदोषे च । पंचा० १३ विव० । पिं० । प्रव० । द० । स्था० ।

अस्य निर्युक्तिर्यथा—

उद्देसिअसाहुमाई, ओमचए तिक्खुविअरणं जं च ।
उच्चरियं मीसेउ, तविअं उद्देसिअं तं तु ॥ ४४ ॥

उद्दिश्य वाचा साध्वादीन्निर्ग्रन्थशाक्यादीनवमात्यर्थे दुर्भिक्षापगमे भिक्षावितरणं प्राभृतकादीनां यत उद्दिष्टौद्देशिकम् यच्चोद्धरितमोदनादि मिश्रयित्वा व्यञ्जनादिना वितरणं तत्कृतौद्देशिकं यच्च तप्त्वा गुडादिना मोदकचूरीबन्धवितरणं तत्कर्मौद्देशिकमित्येवं चेतसि निधाय सामान्येनोपसंहरन्नौद्देशिकं तदेतत् तुशब्दः स्वगतभेदविशेषणार्थ इति गाथार्थः । पं० व० । साधुयोगे सति यदुद्दिश्य कृत्वा दीयते तदौद्देशिकम् । उत्त० २४ अ० । आधाकर्मिके, कल्प० । यत्पूर्वमेव सक्तूचूर्णकादि साधूनुद्दिश्य पुनरपि संततगुडादिना संस्क्रियते तदुद्देशिकम् । आचा० २ श्रु० २ अ० । "उद्देसियं तु कम्मं एत्थं उद्दिस्स कीरए जंति" पंचा० १७ विव० । अर्थिनः पाखण्डिनः श्रमणान्वोद्दिश्य दुर्भिक्षात्ययादौ यद्भक्तं वितीर्यते तदौद्देशिकमिति स्था०ठा०।

तद्भेदा यथा तच्च समासतो द्विधा भवति । द्वैविध्यमाह ॥

ओहेण विभागेण, उहवप्पं तु बासयविभागे ।
उद्दिट्ठकडेकम्मे, एक्केक्के चउक्कओ भेओ ॥

द्विविधमौद्देशिकं तद्यथा ओघेन विभागेन च । तत्र ओघः सामान्यं विभागः पृथक् करणम् । इयं चात्र भावना नादत्तमिह किमपि लभ्यते ततः कतिपयां भिक्षां दद्म इति बुद्ध्या कतिपयाधिकतन्दुलादिप्रक्षेपेण यन्निर्वर्तितमशनादि तदोघौद्देशिकम् ओघेन सामान्येन स्वपरपृथग्विभागकरणाभावरूपेणौद्देशिकमोघौद्देशिकमिति व्युत्पत्तेस्तथा विवाहप्रकरणादिषु यदुद्धरितं तत् पृथक् कृत्वा दानाय कल्पितं सद्विभागौद्देशिकं विभागेन स्वसत्ताया उत्तीर्य पृथक्करणेनौद्देशिकं विभागौद्देशिकमिति व्युत्पत्तेः तत्र ओघ ओघविषयमौद्देशिकं तत्स्थाप्यंनात्र व्याख्येयं किं त्वग्रे व्याख्यास्य इति भावः । यत्तु विभागविषयं तद् (बासत्ति) सूचनात्सूत्रमिति न्यायाद् द्वादशप्रकारम् । द्वादशप्रकारतामेव सामान्यतः कथयति (उद्दिट्ठेत्यादि) प्रथमतस्त्रिधा विभागौद्देशिकम् । तद्यथा उद्दिष्टं कृतं कर्म्म चात्र स्वार्थमेव निष्पन्नमशनादिकं भिक्षाचराणां दानाय पृथक् कल्पितं तदुद्दिष्टम् । यत् पुनरुद्धरितं सत्स्थाल्योदनादिकं भिक्षादानाय करम्बादिरूपतया भक्तं तत्कृतमित्युच्यते । यत्पुनर्विवाहप्रकरणादावुद्धरितं मोदकचूर्णादि तद् भूयोऽपि भिक्षाचराणां दानाय गुडपाकादिना मोदकादि कृतं तत्कर्मेत्यभिधीय

ते । एकैकस्मिंश्च उद्दिष्टादिकभेदे चतुष्कको वक्ष्यमाणश्चतुःसंख्या भेदो भवति । ययश्चतुर्भिर्गुणिता द्वादश ततो विभागोद्देशिकं द्वादशधा । संप्रत्योघोद्देशिकस्य पूर्वस्थापिततया मुक्तस्य प्रथमतः संभवमाह ॥

जीवामु कहंचि उमे, नियमं भिक्खाविता कइदमोहे ।
दिटु नत्थि अदिन्नं सु-ज्जइ अकयं न य फलेइ ॥

इह भिक्षान्तरं कचित् गृहस्था एवं चिन्तयन्ति । कथमपि महता कष्टेन जीविता वयमदुर्भिक्षे ततो नियतं प्रतिदिवसं भिक्षां दद्मो यतो हु निश्चितं हन्दीति स्वसंबोधने नास्त्येतत् यदुत भवान्तरं अदत्तमिह जन्मनि भुज्यते नापीह भवे अकृतं शुभं कर्म परलोके फलति । तस्मात्परलोकाय कतिपयभिक्षाप्रदानेन शुभं कर्मोपार्जनीयमित्यर्थौद्देशिकसंभवः ।

संप्रत्योघौद्देशिकस्वरूपं कथयति ॥

सा उ अविसेसियम्मेव, भत्तम्मि तंदुले छुहइ ।
पासंडीण गिहीण व, जो एहि इयस्स भिक्खट्ठा ॥

सा तु गृहनायिका योषित्प्रतिदिवसं यावत्प्रमाणं भक्तं पच्यते तावत्प्रमाण एव भक्ते पक्तुमारभ्यमाणे पाखण्डिनां गृहिणां वा मध्ये यः कोऽपि समागमिष्यति तस्य भिक्षार्थं भिक्षादानार्थमविशेषितमेव । स्वार्थमेतावदेतावच्च भिक्षादानार्थमित्येवं विभागरहितमेव तन्दुलानधिकतरान् प्रक्षिपति एतदर्घौद्देशिकम् । अत्र परस्य पूर्वपक्षमाशङ्क्योत्तरमाह ।

छउमत्थो उद्देसं, कहं वियाणाइ चोइए य भणइ ।
उवउत्तो गुरु एवं, गिहत्थसद्दाइ चेट्ठाए ॥

छद्मस्थः केवली कथमोघौद्देशिकं पूर्वोक्तस्वरूपं विजानाति न ह्येवं छद्मस्थेन ज्ञातुं शक्यते यथा स्वार्थमारभ्यमाणे पाके भिक्षादानाय कतिपयतन्दुलप्रक्षेप आसीदिति । एवं नोदिते प्रेरणे कृते गुरुर्भणति । एवं वक्ष्यमाणप्रकारेण गृहस्थशब्दादिचेष्टायामुपयुक्तो दत्तावधानो जानातीति । एतदेव भावयति ।

देमा उ ताउ पंच वि, रेहा उ करेइ देइव गणंती ।
देहइ उ मा य इओ, अवणेहय एत्तिया भिक्खा ॥

यदि नाम भिक्षादानसंकल्पतः प्रथमत एवाधिकतन्दुलप्रक्षेपः कृतो भवेत्तर्हि प्राय एवं गृहस्थानां चेष्टाविशेषा भवेयुः यथा दत्तास्ताः पञ्चापि भिक्षाः । इयमत्र भावना । कोऽपि गृहे भिक्षार्थं प्रविष्टाय साधवे तत्स्वामी निजभार्यया भिक्षां दापयति सा च साधौ शृण्वति एवेत्यं प्रत्युत्तरं ददाति । यथा ताः प्रतिदिवसं संकल्पिताः पञ्चापि भिक्षा अन्यभिक्षाचरेभ्यो दत्ता इति । यद्वा भिक्षां ददन्ती दत्तभिक्षापरिगणनाय भित्त्यादिषु रेखां करोति । अथवा प्रथमेयं भिक्षा द्वितीयेयं भिक्षेत्येवं गणनाय ददाति यदि वा काचित् कस्या अपि सन्मुखमेवं भणति यथा अस्मदुद्दिष्टभक्तस्थालपिठरकादेर्भक्त्यादेहि मा इत इति । अथवा प्रथमतः साधौ विवक्षितगृहे भिक्षार्थं प्रविष्टे काचित् कस्याः संमुखमेवमाह अपनय पृथक् कुरु विवक्षितात्स्थानादेतावतीं भिक्षां भिक्षाचरेभ्यो दानायेति । तत एवमुल्लापश्रवणरेखाकर्षणादिदर्शनेनैव छद्मस्थेनाप्योघौद्देशिकं ज्ञातुं शक्यते ज्ञात्वा च परिह्रियते । ततो न कश्चिद्दोषः अत्र चायं वृद्धसंप्रदायः । संकल्पितासु दत्तासु पृथग्कृतासु वा शेषमशनादिकं कल्प्यमवसेयमिति इह उपयुक्तः सन् शुद्धमशुद्धं वा आहारं ज्ञातुं शक्नोति । तानुपयुक्तस्ततो गोचरविषयां समान्यत उपयुक्ततां प्रतिपादयति ॥

सद्दाइएसु साहू मुच्छं न करेज्ज गोयरगओ य ।
एसणजुत्तो होज्जा, गोणीवच्छो गवत्तेव्व ॥

इह साधुर्गोचरीं गतो भिक्षार्थं प्रविष्टः सन् शब्दादिषु शब्दरूपरसादिषु मूर्च्छां न कुर्यात् किंत्वेषणायुक्त उद्गमादिदोषगवेषणाभियुक्तो भवेत् यथा गोवत्सो (गव्वात्ति) गोभक्त इव । गोवत्सदृष्टान्तमेव गाथाद्वयेन भावयति ।

ऊसवमंडणवग्गा, न पाणियं वच्छए न वा चारो ।
वणियागमअवरण्हे, वच्छगरडणं खरंटणया ॥
पंचविह विसयसोक्खे, खणी वहू समहियं गिहं तं तु ।
न गणेइ गोणिवच्छा, मुच्छियगढिओगवत्तम्मि ॥

गुणालयं नाम नगरं तत्र सागरदत्तो नाम श्रेष्ठी तस्य भार्या श्रीमती नाम श्रेष्ठिना च पूर्वतरं जीर्णमन्दिरं भङ्क्त्वा प्रधानतरं मन्दिरं कारयामासे । तस्य चत्वारस्तनयास्तद्यथा गुणचन्द्रो गुणसेनो गुणधर्मो गुणशेखरश्च । एतेषां च तनयानां क्रमेण चतस्र इमा वध्वस्तया प्रियङ्गुलतिका प्रियंगुरुचिका प्रियंगुसुन्दरी प्रियंगुसारिका च । कालेन च गच्छता श्रेष्ठिनो भार्या मरणमुपजगाम । ततः श्रेष्ठिना प्रियंगुलतिकैव सर्वगृहसंभारे समारोपिता गृहे च सवत्सा गौर्विद्यते तत्र गौर्दिवसे बहिर्गत्वा चरति वत्सस्तु गृह एव बद्धोऽवतिष्ठते । तस्मै चारिं पानीयं च चतस्रोऽपि वध्वो यथायोगं प्रयच्छन्ति । अन्यदा च गुणचन्द्रप्रियंगुलतिकापुत्रस्य गुणसागरस्य विवाहदिवस उपतस्थे । ततस्ताः सर्वा अपि वध्वस्तस्मिन् दिने सविशेषमाभरणविभूषिताः स्वपरमण्डनादिकरणव्यापृता अभूवन् । ततो वत्सस्तासां विस्मृतिं गतो न काचिदपि तस्मै पानीयादि ढौकितवती । ततो मध्याह्ने श्रेष्ठी यत्र प्रदेशे वत्सो वर्तते तत्र कथमपि समायातः वत्सोऽपि च श्रेष्ठिनमायान्तं पश्यन्नारटितुमारब्धवान् ततो ज्ञातं श्रेष्ठिना यथाद्यापि वत्सो बुभुक्षितस्तिष्ठतीति । ततः कुपितेन तेन ताः सर्वा अपि पुत्रवध्वो निर्भर्त्सयामासिरे ततस्त्वरितं प्रियंगुलतिका अन्या च यथायोगं चारिं पानीयं च गृहीत्वा वत्साभिमुखं चचाल वत्सश्च ताभिः सुरसुन्दरीभिरिव समलंकृतमपि तादृशं गृहं नावलोकते नापि ताः सरागदृष्ट्या परिभावयति । किं तु तामेव चारिं पानीयं वा समानीयमानं सम्यक्परिभावयति । सूत्रं सुगमं नवरं (पंचविहेत्यादि) पञ्चविधविषयसौख्यस्य खनय इव खनयो या वध्वस्ताभिः समधिकमतिशयेन रमणीयतथा अधिकतरं तद्गृहं न गणयति न दृष्ट्वा परिभावयति नापि ता वधूरेवं साधुरपि भिक्षार्थमटन् रमणीं नावलोकयेत् नापि गीतादिषु चित्तं बध्नीयात् किंतु भिक्षामात्रानयनादानायुपयुक्तो भवेत् । तथा च सति जानाति शुद्धमशुद्धं वा भक्तादिकम् तथाचाह ।

गमणागमणुक्खेवे, भासियसोयाइइंदियाउत्तो ।
एसणमणेसणे वा, तह जाणइ तम्मणो समणो ॥

गमनं साधोर्भिक्षादानार्थं भिक्षानयनाय दात्र्या व्रजनम् आगमनं भिक्षां गृहीत्वा साधोरभिमुखं चलनम् । उत्क्षेपो भाजनादीनामूर्ध्वमुत्पाटनमुपलक्षणमेतत्तेन निक्षेपपरिग्रहस्ततो गमनादिपदानां समाहारो द्वन्द्वस्तस्मिन् । तथा भाषितेषु जल्पितेषु देहि भिक्षामस्मै साधवे इत्यादिरूपेषु श्रोत्रादिभिरिन्द्रियैरुपयुक्तस्तथा वत्स इव तन्मनाःस्वयोग्यभक्तपानाय परिभावनमनाः सन् श्रमण एषणामनेषणां वा सम्यग्जानाति ततो न कश्चिद्दोषः । उक्तमोघौद्देशिकम् । सम्प्रति विभागौद्देशिकं विभाणिषुः प्रथमतस्तावत्तस्य संभवमाह ॥

महईए संखडीए, उव्वरियं कूरवंजणाईयं ।
पउरं दट्ठूण गिही, भणइ इमं देहपुन्नट्ठा ॥

इह संखडि नाम विवाहादिकप्रकरणं संखण्डयन्ते व्यापा-

(साहणंति) कथनं करोति वाशब्दो यदि साधवो बहुप्रमाणास्तत एकस्यावस्थानमिति सूचनार्थं स सर्वेभ्यो निवेदयति यथात्रास्मिन् गृहेऽद्याऽपिपुरनेषणा वर्तत इति । एवमपि यैः संघाटकैः कथमपि न ज्ञातं भवति तेषां परिज्ञानायायमाह ।

मा एयं देह इमं, पुट्ठे सिट्ठम्मि तं परिहरंति ।
जं दिन्नं तं दिन्नं, संपइ देहि गिएहंति ॥

साधुनिमित्तं कुतोऽपि स्थानाद् भिक्षामाददती कयाचिन्निषिध्यते मा एतद्देहि किंचिद्विवक्षितभाजनस्थं देहि तत एवं कृते निषेधिते साधुः पृच्छति किमेतन्निषिध्यते किं वा इदं दास्यते इति ततः सा आह । इदमेव दानाय कल्पितम् नेदमिति तत एवं शिष्टे कथिते साधवस्तत्परिहरन्ति । यदि पुनर्यद्दत्तं तद्दत्तं मा शेषं संप्रति दद्यादिति निषिध्यात्मार्थीकृतमौद्देशिकं भवति तदा तत्कल्पते इति कृत्वा गृह्णन्ति तदेवमुक्तमुद्दिष्टौद्देशिकम् । संप्रति कृतौद्देशिकस्य संभवहेतून् स्वरूपं च प्रतिपादयति ।

रसभायणहेउं वा, मा कुच्छीहिंइमा सुहं च दाहामि ।
दहिमाई आयत्तं, करेइ कूरं करं एयं ॥
मा कोहिंति अवन्नं, परिकट्टम्मि यं व दिज्जइ सुहं तु ।
वियरेण फालिएण व, मिट्ठेण समं तु वट्टंति ॥

रसेन दध्यादिना रुद्धमिदं भाजनं तस्मादेतेन दध्यादिना यदुद्धरितं शाल्योदनादि तत् करम्बीकृत्य इदं भाजनं करोमि येनान्यत्प्रयोजनमनेन क्रियते इति । रसभाजनहेतोर्यद्वा इदं दध्यादिना अमिश्रितं कथिष्यते । न च कथितं पाषण्ड्यादिभ्यो दातुं शक्यते । यद्वा दध्यादि सन्मिश्रमेकेनैव प्रयासेन सुखं दीयत इत्यादिना कारणजातेन दध्याद्यायत्तं दध्यादिसन्मिश्रं करोति करम्बौदनम् । एतत् कृतं ज्ञातव्यम् । तथा यदि भिन्नं भिन्नं मोदकाशोकवर्त्यादिचूर्णं दास्यामि ततो मे पाषण्ड्यादयोऽवर्णमश्लाघां करिष्यन्ति यद्वा परिकट्टालितमेकत्र पिण्डीकृतं सुखेन दीयते । अन्यथा क्रमेण मोदकाशोकवर्त्यादिचूर्णैः स्वस्वस्थानादानीयानीय दाने भूयान् गमनागमनप्रयासो भवति । अपान्तराले सा चूर्णिर्हस्तात् क्षरित्वा पतति ततो विकटेन मद्येन देशविशेषापेक्षमेतद्यद्वा फाणितेन कक्कवादिना यद्वा स्निग्धेन घृतादिना मोदकचूर्णादिसमं वर्तयति पिण्डतया बध्नन्ति । अत्र द्वयोर्गाथयोः पूर्वार्द्धाभ्यां संभवहेतव उक्ता उत्तरार्द्धाभ्यां तु स्वरूपम् । संप्रति कर्मौद्देशिकस्य संभवहेतून् स्वरूपं चातिदेशेनाह ।

एमेव य कम्मम्मि वि, उण्हवणे तत्थ नवरि नाणत्तं ।
तावियविलीणएणं, मोयगचुन्नी पुणक्करणं ॥

यथा कृतस्य संभवस्वरूपं चोक्तमेवं कर्मण्यपि द्रष्टव्यं नवरं तत्र कर्मणि उष्णापने उष्णीकरणे नानात्वं विशेषस्तथा हि तापितविलीनेन तापितेन विलीनेन च गुडादिना मोदकचूर्णैः पुनर्मोदकत्वेन करणं नान्यथा तथा तु वर्यादि भक्तमपि रात्र्युषितं द्वितीयदिने भूयः संस्कारापादनेन कर्मतया निष्पाद्यमानं नाग्निमन्तरेण निष्पाद्यते ततोऽवश्यं कर्मण्युष्णापने नानात्वम् । संप्रत्यत्रैव कल्प्याकल्प्यविधिमाह ॥

असुगंति पुणो रद्धं, दाहमकप्पं तमारओ कप्पं ।
खेत्ते अंतो बाहिं, कालेसु इत्थं परेवं वा ॥

भिक्षार्थं प्रविष्टं साधुं प्रति यदि गृहस्थो भणति यथान्यस्मिन् गृहे विहृत्य व्यावर्त्तमानेन त्वया भूयोऽपि मद्गृहे समागन्तव्यं यतोऽहममुकं मोदकचूर्णादि भूयोऽपि खण्डगुडपाकादिदानेन मोदकादि कृत्वा दास्यामि एवमुक्ते तथा कृत्वा चेद्ददाति तर्हि तन्न कल्पते कर्मौद्देशिकत्वात् । आरात् भूयः पाकारम्भादर्वाक् पुनः कल्प्यं दोषाभावात् । तथा क्षेत्रेऽन्तर्बहिर्वा काले स्वस्तनं परतरदिनभवं वा अकल्प्यमारतः कल्प्यम् । इयमत्र भावना । यद् गृहस्यान्तर्बहिर्वा मोदकचूर्णादिकं मोदकादितया उपस्करिष्यामि कालविवक्षायां यद्द्य श्वः परतरे वा दिने भूयोऽपि पक्ष्यामि तत्तुभ्यं दास्यामीत्युक्ते तथैव चेत् कृत्वा ददाति ततो न कल्पते भूयोऽपि पाकादारतस्त्वसंसक्तं कल्पते ॥ तथा चाह ॥

जं जह व कयं दाहं, तं कप्पइ आरओ तहा अकयं ।
कय पाकमाणिट्ठत्त-ट्ठियं पि जावंति यं मोत्तुं ॥

यत्सामान्यतो द्रव्यं यद्वा यथा क्षेत्रनिर्द्धारणेन वा भूयोऽपि कृतं दास्यामीत्युक्ते तथैव कृते चेद्ददाति तदा न कल्पते तथा अकृते तु भूयोऽपि पाकादारतः कल्पते । यत्तु निर्द्धारितक्षेत्रकालव्यतिकरेण पच्यते तत्र दातुं संकल्पितमिति कल्पते यत्तु क्षेत्रे कालनिर्द्धारणमविवक्षिते च सामान्यतो भूयोऽपि पक्त्वा दास्यामीति संकल्पितं तदन्तर्बहिर्वा श्वस्तने परतरदिने वा न कल्पते । अथ कर्मौद्देशिकं कृतपाकमात्मार्थीकृतमपि यावदर्थिकं मुक्त्वा शेषमनिष्टं नानुज्ञातं तीर्थकरगणधरैर्यावदर्थिकं त्वात्मार्थीकृतं कल्पते । अथ आधाकर्मकर्मौद्देशिकयोः परस्परं प्रतिविशेष उच्यते । यत्प्रथमत एव साध्वर्थं निष्पादितं तदाधाकर्म यत् पुनाराद्धं सद् भूयोऽपि पाककरणेन संस्क्रियते तत् कर्मौद्देशिकमिति । उक्तमौद्देशिकद्वारम् ॥ पिं० । दर्श० । नि० चू० । प्रव० । पंचा० । ग० । ध० । जीत० । व्य० ।

असणं पाणगं वा वि, खाइमं साइमं तहा ।
जं जाणिज्ज सुणिज्जा वा, दाणट्ठा पगडं इमं ॥ ४७ ॥

अशनं पानकं वापि खाद्यं स्वाद्यम् अशनमोदनादि पानकं वारनालादि खाद्यं लड्डुकादि स्वाद्यं हरीतक्यादि यज्जानीयादामन्त्रणादिना शृणुयाद्वा अन्यतः यथा दानार्थं प्रकृतमिदं दानार्थं प्रकृतं नाम साधुवादनिमित्तं यो ददात्यव्यापारपाषण्डिभ्यो देशान्तरादेरागतो वणिक्प्रभृतिरिति सूत्रार्थः ।

तारिसं भत्तपाणं तु, संजयाणं अकप्पियं ।
दिंतियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ४८ ॥

तादृशं भक्तपानं दानार्थं प्रवृत्तव्यापारं संयतानामकल्पिकं यतश्चैवमतः ददतीं प्रत्याचक्षीत न मम कल्पते तादृशमिति सूत्रार्थः ।

असणं पाणगं वा वि, खाइमं साइमं तहा ।
जं जाणिज्ज सुणिज्जा वा, पुन्नट्ठा पगडं इमं ॥ ४९ ॥
तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाणं अकप्पियं ।
दिंतियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ५० ॥
असणं पाणगं वा वि, खाइमं साइमं तहा ।
जं जाणिज्ज सुणिज्जा वा, वणिमट्ठा पगडं इमं ॥ ५१ ॥
तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं ।
दिंतियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ५२ ॥
असणं पाणगं वा वि, खाइमं साइमं तहा ।
जं जाणिज्ज सुणिज्जा वा, समणट्ठा पगडं इमं ॥ ५३ ॥
तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं ।
दिंतियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ५४ ॥
उद्देसियं कीयगडं, पूइकम्मं च आहडं ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

खन्ते प्राणिनोऽस्यामिति संखडिरिति व्युत्पत्तेस्तस्यां संखड्यां यदुद्धरितं कूरभक्तादिकं शाल्योदनदध्यादिकं प्रचुरं तदृष्ट्वा गृही भणति स्वकुटुम्बतृप्तिकारकमेतत् यथा इदं देहि पुण्यार्थं भिक्षाचरेभ्यः । तत्र यदा तथैव ददाति तदा तदुद्दिष्टं यदा तु तद्देयं करम्बादिकं करोति तदा तत्कृतं यदा तु मोदकादिचूर्णप्रायोऽपि गुडपाकदानादिना मोदकादि करोति तदा तत्कर्म । एवं विभागौद्देशिकस्य संभवस्तथा चाह । भाष्यकृत् "तत्थियम्मेवं संभवइ पुव्वमुद्दिट्ठं संभवति" । संप्रति तदेव विभागौद्देशिकं विना तत्रोद्धरिते प्रचुरे करम्बदावेवं पूर्वोक्तेन प्रकारेण विभागौद्देशिकं पूर्वमुद्दिष्टं संभवति । संप्रति तदेव विभागौद्देशिकं विभागतो भेदेन शिष्यगणहितार्थं ग्रन्थकारो भणति ।

उद्देसियं समुद्दे-सियं च आएसियं समाएसं ।
एवं कडे य कम्मे, एक्केक्के चउव्विहो भेओ ॥

विभागौद्देशिकं चतुर्धा । तद्यथा औद्देशिकं समुद्देशिकमादेशं समादेशं च । एवं कृते च कर्माणि एकैकस्मिन् चतुष्कश्चतुः संख्यो भेदो दृष्टः सर्वसंख्यया द्वादशधा विभागौद्देशिकम् । संप्रत्यौद्देशिकादिकं व्याचिख्यासुराह

जावंति य मुद्देसं, पासंडीणं भवे समुद्देसं ।
समणाणं आएसं, निग्गंथाणं समाएसं ॥ २५० ॥

इह यदुद्दिष्टं कृतं कर्म वा यावन्तः केऽपि भिक्षाचराः समागमिष्यन्ति पाषण्डिनो गृहस्था वा तेभ्यः सर्वेभ्योऽपि दातव्यमिति संकल्पितं भवति तदा तदौद्देशिकमुच्यते ॥ पाषण्डिनां देयत्वेन कल्पितं समुद्देशं श्रमणानामादेशं निर्ग्रन्थानां समादेशम् । संप्रत्यमीषामेव द्वादशानां भेदानामवान्तरभेदानाह ।

छिन्नमछिन्नं दुविहं, दव्वे खेत्ते य कालभावे य ॥
निप्फाइयानिप्फन्नं, नायव्वं जं जहिं कमइ ॥

उद्दिष्टमौद्देशादिकं प्रत्येकं द्विधा तद्यथा छिन्नमच्छिन्नं च । छिन्नं नियमितमच्छिन्नमनियामितम् पुनरपि छिन्नमच्छिन्नं च चतुर्धा तद्यथा द्रव्ये क्षेत्रे काले भावे च । एवं यथा उद्दिष्टमौद्देशिकं प्रत्येकमष्टधा तथा निष्पादितं निष्पन्नमिति निष्पादितेन गृहिणा स्वार्थं कृतेन निष्पन्नं यत्करम्बादि मोदकादि वा तन्निष्पादितं निष्पन्नमित्युच्यते । ततो यन्निष्पादितं निष्पन्नं यत्र कृते कर्मणि वा क्रामति घटते यथा यदि करम्बादि तर्हि कृते, अथ मोदकादि तर्हि कर्मणि । तत्प्रत्येकमौद्देशिकादिभेदाभिन्नं छिन्नमच्छिन्नं चेत्यादिना प्रकारेणाष्टधा ज्ञातव्यम् । संप्रत्यमुमेव गाथार्थं व्याचिख्यासुः प्रथमतो द्रव्याद्यच्छिन्नं व्याख्याति ॥

भत्तुव्वारियं खलु संखडिए, तद्दिवसमन्नदिवसे वा ।
अंतो बाहिं च सव्वं, सव्वादिणं देइ अच्छिन्नं ॥

यत्संखड्या भक्तमुद्धरितं तदिह प्रायः संखड्या भक्तमुद्धरितं प्राप्यते इति संखडिग्रहणमन्यथा त्वन्यत्रापि यथासंभवं द्रष्टव्यम् । (तद्दिवसमिति) अव्ययं ऽव्यासामिति प्राकृतलक्षणवशात्सप्तम्यर्थे प्रथमा ततोऽयमर्थः यस्मिन् दिवसे संखडिस्तस्मिन्नेव दिवसे यद्वाऽन्यस्मिन् दिवसे गृहनायको भार्यया दापयति यथा यदन्तर्गृहस्य यच्च बहिरनेन क्षेत्राच्छिन्नमुक्तं तत्सर्वं समस्तमनेन द्रव्याच्छिन्नमुक्तं सर्वदिनं सकलमपि दिनं यावदुपलक्षणमेतत्तेन कर्मरूपं मोदकादि प्रभूतान्यपि दिनानि यावद्दीति द्रष्टव्यम् । अनेन कालाच्छिन्नमुक्तं अच्छिन्नमनवरतं तद्देहि । भावाच्छिन्नं तु स्वयमभ्यूह्यं तथैवं यदि तव रोचते यदि वा न रोचते तथाऽप्यवश्यं दातव्यमिति ॥ संप्रति द्रव्यादिच्छिन्नमाह ।

देह इमं मा सेसं, अंतो बाहिं गयं व एगयरं ।
जाव अमुगत्ति वेला, अमुगं वेलं व आरब्भ ॥

इदं शाल्योदनादिकमुद्धरितं देहि मा शेषं कोद्रवकूरादि अनेन द्रव्यच्छिन्नमुक्तं तदपि च शाल्योदनादिकमन्तर्बहिर्वा स्थितं वा एकतरं न शेषम् । अनेन क्षेत्रच्छिन्नमुक्तम् । तथा अमुकस्या वेलाया आरभ्य यावदमुका वेला यथा प्रहारादारभ्य यावत्प्रहरद्वयं तावद्देहि । अनेन कालच्छिन्नमुक्तम् । भावच्छिन्नं तु स्वयमभ्यूह्यम् । तथैवं यावत्ते रोचते तावद्देहि मा स्वरुचिमतिक्रम्यापि । संप्रत्युद्दिष्टमधिकृत्य कल्प्याकल्प्यविधिमाह ॥

दव्वाइच्छिन्नं पि हु, जइ भणइ कोवि मा देह ।
नो कप्पइ छिन्नं पि हु, अच्छिन्नकडं परिहरंति ॥

इह यद्द्रव्यक्षेत्रादिभिः पृथग्निर्धारितं तदतिरिच्य शेषं समस्तमपि कल्पते । तस्य दानार्थं संकल्प्य स्थापितत्वाभावात् । केवलं द्रव्यादिच्छिन्नमपि दद्या द्रव्यक्षेत्रादिभिः पृथग्निर्धारितमपि हुर्निश्चितं यदि गृहस्वामी आरत एव देयस्य वस्तुनो नियतादर्वागपि भणति । यथा मा इत ऊर्ध्वं कस्मायपि देहीति । यथा प्रहरद्वयं यावत् पूर्वं किञ्चिद्दातुं निरोपितं ततो दानपरिणामाभावादर्वागेव निषेधति । मा इत ऊर्ध्वं दद्यादिति तच्छिन्नमपि कल्पते । तस्य संप्रत्यात्मसत्तापि कृतत्वाद्यत्पुनरच्छिन्नकृतमच्छिन्नमनिर्धारितं कृतं वर्तते तत्परिहरन्ति अकल्प्यत्वादित्यमेव भगवदाज्ञाविजृम्भणात् । यदा त्वच्छिन्नमपि पश्चाद्दानपरिणामाभावादर्वागेव आत्मार्थीकृतं भवति तदा तत्कल्पते ॥

संप्रति संप्रदानविभागमधिकृत्य कल्प्यविधिमाह ॥

अमुगाणं ति वि दिज्जउ, अमुकाणं न एत्थ उ विभासा ।
जत्थ नईणविसिट्ठो, निद्देसो तं परिहरंति ॥

अमुकेभ्यो दद्यान्मा अमुकेभ्य इत्येवं संप्रदानविषये संकल्पे कृते विभाषा द्रष्टव्या कदाचित् कल्पते कदाचिन्न । तत्र यदा कल्पते तदादेयं तदाह (जत्थेत्यादि) यत्र देयवस्तुनि यतीनामप्यविशेषेण निर्देशो भवति यथा ये केचन गृहस्था अगृहस्था वा भिक्षाचरा यदि वा ये केचित्पाषण्डिनो यद्वा ये केचन श्रमणास्तेभ्यो दातव्यमिति तत्परिहरन्ति । यत्र तु यतीनामेव विशेषेण निर्देशो यथा यतिभ्यो दातव्यमिति तत्परिहरन्त्येव नात्र कश्चित्संदेह इति तत्र पृथग्विशेषेण नोक्तम् । यदि पुनर्गृहस्थेभ्य एव दीयतां यदि वा चरकादिभ्य एव पाषण्डिभ्यो न शेषेभ्यस्तदा कल्पते । अपिच ॥

संदिस्संते जो सुणइ, कप्पए तस्स सेसए भवणा ।
संकलियसाहणं वा, करेति असुए इ मा थेरा ॥

यद्यप्यौद्देशिकं जातं वर्तते केवलं तदानीमेवोद्दिश्यमानं वर्तते यथा इदं देहि मा शेषमित्यादिश्यमानमर्थिभ्यो दानाय वचनेन संकल्पमानं यः साधुः शृणोति तस्य तत्कल्पते तदैव दोषाभावात्तदपि च उद्दिष्टौद्देशिकादि द्रष्टव्यं न कृतं कर्म च । यत उक्तं मूलटीकायाम् अत्र चायं विधिः "संदिस्संतं जो सुणइ, साहुद्देसुद्देसयं । पडुच्च न य कडं, कम्माइ तं कप्पए" तदैव दोषाभावादिति यस्तु संदिश्यमानं न शृणोति तस्य न कल्पते कुत इत्याह (भवणत्ति) स्थापनादोषात् । स च निर्गतः सन्नन्येभ्यः साधुभ्यो निवेदयति । तथा चाह (संकलितयेत्यादि) अश्रुतदोषसाधुनिस्ताकार्णित इयं पूर्वपुरुषाचीर्णा मर्यादा यदुत संकलिया एकसंघाटकोऽन्यस्मै कथयति सोऽप्यन्यस्मै इत्येवंरूपया

अज्झोयरपामिचं, मीसजायं विवज्जए ॥ ५५ ॥

एवं पुण्यार्थं प्रकृतं नाम साधुवादाङ्गीकरणेन यत्पुण्यार्थं कृतमिति एवं वनीपकार्थं वनीपकाः कृपणाः एवं श्रमणार्थमिति श्रमणा निर्ग्रन्थाः शाक्यादयः अस्य प्रतिषेधः पूर्ववत् । अत्राह पुण्यार्थप्रकृतपरित्यागे शिष्टकुलेषु वस्तुतो भिक्षाया अग्रहणमेव शिष्टानां पुण्यार्थमेव पाकप्रवृत्तेः । तथाहि न पितृकर्मादिव्यपोहेनात्मार्थमेव क्षुद्रसत्त्ववत्प्रवर्तन्ते शिष्टा इति नैतदेवमभिप्रायापरिज्ञानात् स्वभोग्यातिरिक्तस्य देयस्यैव पुण्यार्थकृतस्य निषेधात् । स्वभृत्यभोग्यस्य पुनरुचितप्रमाणस्येत्वरयदृच्छादेयस्य कुशलप्रणिधानकृतस्याप्यनिषेधादिति एतेनादेयदानाभावः इत्युक्तं देयस्यैव यदृच्छादानोपपत्तेः कदाचिदपि वादेन यदृच्छादनोपपत्तेः तथा व्यवहारदर्शनात् अनीदृशस्यैव प्रतिषेधात् । तदा रम्भदोषेण योगात् यदृच्छादाने तु तद्भावेऽप्यारम्भप्रवृत्तेर्नासौ तदर्थं इत्यारम्भदोषायोगात् । दृश्यते च कदाचित्सूतकादाविव सर्वेत्य एव प्रदानविकला शिष्टाभिमतानामपि पाकप्रवृत्तिरिति विहितानुष्ठानत्वाच्च तथाविधग्रहणाच्च दोष इत्यलं प्रसङ्गेनाक्षरगमनिकामात्रफलत्वात्प्रयासस्य ॥ दश० ५ अ० । " आहट्टु देसियं तं चेतियं सियातणो सयं भुंजइ " सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

अत्र प्रायश्चित्तम् ।

"उद्देसिय जावंति य उद्देसिए मासलहु दोहिं वि लहुं पासंड समुद्देसिए मासलहुं कालगुरु समणाए सए मासलहुयं तवगुरु निग्गंथसमाएसिए मासलहुं दोहिम्मि गुरू जावन्ति कम्मे मासलहुं दोहिं वि लहुं पासंडकम्मे मासगुरुं कालगुरुं समणकम्मे मासगुरुं तवगुरुं निग्गंथसमादेसकम्मे मासगुरुं दोहिं वि गुरुं जावंति कम्मे चउलहु दोहिं लहु पासंडसमुद्देसकम्मे चउगुरु समणादेसकम्मे चउगुरु तवगुरु निग्गंथसमाएसकम्मे चउगुरु दोहिं गुरू" पं० चू० । उद्देशिके चरमत्रिके कर्मादेशकर्मसमादेशलक्षणे कर्मणि क्षपणं प्रायश्चित्तम् । जीत० । कर्मौद्देशिके त्रिभागौद्देशिके आचामाम्लम् । उद्देशिकमाधाकर्मिकमित्यर्थः । साधुनिमित्तं कृतमशनपानखादिमवस्त्रपात्रवसतिप्रमुखम् । तच्च प्रथमचरमजिनतीर्थे एकं साधुमेकं साधुसमुदायमेकमुपाश्रयं वा आश्रित्य कृतं तत्सर्वेषां साध्वादीनां न कल्पते द्वाविंशतिजिनतीर्थे तु यं साध्वादिकमाश्रित्य कृतं तस्यैव अकल्प्यमन्येषां तु कल्पते इति द्वितीयः । कल्प० ॥

आहा आधयकम्मे, आयाहम्मे य अत्तकम्मे य ।
तं पुण आहाकम्मं, कप्प वि ण व कप्पती तस्स ॥

आधाकर्म अधःकर्म आत्मघ्नमात्मकर्म चैत्योद्देशिकस्य साधूनुद्दिश्य कृतस्य भक्तादेश्चत्वारि नामानि । यत्पुनराधाकर्म तत्कस्य कल्पते कस्य वा न कल्पते एवं शिष्येण पृष्टे सूरिराह ॥

संघस्सोहविभाए, समणासमणीण कुलगणे संघे ।
कयमिहट्ठिय ण कप्पति, अट्ठिअकप्पे जमुद्दिस्स ॥

अस्य व्याख्या सविस्तरं तृतीयोद्देशके कृता । (सा अकप्पट्ठियशब्दे उक्ता अतोऽक्षरार्थमात्रमुच्यते) ओघतो वा विभागतो वा सङ्घस्य श्रमणानां श्रमणीनां कुलस्य गणस्य वा संघस्य वा संकल्पेन यत् भक्तपानादिकं कृतं तत्स्थितकल्पितानां प्रथमपश्चिमसाधूनां न कल्पते ये पुनरस्थितकल्पे स्थितास्तेषां यदुद्दिश्य कृतं तस्यैवैकस्य न कल्पते अन्येषां तु कल्पते द्वितीयपदे तु स्थितकल्पिकानामपि कल्पते यत आह ॥

आयरियं अभिसेए, भिक्खुम्मि गिलाणगम्मि जयणा उ ।
तिक्खुत्तऽडविपवेसे, चउपरियट्टे ततो गहणं ॥

आचार्ये अभिषेके भिक्षौ वा ग्लाने संजाते सति आधाकर्मणो भजना सेवनाऽपि क्रियते । तथा अटवी विप्रकृष्टोऽध्वा तस्यां प्रवेशे कृते यदि शुद्धं न लभ्यते ततस्त्रिः कृत्वा शुद्धमन्वेषितमपि यदि न लब्धं ततश्चतुर्थे परिवर्ते आधाकर्मणो ग्रहणं कार्यं गतमौद्देशिकद्वारम् । बृ० ६ उ० ॥

सालीघतगुलगोरसण–वेसु वल्लीफलेसु जातेसु ।
दाणट्टकरणसड्ढा, आहाकम्मेण मंतणता ॥
आहाआहेयकम्मे, आयाहम्मेय अत्तकम्मे य ।
तं पुण आहाकम्मे, णायव्वं कप्पती कस्स ॥
संघस्स पुरिमपच्छिम–समणाणं तह य चेव समणीणं ।
चउरो उवगमगाणं, पच्छा सएहायगा समणं ॥
संघस्स मज्झिमे प–च्छिमे य समणाण तह य समणीणं ।
चतुरो [illegible] णं, पुच्छा सएहायगा गमणं ॥
उज्ज य जड्डा सव्वे, पुरिमा चरिमा य वक्कजड्डा तु ।
तम्हा तेसिं संर–क्खणट्ठ सव्वं परिकुट्ठ ।
अवगतजड्डा मज्झिम–साहु तह चेव ते परिणमंति ॥
कप्पाकप्पं दंसिय, तेसिं वज्जं परिकुट्टं ।
परिसाए दुव्विसोज्झो, चरिमो पुण दुरणुपालओ कप्पो ।
मज्झो विसुद्धचरणो, एवं कप्पो णुगंतव्वो ॥
आयरिए अभिसेगे, भिक्खम्मि गिलाणगम्मि जयणा तु ।
तिक्खुत्तो अडविपवे–सणम्मि चउपरि यट्टओ गहणं ॥
असिवे ओमोदरिए, रायदुट्ठे विवादवुट्ठे वा ।
अद्धाणे गेलण्णे, आहाकम्मं तु जयणा य ।
जदि सव्वे गीतत्था, ताहे आलोयणा गहे भणिता ॥
अह होति मीसगजणो, पायच्छित्तं तवोकम्मं ।
चउरो चउत्थभत्ते, आयामेगासणे य पुरिमड्ढे ॥
णिव्वितितं दातव्वं, सतं व पुव्वोग्गहं कुज्जा ।
संघस्सोह विभागे, समणा समणी य कुलगणस्सेव ॥
कयमिह ठितेण कप्पति, अट्ठितकप्पे जमुद्दिस्स ।
आयरिए अभिसेगो, भिक्खुम्मि गिलाणगम्मि भयणा तु ॥
अडविपवेसे असीते, तिय परियट्टे तवोगहणं । पं० भा० ।

इयाणिं उद्देसियं अहाअहे य कम्मो तं पुण उद्देसियं पुरिमपच्छिमयाणसंघस्स ओघेण य समणाणं वा समणीणं वा कुलगणस्स वा जइ ओहेणे य करेंति ठियकप्पे वि अट्ठियकप्पे वि न कप्पइ । जया पुण रिसभसामिसंतयाणं अज्जाणं अज्जियाणं वा उद्दिस्स करेइ तं रिसभसामिसंतयाणं दोण्हवि न कप्पइ अजियसामिसंतणाया गेण्हंति अजियसामिसंतयाणं अज्जयाणं कयं अज्जियाणं कप्पइ अज्जियाणं वा कयं अज्जयाणं कप्पइ पडिस्सए वि जइ एक्कम्मि गामे गणे तु करेइ एगं दो वा जं तत्थ ण गणेइ पडिस्सयं तेसिं कप्पइ गणिएसु विपडिस्सएसु जे पाहुणया पच्छालग्गातके जहा कप्पेसु । पं० चू० ।

उद्देसियचरिमतिग–औद्देशिकचरमत्रिक–न० कर्मौद्देशिकस्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पाषण्डश्रमणनिर्ग्रन्थविषये भेदत्रये, " कम्मुद्देसियचरमतिगं पूयं मीसचरिमपाहुडिया " दश० ५ अ० ।

उद्देहगण-उद्देहगण-पुं०वीरस्य गणानां तृतीयगणे,स्था०९ ठा०। " थेरेहिंतो णं अज्जरोहगणेहिंतो कासवगुत्तेहिंतो तत्थ णं उद्देहगणे नामं गणे निग्गए तस्सिमाओ चत्तारि साहाओ निग्गयाओ छच्च कुला एवमाहिज्जंति । तंजहा से किं तं साहाओ एवमाहिज्जंति तं जहा । उदुंबरिज्जिया १ मासपूरिया २ मइपत्तिया ३ पन्नपत्तिया ४ सेत्तं साहाओ से किं तं कुलाइं २ एवमाहिज्जंति तं जहा "पढमं च नागभूअं १ बीअं पुण सोमभूइअं होइ । २ । अहउल्लं गच्छतइयं, चतुत्थयं हत्थलिज्जं तु ॥ पंचमगं नंदिज्जं, छट्ठं पुण पारिहासयं होइ उद्देहगणस्सेए, छच्च कुला हुंति नायव्वा " ॥ कल्प० ।

उद्देहलिया- उद्देहलिका-स्त्री० कुहणभेदे, आचा० १श्रु०५उ०

उद्देहिगा-उद्देहिका-स्त्री० उन्नतो दोहोऽस्य क० ५ अत इत्वम् त्रीन्द्रियजीवभेदे, प्रज्ञा० १ पद । जी० । "काष्ठनिश्रिता पुणोद्देहिका " आचा० १ अ० ४ उ० । तेइंदियाए उद्देहिकाइ जं वा वए वेज्जो उद्देहिकया सक्कया मृत्तिकया, ।ओ० । " तओउद्देहिगं तओ वि वणप्फई " महा० ॥

उद्देही-देशी-उपदेहिकायाम् । दे० ना० ।

उद्धंसण-उद्धर्षण-न० उद्-धृष् ल्युट् वधे, ओ० । दुष्कुलीनेत्यादिभिः कुलाद्यभिमानपातनार्थे वचने, स्त्री० । ज्ञा० १६ अ० । " उत्तावयाहिं उद्धंसणाहिं उद्धंसेइ " ॥ भ० १५ श०१ उ० । उन्मूलनायामाक्रोशे, ओ० ॥

उद्धंसिय- उद्धर्षित-त्रि० खरण्टिते, " उद्धंसिया य तेणं सुट्ठु वि जाणाविया य अप्पाणं " । बृ० ३ उ० । आ० म० । अवभाषिते, उद्धंसियमो लोगंसि भागहारी व होहितीमोए, नि० चू० ४ उ० ।

उद्धघणभवण-ऊर्ध्वघनभवन-न० उच्चाविरलगेहेषु, ॥ भ० ॥ ९ श० ३३ उ० ।

उद्धचलणबंधण-ऊर्ध्वचरणबन्धन-न० ऊर्ध्वचरणस्य बन्धनरूपे शरीरदण्डे, प्रश्न० अध० ३ द्वा० ।

उद्धच्छरिअ-देशी-निषिद्धे, दे० ना० ।

उद्धट्ठाण-ऊर्ध्वस्थान-न० कायोत्सर्गेऽवस्थाने, ध० ४ अधि० ।

उद्धट्टु-उद्धृत्य-अव्य० ऊर्ध्वीकृत्येत्यर्थे,"पलिभिंदियाणं तो पच्छा पादुद्धट्टुमुद्धिपहणंति" निजं वामचरणमुद्धृत्योत्क्षिप्य मूर्ध्नि शिरसि प्रघ्नन्ति " बाहू उद्धट्टु कक्खमणुव्वजे " बाहुमुद्धृत्य कक्षामादर्श्यानुकूलं साध्वभिमुखं व्रजन्ति । सूत्र०१ श्रु०४अ०। "उद्धट्टुपादं रीएज्जा" पादं संडत्याग्रेतलेन पादं पातप्रदेशं वा तत्रातिक्रम्य गच्छेत् ॥ आचा० २ श्रु० । अवकृष्येत्यर्थे च । व्य० प्र० २ उ० ।

उद्धडा-उद्धृता-स्त्री० तृतीयापिण्डैषणायाम्, सा च स्वव्यापारेण मूलभाजनाद् भाजनान्तरे भक्तमुद्धृतं स्थाल्यादौ स्वयोगेन भोजनजातमुद्धृतं तच्च साधोर्गृह्णतः उद्धृता भिक्षा भवति । धर्म० ३ अधि० । स्था० । नि० चू० । (तां च सूत्रतः पिंडेसणा शब्दे वक्ष्यामि)

उद्धत- (य) उद्धत-त्रि० उद् हन्-क्त० । वाक्यादिचञ्चले, अविनीते, प्रगल्भे, उन्नते, वाच० ॥ उत्पाटिते च । ज्ञा०१ अ० ।

उद्धततमंधकार-उद्धततमोऽन्धकार-पुं० न० अतिशयप्रबले तमिस्रे, प्रश्न० अध० ३ द्वा० ।

उद्धत्थ-देशी-विप्रलब्धे, दे० ना० ।

उद्धपूरित-ऊर्ध्वपूरित-त्रि० श्वासपूरितोर्ध्वकाये, ऊर्ध्वस्थिते- धूल्या पूरिते, शरीरदण्डविशेषे, ॥ प्रश्न० ३ द्वा० ।

उद्धमंत-उद्धमायमान-त्रि० कृतोध्मानेषु शंखादिषु, "उद्धमंताणं संखाणं सिंगाणं संखियाणं खरमुहीणं पिरिपिरियाणं " रा० ।

उद्धमाण-उद्ध्मान-न० शङ्खशृङ्गशङ्खिकाखरमुखीपेयापिरिपिरिकाणां वादने, रा० ।

उद्धय-उद्धय-त्रि० उद्धृत्य पानकर्त्तरि, । वाच० उद्धुरे,ज्ञा० १अ०

उद्धया-उद्धता-स्त्री०दर्पातिशयेन गतौ,"तुरियाए चवलाए चंडाए सीहाए उद्धयाए छेयाए दिव्वाए गईए" ज्ञ०११श०१०उ० । सवर्यायां देवगतौ च । भ० ५ श० ४ उ० ।

उद्धरण-उद्धरण-न०उद्-हृ-भावे-ल्युट्-मुक्तौ,वमने,ऋणशुद्धौ,उन्मूलने, । उत्तारणे,उत्थापने,उद्धृत्य हरणे परिवेषणे,बहिर्निष्काशने,उत्पादने,वाच० । विकर्तने, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० अपनयने च, । सूत्र० १ श्रु० ९ अ० । उच्छित्ते, दे० ना० ।

उद्धरिउ-उद्धृत्य-अव्य० आकृष्येत्यर्थे,"उद्धरिउ अवकड्ढइ सल्लेण मल्लिज्जइ णेउ " पंचा० १६ विव० ।

उद्धरित्ता-उद्धृत्य-अव्य०उत्पाट्येत्यर्थे "तं लयं सव्वसो छित्ता उद्धरित्ता समूला य " उत्त० २३ अ० ।

उद्धरितु-उद्धृत्य-अव्य० निष्कृष्येत्यर्थे, "अणाभत्तो उद्धरितु गाहिति सोणियचतत्थे " पंचा० १६ विव० ।

उद्धरिय-उद्धृत-त्रि-उद्-धृ-क्त । उत्पाटिते, "फलेह विसभक्खीणं साओ उद्धरिया कह" । उत्त०२३ अ० । पृथगवस्थापिते " उद्धरियं रुंदसुयसमुद्दाउ" पं०व० "जेणुद्धरिया विज्जा, आगासगमा महापरिसाउ " आ० म० द्वि० ।

उद्धरियसव्वसल्ल-उद्धृतसर्वशल्य-त्रि० कृतालोचने, पंचा० १६ विव० ।

उद्धविय-देशी-आर्चिते, दे० ना० ।

उद्धाउ-देशी० विषमोन्नतप्रदेशश्रान्ते, संघाते च । दे० ना० ।

उद्धायमाणग-उद्धावत्-त्रि० उत्तिष्ठति, "बहुचंडुद्धुट्टुसावयसभाइयउद्धायमाणगरपूरघोरविकंसणत्यबहुलं'प्रश्न०अध०२द्वा०।

उद्धार-उद्धार-पुं०उद्धियते उद्-हृ-भावे-घञ् मुक्तौ,ऋणशुद्धौ,उद्धारणे, वाच० । अयोद्धरणे, अपहरणे, अनु० । अपवादे, । व्य०८ उ० । कर्मणि-घञ् । सर्वधनादुद्धृत्य ज्येष्ठादिभ्यो देये अंशभेदे वाच० ।

उद्धारणा-उद्धारणा-स्त्री०"पावल्लेण उवेच्च उद्धयपयधारणाउद्धारो"उत्प्राबल्येन उपेत्य वा उद्धृतानामर्थप्रदाना धारणा उद्धारणा । धारणाव्यवहारे, व्य० १० उ० ।

उद्धारपलिओवम-उद्धारपल्योपम-न-वक्ष्यमाणस्वरूपवालाग्राणां तत्खण्डानां वा तदुद्धारेण द्वीपसमुद्राणां वा प्रतिसमयमुद्धारण मपोद्धरणमपहरणमुद्धारस्तद्विषयं तत्प्रधानं वा पल्योपममुद्धारपल्योपमम् । पल्योपमभेदे, ॥

तत्स्वरूपं यथा—

से किं तं उद्धारपलिओवमे २ दुविहे पण्णत्ते तंजहा सु—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हुमे अ ववहारिए अ । तत्थ णं जे से सुहुमे से ठप्पे तत्थ
णं जे से ववहारिए से जहानामए पल्लेसिआ जोयणं आ-
यामविक्खंभेणं जोअणं उड्ढं उच्चत्तेणं तं तिगुणं सविसेसं
परिक्खेवेणं सेणं पल्ले एगाहिअ बेआहिअ तेआहिअ उक्को-
सेणं सत्तरत्तपरूढाणं संसट्ठे संनिचिते जरिते वालग्गको-
डीणं तेणं वालग्गा नो अग्गी डहेज्जा नो वाऊ हरेज्जा
नो कुहेज्जा नो विद्धंसिज्जा णो इ पुत्ताए हव्वमागच्छेज्जा
तओ णं समए २ एगमेगं वालग्गं अवहाय जावइएणं काले-
णं से पल्ले खीणे नीरए निल्लेवे णिट्ठिए भवइ सेत्तं ववहा-
रिए । उद्धारपलिओवमे एएसिं पल्लवाणं कोडाकोडी ह-
वेज्ज दसगुणिया तं ववहारिअस्स उद्धारसागरोवमस्स
एगस्स भवे परिमाणं २ एएहिं ववहारिअ उद्धारपलिओ-
वमसागरोवमेहिं किं पओअणं एएहिं ववहारिअपलिओ
वमसागरोवमेहिं णत्थि किंचिप्पओअणं केवलं पन्नवणा
पण्णविज्जइ सेत्तं ववहारिए उद्धारपलिओवमे । से किं तं
सुहुमे उद्धारपलिओवमे २ से जहाणामए पल्ले सिआ जो-
अणं आयामविक्खंभेणं जोअणं उच्चेहेणं तं तिगुणं स-
विसेसं परिक्खेवेणं से णं पल्ले एगाहिअ बेआहिअ तेआहिअ
उक्कोसेणं सत्तरत्तपरूढाणं संसट्ठे संनिचिते भरिते वालग्ग-
कोडीणं तत्थ णं एगमेगे वालग्गे असंखिज्जाइ खंडाइ
कज्जइ ते वालग्गदिट्ठीओ ओगाहणाउ असंखेज्जइ भा-
गमेत्ता सुहुमस्स पणगजीवस्स सरीरोगाहणाउ असंखेज्ज-
गुणा तेणं वालग्गा णो अग्गी डहेज्जा नो वाऊ हरेज्जा
णो कुहेज्जा णो विद्धंसिज्जा नो पुइत्ताए हव्वमागच्छेज्जा
तओ णं समए २ एगमेगं वालग्गं अवहाय जावइएणं
कालेणं से पल्ले खीणे नीरए निल्लेवे णिट्ठिए भवइ से त्तं
सुहुमे उद्धारपलिओवमे एएसिं पल्लवाणं कोडाकोडी ह-
वेज्ज दसगुणिआ तं सुहुमस्स उद्धारसागरोवमस्स एगस्स
भवे परिमाणं एएहिं सुहुमउद्धारसागरोवमेहिं किं पओ-
अणं एएहिं सुहुमउद्धारपलिओपमसागरोवमेहिं दीवसमु-
द्दाणं उद्धाराणंघेप्पइ केवईआणं भंते दीवसमुद्दा उद्धारेणं
पन्नत्ता गोयमा ! जावइआणं अड्ढाइज्जाणं उद्धारसा०
उद्धारसमयाए वइआणं दीवसमुद्दा उद्धारेणं पन्नत्ता सेत्तं
सुहुमे उद्धारपलिओवमे सेत्तं उद्धारपलिओवमे ॥

(सेकिंतं उद्धारपलिओवमे इत्यादि) उद्धारपल्योपमं द्विविधं
प्रज्ञप्तं तद्यथा वालाग्राणां सूक्ष्मखण्डकरणात् सूक्ष्मं च तेषामेव
सांव्यवहारिकप्रत्यक्षव्यवहारिभिर्गृह्यमाणानामखण्डानां यथाव-
स्थितानां ग्रहणात्प्ररूपणामात्रव्यवहारोपयोगित्वाद्व्यावहारिकं
चेति । तत्र यत्सूक्ष्मं तत्स्थाप्यम् । तिष्ठतु । तावद्व्यावहारिकप्ररूप-
णापूर्वकत्वादेतत्प्ररूपणा पश्चात्प्ररूपयिष्यते इति भावस्तत्र यत्त-
द्व्यावहारिकमुद्धारपल्योपमं तदिदमिति शेषस्तदेव विवक्षुराह
(से जहानामए इत्यादि) तद्यथा नाम धान्यपल्य इव पल्यः स्यात्स
च वृत्तत्वादायामविष्कम्भाभ्यां दैर्घ्यविस्ताराभ्यां प्रत्येकमुत्से
धाङ्गुलकमनिष्पन्नं योजनमूर्ध्वमुच्चत्वेनापि तद्योजनं त्रिगुणं सवि-
शेषं परिक्षेपेण आमिलितमङ्गीकृत्येति सर्वस्यापि वृत्तपरिधेः किं-
चिन्न्यूनषड्भागाधिकत्रिगुणत्वादस्यापि पल्यस्य किञ्चिन्न्यूनष-
ड्भागाधिकानि त्रीणि योजनानि परिधिर्भवतीत्यर्थः । स पल्यः
(एगाहिय वेयाहियत्ते आहियत्ति) षष्ठीवचनलोपादेकाहिक-
द्व्याहिकत्र्याहिकमुत्कर्षतः सप्तरात्रप्ररूढानां भृतो वालाग्रकोटी-
नामिति संबन्धः । तत्र मुण्डिते शिरस्येकेनाह्ना यावत्प्रमाणा वा-
लाग्रकोटय उत्तिष्ठन्ति ता एकाहिक्यः द्वाभ्यां तु या उत्तिष्ठन्ति
ता द्व्याहिक्यः । कथमत इत्याह संसृष्टम् आकर्णपूरितः संनिचित
प्रचयविशेषान्निबिडीकृतः किं बहुना एवंभूतोऽसौ भृतो येन तानि
वालाग्राणि नाग्निर्दहेन्न वायुरपहरेदतीव निचितत्वादग्निपवनाव-
पि न तत्र क्रामत इत्यर्थः (णो कुच्छेज्जत्ति) नो कुथ्येयुः प्रचयवि
शेषादेव सुषिराभावाद् वायोरसंभवाच्च नासारतां गच्छेयुः अत
एव च (नो परिविद्धंसेज्जत्ति) कतिपयपरिसादनमप्यङ्गीकृत्य
न परिविध्वंसेयरित्यर्थः अत एव च (नो पूइत्ताए हव्वमाग
च्छेज्जति) न पूतितयैव कदाचिदप्यागच्छेयुर्न कदाचिद्दुर्गन्धितां
प्राप्नुयुरित्यर्थः (तओणंति) तेभ्यो वालाग्रेभ्यः समये समये ए-
कैक वालाग्रमपहृत्य कालो मीयते इति विशेषः । ततश्च (जावई
एणमित्यादि) यावता कालेन स पल्यः क्षीणो वालाग्रकर्षणात्
क्षयमुपागतः अपकृष्टधान्यकोष्ठागारवत्तथा (नीरयेत्ति) निर्गतो
रजः सूक्ष्मवालाग्रोऽपकृष्टधान्यरजः कोष्ठागारवत्तथा (निल्लेवि
त्ति) अत्यन्तसंश्लेषात्तन्मयतां गतवालाग्रलेपापहारान्निर्लेपः अप
नीतमित्यादि गतधान्यलेपकोष्ठागारवदेभिस्त्रिभिः प्रकारैर्निष्ठितो
विशुद्ध इत्यर्थः । एकार्थिका वा एते शब्दाः अत्यन्तविशुद्धिप्रति-
पादनपराः । वाचनान्तरदृश्यमानम् अन्यदपि पदमुक्तानुसारेण
व्याख्येयम् एतावत्कालस्वरूपं बादरमुद्धारपल्योपमं भवति
एतच्च पल्यान्तर्गतवालाग्राणां संख्येयत्वात्संख्येयैः समयै-
स्तदपहारसंभवात्संख्येयसमयमात्रं द्रष्टव्यम् । सेत्तमित्यादि
निगमनं व्यावहारिकं पल्योमपं निरूप्याथ सागरोपममाह ।
(एएसिं पल्लाणगाहा) एतेषामनन्तरोक्तपल्योपमानां दशभिः
कोटाकोटिभिरेकं सागरोपमं भवतीति तात्पर्यम् । शिष्यः
पृच्छति एतैर्व्यावहारिकपल्योपमसागरोपमैः किं प्रयोजनं
कोऽर्थः साध्यते तत्रोत्तरं नास्ति किंचित्प्रयोजनं निरर्थक-
स्तर्हि तदुपन्यास इत्याशङ्क्याह केवलं प्रज्ञापना प्रज्ञाप्यते
प्ररूपणामात्रं क्रियत इत्यर्थः । ननु निरर्थकस्य प्ररूपणयाऽपि
किं कर्त्तव्यमतो यत्किंचिदुन्मत्तवाक्यवदेवमभिप्रायापरिज्ञाना
देवं हि मन्यते बादरे प्ररूपिते सूक्ष्मं सुखावसेयं स्यादतो बा-
दरप्ररूपणा सूक्ष्मोपयोगित्वान्नैकान्ततो नैरर्थक्यमनुभवति ।
तर्हि नास्ति किंचित्प्रयोजनमित्युक्तमसत्यं प्राप्नोतीति चेन्नैव-
मेतावत्प्रयोजनस्याल्पत्वेनाविवक्षितत्वादेव बादराद्धापल्यो-
पमा द्वावपि वाच्यम् । (सेकिंतं सुहुमे इत्यादि) गतार्थमेव
"जाव तत्थ णं एगमेगे वालग्गे असंखेज्जाइमित्यादि" पूर्वं
वालाग्राणि सह जात्यैव गृहीतान्यत्रत्वेकैकमसंख्येयखण्डी
कृतं गृह्यत इति भावः । एवं सत्येकैकखण्डस्य यन्मानं भव-
ति तन्निरूपयितुमाह (तेणं वालग्गदिट्ठीओगाहणाओ इ-
त्यादि) तानि खण्डीकृतवालाग्राणि प्रत्येकं दृष्ट्यवगाहनात्
किमसंख्येयभागमात्राणि दृष्टिश्चक्षुर्द्वारोत्पन्नदर्शनरूपा साव-
गाहते परिच्छेदद्वारेण प्रवर्तते तत्र वस्तुनि तदेव वस्तु दृष्ट्य-
वगाहना प्रोच्यते ततोऽसंख्येयभागवर्तीनि प्रत्येकं वालाग्रख-
ण्डानि मन्तव्यानीदमुक्तं भवति यत् पुद्गलद्रव्यं विशुद्धचक्षु-
र्दर्शनः छद्मस्थः पश्यति तदसंख्येयभागमात्राण्येकैकशस्ता
न्येव भावतो द्रव्यतो निरूप्याथ क्षेत्रतस्तन्मानमाह (सुहुम-
स्सेत्यादि) अयमत्र भावार्थः सूक्ष्मपनकजीवशरीरं यावत्क्षेत्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मवगाहते ततोऽसंख्येयगुणानि प्रत्येकं तानि भवन्ति बादर-पृथिवीकायिकपर्याप्तशरीरतुल्यानीति वृद्धवादः । एषां च वालाग्रखण्डानामसंख्येयत्वात् प्रतिसमयमुद्धारे किल संख्येया वर्षकोट्योऽतिक्रामन्त्यतः संख्येयवर्षकोटिमानमिदमवसेयं शेषं सूत्रार्थप्रायं यावत् जावइया अड्डाइज्जाणमित्यादि । यावन्तोऽर्द्धतृतीयसागरोपमेषूद्धारसमया वालाग्रोद्धारोपलक्षिताः समया उद्धारसमयाः एतावन्तो द्विगुण २ विष्कम्भाद् द्वीपसमुद्रयोरेकैकेनोद्धारेण प्रज्ञप्ताः असंख्येया इत्यर्थः । उक्तमुद्धारपल्योपमम् । अनु० । कर्म० ।

उद्धारसमय-उद्धारसमय-पुं० वालाग्रोद्धारोपलक्षितेषु समयेषु, अनु० ॥

उद्धारसागरोवम-उद्धारसागरोपम-न० उद्धारविषयं तत्प्रधानं वा सागरोपममुद्धारसागरोपमम् दशभिःकोटाकोटीभिर्गुणिते सागरोपमभेदे, स्था० १ ठा० । (तच्च सूक्ष्मव्यवहारिकभेदेन द्विधा उद्धारपल्योपमभेदे दर्शितम्)

उद्धावणा-उद्धावना-स्त्री० शीघ्रं तस्य कार्यस्य निष्पादने, व्य० १ उ० । उत्प्राबल्येन धावना । गच्छोपग्रहार्थं दूरक्षेत्रादौ गमने, ध० ३ अधि० ।

उद्धिय-उद्धृत-त्रि० उद्वूढे, कृतनिर्वाहे, "नामनिमित्तं तत्वं यथा तथा चोद्धृतं पुरा यदिह" ॥ षो० ॥

उद्धियकंटक-उद्धृतकण्टक-त्रि० उद्धृता स्वदेशत्याजनेन जीवितत्याजनेन वा कण्टका यत्र तदुद्धृतकण्टकम् । प्रतिस्पर्द्धिगोत्रजरहिते, रा० । औ० ॥

उद्धियदंड-उद्धृतदण्ड-पुं० उद्धृत उत्पाटितो गृहीतो दण्डो येन स उद्धृतदण्डः गृहीतप्रायश्चित्ते, । व्य० १ उ० (उद्धियदंडो गिहत्थो दंडशब्दे वक्ष्यते)

उद्धियसत्तु-उद्धृतशत्रु-त्रि. उद्धृताः शत्रवो यत्र तदुद्धृतशत्रुः देशनिर्वासितगोत्रजवैरिणि, औ० । रा० ।

उद्धीमुह-ऊर्ध्वमुख-त्रि० ऊर्ध्वीकृतमुखे, "उद्धीमुहकलंबुतापुप्फगसंठाणसंठिया आहित्ति वदेज्जा" ॥ चंद्र० ४पाहु० ।

उद्धुमय-ऊर्ध्वमात-त्रि. आपूर्णे, उद्धुमायशब्द आपूर्णपर्यायः यतउक्तम् "अभिमानचिन्हेन परिहत्यमुद्धुमायं आहिरेश्यं च जाणआवसे" ॥ नं० ।

उद्धुम्माण-उद्धूममान-त्रि० उत्पाट्यमाने, "उद्धुम्ममाण दगरयरयंधआरचरकेण" ॥ औ० । प्रश्न० ॥

उद्धुय-उद्धूत-त्रि. उद्. धू. क्त. उद्धूते उत्क्षिप्ते, उत्फ्ते, ज्ञा० १अ० । इतस्ततो विप्रसृते, "कालागरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्कधूवमघमघंतगंधुद्धुयाभिरामे" चं० २पाहु० । सूर्य० । स० । औ० । रा० प्रकटीकृते, क० । उत्कम्पिते, "वाउद्धुयविजयवेजयंती" औ० । "वाउद्धुयविजयवेजयंती उल्लालिउत्तकलिया" जी० ३ प्रति० चं० । उत्कटे च । स० ।

उद्धुया-उद्धूता-स्त्री० वातोद्धूतस्य दिगन्तव्यापिनो रजस इव गतौ, रा० । जीवा० ।

उद्धुर-उद्धुर-त्रि० उद्गताधूरस्मात् प्रा. व. अच्. स. । निरङ्के, भारशून्ये, दृढे, उच्चे, वाच० । उद्धृते, आ. म. प्र० ।

उद्धुस्सिय-ऊर्ध्वोच्छ्रित-त्रि. ऊर्ध्वमुच्छ्रिते, "से जोयणे णवणवति सहस्से उद्धुस्सितो हेट्ठसहस्समेगं" सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

उन्नावंत-उन्नमयत्-त्रि. ऊर्ध्वं नमयति, प्रा० ।

उप्पइय-उत्पतित-न० उद् पत्. क्त. उत्पतने, "उप्पइयउप्पइयतुरियचवलजइणसिग्घवेगाहिं." औ० । "अट्टहासं काऊण उप्पइयं" आ० म० प्र० । उद्गूते, "जहा उप्पइयं दुक्खं वेयणाए दुहट्टिए" उत्त० २ अ० । "उप्पइय परिवयमाणे वसह" आचा० । १ श्रु० ६ अ० ४ उ० । ऊर्ध्वगते च । त्रि० वाच० ।

उप्पइयपरिवयमाण-उत्पतितप्रतिपतत्-त्रि. पूर्वं संयमारोहणादुत्पतिते पश्चात्पापोदयात्प्रतिपतति, आचा० १ श्रु. ६ अ० । ४ उ० ।

उप्पंक-देशी० उच्चये, समूहे, पङ्के, बले च । दे० ना० ।

उप्पट-उत्पट-पुं० उत्पटति, उद् पट् गतौ-अच् । वृक्षादीनां त्वचमुद्भिद्य उद्गते निर्यासे, वाच० । श्रीन्द्रियजीवविशेषे, प्रज्ञा० १ पद ।

उप्पण्ण-उत्पन्न-त्रि० उद्. पत्. क्त. । प्रादुर्भूते, ग० । प्रश्न० । संजाते, दर्श० । "उप्पन्नम्मि अणंतेण, उम्मिच्छाउमत्थिए णाणे । उत्पतितस्वभावे च । "उप्पन्नेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा" सत्तालक्षणम् आ०म० द्वि० । विशे० ।

उप्पण्णकोउहल्ल-उत्पन्नकुतूहल-त्रि० उत्पन्नं प्रागभूतं कुतूहलं यस्य उत्पन्नौत्सुक्ये, सू० प्र १ पाहु० ।

उप्पण्णगारव-उत्पन्नगौरव-त्रि० उत्पन्नमभिलषणीयतया जातगौरवं यस्यस तथा । कमनीयतया जातगौरवे, "उप्पन्नगारवे एवं गणिस्सि परिकंखिरे" । व्य० ४ उ० ॥

उप्पण्णणाणदंसणधर-उत्पन्नज्ञानदर्शनधर- पुं० सादिकेवलज्ञानदर्शनोपयुक्ते, "समणे भगवं महावीरे उप्पन्नणाणदंसणधरे अरहा जिणे केवली" उत्पन्नज्ञानदर्शनधरो न तु सदा संसिद्धः भ० १ श० ७ उ० ।

उप्पण्णदुक्ख-उत्पन्नदुःख-त्रि० संजातदुःखे, "इह खलु भोगपल्लिज्जणं उप्पन्नदुक्खेणं संजमे अरइसमावन्नचित्तेणं" दश० १चूलि० ।

उप्पण्णसंसय-उत्पन्नसंशय- त्रि० उत्पन्नानवधारितार्थज्ञाने, रा० । सू० प्र० ।

उप्पण्णसड्ढ-उत्पन्नश्रद्ध- त्रि० उत्पन्ना प्रागभूता सती भूता श्रद्धा यस्यासौ उत्पन्नश्रद्धः । जातश्रद्धे, "उप्पन्नसड्ढे संजायसड्ढे समुप्पन्नसड्ढे उट्ठाए उट्ठेइ" जं० १वक्ष० । रा० । सू० प्र० । ज्ञा० ।

उप्पण्णाणुप्पण्ण-उत्पन्नानुत्पन्न-त्रि० उत्पन्नश्चानुत्पन्नश्च उत्पन्नानुत्पन्नः । मयूरव्यंसकादय इति समासः । यथा कृताकृतं भुक्ताभुक्तमित्यादि । एवं प्रकारश्च समासः स्याद्वादिन एव युक्तिमियर्ति न शेषस्य एकान्तवादिन एकस्यैकदा परस्परविरुद्धधर्मानभ्युपगमात् । कस्यचिन्नयस्य मतेनोत्पन्ने कस्यचिदनुत्पन्ने, "उप्पन्नाणुप्पन्नो, एत्थ नया णेगमस्सणुप्पन्नो । सेसाणं उप्पन्नो, जइ कत्तो तिविहसामित्ता" आ० म० द्वि० । (नमुक्कारशब्दे उत्पत्तिद्वारे स्पष्टीभविष्यति)

उप्पत्ति-उत्पत्ति- स्त्री० उत्पादनमुत्पत्तिः । प्रसूतौ, विशे० उत्पादने, उद्भूतौ, आ० चू० । (उत्पत्तौ नयानां मतानि नमुक्कारशब्दे उत्पत्तिद्वारे स्पष्टी भविष्यन्ति) सा च चतुर्धा । उत्पत्तिश्चतुर्धा जीवाज्जीवस्योत्पत्तिर्यया मातापितृभ्यां पुत्रस्य १ जीवादजीवस्योत्पत्तिर्यथा सजीवदेहान्नखकेशादेः । अजीवाज्जीवस्योत्पत्तिर्यथा काष्ठाद् घुणकस्य । अजीवादजीवस्य कुम्भादभ्रः । ग० । निदानकारणे, "उप्पत्ती रोगाणं तस्स भणओ सहयविजंगी" नि० चू० २० उ० । उपमाने, प्रब० । ऊर्ध्वं पतने, ऊर्ध्वगतौ च । उत्पद्यते प्रथमतो ज्ञायतेऽनेन उद् पद् करणे क्तिन् । प्राथमिकप्रतीतिविषयप्रवृत्तिसाधनेष्टसाधनताबोधके कर्मस्वरूपज्ञापके विधिवाक्ये, वाच० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उप्पत्तिया-औत्पत्तिकी-स्त्री० उत्पत्तिरेव न शास्त्राभ्यासकर्मपरिशीलनादिकं प्रयोजनं यस्याः सा औत्पत्तिकी तदस्य प्रयोजनमिति ठकण् ॥ नं॥ अदृष्टाश्रुताननुभूतविषयादकस्माद् भवनशीलायां बुद्धौ, रा० । ननु सर्वस्याः बुद्धेः कारणं क्षयोपशमः तत्कथमुच्यते उत्पत्तिरेव प्रयोजनमस्या इति उच्यते क्षायोपशमः सर्वबुद्धिसाधारणः ततो नासौ भेदेन प्रतिपत्तिनिबन्धनं भवति । अथ च बुद्ध्यन्तरभेदेन प्रतिपत्त्यर्थं व्यपदेशान्तरं कर्तुमारब्धं तत्र व्यपदेशान्तरनिमित्तमत्र न किमपि विनयादिकं विद्यते केवलमेवमेव तथोत्पत्तिरिति सैव साक्षान्निर्दिष्टा । नं० ॥

औत्पत्तिक्या लक्षणम् ।

पुव्वमदिट्ठमसुयम-वेइयतक्खणविसुद्धगहिअत्था ।
अव्वाहयफलजोगा, बुद्धी ओप्पत्तिया नाम ॥२॥

पूर्वं बुद्ध्युत्पादात्प्राक् स्वयं चक्षुषा न दृष्टो नाप्यन्यतः श्रुतो मनसाऽप्यविदितोऽपर्यालोचितस्तस्मिन् क्षणेषु बुद्ध्युत्पादकाले विशुद्धो यथावस्थितो गृहीतोऽवधारितोऽर्थो यस्याः सा तथा। पुव्वमदिट्ठेत्यादौ मकारोऽलाक्षणिकः। तथा अव्याहतेन अबाधितेन फलेन परिच्छेद्येनार्थेन योगो यस्याः सा अव्याहतफलयोगा बुद्धिरौत्पत्तिकी नाम । संप्रति विनेयजनानुग्रहाया-स्याः स्वरूपप्रतिपादनार्थमुदाहरणान्याह ।

भरहसिलपणियरुक्खे, खुड्डगपडसरडकायउच्चारे ।
गयघायणगोलखंभे, खुड्डगमग्गित्थिपइ पुत्ते ॥ ३ ॥
भरहसिलं मिंढ कुक्कुड, तिलवालुयहत्थिअगडवणसंडे ।
पायसअइया पत्ते, खाडहिलापंचपियरो य ॥ ४ ॥
महुसित्थमुद्दिअंकेइ, नाणए भिक्खचेडगनिहाणे ।
सिक्खा य अत्थसत्थे, इच्छायमह सयसहस्से ॥ ५ ॥

आसामर्थः कथानकेभ्योऽवसेयः । तानि च कथानकानि विस्तरतोऽभिधीयमानानि ग्रन्थगौरवमापादयन्ति ततः संक्षेपेणोच्यन्ते । उज्जयिनी नाम पुरी तस्याः समीपवर्ती कश्चिन्नटानामेको ग्रामः तत्र च भरतो नाम नटः तस्य भार्या परासुरभूत् तनयश्चास्य रोहकाभिधोऽद्याप्यल्पवयास्ततस्तेन स्वस्य तनयस्य च शुश्रूषाकरणायान्या समानिन्ये वधूः । सा च रोहकस्य सम्यग्न वर्तते ततो रोहकेण सा प्रत्यापादि मातर्न मे त्वं सम्यक् वर्तसे ततो ज्ञास्यसीति ततः सा सेर्ष्यमाह रे रोहक ! किं करिष्यसि ? रोहकोऽप्याह । तत्करिष्यामि येन त्वं मम पादयोरागत्य लगिष्यसीति ततः सावमत्याय तूष्णीमतिष्ठत् रोहकोऽपि तत्कालादारभ्य गाढसंजाताभिनिवेशोऽन्यदा निशि सहसा पितरमेवमज्ञाणीत् भो भो पितरेष पलायमानो गोहो याति तत एवं बालकवचः श्रुत्वा पितुराशङ्का समुदपादि नूनं विनष्टा मे महेलेति तत एवमाशङ्कावशात्तस्यामनुरागः शिथिलीबभूव । ततो न तां सम्यक् संभाषते नापि विशेषतस्तस्यै पुष्पताम्बूलादिकं प्रयच्छति दूरतः पुनरपास्तं शयनादि ततः सा चिन्तयामास नूनमिदं बालकविचेष्टितम् अन्यथा कथमकाण्ड एवैष दोषाभावे पराङ्मुखो जातः ततो बालकमेवमवादीत् वत्स रोहक! किमिदं त्वया चेष्टितं तव पिता मे संप्रति दूरं पराङ्मुखीभूतः रोहक आह किमिति तर्हि त्वं सम्यग्न वर्तसे तयोक्तमित ऊर्ध्वं सम्यग् वर्तिष्ये । ततो बालक आह भव्यं तर्हि मा खेदमाकार्षीस्तथा करिष्ये यथा मे पिता तथैव त्वयि वर्तते इति ततः सा तत्कालादारभ्य सम्यग् वर्तितुं प्रवृत्ता । रोहकोऽप्यन्यदा निशि निशाकरप्रकाशितायां प्राक्तनकदाशङ्कापनोदाय बालभावं प्रकटयन् निजच्छायामङ्गुल्यग्रेण दर्शयन् पितरमेवमाह भो पितरेष गोहो याति गोहो यातीति । तत एवमुक्ते स पिता परपुरुषप्रवेशाभिमानतो निष्कृत्याकारं कृपाणमुद्गीर्य प्राधावत रे कथय कुत्र यातीति ततः स बालको बालकीडां प्रकटयन्नङ्गुल्यग्रेण निजच्छायां दर्शयति पितरेष गोहो यातीति ततः स व्रीडित्वा प्रत्यावृत्तश्चिन्तयतिस्म च स्वचेतसि प्राक्तनोऽपि पुरुषो नूनमेवंविध एवासीदिति धिग्मया बालकवचनाद्व्यलीकं संभाव्य विप्रियमेतावन्तं कालं कृतमस्यां भार्यायामिति पश्चात्तापाद्गाढतरमस्यामनुरक्तो बभूव । सोऽपि रोहको मया विप्रियं कृतमास्तेऽस्या इति कदाचिदेषा मां विषादिना मारयिष्यतीति विचिन्त्य सदैव पित्रा सह भुङ्क्ते न कदाचिदपि केवलः । अन्यदा च पित्रा सहोज्जयिनीं पुरीमगमत् दृष्टा च तेन त्रिदशपुरीवोज्जयिनी सविस्मयचेतसा च सकलाऽपि यथावत्परिभाविता । ततः पित्रैव सह नगर्या निर्यातुमारेभे पिता च तत्र किमपि विस्मृतमिति रोहकं सिप्रातटेऽवस्थाप्य तदानयनाय भूयोऽपि नगरीं प्राविक्षत् । रोहकोऽपि च तत्र सिप्राभिधसिन्धुसैकते बालचापलवशात् सप्राकारां परिपूर्णामपि पुरं सिकताभिरालिखत् । इतश्च राजा अश्ववाहनिकायामश्वं वाहयन् कथंचिदेकाकीभूतस्तेन पथा समागन्तुं प्रावर्तत तं च स्वालिखितनगरीमध्येन समागच्छन्तं रोहकः अवादीत् भो राजपुत्र माऽनेन पथा समागमः । तेनोक्तं किमिति । रोहक आह । किं त्वं राजकुलमिदं न पश्यति । ततः स राजा कौतुकवशात्सकलामपि नगरीं तदालिखितामवैक्षत पप्रच्छ च तं बालकं रे अन्यदाऽपि त्वया नगरी दृष्टाऽऽसीत् न वा । रोहकः प्राह नैव कदाचित्केवलमहमद्यैव ग्रामादिहागतः । ततश्चिन्तयामास राजा अहो बालकस्य प्रज्ञातिशयः । ततः पृष्टो रोहकः वत्स किं ते नाम क्व वा ग्राम इति । तेनोक्तं रोहक इति मन्नाम प्रत्यासन्ने च पुरोग्रामे वसामीति । अत्रान्तरे समागतो रोहकस्य पिता चलितौ च स्वग्रामं प्रति द्वावपि राजा च स्वस्थानमगमत् चिन्तयति स च ममैकोनानि मन्त्रिणां पञ्चशतानि विद्यन्ते तद्यदि सकलमन्त्रिमण्डलमूर्धाभिषिक्तो महाप्रज्ञातिशायी परमो मन्त्री संपद्यते ततो मे राज्यं सुखेनैवैधते बुद्धिबलोपेतो हि राजा प्रायः शेषबलैरल्पबलोऽपि न पराजयस्थानं भवति परांश्च राज्ञो लीलया विजयते । एवं चिन्तयित्वा कतिपयदिनानन्तरं रोहकबुद्धिपरीक्षानिमित्तं सामान्यतो ग्रामप्रधानपुरुषानुद्दिश्यैवमादिष्टवान् यथा युष्मद्ग्रामस्य बहिरतीव महती शिला वर्तते तामनुत्पाट्य राजयोग्यमण्डपाच्छादनं कुरुत । तत एवमादिष्टे सकलोऽपि ग्रामलोको राजादेशं कर्तुमशक्यं परिभावयन्नाकुलीभूतमानसो बहिः सभायामेकत्र मिलितवान् पृच्छति स्म परस्परं किमिदानीं कर्तव्यं दुष्टो राजादेशोऽस्माकमापतितो राजादेशाकरणे च महाननर्थोपनिपातः । एवं च चिन्तया व्याकुलीभूतानां तेषां मध्यदिनमागतं रोहकश्च पितरमन्तरेण न भुङ्क्ते पिता च ग्राममेलापके मिलितो वर्तते । ततः स क्षुधापीडितः पितुः समीपे समागत्य रोदितुं प्रावर्तत पीडितोऽहमतीव क्षुधया ततः समागच्छ गृहे भोजनायेति । भरतः प्राह वत्स ! सुखितोऽसि त्वं न किमपि ग्रामकष्टं जानासि । स प्राह पितः किं तदिति । ततो भरतो राजादेशं सविस्तरमचकथत् । ततो निजबुद्धिप्रागल्भ्यवशात् झटिति कार्यस्य साध्यतां परिभाव्य तेनोक्तं मा आकुलीभवत यूयं खनत शिलाया राजोचितमण्डपनिष्पादनायाधस्तात् स्तम्भांश्च यथास्थानं निवेशयत भित्तीश्चोपलेपादिना प्रकारेणातीव रमणीयाः प्रगुणीकुरुत । तत एवमुक्ते सर्वैरपि ग्रामप्रधानपुरुषैर्भव्यमिति प्रतिपन्नम् । गतः सर्वोऽपि

ग्रामलोकः । स्वगृहे भोजनाय भुक्त्वा च समागतः शिलाप्रदेशे प्रारब्धं तत्र कर्म कतिपयदिनैश्च निष्पादितः परिपूर्णो मण्डपः । कृता च शिला तस्य आच्छादनं निवेदितं राज्ञे राजनियुक्तैः पुरुषैर्देवनिष्पादितो ग्रामेण देवादेशः । राजा प्राह कथमिति ततस्ते सर्वमपि मण्डपनिष्पादनप्रकारं कथयामासुः । राजा पप्रच्छ कस्येयं बुद्धिस्ते ऽवादिषुर्देव ! भरतपुत्रस्य एषा रोहकस्य औत्पत्तिकी बुद्धिः । एवं सर्वेष्वपि संविधानकेषु योजनीयं ततो भूयोऽपि राजा रोहकबुद्धिपरीक्षार्थं मेढकमेकं प्रेषितवान् । एष यावत्पलप्रमाणः संप्रति वर्तते पक्षातिक्रमेऽपि तावत्पलप्रमाण एव समर्पणीयो न न्यूनो नाप्यधिक इति तत एवं राजादेशे समागते सति सर्वोऽपि ग्रामो व्याकुलीभूतचेता बहिः सभायामेकत्र मिलितवान् सगौरवमाकारितो रोहकः आभाषितश्च ग्रामप्रधानैः पुरुषैः वत्स ! प्राचीनमपि दुष्टराजादेशसिन्धुं त्वयैव निजबुद्धिसेतुबन्धेन समुत्तारितः सर्वोऽपि ग्रामः । ततः संप्रत्यपि प्रगुणीकुरु निजबुद्धिसेतुबन्धेनास्यापि दुष्टराजादेशसिन्धोः पारमधिगच्छाम इति । तत उवाच रोहको वृकं प्रत्यासन्नं धृत्वा मेण्ढकमेनं यवसदानेन पुष्टीकुरुत यवसं हि भक्षयन्नेष न दुर्बलो भविष्यति वृकं च दृष्ट्वा न वृद्धिमाप्स्यते ततस्तै तथैव कृतवन्तः पक्षातिक्रमे च तं राज्ञः समर्पयामासुः तोलने च तावत्पलप्रमाण एव जातः । ततो भूयोऽपि कतिपयदिनानन्तरं राज्ञा कुर्कुटः प्रेषितः एष द्वितीयं कुर्कुटं विना योधयितव्य इति एवं संप्राप्ते राजादेशे मिलितः सर्वोऽपि ग्रामो बहिः सभायामाकारितो रोहकः कथितश्च राजादेशः । ततो रोहकेणादर्शको महाप्रमाण आनायितो निर्मृष्टश्च भूत्या सम्यक् ततो धृतः पुरो राजकुक्कुटस्तस्य ततः स राजकुक्कुटः प्रतिबिम्बमात्मीयमादर्शे दृष्ट्वा मत्प्रतिपक्षोऽयमपरः कुक्कुट इति मत्वा साहंकारं योद्धुं प्रवृत्तो जडचेतसो हि प्रायस्तिर्यञ्चो भवन्ति । एवं च परकुक्कुटमन्तरेण योधिते राजकुक्कुटे विस्मितः सर्वोऽपि ग्रामलोकः संपादितो राजादेशः निवेदितं च राज्ञे निजपुरुषैः । ततो भूयोऽपि कतिपयदिवसातिक्रमे राजा निजादेशं प्रेषितवान् युष्मद्ग्रामस्य सर्वतः समीपे रमणीया वालुका विद्यते ततः स्थूला वालुकामया कतिपया दवरकाः कृत्वा शीघ्रं प्रेषणीया इति एवं राजादेशे समागते मिलितः सर्वोऽपि बहिः सभायां ग्रामः पृष्टश्च रोहकस्ततो रोहकेण प्रत्युत्तरमदायि नटा वयं ततो नृत्यमेव वयं कर्तुं जानीमो न दवरकादि । ततो राजादेशश्चावश्यं कर्तव्यः ततो बृहद्राजकुलमिति चिरन्तना अपि कतिचिद्वालुकामया दवरका भविष्यन्तीति तन्मध्यादेकः कश्चित्प्रच्छन्दभूतः प्रेषणीयो येन तदनुसारेण वयमपि वालुकामयान् दवरकान् कुर्म इति । ततो निवेदितमेवं राज्ञो नियुक्तपुरुषैः । राजा च निरुत्तरीकृतः तूष्णीमास्त । ततः पुनरपि कतिचिद्दिनानन्तरं जीर्णहस्ती रोगग्रस्तो मुमूर्षुर्ग्रामे राज्ञा प्रेषितः यथाऽयं हस्ती मृत इति न निवेदनीयोऽस्य च प्रतिदिवसमस्य वार्ता कथनीया अकथने ग्रामस्य महान् दण्डः । एवं च राजादेशे समागते तथैव मिलितः सर्वोऽपि ग्रामो बहिः सभायाम् । पृष्टश्च रोहकस्ततो रोहकेणोक्तं दीयतामस्मै यवसः पश्चाद्यद्भविष्यति तत्करिष्यामः । ततो रोहकादेशने दत्तो यवसस्तस्मै रात्रौ च स हस्ती पञ्चत्वमुपगतः । ततो रोहकवचनतो ग्रामेण गत्वा राज्ञे निवेदितम् । देवाऽद्य हस्ती न निषीदति नोत्तिष्ठति न कवलं गृह्णाति न नीहारं करोति नाप्युच्छ्वासनिःश्वासौ विदधाति किं बहुना देव ! कामपि सचेतनचेष्टां न करोति । ततो राज्ञा भणितं किं रे मृतो हस्ती ततो ग्रामलोक आह देव ! देवपादा एवं ब्रुवते न वयमिति । तत एवमुक्ते राजा मौनमाधाय स्थितः । आगतो ग्रामलोकः स्वग्रामे । ततो भूयोऽपि कतिपयदिनातिक्रमे राजा समादिष्टवानस्ति यौष्माकीणे ग्रामे सुस्वादुजलसंपूर्णः कूपः स इह सत्वरं प्रेषणीयः । तत एवमादिष्टो ग्रामो रोहकं पृष्टवान् । रोहक प्राह । एष ग्रामेयकः कूपो, ग्रामेयकश्च स्वभावाद्भीरुर्भवति न च सजातीयमन्तरेण विश्वासमुपगच्छति ततो नागरिकः कश्चिदेकः कूपः प्रेष्यतां येन तत्रैव विश्वस्य तेन सह समागमिष्यति इत्येवं निरुत्तरीकृत्य मुत्कलिताः राजनियुक्ताः पुरुषाः तैश्च राज्ञो निवेदितं राजा च स्वचेतसि रोहकस्य बुद्ध्यतिशयं परिभाव्य मौनमवलम्ब्य स्थितस्ततो भूयोऽपि कतिपयदिवसातिक्रमेऽभिहितवान् । वनखण्डो ग्रामस्य पूर्वस्यां दिशि वर्तमानः पश्चिमायां दिशि कर्तव्य इति अस्मिन्नपि राजादेशे समागते ग्रामो रोहकबुद्धिमुपजीव्य वनखण्डस्य पूर्वस्यां दिशि व्यवतिष्ठते ततो जातो ग्रामस्य पश्चिमायां दिशि वनखण्डः निवेदितं च राज्ञो राजनियुक्तैः पुरुषैः । ततः पुनरपि कालान्तरे राजा समादिष्टवान् वह्निसंपर्कमन्तरेण पायसं पक्तव्यमिति तत्रापि सर्वो ग्राम एकत्र मिलितो रोहकमपृच्छत् रोहकश्चोक्तवान् तन्दुलानतीव जलेन भिन्नान् कृत्वा दिनकरकरनिकरसन्तप्तकरीषपलालादीनामुष्मणि तन्दुलपयोभृता स्थाली निवेश्यतां येन परमान्नं संपद्यते तथैव कृतं परमान्नं निवेदितं राज्ञो विस्मितं तस्य चेतः । ततो राज्ञा रोहकस्य बुद्ध्यतिशयमवगम्य तदाकारणाय समादिष्टं येन बालकेन मदादेशाः सर्वेऽपि प्रायः स्वबुद्धिवशात्संपादितास्तेन चावश्यमागन्तव्यम् परं न शुक्लपक्षे न कृष्णपक्षे न रात्रौ न दिवा न छायया नाप्यातपेन नाकाशेन नापि पादाभ्यां न पथा नाप्युत्पथेन न स्नातेन नास्नातेन तत एवमादिष्टे स रोहकः कण्ठस्नानं कृत्वा गन्त्रीचक्रस्य मध्यभूमिभागेन करणमारूढो धृतचालनीरूपातपत्रः संध्यासमयेऽमावस्याप्रतिपत्संगमे नरेन्द्रपार्श्वमगमत् । स च रिक्तहस्तो न पश्येच्च राजानं देवतां गुरुमिति लोकश्रुतिं परिभाव्य पृथिवीपिण्डमेकमादाय गतः प्रणतो राजा मुक्तश्च तत्पुरतः पृथिवीपिण्डस्ततः पृष्टो राज्ञा रोहकः । रे रोहक ! किमेतत् ? रोहकः प्राह देव ! देवपादाः पृथिवीपतयः ततो मया पृथिवी समानीता । श्रुत्वा चेदं प्रथमदर्शने मङ्गलवचः तुतोष राजा मुत्कलितः शेषग्रामलोकः रोहकः पुनरात्मपार्श्वे शायितः गते च यामिन्याः प्रथमे यामे रोहकः शब्दितो राज्ञा, रे रोहक ! जागर्षि किं वा स्वपिषि । देव ! जागर्मि रे तर्हि किं चिन्तयसि स प्राह देव अश्वत्थपत्राणां किं दण्डो महान् उत शिखेति तत एवमुक्ते राजा संशयमापन्नो वदति साधु चिन्तितं कोऽत्र निश्चयः । ततो राजा तमेव पृष्टवान् रे कथय कोऽत्र निर्णय इति तेनोक्तं यावदद्यापि शिखाग्रभागो न शोषमुपयाति तावद् द्वे अपि समे ततो राज्ञा पार्श्ववर्ती लोकः पृष्टः तेन च सर्वेणाप्यविज्ञानतःप्रतिपन्नं ततो भूयोऽपि रोहकः सुप्तवान् पुनरपि च द्वितीययामेऽपगते राज्ञा शब्दितः पृष्टश्च रे किं जागर्षि किं वा स्वपिषि स प्राह-देव ! जागर्मि किं रे चिन्तयसि देव ! छागिकोदरे कथं भ्रम्युत्तीर्णा इव वर्तुलगुलिका जायन्ते तत एवमुक्ते राजा संशयापन्नस्तमेव पृष्टवान् कथय रे रोहक ! कथमिति स प्राह देव संवर्तकाभिधानवातविशेषात् । ततः पुनरपि रोहकः सुष्वाप तृतीये यामेऽपगते भूयोऽपि राज्ञा शब्दितः रे किं जागर्षि किं वा स्वपिषि सोऽवादीत् देव ! जागर्मि किं रे चिन्तयन्वर्तसे देव खाडहिलाजीवस्य यावन्मात्रं शरीरं तावन्मात्रं पुच्छमुत हीनाधिकमिति तत एवमुक्ते राजा निर्णयं कर्तुमशक्तः तमेवापृच्छत् रे कोऽत्र

निर्णयः देव सममिति ततो रोहकः सुप्तः प्राभातिके च मङ्गलपटहनिस्वने सर्वत्र प्रसरमधिरोहति राजा प्रबोधमुपजगाम शब्दितवांश्च रोहकः स च निद्राभरमुपारूढो न प्रतिवाचं दत्तवान् । ततो राजा लीलाकङ्कतिकया मनाक् तं स्पृष्टवान् ततः सोऽपगतनिद्रो जातः स्पृष्टश्च रे किं स्वपिषि स प्राह देव जागर्मि किं रे तर्हि कुर्वंस्तिष्ठसि देव ! चिन्तयन् । किं चिन्तयसि देव एतच्चिन्तयामि कतिभिर्जातो देव इति । तत एवमुक्ते राजा सव्रीडं मनाक् तूष्णीमतिष्ठत् तत्क्षणानन्तरं पृष्टवान् कथय रे कतिभिरहं जात इति । स प्राह देव पञ्चभिः राजा भूयोऽपि पृष्टवान् केन केनेति रोहक आह एकेन तावद्वैश्रमणेन वैश्रमणस्येव भवतो दानशक्तेर्दर्शनात् । द्वितीयेन चाण्डालेन वैरिसमूहं प्रति चाण्डालस्येव कोपदर्शनात् । तृतीयेन रजकेन यतो रजक इव वस्त्रं परिनिपीलय तस्य सर्वस्वमपहरन् दृश्यते । चतुर्थेन वृश्चिकेन यन्मामपि बालकं निद्राभरसुप्तं लीलाकङ्कतिकाग्रेण वृश्चिक इव निर्दयं तुदसि । पञ्चमेन निजपित्रा येन यथावस्थितं न्यायं सम्यक्परिपालयसि । एवमुक्ते राजा तूष्णीमास्थाय प्राभातिककृत्यमकार्षीत् जननीं च नमस्कृत्यैकान्ते पृष्टवान् । कथय मातः ! कतिभिरहं जात इति सा प्राह वत्स ! किमेतत् प्रष्टव्यं निजपित्रा त्वं जातः । ततो रोहकोक्तं राजा कथितवान् वदति च मातः स रोहकः प्रायोऽलीकबुद्धिर्न भवतीति । ततः कथय सम्यक् तत्त्वमिति तत एवमतिनिर्बन्धीकृते सति सा कथयामास । यदा त्वद्गर्भाधानमासीत् तदाऽहं बहिरुद्याने वैश्रवणपूजनाय गतवती वैश्रवणं च यक्षमतिशयरूपं दृष्ट्वा हस्तसंस्पर्शेन च संजातमन्मदोन्मादा भोगाय तं स्पृहितवती । अपान्तराले च समागच्छन्ती चाण्डालयुवानमेकमतिरूपमपश्यं ततस्तमपि भोगाय स्पृहयामि स्म । ततोऽर्वाक्तने भागे समागच्छन्ती तथैव रजकं दृष्ट्वाऽभिलषितवती । ततो गृहमागता सती तथाविधोत्सववशात् वृश्चिकं कणिक्कामयं भक्षणाय हस्ते न्यस्तवती । ततस्तत्संस्पर्शतो जातकामोद्रेका तमपि भोगायाशंसितवती तत एवं यदि स्पृहामात्रेणापि पितरः संभवन्ति तर्हि सन्तु परमार्थतः पुनरेक एव ते पिता सकलजगत्प्रसिद्ध इति । तत एवमुक्ते राजा जननीं प्रणम्य रोहकबुद्धिविस्मितचेताः स्वावासप्रासादमगमत् । रोहकं च सर्वेषां मन्त्रिणां मूर्द्धाभिषिक्तं मन्त्रिणमकार्षीत् तदेवं भरहसिलेति व्याख्यातम् ॥ १ ॥

संप्रति पणर्यति व्याख्यायते । द्वौ पुरुषौ एको ग्रामेयकः अपरो नागरिकः । ततो ग्रामेयकः स्वग्रामाच्चिर्भिटिका आनयत् प्रतोलीद्वारे वर्त्तते तं प्रति नागरिकः प्राह यद्येताः सर्वा अपि तव चिर्भिटिका भक्षयामि ततः किं मे प्रयच्छसीति ग्रामेयकः आह योऽनेन प्रतोलीद्वारेण मोदको न याति तं प्रयच्छामि ततो द्वाभ्यामपि बन्धं पणितं कृताः साक्षिणो जनाः ततो नागरिकेण ताः सर्वा अपि चिर्भिटिकाः मनाक् २ भक्षित्वा मुक्ताः उक्तं च ग्रामेयकं प्रति भक्षिताः सर्वा अपि त्वदीयाः चिर्भिटिकास्ततो मे प्रयच्छ यथा प्रतिज्ञातं मोदकमिति । ग्रामेयकः प्राह न मे चिर्भिटिका भक्षिताः ततः कथं ते प्रयच्छामि मोदकमिति नागरिकः प्राह । भक्षिता मया सर्वा अपि चिर्भिटिका यदि न प्रत्येषि तर्हि प्रत्ययमुत्पादयामीति । तेनोक्तमुत्पादय प्रत्ययम् ततो द्वाभ्यामपि विपणिवीथ्यां विस्तारिता विक्रयाय चिर्भिटिकाः समागतो जनः क्रयाय ताश्च चिर्भिटिका निरीक्ष्य लोको वक्ति ननु भक्षिताः सर्वा अपि त्वदीया चिर्भिटिकाः तत्कथं वयं गृह्णीमः एवं लोकेनोक्ते साक्षिणां ग्रामेयकस्य च प्रतीतिरुदपादि क्षुभितो ग्रामेयकः हा कथं नु नाम मया तावत्प्रमाणो मोदको दातव्यः । ततः स भयेन कम्पमानो विनयनम्रो रूपकमेकं प्रयच्छति नागरिको नेच्छति ततो द्वे रूपके दातुं प्रवृत्तः तथापि नेच्छति । एवं यावच्छतमपि रूपकाणां नेच्छति ततस्तेन ग्रामेयकेण चिन्तितं हस्ती हस्तिना प्रेर्यते ततो धूर्त एष नागरिको वचनेन मां वञ्चितवान् नापरनागरिकमन्तरेण पश्चात्कर्तुं शक्यते इत्यनेन सह कतिपयदिनानि व्यवस्थां कृत्वा नागरिकधूर्तानवलगामि तथैव कृतं दत्ता चैकेन नागरिकधूर्तेन तस्मै बुद्धिस्ततः तद्बुद्धिबलेन पूपिकापणे मोदकमेकमादाय प्रतोलीद्वारे धूर्तमाकारितवान् साक्षिणश्च सर्वेऽप्याकारिताः ततस्तेन सर्वसाक्षिसमक्षमिन्द्रकीलके मोदकोऽस्थाप्यते भणितश्च मोदकः याहि रे याहि मोदक ! स न याति ततस्तेन साक्षिणोऽधिकृत्योक्तं मयैवं युष्मत्समक्षं प्रतिज्ञातं यद्यहं जितो भविष्यामि तर्हि स मया मोदको यः प्रतोलीद्वारेण न निर्गच्छति एषोऽपि न याति तस्मादिदं मुत्कलय इति एतच्च साक्षिभिरन्यैश्च पार्श्ववर्तिभिर्नागरिकैः प्रतिपन्नमिति प्रतिजितः प्रतिद्वन्द्वी धूर्तः । द्यूतकारनागरिकधूर्तस्यौत्पत्तिकी बुद्धिः ॥ २ ॥

(रुक्खेत्ति) वृक्षोदाहरणं तद्भावना कश्चित्पथि पथिकानां सहकारफलान्यादातुं प्रवृत्तानामन्तरायं मर्कटका विदधते ततः पथिकाः स्वबुद्धिवशाद्वस्तुतत्त्वं पर्यालोच्य मर्कटानां संमुखं लोष्टकान् प्रेषयामासुः ततो रोषाकूलचेतसो मर्कटाः पथिकानां संमुखं सहकारफलानि प्रचिक्षेपुः पथिकानामौत्पत्तिकी बुद्धिः ३ तथा (खुड्डुकत्ति) अङ्गुलीयकाभरणं तदुदाहरणभावना राजगृहं नगरं तत्र प्रसेनजितः प्रसेनरिपुसमूहविजेता राजा भूयांसस्तस्य तनयाः तेषां च सर्वेषामपि मध्ये श्रेणिको राजा नृपलक्षणसंपन्नः स्वचेतसि परिभावितोऽत एव च तस्मै न किञ्चिदपि ददाति नापि वचसापि संस्पृशति मा शेषैरेष परासुर्विधीयेतेति बुद्ध्या स च किञ्चिदप्यलभमानो मन्युभरवशात्प्रस्थितो देशान्तरं जगाम । क्रमेण वेन्नातटं नगरम् तत्र च क्षीणविभवस्य श्रेष्ठिनो विपणौ समुपविष्टः तेन च श्रेष्ठिना तस्यामेव रात्रौ स्वप्ने रत्नाकरो निजदुहितरं परिणयन् दृष्ट आसीत् तस्य च श्रेणिकपुण्यप्रभावतः तस्मिन् दिने चिरसंचितप्रभूतकयाणकविक्रयेण महान् लाभः समुत्पादि म्लेच्छहस्ताच्चाऽनर्घ्याणि महारत्नानि स्वल्पमौल्येन समपद्यन्त ततः सोऽचिन्तयत् अस्य महात्मनो मम समीपमुपविष्टस्य पुण्यप्रभाव एषः धन्यया महती भूतिः एतावती समासादिता आकृतिं च तस्यातिमनोहरामवलोक्य स्वचेतसि कल्पयामास स एव रत्नाकरो यः स्वप्ने मया रात्रौ दृष्टः ततस्तेन कृतकराञ्जलिसंपुटेन विनयपुरःसरमाभाषितः श्रेणिकः । कस्य यूयं प्राघूर्णिकाः । श्रेणिक उवाच भवतामिति । ततः स एवंभूतवचनश्रवणतो धाराहतकदम्बपुष्पमिव पुलकितसमस्ततनुयष्टिः सबहुमानं स्वगृहं नीतवान् श्रेणिकं भोजनादिकं च सकलमप्यात्मनाऽधिकतरं संपादयामास पुण्यप्रभावं च तस्य प्रतिदिवसमात्मनो धनलाभवृद्धिसंभवेनासाधारणमभिसमीक्ष्यमाणः कतिपयदिनातिक्रमे तस्मै स्वदुहितरं नन्दानामानं दत्तवान् श्रेणिकोऽपि तया सह पुरंदर इव पौलोम्या मन्मथमनोरथनापूरयत्पञ्चविधभोगलालसो बभूव । कतिपयवासरातिक्रमे च नन्दाया गर्भाधानमभूत् इतश्च प्रसेनजित्स्वान्तसमयं विभाव्य श्रेणिकस्य परंपरया वार्तामधिगम्य तदाकारणाय सत्वरमुष्ट्रवाहनान् पुरुषान् प्रेषयामास ते च समागत्य श्रेणिकं विज्ञप्तवन्तो देव ! शीघ्रमागम्यतां देवः सत्वरमाकारयति ततो नन्दां समापन्नसत्त्वामापृच्छ्य "अम्हे रायगिहे पंडुरकुड्ड गोपाला । जइ अम्हेहिं कज्जं तो एज्जहंत्ति" एतद्वाक्यं कचित् लिखित्वा श्रेणिको राजगृहं प्रति चलितवान् नन्दायाश्च देवलोकच्युतमहानुभावगर्भसत्त्वप्रभावतः एवं दौहृदमुदपादि यदहं यदि प्रवरकुञ्जरमधिरूढा निखिलजनेभ्यो धनदानपुरस्सरमभयप्रदानं करोमीति पिता च तदित्थंभूतदौहृदमुत्पन्नं ज्ञात्वा राजानं विज्ञप्य पूरितवान् कालक्रमेण च प्रसूता

प्रसवसमये प्रातरादित्यबिम्बमिव दश दिशः प्रकाशय- न्नजायत परमसूनुस्तस्य च दौहृदानुसारेण अभय इति नाम चक्रे सोऽपि चाभयकुमारो नन्दनवनान्तर्गतकल्पपादप इव तत्र सुखेन परिवर्द्धते शास्त्रग्रहणादिकमपि यथाकालं कृत- वान् । अन्यदा च स्वमातरं पप्रच्छ मातः ! कथं मे पिता- ऽभूदिति ततः सा कथयामास मूलत आरभ्य सर्वं यथावस्थितं वृत्तान्तं दर्शयामास च लिखितान्यक्षराणि । ततो मातृवचनता- त्पर्यावगमतो लिखिताक्षरार्थावगमतश्च ज्ञातमभयकुमारेण यथा मे पिता राजगृहे राजा वर्तते इति एवं च ज्ञात्वा मातरमभाणीत् व्रजामो राजगृहे सार्थेन सह वयमिति । सा प्रत्यवादीत् वत्स ! यद्भणसि तत्करोमीति ततोऽभयकुमारः स्वमात्रा सह सार्थेन समं चलितः प्राप्तो राजगृहस्य बहिः प्रदेशं ततोऽभयकुमारस्तत्र मातरं विमुच्य किं प्रवर्तते संप्रति पुरे कथं वा राज्ञा दर्शनीय इति विचिन्त्य राजगृहं प्रविष्टः । तत्र पुरःप्रवेशे एव निर्जलकूप- तटे समन्ततो लोकः समुदायेनावतिष्ठते पृष्टं चाभयकुमारेण कि- मित्येष लोकमेलापकः ततो लोकेनोक्तम् । अस्य मध्ये राज्ञो- ऽङ्गुल्याभरणमास्ते तत् यो नाम तटे स्थितः स्वहस्तेन गृह्णाति तस्मै राजा महतीं वृत्तिं प्रयच्छतीति तत एवं श्रुते पृष्टाः प्रत्यास- न्नवर्तिनो राजनियुक्ताः पुरुषाः तैरप्येवमेव कथितं ततोऽभयकु- मारेणोक्तमहं तटे स्थितो गृहीष्यामि राजनियुक्तैः पुरुषैरुक्तं गृ- हाण त्वं यत्प्रतिज्ञातं राज्ञा तदवश्यं करिष्यते ततोऽभयकुमा- रेण परिभावितमङ्गुल्याभरणं दृष्ट्वा सम्यक् तत आर्द्रगोमयेनाहतं संभग्नं तत्तत्र ततस्तस्मिन् शुष्के मुक्तं कूपान्तरात्पानीयं भृतो जलेन परिपूर्णः स कूपः तरति चोपरि सोऽङ्गुल्याभरणः शुष्कगो- मयस्ततस्तटस्थेन सता गृहीतमङ्गुल्याभरणमभयकुमारेण कृत- श्चानन्दकोलाहलो लोकेन, निवेदितं राज्ञो राजनियुक्तैः पुरुषै- राकारितोऽभयकुमारो राज्ञा, गतो राज्ञः समीपं मुमोच पुरतोऽङ्गु- ल्याभरणं पृष्टश्च राज्ञा वत्स ! कोऽसि त्वम् । अभयकुमारेणोक्तम् । हे देव ! युष्मदपत्यं राजा प्राह कथम् । ततः प्राक्तनवृत्तान्तं कथि- तवान् ततो जगाम महाप्रमोदं राजा चकारोत्सङ्गे अभयकुमार चुम्बितवान्स्नेहं शिरसि पृष्टश्च श्रेणिकेनाभयकुमारो वत्स ! क्व ते माता वर्तते देव ! बहिःप्रदेशे ततो राजा सपरिच्छदः तस्याः सन्मुखमुपागमत् । अभयकुमारश्चाग्रे समागत्य कथयामास स- र्वं नन्दायाः ततः सा मण्डयितुं प्रवृत्ता निषिद्धा च अभ- यकुमारेण मातर्न कल्पते कुलस्त्रीणां निजपतिविरहितानां निज- पतिदर्शनमन्तरेण भूषणं कर्तुमिति समागतो राजा पपात राज्ञः पादयोर्नन्दा सन्मानिता च भूषणादिप्रदानेनातीव राज्ञा सस्नेहं प्रवेशिता महाविभूत्या नगरं सपुत्रा स्थापितश्चाभयकुमारोऽमा- त्यपदे इति अभयकुमारस्यौत्पत्तिकी बुद्धिः ॥ ४ ॥

तथा (पडत्ति) पटोदाहरणसद्भावना द्वौ पुरुषौ एकस्य आच्छादनपटः सौत्रिकोऽपरस्योर्णामयः तौ च सह गत्वा युगपत्स्नातुं प्रवृत्तौ तत्रोर्णामयपटस्वामी स्वपटं विमुच्य द्वि- तीयसत्कं सौत्रिकं पटं गृहीत्वा गन्तुं प्रस्थितो द्वितीयो याचते स्वपटं स न प्रयच्छति ततो राजकुले च व्यवहारो जातः ततः कारणिकैर्द्वयोरपि शिरसी कंकतिकयाऽवलेखिते ततोऽ- वलेखने कृते सति ऊर्णामयपटस्वामिनः शिरसः ऊर्णावयवा विनिर्जग्मुः ततो ज्ञातं नूनमेष न सौत्रिकपटस्य स्वामीति निगृहीतोऽपरस्य समर्पितः सौत्रिकपटः कारणिकानामौत्प- त्तिकी बुद्धिः ॥ ५ ॥ (सरडत्ति) सरटोदाहरणेतद्भावना कस्यचि- त्पुरुषस्य पुरीषमुत्सृजतः सरटो गुदस्याधस्ताद्बिलं प्रविशन् पुच्छेन गुदं स्पृष्टवान् ततस्तस्यैवमजायत शङ्का नूनमुदरे मे सरटः प्रविष्टः ततो गृहं गतो महतीमधृतिं कुर्वन्नतीव दुर्बलो बभूव वैद्यं च पप्रच्छ वैद्यश्च ज्ञातवानसंभवमेतत् केवलमस्य कथंचिदाशङ्का समुदपादि ततः सोऽवादीत् यदि मे शतं रूपकाणां प्रयच्छसि ततोऽहं त्वां निराकुलीकरोमि तेन प्रतिपन्नं ततो वैद्यो विरेचकौषधं प्रदाय तस्य लाक्षारस- खरण्टितं कृत्वा सरटं घटे प्रक्षिप्य तस्मिन् घटे पुरीषोत्सर्गं कारितवान् ततो वैद्येन दर्शितः तस्य पुरीषखरण्टितो घटे सरटो व्यपगता तस्य सर्वा शङ्का जातो बलिष्ठशरीरो वैद्यस्यौ- त्पत्तिकी बुद्धिः ॥ ६ ॥

(कायत्ति) काकोदाहरणं तद्भावना बेन्नातटे नगरे केनापि सौगतेन कोऽपि श्वेतपटक्षुल्लकः पृष्टः भो क्षुल्लक ! सर्वज्ञाः किल तवार्हन्तस्तत्पुत्रकाश्च यूयं तत्कथय कियन्तो अत्र पुरे वसन्ति वायसाः ततः क्षुल्लकश्चिन्तयामास शठोऽयं प्रतिश- ठाचरणेन निर्लोठनीयः ततः स्वबुद्धिवशात् इदं पठितवान्– " सट्ठिं कागसहस्सा, इह यं बिन्नायडे परिवसंति । जइ ऊण- गया वसिया, अब्भहिया पाहुणा आया " ततः स भिक्षुः प्रत्युत्तरं दातुमशक्नुवन् लकुटाहतशिरस्क इव शिरः कण्डू- यमानो मौनमाधाय गत इति क्षुल्लकस्यौत्पत्तिकी बुद्धिः ॥ अथवा अपरो वायसदृष्टान्तः कोऽपि क्षुल्लकः केनापि भागव- तेन दुष्टबुद्ध्या पृष्टो भोः क्षुल्लक ! किमेष काको विष्ठामितस्ततो विक्षिपति क्षुल्लकोऽपि तस्य दुष्टबुद्धितामवगम्य तन्मर्मवित् प्रत्युत्तरं दत्तवान् युष्मत्सिद्धान्ते च जले स्थले च सर्वत्र व्यापी विष्णुरभ्युपगम्यते ततो यौष्माकीणं सिद्धान्तमुपश्रुत्य एषोऽपि वायसोऽचिन्तयत् किमस्मिन् पुरीषे समस्ति विष्णुः किं वा नेति ततः स एवमुक्तो वाग्बाणाहतमर्मप्रदेश इव घूर्णितचे- तनो मौनमवलम्ब्य रुषा धूमायमानो गतः इति क्षुल्लकस्यौ- त्पत्तिकी बुद्धिः ॥ ७—८ ॥

(उच्चारेति) उच्चारोदाहरणं तद्भावना कश्चित्पुरेकोऽपि धिग्जा- तीयः तस्य भार्या अभिनवयौवनोद्भेदरमणीया लोचनयुगलव- क्रिमावलोकनमहाभल्लीनिपातनताडितसकलकामिकुरङ्गहृद- या प्रबलकामोन्मत्तमना आसीत् सोऽन्यदा धिग्जातीयः- तया भार्यया सह देशान्तरे गन्तुं प्रवृत्तोऽपान्तराले च धूर्तः कोऽपि पथिको मिलितः । सा च धिग्जातीया भार्या तस्मिन् रतिं बद्धवती ततो धूर्तः प्राह मदीया एषा भार्या धिग्जातीयः प्राह मदीयेति ततो राजकुले व्यवहारो जातः । ततः कारणिकैर्द्वयोरपि पृथक् कृत्य ह्यस्तनदिनभुक्त आ- हारः पृष्टो धिग्जातीयेनोक्तं मया ह्यस्तनदिने तिला भक्षितास्त- द्भार्यया च । धूर्तेनान्यत्किमपि उक्तं ततो दत्तं तस्याः कारणि- कैर्विरेकौषधं जातो विरेको दृष्टाः पुरीषान्तर्गतास्तिला दत्ता सा धिग्जातीयस्य निर्धाटितो धूर्तश्च । कारणिकानामौत्पत्तिकी बुद्धिः ॥ ९ ॥

(गयत्ति) गजोदाहरणं तद्भावना वसन्तपुरे नगरे कोऽपि राजा बुद्ध्यतिशयसंपन्नं मन्त्रिणमन्वेषमाणः चतुष्पथे हस्तिनमा- लानस्तम्भे बन्धयित्वा घोषणामचीकरत् योऽमुं हस्तिनं तोलय- ति तस्मै राजा महतीं वृत्तिं प्रयच्छतीति इमां घोषणां श्रुत्वा क- श्चिदेकः पुमान् तं हस्तिनं महासरसि नावमारोपयामास तस्मिं- श्चारूढे यावत्प्रमाणा नौर्जले निमग्ना तावति प्रमाणे रेखामदात् ततः समुत्तारितो हस्ती तटे प्रक्षिप्ता गण्डशैलकल्पा नावि प्रावा- णस्ते च तावत्प्रक्षिप्ताः यावत् रेखां मर्यादीकृत्य जले निमग्ना नौस्ततस्तोलिताः सर्वे ते पाषाणाः कृतमेकत्र पलपरिमाणं निवे- दितं राज्ञे देव एतावत्पलपरिमाणो हस्ती वर्तते ततस्तुतोष राजा कृतो मन्त्रिमण्डलमूर्धाभिषिक्तः परमो मन्त्री तस्यौत्पत्तिकी बुद्धिः १० (पायणत्ति) भण्डस्तदुदाहरणं विटो नाम कोऽपि पुरुषो राज्ञः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत्यासन्नवर्ती तं प्रति राजा निजदेवीं प्रशंसति अहो निरामया मे देवी या न कदाचिदपि वातनिसर्गं विदधाति । चिटः प्राह देव ! न भवतीदं जातुचित् । राजा अवादीत् कथं चिट आह देव धूर्ता देवी ततो यदा सुगन्धिपुष्पाणि चूर्णवासान् त्वां समर्पयति नासिकाग्रे तदा ज्ञातव्यं वातं मुञ्चतीति ततोऽन्यदा राज्ञा तथैव परिभावितं सम्यगवगतं च हसितं ततो देवी हसननिमित्तकथनाय निर्बन्धं कृतवती ततो राज्ञाऽतिनिर्बन्धे कृते पूर्ववृत्तान्तमचकथत् । ततश्चुकोप तस्मै चिटाय देवी आकृष्टो देशत्यागेन । तेनापि ज्ञातं नूनमकथयत् पूर्ववृत्तान्तं देवो देव्यास्तेन मे चुकोप देवी । ततो महान्तमुपानहां भारमादाय गतो देवीसकाशं विज्ञापयामास देवीम् । देवि ! यामो देशान्तराणि देवी उपानहां भारं पार्श्वे स्थितं दृष्ट्वा पृष्टवती रे किमेष उपानहांभारः । सोऽवादीत् देवि यावन्ति देशान्तराण्येतावतीभि रुपानद्भिर्गन्तुं शक्यामि तावत्सु देव्याः कीर्तिर्विस्तारणीया तत एवमुक्ते मा मे सर्वत्राप्यपकीर्तिर्जायेतेति परिभाव्य देवी बलात् तं धारयामास । चिटस्यौत्पत्तिकी बुद्धिः ॥ ११ ॥

(गोलोत्ति) गोलकोदाहरणं तद्भावना लाक्षागोलकः कस्यापि बालकस्य कथमपि नासिकामध्ये प्रविष्टः तन्मातापितरावतीव आर्तौ बभूवतुः दर्शितो बालकः सुवर्णकारस्य तेन च सुवर्णकारेण प्रतप्ताग्रभागया लोहशलाकया शनैः २ यत्नतो लाक्षागोलको मनाक् प्रताप्य सर्व्वोऽपि समाकृष्टः सुवर्णकारस्यौत्पत्तिकी बुद्धिः । १२ । (खंभत्ति) स्तम्भोदाहरणं तद्भावना । राजा मन्त्रिणमेकं गवेषयन् महाविस्तीर्णतटाकमध्ये स्तम्भमेकं निक्षेपयामास तत एवं घोषणां कारितवान् यो नाम तटस्थितोऽमुं स्तम्भं दवरकेण बध्नाति तस्मै राजा शतसहस्रं प्रयच्छति तत एवं घोषणां श्रुत्वा कोऽपि पुमान् एकस्मिन् तटप्रदेशे कीलके भूमौ प्रक्षिप्य दवरकेण बध्वा तेन दवरकेण सह सर्वतस्तटे परिभ्राम्यन् मध्यस्थितं तं स्तम्भं बद्धवान् लोकेन च बुद्ध्यतिशयसंपन्नतया प्रशंसितो निवेदितश्च राज्ञो राजनियुक्तैः पुरुषैः तुतोष राजा ततस्तं राजा मन्त्रिणमकार्षीत् तस्य पुरुषस्यौत्पत्तिकी बुद्धिः १३ (खुड्डत्ति) क्षुल्लकोदाहरणं तद्भावना कस्मिंश्चित्पुरे काचित्परिव्राजिका सा यो यत्करोति तदहं कुशलकर्मा सर्वं करोमीति राज्ञः समक्षं प्रतिज्ञां कृतवती राजा च तत्प्रतिज्ञासूचकं पटहमुद्घोषयामास । तत्र च कोपि क्षुल्लको भिक्षार्थमटन् पटहशब्दं श्रुतवान् श्रुतश्च प्रतिज्ञार्थः ततो धृतवान् पटहं प्रतिपन्नो राजसमक्षं व्यवहारो गतो राजकुले क्षुल्लकस्ततस्तं लघुं दृष्ट्वा सा परिव्राजिकात्मीयं मुखं विकृत्यावज्ञयाभिधत्ते कथय कुतो गिलामि तत एवमुक्ते क्षुल्लकः स्वं मेढ्रं दर्शितवान् ततो हसितं सर्वैरपि जनैरुद्घुष्टं च जिता परिव्राजिका तस्या एवं कर्तुमशक्यत्वात् ततः क्षुल्लकः कायिक्या पद्ममालिखितवान् सा कर्तुं न शक्नोति ततो जिता परिव्राजिका । क्षुल्लकस्यौत्पत्तिकी बुद्धिः ॥ १४ ॥

(मग्गति) मार्गोदाहरणं तद्भावना कोऽपि पुरुषो निजभार्यां गृहीत्वा वाहनेन ग्रामान्तरं गच्छति अपान्तराले च क्वचित्प्रदेशे शरीरचिन्तानिमित्तं तद्भार्या वाहनादुत्तीर्णवती तस्यां च शरीरचिन्तानिमित्तं कियद्दूरभागं गतायां तत्प्रदेशवर्तिनी काचित् व्यन्तरी पुरुषस्य रूपसौभाग्यादिकमवलोक्य कामातुरा तद्रूपेणागत्य वाहनं विलग्ना सा च तद्भार्या शरीरचिन्तां विधाय यावद्वाहनसमीपमागच्छति तावदन्यां स्त्रियमात्मसमानरूपां वाहनरूढां पश्यति सा च व्यन्तरी पुरुषं प्रत्याह एषा काचित् व्यन्तरी मदीयं रूपमाचर्य्य तव सकाशमागच्छति ततः खेटय सत्वरं ततः स पुरुषः तथैव कृतवान् । सा चारटन्ती पश्चाल्लग्ना समागच्छति पुरुषोऽपि तामारटन्तीं दृष्ट्वा मूढचेता मन्दं २ खेटयामास ततः प्रावर्तत तयो स्तद्भार्याव्यन्तर्योर्निष्ठुरभाषणादिकः परस्परं कलहः ग्रामे च प्राप्ते जातः तयो राजकुले व्यवहारः पुरुषश्च निर्णयमकुर्वन्नुदासीनो वर्तते । ततः कारणिकैः पुरुषो दूरे व्यवस्थापितो भणिते च द्वे अपि स्त्रियौ युवयोर्मध्ये या काचिदमुं प्रथमं हस्तेन संस्पृक्ष्यति तस्याः पतिरेष न शेषायाः । ततो व्यन्तरी दूरतः हस्तं प्रसार्य प्रथमं स्पृष्टवती ततो ज्ञातं कारणिकैरेषा व्यन्तरीति । ततो निर्धाटिता द्वितीया च समर्पिता स्वपतेः । कारणिकानामौत्पत्तिकी बुद्धिः १५ (इत्थित्ति) स्त्र्युदाहरणं तद्भावना मूलदेवकण्डरीकौ सह पन्थानं गच्छतः इतश्च कोऽपि सभार्याकः पुरुषः तेनैव पथा गन्तुं प्रावर्तत कण्डरीकश्च दूरस्थितः तद्भार्यागतमतिशायि रूपं दृष्ट्वा साभिलाषो जातः कथितं च तेन मूलदेवस्य यदीमां मे संपादयसि तदाहं जीवामि नान्यथेति ततो मूलदेवोऽवादीत् मा त्वरीभूरहं ते नियमतः संपादयिष्यामि । ततस्तौ द्वावप्यलक्षितौ सत्वरं दूरतो गतौ ततो मूलदेवः कण्डरीकमेकस्मिन्वननिकुञ्जे संस्थाप्य पथि ऊर्ध्वस्थितो वर्तते ततः पश्चादायातः सभार्याकः स पुरुषो भणितो मूलदेवेन । भो महापुरुष ! महिलाया मेऽस्मिन्वननिकुञ्जे प्रसवो वर्तते ततः क्षणमात्रं निजमहिलां विसर्जय, विसर्जिता तेन आगता कण्डरीकपार्श्वे ततः क्षणमात्रं स्थित्वा समागता । "आगंतूण य तत्तो, पडयं घेत्तूण मूलदेवस्स । धुत्ती भणइ हसंती, पियं खुणे दारओ जाओ" द्वयोरपि तयोरौत्पत्तिकी बुद्धिः ॥ १६ ॥

(पइत्ति) पतिदृष्टान्तः तद्भावना द्वयोर्भ्रात्रोरेका भार्या लोके च महाकौतुकमहो द्वयोरप्येषा समानुरागेति एतच्च श्रुतिपरंपरया राज्ञाऽपि श्रुतं परं विस्मयमुपागतो राजा । मन्त्री ब्रूते देव ! न भवति कदाचिदप्येतदवश्यं विशेषः कोऽपि भविष्यति राज्ञोक्तं कथमेतदवसेयम् । मन्त्री ब्रूते देवाचिरादेव यथा ज्ञास्यते तथा यतिष्यते । ततो मन्त्रिणा तस्याः स्त्रिया लेखः प्रेषितो यथा द्वावपि निजपती ग्रामद्वये प्रेषणीयावेकः पूर्वस्यां दिशि विवक्षिते ग्रामेऽपरोऽपरस्यां दिशि । तस्मिन्नेव च दिने द्वाभ्यामपि गृहे समागन्तव्यम् । ततस्तया यो मन्दवल्लभः स पूर्वस्यां दिशि प्रेषितोऽपरोऽपरस्यां दिशि । पूर्वस्यां दिशि यो गतः तस्य गच्छतः आगच्छतश्च संमुखः सूर्यः । यः पुनरपरस्यां दिशि गतः तस्य गच्छतः आगच्छतश्च पृष्ठतः । एवं च कृते मन्त्रिणा ज्ञातमयं मन्दवल्लभोऽपरोऽत्यन्तवल्लभः । ततो निवेदितं राज्ञो राज्ञा च न प्रतिपन्नं यतोऽवश्यमेकः पूर्वस्यां दिशि प्रेषणीयोऽपरोऽपरस्यां दिशि । ततः कथमेष विशेषोऽवगम्यते ततः पुनरपि मन्त्रिणा लेखप्रदानेन सा महेलोक्ता द्वावपि निजपती तयोरेव ग्रामयोः समकं प्रेषणीयौ तया च तौ तथैव प्रेषितौ मन्त्रिणा च द्वौ पुरुषौ तस्याः समीपे समकं तयोः शरीरापाटवनिवेदकौ प्रेषितौ द्वाभ्यामपि च सा समकमाकारिता ततो यो मन्दवल्लभशरीरपाटवनिवेदकः पुरुषस्तं प्रत्याह स देवो मन्दशरीरी द्वितीयोऽत्यातुरश्च वर्तते ततस्तं प्रत्यहं गमिष्यामि । तथैव कृतं ततो निवेदितं राज्ञो मन्त्रिणा प्रतिपन्नं राज्ञा तथेति । मन्त्रिण औत्पत्तिकी बुद्धिः ॥ १७ ॥

(पुत्तत्ति) पुत्रदृष्टान्तः तद्भावना कोऽपि वणिक् तस्य द्वे पत्न्यौ एकस्य पुत्रोऽपरा वन्ध्या परं सापि तं पुत्रं सम्यक्पालयति ततः स पुत्रो विशेषं न जानीते यथेयं मे जननी इयं नेति सोऽपि वणिक् सभार्यापुत्रो देशान्तरं गतो गतमात्र एव परासुरभूत् ततो द्वयोरपि तयोः कलहोऽजायत । एका भणति ममैष पुत्रस्ततोऽहं

Jain Education International   For Private & Personal Use Only   www.jainelibrary.org

गृहस्वामिनी द्वितीया तु वक्ति का त्वं ममैष पुत्रः ततोऽहमेव गृहस्वामिनीति । एवं तयोः परस्परं कलहे जाते राजकुले व्यवहारो जातः । ततोऽमात्यः प्रतिपादयामास निजपुरुषान् भो पूर्वं द्रव्यं समस्तं विभज्य ततो दारकं द्वौ भागौ करपत्रेण कुरुत कृत्वा चैकं खण्डमेकस्यै समर्प्पयत द्वितीयं द्वितीयस्यै । तत एतदमात्यवाक्यं शिरसि महाज्वालासहस्रावलीवज्रोपनिपातकल्पं पुत्रमाता श्रुत्वा सोत्कम्पहृदयान्तः प्रविष्टतिर्यक्शल्येव दुःखं वक्तुं प्रवृत्ता हे स्वामिन्! महामात्य न ममैष पुत्रो न मे किञ्चिदर्थेन प्रयोजनमेतस्या एव पुत्रो भवत्वियं गृहस्वामिनी च अहं पुनरमुं पुत्रं दूरस्थितापि परगृहेषु दारिद्र्यमपि कुर्वती जीवन्तं द्रक्ष्यामि तावता च कृतकृत्यमात्मानं प्रपत्स्ये।पुत्रेण विना पुनरधुनापि समस्तोऽपि मे जीवलोकोऽस्तमुपयाति इतरा च न किमपि वक्ति ततोऽमात्येन तां सदुःखां परिभाव्य उक्तमेतस्याः पुत्रो नास्याइति । सैव च सर्वस्य स्वामिनी कृता द्वितीया तु निर्धाटिता अमात्यस्यौत्पत्तिकी बुद्धिः १८ भरहसिलमेंढस्यादिका च गाथा रोहक संविधानसूचिका सा च प्रागुक्तकथानकानुसारेण स्वयमेव व्याख्येया । (मधुसित्थेत्यादि) मधुयुक्तं सिक्थं तद्दृष्टान्तभावना कश्चित्कौलिकः तस्य भार्या स्वैरिणी सा चान्यदा केनापि पुरुषेण सह कचित्प्रदेशे जालिकामध्ये मैथुनं सेवितवती मैथुनस्थितया च तया उपरि भ्रामरमुत्पन्नं दृष्टं क्षणमात्रानन्तरं च गृहे समागता । द्वितीये च दिवसे स्वभर्त्ता मदनं क्रीणंस्तया निवारितो मा क्रीणीहि मदनं महत् भ्रामरमुत्पन्नं दर्शयामि । ततः स क्रयणाद्विनिवृत्तो गतौ च तौ द्वावपि तां जालिं न पश्यति सा कथमपि कौलिकी भ्रामरं न दृष्टवती ततो येन संस्थानेन मैथुनं सेवितवती तेन संस्थानेन स्थिता ततो भ्रामरं दृष्टवती दर्शयामास च कौलिकाय कौलिकोऽपि च तथारूपं संस्थानमवलोक्य ज्ञातवान्नूनमेषा दुराचारिणीति । कौलिकस्यौत्पात्तिकी बुद्धिः ॥ १९ ॥

(मुद्दियत्ति) मुद्रिकोदाहरणं तद्भावना कचित्पुरे कोऽपि पुरोधाः सर्वत्र ख्यातसत्यवृत्तिर्यथा परकीयान्निक्षेपानादाय प्रभूतकालातिक्रमेऽपि तथास्थितानेव समर्प्पयतीति एतच्च ज्ञात्वा कोऽपि द्रमकः तस्मै स्वनिक्षेपं समर्प्य देशान्तरं प्रभूततरमगमत् प्रभूतकालातिक्रमे च भूयोऽपि तत्रागतो याचते स्वं निक्षेपं पुरोधाश्च मूलत एवापलपति कस्त्वं कीदृशो वा तव निक्षेप इति । ततः स रङ्को वराकः स्वनिक्षेपमलभमानः शून्यचित्तो बभूव । अन्यदा च तेनामात्यो गच्छन् दृष्टो याचितश्च देहि मे पुरोहित ! सुवर्णसहस्रप्रमाणं निक्षेपमिति । तत एतदाकर्ण्य अमात्यः तद्विषयकृपापरीतचेताः बभूव । ततो गत्वा निवेदितं राज्ञः कारितश्च दर्शनं द्रमकोऽपि राज्ञा भणितः पुरोधा देहि तस्मै द्रमकाय स्वं निक्षेपमिति । पुरोहितोऽवादीत् देव ! तस्याहं न किमपि गृह्णामि । ततो राजा मौनमधात् । पुरोधसि च स्वगृहं गते राजा विजने तं द्रमकं पृष्टवान् रे कथय ! सत्यमिति ततस्तेन दिवसमुहूर्तस्थानपार्श्ववर्तिमानुषादिकं कथितम् ततोऽन्यदा राजा पुरोधसा समं रन्तुं प्रावर्तत परस्परं नाममुद्रा संचारिता ततो राजा यथा पुरोधा न वेत्ति तथा कस्यापि मानुषहस्ते नाममुद्रां समर्प्य तं प्रति भणति रे पुरोधसो गृहे गत्वा तद्भार्यामेवं ब्रूहि यथाऽहं पुरोधसा प्रेषितः इयं च नाममुद्राभिज्ञानं तस्मिन् दिने तस्यां वेलायां यः सुवर्णसहस्रं नवलको द्रमकसत्कः त्वत्समक्षममुकप्रदेशे मुक्तोऽस्ति तं झटिति समर्प्पय तेन पुरुषेण तथैव कृतं सापि च पुरोधसो भार्या नाममुद्रां दृष्ट्वाऽभिज्ञानमिलनतश्च सत्यमेव पुरोधसा प्रेषित इति प्रतिपन्नवती । ततः समर्प्पयामास तं द्रमकनिक्षेपं तेन पुरुषेणानीय राज्ञः समर्प्पितो राज्ञा चान्येषां बहूनां नवलकानां मध्ये स द्रमकनवलकः प्रक्षिप्तः । आकारितो द्रमकः पार्श्वे चोपवेशितः पुरोधा द्रमकोऽपि तथात्मीयं नवलकं दृष्ट्वा प्रमुदितहृदयो विकसितलोचनोऽपगतचित्तशून्यताभावः सहर्षं राजानं विज्ञापयितुं प्रवृत्तो देव ! देवपदानां पुरत एवमाकारो मदीयो नवलकस्ततो राजा तस्मै समर्प्पयामास । पुरोधसो जिह्वाच्छेदमचीकरत् । राज्ञः औत्पत्तिकी बुद्धिः ॥ २० ॥

(अंकत्ति) अङ्कदृष्टान्तभावना कोऽपि पार्श्वे रूपकसहस्रभवलकं निक्षिप्तवान् तेन च निक्षेपग्राहिणा तं नवलकमधः प्रदेशे छित्त्वा कूटरूपकाणां संभृतः तथैव च सीवितः । ततः कालान्तरे तस्य पार्श्वान्निक्षेपस्वामिना स्वनिक्षेपो गृहीतः परिज्ञावितः सर्वतः तथैव दृश्यते मुद्रादिकं तत उद्घाटिता मुद्रा यावत् रूपकान् परिज्ञापयति तावत्सर्वानपि कूटान्पश्यति ततो जातो राजकुलेन तयोर्व्यवहारः । पृष्टः कारणिकैर्निक्षेपस्वामी भोः कतिसंख्यास्तव नवलके रूपका आसीरन् स प्राह सहस्रं ततो गणयित्वा रूपकाणां सहस्रं तेन भृतः स नवलकः स च परिपूर्णभृतः केवलं यावन्मात्रमधस्ताच्छिन्नस्तावन्न्यून इति उपरि सीवितुं न शक्यन्ते ततो ज्ञातं कारणिकैः नूनमस्याऽपहृता रूपकाः ततो दापितो रूपकसहस्रमितरो नवलकस्वामिनः । कारणिकानामौत्पत्तिकी बुद्धिः ॥ २१ ॥

(नाणत्ति) कोऽपि कस्यापि पार्श्वे सुवर्णपणभृतं नवलकं निक्षिप्तवान् ततो गतो देशान्तरं प्रभूते च कालातिक्रान्ते निक्षेपग्राही तस्मान्नवलकाज्जात्यसुवर्णमयान् पणान् गृहीत्वा हीनवर्णकसुवर्णपणान् तावत्संख्याकान् तत्र प्रक्षिप्तवान् तथैव च स नवलकः तेन सीवितः ततः कतिपयदिनानन्तरं स नवलकस्वामी देशान्तरादागतः स्वं च नवलकं तस्य पार्श्वे याचितवान् सोऽपि समर्पयामास परिज्ञावितं तेन मुद्रादिकं तथैव दृष्टम् । ततो मुद्रां स्फोटयित्वा यावत्पणान्परिज्ञापयति तावद्धीनवर्णसुवर्णकमयान् पश्यति ततो बभूव राजकुले व्यवहारः पृष्टं च कारणिकैः कः कालः आसीत् यत्र त्वया नवलको मुक्त इति । नवलकस्वामी प्राह । अमुक इति ततः कारणिकैरुक्तं स चिरन्तनकालोऽधुनातनकालकृताश्च दृश्यन्तेऽमी पणास्ततो मिथ्याभाषी नूनमेष निक्षेपग्राहीति दण्डितो दापितश्च तस्य तावत्पणास्तमिति । कारणिकानामौत्पत्तिकीबुद्धिः ॥ २२ ॥

(भिक्खुत्ति) भिक्षूदाहरणं तद्भावना कोपि कस्यापि भिक्षोः पार्श्वे सुवर्णसहस्रं निक्षिप्तवान् कालान्तरे याचते स च भिक्षुर्न प्रयच्छति केवलमद्यकल्ये वा ददामीति विप्रतारयति ततस्तेन द्यूतकारा अवलगितास्ततस्तैः प्रतिपन्नं निश्चितं दापयिष्यामः । ततो द्यूतकारा रक्तपटवेषेण सुवर्णखोटिकां गृहीत्वा समागता वदन्ति च वयं चैत्यवन्दनाय देशान्तरं यियासवो यूयं परमसत्यतापात्रमत एताः सुवर्णखोटिका युष्मत्पार्श्वे स्थास्यन्ति एतावति चावसरे पूर्वं संकेतितः स पुरुषः आगत्य याचते स्म भिक्षो ! समर्पय स्थापनिकामिति ततो भिक्षुणाभिनवमुच्यमानसुवर्णखोटिकालम्पटतया समर्पिता तस्य स्थापनिका तस्मै । मा एतासामहमाभागी जायेयेति बुद्ध्या तेऽपि च द्यूतकाराः किमपि मिषान्तरं कृत्वा स्वसुवर्णखोटिकां गृहीत्वा गताः । द्यूतकाराणामौत्पत्तिकी बुद्धिः २३

(चेडगनिहाणत्ति) चेटका बालका निधानं प्रतीतं दृष्टान्तभावना द्वौ पुरुषौ परस्परं प्रतिपन्नसखिभावावन्यदा कचित्प्रदेशे ताभ्यां निधानमुपलेभे तत एको मायावी ब्रूते श्वस्तनदिने शुभे नक्षत्रे ग्रहीष्यामो द्वितीयेन च सरलमनस्कतया तथैव प्रतिपन्नम् । ततस्तेन मायाविना तस्मिन् प्रदेशे रात्रावागत्य निधानं गृहीत्वा तत्राङ्गारकाः प्रक्षिप्ताः ततो द्वितीयदिने तौ द्वावपि भूत्वा गतौ दृष्टवन्तौ तत्राङ्गारकान् । ततो मायावी मायया स्वोरस्ताडमाक-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न्दितुं प्रावर्तत वदति च हा हीनपुण्या वयं दैवेन चक्षुर्दत्वा ऽस्माकं समुत्पाटिते यन्निधानमुपविश्याङ्गारका दर्शिताः पुनः पुनश्च द्वितीयमुखमवलोकते ततो द्वितीयेन जज्ञे नूनमनेन हृत धनामिति ततस्तेनाप्याकारसंवरणं कृत्वा तस्यानुशासनार्थमूचे मा वयस्य खेदं कार्षीः न खलु खेदं पुनर्विधानप्रत्यागमनहेतुः । ततो गतौ द्वावपि स्वं गृहं ततो द्वितीयेन तस्य मायाविनो लेप्यमयी सजीवेव प्रतिमा कारिता द्वौ च गृहीतौ मर्कटौ प्रतिमायाश्चोत्सङ्गे हस्ते शिरसि स्कन्धे वान्यत्र च यथायोग्यं तयोर्मर्कटयोर्जन्यं मुक्तवान् तौ च मर्कटौ क्षुधार्त्तौ सन्तौ तत्रागत्य प्रतिमाया उत्सङ्गादौ लग्नौ क्रीडितवन्तौ एवं च प्रतिदिनं करणे तयोस्तादृश्येव शैली समजनि । ततोऽन्यदा किमपि पर्वाधिकृत्य मायाविनो द्वावपि पुत्रौ भोजनाय निमन्त्रितौ समागतौ च भोजनवेलायां तद्गृहे भोजितौ च तेन महागौरवेण भोजनानन्तरं च तौ महता सुखेनान्यत्र संगोपितौ । ततस्तोकदिनावसाने मायावी स्वपुत्रशोधिकरणाय तद्गृहमागतः ततो द्वितीयस्तं प्रति ब्रूते मित्र! तौ तव पुत्रौ मर्कटावभूतां ततः सखेदं विस्मतचेता गृहमध्यं प्राविशत् ततो लेप्यमयीं प्रतिमामुत्सार्य तत्स्थाने समुपवेशितो मुक्तौ स्वस्थानात् मर्कटौ च किलकिलायमानौ तस्योत्सङ्गे शिरसि स्कन्धे वागत्य विलग्नौ । ततो मित्रमवादीत् भो वयस्य! तावेतौ तव पुत्रौ तथाच पश्य तव स्नेहमात्मीयं दर्शयतः । ततः स मायावी प्राह वयस्य ! किं मानुषावकस्मान्मर्कटकौ जातौ वयस्य आह भवतः कर्मप्रातिकूल्यवशात् तथाहि किं सुवर्णमङ्गारी भवति परमावयोः कर्मप्रातिकूल्यादेतदपि जातं तथा तव पुत्रावपि मर्कटावभूतामिति । ततो मायावी चिन्तयामास नूनमहं ज्ञातोऽनेन ततो यद्युच्चैः शब्दं करिष्ये ततोऽहं राजग्राह्यो भविष्यामि पुत्रौ चान्यथा मे न भवतः ततस्तेन सर्वं यथावस्थितं निवेदितं दत्तश्च भागः इतरेण च समर्पितौ पुत्रौ तस्यौत्पात्तिकी बुद्धिः ॥ २४ ॥

(सिक्खत्ति) शिक्षा धनुर्वेदे तदुदाहरणभावना कोऽपि पुमानतीव धनुर्वेदकुशलः स परिभ्रमन्नेकत्रेश्वरपुत्रान् शिक्षयितुं प्रावर्तत तेभ्यश्चेश्वरपुत्रेभ्यः प्रभूतं द्रव्यं प्रापितवान् ततः पित्रादयस्तेषां चिन्तयामासुः प्रभूतमेतस्मै दत्तवन्तः । ततो यदासौ यास्यति तदैनं मारयित्वा सर्वं ग्रहीष्यामः एतच्च कथमपि तेन ज्ञातं ततः स्वबन्धूनां ग्रामान्तरवासिनां कथमपि ज्ञापितं यथाहममुकस्यां रात्रौ नद्यां गोमयपिण्डान् प्रक्षेप्स्यामि भवद्भिस्ते ग्राह्या इति । ततस्तैस्तथैव प्रतिपन्नं ततो द्रव्येण संवलिता गोमयपिण्डास्तेन कृताः आतपेन शोषितास्तत ईश्वरपुत्रान् प्रत्युवाच यथैषोऽस्माकं विधिर्विवक्षितपर्वणि स्नानमन्त्रपुरस्सरं ते सर्वेऽपि गोमयपिण्डा नद्यां प्रक्षिप्यान्ततः समागतो गृहं तेऽपि गोमयपिण्डा नीता बन्धुभिः स्वग्रामं । ततः कतिपयदिनातिक्रमे तानीश्वरपुत्रान् तेषां च पित्रादीन् प्रत्येकं मुत्कलयाप्यात्मानं च वसुमात्रपरिग्रहोपेतं दर्शयन् सर्वजनसमक्षं स्वग्रामं जगाम पित्रादिभिश्च परिभावितो नास्य पार्श्वे किमप्यस्तीति न मारितः । तस्यौत्पत्तिकी बुद्धिः २५ (अत्थसत्थेति) अर्थशास्त्रमर्थविषयं नीतिशास्त्रं तद्दृष्टान्तभावना । कोऽपि वणिक् तस्य द्वे पत्न्यौ एकस्याः पुत्रोऽपरा वन्ध्या परं साऽपि पुत्रं सम्यक् परिपालयति ततः पुत्रो विशेषं न बुध्यते यथेयं मे जननी नेयमिति सोऽपि वणिक् सभार्यापुत्रो देशान्तरमगमत् । यत्र सुमतिस्वामिनस्तीर्थकृतो जन्मभूमिः तत्र गतमात्र एव च दिवं गतः सपत्न्योश्च परस्परं कलहोऽभूत् एका ब्रूते ममैष पुत्रः ततोऽहं गृहस्वामिनी द्वितीया ब्रूतेऽहमिति ततो राजकुले व्यवहारो जातः तथापि न निर्वलति एतच्च भगवति सुमतिस्वामिनि तीर्थकरे गर्भस्थिते जनन्या मङ्गलादेव्या जज्ञे तत आकारिते द्वे अपि ते सपत्न्यौ ततो देव्या प्रत्यपादि कतिपयदिनानन्तरं मे पुत्रो भविष्यति स च वृद्धिमधिरूढोऽस्याशोकपादपस्याधस्तादुपविष्टो युष्माकं व्यवहारं छेत्स्यति । तत एतावन्तं कालं यावदविशेषेण खादतां पिबतामिति ततो न यस्याः पुत्रः साऽचिन्तयत् लब्धस्तावदेतावान् कालः पश्चाद्यद्भविष्यति तत्र जानीमः । ततो हृष्टवदनयाऽनया प्रतिपन्नं ततो देव्या जज्ञे नैषा पुत्रस्य मातेति निर्भर्त्सिता द्वितीया च गृहस्वामिनी कृता । देव्या औत्पत्तिकी बुद्धिः ॥ २६ ॥

(इच्छीमहंति) कोऽपि स्त्री तस्या भर्त्ता पञ्चत्वमुपागतः सा च वृद्धिप्रयुक्तं लोकेभ्यो न लभते ततः पतिमित्रं भणितवन्ती मम दापय लोकेभ्यो धनमिति । ततस्तेनोक्तं यदि मम भाग प्रयच्छसि । तयोक्तं यदिच्छसि तन्मह्यं दद्या इति ततस्तेन लोकेभ्यः सर्वं द्रव्यमुद्ग्राहितं तस्यै स्तोकं प्रयच्छति सा नेच्छति ततो जातो राजकुले व्यवहारः ततः कारणिकैर्यदुद्ग्राहितं द्रव्यं तत्सर्वमानायितं कृतौ द्वौ भागौ एको महान् द्वितीयोऽल्प इति ततः पृष्टः कारणिकैः पुरुषः कं भागं त्वमिच्छसि स प्राह महान्तमिति । ततः कारणिकैरक्षरार्थो विचारितो यदिच्छसि तन्मह्यं दद्या इति त्वं चेच्छसि महान्तं भागं ततो महान् भाग एतस्या द्वितीयस्तु तवेति । कारणिकानामौत्पत्तिकी बुद्धिः ।२७

(सयसहस्सत्ति) कोऽपि परिव्राजकः तस्य रौप्यमयं महाप्रमाणं भाजनं खोरयसंज्ञं स च यदेकवारं शृणोति तत्सर्वं तथैवाऽवधारयति ततः स निजप्रज्ञागर्वमुद्वहन् सर्वत्र प्रतिज्ञां कृतवान् यो नाम ममापूर्वं श्रावयति तस्मै ददामीदं निजभाजनमिति । न च कोऽप्यपूर्वं श्रावयितुं शक्नोति स हि यत्किमपि शृणोति तत्सर्वमस्खलितं तथैवानुवदति । वदति चाग्रेऽपीदं मया श्रुतं कथमन्यथाहमस्खलितं भणामीति एतत्सर्वं ख्यातिमगमत् ततः केनापि सिद्धपुत्रकेण ज्ञातप्रतिज्ञेन तं प्रत्युक्तमपूर्वं श्रावयिष्यामि । ततो मिलितो भूयान् लोको राजसमक्षं व्यवहारो बभूव । ततः सिद्धपुत्रोऽपाठीत् "तुज्झ पिया मह पिउणो, धारेइ अणूणगं सयसहस्सं । जइ सुयपुव्वं दिज्जउ, अह न सुयं खोरयं देसु" इतः परिव्राजकः सिद्धपुत्रेण । सिद्धपुत्रस्यौत्पात्तिकीबुद्धिः ॥ २८ ॥ नं० ॥ आ० म० द्वि० । आ० चू० । आ० क० ।

उप्पयंत–उत्पतत्–त्रि० ऊर्ध्वं पतति, "उप्पयंताणि पतंता भमंता पुव्वकम्मोदयोपगया" प्रश्न० १ द्वा० ।

उप्पयण–उत्पतन–न० उत्-पत ल्युट् ऊर्ध्वगमने, स्था०१० ठा० ।

उप्पयणिवय–उत्पातनिपात–पुं० उत्पात आकाशे उल्लङ्घनं निपातस्तस्मादवपतनम् (जं०४वक्ष०) उत्पातपूर्वो निपातो यस्मिन् स उत्पातनिपातः । नाट्यविधिभेदे, "उप्पयणिवयपसत्तं संकुचियं पसारियरयारइयं भंतं संभं णामं दिव्वं णट्टविहिं उवदंसेति " रा० । जी० ।

उप्पयणी–उत्पतनी–स्त्री० विद्याभेदे, यां जपन् स्वत एव पतत्यन्यं चोत्पातयति ॥ सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

उप्पयमाण–उत्पतत्– त्रि० ऊर्ध्वं पतति, स्त्रियाम् । "उप्पयमाणी विव धरणितलाउ" उत्पतन्ती ऊर्ध्वं यान्ती । ज्ञा०६अ० ॥

उप्परिवाडी–उत्परिपाटी– स्त्री० विपर्यासे, " उप्परिवाडी गहणे, चाउम्मासा भवे लहुगा " ग० १ अधि० ॥

उप्परिवाडीकरण–उत्परिपाटीकरण–न० विपर्ययकरणे, " उप्परिवाडी करणे, दोसा सम्मं तहा करणे " पं० व० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उप्पल–उत्पल–न० उद्–पल–अच् प्राकृते " कगटडतदपशषस ×क ×पा मूर्ध्वे लुक्" ८।२। ७७ इति संयोगादेर्लुक् । प्रा०। पद्मविशे० । " फुल्लुप्पलकमलकोमलुम्मिलियं " ज्ञा० १ अ० । नि० ; कल्प० । औ० । गर्दभके, श्वेतकुमुदे, आ० म० प्र० । " पक्खंतरेसु बहूइं पउमाइं जाव सयसहस्सपत्ताइं" जी०३प्रति० ।रा०। ईषन्नीले जलरुहे, जं० १ वक्ष०। नीलोत्पले, जी० ३ प्रति । भ० । तं० । स० । आचा० । रक्तकमले, कल्प० । उत्पलं त्रिविधं नीलं रक्तं श्वेतञ्च । वाच० । अत एव उत्पलशब्दस्य, नीलोत्पलं रक्तकमलं गर्दभकं नीलोत्पलादीत्येवं विभिन्ना अर्था उपलभ्यन्ते (उत्पलस्य उपपातः परिमाणमवहार उच्चत्वं यावत्समुद्घात उद्वर्तनाः द्वात्रिंशता द्वारैर्वणप्फइ शब्दे वक्ष्यते) कुष्ठे गन्धद्रव्यविशेषे, । "पउमुप्पलगंधिए " स० । तच्च उत्पलं कुष्ठमिति प्रसिद्धम् ॥ जं० ३ वक्ष० । जी० । तं० । चतुरशीतावुत्पलाङ्गशतसहस्रेषु, जी० ३ प्रति० । अनु० । स्था० । दशमे कल्पे चतुर्थविमाने च । स० । स्वनामख्याते पार्श्वापत्यीये परिव्राजके, पुं० । अस्थिकग्रामे वीरभगवति शूलपाणियक्षेणोपसृष्टे, " तत्थ उप्पलो नाम पुराणो पासावच्चिज्जतो परिव्वायगो अट्ठंगमहाणिमित्तजाणगो जणपासातो सोऊण मा तित्थगरो होज्जा अद्धिइं पकरेइ । आ०म०द्वि० । आ० क० । " तत्थ उप्पलो नाम पच्छाकडो परिव्वाओ पासावच्चिज्जो णेमित्तिओ भोमउप्पातसुमिणअंतलिक्खअंगसरलक्खणवंजणअट्ठंगमहाणिमित्तजाणओ । आ० चू०१अ० । उत्क्रान्तं पलं मांसम् । अत्या० स० । मांसशून्ये, त्रि० । वाच० स्वनामख्याते द्वीपसमुद्रे च । प्रज्ञा० १५ पद० ।

उप्पलंग–उत्पलाङ्ग–न० चतुरशीतौ हुहुकशतसहस्रेषु, जी० ३ प्रति० । जं० । स्था० ।

उप्पलकंद–उत्पलकन्द–पुं० मूलबीजे कन्दभेदे, स्था० ५ ठा० ।

उप्पलगुम्मा–उत्पलगुल्मा–स्त्री० जम्बूसुदर्शनाया दक्षिणपूर्वस्यां पूर्वदिशि नन्दापुष्करिण्याम्, जी० ३ प्रति० ।

उप्पलणाल-उत्पलनाल-न. नीलोत्पलादेराधारे, आचा०२श्रु०१अ०

उप्पलवेंटग–उत्पलवृन्तक–पुं० उत्पलवृन्तानि नियमविशेषाद् गृहीततया नैकत्वेन येषां सन्ति ते उत्पलवृन्तिकाः । आजीविकश्रमणभेदेषु, औ० ॥

उप्पलहत्थग–उत्पलहस्तक–पुं० उत्पलाख्यजलजकुसुमविशेषे, । आ० म० द्वि० । जीवा० । रा० ।

उप्पला–उत्पला–स्त्री० शङ्खभार्यायाम, स्था० ७ ठा० । "तस्स णं संखस्स समणोवासगस्स उप्पला णामं भारिया होत्था सुकुमाल जाव सुरूवा समणोवासिया अभिगयजीवाजीवा जाव विहरइ" भ० १२ श० १ उ० । (संखशब्देऽन्यत्) कालस्य पिशाचेन्द्रस्य तृतीयाग्रमहिष्याम्, भ० १० श० ५ उ० । (तस्या भवत्रयवक्तव्यता अग्गमहिसी शब्दे उक्ता) भीमाभिधानकूटग्राहिणो भार्यायाम, यस्याः पुत्रो गोत्रासो मृत्वा नरकं गत्वा ततो विजयसार्थवाहस्य भद्रायामुज्झितको नाम दारकोऽभवत् । विपा० २अ० । (वक्तव्यता उज्झियशब्दे उक्ता) जम्ब्वाः सुदर्शनाया दक्षिणपूर्वस्यां पश्चिमायां दिशि नन्दापुष्करिण्याम, । जी० ३ प्रति० ।

उप्पलिणीकंद–उत्पलिनीकन्द–पुं० जलजवनस्पतिविशेषे, " पउमुप्पलिणीकंदे, अंतरकंदे तहेव झिल्ली य । एते अणंतजीवा एगो जीवोभिसमुणाले " । प्रज्ञा० १ पद० ।

उप्पलुज्जला–उत्पलोज्ज्वला–स्त्री० जम्ब्वाः सुदर्शनाया दक्षिणपूर्वस्यामुत्तरस्यां नन्दापुष्करिण्याम, जी० ३ प्रति० । जं० ।

उप्पव्वइय-उत्प्रव्रजित-त्रि० उत्प्रव्रज्य निर्गते, उत्प्रव्रजितस्तु द्विधा सारूपी गृहस्थश्च । ध० ३ अधि० ।

उप्पह–उत्पथ–पु० उन्मार्गे, " आवज्जे उप्पहं जं तु " सूत्र० १ श्रु० १ अ० । ओ० । " पंथा उ उप्पहं नेति " नि० चू० ३ उ० । कदर्ये पथि, वाच० ।

उप्पहजाइ–उत्पथयायिन्–पुं० न० उन्मार्गगामिनि युग्ये, तत्तुल्ये लिङ्गावशेषे, परसमयगते वा पुरुषे च । स्था० ३ ठा० ।

उप्पहेड–देशी० । महाराष्ट्रादि देशविशेषप्रसिद्धेऽर्थे, प्रा० ।

उप्पा–उत्पाद–पुं० प्राकृते स्त्रीत्वं तथारूपत्वं च " एगा उप्पा " प्राकृतत्वादुत्पादः स चैकसमये एकपर्यायापेक्षया नहि तस्य युगपदुत्पादद्वयादिरस्ति अनपेक्षिततद्विशेषकपदार्थतया चैकोऽसाविति । स्था० १ ठा० ।

उप्पाइत्ता–उत्पादयितृ–त्रि० उत्पादनशीले, स्था० ७ ठा० । उत्पादके, स्था० ४ ठा० ।

उत्पादयितुम्–अव्य० संपादयितुमित्यर्थे, "उप्पाइत्ता एगे य सप्पए पुच्छुप्पन्नाणं " स्था० ४ ठा० ।

उप्पाइय–औत्पातिक– त्रि० उत्पादने निर्वृत्तमौत्पातिकम् । पांशुपातादौ, तन्निमित्तके अस्वाध्याये च । आव० ४ अ० । रुधिरवृष्ट्यादीनामनिष्टसूचकानां हेतुष्वनर्थेषु, "उप्पाइयावाही" उत्पातोऽनिष्टसूचकरुधिरवृष्ट्यादयस्तद्धेतुका येऽनर्थास्ते औत्पातिकाः स०।

उप्पाइयपवण-औत्पातिकपवन-पुं० उत्पातजनितवायौ, प्रश्न० ३द्वा.।

उप्पाइयपव्वय–औत्पातिकपर्वत– पुं० अस्वाभाविके, " उप्पाइयपव्वयं व चंकमंतं सक्खं मत्तं गुलुगुलुंतं " स्वाभाविकपर्वतो हि न चङ्क्रमते अत उच्यते औत्पातिकपर्वतमिव चङ्क्रम्यमाणम् पाठान्तरेण तु औत्पातिकंपर्वतमिव । औ० । ज्ञा० ॥

उप्पाइयाविच्छिन्नकोउहल्लत्त–उत्पादिताविच्छिन्नकौतूहलत्व–न० श्रोतॄणां स्वविषये उत्पादितं जनितमविच्छिन्नं कौतूहलं कौतुकं येन तत्तथा । तद्भावस्तत्त्वम् । श्रोतृषु स्वविषयाद्भुतविस्मयकारितारूपे षड्विंशे सत्यवचनातिशये, रा० ॥

उप्पाडण–उत्पाटन– न० उद्–पट्–णिच्–ल्युट्–उन्मूलनक्षेपे, प्रश्न० १ द्वा० । उत्खनने, " सकृदुत्पाटनतः, शालिरपि फलावहः पुंसः " षो० १४ विव० । नि० चू० ॥

उप्पाडिय–उत्पाटित– त्रि० उन्मूलिते, " उप्पाडियनयणदंसणवसणासणस्स " आ० क० ॥

उप्पाय–उत्पात– पुं० न० उत्पतनमुत्पातः । उद्–पत्–घञ्–कर्त्तृ-गमने, स्था० १ ठा० । प्रकृतिविकारे, तद्रूपे सहजरुधिरवृष्ट्यादौ, तत्प्रतिपादनपरे शास्त्रे च । यथा राष्ट्रोत्पातादि स्था० ९ ठा० । प्रश्न० । स० । अनु० । सूत्र० । आव० । " साहिए वरिसाइ जम्मि जायइ भन्नइ तमुप्पायं " सहजरुधिरवृष्ट्यादि यस्मिन् जायते तदुत्पाताभिधं निमित्तम् । आदिशब्दादस्थिवृष्ट्यादिपरिग्रहः । यथा " मज्जानि रुधिरास्थीनि, धान्यागारान् वशास्तथा, मघवा वर्षते यत्र, भयं विद्याच्चतुर्विधमित्यादि । प्रव० । अभ्रादिविकारवत् विस्तरतः परिणामत उत्पातः " पंसुयमंसरुहिरे, केससिलावुट्ठितहरउग्घाए । मंसंसिलारुहिरे, अहोरत्तं अवसेसे जच्चिरं सुत्तं " इत्येवं रूपे उत्पाते ऽस्वाध्यायिकं क्रियत इति आ० चू० । आव० ॥ (विस्तरतोवर्णनमसज्झाइय शब्दे)उत्पातविचारोऽङ्गविद्यासु दर्शितो बृहत्संहितासु च । शुभाशुभसूचकोत्पातश्च दिव्यान्तरीक्षभौमभेदात् त्रिविधः । स च बृहत्संहितायां यथा–

यानत्रेदुत्पातान्, गर्गः प्रोवाच तानहं वक्ष्ये । तेषां सङ्क्षेपोऽयं, प्रकृतेरन्यत्वमुत्पातः ॥ अपचारेण नराणा-मुपसर्गः पापसञ्चयाद्भवति । संसूचयन्ति दिव्या-न्तरिक्षभौमास्तदुत्पाताः ॥ मनुजानामपचाराऽऽदपरक्ता देवताः सृजन्त्येतान् । तत्प्रतिघाताय नृपः, शान्तिं राष्ट्रे प्रयुञ्जीत। दिव्यं ग्रहर्क्षवैकृत-मुल्कानिर्घातपवनपरिवेषाः । गन्धर्वपुरपुरन्दर-चापादि यदान्तरिक्षं तत् ॥ भौमं चरस्थिरभवं, तच्छान्तिभिराहतं शममुपैति । आत्मसुतकोशवाहन-पुरदारपुरोहितेषु लोकेषु ॥ पाकमुपयाति दैवं परिकल्पितमष्टधा नृपतेः । दैवतयात्राशकटा-क्षचक्रयुगकेतुभङ्गपतनानि ॥ संपर्यासनसादन-सङ्गाश्च नृदेशपशुभेदाः । ऋषिधर्मपितृब्रह्म-प्रोद्भूतं तद् द्विजातीनाम् ॥ यद्रुद्रलोकपालोद्भवं पशूनामनिष्टं तत् । गुरुसितशनैश्चरोत्थं पुरोधसां विष्णुजं च लोकानाम् ॥ स्कन्दविशाखसमुत्थं माण्डलिकानां नरेन्द्राणाम् । वेदव्यासे मन्त्रिणि विनायके वैकृते चमूनाथे ॥ धातरि सविश्वकर्मणि लोकाभावाय निर्दिष्टम् । देवकुमारकुमारीवनिताप्रेष्येषु वैकृतं यत्स्यात् ॥ तन्नरपतेः कुमारककुमारिकास्त्रीपरिजनानाम् । रक्षःपिशाचगुह्यकनागानामेतदेव निर्देश्यम् ॥ मासैश्चाप्यष्टाभिः सर्वेषामेव फलपाकः ॥ राष्ट्रे यस्यानग्निः प्रदीप्यते दीयते च नेन्धनवान् । मनुजेश्वरस्य पीडा तस्य सराष्ट्रस्य विज्ञेया ॥ जलमांसार्द्रज्वलने नृपतिवधः प्रहरणे रणो रौद्रः । सैन्यग्रामपुरेषु च नाशो वह्नेर्भयं कुरुते ॥ प्रासादभवनतोरण-केत्वादिष्वनलेदग्धेषु । तडितो वा षण्मासात् परचक्रस्यागमो नियमात् ॥ धूमोऽनग्निसमुत्थो रजस्तमश्चाह्निजं महाभयदम् । व्यभ्रे निश्युडुनाशो दर्शनमपि चाह्नि दोषकरम् ॥ नगरचतुष्पादाण्डजमनुजानां भयकरं ज्वलनमाहुः । धूमाग्निविस्फुलिङ्गैः शय्याम्बरकेशगैर्मृत्युः ॥ आयुधज्वलनसर्पणस्वनाः कोशनिर्गमनवेपनानि वा । वैकृतानि यदि वायुधेऽपराण्याशु रौद्ररणसंकुलं वदेत् । इत्यग्निवैकृतम् ।

शाखाभङ्गेऽकस्माद् वृक्षाणां निर्दिशेद्रणोद्योगम् । हसने देशभ्रंशं रुदिते च व्याधिबाहुल्यम् ॥ राष्ट्रविभेदस्त्वनृतौ बालवधोऽतीव कुसुमिते बाले । वृक्षात् क्षीरस्रावे सर्वद्रव्यक्षयो भवति ॥ मद्ये वाहननाशः संग्रामः शोणिते मधुनि रोगः । स्नेहे दुर्भिक्षभयं महद्भयं निःसृते सलिले ॥ शुष्कविरोहे वीर्यान्नसंक्षयः शोषणे च विरुधानाम् । पतितानामुत्थाने स्वयं भयं दैवजनितं च ॥ पूजितवृक्षे ह्यनृतौ कुसुमफलं नृपवधाय निर्दिष्टम् । धूमस्तस्मिन् ज्वाला-यथा भवेन्नृपवधायैव ॥ सर्पत्सु तरुषु वापि-जनसङ्क्षयो विनिर्दिष्टः । वृक्षाणां वैकृत्ये दशभिर्मासैः फलविपाकः ॥ इति वृक्षवैकृतम् ।

नालेऽब्जयवादीनामेकस्मिन् द्वित्रिसम्भवो मरणम् । कथयति तदधिपतीनां यमलं जातं च कुसुमफलम् ॥ अतिवृद्धिः शस्यानां नानाफलकुसुमभवो वृक्षे । भवति हि यद्येकस्मिन् परचक्रस्यागमो नियमात् ॥ अर्धेन यदा तैलं भवति तिलानामतैलता वा स्यात् अन्नस्य च वैरस्यं तदा च विन्द्याद्भयं सुमहत् ॥ विकृतं कुसुमफलं वा ग्रामादथवा पुराद्बहिः कार्य्याम् । इति शस्यवैकृतम् ।

दुर्भिक्षमनावृष्ट्यामतिवृष्ट्यां क्षुद्भयं सपरचक्रम् । रोगो ह्यनृतुभवायां नृपवधोऽनभ्रजातायाम् ॥ शीतोष्णविपर्यासे नो सम्यगृतुषु च संप्रवृत्तेषु । षण्मासाद्राष्ट्रभयं रोगभयं दैवजनितं च ॥ अन्यतौ सप्ताहं प्रबन्धवर्षे प्रधाननृपमरणम् । रक्ते शस्त्रोद्योगो मांसास्थिवसादिभिर्मरकः ॥ धान्यहिरण्यत्वक्फलकुसुमाद्यैर्वर्षितैर्भयं विद्यात् । अङ्गारपांशुवर्षे विनाशमायाति तन्नगरम् ॥ उपला विना जलधरैर्विकृता वा प्राणिनो यदा वृष्टाः । छिद्रं वाप्यतिवृष्टौ शस्यानामीति सञ्जननम् ॥ क्षीरघृतक्षौद्राणां दध्नो रुधिरोष्णवारिणां वर्षे । देशविनाशो ज्ञेयोऽसृग्वर्षे चापि नृपयुद्धम् ॥ यद्यमलेऽर्के छाया न दृश्यते दृश्यते प्रतीपा वा । देशस्य तदा सुमहद्भयमायातं विनिर्देश्यम् ॥ व्यभ्रे नभसीन्द्रधनुर्दिवा यदा दृश्यतेऽथवा रात्रौ । प्राच्यामपरस्यां वा तदा भवेत् क्षुद्भयं सुमहत् ॥ सूर्येन्दुपर्जन्यसमीरणानां योगः स्मृतो वृष्टिविकारकाले ॥ इति वृष्टिवैकृतम् । अपसर्पणा नदीनां नगरादचिरेण शून्यतां कुरुते । शोषश्चाशोष्याणामन्येषां वा ह्रदादीनाम् ॥ स्नेहा सृग्मांसवहाः सङ्कुलकलुषा प्रतीपगाश्चापि । परचक्रस्यागमनं नद्यः कथयन्ति षण्मासात् ॥ ज्वाला धूमक्वाथरुदितोत्क्रुष्टानि चैव कूपानाम् । गीतप्रजल्पितानि च जनमरकाय प्रदिष्टानि ॥ तोयोत्पत्तिरखाते गन्धरसविपर्यये च तोयानाम् । सलिलाशयविकृतौ वा महद्भयं तत्र शुभकृत्यम् ॥ इति जलवैकृतम् ॥ प्रसवविकारे स्त्रीणां द्वित्रिचतुःप्रभृतिसम्प्रसूतौ वा । हीनातिरिक्तकाले च देशकुलसङ्क्षयो भवति ॥ वडवोष्ट्रमहिषगोहस्तिनीषु यमलोद्भवे मरणमेषाम् ॥ इति प्रसववैकृतम् ॥ परयोनावभिगमनं भवति तिरश्चामसाधु धेनूनाम् । उक्षाणां वान्योऽन्यं पिबति श्वा वा सुरभिपुत्रम् ॥ मासत्रयेण विद्यात् तस्मिन्निःसंशयं परागमनम् ॥ इति चतुष्पादवैकृतम् ॥ यानं वाहवियुक्तं यदि गच्छेन्न व्रजेच्च न वाहयुतम् । राष्ट्रभयं भवति तदा चक्राणां सादभङ्गे च ॥ अनभिहततूर्य्यनादः शब्दो वा ताडितेषु यदि नायात् । व्युत्पत्तौ वा तेषां परागमो नृपतिमरणं वा ॥ गीतरवतूर्य्यनादा नभसि यदा वा चरस्थिरान्यत्वम् ॥ मृत्युस्तदागदा वा विस्वरतूर्य्ये पराभिभवः । गोलाङ्गलयोर्भङ्गे दर्वीशूर्पाद्युपस्करविकारे ॥ क्रोष्टुकनादे च तथा शस्त्रभयं मुनिवचश्चेदम् । इति वायव्यवैकृतम् ॥ पुरपक्षिणो वनचरा वन्या वा निर्भया विशन्ति । पुरं नक्तं वा दिवसचरा क्षपाचरा वा चरन्त्यहनि । सन्ध्याद्वयेऽपि मण्डल-माबध्नन्तो मृगा विहङ्गा वा । दीप्तायां दिश्यथवा क्रोशन्तः संहता भयदाः ॥ श्वानः प्ररुदन्त इव द्वारे वा सन्ति जम्बुका दीप्ताः । प्रविशेन्नरेन्द्रभवने कपोतकः कौशिको यदि वा ॥ कुक्कुटरुतं प्रदोषे हेमन्तादौ च कोकिलालापः । प्रतिलोममण्डलचराः श्येनाद्याश्चाम्बरे भयदाः ॥ गृहचैत्यतोरणेषु द्वारेषु च पक्षिसङ्घसंपाताः । मधुवल्मीकाम्भोरुहसमुद्भवाश्चापि नाशाय ॥ श्वभिरस्थिशवावयव-प्रवेशनं मन्दिरेषु मरकाय । पशुशस्त्रव्याहारे नृपमृत्युर्मुनिवचश्चेदम् ॥ इति मृगपक्ष्यादिवैकृतम् ॥ शक्रध्वजेन्द्रकीलस्तम्भद्वारप्रपातभङ्गेषु । तद्वत्कपाटतोरणकेतूनां नरपतेर्मरणम् ॥ सन्ध्याद्वयस्य दीप्तिर्धूमोत्पत्तिश्च काननेऽनग्नौ । छिद्राभावे भूमेर्दरणं कम्पश्च भयकारी ॥ पाषण्डानां नास्तिकानां च भक्तः साध्वाचारप्रोज्झितः क्रोधशीलः । ईर्ष्युः क्रूरो विग्रहासक्तचेता यस्मिन् राजा तस्य देशस्य नाशः ॥ प्रहर हर छिन्धि भिन्धीत्यायुधकाष्ठाश्मपाणयो बालाः । निद्गन्तः प्रहरन्ते तत्रापि भयं भवत्याशु ॥ अङ्गारगैरिकाद्यैर्विकृतप्रेताभिलेखनं यस्मिन् । नायकचित्रितमथवा क्षये क्षयं याति न चिरेण ॥ लूतापटाङ्कशावलं न सन्ध्ययोः पूजितं कलहयुक्तम् । नित्योच्छिष्टस्त्रीकं च यद्गृहं तत्क्षयं याति ॥ दृष्टेषु यातुधानेषु निर्दिशेन्मरकमाशुसंप्राप्तम् ॥ इति शक्रध्वजेन्द्रकीलादि वैकृतम् ॥

नरपतिदेशविनाशे केतोरुदयेऽथवा गृहेऽर्केन्द्वोः । उत्पातानां प्रभवः स्वर्तुभवश्चाप्यदोषाय ॥ ये च न दोषान् जनयन्त्युत्पातास्तानृतुस्वभावकृतान् । ऋषिपुत्रकृतैः श्लोकैर्विद्यादेतैः समासोक्तैः । वज्राशनिमहीकम्पसन्ध्यानिर्घातनिःस्वनाः । परिवेषरजोधूमरक्तार्कास्तमनोदयाः ॥ द्रुमेभ्योऽन्नरसस्नेहबहुपुष्पफलोद्गमाः । गोपक्षिमदवृद्धिश्च शिवाय मधुमाधवे ॥ तारोल्कापातकलुषं कपिलार्केन्दुमण्डलम् । अनग्निज्वलनस्फोटधूमरेण्वनिलाहतम् ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रक्तपद्मारुणं सान्ध्यं नभः क्षुब्धार्णवोपमम् । सरितां चाम्बुसंशोषं दृष्ट्वा ग्रीष्मे शुभं वदेत् ॥ शक्रायुधपरीवेषविद्युच्छुष्कविरोहणम् । कम्पोद्वर्तनवैकृत्यं रसनं दरणं क्षितेः ॥ सरोनद्युदपानानां वृद्ध्यूर्ध्वतरणप्लवाः । सरणं चाद्रिगेहाणां वर्षासु न भयावहम् ॥ दिव्यस्त्रीभूतगन्धर्वविमानाद्भुतदर्शनम् । नक्षत्राणां ग्रहाणां च दर्शनं च दिवाम्बरे ॥ गीतवादित्रनिर्घोषा वनपर्वतसानुषु । सस्यवृद्धिरपां हानिरपापा शरदि स्मृताः ॥ शीतानिलतुषारत्वं नर्दनं मृगपक्षिणाम् । रक्षोयक्षादिसत्वानां दर्शनं वागमानुषी ॥ दिशो धूमान्धकाराश्च सनभोवनपर्वताः । उच्चैः सूर्योदयास्तौ च हेमन्ते शोभनाः स्मृताः ॥ हिमपातानिलोत्पाता विरूपाद्भुतदर्शनम् । कृष्णाञ्जनाभमाकाशं तारोल्कापातपिञ्जरम् ॥ चित्रगर्भोद्भवाः स्त्रीषु गोऽजाश्वमृगपक्षिषु । पत्राङ्कुरलतानां च विकाराः शिशिरे शुभाः ॥ ऋतुस्वभावजा ह्येते दृष्टाः स्वर्तौ शुभप्रदाः । ऋतोरन्यत्र चोत्पाता दृष्टास्ते भृशदारुणाः ॥ उन्मत्तानां च या गाथाः शिशूनां भाषितं च यत् । स्त्रियो यच्च प्रभाषन्ते तस्य नास्ति व्यतिक्रमः ॥ पूर्वं चरति देवेषु पश्चाद्गच्छति मानुषान् । नाचोदिता वाग्वदति सत्या ह्येषा सरस्वती ॥ उत्पातान् गणितविवर्जितोऽपि बुध्वा विख्यातो भवति नरेन्द्रवल्लभश्च । एतन्मुनिवचनं रहस्यमुक्तं यज्ज्ञात्वा भवति नरस्त्रिकालदर्शी (४६ अ०) दिव्यान्तरिक्षाश्रयमुक्तमादौ मया फलं शस्तमशोभनं च । प्रायेण चारेषु समागमेषु युद्धेषु मार्गादिषु विस्तरेण ॥ भूयो वराहमिहिरस्य न युक्तमेतत् कर्तुं समासकृदसाविति तस्य दोषः । तज्जैर्न वाच्यमिदमेव फलानुगीतिर्यद्बर्हिचित्रकमिति प्रथितं वराङ्गम् ॥ स्वरूपमेव तस्य तत्प्रकीर्तितानुकीर्तनम् । ब्रवीम्यहं नचेदिदं तथापि मेऽत्र वाच्यता । उत्तरवीथिगता द्युतिमन्तः, क्षेमसुभिक्षशिवाय समस्ताः । दक्षिणमार्गगता द्युतिहीनाः, क्षुद्भयतस्करमृत्युकरास्ते ॥ कोष्ठागारगते भृगुपुत्रे पुष्यस्थे च गिराम्प्रभविष्णौ । निर्वैराः क्षितिपाः सुखभाजः संहृष्टाश्च जना गतरोगाः ॥ पीडयन्ति यदि कृत्तिकां मघां रोहिणीं श्रवणमैन्द्रमेव वा । प्रोज्झ्य सूर्यमपरे ग्रहास्तदा, पश्चिमादिगयनेन पीड्यते ॥ प्राच्यां चेद्ध्वजवदवस्थिता दिनान्ते, प्राच्यानां भवति हि विग्रहो नृपाणाम् । मध्ये चेद्भवति हि मध्यदेशपीडा, रूक्षैस्तैर्न तु रुचिरैर्मयूखवद्भिः ॥ दक्षिणां ककुभमाश्रितैस्तु तैर्दक्षिणापथपयोमुचां क्षयः । हीनरूक्षतनुभिश्च विग्रहः स्थूलदेवकिरणान्वितैः शुभम् ॥ उत्तरमार्गस्पष्टमयूखाः शान्तिकरास्ते तन्नृपतीनाम् । ह्रस्वशरीरा भस्मसवर्णा, दोषकराः स्युर्देशनृपाणाम् ॥ नक्षत्राणां तारकाः सग्रहाणां, धूमज्वालाविस्फुलिङ्गान्विताश्चेत् । आलोकं वा निर्निमित्तं न यान्ति, याति ध्वंसं सर्वलोकः स भूयः ॥ दिवि भाति यदा तुहिनांशुयुगं, द्विजवृद्धिरतीव तदाशु शुभा । तदनन्तरवर्णरणोऽर्कयुगे जगतः प्रलयस्त्रिचतुःप्रभृति ॥ मुनीनभिजितं ध्रुवं मघवतश्च भ्रंसं स्पृशन् । शिखी धनविनाशकृत् कुशलकर्महा शोकदः । भुजङ्गमथ स्पृशेद्भवति वृष्टिनाशो ध्रुवं क्षयं व्रजति विद्रुतो जनपदश्च बालाकुलः ॥ प्राग्द्वारेषु चरन् रविपुत्रो, नक्षत्रेषु करोति च वक्रम् । दुर्भिक्षं कुरुते भयमुग्रं मित्राणां च विरोधमवृष्टिम् ॥ रोहिणी शकटमर्कनन्दनो, यदि भिनत्ति रुधिरोऽथवा शिखी । किं वदामि यदनिष्टसागरे, जगदशेषमुपयाति संक्षयम् ॥ उदयति सततं यदा शिखी, चरति भचक्रमशेषमेव वा । अनुभवति पुराकृतं तदा, फलमशुभं सचराचरं जगत् ॥ धनुःस्थायी रूक्षो रुधिरसदृशः क्षुद्भयकरो, बलोद्योगं चन्द्रः कथयति जयं ज्यास्य च यतः ॥ अवाक् शृङ्गो गोघ्नो, निधनमपि शस्यस्य कुरुते, ज्वलन्धूमायन् वा नृपतिमरणायैव भवति ॥ स्निग्धः स्थूलः समशृङ्गो विशालस्तुङ्गश्चोदग्विचरन्नागवीथ्याम् । दृष्टः सौम्यैरशुभैर्विप्रयुक्तो लोकानन्दं कुरुतेऽतीव चन्द्रः ॥ पित्र्यमैत्रपुरुहूतविशाखात्वाष्ट्रमेत्य च युनक्ति शशाङ्कः । दक्षिणेन न शुभो हितकृत्स्यात् यद्युदक् चरति मध्यगतो वा ॥ परिघ इति मेघरेखा या तिर्यग्भास्करोदयेऽस्ते वा । परिधिस्तु प्रतिसूर्यो दण्डस्त्वृजुरिन्द्रचापनिभः ॥ उदयेऽस्ते वा भानोर्ये दीर्घा रश्मयस्तमोघास्ते । सुरचापखण्डमृजुयद्, रोहितमैरावतं दीर्घम् ॥ अर्धास्तमयात्सन्ध्या व्यक्तीभूता न तारका यावत् । तेजःपरिहानिमुखाद्भानोरर्धोदयं यावत् । तस्मिन् सन्ध्याकाले चिह्नैरेतैः शुभाशुभं वाच्यम् । सर्वैरेतैः स्निग्धैः सद्यो वर्षं भयं रूक्षैः ॥ अच्छिन्नः परिघो वियच्च विमलं श्यामामयूखा रवेः, स्निग्धा दीधितयः सितं सुरधनुर्विद्युच्च पूर्वोत्तराः । स्निग्धो मेघतरुर्दिवाकरकरैरालिङ्गितो वा यदा, वृष्टिः स्यात्यदि वार्कमस्तसमये मघो महान्छादयेत् ॥ खण्डो वक्रः कृत्स्नो ह्रस्वः काकादैर्वा चिह्नैर्विद्धः । यस्मिन् देशे रूक्षश्चार्कस्तत्र ह्यभावः प्रायो राज्ञः ॥ वाहिनी समुपयाति पृष्ठतो मांसभुक् खगगणो युयुत्सुतः । यस्य तस्य बलविद्रवो महान्, अग्रगैस्तु विजयो विहङ्गमैः ॥ भानोरुदये यदि वास्तमये, गन्धर्वपुरप्रतिमाभ्रजिनी । बिम्बं निरुणद्धि तदा नृपतेः, प्राप्तं समरं सभयं प्रवदेत् ॥ शस्ताशान्तद्विजमृगघुष्टा, सन्ध्या स्निग्धा मदुपवला च । पांशुध्वस्ता जनपदनाशं धत्ते रूक्षारुधिरनिभा वा ॥ यद्विस्तरेण कथितं मुनिभिस्तदस्मिन् सर्वं मया निगदितं पुनरुक्तवर्जम् । श्रुत्वापि कोकिलरुतं बलिभुग्विरौति यत्तत्स्वभावकृतमस्य पिकं न जेतुम् । ४७ अ० । एवमन्येऽप्युत्पाताः सन्ति विस्तरभयान्नोक्ता उत्पातविशेषे मङ्गलकर्मवर्जनव्यवस्थादेशभेदेनाचारभेदेन चावगन्तव्या पीयूषधाराथाम् अत्यावश्यककार्ये परिहारस्तत्रोक्तः ज्योतिर्निबन्धे । दिनानि पञ्चवसिष्ठ-स्त्रिदिने गर्गस्तु कौशिकस्त्वेकम् । यवनाचार्यस्य मते पञ्चमुहूर्तांश्च दूषयति ॥ उत्पातेन ज्ञापिते च । ज्यो० । वाच० ।

उत्पाद–पुं०-उत् पद्-घञ्–उत्पादनमुत्पादः । कार्यस्योत्पत्तिहेतुभूते कार्यविशेषे, विशे० । प्रादुर्भावे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ।

अथोत्पादस्य भेदान्कथयन्नाह ।

प्रयोगविश्रसाभ्यां स्या–दुत्पादो द्विविधस्तयोः ।
आद्योऽविशुद्धो नियमात्समुदायविवादजः । १९ ॥

उत्पादो द्विविधो द्विप्रकारोऽस्ति । काभ्यां द्विविधः प्रयोगविश्रसाभ्याम् । एकः प्रयोगजनित उत्पादः । १ । अपरो विश्रसा जनित उत्पादः । २ । पुनस्तयोर्द्वयोर्मध्ये आद्योऽविशुद्धो व्यवहारोत्पन्नत्वात् । स च निर्धारणनियमात्समुदायवादजनितो यत्नेन कृत्वा अवयवसंयोगेन सिद्धः कथितः । तथा च सम्मतितर्के ।

उप्पाओ दुवियप्पो, पओगजणिओ य विस्ससा चेव ।
तत्थ उ पओगजणिओ, समुदयवाओ अपरिसुद्धो ॥ २९ ॥

भेद उत्पादः पुरुषेतरकारकव्यापारजन्यतया अध्यक्षानुमानाभ्यां तथा तस्य प्रतीतेः पुरुषव्यापारोऽन्वयव्यतिरेकानुव्यवधायित्वेऽपि शब्दविशेषस्य तदस्य तदजन्यत्वे घटादेरपि तदजन्यताप्रशक्तेर्विशेषाभावात् । प्रत्यभिज्ञानादेश्च विशेषस्य प्रागेव निरस्तत्वात् । तत्र प्रयोगेण यो जनित उत्पादो मूर्तिमद्द्रव्यारब्धावयवकृतत्वात्तत्स समुदयवादः । तथा भूतारब्धस्य समुदायात्मकत्वात्तत एवासावपरिशुद्धः सावयवात्मकस्य तत्स्थस्य वाच्यत्वेनाभिप्रेतत्वात् ।

विस्रसा जनितोऽप्युत्पादो द्विविध इत्याह ।

साभाविओ वि समुदाय–कओ वएगंति उव्वहोज्जाहि ।
आगासाईयाणं, तिण्हं परपच्चओ णियमा ॥ ३० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वाभाविकश्च द्विविध उत्पादः । एकः समुदयकृतः प्राक् प्रतिपादितावयवारब्धो घटादिवत् । अपरश्चैकत्विकोऽनुत्पादितामूर्तिमद्द्रव्यावयवारब्ध आकाशादिवत् । आकाशादीनां च प्रयाणामवगाहो घटादिद्रव्यनिमित्तावगाहनादिक्रियोत्पादो नियमादनेकान्ततो भवेत् । अवगाहकगन्तृस्थातृद्रव्यसन्निधानतोऽस्थिरधर्माधर्माद्यवगाहनगतिस्थितिक्रियोत्पत्तिनिमित्तभावोत्पत्तिरित्यभिप्रायः ॥ सम्म० ॥ (आगासशब्दे तत्प्रादेशिकिता दर्शिता)

अथोत्पादस्य द्वितीयभेदं कथयन्नाह ॥

विश्रसा हि विना यत्नं, जायते द्विविधः स च ।
तत्राद्यचेतनस्कन्ध-जन्यः समुदयोऽग्रिमः ॥ २० ॥
सचित्तमिश्रजश्चान्यः, स्यादेकत्वप्रकारकः ।
शरीराणां च वर्णादि, सुनिर्धारो भवत्यतः ॥ २१ ॥

विश्रसाख्यो द्वितीय उत्पादः । विश्रसाशब्दस्य कोऽर्थः सहजं विना यत्नमुत्पद्यते यः स विश्रसोत्पादः । सोऽपि पुनर्द्विविधो द्विप्रकारः । एकस्तत्र समुदयजनितः द्वितीय एकत्विकः । उक्तं च " साहाविश्रो वि समुदय कश्रव्व एगत्ति श्रोव्व होज्जाहि " तत्रापि तयोर्द्वयोर्मध्य आद्यः समुदयजनितो विश्रसोत्पादः अचेतनस्कन्धजन्यः समुदयः कथितः । अभ्रादीनां समुदयपुद्गलानां यथोत्पादः ॥ २० ॥ तथा पुनर्द्वितीयः सचित्तमिश्रजः शरीरवर्णादिकानां निर्धारो ज्ञेयः । सचित्ताः पुद्गला वर्णादीनां तया तयाकारवर्णादिपुद्गलानां परिणत्या परिणतानामेकत्वप्रकारक एकतारूपेण परिगतः । अनेकेषां वर्णादीनां संगतानां परस्परमुत्पादधारया पिण्डीभूतानामवयवानामवयविधर्मत्वेन देहदृश्याकारभूतानामणूनां शरीरादि सुनिर्धारो भवति । देहादिपिण्डानां (सु) अतिशयेन निर्धारो वपूरूपावस्थत्वं संपद्यते । तथाच प्रज्ञापनायां स्थानाङ्गे च " तिविहा पुग्गला पन्नत्ता तंजहा पओगपरिणता १. मीससा परिणता २, वीससा परिणता ३," तत्र च प्रथमं प्रयोगपरिणताः पुद्गला ये भवन्ति ते जीवप्रयोगेण संयुक्ताः शरीरादयः सचित्ताः १ तथा मिश्रपरिणताश्च ते ये जीवेन पुद्गला मुक्ताः कलेवरादयः २ पुनश्च विश्रसा परिणताः स्वभावेन परिणताः यथाभ्रेन्द्रधनुरादयः ३ एवं च सत्यत्र विश्रसाख्यस्य भेदस्य स्वभावजनितस्य द्वैविध्यं प्रदर्शितम् । अचेतनस्कन्धजन्यसमुदायाख्यः प्रथमस्तत्र सचित्तमिश्रजन्यैकत्वप्रकारकशरीरादिवर्णादिसुनिर्धारसंज्ञो द्वितीयः । अत्रायं विशेषः स्वाभाविके परिणमनेऽचित्तपुद्गलैरेवायत्नसाध्यव्यवहार उपदिष्टः । इह तु द्वयमपि ।२१।

पुनर्भेदं दर्शयन्नाह ॥

यत्संयोगं विनैकत्वं, तद्द्रव्यांशेन सिद्धता ॥
यथास्कन्धविभागाणोः, सिद्धस्यावरणक्षये ॥ २२ ॥
स्कन्धहेतुं विना योगः, परयोगेण चोद्भवः ॥
क्षणे क्षणे च पर्याया-श्चस्तदेकत्वमुच्यते ॥ २३ ॥
उत्पादो ननु धर्मादेः, परप्रत्ययतो भवेत् ॥
निजप्रत्ययतो वापि, ज्ञात्वान्तर्नय योजनाम् ॥ २४ ॥
नाशोऽपि द्विविधो ज्ञेयो रूपान्तरविगोचरः ॥

संयोगं विना विश्रसोत्पादो यद्धेसदेकत्वं ज्ञेयम् । तदेवैकत्वं द्रव्यांशेन द्रव्यविभागेन सिद्धता नाम उत्पन्नत्वं ज्ञेयम् । यथा द्विप्रदेशादिस्कन्धविभागेनाणोः परमाणोर्द्रव्यस्योत्पादः । तथा आवरणक्षये कर्मविभागे जाते सति सिद्धस्य सिद्धपर्यायस्योत्पाद इति । अवयवसंयोगेनैव द्रव्यस्योत्पत्तिर्भवति परन्तु विभागेन द्रव्यस्योत्पतिर्न भवति इत्थमेके नैयायिकादयः कथयन्ति । तेषां मत एकतन्त्वादिविभागेन खण्डपटोत्पत्तिः कथं भवतीति प्रतिबन्धककालभावस्याधिष्ठितावयवसंयोगस्य हेतुताकल्पने महागौरवात् । तस्मात् कुत्रचित्संयोगात् कुत्रचिद्विभागाद्द्रव्योत्पादकता मन्तव्या । तदा विभागजपरमाणूत्पादोऽप्यर्थतः सिद्धः स्यात् संमतिशास्त्रे इत्थं सूचितमस्ति । तदुक्तम् । " दव्वंतरसंजोआहि, केवि दविअस्स विंति उप्पायं । उप्पायं वा कुसला, विभागजाइं न इच्छंति ॥ १ ॥ अणुअत्तएहिं आरद्धदव्वे तिअणुअंति निद्देसो । ततो अ पुण विभत्ते , अणुत्ति जाउ आओ अणु होइ ॥ २ ॥ आभ्यां गाथाभ्यां भावार्थोऽवधार्यः । यथा परमाणोरुत्पादः एकत्वजन्यस्तथा येन संयोगेन स्कन्धो न निष्पद्यते एतादृशो धर्मास्तिकायादीनां जीवपुद्गलयोस्संयोगस्तद्द्वारा यश्च संयुक्तद्रव्योत्पादोऽसंयुक्तावस्थाविनाशपूर्वकः तथा ऋजुसूत्रनयाभिमतो यश्च क्षणिकपर्यायः प्रथमद्वितीयसमयादिव्यवहारहेतुस्तद्द्वारा यश्चोत्पादश्च तत्सर्वमेकत्वं ज्ञेयम् ॥ २२ ॥ अत्र न किंचिद्विवादस्तत्र श्लोकमाह । स्कन्धहेतुं विना यः संयोगपरयोगेन धर्मास्तिकायादीनां यश्चोत्पादः तथाच क्षणिकपर्याये प्रथमद्वितीयादिद्रव्यव्यवहारहेतवस्तद्द्वारा य उत्पादः तत्सर्वमेकत्वं कथ्यते तत्र न कोऽपि विसंवाद इति ॥२३॥ पुनर्भेदं कथयन्नाह (उत्पादेति) ननु धर्मादेरुत्पादः परप्रत्ययो भवेत् अपि पुनर्निजप्रत्ययाद्भवेदन्तर्नययोजनां ज्ञात्वा इति । भावार्थस्त्वयम् धर्मास्तिकायादीनामुत्पादो नियमेन परप्रत्ययः स्वोपष्टम्भ्य गत्यादिपरिणतजीवपुद्गलादिनिमित्त उक्तः । य उभयजनितस्स चैकजनितोऽपि भवेत् । ततस्तस्य निजप्रत्ययतापि कथयितुं युक्ता निश्चयव्यवहारावधारणात् । अयमर्थः । " आगासाईयाणं, तिण्हं परपच्चओ नियमा " इति सम्मतिगाथायामकारप्रश्लेषतया वचनान्तरेण कृतोऽस्ति वृत्तिकारेण तमर्थमनुस्मृत्येहापि लिखितोऽस्ति तस्माद्धर्मास्तिकायादीनामुत्पादो नियमात्परप्रत्यय एव । सोऽपि स्वोपष्टम्भ्य गत्यादिपरिणतजीवपुद्गलादिनिमित्तः उभयजनितोऽप्येकजनितोऽपि स्यात् । तस्य च निजप्रत्ययताप्यन्तर्नयवादेनोक्तास्ति भावना चेत्थं ज्ञेया ॥ द्र० ए अध्या० ॥ " उप्पादलक्खणं अप्पि तववहारितं अणप्पियववहारियंति वा विसिसा दिट्ठंति वा एगट्ठा तब्विवरीतमितरं । तत्थ अप्पि तंजहा पढमसमयसिद्धो सिद्धत्तणेण उप्पन्नो अणप्पितो जोजणभोवणउप्पत्ता आ० चू०१ अ०। विशे० । त्रीन्द्रियजीवभेदे च । प्रज्ञा०१ प० ।

औत्पात–न० उत्पाते भवमौत्पातम् । पांशुवृष्ट्यादौ, आ०क० । कपिहसितादौ, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

उप्पायग–उत्पातक–त्रि० उत्पातयति उत्पातं जनयति–उद्-पत-णिच्-एवुल् उत्पातजनके, ऊर्ध्वपतनशीले च । वाच० ।

उत्पादक–त्रि० उद्-पत्-ण्वुल् उत्पादनकर्त्तरि, स्त्रियां टापि अत इत्वम् । उत्पादिका उत्पादकास्त्रियाम् हिलमोचिकायां शब्दा त्रि० पुत्तिकायाम्, देहिकानामकीटे च स्त्री० । पितरि, पुं० ऊर्ध्वं स्थिताः पादा अस्य कप् । अष्टापदे शरभाख्ये गजारातौ पशुभेदे, तस्य पृष्ठस्थचतुश्चरणत्वादूर्ध्वपादत्वम् । वाच० । त्रीन्द्रियजीवभेदे च । ये भूमिं भित्त्वा समुत्तिष्ठन्ति दीर्घाः "पाणसीयल-कुंथुउप्पायगदीहगोम्मि सिसुणागो" व्य० प्र० ७ उ० । नि० चू० । प्रज्ञा० ।

उप्पायच्छेयणा–उत्पादच्छेदन–न० उत्पादो देवत्वादिपर्यायान्तरस्य तेन छेदो जीवादिद्रव्यविभागः उत्पादच्छेदनम् । छेदनभेदे, स्था०५ ठा० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उप्पायण–उत्पादन–न० उद्-पद्-णिच्-ल्युट्-जनने, उत्पत्तिकरणे-वाच० । " भवाणुवायए परिग्गहेण, उप्पायणे रक्खणसन्निओगे " उत्पादने एते विषयादिपदार्थाः कथं मिलिष्यन्तीति चिन्तने, उत्त० ३४ अ० ।

उप्पायणंतिरिय–उत्पादनान्तर्य्य–न० उत्पादनस्याविरहे, यथा निरयगतौ जीवानामुत्कर्षतोऽसंख्येयाः समयाः स्था० ४ ठा० ।

उप्पायणा–उत्पादना–स्त्री० उत्पादनमुत्पादना । मूलतः शुद्धस्वपिण्डस्य धात्रीत्वादिभिः प्रकारैरुपार्जने, प्रव० ६७ द्वा० । पिं० । आव० । तस्या निक्षेपो यथा—

नामं ठवणा दविए, भावे उप्पायणा मुणेयव्वा ।
दव्वम्मि होइ तिविहा, भावम्मि उ सोलसपया ॥

उत्पादना चतुर्धा तद्यथा (नामंति) नामोत्पादना स्थापनोत्पादना द्रव्ये द्रव्यस्योत्पादना भावे भावस्योत्पादना च । तत्र नामस्थापने क्षुण्णे द्रव्योत्पादना च यावन्नो आगमतो भव्यशरीरद्रव्योत्पादना प्रागुक्तगवेषणादिरिव भावनीया । ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्ता तु द्रव्योत्पादना त्रिधा सचित्तद्रव्योत्पादना अचित्तद्रव्योत्पादना मिश्रद्रव्योत्पादना च । भावोत्पादना द्विधा तद्यथा आगमतो नोआगमतश्च । तत्र आगमत उत्पादना शब्दार्थस्तत्त्वोपयुक्तः नोआगमतो भावोत्पादना तु द्विधा तद्यथा प्रशस्ता अप्रशस्ता च । तत्र प्रशस्ता ज्ञानाद्युत्पादना अप्रशस्ता षोडशपदा वक्ष्यमाणधात्रीदूत्यादिषोडशभेदा ।

तत्र प्रथमतः सचित्तद्रव्योत्पादनां विभावयिषुराह ॥

आसुयमाइएहिं वालवयितुरंगवीयमाईहिं ।
सुयअसाडुमाईणं, उप्पायणया उ सचित्ता ॥

सुताश्वद्रुमादीनां द्विपदचतुष्पदापदरूपाणामत्रादिशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते सुतादीनामश्वादीनां द्रुमादीनां च यथा संख्यमासूचादिभिरासूयमुपायादिलिकमादिशब्दाद्राटकज–लादि परिग्रहः।तथा वालचित्ततुरङ्गबीजादि भिश्च तत्र वालैः केशरोमादिभेदभिन्नैश्चितो व्याप्तो वालचितपुरुषो लोमशः पुरुष इति वचनात् । तुरङ्गबीजे च सुप्रसिद्धे । आदिशब्दात्तदन्यहेतुपरिग्रहः । या उत्पादना तथाहि केनचिन्निजभार्याः कथमपि पुत्रासंभवे देवताया उपयाचितं केनाप्यृतुकालोकेन स्वसंप्रयोगेण च सुतः पुत्रिका वा उत्पाद्यते । तथा निजघोटिकायाः परस्य भाटकप्रदानेन परघोटकमारोप्य तुरङ्ग उत्पाद्यते । एवं यथायोगं बलीवर्दादिरपि तथा जलसेकेन बीजारोपणेन च द्रुमवल्ल्यादिः । तत इत्थं या द्रुमादीनामुत्पादना सा सचित्तद्रव्योत्पादना । संप्रत्यचित्तद्रव्योत्पादनां मिश्रद्रव्योत्पादनां च प्रतिपादयति ।

कणगरययाइयाणं, जहिट्ठधाउविहिया उ ।
सचित्तमीसाउभंडाणं, दुपयाइकया उ उप्पत्ती ॥

कनकरजतादीनां सुवर्णरुप्यताम्रादीनां यथेष्टधातुविहिता यथेष्टो यो यस्येष्टोऽनुकूलोऽपि लोहादिधातुस्तस्मात् विहिता कृता या उत्पत्तिः सा अचित्ता अचित्तद्रव्योत्पादना । तथा च द्विपदादीनां दासादीनां सभारूढानां सालंकारादीनां चेतनप्रदानेन या कृता आत्मीयत्वेनोत्पत्तिः सा मिश्रा मिश्रद्रव्योत्पादना । तदेवमुक्ता द्रव्योत्पादना । संप्रति भावोत्पादनामाह

भावे पसत्थ इयरा, कोहा उप्पायणा उ अपसत्था ।
कोहाइ जहा धायई–णं च नाणाइ उ पसत्था ॥

भावे भावविषया उत्पादना द्विधा तद्यथा प्रशस्ता इतरा अप्रशस्ता । तत्र या क्रोधादीनां क्रोधादियुतधात्रीत्वादीनां च उत्पादना साऽप्रशस्ता या तु ज्ञानादेर्ज्ञानदर्शनचारित्राणामुत्पादना सा प्रशस्ता । इह वा प्रशस्तया भावोत्पादनयाधिकारः पिण्डदोषाणां वक्तुमुपक्रान्तत्वात् । सा च षोडशभेदा ॥ पिं० ॥

उप्पायण संपायण–णिव्वत्तण मो य होंति एगट्ठा ।
आहारस्सिहपगया, तीए दोसा इमे होंति ॥ १० ॥

उत्पादनमुत्पादना एवं संपादना निर्वर्तना च । इह च पदत्रयेऽपि ल्युटस्वतामोकारश्च निपातः प्राकृतत्वाच्च शब्दः समुच्चये भवन्ति स्युरेकार्था अनन्याभिधेयाः सर्वेषामेव एषामुत्पादनाबोधकत्वादेते शब्दा इति गम्यम् । सा च सचेतना चेतनाचेतनद्रव्यादिविषयत्वेनानेकविधेत्यत उच्यते आहारस्याशनादिरूपचतुर्विधस्य वस्त्रपात्रादिपरिग्रहः । इह पिण्डाधिकारे प्रकृतः प्रस्तुतः तद्दोषाधिकारात् (ताएत्ति) एतस्याः पुनरुत्पादनाया गृहस्थात्सकाशात्साधुना स्वार्थं भक्ताद्युपार्जनरूपा ये दोषा दूषणानि इमे इति वक्ष्यमाणतया प्रत्यक्षभूता भवन्ति स्युरिति गाथार्थः । तानेव–नामतो दर्शयन्नाह "धातीदूतिणिमित्ते, आजीववणीमगे तिगिच्छा य । कोहे माणे माया, लोभे हवंति दस एते ॥ पुव्विंपच्छासंथव–विज्जामंते य चुण्णजोगे य । उप्पायणाय दोसा, सोलसमे–मूलकम्मे य " । पंचा० १३ विव० । धात्र्यादिव्याख्यान्यत्र । एतेऽनन्तरोक्ता उत्पादनाया दोषाः षोडश । मूलकर्म वशीकरणम् । इह धात्र्याः पिण्डो धात्रीपिण्डः किमुक्तं भवति धात्रीत्वस्य करणेन कारणेन च य उत्पाद्यते पिण्डः । यस्तु दूतीत्वस्य करणेनोत्पाद्यते स दूतीपिण्डः । एवं निमित्तादिष्वपि भावनीयम् । दि० । ध० । उत्त० । स्था० । ग० । आचा० । जीत० ।

उत्पादनादोषेषु प्रायश्चित्तमभिधित्सुराह

दुविहनिमित्ते लोभे, गुरुगा माया य मासियं गुरुयं ।
सुहुमे वयणे लहुओ, सेसे लहुगा य मूलं च ॥

निमित्तं त्रिविधमतीतविषयं प्रत्युत्पन्नविषयमनागतविषयं च । तत्र द्विविधे निमित्ते प्रत्युत्पन्नविषये च तथा लोभे च प्रत्येकं चत्वारो गुरुकाः । मायायां मासगुरु । सूक्ष्मे चैकित्स्ये वचनसंस्तवे च प्रत्येकं लघुको मासः शेषेषु तु समस्तेषूत्पादनादोषेषु प्रत्येकं चत्वारो लघवो नवरं मूलकर्मणि मूलम् । वृ० १ उ० । उप्पायणाए अइए निमित्ते चउलहुं । पडुप्पन्ने अणागए लोभए चउगुरुं । कोहे माणे चउलहुं । मायाए मासगुरुं । सुहुमतेइच्छि पंचराइंदिया । बादरतेइच्छे चउलहुं । संथवे मासलहुं । धाईहिं चउलहुं । जोइयमेहुणिय.संथवे चउगुरुं मूलं वा । वयणसंथवे मासलहुं । मूलकम्मे मूलं । सेसेसु चउलहुं उप्पाइणा पं० चू० । (जीतकल्पानुसारेणाचाम्लं आयंबिलशब्दे चैतत्स्पष्टीकृतम्)

उप्पायणाविसोहि–उत्पादनाविशुद्धि–स्त्री० उत्पादनादोषैः पिण्डचरणादीनां निर्दोषतारूपे उत्पादनाया वा निर्दोषतालक्षणे विशुद्धिभेदे, स्था० ३ ठा० ।

उप्पायणोवघाय–उत्पादनोपघात–पुं० उत्पादनयोपघातः पिण्डादेरकल्पनीयताकरणं चरणस्य वा शबलीकरणमुत्पादनोपघातः । उद्गमस्य वा पिण्डादिप्रसूतेरुपघातो धात्र्यादिभिर्दुष्प्रनोत्पादनोपघातः । धात्र्यादिदोषलक्षणया उत्पादनया चारित्रस्य विराधनरूपे धात्र्यादिभिः षोडशभिरुत्पादनादोषैर्भक्तपानोपकरणलेपानामशुद्धतालक्षणे वा उपघातभेदे, स्था० १० ठा० ।

उप्पायपडिवाय–उत्पादप्रतिपात–पुं० विभागतो देशतो वा कस्यचिद्वस्तुनो वृद्धिहान्युभये, विपा० १ अ० । यथा अवधिज्ञानस्य । " बाहिरलंभो भज्जो, " दव्वे खेत्ते य कालभावे य । उ-

प्पायपरिवाओ विय, तदुभयं चेगसमएणं " अप्पायपरिवादो णामं जेसिं दव्वखेत्तकालभावाणं काणि वि एगसमएण चेव पुव्वुदिट्ठाणि तं पासति काणि पुण अदिट्ठपुव्वाणि पासति एस उप्पायपरिवातो भण्णति । आ० चू० २ अ० । (एतद्विषयावधिवक्तव्यता ओहि शब्दे स्पष्टी भविष्यति)

उप्पायपव्वय–उत्पातपर्वत–पुं० उत्पतनमूर्ध्वगमनमुत्पातस्तेनोपलक्षितः पर्वत उत्पातपर्वतः । स्था० १० ठा० । स्वनामख्यातेषु पर्वतेषु, तिर्यग्लोकगमनाय यत्रागत्योत्पतति स उत्पातपर्वत इति ति । भ० २ श० ८ उ० । उत्पातपर्वता यत्रागत्य बहवो व्यन्तरदेवा देव्यश्च विचित्रक्रीडानिमित्तं वैक्रियशरीरमारचयन्ति । जी० । ३ प्रति० ॥

सर्वेषां लोकपालानामुत्पातपर्वतमानादि यथा ॥

चमरस्स णं असुरिंदस्स असुरकुमाररन्नो तिगिच्छिकूडे उप्पायपव्वए मूले दसबावीसे जोयणसए विक्खंभेणं पन्नत्ता । चमरस्स णं असुरिंदस्स असुरकुमाररन्नो सोमस्स महारन्नो सोमप्पभे उप्पायपव्वए दसजोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं दसगाउयसयाइं उव्वेहेणं मूले दसजोयणसयाइं विक्खंभेणं पन्नत्ता । चमरस्स णं असुरिंदस्स जमस्स महारन्नो जमप्पभे उप्पायपव्वए एवं चेव । एवं वरुणस्स वि । एवं वेसमणस्स वि । बलिस्स णं वइरोयणिंदस्स वइरोयणरन्नो रुयगिंदे उप्पायपव्वए मूले दसबावीसे जोयणसए विक्खंभेणं पन्नत्ते । बलिस्स णं वइरोयणरन्नो सोमस्स एवं चेव जहा चमरस्स लोगपालाणं तं चेव बलिस्स वि । धरणस्स णं नागकुमारिंदस्स नागकुमाररन्नो धरणप्पभे उप्पायपव्वए दसजोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं दसगाउयसयाइं उव्वेहेणं मूले दसजोयणसयाइं विक्खंभेणं । धरणस्स णं जाव नागकुमाररन्नो कालवालस्स महारन्नो कालप्पभे उप्पायपव्वए दसजोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं एवं चेव एवं जाव संखवालस्स एवं भूयाणंदस्स वि एवं लोगपालाणं पि । से जहा धरणस्स एवं जाव थणियकुमाराणं सलोगपालाणं भाणियव्वं । सव्वेसिं उप्पायपव्वया भाणियव्वा सरिसनामगा । सक्कस्स णं देविंदस्स देवरन्नो सक्कप्पभे उप्पायपव्वए दसजोयणसहस्साइं उड्ढं उच्चत्तेणं दसगाउयसहस्साइं उव्वेहेणं मूले दसजोयणसहस्साइं विक्खंभेणं पन्नत्ते । सक्कस्स णं देविंदस्स देवरन्नो जहा सक्कस्स तहा सव्वेसिं लोगपालाणं सव्वेसिं च इंदाणं जाव अच्चुयत्ति ।

चमरस्सेत्यादि सुगमं नवरं (तिगिच्छिकूडेत्ति) तिगिच्छिः किञ्जल्कस्तत्प्रधानकूटत्वात्तिगिच्छिकूटस्तत्प्रधानत्वं च कमलबहुलत्वात् संज्ञा चेयम् ॥ (उप्पायपव्वयत्ति) उत्पतनमूर्ध्वगमनमुत्पातस्तेनोपलक्षितः पर्वत उत्पातपर्वतः स च रुचकवराभिधानात् त्रयोदशात्समुद्रात् दक्षिणतोऽसंख्येयान् द्वीपसमुद्रानतिलङ्घ्य यावदरुणवरद्वीपारुणवरसमुद्रौ तयोररुणवरं समुद्रं दक्षिणतो द्विचत्वारिंशतं योजनसहस्राण्यवगाह्य भवति तत्प्रमाणं च "सत्तरसएकवीसाइं, जोयणसयाइं सो समुव्विद्धो । दस चेव जोयणसए, बावीसे वित्थडो हेट्ठा ॥ १ ॥ चत्तारिजोयणसए, चउवीसे वित्थडो उ मज्झम्मि । सत्तेव य तेवीसे, सिहरतले वित्थडो होइत्ति " ॥ २ ॥ स च रत्नमयः पद्मवरवेदिकया वनखण्डेन च परिक्षिप्तस्तस्य च मध्येऽशोकावतंसको देवप्रासाद इति ॥ (चमरस्सेत्यादि महारन्नोत्ति) लोकपालस्य सोमप्रभ उत्पातपर्वतोऽरुणोदसमुद्र एव भवति । एवं यमवरुणवैश्रमणसूत्राणि नेयानीति (बलिस्सेत्यादि) रुचकेन्द्र उत्पातपर्वतोऽरुणोदसमुद्र एव यथोक्तं भवति " अरुणस्स उत्तरेणं, बायालीसं भवे सहस्साइं । ओगाहिऊण उदहिं, भिन्नणिवयो रायहाणिओत्ति" ॥ १ ॥ (बलिस्सेत्यादि) । सूत्रसूची एवं च द्रष्टव्यम् ॥ वइरोयणिंदस्स वइरोयणरन्नो सोमस्स महारन्नो एवंचेवत्ति ॥ अतिदेश एतद्भावना । (जहेत्यादि) यथा यत्प्रकारं चमरस्य लोकपालानामुत्पातपर्वतप्रमाणं प्रत्येकं चतुर्भिः सूत्रैरुक्तं (तं चेवत्ति) तत्प्रकारमेव चतुर्भिः सूत्रैर्बलिनोऽपि वैरोचनेन्द्रस्यापि वक्तव्यं समानत्वादिति (वरुणस्सेत्यादि) वरुणस्योत्पातपर्वतोऽरुणोद एव समुद्रे भवति (वरुणस्सेत्यादि) प्रथमं लोकपालसूत्रे । "एवं चेवत्ति" करणात् "उच्चत्तेणं दसगाउयसयाइं उव्वेहेणमित्यादि " सूत्रमतिदिष्टं एवं जाव "संखवालस्सत्ति" । करणाच्छेषाणां त्रयाणां लोकपालानां कोलवालसेलवालसंखवालाभिधानानामुत्पातपर्वताभिधायीनि त्रीण्यन्यानि सूत्राणि दर्शयति । (एवं भूयाणंदस्सवित्ति) भूतानन्दस्यापि औदीच्यनागराजस्यापि उत्पातपर्वतस्तस्य नाम प्रमाणं च वाच्यं यथा धरणस्येत्यर्थः भूतानन्दप्रभश्चोत्पातपर्वतोऽरुणोद एव भवति केवलमुत्तरतः एवं (लोगपालाण वि से त्ति) (से) तस्य भूतानन्दस्य लोकपालानामपि एवमुत्पातपर्वतप्रमाणं यथा धरणलोकपालानामिति भावः । नवरं तत्रेमानि चतुःस्थानकानुसारेण ज्ञातव्यानीति । (जहा धरणस्सत्ति) यथा धरणस्य एवमिति तथा सुपर्णविद्युत्कुमारादीनां ये इन्द्रास्तेषामुत्पातपर्वतप्रमाणं भणितव्यं कियत्पर्यन्तानां तेषामित्यत आह (जाव थणियकुमाराणं ति) प्रकटं किमिन्द्राणामेव नेत्याह (सलोगपालाणंति) तल्लोकपालानपीत्यर्थः । (सव्वेसिमित्यादि) सर्वेषामिन्द्राणां तल्लोकपालानां चोत्पातपर्वताः सदृग्नामानो भणितव्या यथा धरणस्य धरणप्रभः प्रथमतल्लोकपालस्य कालवालस्य कालवालप्रभ इत्येवं सर्वत्र ते च पर्वताः स्थानमङ्गीकृत्यैवम्भवन्ति "असुराणं नागाणं, उदहिकुमाराण होंति आवासा । अरुणोदए समुद्दे, तत्थेव य तेसि उप्पाया ॥ १ ॥ दीवदिसा अग्गीणं थणियकुमाराण होंति आवासा । अरुणवरे दीवम्मि उ, तत्थेव य तेसि उप्पायत्ति" ॥ २ ॥ सक्कस्सेत्यादि ॥ कुण्डलवरे द्वीपे कुण्डलपर्वतस्याभ्यन्तरे दक्षिणतः षोडश राजधान्यः सन्ति तासां चतसृणां मध्ये सोमप्रभयमप्रभवरुणप्रभवैश्रमणप्रभाख्याः उत्पातपर्वताः सोमादीनां शक्रलोकपालानां सन्ति उत्तरपार्श्वे तु एवमेवेशानलोकपालानामिति यथा शक्रस्य तथाच्युतान्तानामिन्द्राणां लोकपालानां चोत्पातपर्वता वाच्या यतः सर्वेषामेकं प्रमाणं नवरं स्थानविशेषो विशेषसूत्रादवगन्तव्यः ॥ स्था० १० ठा० ।

उप्पायपुव्व–उत्पात (द) पूर्व–न० उत्पादप्रतिपादकं पूर्वमुत्पादपूर्वम् । प्रथमपूर्वे, तत्र सर्वद्रव्याणां सर्वपर्यायाणां चोत्पादमधिकृत्य प्ररूपणा क्रियते आह च चूर्णिकृत् "पढमं उप्पायपुव्वं, तत्थ सव्वदव्वाणं पज्जवाण य उप्पाय भंगीकाउं पन्नवणा कप्पा-इति" ॥ नं० ॥ तस्य पदपरिमाणमेका कोटी । स० । नन्दीसमवायाङ्गवृत्त्योरेका पदकोटीत्युपलभ्यतेऽन्यत्रैकादश । यत्रोत्पादमङ्गीकृत्य सर्वद्रव्यपर्यायाणां प्ररूपणा कृता तदुत्पादपूर्वं प्रथमं तच्च

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पदप्रमाणेन पदसंख्यामाश्रित्य एकादशकोटीप्रमाणम् । प्रथमपूर्वे एकादशपदानां कोट्य इत्यर्थः इह यत्रार्थोपलब्धिस्तत्पदमित्यादि पदलक्षणसद्भावेऽपि तथाविधसंप्रदायाभावात्तस्य प्रामाण्यं न सम्यगवगम्यत इति । प्रव० ६२ द्वा० 'उप्पायपुव्वस्स णं चत्तारि चूलिया वत्थू पणत्ता" उत्पादपूर्वे पूर्वाणां तस्य चूला आचारस्याग्राणीव तद्रूपाणि वस्तूनि परिच्छेदविशेषा अध्ययनवत् चूलावस्तूनि । स्था० ४ ठा० । "उप्पायपुव्वस्स णं दसवत्थू पणत्ता" उत्पातपूर्वे प्रथमं तस्य दश वस्तून्यध्यायविशेषाः । स्था० १० ठा० ।

उप्पायविगमलक्खण–उत्पादविगमलक्षण–न० उत्पादविगमयोः स्वरूपपरिचायके, विशे० (लक्खण शब्दे इदं वक्ष्यामि)

उप्पावेंत–उत्प्लावयत्–त्रि० उत्-प्लव-णिच्-शतृ । उत्प्लुतिप्रयोजके, प्रा० ॥

उप्पि–उपरि–अ० ऊर्ध्व-रिल्-उपादेशश्च । प्रथमापञ्चमीसप्तम्यन्तार्थवृत्तेरूर्ध्वशब्दस्यार्थे, वाच० "तेसिं भोमाणं उप्पि उज्जोया" जी० ३ प्रति० । स्था० । "उप्पि पणवीसं जोयणाइं विक्खंभेणं" (उपरि) मस्तके, रा० ॥

उप्पिंजल–उत्पिञ्जल–त्रि० उद्-पि-जि–कलन्-वा लस्य रः । अत्यर्थाकुले, वाच० । "उप्पिंजलभूए कहकहभूए दिव्वे देवरमणे पव्वत्ते आवि होत्था" उत्पिञ्जलभूते आकुलके भूते किमुक्तं भवति महर्द्धिकदेवानामप्यतिशायितया परक्षोभोत्पादकत्वेन सकलदेवासुरमनुजसमूहचित्ताक्षेपकारी । रा० ।

उप्पित्थ-उ (त्पित्त) प्पित्थ-न० आकुले, रोषभृते आकुलता च श्वासेन द्रष्टव्या । तथा पूर्वसूरिभिर्व्याख्यानात् उक्तंच 'उप्पित्थं' श्वाससंयुक्तमिति । जी० ३ प्रति० । तृतीय एष गेयदोषः । जं० १ वक्ष० । स्था० । रा० । अनु० ।

उप्पियंत–उत्पिवत्–त्रि० आस्वादयति, प्रश्न० ३ द्वा० । मुहुर्मुहुः श्वसति, "उप्पियंतं गणिविस्सा अगीतो भासेइ इमं" व्य० द्वि० ४ उ० ।

उप्पियण–उत्पातन–न० मुहुर्मुहुःश्वसने, व्य० द्वि० ४ उ० ।

उप्पियमाण–उत्प्लाव्यमान–त्रि० जलोपरि प्लाव्यमाने, "वुड्डमाणे णिवुड्डमाणे उप्पियमाणे, उपा० ७ अ० ।

उप्पिलावंत–उत्प्लावयत्–त्रि० ऊर्ध्वं प्लावयति, "जे भिक्खू सयं णावं उप्पिलावेइ उप्पिलावंतं वा साइज्जइ" नि० चू० १८ उ० । आचा० ॥

उप्पीलित–उत्पीडित–त्रि० गाढीकृते, "उप्पीलियवच्छककच्छगेवेज्जबद्धगलगवरभूसणविराइयं" उत्पीडिता वक्षसिकृता हृदयरज्जुर्यस्य स तथा, भ० ७ श० ६ उ० । ज्ञा० । औ० । वि० । "उप्पीलियचिंधपट्टगहिया उहपहरणा" उत्पीडितो गाढबद्धश्चिह्नपट्टो नेत्रादिचीवरात्मको यैस्ते तथा । प्रश्न० ३ द्वा० । "उप्पीलियचित्तपट्टपरिपरसफेणगावतरइयसंगयपलववत्थंतचित्तविल्ललगं" उत्पीडितोऽत्यन्तबद्धश्चित्रपट्टो विचित्रवर्णपट्टरूपः परिकरो यैस्ते तथा । रा० "उप्पीलियसरासणपट्टिए" उत्पीडिता गुणसारणेन कृतावपीडा शरासनपट्टिका धनुर्दण्डो येन स तथा । उत्पीडिता वा बाहौ बद्धा शरासनपट्टिका बाहुपट्टिका येन स तथा । भ० ७ श० ६ उ० । उत्पीडिता प्रत्यञ्चारोपणेन शराशनपाट्टिका धनुर्यष्टिर्यैस्ते तथा । अथवा उत्पीडिता बाहौ बद्धा शराशनपट्टिका धनुर्धरप्रतीता यैस्ते तथा । भ० ३ श० ७ उ० । रा० । वि० ।

उप्पुय–उत्पुत–त्रि० उद्-पु-क्त । पवित्रादिना कृतोत्पवनसंस्कारे पात्रादौ, इद् पक्षे उत्पवितोऽप्यत्र । वाच० ॥

उत्प्लुत–न० गेयदोषभेदे, ज्ञा० १६ अ० ॥

उप्पूर–उत्पूर–पुं० प्रकृष्टे प्रवाहे, "पवणाहयचवललुलियतरंगहत्थनच्चंतवीइपसरियखीरोदकपवरसागरुप्पूरचंचलाहिं" औ० । प्राचुर्ये, "उप्पूरसमरसंगामडमरकलिकलहवेहकरणं" उत्पूरेण प्राचुर्येण समरो जनमरकयुक्तो यः संग्रामो रणः स उत्पूरसमरसंग्रामः । प्रश्न० ३ द्वा० ।

उप्पेय–देशी–अभ्यङ्गे, । "पुव्वं च मंगलट्ठा, उप्पेयं जइ करेइ गिहियाणं" पूर्वं च यदि मङ्गलार्थं साधु उप्पेयं देशीपदमेतत् अभ्यङ्गं पश्चाद् गृहिकाणां गृहस्थानां करोति । व्य० ६ उ० ।

उप्पेल–उन्नमि–धा० उद् नम्-णिच्-ऊर्ध्वनमनकारणे, उन्नमेरुत्थङ्घोल्लालगुलुगुञ्छोप्पेलाः ८ । ४ । ३६ । इति उन्नमेरुप्पेलादेशः । उप्पेलइ उन्नमयति । प्रा० ॥

उप्पेहड–देशी–उद्भटार्थे, दे० ना० ।

उप्फुण्ण–देशी–आपूर्णे, दे० ना० ।

उप्फुण–उत्फण–पुं० स्त्री० उत्कृष्टफणे, उत्फणत्वे, कुण्डलिकादिपर्य्यायसमन्वितसर्पद्रव्यवत् आ० म० द्वि० ।

उप्फाल–देशी–दुर्जने, दे० ना० ।

उप्फालंत–उत्फालयत्–त्रि० प्रोल्लङ्घयति, प्रा० ।

उप्फुल्ल–उत्फुल्ल–त्रि० उद्-फुल्-नि. विकासिते, द० ५ अ० । दलानामन्योन्यविश्लेषेण प्रकाशिते, उत्फुल्लनीलनलिनोदरतुल्यभासः माघः । उत्ताने, त्रि० स्त्रीणां गुह्येन्द्रिये, न० । वाच० ॥

उप्फुसिऊण–उत्स्पृश्य–अ० उदकेन अभ्युक्षणं दत्त्वेत्यर्थे "उप्फुसिऊणं देते अप्पट्ठियसेविए गहणं" बृ० १ उ० ।

उप्फेणउप्फेणिय–उत्फेनोत्फेनित-न० फेनोद्गमनकृते, "उप्फेणउप्फेणियसीहसेण रायं एवं वयासी उप्फेणउप्फेणियंति" सकोपोष्मवचनं यथा भवतीत्यर्थः । विपा० ६ अ० ।

उप्फेस–देशी–न० पुं० मुकुटे, औ० । प्रज्ञा० । शिरोवेष्टने, शेखरके, "पंचरायककुहा पणत्ता तंजहा खग्गं छत्तं उप्फेसं वाहणा उवालवियाणी" स्था० ५ ठा० । "उप्फेसं वा कुज्जा" शिरोवेष्टनं वा कुर्यात, आचा० २ श्रु० । त्रासे, अपवादार्थे, दे० ना० ।

उप्फोअ–देशी–उद्गमे, दे० ना० ।

उप्फोस–उत्स्पृश–पुं० उत्स्पर्शने, उन्दने, बृ० १ उ० ।

उब्बंधण–उद्बन्धन–न० उद्-बन्ध्-ल्युट्-उल्लम्बने, । प्रश्न० ५ द्वा० ऊर्ध्वं वृक्षशाखादौ बन्धने, तेन मरणे च । "उब्बंधणाइ वेहासामित्यादि" प्रव० १५ द्वा० ।

उव्वक्कय–उद्धृत्क–पुं० विद्यादायकादिप्रतिजागरके, स्था० ३ ठा० । स च प्रव्राजयितुं न कल्पते । इति तत्प्ररूपणामित्थम "अश्याणि उव्वक्को" ।

कम्मे सिप्पे विज्जा, मंते जोगेय होंति उववरआ ।
उव्वंक्कउओ एसो, न कप्पए तारिसे दिक्खा ॥४२०॥

एस पंचविहो उपचरणगजावेण बको उपचारकः प्रतिजागरक इत्यर्थः ।

कम्मे सिप्पे विज्जा, मंतेय परूवणा व उएहं पि ।
गोवालउक्कमादी, कमउं होंति उव्वहुउ ॥४२१॥

कम्मासिप्पाणं दोण्हं अये परूवणा कज्जति तेणं चउगहरणं अणुवपसपुव्वगं गोपालादिकम्मं आयरितोवपसपुव्वगं रेहगादी सिप्पं लेहादिया सउणरूयपज्जवसाणा बावत्तरिकलातो

विज्जादयसमयनिबद्धो मंतो अहवा इत्थिपुरिसाभिहाणविज्जा-मंता अहवा स साहणा विज्जा पढणसिद्धो मंतो दुग्गमादि दव्वनियरा विद्देसणवसीकरणउच्चाडणारोगावणायकराव जोगा इत्थं गोपालादीकम्मे छिन्नगा कालतो मुक्के गहिते अगहिते वा काले असंपुण्णे ण कप्पति दिक्खिउं पुण्णे कप्पति । अछिन्नकालतो कए कम्मे गिहिते वा अगहिते वा मुक्के कप्पति ।

सिप्पाई सिक्खंतो, सिक्खावेंतस्स देत्त जा सिक्खा ।
गहियम्मि वि सिक्खम्मि,जं चिरकालं तु उब्बद्धो॥४२२॥
एमेव य विज्जाए, मंते जोगे य जाव उब्बद्धो ।
तावति काले ण कप्पति, सेस कालं अणुण्णत्तो ॥४२३॥

अतिगाहणातो विज्जा मंते जोगा सिक्खंतो सिक्खावेंतस्स कयकादिदव्वं देति सो य जति तेण एवं उब्बद्धो जाव सिक्ख-सि ताव तुमं ममायत्तो तंमि असिक्खिते न कप्पति सिक्खिए कप्पति। अध एवं उब्बद्धो सिक्खिए वि उवरिए तियं कालं ममा-यत्तणे जवियव्वं तम्मि काले अपुण्णे ण कप्पति अंतरा पव्वावेंतस्स इमे दोसा ॥

बंधवहो रोहा वा, हवेज्ज परितावसंकिलेसो वा ।
उब्बद्धगम्मि दोसो, उवसमसु ते य परिहाणा ॥४२४॥
उवउब्बद्धगजवगाणं, एस विसेसो मुणेयव्वो ।

कंठा वितियपदं सुक्कोवगाहा । कंठगतो उब्बद्धगो उब्बद्धम-धगाए इमो वि से सोकए उवसंपदं उब्बद्धो भयडं पुण न-त्तीए घेप्पंति । नि० चू० ११ उ० ।

उब्बलण–उद्वलन–न० अभ्यङ्गने, विइयपयकारणम्मि चम्मु-ब्बलणं तु होति एगट्ठा" बृ० ३ उ० ।(अणायारशब्दे तन्निषेध उक्तः) प्रोद्वलने च । क०प्र० । करणे, ल्युट्। देहोपलेपनविशे-षेषु, यानि देहाद्धस्तामर्शनेनापनीयमानानि मालादिकमादाय उद्वलन्तीति । ज्ञा० १३ अ० ॥

उब्बलणसंकम–उद्वलनासंक्रम–पुं० प्रदेशे, सङ्क्रमभेदे, पं० सं० (तल्लक्षणादिसंकमशब्दे प्रदेशसंक्रमप्रस्तावे दर्शयिष्यते)

उब्बिद्ध–उद्विद्ध–त्रि० ऊर्द्ध गते, औ० । "सुगंधवरकुसुमचुम्म वासरेणुमइलं" भ०६श०३३ उ०। रा० । उच्छ्रिते, । "तालद्ध-उब्बिद्धगहलकेउ " स० । प्रश्न० । रा० ।

उपविद्ध–त्रि० उराडे, "उब्बिद्धविपुलगंभीरखायफलिहा " ज्ञा० १ अ० । रा० ।

उब्बेह–उद्वेध–पुं०उराडत्वे, जी०३प्रति० ।"उब्बेधं ओंडतणंति भणियं होइ" स्था०१०ठा० । भूमिप्रविष्टत्वे, जं०७ वक्ष० । भुवि प्रवेशे, स्था० २ ठा० । भूमाववगाहे, मध्यविष्कम्भे च । स्था० १० ठा० ।

उब्बोलित्ता–अववोलयितृ–त्रि० अधोबोलयितरि, "सीओद-गवियडंसि वा कायं उब्बोलित्ता भवति " सूत्र० २ श्रु०३ अ०

उब्भ–ऊर्ध्व–त्रि०उद्–हाङ्–ऊ-पृषो० ऊरादेशः । "वोर्ध्वे" ८।२।५८। इति संयुक्तस्य वा भः । उब्भं उद्धं। प्रा०। उच्चे, उपरिउप-रितने च । वाच० ।

उब्भज्जि–देशी–कौटुम्बजालके, बृ० १ उ० ।

उब्भट्ठ–अवभाषित–त्रि० याचिते, " उब्भट्ठं अणोभट्ठं वा गे-एहंतस्स दव्वुज्झियं भवति । नि० चू० १५ उ० ।

उब्भड–उद्भट–त्रि० उद् भट् करणे–अप् । तण्डुलादेः प्रस्फो-टनहेतौ शूर्पे, तदाकारत्वात्कच्छपे, श्रेष्ठाशये, महाशये, प्रवरे, ग्रन्थबहिर्भूतैर्लौकप्रसिद्धेऽज्ञातवक्तृके श्लोके, वाच० । असंवृतपरिधानादौ " छिक्कावणा उब्भेडो णीया सा दारुण-सभावा" बृ० ६ उ० । विकराले, " उब्भडघडमुहा कच्छुक-सराभिभूया " उद्भटं विकरालं घटकमुखमिव मुखं तुच्छ-दशनच्छदत्वाद्येषां ते तथा । स्पष्टे च । "उब्भडघाडामुहा क-च्छुकसराभिभूया " उद्भटे स्पष्टे घाटामुखे शिरोदेशविशेषौ येषां ते तथा । भ० ७ श० ६ उ० ।जं० । ज्ञा० । तं० ।

उब्भडवेस–उद्भटवेष–पुं० निषिद्धजनोचितनेपथ्ये, ध० र० । दर्श० । (तदकरणीयता अणुब्भड शब्दे उक्ता)

उब्भव–उद्भव–पुं० उद्–भू–अच् । उत्पत्तौ, विशे० । सम्भ-वे, ज्ञा० २ अ० । कर्तरि–अच्– । उत्पत्तिमति, उद्भूतत्वे, वि-शेषगुणगते जातिभेदे, वाच० ॥

उब्भाम–उद्भ्राम– पुं० उद्– भ्रम– घञ्–भिक्षाभ्रमणे, स्था० ४ ठा० ॥ उत्प्राबल्येन भ्रमत्युद्भ्रमाः । भिक्षाचरेषु, "तीरिय उ-ब्भामणितो य दरिसणं " व्य० १ उ०। नि० चू० ।

उब्भामइल्ला–उद्भ्रामिल्ला–स्त्री० स्वैरिण्याम्, "जस्स महिला-यति उब्भामइल्ला य तस्स" व्य०४उ०दुःशीलायां च ।बृ०६उ ।

उब्भामग–उद्भ्रामक–पुं०उद्–भ्रम्–एवुल् । पारदारिके, बाह्य-ग्रामे भिक्षाटनं विधायापर्य्याप्ते तत्रैव भिक्षामटति, "अद्धाण-णिग्गयाई उब्भामगखमग अक्खरे रिक्खा " बृ० १ उ० ॥ वायुभेदे च । प्रज्ञा० ।

उब्भामगणितो(यो)य–उद्भ्रामकनियोग–पुं० उद्भ्रामका भि-क्षाचरास्तेषां नियोगो व्यापारो यत्र स उद्भ्रामकनियोगः। भि-क्षाचरव्यापारवति ग्रामे, "तीरिय उब्भामणितोयदरिसणं सा हुसणिवप्पाहे । " व्य० १ उ० ।

उब्भामिगा–उद्भ्रामिका–स्त्री० कुलटायाम्, व्य० ६ उ० । " उब्भामिगावलिया वलिया वलवलिया " महा० ३ अ० ।

उब्भालण–देशी–शूर्पादिनोत्पवने, अपूर्वे च । दे० ना० ।

उब्भाव–रम्–धा० क्रीडायाम्, रमेः संखुड्डखेड्डोब्भावकिलिकिंचकोट्टुममोट्टायणीसरवेल्ला ८।४।१६७। इति रमेरुब्भावादे-शः । उब्भावइ । रमते । प्रा० ।

उब्भावणा–उद्भावना–स्त्री० उत्प्रेक्षणे, "अन्नभाउब्भावणाहिं" ज्ञा० १३ अ० । औ० । प्रकाशने, नं० । प्रभावनायाम्, " पव-यण उब्भावणया " स्था० १० ठा० । बृ० ।

उब्भाविअ–देशी–सुरते, दे० ना० ।

उब्भिंदमाण–उद्भिंदत्–त्रि०उद्भेदं कुर्वति, "मट्टिउवलित्तं अस-णं४ वा उब्भिंदमाणे पुढवीकायं समारंभेज्जा" आचा०२श्रु.१अ.

उब्भिंदिउं (य) उद्भिद्य–अव्य० उद्घाट्येत्यर्थे " छगणा-इणोवलित्तं उब्भिंदिय जं तमुब्भिन्नं" पंचा० १३ विव० ।द०॥

उब्भिज्जमाण–उद्भिद्यमान–त्रि० उद्घाट्यमाने, जं० १ वक्ष०। रा० । जीवा० । प्राबल्येनोर्द्धं वा दार्य्यमाणे, केतइपुडाण वा अणुवायंसि उब्भिज्जमाणाण वा " भ० १६ श० ६ उ० ॥

उब्भिण्ण–उद्भिन्न–न० उद्भेदनमुद्भिन्नम् । साधुभ्यो घृता-दिदाननिमित्तं कुतुपादेर्मुखस्य गोमयादिस्थगितोद्घाटने द्वा-दशे उद्गमदोषे, तद्योगाद्देये घृतादौ च । पिं० । " छगणा-इणोवउत्तं उब्भिंदिय जं तमुब्भिन्नं " । उद्भिद्य उद्घाट्य यद् भक्तादि ददातीति वर्तते तद्भक्ताद्युद्भिन्नमित्युच्यते । कोष्ठ-काद्युद्भिन्नं भाजनसम्बन्धादिति । पंचा० १३ विव० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तद्भेदा यथा—

पिहिउब्भिन्नकवाडे, फासुयअफासुए य बोधव्वे ॥

अफासुय पुढविमाई, फासुय छगणाइ दद्दरए ॥

उद्भिन्नं द्विधा तथा पिहितोद्भिन्नं कपाटोद्भिन्नं च । तत्र यत् कुतुपादेः स्थगितं मुखं साधूनां तैलघृतादि दीयते तद्दीयमानं तैलादि पिहितोद्भिन्नं पिहितमुद्भिन्नं यत्र तत् पिहितोद्भिन्नमिति व्युत्पत्तेः । तथा यत् पिहितं कपाटमुद्भिद्य उद्घाट्य साधुभ्यो दीयते तत् कपाटोद्भिन्नम् । व्युत्पत्तिः प्रागिव । तत्र पिहितोद्भिन्नं द्विधा तद्यथा प्रासुकमप्रासुकं च सचेतनमचेतनं चेत्यर्थः । तत्राप्राशुकं सचित्तपृथिव्यादिमयं प्राशुकं छगणादिदर्दरके तत्र छगणा गोमया आदिशब्दोद्भस्मादिपरिग्रहः दर्दरको मुखबन्धनवस्त्रखण्डम् ॥

अत्र पिहितोद्भिन्ने दोषानभिधित्सुराह ॥

उब्भिन्ने छक्काया, दाणे कयविक्कए य अहिगरणे ।

ते चेव कवाडम्मि वि, सविसेसा जंतमाईसु ॥

उद्भिन्ने पिहितोद्भिन्ने च दोषस्तदुद्भेदकाले षट्पृथिवीकायादयो विराध्यन्ते तथा प्रथमतः साधुनिमित्तं कुतुपादिमुखे उद्भिन्ने सति पुत्रादिभ्यस्तैलादिप्रदाने तथा क्रये विक्रये चाधिकरणप्रवृत्तिरुपजायते । तथा त एव षट्कायविराधनादयो दोषा कपाटेऽपि कपाटोद्भिन्नेऽपि सविशेषास्तु यन्त्ररूपकपाटादिषु द्रष्टव्याः । तत्र यान्यतीव संपुटमागतानि कुञ्चिकाया रोधायान्ति यानि च दर्दरिकोपरि पिट्टणिकाया एकदेशवर्तीनि मालप्रवेशरूपद्वारे तानि यन्त्ररूपकपाटानि । आदिशब्दात्परिघादिग्रहः । संप्रत्येनामेव गाथां व्याचिख्यासुः प्रथमतः " उब्भिन्ने छक्काया " इत्यवयवं व्याख्यानयन् गाथाद्वयमाह ।

सचित्तपुढविलित्तं, लेलुसिलं वा वि दाउमोलित्तं ।

सचित्तपुढविलेवो, चिरम्मि उदगं अचिरलित्ते ॥

एवं तु पुव्वलित्ते, जे उल्लिंपाणे य ते चेव ।

ते मेडं उवलिंपइ, जउमुद्दं वा वि तावेउं ॥

इह कुतुपादिमुखदर्दरकोपरि कदाचित् लेलुं लोष्टम । शिलां पाषाणखण्डं प्रक्षिप्य जलार्द्रीकृतसचित्तकायलिप्तं भवति । तत्र सचित्तः पृथिवीलेपः सचित्तः सन् चिरकालमप्यवतिष्ठते । उदकं त्वचिरलिप्ते अचिरकाललिप्ते संभवति किमुक्तं भवति यदि चिरकालसचित्तपृथिवीकायलिप्तमुद्भिद्यते तर्हि सचित्तपृथिवीकायविनाशोऽचिरलिप्ते तद्भिद्यमाने अप्कायस्यापि विनाशः । अचिरलिप्तमप्यन्तर्मुहूर्तकालमध्यवर्ति द्रष्टव्यमन्तर्मुहूर्तानन्तरं तु पृथिवीकायशस्त्रसंपर्केत उदकमचित्तीभवति । ततो न तद्विराधनादोषः । उपलक्षणमेतत् तेन त्रसादेरपि तदाश्रितस्य विनाशसंभवो द्रष्टव्यः एवमनेन प्रकारेण पूर्वलिप्ते साध्वर्थमुद्भिद्यमाने दोषा उक्ताः । एते एव पृथिवीकायादिविराधना दोषा उपलिप्यमानेऽपि कुतुपादिमुखात्तैलघृतादिकं साधवे दत्वा शेषस्य रक्षणार्थं भूयोऽपि कुतुपादिमुखे स्थग्यमाने द्रष्टव्याः । तथाहि भूयोऽपि कुतुपादिमुखं सचित्तपृथिवीकायेन जलार्द्रीकृतेनोपलिप्यते ततः पृथिवीकायविराधना । अप्कायविराधना च पृथिवीकायमध्ये च मुद्गादयः कीटिकादयश्च संभवन्ति । ततस्तेषामपि विराधना । तथा कोऽप्यभिज्ञानार्थं कुतुपादिमुखस्योपरि जतुमुद्रां ददाति । तथा तेजस्कायविराधनापि । यत्राग्निस्तत्र वायुरिति वायुकायविराधना च । ततः पिहितोद्भिन्ने षट्कायविराधना ।

अमुमेवार्थं स्पष्टं भावयति ।

जह चेव पुव्वलित्ते कायादओ पुणो वि तह चेव ।

उवलिप्पंते काया, मुइंगाई नवरि छट्ठे ॥

यथा चैव पूर्वलिप्ते कायाः पृथिवीकायादयो विराध्यन्ते तथा साधुभ्यस्तैलादिकं दत्वा भूयोऽपि कुतुपादेर्मुखे उपलिप्यमाने काया विराध्यन्ते । नवरं षष्ठे काये त्रसकायरूपे विराध्यमाना जन्तवः पृथिव्याश्रिताः मुइंगादयः पिपीलिकाः कुन्थ्वादयो द्रष्टव्याः संप्रति " दाणे कयविक्कय " इत्यवयवं व्याचिख्यासुराह ॥

परस्स तं देइ स एव गेहे, तेल्लं व लोणं व घयं गुलं वा ।

उग्घाडियं तम्मि करे अवस्सं, सविक्कयं तेण किणाइ अन्नं ॥

तस्मिन् कुतुपादिमुखे साध्वर्थमुद्घाटिते सति प्रवर्तते इति साधोः प्रवृत्तिदोषः । तथा च ' एते एव अहिगरण ' मित्यवयवं व्याचिख्यासुराह ॥

दाणकयविक्कए चेव, होइ अहिगरणमजयजावस्स ।

निवयंति जेय तहिं ये, जीवा मुइंगमूसाई ॥

दानक्रये विक्रये चानन्तरोक्तस्वरूपं वर्तमाने साधोरयतभावस्य अयतोऽशुद्धाहारापरिहारकत्वेन जीवरक्षणरहितो भावोऽध्यवसायो यस्य स तथा तस्याधिकरणं पापप्रवृत्तिरुपजायते । तथा तस्मिन् कुतुपादिमुखे उद्घाटिते ये जीवा मुइंगमूषकादयो निपतन्ति निपत्य च विनाशमाविशन्ति तदप्यधिकरणं साधोरेव संप्रति ' ते चेव कवाडम्मी ' त्यवयवं व्याचिख्यासुराह ॥

जहेव कुंभाइसु पुव्वलित्ते, उब्भिज्जमाणे य भवंति काया ।

उल्लिप्पमाणे वि तहा तहेव, काया कवाडम्मि विजाणियव्वा ।

तथैव कुम्भादौ घटादौ आदिशब्दात् कुतुपादिपरिग्रहः । पूर्वलिप्ते उद्भिद्यमाने तथा उपलिप्यमाने कपाटे तद्विराधना भवति । जलभृते करकादौ लुप्यमाने भिद्यमाने वा पानीये प्रसर्पतः प्रत्यासन्नचुल्लादावपि प्रविशेत् । तथा च सत्यग्निविराधना यत्र चाग्निस्तत्र वायुरिति वायुविराधना च । मुइंगादिविवरप्रविष्टकीटिकागृहगोधिकादिसर्वविनाशे त्रसकायविराधना चेति । दानक्रयविक्रयाधिकरणप्रवृत्तिभावना च पूर्ववत्कर्तव्या । संप्रति "सविसेसण" इत्यवयवं व्याचिख्यासुराह ॥

घरकोइलसंचारा, आवत्तणपडुगाइहेट्ठवरिं ।

निंतिट्ठिए य अंतो, डिंभाई पेल्लणे दोसा ॥

कपाटस्य सञ्चारात् संचलनात् गृहगोधिका उपलक्षणमेतत्कीटिकाद्युन्दुरादयश्च विराध्यन्ते । तथा प्रासादस्याधो भूमिरूपा पीठिकेव पीठिका भूमिका तत्र अध उपरितले च कपाटैकदेशस्याधो वर्तते तदाश्रिताः कुन्थुपिपीलिकादयो विनाशमश्नुवते । तथा उद्घाटिते कपाटे पश्चान्मुखं नीयमाने अन्तःस्थितस्य डिम्भादेः प्रेरणदोषाः शिरःस्फोटनादयो भवन्ति ॥

संप्रत्यपवादमाह ॥

घेप्पइ अकिंचियागम्मि, कवाडे पइदिणं परिवहति ।

अज्जउमुद्दिय गंठी, परिभुज्जइ ददरो जाव ॥

अकुञ्चिकारहिते कुञ्चिकादिविरहिते इत्यर्थः । तत्र हि किल पृष्ठभागे उल्लालको न भवति । तेन न घर्षणद्वारेण सत्वविराधना । यद्वा "अकुइयागत्ति" पाठः । तत्र अकूजिकाके कूजिकारहिते अकेकारावे किमुक्तं भवति । यत् उद्घाट्यमानं कपाटं केकाररावं करोति तद्धि क्रियमाणमूर्ध्वमधस्तिर्यक् च घर्षन् प्रभूतसत्वव्यापादनं करोति । तेन तद्वर्जनम् । तस्मिन्नपि किं विशिष्ट इत्याह । प्रतिदिनं प्रतिदिवसं निरन्तरं प्रतिवहति । उद्घाट्यमाने दीयमाने चेत्यर्थः तस्मिन् प्रायो न गृहगोधिकादिसत्वाश्रयसंभवश्चिरकालमवस्थानाभावात् । इत्थं भूते कपाटे साध्वर्थमप्यु-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दूषादिते यत् ददाति गृहस्थः तत् गृह्यते स्थविरकल्पानामाचीर्णमेतत् । तथा यश्च दर्दरकः कुतुपादीनां मुखबन्धरूपः प्रतिदिवसं परिभुज्यते बध्यते भाव्यते च इत्यर्थः तत्र यदि जतुमुद्राव्यतिरेकेण कवलं वस्त्रमात्रग्रन्थिर्दीयते । नापि च सचित्तपृथिवीकायादिलेपस्तर्हि तस्मिन् साध्वर्थमुद्भिन्नेऽपि यद्गीयते तत्साधुभिर्गृह्यते इति । उक्तमुद्भिन्नद्वारम् । पिं० । प्रव० । ध० । पंचा० । व्य० । उत्त० । दर्श० । ग० । स्था० । (तद्ग्रहणनिषेध आचाराङ्गे प्रतिपादितः स च माल्लोहड शब्दे व्याख्यास्यते) बृ० । (जीतकल्पानुसारेण पिहितोद्भिन्नकपाटोद्भिन्ने आचामाम्लम्) जीत० । उत्पन्ने, कर्मणि–क्त द्विधाकृते, दलिते च। वाच० ॥

उब्भुअंत–उद्भवत्–त्रि० उद्‌-भू-शतृ-भुवेर्होहुवहवाः ८।४।६०। इत्यत्र कश्चिदन्यदपीत्युक्तेरुब्भुअ आदेशः । उत्पद्यमाने, प्रा० ॥

उब्भुइया–औद्भूतिकी–स्त्री० उद्भूते, आगन्तुके, कस्मिंश्चित्प्रयोजने सामन्तामात्यादिलोकस्य ज्ञापनार्थं वाद्यमानायामाशीर्षचन्दनमय्यां देवतापरिगृहीतायां कृष्णवासुदेवभेर्याम्, विशे० ॥

उब्भुत्त–उत्क्षिप्–धा–ऊर्ध्वक्षेपे, उत्क्षिपेर्गुलुगुञ्छोत्थंघाल्लत्थोब्भुत्तोस्सिक्कहक्खुवाः ८।४।४३। इत्युत्क्षिपे उब्भुत्तादेशः। उब्भुत्तइ । उक्खिवइ । प्रा० ॥

उब्भेइम–उद्भेदिम–न० उद्भेदे सामुद्रादौ, अप्रासुके वा लवणे, द० ६ अ० । "बिडं वा लोणं उब्भेइमं वा लोणं आहारेइ आहारंतं वा साइज्जइ उब्भेतिमं पुण सयं रुहं जहा सामुद्दं" नि० चू० ११ उ० ॥

उभओ–उभयतस्–अव्य० उभाभ्यां प्रकाराभ्यामित्यर्थे, "उभओ जोगविसुद्धा आयावणड्डाणमाईया" उभाभ्यां प्रकाराभ्यां क्रियया भावतश्चेत्यर्थः । (जोगविसुद्धत्ति) विशुद्धयोगा निरवद्यव्यापाराः । पञ्चा० १८ विव० । "उभओ विव्वोयणे दुहओ उव्वए" उभयतः शिरोन्तपादान्तावाश्रित्य (विव्वोयणेत्ति) उपधानके यत्र तत्तथा । भ० ११ श० ११ उ० ॥

उभय–उभय–त्रि० उभ्‌-अयच्-अवयवे द्वित्वविशिष्टे, अस्य द्वित्वे बोधकत्वेऽपि एकवचनबहुवचनान्ततयैव प्रयोगः न द्विवचनप्रयोगः। "सिद्धादियस्स उभयं करेज्जसे थोधधिय ममत्ते। उभयं णाम एगदोसा" नि० चू० १ उ० ।

उभयभाग–उभयभाग–न० चन्द्रस्य उभयत उभयभागाभ्यां पूर्वतः पश्चाच्चेत्यर्थो भज्यन्ते भुज्यन्ते यानि तानि उभयभागानि चन्द्रस्य पूर्वतः पृष्ठतश्च योगमुपगच्छति नक्षत्रे, । "चंदस्स णं छ णक्खत्ता उभयभागा पत्ता तिष्ठि विसाहा पुणव्वसू रोहिणी उभयजोगत्ति" । स्था० ६ ठा० ।

उभयकाल–उभयकाल–पुं० उभयसन्ध्ये, ग०२ अधि० ।

उभयगणि–उभयगणिन्–पुं० उभयः साधुसाध्वीद्वयरूपो गणोऽस्यास्तीति उभयगणी। साधुसाध्वीगणद्वयाऽऽचार्ये, बृ० १ उ०।

उभयजणणसभाव–उभयजननस्वभाव–त्रि० इष्टानिष्टार्थोत्पादनबीजकल्पे, "उभुभयजणणसभावा एसा विहिणेयरेहिं कप्पणा" पंचा० ३ विव० ।

उभयणिसिरण–उभयनिसर्जन–न० कायिकसज्ज्ञोभयव्युत्सर्जने, "उभयं णाम काइयसण्णिसिरणं वोसिरणं" नि० चू० १ उ० ।

उभयदढ–उभयदृढ–त्रि० धृत्या संहननेन च बलवति, बृ० १ उ० ।

उभयप्पियसंबंधणसंजोग–उभयार्पितसम्बन्धनसंयोग–पुं० मिश्रार्पितसम्बन्धनसंयोगरूपे संयोगभेदे, उत्त० १ अ० । (आत्मकर्मणोरर्पितौदयिकादिभावविषयकसंयोगलक्षणस्योभयार्पितसम्बन्धनसंयोगस्य व्याख्या संजोग शब्दे वक्ष्यते)

उभयमंगली–उभयमङ्गली–स्त्री० समुद्देशनमण्डल्याम्, स्वाध्यायमण्डल्यां च । बृ० १ उ० ।

उभयलोगहिय–उभयलोकहित–त्रि० लोकद्वयेऽप्युपकारके, "क स्साण भायणसेण उभयलोगहिवं" पंचा० ११ विव० ।

उभयसंबंधणसंजोग–उभयसम्बन्धनसंयोग–पुं० उभयेनात्मबाह्यलक्षणेन तदुभयास्मिन्वा संयोगे, यथा क्रोधी देवदत्तः क्रोधी कौल्लिको मानी सौराष्ट्रः क्रोधी वा सन्ति । अत्र क्रोधादिभिरौदयिकादिभावान्तर्गतत्वेनात्मरूपैर्नामादिभिस्त्वात्मनोऽनन्यत्वेन बाह्यरूपैः संयोग इत्युभयसम्बन्धनसंयोग उच्यते । उत्त० १ अ० । (एतद्व्याख्या संजोग शब्दे)

उभयसमय–उभयसमय–पुं० उभय (स्वपर) मतानुगतशास्त्रस्वभावे, उत्त० १ अ०।

उभयारिह–उभयार्ह–न० मिश्रापरपर्याये, दशविधप्रायश्चित्तमध्ये तृतीये, यस्मिन्प्रतिसेविते प्रायश्चित्ते यदि गुरुसमक्षमालोचयति आलोच्य च गुरुसन्दिष्टः प्रतिक्रामति पश्चाच्च मिथ्यादुष्कृतमिति ब्रूते तदा शुध्यति तत आलोचनाप्रतिक्रमणलक्षणोभयार्हत्वान्मिश्रम् । व्य० प्र० १ उ० । यच्च प्रतिसेव्य गुरोरालोचयति गुरुपदेशेन च विशुध्यर्थं मिथ्यादुष्कृतं क्रियते तदुभयार्हम् ।जी० येषु प्रतिसेवितेषु उभयार्हप्रायश्चित्तं तान्याह ॥

संभमभयाउराबइ, सहसाणाभोगणप्पवसओ वा ।
सव्ववयाईयारे, तदुभयमासंकिए चेव ॥

संभ्रमः संक्षोभः करिसरित्पूरसार्थवदावानलादिः भयः चौरवन्दिकम्लेच्छादेः (आउरत्ति) भावप्रधानत्वान्निर्देशस्य आतुरत्वं पीडितत्वं क्षुत्पिपासाद्यैः । आपच्चतुर्द्धा द्रव्यक्षेत्रकालभावैः । तत्र द्रव्यापत्प्रासुकैषणीयासनादिद्रव्यदुर्लभता १ क्षेत्रापत्प्रत्यासन्नग्रामनगरादिरहितमल्पं च क्षेत्रम् २ कालापद्दुष्कालादि ३ भावापद्ग्लानत्वादि ४ ततः संभ्रमभयातुरापद्भिः कारणैः सहसाकारानाभोगौ प्राग् व्याख्यातौ ताभ्यां चानात्मवशकः परवशः वा शब्दात् तत्तद्विशेषश्च तस्य सर्वव्रतातिचारे सति । नन्वेवमतीचाराः हस्तिसंभ्रमादौ पलायमानः पृथिवीजलानलरहितद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियाक्रमणकरणघातादिना तारुयन् पादपाद्यारोहणेन प्राणातिपातविरतिं विराधयेत् । मृषाविरतिं कूटसाक्ष्यादिना अदत्तविरतिं प्रलोभ्य स्तैन्येनासनादिदत्तो ग्रहणेन मैथुनविरतिं स्त्र्यादिना परिग्रहविरतिं मध्यममूर्च्छादिना रात्रिभोजनविरतिं दिवागृहीतानि भक्तैः अल्पकल्पो दूरतममार्गं व्रजतां घृतमिश्रकणिकाद्यादानरूपः तं विदध्यात् । लेपकृतं क्षीराद्यादि तदुत्सर्गतो न ग्राह्यत्वाद् भुञ्जीतेत्यादि मूलविषया एवमुत्तरेऽप्यूह्याः । इत्यमतीचारजाते सति तथा आशङ्किते चैव यदतिचारस्थानं कृतमकृतं चेति निश्चेतुं न शक्नोति तस्मिंश्च दर्शनज्ञानचारित्रतपःप्रभृतिसर्वपदविषये तदुभयार्हं प्रायश्चित्तम् । एवं गुरोरालोचना द्वितीयं गुरुसंदिष्टेन मिथ्यादुष्कृतदानं प्रतिक्रमणार्हत्वमित्येतदुभयं शुद्धिकरम् । किञ्च ।

दुच्चिंतिय दुब्भासिय, दुच्चिट्ठिय एवमाइयं बहुसो ।
उवउत्तो वि न याणइ, जं देवसियाइ अइयारा ॥

दुश्चिन्तितं कोङ्कणार्यकशब्दवदार्तचिन्तनात् । दुर्भाषितं त्वसद्भूतोद्भावनं दुश्चेष्टितं च धावनादि । दुश्चिन्तितं दुर्भाषितं दुश्चेष्टितम् । एवमादिकमन्यदप्येवं प्रकारं दुष्प्रतिलेखितं दुष्प्र-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मार्जिता बहुशोऽनेकशो उपयुक्तोऽपि उपयोगवानपि यद्दैवसिकात्यतिचारादित्यादिशब्दाद् त्रिकपाक्षिकचातुर्मासिकसांवत्सरिकादि च पूर्वकालकृतमालोचनाकाले न स्मरति तस्याप्यतिचार जातस्याशोधकः । अस्यां गाथायामनुक्तमपि प्रस्तावात्तदुभयार्हमेव ज्ञेयम् ।

सव्वेसु वि वीइयपए, दंसणनाणचरणावराहेसु ।
आउत्तस्स तदुभयं, सहसाकाराइणा चेव ॥

प्रथमपदमुत्सर्गस्तदपेक्षया द्वितीयपदमपवादस्तस्मिन्नुपस्थिते सत्ययुक्तस्य कारणेन यतनया गीतार्थस्यापराधपदान्यासेवमानसहसाकारादिना चैवमादिशब्दादाभोगानाभोगाभ्यां च सर्वेष्वपि दर्शनज्ञानचरणापराधेषु तदुभयं प्रायश्चित्तम् । अत्राह शिष्यः । 'खलियस्स य सव्वत्थ वी' त्यत्र दर्शनज्ञानचरणादिपदेषु सर्वेषु सस्खलितस्य प्रतिक्रमणार्हमभिधाय तेष्वेवेह कथं तदुभयार्हमभिधीयते ॥ तत्र हि सममापद्यमानस्येत्युक्तम् । इह तु हिंसाद्यापन्नसाम्ययुक्तस्य तदुभयार्हेण शुद्धिरिति न विरोधः ।

इदानीं तदुभयार्हमभिधातुकाम आह ॥

संकिए सहसागारे, उभयाउरे आवतीसु य ॥
महव्वयातियारे य, छएहं ठाणाण वज्झतो ॥

शङ्कितः प्राणातिपातादौ यथा मया प्राणातिपातः कृतः किं वा न कृतः । तथा मृषा भणितं न वा अवग्रहोऽनुज्ञापितो न वा, ज्ञानादिदर्शननिमित्तं जिनभवनादिगतस्य स्त्रीस्पर्शे रागगमनमभूत् वा इष्टानिष्टेषु रागद्वेषौ गतो न वा, तक्रादिलेपकृदवयवाः कथमपि पात्रगताः पर्युषिताःभिक्षार्थमटितुकामेन धौताः किं वा न धौता इत्यादि । तत्र षएणां बाह्यं तदुभयलक्षणं प्रायश्चित्तमिति योगः । तथा उपयोगवतोऽपि सहसाकारे सहसा प्राणातिपातादिकरणे । तथा भये दुष्टम्लेच्छादिसमुत्थे यदि वा हस्त्यागमने मेघोदकनिपातस्पर्शने दीपादिस्पर्शने वा आकुलतया प्राणातिपातादिकरणे तथा आतुरः क्षुधा पिपासया वा पीडितः । भावप्रधानश्चायं निर्देशस्ततोऽयमर्थः आतुरतायाम् । तथा आपच्चतुर्धा तद्यथा । द्रव्यापत् क्षेत्रापत् कालापत् भावापत् । तत्र द्रव्यापत् दुर्लभं प्रायोग्यं द्रव्यम् । क्षेत्रापत् छिन्नमण्डपादि । कालापत् दुर्भिक्षादि । भावापत् गाढग्लानत्वादि । एतासु स हिंसादिदोषमापद्यमानस्यापि अनात्मवशगस्य तथाहि ईर्यासमितावुपयुक्तोऽप्युत्क्षालिते पादे सहसा समापतितं कुलिङ्गिनमपि व्यापादयेत् मृषापि कदाचित्सहसा भाषते । अवग्रहमपि कदाचिद्दाभसिकतया अननुज्ञातमपि परिभोगयति । अत्युल्वणमबलारूपमवलोक्य कदाचनापि सहसा रागमुपैति इत्यादि । तथा भयात्प्रपलायमानोभूदकज्वलनवनस्पतिद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियानपि व्यापादयेत् । मृषापि भयात् भाषते परिग्रहमपि धर्म्मोपकरणग्राहस्य करोति । आतुरतायामपि सम्यगीर्यापथाशोधने संभवति प्राणातिपातः । अत्यातुरतायां कदाचिन्मृषा भाषणमपि अदत्तादानमपि च एवमापत्स्वपि भावनीयम् तथा महाव्रतानां प्राणातिपातनिवृत्यादीनां सहसाकारतः स्फुटबुद्ध्या कारणतो वा अतीचारे च शब्दादतिक्रमव्यतिक्रमयोश्च । तथातिक्रमादीनां महाव्रतविषयाणामन्यतमस्याशङ्कायां वा किमित्याह (छएहं ठाणाणवज्झतो इति) केषांचिदनवस्थितपाराञ्चिते प्रायश्चित्ते द्वे अपि एकं प्रायश्चित्तमिति प्रतिपत्तिः ॥ तन्मते नवधा प्रायश्चित्तं तत्र बाह्ये द्वे प्रायश्चित्ते मुक्त्वा शेषाणि सप्त प्रायश्चित्तानि तेषां च सप्तानां प्रायश्चित्तानां यदाद्यं प्रायश्चित्तं तदुपरितनानां षएणां बाह्यं नाभ्यन्तरमिति षएणां स्थानानां बाह्यत इति वचनादेव प्रतिपत्तव्यम् । तच्च तदुभयं तच्चैवं भावनीयम् । शङ्कितादिषु यथोक्तस्वरूपेषु सत्सु प्रथमं गुरूणां पुरत आलोचनां तदनन्तरं गुरुसमादेशेन मिथ्यादुष्कृतदानमिति । शंकिए इत्येतद्विवृएवन्नाह ॥

हित्थो व णहित्थो मे, सत्तो जणियं च न जणियं मिसा।
उग्गहणुएणमणुन्ना, तइए फासे चउत्थम्मि ॥
इंदियरागदोसाउ, पंचमे किं गतोमि न गतोत्ति ।
छट्ठे लेवाडादी, धोयमधोयं न वावेत्ति ॥

सत्वः प्राणी (हित्थोत्ति) देशीपदमेतत् । हिंसितो मे मया न वा हिंसित इति । तथा मृषा जणितं न वा । तथा तृतीये अदत्तादानविरतिलक्षणे अवग्रहोऽनुज्ञा मया कारिता यदि वा अनुज्ञा न कारिता । तथा चतुर्थे मैथुनविरतिलक्षणे जिनजवनादिषु स्नानादिदर्शनप्रयोजनतो गतः सन् (फासेइत्ति) स्त्रीस्पर्शे रागं गतो न वा । तथा पञ्चमे परिग्रहविरमणलक्षणे इन्द्रियेषु विषयिणा विषयोपयोगलक्षणादिन्द्रियेषु इष्टानिष्टेषु रागद्वेषौ गतोऽस्मि किं वा न गत इति । तथा षष्ठे रात्रिभोजनविरमणे लेपकृदादि तक्राद्यवयवरूपं कथमपि पात्रादिगतं पर्युषितं भिक्षाटनार्थमुत्पद्यते तद्धौतमथवा न धौतं मयेति । यद्येवं ततः किमित्याह ॥

इंदियअव्वागारिया जे, अत्था अणुवधारिया ।
तदुजयपायच्छित्तं, पडिवज्जइ जावतो ॥

उक्तेन प्रकारेण येऽर्थाः प्राणातिपातादय इन्द्रियैश्चक्षुरादिभिरव्याकृताः प्रकटीकृता अपि येऽनुपधारिता न सम्यग्धारणाविषयीकृतास्तेषु प्रायश्चित्तं प्रतिपद्यते । भावतः सम्यगपुनरापतनेन तदुभयमिति । तच्च तदुभयं च पूर्वं गुरूणां पुरत आलोचना । तदनन्तरं तदादेशतो मिथ्यादुष्कृतदानमित्येवंरूपं तदुभयम् ।

एतदेव सविस्तरमभिधित्सुराह ।

सद्दा सुया बहुविहा, तत्थ य केसु वि गतोमि रागंति ।
अमुगत्थ मे वितक्का, पडिवज्जइ तदुभयं तत्थ ॥

शब्दा मया बहुविधा बहुप्रकाराः श्रवणविषयीकृतास्तत्र तेषु बहुविधेषु शब्देषु श्रुतेषु मध्ये (वितक्कत्ति) एवं मे वितर्कः संदेहो यथा केषुचिदपि (अमुगत्थत्ति) अमुकेषु रागमुपलक्षणमेतत् द्वेषं वा गतोऽस्मि । तत्र तस्मिन् शङ्काविषये तदुभयमुक्तलक्षणं प्रायश्चित्तं भावतः प्रतिपद्यते । यदिहि निश्चितं भवति यथा अमुकेषु शब्देषु रागं द्वेषं वा गतः इति तत्र तपोऽर्हं प्रायश्चित्तम् । तथैव निश्चयो न गतो रागं द्वेषं वा तत्र स शुद्ध एव न प्रायश्चित्तविषयः । ततो वितर्के यथोक्तलक्षणे तदुभयमेव प्रायश्चित्तमिति ।

एमेव सेसए वि, विसए आसेविऊण जे पच्छा ।
काऊण एगपक्खे, न तरइ ताहि यं तदुभयं तु ॥

एवमेव उक्तेनैव प्रकारेण यान् रूपादीन्विषयान् आसेव्योपभुज्य उपलक्षणमेतत् प्राणातिपातादीनप्यासेव्य पश्चात् एकतरस्मिन्पक्षे अपराधलक्षणे निर्दोषतालक्षणे वा न कर्त्तुं शक्नोति यथा रूपादिषु विषयेषु रागं द्वेषं वा गतः । प्राणातिपातादयो वा कृता इति । यदि वा न गतो रागद्वेषौ नापि कृताः प्राणातिपातादय इति तत्र तदुभयं तु तदुभयमेव तु शब्दस्यैवकारार्थत्वात् यथोक्तलक्षणं प्रायश्चित्तं शङ्कास्पदत्वात् तदेवं शङ्किते इति व्याख्यातम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संप्रति सहसाकारेत्यादिव्याचिख्यासुराह

उवओगवतो सहसा, भयेण वा पल्लिए कुलिंगादी ।
अच्चाउरावती सु य, अणेसिया दीहगणभोगा ॥

उपयोगवतो पि ईर्यासमितौ सम्यगुपयुक्तस्यापि उत्क्षिप्ते पादे कथमपि सहसा योगतः समापतितः सन् कुलिङ्गी व्यापाद्यते भये न वा चौरसिंहादीनां भृशं पलायमाने भयग्रहणमुपलक्षणं तेन पतदपि द्रष्टव्यं परेण वा (पेल्लिए इति) परेण प्रेरिते वा तद्व्यापारमासाद्य कुलिङ्गी उपलक्षणमेतत् । पृथिव्यादिजीवनिकायो वा व्यापत्तिमाप्नुयात् । तथा अत्यातुरे क्षुधा पिपासया वा अत्यन्तं पीडिते तथा आपत्सु द्रव्यापदादिषु यदि अनेषितादिग्रहणभोगौ भवतः अनेषितमनेषणीयमादिशब्दादकल्पनीयस्य परिग्रहः न केवलमनेषितादिग्रहणभोगौ किंतु गमनागमनादौ पृथिव्यादिजन्तुविराधनापि भवति । तथापि तत्र प्रायश्चित्तं यथोक्तलक्षणं तदुभयमिति वर्त्तते सहसाकारादिविषयत्वात् ।

संप्रति महव्वयाइयारे अ इत्येतद्व्याख्यानयन्नाह ॥

सहसाकारे अइक्कम-वइक्कमे चेव तह य अइयारे ।
होइ व सद्दगहणा, पच्छित्तं तदुभयं तिसु वि ॥
इतिमाउवयोगे वा, एगयरे तत्थ होइ आसंका ।
नवहा जस्स विसोहि, तस्सुवरिं छएह वज्झतु ॥

सहसाकारतोऽतिक्रमे व्यतिक्रमे अतीचारे प्राग्व्यावर्णितस्वरूपे महाव्रतविषये इति सामर्थ्याद्गम्यते महव्वयाइयारे य इति पदस्य व्याख्यायमानत्वात् एतेषु त्रिष्वपि दोषेषु तदुभयमुक्तस्वरूपं प्रायश्चित्तम् । अथ मूलगाथायां महाव्रतातीचारे चेत्येवोक्तं ततः कथमत्र विधृतम् अतिक्रमे चेति अत आह । चशब्दग्रहणात्किमुक्तं भवति चशब्दग्रहणात् मूलगाथायामतिक्रमव्यतिक्रमयोरपि समुच्चयः कृत इत्यदोषः । अथवा अतीचारस्य पर्यन्तग्रहणादतिक्रमव्यतिक्रमयोरपि उपयोगे स्फुटबुद्ध्या करणे तदुभयप्रायश्चित्तमिति योगः । वा शब्दो भिन्नक्रमत्वाद् एगयरे इत्यत्र योजनीयः । ततोऽयमर्थः । एकतरस्मिन्वा तत्र अतिक्रमे अतीचारे वा यदि भयत्याशङ्का यथा मयातिक्रमः कृतो न वा व्यतिक्रमः कृतो न वा अतीचारः कृतो नवेति । तत्रापि तदुभयं प्रायश्चित्तम् । "इह सहसाकारासंके संकिय सहसाकारे" पदद्वयेनापि गते केवलं महाव्रतानामतिक्रमादिष्वप्याशङ्कायां सहसाकारे चैतदेव प्रायश्चित्तं नान्यत्परिकल्पनीयमिति । भाष्यकृता सहसाकारासंके अपि योजिते । छएहं ठाणाण वज्झतो इति व्याख्यानयन्नाह (नवहेत्यादि) यस्याचार्यस्य मतेन अनवस्थितपाराञ्चितयोरैक्यविवक्षणान्नवधा नवप्रकारा विशोधिः प्रायश्चित्तं तस्य आद्यप्रायश्चित्तद्वयस्योपरि यद्वर्तते प्रायश्चित्तं तत्षण्णामुपरितनानांबाह्यमेव तुशब्दस्यैवकारार्थत्वात् । ततः छएहं ठाणाणवज्झत्तो इति तदुभयं प्रायश्चित्तं प्रतिपत्तव्यमिति । उक्तं तदुभयार्हं प्रायश्चित्तम् ।

उमच्छ–वञ्च–धा० उपालम्भे, वञ्चेर्वेहववेलवजूरवोमच्छाः ८ । १ । ९३ । इति वञ्चेरुमच्छादेशः । उमच्छइ वञ्चइ वञ्चति । प्रा० ।

उमा–उमा–स्त्री० शिवपत्न्याम्, को० । अवसर्पिण्यां द्वितीयबलदेववासुदेवमातरि, स० । आव० । उज्जयिन्यां प्रद्योतस्य राज्ञोऽन्तःपुरे गणिकायाम्, आव० ४ अ० । आ० चू० । (तया महेश्वरनामा खेचरो वृत इति सिक्खा शब्दे विकाशमेष्यति)

उमाल-(ल्य) निर्माल्य–न० निर-मल-ण्यत् । निष्प्रती त्वपरौ मल्यस्थोर्वा ८ । १ । ३८ । इति निर इत्येष शब्दो माल्यशब्दे परे वा उद्रूपमापद्यते । देवार्दिदत्ते तद्विसर्जनोत्तरमुच्छिष्टे द्रव्ये, 'उमालं निम्मालं उमालयं वहइ' प्रा० ।

उमासाइ–उमास्वाति–पुं० तत्वार्थसूत्रकारके स्वनामख्याते वाचकप्रवरे, अस्य च माता उमा नाम्नी पिता च स्वातिनामेति तयोर्जातत्वादयमुमास्वातिनामा प्रसिद्धिमगमत् । कौषीतकिगोत्रोऽयं ब्राह्मण आसीत् प्रवाचकान्वयानुसारेणाऽयं घोषनन्दिक्षमाश्रमणशिष्यशिवश्रीनाम्न आचार्यस्य शिष्य आसीत् । वाचनाचार्यान्वयानुसृत्या मुन्दपादशिष्यमूलवाचकस्य शिष्य आसीत् । अयमाचार्योऽस्मदीय इति श्वेताम्बरा दिगम्बराश्च विवदन्ते । तत्र दिगम्बरमतेन वीरमोक्षात् (१०१) वर्षेऽयं विद्यमान आसीत् न्यग्रोधिकानाम्नि ग्रामेऽयं जन्म लेभे सरस्वतीगच्छेऽयं षष्ठः कुन्दकुन्दाचार्यलोहाचार्ययोर्मध्यगो जातः अनेन तत्वार्थसूत्रं पाटलिपुत्रनगरे विरचितम् । तदुपरि टीकाभाष्ये च स्वेनैव कृते अन्याप्येका टीका विक्रमसमकालिकेन सिद्धसेनार्केण तत्र कृता जै० इ० । तथाचाह भगवानुमास्वातिवाचकः सम्यग्दर्शनचारित्राणि मोक्षमार्ग इति । नं० । चतुःस्थानमुक्तश्च श्रावको भवतीत्युमास्वातिवाचकवचनात् । ध्या० १६ अ० । उक्तं चोमास्वातिवाचकेन "हिंसानृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमिति" आव० ४ अ० । वाचकः पूर्वधरोऽभिधीयते स च श्रीमानुमास्वातिनामा महातार्किकः प्रकरणपञ्चशतीकर्ताचार्यः सुप्रसिद्धोऽभवत् पञ्चा० ६ विव० ।

उम्मग्ग–उन्मग्न–त्रि० उद्-मस्ज्–क्त । ऊर्ध्वं जलगमनं कुर्वाणे, प्रश्न० ३ द्वा० ।

उन्मज्जन–न० उन्मज्यते ऽनेनेति उन्मज्जनम् । रन्ध्रे, "उम्मग्गं सिणो लभति" । आचा० १ श्रु० ३ अ० । जलादूर्ध्वगमने, "उम्मग्गलद्धुं इह माणुसेहिं, णो पाणिणं पाणिसमारभेज्जा" इह मिथ्यात्वादिशैवालाच्छादितसंसारहूदे जीवकच्छपः श्रुतिश्रद्धासंयमवीर्यरूपमुन्मज्जनमासाद्य लब्ध्वाऽन्यत्र संपूर्णमोक्षमार्गसंभवान्मानुषेष्वित्युक्तम् । आचा० । १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

उन्मार्ग–पुं० मार्गः क्षायोपशमिको भावस्तमतिक्रान्त उन्मार्गः । क्षायोपशमिकभावत्यागेनौदयिकभावसंक्रमे, " जो मे देवसिओ अइयारो कओ काइओ वाइओ माणसिओ उस्सुत्तो उम्मग्गो अकप्पो अकरणिज्जो " ध० २ अधि० । आव० । आ० चू० । निर्वृतिपुरीं प्रति अपथि वस्तुतत्वापेक्षया विपरीतश्रद्धानज्ञानानुष्ठाने, "मग्गे उम्मग्गसण्णा" स्था० १० ठा० । असन्मार्गे, ग० १ अधि० । परसमए अणट्ठे अहेऊ असब्भावे अकिरिए उम्मग्गे " उन्मार्गत्वं परस्परविरोधानवस्थासङ्कुलत्वात्तथाहि– "न हिंस्यात् सर्वभूतानि, स्थावराणि चराणि च । आत्मवत्सर्वभूतानि, यः पश्यति स धार्मिकः " इत्याद्यभिधाय पुनरपि–"षट्सहस्राणि युज्यन्ते, पशूनां मध्यमेऽहनि । अश्वमेधस्य वचनान्न्यूनानि पशुभिस्त्रिभि " रित्यादि प्रतिपादयन्तीति । अनु० । संसारावतरणे, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । आचा० । ऊर्ध्वं मार्ग उन्मार्गः । रन्ध्रे, "उम्मग्गंसि णो लभति" आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० उद्गतो मार्गादुन्मार्गः । अकार्यकरणे, आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

उम्मग्गगय–उन्मार्गगत–त्रि० उन्मार्गेण संसारावतरणरूपेण गतः प्रवृत्तः उन्मार्गगतः । संसारे एव प्रवृत्ते मोक्षमार्गे उदस्ते, "सुद्धं मग्गं विराहित्ता, इहमेगे उ दुम्मती । उम्मग्गगता दुक्खं, घायमे संति तं तहा " सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

उमग्गजला– उन्मग्नजला–स्त्री० उन्मज्जति शिलादिकमस्मादिति उन्मग्नं कुड्डुलमिति वचनात् अपादाने क्तप्रत्ययः । उन्मग्नं जलं यस्यां सा तथा । तमिस्रगुहायां बहुमध्यदेशभागे वहन्त्यां स्वनामख्यातायां नद्याम् ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत्स्वरूपं यथा ॥

तीसे णं तिमिसगुहाए बहुमज्झदेसभाए एत्थणं उम्मग्गणिमग्गजलाओ णामं दुवे महाणईओ पण्णत्ताओ जाओ णं तिमिसगुहाए पुरच्छिमिल्लाओ कडगाओ पवूढाओ समाणीओ पच्चच्छिमेणं सिंधुं महाणदीं समप्पेंति॥

तस्यास्तमिस्रागुहायाः बहुमध्यदेशभागे दक्षिणद्वारतस्त्रीकसमेतैकविंशति योजनेभ्यः परतः उत्तरद्वारतस्त्रीकसमेतैकविंशतियोजनेभ्योऽर्वाक् च उन्मग्नजलानिमग्नजलानाम्न्यौ नद्यौ प्रज्ञप्ते । ये तमिस्रागुहायाः पौरस्त्यकटकाद्भित्तिप्रदेशात् प्रव्यूढे निर्गते सत्यौ पाश्चात्येन कटकेन विभिन्ने सिन्धुमहानदीं समाप्नुतः प्रविशत इत्यर्थः । नित्यप्रवृत्तत्वाद्वर्तमाननिर्देशः ।

अथानयोरन्वर्थं पृच्छन्नाह ॥

से केणट्ठे णं भंते ! एवं वुच्चइ उम्मग्गणिमग्गजलाओ महाणईओ ? गोअमा ! जण्णं उमग्गजलाए महाणईए तणं वा पत्तं वा कट्ठं वा सक्करं वा आसे वा हत्थी वा रहे वा जोहे वा मणुस्से वा पक्खिप्पइ ताओ णं उम्मग्गजला महाणई तिक्खुत्तो आहुणिअ २ एगंते थले पक्खिवइ जण्णं णिमग्गजलाए महाणईए तणं वा जाव मणुस्से वा पक्खिप्पइ तण्णं निम्मग्गजला महाणई तिक्खुत्तो आहुणिय २ अंतो जलंसि णिमज्जावेइ । से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चई उम्मग्गणिम्मग्गजलाओ । महाणईओ ॥

अथ केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते उन्मग्ननिमग्नजले महानद्यौ गोतम ! यत् णमिति प्राग्वत् उन्मग्नजलायां महानद्यां तृणं वा पत्रं वा काष्ठं वा शर्करा वा उपलखण्डः अत्र प्राकृतत्वाल्लिङ्गव्यत्ययः । अश्वो वा हस्ती वा रथो वा योधो वा सुभटः सेनायाः प्रकरणाच्चतुर्णां सेनाङ्गानां कथनं मनुष्यो वा प्रक्षिप्यते तत्तृणादिकं उन्मग्नजलामहानदीकर्तृकांस्त्रीन् वारान् आधूय २ भ्रमयित्वा २ जलेन सहाऽन्याहत्येत्यर्थः एकान्ते जलप्रदेशाद्वहीयसि स्थाने निर्जलप्रदेशे (पक्खिवइत्ति) छर्दयति तीरे प्रक्षिपतीत्यर्थः । तुम्बीफलमिव शिला उन्मग्नजले उन्मज्जति अत एवोन्मज्जति शिलादिकमस्मादिति उन्मग्नं रुहहुमिति वचनात् अपादाने क्तप्रत्ययः । उन्मग्नं जलं यस्यां सा तथा । अथ द्वितीयानामार्थो । तत्पूर्वोक्तं वस्तुजातं निमग्नजला महानदी त्रिःकृत्व आधूयाधूय अन्तर्जले निमज्जयति शिलेव तुम्बीफलं निमग्नाजले निमज्जतीत्यर्थः । अत एव निमज्जयत्यस्मिन् तृणादिकमखिलम् वस्तुजातमिति निमग्नं बहुलवचनादधिकरणे क्तप्रत्ययः । निमग्नं जलं यस्यां सा तथा । अथैतन्निगमयति सेतेणट्ठेणमित्यादि सुगमम् । अनयोश्च यथाक्रममुन्मज्जननिमज्जनकृत्ये वस्तुस्वभाव एव कारणं तस्य चातर्कणीयत्वात् । इमे च द्वे अपि त्रियोजनविस्तारगुहाविस्तारायामे अन्योन्यं द्वियोजनान्तरे बोध्ये अनयोर्यथा गुहामध्यदेशवर्तित्वं तथा सुखावबोध्या स्थापना दृश्यते । जं० ३ वक्ष० ।

उमग्गट्ठिय–उन्मार्गस्थित–त्रि० उत्सूत्रादिप्ररूपणापरे, "भट्ठायारो सूरी, भट्ठायाराणुविक्खओ सूरी । उम्मग्गट्ठिओ सूरी, तिण्णि वि मग्गं पणासेंति" ग० १ अधि० । (आयरियशब्दे विवृतिरुक्ता)

उम्मग्गणयण–उन्मार्गनयन–न० उन्मार्गप्रापणे, "यद्भाषितं मुनीन्द्रैः, पापं खलु देशनापरस्थाने । उन्मार्गनयनमेतत्" षो० १ विव० ।

उम्मग्गदेसणा–उन्मार्गदेशना–स्त्री० उन्मार्गस्य भवहेतोर्मोक्षहेतुत्वेन देशना कथनमुन्मार्गदेशना ॥ कर्म० ॥ सम्यग्दर्शनादिरूपभावमार्गातिक्रान्तधर्मकथने, एष दर्शनमोहनीयकर्मणो हेतुः । स्था० ४ ठा० । ध० ॥

नाणाइ अदूसिंतो, तव्विवरीयं तु उवदिसइ मग्गं ।
उम्मग्गदेसओ एस, आय अहितो परेसिं च ॥

ज्ञानादीनि पारमार्थिकमार्गरूपाणि प्ररूपयन् तद्विपरीतं ज्ञानादिविपरीतमेवोपदिशतीति मार्गे धूमसंबन्धिनमेव उन्मार्गदेशकः अयं चात्मनः परेषां च बोधिबीजोपघातादिना अहितः प्रतिकूल इत्येषा उन्मार्गदेशना । बृ० १ उ० ।

पुच्छंताणं धम्मं, तं पिउ न परिक्खिउं समत्थाण ।
आहारमेत्तलुद्धा, जे उम्मग्गं वइस्संति ॥
सुगई हणंति तेसिं, धम्मियजणनिंदणं करेमाणा ।
आहारपसंसया निंति, जिणदोग्गईबहुयं ॥

गुरुभिस्तावत्स्वयं धर्मतत्त्वप्रकाशनशीलैर्भाव्यं यत्पृच्छतामित्यत्रापि शब्दस्य लुप्तनिर्दिष्टत्वात्ततः पृच्छतामपि प्रच्छनशीलानामपि को धर्मः स्वर्गापवर्गसाधनमपि परीक्षितुमसमर्थानां मुग्धबुद्धीनामित्यर्थः । ये हि किल विशिष्टा भवन्ति ते विशेषतो मुग्धधीबन्धनं कुर्वन्ति अतोऽतिक्लिष्टताख्यापनार्थं परीक्षमाणमित्युक्तम् । ये कथंभूता आहारमात्रलुब्धाः शिवसुखाभिलाषविमुखाः । इहलोकसुखमात्रप्रतिबद्धत्वेन महामते विवेकिनः सन्तः आधाकर्मादिदोषदूषितमाहारवस्त्रपात्रवसत्यादि न दास्यन्त्यत उन्मार्गमुपदिशन्ति शास्त्रोक्तसन्मार्गाद्भिन्नार्थं तथा विप्रतारयन्ति यथा जन्मान्तरमपि दासादिवत्किंचित्कारिणो भवन्ति । ते किं तेषामुपकारिणो भवन्ति नेत्याह । घ्नन्ति नाशयन्ति कां सुगतिं स्वर्गापवर्गादिकां केषां सम्यगजानानानां परमगुरुरिव धर्मबुद्ध्याराधयतां तेषामपि सुगतिनाशो भवति । तथाहि यथा कश्चित्केषांचिदिहलोकपरलोकविरुद्धकारिणां मन्त्रयोगचूर्णादिना वशीकृतः स तस्य परमबन्धुरबुद्ध्यापि सर्वस्वं समापयन् प्राभवति एवमत्रापीति भावार्थः । पुनरपि कथंभूता गुरुकर्मतया धार्मिकजनं संविग्नं गीतार्थं यथाशक्त्यानुष्ठानपरायणमपि निन्दयन्तो हीलयन्तः न केवलं तेषां स्वरुचिविरचिताचारान् विधाय देशनावशीकृतानां सुगतिं घ्नन्ति । अपिच दुर्गतिं नयन्ति प्रापयन्ति 'आहारपसंसासुत्ति' तृतीयार्थे सप्तमी तत आहारप्रशंसादिभिराहारादिदानप्रशंसनैः यदुत यदि भवदीयेष्वपि गृहेषु सकलसङ्घाधारभूतेषु समस्तसंपदुपेतेषु कलिकालकवलितशक्तियतयो न प्राप्स्यन्ति आहारादि तर्हि क यास्यन्ति अन्वेषणीयविभागान्वेषणं कार्यं लक्रम् । ये तुच्छका वराका अल्पशक्तयो भवन्ति तेऽल्पेन ध्यानेनात्मानं मुनयो मोचयन्ति इत्येवमादिवचोभिरुत्प्रास्योत्प्रास्य मुखमाङ्गलिका इव सकलशास्त्रविरुद्धे आधाकर्मादिदोषदूषिता घाहारादिदाने प्रवर्तयन्ते बहुकं जनं लोकं श्रावकं यथा भद्रकं च । इयमत्र भावना । ते हि दुर्गतिगर्तप्रपतनाभिमुखीभूताः सन्तो यथा कथंचिदेवाहारार्थपरान् विप्रतार्य दुर्गतौ पातयन्तीति गाथाद्वयार्थः । ये तावदिहलोकस्यैवैककस्य वाञ्छावन्तः परप्रतारणप्रवणास्तेषामियं गतिः । ये तु सर्वशक्तिविकलतया सम्यगनुष्ठानं कर्तुमशक्तास्तथापि मनाक् शुद्धचित्ततया परलोकमपि वाञ्छन्ति तैः किं कर्तव्यमित्याह ॥

होज्ज हु वसणप्पत्तो, सरीरदोब्बलया य असमत्थो ।
चरणकरणे असुद्धे, सुद्धं मग्गं परूवेज्जा ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भवेद्व्यसनप्राप्तः इन्द्रियपरायत्तताङ्गीकृतत्वेनोन्मादवान् तत्प्राप्तो व्यसनप्राप्तः। शारीरं वपुस्तस्य दौर्बल्यं दुर्बलता शरीरदौर्बल्यं तयाऽसमर्थोऽशक्तः यथावस्थितचरणकरणं कर्तुमित्यध्याहारः। अतोऽशुद्धेऽपि चरणकरणे परलोकार्थी शुद्ध एव मार्गं प्ररूपयेदिति। स हि सन्मार्गप्रकाशनात् पुनर्मार्गं प्राप्नोतीति गाथार्थः। यस्तु मनाक् संविग्नः सोऽपि नीत्या परान्वादिनो यथावस्थितं न कथयति तस्य दोषं दर्शयन्नाह।

परिवारपूयहेउं–पासत्थाणं च णाणुवत्तीए।
जो न कहेइ विसुद्धं, तं दुल्लहबोहियं जाण॥

परिवार आत्मव्यतिरिक्तस्ततः परिवारेण पूजा परिवारपूजा अथवा परिवारस्य पूजा परिवारपूजा ह्रस्वत्वं प्राकृतप्रभवं तस्या हेतुर्निमित्तं पार्श्वः सम्यक्त्वं तस्मिन् ज्ञानादिपार्श्वे तिष्ठन्तीति पार्श्वस्थास्तेषामनुवृत्तिरनुवर्तनं तया यो न कथयति न प्रकाशयति विशुद्धं सर्वविशुद्धं सर्वज्ञोपदिष्टं यथावस्थितं मुक्तिमार्गमाचार्यं साधुं वा दुर्लभबोधिकं जानीहि। अयमत्र भावार्थः। यो हि मनागसंविग्नोऽपि परिवारापेक्षया सम्यक् साध्वाचारं न कथयति नायमन्यथा प्रवृत्तः सम्यक्त्वकथनेन प्रकटो भविष्यति ततोऽसमञ्जसरोषो भविष्यति ततः शरीरादिस्थितिं न करिष्यति पूजा वा न भविष्यतीति हेतोः पार्श्वस्थानुवृत्त्या वा यदुत नामैते सम्यक् कथयतः प्रकोपं यास्यन्त्यतः वरमात्मसाक्षिसुकृतं कृतमिति। एते चानवर्तिता भवन्त्विति स्वबुद्ध्या सुन्दरमपि विदधानाः संसारसागरे एव भवन्ति यत उक्तम् "जिणाणाए कुणंताणं, नूणं निव्वाणकारणं। सुंदरं पि य बुद्धीए, सव्वं भवनिबंधणं॥ जे मय आरंभरया, ते जीवा होंति अप्पदोसयरा। ते उ महापावयरा, जे आरंभं पसंसंति" य एवमधः परमाराध्य कालिकसूरिभिरिव प्राणप्रहाणेऽपि परानुवृत्त्या नैवानुवृत्त्यापि नैवान्यथा भाषणीयमिति गाथार्थः। भगवत्कालिकसूरिकथानकं चैवम्। "अत्थि इहेव खेत्ते तुरिमिणीए नयरीए जियसत्तू नाम राया तीए वि नयरीए अन्नो रुद्दाइमाहणीए सुओ दत्तो माहणेसु उपरि वसइ सो य न याइ एसु सत्तसु महावसणेसु पसत्तो। किं बहुणा सव्वहा विरुद्धायारसमायरणसीलो अइंतया भवियव्वयावसेण जाओ रायाणो संजाओ सव्वहाइ पच्चासन्नत्तणेण जाओ अन्नेसिं पि सामंतमंडलीयाण सुहबहुमओ ततो दाणसंमाणाइणा उवलोभेऊण कओ सव्वो वि राइणो परियणो वासे। ततो गहिऊण जियसत्तुमूलरायाणं बंधित्ता कट्ठचियचारगगिहे जाओ सयं चेव सयं पहोराया एवं रज्जुधराऊढस्स भवियव्वयावसेण तत्थ समागयकमेण विहरमाणा साहसया बहुसीससमन्निया जुगप्पहाणा अज्जकालगनामए सूरिणो नाया य दत्तमायाए भद्दाए। जहा वच्छ संपए एत्थ मे भाया तुज्झ वि य माउलओ अज्ज वि कालगसूरी समागओ ता तं वंदाहि तेण वि तह त्ति पडिसुयं गतो बहुपरिवारो सूरिसयासे दिट्ठा य सूरिणो काऊण उचिओवयारमुवविट्ठो जहारिहासणे भयवया नाऊण बहुयरं सायारो सूरीहिं सामंतेणं पकविणो उ सिट्ठजणसमायारो। अहा होयव्वं करुणापहाणमणसा सव्वेण धम्मत्थिणा भासेयव्वमणिंदियं हियकरं सव्वं वयायं सया कायं सव्वजियाण सोक्खजणगट्ठाणेसु दायव्वयं सव्वेणावि जिएण रायसयं वेयं हि पंचप्पणोदीणाईणमणिंदियं पइदिणं गेहाणुसारेण उदेयं दाणतहेह येयमणहं जीवाण सव्वेसिण अच्चंतं हियमेव सव्ववयणं भासंति जं जंतुणो तं जाणाहि नरीससव्वमणहं धम्मस्स संसाहगं एमाइसव्वसाहारणदेसणासवणपज्जंते भवियव्वया वसवत्तिणा दत्तेण पुच्छियं कहेहि किं जन्नाण फलं। तओ भगवया अज्जकालगसूरिणो चिंतियं नूण एस पउट्ठो बहुबुद्धी जं मे सुत्ताण कमेपण विरोहिएण विग्गाप्पिऊण भणियं तुमं महाराय! धम्ममूलाइं पुच्छसि "करुणा सव्वजीवेसु, सव्वं वयाए भासणं। परस्स दारगं घाउ, परिग्गहविवज्जणा॥ एमाइ धम्ममूलाइं, कोहाईण य वज्जणं। सव्वपासंडियाणं पि, एयं सम्मं पयंसया" ततो पुणो वि पुच्छियं वेयविहियविहाणेण विहियजन्नाण किं फलं? सूरीहिं भणियं किं महाराय! विहिविहिसुहाणुबंधि पुन्नफलं साहेमि जहा- "विहिजीवदयाइजुया, जीवा स सुवज्जिऊण सुहयम्मि। पुन्नंपावसयरा, नरसुरविसोक्खविउलाइं" पुणो वि पुच्छियं जन्नाण किं फलं सूरिणा भणियं पावविवायं पुच्छसि नरयपहो पावविवागो "णरयाइ देइ दुहं, नरयतिरियजोणीसु हीणासु। हीणसुरनरगईसु वि ता तहेव इह दुहाण॥ नरयाण पुणो मग्गो, सहरंभपरिग्गहो य जियघाओ। कुणिमाहारो अविरइ, तिव्वकसाया पमाओ य" ततो दत्तेण कुद्धेण भणियं। भो भो समणा किं तुमं सम्मं न सुणसि कन्नेसु। किं वा अकन्नसुयं करोसि किं वा न याणसि जन्नाण फलं। जं फुडं न साहेसि ततो सूरीहिं भणियं जइ फुडं ता नरयगमणमेव फलं तओ रोसारुणलोयणेण पच्चयं किमहं नरगं गमिस्सामि अणेगजन्नकरणा वि भयवया भणियं कया इओ य सत्तमे दिणे कुम्भियाए पइज्जंतो सुणएहिं खज्जंतो मरिहिसि। पुणो वि पुच्छियं एत्थ वि को पच्चओ भयवया परंपियंतो तम्मि दिणे विट्ठा मुहं पविसिहि पुणो वि दत्तेण भणियं तुमं के चिरं अइओ दिणाओ जीविहिसि? सूरीहिं साहियं अणेगाइं वरिसाइं दिवं च गमिस्सामि। ततो दत्तेण चिंतियं अइकोहमुवागराण किं पट्ठवेमि संपयं चेव जम्ममन्दिरं देसेमि दुव्वयणस्स फलं पइविठामि ताव कालावहि जाव पच्चाअलियवाइणं भणिऊण विहिहजाइणा पुव्वं विणिवाइस्सं ततो मा एस समणगो कहिं पि गच्छहि त्ति ततो मोत्तूण नियपुरिसे रक्खा। अप्पणा समागओ सए गिहे तओ चिंतियं चेट्ठामि ताव अंतेउरे सत्तदिणाणि तओ कहं मे विट्ठा मुहं पविसइ तओ पविट्ठो अंतेउरे सोयाविया सव्वेवि रायमग्गा तओ सत्तमे दिणे भवियव्वया वसेण रायपहं पवन्नस्स जाओ वेगो न सक्केइ अ तओ गंतु ततो तत्थ काऊण वेगभंगं ढक्किउ पुप्फहिं अप्पणावि भयजुओ लहुं लहुं विणिहरिओ रायपहाओ। इओ य सो दत्तो दुम्मई विमूढमणो गया सत्तदिवस त्ति कलिऊण तम्मि चेव सो नीहारिओ महया तुरयचडयरेण जाव रायपहमागओ ताव सो चेव विठा तुरयखुराहया पविठा मुहे तओ नायं जहा निच्छुएण मरिज्ज इतो निगिन्हामि तं चेव पडिसत्तू जियसत्तू अउनिकंटं मे रज्जं होहि एयं चिंतिऊण जाव नियत्तो तो ततो गहिओ सेससामंतेहिं मा भिन्नरहस्सत्ति काऊण रायाणं विणिवाइऊण अम्हे वि विणिवाइस्सइ ततो नीहारिऊण मूलरायाणं कट्ठागिहाओ अह सिंचिऊण रायपए समप्पिओ दत्तो बंधिऊण तेण वि खिवाविऊण सहसुणएहिं कुम्भियाए पज्जालिओ भीसणो जलणो खज्जंतो य सुणएहिं महावेयणाभिभूओ रुद्दज्झवसायपरिगओ मरिऊण जाओ नारओ। सूरी वि सायसउत्ति काऊण पूइओ नरवइणा जहा एएण भयवया पाणपरिच्चायसंभवे वि न अन्नहा भासियं एवं अन्नेणावि सिवसुहत्थिणा जहट्ठियं जिणवयणं भणियव्वं कालगायरियं कहाणयं सम्मत्तं"। ननु यद्येवमन्यथा कथने दण्डो भवति तर्हि किमित्यन्यथा कथ्यते इत्याह।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुहमहुरं परिणइमं-गुलं च गिएहंति दिंति उवएसं ।
मुहकडुयं परिणइ सुं-दरं च विरलव्वि य भणंति ।२ए।

मुखे मधुरं मुखमधुरं यथा धार्म्मिकस्त्वमसि सत्पुरुष इति वा एवंविधं वचनं न हि तद्गुणविकलस्यापि मनः प्रह्लादयति परिणतौ मङ्गुलमसुन्दरं परिणतिमङ्गुलं चशब्दस्यापि शब्दार्थत्वात्ततोऽसुन्दरमपि भवान्तरे कर्णसुखदत्वात् गृह्णन्ति कुर्वन्तीत्यर्थः। ददति च परचेतोवृत्तिरञ्जनप्रवणपुरुषाणां प्रायः प्रचुरत्वात् मुखकटुकं परिणतिसुन्दरम् । चशब्दस्य पुनः शब्दार्थत्वात्ततो विरला एव पुनर्भणन्ति प्रतिपादयन्ति । अयमत्र भावार्थः । को हि नामात्मनः कटुकभाषित्वमभ्युपगम्य यथावस्थितोभयलोकहितोपदेशदाने प्रवर्तते । प्रायेण हि प्रभूततराः स्वार्थाभिमता एव दृश्यन्त एवेति गाथार्थः ।

यद्येवं कर्णकटुकमुभयलोकहितमपि विरला एव गृह्णन्ति ततः किं तदुपदेशेनेत्याह-

भवगिहमज्झम्मि पमाय-जलणजलियम्मि मोहनिद्दाए।
उट्ठवइ जो सुयंतं, सो तस्स जणो परमबंधू ॥ ३० ॥

भवः संसारः स एव गृहं भवगृहं तस्य मध्यं भवगृहमध्यं तस्मिन् प्रमादो मद्यादिरनेकधा स एव ज्वलनो वैश्वानरः तेन ज्वलितो दीप्तस्तस्मिन् प्रमादज्वलनज्वलितस्तस्मिन् । मोहनीयमेव निद्रा हिताहितविवेकवैकल्यकारकत्वात् तया स्वपन्तं स्वापं कुर्वन्तं यः कश्चिदनुपकृतः परहितरतः उत्थापयति सदुपदेशदानेन प्रमादव्यवहितानुष्ठाने च प्रवर्तयति स तस्य प्रमादस्यापवर्ती जनो लोकः परबन्धुरात्यन्तिकैकान्तिकबन्धुरिति गाथार्थः ॥ अत एव सदुपदेशदानतः परमबान्धवा भवन्ति अत एव भावतस्ते पूजनीया इत्याह-

जइ वि हु सकम्मदोसा, मणयं सीयंति चरणकरणेसु ।
सुद्धपरूवगा तेण, भावओ पूयणिज्जंति ॥ ३१ ॥

यद्यपि स्वकर्मदोषाच्चारित्रावरणोदयान्मनाक् सीदन्ति मनागशुद्धानुष्ठाना भवन्ति चरणकरणयोर्वक्ष्यमाणस्वभावयोः शुद्धप्ररूपकाः सम्यग्मार्गविभावकास्तेन ते भावतोऽपि मोक्षनिमित्तमपि पूजनीया इति । अयमत्र भावार्थः । ये मिथ्यात्वावष्टब्धचेतसो मुग्धधीबन्धनपरायणा लोकरूढ्या बहुश्रुता अपि सम्यक्क्रियावादिनोऽपि परशास्त्राभिप्रायपराङ्मुखास्ते विषाशीविषादिवत्परित्याज्याः मार्गोच्छेदकत्वेन संसारकारणत्वात् । ये तु स्वयं कर्मपरतन्त्रतयापि मोक्षसुखाभिलाषितया मनाक् सीदन्तोऽपि चरणकरणयोर्भवभ्रमणभीरुतया यथावस्थितशिवमार्गप्रकाशकाः स्वानुष्ठानापकृष्टपातिनस्ते तृतीयमार्गानुयायित्वाद्भावतः परमार्थतः पूज्या इति गाथार्थः । यत एवं क्रियाविकलोऽपि श्रमणमार्गप्ररूपको भावतोऽपि पूज्यते कुग्राहग्रस्ततयोन्मार्गप्ररूपकः क्रियावानपि सर्पादिवत्परित्यज्यते ततो विवेकवता किमुचितमित्याह ।

एवं जिया आगमदिट्ठिदिट्ठ-सुनायमग्गा सुहमग्गलग्गा ।
गयाणुगामीण जणाण मग्गे, लग्गंति नो गड्डरिकापवाहे ॥

एवमिति पूर्वकथितप्रकारेण अत एव शुभमार्गलग्ना जीवाः प्राणिनः सदा सदागमावदातबुद्धयः किं न लगन्ति न लीयन्ते क्व गड्डरिकाप्रवाहे कथंभूता आगम आप्तवचनं स एव दृष्टिर्हिताहितपदार्थप्रकाशकत्वादागमदृष्टिः । तया दृष्टमवलोकितमागमदृष्टिदृष्टं तेन शोभनप्रकारेण ज्ञातो मार्गो ज्ञानादिको यैस्ते आगमदृष्टिदृष्टसुज्ञातमार्गाः । क्व मार्गे केषां जनानां कथंभूतानां गतानुगामिनाम् । गतं गच्छन्तीत्येवं शीला गतानुगामिनस्तेषाम् । अयमभिप्रायः । ये हि सुविहितसंपर्कात्सम्यगाप्तमोक्षमार्गा भवन्ति तान् मुक्त्वा मिथ्यात्वमोहमोहितमतिगतानुगतप्रवर्तितमार्गे गड्डरिकाप्रवाहकल्पं नाङ्गीकुर्वन्त्यपि तु सन्मार्ग एव व्रजन्तीति वृत्तार्थः ॥ नन्वित्थं भूताः केचन एवावदातबुद्धयः स्वल्पा दृश्यन्ते प्रभूततराः पुनः प्रवाहानुयायिन इति किमत्र तत्त्वमित्याह "नेगंतेणं चिय" अथवा बहुतरतमाः शास्त्रगर्भार्थवेदिनोऽप्येवंविधप्रवृत्तिमन्त एव दृश्यन्ते लोकेऽप्येवंविधमेव श्रूयते यथा "महाजनो येन गतः स पन्थाः" इत्याशयवतः शिष्यस्य शिक्षार्थमाह-

नेगंतेणं चिय लो-गनायसारेण एत्थ होयव्वं ।
बहुमुंडाइवयणाउ, आणाइत्तो इह पमाणं ॥ ३३ ॥

नैकान्तेनैव लोकज्ञातसारेण भाव्यम् । अत्र धर्मविचारे तस्य हि विचित्राश्रयेणानेकरूपत्वात् तत्प्रवृत्तौ हेतुमाह बहुमुण्डादिवचनात् यदिह बहुवचनप्रवृत्तिरेव गरीयसी तदा नेदमागमवचनमभविष्यत्तद्यथा "कलहकरा डमरकरा, असमाहिकरा अनिव्वुइकरा य । होहिंति भरहवासे, बहुमुंडे अप्पसमणा य" इत एतस्माद्धेतोराज्ञैवेह प्रमाणं शास्त्रमेव प्रमाणमिति गाथार्थः । यदि पुनः प्रमाणं द्रव्यपूजया मिथ्याभिमाना ज्ञानितया वा लोकप्रवृत्तिरेवाङ्गीक्रियते ततोऽन्यदर्थान्तरमापद्यत इत्याह-

बहुजणपवित्तिमित्तं, इत्थं तेहिं इह लोइओ चेव ।
धम्मो न उज्झियव्वो, जेण तहिं बहुजणपवित्ती ॥३४॥

बहवश्च बहुजनास्तेषां प्रवृत्तिरेकान्तेनागमनिरपेक्षितया स्वरुचिविरचितानुष्ठानस्यैव बहुजनप्रवृत्तिमात्रं तदिच्छद्भिरिह धर्मविचारे लौकिक एव धर्मो नैव परित्याज्यः स्यात् येन कारणेन तत्र तस्मिन् लौकिके धर्मे बहुजनप्रवृत्तिप्रभृतीनां प्रवृत्तिदर्शनादिति गाथार्थः । यत एवाज्ञाप्रमाणमत एवाह ॥

ता आणाणुगया जं, तं चेव बुहेण सेवियव्वं तु ।
किमिह बहुणा जणेणं, हंदिणेस अत्थि णो बहुया ।३५।

यस्मात्कारणात् बहुजनप्रवर्तमानं सेवनीयं ता तस्मात्कारणादाज्ञानुगतं यत्तदेव बुधेन जिनाज्ञापरिपालनफलवेदिना सेवनीयमासेव्यमित्यर्थः । तुशब्दश्चैवकारार्थो योजित एव किमिति न किञ्चिदित्यर्थः । इहैव धर्मविचारे परलोकचिन्तायां वा बहुना अनेन बहुजनोन्मार्गप्रवर्तकेनेत्यर्थः । हन्दीत्युपदर्शने ततः प्रसिद्धमेतत्सेनैव बहवः श्रेयोर्थिनो मोक्षार्थिनः । संप्रति काले बहवो मुण्डाः अल्पाश्च श्रमणा इति वचनादिति गाथार्थः । इत्यनेकधा विधिमार्गसमर्थनमाकर्ण्य मिथ्यात्वाहतसहसोद्बोधलोचना यन्मन्यन्ते तदाह । अथवा स्वयं ये सन्मार्गगमनाप्रवणाः इत्थं च सन्मार्गप्ररूपणामाकर्ण्य मुग्धबुद्धिबन्धनार्थं यद्वदन्ति तदाह-

दूसमकाले दुलहो, विहिमग्गो धम्मि चेव कीरंते ।
ता जायइ तित्थच्छेओ, केसिं चिय कुग्गहो एसो ॥ ३६॥

दुःषमारूपः कालो दुःषमाकालस्तस्मिन् तत्काले दुरापः स्वकर्मपरिणतेरुन्मार्गप्रवृत्तलोकाद्वा विधिमार्गः शास्त्रोक्तानुष्ठानप्रवृत्तिरूपः तस्मिंश्च क्रियमाणे विधीयमाने जायते संपद्यते तीर्थोच्छेदः शास्त्रोक्तानुष्ठानवतामत्यल्पत्वादितरेषां चातिबहुत्वादित्यर्थः । तादृग्विधानं च क्वापि कथंचिदेव सद्भावादिति केषांचित्कुग्रह एव इति कुग्रहता चैवैषामतोऽवसीयते यतः सदनुष्ठानसाध्यमपि मोक्षमसदनुष्ठानेन प्रकल्पयन्ति । नहि नाम सुवर्णरत्नसाध्यमलङ्कारादिकं मृत्तिकया सिध्यतीति गाथार्थः । एतदपि कुतोऽवसीयत इत्याह ॥

जम्हा न मोक्खमग्गं, मोत्तूणं आगमं इह पमाणं ।
विज्जइ छउमत्थाणं, तम्हा तत्थेव जइयव्वं ॥ ३७ ॥

यस्मान्न नैव मोक्षमार्गे मोक्षे साध्ये मोक्षागमं शास्त्रं परित्यज्येत्यर्थः । इहेति धर्मविचारे प्रमाणमालम्बनमित्यर्थः । विद्यते ह्यवस्थानामतिशयवतां हि यथा कथञ्चित्सेवातिशयवशात्प्रवर्तमानानामपि निर्जरालाभ एवावसीयते तत्र ईदृशैः पुनः सर्वथा शास्त्रमेव प्रमाणीकर्त्तव्यम् । तस्मात्तत्रैव यतितव्यमुद्यमः कार्य इति गाथार्थः । शास्त्राभिप्रायेणैव संसारमोक्षमार्गप्ररूपणायाह ॥

गिहिलिंगि कुलिंगि य दव्व-लिंगिणो तिन्नि हुंति नवमग्गा ।
सुजइसुसावगसंविग्ग--पक्खिणो तिन्नि मोक्खपहा ॥ ३८ ॥

तत्र गृहमेव लिङ्गं येषां ते गृहलिङ्गिनः राजामात्यप्रकृतिप्रभृतयः कुत्सितं लिङ्गं कुलिङ्गं शिवसुखासाधकं तद्विद्यते येषां ते कुलिङ्गिनः स्वरुचिविरचिताकाराचाराः त्रिदण्डिकौलतापसादयः द्रव्यप्रधानं लिङ्गं तद्विद्यते येषां ते द्रव्यलिङ्गिनः गृहलिङ्गिनश्चेत्यादि द्वन्द्वो गृहिलिङ्गिकुलिङ्गिद्रव्यलिङ्गिनः । एते त्रयोऽपि भवन्ति भवमार्गाः संसारपथाः सुयतयः साधुसमाचारचरणप्रवणाः सुश्रावकाः सम्यक्त्वाणुव्रतादिसकलकलापोपेताः संविग्नाः सुसाधवस्तेषां पक्षेण चरन्ति ये ते संविग्नपाक्षिकाः सम्यक् संयमपरिपालनासमर्था अपि सुयतिपक्षपातेनात्मनिस्तारका इत्यर्थः । पूर्वपदे ते त्रयोऽपि मोक्षमार्गा इति गाथार्थः । कथमेते त्रय एव मोक्षमार्गा नान्ये शेषाः किमन्यैर्ममापराद्धमित्याह ॥

सम्मत्तनाणचरणा--मग्गो मोक्खस्स जिणवरुद्दिट्ठो ।
विवरीओ उम्मग्गो, णायव्वो बुद्धिमंतेहिं ॥ ३९ ॥

सम्यक्त्वज्ञानाचरणानि मोक्षमार्गो मोक्षस्य जिनवरोद्दिष्टस्तीर्थकृदुपदिष्ट इत्यर्थः । स च सर्वथा सम्यक्त्वादित्रिक एव यतोऽतः शेषः सर्वोऽपि तद्व्यतिरिक्त उन्मार्गः शिवसुखासाधन इति ज्ञातव्योऽवबोद्धव्यः बुद्धिमद्भिर्विवेकविद्भिरिति गाथार्थः । द्दर्श० ॥

उम्मग्गदेसय--उन्मार्गदेशक-- पुं० ज्ञानादीनि पारमार्थिकमार्गरूपाण्यप्ररूपयति । असन्मार्गप्ररूपके, सू० १ उ० । " उम्मग्गदेसओ मग्ग, नासओ मग्गविप्पडिवत्ती । मोहेण य मोहित्ता, संमोहिं भावणं कुणइ " । ग० २ अधि० ॥

उम्मग्गपइट्ठिय--उन्मार्गप्रतिष्ठित-- त्रि० असन्मार्गस्थिते, " जयवं कहिं लिंगेहिं उम्मग्गपइट्ठियं वियाणिज्जा ग० १ अधि० । (आयरियशब्दे वक्ष्यम) उन्मार्गगामिनि, " अत्थेगे गोयमा पाणी, जे उम्मग्गपइट्ठिए । गच्छम्मि संवसित्ताणं, भमइ भवपरंपरं " ग० १ अधि० ।

उम्मग्गपडिवन्न--उन्मार्गप्रतिपन्न त्रि० आश्रितकुदृष्टिशासने, " उम्मग्गपडिवन्नेसप्पहनिणट्ठे मिच्छत्तबलाभिभूए" उपा० ७ अ० ।

उम्मज्जग--उन्माज्जक-- पुं० वानप्रस्थतापसभेदे, उन्मार्जनमात्रेण ये स्नान्ति । भ० ११ श० ९ उ० । नि० । औ० । कण्ठदघ्ने जले स्थित्वा तपः कुर्वन् प्रवर्तते । उन्मज्जकः स विज्ञेयस्तापसो लोकपूजितः " इत्युक्तलक्षणे तापसभेदे, जलादेरुपर्युपर्युत्प्लावके, त्रि० वाच० ।

उम्मज्जणिमज्जिया--उन्मग्ननिमग्निका-स्त्री० उत्पतननिपतनायाम्, उत्पतननिपतनकरणे, " अहे उम्मज्जणिमज्जियं करेमाणे देसं पुढवीए चलेज्जा" स्था० ३ ठा० ॥

उम्मत्त--उन्मत्त-- त्रि० उद्-मद्-करणे-क्त । धुस्तूरे, मुचुकुन्दवृक्षे च, कर्त्तरि-क्त वाच० ॥ धूर्मिते, अष्ट० । मन्मथोन्मादयुक्ते, विटे, सू० १ उ० । यक्षादिभिः प्रबलमोहोदयेन वा परवशे, ध० ३ अधि० । दृप्ते, ग्रहगृहीते, पिं० । अस्य दीक्षाया अयोग्यत्वमुच्यते ॥

उम्माहो खलु दुविहो, जक्खावेसो य मोहणिज्जो य ।
अगणीआजीवणता, आतव्वविराहणुम्माहो ॥ ३९८ ॥

जक्खेण आविट्ठो मोहणिज्जकम्मोदएण वा से उम्माहो जातो एते दोवि ण पव्वावेयव्वा । इमे दोसा अगणीए पयावणादि करेज्ज पजावणं करेज्ज अप्पाणं थयाणि वा विराहेज्ज । खरियादि-काहणेण वा उम्माहं करेज्जा ॥

छक्काए ण सद्दहति, सज्झायज्झाणजोगकरणं वा ।
उवदिट्ठं पि ण गेण्हइ, उम्मत्ते ण कप्पती दिक्खा ॥ ३८० ॥

षट्काये ण सद्दहति सज्झायज्झाणं न करेति अप्पसत्थे मणादिजोगे करेति पडिलेहणसंजमादिकारणजोगे ण करेति । अन्नं पि विविधं चक्कवालसामायारीए उवदिट्ठं ण करेति । एवमादिएहिं दोसेहिं उम्मत्ते न कप्पति दिक्खा ॥ नि० चू० ११ उ० । पं० भा० । तत्प्राबल्येन मत्त उन्मत्तो दरमत्तो वा उन्मत्तः । प्रबलमत्ते, ईषन्मत्ते च । नि० चू० १० उ० । उद्धते, वाच० । भरतक्षेत्रे वैताढ्यगिरिदक्षिणश्रेणिमण्डने शिवमन्दिरे नगरे ज्वलनशिखस्य राज्ञोऽङ्गजे, उत्त० १३ अ० ।

उम्मत्तगभूय--उन्मत्तकभूत--पुं० उन्मत्तको मदिरादिना विप्लुतचित्तः स इव उन्मत्तकभूतो भूतशब्दस्योपमानार्थत्वात् । उन्मत्तककल्पे उन्मत्तक एव वा उन्मत्तकभूतो भूतशब्दस्य प्रकृत्यर्थत्वात् । उन्मत्तके, स्था० ४ ठा० ॥

उम्मत्तजला--उन्मत्तजला--स्त्री० जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पूर्वेण शीतोदाया महानद्या दक्षिणे वहन्त्यामन्तर्नद्याम्, स्था० ३ ठा० । " रम्मए विजए उम्मत्तजला महाणई " रम्यो विजयः पद्मावती राजपूः उन्मत्तजला महानदी । जं० ४ वक्ष० । " दो उम्मत्तजलाओ " स्था० २ ठा० ।

उम्मत्थ--अभि-आ-गम्-धा० । अभिमुखगमने, अभ्याङोम्मत्थः" ८ । ४ । १६४ । अभ्याङ्भ्यां युक्तस्य गमेरुम्मत्थ इत्यादेशो वा भवति । उम्मत्थइ अब्भागच्छइ । अभ्यागच्छति । अभिमुखमागच्छतीत्यर्थः । प्रा० ।

उम्माण--उन्मान--न० उन्मीयते तदित्युन्मानम् । कर्षादिके तुलामाने, आ० १ अ० । स्था० । कल्प० । भ० । तद्विषयं यत्तदपि उन्मानम् । खण्डगुडादिधरिमे, स्था० १० ठा० ।

अथोन्मानमभिधित्सुराह ।

से किं तं उम्माणे ? जण्णं उम्मिणिज्जइ तंजहा अद्धकरिसो करिसो पलं अद्धपलं अद्धतुला तुला अद्धभारो भारो । दो अद्धकरिसो करिसो दोकरिसो अद्धपलं दो अद्धपलाइं पलं पंचपलसइआ तुला दसतुलाओ अद्धभारो वीसं तुलाओ भारो । एएणं उम्माणपमाणेणं किं पओयणं एएणं उम्माणपमाणेणं पत्ता अगरतगरचोआकुंकुमखंडगुलमच्छंडिआईणं दव्वाणं उम्माणपमाणनिव्वित्तिलक्खणं भवइ सेत्तं उम्माणपमाणेणं ॥

यदुन्मीयते प्रतिनियतस्वरूपतया व्यवस्थाप्यते तदुन्मानं तद्यथा । अर्द्धकर्ष इत्यादि । पलस्याष्टमांशोऽर्द्धकर्षः तस्यैव चतुर्भागः कर्षः । पलस्यार्द्धमर्द्धपलमित्यादि सर्वं मागधदेशप्रसिद्धं सूत्रमेव नवरं पलाशपत्रकर्मारीपात्रादिकं पत्रं चोयं त्वपत्रविशेषः मच्छण्डिका शर्कराविशेषः । अनु० । नाराचादौ, अश्वादीनां वेगादिपरीक्षायाम्, आचा० २ श्रु० । उन्मीयतेऽनेनेत्युन्मानम् । अर्द्धभारपरिमाणतायाम्, " जलद्रोणमद्ध-

भारं समुहाई समूसिओ उ जो नवओ । माणुम्माणपमाणं, तिविहं खलु लक्खणं नेयं " उन्मानं तुलारोपितस्यार्द्धभारप्रमाणता । सा च सारपुद्गलोपचितत्वात् तुलायामारोपितः सन्नर्द्धभारं यः पुरुषस्तुलयति स उन्मानयुक्तो भवति । प्रश्न० ४५६ द्वा० । स्था० । नि० चू० । कल्प० ।

उम्माधिय-उन्माथित-त्रि० सञ्जातोन्माथे, सुतरामुन्माथितो बभूव समुन्माथितं विज्ञाय । आ० म० प्र० ।

उम्माद (य) उन्माद-पुं० उद्-मद्-घञ्-उन्मत्ततायाम्, विविक्तचेतनाभ्रंशे ग्रहे बुद्धिविप्लवे, ज० २४ श० २ उ० । चित्तविभ्रमे, स्था० ३ ठा० । क्षिप्तचित्ते, आव० ४ अ० । आ०चू० । मधुचित्ततायाम्, आलजालजल्पने, प्रव० १६९ द्वा० । कामेन पारवश्ये, उत्त० १६ अ० । अत्यन्तकामोद्रेकाद्धालिङ्गने च । विशे० ॥

तस्य भेदा यथा—

कइविहे णं भंते उम्मादे पण्णत्ते ? गोयमा ! दुविहे उम्मादे पण्णत्ते, तंजहा—जक्खावेसे य मोहणिज्जस्स कम्मस्स उदए णं तत्थ णं जे से जक्खाएसे से णं सुहवेदणतराए चेव, सुहविमोयणतराए चेव । तत्थ णं जे से मोहणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं सेणं दुहवेदणतराए चेव दुहविमोयणतराए चेव ।

उन्माद उन्मत्तता विविक्तचेतनाभ्रंश इत्यर्थः । " तथा उन्मादो ग्रहो बुद्धिविप्लव इत्यर्थः " (जक्खाएसेयत्ति) यक्षो देवस्तेनावेशः प्राणिनोऽधिष्ठानं यक्षावेशः इत्येकः (मोहणिज्जस्सेत्यादि) मोहनीयस्य दर्शनमोहनीयादेः कर्मण उदये नव्यः सोऽन्य इति । तत्र मोहनीयं मिथ्यात्वमोहनीयं तस्योदयादुन्मादो भवति यतस्तदुदयवर्ती जन्तुरतत्त्वं तत्त्वं मन्यते तत्त्वमपि चातत्त्वं चारित्रमोहनीयं वा, यतस्तदुदये जानन्नपि विषयादीनां स्वरूपमजानन्निव वर्त्तते । अथवा चारित्रमोहनीयस्यैव विशेषो वेदाख्यो मोहनीयं यतस्तदुदयविशेषे अत्युन्मत्त एव भवति यदाह " चिंतेइ १ दट्ठु मिच्छइ, २ दीहं नीससइ ३ तह जरे ४ दाहे ५ । भत्तअरोयग ६ मुच्छा ७ उम्माय ८ न याणई ९ मरणंति " १० ॥ १ ॥ एतयोश्चोन्मादत्वे समानेऽपि विशेषं दर्शयन्नाह (तत्थणमित्यादि) तत्र तयोर्मध्ये " योऽसौ यक्षाविष्टो भवति " (सुहवेयणतराए चेवत्ति) अतिशयतः सुखेन मोहजन्योन्मादापेक्षया अक्लेशेन वेदनमनुभवनं यस्यासौ सुखवेदनतरः स एव सुखवेदनतरकः मोहजनितग्रहापेक्षया अकृच्छ्रानुभवनीयतर एव नैकान्तिकात्यन्तिकभ्रमरूपत्वादस्येति । चैव शब्दः स्वरूपावधारणे (सुहविमोयणतराए चेवत्ति) अतिशयेन सुखेन विमोचनं वियोजनं यस्मादसौ सुखविमोचनतरः । कप्रत्ययस्तथैव । अथवा अत्यन्तं सुखापेयः सुखापेयतरः तथा अत्यन्तं सुखेनैव विमुच्यते यो देहिनं स सुखविमोचनतरक इति मोहस्तु तद्विपरीतः एकान्तिकात्यन्तिकभ्रमस्वभावतयात्यन्तानुचितप्रवृत्तिहेतुत्वेनानन्तभावकारणत्वात् तथान्तरकारणजनितत्वेन मन्त्राद्यसाध्यत्वात् कर्मक्षयोपशमादिनैव साध्यत्वादित्यत एवोक्तम् (दुहवेयतराए चेव दुहविमोयतराए चेवत्ति) अतिशयेन दुःखं वेद्य एव दुःखं विमोच्य एव चासाविति ॥ (तत्थण मित्यादि) मोहजन्योन्माद इतरापेक्षया दुःखवेदनतरो भवति अनन्तसंसारकारणत्वात् । संसारस्य च दुःखवेदनस्वभावत्वादितरस्तु सुखवेदनतर एव एकभविकत्वादिति । तथा मोहजोन्माद इतरापेक्षया दुःखविमोचनतरो भवति विद्यामन्त्रतन्त्रदेवानुग्रहवतामपि वार्त्तिकानां तस्यासाध्यत्वादितरस्तु सुखविमोचनतर एव भवति । मन्त्रमात्रेणापि तस्य निगृहीतुं शक्यत्वादिति । आह च " सर्वज्ञमन्त्रवाद्यपि, यस्य न सर्वस्य निग्रहे शक्तः । मिथ्यामोहोन्मादः, स केन किल कथ्यतां तुल्यः " इदञ्च द्वयमपि चतुर्विंशतिदण्डके योजयन्नाह ॥

नेरइया णं भंते ! कइविहे उम्मादे पण्णत्ते ? गोयमा ! दुविहे उम्मादे पण्णत्ते तंजहा जक्खावेसे य मोहणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ णेरइयाणं दुविहे उम्मादे पण्णत्ते ? जक्खावेसे य मोहणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं गोयमा ! देवे वासे असुभे पोग्गले पक्खिवेज्जा । सेणं तेसिं असुभाणं पोग्गलाणं पक्खिवणयाए जक्खावेसे णं उम्मादे पाउणेज्जा मोहणिज्जस्स वा कम्मस्स उदएणं मोहणिज्जं उम्मायं पाउणेज्जा से तेणट्ठेणं जाव उदएणं । असुरकुमाराणं भंते ! कइविहे उम्मादे पण्णत्ते ? एवं जहेव णेरइयाणं णवरं देवे वासे महिड्ढियतराए चेव असुभे पोग्गले पक्खिवेज्जा सेणं तेसिं असुभाणं पोग्गलाणं पक्खिवणयाए जक्खाएसं उम्मादं पाउणेज्जा । मोहणिज्जस्स वा सेसं तं चेव से तेणट्ठेणं जाव उदएणं एवं जाव थणियकुमाराणं पुढविकाइयाणं जाव मणुस्साणं एएसिं जहा णेरइयाणं वाणमंतरजोइसियवेमाणियाणं जहा असुरकुमाराणं ।

(णेरइयाणमित्यादि) पुढविकाइयाणमित्यादौ यदुक्तं जहाणेरइयाणंति तेन देवे वासे असुभे पोग्गले पक्खिवेज्जा इत्येतद्यक्षावेशे पृथिव्यादिसूत्रेष्वध्यापितं वाणमन्तरेत्यादौ तु यदुक्तं " जहाअसुराणंति " तेन यक्षावेश एव व्यन्तरादिसूत्रेषु देवे वासे महिड्ढियतराए इत्येतदध्यापितं मोहोन्मादालापकस्तु सर्वसूत्रेषु समान इति ॥ भ० १४ श० २ उ० । षड्भिः प्रकारैरात्मन उन्मादस्तद्यथा ॥

छहिं ठाणेहिं आया उम्मायं पाउणेज्जा तंजहा अरहंताणमवण्णं वदमाणे अरहंतपण्णत्तस्स धम्मस्स अवण्णं वदमाणे आयरियउवज्झायाणमवण्णं वदमाणे चाउवण्णस्स संघस्स य अवण्णं वदमाणे जक्खावेसेण चेव मोहणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं ।

अनन्तरं श्रमणस्याहारग्रहणकारणान्यभिहितानीति श्रमणादेर्जीवस्यानुचितकारिण उन्मादस्थानान्याह (छहीत्यादि) इदं च सूत्रं पञ्चस्थानक एव व्याख्यातप्रायं नवरं षड्भिः स्थानैरात्मा जीव उन्मादमुन्मत्ततां प्राप्नुयादुन्मादश्च महामिथ्यात्वलक्षणस्तीर्थकरादीनामवर्णवादतो भवत्येवं तीर्थकराद्यवर्णवदनकुपितप्रवचनदेवतातो वाऽसौ ग्रहणरूपो भवेदिति पाठान्तरेण । (उम्मायपमायंति) उन्मादः स इहत्वं स एव प्रमादः प्रमत्तत्वमाभोगशून्यतोन्मादप्रमादः । अथवोन्मादश्च प्रमादश्चाहितप्रवृत्तिहिताप्रवृत्ती उन्मादप्रमादं प्राप्नुयादिति । (अवण्णंति) अवर्णमश्लाघामवज्ञां वा वदन् भजन् वा कुर्वन्नित्यर्थः (धम्मस्सत्ति) श्रुतस्य चारित्रस्य वा आचार्योपाध्यायानाञ्च चतुर्वर्णस्य श्रमणादिभेदेन चतुःप्रकारस्य यक्षावेशेन चैवं निमित्तान्तरकुपितदेवाधिष्ठितत्वे मोहनीयस्य मिथ्यात्ववेदशोकोदयेनेति । स्था० ६ ठा० ॥

उम्माद (य) पत्त-उन्मादप्राप्त-त्रि० उन्मादमुन्मत्ततां प्राप्तः । उन्मादप्राप्तः । स्था० ५ ठा० । मोहनीयकर्मोदयेन चित्तशून्यता-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुपागते, बृ० ३ उ० । वातादिदोषादुन्मत्ततामुपागते, स्था० ५ ठा० । उन्मादप्राप्ताया निर्ग्रन्थ्याः प्रतिचर्य्या यथा–

(सूत्रम्) उम्मायपत्तिं निग्गंथिं निग्गंथे गिरहमाणे २ नातिक्कमइ

अस्य व्याख्या प्राग्वत् अथोन्मादप्ररूपणार्थं भाष्यकारः प्राह ॥

उम्मत्तो खलु दुविधो, जक्खावेसो य मोहणिज्जो य ।
जक्खाएसो वुत्तो, मोहेण इमं तु वोच्छामि ॥

उन्मादः खलु निश्चितं द्विविधो द्विप्रकारस्तद्यथा यक्षावेशहेतुको यक्षावेशः कार्ये कारणोपचारात् । एवं मोहनीयकर्मोदयहेतुको मोहनीयवशात् द्वौ चकारौ परस्परसमुच्चयार्थौ स्वगतानेकभेदसंसूचकौ वा । तत्र यो यक्षावेशो यक्षावेशहेतुकः सोऽनन्तरसूत्रोक्तो यस्तु मोहेन मोहनीयोदयेन मोहनीयं नाम येनात्मा मुह्यति तच्च ज्ञानावरणीयं मोहनीयं वा द्रष्टव्यं द्वाभ्यामप्यात्मनो विपर्यासापादनात् । तेनोत्तरत्र अहमपि तमुत्थाय ईर्यामुच्यमानं न विरुध्यते (इमंतु त्ति) अयमनन्तरमेव वक्ष्यमाणतया प्रत्यक्षीभूत इव तमेवेदानीं वक्ष्यामि । प्रतिज्ञातं निर्वाहयति ॥

रूवंगं दट्ठूण, उम्मातो अहव पित्तमुच्छाए ।
तद्दायणाणि वा ते, पित्तम्मि य सक्करादीणि ॥

रूपं विटादेराकृतिरङ्गं च गुह्याङ्गं रूपाङ्गं तद् दृष्ट्वा कस्या अप्युन्मादो भवेत् । अथवा पित्तमूर्च्छया पित्तोद्रेकेणोपलक्षणत्वाद्वातोद्रेकवशतो वा स्यादुन्मादः । तत्र रूपाङ्गं दृष्ट्वा यस्या उन्मादः संजातस्तस्यास्तस्य रूपाङ्गस्य विरूपावस्थां प्राप्तस्य दर्शना कर्त्तव्या । या तु वातेनोन्मादं प्राप्ता सा निवाते स्थापनीया उपलक्षणमिदं तेन तैलादिना शरीरस्याभ्यङ्गो घृतपायनं च तस्याः क्रियते । पित्तवशान्मत्तीभूतायाः शर्कराक्षीरादीनि दातव्यानि कथं पुनरसौ रूपाङ्गदर्शनेनोन्मादं गच्छेदित्याह ॥

दट्ठूण नडं काई, उत्तरविउव्वितं मयणखित्ता ।
तेण वि य रूवेण उ–द्दुम्मिकायम्मि निव्विसा ॥

काचिदल्पसत्त्वा नटं दृष्ट्वा किंविशिष्टमित्याह । उत्तरवैकुर्विकमुत्तरकालभाविवस्त्राभरणादिविचित्रकृत्रिमविभूषाशोभितं ततः काचिन्मदनाक्षिप्ता उन्मादप्राप्ता भवेत् तत्रेयं यतना । उत्तरवैकुर्विकापसारणेन तेनैव स्वाभाविकेन रूपेण तस्मिन्नूरूकृते सति काचिदल्पकर्मा निर्विण्णा जायते तद्विषयं विरागं गच्छतीत्यर्थः ॥

पण्णवितो उ दुरूपो, उम्मं दिज्जति अ तीए पुरतो उ ।
रूववतो पुण भत्तं, तं दिज्जति जेण छड्डेति ॥

अन्यच्च यदि नटः स्वरूपो दुरूपतो भवति । ततः स पूर्वं प्रज्ञाप्यते प्रज्ञापितश्च सन् तस्या उन्मादप्राप्तायाः पुरत उन्मएडय यत्तस्य मण्डनं तत्सर्वमपनीयते । ततो विरूपरूपदर्शनतो विरागो भवति । अथासौ नटः स्वभावत एव रूपवान् अतिशायिनोत्कृष्टरूपेण युक्तः ततस्तस्य भक्तं मदनफलमिश्रादिकं तद्दीयते येन भुक्तेन तस्याः पुरतः छर्दयति उद्वमति उद्वमनं च कुर्वन् किलासौ जुगुप्सनीयो भवति ततः सा तं दृष्ट्वा विरज्यते इति ।

गुज्झंगम्मि उ वियडं, पज्जावेऊण खरगमादीणं ।
तद्दरिसणे विरागो, तीसे तु हवेज्ज दट्ठूणं ॥

यदि पुनः कस्या अपि गुह्याङ्गे उन्मादो भवति रूपलावण्याद्यपेक्षस्ततः खरकादीनां व्यक्तरकप्रभृतीनां विकटं मद्यं पाययित्वा प्रसुप्तीकृतानां पथि मद्योद्गालखरण्टितसर्वशरीराणामत एव मक्षिकाभिर्भिणिभिणायमानानां (तद्दायणेत्ति) तस्य गुह्याङ्गस्य मद्योद्गालनादिना बीभत्सीभूतस्य दर्शना क्रियते । तच्च दृष्ट्वा तस्या आर्यिकाया विरागो भवेत् । ततः प्रगुणी भवति । बृ० ६ उ० ।

उन्मादप्राप्तस्य भिक्षोः प्रतिचर्य्या यथा ॥

उम्मायपत्तं भिक्खुं गिलायमाणं नो कप्पए तस्स गणावच्छेयस्स निज्जूहित्तए गिलाए करणिज्जं वेयावडियं जाव तओ रोगातंकातो विप्पमुक्को ततो पच्छा अहुस्सगे नामं ववहारे पट्ठवियव्वे सिया इति ।

अस्य व्याख्या पूर्ववत् । उन्मादप्ररूपणा तु निर्ग्रन्थ्या इव नवरं पुरुषाभिलापः कार्यः ॥ क्षुल्लकस्य वातेन पित्तेन वोन्मादयतनामाह ।

वाते अब्भंगसिणेह, पज्जणादी तहा निवाए य ।
सक्करखीरादिहि य, पित्तचिगिच्छा उ कायव्वा ॥

वाते वातनिमित्ते उन्मादे तैलादिना शरीरस्याभ्यङ्गः क्रियते स्नेहपायनं घृतपायनमादिशब्दात्तथाविधान्यचिकित्सापरिग्रहः तत्कार्यते तथा निवाते स्थाप्यते । पित्तवशादुन्मत्तीभूतस्य शर्कराक्षीरादिभिस्तस्य चिकित्सा कर्त्तव्या ॥ व्य० २ उ० ।

उम्माद (य) पमाय–उन्मादप्रमाद–पुं० क० स० । उन्मादः सग्रहत्वं स एव प्रमादः प्रमत्तत्वमाभोगशून्यतोन्मादप्रमादः । ग्रहावेशादुपयोगशून्यतायाम्, उन्मादश्च प्रमादश्च समाहारद्वन्द्वः । अहितप्रवृत्तिहिताप्रवृत्त्योः, न० । स्था० ६ ठा० ।

उम्मि–ऊर्मि–पुं० स्त्री० ऋ–मि–अर्तेरुच्च । महाकल्लोले, आ० १ अ० । भ० । स्था० । सम्बाधे, कल्लोलाकारेजनसमुदाये, भ० २ श० १ उ० । ज्ञा० । प्रकाशे, वेगे, वस्त्रसंकोचरेखायाम्, पीडायाम्, उत्कण्ठायाम्, बुभुक्षादिषु षट्सु देहमनः प्राणानां यथायथं धर्मेषु अश्वगतौ, स्त्री० । वाच० ॥

उम्मिमालिणी–ऊर्मिमालिनी–स्त्री० जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य पश्चिमतः शीतोदाया महानद्या उत्तरेण वहन्त्यामन्तर्नद्याम्, स्था० ३ ठा० । " सुवप्पे विजए जयंती रायहाणी उम्मिमालिणी णई " " सुवप्रो विजयो वैजयन्ती राजधानी उर्मिमालिनी नदी " जं० ४ वक्ष० । प्रश्न० । " दो उम्मिमालिणीओ " स्था० २ ।

उम्मिल्लणं–उन्मीलन–न० प्रादेर्मीलेः ८ । ४ । ३१ । इति उदः परस्य मीलेरन्त्यस्य द्वित्वम् वा । प्रा० । विकाशे, चक्षुरादेः पुटविभेदे, भावे घञ् । उन्मीलोऽप्यत्र । वाच० ॥

उम्मिल्लिय–उन्मीलित–न०–उद्–मील–भावे–क्तः । उन्मीलने, अनु० विकसिते, अमुद्रिते च । णिच्–कर्मणि क्तः । प्रकाशिते, भेदितमुद्रणे नेत्रादौ " ततो उम्मिल्लियाणि तस्स नयणाणि " आ० म० द्वि० । " पंजरुम्मिल्लियमणिकणगथूभियागे " पञ्जराद् उन्मीलितमिव बहिष्कृतमिव पञ्जरोन्मीलितमिव । यथाहि किल किमपि वस्तु पञ्जरात् वंशादिमयप्रच्छादनविशेषात् बहिष्कृतमत्यन्तमविनष्टच्छायत्वात् शोभते । तथा तदपि विमानमिति भावः । जी० ४ प्रति० । स० ॥

उम्मि (म्मी) वीइ–ऊर्मिवीचि–स्त्री० ऊर्मयश्च वीचयश्च महाकल्लोलेषु, ह्रस्वकल्लोलेषु च ६ त० । ऊर्मीणां विविक्तत्वे, भ० १६ श० ६ उ० । स्था० । " उम्मीवीई सहस्सकलियं ति " ॥ ऊर्मयः कल्लोलास्तल्लक्षणा या वीचयस्ता ऊर्मिवीचयो वीचिशब्दो हि लोकेऽन्तरार्थोऽपि रूढोऽथवोर्मिवीच्योर्विशेषो गुरुत्वलघुत्वलक्षणः क्वचिद्वीचिशब्दो न पठ्यते एवेति ऊर्मिवीचीनां सहस्रैः कलितो युक्तो यः स तथा । स्था० १० ठा० ।

उम्मिसिय–उन्मिषित–त्रि० उद्–मिष्–क्त–प्रफुल्ले, किञ्चित्प्रका-

शिते, वाच० । उन्मीलिते, भ० १४ श० १ उ० । भावे क्तः । उन्मेषे, " उम्मिसियणिमिसियंतरेण " उन्मिषितनिमिषितान्तरेण यावता अन्तरेण व्यवधानेन उन्मेषनिमेषौ क्रियेते तावदन्तरप्रमाणेन । जी० ३ प्रति० ।

उम्मिस्स–उन्मिश्र–न० सचित्तसम्मिश्रे, तद्भेदोपचारात्सम्मे पत्रणादोषे, प्रव० ६७ द्वा० । " बीयाइ उम्मीसं " बीजाद्युन्मिश्रं बीजकहरितादिभिर्यदुन्मिश्रमुच्यते । पंचा० १३ विव० । यदा अनाभोगेन अविचार्यैव शुद्धाशुद्धाहारं सम्मील्यददाति तदा सप्तम उन्मिश्रितदोषः । उत्त० २४ अ० । देयद्रव्यं खण्डकादि सचित्तेन धान्यकणादिना मिश्रं ददत उन्मिश्रम् । ध० ३ अधि० ।

असणं पाणगं वावि, खाइमं साइमं तहा ।
पुप्फेसु होज्ज सम्मीसं, बीएसु हरीएसु वा ॥ ५७ ॥
तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं ।
दिंतियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ५८ ॥

पानकं वापि खाद्यं स्वाद्यं तथा पुष्पैर्जातिपाटलादिभिर्भवेदुन्मिश्रं बीजैर्हरितैर्वेति तादृशं भक्तपानं तु संयतानामकल्पिकं यतश्चैवमतो ददतीं प्रत्याचक्षीत न मम कल्पते तादृशमिति ॥ दश० ५ अ० । (अस्य भेदादि–उन्मिश्रग्रहणनिषेधश्च पयणा शब्दे वक्ष्यते) अत्र प्रायश्चित्तम् "उम्मीसे अणंते चउगुरुपच्छित्तं चउलहु मीसुम्मीसे अणंते मासगुरु परित्ते मासलहु सित्ते चउसु ठाणेसु जे तिसि तेसु सट्ठाणपच्छित्तं " पं० चू० । "प्राबल्येन मिश्रे वस्तुमात्रे, त्रि० । आव० । "कम्मुम्मीसगा सरीरा,, कार्मणेन शरीरेणोन्मिश्राणि । स्था० ४ ठा० ।

उम्मीलणा–उन्मीलना–स्त्री० प्रभवे, विशे० ।

उम्मीलिय–उन्मीलित–त्रि० उद्–मील–क्त–प्रादेर्मीलेः ८ । ४ । २३२ । इति उदः परस्य मीलेरन्त्यस्य द्वित्वाभावे रूपम् । प्रा० । उन्मेषे, विपा० १ श्रु० ७ अ० । "पंजरुम्मिलियव्वमणिकणगथूभियागा" पञ्जरादुन्मीलित इव बहिष्कृता इव पञ्जरोन्मीलिताः । रा० । उन्मीलितमुन्मिषितं स्मितमुल्लसितमित्यादिपर्य्यायाः । विशे० ।

उम्मुक्क–उन्मुक्त–त्रि–उद्–मुच्–क्त–उर्ध्वक्षिप्ते, औ० । परित्यक्ते, विशे० ॥ "उमुक्कमणुम्मुक्के, उम्मुच्चते य केसलंकारे" आ० म० द्वि० । प्राबल्येन मुक्ते, "ते वीरा बंधणुम्मुक्का नावकंखंति जीवियं" सूत्र० १ श्रु० ९ अ० ।

उम्मुक्ककम्मकवय–उन्मुक्तकर्मकवच–पुं० सकलकर्मवियुक्तत्वात्सिद्धे, औ० ।

उम्मुक्कबालभाव–उन्मुक्तबालभाव–पुं–स्त्री–त्यक्तबाल्ये जाताष्टवर्षे, "सेवियणं दारए उम्मुक्कबालभावे विण्णयपरिणायमेत्ते" कर्म० ।

उम्मुयणा–उन्मोचना–स्त्री० परिज्ञातनायाम, आव० ५ अ० ।

उम्मूलणा–उन्मूलना–स्त्री० उत्पाटने, "उम्मूलणा सरीराओ" वृक्षस्योन्मूलनेवोन्मूलना निष्काशनं जीवस्य शरीरादेहादिति" द्वितिया गौणी हिंसा । प्रश्न० १ द्वा० ।

उम्मेस–उन्मेष–पुं० उद्–मिष्–घञ्–अक्षिव्यापारविशेषे, "आगमणगमणंभासुम्मेसमणजोगकायजोगा जेयावन्ने तहप्पगारा चलसभावा सव्वे ते" भ० १३ श० ४ उ० ।

उम्ह (ण)–उ (ऊ)ष्मन्–त्रि० उष्–आधारे–मनिन्–वाऽन्दस्वः । पक्ष्मश्मष्मस्महांम्हः ८।२।७४। इति ष्मभागस्य मकाराक्रान्तो हः । प्रा० । ग्रीष्मर्तौ, कर्त्तरि–मनिन् । आतपे, शषसहवर्णेषु, वाच० ॥ "अणुमोदणउम्हमादिणे दोसा" उष्मा नाम तेनाऽन्येन द्रव्येण तस्य रागिणो हस्तादौ परिताप आदिशब्दाद्यदि द्रव्यमसौ तत्र प्रक्षिपति । बृ० २ उ० ।

उम्हातिस–युष्मादृश–त्रि० युष्मद्–दृश्–कञ्–आत्वं पैशाच्याम् । याद्दशादेर्द्दुस्तिः ८ । ४ । ३१६ । इति (दृ) इति दृश इत्यस्य स्थाने तिरादेशः । भवादृशे, प्रा० ॥

उम्हासेस–ऊष्मावशेष–पुं० मनागपि ऊष्मे, "उम्हासेसो वि सिही होउं छारं" आव० ५ अ० ।

उय–उत–अव्य० अपि शब्दार्थे, विशे० "उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति" आ० म० द्वि० सुतरामिति शब्दस्यार्थे, "किमुयकुरुवामिस्स" आव० ४ अ० । विकल्पे, समुच्चये, वितर्के, प्रश्ने, अत्यर्थे च । वाच० ॥

उयत्तेमाण–प्रवर्त्तयत्–त्रि० तिरश्चीने कुर्वति, "उव्वारेमाणे वा उयत्तेमाणे वा जीवेहिं " आचा० २ श्रु० ॥

उयत्तिय–अपवृत्य–अव्य० अपवर्त्तनं कृत्वेत्यर्थे, " उयत्तियाणं गिण्हाहि, तहप्पगारं पाणगजातं " आचा० २ श्रु० ॥

उयाय–उपयात–त्रि० उपगते, "महासिलाकंटगं संगामं उयाए पुरओ य से सक्के" भ० ७ श० ९ उ० ॥

उय्हे–यूयम्–युष्मद्–जस्–यूयवयौ–जसि । इति यूयादेशः । के प्रथमयोरम् इति जसोऽमादेशः । पा० व्या० । भे तुब्भे उज्झे तुम्हे तुय्हे उय्हे जसा । ८ । ३ । ९१ । इति जसा सहितस्य युष्मच्छब्दस्य उय्हे आदेशः । प्रा० । "उय्हेचिट्ठह" प्रश्न० युष्मान्–युष्मद् शस् । वो तुब्भे उज्झे तुय्हे उय्हे भे शसा " ८ ३ । ९३ । इति शसा सहितस्य युष्मच्छब्दस्य उय्हे आदेश– 'उय्हे पेच्छामि' प्रा० ॥

उर–पुं०उरस–न० ऋ–असुन् धातोरुत्व–रपरः । स्नमदामशिरोनभः ८ । १ । ३२ । इति उरः पुंल्लिङ्गत्वम् । प्रा० । वक्षसि,, स्था० १० ठा० । हृदये, प्रश्न० २ द्वा० । अष्टानामङ्गानां द्वितीयेऽङ्गे, । "सीसमुरोयरपिट्ठि " आ० चू० २ अ० । उत्त० । नि० चू० । प्रज्ञा० । " उरे विच्छिन्ने " अर्द्धमागध्या भाषया उरसि, विस्तृततया उरसो विस्तीर्णत्वात् । औ० । "उरसि दलावेइ" उरसि दापयति । विपा० । "उरणरिसभं सरं" । स्था० ७ ठा० । शोभने, स्था ४ ठा० ।

उरंउर–उरउरस्–न० साक्षच्छब्दार्थे" खाउरंगिणं पि उरंउरे गिण्हित्तए " वि० ३ अ० ।

उरकडग–उरःकटक–न० उरो हृदयं तदेव कटकमुरःकटकम् । उरोरूपे कटके, अनु० ॥

उरग–उरग–पुं०स्त्री० उरसा गच्छति उरस्–गम–ड । सलोपश्च सर्पे, अष्ट० । "उरगगिरिजलणसागर–नहतलतरुगणसमो अ जो होइ । भमरमियधरणिजलरुह–रविपवणसमो अ सो समणो" अनु०

उरगवर–उरगवर–पुं० नागवरे, ज्ञा० १६ अ० ।

उरगवीहि–उरगवीथी–स्त्री० उरगसंज्ञका वीथी उरगवीथी । शुक्रादेरुरगसंज्ञकेऽङ्कभागे, स्था० १० ठा० (वीहीशब्दे स्पष्टम्)

उरच्छंद–उरश्छन्द–पुं० कवचे, हैम० ।

उरत्थ–उरःस्थ–त्रि० । हृदयस्थिते, " उरत्थदीणारमालवीरइयं" कल्प० ॥

उरतव–उरस्तपस्–न० क० स० इह लोकाद्याशंसारहितत्वेन सो भने आजीवकतपोभेदे, स्था० ४ ठा० ।

उरपरिसप्पथलयरपंचेंदियतिरिक्खजोणिय–उरःपरिसर्पस्थल–

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिक-पुं० उरसा वक्षसा परिसर्पन्ति संचरन्तीति उरःपरिसर्पास्ते च ते स्थलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाश्च उरःपरिसर्पस्थलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाः । उरःपरिसर्पस्थ लचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकभेदे, तद्भेदा यथा ।

से किं तं उरपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाऽ चउव्विहा पसत्ता तंजहा अही अयगरा आसालिया महोरगा । अथ के ते उरःपरिसर्पस्थलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाः । सूरिराह उरःपरिसर्पस्थलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाश्चतुर्विधाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा । अहयोऽजगरा आसालिगा महोरगाः । प्रज्ञा० १पद । अनु० । स्था० । जी० । एतेषामेव भेदानामवगमाय प्रश्ननिर्वचनसूत्राणि तानि च अह्यादिशब्देषु वक्ष्यन्ति "तिविहा उरपरिसप्पा पसत्ता तंजहा इत्थी पुरिसा णपुंसगा " उरःपरिसर्पमात्रेणापि बोधः । सं० ।

उरपरिसप्पिणी-उरःपरिसर्पिणी-स्त्री० उरः परिसर्पस्त्रियाम्, तद्भेदा यथा "से किं तं उरगपरिसप्पिणी ओ २ तिविधाओ तंजहा अहीओ अयगरीओ महोरगीओ सेत्तं उरपरिसप्पिणी" जी० २ प्रति० ।

उरब्भ-उरभ्र-पुं० स्त्री० । उरु उत्कटं भ्रमति भ्रम० ड० पृषो० कलोपः । मेषे, प्रश्न० १ आ० । सूत्र० । करणे, रा० । उपा० ।

अस्य निक्षेपः ।

णिक्खेवे उ उरब्भे, चउव्विहो दुविहहोइ दव्वम्मि ।
आगमणोआगमतो, णो आगमतो य सो तिविहो ॥

निक्षेपो न्यासस्तुः पूरणे उरभ्रे उरभ्रविषये चतुर्विधश्चतुःप्रकारो नामस्थापनाद्रव्यभावभेदात् । तत्र नामस्थापने क्षुण्णे एवेति । द्रव्योरभ्रमाह-द्विविधो भवति द्रव्य इति द्रव्यविषये आगमतो नो आगमतश्च तत्रागमत उरभ्रशब्दार्थज्ञस्तत्र चानुपयुक्तो नो आगमतः पुनश्चास्य पुनरर्थत्वात् स इति द्रव्योरभ्रस्त्रिविधस्त्रिभेदः ।

तत्त्रैविध्यमाह-

जाणगसरीरभविए, तव्वइरित्ते य सो पुणो तिविहो ।
एगभवियबद्धाउ य, अभिमुहतो णामगोत्ते य ॥

शरीरमुरभ्रशब्दार्थज्ञस्य सिद्धशिलातलगतं शरीरमुच्यते भव्यशरीरोरभ्रस्तु यस्तावदुरभ्रशब्दार्थं न जानाति कालान्तरे च ज्ञास्यति तस्य यच्छरीरं तद्व्यतिरिक्तश्च ताभ्यां ज्ञशरीरभव्यशरीरोरभ्राभ्यां व्यतिरिक्तो भिन्नस्तद्व्यतिरिक्तः । चः समुच्चये स तद्व्यतिरिक्तः पुनस्त्रिविधस्त्रिभेदस्त्रैविध्यमेवाह । एकस्मिन् भवे तस्मिन्नेवातिक्रान्ते भावी एकभविको योऽनन्तर एव भवे उरभ्रतयोत्पत्स्यते तथा स एवोरभ्रायुर्बन्धानन्तरं बद्धमायुरनेनेति बद्धायुष्क उच्यते । तृतीयमाह— (अभिमुहओ नामगोत्तयत्ति) आर्षत्वादभिमुखनामगोत्रश्च तत्राभिमुखे संमुखेऽन्तरमुहूर्तानन्तरभावितया नामगोत्रे उरभ्रसंबन्धिनी यस्य स तथोक्तान्तरमुहूर्तानन्तर मेवोरभ्रत्वभावीति गाथार्थः । भावोरभ्रमध्ययननामनिबन्धः

उरब्भाउण गोयं, वेदेंतो भावतो उरब्भो उ ।
तत्तो समुट्ठियमेयं, उरब्भिज्जंति अज्झयणं ॥
उरब्भे य कागणीअं, पएयववहारसागरे चेव ।
पंचेते दिट्ठं-ता उरब्भिज्जम्मि अज्झयणे ॥

उरभ्रः ऊरणकस्तस्यायुश्च नाम च गोत्रं च उरभ्रायुर्नामगोत्र यदुदयादुरभ्रो भवति वेदयन्ननुभवन् भावतो भावमाश्रित्योरभ्रस्तुशब्दः पर्यायास्तिकमतमेतदिति विशेषणार्थस्ततो भावोरभ्रदृष्टान्ततयेहाभिधेयात्समुत्थितमुत्पन्नमिदमिति प्रस्तुतं यस्मादिति गम्यते (उरभिज्जंति) उरभ्रीयं गहादित्वाच्छैषिकछप्रत्यये इति तस्मादध्ययनं प्रागुक्तमुच्यते इति शेष इति गाथार्थः ॥ उरभ्रस्यैव चेह प्रथममुच्यमानत्वात् बहुवक्तव्यत्वाच्चेत्थमुक्तमन्यथा हि काकण्यादयोऽपि दृष्टान्ता इहाऽभिधीयन्त एव तथा चाह निर्युक्तिकृत् (उरब्भे गाहा) उरभ्र उक्तरूपः काकणिर्विंशतिः कपर्दिका (उरब्भेयत्ति) चशब्दस्य भिन्नक्रमत्वात्काकणिश्च (अंबएयत्ति) आम्रकमाम्रफलं व्यवहारश्च क्रयविक्रयरूपो वणिग्धर्मस्तस्य गम्यमानत्वात् सागरश्च समुद्रः । चः सर्वत्र समुच्चये एवावधारणे भिन्नक्रमश्चैवं योज्यते पञ्चैवैते न तु न्यूनाधिका दृष्टान्ता उदाहरणानि उरभ्रीये उरभ्रनाम्न्यध्ययने इति गाथार्थः ॥

संप्रति यदर्थसाधर्म्यादुरभ्रस्य दृष्टान्तता तदुपदर्शनायाह ॥

आरंभो रसगेहं, दुग्गमरणं च पच्चवातो य ।
उवमा कया उरब्भे, उरब्भिज्जस्स णिज्जुत्ती ॥
आउरविणाई एयाई, जाइं वरइणंदितो ।
सुज्जताणेहिं झादाइ, एयदीहाउ लक्खणं ॥

आरम्भणमारम्भः पृथिव्याद्युपमर्दो रसेषु मधुरादिषु गृद्धिरभिकाङ्क्षा रसेगृद्धिर्दुर्गतिगमनं च नरकतिर्यगादिषु पर्यटनं प्रत्यपायश्चेहैव शिरश्छेदादि वक्ष्यति हि 'शिरश्छेत्तूणभुञ्जत' इति शिरश्छेदाद्यार्तरौद्रोपगतस्य दुर्गतिपाते दुःखानुभवनादिरुपमा सा दृश्यते। दर्शनरूपा प्रक्रमादेभिरेवारम्भादिभिरर्थैः कृता विहिता उरभ्रे उरभ्रविषया। इदमुक्तं भवति। सांप्रतेक्षिणो हि विषयामिषगृध्नवः तांस्तानारम्भानारभन्ते आरभ्य चोपचितकर्मभिः कालसौकरिकादिवदिहैव दुःखमुपलभ्य नरकादिकां कुगतिमाप्नुवन्तीत्युरभ्रोदाहरणत इहोपदर्श्यते। काकण्यादि साधर्म्यदृष्टान्तोपलक्षणं चैतदुरभ्रीयस्य निर्युक्तिरिति निगमनमेतदिति गाथार्थः॥ २०॥ उरभ्रदृष्टान्तश्चैवम्॥ इत्यवसितो नामनिष्पन्ननिक्षेपः ।

संप्रति सूत्रालापकनिक्षेपस्यावसरः स च सूत्रे सति भवतीत्यतः सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारणीयम् ॥

जहा एसं समुद्दिस्सं, कोइ पोसेज्ज एलयं ।
ओयणं जवसंदिज्जा, पोसेज्जावि सयं गणे ॥

यथेत्युदाहरणोपन्यासे आदिश्यते आज्ञाप्यते विविधव्यापारेषु परिजनोऽस्मिन्नायात इत्यादेशोऽभ्यर्हितः प्राघुणकस्तं समुद्दिश्याश्रित्य यथासौ समेष्यति समागतश्चैनं भोक्ष्यत इति कश्चित्परलोकापायनिरपेक्षः पोषयेत्पुष्टं कुर्यादेलकमूरणकं कथमित्याह ओदनं भक्तं तज्जोग्यशेषाश्चोपलक्षणमेतत् यवसमुद्गमाषादि दद्यात्तदग्रतो ढौकयेत्तत एव पोषयेत् पुनर्वचनमादरख्यापनाय अपिः संभावने संभाव्यत एव एवं विधः कोऽपि गुरुकर्मेति स्वकाङ्गणे स्वकीयगृहप्राङ्गणे अन्यत्र निर्युक्तिकः कदाचिन्नोदनादि दास्यतीति स्वकाङ्गण इत्युक्तः । यदि वा (पोसिज्जाविसयंगणेत्ति) विशन्त्यस्मिन्निति विषयो गृहं तस्याङ्गणं विषयाङ्गणं तस्मिन्नथवा विषयं रसलक्षणं वचनव्यत्ययाद्विषयान्वा गणयन् संप्रधारयन् धर्मनिरपेक्ष इति भावः । इहोदाहरणं संप्रदायादवसेयम् " जहेगो ऊरणगो पाहुणयनिमित्तं पोसिज्जति सो पीणियसरीरो सुण्हातो हालिद्दादिकयंगरागो कयकण्णचूलओ कुमारगायणं णाणाविहेहिं कीडाविसेसेहिं कीडावेति तं च वच्छगो एवं लालिज्जमाणं दट्ठूण माऊए णेहेण गोचियं दोहएण य तयणुकंपाए मुक्कमवि खीरं न पियति । रोसेण ताए पुच्छिओ भणइ

अम्मो एस णं वियगो सव्वेहिं एएहिं अम्ह सामिसालेहिं इट्ठेहिं जवजोगासणेहिं तणुयओगेहिं अलंकारविसेसेहिं अलंकारितो पुत्त इव परिपालिज्जइ अहं तु मंदभग्गो सुक्काणि तणाणि कोह वि लभामि ताणि वि न पज्जत्तिगाणि एवं पाणियं पि ण य मे को वि भालेति । ताए भणति पुत्त आतुरचिण्णाइं " गाहा । जहा आतुरो मरिउं कामो जमगातिपच्छं वा अपच्छं वा तं दिज्जतिते स एवं नंदिओ मारिज्जिहित्ति जहा तदा पेच्छेहिसि इति सूत्रार्थः ॥ २९ ॥

ततः कीदृशो जातः किञ्च कुरुते इत्याह ॥

तओ स पुट्ठे परिवूढे, जायमेए महोदरे ।
पीणिए विउले देहे, आएसं परिकंखए ॥

तत इत्योदनादिदानाद्धेतौ पञ्चमी स इत्युरभ्रः पुष्ट उपचितमांसतया पुष्टिभाक् परिदृढः प्रभूः समर्थ इति यावत् । जातमेद उपचितचतुर्थधातुरत एव महोदरो बृहज्जठरः प्राणितस्तर्पितो यथासमयमुपढौकिताहारत्वादेभिरेव हेतुभिर्विपुले विशाले देहे शरीरे सति यस्य च भावेन भावलक्षणमिति सप्तमी किमित्याह । आदेशं प्रतिकाङ्क्षेति पाठान्तरतः परिकाङ्क्षति वेच्छति नचास्य तत्वतः प्रतिपालनमिच्छा च संभवत्यतः प्रतिकाङ्क्षतीव प्रतिकाङ्क्षतीत्युपमार्थोऽवगन्तव्यः एवं परिकाङ्क्षतीत्यत्रापीति सूत्रार्थः ॥ ३२ ॥ स किमेव चिरस्थायी स्यादित्याह ॥

जाव न एइ आएसे, ताव जीवइ से दुही ।
अह पत्तम्मि आएसे, सीसं छित्तूण भुंजइ ॥

यावदिति कालावधारणं नैति नायाति कोऽसावादेशस्तावन्तोऽसरकालं जीवति प्राणान् धारयति (सेदुहित्ति) आकारप्रश्लेषात्स इत्युरभ्रो दुःखी सत्सथवा वध्यमण्डनमिवास्यौदनदानानीति तत्वतो दुःखितैवास्येति दुःखी (अहपत्तम्मि आएसे) अथानन्तरं प्राप्ते आगते आदेशे श्रिता अस्मिन् प्राणा इति शिरस्तच्छित्वा छिधा विधाय भुज्यते तेनैव स्वामिना पाहुणकसहितेनेति शेषः । संप्रति संप्रदायशेषमनुश्रियते ततोऽसौ "वच्छगो ततो नंदियं गं पाहुणगेसु आगएसु च हिज्जमाणं दट्ठुं तिसितो वि भएण माऊए थणं णाभिलसति । ताए भणति किं पुत्त भयभीतोसि णेहेण पएहुयं पि मे ण पिबसि तेण भणति अम्म कओ से थणाभिलासो णणु सो वराओ णंदिओ अज्ज केहिं वि पाहुणएहिं आगएहिं मम अग्गतो वि गयजीहो वि लोलनयणो विस्सरं रसंतो अत्ताणो असरणो मारिओ तब्भयाओ मे कओ पाणमिच्छा तओ ताए भणति पुत्त! णणु तदा चेव कहियं जहा आउरचिणाई एयाइं एस संविभागो अणुपत्तो एस दिट्ठंतो " इति सूत्रार्थः । इत्थं दृष्टान्तमभिधाय तमेवानुवदन् दार्ष्टान्तिकमाह ।

जहा खलु से उरब्भे, आएसाए समीहिए ।
एवं बाले अहम्मिट्ठे, इहई नरयाउयं ॥

यथा येन प्रकारेण खलु निश्चये स इति प्रागुक्तरूप उरभ्र आदेशाय आदेशार्थे समीहितः कल्पितः सन् यथा यस्मै भविष्यत्यादेशं परिकाङ्क्षतीत्यनुवर्तते एवमनुनैव न्यायेन बालोऽज्ञोऽधर्मो धर्मविपक्षः पापमिति यावत् इष्टोऽभिलषितोऽस्येत्यधर्मिष्ठः आहिताग्न्यादेराकृतिगणत्वादिष्टशब्दस्य परनिपातः । यद्वाऽधर्म्मगुणयोगादधर्म्मोतिशयेनाधर्म्माधर्म्मिष्ठ इह ईहते वाञ्छतीव तदनुकूलाचारतया किं नरकायुष्कं नरकजीवितमिति सूत्रार्थः ।

उक्तमेवार्थं प्रपञ्चयितुमाह ।

हिंसे बाले मुसावाई, अद्धाणम्मि विलोवए ।
अन्नदत्तहरे तेणे, माई कन्नु हरे सढे ॥
इत्थीविसयगिद्धे य, महारंभपरिग्गहे ।
भुंजमाणे सुरं मंसं, परिवूढे परंदमे ॥
अयकक्करभोई य, तुंदिल्ले चिय लोहिए ।
आउयं नरए कंखे, जहाएसं च एलए ॥

हिनस्तीत्येवं शीलो हिंस्रः स्वभावतः प्राणव्यपरोपणकृशलोऽज्ञः पाठान्तरतश्च कुप्यति हेतुमन्तरेणापि कुप्यतीत्येवं धर्म्मो क्रोधी मृषाऽलीकं वदति प्रतिपादयतीत्येवं शीलो मृषावादी अध्वनि मार्गे विलुम्पति मुष्णातीति विलोपकः । यः पथि गच्छतो जनान् सर्वस्वहरणतो लुण्ठति (अन्नदत्तहरेति) अन्येभ्यो दत्तं राजादीनां विस्तीर्णं हरत्यापान्तरान्न एवाच्छिन्नत्यन्यदत्तहरः । अन्यैर्वा अदत्तमनिसृष्टं हरत्यादत्ते अन्यादत्तहरो ग्रामनगरादिषु चौर्यकृत् अत एव बालोऽज्ञो विस्मरणशीलः स्मारणार्थमेतदिति न पौनरुक्त्यं सर्वावस्थासु वा बालत्वख्यापनार्थं पाठान्तरतश्च स्तैन्येनैवोपकल्पितात्मवृत्तिः । यद्वा अन्य दत्तहरोऽन्यादत्तं ग्रन्थिच्छेदादिनोपायेन अपहरति स्तेनः क्षेत्रादिखननेनेति विशेषो मायी वञ्चनैकचित्तः । कन्नुहरः कण्हुकस्यार्थे हरिष्यामीत्येवमध्यवसायी शठो वक्राचारः तथा स्त्रियश्च विषयाश्च स्त्रीविषयास्तेषु गृद्धोऽभिकाङ्क्षावान् स्त्रीविषयगृद्धश्च प्राग्वन्महानपरिमितः आरम्भोऽनेकजन्तूपघातकृद्व्यापारः परिग्रहश्च धान्यादिसंचयो यस्य स तथोक्तो भुञ्जानोऽभ्यवहरन् सुरां मांसं पिशितं (परिवूढोत्ति) परिवृढः प्रचुरुपचितमांसशोणिततया तत्तक्रियासमर्थ इति यावत् । अत एव परानन्यान् दमयति न्यत्कृत्याऽभिमतकृत्येषु प्रवर्त्तयतीति परंदमः । किञ्च अजश्छागस्तस्य कर्कर यच्चणकवद्भक्ष्यमाणं कर्करायते तच्चेह प्रस्तावान्मेदो दन्तुरमतिपक्वं वा मांसं तद्भोजी वाऽत एव तुन्दिलो जातबृहज्जठरश्चितमुपचयप्राप्तं लोहितं शोणितमस्येति चितलोहितः । शेषधातूपलक्षणमेतत् आयुर्जीवितं नरके सीमन्तकादौ काङ्क्षतीव काङ्क्षति तद्योगकर्मारम्भितया कमिव क इत्याह (जहाएसं च एलएत्ति) आदेशमिव यथैडक उक्तरूप इह च हिंसे इत्यादिना सार्द्धश्लोकेनारम्भ उक्तो भुंजमाणे सुरमित्यादिना चार्द्धद्वयेन रसगृद्धिः आयुयमित्यादिनाचार्द्धेन दुर्गतिगमनं तत्प्रतिपादनाच्चार्थतः प्रत्युपायाभिधानमिति सूत्रार्थः ॥ इदानीं यदुक्तमायुर्नरके काङ्क्षतीति तदनन्तरमसौ किं कुरुते इत्याह । यद्वा साक्षादैहिकापाय दर्शनायाह ॥

आसणं सयणं जाणं, वित्तं कामे य भुंजिया ।
दुस्साहडं धणं हिच्चा, बहु संचिणिया रयं ॥
तओ कम्मगुरूजंतू, पच्चुप्पन्नपरायणे ।
अयव्व आगयाएसे, मरणं तम्मि सोयए ॥

आसनं शयनं यानमिति प्राग्वन्नवरं भुक्त्वेति संबन्धनीयं वित्तं द्रव्यं कामान्मनोज्ञशब्दादीन् भुक्त्वोपभुज्य (दुस्साहडंति) दुःखेनात्मनः परेषां च दुःखकरणेन सुष्ठ्वादरातिशयेनाहृतमुपार्जितं दुःखाहृतम् । यदि वा प्राकृतत्वात् दुःखेन संन्हियते मील्यतेस्मेति दुस्संहृतं धनं द्रव्यं हित्वा आसनाद्युपभोगेन द्यूताद्यसद्व्ययेन च त्यक्त्वा तथा च मिथ्यात्वादिकर्म्मबन्धहेतुसंभवाद्बहु प्रभूतं संचित्योपार्ज्य रजोऽष्टप्रकारं कर्म्म । ततः किमित्याह । (ततोत्ति) ततो रजःसंचयात् को वा संचितरजाः कर्म्मणा गुरुरिव गुरुरधो नरकगामितया कर्म्मगुरुर्जन्तुः प्राणी प्रत्युत्पन्नं वर्त्तमानं तस्मिन्परायणस्तन्निष्ठः " एतावानेव लोकोऽयं, यावानिन्द्रियगोचर " इति नास्तिकमतानुसारितया परलोकनिरपेक्ष इति यावत् । (आएवत्ति)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अजः पशुः स चेह प्रक्रमादुरभ्रस्तद्वत् (आगयाएसम्मि) प्राकृतत्वादागते प्राप्ते आदेशे प्राघुणके एतेन प्रपञ्चितकथिने-यानुमहायोकमेवोरभ्रदृष्टान्तं स्मारयति । किमित्याह । मर-णान्ते प्राणपरित्यागात्मन्यवसाने शोचति । किमुक्तं भवति यथादेश आगत उरभ्र उक्तनीत्या शोचति तथाऽयमपि धिग्मां विषयव्यामोहत उपार्जितगुरुकर्म्माणं हा केदानीं मया गन्त-व्यमित्यादिप्रलापतः खिद्यतेऽत्यन्तनास्तिकस्यापि प्रायस्तदा शोकसंभवादिति सूत्रद्वयार्थः । अनेनैहिकोपाय उक्तः ।

संप्रतिपारभविकमाह ॥

तओ आउपरिक्खीणे, चुया देहविहिंसगा ।

आसुरीयं दिसं बाला, गच्छंति अवसा तमं ॥

ततः शोचनानन्तरं को वा उपार्जितगुरुकर्मा आयुषि तद्भ-वसंभविनि जीविते परिक्षीणे सर्वथा क्षयं गते कथंचिदायुः क्षयस्यावीचीमरणेन प्रागपि संभवादेवमुच्यते । च्युतो भ्रष्टो देहाच्छरीरात्पाठान्तरस्तु च्युतदेहोपगते हत्यशरीरो विहिं-सको विविधप्रकारैः प्राणिघातकः (आसुरीयंति) अविद्य-मानसूर्यामुपलक्षणत्वात् ग्रहनक्षत्रादिविरहितां च दिश्यते नारकादित्वेनास्यां संसारीति दिक्कामर्थाद्भावदिवामथवा रौद्रकर्म्मकारी सर्व्वोऽप्यसुर उच्यते । ततश्चासुराणामियमा-सुरीया तामासुरीयां दिशं नरकगतिमित्यर्थो बालोऽज्ञो ग-च्छति यात्यवशः कर्मपरवशो वचनव्यत्ययाच्च सर्वत्र बहुवच-ननिर्देशो व्याप्तिख्यापनार्थो वा यथा नैक एवैवंविधः किंतु बहव इति (तमंति) तमोयुक्तत्वात्तमो देवगतेरप्यसूर्यत्वसं-भवात्तद्व्यवच्छेदाय दिशो विशेषणम् । ततोऽर्थान्नरकगतिम् । उक्तंहि " निच्चंधयारतमसा, ववगयगहचंदसूरनक्खत्ता " इत्यादिस्वरूपख्यापकं वा द्वितीयं व्याख्यानमिति सूत्रार्थः ।

संप्रति काकण्याम्रदृष्टान्तद्वयमाह

जहा कागणिए हेउं, सहस्सं हारए नरो ।

अपच्छं अंबगं भुच्चा, राया रज्जं तु हारए ॥ ११ ॥

एवं माणुस्सगा कामा, देवकामा य अंतिए ।

सहस्सगुणिया भुज्जो, आउं कामाय दिव्विया ॥१२॥

अणेगवासाणउया, जा सा पण्णवओ ठिई ॥

जाणि जीयंति दुम्मेहा, ऊणे वाससयाउए ॥१३॥

(जहासूत्रम्) यथेत्युदाहरणोपन्यासार्थः । काकन्या उक्तरू-पायाः (हेउंति) हेतोः कारणात्सहस्रं दशशतात्मकं कार्षापणा-नामिति गम्यते हारयेन्नाशयेन्नरः पुरुषोऽत्रोदाहरणं संप्रदायाद-वसेयः " एगो दमगो तेण वित्तिं करिंतेण सहस्सं काहावणाण अज्जियं सो तं गहाय सत्थेण समं सगिहिं पत्थिओ । तेण भत्तनि-मित्तं रूवगो कागिणीहिं भिन्नं तओ दिणे दिणे कागणिए भुंजति तस्स य अवसेसा एका कागिणी सा विस्सारिया सत्थे पहाविए सो चिंतेइ मा मे रूवगो भिंदियव्वो होहेतित्ति नउलगं अक्वत्थं गोवेउं कागिणीनिमित्तं नियत्तो सावि कागिणी अन्नेण हया सो वि नउलओ अन्नेण दिट्ठो उविज्झंतो सो तं घेत्तूण नट्ठो पच्छा सो दारं गओ सोयइ एस दिट्ठंतो" तथाऽपथ्यमहितमाम्रकमाम्र-फलं भुक्त्वाभ्यवहृत्य राजेति नृपती राज्यं पृथिवीपतित्वं तुरवधारणे भिन्नक्रमश्च तेन हारयेदेव संभवत्येव । अस्यापथ्यभोजिनो हार-णमित्यक्षरार्थः । भावार्थस्तु वृद्धसंप्रदायादवसेयः । स चायम् । " जहा कस्सइ रन्नो अंबाजिन्नेण विसूइगा जाया सा तस्स वेज्जेहि महाजत्तेण चिगिच्छिया भणितो जदि पुणो अंबाणि खाहसि तो विणस्ससि । तस्स य अतीव पियाणि अंबाणि तेण सदेसे सव्वे अंबाउ उत्थाविया । अन्नया अस्स वाहणिय निमातो सह अमच्चेण अस्सेण अवहरिओ अस्सो दूरं गंतूण परिस्संतो ठिओ एगम्मि वणसंडे चूयच्छायाए अमच्चेण वारि-ज्जमाणो वि णिविट्ठो । तस्स य हेट्ठे अंबाणि पडियाणि सो ताणि परामसति । पच्छा अग्घाति पच्छा चक्खिउं निट्ठुभति । अमच्चो वारेति पच्छा भक्खेउं मतो " इति सूत्रार्थः । इत्थं दृष्टा-न्तमभिधाय दार्ष्टान्तिकयोजनामाह । (एवं गाहा) एवमिति काकिन्याम्रकसदृशानां मनुष्याणाममी मानुष्यका गोत्रप्रत्ययान्त-त्वात् । गोत्रचरणादिति वुञ् कामा विषया देवकामामां देवसंब-न्धिनां विषयाणामन्तिके समीपे अन्तिकोपादानं च दूरे अनवधा-रणमपि स्यादिति । किमित्येवमत आह । सहस्रगुणिताः सह-स्रताडिताः भूयोऽतिशयेन बहु बहून्वारानित्यर्थः मनुष्यायुः कामापेक्षयेति प्रक्रमोऽनेनैषामतिभूयस्त्वं सूचयन्कार्षापणस-हस्रराज्यतुल्यतामाह । आयुर्जीवितं कामाश्च शब्दादयो (दिव्वि-यत्ति) दिवि भवा दिव्याः सुपासुदकप्रतीचो यदिति यत्त एव दिव्यकाः इहचार्थे । [देवकामाणअंतिएत्ति] काममात्रोपादा-नेऽपि अयुष्कामाय [दिव्वियत्ति] आयुषोऽप्युपादानम् । तत्र प्रज्ञावयितुमाह (अणेगसूत्रं) अनेकानि बहूनि तानि चेहा-संख्येयानि वर्षाणि वत्सराणि तेषां न युतानि संख्याविशेषा वर्षनयुतान्यनेकानि च तानि वर्षनयुतानि स्वरोऽन्योन्यस्येति प्राकृतलक्षणात् सकाराकारदीर्घत्वमेवमन्यत्रापि स्वरान्यत्वं भाव-नीयम् । यद्वा अनेकानि वर्षनयुतानि येषु तान्यनेकवर्षनयुता-न्युत्तयप्रार्थात्पल्योपमसागराणीति यावत् । नयुतानयनोपायस्त्व यं चतुरशीतिवर्षलक्षाः पूर्वाङ्गं तच्च पूर्वाङ्गेन गुणितं पूर्वं चतुरशीतिलक्षाहतं नयुताङ्गं नयुताङ्गमपि चतुरशीतिलक्षाभि-ताडितं नयुताङ्कैवमुच्यत इत्याह । या सेति प्रज्ञापकः शिष्यान् प्रत्येवमाह । या सा भवतामस्माकं च प्रतीता । प्रकर्षेण ज्ञायते वस्तुतत्वमनयेति प्रज्ञा हेयोपादेयविवेचिका बुद्धिः सा विद्यते यस्यासौ प्रज्ञावानतिशायने मतुप् । अतिशयश्चास्या हेयोपादेययो-र्हानोपादाननिबन्धनत्वमिहाभिमतं ततश्च क्रियाया अप्याक्षिप्त-त्वात् । यदि वा निश्चयनयमतेन क्रियारहिता प्रज्ञाऽप्यप्रज्ञैवेति प्रत्ययेनैव क्रिया क्षिप्यते ततः प्रज्ञावान् ज्ञानक्रियावानित्युक्तं भवति तस्य प्रज्ञावतः । स्थीयते अनया अर्थादेवभवे इति स्थितिर्देवायु-रधिकृतत्वात् । दिव्यकामाश्च । तानि च कीदृशानीत्याह । यान्य-नेकवर्षनयुतानि दिव्यस्थितेर्दिव्यकामानां च विषयभूतानि जीय-न्ते हार्यन्ते तद्धेतुभूतानुष्ठानानासेवनेनेति भावः । पाठान्तरतो हार-यन्ति वा के ते दुष्टा विषयादिदोषदुष्टत्वेन मेधा वस्तुरूपावधार-णशक्तिरेषां ते दुर्मेधसो विषयैर्जिता जन्तव इति गम्यते । कदा-पुनस्तानि दुर्मेधसो विषयैर्जीयन्त इत्याह ऊने वर्षशतायुष्यनेना-युषोऽल्पत्वान्मनुष्यकामानामप्यल्पतामाह । यदि वा प्रभूते ह्या-युषि प्रमादेनैकदा हारितान्यपि पुनर्जीयेरन्नस्मिंस्तु संक्षिप्तायु-ष्येकदा हारितानि हारितान्येव भगवतश्च वीरस्य तीर्थे प्रायोऽ न्यूनवर्षशतायुष एव जन्तव इत्ययमुपन्यासः । अयं चात्र भावार्थो ऽल्पं मनुष्याणामायुर्विषयाश्चेति काकण्याम्रफलोपमा देवायुर्देव-कामाश्चातिप्रभूततया कार्षापणसहस्रराज्यतुल्याः । ततो यथा द्रुमको राजा च काकण्याम्रफलकृते कार्षापणसहस्रराज्यं च हारितवानेवमेतेऽपि दुर्मेधसोऽल्पतरमनुष्यायुःकर्मार्थं प्रभूता-न्देवायुः कामान् हारयन्तीति सूत्रार्थः ॥

संप्रति व्यवहारोदाहरणमाह ॥

जहा य तिण्णि वणिया, मूलं घित्तूण निग्गया ॥

एगो तत्थ लहइ लाभं, एगो मूलेण आगओ ॥ १४ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एगो मूलं पि हारित्ता, आगओ तत्थ वाणिओ ॥
ववहारे उवमा एसा, एवं धम्मे वियाणह ॥ १५ ॥
माणुस्सत्तं भवे मूलं, लाभो देवगई भवे ॥
मूलच्छेएण जीवाणं, नरगतिरिक्खत्तणं धुवं ॥ १६ ॥

यथेति प्राग्वत्। चः प्रतिपादितदृष्टान्तापेक्षया समुच्चये। त्रयो वणिजः प्रतीता मूलराशिं नीविमिति यावत् गृहीत्वा निर्गताः स्वस्थानात् स्थानान्तरं प्रति प्रस्थिताः प्राप्ताश्च समीहितस्थानम्। तत्र च गतानामेको वणिक्कलाकुशलोऽत्रैतेषु मध्ये लभते प्राप्नोति लाभं विशिष्टद्रव्योपचयलक्षणम्। एकस्तेष्वेवान्यतरो यस्तथा नातिनिपुणो नाप्यत्यन्तानिपुणः स (मूलेणत्ति) मूलधनेन यावद् गृहाद्नीतं तावतैवोपलक्षित आगतः स्वस्थानं प्राप्त इति सूत्रार्थः। तथा (एगो सूत्रम्) एकोऽन्यतरः प्रमादपरो द्यूतमद्यादिष्वत्यन्तमासक्तचेता मूलमप्युक्तरूपं हारयित्वा नाशयित्वा गतः प्राप्तः स्वस्थानमित्युपस्कारः। एवं सर्वत्रोदाहरणसूत्रयां सोपस्कारता द्रष्टव्या। तत्र तेषु मध्ये वणिगेव वाणिजः अत्र च संप्रदायः "जहा एगस्स वाणियगस्स तिण्णि पुत्ता तेण तेसिं सहस्सं दिण्णं काहावणाणं भणिया य। एएण ववहरिऊण एत्तिएण कालेण एज्जह ते तं मूलं घेत्तूणं निग्गया सनयराउ विविधविधेसु पट्टणेसु ठिया तत्थेगो भोयणच्छायणवज्जं जूयमज्जमंसवेसावसणविरहितो विहीए ववहरमाणो विपुललाभसंपुण्णो जातो। बितितो पुण मूलमवि वितो लाभगं भोयणच्छायणमल्लालंकारादिसु उवभुंजति णय अच्चादरेण ववहरति। तइओ न किंचि ववहरइ केवलं जूयमंसवेसगंधमल्लतंबोलसरीरकिरियासु अप्पेणेव कालेण तं दव्वं निट्ठवियं ते य जहावहिकालस्स सपुरमागया तत्थ जो छिन्नमूलो सो सव्वस्स असामी जातो पेसए व उवचरिज्जति। बितिओ घरवावारे निउत्तो भत्तपत्तिसंतुट्ठो ण दातव्वभोत्तव्वे सु व सायति। ततिओ घरवित्थरस्स सामी जातो के वि पुण कहिंति तिण्णि वि वाणियगा पत्तेयं २ ववहरंति। तत्थेगो छिन्नमूलो पलत्तणमुवगतो केण वा संववहारं करेउ अच्छिन्नमूलो पुणरवि वाणिज्जाए भवति। इयरो बंधुसहितो मोदते एस दिट्ठंतो" संप्रति सूत्रमनुश्रियते व्यवहारे व्यवहारविषया उपमा दृष्टान्तः। एषाऽनन्तरोक्ता वक्ष्यमाणन्यायेन धर्मे धर्मविषयामेनामेवोपमां विजानीत अवबुध्यत यूयमिति सूत्रार्थः। कथमित्याह ॥ (माणुसत्तं सूत्रम्) मानुषत्वं मनुजत्वं भवेत्स्यात् मूलमिव मूलं स्वर्गापवर्गात्मकतदुत्तरोत्तरलाभहेतुतया तल्लाभ इव लाभो मनुजगत्यपेक्षया विषयसुखादिभिर्विशिष्टत्वाद्देवगतिर्देवत्वावाप्तिर्भवेत् एवं च स्थिते किमित्याह। मूलच्छेदेन मानुषत्वगतिहान्यात्मकेन जीवानां प्राणिनां नरकतिर्यक्त्वं नरकत्वं तिर्यक्त्वं च तद्रूपात्मकं ध्रुवं निश्चितम् इहापि संप्रदायः। "तिण्णि संसारिणो सत्ता माणुसे आयाता तत्थेगे मद्दवअज्जवादिगुणसंपन्नो मज्झिमारंभपरिग्गहजुत्तो कालं काऊण काहावणस्स मूलत्थाणीयं तमेव माणुसत्तं पडिलभति। बितिओ पुण सम्मदंसणचरित्तगुणेसु ठितो सरागसंजमेण लद्धलाभवाणिय इव देवेसु उववन्नो। ततितो पुण हिंसे वाले मुसावाती इच्चेतेहिं पुव्वभणिएहिं सावज्जजोगेहिं वट्टिओ छिन्नमूलवाणिय इव नरगेसु तिरिएसु वा उववज्जति इति सूत्रार्थः ॥

यथा मूलच्छेदेन नारकतिर्यक्त्वप्राप्तिस्तथा स्वयं सूत्रकृदाह।

दुहओ गई बालस्स, आवई वहमूलिआ ।
देवत्तं माणुसत्तं च, जं जिए लोलुया सढे ॥१७॥
तओ जिएसइं होइ, दुविहं दुग्गइं गए ।
दुल्लहा तस्स उम्मग्गा, अद्धाएसु चिरादवि ॥१८॥
एवं जीयं स पेहाए, तुलिया बालं च पंडियं ।
मूलियं ते पवेसंति, माणुस्सं जोणिमंति जे ॥१९॥

द्विधा द्विप्रकारा गम्यत इति गतिः सा चेह प्रक्रमान्नरकगतिस्तिर्यग्गतिश्च। कस्येत्याह बालस्य द्वाभ्यां रागद्वेषाभ्यामाकलितस्य (आगइत्ति) आगच्छत्यापतति। वधः उपलक्षणत्वात्महारम्भमहापरिग्रहानृतभाषणमायादयश्च मूलं कारणं यस्याः सा वधमूलिका। यदि वा द्विधा गतिर्बालस्य भवतीति गम्यते। तत्र च तस्य (आवइत्ति) आपत्ता च कीदृशीत्याह। वधो विनाशस्ताडनं वा मूलमादिर्यस्याः सा वधमूलिका। मूलग्रहणाच्छेदभेदातिभारारोपणादिपरिग्रहः। लभन्ते हि प्राणिनो नरकतिर्यक्षु विविधा वधाद्यापदः। किमित्येवमत आह देवत्वं देवभवं मानुषत्वं च मनुजभवं यद्यस्माज्जितो हारितो (लोलयासढेत्ति) लोलता पिशितादिलाम्पट्यं तद्योगाज्जन्तुरपि तन्मयत्वख्यापनार्थं लोलतेत्युक्तः। शाठ्ययोगाच्छठः विश्वस्तानां वञ्चकस्ततो लोलता चासौ शठश्च लोलताशठः। पञ्चेन्द्रियवधाद्युपलक्षणतया च नरकहेत्वभिधानमेतत् यदुक्तं "महारंभयाए परिग्गहयाए कुणिमाहारेणं पंचिंदियवहेणं जीवा निरयाउयं नियच्छंति" शठ इत्यनेन तु शाठ्यमुक्तं तच्च तिर्यग्गतिहेतुरुक्तं च "माया तैर्यग्योनस्येति" अतश्चायमाशयो यतोऽयं बालो लोलताशठस्ततो नरकतिर्यग्गतिनिबन्धनाभ्यां लोलताशठाभ्यां देवत्वमनुजत्वे हारितस्यास्योक्तरूपा द्विधैव गतिः संभवत्येवं मूलच्छेदेन जीवानां नरकतिर्यक्त्वमुच्यते। मूलं हि मनुष्यत्वं लाभश्च देवत्वमुभयोरपि तयोर्हारणादिति सूत्रार्थः। पुनर्मूलच्छेदमेव समर्थयितुमाह। (तओजिएत्ति) ततो देवत्वमानुषत्वजयात् को वा बालः (जियसि) व्यवच्छेदफलत्वाद्वाक्यस्य जित एव सततं सदा भवति द्विविधा नरकतिर्यग्भेदात्तां द्विभेदां दुर्निन्द्यायां दुष्टा निन्दिता गतिर्दुर्गतिस्तां गतः प्राप्तः सदा जितत्वमेवा जिव्यनक्ति दुर्लभा दुष्प्रापा तस्येति देवमनुजत्वे हारितवतो बालस्य (उम्मग्गत्ति) सुब्व्यत्ययात् उन्मज्जनमुन्मज्जा नरकगतितिर्यग्गतिनिर्गमनात्मिका स्यादेतच्चिरतरकालेनोन्मज्जास्य भविष्यत्यतआह अद्धायां काले अर्थादागामिन्यां किस्वल्पायामेवेत्याह। सुचिरादपीत्यद्धा शब्देनैव कालाभिधानात् सुचिराद्यच्चः प्रभूतत्वमाह। ततोऽयमर्थोऽनागताद्धायां प्रभूतायामपि बाहुल्यात्त्वेत्थमुक्तमन्यथा हि केचिदेकभवेनैव तत उद्धृत्य मुक्तिमप्यापुवन्त्येवेति सूत्रार्थः॥ इत्थं पश्चानुपूर्व्यपि व्याख्याङ्गमिति पश्चादुक्तेऽपि मूलहारिण्युपनयमुपदर्श्य मूलप्रवेशिन्यभिधातुमाह। यद्वा विपक्षापायात्तज्ज्ञानत एवोपादेयप्रवृत्तिरिति पश्चादुक्तमपि मूलहारिणमादावुपदर्श्यदमाह (एवंसूत्रम्) एवमुक्तनीत्या (जियेत्ति) सुब्व्यत्ययाज्जितं लोलतया शाठ्येन च देवमनुजत्वे हारितं बालमिति प्रथमतः (सपेहाएत्ति) संप्रेक्ष्य सम्यगालोच्य तथा तोलयित्वा गुणदोषवत्तया परिज्ञाय यदि चैवं जितं सम्यगविरीता प्रेक्षा बुद्धिः संप्रेक्ष्यतया तोलयित्वा कं बालं चस्य भिन्नक्रमत्वात्पण्डितं तद्विपरीतमर्थान्मनुष्यदेवगतिगामिनमिह च द्वितीयायां व्याख्यायामेवं जितमिति बालस्य विशेषणम् नतु पण्डितस्यासंभवात्। तथा च सति मूलं भवं मौलिकं मूलधनं ते प्रवेशयन्ति मूलप्रवेशकवणिक्सदृशास्त इत्यभिप्रायो ये किमि-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्याह (माणुस्सत्ति) मनुष्याणामियं मानुषी तां योनिमुत्पत्तिस्थानमायान्त्यागच्छन्ति बालत्वपरिहारेण पण्डितत्वमासेवमाना ये ते इति सूत्रार्थः ॥

यथा च मानुषीं योनिमायान्ति तथाह ॥

वेमायाहिं सिक्खाहिं, जे नरा गिहिसुव्वया ।
उवेंति माणुसं जोणिं, कम्मसच्चा हु पाणिणो ॥ २० ॥
जेसिं तु विउला सिक्खा, मूलियं ते अइत्थिया ।
सीलवंता सविसेसा, अदीणा जंति देवयं ॥ २१ ॥
एवं अदीणयं भिक्खुं, अगारिं च वियाणिया ।
कहण्णु जिच्चमेलिक्खं, जिच्चमाणे न संविदे ॥ २२ ॥

विविधा मात्रा परिमाणमासां विमात्रा विचित्रपरिमाणास्ताभिः परिमाणविशेषमाश्रित्य विसदृशीभिः शिक्षाभिः प्रकृतिभद्रकत्वाद्यभ्यासरूपाभिरुक्तंहि "चउहिं ठाणेहिं जीवा मणुयाउयं बंधंति तंजहा पगतिभद्दयाए पगतिविणियया[ए] साणुक्कोसयाए अमच्छरियाएत्ति" ये इत्थविवक्षितविशेषा नराः पुरुषा गृहिणश्च गृहस्था सुव्रताश्च धृतसत्पुरुषव्रतास्ते हि प्रकृतिभद्रकत्वाद्यभ्यासानुभावत एव न विपद्यपि विषीदन्ति सदाचारं वा अवधीरयन्तीत्यादिगुणान्विता इदमेव च सतां व्रतं लौकिका अप्याहुः । विपद्युच्चैः स्थेयं पदमनुविधेयं हि महतां, प्रिया न्याय्या वृत्तिर्मलिनमसुभङ्गेऽप्यसुकरम् । असन्तो नाभ्यर्थ्याः सुहृदपि न याच्यस्तनुधनः, सतां केनोद्दिष्टं विषममसिधाराव्रतमिदम् ॥ इति आगमविहितव्रतधारणं त्वर्मा(?)मसंभवविदेवगतिहेतुतयैव तदभिधानात्त ईदृशाः किमित्याह (उविंतित्ति) उपयन्ति (माणुसंति) मानुषीं मानुषसंबन्धिनीं योनिमुक्तरूपां कर्म्मणा मनोवाक्कायक्रियालक्षणेन सत्या अविसंवादिनः कर्मसत्याः । हुरवधारणे ततः कर्मसत्या एव सन्तस्तदसत्यतया तिर्यग्योनिहेतुत्वेनोक्तत्वात् । तथा च वाचकः " धूर्ता नैकृतिकाः स्तब्धा, लुब्धाः कार्पटिकाः शठाः । विविधं ते प्रपद्यन्ते, तिर्यग्योनिं दुरुत्तरा" मित्यादि पाठान्तरतश्च कर्मसत्यार्थात्मनुष्यगतियोग्यक्रियारूपेषु शक्ता अभिष्वङ्गवन्तः कर्मसक्ताः प्राणिनो जीवा इह च नरग्रहणे सति प्राणिग्रहणं देवादिपरिग्रहार्थमिति न पुनरुक्तम् यद्वा विमात्राभिः शिक्षाभिर्ये नरा गृहिणः सुव्रता यच्छब्दोऽनेनैयाभिसंबन्धात्ते मानुषीं योनिमुपयान्ति किमित्येवमत आह (कम्मसच्चाहुपाणिणोत्ति) हु शब्दो यस्मादर्थे यस्मात्सत्यान्यवन्ध्यफलानि कर्म्माणि ज्ञानावरणादीनि येषां ते सत्यकर्म्माणः प्राणिनो निरुपक्रमकर्मापेक्षं चैतदिति सूत्रार्थः । संप्रति लब्धालाभोपनयमाह (जेसिंसूत्रं) येषां तु पुनर्विपुलानि शङ्कितत्वादिसम्यक्त्वाचाराणुव्रतमहाव्रतादिविषयत्वेन विस्तीर्णा शिक्षा ग्रहणासेवनात्मिकाऽस्तीति गम्यते । मूले भवं मौलिकं मूलधनमिव मानुषत्वं ते य एवं विधाः(तिउट्टियात्ति अतिट्टियात्ति-अतिच्छियत्ति)पाठत्रयेऽपि अतिक्रान्ता उल्लङ्घितवन्त इत्यर्थः । यद्वा अतिक्रम्योल्लङ्घ्य कीदृशाः सन्तः शीलं सदाचारो ऽविरतसम्यग्दृशां विरतिमतां तु देशसर्वविरमणात्मकं चारित्रं तद्विद्यते येषां ते शीलवन्तः । तथा सह विशेषेण उत्तरोत्तरगुणप्रतिपत्तिलक्षणेन वर्तन्त इति सविशेषाः अत एवादीनाः कथं वयममुत्र भविष्याम इति वैक्लव्यरहिताः परीषहोपसर्गादिसंभवे वा न दैन्यभाज इति अदीना यान्ति प्राप्नुवन्ति ते । देवभावो देवता सैव दैवतं न तु तत्वतो मुक्तिगतिरेव लाभस्तत्किमिह तत्परिहारतो देवगतिरुक्तेत्युच्यते । सूत्रस्य त्रिकालविषयत्वान्मुक्तेश्चेदानीं विशिष्टसंहननाभावतोऽभावादेवगतेश्च " छेवट्टेण उ गम्मति चत्तारि उ जाव आदिमा कप्पा " इति वचनाच्छेदपरियर्तिसंहननिमामिदानींतनानामपि संभवादेव मुक्तमिति सूत्रार्थः ॥ प्रस्तुतमेवार्थं निगमयन्नुपदेशमाह । (एवंसूत्रम्) एवममुना न्यायेन लाभान्वितम् (अदीणवंति) दीनः स्ववृत्तौ दीनवन्तं न तथा दीनवन्तमदीनं दैन्यरहितमित्यर्थो भिक्षुं यतिमगारिणं च गृहस्थं विज्ञाय विशेषेण तथाविधशिक्षावशादेवमनुजगति गामित्वलक्षणेन ज्ञात्वाऽवगम्य यतमान इति शेषः । कथं केन प्रकारेण न कथंचिदित्यर्थो नु वितर्के (जिच्चंति) सूत्रत्वाज्जीयेत हार्येत विवेकी तत्प्रतिकूलैः कषायो दयादिभिरिति गम्यते । ईदृक्षमनन्तरोक्तं देवगत्यात्मकं लाभं (जिच्चमाणोत्ति) वा शब्दस्य गम्यमानत्वाज्जीयमानो वा हार्यमाणस्तैरेव कषायादिभिर्न संविसे सूत्रत्वात्संवित्ति न जानीते यथाहमेभिर्जीय इति । कथं न्विती हापि योज्यते ततोऽयमर्थः कथं नु संवित्ते एव जानीते एव ज्ञपरिज्ञया प्रत्याख्यानपरिज्ञया च तन्निरोधं प्रति प्रवर्तते एवेत्येवं च वदन् काक्वोपदिशति यत एवं ततो यूयमप्येवं जानाना यथा न देवगतिलक्षणं लाभं जीयध्वं कषायादिभिस्तथा यतध्वं कथंचिज्जीयमानाश्च सम्यग्विज्ञाय तत्प्रतीकारायैव प्रवर्तध्वमिति । यद्वा एवमदीनवन्तं भिक्षुमगारिणं च लब्धलाभं विज्ञाय यतमानो कथं नु जीयन्ति आर्षत्वात् जीयते हार्यते अतिरौद्रैरिन्द्रियादिभिरात्मा तदिति जेयं तच्चेह प्रक्रमान्मानुष्यदेवगतिलक्षणं (एलिक्खंति) तुल्यत्वयादीदृक्षोऽभिहितार्थाभिज्ञः कथं नु जीयमानो न संविसेऽपि तु संवित्त एव संविदानश्च यथा न जीयते तथा यतेतेत्यभिप्रायोऽथ चैवमदीनवन्तं भिक्षुमगारिणं च लब्धलाभं विज्ञाय यतमान कथं नु (जिच्चंति) आर्षत्वाज्जीयते हार्यते विषयादिभिरिति गम्यते । ईदृक्षं देवगतिलक्षणं लाभमिति शेषः । अयमाशयो यदि लभमाना न विज्ञाताः स्युर्लाभो वा न तथाविधस्तदा जयनमपि स्याद्यदा तु लभमानौ भिक्ष्वगारिणौ दृश्येते लाभश्च देवत्वलक्षण स्तदा कथमयं जानानोऽपि जन्तुर्जीयते यत आह जीयमानो न संविसे । किमुक्तं भवति । यदासौ जीयमानो जानीयात्तदा तदुपायपरतया न जीयेत यदा त्वसौ विषयव्यामोहितो न जानीते तदा जीयत एवेति किमत्र चित्रमिति सूत्रार्थः ।

समुद्रदृष्टान्तमाह ।

जहा कुसग्गे उदयं, समुद्देण समं मिणे ।
एवं माणुस्सया कामा, देवकामाण अंतिए ॥ २३ ॥
कुसग्गमत्ता इमे कामा, संनिरुद्धम्मि आउए ।
कस्स हेउं पुरा काउं, जोगक्खेमं न संविदे ॥ २४ ॥
इह कामा नियट्टस्स, अत्तट्ठे अवरज्झइ ।
सोच्चा नेयाउयं मग्गं, जं भुज्जो परिभस्सई ॥ २६ ॥

यथेति दृष्टान्तोपन्यासे कुशो दर्भविशेषस्तस्याग्रं कोटिः । कुशाग्रं तस्मिन्नुदकं जलं तत् किमित्याह समुद्देणेति तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेश इति न्यायात्समुद्रजलेन समं तुल्यं मिनुयात्परिच्छिन्द्यात् । तथा किमित्याह-एवमुक्तनीत्या मानुष्यका मनुष्यसंबन्धिनः कामा विषया मनुष्यविशेषणं तु तेषामेवाल्पदशत्वाद्यिशिष्टभोगसंभवाच्च । देवकामानां दिव्यभोगानामन्तिके समीपे कृता इति शेषः । दूरस्थितानां हि तत् सम्यगवधारणमित्येवमाह । किमुक्तं भवति । यथाऽज्ञः कश्चित्कुशाग्रस्थितं जलबिन्दुमालोक्य समुद्रवन्मन्यते एवं मूढाश्चक्रवर्त्यादिमनुष्यकामान् दिव्यं भोगोपमानध्यवस्यन्ति तत्वतस्तु कुशाग्रजलबिन्दोरिव समुद्रान्मनुष्यकामानां दिव्यभोगेभ्यो महदेवान्तरमिति सूत्रार्थः । उक्तमेवार्थं निगमयन्नुपदेशमाह । (कुसमेत्तत्ति) कुशाग्रशब्देन कुशाग्रस्थितो जलबिन्दुरुपलक्ष्यते- तन्मात्रस्तत्परिमाण इमे इति प्रत्यक्षाः कामाः प्रकृतत्वात् मनुष्यविषयाः कदा ये इत्याह । सन्निरुद्धेऽत्यन्तसंक्षिप्ते यद्वा सममेकीभा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

येन निरुद्धेऽध्यवसानादिभिरुपक्रमणकारणैरसङ्क्षे आयुषि जीवितेन मनुष्यायुषोऽल्पतया सोपक्रमतया वा कामानामप्यल्पत्वमुक्तं समुद्राद्यल्पतोपलक्षणं चैतदस्मिंस्त्वर्थे उक्ते दिव्यकामास्तु अप्रधिजलतुल्या इत्यर्थादवगम्यते (कस्सहेउंति) सूत्रत्वात् कं हेतुं कारणं (पुराकाउं ति) तत एव पुरस्कृत्याश्रित्य अलब्धस्य लाभो योगो लब्धस्य च परिपालनं क्षेमोऽनयोः समाहारे योगक्षेमं । कोऽर्थोऽप्राप्तविशिष्टधर्म्मप्राप्तिं प्राप्तस्य च परिपालने न संविसे न जानीते जन इति शेषस्तदसंवित्तौ हि मनुष्यविषयाभिष्वङ्ग एव हेतुस्ते च धर्म्मं प्राप्य दिव्यभोगापेक्षयैवंप्रायास्तत एव तत्त्यागतो विषयाभिलाषिणोऽपि धर्म्मे एव यतितव्यमित्यभिप्रायः। यद्वा यतः कुशाग्रमात्रा दर्भप्रान्तवदत्यल्पा इमे कामास्तेऽपि न पल्योपमादिपरिमितौ ऽद्धायस्यायुषि किंतु सन्निरुद्धे संक्षिप्ते आयुषि ततः (कस्सहेउंति) कस्माद्धेतोः पुरस्कृत्यैव पुरस्कृत्य मुख्यतयाङ्गीकृत्य असंयममिति शेषो योगक्षेममुक्तरूपं न संविसे। भावार्थस्त्वभिहित एवेति सूत्रार्थः । इत्थं दृष्टान्तपञ्चकमुक्तम्-तत्र प्रथममुरभ्रदृष्टान्तेन भोगानामायतावपायबहुलत्वमभिहितमायतौ चापायबहुलमपि यन्न तुच्छं न तत्परिहर्तुं शक्यत इति । काकण्याम्रफलदृष्टान्तास्तुच्छत्वं तुच्छमपि च लाभच्छेदात्मकव्यवहाराविकृतयाऽऽयव्ययतोलनाकुशल एव हातुं शक्त इति। वणिग्व्यवहारोदाहरणमायव्ययतोलनापि च कथं कर्त्तव्येति समुद्रदृष्टान्तस्तत्र हि दिव्यकामानां समुद्रजलोपमत्वमुक्तं तथा च तदुपार्जनं महानायोऽनुपार्जनं तु महान्व्यय इति तत्वतो दर्शितमेव भवति । इह च योगक्षेमासंवेदने कामो निवृत्त एव भवतीति तस्य दोषमाह (इहेति सूत्रम् ।) इहेति मनुष्यत्वे जिनशासने वा प्राप्ते इति शेषः । कामेभ्योऽनिवृत्तोऽनुपरतः कामानिवृत्तः तस्य आत्मनोऽर्थः आत्मार्थोऽर्थ्यमानतया स्वर्गादिः अपराध्यत्यनेकार्थत्वाद्धातूनां नश्यति । यद्वा आत्मैवार्थ आत्मार्थः स एवापराध्यति नान्यः कश्चिदात्मव्यतिरिक्तोऽर्थः सापराधो भवति भजनयत्र दुर्गतिगमनेनेति भावः । आह विषयवाञ्छाविरोधिनि जिनागमे सति कथं कामानिवृत्तिसंभव उच्यते श्रुत्वाऽऽकर्ण्य नैयायिकं न्यायोपपन्न मार्गं सम्यग्दर्शनादिकं मुक्तिपथं यद्यस्माद् भूयः पुनः परिभ्रस्यति कामान्निवर्तित इति शेषः । कोऽभिप्रायो जिनागमश्रवणात् कामनिवृत्तिप्रतिपन्नोऽपि गुरुकर्म्मत्वात् प्रतिपतति ये तु श्रुत्वाऽपि न प्रतिपन्नाः श्रवणं येषां नास्ति ते कामनिवृत्ता एवेति भावः । यद्वा यदसौ कामानिवृत्तः सन् श्रुत्वा नैयायिकं मार्गं भूयः परिभ्रस्यति मिथ्यात्वं गच्छति तदस्यात्मार्थ एव गुरुकर्माऽपराध्यति अनेन मा भूत्कचित् मूढस्य सिद्धान्तमधीत्याप्युत्पथप्रस्थितान् विलोक्य सिद्धान्त एव द्वेष इति तदनपराधित्वमुक्तं पठ्यते च " एसो नेयाउयंति " स्पष्टमिति सूत्रार्थः ॥

यस्तु कामेभ्यो निवृत्तस्तस्य गुणमाह ॥

इह कामनियत्तस्स, अत्तट्ठे नावरज्झइ ॥
पूइदेहनिरोहेणं, भवे देव त्ति मे सुयं ॥ २६ ॥

इह कामेभ्योऽपि निवृत्तस्यात्मार्थः स्वर्गादिर्नापराध्यति न भ्रस्यति आत्मलक्षणो वार्थो न सापराधो भवति किं पुनरेवं यतः पूतिः कुथितो देहोऽर्थादौदारिकशरीरं तस्य निरोधोऽभावः पूतिदेहनिरोधस्तेन भवेत् स्यात् प्रकृतत्वात् कामनिवृत्तो देवः सौधर्मादिनिवासी सुरः उपलक्षणत्वात्सिद्धो वा इतीत्येतन्मया श्रुतमाकर्णितं परमगुरुभ्य इति गम्यते । अनेन स्वर्गाद्यवाप्तिरात्मार्थानपराधे निमित्तमुक्तमिति सूत्रार्थः ॥

ततश्च यदसावाप्नोति तदाह ॥

इड्ढीजुइजसोवन्नो, आउं सुहमणुत्तरं ॥
भुज्जो जत्थ मणुस्सेसु, तत्थ से उववज्जइ ॥ २७ ॥

ऋद्धिः कनकादिसमुदयो, द्युतिः शरीरकान्तिर्यशः पराक्रमकृता प्रसिद्धिर्वर्णो गाम्भीर्यादिगुणैः श्लाघा गौरादिर्वा । आयुर्जीवितम्, सुखं यथेप्सितविषयावाप्तावाह्लादो, न विद्यते उत्तरं प्रधानमस्मादित्यनुत्तरमिदं च सर्वत्र योज्यते । भूयः पुनर्देवभवापेक्षमेतत्तत्राप्यनुत्तराण्येव तान्यस्य संभवति । यत्र येषु मनुष्येषु मनुजेषु तत्र तेषु (सेत्ति) सः अथशब्दार्थो वा ततोऽनन्तरमुत्पद्यते जायत इति गाथार्थः। एवं कामानिवृत्त्या यस्यात्मार्थोऽपराध्यति स बाल इतरस्तु पण्डित इत्यर्थादुक्तम् । संप्रति पुनरनयोरेव साक्षात् स्वरूपं फलं चोपदर्श्योपदेशमाह ॥

बालस्स पस्स बालत्तं, अहम्मं पडिवज्जिणो ॥
चिच्चा धम्मं अहम्मिट्ठे, नरएसु उववज्जइ ॥ २८ ॥
धीरस्स पस्स धीरत्तं, सव्वधम्माणुवत्तिणो ॥
चिच्चा अहम्मं धम्मिट्ठे, देवेसु उववज्जइ ॥ २९ ॥
तुलियाणबालभावं, अबालं चेव पंडिए ॥
चइऊण बालभावं, अबालं सेवए मुणी ॥ ३० ॥

बालस्याज्ञस्य पश्यावधारय बालत्वमज्ञत्वं किं तदित्याह अधर्म्मं धर्म्मविपक्षं विषयासक्तिरूपं प्रतिपद्याभ्युपगम्य पठ्यते च (पडिवज्जिणोत्ति) प्रतिपादिनोऽवश्यं प्रतिपद्यमानस्य त्यक्त्वाऽपहाय धर्म्मं विषयनिवृत्तिरूपं सदाचारम् । (अहम्मिट्ठत्ति) प्राग्वन्नरके सीमन्तकादावुपलक्षणत्वादन्यत्र वा दुर्गतावुत्पद्यते । तथा धीर्बुद्धिस्तया राजत इति धीरो बुद्धिमान् परीषहाद्यक्षोभ्यो वा धीरस्तस्य पश्य प्रेक्षस्व धीरत्वं धीरभावं सर्वं धर्म्मं क्षान्त्यादिरूपमनुवर्त्तते तदनुकूलाचारतया स्वीकुरुत इत्येवं शीलो यस्तस्य सर्वधर्म्मानुवर्त्तिनो धीरत्वमेवाह त्यक्त्वा हित्वा अधर्म्मं विषयाभिरतिरूपमसदाचारं (धम्मिट्ठित्ति) इष्टधर्म्मा यदि वाऽतिशयेन धर्म्मवानिति इष्ठनि विन्मतोर्लुगिति मतुब्लोपे धर्म्मिष्ठ इति देवेषूत्पद्यते । यतश्चैवमतो यद्विधेयं तदाह तोलयित्वेति प्राग्वत् । बालभावं बालत्वम् । (अबालंत्ति) भावप्रधानत्वान्निर्देशस्यबालधीरत्वं चः समुच्चये (एवेति) प्राकृतत्वादनुस्वारलोप एवमनन्तरोक्तप्रकारेण पण्डितो बुद्धिमान् त्यक्त्वा बालभावं बालत्वम (अबालंति) अबालत्वं सेवते अनुतिष्ठति मुनिर्यतिरिति सूत्रत्रयार्थः । उत्त० ७ अ० । ("थूलं उरब्भं इह मारियाणं, उद्दिट्ठभत्तं च पगप्पपत्ता । तं लोण तेल्लेण उवक्खडेत्ता सपिप्पलीयं पगरंति मंसं" इति शाक्यमतम् । अद्दगकुमार शब्दे व्याख्यास्यामः) उरणे, ऊर्णायाम्, आ० म० द्वि० ।

उरब्भपुडसण्णिभा–उरभ्रपुटसन्निभा–स्त्री० उरभ्रऊरणस्तस्य पुटं नासापुटं तत्सन्निभा तत्सदृशी (मेषस्येव नासायां) " उरब्भपुडसंण्णिभा से नासा " । उपा० १ अ० ॥

उरब्भरुहिर–उरभ्ररुधिर–न० उरभ्र ऊरणस्तस्य रुधिरम् । मेषरक्ते, तद्धि अतिशोणितं भवतीति रोहितवस्तु तेनोपमीयते । जी० ३ प्रति० ॥

उरब्भिय–उरभ्रिय–न० उरभ्रादिपञ्चदृष्टान्तमये सप्तमे उत्तराध्ययने, । उत्त० । (उरब्भ शब्दे व्याख्यानम्)।

औरभ्रिक–पुं० उरभ्रा ऊरणकास्तैश्चरति यः स औरभ्रिकः उरभ्रस्य ऊर्णया तन्मांसादिना वात्मानं वर्त्तयति, "उरब्भं वा अण्णतरं तसं पाणं हंता जाव " । सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

उरय–उरज–पुं० गुच्छभेदे । प्रज्ञा० २ पद ।

उररी–देशी–पशौ, दे० ना० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उरलदुग–औदारिकद्विक–न० औदारिकशरीरौदारिकाङ्गो-पाङ्गनाम्नोः द्विकम् । औदारिकौदारिकमिश्रकाययोगयुगले, "उरलदुगकम्मपढमंतिम मम एघइ केवलदुगम्मि" कर्म० ॥

उरलविणु–औदारिकविना–अव्य० (प्राकृते समास इति प्रतीयते) औदारिकशरीरमौदारिकाङ्गोपाङ्गं च विनेत्यर्थे, " सुर-दुगपणिंदिसु खगइतसनवउरलविणुतणुवंगा " कर्म० ॥

उरसिरमुहबद्धकंठतोण–उरःशिरोमुखबद्धकण्ठतोण– त्रि० उरसा वक्षसा सह शिरोमुखा ऊर्द्धमुखा बद्धा यन्त्रिता कण्ठे गले तोणास्तोणीराः शरधयो यैस्ते उरःशिरोमुखबद्धतोणाः । बद्धतुणीरे, प्रश्न० अ० ३ द्वा० ॥

उरसी–उरसी–स्त्री० गुच्छभेदे, । प्रज्ञा० १ पद ॥

उरसुत्तिया–उरःसूत्रिका–स्त्री०७ त० । मुक्ताहारे, अमरः । जं०।

उरस्स–उरस्य–पुं० उरसैकादि० कृ यत् । वक्षसैकदेशगते, पुत्रे च । उरसि भवम् । आन्तरे, रा० ।

उरस्सबल-उरस्यबल-न० उरसि भवमुरस्यं तच्च तद्बलं च उरस्य बलम् । आन्तरोत्साहे, । अनु० । शारीरबले च । सूत्र० १ श्रु० ८ अ.

उरस्सबलसमण्णागय–उरस्यबलसमन्वागत–त्रि० उरस्यबलं समन्वागतः समनुप्राप्तः । आन्तरोत्साहवीर्य्ययुक्ते, । रा० । अनु० । आ० म० प्र० ॥

उ (ओ) राल–उदार–त्रि० उत् प्राबल्येन आरो येषां ते उदाराः ऊर्द्ध गमनस्वभावेषु, प्रबलशक्तिषु च । जी० १ प्रति० । रा० । जं० । आ० म० प्र० । दशा० । प्रधाने, भ० २ श० १ उ० । ज्ञा० । नि० । शोभने, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । अत्यद्भुते, चं० २० पाहु० " तेणं उरालेणं विउलेणं पयत्तेणं " उरालेन आशंसारहिततया प्रधानेन प्रधानं चाल्पमपि स्यादित्याह विपुलेन " भ० २ श० १ उ० ॥ " उग्गतवे दित्ततवे महातवे उराले घोरे घोरगुणे तवस्सी घोरबंभचेरवासी" उदारः प्रधानोऽथवा उरालो भीष्मः उग्रादिविशेषणविशिष्टतपःकरणतः पार्श्वस्थानामल्पसत्वानां भयानक इत्यर्थः । सू० प्र० १ पाहु० । जं० । औ० । चं० । रा० । वि० । "उरलाहि वग्गुहि" उदाराभिः शब्दतोऽर्थतश्च । भ० २ श० १ उ० । उदाराभिः सुन्दरध्वनिवर्णसंयुताभिः । कल्प० । उदाराभिरुदारनादवर्णोच्चारादिमुक्ताभिः । ज्ञा० १ अ० । जं० । विस्तराले विशाले, च । स्था० ५ ठा० । शरीरभेदे, । न० । उदारं प्रधानं प्राधान्यं च तीर्थकरगणधरशरीरापेक्षया ततोऽन्यस्यानुत्तरसुरशरीरस्यापि अनन्तगुणहीनत्वात् । यद्वा उदारं सातिरेकयोजनसहस्रमानत्वाच्छेषां शरीरापेक्षया बृहत्प्रमाणं बृहता चास्य वैक्रियं प्रतिभवधारणीयसहजशरीरापेक्षया द्रष्टव्या इति व्युत्पत्तेः । कर्म० । अनु० ।

उरालचरिय–उदारचरित-त्रि० सकलप्राणिषु समभावतया उदाराशये, "उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्" । षो० १४ विव० ।

उरु–उरु–त्रि० उर्णु-नुलोपो ह्रस्वश्च । विशाले, बृहति, वाच० विस्तीर्णे, "भमरोए" भ्रमरोमावर्ता उरवो विस्तीर्णा यत्रस तथा ज्ञा० १ अ० । बहुले, निरु० । उरोर्भावः पृथ्व्या० इमनिच् उरिमन् तद्भाव पक्ष त्व उरुत्व न० तल् उरुता, स्त्री० । अण्, औरवम्० न० तद्भावे, वाच० ।

उरुपुल्ल–देशी–अपूर्वे, धान्यमिश्रे च । दे० ना० ।

उरुमिल्ल–देशी–प्रेरितार्थे, दे० ना० ।

उरुसोल्ल–देशी–प्रेरितार्थे, दे० ना० ।

उरोवित्थडा–उरोविस्तृता–स्त्री० वक्षप्रदेश, " उरोवित्थडाए सिरेकम्माए" गलविवरस्य वर्तुलत्वात् । उपा० २ अ० ।

उरोविसुद्ध-उरोविशुद्ध–न० गेयशुद्धिभेदे, यदि उरसि स्वरः स्वभूमिकानुसारेण विशुद्धं भवति तत् उरोविशुद्धम्, रा० ।

उलिभ–देशी–निकूणिताक्षे, दे० ना० ।

उलित–देशी–उच्चस्थिते कूपे, दे० ना० ।

उलुंडिअ–देशी–प्रलुठिते, दे० ना० ।

उलुकसिअ–देशी–पुलकितार्थे, दे० ना० ।

उलुखंड–देशी–उल्मुके, दे० ना० ।

उलु– (लू) ग–उलूक–पुं० वलसमवाये उक् संप्रसारणम् ऊर्द्धकर्णः उलूकः । अनु० । सूत्र० । कौशिके, आ० म० । जातित्वात् स्त्रियां ङीष् वाच० । वैशेषिकशास्त्रप्रणेतरि कणादमुनौ च ।

दोहिं विणएहिं पिणीयं, सत्थमुलूएण बहविमिच्छत्तं ।
जं सव्वमिअप्पहाण–त्तणेण अणोरयणिक्खेवक्खा ॥

द्वाभ्यामपि द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयाभ्यां प्रणीतं शास्त्रमुलूकेन वैशेषिकशास्त्रप्रमाणेश्च द्रव्यगुणादेः पदार्थषट्कस्य नित्यैकान्तरूपस्य तत्र प्रतिपादनात् । तदेवोक्तं भगवता परमर्षिणोलूक्येन गुणो भावाद्गुणत्वमुक्तम् । सम्म० । आ० म० । विशे० । आचा० ॥ (विसेसियशब्दे समग्रं मतम्)

उलु (लु) गच्छि–उलुकाक्ष–पुं० उलूको घूकस्तस्येवाक्षिणी यस्य स उलुकाक्षः । कौशिकसदृशलोचने, बृ० ४ उ० । नि० चू० (उलूकाक्षदृष्टान्तो वुड्ढशब्दे)

उलु (लू) गपत्तलहुय–उलूकपत्रलघुक–त्रि० उलूकपत्रवल्लघुः कौशिकाच्छदलघीयसि । "उलुगपत्तलहुया पवयगुरुया ते आयरिया " । सूत्र० २ श्रु० १ अ० ॥

उलु (लू) गी–उलूकी– स्त्री० पोताकी प्रतिपक्षभूतायामुलूकप्रधानायाम् परिव्राजकमथिन्यां विद्यायाम्, विशे० । आ० म०

उलुफुंटीअ–देशी० विनिपाते, प्रशान्ते, दे० ना० ॥

उलुहंत–देशी० काके, दे० ना० ॥

उलुहलिय–देशी–तृप्तिरहिते, दे० ना० ।

उल्मुक–देशी० निकरे, वस्त्रे, दे० ना० ॥

उल्ल–आर्द्र–त्रि० अर्द-रक्-दीर्घश्च प्राकृते 'उदोद्वाऽऽर्द्रे' आर्द्रशब्दे आदेरात् उदोच्च वा भवतः । उल्लं । ओल्लं । पक्षे अल्लं अद्दं । प्रा० जलमिश्रिते, पिं० । अशुष्के, द० ५ अ० १ उ० । बाहसलिलपवहेण उल्लेइ । ८ । २ । ८ प्रा० । प्रचुरव्यञ्जने, । "उल्लं वा जइ वा सुक्कं" । द० ५ अ० २ उ० । वर्षणे, जीत० । नि० चू० । उत्त० ।

उल्लंक–उल्लङ्क–पुं० काष्ठमये "वारके, उल्लंकओकट्ठमओ वारओ" नि० चू० १२ उ० ।

उल्लंगच्छ–आर्द्रगच्छ–पुं० स्थविरादार्य्यरोहणात्काश्यपगोत्राभिनिर्गतस्य उद्देहगणस्य तृतीये गणे, । कल्प० ।

उल्लंघण–उल्लङ्घन–न० सकृल्लङ्घने, भ० १२ श० ४ उ० । सहजात्यादिविक्षेपान्मनागधिकतरे, पादविक्षेपे, प्रज्ञा० ३६ पद । द्वारागेल्लाबरंडकादेरूर्द्ध लङ्घने, भ० २५ श० ७ उ० । देहल्यादेर्लङ्घने, स्था० १० ठा० । कर्दमादीनामतिक्रमणे, उल्लङ्घयति अज्ञानिनामय वा बालानां हास्याद्यावनयकर्तृणां प्रायकसत्कौयमाचारमतिक्रामयतीति उल्लङ्घनः उत्त० १७ अ० । ग० । कर्त्तरि ल्युट् बालादीनामुचितप्रतिपत्त्यर्थं करणतोऽन्यः कर्त्तरि, वत्सडिम्भकादीनामुल्लङ्घनकर्त्तरि, " उल्लंघणे य चंडेय, पावसमणोत्ति वुच्चइ " उत्त० ८ अ० ।

उल्लंघित्तए-उल्लङ्घयितुम्- अव्य० बाहुजङ्घादिना सकृल्लङ्घनेन वा पारं गन्तुमित्यर्थे, प्रति० । भ० ८ श० ३३ उ० (वीइवयणशब्दे देवस्य तिर्यगुल्लङ्घनम्)

उल्लंड-विरेचि-धा० चुरा० विरेचेरोलुण्डोल्लण्डपल्हत्था ।८।४। ।२६ इति विरेचेरुल्लण्डादेशः । उल्लण्डइ-विरेइ विरेचयति । प्रा०।

उल्लंडग-उल्लण्डक-पुं० मृदङ्गिकायाम्, उल्लण्डका मुद्गोल्लका; बृ० ४ उ० ।

उल्लंघित-उल्लङ्घयत्- त्रि० सकृल्लङ्घनं कुर्वति, ज्ञा० ३ अ० ॥

उल्लंबण-उल्लम्बन-न.वृक्षशाखादावुद्बन्धने,तद्रूपे शारीरदण्डे,स.।

उल्लगण-आर्द्रगण- पुं० अशुष्कगोमये, बृ० (आर्द्रगणशब्दान्तो जिणकप्पियशब्दे निष्पत्तिद्वारे, स्पष्टीभविष्यति)

उल्लण-उल्वण- त्रि० उद् वणति-अच्- उत्कटे, प्रकाशान्विते, नतोन्नते, व्यक्ते, स्पष्टे, । वाच० । तीक्ष्णे, । अष्ट० । अवेद्यसंवेद्यपदं यस्मादासु तथोल्वणम् । पक्षिच्छायाजलचरप्रवृत्ताभमतःपरम् । द्वा० । आव० ।

उल्लणग-उल्लणक-न० स्नानजलार्द्रशरीरस्य रूषणवस्त्रे, उपा०।

उल्लणजोग-उल्वणजोग- पुं० क० स० । विड्जनाचरिते वस्त्रपुष्पादिनिर्देहसत्कारे, पंचा० २ विव० ॥

उल्लणियाविहि-आर्द्रनयानिकाविधि- पुं० जलार्द्रशरीरस्य जलरूषणविधौ, "तयाणंतरं चणं माणे उल्लणिया विहिपरिमाणं करेइ णणत्थ एगेणं गंधकासाईए अवसेसं सव्वं उल्लणियाविहिं पच्चक्खामि" । उपा० १ अ० (आणंदशब्दे सूत्रम्)

उल्लपडसाडिया-आर्द्रपटसाटिका-स्त्री० आर्द्रप्रावरणनिवसनयोः "उल्लपडसाडिया पुक्खरिणी पच्चुत्तरइ"उपा०२अ०।

उल्लभूमि-आर्द्रभूमि-स्त्री०अशुष्यन्त्यां भूमौ,"उल्लभूमीए असुक्खमाणीए" नि० चू० १ उ० ।

उल्लयट्ठीमहुय-आर्द्रयष्टिमधुक-न० आर्द्रे मधुररसवनस्पतिविशेषे, ॥ उपा० १ अ० ।

उल्लरय-देशी-कपर्दाभरणे, दे० ना० ।

उल्लालिय-उल्लालित-त्रि० " नाविंसएणिउज्जिहिति उल्लालियं णवाए" नि० चू० १ उ० ॥

उल्लविय-उल्लपित-न०मन्मथादिजल्पने,"अंगपच्चंगसंठाणं,चारुल्लवियपेहियं। बंभचेररओ थीणं,चक्खुगिज्झं विवज्जए"उत्त०।

उल्लस-उल्लस्-धा० उल्लासे, हर्षजनकव्यापारे " उल्लसे ऊसलो सुम्भणिल्लस पुलआअगुज्जोल्लारोः आः ८ । ४ । १ । उल्लसेरेते षडादेशा वा भवन्ति । ऊसलइ-ऊसुम्भइ णिल्लसइ पुलआअइ गुज्जोल्लइ । ह्रस्वत्वे तु गुज्जुल्लइ उल्लसति, प्रा० ।

उल्लसिय-उल्लासित-त्रि० उद्-लस्-क्त-स्फुरिते, उद्धते, हृष्टे च । वाच० सुद्धुल्लसिते भीते पच्चक्खाणे पडिच्छगच्छ थेरविद्द उहासिपतेण वि ताव मिसेण इत्थि पावामो हरिसितो नि० चू० १ उ० । पुलकितार्थे, दे० ना० ॥

उल्लाय-उल्लात-पुं० प्रबलपादप्रहारे, ॥ तं० ॥

उल्लालिय-उल्लालित-त्रि० ताडिते, आ० म० प्र० । रा० ।

उल्लालेमाण-उल्लालयत्-त्रि० ताडयति, " तिक्खुत्तो उल्लालेमाणे " । रा० ।

उल्लाव-उल्लाप-पुं० उद्-लप्-घञ् । काकुवर्णने यदाह । अनुलापो मुहुर्भाषा, प्रलापोऽनर्थकं वचः । काकावर्णनमुल्लापः, संलापो भाषणं मिथः । भ० ६ श० ३३ उ० । औ० । ज्ञा० स्था० । " कंदप्पो आणिहिया य उल्ला वा पसत्ता । सूत्र० १ श्रु० १ अ० शोकरोगादिना विकृतस्वरयुक्तवाक्ये, दुष्टवाक्ये, सूचने च, ततोऽस्त्यर्थे ठन् सूचके, त्रि० वाच० ॥

उल्लि-उल्लि-पुं० पनके, आव० ४ अ० । स्था० । आचा० ।

उल्लिहिय-उल्लिखित- उद् लिख्- क्त । घृष्टे, 'कुंद उल्लिहियगंदलेहा' ज्ञा० १ अ० । औ० । रा० । नि० ।

उल्ली-देशी०-तथेत्यर्थे, दे० ना० ॥

उल्लुंटिअ-देशी० संचूर्णिते, दे० ना० ॥

उल्लुक्क-तुड-धा. तोडने, तुडेस्तोड तुट्ट खुट्ट खुडो क्खुडो क्खडो उल्लुक्कणिल्लुक्क लुक्को ल्लूरा: ८।४।११६। इति तुडेरुल्लुक्कादेशः। उल्लुक्कइ तुडइ तुडति । प्रा० ॥ त्रुटिते, दे० ना० ॥

उल्लुगा-उल्लुका- स्त्री० स्वनामख्यातायां नद्याम्, तदुपलक्षिते जनपदे च । उल्लुका नाम नदी तदुपलक्षितो जनपदो प्युल्लुक। विशे० । आ० म० द्वि० । आ० क० । आ० चू० । स्था० ।

उल्लुयातीर-उल्लुकातीर- न० उल्लुकानदीतीर वर्तिनि नगरे, यतः प्रस्थितस्योल्लुकानदीमुत्तरतो गङ्गाचार्यस्य युगपच्छीतोष्णावेदनाद्वयमनुभवतो द्वैक्रियबुद्धिर्जाता ततो द्वैक्रियनिह्नवा उत्पन्नाः । उत्त० ३ अ० । स्था० । आ० म० द्वि० । विशे० ।

तएणं समणे भगवं महावीरे अण्णया कयावि रायगिहाओ णयराओ गुणसिलाओ चेइयाओ पडिणिक्खमइ पडिणिक्खमइत्ता बहिया जणवयविहारं विहरइ तेणं कालेणं तेणं समएणं उल्लुयातीरे णामं णयरे होत्था । वण्णओ तस्स णं उल्लुयातीरस्स णयरस्स बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए एत्थणं एगजंबुए णामं चेइए होत्था । वण्णओ तस्स णं तएणं समणे भगवं महावीरे अण्णया कयावि पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे जाव एगजंबुए समोसढे जाव परिसापडिगया भंतेत्ति । भ० १६ श० ३ उ० ।

उल्लुरुह-देशी० लघुशङ्खे, दे० ना० ।

उल्लुह-निर्-सृ. धा. बहिर्गमने, धातवोऽर्थान्तरेऽपि ८।४।५८। इति निः सरतेरुल्लुहादेशः । उल्लुहइ, निःसरति । प्रा० ।

उल्लूढो-देशी० अङ्कुरिते, दे० ना० ॥

उल्लेव-देशी० हासे, दे० ना० ॥

उल्लेवण-देशी० घृते, दे० ना० ॥

उल्लेहड-देशी० लम्पटे, दे० ना० ॥

उल्लोइय-उल्लोचित-न० कुड्यानामालस्य च सेटिकादिभिः समष्टीकरणे, धवलने 'लाइ उल्लोइय महियं' ज्ञा० १ अ० । औ० । जं० । स० । नि० । जी० । क० । प्रज्ञा० ॥

उल्लोय-उल्लोक-पुं० उपरितनभागे, जी० ३ प्रति० । रा० । जं० । कल्प० । चं० । मनागालोके च । जं० १ वक्ष० ।

उल्लोच- पुं० ऊर्ध्वं लोच्यते उद् लोच् कर्मणि घञ् । निष्ठाया सेट्कत्वात् न कुत्वम् । उपरितले च । भ० १४ श० ६ उ० । कल्प० । वितानें, दे० ना० ॥

उल्लोयतल-उल्लोकतल-न० उपरितनभागे, । ज्ञा० १ अ० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उल्लोयमेताग–उल्लोकमात्र–न० यावता भवतो मनाक् कालविभागरूप आलोको भवति तावन्मात्रके, । जो० १ पाहु० ॥

उल्लोयवणग–उल्लोकवर्णक–पुं० प्रासादस्योपरिभागवर्णके,॥ स चैवम् "तस्स णं पासायवर्डिसगस्स इमेयारूवे उल्लोए पण्णत्ते पउमलयभित्तिचित्ते जाव सव्वतवणिज्जमए अच्छे जाव पडिरूवे" ॥ ज० २ श० ८ उ० ॥

उल्लोल–देशी–शत्रौ, दे० ना० ।

उल्लोलंत–उल्लोलयत्–त्रि० शरीरापवर्त्तनं कुर्वाणे, "उल्लोलंतं वा साइज्जइ" । नि० चू० १७ उ० । आचा० ।

उव-उप–अव्य० वप् क० सामीप्ये, "उवदंसिया भगवया पण्णवणा सव्वभावाणं " उपसामीप्येन यथा श्रोतॄणां झटिति यथावस्थितवस्तुतत्त्वावबोधो भवति तथा स्फुटवचनैरित्यर्थः— दर्शिता श्रवणगोचरं नीता उपदिष्टा इत्यर्थः । प्रज्ञा० १ पद उत्त० । आचा०। प्रव०। सूत्र । आ० म० प्र० । ज०। सामस्त्ये,॥ रा०। सादृश्ये, उपशब्द उपमेति वत् सादृश्येऽपि दृश्यते, उत्त०२ अ०। सकृदर्थे, अन्तरर्थे, आव०४ अ०। अधिकार्थेहीने, आसन्ने, प्रतिपन्ने, सतो गुणान्तराधाने, व्याप्तौ, पूजायाम्, शक्तौ, आरम्भे, दाने, दोषाख्याने, आचार्यकरणे, अत्यये निदर्शने, वाच० ॥

उवइय–उपाचित–त्रि० उप० चि क्त० । उन्नते, औ०॥ लेपनादिना वर्द्धिष्णौ, निदिग्धे, अमरः। समाहिते, हेम०। सञ्चिते, च। वाच० ॥

उवइया–उपचिता–स्त्री० कुड्यादौ संचरणशीले त्रीन्द्रियजीवभेदे । वृ० ए उ० । जी० ॥

उवउज्ज–उपयुज्य–अव्य० उपयोगं कृत्वेत्यर्थे, दीहादिदारा उवउज्ज जं जुज्जति जाएयव्वं । नि० चू० १ उ० ॥

उवउत्त-उपयुक्त–त्रि० उप-युज-क्त. । दत्तावधाने, जीत० । पंचा० । सावधाने, पंचा०५ विव० उद्यते, आतु०। अप्रमत्ते, नि०चू०१ उ०। उपयोगवति, विपा०२अ०। "दंसणनाणोवउत्ता" औ० । ज्ञेयप्रत्याख्येयविषयज्ञानप्रत्याख्यानपरिणामे, आ० म० द्वि० । विशे० । न्याय्ये, रचिते, युक्ते च । वाच० ॥

उवएस–उपदेस–पुं० उप-दिश्-घञ् । उपदेशनमुपदेशः कथने,। नं० । भणने, प्ररूपणे, । विशे० । आ० म० प्र० । प्रज्ञापनायाम, । सू०१ उ०। सूत्रानुसारेण कथने,। आव०४ अ०। हेयोपादेयोपेक्षणीयार्थेषु हानोपादानोपेक्षणीयभणने, । दर्श० । वर्तने, पंचा०२ विव०। अन्यतरक्रियायां प्रवर्तनेच्छाकरणे, । अनु० ॥ न च हितोपदेशादपरः पारमार्थिकः परार्थः तथा चार्षम्। रूसओ वा परो मा वा,विसं वा परियत्तओ। भासियव्वाहिया भासा, सपक्खगुणकारिया ॥१॥ स्या०। उवाच वाचकमुख्यः। न भवति धर्मः श्रोतुः सर्वस्यैकान्ततो हितश्रवणात्। ब्रुवतोऽनुग्रहबुद्ध्या वक्तुस्त्वेकान्ततो भवति ॥ उपदेशो हि मूर्खाणां, प्रकोपाय न शान्तये। पयःपानं भुजङ्गानां, केवलं विषवर्द्धनमिति। पंचा०१२ विव०।(धम्मकहा शब्दे विस्तरतः उपदेशप्रकारो वक्ष्यते उचियपवित्ति शब्दे वर्जयदेनेकोपघातकारकम् इत्याद्युक्तम्) श्राद्धकादिकुलाख्याने, आव ४ अ०। उपदिश्यत इत्युपदेशः उपदेष्टुमिष्टवस्तुविशेषे,॥ भूयो भूय उपदेश इति भूयो भूयः पुनः पुनरुपदिश्यत इत्युपदेश उपदेष्टुमिष्टवस्तुविषयः कथंचिदनवगमे सति कार्यः किं न क्रियते दृढसन्निपातरोगिणां पुनः पुनः क्रियातिक्तादिक्काथपानोपचार इति । ध० १ अधि० । गुरूणांशिक्षावाक्ये, "तहियाणंतु भासणं सब्भावे उवएसणं" उत्त० २८ अ०। प्रत्युपेक्षणाप्रस्फोटनाक्रियायाम्, नि० चू० १ उ० । दर्शने, शास्त्रे, आचा० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० ॥

उवएसग–उपदेशक–त्रि० उप-दिश्-ण्वुल्-उपदेशकर्तरि, " हिआणं पुव्वसंजोगं सिया किच्चोवएसगा " सूत्र० १श्रु० १अ०॥

उवए (दे) सण–उपदेशन–न० उपदिश्यत इत्युपदेशनम् । उपदेशनक्रियाया व्याप्ये, उपलक्षणत्वादस्याः क्रियायाः व्याप्ये कर्मणि, "विइया उवएसणे " उपदेशने कर्मणि द्वितीया यथा भण इमं श्लोकं कुरु वा तं ददाति तं य ति ग्रामम्। स्था०७ठा०॥

उवए (दे) सणा–उपदेशना–स्त्री० कथनायाम, "पंचविधपयत्थोवदेसणया" । विशे० ॥

उवएसमाला–उपदेशमाला–स्त्री० स्वनामख्याते ग्रन्थभेदे, ग० १ अधि०। तथा कश्चित्परपक्षी प्रार्थनां करोति तदर्थमुपदेशमालागाथावलोकने दूषणं लगति नवेति प्रश्नः यदि स निष्कपटतया प्रार्थनां करोति तदर्थमुपदेशमालागाथावलोकने सर्वथा दूषणं ज्ञातं नास्ति इति । सेन० ४ उल्ला० १३५ प्र० ॥

उवएसरयणकोस–उपदेशरत्नकोश–पुं० उपदेशा हेयोपादेयोपेक्षणीयार्थेषु हानोपादानोपेक्षणीयभणनानि त एव रत्नानि तेषां कोश एव भण्डारवदुपदेशरत्नकोशः। दर्शनशुद्धिनामके ग्रन्थे, दर्श० ॥

उवएसरयणागर–उपदेशरत्नाकर–पुं० स्वनामख्याते ग्रन्थभेदे, यत उपदेशरत्नाकरे सम्यक्त्वाणुव्रतादि श्राद्धधर्मरहिता नमस्कारगुणा जिनार्चनवन्दनाभिग्रहस्मृते । ध० २ अधि०॥

उवएसरुइ–उपदेशरुचि–पुं० क० स० साधूपदेशात्तत्त्वश्रद्धाने, ग०१अधि०। परोपदेशप्रयुक्ते जीवाजीवादिपदार्थविषयिकश्रद्धाने, सम्यक्त्वभेदे च। ध० २ अधि । उपदेशो गुर्वादिना वस्तुतत्त्वकथनं तेन रुचिर्जिनप्रणीततत्त्वाभिलाषरूपा यस्य स उपदेशरुचिः। स्था.२ ठा०। यो हि जिनोक्तानेव जीवादीनर्थान् तीर्थकरतच्छिष्यादिनोपदिष्टान् श्रद्धत्ते तस्मिन्। दर्शनार्यभेदे, स्था० १० ठा० । उत्त० ।

तस्य स्वरूपं यथा ।

> एए चेव उ भावे, उवइट्ठे जो परेण न सद्दहइ ।
> छउमत्थेण जिणेण व, उवएसरुइत्ति नायव्वा ॥ ६ए॥

एतांश्चैवानन्तरोक्तांस्तु पुनः भावान् जीवादीनुपदिष्टान् कथितान् परेणान्येन न श्रद्धाति न तथेति प्रतिपद्यते । कीदृशा परेण छादयतीति छद्म घातिकर्मचतुष्टयं तत्र तिष्ठति छद्मस्थोऽनुत्पन्नकेवलस्तेन जयति रागादीनि जिनस्तेन वोत्पन्नकेवलज्ञानेन तीर्थकृदादिना छद्मस्थस्य प्राग्उपन्यासस्तत्पूर्वकत्वाज्जिनस्य प्राचुर्येण वा तथाविधोपदेष्टॄणां स ईदृक्किमित्याह उपदेशरुचिरिति ज्ञातव्यः । प्रव० १७० द्वा० ॥

उवएसलद्ध-उपदेशलब्ध–त्रि०लब्धोपदेशे, " इय उवएसं लद्धा इयविसाणं पत्ता " उपा० ३ अ० ।

उवएसिय–उपदेशित–त्रि–उपदिष्टे 'सामाइयणिज्जुत्ति,वोच्छं उवएसियं गुरुजणेणं। आयरियपरंपरएण आगयं आणुपुव्वीए'विशे०

उवओग–उपयोग–पुं० उपयोजनमुपयोगः भावे घञ्। उपयुज्यते वस्तुपरिच्छेदं प्रति व्यापार्यते जीवोऽनेनेत्युपयोगः। पुन्नाम्नि करणे घञ् प्रत्ययः । उपयुज्यते वस्तु परिच्छेदं प्रति व्यापार्यत इत्युपयोगः कर्मणि घञ् । बोधरूपे जीवस्य तत्त्वभूते व्यापारे, प्रज्ञा० २७ पद । कल्प० । प्रव०। आव० । दर्श०। स्या०। उपयोगो ज्ञानं संवेदनं प्रत्ययः इति पर्यायाः । विशे० । अनु० ।

उपयोगभेदाः ।

कतिविहेणं भंते उवओगे पण्णत्ते ? गोयमा ! दुविहे उवओ-

गे पण्णत्ते तंजहा सागारोवओगे य अणागारोवओगे य ॥

कतिविधः कतिप्रकारः सूत्रे णकारो मागधभाषालक्षणवशात् णमिति वाक्यालंकृतौ भदन्त परमकल्याणयोगिन् उपयोगे उप- योजनमुपयोगो भावे घञ् यद्वा उपयुज्यते वस्तुपरिच्छेदं प्रति व्यापार्यते जीवोऽनेनेत्युपयोगः पुन्नाम्नि करणे घञ् प्रत्ययो बोध- रूपो जीवस्य तत्त्वभूतो व्यापारः प्रश्नः प्रतिपादितः भगवा- नाह गोयमेत्यादि ॥ आकारप्रतिनियतो ग्रहणपरिणामः "आ- गारोऽविसेसो " इति वचनात् सह आकारेण वर्तत इति साकारः स चासावुपयोगश्च साकारोपयोगः । किमुक्तं भवति । सचेतने अचेतने वा वस्तुनि उपयुञ्जान आत्मा यदा सपर्या- यमेव वस्तु परिच्छिनत्ति तदा स उपयोगः साकार उच्यते इति । स च कालतः छद्मस्थानामन्तर्मुहूर्तं कालं केवलिनामेक सामयिकः । तथा न विद्यते यथोक्तरूप आकारो यत्र सोऽ- नाकारः स चासावुपयोगश्चानाकारोपयोगः । यत्तु वस्तुनः सामान्यरूपतया परिच्छेदः सोऽनाकारोपयोगः स्कन्धावारो- पयोगवदित्यर्थः । असावपि छद्मस्थानामान्तर्मौहूर्तिकः परम- नाकारोपयोगकालात्साकारोपयोगकालः संख्येयगुणः प्रति- पत्तव्यः पर्यायपरिच्छेदकतया चिरकाललगनात् छद्मस्थानां तथास्वाभाव्यात् । केवलिनां त्वनाकारोपयोग एकसामायिकः चशब्दौ स्वगतानेकभेदसूचकौ ।

तत्र साकारोपयोगभेदानभिधित्सुरिदमाह ॥

सागारोवओगेणं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! अ- ट्ठविहे पण्णत्ते, तंजहा आभिनिबोहियनाणसागारोवओगे सुयनाणसागारोवओगे, ओहिनाणमणपज्जवसागारोवओगे केवलनाणसागारोवओगे य । मतिअन्नाणसागारोवओगे सुयअन्नाणसागारोवओगे विभंगनाणसागारोवओगे य ॥

अर्थाभिमुखो नियतः प्रतिस्वरूपको बोधो बोधविशेषोऽभि- निबोधः । अभिनिबोध एव आभिनिबोधिकम् । अभिनिबोधश- ब्दस्य विनयादिपाठाभ्युपगमात् विनयादिभ्य इत्यनेन स्वार्थे इ- कण् प्रत्ययः । अनिवर्तन्ते स्वार्थे प्रत्ययकाः प्रकृतिलिङ्गवच- नानीति वचनात्तत्र नपुंसकता यथा विनय एव वैनयिकमित्यत्र। अथवा अभिनिबुध्यते असावस्मिन् वेति अभिनिबोधस्तदाव- रणकर्मक्षयोपशमस्तेन निर्वृत्तमाभिनिबोधिकं तच्च तज्ज्ञानं चा- भिनिबोधिकज्ञानम् । इन्द्रियमनोनिमित्तो योग्यप्रदेशावस्थित वस्तु- विषयः स्फुटप्रतिभासो बोधविशेष इत्यर्थः । सचासौ साकारोप- योगश्च आभिनिबोधिकज्ञानसाकारोपयोगः । एवं सर्वत्रापि स- मासः कर्तव्यः । तथा श्रवणं श्रुतं वाच्यवाचकभावपुरस्सरीकर- णशब्दसंस्पृष्टार्थग्रहणहेतुरुपलब्धिविशेष एवमाकारं वस्तु घट- शब्दवाच्यं जलधारणाद्यर्थक्रियासमर्थमित्यादिरूपतया प्रधानी- कृतः समानपरिणामशब्दार्थपर्यालोचनानुसारी इन्द्रियमनो- निमित्तागमविशेष इत्यर्थः । श्रुतं च तज्ज्ञानं च श्रुतज्ञानं ततो भूयः साकारोपयोगशब्देन विशेषणसमासः तथाऽवशब्दोऽधः शब्दार्थः । अव अधो विस्तृतं वस्तु धीयते परिच्छिद्यतेऽनेनेत्यव- धिः । यद्वा अवधिः मर्यादारूपिष्वेव द्रव्येषु परिच्छेदकतया प्रवृ- त्तिरूपा तदुपलक्षितं ज्ञानमप्यवधिः । अवधिश्चासौ ज्ञानं चा- वधिज्ञानम् । तथा परि सर्वतोभावे अवनं अवः तुदादिभ्योऽन् कश्चिदित्यधिकारे अकितौ चेत्यकारप्रत्ययः अवनं गमनमिति प- र्यायः । परि अवः पर्यवः मनसि मनसो वा पर्यवो मनःपर्यवः सर्वतस्तत्परिच्छेद इत्यर्थः । पाठान्तरं पर्यय इति तत्र पर्ययणं पर्ययः मनसि मनसो वा पर्ययः मनःपर्ययः । सर्वतस्तत्परि- च्छेद इत्यर्थः । स चासौ ज्ञानं मनःपर्ययज्ञानं मनःपर्यवज्ञानं वा । अथवा मनःपर्यायेति पाठान्तरं तत्र मनांसि पर्येति सर्वा- त्मना परिच्छिनत्ति मनःपर्यायं कर्मण्यण् । मनःपर्यायं च तत् ज्ञानं मनःपर्यायज्ञानं यदि वा मनसः पर्याया मनःपर्यायाः । पर्याया धर्मा बाह्यवस्त्वालोचनप्रकारा इत्यनर्थान्तरं तेषु तेषां वा संबन्धिज्ञानं मनःपर्यायज्ञानमिदं चार्द्धतृतीयद्वीपसमुद्रान्तवर्ति- संज्ञिमनोगतद्रव्यालम्बनम् । तथा केवलमेकं मत्यादिज्ञाननिर- पेक्षत्वात् "नट्ठम्मि उ छाउमत्थिए नाणे" इति वचनात् शुद्धं वा केवलं तदावरणं मलकलङ्कविगमात् । सकलं वा केवलं प्रथमत एवाशेषतदावरणविगमतः संपूर्णोत्पत्तेः । असाधारणं वा केवलमनन्यतः सदृशत्वात् । अनन्तं वा केवलं ज्ञेयानन्तत्वात् । केवलं च तत् ज्ञानं तथा मतिश्रुतावधय एव यदा मिथ्यात्वकलु- षिता भवन्ति तदा यथाक्रमं मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानव्यपदे- शाँल्लभन्ते । उक्तं च । आद्यं त्रयमज्ञानमपि भवति मिथ्यात्वसंयु- क्तमिति । विभङ्ग इति विपरीतो भङ्गः परिच्छित्तिप्रकारो यस्य तद्विभङ्गं तच्च तत् ज्ञानं च विभङ्गज्ञानं सर्वत्रापि च साकारोप- योगशब्देन विशेषणसमासः ॥

॥ अनाकारोपयोगभेदानभिधित्सुराह ॥

अणागारोवओगेणं भंते ! कइविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! चउव्विहे पण्णत्ते, तंजहा चक्खुदंसणअणागारोवओगे, अच- क्खुदंसणअणागारोवओगे, ओहिदंसणअणागारोवओगे केवलदंसणअणागारोवओगे ।

तत्र चक्षुषा चक्षुरिन्द्रियेण दर्शनं रूपसामान्यग्रहणं च चक्षुर्द- र्शनं तच्च तत् अनाकारोपयोगः । अचक्षुषा चक्षुर्वर्जशेषेन्द्रियमनो- भिर्दर्शनं स्वस्वविषये सामान्यग्रहणमचक्षुर्दर्शनम् । ततोऽनाका- रोपयोगशब्देन विशेषणसमासः । एवमुत्तरत्रापि अवधिरेव रूप- दर्शनं सामान्यग्रहणमवधिदर्शनं केवलमिव सकलजगद्भाविस- मस्तवस्तुसामान्यपरिच्छेदरूपं दर्शनं केवलदर्शनम् । अथ मनः- पर्यायदर्शनमपि कस्मान्न भवति येन पञ्चमोऽनाकारोपयोगो न भवतीति चेदुच्यते मनःपर्यायविषयं हि ज्ञानं मनसा पर्या- यानेव विविक्तान् गृह्णत् कश्चिदुपजायते पर्यायाश्च विशेषा विशेषालम्बनं च ज्ञानं ज्ञानमेव न दर्शनमिति मनःपर्यायद- र्शनाभावस्तदभावाच्च पञ्चमानाकारोपयोगासम्भव इति (एवं जीवाणमित्यादि) एवं निर्विशेषेणोपयोगवत् जीवानाम- नुपयोगो द्विविधः प्रश्नो भणितव्यस्तत्रापि साकारोपयोगो ऽष्टविधोऽनाकारोपयोगश्चतुर्विधः । एतदुक्तं भवति । यथा प्राक् जीवपदरहितमुपयोगसूत्रं सामान्यत उक्तं तथा जीवपदसहितम- पि भणितव्यं तद्यथा "जीवाणं भंते ! कतिविहे उवओगे पण्णत्ते ? गोयमा ! दुविहे उवओगे पण्णत्ते तंजहा सागारोवओगे य अणा- गारोवओगे य जीवाणं भंते ! कतिविहे उवओगे पण्णत्ते? गोयमा! दुविहे उवओगे अट्ठविहे पण्णत्ते तंजहा इत्यादि" तदेवं सामान्य- तो जीवानामुपयोगश्चिन्तितः । प्रज्ञा० २७ पद । नं० । प्रव० ॥

उपयोगः साकारानाकारद्वयात्मकः प्रमाणमितरथाऽप्रमाणम् ॥ उपयोगः परस्परसव्यपेक्षसामान्यविशेषग्रहणप्रवृत्तदर्शनज्ञानस्व- रूपद्वयात्मकः प्रमाणं दर्शनाज्ञानैकान्तरूपस्त्वप्रमाणमिति दर्शयि- तुं प्रकरणमारभमाणो द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकाभिमतं प्रत्येकदर्शन- ज्ञानस्वरूपप्रतिपादकगाथामाहाचार्यः ।

जं सामण्णग्गहणं, दंसणमेयं विसेसियं णाणं ।
दोण्हं वि णयाण एसो, पाडेक्कं अत्थपज्जाओ ॥

द्रव्यास्तिकस्य सामान्यमेव वस्तु तदेव गृह्यते अनेनेति ग्रहणं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दर्शनमेतदुच्यते पर्यायास्तिकस्य तु विशेष एव वस्तु स एव गृह्यते येन तज्ज्ञानमभिधीयते ग्रहणं विशेषितमिति विशेषग्रहणमित्यभिप्राययोरप्यनयोर्नययोरेकं प्रत्येकमर्थपर्यायोऽर्थविषयं पर्यैत्यवगच्छति यः सोऽर्थपर्याय ईदृग्भूतार्थग्राहकत्वमित्यर्थः । उपयोगस्य चानाकारसाकारस्ते सामान्यविशेषग्राहके एते चत्वा रस्तत्राभिधीयते नविद्यमान आकारो भेदो ग्राह्यस्यास्येत्यनाकारो दर्शनमुच्यते सहाकारैर्ग्राह्यभेदैर्वर्तते यद्ग्राहकं तत्साकारं ज्ञानमित्युच्यते । अनाकारसाकारोपयोगौ तूपसर्जनीकृततदितराकारौ स्वविभासकत्वेन प्रवर्तमानौ प्रमाणं नतु निरस्तेतराकारौ तथाभूतवस्तुविषयाभावेन निर्विषयतया प्रमाणत्वानुपपत्तेरितरांशनिरपेक्षैकांशरूपोपयोगसत्तानुपपत्तेश्च तेनैकान्तवाद्यभ्युपगमो बोधमात्रं प्रमाणं साकारो बोधोऽनधिगतार्थाधिगन्तृत्वविशिष्टः स एव ज्ञातृव्यापारोऽर्थदृष्टताख्यफलानुमेयोऽसंवेदनाख्यफलानुमेयो वाऽनधिगतार्थो विगत इन्द्रियादि संपाद्यो व्यभिचारादिविशेषणविशिष्टार्थोपलब्धिजनिका सामग्री तदेकदेशो वा बोधरूपो वा साधकत्वात्प्रमाणमित्यादिरूपोऽयुक्तः । निराकारस्य केवलबोधरूपस्य ज्ञानस्यैव प्रामाण्यमिति विज्ञानवादिनोऽन्ये च स्वस्वस्थाने स्वस्वमतमुद्भाव्य परास्ता भविष्यन्ति । सम्म० । (तदेतत्संमतितर्कत एव विज्ञेयमिहापि यथावसरं किञ्चिद्वक्ष्ये) सामान्यविशेषात्मके च प्रमाणप्रमेयरूपे वस्तुतत्त्वे व्यवस्थिते द्रव्यास्तिकस्यालोचनमात्रं विशेषाकारत्यागिदर्शनं यत्तत्सत्यमितरस्य तु विशेषाकारसामान्याकाररहितं यज्ज्ञानं तदिव पारमार्थिकमभिप्रेतं प्रत्येकमेषोऽर्थपर्याय इति वचनात् प्रमाणं तु द्रव्यपर्यायौ दर्शनज्ञानस्वरूपावन्योऽन्याविनिर्भागवर्तिनाविति दर्शयन्नाह ।

दव्वट्ठिओ वि होऊण, दंसणे पज्जवट्ठिओ होइ ।
उवसमिआई भावं, पडुच्च णाणे उ विवरीयं ॥

अस्यास्तात्पर्यार्थः दर्शनेऽपि विशेषांशो न निवृत्तो नापि ज्ञाने सामान्यांश इति द्रव्यास्तिकोऽपीति आत्मा द्रव्यार्थरूपः स भूत्वा दर्शने सामान्यात्मके स ह्यात्मा चेतनालोकमात्रस्वभावो भूत्वा तत्रैव पर्यायास्तिको विशेषकरोऽपि भवति यदा हि विशेषरूपतयाऽऽत्मा संपद्यते तदा सामान्यस्वभावं परित्यजन्नेव विशेषाकारश्च विशेषावगमस्वभावं ज्ञानं दर्शने सामान्यपर्यालोचने प्रवृत्तोऽप्युपात्तज्ञानाकारो न हि विशिष्टेन रूपेण विना सामान्यं संभवति एतदेवाह औपशमिकादिभावं प्रतीत्येति औपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकादीन् भावान् अपेक्ष्य विशेषरूपत्वेन ज्ञानस्वभावात् वैपरीत्यं सामान्यरूपतां प्रतिपद्यते विशेषरूपः सन् स एव सामान्यरूपोऽपि भवति न ह्यस्ति सामान्यं विशेषविकलं वस्तुत्वात् शिवकादिविकलमृत्त्ववत् विशेषा वा सामान्यविकला न सन्ति असामान्यत्वात् मृत्त्वरहितशिवकादिवदत्र च सामान्यविशेषात्मके प्रमेयवस्तुनि तद्ग्राहि प्रमाणमपि दर्शनज्ञानरूपं तथाऽपि छद्मस्थोपयोगस्वाभाव्यात् कदाचिज्ज्ञानोपसर्जनो दर्शनोपयोगः कदाचित्तु दर्शनोपसर्जनो ज्ञानोपयोग इति क्रमेण दर्शनज्ञानोपयोगौ । क्षायिके तु ज्ञानदर्शने युगपद्वर्तिदीपमिति दर्शयन्नाह सूरिः ।

मणपज्जवणाणस्स यं, दरिसणस्स य विसेसो य ।
केवलणाणं पुण दं-सणंति नाणंति य समाणं ॥

मनःपर्यायज्ञानं मनःपर्यवसानं यस्याविश्लेषस्य स तथोक्तः ज्ञानस्य च दर्शनस्य च विश्लेषः पृथग्भावः मत्यादिषु चतुर्षु ज्ञानदर्शनोपयोगौ क्रमेण भवत इति यावत् । तथा हि चक्षुरचक्षुरवधिज्ञानानि चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनेभ्यः पृथक्कालानि छद्मस्थोपयोगात्मकज्ञानत्वात् श्रुतमनःपर्यायज्ञानवत् वाच्यार्थविशेषविषयं श्रुतज्ञानं मनोद्रव्यविशेषालम्बनं च मनःपर्यायज्ञानमेतद्द्वयमप्यदर्शनस्वभावं मत्यवधिज्ञानदर्शनोपयोगात् भिन्नकालं सिद्धं केवलज्ञानं पुनः केवलाख्यो बोधो दर्शनमिति वाज्ञानमिति वाऽन्यत्केवलं तत्समानकालं द्वयमपि युगपदेवेति भावः ॥ सम्म० । (अत्र बहु वक्तव्यं तच्च ग्रन्थविस्तरभयान्नोच्यते किंतु विशेषजिज्ञासुना सम्मतितर्कत एव समवलोकनीयम्) सिद्धः साकारोपयोग एव सिध्यतीति केवलस्य साकारत्वात् यौगपद्यम् । कथं पुनरसौ साकारोपयोग एव सिध्यतीत्याह ।

सव्वाओ लद्धीओ, जं सागारोवओगलाभाओ ।
तेणेह सिद्धलद्धी, उप्पज्जइ तदुवउत्तस्स ॥

प्रतीतार्थैव । एतच्च साकारोपयोगवर्तमानः सिध्यतीति विशेषेणं प्रज्ञापनायां विहितम् । अनेन चात्र केवलसाकारोपयोगे ये विप्रतिपद्यन्ते साकारानाकारोपयोगयोः सिद्धस्य युगपदभ्युपगमात्ते निरस्ताः अत एवाह ।

एवं च गम्मइ धुवं, तरतमजोगोवओगया तस्स ।
जुगवोवओगभावे, साकारविसेसणमुदुत्तं ॥

एवं च साकारोपयोगविशेषणाद्गम्यते किमत आह । ध्रुवं निश्चितं तरतमयोगोपयोगता सिद्धस्य अन्यस्मिन्काले तस्य साकारोपयोगोऽन्यत्र चानाकारोपयोग इति । अन्यथा बाधामाह । युगपदुपयोगभावे साकारविशेषणं प्रज्ञापनोक्तमयुक्तमेव स्यादिति । अत्र परमतमाशङ्क्यपरिहरन्नाह ।

अहव मई सव्वं वि य, सागारं से तओ अदोसो त्ति ।
नाणंति दंसणंति य, न विसेसो तं च नो जम्हा ॥
सागारमणागारं, लक्खणमेयंति भणियमिह चेव ।
तह नाणदंसणाइं, समए वीसुं पसिद्धाइं ॥

अथ मतिः परस्य सर्वमेव (से) तस्य सिद्धस्य ज्ञानं दर्शनं वा साकारं ततः साकारोपयोगविशेषणे अदोष एव स्वरूपविशेषणत्वात्तस्य । यदपि केवलज्ञानं केवलदर्शनं च तस्योच्यते तस्यापि तयोर्निर्विशेष इत्यभिप्रायवता प्रोक्तं स्तुतिकारेण एवं कल्पितभेदमप्रतिहतं सर्वज्ञतालाञ्छनं सर्वेषां तमसां निहन्तृ जगतामालोकनं शाश्वतं नित्यं पश्यति बुध्यते च युगपन्नानाविधानि प्रभास्थित्युत्पत्तिविनाशवन्ति त्रिमलद्रव्याणि तत्केवलं तच्च न युक्तं यस्मात्साकारमनाकारं च लक्षणं सिद्धानामितीहैव पुरतो भणितं वर्तते यद्वक्ष्यति "असरीरा जीवघणा, उवउत्ता दंसणेय नाणे य । सागारमणागारं, लक्खणमेयं तु सिद्धाणं " इति । तदनयोः साकारनाकारलक्षणयोर्भेदनोक्तत्वात्कथमुच्यते सर्वमेव तस्य साकारमिति भावः । तथा समये सिद्धान्ते विष्वक्पार्थक्येन ज्ञानदर्शने सिद्धानां तेषु तेषु स्थानेषु प्रसिद्धे अतः कथं तयोरविशेषः उच्यत इति हृदयम् ।

तदविशेषे हि बहवो दोषाः के इत्याह ।

पत्तेयावरणत्तं, इहरा बारसविहोवओगो य ।
नाणं पंचवियप्पं, चउव्विहं दंसणं कत्तो ॥

इतरथा केवलज्ञानदर्शनयोरेकत्वे प्रत्येकावरणत्वं केवलज्ञानावरणकेवलदर्शनावरणं चेति प्रत्येकमावरणं तयोः कुतो घटते नह्येकस्य द्वे आवरणे युज्येते ततः प्रत्येकावरणनिर्देशात्केवलज्ञानदर्शनयोर्भेद एवेति भावः । तथा साकारोऽष्टधा अनाकारस्तु च-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तुर्द्धेत्येवं यो द्वादशविधोपयोगः श्रुतेऽभिहितो यत्र ज्ञानं पञ्चविधं दर्शनं चतुर्विधं प्रोक्तं तदेतत्सर्वमपि केवलज्ञानदर्शनयोरेकत्वे कुत उपपद्यते न कुतश्चिदिति । अपिच–

भणियमिहेव य केवल–नाणुवउत्ता मुणंति सव्वंति ।
पासंति सव्वओत्ति य, केवल दिट्ठीहिणंताहिं ॥

इहैव पुरतो भणितं केवलज्ञानोपयुक्ताः सिद्धा सर्वे (मुणंति) जानन्ति तथा पश्यन्ति च सर्वतः केवलदर्शनदृष्टिभिरनन्ताभिर्यद्वदयति " केवलनाणुवउत्ता, जाणंती सव्वभावगुणभावे । पासंति सव्वओ खलु, केवलदिट्ठीहिणंताहिमिति " तस्मान्नैतयोरेकत्वमितिभावः ।

पुनरपि परः प्राह ।

आह परोजावम्मि, उवउत्ता दंसणे य नाणे य ।
भणियंतो जुगवंतो, नणु भणियमिणं पि तं सुणसु ॥

आह परो नन्वपृथग्भावेऽपि केवलज्ञानदर्शनयो र्न दोषा यतः "असरीरा जीवघणा उवउत्ता दंसणे य नाणे य" इत्यत्र दर्शने च ज्ञाने च युगपदुपयुक्ता इति भणितं ततो युगपदेव केवलज्ञानदर्शनोपयोगः सिद्धः । सूरिराह । ननु यदि भणितेनार्थसिद्धिस्तव तर्हीदमपि भणितं वर्तते तच्छृणु किंपुनस्तदित्याह ॥

नाणम्मि दंसणम्मि य, वत्तेगयरम्मि उवउत्ता ।
सव्वस्स केवलिस्स, जुगवदो नत्थि उवओगा ॥

एतदिहैव व्यक्तं पुरस्ताद्वदयति ततोऽस्यां गाथायां भद्रबाहुस्वामिभिर्व्यक्तेऽपि युगपदुपयोगे निषिद्धे किमिति तद्यौगपद्याभिमानोऽद्यापि न त्यज्यत इति भावः । अत्र परस्य व्याख्यान्तरकल्पनामाशङ्क्य परिहरन्नाह ॥

अह सव्वस्सेव न के–वलिस्स दो किं तु कस्सइ हवेज्ज ।
सो य जिणो सिद्धो वा, तं च न सिद्धाहिगाराउ ॥

अथैवं व्याख्यायते परेण सर्वस्यैव केवलिनो न युगपद्द्वावुपयोगौ किंतु कस्यापि द्वौ भवेतां कस्यचिदेकः स च केवलिजिनसिद्धो वा भवेद्भवस्थकेवली वा भवेदित्यर्थः । ततश्च भवस्थकेवलिनोऽद्यापि सकर्मकत्वादेकदा एक एवोपयोगः । सिद्धकेवलिनस्तु सर्वथा कर्ममलकलङ्कविप्रमुक्तत्वात् युगपद् द्वावुपयोगौ भवत इति परस्याकूतं तच्च न युक्तमिह सिद्धाधिकारादिदमुक्तं भवति "सव्वस्स केवलिस्स" इत्यादिना सिद्धाधिकारे सिद्धस्यैव भद्रबाहुस्वामिभिर्युगपद्द्वावुपयोगौ निषिद्धावतो न किंचित्वत्कृता व्याख्यान्तरकल्पनेह भवतीति भावः । सूरिःसमाधानान्तरमाह–

अह पुव्वद्धेणेव, सिद्धमेक्कोत्ति किं च बिइएणं ।
एत्तो वि य पच्छद्धे, निगमइ सव्वपडिमेहो ॥

अथवा " नाणम्मि दंसणम्मि य वत्तेगयरम्मि उवउत्ता " इत्यनेन पूर्वार्द्धेनैवैकदा एक उपयोगः सिद्धस्ततः किं द्वितीयेन पश्चार्द्धेनोक्तेन उक्तं चेदत (एत्तोवियत्ति) इत एव " सव्वस्स केवलिस्स " इत्यादि पश्चार्द्धोपन्यासात्सर्वप्रतिषेधो गम्यते । यथा सर्वस्य केवलिनोऽपि युगपद् द्वावुपयोगौ न स्तः किंपुनश्छद्मस्थकेवलिन इति ॥ पुनः परवचनमाशङ्क्य परिहारमाह–

तो कहमिहेव भणियं, उवउत्ता दंसणे य नाणे य ।
समुदायविसयमेयं, उभयनिसेहो यपत्तेयं ॥

यदि न युगपदुपयोग इष्यते तत आचार्यः कथमिहैव भणिष्यति तथापीहैव भणिष्यतीत्यर्थः । किं तदित्याह (उवउत्ता दंसणे यत्ति) दर्शने ज्ञाने च युगपदुपयुक्ता इह किल भणिता इति परस्याभिप्रायः । अयं च मिथ्याभिमानोपहतसद्बोधत्वात्कदभिप्राय एवेति दर्शयति (समुदायवयणमेयत्ति) समुदायविषयमेवेदं नतु युगपदुपयोगप्रतिपादनपरमित्यर्थः । अनन्तास्तर्हि सिद्धास्तत्समुदायेऽत्र केऽपि ज्ञाने उपयुक्ताः केचिद्दर्शने इत्ययमर्थः । प्रत्येकविवक्षायां पुनः "पत्तेयमावरणत्ता" मित्याद्यभिहितयुक्तेर्युगपदुभयोपयोगनिषेध एव मन्तव्य इति पुनरपि प्रेर्यपरिहारौ प्राह–

जम्हा अपज्जत्ताइं, केवल तेणोभओवओगो त्ति ।
भण्णइ नायं नियमो, संतं तेणोवओगोत्ति ॥

साद्यपर्यवसितत्वाद्यस्मादपर्यन्ते अविनाशिनी सदावस्थितकेवलदर्शने तेन तस्माद्युगपदुपयोग इष्यते अस्माभिः । इदं हि यद्बोधस्वभावसदावस्थितं च तस्योपयोगेनापि सदा भवितव्यमेव अन्यथोपलशकलकल्पत्वेन बोधस्वभावत्वानुपपत्तेः । सदोपयोगे च द्वयोर्युगपदुपयोगः सिद्ध एवेति परस्याभिप्रायः । आचार्य आह । भण्यते अत्रोत्तरम् । नायं नियमः सर्वदा यल्लब्धिमाश्रित्य स विद्यमानकेवलज्ञानं केवलदर्शनं च तेन तयोरुपयोगेनापि सर्वदा भवितव्यमिति कुतः पुनर्नायं नियम इत्याह–

ठिइकालं जह से दं–सणनाणाणमणुवओगे वि ।
दिट्ठमवत्थाणं तह, न होइ किं केवलाणं पि ॥

यथा केवलज्ञानदर्शनाभ्यां शेषाणि यानि दर्शनज्ञानानि तेषां निज २ स्थितिकालं यावदनुपयोगाभावेऽपि सत्त्वस्यावस्थानं दृष्टं तथा केवलज्ञानदर्शनयोरपि निजस्थितिकालं यावदनुपयोगेऽपि सर्वस्यावस्थानं किमिति न भवति भवति चेत्तर्हि सतो ज्ञानस्य दर्शनस्योपयोगेन भवितव्यमिति अनेकान्तिकमेव । इयमत्र भावना । शेषज्ञानदर्शनानां प्रज्ञापनायां कायस्थितौ दीर्घस्थितिकाल उक्तस्तद्यथा । " मइनाणीणं भंते ! मइनाणित्ति कालओ केच्चिरं होइ ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं छावट्ठिसागरोवमाइं साइरेगाइं एवं सुयनाणीवि ओहिनाणीवि एवं चेव नवरं जहन्नेणं एक्कं समयं मणपज्जवनाणी जहन्नेणं एक्कं समयं । उक्कोसेणं देसूणं पुव्वकोडिं " यदा विभङ्गज्ञानसम्यक्त्वलाभे समयमेकमवधिज्ञानं भूत्वा प्रतिपतति तदा अवधिज्ञानस्य जघन्यतः समयस्थितिकालो मन्तव्यः । मनःपर्यायज्ञानस्य तूत्पत्त्यनन्तरं तद्गतो मरणादिति " चक्खुदंसणी जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं सागरोवमसहस्सं साइरेगं अचक्खुदंसणी अणाइए वा अपज्जवसिए अणाइए वा पज्जवसिए ओहिदंसणी जहा ओहिनाणि त्ति " तदेवमेतेषां निजनिजस्थितिकालं यावत्सत्त्वमुक्तम् । उपयोगस्त्वान्तर्मौहूर्तिकत्वान्नैतावन्तं कालं भवत्यतः सतोऽवश्यमुपयोगेन भवितव्यमिति कथं नानैकान्तिकम् । अथ लब्धित एवैतान्येतावन्तं कालं भवन्ति नतु बोधात्मनेति चेत्तदिदं हन्त केवलज्ञानदर्शनयोरपि समानं तयोरपि लब्धित एवापर्यन्तत्वादुपयोगतस्तु सामानिकत्वादिति पुनरप्यतिस्वाग्रहग्रस्तत्वात्परः प्राह–

नणु सनिधणता समयं, मिच्छावरणक्खउत्ति व जिणस्स ।
इयरेयरावरणया, अहवा निक्कारणावरणं ॥
एगयराणुवउत्ते, तदसव्वण्णुदरिसत्तणमेव ।
जमुइ छउमत्थस्स वि, समाणमेगंतरे सव्वं ॥

ननु यदि एकस्मिन्समये केवलज्ञानोपयोगोऽन्यस्मिंस्तु समये केवलदर्शनोपयोग इष्यते तर्ह्येवं क्रमोपयोगित्वे केवलोपयोगित्वे केवलज्ञानदर्शनयोः सनिधनत्वं प्रतिसमयं सान्तत्वं प्राप्नोति ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तथाच सति तयोः समयोक्तमपर्यवसितत्वं हीयते । अथवा यः कएशतानि कृत्वा ज्ञानावरणादिक्षयो विहितः स मिथ्या निरर्थको जिनस्य भगवतः प्राप्नोति समयात्समयादूर्ध्वं केवलज्ञानदर्शनोपयोगयोः पुनरप्यभावाद्व्यपनीतावरणौ द्वौ प्रदीपौ क्रमेण प्रकाश्यं प्रकाशयतः । अथवा केवलज्ञानदर्शनयोरितरेतरावरणता नेष्यते तर्ह्यन्यतरोपयोगकाले अन्यतरस्य निष्कारणमेवावरणं स्यात्तथा च सति सत्वमसत्वं चेत्यादि प्रसज्यत इति । तथा एकतरस्मिन् ज्ञाने दर्शने वाऽनुपयुक्तस्तस्मिन्नेकतरानुपयुक्ते केवलिनीष्यमाणे ज्ञानानुपयोगकाले तस्य केवलिनोऽसर्वज्ञत्वं प्राप्नोति दर्शनानुपयोगकाले त्वसर्वदर्शित्वं प्रसजति अनुस्वारलोप इह सुप्तो द्रष्टव्यः । तच्चासर्वज्ञत्वमसर्वदर्शित्वं च नेष्टं जैनानां सर्वदैव केवलिनि सर्वज्ञत्वसर्वदर्शित्वाभ्युपगमादिति । सूरिराह । भएयते अत्रोत्तरम् । ननु छद्मस्थस्यापि दर्शनज्ञानयोरेकतरे उपयोगे सर्वमिदं दोषजालं समानमेव अत्रापि हि शक्यते एवं वक्तुं ज्ञानानुपयोगे तस्याज्ञानित्वं दर्शनानुपयोगे पुनरदर्शनत्वम् तथा मिथ्यावरणक्षयः इतरेतरावरणता वा निष्कारणावरणत्वं चेत्यादि पुनरप्यनिर्विएणस्य परस्याशङ्कामाह–

सव्वक्खीणावरणो, अह मन्नसि केवली न छउमत्थो ।
उभओवओगविग्घ–छउमत्थस्स व जिणस्स ॥

अथैवं मन्यसे सर्वक्षीणावरणः क्षपितनिःशेषावरणः केवली न तु छद्मस्थस्ततो युगपज्ज्ञानदर्शनोभयोपयोगविघ्नं छद्मस्थस्यैव भवति सावरणत्वान्न तु जिनस्य केवलिनः सर्वथा निरावरणत्वादिति ।

देसक्खए अजुत्तं, जुगवं कसिणोभओवओगित्तं ।
एतावंत मओ, पुए पडिसिज्झए किं से ॥

इह यद्यपि छद्मस्थः क्षीणनिःशेषावरणो न भवति तथापि देशतस्तस्याप्यावरणक्षयो लभ्यते ततस्तस्यावरणक्षये सति युगपत्कृत्स्नोभयोपयोगित्वं युगपत्सर्ववस्तुविषयज्ञानदर्शनोभयोपयोगभवनमयुक्तमित्येतावन्मात्रं मन्यामहे वयं वस्तुदेशतो सर्ववस्तुविषयज्ञानदर्शनोभयोपयोगः स हन्त (से) तस्य छद्मस्थस्य किं प्रतिषिध्यते ननु युक्तस्तत्प्रतिषेध इत्यर्थः । नचास्य युगपदुभयोपयोगो भवति ततोऽसौ केवलिनोऽपि न युक्तः इतीह भावार्थः ॥ पुनरपि पराशङ्कां परिहारं चाह–

अह जम्मि नोवउत्तो, तं नत्थि तओ न दंसणाइ तिगे ।
अत्थि कुगओवओगो–त्तिहोइ साह् कहं विगलो ॥

अथैवं मन्यसे क्रमोपयोगित्वमभ्युपगम्यमाने केवली यस्मिन् ज्ञाने दर्शने वानुपयुक्तस्तदस्ति यस्मिंस्तु नोपयुक्तस्तत्तदा नास्त्येवानुपलभ्यमानत्वात्खरविषाणवत्ततस्तर्हि दर्शनादेशिकदर्शनज्ञानचारित्रत्रये छद्मस्थस्य साधोर्युगपदुपयोगो नास्ति छद्मस्थस्य युगपदुपयोगाभावस्य त्वयाभ्युपगतत्वात्ततो दर्शनादित्रिकेष्वन्यतमस्मिन्नप्यनुपयुक्तस्तदपि त्वदभिप्रायेण नास्त्यतस्तद्विकलं एकेनापि दर्शनादिना रहितः कथं साधुर्भवतु न प्राप्नोत्येव साधुत्वं तस्य त्वदभिप्रायेणेति भावः । भएयते चासौ समये लोके सर्वदैव साधुस्ततो नेष्टमपि क्रमोपयोगे दूषणमिति यत्रानुपयुक्तस्तदसदित्यत्र दूषणान्तराण्यप्याह–

जिइकालविसंवाओ, नाणाणं न वि य ते चउन्नाणी ।
एवं सइ छउमत्थो, अत्थि न तिदंसणी समए ॥

इह ज्ञानानां दर्शनानां चोपयोग आन्तर्मौहूर्तिक एव समये प्रोक्तस्तस्माच्च परतस्तदभिप्रायेण किल ज्ञानं दर्शनं वा नास्ति । एवं च सति ज्ञानानामुपलक्षणत्वाद्दर्शनानां च यः सातिरेकषट्षष्टिसागरोपमादिको दीर्घस्थितिकालः समये प्रोक्तस्तस्य विसंवादो विघटनं प्राप्नोति यश्च चतुर्ज्ञानी केवलदर्शनवर्जदर्शनत्रययुक्तत्वात्त्रिदर्शनी च छद्मस्थो गौतमादिः प्रसिद्धः सोऽपि त्वदभिप्रायेणैतद्रूपः सर्वदा न भवति एकदा एकोपयोगस्यैव संभवादनुपयोगवतश्चासत्वादिति । अथ सिद्धान्तावष्टम्भेन पुनरपि परः प्राह

आह भणियं नणु सुए, केवलिणो केवलोवओगेण ।
पढमत्ति तेण गम्मत्ति, सओवओगोभयं तेसिं ॥

आह ननु भणितं भगवत्यामष्टादशशतप्रथमोद्देशकलक्षणे श्रुते "केवलीणं भंते केवलोपओगेणं किं पढमा अपढमा ? गोयमा ! पढमा नोअपढमत्ति" इह च यो येन भावेन पूर्वं नासीदिदानीं च जातः स तेन भावेन प्रथम उच्यते ततश्च केवलिनः केवलोपयोगेन प्रथमः अयमर्थः केवलयोः केवलज्ञानकेवलदर्शनयोरुपयोगः केवलोपयोगस्तेन केवलिनः प्रथमा नत्वप्रथमास्तस्याप्राप्तपूर्वत्वात्प्राप्तस्य च पुनर्ध्वंसाभावात्तेन तस्माद्गम्यते ज्ञायते सदैवोपयोगोभयं तेषां प्रवर्तते । यदि पुनः क्रमेणोपयोगः स्यात्तदा भूत्वा २ विनाशात्पुनः पुनरपि चोत्पादात्केवलोपयोगेनाप्रथमत्वमपि तेषां भवेदिति । सूरिराह–

उवओगग्गहणाउ, इह केवलनाणदंसणं ।
जइ तदणत्थंतरया, हवेज्ज सुत्तम्मि को दोसो ॥

यदि केवलोवओगेणंतीत्यत्रोपयोगग्रहणात्केवलयोरुपयोगः केवलोपयोग इति समासात्किलयोः केवलज्ञानकेवलदर्शनयोर्ग्रहणमिष्यते तर्हि तदनर्थान्तरता तयोः केवलज्ञानकेवलदर्शनयोरेकस्मादुपयोगादव्यतिरिक्तत्वात्परस्परमनर्थान्तरता ज्ञानं च दर्शनं चैकमेव वस्त्वेवंरूपं भवेदिति परः प्राह (सुत्तम्मि को दोसोत्ति) भवतु तयोरनर्थान्तरता को ह्येवं सति केवलोवओगेणं सूत्रे दोषः स्यान्न कश्चिदस्माकं सिद्धसाधनादिति । आचार्यः प्राह । यदि दोषपरिज्ञाने तव कुतूहलं तर्हि शृणु किमित्याह–

तग्गहणे किमिह फलं, नणु तदणत्थंतरोवएमत्थं ।
तह वत्थुविसेसणत्थं, एयंमयसमयम्मि सुत्ताणि ॥

तद्ग्रहणे सति किं फलं सिध्यति अनर्थान्तरत्वे सति किमर्थमुभयग्रहणं पुनरुक्तदोषप्रसङ्गादितिभावः । पर आह ननु तयोः केवलज्ञानदर्शनयोः परस्परमनर्थान्तरतोपदेशार्थमेवेदं तथा वस्तुनः केवलज्ञानकेवलदर्शनपर्यायध्वनिभ्यां विशेषणार्थमेवेदम् एकमेव हि केवलं वस्तु केवलज्ञानकेवलदर्शनपर्यायध्वनिभ्यां विशेषणार्थं चेदम् । एवमेवहि केवलवस्तुनोऽनेकपर्यायध्वनिभिर्विशेषणार्थं समये सिद्धान्ते सूत्राणि शतशोऽनेकशः सन्तीति । एतदेव पर उपदर्शयति ॥

सिद्धा काइ य नो सं–जयाइपज्जाय उसएवगो ।
सुत्तेसु विसेसिज्जइ, जहेह तह सव्ववत्थूणि ॥

(विसेसिज्जइजहत्ति) यथा तेषु २ सिद्धान्तसूत्रेषु स एवैको मुक्तात्मा सिद्धः कायिकानां संयतादिपर्यायैर्विशेष्यते प्रतिपाद्यते आदिशब्दान्नोभव्यनोबादरनोपर्याप्तनोपरित्तानां संक्षिप्तपरिनिवृत्तादिपर्यायैरपि विशेष्यः क्वचित्प्रतिपाद्यते(इहतहत्ति) तथेहापि क्षायिकाज्ञानवस्त्वेकमेव केवलज्ञानकेवलदर्शनपर्यायध्वनिभ्यां विशेष्यते एवमन्यान्यपि सर्वाणि पुरंदरघटवृक्षादिवस्तूनि निजनिजपर्यायशब्दैः समये लोके च विशेष्यन्त एवेति क इह प्रद्वेष इति । अथैवं सूरिः परं दुरभिनिवेशममुञ्चन्तमवलोक्य युगपदुपयोगद्वयपक्षं मूलत एवोन्मूलयितुं क्रमोपयोगकं व्यक्तमेव सिद्धान्तोक्तमादर्शयन्नाह–

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नाणियंपि य पन्नत्ती, पन्नवणाईसु जह जिणो समयं ।
जं जाणइ न वि पासइ, तं अणुपणप्पजाईणि ॥

ननु प्रज्ञप्त्यां भगवत्यां प्रज्ञापनायां स्फुटं भणितमेवोक्तमेव । यथा जिनः केवली परमाणुरत्नप्रभादीनि वस्तूनि (समयं जं जाणयत्ति) यस्मिन्समये जानाति (न वि पासइत्ति) तस्मिन् समये नैव पश्यति किंत्वन्यस्मिन्समये जानाति अन्यस्मिंस्तु पश्यति । इयमत्र भावना । इह भगवत्यां तावदष्टादशशतस्याष्टमोद्देशके स्फुटमेवोक्तम् ॥ तद्यथा ॥ "छउमत्थेणं भंते ! मणुस्से परमाणुपोग्गलं जाणइ न पासइ उदाहु न जाणइ न पासइ । गोयमा ! अत्थेगइए जाणइ न पासइ । अत्थेगइए न जाणइ न पासइ । एवं जाव असंखेज्जपएसिए खंधे" इह छद्मस्थो निरतिशयो गृह्यते । तत्र श्रुतज्ञानी उपयुक्तः श्रुतज्ञानेन परमाणुं जानाति न तु पश्यति दर्शनाभावादपरस्तु न जानाति न पश्यति " एवं ओहीएवि परमा ओहीएणं भंते मणुस्से परमाणुपोग्गलं जं समयं जाणइ तं समयं पासइ जं समयं पासइ तं समयं जाणइ णो इणट्ठे समट्ठे से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ ? गोयमा ! सागारे से नाणे भवइ अणागारे से दंसणे भवइ सेकेणट्ठेणं पासइ ? तेणट्ठेणं एवं वुच्चइ इत्यादि" "केवलीणं भंते ! मणुस्से परमाणुपोग्गलं जं समयं जाणइ तं समयं पासइ जं समयं पासइ तं समयं जाणइ नो इणट्ठे समट्ठे । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ गोयमा ! सागारे से नाणे भवइ । अणागारे से दंसणे भवइ से केणट्ठेणं एवं वुच्चइत्यादि " एवं प्रज्ञापनोक्तमपि द्रष्टव्यम् । तदेवं सिद्धान्ते स्फुटाक्षरैर्युगपदुपयोगे निषिद्धेऽपि किमिति सर्वानर्थमूलं तदभिमानमुत्सृज्य क्रमोपयोगो न निष्पद्यत इति । तदेवं बुभुक्षिता जरद्गवा जवबुसगृहं प्रविशन्तीति निविडयुक्तिलगुडादिभिर्घातैर्निवार्यमाणा अपि परस्य दुराग्रहबुद्धिर्न निवर्त्तते ततश्चक्षुषी निमील्य धृष्टतया पुनरप्याह—

इय सद्दमणुप्पन्नय, छोत्रा तं केइ विंति छउमत्थो ।
अन्नपुणपरतित्थि, पवत्तव्वमिणंति जंपंति ॥

यस्य केवलिनो भगवत्यां युगपदुपयोगो निषिद्धस्तं केचिच्छद्मस्थोऽसाविति ब्रुवते कथं पुनः केवली छद्मस्थो भण्यत इत्याह । केवलीति वाक्ये इव शब्दलोपादथवा केवली शासिताऽस्येति केवलिमान् इति वाक्ये मतुप्प्रत्ययस्य लोपाच्छद्मस्थोऽसौ केवली तस्य च युगपदुपयोगनिषेधो मयाऽपीष्यत एवेति परस्याभिप्रायः। पर एवाह अन्ये तु केचित्तु परतीर्थिकवक्तव्यताविषयमिदं केवलिनो युगपदुपयोगनिषेधसूत्रं भगवत्यां केनापि प्रसङ्गेन लिखितमिति जल्पन्त्यतो न केवलिनः क्रमोपयोगनिषेधसूत्रमिति । अथ परस्य विभ्रमापहरणार्थं समस्तभूतग्रामानुग्रहशीलः पुनरपि सूरिराह—

जं छउमत्थो होहि य, परताबाहिणो विसेसिउं कमसो ।
निद्दिसइ केवलिं तेण, तस्स छउमत्थया नत्थि ॥

यस्माद्भगवत्यामष्टादशशताष्टमोद्देशके छद्मस्थमधोऽधिकं परमावधिकं चेत्येतांस्त्रीनपि क्रमशः प्रथमं विशेष्य विशेषतो निर्दिश्य ततः पर्यन्ते केवलिनं निर्दिशति । तेन तस्मात्तस्य केवलिनः स्वजल्पितबद्धमिथ्यावष्टम्भेन युक्तिविकलधाष्टर्यसामर्थ्यादिव मतुप्प्रत्ययलोपात्स्वयोपनीयमाना छद्मस्थता नास्ति किंतु निरुपचरितकेवल्येवासौ । यदि पुनरयं छद्मस्थोऽभिप्रेतः स्यात्तदा किमनेन व्याजनिर्देशेन यत्किमपि छद्मस्थस्य भणनीयं तत्प्रथमं छद्मस्थोपन्यासकाल एव सर्वमुक्तं स्यादिति । किंच—

न य पासइ अणुमन्नो, छउमत्थोकेवली कोसो ।
जो पासइ परमाणुं, गहपामिणं जस्स होज्जाहि ॥

"केवली णं भंते ! परमाणुपोग्गलं जं स जाणईत्यादि" भगवत्यामुक्तं तं च परमाणुमवधिज्ञानिनं मुक्त्वा अन्यश्छद्मस्थो न पश्यति तत्रापि सर्वेऽप्यवधिज्ञानिनस्तं पश्यन्ति किं तु यः परमावधिज्ञानी तस्माच्च परमावधेर्यः किञ्चिन्न्यूनावधिरधोऽवधिकः स एव तं पश्यति तौ चाधोऽवधिकपरमावधिज्ञानिनौ द्वावपि केवलिनः प्रथममेव निर्दिष्टौ ततस्तयोर्द्वयोरपि विशेषतो निर्द्धार्य निर्दिष्टत्वात्कोऽन्यो हन्त छद्मस्थकेवली योऽसौ परमाणुपुद्गलं पश्यति यस्य छद्मस्थकेवलिन इदं स्वकल्पनया भगवत्यां ग्रहणं भवेदिति । अपिचागमे स्थानान्तरेऽपि छद्मस्थादित्रय उपरिष्टादतीत एव केवली निर्दिष्टो नत्विवादिलोपकल्पनया छद्मस्थ इति दर्शयन्नाह—

तेसिं चिय छउमत्था, इयाए मग्गिज्जए जहिं सुत्ते ।
केवलसंवरसंज—माईएहिं वि निव्वाणं ।
तिन्निवि पडिसेहेउं, तीसुवि कालेसु केवली तत्थ ।
सिज्झइ सिज्झिसि सिज्झि—स्सइ वावि विनिद्दिट्ठो ॥

तेषामेव छद्मस्थादीनामादिशब्दादधोऽवधिकपरमावधिकेवलज्ञानिनां यत्र यत्र भगवतिप्रथमशतकचतुर्थोद्देशकसूत्रे केवलसंवरसंयमब्रह्मचर्यादिभिर्निर्वाणं मोक्षो मृग्यते चिन्त्यते तत्रापि सूत्रे त्रीनपि छद्मस्थाधोऽवधिकपरमावधिज्ञानिनः प्रतिषेध्य तदुपरि केवली भूतभवद्भविष्यल्लक्षणेषु त्रिष्वपि कालेषु सिध्यति असेधीत् सेत्स्यतीति निर्दिष्टो यदि पुनरयमपि स्वकल्पनया छद्मस्थो भवति तदा अस्यापि प्रथमनिर्दिष्टछद्मस्थस्यैव केवलसंवरादिभिः सिद्धिर्न भवेदिति किं पुनस्तत्सूत्रमुच्यते । "छउमत्थे णं भंते मणूसे तीयमणंतं सासयं समयं केवलेणं संवरेणं । केवलेणं संजमेणं केवलाहिं पवयणमायाहिं सिज्झिसु बुज्झिसु जाव सव्वदुक्खाणमंतं करिंसु ! गोयमा ! नोइणट्ठे समट्ठे से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ ! तं चेव जाव अंतं करिंसु गोयमा ! जे केवि अंतकरा वा अंतिमसरीरिया वा सव्वदुक्खाणं अंतं करेंसु वा करेंति वा करेस्संति वा सव्वे ते उप्पन्ना नाणदंसणधरा अरहा जिणा केवली भवित्ता तओ पच्छा सिज्झंति बुज्झंति मुच्चंति परिनिव्वायंति सव्वदुक्खाण अंतं करिंसु वा करेंति वा करेस्संति वा से तेणट्ठेणं गोयमा ! जाव सव्वदुक्खाण अंतं करिंसु । पडुप्पन्नेवि एव चेव नवरं सिज्झंति भाणियव्वं । अणागएवि एवं चेव । नवरं सिज्झिस्संति भाणियव्वं । जहा छउमत्थो तहा अहोहिअ परमाहोहिअवि तिन्नि २ आलावगा भाणियव्वा । केवलीणं भंते ! मणूसे तीतमणंतं सासयं समयं जाव अंतं करिंसु हंता सिज्झिसु वा जाव अंतं करेंसु । एए तिन्नि आलावगा भाणियव्वा छउमत्थे जहा नवरं सिज्झिसु सिज्झंति सिज्झिस्संति " तस्मादियमेव रीतिः । सिद्धान्ते छद्मस्थादित्रय उपरि यः केवली भण्यते स निरुपचरित एव न पुनरिवादिलोपकल्पनया छद्मस्थोऽसौ अन्यथा अनन्तरसूत्रोक्तसिद्धिगमनानुपपत्तेरिति । अथ यदुक्तं " अन्ने पुण परतित्थिय वत्तव्व "मित्यादि तेनासमञ्जसभाषितेनोद्वेजितः परानुकम्पया सखेदं सूरिराह ।

एवं विसेसियम्मि, परमयमेगंतरो चउग्गंत्ति ।
न पुणरुत्तओवओगो, परवत्तव्वंति का बुद्धी ॥
उवओगो एगयरो, पणुवीसइमे सए मणायस्स ।

भणिओ वियकत्थो वि य, उद्देसे विसेसे उ ॥
एवं फुडवियडम्मि वि, सुत्ते सव्वन्नुभासिए सिद्धे ।
कह तीरइ परतित्थिय-वत्तव्वमिणंति वोत्तुं ते ॥

एवमुक्तप्रकारेण विशेषितेऽपि व्यक्तेऽपि क्रमोपयोगसाधके सिद्धान्ते सूत्रे सति योऽयमेकान्तरोपयोगः स परमतं युगपदुभयोपयोगसूत्रं तु यदसत्पि भवता किमपि कल्पते तत्र परतीर्थिकवक्तव्यतेति स्व... स पक्षपातं परित्यज्य चिन्त्यतां केयं विपर्यासबुद्धिरिति । किंच भगवत्यां पञ्चविंशतितमे शते षष्ठोद्देशके " सिणायएणं भंते ! किं सागारोवउत्ते होज्जा अणागारोवउत्ते होज्जा ......मा ! सागारोवउत्तेवि होज्जा अणगारोवउत्तेवि होज्जा " ॥ इत्यनेन सूत्रेण विशेष्य नामग्राहं स्नातकस्य केवलिनो विकटार्थः प्रकटार्थ एव भणितः प्रतिपादितः । एकस्मिन्समये एकतरः साकारो नाकारो वा उपयोग इति ॥ एवं स्फुटे सूत्रतो विकटे प्रकटे वाऽर्थतः सर्वज्ञभाषिते सूत्रे सिद्धे कथं सकर्णविज्ञानैः परतीर्थिकवक्तव्यतेयमिति तीर्यते शक्यते वक्तुम् । (जे) इति वाक्यालंकारार्थ इति ॥ अपिच-

सव्वत्थसुत्तमत्थि य-फुडएगपरोवओगजुत्ताणं ।
उवओवउत्तसत्ता, सुत्तिवुत्ता न कत्थइ वि ॥
कस्सइ वि नाम कत्थइ, काले जइ होज्ज दोवि उवओगा।
उवओवउत्तसत्ता, ण सुत्तमेगं पि तो होज्जा ॥

एकतरोपयोगोपयुक्तानां सत्वानां प्रतिपादकं सूत्रं सर्वत्र सिद्धान्ते स्फुटमस्ति । तच्च किञ्चिद्दर्शितं दर्शयिष्यते च युगपदुभयोपयोगो युक्तसत्वास्तु सूत्रे क्वचिदप्युक्ताः प्रतिपादिता दृश्यन्त इति । यदि नाम कस्यापि भवस्थकेवलिनः सिद्धकेवलिनो वा क्वचिदपि कालं युगपद् द्वावुपयोगौ भवेतां तर्हि युगपदुभयोपयोगोपयुक्तसत्वानां प्रतिपादकमेकमपि सूत्रं क्वचिदपि भवेन्नतु क्वापि तत्पश्याम इत्यतो निरालम्बनाग्राहमात्रभ्रमित एव भ्राम्यति भवानिति ॥ अपिच-

दुविहाणं पि य जीवा-ण भणियमप्पाबहुं च समयम्मि।
सागारणगाराण य, न भणियमुवओवउत्ताणं ॥
जइ केवलीण जुगवं, उवओगो होज्ज तो एवं ।
सागारणगाराण य, मीसाण य तिएहमप्पबहुं ॥

साकारोपयोगवतामनाकारोपयोगवतां च द्विविधानामेव जीवानामल्पबहुत्वं समये सिद्धान्ते प्रज्ञापनाल्पबहुत्वपदे भणितम् । तद्यथा " एएसि णं भंते ! जीवाणं सागारोवउत्ताणं अणगारोवउत्ताण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला विसेसाहिया वा ॥ गोयमा सव्वत्थो वा जीवा अणगारोवउत्ता सागारोवउत्ता संखेज्जगुणा " युगपदुभयोपयोगोपयुक्तानां तु मिश्राणां तृतीयानामिहाल्पबहुत्वं न भणितं यदि पुनः केवलिनां युगपदुपयोगद्वयं भवेत्तदैवं सति साकारानाकारमिश्रोपयोगवतां त्रयाणामेव पदानामल्पबहुत्वं भवेन्न द्वयोरिति । अत्र परशङ्कां परिहारं चाह-

अह व मई छउमत्थे, पडुच्च सुत्तमिणमो न केवलिणो ।
तं पि न जुज्जइ जं स-व्व सत्तसंखाहिगारो यं ॥

सुगमा नवरं व्याख्या सर्वजीवसंख्याधिकारे निर्दिष्टत्वादिदं सूत्रं छद्मस्थविषयं प्रवक्तुं युज्यत इति ॥ अथ सर्वजीवाधिकारोऽयं न भवतीत्यत्राह-

काउं सिद्धग्गहणं, बहुवत्तव्वयपदेसु सव्वेसु ।
इह केवलमग्गहणं, जइ तो तं कारणं वच्चं ॥

यदि सर्वजीवाधिकारोऽयं न भवति तर्हि "गइ इंदियवेए काए जोए कसायलेसास्वित्यादिष्वन्येषु अल्पबहुत्ववक्तव्यताविचारविषयभूतेषु पदेषु सिद्धिगतिकानीन्द्रियकाययोग्यकषायलेश्या नोसंयतनोपरीत्तादिपदैः पृथक् सिद्धग्रहणं कृत्वा केवलमिहैवोपयोगपदे पृथक्त्वग्रहणं करोति । ततस्तत्र कारणं वाच्यं यदि हि छद्मस्थाधिकारत्वादिह तदग्रहणमित्युच्यते तर्हि शेषपदेषु सिद्धकेवलिग्रहणमयुक्तं स्यात्तस्मात्सर्वजीवाधिकार एवायं केवलमाहारकानाहारकभाषकादिपदद्वयेनैवानेन साकारानाकारोपयोगपदद्वयेन सिद्धकेवलिनां गृहीतत्वादिह पृथक्त्वादग्रहणमिति । आगमान्तरतोऽप्यत्र छद्मस्थाधिकारशङ्कां निवर्तयन्नाह ॥

अहवा विसेसियं चिय, जीवाभिगमम्मि एयमप्पबहुं ।
दुविहत्ति सव्वजीवा, सिद्धासिद्धाइया जत्थ ॥

अथवा छद्मस्थाधिकारशङ्कानिवर्त्तकत्वाद्विशेषितमिवैतत्साकारानाकारोपयोगयोः पदद्वयस्याल्पबहुत्वं जीवाभिगमे प्रोक्तमिति शेषः ॥ क सूत्रे इत्याह । सिद्धासिद्धादिभेदेन द्विविधा एव सर्वे जीवा यत्र सूत्रे प्रतिपाद्यन्त इति तदेव सूत्रं गाथयोपनिबध्य दर्शयन्नाह ॥

सिद्धसइंदियकाए, जोए वेए कसायलेसा य ।
नाणुवओगाहारय, भासयसरीरचरमे य ॥

सिद्धा असिद्धाश्च सेन्द्रिया अनिन्द्रियाश्च सकाया अकायाश्चेत्यादि भेदेन सर्वे जीवाः संगृह्यात्रसूत्रे जीवाभिगमे प्रतिपाद्यन्ते तत्र सूत्रविशेषितमेवेदमल्पबहुत्वप्रतिपादितमिति युगपदुपयोगद्वयपक्षं निराचिकीर्षुराह ॥

अंतोमुहुत्तमेव य, कालो भणिओ न होवओगस्स ।
साइअपज्जवसिओत्ति, नत्थि कत्थइ वि निद्दिट्ठो ॥

तथा ज्ञानाज्ञानदर्शनानामुपयोगस्यागमे सर्वत्र अन्तर्मुहूर्त्तमेव कालो भणितः साद्यपर्यवसितस्तु उपयोगकालः क्वापि नास्ति विनिर्दिष्टः । यदिह साकारानाकारोपयोगरूपो मिश्रः सिद्धानामुपयोगः स्यात्तदा तेषामिव तस्यापि साद्यपर्यवसितत्वं स्यान्नचैतत्सिद्धान्ते क्वापि भणितं दृश्यते तस्मान्नास्ति युगपदुपयोगद्वयमिति ॥ एतदेवाह—

जह सिद्धाईयाणं, भणियं साइअपज्जवसियत्तं ।
तह जइ उवओगाणं, भणियं हवेज्ज तो जुगवं ॥

यथा सिद्धादीनामादिशब्दादनिन्द्रियकादीनां साद्यपर्यवसितत्वं भणितं तथा यद्युपयोगानामपि तद्भणितं भवेत्ततस्तौ साकारानाकारोपयोगौ युगपद्भवेतां नचैवं तस्मान्न युगपदुपयोगद्वयमिति तदेवं सूरिः परस्याभिनिवेशं निराकृत्यात्मनि तदाशङ्कां निराकर्तुमाह—

कस्स व नाणुमयमिणं, जिणस्स जइ होज्ज दोवि उवओगा।
नूणं न होंत्ति जुगवं, जओ निसिद्धा सुए बहुसो ॥
नवि अभिनिवेसबुद्धी, अम्हं एगंतरोवओगम्मि ।
तदवि भणिमो न तारइ, जं जिणमयमन्नहा काउं ॥

पाठसिद्ध एव । अथ परप्रश्नमुत्तरं चाह ॥ "जइ तओवारण-त्तमेवमित्यादि " गाथायां यन्मया " इत्येवरावरणया अहवा निक्कारणाचरणमित्यादि " दूषणमुक्तं तद्यदि प्रागुक्तेनैव प्रकारेण त्वया नेष्यते तर्हि कथं जिनस्य केवलिन एकान्तरोपयोगेऽभ्युपग-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्यमाने तस्य युगपदुपयोगप्रवृत्तेरावरणं तदावरणमिति कथ्यतां सूरिराह । जण्यतेऽत्रोत्तरम् । "तंति तदावरण" मिह स्वभावो द्रष्टव्यः ईदृश एव जीवस्वभावो येन क्रमेणैवोपयोगः प्रवर्त्तते न युगपत् न च स्वभावः पर्यनुपयोगमर्हतीति । अग्निर्दहति नाकाशमित्यादिष्वपि तत्प्रसङ्गादिति । एतदेव समर्थयति—

परिणामिय जावाओ, जीवत्तं पि य सजावए वायं ।
एगंतरोवओगो, जीवाणमणन्नहेउत्ति ॥

यथा जीवस्य जीवत्वमनन्यहेतुकं पारिणामिकभावत्वादेवमेकान्तरोपयोगोऽपि पारिणामिकत्वात्तस्य स्वभाव एव ततो नास्यान्यो हेतुरन्वेषणीय इति ॥ विशे० । स्था० । नं० ।

संप्रति चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण नैरयिकादीन् चिन्तयन्नाह—

णेरइयाणं भंते ! कइविहे उवओगे पण्णत्ते ? गोयमा ! दुविहे उवओगे पण्णत्ते । तंजहा सागारोवओगे य अणागारोवओगे य । णेरइयाणं जंते ! सागारोवओगे कइविहे पण्णत्ते गोयमा ! छव्विहे पण्णत्ते तंजहा–मतिनाण० सुयनाण० ओहिनाण० मतिअन्नाण० सुयअन्नाण० विभंगनाणसागारोवओगे। णेरइयाणं जंते ! अणागारोवओगे कइविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! तिविहे पण्णत्ते तंजहा चक्खुदंसण० अचक्खुदंसण० ओहिदंसणअणागारोवओगे। एवं जाव थणियकुमाराणं ॥

नैरयिका हि द्विविधा जवन्ति सम्यग् दृष्टयो मिथ्यादृष्टयश्च। अवधिरपि तेषां भवप्रत्ययोऽवश्यमुपजायते जवप्रत्ययो नारकदेवानामिति वचनात् । तत्र सम्यग्दृष्टीनां मतिज्ञानश्रुतज्ञानावधिज्ञानानि मिथ्यादृष्टीनां मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानानीति सामान्यतो नैरयिकाणां षड्विधः साकारोपयोगः । अनाकारोपयोगस्त्रिविधस्तद्यथा चक्षुर्दर्शनाचक्षुर्दर्शनमवधिदर्शनं च । एष त्रिविधोऽप्यनाकारोपयोगः सम्यग्दृशां मिथ्यादृशां वा विशेषेण प्रतिपत्तव्यः उजयेषामप्यवधिदर्शनस्य सूत्रे प्रतिपादितत्वात् । एवमसुरकुमारादीनां स्तनितकुमारपर्यवसानानां भवनपतीनामप्यवसेयम् ।

पुढविकाइयाणं पुच्छा गोयमा ! दुविहे उवओगे पण्णत्ते, तंजहा सागारोवओगे य अणागारोवओगे य । पुढविकाइयाणं जंते ! अणागारोवओगे कतिविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते, तंजहा मतिअन्नाणसुयअन्नाणे । पुढविकाइयाणं जंते ! अणागारोवओगे कइविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! एगे अचक्खुदंसण अणागारोवओगे पण्णत्ते एवं जाव वणस्सइकाइयाणं । बेइंदियाणं पुच्छा, गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते तंजहा सागारो अणागारो । बेइंदियाणं सागारोवओगे कइविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! चउव्विहे पण्णत्ते तंजहा आभिनिबोहियनाण० सुयनाण० मतिअन्नाण० सुयअन्नाण० । बेइंदियाणं जंते ! अणागारोवओगे कइविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! एगे अचक्खुदंसणअणागारोवओगे एवं तेइंदियाणं चउरिंदियाणं वि एवं चेव नवरं अणागारोवओगे दुविहे पण्णत्ते चक्खुदंसण० अचक्खुदंसणअणागारोवओगे य । पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं जहा णेरइयाणं मणुस्साणं जहा ओहिए उवओगे जणियं तहेव जाणियव्वं । वाणमंतरजोइसियवेमाणियाणं जहा णेरइयाणं ।

पृथिवीकायिकानां साकारोपयोगो द्विविधस्तद्यथा मत्यज्ञानं श्रुताज्ञानं चाऽनाकारोपयोग एकोऽचक्षुर्दर्शनरूपः शेषोपयोगानां तेषामसंजवात् सम्यग्दर्शनादिलब्धिविकलत्वात् । एवमप्तेजोवायुवनस्पतीनामपि वेदितव्यम् । द्वीन्द्रियाणां साकारोपयोगश्चतुर्विधस्तद्यथा मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं मत्यज्ञानं श्रुताज्ञानम् । तत्रापर्याप्तावस्थायां केषांचित्सास्वादनभावमासादयतां मतिज्ञानश्रुतज्ञाने शेषाणां तु मत्यज्ञानश्रुताज्ञाने । अनाकारोपयोगस्त्वेकोऽचक्षुर्दर्शनरूपः शेषोपयोगानाम् । एवं त्रीन्द्रियाणामपि चतुरिन्द्रियाणामप्येवम् । नवरमनाकारोपयोगो द्विविधः चक्षुर्दर्शनमचक्षुर्दर्शनं च । पञ्चेन्द्रियतिरिश्चां साकारोपयोगः षड्विधस्तद्यथा मतिज्ञानं श्रुतज्ञानमवधिज्ञानं मत्यज्ञानं श्रुताज्ञानं विभङ्गज्ञानम् । अनाकारोपयोगस्त्रिविधस्तद्यथा चक्षुर्दर्शनमचक्षुर्दर्शनमवधिदर्शनमवधिद्विकस्यापि केषुचित्तेषु सम्भवात् । मनुष्याणां यथासम्भवमष्टावपि साकारोपयोगाश्चत्वारोऽप्यनाकारोपयोगा मनुष्येषु सर्वज्ञानदर्शनलब्धिसम्भवात् व्यन्तरज्योतिष्कवैमानिका यथा नैरयिकास्तदेवं सामान्यतश्चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण जीवानामुपयोगश्चिन्तितः ॥

संप्रति मन्दमतिसुखावबोधाय जीवा एव तत्तदुपयोगोपयुक्ताः सामान्यतश्चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण चिन्त्यन्ते—

जीवा णं जंते ! किं सागारोवउत्ता अणागारोवउत्ता ? गोयमा ! सागारोवउत्ता वि अणागारोवउत्ता वि । सेकेणट्ठेणं जंते ! एवं वुच्चइ जीवा सागारोवउत्ता वि अणागारोवउत्ता वि ? गोयमा ! जेणं जीवा आभिनिबोहियनाणसुयनाणओहिनाणमणपज्जवकेवलनाण, मतिअन्नाणसुयअन्नाणविभंगनाणोवउत्ता तेणं जीवा सागारोवउत्ता जेणं जीवा चक्खुदंसणअचक्खुदंसणओहिदंसणकेवलदंसणोवउत्ता तेणं जीवा अणागारोवउत्ता से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ जीवा सागारोवउत्ता वि अणागारोवउत्ता वि । नेरइया णं जंते ! किं सागारोवउत्ता अणागारोवउत्ता ? गोयमा ! नेरइया सागारोवउत्ता वि अणागारोवउत्ता वि । से केणट्ठेणं जंते ! एवं वुच्चइ ? गोयमा ! जेणं नेरइया आभिनिबोहियनाण सुयनाण ओहिनाण मइअन्नाण सुयअन्नाण विभंगनाणोवउत्ता तेणं नेरइया सागारोवउत्ता जेणं नेरइया चक्खुदंसण अचक्खुदंसण ओहिदंसणोवउत्ता तेणं नेरइया अणागारोवउत्ता । से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ जाव अणागारोवउत्ता एवं जाव थणियकुमारा । पुढविकाइयाणं पुच्छा. गोयमा ! तहेव जाव जेणं पुढविकाइया मतिअन्नाण सुयअन्नाणोवउत्ता तेणं पुढविकाइयाणं सागारोवउत्ता जेणं पुढवि० अचक्खुदंसणोवउत्ता तेणं पुढवि० अणागारोवउत्ता । से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ जाव वणस्सइकाइया बेइंदियाणं अट्ठसहिया तहेव पुच्छा जाव जेणं बेइंदिया आभिनिबोहियनाण सुयनाण मतिअन्नाण सुयअन्नाणोवउत्ता तेणं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वेइंदिया सागारोवउत्ता जेणं वेइंदिया अचक्खुदंसणोवउत्ता तेणं वेइंदिया अणागारोवउत्ता से तेणट्ठेणं गोयमा! एवं वुच्चइ? एवं जाव चउरिंदिया णवरं चक्खुदंसणं अब्भहियं चउरिंदियाणंति पंचेंदियतिरिक्खजोणिया जहा णेरइया मणूसा जहा जीवा वाणमंतरजोइसियवेमाणिया जहा णेरइया इति ॥ जीवाणंभन्ते इत्यादि सुगमम । प्रज्ञा० २९ पद० । भ० । जी० (जीवेषूपयोगाः जीवट्ठाणशब्दे)

गतीन्द्रियादिषु मार्गणास्थानेषु उपयोगाः

मणुयगईए बारस, मणकेवलवज्जियाउ नव मीसे ।
इगिथावरेसुतितिओ, चउविगले बारसे सगले ॥

मनुजगतौ द्वादशाप्युपयोगाः अन्यासु च नारकामरतिर्यग्गतिषु प्रत्येकं मनःपर्यायकेवलद्विकवर्ज्यचक्षुरचक्षुरवधिदर्शनाख्यास्त्रय उपयोगाः भवन्ति । तुशब्दस्याधिकार्थसंसूचनान्मतिश्रुतावधिज्ञानचक्षुरचक्षुरवधिदर्शनरूपाः षट् उपयोगा दृश्यन्ते अज्ञानत्रिकदर्शनत्रिकरूपाः षट् । मिश्रे आद्यज्ञानत्रिकाज्ञानत्रिकदर्शनत्रिकरूपा नव प्ररूप्यन्ते । तथा चत्वारो विकलेष्वन्येषामसंभवाच्चतुरिन्द्रियेषूपयोगास्तत्र त्रयः पूर्वोक्ता एव । चतुर्थस्तु चक्षुर्दर्शनम् । उपलक्षणं चैतत्तेनैत एव चत्वारोऽसंज्ञिनि वेदितव्याः । तथा त्रसेषु (सगलित्ति) पञ्चेन्द्रियेषु द्वादश ॥

जोए वेए सन्नी, आहारगभव्वसुक्कलेसासु ।
बारस संजमसम्मे, नव दस लेसा कसाएसु ॥

योगे मनोवाक्कायरूपे वेदे स्त्रीपुंनपुंसकलक्षणे, संज्ञिनि आहारकभव्येषु शुक्ललेश्यायां च द्वादशाप्युपयोगाः । वेदश्चेह द्रव्यरूपः आकारभावो गृह्यते तेन तत्र केवलज्ञानाद्यविरोधः । तथा संयमे यथाख्यातरूपे सम्यक्त्वे । १ क्षायिकलक्षणे नवोपयोगास्तत्राज्ञामत्रिकाभावात् । तथा लेश्यासु कृष्णनीलकापोततेजःपद्माख्यासु कषायेषु च चतुर्षु केवलज्ञानकेवलदर्शनहीनाः शेषा दशोपयोगा कृष्णादिलेश्याभावे केवलद्विकानुत्पादात् । इह ये उपयोगा यैरुपयोगैः सह न भवन्ति यैश्च सह भवन्ति तान् तथोपदर्शयन्नाह ।

सम्मत्तकारणेहिं, मिच्छत्तनिमित्ता न होंति उवओगा ।
केवलदुगेण सेसा, संतेव अचक्खुचक्खुसु ॥

सम्यक्त्वं कारणं येषान्ते सम्यक्त्वकारणास्तैर्मतिज्ञानादिभिरुपयोगैः सह मिथ्यात्वनिमित्ता मिथ्यात्वनिबन्धना मत्यज्ञानादयः उपयोगा न भवन्ति । तथा केवलद्विकेन केवलज्ञानकेवलदर्शनरूपेण सह शेषाश्छाद्मस्थिका मतिज्ञानादय उपयोगा न भवन्ति देशज्ञानदर्शनव्यवच्छेदेनैव केवलज्ञानदर्शनप्राप्तुर्भावात् । "उप्पन्नंसि अणंते नट्ठम्मियछाउमत्थिए नाणे" इति वचनप्रामाण्यात् । आह ननु यदि मतिज्ञानादीनि स्वस्वावरणक्षयोपशमेऽपि प्रादुष्यन्ति तर्हि सकलस्वस्वावरणक्षये सुतरां भवेयुश्चारित्रपरिणामवत् तत्कथं केवलज्ञानदर्शनभावे मतिज्ञानाद्यभाव आदरः " आवरणदेसविगमे, जाईविज्जंति मई सुयाईणि । आवरणसव्वविगमे, कह ताइ न होंति जीवस्स " उच्यते इह यथा सहस्रभानोरुपचितघनपटलान्तरितस्यापान्तरालावस्थितकटकुड्याद्यावरणविवरप्रविष्टः प्रकाशो ऽस्पष्टरूपो घटपटादीन् प्रकाशयति तथा केवलज्ञानावरणावृतस्य केवलज्ञानस्यापान्तरालमतिज्ञानाद्यावरणक्षयोपशमरूपविवरविनिर्गतः प्रकाशो जीवादीन् पदार्थान् प्रकाशयति । स च तथा प्रकाशयंस्तत्तत्क्षयोपशमानुरूपं मतिज्ञानं श्रुतज्ञानमित्यादिरूपमभिधानमुद्वहति । ततो यथा सकलघनपटलकटकुड्याद्यावरणापगमे स तथाविधप्रकाशसहस्रधाकारास्पष्टरूपो न भवति किं तु सर्वात्मना स्फुटरूपोऽन्य एव तथेहापि सकलकेवलज्ञानावरणमतिज्ञानाद्यावरणविलयेन तथाविधोऽस्पष्टरूपो मतिज्ञानादिसंज्ञिनः केवलज्ञानस्य प्रकाशो भवति सर्वात्मना यथावस्थितं वस्तु परिच्छिन्दन् परिस्फुटरूपोऽन्य एवेत्यदोषः । उक्तं च । कडविवरागयकिरणा, मेहंतरियस्स जह दिणेसस्स । उक्कडमेहावरणे, न होति जह तह इमाइंपि " । अन्ये पुनराहुः । सत्येव सयोगिकेवल्यादावपि मतिज्ञानादीनि केवलमफलत्वात्सन्त्यपि तदानींतनानि न विकसन्ति सूर्योदये नक्षत्राणीनि । उक्तं च । " अन्ने आभिणिबोहिय-नाणाईणि वि जिणस्स विज्जंति । अफलाणि य सूरुदए, जहेव नक्खत्तमाईणि " तथा (संतेवअचक्खुचक्खुसुत्ति) सन्त्येव भवन्त्येव अचक्षुर्दर्शनचक्षुर्दर्शनाभ्यां बहुवचनात् अवधिदर्शनेन च सह सम्यक्त्वनिमित्ता मिथ्यात्वनिमित्ताश्चोपयोगास्तेन मतिश्रुतावधिज्ञानमनःपर्यायज्ञानसामायिकच्छेदोपस्थापनपरिहारविशुद्धिकसूक्ष्मसंपरायक्षायोपशमिकौपशमिकसम्यक्त्वेषु केवलद्विकाज्ञानत्रिकहीनाः शेषाः सप्तोपयोगाः । अज्ञानत्रिकावरणसास्वादनमिथ्यात्वेषु केवलद्विकमतिज्ञानादिचतुष्टयरहिताः शेषाः षट् केवलद्विके केवलज्ञानकेवलदर्शने चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनेषु केवलद्विकहीनाः शेषा दश । मनःपर्यायज्ञानचक्षुर्दर्शनरहिताश्च शेषा दशानाहारके सूत्रे च ।(अचक्खुचक्खुसुत्ति) सप्तमी तृतीयार्थे वेदितव्या भवति ॥ यदाह पाणिनिः प्राकृतलक्षणे तृतीयार्थे सप्तमी यथा तिसु तेसु अलंकियापुहई इति" तदेवं कृता मार्गणास्थानेषु योगोपयोगमार्गणा ॥ पं० सं० १ द्वा० ।

गुणस्थानेषूपयोगाः ।

अधुनैतेष्वेवोपयोगानभिधातुकाम आह ॥

तिअनाणदुदंसाइम-दुगे अजियदेसिनाणदंसतिगं ।
ते मीसे मीससमणा, जयाइकेवलिदुयंतदुगे ॥ ४८ ॥

आदिमद्विके मिथ्यादृष्टिसास्वादनलक्षणे प्रथमद्वितीयगुणस्थानकद्वये इत्यर्थः (तिअनाणदुदंसत्ति) त्रयाणामज्ञानानां समाहारस्त्र्यज्ञानं मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानरूपं दर्शनं दर्शः । द्वयोर्दर्शयोः समाहारो द्विदर्शम् । चक्षुर्दर्शनाचक्षुर्दर्शनरूपमित्येते पञ्चोपयोगा मिथ्यादृष्टिसास्वादनयोर्भवन्ति न शेषाः सम्यक्त्वविरत्यभावात् । तथा अयतेऽविरतसम्यग् दृष्टौ देशे देशविरते षडुपयोगा भवन्ति तथा हि (नाणदंसतिगंति) त्रिकशब्दस्य प्रत्येकमभिसंबन्धात् ज्ञानत्रिकं मतिज्ञानश्रुतज्ञानावधिज्ञानरूपं दर्शत्रिकं चक्षुरचक्षुर्दर्शनावधिदर्शनलक्षणमिति न शेषाः सर्वविरत्यभावात् । ते पूर्वोक्ता ज्ञानत्रिकदर्शनत्रिकरूपाः षडुपयोगा मिश्रे सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानके मिश्रा अज्ञानसहिता द्रष्टव्याः तस्योभयदृष्टिपातित्वात् केवलं कदाचित्सम्यक्त्वबाहुल्यं कदाचिच्च मिथ्यात्वबाहुल्यम् । ततोऽज्ञानबाहुल्यसमकक्षतायां तूभयांशसमतेति । अस्मिंश्च गुणस्थानके यदवधिदर्शनमुक्तं तत्सैद्धान्तिकमतापेक्षया द्रष्टव्यमित्युक्तं प्राक् । (समणाजयाइत्ति) यमस्तूपरमे यमनं यतम् । यतं विद्यते यस्य स यतः अभ्रादित्वात् अप्रत्ययः प्रमत्तगुणस्थानकवर्ती साधुर्यत आदिर्येषां गुणस्थानकानां तानि यतादीनि प्रमत्ताप्रमत्तापूर्वकरणानिवृत्तिबादरसूक्ष्मसंपरायोपशान्तमोहक्षीणमोहलक्षणानि सप्तगुणस्थानकानि तेषु पूर्वोक्तज्ञानत्रिकदर्शनत्रिकाख्याः षडुपयोगाः (समणत्ति) मनः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर्यायज्ञानसहिताः सप्त भवन्तीति न शेषा मिथ्यात्वघातिकर्मक्षयाभावात् । केवलद्विकं केवलज्ञानकेवलदर्शनलक्षणोपयोगद्वयरूपम् । अतएव द्विके सयोगिकेवलिलक्षणचरमगुणस्थानकद्वये भवति न शेषा ज्ञानदर्शनलक्षणास्तदुच्छेदेनैव केवलज्ञानकेवलदर्शनोत्पत्तेः " नट्ठम्मिय छाउमत्थिए नाणे " इति वचनात् तदेवमभिहिता गुणस्थानकेषूपयोगाः ॥ कर्म०

अचक्खुचक्खुदंसण-मन्नाणतिगं च मिच्छसासाणे ।
विरयाविरएसम्मे, नाणतिगं दंसणतिगं च ।

अचक्षुर्दर्शनचक्षुर्दर्शनमज्ञानत्रिकं च मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गलक्षणम् । चः समुच्चये मिथ्यादृष्टौ सास्वादने चोपयोगा भवन्ति । यत्तु अवधिदर्शनं तत्कुतश्चिदभिप्रायाद्विशिष्टाः श्रुतविदो नेच्छन्ति तन्न सम्यगवगच्छामः । अथ च सूत्रे मिथ्यादृष्ट्यादीनामवधिदर्शनं प्रतिपाद्यते यतउक्तं प्रज्ञप्तौ "ओहिदंसणअणागारोवउत्ताणं भवइ ते किं नाणी अन्नाणी गोयमा नाणी वि अन्नाणी वि । जइ नाणत्तो अत्थेगइया तिनाणी अत्थेगइया चउनाणी जे तिनाणी ते आभिणिबोहियनाणी सुयनाणी ओहिनाणी जे चउनाणी ते आभिनिबोहियनाणी सुयनाणी ओहिनाणी मणपज्जवनाणी । जे अन्नाणी ते नियमा मइअन्नाणी सुयअन्नाणी विभंगनाणी इति" ॥ अत्र हि ये अज्ञानिनस्ते मिथ्यादृष्टीनामप्यवधिदर्शनं साक्षादत्र सूत्रे प्रतिपादितम् यदा त्ववधिज्ञानी सास्वादनभावं मिश्रभावं वा गच्छति तदा तत्राप्यवधिदर्शनं प्राप्यते इति । तथा विरताविरते देशविरते (सम्मेति) अविरतसम्यग्दृष्टौ मतिश्रुतावधिलक्षणज्ञानत्रिकं चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनत्रिकमिति षट् उपयोगा भवन्ति ।

मिस्सम्मि य वामिस्सं, मणनाणजयं पमत्तपुव्वाणं ।
केवलियनाणदंसण, उवओगअजोगिजोगीसु ॥

मिश्रे सम्यग्मिथ्यादृष्टौ तदेव ज्ञानत्रिकं दर्शनत्रिकं चानन्तरोक्तमज्ञानव्यामिश्रं द्रष्टव्यम् । मतिज्ञानं मत्यज्ञानमिश्रमित्यादि केवलं कदाचित्सम्यक्त्वबाहुल्यतो ज्ञानबाहुल्यं कदाचिच्च मिथ्यात्वबाहुल्यतोऽज्ञानबाहुल्यं समतायां तु सम्यक्त्वमिथ्यात्वयोरुभयोरपि समतेति तथा तदेव पूर्वोक्तमुपयोगषट्कं मनःपर्यायज्ञानयुतम् । प्रमत्तः पूर्वो येषां ते प्रमत्तपूर्वास्तेषां प्रमत्तपूर्वकरणानिवृत्तिबादरसूक्ष्मसंपरायोपशान्तमोहक्षीणमोहानामवसेयम् । तथा केवलज्ञानकेवलदर्शनलक्षणौ द्वावुपयोगौ सयोग्ययोगिकेवलिषु प्रष्टव्यौ न शेषाः "केवलदुगे न सेसा" इति वचनात् ॥ पं०सं०१ । द्वा०।

(अवशिष्टवक्तव्यतोपयोगस्य मार्गणास्थानाल्पबहुत्वं संजतनिर्ग्रंथादि शब्देषु ।) अवधाने, आव० ६ अ० । यत्सन्निधानादात्मा द्रव्येन्द्रियनिर्वृतिं प्रति व्याप्रियते तन्निमित्तमात्मनो मनः सान्निध्यादर्थग्रहणं प्रति व्यापाररूपे, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० । स्वस्वविषये लब्ध्यनुसारेणात्मनः परिच्छेदव्यापारस्वरूपे वा भावेन्द्रियभेदे, । जी० १ प्रति० । आ० म० द्वि० । " जो सविसयवावारो उवओगो " । यः श्रोत्रादीन्द्रियस्य स्वविषये शब्दादौ परिच्छेद्य व्यापारः स उपयोगः उपयोजनमुपयोगः । विवक्षितकर्मणि मनसोऽभिनिवेशे, विशे० । "उवओगदिट्ठसाए कम्मप्पसंगपरिघोलणविसाला" नं० । आ० चू० । आ० म० द्वि० । कायोत्सर्गे, महा०७ अ० । उपयोगाकरणे प्रायश्चित्तम् । "चेइहिं अवंदिएहिं उवओगं करेज्जा पुरिवट्टं गुरुणो अंतिए णोवओगं करेज्जा । चउत्थं अकएणं उवओगेणं जं किंचि पडिगाहेज्जा चउत्थं अविहीए उवओगं करेज्जा । व्याप्रियमाणतायाम्, आ० म० प्र० ॥ लिङ्गे, चिह्ने, विशे० ॥ आचरणे, भोजने, इष्टसिद्धिसाधने, व्यापारे, आनुकूल्ये च । वाच० ॥

उवओगकरावणिया-उपयोगकारणिका- स्त्री० उपयोगकरणविधौ, सा चैवम् ॥

पडिलेहिअ सुपमज्जिअ, तत्तो पत्ताणि पडलजुत्ताणि ।
उग्गहियगुरुपुरओ, उवओगं कुणइ उवउत्तो ॥ २ ॥
संपइ सामायारी, दीसइ एसा य भागसमयम्मि ।
जं किज्जइ उवओगो, बालाइअणुग्गहट्ठाए ३ ॥

पञ्चवस्तुकेऽपि " काइअमाइअजोगं, काउं घेत्तूण पत्तए ताहे । इंरूं च संजयंतो, गुरुपुरओ ठविउ उवउत्तो ॥१॥ उपयोगकरणविधिस्त्वेवं तत्रैवम् ।

संदिसह भणंति गुरुं, उवओगं करेसु ते मणुमया ।
उवओगकरावणियं, करेसु उस्सग्गमिच्छाइ ॥ १ ॥

संदिशतेति गुरुं भणंति किमित्याह (उवओगं करेमित्ति) इच्छाकारेण संदिसह भगवन् ! उपयोगकरूँ" इति भणतीत्यर्थः ।
तत उपयोगकारावणियं करेमि काउस्सग्गं अन्नत्थ इत्यादि भणति ।

अह कड्डिऊण सुत्तं, अक्खलिआइगुणसंजुअं गच्छा ।
चिट्ठंति काउसग्गे, चिंतिंति अत्थमंगलयं ॥ २ ॥

सुगमा । परं (मंगलंति) पञ्चमङ्गलनमस्कारं कायोत्सर्गे चिन्तयन्ति अथ पद्यद्वयमाह ।

तप्पुव्वयं जयत्थं, अन्नेउ भणंति धम्मजोगमिणं ।
गुरुबालवुड्ढसिक्खग, रेसिम्मिण अप्पणो चेव ॥ ३ ॥

तत्पूर्वकं नमस्कारपूर्वकं पदार्थं तथ चिन्तयन्ति सम्यगनालोचितस्य ग्रहणप्रतिषेधात् तस्माद्यावदालोचितं हृदि तावन्न किंचिद्ग्राह्यम् । अन्ये आचार्या इत्थं भणन्ति धर्मयोगमेनं चिन्तयन्तीति । किंविशिष्टं गुरुबालवृद्धशैक्षैरेव एतदर्थं नात्मार्थम् । ३ । ततः किमित्याह-

चिंतेतु तओ पच्छा, मंगलपुव्वं भणंति विणयणया ।
संदिसहत्ति गुरू वि अ, लाभोत्ति भणेति उवउत्तो ॥

चिन्तयित्वा पश्चात् (मंगलपुव्विंति) " नमो अरिहंताणं ति " भणनपूर्वं विनयनता भणन्ति किमित्याह (संदिसहेत्ति) सूरिरनुजानातीत्यर्थः । गुरुरपि भणति (लाभोत्ति) कालोचितानुकूलानपायित्वात् उपयुक्तो निमित्ते ऽप्यसंभ्रान्तः ॥ ४ ॥ ततः किमित्याह-

कहघेच्छमोत्ति पच्छा, सविसेसणया भणंति ते सम्मं ।
आह गुरूवि तहत्ति, जह गहिहं पुव्वसाहूहिं ॥ ५ ॥

ततः कथं गृहीष्याम एवं पश्चात् सविशेषनतास्ते साधवः सम्यग् भणन्ति ततो गुरुरप्याह यथा गृहीतं पूर्वसाधुभिरित्यनेन गुरोरसाधुप्रायोग्येन भणनप्रतिषेधमाह-

आवस्सियाए जस्स य, जोगुत्ति भणितु ते उ णिग्गंति ।
णिक्कारणेण कप्पइ, साहूणं वसहिणिग्गमणं ॥

आवशिक्या साधुक्रियाभिधायिन्या हेतुभूतया (जस्सयजोगुत्ति) भणित्वा निर्गच्छन्ति वसतेः तस्यार्थस्त्वेवं यस्य वस्तुनो वस्त्रपात्रशैक्षादेर्योगः संयमोपकारकः संबन्धो भविष्यति तं ग्रहीष्यामीत्यर्थः किमेतादित्याह निष्कारणे न कल्पते साधूनां वसतिनिर्गमनं तत्र दोषसंभवादिति । यस्य योग इत्यस्याऽकरणे च दोषो यदुक्तमोघनिर्युक्तौ ॥

जस्स य जोगमकाऊण, निग्गओ न लभेज्ज सच्चित्तं ।
नयवत्थपायमाई, तेणं गहणे कुणसु तम्हा ॥

यस्य योगमित्येवमकृत्वाऽभणित्वा निर्गतेः सन्न लभते नाभा- व्यतया प्राप्नोति सचित्तं प्रव्रज्यार्थमुपस्थितं गृहस्थं नाप्यचित्तं वस्त्रपात्रादि । अथ यदि गृह्णाति ततः स्तैन्यं भवति । तस्मात्कुरु अस्य योगमिति । एवं चोपयोगकरणे चत्वारि स्थानानि तदुक्तम " आपुच्छणा त्ति पढमा, बिइया पडिपुच्छणा य कायव्वा । आवस्सिआ य तइआ, जस्स य जोगो चउत्थो उ " ध० ३ अधि० ।

उवओगगुण–उपयोगगुण–पुं० उपयोगः साकारानाकारभेदं चैतन्यं गुणो धर्मो यस्य स तथा। चैतन्यधर्मके जीवे, " जीवे सासए गुणओ उवओगगुणे " स्था० ५ ठा० । भ० ।

उवओगजुय–उपयोगयुत–त्रि० अवहितमनसि, "तं पुण संविग्गेणं उवओगजुएण तिव्वसद्धाए " पंचा० ४ विव० ।

उवओगट्ठया–उपयोगार्थता–स्त्री० विविधविषयानुपयोगाश्रयणे, " उवओगट्ठयाए अणेगभूयभावभविए वि अहं " विविधविषयानुपयोगानाश्रित्यानेकभूतभावभविको ऽप्यहमप्यतीतानागतयोर्हि कालयोरनेकविषयबोधनात्मनः कथंचिदभिन्नानां भूतत्वाच्चेत्यनित्यपक्षोऽपि न दोषायेति । भ० १८ श० १० उ० ।

उवओगदिट्ठसारा–उपयोगदृष्टसारा–स्त्री० उपयोजनमुपयोगो विवक्षितकर्मणि मनसोऽभिनिवेशः सारस्तस्यैव विवक्षितकर्मणः परमार्थः उपयोगेन दृष्टः सारो यया सा उपयोगदृष्टसारा । अभिनिवेशोपलब्धकर्मपरमार्थायां बुद्धौ," उवओगदिट्ठसारा, कम्मपसंगपरिघोलणविसाला " नं० ॥

उवओगपरिणाम–उपयोगपरिणाम–पुं० उपयोग एव परिणाम उपयोगपरिणामः जीवपरिणामभेदे, प्रज्ञा० १३ पद । स च साकारानाकारभेदाद् द्विधा, स्था० १० ठा० ।

उवओगवक्क–उपयोगवाक्य–न० आनन्दस्य भगवन्तं प्रति वाक्यभेदे, । दर्श० ।

उवओगवीरिय–उपयोगवीर्य–आध्यात्मिकवीर्यभेदे, उपयोगवीर्यं साकारानाकारभेदात् द्विविधम् । तत्र साकारोपयोगोऽष्टधा अनाकारश्चतुर्धा तेन चोपयुक्तः स्वविषयस्य द्रव्यक्षेत्रकालभावरूपस्य परिच्छेदं विधत्ते इति । सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

उवओगाता–स्त्री० उपयोगात्मन्–पुं० उपयोगः साकारानाकारभेदस्तत्प्रधानः आत्मा उपयोगात्मा । सर्वजीवानां सिद्धसंसारिस्वरूपे विवक्षितवस्तूपयोगविशिष्टे वा आत्मभेदे, भ० ॥ १२ श० १० उ० ॥

उवंग–उपाङ्ग–न० उपमितमङ्गेन । अङ्गावयवभूतेऽङ्गुल्यादौ, प्रज्ञा० २३ पद ॥ कर्म० । आ० म० द्वि० । विशे० । कर्णादिषु, च । उपाङ्गानि कर्णौ नासे अक्षिणी जङ्घे हस्तौ पादौ च । उत्त० ३ अ० । आचा० ॥ " होंति उवंगा कण्णा- णासच्छी जंघा हत्था पाया य कण्णा णासिगा अच्छि जंघ पादा य एवमादी सव्वे उवंगा भवंति ॥ नि० चू० १ उ० ॥ कर्म० । अङ्गार्थविस्ताररूपे, ॥ कल्प० ॥ शिक्षाद्यङ्गोक्तप्रपञ्चपरे ग्रन्थे, ज्ञा० ५ अ० । नि० । संगोवंगाणं सरहस्साणं चउण्हं वेयाणं " औ० ॥ लोकोत्तरिकाचाराङ्गैकदेशप्रपञ्चरूपे श्रुते, तानि च द्वादश तथाहि तत्राङ्गानि द्वादश उपाङ्गान्यपि अङ्गैकदेशरूपाणि प्रायः प्रत्यङ्गमेकैकभावात् प्रत्यक्षं । तत्राङ्गानि आचाराङ्गादीनि प्रतीतानि । तेषामुपाङ्गानि क्रमेणामूनि आचाराङ्गस्यौपपातिकम् ॥ १ ॥ सूत्रं तदङ्गस्य राजप्रश्नीयम् ॥ २ ॥ स्थानाङ्गस्य जीवाभिगमः ॥ ३ ॥ समवायाङ्गस्य प्रज्ञापना ॥ ४ ॥ भगवत्याः सूर्यप्रज्ञप्तिः ॥ ५ ॥ ज्ञाताधर्मकथाङ्गस्य जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिः ॥ ६ ॥ उपासकदशाङ्गस्य चन्द्रप्रज्ञप्तिः ॥ ७ ॥ अन्तकृद्दशाङ्गादीनां दृष्टिवादपर्यन्तानां पञ्चानामप्यङ्गानां निरयावलिका । श्रुतस्कन्धगतकल्पिकादि पञ्चवर्गाः पञ्चोपाङ्गानि तथाहि अन्तकृद्दशाङ्गस्य कल्पिका ॥ ८ ॥ अनुत्तरोपपातिकदशाङ्गस्य कल्पावतंसिका ९ प्रश्नव्याकरणस्य पुष्पिता ॥ १० ॥ विपाकश्रुतस्य पुष्पचूलिका ॥ ११ ॥ दृष्टिवादस्य वृष्णिदशा ॥ १२॥ इति । जं० १ वक्ष० ॥ उपाङ्गानि केन कृतानीत्यत्र प्रश्नोत्तरे तत्रोपाङ्गानि किं गणधररचितानि अन्यथा वा तथाङ्गप्रणयनकालेऽन्यदा वा तन्निर्माणमिति । सूत्रोपाङ्गानि स्थविराः कुर्वन्ति तीर्थकरे विद्यमानेऽविद्यमाने याऽन्यङ्गप्रणयनकाले एवं तेषां निर्माणमिति नैकान्त इति नन्दीसूत्रवृत्तौ व्यक्तोक्तमस्ति तेन विशेषतस्ततोऽवसेयमिति ह्री० । (अङ्गपविट्ठशब्दे तथा दर्शितम्) उपाङ्गेषु केन किं विवृतम् उपाङ्गानां च मध्ये प्रथममुपाङ्गं श्रीअभयदेवसूरिभिर्विवृतम् । राजप्रश्नीयादीनि षट् श्रीमलयगिरि पादैर्विवृतानि पञ्चोपाङ्गमयी निरयावलिका च श्रीचन्द्रसूरिभिर्विवृता तत्र प्रस्तुतोपाङ्गस्य वृत्तिः श्रीमलयगिरिकृताऽपि संप्रति कालदोषेण व्यवच्छिन्ना इदं च गम्भीरार्थतया अतिगहनं तदनुयोगरहितं मुद्रितराजकीयकमनीयकोशगृहमिव न तदर्थार्थिनां हस्तानुयोगार्पितसिद्धिकं संजायत इति कल्पितार्थकल्पनकल्पद्रुमाणां युगप्रधानसमानम् । संप्रति विजयमानगच्छनायकपरमगुरुश्रीहीरविजयसूरीश्वरनिर्देशेन कोशाध्यक्षाज्ञया प्रत्येणेवोन्मुद्रणमिव मया तदनुयोगः प्रारभ्यते ॥ जं० १ वक्ष० । रा० । तिलक, पुं० वाच० ।

उवंगतिग–उपाङ्गत्रिक–न० औदारिकवैक्रियाहारकाङ्गोपाङ्गरूपे त्रये, कर्म० ॥

उवंजण–उपाञ्जन–न० उप अञ्ज ल्युट्, लेपने, गोमयादिनानुलेपने, संमार्जनोपार्जनेन सेकेनोल्लेखने, च । वाच० ॥ अभ्यङ्गे, " अक्खोवंजण वणाणुलेवणभूयं " सूत्र० २ श्रु० १ अ० । आधारे ल्युट् । अञ्जनाधारे, हस्तादौ च । वाच० ॥

उवंसुजव–उपांशुजप–पुं० परैरश्रूयमाणेऽन्तःसंजल्पनरूपे जपभेदे, ध० ४ अधि० ॥

उवकप्प–उपकल्प–पुं० उपगतः कल्पम् । अत्या० स० कल्पोपगते, तक्के पाने, न० । उप सामीप्ये उपेत्य कल्पते इति उपकल्पः । आहारादिषु उपेत्योपकारे वर्तते इत्युपकल्पः । आहारादिना साधोरुपग्रहकरणे, । पुं० चू० ॥

एत्तो पुच्छा महंतु, उवकप्पं उवग्गहे । उवकप्पती करेति, उवणाइव होति एकट्ठा ॥ भत्तेण व पाणेण व, उवग्गहं तओ कुणति । उवकप्पति गुणधारी, उवकंपंतं वियाणाहि ॥ खुहिओ पिवासिओ वा, सीतनिजूतो व ण तरति । पडितं तस्स करेति, उवग्गहपरंतं कुकुस्स वा थूणे ॥ जो उण्णए समाहिं, चउव्विहं णाणदंसणचरित्ते । तत्तो य तवसमाहिं, तस्स खमाणिज्जए होइ ॥ भत्तेण व पाणेण व, उवगरणेण व उवग्गहितदेहो । जं कुणति सो समाहिं, तस्सायरणं हवति दाता ॥ भत्तस्स व पाणस्स व, उवकरणस्स व उवग्गहकरस्स । जो कुणति अंतरायं, तस्सावरणं पवट्टो त्ति ॥ एसुवकप्पो भणितो ॥ पं० भा० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इयाणिं उवकप्पो तत्थ गाहा "भत्तेण व पाणेण व" उप सामीप्ये उपेत्य कल्पते इत्युपकल्पः आहारादिसु उपेत्योपकारे वर्तते इत्युपकल्पः । साहुस्स उवग्गहं करेइ आहाराइणा- पढंतस्स उद्दुस्सेव मूला मूलगुण उत्तरगुणधारी उवकप्पंतं चियाणाहि गाहा "भत्तेण य सो पुण भत्ताईहिं साहुस्स उवग्गहं कुणमाणो समाहिं समुप्पायइ चउव्विहं पि नाणदरिसणतवचरित्तसमाहिं सो पुण समाहिमुप्पायंतो तासिं चेव नाणदरिसणचरित्ततवसमाहीणं आवरणं हणइ कम्मं गाहा "भत्तस्स य पाणस्स य" जो पुण अंतरायं करेइ आहाराइणं साहुस्स दिज्जंताणं से तासिं चेव णाणदरिसणतवसमाहीणं अंतराए पवट्टइ सो नाणाइअंतराइयं बंधइ उवकप्पो ॥ पं० चू० ॥

उवकप्पंत–उपकल्पयत्– त्रि० निष्पादयति, "जेसिं तेहिं उवकप्पंति अन्नं पाणं तह वि" उपकल्पयन्ति निष्पादयन्ति सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ॥

उवकय–उपकृत– त्रि० उप-कृ-क्त० । कृतोपकारे, यस्योपकारः कृतस्तस्मिन् वाच० । परैर्वर्तिते, "अणुवकयपराणुग्गहपरायणा" आव० ४ अ० ॥

उवकसंत–उपकषत्– त्रि० अजति, "पव्वासमणिताविगे । नारीणं वसमुवकसंति" सूत्र० १ श्रु० ४ अ० ॥

उवकुल–उपकुल– न० कुलानां समीपमुपकुलम् । तत्र वर्त्तन्ते यानि नक्षत्राणि तान्युपचारादुपकुलानीति व्युत्पत्तेः कुलसंज्ञकानां नक्षत्राणामधस्तनेषु नक्षत्रेषु, तानि द्वादश । श्रवणः पूर्वभाद्रपदा रेवती भरणी रोहिणी पुनर्वसू अश्लेषा पूर्वफाल्गुनी हस्तः स्वाती ज्येष्ठापूर्वाषाढाश्चेति । जं० ७ वक्ष० । चं० ॥ सू० प्र० (णक्खत्त शब्दे सूत्रतः स्पष्टीभविष्यति)

उवकेसपुर–उपकेशपुर– न० स्वनामख्याते तीर्थभेदे, यत्र वीरभगवत्प्रतिमा ॥ ती० ॥

उवकोसा–उपकोशा– स्त्री० पाटलिपुत्रवासिन्याः कोशागणिकायाः कनिष्ठभगिन्याम्, "पाडलिपुत्ते नयरे दो गणियातो कोसा उवकोसातो । आ० म० द्वि० । कोसाए रहरिकामगिणी उवकोसातीए समं वररुची वसति । आ० चू० ४ अ० । (थूलभद्द शब्दे कथानकम्)

उवक्कम–उपक्रम–पुं० उपक्रमणमुपक्रमः उप-क्रम् घञ् वृद्ध्यभावः । उपाये, आचा० १श्रु० ७ अ० ८ उ० । "सोच्चा भगवाणुसासणं सच्चे तत्थ करेज्जुवक्कमं" तदुपक्रमं तत्प्राप्त्युपायं कुर्यात् सूत्र० १ श्रु० २ अ० । उपायपूर्वके आरम्भे, तद्भेदाश्च यथा—

तिविहे उवक्कमे पण्णत्ते तं जहा धम्मिए उवक्कमे अहम्मिए उवक्कमे धम्मियाधम्मिए उवक्कमे ॥

उपक्रमणमुपक्रम उपायपूर्वक आरम्भो धर्म्मः श्रुतचारित्रात्मके भवः स वा प्रयोजनमस्येति धार्मिकश्रुतचारित्रार्थ आरम्भ इत्यर्थस्तथा न धार्मिकोऽधार्मिकः संयमार्थस्तथा धार्मिकश्चासौ देशतः संयमरूपत्वादधार्मिकश्च तथैवासंयमरूपत्वाद्धा धार्मिकाधार्मिकौ देशविरत्यारम्भ इत्यर्थः । अथवा नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावभेदात् षड्विध उपक्रमस्तत्र नामस्थापने सुज्ञाते द्रव्योपक्रमस्तु ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तस्त्रिधा सचित्ताचित्तमिश्रद्रव्यभेदात् । तत्र सचित्तद्रव्योपक्रमो द्विपदचतुष्पदापदभेदत्रिधः पुनरेकैको द्विविधः परिकर्म्मणि वस्तुविनाशे च । तत्र परिकर्म्म द्रव्यस्य गुणविशेषकरणं तस्मिन्सति तद्यथा घृताद्युपयोगेन पुरुषस्य वर्णादिकरणं एवं शुकसारिकादीनां शिक्षागुणविशेषकरणम् । तथा चतुष्पदानां हस्त्यादीनाम् अपदानां च वृक्षादीनां वृक्षायुर्वेदोपदेशात् वार्द्धक्यादिगुणापादनमिति । तथा वस्तुविनाशे च पुरुषादीनां खड्गादिभिर्विनाश एवोपक्रम इति । एवमचित्तद्रव्योपक्रमः पद्मरागादिमणेः क्षारमृत्पुटपाकादिना वैमल्यापादनं विनाशश्चेति । मिश्रद्रव्योपक्रमस्तु कटकादिविभूषितपुरुषादिद्रव्यस्यैवेति । तथा क्षेत्रस्य शालिक्षेत्रादेः परिकर्म्मविनाशो वा क्षेत्रोपक्रमस्तथा कालस्य चन्द्रोपरागादिलक्षणस्योपक्रम उपायेन परिज्ञानं कालोपक्रमः । तथा भावस्य प्रशस्ताऽप्रशस्तरूपस्योपायतः परिज्ञानमेव भावोपक्रमः । स चाप्रशस्तो डोम्बिनीगणिकामात्यदृष्टान्तादवसेयः । प्रशस्तस्तु श्रुतादिनिमित्तमाचार्यादिभावोपक्रम एवं धार्मिकस्य संयतस्य यश्चारित्रार्थं द्रव्यक्षेत्रकालभावानामुपक्रम उक्तस्वरूपः स धार्मिक एवोपक्रमः । तथा अधार्मिकस्याऽसंयतस्यासंयमार्थं यः सोऽधार्मिक एव । तथा धार्मिकाधार्मिकस्य देशविरतस्य यः स धार्मिकाधार्मिक इति ॥ अथ स्वाभ्यन्तरभेदेनोपक्रममेव त्रिधाह–

अहवा तिविहे उवक्कमे पण्णत्ते तं जहा आयोवक्कमे परोवक्कमे तदुभयोवक्कमे एवं वेयावच्चे अणुग्गहे अणुसिट्ठी उवालंभे एवमिक्किक्के तिन्नि २ आलावगा जहेव उवक्कमे ॥

तत्रात्मनोऽनुकूलोपसर्गादौ शीलरक्षणनिमित्तमुपक्रमो वैहानसादिना विनाशः परिकर्म वा आत्मार्थं वा उपक्रमोऽन्यस्य वस्तुन आत्मोपक्रम इति । तथा परस्य परार्थं चोपक्रमः परोपक्रम इति तदुभयस्य आत्मपरलक्षणस्य तदुभयार्थं चोपक्रमस्तदुभयोपक्रम इति । एवमिति । उपक्रमसूत्रवत् आत्मपरोभयभेदेन वैयावृत्त्यादयो वाच्याः । स्था० ३ ठा० । प्रथमतः सर्वकृत्यविधौ, आतु० । उपक्रम्यतेऽनेनेत्युपक्रमः । कर्म्मवेदनोपाये, भ० १ श० ४ उ० । उपक्रमणमुपक्रमः । कर्मणामनुदयप्राप्तानामुदयप्रापणे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० । उपक्रम्यते क्रियतेऽनेनेति उपक्रमः । कर्मणो बद्धत्वोदीरितत्वादिना परिणमनहेतौ जीवस्य शक्तिविशेषे, योऽन्यत्र करणमिति रूढः । तद्भेदा यथा–

चउव्विहे उवक्कमे पण्णत्ते तं जहा बंधणोवक्कमे उदीरणोवक्कमे उवसामणोवक्कमे विप्परिणामणोवक्कमे ॥

उपक्रमणं चोपक्रमो बन्धनादीनामारम्भः स्यादारम्भः उपक्रम इति वचनादिति तत्र बन्धनं कर्मपुद्गलानां जीवप्रदेशानाञ्च परस्परं संबन्धनमिदञ्च सूत्रमात्रबद्धलोहशलाकासंबन्धोपममवगन्तव्यं तस्योपक्रम उक्तार्थो बन्धनोपक्रमः । आसकलितावस्थस्य वा कर्मणो बद्धावस्थाकरणं संबन्धनं तदेवोपक्रमो वस्तुपरिकर्मरूपो बन्धनोपक्रमो वस्तुपरिकर्मवस्तुविनाशरूपस्याप्युपक्रमस्याभिहितत्वादिति । एवमन्यत्रापि । स्था० ४ ठा० २ उ० । (बन्धनोपक्रमादीनां व्याख्या स्वस्वस्थाने) मरणे, बृ० ४ उ० । व्यापादे, दूरस्थस्य स तो वस्तुनस्तैस्तैः प्रकारैः समीपानयने, "उपक्रमणमुपक्रान्तिर्दूरस्थनिकटक्रिया" उत्त० १ अ० । व्याचिख्यासितशास्त्रस्य समीपानयनलक्षणे चतुर्णामनुयोगद्वाराणां प्रथमे द्वारे, आचा० १ श्रु० १ अ० ।

अथोपक्रमस्य निरुक्तिमाह–

सत्थस्सोवक्कमण, उवक्कमो तेण तम्मि य तओ वा ।
सत्थसमीवीकरणं, आणयणं नासदेसम्मि ॥

उप सामीप्ये क्रमु पादविक्षेपे उपक्रमणं दूरस्थस्य शास्त्रादिवस्तुनस्तैः प्रतिपादनप्रकारैः समीपीकरणं न्यासदेशानयनं निक्षेपयोग्यताकरणमित्युपक्रमः । उपक्रान्तं ह्युपक्रमान्तर्गतभेदैर्विचारितं निक्षिप्यते नान्यथेति भावः । उपक्रम्यते वा निक्षेपयोग्यं क्रियतेऽनेन गुरुवाग्योगेनेत्युपक्रमः । अथवा उपक्रम्यतेऽस्मिन् शिष्यश्रव-

णभावे सतीति अथवा उपक्रम्यतेऽस्माद्विनीतविनेयविनयादित्युपक्रमः विनेयेनाराधितो हि गुरुरुपक्रम्य निक्षेपयोग्यं शास्त्रं करोतीत्यभिप्रायः । तदेवं करणाधिकरणापादानकारकैर्गुरुवाग्योगादयोऽर्था विवक्षाभेदतो भेदेनोक्ताः । यदि तु विवक्षया सर्वेऽप्येकैककरणादिकारणवाच्यत्वेनोच्यन्ते । तथापि न दोषः । (सत्थसमीवीकरणमिति) शास्त्रस्य समीपीकरणं शास्त्रस्य न्यासदेशानयनं निक्षेपयोग्यताकरणमुपक्रम इति सर्वत्र संबध्यत इति ॥ विशे० ६ द्वा० । अनु० । उपक्रमणमुपक्रम इति भावसाधनः । शास्त्रस्य न्यासदेशसमीपीकरणलक्षणः उपक्रम्यते वाग्योगेनेत्युपक्रम इति करणसाधनः । उपक्रम्यतेऽस्मिन्निति वा शिष्यश्रवणभावे सतीत्युपक्रम इत्यधिकरणसाधनः । उपक्रम्यते अस्मादिति वा विनेयविनयादित्युपक्रम इत्यपादानसाधन इति । स्था० ६ ठा० । व्य० । आ० म० प्र० । सूत्र० । जं० । उपक्रमो द्विधा । शास्त्रीय इतरश्च । शास्त्रानुगतः शास्त्रीयः (आचा०) इतरश्च लोकप्रसिद्धः । तत्रेतरजिज्ञासयाह—

से किं तं उवक्कमेछव्विहे पण्णत्ते तं जहा णामोवक्कमे ठवणोवक्कमे दव्वोवक्कमे खेत्तोवक्कमे कालोवक्कमे भावोवक्कमे नामठवणाओ गयाओ ॥

अत्र क्वचिदेवं दृश्यते उवक्कमे दुविहे पण्णत्ते इत्यादि" अयं च पाठः आधुनिको युक्तश्च आह वा उवक्कमे छव्विहे पण्णत्ते इत्यादि वक्ष्यमाणग्रन्थोपन्यासस्याघटमानताप्रसङ्गात् । यदि शास्त्रीयोपक्रमोऽत्र प्रतिज्ञातः स्यात्ततःवक्ष्यमाणसूत्रमेव स्यात् "से किं तं सत्थोवक्कमे २ छव्विहे पण्णत्ते इत्यादि " नचैवं तस्मान्नेह सूत्रद्वैविध्यप्रतिज्ञा किन्त्वितरोपक्रमभणनं चेतसि विकल्प्य यथा निर्दिष्टमेव सूत्रमित्यलं विस्तारेण । प्रकृतं प्रस्तुतं सूत्रम् । नामस्थापनोपक्रमव्याख्या नामस्थापनावश्यक व्याख्यानुसारेण कर्त्तव्या । अनु० । विशे० ॥

द्रव्योपक्रमः ।

से किं तं दव्वोवक्कमे २ दुविहे पण्णत्ते तं जहा आगमतो अ नोआगमतो अ । जाणयसरीरभविअसरीरवइरित्ते दव्वोवक्कमे २ तिविहे पण्णत्ते तं जहा सचित्ते अचित्ते मीसए । से किं तं सचित्ते दव्वोवक्कमे २ तिविहे पण्णत्ते तं जहा दुपए चउप्पए अपए एक्किक्के पुण दुविहे पण्णत्ते तं जहा परिकम्मे अ वत्थुविणासे अ ॥

द्रव्योपक्रमव्याख्यापि द्रव्यावश्यकवदेव यावद्दव्वोपक्कमे इत्यादि । तत्र द्रव्यस्य नटादेरुपक्रमणं कालान्तरभाविनाऽपि पर्यायेण सहेदानीमेवोपायविशेषतः संयोजनं द्रव्योपक्रमः । अथवा द्रव्येण घृतादिना चूर्णादौ द्रव्यतः घृतादेरेवोपक्रमो द्रव्योपक्रम इत्यादि । कारकयोजना विवक्षया कर्त्तव्येति । स च त्रिविधः प्रज्ञप्तस्तथा सचित्तद्रव्यविषयः सचित्तः । अचित्तद्रव्यविषयोऽचित्तः । मिश्रद्रव्यविषयस्तु मिश्रः । द्रव्योपक्रमस्त्रिविधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा द्विपदानां नटनर्त्तकादीनां चतुष्पदानामश्वहस्त्यादीनामपदानामाम्रादीनाम् । तत्रैकैकः पुनरपि द्विधा परिकर्मणि वस्तुनाशे च । तत्रावस्थितस्यैव वस्तुनो गुणविशेषाधानं परिकर्म्म । तत्र परिकर्म्मणि परिकर्मविषयो द्रव्योपक्रमः । यदा तु वस्तुनो विनाश एवोपायविशेषैरुपक्रम्यते तदा वस्तुनाशविषयो द्रव्योपक्रमः । सूत्रं द्विपदानां नटनर्तकादीनां घृताद्युपयोगेन बलवर्णादिकरणं वर्णस्कन्धवर्द्धनादिक्रिया वा परिकर्म्मणि सचित्तद्रव्योपक्रमः ॥

द्विविधमप्येतदुपक्रमं विभणिषुराह—

से किं तं दुपए उवक्कमे नडाणं नट्टाणं जल्लाणं मल्लाणं मुट्ठियाणं वेलंबगाणं कहगाणं पवगाणं लासगाणं आइक्खगाणं लंखाणं मंखाणं तूणइल्लाणं तुंबवीणियाणं कायाणं मागहाणं सेत्तं दुपए उवक्कमे ॥

अत्र निर्वचनं (दुपयाणं नडाणमित्यादि) तत्र नाटकानां नाटयितारो नटास्तेषां (नट्टाणंति) नृत्यविधायिनो नर्तकास्तेषां (जल्लाणंति) जल्ला वरत्राः खेलकास्तेषां राजस्तोत्रपाठकानामित्यन्ये (मल्लाणंति) मल्लाः प्रतीतास्तेषां (मुट्ठियाणंति) मौष्टिका ये मुष्टिभिः प्रहरन्ति मल्लविशेषा एव तेषां (वेडंवगाणंति) विडम्बका विदूषका नानावेषादिकारिण इत्यर्थः । तेषां (कहगाणंति) कथकानां प्रतीतानाम् (पवगाणंति) प्लवका ये उत्प्लवन्ति गर्तादिकं झम्पाभिर्लङ्घयन्ति नद्यादिकं वा तरन्ति तेषां (लासगाणंति) लासका ये रासकान् गायन्ति तेषां जय शब्दप्रयोक्तॄणां वा भण्डानामित्यर्थः । (आयंखगाणंति) ये शुभाशुभमाख्यायन्ति ते आख्यायकास्तेषां (लंखाणंति) ये महावंशाग्रमारोहन्ति ते लंखास्तेषाम् (मंखाणंति) ये चित्रपटादिहस्ता भिक्षां चरन्ति ते मंखास्तेषाम् (तूणइल्लाणंति) तूणाभिधानवाद्यविशेषवताम् (तुंबवीणियाणंति) वीणावादकानां (कायाणंति) कावडिवाहकानाम् (मागहाणंति) मङ्गलपाठकानामेषां सर्वेषामपि यद् घृताद्युपयोगेन बलवर्णादिकरणं वर्णस्कन्धवर्द्धनादिक्रिया वा स परिकर्म्मणि सचित्तद्रव्योपक्रमः । यस्तु खड्गादिभिरेषां नाश एवोपक्रम्यते सम्पाद्यते स वस्तुनाशे सचित्तद्रव्योपक्रम इति वाक्यशेषः । अन्ये तु शास्त्रं गन्धर्वनृत्यादिकलासम्पादनमपि परिकर्म्मणि द्रव्योपक्रम इति व्याचक्षते एतच्चायुक्तं विज्ञानविशेषात्मकत्वाच्छास्त्रादिपरिज्ञानस्य च भावत्वादिति । अथवा यद्यात्मकद्रव्यसंस्कारमात्रापेक्षया शरीरवर्णादिकरणवदित्थमुच्यते तदेतदप्यदुष्टमेवेति । सेत्तमित्यादि निगमनम् ।

अथ चतुष्पादानां द्विविधमप्युपक्रमं विभणिषुराह—

से किं तं चउप्पए उवक्कमे, चउप्पयाणं आसाणं हत्थीणं । इच्चादि सेत्तं चउप्पयउवक्कमे, से किं तं अप्पए उवक्कमे ॥ अप्पयाणं अंबाणं अंबाडगाणं इच्चाइ सेत्तं अप्पयउवक्कमे । सेत्तं सचित्ते दव्वोवक्कमे ॥

से किं तमित्यादि । अत्र निर्वचनं "चउप्पयाणं आसाणं हत्थीणमित्यादि अश्वादयः प्रतीता एव एतेषां शिक्षा गुणविशेषकरणं परिकर्म्मणि खड्गादिस्त्वेषां नाशोपक्रमणं वस्तुनाशे सचित्तद्रव्योपक्रम इतीहापि वाक्यशेषः सेत्तमित्यादि निगमनम् । अथापदानां द्विविधमप्युपक्रमं विभणिषुराह । अत्र निर्वचनम् । "अपयाणं अंबाणं चारगाणमित्यादि" इहाम्रादयो वेशप्रतीता एव नवरं (चाराणंति) येषु चारकुलिका उत्पद्यन्ते ते चारवृक्षाः आम्रादिशब्दाश्च वृक्षास्तत्फलानि वा गृह्यन्ते तत्र वृक्षाणां वृक्षायुर्वेदोपदेशाद्वार्द्धक्यादिगुणानन्तनां तु गर्तप्रदीपकोद्रवपलालस्थगनादिनाऽऽश्वेव पाकादिकरणं परिकर्म्मणि शस्त्रादिभिस्तु मूलत एव विनाशनं वस्तुनाशे सचित्तद्रव्योपक्रम इत्यत्रापि वाक्यशेषः सेत्तमित्यादि निगमनद्वयम् ॥

अथाचित्तद्रव्योपक्रमं विवक्षुराह—

से किं तं अचित्ते दव्वोवक्कमे खंडाईणं गुडाईणं मच्छंडीणं सेत्तं अचित्ते दव्वोवक्कमे ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

खण्डादयः प्रतीता एव नवरं मच्छण्डी खण्डशर्करा एतेषां खण्डाद्यचित्तद्रव्याणामुपायविशेषतो माधुर्यादिगुणविशेषकरणं परिकर्मणि सर्वथाविनाशकरणं वस्तुनाशे अचित्तद्रव्योपक्रम इत्यत्रापि वाक्यशेषः । सेत्तमित्यादिनिगमनम् ॥

अथ मिश्रद्रव्योपक्रममाह–

से किं तं मीसए दव्वोवक्कमे, सो चेव थासगमंडिए आसाइ सेत्तं मीसए दव्वोवक्कमे सेत्तं जाणयसरीरभविअसरीरतव्वतिरित्ते दव्वोवक्कमे सेत्तं नो आगमतो दव्वोवक्कमे । सेत्तं दव्वोवक्कमे ॥

(सेकिंतमित्यादि) स्थासकोऽश्वाभरणविशेषः आदर्शस्तु वृषभादिग्रीवाभरणम् आदिशब्दात् कुङ्कुमादिपरिग्रहः ततश्च तेषामश्वादीनां कुङ्कुमादिभिर्मण्डितानां स्थासकादिभिस्तु विभूषितानां यच्छिक्ष्यादिगुणविशेषकरणं खड्गादिभिर्विनाशो वा स मिश्रद्रव्योपक्रम इति शेषः । अश्वादीनां सचेतनत्वात् स्थासकादीनामचेतनत्वात् मिश्रद्रव्यत्वमिह भावनीयम् । अत्र च संक्षिप्ततरा अपि वाचनाविशेषा दृश्यन्ते तेऽप्युक्तानुसारेण भावनीयाः । सेत्तमित्यादिनिगमनचतुष्टयम् । उक्तो द्रव्योपक्रमः ।

क्षेत्रोपक्रममभिधित्सुराह–

से किं तं खेत्तोवक्कमे जण्णं हलकुलिआईहिं । खेत्ताइं उवक्कमिज्जंति सेत्तं खेत्तोवक्कमे ॥

क्षेत्रस्योपक्रमः परिकर्म विनाशकरणं क्षेत्रोपक्रमः स क इत्याह (खेत्तोवक्कमेत्ति) तत्र हलं प्रतीतम् अधोनिबद्धतिर्यक्तीक्ष्णलोहपट्टिकं कुलिकं लघुतरं काष्ठं तृणादिच्छेदार्थं यत् क्षेत्रावस्थितं तन्मरुमण्डलादि प्रसिद्धं कुलिकमुच्यते ततश्च यदत्र हलकुलिकादिभिः क्षेत्राण्युपक्रम्यन्ते बीजवपनादियोग्यतामानीयन्ते स परिकर्मणि क्षेत्रोपक्रमः । आदिशब्दाद्गजेन्द्रबन्धनादिभिः क्षेत्राण्युपक्रम्यन्ते विनाश्यन्ते स वस्तुनाशे क्षेत्रोपक्रमः । गजेन्द्रमूत्रपुरीषादिषदेतेषु क्षेत्रेषु बीजानामप्ररोहणाच्छिन्नानि क्षेत्राणि इति व्यपदिश्यन्ते । आह । यद्येवं क्षेत्रगतपृथिव्यादिद्रव्याणामेतौ परिकर्मविनाशौ इत्थं च द्रव्योपक्रम एवायं कथं क्षेत्रोपक्रम इति सत्यं किं तु क्षेत्रमाकाशं तस्य चामूर्त्तत्वात् मुख्यतयाऽनुपक्रमः संभवति किं तु तदाधेयद्रव्याणां पृथिव्यादीनां यः उपक्रमः स क्षेत्रेऽपि उपचर्यते । दृश्यते च आधेयधर्मोपचारात् आधारः । उक्तंच । " खेत्तमरूवं निच्चं, तस्स परिकम्मणं नयविणासो । आहेयगयवसेणउ, करणविणासो वयारेत्थ" इत्यादि सेत्तमित्यादिनिगमनम् ॥

सम्प्रति क्षेत्रोपक्रममाह–

नोवाए वक्कमणं, हलकुलियाहिं वा वि खित्तस्स ।
सम्मज्जणभूमिकम्मं, पज्जवतलागाइसुं तु परिकम्मं ॥

यन्नावा आदिशब्दाद्डुपादिभिश्च नदीं तरति । अथवा हलकुलिकादिभिर्यत्क्षेत्रस्येक्षुक्षेत्रादेरुपक्रमणम् यदि वा यत् क्रियते गृहादीनां संमार्जनं भूमिकर्म वा देवकुलादीनां यच्च वा यथोन्मार्गशोधनं तडागः व्याख्यात इत आदिग्रहणे वा तडागादिषु यत्परिकर्म खननादिलक्षणमेवं समस्तोऽपि क्षेत्रोपक्रमः ॥

कालोपक्रमसूत्रम्–

से किं तं कालोवक्कमे २ जण्णं नालिआईहिं कालस्सोवक्कमणं कीरइ सेत्तं कालोवक्कमे ॥

कालो द्रव्यपर्यायः स एव द्रव्यपर्यायः स्त्रिककार्मणवर्त्तनालक्षणरूपान्वित इति द्रव्योपक्रमाभिधाने कालोपक्रम उक्त एव भवति । अथवा समयावलिकमुहूर्त्तेत्यादि रूपस्य कालस्य स्वतन्त्रमेवोपक्रममभिधित्सुराह ॥ सूत्रकारः (सेकिंतमित्यादि) कालस्योपक्रमः कालोपक्रमः स क इत्याह (जण्णं नालिआईहिं) इत्यादि णमिति वाक्यालंकारे यदिह नालिकादिभिरादिशब्दात् तृणच्छायानक्षत्रचारादिपरिग्रहस्तैः काल उपक्रम इति शेषः । तत्र नालिका ताम्रादिमयघटिका । तृणसंकुच्छायादिना वा एतावत्योरुप्यादिकालोऽतिक्रान्त इति यत्परिज्ञानं भवति परिकर्मणि कालोपक्रमः यथा तत्परिज्ञानमेव हि तस्येह परिकर्म यत्तु नक्षत्रादिचारैः कालस्य विनाशनं स वस्तुनाशे कालोपक्रमस्तथा ह्यनेन ग्रहनक्षत्रादिचारेण विनाशितः कालो न भविष्यत्यधुना धान्यादिसंपत्तय इति वक्तारो भवन्ति । अनु० ॥ किञ्च–

छायाए नालियाए व, परिकम्मं से जहत्थविन्नाणं ।
रिक्खाइ य चारेहि य, तस्स विणासो विवज्जासो ॥

(से)तस्य समयावलिका घटिका मुहूर्त्तादिलक्षणस्य कालस्येदमेव परिकर्म यत्किमित्याह यथार्थविज्ञानं यथावत्परिज्ञानं कयेत्याह शङ्क्वादिप्रतिच्छायया रूपच्छायया या घटिकारूपया च नालिकया विनाशस्तर्हि तस्य क इत्याह विपर्यासो वैपरीत्यमननिष्फलदायिकतया परिणमनमित्यर्थः । कैरित्याह ऋक्षगृहादिचारैस्तथा च वक्तारो भवन्त्यमुकेन नक्षत्रेण ग्रहेण वा इत्थमित्थं गच्छता विनाशितः काल इति । उक्तः कालोपक्रमः । विशे० । यद्वा " सावयिवोहेसु यदुमाणं " द्रुमाणां शमीचिञ्चिनिकाप्रभृतीनां स्वापे विबोधे च ज्ञायते यथागतोऽस्तमादित्य उदितो वेति । एष कालोपक्रमः । वृ० १ उ० ॥

अथ भावोपक्रममाह–

से किं तं भावोवक्कमे २ दुविहे पण्णत्ते तं जहा आगमतो अ नोआगमतो अ । जाणए उवउत्ते नो आगमतो दुविहे पण्णत्ते तं जहा पसत्थे अपसत्थे अ ॥

भावोपक्रमो द्विविधः प्रज्ञप्तस्तथा आगमतो नो आगमतश्च । तत्रोपक्रमशब्दार्थज्ञस्तत्रोपयुक्तश्चागमतो भावोपक्रमः (से किं तं नो आगमओ इत्यादि) अत्रोत्तरम् (नो आगमओ भावोवक्कमे दुविहेत्यादि) इहाभिप्रायाख्यो जीवद्रव्यपर्यायो भावशब्देनाभिप्रेतः । उक्तं च "भावाभिख्या पञ्चस्वभावसत्तात्मयोन्यभिप्रायस्ततश्च भावस्य परकीयाभिप्रायस्योपक्रमणं यथा तत्परिज्ञानं भावोपक्रमः । स च द्विविधः प्रशस्तोऽप्रशस्तश्चेति । तत्राप्रशस्ताभिधित्सया आह—

तत्थ अपसत्थे मोक्खिणी गणिआ अमच्चाईणं ।

(तत्थ अप्पसत्थेत्ति) इह तात्पर्यं ब्राह्मण्या वेश्यया अमात्येन च यत्परकीयभावस्य यथा तत्परिज्ञानलक्षणमुपक्रमणं कृतं सोऽप्रशस्तभावोपक्रमः संसारफलत्वात् । अनु० । अशुभस्य तस्य भावोपक्रमस्य ब्राह्मणीवेश्याऽमात्यादया दृष्टान्ताः प्रतिपादितास्तद्यथा—

एकस्या ब्राह्मण्यास्तिस्रः पुत्रिकाः तासां च परिणयनानन्तरं तथा करोमि यथैताः सुखिता भवन्त्विति विचिन्त्य माता ज्येष्ठदुहितरं प्रत्ययोचद्वत्से त्वया वासभवनसमागतो स्वभर्ता किंचिदपराधमुद्भाव्य मूर्ध्नि पादप्रहारेण हन्तव्यो हतश्च यदनुतिष्ठति तन्ममाख्येयं कृतं च तया तथैव सोऽप्यतिस्नेहनरलितमना अपि प्रियतमे पीडितस्ते सुकुमारचरणो भविष्यतीत्यभिधानपूर्वकं तस्याश्चरणोपमर्दनं चकार । अमुं च व्यतिकरं सा मात्रे निवेदितवती साऽप्युपक्रान्तजामातृकभावा दृष्ट्वा दुहितरं प्रत्यभाषीत् । पुत्रिके यद्रोचते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत्सत्कीयगृहे कुरु त्वं न तवावचनकरो भर्त्ता भविष्यतीति । द्वितीयापि तथैव शिक्षिता । तयापि च तथैव स्वभर्त्ता शिरसि प्रहतः केवलमसौ नैतत्कुलप्रसूतानां युज्यत इत्यादि किञ्चित्क्षणमेकं रुषित्वा व्युपरतस्तस्मिंश्च व्यतिकरे तया मातुर्निवेदिते प्रोक्तं मात्रा वत्से! त्वमपि यथेष्टं तद्गृहे विजृम्भस्व केवलं त्वद्भर्त्ता रुषित्वा स्थास्यति । एवं तृतीययाऽपि मातृशिक्षितया दुहित्रा तथैव प्रहतः स्वभर्त्ता केवलमेतेनोच्छलदतुच्छकोपेन नूनमकुलीना त्वं येनैवं शिष्टजनानुचितं विचेष्टसे इत्याद्यभिधाय गाढं कुट्टयित्वा निष्काशिता गृहात् । तया च गत्वा सर्वं मात्रे निवेदितम् । ततस्तया विज्ञातजामातृभावतया तत्समीपं गत्वा वत्स ! स्वकुलस्थितिरियमस्माकं यदुत प्रथमसमागमे वध्वा वरस्येत्थं विधातव्यमित्यादि किञ्चिदभिधाय कथमप्यऽनुनीतोऽसौ दुहिता च प्रोक्ता वत्से ! दुराराधस्ते भर्त्ता भविष्यति परमदैवतावदप्रमत्ततया समाराधनीय इति ब्राह्मणीदृष्टान्तः ।

अथ गणिकादृष्टान्त उच्यते ॥ एकस्मिन्नगरे चतुःषष्टिविज्ञानसहिता देवदत्ताऽभिधाना रूपादिगुणवती वेश्या परिवसति तया च भुजङ्गजनाभिप्रायपरिज्ञानार्थं स्वव्यापारं कुर्वत्या सर्वा अपि राजपुत्रादिजातयो रतिभवनभित्तिषु चित्रकर्म्मणि लेखितास्तत्र च यः कश्चिद्राजपुत्रादिरागच्छति स यत्र २ कृताभ्यासस्तत्तदेव चित्रलिखितं दृष्ट्वा अत्यर्थं प्रशंसति । ततोऽसौ विलासिनी राजपुत्रादीनामन्यतरत्वेन निश्चित्य यथौचित्येनोपचरति । आनुकूल्येनोपचरिताश्च राजपुत्रादयस्तस्यै प्रचुरमर्थजातं प्रयच्छन्तीति गणिकादृष्टान्तः ।

अथाऽमात्यदृष्टान्तोऽभिधीयते ॥ एकस्मिन्नगरे कश्चिद्राजा अमात्येन सहाश्ववाहनिकायां निर्गतस्तत्र च पथि गच्छता राजतुरङ्गमेण क्वचिद्विविक्तस्थलप्रदेशे प्रस्रवणमकारि तच्च तत्प्रदेशपृथिव्याः स्थिरत्वेन बहुस्थिरत्वं चिरेणाप्यशुष्कं व्यावर्तमानो राजा तथैव व्यवस्थितमद्राक्षीच्चिरावस्थायिजलः शोभनोऽत्र प्रदेशे तडागो भविष्यतीति चिन्तितं चिरमवलोकितवांस्तद्विति । ततश्चेङ्गिताकारकुशलतया विहितं तदभिप्रायेणामात्येन राजादेशमन्तरेणापि खानितं तत्प्रदेशे महासरः तत्पाल्यां च रोपिताः सर्वर्तुकपुष्पफलसमृद्धयो नानाजातीयतरुनिवहाः । अन्यदा च तेनैव प्रदेशेन गच्छता भूपालेन दृष्टं पृष्टं चाहो मानससरोवरचङ्क्रमणीयं केनेदं खानितं सरः । अमात्यो जगाद देव ! भवद्भिरेव । राजा सविस्मयं प्राह कथं कदा कदा मयैतत्कारणाय निरूपित इत्यतः सचिवो यथावृत्तं सर्वमपि कथितवानहो परचित्तोपलक्षकत्वमस्येति विचिन्त्य परितुष्टो राजा तस्य वृत्तिवर्द्धनादिना प्रसादं चकार तदेवमादिकः संसारफलोऽपरोऽप्यप्रशस्तभावोपक्रमः स्वयमभ्यूह्य इति ॥ विशे० ॥ अथ प्रशस्तभावोपक्रममाह । "पसत्थे गुरुमाईणं" तत्र श्रुतादिनिमित्तं गुर्वादीनां यद् भावोपक्रमणं स प्रशस्तभावोपक्रमः ॥ अनु० ॥

सीसो गुरुणो भावं, जमुवक्कमइ सुहं पसत्थमणो ।
सहियत्थं सपसत्थो, इह भावोवक्कमो हि गओ ॥

इह यच्छिष्यः स्वहितार्थं श्रुतार्थं श्रुताध्ययनादिहेतोः प्रशस्तमनाः शुभहेतुत्वाच्छुभं गुरुभावमुपक्रामतीङ्गिताकारादिना जानाति स मोक्षफलत्वात्प्रशस्तभावोपक्रमस्तेनैव चेहाऽधिकारो मोक्षार्थत्वादेव सर्वस्यास्य प्रारम्भस्येति । विशे० । सू० (गुरुचित्तोपक्रमो गुरु शब्दे) साम्प्रतं तमेव शास्त्रीयोपक्रमलक्षणेन प्रकारान्तरेणाभिधित्सुराह—

अहवा उवक्कमे छव्विहे पन्नत्ते तंजहा आणुपुव्वी १ नाम २ पमाणे ३ वत्तव्वया ४ अत्थाहिगारे ५ समोआरे ६ ॥

अथवा अनन्तरं यः प्रशस्तभावोपक्रमः उक्तः लोके पूर्वादिविभागः स हि द्विविधो द्रष्टव्यो गुरुभावोपक्रमः शास्त्रभावोपक्रमश्च । शास्त्रलक्षणो भावस्तस्योपक्रमः शास्त्रभावोपक्रमस्तत्रैकेन गुरुभावोपक्रमलक्षणेन प्रकारेणोक्तोऽथ द्वितीयेन शास्त्रभावोपक्रमलक्षणेन प्रकारान्तरेण तमभिधित्सुराह (अहवा उवक्कमे इत्यादि) अथवेति पक्षान्तरसूचकः उपक्रमः प्रथमपातनापक्षे शास्त्रीयोपक्रमो द्वितीयपातनापक्षे तु शास्त्रभावोपक्रमः षड्विधः षट्प्रकारः प्रज्ञप्तस्तद्यथा आनुपूर्वी १ नाम २ प्रमाण ३ वक्तव्यता ४ अर्थाधिकारः ५ समवतारः ६ अनु० (एतेषाञ्च शब्दव्युत्पत्त्यादिस्वरूपं यथावसरं स्वस्वस्थाने) (उपोद्घातादस्य भेदः स्वस्थाने) उपक्रम्यतेऽनेनेत्युपक्रमः । ज्वरातिसारादौ, स्या० ४ ठा० । शास्त्रे, "शम्माहारच्छेए उवकमेणं च परिणाए" तच्च त्रिधा स्वकायपरकायतदुभयरूपम् । तत्र स्वकायशस्त्रं यथा लवणोदकं मधुरोदकस्य कृष्णभूमं वा पाण्डुभूमस्य । परकायशस्त्रं यथाऽग्निरुदकस्य उदकं चाग्नेरिति तदुभयशस्त्रं यथा उदकाः शुद्धोदकस्येत्यादि । ध० २ अधि० । उपक्रमोपसंहारौ हेतुतात्पर्य्यनिर्णये, वेदान्तिमते तात्पर्य्यनिर्णायके हेतुभेदे, तत्रोपक्रमोपसंहाराभ्यां द्वाभ्यामेव तात्पर्य्यं निश्चीयते नत्वेकैकेनेति बोध्यम् । करणे घञ् । सामाद्युपाये, कर्मणि घञ् आरभ्यमाणे, पुं० वाच० ।

उवक्कमकाल–उपक्रमकाल–पुं० क० स० । अभिप्रेतार्थसामीप्यानयनलक्षणे सामाचारीयथायुष्कभेदभिन्ने वा कालभेदे, आ० म० द्वि० ॥

अथोपक्रमकालं विभणिषुर्भाष्यकारस्तत्स्वरूपमाह–

जेणोवक्कामिज्जइ, समीवमाणिज्जए जओ जंतु ।
स किलोवक्कमकालो, किरियापरिणामजुइट्ठो ॥

क्रमु पादविक्षेपे विवक्षितस्य दूरस्थितस्य वस्तुनस्तैस्तैरुपायभूतैः क्रियाविशेषैरुपक्रमणं सामीप्यानयनमुपक्रमः । अथ येन क्रियाविशेषेणोपक्रम्यते दूरस्थं समीपमानीयते स उपक्रमः । यतो वा क्रियाविशेषादुपक्रम्यते । यद्वा सामाचारीप्रभृतं वस्तु उपक्रम्यते स उपक्रमस्तस्य कालोऽप्युपचारादुपक्रम एव कालः उपक्रमकालः । किलशब्द आप्तवचनोपदर्शनार्थः । अयं च बहुभिः क्रियापरिणामैर्भूयिष्ठः प्रचुरो भवति प्रभूताः क्रियापरिणामा इह भवन्ति । बहवऽआयुष्काद्युपक्रमहेतुभूताः क्रिया भवन्तीति यावत् । तथाच वक्ष्यति "अज्झवसाणनिमित्ते, आहारे वेयणापराघाए । फासे आणापाणू, सत्तविहं भिज्जए आऊ" इत्यादीति गाथार्थः । २३ ॥

अयं च द्विविधो भवति कथमित्याह निर्युक्तिकारः–

दुविहोवक्कमकालो, सामायारी अहाउयं चेव ।
सामायारी तिविहा, ओहे दसहा य पयविभागे ॥

यथोक्त उपक्रमकालो द्विविधस्तदेव द्वैविध्यं दर्शयति सामाचार्युपक्रमकालो यथायुष्कोपक्रमकालश्च । अथ सामाचार्या उपक्रमकालत्वं समर्थयन्नाह भाष्यकारः ॥

जेणोवरियसुयाउ, सामायारिसुयमाणियं हेट्ठा ।
ओहाइतिविह एसो, उवक्कमो समयवज्जाए ॥

पूर्वनिर्दिष्टान्नवमपूर्वादिरूपरिश्रमश्रुतादुद्धृत्य येन साधुसामाचारीप्रतिपादकं श्रुतमधस्तादिदानींतनकालेऽपि समा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नीतमस्मदादीनां समीपीकृतं स एष समस्तसाधुवर्गः प्रत्यक्षः (ओहाइत्ति) ओघनिर्युक्तिस्तथा " इच्छामिच्छातहक्कारो इत्यादि" दशधा सामाचारीप्रतिपादको ग्रन्थश्छेदसूत्राणि चेति त्रिविधः समयचर्यया समयपरिभाषया उपक्रमः सामाचार्युपक्रमकालो भण्यत इत्यर्थः। इदमुक्तं भवति लोके न सामाचार्युपक्रमकालतया कश्चित्कालो रूढः समस्ति। आगमे पुनरसौ भण्यते कथमिति चेदुच्यते येन प्रभूतेन कालेन नवमपूर्वादिगतं सामाचारीश्रुतं शिष्योऽध्येतुमलप्स्यत स कालः सामाचारीश्रुतोपक्रमणद्वारेण स्थविरैरुपक्रम्य किलार्वागप्यानीतस्तत्काललभ्यस्य सामाचारीश्रुतस्य स्थविरैरिदानीमपि विनेयेभ्यः प्रदानात्तनश्च सामाचार्युपक्रमद्वारेणोपचारतः कालस्यापि तस्योपक्रमान्तत्वात्सामाचार्युपक्रमकालोऽसौ भण्यत इति । आयुष्कोपक्रमस्यापि यथायुष्कोपक्रमकालतां दर्शयन्नाह–

जं जीवियसंवट्टण–मज्झवसाणाइ हेउसंजणियं ।
सोवक्कमाउयाणं, स जीवओवक्कमणकालो ॥

स जीवितोपक्रमणकालः यथाऽऽयुष्कोपक्रमकालोऽभिधीयत इत्यर्थः। तत्किमित्याह यज्जीवितस्य यद्वा बद्धस्य दीर्घकालवेद्यस्यायुष्कस्य संवर्त्तनं स्वल्पस्थितिकत्वापादनम् । केषां सोपक्रमायुषां जीवानां निरुपक्रमायुषां निकाचितावस्थस्यैकबद्धत्वादपवर्त्तनायोगात् किं निर्हेतुकमेव जीवितसंवर्त्तनं नेत्याह अध्यवसाननिमित्तादिहेतुसंजनितम् । अत्रायमभिप्रायो यश्चिरेण मरणकालोऽभविष्यदसौ आयुष्कर्मस्थित्यपवर्त्तनद्वारेणोपचारतः किलोपक्रम्यार्वागानीत इत्यसौ यथायुष्कोपक्रमकाल उच्यत इति । नन्वेवमुपक्रमः किमायुष एव भवत्याहोश्विदन्यासामपि ज्ञानावरणादिप्रकृतीनामिति विनेयप्रश्नमाशङ्क्याह ॥

सव्वपगईणमेवं, परिणामवसादुवक्कमो होज्जा ।
पायमनिकाइयाणं, यवसा उ निकाइयाणं पि ॥

न केवलमायुषः किं तु सर्वासामपि ज्ञानावरणादिप्रकृतीनां शुभाशुभपरिणामवशादपवर्त्तनाकरणेन यथायोगं स्थित्यादिखण्डनद्वारेणापवर्त्यमानानामुपक्रमो भवति स च प्रायो निकाचनाकरणेनानिकाचितानां स्पृष्टबद्धतावस्थानामेव भवति प्रायो ग्रहणस्य फलमाह । तीव्रेण तपसा पुनर्निकाचितान्यपि कर्माण्युपक्रम्यन्त एव यदि पुनर्यथा बद्धं तथैवानुपक्रान्तं सर्वमपि कर्म वेद्येत तदा मुक्तिगमनं कस्यापि न स्यात्तद्भवसिद्धिकानामपि नियमेन सत्तायामतः सागरोपमकोटीकोटीस्थितिकस्य कर्मणः सद्भावादेतच्च स्वत एव वक्ष्यति तर्ह्यायुष एव किमित्यत्रोपक्रमकाल उक्तो न शेषकर्मणामिति चेदुच्यते लोके आयुष्कोपक्रमस्यैव प्रसिद्धत्वात्तदुपक्रमकाल एवेह प्रोक्तः उपलक्षणव्याख्यानाच्छेषकर्मोपक्रमकालोऽपि द्रष्टव्य इति ॥ अथ प्रेरकः प्राह—

कम्मोवक्कामिज्जइ, अपत्तकालं पि जइ तओ पत्ता ।
अकयागमकयनासा, मोक्खाणासासया दोसा ॥

ननु यद्यप्राप्तकालमपि बहुकालवेद्यं कर्मेत्थमुपक्रम्यते इदानीमपि क्षिप्रमेव वेद्यते ततस्तर्ह्यकृतागमकृतनाशौ मोक्षानाश्वासादयश्चेत्येते दोषाः प्राप्ताः । तथाहि यदीदानीमवोपक्रमात्कृतादल्पस्थित्यादिरूपं कर्म वेद्यते तत्पूर्वमकृतमेवोपगतमित्यकृताभ्यागमः । यत्तु पूर्वं दीर्घस्थित्यादिरूपतया कृतं बद्धं तस्यापवर्तनाकरणोपक्रमेण नाशितत्वात्कृतनाशः ततो मोक्षोऽप्येवमनाश्वासः सिद्धानामप्येवं कृतकर्माभ्यागमेन प्रतिपातप्रसङ्गादिति । अत्रोत्तरमाह—

नहि दीहकालियस्स वि, नासो तस्साणुईओ खिप्पं ।
बहुकालाहारस्स व, दुयमग्गिय रोगिणो भोगे ॥

न कृतनाशादयो दोषा इति प्रकरणात्कम्यते कुत इत्याह न यस्मात्तस्यायुष्कादेः कर्मणो दीर्घकालिकस्यापि दीर्घस्थित्यादिरूपतया बद्धस्याप्युपक्रमेण नाशः क्रियते । कुत इत्याह क्षिप्रं शीघ्रमेव सर्वस्यापि तस्याध्यवसायवशादनुभूतेर्वेदनात् यदि हि तद्बहुकाले वेद्यं कर्म अवेदितमेव नश्येदल्पस्थित्यादिविशिष्टं वेद्यते तत्ततोऽन्यदेव भवेत्तदा कृतनाशाकृताभ्यागमौ भवेताम् यदा तु तदेव दीर्घकालवेद्यमध्यवसायविशेषादुपक्रम्य स्वल्पेनैव कालेन वेद्यते तदा कथं कृतनाशादिदोषः यथाहि बहुकालभोगयोग्यस्याऽऽहारस्य धान्यमूषकदस्युकादेरग्निरोगिणो भस्मकवातव्याधिमतो द्रुतं स्वल्पकालेनैव भोगो भवति न च तत्र कृतनाशो नाप्यकृताभ्यागम इत्येवमिहापि भावनीयमिति । अत्राह ननु यद्बद्धं तद्यदि स्वल्पकालेन सर्वमपि वेद्यते तर्हि प्रसन्नचन्द्रादिभिः सप्तमनरकपृथिवीयोग्यमसातवेदनीयादि किं कर्मबद्धं श्रूयते तद्यदि सर्वमपि तैर्वेदितं तर्हि सप्तमनरकपृथ्वीसंभविदुःखोदयप्रसङ्गः । अथ न सर्वमपि वेदितं तर्हि कथं न कृतनाशादिदोषः । सत्यमुक्तं किंतु प्रदेशापेक्षयैव तस्य सर्वस्यापि शीघ्रमनुभवनमुच्यते अनुभागवेदनं तु न भवत्यपीत्येतदेवाह–

सव्वं च पएसतया, भुज्जइ कम्ममणुभागओ भइयं ।
तेणावस्साणुभवे, के कयनासादओ तस्स ॥

सर्वमष्टप्रकारमपि कर्म सोत्तरभेदं प्रदेशतया प्रदेशानुभवद्वारेण भुज्यते वेद्यत एवेत्येष तावन्नियमोऽनुभागस्तु सानुभवमाश्रित्येत्यर्थः। भजनीयं विकल्पनीयम् अनुभागः कोऽपि वेद्यते कोऽपि पुनरध्यवसायविशेषेण हेतुत्वान्न वेद्यत इत्यर्थः । तदुक्तमागमे " तत्थ णं जं तं अणुभागकम्मं तं अत्थेगइयं वेयइ अत्थेगइयं नो वेयइ तत्थ णं जं तं पएसकम्मं तं नियम विपइत्ति" अतः प्रसन्नचन्द्रादिभिस्तस्य नरकयोग्यकर्मणः प्रदेशा एव नीरसा इह वेदिता नत्वनुभागस्य शुभाध्यवसायेन हतत्वादत एव न तेषां नरकसंभविदुःखोदयः कर्मणां विपाकानुभव एव सुखदुःखयोर्वेदनाद्येनैवं तेन बद्धस्य कर्मणः सर्वेषामपि प्रदेशानामवश्यं वेदनात् के किल तस्य कर्मोपक्रमं कर्त्तु कृतनाशादयो दोषा न केचिदित्यर्थः। आह नन्वेवमप्यनुभागो यथा बद्धस्तथैव प्रसन्नचन्द्रादिभिर्न वेदित इति कथं न कृतनाशः अस्त्येव कृतनाशः । ननु काचिद्विभा यदि ह्यध्यवसायविशेषेणोपहतत्वान्नश्यति रसस्तदा किमनिष्टं सर्वस्यापि ह्यष्टप्रकारकर्मणो मूलोच्छेदाय यतन्त एव साधव इत्यभीष्ट एवेत्थं तेषां कृतनाशः । यदा बहुरसं बहुस्थितिकं च सत्कर्म अल्परसमल्पस्थितिकं च कृत्वा वेदयति तदा तस्याल्पस्थितिकस्य च कर्मणः पूर्वमकृतस्यागमतस्ततश्च मोक्षेप्यनाश्वासः सिद्धानामप्यकृतकर्मानुगमेन पुनरावृत्तिप्रसङ्गादिति चेत्तदयुक्तं यदि ह्यल्परसत्वमल्पस्थितिकत्वं च कर्मणोऽत्र निर्हेतुकं स्यात् एवं च नास्ति अल्परसत्वम् अध्यवसायविशेषकृतत्वेनाभ्यागमत्वायोगादल्पस्थितिकत्वमप्यायुष्कादीनां निर्हेतुकमेव जायते अध्यवसाननिमित्तादिहेतूनां दर्शितत्वादतस्तत्रापि कथमकृतागमत्वम् । अत एव न सिद्धानां कर्मसमागमस्तदागमहेतूनां तेष्वभावादित्यलं प्रसङ्गेन । भाष्यकारेणाप्यस्यार्थस्य प्रपञ्चयिष्यमाणत्वादिति अकृतयुक्तश्चोपक्रमः कर्मणां कुत इत्याह–

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उदयक्खयखओवसमो-वसमा जं च कम्मणो भणियं ।
दव्वाइपंचयं पइ-जुत्तमुवक्कामणमओ वि ॥

यच्च यस्मादुदयश्च क्षयश्च क्षयोपशमश्च उपशमश्च उदयक्षयक्षयोपशमोपशमास्ते कर्म्मणो द्रव्यक्षेत्रकालभवभावपञ्चकं प्रति भणिता द्रव्यादीनाश्रित्योक्ता अतोऽपि कारणाच्छस्त्रादिद्रव्याणि प्राप्यायुष्कादीनां युक्तमुपक्रमणं क्षय इति । तथाह्यसातवेदनीयस्य कर्म्मणो द्रव्यमहिविषकण्टकादिप्राप्योदयो भवति क्षेत्रं तु नरकवासादिकं कालं तीव्रनिदाघसमयादिकं भवं नारकभवादिकं भावं तु वृद्धभावादिकम् क्षयोऽप्यस्य द्रव्यं सद्गुरुचरणारविन्दादिकं प्राप्य भवति क्षेत्रं तु पुण्यतीर्थादिकं कालं सुषमदुःषमादिकं भवं सुमनुजकुलजन्मलक्षणं भावं तु सम्यग्ज्ञानावरणादिकम् क्षयोपशमोपशमौ तु वेदनीयस्य न भवतः । एवं मोहनीयेऽपि । मिथ्यात्वमोहनीयस्य द्रव्यं कुतीर्थादिकं प्राप्योदयो भवति क्षेत्रं तु कुरुक्षेत्रादिकं साध्वादिरहितदेशादिकं वा कालं दुःषमादिकं भवं तेजोवाय्वेकेन्द्रियादिकम् अनार्यमनुजकुलजन्मरूपं वा भावं कुसमदेशनादिकमिति । क्षयक्षायोपशमास्त्वस्य द्रव्यं तीर्थकरादिकं प्राप्य भवति । क्षेत्रं तु महाविदेहादिकं, कालं सुषमदुःषमादिकं भवं सुमनुजकुलजन्म भावं तु सम्यग्ज्ञानावरणादिकमिति एवं शेषेऽपि ज्ञानदर्शनावरणादिके कर्म्मणि निद्रावेदनीयकर्म्मणो माहिषदधिघृतादिकं द्रव्यमासाद्योदयो भवति क्षेत्रं तु अनूपादिकं कालं ग्रीष्मादिकं भवमेकेन्द्रियादिकं भावं तु वृद्धत्वादिकमिति । क्षयोऽप्यस्योक्तानुसारेण वाच्यः । क्षयोपशमोपशमौ त्वस्यापि न भवतः । एवमन्येषामपि कर्म्मणामुदयादयो यथायोगं द्रव्यादीन् प्राप्य स्वधिया भावनीया इति । अथ दृष्टान्तद्वारेण कर्म्मणां द्रव्यक्षेत्रादि सहकारिकारणापेक्षां साधयन्नाह-

पुन्नापुन्न कयं पि हु, सायमसायं जहोदयाई ए ।
वज्झबलाहाणा उ, देइ तह पुन्नपावं पि ॥

यथा सातं सुखमसातं तु दुःखं पुण्यापुण्यस्वरूपकर्म्मजनितमपि स्रक्चन्दनाङ्गनादिविषकण्टकादिना बाह्येन सहकारिणा यद्बलस्य सामर्थ्यस्याधानं विधानं तस्माद्देवोदयादीन् ददाति नत्वेवमेव पुण्यपापोदयमात्रात् ततश्च यथैतत्सकललोकस्यानुभवसिद्धं सुखदुःखाख्यं कार्यं बाह्यान् द्रव्यक्षेत्रादीनपेक्ष्यैवोदेति क्षीयते वा न पुनरेवमेव तथा तत्कारणं पुण्यपापात्मकं कर्म्मापि द्रव्यक्षेत्रादीनपेक्ष्यैवोदेति क्षीयते वेति सिद्धमेव नहि कार्यं द्रव्यादीनपेक्षते तत्कारणं तु तन्निरपेक्षमिति शक्यते वक्तुम् । न खलु कार्यभूतो घटश्चक्रचीवरादीनपेक्ष्यैव जायते तत्कारणभूतस्तु कुलालश्चक्राद्यनपेक्ष एव घटं जनयतीत्युच्यमानं शोभां बिभर्ति तस्मादुदयादीन् प्रति द्रव्यादिसव्यपेक्षाणां कर्म्मणां युक्तस्तत्संनिधानादुपक्रम इति । यदि पुनर्यथा बद्धं तथैव वेद्यते सर्वं कर्म्म न पुनरुपक्रम्यते तदा किं दूषणमित्याह-

जइ ताणुभूइओ च्चिय, खविज्जए कम्म मन्नहा न मयं ।
तेणासंखभवज्जिय, नाणागइकारणत्तणउ ॥
नाणाभवाणुभवणा, भावादेक्कम्मि पज्जएणं वा ।
अणुभवओ बंधा उ, मोक्खाभावो सचाणिट्ठो ।

यदि तावद्यथाबद्धं तथैव प्रतिसमयानुभूतितः प्रतिसमयं विपाकानुभवेनैव कर्म्म क्षप्यत इति तवानुमतं नान्यथा नोपक्रमद्वारेण तद्वेदनक्षपणमभिप्रेतं हन्त तेन तर्हि सर्वस्यापि जन्तोर्मोक्षाभावस्त्वदभिप्रायेण प्राप्नोति स चानिष्ट एव कस्मात्पुनर्मोक्षाभावप्राप्तिरित्याह । तद्भवसिद्धिकस्यापि सत्तायामसंख्येयभवार्जितकर्म्मणः सद्भावात्तस्य च नानाध्यवसायबद्धत्वेन नरकादिनानागतिकारणत्वात्ततस्तस्य विपाकत एवानुभवने एकस्मिन्नपि तत्र चरमभवे नानाभावानामनुभवनं प्राप्नोति तच्चायुक्तं कुत इत्याह । (नाणाभवाणुत्ति) तत्र चैकस्मिन्मनुष्यगतिवर्त्तिनि चरमभवे नारकतिर्यगादिनानाभवानां परस्परविरुद्धत्वेनानुभवनाभावात्तर्हि तन्नानागतिकारणं कर्म्म पर्य्यायेणापि क्रमेण नानाभवेष्वनुभूय सिध्यतु किमेतावता विनश्यति तदयुक्तं कुत इत्याह । (पज्जएणवा इति) इदमुक्तं भवति पर्यायेण वा क्रमेण तान्नानाभवान्विपाकतोऽनुभवतः पुनरपि नानागतिकारणस्य कर्म्मणो बन्धः पुनरपि च क्रमेण नानाभवभ्रमणं पुनर्नानागतिकारणं कर्म्म बन्ध इत्येवं मोक्षाभावः । एतच्चानिष्टं तस्मादेष्टव्यः कर्म्मणामुपक्रम इति । अथ प्रकारान्तरेणोत्तरदित्सया पूर्वविहितमेव प्रेर्यं पुनः कारयन्नाह ।

ननु तत्र जहोवचियं, तदाणुभवओ कया गमाईय ।
तप्पाओग्गत्तं चिय, तेण वि य सज्झरोगो व्व ॥

ननु यदुपक्रमाल्लघुस्थितिकं कृत्वा जीवो वेदयति तदायुष्कर्म न भवति । कथंभूतमित्याह येन प्रकारेण वर्षशतभोग्यत्वलक्षणेन पूर्वमुपचितं तेन जीवेन बद्धं यथोपचितमिति । यादृशं पूर्वजन्मनि बद्धम् तादृशमेव तत्र भवतीत्यर्थः । वर्षशतभोग्यत्वं हि दीर्घकालस्थितिकं पूर्वभवे बद्धं उपक्रमानन्तरं तु यदन्तर्मुहूर्त्तादिलघुस्थितिकमनुभवत्यायुस्तदन्यदेव अन्यथा अनुभवादिति भावः । ततः को दोष इत्याह (तहाणुभवओ इत्यादि) यथा तेन प्रकारेण पूर्वबद्धविलक्षणमायुरनुभवतो जीवस्य पूर्वोक्ता अकृतागमादयो दोषाः प्रसजन्ति । अत्रोत्तरमाह । (तप्पाओग्गमित्यादि) तस्योपक्रमस्य प्रायोग्यं उपक्रमार्हमेव तदायुष्कर्म तेन सोपक्रमायुषा जीवेन चिरं पूर्वजन्मनि बद्धं साध्यरोगवदिति । ततश्च यथोपक्रमसाध्ये रोगो व्याधिः केनापि प्रागुपार्जित इत्युपक्रम्य तं स्फोटयति न च तस्य तथा कुर्वतोऽकृतागमादयः एवमायुरप्युपक्रमसाध्यतया बद्धत्वात् । यद्युपक्रमस्यैव वेदयति तदा केन स्यात्कृतागम इति ।

ननु साध्योऽसाध्यो वा रोग इति कथं ज्ञायत इत्याह ।

अणुवक्कमओ नासइ, कालेणोवक्कमेण खिप्पंति ।
कालेण चेव सज्झा-सज्झा सज्झं तहा कम्मं ॥

साध्यो रोग इति स चानुपक्रमतः उपक्रमाभावात्कालेन निजभुक्तिच्छेदेन नश्यति । उपक्रमेण तु विहितेन क्षिप्रमर्वागपि शीघ्रं नश्यति साध्यत्वादेव । यस्त्वसाध्यो रोगः स कालो मरणं तेनैव नश्यति ननूपक्रमशतैरपि । तथा कर्म्मापि यत्साध्यं बन्धकालेऽप्युपक्रमसव्यपेक्षमेव बद्धं तदुपक्रमसामग्र्यभावे कालेन संपूर्णवर्षशतादिलक्षणेन निजभुक्तिच्छेदेन नश्यति उपक्रमसामग्रीसन्निधाने तु शीघ्रमन्तर्मुहूर्त्तादिनैव कालेन नश्यति साध्यत्वादेव यत्पुनरसाध्यं बन्धकाले निकाचितावस्थमनुपक्रमे च बद्धं तदनेकोपक्रमसद्भावेऽपि निजपरिपूर्त्तिकालमन्तरेण न नश्यति ।

अस्यैवार्थस्य साधनार्थमाह ।

सज्झासज्झं कम्मं, किरियाए दोसओ जहा रोगो ।
सज्झमुवक्कामिज्जइ, एत्तो चिय सज्झरोगो व्व ॥

(किरियाए त्ति) क्रियाया उपक्रमलक्षणायाः साध्यमसाध्यं च कर्म्म भवतीति प्रतिज्ञा (दोसओत्ति) दोषत्वादिति हेतुर्यो यो दोषः स स उपक्रमक्रियायाः साध्योऽसाध्यश्च भवति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यथा ज्वरादिरोगः यश्च साध्यं तदुपक्रम्यते (एसोवियासि) साध्यत्वादेव साध्यरोगवदिति । अथवा प्रकारान्तरेण प्रमाणयन्नाह ॥

सज्झामयहेउत्तो, सज्झनियाणासओहवा सज्झं ।
सोवक्कमणमयं पि व, देहो देहाइजावाउ ॥

अथवा सह उपक्रमेण वर्त्तते सोपक्रमणं वेदनीयादिकर्म । साध्यमुपक्रमक्रियाविषयभूतं कर्मेति प्रतिज्ञा । उपक्रमश्च साध्यश्चासौ आमयश्च साध्यामयस्तद्धेतुत्वादिति हेतुः । यथा अयमेव प्रत्यक्षो देहः भगण्डच्छेदादिद्वारेण देहोऽपि साध्यः उपक्रमक्रियाविषयः सोपक्रमश्चेति साध्यविकलत्वाभावो दृष्टान्तस्तस्य साध्यामयस्य च गण्डादिकारणत्वाद्देहस्य साधनविकलत्वस्याप्यभावः । अथवा हेत्वन्तरभावादन्यथा प्रमाणं सोपक्रमणं साध्यं कर्मेति सैव प्रतिज्ञा साध्यनिदानाश्रयत्वादिति । अत्र निदानं कारणं साध्यकर्मजनकं च निदानमपि साध्यमुच्यते साध्यं च तन्निदानं च साध्यनिदानं तस्याश्रयः साध्यनिदानाश्रयस्तद्भावः साध्यनिदानाश्रयत्वं तस्मात्साध्यनिदानाश्रयत्वात्साध्यनिदानजन्यत्वादिति भावः । निदानस्य साध्यत्वं कथं ज्ञायत इति चेदुच्यते साध्यकर्मजनकत्वात्कर्मणोऽपि साध्यत्वं कथमवसीयत इति ॥ चेदुच्यते उपक्रमान्यथानुपपत्तेरिति । आह ननूपक्रम एव ह्यत्र साध्यस्ततस्तदसिद्धौ कर्मणः साध्यत्वं न सिध्यति तदसिद्धौ तु कर्मजनकस्यापि साध्यत्वासिद्धिरिति साध्यनिदानजन्यत्वादिति साध्यत्वविशेषणासिद्धयाऽसिद्धो हेतुरिति । सत्यं किंत्वेवं मन्यते "जइनाणुभूइउवियवविज्ञयकम्मेत्यादि" ग्रन्थोक्तयुक्तिभ्यः सिद्धमेव कर्मणः सोपक्रमत्वं ततस्तत्सिद्धौ कर्मणः साध्यत्वं सिध्यति तत्सिद्धौ च साध्यकर्मजनकतया तज्जनकनिदानस्यापि साध्यसिद्धिरिति । यद्येवं पूर्वोक्तयुक्तिभ्य एव सिद्धं कर्मणः सोपक्रमत्वमिह पुनरपि तत्साधनमपार्थकमिति चेत्सत्यं किंतु प्रपञ्चप्रियविनेयानुग्रहार्थत्वाददोषः । यदि वा कर्मणो निदानमध्यवसायस्थानान्येव तानि च विचित्रत्वेनासंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणान्यतस्तेषु मध्ये यथा निरुपक्रमजनकानि तथा सोपकर्मजनकान्यध्यवसायस्थानानि विद्यन्ते एवेति तद्वैचित्र्यान्यथानुपपत्तेरित्यादि युक्तितः साध्यकर्मजनकनिदानस्य साध्यत्वं साधनीयं तत्सिद्धौ च तत्कार्यस्य कर्मणोऽपि साध्यत्वं सोपक्रमणत्वं सिध्यतीत्यलं प्रपञ्चेन । यथा अयं देह इति स एव दृष्टान्तः अस्य च गण्डच्छेदादिद्वारेण भिद्यमानत्वात्सोपक्रमत्वमत एव साध्यनिदानजन्यता अतः साध्यसाधनधर्मान्यासस्याविकलतेति । अथवा हेत्वन्यथात्वेनान्यथाप्रमाणं (देहादिजावाउत्ति) सोपक्रमणं साध्यमुपक्रमक्रियाविषयभूतं कर्मेति प्रतिज्ञा सैव देहादौ भावादादिशब्दाज्जीवे च भावादिति हेतुः देहे जीवे च किल वर्त्तते कर्म केवलं जीवे वह्न्ययःपिण्डन्यायेन तस्य वृत्तिः देहे त्वाधाराधेयभावेन जीवो वर्त्तते तद्द्वारेण च कर्मापीति यथायमेव प्रत्यक्षो देह इति स एव दृष्टान्तः । नन्वाधाराधेयभावेन देहस्यापि जीवे वृत्तिर्युक्ता देहस्य च देहे वृत्तिरिति एतत्कथम् । सत्यं सर्वे भावाः स्वात्मनि वर्त्तन्ते वस्त्वन्तरे चाधारे इति न्यायाद्देहस्यापि देहे वृत्तिर्युज्यत एव । अथवास्यौदारिकादिदेहस्य जीववत्कार्मणलक्षणेऽपि देहे वृत्तिः प्रतीतैवेति न देहादौ भावादिति साधनधर्मविकलता दृष्टान्तस्येति । अथ कर्मणः सोपक्रमत्वासिद्धावुपपत्त्यन्तराण्यप्याह ।

किंचिदकाले वि फलं, पाइज्जइ पच्चएण कालेण ।
तह कम्मं पाइज्जइ, पाएण वि पच्चए वसं ॥
जिसो जहेह कालो, तुल्ले वि पहम्मि गइविसेसाउ ।
सत्थेव गहणकालो, गइमेहा भेयओ भिन्नो ॥
तह तुल्लम्मि वि कम्मे य, परिणामाइकिरिया विसेसाउ ।
भिन्नोणुभवणकालो, जेट्ठो मज्झो जहन्नो य ।
जह वा दीहा रज्जू, डज्झइ कालेण पुंजिए खिप्पं ।
वियओ पडो व्व सुस्सइ, पिंडीभूओ य कालेण ।
भागा य निरोवट्टो, हीरइ कमसो जहा णदी खिप्पं ।
किरिया विसेसओ वा, समे वि रोगे चिगिच्छाए ॥

यथा किंचिदाम्रराजादनादिफलं यावता कालेन वृक्षस्थं क्रमेण पच्यते तदपेक्षया अर्वाक्कालेऽपि गर्त्तप्रक्षेपपलालस्थगनाद्युपायेन पाच्यते अन्यत्र वृक्षस्थमेवोपायाभावतः क्रमशः स्वपाककालेन पच्यते तथा कर्माप्यायुष्कादिकं किमप्यध्यवसानादिहेतुभिर्बन्धकालनिर्वर्त्तितवर्षशतादिरूपस्थितिकालापेक्षया कालेनाप्यन्तर्मुहूर्त्तादिना पाच्यते वेद्यतेऽनुभूय पर्यन्तं नीयत इति तात्पर्यम् अन्यात्वबन्धकालनिर्वर्त्तितवर्षशतादिलक्षणस्थितिकालेनैव संपूर्णेन विपाच्यते अनुभूयत इति । अथवा यथेह तुल्येऽपि त्रियोजनादिके पथि त्रयाणां पुरुषाणां गच्छतां प्रहरो द्व्यादिलक्षणो गतिविशेषाद्भिन्नो गतिकालो विशिष्यते दृश्यते एवं कर्मणः तुल्यस्थितिकस्यापि तीव्रमन्दमध्यमाध्यवसायविशेषाज्जघन्यमध्यमोत्कृष्टलक्षणस्त्रिविधोऽनुभवनकालो भवति । यदि वा यथा तुल्येऽपि शास्त्रेऽध्येतॄणां मतिग्रहणशुद्धिर्मेधा पुनरिहावधारणस्वरूपा गृह्यते तद्भेदात्त्रिविधो ग्रहणस्य पठनस्य कालो भिन्नोऽनेकरूपो विलोक्यते एवमायुषोऽपि परिणामविशेषात्तुल्यस्थितिकस्याप्यनेकरूपोऽनुभवनकाल इति । पथि शास्त्रदृष्टान्तयोः प्रकृतयोजनामाह । (तहतुल्लम्मिवीत्यादि) गतार्थैव नवरं (परिणामाइ किरियाविसेसाओत्ति) परिणामोऽध्यवसानमादिशब्दादध्यवसानकाण्डकशास्त्रादयो गृह्यन्ते क्रिया च परिणामादिलक्षणा परिणामादयश्च क्रिया च परिणामादिक्रियास्तद्विशेषास्तद्भेदा बहुभिस्तुल्यस्थितिके बद्धेऽपि कर्मणि भिन्न एवानुभवनकाल इति यथा दीर्घा प्रसारिता रज्जुरेकस्मात्पक्षात्क्रमेण ज्वलन्ती प्रभूतेनैव कालेन दह्यते पुञ्जीकृता तु पिण्डिता तु ज्वलन्ती क्षिप्रं शीघ्रमेव भस्मीभवति । एवं कर्माप्यायुष्कादिकं दीर्घकालस्थितिकं प्रतिसमयं क्रमेण वेद्यमानं चिरकालेन वेद्यते अपवर्त्य पुनर्वेद्यमानमल्पेनैव कालेन वेद्यत इति । यथा वा जलार्द्रः पिण्डीभूतः । पटश्चिरकालेन शुष्यति विततः प्रसारितः पुनरल्पेनैव कालेन शुष्यत्येवं कर्मापीत्युपनयस्व (यथैवेति) यथा वा लक्षादिकस्य महतो राशेर्निरपवर्त्तनोऽपवर्त्तनोपवर्त्तनारहितो भागः क्रमशश्चिरेण ह्रियते अन्यथा पुनरपवर्त्तनायां विहितायां क्षिप्रं शीघ्रमेवापह्रियते । तथाहि किल लक्षप्रमाणस्य राशेर्दशभिर्भागो हरणीयः स च यद्यपवर्त्तनामन्तरेण ह्रियते तदा महती वेला लगति यदि तु गुणस्य लक्षस्य गुणकारकस्य च दशलक्षस्य पञ्चभिरपवर्त्तना विधीयते पञ्चभिर्भागो ह्रियत इत्यर्थः तदा शीघ्रमेव ह्रियते भागो लक्षस्य हि पञ्चभिर्भागे हृते लब्धानि विंशतिसहस्राणि दशानां तु पञ्चभिर्भागे हृते लब्धौ द्वौ एताभ्यां विंशतिसाहस्रिकस्य लघुराशेर्भागे हृते झटित्येव दशसहस्राण्यागच्छन्ति अनपवर्तितैस्तु दशभिरनपवर्तितस्यैव लक्षस्यैव दीर्घो भागापहारकालो भवति एवमायुषोऽप्यनपवर्तितस्य तु लघुरसाविति यथा वा समेऽपि कुष्ठादिके रोगे क्रियाविशेषाच्चिकित्साया रोगनिग्रहलक्षणायाः कालभेदो भवत्येवमायुषोऽपीति । तदेवं सप्रसङ्गो द्विविधोऽप्युक्त उपक्रमकालः ॥ विशे० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उवक्कमण–उपक्रमण– न० उप-क्रम-ल्युट् । विक्षेपणे, विशे० ७ ठा० । आरम्भे, करणे ल्युट् तत्साधने, सुश्रुतोक्ते दीर्घायुष्यादिज्ञानपूर्वकचिकित्सायाम्, भूमिकायाम्, स्त्री० । वाच० ॥

उवक्कमिया–औपक्रमिकी– स्त्री० उपक्रम्यतेऽनेनेत्युपक्रमो ज्वरातिसारादिस्तत्र भवा या सा औपक्रमिकी । स्था० । उपक्रम्यतेऽनेनेत्युपक्रमः कर्मवेदनोपायस्तत्र भवा औपक्रमिकी (भ० १ श०४ उ०) कर्मोदीरणकारणेन निर्वृत्तायां तत्र भवायां ज्वरातिसारादिजन्यायां वा वेदनायाम्, स्था० २ ठा० । " अहं उवक्कमियं वेयणं णो सम्मं सहामि " ॥ स्था० ४ ठा० ॥

उवक्कमियुवसग्ग–औपक्रमिकोपसर्ग– पुं० दण्डकशस्त्रादिनाऽसातवेदनीयोदयापादके, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० । (उवसग्गशब्दे विवृतिः) ।

उवक्केस–उपक्लेश-पुं० उपक्लिश्नाति अनेन उप क्लिश् करणे घञ् मदादिषु, वाच० । भावे घञ् । शोकादिबाधायाम्,, स्था०७ ठा०

उवक्ख (क्खा) इत्ता-उपख्यापयितृ-त्रि०लोके ख्यापयति, "पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवइत्ति" । पापैः कर्मभिरात्मानमुपख्यापयिता भवति । अयं महापापकारीत्येवं लोके ख्यापयतीति । सूत्र० २ श्रु० २ अ० ॥

उवक्खड–उपस्कृत–त्रि० उप–कृ–क्त–भूषणादौ सुट् । भूषिते, संहते, विकृते, अध्याहृते, वाच० । घृतहिङ्गुधान्यकमिरचलवणजीरकादिभिः कृतोपस्कारे शाकादिके, । "उवक्खडं भोयणमाहणाणं अत्तट्ठियं सिद्धमिहेगपक्खं" उपा० । "उवक्खडाओ -रद्धिमादी" नि० चू० ८ उ० । उपस्करणमुपस्कृतम् । पाके, । स्था० ४ ठा० ।

उवक्खडसंपण्ण–उपस्कृतसंपन्न–पुं०उपस्कृतेन पाकेन संपन्नः।ओदनमण्डकादौ आहारभेदे, । स्था०४ठा० ।

उवक्खडाम–उपस्कृताम–न० कंकडुकादिउवक्खडं इत्युक्तेरामभेदे, "उवक्खडामं णाम जहा चणयादीणं उवक्खडियाणं जेण सिज्झंति ते कंकडुयामं उवक्खडियाम भण्णति' नि०चू०१५उ०।

उवक्खडिज्जमाण–उपस्क्रियमाण–त्रि०उपसंस्क्रियमाणे, "उवक्खडिज्जमाणे पेहाए पुरा अप्पजूहिए" आचा.२श्रु०२अ०।नि०चू०

उवक्खडिय–उपस्कृत–त्रि०संस्कृते, "विरूवरूवे भोयणजाए उवक्खडिए सिया" "उवक्खडियपेहाए" उवक्खडियं पेहाए तहावि तं णो एवं वदेज्जा" आचा० २ श्रु० ४ अ० । " सवत्थपरमाण्णं उवक्खडियं । आ०म०द्वि० ॥

उवक्खडेत्ता–उपस्कृत्य–अव्य०संस्कृत्येत्यर्थे, "असणं वा ४ उवक्खडेत्ता उवक्खडेत्ता । आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

उवक्खर–उपस्कर– पुं० उप–कृ–भावे अप् । हिंसने सुट् । हिंसने, उपस्करोति उप-कृ-अच् । भूषणे, समवाये, प्रतियत्ने, विकारे, मूषके, कटकमण्डलादौ, समुदिते, संहते, व्यञ्जनसंस्कारकपिष्टधान्यकादिद्रव्ये, गृहसंस्कारके संमार्जन्यादौ, वाच० । सूर्यादिके, नि० चू० १० उ० ॥ उपस्क्रियतेऽनेनेत्युपस्करः । हिङ्ग्वादौ । स्था० ४ ठा० ॥

उवक्खरणसाला-उपस्करणशाला-स्त्री० महानसे, नि०चू०९उ०।

उवक्खरसंपण्ण–उपस्करसंपन्न– पुं० उपस्क्रियतेऽनेनेत्युपस्करो हिङ्ग्वादिस्तेन संपन्नः । हिङ्ग्वादिभिः संस्कृते ओदनमण्डकादौ, आहारभेदे, स्था० ४ ठा० ।

उवक्खाइया–उपाख्यायिका–स्त्री० कथाभेदे, ज्ञाताधर्मकथासु-पञ्चपञ्चाख्यायिकोपाख्यायिकाशतानि । नं० ॥

उवग–उपग– त्रि० उप-गम-ड–उपगन्तरि, वाच० ॥

उवक्क–पुं०तिरश्चि, "तदणुचए वावि उवगो" उपको नाम अन्यः कोऽपि तिर्यग्गापतितो मिलितः।बृ०१उ०।गतायां च । नि०चू० ३उ०

उवगंतुकाम–उपगन्तुकाम– त्रि० अभ्युत्थातुकामे, " जो संविग्गविहारं उवगंतुकामो अब्भुट्ठिउकाम इत्यर्थः" । नि० चू०१९उ० ।

उवगय–उपगत– त्रि० उप-गम्-क्त. स्वीकृते, उपस्थिते, ज्ञाते, वाच० । ढौकिते, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० । अधिगते, " णिउणसिप्पोवगएहिं " औ० । प्रश्न० । युक्ते, " सिरिए हिरिए उवगए उत्तप्पसरीरे " रा० । " सम्माणणाणोवगए महेसी " उत्त० १२ अ० । औ० । उप सामीप्येन गतः । प्राप्ते, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । द० । पंचा० । अनु० । रा० । " णिहयहयसरसजोव्वणकक्कसतरुणवयभावमुवगयाओ " औ० । उत्त० । " झाणकोट्ठोवगए संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ " ध्यानं धर्म्यं शुक्लं वा तदेव कोष्ठः कुसूलो ध्यानकोष्ठस्तमुपगतस्तत्र प्रविष्टो ध्यानकोष्ठोपगतः भ० १ श० १ उ० । "लोयग्गमुवगयाणं" लोकाग्रमुपगतेभ्यः लोकाग्रमीषत्प्राग्भाराख्यं तदुप सामीप्येन निरवशेषकर्मविच्युत्पातपराभिन्नप्रदेशतया गताः उपगताः । ल० । उपेति कालसामीप्येन गतानां प्राप्तानाम् । यद्वा उपेत्युपसर्गः प्रकर्षेऽप्युपलभ्यते यथा पेढारागेण तेन स्थानमनुपमसुखं प्रकर्षेण गतानामिति सम्म० ॥

उवगयसलाहत्त–उपगतश्लाघत्व– न० उक्तगुणयोगात् प्राप्तश्लाघतारूपे चतुर्विंशे सत्यवचनातिशये, स० । रा० ॥

उवगरण–उपकरण– न० उपक्रियतेऽनेन उप-कृ-ल्युट्-प्रधानसाधके अङ्गे, हस्त्यश्वरथासनमञ्चकादौ, आचा० १ श्रु० २ अ० । अङ्गे, "केवलिस्सणं वीरियस्स संयोगसद्दव्वयाए चत्तारि उवगरणाइं भवंति । भ० ५ श० ४ उ० । कामभोगाङ्गे, धनधान्यहिरण्यादिके, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । उपक्रियतेऽनेनेत्युपकरणम् । चुल्ह्यादिके दर्व्यादिके च । तन्निरुक्तिश्चैवम् ।

उपकरणशब्दं व्याख्यानयति ॥

सिज्झत्तस्सुवयारं, दिज्जंतस्स व कारइ य जं दव्वं ।
तं उवकरणचुल्ली, उवरकादव्वीए होयाइ ॥

यत् चुल्ह्यादिकं सिद्ध्यतोऽन्नस्य यद्वा यद्दर्व्यादिकं दीयमानस्य भक्तस्योपकारं करोति तच्चुल्ह्यादिकं दर्व्यादिकं च उपकरणमित्युच्यते । उपक्रियते अनेनेत्युपकरणमिति व्युत्पत्तेः ॥ पिं० ॥ आचा० । स्था० । उपकरणं त्वनेकविधम् कटपिटकशूर्पादिके, अनु० । भ० । " लौहीकटाहकडुच्छुकादौ, भ० ५ श० ७ उ० । उपक्रियते व्रती अनेनेत्युपकरणम् धर्मशरीरोपष्टम्भहेतौ उपधौ, उत्त० १२ अ० । दण्डकरजोहरणवस्त्रपात्रादौ, प्रश्न० १ द्वा० । प्रव० । स्था० । यज्ज्ञानादीनामुपकारकं तदुपकरणमुच्यते । तथा चाह । "जं जुज्जइ उवयारे उवगरणं तंसि होइ उवगरणं । अहिगरणं अजओ अ, जयं परिहरंतो परिहरंतो" ध० ३ अधि० । यत्किञ्च साधूनामुपकारे न व्याप्रियते तन्नोपकरणं किन्तु अधिकरणम् । वृ० १ उ० । उपकारिवस्तुनि, प्रश्न०१ द्वा० । खड्गस्थानीयाया बाह्यनिर्वृत्तेर्या खड्गधारास्थानीया स्वच्छतरपुद्गलसमूहात्मिका अभ्यन्तरा निर्वृत्तिः सा । शक्तिविशेषे, जी० १ प्रति० । आचा० ।

उवगरणउप्पादणया–उपकरणोत्पादनता–स्त्री० उपकुर्वन्तीति शीतातपादिषु सीदन्तं स्थिरीकुर्वन्तीति उपकरणानि तेषामुत्पादनता उपकरणोत्पादनता वक्ष्यमाणप्रकारेण उत्पादनरूपे विनयभेदे, अथोपकरणोत्पादनतां पृच्छति ।

से किं तं उवगरणउप्पायणया २ चउव्विहा पएणत्ता तं जहा अणुप्पन्नाइं उवगरणाइं उप्पाइत्ता भवति पोराणाइं उवगरणाइं संरक्खिता भवति । संगोवित्ता भवति परित्तं जाणित्ता पच्चुद्धरित्ता भवति जधाविधिं संविभइत्ता भवति सेत्तं उवगरणउप्पायणया ।

प्रश्नसूत्रं कण्ठ्यम् । गुरुराह । चतुर्विधाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा (अणुप्पन्नाइंति) अनुत्पन्नानि पूर्वमप्राप्तानि अपेक्षमाणानि उपकरणानि सम्येगषणादिशुद्ध्या उत्पादयिता संपादनशीलो भवति यतः स्वयमाचार्यस्योपकरणोत्पादने वाचनाधर्मकथाद्यन्तरायो भवति अतः शिष्येणैवोपकरणमुत्पादनीयम् । (पोराणाइंति) पुरातनान्युपकरणानि संरक्षयिता उपायेन चोरादिभ्यः अथवा जीर्णानि रक्षिष्यति काले प्रावृणोति व्याख्यानकाले चोलपट्टादिकम् । संगोपयिता च अल्पसागारिककरणेन मलिनताकरणेन वेति २ " परित्तं " नाम अल्पोपधिकं देशान्तरादागतं साधर्मिकं समीपस्थं वा अन्यगणसत्कं वा सीदन्तं दृष्ट्वा उपकरणैरुद्धर्ता भवति ३ यथाविधिसंविभक्ता भवति यथाविधि नाम यथाशास्त्रिकतया दाता भवति ग्लानादिकारणे वा तथाविधवस्त्रसंग्राहको भवतिः सेत्तमित्यादिनिगमनवचनं व्यक्तम् । दशा० ४ अ० ॥

उवगरणदाण–उपकरणदान–न० उपकरणं दण्डकादि तस्य दानम् वितरणम् । ममैकान्तनिर्जरा भवत्विति बुद्ध्या दण्डकादिवितरणे, " बहुमाणो वंदणयनिवेयणा पालणा य जातणउवगरणमेव " दर्श० ॥

उवगरणपूतित–उपकरणपूतिक–न० राध्यमानस्य दीयमानस्य वा उपकारकारके पूतिभेदे, "जंतं रज्झंतस्स वा दिज्जंतस्स वा उवकारं करोति तं उवकरणपूतितं तं च इमं चुल्लुक्खलियं डोएदव्वीअद्धे य मासयं पूति डोपलोणेहिं गूसंकामणफोडसंधूमे " नि०चू० २ उ० ।

उवगरणलाघव–उपकरणलाघव–न० अल्पोपधित्वरूपे द्रव्यतो लाघवे, आचा० १ श्रु०६ अ० ३ उ० ।

उवगरणवडिया–उपकरणप्रतिज्ञा–स्त्री० उपकरणलाभप्रतिज्ञायाम्, "आमोसगा उवगरणवडियाए संपिंडिया गच्छेज्जा" आमोषकाश्चौरा उपकरणप्रतिज्ञया उपकरणार्थिनः समागच्छेयुः । आचा० २ श्रु० ।

उवगरणसंजम–उपकरणसंयम–पुं० महामूल्यवस्त्रादिपरिहाररूपे पुस्तकवस्त्रतृणचर्मपञ्चकपरिहारलक्षणे वा संयमभेदे, स्था० ४ ठा० ।

उवगरणसंजोयणा–उपकरणसंयोजना–स्त्री० उपकरणविषये संयोजनादोषे, सा च बाह्याऽभ्यन्तरा च । तत्र बहिरुपकरणसंयोजना उपकरणं गवेषयन् एव साधोश्चोलपट्टकप्राप्तौ विभूषाप्रत्ययमन्तरा कल्पं याचयित्वा परिभुञ्जानस्य भवति । अन्तरुपकरणसंयोजना वसतावागत्य तथैव परिभुञ्जानस्य । पञ्चा० १३ विव० । पं० व० ॥

उवगरणसंवर–उपकरणसंवर–पुं० अप्रतिनियताकल्पनीयवस्त्राद्यग्रहणरूपे विप्रकीर्णस्य वस्त्राद्युपकरणस्य संवरणलक्षणे वा संवरभेदे, स्था० १० ठा० ।

उवगसित्ता–उपसंश्लिष्य–अव्य०समीपमागत्येत्यर्थे, "मणवंधमाणेहिं घोरेहिं कलुणविणीयमुवगसित्ताणं" सूत्र०१श्रु०४अ० ।

उवगाइज्जमाण–उपगीयमान–त्रि० क्रियमाणोपगाने, " गंधव्वेहिं णाडएहिं उवतिविज्भमाणे उवगाइज्जमाणे उवलालिज्भमाणे " रा० ।

उवगार–उपकार–पुं० उप-कृ–भावे-घञ् । प्रधानस्यानुगुण्यसम्पादने, उपकृतौ, वाच० ॥ उपकारवक्तव्यताभेदाश्च । चैत्यमुनिवन्दनप्रभृति-भाष्यविवृतेर्यथाश्रुतं किंचित् । संघस्याचारविधिं, वक्ष्ये स्वपरोपकाराय । २। इहहि दुरन्तानन्तचतुरन्तासारविसारिसंसारापारावारे निमज्जता भव्यजन्तुना जिनप्रवचनप्रतीतचोल्लकादिदशनिदर्शनदुष्प्रापं कथमपि प्रशस्तमनुजजन्मादिसामग्रीमबाधभवजलधिसमुत्तरणप्रवहणसधर्मसद्धर्म्मविधाने प्रयत्नो विधेयः । यद्वादि "भवकोटी दुष्प्रापामवाप्य नृभवादिसकलसामग्रीम् । भवजलधियानपात्रे, धर्मे यत्नः सदा कार्यः । १ । तत्रापि विशेषतः परोपकारकरणे प्रवर्तितव्यम् । तस्यैवान्वयव्यतिरेकाभ्यामपि पुण्यबन्धनिबन्धनत्वात् उक्तं च "संक्षेपात्कथ्यते धर्मो, जनाः किं विस्तरेण वः । परोपकारः पुण्याय, पापाय परपीडनम् । २ । स चोपकारो द्वेधा । द्रव्यतो भावतश्च । तत्र द्रव्योपकारो भोजनशयनाच्छादनप्रदानादिलक्षणः स चाल्पीयाननात्यन्तिकश्चैहिकार्थस्यापि साधनेनैकान्तेन साधीयानिति । भावोपकारस्त्वध्यापनश्रावणादिस्वरूपो गरीयानित्यात्यन्तिक उभयलोकसुखावहश्चेत्यतो भावोपकार एव यतितव्यम् । स च परमार्थतः पारमेश्वरप्रवचनोपदेश एव । तस्यैव भवशतोपचितदुःखलक्षक्षयक्षमत्वात् ॥ आह च ॥ नोपकारो जगत्यस्मिंस्तादृशो विद्यते क्वचित् । यादृशी दुःखविच्छेदाद्देहिनां धर्मदेशना ॥ ३ ॥ संघा० । नं० । सुखानुभवे, षो० ९ विव० ।

उवगा (या) रण–उपकारण–न० आत्मनोऽन्यस्य वा ग्लानाद्यवस्थायामन्येनोपकारकरणे, "उवयारणपारणासु विणओ पउंजियव्वो " प्रश्न० ३ द्वा० ।

उवगाराभाव–उपकाराभाव–पुं० कृतकृत्यत्वेनानन्दाद्युपकारस्यासंभवे, " उवगाराभावम्मि वि, पुज्जाणं पूजगस्स उवगारो " पंचा० ४ विव० ।

उवगारि (ण्)–उपकारिन्–त्रि० उपकारके, आ० म० प्र० । विशे० । उपकारवति, षो० १० विव० ।

उवगारिया–उपकारिका–स्त्री० विमानाधिपतिसत्कप्रसादावतंसकादीन् उपकरोत्युपष्टभ्नातीत्युपकारिका विमानाधिपतिसत्कप्रसादावतंसकादीनां पीठिकायाम्, अन्यत्र त्वियमुपकार्योपकारिकेति प्रसिद्धा । उक्तं च " गृहस्थानां स्मृतं राज्ञामुपकार्य्योपकारिका " इति । रा० ।

उवगारि (य) यालयण-उपकारिकालयन-न० उपकारिका लयनमिव उपकारिकालयनम् । उपकार्य्योपकारिकारूपे लयने, "पत्थणं महेगे उवयारियलयणे पण्णत्ते एगं जोयणसयसहस्सं आयामविक्खंभेणं " रा० । जी० ॥

उवगिज्जमाण–उपगीयमान–त्रि० "तद्गुणगानात् क्रियमाणोपगाने, मुइंगमत्थएहिं । बत्तीसइबद्धेहिं उवनच्चिज्जमाणे उवगिज्जमाणे " भ० ६ श० ३३ उ० । तथाविधबालोचितगीतविशेषैर्गीयमाने गाय्यमाने च । औ० ॥

उवगीइ–उपगीति–स्त्री० आर्य्या द्वितीयकार्द्धे यदु गदितं लक्षणं " तत् स्यात् यद्युभयोरपि दलयोरुपगीतिं तामुनिर्ब्रूते " वृ० र० । उक्ते मात्रावृत्तभेदे, ग० ।

उवगूढ–उपगूढ–न० उप—गुह. भावे. क्त. । आलिङ्गने, कर्मणि क्त-आलिङ्गिते, त्रि० । सूत्र० १ श्रु०४ अ० । वेष्टिते, ज्ञा० १८ अ० । युक्ते, "गुंजावंककुहरोवगूढं " "गुजंतवंसकुहरोवगूढं" रा० ।

उवगूहण–उपगूहन–न० उप-गुह-ल्युट्-ऊरुत् । आलिङ्गने,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वाच० । प्रच्छन्नरक्षणे, रचनायां च । " आरुहणगूहणेहिं वालयउवगूहणेहिं च " तं० ॥

उवगूहिज्जमाण–उपगूह्यमान–त्रि० आलिङ्ग्यमाने, " उवनंचिज्जमाणे उवगाइज्जमाणे उवलालिज्जमाणे उवगूहिज्जमाणे " ज्ञा० १ अ० ॥

उवगूहिय–उपगूहित (उपगूढ) न० गाढतरपरिष्वङ्गरूपे संप्रासकामभेदे, प्रव० १७७ द्वा० । दृ० । आलिङ्गिते, त्रि० "एस सो वइरो तुट्ठेहिं उवगूहिओ " आ०म०द्वि० ।

उवग्ग–उपाग्र–न० अग्रस्य मुख्यस्य वर्षाकालसंबन्धिनः समीपमुपाग्रम् ॥ आषाढमासे, " एसो खियकालो पुणरेव गणं उवग्गम्मि " व्य० १ उ० ।

उवग्गह–उपग्रह–पुं० उपगृह्णातीत्युपग्रहः । उपाधौ, ओ० । नि० चू० । उपग्रहणमुपग्रहः शिष्याणां भक्तश्रुतादिदानेनोपष्टम्भने, ग० १ अधि० । वि० । ओ० । पं०चू० । पं०भा० । (तद्भेदाः परिहारशब्दे वक्ष्यन्ते) आत्मनः समीपे संयमोपष्टम्भार्थवस्तुनो ग्रहणे, प्रव० ६० द्वा० । उपकारे, विशे० । कारावन्धने बन्दीकरणे, उपयोगे, आनुकूल्ये, वाच० । परस्मैपदात्मने पदयोर्व्यत्यये, यथा तिष्ठति प्रतिष्ठते रमते उपरमतीत्यादि । सूत्र० २ श्रु० ७ अ० । कर्मणि घञ् । कारारुद्धे, बन्द्याम्, वाच० ।

उवग्गहकर–उपग्रहकर–त्रि० उपकारके, "जोगंपि वत्थमाइ उवग्गह करंति गच्छस्स " पं० व० २ द्वा० ॥

उवग्गहकुसल–उपग्रहकुशल– पुं० उपग्रहविषयके कुशले, उपसामीप्येन ग्रहः सोऽपि द्विधा द्रव्यतो भावतश्च । तत्र येषामाचार्य उपाध्यायो वा न विद्यते तान् । आत्मसमीपे समानीय तेषामित्वरां दिशं धृत्वा तावद्धारयति यावन्निष्पाद्यन्ते एष द्रव्यत उपग्रहः । ग्रह उपादाने इति वचनात् । यः पुनरविशेषेण सर्वेषामुपकारे वर्त्तते स भावतः उपग्रहः ॥

उपग्रहकुशलमाह ॥

बाला सहवुड्ढेसुं, संततवकिलंतवेयणातंके ।
भेज्जनिसेज्जोवहियाए, समणभेसज्जवग्गहिए ॥
दाणदवावणकारा–वणे य तहाकयमणुन्नाए ।
उवहितमणुवहितविही, जाणाति उवग्गहं एयं ॥

बालाः सहवृद्धेषु तथाप्रभृतिमार्गगमनतः । पवनो वा श्रान्तेषु तपःक्लान्तेषु तथा वेदनायां सामान्यतः शरीरपीडायां जातायामातङ्के च सद्यो जाते सति रोगे समुत्पन्ने शय्या वसतिर्निषद्या पीठफलकादिरूपा उपधिः कल्पादिः पानं द्रव्यम् अशनमोदनादि भेषजमौषधमौपग्रहिकं दण्डकं प्रोञ्छनाद्युपकरणम् । एतेषां समाहारो द्वन्द्वस्तस्मिन् सप्तमी षष्ठ्यर्थे ततोऽयमर्थः । एतेषां स्वयं दानेऽन्यैर्दापने तथा वैयावृत्यादेः कारापणे च तथा "कयमणुन्नाए" इति परैः कृतस्यानुज्ञायां यत्प्रवर्त्तनं तथा य उपहितविधिर्यश्चानुपहितविधिर्नाम यत् आचार्यैर्वितीर्णं तदाचार्यमनुज्ञाप्यान्येषां साधूनां तदन्तरेण विस्तरयतां ददाति अनुपहितविधिर्यदनुत्पन्नमुत्पाद्य ददाति । अन्येतु व्याचक्षते यद्यस्य गुरुभिर्दत्तं तत्तस्योपनयतीत्येष उपहितविधिः । यत्पुनस्तस्य गुरुभिर्दत्तं तत्सोऽन्यस्य गुरून् अनुज्ञाप्य ददाति एषोऽनुपहितविधिः । एवं सर्वमुपग्रहं जानाति । एतदेव लेशतो व्याख्यानयति ॥

बालादीणं तेसिं, सेज्जनिसेज्जोवहिप्पयाणेहिं ।
भत्तपाणभेसज्ज–मादीहिं उवग्गहिं कुणइ ॥
देइ सयं दावेइ य, करेय कारावए य अणुजाणे ।
उवहियं जं जस्स गुरुहिं, दिन्नं तस्स उवणेति ॥

अणुवहियं जं तस्स उ, दिन्नं देइ सो उ अन्नस्स ।
खमासमणेहिं दिन्नं, तुज्झं ति उवग्गहो एसो ॥

एतेषामनन्तरगाथाभिहितानां बालादीनां बालासमर्थवृद्धमार्गगमनादिश्रान्ततपः क्लान्तवेदनार्त्तजातातङ्कानां शय्यानिषद्योपधिप्रदानैस्तथा भक्तं मोदकाशोकवर्त्यादि अन्नमोदनादि पानभैषज्ये प्रागुक्तस्वरूपे आदिशब्दादौपग्रहिकोपकरणादिपरिग्रहः । एतैरुपग्रहमुपष्टम्भं करोति कथमित्याह । स्वयं शय्यादिकं ददाति । अन्यैर्वा दापयति तथा स्वयं वैयावृत्यादि करोति । अन्यैः कारयति । कुर्वन्तं वा अन्यमनुजानीते । (उवहियत्ति) पदैकदेशे पदसमुदायोपचारादुपहितविधिरिति द्रष्टव्यम् । यद्यस्य गुरुभिर्दत्तं तत्तस्योपनयतीत्येष उपहितविधिर्यत्पुनस्तस्य दत्तं सोऽन्यस्मै गुरून् अनुज्ञाप्य ददाति । क्षमाश्रमणैस्तुभ्यमिदं दत्तमित्येषोऽनुपहितविधिः । एष सर्वोऽप्युपग्रहः । उक्त उपग्रहकुशलः ॥ व्य० ३ उ० ॥

उवग्गहट्ठया–उपग्रहार्थता–स्त्री० भक्तपानवस्त्राद्युत्पादनसमर्थतयोपष्टम्भयिता भवत्विति प्रयोजने, स्था० ५ ठा० ३ उ० ॥

उवग्गहिय–उपगृहीत–न० भावे–क्त० । पुरुषस्यालिङ्गनैकान्तनयनलिङ्गग्रहणकरग्रहणादौ, " उवहसिएहिं उवग्गहिएहिं उवसद्देहिं " तं० । कर्मणि क– । ज्ञानादिभिर्वस्त्रादिभिश्चोपष्टम्भिते, ॥ पा० ॥

उवग्घाय–उपोद्घात–पुं० समीपवर्तिनः प्रकृतस्य उद्घात उद्धननम् ज्ञानं चिन्तनं यत्र । उप– हन्– गतौ– गत्यर्थत्वात् ज्ञानार्थता आधारे घञ् । प्रकृतसिद्ध्यर्थमालोचनात्मके सङ्गतिप्रभेदे "चिन्तां प्रकृतसिद्ध्यर्थ–मुपोद्घातं विदुर्बुधाः" तदर्थवर्णने आरम्भो शास्त्रोत्पत्तौ, विशे० ॥ उपक्रमादस्य भेदः । अपरस्त्वाह । ननूपक्रमः प्रायः शास्त्रसमुत्थापनार्थं उक्त उपोद्घातोऽप्येषशास्त्रसमुद्घातप्रयोजन एवेति कोऽनयोर्भेदः । उच्यते उपक्रमो ह्युद्देशमात्रनियतव्यापार उपोद्घातस्तु प्रायेण तदुद्दिष्टवस्तुप्रबोधनफलोऽर्थानुगमत्वादित्यलं विस्तरेण आ०म० प्र० ॥ उपोद्धननमुपोद्घातः । व्याख्येयस्य सूत्रस्य व्याख्यानविधिसमीपीकरणे ॥ विशे० ॥ उपोद्घातफलम् ॥ अनेन चापोद्घातेनाभिहितेन सूत्रादयोऽर्था व्यक्ताः भवन्ति यथा दीपेनापवरके तमसि उक्तं च "वत्ती भवन्ति अत्था, दीवेणं अप्पगास उव्वरए । वत्ती भवति अत्था, उवघाएणं तहा सत्थे" उपोद्घाताभिधानमन्तरेण पुनः शास्त्रं स्वतोऽतिविशिष्टमपि न तथाविधमुपादेयतया विराजते यथा नभसि मेघच्छन्नश्चन्द्रमाः । उक्तं च " मेघच्छन्नो यथा चन्द्रो, न राजति नभस्तले । उपोद्घातं विना शास्त्रं । न राजति तथा विधं " तत्र सूत्रभणितं " नो कप्पति निग्गंथाण वा निग्गथीण वा आमेनालपलंबे इत्यादि " सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तिभणितमिदम् । बृ० १ उ० ॥

उवग्घायणिज्जुत्ति–उपोद्घातनिर्युक्ति–स्त्री० उपोद्घातेन व्याख्येयस्य सूत्रस्य व्याख्या विधिसमीपीकरणमुपोद्घातनिर्युक्तिस्तद्रूपस्तस्या वा अनुगम उपोद्घातनिर्युक्त्यनुगमः । निर्युक्त्यनुगमभेदे, " से किं तं उवग्घायनिज्जुत्तिअणुगमे २ इमाहिं दोहिं मूलगाहाहिं अणुगंतव्वे तंजहा "उद्देसे १ निद्देसे अ २, निग्गमे ३ खित्ते ४ काले ५ पुरिसे य ६ । कारण ७ पच्चय ८ लक्खण, ९ नए १० समोआरणाणुमए ११ ॥ किं १२ कइविहं १३ कस्स, १४ कहिं १५ केसु १६ कहं १७ किच्चिरं हवइ कालं १८ । कइ १९ संतर २० मविरहियं, २१ भवा २२ गरिस २३ फा-

सण २४ निरुत्ता २५ ॥ सत्तं उवग्घायनिज्जुत्ति अणुगमो"। अनु० । आ० म० प्र० । विशे० । आ० म० द्वि० (सामाइय शब्दे स्पष्टी भविष्यति)

उवघाय-उपघात-पुं० उपहननमुपघातः । पिण्डशय्यादेरकल्पनायाम् । स्था० ३ ठा० । अशबलीकरणे, ओ० । परम्पराघाते, प्रश्न० १ द्वा० । उपघातभेदः "उवघाओ" उपेत्य घातो उपघातः स च द्विविधः द्रव्योपघातो भावोपघातश्च तत्र द्रव्योपघातो विशुद्धद्रव्येनोपहन्यते । भावोपघातो द्विविधः प्रशस्तोऽप्रशस्तश्च । तत्र प्रशस्तोपघातः मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषायोपघातः सम्यग्दर्शनादिषु प्रशस्तः । अप्रशस्तोपघातस्तु सम्यग्दर्शनाद्युपघातः मिथ्यात्वादिषु प्रशस्तः विशोधी नानार्थातिशयेषु सुप्रशस्तभावयोः शोभनं शुद्धिः विविधमनेकप्रकारा वा शुद्धिर्विशुद्धिरियं द्विविधा द्रव्यविशुद्धिर्वस्त्रादि भावविशुद्धिः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रविशुद्धिः । स च विशुद्ध्युपघातो वा अजीवद्रव्याणां न भवतीत्येष सिद्धान्तः कस्माद्यस्मादजीवद्रव्याणां क्रोधादयः परिणामविशेषा न भवन्ति तेनोपघातो विशुद्धता वा अजीवा नो न भवन्तीत्येष भावनानिश्चय इत्यर्थः । आह कस्योपघात इति संज्ञा । यद्यजीवानां न भवति शुद्धिरुपघातो वा उच्यते उपघातो विशुद्धिर्वा परिणामप्रत्यया जीवानां भवति न त्वजीवानामिति सिद्धान्तः । परिणतिः परिणामः अध्यवसायो भाव इत्येकार्थाः । पं० चू० ॥

त्रिविध उपघातः

तिविहे उवघाए पएणत्ते तंजहा उग्गमोवघाए उप्पायणोवघाए एसणोवघाए । एवं विसोही ॥

उपहननमुपघातः पिण्डशय्यादेरकल्पतेत्यर्थः । तत्र उद्गमनमुद्गमः पिण्डादेः प्रभव इत्यर्थः तस्य चाधाकर्मादयः षोडश दोषाः । उक्तंच " तत्थुग्गमोपसूई-पभवो पमादि होंति एगट्ठा । सो पिण्डस्सिह पगओ, तस्स य दोसा इमे होंति " ।१। आहाकम्मुद्देसिय २ पूईकम्मे य ३ मीसजाए य । ४ । ठवणा ५ पाहुडियाए, ६ पाओयर ७ कीअ ८ पामिच्चे ९ ॥१॥ परियट्टए १० अभिहडे, ११ उब्भिन्ने १२ मालोहडेई य १३ अच्छिज्जे १४ अणिसिट्ठे, १५ अज्झोयरए य १६ सोलसमेत्ति ॥२॥ " इह चाभेदविवक्षया उद्गमदोष एवोद्गमोऽतस्तेनोद्गमेनोपघातः पिण्डादेरकल्पनीयता करणं चरणस्य वा शबलीकरणमुद्गमोपघातः उद्गमस्य वा पिण्डादिप्रसूतेरुपघात आधाकर्मत्वादिभिर्दुष्टत्वोद्गमोपघातः ।

पञ्चविध उपघातो यथा--

पंचविहे उवघाए पएणत्ते तंजहा उग्गमोवघाए उप्पायणोवघाए एसणोवघाए परिकम्मोवघाए परिहरणोवघाए ॥

उपघातोऽशुद्धता उद्गमोपघात उद्गमदोषैराधाकर्मादिभिः षोडशप्रकारैर्भक्तपानोपकरणलेपानामशुद्धता एवं सर्वत्र नवरम् उत्पादनया उत्पादनादोषैः षोडशभिर्धात्र्यादिभिरेषणया तद्दोषैर्दशभिः शङ्कितादिभिरिति परिकर्म वस्त्रपात्रादेश्छेदनसीवनादि तेन तस्योपघातोऽकल्पता तत्र वस्त्रस्य परिकर्मोपघातो यथा "तिण्हपरिफालियाणं, वत्थं जो फालियं तु संसीवे। पंचण्हं एगतरं, सो पावइ आणमाईणि" ॥ १ ॥ तथा पात्रस्य " अवलक्खणेगबंधे, दुण्णतिगअइरेगबंधणं वावि । जो पायं परियट्टइ (परिभुंक्ते) परं दिवड्ढा उ मासा उ " ॥ २ ॥ (स आज्ञादीनाप्नोतीति तथा वसतेः) " दूमिय धूमिय वासिय, उज्जोइय बलिकडा अवत्ता य । सित्ता संमट्ठा वि य, विसोहि कोडिं गया वसहिसि " ॥ ३ ॥ दूमिता धवलिता " बलिकृता कूरादिना अव्यक्ता । कुट्टणादिना सिक्ता संमृष्टा समार्जितेत्यर्थः तथा परिहरणा आसेवा तयोपध्यादेरकल्पता तत्रोपधेर्यथा एकाकिना हिण्डकसाधुना यदासेवितमुपकरणं तदुपहतं भवतीति समयव्यवस्था " जग्गहण अप्पडिवज्झण, जइ वि चिरेणं न उवहम्मेति " वचनात् । अस्य चायमर्थ एकाकी गच्छभ्रष्टो यदि जागर्ति दुग्धादिषु च न प्रतिबध्यते तदा यद्यप्यसौ गच्छे चिरेणागच्छति तथाऽप्युपधिर्नोपहन्यते अन्यथा तूपहन्यत इति । वसतेरपि मासचतुर्मासयोरुपरि कालातिक्रान्तेति । तथा मासद्वयं चतुर्मासद्वयं वा वर्जयित्वा पुनस्तत्रैव वसतामुपस्थानेऽपि च तद्दोषाभिधानात् । उक्तञ्च " उउ वासा समतीता, कालातीता उ सा भवे सेज्जा । से चेव उवट्ठाण-दुगुणादुगणं च वज्जित्ता " ॥ १ ॥ तथा भक्तस्यापरिष्ठापनिकाकारं प्रत्यकल्पता तदुक्तं " विहिगहियं विहिभुत्तं, अइरेगं भत्तपाणभोत्तव्वं । विहिगहिए विहिभुत्ते, इत्थ य चउरो भवे भंगा ॥ १ ॥ अहवा विअ विहिगहियं, विहिभुत्तं तं गुरुहिं णुमायं । सेसाणाणुणाया, गहणे दिन्ने वनिज्जुहणंति । स्था० ३ ठा० । (व्याख्याएसणाशब्दे)

दशविध उपघातः ॥

दसविहे उवघाए पएणत्ते तंजहा उग्गमोवघाए उप्पायणोवघाए जहा पंचट्ठाणे जाव परिहरणोवघाए णाणोवघाए दंसणोवघाए चरित्तोवघाए अवियत्तोवघाए सारक्खणोवघाए

यदुद्गमेनाधाकर्मादिना षोडशविधेनोपहननं विराधनं चारित्रस्याकल्प्यता वा भक्तादेः स उद्गमोपघातः एवमुत्पादनया धात्र्यादिदोषलक्षणया यः स उत्पादनोपघातः । " जहा पंचट्ठाणेति " भणनात्तत्सूत्रमिह दृश्यं कियद्दत आह जाव परीत्यादि तच्चेदं(एसणोवघाए) एषणया शङ्कितादिभेदया यः स एषणोपघातः (परिकम्मोवघाए) परिकर्म वस्त्रपात्रादिसमारचनं तेनोपघातः स्वाध्यायस्य श्रमादिना शरीरस्य संयमस्य वोपघातः परिकर्मोपघातः । (परिहरणोवघाए) परिहरणा अलाक्षणिकस्याकल्प्यस्य वोपकरणस्य सेवा तया यः स परिहरणोपघातस्तथा ज्ञानोपघातः श्रुतज्ञानापेक्षया प्रमादतो दर्शनोपघातः शङ्कादिभिश्चारित्रोपघातः समितिभङ्गादिभिः (अवियत्तोवघाएत्ति) अवियत्तमप्रीतिकं तेनोपघातो विनयादेः (सारक्खणोवघाएत्ति) संरक्षणेन शरीरादिविषये मूर्च्छयोपघातः परिग्रहविरतेरिति संरक्षणोपघात इति । स्था० १० ठा० । " उवघायं च दसविहं, असंवरं तह य संकिलेसं च । परिवज्जंतो गुत्तो, रक्खामि महव्वए पंच " पा० । ध० । मूलतो विनाशे, कर्म० । नि० चू० । उपद्रवे, तं० । कर्मायोग्यतासम्पादने, उपकारे, वाच० ॥

उवघायकम्म-उपघातकर्मन्-न० परोपघातक्रियायाम, " आसूणिमक्खिरागं च, गिद्धुवघाय कम्मगं । उच्छोलणं च कक्कं च, तं विज्जं परिजाणिया " सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

उवघायजणय-उपघातजनक-न० उपघातः सत्वघातादिस्तज्जनकम्, अनु० ॥ सत्वोपघातादिप्रवर्तके सूत्रदोषे, यथा वेदविहिता हिंसा धर्मायेत्यादि ॥ विशे० ॥ यथा वा " न मांसभक्षणे दोष इत्यादि " बृ० १ उ० ।

उवघायण-उपहनन-न० हन्यतेऽनेनेति हननम् उप सामीप्येन हननमुपहननम् । करे, " भूओवघायणमणज्जं " आव० ४ अ० ।

उवघायणाम-उपघातनामन्-न० उपघातनिबन्धनं नाम । नामकर्मभेदे, यदुदयवशात्स्वशरीरावयवैः स्वशरीरान्तःपरिवर्द्धमानैः प्रतिजिह्वगलवृन्दलम्बकचोरदन्तादिभिरुपहन्यते । यद्वा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वयं कृतोद्बन्धनभैरवप्रपातादिभिस्तदुपघातनाम । पं० सं० । कर्म० । स० । आ० । प्रव० ॥

उवघायणिस्सिय–उपघातनिश्रित–न० उपघाते प्राणिवधे नि- श्रितमाश्रितम् । दशमे मृषाभेदे, स्था० १० ठा० ।

उवघायपंडग–उपघातपण्डक–पुं० उपहतवेदोपकरणे पण्डक- भेदे, नि० चू० ए उ० । अथोपघातपण्डकमाह–

पुव्विं दुच्चिणाणं कम्मा–णं असुभफलविभागेण ।
नो उवहम्मइ वेओ, जीवाणं पावकम्माणं ॥

पूर्वं दुश्चीर्णानां दुराचारसमाचरणेनार्जितानां कर्मणामशुभफलो विपाक उदयो यद्भवति ततो जीवानां पापकर्मणां वेद उपहन्यते । तत्र चायं दृष्टान्तः–

जह हेमो उ कुमारो, इंदमहे भूसियानिमित्ताणं ।
मुच्छिय गिद्धो य मओ, वेओ वि य उवहओ तस्स ॥

यथा हेमो नाम कुमार इन्द्रमहे समागता यास्तुषिका बालिकास्तासां निमित्तेन मूर्छितो गृद्धोऽत्यन्तमासक्तः सन् मृतः पञ्चत्वमुपगतो वेदोऽपि च तस्योपहतः संजात इत्यक्षरार्थः । भावार्थः कथानकादवसेयः तच्चेदं हेमपुरं नगरे हेमकूडो राया हेमसंभवा भारिया तस्स पुत्तो वरतवियहेमसंनिभो हेमा नाम कुमारो सो य पत्तजोव्वणो अन्नया इंदमहे इन्दट्ठाणगओ पेच्छइ य । तत्थ नगरकुलबालियाणं रूववईणं पंचसए बलिपुप्फधूवं कडुच्छुयहत्थो ताओ दट्ठुं सेवगपुरिसे भणइ किमेयाओ आरायाउ किं वा अभिलसंति । नेहिलहिंदियं इंदं मग्गंति वरं सोभग्गं अभिलसंति जाणिया य तेण सेवगपुरिसा अहमेयसिइंदेण वरो दत्तो नेहपयाउ अंतेउरम्मि । तेहि ताओ घेत्तुं सव्वाओ अंतेउरे स्थुढाओ ताहे नागरजणे रायाणं उवट्ठिओ सोपहवेत्ति तओ रन्ना भणियं किं मज्झ पुत्तो न रोयति तुहं जामाओ व तओ नागरा तुण्हिक्कठिया एयं रन्नो सम्मतंति अंविसप्पगया नागरा कुमारेण ताओ सव्वा परिणीया सो एसु अतीव पसत्तो पसत्तस्स य तस्स सव्ववीयत्तीगाओ जाओ तओ तस्स वेओ- वया व जाओ य अन्ने भणंति ताहि चेव अप्पकिसे रोगोत्ति कवियाहिं अइहाएहिं मारिओ एयावहोपघातपण्डक उच्यते । बृ०४उ.

उवचय–उपचय–पुं० उपचीयते उपचयं नीयते इन्द्रियमनेनेति उपचयः । प्रायोग्यपुद्गलसंग्रहणसम्पतिइन्द्रियपर्याप्तौ प्रज्ञा०१५ पद । इन्द्रियशब्दे तदुपचय उक्तः ॥ शरीरे, आव०४ अ० । पिण्डे, निकाये, समूहे, पिं० । ओ० । वृद्धौ, भ० । अत्र दण्डकः–

जीवाणं भंते ! किं सोवचया सावचया सोवचयसावचया निरुवचया निरवचया गोयमा ! जीवा नो सोवचया नो सावचया नो सोवचयसावचया निरुवचया निरवचया । एगिंदिया तइयपदे सेसा जीवा चउहिं पएहिं भाणियव्वा । सिद्धाणं भंते पुच्छा गोयमा ! सिद्धा सोवचया नो सावचया नो सोवचयसावचया निरुवचय निरवचया । जीवाणं भंते ! केवइयं कालं निरुवचयनिरवचया ? गोयमा ! सव्वद्धं । नेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं सोवचया ? गोयमा ! जहन्नं एकं समयं उक्कोसेणं आवलियाए असंखेज्जइभागं केवइयं कालं सावचया एवं चेव केवइयं कालं सोवचयसावचया एवं चेव केवइयं कालं निरुवचयनिरवचया ? गोयमा ! जहन्नं एकं समयं उक्कोसं बारसमुहुत्ता एगिंदिया सव्वे सोवचया सावचया सव्वद्धं । सेसा सव्वे सोवचया वि सोवचयसावचया वि । जहण्णं एकं समयं उक्कोसं आवलियाए असंखेज्जइ भागं अवट्ठिएहिं वक्कंति य कालो भाणियव्वो । सिद्धाणं भंते ! केवइयं कालं सोवचया गोयमा ! जहण्णं एकं समयं उक्कोसं अट्ठ समया केवइयं निरुवचयनिरवचया जहन्नं एकं उक्कोसं छम्मासा सेवं भंते भंतेत्ति ।

सोपचयाः सवृद्धयः प्राक्तनेष्वन्येषामुत्पादात् । सापचयाः प्राक्तनेभ्यः केषाञ्चिदुद्वर्तनात्सहानयोः सोपचयसापचया उत्पादोद्वर्तनाभ्यां वृद्धिहान्योर्युगपद्भावात् निरुपचयनिरपचया उत्पादोद्वर्तनयोरभावेन वृद्धिहान्योरभावत् । ननूपचयो वृद्धिरपचयस्तु हानिर्युगपद्द्वयमद्वयं चावस्थितत्वमेवं च शब्दभेदव्यतिरेकेण कोऽनयोः सूत्रयोर्भेदः ? उच्यते पूर्वत्र परिमाणमभिप्रेतमिह तु तदनपेक्षमुत्पादोद्वर्तनामात्रं ततश्चेह तृतीयभङ्गके पूर्वोक्तवृद्ध्यादिविकल्पानां त्रयमपि स्यात्तथाहि बहुतरोत्पादे वृद्धिर्बहुतरोद्वर्तने च हानिः । समोत्पादोद्वर्तनयोश्चावस्थितत्वमित्येवं भेद इति । (एगिंदिया तइयपए त्ति) सोपचयसापचया इत्यर्थः युगपदुत्पादोद्वर्तनाभ्यां वृद्धिहानिभावात् शेषभङ्गकेषु ते न सम्भवन्ति प्रत्येकमुत्पादोद्वर्तनयोस्तद्विरहस्य चाभावादिति । (अवट्ठिएहिं- ति) निरुपचयनिरपचयेषु । (वक्कंति कालो भाणियव्वोत्ति) विरहकालो वाच्यः ॥

वस्त्रस्य पुद्गलोपचयो जीवानां कर्मोपचयः ।

वत्थस्सणं भंते ! पोग्गलोवचये किं पयोगसा वीससा ? गोयमा ! पयोगसा वि वीससा वि । जहा णं भंते ! वत्थस्स णं पोग्गलोवचये पयोगसा वि वीससा वि तहाणं जीवाणं कम्मोवचए किं पयोगसा वीससा ? गोयमा ! पयोगसा नो वीससा । सेकेणट्ठेणं ? गोयमा ! जीवाणं तिविहे पओगे पण्णत्ते तं जहा–मणप्पओगे वइप्पओगे कायप्पओगे इच्चेतेणं तिविहेणं पयोगेणं । जीवाणं कम्मोवचये पयोगसा नो वीससा एवं सव्वेसिं पंचिंदियाणं तिविहे पयोगे भाणियव्वे । पुढविकाइयाणं एगविहपओगेणं एवं जाव वणस्सइकाइया । विगलिंदियाणं दुविहे पओगे पण्णत्ते तं जहा– वइप्पयोगे य कायप्पओगे य । इच्चेतेणं दुविहेणं पयोगेणं कम्मोवचये पयोगसा नो वीससा से एणं अट्ठेणं जाव नो वीससा एवं जस्स जो पओगो जाव वेमाणिया णं । वत्थस्सणं भंते ! पोग्गलोवचए किं सादीए सपज्जवसिए सादीए अपज्जवसिए अणादीए सपज्जवसिए अणादीए अपज्जवसिए ? गोयमा ! वत्थस्स णं पोग्गलोवचए सादीए सपज्जवसिए नो सादीए अपज्जवसिए नो अणादीए सपज्जवसिए नो अणादीए अपज्जवसिए । जहा णं भंते ! वत्थस्स पोग्गलोवचए सादीए सपज्जवसिए नो सादीए अपज्जवसिए नो अणादीए सपज्जवसिए नो अणादीए अपज्जवसिए तहाणं जीवाणं कम्मोवचए पुच्छा गोयमा ! अत्थेगइयाणं जीवाणं कम्मोवचए सादीए सपज्जवसिए अत्थेगइए अणादीए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सपज्जवसिए अत्थेगइए अणादीए अपज्जवसिए नो चेव णं जीवाणं कम्मोवचए सादीए अपज्जवसिए । से केणट्ठेणं ? गोयमा ! इरियावहिया बंधयस्स कम्मोवचए सादीए सपज्जवसिए भवसिद्धियस्स कम्मोवचए अणादीए सपज्जवसिए अभवसिद्धियस्स कम्मोवचए अणादीए अपज्जवसिए से तेणट्ठेणं ॥

वत्थेत्यादिद्वारे ॥ (पयोगसावीससायत्ति) छान्दसत्वात् प्रयोगेण पुरुषव्यापारेण विस्रसया स्वभावेनेति । (जीवाणं कम्मोवचए पओगसा णो वीससत्ति) प्रयोगेणैव अन्यथा योगस्यापि बन्धप्रसङ्गः। सादिद्वारे । (इरियावहियबंधस्सेत्यादि) ईर्या पथो गमनमार्गस्तत्र भवमैर्यापथिकं केवलयोगप्रत्ययं कर्मेत्यर्थः । तद्बन्धकस्योपशान्तमोहस्य क्षीणमोहस्य सयोगिकेवलिनश्चेत्यर्थः । ऐर्यापथिककर्मणो हि अबन्धपूर्वस्य बन्धनात्सादित्वमयोग्यवस्थायां श्रेणिप्रतिपाते वा अबन्धनात्सपर्यवसितत्वम् (गइए गइं पडुच्चत्ति) नरकादिगतौ गमनमाश्रित्य सादयः आगमनमाश्रित्य च सपर्यवसिता इत्यर्थः । (सिद्धगइं पडुच्च साइया अपज्जवसियत्ति) इहाक्षेपपरिहारावेव " साइ अपज्जवसिया, सिद्धानयनामइय कालम्मि । आसिकयाइविसुद्धा, सिद्धा सिद्धे वहि सिद्धंते ॥ सव्वं साइसरीरं, नयनामादिमयदेहसब्भावो । कालाणाइत्तणओ,जहा वए इंदियाईणं ॥ सव्वो साई सिद्धो, नयादिमो विज्जई तहा ते च । सिद्धो सिद्धा य सया, निद्दिट्ठा रोहपुच्छा एत्ति । (तं चाति) तच्च सिद्धानादित्वमिष्यते यतः सिद्धा सिद्धायेत्यादि [भवसिद्धियाछद्धिमित्यादि] भवसिद्धिकानां भव्यत्वलब्धिः सिद्धत्वेऽपैतीति कृत्वाऽनादिसपर्यवसिता चेति । भ० ६ श० ३ उ० । लग्नतौ, षष्ठत्रिदशलाभाश्च,लग्नादुपचयाः स्मृताः । इति ज्योतिषोक्ते लग्नात्षष्ठादिस्थानेषु च । वाच० ।

उवचयण–उपचयन–न०स्थितस्याबाधाकालं मुक्त्वा ज्ञानावरणीयादितया निषेके, सच्चैवं प्रथमस्थितौ बहुतरकर्मदलिकं निषिञ्चति ततो द्वितीयायां विशेषहीनमेवं यावदुत्कृष्टायां विशेषहीनं निषिञ्चति । उक्तं च " मोत्तूण सगमबाहं, पढमाए ठिइए बहुतरं दव्वं । सेसं विसेसहीणं, जावुक्कोसंति सव्वेसिंति" "चउहिं ठाणेहिं अट्ठ कम्मपगडीओ उवचिणिंसु उवचिणंति उवचिणिस्संति " स्था० ४ ठा० । परिपोषणे च । स्था० ८ ठा० ।

उवचर–उपचर–उप–चर–धा– भ्वा० पर० । सामीप्ये, नाशने, उपसर्गणे, " अदुवा पक्खिणो उवचरंति " अदुवा कुचरा उवचरंति " । उपचरंति उप सामीप्येन मांसादिकमश्नन्ति । अथवा श्मशानादौ पक्षिणो गृध्रादयः उपचरन्ति । अथवा कुत्सितं चरन्तीति कुचराश्चोरपारदारिकादयस्ते च क्वचिच्छून्यगृहादावुपचरन्ति उपसर्गयन्ति । आचा० १ श्रु० ९ अ० २ उ० ॥

उवचरय–उपचरक–पुं० स्तेनभेदे, "अयं तेणे अयं उवचरंते अयं तओ आगओ एतिकट्टु" आचा० २ श्रु० । सूत्र० ॥

उवचरिय–उपचरित–त्रि० उप–चर–क्त– । उपासिते, बोधिते, च । वाच० । उप–चर–भावे–उपचारे, पंचा० ६ विव० ।

उवचिण–उपचयन–न०गृहीतानां कर्मपुद्गलानां ज्ञानावरणादिभावेन निषेचने, स्था० १० ठा० । (व्याख्या पायकम्मशब्दे)

उवचित (य)–उपचित–त्रि० पुष्टे, कल्प० । समृद्धे, ज्ञा० ४अ० । मांसले, " कणयसिलायलुज्जलपसत्थसमतलोवचियविच्छिन्नपिहुलवच्छा" । जी० ३ प्रति० । निवेशिते, प्रज्ञा० २ पद । उपनिहिते, " उवचियचंदणकलसं " उपचिता उपनिहिताः चन्दनकलशा माङ्गल्यघटा गृहान्तश्चतुष्केषु यत्र तत्तथा । कल्प० । औ० । रा० । व्याप्ते, "बहुउप्पलकुमुयफुल्लकेसरोवचिया" । जं० १ वक्ष० । उन्नते औ० ॥ ज्ञा० ॥ बहुशः प्रदेशसामीप्येन शरीरे चिते, ॥ भ० १ श० १ उ० । जीवप्रदेशैर्व्याप्ते, अनु० ॥ प्राग्बद्धे वा कर्मणि, उत्त० १ अ० । दिग्धे,मेदि० । लेपनादना वर्द्धिष्णौ, । निदिग्धे, अमरः वाच० ॥ "उवचियखोमियदुगुल्लपट्टपडिच्छन्ने" परिकर्मितं (खोमियत्ति) क्षौमं यद् दुकूलं वस्त्रं तस्य यः पट्टो युगलापेक्षया एकपट्टः तेन आच्छादिते, ॥ स० ॥ परिकर्मिते, औ० । कल्प० । समाहिते, हेम० । सुसञ्चिते च । वाच० ।

उवचितकाय–उपचितकाय–त्रि० मांसलशरीरे, " परिवूढकायं पेहाए एवं वदेज्जा परिवूढकाएत्ति वा उवचितकाएत्ति वा" ॥ आचा० २ श्रु० ॥

उवचियमंससोणिय–उपचितमांसशोणित–पुं० परिवृद्धमांसशोणिते, । आचा० २ श्रु० ॥

उवजोइ–उपज्योति–पुं० अव्य० सामीप्ये अव्ययी०स० अग्नेः समीपे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० । उपज्योतेरग्नेः समीपे व्यवस्थित उपज्योतिः । वर्त्तिनि, "जतुकुम्भे जहा उवज्जोई संवासे विदुविसीएज्जा " सूत्र० १ श्रु० ४० ।

उवजोइय–उपज्योतिष्क–पुं० ज्योतिषसमीपे, उपज्योतिषस्त एवोपज्योतिष्काः अग्निसमीपवर्तिषु माहानसिकेषु, ऋत्विक्षु, च । उत्त० ॥ केइत्थगता उवजोइया वा अज्झावया वा सह–खण्डिएहिं" उत्त० १२ अ० ॥

उवज्झाय–उपाध्याय–पुं० उप समीपमागत्य अधीयते इङ् अध्ययने इतिवचनात् पठ्यते, इण् गताविति वचनाद् वा अधि आधिक्येन गम्यते, इक् स्मरणे इतिवचनाद्वा स्मर्यते सूत्रतो जिनप्रवचनं येभ्यस्त उपाध्यायाः । यदाह " बारसंगो जिणक्खाओ, सिज्झाओ कहिओ बुहे । तं उवइस्संति जम्हा, उवज्झाया तेण वुच्चंति " अथवा उपाध्यानमुपाधिः सन्निधिस्तेनोपाधिना उपाधौ वा आयो लाभः श्रुतस्य येषामुपाधीनां वा विशेषणानां प्रक्रमाच्छोभमानानामायो लाभो येभ्योऽथवा उपाधिरेव संन्निधिरेव आय इष्टफलदैवजनितत्वेन आयानामिष्टफलानां समूहस्तदेको हेतुत्वाद्येषामथवा आधीनां मनःपीडानामायो लाभः आध्यायः अधियां वा नयः कुत्सार्थत्वात् कुबुद्धीनामायो ध्यायः ध्यैचिन्तायामित्यस्य धातोः प्रयोगान्नञः कुत्सार्थत्वादेव दुर्ध्यानं वा अध्याय उपहतोऽध्यायः आध्यायो वा यैस्ते उपाध्यायाः ॥ भ० १ श० १ उ० । दशा० । ध० । आ० म० द्वि० । आ० चू० । प्रव० । साध्वसध्यह्नां कः । ८ । २ । २६ । इति ध्येति संयुक्तस्य कः । प्रा० । यथाशक्तिद्वादशाङ्गस्वयमध्ययनपराध्यापनानिषण्णमानसेषु, । चं० १ पाहु० । सूत्राध्यापकेषु, कल्प० । आचा० । स्था० । आव० । स्वाध्यायपाठकेषु, द्वा० । विशे० । वृ० ।

अस्य निक्षेपो यथा ।

नामं ठवणा दविए, भावे चउव्विहो उवज्झाओ ।
दव्वल्लोइयसिप्पा, धम्मा तह अन्नतित्थीया ॥

नामस्थापनोपाध्यायौ सुबोधौ द्रव्योपाध्यायस्तु ज्ञभव्यशरीरव्यतिरिक्तानाह (दव्वेत्यादि) द्रव्ये विचार्ये तद्व्यतिरिक्त उपाध्यायः शिल्पाद्युपदेष्टा । तथा (धम्मेत्ति) निज २ धर्मोपदेष्टारोऽन्यतीर्थिकाश्च संसारनिबन्धनत्वेनाप्रधानभूतत्वात्तद्व्यतिरिक्ता द्रव्योपाध्याया मन्तव्या इति । भावोपाध्यायानाह–

बारसंगो जिणक्खाओ, सज्झाओ कहिउं बुहे ।
तं उवइसंति जम्हा ओ–वज्झाया तेण वुच्चंति ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यो द्वादशाङ्गः स्वाध्यायः प्रथमतो जिनैरास्तस्ततो (बुहेत्ति) प्राकृतत्वादृबुधैर्गणधरादिभिः कथितः पारंपर्येणोपदिष्टः तं स्वाध्याय सूत्रतः शिष्याणामुपदिशन्ति यस्माचेनोपाध्याया उच्यन्ते अत एव इङ् अध्ययने उपेत्य सूत्रमधीयते येभ्यः शिष्यास्ते उपाध्याया उणन्ते इति ॥

सांप्रतमागमशैल्या अक्षरार्थमधिकृत्योपाध्यायशब्दार्थमाह।

उत्ति उवकरणेवेति, वेयज्झाणस्स होइ निद्देसे ।

एएण होइ उज्झा, एसो अण्णो विपज्जाओ ॥

(उ) इत्येतदक्षरमुपयोगकरणे वर्त्तते(व)इति वेदध्यानस्य निर्देशे ततश्च प्राकृतशैल्या एतेन कारणेन भवन्ति उज्झा उपयोगपुरःसरं ध्यानकर्तार इत्यर्थः । एषोऽनन्तरोक्त उपाध्यायशब्दापेक्षयान्योऽपि पर्याय इति । अथोपाध्यायशब्दार्थं भाष्यकारः प्राह ।

उवगम्म जओ हीवइ, जं चोवगयमगया वेंति ।

जं वो वायज्झाया, हियस्स तो ते उवज्झाया ॥

उपगम्योपेत्य यतो येभ्योऽधीयते पठन्ति शिष्यास्ते उपाध्यायाः यद्वा यस्मादुप समीपे गतं प्राप्तं शिष्यमध्यापयन्ति तत उपाध्यायाः । यस्माच्च स्वपरहितस्योपाध्यायका उपायका उपायचिन्तकास्ततस्ते उपाध्याया इति । विशे० । आ० चू० । आ० म० द्वि० ।

इदानीमुपाध्यायस्वरूपमाह ।

सुत्तत्थतदुभयविऊ-ज्जुत्तो नाणदंसणचरित्ते ।

निप्पायगसेसाणं, एरिसया होंति उवज्झाया ॥

ये सूत्रार्थतदुभयविदो ज्ञानदर्शनचारित्रैर्युक्ता उपयुक्तास्तथा शिष्याणां सूत्रवाचनानिष्पादका एतादृशा भवन्त्युपाध्यायाः । उक्तं च । " समत्तनाणदंसण, जुत्तो सुत्तत्थतदुभयविधिणा । आयरियप्पाजुग्गो, सुत्त वाएइ उवज्झातो " अथ कस्मात्सूत्रमुपाध्यायो वाचयति । उच्यते अनेकगुणसंभवनिवाह ।

सुत्तत्थेसु थिरत्तं, रिणमुक्खो आयती अपडिबंधो ।

पाडिच्छे मोहजयो, तम्हा वाए उवज्झातो ॥

उपाध्यायः शिष्येभ्यः सूत्रवाचनां प्रयच्छन् स्वयमर्थमपि परिभावयति । सूत्रेऽर्थे च तस्य स्थिरत्वमुपजायते । तथाऽन्यस्य सूत्रवाचनाप्रदानेन सूत्रलक्षणस्य ऋणस्य मोक्षः कृतो भवति । तथा आयत्यामागामिनि काले आचार्यपदाध्यासेऽप्रतिबन्धोऽत्यन्ताभ्यस्ततया यथावस्थतया स्वरूपस्य सूत्रस्यानुवर्तनं भवति । तथा (पाडिच्छेत्ति) येऽन्यतो गच्छान्तरादागत्य साधयस्सूत्रोपसंपदं गृह्णते ते प्रतीच्छका उच्यन्ते ते च सूत्रवाचनाप्रदानेनानुगृहीता भवन्तीति वाक्यशेषः । तथा मोहजयः कृतो भवति । सूत्रवाचनादानव्यग्रस्य सतः प्रायश्चित्तविश्रोतसिकाया अभावात् अत एवंगुणस्तस्मादुपाध्यायः सूत्रं वाचयेत् । पाठान्तरं (तहा अ उण वाएत्ति) अत्रापि स एवार्थो नवरं गणी उपाध्यायः उक्तमुपाध्यायस्वरूपम् । व्य० १ उ० । प्रव० । स्था० " एवमेते णामठवणादीहिं अणेगहा पन्नविज्जंति तहा सुसंवुडासवदारे मणोवइकायजोगुत्तउवउत्ते विहिणा सरविंजणमत्ता विंदुपयक्खरविसुद्धदुवालसंगे सुयनाणसुयणज्झावणेणं परमप्पणोयमोक्खोवायं झायंतित्ति उवज्झाए थिरपरिचियमणंतगमपज्जवत्थेहिं दुवालसंगं सुयनाणं चिंतंति अणुसरंति एगग्गमणसा झायंतित्ति वा उवज्झाए" महा० । (उपाध्यायस्य अतिशयादयः स्वस्थाने (नमस्काराईत्वं नमो उवज्झायाणंती सूत्रार्थो ' नमुक्कार ' शब्दे) (उपाध्यायोद्देश 'उद्देस' शब्दे उक्तः) (उपाध्यायस्थापना ' दिसा ' शब्दे)

उवज्झिय–उपाहूत–त्रि० आकारिते, व्य० १ उ० ।

उव (व्व) ट्टण–उद्वर्तन–न० उद्वर्त्यतेऽनेन उद् वृत् णिच् करणे ल्युट् । शरीरनिर्मलीकरणद्रव्यादौ, भावे ल्युट् । द्रव्यभेदैः स्नेहाद्यपहारार्थे व्यापारे, विलेपने, घर्षणे च । वाच० । पङ्कापनयने, " गायस्सुवट्टणाणि य " दश० ३ अ० । सकृद्वर्तने, नि० चू० ३ उ० । प० ।

उव (व्व) ट्टणविहि–उद्वर्तनविधि–पुं०उद्वर्त्तनप्रकारे, " तयाणंतरं च णं उवट्टणविहिपरिमाणं करेइ णएत्थ एगेणं सुरभिणा गंधट्टएणं । अवसेसं उवट्टणविहिं पच्चक्खामि" उपा० १ अ० । त्रि० समीपस्थिते, वाच० ।

उवट्ठ–उपस्थ–एकस्यां वसतौ सततमवस्थिते, व्य० ४ उ० ।

उवट्ठंभ–उपष्ट(स्त)म्भ–पुं०उप-स्तम्भ-घञ्-पतनप्रतिरोधने,अवलम्बने, आलम्बने, स्थितौ, सहकारे, वाच० । अनुकम्पायाम्, स्था० २ ठा० । मोहनीयेन कर्मणा उत्थाने, भ० १ श० ४ उ० ।

उवट्ठकाल–उपस्थकाल–पुं०अभ्यागमवेलायाम्, व्य० ४ उ० ।

उवट्ठ (ट्ठा) वणा–उपस्थापना–स्त्री०उपस्थापनमुपस्थापना । अनुकूलशक्त्यभावे, प्रति० । उपस्थाप्यन्ते व्रतान्यारोप्यन्ते यस्यां सा उपस्थापना । चारित्रविशेषे, भ० २ अधि० । व्रतेषु स्थापनायाम्, पं०चू० । 'वयट्ठवणमुवट्ठवणा' पं०भा० । पंचा० । नवीनदीक्षितस्य साधोः श्रीतातपादर्दीक्षाभवनानन्तर 'सचित्तरजओहडावणिअ' कायोत्सर्गे विस्मृते पुनर्दीक्षां दत्वाऽऽवश्यकादियोगानुष्ठानमुपस्थापना च शुद्धयति नवेति ७४ प्रश्नः गच्छनायकदीक्षाभवनानन्तर 'सचित्तरजओहडावणिअ' कायोत्सर्गे विस्मृते पुनर्गच्छनायकदीक्षामन्तरेणावश्यकादियोगानुष्ठानमुपस्थापना च न शुद्ध्यतीति ॥ सेन० २ उल्ला० ॥

उपस्थापनाविधिश्चैवम् ॥ "पढिआइ१वास२चिइ३वयति,अतिअवेला४खम समणरासत्त५।दिसि बंधो दुविह तिहा६तव७ देसण८मंडली सत्त९ ॥ पढिए अकहिअअहिगहिअ" इत्यादि गाथाद्वयं एवं"सुपरिक्खियगुणसीसो तिहिनक्खत्तमुहुत्तरतिजोगाइपसत्थदिवसे विपासवणाइपहाणखित्ते गुरुं वंदित्ता भणइ, इच्छकारि भगवन् ! तुम्हे अम्हं पञ्चमहाव्रतरात्रिभोजनविरमणं षष्ठ आरोपावणिअं नंदिकरावणिअं वासनिक्खेवं करेहत्ति । ताओअ देवे वंदियवंदणं दाउं महव्वयाइं आरोवणत्थं सत्तावीसुस्सासं काउस्सग्गं दोवि करेंति । तओ सूरिओ वदंति तुम्हएहिं पिट्ठोवरिकुप्परसंठिएहिं करेहिं रयहरणं ठवित्ता मकरानामिआए मुहपुत्तिं लंवंति धरिसुसम्मं उवओगपरो सीसं अद्धावणयकायं इक्किक्कयं नमुक्कारपुव्वं तिन्नि वारे उच्चरावेइ । तत्थ पढमे भंते महव्वए पाणाइवायाओ वेरमणं सव्वं भंते पाणाइवायं पच्चक्खामि से सुहुमं वा बायरं वा तसं वा थावरं वा नेव सयं पाणे अइवाइज्जा नेवन्नेहिं पाणे अइवायाविज्जा पाणे अइवायंते वि अन्नं न समणुजाणामि जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करतं पि अन्नं न समणुजाणामि तस्स भंते पडिकमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि । पढमे भंते महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ पाणाइवायाओ विरमणं । अहावरे दुच्चे भंते महव्वए मूसावायाओ वेरमणं इत्याद्यालापकपदकं वाच्यम् । तओपत्ताए लग्गवेलाए "इच्चेइयाइं पंचमहव्वयाइं राईभोअणवेरमणछट्ठाइं अत्तहियट्ठ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

याए उवसंपज्जित्ताणं विहरामि" एवं तिन्नि वारे भणावेइ तओ वंदित्ता सीसो भणइ इच्छकारि भगवन् ! तुम्हे अम्हं पंचमहाव्रतरात्रिभोजनविरमणषष्ठआरोवओ इत्यादिक्षमाश्रमणानि प्रदत्तिणाश्च प्राग्वत् । तओ सीसस्स आयरियउवज्झायरूवो दुविहो दिसाबंधो कीरइ । यथा कोटिको गणः वइरी शाखा चान्द्रं कुलम् । अमुका गुरवः उपाध्यायाश्च साध्वी अमुकी प्रवर्तिनी चेति तृतीयः आचाम्लनिर्विकृतिकादितपः कार्यते । देशनायां च वधूचतुष्ककथावाच्या ॥

उट्ठविश्रो चेव सीसो, मंडली पवेसत्थं ।
सत्तआयंबिलाणि-कारे अचोतं जहा ॥
सुत्ते १ अत्थे २ भोअण, ३ काले ४ आवस्सए ५ सज्झाए ६ ।
संथारए चेव ७ तहा, सत्ते आ मंडली हुंति ॥

सूत्रे सूत्रविषये १ एवम् अर्थे २ भोजने ३ कालग्रहे ४ आवश्यके प्रतिक्रमणे ५ स्वाध्याये तत्र च प्रस्थापने ६ संस्तारके चैव ७ सप्तैता मण्डल्यो भवन्ति । एतासु चैकैकेनाचाम्लेन प्रवेष्टुं कल्पते नान्यथेति । तत्र च "मुहपोत्तिं पेहिअ वंदणदुगं दाउं सुत्तमंडलीं संदिसावउं खमाए सुत्तमंडलीवासिओ खमा० इत्थं तस्स मिच्छामि दुक्कडं तिविहेणं सेसासुत्ति" इति प्रतिपादितः सप्रपञ्चमुपस्थापनाविधिः । ध० ३ अधि० ।

अप्पत्ते अकहित्ता, अणहिगयपरिच्छणये चउगुरुगा ।
दोहिं गुरु तव गुरुगा, कालगुरुं दोहि वि लहुगा ॥

सूत्रेऽसमाप्ते उपस्थाप्यमाने उपस्थापयितुः प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः । कथम्भूता इत्याह । द्वाभ्यां गुरवस्तद्यथा तपसापि गुरुकाः कालेनापि गुरुकाः । अथ सूत्रप्राप्तस्तथापि तस्यार्थमकथयित्वा यदि तमुपस्थापयति तदा तस्य चत्वारो लघुकाः । नवरं कालेनैकेन गुरवः । अथ कथितोऽर्थः परं नाद्याप्यधिगतः अथवा अधिगतः परमद्यापि न सम्यक् तं श्रद्दधाति तमनधिगतार्थमश्रद्दधानं वा उपस्थापयतश्चत्वारो लघुकाः । नवरमेकेन तपसा लघवः । अथाधिगतार्थमप्यपरीक्ष्योपस्थापयति तदा चत्वारो लघुकास्तपसापि कालेनापि च लघवः न केवलं तत्प्रायश्चित्तं किं त्वाज्ञादयश्च दोषाः तथा सर्वत्र षण्णां जीवनिकायानां यद्विराधयिष्यति तत्सर्वमुपस्थापयन् प्राप्नोति तस्मात् यत एवं प्रायश्चित्तमाज्ञादयश्च दोषास्तस्मादपाठिते षड्जीवनिकायसूत्रे नाप्यनधिगतेऽर्थे नापि तस्मिन्नपरीक्षिते उपस्थापना कर्त्तव्या ।

अथ कियन्तः षड्जीवनिकायामर्थाधिकारास्तत आह ।

जीवाजीवाभिगमो, चरित्तधम्मो तहेव जयणा य ।
उवएसो धम्मफलं, छज्जीवणियाए अहिगारा ॥

षड्जीवनिकायामिमे पञ्चाधिकारास्तद्यथा प्रथमो जीवाजीवाभिगमो द्वितीयो महाव्रतसूत्रादारभ्य चारित्रधर्मस्तृतीयो 'जयं चरे जयं चिट्ठे' इत्यादिना यतनादनन्तरमुपदेशस्ततो धर्मफलमेते च विस्तरतो दशवैकालिकटीकातः परिभावनीयाः । तत्रास्तामुपस्थापना कथं स प्रव्राजयितव्य इति तदेवोच्यते । तत्र षड्विधो द्रव्यकल्पो वक्तव्य इति तमभिधित्सुराह ॥

पव्वावण मुंडावण, सिक्खावणउवट्ठसंभुंजणा य संवसणा ।
एसो उ दवियकप्पो, उच्चिट्टतो होति नायव्वो ॥

प्रव्राजना नाम यो धर्मे कथितेऽकथिते वा प्रव्रजामीत्यभ्युत्थितः प्रथमतः पृच्छ्यते कस्त्वं कुतो वा समागतः किं निमित्तं वा प्रव्रजिष्यसि । तत्र यदा पृच्छा परिशुद्धो भवति तदा प्रव्राजयितुमभ्युपगम्यते अभ्युपगम्य च प्रशस्तेषु द्रव्यादिष्वाचार्यः स्वयमेवाष्टा (स्तोककेश) ग्रहणं करोति एतावता प्रव्राजनाद्वारम् । तदनन्तरं स्थिरहस्तेन लोचे कृते रजोहरणमर्पयित्वा तस्य सामायिकसूत्रं दीयते । ततः सामायिकं मे दत्तमिच्छामो नुशिष्टिमिति । सूरयो ब्रुवते निस्तारपारगो भव क्षमाश्रमणगुणैर्वर्द्धस्व एषा मुण्डापना (सिक्खावणात्ति) तदनन्तरं द्विविधामपि शिक्षां ग्राह्यते तद्यथा ग्रहणशिक्षामासेवनाशिक्षां च । ग्रहणशिक्षा नाम पाठः । आसेवनशिक्षा सामाचारीशिक्षणम् । यदा द्विविधामपि शिक्षां ग्राहितो भवति तदा स उपस्थाप्यते प्रशस्तेषु द्रव्यक्षेत्रादिषु । द्रव्यतः शालिकरणे इक्षुकरणे चैत्यवृक्षे वा । क्षेत्रतः पद्मसरसि सानुनादे चैत्यगृहे वा कालतश्चतुर्थ्यष्टम्यादिवर्जितासु तिथिषु भावतोऽनुकूले नक्षत्रे यदि तस्य जन्मनक्षत्रं जायते तदा आचार्यस्यानुकूलनक्षत्रे सुन्दरे मुहूर्त्ते यथाजातेन लिङ्गेन । तद्यथा रजोहरणेन निषिद्याद्वयोपेतमुखपोतिकया चोलपट्टेन च वामपार्श्वे स्थापयित्वा एकैकं महाव्रतं त्रीन् वारान् उच्चार्यते यावत् रात्रिभोजनम् । अथ ते द्वौ त्रयो बहवो वा भवेयुस्ततो यथावयोवृद्धम् अथ ते क्षत्रिया राजपुत्रास्तत्र यः स्वतं एवासन्नतर आचार्यस्य स रत्नाधिकः क्रियते इतरो लघुः अथ द्वावप्युभयतः पार्श्वयोः समौ व्यवस्थितौ तदा तौ द्वावपि समरत्नाधिकौ व्रतेषूच्चारितेषु प्रदक्षिणां कारयित्वा पादयोः पात्यते भण्यते च महाव्रतानि ममारोपितानि इच्छामोऽनुशिष्टिं शेषाणामपि साधूनां निवेदयामि । गुरुर्भणति । निवेदय इहं च भणति निस्तारगपारगो भव क्षमाश्रमणानां च गुणैर्वर्द्धस्व एवमुपस्थापिते द्विविधसंग्रहः साध्वोर्यथा अहं तव आचार्योऽमुकस्ते उपाध्यायः । साध्व्यास्त्रिविधसंग्रहस्तत्र तृतीया अमुका ते प्रवर्त्तिनी एवमुपस्थाप्य केषांचित्पञ्चकल्याणकं केषांचिदभक्तार्थं केषांचिदाचाम्लं केषांचिन्निर्विकृतिकमपरेषां न किंचित् । किं बहुना यत् यस्य तपः कर्म आवलिकागतं तस्य तद्दत्वा तेन सहैकत्र मण्डल्यां संभुङ्क्ते संवसनं च करोति । शैक्षकमध्ये परिपालना चेयं यथा यावन्नोपस्थाप्यते तावन्न भिक्षां हिण्डापयितव्यः । कथं पुनरुपस्थापनीय इत्यत आह ॥

पढिए य कहिय अहिगय, परिहर उट्ठावणा य सो कप्पो ।
छक्कं तीहिं विसुद्धं, परिहरनवगेण भेएण ॥

सूत्रं प्रथमतः पाठयित्वा तदनन्तरमर्थं कथयित्वा ततोऽधिगतोऽनेनार्थः सम्यक् श्रद्धानविषयीकृतश्चेति परीक्ष्य यदा षट्कं षड्जीवनिकायान् त्रिभिर्मनोवाक्कायैर्विशुद्धं भावतो न परानुवृत्त्या परिहरतीत्यत आह नवकभेदेन न षट्कं मनसा स्वयं परिहरति अन्यैः परिहारयति परिहरन्तमन्यं समनुजानाति । एवं वाचा कायेन प्रत्येकं त्रयस्त्रयो भेदा द्रष्टव्याः । एष उपस्थापनायाः कल्पः वृ० १ उ० ॥ नि० चू० ॥

उपस्थापनाविधिः ।

(सूत्रम्) आयरिय उवज्झाय समिरमाणे परं चउराओ पंचराओ कप्पागं भिक्खूणो उवट्ठावइ कप्पाइं अत्थियाइं से केइ माणाणिज्जे कप्पाग णत्थि याइं से केइ छेए वा परिहारे वा नत्थि याइं से केइमाणणिज्जे कप्पइ सेसंतरा छेए वा परिहारे वा ॥

आचार्य उपाध्यायो वा स्मरन् अयमुपस्थापनार्ह इति जानानः परं चतुरात्रात् पञ्चरात्राद्वा कल्पाकं सूत्रतोऽर्थतश्च प्राप्तं भिक्षुर्नोपस्थापयति । तत्र यदि तस्मिन्कल्पके सत्यस्ति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(से) तस्य कल्पाकस्य कश्चित् माननीयः पिता माता भ्राता वा ज्येष्ठः स्वामी वा कल्पाको भावी पञ्चरात्रेण दशरात्रेण पञ्चदशरात्रेण वा ततो नास्ति (से) तस्य कश्चिच्छेदः परिहारो वा अत्रादेशद्वयमेके प्राहुश्चतूरात्रात् परं यद्यन्यानि चत्वारि दिनानि नोपस्थापयति तत आचार्यस्योपाध्यायस्य च प्रत्येकं प्रत्येकं प्रायश्चित्तं चतुर्गुरुकम् । अथ ततोऽप्यन्यानि चत्वारि दिनानि लङ्घयति ततः षड्लघुकम् । ततोऽप्यन्यानि चत्वारि दिनानि ततः षड्गुरुकम् । ततोऽप्यन्यानि यदि चत्वारि दिनानि ततश्चतुर्गुरुकश्छेदः । ततः परमन्यानि चत्वारि दिनानि यदि तर्हि षड्लघुकः षड्लघुकश्छेदः । ततोऽपि चेदन्यादि चत्वारि ततः षड्गुरुकः षड्गुरुकश्छेदः । ततः परमेकैकदिवसातिक्रमे मूलानवस्थाप्यपाराञ्चितानि । द्वितीयादेशवादिनः प्राहुः । पञ्चरात्रात्परं यदि नोपस्थापयति ततश्चतुर्गुरुकं प्रायश्चित्तं ततोऽपि परं यदि पञ्च दिनानि लङ्घयति ततः षड्लघुकं षड्लघुकम् । ततः परमपि पञ्चरात्रातिक्रमे षड्गुरुकं षड्गुरुकम् । ततोऽपि परं यदि पञ्च दिनानि वाहयति ततश्चतुर्गुरुकश्चतुर्गुरुकश्छेदः । ततः परमन्यानि चेद्दिनानि पञ्च ततः षड्लघुकः षड्लघुकश्छेदः । ततोऽपि पञ्चरात्रातिवाहने षड्गुरुकः षड्गुरुकश्छेदस्ततःपरमेकैकदिवसातिवाहने मूलानवस्थाप्यपाराञ्चितानि ॥ एष सूत्रसंक्षेपार्थः ।

अधुना भाष्यनिर्युक्तिविस्तरः ।

संमुमरणउवट्ठवण, तिन्नि उवणगा हवंति उक्कोसा ।
माणणिज्जे पितादी तु, ते समतीछेदपरिहारो ॥

संस्मरणमुपस्थापनाविषये यथा एष उपस्थापयितव्यो वर्त्तत इति तत्र माननीये पित्रादौ सति कल्पाकस्यातिवाहने त्रयः पञ्च वा भवन्त्युत्कर्षतः । किमुक्तं भवति । विवक्षिते भिक्षौ कल्पाके जाते सति यदि तस्य माननीयपित्रादिरुपस्थाप्योऽस्ति परमद्यापि कल्पाको नोपजायते तर्हि स जघन्यतः पञ्चरात्रं प्रतीक्षाप्यते मध्यमतो दशरात्रमुत्कर्षतः पञ्चदशरात्रं तथापि चेन्माननीयः कल्पाको नोपजायते तर्हि स चाकल्पाको भिक्षुरुपस्थापनीयो नो चेदुपस्थापयति तर्हि छेदः परिहारो वा प्रायश्चित्तम् । अथ तस्य माननीयाः पित्रादयो न सन्ति ततस्तेषामसत्वभावे यदि तं चतूरात्रमध्ये वा नोपस्थापयति तथापि तस्य प्रायश्चित्तं छेदः परिहारो वा छेदपरिहारग्रहणं सूचामात्रं तेनोद्देशद्वयेन प्रागुक्तः प्रायश्चित्तविधिर्द्रष्टव्यः ।

चिट्ठउ ता उट्ठवणा, पुव्वं पव्वावणादि वत्तव्वा ।
अडयालपुच्छसुद्धे, जन्नति दुक्खं खु सामन्नं ॥

तिष्ठतु तावदुपस्थापना पूर्वं प्रव्राजनादिर्वक्तव्या । तत्र यथा पञ्चकल्पे निशीथे चाष्टचत्वारिंशत्पृच्छाशुद्धोऽभिहितस्तथा अष्टचत्वारिंशत्पृच्छाशुद्धे कृते तत्संमुखमिदं भण्यते । " दुष्करं खु श्रामण्यं परिपालयितुं " तथाहि

गोयर अचित्त-भोयण सज्झायमण्हाणभूमिसेज्जाती ।
अब्भुवगयम्मि दिक्खा, दव्वादीसुं पसत्थेसु ॥

यावज्जीवं गोचरचर्यया भिक्षामटित्वा अचित्तस्यैषणादिशुद्धस्य भोजनं कर्त्तव्यं तदपि बालवृद्धशैक्षकादिसंविभागेन तथा चतुष्कालं स्वाध्यायो विधातव्यः । यावज्जीवं देशतः सर्वतश्चास्नानं ऋतुबद्धे काले भूमौ शय्या आदिशब्दाद्वर्षारात्रेः फलकादिषु शयनं दिवसे न स्वप्तव्यं रात्रौ तृतीये यामे निद्रामोक्ष एवमुक्ते यद्यभ्युपगच्छति तत एतस्मिन्नभ्युपगते तस्य दीक्षा प्रशस्तेषु द्रव्ये शाल्यादिसंचयादौ प्रशस्तक्षेत्रे गम्भीरसानुनादादौ प्रशस्ते भावे प्रवर्द्धमानपरिणामादौ दातव्या ।

लग्गादिं च तुरंतं, अनुकूले दिक्खिए उ अह जायं ।
सयमेव तु थिरहत्थो, गुरू जहन्नेण तिन्नट्ठा ॥

इहोत्सर्गतो लोचे कृते यथा जाते च रजोहरणादिके समर्पिते पश्चात्त्रिःकृत्वः सामायिकमुच्चार्यते इत्येष विधिः । यदि पुनर्लग्नादिकं त्वरमाणं स्यात्ततोऽनुकूले लग्नादावादिशब्दान्मुहूर्त्तादिपरिग्रहस्त्वरमाणः शीघ्रं समापतति यथा जातं सनिषद्यं रजोहरणमुखवस्त्रिकाग्रपूररूपं दीयते । उक्तं च । " अह जायं नाम सनिसेज्जं रयहरणमुहपोत्तिया चोलपट्टे य इति" ततो यदि गुरुः स्थिरहस्तो न कम्पते अर्थं गृह्णानस्य हस्तः तर्हि स्वयमेव जघन्येन तिस्रोऽष्ट अव्यवच्छित्वा गृह्णाति । समर्थः सर्वं चालोचं करोति ॥

अन्नो वा थिरहत्थो, सामाइयतिगुणमट्ठगहणं च ।
तिगुणं पादक्खिणं, नित्थारगगुरुगणविवड्ढी ॥

आचार्यस्य स्थिरहस्तत्वाभावे अन्यो वा स्थिरहस्तः प्रव्राजयति समस्तं लोचं करोतीति भावः । तदनन्तरं गुरुः शोभने लग्नादौ प्राप्ते त्रिगुणं त्रीन्वारान् सामायिकमुच्चारयति ॥ इयमत्र भावना । प्रथमतः । प्रव्राजनीयमात्मनो वामपार्श्वे स्थापयित्वा चैत्यानि तेन सह वन्दते ततः परिहितचोलपट्टस्य रजोहरणं मुखवस्त्रिकां च ददाति । तदनन्तरमर्थग्रहणं लोचं वा कृत्वा सामायिकारोपणानिमित्तं कायोत्सर्गं करोति । तत्र चतुर्विंशतिस्तवं चिन्तयित्वा नमस्कारेण पारयित्वा चतुर्विंशतिस्तवमाकृष्य त्रिःकृत्वः सामायिकमुच्चारयति । तदनन्तरमर्थग्रहणं स कारयितव्यः । सामायिकार्थस्तस्य व्याख्यायते इति भावः । ततः सूत्रतोऽर्थतश्च गृहीतं सामायिकमिति तदनुज्ञानिमित्तं विधिना त्रिगुणं प्रादक्षिण्यं कार्यते तत्र तृतीयस्यां प्रदक्षिणायामनुज्ञा क्रियते यथा निस्तारको भव गुरुगुणैर्विवृद्धिर्भवतु वर्द्धस्वेत्यर्थः । एवं प्रव्राजनायां कृतायां यत्कर्तव्यं तदाह ॥

फासुय आहारो से, अणहिंडंतो य गाहए सिक्खं ।
ताहे उ उवट्ठावणा, छज्जीवणियं तु पत्तस्स ॥

प्रव्रज्याप्रदानानन्तरं (से) तस्य प्रासुक आहारो दीयते स च भिक्षां न हिण्डाप्यते किं त्वहिण्डमान एव भिक्षां ग्रहणभिक्षामासेवनाशिक्षां च ग्राह्यते ततः षड्जीवनिकां प्राप्तस्याधिगृह्यत षड्जीवनिकाध्ययनस्य उपस्थापना क्रियते ॥

विशेषप्रायश्चित्तविधिमाह ॥

अप्पत्ते अकहेत्ता, अणहिगए(अ)परिच्छए(अ)निकम्मे से ।
एक्केक्के चउगुरुगा, चोयगसुत्तं तु कारणियं ॥

अप्राप्ते षड्जीवनिकां पर्यायं वा जघन्यतः षण्मासानुत्कर्षतो द्वादश संवत्सराणि तथा अकथयित्वा जीवादीन् तथा अनधिगते जीवाजीवादौ तथा अपरीक्षायां परीक्षाया अभावे तथा (से) तस्य उपस्थापयितोऽतिक्रमे एकैकस्य व्रतस्य वारत्रयमनुच्चारणे एतेषु सर्वेषु प्रत्येकमेकैकस्मिन्प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः । अथ सूत्रे पर्यायादिकं नोपात्तमिति तत्कथने कथं न सूत्रविरोधस्तत्राह हे चोदक ! सूत्रमिदं कारणिकं पुरुषविशेषपात्रापेक्षमतः पर्यायाद्यनभिधानेऽपि न दोषः । एतामेव गाथां भाष्यकृद्विवृणोति ।

अप्पत्ते सुयणं परि-यागमुवट्ठावणे य चउगुरुगा ।
आणादिणो य दोसा, विराहणा छण्हकायाणं ॥

श्रुतेन षड्जीवनिकापर्यन्तेनाप्राप्ते पर्याये वा जघन्यादिभेदभिन्नमप्राप्ते उपस्थाप्यमाने उपस्थापयितुः प्रायश्चित्तं चत्वारो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गुरुकास्तपसा कालेन च गुरवः । न केवलमेतत् किं त्वाज्ञादयोऽनवस्थामिथ्यात्वविराधनादोषास्तथा स उपस्थापितो भिक्षादौ क्वचित् कल्पिको भवति । ततस्तस्य भिक्षादिप्रेषणे षण्णां कायानां विराधना अपरिज्ञानात् । तथा ।

सुत्तत्थमकहइत्ता, जीवाजीवे य बंधमुक्खं च ।
उवट्ठावण चउगुरुगा, विराहणा जा भणियपुव्वं ॥

सूत्रार्थं षड्जीवनिकापर्यन्तमकथयित्वा तथा जीवाजीवान् बन्धमोक्षं चाकथयित्वा एवमेवोपस्थापने क्रियमाणे उपस्थापयितुश्चत्वारो गुरुकास्तपोगुरुकं प्रायश्चित्तम् । तथा या विराधना पूर्वमप्राप्तद्वारे षण्णां जीवनिकायानामुक्ता साऽत्रापि द्रष्टव्या । ततस्तस्मिन्विषये समितस्य प्रायश्चित्तमुपढौकते ।

अणहिगयपुण्णपावं, उवट्ठवंतस्स चउगुरू होंति ।
आणादिणो य दोसा, मालाए होइ दिट्ठंतो ॥

अनधिगतपुण्यपापं सूत्रार्थकथनेऽप्यविज्ञातपुण्यपापमुपस्थापयतः प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरवः । कालगुरुका मासा भवन्ति । आज्ञादयश्चानन्तराभिहिता दोषाः । अत्र मालया दृष्टान्तो यथा स्थाणौ शूलापेक्ष पञ्चवर्णसुगन्धपुष्पमालामारोपयतो बहनीयतादयो दोषा एवमत्राप्यनधिगतपुण्यपापे व्रतान्यारोपयत आज्ञादय इति ।

उदउल्लादिपरिच्छा, अहिगयनाऊण तो व वेंदंतो ।
एकेकं तिक्खुत्तो, जो न कुणइ तस्स चउगुरुगा ॥

गोचरादिगते न उदकार्द्रादिना परीक्षा कर्त्तव्या वृषभेण तत्परीक्षानिमित्तं तेन स गोचरगतेन उदकार्द्रेण हस्तेन मात्रकेण वा भिक्षा ग्राह्या तत्र यदि स वारयति निविरूमेतत्कथं यूयमेवं भिक्षामभिगृह्णीथ ततो ज्ञायते एष परिणतसूत्रार्थोऽधिगतपुण्यपापः । एवं शेषपरीक्षास्वपि भावनीयम् । तत उदकार्द्रादिपरीक्षाभिरधिगतपुण्यपापं ज्ञात्वा ततोऽनन्तरं व्रतानि गुरवो ददति । कथमित्याह । एकैकं व्रतं त्रिःकृत्वस्त्रीन् वारान् एवं यो न करोति तस्य चत्वारो गुरुका द्वाभ्यां लघवस्तपसा कालेन च प्रायश्चित्तम् ।

अथ परीक्षामेव वैतस्येनाह–

उच्चारादि अथंडिल्ल, वोसिरठाणाइ वावि पुढवीए ।
नदिमादिदगसमीवे, सागणिनिक्खित्ततेउम्मि ॥
वियणभिधारणवाए, हरिए जह पुढविए तसेसुं च ।
एमेव गोयरगए, होइ परिच्छा उ काएहिं ॥

उच्चारादिरादिशब्दात्प्रश्रवणादिपरिग्रहः । अस्थण्डिले सचित्तपृथिवीकायात्मके व्युत्सर्जनम् । यदि वा स्थानादिस्थानमूर्ध्वस्थानमादिशब्दान्निषदनादिपरिग्रहस्तत्पृथिव्यां पृथिवीकायस्योपरि कुरुते । तथा कायविषये नद्याद्युदकसमीपेऽत्रादिशब्दात्तडागादिपरिग्रहः । तथा तेजसि तेजस्कायविषये स निक्षिप्तोऽग्नौ प्रदेशो गाथायां तु निक्षिप्तशब्दस्यान्यथापाठः प्राकृतत्वात् उच्चारादेर्व्युत्सर्जनमिति सर्वत्र संबध्यते । तथा वाते वातविषये व्यञ्जनस्य तालवृन्तस्याभिधारणं वातोदीरणायाभिमुख्येन धारणं करोति । हरिते यथा पृथिव्यां तथा वक्तव्यम् । हरितकायस्योपरि स्थानादि करोति । यदिवोच्चारादिव्युत्सर्जनमिति । त्रसेष्वपि च पृथिव्यामिव वक्तव्यं कीटिकानगराद्यतिप्रत्यासन्नमुच्चारादि स्थानादि वा करोतीति भावः । तत्र यदि वारयति तदा ज्ञायते सम्यक् परिणतोऽस्य धर्म इति योग्य उपस्थापनायाः । एवमेव गोचरगतेऽपि तस्मिन्कायैः पृथिव्यादिभिर्भवति परीक्षा कर्तव्या । तद्यथा सरजस्केनोदकार्द्रेण वा हस्तेन मात्रकेण वा भिक्षा ग्राह्यते इत्यादिपरीक्षितस्य व्रतारोपणं कर्तव्यम् । तथा चाह–

दव्वादिपसत्थवया, एकेकतिगंति उवरिमं हेट्ठा ।
दुविहा तिविहा यदि सा, आयंबिलनिव्विगइगावो ॥

द्रव्यादौ प्रशस्ते व्रतान्यारोपणीयानि एकैकं व्रतं त्रिकं त्रिःकृत्वा उच्चारयेत् कथमित्याह "उवरिमं हेट्ठा" अधस्तान्मूलादारभ्य यावदुपरितनं पर्यन्तवर्तिसूत्रम् इदमेकमुच्चारणमेवं त्रीन्वारान् दिक् निबध्यते । द्विविधां वा त्रिविधां वा तत्र साधोर्द्विविधा स्तद्यथा । आचार्यस्योपाध्यायस्य च प्रवर्तिन्याश्च । तथा उत्थापनानन्तरं तपः कार्यते । अभक्तार्थमाचाम्लं निर्विकृतिकमित्यादि । उक्तं च । "जद्दिवसं उवट्ठाविता तद्दिवसं किंचि अभितुट्ठो भवइ । केसिं वि आयंबिलं केसिं वि निविगइयमित्यादि" ॥

संप्रति माननीयपित्रादिविषये विधिशेषमाह–

पियपुत्तखुड्डथेरे, खुड्डगथेरे अपावमाणम्मि ।
सिक्खावणपन्नवणा, दिट्ठंतो दंडिमाईहिं ॥

द्वौ पितापुत्रौ प्रव्रजितौ (द्विट्ठावपि) युगपत्प्राप्तौ तर्हि युगपदुपस्थाप्येते अथ (खुड्डात्ति) क्षुल्लकः पुत्रः सूत्रादिभिरप्राप्तः (थेरत्ति) स्थविरः सूत्रादिभिः प्राप्तस्तर्हि स्थविरस्योपस्थापना विधेया (खुड्डुत्ति) यदि पुनः क्षुल्लकः सूत्रादिभिः प्राप्तः स्थविरो नाद्यापि प्राप्तो भवति तर्हि तस्मिन् स्थविरे सूत्रादिकमप्राप्नुवति यावदुपस्थानादिवसः क्षुद्रः समागच्छति तावत्स्थविरस्य प्रयत्नेन शिक्षापना क्रियते । आदरेण शिष्यत इत्यर्थः । तत्र यदि उपस्थापनादिवससमय एव प्राप्तो भवति ततो द्वावपि युगपदुपस्थाप्येते । अथादरेण शिक्ष्यमाणोऽपि न प्राप्तस्तदा स्थविरेणानुज्ञाते क्षुल्लक उपस्थाप्यते । अथ स्थविरो न मन्यते तदा प्रज्ञापना कर्त्तव्या तस्यां च प्रज्ञापनायां क्रियमाणायां दृष्टान्तो दण्डिकाद्यभिधातव्यः । दण्डिको राजा आदिशब्दादमात्यादिपरिग्रहः स चैवम् " एगो एगो रज्जपरिहीणो स पुत्तो अन्नरायाणमो लग्गउमाढत्तो । सो राया पुत्तस्स तुट्ठो तं से पुत्तं रज्जे ठावउमिच्छइ । किं सो पिया नाणुजाणइ एवं तव जइ पुत्तो महव्वयरज्जं पाविहित्ति किं न मन्नसि ।

एतदेवसविशेषमाह–

थेरेण अणुन्नाए, उवट्ठनिच्छे व ठंति पंचाहं ।
ति पण मणिच्छे उवरिं, वत्थुसहावेण जाहीयं ॥

स्थविरेणानुज्ञाते उपस्थापना क्षुल्लकस्य कर्त्तव्या । अथ स दण्डिकादिभिर्दृष्टान्तैः प्रज्ञाप्यमानो नेच्छति तदा पञ्चाहं पञ्चदिवसान् यावत्तिष्ठति ततः पुनरपि प्रज्ञाप्यते तथाप्यनिच्छायां पुनरपि पञ्चाहं तिष्ठति पुनः प्रज्ञाप्यते तथाप्यनिच्छो भूयः पञ्चाहमवतिष्ठते । एवं यदि त्रिपञ्चाहकालेन स्थविरः प्राप्तो भवति तदा युगपदुपस्थापनाऽतः परं स्थविरेऽनिच्छत्यपि क्षुल्लक उपस्थाप्यते (वत्थुसहावेण जा हीयमिति) वस्तुनः स्वभावो वस्तुस्वभावः । अहंकारी सन् । अहं पुत्रस्यावमतरः करिष्येऽहमिति विचिन्त्य कदाचिन्निष्कामेत गुरोः क्षुल्लकस्य चोपरि प्रद्वेषं गच्छेत् । एवं स्वरूपे वस्तुस्वभावे ज्ञाते त्रयाणां पञ्चाहानामुपर्यपि स क्षुल्लकः प्रतीक्षाप्यते यावत्तेनाधीतमिति ॥

अथ द्वे पितापुत्रयुगले तदाऽयं विधिः–

दो थेरे खुड्डथेरे, खुड्डगवेच्चत्थमग्गणा होइ ।
रण्णो अमच्चमाई, संजइमज्झे महादेवी ॥

द्वौ स्थविरौ सपुत्रौ समकं प्रव्रजितौ तत्र यदि द्वौ स्थविरौ प्राप्तौ न क्षुल्लकौ ततः स्थविरावुपस्थाप्येते (खुड्डत्ति) अथ द्वावपि क्षुल्लकौ प्राप्तौ न स्थविरौ तदा पूर्ववत् प्रज्ञापनोत्कर्षतः पञ्चदशदिवसान्यावत्कर्त्तव्या तथाप्यनिच्छायामुपेक्षा वस्तु-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वभावं ज्ञात्वा प्रतीक्षापणम् । (थेरे खुड्डुत्ति) द्वौ स्थविरावेकश्च क्षुल्लकः सूत्रादिभिः प्राप्तोऽत्रोपस्थापना (वोच्छत्थे इत्यादि) स्थविरस्यक्षुल्लकस्य च विपर्ययस्ततो भवति मार्गणा कर्तव्या सा चैवं द्वौ क्षुल्लकौ प्राप्तावेकश्च स्थविरः प्राप्त एको न प्राप्तस्तत्र यो न प्राप्तः स आचार्येण वृषभैर्वा प्रज्ञाप्यते प्रज्ञापितः सन् यद्यनुजानाति तदा तत् क्षुल्लक उपस्थाप्यते । तथाप्यनिच्छायां राजदृष्टान्तेन तथैव प्रज्ञापना । अयं चात्र विशेषः । सोऽप्राप्तस्थविरो भण्यते । एष तव पुत्रः परममेधावी सूत्रादिभिः प्राप्त इत्युपस्थाप्यताम् । यदि पुनस्त्वं न मुत्कलयसि तदेतौ द्वावपि पितापुत्रौ रत्नाऽधिकौ न भविष्यतस्तस्माद्विसर्जय एनमात्मीयं पुत्रमेषोऽपि तावद्भवतु रत्नाधिक इति अतोऽपि परमनिच्छायामुपेक्षा वस्तुस्वभावं वा ज्ञात्वा तत्क्षुल्लकस्य प्रतीक्षापणमिति । (रन्नो य अमच्चाईत्यादि) पश्चार्द्धं राजा अमात्यश्च समकं प्रव्रजितौ समकमेव सूत्रादिभिः प्राप्तौ ततो युगपत्तौ द्वावप्युपस्थाप्येते । अथ राजा सूत्रादिभिः प्राप्तो नामात्यस्ततो राज्ञ उपस्थापना । अथामात्यः सूत्रादिभिः प्राप्तो न राजा ततो यावदुपस्थापनादिनमागच्छति तावदादरेण राजा शिक्ष्यते ततो यदि प्राप्तो भवति ततो युगपदुपस्थापना । अथ तत्रापि राजा न प्राप्तस्तदा तेनानुज्ञाते अमात्य उपस्थाप्यते । अथ नेच्छति तदा पूर्ववद्वणिक्दृष्टान्तेन राज्ञः प्रज्ञापना । तथापि चेन्नेच्छति ततः पञ्चदिवसान्यावदमात्यस्य प्रतीक्षापणं तथापि चेन्न प्राप्तो भूयः प्रज्ञापना तत्राप्यनिच्छायां पुनः पञ्चदशाहमपि । तथाप्यनिच्छायामुपेक्षा वस्तुभावं वा ज्ञात्वामात्यस्य प्रतीक्षापणम् । यदि वा वक्ष्यमाणोऽत्र विशेषो यथा चामात्यस्य राज्ञा सहोक्तमेवमादिग्रहणसूचितयोः श्रेष्ठिसार्थवाहयोरपि वक्तव्यमिति । (संजइमज्झे महादेवीत्ति) द्वयोर्मातादुहित्रोर्द्वयोर्मातादुहितृयुगलयोर्महादेव्यमात्योश्च सर्वमेव निरवशेषं वक्तव्यम् ।

संप्रति यदुक्तं वोच्चत्थमभणा होइत्ति तद्व्याख्यानार्थमाह ।

दो पत्तापियपुत्ता, एगस्स पुत्तं न उ थेरा ।
गहितोवसयं वियरइ, राइणितो होउ एस वि य ॥

द्वौ पितापुत्रौ प्राप्तावेकस्य तु पिता प्राप्तो न पुत्रः युगलस्य पुत्रः प्राप्तो न स्थविरः स आचार्येण वृषभेण वा प्रज्ञापनां ग्राहितः स्वयं वितरत्यनुजानाति तदा स क्षुल्लक उपस्थाप्यते । अथ नेच्छति तदा पूर्ववद्राजदृष्टान्तेन प्रज्ञापना अन्यच्च तौ पितापुत्रौ रत्नाधिकौ भविष्यत एषोऽपि च तव पुत्रो यदि रात्निको रत्नाधिको भवति । भवतु नाम तव लाभ इति तथाप्यनिच्छायां पूर्ववदुपेक्षादि ।

राया रायाणो वा, दोण्णि वि समपत्त दोसु पासेसु ।
ईसरसेट्ठिअमच्चे, नियमघडाकुलदुए खुड्डे ॥

एको राजा द्वितीयराजस्तौ समकं प्रव्रजितौ अत्रापि यथा पितापुत्रयो राजामात्ययोर्वा प्रागुक्तं तथा निरवशेषं वक्तव्यं केवलममात्यादिके सूत्रादिभिः प्राप्ते उपस्थाप्यमाने यदि राजादिरप्रीतिं करोति दारुणस्वभावतया ब्रूते वा किमपि परुषं तदा सोऽप्राप्तोऽपीतरैरमात्यादिभिः सममुपस्थाप्यते । अथवा (रायात्ति) यत्र एको राजा तत्र सोऽमात्यादीनां सर्वेषां रत्नाधिकः कर्तव्यः (रायाणोत्ति) यत्र पुनर्द्विप्रभृतयो राजानः समकं प्रव्रजिताः समकं च सूत्रादिभिः प्राप्तास्ते समरत्नाधिकाः कर्तव्या इत्युपस्थाप्यमाना द्वयोः पार्श्वयोः स्थाप्यन्ते अत्रैवार्थे विशेषमाह ।

समगं तु अणेगेसुं, पत्तेसुं अणभिजोगमावलिया ।
एगतो दुहतो ठविया, समरायणिया जहासन्नं ॥

पूर्वं पितापुत्रादिसंबन्धेनासंबन्धेष्वनेकेषु राजसु समकं सूत्रादिभिः प्राप्तेष्वत एवैककालमुपस्थाप्यमानेषु (अणभिजोगत्ति) गुरुणा अन्येन वाभियोगो न कर्तव्यो यथा इतस्तिष्ठथ इतस्तिष्ठथेति किन्त्वेकतः पार्श्वे द्विधा वा द्वयोः पार्श्वयोर्यथैव स्थिताः स्वस्वभावेन तेषामावलिका तथैव तिष्ठति तत्र यो यथा गुरोः प्रत्यासन्नः स तथा ज्येष्ठो ये तूभयोः समश्रेण्या स्थितास्ते समरत्नाधिकाः । इदानीं पूर्वगाथापश्चार्द्धव्याख्या (ईसरेत्यादि) यथा द्विप्रभृतयो राजान उक्ता एवं द्विप्रभृतयः श्रेष्ठिनो द्विप्रभृतयोऽमात्या द्विप्रभृतयो निगमावणिजः (घडात्ति) गोष्ठी द्विप्रभृतयो गोष्ठ्यो यदि वा द्विप्रभृतयो गोष्ठिका यदि वा द्विप्रभृतयो महाकुला द्विकग्रहणमुपलक्षणं तेन द्विप्रभृतय इति द्रष्टव्यम् । तथैव च व्याख्यातं च (खुड्डत्ति) क्षुल्लकाः समकं प्रव्रजिता इत्यर्थः । सूत्रादिभिः प्राप्ताः समकं रत्नाधिकाः कर्तव्याः । एतेषामेव मध्ये यः पूर्वं प्राप्तः सपूर्वमुपस्थाप्यते इति वृद्धसंप्रदायः ।

ईसिं अणो पत्ता, वामपासम्मि होइ आवलिया ।
अभिसरणम्मि य वड्ढी, ओसरणे सो व अण्णो वा ॥

तेषामुपस्थाप्यमानानामावलिका गुरोर्वामपार्श्वे जगदन्तवत् ईषदवनतस्य अवनतीभूय स्थिता तत्र यदि ते गुरुसमीपमग्रतोऽभिसरन्ति तदा गच्छस्य वृद्धिर्ज्ञातव्या यथाऽन्येऽपि बहवः प्रव्रजिष्यन्तीति अथ पश्चाद्बहिरपसरन्ति तदा स उपस्थाप्यमानोऽन्यो वा उन्निष्क्रमिष्यति अपद्रविष्यति वेति ज्ञातव्यमेव निमित्तकथनम् । व्य० द्वि० ४ उ० ॥

(सूत्रम्) जे भिक्खू णायगं वा, अणायगं वा सगं वा जे ।
अणालं उट्ठावेइ, उट्ठावंतं वा साइज्जइ ॥ ३०३ ॥

सूत्रार्थः पूर्ववत् अणालं उवट्ठावेंतस्स आणादी दोसा चउगुरुगं च चिट्ठउ ताव उवट्ठावणाविहिं पव्वावणाविहिं ताव णातुमिच्छामि ॥

नायगमनायगं वा, सावगमस्सावगं तु जे भिक्खू ।
अणलमुवट्ठावेई, सो पावति अणमादीणि ॥४५४॥
पच्छा मुंडे अट्ठा, वामेसाइयं च तिक्खुत्तो ।
सयमेव उ कायव्वं, सिक्खा य तहिं पयातेणं ॥४५५॥

जो च उवट्ठाति पव्वज्जा एसो पुच्छिज्जति कोसि तुमं किं पव्वयसि किं च ते वेरग्गं एवं पुच्छितो जति अणलो ण भवति ता सुद्धो पव्वज्जाए कप्पणिज्जो ताहे से इमा साहुचरिया कहिज्जति ॥

गोयरमचित्तभोयण, सज्झायमण्हाणभूमिसेज्जादी ।
अब्भुवगयथिरहत्था, गुरुजहण्णेण तिण्णट्ठा ॥४५६॥

गोयरेति दिणे दिणे भिक्खं हिंडियव्वं जत्थ जं लब्भइ तं अचित्तं घेत्तव्वं जं पि एसणादि सुद्धं आणियंपि ताव वुड्डसेहादिएहिं सह संविभागेण भोत्तव्वं निच्चं सज्झायज्झाणपरेण होयव्वं सदा अण्हाणगं तु उडुबद्धे सया भूमिसयणं वासासु फलगादिएसु सोतव्वं अट्ठारससीलंगसहस्सा धारेयव्वा लोयादिया य किलेसा अणेगे कायव्वा एयं सव्वं जति अब्भुवगच्छति तो पव्वावेयव्वा एसा पव्वावणिज्जपरिक्खा पव्वावणा भवति ॥ नि०चू० ११ उ० ॥

(सूत्रम्) आयरियउवज्झायअसमरमाणे परं चउरातातो

पंचराततो कप्पागं भिक्खुं णो उवट्ठावेति कप्पाए अत्थि-याइं से केइ माणणिज्जे कप्पागे नत्थि याइं से केइ छेदे वा परिहारे वा नत्थि याइ से के माणणिज्जे कप्पइ से संतरा छेदे वा परिहारे वा ॥

अस्य व्याख्या प्राग्वत् नवरं तं चेव भाणियव्व मिति वचनादेवं परिपूर्णः पाठो द्रष्टव्यः । "कप्पाए अत्थि याइं से केइ माणणिज्जे कप्पागे नत्थि याइं से केइ छेदे वा परिहारे वा नत्थि याइं से केइ माणणिज्जे कप्पागे से संतरा छेदे वा परिहारे वा" अस्यापि व्याख्या प्राग्वत् तत्र यैः कारणैर्न स्मरति तान्युपदर्शयन्नाह-

दप्पेण पमाएण व, वक्खेवणगिलाणतो वावि ।
एएहिं असमरमाणे, चउव्विहं होइ पच्छित्तं ॥

दर्पो निष्कारणोऽनादरस्तेन प्रथममादौ विकथादीनां पञ्चानां प्रथमादीनामन्यस्तेन व्याक्षेपणसीवनादिना ग्लायते एतैः कारणैरस्मरति प्रायश्चित्तमस्मरणनिमित्तं चतुर्विधमस्मरणकारणस्य दर्पादेश्चतुष्प्रकारत्वात् । तदेवाभिधित्सुःप्रथमतो दर्पतः प्रमादेन चाह ॥

वायामगिलाणादिसु, दप्पेण अणुट्ठवेंति चउगुरुगा ।
विकहादिपमाएण व, चउलहुगा होंति बोधव्वा ॥

व्यायामग्लानादिषु व्यापृततया निष्कारणोऽनादर उपस्थापनायाः स दर्प उच्यते तेन दर्पेणानुस्थापयति प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः विकथादिना अन्यतमेन प्रमादेनानुपस्थापयति चत्वारो लघुका भवन्ति बोद्धव्याः ॥

सिव्वणतुयणणसज्झाय, झाणलेवादिदाणकज्जेसु ।
विक्खेवे होइ गुरुगो, गेलण्णेणं तु मासलहू ॥

सीवनतूयनास्वाध्यायध्यानपात्रलेपादिदानकार्यैर्गाथायां सप्तमी तृतीयार्थे । यो व्याक्षेपेणाऽनुपस्थापयति प्रायश्चित्तं भवति गुरुको मासो ग्लान्येन त्वनुपस्थापयति मासलघु । संप्रति यैः कारणैः स्मरतोऽस्मरतश्चानुपस्थापयतः प्रायश्चित्तं न भवति । तान्यभिधित्सुराह-

धम्मकहाइड्डिमत्तो, वादो अच्चुक्कमे व गेलण्णे ।
बिइयं चरमपएसुं, दोसु पुरिमेसु तं नत्थि ।

ऋद्धिमतो राज्ञो युवराजस्यामात्यादेर्वा प्रतिदिवसमागच्छतो धर्मकथा कथ्यते परप्रवादी वा कश्चनाप्युपस्थितः स वादेन गृहीतव्यः । इति तन्निग्रहणाय विशेषतः शास्त्राभ्यासे तेन सह वादे वा दीयमाने यदि वा आचार्यस्यान्यस्य वा साधोर्यो वा उपस्थाप्यस्तस्य वा अत्युत्कटे ग्लानत्वे जाते व्याकुलीभवनतः स्मरन्नस्मरन्वा यद्यपि नोपस्थापयति तथापि न तस्य प्रायश्चित्तं कारणतो व्याकुलीभवनात् । एतच्च प्रायश्चित्ताभावलक्षणं द्वितीयपदमपवादपदं चरमपदयोर्द्वयोर्व्याक्षेपग्लानत्वलक्षणयोरवगन्तव्यम् । तथा हि धर्म्मकथावादाभ्यां व्याक्षेप उक्तो ग्लानत्वपदेन च ग्लानत्वमिति पूर्वयोस्तु द्वयोः पदयोस्तत् अपवादपदं नास्ति । एतच्च चतुर्विधं प्रायश्चित्तमस्मरणनिमित्तमुक्तं स्मरणतस्तु चतूरात्रपञ्चरात्राद्यतिक्रमे यत्प्रायश्चित्तं तत्पूर्वसूत्रे इवात्रापि निरवशेषं द्रष्टव्यम् ।

आयरियउवज्झाओ य समरमाणे वा असमरमाणे वा परं दसराय कप्पातो कप्पागभिक्खू णो उवट्ठावेति कप्पाए अत्थि आइं से केइ माणणिज्जे कप्पागे नत्थि याइं से केइ छेदे वा परिहारे वा जाव कप्पाए संवच्छरं तस्स तप्पत्तियं णो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयं वा उद्दिसित्तए वा

आचार्य उपाध्यायो वा स्मरन् अस्मरन्वा यदा स्मरति तदा न साधकं नक्षत्रादिकं यदा तु साधकं नक्षत्रादिकं तदा बहुव्याक्षेपतो न स्मरत्वापरं दशरात्रकल्पात् दशरात्रकल्पाकं भिक्षुं नोपस्थापयति तत्र यदि तस्मिन्कल्पाके अस्ति (से) तस्य कल्पाकस्य कश्चिन्माननीयः पित्रादिर्जिर्जीवी कल्पाकस्ततो नोपस्थापयति । तर्हि नास्ति (से) तस्यानुपस्थापयति कश्चिच्छेदः परिहारो वा । अथ नास्ति (से) तस्य कल्पाकस्य कश्चिन्माननीयः पित्रादिर्जीवी कल्पाकस्तर्हि तस्यानुपस्थापयतश्छेदः परिहारो वा प्रथमादेश इति वाक्यशेषो द्वितीयादेशेन पुनश्छेदेन परिहारतपसा वा दम्यमानस्य तत्प्रथममनुपस्थापनाप्रयतस्य संवत्सरं यावन्न कल्पत आचार्यत्वमुपदेष्टुमनुज्ञातुं संवत्सरं यावन्नणोभ्रियते इति भावः । एष सूत्रसंक्षेपार्थः । व्यासार्थन्तु भाष्यकृदभिधित्सुः प्रथमतो दशरात्रनिबन्धनमाह-

समरमाणेवि पंचदिय, समरमाणे वि तत्तिया चेव ।
कालोत्ति व समओत्ति व, अद्धाकप्पओत्ति व एगट्ठं ॥

स्मरत्यपि चतुरायपंचरायातो इत्यनेन पञ्चदिनान्युक्तानि अस्मरत्यपि तावन्ति चैव पञ्च दिनानि चैवोक्तानि इदं च स्मरणास्मरणमिश्रकसूत्रतो दशरात्रात्कल्पादित्युक्तमत्रैव कल्पशब्दस्तद्व्याख्यानमाह । "काल इति वा समय इति वा अद्धा इति वा कल्प इति " एकार्थं ततो दशरात्रकल्पादिति दशरात्रकालादिति द्रष्टव्यम् ।

संप्रति स्मरणास्मरणं भावयति ॥

जाहे सुमरइ ताहे, असाहगं रिक्खलग्गादिणमादी ।
बहुविक्खेवम्मि य गणे, सरियं पि पुणो वि विस्सरति ॥

यदा स्मरति तदा असाधकमप्रयोजकमृक्षलग्नादि आदिशब्दात् मुहूर्तादिपरिग्रहः । बहुव्याक्षेपे च गणे गच्छे स्मृतमपि पुनरपि विस्मरति तत एवं स्मरणास्मरणसंभवः । अत्रैव प्रायश्चित्तविधिं सविशेषमाह ।

दसदिवसे चउगुरुगा, दसेव छल्लहुग छग्गुरू चेव ।
तत्तो छेदो मूलं, णणवट्ठप्पो य पारंची ॥

तस्मिन्नभिक्षुते कल्पाके जाते सति यदि स्मरणास्मरणतो दसदिवसानतिक्रमति ततस्तस्यानुपस्थापयतः प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः ततः परमप्यन्यानि दशैव चेत् दिनान्यतिव्रजयति ततः षड्लघुकम् । ततः परतोऽपि दिनदशकातिक्रमे षड्गुरुकं (ततोछेदोत्ति) ततः परमेवं छेदस्त्रिधा वक्तव्यः । सत्रैवं ततोऽपि परतो यद्यन्यानि दशदिनानि लङ्घयति तर्हि चतुर्गुरुकश्छेदस्ततोऽपि परतो दिनदशकातिक्रमे षड्लघुकश्छेदः ततोऽन्यदशदिवसस्यातिवाहने पाराञ्चिको जायते ॥

एसो देसो पढमो, बितिए तवसा अदम्ममाणम्मि ।
उभयबलदुब्बले वा, संवच्छरमोदिसाहरणं ॥

एषोऽनन्तरोदित आदेशः प्रथमो द्वितीये आदेशे पुनस्तपसा उपलक्षणमेतच्छेदेन वा अदम्यमाने यदिवा उभयबलेन कायबलेन च उपलक्षणमेतदन्यतरैकबलेन वा तपसश्छेदस्य वा दातुमशक्यतया संवत्सरं यावत् दिश आचार्यत्वस्य हरणम् ॥

एते दो आदेसा, मीसगसुत्ते हवंति नायव्वा ।
पढमबिइएसुं पुण, सुत्तेसु इमं तु णाणत्तं ॥

एतावनन्तरोदितौ द्वावप्यादेशौ मिश्रकसूत्रे भवतो ज्ञातव्यौ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रथमद्वितीययोः पुनः सूत्रयोरिदमादेशद्विषयं प्रत्येकं नानात्वं तदेवाह ॥

चउरो य पंचदिवसा, चउगुरू एव होंति छेदो वि ।
ततो मूलं नवमं, चरमं पि य एगसरगं तु ॥

प्रथमे द्वितीये च सूत्रे प्रत्येकमिमावादेशौ प्रथम आदेशस्तस्मिन् विवक्षिते कल्पाके जाते सति यदि चतुरो दिवसाननिवाहयति तदा चतुर्गुरु एवं पञ्चपञ्चातिक्रमे षड्लघु षड्गुरुके। एवं छेदो ऽपि त्रिधा वक्तव्यः तदनन्तरं मूलं नवममनवस्थाप्यं चरमं पाराञ्चितमेकसरकमेकैकदिनातिक्रमे वक्तव्यम्। द्वितीय आदेशः पञ्चदिवसातिक्रमे चतुर्गुरु एवं पञ्चपञ्चातिक्रमे षड्लघुषड्गुरुके एवं छेदोऽपि पञ्चपञ्चदिनातिक्रमेण त्रिधा वक्तव्यस्ततो मूलं नवमं चरमं च एकसरक मेकैकदिनातिक्रमेणेति भावार्थः। व्य० ४ उ०। दशा० ॥

फासुय आहारो से, अणहिंरूणं च गाहए सिक्खं ।
ताहे उ उवट्ठवणं, छज्जीवणियं तु पत्तस्स ॥
अप्पत्ते अकहित्ता, अणभिगतपरिच्छ अतिकमेया से ।
एक्केके चउगुरुगा, विसेसिया आदिपा चतुरो ॥
अप्पत्तं सुत्तेणं, परियाग उवट्ठवेंत चउगुरुगा ।
आणादिया य दोसा, विराहणा छण्ह कायाणं ॥
सुत्तत्थं कहइत्ता, जीवाजीवे य बंधमोक्खं च ।
उवट्ठवण चउगुरुगा, विराहणा जा जणियपुव्वि ॥
अणभिगतपुन्नपात्तं, उवट्ठवेंतस्स चउगुरू होंति ।
आणादिणो य दोसा, मालाए होंति दिट्ठंते ॥
समरक्खदउल्लगणी, पतिट्ठिते हरितबीजमादीसु ।
होंति परिक्खागोयरे, किं परिहरतीए वा वि त्ति ॥
उच्चारादि अथंडिल्ल, वोसिरठाणादि वावि पुढवीए ।
णदि मादिदगसमीवे, खारादिदाह अगणिम्मि वि ॥
जण अहिधारण वा ते, हरिए अहव पुढवि ते तसेसुं च ।
एमादि परिक्खित्ता, वनदाणमिमेण विहिणा सो ॥
दव्वादिपसत्थे वा, एक्केकं तिगुणणोवरिं हेट्ठा ।
दुविहा तिविहा य दिसा, अंबिलनिव्विगतिओ वा ।
पियपुत्ताणं जुयला, दोण्हि तु निक्खंत तत्थ एगस्स ।
पत्तो यदि ताण पुत्ता, एगस्स पुत्तो ण तु थेरो ॥
ताहे तु पन्नविज्जाति, दंडियणायं तु का तु जन्नइ तु मा ।
गेण्हं असम्गहीए, तिम्मि उ होति एमविता ॥
एवं सो पण्हवि तो, जदि इच्छे तो उ उट्ठवेंति तु ॥
नेच्छंते यं चाह–वेंति दो तिण्हि वायणगा ।
वच्छमज्झावासज्ज व, जा पीतं ताव तं परिच्छंति ।
एवं रायअगच्चेसुं–जाति मज्झे महादेवी ॥
राया रायाणो वा, दोण्हि वि समपत्तदोसु पासेसु ।
ईसरसेट्ठिअमच्चे, णिगमघरकुडुंबे खुड्डे ॥
समपत्तअणेगेसुं, पत्तेसुं अणभिओगमावलिया ।
एगतो दुहतो ठविता, समराइणिया जहा सत्र ॥
ईसिं अन्नो पत्ता, वामे पमाम्मि होंति आवलिया ।
आमरणम्मि य वड्ढी, मरणे सो व असो वा ॥
उवट्ठवियस्स एवं, संभुंजणता तहेव संवासो ।
वितियपदे संबंधी, ओमादीसु माहु पडिन्नावे ॥
भुंजासु मए सद्धिं, इयाणिं णेच्छति जातु पडिन्नावे ।
आहिखावंति व जन्ने, पच्छन्ने जे ण भुंजंति ।
एमादिणा तु नावं, ताहे अप्पत्तअहवपत्तं वा ॥
उवट्ठावेंति भुंजंति, अपरिणते चित्तरक्खट्ठा ॥ पं० भा० ॥

उवट्ठावणा कप्पो अप्पत्ते अकहेत्ता। गाहा जइ आवासगमाइ जाव छज्जीवणियातो सुत्ते अपढिए उवट्ठावेइ चउगुरू दोहिं वि गुरू तवेण कालेण तवगुरू अंतो अट्ठमदसमदुवालसमकालगुरू गिण्हकाले अहासुत्ते पढिए अत्थे अकहिए उवट्ठावेइ चउगुरू तवगुरू काललहुं कालहु सीतकाले वासासु वा अह पढिए सुत्ते य अपरिच्छिओ ता मनसहहइ पुढविमाईणि चउगुरू तवलहु तवचउगुरू तवचउलहुगं च भवइ अणुग्धाइयं पउच्च गुरुयं अणुग्धाइयं नाम छट्ठे चउत्थे आयंबिले व कए पारणए पुरिमड्ढनिव्वीइएगासणाइ करेइ तेण गुरुयं भवइ अह पढियसुयअभिगयं अपरिच्छिऊण उवट्ठावेइ किं परिहरइ न उदओल्लादि चउगुरु दोहिं वि लहु तवसा कालेण अणुग्धाइयं पुण एवं चारमविहं वि कप्पिए। पं० चू०। "उवगस्स वा उवट्ठावेज्ज वा सुत्तं वा अत्थं वा उभयं वा परूवेज्जा एतेसु कुलगणसंघवज्झो" महा० ७ अ०। एतदेव भावयन्नाह–

णो उट्ठावणए च्चिअ, निअमा चरणं ति दव्वओ जेण ।
मा ज्झव्वाण विभणिआ, छउमत्थगुरूण सफला य ॥

नोपस्थापनायामेव कृतायां सत्यां नियमाच्चरणमिति कुत इत्याह। उच्यते येन प्रकारेण सा अभव्यानामपि भणितोपस्थापना अङ्गारमर्दकादीनां छद्मस्थगुरूणां विधिकारकाणां सफला चाज्ञाराधनादिति गाथार्थः। उपस्थापना विधिफलवत्तामाह ।

पायं च तेण विहिणा, होइ इमंति निअमो कओ सुत्तो ।
इयरा सामाइअमित्तओ वि सिद्धि गयाणं ता ॥१०॥

प्रायश्चित्तेन विधिना उपस्थापनागतेन भवत्येतच्छेदोपस्थाप्यं चारित्रमिति नियमः कृतः सूत्रदशवैकालिकादिपाठानन्तरमुपस्थापनायाः इतरथान्यथा सामायिकमात्रतोऽप्यबहिः प्राप्त्या सिद्धिं गताः अनन्ता प्राणिन इति गाथार्थः ।

अनियममेव दर्शयति ॥

पुव्विं असंगतं पि अ, विहिणा गुरुगच्छमेवाए ।
जावमणेगेसि इमं, पच्छा गोविंदमाईणं ॥ ११ ॥

पूर्वमुपस्थापना काले असदपि चैतच्चरणं विधिना गुरुगच्छादिसेवया हेतुभूतया जातमभिव्यक्तमनेकेषामिदं पश्चादपि–न्द्रादीनां गोपेन्द्रवाचककरोटकगणिप्रभृतीनामिति गाथार्थः ॥

प्रक्रान्तसमर्थनायैवाह ॥

एअं च उत्तमं खलु, निव्वाणपसाहणं जिणा विंति ।
जं नाणदंसणाण वि, फलमेअं चेव निद्दिट्ठं ॥१२॥

एतच्चारित्रं उत्तमं खलूत्तममेव निर्वाणप्रसाधनं मोक्षसाधनं जिना ब्रुवते। अत एतदुपाये यत्नः कार्य इत्यैदंपर्यमुत्तमत्वे युक्तिमाह। यद्यस्माज्ज्ञानदर्शनयोरपि तत्वदृष्ट्या फलमेतदेव चारित्रं निर्दिष्टं तत्साधकत्वादिति गाथार्थः। पं० व०। वाह्यस्योपस्थापना न कल्पते ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(सूत्रम्) णो कप्पत्ति णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा खुड्डयं वा खुड्डियं वा ऊणट्ठवासजायं उवट्ठावित्तए संभुंजित्तए वा कप्पति णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा खुड्डयं वा २ सातिरेगट्ठवासजायाइं उवट्ठावित्तए वा संभुंजित्तए वा ।

सूत्रस्याक्षरगमनिका न कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा क्षुल्लकं वा क्षुल्लिकां वा ऊनाष्टवर्षजातानामुपस्थापयितुं वा संभोक्तुं वा मण्डल्यां तथा कल्पते निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां वा क्षुल्लकं वा सातिरेकाष्टवर्षजातानामुपस्थापयितुं वा उपस्थाप्य मण्डल्यां संभोक्तुं वा । अथ कस्मादूनाष्टवर्षजातस्योपस्थापनादि न कल्पते तत आह ॥

ऊणट्ठए चरित्तं, न चिट्ठए चालणी य उदगं वा ।
बालस्स य जे दोसा, भणिया आरोवणा दोसा ॥

ऊनाष्टके ऊनाष्टवर्षजाते बाले चालिन्यामुदकमिव चारित्रं न तिष्ठति । तथा ये बालस्य दोषा भणितास्ते च बालस्योपस्थापने आरोपणायामाप्रसजति । बालस्य दोषानाह ॥

कायवयमणोजोगो, हवंति तम्हा णवट्ठिया जम्हा ।
संबंधिमणाजोगे, ओमे सहसावबादे य ॥

तस्य बालस्य कायवाङ्मनोयोगादस्मादनवस्थिता भवन्ति । तस्मान्नोपस्थापयेत तत्रैवापवादमाह । संबन्धिनमनाभोगे अवमे दुर्भिक्षे सहसाकारेण वा संभोजने अपवादे नोपस्थापयेदूनाष्टवर्षजातमपि । तत्र संबन्धिव्याख्यानार्थमाह ॥

भुंजिस्से स मए चेवं, वितीया निच्छइ संपइ ।
सो आनाहणसंबंधो, कह चिट्ठेज्ज तं विणा ॥

एष बालको मया सह भोदयते इत्येवं भणित्वा नातो मण्डल्यां स च संप्रति तमाचार्यं विना भोक्तुं नेच्छति स आचार्यस्य स्नेहेन संबन्धस्ततः कथं प्रव्रज्यायां गृहीतायां सह भोजनं विना तिष्ठेत् । नैवतिष्ठेदिति भावः ॥

अणुवट्ठविओ एसो, जइयादेवेज्ज अपरिणया ।
तो होउ व वारिज्जइ, तो एं संभुज्जए ताहो ॥

तत्र हु निश्चितमपरिणता आचक्षुरेवं यद्येषोऽनुपस्थापितो मण्डल्यां संभुक्तो ततः स तदा उपस्थाप्यते तदनन्तरं संभोजनं मण्डल्यामिति ॥

अहव अणाजोगेणं, सहसाकारेण वा वि होज्ज संजुत्तो ।
ओमम्मि विसहु तत्तो, विप्परिणामं तु गच्छेज्जा ॥

अथवा अनाभोगेन सहसाकारेण वा मण्डल्यां संयुक्तो भूयात् । ततो माभूदनवस्थाप्रसङ्ग इति तमूनवर्षजातमप्युपस्थाप्य मण्डल्यां संभोजयेत् । अवमे दुर्भिक्षे जातेमाविपरिणामं गच्छेदत उपस्थाप्य मण्डल्यां संभोज्यते एतदेव भावयति ॥

अदिक्खियंति एवं मां, इमे पच्छन्नजोजिणो ।
परोहमिति जावेज्जा, तेणावि सह भुज्जते ॥

इमे प्रच्छन्नभोजिनो मामेवमेव दुर्भिक्षे दीक्षयन्ति । अदीक्षां कर्तुमिच्छन्ति । तेन कारणेनाहं परः कृत इति स भावयेत्तस्मात्तेनापि सह संभुङ्क्ते । व्य० १० उ० ("तओ नो कप्पइ उवट्ठावित्तए तंजहा पंडए वाइए कीवे" व्याख्या पव्वायणा शब्दे) " दोसा उवट्ठाविउ सियती सेसदुगस्स । अणायरण जोग्गा अहवा समायारं ते पुरिलयद निवारिया दोसा" वृ० ४ उ० ॥

(सूत्रम्) जे भिक्खू णायगं वा अणायगं वा वासगं वा जे अणलं उट्ठावेइ उट्ठावंतं वा साइज्जइ ॥ २८ ॥

सूत्रार्थः पूर्ववत् । अणलं उवट्ठावेंतस्स आणादी दोसा चउगुरुगं च । नि० चू० ११ उ० ।

अनवस्थाप्यभिक्षादेः पुनरुपस्थापना–

अणवट्ठप्पं भिक्खुं अगिहिभूयं नो कप्पइ तस्स गणावच्छेयस्स उवट्ठवित्तए अणवट्ठप्पं भिक्खुं गिहिभूयं तस्स गणावच्छेदियस्स उवट्ठावित्तए इति ॥

यथास्य सूत्रस्य कः संबन्ध उच्यते ।

अट्ठस्स कारणेणं, साहम्मि य तेणमादि जइ कुज्जा ।
इह अणवट्ठे जोगो, नियमातो यावि दसमस्स ॥

साधर्मिकैः कारणेन प्रागुक्तेनोत्पादितो योऽर्थस्तस्य स्तैन्यमादिशब्दादन्यपरिग्रहः । यदि कुर्यात्ततः सोऽनवस्थाप्यो भवति एतदर्थख्यापनार्थमर्थजातसूत्रानन्तरमनवस्थाप्यसूत्रम् इत्येषोऽनवस्थाप्यसूत्रस्य योगः संबन्धः । पाराञ्चितसूत्रस्यापि संबन्धमाह । नवमात्प्रायश्चित्तादनवस्थाप्यादनन्तरं किल दशमं पाराञ्चितनामकं प्रायश्चित्तं भवति ततो नवमान्नवमप्रायश्चित्तसूत्रस्यारम्भमाह । अनेन संबन्धेनायातस्यास्य व्याख्या । अनवस्थाप्यं भिक्षुमगृहीभूतमगृहस्थीकृतं नो कल्पते यस्य समीपेऽवतिष्ठते तस्य गणावच्छेदिनो गणस्वामिन उपस्थापयितुम् । संप्रति पाराञ्चितसूत्रमाह ।

(सूत्रम्) पारंचियं पि भिक्खुं अगिहिभूतं नो कप्पते तस्स गणावच्छेदियस्स उवट्ठावित्तए पारंचियं भिक्खुं गिहिभूयं नो कप्पइ तस्स गणावच्छेदियस्स उवट्ठावित्तए पारंचियं भिक्खुं गिहिभूयं कप्पइ तस्स गणावच्छेदियस्स उवट्ठावित्तए ॥

अत्र सूत्रद्वयस्याक्षरगमनिका प्राग्वत्संप्रति भाष्यविस्तरः ।

अणवट्ठो पारंचिय, पुव्वं भणिया इमं तु णाणत्तं ।
गिहिभूयस्स य करणं, अकरणे गुरुगा य आणादी ॥

अनवस्थाप्यपाराञ्चितौ एतौ द्वावपि पूर्वं भणितौ इदं चात्र नानात्वं गृहीभूतस्य गृहस्थरूपसदृशस्य करणं यदि पुनर्गृहीभूतमकृत्वा तमुपस्थापयतितदा गृहीभूतस्याकरणे प्रायश्चित्तं गुरुकाश्चत्वारो गुरुमासाः । तथा आज्ञादयः आज्ञानवस्थामिथ्यात्वविराधना दोषाः । अन्यच्च प्रमत्तं सन्तं देवता छलयेत् । गृहीभूतस्य तु छलना न भवति । तस्माद् गृहीभूतं कृत्वा तमुपस्थापयेत् । गृहस्थरूपताकरणमेव भावयति ।

वरनेवच्छं एगे, एहाणादिविवज्जमवरिजुगलमित्तं ।
परिसामज्झे धम्मं, सुणेज्ज तो कहण दिक्खा ॥

एके आचार्या एवं ब्रुवते स्नानविवर्जं वरं नेपथ्यं तस्य क्रियते । अपरे दाक्षिणात्याः पुनरेवमाहुर्वस्त्रयुगलमात्रं परिधाप्यते तद्वेषमध्ये आचार्यसमीपमुपगम्य ब्रुवते भगवन् ! धर्मं श्रोतुमिच्छामि । ततः (कहणत्ति) आचार्यः धर्मं कथयति । कथिते च सति सकलजनसमक्षं ब्रुवते श्रद्दधामि सम्यग्धर्ममेनमिति मां प्रव्राजयत एवमुक्ते तस्य दीक्षा लिङ्गसमर्पणानन्तरं च तत्क्षणमेवोपस्थाप्यते तत्र शिष्यः प्राह । कस्मादेष गृहस्थावस्थां प्राप्यते । सूरिराह ।

ओहावितो न कुव्वइ, पुणो वि सो तारिसं अतीयारं ।
होइ जयं सेसाणं, गिहिरूवे धम्मिया चेव ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किं वा तस्स न दिज्जइ, गिहिलिंगं तेण भावतो लिंगं ।
अजढे वि दव्वलिंगे, सलिंगपडिसेवणाबि जढं ॥

अपभ्राजितो ग्लानिमापादितः सन् पुनरपि स तादृशमतीचारं न करोति । शेषाणामपि च साधूनां भयमुत्पादितं भवति। येन तेऽप्येवं न कुर्वते । तस्माद्गृहिरूपे गृहस्थता रूपस्य धर्मता धर्मादनपेतान्याचेयत तस्यापि याच्यमानागृहस्थरूपतेति भावः (किंवेत्यादि) किं वा केन वा कारणेन तस्य न दीयते गृहिलिङ्गं दातव्यमेव तस्य गृहिलिङ्गमित्यर्थः । येन कारणेनापरित्यक्तोऽपि द्रव्यलिङ्गे स्वलिङ्गे प्रतिसेवनात् भावतो लिङ्गं विजढं परित्यक्तमिति ।

संप्रति सूत्रकृदेवापवादमाह ।

(सूत्रम्) अणवट्ठप्पं भिक्खुं पारंचियं भिक्खुं गिहिभूयं वा अगिहिभूतं वा कप्पइ, तस्स गणावच्छेदितस्स उवट्ठावेत्तए जहा तस्स गणस्स पतियं सिया इति ॥

अनवस्थाप्यं भिक्षुं पाराञ्चितं वा भूतं भिक्षुं गृहीभूतमगृहीभूतं वा कल्पते । तस्य गणावच्छेदिनः उपस्थापयितुं कथमित्याह यथा तस्य प्रतीकं प्रतिकारमुपस्थापनं स्यात्तथा कल्पते नान्यथा इह यो गृहस्थीभूतः स तावदुपस्थाप्यते एवमस्यापवादविषयं वा यस्त्वगृहीभूतः सोऽपवादविषयस्तस्योत्सर्गतः प्रतिषिद्धत्वात् । तत्र यैः कारणैरगृहीभूतोऽप्युपस्थाप्यते तत्र यथा नुवृत्त्यास्योऽगृहस्थीभूतोऽप्युपस्थाप्यो भवति । तथा भाव्यते इहानवस्थाप्यं पराञ्चितं वा कोऽपि प्रतिपन्नस्तस्य चायं कल्पो यावदनवस्थाप्यं पाराञ्चितं वा वहति तावद्बहिः क्षेत्रादवतिष्ठते । स च बहिर्यावत्तिष्ठति तावन्न गृहस्थः क्रियते किन्त्वागतः करिष्यते । बहिश्चावतिष्ठमानः स जिनकल्पिक इव भिक्षाचर्यामलेपकृद्भक्तादिग्रहणात्मिकां करोति तस्य च तथा बहिस्तिष्ठते । यथाचार्यः करोति तथा प्रतिपादयति ।

आलोयणं गवेसण, आयरिओ कुणइ सव्वकालं पि ।
उप्पन्ने कारणम्मि, सव्वपयत्तेण कायव्वं ॥

यस्याचार्यस्य समीपेऽनवस्थाप्यं पाराञ्चितं वा प्रतिपन्नः स आचार्यः सर्वकालमपि यावन्तं कालं तत्प्रायश्चित्तं वहति तावन्तं सकलमपि कालं यावत्प्रतिदिवसमवलोकनं करोति तत्समीपं गत्वा तद्दर्शनं करोतीत्यर्थः । तदनन्तरं गवेषणं गतोऽल्पक्लामतया तत्र दिवसे रात्रौ चेति पृच्छां करोति । उत्पन्ने पुनः कारणे ग्लानत्वलक्षणे सर्वप्रयत्नेन स्वयमाचार्येण कर्तव्यं भक्तपानहरणादि ॥

जो उ उवेहं कुज्जा, आयरिओ केणइ प्पमाएण ।
आरोवणा उ तस्स, कायव्वा पुव्वनिद्दिट्ठा ॥

यः पुनराचार्यः केनापि प्रमादेन जनव्याक्षेपादिना उपेक्षां कुरुते न तत्समीपं गत्वा तत्सरीरस्योदन्तं वहति तस्य आरोपणा प्रायश्चित्तप्रदानं पूर्वनिर्दिष्टा कर्त्तव्या । चत्वारो गुरुकास्तस्य प्रायश्चित्तमारोपयितव्यमिति भावः । यदुक्तमुत्पन्ने कारणे सर्वप्रयत्नेन कर्तव्यं तद्भावयति ॥

आहरति भत्तपाणं, उव्वत्तमादियंपि सो कुणति ।
सयमेव गणाहिवती, अह गिलाणो सयं कुणइ ॥

अथ सोऽनवस्थाप्यःपाराञ्चितो वा ग्लानोऽभवत् । ततस्तस्य गणाधिपतिराचार्यः स्वयमेव भक्तं पानं वा हरति आनयति उद्वर्त्तनादिकमप्यादिशब्दात्परावर्त्तनोद्धरणोपदेशनादिपरिग्रहः स तस्य स्वयं करोति । अथ जातो ग्लानो निरोगस्ततः स आचार्यं न किमपि कारयति किं तु सर्वं स्वयमेव कुरुते । अधुना यदुक्तमालोयणं गवेसणंति तद्व्याख्यानार्थमाह–

उभयंपि दाऊण सपडिपुच्छं, वोढुं सरीरस्स पवट्टमाणिं ।
आसासइत्ताण तवो किलंत, तमेव खेत्तं समुवेंति थेरा ॥

स्थविराः आचार्याः शिष्याणां प्रतीच्छकानां च उभयमपि सूत्रमर्थं चेत्यर्थः। किं विशिष्टमित्याह । स प्रतिपृच्छं पृच्छा प्रश्नः तस्याः प्रतिवचनं प्रतिपृच्छा प्रत्युक्तौ प्रतिशब्दः सह प्रतिपृच्छा यस्य तत् सप्रतिपृच्छं सूत्रविषये च यद्येन पृष्टं तत्र प्रतिवचनं चेत्यर्थः दत्वा तत्सकाशमुपगम्य तस्य शरीरस्य वर्तमानमुदन्तं वहति अल्पक्लामतां पृच्छतीति भावः । सोऽपि चाचार्यं समागतं मस्तकेन वन्दे इति फेटावन्दनकेन वन्दते शरीरस्य वोदन्तं मूर्भो यदि तपसा क्लाम्यति तत आश्वासयति आश्वास्य च तदेव क्षेत्रं यत्र गच्छोऽवतिष्ठते तत्समुपगच्छन्ति । कदाचिन्न गच्छेयुरपि तत्रेमानि कारणानि ॥

गेलण्णेण वि पुट्ठो, अभिणवमुक्को ततो व रोगत्तो ।
कालम्मि दुब्बले वा, कज्जे अण्णेण वाघातो ॥

इहैकस्यापि कदाचिदेकवचनं सर्वस्यापि वस्तुन एकानेकरूपताख्यापनार्थमित्यदुष्टम् । अथवा काले दुर्बले न विद्यते बलं गमने यस्मिन् गाढतपः संभवादिना दुर्बलो ज्येष्ठाषाढादिको दुःशब्दो भाववाची तस्मिन्न गच्छेत् शरीरक्लेशसंभवात् "कज्जे अण्णेव वा घातो इति" अत्र सप्तमी तृतीयार्थे प्राकृतत्वात्ततोऽयमर्थः । अन्येन वा कार्येण राज्ञा प्रद्वेषतो निर्विषयत्वाज्ञापनादिना व्याघातो भवेत्ततो न गच्छेदिति । आगमने चोपाध्यायः प्रेषणीयो योऽन्यो वा तथा चाह ॥

पेसेइ उवज्झायं, अण्णं नीयं च जो तहिं जोग्गो ।
पुट्ठो व अपुट्ठो वा, तहा वि दीवेति तं कज्जं ॥

पूर्वोक्तकारणवशतः स्वयमाचार्यस्य गमनाभावे उपाध्यायं तदभावे ऽन्यो वा गीतार्थस्तत्र योग्यस्तं प्रेषयति । स च तत्र गतः सन् तेन पाराञ्चितेन किमित्यद्य क्षमाश्रमणा नायाता इति पृष्टो वा अथवा न पृष्टस्तथाऽपि तत्कारणं कार्यकारणं दीपयेत् । तथा अमुकेन कारणेन क्षमाश्रमणानामनागमनं पृष्टेनापृष्टेन वा दीपितं तदा न किमप्यन्यत्तेन वा पाराञ्चितादि तावद्वक्तव्यं किं गुर्वादेश एवोभाभ्यां यथोदितः संपादनीयः । अथ राज्ञा प्रद्वेषतो निर्विषयत्वाज्ञापनादिना व्याघातो दीपितस्तत्र यदि ते उपाध्याया अन्ये वा गीतार्थास्तस्य शक्तिं स्वयमवबुध्यन्ते ततो जानन्तः स्वयमेव तस्य महत्त्वं ब्रुवते । यथा अस्मिन्प्रयोजने त्वं योग्य इति क्रियतामुद्यमः । अथ न जानते तस्य शक्तिं ततः स एव तान् अजानानान् ब्रूते । यथा अस्ति ममात्र विषय इति । एतच्च स्वयमुपाध्यायादिभिर्वा भणितो वक्ति ।

अत्थ उ महाणुभागो, जहासुहं गुणसयागरो संघो ।
गुरुगं पि इमं कज्जं, मं पप्प भविस्सए लहुयं ॥

तिष्ठत यथासुखं महान् अनुभागोऽचिन्त्या कृतप्रयोजनानुकूला अचिन्त्या शक्तिर्यस्य स तथा गुणशतानामनेकेषां गुणानामाकरो निधानं गुणशताकरः सङ्घः यतः इदं गुरुकमपि कार्यं मां प्राप्य लघुकं भविष्यति । समर्थोऽहमस्य प्रयोजनस्य लीलयाऽपि साधने इति भावः । एवमुक्ते सोऽनुज्ञातः सन् यत्करोति तदाह ॥

अज्झिहाणहेउकुसलो, बहूसु नीराजितो वि उसभासु ।
गंतूण रायभवणा, भणाति तं रायदारिद्दे ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अभिधानहेतुकुशल इति अभिधानेषु शब्देषु हेतुसाध्यगमकेषु कुशलो दक्षोऽभिधानहेतुकुशलः शब्दमार्गे चातीव क्षुन्न इत्यर्थः । अत एव बहुषु विद्वत्सभासु नीराजितो निर्वर्तितः इत्थंभूतः सन् राजभवनं गत्वा तं राजद्वारस्थं प्रतीहारं भणति किं भणतीत्यत आह ॥

पडिहाररूवी भण रायरूविं, तहइुए संजयरूवि दट्ठुं ।
निवेदइत्ता य स पत्थिवस्स, ओविट्ठए जत्थ तयं पवेसे ॥

हे प्रतीहाररूपिन् मध्ये गत्वा राजरूपिणं राजानुकारिणं भण ब्रूहि यथा त्वां संयतरूपी द्रष्टुमिच्छति । एवमुक्तः सन् प्रतीहारस्तथैवास्य निवेदयति । निवेद्य च राजानुमत्या यत्र नृपोऽवतिष्ठते तत्र तकं साधुं प्रवेशयति ॥

तं पूयइत्ताण सुहासणत्थं, पुच्छिसु एगागय कोउ हल्लो ।
पएहे उराले असुए कयाइ, सवा विआरुक्खइ पत्थिवस्स ॥

तं साधुं प्रतिष्ठमानं राजा पूजयित्वा शुभासनस्थं शुभे आसने निषण्णमागतकुतूहलः समुत्पन्नकुतूहलोऽप्राक्षीत् कानित्याह । प्रश्नान् उदारान् गम्भीरार्थान् कदाचिदप्यश्रुतान् । प्रतीहाररूपिन् तथा त्वमपि यादृशश्चक्री चक्रवर्त्ती तादृशो न भवसि रत्नाद्यभावाद् (अत्रान्तरे चक्रवर्तिसमृद्धिराख्यातव्या) किं तु प्रतापशौर्यन्यायानुपालनादिना तत्प्रतिरूपोऽस्ति तत उक्तं राजरूपिणं ब्रूहि चक्रवर्तिप्रतिरूपमित्यर्थः । एवमुक्ते राजा प्राह त्वं कथं श्रमणानां प्रतिरूपी तत आह ॥

समणाणं पडिरूवी, जं पुच्छसि वा य तं कहमहंति ।
निरईयाए समणा, न तहा हं तेण पडिरूवं ॥

यत्त्वं राजन्पृच्छसि । अथ कथं त्वं श्रमणानां प्रतीरूपी तदहं कथयामि यथा श्रमणा भगवन्तो निरतिचारा न तथाहं ततः श्रमणानां प्रतिरूपी ननु साक्षाच्छ्रमण इति । प्रतिरूपत्वमेव भावयति ।

निव्वूढोमि नरेसर, खेत्ते वि जईण अत्थिओ न लभे ।
अतियारस्स विसोही, पकरेमि पमायमूलस्स ॥

हेनरेश्वर ! पृथिवीपते ! प्रमादमूलस्यातिचारस्य संप्रति विशोधिं करोमि । तां च कुर्वन् निर्यूढोस्मि निष्काशितोऽस्मि ततः आस्तामन्यत्क्षेत्रेऽपि यतीनामहं स्थातुं न लभे ततः श्रमणप्रतिरूप्यहमिति । राजा प्राह । कस्त्वया कृतोऽतीचारः । का च तस्य विशोधिरेवं पृष्टे यत्कर्त्तव्यं तदाह ।

कहणाउट्टण आगमण-पुच्छणं दीवणा य कज्जस्स ।
वीसज्जियंति य मया, हासुस्सितो भणइ राया ॥

कथनं राज्ञा पृष्टस्य सर्वस्याप्यर्थस्य प्रवचनप्रभावना भवति । तत आवर्त्तनमाकम्पनं राज्ञो भक्तीभवनमिति भावः । तदनन्तरमागमनप्रच्छनमागमनकारणस्य प्रश्नः केन प्रयोजनेन यूयमत्रागताः स्थ । अत्रान्तरे येन कार्येण समागतस्तस्य दीपना प्रकाशना ततो राजा हासोत्कलितोऽतिहासेन उत्सृतो हर्षोच्छ्वासः स्मितो हसितमुखः प्रहृष्टश्च सन्नित्यर्थः । भणति यथा मया विसर्जितं मुत्कलितमिति । अथ किं तत्कार्यं यस्य राज्ञो मुत्कलनं कृतमित्यत आह ।

वायपरायणकुविती, चेइयतद्दव्वसंजतीगहणे ।
पुव्वत्तावणचउण्ह वि, कज्जाण हवेज अन्नयरं ॥

वादे पराजयेन कुपितः स्यात् । अथवा चैत्यं जिनायतनं किमपि तेनावष्टब्धं स्यात् । ततस्तस्मान्मोचनात्क्रुद्धो भवति । यदि वा तद्द्रव्यस्य चैत्यद्रव्यस्य ग्रहणेऽथवा संयत्या ग्रहणे ततः पूर्वोक्तानां कल्पाध्ययनोक्तानां चतुर्णां निर्विषयत्वाज्ञापनादीनामकार्याणामन्यतरत्कार्यं भवेत् ॥

संघो न लहति कज्जं, लद्धं कज्जं महाणुभागेण ।
तुब्भं तु विसज्जेमी, सो वि य संघोत्ति पूएइ ॥

निर्विषयत्वाज्ञापनमुत्कलनादिलक्षणं कार्यं संघो न लभते किं तेनावस्थाप्येन पाराञ्चितेन वा महानुभागेन लब्धं न च स एवं कार्यलाभेऽपि गर्वमुद्वहति यत आह तुब्भं तु इत्यादि । राजा प्राह । युष्माकं तु निश्चितं प्रभावेनाहं पूर्वग्राहं विसृजामि नान्यथा । सोऽपि च ब्रूते । राजन् कोऽहं कियन्मात्रो वा गरीयान् संघो भट्टारकस्तत्प्रभावादहं किंचिदस्मात्संघमाहूय क्षमयित्वा च यूयमेवं ब्रूथ मुत्कलितं मया युष्माकमिति संघं पूजयति । ततः किमित्याह ॥

अब्भत्थितो व रण्णा, सयं च संघो विसज्जयति ।
आदीमज्झवसाणे, स वा विदेसो बुओ होइ ॥

अभ्यर्थितो वा राज्ञा संघो यदि वा संतुष्टः संघो विसर्जयति । किमुक्तं भवति । यद्दृढं शेषं सर्वं प्रसादेन मुक्तः सोऽग्रहस्थीभूत एवोपस्थाप्यते इति । एतदेवाह सचापि दोषो धुतः प्रकम्पितः प्रसादेन स्फोटित इत्यर्थः । आदौ मध्ये अवसाने वा भवति । राजानुवृत्तिद्वारं गतम् ।

इदानीं प्रद्विष्टस्वगणद्वारमाह ॥

सगणो य पउट्ठो से, आवण्णो तं च कारणं नत्थि ।
एएहिं कारणेहि य, गिहिभूते उवट्ठवणा ॥

(से) तस्याचार्यस्य स्वगणप्रसिद्धः सन् ब्रूते । यथाऽमुकेन कारणेनैव पाराञ्चितप्रतिपत्त्या गृहीभूतत्वमापन्न इति तच्च कारणं तस्याचार्यस्य नास्ति । एताभ्यां स्वगणप्रद्वेषकारणाभावलक्षणाभ्यामगृहीभूते अगृहस्थीभूतस्य उपस्थापना क्रियते एष गाथाक्षरार्थः ॥ भावार्थस्त्वयम् । एगा तरुणी बहुसुयणं घेत्तुं पव्वइया । अन्नया ताए संजतीए आयरितो उ भासिओ । आयरिएणं नेच्छिया । ताहे सा पदोसमापन्ना आयरियस्स तेसिं संजए पव्वयाणं कहे इमं एस आयरिओ उवसग्गेइ । ताहे ते संजतीए नियल्लग पव्वइया आयरियस्स पउट्ठा भणंति । एस आयरिओ पारंचिए गिहिभूतो आसवइ । ततो आयरिओ अन्नं गणं गंतुं सव्वं जहट्ठियं परिकहेइ तं वावन्नं असत्थं कुणह गिहियंति तवेंति । ते नाऊण पउट्ठा माहोहिति । ते मिगस्स तरउत्ति मिच्छिच्छा मा सफला होहित्ति तोसितो अगिहिभूतो " काचित् व्रतिनी बहुस्वजना न् भासने या या न प्रतिसिद्धा सती (क्षोभगमिति) अभ्याख्यानं दद्यात्कालत्रयेऽपि ससमीति दत्तवती तथाभ्याख्यानसंपादितं प्रायश्चित्तमन्यत्र गणे स आचार्यो वहति चेत् संयतीस्वजनाः प्रद्विष्टा ब्रुवते । कुरुतैनमाचार्यं गृहिकं गृहस्थीभूतमिति । ते वरणान्तरस्थविरास्तान्प्रद्विष्टान् ज्ञात्वा मा तेषां गम्यतरः पश्चाद्भवेदिति तेऽपि कैतवेन क्षेत्राद्बहिस्तत्समीपे स्थितां तथा मा तेषां मिथ्यारूपा इच्छा सफला भवेदिति सोऽगृहीभूत एवोपस्थाप्यते । गतं स्वगणप्रद्विष्टद्वारम् ।

अधुना परमोचापनद्वारमाह ॥

सोऊण लिंगकरणं, अणुरागेणं भणंति आगियत्थो ।
मा गीयं कुणह गुरुं, अह कुणह इमं निमामेह ॥
निद्धंसामो अम्हे, एवं ओहावणं जइ गुरुणं ।
एएहिं कारणेहिं, अगिहिभूते उवट्ठवणा ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"एगो बहुसिस्सो आयरिओ परिसेवणाए गिहिभूतस्समावण्णो सो अन्नं गणं गंतुं आलोएइ। तेहिं गिहिभूतो काउमाढत्तो। ततो तस्स सीसा भणंति मा अम्हं गुरुं गिहिभूयं कुणह। अह पुण अम्हं गुरूणमेवं उद्दावणा कीरइ ततो अम्हे सव्वे निक्खमिस्सामो। ततो तेसिं अप्पत्तियं माहोतीति। अगिहिभूतो चेव सो उवट्ठाविज्जइ" अक्षरगमनिका आचार्यस्य गृहिलिङ्गकरणं श्रुत्वा तस्य शिष्या अगीतार्था अनुरागेण भणन्ति। माऽस्मदीयं गुरुं कुरुत। अथ करिष्यथ तत इदं निशामयत आकर्णयत एवमपभ्राजना यदि गुरूणां ततो नय (विदसाभोत्ति) उन्निष्क्रमिष्यामः एतेन खल्वनन्तरादितेन कारणेन अगृहीभूतस्य तस्योपस्थापना। गतं परमोत्थापनद्वारम्—

इदानीं मिथ्या गणद्वयविवादे इति द्वारमाह ॥

अण्णोण्णेसु गणेसुं, वहंति तेसिं गुरू अगीयाणं ।
ते बिंति अप्पमाणं, किह काहिह अम्ह थेरत्ति ॥

द्वौ गणौ तयोश्च द्वयोरपि गणयोः साधवो गीतार्थास्तेषां च गुरू स्थापनार्हं प्रायश्चित्तस्थानमापन्नौ। तत्रैकोऽगृहीभूतोपस्थापनार्हस्तौ च परस्परं गणयोः प्रतिपद्येते। तद्यथा एकोऽपरस्मिन् एवमन्योऽन्यस्य गणयोस्तेषामगीतार्थानां गुरू प्रायश्चित्तं वहतस्ते गणाः परस्परं ब्रुवते कथमस्माकं स्थविरान् करिष्यथ किं गृहीभूतानगृहीभूतान् वा तत्र यो गृहीभूतोपस्थापनार्हस्तस्य गणात् प्रतीते ब्रुवते। गृहीभूतं करिष्यामः ॥

गिहिभूतोत्ति य भिते, अम्हेवि करोत तुज्झ गिहिभूतं।
अगिहिदोत्तिवि मए, भणंति थेरा इमं दो वि ॥
नवि तुज्झेगो अम्हे, अगिहितया महविणिच्छेसु ।
इच्छा संपूरिज्जइ, गणपत्तियकारणेहिं तु ॥

गृहीभूतान् करिष्याम इत्युक्ते इतरे वदन्ति वयमपि तवाचार्यं गृहीभूतं करिष्यामः तत्रैवं परस्परं विवादे तान् द्वयानपि मृगान् अगीतार्थान् भणन्ति। द्वावप्यगृहीभूतौ वयमुपस्थापयिष्यामः। इतरौ च द्वावप्याचार्याविदं ब्रूतः न वयमगृहीभूता ब्रुध्यामः तस्माद्गृहीभूताः क्रियामहे इति एवं यद्यप्यगृहीभूतोपस्थापनां ते नेच्छन्ति तथापि तेषु तथा अनिच्छत्स्वपि गणप्रीतिकारकैर्महद्भिः स्थविरैः सद्भिस्तेषां द्वयानामपि गणसाधूनामिच्छा पूर्यते द्वावप्यप्रीतिपरिहारार्थं गृहस्थीभूतावुपस्थाप्येते इत्यर्थः। व्य० प्र० २ उ०। येषु स्थानेष्वपराधपदेषु पूर्वचरमाणां साधूनामुपस्थापना भवति तानि निरूपयितुमाह ॥

सा जेसि उवट्ठवणा, जेहिट्ठाणेहिं पुरिमचरिमाणं ।
पंचायामे धम्मे, आदेसतिगं च मे सुणसु ॥

सा उपस्थापना येषां भवति ते वक्तव्या येषु वा स्थानेष्वपराधपदेषु पूर्वचरमाणां साधूनां पञ्चयामे धर्मे स्थितानामुपस्थापना भवति तान्यपि वक्तव्यानि तत्र येषामुपस्थापना ते तावदभिधीयन्ते तत्रादेशत्रयं दश वा षड् वा चत्वारो वा उपस्थापनायामर्हा भवन्ति। तथा आदेशत्रिकं मे इति मया यथाक्रमं वक्ष्यमाणं शृणु।

तओ पारंचिया वुत्ता, अणवट्ठा य तिण्णि उ ।
दंसणम्मि य वंतम्मि, चरित्तम्मि य केवले ॥ १ ॥
अदुवा वि य चकिच्चे, जीवकाए समारभे ।
सेहे दसमे वुत्ते, जस्स उवट्ठावणा भणिया ॥ २ ॥

ये चतुर्थोद्देशके अथो दुष्टप्रमत्तान्योऽन्यकुर्वाणाख्याः पाराञ्चिका उक्ताः ३ ये च त्रयः साधर्मिकान्यधार्मिकान्यकारिहस्तताडरूपा अनवस्थाप्याः ६ येन च दर्शनं सम्यक्त्वं केवलं संपूर्णमपि वान्तं ७ येन चारित्रं केवलं संपूर्णं मूलगुणविराधनया वान्तं ८ अथवा यस्त्यक्तकृत्यः परित्यक्तसकलसंयमव्यापार आकुट्टिकया कर्षण भाजीविकावान् पृथिवीकायादीन् समारभेत ९ यश्च शैक्षोऽभिनवदीक्षितः स दशमः १० उक्तः। एतद्दशकं मन्तव्यं यस्य उपस्थापना प्रथमचरमतीर्थकरैः भणिता। द्वितीयादेशमाह ॥

जे य पारंचिया वुत्ता, अणवट्ठप्पा य जे विदु ।
दंसणम्मि य वंतम्मि, चरित्तम्मि य केवले ॥ १ ॥
अदुवा वि य चकिच्चे, जीवकाए समारभे ।
सेहे छट्ठे मे वुत्ते, जस्स उवट्ठावणा भणिया ॥ २ ॥

ये च दर्शने पाराञ्चिकाः सामान्यत उक्ताः २ ये च विद्वांसोऽनवस्थाप्याः ४ येन च दर्शनं केवलं वान्तं ५ येन चारित्रं केवलं वान्तम् अथवा यस्त्यक्तकृत्यो जीवकायान् समारभते यश्च शैक्षः षष्ठः ६ एते षट्कं प्रतिपत्तव्यम्। यस्य उपस्थापना द्वितीयादेशे भणिता। तृतीयादेशमाह ॥

दंसणम्मि य वंतम्मि, चरित्तम्मि य केवले ।
चियत्तकिच्चे सेहे य, उवट्ठप्पा य आहिया ॥

दर्शने केवलं शेषे वान्ते यो वर्तते। यो वा चरित्रे केवलं वान्ते पाराञ्चिकानवस्थाप्ययोरत्रैवान्तर्भावो विवक्षितो यश्च त्यक्तकृत्यः षट्कायविराधकः यश्च शैक्ष एते चत्वार उपस्थाप्या उपस्थापनायोग्या आख्याताः। अथ तेषां मध्ये उपस्थापनीयो भवतीति चिन्तायामिदमाह ॥

केवलगहणकसिणं, जति वमती दंसणं चरित्तं वा ।
तो तस्स उवट्ठवणा, देसे वंतम्मि भयणा तु ॥

दर्शनचारित्रपदयोर्यत्केवलं ग्रहणं कृतं ततः इदं ज्ञाप्यते यदि कृत्स्नं निःशेषमपि दर्शनं चारित्रं वा वमति ततस्तस्योपस्थापना भवति देशे देशतः पुनर्दर्शनचारित्रे वा वान्ते भजना उपस्थापना भवेद्वा न वा। भजनामेव भावयति ॥

एमेव य किंचि पदं, सुयं व असुयं व अप्पदोसेणं ।
अविकोवितो कहिंतो, चोदिय आउट्टसुद्धे तु ॥

एवमेवाविमृश्य किञ्चिज्जीवादिकं सूत्रार्थविषयं वा पदं श्रुतं वा अश्रुतं वा अल्पदोषेण कदाग्रहाभिनिवेशादिदोषाभावे अकोविदोऽगीतार्थः कस्यापि पुरतो अन्यद्वा कथयन् आचार्यादिनामेवं वितथप्ररूपणां कार्षीरिति चोदितः सन् यदि सम्यगावर्तते तदा स मिथ्यादुष्कृतप्रदानमात्रेणैव शुद्ध इति। तच्च दर्शनमनाभोगेनाभोगेन वा वान्तं स्यात् ॥

तत्रानाभोगेन वान्ते विधिमाह—

अणाभोएण मिच्छत्तं, सम्मत्तं पुणरागते ।
तमेव तस्स पच्छित्तं, जं मग्गं पडिवज्जई ॥

एकः श्राद्धो निह्नवान् साधुवेषधारिणो दृष्ट्वा यथोक्तकारिणः साधवः एते इति बुद्ध्या तेषां सकाशे प्रव्रजितः स चापरैः साधुभिर्भणितः किमेवं निह्नवानां सकाशे प्रव्रजितः स प्राह नाहमागमविशेषज्ञानवान् ततः स मिथ्यादुष्कृतं कृत्वा शुद्धदर्शनिनां समीपे उपसंपन्न एवमनाभोगेन दर्शनं वमित्वा मिथ्यात्वं गत्वा सम्यक्त्वं पुनरागतस्य तदेव प्रायश्चित्तं यदसौ सम्यक् मार्गं प्रतिपद्यते स एव च तस्य व्रतपर्यायो न भूय उपस्थापना कर्तव्या ॥

आभोगेन वान्ते पुनरयं विधिः—

आभोगेण य मिच्छत्तं, सम्मत्तं पुणरागते ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिणथेराण आणाए, मूलच्छेज्जं तु कारए ॥

यः पुनराभोगेन निह्नवा एते इति जानन्नपि मिथ्यात्वं सङ्क्रान्त इति शेषः निह्नवानामन्तिके प्रव्रजित इत्यर्थः स च सम्यक् अन्येन प्रज्ञापितः सन् पुनर्भूयोऽपि यथागतस्थानं तं जिनस्थविराणां तीर्थकरगणभृतामाज्ञया मूलच्छेद्यं प्रायश्चित्तं कारयेत् । मूलत एवोपस्थापनां तपः कुर्यादिति । एवं दर्शने देशतो वान्ते उपस्थापना भजना भाजिता । संप्रति चारित्रे देश तो वान्ते तामेव भावयति ॥

छण्हं जीवणिकायाणं, अणप्पज्झो विराहओ ।

आलोइय पडिक्कंते, सुद्धो हवति संजओ ॥

षण्णां जीवनिकायानां (अणप्पज्झोत्ति) अनात्मवशः क्षिप्तचित्तादिर्यदि विराधको भवति तत आलोचितप्रतिक्रान्तो गुरूणामालोच्य प्रदत्तमिथ्यादुष्कृतः स यतः शुद्धो भवति ॥

छण्हं जीवनिकायाणं, अप्पज्झो अविराहतो ।

आलोइय पडिक्कंतो, मूलच्छेज्जं तु कारए ॥

षण्णां जीवनिकायानां (अप्पज्झोत्ति) स्ववशो यदि दर्पेणाकुट्टिकया वा विराधको भवति तत आलोचितप्रतिक्रान्तं तं मूलच्छेद्यं प्रायश्चित्तं कारयेत् वा शब्दोपादानाद्यदि तपोऽर्हप्रायश्चित्तमापन्नस्तत तपोऽर्हमेव दद्यात् तत्रापि यन्मासलघुकादिमापन्नस्तदेव दद्यात् । अथ हीनादिकं ददाति ततो दोषा भवन्तीति दर्शयति ॥

जं जोउ समावन्नो, जं पाउग्गं व जस्स वत्थुस्स ।

तं तस्स उ दायव्वं, असरिसदाणे इमे दोसा ॥

यस्तपोऽर्हं छेदार्हं वा प्रायश्चित्तं यः समापन्नो यस्य वा वस्तुन आचार्यादेरसहिष्णुप्रभृतेर्वा यत्प्रायश्चित्तं प्रायोग्यमुचितं तत्तस्य दातव्यं यदसदृशमनुचितं ददाति ततः इमे दोषाः ॥

अप्पच्छित्ते पच्छित्तं, पच्छित्ते अति मत्तया ।

धम्मस्सासायणा तिव्वा, मग्गस्स य विराहणा ॥

अप्रायश्चित्ते अनापद्यमानेऽपि प्रायश्चित्ते यः प्रायश्चित्तं ददाति प्राप्ते च प्रायश्चित्ते योऽतिमात्रमतिरिक्तप्रमाणं प्रायश्चित्तं ददाति स धर्मस्य तीव्रामाशातनां करोति मार्गस्य मुक्तिपथस्य सम्यग्दर्शनादेर्विराधनां करोति । किंच ॥

उस्सुत्तं ववहरंतो, कम्मं बंधति चिक्कणं ।

संसारं च पवड्ढेति, मोहणिज्जं च कुव्वती ॥

उत्सूत्रं सूत्रोत्तीर्णं रागद्वेषादिना व्यवहरन् प्रायश्चित्तं प्रयच्छन् चिक्कणं गाढतरं कर्म बध्नाति । संसारं च प्रवर्द्धयति । प्रकर्षेण वृद्धिमन्तं करोति । मोहनीयं च मिथ्यात्वमोहादिरूपं करोति इदमेव सविशेषमाह ॥

उम्मग्गदेसणाए, मग्गविप्पडिवातए ।

परं मोहेण रंजंतो, महामोहं पकुव्वइ ॥

उन्मार्गदेशनया च सूत्रोत्तीर्णप्रायश्चित्तादिमार्गप्ररूपणया मार्गं सम्यग्दर्शनादिरूपं विविधैः प्रकारैः प्रतिपातयति व्यवच्छेदं प्रापयति तत एवं परमपि मोहेन रञ्जयन्महामोहं प्रकरोति तथा च त्रिंशतिमहामोहस्थानेषु पठ्यते " नेया जयस्स मग्गस्स, अवगारम्मि वट्टइ " यत एवमतो न हीनाधिकप्रायश्चित्तं दातव्यमिति ॥ वृ० ६ उ० ॥

उवट्ठ (ट्ठा) वणाकप्पिय-उपस्थापनाकल्पिक-पुं० उपस्थापनाविषये, कल्पिके वृ० १ उ० (यथा स तथा दर्शितमनन्तरमेव ' उवट्ठवणा ' शब्दे)

उवट्ठ (ट्ठा) वणागहण-उपस्थापनाग्रहण-न० उपस्थापनायां, हस्तिदन्तोन्नताकारहस्तादिनी रजोहरणादिग्रहणे, वृ० ३ उ० ।

उवट्ठ (ट्ठा) वणायरिय-उपस्थापनाचार्य- पुं० उपस्थापनया आचार्यः । आचार्यभेदे, स्था० ४ ठा० ३ उ० ॥

उवट्ठ (ट्ठा) वणारिह-उपस्थापनार्ह- पुं० व्रतार्थपरिज्ञानादिगुणयुक्ते व्रतारोपणयोग्ये, । ' पढियय कहिय अहिगय परिहरउवट्ठावणाइ जोगोत्ति । छक्कतीहिं विसुद्धं, परिहरणवयण भेदेण॥ पउपासावरमादी, दिट्ठंता होंति वयसामा । रुहणे जह मलिणाइसु, दोसा सुद्धाइ सुणेव मिहइं पीत्यादि, एतासि द्देसुद्देसेण सीसहियट्ठयाए अत्थो भन्नइ पढियाए सत्थपरिन्नाए दस कालिए छज्जीवणिकाए वा कहियाए अत्थओ अहिगयाए सम्मं परिक्खिऊण परिहरइ छज्जीवनियाए मणवयणकाएहिं कयकारियाणुमतिभेदेण तओ ट्ठाविज्जइ ण अन्नहा इमे य इयपराइं । दिट्ठंता मइलो पडो ण रंगिज्जइ सोहि उ रंगिज्जइ असोहिए मूलपासाओ ण किज्जइ सोहिए किवमणाईहिं असोहिए आउरे उसह न दिज्जइ सोहिए दिज्जइ असंठविए रयणे पडिबंधो न कज्जइ संठए किज्जति एवं पढिय कहियाईहिं असोहिए सीसोण वयारोवणं कज्जइ सोहिए कज्जइ असोहिए य करेंत गुरुणो दोसो सोगहया पालणे सीसस्स दोसोत्ति " । द० ४ अ० ॥

उवट्ठ (ट्ठा) वणीय-उपस्थापनीय-त्रि० आरोपणीये, स्था० ३ ठा० ।

उवट्ठ (ट्ठा) वि (वे) त्तए-उपस्थापयितुम्- अव्य० महाव्रतेषु व्यवस्थापयितुमित्यर्थे, वृ० ४ उ० । स्था० ॥

उवट्ठाण-उपस्थान-न० उप-स्था-ल्युट्-उपेत्य स्थितौ, परलोकक्रियास्वभ्युपगमे, भ० १ श० ३ उ० । प्रत्यासत्तिगमने, नि० । व्रतस्थापने, " वीयाए ठेयं तइयाए उवट्ठाणं अविहीए चेइयाइं वंदेत्ता " महा० ७ अ० ॥

उवट्ठाणकिरिया-उपस्थानक्रिया-स्त्री० वसतिदोषभेदे, ये भगवन्तः आगन्तारादिषु च ऋतुबद्धं वर्षा वा अतिबाह्यान्यत्र मासमेकं स्थित्वा द्वित्रैर्मासैर्व्यवधानमकृत्वा पुनस्तत्रैव वसन्ति । अयमेवंभूतः प्रतिश्रय उपस्थानक्रियादोषदुष्टो भवत्यतस्तत्राऽवस्थातुं न कल्पते आचा० २ श्रु० २ अ. (वसइ शब्दे सूत्रतः चैतत्स्पष्टीभविष्यति)

उवट्ठाणगिह-उपस्थानगृह-न० पुं० आस्थानमण्डपे, स्था० ५ ठा० । भ० । आस्थानसभायाम्, कल्प० ।

उवट्ठाणदोस-उपस्थानदोष-पुं० नित्यवासदोषे, व्य० ४ उ० ।

उवट्ठाणसाला-उपस्थानशाला-स्त्री० उपवेशनमण्डपे, नि० । आस्थानमण्डपे, ज्ञा० १ अ० । उपस्थानमण्डपे, दशा० १० अ० । " बाहिरियाए उवट्ठाणसालाए पाडिएक्कपाडिएक्काइ जत्ताभिमुहाइं जुत्ताइं जाणाइं उवट्ठवेह " औ० ।

उवट्ठाणा-उपस्थाना-स्त्री० उप सामीप्येन सर्वदावस्थानलक्षणेन तिष्ठन्त्यस्यामिति उपस्थाना अजादिपाठादाप्प्रत्ययः । उपस्थानक्रियादोषदुष्टायां शय्यायाम्, व्य० ४ उ० । यस्यां वसतौ ऋतुबद्धे मासं वर्षाकाले चतुर्मासं च स्थिता यदि तस्यामृतुबद्धवर्षाकाले संबन्धिकालमर्यादां द्विगुणामवर्जयित्वा भूयः समागत्य तिष्ठन्ति तदा सैव वसतिरुपस्थाना । किमुक्तं भवति । ऋतुबद्धे काले द्वौ मासौ वर्षास्वष्टमासान् अपहृत्य यदि पुनरागच्छन्ति तस्यां वसतौ ततः सा उपस्थाना भवति । अन्ये पुनरिदमाचक्षते । यस्यां वसतौ वर्षारात्रं स्थिता तस्यां द्वौ वर्षारात्रौ अन्यत्र कृत्वा यदि समागच्छन्ति ततः सा उपस्थाना न भवति अर्वाक् तिष्ठतां पुनरुपस्थाना ॥ ग० १ अधि० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उउमासं समईआ, कालाईआउ सा भवे सिज्जा ।
साचेव उवट्ठाणा, दुगुणादुगुणं पवज्जित्ता ॥

ऋतुबद्धे मासं समतीतानि यानि वासेन उपभुक्तानि वर्षाकाले वा चतुष्कालातीतासु कालातीतैव सा भवेच्छय्या वसतिः। अन्ये तु पाठान्तरतः इत्थं व्याचक्षते । ऋतुवर्षयोः समतीता निजं कालं ऋतुबद्धे मासं वर्षाकाले चतुर इति शेषं मूलवत् । सैवोपस्थाना सैव मासादिकल्पोपयुक्ता उपस्थानवती भवति । कथमित्याह । तद्द्विगुणद्विगुणमित्युभयकालसंपरिग्रहार्थं वीप्सा वर्जयित्वा प्रहृत्य मासकल्पे मासवर्जनीया वर्षावस्थाने चतुर्मासिकद्वयमिति । भावार्थः । ॥१३॥ पं०व० (अधिकं वसइ शब्दे वक्ष्यते)

उवट्ठिय– उपस्थित–त्रि० उप–स्था–क्त० । उप सामीप्येन स्थितः उपस्थितः । समाश्रिते, । सूत्र० १ श्रु० २ अ० । आश्रिते, " निम्ममत्तमुवट्ठिओ " आतु० । सूत्र० । लब्धे, " भवट्ठिया मे आयरिया विज्जामंत तिगिच्छया " उत्त० २० अ० । प्राप्ते, " जसवाद्मुवट्ठिओ " उत्त० १२ अ० । "आभिओगमुवट्ठिया " द० ४ अ० । सम्यगनुष्ठानं कृतवति, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । प्रत्यासन्नीभूते, स० । सामीप्येन स्थिते, आव० १० अ० । प्रव्रज्यायां प्रविव्रजिषौ, स० । अङ्गीकृते, अभ्युद्यते, पा० । "अहमवि तं उवट्ठिओ तं महब्भयकम्मकारणं " ध० ३ अधि० । प्रासकरणावसरे, पंचा० १२ विव० ।

उवदहित्ता–उपदाहयितृ– त्रि० उपदाहके " अगणिकायेणं कायमुवदहित्ता भवति " अग्निकायेन तप्तायसा वा कायमुपदाहयिता भवति । सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

उवणंद–उपनन्द–पुं० ब्राह्मणग्रामवासिनि नन्दभ्रातरि, नन्दपाटके, श्रीवीरे प्रविष्टे नन्देन प्रतिलाभिते च । उपनन्दगृहे गोशालः पर्युषितान्नदानेन रुष्टस्तद्गृहदाहाय शशाप (वीरशब्दे चैतत्) स्थविरस्यार्यसंभूतविजयस्य द्वादश शिष्याणां द्वितीये शिष्ये । कल्प० ॥

उवणगर–उपनगर–अव्य० सामीप्ये, अव्ययी भावः समासः नगरस्य समीपे, औ० ॥

उवणगरग्गाम–उपनगरग्राम–पुं० नगरस्य समीपमुपनगरं तत्र ग्राम उपनगरग्रामः । पुरोपकण्ठे ग्रामे, " चंपाए णयरीए उवणगरग्गामं उवागए " औ० । आ०चू० ॥

उवणच्चिज्जमाण–उपनर्त्यमान–त्रि० नर्तनं कार्यमाणे, औ०॥

उवणमंत–उपनमत्–त्रि० प्राप्नुवति, प्रश्न० अ० ४ द्वा० । ढौकमाने, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ॥

उवणय–उपनत–न० नृत्यप्रकारे, तं० ॥

उपनय–पुं० गुणोक्तौ, स्तुतौ, प्रव० १४१ द्वा० । उपसंहारे दृष्टान्तदृष्टस्यार्थस्य प्रकृते योजने, ॥ प्रव० ६६ द्वा० । तथा न तथेति वा पक्षधर्मोपसंहारे, । तद्यथा अनित्यः शब्दः कृतकत्वाद् घटवत्तथा चायम् अनित्यत्वाभावे कृतकत्वमपि न भवत्याकाशवत् तथाऽयमिति । सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । उपनयं वर्णयन्ति हेतोः साध्यधर्मिण्युपसंहरणमुपनय इति यथा धूमश्चात्र प्रदेश इति । र० । नयानां समीपे उपनयाः । सद्भूतव्यवहाराऽसद्भूतव्यवहारोपचरितसद्भूतव्यवहाराऽख्यनयत्रिके ॥

तद्भेदवक्तव्यता यथा–

ये मार्गं सरलं त्यक्त्वो–पनयान्कल्पयन्ति वै ।
तत्प्रपञ्चविबोधाय, तेषां जल्पः प्रतायते ॥ ७ ॥
नया न्यायानुसारेण, न वचोपनयास्त्रयः ।
निश्चयव्यवहारौ हि, तदध्यात्ममतानुगौ ॥ ८ ॥

ये च केचन कल्पकाः सरलं सममेतदुक्तलक्षणं मार्गं नयनिगमपन्थानं त्यक्त्वा विमुच्य उपचारादिग्रहीतुमिच्छयोपनयान् नयानां समीपे उपनयास्तान् कल्पयन्ति दिगम्बरशास्त्रे हि द्रव्यार्थिकः १ पर्यायार्थिकः २ नैगमः ३ संग्रहः ४ व्यवहारः ५ ऋजुसूत्रं ६ शब्दः ७ समभिरूढः ८ एवंभूतः ९ । इति नव नयाः स्मृताः । उपनयाश्च कथ्यन्ते नयानां समीपमुपनयाः सद्भूतव्यवहारः असद्भूतव्यवहार उपचरितसद्भूतव्यवहारश्चेति उपनयास्त्रेधा इति । तत्प्रपञ्चस्तद्विस्तारः शिष्यबुद्धिरुन्दनमात्रमेवास्ति तथापि विबोधाय समानतन्त्रत्वेन परिज्ञानाय तेषां नयानां जल्प उल्लापः प्रतायते स्वप्रक्रियया उच्यते इत्यर्थः ७ (नयेति) न्यायानुसारेण तन्मतीयग्रन्थगताभिप्रायेण नया नव सन्ति पूर्वोक्ताः ज्ञेयास्तथा उपनयास्त्रय एवं सन्ति तेऽप्युपनयाः सद्भूतव्यवहारादयस्त्रय इति । तथा चाध्यात्माख्योऽपि मतभेदः कश्चिदस्ति तत्र च तदध्यात्ममतानुगौ तच्छैलीपरिशीलितौ नयौ निश्चयेन द्वावेव कथितौ तत्रैको निश्चयनयः १ अपरो व्यवहारनयश्चेति २ द्वावेव नाधिकौ । अभेदोपचारतया वस्तु निश्चीयत इति निश्चयः यथा " जीवः शिवः शिवो जीवो, नान्तरं शिवजीवयो "रिति । भेदोपचारतया वस्तु व्यवह्रियत इति व्यवहारः । यथा " कर्मबन्धी भवेज्जीवः, कर्ममुक्तस्तदा शिवः " इति ॥ द्र०५ अध्या० ॥

अथोपनयानां प्रकारमाह ।

त्रयश्चोपनयास्तत्र, प्रथमो धर्मधर्मिणोः ।
भेदाच्छुद्धस्तथाऽशुद्धः, सद्भूतव्यवहारवान् ॥ १ ॥
ज्ञानं यथात्मनो विश्वे, केवलं गुण इष्यते ।
मतिज्ञानादयोऽप्येते, तथैवात्मगुणा भुवि ॥ २ ॥
गुणो गुणी च पर्यायः, पर्यायी च स्वभावकः ।
स्वभावी कारकस्तद्वा–नेकद्रव्यानुगास्त्रिधा ॥ ३ ॥

तत्रेत्यधिकारसूचकविषयसप्तमीयम् । नयानां समीपमुपनयास्त्रयस्त्रिसंख्याकाः । तेषु त्रिषु प्रथम आद्यो धर्मश्च धर्मी च तयोर्भेदस्तस्मात् । धर्मधर्मिणोरसाधारणं कारणं धर्मः स च धर्मोऽस्यास्तीति धर्मी तयोरिति द्वन्द्वसमासेन भेदात् द्विधा द्विप्रकारः । एतावता यः प्रथमभेदो धर्मधर्मिभेदाज्जातः सोऽपि द्विविधो ज्ञेयः । एकः शुद्धोऽपरो द्वितीयोऽशुद्धः । कथंभूतः शुद्धस्तथाशुद्धश्च सद्भूतव्यवहारवान् सद् भूयते ऽनेनेति सद्भूतः व्यवह्रियत इति व्यवहारः सद्भूतश्च व्यवहारश्च सद्भूतव्यवहारौ शुद्धाशुद्धौ तौ विद्येतेऽस्येति सद्भूतव्यवहारवान् शुद्धयोर्धर्मधर्मिणोर्भेदाच्छुद्धसद्भूतव्यवहारः ॥ १ ॥ अशुद्धधर्मधर्मिणोर्भेदादशुद्धसद्भूतव्यवहारः ॥ २ ॥ सद्भूतस्त्वेकं द्रव्यमेवास्ति भिन्नद्रव्यसंयोगापेक्षा नास्ति । व्यवहारस्तु भेदापेक्षयेत्यत्र निरुक्तिः ॥ १ ॥ (ज्ञानेति (यथा विश्वे जगति आत्मनः केवलं ज्ञानं गुण इति षष्ठीप्रयोगः । इदमात्मद्रव्यस्य ज्ञानमिति तथा मतिज्ञानादयोऽपि आत्मद्रव्यस्य गुणाः इति व्यवह्रियन्ते केवलज्ञानं यद्वर्तते स एव शुद्धः आत्मास्ति १ मत्यादयो ज्ञानानि केवलावरणविशेषिता व्यवहारा अशुद्धा लक्ष्यन्ते इति ॥ २ ॥ (गुणेति) गुणो रूपादिः गुणी घटः १ पर्यायः मुद्राकुण्डलादिः पर्यायी कनकं २ स्वभावो ज्ञानं स्वभावी जीवः ३ कारकश्चक्रदण्डादिः कारकी कुलालः ४ अथवा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गुणगुणिनौ १ क्रियाक्रियावन्तौ २ जातिव्यक्ती ३ नित्यद्रव्यविशेषौ चेति ४ एवं एकद्रव्यानुगतभेदा उच्यन्ते ते सर्वेऽपि उपनयस्यार्था ज्ञातव्याः । अवयवावयविनौ इति अवयवावयवो हि यथाक्रममवयव्याद्याश्रिता एव तिष्ठन्तेऽविनश्यन्तो विनश्यदवस्थास्त्वनाश्रिता एव तिष्ठन्ते इत्यादि ॥

अथासद्भूतव्यवहारं निरूपयति ।

असद्भूत व्यवहारो, द्रव्यादेरुपचारतः ।
परपरिणतिश्लेष–जन्यो भेदो नवात्मकः ॥ ४ ॥

असद्भूतव्यवहारः स कथ्यते यः परद्रव्यस्य परिणत्या मिश्रितः अर्थात् द्रव्यादेर्धर्माधर्मादेरुपचारतः उपचारणात् परपरिणतिश्लेषजन्यः परस्य वस्तुनः परिणतिः परिणमनं तस्य श्लेषः संसर्गस्तेन जन्यः परपरिणतिश्लेषजन्यः । असद्भूतव्यवहारः कथ्यते । अत्र हि शुद्धस्फटिकसंकाशजीवभावस्य परशब्देन कर्म कथ्यते तस्य परिणतिः पञ्चवर्णादिरौदारिकादिका तस्याः श्लेषो जीवप्रदेशैः कर्मप्रदेशसंसर्गस्तेन जन्यः उत्पन्नः परपरिणतिश्लेषजन्यः असद्भूतव्यवहाराख्यो द्वितीयो भेदः कथ्यते । स नवधा नवप्रकारो भवति । तथाहि द्रव्ये द्रव्योपचारः १ गुणे गुणोपचारः २ पर्याये पर्यायोपचारः ३ द्रव्ये गुणोपचारः ४ द्रव्ये पर्यायोपचारः ५ गुणे द्रव्योपचारः ६ गुणे पर्यायोपचारः ७ पर्याये द्रव्योपचारः ८ पर्याये गुणोपचारः ९ इति । सर्वोऽपि असद्भूतव्यवहारस्यार्थो द्रष्टव्यः अत एवोपचारः पृथक् नयो न भवति मुख्याभावे सति प्रयोजने निमित्ते चोपचारः प्रवर्तते सोऽपि संबन्धाविनाभावः श्लेषः संबन्धः परिणामपरिणामिसंबन्धश्रद्धाश्रद्धेयसंबन्धः ज्ञानज्ञेयसंबन्धश्चेति । भेदोपचारतया वस्तु व्यवह्रियते इति व्यवहारः गुणगुणिनोर्द्रव्यपर्याययोः संज्ञासंज्ञिनोः स्वभावतद्वतोः कारकतद्वतोः क्रियातद्वतोर्भेदाद्भेदकः सद्भूतव्यवहारः । शुद्धगुणगुणिनोः शुद्धद्रव्यपर्याययोर्भेदकथनं शुद्धसद्भूतव्यवहारः २ तत्र उपचरितसद्भूतव्यवहारः सोपाधिकगुणगुणिनोर्भेदविषयः । उपचरितसद्भूतव्यवहारो यथा जीवस्य मतिज्ञानादयो गुणाः । निरुपाधिकगुणगुणिनोर्भेदकोऽनुपचारिसद्भूतव्यवहारो यथा जीवस्य केवलज्ञानादयो गुणाः । ४ शुद्धगुणगुणिनोरशुद्धद्रव्यपर्याययोर्भेदकथनमशुद्धसद्भूतव्यवहार ५ इत्यादिप्रयोगवशाद्ज्ञेयमिति ॥

अथ नवभेदानसद्भूतव्यवहारजन्यान् विवृणोति ।

द्रव्ये द्रव्योपचारो हि, यथा पुद्गलजीवयोः ।
गुणे गुणोपचारश्च, भावद्रव्याख्यलेश्ययोः ॥ ५ ॥
पर्याये किल पर्यायो–पचारश्च यथा भवेत् ।
स्कन्धा यथात्मद्रव्यस्य, गजवाजिमुखाः समे ॥ ६ ॥

हि निश्चितं द्रव्ये गुणपर्यायवति वस्तुनि द्रव्योपचारः द्रव्यस्य प्रस्तुतस्योपचारः उपचरणमात्रधर्मः यथेति दृष्टान्तः श्रीजिनस्यागमे पुद्गलजीवयोरैक्यं जीवः पुद्गलरूपः पुद्गलात्मकः अत्र जीवोऽपि द्रव्यं पुद्गलोऽपि द्रव्यम् उपचारेण जीवः पुद्गलमय एवासद्भूतव्यवहारेण मन्यते न तु परमार्थतः यथा क्षीरनीरयोर्न्यायात् क्षीरं हि नीरमिश्रितं क्षीरमेवोच्यते व्यवहारात् । एवमत्र जीवे जीवद्रव्ये पुद्गलद्रव्यस्योपचारः १ पुनर्गुणे गुणोपचारो गुणे रूपादिके गुणस्योपचारः यथा भावलेश्याद्रव्यलेश्यायोरुपचारः भावलेश्या हि आत्मनोऽरूपी गुणस्तस्य हि यत्कृष्णनीलादिकथनं वर्तते तद्धि कृष्णादिपुद्गलद्रव्यजगुणस्योपचारोऽस्ति अयं हि आत्मगुणस्य पुद्गलगुणस्योपचारो ज्ञातव्यः ॥ ५ ॥ पर्याये पर्यायविषये नरत्वादिके पर्यायस्य तदादिकस्यैवोपचारः यथा आत्मा द्रव्यपर्यायस्य तदादिकस्यैवोपचारः यथा गजवाजिमुखाः पर्यायस्कन्धा उपचारादात्मद्रव्यस्य समानजातीयद्रव्यपर्यायास्तेषां स्कन्धाः कथ्यन्ते तेन आत्मपर्यायस्योपरि पुद्गलपर्यायस्य उपचरणात्स्कन्धा व्यपदिश्यन्ते व्यवहारात् ॥

अथ द्रव्ये गुणोपचारः ।

द्रव्ये गुणोपचारश्च, गौरोऽहमिति द्रव्यके ।
पर्यायस्योपचारश्च, अहं देहीति निर्णयः ॥ ७ ॥

यथाहं गौर इति ब्रुवतामहमित्यात्मद्रव्यम् तत्र गौर इति पुद्गलस्योज्ज्वलताख्यो गुण उपचरितः । ४ । अथवा द्रव्ये पर्यायोपचारः । अथ वा "अहं देहीति निर्णयः" इत्यत्र अहमिति आत्मद्रव्यं तत्रात्मद्रव्यविषये देहीति देहमस्यास्तीति देही देहमिति पुद्गलद्रव्यस्य समानजातीयद्रव्यपर्याय उपचरितः ॥ ५ ॥

गुणे द्रव्योपचारश्च, पर्यायेऽपि तथैव च ।
गौर आत्मा देहमात्मा, दृष्टान्तौ हि क्रमात्तयोः ॥ ८ ॥

गुणे द्रव्योपचारश्च तथा पर्याये गुणोपचारश्च । एवं द्वौ उपनयासद्भूतव्यवहारस्य भेदौ । अथ तयोरेवानुक्रमेण दृष्टान्तौ यथा "अयं गौरो दृश्यते स चात्मा" अत्र गौरमुद्दिश्यात्मनो विधानं क्रियते यत्तदिह गौरतारूपपुद्गलगुणोपरि आत्मद्रव्यस्योपचारपठनमिति । ६ । पर्याये द्रव्योपचारो यथा "देहमिति आत्मा" अत्र हि देहमिति देहाकारपरिणतानां पुद्गलानां पर्यायेषु विषयभूतेषु च आत्मद्रव्यस्योपचारः कृतः देहमेवात्मा देहरूपपुद्गलपर्यायविषय आत्मद्रव्यस्यापि त्रैकालिकस्योपचारः कृत इति सप्तमो भेदः । ७ । "अतति सातत्येन गच्छति तांस्तान्पर्यायानित्यात्मा" अत्र पर्यायाणां द्रव्यभावभेदितानां गमनप्रयोगो यद्यपीष्टस्तथापि असद्भूतव्यवहारविवक्षावशेन उपचारधर्मस्यैव प्राधान्यात् बहिः पर्यायावलम्बनेन कर्मजशुभाशुभपुद्गलपरिणतगौराख्यवर्णोपलक्षित आत्मा भासते तदा गौर आत्मेति प्रतीतिर्जायते अन्यथा आत्मनः शुद्धस्याकर्मणः कुतो गौरत्वध्वनिः । अत एव उपचारधर्मो देहमात्मेत्यत्र तु औदारिकादिपुद्गलप्रणीतं देहमौदयिकेनाश्रित आत्मा उपलक्ष्यते तदा देहमात्मेति उपचारध्वनिः ॥ ८ ॥

अथाष्टमभेदोत्कीर्तनमाह ।

गुणे पर्यायचारश्च, मतिज्ञानं यथा तनुः ।
पर्याये गुणचारोऽपि, शरीरं मतिरिष्यते ॥ ९ ॥

गुणे पर्यायोपचारः पर्यायचार इति उपचारो वाच्यो भीमो भीमसेन इति वत् । यथा मतिज्ञानम् तदेव शरीरशरीरं शरीरजन्यं वर्तते ततः कारणात् अत्र मतिज्ञानरूपात्मकगुणविषये शरीररूपपुद्गलपर्यायस्योपचारः कृतः । ८ । अथ नवमभेदोत्कीर्तनमाह । पर्याये गुणोपचारः यथा हि पूर्वप्रयोगजमन्यथा क्रियते यतः शरीरे तदेव मतिज्ञानरूपो गुणोऽस्ति अत्र हि शरीररूपपर्यायविषये मतिज्ञानरूपाख्यस्य गुणस्योपचारः क्रियते शरीरमिति पर्यायः तस्मिन् विषये मतिज्ञानाख्यो गुणस्तस्य चोपचारः कृतः अत्र च अष्टमनवमविकल्पयोः समविषमकरणेनोपचारो विहितस्तत्रापि सहभाविनो गुणाः क्रमभाविनः पर्यायाः सहभावित्वं च द्रव्येण क्रमभावित्वमपि द्रव्येणैव ज्ञेयमतो द्रव्यस्यैव गुणाः पर्याया अपि द्रव्यस्यैव गुणपर्याययोः पर्यायगुणयोश्च परस्परमुपचारो व्यवहारः कृतः । यत्रोपचारस्तत्र निदर्शनमात्रमेव विसदृशधर्मित्वेन धर्मारोपवत् । किं च मतिज्ञानमात्मनः कश्चिदुल्लिखितो गुणः । शरीरं च पुद्गलद्रव्यस्य समवायिकारणं यथा मृत्पिण्डो घटस्य समवायिकारणमितिवत् । एवं सति उपचारो आ-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यते परेण परस्योपचारात् स्वस्य स्वेनोपचारासंभवः यथा मृत्पिण्डस्य घटेन, तन्तूनां पटेनेत्येवमसद्भूतव्यवहारो नवधा उपदिष्टः । उपचारबलेन नवधोपचाराः कृताः । ९ ।

अथ तस्यैवासद्भूतव्यवहारस्य भेदत्रयं कथ्यते ।

असद्भूतव्यवहार, एवमेव त्रिधा भवेत् ।
तत्राद्यो निजया जात्या-ऽप्यनुभूरिप्रदेशयुक् ॥ १० ॥

असद्भूतव्यवहार एवं पूर्वोक्तरीत्यैव त्रिधा त्रिप्रकारो भवेत्तत्र त्रिषु भेदेषु आद्यो भेदो यथा परमाणुर्बहुप्रदेशी कथ्यते कथमेतत् परमाणुस्तु निरवयवोऽतः निरवयवस्य प्रसदेशत्वं नास्ति तथापि बहुप्रदेशानां सांसर्गिकी जातिः परमाणुरस्ति यथाहि द्व्यणुकत्र्यणुकादिस्कन्धादयः ॥ अथद्वितीयो भेदश्च ।

विजात्यापि स एवान्यो, यथा मूर्तिमती मतिः ।
मूर्तिमद्भिरपि द्रव्यै-र्निष्पन्ना चोपचारतः ॥ ११ ॥

यथा स एव असद्भूतः विजात्या वर्तते यथा वा मूर्तिमती मतिः मतिज्ञानं मूर्तं कथितं तत्तु मूर्तविषयालोकमनस्कारादिकेभ्य उत्पन्नं तस्मान्मूर्तम् । वस्तुतस्तु मतिज्ञानमात्मगुणः तस्य चापौद्गलिकस्य मूर्तिपुद्गलगुणोपचारः कृतः स तु विजात्या असद्भूतव्यवहारः ।

अथ तृतीयमाह ।

स्वजात्या च विजात्याऽपि, असद्भूतस्तृतीयकः ।
जीवाजीवमयं ज्ञानं, व्यवहाराद्यथोदितम् ॥ १२ ॥

स एव पुनरसद्भूतव्यवहारः स्वजात्या विजात्या च संबन्धितः कथितः यथा जीवाजीवविषयं मतिज्ञानम् अत्र हि जीवो मतिज्ञानस्य स्वजातिरस्त्यात्मनो ज्ञानमयत्वात् । अजीवो मतिज्ञानस्य विजातिरस्ति । यद्यपि मतिज्ञानादिविषयीभूतघटोऽयमिति ज्ञानं तथापि विजातिजडचेतनसंबन्धात् अनयोर्जीवाजीवयोर्विषयविषयिभावनामा उपचरितसंबन्धोऽस्ति स हि स्वजातिविजात्यसद्भूतव्यवहारोऽस्ति तद्भावनमेव ज्ञेयं स्वजात्यंशे किं नायं सद्भूत इति चेद्विजात्यंशे विषयतासंबन्धस्योपचरितस्यैवानुभवादिति गृहाणेति व्यवहाराद्यथोदितं तथा विचारयेति पद्यार्थः ॥

अथोपचरितासद्भूतस्य लक्षणमाह ।

यत्रैकेनोपचारेणो-पचारो हि विधीयते ।
स स्यादुपचरिताद्य-सद्भूतव्यवहारकः ॥ १३ ॥

यत्र पुनरेकेन उपचारेण कृत्वा द्वितीय उपचारो विधीयते स हि उपचरितोपचरितो जात उपचरितासद्भूतव्यवहार इति नाम लभत इत्यर्थः ॥

अथोदाहरणमाह ।

स्वजात्या तं विजानीत, योऽहं पुत्रादिरस्मि वै ।
पुत्रमित्रकलत्राद्या, मदीया निखिला इमे ॥ १४ ॥

तमुपचरितासद्भूतं स्वजात्या निजशक्त्या उपचरितसंबन्धेन असद्भूत व्यवहारं जानीत संबन्धकल्पनं यथा अहं पुत्रादिः । अहमित्यात्मपर्यायः पुत्रादिरिति परपर्यायः अहं पुत्रादिरिति संबन्धकल्पनम् । पुनः पुत्रमित्रकलत्राद्या निखिला इमे मदीयाः संबन्धिनः । अत्र अहं मम चेत्यादिकथनं पुत्रादिषु तद्धि उपचरितेन उपचरितं तत्कथ पुत्रादयो हि आत्मनो भेदाः स्ववीर्यपरिणामत्वात् अभेदसंबन्धः परम्पराहेतुतयोपचारितः पुत्रादयस्तु शरीरात्मकपर्यायरूपेण स्वजातिः परं तु कल्पनमात्रं न चेदेवं तर्हि स्वशरीरसंबन्धयोजनया संबन्धः कथितः पुत्रादीनां तथैव मत्कुणादीनामपि पुत्रव्यवहारः कथं न कथित इति ॥

अथविजात्या असद्भूतव्यवहारः ।

विजात्या किल तं वित्त, योऽहं वस्त्रादिरद्भुतः ।
वस्त्रादीनि ममैतानि, वप्रदेशादयो द्विधा ॥

विजात्युपचरितासद्भूतव्यवहारं प्रकटयति किल इति सत्ये तं असद्भूतव्यवहारं विजात्या उपचरितं विजानीत यत्र अहं वस्त्रादि अहमिति संबन्धिवचनं वस्त्रादिरिति संबन्धवचनमहं वस्त्रादिरिति उपचरितं सर्वोऽपि व्यतिकरः असद्भूतव्यवहारः संबन्धसंबन्धिकल्पनत्वात् अथ च तानि वस्त्रादीनि मम सन्ति अत्र हि वस्त्रादिकानि पुद्गलपर्यायाणि ममेति संबन्धयोजनया भोज्यभोजकभोगभोगिकोपचारकल्पनमात्रपराणि भवन्तीति निष्कर्षः । अन्यथा वल्कलादीनां वा नेपालानां पुद्गलानां शरीराच्छादनसमर्थानामपि मम वस्त्राणीति उपचारसंबन्धकल्पनं कथं न कथ्यते वस्त्रादीनि हि विजातिषु स्वसंबन्धोपचरितानि सन्तीति भावः । पुनः वप्रदेशादयोऽपि द्विधेति वप्रादिरहं वप्रदेशादयो ममेति कथयता स्वजातिविजात्युपचरितासद्भूतव्यवहारो भवेत् कथं वप्रदेशादयो हि जीवाजीवात्मकोभयसमुदायरूपाः सन्ति ॥

अथ संक्षेपमाह ।

इत्थं समे चोपनयाः प्रदिष्टाः, स्याद्वादमुद्रोपनिषत्स्वरूपाः ।
विज्ञाय तान् शुद्धधियः श्रयन्तां, जिनक्रमाम्भोजयुगं महीयः ॥

इत्थमनया दिशा समे नयाः च पुनः उपनयाः प्रदिष्टाः कथिताः । कीदृशास्ते स्याद्वादस्य श्रीजिनागमस्य या मुद्रा शैली तस्या उपनिषत्स्वरूपा रहस्यरूपाः सन्ति । तान् सर्वानपि विज्ञाय ज्ञात्वा शुद्धधियः निर्मलबुद्धयः श्रयन्तामङ्गीकुर्वतां किं जिनक्रमाम्भोजयुगं वीतरागचरणकमलं श्रयन्तामित्यर्थः । द्र० ७ अध्या० ।

उवणयण-उपनयन-न० ढौकने, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । कलाग्राहणे, भ. ११ श० ११ उ० । उपनयार्थे समीपप्रापणे च ॥

एवम्भूतमुपनयनं कदा प्रवृत्तमित्याह ।

उपणयणं तु कलाणं, गुरुमूले साधुणो तवो कम्म ।
घेत्तुं हवंति सड्ढा, केई दिक्खं पव्वजंति ॥

उपनयनं नाम तेषामेव बालानां कलानां ग्रहणाय गुरोः कलाचार्यस्य मूले समीपे नयनम् । यदि वा धर्मश्रवणनिमित्तं साधोः सकाशे नयनमुपनयनं तस्माच्च साधोर्धर्मं गृहीत्वा केचित् श्राद्धा भवन्त्यपरे लघुकर्माणो दीक्षां प्रपद्यन्ते एतच्चोभयमपि तदा प्रवृत्तम् । आ० म० प्र० । आ० चू० । रा० ।

उवणयाभास-उपनयाभास-पुं० हेतोः साध्यधर्मिण्युपसंहरणमुपनयस्य लक्षणोल्लङ्घनेनोपनयवदाभासमाने, परिणामी शब्दः कृतकत्वात् यः कृतकः स परिणामी यथा कुम्भ इत्यत्र परिणामी च शब्द इति कृतकश्च कुम्भ इति । इह साध्यधर्मं साध्यधर्मिणि च साधनधर्मं वा दृष्टान्तधर्मिण्युपसंहरत उपनयाभासः । रत्ना० ।

उवणयावणयचउक्क-उपनयापनयचतुष्क-न० षोडशवचनानां वचनचतुष्के, तयोपनयापनयवचनं चतुर्द्धा भवति । तद्यथा उपवचनापनयवचनं तथा उपनयोपनयवचनं तथा अपनयोपनयवचनं तथा अपनयापनयवचनमिति । तत्रोपनयो गुणोक्तिरपनयो दोषभाषणम् । तत्र स्वरूपेयं रामा परं दुःशीला इत्युपनयापनयवचनम् । तथा सुरूपेयं स्त्री सुशीलेत्युपनयोपनयवचनम् । तथा कुरूपेयं स्त्री परं सुशीला इत्यपनयोपनयवचनम् । तथा कुरूपेयं कुशीला चेत्यपनयापनयवचनमिति ॥ यद्वा उपनयः स्तुतिरपनयो निन्दा तयोर्वचनचतुष्कम् । यथा रूपवती स्त्रीत्युपनयवचनं कुरूपा स्त्रीत्युपनयवचनं रूपवती किं तु कुशीलेत्युपनयापनयवचनं कुरू-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पा स्त्री किं तु सुशीलेत्यपनयोपनयवचनमिति। प्रव० १४० द्वा०।

उवणिक्खित्त–उपनिक्षिप्त–त्रि० व्यवस्थापिते, "अंतलिक्खजायंसि उवणिक्खित्ते सिया"। आचा० २ श्रु० ॥

उवणिक्खेव–उपनिक्षेप–पुं० उप–नि–क्षिप्–कर्मणि घञ्। रूपसंख्याप्रदर्शनेन रक्षणार्थं परस्य हस्ते निहिते द्रव्ये, स चोपनिक्षेपो द्विधा लौकिकोलोकोत्तरिकश्च। पुनरेकैको द्विधा आत्मोपनिक्षेपः परोपनिक्षेपश्च। तत्र लौकिक आत्मनिक्षेपो ये प्रगल्भास्ते आत्मनैवात्मानं राज्ञः उपनिक्षिपन्ति तिष्ठन्ति च चरणापपातकारकाः प्रपन्नशरणा ये पुनरप्रगल्भास्ते ये राज्ञो वल्लभास्तैरात्मानमुपनिक्षेपयन्ति। एष परोपनिक्षेपः। लोकोत्तरिक आत्मनिक्षेपो गच्छवर्त्तिनां साधूनां तथा हि ये गच्छे एव वर्तन्ते साधवस्ते आत्मानमात्मनैवाभिनवाचार्यस्योपनिक्षिपन्ति परनिक्षेपः फड्डगतानां ते हि समागताः स्पर्द्धकपतिना निक्षिप्यन्ते यथा एते अहं च युष्माकमिति। "इह मिथियाइं अस्से कउवसंपज्जणारिहे" इत्याद्युक्तं तत्र यद्यपि सगीतार्थस्तरुणः समर्थश्चेन्द्रिय नोइन्द्रियाणां निग्रहं कर्त्तुं तथापि तेनान्यो गणो निश्रयितव्यो निश्रयस्य च परप्रत्ययनिमित्तं तत्रापि निक्षेपः कर्त्तव्यः। व्य० द्वि० ४ उ०।

उवणिग्गय–उपनिर्गत–त्रि० उप सामीप्येन निर्गतो निष्क्रान्त उपनिर्गतः। सामीप्येन निष्क्रान्ते, "हत्थिणावलग्गहणे। नामेणं संजए नाम, मिगवं उवणिग्गए"॥ उत्त० १८ अ०। "उवणिग्गयणवतरुणपत्तपल्लवकोमलउज्जलचलंतकिसलयसुकुमालपवालसोहियवरंकुरग्गसिहरा" उपनिर्गतैर्नवतरुणपत्रपल्लवैस्त्यानिनवपत्रगुच्छैस्तथा कोमलोज्ज्वलैश्चलद्भिः किशलयैः पत्रविशेषैः तथा सुकुमारप्रवालैः शोभितानि वराङ्कुराणि अग्रशिखराणि येषान्ते तथा (वनखण्डः) औ०।

उवणिमंतण–उपनिमन्त्रण–न० भिक्षो! गृहाणेदं पिण्डद्वयमित्यभिधाने, भ० ८ श० ६ उ० ॥

उवणिय–उपनीत–त्रि० उप–नी–क्त। पानीयादिष्वित् ८।१।१०१। इति ईत इत्। ढौकिते, प्रा० ॥

उवणिविट्ठ–उपनिविष्ट–त्रि०सामीप्येन स्थिते, "तेणं तोरणा णाणामणिमएसु खंभेसु उवणिविट्ठसंणिविट्ठा विविहमुत्तंतरोवचिता" उपनिविष्टानि सामीप्येन स्थितानि तानि च कदाचिच्चलानि। अथवा अपदपतितानीतिशङ्क्येरन्नुत तत आह सम्यग् निश्चलतया अपदपरिहारेण च निविष्टानि ततो विशेषणसमासः उपनिविष्टसन्निविष्टानि। रा०। जं० ॥

उवणिसया–उपनिषद्–स्त्री० वेदान्तदर्शनप्रवृत्तौ, तथाप्युपनिषद्दृष्टि–सृष्टिवादात्मिका परा॥ न० ॥

उवणिहा–उपनिधा–स्त्री० उप निधानमुपनिधा धातूनामनेकार्थत्वात्। मार्गणायाम्, । क० प्र०। पं० सं०।

उवणिहि–उपनिधि–पुं० उपनिधीयत इत्युपनिधिः। प्रत्यासन्नं यथाकथञ्चिदानीते,। स्था० ५ ठा०। उप सामीप्येन निधिरुपनिधिः। एकस्मिन्विवक्षितार्थे पूर्वं व्यवस्थापिते, तत्समीप एवापरापरस्य आनुपूर्वीशब्दोक्ते पूर्वानुपूर्व्यादिक्रमेण निक्षेपणे, निक्षेपे, विरचने, अनु० ॥

उवहिणिय–उपनिहित–त्रि० यथा कथञ्चिदासन्नीभूते, सूत्र० २ श्रु० २ अ०।

उवणिहियय–उपनिहितक–पुं० उपनिहितं यथाकथञ्चिदासन्नीभूतं तेन चरन्ति ये ते उपनिहितकाः। अभिग्रहविशेषोपयुक्ते भिक्षाचरके, सूत्र० २ श्रु० २ अ०।

उवणीय–उपनीत–त्रि० उप–नी–क्त–उपढौकिते, उत्त० ४ अ०॥ प्रश्न०। विशे०। सूत्र०। प्रापिते, स्था० १० ठा०। आचा०। "कालोवणीए कंखेज्जा" कालेनोपनीतः कालोपनीतो मृत्युकालेनात्मवशतां प्रापितः। आचा० १ श्रु० ६ अ० ५ उ०। उपनयं प्रापिते, व्य० १ उ०। अर्पिते, गमितं प्रदर्शितमुपनीतमर्पितमित्येकार्थाः। आ० चू० १ अ०। केनचित्कस्यचित्कुपढौकिते प्रहेणकादौ, औ०। समीपं प्रापिते, उत्त० ४ अ० निकटं समागते, उत्त० अ०। आसन्ने, सूत्र० २ श्रु० १ अ०। उपसंहारोपनययुक्ते सूत्रगुणभेदे,। अनु०। विशे०। उप सामीप्येन नीतः प्रापितो ज्ञानादावात्मा येन स तथा। ज्ञानादावुपढौकितात्मनि, सूत्र० १ श्रु० २ अ०।

उवणीयअवणीयवयण–उपनीतापनीतवचन–न० कश्चिद्गुणः प्रशस्यः कश्चिन्निन्द्यः यथा रूपवती स्त्री किन्त्वसद्वृत्तेति इति प्रशस्यनिन्द्यलक्षणे षोडशवचनानामन्यतमे, आचा० २ श्रु०।

उवणीयचरय–उपनीतचरक–पुं० केनचित्कस्यचित्कुपढौकितस्य प्रहेणकादेरभिग्रहतश्चरके, औ०।

उवणीयतर–उपनीततर–त्रि० आसन्नतरे, "इणमेव उवणीयतरागं माया मे पिया मे भाया मे" सूत्र० २ श्रु० १ अ०।

उवणीयरागत्त–उपनीतरागत्व–न० मालवदेशिकादिग्रामरागयुक्तारूपे सप्तमे सत्यवचनातिशये, औ०। स०। रा० ॥

उवणीयवयण– उपनीतवचन–न० प्रशंसावचने, यथारूपवती स्त्री इदं षोडशवचनानामष्टमम्। प्रज्ञा० ११ पद०।

उवणीयावणीयचरय–उपनीतापनीतचरक–पुं० उपनीतं ढौकितं सत्प्रहेणकाद्यपनीतं स्थानान्तरस्थापितमथवोपनीतं चापनीतं च यश्चरति स तथा। अथवा उपनीतं गायकेन वर्णितगुणमपनीतं निराकृतगुणमुपनीतापनीतं यदेकेन गुणेन वर्णितं गुणान्तरापेक्षया तु दूषितं यथा अहो शीतलं जलं केवलं क्षारमित्यभिग्रहविशेषयुक्ते भिक्षाचरके, औ० ॥

उवण्णत्थ–उपन्यस्त–त्रि० उपकल्पिते, दश० ५ अ० ॥

उवण्णास–उपन्यास–पुं० उप–नि–अस्–घञ्। उपादाने, "उपन्यासश्च शास्त्रेऽस्याः, कृतो यत्नेन चिन्त्यताम्" हा०। उपन्यसनमुपन्यासः। तद्वस्त्वादिलक्षणे ज्ञातभेदे, ॥

चत्तारि उवन्नासे, तव्वत्थुग अन्नवत्थुगे चेव।
पडिनिभए हेउम्मि, होंति इणमो उदाहरणा ॥ ८३ ॥

चत्वार उपन्यासे विचार्ये अधिकृते वा भेदा भवन्तीति शेषस्तेषामी सूचनात्सूत्रमिति कृत्वा तथाऽधिकारानुवृत्तेश्च तद्वस्तूपन्यासः। तथा तदन्यवस्तूपन्यासः तथा प्रतिनिभोपन्यासस्तथा हेतूपन्यासश्च। तत्रैतेषु भवन्त्यमूनि वक्ष्यमाणलक्षणानि उदाहरणानीति गाथाक्षरार्थः। भावार्थस्तु प्रतिभेदं स्वयमेव वक्ष्यति निर्युक्तिकारः। दश० १ अ०। (एतद्भेदस्वरूपनिरूपणं तत्तच्छब्दे द्रष्टव्यम्)

उवण्णासोवणय–उपन्यासोपनय–पुं० वादिना अभिमतार्थसाधनाय कृते वस्तूपन्यासे तद्विघटनाय यःप्रतिवादिना विरुद्धार्थोपनयः क्रियते पर्यनुयोगोपन्यासो वा य उत्तरोपनयः स उपन्यासोपनयः। ज्ञातभेदे, उत्तररूपमुपपत्तिमात्रमपि ज्ञातभेदो ज्ञानहेतुत्वादिति। यथा अकर्तात्मा अमूर्तत्वादाकाशवदित्युक्ते अन्य आह आकाशवदेवाभोक्तेत्यपि प्राप्तमनिष्टं चैतदिति। यथा वा मांसभक्षणमदुष्टंप्राण्यङ्गत्वादोदनादिवत् अत्राहान्य ओदनादिवदेव स्वपुत्रादिमांसभक्षणमप्यदुष्टमिति। यथा वा त्यक्तसङ्गा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वस्त्रपात्रादिसंग्रहं न कुर्वन्ति ऋषभादिवत् अत्राह कुणिककाद्यपि-ते न गृह्णन्ति तद्वदेवेति तथा कस्मात्कर्म कुरुषे यस्माद्भनार्थीति इह प्रथमं ज्ञातं समग्रसाधर्म्ये द्वितीयं देशसाधर्म्ये तृतीयं स-दोषं, चतुर्थे प्रतिवाद्युत्तररूपमित्थयमेषां स्वरूपविभाग इति । इह देशतः संवादगाथा "चरियं च कप्पियं वा, दुविहं तत्तो चउव्विहेक्केक्कं । आहरणे तद्देसे, तद्दोसे चेव उन्नासेत्ति ॥ ५ ॥ स्था॰ ४ ठा॰ । "उवणासोवणए चउव्विहे पन्नत्ते तं जहा तव्वत्थुतदन्नवत्थुए पडिणिभेदेहेउ" । स्था॰ ४ ठा॰ । (स्वस्व-स्थाने व्याख्या)

उवणेउ–उपनमय–अव्य॰ स्थापयित्वेत्यर्थे, । बृ॰ १ उ॰ ।

उवतल–उपतल–न॰ हस्ततलात्समन्तात्पार्श्वेषु, "हत्थतला उ समंता पासेसु अस्सया उवतलं जणंत्ति" । नि॰ चू॰ १ उ॰ ।

उवताव–उपताप–पुं॰ उप आधिक्ये तप–आधारे–घञ्–त्वरायां, भावे–घञ् सन्तापे, एयन्ततपेरच् । रोगे, मेदि॰ । करणे–घञ् । अशुभे, पीडने, रत्ना॰ । उपसर्गे, शरीरपीडनोत्पादने, ॥ सूत्र॰ १ श्रु॰ ३ अ॰ ।

उवतीर–उपतीर–अव्य॰ सामीप्यादौ अव्ययी॰। तीरसामीप्यादौ, "एसणं गोयमा महातवो व तीरप्पभवे" भ॰ ५ श॰ ५ उ॰ ।

उवत्थड–उपस्तीर्ण–त्रि॰ उपशब्दः सामीप्यार्थस्तृञ् च आच्छा-दनार्थः। उप स्तृ उत्पतद्भिर्निपतद्भिश्चानवरतक्रीडाशकैरुपर्युपर्यो च्छादिते, "अतिणा वितिणा उवत्थडासंथडा" भ॰ १ श॰१उ॰

उवत्थिय–उपस्थित–त्रि॰ उपनते, "दसविहा रुक्खा उवभोग-त्ताए उवत्थिया" ॥ स॰ ॥

उवदंसण–उपदर्शन–न॰ उपनयनिगमनाभ्यां निःशङ्कं शिष्यबु-द्धौ स्थापने, सकलनयाभिप्रायावतारणतः पटुप्रज्ञशिष्यबुद्धि षु व्यवस्थापने, नं॰ । स्था॰ ॥

उवदंसणकूड–उपदर्शनकूट–न॰ जम्बूद्वीपे मन्दरस्योत्तरेण नील-वतो वर्षधरपर्वतस्य द्वितीये कूटे, स्था॰ २ ठा॰ ।

उवदंसिज्जमाण–उपदर्श्यमान–त्रि॰ लोकैरन्योऽन्यं दर्श्यमाने, ज्ञा॰ १३ अ॰ ।

उवदंसिय–उपदर्शित–त्रि॰ उप सामीप्येन यथा श्रोतृणां झटिति यथावस्थितवस्तुतत्वावबोधो भवति तथा स्फुटवचनैरित्यर्थः द-र्शितः श्रवणगोचरं नीतः । उपदिष्टे, "उवदंसिया भगवया पन्न-वणा सव्वभावाणं" । प्रज्ञा॰ १ पद । सकलनययुक्तिनिर्दर्शिते, । ग॰ २ अधि॰ । अनु॰ ॥

उपदश्य–अव्य॰ उपदर्शनं कृत्वेत्यर्थे "अंगुलीए उवदंसिय २ णिज्झाएज्जा" आचा॰ २ श्रु॰ ।

उवदंसेमाण–उपदर्शयमान–त्रि॰ उपदर्शनं कारयति, "पुरिसक्का-रपरक्कम उवदंसेमाणे" स्था॰ ३ ठा॰ ॥

उवदीव–देशी–अन्यद्वीपे, दे॰ ना॰ ॥

उवद्दव–उपद्रव–पुं॰ उप–द्रु–भावे–घञ् । उत्पाते, रोगारम्भके, धातुवैषम्यजनिते विकारभेदे, उपसर्गे, स्था॰५ ठा॰ । अशिवे, । बृ॰४ उ॰ । मारणे, भ॰ ८ श॰ ७ उ॰ । तत्र प्रायश्चित्तं । "उवद्दवेणं खमणं चउत्थं" महा॰७ अ॰ ।

उवद्दवण–उपद्रावण– न॰ महापीडाकारणे, ध॰३अधि॰ ।

उवद्दविय–अपद्रावित– त्रि॰ उत्त्रासिते, आव॰४ अ॰ ।

उवप्पयाण–उपप्रदान–न॰ उप–प्र–दा–ल्युट्–अभिमतार्थदानरूपे नीतिभेदे, विपा॰ ३ अ॰ । ज्ञा॰ म॰ प्र॰ ॥

उवप्पव–उपप्लव–पुं॰उप–प्लु– अप् । भ्रमविषये, पु॰ "विकल्प तल्पमारूढः, शेषः पुनरुपप्लवः । द्वा॰ २४ द्वा॰ ।

उवप्पुयट्ठाणविवज्जण–उपप्लुतस्थानविवर्जन–न॰उपप्लुतं स्व-चक्रपरचक्रविक्षोभात् दुर्भिक्षमारीतिजनविरोधादेश्चास्वस्थी-भूतं यत्स्थानं ग्रामनगरादि तस्य विवर्जनं परिहरणम् । सामा-न्यतो गृहिधर्मभेदे, " तत्र सामान्यतो गृहि–धर्म्मो न्यायार्जितं धनम् । इन्द्रियाणां जय उप–प्लुतस्थानविवर्जनम्" अत्यत्यज्य-माने हि तस्मिन् धर्म्मार्थकामानां पूर्वार्जितानां विनाशेन नव्यानां चानुपार्जनेनोभयलोकभ्रंश एव स्यात् ॥ ध॰ १ अधि॰ ।

उवभुत्त–उपभुक्त–त्रि॰ उप–भुज्–क्त । कृतोपभोगे वस्तुनि, । उपपादिते, आचा॰१श्रु॰२ अ॰१ उ॰ । उपभुक्तभोगे, व्य॰३उ॰ ।

उवभोग–उपभोग–पुं॰उप–भुज्–घञ् । उपभोजने, आचा॰१श्रु॰ २अ॰२उ॰ । उपेत्य अधिकं पुनरुपयुज्यमानतया भुज्यते इत्युपभोगः पुनः पुनरुपभोग्यभवनाङ्गनादौ, "सति भुज्ज इति भोगो, सो पुण आहारपुप्फमाईतो । उवभोगो उ पुणो पुण, उवभुज्जइ भवणवल-याइ" उत्त ३३ अ॰ । उपा॰ । कर्म॰ । धर्म॰ । आ॰चू॰ । श्रा॰ ।

साम्प्रतमुपभोगादिभेदमाह–

उवभोगपरिभोगवए दुविहे पण्णत्ते तंजहा भोअणओ कम्मओ अ भोअणओ समणोवासएणं इमे पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तंजहा सचित्ताहारे १ सचि-त्तपडिबद्धाहारे २ अप्पोलिओसहिभक्खणया सचित्तस-मिस्साहारे ३ (पाठान्तरे) दुप्पोलिओसहिभक्खणया ४ तुच्छोसहिभक्खणया ५ । आव॰ ६ अ॰ ॥

उप भुज्यत इत्युपभोगः उपशब्दः सकृदर्थे वर्तते सकृद्भोग उप-भोगः । अशनपानादौ, अथवा अन्तर्भोग उपभोगः । आहारादौ, उपशब्दोऽत्रान्तर्वचनः । ध॰ २ अधि॰ । आचा॰ । गन्धरूपादि-षये, तं॰ । (पृथ्वीकायानामप्कायानां चोपभोगः पुढव्यादिशब्देषु)

उवभोगंतराय–उपभोगान्तराय– न॰ अन्तरायकर्मभेदे, यस्यो-दयात्सदपि वस्त्रालंकारादि नोपभुङ्क्ते । उत्त॰ ३३ अ॰ । पं॰स॰ । कर्म॰ । स॰ ॥

उवभोगपरिभोगपरिमाण–उपभोगपरिभोगपरिमाण–न॰ उप-भोगः सकृद्भोगः स चाशनपानानुलेपनादीनां परिभोगस्तु पुनः पुनर्भोगः सचाशनशयनवसनवनितादीनां तयोः परिमाणम् देशोत्तरगुणप्रत्याख्यानभेदे, भ॰७श॰ २ उ॰ । उपभुज्यते इत्यु-पभोगः । उपशब्दः सकृदर्थे वर्तते सकृद्भोग उपभोगः अशनपा-नादेः अथवान्तर्भोग उपभोगः आहारादिः उपशब्दोऽत्रान्तर्व-चनः परिभुज्यत इति परिभोगः परिशब्दोऽसकृद्वृत्तौ वर्तते पुनः पुनर्भोगः परिभोगो वस्त्रादेः बहिर्भोगो वा परिभोगो वसनालङ्का-रादेरत्र परिशब्दो बहिर्वाचक इति एतद्विषयं व्रतमुपभोगपरिभोग व्रतम् । ध॰२अधि॰ । एतावदिदं भोक्तव्यमुपभोक्तव्यं वाऽतोऽन्यन्नैवं रूपे द्वितीयेऽणुव्रते, श्रा॰ । इदं च द्विविधं भोजनतः कर्मतश्च । उप-भोगपरिभोगयोरासेवाविषययोर्वस्तुविशेषयोस्तदुपार्जनोपायभू-तकर्मणां चोपचारादुपभोगादिशब्दवाच्यानां व्रतमुपभोगपरि-भोगव्रतमिति व्युत्पत्तिः (ध॰) भोगतः कर्मतश्च । भोगोऽपि द्विधा उपभोगपरिभोगभेदात् तत्र उप इति सकृत् भोग आहारमा-ल्यादेरासेवनमुपभोगः । परीत्य सकृत्भोगो भवनाङ्गनादीनामा-सेवनं परिभोगः । तत्र गाथामाह ।

मज्जम्मि य मंसम्मि य, पुप्फे य फले य गंधमल्ले य ।
उवभोगपरिभोगे, बीयम्मि गुणव्वए निंदे ॥ २० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रावकेण तावदुत्सर्गतः प्रासुकैषणीयाहारिणा भाव्यम् । असति सचित्तपरिहारिणा तदसति बहुसावद्यमद्यादीन् वर्जयित्वा प्रत्येक मिश्रादीनां कृतप्रमाणेन भवितव्यम् । तत्र मद्यं मदिरा मांसं पिशितं च शब्दाच्छेषाभक्ष्यद्रव्याणामनन्तकायादीनां च ग्रहः । तानि च प्रागुक्तानि पञ्चोदुम्बर्यादीनि पुष्पाणि करीरमधुकादिकुसुमानि चशब्दात् असंसक्तपत्रादिपरिग्रहः । फलानि जम्बूबिल्वादीनि एषु च मद्यादिषु राजव्यापारादिषु वर्तमानेन यत्किंचित्कायणादि कृतं तस्मिन् एतैरन्तर्भोगः सूचितः बहिस्त्वयं (गंधमल्लेति) गन्धा वासाः माल्यानि पुष्पस्रजः अस्योपलक्षणत्वाच्छेषभोग्यवस्तुपरिग्रहः । तस्मिन्नुक्तरूपे उपभोगपरिभोगे भीमो भीमसेन इति न्यायादुपभोगपरिभोगपरिमाणाख्ये द्वितीये गुणव्रते अनाभोगादिना यदतिक्रान्तं तन्निन्दामि । (ध०) । तत्र भोजनत उत्सर्गेण निरवद्याहारभोजिना भवितव्यम् कर्मतोऽपि प्रायो निरवद्यकर्मानुष्ठानयुक्तेनेति । अत्रेयं भावना । श्रावकेण हि तावदुत्सर्गतः प्राशुकैषणीयाहारभोजिना भाव्यम् तस्मिन्नसति सचित्तपरिहारः कार्यस्तस्याप्यशक्तौ बहुसावद्यान्मद्यामिषानन्तकायादीन् वर्जयता प्रत्येकमिश्रसचित्तादीनां प्रमाणं कार्यं भणितं च "निरवज्जाहारेणं, १ निज्जीवेणं २ परित्तमीसेणं ३। अत्ताणुसंधणपरा, सुसावगा एरिसा हुंति १" एवमुत्सन्नादिविशेषं विनाऽत्यन्तचेतो गृध्न्युन्मादजनापवादादिजनकमत्युद्भटवेषवाहनालङ्कारादिकमपि श्रावको वर्जयेत् यतः "अइरोसो अइतोसो, अइहासो दुज्जणेहिं संवासो । अइउब्भडो य वेसो, पंच वि गुरुअं पि लहुअं पि १" अतिमलिनाः अतिस्थूलह्रस्वसच्छिद्रवस्त्रादिसामान्यवेषपरिधानेऽपि कुचेलत्वकार्पण्यादिजनापवादोपहसनीयतादि स्यादतः स्ववित्तवयोऽवस्थानिवासस्थानकुलाद्यनुरूपवेषं कुर्यात् । उचितवेषादावपि प्रमाणनैयत्यं कार्यम् । एवं दन्तकाष्ठाभ्यङ्गतैलोद्वर्तनमज्जनवस्त्रविलेपनाभरणपुष्पफलधूपासनशयनभवनादिस्तथौदनसूपस्नेहशाकपेयः खण्डखाद्याद्यशनपानखादिमस्वादिमादेस्त्यक्तुमशक्यस्य व्यक्त्या प्रमाणं कार्यं शेषं च त्याज्यमानन्दादिसुश्रावकवत् । कर्मतोऽपि श्रावकेण मुख्यतो निरवद्यकर्मप्रवृत्तिमता भवितव्यं तदशक्तावप्यत्यन्तसावद्यविवेकिजननिन्द्यक्रयविक्रयादि कर्म वर्जनीयं शेषकर्मणामपि प्रमाणं करणीयम् यतः "रंधणखंडणपीसण-दलणं पयणं च पयमाईणं । निच्चपरिमाणकरणं, अविरइबंधो जओ गुरुओ" आवश्यकचूर्णावप्युक्तम् ॥ इह चेयं सामाचारी "भोअणओ सावगो उस्सग्गेण फासुगं आहारं आहारेज्जा तस्सासति अफासुगमपि सच्चित्तवज्जं तस्स असति अणंतकायबहुबीयगाणि परिहरिअव्वाणि इमं च अप्पं भोअणओ परिहरइ असणे अणंतकायं अल्लगमूलगाइमंसं च पाणे मंसरसमज्जाइ खादिमे उदुंबरका उंबरवडपिप्पलपिलंखुमादिसादिमे मधुमक्खियादि । अचित्तं च आहारेअव्वं जदा किर ण होज्ज अचित्तो तो उस्सग्गेण असंपच्चक्खाइ ण तरइ ताहे अववाएण सच्चित्तं अणंतकायं बहुबीअगवज्जं कम्मओवि अकम्मा ण तरइ जीविउं ताहे अच्चंतसावज्जाणि परिहरिज्जंति त्ति" इत्थं चेदं भोगोपभोगव्रतं भोक्तुं योग्येषु परिमाणकरणेन भवति इतरेषु तु वर्जनेनेति पर्यवसितमिति च श्लोकत्रयेण वर्जनीयानाह ॥

चतुर्विकृतयो निन्द्या, उदुम्बरकपञ्चकम् ।
हिमं विषं च करका, मृज्जाति रात्रिभोजनम् ॥ ३२ ॥
बहुबीजाज्ञातफले, सन्धानानन्तकायिके ।
वृन्ताकं चलितरसं, तुच्छं पुष्पफलादि च ॥ ३३ ॥
आमगोरससंपृक्तं, द्विदलं च विवर्जयेत् ।
द्वाविंशतिरभक्ष्याणि, जैनधर्माधिवासितः ॥ ३४ ॥

त्रिभिर्विशेषकम् । जैनधर्मेणार्हतधर्मेणाधिवासितो भावितात्मा पुमान् (द्वाविंशतिः) द्वाविंशतिसंख्याकान्यभक्ष्याणि भोक्तुमनर्हाणि वर्जयेत् त्यजेदिति तृतीयश्लोकान्तेन संबन्धः । तान्येवाह । (चतुर्विकृतय इति) चतुरवयवा विकृतयश्चतुर्विकृतयः शाकपार्थिवादित्वात्समासः कीदृश्यस्ता निन्द्याः सकलशिष्टजननिन्दाविषया मद्यमांसमधुनवनीतलक्षणा इत्यर्थः । तद्वर्णानेकजीवसम्मूर्छनात् । तथा चाहुः "मज्जे महुम्मि मंसम्मि, नवणीए चउत्थए । उप्पज्जंति चयंति अ, तव्वण्णा तत्थ जंतुणो" १ परेऽपि "मद्ये मांसे मधूनि च, नवनीते चतुर्थके । उत्पद्यन्ते विलीयन्ते, सुसूक्ष्मा जन्तुराशयः" इति । तत्र मद्यं मदिरा तच्च द्विधा काष्ठनिष्पन्नं पिष्टनिष्पन्नं चेति । एतच्च बहुदोषाश्रयान्महानर्थहेतुत्वाच्च त्याज्यं यदाह " गुरुमोहकलहनिद्दा, परिभवउवहासरोसमयहेऊ । मज्जं दुग्गइमूलं, हिरिसिरिमइधम्मनासकरं ॥ १ ॥ तथा "रसोद्भवाश्च भूयांसो, भवन्ति किल जन्तवः । तस्मान्मद्यं न पातव्यं, हिंसापातकभीरुणा ॥२॥ दत्तं न दत्तमात्तं च, नात्तं कृतमथाकृतम् । मृषोद्यराज्यादिवहा-स्वैरं वदति मद्यपः ॥ ३ ॥ गृहे बहिर्वा मार्गे वा, परद्रव्याणि मूढधीः । वधबन्धादिनिर्भीको, गृह्णात्याच्छिद्य मद्यपः ॥ ४ ॥ बालिकां युवतीं वृद्धां, ब्राह्मणीं श्वपचामपि । भुङ्क्ते परस्त्रियं सद्यो, मद्योन्मादकदर्थितः ॥ ५ ॥ विवेकः संयमो ज्ञानं, सत्यं शौचं दया क्षमा । मद्यात्प्रलीयते सर्वं, तृण्या वह्निकणादपि ॥ ६ ॥ श्रूयते किल शाम्बेन, मद्यान्धकविष्णुना । हतं वृष्णिकुलं सर्वं, प्लोषिता च पुरी पितुः ॥७॥" मांसं च त्रेधा जलचरस्थलचरखचरजन्तूद्भवभेदाच्चर्मरुधिरमांसभेदाद्वा । तद्भक्षणमपि महापापमूलत्वाद्वर्ज्यं यदाहुः "पंचिंदियवहभूअं, मंसं दुग्गंधमसुइबीभच्छं । रक्खपरितुलिअभक्खग—मामयजणयं कुगइ मलं ॥ १॥ " आमासु अ पक्कासु अ, विपच्चमाणासु मंसपेसीसु । सययं चिअ उववाओ, भणिओ अ निगोअजीवाणं " ॥ २ ॥ योगशास्त्रेऽपि । सद्यः सम्मूर्छितानन्त-जन्तुसंतानदूषितम् । नरकाध्वनि पाथेयं, कोऽश्नीयात्पिशितं सुधीः ॥३॥" सद्योहि जन्तुविशसनकाल एव सम्मूर्छिता उत्पन्ना अनन्ता निगोदरूपा ये जन्तवस्तेषां सन्तानः पुनः पुनर्भवनं तेन दूषितमिति तद्भक्षितुः मांसभक्षकस्य च घातकत्वमेव । यतः "हन्ता पलस्य विक्रेता, संस्कर्ता भक्षकस्तथा । क्रेतानुमन्ता दाता च, घातका एव यन्मनुः ४ तथा भक्षकस्यैवान्यपरिहारेण वधकत्वं यथा "ये भक्षयन्त्यन्यपलं, स्वकीयपलपुष्टये । त एव घातका यन्न, वधको भक्षकं विना ५" इति मधु च माक्षिकं १ कौत्तिकं २ भ्रामरं ३ चेति त्रिधा इदमपि बहुप्राणिविनाशसमुद्भवमिति हेयम् । यतः "अनेकजन्तुसंघात-निघातनसमुद्भवम् । जुगुप्सनीयं लालावत्कः स्वादयति माक्षिकमिति" नवनीतमपि गोमहिष्यजाविसंबन्धेन चतुर्धा तदपि सूक्ष्मजन्तुराशिखानित्वात्त्याज्यमेव । यतः " अन्तर्मुहूर्तात्परतः, सुसूक्ष्मा जन्तुराशयः । यत्र मूर्छन्ति तन्नाद्यं, नवनीतं विवेकिभिरिति । ४ । तथा उदुम्बरकेणोपलक्षितं पञ्चकं वट १ पिप्पलो २ उदुम्बर ३ प्लक्ष ४ काकोदुम्बरी ५ फललक्षणं उदुम्बरकपञ्चकं मशकाकारसूक्ष्मबहुजीवाकीर्णत्वाद्वर्जनीयम् । ततो योगशास्त्रे " उदुम्बरवटप्लक्ष-काकोदुम्बरशाखिनाम् । पिप्पलस्य च नाश्नीयात्फलं कृमिकुलाकुलम् । १ लोकेपि "कोऽपि क्वापि कुतोऽपि कस्यचिद्दो चेतस्यकस्माज्जनः, केनापि प्रविशत्युदुम्बरफलप्रा-

णि क्रमेण क्षणात् । येनास्मिन्नपि पाटिते विघटिते विस्फोटिते त्रोटिते, निष्पिष्टे परिगालिते विदलिते निर्यात्यसौ वा न वा ए तथा हिमं तुहिनं तदप्यसंख्येयाप्कायरूपत्वात्त्याज्यम् १० विषमहिफेनादि मन्त्रोपहतवीर्यमप्युदरान्तर्वर्तिगण्डोलकादिजीवघातहेतुत्वान्मरणसमये महामोहोत्पादकत्वाच्च हेयम् ११ करका द्रवीभूता आपः । असंख्याप्कायित्वात्त्याज्याः ॥ नन्वेवमसंख्याप्कायित्वेनाऽभक्ष्यत्वे जलस्याप्यभक्ष्यत्वापत्तिरिति चेत्सत्यम् । असंख्यजीवमयत्वेऽपि जलमन्तरा निर्वाहाभावान्न तस्य तथोक्तिः १२ तथा मृज्जातिः सर्वा अपि मृत्तिका दर्दुरादिपञ्चेन्द्रियप्राण्युत्पत्तिनिमित्तत्वादिना मरणाद्यनर्थकारित्वात् त्याज्याः । जातिग्रहणं खटिकादिसूचकं तद्भक्षणस्यामाश्रयादिदोषजनकत्वात् । मृद्ग्रहणं चोपलक्षणं तेन सुधाद्यपि वर्जनीयं तद्भक्षकस्यान्त्रशाटाद्यनर्थसंभवात् मृद्भक्षणे चासंख्येयपृथिवीकायजीवानां विराधनाद्यपि लवणमप्यसंख्यपृथिवीकायात्मकमिति सचित्तं त्याज्यं प्रासुकं ग्राह्यं प्रासुकत्वं चाग्न्यादिप्रबलशस्त्रयोगेनैव नान्यथा नत्र पृथिवीकायजीवानामसंख्येयत्वेनात्यन्तसूक्ष्मत्वात् तथा च पञ्चमाङ्गे १९ शतकतृतीयोद्देशके निर्दिष्टोऽयमर्थः वज्रमय्यां शिलायां स्वल्पपृथिवीकायस्य वज्रलोष्टकेनैकविंशतिवारान्पेषणे सत्येके केचन जीवा ये स्पृष्टा अपि नेति १३ तथा रात्रौ नक्तं भोजनं भुक्तिः रात्रिभोजनं तदपि हेयं बहुविधजीवसंपातसंभवेनैहिकपारलौकिकानेकदोषदुष्टत्वात् यदभिहितं " मेहं पिपीलिआओ, हणंति वमणं च मच्छिआ कुणइ । जूआ जलोदरत्तं, कोलिअओ कोढरोगं च ॥ १ ॥ वाला सरस्स भंगं, कंटोलगाइगलम्मि दारुं च । तालुम्मि विंधइ अली, वंजणमज्जम्मि भुञ्जंतो ॥ २ ॥ " व्यञ्जनमिह वार्त्ताकशाकरूपमभिप्रेतं तच्छिन्नं च वृश्चिकाकारमेव स्यादिति वृश्चिकस्यासूक्ष्मस्यापि तन्मध्यपतितस्यालक्ष्यत्वाद्भोज्यता संभवतीति विशेषः । निशीथचूर्णावपि " गिहकोइलअवयवसम्मिस्सेण भुत्तेण पोट्टे किल गिहकोइला संमुच्छंति " एवं सर्पादिलालामलमूत्रादिपाताद्यपि " तथा " मारिंति महिअलं जा-मिणीसु रयणी य रायमंतेणं । ते वि च्छलंति हु फुडं, रयणीए भुंजमाणं तु ॥ १ ॥ अपि च निशाभोजने क्रियमाणे अवश्यं पाकः संभवी । तत्र षट् जीवनिकायवधोऽवश्यंभावी भाजनधावनादौ च जलगतजन्तुनाशः जलोज्झनेन भूमिगतकुन्थुपिपीलिकादिजन्तुघातश्च भवति तत्प्राणिरक्षणकाङ्क्षयाऽपि निशाभोजनं न कर्तव्यम् । यदाहुः " जीवाण कुंथुमाईण, घायणं भाणधोअणाईसुं । एमाइ रयणिभोयण-दोसे को साहिउं तरइ ॥ १ ॥ " यद्यपि च सिद्धमोदकादिखर्जूरद्राक्षादिभक्षणे नास्त्यग्निपाको नच भाजनधावनादिसंभवस्तथापि कुन्थुपनकादिसंघातसंभवात्तस्यापि त्याग एव युक्तो यदुक्तं निशीथभाष्ये "जइवि हु फासुगदव्वं, कुंथुपणगा तहावि दुप्पस्सा । पच्चक्खणा णो वि हु, राईभत्तं परिहरंति ॥ १ ॥ जइ वि हु पिपीलिगाई, दीसंति पईवमाइउज्जोए । तह वि खलु अणाइन्नं, मूलवयविराहणाजम्हं ॥ २ " एतत्फलं च " उलूककाकमार्जारगृध्रशाम्बरशूकराः । अहिवृश्चिकगोधाश्च, जायन्ते रात्रिभोजनात्" परेऽपि पठन्ति "मृते स्वजनमात्रेऽपि, सूतकं जायते किल । अस्तं गते दिवानाथे, भोजनं क्रियते कथम् ॥ १ ॥ रक्तीभवन्ति तोयानि, अन्नानि पिशितानि च । रात्रौ भोजनशक्तस्य, ग्रासे तन्मांसभक्षणम् ॥ २ ॥ स्कन्दपुराणे रुद्रप्रणीतकपालमोचनस्तोत्रे सूर्यस्तुतिस्तोत्रेऽपि " एकभक्ताशनान्नित्य-मग्निहोत्रफलं लभेत् । अनस्तभोजने नित्यं, तीर्थयात्राफलं भवेत् ॥१॥" तथा " नैवाहुतिर्न च स्नानं, न श्राद्धं देवतार्चनम् । दानं वा विहितं रात्रौ, भोजनन्तु विशेषतः ॥२॥" आयुर्वेदेपि । " हृन्नाभिपद्मसङ्कोच-श्चण्डरोचेरपायतः । अतो नक्तं न भोक्तव्यं, सूक्ष्मजीवादनादपि ॥ ३ ॥" तस्माद्विवेकिना रात्रौ चतुर्विधोऽप्याहारः परिहार्यस्तदशक्तौ त्वशनं खादिमं च त्याज्यमेव स्वादिमं पूगीफलाद्यपि दिवा सम्यक्शोधनादियतनयैव गृह्णात्यन्यथा त्रसहिंसादयोऽपि दोषाः मुख्यवृत्त्या च प्रातः सायं च रात्रिप्रत्यासन्नत्वाद् द्वे द्वे घटिके भोजनं त्यजेद्यतो योगशास्त्रे "अह्नो मुखेऽवसाने च, यो द्वे द्वे घटिके त्यजन् । निशाभोजनदोषज्ञो-ऽश्नात्यसौ पुण्यभाजनम् ॥ १ ॥" अत एवागमे सर्वजघन्यं प्रत्याख्यानं मुहूर्तप्रमाणं नमस्कारसहितमुच्यते जातु तत्तत्कार्यव्यग्रत्वादिना तथा न शक्नोति तदापि सूर्योदयास्तनिर्णयमपेक्षत एवातपदर्शनादिनाऽन्यथा रात्रिभोजनदोषः । अन्धकारभवनेऽपि दीपिकया प्रदीपाकरणादिना त्रसादिहिंसानियमभङ्गमायामृषावादादयोऽधिकदोषा अपि यतः " न करेमित्ति भणित्ता, तं चेव निसेवए पुणो पावं । पच्चक्खमुसावाई, मायानियडी पसंगो अ ।१। पावं काऊण सयं, अप्पाणं सुद्धमेव वाहरइ । दुगुणं करेइ पावं, बीअं बालस्स मंदत्तं २" तथा बहुबीजेति बहुबीजं च अज्ञातफलं चेति द्वन्द्वस्तत्र बहूनि बीजानि वर्तन्ते यस्मिन् तद्बहुबीजं पम्पोटकादिकमभ्यन्तरपुटादिरहितं केवलं बीजमयं तत्र प्रतिबीजं जीवोपमर्दसंभवाद्वर्जनीयं यच्चाभ्यन्तरपुटादिसहितबीजमयं दाडिमटिण्डूरादि तन्नाभक्ष्यतया व्यवहरन्ति १५ अज्ञातं च तत्फलं चेति कर्मधारयः अज्ञातफलं स्वयं परेण वा यद् न ज्ञातफलमुपलक्षणत्वात्पत्रं तदभक्ष्यं निषिद्धफले विषफले वा अज्ञानात्प्रवृत्तिसंभवात् । अज्ञानतो हि प्रतिषिद्धे फले प्रवर्तमानस्य व्रतभङ्गः विषमफले तु जीवितविनाशः १६ तथा संधानं चानन्तकायिकं चेति द्वन्द्वस्तत्र संधानं निम्बकबिल्वकादीनामनेकसंसक्तिनिमित्तत्वाद्वर्ज्यं संधानस्य च व्यवहारवृत्त्या दिनत्रयात्परतोऽभक्ष्यत्वमाचक्षते । योगशास्त्रवृत्तावपि " संधानमाम्रफलादी-नां यदि संसक्तं भवेत् । तदा जिनधर्मपरा-यणः कृपालुत्वात्त्यजेदिति । १७। अनन्ताः कायिका जीवा यत्र तत् अनन्तकायिकम् । अनन्तजन्तुसन्ताननिपातननिमित्तत्वात् वर्ज्यम् (४०) (अनन्तकायिकव्याख्या स्वस्थाने उक्ता) अन्यदप्यभक्ष्यं चाचित्तीभूतमपि परिहार्यं निःशूकतालौल्यवृद्ध्यादिदोषसंभवात् परंपरया सचित्ततद्ग्रहणप्रसङ्गाच्च यथोक्तम् "इक्केण कयमकज्जं, करेइ तप्पच्चया पुणो अन्नो । सायाबहुलपरंपर-वुच्छेओ संजमतवाणं । १ । " अत एवोत्कालितसल्लुरकरार्द्रकसूरणवृन्ताकादि प्रासुकमपि सर्वं वर्ज्यं मूलकस्तु पञ्चाङ्गोऽपि त्याज्यः । शुण्ठ्यादि तु नाम स्वदभेदादिना कल्पते इति श्राद्धविधिवृत्तौ । १८ । तथा वृन्ताकं निद्राबाहुल्यमदनोद्दीपनादिदोषपोषकत्वात्त्याज्यम् । पठन्ति च परेऽपि च " यस्तु वृन्ताककालिङ्ग-मूलकानां च भक्षकः । अन्तकाले स मूढात्मा, न स्मरिष्यति मां प्रिये" इति ।१९। तथा चलितो विनष्टो रसः स्वाद उपलक्षणत्वाद्वर्णादिर्यस्य तच्चलितरसं कुथितान्नपर्युषितद्विदलपूपिकादि केवलजलराद्धकूराद्यनेकजन्तुसंसक्तत्वात् पुष्पितौदनपक्वान्नादिदिनद्वयातीतदध्याद्यपि च तत्र पक्वान्नाद्याश्रित्य चैवमुक्तम् । "वासासु पन्नरदिवसं , सीउण्हकालेसु मासदिणवीसं । उग्गादिमं भईणं, कप्पइ आरब्भ पढम दिणे" केचिदेतस्या गाथाया अलभ्यमानस्थानत्वं वदन्तो यावद्गन्धरसादिना न विनश्यति तावदवगाहिमं शुद्ध्यतीत्याहुः दिनद्वयातीते दध्न्यपि जीवसंसक्तिर्यथा " जइ मुग्गमासमाई, विदलं कच्चम्मि गोरसे पडइ । ता तसजीवुप्पत्तिं, भणंति दहिएवि दुदिणुवरिं " १ हारिभद्रदशवैकालिकवृत्तावपि रसजास्तक्रारनालदधितेमनादिषु पायुकृम्याकृतयोऽतिसूक्ष्मा भवन्तीति दध्यहर्द्वितयातीतमिति ॥ हैममपि।२०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तथा तुच्छं असारं पुष्पं च फलं च ते आदौ यस्य तत् पुष्पफलादि । चः समुच्चये आदिशब्दान्मूलपत्रादिपरिग्रहस्तत्र तुच्छं पुष्पमरणिकरीरशिग्रुमधूकादिसंबन्धि तुच्छं फलम् । मधूकजम्बूटीवरूपीलुपक्वकरमर्देङ्गुदीफलपिचुमकुरवालओलिघृहद्वदरकच्छकुट्टिभडस्वसखसादि २ प्रावृषि तन्दुलीयकादेश्च पत्रं बहुजीवसंमिश्रितत्वात् ३ त्याज्यम् । अन्यदप्येतादृशं मूलादि यद्वाऽर्द्धनिष्पन्नकोमलचवलकमुद्गसिम्बादिकम् । तद्भक्षणे हि न तथाविधतृप्तिर्विराधना च भूयसी २१ तथा आमेति आमं च तक्रोरसं च आमगोरसं तत्र संपृक्तमामगोरससंपृक्तम् । कच्चदुग्धदधितक्रसंमिलितम् । तद्द्विदलं केवलिगम्यसूक्ष्मजीवसंसक्तिसंभवात् हेयम् । उक्तं च संसक्तनिर्युक्त्यादौ "सव्वेसु वि देसेसुं, सव्वेसु वि चेव तह य कालेसु । कुसिणेसु आमगोरस-जुत्तेसु निगोअपंचिंदी" द्विदललक्षणं त्वेवमाहुः "जम्मि उ पीलिज्जंते, नेहो नहु होइ बिंति तं विदलं । विदले वि हु उप्पन्नं, नेह जुअं होइ नो विदलं" १ इह हीयं स्थितिः केचिद्भावा हेतुगम्याः केचित्त्वागमगम्याः । तत्र ये यथा हेतुगम्यास्ते स्तवप्रवचनधरैः प्रतिपादनीयाः आगमगम्येषु हेतून् हेतुगम्येषु त्वागममात्रं प्रतिपादयन्नाज्ञाविराधकः स्यात् । यतः " जे हेउवायपक्खम्मि, हेउओ आगमे अ आगमिओ । सो समयपन्नवओ, सिद्धंतविराहओ अन्नो " इति । आमगोरससंपृक्तद्विदले पुष्पितौदने अहर्द्वितयातीते दध्नि कुथितान्ने च न हेतुगम्यो जीवसद्भावः किंत्वागमगम्य एव तेन तेषु ये जन्तवस्ते केवलिभिर्दृष्टा इति द्वाविंशति अभक्ष्याणि वर्जयेदिति पूर्वं योजितमेवेति श्लोकत्रयार्थः । योगशास्त्रे तु षोडशवर्जनीयानि प्रतिपादितानि यथा " मद्यं मांसं नवनीतं, मधूदुम्बरपञ्चकम् । अनन्तकायमज्ञातफलं रात्रौ च भोजनम् । १ । आमगोरससंपृक्त-द्विदलं पुष्पितौदनम् । दध्यहर्द्वितयातीतं, कथितान्नं च वर्जयेत् । २ । अन्यसकलाभक्ष्यवर्जनं च । जन्तुमिश्रं फलं पुष्पं, पत्रं चान्यदपि त्यजेत् । संधानमपि संसक्तं, जिनधर्मपरायणः । ३ । इति संग्रहश्लोकेनोक्तम् । अत्र च सप्तमव्रते सचित्ताचित्तमिश्रव्यक्तिः श्राद्धविध्युक्ता पूर्वं सम्यक् ज्ञेया युज्यते यथा चतुर्दशादिनियमाः । सुपाल्या भवन्तीति ॥ (ध०) (अचित्तव्यक्तिः स्वस्थाने) एवं सचित्ताचित्तादिव्यक्तिं ज्ञात्वा सप्तमव्रतं नामग्राहं सचित्तादिसर्वभोग्यवस्तुनैयत्यकरणादिना स्वीकार्यं यथानन्दकामदेवादिभिः स्वीकृतं तथा करणाशक्तौ तु सामान्यतोऽपि सचित्तादिनियमा कार्यास्ते चैवम् ॥

सचित्त १ दव्व २ विगइ ३ वाणह ४ तंबोल ५ वत्थ ६ कुसुमेसु ७ । वाहण ८ सयण ९ विलेवण १० बंभ ११ दिसि १२ न्हाण १३ भत्तेसु १४ ॥

१ तत्र मुख्यवृत्त्या सुश्रावकेण सचित्तं सर्वथा त्याज्यं तदशक्तौ नामग्राहं तथाऽप्यशक्तौ सामान्यत एकद्व्यादिनियम्यं यतः " निरवज्जाहारेणं " इति पूर्वलिखितागाथे परं प्रतिदिनैकसचित्ताभिग्राहिणो हि पृथक् दिनेषु परावर्तनेन सर्वसचित्तग्रहणमपि स्यात्तथा च न विशेषविरतिः नामग्राहं सचित्ताभिग्रहे तु तदन्यसर्वसचित्तनिषेधरूपयावज्जीवस्पष्टमेवाधिकं फलम् उक्तं च " पुप्फफलाणं च रसं, सुराइमंसाणमहिलिआणं च । जाणंता जे विरया, ते दुक्करकारए वंदे " सचित्तेष्वपि नागवल्लीदलानि दुस्त्यजानि शेषसचित्तानां प्रायः प्रासुकीभवनं स्वल्पकालमध्येऽपि दृश्यते एषु तु निरन्तरं जलक्षेपादिना सचित्ततासुस्थैव कुन्थ्वादिविराधनापि भूयसी च तत एव पापभीरुणा त्याज्यानि अन्यथाऽपि रात्रौ न व्यापार्याणि रात्रिव्यापारिणोऽपि दिवा संशोधनादियतनाया एव मुख्यता । ब्रह्मचारिणा तु कामाङ्गत्वात्त्याज्यान्येव सचित्तभक्षणे दोषस्तु अनेकजीवविराधनारूपः यतः प्रत्येकसचित्तेऽप्येकस्मिन् पत्रफलादावसंख्यजीवविराधनासंभवः यदागमः "जं भणिअं पज्जत्तग, निस्साए वुक्कमंत अपज्जत्ता । जत्थेगो पज्जत्तो, तत्थ असंखा अपज्जत्ता " बादरेष्वेकेन्द्रियेष्वेवमुक्तं सूक्ष्मेषु तु यत्रैकोऽपर्याप्तस्तत्र तन्निश्राया नियमादसंख्याः पर्याप्ताः स्युरित्याचाराङ्गवृत्त्यादौ प्रोक्तम् । एवमेकस्मिन्नपि पत्रादावसंख्यजीवविराधना तदाश्रितजलनील्यादि संभवे त्वनन्ता अपि जलकणादि वाऽसंख्यजीवात्मकमेव यदार्षम् । " एगम्मि उदगबिंदुम्मि, जे जीवा जिणवरेहिं पन्नत्ता । ते जइ सरिसवमित्ता, जंबूदीवे न मायंति । १ । अद्दामलप्पमाणे, पुढविक्काये हवंति जे जीवा । ते पारेवयमित्ता, जंबुद्दीवे न मायंति " सर्वसचित्तत्यागेऽम्बडपरिव्राजकसप्तशतशिष्यनिदर्शनम् । एवं सचित्तत्यागे यतनीयमिति प्रथमनियमः ॥ सचित्तविकृतिवर्जं यन्मुखे क्षिप्यते तत्सर्वं द्रव्यं क्षिप्रचटीरोट्टिकानिर्विकृतिकमोदकलपनश्रीपर्पटिकाचूरिमकरम्बकक्षैरेय्यादिकं बहुधान्यादिनिष्पन्नमपि परिणामान्तरापत्तेरेकैकमेव द्रव्यमेकधान्यनिष्पन्नान्यपि पूलिकास्थूलरोट्टकमण्डकपर्परकघूघरीटोकअघूलीवाटकणिकादीनि पृथक् २ नामास्वादवत्त्वेन पृथक् २ द्रव्याणि फलफलिकादौ तु नामैक्ये भिन्नास्वादव्यक्तेः परिणामान्तराभावाश्च । बहुद्रव्यत्वमन्यथा वा संप्रदायादिवशाद् द्रव्याणि गणनीयानि धातुमयशिलाकाकाराङ्गुल्यादिकं द्रव्यमध्ये न गणयन्ति २ विकृतयो भक्ष्याः षट् दुग्ध १ दधि २ घृत ३ तैल ४ गुड ५ सर्वपक्वान्न ६ भेदात् ३ (वाणहत्ति) उपानद्युग्मं मोचकयुग्मं वा काष्ठपादुकादि तु बहुजीवविराधनाहेतुत्वात्त्याज्यमेव श्रावकैः ४ ताम्बूलपत्रपूगखदिरवटिकाकत्थकादिस्वादिमरूपम् । ५ । वस्त्रं पञ्चाङ्गादिवेषः धौतिकपोतिकरात्रिवस्त्रादि वेषे न गण्यते । ६ । कुसुमानि शिरःकण्ठक्षेपशय्योच्छीर्षकाद्यर्हाणि तन्नियमेऽपि देवयोग्याः कल्पन्ते । ७ । वाहनं रथाश्वादि ८ शयनं खट्वादि ९ विलेपनं भोगार्थं चन्दनाञ्जनादिचूर्ण कस्तूर्यादि तन्नियमे देवपूजादौ तिलकस्वहस्तकङ्कणधूपनादि कल्पते । १० । अब्रह्म दिवा रात्रौ पत्न्याद्याश्रित्य ११ दिक्परिमाणं सर्वतोऽमुकदिशि वा इयदवधिगमनादिनियमनम् । १२ । स्नानं तैलाभ्यङ्गादिपूर्वकं देवपूजार्थं करणेन नियमभङ्गः लौकिककारणे च यतना रक्ष्या । १३ भक्तं राद्धधान्यसुखभक्षिकादि सर्वं त्रिचतुःसेरादिमितं खरसूजादिग्रहणे बहवोऽपि सेराः स्युः । १४ । एतदुपलक्षणत्वादन्येऽपि शाकफलधान्यादिप्रमाणारम्भनैयत्यादिनियमा यथाशक्ति ग्राह्या इत्युक्तं भोगोपभोगव्रतम् ॥ ध० २ अधि० । इदमपि चातिचाररहितमनुपालनीयमित्यतोऽस्यैवातिचारानभिधित्सुराह ॥

भोअणओ समणोवासएणं इमे पंच अइआरा जाणिअव्वा न सामायरिअव्वा तं जहा सचित्ताहारे १ सचित्तपडिबद्धाहारे २ अप्पोलिओसहिभक्खणया सचित्तसम्मिस्साहारे (पाठान्तरम्) ३ दुप्पोलिओसहिभक्खणया ४ तुच्छोसहिभक्खणया ॥

भोजनतो यद् व्रतमुक्तं तदाश्रित्य श्रमणोपासकेनापि पञ्चातिचारा ज्ञातव्याः न समाचरितव्यास्तद्यथा सचित्ताहारः चित्तं चेतना संज्ञानमुपयोगोऽवधानमिति पर्यायाः सचित्तश्चासावाहारश्च १ सचित्तो वाहारो यस्य सचित्तमाहारयतीति वा मूलकन्दकार्द्रकादिसाधारणप्रत्येकतरुशरीराणि सचित्तानि सचित्तं पृथिव्याद्याहारयतीति भावना । तथा सचित्तप्रतिबद्धाहारो यथा वृक्षप्र-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तिबद्धो गोंदादिपक्वफलानि वा तथा अपक्वौषधिभक्षणत्वमिदं च प्रतीतं सचित्तसन्मिश्राहार इति पाठान्तरं सचित्तेन सन्मिश्र आहारः सचित्तसन्मिश्राहारः वल्ल्यादिपुष्पादिना सम्मिश्रं तथा दुष्पक्वौषधेर्भक्षणतो दुष्पक्वा अभिन्ना इत्यर्थः तद्भक्षणता। तथा तुच्छौषधिभक्षणता तुच्छा असारा मुद्गफलीप्रभृतयः अत्र महती विराधना अल्पा च तृप्तिर्बुद्धिभिरप्यैहिकोऽप्यपायः संभाव्यते। "एत्थ संगरकायगो उदाहरणम्-एगो खेत्तरक्खगो से गाओ खाइ राया निग्गओ खायंतं पेच्छइ ततो परिएइ तो खायइ रन्नो कोवसंगेण पोट्टं फालियं कतियाओ खाइयाओ होज्जाति नवरि फेणं अन्नं न किंचि अत्थि एव्व भोजनत" इति गतम्। आव० ६ अ०॥

सचित्तस्तत्प्रतिबद्धः, संमिश्रोऽभिषवस्तथा।
दुष्पक्वाहार इत्येते, द्वैतीयीके गुणव्रते ॥ ५० ॥

सह चित्तेन चेतनया वर्तते यः स सचित्तः। तेन सचित्तेन प्रतिबद्धः संबद्धस्तत्प्रतिबद्धः। सचित्तेन मिश्रः सबलः संमिश्रः। अभिषवोऽनेकद्रव्यसंधाननिष्पन्नः दुष्पक्वो मन्दपक्वः स चासावाहारश्चेत्यत्रापीचारादूद्वैतीयीके द्वितीये स्वार्थे इकण् गुणव्रते भोगोपभोगपरिमाणाख्ये ज्ञेया इति शेषस्तत्र सचित्तः कन्दमूलफलादिः पृथिवीकायादिर्वा। इह च निवृत्तिविषयीकृतेऽपि सचित्तादौ प्रवृत्तावतिचाराभिधानं व्रतसापेक्षस्यानाभोगातिक्रमादिनिबन्धनप्रवृत्त्या द्रष्टव्यमन्यथा भङ्ग एव स्यात्। तत्रापि कृतसचित्तपरिहारस्य कृतसचित्तपरिमाणस्य वा सचित्तमधिकसचित्तं वाऽनाभोगादिना खादतः सचित्ताहाररूपः प्रथमोऽतिचारः। आहारशब्दस्तु दुष्पक्वाहार इत्यस्मादाकृष्य संबन्ध्यः एवमुत्तरेष्वप्याहारशब्दयोजना भाव्या १ सचित्तप्रतिबद्धः सचेतनवृक्षादिसंबद्धो गुन्दादिः पक्वफलादिर्वा सचित्तान्तर्बीजः खर्जूराम्रादिः तदाहारो हि सचित्ताहारवर्जकस्यानाभोगादिना सावद्याहारप्रवृत्तिरूपत्वादतिचारः। अथवा बीजं त्यक्ष्यामि सचेतनत्वात्तस्य कटाहं त्वचेतनत्वाद्भक्षयिष्यामीति धिया पक्वं खर्जूरादिफलं मुखे प्रक्षिपतः सचित्तवर्जकस्य सचित्तप्रतिबद्धाहारो द्वितीयः। २। संमिश्रोऽर्द्धपरिणतजलादिरार्द्रकदाडिमबीजकपूरचिर्भटिकादिमिश्रः पूरणादिर्वा तिलमिश्रो यवधानादिर्वा एतदाहारोऽप्यनाभोगातिक्रमादिनाऽतिचारः। अथवा संभवत्सचित्तावयवस्याऽपक्वकणिक्कादेः पिष्टत्वादिनाऽचेतनमिति बुद्ध्याहारः संमिश्राहारो व्रतसापेक्षत्वादतिचारः इति तृतीयः। अभिषवः सुरासौवीरकादिर्मांसप्रकारखण्डादिर्वा सुरा मद्याद्यभिष्यन्दिवृष्यद्रव्योपयोगो वाऽयमपि सावद्याहारवर्जकस्यानाभोगादिनाऽतिचारः चतुर्थः। ४। तथा दुष्पक्वोऽर्द्धस्विन्नपृथुकतन्दुलयवगोधूमस्थूलमण्डककणिक्कफलादिरैहिकप्रत्यवायकारी यावता चांशेन सचित्तस्तावता परलोकेऽप्युपहन्ति पृथुकादेर्दुष्पक्वतया संभवत्सचेतनावयवत्वात्पक्वत्वेनाऽचेतन इति भुञ्जानस्यातिचार इति पञ्चमः। ५। केचित्त्वपक्वाहारमप्यतिचारत्वेन वर्णयन्ति। अपक्वं च यदग्निनाऽसंस्कृतं एष च सचित्ताहारे प्रथमातिचारेऽन्तर्भवति तुच्छौषधिभक्षणमपि केचिदतिचारमाहुस्तुच्छौषधयश्च मुद्गादिकोमलशिम्बीरूपास्ताश्च यदि सचित्तास्तदा सचित्तातिचार एवान्तर्भवन्ति। अथाग्निपाकादिनाऽचित्तास्तर्हि को दोष इति एवं रात्रिभोजनमद्यादिनिवृत्तिष्वपि अनाभोगातिक्रमादिभिरतिचारा भावनीयाः। इत्यमतिचारव्याख्यानं तत्त्वार्थवृत्त्याद्यनुसारेण ज्ञेयम्। आवश्यकपञ्चाशकवृत्त्यादिषु तु अपक्वदुष्पक्वतुच्छौषधिभक्षणस्य क्रमेण तृतीयाद्यतिचारत्वं दर्शितम्। तत्राक्षेपपरिहारावित्थम्। नन्वपक्वौषधयो यदि सचेतनास्तदा सचित्तमित्यादिपदेनैवोक्तार्थत्वात्पुनर्वचनमसंगतमथाचेतनास्तदा कोऽतिचारो निरवद्यत्वात्तद्भक्षणस्येति सत्यम् किं त्वाद्यावतीचारौ सचेतनकन्दफलादिविषयावितरे तु शाल्याद्यौषधिविषया इति विषयकृतो भेदोऽत एव मूलसूत्रे "अप्पउलिओसहिभक्खणये"त्याद्युक्तं ततोऽनाभोगातिक्रमादिनाऽपक्वौषधिभक्षणमतिचारोऽथवा कणिक्कादेरपक्वतया संभवत्सचित्तावयवस्य पिष्टत्वादिनाऽचेतनमिदमिति बुद्ध्या भक्षणं व्रतसापेक्षत्वादतिचारः। दुष्पक्वौषधिभक्षणभावना तु पूर्वोक्तैव तुच्छौषधिभक्षणे त्वित्थं न तुच्छौषधयोऽपक्वाः दुष्पक्वाः सम्यक्पक्वा वा स्युर्यद्याद्यौ पक्षौ तदा तृतीयचतुर्थातिचाराभ्यामेवास्योक्तत्वात्पुनरुक्तत्वदोषः। अथ सम्यक्पक्वास्तदा निरवद्यत्वादेव कातिचारता तद्भक्षणस्येति सत्यं किं तु यथाऽऽद्यद्वयस्योत्तरद्वयस्य च सचित्तत्वे समानेऽप्यनोषध्योषधिकृतो विशेष एवमस्य सचेतनौषधिताभ्यां समानत्वेऽपि अतुच्छतुच्छत्वकृतो विशेषो दृश्यस्तत्र च कोमलमुद्गादिफलीविशिष्टतृप्त्यकारकत्वेन तुच्छाः सचित्ता एवानाभोगादिना भुञ्जानस्य तुच्छौषधिभक्षणमतिचारः। अथवात्यन्तावद्यभीरुतया ऽचित्ताहारताभ्युपगन्ता तत्र च यत्तृप्तिकारकं तदचित्तीकृत्यापि भक्षयतु सचेतनस्यैव वर्जनीयत्वाभ्युपगमाद्यत्पुनस्तृप्तिजननाऽसमर्थाप्यौषधी लौल्येनाचित्तीकृत्य भुङ्क्ते तत्तुच्छौषधिभक्षणमतिचारः। तत्र भावतो विरतेर्विराधितत्वाद्द्रव्यतस्तु पालितत्वादिति पञ्चाशकवृत्तौ। अथ भोगोपभोगातिचारानुपसंहरन् भोगोपभोगव्रतस्य लक्षणान्तरं तद्गतांश्चातिचारानुपदर्शयितुमाह ॥

अमी भोजनमाश्रित्य, त्यक्तव्याः कर्मतः पुनः।
खरकर्म त्रिघ्नपञ्च, कर्मादानानि तन्मलाः ॥ ५१ ॥

अमी उक्तस्वरूपाः पञ्चातिचारा भोजनमाश्रित्य त्यक्तव्या हेयाः। अथ कर्मतस्तानाह-तत्र भोगोपभोगसाधनं यद्द्रव्यं तदुपार्जनाय यत्कर्म व्यापारस्तदपि भोगोपभोगशब्देनोच्यते कारणे कार्योपचारात्, इति व्याख्यानान्तरं पूर्वमुक्तमेव। ततश्च कर्मतः कर्माश्रित्य भोगोपभोगोत्पादकव्यापारमाश्रित्येत्यर्थः। पुनः खरं कठोरं यत्कर्म कोट्टपालनगुप्तिपालनादिरूपं तत्त्याज्यं तन्मलास्तस्मिन् खरकर्मत्यागलक्षणे भोगोपभोगव्रते मला अतिचाराः त्रिघ्नाः त्रिगुणिताः पञ्चदशेत्यर्थः। कर्मादानानि कर्मादानशब्दवाच्या भवन्ति शेषः कर्मणां पापप्रकृतीनामादानानि कारणानीति कृत्वा तेऽपि त्यक्तव्या इति पूर्वक्रियान्वयः। ध०२ अधि०। अधुना कर्मतो यद् व्रतमुक्तं तदप्यतिचाररहितमनुपालनीयमित्यतोऽस्यातिचारानभिधित्सुराह।

कम्मओ णं समणोवासएणं इमाइं पन्नरसकम्मादाणाइं जाणिअव्वाइं न समायरिअव्वाइं तंजहा इंगालकम्मे १ वणकम्मे २ साडीकम्मे ३ भाडीकम्मे ४ फोडीकम्मे ५ दंतवाणिज्जे ६ लक्खवाणिज्जे ७ रसवाणिज्जे ८ केसवाणिज्जे ९ विसवाणिज्जे १० जंतपीलणकम्मे ११ निल्लंछणकम्मे १२ दवग्गिदावणया १३ सरदहतलावसोसणया १४ असईपोसणया ॥ १५ ॥ आव० ६ अ०

(सूत्रव्याख्या इंगालकम्मादिषु शब्देषु)

उवभोगपरिभोगाइ(ति)रित्त–उपभोगपरिभोगातिरिक्त–न०। उपभोगविषयभूतानि यानि द्रव्याणि स्नानप्रक्रमे उष्णोदकोद्वर्तनकामलकादीनि भोजनप्रक्रमेऽशनपानादीनि तेषु यदतिरिक्तमधिकमात्मादीनामनर्थक्रियासिद्धावप्यवतिष्ठते तदुपभोगपरिभोगातिरिक्तम्। आत्मोपभोगातिरिक्ते, तदुपचारात्प्रमादव्रता-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तिचारे, तेन आत्मोपभोगातिरिक्तेन परेषां स्नानभोजनादिरनर्थदण्डो भवति। अयं च प्रमादव्रतस्यैवातिचार इति। उपा० १ अ०।

उवभोगपरिभोगाइरेग–उपभोगपरिभोगातिरेक–पुं० उपभोगपरिभोगयोरतिरेकः अधिकमुपभोगपरिभोगातिरेकः । प्रमादचरितस्यातिचारे, इह किल स्वोपयोगिभ्योऽधिकानि ताम्बूलमोदकमण्डकादीन्युपभोगाङ्गानि तडागादिषु न नेतव्यानि अन्यथा हि खिड्गादयस्तानि भजन्ते ततश्चात्मनो निरर्थककर्मबन्धादिदोषः। अयमपि विषयात्मकत्वात् प्रमादचरितस्यातिचारः। ध० र० । श्रा०।

उवभोगत्त–उपभोग्यत्व–न० उपभोगयोग्यतायाम् । स० ।

उवमा–उपमा–स्त्री० उपमानमुपमा–उप–मा–भावे–अ–अनेन गवयेन सदृशो गौरिति सादृश्यप्रतिपत्तिरूपे प्रमाणभेदे, ॥उक्तं च ॥ " गां दृष्ट्वाऽयमरण्येऽन्यं, गवयं वीक्षते यदा । भूयोऽवयवसामान्य–भाजं वर्तुलकण्ठकम् ॥ १ ॥ तस्यामेव त्ववस्थायां यदि ज्ञानं प्रवर्तते । पशुनैतेन तुल्योऽसौ, गोपिण्ड इति सोपमेति ॥ २ ॥ " श्रुतातिदेशवाक्यसमानार्थोपलम्भने, संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञाने च । स्था० ४ ठा० ॥ उपमीयतेऽनेन दार्ष्टान्तिकोऽर्थ इत्युपमा। द० १ अ०। सूत्र०। शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य प्रथमाग्रमहिष्याम्. । स्था० ८ ठा०। खाद्यविशेषे, । जी ३ प्रति० । इदानीमदृश्यमाने प्रश्नव्याकरणानां प्रथमेऽध्ययने च । स्था० १० ठा० ।

उवमाण–उपमान–न० उपमीयतेऽनेन दार्ष्टान्तिकोऽर्थ इत्युपमानम्, दृष्टान्ते, । द० १ अ० । प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधने, यथा गौर्गवयस्तथा । सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । उपमानोपमेययोरध्यक्षत्वे सादृश्यालम्बने, । सम्म० । (औपम्यभेदा ओवम्म शब्दे वक्ष्यन्ते) ॥

उपमानस्य प्रमाणान्तरताविचारः ॥ उपमानमपि प्रमाणान्तरं तस्य लक्षणं यथा " दृश्यमानाद्यदन्यत्र, विज्ञानमुपजायते । सादृश्योपाधितज्ज्ञैरुपमानमिति स्मृतं " यथोक्तमुपमानमपि सादृश्यादसन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिमुत्पादयति यथा गवयदर्शनं गोस्मरणस्येति अस्यायमर्थः येन प्रतिपत्त्रा गौरुपलब्धो न गवयो नवातिदेशवाक्यं गौरिव गवय इति श्रुतं तस्याटव्यां पर्यटतः गवयदर्शने प्रथमे उपजायते परोक्षगवि सादृश्यज्ञानं यदुत्पद्यते अनेन सदृशो गौरिति तदुपमानमिति । तस्य विषयः सादृश्यविशिष्टः परोक्षो गौस्तद्विशिष्टं वा सादृश्यं च वस्तुभूतमेव यदाह । " सादृश्यस्य च वस्तुत्वं, न शक्यमवबाधितुम् । भूयोऽवयवसामान्य–योगो जात्यन्तरस्य तदिति" अस्य चानधिगतार्थाधिगन्तृतया प्रामाण्यमुपपन्नं यतो गवयेन प्रत्यक्षेण गवय एव विषयीकृतो न पुनरसंनिहितोऽपि सादृश्यविशिष्टो गौः तद्विशिष्टं वा सादृश्यम् । यदपि तस्य पूर्वं गौरिति प्रत्यक्षमभूत्तस्यापि गवयोऽत्यन्तमप्रत्यक्ष एवेति कथं गवि तदपेक्षं तत्सादृश्यज्ञानम् । तदेवं गवयसदृशो गौरिति प्रागप्रतिपत्तेरनधिगतार्थाधिगन्तृपरोक्षे गवयदर्शनात् सादृश्यज्ञानम् । तदुक्तं "तस्माद्यत्स्मर्यते तत्स्यात्, सादृश्येन विशेषितः । प्रमेयमनुमानस्य, सादृश्यं वा तदन्विते ॥ प्रत्यक्षेणावबुद्धेऽपि, सादृश्ये गवि च स्मृतौ । विशिष्टस्यान्यतो सिद्धे–रुपमानप्रमाणता ॥ प्रत्यक्षेऽपि यथादेशे, स्मर्यमाणे च पर्वते । विशिष्टविषयत्वेन, नानुमानाप्रमाणतेति" न चेदं प्रत्यक्षं परोक्षविषयत्वात् सविकल्पकत्वाच्च । नाप्यनुमानं हेत्वभावात् । न च स एव दृश्यमानो गवयविशेषः तद्गतं वा सादृश्यं हेतुरुभयस्यापि धर्मिणा सह प्रतिबन्धाभावात्तवाप्रतिबन्धो हेतुरतिप्रसङ्गात् न च गोगतं सादृश्यं गौर्वा हेतुः प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वात् न च सादृश्यमात्रं प्राक् प्रमेयेण सम्बद्धं प्रतिपन्नं नवान्वयप्रतिपत्तिमन्तरेण हेतोः साध्यप्रतिपादकत्वमुपलब्धं तदेवं गवार्थदर्शने गवयं पश्यतः सादृश्येन विशिष्टे गवि पक्षधर्मत्वग्रहणं सम्बन्धानुस्मरणं वान्तरेण प्रतिपत्तिरुपजायमाने नानुमानेऽन्तर्भवतीति प्रमाणान्तरमुपमानम् । तदुक्तं "न चैतस्यानुमानत्वं, पक्षधर्माद्यसंभवात् । प्राक् प्रमेयस्य सादृश्यं, न धर्मत्वेन गृह्यते ॥ गवयं गृह्यमाणं च, न गवार्थानुमापकम् । प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वा–द्गोगतस्य न लिङ्गता ॥ गवयश्चापि सम्बन्धा–न्नागोलिङ्गत्वमृच्छति । सादृश्यं न च पूर्वेण, पूर्वं दृष्टं तदन्वये ॥ एकस्मिन्नपि दृश्येऽर्थे, द्वितीया पश्यतो वने । सादृश्येन सहैकस्मिस्तदैवोत्पद्यतेमितिरिति" नैयायिकाः श्रूयमाणलक्षणमभिदधति प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानमिति । अत्रोपमानमिति लक्ष्यनिर्देशः प्रसिद्धसाधर्म्यादित्यागमपूर्विकाप्रसिद्धिः दर्शिता आगमस्तु यथा गौस्तथा गवय इति एवं प्रसिद्धेन साधर्म्यप्रसिद्धः संस्कारवान् पुरुषः कदाचिदरण्ये परिभ्रमन् समानमर्थं यदा पश्यति तदा तज्ज्ञानादागमाहितसंस्कारप्रबोधसङ्गतः स्मृतिर्गोसदृशो गवय इत्येवं रूपा स्मृतिसहायेन्द्रियार्थसन्निकर्षेण गोसदृशोऽयमिति ज्ञानमुत्पाद्यते तच्चेन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्वात् तज्जनकत्वेनास्य प्रत्यक्षप्रमाणताप्रसक्तेः । न च शब्देन सार्द्धं यथोक्तमुत्पादयदेतच्छाब्दं प्रसज्यते अव्यपदेश्यपदाध्याहारात् अव्यभिचार्यादिपदानां तु पूर्ववद्व्यवच्छेदो द्रष्टव्यः । नन्वेवमप्यनुमाने प्रसङ्गस्तस्य यथोक्तफलजनकत्वादविनाभावसम्बन्धस्मृतिपूर्वकस्य परामर्शज्ञानस्य विशिष्टफलजनकत्वेनानुमानत्वावाप्तेः प्रकृतज्ञानमविनाभावसम्बन्धस्मृतिपूर्वकं गोसदृशस्य गवयशब्दवाच्यत्वेनान्यस्याप्रसिद्धत्वात् गोसदृशगवयशब्दः संज्ञेति आगमात्प्रतीतिरिति चेत् न तस्य सन्निधीयमानगोसदृशपिण्डविषयत्वेनाप्युपपत्तेर्निश्चितश्चान्वयः साध्यप्रतिपत्तिः । न च तदोपलभ्यमानाद्गोसादृश्यपिण्डाद्व्यतिरिक्तः गोसदृशसद्भावनिश्चायकं प्रमाणमस्ति न चात्र व्यतिरेकी हेतुः समस्ति सपक्षासत्वप्रतिपादकप्रमाणाभावात् अतो नाविनाभावसंबन्धानुस्मृतिः व्याप्तिरहितेऽपि चागमे गोसदृशो गवय इति सकृदुच्चारिते उत्तरकालगोसदृशपदार्थदर्शनात् अयं स गवयशब्दवाच्य इति प्रतिपत्तिर्भवतीति नानुमानमेतत् संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञानत्वागमकं न भवत्येव शब्दस्य तज्जनकस्य तदाऽभावात् शब्दजनितं च शाब्दं प्रमाणमिति व्यवस्थितं प्राक् शब्दप्रतीतत्वाच्छाब्दमिति चेन्नन्वनुमानस्याप्येवमभावप्रसक्तिः अग्निसाम्यस्य प्राग् प्रत्यक्षेण प्रतीतत्वात् न ह्यप्रतीते महानसादावग्निसामान्ये अनुमानप्रवृत्तिरिति अप्रतीतार्थाप्रतिपादकत्वादनुमानं न प्रमाणं भवेत् । न च विशिष्टदेशाद्यवच्छेदसाधकसाधकत्वेनास्या प्रमाण्यमितरत्रापि समानत्वात्तथाहि सन्निधीयमानपिण्डविषयत्वेन स्वप्रतिपाद्यमिदं प्रतिपादयति आगमस्त्वसन्निहितपिण्डविषयत्वेन न चागमात् संज्ञासंज्ञिसंबन्धः प्रतीयते ततः सारूप्यमात्रप्रतीतेर्यत्र शाब्दस्यैव साधकतमत्वं तदेव शाब्दं फलं न च विप्रतिपत्त्यधिकारेण संज्ञासंज्ञिसंबन्धज्ञाने एतत्समास्ति प्रत्यक्षफलं तु न भवत्येवैतत् संज्ञासंज्ञिसंबन्धस्येन्द्रियेणासन्निकर्षात् । नच सान्निकर्षश्चेन्द्रियाविषयत्वात्तस्य तदेव संज्ञासंज्ञिसंबन्धप्रतिनियतरूपं फलं यतः समुपजायते तदुपमानं आह च सूत्रकारः साध्यसाधनमिति साध्यं विशिष्टं फलं तस्य साधनं जनकं यत् तदुपमानं एवं सारूप्यज्ञानवत्सारूप्यस्याप्यमानत्वं न पुनः संज्ञासंज्ञिसंबन्धज्ञानस्य फलाभावात् न च हेयादिज्ञानमस्य फलं प्रत्यक्षादिफलत्वात् । तथा हि हेयादिज्ञानं पिण्डविषयं तच्चेन्द्रियार्थसन्निकर्षादुपजायते यथा प्रत्यक्षफलमनुमानं विशिष्टफलजनकत्वादेवं

प्रमाणान्तरानिष्पाद्यविशिष्टफलजनकत्वात् प्रमाणान्तरमुपमानम् अत्र प्रतिविधानम् ॥ उपमानस्य त्वपूर्वार्थाधिगन्तृत्वाभावात् प्रामाण्यमेव न संभवति नन्वस्यापूर्वार्थविषयता प्रागुपदर्शितैव सत्यमुपदर्शिता नतु युक्ता तथा हि तस्य विषयः सादृश्यादिविशिष्टो गौस्तद्विशिष्टं वा सादृश्यमुपदर्शितं तच्च भूयोऽवयवसामान्ययोगलक्षणप्रतिपादितं न च सामान्यं तद्योगो वा वस्तु संभवतीति प्रतिपादितं तत्सद्भावेऽपि प्रत्यक्षविषयतया परैस्तस्येष्टेः कथमुपमानगोचरत्वेनागृहीतार्थग्राहित्वं प्रामाण्यनिबन्धनं भवेत् सादृश्यज्ञानस्य चोत्पत्तावयं क्रमः पूर्वं तावद् गोगवययोर्विषाणित्वादिसादृश्यं गवि प्रत्यक्षतः प्रतिपद्यते पश्चात् गवयदर्शनानन्तरं यद्विषाणित्वादिसादृश्यं पिण्डेऽस्मिन्नुपलभ्यते मया तत् गव्यप्युपलब्धमिति स्मरति तदनन्तरं गवि विषाणित्वादिसादृश्यप्रतिसंधानं जायते अनेन पिण्डेन सदृशो गौरित्येवं च स्मार्तमेतत् ज्ञानं कथं प्रमाणं भवेत् । यदि च गवि प्रत्यक्षेणावगतं विषाणित्वादिसादृश्यं प्राग् न प्रतिपन्नं भवेत् प्रतिपन्नमपि यदि विस्मृतं भवेत् तदा गवयदर्शने सत्यपि परोक्षे गवि नैव सादृश्यज्ञानमुपजायेत अतो विषाणित्वादिसादृश्यं पूर्वमेव गवि प्रत्यक्षेणावगतमिदानीं गवयदर्शनात् तच्चैव स्मर्यते तत्र गृहीतग्राहणात् सादृश्यज्ञानं प्रमाणम् । अथ पूर्वप्रत्यक्षेण गोगतमेव सादृश्यमवगतं गवयदर्शनेन तु तद्गतमेवोभयगतसादृश्यप्रतिपत्तिस्तु गवयदर्शनानन्तरं सादृश्यज्ञाननिबन्धनेति अगृहीतग्राहितया प्रमाणमुपमानम् । असदेतत् पूर्वमुभयगतसादृश्यप्रतिपत्तौ गवयदर्शनानन्तरमप्यप्रतिपत्तिस्तदनुसंधानप्रतिपत्तेरप्यसंभवात् । न हि गवयपिण्डदर्शनानन्तरं प्रागप्रतिपन्ने तत्सादृश्येऽश्वपिण्डे अनेन सदृशोऽश्वप्रतिपत्तिः कदाचिदपि भवति तस्मात् प्रागध्यक्षावगतसादृश्ये प्रतियोगिग्रहणाद्व्यवहारमात्रप्रवृत्तिरेव तदा प्राक् तदप्रवृत्तिः प्रतियोग्यपेक्षत्वात् तस्य ह्रस्वादिव्यवहारवत् न च तत् प्रामाण्यं युक्तप्रमाणानामियत्ताभावप्रसक्तेः एवं धूमदर्शनात्स्मर्यमाणाग्निसंबन्धितयाऽध्यक्षानवगतप्रदेशे तद्योगव्यवच्छेदमवगमयन्ती प्रतिपत्तिरुपजायमानाऽनुमितिः प्रमाणतां यथा समासादयति न तथा सादृश्यप्रतिपत्तिः गवाख्यधर्मिप्रतिपत्तिकाल एव भूयोऽवयवसामान्ययोगलक्षणस्य सादृश्यप्रतिपत्तेस्तेन प्रत्यक्षेऽपि यथादेश इत्यादिवचनमयुक्ततया व्यवस्थितम् । किं च । यदि सादृश्यज्ञानं गृहीतग्राहित्वेऽपि व्यवहारमात्रप्रवर्तनात् प्रमाणं तर्हि वैसादृश्यज्ञानमपि सप्तमं प्रमाणं भवेत् दृश्यपरोक्षे सादृश्यधीरप्रमाणान्तरं यदि वैधर्म्यमर्हति तर्ह्येवमप्येवे प्रमाणं किं न सप्तमम् । तथा सोपानलाभात् क्रमतः प्रथमाक्रान्तं पश्चादाक्रान्ताद्दीर्घं महत् ह्रस्वं चेत्याद्यनेकं प्रमाणं प्रसक्तमिति कुतः प्रमाणषट्कवादः संगतो भवेत् । दृश्यमानव्यापेक्षं चेद् दृष्टज्ञानं प्रमाणान्तरं तत् पूर्वमस्मादित्यादिप्रमाणान्तरमिष्यताम् । अप्रमाण्ये चास्य पक्षधर्मत्वाद्यभावप्रतिपादनं सिद्धसाधनमेवाप्रमा वा प्रमाणस्यानुमानत्वानभ्युपगमाद् । यदा च प्रत्यक्षेण प्रतिपन्नेऽपि गवाश्वादौ भूयोऽवयवसामान्ययोगं तद्वियोगवाच्यं मूढः सदृशासदृशव्यवहारं न प्रवर्तयति तदा विषयदर्शनेन विषयिणो व्यवहारस्य साधनात् त्रैरूप्यसद्भावादनुमानप्रमाणता समस्त्येव तथा हि गवाश्वादौ विषाणाद्यवयवसामान्ययोगसिद्धियोगो वा प्रागुपलब्ध इदानीं स्मर्यमाण इति नासिद्धता हेतोः प्रवृत्तिर्व्यवहारविषयश्च एवार्थोऽत्र दृष्टान्तोऽस्तीति नान्वयव्यतिरेकयोरप्यभावस्ततो न वै तस्यानुमानत्वमित्यादिपक्षधर्मत्वाद्यसंभवप्रतिपादनमसंगतव्यवहारसाधनपक्षधर्मत्वादेः प्रसाधनान्नैयायिकोपवर्णितमप्युपमानमनधिगतार्थाधिगन्तृत्वाभावात् प्रमाणं न भवति तथा हि यथा गौस्तथा गवय इति वाक्याद् गोसदृशार्थसामान्यस्य गवयशब्दवाच्यताप्रतिपत्तेरन्यथा विसदृशमहिष्याद्यर्थदर्शनादप्ययं स गवय इति संज्ञासंज्ञिसंबन्धप्रतिपत्तिः किं न भवेत्तस्माद्यथा कश्चिदङ्गदी कुण्डली छत्री स राजेति कुतश्चिदुपश्रुत्याङ्गदादिमदर्थदर्शनादयं स राजेति प्रतिपद्यते न चासौ प्रतिपत्तिः प्रमाणमुपवाक्यादेवाङ्गदादिमतोऽर्थस्य राजशब्दवाच्यत्वेन प्रतिपन्नत्वात् तथेहापि यथा गौस्तथा गवय इत्यतिदेशवाक्यात्संबन्धमवगत्य गवयदर्शनात्संकेतानुस्मरणे सत्ययं स गवयशब्दवाच्योऽर्थप्रतिपत्तेरप्रमाणमुपमानम् । यदि पुनरतिदेशवाक्यात्संबन्धप्रतिपत्तिर्नाभ्युपगम्यते पश्चादप्ययं स गवयशब्दवाच्यस्तथाऽपि प्रत्ययो न स्यात्तदपरनिमित्ताभावात् दृश्यते च तस्माद्गृहीतग्रहणान्नेदं प्रमाणम् । अथातिदेशवाक्यात् पूर्वाङ्गात्सदृशार्थस्य गवयशब्दवाच्यता सामान्येन प्रतीता गवयदर्शनानन्तरं तु गवयविशेषं तच्छब्दवाच्यत्वेन पूर्वमप्रतीतं प्रतिपद्यत इति न गृहीतग्राहिता असदेतत् सन्निहितगवयविशेषविषयस्य ज्ञानस्य प्रत्यक्षतयोपमानत्वानुपपत्तेर्गवयदर्शनोत्तरकालभावि त्वयं स गवयशब्दवाच्योऽर्थ इति तज्ज्ञानं तत्प्रत्यक्षबलोत्पन्नत्वात् स्मृतिरेव न प्रमाणम् । किं च गवयविशेषस्य गवयशब्दवाच्यता यद्यतिदेशवाक्यान्न प्रतिपन्ना कथं तर्हि गवयविशेषदर्शन उपजाते कस्मादस्य तच्छब्दता यस्यैवार्थस्य संबन्धग्रहणकाले येन सह संबन्धोऽनुभूतस्तस्यैवार्थस्य तेन सह संबन्धे तच्छब्दवाच्यता कालान्तरेऽपि दृश्यते ततः सामान्येन संकेतकाल एव संबन्धः प्रतीतः पश्चाद्गवयदर्शन उपजाते संकेतमनुसृत्यायं स गवयशब्दवाच्योऽर्थ इति प्रतिपद्यते इत्यभ्युपगन्तव्यमेतेनोपयुक्तोपमानस्तु तुल्यार्थग्रहणे सति विशिष्टविषयत्वेन संबन्धं प्रतिपद्यत इत्यपि निरस्तं विशेषस्य संकेतकालानुभूतस्य व्यवहारकालानुगमादवाच्यत्वाच्च । यश्च शब्दप्रभवप्रतिपत्तावर्थः प्रतिभाति स एकशब्दवाच्यो न त्वविशेषस्तत्र प्रतिभालक्षणज्ञाने असतस्तत्र शब्दस्याप्रतिभासनाच्च विशेषः शब्दवाच्यतायामसौ गवयशब्दवाच्य इति विशेषस्य वाच्यप्रतिपत्तिः सादृश्यविकल्पयोरेकीकरणाद् भ्रान्तिरन्यापूर्वानुभूताकारपरामर्श इति दृश्येयमसौ गवयशब्दवाच्य इति प्रतिपत्तिः कथं भवेदतिदेशवाक्यश्रवणसमये विशेषे संबन्धाप्रतिपत्तेः प्रतिप्रत्यभ्युपगमे वा विशेषेऽपि सामान्यत्वस्मृतिरेवेति कुतः प्रामाण्यमुपमानस्य । यद् गौरिव गवय इति गोगवययोरतिदेशवाक्यात्सादृश्यमात्रप्रतिपत्तिः संज्ञासंज्ञिसंबन्धप्रतिपत्तिस्तूपमानात्तदप्यसमीक्षिताभिधानं यतो गवयदर्शनानन्तरमयं स गवयशब्दवाच्य इति प्रतिपत्तिरुपजायते इयं च तावदध्यक्षप्रतिपत्तिः फलभूतातिदेशवाक्यस्य प्रभ्रष्टसंस्कारस्य वा तत्सद्भावेऽप्यस्यानुत्पत्तेर्विशेषश्चाध्यक्षविषयत्वानभ्युपगमाच्च अतिदेशवाक्यस्मरणसहायस्य गवयदर्शनस्य तत्प्रतिपत्तिजनकत्वे स्मर्यमाणशब्दवाच्यत्वमित्यतिदेशवाक्यमेव तज्जनकमभ्युपगतं भवेत् न दर्शनं न हि यत्राध्यक्षप्रवृत्तिमत्तत्र शब्दस्मरणसाहितमपि प्रवर्तते यथा चक्षुर्ज्ञानं गन्धस्मरणसहायं परिमलप्रतिपत्तावतिदेशवाक्याच्च संबन्धाप्रतिपत्तावपरस्य तत्प्रतिपत्तिनिमित्तस्याभावात् अयं स गवयशब्दवाच्य इति पूर्वानुभूतपरामर्शेन प्रतिपत्तिर्न स्यादपि त्वयं गोसदृश इत्येव भवेत् न चैतत्प्रतिपत्तिरन्यथानुपपन्नैव प्रमाणान्तरमुपमाख्यमेतत्प्रतिपत्तिजनकं प्रकल्पनीयं यः कुण्डली स राजेति श्रोतातिदेशवाक्यस्य तद्दर्शनान्तरमयं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स राजशब्द वाच्य इति प्रतिपत्तेरप्युपमानफलत्वप्रसक्तेः अथात्र तच्छब्दवाच्यता इत्यतिदेशवाक्यादेव प्रतिपन्नेति नातिप्रसक्तिस्तर्हि गौरिव गवय इत्यतिदेशवाक्याद् गोसदृशार्थस्य गवयशब्दवाच्यतापि प्रतिपन्नेति नोपमानप्रमाणफलता अयं स गवयशब्दवाच्य इति प्रतिपत्तेः । तस्मात् स्मृतिरूपत्वादस्याः प्रतिपत्तेर्नैतस्या जनकस्य प्रमाणतेति अनुमानान्तर्भावप्रतिपादनं न दोषायेत्यलमतिविस्तरेण ॥ सम्म० । सूत्र० ।

उवमादोस-उपमादोष-पुं० हीनाधिकोपमाभिधानलक्षणे सूत्रदोषे, आ०म०द्वि० । यत्र हीनोपमा क्रियते यथा मेरुः सर्षपोपमः । अधिकोपमा वा क्रियते यथा सर्षपो मेरुसन्निभः । अनुपमा वाऽभिधीयते यथा मेरुः समुद्रोपम इत्यादि । अनु० । विशे० । यथा काञ्जिकमिव ब्राह्मणस्य सुराऽपेया ॥ बृ०१उ० ।

उवमिय-उपमित-त्रि० उप-मि-क्त । सादृश्यानुयोगिनि, यथा चन्द्रवन्मुखं तस्य चन्द्रसादृश्यानुयोगित्वात् ॥ वाच० ॥ उप-मि-भावे निष्ठाप्रत्ययः । उपमाने, विशे० ॥ उपमीयतेऽनेनोपमितम् बाहुलकात्करणे निष्ठाप्रत्ययः । उपमाकरणे, क्षेत्रस्योपमितं क्षेत्रोपमितम् । आ० म० प्र० ॥

उवयाइय-उपयाचित-त्रि० कर्मणि क्त । उपगम्य प्रार्थिते, भावे क्त । उपगम्य याचने, न० देवाराधने, स्था० १० ठा० । पूजाद्युपगमपूर्वकप्रार्थने, ज्ञा० ८ अ० ।

उवयाण-उपयान-न० सामीप्येन गमने, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ।

उवयार-उपचार-पुं० उपचरणमुपचारः । उप-चर-घञ् । ग्रहणे, अधिगमे, "उवयारसहस्संपउत्तत्थं एगट्ठिया प्रणंति । उवयारोत्ति वा अहीतं ति वा आगमियंति वा गृहीतंति वा एगट्ठं" । नि० चू० १ उ० । चिकित्सायाम् । पूजायाम्, पंचा० ६ विव० कल्प० । ज्ञा० । औ० । रा० । देवतापूजायाम्, प्रश्न० सं०३ द्वा० "पंचवण्णसरसुरभिमुक्कपुप्फपुंजोवयारकलिते" चं २० पाहु० । आराधनाप्रकारे, द० ९ अ० । सुखकारिक्रियाविशेषे, प्रव० ६ द्वा० । अन्यक्रियाकलापे, षो० १२ विव० । लक्षणायाम, द्र० ७ अध्या० । लक्षणया शक्यार्थत्यागेनाऽन्यार्थबोधने, असदारोपे, अष्ट० । उपचरणम् अधर्मणि, द्र० ७ अध्या० । यथा—

जो तेसु धम्मसद्दो, सो उवयारेण निच्छएण इहं ।

जह सीह सद्दसीहे, पाहएणुवयारओ सत्थ ॥ ९५ ॥

यस्तेषु तन्मान्तरीयधर्मेषु धर्मशब्दः स उपचारेणापरमार्थेन निश्चयेनात्र जिनशासने कथं यथा सिंहशब्दः सिंहे व्यवस्थितः प्राधान्येनोपचारतः उपचारेणान्यत्र माणवकादौ यथा सिंहो माणवकः उपचारनिमित्तं च शौर्यक्रौर्यादयः धर्मे त्वहिंसाद्यभिधानादय इति गाथार्थः ॥ दश० १ अ० । व्यवहारे, स्था० ४ ठा० । "णिउणजणोवयारकुसला" विपा० २ अ० । उपचरितवस्तुव्यवहारे, षो० विव० । लोकव्यवहारे, ज्ञा० १ अ० । जं० । आदेशे, आ० म० द्वि० । कल्पनायाम्, विशे० ।

उवयारओ-उपचारतस्-अव्य० कल्पनामात्रेणेत्यर्थे, । "उवयारओ खित्तस्स विणिग्गमणं सरूवओ नत्थि" विशे० ॥

उवयारग-उपचारक-पुं० प्रतिजागरके, नि० चू० ११ उ० ।

उवयारग्ग-उपचाराग्र-न० उपचरणमुपचारः तेनोपचारेण करणभूतेनेदमग्रम् । भावाग्रे, नि० चू० १ उ० । (तद्व्याख्या अग्गशब्दे उक्ता)

उवयारच्छल-उपचारच्छल-न० औपचारिके प्रयोगे मुख्यप्रतिषेधेन प्रत्यवस्थानरूपे छलभेदे, यथा मञ्चाः क्रोशन्ति इत्युक्ते पर प्रत्यवतिष्ठते कथमचेतना मञ्चाः क्रोशन्ति मञ्चस्थास्तु पुरुषाः क्रोशन्ति । स्या० ।

उवयारमित्तग-उपचारमात्रक-न० लोकोपचारे एव केवले, "उवचरइ कोणतितो, अहवा उवयारमित्तग एइ" बृ०१ उ०॥

उवयारसय-उपचारशत-न० औपचारिकवचनचेष्टादिशते, "उवयारसयपंधणपउत्ताओ" । तं० ।

उवयारोवेयत्त-उपचारोपेतत्व-न०अग्राम्यतारूपे तृतीये सत्यवचनातिशये, स० । औ० ।

उवयालि-उपजालि-पुं० द्वारवत्यां वसुदेवस्य धारण्यामुत्पन्ने जालिभ्रातरि, सच द्वारवत्यां नगर्यां वसुदेवस्य धारण्यां देव्यां जातः पञ्चाशत्कन्याभिः परिणीतोऽरिष्टनेमेरन्तिके प्रव्रजितः द्वादशाङ्गान्यधीत्य षोडशवर्षपर्य्यायो मृतः शत्रुञ्जये सिद्धः । शेषं यथा गौतमस्य इत्यन्तकृद्दशासु चतुर्थवर्गे द्वितीये अध्ययने प्रतिपादितम् । अन्त० ४ अ० ॥ राजगृहे नगरे श्रेणिकस्य राज्ञो धारण्यां देव्यामुत्पन्ने पुत्रे च । स च राजगृहे श्रेणिकस्य धारण्यां जातः अष्टकन्याः परिणयितः श्रमणस्य भगवतो महावीरस्यान्तिके प्रव्राजितः एकादशाङ्गान्यधीत्य षोडशवर्षाणि श्रामण्यपरिपाकं प्राप्य कालं कृत्वा वैजयन्ते विमाने देवतयोपपन्नः द्वात्रिंशत्सागरोपमाणि स्थितिं परिपालय महाविदेहे सेत्स्यतीति अनुत्तरोपपातिकदशासु प्रथमे वर्गे द्वितीयेऽध्ययने सूत्रितम् । अनु० ॥

उवरइ-उपरति-स्त्री० उप-रम्-क्तिन्-विरतौ, स्था० १ ठा० । आचा० । स० ।

उवरम-उपरम-पुं० उप-रम्-घञ्-अवृद्धिः । उपरमणमुपरमः । नियमे, । विशे० विरमे, दर्श० ।

उवरय-उपरत-त्रि० उप-रम्-क्त । निवृत्ते । कल्प० । स्था० । उत्त० । "न हणे पाणिणं पाणे, भयवेराउ उवरए" उपरतो निवर्तितः । उत्त० ६ अ० । प्रायः सावद्ययोगेभ्यो निवृत्ते, आव० ४ अ० । "उवरया मेहुणा उ" उपरता मैथुनाद् धर्मात् अष्टादशविकल्पब्रह्मोपेताः । आचा० २ श्रु० । उप सामीप्येन रतः । व्यवस्थिते, "एत्थोवरए मेहावी सव्वं पावं कम्मं झोसेत्ति" आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । "एत्थोवरए तं झोसमाणे अय सधीति अद्दक्खु" अत्रास्मिन् सावद्यारम्भे कर्त्तव्ये उपरतः संकुचितगात्रः । अत्र चार्हते धर्मे व्यवस्थिते उपरतः पापारम्भात् । आचा० १ श्रु० ५ अ० ।

उवरयदंड-उपरतदण्ड-पुं० प्राणिनः आत्मानं वा दण्डयतीति दण्डः । स च मनोवाक्कायलक्षणः उपरतो दण्डो येषान्ते तथा । निवृत्तदण्डेषु, "उवरयदंडेसु अणुवरयदंडेसु वा सोवहिएसु वा णिरुवहिएसु वा" आचा० १ श्रु० ४ अ० १ उ०

उवरयमेहुण-उपरतमैथुन-त्रि० मैथुनादुपरते, "से हुप्परिणा समयम्मि वट्टइ णिरास से उवरयमेहुणे चरे" आचा० १ श्रु०

उवराग-उपराग-पुं० उप-रञ्ज-घञ्-उपरञ्जने, ग्रहणे, "ससिरविगहोवरागविसमेसु" प्रश्न० २ द्वा० । "चंदसुरोवरागो गहणं भण्णइ" आव० ४ अ० । स्था० । (गहणशब्दे वक्तव्यता वक्ष्यते)

उवरि-उपरि-अव्य० अग्रे इत्यर्थे, "मंदरचूलियाणं उवरि चत्तारि जोयणाइं" स्था० ४ ठा० । उत्तरकाले, "गहणादुवरि पयत्तो" ध० २ अधि० । उपरिष्टादर्थे, "उक्किट्ठवण्णगोवरिसवसरणविवरूवस्स" पंचा० २ विव० । भ० । प्रज्ञा० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उवरिभासा—उपरिभाषा—स्त्री० गुरोर्भाषणानन्तरमेव विशेषभाषणरूपायां भाषायाम्, " अंतरभासाए उवरिभासाए जं किंचि " ध० २ अधि० ।

उव (प) रिम—उपरितन—त्रि० ऊर्ध्वभवे, स्था० १० ठा० ।

उवरिमउवरिमगेविज्ज—उपरितनोपरितनग्रैवेय—पुं० नवानां ग्रैवेयकाणामन्तिमे, स्था० ९ ठा० ।

उवरिमउवरिमगेवेज्जविमाणपत्थड—उपरितनोपरितनग्रैवेयविमानप्रस्तट—पुं० नवमे ग्रैवेयकविमानप्रस्तटे, स्था० ९ ठा० ।

उवरिमग—उवरिमक—पुं० उपरिमा एव उपरिमकाः । उपर्युपरिवर्तिदेवलोकनिवासिषु देवेषु, " बहुययरं उवरिमगा—उड्ढं च सकप्पथूभाइ " आ० म० प्र० । विशे० ।

उवरिममज्झिमगेवेज्ज—उपरिममध्यमग्रैवेय—पुं० अष्टमे ग्रैवेयकदेवे, स्था० ६ ठा० ।

उवरिममज्झिमगेवेज्जविमाणपत्थड—उपरिममध्यमग्रैवेयविमानप्रस्तट—पुं० अष्टमे ग्रैवेयविमानप्रस्तटे, स्था० ६ ठा० ।

उवरिमहिट्ठिमगेविज्ज—उपरिमाधस्तनग्रैवेय—पुं० सप्तमे ग्रैवेयके, स्था० ६ ठा० ।

उवरिमहिट्ठिमगेविज्जविमाणपत्थड—उपरिमाधस्तनग्रैवेयविमानप्रस्तट—पुं० सप्तमे विमानप्रस्तटे, स्था० ६ ठा० ।

उवरिमहेट्ठिल्ल—उपरिमाधस्तन—त्रि० ऊर्ध्वाधोवर्त्तिनोः, " उवरिमहेट्ठिल्ले खुड्डुगपयरेसु " उपरिमो यमवधीकृत्योर्ध्वं प्रतरवृद्धिः प्रवृत्ता अधस्तनश्च यमवधीकृत्याधः प्रतरवृद्धिः प्रवृत्ता ततस्तयोरुपरितनाधस्तनयोः क्षुल्लकप्रतरयोः शेषापेक्षया लघुतरयो रज्जुप्रमाणायामविष्कम्भयोस्तिर्यग्लोकमध्यभागवर्तिनोः, । भ० १३ श० ४ उ० ।

उवरिमागार—उपरिमाकार—पुं० उपरितनेषु उत्तमाङ्गादिरूपेष्वाकारेषु, " तेसि णं दाराणं उवरिमागारा सोलसविहेहिं रयणेहिं उवसोभिया" रा० ।

उवरियतल्ल—उपरितल्ल—न० गृहस्य पीठबन्धकल्पे स्थाने, "जंबूदीवप्पमाणा उवरियतल्लेण" भ० १ श० ८ उ० ।

उवरिल्ल—उपरितन—त्रि० उपरिशब्दात् । डिल्लडुल्लौ भवे ८।२।६३ । भवेऽर्थे नाम्नः परौ इल्ल उल्ल इत्येतौ डितौ प्रत्ययौ भवत इति भवार्थे इल्लप्रत्ययः । ऊर्ध्वभवे, प्रा० । " उवरिल्ले तारारूवे चारं चरति" स्था० ९ ठा० । अनु० । "उवरिमं सुयं वाएइ उवरिल्लं सुयं जहा दसवेयालियस्स आवस्सगं" नि० चू० १९ उ० ।

उवरुज्झंत—उपरुध्यमान—त्रि० उप-रुध्-कर्मणि-यक्-शानच् । समनूपाद्रुधेः ८ । ४ । ४७ । इति उपः परस्य कर्मणि ज्झो वा पक्षे उपरुंधिज्जंत । निरुध्यमाने, आव्रियमाणे, प्रा० ।

उवरुद्द—उपरौद्र—पुं० यस्तु नारकाणामङ्गोपाङ्गानि भनक्ति सोऽत्यन्तरौद्रत्वादुपरौद्र इति । षष्ठे परमाधार्मिके, भ० ३ श० ६ उ० । तत्स्वरूपं यथा—

भंजंति अंगमंगाणि, ऊरू बाहू सिराणि करचरणा।
कप्पेंति कप्पणीहिं, उवरुद्दा पावकम्मरया ॥ ७६ ॥

अथोपरुद्राख्याः परमाधार्मिकाणामङ्गप्रत्यङ्गानि शिरोबाहूरुकादीनि तथा करचरणांश्च भञ्जन्ति मोटयन्ति पापकर्मणः कल्पनीभिः कल्पयन्ति पाटयन्ति तन्नास्त्येव दुःखोत्पादनं यत्ते न कुर्वन्तीति ॥ सूत्र० १ श्रु० ५ अ० । आव० । आ० चू० । प्रश्न० ।

उवरुवरि—उपर्युपरि—अव्य० निरन्तरमर्थे, " उवरुवरितरंगदरियअतिवेगचक्खुपहमोच्छरंतं" प्रश्न० ३ द्वा० ।

उवरोह—उपरोध—पुं० उप० रुध्-घञ्-आवरणे, अनुरोधे, व्याघाते, सू० १ उ० । बाधायाम्, विशे० । संघटनादौ, "भूओवरोहरहिए" भूतानि पृथिव्यादीनि उपरोधस्तत्संघट्टनादिलक्षणः । आव० ४ अ० । परचक्रेण वेष्टने, ।

ग्रामादेरुपरोधे सति भिक्षाटनादिविधिमाह ।

(सूत्रम्) गामगमस्स वा जाव रायहाणी य बाहिया । सेणं संनिविट्ठं पेहायं कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा तद्दिवसं भिक्खायरियाए गंतुं पडिपत्तए नो से कप्पइ तं रयणिं तत्थेव उवायणाइ वित्तपजो खलु निग्गंथो वा निग्गंथी वा तं रयणिं तत्थेव उवायणाइ उवातिणंतं वा साइज्जति से दुहतो वि अक्कममा णो आवज्जइ वा उम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ॥

अस्य संबन्धमाह ।

उवरोहभया कीरइ, सप्परिखे पुरवरस्स पागारो ।
तेण र सुत्तेण सुत्तं, अणुअत्तइ उग्गहो जं व ॥

पूर्वसूत्रे प्राकारः प्राकारपरिखा चोक्ता स च प्राकारः सपरिखेऽपि पुरवरस्योपरोधः परचक्रेण वेष्टनं तद्भयात्क्रियते तेन कारणेन र इति पादपूरणे ततः सूत्रमिदमारभ्यते । यथावग्रहः पूर्वसूत्रेभ्योऽनुवर्तते अव्यवच्छिन्न एवागच्छन्नस्तीति भावः । अतो यथा रोधके राजावग्रहमनुज्ञाप्य बहिर्निर्गम्यते प्रविश्यते वा तथाभिधीयते । अनेन संबन्धेनायातस्यास्य व्याख्या । सशब्दोऽथशब्दार्थे अथ ग्रामस्य वा यावद्राजधान्या वा यावत्करणान्नगरस्य वा खेटस्य वा इत्यादिपरिग्रहः । एतेषामन्यतरस्य बहिः सेना राज्ञस्कन्धावारं रोधकं त्वासन्निविष्टं प्रेक्ष्य दृष्ट्वा कल्पते निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां वा तद्दिवसं भिक्षाचर्यायां गत्वा प्रत्यागन्तुं नो नैव (से) तस्य विवक्षितस्य भिक्षोः कल्पते तां रजनीं तत्रैवोपाददाति उपाददनं वा स्वादयाति स द्विधा आद्या निष्क्रामन् जितसीमानं राजसीमानं च विलुम्पन् आपद्यते चातुर्मासिकं परिहारस्थानमुद्घातिकमिति सूत्रार्थः । अथ भाष्यविस्तरः ।

सेणादी गम्मिहिइ, खित्तुप्पायं इमं वियाणित्ता ।
असिवे ओमोयरिय—भयवक्खा णिग्गमे गुरुगा ॥

कश्चित् मासकल्पक्षेत्रे स्थितैर्ज्ञातं सेनापरचक्रमत्र समायास्यति आदिशब्दादशिवमवमौदर्यं म्लेच्छादिभयं वा भविष्यति । एवमादौ कारणे पश्चादपि गमिष्यतीति कृत्वा अनागतमेव ततः क्षेत्रान्निर्गन्तव्यं कथं पुनरनागतं तज्ज्ञायत इत्याह क्षेत्रस्योत्पातः परचक्राद्युपद्रवसूचकानि लिङ्गानीत्यर्थः । भ्रान्तिवद्दिक्चक्रवालं धूमायते । अकाले तरूणां पुष्पफलानि जायन्ते महता शब्देन भूमिः कम्पते । समंततः क्रन्दितकूजिताः शब्दाः श्रूयन्ते इत्यादीनि मन्तव्यानि एवं क्षेत्रोत्पातममुं विज्ञाय निर्गन्तव्यम् । अथ न निर्गच्छन्ति ततोऽशिवे अवमौदर्ये बोधिकभये परचक्रागमने ज्ञातेऽपि निर्गमनमकुर्वतां चतुर्गुरुकाः ।

आणाइणो य दोसा, विराहणा होइ संजमायाए ।
असिवाइम्मि पवित्ते, अधिकारो होइ सेणाए ॥

आज्ञादयश्च दोषाः विराधना च संयमात्मविषया भवति संयमविराधना क्षुद्रे भक्तपाने अलभ्यमाने अनेषणीयम् । गृह्णीयादित्यादिका आत्मविराधना परितापमहादुःखादिका यदा वाऽशि-

वादिकं प्रतिपदं प्ररूपितं भवति तदा तत्र सेनया अधिकारः कर्तव्यः । अशिवादिकं च प्रथमोद्देशके अध्वसूत्रे सप्रपञ्चं प्ररूपितमिति नेह भूयः प्ररूप्यते । तच्च परचक्रागमनं यथा ज्ञायते तथा दर्शयति ॥

अतिसयदेवत्तणिमि–त्तमादि अवितहपवित्ति मोत्तूणं ।
निग्गमणा होइ पुव्वं, अणागते रुद्धवोच्छिण्णे ॥

अवधिज्ञानाद्यतिशयेन स्वयमेव ज्ञातं अपरेण वा अतिशयज्ञानिना पृष्टेन कथितं देवतया वा कयाचिदाख्यातं अविसंवादिना वा निमित्तेनाऽवगतम् आदिग्रहणेन विद्यामन्त्रादिपरिग्रहः। अथवा प्रवृत्तिवार्त्ता तामवितथां श्रुत्वा ततः क्षेत्रात्पूर्वमेव निर्गमनं कर्तव्यं भवति । अथानागतं न ज्ञातं सहसैव तन्नगरं रुद्धं पन्थानो व्यवच्छिन्नास्ततो न निर्गच्छेयुरपि । अथवा अमीभिः कारणैर्ज्ञातेऽपि न निर्गमिताः भवेयुः ।

गेलन्नरोगिअसिवे, रायदुट्ठे तहेव ओमम्मि ।
उवही सरीरतेणग–भाते वि ण होइ णिग्गमणं ॥

ग्लानो ज्वरादिपीडितः कश्चिदस्ति तत्प्रतिबन्धेन गन्तुं न शक्यते (रोगित्ति) दुष्टरोगेण कुष्ठादिना कश्चिदत्यन्तमभिभूतः स परित्यक्तुं न पार्यते बहिर्वा अशिवं राजद्विष्टमवमौदर्यं वा विद्यते उपधिस्तेनाः शरीरस्तेना वा बहिर्गच्छत उपद्रवन्ति एतैः कारणैर्ज्ञातेऽपि परचक्रागमने निर्गमनं न भवति ।

एएहि य अन्नेहि य, ण णिग्गया कारणेहि बहुएहिं ।
अच्छंति होइ जयणा, संवट्टे णगररोधे य ॥

एतैरन्यैश्च बहुभिः कारणैर्न निर्गता भवेयुः ततस्तत्रैव तिष्ठतां संवर्ते नगररोधके च यतना कर्तव्या संवर्तो नाम परचक्रागमनं श्रुत्वा स्वरक्षार्थं यत्र जलदुर्गादिषु बहूनां ग्रामाणां जनः संवर्तीभूयैकत्र तिष्ठति । नगररोधकः प्रतीतस्तत्र संवर्ते यतनामाह ।

संवट्टम्मि तु जयणा, भिक्खे भत्तट्ठणा य वसहीए ।
तम्मि भए संपत्ते, अवाउडे क्केण वट्टति ॥

संवर्ते तिष्ठतां भैक्ष्ये भक्तार्थतायां वसतौ च यतना कर्तव्या । तस्मिंश्च परचक्रलक्षणे भये संप्राप्ते अपावृता एके न तिष्ठन्तीति निर्युक्तिगाथा समासार्थः ।

सांप्रतमेनामेव विवृणोति ।

बइयासु व पल्लीसु व, भिक्खं काउं वसंति संवट्टे ।
सव्वम्मि रज्जखोभे, तत्थ व य जाणिथंडिल्ले ॥

संवर्ते अभिनवसन्निविष्टतया सचित्तः पृथिवीकायो भवतीति कृत्वा भिक्षां हिण्डन्ते । किं तु पूर्वस्थितासु व्रजिकासु वा पल्लीसु वा भिक्षां कृत्वा तत्रैव स्थण्डिले भुक्त्वा रात्रौ संवर्ते समा- .. वसन्ति। अथ सर्वस्यापि राज्यस्य क्षोभस्ततो व्रजिकादिकमपि नास्ति तदा तत्रैव संवर्ते यानि तेषु भिक्षां हिण्डन्ते । अथ न सन्ति स्थण्डिले स्थितानि तत इयं यतना ।

पोपाभियसत्तुउदगे, गहहं पडलोवरिं पगासमुहे ।
सुक्खादीण अलंभे, न य चिंता वा सिलाघंति ॥

तत्क्षतीमनादौ आर्द्रे प्रपतति पृथुकाए कायविराधना भवेदिति मत्वा याः पूपलिका ये च सक्तवो यश्च शुष्कौदन एवमादिकं शुष्कद्रव्यं पटलोपरिस्थिते प्रकाशमुखे भाजने गृह्णन्ति अथ शुष्कादीनां लाभो न भवति । आदिशब्दः स्वगतानेकभेदसूचको नच तैरार्द्रमन्नं पातयन्ति तत आर्द्रेण गृह्यमाणेन यत्र पटलकादौ स्वरण्डको लग्नस्तं सम्यक् लक्षयन्ति । गतं भिक्षाद्वारम् ।

अथ भक्तार्थताद्वारमाह ।

पच्छन्ना सति बहिया, अह सन्नयं तेण चिलिमिली अंतो ।
असतीए व सन्नयम्मि व, धरंति अद्धेयरे भुंजे ॥

संवर्तस्यान्तः प्रच्छन्ने प्रदेशे भक्तार्थं न कर्तव्यं अथान्तः प्रच्छन्नं नास्ति ततः संवर्तस्य बहिर्गत्वा समुद्देष्टव्यम् अथ बहिः सभयं ततोऽन्तः संवर्तस्याभ्यन्तर एव चिलिमिलिकां दत्त्वा भोक्तव्यम् । अथ नास्ति चिलिमिलिका सभये वा सा न प्रकटीक्रियते । ततोऽर्द्धे साधवो भाजनानि धारयन्ति । इतरे द्वितीया आर्द्रकमशकेषु भुञ्जते ।

काले अपहुच्चंते, भए व सत्थे व गंतु कामम्मि ।
कप्पुपरिभोयणाइं, काउं इक्को उ परिवेसो ॥

अथ वारकेण भुञ्जानानां कालो न पूर्यते भये वा त्वरितं भोक्तव्यं यो वा संवर्ते सार्थः स गन्तुकामस्ततः कल्पस्योपरि भोजनानि कृत्वा स्थापयित्वा सर्वेऽपि कमठकादिषु भुञ्जते एकश्च तेषां सर्वेषामपि परिवेषयत् ।

पत्तेगं वडुगा भंति, मज्जिलगादेकओ गुरू वीसुं ।
ओमोणकप्पकरणं, अन्ने गुरुणेक्कतो वा वि ॥

प्रत्येकं यदि सर्वेषां वटुकान निमन्त्रितास्ततो ये मज्झिल्लकाः परस्परं सहोदरा भ्रातरः। आदिशब्दादन्येऽपि ये प्रीतिवशेनैकत्र मिलन्ति ते एकतः समुद्दिशन्ति गुरवोऽपि विष्वग् पृथक् भुञ्जते यदा सर्वेऽपि भुक्ता यस्तत्रावमो लघुस्तेन कमठकानां कल्पकरणं विधेयम् । गुरूणां समकं कमठकं तौ सह न मील्यते अन्यस्तस्य कल्पं पृच्छति । अपूर्यमाणेषु साधूनां गुरोश्च कमठकान्येकतोऽपि कल्पयन्ति ।

भायणस्स कप्पकरणं, हेट्ठिल्लगमुत्तकुरुक्खे य ।
ते अ सति कमढकप्पर, कालमजीवे पदेसे य ॥

भाजनस्य कल्पकरणं दग्धभूमिकायां गोमूत्रभाविते वा भूभागे कटुकवृक्षस्याधस्ताद्वा कर्तव्यम् । तेषां दग्धादिस्थण्डिलानामभावे कमठकेषु घटादिकस्योपरि वा भाजनकल्पं कृत्वा तत्र कल्पानकमन्यत्र नीत्वा स्थण्डिले परिष्ठापयन्ति । गते वा संवर्ते पश्चात्परिमलिनजीवप्रदेशेषु परिष्ठाप्यं सभये वा त्वरमाणाः । स्थण्डिलस्य वा अभावे धर्माधर्मास्तिकायसंबन्धिषु जीवप्रदेशेषु परिष्ठापयामः इति बुद्धिं विधाय अस्थण्डिले परिष्ठापयन्ति । गतं भक्तार्थताद्वारम् । वसतिद्वारमाह ।

गोणादीवाघातो, अलब्भमाणेव बाहिवसमाणो ।
वातदिसिसावयभए, अ वा उरू तेण जग्गणता ॥

संवर्तस्यान्ते निराबाधे परिमिलिते प्रदेशे वसन्ति अथ तत्र गवादिभिरितस्ततस्तरफरायमाणैर्व्याघातो यद्वा तत्र प्रासुकः प्रदेशो न लभ्यते ततो बहिर्वसतौ यतो श्वापदभयं तं भूभागं वर्जयित्वा वसन्ति । अथ तत्र श्वापदभयं ततो यस्यां दिशि वातस्तां वर्जयन्ति येन च परचक्रभयेन तत्र संवर्ते प्रविष्टास्तस्मिन् प्राप्ते सर्वमुपकरणं शुषिरे प्रदेशे स्थापयित्वा स्वयमेकतोऽन्यत्र प्रदेशे अपावृताः कायोत्सर्गेण तिष्ठन्ति । स्तेनरक्षणार्थं च वारकेण रजनीं सकलामपि जाग्रति अथ कस्मादपावृतास्तिष्ठन्तीत्याह ।

जिणलिंगमप्पडिहयं, अवाउडे वा वि दिस्स वज्जंति ।
थंभणिमोहणिकरणं, कडजोगे वा भवे करणं ॥

अचेलतालक्षणं जिनलिङ्गमप्रतिहतमेवं स्थितानां न कोऽप्युपद्रवं करोतीति भावः। अथवा ते स्तेना अपावृतान् दृष्ट्वा स्वयमेव वर्जयन्ति स्तम्भनीमोहनीविद्याभ्यां च तेषां स्तम्भनमोहने कुर्वन्ति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यो वाकृतयोगः सहस्त्रयोधी तेन तादृशे आकम्पे गच्छसंरक्षणार्थं करणं शिक्षणं तेषां विधेयम् । गतं संवरद्वारम् ।

अथ नगररोधकद्वारमाह-

संवट्टणिग्गयाणं, णियट्टणे अट्टरोहजयणाए ।
वसही भत्तट्ठणया, थंडिल्लविगिंचणो भिक्खो ॥

ये मासकल्पप्रायोग्या क्षेत्रान्निर्गत्य संवर्त्ते स्थितास्ते संवर्त्तनिर्गता उच्यन्ते तेषां तत उत्थितानामवस्कन्दादिभयेन भूयोऽपि संवर्त्तान्नगरं प्रतिनिवर्तना भवति । यद्वा ग्लानादिभिः कारणैः प्रथममेव नगरान्न निर्गतास्ततो नगरवसतावष्टौमासान् रोधके यतनया वस्तव्यं । भवति सा च यतना वसतिभक्तार्थनथण्डिलविवेचनभैक्ष्यविषया कर्तव्या । तत्र वसतियतनां तावदाह-

हाणीजाते कट्टा, दो दारा कडगचिलिमिली वसभा ।
तं चेव एगदारे, मत्तगसुविणं व जयणाए ॥

रोधके तिष्ठद्भिरष्टौ वसतयः प्रत्युपेक्षणीयास्तासु प्रत्येकमृतुबद्धं मासं मासमासितव्यं अष्टानामलाभे सप्त एवं चान्या तावद्वक्तव्यं यावत् संयतानां संयतीनां च (एकट्ठति) एकैव वसतिर्भवति । तत्रैकस्यां वसतौ स्थितानां द्वे द्वारे भवतः । अथान्तराले कटकचिलिमिलिका वा वृषभाः कुर्वन्ति । अथ द्वारद्वयं न भवति तत एकद्वारे तमवधिं कुर्वन्ति । कायिकभूमेरप्यभावे मात्रकेण यतन्ते यतनया च स्वप्नं कुर्वन्ति । इति निर्युक्तिगाथा समासार्थः ।

अथ भाष्यकार एनामेव विवृणोति-

रोहे उ अट्ठमासे, वासासु सभूमितोणि वा जंति ।
परचक्करुद्धेवि पुरे, हावितिणि मास कप्पंतु ॥

अष्टावृतुबद्धिकान् मासान् रोधयित्वा रोधं कृत्वा ततो वर्षासु नृपाः स्वभूमिमात्मीयराज्यभुवं गच्छन्ति साधवश्च रोधके वसन्तः परचक्ररुद्धेऽपि पुरे मासकल्पं न हापयन्ति किंतु तत्र प्रथमत एवाष्टौ वसतयोऽष्टौ भिक्षाचर्याः प्रत्युपेक्षणीयाः । अथाष्टौ न प्राप्यन्ते ततः

भिक्खस्स व वसहीए, असती सत्तेव चउरो जा ।
वेकालंभालंभे, एकेकगस्साणगाउ संजोगा ॥

भैक्ष्यस्य वा वसतेर्वा असति सप्त प्रत्युपेक्षणीयास्तदप्राप्तौ षडादिपरिहाण्या चतस्रो यावदेका प्रत्युपेक्षणीया । किमुक्तं भवति वसतयो भिक्षाचर्याश्च यद्यष्टौ न प्राप्यन्ते तत एकैकपरिहाण्या यावदेका वसतिरेकाभिक्षाचर्या । अत्र च एकैकस्यालाभे अलाभे वा अनेके संयोगा भवन्ति । तथाहि अष्टौ वसतयोऽष्टौ भिक्षाचर्याः, अष्टौ वसतयः सप्तभिक्षाचर्याः, अष्टौ वसतयः षड्भिक्षाचर्याः, एवं यावदष्टौ वसतय एकाभिक्षाचर्या, एवमष्टौ भङ्गा भवन्ति एते च वसतेरष्टकममुञ्चता लब्धाः सप्तकादिभिरप्येकैकपर्यन्तैरेवमेवाष्टावष्टौ भङ्गा लभ्यन्ते सर्वसंख्यया भङ्गकानां चतुःषष्टिरुत्तिष्ठते । चतुष्षष्टितमश्च भङ्गक एका वसतिः एका भिक्षाचर्येति लक्षणः । साचैका वसतिः संयतानां संयतीनां च पृथक् भवति । अथोभयेषामपि योग्या वसतिः प्रत्येकं नावाप्यते तत एकत्रापि वस्तव्यम् । तत्र यतनामाह-

एगत्थ वसंताणं, पिह दुवारासतीयसयकरणं ।
मज्झेण कडगचिलिमिलि, तेसु न उ थेरखुड्डीतो ॥

संयतानां संयतीनां च एकत्र वसतामियं यतना ये द्विविचतुः शालादिकं पृथक्द्वारं तद्गृहं तदा तत्रान्तरे कटकं चिलमिलीं वा दत्वा तिष्ठन्ति । पृथक्द्वारस्याभावे (सयकरणंति) स्वयमेव कुड्यं भित्वा द्वितीयं द्वारं कर्त्तव्यं गृहमध्ये च कुड्याभावे कटकचिलिमिलिका वा दातव्या तयोश्च कटकस्य चिलिमिलिकाया वा आसन्नयोरुभयोः पार्श्वयोर्भागादेकस्मिन् स्थविराः साधवो द्वितीये च क्षुल्लिकाः संयत्यो भवन्ति । एतच्चाग्रे व्यक्तीकरिष्यते ॥

अथ तत्रैव 'एगदारेत्ति' पदं व्याख्याति-

दारदुयस्स तु असती, मज्झे दारस्स कडगजुत्ती वा ।
णिक्खमपवेसवेला, ससदपिंडेण सज्झातो ॥

यदि द्वारद्वयं न भवति स्वयं च पृथक्द्वारं कर्तुं न शक्यते । ततस्तस्यैकद्वारस्य मध्ये कटकं पोत्तिकां वा चिलिमिलीं दत्वा द्विधा विभजनं विधेयम् । तत्रार्द्धेन साधवो निर्गच्छन्ति अर्द्धेन संयत्य इति । अथ संकीर्णे सा वसतिः नवा विभक्तुं शक्यते ततः परस्परं निर्गमप्रवेशवेलायां वर्जयन्ति यस्यां वेलायां संयता निर्गच्छन्ति तस्यां न संयत्य इति निर्गच्छन्तश्च शब्दं कुर्वन्ति पिण्डे न च स्वाध्यायं कुर्वन्ति शृङ्गारकथां न कुर्वन्ति । न वा पठन्ति । अथ स्वप्नं च यतनयेति पदं व्याचष्टे ॥

अंतम्मि व मज्झंमि व, तरुणी तरुणा य सव्वबाहिरतो ।
मज्झे मज्झिमथेरा, खुड्डीखुड्डा य थेरा य ॥

यास्तरुण्यस्ता अन्ते वा मध्ये वा भवन्ति तरुणास्तु सर्वे बाह्यतः कर्त्तव्याः ततो मध्ये मध्यमाः स्थविराः क्षुल्लिकाश्च साध्व्यस्ततः क्षुल्लकाः स्थविराश्चशब्दान्मध्यमास्तरुणाश्च भवन्तीत्यक्षरार्थः भावार्थस्तु वृद्धविवरणादवगन्तव्यः । तच्चेदम् । "तरुणीओ अंते वा सुविज्ञंति मज्झे व तत्थ अंते ताव मज्झइ एगम्मि तरुणी उवविज्ञंति तासिं आरतो मज्झिमातो तासिं आरतो थेरीउ तासिं आरतो खुड्डीतो खुड्डीणं आरतो थेरा थेराणं आरतो खुड्डा । तेसिम्मि आरतो मज्झिमा तेसिं आरतो तरुणा एवं नवे तरुणीओ तरुणाय अंते जाया इयाणिं जइ मज्झे तरुणीओ उवविज्ञंति तो तासिं उभयतो मज्झिमिया उ तासिं बाहिं थेरीओ तासिं बाहिं थेरा तासिं उभयतो खुड्डीओ तासिं परिक्खोवण थेरा तेसिं उभओ खुड्डा तेसिं बाहिं मज्झिमा तेसिं परिखोवणतरुणाए सारत्ति वसंताण जयणत्ति ॥

अथ मात्रकपदं व्याख्याति-

पत्तेयसमणदिक्खिय-पुरिसा इत्थी य सव्वएगत्थ ।
पच्छन्नकडगचिलिमिलि, मज्झे वसभा य मत्तेणं ॥

यत्रोपाश्रयाणामल्पतया राजकीय आदेशो भवेत् ये केचित्पाषण्डिनस्ते सर्वेप्येकत्रैव तिष्ठतामिति तत्र यदि प्रत्येकाः स्त्रीवर्जिताः निर्ग्रन्था शाक्यादयो दीक्षितपुरुषाः सर्वेप्येकस्यां वसतौ स्थिताः याश्च पाषण्डिन्यः स्त्रियस्ता अपि सर्वा एकत्र स्थितास्तत इयं यतना । यः प्रच्छन्नः प्रदेशस्तत्र साधुभिः साध्वीभिश्च स्थातव्यं प्रच्छन्नस्याभावे मध्ये कण्टकं चिलिमिलिकां वा वृषभाः कुर्वन्ति कायिकभूमेरभावे दिवा रात्रौ च मात्राकरणे वृषभा यतन्ते ।

पच्छन्नअसतिनिण्हग, बोडियभिक्खुआसोयसोया य ।
पउरदव्वकुडगादि, गरहा य सअंतरं एको ॥

प्रच्छन्नस्य कण्टकचिलिमिलिकयोश्चाभावे निह्नवेषु तिष्ठन्ति तदभावे बोटिकेषु तदप्राप्तौ भिक्षुकेषु एतेष्वपि पूर्वमाशोचनादिषु च स्थिता आचमनादिषु क्रियासु प्रचुरद्रव्येण कार्यं कुर्वन्ति कुड्डकं कमठकं तत्र भुञ्जते आदिशब्दादपरेणापि येन ते शौचवादिनो जुगुप्सां न कुर्वन्ति तस्य परिग्रहः । एवं प्रवचनस्यागर्हा परिहृता भवति सान्तरं चोपविष्टा भुञ्जते (एगोत्ति) एकः क्षुल्लकादिः कमठकानां कल्पं करोति ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अथ पत्तेयसमणदिक्खियत्ति पदं व्याख्याति ।

पासंमी पुरिसाणं, पासंमित्थीण वा वि पत्तेगो ।

पासंमित्थियमाएव, एक्कतो होति मा जयणा ॥

पाखण्डिस्त्रीणां पाखण्डिपुरुषाणां वा प्रत्येकं स्थितानां पाखण्डिस्त्रीपुरुषाणामेकतः स्थितानां वा इयं यतना भवति ।

जे जह असोयवादी, साधम्मी वा वि जत्थ बाहिं वा ।

सा णिहुयाय छुदकालेण, वुग्गहोणावसज्झाओ ॥

ये यथा अशौचवादिनो ये च जीवादिपदार्थास्तित्ववादित्वेनैकवाक्यत्वेन च साधूनां साधर्मिकास्तेषु तेषां मध्ये साधुभिर्वासः कर्तव्यः यदा च तत्र द्वयोरपि शैक्ष्ययोः क्षुत्कालो भवति तदा निभृता निर्व्यापारा भवन्ति । इदमेव व्याचष्टे न विग्रहाः स्वपक्षेण परपक्षेण वा सह कलहो न कर्तव्यो नैव च तदानीं स्वाध्यायो विधेयः । गता वसतियतना । भक्तार्थयतनापि पउरदवलद्धमाई इत्यादिना तदेवोक्ता ।

अथ स्थण्डिलयतनामाह ।

तं चेव पुव्व भणितं, पत्तेयं दिस्समाण कुरुकुयाय ।

थंडिल्लसक्खहरिए, पवायपासे पदेसेसु ॥

स्थण्डिलं तदेव पूर्वभणितम् "अणावायमसंलोए" इत्यादिना यथा पीठिकायामुक्तं तथैवात्रापि मन्तव्यम् । प्रथमस्थण्डिलालाभे शेषेषु गच्छतां प्रत्येकं मात्रकग्रहणं भवति सागारिकेण च दृश्यमाने कुरुकुचा कर्तव्या एवं बहिः स्थण्डिले लभ्यमाने यतना अथ बहिर्न लभ्यते निर्गन्तुं ततो यन्नगराभ्यन्तरे स्थण्डिलमनुज्ञातं तत्र यानि तृणानि शुष्कानि तेषु व्युत्सृजति तेषामभावे दरमलितेषु मिश्रेषु तदप्राप्तौ हरितेषु सचित्तेष्वपि व्युत्सृजति । अत्र च प्रत्येकानन्तस्थिरास्थिरादियतना सर्वापि कर्तव्या । यथैव निर्युक्तौ भणिता । अथ प्रपाते गर्तायां नदीतटे प्राकारोपरि वा राज्ञाऽनुज्ञातं तत एतेषां पार्श्वे व्युत्सृजन्ति यदि सर्वथैव स्थण्डिलं न लभ्यते अधश्च भूमिं न पश्यन्ति ततो गर्तादिप्रदेशेष्वपि व्युत्सृजन् सुरुः "अथ पत्तेयदिस्समाणो कुरुपायत्ति" पदं व्याख्याति ॥

पढमा सइ असणुण्णे, तरणे गिहियाणवादि आभोगं ।

पत्तेयमत्तकुरुकुय, दिवं च पउरं गिहत्थेसु ॥

तेण परं पुरिसाणं, असोयवादीणवच्चआवातं ।

इत्थी नपुंसकेसु वि, परं मुहो कुरुकुया सेव ॥

गाथाद्वयमपि पीठिकायां व्याख्यातम् एषा उच्चारयतना भणिता ॥ अथ शरीरे विवेचनयतनामाह-

पच्छाणुपुव्वभणियं, विदिसथंडिल्लसुक्कहरिए य ।

अगमवरंगदीहिय, जढाए पासे पदेसेसु ॥

यद्यसौ कालं गतः साधुस्तत्र केनापि न ज्ञातस्ततोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणे उपयोगकाले अतीते अन्यलिङ्गं कृत्वा प्रच्छन्नमल्पसागारिकं स्थण्डिले परिष्ठाप्यते अथ ज्ञातस्तदा (पुव्वभणियत्ति) यदि नगरान्निर्गमो न लभ्यते प्रत्यपायो वा निर्गतानां भवति ततो नगराभ्यन्तरे पूर्वमिहैव मासकल्पप्रकृते परिष्ठापनिका निर्युक्तौ वा यो भणितो विधिस्तेनोपाश्रये वाऽपरदक्षिणस्यां दिशि परिष्ठापयन्ति । अथ तस्यां न लभ्यते ततो राजवितीर्णमनुज्ञातं यत् स्थण्डिलं तत्र परिष्ठापयन्ति । अथ स्थण्डिले हरितानि भवन्ति ततः शुष्कतृणेषु तदभावे मिश्रेषु तदप्राप्तौ हरितेष्वपि परिष्ठापयन्ति । अथ राज्ञाभिहितं सर्वैरपि पाषण्डिभिरगडे गर्तायां शवं परित्यक्तव्यं प्राकारवरण्डके वा दीर्घिकायां वा नद्यां वहन्त्यां ज्वलति प्रक्षेप्तव्यं तत एतेषां पार्श्वे परिष्ठापयन्ति । अथ न लभ्यते पार्श्वतः परित्यक्तुं ततो धर्मास्तिकायादिप्रदेशेषु परिष्ठापयामीति बुद्धिं कृत्वा तत्रैव प्रतिपन्ति । अथ राज्ञा वितीर्णे स्थण्डिले परिष्ठापनाविधिमाह ।

अन्नाए परलिंगं, उवओगवा तुलेतुमामेत्थं ।

णाते उड्डाहो वा, अयसो पत्थार दोसो वा ॥

यद्यसौ तत्राज्ञातस्तदा परलिङ्गं क्रियते तत्रोपयोगाद्वा सान्तर्मुहूर्तलक्षणं तोलयित्वा प्रतीक्ष्य कर्तव्यं नो मिथ्यात्वं गमिष्यामीति कृत्वा यो जनज्ञातस्तत्र परलिङ्गं न करोति मा उड्डाहो भवेत् उड्डाहो नाम एते मायावन्तः पापा वा न परोपघातकारिणश्चेति इत्थं तेषामुड्डाहे जायमाने प्रवचनस्याप्ययशःप्रवादो भवति प्रस्तारदोषश्च कुलगणसंघविनाशलक्षण उपजायते । एतद्दोषपरिहरणार्थं स्वलिङ्गेनैव परिष्ठाप्यते ।

अथ भिक्षाद्वारमाह-

न वि को वि कंचि पुच्छति, णिंतब हिंत्र्यंब अंतो वा ।

आसंकिते पभिसेहो, णिकारणकारणे उ जतणे य ॥

बोधके अन्तर्नगराभ्यन्तराद्बहिर्निर्गच्छन्तं बहिः कटकाद्वा नगरान्तःप्रविशन्तं न कोऽपि कंचित्पृच्छति । तत्र स्वेच्छया बहिरन्तर्वा भिक्षामटन्ति । यत्र पुनराशङ्कितं क एष कुतो वा आगतो वेश बहिर्गतः सन् किमपि कथयिष्यति किमर्थं वा निर्गच्छति ! ईदृशे आशङ्किते निष्कारणे प्रतिषेधे न गन्तव्यं कारणे तु यतना वक्ष्यमाणा भवति । इदमेव भावयति ।

पउरन्नपाणगमणा, चउरो मासा हवंति णुग्घाया ।

मोत्त इयरे य चत्ता, कुलगणसंघाय पत्थारे ॥

प्रचुरान्नपाने लभ्यमाने यदि बहिर्गच्छति तदा चत्वारो मासा अनुद्धाता भवन्ति आज्ञादयश्च दोषास्तेन साधुना स स्वकीय आत्मा इतरे वाऽभ्यन्तरवर्तिनः साधवः परित्यक्ता भवन्ति तत्र स बहिः सैन्ये गतः पृच्छ्यमानेऽपि यदा किमपि नाख्याति तदा चारकोऽयमिति मत्वा गृह्यते । अभ्यन्तरवर्तिनस्तु अमीषां सहायिनः प्रव्रजितोऽयं निर्गतस्तेन भेदः प्रदत्त इति कृत्वा गृह्यन्ते । एवं कुलगणसंघप्रस्तारोऽपि राज्ञा क्रियते ततो निष्कारणे न गन्तव्यम् ॥

अंतो अलब्भमाणे, असणमाईसु होति जइतव्वं ।

जावंतिए विसोधी, असव्वमादी अलाभे वा ॥

अन्तर्मध्ये प्रासुकैषणीये अलभ्यमाने पञ्चकपरिहाणिक्रमेणैषणादिषु दोषेषु नगराभ्यन्तर एव यतितव्यं यावत् यावन्तिकादिरूपेषु विशोधिकोटिदोषेषु यतमानश्चतुर्लघुप्राप्तो भवति तथाप्यलम्भे अमात्यमादिशब्दाद्वा न श्रेष्ठ्यादीन् वा प्रज्ञापयन्ति ते यद्यविशोधिकोटिदोषैर्दुष्टं प्रयच्छन्ति तदा तदपि गृह्यते न पुनर्बहिर्गन्तव्यम् । अथ तथापि न लभ्यते ततः ॥

आपुच्छित आरक्खित, सेट्ठी सेणावती रायाणं ।

णिग्गमणविद्दरूवे, भासा य तहिं असावज्जा ॥

आरक्षिकः कोट्टपालस्तमागच्छन्ति । वयमत्र संस्तरामस्ततो बहिर्निर्गच्छतां द्वारं प्रयच्छत यद्यसौ ब्रूयात् मा निर्गच्छत । अहं भवतां पर्याप्तं दास्यामि ततो गृह्यते । अथ ब्रूयात् नास्ति मे किंचिद्भक्तं दातव्यं युष्मांश्च विसर्जयन् राज्ञो बिभेमि । ततः श्रेष्ठिनं पृच्छत ततः श्रेष्ठिनमापृच्छन्ति । एवं सेनापतिममात्यं राजानं वा पृच्छन्ति ततो यदि राज्ञाऽपि विसर्जितास्तदा निर्गम-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नं कुर्वन्ति द्वार पालानां च साधवो दर्श्यन्ते यथा एतान् दृष्टरूपान् कुरुत भिक्षाग्रहणार्थमेते निर्गमिष्यन्ति प्रवेशयिष्यन्ति वा न किंचिद्भवद्भिर्वक्तव्यम् । तत्र च बहिर्गतैरसावद्या भाषा भाषितव्या।

अमुमेवार्थं स्पष्टयति ।

मा वच्चह दाहामि, संकाए वाणविंति निग्गंतुं ।
दाणम्मि होइ गहणं, अणुसट्ठादीणि पडिसेधे ॥

आरक्षिकादयः पृष्टाः सन्तो भणन्ति मा व्रजत वयं भक्तं दास्यामहे ते च भेदशङ्कया साधूनां निर्गन्तुं न ददति ततो यद्यविशुद्धमपि ते प्रयच्छन्ति तदा तस्य ग्रहणं कर्तव्यम् । अथ पडिसेहेत्ति भक्तं न च निर्गन्तुं ददति ततोऽनुशिष्टिधर्मकथादीनि प्रयुज्यन्ते ॥

बहिया वि गमेऊणं, आरक्खितमाहि णो तहिं णिंति ।
हितणट्ठचारिगाही, एवं दोसा जढा होंति ॥

बहिरपि गता एवमेवारक्षिकश्रेष्ठिप्रभृतीन् गमयित्वा प्रज्ञाप्य तत्र भिक्षामटन्ति एवं कुर्वद्भिर्हृतनष्टचारिकादयो दोषाः परिहृता भवन्ति । ये साधवो बहिः प्रस्थाप्यन्ते ते अमीभिर्गुणैर्युक्ता भवन्ति ॥

पियधम्मे दढधम्मे, संबंधविकारिणा करणदक्खे ।
पडिवत्तीसु य कुसले, तब्भूमे पेसए बहिता ॥

प्रियधर्मणो दृढधर्मणश्च प्रतीतान् (संबंधित्ति) येषामन्तर्बहिश्च स्वजनसंबन्धो भवति । अविकारिणो नाम नोद्भटवेषा न वा कन्दर्पशीलास्तान् करणदक्षान् भिक्षाग्रहणादिक्रियासु परिच्छेदवतः । प्रतिपत्तिः । प्रतिवचनप्रदानं तत्र कुशलान् (तंभूमित्ति) यो बहिः स्कन्धावार आगतस्तस्य भूमौ जातवर्द्धितान् एवंविधान् साधून् बहिः प्रेषयेत् । 'भासायतहिं असेवेज्जति' पदं व्याचिख्यासुराह—

केवति य आसहत्थी, जोधा धन्नं वि कित्तियं णगरे ।
परितंतमपरितंती, नागासेणाव ण विजाणे ॥

बाह्यस्कन्धावारसत्काः पृच्छेयुः नगराभ्यन्तरे कियन्तोऽश्वा हस्तिनो योधा वा सज्जिताः सन्ति धान्यं वा कियन्नगरेऽस्ति नागराः पौराः सेना वा परितान्ता रोधकेण 'ठियाउपरितांतो अतुडिया ' एवं पृष्टे वक्तव्यं न जानेऽहम् । ब्रवीरन् तत्रैव च सन्तः कथं न जानीत । साधवो ब्रुवते ॥

सुणमाण वि मो सज्झा—यज्झाणनिच्चमा उत्ता ।
सावज्जं सोऊण वि, णहु लब्भाइक्खिओ जतिणो ॥

वयं स्वाध्यायध्यानयोर्नित्यमायुक्ताः सन्त शृण्वतोऽपि वार्त्तान्तरं न शृणुमः। अपि च सावद्यं श्रुत्वाऽपि यतीनामन्यस्याख्यातुं न लभ्यते। न युज्यते। अन्तः प्रविष्टस्य तु यदि कोऽपि पृच्छति तदा वक्तव्यं भिक्षाद्युपयोगेन न ज्ञातमन्तर्बहिश्च साधारणमिदमुत्तरं"शृणोति बहु कर्णाभ्यामक्षिभ्यां बहु पश्यति।न च दृष्टं श्रुतं सर्वं भिक्षुराख्यातुमर्हति" एवं भैक्ष्यमटित्वा पर्याप्ते संजाते सति किं कर्तव्यमित्याह ॥

भत्तट्ठाणसलोए, मोत्तूणं संकिताइ ठाणाइ ।
सचित्ते पडिसेधो, अतिगहणं दिट्ठरूवाणं ॥

भक्तार्थं न वा जनमालोके प्रकाशे भवति । यानि शङ्कितानि-चारिकादिशङ्काविषयभूतानि यानि गुप्तिलानि स्थानानि तानि मुक्त्वा तेषु न विधेयमित्यर्थः । यश्च सचित्तः प्रव्राजितुमुपतिष्ठते तत्र प्रतिसिद्धः स न प्रव्राजयितव्यः किं तु ये पूर्वं द्वारपालेन दृष्टरूपाः कृतास्तेषामेवान्तिकगमनं भूयः प्रवेशो भवति एषा बह्वर्थसंग्राहिका निर्युक्तिगाथा । अथैनां भाष्यकृद्विवृणोति ।

सावगसण्णि द्वाणे, न वि ते कतरं इए य भत्तट्ठं ।
ते समतीआ लोए, वड्डगकुरुयादिसिं चेव ॥

यत्र श्रावकः श्राविका वा एतद्द्वयमपि यदि तं साधुसामाचारीकुशलं तत्र स्थाने भक्तार्थयन्ति तदलाभे यत्रैकतरं साधुं सामाचारिचतुरं तत्र समुद्दिष्टव्यमेकतरस्यापि खेदज्ञस्याभावे इतरेषु अखेदज्ञेष्वपि श्रावकेषु यथा भद्रकेषु वा भक्तार्थयितव्यम् । तेषामभावे अटव्यामालोके अशङ्कनीये सप्रकाशे प्रदेशे समुद्दिशति । वड्डककुरुकुयादिकाऽनुरूपा सैव यतना कर्त्तव्या । शैक्षस्तु यदि कोऽप्युपतिष्ठते तदा न प्रव्राजनीयः । अथ कोऽपि स्वयमेव लिङ्गं कृत्वा प्रविशति ततो वक्तव्यं वयं गणितानामङ्किता एव द्वारेण निर्गतास्ततस्तं तत्र गतः सन् गृहीत्वा विनाशयिष्यत एव मुक्तेऽपि यद्यसावागच्छति तदा द्वारं प्राप्ता द्वारपालं भणन्ति न जानीमो वयं कमप्येनम् । अस्मानेतान् दृष्टरूपान् कुरुत ।

तचुट्ठियवाहट्ठो, पुणरवि घेत्तुं अधिंति पज्जत्तं ॥
अणुसट्ठीदारोट्ठे अण्णो वसती जयं अंतं ॥

एवं भक्तपानं पर्याप्तं गृहीत्वा भक्तार्थिता कृता न जना वाहाभितास्तद्भक्तन्यूनभाजनाः पुनरपि नगरं अधियन्ति । प्रविशन्ति । यदि द्वारस्थो द्वारपालो मार्गयति पौत्तलिकां मे यच्छत ततोऽनुशिष्टिः कर्त्तव्या । अन्यो वा यदि कोऽप्यनुकम्पया ददाति । तदा न वारणीयः तस्या सत्यभावे यदन्नं प्राप्तं तद्दीयते।

रुद्धे वोच्छिन्ने वा—होरोट्ठ दो वि कारणं दीवे ।
इहरा चारियसंका, अकालभरवेदमादीसु ॥

अथ निर्गतानां द्वारं रुद्धं स्थगितं गमागमौ वा व्यवच्छिन्नौ ततस्ततो द्वयेऽपि आभ्यन्तरा बाह्याश्च साधवो द्वारस्थस्य मार्गकारणं दीपयन्ति । आभ्यन्तरा ब्रुवते अस्माकं साधवो निर्गता बहिश्च—रुद्धाः बाह्या ब्रुवते वयं कारणे भिक्षायां बहिर्निर्गताः परं द्वाराणि निरुद्धानि इतरथा यदि न कथयन्ति ततोऽकाले रात्रौ वा विकाले वा यद्यवस्कन्दो धाटिः तदादीनि तथा चारिकशङ्का भवेत् ये साधवो निर्गतास्तेऽत्र न प्रविष्टास्ते न चारिकास्ते आगता आसीरन्निति ।

बाहिं वुवसिउकामं, अंतिणती पेल्लणा अणिच्छंते ।
गुरुगा पराजयजए, वितियं रुद्धे व वोच्छिन्ने ॥

बहिर्निर्गतानां कोऽप्येकश्चिन्तयेत् युक्तोऽस्मिन्नेवबारके वासो न भूयः प्रविशामि अत्र सूत्रमवतरति एवं बहिर्वसन्तं प्रज्ञापयन्ति आर्य ! सूत्रे प्रतिषिद्धं वर्तते बहिर्वसतुं द्वयोर्जिनराजाज्ञयोरतिक्रमो भवति । एवं प्रज्ञाप्य नगरं प्रवेशयन्ति । अथ नेच्छन्ति प्रवेष्टुं ततः (पेल्लणत्ति) बलान्मोटिकया शेषैः स प्रवेषनीयः यदि न प्रवेशयन्ति ततश्चत्वारो गुरुकाः कदाचिदाभ्यन्तराणां पराजयोऽपरेषां च जयो भवेत् तत एतन्निर्भेदः प्रदत्त इति शङ्कया प्रस्तारदोषा भवेयुः द्वितीयपदमत्र भवति बहिर्निर्गतस्य सर्वतोऽपि नगरं निरुद्धं गमागमः सर्वथैव व्यवच्छिन्न इति कृत्वा तत्रापि वसनं शुद्धः । बृ० ३ उ० ॥

उवरोहि (ण्)—उपरोधिन्—त्रि० पीडाकारिणि, आव० ४ अ०।

उवल—उपल—पुं० उप-ला-आदाने, टङ्काद्युपकरणपरिकर्मणा योग्ये पाषाणे, प्रज्ञा० १ पद । जी० । गण्डशैलपाषाणखण्डादिरूपे पृथ्वीकायभेदे, उत्त० ३६ अ० । दग्धपाषाणे, भ० ५ श० २ उ० । भिन्नपाषाणे, बृ० ४ उ० । सामान्यतः पाषाणे, विशे० । आ० म० प्र० । कर्करे, अष्ट० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उवलंभ–उपलम्भ–पुं० उप-लभ-घञ्-मुम् । लाभे, विशे० । ज्ञाने च । जीवाद्युपलम्भो वाच्यः । आ० म० प्र० ।

उवलद्ध–उपलब्ध–त्रि० उप–लभ–क्त । परिज्ञाते, " अह णं स होइ उवलद्धो, तो पेसंति तहाभूएहिं अण्णलद्धेहिं पेहेहिं" सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । यथावस्थितस्वरूपेण विज्ञाते, दशा० १० अ० । रा० ।

उवलद्धपुण्णपाव–उपलब्धपुण्यपाप–त्रि० उपलब्धे यथावस्थितस्वरूपेण विज्ञाते पुण्यपापे येन स उपलब्धपुण्यपापः । तत्वतो विज्ञातपुण्यपापे, दशा० १० अ० । रा० ।

उवलद्धि–उपलब्धि–स्त्री० उपलम्भनमुपलब्धिः ज्ञाने, विशे० । उपलब्धिः पञ्चविधा "सारिक्खविवक्खे विवक्खोभवे ओवमा गमतो य" उपलब्धिः सादृश्यतो विपक्षत उभयधर्मदर्शनत औपम्यत आगमतश्च ॥ अधुना सादृश्यतो विपक्षतश्चोपलब्धिमाह--

सारिक्खविवक्खेहि य, लभति परोक्खेवि अक्खरं कोई ।
सबलेरबाहुलेरा, जह अहि नउला य अणुमाणे ॥

कश्चित्परोक्षेऽप्यर्थे सादृश्यादक्षरं लभते यथा शाबलेयबाहुलेयाक्षराणि तथाहि कश्चित् शाबलेयं दृष्ट्वा तत्सादृश्यात्परोक्षेऽपि बाहुलेये तदक्षराणि लभते । ईदृशो बाहुलेय इति तथा कश्चिद्वैपक्ष्येण परोक्षेऽर्थे तदक्षरं लभते । यथा अहिदर्शनान्नकुलानुमाने नकुलदर्शनाद्वा सर्पानुमाने । संप्रत्युभयधर्मदर्शनत उभयाक्षरलब्धिमाह--

एगत्थे उवलद्धे, कम्मि वि उभयत्थ पच्चओ होइ ।
अस्सतर खरसाणं, गुलदहियाणं सिहरिणीए ॥

कस्मिंश्चिदुभयधर्मा यानुमितिः उभयावयवयोगिनि वा एकस्मिन्नर्थे उपलब्धे उभयत्र परोक्षे प्रत्ययस्तदक्षरलाभो भवति यथा अश्वतरे वेगसरे दृष्टे खरस्य अश्वस्य च प्रत्ययस्तदक्षरलाभो यथा वा सिखरिण्यामुपलब्धायां गुरुदध्नः प्रत्ययो गुरुदध्यक्षरलाभः ।

औपम्यत उपलब्धिमाह--

पुव्वं पि अणुवलद्धो, घिप्पइ अत्थो उ कोइ ओवम्मा ।
जह गो एवं गवयो, किंचिविसेसेण परिहीणो ॥

पूर्वमनुपलब्धोऽपि कोऽप्यर्थ औपम्यात् गृह्यते यथा गौरेवं गवयो नवरं किंचिद्विशेषेण परिहीनः कम्बलकविरहित इत्यर्थः । इत्थं भावना यथा गौस्तथा गवय इति श्रुत्वा कान्तारेणाटव्यां पर्यटन् गवयं दृष्ट्वा गवयोऽयमिति यदक्षरजातं लभते एषा औपम्योपलब्धिः । इदानीमागमत उपलब्धिमाह--

अत्तागमप्पमाणेण, अक्खरं किंचि अविसयत्थेवि ।
भविया अभविया कुरवो, नारगदिवलोय मोक्खो या ॥

आप्ताः सर्वज्ञास्तत्प्रणीत आगम आप्तागमः स एव प्रमाणमाप्तागमप्रमाणं तेन अविषयेऽप्यर्थे किंचिदक्षरं लभते यथा भव्योऽभव्यो देवकुरव उत्तरकुरवो नारका देवलोको मोक्षः चशब्दादन्ये च भावाः । इयमत्र भावना । आप्तागमप्रामाण्यवशात्तस्मिन् तस्मिन् वस्तुनि योऽक्षरलाभो यथा भव्य इति अभव्य इति देवकुरव इत्यादि सा आगमोपलब्धिः । एषा सर्वाप्युपलब्धिः संज्ञिनां भवति असंज्ञिनां तु का वार्तेत्यत आह--

उस्सण्णेण असन्नीण, अत्थं लंभे वि अक्खरं नत्थि ।
अत्थो च्चिय सन्नीणं तु, अक्खरं निच्छए भयणा ॥

असंज्ञिनामर्थलाभेऽपि अर्थदर्शनेऽप्युत्सन्नेन एकान्तेन नास्त्यक्षरलाभः तथाहि शङ्खशब्दं श्रुत्वाऽपि न तेषामेषा लब्धिरुपजायते यथायं शङ्खशब्द इति एवं शेषेन्द्रियेष्वपि भावनीयम् । संज्ञिनां पुनरर्थे एवाक्षरमर्थोपलम्भकाल एवाक्षरलाभो यथा शङ्खशब्द इति निश्चये पुनर्भजना शङ्खशब्द एवायं शार्ङ्गशब्द एवायमिति वा निश्चयगमनं स्याद्वा न वा एवं शेषेन्द्रियेष्वपि भावनीयम् ॥ बृ० १ उ० ।

अथोपलब्धिं प्रकारान्तरतो दर्शयति । उपलब्धेरपि द्वैविध्यमविरुद्धोपलब्धिर्विरुद्धोपलब्धिश्चेति । न केवलमुपलब्ध्यनुपलब्धिरयां भिद्यमानत्वेन हेतोर्द्वैविध्यमित्यपेरर्थः अविरुद्धोऽविरुद्धश्चात्र साध्येन सार्द्धं द्रष्टव्यस्ततस्तस्योपलब्धिरिति । आचार्या भेदानाहुः । तत्राविरुद्धोपलब्धिर्विधिसिद्धौ षोढेति ॥ तानेव व्याख्याति । साध्येनाविरुद्धानां व्याप्यकार्यकारणपूर्वचरोत्तरचरसहचराणामुपलब्धिरिति । ततो व्याप्या विरुद्धोपलब्धिः कार्याविरुद्धोपलब्धिः कारणाविरुद्धोपलब्धिः पूर्वचराविरुद्धोपलब्धिः उत्तरचराविरुद्धोपलब्धिः सहचराविरुद्धोपलब्धिरिति षट्प्रकारा भवति । तत्र हि साध्यं शब्दस्य परिणामित्वादि तस्याविरुद्धं व्याप्यादि प्रयत्नान्तरीयकत्वादि वक्ष्यमाणं तदुपलब्धिरिति । अथ भिक्षुर्भाषते । विधिसिद्धौ स्वभावकार्ये एव साधने साधीयसी न कारणं तस्यावश्यतया कार्योत्पादकत्वाभावात्प्रतिबद्धावस्थस्य मुर्मुरावस्थस्य वा धूमस्यापि धूमध्वजस्य दर्शनात् । अप्रतिबद्धसामर्थ्यमुत्पसामग्रीकं च तद्गमकमिति चेदेवमेतत्किं तु नैतादृशमर्वाग्दृशावसातुं शक्यमिति तन्निराकर्तुं कीर्तयन्ति । तमस्विन्यामास्वाद्यमानादाम्रादिफलरसादेकसामग्र्यनुमित्या रूपाद्यनुमितिमभिमन्यमानैरभिमतमेव किमपि कारणं हेतुतया यत्र शक्तेरप्रतिस्खलनमपरकारणसाकल्यं चेति । तमस्विन्यामिति रूपाप्रत्यक्षत्वसूचनाय शक्तेरप्रतिस्खलनं सामर्थ्यस्याप्रतिबन्धः । अपरकारणसाकल्यं शेषैः शेषसहकारिसंपर्कः रजन्यां रस्यमानात्किल रसात्तज्जनकसामग्र्यनुमानं ततोऽपि रूपानुमानं भवति । प्राक्तनो हि रूपक्षणः सजातीयरूपान्तरक्षणलक्षणं कार्यं कुर्वन्नेव विजातीयं रसलक्षणं कार्यं करोतीति प्राक्तनरूपक्षणात्सजातीयोत्पाद्यरूपक्षणान्तरानुमानं मन्यमानैः सौगतैरनुमतमेव किंचित्कारणं हेतुर्यस्मिन् सामर्थ्याप्रतिबन्धः कारणान्तरसाकल्यं च निश्चेतुं शक्यते ॥ अथ तन्नैतत्कारणात्कार्यानुमानं किं तु स्वभावानुमानमदः ईदृशरूपान्तरोत्पादसमर्थमिदं रूपमीदृशरसजनकत्वादित्येवं तत्स्वभावभूतस्यैव तज्जननसामर्थ्यस्यानुमानादिति चेत्तन्नैतदपि प्रतिबन्धाभावकारणान्तरसाकल्यनिर्णयमन्तरेण नोपपद्यत एव तन्निश्चये तु यदि कारणादेव कस्मात्कार्यमनुमास्यते तदा किं नाम क्षुण्णं चेतस्वी विचारयेत् । एवमस्यत्र नायालब्धिस्यादौ न्यव्यभिचारनिश्चयादनुमानान्येवेत्युक्तं भवति । अथ पूर्वचरोत्तरचरयोः स्वभावकार्यकारणहेत्वनन्तरभावाद्भेदान्तरत्वं समर्थयन्ति । पूर्वचरोत्तरचरयोर्न स्वभावकार्यकारणभावौ तयोः कालव्यवहितावनुपलम्भादिति । साध्यसाधनयोस्तादात्म्येसति । स्वभावहेतौ तदुत्पत्तौ तु कार्ये कारणे वाऽन्तर्भावो विभाव्यते न चैतत्तादात्म्यं हेतु समसमयस्य प्रयत्नानन्तरीयकत्वपरिणामित्वादेरुपपन्नं तदुत्पत्तिश्चान्योन्यमव्यवहितस्यैव धूमधूमध्वजादेः समधिगता ननु व्यवहितकालस्यातिप्रसक्तेः । ननु कालव्यवधानेऽपि कार्यकारणभावो भवत्येव । जाग्रद्बोधप्रबोधयोर्मरणारिष्टयोश्च तथा दर्शनादिति प्रतिजानानं प्रज्ञाकरं प्रतिक्षिपन्ति नचातिक्रान्तानागतयोर्जाग्रद्दशासंवेदनमरणयोः प्रबोधोत्पत्तौ प्रति कारणत्वं व्यवहितत्वेन निर्व्यापारत्वादिति । अयमर्थः जाग्रद्दशासंवेदनमतीतं सुप्तावस्थोत्तरकालभाविज्ञानं वर्तमानं प्रतिमरणं वा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नागतं प्रबोधाविक्षणादिकमरिष्टं सांप्रतिकं प्रतिव्यवहितत्वेन व्यापारपराङ्मुखमिति कथं तत्तत्र कारणत्वमवलम्बेत निर्व्यापारस्यापि तत्कल्पने सर्वं सर्वस्य कारणं स्यात्। इदमेव भावयन्ति ॥ स्वव्यापारापेक्षिणो हि कार्यं प्रति पदार्थस्य कारणत्वव्यवस्था कुलालस्येव कलशं प्रतीति अन्वयव्यतिरेकावसेयौ हि सर्वत्र कार्यकारणभावस्तौ च कार्यस्य कारणव्यापारसव्यपेक्षावेव युज्येते कुम्भस्यैव कुम्भकारव्यापारसव्यपेक्षाविति । ननु चातिक्रान्तानागतयोर्व्यवहितत्वेऽपि व्यापारः कथं न स्यादित्यारेकामधरयन्ति॥ नच व्यवहितयोस्तयोर्व्यापारपरिकल्पनं न्याय्यमतिप्रसक्तेरिति । तयोरतिक्रान्तानागतयोर्जाग्रद्दशासंवेदनमरणयोः। अतिप्रसक्तिमेव भावयन्ति। परंपराव्यवहितानां परेषामपि तत्कल्पनस्य निवारयितुमशक्यत्वादिति परेषामपि रावणशंखचक्रवर्त्यादीनां तत्कल्पनस्य व्यापारकल्पनस्य । अथान्वयव्यतिरेकसमधिगम्यः कार्यकारणभावस्ततो व्यवधानाविशेषेऽपि यस्यैव कार्यमन्वयव्यतिरेकावनुकरोति तदेव तत्कारणमन्यथा व्यवधानाविशेषेऽपि किं न काष्ठकृशानुवत्तत्र स्थित एव शर्कराकणनिकरोऽपि धूमकारणं स्यात्ततो नातिप्रसङ्ग इति चेन्नन्वन्वयस्तद्भावे भावः स चात्र तावन्नास्त्येव जाग्रद्दशासंवेदनमरणयोरभाव एव सर्वदा तत्कार्योत्पादात् । अथ स्वकाले सतोरेव तयोस्तत्कार्योत्पत्तेरन्वयः कथं न स्यादिति चेत्तर्हि ईदृशोऽयं रावणादिभिरप्यस्यास्त्येव सत्यमस्त्येव व्यतिरेकस्तु रिक्त इति चेन्ननु कोऽयं व्यतिरेको नाम तदभावेऽभाव इति चेत्तर्हि जाग्रद्दशासंवेदनादेः कथं स्यात्तदभाव एव सर्वदा प्रबोधादेर्भावात् स्वकाले त्वभावस्तस्य नास्त्येवेति कथं व्यतिरेकः सिद्धिमधिवसेदिति न व्यवहितयोः कार्यकारणभावः संभवति। सहचरहेतोरपि स्वभावकार्यकारणेषु नान्तर्भाव इति दर्शयन्ति । सहचारिणोः परस्परस्वरूपपरित्यागेन तादात्म्यानुपपत्तेः सहोत्पादेन तदुत्पत्तिविपत्तेश्च सहचरहेतोरपि प्रोक्तेषु नानुप्रवेश इति । यदि हि सहसंचरणशीलयोर्वस्तुनोस्तादात्म्यं स्यात्तदा परस्परपरिहारेण स्वरूपान्तरोपलम्भो न भवेदथ तदुत्पत्तिस्तदा पौर्वापर्येणोत्पादप्रसङ्गात्सहोत्पादो न स्यात् नचैवं ततो नास्य प्राक्तेषु स्वभावकार्यकारणेष्वन्तर्भावः। इदानीं मन्दमतिव्युत्पत्तिनिमित्तं साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां पञ्चावयवां व्याप्याविरुद्धोपलब्धिमुदाहरन्ति। ध्वनिः परिणतिमान् प्रयत्नानन्तरीयकत्वाद्यः प्रयत्नानन्तरीयकः स परिणतिमान्यथा स्तम्भः यो वा न परिणतिमान् स न प्रयत्नानन्तरीयको यथा वान्ध्येयः प्रयत्नानन्तरीयकश्च ध्वनिस्तस्मात्परिणतिमानिति व्याप्यस्य साध्येनाविरुद्धस्योपलब्धिः साधर्म्येण वैधर्म्येण चेति । अत्र ध्वनिः परिणतिमानिति साध्यधर्मविशिष्टधर्म्यभिधानरूपा प्रतिज्ञा प्रयत्नानन्तरीयकत्वादिति हेतुः यः प्रयत्नानन्तरीयक इत्यादि तु व्याप्तिप्रदर्शनपूर्वौ साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां स्तम्भवान्ध्येयरूपौ दृष्टान्तौ। प्रयत्नानन्तरीयकश्च ध्वनिरित्युपनयस्तस्मात्परिणतिमानिति निगमनम् । यद्यपि व्याप्यत्वं कार्यादिहेतूनामप्यस्ति साध्येन व्याप्यत्वात्तथापि तन्नेह विवक्षितं किं तु साध्येन तदात्मीभूतस्वकार्यादिरूपस्य प्रयत्नानन्तरीयकत्वादेः स्वरूपमित्यदोषः ॥ अथ कार्याविरुद्धोपलब्ध्यादीनुदाहरन्ति अस्त्यत्र गिरिनिकुञ्जे धनञ्जयो धूमसमुपलम्भादिति कार्यस्येति। साध्येनाविरुद्धस्योपलब्धिरिति पूर्वसूत्रादिहोत्तरत्र चानुवर्त्तनीयम् । भविष्यति वर्षं तथाविधवारिवाहविलोकनादिति कारणस्येति तथाविधेति सातिशयोन्नतत्वादिधर्मोपेतत्वं गृह्यते । उदेष्यति मुहूर्त्तान्ते तिष्यतारका पुनर्वसूदयदर्शनादिति पूर्वचरस्येति तिष्यतारकेति पुष्यनक्षत्रम् ॥ उदगुर्मुहूर्त्तात्पूर्वं पूर्वफल्गुन्य उत्तरफाल्गुनीनामुद्गमोपलब्धेरित्युत्तरचरस्येति । अस्तीह सहकारफलरूपविशेषः समास्वाद्यमानरसविशेषादिति सहचरस्येति । इयं च साक्षात्षोढा विरुद्धोपलब्धिरुक्ता । परंपरया पुनः संभवन्तीयमत्रैवान्तर्भावनीया । तद्यथा कार्यकार्याविरुद्धोपलब्धिः कार्यो विरुद्धोपलब्धौ अन्तर्भवतीति येनः अभूदत्र कोशः कलशोपलम्भादिति कोशस्य हि कार्यं कुशूलस्तस्य चाविरुद्धं कार्यं कुम्भ इति एवमन्याऽप्यत्रैवान्तर्भावनीया ॥ अधुना विरुद्धोपलब्धिभेदानाहुः ॥ विरुद्धोपलब्धिस्तु प्रतिषेधप्रतिपत्तौ सप्त प्रकारेति । प्रथमप्रकारं प्राक् प्रकाशयन्ति । तत्राद्या स्वभावविरुद्धोपलब्धिरिति । प्रतिषेध्यस्यार्थस्य यः स्वभावः स्वरूपं तेन सह यत्साक्षाद्विरुद्धं तस्योपलब्धिः स्वभावविरुद्धोपलब्धिः एतामुदाहरन्ति नास्त्येव सर्वथैकान्तोऽनेकान्तस्योपलम्भादिति । स्पष्टो हि सर्वथैकान्तानेकान्तयोः साक्षाद्विरोधो भावाभावयोरिव। नन्वयमनुपलब्धिहेतुरेव युक्तो यावान् कश्चित्प्रतिषेधः स सर्वोऽनुपलब्धेरिति वचनादिति चेत्तन्मलीमसमुपलम्भाभावस्यात्र हेतुत्वेनानुपन्यासात् । अथ विरुद्धयोः सर्वथैकान्तानेकान्तयोर्वा शीतस्पर्शयोरिव प्रथमं विरोधः स्वभावानुपलब्ध्या प्रतिपन्न इत्यनुपलब्धिमूलत्वात्स्वभावविरोधोपलब्धेरनुपलब्धिरूपत्वं युक्तमेवेति चेत्तर्हि साध्यधर्मिणि भूधरादौ साधने च धूमादावध्यक्षीकृते सतीदमप्यनुमानं प्रवर्तत इति प्रत्यक्षमूलत्वात् इदमपि प्रत्यक्षं किं न स्यात् । विरुद्धोपलब्धेराद्यप्रकारं प्रदर्श्य शेषानाख्याति । प्रतिषेध्यविरुद्धव्याप्तादीनामुपलब्धयः षडिति प्रतिषेध्येनार्थेन सह ये साक्षाद्विरुद्धास्तेषां ये व्याप्तादयो व्याप्यकार्यकारणपूर्वचरोत्तरचरसहचरास्तेषामुपलब्धयः षड् भवन्ति। विरुद्धव्याप्तोपलब्धिर्विरुद्धकार्योपलब्धिर्विरुद्धकारणोपलब्धिर्विरुद्धपूर्वचरोपलब्धिर्विरुद्धोत्तरचरोपलब्धिर्विरुद्धसहचरोपलब्धिश्चेति। क्रमेणासामुदाहरणान्याहुः। विरुद्धव्याप्तोपलब्धिर्यथा नास्त्यस्य पुंसस्तत्त्वेषु निश्चयस्तत्र संदेहादिति । अत्र हि जीवादितत्त्वगोचरो निश्चयः प्रतिषेध्यस्तद्विरुद्धश्चानिश्चयस्तेन व्याप्तस्य संदेहस्योपलब्धिः । विरुद्धकार्योपलब्धिर्यथा न विद्यतेऽस्य क्रोधाद्युपशान्तिर्वदनविकारादेरिति वदनविकारस्ताम्रतादिरादिशब्दादधरस्फुरणादिपरिग्रहः । अत्र च प्रतिषेध्यः क्रोधाद्युपशमस्तद्विरुद्धस्तदनुपशमस्तत्कार्यस्य वदनविकारादेरुपलब्धिः । विरुद्धकारणोपलब्धिर्यथा नास्य महर्षेरसत्यं वचः समस्ति रागद्वेषकालुष्याकलङ्कितज्ञानसंपन्नत्वादिति प्रतिषेध्येन ह्यसत्येन सह विरुद्धं सत्यं तस्य कारणं रागद्वेषकालुष्याकलङ्कितज्ञानं तत्कुतश्चित्सूक्ताभिधानादेः सिद्ध्यत्सत्यं साधयति । तच्च सिध्यदसत्यं प्रतिषेधति ॥ विरुद्धपूर्वचरोपलब्धिर्यथा नोद्गमिष्यति मुहूर्त्तान्ते पुष्यतारा रोहिण्युद्गमादिति। प्रतिषेध्योऽत्र पुष्यतारोद्गमस्तद्विरुद्धो मृगशीर्षोदयस्तदनन्तरं पुनर्वसूदयस्यैव भावात् । तत्पूर्वचरो रोहिण्युदयस्तस्योपलब्धिर्विरुद्धोत्तरचरोपलब्धिर्यथा नोदगान्मुहूर्त्तात्पूर्वं मृगशिरः पूर्वफाल्गुन्युदयादिति। प्रतिषेध्योऽत्र मृगशीर्षोदयस्तद्विरुद्धो मघोदयोऽनन्तरमार्द्रोदयादेरेव भावात्तदुत्तरचरः पूर्वफल्गुन्युदयस्तस्योपलब्धिर्विरुद्धसहचरोपलब्धिर्यथा नास्त्यस्य मिथ्याज्ञानं सम्यग्दर्शनादिति प्रतिषेध्येन हि मिथ्याज्ञानेन सह विरुद्धं सम्यग्ज्ञानं तत्सहचरं सम्यग्दर्शनं तच्च प्राण्यनुकम्पादेः कुतश्चिल्लिङ्गात्प्रसिध्यत्सहचरं सम्यग्ज्ञानं साधयति । इयं च सप्तप्रकारापि विरुद्धोपलब्धिः ॥ प्रतिषेध्येनार्थेन साक्षाद्विरोधमाश्रित्योक्ता परंपरया विरोधाश्रयणेन त्वनेकप्रकारा विरुद्धोपलब्धिः संभवत्यत्रैवाभियुक्तैरन्तर्भावनीया । तद्यथा कार्यविरुद्धोपलब्धिर्व्यापकविरुद्धोपलब्धिः कारणविरुद्धोपलब्धिरिति अयं स्वभावविरुद्धोपलब्धौ। तत्र कार्यवि-

रुद्धोपलब्धिर्यथा नात्र देहिनि दुःखकारणमस्ति सुखोपलम्भादिति साक्षादत्र सुखदुःखयोर्विरोधः प्रतिषेध्यस्वभावेन तु दुःखकारणेन परंपरया । व्यापकविरुद्धोपलब्धिर्यथा न सन्निकर्षादिः प्रमाणमज्ञानत्वादिति साक्षादत्र ज्ञानत्वाज्ञानत्वयोर्विरोधः प्रतिषेध्यस्वभावेन तु ज्ञानत्वव्याप्येन प्रामाण्येन व्यवहितः कारणविरुद्धोपलब्धिर्यथा नास्य रोमहर्षादिविशेषवान् समीपवर्तिपावकविशेषत्वादिति । अत्र पावकः साक्षाद्विरुद्धः शीतेन प्रतिषेध्यस्वभावेन तु रोमहर्षादिना शीत कार्येण पारम्पर्येण । ये तु नास्त्यस्य हिमजनितरोमहर्षादिविशेषो धूमात् प्रतिषेधस्य हि रोमहर्षादिविशेषस्य कारणं हिमं तद्विरुद्धोऽग्निस्तत्कार्यं धूम इत्यादयः कारणविरुद्धकार्योपलब्ध्यादयो विरुद्धोपलम्भभेदास्ते यथासंभवं विरुद्धकार्योपलब्ध्यादिष्वन्तर्भावनीयाः । र० ३ परि० ॥

उवलब्भ-उपलभ्य-अव्य० विज्ञायेत्यर्थे, "धम्मस्स सारमुवलब्भकरे य मायं" ध० २ अधि० ॥ झेवे प्राप्ये च । वाच० ।

उवलभत्ता -देशी-तथेत्यर्थे, दे० ना० ॥

उवलयमग्गा -देशी-पलये, दे० ना० ॥

उवलल्लय-देशी -सुरते, दे० ना० ॥

उवललिय-उपललित- न० उप-लल्- भावे-क्त-क्रीडितविशेषे, ज्ञा० ए अ० ।

उवलाउ-उपलातुम्- अव्य० ग्रहीतुमाश्रयितुमित्यर्थे, व्य०१उ०

उवलालिज्जमाण-उपलाल्यमान- त्रि० क्रीडादिलालनया(ज्ञा० १ अ०) ईप्सितार्थसम्पादनाद्या क्रियमाणे उपलालने, भ० ए श० ३३ उ० । " उवगाइज्जमाणे उवलालिज्जमाणे " रा० ॥

उवलिंप(तु)-उपलिम्पत्- त्रि० घटकमुखस्य तत्पिधानकस्य च गोमयादिना रन्ध्रं भजति, ज्ञा० ७ अ० ॥

उवलित्त-उपलिप्त-त्रि० उप- लिप्-क्त । संवेष्टिते, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० । गोमयादिना लिप्ते, ज्ञा० १ अ० । आ० म० प्र० । दशा० ।

उवली (ल्ली) ण-उपलीन-त्रि० उप-ली-क्त-प्रच्छन्ने, "उवल्लीणा मेहुणधम्मं विणवेंति " आचा० २ श्रु० ॥

उवलुंअ-देशी-सलज्जे, दे० ना० ॥

उवलेव-उपलेप-पुं० उप-लिप्-घञ् । उपलिप्यतेऽनेनेत्युपलेपः कर्मबन्धे, औ० । भावे-घञ् । आश्लेषे, सूत्र०१ श्रु० १ अ०२ उ० । संश्लेषे, आचा० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

उवलेवण-उपलेपन-न० उप-लिप्-ल्युट्-गोमयादिना लेपने, ग० २ अधि० । "उपलेवणसम्मज्जणं करेइ" भ०११ श०ए उ० । "वेजणो उवलेवणादि काऊ पच्चणं करेइ" नि० चू०१ उ० । औ० ॥

उववज्जमाण-उपपद्यमान-त्रि० यथास्वमुत्पादस्थानेष्वन्यनगरस्योत्पद्यमाने, " चउहिं बायरकाएहिं उववज्जमाणेहिं लोगे फुडे" स्था० ४ ठा० ॥

उपवाद्यमान-त्रि० वादित्रे, कल्प० ॥

उववज्जिउंकाम-उत्पतितुंकाम-त्रि० समुत्पित्सौ, " जो जीवो उववज्जिउकामो" सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

उववज्जित्ता-उपपद्य-अव्य० उप पद्-ल्यप् । उत्पादक्षेत्रं गत्वेत्यर्थे, भ० १३ श० ६ उ० ।

उववण-उपवन-न० नवनासन्नवने, ज्ञा० १ अ० ।

उववण्ण-उपपन्न-त्रि० उप-पद्-क्त । उत्पन्ने, "उववण्णो माणुसम्मि लोगम्मि " उत्त०ए अ० "दोच्चं पुढवीए नारगा उववण्णा" नि० चू० ११ उ० । युक्त्या घटमानके, सूत्र० १ श्रु० १ अ० । सङ्गते, पंचा०६ विव० । उदीर्णे, प्रेरिते, "उववण्णो पावकम्मुणा" पापकर्मणा उदीर्णः प्रेरितः । उत्त०१ए अ० । प्राप्ते, भावे क्तः । उपपाते, ज० १४ श० १ उ० ।

उववत्ता-उपपत्तृ-त्रि० उपपातकर्त्तरि, "देवलोगेसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति " औ० । स्था० ॥

उववत्ति-उपपत्ति-स्त्री० उप-पद्-क्तिन् । उपपाते, जन्मनि, स्था० २ ठा० । संभवघटने, । विवक्षितार्थसंभवव्यवस्थापने, विशे० । युक्तौ, "उपपत्तिर्भवेद्युक्ति-र्या तदभावप्रसाधिका । सा त्वन्वयव्यतिरेकादि-लक्षणा सूरिभिः कृतेति १ आगमश्चोपपत्तिश्च, सम्पूर्णं विधिलक्षणम् " अनु० । सङ्गतौ, हेतौ, उपाये, प्राप्तौ, सिद्धौ, वाच० । विषये, "दिसउवत्ति वा संभवत्ति वा उववत्तित्ति वा एगट्ठा " आ० चू० १ अ० ।

उववत्थ-उपवस्त्र-न० अङ्गप्रोक्षणसाधके धौतवस्त्रव्यतिरिक्ते द्वितीये वस्त्रे, तपोविशेषे श्रीआणन्दविमलसूरिकृताष्टकर्मतपो यथोपवसेन कर्तुं न शक्नोति तदाऽऽचाम्लेन करोति किं वा नेति १५७ प्रश्ने यदि सर्वथोपवस्त्रकरणशक्तिर्न स्यात्तदा चाम्लेनापि करोतीति सेनप्र० ४ उल्ला० ।

उववाय-उपपात-पुं० उप पत् घञ् हष्टादागतौ, फलोन्मुखत्वे, नाशे, उप समीपे पतनमुपपातः । दृग्विषयदेशावस्थाने, "आणाणिद्देसयरे गुरूणमुववायकारए" उत्त० १ अ० । समीपे, "आणा उववायवयणनिद्देसकरे" व्य० द्वि० ४ उ० । सेवायाम्, । "आणोववायवयणणिद्देसे चिट्ठंति" भ० ३ श० ३ उ० । आज्ञायाम्, "उववातो णिद्देसो, आणाविणओ य होंति एगट्ठा" इति वचनात्" व्य० द्वि० ४ उ० । उपपतनमुपपातः । देवनारकाणां जन्मनि, "एगे उववाए" उपपात एकश्च्यवनवत् । स्था०१ ठा० । कल्प० । अकामनिर्जरादिजनिते, किल्बिषादिदेवभवे, नारकभवे च । स्था० ३ ठा० । दर्श० । स० । आचा० । अनु० । प्रादुर्भावे, प्रज्ञा० १६ पद । "दोराहं उववाए पणत्ता तंजहा देवाणं चेव णेरइयाणं चेव" द्वयोर्जीवस्थानयोरुपपतनमुपपातो गर्भसम्मूर्च्छनलक्षणजन्मप्रकारद्वयविलक्षणो जन्मविशेषः । स्था० २ ठा० । स च क्षेत्रभवभेदाद् द्विविधः तद्यथा क्षेत्रोपपातो भवोपपातश्च । तत्र क्षेत्रमाकाशो यत्र नारकादयो जन्तवः सिद्धाः पुद्गला वा अवतिष्ठन्ते । भवकर्मसम्पर्कजनितो नैरयिकत्वादिकः पर्यायः सम्भवति कर्मवशवर्तिनः प्राणिनोऽस्मिन्निति भव इति व्युत्पत्तेः नो भवः भवव्यतिरिक्तः कर्मसम्पर्कसम्पाद्यनैरयिकत्वादिपर्यायरहित इति भावः । स च पुद्गलः सिद्धो वा उभयस्यापि यथोक्तलक्षणभवातीतत्वात् । प्रज्ञा० १६ पद ।

(१) उपपाते संग्रहः ।

(२) गतीनामुपपातविरहः ।

(३) सान्तरनिरन्तरोपपातः ।

(४) एकसमये कियन्त उपपातास्तत्र नैरयिकाद्येकोनचत्वारिंशज्जीवानामुपपातविचारः ।

(५) नैरयिकादीनामात्मोपक्रमादिना उपपातचिन्तनम् ।

(६) कतिसञ्चिताकतिसञ्चितानामुपपातः पदामल्पबहुत्वविचारः ।

(७) षट्कसमर्जितोत्पादस्तदल्पबहुत्वविचारश्च ।

(८) द्वादशसमर्जिताः ।

(९) चतुरशीतिसमर्जिताः । असुरकुमारादीनां भेदादिनिरूपणं च ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(१०) नैरयिकादयः कुत उत्पद्यन्ते तेषां स्थितिभवग्रहणादयः। नैरयिकेषूत्पद्यमानानां स्थित्यादि च ।
(११) कृतयुग्मादि विशेषणैनैकेन्द्रियादीनामुपपातचिन्तनम् । तत्र प्रथमाद्वितीयादिसमयकृतयुग्मविचारः ।
(१२) राशियुग्मक्षुद्रकयुग्मादिविशेषणेन नैरयिकादीनामुपपात विचारः ।
(१३) भव्यदेवादीनामुपपातचिन्तनम् ।
(१४) नैरयिकादीनां स्वतोऽस्वतो वा उपपातचिन्तनम् ।
(१५) नैरयिकादयः उद्धृत्य क गच्छन्ति क्षुद्रकृतनैरयिका कुत उत्पद्यन्ते ।
(१६) भव्यद्रव्यदेवादयः कुत उत्पद्यन्ते ।
(१७) महर्द्धिकदेवानां द्विशरीरेषूपपादविचारः ।
(१८) नैरयिकादयः कथमुत्पद्यन्त इति चिन्तनम् ।
(१९) समुद्घातविशेषणैनैकेन्द्रियाणामुपपात चिन्तनम् ।
(२०) पृथ्व्यादीनां समवहत्य देवलोकेषूपपातः।
(२१) नैरयिकादीनां नैरयिकादिषूपपातोद्वर्त्तनचिन्तनम् । कृष्णलेश्याविषयोत्पत्ति चिन्तनम् । पृथ्वीकायिकेषु कृष्णलेश्याविषयविचारः ।
(२२) लेश्यावत्त्वेनोपपातश्चतुर्विंशतिदण्डकस्य शेषपदानामतिदेशश्च ।
(२३) नैरयिकाणां देशतस्सर्वतो वा उपपातः ।
(२४) गर्भगतस्य मृत्वा देवलोकेषूपपातः ।
(२५) कुतो देवा देवलोकेषूपपद्यन्ते ।
(२६) सहोपपन्नयोरसुरकुमारयोः शोभनाशोभनत्त्वम् ।
(२७) नैरयिका नैरयिकेषूपपन्नानां कश्चिदल्पतरोऽपरो महावेदनतरः ।
(२८) पूर्वोक्तानां नैरयिकादीनामायुष्कसंवेदनम् ।
(२९) रत्नप्रभायां सर्वे उपपन्नपूर्वाः ।
(३०) अविराधितश्रामण्यानां देवलोकेषूपपातः ।

(१) अथसत्वानामुपपातविरहादयश्चिन्त्यन्ते । तत्रादौ इयमधिकारसंग्रहणि गाथा–

बारसचउवीसाइं, संतरयं एगसमयकत्तो य ।
उव्वट्टणपरजविया–उयं अट्ठेव च आगरिसा ॥

प्रथमं गतिषु सामान्यत उपपातविरहोद्वर्तनाविरहस्य च द्वादश मुहूर्ताः प्रमाणं वक्तव्यं तदनन्तरं नैरयिकादिषु भेदेषूपपातविरहस्योद्वर्तना विरहस्य चतुर्विंशतिमुहूर्ता गतिषु प्रत्येकमादौ वक्तव्याः । ततः (संतरत्ति) सान्तर नैरयिकादयः उत्पद्यन्ते निरन्तरं चेति वक्तव्यं । तदनन्तरमेकसमयेन नैरयिकादयः प्रत्येकं कति उत्पद्यन्ते कति चोद्वर्तन्ते इति! चिन्तनीयं ततः कुत उत्पद्यन्ते नारकादयः इति चिन्त्यते तत (उव्वट्टण त्ति) नैरयिकादय उद्धृत्ताः सन्तः कुत्रोत्पद्यन्ते इति वक्तव्यं तदनन्तरं कति भागावशेषेऽनुभूयमानभावायुषि जीवाः पारभविकमायुर्बध्नन्तीति वक्तव्यं तथा कतिभिराकर्षैरुत्कर्षत आयुर्बन्धक इति चिन्तायामष्टौ आकर्षा वक्तव्याः। एषाः संग्रहणीगाथासंक्षेपार्थः ॥

(२) एतदेव क्रमेण विवरीषुर्गतीनामुपपातविरहमाह–

निरयगईणं भंते ! केवइयं कालं विरहिया उववाएणं पण्णत्ता गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं बारसमुहुत्ता । तिरियगईणं भंते ! केवइयं कालं विरहिया उववाएणं पण्णत्ता ? गोयमा ! जहण्णेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं बारसमुहुत्ता । मणुयगईणं भंते ! केवइयं कालं विरहिया उववाएणं पण्णत्ता गोयमा ! जहन्नेणं एगं समयं उक्कोसेणं बारसमुहुत्ता। देवगईणं भंते! केवइयं कालं विरहिया उववाएणं पण्णत्ता ? गोयमा! जहन्नेणं एगं समयं उक्कोसेणं बारसमुहुत्ता। सिद्धिगईणं भंते ! केवइयं कालं विरहिता सिज्झणया पण्णत्ता ? गोयमा! जहन्नेणं एगं समयं उक्कोसेणं छम्मासा। निरयगईणं भंते केवइयं कालं विरहिया उव्वट्टणाए पण्णत्ता ? गोयमा ! जहण्णेणं एगं समयं उक्कोसेणं बारस मुहुत्ता । मणुयगईणं भंते ! केवइयं कालं विरहिया उव्वट्टणाए पण्णत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं एगं समयं उक्कोसेणं बारसमुहुत्ता एवं तिरिया देवगइए वि ॥

निरयगतिर्नाम नरकगतिकर्मोदयजनिता जीवस्य औदयिको भावः स चैकः सप्तपृथिवीव्यापि चेति । एकवचनेन समानाञ्च पृथिवीनां परिग्रहः णमिति वाक्यालङ्कारे भदन्तेति गुर्वामन्त्रणं परमकल्याणयोगिन् ! (केवइयंति) कियन्तं कालं विरहिता शून्या प्रज्ञप्ता उपपातेन उपपतनमुपपातस्तदन्यगतिकानां सत्वानां नारकत्वेनोत्पाद इति भावः तेन प्रज्ञप्ता प्ररूपिता भगवता अन्यैश्च ऋषभादिभिस्तीर्थकरैः एवं प्रश्ने कृते भगवानाह । गौतम ! जघन्यत एकं समयं यावदुत्कर्षतो द्वादशमुहूर्तान् । अत्र मुग्धप्रेरक आह । नन्वेकस्यामपि पृथिव्यामग्रे द्वादशमुहूर्तप्रमाण उपपातविरहो न वक्ष्यते चतुर्विंशतिमुहूर्त्तादिप्रमाणस्य वक्ष्यमाणत्वात् ततः कथं सर्वपृथिवी समुदायेऽपि द्वादशमुहूर्त्तप्रमाणम् । प्रत्येकमभावे समुदायेऽभावादिति न्यायस्य श्रवणात् । तदयुक्तं वस्तुतत्वापरिज्ञानात् । यद्यपि हि नाम रत्नप्रभादिष्वेकैकनिरूपणेन चतुर्विंशतिमुहूर्तादिप्रमाण उपपातविरहो वक्ष्यते तथापि यदा सप्तापि पृथिव्यः समुदिता उपेत्योपपातविरहश्चिन्त्यते तदा स द्वादशमुहूर्तप्रमाण एव लभ्यते द्वादशमुहूर्तानन्तरमवश्यमन्यतरस्यां पृथिव्यामुत्पादसम्भवात्तथाकेवलवेदसोपलब्धेः। यस्तु प्रत्येकमभावे समुदायेऽप्यभाव इति न्यायः स कारणकार्यधर्मानुगमचिन्तायां नान्यत्रेत्यदोषः । यथा नरकगतिर्द्वादशमुहूर्तानुत्कर्षत उपपातेन विरहिता उक्ता एवं तिर्यङ्मनुष्यदेवगतयोऽपि । सिद्धिगतिस्तूत्कर्षतः षण्मासानुपपातेन विरहिता एवमुद्वर्तनाऽपि नवरं सिद्धा नोद्वर्त्तन्ते तेषां साद्यपर्यवसितकालतया शाश्वतत्वादिति सिद्धिरुद्वर्तनया विरहिता वक्तव्या । गतं प्रथमद्वारम् ।

इदानीं चतुर्विंशतिरिति द्वितीयं द्वारमभिधित्सुराह–

(१) रयणप्पभापुढविनेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं विरहिया उववाएणं पण्णत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं एगं समयं उक्कोसेणं चउव्वीसं मुहुत्ता । सक्करप्पभापुढविणेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं विरहिया उववाएणं पण्णत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं एगं समयं उक्कोसेणं सत्तराइंदियाणि। वालुप्पभाए पुढवीए णेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं विरहिया उववाएणं पण्णत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं एगं समयं उक्कोसेणं अद्धमासं । पंकप्पभापुढविणेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं विरहिया उववाएणं पण्णत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं एगं समयं उक्कोसेणं मासं । धूमप्पभापुढविणेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं विरहिया उववाएणं पण्णत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं एगं समयं उक्कोसेणं दो मासा । तमापुढविणेरइयाणं भंते ? केवइयं कालं विरहिया उववाएणं पण्णत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एकं समयं उक्कोसेणं चत्तारि मासा । अहेसत्तमा पुढविणेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं विरहिया उववाएणं पएणत्ता ? गोयमा ! जहएणेणं एगं समयं उक्कोसेणं छम्मासा (२) असुरकुमाराणं भंते ! केवइयं कालं विरहिया उववाएणं पएणत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं एगं समयं उक्कोसेणं चउव्वीसं मुहुत्ता । एवं (३) नागकुमाराणं (४) सुवएणकुमाराणं (५) विज्जुकुमाराणं (६) अग्गिकुमाराणं (७) दीवकुमाराणं (८) उदहिकुमाराणं (९) दिसाकुमाराणं (१०) वाउकुमाराणं (११) थणियकुमाराण य पत्तेयं जहन्नेणं एगं समयं उक्कोसेणं चउवीसं मुहुत्ता । (१२) पुढविकाइयाणं भंते ! केवइयं कालं विरहिया उववाएणं पएणत्ता ? गोयमा ! अणुसमयमविरहियं उववाएणं पएणत्ता (१३) एवं आउकाइयाण वि (१४) तेउकाइयाण वि (१५) वाउकाइयाण वि (१६) वणस्सइकाइयाण वि अणुसमयमविरहिया उववाएणं पएणत्ता । (१७) बेइंदियाणं भंते ! केवइयं कालं विरहिया उववाएणं पएणत्ता गोयमा ! जहएणेणं एकं समयं उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं । एवं (१८) तेइंदियाय (१९) चउरिंदिया य । (२०) सम्मुच्छिमपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं जहएणेणं एकं समयं उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं गब्भवक्कंतियपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं भंते ! केवइयं कालं विरहिया उववाएणं पएणत्ता ? गोयमा ! जहएणेणं एकं समयं उक्कोसेणं बारसमुहुत्ता । (२१) सम्मुच्छिममणुस्साणं भंते ! केवइयं कालं विरहिया उववाएणं पएणत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं एकं समयं उक्कोसेणं चउवीसं मुहुत्ता । गब्भवक्कंतियमणुस्साणं पुच्छा गोयमा ! जहएणेणं एकं समयं उक्कोसेणं बारसमुहुत्ता । (२२) वंतराणं पुच्छा गोयमा ! जहएणेणं एकं समयं उक्कोसेणं चउव्वीसं मुहुत्ता । (२३) जोइसियाणं पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं एकं समयं उक्कोसेणं चउव्वीसं मुहुत्ता । (२४) सोहम्मकप्पदेवाणं भंते ! केवइयं कालं विरहिया उववाएणं पएणत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं एकं समयं उक्कोसेणं चउव्वीसं मुहुत्ता । ईसाणे कप्पे देवाणं पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं एकं समयं उक्कोसेणं चउव्वीसं मुहुत्ता । सणंकुमारदेवाणं पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं एकं समयं उक्कोसेणं नवराइंदिया वीसमुहुत्ताइं ॥ माहिंददेवाणं पुच्छा गोयमा ! जहएणेणं एकं समयं उक्कोसेणं बारसराइंदियाइं दसमुहुत्ताइं । बंभलोए देवाणं पुच्छा गोयमा ! जहएणेणं एकं समयं उक्कोसेणं अद्धतेवीसं राइंदियाइं । लंतगदेवाणं पुच्छा गोयमा ! जहएणेणं एगं समयं उक्कोसेणं पणयालीसं राइंदियाइं । महासुक्कदेवाणं पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं एकं समयं उक्कोसेणं असीतिराइंदियाइं । सहस्सारदेवाणं पुच्छा गोयमा ! जहएणेणं एकं समयं उक्कोसेणं राइंदियसत्तं । आणयदेवाणं पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं एकं समयं उक्कोसेणं संखेज्जमासा । पाणयदेवाणं पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं एकं समयं उक्कोसेणं संखेज्जमासा । आरणदेवाणं पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं एकं समयं उक्कोसेणं संखेज्जवासा । अच्चुयदेवाणं पुच्छा गोयमा ! जहएणेणं एकं समयं उक्कोसेणं संखेज्जवासा । हेट्ठिमगेविज्जाणं पुच्छा गोयमा ! जहएणेणं एकं समयं उक्कोसेणं संखेज्जाइं वाससयाइं । मज्झिमगेविज्जाणं पुच्छा गोयमा ! जहएणेणं एकं समयं उक्कोसेणं संखेज्जाइं वाससहस्साइं । उवरिमगेविज्जाणं पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं एकं समयं उक्कोसेणं संखेज्जाइं वाससयसहस्साइं । विजय-वेजयंत-जयंत अपराजिय-देवाणं पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं एकं समयं उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं । सव्वट्ठसिद्धदेवाणं पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं एकं समयं उक्कोसेणं पलिओवमस्स संखेज्जइभागं । सिद्धाणं भंते ! केवइयं कालं विरहिया सिज्झणयाए पएणत्ते ? गोयमा ! जहन्नेणं एकं समयं उक्कोसेणं छम्मासा । रयणप्पभापुढविनेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं विरहिया उवट्टणाए पएणत्ते ? गोयमा ! जहएणेणं एकं समयं उक्कोसेणं चउवीसमुहुत्ता एवं सिद्धवज्जा उवट्टणा वि जाणियव्वा जाव अणुत्तरोववाइयत्ति नवरं जोइसियवेमाणिएसु चयणंति अभिलावो कायव्वो ॥

"रयणप्पभाए" इत्यादि पाठसिद्धम् । नवरमत्रार्थविषया इमा संग्रहणिगाथा "चउवीसयमुहुत्ता, सत्तयराइंदियाइ पक्खो य । मासो पक्खो दुन्निओ, चउरो छम्मास नरएसु ॥ १ ॥ कमसो उक्कोसेणं, चउवीसमुहुत्तभवणवासीसु । अविरहिया पुढवाई, विगलाणं तो मुहुत्तं तु ॥ २ ॥ सम्मुच्छिमतिरियपंचिंदिय, पंचिंदियगब्भबारसमुहुत्ता ॥ सम्मुच्छिमगब्भमणुया, कमसो चउवीसबारसया ॥ ३ ॥ वणजोइससोहम्मी-साणकप्पचउवीसइमुहुत्ताओ । कप्पे सणंकुमारे दियसाण वावीसई मुहुत्ताओ ॥ ४ ॥ माहिंदे राइंदिय-बारसदसमुहुत्तबंभलोगम्मि । राइंदियअद्धतेवी-सुलंतए होंति पणयाला ॥ ५ ॥ महसुक्कम्मि असीई, सहस्सारसयं तओ उ कप्पदुगे । मासा संखेज्जा तह, वासा संखेज्ज उवरिदुगे ॥ ६ ॥ हिट्ठिममज्झिम उवरिम, जह संखसया सहस्सलक्खाइं । वासाणं विन्नेओ, उक्कोसेणं विरहकालो ॥ ७ ॥ कालो संखाईओ, विजयाइसु चउसु होइ नायव्वो । संखेज्जो पल्लसओ, भागो सव्वट्ठसिद्धम्मि" ॥ ८ ॥ प्रज्ञा० ६ पद ।

बालतवे पडिबद्धा, उक्कडरोसा तवेण गारविया ।
वेरेण य पडिबद्धा, मरिओ असुरेसु गच्छंति ॥ ९ ॥
रज्जुग्गहविसभक्खण, जलजलणपवेसतएहछुहदुहओ ।
गिरिसिरिपडणाउ मुया, सुह भावा हुंति विंतरिया १०॥
तावस जा जोइसिया, चरगपरिव्वाय बंभलोगो जा ।
जा सहसारो पंचिंदि-तिरिय जा अच्चुओ सड्ढा ॥११॥
जइ लिंगिमिच्छदिट्ठी, गेविज्जा जाव जंति उक्कोसं ।
पयमवि असद्दहंतो, सुत्तत्थं मिच्छदिट्ठीओ ॥ १२ ॥
सुत्तं गणहररइयं, तहेव पत्तेय बुद्धरइयं च ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुयकेवलिणा रइयं, अभिन्नदसपुव्विणा रइयं ॥ १३ ॥
छउमत्थ संजयाणं, उववाय उक्कोसओ सव्वट्ठे ।
तेसिं सड्ढाणं पि य, जहन्नओ होइ सोहम्मे ॥ १४ ॥
लंतम्मि चउदसपुव्विस्स, तावसाईण वंतरेसु तहा ।
एसो उववायविही, नियकिरियट्ठियाणसव्वो वि ॥१५॥

अर्हद्वचनविकलास्तत्वतो ज्ञानशून्यत्वाद्बाला इव बालास्तेषां तपः पञ्चाग्न्यादि तच्च तत्वतः सत्वोपघातहेतुत्वान्न तपः तथा च । महाभारते शान्तिपर्वणि व्यासोऽप्याह । " चतुर्णां ज्वलतां मध्ये, यो नरः सूर्यपञ्चमः । तपस्तपति कौन्तेय ! न तत्पञ्चतपः स्मृतम् ॥ पञ्चानामिन्द्रियाग्नीनां, विषयेन्धनचारिणाम् । तेषां तिष्ठति यो मध्ये, तद्धि पञ्चतपः स्मृतम्"॥ तस्मिन् प्रतिबद्धा आसक्ताः अथवा बालस्थिता तथा तद्द्रव्यक्षेत्रकालभावेषु प्रतिबद्धाः उत्कटरोषाः चण्डकोपाः । तथा तपसाऽनशनादिभेदेन गौरविता वयं तपस्विन इति गर्वाध्माताः तथा वैरेण क्रोधानुशयरूपेण कंचित्प्राणिनि द्वारवत्यां द्वीपायनवत्प्रतिबद्धाः कृतानुबन्धाः मृत्वा असुरेषु असुरादिषु भवनवासिषु जायन्ते ॥ ९ ॥ (रज्जुत्ति०) व्यक्ता भद्रं शुभभावा नरकादिगतियोग्या अत्यन्तरौद्रार्तचित्तपरिहारेण तथाविधमन्दशुभपरिणामाः शूलपाणिप्रभृतय इव ॥ १० ॥ (तावसत्ति०) तापसा वनवासिनो मूलकन्दफलाहारास्ते (जंति उक्कोसन्ति) वक्ष्यमाणेन योगादुत्कर्षतो यान्त्युत्पद्यन्ते यावज्ज्योतिष्कास्तत ऊर्ध्वं नेति भावः । एवं चरका धाटिभिक्षाचराः परिव्राजकाश्च कपिलमतानुगामिनो यावद्ब्रह्मलोकः पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चो हस्त्यादयः सम्यक्त्वदेशविरतिप्रयुक्ता यावत्सहस्रारः श्राद्धाः आर्यिकादेशविरत मनुष्या यावदच्युतः ॥ ११ ॥ (जइत्ति०) यति लिङ्गिनो रजोहरणादिसाधुवेषधारिणो मिथ्यादृष्टय उत्कर्षतो ग्रैवेयकान् यावत् यान्ति । एतदुक्तं भवति । प्रशमसंवेगनिर्वेदानुकम्पास्तिक्याभिव्यक्तिरूपसम्यक्त्वविकला अपि संपूर्णदशविधचक्रवालसामाचार्यनुष्ठानप्रभावाद्ग्रैवेयकान् यावदुत्कर्षतस्ते गच्छन्ति मिथ्यादृष्टिस्तु सोऽप्यभिधीयते यः समग्रद्वादशाङ्गं श्रद्दधानोऽपि सूत्रोक्तमेकमपि पदमक्षरं वा न श्रद्धत्ते स्वल्पस्याऽपि सर्वविदोक्तस्याश्रद्धानेन तत्र तस्याप्रत्ययात् ॥ १२ ॥ सूत्रोक्तमित्युक्तमतः सूत्रस्वरूपमाह (सुत्तंति) यद्गणधरैः सुधर्मस्वाम्यादिभी रचितमाचाराङ्गादि यच्च प्रत्येकबुद्धैर्नम्यादिभिर्नम्यध्ययनादि यच्च श्रुतकेवलिना चतुर्दशपूर्वधरेण शय्यंभवादिना दशवैकालिकादि यच्च संपूर्णपूर्वधारिणा रचितं तत्सर्वं सूत्रमिति तथा ॥ १३ ॥ (छउमत्थत्ति० । लंतम्मित्ति०) छादयत्यात्मनो यथावस्थितं रूपमिति छद्म ज्ञानावरणादि घातिकर्मचतुष्टयं तत्रस्थाश्च तेषां तूपपातः उत्कर्षतस्त्रैलोक्यतिलके सर्वार्थसिद्धे विमाने जघन्यतः पुनस्तेषां छद्मस्थसाधूनां श्रावकाणामपि च सौधर्मे उपपातो भवति केवलमत्रापि स्थितिकृतो विशेषो यथा सौधर्मे साधोर्जघन्या स्थितिः पल्योपमपृथक्त्वं श्रावकस्य पल्योपममिति तथा चतुर्दशपूर्वधरस्य लान्तके जघन्य उपपातः तापसादीनां तु व्यन्तरेषु प्रज्ञापनायां तु " ताव ईसाणजहन्नेणं भवणवासीसु " इत्युक्तमेव भोक्तरूपः सर्वोऽप्युपपातविधिर्निजनिजक्रियास्थितानां निजनिजागमोक्तानामनुष्ठानरतानां न चाचारहीनानामिति॥१४।१५॥

देवीनामुत्पत्तिस्थानान्याह—

उववाओ देवीणं, कप्पदुगं जाव सहस्सारो ।
गमणागमणं नत्थी, अच्चुयपरओ सुराणं पि ॥ २७ ॥
तिपलिय–तिसार–तेरस, सारा कप्पदुगतई य लंतअहो ।
किव्विसिय न होतुवरिं, अच्चुयपरओभिओगाई ॥२८॥

(उववाओत्ति) भवनपतीनारभ्य यावत्सौधर्मेशानकल्पद्विकं तावद्देवीनामुपपातो जन्मत ऊर्ध्वं देवानां तूपपातः सर्वत्र भवत्येव सनत्कुमारादिदेवानां च सुरताभिलाषः । सौधर्मादीशानाच्चापरिगृहीता देव्यः सहस्रारं यावद्गच्छन्ति । सहस्राराच्च परतो गमनागमनं च देवीनां नास्ति । तथा च मूलसंग्रहणीटीकायां हरिभद्रसूरिः देव्यः खलु अपरिगृहीताः सहस्रारं यावद् गच्छन्ति इति । तथा भगवानार्यश्यामोऽपि प्रज्ञापनायामाह " तत्थ णं जे ते मणपरियारगा देवा तेसिं इच्छामणे समुप्पज्जइ इच्छामो णं अच्छराहिं सद्धिं मणपरियाणं करेत्तए तओ णं देवेहिं एवमणसीकए समाणे खिप्पामेव ताओ अच्छराओ तत्थ गयाओ चेव समाणी उ अणुत्तराइं उच्चावयाइं मणाइं पहारेमाणीओ चिट्ठंति तओणं ते देवा ताहिं अच्छराहिं सद्धिं मणपरियाणं करिंति इत्यादि " तत्र प्रविचारणार्थमानतादौ देवीनां गत्यागती स्तः । देवीनां गमागमौ न स्तः । तत्राधस्तनानामूर्ध्वशक्तिभावात् । ता हि जिनजन्ममहिमास्वपि नात्रागच्छन्ति किं तु स्थानस्था एव भक्तिमातन्वते । संशयप्रश्ने वाऽवधिज्ञानतो भगवत्प्रयुक्तानि मनोद्रव्याणि साक्षाद्देवेत्यतस्तदाकारान् यथानुपपत्त्या जिज्ञासितमर्थं निश्चिन्वन्ति न चान्यत्प्रयोजनं तत्र तेषामिहागमः ॥ २७ ॥ अथ वैमानिकेषु किल्बिषिकाणामाभियोग्यानां च देवानां स्थित्यादिकमाह (तिपलित्ति) किल्बिषिकाअशुभकर्मकृतश्चाण्डालप्राया देवास्ते त्रिपल्योपमादिस्थितयः । क्रमात्कल्पद्विकादेरधो वसन्ति तथाहि त्रिपल्योपमास्थितयस्ते सौधर्मेशानयोरधोवसन्ति । एवं त्रिसागरोपमायुष्काः सनत्कुमारस्याधः त्रयोदशसागरोपमायुषा लान्तकस्याधः गतं च किल्बिषिका न हेतुरिति लान्तकादूर्ध्वं न चोत्पद्यन्ते अच्युतात्परतस्त्वाभियोग्या दासप्राया आदिशब्दात्प्रकीर्णादयो नोत्पद्यन्ते । इदमुक्तं भवति । ग्रैवेयकानुत्तरेषु सर्वेषामपि देवानामहमिन्द्रत्वेन शेषाणामपि सामानिकादिदेवभेदानामभाव इति ॥ संप्र०सू० ।

(३) सान्तरं निरन्तरं वा उपपद्यन्ते ॥

णेरइयाणं भंते किं संतरं उववज्जंति निरंतरं उववज्जंति ? गोयमा ! संतरं पि उववज्जंति निरंतरंपि उववज्जंति । तिरिक्खजोणियाणं भंते ! किं संतरं निरंतरं उववज्जंति ? गोयमा ! संतरं पि उववज्जंति निरंतरंपि उववज्जंति । मणुस्साणं भंते ! किं संतरं उववज्जंति निरंतरं उववज्जंति ? गोयमा ! संतरंपि उववज्जंति निरंतरं पि उववज्जंति । देवाणं भंते ! किं संतरं उववज्जंति निरंतरं उववज्जंति ? गोयमा ! संतरं पि उववज्जंति निरंतरं पि उववज्जंति । रयणप्पभापुढविणेरइयाणं भंते ! किं संतरं उववज्जंति निरंतरं उववज्जंति ? गोयमा ! संतरं पि उववज्जंति निरंतरंपि उववज्जंति एवं जाव अहे सत्तमाए संतरं पि उववज्जंति निरंतरं पि उववज्जंति । असुरकुमाराणं भंते ! देवाणं किं संतरं उववज्जंति निरंतरं उववज्जंति ? गोयमा ! संतरंपि उववज्जंति निरंतरंपि उववज्जंति । एवं जाव थणियकुमारा संतरं पि उववज्जंति निरंतरं पि उववज्जंति । पुढविकाइयाणं भंते ! पुच्छा किं संतरं निरंतरं उववज्जंति ? गोयमा ! नो संतरं निरंतरं उववज्जंति । एवं जाव वणस्सइकाइया नो संतरं उववज्जंति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निरंतरं उववज्जंति । बेइंदियाणं भंते ! किं संतरं उववज्जंत निरंतरं उववज्जंति ? गोयमा ! संतरं पि उववज्जंति निरंतरं पि उववज्जंति एवं जाव पंचिंदियतिरिक्खजोणिया । मणुस्साणं भंते ! किं संतरं उववज्जंति निरंतरं उववज्जंति ? गोयमा ! संतरंपि निरंतरं पि उववज्जंति ॥ एवं वाणमंतर-जोइसिय-सोहम्म-ईसाण-सणंकुमार-माहिंद-बंभलोय-लंतग-महासुक्क-सहस्सार-आणय-पाणय-आरण-अच्चुय हिट्ठिमगेविज्जग-मज्झिमगेविज्जग-उवरिमगेविज्जग-विजय-वेजयंत-जयंत-अपराजिय-सव्वट्ठसिद्ध-देवा य संतरं पि निरंतरंपि उववज्जंति, सिद्धाणं भंते ! किं संतरं निरंतरं सिज्झंति ? गोयमा ! संतरं पि सिज्झंति निरंतरं पि सिज्झंति ॥ णेरइयाणं भंते ! किं संतरं उवट्टंति निरंतरं उवट्टंति ? गोयमा ! संतरं पि उवट्टंति निरंतरं पि उवट्टंति । एवं जहा उववाओ भणिओ तहा उवट्टणावि सिद्धवज्जा भाणियव्वा । जाव वेमाणिया नवरं जोइसियवेमाणिएसु चयणं अभिलावो कायव्वो ॥

पाठसिद्धं प्रागुक्तसूत्रार्थानुसारेण भावार्थस्य सुप्रतीतत्वात् । गतं तृतीयं द्वारम् ।

(४) एकसमयेन कियन्त उत्पद्यन्ते इत्याह-

णेरइयाणं भंते ! एगसमएणं केवइया उववज्जंति ! गोयमा ! जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा उक्कोसे णं संखिज्जा वा असंखिज्जा वा उववज्जंति एवं जाव अहेसत्तमाए । असुरकुमाराणं भंते ! एगसमएणं केवइया उववज्जंति ? गोयमा ! जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा उक्कोसेणं संखेज्जा असंखेज्जा वा एवं नागकुमारा जाव थणियकुमारा वि भाणियव्वा । पुढविकाइयाणं भंते ! एगसमएणं केवइया उववज्जंति ? गोयमा ! अणुसमयं अविरहियं असंखेज्जा उववज्जंति । एवं जाव वाउकाइयाणं । वणस्सकाइयाणं भंते ! एगसमएणं केवइया उववज्जंति ? गोयमा ! सट्ठाणुववायं पडुच्च अणुसमयं अविरहिया अणंता उववज्जंति परट्ठाणुववायं पडुच्च अणुसमयं अविरहिया असंखेज्जा उववज्जंति । बेइंदियाणं भंते ! केवइया एगसमएणं उववज्जंति ? गोयमा ! जहन्नेणं एगो वा दो वा तिन्नि वा उक्कोसेणं संखेज्जा वा असंखेज्जा वा ॥ एवं तेइंदिय-चउरिंदिय-सम्मुच्छिमपंचिंदिय-तिरिक्खजोणिय-गब्भवक्कंतिय-पंचिंदियतिरिक्खजोणिय-सम्मुच्छिममणुस्स-वाणमंतर-जोइसिय-सोहम्मी-साण-सणंकुमार-माहिंद-बंभलोय-लंतग-सुक्क-सहस्सार-कप्पदेवा-एते जहा णेरइया । गब्भवक्कंतियमणुस्स-आणय-पाणय-आरण-अच्चुय-गेवेज्जग-अणुत्तरोववाइया य एते जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा उक्कोसेणं संखिज्जा उववज्जंति । सिद्धा णं भंते ! एगसमएणं केवइया सिज्झंति ? गोयमा ! जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा उक्कोसेणं अट्ठसयं । णेरइयाणं भंते ! एगसमएणं केवइया उवट्टंति ? गोयमा ! जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा उक्कोसेणं संखेज्जा वा असंखेज्जा वा उवट्टंति । एवं जहा उववाओ भणिओ तहा उवट्टणा वि सिद्धवज्जा भाणियव्वा । जाव अणुत्तरोववाइया नवरं जोइसियवेमाणियाणं चयणेणं अभिलावो कायव्वो ४ ॥

नेरइयाणं भंते ! एगसमएणं केवइया उववज्जंतीत्यादि निगदसिद्धम् । नवरं 'वनस्पतिसूत्रे सट्ठाणुववायं पडुच्च अणुसमयमविरहिया अणंता' इति । स्वस्थाने वनस्पतीनां वनस्पतित्वं ततोऽयमर्थः यद्यनन्तरभववनस्पतय एव वनस्पतिषूत्पद्यमानाश्चिन्त्यन्ते तदा प्रतिसमयमविरहितं सर्वकालमनन्ता विज्ञेयाः प्रतिनिगोदमसंख्येयभागस्य निरन्तरमुत्पद्यमानतया उद्वर्तमानतया च लभ्यमानत्वात् "परट्ठाणुववायं पडुच्च अणुसमयमविरहियमसंखेज्जा" इति परस्थानं पृथिव्यादयः । किमुक्तं भवति यदि पृथिव्यादयः स्वस्थानाद्वृत्त्य वनस्पतिषूत्पद्यमानाश्चिन्त्यन्ते तदा अणुसमयविरहियमसंखेज्जा वक्तव्या इति । तथा गर्भव्युत्क्रान्तिका मनुष्या उत्कृष्टपदेऽपि सङ्ख्येया एव नासङ्ख्येयास्ततस्तत्सूत्रे उत्कर्षतः संख्येया वक्तव्या आनतादिषु देवलोकेषु मनुष्या एवोत्पद्यन्ते न तिर्यञ्चोऽपि मनुष्याश्च संख्येया एवेत्यानतादिसूत्रेष्वपि संख्येया एव वक्तव्या नासंख्येयाः सिद्धिगतानामुत्कर्षतोऽष्टशतम् । एवमुद्वर्तनासूत्रमपि वक्तव्यम् । नवरं (जोइसिवेमाणियाणं चयणेण अभिलावो कायव्वो इति) ज्योतिष्कवैमानिकानां हि स्वभावादुद्वर्त्तनं च्यवनमित्युच्यते । तथा अनादिकालप्रसिद्धेस्ततस्तत्सूत्रे च्यवनेनाऽभिलापकः कर्तव्यः सचैवं "जोइसियाणं भंते एगसमएणं केवइया चवंति गोयमा जहन्नेणं एगो वा दो वा" इत्यादि गतं चतुर्थद्वारम् । प्रज्ञा० ६ पद ॥

लेश्यादिविशेषणेनोपपाताः ।

इमी से णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए णिरयावाससयसहस्सेसु संखेज्जवित्थडेसु णरएसु एगसमए केवइया णेरइया उववज्जंति १ केवइया काउलेस्सा उववज्जंति २ केवइया कण्हपक्खिया उववज्जंति ३ केवइया सुक्कपक्खिया उववज्जंति ४ केवइया सण्णी उववज्जंति ५ केवइया असण्णी उववज्जंति ६ केवइया भवसिद्धिया जीवा उववज्जंति ७ केवइया अभवसिद्धिया जीवा उववज्जंति ८ केवइया आभिणिबोहियणाणी उववज्जंति ९ केवइया सुयणाणी उववज्जंति १० केवइया ओहिणाणी उववज्जंति ११ केवइया मइअन्नाणी उववज्जंति १२ केवइया सुयअन्नाणी उववज्जंति १३ केवइया विभंगणाणी उववज्जंति १४ केवइया चक्खुदंसणी उववज्जंति १५ केवइया अचक्खुदंसणी उववज्जंति १६ केवइया ओहिदंसणी उववज्जंति १७ केवइया आहारसण्णोवउत्ता उववज्जंति १८ केवइया भयसण्णोवउत्ता उववज्जंति १९ केवइया मेहुणसण्णोवउत्ता उववज्जंति २० केवइया परिग्गहसण्णोवउत्ता उववज्जंति २१ केवइया इत्थि वेदगा उववज्जंति २२ केवइया पुरिसवेदगा उववज्जंति २३ केवइया णपुंसगवेदगा उववज्जंति २४ केवइया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कोहकसायी उववज्जंति २५जाव केवइया लोभकसायी उववज्जंति २८केवइया सोइंदियोवउत्ता उववज्जंति २६जाव केवइया फासिंदियोवउत्ता उववज्जंति ३३केवइया णोइंदियोवउत्ता उववज्जंति ३४केवइया मणजोगी उववज्जंति ३५केवइया वइजोगी उववज्जंति ३६केवइया कायजोगी उववज्जंति ३७केवइया सागारोवउत्ता उववज्जंति ३८केवइया अणागारोवउत्ता उववज्जंति ३६गोयमा ! इमी से रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए णेरइया वाससयसहस्सेसु संखेज्जवित्थडेसु णरएसु जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा णेरइया उववज्जंति जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा काउलेस्सा उववज्जंति। जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा कण्हपक्खिया उववज्जंति। एवं सुक्कपक्खिया वि। एवं सण्णी वि। एवं असण्णी वि। एवं भवसिद्धिया वि। एवं अभवसिद्धिया ॥ आभिणिबोहियणाणी सुअणाणी ओहिणाणी मतिअण्णाणी सुअअण्णाणी विभंगणाणी एवं चेव चक्खुदंसणी ण उववज्जंति। जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा अचक्खुदंसणी उववज्जंति। एवं ओहिदंसणी वि एवं आहारोवउत्तावि जाव परिग्गहसण्णोवउत्तावि। इत्थीवेदगा न उववज्जंति पुरिसवेदगा न उववज्जंति जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा नपुंसगवेदगा उववज्जंति एवं कोहकसायी जाव लोभकसायी सोइंदियउवउत्ता न उववज्जंति एवं जाव फासिंदियोवउत्ता ण उववज्जंति जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा नो इंदियोवउत्ता उववज्जंति मणजोगी ण उववज्जंति। एवं वइजोगी वि जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा कायजोगी उववज्जंति। एवं सागारोवउत्ता वि एवं अणागारोवउत्ता वि ३६ इमी से णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए णिरयावाससयसहस्सेसु संखेज्जवित्थडेसु णरएसु एगसमएणं केवइया णेरइया उव्वट्टंति? केवइया काउलेस्सा उव्वट्टंति? जाव केवइया अणागारोवउत्ता उव्वट्टंति ? गोयमा ! इमी से णं रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए णिरयावाससयसहस्सेसु संखेज्जवित्थडेसु णरएसु एगसमएणं जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा णेरइया उवट्टंति जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा काउलेस्सा उवट्टंति। एवं जाव सण्णी असण्णी ण उवट्टंति । जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा भवसिद्धिया उव्वट्टंति एवं जाव सुअअण्णाणी विभंगणाणी ण उव्वट्टंति। चक्खुदंसणी ण उव्वट्टंति जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा अचक्खुदंसणी उव्वट्टंति। एवं जाव लोभकसायी सोइंदियोवउत्ता ण उव्वट्टंति एवं जाव फासिंदियोवउत्ता ण उव्वट्टंति जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा णोइंदियोवउत्ता उव्वट्टंति मणजोगी ण उव्वट्टंति। एवं वइजोगी वि जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा कायजोगी उव्वट्टंति एवं सागारोवउत्ता वि एवं अणागारोवउत्ता वि। इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए णिरयावाससयसहस्सेसु संखेज्जवित्थडेसु णरएसु केवइया णेरइया पण्णत्ता केवइया काउलेस्सा पण्णत्ता? जाव केवइया अणागारोवउत्ता पण्णत्ता ३६ केवइया अणंतरोववण्णगा पण्णत्ता? केवइया परंपरोववण्णगा पण्णत्ता? केवइया अणंतरोवगाढा पण्णत्ता? केवइया परंपरोवगाढा पण्णत्ता केवइया अणंतराहारा पण्णत्ता? केवइया परंपराहारा पण्णत्ता केवइया अणंतरपज्जत्ता पण्णत्ता ? केवइया परंपरपज्जत्ता पण्णत्ता ? केवइया चरिमा पण्णत्ता ? केवइया अचरिमा पण्णत्ता ? गोयमा ! इमी से रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए णिरयावाससयसहस्सेसु संखेज्जवित्थडेसु णरएसु संखेज्जा णेरइया पण्णत्ता संखेज्जा काउलेस्सा पण्णत्ता, एवं जाव संखेज्जा सण्णी पण्णत्ता, असण्णी सिय अत्थि सिय नत्थि। जइ अत्थि जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा पण्णत्ता, संखेज्जा भवसिद्धिया पण्णत्ता, एवं जाव संखेज्जा परिग्गहसण्णोवउत्ता पण्णत्ता, इत्थि वेदगा णत्थि, पुरिसवेदगा णत्थि, संखेज्जा णपुंसगवेदगा पण्णत्ता। एवं कोहकसायी वि, माणकसायी जहा असण्णी एवं जाव लोभकसायी, संखेज्जा सोइंदियोवउत्ता एवं जाव फासिंदियोवउत्ता, नो इंदियोवउत्ता जहा असण्णी, संखेज्जा मणजोगी एवं जाव अणागारोवउत्ता। ३० । अणंतरोववण्णगा सिय अत्थि सिय णत्थि, जइ अत्थि जहा असण्णी, संखेज्जा परंपरोववण्णगा, एवं जहा अणंतरोववण्णगा तहा अणंतरोवगाढा अणंतराहारगा अणंतरपज्जत्तगा चरिमा परंपरोवगाढा जाव अचरिमा जहा परंपरोववण्णगा। इमी से णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए णिरयावाससयसहस्सेसु असंखेज्जवित्थडेसु णेरइएसु एगसमएणं केवइया णेरइया उववज्जंति, जाव केवइया अणागारोवउत्ता उववज्जंति ? गोयमा ! इमी से णं रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए णिरयावाससयसहस्सेसु असंखेज्जवित्थडेसु णरएसु एगसमए णं जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं असंखेज्जा णेरइया उववज्जंति एवं जहेव संखेज्जवित्थडेसु तिण्णि गमा पण्णत्ता, तहा असंखेज्जवित्थडेसु वि तिण्णि जाणियव्वा। णवरं असंखेज्जा जाणियव्वा सेसं तं चेव जाव असंखेज्जा अचरिमा णाणत्तं लेस्सासु लेस्साओ जहा पढमसए, णवरं संखेज्जवित्थडेसु वि असंखे-

ज्जवित्थडेसु वि ओहिणाणी ओहिदंसणी संखेज्जा उव्वट्टा वेयव्वा सेसं तं चेव। सक्करप्पभाएणं भंते ! पुढवीए केवइया णिरयावासा पुच्छा, गोयमा ! पणवीसं णिरयावाससयसहस्सा, ते णं भंते ! किं संखेज्जवित्थडा असंखेज्जवित्थडा एवं जहा रयणप्पभाए, तहा सक्करप्पभाए वि, णवरं असण्णी तिसु वि गमएसु न भणति सेसं तं चेव। वालुयप्पभाएणं पुच्छा, गोयमा ! पण्णरसणिरयावाससयसहस्सा पण्णत्ता, सेसं जहा सक्करप्पभाए, णाणत्तं लेस्सासु लेस्साओ जहा पढमसए। पंकप्पभाएणं भंते ! णिरयावाससयसहस्सा पुच्छा गोयमा ! दस णिरयावाससयसहस्सा पण्णत्ता, एवं जहा सक्करप्पभाए, णवरं ओहिणाणी ओहिदंसणी ण उव्वट्टंति सेसं तं चेव। धूमप्पभाएणं पुच्छा, गोयमा ! तिण्णि णिरयावाससयसहस्सा एवं जहा पंकप्पभाए। तमाएणं भंते ! पुढवीए केवइया णिरयावासं पुच्छा, गोयमा ! एगे पंचूणे णिरयावाससयसहस्से पण्णत्ते, सेसं जहा पंकप्पभाए अहे सत्तमाएणं भंते ! पुढवीए कइ अणुत्तरा महति महालया महाणिरया पण्णत्ता ? गोयमा ! पंच अणु० जाव अप्पइट्ठाणे। तेणं भंते ! किं संखेज्ज वित्थडा असंखेज्जवित्थडा ? गोयमा ! संखेज्जवित्थडे य असंखेज्जवित्थडे य अहे सत्तमाए णं भंते ! पुढवीए पंचसु अणुत्तरेसु महतिमहालया जाव महाणिरएसु संखेज्जवित्थडे णरए एगसमएणं केवइया एवं जहा पंकप्पभाए णवरं तिसु णाणेसु ण उववज्जंति, ण उवट्टंति पण्णत्ता एसु तहेव अत्थि। एवं असंखेज्जवित्थडेसु वि णवरं असंखेज्जा भाणियव्वा। इमी से णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए णिरयावाससयसहस्सेसु संखेज्जवित्थडेसु णरएसु किं सम्मादिट्ठी णेरइया उववज्जंति, मिच्छदिट्ठी णेरइया उववज्जंति सम्मामिच्छदिट्ठी णेरइया उववज्जंति ? गोयमा ! सम्मादिट्ठी णेरइया उववज्जंति, मिच्छदिट्ठी णेरइया उववज्जंति, णो सम्मामिच्छदिट्ठी णेरइया उववज्जंति। इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए णिरयावाससयसहस्सेसु संखेज्जवित्थडेसु णेरइएसु किं सम्मादिट्ठी णेरइया उवट्टंति एवं चेव। इमी से णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए णिरयावाससयसहस्सेसु संखेज्जवित्थडा णिरया किं सम्मदिट्ठीहिं णेरइएहिं अविरहिया मिच्छदिट्ठीहिं णेरइएहिं अविरहिया, सम्मामिच्छदिट्ठीहिं णेरइएहिं अविरहिया ? गोयमा ! सम्मदिट्ठीहिं णेरइएहिं अविरहिया मिच्छदिट्ठीहिं णेरइएहिं अविरहिया, सम्मामिच्छदिट्ठीहिं णेरइएहिं अविरहिय विरहिया वा। एवं असंखेज्जवित्थडेसु वि तिण्णि गमा भाणियव्वा। एवं सक्करप्पभाए वि। एवं जाव तमाए वि। अहे सत्तमाए णं भंते ! पुढवीए पंचसु अणुत्तरेसु जाव संखेज्जवित्थडे णरए किं सम्मदिट्ठी णेरइया पुच्छा, गोयमा ! सम्मदिट्ठी णेरइया ण उववज्जंति मिच्छदिट्ठी णेरइया उववज्जंति सम्मामिच्छदिट्ठी णेरइया ण उववज्जंति, एवं उव्वट्टंति वि, अविरहिए जहेव रयणप्पभाए। एवं असंखेज्ज वित्थडेसु तिण्णि गमा से णूणं भंते ! कण्हलेस्से नीललेस्से जाव सुक्कलेस्से भवित्ता कण्हलेस्सेसु णेरइएसु उववज्जंति ? हंता गोयमा ! कण्हलेस्से जाव उववज्जंति। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-कण्हलेस्से जाव उववज्जंति ? गोयमा ! लेस्सट्ठाणेसु संकिलिस्समाणेसु संकिलि० किण्हलेस्सं परिणमइ, कण्ह२कण्हलेस्सेसु णेरइएसु उववज्जंति। से तेणट्ठेणं जाव उववज्जंति। से णूणं भंते ! कण्हलेस्से जाव सुक्कलेस्से भवित्ता णीललेस्सेसु णेरइएसु उववज्जंति ? हंता गोयमा ! जाव उववज्जंति। से केणट्ठेणं जाव उववज्जंति ? गोयमा ! लेस्सट्ठाणेसु संकिलिस्समाणेसु विसुज्जमाणेसु णीललेस्सं परिणमइ णीललेस्सा णीललेस्से सु णेरइएसु उववज्जंति से तेणट्ठेणं गोयमा ! जाव उववज्जंति ॥

रत्नप्रभापृथिव्यां कापोतलेश्या एवोत्पद्यन्ते न कृष्णलेश्यादय इति कापोतलेश्यानेवाश्रित्य प्रश्नः कृत इति। "केवतिया कण्हपक्खिएइत्यादि" एषां च लक्षणमिदम्। "जेसिमवड्ढोपोग्गल, परियट्टो सेसओ उ संसारो। ते सुक्कपक्खिया खलु, अहिगे पुण कण्हपक्खियत्ति" ॥ १ ॥ (चक्खुदंसणी न उववज्जंतित्ति) इन्द्रियत्यागेन तत्रोत्पत्तेरिति। तर्हि अचक्षुर्दर्शनिनः कथमुत्पद्यन्ते ? इन्द्रियानाश्रितस्य सामान्योपयोगमात्रस्याऽचक्षुर्दर्शनशब्दाभिधेयस्योत्पादसमयेऽपि भावादचक्षुर्दर्शनिन उत्पद्यन्त इत्युच्यत इति (इत्थिवेयगेत्यादि) स्त्रीपुरुषवेदा नोत्पद्यन्ते, भवप्रत्ययान्नपुंसकवेदत्वात्तेषां (सोतिंदिओवउत्तेत्यादि) श्रोत्राद्युपयुक्ता नोत्पद्यन्ते इन्द्रियाणां तदानीमभावात् (नो इंदिओवउत्ता उववज्जंतित्ति) नोइन्द्रियं मनस्तत्र च यद्यपि मनःपर्याप्त्यभावे द्रव्यमनो नास्ति तथापि भावमनसश्चैतन्यरूपस्य सदा भावात्तेनोपयुक्तानामुत्पत्तेर्नोइन्द्रियोपयुक्ता उत्पद्यन्त इत्युच्यत इति (मणजोगीत्यादि) मनोयोगिनो वाग्योगिनश्च नोत्पद्यन्ते उत्पत्तिसमयेऽपर्याप्तकत्वेन मनोवाचोरभावादिति (काययोगी उववज्जंतित्ति) सर्वसंसारिणां काययोगस्य सदैव भावादिति। अथ रत्नप्रभानारकाणामेवोद्वर्त्तनामभिधातुमाह। इमीसेणमित्यादि (असण्णी न उवट्टंतित्ति) उद्वर्त्तना हि परभवप्रथमसमये स्यान्न च नारका असंज्ञिषूत्पद्यन्तेऽतस्ते असंज्ञिनः सन्तो नोद्वर्त्तन्त इत्युच्यते "एवं विभंगनाणी न उव्वट्टंति" इत्यपि भावनीयम्। शेषाणि तु पदान्युत्पादवद्व्याख्येयानि उक्तं च चूर्णौम् "असण्णिणो य विभंगि-णो य उव्वट्टणाए वज्जेज्जा। दोसु वि य चक्खुदंसी, मणवइ तह इंदियाइंचत्ति" ॥ १ ॥ अनन्तरं रत्नप्रभानारकाणामुत्पादे उद्वर्त्तनायां च परिमाणमुक्तमथ तेषामेवसत्तायां तदाह(इमी)सेणमित्यादि केवइया अणंतरोववण्णगत्ति) कियन्तः प्रथमसमयोत्पन्ना इत्यर्थः। (परंपरोववण्णगत्ति) उत्पत्तिसमयापेक्षया द्व्यादिसमयेषुवर्त्तमाना(अणंतरोवगाढत्ति) विवक्षितक्षेत्रे प्रथमसमयावगाढाः (परंपरोगाढत्ति) विवक्षितक्षेत्रे द्वितीयादिकसमयोऽवगाढो येषां ते परम्परोवगाढाः (केवइया चरिमात्ति) चरमो नारकभवेषु स एव भवो येषां ते चरमा नारकभवस्य वा चरमसमये वर्त्तमानाश्चरमाः अचरमास्त्वितरे (असण्णी सिय अत्थि सिय नत्थित्ति) असंज्ञिभ्य उद्वृत्य

ये नारकत्वेनोत्पन्नास्तेऽपर्याप्तकावस्थायामसंज्ञिनो भूतभावत्वात्ते वाच्या इति कृत्वा सिय अत्थीत्याद्युक्तम्। मानमायालोभकषायोपयुक्तानां नोइन्द्रियोपयुक्तानामनन्तरोपपन्नानामनन्तरावगाढानामनन्तराहारकाणामनन्तरपर्याप्तकानां च कादाचित्कत्वात्सिय अत्थीत्यादि वाच्यं शेषाणां तु बहुत्वात्संख्याता इति वाच्यमिति। अनन्तरं संख्यातविस्तृतनरकावासनारकवक्तव्यतोक्ता। अथ तद्विपर्ययवक्तव्यतामभिधातुमाह "इमीसेणमित्यादि" (तिन्निग. मत्ति) उववज्जंति उव्वट्टंति पन्नत्तत्ति। एते त्रयो गमाः ओहिणाणीओहिदंसणीयसंखेज्जा (उव्वट्टावेयव्वत्ति) कथं ते हि तीर्थकरादय एव भवन्ति ते च स्तोकाः स्तोकत्वाच्च सख्याता एवेति नवरम्। (असन्नी तिसुवि गमएसु ण भन्नइत्ति) कस्मादुच्यते। असंज्ञिनः प्रथमायामेवोत्पद्यन्ते। असन्नी खलु पढमंति वचनादिति "नाणत्तं लेस्सासु, लेस्साओ जहा पढमसएत्ति" इहाद्य पृथ्वीद्वयापेक्षया तृतीयादिपृथिवीषु नानात्वं लेश्यासु भवति। ताश्च यथा प्रथमशते तथाऽध्येयास्तत्र च संग्रहगाथेयम "काऊ य दोसु तइयाए, मीसिया नीलिया चउत्थीए। पंचमियाए मीसा, कण्हा तत्तो परमकण्हत्ति" ॥ १ ॥ नवरम् "ओहिनाणी ओहिदंसणी य न उव्वट्टंति" कस्मादुच्यते– ते हि प्रायस्तीर्थकरा एव ते च चतुर्थ्या उद्वृत्ता नोत्पद्यन्त इति ॥ (जाव अप्पतिट्ठाणेत्ति) इह यावत्करणात्–काले महाकलरोरुए महारोरुएत्ति दृश्यम्। इह च मध्यम एव सख्ययविस्तृत इति ॥ नवरम्। "तिसु नाणेसु न उववज्जंति न उव्वट्टंति त्ति" ॥ सम्यक्त्वभ्रष्टानामेव तत्रोत्पादात्तत उद्वर्त्तनाच्चाद्येषु त्रिषु ज्ञानेषु नोत्पद्यन्ते, नापि चोद्वर्त्तन्त इति ॥ (पन्नत्तएसु तहेव अत्थित्ति) एतेषु पञ्चसु नारकावासेषु कियन्त आभिनिबोधिकज्ञानिनः श्रुतज्ञानिनोऽवधिज्ञानिनश्च प्रज्ञप्ता इत्यत्र तृतीयगमे तथैव प्रथमादिपृथिवीष्विव सन्ति तत्रोत्पन्नानां सम्यग्दर्शनलाभे आभिनिबोधिकादिज्ञानत्रयभावादिति। अथ रत्नप्रभादिनारकवक्तव्यतामेव सम्यग्दृष्ट्यादीनाश्रित्याह इमीसेणमित्यादि। (नोसम्मामिच्छद्दिट्ठी उववज्जंतित्ति)। "न सम्ममिच्छो कुणइ कालमिति वचनात्" मिश्रदृष्टयो न म्रियन्ते नापि तद्भवप्रत्ययं तेषामवधिवशेन मिश्रदृष्टयः सन्तस्ते उत्पद्येरन्। सम्मामिच्छदिट्ठीहिं नेरइएहिं अविरहिय विरहियथावत्ति। कादाचित्कत्वेन तेषां विरहसम्भवादिति अथ नारकवक्तव्यतामेव भङ्ग्यन्तरेणाह–से नूणमित्यादि। (लेसट्ठाणेसुत्ति) लेश्याभेदेषु (संकिलिस्समाणेसुत्ति) अविशुद्धं गच्छत्सु (कण्हलेस्सं परिणमइत्ति) कृष्णलेश्यां याति ततश्च (कण्हलेसेत्यादि) (संकिलिस्समाणेसु वा विसुज्झमाणेसुवत्ति) प्रशस्तलेश्यास्थानेष्वऽविशुद्धिं गच्छत्सु अप्रशस्तलेश्यास्थानेषु च विशुद्धिं गच्छत्सु नीललेश्यां परिणमतीति भावः। भ० १३ श० १ उ० ॥

(५) नैरयिकादयः आत्मोपक्रमेण परोपक्रमेण वा आत्मर्द्ध्या परर्द्ध्या वा आत्मप्रयोगेण परप्रयोगेण वा उत्पद्यन्ते।

णेरइयाणं भंते! किं आउवक्कमेणं उववज्जंति, परोवक्कमेणं उववज्जंति णिरुवक्कमेणं उववज्जंति? गोयमा! आतोवक्कमेण वि उववज्जंति परोवक्कमेण वि उववज्जंति णिरुवक्कमेण वि उववज्जंति एवं जाव वेमाणियां। णेरइयाणं भंते! किं आतोवक्कमेणं उव्वट्टंति परोवक्कमेणं उव्वट्टंति णिरुवक्कमेणं उव्वट्टंति? गोयमा! णो आतोवक्कमेणं उव्वट्टंति णो परोवक्कमेणं उव्वट्टंति णिरुवक्कमेणं उव्वट्टंति। एवं जाव थणियकुमारा। पुढवीकाइया जाव मणुस्सा तिसु उव्वट्टंति। सेसा जहा णेरइया णवरं जोइसिया वेमाणिया चयंति। णेरइयाणं भंते! किं आयड्ढीए उववज्जंति परिड्ढीए उववज्जंति? गोयमा! आयड्ढीए उववज्जंति णो परिड्ढीए उववज्जंति। एवं जाव वेमाणिया। णेरइयाणं भंते! किं आइड्ढीए उव्वट्टंति परिड्ढीए उव्वट्टंति? गोयमा! आइड्ढीए उव्वट्टंति णो परिड्ढीए उव्वट्टंति एवं जाव वेमाणिया णवरं जोइसिया वेमाणिया चयंतीति अभिलावो। णेरइयाणं भंते! किं आयकम्मणा उववज्जंति परकम्मणा उववज्जंति? गोयमा! आयकम्मणा उववज्जंति णो परकम्मणा उववज्जंति एवं जाव वेमाणिया। एवं उव्वट्टणा दंडओ। णेरइयाणं भंते! किं आयप्पओगेणं उववज्जंति परप्पओगेणं उववज्जंति? गोयमा! आयप्पओगेणं उववज्जंति णो परप्पओगेणं उववज्जंति। एवं जाव वेमाणिया। एवं दंडओ वि ॥

आत्मना स्वयमेव आयुष उपक्रमः आत्मोपक्रमस्तेन मृत्वा इति शेषः उत्पद्यन्ते नारकाः यथा श्रेणिकः। परोपक्रमेण परकृतमरणेन यथा कूणिकः। निरुपक्रमेण उपक्रमणाभावेन यथा कालशौकरिकः यतः। सोपक्रमायुष्का इतरे च तत्रोत्पद्यन्ते उत्पादोद्वर्त्तनाधिकारादिदमाह नेरइयेत्यादि (आइड्ढीएत्ति) नेश्वरादिप्रभावेणेत्यर्थः (आयकम्मुणत्ति) आत्मकृतकर्मणा ज्ञानावरणादिना (आयप्पओगेणंति) आत्मव्यापारेण ॥

(६) कतिसञ्चिताकतिसञ्चितानामुपपादः।

णेरइयाणं भंते! किं कतिसंचिया अकतिसंचिया अवत्तव्वगसंचिया? गोयमा! णेरइया कतिसंचिया वि अकतिसंचिया वि अवत्तव्वगसंचिया वि, सेकेणट्ठेणं भंते! जाव अवत्तव्वगसंचिया वि? गोयमा! जेणं णेरइया संखेज्जएणं पवेसणएणं पविसंति, तेणं णेरइया कतिसंचिया। जेणं णेरइया असंखेज्जएणं पवेसणएणं पविसंति तेणं णेरइया अकतिसंचिया। जेणं णेरइया एक्कएणं पवेसणएणं पविसंति तेणं णेरइया अवत्तव्वगसंचिया। से तेणट्ठेणं गोयमा? जाव अवत्तव्वगसंचिया वि। एवं जाव थणियकुमारा। पुढवीकाइयाणं पुच्छा, गोयमा? पुढवीकाइया णो कतिसंचिया अकतिसंचिया णो अवत्तव्वगसंचिया। से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ–जाव णो अवत्तव्वगसंचिया? गोयमा! पुढवीकाइया असंखेज्जएणं पवेसणएणं पविसंति, से तेणट्ठेणं जाव णो अवत्तव्वगसंचिया एवं वणस्सइकाइया। बेइंदिया जाव वेमाणिया जहा णेरइया। सिद्धाणं पुच्छा? गोयमा! सिद्धा कतिसंचिया णो अकतिसंचिया अवत्तव्वगसंचिया वि। से केणट्ठेणं जाव अवत्तव्वगसंचिया वि? गोयमा! जेणं सिद्धा संखेज्जएणं पवेसणएणं पविसंति तेणं सिद्धा कतिसंचिया, जेणं सिद्धा एक्कएणं पवेसणएणं पविसंति तेणं सिद्धा अवत्तव्वगसंचिया वि से तेणट्ठेणं गोयमा! जाव अवत्तव्वगसंचिया वि ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्पादाधिकारादिदमाह नेरइयेत्यादि (कइसंचियत्ति) कति इति सङ्ख्यावाची ततश्च कतित्वेन सञ्चिता एकसमये संख्यातोत्पादेन पिण्डिताः कतिसञ्चिताः एवं (अकइसंचियत्ति) । नवरं । (अकतित्ति) संख्यानिषेधोऽसंख्यातत्वमनन्तत्वं चेति (अवत्तव्वगसंचियत्ति) द्व्यादिः संख्या व्यवहारतः शीर्षप्रहेलिकायाः परतोऽसंख्या यश्च संख्यात्वेनासंख्यात्वेन च वक्तुं न शक्यते असाववक्तव्यः स च एककस्तेनावक्तव्येन एककेन एकत्वोत्पादेन सञ्चिता अवक्तव्यकसञ्चितास्तत्र नारकादयस्त्रिविधा अपि एकसमयेन तेषामेकादीनां संख्यातानामुत्पादात् पृथिवीकायिकादयस्तु अकतिसञ्चिता एव तेषां समयेनासंख्यातानामेव प्रवेशाद्वनस्पतयस्तु यद्यप्यनन्ता उत्पद्यन्ते तथापि प्रवेशनकं विजातीयेभ्य आगतानां यस्तत्रोत्पादस्तद्विवक्षितमसंख्याता एव च विजातीयेभ्य उद्वृत्तास्तत्रोत्पद्यन्त इति सूत्रे उक्तम् । (एवं जाव वणस्सइकाइयत्ति) सिद्धा नो अकतिसंचिता अनन्तानामसंख्यातानां वा तेषां समयेनासंभवादिति । एषामेवाल्पबहुत्वं चिन्तयन्नाह ॥

एएसिणं भंते ! णेरइयाणं कइसंचियाणं अकइसंचियाणं अवत्तव्वगसंचियाण य कयरे २ वज्जा विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सव्वत्थो वा णेरइया अवत्तव्वगसंचिया कति संचिया संखेज्जगुणा अकतिसंचिया असंखेज्जगुणा एवं एगिंदियवज्जाणं जाव वेमाणियाणं अप्पाबहुगं एगिंदियाणं णत्थि अप्पाबहुगं एएसिणं भंते ! सिद्धाणं कतिसंचियाणं अव्वत्तव्वगसंचियाण य कयरे २ जाव विसेसाहिया वा गोयमा ! सव्वत्थो वा सिद्धा कतिसंचिया अवत्तव्वगसंचिया संखेज्जगुणा ॥

(एएसीत्यादि) अवक्तव्यकसंचिताः स्तोकाः अवक्तव्यकस्थानस्यैकत्वात् कतिसंचिताः संख्यातगुणाः संख्यातत्वात्संख्यातस्थानकानामकतिसञ्चितास्त्वसंख्यातगुणाः असंख्यातस्थानकानामसंख्यातत्वादित्येके । अन्ये त्वाहुः । वस्तुस्वभावोऽत्र कारणं न तु स्थानकाल्पत्वादि कथमन्यथा सिद्धाः कतिसंचिताः स्थानकबहुत्वेऽपि स्तोकाः । अवक्तव्यकास्तु स्थानस्यैकत्वेऽपि संख्यातगुणाः । द्व्यादित्वेन केवलिनामल्पानामायुःसमाप्तेरियं च लोकस्वभावादेवेति ॥

(७) षट्कसमर्जिताः नारकाद्युत्पादविशेषणीभूतसंख्याधिकारादिदमाह ।

णेरइयाणं भंते ! किं छक्कसमज्जिया णो छक्कसमज्जिया छक्केण य णो छक्केण य समज्जिया छक्केहि य समज्जिया छक्केहि य णो छक्केण य समज्जिया ? गोयमा ! णेरइया छक्कसमज्जिया वि १ णो छक्कसमज्जिया वि २ छक्केण य णो छक्केणय समज्जिया ३ छक्केहि य समज्जिया वि ४ छक्केहि य णो छक्केण य समज्जिया वि ५ से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ--णेरइया छक्कसमज्जिया वि जाव णो छक्केहि य णो छक्केण य सम्मज्जिया वि ? गोयमा ! जेणं णेरइया छक्कएणं पवेसणएणं पविसंति तेणं णेरइया छक्कसमज्जिया । जेणं णेरइया जहण्णेणं एक्केण वा दोहिं वा तिहिं वा उक्कोसेणं पंचएणं पवेसणएणं पविसंति तेणं णेरइया णो छक्कसमज्जिया २ जेणं णेरइया छक्कएणं अण्णेण य जहण्णेणं एक्केण वा दोहिं वा तिहिं वा उक्कोसेणं पंचएणं पवेसणएणं पविसंति तेणं णेरइया छक्केण य णो छक्केण य समज्जिया ३ जेणं णेरइया अणेगेहिं छक्केहिं पवेसणएणं पविसंति तेणं णेरइया छक्केहिय समज्जिया ४ जेणं णेरइया अणेगेहिं छक्केहिं अण्णेण य जहण्णेणं एक्केण वा दोहिं वा तिहिं वा उक्कोसेणं पंचएणं पवेसणएणं पविसंति तेणं णेरइया छक्केहि य णो छक्केण य समज्जिया ॥ ५ से तेणट्ठेणं तं चेव समज्जिया वि एवं जाव थणियकुमारा पुढवीकाइयाणं पुच्छा, गोयमा ! पुढवीकाइया णो छक्कसमज्जिया णो णो छक्कसमज्जिया णो छक्केण य णो छक्केण य समज्जिया ३ छक्केहि य समज्जिया वि छक्केहि य णो छक्केण य समज्जिया वि से केणट्ठेणं जाव समज्जिया वि गोयमा जेणं पुढवीकाइया णेगेहिं छक्केहिं पवेसणएणं पविसंति तेणं पुढवीकाइया छक्केहिं समज्जिया, जेणं पुढवीकाइया णेगेहिं छक्कएहिं अण्णेण य जहण्णेणं एक्केण वा दोहिं वा तिहिं वा उक्कोसेणं पंचएणं पवेसणएणं पविसंति तेणं पुढवीकाइया छक्केहि य णो छक्केण य समज्जिया से तेणट्ठेणं जाव समज्जिया वि एवं जाव वणस्सइकाइया बेइंदिया जाव वेमाणिया एए सिद्धा जहा णेरइया ॥

नेरइयाणमित्यादि (छक्कसमज्जियत्ति) षट् परिमाणमस्येति षट्कं वृन्दं तेन समर्जिताः पिण्डिता षट्कसमर्जिताः । अयमर्थः एकत्र समये ये समुत्पद्यन्ते तेषां यो राशिः स षट्प्रमाणो यदि स्यात्तदा ते षट्कसमर्जिता उच्यन्ते ॥ १ ॥ (नो छक्कसमज्जियत्ति) नो षट्कः षट्काभावस्ते च एकादयः पञ्चान्तास्तेन नो षट्केन एकाद्युत्पादेन ये समर्जितास्तेन तथा । २ । तथा (छक्केण य नो छक्केण य समज्जियत्ति) एकत्र समये येषां षट्कमुत्पन्नमेकाद्यधिकं ते षट्केन नोषट्केन च समर्जिता उक्ताः ॥ ३ ॥ (छक्केहि य समज्जियत्ति) एकत्र समये येषां बहूनि षट्कानि उत्पन्नानि ते षट्कैः समर्जिताः उक्ताः । ४ । तथा (छक्केहि य नोछक्केण य समज्जियत्ति) एकत्र समये येषां बहूनि षट्कानि एकाद्यधिकानि ते षट्कैः नो षट्केन च समर्जिता एते पञ्चविकल्पाः । इह च नारकादीनां पञ्चापि विकल्पाः सम्भवन्त्येकादीनामसंख्यातानां तेषां समयेनोत्पत्तेरसंख्यातेष्वपि च ज्ञानिनः षट्कानि व्यवस्थापयन्तीति एकेन्द्रियाणां त्वसंख्यातानामेव प्रवेशनात्षट्कः समर्जिताः । तथा षट्कैर्नोषट्केन च समर्जिता इति विकल्पद्वयस्यैव सम्भव इति अत एवाह पुढविकाइयाणमित्यादि ॥

षट्कसमर्जितोत्पादे अल्पबहुत्वम् ।

एएसिणं भंते ! णेरइयाणं छक्कसमज्जियाणं णो छक्कसमज्जियाणं छक्केण य णोछक्केण य समज्जियाणं छक्केहि य समज्जियाणं छक्केहि य णो छक्केण य समज्जियाण य कयरे कयरे जाव विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सव्वत्थो वा णेरइया छक्कसमज्जिया णो छक्कसमज्जिया संखेज्जगुणा छक्केण य णो छक्केण य समज्जिया संखेज्जगुणा छक्केहि य समज्जिया असंखेज्जगुणा छक्केहि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

य णो छक्केण य समज्जिया संखेज्जगुणा । एवं जाव थणियकुमारा एएसिणं भंते ! पुढविकाइयाणं छक्केहि य समज्जियाणं छक्केहि य णो छक्केहि य समज्जियाणं कयरे कयरे जाव विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सव्वत्थो वा पुढविकाइया छक्केहि य समज्जिया छक्केहि य णो छक्केण य समज्जिया संखेज्ज गुणा एवं जाव वणस्सइकाइयाणं बेइंदियाणं जाव वेमाणियाणं । जहा णेरइयाणं । एएसिणं भंते ! सिद्धाणं छक्कसमज्जियाणं णो छक्कसमज्जियाणं जाव छक्केहि य णो छक्केण य समज्जियाण य कयरे कयरे जाव विसेसाहिया ? गोयमा ! सव्वत्थो वा सिद्धा छक्केहि य णो छक्केण य समज्जिया छक्केहि य समज्जिया संखेज्जगुणा छक्केण य णो छक्केण य समज्जिया संखेज्जगुणा छक्कसमज्जिया संखेज्जगुणा णो छक्कसमज्जिया संखेज्जगुणा ॥

एषामल्पबहुत्वचिन्तायां नारकादयः स्तोका आद्याः षट्कस्थानस्यैकत्वात् द्वितीयास्तु संख्यातगुणाः नोषट्कस्थानानां बहुत्वात् एवं तृतीयचतुर्थपञ्चमेषु स्थानबाहुल्यात्सूत्रोक्तं बहुत्वमवसेयमित्येके । अन्ये तु वस्तुस्वभावादित्याहुरिति ॥

(८) द्वादश समर्जिताः ।

णेरइयाणं भंते ! किं वारससमज्जिया णो वारससमज्जिया वारसएणं णो वारसएण य समज्जिया वारसएहि य समज्जिया ४ वारसएहिय णो वारसएणय समज्जिया ? गोयमा ! णेरइया वारससमज्जिया वि जाव वारसएहि य णो वारसएण य समज्जिया वि से केणट्ठेणं जाव समज्जिया वि । गोयमा ! जेणं णेरइया वारसएणं पवेसणएणं पविसंति तेणं णेरइया वारससमज्जिया वि जेणं णेरइया जहण्णेणं एक्केण वा दोहिं वा तिहिं वा उक्कोसेणं एक्कारसएणं पवेसणएणं पविसंति तेणं णेरइया णो वारससमज्जिया । जेणं णेरइया वारसएणं अण्णेण य जहण्णेणं एक्केण वा दोहिं वा तिहिं वा उक्कोसेणं एक्कारसएणं पवेसणएणं पविसंति तेणं णेरइया वारसएणं समज्जिया । जेणं णेरइया णेगेहिं वारसएहिं पवेसणएणं पविसंति तेणं णेरइया वारसएहिं समज्जिया । जेणं णेरइया णेगेहिं वारसएहिं अण्णेण य जहण्णेणं एक्केण वा दोहिं वा तिहिं वा उक्कोसेणं एक्कारसएणं पवेसणएणं पविसंति तेणं णेरइया वारसएहि य णो वारसएण य समज्जिया से तेणट्ठेणं जाव समज्जिया वि । एवं जाव थणियकुमारा । पुढवीकाइयाणं पुच्छा गोयमा ! पुढवीकाइया णो वारससमज्जिया णो नो वारसएण य समज्जिया णो वारसए य णो वारसएण य समज्जिया वारसएहिं समज्जिया वारसएहि य णो वारसएण य समज्जिया । से केणट्ठेणं जाव समज्जिया वि ? गोयमा ! जेणं पुढवीकाइया णेगेहिं वारसएहि य पवेसणगं पविसंति तेणं पुढविकाइया वारसएहिं समज्जिया । जेणं पुढवीकाइया णेगेहिं वारसएहिं अण्णेण य जहण्णेणं एक्केण वा दोहिं वा तिहिं वा उक्कोसेणं एक्कारसएणं य पवेसणएणं पविसंति तेणं पुढवीकाइया वारसएहि य णो वारसएण य समज्जिया से तेणट्ठेणं जाव समज्जिया वि एवं जाव वणस्सइकाइया । बेइंदिया जाव सिद्धा जहा णेरइया । एएसिणं भंते ! णेरइयाणं वारससमज्जियाणं सव्वेसिं अप्पाबहुगं जहा छक्कसमज्जियाणं णवरं वारसाभिलावो । सेसं तं चेव ॥

(९) चतुरशीतिसमर्जिताः ॥

णेरइयाणं भंते ! किं चुलसीति समज्जिया णोचुलसीति समज्जिया चुलसीतिए य णोचुलसीतिए य समज्जिया चुलसीतिहि य समज्जिया चुलसीतिहि य णो चुलसीतिए य समज्जिया ? गोयमा ! णेरइया चुलसीति समज्जिया वि । जाव चुलसीतिहि य णो चुलसीतिहि य समज्जिया वि । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ जाव समज्जिया वि ? गोयमा ! जेणं णेरइया चुलसीतिए णं पवेसणएणं पविसंति तेणं णेरइया चुलसीति समज्जिया, जेणं णेरइया जहण्णेणं एक्केण वा दोहिं वा तिहिं वा उक्कोसेणं तेसीति पवेसणएणं पविसंति तेणं णेरइया णो चुलसीति समज्जिया, जेणं णेरइया चुलसीतिएणं अण्णेण य जहण्णेणं एक्केण वा दोहिं वा तिहिं वा जाव उक्कोसेणं तेसीतिएणं पवेसणएणं पविसंति तेणं णेरइया चुलसीतिएण य णो चुलसीतिए य समज्जिया । जेणं णेरइया णेगेहिं चुलसीतिएहि य पवेसणगं पविसंति तेणं णेरइया चुलसीतिएहि य समज्जिया । जेणं णेरइया णेगेहिं चुलसीतिएहि य अण्णेण य जहण्णेणं एक्केण वा जाव उक्कोसेणं तेसीतिएणं जाव पविसंति तेणं णेरइया चुलसीतिएहि य णो चुलसीतिएण य समज्जिया से तेणट्ठेणं जाव समज्जिया वि । एवं जाव थणियकुमारा पुढवीकाइया तहेव पच्छिल्लएहिं दोहिं णवरं अभिलावो चुलसीतिओ । एवं जाव वणस्सइकाइया बेइंदिया जाव वेमाणिया जहा णेरइया । सिद्धाणं पुच्छा, गोयमा ! सिद्धा चुलसीति समज्जिया वि णो चुलसीति समज्जिया वा चुलसीति य णो चुलसीति य समज्जिया वि णो चुलसीतिहि य समज्जिया णो चुलसीतिहि य णो चुलसीति समज्जिया । से केणट्ठेणं जाव समज्जिया ? गोयमा ! जेणं सिद्धा चुलसीतिए णं पवेसणएणं पविसंति तेणं सिद्धा चुलसीति समज्जिया जेणं सिद्धा जहण्णेणं एक्केण वा दोहिं वा तिहिं वा उक्कोसेणं तेसीतिएण य पवेसणएणं पविसंति तेणं सिद्धा णो चुलसीति समज्जिया जेणं सिद्धा चुलसीइएणं अण्णेण य जहण्णेणं एक्केण वा दोहिं वा तिहिं वा उक्कोसेणं तेसीतिएणं पवेसणएणं पविसंति तेणं सिद्धा चुलसीति य णो चुलसीतिए य समज्जिया से तेणट्ठेणं जाव समज्जिया । एएसिणं भंते ! णेरइयाणं चुलसीते समज्जियाणं णो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चुल्लसीतिसमज्जियाणं सव्वेसिं अप्पाबहुगं जहा छक्कसमज्जियाणं जाव वेमाणिया णवरं अभिलावो चुल्लसीतिओ एएसिणं भंते ! सिद्धाणं चुल्लसीति समज्जियाणं णो चुल्लसीतिसमज्जियाणं चुल्लसीतिए य णो चुल्लसीतिए य समज्जियाणं कयरे कयरे जाव विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सव्वत्थो वा सिद्धा चुल्लसीतिय णो चुलसीतिय समज्जिया चुलसीतिय समज्जिया अणंतगुणा णो चुल्लसीतिय समज्जिया अणंतगुणा सेवं भंते ! भंते ! त्ति जाव विहरइ ॥

एवं द्वादशकसूत्राणि चतुरशीतिसूत्राणि चेति । असुरकुमाराः कतिविधाः ॥

केवइयाणं भंते ! असुरकुमारा वाससयसहस्सा पण्णत्ता ? गोयमा ! चोयट्ठिअसुरकुमारा वाससयसहस्सा पण्णत्ता, ते भदंत ! किं संखेज्जवित्थडा असंखेज्जवित्थडा ? गोयमा ! संखेज्जवित्थडा वि असंखेज्जावित्थडा वि । चोयट्ठियाणं भंते ! असुरकुमारा वाससयसहस्सेसु संखेज्जावित्थडेसु असुरकुमारा वाससयसहस्सेसु एगसमएणं केवइया असुरकुमारा उववज्जंति, केवइया तेउलेस्सा उववज्जंति, केवइया कण्हपक्खिया उववज्जंति एवं जहा रयणप्पभाए तहेव पुच्छा, तहेव वागरणं णवरं दोहिं वेदेहिं उववज्जंति, णपुंसगवेदगा ण उववज्जंति सेसं तं चेव, उव्वट्टंतगा वि तहेव णवरं असण्णि उव्वट्टंति, ओहिणाणी ओहिदंसणी य ण उव्वट्टंति सेसं तं चेव, पण्णत्ता एसु तहेव णवरं संखेज्जगा इत्थीवेदगा पण्णत्ता, एवं पुरिसवेदगावि, णपुंसगवेदगा णत्थि कोहकसायी सिय अत्थि सिय णत्थि, जइ अत्थि जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा पण्णत्ता, एवं माण माया, संखेज्जा लोभकसाई पण्णत्ता, सेसं तं चेव, तिसु वि गमएसु संखेज्जवित्थडेसु चत्तारि लेस्साओ भाणियव्वाओ, एवं असंखेज्जवित्थडेसु वि, णवरं तिसुवि गमएसु असंखेज्जा भाणियव्वा जाव असंखेज्जा अचरिमा पण्णत्ता ! केवइयाणं भंते ! णागकुमारावासा एवं जाव थणियकुमारावासा णवरं जत्थ जत्तियाभवणा ॥

कइविहेत्यादि (संखेज्जवित्थडावि असंखेज्जवित्थडावित्ति) इह गाथा " जंबुद्दीवसमा खलु, भवणा जे हुंति सव्वखुड्डागा । संखेज्जवित्थडा म-ज्झिमा उ सेसा असंखेज्ज त्ति" ॥१॥ (दोहिं वि वेदेहिं उववज्जंतित्ति) द्वयोरपि स्त्रीवेद-पुंवेदयोरुत्पद्यन्ते, तयोरेव तेषु भावात् (असण्णी उव्वट्टंतित्ति) असुरादीनामेवावधिमतामुद्वर्त्तः । ओहिनाणी ओहिदंसणी य न उव्वट्टंतित्ति) असुराद्युद्वृत्तानां तीर्थकरादित्वाभावात्, तीर्थकरादीशानान्तदेवानामसंज्ञिष्वपि पृथिव्यादिषूत्पादात् (पण्णत्ताएसु तहेवत्ति) प्रज्ञप्तकेषु प्रज्ञप्तपदोपलक्षितगमाधीतेष्वसुरकुमारेषु तथैव यथा प्रथमोद्देशके "कोहकसाई इत्यादि" क्रोधमानमायाकषायोदयवन्तो देवेषु कादाचित्कत्वादत उक्तम् "सिय अत्थि इत्यादि" लोभकषायोदयवन्तस्तु सार्वदिका अत उक्तम् "संखेज्जा लोभकसाई पण्णत्तत्ति" "तिसुवि गमएसु चत्तारि लेस्साओ भणिअव्वाओत्ति " उववज्जंति उव्वट्टंति पण्णत्तेत्येवंलक्षणेषु त्रिष्वपि गमेषु चतस्रो लेश्यास्तेजोलेश्यान्ता भणितव्याः एता एव ह्यसुरादीनां भवन्तीति। (तत्थ जत्तिया भवणात्ति) यत्र निकाये यावन्ति भवनलक्षाणि तत्र तावन्त्युच्चारणियानि यथा-" चउसट्ठी असुराणं, नागकुमाराण होइ चुलसीई । बावत्तरि कणगाणं, वाउकुमाराण छन्नउई " ॥ १ ॥ दीवादिसा उदहीणं, विज्जुकुमारिंदथणियमग्गीणं । जुयलाणं पत्तेयं छावत्तरिमो सयसहस्सात्ति ।२।

केवइयाणं भंते ! वाणमंतरा वाससयसहस्सा पण्णत्ता ? गोयमा ! असंखेज्जा वाणमंतरा वाससययसहस्सा पण्णत्ता, तेणं भंते ! किं संखेज्जावित्थडा असंखेज्जवित्थडा ? गोयमा ! संखेज्जवित्थडा णो असंखेज्जवित्थडा । संखेज्जेसुणं भंते ! वाणमंतरा वाससयसहस्सेसु एगसमएणं केवइया वाणमंतरा उववज्जंति ? एवं जहा असुरकुमाराणं संखेज्जवित्थडेसु तिण्णि गमगा तहेव जाणियव्वा, वाणमंतराण वि तिण्णि गमगा ॥

व्यन्तरसूत्रे (संखेज्जवित्थडात्ति) इह गाथा " जम्बुद्दीवसमा खलु, उक्कोसेणं हवंति ते नगरा । खुड्डा खेत्तसमा खलु, विदेहसमगाउ मज्झिमगत्ति ॥ ३ ॥

केवइयाणं भंते ! जोइसियविमाणा वाससयसहस्सा पण्णत्ता ? गोयमा ! असंखेज्जा विमाणा वाससयसहस्सा पण्णत्ता, तेणं भंते ! किं संखेज्जवित्थडा एवं जहा वाणमंतराणं तहा जोइसियाण वि तिण्णि गमगा जाणियव्वा, णवरं एगा तेउलेस्सा उववज्जंतेसु पण्णत्तेसु य असण्णी णत्थि सेसं तं चेव ॥

ज्योतिष्कसूत्रे संख्यातविस्तृता विमानावासा एगसट्ठिभागं काऊण जोयणमित्यादिना ग्रन्थेन प्रमातव्याः , नवरं (एगा तेउलेस्सत्ति) व्यन्तरेषु लेश्याचतुष्टयमुक्तमेतेषु तु तेजोलेश्यैवैका वाच्या, तथा उववज्जंतेसु पण्णत्तेसु य असण्णी नत्थित्ति । व्यन्तरेष्वसंज्ञिन उत्पद्यन्त इत्युक्तम इह तु तन्निषेधः, प्रज्ञप्तेष्वपीह तन्निषेध उत्पादाभावादिति ॥

सोहम्मेणं भंते ! कप्पे केवइया विमाणावाससयसहस्सा पण्णत्ता ? गोयमा ! बत्तीसं विमाणावाससयसहस्सा पण्णत्ता, तेणं भंते ! किं संखेज्जवित्थडा असंखेज्जवित्थडा ? गोयमा ! संखेज्जावित्थडा वि असंखेज्जवित्थडा वि । सोहम्मेणं भंते ! बत्तीसविमाणावाससयसहस्सेसु संखेज्जवित्थडेसु विमाणेसु एगसमएणं केवइया सोहम्मगा देवा उववज्जंति, केवइया तेउलेस्सा उववज्जंति, एवं जहा जोइसियाणं तिण्णि गमगा तहेव तिण्णि गमगा जाणियव्वा, णवरं तिसु वि संखेज्जा जाणियव्वा, ओहिणाणी ओहिदंसणी य चयावेयव्वा सेसं तं चेव। असंखेज्जवित्थडा वि एवं चेव तिण्णि गमगा य, णवरं तिसु वि गमएसु असंखेज्जा जाणियव्वा, ओहिणाणी य ओहिदंसणी संखेज्जा चयंति सेसं तं चेव, एवं जहा सोहम्मवत्तव्वया भणिया तहा ईसाणे छग्गमगा जाणियव्वा, सणंकुमारे वि एवं चेव णवरं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इत्थीवेदगा ण उववज्जंति, तेसु पणत्तेसु य ण जवंति, अ- सणी तिसु वि गमएसु ण जवंति सेसं तं चेव । एवं जाव सहस्सारो णाणत्तं विमाणेसु लेस्सासु य सेसं तं चेव ॥

सौधर्मसूत्रे ओहिणाणीत्यादि ततश्च्युता यतस्तीर्थकरादयो जवन्त्यतो अवधिज्ञानादयश्चावयितव्याः । ओहिनाणी ओहिदं- सणी य संखेज्जा (चयंतित्ति) संख्यातानामेव तीर्थकरादित्वे- नोत्पादादिति (गमगत्ति) उत्पादादयस्त्रयः संख्यातविस्तृ- तानाश्रित्य एत एव च त्रयोऽसंख्यातविस्तृतानाश्रित्यैवं षड्गमाः। नवरं इत्थिवेयगेत्यादि । स्त्रियः सनत्कुमारादिषु नोत्पद्यन्ते, न च सन्ति उद्वृत्तौ तु स्युः (असण्णी तिसु वि गमएसु न भवइत्ति) सनत्कुमारादिदेवानां संक्लिश्य पञ्चोत्पादेन च्युतानां च संज्ञित्वे- न गमनेन गमत्रयेऽप्यसंज्ञित्वस्याभावादिति (एवं जाव सह- स्सारोत्ति) सहस्रारान्तेषु तिरश्चामुत्पादेनासंख्यातानां त्रिष्वपि गमेषु भावादिति (णाणत्तं विमाणेसु लेस्सासुयत्ति) तत्र विमा- नेषु नानात्वं बत्तीस अट्ठावीसेत्यादिना ग्रन्थेन समवसेयम् लेश्यासु पुनरिदं " तेऊ १ तेऊ २ तह तेऊपम्ह ३ पम्हाय ४ पम्हसुक्का य ५ । सुक्काय ६ परमसुक्का सुक्कह विमाणवासीणंति" ॥ १ ॥ इह च सर्वेष्वपि शुक्लादिदेवस्थानेषु परमशुक्लेति ॥

आणयपाणएसुणं जंते ! कप्पेसु केवइया विमाणावाससया पणत्ता ? चत्तारि विमाणावाससया पणत्ता । तेणं जंते ! किं संखेज्जा पुच्छा, गोयमा ! संखेज्जवित्थमा वि असंखेज्जवि- त्थमा वि, एवं संखेज्जवित्थमेसु तिणि गमगा जहा सह- स्सारे, असंखेज्जवित्थमेसु उववज्जंति तेसु य चयं तेसु य एवं चेव संखेज्जा जाणियव्वा, पणत्तेसु असंखेज्जा, णवरं णो इंदियओवउत्ता अणंतरोववणगा अणंतरोवगाढा अणं- तराहारगा अणंतरपज्जत्तगा य एएसिं जहणेणं एक्को वा दो वा तिणि वा उक्कोसेणं संखेज्जा पणत्तेसु असंखेज्जा जाणियव्वा । आरणच्चुएसु एवं चेव जहा आणयपाणएसु णाणत्तं विमाणेसु, एवं गेवेज्जगावि ॥

अनतादिसूत्रे। संखेज्जवित्थमेसु इत्यादि। उत्पादे अवस्थाने च्यव- नेन च संख्यातविस्तृतत्वाद्विमानानां संख्याता एव भवन्तीति भावः । असंख्यातविस्तृतेषु पुनरुत्पादच्यवनयोः संख्याता एव, यतो गर्भजमनुष्येभ्य एव आनतादिषूत्पद्यन्ते, न ते च संख्या- ता एव । तथा आनतादिभ्यश्च्युता गर्भजमनुष्येभ्य एवोत्पद्यन्ते अतः समयेन संख्यातानामेवोत्पादच्यवनसम्भवोऽवस्थितिस्त्व- संख्यातानामपि स्यादसंख्यातजीवितत्वेनैकदैव जीवितकाले असंख्यातानामुत्पादादिति । पणत्तेसु असंखेज्जा नवरं नो इं- दिओवउत्तेत्यादि । प्रकृतगमके असंख्येया वाच्याः केवलं नो इन्द्रियोपयुक्तादिषु पञ्चसु पदेषु संख्याता एव तेषामुत्पादाव- सर एव भावादुत्पत्तिश्च संख्यातानामेवेति दर्शितं प्रागिति ॥

कइ णं जंते ! अणुत्तरविमाणा पणत्ता ? गोयमा ! पंच- अणुत्तरविमाणा पणत्ता, तेणं जंते ! किं संखेज्जवित्थमा असंखेज्जवित्थमा ? गोयमा ! संखेज्जवित्थमा य असंखेज्ज- वित्थमा य । पंचसु णं जंते ! अणुत्तरविमाणेसु संखेज्जवि- त्थमे विमाणे एगसमए केवइया अणुत्तरोववाइया उव- वज्जंति, केवइया सुक्कलेस्सा उववज्जंति पुच्छा तहेव, गो- यमा ! पंचसु णं अणुत्तरविमाणेसु संखेज्जवित्थमे अणुत्त- रविमाणे एगसमएणं जहणेणं एक्को वा दो वा तिणि वा उक्कोसेणं संखेज्जा अणुत्तरोववाइया उववज्जंति, एवं जहा गेविज्जगविमाणेसु संखेज्जवित्थमेसु णवरं कण्हपक्खिया अभवसिद्धिया तिसु अणाणेसु एए ण उववज्जंति, ण च- यंति, ण वि पणत्तएसु जाणियव्वा । अचरिमावि खोमि- ज्जंति, जाव संखेज्जा चरिमा पणत्ता, सेसं तं चेव असंखे- ज्जवित्थमेसु वि एए ण जवंति, अचरिमा अत्थि सेसं जहा गेवेज्जएसु असंखेज्जवित्थमेसु जाव असंखेज्जा अचरिमा पणत्ता ॥

(पंच अणुत्तरोववाइयत्ति) तत्र मध्यमं संख्यातविस्तृतं जो- अनलक्षप्रमाणत्वादिति । नवरं कण्हपक्खियेत्यादि । इह सम्य- ग्दृष्टीनामेवोत्पादात् कृष्णपाक्षिकादिपदानां गमत्रयेऽपि निषेधः (चरिमावि खोमिज्जंतित्ति) येषां चरमो ऽनुत्तरदेवभवः स एव ते चरमास्तादितरे त्वचरमास्ते च निषेधनीया यतश्चरमा एव मध्यमे विमाने उत्पद्यन्त इति । असंखेज्जवित्थमेसुवि (एए न भवंतित्ति) इहैत इति कृष्णपाक्षिकादयः । नवरं (अचरिमा अत्थित्ति) यतो बाह्यविमानेषु पुनरुत्पद्यन्त इति ॥

चोयट्ठीए णं जंते ! असुरकुमारावाससयसहस्सेसु संखेज्ज- वित्थमेसु असुरकुमारावासेसु किं सम्मद्दिट्ठी असुरकुमारा उववज्जंति, मिच्छादिट्ठी एवं जहा रयणप्पजाए तिणि आ- लावगा जणिया तहा असंखेज्जवित्थमेसु वि तिणि गमगा, एवं जाव गेवेज्जविमाणे अणुत्तरविमाणेसु एवं चेव, णवरं तिसुवि आलावएसु मिच्छादिट्ठी सम्मामिच्छादिट्ठी य णं जणत्ति सेसं तं चेव । से णूणं जंते ! कण्हलेस्से णीललेस्से जाव सुक्कलेस्से जवित्ता कण्हलेस्सेसु देवेसु उववज्जंति ? हंता गोयमा ! एवं जहेव णेरइएसु पढमे उद्देसे तहेव जा- णियव्वं, णीललेस्साए वि जहेव णेरइयाणं, जहा णील- लेस्साए एवं जाव पम्हलेस्सेसु सुक्कलेस्सेसु एवं चेव, णवरं लेस्सट्ठाणेसु विसुज्झमाणेसु विसुज्झमाणेसु सुक्कलेस्सा परिणमइ, परिणमइत्ता सुक्कलेस्सेसु देवेसु उववज्जंति से तेणट्ठेणं जाव उववज्जंति । सेवं जंते ! भंतेत्ति ॥

(तिणि आलावगत्ति) सम्यग्दृष्टिमिथ्यादृष्टिमिश्रदृष्टि- विषया इति । नवरं तिसु वि आलवगेसु इत्यादि, उप्पत्तिए चवणे पणत्ता लावए य । मिथ्यादृष्टिः सम्यग्मिथ्यादृष्टिश्च न वाच्योऽनुत्तरसुरेषु तस्यासम्भवादिति। भ० १३ श० उ०२।

(१०) नैरयिकादयः कुत उत्पद्यन्ते ।

नेरइयाणं जंते कओहिंतो उववज्जंति किं णेरइएहिंतो उ- ववज्जंति तिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति मणुस्सेहिंतो उ- ववज्जंति देवेहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! नेरइया नो नेर इएहिंतो उववज्जंति तिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति म- णुस्सेहिंतो उववज्जंति नो देवेहिंतो उववज्जंति जदि ति- रिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं एगिंदियतिरिक्खजो- णिएहिंतो उववज्जंति बेइंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उवव- ज्जंति तेइंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति चउरिंदि- यतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति पंचिंदियतिरिक्खजोणि-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! नो एगिंदिया नो बेइंदिया नो तेइंदिया नो चउरिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति पंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति। जइ पंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं जलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिए हिंतो उववज्जंति थलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति खहचरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! जलचरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति थलचरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो वि उववज्जंति खहयरपंचिंदियएहिंतो वि उववज्जंति । जदि जलचरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं सम्मुच्छिमजलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति गब्भवक्कंतिय जलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! सम्मुच्छिमजलयरपंचिंदिएहिंतो वि उववज्जंति गब्भवक्कंतिजलचरपंचिंदिएहिंतो वि उववज्जंति । जदि सम्मुच्छिमजलचरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं पज्जत्तसम्मुच्छिमजलचरपंचिंदिएहिंतो उववज्जंति किं अपज्जत्तसम्मुच्छिमजलचरपंचिंदिएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! पज्जत्तसम्मुच्छिमजलचरपंचिंदिएहिंतो उववज्जंति नो अपज्जत्तगसम्मुच्छिमजलयरपंचिंदिएहिंतो उववज्जंति जदि गब्भवक्कंतियजलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं पज्जत्तगगब्भवक्कंतियपंचिंदियएहिंतो उववज्जंति किं अपज्जत्तगगब्भवक्कंतियजलयरपंचिंदिएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! पज्जत्तगगब्भवक्कंतियजलचरपंचिंदिएहिंतो उववज्जंति नो अप्पज्जत्तगगब्भवक्कंतियजलयरपंचिंदिएहिंतो उववज्जंति । यदि थलचरपंचिंदियत्तिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं चउप्पयथलयरपंचिंदियत्तिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं परिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! चउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो वि उववज्जंति परिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो वि उववज्जंति जदि चउप्पयपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं सम्मुच्छिमेहिंतो उववज्जंति गब्भवक्कंतिएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! सम्मुच्छिमचउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो वि उववज्जंति गब्भवक्कंतियचउप्पएहिंतो वि उववज्जंति । जदि सम्मुच्छिमचउप्पएहिंतो उववज्जंति किं पज्जत्तगसम्मुच्छिमचउप्पयथलयरपंचिंदिएहिंतो उववज्जंति किं अप्पज्जत्तगथलयरसम्मुच्छिमचउप्पयपंचिंदिएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! पज्जत्तग जाव उववज्जंति नो अप्पज्जत्तगथलयरचउप्पयसम्मुच्छिमपंचिंदियातिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति । जदि गब्भवक्कंतियचउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं संखेज्जवासाउयगब्भवक्कंतियचउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं असंखेज्जवासाउयगब्भवक्कंतियचउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति । ? गोयमा ! संखेज्जवासाउएहिंतो उववज्जंति नो असंखेज्जवासाउएहिंतो उववज्जंति। जदि संखेज्जवासाउयगब्भवक्कंतियचउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं पज्जत्तगसंखिज्जवासाउयगब्भवक्कंतियचउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं अपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयगब्भवक्कंतियचउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति? गोयमा ! पज्जत्तएहिंतो उववज्जंति नो अप्पज्जत्तएहिंतो उववज्जंति । जदि परिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं उरपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति भुयपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! दोहिंतो वि उववज्जंति जदि उरपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं सम्मुच्छिमउरपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं गब्भवक्कंतियउरपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जति ? गोयमा ! समुच्छिमेहिंतो वि गब्भवक्कंतिएहिंतो वि उववज्जंति जदि सम्मुच्छिमउरपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं पज्जत्तएहिंतो किं अपज्जत्तएहिंतो ? गोयमा ! पज्जत्तगसम्मुच्छिमेहिंतो उववज्जंति नो अपज्जत्तगसम्मुच्छिमउरपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति जदि गब्भवक्कंतियउरपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतोउववज्जंति किं पज्जत्तएहिंतो किं अपज्जत्तएहिंतो? गोयमा ! पज्जत्तगब्भवक्कंतिएहिंतो उववज्जंति नो अपज्जत्तगब्भवक्कंतिउरपरिसप्पथलचरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंनि । जादि भुजपरिसप्पथलचरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं सम्मुच्छिमभुजपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति गब्भवक्कंतियभुयपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति? गोयमा दोहिंतो वि उववज्जंति जदि सम्मुच्छिमभुजपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं पज्जत्तयसम्मुच्छिमभुयपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जति किं अपज्जत्तगसम्मुच्छिमभुयपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! पज्जत्तएहिंतो उववज्जंति नो अपज्जत्तएहिंतो उववज्जंति । जदि गब्भवक्कंतियभुयपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं पज्जत्तएहिंतो उववज्जंति किं अपज्जत्तएहिंतो उववज्जंति? गोयमा ! पज्जत्तएहिंतो उवव-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्जंति नो अपज्जत्तएहिंतो उववज्जंति । जदि खहयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं सम्मुच्छिमखहयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं गब्भवक्कंतियखहयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा! दोहिंतो वि उववज्जंति । जदि सम्मुच्छिमखहयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं पज्जत्तएहिंतो अपज्जत्तएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! पज्जत्तएहिंतो उववज्जंति नो अपज्जत्तएहिंतो उववज्जंति । जदि गब्भवक्कंतियखहयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं संखेज्जवासाउएहिंतो उववज्जंति असंखेज्जवासाउएहिंतो उववज्जंति? गोयमा ! संखेज्जवासाउएहिंतो नो असंखेज्जवासाउएहिंतो उववज्जंति जदि संखेज्जवासाउयगब्भवक्कंतियखहयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं पज्जत्तएहिंतो उववज्जंति अपज्जत्तएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! पज्जत्तएहिंतो उववज्जंति नो अपज्जत्तएहिंतो उववज्जंति।प्रज्ञा० ६ पद।

नैरयिकादीनां स्थित्यादयः ।

जइ पंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं सण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति असण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा! सण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो वि उववज्जंति असण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो वि उववज्जंति । जइ असण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं जलचरेहिंतो उववज्जति थलचरेहिंतो उववज्जंति खहचरेहिंतो उववज्जंति? गोयमा! जलचरेहिंतो उववज्जंति थलचरेहिंतो वि उववज्जंति खहचरेहिंतो वि उववज्जंति जइ जलचरथलचरखहचरेहिंतो उववज्जंति किं पज्जत्तएहिंतो उववज्जंति अपज्जत्तएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! पज्जत्तएहिंतो उववज्जंति णो अपज्जत्तएहिंतो उववज्जंत्ति । पज्जत्तअसण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिएणं भंते! जे भविए णेरइएसु उववज्जित्तए सेणं भंते ! कइसु पुढवीसु उववज्जेज्जा ? गोयमा !एगाए रयणप्पभाए पुढवीए उववज्जेज्जा पज्जत्तअसण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिएणं भंते! जे भविए रयणप्पभाए पुढवीएसु णेरइएसु उववज्जित्तए सेणं भंते ! केवइयकालट्ठिईएसु उववज्जेज्जा ? गोयमा ! जहण्णेणं दसवाससहस्सट्ठितीएसु उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागट्ठितिसु उववज्जेज्जा ? तेणं भंते ! जीवा एगसमएणं केवइया उववज्जंति ? गोयमा ! जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा वा उववज्जंति ॥ २ ॥ तेसिणं भंते ! जीवाणं सरीरगा किंसंघयणी पण्णत्ता ? गोयमा ! छेवट्ठीसंघयणीपण्णत्ता तेसिणं भंते ! जीवाणं केमहालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता ? गोयमा ! जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं जोयणसहस्सं ॥ ४ ॥ तेसिणं भंते ! जीवाणं सरीरगा किं संठिया पण्णत्ता ? गोयमा ! हुंडसंठाणसंठिया पण्णत्ता ॥ ५ ॥ तेसि णं भंते जीवाणं कइ लेस्साओ पण्णत्ताओ ? गोयमा ! तिण्णि लेस्साओ पण्णत्ताओ तंजहा कण्हलेस्सा णीललेस्सा काउलेस्सा ॥ ६ ॥ तेणं भंते! जीवा सम्मदिट्ठी मिच्छादिट्ठी सम्मामिच्छादिट्ठी ? गोयमा ! णो सम्मदिट्ठी मिच्छादिट्ठी णो सम्मामिच्छादिट्ठी ॥ ७ तेणं भंते ! जीवा किं णाणी अण्णाणी ? गोयमा ! णो णाणी अण्णाणी । नियमा दुअणाणी तंजहा मतिअण्णाणी सुअअण्णाणी। ८। तेणं भंते ! जीवा किं मणजोगी वयजोगी कायजोगी ? गोयमा ! णो मणजोगी वयजोगी वि कायजोगी वि ॥ ९ ॥ तेणं भंते ! जीवा किं सागारोवउत्ता अणागारोवउत्ता ? गोयमा ! सागारोवउत्ता वि अणागारोवउत्ता वि ॥ १० ॥ तेसि णं भंते ! जीवाणं कइ सण्णा पण्णत्ता ? गोयमा ! चत्तारि सण्णा पण्णत्ता तंजहा आहारसण्णा भयसण्णा मेहुणसण्णा परिग्गहसण्णा ॥ ११ ॥ तेसिणं भंते ! जीवाणं कइ कसाया पण्णत्ता ? गोयमा ! चत्तारि कसाया पण्णत्ता तंजहा कोहकसाए माणकसाए मायाकसाए लोभकसाए ॥ १२ ॥ तेसिणं भंते! जीवाणं कइ इंदिया पण्णत्ता? गोयमा ! पंचिंदिया पण्णत्ता तंजहा सोइंदिए चक्खिंदिए जाव फासिंदिए ॥ १३ ॥ तेसिणं भंते ! जीवाणं कइ समुग्घाया पण्णत्ता ? गोयमा ! तओ समुग्घाया पण्णत्ता तंजहा वेदणासमुग्घाए कसायसमुग्घाए मारणंतियसमुग्घाए ॥ १४ ॥ तेणं भंते ! जीवा किं सातावेदगा असातावेदगा ? गोयमा ! सातावेदगा वि असातावेदगा वि ॥ १५ ॥ तेणं भंते ! जीवा किं इत्थीवेदगा पुरिसवेदगा णपुंसगवेदगा ? गोयमा ! णो इत्थीवेदगा णो पुरिसवेदगा णपुंसगवेदगा ॥ १६ ॥ तेसि णं भंते ! जीवाणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता गोयमा! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं पुव्वकोडी ॥ १७ ॥ तेसिणं भंते ! जीवाणं कइ अज्झवसाणा पण्णत्ता ? गोयमा ! असंखेज्जा अज्झवसाणा पण्णत्ता ? तेणं भंते! किं पसत्था अप्पसत्था? गोयमा ! पसत्था वि अप्पसत्था वि ॥ १८ ॥ तेणं भंते ! पज्जत्ता असण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिएत्ति कालओ केवचिरं होइ गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं पुव्वकोडी ॥ १९ ॥ सेणं भंते ! पज्जत्तअसण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिए रयणप्पभाए पुढवी णेरइए पुणरवि पज्जत्तअसण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिएत्ति केवइयं कालं सेवेज्जा केवइयं कालं गतिरागतिं करेज्जा ? गोयमा ! भवादेसेणं दो भवग्गहणाइं कालादेसेणं जहण्णेणं दसवाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं पुव्वकोडिमब्भहियं एवइयं कालं सेवेज्जा एवइयं कालं गतिरागतिं करेज्जा ॥ १ ॥ पज्जत्तअसण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिएणं भंते ! जे भविए जहण्णकालट्ठिईएसु रयणप्पभा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुढवी णेरइए उववज्जित्तए सेणं भंते ! केवइयकालट्ठिइ-
एसु उववज्जेज्जा ? गोयमा ! जहन्नेणं वि दसवाससहस्स-
ट्ठिईएसु उक्कोसेण वि दसवाससहस्सट्ठिईएसु उववज्जेज्जा
॥ १ ॥ तेणं भंते ! जीवा एगसमएणं केवइया उववज्जंति
एवं सच्चावत्तव्वया णिरवसेसा भाणियव्वा जाव अणुबंधोत्ति
सेणं भंते ! पज्जत्तअसण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिए जह-
न्नकालट्ठिई य रयणप्पभापुढविणेरइए जहन्नकालं पुण-
रवि अपज्जत्तअसण्णि जाव गतिरागतिं करेज्जा ? गोयमा !
भवादेसेणं दो भवग्गहणाई कालादेसेणं जहन्नेणं दस-
वाससहस्साइं अंतो मुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं पुव्वकोडी
दसवाससहस्सेहिं अब्भहिया एवइयं कालं गतिरागतिं
करेज्जा ॥ २ ॥ पज्जत्तअसण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणि-
एणं भंते ! जे भविए उक्कोसकालट्ठिईएसु रयणप्पभापुढवी
णेरएसु उववज्जित्तए सेणं भंते ! केवइयकालट्ठिईएसु उव-
वज्जेज्जा ? गोयमा ! जहण्णेणं पलिओवमस्स असंखेज्ज
इभागट्ठिईएसु उक्कोसेण वि पलिओवमस्स असंखेज्जइभा-
गट्ठिईएसु उववज्जेज्जा तेणं भंते ! जीवा अवसेसं तं चेव
जाव अणुबंधो । सेणं भंते ! पज्जत्तअसण्णिपंचिंदियति-
रिक्खजोणिए उक्कोसकालट्ठिई य रयणप्पभापुढवी णेरइए
उक्कोसं पुणरवि पज्जत्त जाव करेज्जा ? गोयमा ! भवादेसेणं
दो भवग्गहणाइं कालादेसेणं जहण्णेणं पलिओवमस्स अ-
संखेज्जइभागं अंतोमुहुत्तमब्भहियं उक्कोसेणं पलिओवमस्स
असंखेज्जइभागं पुव्वकोडी अब्भहियं एवइयं कालं सेवेज्जा
एवइयं कालं गतिरागतिं करेज्जा जहण्णकालट्ठिई य पज्जत्त-
असण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिएणं भंते ! जे भविए रय-
णप्पभापुढवी णेरइएसु उववज्जित्तए सेणं भंते ! केवइयकाल
ट्ठिईएसु उववज्जेज्जा ? गोयमा ! जहण्णेणं दसवाससहस्स-
ट्ठिईएसु उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागट्ठिईएसु
उववज्जेज्जा ? तेणं भंते ! जीवा एगसमएणं केवति अव-
सेसं तं चेव णवरं इमाइं तिण्णि णाणत्ताइं आउअज्झव-
साणाणुबंधो य जहण्णेणं ठिई अंतो मुहुत्तं उक्कोसेण वि
अंतोमुहुत्तं । तेसिणं भंते ! जीवाणं केवइया अज्झवसाणा
पण्णत्ता ? गोयमा ! असंखेज्जा अज्झवसाणा पण्णत्ता तेणं
भंते ! किं पसत्था अप्पसत्था ? गोयमा ! णो पसत्था अ-
प्पसत्था । अणुबंधो अंतोमुहुत्तं सेसं तं चेव । सेणं भंते !
जहण्णकालट्ठिई य पज्जत्ता असण्णिपंचिंदियरयणप्पभा
जाव करेज्जा ? गोयमा ! भवादेसेणं दो भवग्गहणाइं काला-
देसेणं जहण्णेणं दसवाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं
उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं अंतोमुहुत्त-
मब्भहियं एवइयं कालं जाव करेज्जा ॥ ४ ॥ जहण्ण-
कालट्ठिई य पज्जत्तअसण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिएणं भंते !
जे भविए जहण्णकालट्ठिईएसु रयप्पभापुढवी णेरइ-
एसु उववज्जित्तए सेणं भंते ! केवइयकालट्ठिईएसु उव-
वज्जेज्जा ? गोयमा ! जहण्णेणं दसवाससहस्सट्ठि-
ईएसु उक्कोसेण वि दसवाससहस्सट्ठिईएसु उववज्जेज्जा
तेणं भंते ! जीवा सेसं तं चेव । ताइं चेव तिण्णि णाणत्ताइं
जाव सेणं भंते ! जहण्णकालट्ठिई य पज्जत्त जाव जोणिए
जहन्नकालट्ठिई य रयणप्पभा पुणरवि जाव ? गोयमा ! भवा-
देसेणं दो भवग्गहणाइं कालादेसेणं जहन्नेणं दसवासस-
हस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं दसवाससहस्साइं
अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं एवइयं कालं सेवेज्जा जाव करेज्जा
॥ ५ ॥ जहन्नकालट्ठिइयं पज्जत्ता जाव तिरिक्खजोणियाणं
भंते ! जे भविए उक्कोसकालट्ठिएसु रयणप्पभापुढविणेरइ-
एसु उववज्जित्तए सेणं भंते ! केवतियकालट्ठिईएसु उवव-
ज्जेज्जा ? गोयमा ! जहण्णेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभा-
गट्ठिईएसु उक्कोसेण वि पलिओवमस्स असंखेज्जइभागट्ठिई-
एसु उववज्जेज्जा, तेणं भंते ! अवसेसं तं चेव ताणि चेव
तिण्णि णाणत्ताइं जाव । सेणं भंते ! जहण्णकालट्ठिई-
यस्स पज्जत्त जाव तिरिक्खजोणिए उक्कोसकालट्ठिईएरयण-
प्पभा जाव करेज्जा ? गोयमा ! भवादेसेणं दो भवग्गहणाइं
कालादेसेणं जहण्णेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं अं-
तोमुहुत्तमब्भहियं उक्कोसेण वि पलिओवमस्स असंखेज्जइ-
भागं अंतोमुहुत्तमब्भहियं एवइयं कालं जाव करेज्जा ॥६॥
उक्कोसकालट्ठिईयपज्जत्तअसण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिए-
णं भंते ! जे भविए रयणप्पभापुढविणेरइएसु उववज्जित्तए,
सेणं भंते ! केवइयाट्ठिई जाव उववज्जेज्जा ? गोयमा ! जह-
ण्णेणं दसवाससहस्सट्ठिईएसु उक्कोसेणं पलिओवमस्स
असंखेज्जइभागट्ठिईएसु उववज्जेज्जा, तेणं भंते ! जीवा ए-
गसमएणं अवसेसं जहेव ओहियगमएणं तहेव अणुगंतव्वं
जाव इमाइं दोण्णि णाणत्ताइं ठिई जहन्नेणं पुव्वकोडी उ-
क्कोसेण वि पुव्वकोडी एवं अणुबंधोवि अवसेसं तं चेव ।
सेणं भंते ! उक्कोसकालट्ठिईयपज्जत्तअसण्णि जाव तिरि-
क्खजोणिए रयप्पभा जाव ? गोयमा ! भवादेसेणं दो भव-
ग्गहणाइं, कालादेसेणं जहण्णेणं पुव्वकोडी दसहिं वास-
सहस्सेहिं अब्भहिया, उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्ज-
इभागं पुव्वकोडीए अब्भहियं एवइयं जाव करेज्जा ७
उक्कोसकालट्ठिईयपज्जत्ततिरिक्खजोणिएणं भंते ! जे भ-
विए जहण्णकालट्ठिईएसु रयणप्पभा जाव उवव-
ज्जित्तए सेणं भंते ! केवति जाव उववज्जेज्जा ? गोयमा !
जहण्णेणं दसवाससहस्सट्ठिईएसु उक्कोसेण वि दसवासस-
हस्सट्ठिईएसु उववज्जेज्जा, तेणं भंते ! सेसं तं चेव जहा
सत्तमगमए जाव सेणं भंते ! उक्कोसकालट्ठिई जाव तिरि-
क्खजोणिए जहण्णकालट्ठिई य रयणप्पभा जाव करेज्जा ?
गोयमा ! भवादेसेणं दो भवग्गहणाइं कालादेसेणं जहण्णेणं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुव्वकोमी दसहिं वाससहस्सेहिं अब्भहिया उक्कोसेणवि पुव्वकोमी दसहिं वाससहस्सेहिं अब्भहिया। एवइयं जाव करेज्जा ॥ ८ ॥ उक्कोसकालट्ठिइयपज्जत्त जाव तिरिक्खजोणिएणं भंते ! जे भविए उक्कोसकालट्ठिईएसु रयणप्पना जाव उववज्जित्तए सेणं भंते! केवइयं कालं जाव उववज्जेज्जा ? गोयमा! जहएणेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागट्ठिईएसु उक्कोसेण वि पलिओवमस्स असंखेज्जइभागट्ठिईएसु उववज्जेज्जा, तेणं भंते! जीवा एगसमए सेसं जहा सत्तमगमए जाव सेणं भंते! उक्कोसकालट्ठिई पज्जत्त जाव तिरिक्खजोणियउक्कोसट्ठिईयरयणप्पना जाव करेज्जा ? गोयमा ! भवादेसेणं दोभवग्गहणाइं, कालादेसेणं जहएणेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं पुव्वकोमीए अब्भहियं, उक्कोसेण वि पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं पुव्वकोमी मब्भहियं एवइयं कालं सेवेज्जा जाव करेज्जा ॥ ९ ॥ एवं एते ओहिया तिन्निगमगा ।३। जहएणकालट्ठिईएसु तिन्निगमगा । ६ । उक्कोसकालट्ठिईएसु तिन्निगमगा । ९ । सव्वे ते णव गमगा भवंति ॥

सेणं भंते पज्जत्ता असएणीत्यादि (भवादेसेणंति) भवप्रकारेण (दोभवग्गहणाइंति) एकत्रासंज्ञी द्वितीये नारकः ततो निर्गतस्सन्ननन्तरतया संज्ञित्वमेव लभते न पुनरसंज्ञित्वमिति (कालाएसेणंति) कालप्रकारेण कालत इत्यर्थः दशवर्षसहस्राणि नारकजघन्यस्थितिअन्तमुहूर्त्ताभ्यधिकानि असंज्ञिभवसम्बन्धिजघन्यायुस्सहितानीत्यर्थः (उक्कोसेणमित्यादि) इह पल्योपमासंख्येयभागः पूर्वभवासंज्ञिनारकोत्कृष्टायुष्करूपः पूर्वकोटी चासंज्ञ्युत्कृष्टायुष्करूपेति । एवमेते सामान्येषु रत्नप्रभानारकेषूत्पित्सवोऽसंज्ञिनः प्ररूपिताः ।१। अथ जघन्यस्थितिषु तदुत्पित्सूंस्तान्प्ररूपयन्नाह (पज्जत्तेत्यादि) सर्वं चेदं प्रतीतार्थमेव मुत्कृष्टस्थितिषु रत्नप्रभानारकेषूत्पित्सवोऽपि प्ररूपणीया एवमेते त्रयो गमा निर्विशेषणपर्याप्तकाऽसंज्ञिनमाश्रित्योक्ता एवमेव तं जघन्यस्थितिकमुत्कृष्टस्थितिकं ३ चाश्रित्य वाच्यास्तदेवमेते नव गमाः तत्र जघन्यस्थितिकमसंज्ञिनमाश्रित्य सामान्यनारकगम उच्यते (जहएणेत्यादि) आऊअज्झवसाणाअणुबंधोयत्ति) आयुरन्तर्मुहूर्तमेव जघन्यस्थितेरसंज्ञिनोऽधिकृतत्वात् अध्यवसायस्थाना यप्रशस्तान्येवान्तर्मुहूर्तस्थितिकत्वाद्दीर्घस्थितेर्हि तस्य द्विविधान्यपि तानि सम्भवन्ति, कालस्य बहुत्वादनुबन्धश्च स्थितितमान एवेति कायसंवेधे च नारकाणां जघन्याया उत्कृष्टायाश्च स्थितेरुपर्यन्तर्मुहूर्तं वाच्यमिति ॥ ४ ॥ एवं जघन्यस्थितिकं तं जघन्यस्थितिकेषु तेषूत्पादयन्नाह—जहएणकालट्ठिईयादि ॥ ५ ॥ एवं जघन्यस्थितिकं तमुत्कृष्टस्थितिषु तेषूत्पादयन्नाह—जहएणेत्यादि ॥ ६ ॥ एवमुत्कृष्टस्थितिकं तं सामान्येषु तेषूत्पादयन्नाह—उक्कोसकालेत्यादि ॥ ७ ॥ एवमुत्कृष्टस्थितिकं तं जघन्यस्थितिषु तेषूत्पादयन्नाह—उक्कोसकालेत्यादि ॥ ८ ॥ एवमुत्कृष्टस्थितिकं तमुत्कृष्टस्थितिषु तेषूत्पादयन्नाह उक्कोसकालेत्यादि ॥ ९ ॥ एवं तावदसंज्ञिनः पञ्चेन्द्रियतिरश्चो नारकेषूत्पादो नवधोक्तोऽथसंज्ञिनस्तस्यैव तथैव तमाह (जइसएणीत्यादि) तिन्नि नाणा तिन्नि अण्णाणा (भयणाएत्ति)।

जदि सएिणपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं संखेज्जवासाउयसएिणपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति असंखेज्जवासाउयसएिणपंचिंदियतिरिक्ख जाव उववज्जंति गोयमा ! संखेज्जवासाउयसएिणपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति णो असंखेज्जवासाउय जाव उववज्जंति जदि संखेज्जवासाउयसएिणपंचिंदिय जाव उववज्जंति किं जलचरेहिंतो उववज्जंति पुच्छा ? गोयमा ! जलचरेहिंतो उववज्जंति जहा असएणी जाव पज्जत्तएहिंतो उववज्जंति णो अपज्जत्तएहिंतो उववज्जंति पज्जत्तसंखेज्जवासाउयसएिण पंचिंदियतिरिक्खजोणिएणं भंते ! जे भविए णेरइएसु उववज्जित्तए सेणं भंते ! कइसु पुढवीसु उववज्जेज्जा ? गोयमा ! सत्तसु पुढवीसु उववज्जेज्जा तं- जहा रयणप्पभाए जाव अहेसत्तमाए पज्जत्तसंखेज्जवासाउयसएिणपंचिंदियतिरिक्खजोणिएणं भंते ! जे भविए रयणप्पभापुढविणेरइएसु उववज्जित्तए सेणं भंते ! केवइयकालट्ठिईएसु उववज्जेज्जा ? गोयमा ! जहएणेणं दसवाससहस्सट्ठिईएसु उक्कोसेणं सागरोवमट्ठिईएसु उववज्जेज्जा तेणं भंते ! जीवा एगसमएणं केवइया उववज्जंति जहेव असएणी । तेसि णं भंते ! जीवाणं सरीरगा किं संघयणी पएणत्ता ? गोयमा ! छव्विहसंघयणी पएणत्ता तं जहा वइरोसभनारायसंघयणी उसभनाराय जाव छेवट्ठसंघयणी। सरीरोगाहणा जहेव असएणीणं। तेसि णं भंते ! जीवाणं सरीरगा किं संठिया पएणत्ता ? गोयमा ! छव्विहसंठिया पएणत्ता तं जहा समचउरंसा णिग्गोहा जाव हुंडा। तेसिणं भंते! जीवाणं कइलेस्साओ पएणत्ताओ? गोयमा ! छल्लेस्साओ पएणत्ताओ, तं जहा कएहलेस्सा जाव सुक्कलेस्सा । दिट्ठी तिविहावि । तिन्निणाणा तिन्नि अण्णाणा भयणा। जोगो तिविहोवि सेसं जहा असएणीणं जाव अणुबंधो णवरं पंचसमुग्घाया आदिल्लगा, वेदो तिविहो वि । अवसेसं तं चेव जाव सेणं भंते ! पज्जत्तासंखेज्जवासाउ य जाव तिरिक्खजोणिए रयणप्पभा जाव करेज्जा ? गोयमा ! भवादेसेणं जहएणेणं दो भवग्गहणाइं उक्कोसेणं अट्ठभवग्गहणाइं, कालादेसेणं जहएणेणं दसवाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं चत्तारि सागरोवमाइं चउहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं एवइयं कालं जाव करेज्जा ।१। पज्जत्तसंखेज्जवासाउय जाव जे भविए जहएणकालं जाव से णं भंते! केवइयकालट्ठिईएसु उववज्जेज्जा ? गोयमा ! जहएणेणं दसवाससहस्सट्ठिईएसु उक्कोसेणं वि दसवाससहस्सट्ठिईएसु जाव उववज्जेज्जा, तेणं भंते ! जीवा एवं सो चेव पढमगमओ णिरवसेसो भाणियव्वो जाव कालादेसेणं जहएणेणं दसवाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं चत्तारि

पुव्वकोडीओ चत्तालीसाए वाससहस्सेहिं अब्भहियाओ एवइयं कालं सेवेज्जा जाव करेज्जा । २ । सो चेव उक्कोसकालट्ठिईएसु उववण्णो जहण्णेणं सागरोवमट्ठिईएसु उक्कोसेण वि सागरोवमट्ठिईएसु अवसेसो परिणामादीवो भवादेसे पज्जवसाणे सो चेव पढमगमगो णेतव्वो जाव कालादेसेणं जहण्णेणं सागरोवमं अंतोमुहुत्तमब्भहियं, उक्कोसेणं चत्तारि सागरोवमाइ चउहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं एवइयं कालं सेवेज्जा । ३ । जहण्णकालट्ठिई य पज्जत्तसंखेज्जवासाउयसण्णिपंचिंदियतिरिक्ख जोणिएणं भंते ! जे भविए रयणप्पभापुढवी जाव उववज्जित्तए, सेणं भंते ! केवइयकालट्ठिईएसु उववज्जेज्जा ? । गोयमा ! जहण्णेणं दसवाससहस्सट्ठिईएसु उक्कोसेणं सागरोवमट्ठिईएसु उववज्जेज्जा, तेणं भंते ! जीवा अवसेसो सो चेव गमओ णवरं इमाइं अट्ठ णाणत्ताइं सरीरोगाहणा जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं धणुहपुहुत्तं लेस्साओ तिण्णिआदिल्लाओ णो सम्मदिट्ठी मिच्छदिट्ठी णो सम्मामिच्छदिट्ठी । णो णाणी दो अण्णाणी णियमं । समुग्घाया आदिल्ला तिण्णि । आउअज्झवसाणा अणुबंधो य जहेव असण्णीणं अवसेसं जहा पढमगमए जाव कालादेसेणं जहण्णेणं दसवाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं चत्तारि सागरोवमाइं चउहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भहियाइं एवइयं कालं जाव करेज्जा ।४। सो चेव जहण्णकालट्ठिईएसु उववण्णो जहण्णेणं दसवाससहस्सट्ठिईएसु उक्कोसेण वि दसवाससहस्सट्ठिईएसु उववज्जेज्जा तेणं भंते ! एवं सो चेव चउत्थो णिरवसेसो भाणियव्वो जाव कालादेसेणं जहण्णेणं दसवाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं चत्तालीसं वाससहस्साइं चउहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भहियाइं एवइयं जाव करेज्जा ॥ ५ ॥ सो चेव उक्कोसकालट्ठिईएसु उववण्णो । जहण्णेणं सागरोवमट्ठिईएसु उक्कोसेण वि सागरोवमट्ठिईएसु उववज्जेज्जा, तेणं भंते ! एवं सो चेव चउत्थो गमओ णिरवसेसो भाणियव्वो जाव कालादेसेणं जहण्णेणं सागरोवमं अंतोमुहुत्तमब्भहियं उक्कोसेणं चत्तारि सागरोवमाइं चउहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भहियाइं एवइयं जाव करेज्जा ॥ ६ ॥ उक्कोसकालट्ठिई य पज्जत्तसंखेज्जवासाउ य जाव तिरिक्खजोणिएणं भंते ! जे भविए रयणप्पभा पुढवि णेरइएसु उववज्जित्तए । सेणं भंते ! केवइयकालट्ठिईएसु उववज्जेज्जा ? गोयमा ! जहण्णेणं दसवाससहस्सट्ठिईएसु उक्कोसेणं सागरोवमट्ठिईएसु उववज्जेज्जा, तेणं भंते ! जीवा अवसेसो परिणामादीवो भवादेसे पज्जवसाणे एएसिं चेव पढमो गमओ णेतव्वो णवरं ठिई । जहण्णेणं पुव्वकोडी उक्कोसेण वि पुव्वकोडी एवं अणुबंधो वि । सेसं तं चेव । कालादेसेणं जहण्णेणं पुव्वकोडी दसहिं वाससहस्सेहिं अब्भहिया उक्कोसेणं चत्तारि सागरोवमाइं चउहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं एवइयं कालं जाव करेज्जा ॥७॥ सो चेव जहण्णकालट्ठिईएसु उववण्णो जहण्णेणं दसवाससहस्सट्ठिईएसु उक्कोसेण वि दसवाससहस्सट्ठिईएसु उववज्जेज्जा तेणं भंते ! जीवा सो चेव सत्तमो गमओ णिरवसेसो भाणियव्वो जाव भवादेसोत्ति कालादेसेणं जहण्णेणं पुव्वकोडी दसवाससहस्सेहिं अब्भहिया उक्कोसेणं चत्तारि पुव्वकोडीओ चत्तालीसाए वाससहस्सेहिं अब्भहियाओ एवइयं जाव करेज्जा ॥ ८ ॥ उक्कोसकालट्ठिईयपज्जत्त जाव तिरिक्खजोणिएणं भंते ! जे भविए उक्कोसकालट्ठिई जाव उववज्जित्तए सेणं भंते ! केवइयकालट्ठिईएसु उववज्जेज्जा? गोयमा ! जहण्णेणं सागरोवमट्ठिईएसु उक्कोसेण वि सागरोवमट्ठिईएसु उववज्जेज्जा, तेणं भंते ! सो चेव सत्तमो गमओ णिरवसेसो भाणियव्वो जाव भवादेसोत्ति, कालादेसेणं जहण्णेणं सागरोवमं पुव्वकोडीए अब्भहियं उक्कोसेणं चत्तारि सागरोवमाइं चउहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं एवइयं जाव करेज्जा ॥ ९ ॥ एवं एते णव गमगा उक्खेवओ णिक्खेवओ णवसु वि जहेव असण्णीणं, पज्जत्तसंखेज्जवासाउयसण्णि पंचिंदियतिरिक्खजोणिएणं भंते ! जे भविए सक्करप्पभाए पुढवीए णेरएसु उववज्जित्तए सेणं भंते ! केवइयकालट्ठिईएसु उववज्जेज्जा जहण्णेणं सागरोवमट्ठिईएसु उववज्जेज्जा, उक्कोसेणं तिण्णि सागरोवमट्ठिईएसु उववज्जेज्जा तेणं भंते ! जीवा एगसमएणं एवं जहेव सक्करप्पभाए उववज्जंतगस्स लद्धी सच्चे वि णिरवसेसा भाणियव्वा जाव भवादेसोत्ति । कालादेसेणं जहण्णेणं सागरोवमं अंतोमुहुत्तमब्भहियं उक्कोसेणं बारससागरोवमाइं चउहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं एवइयं जाव करेज्जा । एवं रयणप्पभापुढविगमगसरिसा णव वि गमा भाणियव्वा णवरं सव्वगमएसु वि णेरइयट्ठिई य संवेहेसु सागरोवमा भाणियव्वा एवं जाव छट्ठपुढवित्ति णवरं णेरइए ठिई जा जत्थ पुढवीए जहण्णुक्कोसिया सा तेण चेव कमेण चउग्गुणा कायव्वा वालुयप्पभाए अट्ठावीसं सागरोवमा चउगुणिया भवंति पंकप्पभाए चत्तालीसं,धूमप्पभाए अट्ठसट्ठिं,तमाए अट्ठासीतिं। संघयणाइं वालुयप्पभाए पंचविहा संघयणी तं जहा वइरोसभनाराय जाव कीलियासंघयणी, पंकप्पभाए चउव्विहसंघयणी,धूमप्पभाए तिविहसंघयणी, तमाए दुविहसंघयणी तं जहा वइरोसभनारायसंघयणी उसभनारायसंघयणी सेसं तं चेव । पज्जत्तसंखेज्जवासाउ य जाव तिरिक्खजोणिएणं भंते!जे भविए अहे सत्तमपुढवीणेरइएसु उववज्जित्तए सेणं भंते ! केवइयकालट्ठिईएसु उववज्जेज्जा ? गोयमा ! जहण्णेणं बावीसं सागरोवमट्ठिईएसु उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमट्ठिईएसु उववज्जेज्जा तेणं भंते ! जीवा एवं जहेव रयणप्पभाए णव गमगा लद्धी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सव्वेवि णवरं वइरोसभनारायसंघयणी इत्थी वेदगा ण
उववज्जंति सेसं तं चेव जाव अणुबंधोत्ति संवेहो भवादेसेणं
जहमेणं तिन्नि भवग्गहणाई उक्कोसेणं सत्त भवग्गहणाई,
कालादेसेणं जहमेणं बावीसं सागरोवमाई दोहिं अंतो-
मुहुत्तेहिं अब्भहियाई उक्कोसेणं छावट्ठिं सागरोवमाई चउहिं
पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं एवइयं जाव करेज्जा । १ । सो
चेव जहमकालट्ठिईएसु उववम्मो सच्चेव वत्तव्वया जाव
भवादेसोत्ति, कालादेसेणं जहमेणं कालादेसो वि तहेव जाव
चउहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाई एवइयं जाव करेज्जा।२।
सो चेव उक्कोसकालट्ठिईएसु उववम्मो सच्चेव लद्धी जाव
अणुबंधोत्ति । भवादेसेणं जहमेणं तिन्नि भवग्गहणाई
उक्कोसेणं पंच भवग्गहणाई कालादेसेणं जहमेणं तेत्तीसं
सागरोवमाई दोहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भहियाइं उक्कोसेणं
छावट्ठिं सागरोवमाई तिहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाई एव-
इयं जाव सेवेज्जा । ३ । सो चेव अप्पणा जहमकालट्ठि-
इओ जाओ सव्वे वि रयणप्पभापुढविजहमकालट्ठिइय-
वत्तव्वया भाणियव्वा जाव भवादेसोत्ति णवरं पढमसंघ-
यणं णो इत्थीवेदगा भवादेसेणं जहमेणं तिन्नि भवग्गह-
णाई उक्कोसेणं सत्त भवग्गहणाई कालादेसेणं जहमेणं बावीसं
सागरोवमाई दोहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भहियाई उक्कोसेणं
छावट्ठिं सागरोवमाई चउहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भहियाई
एवइयं जाव करेज्जा ।४। सो चेव जहमकालट्ठिईएसु उव-
वम्मो एवं सो चेव चउत्थो गमो निरवसेसो भाणियव्वो
जाव कालादेसोत्ति ।५। सो चेव उक्कोसकालट्ठिईएसु उववम्मो
सच्चेव लद्धी जाव अणुबंधोत्ति, भवादेसेणं जहमेणं तिन्नि
भवग्गहणाई उक्कोसेणं पंच भवग्गहणाई कालादेसेणं जह-
मेणं तेत्तीसं सागरोवमाई दोहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भहि-
याई उक्कोसेणं छावट्ठिं सागरोवमाई अंतोमुहुत्तेहिं अब्भ-
हियाई एवइयं कालं जाव करेज्जा ।६। सो चेव अप्पणा
उक्कोसकालट्ठिईओ जाओ जहमेणं बावीसं सागरोवमट्ठिई-
एसु उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमट्ठिईएसु उववज्जेज्जा,तेणं भंते!
अवसेसा सव्वे वि सत्तमपुढवीपढमगमगवत्तव्वया भा-
णियव्वा जाव भवादेसोत्ति णवरं ठिईअणुबंधो त्ति, जह-
मेणं पुव्वकोडी उक्कोसेणं वि पुव्वकोडी सेसं तं चेव, का-
लादेसेणं जहमेणं बावीसं सागरोवमाई दोहिं पुव्वकोडी-
हिं अब्भहियाई, उक्कोसेणं छावट्ठिं सागरोवमाई चउहिं
पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं एवइयं जाव करेज्जा । ७ । सो
चेव जहमकालट्ठिईएसु उववम्मो सच्चेवलद्धी संवेहो वि
तहेव सत्तमगमगसरिसो । ८ । सो चेव उक्कोसकालट्ठिईएसु
उववम्मो सच्चे वि लद्धी जाव अणुबंधोत्ति, भवादेसेणं ज-
हमेणं तिन्नि भवग्गहणाई, उक्कोसेणं पंच भवग्गहणाई, का-
लादेसेणं जहमेणं तेत्तीसं सागरोवमाई दोहिं पुव्वकोडीहिं
अब्भहियाइं उक्कोसेणं छावट्ठिं सागरोवमाइं तिहिं पुव्वको-
डीहिं अब्भहियाइं एवइयं कालं जाव करेज्जा । ९ । जइ
मणुस्सेहिंतो उववज्जंति किं सन्निमणुस्सेहिंतो उववज्जंति
असन्निमणुस्सेहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! सन्निमणुस्से-
हिंतो उववज्जंति णो असन्निमणुस्सेहिंतो उववज्जंति जइ
सन्निमणुस्सेहिंतो उववज्जंति किं संखेज्जवासाउयसन्नि-
मणुस्सेहिंतो उववज्जंति असंखेज्ज जाव उववज्जंति ? गो-
यमा ! संखेज्जवासाउयसन्निमणुस्सेहिंतो उववज्जंति णो
असंखेज्जवासाउय उववज्जंति। जइ संखेज्जवासाउय जाव
उववज्जंति किं पज्जत्तसंखेज्जवासाउय जाव उववज्जंति
अपज्जत्त जाव उववज्जंति ? गोयमा ! पज्जत्तसंखेज्जवासा-
उय जाव उववज्जंति णो अपज्जत्तसंखेज्जवासाउय जाव
उववज्जंति ॥ पज्जत्तसंखेज्जवासाउयसन्निमणुस्से णं
भंते ! जे भविए णेरइएसु उववज्जित्तए से णं भंते ! कइसु
पुढवीसु उववज्जेज्जा ? गोयमा ! सत्तसु पुढवीसु उववज्जे-
ज्जा तं जहा रयणप्पभा जाव अहे सत्तमाए। पज्जत्तसंखे-
ज्जवासाउयसन्निमणुस्से णं भंते ! जे भविए रयणप्पभापुढवी-
ए णेरइएसु उववज्जित्तए से णं भंते ! केवइया कालट्ठिई-
एसु उववज्जेज्जा ? गोयमा ! जहण्णेणं दसवाससहस्सट्ठिई-
एसु उक्कोसेणं सागरोवमट्ठिईएसु उववज्जेज्जा, ते णं भंते !
जीवा एगसमएणं केवइया उववज्जंति ? गोयमा ! जहमेणं
एक्को वा दो वा तिन्नि वा उक्कोसेणं संखेज्जा वा उववज्जंति
संघयणा छ सरीरोगाहणा जहण्णेणं अंगुलपुहुत्तं । उक्कोसेणं
पंचधणुहसयाइं । एवं सेसं जहा सन्निपंचिंदियतिरिक्खजोणि-
याणं जाव भवादेसोत्ति णवरं चत्तारि णाणा तिन्नि अण्णाणा
भयणाए । छ समुग्घाया केवलिवज्जा ठिई अणुबंधो य
जहमेणं मासपुहुत्तं उक्कोसेणं पुव्वकोडी सेसं तं चेव ।
कालादेसेणं जहण्णेणं दसवाससहस्साइं मासपुहुत्तमब्भ-
हियाइं उक्कोसेणं चत्तारि सागरोवमाई चउहिं पुव्वकोडी-
हिं अब्भहियाई एवइयं जाव करेज्जा।१। सो चेव जहण्ण-
कालट्ठिईएसु उववण्णो एस चेव वत्तव्वया णवरं का-
लादेसेणं जहमेणं दसवाससहस्साइं मासपुहुत्तमब्भहिया-
ई उक्कोसेणं चत्तारि पुव्वकोडीओ चत्तालीसाए वासस-
हस्सेहिं अब्भहियाओ एवइयं जाव करेज्जा । २ । सो
चेव उक्कोसकालट्ठिईएसु उववण्णो एस चेव वत्तव्वया ण-
वरं कालादेसेणं जहण्णेणं सागरोवमं मासपुहुत्तमब्भहि-
यं उक्कोसेणं चत्तारि सागरोवमाइं चउहिं पुव्वकोडीहिं
अब्भहियाइं एवइयं जाव करेज्जा । ३ । सो चेव अप्पणा
जहण्णकालट्ठिईओ जाओ एस चेव वत्तव्वया णवरं इ-
माइं णाणत्ताइं सरीरोगाहणा जहण्णेणं अंगुलपुहुत्तं उ-
क्कोसेण वि अंगुलपुहुत्तं तिन्नि णाणा तिन्नि अण्णाणा-
भयणाए पंच समुग्घाया आदिल्ला ठिई अणुबंधो य ज-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हएणेणं मासपुहुत्तं उक्कोसेणं वि मासपुहुत्तं सेसं तं चेव जाव भवादेसोत्ति । कालादेसेणं जहएणेणं दसवाससहस्साइं मासपुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं चत्तारि सागरोवमाइं चउहिं मासपुहुत्तेहिं अब्भहियाइं एवइयं जाव करेज्जा । ४ । सो चेव जहएणकालट्ठिईएसु उववएणो एस चेव वत्तव्वया चउत्थगमगसरिसा णवरं कालादेसेणं जहएणेणं दसवाससहस्साइं मासपुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं चत्तालीसं वाससहस्साइं चउहिं मासपुहुत्तमब्भहियाइं एवइयं जाव करेज्जा ।५। सो चेव उक्कोसकालट्ठिइएसु उववएणो एस चेव गमगो णवरं कालादेसेणं जहएणेणं सागरोवमं मासपुहुत्तमब्भहियं उक्कोसेणं चत्तारि सागरोवमाइं चउहिं मासपुहुत्तेहिं एवइयं जाव करेज्जा । ६ । सो चेव अप्पणा उक्कोसकालट्ठिईओ जाव सो चेव पढमगमओ णेयव्वो णवरं सरीरोगाहणा जहएणेणं पंच धणुहसयाइं उक्कोसेण वि पंच धणुहसयाइं ठिई जहएणेणं पुव्वकोडी उक्कोसेण वि पुव्वकोडी एवं अणुबंधो वि । कालादेसेणं जहएणेणं पुव्वकोडीदसहिं वाससहस्सेहिं अब्भहियाइं उक्कोसेणं चत्तारि सागरोवमाइं चउहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं एवइयं कालं जाव करेज्जा । ७ । सो चेव जहएणकालट्ठिईएसु उववएणो सच्चेव सत्तमगमगवत्तव्वया णवरं कालादेसेणं जहएणेणं पुव्वकोडी दसवाससहस्सेहिं अब्भहिया उक्कोसेणं चत्तारि पुव्वकोडीओ चत्तालीसाए वाससहस्सेहिं अब्भहियाओ एवइयं जाव करेज्जा ।८। सो चेव उक्कोसकालट्ठिईएसु उववएणो सा चेव सत्तमगमगवत्तव्वया णवरं कालादेसेणं जहएणेणं एगं सागरोवमं पुव्वकोडीए अब्भहियं उक्कोसेणं चत्तारि सागरोवमाइं चउहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं एवइयं कालं जाव करेज्जा । ९ । पज्जत्तसंखेज्जवासाउ य सण्णिमणुस्सेणं भंते ! जे भविए सक्करप्पभाए पुढवीए णेरइए जाव उववज्जित्तए से णं भंते ! केवइयं कालं जाव उववज्जेज्जा ? गोयमा ! जहएणेणं सागरोवमट्ठिईएसु उक्कोसेणं तिण्णि सागरोवमट्ठिईएसु उववज्जेज्जा ते णं भंते ! एवं सो चेव रयणप्पभापुढविगमओ णेयव्वो णवरं सरीरोगाहणा जहएणेणं रयणिपुहुत्तं उक्कोसेणं पंचधणुहसयाइं ठिती जहएणेणं वासपुहुत्तं पुव्वकोडी एवं अणुबंधोवि सेसं तं चेव जाव भवादेसोत्ति । कालादेसेणं जहएणेणं सागरोवमं वासपुहुत्तमब्भहियं उक्कोसेणं बारससागरोवमाइं चउहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं एवइयं जाव करेज्जा । एवं एसा ओहिएसु तिसु गमेसु मणुस्सलद्धी णाणत्तं णेरइयट्ठिती कालादेसेणं संवेहं च जाणेज्जा । सो चेव अप्पणा जहएणकालट्ठितीओ जाओ तस्स वि तिसु गमएसु एस चेव लद्धी णवरं सरीरोगाहणा जहएणेणं रयणिपुहुत्तं उक्कोसेणं वि रयणिपुहुत्तं ठिती जहएणेणं वासपुहुत्तं उक्कोसेण वि वासपुहुत्तं एवं अणुबंधोवि सेसं जहा ओहियाणं संवेहो उवउंजिऊण भाणियव्वो । ६ । सो चेव अप्पणा उक्कोसकालट्ठितीओ जाओ तस्स वि तिसु गमएसु इमं णाणत्तं सरीरोगाहणा जहएणेणं पंचधणुहसयाइं उक्कोसेण वि पंचधणुहसयाइं ठिती जहएणेणं पुव्वकोडी उक्कोसेण वि पुव्वकोडी, एवं अणुबंधो वि सेसं जहा पढमगमए णवरं णेरइयट्ठिती कायसंवेहं च जाणेज्जा । ९ । एवं जाव छट्ठपुढवी णवरं तच्चाए आढवेत्ता एकेक्कं संघयणं परिहायति, तहेव तिरिक्खजोणियाणं कालादेसो वि तहेव । णवरं मणुस्सट्ठिई जाणियव्वा । पज्जत्तसंखेज्जवासाउसण्णिमणुस्सेणं भंते ! जे भविए अहे सत्तमपुढविणेरइएसु उववज्जित्तए से णं भंते ! केवइयकालट्ठिईएसु उववज्जेज्जा ? गोयमा ! जहएणेणं बावीसं सागरोवमट्ठिईएसु उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमट्ठिईएसु उववज्जेज्जा ते णं भंते ! जीवा एगसमएणं अवसेसो सो चेव सक्करप्पभपुढविगमओ णेयव्वो णवरं पढमसंघयणं । इत्थी वेयगा ण उववज्जंति सेसं तं चेव जाव अणुबंधोत्ति । भवादेसेणं दो भवग्गहणाइं कालादेसेणं जहएणेणं बावीसं सागरोवमाइं वासपुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं पुव्वकोडीए अब्भहियाइं एवइयं जाव करेज्जा ? सो चेव जहएणकालट्ठिईएसु उववएणो एस चेव वत्तव्वया णवरं णेरइयट्ठिई संवेहं च जाणेज्जा ।२। सो चेव उक्कोसकालट्ठिइएसु उववएणो एस चेव वत्तव्वया णवरं संवेहं च जाणेज्जा ।३। सो चेव अप्पणा जहएणकालट्ठिईओ जाओ तस्स वि तिसु गमएसु एस चेव वत्तव्वया णवरं सरीरोगाहणा जहएणेणं रयणिपुहुत्तं उक्कोसेण वि रयणिपुहुत्तं, ठिई जहएणेणं वासपुहुत्तं उक्कोसेण वि वासपुहुत्तं एवं अणुबंधो वि संवेहो उवउंजिऊण भाणियव्वो ।६। सो चेव अप्पणा उक्कोसकालट्ठिईओ जाओ तस्स वि तिसु गमएसु एस चेव वत्तव्वया णवरं सरीरोगाहणा जहएणेणं पंचधणुहसयाइं उक्कोसेण वि पंचधणुहसयाइं ठिई जहएणेणं पुव्वकोडी उक्कोसेण वि पुव्वकोडी एवं अणुबंधो वि । णवसु वि एतेसु गमएसु णेरइयट्ठिई संवेहं च जाणेज्जा । सव्वत्थ भवग्गहणाइं दोण्णि जाव णव गमएसु कालादेसेणं जहएणेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं पुव्वकोडीए अब्भहियाइं उक्कोसेण वि तेत्तीसं सागरोवमाइं पुव्वकोडीए अब्भहिया एवइयं कालं सेवेज्जा एवइयं कालं गतिरागतिं करेज्जा ॥ सेवं भंते भंतेत्ति तिण्णि नाणा तिण्णि अन्नाणा (भयणाएत्ति) तिरश्चां संज्ञिनां नरकगामिनां ज्ञानान्यज्ञानानि च त्रीणि भजनया भवन्तीति द्वे वा त्रीणि वा स्युरित्यर्थः ॥ नवरं पंचसमुग्घाया (आइल्लगत्ति) असंज्ञिनः पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्च-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

थस्समुद्घाताः सञ्ज्ञिनस्तु नरकं यियासोः पञ्चाद्या अन्तयोर्द्वयोर्मनुष्याणामेव भावादिति । (जहण्णेणं दो भवग्गहणाइंति) सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यक्षूत्पद्य पुनर्नरकेषूत्पद्यते ततो मनुष्येष्वेवमधिकृत्य कायसंवेधे भवद्वयं जघन्यतो भवति एवं भवग्रहणाष्टकमपि भावनीयम । अनेन चेदमुक्तं सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यङ् १ ततो नारकः २ पुनः सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यङ् ३ पुनर्नारकः ४ पुनः सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यङ् ५ पुनर्नारकः ६ ततः पुनः सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यङ् ७ पुनस्तस्यामेव पृथिव्यां नारकः ८ इत्येवमष्टावेव वारानुत्पद्यते नवमे भवे तु मनुष्यः स्यादिति एवमौघिक औघिकेषु नारकेषूत्पादितोऽयं चेह प्रथमो गमः । पज्जत्तेत्यादिस्तु द्वितीयः । सो चेव उक्कोसकाले इत्यादिस्तु तृतीयः । जहन्नकालट्ठितीयेत्यादिस्तु चतुर्थः । तत्र च । नवरं इमाइं अट्ठनाणत्ताइंति । तानि चैवं-तत्र शरीरावगाहनोत्कृष्टा योजनसहस्रमुक्ता इह तु धनुः पृथक्त्वं तथा तत्र लेश्याः षट् इह त्वाद्यास्तिस्रः तथा तत्र दृष्टिः त्रिधा इह तु मिथ्यादृष्टिरेव तथा तत्राऽज्ञानानि त्रीणि भजनयेह तु द्वे एवाज्ञाने । तथा तत्राद्याः पञ्च समुद्घाता इह तु त्रयः । " आउअज्झवसाणा, अणुबंधो य जहेव असण्णीणंति " । जघन्यस्थितिकासंज्ञिगम इवेत्यर्थः । ततश्चायुरिहान्तर्मुहूर्तम् । अध्यवसायस्थानान्यप्रशस्तान्येवानुबन्धोऽप्यन्तर्मुहूर्तमेवेति (अवेससामित्यादि) अवशेषं यथा सञ्ज्ञिनः प्रथमगमे औघिक इत्यर्थः । निगमनवाक्यं चेदम (अवसेसो सो चेव गमओत्ति) अनेनैवैतदर्थस्य गमत्वादिति सो चेव जहन्नकालेत्यादिस्तु सञ्ज्ञिविषये पञ्चमो गमः इह च । (सोचेवत्ति) स एव सञ्ज्ञी जघन्यस्थितिकः । " सो चेव उक्कोसे " त्यादिस्तु षष्ठः । उक्कोसकालेत्यादिस्तु सप्तमः । तत्र च (एएसिं चेव पढमगओत्ति) एतेषामेव सञ्ज्ञिनां प्रथमगमो यत्रौघिक औघिकेषूत्पादितः । नवरमित्यादि । तत्र जघन्याप्यन्तर्मुहूर्तरूपा सञ्ज्ञिनः स्थितिरुक्ता सेह न वाच्येत्यर्थः । एवमनुबन्धोऽपि तद्रूपत्वात्तस्येति । ७ । सो चेवेत्यादिरष्टमः । इह च । (सोचेवत्ति) स एवोत्कृष्टस्थितिकः संज्ञी । ८ । उक्कोसेत्यादिर्नवमः । " उक्खेवनिक्खेवओइत्यादि " तत्रोपक्षेपः प्रस्तावना (१६०००) स च प्रतिगममौचित्येन स्वयमेव वाच्यो निक्षेपस्तु निगमनं सोऽप्येवमेवेति पर्याप्तकसंख्यातवर्षायुष्कसञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकमाश्रित्य रत्नप्रभा वक्तव्यतोक्ता अथ तमेवाश्रित्य शर्करप्रभा वक्तव्यतोच्यते तत्रौघिक औघिकेषु तावदुच्यते पज्जत्तेत्यादि । (लद्धी सच्चेव निरवसेसा भाणियव्वत्ति) परिमाणसंहननादीनां प्राप्त्यैव रत्नप्रभायामुत्पित्सोरुक्ता सैव निरवशेषा शर्करप्रभायामपि भणितव्येति । (सागरोवमअंतोमुहुत्तमब्भहियंति) द्वितीयायां जघन्या स्थितिः सागरोपममन्तर्मुहूर्त्तं च सञ्ज्ञिभवसत्कमिति । उक्कोसेणं बारसेत्यादि । द्वितीयायामुत्कृष्टतः सागरोपमत्रयस्थितिस्तस्याश्चतुर्गुणत्वं द्वादश, एवं पूर्वकोट्योऽपि चतुर्षु संज्ञितिर्यग्भवेषु चतस्र एवेति । (नेरइयठितीसंवेहेसुसागरोवमा— भाणियव्वात्ति) रत्नप्रभायामायुर्द्धरिसंवेधद्वारे च दशवर्ष— सहस्राणि सागरोपमं चोक्तं द्वितीयादिषु पुनर्जघन्यत उत्कर्षतश्च सागरोपमाण्येव वाच्यानि यतः " सागरमेगं १ तिय २ सत्त, ३ दस य ४ सत्तरस ६ तह य बावीसा । ६ । तेत्तीसा जाव ठिती ७ सत्तसु वि कमेण पुढवीसु ॥ १ ॥ " तथा " जा पढमाए जेट्ठा, सा बीयाए कणिट्ठिया भणिया । तरतमजोगो एसो, दसवाससहस्सरयणाएत्ति ॥ २ ॥ " रत्नप्रभागमतुल्यनवापि गमाः कियद्दूरं यावदित्याह (जाव छट्ठपुढवत्ति) चउग्गुणा कायव्वत्ति ४ उत्कृष्टकायसंवेधे इति । (वालुयप्पभाए अट्ठावीसंति) तत्र सप्तसागरोपमाण्युत्कर्षतः स्थितिरुक्ता सा च चतुर्गुणाऽष्टाविंशतिः स्यादेवमुत्तरत्रापीति (वालुयप्पभाए पंचविहसंघयणित्ति) आद्ययोरेव हि पृथिव्योः सेवार्तेनोत्पद्यन्ते एवं तृतीया चतुर्थी ४ पञ्चमी ३ षष्ठी २ सप्तमी १ षु एकैकं संहननं हीयते इति । अथ सप्तमपृथिवीमाश्रित्याह-पज्जत्तेत्यादि (इत्थिवेया न उववज्जंतित्ति) षष्ठ्यन्तास्वेव पृथिवीषु स्त्रीणामुत्पत्तेः । (जहण्णेणं तिण्णि भवग्गहणाइंति) मत्स्यस्य सप्तमपृथिवीनारकत्वेनोत्पद्य पुनर्मत्स्येष्वेवोत्पत्तौ (उक्कोसेणं सत्तभवग्गहणाइंति) मत्स्यो १ मृत्वा सप्तम्यां गतः २ पुनर्मत्स्यो जातः ३ पुनरपि सप्तम्यां गतः ४ पुनरपि तथैव ६ पुनर्मत्स्यः ७ इत्येवमिति । कालादेसेणमित्यादि । इह द्वाविंशतिसागरोपमाणि जघन्यस्थितिकसप्तमपृथिवीनारकसम्बन्धीनि अन्तर्मुहूर्तत्रयं च प्रथमतृतीयमत्स्यभवसम्बन्धीनि (छावट्ठिसागरोवमाइंति) वारत्रयं सप्तम्यां द्वाविंशतिसागरोपमायुष्कतयोत्पत्तेश्चतस्रश्च पूर्वकोटयश्चतुर्षु नारकभवान्तरितेषु मत्स्यभवेष्विति, अतो वचनाच्चैतदवसीयते सप्तम्यां जघन्यस्थितिषूत्कर्षतस्त्रीनेव वारानुत्पद्यत इति कथमन्यथैवंविधं भवग्रहणकालपरिमाणं स्यादिह च काल उत्कृष्टो विवक्षितस्तेन जघन्यस्थितिषु त्रीन् वारानुत्पादित एवं हि चतुर्थी पूर्वकोटिर्लभ्यते उत्कृष्टस्थितिषु पुनर्वारद्वयोत्पादने षट्षष्टिः सागरोपमाणां भवति पूर्वकोट्यः पुनस्तिस्र एवेति । सो चेव जहन्नकालट्ठिईएसु इत्यादिस्तु द्वितीयो गमः ॥ २ ॥ सो चेव उक्कोसट्ठिईसु इत्यादिस्तृतीयः । तत्र च (उक्कोसेण पंचभवग्गहणाइंति) त्रीणि मत्स्यभवग्रहणानि द्वे च नारकभवग्रहणे अत एव वचनादुत्कृष्टस्थितिषु सप्तम्यां वारद्वयमेवोत्पद्यत इत्यवसीयते । ३ । सो चेव जहन्नकालट्ठिईओ इत्यादिस्तु चतुर्थः तत्र च (सव्वेवरयणप्पभापुढविजहन्नकालट्ठितिवत्तव्वया भाणियव्वत्ति) सैव रत्नप्रभाचतुर्थगमवक्तव्यता भणितव्या नवरं केवलमयं विशेषः तत्र रत्नप्रभायां षट्संहननानि त्रयश्च वेदा उक्ताः इह तु सप्तमपृथिवीचतुर्थगमे प्रथममेव संहननं स्त्रीवेदनिषेधश्च वाच्य इति ॥ ४ ॥ शेषगमास्तु स्वयमेवोह्याः मनुष्याधिकारे (उक्कोसेणं संखेज्जा उववज्जंतित्ति) गर्भजमनुष्याणां सदैव सङ्ख्यातानामेवास्तित्वादिति । नवरं (चत्तारि नाणाइंति) अवध्यादौ प्रतिपतिते सति केषांचिन्नरकेषूत्पत्तेः आह च चूर्णिकारः "ओहिनाणमणपज्जवआहारयसरीराणि लद्धूणं । परिसाडित्ता उववज्जइत्ति जहण्णेणं मासपुहत्तंति " इदमुक्तं भवति मासद्वयान्तर्वर्त्यायुर्नरो नरकं न याति (दसवाससहस्साइंति) जघन्यं नरकायुः (मासपुहुत्तमब्भहियाइंति) इह मासपृथक्त्वं जघन्यं नरकयायिमनुष्यायुः (चत्तारि सागरोवमाइंति) उत्कृष्टरत्नप्रभानारकभवचतुष्कायुः (चउहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइंति) इह चतस्रः पूर्वकोटयो नरकयायिमनुष्यभवचतुष्कोत्कृष्टायुः सम्बन्धिन्यः । अनेन चेदमुक्तम । मनुष्यो भूत्वा चतुर एव वारानेकस्यां पृथिव्यां नारको जायते पुनश्च तिर्यक्ष्वेव भवतीति जघन्यकालस्थितिकः । औघिकेषु इत्यत्र चतुर्थे गमे " इमाइं पंच णाणत्ताइं इत्यादि " शरीरावगाहनेह जघन्येतराभ्यामङ्गुलपृथक्त्वं प्रथमगमे तु सा जघन्यतोऽङ्गुलपृथक्त्वमुत्कृष्टतस्तु पञ्चधनुःशतानीति ॥ १ ॥ तथेह त्रीणि ज्ञानानि त्रीण्यज्ञानानि भजनया जघन्यस्थितिकस्यैषामेव भावात्पूर्वं तु चत्वारि ज्ञानान्युक्तानीति ॥ २ ॥ तथेहाद्याः पञ्च समुद्घाता जघन्यस्थितिकस्यैषामिव सम्भवात् प्राक् षडुक्ता अजघन्यस्थितिकस्याहारकसमुद्घातस्या-

पि सम्भवात् ॥ ३ ॥ तथेह स्थितिरनुबन्धश्च जघन्यत उत्कृष्टतश्च मासपृथक्त्वं प्राक् स्थित्यनुबन्धो जघन्यतो मासपृथक्त्वमुत्कृष्टतस्तु पूर्वकोट्यभिहितेति, शेषगमास्तुस्वयमभ्यूह्याः । शर्कराप्रभावक्तव्यतायां (सरीरोगाहणारयणिपुहत्तंति) अनेनेदमवसीयते द्विहस्तप्रमाणेभ्यो हीनतरप्रमाणा द्वितीयायां उत्पद्यन्ते इत्यवसीयते । " एवं एसा ओहिएसु तिसु गमएसु मणुस्सस्स लद्धीति ओहिओ ओहिएसु" १ ओहिओ जहण्णट्ठितिएसु २ ओहिओ उक्कोसट्ठिइएसु त्ति ३ " एते औधिकास्त्रयो गमाः ३ एतेष्वेषा उत्तरोक्ता मनुष्यस्य लब्धिपरिमाणसंहननादिप्राप्तिर्नानात्वं त्विदं यदुत नारकस्थितिकालादेशेन कायसंवेधं च जानीयाः तत्र प्रथमे गमे स्थित्यादिकं लिखितमेव द्वितीये तु औधिको जघन्यस्थितिष्वित्यत्र नारकस्थितिर्जघन्येतराभ्यां सागरोपमं कालतस्तु सम्बेधो जघन्यतो वर्षपृथक्त्वाधिकं सागरोपममुत्कृष्टतस्तु सागरोपमचतुष्टयं चतुःपूर्वकोट्यधिकं तृतीयेऽप्येवमेव नवरं सागरोपमस्थाने जघन्यतः सागरोपमत्रयं सागरोपमचतुष्टयस्थाने तूत्कर्षतः सागरोपमद्वादशकं वाच्यमिति (सचैवेत्यादि चतुर्थादिगमत्रयं । तत्र च (संवेहो उवओजिऊण भाणियव्वोत्ति) स चैवं-जघन्यस्थितिकमौधिकेष्वित्यत्र गमे सम्बेधः कालादेशेन जघन्यतः सागरोपमं वर्षपृथक्त्वाधिकमुत्कृष्टतस्तु द्वादशसागरोपमाणि वर्षपृथक्त्वचतुष्काधिकानि जघन्यस्थितिको जघन्यस्थितिकेष्वित्यत्र जघन्येन कालतः कायसम्बेधः सागरोपमं वर्षपृथक्त्वाधिकमुत्कर्षतश्चत्वारि सागरोपमाणिवर्षपृथक्त्वचतुष्काधिकानि एवं षष्ठगमोऽप्यूह्यः ॥ सो चेवेत्यादि ॥ सप्तमादिगमत्रयं तत्र ॥ इमं नाणत्तमित्यादि ॥ शरीरावगाहना पूर्वं हस्तपृथक्त्वं धनुःशतपञ्चकं चोक्ता इह तु धनुःशतपञ्चकमेव एवमन्यदपि नानात्वमभ्यूह्यम् (मणुस्सट्ठिईजाणियव्वत्ति) तिर्यक्स्थितिर्जघन्यान्तर्मुहूर्त्तमुक्ता मनुष्यगमेषु तु मनुष्यस्थितिर्ज्ञातव्या सा च जघन्या द्वितीयादिगामिनां वर्षपृथक्त्वमुत्कृष्टा तु पूर्वकोटीति ॥ सप्तमपृथिवी प्रथमगमे " तेत्तीसं सागरोवमाइं पुव्वकोडीए अब्भहियाइंति " इहोत्कृष्टः कायसम्बन्धएतावन्तमेव कालं भवति सप्तमपृथिवीनारकस्य तत उद्वृत्तस्य मनुष्येष्वनुत्पादेन भवद्वयभावेनैतावत एव कालस्य भावादिति ॥ भ० २४ श० १ उ० ॥

जदि मणुस्सेहिंतो उववज्जंति किं सम्मुच्छिममणुस्सेहिंतो उववज्जंति गब्भवक्कंतियमणुस्सेहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! नो सम्मुच्छिममणुस्सेहिंतो उववज्जंति गब्भवक्कंति य मणुस्सेहिंतो उववज्जंति जदि गब्भवक्कंतियमणुस्सेहिंतो उववज्जंति किं कम्मभूमिगब्भवक्कंतियमणुस्सेहिंतो उववज्जंति अकम्मभूमिगब्भवक्कंतिय मणुस्सेहिंतो उववज्जंति अंतरदीवगब्भवक्कंतियमणुस्सेहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! कम्मभूमिगब्भवक्कंतिय मणुस्सेहिंतो उववज्जंति नो अकम्मगब्भवक्कंतियमणुस्सेहिंतो उववज्जंति नो अंतरदीवगब्भवक्कंतियमणुस्सेहिंतो उववज्जंति । जदि कम्मभूमिगब्भवक्कंतियमणुस्सेहिंतो उववज्जंति किं संखेज्जवासाउयगब्भवक्कंतिएहिंतो उववज्जंति असंखेज्जवासाउएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! संखेज्जवासाउयकम्मभूमिगब्भवक्कंतियमणुस्सेहिंतो उववज्जंति नो असंखेज्जवासाउयकम्मभूमिगब्भवक्कंतियमणुस्सेहिंतो उववज्जंति । जदि संखेज्जवासाउयकम्मभूमिगब्भवक्कंतियमणुस्सेहिंतो उववज्जंति किं पज्जत्तएहिंतो अपज्जत्तएहिंतो ? गोयमा ! पज्जत्तएहिंतो उववज्जंति नो अपज्जत्तएहिंतो उववज्जंति एवं जहा ओहिया उववाइया तहा रयणप्पभापुढवीनेरइया वि उववाएयव्वा । सक्करप्पभापुढवीनेरइयाणं पुच्छा गोयमा ! एते वि जहा ओहिया तहेव उववाएयव्वा नवरं सम्मुच्छिमेहिंतो पडिसेहो कायव्वो वालुयप्पभापुढविनेरइयाणं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति जहा सक्करप्पभापुढवि नेरइयाणं भुयपरिसप्पेहिंतो वि पडिसेहो कायव्वो पंकप्पभापुढविनेरइयाणं पुच्छा गोयमा ! जहा वालुयप्पभापुढविनेरइया नवरं खहयरेहिंतो पडिसेहो कायव्वो । धूमप्पभापुढविनेरइयाणं पुच्छा गोयमा ! जहा पंकप्पभापुढवीनेरइया नवरं चउप्पएहिंतो वि पडिसेहो कायव्वो । तमा पुढवीनेरइयाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहा धूमप्पभापुढविनेरइया नवरं थलयरेहिंतो पडिसेहो कायव्वो इमेणं अभिलावेणं । जदि पंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं जलयरपंचिंदिएहिंतो थलयरेहिंतो उववज्जंति खहयरपंचिंदिएहिंतो गोयमा ! जलयरपंचिंदिएहिंतो उववज्जंति नो थलयरेहिंतो नो खहयरेहिंतो उववज्जंति । जदि मणुस्सेहिंतो उववज्जंति किं कम्मभूमिएहिंतो अकम्मभूमिएहिंतो किं अंतरदीवएहिंतो ? गोयमा ! कम्मभूमिएहिंतो उववज्जंति नो अकम्मभूमिएहिंतो नो अंतरदीवएहिंतो उववज्जंति । जइ कम्मभूमिएहिंतो किं संखेज्जवासाउएहिंतो असंखेज्जवासाउएहिंतो ? गोयमा ! संखेज्जवासाउएहिंतो नो असंखेज्जवासाउएहिंतो उववज्जंति जदि संखेज्जवासाउएहिंतो किं पज्जत्तएहिंतो अपज्जत्तएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! पज्जत्तएहिंतो उववज्जंति नो अपज्जत्तएहिंतो जदि पज्जत्तसंखेज्जवासाउयकम्मभूमिएहिंतो उववज्जंति किं इत्थीहिंतो उववज्जंति पुरिसेहिंतो उववज्जंति नपुंसएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! इत्थीहिंतो वि पुरिसेहिंतो वि नपुंसगेहिंतो वि उववज्जंति । अहे सत्तमा पुढवीनेरइयाण भंते ! कओहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! एवं चेव नवरं इत्थीहिंतो पडिसेहो कायव्वो "असन्नी खलु पढमं, दोच्चं सिरीसवा तइयपक्खी । सीहा जंति चउत्थि, उरगा पुण पंचमीं पुढवीं । १ । छट्ठिं च इत्थियाओ, मच्छा मणुया य सत्तमिं पुढविं । एसो परमुववाओ, बोधव्वो नरगपुढवीणं । २ ।

असुरकुमाराणं यथा—

असुरकुमाराणं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! नो नेरइएहिंतो उववज्जंति तिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति मणुस्सेहिंतो उववज्जंति नो देवेहिंतो उववज्जंति एवं जे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हिंतो नेरइयाणं उववाओ तेहिंतो असुरकुमाराणं वि जाणियव्वं नवरं असंखेज्जवासाउयअकम्मभूमिगअंतर दीवगमणुस्सतिरिक्खजोणिएहिंतो वि उववज्जंति सेसं तं चेव एवं जाव थणियकुमारा । प्रज्ञा० ६ पद ।

पज्जत्तअसण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिएणं भंते ! जे भविए असुरकुमारेसु उववज्जित्तए से णं भंते ! केवइयकालट्ठिइएसु उववज्जेज्जा ? गोयमा ! जहण्णेणं दसवाससहस्सट्ठिइएसु उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागट्ठिइएसु उववज्जेज्जा तेणं भंते ! जीवा एवं रयणप्पभागमगसरिसा णववि गमगा भाणियव्वा णवरं जाहे अप्पणाजहण्णकालट्ठिइओ भवइ ताहे अज्झवसाणा पसत्था णो अप्पसत्था तिसु वि गमएसु अवसेसं तं चेव । जदि सण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं संखेज्जवासाउयसण्णि जाव उववज्जंति असंखेज्जवासाउय जाव उववज्जंति ? गोयमा ! संखेज्जवासाउय जाव उववज्जंति असंखेज्जवासाउय जाव उववज्जंति असंखेज्जवासाउय सण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिएणं भंते ! जे भविए असुरकुमारेसु उववज्जित्तए सेणं भंते ! केवइयकालट्ठिइएसु उववज्जेज्जा ? गोयमा ! जहण्णेणं दसवाससहस्सट्ठिइएसु उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमट्ठिइएसु उववज्जेज्जा । तेणं भंते ! जीवा एगसमएणं पुच्छा, गोयमा ! जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा वा उववज्जंति, वइरोसभनारायसंघयणी ओगाहणा जहण्णेणं धणुहपुहुत्तं उक्कोसेणं छ गाउयाइं समचउरंससंठाणसंठिया पण्णत्ता ? चत्तारि लेस्साओ आदिल्लाओ । णो सम्मद्दिट्ठी मिच्छादिट्ठी णो सम्मामिच्छादिट्ठी । णो णाणी अण्णाणी णियमं दुअण्णाणी मइअण्णाणी य सुयअण्णाणी य । जोगो तिविहो वि । उवओगो दुविहो वि । चत्तारि सण्णाओ चत्तारि कसायाओ । पंचइंदिया तिण्णि समुग्घाया आदिल्लगा संमोहया वि मरंति असंमोहया वि मरंति । वेदणा दुविहावि, सातावेदगा वि असातावेदगा वि । वेदो दुविहो वि इत्थीवेदगावि पुरिसवेदगावि णो णपुंसगवेदगा । ठिई य जहण्णेणं साइरेगा पुव्वकोडी उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं । अज्झवसाणा । पसत्था वि अप्पसत्थावि अणुबंधो जहेव ठिई कायसंवेहो भवादेसेणं दो भवग्गहणाई । कालादेसेणं जहण्णेणं साइरेगा पुव्वकोडी दसहिं वाससहस्सेहिं अब्भहिया उक्कोसेणं छ पलिओवमाई एवइयं जाव करेज्जा । १ । सो चेव जहण्णकालट्ठिइएसु उववण्णो एस चेव वत्तव्वया णवरं असुरकुमारट्ठिई संवेहं च जाणेज्जा । २ । सो चेव उक्कोसकालट्ठिईसु उववण्णो जहण्णेणं तिण्णि पलिओवमट्ठिइएसु उववज्जेज्जा एस चेव वत्तव्वया णवरं ठिई से जहण्णेणं तिण्णि पलिओवमाइं उक्कोसेण वि तिण्णि पलिओवमाइं एवं अणुबंधोवि । कालादेसेणं जहण्णेणं छ पलिओवमाइं उक्कोसेण वि छ पलिओवमाइं एवइयं सेसं तं चेव । ३ । सो चेव अप्पणा जहण्णकालट्ठिईओ जाओ जहण्णेणं दसवाससहस्सट्ठिईएसु उक्कोसेणं साइरेगं पुव्वकोडी आउएसु उववज्जेज्जा ? तेणं भंते ! अवसेसं तं चेव जाव भवादेसोत्ति णवरं ओगाहणा जहण्णेणं धणुहपुहुत्तं उक्कोसेणं साइरेगं धणुहसहस्सं । ठिई जहण्णेणं साइरेगा पुव्वकोडी उक्कोसेण वि साइरेगा पुव्वकोडी एवं अणुबंधोवि । कालादेसेणं जहण्णेणं साइरेगा पुव्वकोडी दसवाससहस्सेहिं अब्भहिया उक्कोसेणं साइरेगा दो पुव्वकोडी एवइयं जाव सेवेज्जा । ४ । सो चेव जहण्णकालट्ठिइएसु उववण्णो एस चेव वत्तव्वया णवरं असुरकुमारट्ठिइ संवेहं च जाणेज्जा । ५ । सो चेव उक्कोसकालट्ठिइएसु उववण्णो जहण्णेणं साइरेगं पुव्वकोडी आउएसु उक्कोसेण वि साइरेगपुव्वकोडी आउएसु उववज्जेज्जा सेसं तं चेव णवरं कालादेसेणं जहण्णेणं साइरेगा दो पुव्वकोडीओ उक्कोसेण वि साइरेगाओ दो पुव्वकोडीओ एवइयं कालं जाव करेज्जा । ६ । सो चेव अप्पणा उक्कोसकालट्ठिईओ जाओ सो चेव य पढमगमगो भाणियव्वो णवरं ठिई जहण्णेणं तिण्णि पलिओवमाइं उक्कोसेण वि तिण्णि पलिओवमाइं एवं अणुबंधो वि कालादेसेणं जहण्णेणं तिण्णि पलिओपमाइं दसहिं वाससहस्सेहिं अब्भहियाइं उक्कोसेणं छ पलिओवमाइं एवइयं जाव सेवेज्जा । ७ । सो चेव जहण्णकालट्ठिईएसु उववण्णो एस चेव वत्तव्वया णवरं असुरट्ठिई संवेहं च जाणेज्जा । ८ । सो चेव उक्कोसकालट्ठिई एस उववण्णो जहण्णेणं तिपलिओवमं उक्कोसेण वि तिपलिओवमं एस चेव वत्तव्वया णवरं कालादेसेणं जहण्णेणं छ पलिओवमाइं उक्कोसेण वि छ पलिओवमाइं । ९ । जइ संखेज्जवासाउय सण्णिपंचिंदिय जाव उववज्जंति किं जलचर एवं जाव पज्जत्तसंखेज्जवासाउय । सण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिएणं भंते ! जे भविए असुरकुमारेसु उववज्जित्तए सेणं भंते ! केवइयकालट्ठिईएसु उववज्जेज्जा ? गोयमा ! जहण्णेणं दसवाससहस्सट्ठिइएसु उक्कोसेणं साइरेगसागरोवमट्ठिईएसु उववज्जेज्जा । तेणं भंते ! जीवा एगसमएणं एवं एएसिं रयणप्पभापुढविगमगसरिसा णव गमगा णेतव्वा णवरं अप्पणाजहण्णकालट्ठिईओ भवइ ताहे तिसु वि गमएसु इमं णाणत्तं चत्तारि लेस्साओ अज्झवसाणा पसत्था सेसं तं चेव संवेहो साइरेगेण सागरोवमेण कायव्वो । ९ ।

इह पल्योपमाऽसंख्येयभागग्रहणेन पूर्वकोटी ग्राह्या यतः सम्मूर्च्छिमस्योत्कर्षतः पूर्वकोटीप्रमाणमायुर्भवति स चोत्क-

र्षतः स्वायुष्कतुल्यमेव देवायुर्बध्नाति नातिरिक्तमत एवोक्तं चूर्णिकारेण " उक्कोसेणं सतुल्लपुव्वकोडियाउयत्तं निव्वत्तेइ न य सम्मुच्छिमो पुव्वकोडियाउयत्ताओ परो अत्थित्ति " असंख्यातवर्षायुः सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्गमेषु । (उक्कोसेणं तिपलिओवमट्ठिईएसु उववज्जेज्जत्ति) इदं देवकुर्वादिमिथुनकतिरश्चोऽधिकृत्योक्तम् । ते हि त्रिपल्योपमायुष्कत्वेनासंख्यातवर्षायुषो भवन्ति, ते च स्वायुःसदृशं देवायुर्बध्नन्तीति (संखेज्जा उववज्जंतित्ति) असंख्यातवर्षायुस्तिरश्चामसंख्यातानां कदाचिदप्यभावात् (वइरोसहनारायसंघयणीत्ति) असंख्यातवर्षायुषा, यतस्तदेव भवतीति (जहन्नेणं धणुहपुहत्तंत्ति) इदं पक्षिणोऽधिकृत्योक्तं पक्षिणामुत्कर्षतो धनुःपृथक्त्वप्रमाणशरीरत्वादाह च । "धणुहपुहत्तं पक्खिसुत्ति" । असंख्यातवर्षायुषोऽपि ते स्युर्यदाह - (पलियाअसंखेज्जपक्खीसुत्ति) पल्योपमासंख्येयभागः पक्षिणामायुरिति (उक्कोसेणं छग्गाउयाइंति) इदं च देवकुर्वादिहस्त्यादीनधिकृत्योक्तम् (नो नपुंसगवेयगात्ति) असंख्यातवर्षायुषो नपुंसकवेदो न सम्भवत्येवेति । (उक्कोसेणं छप्पलिओवमाइत्ति) त्रीणि असंख्यातवर्षायुस्तिर्यग्भवसम्बन्धीनि त्रीणि चासुरभवसम्बन्धीनीत्येवं षट् न च देवभवादुद्वृत्तः पुनरप्यसंख्यातवर्षायुष्केषूत्पद्यत इति । सो चेव अप्पणाजहन्नकालट्ठिईओ इत्यादिश्चतुर्थो गम इह च जघन्यकालस्थितिकः सातिरेकपूर्वकोट्यायुः स च पक्षिप्रभृतिकः (उक्कोसेणं साइरेगपुव्वकोडिआउएसुत्ति) असंख्यातवर्षायुषां पक्ष्यादीनां सातिरेका पूर्वकोटिरायुस्ते च स्वायुस्तुल्यं देवायुः कुर्वन्तीति कृत्वा सातिरेकेत्याद्युक्तमिति । (उक्कोसेणं साइरेगं धणुसहस्संति) यदुक्तं तत्सप्तमकुलकरप्राक्कालभाविनो हस्त्यादीनपेक्ष्येति सम्भाव्यते । तथा हि इहासंख्यातवर्षायुर्जघन्यस्थितिकः प्रक्रान्तः स च सातिरेकपूर्वकोट्यायुर्भवति तथैवागमे व्यवहृतत्वात् । एवंविधश्च हस्त्यादिः सप्तमकुलकरप्राक्काले लभ्यते तथा सप्तमकुलकरस्य पञ्चविंशत्यधिकानि पञ्चधनुःशतान्युच्चैस्त्वं तत्प्राक्कालभाविनां च तानि समधिकतराणि तत्कालीनहस्त्यादयश्चैतद्द्विगुणोच्छ्राया अतः सप्तमकुलकरप्राक्कालभाविनामसंख्यातवर्षायुषां हस्त्यादीनां यथोक्तमवगाहनाप्रमाणं लभ्यत इति (साइरेगाओदोपुव्वकोडीओत्ति) एका सातिरेका तिर्यग्भवसत्काऽन्या तु सातिरेकैवासुरभवसत्केति ४ (असुरकुमारट्ठिईसंवेहं च जाणिज्जति) तत्र जघन्यासुरकुमारस्थितिर्दशवर्षसहस्राणिसम्बेधस्तु सातिरेका पूर्वकोटी दशवर्षसहस्राणि चेति शेषगमस्तु स्वयमेवाभ्यूह्यः, एवमुत्पादितोऽसंख्यातवर्षायुः सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यगसुरेष्वथसंख्यातवर्षायुरसावुत्पाद्यते । जइ संखेज्जेत्यादि(उक्कोसेणं साइरेगसागरोवमट्ठिइएसुत्ति) यदुक्तं तद्बलिनिकायमाश्रित्येति । (तिसुवि गमएसुत्ति) जघन्यकालस्थितिकसम्बन्धिष्वौघिकादिषु (चत्तारिल्लेस्साओत्ति) रत्नप्रभापृथिवीगामिनां जघन्यस्थितिकानां तिस्रस्ता उक्ता एषु पुनस्ता अतसोऽसुरेषु तेजोलेश्यावानप्युत्पद्यत इति । तथा रत्नप्रभापृथिवीगामिनां जघन्यस्थितिकानामध्यवसायस्थानान्यप्रशस्तान्येवोक्तानीह तु प्रशस्तान्येव दीर्घस्थितिकत्वे हि द्विविधान्यपि सम्भवन्ति नत्वितरेषु कालस्याल्पत्वात् (संवेहो सातिरेगेण सागरोवमेण कायव्वोत्ति) रत्नप्रभागमेषु सागरोपमेण सम्बेध उक्तः असुरकुमारेषु तु सातिरेकसागरोपमेणासौ कार्यो बलिपक्षापेक्षया तस्यैव भावादिति ।

अथ मनुष्येभ्यो सुरानुत्पादयन्नाह ।

जइ मणुस्सेहिंतो उववज्जंति किं सण्णिमणुस्सेहिंतो उववज्जंति असण्णिमणुस्सेहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! सण्णिमणू णो असण्णिमणू जइ सण्णिमणुस्सेहिंतो उववज्जंति किं संखेज्जवासाउयसण्णिमणू असंखेज्जवासाउयसण्णिमणुस्स जाव उववज्जंति ? गोयमा ! संखेज्जवासाउय जाव उववज्जंति, असंखेज्जवासाउय जाव उववज्जंति । असंखेज्जवासाउयसण्णिमणुस्सेणं भंते ! जे भविए असुरकुमारेसु उववज्जित्तए सेणं भंते ! केवइयकालट्ठिईएसु उववज्जेज्जा गोयमा ! जहन्नेणं दसवाससहस्सट्ठिईएसु उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमट्ठिईएसु उववज्जेज्जा एवं असंखेज्जवासाउयतिरिक्खजोणिए सरिसा आदिल्ला तिण्णि गमा णेयव्वा णवरं सरीरोगाहणा पढमबिइएसु गमएसु जहन्नेणं साइरेगाइं पंचधणुहसयाइं उक्कोसेणं तिण्णि गाउयाइं सेसं तं चेव तइओ गमोगाहणा जहन्नेणं तिण्णि गाउयाइं उक्कोसेणवि तिण्णि गाउयाइं सेसं जहेव तिरिक्खजोणियाणं । ३ । सो चेव अप्पणा जहन्नकालट्ठिईओ जाओ तस्स वि जहन्नकालट्ठिई यतिरिक्खजोणियसरिसा तिण्णि गमगा भाणियव्वा णवरं सरीरोगाहणा तिसु वि गमएसु जहन्नेणं साइरेगाइं पंचधणुहसयाइं उक्कोसेण वि साइरेगाइं पंचधणुहसयाइं सेसं तं चेव । ६ । सो चेव अप्पणा उक्कोसकालट्ठिईओ जाओ तस्स वि ते चेव पच्छिल्ला तिण्णि गमगा भाणियव्वा णवरं सरीरोगाहणा तिसु वि गमएसु जहन्नेणं तिण्णि गाउयाइं उक्कोसेणवि तिण्णि गाउयाइं अवसेसं तं चेव ॥

देवकुर्वादिनरा हि उत्कर्षतः स्वायुःसमानस्यैव देवायुषो बन्धका अतः तिपलिओवमट्ठिईएसु इत्युक्तम् । नवरं सरीरोगाहणेत्यादि । तत्र प्रथम औघिकः औघिकेषु द्वितीयस्तु औघिको जघन्यस्थितिष्विति । तत्रौघिकोऽसंख्यातवर्षायुर्नरो जघन्यतः सातिरेकपञ्चधनुःशतप्रमाणो भवति । यथा सप्तमकुलकरप्राक्कालभावी मिथुनकनरः उत्कृष्टतस्तु त्रिगव्यूतमानो यथा देवकुर्वादिमिथुनकनरः स च प्रथमगमे । द्वितीये च द्विविधोऽपि सम्भवति । तृतीये तु त्रिगव्यूतावगाहन एव यस्मादसावेवोत्कृष्टस्थितिषु पल्योपमत्रयायुष्केषूत्पद्यते उत्कर्षतः स्वायुःसमानायुर्बन्धकत्वात्तस्येति ॥

अथ संख्यातवर्षायुः सञ्ज्ञिमनुष्यमाश्रित्याह ।

जइ संखेज्जवासाउयसण्णिमणुस्सेहिंतो उववज्जंति किं पज्जत्तसंखेज्जवासाउय अपज्जत्तसंखेज्ज जाव उववज्जंति ? गोयमा ! पज्जत्तसंखेज्जवासा णो अपज्जत्तसंखेज्ज । पज्जत्तसंखेज्जवासाउ य सण्णिमणुस्सेणं भंते ! जे भविए असुरकुमारेसु उववज्जित्तए सेणं भंते ! केवतिकालट्ठिती-एसु उववज्जेज्जा ? गोयमा ! जहण्णेणं दसवाससहस्सट्ठितीएसु उक्कोसेणं सातिरेगं सागरोवमट्ठितीएसु उववज्जेज्जा । तेणं भंते ! जीवा एवं जहेव एएसिं रयणप्पभाए उववज्जमाणाणं णव गमगा तहेव इह वि णव गमगा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भाणियव्वा णवरं संवेहो सातिरेगेण सागरोवमेण कायव्वो सेसं तं चेव ॥

एतच्च समस्तमपि पूर्वोक्तानुसारेणावगन्तव्यम्। भ० २ उ०।
रायगिहे जाव एवं वयासी णागकुमाराणं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति किं णेरइएहिंतो उववज्जंति तिरिक्खमणुस्सदेवेहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! णो णेरइएहिंतो उववज्जंति तिरिक्खमणुस्सेहिंतो उववज्जंति णो देवेहिंतो उववज्जंति। जइ तिरिक्खजोणि० एवं जहा असुरकुमाराणं वत्तव्वया तहा एएसिं पि जाव असण्णि त्ति। जइ सण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं संखेज्जवासाउय असंखेज्जवासाउय ? गोयमा ! संखेज्ज वासाउय असंखेज्ज वासाउय जाव उववज्जंति । असंखेज्जवासाउय सण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिएणं भंते ! जे भविए णागकुमारेसु उववज्जइ सेणं भंते ! केवतिकालट्ठिती ? गोयमा ! जहण्णेणं दसवाससहस्सट्ठितीएसु उक्कोसेणं देसूणदुपलिओवमट्ठितीएसु उववज्जेज्जा । तेणं भंते ! जीवा अवसेसो सो चेव असुरकुमारेसु उववज्जमाणस्स गमको भाणियव्वो जाव भवादेसो त्ति । कालादेसेणं जहण्णेणं सातिरेगा पुव्वकोडी दसहिं वाससहस्सेहिं अब्भहिया उक्कोसेणं देसूणाइं पंचपलिओवमाइं एवइयं जाव करेज्जा ।१। सो चेव जहण्णकालट्ठितीएसु उववण्णो एस चेव वत्तव्वया णवरं णागकुमारट्ठितिं संवेहं जाणेज्जा ।२। सो चेव उक्कोसकालट्ठितीएसु उववण्णो तस्स वि एस चेव वत्तव्वया णवरं ठिती जहण्णेणं देसूणाइं दो पलिओवमाइं उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं सेसं तं चेव जाव भवादेसो त्ति । कालादेसेणं जहण्णेणं देसूणाइं चत्तारि पलिओवमाइं उक्कोसेणं देसूणाइं पंच पलिओवमाइं एवइयं कालं सेवेज्जा ।३। सो चेव अप्पणा जहण्णकालट्ठितीओ जाओ तस्स तिसु गमएसु जहेव असुरकुमारेसु उववज्जमाणस्स जहण्णकालट्ठितीयस्स तहेव णिरवसेसं ।६। सो चेव अप्पणा उक्कोसकालट्ठितीओ जाओ तस्स वि तहेव तिण्णि गमगा जहा असुरकुमारेसु उववज्जमाणस्स णवरं णागकुमारट्ठितिं संवेहं च जाणेज्जा सेसं तं चेव जहा असुरकुमारेसु उववज्जमाणस्स ।९। जदि संखेज्जवासाउयसण्णिपंचिंदिय जाव किं पज्जत्त० अपज्जत्त० ? गोयमा ! पज्जत्तसंखेज्जवासाउय णो अपज्जत्तसंखेज्जवासा। पज्जत्तसंखेज्जवासाउय जाव जे भविए णागकुमारेसु उववज्जित्तए सेणं भंते ! केवइयकालट्ठिई ? गोयमा ! जहण्णेणं दसवाससहस्साइं ठिई उक्कोसेणं देसूणाइं दो पलिओवमाइं एवं जहेव असुरकुमारेसु उववज्जमाणस्स वत्तव्वया तहेव इह वि णवसु गमएसु णवरं णागकुमारट्ठितिं संवेहं च जाणेज्जा सेसं तं चेव ॥ ९ ॥ जइ मणुस्सेहिंतो उववज्जंति किं सण्णिमणुस्सेहिंतो असण्णिमणुस्सेहिंतो ? गोयमा ! सण्णिमणुस्सेहिंतो णो असण्णिमणुस्सेहिंतो जहा असुरकुमारेसु उववज्जमाणस्स जाव असंखेज्जवासाउय । सण्णिमणुस्सेणं णागकुमारेसु उववज्जित्तए सेणं भंते ! केवइयकालट्ठिईएसु उववज्जइ ? गोयमा ! जहण्णेणं दसवाससहस्सट्ठिईएसु उक्कोसेणं देसूणं दुपलिओवमं एवं जहेव असंखेज्जवासाउयाणं तिरिक्खजोणियाणं णागकुमारेसु आदिल्ला तिण्णि गमगा तहेव इमस्स वि णवरं पढमबिइएसु गमएसु सरीरोगाहणा जहण्णेणं साइरेगाइं पंचधणुसयाइं, उक्कोसेणं तिण्णि गाउयाइं, तईयगमओगाहणा जहण्णेणं देसूणाइं दो गाउयाइं उक्कोसेणं तिण्णि गाउयाइं सेसं तं चेव । सो चेव अप्पणा जहण्णकालट्ठिईओ जाओ तस्स तिसु वि गमएसु जहा तस्स चेव असुरकुमारेसु उववज्जमाणस्स तहेव णिरवसेसं ।६। सो चेव अप्पणा उक्कोसकालट्ठिईओ जाओ तस्स वि तिसु गमएसु जहा तस्स चेव उक्कोसट्ठिईयस्स असुरकुमारेसु उववज्जमाणस्स णवरं णागकुमारट्ठितिं संवेहं च जाणेज्जा सेसं तं चेव ।९। जइ संखेज्जवासाउयसण्णिमणु० किं पज्जत्तसंखेज्ज० अपज्जत्तसंखेज्ज० ? गोयमा ! पज्जत्तसंखेज्ज० णो अपज्जत्तसंखेज्जवासाउयं । पज्जत्तसंखेज्जवासाउयसण्णिमणुस्साणं भंते ! जे भविए णागकुमारेसु उववज्जित्तए से णं भंते ! केवइ० गोयमा ! जहण्णेणं दसवाससहस्सट्ठिईएसु उक्कोसेणं देसूणं दोपलिओवमस्स ठिईएसु उववज्जंति एवं जहेव असुरकुमारेसु उववज्जमाणस्स सव्वेवलद्धी णिरवसेसा णवसु गमएसु णवरं णागकुमारट्ठितिं संवेहं च जाणेज्जा सेवं भंते ! भंते ! त्ति । [भ० २४ श० ३ उ०]

अवसेसा सुवण्णकुमारा जाव थणियकुमारा एते वि अट्ठ उद्देसगा जहेव णागकुमारा तहेव णिरवसेसा भाणियव्वा सेवं भंते ! भंतेत्ति । चउवीसइमसयस्स एक्कारसमो उद्देसो सम्मत्तो (२४ । ११) पुढवीकाइया णं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति । किं णेरइएहिंतो तिरिमणुदेवेहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! णो णेरइएहिंतो उववज्जंति तिरिमणुदेवेहिंतो उववज्जंति। जइ तिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति । किं एगिंदियतिरिक्खजोणिए एवं जहा वक्कंतीए उववाओ जाव जइ बादरपुढवीकाइयएगिंदिय तिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं पज्जत्तबादर पुढवी० उववज्जंति अपज्जत्तबादरपुढवी० जाव उववज्जंति ? गोयमा ! पज्जत्तबादरपुढवी अपज्जत्तबादरपुढवी जाव उववज्जंति ॥

"उक्कोसेणं देसूणदुपलिओवमट्ठिईएसुत्ति" यदुक्तं तदौदीच्यनागकुमारनिकायापेक्षया, यतस्तत्र द्वे देशोने पल्योपमे उत्कर्षत आयुः स्यात्, आह च " दाहिणदिवड्ढपलिओ, दो देसूणुत्तरिल्लाण ति " उत्कृष्टसंवेधपदे (देसूणाइं पंचपलिओवमाइंति) पल्योपमत्रयमसङ्ख्यातवर्षायुस्तिर्यक्सम्बन्धि द्वे च देशोने ते नागकुमारसम्बन्धिनी इत्येवं यथोक्तं मानं भवतीति । द्वितीयगमे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(नागकुमारठिइसंवेहं च जाणेज्जत्ति) तत्र जघन्या नागकुमारस्थितिर्दशवर्षसहस्राणि संवेधस्तु कालतो जघन्यसातिरेकपूर्वकोटी दशवर्षसहस्राधिका उत्कृष्टः पुनः पल्योमत्रयं तैरेवाधिकमिति । तृतीयगमे "उक्कोसकालट्ठिईएसुत्ति" देशोनद्विपल्योपमायुष्केष्वित्यर्थः तथा " ठिई जहन्नेणं दो देसूणाइं पलिओपमाइंति " यदुक्तं तदवसर्पिण्यां सुषमाभिधानद्वितीयारकस्य कियत्यपि भागे अतीते असङ्ख्यातवर्षायुषस्तिरश्चोऽधिकृत्योक्तं तेषामेवैतत्प्रमाणायुष्कत्वात्, एषामेव च स्वायुःसमानदेवायुर्बन्धकत्वेनोत्कृष्टस्थितिषु नागकुमारेषूत्पादात (तिन्निपलिओवमाइंति) एतच्च देवकुर्वाद्यसङ्ख्यातजीवितिरश्चोऽधिकृत्योक्तं, ते च त्रिपल्योपमायुषोऽपि देशोनद्विपल्योपममानमायुर्बध्नन्ति । यतस्ते स्वायुषः समं हीनतरं वा तद्बध्नन्ति, न तु महत्तरमिति । अथ सङ्ख्यातजीवितं सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चमाश्रित्याह " अइ संखेज्जवासाउयेत्यादि " एतच्च पूर्वोक्तानुसारेणावगन्तव्यमिति । चतुर्विंशतितमे शते तृतीयः एवमन्येऽष्टाविंशत्येवमेकादशः । चतुर्विंशतितमे शते एकादशः ॥

पृथ्वीकायादीनाम् ॥

पुढवीकाइयाणं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति किं नेरइएहिंतो जाव देवेहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! नो नेरइएहिंतो तिरिक्खजोणिएहिंतो जाव देवेहिंतो वि उववज्जंति जदि तिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं एगिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो जाव पंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! एगिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो जाव पंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति जदि एगिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो किं पुढवीकाइएहिंतो उववज्जंति जाव वणस्सइकाइएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! पुढवीकाइएहिंतो वि उववज्जंति जाव वणस्सइकाइएहिंतो वि उववज्जंति किं सुहुमपुढवीकाइएहिंतो वि बादरपुढवीकाइएहिंतो उववज्जंति जदि सुहुमपुढवीकाइएहिंतो उववज्जंति किं पज्जत्तपुढवीकाइएहिंतो उववज्जंति । जदि सुहुमपुढवीकाइएहिंतो किं पज्जत्तयसुहुमपुढवीकाइएहिंतो उववज्जंति अपज्जत्तयसुहुमपुढवीकाइएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! दोहिंतो वि उववज्जंति । जदि बादरपुढवीकाइएहिंतो उववज्जंति किं पज्जत्तएहिंतो किं अपज्जत्तएहिंतो ? गोयमा ! दोहिंतो वि उववज्जंति एवं जाव वणस्सइकाइया चउक्कएणं भेदेणं उववाएयव्वा ॥ प्रज्ञा० ६ पद० ॥

पुढवीकाइएणं भंते ! जे भविए पुढवीकाएसु उववज्जित्तए से णं भंते ! केवइयकालट्ठिईएसु उववज्जेज्जा ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तट्ठिईएसु उक्कोसेणं बावीसवाससहस्सट्ठिईएसु उववज्जेज्जा तेणं भंते ! जीवा एगसमएणं पुच्छा गोयमा ! अणुसमयं अविरहिया असंखेज्जा उववज्जंति । छेवट्ठसंघयणी । सरीरोगाहणा जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेण वि अंगुलस्स असंखेज्जइभागं मसूरचंदसंठिया चत्तारि लेस्साओ। सम्मदिट्ठी मिच्छादिट्ठी णो सम्मामिच्छादिट्ठी णो-णाणी अन्नाणी । दो अन्नाणी णियमं । णो मणजोगी वइजोगी कायजोगी । उवओगो दुविहो वि । चत्तारि सन्नाओ । चत्तारि कसायाओ एगे फासिंदिए पन्नत्ता । तिन्नि समुग्घाया । वेदणा दुविहा । णो इत्थीवेदगा णो पुरिसवेदगा णपुंसगवेदगा । ठिई जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं बावीसं वाससहस्साइं । अज्झवसाणा पसत्था वि अप्पसत्थावि । अणुबंधो जहा ठिई । से णं भंते ! पुढवीकाइए पुणरवि पुढविकाइएत्ति केवइयं कालं सेवेज्जा केवइयं कालं गतिरागतिं करेज्जा ? गोयमा ! भवादेसेणं जहन्नेणं दो भवग्गहणाइं उक्कोसेणं असंखेज्जाइं भवग्गहणाइं । कालादेसेणं जहन्नेणं दो अंतोमुहुत्ताइं उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं एवइयं जाव करेज्जा ।१। सो चेव जहन्नकालट्ठिईएसु उववन्नो जहन्नेणं अंतोमुहुत्तट्ठिईएसु उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तट्ठिईएसु एवं चेव वत्तव्वया णिरवसेसं ।२। सो चेव उक्कोसकालट्ठिईएसु उववन्नो जहन्नेणं बावीसवाससहस्सट्ठिईएसु उक्कोसेण वि बावीसं वाससहस्सट्ठिईएसु सेसं तं चेव जाव अणुबंधोत्ति णवरं जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा, उक्कोसेण संखेज्जा वा असंखेज्जा वा । भवादेसेणं जहन्नेणं दो भवग्गहणाइं, उक्कोसेणं अट्ठ भवग्गहणाइं । कालादेसेणं जहन्नेणं बावीसं वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं छावत्तरिं वाससतसहस्सं एवइयं जाव करेज्जा । ३ । सो चेव अप्पणा जहन्नकालट्ठिईओ जाओ सो चेव पढमिल्लगमओ भाणियव्वो णवरं लेस्साओ तिन्नि । ठिती जहन्नेण अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणवि अंतोमुहुत्तं अप्पसत्था अज्झवसाणा अणुबंधो जहा ठिती सेसं तं चेव । ४ । सो चेव जहन्नकालट्ठितीएसु उववन्नो सच्चेव चउत्थगमकवत्तव्वया भाणियव्वा । ५ । सो चेव उक्कोसकालट्ठितीएसु उववन्नो एस चेव वत्तव्वया णवरं जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा उक्कोसेणं संखेज्जा वा असंखेज्जा वा जाव भवादेसेणं जहन्नेणं दो भवग्गहणाइं उक्कोसेणं अट्ठ भवग्गहणाइं । कालादेसेणं जहन्नेणं बावीसं वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं, उक्कोसेणं अट्ठासीतिं वाससहस्साइं चउहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भहियाइं एवइयं कालं । ६ । सो चेव अप्पणा उक्कोसकालट्ठितीओ जाओ एवं तइयगमगसरिसो णिरवसेसो भाणियव्वो णवरं अप्पणा से जहन्नेणं बावीसं वाससहस्साइं । उक्कोसेण वि बावीसं वाससहस्साइं । ७ । सो चेव जहन्नकालट्ठिईएसु उववन्नो जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणवि अंतोमुहुत्तं एवं जहा सत्तमगमगो जाव भवादेसो । कालादेसेणं जहन्नेणं बावीसं वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं अट्ठासीइं वाससहस्साइं चउहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भ-

हियाइं एवइयं कालं । ८ । सो चेव उक्कोसकालट्ठितीएसु उववएणो जहएणेणं बावीसं वाससहस्सट्ठितीएसु उक्कोसेण वि बावीसं वाससहस्सट्ठितीएसु एस चेव सत्तमगमगवत्तव्वया जाणियव्वा जाव भवादेसोत्ति । कालादेसेणं जहएणेणं चोयालीसं वाससहस्साइं उक्कोसेणं छावत्तरिं वाससतसहस्सं एवइयं । ९ । जइ आउक्काइए एगिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं सुहुमआउ बादरआउ एवं चउक्कओ भेदो जाणियव्वो जहा पुढवीकाइया । आउकाइया णं भंते ! जे भविए पुढवीकाइएसु उववज्जित्तए से णं भंते ! केवइयकालट्ठितीएसु उववज्जेज्जा ? गोयमा जहएणेणं अंतोमुहुत्तट्ठितीएसु उक्कोसेणं बावीसं वाससहस्सट्ठितीएसु उववज्जेज्जा एवं पुढविकाइयगमगसरिसा णव गमगा जाणियव्वा णवरं थिबुगबिंदुसंठिते ठिती जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं सत्तवाससहस्साइं एवं अणुबंधो वि । एवं तिसु वि गमएसु ठिती संवेहो तइयछट्ठसत्तमट्ठणवमेसु गमएसु । भवादेसेणं जहएणेणं दो भवग्गहणाइं उक्कोसेणं अट्ठ भवग्गहणाइं सेसेसु चउसु गमएसु जहएणेणं दो भवग्गहणाइं । उक्कोसेणं असंखेज्जाइं भवग्गहणाइं । ततियगमए कालादेसेणं जहएणेणं बावीसं वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं । उक्कोसेणं सोलसुत्तरवाससयसहस्सं एवइयं कालं गतिरागतिं करेज्जा । ५ । छट्ठे गमए कालादेसेणं जहएणेणं बावीसं वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं अट्ठासीतिवाससहस्साइं चउहिं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं । ६ । सत्तमगमए कालादेसेणं जहएणेणं सत्तवाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं सोलसुत्तरवाससयसहस्सं एवइयं अट्ठमगमए कालादेसेणं जहएणेणं सत्तवाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं अट्ठावीसवाससहस्साइं चउहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भहियाइं एवइयं । णवगमए भवादेसेणं जहएणेणं दो भवग्गहणाइं उक्कोसेणं अट्ठ भवग्गहणाइं । कालादेसेणं जहएणेणं एगूणतीसं वाससहस्साइं उक्कोसेणं सोलसुत्तरवाससहस्सं एवइयं कालं एवं णवसु वि गमएसु आउकायट्ठिती जाणियव्वा ॥

तृतीयगमे नवरं । (जहएणेणं एक्को वेत्यादि) प्राक्तनगमयोः कश्चित्सुखहत्वेनासंख्येया एवोत्पद्यन्त इत्युक्तमिह तूत्कृष्टस्थितय एकादयोऽसंख्येयान्ता उत्पद्यन्ते उत्कृष्टस्थितिषूत्पित्सूनामल्पत्वेनैकादीनामप्युत्पादसम्भवात् (उक्कोसेणं अट्ठभवग्गहणाइंति) इहेदमवगन्तव्यं यत्र संवेधे पक्षद्वयस्य मध्ये एकत्रापि पक्षे उत्कृष्टा स्थितिर्भवति तत्रोत्कृष्टतोऽष्टौ भवग्रहणानि तदन्यत्र त्वसंख्यातानि ततश्चेहोत्पत्तिविषयभूतजीवेषूत्कृष्टा स्थितिरित्युत्कर्षतोऽष्टौ भवग्रहणान्युक्तान्येवमुत्तरत्रापि भावनीयमिति । (छावत्तरं वाससयसहस्संति) द्वाविंशतेर्वर्षसहस्राणामष्टाभिर्भवग्रहणैर्गुणने षट्सप्ततिवर्षसहस्राधिकं वर्षलक्षं भवतीति (१७६०००) चतुर्थे गमे (लेसाओ तिरिणत्ति) जघन्यस्थितिकेषु देवो नोत्पद्यत इति । तेजोलेश्या तेषु नास्तीति । षष्ठगमे (उक्कोसेणं अट्ठासीइं वाससहस्साइं इत्यादि) तत्र जघन्यस्थितिकस्योत्कृष्टस्थितिकस्य च भवं कृत्य उत्पन्नत्वाद् द्वाविंशतिवर्षसहस्राणि चतुर्गुणितानि अष्टाशीतिर्भवन्ति उभयोश्चान्तर्मुहूर्त्तानीति । नवमे गमे (जहएणेणं चोयालीसंति) द्वाविंशतेर्वर्षसहस्राणां भवग्रहणद्वयेन गुणने चतुश्चत्वारिंशत्सहस्राणि भवन्तीति । एवं पृथिवीकायिकः पृथिवीकायिकेभ्य उत्पादितोऽथाऽसावेवाप्कायिकेभ्य उत्पाद्यते (जइ आउक्काइएत्यादि चउक्कओ भेदोत्ति) सूक्ष्मबादरयोः पर्याप्तकापर्याप्तकभेदात् (संवेहो तइयछट्ठेत्यादि) तत्र भवादेशेन जघन्यतः संवेधः सर्वगमेषु भवग्रहणद्वयरूपप्रतीत उत्कृष्टे च तस्मिन्विशेषोऽस्तीति दर्श्यते तत्र च तृतीयादिषु सूत्रोक्तेषु पञ्चसु गमेषूत्कर्षत संवेधोऽष्टौ भवग्रहणानि पूर्वप्रदर्शिताया अष्टभवग्रहणनिबन्धनभूताया स्तृतीयषष्ठसप्तमाष्टमेष्वेकपक्षे नवमे तु गमे उभयत्राप्युत्कृष्टस्थितेः सद्भावात् (सेसेसु चउसु गमएसुत्ति) शेषेषु चतुर्षु गमेषु प्रथमद्वितीयचतुर्थपञ्चमलक्षणेषूत्कर्षतोऽसंख्येयानि भवग्रहणान्येकत्रापि पक्षे उत्कृष्टस्थितेरभावात् (तइयगमए कालादेसेणं जहएणेणं बावीसं वाससहस्साइंति) पृथिवीकायिकानामुत्पत्तिस्थानभूतानामुत्कृष्टस्थितिकत्वात् (अंतोमुहुत्तमब्भहियाइंति) अप्कायिकस्य तत्रोत्पित्सोरौघिकत्वेऽपि जघन्यकालस्य विवक्षितत्वेनान्तर्मुहूर्तस्थितिकत्वात् (उक्कोसेणं सोलसुत्तरं वाससयसहस्संति) इहोत्कृष्टस्थितिकत्वात्पृथिवीकायिकानां तेषां च चतुर्णां भावानां भावात् तत्रोत्पित्सुश्चाप्कायिकस्यौघिकत्वेऽप्युत्कृष्टकालस्य विवक्षितत्वादुत्कृष्टस्थितयश्चत्वारस्तद्भवा एवं च द्वाविंशतेर्वर्षसहस्राणां च प्रत्येकं चतुर्गुणितत्वे (८८००० / २८०००) मीलने च [११६०००] षोडशसहस्राधिकं लक्षम् । छट्ठे गमए इत्यादि षष्ठगमे हि जघन्यस्थितिषूत्पद्यते इत्यन्तर्मुहूर्तस्य वर्षसहस्रद्वाविंशतेश्च प्रत्येकं चतुर्भवग्रहणगुणितत्वे यथोक्तमुत्कृष्टकालमानं स्यात् [८८०००] अन्तः एवं सप्तमादिगमसंवेधा अप्यूह्याः नवरं नवमे गमे जघन्येन एकोनत्रिंशद्वर्षसहस्राण्यप्कायिकपृथिवीकायिकोत्कृष्टस्थितिमीलनादिति । भ० २४ श० १२ उ० । जीवा० ।

अथ तेजस्कायिकेभ्यः पृथिवीकायिकमुत्पादयन्नाह ।

जइ तेउक्काइएहिंतो उववज्जंति तेउक्काइयाण वि एस चेव वत्तव्वया णवरं णवसु वि गमएसु तिरिण लेस्साओ । तेउक्काइयाणं सूईकलावसंठिया ठिई जाणियव्वा । ततियगमए कालादेसेणं जहएणेणं बावीसं वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं अट्ठासीतिवाससहस्साइं बारसहिं राइंदिएहिं अब्भहियाइं एवइयं एवं संवेहो उवजुंजिऊण जाणियव्वो ॥

(तिरिण लेस्साओत्ति) अप्कायिकेषु देवोत्पत्तेस्तेजोलेश्यासद्भावाच्चतस्रस्ता उक्ता इह तु तदभावात्तिस्र एवेति । (ठिई जाणियव्वत्ति) तत्र तेजस्सु जघन्या स्थितिरन्तर्मुहूर्त्तमितरा तु त्रीण्यहोरात्राणीति । (तइयगमए इत्यादि) तृतीयगमे औघिकास्तेजस्कायिका उत्कृष्टस्थितिषु पृथिवीकायिकोत्कृष्टभवग्रहणेषु द्वाविंशतेर्वर्षसहस्राणां चतुर्गुणितत्वेऽष्टाशीतिस्तानि भवन्ति, तथा चतुर्ष्वेव तेजस्कायिकभवेषूत्कर्षतः प्रत्येकमहोरात्रत्रयपरिमाणेषु द्वादशाहोरात्राणीति । (एवं संवेहो उवजुंजिऊण भाणियव्वोत्ति) स चैव प्रथमादिषु नवान्तेषु गमेष्वष्टौ भवग्रहणानि तेषु च कालमानं यथायोगमभ्यूह्यं शेषगमेषु तूत्कृष्टतोऽसंख्येयानि तत्कालोऽप्यसंख्येय एवेति । अथ वायुकायिकेभ्यः पृथिवीकायिकमुत्पादयन्नाह ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जइ वाउक्काइएहिंतो उववज्जंति वाउक्काइयाण वि एवं चेव णव गमका जहेव तेउकाइयाणं णवरं पडागासंठिया संवेहो वाससहस्सेहिं कायव्वो । ततियगमए कालादेसेणं जहणेणं बावीसं वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं एगं वाससयसहस्सं एवं संवेहो उवउंजिऊण जाणियव्वो ॥

तेजस्कायिकाधिकारे अहोरात्रैः सम्वेधः कृत इह तु वर्षसहस्रैः स कार्यो वायूनामुत्कर्षतो वर्षसहस्रत्रयस्थितिकत्वादिति (तइयगमएइत्यादि) (उक्कोसेणं एगं वाससयसहस्संति) अत्राष्टौ भवग्रहणानि तेषु च चतुर्षु अष्टाशीतिर्वर्षसहस्राणि पुनरन्येषु चतुर्षु वायुसत्केषु वर्षसहस्रत्रयस्य चतुर्गुणितत्वे द्वादश उभयमीलने च वर्षलक्षमिति (एवं संवेहो उवउंजिऊण भाणियव्वोत्ति) स च यत्रोत्कृष्टस्थितिसम्भवस्तत्रोत्कर्षतोऽष्टौ भवग्रहणानीतरत्र त्वसंख्येयान्येतदनुसारेण च कालोऽपि वाच्य इति ।

अथ वनस्पतिभ्यस्तमुत्पादयन्नाह ।

जइ वणस्सइकाइएहिंतो उववज्जंति वणस्सइकाइयाणं आउकाइयगमगसरिसा णव गमगा भाणियव्वा णवरं णाणासंठिया सरीरोगाहणा पढमपच्छिल्लएसु तिसु गमएसु जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं सातिरेगं जोअणसहस्सं मज्झिमएसु तहेव जहा पुढवीकाइयाणं संवेहो ठिती जाणियव्वा । तईयगमए कालादेसेणं जहन्नेणं बावीसं वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं अट्ठावीसुत्तरवाससयसहस्सं एवइयं एवं संवेहो उवउंजिऊण भाणियव्वो । ६ । जइ बेइंदिएहिंतो उववज्जंति किं पज्जत्तबेइंदिएहिंतो उववज्जंति अपज्जत्तबेइंदिएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! पज्जत्तबेइंदिएहिंतो उववज्जंति अपज्जत्तबेइंदिएहिंतो वि उववज्जंति ।

यस्त्वत्र विशेषस्तमाह (णाणसंठियेत्यादि ।) अप्कायिका नाम स्तिबुकाकारावगाहना एषां तु नानासंस्थिता तथा (पढमएसु इत्यादि) प्रथमकेषु औघिकेषु गमेषु पाश्चात्येषु चोत्कृष्टस्थितिकगमेष्ववगाहना वनस्पतिकायिकानां द्विधापि मध्यमेषु जघन्यस्थितिकगमेषु त्रिषु यथा पृथिवीकायिकानां पृथिवीकायिकेषूत्पद्यमानानामुक्तास्तथैव वाच्या अङ्गुलासंख्यातभागमात्रैवेत्यर्थः । (संवेहो ठिईयजाणियव्वत्ति ।) तत्र स्थितिरुत्कर्षतो दशवर्षसहस्राणि जघन्या तु प्रतीतैव एतदनुसारेण सम्बन्धोऽपि ज्ञेयः तमेवैकत्र गमे दर्शयति (तइयेत्यादि उक्कोसेणं अट्ठावीसुत्तरं वाससयसहस्संति) इह गमे उत्कर्षतोऽष्टौ भवग्रहणानि तेषु च चत्वारि पृथिव्याश्चत्वारि च वनस्पतेस्तत्र च चतुर्षु पृथिवीभवेषूत्कृष्टेषु वर्षसहस्राणामष्टाशीतिस्तथा वनस्पतेर्दशवर्षसहस्रायुष्कत्वाच्चतुर्षु भवेषु वर्षसहस्राणां चत्वारिंशदुभयमीलने च यथोक्तं मानमिति । अथ द्वीन्द्रियेभ्यस्तमुत्पादयन्नाह ॥

बेइंदिएणं भंते ! जे भविए पुढवीकाइएसु उववज्जित्तए सेणं भंते ! केवतिकालट्ठिति ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं बावीसं वाससहस्सट्ठिती । तेणं भंते ! जीवा एगसमएणं गोयमा ! जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा वा असंखेज्जा वा उववज्जंति । छेवट्ठसंघयणी । ओगाहणा जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं बारसजोअणाइं हुंडसंठिया तिण्णि लेस्साओ सम्मदिट्ठि वि मिच्छादिट्ठी णो सम्मामिच्छादिट्ठी । दो णाणा दो अण्णाणा णियमं । णो मणजोगी वयजोगी वि कायजोगी वि । उवओगो दुविहो वि । चत्तारि सण्णाओ । चत्तारि कसायाओ । दो इंदिया पण्णत्ता ? तंजहा जिब्भिंदिए य फासिंदिए य तिण्णि समुग्घाया सेसं जहा पुढवीकाइयाणं णवरं ठिई जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं बारससंवच्छराइं । एवं अणुबंधो वि सेसं तं चेव । भवादेसेणं जहन्नेणं दो भवग्गहणाइं उक्कोसेणं संखेज्जाइं भवग्गहणाइं । कालादेसेणं जहन्नेणं दो अंतोमुहुत्ताइं उक्कोसेणं संखेज्जं कालं एवइयं कालं ॥ १ ॥ सो चेव जहण्णकालट्ठिईएसु उववण्णो एस चेव वत्तव्वया ॥ २ ॥ सो चेव उक्कोसकालट्ठिईएसु उववण्णो एस चेव बिइयस्स लद्धी णवरं भवादेसेणं जहण्णेणं दो भवग्गहणाइं, उक्कोसेणं अट्ठ भवग्गहणाइं । कालादेसेणं बावीसं वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं अट्ठासीतिवाससहस्साइं अडयालीसाए संवच्छरेहिं अब्भहियाइं एवइयं सो चेव अप्पणा जहण्णकालट्ठिईओ जाओ तस्स वि एस चेव वत्तव्वया तिसु वि गमएसु णवरं इमाइं णाणत्ताइं सरीरोगाहणा जहा पुढवीकाइयाणं । णो सम्मदिट्ठी मिच्छादिट्ठी णो सम्मामिच्छादिट्ठी । दो अण्णाणी णियमं । णो मणजोगी वइजोगी कायजोगी । ठिई जहण्णेणं अंतोमुहुत्तए उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । अज्झवसाणा अप्पसत्था । अणुबंधो जहा ठिई । संवेहो तहेव आदिल्लेसु दो गमएसु तइयगमए भवादेसो तहेव अट्ठभवा कालादेसेणं जहण्णेणं बावीसं वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं अट्ठासीतिं वाससहस्साइं चउहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भहियाइं । ६ । सो चेव अप्पणा उक्कोसकालट्ठिईओ जाओ एतस्स वि ओहिया गमगसरिसा तिण्णि गमगा भाणियव्वा णवरं तिसु वि गमएसु ठिई जहण्णेणं बारससंवच्छराइं, उक्कोसेण वि बारस संवच्छराइं । एवं अणुबंधो वि भवादेसेणं जहण्णेणं दो भवग्गहणाइं उक्कोसेणं अट्ठ भवग्गहणाइं, कालादेसेणं उवउंजिऊण भाणियव्वं जाव णवमे गमए जहण्णेणं बावीसं वाससहस्साइं बारसहिं संवच्छरेहिं अब्भहियाइं, उक्कोसेणं अट्ठासीतिवाससहस्साइं अडयालीसाए संवच्छरेहिं अब्भहियाइं एवइयं ॥ ९ ॥

(बारसजोयणाइंति) यदुक्तं-तच्छङ्खमाश्रित्य यदाह " संखो पुण बारसजोयणाइंति " सम्मद्दिट्ठीविति । एतच्चोच्यते-सास्वादनसम्यक्त्वापेक्षयेति इयं च वक्तव्यतौघिकद्वीन्द्रियस्यौघिकपृथिवीकायिकेषु एवमेतस्य जघन्यस्थितिष्वपि तस्यैवोत्कृष्टस्थितिषूत्पत्तौ संवेधे विशेषोऽत एवाह-नवरमित्यादि (अट्ठभवग्गहणाइंति) एकैकस्योत्कृष्टस्थितिकत्वात् (अडयालीसाए संव-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चरेहिं अन्नहियाइंति) चतुर्षु त्रीन्द्रियभवेषु द्वादशाब्दमानेषु अष्टचत्वारिंशत् संवत्सरा भवन्ति तैरभ्यधिकान्यष्टाशीतिर्वर्षसहस्राणीति, द्वितीयस्यापि गमत्रयस्यैषैव वक्तव्यता विशेषं त्वाह. नवरमित्यादि इह सप्त नानात्वानि शरीरावगाहना यथा पृथिवीकायिकानामङ्गुलासङ्ख्येयभागमात्रमित्यर्थः, प्राक्तनगमत्रये तु द्वादशयोजनमानाप्युक्तेति । १ । तथा (नो सम्मद्दिट्ठी) जघन्यस्थितिकतया सास्वादनसम्यग्दृष्टीनामनुत्पादात्, प्राक्तनगमेषु तु सम्यग्दृष्टिरप्युक्तोऽजघन्यस्थितिकस्यापि तेषु भावात् । २ । तथा द्वे अज्ञाने प्राक् ज्ञाने अप्युक्ते । ३ । तथा योगद्वारे जघन्यस्थितिकत्वेनापर्याप्तकत्वान्न वाग्योगः प्राक्तासावप्युक्तः । ४ । तथा स्थितिरिहान्तर्मुहूर्त्तमेव प्राक्संवत्सरद्वादशकमपि । ५ । तथाऽध्यवसानानीहाप्रशस्तान्येव प्राक्तोभयरूपाणि । ६ । सप्तमं नानात्वमनुबन्ध इति संवेधस्तु द्वितीयत्रयस्याद्ययोर्द्वयोर्गमयोरुत्कर्षतो भवादेशेन सङ्ख्येयभवलक्षणः कालादेशेन च सङ्ख्येयकाललक्षणः तृतीये तु विशेषमाह (तइए गमए इत्यादि) अन्त्यगमत्रये (कालादेसेणं उवउंजिऊण भाणियव्वंति) यत्तदेवं प्रथमे गमे कालत उत्कर्षतोऽष्टाशीतिर्वर्षसहस्राण्यष्टचत्वारिंशता वर्षैरभ्यधिकानि द्वितीये त्वष्टचत्वारिंशद्वर्षाण्यथान्तर्मुहूर्त्तचतुष्टयाधिकानि तृतीये तु संवेधो लिखित एवास्ते ॥

अथ त्रीन्द्रियेभ्यस्तमुत्पादयन्नाह ॥

जइ तेइंदिएहिंतो पुढवीकाइएसु उववज्जंति एवं चेव णव गमका भाणियव्वा णवरं आदिल्लेसु वि तिसु वि गमएसु सरीरोगाहणा जहएणेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं, उक्कोसेणं तिरिण गाउयाइं तिरिण इंदियाइं ठिई जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं एगूणपएणराइंदियाइं । ततियगमए कालादेसेणं जहएणेणं बावीसं वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं अट्ठासीइंवाससहस्साइं उएणतइंराइंदियमब्भहियाइं एवइयं । मज्झिमगा तिरिण गमगा पच्छिमगा तिरिणगमगा तहेव । णवरं ठिई जहएणेणं एगूणपएणराइंदियाइं उक्कोसेण वि एगूणपएणराइंदियाइं संवेहो उवउंजिऊण भाणियव्वो ॥ ६ ॥

(जइ तेइंदीत्यादि-उएणउयराइंदियमयअब्भहियाइंति) इह तृतीयगमेऽष्टौ भवास्तत्र चतुर्षु त्रीन्द्रियभवेषूत्कर्षत एकोनपञ्चाशद्रात्रिंदिवप्रमाणेषु यथोक्तं कालमानं भवतीति । (मज्झिमा तिरिण गमा तहेवत्ति) । यथा मध्यमा द्वीन्द्रियगमाः । (संवेहो उवउंजिऊण भाणियव्वोत्ति) स च पश्चिमगमत्रये भवादेशेनोत्कर्षतः प्रत्येकमष्टौ भवग्रहणानि कालादेशेन तु पश्चिमगमत्रयस्य प्रथमगमे तृतीयगमे चोत्कर्षतोऽष्टाशीतिर्वर्षसहस्राणि षण्णवत्यधिकरात्रिंदिवशताधिकानि द्वितीये तु षण्णवत्युत्तरं दिनशतमन्तर्मुहूर्त्तचतुष्टयाभ्यधिकामिति ।

अथ चतुरिन्द्रियेभ्यस्तमुत्पादयन्नाह ।

जइ चउरिंदिएहिंतो उववज्जंति एस चेव चउरिंदियाणवि णव गमगा भाणियव्वा णवरं एएसु चेव ठाणेसु णाणत्ता भाणियव्वा सरीरोगाहणा जहएणेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं चत्तारि गाउयाइं ठिई जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं छम्मासा एवं अणुबंधो वि चत्तारि इंदिया सेसं तं चेव जाव णवगमए कालादेसेणं, जहएणेणं बावीसं वाससहस्साइं छहिं मासेहिं अब्भहियाइं उक्कोसेणं अट्ठासीतिं वाससहस्साइं चउवीसाए मासेहिं अब्भहियाए एवइयं जाव करेज्जा ए ।

(नवरं एएसु चेवट्ठाणेसुत्ति) वक्ष्यमाणेष्ववगाहनादिषु नानात्वानि द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियप्रकरणापेक्षया चतुरिन्द्रियप्रकरणे विशेषभणितव्यानि भवन्ति तान्येव दर्शयति-सरीरेत्यादि । (सेसं तहेवत्ति) शेषमुपपातादि द्वारजातं तथैव यथा त्रीन्द्रियस्य यस्तु संवेधे विशेषो न दर्शितः स स्वयमूह्य इति ।

अथ पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भ्यस्तमुत्पादयन्नाह ।

जइ पंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं सण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति असण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिए ? गोयमा ! सण्णिपंचिंदियअसण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिए उववज्जंति । जइ असण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं जलचरेहिंतो उववज्जंति जाव किं पज्जत्तएहिंतो उववज्जंति अपज्जत्तएहिंतो उववज्जंति? गोयमा ! पज्जत्तएहिंतो उववज्जंति अपज्जत्तएहिंतो वि उववज्जंति । असण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिएणं भंते ! जे भविए पुढवीकाइएसु उववज्जित्तए सेणं भंते ! केवइ० ? गोयमा । जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं बावीसं वाससहस्सं तेणं भंते ! जीवा एवं जहेव बेइंदियस्स ओहिगमए लद्धी तहेव णवरं सरीरोगाहणा जहएणेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं जोअणसहस्सं । पंचिंदियट्ठिई अणुबंधो य जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं पुव्वकोडी सेसं तं चेव । भवादेसेणं जहएणेणं दो भवग्गहणाइं उक्कोसेणं अट्ठ भवग्गहणाइं कालादेसेणं उवउंजिऊण भाणियव्वं णवरं मज्झिमएसु तिसु गमएसु जहेव बेइंदियस्स । मज्झिमएसु तिसु गमएसु पच्छिल्लएसु तिसु गमएसु जहा एतस्सेव पढमगमए णवरं ठिई अणुबंधो जहएणेणं पुव्वकोडी उक्कोसेण वि पुव्वकोडी सेसं तहेव जाव णव गमए जहएणेणं पुव्वकोडी बावीसाए वाससहस्सेहिं अब्भहिया उक्कोसेणं चत्तारि पुव्वकोडीओ अट्ठासीती एवं वाससहस्सेहिं अब्भहियाओ एवइयं कालं सेवेज्जा । ए ।

(जइत्यादि-उक्कोसेणं अट्ठभवग्गहणाइंति) अनेनेदमवगम्यते यथोत्कर्षतः पञ्चेन्द्रियतिरश्चो निरन्तरमष्टैव भवा भवन्ति एवं समानभवान्तरिता अपि भवान्तरैः सहाष्टैव भवन्तीति (कालादेसेणं उवउंजिऊण भाणियव्वंति) तत्र प्रथमे गमे कालतः सम्बेधः सूत्रे दर्शित एव द्वितीये तूत्कृष्टतश्चतस्रः पूर्वकोट्यश्चतुर्भिरन्तर्मुहूर्तैरधिकाः तृतीये तु ता एवाऽष्टाशीत्यावर्षसहस्रैरधिकाः उत्तरगमेषु त्वतिदेशद्वारेण सूत्रोक्त एवासाववसेय इति । अथ संज्ञिपञ्चेन्द्रियेभ्यस्तमुत्पादयन्नाह ।

जइ सण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिए उववज्जंति किं संखेज्जवासाउ य असंखेज्जवासाउय ? गोयमा ! संखेज्जवासाउ य सण्णिपंचिंदिय णो असंखेज्जवासाउय जाव उववज्जंति । जइ असंखेज्जवासाउय जाव उववज्जंति किं जलचरेहिंतो सेसं जहा असण्णीणं जाव तेणं भंते ! जीवा एगसमएणं केवइया उववज्जंति एवं जहा रयणप्पभाए उववज्जमाणस्स

सणिपंचिंदियस्स तहेव इह वि जाव कालादेसेणं जहणेणं दो अंतोमुहुत्ता उक्कोसेणं चत्तारि पुव्वकोडीओ अट्ठासीतिवाससहस्सेहिं अब्जहियाई एवइयं जाव करेज्जा । एवं संवेहो णवसु वि गमएसु जहा असएणीणं तहेव णिरवसेसं लद्धी से आदिल्लएसु तिसु गमएसु एस चेव मज्झिल्लएसु वि तिसु गमएसु एस चेव णवरं इमाइं णव णाणत्ताइं । जहणेणं ओगाहणा अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेण वि अंगुलस्स असंखेज्जइभागं ति तिस्रो लेस्साओ । मिच्छदिट्ठी । दो अण्णाणा । कायजोगी तिण्णि समुग्घाया । ठिई जहणेणं अंतोमुहुत्तं । उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं अप्पसत्था अज्झवसाणा । अणुबंधो जहा ठिई सेसं तं चेव । पच्छिल्लएसु तिसु गमएसु जहेव पढमगमए णवरं ठिई अणुबंधो जहणेणं पुव्वकोडी उक्कोसेण वि पुव्वकोडी सेसं तं चेव ॥ ए ॥

(जइ सएणीत्यादि । एवं संवेहो नवसु वि गमएसु इत्यादि) एवमुक्ताभिलापेन संवेधो नवस्वपि गमेषु यथा असंज्ञिनां तथैव निरवशेष इह वाच्योऽसंज्ञिनां संज्ञिनां च पृथिवीकायिकेषूत्पित्सूनां जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तायुष्कत्वादुत्कर्षतश्च पूर्वकोट्यायुष्कत्वादिति । (लद्धी से इत्यादि ।) लब्धिपरिमाणसंहननादिप्राप्तिः (से) तस्य पृथिवीकायिकेषूत्पित्सोः संज्ञिन आद्ये गमत्रये (एस चेवत्ति) या रत्नप्रभायामुत्पित्सोस्तस्यैव मध्यमेऽपि गमत्रये एषैव लब्धिः विशेषस्त्वयं नवरमित्यादि नव च नानात्वानि जघन्यस्थितिकत्वाद्भवन्ति तानि च अवगाहना १ लेश्या २ दृष्ट्य ३ ज्ञान ४ योग ५ समुद्घात ६ स्थित्य ७ ध्यवसानाऽ८ऽनुबन्धाख्यानि ९ अथ मनुष्येभ्यस्तमुत्पादयन्नाह (जईत्यादि) तत्र च (एवं जहेत्यादि) यथा ह्यसञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियतिरश्चो जघन्यस्थितिकस्य त्रयो गमास्तथैतस्यापि त्रय औघिका गमा भवन्ति अजघन्योत्कृष्टस्थितिकत्वात् सम्मूर्छिममनुष्याणां न शेषगमषट्कसम्भव इति भ. २४ श. १२ उ.।

अथ सञ्ज्ञिमनुष्यमधिकृत्याह ।

जदि मणुस्सेहिंतो उववज्जंति किं सम्मुच्छिममणुस्सेहिंतो गब्भवक्कंतियमणुस्सेहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! दोहिंतो वि उववज्जंति । जदि गब्भवक्कंतियमणुस्सेहिंतो किं कम्मभूमिगब्भवक्कंतियमणुस्सेहिंतो उववज्जंति अकम्मभूमिगब्भवक्कंतियमणुस्सेहिंतो उववज्जंति सेसं जहा नेरइयाणं नवरं अप्पज्जत्तएहिंतो वि उववज्जंति । प्रज्ञा० ६ पद ।

जइ मणुस्सेहिंतो उववज्जंति किं सणिमणुस्सेहिंतो उववज्जंति असणिमणुस्सेहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! सणिमणुस्सेहिंतो वि उववज्जंति असणिमणुस्सेहिंतो वि उववज्जंति । असणिमणुस्सेणं भंते ! जे भविए पुढविकाइएसु सेणं भंते ! केवइयकालट्ठिईएस एवं जहा असणिपंचिंदियतिरिक्खजोणियस्स जहणकालट्ठिईयस्स तिण्णि गमगा तहा एतस्सवि आहिया तिण्णि गमका भाणियव्वा तहेव णिरवसेसं सेसा छ नव भएणइ । जइ सणिमणुस्सेहिंतो उववज्जंति किं संखेज्जवासाउय असंखेज्जवासाउय जाव उववज्जंति ? गोयमा ! संखेज्जवासाउय णो असंखेज्जवासाउय जाव उववज्जंति । जइ संखेज्जवासाउय जाव उववज्जंति किं पज्जत्तसंखेज्ज० अपज्जत्तसंखेज्ज० ? गोयमा ! पज्जत्तसंखेज्ज० अपज्जत्तसंखेज्जवासा० जाव उववज्जंति । सणिमणुस्सेणं भंते ! जे भविए पुढविकाएसु उववज्जंति सेणं भंते ! केवइकालस्स ? गोयमा ! जहणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं बावीसं वाससहस्सट्ठिईएसु तेणं भंते ! जीवा एवं जहेव रयणप्पभाए उववज्जमाणस्स तहेव तिसु वि गमएसु लद्धी णवरं ओगाहणा जहणेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं पंचधणुहसयाई ठिई जहणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं एवं अणुबंधो वि । संवेहो णवसु गमएसु जहेव सणिपंचिंदियमज्झिल्लएसु तिसु गमएसु लद्धी तहेव सणिपंचिंदियस्स मज्झिल्लएसु तिसु गमएसु लद्धी । सेसं तं चेव णिरवसेसं पच्छिल्ला तिण्णि गमका जहा एयस्स चेव ओहिया गमका णवरं ओगाहणा जहणेणं पंचधणुहसयाइं उक्को ण वि पंचधणुहसयाइं । ठिई अणुबंधो जहणेणं पुव्वकोडी उक्कोसेण वि पुव्वकोडी सेसं तहेव ॥

जइ सणीत्यादि ॥ जहेव रयणप्पहाए उववज्जमाणस्सत्ति ॥ सञ्ज्ञिमनुष्यस्यैवेति प्रक्रमः ॥ नवरमित्यादि ॥ रत्नप्रभायामुत्पित्सोर्हि मनुष्यस्यावगाहना जघन्येनाङ्गुलपृथक्त्वमुक्ता मिहत्वङ्गुलासंख्येयभागः स्थितिश्च जघन्येन मासपृथक्त्वं प्रागुक्तमिह त्वन्तर्मुहूर्तमिति संवेधस्तु नवस्वपि गमेषु यथैव पृथिवीकायिकेषूत्पद्यमानस्य सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियतिरश्च उक्तस्तथैवेह वाच्यः संज्ञिनो मनुष्यस्य तिरश्चश्च पृथिवीकायिकेषु समुत्पित्सोर्जघन्यायाः स्थितेरन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वादुत्कृष्टायास्तु पूर्वकोटीप्रमाणत्वादिति । मज्झिमिल्लेत्यादि ॥ जघन्यस्थितिकसम्बन्धिनि गमत्रये लब्धिस्तथेह वाच्या यथा तत्रैव गमत्रये सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियतिरश्च उक्ता सा च तत्सूत्रादेवेहावसेया ॥ पच्छिल्लेत्यादि ॥ औघिकगमेषु हि अङ्गुलासङ्ख्येयभागरूपाऽप्यवगाहना अन्तर्मुहूर्तरूपाऽपि स्थितिरुक्ता साचेह न वाच्या अत एवाह-नवरम् । ओगाहणेत्यादि ॥

देवेभ्यस्तमुत्पादयन्नाह ।

जइ देवेहिंतो उववज्जंति किं भवणवासिदेवेहिंतो उववज्जंति वाणमंतरजोइसियदेवेहिंतो वेमाणियदेवेहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! भवणवासिदेवेहिंतो वि उववज्जंति जाव वेमाणियदेवेहिंतो वि उववज्जंति । जइ भवणवासिदेवेहिंतो उववज्जंति किं असुरकुमारभवणवासिदेवेहिंतो उववज्जंति जाव थणियकुमारभवणवासि० ? गोयमा ! असुरकुमारभवणवासिदेवेहिंतो उववज्जंति जाव थणियकुमारवासिदेवेहिंतो उववज्जंति । असुरकुमारेणं भंते ! जे भविए पुढविकाइएसु उववज्जित्तए सेणं भंते ! केवइयकालट्ठिई ? गोयमा ! जहणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं बावीसं वाससहस्साइं ठिई । तेणं भंते ! जीवा पुच्छा, गोयमा ! जहणेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा वा असंखेज्जा वा उववज्जंति । तेसिणं भंते ! जीवाणं सरीरगा किं

संघयणा पण्णत्ता ? गोयमा ! छण्हं संघयणाणं असंघयणी जाव परिणमइ । तेसि णं भंते ! जीवा णं के महालिया सरीरोगाहणा ? गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता, तंजहा भवधारणिज्जा य उत्तरवेउव्विया य । तत्थणं जा सा भवधारणिज्जा सा जहएणेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं सत्तरयणीओ तत्थणं जा सा उत्तरवेउव्विया सा जहएणेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं जोअणसयसहस्सं। तेसिणं भंते! जीवाणं सरीरगा किं संठिया पण्णत्ता, ? गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता तंजहा–भवधारणिज्जा य उत्तरवेउव्विया य। तत्थणं जे ते भवधारणिज्जा ते समचउरंससंठाणसंठिया पण्णत्ता । तत्थणं जे से उत्तरवेउव्विया ते णाणासंठाणसंठिया पण्णत्ता। लेस्साओ चत्तारि दिट्ठी तिविहा वि तिण्णि णाणा णियमं । तिण्णि अण्णाणा भयणाए । जोगे तिविहे वि । उवओगे दुविहे वि। चत्तारि सण्णाओ । चत्तारि कसाया। पंच इंदिया। पंच समुग्घाया। वेदणा दुविहा वि। इत्थी वेदगा वि पुरिसवेदगा वि णो णपुंसगवेदगा। ठिई जहण्णेणं दसवाससहस्साइं उक्कोसेणं साइरेगं सागरोवमं। अज्झवसाणा असंखेज्जा पसत्था वि अप्पसत्था वि अणुबंधो जहा ठिई भवादेसेणं दो भवग्गहणाइं, कालादेसेणं जहएणेणं दसवाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं, उक्कोसेणं साइरेगं सागरोवमं बावीसाए वाससहस्सेहिं अब्भहियं एवइयं । एवं णव वि गमा णेयव्वा णवरं मज्झिल्लएसु पच्छिल्लएसु तिसु गमएसु असुरकुमाराणं ठिई विसेसो जाणियव्वो। सेसा ओहिया चेव लद्धी कायसंवेहं च जाणेज्जा सव्वत्थ दोभवग्गहणाइं जाव णव गमए कालादेसेणं जहएणेणं साइरेगं सागरोवमं बावीसाए वाससहस्सेहिं अब्भहियं, उक्कोसेण वि साइरेगं सागरोवमं बावीसाए वाससहस्सेहिं अब्भहियं एवइयं जाव करेज्जा । णागकुमाराणं भंते ! जे भविए पुढवीकाइए एस चेव वत्तव्वया जाव भवादेसो त्ति णवरं ठिई जहएणेणं दसवाससहस्साइं उक्कोसेणं देसूणाइं दो पलिओवमाइं एवं अणुबंधो वि कालादेसेणं दसवाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं, उक्कोसेणं दो पलिओवमाइं देसूणाइं बावीसाए वाससहस्सेहिं अब्भहियाइं एवं णव वि गमगा असुरकुमारगमगसरिसा णवरं ठिई कालादेसेणं च जाणेज्जा एवं जाव थणियकुमाराणं जदि वाणमंतर किं पिसायवाणमंतर जाव गंधव्ववाणमंतर ? गोयमा ! पिसाय वाणमंतर जाव गंधव्ववाणमंतर । वाणमंतरदेवेणं भंते ! जे भविए पुढवीकाइए एएसिं पि असुरकुमारगमगसरिसा णव गमगा भाणियव्वा णवरं ठिई कालादेसेणं च जाणेज्जा । ठिई जहएणेणं दसवाससहस्साइं उक्कोसेणं पलिओवमं सेसं तहेव। जइ जोइसियदेवेहिंतो उववज्जंति किं चंदविमाणजोइसियदेवेहिंतो उववज्जंति जाव ताराविमाणजोइसियदेवेहिंतो उववज्जंति ? गोयमा! चंदविमाणजोइसियदेवेहिंतो वि उववज्जंति जाव तारा जाव उववज्जंति । जोइसियदेवेणं भंते ! जे भविए पुढवीकाइयलद्धी जहा असुरकुमाराणं णवरं एगा तेउलेस्सा पण्णत्ता तिण्णि णाणा तिण्णि अण्णाणा णियमं । ठिई जहएणेणं अट्ठभागपलिओवमं उक्कोसेणं पलिओवमं वाससयसहस्समब्भहियं एवं अणुबंधो वि कालादेसेणं जहएणेणं अट्ठभागपलिओवमं अंतोमुहुत्तमब्भहियं उक्कोसेणं पलिओवमं वाससयसहस्सेणं बावीसाए वाससहस्सेहिं अब्भहियं एवइयं । एवं सेसा वि अट्ठ गमगा भाणियव्वा णवरं ठिई कालादेसेणं च जाणेज्जा । जइ वेमाणियदेवेहिंतो उववज्जंति किं कप्पोववएणगवेमाणिय कप्पातीतगवेमाणिएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! कप्पोववएणगवेमाणिय जाव उववज्जंति णो कप्पातीतगवेमाणिय जाव उववज्जंति । जइ कप्पोववएणग जाव उववज्जंति किं सोहम्मकप्पोववएणगवेमाणिए जाव अच्चुतकप्पोववएणगवेमाणिया जाव उववज्जंति ? गोयमा ! सोहम्मकप्पोववएणगवेमाणिया ईसाणकप्पोववएणगवेमाणिया जाव उववज्जंति, णो सणंकुमार जाव णो अच्चुयकप्पोववएणगवेमाणिया जाव उववज्जंति । सोहम्मगदेवेणं भंते ! जे भविए पुढवीकाइएसु उववज्जइ सेणं भंते ! केवइया एवं जहा जोइसियस्स गमगो एवं ठिई अणुबंधो य जहएणेणं पलिओवमं उक्कोसेणं दो सागरोवमाइं, कालादेसेणं जहएणेणं पलिओवमं अंतोमुहुत्तमब्भहियं उक्कोसेणं दो सागरोवमाइं बावीसवाससहस्सेहिं अब्भहियाइं एवइयं कालं एवं सेसा वि अट्ठ गमगा भाणियव्वा णवरं ठिई कालादेसं च जाणेज्जा । ईसाणदेवेणं भंते! जे भविए एवं ईसाणदेवेण वि णव गमगा भाणियव्वा णवरं ठिई अणुबंधो जहएणेणं साइरेगपलिओवमं उक्कोसेणं साइरेगाइं दो सागरोवमाइं तं चेव सेवं भंते! भंते ! त्ति जाव विहरइ ॥

"जईत्यादि छण्हं संघयणाणं असंघयणि त्ति" इह यावत्करणादिदं दृश्यं "णवट्ठी णेवछिरा नेवण्हारू नेवसंघयणमत्थि जे पोग्गला इट्ठा कंता पिया मणुन्ना मणामा ते तेसिं सरीरसंघायत्ताए त्ति । तत्थ णं जा सा भवधारणिज्जा सा जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइ भागं ति" उत्पत्तिकालेऽनाभोगतः कर्मपारतन्त्र्यादङ्गुलासंख्येयभागमात्रावगाहना भवति उत्तरवैक्रिया तु जघन्याङ्गुलस्य संख्येयभागमाना भवत्याभोगजनितत्वात्तस्यास्तथाविधा न सूक्ष्मता भवति यादृशी भवधारणीयाया इति ॥ तत्थणं जे ते उत्तरविउव्विया ते "णाणासंठियत्ति" इच्छावशेन संस्थाननिष्पादनादिति । (तिण्णि अण्णाणा भयणाए त्ति) ये असुरकुमारा असंज्ञिभ्य आगत्योत्पद्यन्ते तेषा–

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मपर्याप्तिकावस्थायां विभङ्गस्याभावाच्छेषाणां तु तद्भावादज्ञानेषु भजनोक्ता (जहमेणं दसवाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं ति) तत्र दशवर्षसहस्राण्यसुरेषु अन्तर्मुहूर्तं पृथिवीकायिकेष्विति, इत्यमेव उक्कोसेणं साइरेगं सागरोवममित्याद्यपि भावनीयम् । एतावानेव चोत्कर्षतोऽप्यत्र संवेधकालः पृथिवीतउद्वृत्तस्यासुरकुमारेषूत्पादाभावादिति (मज्झिल्लएसु पच्छिल्लएसु इत्यादि)अयं चेह स्थितिविशेषो मध्यमगमेषु जघन्यासुरकुमाराणां दशवर्षसहस्राणि स्थितिरन्त्यगमेषु न साधिकं सागरोपममिति, ज्योतिष्कदण्डके तिन्नि नाणा तिन्नि अण्णाणा नियमंति । इहासञ्ज्ञिनो नोत्पद्यन्ते सञ्ज्ञिनस्तूत्पत्तिसमयएव सम्यग्दृष्टेस्त्रीणि ज्ञानानि मत्यादीनि इतरस्य त्वज्ञानानि मत्यज्ञानादीनि भवन्ति । (अट्ठभागपलिओवमंते) अष्टमोभागोऽष्टभागः स एवावयवे समुदायोपचारादष्टभागपल्योपमं इदं च तारकदेवदेवीराश्रित्योक्तम् । उक्कोसेणं "पलिओवमं–वाससयसहस्समब्भहियंति " इदं च चन्द्रविमानदेवानाश्रित्योक्तमिति । भ० २४ श० १२ उ० ।

अप्कायिकानाम्—

आउकाइएणं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति एवं जहेव पुढवीकाइयउद्देसए जाव पुढवीकाइएणं भंते ! जे भविए आउकाइएसु उववज्जित्तए सेणं भंते ! केवइ० ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं सत्तवाससहस्सट्ठिइएसु उववज्जेज्जा एवं पुढवीकाइयउद्देसगसरिसो भाणियव्वो णवरं ठिइं संवेहं च जाणेज्जा सेसं तं चेव । सेवं भंते ! भंते ! त्ति । भ० २४ श० १३ उ० ॥

तेजस्कायिकानां वायुकायिकानां च यथा—

तेउकाइयाणं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति णवरं पुढवीकाइयउद्देसगसरिसो उद्देसो भाणियव्वो णवरं ठिइं संवेहं च जाणिज्जा देवेसु न उववज्जंति । सेसं तं चेव सेवं भंते भंतेत्ति जाव विहरइ वाउकाइयाणं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति एवं जहेव तेउ काइय उद्देसो तहेव णवरं ठिइं संवेहं च जाणेज्जा सेवं भंते भंते ! त्ति । चउवीसइमसयस्स पण्णरसमो उद्देसो सम्मत्तो ॥

(देवेसु न उववज्जंतित्ति) देवेभ्य उद्वृत्तास्तेजस्कायिकेषु नोत्पद्यन्त इत्यर्थः । एवं पञ्चदशेऽपि । भ० २४ श० १४ उ० ।

वनस्पतीनाम् ।

वणस्सइकाइयाणं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति एवं पुढवीकाइयउद्देसो सरिसो णवरं जाहे वणस्सइकाइया वणस्सइकाइएसु उववज्जंति ताहे पढमबिइयचउत्थपंचमेसु गमेसु परिमाणं अणुसमयं अविरहियं अणंता उववज्जंति भवादेसेणं जहन्नेणं दो भवग्गहणाइं उक्कोसेणं अणंताइं भवग्गहणाइं कालादेसेणं जहन्नेणं दो अंतोमुहुत्ता उक्कोसेणं अणंतं कालं एवइयं जाव करेज्जा । सेसा पंच गमा अट्ठभवग्गहणिया तहेव णवरं ठिइं संवेहं च जाणेज्जा सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥

"जाहे वणस्सइकाइओ इत्यादि" अनेन वनस्पतेरेवानन्तानामुत्पत्तिरस्ति नान्यत इत्यावेदितं शेषाणां हि समस्तानामप्यसंख्यातत्वात् । तथा अनन्तानामुत्पादो वनस्पतिष्वेव कायान्तरस्यानन्तानामभावादन्यत्रादित्यप्यावेदितमिह च प्रथमद्वितीयचतुर्थपञ्चमगमेष्वनुत्कृष्टस्थितिभावादनन्ता उत्पद्यन्त इत्यभिधीयते शेषेषु तु पञ्चसु गमेषूत्कृष्टस्थितिभावादेको वा द्वौ वेत्याद्यभिधीयत इति । तथातिष्वेव प्रथमद्वितीयचतुर्थपञ्चमेष्वनुत्कृष्टस्थितित्वादेवोत्कर्षतो भवादेशेनानन्तानि भवग्रहणानि वाच्यानि कालादर्शने चानन्तः कालः शेषेषु तु पञ्चसु तृतीयषष्ठसप्तमादिषु गमेष्वष्टौ भवग्रहणान्युत्कृष्टस्थितिभावात् । (ठिइं संवेहं च जाणेज्जत्ति) तत्र स्थितिर्जघन्या उत्कृष्टा च सर्वेष्वपि गमेषु प्रतीतैव संवेधस्तु तृतीयसप्तमयोर्जघन्येन दशवर्षसहस्राण्यन्तर्मुहूर्ताधिकान्युत्कर्षतस्त्वष्टासु भवग्रहणेषु दशसहस्राः प्रत्येकं भावादशीतिर्वर्षसहस्राणि षष्ठाष्टमयोस्तु जघन्येन दशवर्षसहस्राण्यन्तर्मुहूर्त्ताधिकान्युत्कृष्टतस्तु चत्वारिंशद्वर्षसहस्राण्यन्तर्मुहूर्त्तचतुष्टयाभ्यधिकानि । नवमे तु जघन्यतो विंशतिर्वर्षसहस्राण्युत्कर्षतस्त्वशीतिरिति । भ० २४ श० १६ उ० ॥

द्वीन्द्रियाणाम्—

बेइंदियाणं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति जाव पुढवीकाइएणं भंते ! जे भविए बेइंदिएसु उववज्जित्तए सेणं भंते ! केवइ सच्चेव पुढवीकाइयस्स लद्धी जाव कालादेसेणं जहन्नेणं दो अंतोमुहुत्ता उक्कोसेणं संखेज्जं कालं एवइयं जाव करेज्जा एवं तेसु चेव चउसु गमएसु संवेहो सेसेसु पंचसु गमएसु तहेव अट्ठभवा एवं जाव चउरिंदिएणं समं चउसु संखेज्जभवा पंचसु अट्ठभवा पंचिंदियतिरिक्खजोणिए मणुस्सेसु समं तहेव अट्ठभवा ठिइं संवेहं च जाणेज्जा सेवं भंते ! भंते ! त्ति ।

(सच्चेव पुढवीकाइयस्स लद्धित्ति) या पृथिवीकायिकस्य पृथिवीकायिकेषूत्पित्सोर्लब्धिः प्रागुक्ता द्वीन्द्रियेष्वपि सैवेत्यर्थः । (तेसु चेव चउसुगमएसुत्ति) तेष्वेव चतुर्षु गमेषु प्रथमद्वितीयचतुर्थपञ्चमलक्षणेषु (सेसेसु पञ्चसुत्ति) शेषेषु पञ्चसु गमेषु तृतीयषष्ठसप्तमाष्टमनवमलक्षणेषु (एवंति) यथा पृथिवीकायिकेन सह द्वीन्द्रियस्य संवेध उक्त एवं अप्तेजोवायुवनस्पतिद्वित्रिचतुरिन्द्रियैः सह संवेधो वाच्यस्तदेवाह चतुर्षुपूर्वोक्तेषु गमेषूत्कर्षतो भवादेशेन संख्येया भवाः पञ्चसुतृतीयादिष्वष्टौ भवाः कालादेशेन च या यस्य स्थितिस्तत्संयोजनेन संवेधो वाच्यः पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भिर्मनुष्यैश्च सह द्वीन्द्रियस्यतथैव सर्वगमेष्वष्टावष्टौ च भवा वाच्या इति ॥ भ० २४ श० १७ उ० ।

त्रीन्द्रियाणां चतुरिन्द्रियाणां च यथा—

तेइंदियाणं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति एवं तेइंदियाणं जहेव बेइंदियाणं उद्देसो णवरं ठिइं संवेहं च जाणेज्जा तेउकाइएसु उववज्जइ समं तइओ गमो उक्कोसेणं अट्ठुत्तराइं बेइंदियसयाइं बेइंदिएहिं समं तइयगमे उक्कोसेणं अडयालीसं संवच्छराइं छण्णउइराइंदियसत्तमब्भहियाइं तेइंदिएहिं समं तइयगमे उक्कोसेणं बाणुत्तराइं तिन्नि राइंदियसयाइं एवं सव्वत्थ जाणेज्जा जाव सन्निमणुस्सेत्ति । सेवं भंते ! भंतेत्ति । चउरिंदियाणं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति जहा तेइंदियाणं उद्देसओ तहा चउरिंदियाणवि णवरं ठिति संवेहं च जाणेज्जा सेवं भंते ! भंतेत्ति ।

(ठिति संवेहं च जाणेज्जत्ति) स्थितिस्त्रीन्द्रियेषूत्पित्सूनां पृथिव्यादीनामायुः संवेधं च त्रीन्द्रियोत्पित्सुपृथिव्यादीनां त्रीन्द्रियाणां च स्थितेः संयोगं जानीयात् तदेव कश्चिद्दर्शयति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(तेउकाइएसु इत्यादि) तेजस्कायिकैः सार्द्धं त्रीन्द्रियाणां स्थितिसंवेधस्तृतीयगमे प्रतीते उत्कर्षेण अष्टोत्तरे द्वे रात्रिंदिवशते । कथम् ? औधिकस्य तेजस्कायिकस्य चतुर्षु भवेषूत्कर्षेण ऽयहोरात्रमानत्वाद्भवस्य द्वादशाहोरात्राणि उत्कृष्टस्थितेश्च त्रीन्द्रियस्योत्कर्षतः चतुर्षु भवेषु एकोनपञ्चाशन्मानत्वेन भवस्य शतं षण्णवत्यधिकं भवति, राशिद्वयमीलने चाऽष्टोत्तरे द्वे रात्रिंदिवशते स्यातामिति (बेइंदिएहीत्यादि अडयालीसं संवच्छराइत्ति) द्वीन्द्रियस्योत्कर्षतो द्वादशवर्षप्रमाणेषु चतुर्षु भवेष्वष्टचत्वारिंशत्संवत्सराः चतुर्ष्वेव त्रीन्द्रियभवग्रहणेषूत्कर्षेणैकोनपञ्चाशदहोरात्रमानेषु षण्णवत्यधिकं दिनशतं भवतीति ॥ तेइंदिएहीत्यादि ॥ (बाणउयाइं तिन्नि राइंदियसयाइं ति) अत्रास्तु त्रीन्द्रियभवेषूत्कर्षेणैकोनपञ्चाशदहोरात्रमानेषु त्रीणि शतानि द्विनवत्यधिकानि भवन्तीति । (एवं सव्वत्थ जाणेज्जत्ति) अनेन चतुरिन्द्रियसञ्ज्ञितिर्यग्मनुष्यैः सह त्रीन्द्रियाणां सम्बेधः कार्य इति सूचितम् । अनेन च तृतीयगमसम्वेधदर्शनेन षष्ठादिगमसंवेधा अपि सूचिता द्रष्टव्याः । तेषामप्यष्टभविकत्वात् । प्रथमादिगमचतुष्कसंवेधस्तु भवादेशेनोत्कर्षतः संख्यातभवग्रहणरूपः कालादेशेन तु संख्यातकालरूप इति (चतुरिन्द्रियसूत्रस्य व्याख्या नास्ति) भ०२४श०१८उ० ॥

पञ्चेन्द्रियतिरश्चाम् ।

पंचिंदियतिरिक्खजोणिएणं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति किं णेरइय० तिरिक्खमणुस्सदेवेहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! णेरइएहिंतो वि उववज्जंति तिरिक्खमणुस्सदेवेहिंतो वि उववज्जंति । जइ णेरइएहिंतो उववज्जंति किं रयणप्पभापुढविणेरइएहिंतो उववज्जंति जाव अहेसत्तमाए पुढवीए णेरइएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! रयणप्पभा पुढविणेरइएहिंतो उववज्जंति जाव अहेसत्तमाए पुढविणेरइएहिंतो वि उववज्जंति रयणप्पभापुढविणेरइएणं भंते ! जे भविए तिरिक्खजोणिएसु उववज्जित्तए सेणं भंते ! केवतिकालट्ठितीएसु उववज्जेज्जा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तट्ठितीएसु उक्कोसेणं पुव्वकोडिआउएसु उववज्जेज्जा । तेणं भंते ! जीवा एगसमएणं केवइया उववज्जंति एवं जहा असुरकुमाराणं वत्तव्वया णवरं संघयणं पोग्गला अणिट्ठा अकंता जाव परिणमंति । ओगाहणा दुविहा पण्णत्ता तंजहा भवधारणिज्जा य उत्तरवेउव्विया य । तत्थणं जा सा भवधारणिज्जा सा जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं सत्तधणूइं तिन्नि रयणीओ छच्चंगुलाइं । तत्थणं जा सा उत्तरवेउव्विया सा जहण्णेणं अंगुलस्स संखेज्जइभागं उक्कोसेणं पण्णरसधणूइं अड्ढाइज्जाओ रयणीओ । तेसिणं भंते ! जीवा सरीरगा किं संठिया पण्णत्ता ? गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता तंजहा भवधारणिज्जा य उत्तरवेउव्विया य । तत्थ णं जे ते भवधारणिज्जा ते हुंडसंठिया । तत्थणं जे ते उत्तरवेउव्विया ते वि हुंडसंठिया पण्णत्ता । एगा काउलेस्सा पण्णत्ता । चत्तारि समुग्घाया । णो इत्थीवेदगा णो पुरिसवेदगा णपुंसगवेदगा । ठिई जहण्णेणं दसवाससहस्साइं उक्कोसेणं सागरोवमं । एवं अणुबंधोवि सेसं तहेव । भवादेसेणं जहण्णेणं दो भवग्गहणाइं उक्कोसेणं अट्ठ भवग्गहणाइं । कालादेसेणं जहण्णेणं दसवाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं चत्तारि सागरोवमाइं चउहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं एवइयं सो चेव जहण्णकालट्ठितीएसु उववण्णो जहण्णेणं अंतोमुहुत्तट्ठितीएसु उववज्जेज्जा उक्कोसेणवि अंतोमुहुत्तट्ठिती अवसेसं तहेव णवरं कालादेसेणं जहण्णेणं तहेव उक्कोसेणं चत्तारि सागरोवमाइं चउहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भहियाइं एवइयं कालं जाव करेज्जा । एवं सेसावि सत्त गमगा भाणियव्वा जहेव णेरइयउद्देसए सण्णिपंचिंदिएहिं समं णेरइयाणं मज्झिमएसु तिसु गमएसु पच्छिल्लएसु तिसु गमएसु ठितिणाणत्तं भवति सेसं तंचेव सव्वत्थ ठिती संवेहं च जाणेज्जा । सक्करप्पभापुढवीणेरइएणं भंते ! जे भविए एवं जहा रयणप्पभाए णव गमका तहेव सक्करप्पभाएवि णवरं सरीरोगाहणा जहा ओगाहणा संठाणे तिन्नि णाणा तिन्नि अण्णाणा णियमं ठिती अणुबंधो य पुव्वभणिया एवं णव गमगा उवजुंजिऊण भाणियव्वा एवं जाव छट्ठ पुढवी णवरं ओगाहणा लेस्सा ठिती अणुबंधो संवेहो जाणियव्वा । अहेसत्तमा पुढवीणेरइएणं भंते ! जे भविए एवं चेव णव गमगा णवरं ओगाहणा लेस्सा ठिती अणुबंधा भाणियव्वा । संवेहो भवादेसेणं जहण्णेणं दो भवग्गहणाइं उक्कोसेणं छ भवग्गहणाइं । कालादेसेणं जहण्णेणं बावीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं छावट्ठिं सागरोवमाइं तिहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं एवइयं । आदिल्लएसु छसु गमएसु जहण्णेणं दो भवग्गहणाइं उक्कोसेणं छ भवग्गहणाइं । पच्छिल्लएसु तिसु गमएसु जहण्णेणं दो भवग्गहणाइं उक्कोसेणं चत्तारि भवग्गहणाइं लब्भं । णवसु वि गमएसु जहा पढमगमएसु णवरं ठिइविसेसो कालादेसेणं १ बिइयगमए जहण्णेणं बावीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं छावट्ठिं सागरोवमाइं तिहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भहियाइं एवइयं कालं २ तइयगमए जहण्णेणं बावीसं सागरोवमाइं पुव्वकोडीए अब्भहियाइं उक्कोसेणं छावट्ठिं सागरोवमाइं तिहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं ।३। चउत्थगमए जहण्णेणं बावीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं छावट्ठिं सागरोवमाइं तिहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं ।४। पंचमगमए जहण्णेणं बावीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं छावट्ठिं सागरोवमाइं तिहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भहियाइं । ५ । छट्ठगमए जहण्णेणं बावीसं सागरोवमाइं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उक्कोसेणं छावहिं सागरोवमाइं तिहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं । ६ । सत्तमगमए जहएणेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं छावहिं सागरोवमाइं दोहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भहियाइं । ७ । अट्ठमगमए जहएणेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं छावहिं सागरोवमाइं दोहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भहियाइं । ८ । णवमगमए जहएणेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं पुव्वकोडीए अब्भहियाइं उक्कोसेणं छावहिं सागरोवमाइं एवइयं जाव करेज्जा । ९ ।

(उक्कोसेणं पुव्वकोडी आउएत्ति) नारकाणामसंख्यातवर्षायुष्केष्वनुत्पादादिति (असुरकुमाराणवत्तव्वयत्ति) पृथिवीकायिकेषूत्पद्यमानानामसुरकुमाराणां या वक्तव्यता परिमाणादिका प्रागुक्ता सेह नारकाणां पञ्चेन्द्रियतिर्यक्षूत्पद्यमानानां वाच्या विशेषस्त्वयं नवरमित्यादि (जहएणेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं ति) उत्पत्तिसमयापेक्षमिदम् । उक्कोसेणं सत्तधणुइं इत्यादि इदं च त्रयोदशप्रस्तटापेक्षं प्रथमप्रस्तटादिषु पुनरेवम् । ' रयणाए पढमपयरे, हत्थतियं देहउस्सयं भणियं । छप्पणंगुलसड्ढा, पयरे पयरे य वुड्ढी उ ॥ १ ॥ उक्कोसेणं पएणरसेत्यादि ॥ इयं च भवधारणीयावगाहनाया द्विगुणेति (समुग्घाया चत्तारित्ति) वैक्रियान्ताः । [सेसं तहेवत्ति] शेषं दृष्ट्यादिकं तथैव यथा असुरकुमाराणां सो चेवेत्यादि द्वितीयो गमः (अवसेसं तहेवत्ति) यथौघिकगमे (एवं सेसावि सत्त गमगा भाणियव्वत्ति) एवमित्यनन्तरोक्तगमद्वयक्रमेण शेषा अपि सप्त गमा भणितव्या नन्वेवं करणाद्यादृशी स्थितिर्जघन्योत्कृष्टभेदादाद्ययोर्गमयोर्नारकाणामुक्ता तादृश्येव मध्यमेऽन्तिमे च गमत्रये प्राप्नोतीति । अत्रोच्यते (जहेव नेरइयउद्देसए इत्यादि) यथैव नैरयिकोद्देशकेऽधिकृतशतस्य प्रथमे संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्भिः सह नारकाणां मध्यमेषु त्रिषु गमेषु पश्चिमेषु च त्रिषु गमेषु स्थितिनानात्वं भवति तथैवेहापीति वाक्यशेषः (सरीरोगाहणा जहा ओगाहणासंठाणेत्ति) शरीरावगाहना यथा प्रज्ञापनाया एकविंशतितमे पदे सा च सामान्यत एवं "सत्तधणु तिरिण रयणी, छच्चेव य अंगुलाइं उच्चत्तं । पढमाए पुढवीए, विउणा विउणं च सेसासु त्ति " १ (तिन्नि नाणा तिरिण अएणाणा नियमंति) द्वितीयादिषु संज्ञिन्य एवोत्पद्यन्ते ते च त्रिज्ञानास्त्र्यज्ञाना वा नियमाद्भवन्तीति ॥ उक्कोसेणं छावट्ठीसागरोवमाइं इत्यादि ॥ ३ ॥ इह भवानां कालस्य च बहुत्वं विवक्षितं तच्च जघन्यस्थितिकत्वे नारकस्य लभ्यते इति द्वाविंशतिसागरोपमायुर्नारको भूत्वा पञ्चेन्द्रियतिर्यक्षु पूर्वकोट्यायुर्जातः एवं वारत्रये षट्षष्टिसागरोपमाणि पूर्वकोटित्रयं च स्याद्यदि चोत्कृष्टस्थितिस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमायुर्नारको भूत्वा पूर्वकोट्यायुः पञ्चेन्द्रियतिर्यक्षूत्पद्यते तदा वारद्वयमेवैवमुत्पत्तिः स्यात्तत्र च षट्षष्टिः सागरोपमाणि पूर्वकोटिद्वयं च स्यात् तृतीया तु तिर्यग्भवपूर्वकोटी न लभ्यत इति नोत्कृष्टता भवानां कालस्य च स्यादिति उत्पादितो नारकेभ्यः पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकः ।

अथ तिर्यग्भ्यो निकेभ्यस्तमुत्पादयन्नाह ।

जदि तिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं एगिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति एवं उववातो जहा पुढवीकाइयउद्देसए जाव पुढवीकाइएणं भंते ! जे भविए पंचिंदियतिरिक्खजोणिएसु उववज्जित्तए सेणं भंते ! केवइकाल० ? गोयमा ! जहएणेणं अंतोमुहुत्तट्ठिइएसु उक्कोसेणं पुव्वकोडीआउएसु उववज्जंति तेणं भंते ! जीवा एवं परिमाणादीया अणुबंधपज्जवसाणा जच्चेव अप्पणो सट्ठाणे वत्तव्वया सच्चेव पंचिंदियतिरिक्खजोणिएसु वि उववज्जमाणस्स वि भाणियव्वा णवरं णवसु वि गमएसु परिमाणो जहएणेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा उक्कोसेणं संखेज्जा वा असंखेज्जा वा उववज्जंति भवादेसेण वि णवसु गमएसु जहएणेणं दो भवग्गहणाइं उक्कोसेणं अट्ठ भवग्गहणाइं सेसं तं चेव कालादेसेणं उभयतो ठिइं करेज्जा । जदि आउकाइएण वि एवं जाव चउरिंदिया उववातेयव्वो णवरं सव्वत्थ अप्पणो लद्धी भाणियव्वा णवसु वि गमएसु भवादेसेणं जहएणेणं दो भवग्गहणाइं उक्कोसेणं अट्ठ भवग्गहणाइं कालादेसेणं उभओ ठितिं करेज्जा सव्वेसिं सव्वगमएसु जहेव पुढवीकाइएसु उववज्जमाणाणं लद्धी तहेव सव्वत्थ ठिइं संवेहं च जाणेज्जा । जइ पंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं सणिणपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति असणिणपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! सणिणपंचिंदियभेदे जहेव पुढवीकाइएसु उववज्जमाणस्स जाव असणिणपंचिंदियतिरिक्खजोणिएणं भंते ! जे भविए पंचिंदियतिरिक्खजोणिएसु उववज्जित्तए सेणं भंते ! केवइयकालं० ? गोयमा ! जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागट्ठिइएसु उववज्जंति । तेणं भंते ! अवसेसं जहेव पुढवीकाइएसु उववज्जमाणस्स असणिणस्स तहेव णिरवसेसं जाव भवादेसोत्ति । कालादेसेणं जहएणेणं दो अंतोमुहुत्ता उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं पुव्वकोडीपुहुत्तमब्भहियं एवइयं । बिइयगमए एस चेव लद्धी णवरं कालादेसेणं जहएणेणं दो अंतोमुहुत्ता उक्कोसेणं चत्तारि पुव्वकोडीओ चउहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भहियाओ एवइयं । सो चेव उक्कोसकालट्ठिईएसु उववज्जइ जहएणेणं दो पलिओवमस्स असंखेज्जइभागट्ठिईएसु उक्कोसेण वि पलिओवमस्स असंखेज्जइभागट्ठितिं उववज्जंति । तेणं भंते ! जीवा एवं जहा रयणप्पभाए उववज्जमाणस्स असणिणस्स तहेव णिरवसेसं जाव कालादेसोत्ति णवर परिमाणं जहएणेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा उक्कोसेणं संखेज्जा वा उववज्जंति सेसं तं चेव अप्पणा जहएणकालट्ठिईओ जाओ जहएणेणं अंतोमुहुत्तट्ठिईएसु उक्कोसेणं पुव्वकोडीआउएसु उववज्जंति तेणं भंते ! अवसेसं जहा एयस्स पुढवीकाइएसु उववज्जमाणस्स मज्झिमेसु तिसु गमएसु जाव अणुबंधोत्ति । भवादेसेणं जहएणेणं दो भवग्गहणाइं उक्कोसेणं अट्ठ भवग्गहणाइं कालादेसेणं जहएणेणं दो अंतोमुहुत्ता उक्कोसेणं चत्तारि पुव्वकोडीओ चउहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भहियाओ । सो चेव जहएणकालट्ठिईएसु उववएणो एस चेव वत्तव्वया णवरं कालादेसेणं जहएणेणं दो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अंतोमुहुत्ता उक्कोसेणं अट्ठ अंतोमुहुत्ता एवइयं सो चेव उक्कोसकालट्ठिईएसु उववन्नो जहन्नेणं पुव्वकोडिआउएसु उक्कोसेण वि पुव्वकोडिआउएसु उववज्जइ एस चेव वत्तव्वया णवरं कालादेसेणं जाणेज्जा । सो चेव अप्पणा उक्कोसकालट्ठिईओ जाओ सो चेव पढमगमगवत्तव्वया णवरं ठिई से जहन्नेणं पुव्वकोडी उक्कोसेण वि पुव्वकोडी सेसं तं चेव । कालादेसेणं जहन्नेणं पुव्वकोडी अंतोमुहुत्तमब्भहिया उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं पुव्वकोडिपुहुत्तमब्भहियं एवइयं । सो चेव जहन्नकालट्ठितीएसु उववन्नो एस चेव वत्तव्वया जहा सत्तमगमए णवरं कालादेसेणं जहन्नेणं पुव्वकोडी अंतोमुहुत्तमब्भहिया उक्कोसेणं चत्तारि पुव्वकोडीओ चउहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भहियाओ एवइयं । सो चेव उक्कोसकालट्ठितीएसु उववन्नो जहन्नेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेण वि पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं एवं जहा रयणप्पभाए जहन्नेणं उववज्जमाणस्स असण्णिस्स णवमं गमं तहेव णिरवसेसं जाव कालादेसोत्ति णवरं परिमाणं जहा एतस्सेव तइयगमे सेसं तं चेव । जदि सण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं संखेज्जवासा असंखेज्जवासाउय ? गोयमा ! संखेज्जवासा णो असंखेज्जवासा । जदि संखेज्जवासाउय जाव किं पज्जत्तसंखेज्ज० अपज्जत्तसंखेज्ज० दोसु वि । संखेज्जवासाउयसण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिए जे भविए पंचिंदियतिरिक्खजोणिएसु उववज्जित्तए से णं भंते ! केवति ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तिपलिओवमट्ठितीएसु उववज्जेज्जा । ते णं भंते ! अवसेसं जहा एयस्स चेव सण्णिस्स रयणप्पभाए उववज्जमाणस्स पढमगमए णवरं ओगाहणा जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं जोयणसहस्सं सेसं तं चेव जाव भवादेसो, कालादेसेणं जहन्नेणं दो अंतोमुहुत्ता उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं पुव्वकोडीपुहुत्तमब्भहियाइं एवइयं कालं । सो चेव जहन्नकालट्ठितीएसु उववन्नो एस चेव वत्तव्वया णवरं कालादेसेणं जहन्नेणं दो अंतोमुहुत्ता उक्कोसेणं चत्तारि पुव्वकोडीओ चउहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भहियाओ । सो चेव उक्कोसकालट्ठितीएसु उववन्नो जहन्नेणं तिपलिओवमट्ठितीएसु उक्कोसेण वि तिपलिओवमट्ठितीएसु उववज्जंति । एस चेव वत्तव्वया णवरं परिमाणं जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा वा उववज्जंति । ओगाहणा जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं जोयणसहस्सं सेसं तं चेव जाव अणुबंधोत्ति । भवादेसेणं दो भवग्गहणाइं कालादेसेणं जहन्नेणं तिण्णि पलिओवमाइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं पुव्वकोडीए अब्भहियाइं । सो चेव अप्पणा जहन्नकालट्ठितीओ जाओ जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं पुव्वकोडी आउएसु उववज्जंति लद्धी से जहा एतस्स चेव सण्णिपंचिंदियस्स पुढवीकाइएसु उववज्जमाणस्स मज्झिल्लएसु तिसु गमएसु सच्चेव इह वि मज्झिमेसु तिसु गमएसु कायव्वा संवेहो जहेव एत्थ चेव असण्णिमज्झिमेसु तिसु गमएसु सो चेव अप्पणा उक्कोसकालट्ठितीओ जाओ जहा पढमगमएसु णवरं ठिती अणुबंधो जहन्नेणं पुव्वकोडी उक्कोसेण वि पुव्वकोडी कालादेसेणं जहन्नेणं पुव्वकोडी अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं पुव्वकोडीपुहुत्तमब्भहियाइं, सो चेव जहन्नकालट्ठिइएसु उववन्नो एस चेव वत्तव्वया णवरं कालादेसेणं जहन्नेणं पुव्वकोडी अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं चत्तारि पुव्वकोडीओ चउहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भहियाओ । सो चेव उक्कोसकालट्ठिईएसु उववन्नो जहन्नेणं तिपलिओवमट्ठिईएसु उक्कोसेण वि तिपलिओवमट्ठिईएसु अवसेसं तं चेव णवरं परिमाणं ओगाहणा जहा एतस्सेव तइयगमए भवादेसेणं दो भवग्गहणाइं, कालादेसेणं जहन्नेणं तिण्णि पलिओवमाइं पुव्वकोडीए अब्भहियाइं उक्कोसेणवि तिण्णि पलिओवमाइं पुव्वकोडीए अब्भहियाइं एवइयं जाव करेज्जा । जइ मणुस्सेहिंतो उववज्जंति किं सण्णिमणुस्सेहिंतो असण्णिमणुस्से ? गोयमा ! सण्णिमणुस्सेहिंतो असण्णिमणुस्से । असण्णिमणुस्से णं भंते ! जे भविए पंचिंदियतिरिक्खजोणिएसु उववज्जंति से णं भंते ! केवइयकालट्ठिईएसु उववज्जंति ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं पुव्वकोडी आउएसु उववज्जंति लद्धी से तिसु वि गमएसु जहेव पुढवीकाइएसु उववज्जमाणस्स संवेहो जहा एत्थ चेव असण्णिस्स पंचिंदियस्स मज्झिमेसु तिसु गमएसु तहेव णिरवसेसं भाणियव्वं । जदि सण्णिमणुस्स० किं संखेज्जवासाउयसण्णिमणुस्स० असंखेज्जवासाउय० ? गोयमा ! सण्णिमणुस्ससंखेज्जवासाउय णो असंखेज्जवासाउय । जइ संखेज्जवासा किं पज्जत्तसंखेज्जवासा अपज्जत्तसंखेज्जवासा ? गोयमा ! पज्जत्तसंखेज्जवासा अपज्जत्तसंखेज्जवासा । सण्णिमणुस्से णं भंते ! जे भविए पंचिंदियतिरिक्ख० जाव उववज्जित्तए से णं भंते ! केवइ ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमट्ठिईएसु उववज्जंति ते णं भंते ! लद्धी जहा एतस्सेव सण्णिमणुस्सपुढवीकाइएसु उववज्जमाणस्स पढमगमए जाव भवादेसोत्ति । कालादेसेणं जहन्नेणं अंतोमुहुत्ता उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं पुव्वकोडीपुहुत्तमब्भहियाइं सो चेव जहन्नकालट्ठिईएसु उववन्नो सच्चेव वत्तव्वया णवरं कालादेसेणं जहन्नेणं दो अंतोमुहुत्ता उक्कोसेणं चत्तारि पुव्वकोडीओ चउहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भहियाओ । सो चेव उक्कोसकालट्ठिइएसु उववन्नो जह-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सेणं तिन्नि पलिओवमट्ठिईएसु उक्कोसेण वि तिन्नि पलिओवमट्ठिईएसु सच्चेव वत्तव्वया णवरं ओगाहणा जहन्नेणं अंगुलपुहुत्तं उक्कोसेणं पंचधणुहसयाइं ठिई जहन्नेणं मासपुहुत्तं उक्कोसेणं पुव्वकोडी। एवं अणुबंधो वि भवादेसेणं दो भवग्गहणाइं कालादेसेणं जहन्नेणं तिन्नि पलिओवमाइं मासपुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं तिन्नि पलिओवमाइं पुव्वकोडीए अब्भहियाइं एवइयं जाव करेज्जा। सो चेव अप्पणा जहन्नकालट्ठिईओ जाओ जहा सन्निपंचिंदियतिरिक्खजोणिएसु उववज्जमाणस्स मज्झिमेसु तिसु गमएसु वत्तव्वया भणिया सच्चेव एयस्स वि मज्झिमएसु तिसु गमएसु णिरवसेसा भणिया णवरं परिमाणं उक्कोसेणं संखेज्जा वा उववज्जंति सेसं तं चेव। सो चेव अप्पणा उक्कोसकालट्ठिईओ जाओ सच्चेव पढमगमगा वत्तव्वया णवरं ओगाहणा जहन्नेणं पंच धणुहसयाइं उक्कोसेण वि पंचधणुहसयाइं ठिई अणुबंधो जहन्नेण पुव्वकोडी उक्कोसेण वि पुव्वकोडी। सेसं तं चेव जाव भवादेसो त्ति। कालादेसेणं जहन्नेणं पुव्वकोडी अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं तिन्नि पलिओवमाइं पुव्वकोडिपुहुत्तमब्भहियाइं एवइयं जाव करेज्जा सो चेव जहन्नकालट्ठिईएसु उववन्नो एस चेव वत्तव्वया णवरं कालादेसेणं जहन्नेणं पुव्वकोडी अंतोमुहुत्तमब्भहिया उक्कोसेणं चत्तारि पुव्वकोडीओ चउहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भहियाओ सो चेव उक्कोसकालट्ठिईएसु उववन्नो जहन्नेणं तिन्नि पलिओवमाइं उक्कोसेण वि तिन्नि पलिओवमाइं एस चेव लद्धी जहेव सत्तमगमए। भवादेसेणं दो भवग्गहणाइं कालादेसेणं जहन्नेणं तिन्नि पलिओवमाइं पुव्वकोडीए अब्भहियाइं उक्कोसेण वि तिन्नि पलिओवमाइं पुव्वकोडीए अब्भहियाइं ९। जइ देवेहिंतो उववज्जंति किं भवणवासिदेवेहिंतो उववज्जंति वाणमंतरजोइसियवेमाणियदेवेहिंतो उववज्जंति? गोयमा! भवणवासिदेवेहिंतो वि उववज्जंति जाव वेमाणियदेवेहिंतो वि उववज्जंति। जइ भवणवासिदेवेहिंतो उववज्जंति किं असुरकुमारभवणवासिदेवेहिंतो उववज्जंति जाव थणियकुमारभवणवासि०? गोयमा! असुरकुमार भवण० जाव थणियकुमारभवणवासि०। असुरकुमारेणं भंते! जे भविए पंचिंदियतिरिक्खजोणिएसु उववज्जित्तए से णं भंते! केवइय०? गोयमा! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तट्ठिईएसु उक्कोसेणं पुव्वकोडिट्ठिईएसु उववज्जेज्जा असुरकुमाराणं लद्धी णवसु वि गमएसु जहा पुढवीकाइएसु उववज्जमाणस्स एवं जाव ईसाणस्स देवस्स तहेव लद्धी भवादेसेणं सव्वत्थ अट्ठ भवग्गहणाइं उक्कोसेणं जहन्नेणं दोन्नि ठितिं संवेहं च जाणेज्जा। णागकुमाराणं भंते! जे भविए एस चेव वत्तव्वया णवरं ठितिं संवेहं च जाणेज्जा। एवं जाव थणियकुमारे जइ वाणमंतरेहिंतो उववज्जंति किं पिसायवाणमंतरे तहेव जाव वाणमंतरेणं भंते! जे भविए पंचिंदियतिरिक्ख० एवं चेव णवरं ठितिं संवेहं च जाणेज्जा। जइ जोइसिय० उववाओ तहेव जाव जोइसिएणं भंते! जे भविए पंचिंदियतिरिक्ख० एस चेव वत्तव्वया जहा पुढवीकाइयउद्देसए भवग्गहणाइं णव वि गमएसु अट्ठ जाव कालादेसेणं जहन्नेणं अट्ठभागपलिओवमं अंतोमुहुत्तमब्भहियं, उक्कोसेणं चत्तारि पलिओवमाइं चउहिं पुव्वकोडीहिं चउहि य वाससयसहस्सेहिं। अब्भहियाइं एवइयं जाव गतिरागतिं करेज्जा। णवसु गमएसु णवरं ठितिं संवेहं च जाणेज्जा। जइ वेमाणियदेव० किं कप्पोववन्नगवे० कप्पातीता? गोयमा! कप्पोववन्नगवेमाणिया णो कप्पातीता वेमाणिया। जइ कप्पोववन्नग जाव सहस्सारकप्पोववन्नगवेमाणियदेवेहिंतो उववज्जंति णो आणय० जाव णो अच्चुयकप्पोववन्नगवेमाणिया। सोहम्मगदेवाणं भंते! जे भविए पंचिंदियतिरिक्ख जाव उववज्जित्तए से णं भंते! केवइ? गोयमा! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तट्ठिईएसु उक्कोसेणं पुव्वकोडी आउएसु सेसं जहेव पुढवीकाइयउद्देसए णवसु वि गमएसु जहन्नेणं दो भवग्गहणाइं उक्कोसेणं अट्ठ भवग्गहणाइं ठितिं कालादेसं च जाणेज्जा एवं ईसाणदेवे वि। एवं एएणं कमेणं अवसेसा जाव सहस्सारो देवेसु उववातेयव्वो णवरं ओगाहणा जहा ओगाहणा संठाणे लेस्सा सणंकुमारमाहिंदबंभलोएसु एगा पम्हलेस्सा सेसाणं एगा सुक्कलेस्सा वेदे णो इत्थिवेदगा पुरिसवेदगा णो णपुंसगवेदगा। आउअणुबंधा जहा ठिइपदे सेसं जहेव ईसाणगाणं कायसंवेहं च जाणेज्जा। सेवं भंते! भंते! त्ति॥

(जच्चेव अप्पणो सट्ठाणे वत्तव्वया त्ति।) यैवात्मनः पृथिवीकायिकस्य स्वस्थाने पृथिवीकायिकलक्षणे उत्पद्यमानस्य वक्तव्यता भणिता सैवात्रापि वाच्या केवलं तत्र परिमाणद्वारे प्रतिसमयमसंख्येया उत्पद्यन्ते इत्युक्तमिह त्वेकादिरित्येतद्दर्शयति णवरमित्यादि॥ तथा पृथिवीकायिकेभ्यः पृथिवीकायिकस्योत्पद्यमानस्य संवेधद्वारे प्रथमद्वितीयचतुर्थपञ्चमगमेषूत्कर्षतोऽसंख्यातानि भवग्रहणान्युक्तानि शेषेषु त्वष्टौ भवग्रहणानि इह पुनरष्टावेव नवस्वपीति। तथा (कालादेसेणं उभयओ ठिइं करेज्जत्ति) कालादेशेन संवेधं पृथिवीकायिकस्य संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिरश्चश्च स्थित्या कुर्यात् तथाहि-प्रथमे गमे (कालादेसेणं जहन्नेणं दो अंतोमुहुत्ताइं ति) पृथिवीसत्कं पञ्चेन्द्रियसत्कं चेति उत्कर्षतोऽष्टाशीतिर्वर्षसहस्राणि पृथिवीसत्कानि चतस्रश्च पूर्वकोट्यः पञ्चेन्द्रियतिर्यक्सत्का एवं शेषगमेष्वप्यूह्यः संवेध इति (सव्वत्थ अप्पणो लद्धी भाणियव्वत्ति)। सर्वत्राप्कायिकादिष्वथ चतुरिन्द्रियान्तेभ्यः उत्पन्नानां पञ्चेन्द्रियतिर्यक्षूत्पादितानाम्। (अप्पणो त्ति) अप्कायादिसत्का लब्धिः परिमाणादिका भणितव्या सा च प्राक्तनसूत्रेभ्योऽवगन्तव्या। अथानन्तरोक्तमेवार्थं स्फुटतरमाह "जहेव पुढविकाइएसु उववज्जमाणाणमित्यादि" यथा पृथिवीकायिकेभ्यः पञ्चेन्द्रियतिर्यक्षूत्पद्यमानानां जीवानां लब्धिरुक्ता तथैवाप्कायिकादिभ्यश्चतुरिन्द्रियान्तेभ्य उत्पद्यमानानां सा वाच्येति भल्लङ्गिभ्यः पञ्चेन्द्रियतिर्यगुत्पादाधिकारे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइ भागट्ठिईएसुत्ति) अनेनासञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियाणामसंख्यातवर्षायुष्केषु पञ्चेन्द्रियतिर्यक्षूत्पत्तिरुक्ता (अवसेसं जहेवेत्यादि) अवशेषं परिमाणादिद्वारजातं यथा पृथिवीकायिकेषूत्पद्यमानस्यासञ्ज्ञिनः पृथिवीकायिकोद्देशकेऽभिहितं तथैवासञ्ज्ञिनः पञ्चेन्द्रियतिर्यक्षूत्पद्यमानस्य वाच्यमिति (उक्कोसेण पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं पुव्वकोडिपुहुत्तमब्भहियंति) कथमसञ्ज्ञी पूर्वकोट्यायुष्कः पूर्वकोट्यायुष्केष्वेव पञ्चेन्द्रियतिर्यक्षूत्पन्न इत्येवं सप्तसु भवग्रहणेषु सप्त पूर्वकोट्योऽष्टमभवग्रहणे तु मिथुनकतिर्यक्षु पल्योपमासंख्येयभागप्रमाणायुष्केषूत्पन्न इति, तृतीये गमे (उक्कोसेण संखेज्जा उववज्जंति त्ति)असंख्यातवर्षायुषां पञ्चेन्द्रियतिरश्चामसंख्यातानामभावादिति । चतुर्थगमे (उक्कोसेणं पुव्वकोडिआउएसु उववज्जेज्जत्ति)जघन्यायुरसञ्ज्ञी संख्यातायुष्केष्वेव पञ्चेन्द्रियतिर्यक्षूत्पद्यत इति कृत्वा पूर्वकोट्यायुष्केष्वित्युक्तम् ॥ अवसेसं जहा एयस्सेत्यादि ॥ इहावशेषं परिमाणादि एतस्यासञ्ज्ञितिर्यक्पञ्चेन्द्रियस्य (मज्झिमेसुत्ति) जघन्यस्थितिकगमेषु एवं जहा रयणप्पभाए इत्यादि तच्च संहननोच्चत्वादि अनुबन्धसंवेधान्तं नवरं परिमाणमित्यादि ॥ तच्चेदं [उक्कोसेणं संखेज्जा उववज्जंतित्ति]अथ सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियेभ्यः सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चमुत्पादयन्नाह " जदि सण्णित्यादि " (अवसेसं जहा एयस्स चेव सण्णिस्सत्ति) अवशेषं परिमाणादि तथैतस्यैव सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियतिरश्च इत्यर्थः केवलं तत्रावगाहना सप्तधनुरित्यादिकोक्ता इह तूत्कर्षतो योजनसहस्रमाना सा च मत्स्यादीनाश्रित्यावसेयेति । एतदेवाह नवरमित्यादि (उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं पुव्वकोडीपुहुत्तमब्भहियाइंति) अस्य च भावना प्रागिवेति ॥ लद्धी से जहा एयस्स चेवेत्यादि ॥ एतच्च तत्सूत्राऽनुसारेणैवावगन्तव्यम् । संवेहो जहेवेत्यादि (एत्थचेवत्ति) अत्रैव पञ्चेन्द्रियतिर्यगुद्देशके स चैवं भवादेशेन जघन्यतो द्वौ भवौ उत्कृष्टतस्त्वष्ट भवाः कालादेशेन जघन्येन द्वे अन्तर्मुहूर्ते उत्कर्षतस्त्रयः पूर्वकोट्योऽन्तर्मुहूर्त्तचतुष्काधिका एवं जघन्यस्थितिकः औधिकेष्वित्यत्र संवेधो जघन्यस्थितिको जघन्यस्थितिकेष्वित्यत्र चान्तर्मुहूर्तैः संवेधः जघन्यस्थितिक उत्कृष्टस्थितिकेष्वित्यत्र पुनरन्तर्मुहूर्तैः पूर्वकोटीभिश्च संवेध इति । नवमगमे नवरं परिमाणमित्यादि ॥ तत्र परिमाणमुत्कर्षतः संख्याता उत्पद्यन्ते, अवगाहना चोत्कर्षतो योजनसहस्रमिति। अथ मनुष्येभ्यस्तमुत्पादयन्नाह जइ मणुस्सेहिंतो इत्यादि (लद्धी से तिसु वि गमएसुत्ति) लब्धिः परिमाणादिका । (से) तस्यासञ्ज्ञिमनुष्यस्य त्रिष्वपि गमेष्वाद्येषु यतो नवानां गमानां मध्ये आद्या एवेह त्रयो गमाः सम्भवन्ति, जघन्यतोऽप्युत्कर्षतोऽपि चान्तर्मुहूर्त्तस्थितिकत्वात्तस्येति । (एत्थचेवत्ति) अत्रैव पञ्चेन्द्रियतिर्यगुद्देशकमसञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्भ्यः पञ्चेन्द्रियतिर्यगुत्पादाधिकारे (नो असंखेज्जवासाउएहिंतोत्ति) असंख्यातवर्षायुषो मनुष्या देवेष्वेवोत्पद्यन्ते न तिर्यक्ष्विति लद्धीसे इत्यादि लब्धिः परिमाणादिप्राप्तिः । (से) तस्य सञ्ज्ञिमनुष्यस्य यथैतस्यैव सञ्ज्ञिमनुष्यपृथिवीकायिकेषूत्पद्यमानस्य प्रथमगमेऽभिहिता, सा चैवं परिमाणतो जघन्येनैको द्वौ वोत्कर्षेण तु संख्याता एवोत्पद्यन्ते स्वभावतोऽपि संख्यातत्वात्सञ्ज्ञिमनुष्याणां तथा षड्विधसंहनिनः उत्कर्षतः पञ्चधनुःशतावगाहनाः षड्विधसंस्थानिनः षट् लेश्याः त्रिविधा दृष्टयः भजनया चतुर्ज्ञानाज्ञानत्रयज्ञानाश्च त्रियोगाः द्विविधोपयोगाश्चतुःसंज्ञाः चतुष्कषायाः , पञ्चेन्द्रियाः , षट् समुद्घाताः, सातासातवेदनास्त्रिविधा वेदाः जघन्येनान्तर्मुहूर्तस्थितयः उत्कर्षेण तु पूर्वकोट्यायुषः प्रशस्तेतराध्यवसानाः , । स्थितिः समानानुबन्धा, कायसंवेधस्तु भवादेशेन जघन्यतो द्वौ भवौ उत्कर्षतोऽष्टौ भवाः कालादेशेन तु लिखित एवास्ते । १ । द्वितीयगमे [सच्चेव वत्तव्वयात्ति] प्रथमगमोक्ता केवलमिह संवेधः कालादेशेन जघन्यतो द्वे अन्तर्मुहूर्ते उत्कर्षतश्चतस्रः पूर्वकोट्यश्चतुरन्तर्मुहूर्ताधिकाः तृतीयेऽप्येवं नवरम्[ओगाहणा जहण्णेणं अंगुलपुहुत्तात्ति]अनेनेदमवसितमङ्गुलपृथक्त्वाद्धीनतरशरीरा मनुष्या नोत्कृष्टायुष्केषु तिर्यक्षूत्पद्यन्ते, तथा (मासपुहुत्तंति) अनेनापि मासपृथक्त्वाद्धीनतरायुष्को मनुष्यो नोत्कृष्टस्थितिषु तिर्यक्षूत्पद्यत इत्युक्तं "जहा सण्णि पंचिंदियतिरिक्खजोणियस्स पंचिंदियतिरिक्खजोणिएसु उववज्जमाणस्सेत्यादि" सर्वथेह समता परिहारार्थमाह । नवरं परिमाणमित्यादि । तत्र परिमाणद्वारे उत्कर्षतोऽसंख्येयास्ते उत्पद्यन्त इत्युक्तमिह तु सञ्ज्ञिमनुष्याणां संख्येयत्वेन संख्येया उत्पद्यन्त इति वाच्यम् । संहननादिद्वाराणि तु यथा तत्रोक्तानि तथेहावगन्तव्यानि तानि चैवं तेषां षट् संहननानि, जघन्योत्कर्षाभ्यामङ्गुलासंख्येयभागमात्राऽवगाहना, षट् संस्थानानि, तिस्रो लेश्याः मिथ्यादृष्टी द्वे अज्ञाने कायरूपो योगो द्वावुपयोगौ, चतस्रः संज्ञा—श्चत्वारः कषायाः पञ्चेन्द्रियाणि, त्रयः समुद्घाता द्वे वेदने त्रयो वेदा जघन्योत्कर्षाभ्यामन्तर्मुहूर्तप्रमाणमायुरप्रशस्तान्यध्यवसायस्थानान्यायुःसमानोऽनुबन्धकायसंवेधस्तत्र भवादेसेणं जघन्येन द्वे भवग्रहणे उत्कर्षतस्त्वष्टौ भवग्रहणानि कालादेशेन तु सञ्ज्ञिमनुष्यपञ्चेन्द्रियतिर्यक्स्थित्यनुसारतोऽवसेय इति । अथ देवेभ्यः पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चमुत्पादयन्नाह-जइदेवेहींत्यादि [असुरकुमाराणलद्धीति] असुरकुमाराणां लब्धिःपरिमाणादिका[एवं जाव ईसाणदेवस्सत्ति]यथा पृथिवीकायिकेषु देवस्योत्पत्तिरुक्ता असुरकुमारादावीशानकदेवं चान्ते कृत्वैवं तस्य पञ्चेन्द्रियतिर्यक्षु सा वाच्या, ईशानकान्त एव च देवः पृथिवीकायिकेषूत्पद्यत इति कृत्वा यावदीशानकदेवस्येत्युक्तम असुरकुमाराणां चैवं लब्धिरेकाद्यसंख्येयान्तानां तेषां पञ्चेन्द्रियतिर्यक्षु समयेनोत्पादः । तथा संहननाभावः जघन्यतोऽङ्गुलासंख्येयभागमानोत्कर्षतः सप्तहस्तमाना भवधारणीयावगाहना इतरा तु जघन्यतोऽङ्गुलसंख्येयभागमाना, उत्कर्षतस्तु योजनलक्षमाना संस्थानसमचतुरस्रम्, उत्तरवैक्रियापेक्षया तु नानाविधं चतस्रो लेश्यास्त्रिविधा दृष्टिः त्रीणि ज्ञानान्यवश्यमज्ञानानि च भजनया, योगादीनि पञ्च पदानि प्रतीतानि समुद्घाता आद्याः पञ्च वेदना द्विविधो वेदो नपुंसकवर्ज्जः स्थितिर्दशवर्षसहस्राणि जघन्येतरा तु सातिरेकं सागरोपमं शेषद्वारद्वयं तु प्रतीतं संवेधं तु सामान्यत आह-भवादेसेणं सव्वत्थेत्यादि । नागकुमारादिवक्तव्यता तु सूत्रानुसारेणोपयुज्य वाच्या [ओगाहणा जहा ओगाहणा संठाणेति] अवगाहना यथा अवगाहनासंस्थाने प्रज्ञापनाया एकविंशतितमे पदे तत्र चैवं देवानामवगाहना " भवणवणजोइसी, सोहम्मीसाणे सत्त हुंति रयणीओ । एक्केक्कहाणिसेसे, दुदुगे य दुगे चउक्के ये" त्यादि ॥१॥ [जहाठितिपयत्ति] प्रज्ञापनायाश्चतुर्थपदे स्थितिश्च प्रतीतैवेति ।

मनुष्याणाम—

मणुस्साणं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! णेरइएहिंतो वि उववज्जंति जाव देवेहिंतो वि उववज्जंति एवं उववातो जहा पंचिंदियतिरिक्खजोणिए उद्देसए जाव तमा पुढवी णेरइएहिंतो वि उववज्जंति णो अहेसत्तमाए पुढविणेरइएहिंतो उववज्जंति । रयणप्पभापुढ-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वी णेरइयाणं भंते ! जे भविए मणुस्सेसु उववज्जंति से णं भंते ! केवइयकाल०? गोयमा ! जहन्नेणं मासपुहुत्तट्ठिईएसु उक्कोसेणं पुव्वकोडी आउएसु अवसेसा वत्तव्वया जहा पंचिंदियतिरिक्खजोणिएसु उववज्जंति तहेव णवरं परिमाणं जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा उक्कोसेणं संखेज्जा वा उववज्जंति जहा तहिं अंतोमुहुत्तेहिं तहा इह मासपुहुत्तेहिं संवेहं च करेज्जा सेसं तं चेव जहा रयणप्पभाए वत्तव्वया तहा सक्करप्पभाए वि णवरं जहन्नेणं वासपुहुत्तट्ठिईएसु उक्कोसेणं पुव्वकोडी ओगाहणा लेस्सा णाणट्ठिई अणुबंधसंवेहं णाणत्तं च जाणेज्जा जहेव तिरिक्खजोणियउद्देसए एवं जाव तमा पुढवीणेरइए । जइ तिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति ? किं एगिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति जाव पंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति गो.मा ! एगिंदियतिरिक्खजोणिए भेदो जहा पंचिंदियतिरिक्खजोणियउद्देसए णवरं तेऊ वाऊ पडिसेहेयव्वा सेसं तं चेव जाव पुढविकाइए णं भंते ! जे भविए मणुस्सेसु उववज्जित्तए से णं भंते ! केवइ०? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तट्ठिईएसु उक्कोसेणं पुव्वकोडी आउएसु उववज्जिज्जा । ते णं भंते ! जीवा एवं जहेव पंचिंदियतिरिक्खजोणिएसु उववज्जमाणस्स पुढवीकाइयवत्तव्वया सच्चेव इह वि उववज्जमाणस्स णवसु वि गमएसु णवरं तइयछट्ठणवमेसु गमएसु परिमाणं जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा उक्कोसेणं संखेज्जा वा उववज्जंति जहेव अप्पणा जहन्नकालट्ठिईओ भवइ तहेव पढमगमए अज्झवसाणा पसत्था वि अप्पसत्था वि । बिइयगमए अप्पसत्था तइयगमए पसत्था भवंति सेसं तं चेव णिरवसेसं । जइ आउकाइए एवं वाउकाइएण वि एवं वणस्सइकाइएण वि एवं जाव चउरिंदियाणं असन्निपंचिंदियतिरिक्खजोणिया सन्निपंचिंदियतिरिक्खजोणिया असन्निमणुस्सा सन्निमणुस्सा एए सव्वे वि । जहा पंचिंदियतिरिक्खजोणियउद्देसए तहेव भाणियव्वा णवरं एताणि चेव परिमाणं अज्झवसाणणाणत्ताणि जाणिज्जा । पुढवीकाइयस्स एत्थ चेव उद्देसए भणियाणि सेसं तहेव णिरवसेसं । जइ देवेहिंतो उववज्जंति किं भवणवासिदेवेहिंतो उववज्जंति वाणमंतरजोइसियवेमाणियदेवेहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! भवणवासिदेवेहिंतो वि उववज्जंति जाव वेमाणियदेवेहिंतो वि उववज्जंति । जइ भवणवासिदेवेहिंतो उववज्जंति किं असुरकुमारभवणवासिदेवेहिंतो उववज्जंति जाव थणियकुमारभवणवासि०? गोयमा ! असुरकुमारभवणवासि० जाव थणियकुमार० उववज्जंति । असुरकुमारे णं भंते ! जे भविए मणुस्सेसु उववज्जित्तए से णं भंते ! केवइयकालट्ठिईएसु ? गोयमा ! जहन्नेणं मासपुहुत्तट्ठिईएसु उक्कोसेणं पुव्वकोडिआउएसु एवं जा चेव पंचिंदियतिरिक्खजोणियउद्देसए वत्तव्वया सा चेव एत्थ वि भाणियव्वा णवरं जहा तहिं जहन्नगं अंतोमुहुत्तट्ठिईएसु तहा इह वि मासपुहुत्तट्ठिईएसु परिमाणं जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा उक्कोसेणं संखेज्जा वा उववज्जंति सेसं तं चेव जाव ईसाणदेवोत्ति । एयाणि चेव णाणत्ताणि सणंकुमारादीया जाव सहस्सारोत्ति जहेव पंचिंदियतिरिक्खजोणियउद्देसए णवरं परिमाणं जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा उक्कोसेणं संखेज्जा वा उववज्जंति । उववातो जहन्नेणं वासपुहुत्तट्ठिईएसु उक्कोसेणं पुव्वकोडी आउएसु उववज्जंति सेसं तं चेव संवेहं मासपुहुत्तपुव्वकोडीसु करेज्जा । सणंकुमारट्ठिई चउगुणिया अट्ठावीसं सागरोवमा भवंति, माहिंदे ताणि चेव सातिरेगाणि । बंभलोए चत्तालीसं लंतए छप्पण्णं महासुक्के अट्ठसट्ठि सहस्सारे बावत्तरिं सागरोवमाइं एसा उक्कोसा ठिई भणिया जहण्णट्ठितिं पि चउगुणेज्जा । आणयदेवे णं भंते ! जे भविए मणुस्सेसु उववज्जित्तए से णं भंते ! केवइ कालट्ठिईएसु ? जहन्नेणं वासपुहुत्तट्ठिईएसु उववज्जेज्जा उक्कोसेणं पुव्वकोडिट्ठिईएसु । ते णं भंते ! एवं जहेव सहस्सारो देवाणं वत्तव्वया णवरं ओगाहणा ठितिं अणुबंधं जाणेज्जा सेसं तं चेव । भवादेसेणं जहन्नेणं दो भवग्गहणाइं उक्कोसेणं छ भवग्गहणाइं कालादेसेणं जहन्नेणं अट्ठारससागरोवमाइं वासपुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं सत्तावन्नं सागरोवमाइं तिहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं एवइयं कालं सेवेज्जा । एवं णववि गमगा णवरं ठिई अणुबंधसंवेहं च जाणेज्जा एवं जाव अच्चुयदेवे णवरं ठिई अणुबंधसंवेहं च जाणेज्जा । पाणयदेवस्स ठिई तिगुणा सट्ठिं सागरोवमाइं आरणस्स तेवट्ठिं सागरोवमाइं अच्चुयस्स छावट्ठिं सागरोवमाइं जइ कप्पातीतवेमाणियदेवेहिंतो उववज्जंति किं गेवेज्जगकप्पातीतदेवेहिंतो उववज्जंति अणुत्तरोववाइयकप्पातीतवेमाणियदेवेहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! गेवेज्जगकप्पातीत अणुत्तरोववाइयवेमाणिय० । जइ गेविज्जगकप्पातीतवेमाणियदेवे० किं हेट्ठिमगेवेज्जग कप्पातीतवेमाणिय० जाव उवरिम २ गेवेज्जग० गोयमा ! हेट्ठिमहेट्ठिमगेविज्जगकप्पातीत जाव उवरिम २ गेवेज्जगकप्पातीत० । गेवेज्जगदेवे णं भंते ! जे भविए मणुस्सेसु उववज्जित्तए से णं भंते ! केवइयकालट्ठितीएसु उववज्जेज्जा ? गोयमा ! जहन्नेणं वासपुहुत्तट्ठिईएसु उक्कोसेणं पुव्वकोडी आउएसु उववज्जेज्जा अवसेसं जहा आणयदेवस्स वत्तव्वया णवरं ओगाहणा एगे भवधारणिज्जसरीरए से जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं दो रयणीओ संठाणं एगे भवधारणिज्जसरीरए से समचउरंससंठाणसंठिए, पंच समुग्घाया पन्नत्ता तं जहा वेयणासमुग्घाए जाव तेयगसमुग्घाए ! णो चेव णं वेउव्वियतेय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गसमुग्घाएहिं समोहणिंसु वा समोहणंति वा समोहणिस्संति वा ठितिं अणुबंधा जहन्नेणं बावीसं सागरोवमाइं उक्कोसेणं एक्कतीसं सागरोवमाइं सेसं तं चेव कालादेसेणं बावीसं सागरोवमाइं वासपुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं तेणउत्तिं सागरोवमाइं तिहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं एवइयं कालं एवं सेसेसु वि अट्ठगमएसु णवरं ठिती संवेहं च जाणेज्जा जइ अणुत्तरोववाइयकप्पातीतवेमाणियदेवेहिंतो उववज्जंति किं विजयअणुत्तरोववाइयवेमाणिय० वेजयंतअणुत्तरोववाइय जाव सव्वट्ठसिद्धगअणुत्तरोववाइयकप्पातीत० ? गोयमा ! विजयअणुत्तरोववाइयकप्पातीत जाव सव्वट्ठसिद्धगअणुत्तरोववाइय । विजयवेजयंतजयंतअपराजितदेवेणं भंते ! जे भविए मणुस्सेसु उवव० से णं भंते ! केवइकालट्ठिइएसु एवं जहेव गेवेज्जगदेवाणं णवरं ओगाहणा जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं एगा रयणी सम्मद्दिट्ठी णो मिच्छद्दिट्ठी णो सम्मामिच्छद्दिट्ठी णाणी णो अण्णाणी णियमं तिण्णाणी तं जहा—आभिणिबोहियणाणी सुअणाणी ओहिणाणी ठिई जहन्नेणं एक्कतीसं सागरोवमाइं उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं सेसं तं चेव भवादेसेणं जहन्नेणं दो भवग्गहणाइं उक्कोसेणं चत्तारि भवग्गहणाइं कालादेसेणं जहन्नेणं एक्कतीसं सागरोवमाइं वासपुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं छावट्ठिं सागरोवमाइं दोहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं एवइयं जाव करेज्जा । एवं सेसा वि अट्ठ गमगा भाणियव्वा, णवरं ठिईअणुबंधसंवेहं च जाणेज्जा । सेसं तं चेव सव्वट्ठसिद्धगदेवेणं भंते ! जे भविए मणुए सच्चेव विजयादिदेववत्तव्वया भाणियव्वा णवरं ठिई अजहण्णमणुक्कोसं तेत्तीसं सागरोवमाइं एवं अणुबंधो वि सेसं तं चेव भवादेसेणं दो भवग्गहणाइं कालादेसेणं जहण्णेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं वासपुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं पुव्वकोडीए अब्भहियाइं एवइयं जाव करेज्जा सो चेव जहण्णकालट्ठिईएसु उववन्नो एस चेव वत्तव्वया णवरं कालादेसेणं जहन्नेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं वासपुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेण वि तेत्तीसं सागरोवमाइं वासपुहुत्तमब्भहियाइं सो चेव उक्कोसकालट्ठिईएसु उववण्णो एस चेव वत्तव्वया णवरं कालादेसेणं जहण्णेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं पुव्वकोडिए अब्भहियाइं उक्कोसेण वि तेत्तीसं सागरोवमाइं पुव्वकोडीए अब्भहियाइं एवइयं एए चेव तिन्नि गमा सेसा ण भण्णइ, सेवं भंते भंते त्ति ॥

[जहन्नेणं मासपुहुत्तट्ठिइएसु त्ति] अनेनेदमुक्तं रत्नप्रभानारका जघन्यं मनुष्यायुर्बध्नन्तो मासपृथक्त्वाद्धीनतरं न बध्नन्ति तथाविधपरिणामाभावादित्येवमन्यत्रापि कारणं वाच्यं, तथा परिमाणद्वारे (उक्कोसेणं संखेज्जा उववज्जंति त्ति) नारकाणां सम्मूर्छिमेषु मनुष्येषूत्पादाभावाद्गर्भजानां च सङ्ख्यातत्वात-तिवर्तित्वात्संख्याता उत्पद्यन्त इति (जहा तहिं अंतोमुहुत्तेहिं तहा इहं मासपुहुत्तेहिं संवेहं करेज्जत्ति) यथा तत्र पञ्चेन्द्रियतिर्यगुद्देशके रत्नप्रभानारकेभ्यः उत्पद्यमानानां पञ्चेन्द्रियतिरश्चां जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तस्थितिकत्वादन्तर्मुहूर्तैः संवेधः कृतः तथेह मनुष्योद्देशके मनुष्याणां जघन्यस्थितिमाश्रित्य मासपृथक्त्वैः संवेधः कार्य इति भावः तथाहि "कालादेसेणं जहन्नेणं दसवाससहस्साइं मासपुहुत्तमब्भहियाइं इत्यादि" शर्कराप्रभादिवक्तव्यता तु पञ्चेन्द्रियतिर्यगुद्देशकानुसारेणावसेयेति । अथ तिर्यग्भ्यो मनुष्यमुत्पादयन्नाह—जइतिरिक्खेत्यादि इह पृथिवीकायादुत्पद्यमानस्य पञ्चेन्द्रियतिरश्चो या वक्तव्यतोक्ता सैव तत उत्पद्यमानस्य मनुष्यस्यापि एतदेवाह-एवं जहेवेत्यादि विशेषं पुनराह—नवरं 'तइएसुत्यादि' तत्र तृतीये औघिकेभ्यः पृथिवीकायिकेभ्यः उत्कृष्टस्थितिषु मनुष्येषु ये उत्पद्यन्ते उत्कृष्टतः सङ्ख्याता एव भवन्ति, यद्यपि मनुष्याः सम्मूर्छिमसंग्रहादसङ्ख्याता भवन्ति तथाप्युत्कृष्टस्थितयः पूर्वकोट्यायुषः संख्याता एव पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चस्त्वसंख्याता अपि भवन्तीति, एवं षष्ठे नवमे चेति 'जाहेअप्पणेत्यादि' अयमर्थो मध्यमगमानां प्रथमगमे औघिकेषूत्पद्यमानतायामित्यर्थः । अध्यवसानानि प्रशस्तानि उत्कृष्टस्थितिकत्वेनोत्पत्तावप्रशस्तानि च जघन्यस्थितिकत्वेनोत्पत्तौ (बीयगमएत्ति) जघन्यस्थितिकस्य जघन्यस्थितिषूत्पत्तावप्रशस्तानि प्रशस्ताध्यवसानेभ्यो जघन्यस्थितिकत्वेनानुत्पत्तेरिति, एवं तृतीयोऽपि वाच्यः । अप्कायिकादिभ्यश्च तदुत्पादमतिदेशेनाह—एवम आउक्काइयाणवीत्यादि—देवाधिकारे—एवं जाव ईसाणो देवोत्ति—यथा असुरकुमारा मनुष्येषु पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकोद्देशकवक्तव्यता अतिदेशेनोत्पादिता एवं नागकुमारादय ईशानान्ता उत्पादनीयाः समानवक्तव्यत्वाद्यथा च तत्र जघन्यस्थितेः परिमाणस्य च नानात्वमुक्तं तथैतेष्वप्यत एवाह—"एयाणि चेव नाणत्ताणित्ति" सनत्कुमारादीनां तु वक्तव्यतायां विशेषोऽस्तीति तं भेदेन दर्शयति—सणंकुमारेत्यादि (एसा उक्कोसट्ठिई भणियत्ति) यदा औघिकस्य उत्कृष्टस्थितिकस्यश्च देवस्य औघिकादिमनुष्येषूत्पद्यते तदोत्कृष्टा स्थितिर्भवति सा चोत्कृष्टसंवेधविवक्षायां चतुर्भिर्मनुष्यभवैः क्रमेणान्तरिता क्रियते ततश्च सनत्कुमारादिदेवानामष्टाविंशत्यादिसागरोपममाना भवति सप्तादिसागरोपमप्रमाणत्वात्तस्या इति । यदा पुनर्जघन्यस्थितिकदेवस्य औघिकादिमनुष्येषूत्पद्यते तदा जघन्यस्थितिर्भवति सा तथैव चतुर्गुणिता सनत्कुमारादीनामष्टादिसागरोपममाना भवति द्व्यादिसागरोपममानत्वात्तस्या इति । आणयदेवेणमित्यादि उक्कोसेणं छब्भवग्गहणाइंति ॥ त्रीणि दैविकानि त्रीण्येव क्रमेण मनुष्यसत्कानीत्येवं षट् [कालादेसेणं जहन्नेणं अट्ठारस सागरोवमाइंति] आनतदेवलोके जघन्यस्थितेरेवंभूतत्वात् [उक्कोसेणं सत्तावण्णं सागरोवमाइंति) आनते उत्कृष्टस्थितेरेकोनविंशतिसागरोपमप्रमाणाया त्रयगुणनेन सप्तपञ्चाशत्सागरोपमाणि भवन्तीति. ग्रैवेयकाधिकारे [एगेभवधारणिज्जए सरीरेत्ति] कल्पातीतदेवानामुत्तरवैक्रियं नास्तीत्यर्थः " नोचेवणं वेउव्विएत्यादि " ग्रैवेयकदेवानामाद्याः पञ्च समुद्घाता लब्ध्यपेक्षया सम्भवन्ति, केवलं वैक्रियतैजसाभ्यां न ते समुद्घातं कृतवन्तः कुर्वन्ति करिष्यन्ति वा प्रयोजनाभावादित्यर्थः [जहन्नेणं बावीसं सागरोवमाइंति] प्रथमग्रैवेयके जघन्येन द्वाविंशतिस्तेषां भवति [उक्कोसेणं एक्कतीसंति) नवग्रैवेयके उत्कर्षत एकत्रिंशतामिति [वि-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कोसेणं तेणउतिं सागरोवमाइं तिहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं ति] उत्कृष्टतः षट् भवग्रहणानि ततश्च त्रिषु देवभवग्रहणेषूत्कृष्टस्थितिषु त्रिभिः सागरोपमाणामेकत्रिंशद्भिः त्रिनवतिस्तेषां स्यात् त्रिभिश्चोत्कृष्टमनुष्यजन्मभिस्तिस्रः पूर्वकोट्यो भवन्तीति सर्वार्थसिद्धिकदेवाधिकारे-आद्या एव त्रयो गमा भवन्ति सर्वार्थसिद्धिकदेवानां जघन्यस्थितेरभावान्मध्यमं गमत्रयं न भवत्युत्कृष्टस्थितेरजायमानत्वादन्तिममिति । भ० २४ श० २१ उ० ।

देवानां व्यन्तराणाम् ।

वाणमंतराणं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति किं णेरइएहिंतो उववज्जंति तिरिक्खजोणिय० एवं जहेव णागकुमारउद्देसए असन्नि तहेव णिरवसेसं । जइ सण्णिपंचिंदिय० जाव असंखेज्जवासाउय सण्णिपंचिंदिय० जे भविए वाणमंतर० से णं भंते ! केवइयकालं ? गोयमा ! जहन्नेणं दसवाससहस्सट्ठिईएसु उक्कोसेणं पलिओवमट्ठिईएसु सेसं तं चेव जहा णागकुमारउद्देसए जाव कालादेसेणं जहन्नेणं साइरेगाइं पुव्वकोडी दसहिं वाससहस्सेहिं अब्भहियाइं उक्कोसेणं चत्तारि पलिओवमाइं एवइयं कालं जाव करेज्जा सो चेव जहन्नकालट्ठिईएसु उववन्नो जहेव णागकुमाराणं बिइयगमे वत्तव्वया २ । सो चेव उक्कोसट्ठिईएसु उववन्नो जहन्नेणं पलिओवमट्ठिईएसु उक्कोसेण वि पलिओवमट्ठिईएसु एस चेव वत्तव्वया णवरं ठिई से जहन्नेणं पलिओवमं उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं संवेहो जहन्नेणं दो पलिओवमाइं उक्कोसेणं चत्तारि पलिओवमाइं एवइयं जाव करेज्जा ३ । मज्झिमगा तिण्णि वि जहेव णागकुमारेसु पच्छिमेसु तिसु गमएसु तं चेव जहा णागकुमारुद्देसए णवरं ठितिं संवेहं च जाणेज्जा ६ । संखेज्जवासाउय तहेव णवरं ठिई अणुबंधो संवेहं च उभओ ठिईए जाणेज्जा ९ जइ मणुस्साय असंखेज्जवासाउय जहेव णागकुमाराणं उद्देसए तहेव वत्तव्वया णवरं तइयगमए ठिई जहन्नेणं पलिओवमं उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं ओगाहणा जहन्नेणं गाउयं उक्कोसेणं तिण्णि गाउयाइं सेसं तं चेव संवेहो से जहा एत्थ चेव उद्देसए असंखेज्जवासाउय सण्णिपंचिंदियाणं संखेज्जवासाउय सण्णिमणुस्सा जहेव णागकुमारुद्देसए णवरं वाणमंतरा ठिई संवेहं च जाणेज्जा सेवं भंते ! भंतेत्ति ॥

तत्रासङ्ख्यातवर्षायुः सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियाधिकारे [उक्कोसेणं चत्तारि पलिओवमाइंति] त्रिपल्योपमायुः सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यक् पल्योपमायुर्व्यन्तरो जात इत्येवं चत्वारि पल्योपमानि द्वितीयगमे [जहेव णागकुमाराणं बीयगमे वत्तव्वयत्ति] सा च प्रथमगमसमानैव नवरं जघन्यत उत्कर्षतश्च स्थितिर्दशवर्षसहस्राणि संवेधस्तु [कालाएसेणं जहन्नेणं साइरेगा पुव्वकोडी दसवाससहस्सेहिं अब्भहिया उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं दसहिं वाससहस्सेहिं अब्भहियाइंति] तृतीयगमे [ठिई से जहन्नेणं पलिओवमंति] यद्यपि सातिरेका पूर्वकोटी जघन्यतोऽसङ्ख्यातवर्षायुषां तिरश्चामायुरस्ति तथापीह पल्योपममुक्तं पल्योपमायुष्कव्यन्तरेषूत्पादयिष्यमाणत्वात् यतोऽसङ्ख्यातवर्षायुः स्वायुषो बृहत्तरायुष्केषु देवेषु नोत्पद्यते एतच्च प्रागुक्तमेवेति । [ओगाहणा जहन्नेणं गाउयंति] येषां पल्योपमायुस्तेषामवगाहना गव्यूतं ते च सुषमदुःषमायामिति । भ० २४ श० २२ उ० ।

ज्योतिष्काणाम् ।

जोइसियाणं कओहिंतो उववज्जंति किं णेरइयभेदो जाव सण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति णो असण्णिपंचिंदियतिरिक्ख० जइ सण्णिपंचिंदिय० किं संखेज्जवासाउय सण्णिपंचिंदियतिरिक्ख० असंखेज्जवासाउय सण्णिपंचिंदियतिरिक्ख० ? गोयमा ! संखेज्जवासाउय सण्णिपंचिंदियतिरिक्ख० असंखेज्जवासाउय सण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो वि उववज्जंति । असंखेज्जवासाउय सण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिएणं भंते ! जे भविए जोइसिएसु उववज्जित्तए से णं भंते ! केवइयकालट्ठिईएसु उववज्जेज्जा ? गोयमा ! जहन्नेणं अट्ठभागपलिओवमट्ठिईएसु उववज्जेज्जा अवसेसं जहा असुरकुमारुद्देसए णवरं ठिई जहन्नेणं अट्ठभागपलिओवमं उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं एवं अणुबंधोवि सेसं तहेव णवरं कालादेसेणं जहन्नेणं दो अट्ठभागपलिओवमाइं उक्कोसेणं चत्तारि पलिओवमाइं वाससयसहस्समब्भहियाइं एवइयं कालं जाव करेज्जा ।१। सो चेव जहन्नकालट्ठिईएसु उववन्नो जहन्नेणं अट्ठभागपलिओवमट्ठिईएसु उक्कोसेणवि अट्ठभागपलिओवमट्ठिईएसु उवव० एस चेव वत्तव्वया णवरं कालादेसं च जाणेज्जा ।२। सो चेव उक्कोसकालट्ठिईएसु उववन्नो एस चेव वत्तव्वया णवरं ठिई जहन्नेणं पलिओवमवाससयसहस्समब्भहियं उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं एवं अणुबंधोवि कालादेसेणं जहन्नेणं दो पलिओवमाइं दोहिं वाससयसहस्सेहिं अब्भहियाइं उक्कोसेणं चत्तारि पलिओवमाइं वाससयसहस्समब्भहियाइं ।३। सो चेव अप्पणा जहन्नकालट्ठिईओ जाओ ? गोयमा ! जहन्नेणं अट्ठभागपलिओवमट्ठिईएसु उक्कोसेणवि अट्ठभागपलिओवमट्ठिईएसु उववज्जेज्जा । तेणं भंते ! जीवा एगसमए एस चेव वत्तव्वया णवरं ओगाहणा जहन्नेणं धणुहपुहुत्तं उक्कोसेणं सातिरेगाइं अट्ठारसधणुहसयाइं ठिई जहन्नेणं अट्ठभागपलिओवमं उक्कोसेणवि अट्ठभागपलिओवमं एवं अणुबंधो वि सेसं तहेव । कालादेसेणं जहन्नेणं दो अट्ठभागपलिओवमाइं उक्कोसेणवि दो अट्ठभागपलिओवमाइं एवइयं जहन्नकालट्ठिईयस्स एस चेव एक्को गमो । ६ । सो चेव अप्पणा उक्कोसकालट्ठिईओ जाओ सच्चेव ओहिया वत्तव्वया णवरं ठिई जहन्नेणं तिण्णि पलिओवमाइं उक्कोसेणवि तिण्णि पलिओवमाइं एवं अणुबंधोवि सेसं तं चेव एवं पच्छिमा तिण्णि गमगा णेयव्वा णवरं संवेहं च जाणेज्जा । एते सत्त गमगा । जइ संखेज्जवासाउय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मणिपंचिंदियसंखेज्जवासाउयाणं जहेव असुरकुमारेसु उववज्जमाणाणं तहेव णववि गमा जाणियव्वा णवरं जोइसियट्ठिई संवेहं च जाणेज्जा, सेसं तहेव णिरवसेसं ए। जइ मणुस्सेहिंतो उववज्जंति भेदो तहेव जाव असंखेज्जवासाउय सण्णिमणुस्सेणं भंते ! जे भविए जोइसिएसु उववज्जित्तए सेणं भंते ! एवं जहा असंखेज्जवासाउय सण्णिपंचिंदियजोइसिएसु चेव उववज्जमाणस्स सत्त गमगा तहेव मणुस्साणवि णवरं ओगाहणाविसेसो पढमेसु तिसु गमएसु ओगाहणा जहण्णेणं साइरेगाइं णवधणुहसयाइं उक्कोसेणं तिण्णि गाउयाइं मज्झिमगमए जहण्णेणं साइरेगाइं णवधणुहसयाइं उक्कोसेणवि साइरेगाइं नव धणुहसयाइं पच्छिमेसु तिसुवि गमएसु जहण्णेणं तिण्णि गाउयाइं उक्कोसेणवि तिण्णि गाउयाइं सेसं तहेव णिरवसेसं जाव संवेहोत्ति । जइ संखेज्जवासाउय सण्णिमणुस्से संखेज्जवासाउयाणं जहेव असुरकुमारेसु उववज्जमाणाणं तहेव णव गमगा जाणियव्वा णवरं जोइसियट्ठिति संवेहं च जाणेज्जा । सेसं तहेव णिरवसेसं सेवं भंते ! भंतेत्ति ॥

(जहण्णेणं दो अट्ठभागपलिओवमाइंति) द्वौ पल्योपमाष्टभागावित्यर्थः तत्रैकोऽसंख्यातायुष्कसम्बन्धी । द्वितीयस्तु तारकः ज्योतिष्कसम्बन्धीति । (उक्कोसेणं चत्तारि पलिओवमाइं वाससयसहस्समब्भहियाइंति) त्रीण्यसंख्यातायुः सत्कानि एकं च सातिरेकं चन्द्रविमानज्योतिष्कसत्कमिति तृतीयगमे (ठिई जहण्णेणं पलिओवमं वाससयसहस्समब्भहियंति) यद्यपि असंख्यातवर्षायुषां सातिरेका पूर्वकोटी च घन्यतः स्थितिर्भवति तथापीह पल्योपमं वर्षलक्षाभ्यधिकमुक्तमेतत्प्रमाणायुष्केषु ज्योतिष्केषूत्पत्स्यमानत्वाद्यतोऽसंख्यातवर्षायुः स्वायुषो बृहत्तरायुष्केषु देवेषु नोत्पद्यते एतच्च प्रागुपदर्शितमेव । चतुर्थे गमे जघन्यकालस्थितिकोऽसंख्यातवर्षायुरौघिकेषु ज्योतिष्केषूत्पन्नः तत्र चासंख्यातायुषो यद्यपि पल्योपमाष्टभागाद्धीनतरमपि जघन्यत आयुष्कं भवति तथापि ज्योतिषां ततो हीनतरं नास्ति स्वायुस्तुल्यायुर्बन्धकाश्चोत्कर्षतोऽसंख्यातवर्षायुष इतीह जघन्यतः स्थितिकास्ते पल्योपमाष्टभागायुषो भवन्ति, ते च विमलवाहनादिकुलकरकालात्पूर्वतरकालभुवो हस्त्यादय औघिकज्योतिष्का अप्येवंविधा एव तदुत्पत्तिस्थानं भवन्तीति । " जहण्णेणं अट्ठभागपलिओवमट्ठिईएसु इत्याद्युक्तम् " "ओगाहणा जहण्णेणं धणुपुहत्तंति" यदुक्तम् तत्पल्योपमाष्टभागमानायुषो विमलवाहनादिपूर्वतरकालभाविनो हस्त्यादिव्यतिरिक्तक्षुद्रकायचतुष्पदानपेक्ष्यावगन्तव्यम् । उक्कोसेणं साइरेगाइं अट्ठारसधणुसयाइंति) एतच्च विमलवाहनकुलकरपूर्वतरकालभाविहस्त्यादीनपेक्ष्योक्तम्, यतो विमलवाहनो नवधनुःशतमानावगाहनः तत्कालहस्त्यादयश्च तद्द्विगुणाः । यत्पूर्वतरकालभाविनश्च ते सातिरेकतत्प्रमाणा भवन्तीति (जहण्णकालट्ठिइयस्स एस चेव एक्को गमोत्ति) । पञ्चमषष्ठगमयोरत्रैवान्तर्भावात् यतः पल्योपमाष्टभागमानायुषो मिथुनकतिरश्चः पञ्चमगमे षष्ठगमे च पल्योमाष्टभागमानमेवायुर्बध्नन्तीति प्राग्भावितं चैतदिति । सप्तमादिगमेषूत्कृष्टैव त्रिपल्योपमलक्षणतिरश्चः स्थितिः ज्योतिष्कस्य तु सप्तमे द्विधा प्रतीतैव अष्टमे पल्योपमाष्टभागरूपा नवमे सातिरेकपल्योपमरूपा संवेधश्चैतदनुसारेण कार्यः (एते सत्तगमगात्ति) प्रथमास्त्रयो मध्यमत्रयस्थाने एकः पश्चिमास्तु त्रय एवेत्येवं सप्त असंख्यातवर्षायुष्कमनुष्याधिकारे (ओगाहणा साइरेगाइं नवधणुसयाइंति) विमलवाहनकुलकरपूर्वकालीनमनुष्यापेक्षया । (तिन्निगाउयाइंति) एतच्चैकान्तसुषमादिकालभाविमनुष्यापेक्षया (मज्झिमगमएत्ति) पूर्वोक्तनीतेस्त्रिष्वप्येक एवायमिति ॥ भ२४ श० २३ उ० ॥ (असंयता अकामनिर्जया मृत्वा देवलोकेषूपपद्यन्ते इति वाणमंतरशब्दे वक्ष्यते)

एवं वेमाणियावि सोहम्मीसाणगा भाणियव्वा एवं । सणंकुमारगावि नवरं असंखेज्जवासाउय अकम्मभूमिगवज्जेहिंतो उववज्जंति एवं जाव सहस्सारकप्पोवगवेमाणियदेवा भाणियव्वा ॥ आणयदेवाणं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति किं नेरइएहिंतो जाव देवेहिंतो उववज्जंति? गोयमा ! नो नेरइएहिंतो नो तिरिक्खजोणिएहिंतो मणुस्सेहिंतो उववज्जंति नो देवेहिंतो । जइ मणुस्सेहिंतो उववज्जंति किं सम्मुच्छिममणुस्सेहिंतो गब्भवक्कंतिय मणुस्सेहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! गब्भवक्कंतियमणुस्सेहिंतो उववज्जंति नो सम्मुच्छिममणुस्सेहिंतो उववज्जंति । जदि गब्भवक्कंतियमणुस्सेहिंतो उववज्जंति । किं कम्मभूमिगब्भवक्कंतियमणुस्सेहिंतो उववज्जंति अकम्मभूमिगब्भवक्कंतिएहिंतो अंतरदिवएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! कम्मभूमिगब्भवक्कंतियमणुस्सेहिंतो उववज्जंति नो अकम्मभूमिगेहिंतो नो अंतरदिवगेहिंतो । जदि कम्मभूमिगब्भवक्कंतियमणुस्सेहिंतो उववज्जंति किं संखेज्जवासाउएहिंतो असंखेज्जवासाउएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! संखेज्जवासाउएहिंतो नो असंखेज्जवासाउएहिंतो । जदि संखेज्जवासाउयकम्मभूमिगब्भवक्कंतियमणुस्सेहिंतो उववज्जंति किं पज्जत्तएहिंतो अपज्जत्तएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! पज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमिगब्भवक्कंतियमणुस्सेहिंतो उववज्जंति नो अपज्जत्तएहिंतो उववज्जंति । जइ पज्जत्तसंखेज्जवासाउयकम्मभूमिगब्भवक्कंतियमणुस्सेहिंतो उववज्जंति किं सम्मादिट्ठी पज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमिगब्भवक्कंतियमणुस्सेहिंतो उववज्जंति ? मिच्छादिट्ठी पज्जत्तगसंखेज्जवासाउएहिंतो सम्मामिच्छदिट्ठी पज्जत्तगसंखेज्जवासाउएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! सम्मदिट्ठी पज्जत्तसंखेज्जवासाउयकम्मभूमिगब्भवक्कंतियमणुस्सेहिंतो वि मिच्छदिट्ठी वासाउयकम्मभूमिगब्भवक्कंतिएहिंतो वि नो सम्मामिच्छादिट्ठी पज्जत्तएहिंतो उववज्जंति ॥ जदि सम्मादिट्ठी पज्जत्तसंखेज्जवासाउयकम्मभूमिगब्भवक्कंतियमणुस्सेहिंतो उववज्जंति किं संजयसम्मादिट्ठी पज्जत्तएहिंतो असंजयसम्मादिट्ठी पज्जत्तएहिंतो संजयासंजयसम्मदिट्ठी पज्जत्तसंखेज्जेहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! तिहिंतो वि उववज्जंति । एवं जाव अच्चुयगो कप्पो एवं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गेविज्जदेवावि नवरं संजयासंजया एते पडिसेहेयव्वा। एवं जहेव गेविज्जगदेवा तहेव अणुत्तरोववाइयावि नवरं इमं नाणत्तं संजया चेव। जदि संजयसम्मदिट्ठी पज्जत्तसंखेज्जवासाउयकम्मभूमिगब्भवक्कंतियमणुस्सेहिंतो उववज्जंति किं पमत्तसंजयसम्मदिट्ठी पज्जत्तएहिंतो अप्पमत्तसंजएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! अप्पमत्तसंजएहिंतो उववज्जंति नो पमत्तसंजएहिंतो उववज्जंति। जदि अपमत्तसंजएहिंतो उववज्जंति किं इड्ढिपत्तअपमत्तसंजएहिंतो अणिड्ढिपत्तअपमत्तसंजएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! दोहिंतो वि उववज्जंति। प्रज्ञा० ६ पद।

सोहम्मगदेवाणं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति किं णेरइएहिंतो उववज्जंति भेदो जहा जोइसियउद्देसए असंखेज्जवासाउयसण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिएणं भंते ! जे भविए सोहम्मगदेवेसु उववज्जित्तए से णं भंते ! केवइयकाल०? गोयमा ! जहण्णेणं पलिओवमट्ठिईएसु उववज्जेज्जा उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमट्ठिईएसु उववज्जेज्जा। ते णं भंते। अवसेसं जहा जोइसिएसु उववज्जमाणस्स णवरं सम्मदिट्ठी वि मिच्छदिट्ठी वि णो सम्मामिच्छादिट्ठी। णाणीवि अण्णाणीवि दो णाणा दो अण्णाणा णियमं। ठिई जहण्णेणं पलिओवमं उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं एवं अणुबंधो वि सेसं तहेव। कालादेसेणं जहण्णेणं दो पलिओवमाइं उक्कोसेणं छप्पलिओवमाइं एवइयं।१। सो चेव जहण्णकालट्ठिईएसु उववण्णो एस चेव वत्तव्वया णवरं कालादेसेणं जहण्णेणं दो पलिओवमाइं उक्कोसेणं चत्तारि पलिओवमाइं एवइयं जाव करेज्जा।२। सो चेव उक्कोसकालट्ठिईएसु उववण्णो जहण्णेणं तिपलिओवमाइं उक्कोसेणवि तिपलिओवमाइं एस चेव वत्तव्वया णवरं ठिई जहण्णेणं तिपलिओवमाइं उक्कोसेणं वि तिण्णि पलिओवमाइं सेसं तं चेव कालादेसेणं जहण्णेणं छप्पलिओवमाइं उक्कोसेण वि छप्पलिओवमाइं एवइयं कालं जाव।३। सो चेव अप्पणा जहण्णकालट्ठिईओ जाओ जहण्णेणं पलिओवमट्ठिईएसु उक्कोसेणवि पलिओवमट्ठिईएसु एस चेव वत्तव्वया णवरं ओगाहणा जहण्णेणं धणुहपुहुत्तं उक्कोसेणं दो गाउयाइं ठिई जहण्णेणं पलिओवमं उक्कोसेणवि पलिओवमं सेसं तहेव कालादेसेणं जहण्णेणं दो पलिओवमाइं उक्कोसेण वि दो पलिओवमाइं एवइयं।६। सो चेव अप्पणा उक्कोसकालट्ठिईओ जाओ आदिल्लगमगसरिसा तिण्णि गमगा णेयव्वा णवरं ठितिं कालादेसं च जाणेज्जा।९। जइ संखेज्जवासाउयसण्णिपंचिंदियसंखेज्जवासाउयस्स जहेव असुरकुमारेसु उववज्जमाणस्स तहेव णववि गमगा णवरं ठितिं संवेहं च जाणेज्जा जाहे अप्पणा जहण्णकालट्ठिईओ भवइ ताहे तिसु गमएसु सम्मदिट्ठी वि मिच्छादिट्ठीवि णो सम्मामिच्छादिट्ठी। दो णाणा दो अण्णाणा णियमं सेसं तं चेव ९ जइ मणुस्सेहिंतो उववज्जंति भेदो जहेव जोइसिएसु उववज्जमाणस्स जाव असंखेज्जवासाउयसण्णिमणुस्सेणं भंते ! जे भविए सोहम्मकप्पे देवत्ताए उववज्जित्तए एवं जहेव असंखेज्जवासाउयस्स सण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिए सोहम्मे कप्पे उववज्जमाणस्स तहेव सत्त गमगा णवरं आदिल्लेसु दोसु गमएसु ओगाहणा जहण्णेणं गाउयं उक्कोसेणं तिण्णि गाउयाइं। तइयगमे जहण्णेणं तिण्णि गाउयाइं उक्कोसेणवि तिण्णि गाउयाइं चउत्थगमए जहण्णेणं गाउयं उक्कोसेणवि गाउयं। पच्छिमएसु तिसु गमएसु जहण्णेणं तिण्णि गाउयाइं उक्कोसेण वि तिण्णि गाउयाइं सेसं तहेव। णिरवसेसं। जइ संखेज्जवासाउयसण्णिमणुस्से एवं संखेज्जवासाउयसण्णिमणुस्साणं जहेव असुरकुमारेसु उववज्जमाणाणं तहेव णव गमगा भाणियव्वा णवरं सोहम्मगदेवट्ठितिं संवेहं च जाणेज्जा सेसं तं चेव।

ईसाणदेवाणं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति ईसाणदेवाणं एस चेव सोहम्मगदेवसरिसा वत्तव्वया णवरं असंखेज्जवासाउयसण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणियस्स जेसु ठाणेसु सोहम्मे उववज्ज पलिओवमट्ठिई तेसु ठाणेसु इहं सातिरेगं पलिओवमं कायव्वं। चउत्थगमे ओगाहणा जहण्णेणं धणुहपुहुत्तं उक्कोसेणं साइरेगाइं दो गाउयाइं सेसं तं चेव। असंखेज्जवासाउयसण्णिमणुस्सस्सवि तहेव ठिई जहा पंचिंदियतिरिक्खजोणियस्स। असंखेज्जवासाउयस्स ओगाहणा वि जेसु ठाणेसु गाउयं तेसु ठाणेसु इहं सातिरेगं गाउयं सेसं तहेव। संखेज्जवासाउयाणं तिरिक्खजोणियाणं मणुस्साण य जहेव सोहम्मे उववज्जमाणाणं तहेव णिरवसेसं णव गमगा णवरं ईसाणे ठितिं संवेहं च जाणेज्जा।

सणंकुमारगदेवाणं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति उववाओ जहा सक्करप्पभा पुढवी णेरइयाणं जाव पज्जत्तसंखेज्जवासाउयसण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं भंते ! जे भविए सणंकुमारदेवेसु उववज्जित्तए अवसेसा परिमाणादीया भवादेसपज्जवसाणा सच्चेव वत्तव्वया भाणियव्वा जहा सोहम्मे उववज्जमाणस्स णवरं सणंकुमारट्ठितिं संवेहं च जाणेज्जा। जाहे य अप्पणा जहण्णकालट्ठिईओ भवइ ताहे तिसु गमएसु पंच लेस्साओ आदिल्लाओ कायव्वाओ सेसं तं चेव। जइ मणुस्सेहिंतो उववज्जंति मणुसाणं जहेव सक्करप्पभाए उववज्जमाणाणं तहेव णव वि गमा णवरं सणंकुमारट्ठितिं संवेहं च जाणेज्जा। माहिंदगदेवाणं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति जहा सणंकुमारदेवाणं वत्तव्वया तहा माहिंदगदेवाणंवि भाणियव्वा णवरं माहिंदगदेवाणं ठितिं सातिरेगा भाणियव्वा सच्चेव एवं बंभलोगदेवाणवि वत्तव्वया णवरं बंभलोगट्ठितिं संवेहं च जाणेज्जा एवं जाव सहस्सारो णवरं ठितिं संवेहं च जाणेज्जा। लंतगादीणं जहण्णकालट्ठिईयस्स तिरिक्खजोणियस्स तिसु वि गमएसु छप्पि लेस्साओ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कायव्वाओ संघयणाइं बंभलोगलंतएसु पंच आदिल्लगाणि महासुक्कसहस्सारेसु चत्तारि तिरिक्खजोणियाणवि मणुस्साण वि सेसं तं चेव। आणयदेवाणं भंते! कओहिंतो उववज्जंति, उववाओ जहा सहस्सारे देवाणं णवरं तिरिक्खजोणिया खोडेयव्वा जाव पज्जत्तसंखेज्जवासाउय सन्निमणुस्साणं भंते! जे भविए आणयदेवेसु उववज्जित्तए । मणुस्साणं वत्तव्वया जहेव सहस्सारेसु उववज्जमाणाणं णवरं तिन्नि संघयणाणि सेसं तहेव, अणुबंधो भवादेसेणं जहन्नेणं तिन्नि भवग्गहणाइं उक्कोसेणं सत्त भवग्गहणाइं कालादेसेणं जहन्नेणं अट्ठारससागरोवमाइं दोहिं वासपुहुत्तेहिं अब्भहियाइं उक्कोसेणं सत्तावन्नं सागरोवमाइं चउहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं एवइयं । एवं सेसावि अट्ठ गमगा भाणियव्वा णवरं ठितिं संवेहं च जाणेज्जा सेसं तहेव । एवं जाव अच्चुयदेवा णवरं ठितिं संवेहं च जाणेज्जा। चउसु चेव संघयणा तिन्नि आणयादीसु । गेवेज्जगदेवाणं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति एस चेव वत्तव्वया णवरं दो संघयणा ठितिं संवेहं च जाणेज्जा। विजयवेजयंत जयंत अपराजितदेवाणं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति एस चेव वत्तव्वया णिरवसेसा जाव अणुबंधोत्ति णवरं पढमं संघयणं सेसं तहेव । भवादेसेणं जहन्नेणं तिन्नि भवग्गहणाइं उक्कोसेणं पंच भवग्गहणाइं, कालादेसेणं जहन्नेणं एकतीसं सागरोवमाइं दोहिं वासपुहुत्तेहिं अब्भहियाइं उक्कोसेणं छावट्ठि सागरोवमाइं तिन्नि पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं एवइयं जाव एवं सेसावि अट्ठ गमगा भाणियव्वा । णवरं ठितिं संवेहं च जाणेज्जा । मणूसे लद्धी णवसु वि गमएसु जहा गेवेज्जेसु उववज्जमाणस्स णवरं पढमं संघयणं सव्वट्ठसिद्धगदेवाणं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति उववाओ जहेव विजयादीणं जाव सेणं भंते! केवइयकालट्ठिईएसु उववज्जेज्जा ? गोयमा ! जहन्नेणं तेत्तीसं सागरोवमट्ठिई उक्कोसेण वि तेत्तीसं सागरोवमट्ठिईएसु अवसेसा जहा विजयाइसु उववज्जंता णवरं भवादेसेणं तिन्नि भवग्गहणाइं, कालादेसेणं जहन्नेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं दोहिं वासपुहुत्तेहिं अब्भहियाइं उक्कोसेणवि तेत्तीसं सागरोवमाइं दोहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं एवइयं सो चेव अप्पणा जहण्णकालट्ठिईओ जाओ एस चेव वत्तव्वया णवरं ओगाहणाठिईओ रयणिपुहुत्तं च वासपुहुत्ताणि सेसं तहेव संवेहं च जाणेज्जा । सो चेव अप्पणा उक्कोसकालट्ठिईओ जाओ एस चेव वत्तव्वया णवरं ओगाहणा जहन्नेणं पंचधणुहसयाइं उक्कोसेण वि पंचधणुहसयाइं ठिई जहण्णेणं पुव्वकोडी उक्कोसेणवि पुव्वकोडी सेसं तहेव जाव भवादेसोत्ति । कालादेसेणं जहण्णेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं दोहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं उक्कोसेण वि तेत्तीसं सागरोवमाइं दोहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं एवइयं कालं सेवेज्जा। एवइयं कालं गतिरागतिं करेज्जा । एए तिण्णि गमगा सव्वट्ठसिद्धगदेवाणं भंते ! भंते त्ति । भगवं ! गोयमा ! जाव विहरइ ।

(जहन्नेणं पलिओवमट्ठिईएसुत्ति) सौधर्मे जघन्येनान्यस्यायुषोऽसत्वात् । (उक्कोसेणं तिपलिओवमट्ठिईएसुत्ति) यद्यपि सौधर्मे बहुतरमायुष्कमस्ति तथाप्युत्कर्षतस्त्रिपल्योपमायुष एव तिर्यञ्चो भवन्ति तदनतिरिक्तं च देवायुर्बध्नन्तीति ॥ (दो पलिओवमाइंति एकं तिर्यग्भवसत्कमपरं च देवसत्कम् (छपलिओवमाइंति) त्रीणि पल्योपमानि तिर्यग्भवसत्कानि त्रीण्येव देवभवसत्कानीति। सो चेव अप्पणा जहन्नकालट्ठिईओ जाओ इत्यादि ॥ गमत्रयेऽप्येको गमो भावना तु प्रदर्शितैव । (जहन्नेणंधणुहपुहत्तंति) क्षुद्रकायचतुष्पदापेक्षम् (उक्कोसेणं दोगाउयाइंति) यत्र क्षेत्रे काले वा गव्यूतमाना मनुष्या भवन्ति तत्सम्बन्धिनो हस्त्यादीनपेक्ष्योक्तमिति । संख्यातायुः पञ्चेन्द्रियतिर्यगधिकारे जाहे अप्पणा जहन्नकालट्ठिईओ भवइ इत्यादौ (नो सम्मामिच्छादिट्ठीति), मिश्रदृष्टिर्निषेध्यो जघन्यस्थितिकस्य तदसम्भवाद् अजघन्यस्थितिकेषु दृष्टित्रयस्यापि भावादिति । तथा ज्ञानद्वारेऽपि द्वे ज्ञाने वा अज्ञाने वा स्यातां जघन्यस्थितेरन्यज्ञानाज्ञानयोरभावादिति । अथ मनुष्याधिकारे " नवरं आइल्लएसु दोसु गमएसु इत्यादि " आद्यगमयोर्हि पूर्वत्र धनुः पृथक्त्वं जघन्यावगाहनोत्कृष्टा तु गव्यूतषट्कमुक्तेह तु "जहन्नेण गाउयमित्यादि " तृतीयगमे तु जघन्यत उत्कर्षतश्च षट् गव्यूतान्युक्तानीह तु त्रीणि चतुर्थगमे तु प्राग्जघन्यतो धनुःपृथक्त्वमुत्कर्षतस्तु द्वे गव्यूते उक्ते इह तु जघन्यत उत्कर्षतश्च गव्यूतमेवमन्यदप्यूह्यम् । ईशानकदेवाधिकारे (साइरेगं पलिओवमं कायव्वंति) ईशाने सातिरेकपल्योपमजघन्यस्थितित्वात् तथा (चउत्थगमए ओगाहणा जहन्नेणं धणुहपुहुत्तंति) ये सातिरेकपल्योपमायुषस्तिर्यञ्चः सुषमांशोद्भवाः क्षुद्रतरकायास्तानपेक्ष्योक्तम् (उक्कोसेणं साइरेगाइं दो गाउयाइंति) एतच्च यत्र काले सातिरेकगव्यूतमाना मनुष्या भवन्ति तत्कालभवान् हस्त्यादीनपेक्ष्योक्तम् । तथा ॥ (जेसु ठाणेसु गाउयंति) सौधर्मदेवाधिकारे येषु स्थानेष्वसंख्यातवर्षायुर्मनुष्याणां गव्यूतमुक्तम् (तेसु ठाणेसु इहं सातिरेगं गाउयंति) जघन्यतः सातिरेकपल्योपमस्थितिकत्वादीशानकदेवस्य प्राग्व्यदेवस्थित्यनुसारेण चाऽसंख्यातवर्षायुर्मनुष्याणां स्थितिसद्भावात्तदनुसारेणैव च तेषामवगाहनाभावादिति । सनत्कुमारदेवाधिकारे जाहे य अप्पणजहन्नेत्यादौ (पंच लेस्सा आदिल्लाओ कायव्वाओत्ति) जघन्यस्थितिकस्तिर्यङ् सनत्कुमारे समुत्पित्सुर्जघन्यस्थितिसामर्थ्यात्कृष्णादीनां चतसृणां लेश्यानामन्यतरस्यां परिणतो भूत्वा मरणकाले पद्मलेश्यामासाद्य म्रियते ततस्तत्रोत्पद्यते यतोऽग्रेतनभवलेश्यापरिणामे सति जीवः परभवं गच्छतीत्यागमः । तदेवमस्य पञ्च लेश्या भवन्ति लंतगादीणं जहन्नेत्यादि एतद्भावना चानन्तरोक्तन्यायेन कार्या (संघयणाइं बंभलोयलंतएसु पंच आइल्लगाणित्ति) छेदवर्तिसंहननस्य चतुर्णामेव देवलोकानां गमने निबन्धनत्वात् यदाह–"छेवट्ठेण उग्गमइ, चत्तारि उ जाव आइमा कप्पा । वड्ढेज्ज कप्पजुअलं, संघयणे कीलियाईएत्ति " ॥ १ ॥ (जहन्नेण तिन्नि भवग्गहणाइंति) आनतादिदेवो मनुष्येष्वेवोत्पद्यते, तेष्वेव च प्रत्यागच्छतीति जघन्यतो भवत्रयं भवतीति एवं भवसप्तकमप्युत्कर्षतो भावनीयमिति (उक्कोसेणं सत्तावण्णमित्यादि) आनतदेवानामुत्कर्षत एकोनविंशतिसागरोपमाण्यायुस्तस्य च भवत्रयभावेन सप्तपञ्चाश-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्सागरोपमाणि मनुष्यभवचतुष्टयसम्बन्धिपूर्वकोटीचतुष्काभ्यधिकानि भवन्तीति ॥ भ०२४ श० २४ उ० ॥ जी० ॥ कर्म० ॥ एष संक्षेपार्थः सामान्यतो नरकोपपातचिन्तायां रत्नप्रभोपपातचिन्तायां च देवनारकपृथिव्यादिपञ्चकविकलेन्द्रियत्रिकाणांतथाऽसंख्येयवर्षायुष्कचतुष्पदखेचराणां शेषाणामपि चापर्याप्तकानां तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां तथा मनुष्याणां संमूर्च्छिमानां गर्भव्युत्क्रान्तिकानामप्यकर्मभूमिजानामन्तरद्वीपजानां कर्मभूमिजानामप्यसंख्येयवर्षायुषां संख्येयवर्षायुषामपि अपर्याप्तानां प्रतिषेधः शेषाणां विधानम् । शर्करप्रभायां संमूर्च्छिमानामपि प्रतिषेधः वालुकप्रभायां भुजपरिसर्पाणामपि पङ्कप्रभायां खेचराणामपि धूमप्रभायां चतुष्पदानामपि तमःप्रभायां उरःपरिसर्पाणामपि सप्तमपृथिव्यां स्त्रीणामपि भवनवासिष्वुपपातचिन्तायां देवनारकपृथिव्यादिपञ्चकविकलेन्द्रियत्रिकापर्याप्ततिर्यक्पञ्चेन्द्रियसंमूर्च्छिमापर्याप्तगर्भव्युत्क्रान्तिकमनुष्याणां प्रतिषेधः शेषाणां विधानम् । पृथिव्यब्वनस्पतिषु सकलनैरयिकसनत्कुमारादिदेवानां तेजोवायुद्वित्रिचतुरिन्द्रियेषु सर्वनारकसर्वदेवानां प्रतिषेधः तिर्यक्पञ्चेन्द्रियेष्वानतादिदेवानां मनुष्येषु सप्तमपृथिवीनारकतेजोवायूनां व्यन्तरेषु देवनारकपृथिव्यादिपञ्चकविकलेन्द्रियत्रिकापर्याप्ततिर्यक्पञ्चेन्द्रियसंमूर्च्छिमापर्याप्तगर्भव्युत्क्रान्तिकमनुष्याणां ज्योतिष्केषु सम्मूर्च्छिमतिर्यक्पञ्चेन्द्रियासंख्येयवर्षायुष्कखचरान्तरद्वीपजमनुष्याणामपि प्रतिषेधः । एवं सौधर्मेशानयोरपि । सनत्कुमारादिषु सहस्रारपर्यन्तेष्वकर्मभूमिजासंख्येयवर्षायुष्ककर्मभूमिजानामपि प्रतिषेधः आनतादिषु तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामपि विजयादिषु मिथ्यादृष्टिमनुष्याणामपीति । गतं पञ्चमद्वारम् । प्रज्ञा० ६ पद ।

११ कृतयुग्मादिविशेषणैकेन्द्रियाणाम्—

कडजुम्मकडजुम्मएगिंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति किं णेरइय जहा उप्पलुद्देसए तहा उववाओ तेणं भंते ! जीवा एगसमएणं केवइया उववज्जंति ? गोयमा ! सोलस वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अनंता वा उववज्जंति तेणं भंते ! जीवा समए समए पुच्छा ? गोयमा ! तेणं अणंता समए समए अवहीरमाणा २ अणंताहिं ओसप्पिणीउस्सप्पिणीहिं अवहीरंति णो चेव णं अवहिरिया सिया उच्चत्तं जहा उप्पलुद्देसए । तेणं भंते जीवा णाणावरणिज्जस्स कम्मस्स किं बंधगा पुच्छा, गोयमा ! बंधगा णो अबंधगा एवं सव्वेसिं वाउयवज्जाणं आउयस्स बंधगा वा अबंधगा वा तेणं भंते ! जीवा णाणावरणिज्जकम्मस्स वेदगा पुच्छा, गोयमा ! वेदगा णो अवेदगा एवं सव्वेसिं तेणं भंते ! किं जीवा किं सातावेदगा असातावेदगा पुच्छा, गोयमा ! सातावेदगा वा असातावेदगा वा एवं खलु उप्पलुद्देसगपरिवाडी सव्वेसिं कम्माणं, उदई णो अणुदई छण्हं कम्माणं उदीरगा णो अणुदीरगा वेदणिज्जा उयाणं उदीरगा वा अणुदीरगा वा तेणं भंते ! जीवा किं कण्हलेस्सा पुच्छा, गोयमा ! कण्हलेस्सा वा णीललेस्सा वा काउलेस्सा वा तेउलेस्सा वा णो सम्मदिट्ठी णो सम्मामिच्छादिट्ठी मिच्छादिट्ठी णो णाणी अण्णाणी णियमं दु अण्णाणी तं जहा मतिअण्णाणी य सुयअण्णाणी य णो मणजोगी णो वइजोगी कायजोगी सागारोवउत्ता वा अणागारोवउत्ता वा । तेसिणं भंते ! जीवाणं सरीरा कइवण्णा जहा उप्पलुद्देसए सव्वत्थ पुच्छा, गोयमा ! उप्पलुद्देसए उसासगा वा णीसासगा वा णो उस्सासगा णीसासगा वा आहारगा वा अणाहारगा वा णो विरया अविरया णो विरयाविरया सकिरिया णो अकिरिया । सत्तविहबंधगा वा अट्ठविहबंधगा वा आहारसण्णोवउत्ता वा जाव परिग्गहसण्णोवउत्ता वा कोहकसाई जाव लोभकसाई वा णो इत्थीवेदगा णो पुरिसवेदगा णपुंसगवेदगा वा इत्थीवेदबंधगा वा णपुंसगवेदबंधगा वा णो सण्णी असण्णी सइंदिया णो अणिंदिया तेणं भंते ! कडजुम्म ॥ २ ॥ एगिंदियाओत्ति कालओ केव चिरं होइ ? गोयमा ! जहण्णेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं अणंतं कालं अणंताओ ओसप्पिणीउस्सप्पिणीओ वणस्सइकालो संवेहो ण भण्णइ आहारो जहा उप्पलुद्देसए णवरं णिव्वाघाएणं छद्दिसिं वाघायं पडुच्च सिय तिदिसिं सिय चउदिसिं सिय पंचदिसिं सेसं तहेव ठिई जहण्णेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं बावीसं वाससहस्साइं समुग्घाया आदिल्ला, चत्तारि मारणंतियसमुग्घाया तेणं समोहयावि असमोहया वि मरंति उव्वट्टणा जहा उप्पलुद्देसए । अह भंते ! सव्वपाणा जाव सव्वसत्ता कडजुम्मा २ एगिंदियसत्ताए उववण्णपुव्वा ? हंता गोयमा ! असइं अदुवा अणंतखुत्तो ? कडजुम्मतेओग एगिंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति उववाओ तहेव तेणं भंते ! जीवा एगपुच्छा, गोयमा ! एगूणवीसा वा असंखेज्जा वा अणंता वा उववज्जंति सेसं जहा कडजुम्माणं जाव अणंतखुत्तो २ कडजुम्मदावरजुम्मएगिंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति उववातो तहेव । तेणं भंते ! जीवा एगपुच्छा, गोयमा ! अट्ठारस वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा उववज्जंति सेसं तहेव जाव अणंतखुत्तो ॥ ३ ॥ कडजुम्मकलिओग एगिंदियाणं भंते ! कओ उववातो तहेव परिमाणं सत्तरस वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा सेसं तहेव जाव अणंतखुत्तो ॥ ४ ॥ तेओगकडजुम्मएगिंदियाणं भंते ! कओ उववातो तहेव परिमाणं बारस वा असंखेज्जा वा अणंता वा उववज्जंति सेसं तहेव जाव अणंतखुत्तो ॥ ५ ॥ तेओगतेओगएगिंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति उववाओ तहेव परिमाणं पण्णरस संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा सेसं तहेव जाव अणंतखुत्तो ।६। एवं एएसु सोलससु महाजुम्मेसु एक्को गमओ णवरं परिमाणे णाणत्तं तेओ य दावरजुम्मेसु परिमाणं चउद्दस वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा उववज्जंति ।७। तेओगकलिओगतेरस वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा उववज्जंति ।८।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्जंति ॥ ८ ॥ दावरजुम्मकडजुम्मेसु अट्ठ वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा उववज्जंति।९। दावरजुम्मतेओगेसु एक्कारस वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा उववज्जंति । १० । दावरजुम्मदावरजुम्मेसु दस वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा उववज्जंति ॥ ११ ॥ दावरजुम्मकलिओगेसु णव वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा उववज्जंति ॥ १२ ॥ कलिओगकडजुम्मेसु चत्तारि वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा उववज्जंति १३ । कलिओगतेओगेसु सत्त वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा उववज्जंति ।१४। कलिओगदावरजुम्मेसु छ वा संखेज्जा असंखेज्जा वा अणंता वा उववज्जंति । १५ । कलिओगकलिओगएगिंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति उववाओ तहेव परिमाणं पंच वा संखेज्जा वा असंखेज्जा अणंता वा उववज्जंति सेसं तहेव जाव अणंतखुत्तो सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥

(जहा उप्पलुद्देसए त्ति) उत्पलोद्देशक एकादशशते प्रथम इह च यत्र क्वचित्पदे उत्पलोद्देशकातिदेशः क्रियते तत्तत एवावधार्यम् (संवेहो न भन्नइत्ति) उत्पलोद्देशके उत्पलजीवस्योत्पादो विवक्षितस्तत्र च पृथिवीकायिकादिकायां नरापेक्षया संवेधः सम्भवति इह त्वेकेन्द्रियाणां कृतयुग्म २ विशेषणानामुत्पादोऽधिकृतस्ते च वस्तुतोऽनन्ता एवोत्पद्यन्ते तेषां चोद्वृत्तेरसम्भवात्संबन्धो न सम्भवति। यच्च षोडशादीनामेकेन्द्रियेषूत्पादोऽभिहितोऽसौ त्रसकायिकेभ्यो ये तेषूत्पद्यन्ते तदपेक्ष एव न पुनः पारमार्थिकोऽनन्तानां प्रतिसमयं तेषूपपादादिति ॥ भ०३५ श०१ उ० (उत्पलोद्देशकः वणस्सइ शब्दे)

प्रथमसमयकृतः ॥

पढमसमयकडजुम्म २ एगिंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति ? गोयमा ! तहेव एवं जहेव पढमो उद्देसओ तहेव सोलसखुत्तो बितिओ वि भाणियव्वो तहेव सव्वं णवरं इमाणि दस णाणत्ताणि ओगाहणा जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेण वि अंगुलस्स असंखेज्जइभागं आउयकम्मस्स णो बंधगा अबंधगा आउयस्स णो उदीरगा अणुदीरगा णो उस्सागा णो णिस्सासगा णो उस्सासणिस्सासगा । सत्तविहबंधगा वा णो अट्ठविहबंधगा वा। तेणं भंते ! पढमसमयकडजुम्म २ एगिंदिया तिकालओ केव चिरं होइ ? गोयमा ! एक्कं समयं एवं ठितीए वि समुग्घाया आदिल्ला दोणि । समोहयाए पुच्छिज्जंति उवट्टणा ण पुच्छिज्जइ सेसं तहेव सव्वं णिरवसेसं सोलससु वि गमएसु जाव अणंतखुत्तो । सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥

अथ द्वितीयस्तत्र (पढमसमयकडजुम्म २ एगिंदियत्ति) एकेन्द्रियत्वेनोत्पत्तौ प्रथमः समयो येषां ते तथा ते च कृतयुग्मकृतयुग्माश्चेति प्रथमसमयकृतयुग्मकृतयुग्माः ते च ते एकेन्द्रियाश्चेति समासोऽतस्ते (सोलसखुत्तोत्ति) षोडशकृत्वः पूर्वोक्तान् षोडशराशिभेदानाश्रित्येत्यर्थः (णाणत्ताइंति) पूर्वोक्तस्य विलक्षणत्वस्थानानि, ये पूर्वोक्ता भावास्ते केचिन्प्रथमसमयोत्पन्नानां न सम्भवन्तीति कृत्वा तत्रावगाहनाद्योद्देशकबादरवनस्पत्यपेक्षया महती उक्ताऽनूत् इह तु प्रथमसमयोत्पन्नत्वेन साकल्येति नानात्वमेवमन्यान्यपि स्वधियोह्यानीति भ० ३५ श० २ उ० ॥

अप्रथमसमयकृतः

अपढमसमयकडजुम्म २ एगिंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति एसो जहा पढमुद्देसो सोलसहि वि जुम्मेसु तहेव णेयव्वो जाव कलिओगकलिओगत्ताए जाव अणंतखुत्तो- सेवं भंते ! भंते ! त्ति

तृतीयोद्देशके तु (अपढमसमयकडजुम्म २ एगिंदियत्ति) इहाप्रथमः समयो येषामेकेन्द्रियत्वेनोत्पन्नानां द्व्यादयः समया विग्रहश्च पूर्ववत्, एते च यथा सामान्येनैकेन्द्रियास्तथा भवन्तीत्यत एवोक्तम् "एसो जहा पढम उद्देसो इत्यादीति" भ.३५ श०३उ.

चरमसमयकृतः ॥

चरिमसमयकडजुम्म २ एगिंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति एवं जहेव पढमसमय उद्देसओ णवरं देवा न उववज्जंति तेउलेस्सा ण पुच्छंति सेसं तहेव सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥

चतुर्थे तु (चरिमसमयकडजुम्म २ एगिंदियत्ति) इह चरमसमयशब्देनैकेन्द्रियाणां मरणसमयो विवक्षितः स च परभवायुषः प्रथमसमय एव तत्र च वर्तमानाश्चरमसमयाः संख्येयाश्च कृतयुग्मकृतयुग्मा ये एकेन्द्रियास्ते तथा ॥ (एवं जहा पढमसमयउद्देसओत्ति) यथा प्रथमसमयैकेन्द्रियोद्देशस्तथा चरमसमयैकेन्द्रियोद्देशकोऽपि वाच्यस्तत्र हि औधिकोद्देशकापेक्षया दश नानात्वान्युक्तानीहापि तानि तथैव समानस्वरूपत्वात्तत्प्रथमसमयचरमसमयानां यः पुनरिह विशेषस्तं दर्शयितुमाह "नवरं देवा न उववज्जंतीत्यादि" देवोत्पादेनैवैकेन्द्रियेषु तेजोलेश्या भवति, न चेह देवोत्पादः सम्भवतीति, तेजोलेश्या एकेन्द्रिया न पृच्छ्यन्ते इति ॥ भ० ३५ श०४ उ० ।

अचरमसमयकृतः

अचरिमसमयकडजुम्म २ एगिंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति जहा अपढमसमयउद्देशो तहेव णिरवसेसो भाणियव्वो सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥

पञ्चमे तु (अचरिमसमयकडजुम्म २ एगिंदियत्ति) न विद्यते चरमसमय उक्तलक्षणो येषां ते अचरमसमयास्ते च ते कृतयुग्मकृतयुग्मैकेन्द्रियाश्चेति समासः भ० ३५ श० ॥ ५ उ०॥

प्रथमप्रथमसमयः ।

पढमपढमसमयकडजुम्म२एगिंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति जहा पढमसमयउद्देसओ तहेव णिरवसेसं सेवं भंते ! भंते ! त्ति जाव विहरइ ॥

षष्ठे तु (पढमपढमसमयकडजुम्म २ एगिंदियत्ति) एकेन्द्रियोत्पादस्य प्रथमसमययोगाद्ये प्रथमाः प्रथमश्च समयः कृतयुग्मकृतयुग्मत्वानुभूतेर्येषामेकेन्द्रियाणां ते प्रथम २ समयकृतयुग्मकृतयुग्मैकेन्द्रियाः । भ० ३५ श० ६ उ० । प्रथमाप्रथमः ।

पढमअपढमसमयकडजुम्म २ एगिंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति जहा पढमसमयउद्देसओ तहेव भाणियव्वो सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥

सप्तमे तु (पढम अपढमसमयकडजुम्म२एगिंदियत्ति) प्रथम-

स्तथैव योऽप्रथमश्च समयः कृतयुग्म२ त्वानुभूतेर्यैषामेकेन्द्रियाणां ते प्रथमाप्रथमसमयकृतयुग्मकृतयुग्मैकेन्द्रिया इह च एकेन्द्रियत्वोत्पादप्रथमसमयवर्तित्वे तेषां यद्विवक्षितसङ्ख्यानुभूतेरप्रथमसमयवर्तित्वं तत्प्राग्भवसम्बन्धिनी तामाश्रित्येत्यवसेयमेवमुत्तरत्रापीति । भ० ३५ श० ७ उ० प्रथमचरमः ।

पढमचरिमसमयकडजुम्म २ एगिंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति जहा चरिमुद्देसओ तहेव णिरवसेसं सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥

अष्टमे तु (पढमचरिमसमयकडजुम्म २ एगिंदियत्ति) प्रथमाश्च ते विवक्षितसङ्ख्यानुभूतताः प्रथमसमयवर्तित्वाच्चरमसमयाश्च मरणसमयवर्तिनः परिज्ञातास्था इति ॥ प्रथमचरमसमयास्ते च ते कृतयुग्मकृतयुग्मैकेन्द्रियाश्चेति विग्रहः भ० ३५ श० ८ उ० ।

प्रथमाचरमः

पढमअचरिमसमयकडजुम्म २ एगिंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति जहा पढमुद्देसओ तहेव णिरवसेसं सेवं भंते ! भंते ! त्ति जाव विहरइ

नवमे तु (पढमअचरिमसमयकडजुम्म २ एगिंदियत्ति) प्रथमास्तथैव अचरमसमयास्त्वेकेन्द्रियोत्पादापेक्षया प्रथमसमयवर्तिन इह विवक्षिताश्चरमत्वनिषेधस्य तेषु विद्यमानत्वादन्यथा हि द्वितीयोद्देशकोक्तानामवगाहनादीनां यदिह समत्वमुक्तं तन्न स्यात्ततः कर्मधारयः शेषं तु तथैव भ० ३५ श० ९ उ० ।

चरमचरमः ।

चरिम २ समयकडजुम्म २ एगिंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति जहा चउत्थो उद्देसओ तहेव सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥

दशमे तु (चरिम २ समयकडजुम्म २ एगिंदियत्ति) चरमाश्च ते विवक्षितसंख्यानुभूतेश्चरमसमयवर्तित्वाच्चरमसमयाश्च प्रागुक्तस्वरूपा इति चरमसमयाः शेषं तु प्राग्वत् ॥ ३५ ॥ १० ॥

चरमाचरमः ।

चरिमअचरिमसमयकडजुम्म २ एगिंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति जहा पढमुद्देसओ तहेव णिरवसेसं सेवं भंते ! भंते ! त्ति जाव विहरइ ॥

एकादशे तु (चरिमअचरिमसमयकडजुम्म २ एगिंदियत्ति) चरमास्तथैव अचरमसमयाश्च प्रागुक्तयुक्तेरेकेन्द्रियोत्पादापेक्षया प्रथमसमयवर्तिनो ये ते चरमाचरमसमयास्ते च ते कृतयुग्मकृतयुग्मैकेन्द्रियाश्चेति विग्रहः ॥ भ० ३५ श० ११ उ० ।

एवं एएणं कमेणं एक्कारस उद्देसगा पढमो तत्तिओ पंचमओ य सरिसगमया सेसा अट्ठ सरिसा णवरं चउत्थे अट्ठमे दसमे देवा ण उववज्जंति । तेउलेस्सा णत्थि । पढमं एगिंदियमहाजुम्मसयं सम्मत्तं ॥ भ० ३५ श० १ उ० ।

उक्तोद्देशकानां स्वरूपनिर्धारणायाह लेश्याविशेषणेन ॥

कण्हलेस्सकडजुम्म २ एगिंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति ? गोयमा ! उववाओ तहेव एवं जहा ओहियउद्देसए णवरं इमं णाणत्तं तेणं भंते ! जीवा कण्हलेस्सा ? हंता कण्हलेस्सा तेणं भंते ! कण्हलेस्सा कडजुम्मा २ एगिंदिया निकालओ केव चिरं होइ ? गोयमा ! जहण्णेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं । एवं ठितीए वि जाव अणंतखुत्तो । एवं सोलससु वि जुम्मा भाणियव्वा सेवं भंते ! भंते ! त्ति

पढमसमयकण्हलेस्सकडजुम्म २ एगिंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति जहा पढमुद्देसए णवरं तेणं भंते ! कण्हलेस्सा ? हंता कण्हलेस्सा सेसं तहेव सेवं भंते ! भंते ! त्ति । एवं जहा ओहियसए एक्कारस उद्देसगा भणिया तहा कण्हलेस्ससवि एक्कारस उद्देसगा भाणियव्वा, पढमो तत्तिओ पंचमो य सरिसगमगा सेसा अट्ठ वि सरिसगमगा णवरं चउत्थछट्ठदसमेसु उववाओ णत्थि देवस्स सेवं भंते ! भंते! त्ति ॥ पणतीसइमे सए वितिय एगिंदियमहाजुम्मसयं २ एवं णीललेस्सेहिं वि सयं कण्हलेस्ससयसरिसं एक्कारस उद्देसगा तहेव सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ ततियं एगिंदियमहाजुम्मसयं सम्मत्तं ॥ ३ एवं काउलेस्सेहिं वि सयं कण्हलेस्ससयसरिसं सेवं भंते ! भंते! त्ति ॥३५॥ चउत्थ एगिंदियमहाजुम्मसयं ॥४॥ भवसिद्धिककडजुम्म २ एगिंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति जहा ओहियसयं णवरं एक्कारस वि उद्देसएसु अह भंते ! सव्वपाणा जाव सव्वसत्ता भवसिद्धियकडजुम्म २ एगिंदियत्ताए उववन्नपुव्वा ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे सेसं तहेव सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ पंचमं एगिंदियसयं महाजुम्मं सम्मत्तं ॥ ५ ॥ कण्हलेस्सभवसिद्धियकडजुम्म२एगिंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति, एवं कण्हलेस्सभवसिद्धियएगिंदिएहिं वि सयं वितियं सयं कण्हलेस्ससरिसं भाणियव्वं सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ छट्ठं एगिंदियमहाजुम्मसयं ॥ ६ ॥ णीललेस्से भवसिद्धियएगिंदिएहिं वि सयं सेवं भंते ! भंते ! त्ति सत्तमं एगिंदियमहाजुम्मसयं ॥७॥ काउलेस्से भवसिद्धियएगिंदिएहिं वि तहेव एक्कारस उद्देसगसंजुत्तं सयं एवं एयाणि चत्तारि भवसिद्धियसयाणि चउसु वि सएसु सव्वपाणा जाव उववन्नपुव्वा णो इणट्ठे समट्ठे सेवं भंते ! भंते ! त्ति अट्ठमं एगिंदियसयं महाजुम्मं ॥८॥ भवसिद्धिएहिं चत्तारि सयाइं भणियाइं एवं अभवसिद्धिएहिं वि चत्तारि सयाणि लेस्सासंजुत्ताणि भाणियव्वाणि सव्वपाणा तहेव णो इणट्ठे समट्ठे एवं एयाणि बारस एगिंदियमहाजुम्मसयाइं भवंति सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ पंचतीसइमं सयं सम्मत्तं ॥ ३५ ॥

[पढमो तइओ पंचमोयसरिसगमत्ति) कथं यतः प्रथमापेक्षया द्वितीये यानि नानात्वान्यवगाहनादीनि दश भवन्ति न तान्येतेष्विति (सेसा अट्ठसरिसगमगत्ति) द्वितीयचतुर्थषष्ठादयः परस्परेण सदृशगमाः पूर्वोक्तेभ्यो विलक्षणगमा द्वितीयसमानगमा इत्यर्थः विशेषं त्वाह–नवरं चउत्थेत्यादि ॥ कृष्णलेश्याशते (जहन्नेणं एक्कं समयंति) जघन्यत एकसमयानन्तरं संख्यान्तरं भवतीत्यत एकं समयं कृष्णलेश्यकृतयुग्म २ एकेन्द्रिया भवन्तीति (एवं ठिईए वि त्ति) कृष्णलेश्यावतां स्थितिः कृष्णलेश्यकालवदवसेयेत्यर्थः ॥ भ० ३५श० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्रीन्द्रियाणाम्-

कडजुम्म२बेइंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति उववाओ जहा वक्कंतीए परिमाणं सोलस वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा उववज्जंति अवहारो जहा उप्पलुद्देसए ओगाहणा जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं बारसजोयणाइं एवं जहा एगिंदियमहाजुम्माण पढमुद्देसए तहेव णवरं तिण्णि लेस्साओ देवा ण उववज्जंति सम्मद्दिट्ठी वा मिच्छद्दिट्ठी वा णो सम्मामिच्छादिट्ठी वा णाणी वा अणाणी वा । णो मणजोई वइजोगी वा कायजोगी वा तेणं भंते ! कडजुम्म२बेइंदिया कालओ केव चिरं होइ ? गोयमा ! जहण्णेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं संखेज्जकालं ठिई जहण्णेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं बारस संवच्छराइं,आहारो णियमं छद्दिसिं तिण्णि समुग्घाया, सेसं तहेव जाव अणंतखुत्तो एवं सोलससु वि जुम्मेसु बेइंदियमहाजुम्मसयं पढमो उद्देसो सम्मत्तो सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ ३६ ॥१॥ पढमसमयकडजुम्म२बेइंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति एवं जहा एगिंदियमहाजुम्माणं पढमसमय उद्देसए दस णाणत्ताइं ताइं चेव दस इहवि एक्कारस वि इमं णाणत्तं णो मणजोगी णो वइजोगी कायजोगी । सेसं जहा बेइंदियाणं चेव पढमुद्देसए सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥३६॥२॥ एवं एएण वि जहा एगिंदियमहाजुम्मेसु एक्कारस उद्देसगा तहेव भाणियव्वा णवरं चउत्थछट्ठट्ठमदसमेसु सम्मत्तणाणाणि ण भण्णंति, जहेव एगिंदिएसु पढमो तईयपंचमो य एक्कगमा सेसा अट्ठ एक्कगमा । पढमं बेइंदिए महाजुम्मसयं सम्मत्तं ।३६। १ ॥ कण्हलेस्सकडजुम्म२बेइंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति एवं चेव कण्हलेस्से एक्कारस उद्देसगसंजुत्तं सयं णवरं लेस्सा संचिट्ठणा ठिई जहा एगिंदियकण्हलेस्साणं ॥ बितियं बेइंदियसयं ॥३६॥ २ ॥ एवं णीललेस्सेहिं वि सयं । सतं ततियं ॥ ३६ ॥ ६ ॥ एवं काउलेस्सेहि वि सयं चउत्थं सतं ॥४॥ भवसिद्धियकडजुम्म२बेइंदियाणं भंते ! एवं भवसिद्धिया वि चत्तारि तेणेव पुव्वगमएणं णेतव्वा णवरं सव्वपाणा णो इणट्ठे समट्ठे सेसं तहेव,ओहियसयाणि चत्तारि सेवं भंते ! भंते ! त्ति । छत्तीसइमसए अट्ठमं सयं सम्मत्तं ॥३६॥८॥ जहा भवसिद्धियसयाणि चत्तारि एवं अभवसिद्धियसयाणि चत्तारि भाणियव्वाणि णवरं सम्मत्तणाणाणि सव्वहा णत्थि सेसं तं चेव,एवं एयाणि बारसबेइंदियमहाजुम्मसयाणि भवंति सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ बेइंदियमहाजुम्मसया सम्मत्ता । छत्तीसइमं महाजुम्मसयं सम्मत्तं ॥ ३६ ॥ कडजुम्म २ तेइंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति एवं तेइंदिएसु वि बारस सया कायव्वा बेइंदियसयसरिसा णवरं ओगाहणा जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं तिण्णि गाउयाइं ठिई जहण्णेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं एगूणवण्णराइंदियाइं सेसं तहेव सेवं भंते ! भंते ! त्ति । तेइंदियमहाजुम्मसया सम्मत्ता । सत्ततीसइमं सयं सम्मत्तं ॥ ॥ ३७ ॥ चउरिंदिएहिं वि एवं बारस सया कायव्वा णवरं ओगाहणा जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं चत्तारि गाउयाइं ठिई जहण्णेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं छम्मासा सेसं जहा बेइंदियाणं सेवं भंते ! भंते ! त्ति । चउरिंदियमहाजुम्मसयं सम्मत्तं (अट्ठतीसइमं सयं सम्मत्तं) ॥ ३८ ॥ कडजुम्म २ असण्णिपंचिंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति जहा बेइंदियाणं तहेव असण्णिसु वि बारस सया कायव्वा णवरं ओगाहणा जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं जोअणसहस्सं संचिट्ठणा जहण्णेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं पुव्वकोडिपुहुत्तं । ठिई जहण्णेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं पुव्वकोडी सेसं बेइंदियाणं । सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ असण्णी पंचिंदियमहाजुम्मसया सम्मत्ता । एगूणयालीसइमं सयं सम्मत्तं ॥ ३९ ॥ कडजुम्म २ सण्णिपंचिंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति उववाओ चउसु वि गईसु संखेज्जवासाउय असंखेज्जवासाउय पज्जत्ता अपज्जत्तएसु य ण कओ वि पडिसेहो जाव अणुत्तरविमाणत्ति परिमाणं अवहारो ओगाहणा जहा असण्णिपंचिंदियाणं वेदणिज्जवज्जाणं सत्तण्हं कम्मप्पगडीणं बंधगा वा अबंधगा वा वेदणिज्जस्स बंधगा णो अबंधगा, मोहणिज्जस्स वेदगा वा अवेदगा वा सेसाणं सत्तण्ह वि वेदगा णो अवेदगा, सायवेदगा वा असायवेदगा, वा मोहणिज्जस्स उदई वा अणुदई वा सेसाणं सत्तण्ह वि उदयी णो अणुदई णामस्स गोयस्स य उदीरगा णो अणुदीरगा सेसाणं छण्ह वि उदीरगा वा अणुदीरगा वा कण्हलेस्सा वा जाव सुक्कलेस्सा या सम्मद्दिट्ठी वा मिच्छादिट्ठी वा सम्मामिच्छादिट्ठी वा णाणी वा अण्णाणी वा मणजोगी वा वइजोगी वा कायजोगी वा उवओगो वण्णमादी उस्सासगा आहारगा य जहा एगिंदियाणं, विरया वा अविरया वा विरयाविरया य सकिरिया णो अकिरिया । तेणं भंते ! जीवा किं सत्तविहबंधगा वा अट्ठविहबंधगा वा छव्विहबंधगा वा एगविहबंधगा वा ? गोयमा ! सत्तविह बंधगा वा जाव एगविहबंधगा वा । तेणं भंते ! जीवा किं आहारसण्णोवउत्ता जाव परिग्गहसण्णोवउत्ता णो सण्णोवउत्ता ? गोयमा ! आहारसण्णोवउत्ता जाव णो सण्णोवउत्ता सव्वपुच्छा जाणियव्वा । कोहकसायी जाव लोभकसाई वा अकसायी वा इत्थीवेदगा वा पुरिसवेदगा वा णपुंसगवेदगा वा अवेदगा वा । इत्थिवेदबंधगा वा पुरिसवेदबंधगा वा णपुंसगवेदबंधगा वा अबंधगा वा सण्णी णो असण्णी सइंदिया णो अणिंदिया, संचिट्ठणा जहण्णेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं सा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गरोवमसयपुहत्तं सातिरेगं आहारो तहेव जाव णियमं छद्दिसिं ठिई जहषेणं एकं समयं उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं । छ समुग्घाया आदिल्लगा मारणंतियसमुग्घाएणं समोहया वि मरंति अंगमोहया वि मरंति । उव्वट्टणा जहेव उववाओ ण कत्थइ पडिसेहो जाव अणुत्तरविमाणत्ति । अह भंते ! सव्वपाणा जाव अणंतखुत्तो एवं सोलससु वि जुम्मेसु जाणियव्वं जाव अणंतखुत्तो णवरं परिमाणं जहा बेईदिया सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ ४० ॥ १ ॥ पढमसमयकडजुम्म २ सण्णिपंचिंदियाणं भंते ! कओ उववाओ परिमाणं आहारो जहा एएसिं चेव पढमो उद्देसए ओगाहणाबंधो वेदो वेदणा उदयी उदीरगा य जहा बेइंदियाणं पढमसयाणं तहेव कण्हलेस्सा वा जाव सुक्कलेस्सा वा सेसं जहा बेइंदियाणं पढमसमइयाणं जाव अणंतखुत्तो णवरं इत्थिवेदगा वा पुरिसवेदगा वा णपुंसगवेदगा वा सण्णिणो असण्णिणो सेसं तहेव एवं सोलससु वि जुम्मेसु परिमाणं तहेव सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ एवं एत्थ वि एक्कारस उद्देसगा तहेव पढमो तइओ पंचमो य सरिसगमगा सेसा अट्ठ वि सरिसगमगा चउत्थछट्ठट्ठमदसमेसु णत्थि विसेसो कोइ वि सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ ४० ॥ (पढमं पंचिंदियमहाजुम्मसयं सम्मत्तं ॥ १ ॥) कण्हलेस्स कडजुम्म २ सण्णिपंचिंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति तहेव पढमुद्देसओ सण्णीणं णवरं बंधो वेओ उदयी उदीरणालेस्सबंधगसण्णकसायवेदबंधगा एयाणि जहा बेइंदियाणं कण्हलेस्साणं वेदो तिविहो अवेदगा णत्थि, संचिट्ठणा जहण्णेणं एकं समयं उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं । एवं ठिईए वि णवरं ठिईए अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं ण भण्णंति सेसं जहा एएसिं चेव पढमुद्देसए जाव अणंतखुत्तो एवं सोलससु वि जुम्मेसु सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ २ ॥ पढमसमयकण्हलेस्सकडजुम्म २ सण्णिपंचिंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति पढमसमयउद्देसए तहेव णिरवसेसं णवरं तेणं भंते ! जीवा कण्हलेस्सा ? हंता कण्हलेस्सा सेसं तहेव एवं सोलससु वि जुम्मेसु सेवं भंते ! भंते ! त्ति, एवं एए वि एक्कारस उद्देसगा कण्हलेस्सए पढमततियपंचमा सरिसगमगा सेसा अट्ठ वि सरिसगमा सेवं भंते ! भंते ! त्ति । (बितियं सयं सम्मत्तं) ॥ २ ॥ एवं णीललेस्सेसु वि सयं णवरं संचिट्ठणा जहण्णेणं एकं समयं उक्कोसेणं दससागरोवमाइं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागमब्भहियाइं । एवं ठिईए वि, एवं तिसु उद्देसएसु सेसं तहेव सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ ततियं सयं सम्मत्तं ॥ ३ ॥

पञ्चत्रिंशशते संख्यापदैरेकेन्द्रिया प्ररूपिताः षट्त्रिंशे तु तैरेव द्वीन्द्रियाः प्ररूप्यन्त इत्येवं सम्बद्धस्यास्येदमादिसूत्रं कडजुम्मबेइंदियाणमित्यादि (जहण्णेणं एकं समयंति) समयानन्तरं संख्यान्तरभावादेवं स्थितिरपि, इतः सर्वसूत्रसिद्धमाशास्त्रपरिसमाप्तेर्नवरं चत्वारिंशे शते (वेयणिज्जवज्जाणं सत्तण्हं पगडीणं बंधगा वा अबंधगा वत्ति) इह वेदनीयस्य बन्धविधि विशेषेण वक्ष्यतीति कृत्वा वेदनीयवर्ज्जानामित्युक्तं तत्र चोपशान्तमोहादयः सप्तानामबन्धका एव शेषास्तु यथासम्भवं बन्धका भवन्तीति (वेयणिज्जस्स बंधगा नो अबंधगत्ति) केवलित्वादारात्सर्वेऽपि सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियास्ते च वेदनीयस्य बन्धका एव नाबन्धकाः (मोहणिज्जस्स वेयगा वा अवेयगा वत्ति) मोहनीयस्य वेदकाः सूक्ष्मसम्परायान्ता अवेदकास्तु उपशान्तमोहादयः (सेसाणं सत्तण्ह वि वेयगा नो अवेयगत्ति) ये किलोपशान्तमोहादयः सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियास्ते सप्तानामपि वेदका नो अवेदकाः केवलिन एव चतसृणां वेदका भवन्ति ते चेन्द्रियव्यापारातीतत्वेन न पञ्चेन्द्रिया इति ॥ (सायावेयगा वा असायावेयगा वत्ति) सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियाणामेवं स्वरूपत्वात् (मोहणिज्जस्स उदयी वा अणुदयी वत्ति) तत्र सूक्ष्मसम्परायान्ता मोहनीयस्योदयिनः उपशान्तमोहादयस्त्वनुदयिनः । सेसाणं सत्तण्हवीत्यादि प्राग्वत् नवरं वेदकत्वानुक्रमेणाकरणेन चोदयागतानामनुभवनम् उदयस्त्वनुक्रमागतानामिति (नामस्स गोयस्स य उदीरगा नो अणुदीरगत्ति) नामगोत्रयोरकषायान्ताः सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियाः सर्वेऽप्युदीरकाः (सेसाणं छण्हवि उदीरगा वत्ति) शेषाणां षण्णामपि यथासम्भवमुदीरकाश्चानुदीरकाश्च, यतोऽयमुदीरणाविधिः प्रमत्तान्ताः सामान्येनाष्टानामावलिकावशेषायुष्कास्तु त एवायुर्वर्जसप्तानामुदीरका अप्रमत्तादयस्तु चत्वारो वेदनीयायुर्वर्जानां षण्णां तथा सूक्ष्मसम्पराया आवलिकायां स्वाद्धायाः शेषायां मोहनीयवेदनीयायुर्वर्जानां पञ्चानामपि उपशान्तमोहास्तूक्तरूपाणां पञ्चानामेव क्षीणकषायाः पुनः स्वाद्धाया आवलिकायां शेषायां नामगोत्रयोरेव सयोगिनोऽप्येतयोरेवायोगिनस्त्वनुदीरका एवेति । (संचिट्ठणा जहण्णेणं एकं समयंति) कृतयुग्म २ सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां जघन्येनावस्थितिरेकं समयं समयानन्तरं संख्यान्तरसद्भावात् । (उक्कोसेणं सागरोवमसयपुहुत्तं साइरेगत्ति) यत इतः परं सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रिया न भवन्त्येवेति (छ समुग्घाया आइल्लगत्ति) सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियाणामाद्याः षडेव समुद्घाता भवन्ति सप्तमस्तु केवलिनामेव ते चानिन्द्रिया इति । कृष्णलेश्याशते -(उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइंति) इदं कृष्णलेश्यावस्थानं सप्तमपृथिव्युत्कृष्टस्थितिं पूर्वभवपर्यन्तवर्तिनं कृष्णलेश्यापरिणाममाश्रित्येति नीललेश्याशते (उक्कोसेणं दस सागरोवमाइं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागमब्भहियाइंति) पञ्चमपृथिव्या उपरितनप्रस्तटे दशसागरोपमाणि पल्योपमासंख्येयभागाधिकान्यायुः सम्भवति नीललेश्या च तत्र स्यादत उक्तम् उक्कोसेणमित्यादि ॥ यच्चेह प्राक्तनभवान्तिमान्तर्मुहूर्त्तं तत्पल्योपमासंख्येयभागे प्रविष्टमिति न भेदेनोक्तमेवमन्यत्रापि । (तिसु उद्देसएसुत्ति) प्रथमतृतीयपञ्चमेष्विति ॥ भ०४० श०१उ० । जी० ।

एवं काउलेस्ससयं पि णवरं संचिट्ठणा जहण्णेणं एकं समयं उक्कोसेणं तिण्णि सागरोवमाइं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागमब्भहियाइं एवं ठिईए वि एवं तिसु वि उद्देसएसु सेसं तहेव सेवं भंते ! भंते ! त्ति (चउत्थं सयं सम्मत्तं) ॥ ४ ॥ एवं तेउलेस्सविसयं णवरं संचिट्ठणा जहण्णेणं एकं समयं उक्कोसेणं दो सागरोवमाइं पलिओवमस्स

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

असंखेज्जइभागमब्भहियाइं । एवं ठिईएवि णवरं णो समोवउत्ता एवं तिसुवि गमएसु सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ पंचमं सयं ॥ ५ ॥ जहा तेउलेस्सासतं तहा पम्हलेस्ससयं पि णवरं संचिट्ठणा जहस्सेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं दस सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं एवं ठिईएवि णवरं अंतोमुहुत्तं ण भस्मति सेसं तहेव । एवं एएसु पंचसु सएसु २ जहा कराहलेस्ससए गमओ तहा णेतव्वो जाव अणंतखुत्तो सेवं भंते ! भंते ! त्ति (छट्ठं सयं सम्मत्तं) ॥ ६ ॥ सुक्कलेस्ससयं जहा ओहियसए णवरं संचिट्ठणा ठिई य जहा कराहलेस्ससए सेसं तहेव जाव अणंतखुत्तो सेवं भंते ! भंते ! त्ति सत्तमं सयं सम्मत्तं ॥ ७ ॥ भवसिद्धियकडजुम्म २ सण्णिपंचिंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति जहा पढमं सण्णिसत्तं तहा णेतव्वं भवसिद्धियभिलावेणं णवरं सव्वपाणा णो इणट्ठे समट्ठे सेसं तं चेव सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ (अट्ठमं सयं) ॥ ८ ॥ कराहलेस्सभवसिद्धियकडजुम्म २ सण्णिपंचिंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति एवं एएणं अभिलावेणं जहा ओहियकाराहलेस्ससयं सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ (णवमं सयं) ॥ ९ ॥ एवं णीललेस्सभवसिद्धिए वि सयं सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ (दसमं सयं) ॥ १० ॥ एवं जहा ओहियाणि सण्णिपंचिंदियाणि सत्त सयाणि भणियाणि एवं भवसिद्धिएहिं वि सत्तसयाणि कायव्वाणि णवरं सत्तसु वि सएसु सव्वपाणा जाव णो इणट्ठे समट्ठे सेसं तं चेव सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ भवसिद्धियसया सम्मत्ता ॥ (चउद्दसमं सयं सम्मत्तं) ॥ १४ ॥ अभवसिद्धियकडजुम्म २ सण्णिपंचिंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति उववाओ तहेव अणुत्तरविमाणवज्जो परिमाणं आहारो उच्चत्तं बंधो वेदो वेदणं उदओ उदीरणा य जहा कराहलेस्ससए कराहलेस्सा वा जाव सुक्कलेस्सा वा णो सम्मदिट्ठी मिच्छादिट्ठी णो सम्मामिच्छादिट्ठी णो णाणी अणाणी एवं जहा कराहलेस्ससए णवरं णो विरया अविरया णो विरयाविरया संचिट्ठणा ठिई य जहा ओहियउद्देसए समुग्घाया आदिल्लगा पंच उव्वट्टणा तहेव अणुत्तरविमाणवज्जं सव्वपाणा णो इणट्ठे समट्ठे सेसं जहा कराहलेस्ससए जाव अणंतखुत्तो, एवं सोलससु वि कडजुम्मेसु सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ १ ॥ पढमसमयअभवसिद्धियकडजुम्म २ सण्णिपंचिंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति जहा सण्णीणं पढमसमयउद्देसए तहेव णवरं सम्मत्तं सम्मामिच्छत्तं णाणं च सव्वत्थ णत्थि सेसं तहेव सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ २ ॥ एवं एत्थ वि एक्कारस उद्देसगा कायव्वा पढमं तइयपंचमा एक्कगमा सेसा अट्ठवि एक्कगमा । पढमं अभवसिद्धियमहाजुम्मसयं सम्मत्तं । (पणरसमं सयं सम्मत्तं) ॥ १५ ॥ कराहलेस्सअभवसिद्धियकडजुम्म २ असण्णिपंचिंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति जहा एएसिं चेव ओहियसए तहा कराहलेस्ससयं पि णवरं तेणं भंते ! जीवा कराहलेस्सा ? हंता कराहलेस्सा ठिई संचिट्ठणा य कराहलेस्ससए सेसं तं चेव सेवं भंते ! भंते ! त्ति । बितियं अभवसिद्धियमहाजुम्मसयं ॥ ४० ॥ (सोलसमं सयं सम्मत्तं) ॥ १६ ॥ एवं छहिं लेस्साहिं छ सया कायव्वा जहा कराहलेस्ससयं णवरं संचिट्ठणा ठिती य जहेव ओहियसए तहेव भाणियव्वा णवरं सुक्कलेस्साए उक्कोसेणं एकतीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं, ठिती एवं चेव णवरं अंतो मुहुत्तो णत्थि जहण्णगं तहेव सव्वत्थं सम्मत्तं णाणाणि णत्थि, विरयी विरयाविरयी अणुत्तरविमाणोववत्ति एयाणि णत्थि सव्वपाणा णो इणट्ठे समट्ठे, सेवं भंते ! भंते ! त्ति । एवं एयाणि सत्त अभवसिद्धियाणि महाजुम्मसयाणि भवंति२ एवं एयाणि एकवीसं सण्णिमहाजुम्मसयाणि सव्वाणि एकासीतमहाजुम्मसया सम्मत्ता चत्तालीसमसयं सम्मत्तं ॥४०॥

कापोतलेश्याशते " उक्कोसेणं तिण्णि सागरोवमाइं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागमब्भहियाइंति " यदुक्तं तदीशानदेवपरमायुराश्रित्येत्यवसेयम् । पद्मलेश्याशते "उक्कोसेणं दससागरोवमाइं " इत्यादि तु यदुक्तं तद्ब्रह्मलोकदेवायुराश्रित्येति मन्तव्यम् । तत्र हि पद्मलेश्ये तावदायुर्भवत्यन्तर्मुहूर्तं च प्राक्तनभवावसानवर्तीति । शुक्ललेश्याशते-(संचिट्ठणा ठिई य जहा कराहलेस्ससएत्ति) त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि सान्तर्मुहूर्तानि शुक्ललेश्यावस्थानमित्यर्थः । एतच्च पूर्वभवान्त्यान्तर्मुहूर्तमनुत्तरायुश्चाश्रित्येत्यवसेयम् । स्थितिस्तु त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणीति । " नवरं सुक्कलेस्साए उक्कोसेणं एक्कतीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइंति " यदुक्तम् । तदुपरितनग्रैवेयकमाश्रित्येति मन्तव्यम् । तत्र हि देवानामेतावदेवायुः शुक्ललेश्या च भवत्यभव्याश्चोत्कर्षतस्तत्रैव देवतयोत्पद्यन्ते न तु परतोऽप्यन्तर्मुहूर्तं च पूर्वभवावसानसंबन्धीति ॥

(१२) राशियुग्मविशेषेण नैरयिकाणामुपपातः ।

कइणं भंते ! रासीजुम्मा पणत्ता ? गोयमा ! चत्तारि रासीजुम्मा पणत्ता, तं जहा कडजुम्मे जाव कलिओगे, से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ चत्तारि रासीजुम्मा पणत्ता जाव कलिओगे ? गोयमा ! जेण रासी । चउक्कएणं अवहारेणं अवहारमाणे चउपज्जवसिए से तं रासीजुम्मकडजुम्मे एवं जाव जेणं रासीचउक्कएणं अवहारेणं अवहारमाणे एगपज्जवसिए से ते रासीजुम्मकलिओगे से तेणट्ठेणं जाव कलिओगे रासीजुम्मकडजुम्म णेरइयाणं भंते ! कओ उववज्जंति उववाओ जहा वक्कंतीए, तेणं भंते ! जीवा एगसमएणं केवइया उववज्जंति ? गोयमा ! चत्तारि वा अट्ठ वा बारस वा सोलस वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा उववज्जंति तेणं भंते ! जीवा किं संतरं उववज्जंति णिरंतरं उववज्जंति ? गोयमा ! संतरं पि उववज्जंति णिरंतरं पि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उववज्जंति संतरं उववज्जमाणा जहन्नेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं असंखेज्जसमया अंतरं काउं उववज्जंति, णिरंतरं उववज्जमाणा जहन्नेणं दो समया उक्कोसेणं असंखेज्जा समया अणुसमयं अविरहियं णिरंतरं उववज्जंति, तेणं भंते ! जीवा जं समयं कडजुम्मा तं समयं तेओगा, जं समयं तेओगा तं समयं कडजुम्मा ? णो इणट्ठे समट्ठे जं समयं कडजुम्मा तं समयं दावरजुम्मा, जं समयं दावरजुम्मा तं समयं कडजुम्मा ? णो इणट्ठे समट्ठे जं समयं कडजुम्मा तं समयं कलिओगा जं समयं कलिओगा तं समयं कडजुम्मा ? णो इणट्ठे समट्ठे तेणं भंते ! जीवा कहं उववज्जंति ? गोयमा ! से जहा णामए पवए पवमाणे एवं जहा उववायसए जाव णो परप्पओगेणं उववज्जंति। तेणं भंते ! जीवा किं आयजसेणं उववज्जंति आय अजसेणं उववज्जंति ? गोयमा ! णो आयजसेणं उववज्जंति आय अजसेणं उववज्जंति जइ आयअजसेणं उववज्जंति किं आयजसं उवजीवंति आयअजसं उवजीवंति ? गोयमा ! णो आयजसं उवजीवंति आयअजसं उवजीवंति, जदि आयअजसं उवजीवंति किं सलेस्सा अलेस्सा ? गोयमा ! सलेस्सा णो अलेस्सा । जदि सलेस्सा किं सकिरिया अकिरिया ? गोयमा ! सकिरिया णो अकिरिया, जदि सकिरिया तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झंति जाव अंतं करेंति ? णो इणट्ठे समट्ठे। रासीकडजुम्मअसुरकुमाराणं भंते ! कओ उववज्जंति जहेव णेरइया तहेव णिरवसेसं एवं जाव पंचिंदियतिरिक्खजोणिया णवरं वणस्सइकाइया जाव असंखेज्जा वा अणंता वा उववज्जंति, सेसं तं चेव मणुस्सा वि एवं चेव जाव णो आयजसेणं उववज्जंति आयअजसेणं उववज्जंति, जइ आयअजसेणं उववज्जंति किं आयजसं उवजीवंति आयअजसं उवजीवंति ? गोयमा ! आयजसं पि उवजीवंति, आय अजसं पि उवजीवंति जइ आयजसं उवजीवंति किं सलेस्सा अलेस्सा ? गोयमा ! सलेस्सा वि अलेस्सा वि जदि अलेस्सा किं सकिरिया अकिरिया ? गोयमा ! णो सकिरिया अकिरिया । जदि अकिरिया तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झंति जाव अंतं करेंति ? हंता सिज्झंति जाव अंतं करेंति, जदि सलेस्सा किं सकिरिया अकिरिया ? गोयमा ! सकिरिया णो अकिरिया जदि सकिरिया तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झंति जाव अंतं करेंति ? गोयमा ! अत्थेगइया तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झंति जाव अंतं करेंति, अत्थेगइया णो तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झंति जाव अंतं करेंति जदि आयअजसं उवजीवंति किं सलेस्सा अलेस्सा ? गोयमा ! सलेस्सा णो अलेस्सा, जइ सलेस्सा किं सकिरिया अकिरिया ? गोयमा ! सकिरिया णो अकिरिया जइ सकिरिया तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झंति जाव अंतं करेंति ? णो इणट्ठे समट्ठे वाणमंतरजोइसियवेमाणिया जहा णेरइया सेवं भंते ! भंते ! त्ति (इगुलीसइमसयस्स पढमो उद्देसो सम्मत्तो ।४१।) ॥१॥ रासीजुम्मतेओगणेरइयाणं भंते ! कओ उववज्जंति एवं चेव उद्देसओ भाणियव्वो णवरं परिमाणं तिण्णि वा सत्त वा एक्कारस वा पण्णरस वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा उववज्जंति, संतरं तहेवं तेणं भंते ! जीवा जं समयं तेओगा तं समयं कडजुम्मा, जं समयं कडजुम्मा तं समयं तेओगा ? णो इणट्ठे समट्ठे । जं समयं तेओगा तं समयं दावरजुम्मा, जं समयं दावरजुम्मा तं समयं तेओगा ! णो इणट्ठे समट्ठे । एवं कलिओगेण वि समं सेसं तं चेव जाव वेमाणिया णवरं उववाओ सव्वेसिं जहा वक्कंतीए । सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ ४१ ॥२॥ रासीजुम्मदावरजुम्मणेरइयाणं भंते ! कओ उववज्जंति एवं चेव उद्देसओ णवरं परिमाणं दो वा छ वा दस वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा उववज्जंति संवेहो, तेणं भंते ! जीवा जं समयं दावरजुम्मा तं समयं कडजुम्मा, जं समयं कडजुम्मा तं समयं दावरजुम्मा ? णो इणट्ठे समट्ठे । एवं तेओगेण वि समं एवं कलिओगेण वि समं, सेसं जहा पढमुद्देसए जाव वेमाणिया । सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥४१॥३॥ रासीजुम्मकलिओगे णेरइयाणं भंते ! कओ उववज्जंति एवं चेव परिमाणं एक्को वा पंच वा णव वा तेरस वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा उववज्जंति, संवेहो तेणं भंते ! जीवा जं समयं कलिओगा तं समयं कडजुम्मा जं समयं कडजुम्मा तं समयं कलिओगा ? णो इणट्ठे समट्ठे । एवं तेओगेण वि समं दावरजुम्माण वि समं, सेसं जहा पढमुद्देसए । एवं जाव वेमाणिया । सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ ४१ ॥ ४ ॥ कण्हलेस्स रासीजुम्मकडजुम्मणेरइयाणं भंते ! कओ उववज्जंति उववाओ जहा धूमप्पभाए सेसं जहा पढमुद्देसए । असुरकुमाराणं तहेव एवं जाव वाणमंतराणं । मणुस्साण वि जहेव णेरइयाणं । आयअजसं उवजीवंति, अलेस्सा अकिरिया तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झंति एवं ण भाणियव्वं सेसं जहा पढमुद्देसए सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ ४१ ॥ ५ ॥ कण्हलेस्सतेयोएहिं वि एवं चेव उद्देसओ सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ ४१ ॥ ६ ॥ कण्हलेस्सदावरजुम्मेहिं वि एवं चेव उद्देसओ सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ ४१ ॥ ७ ॥ कण्हलेस्सकलिओगेहिं वि एवं चेव उद्देसओ परिमाणं संवेहो य जहा ओहिएसु उद्देसएसु सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ ४१ ॥ ८ ॥ जहा कण्हलेस्सेहिं एवं णीललेस्सेहि वि चत्तारि उद्देसगा भाणियव्वा णिरवसेसा णवरं णेरइयाणं उववाओ जहा वालुयप्पभाए सेसं तं चेव । सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ ४१ ॥१२॥

काउलेस्सेहि वि एवं चेव चत्तारि उद्देसगा कायव्वा णवरं णेरइयाणं उववाओ जहा रयणप्पजाए सेसं तं चेव सेवं जंते ! जंते ! त्ति ॥ ४१ ॥ १६ ॥ तेउलेस्सरासीजुम्मकडजुम्मअसुरकुमाराणं जंते ! कओ उववज्जंति एवं चेव णवरं जेसु तेउलेस्सा अत्थि तेसु जाणियव्वं एवं एएवि कण्हलेस्ससरिसा चत्तारि उद्देसगा कायव्वा ॥ सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ ४१ ॥ २० ॥ एवं पम्हलेस्साए वि चत्तारि उद्देसगा कायव्वा । पंचिंदियतिरिक्खजोणिया मणुस्सा वेमाणियाणं एएसिं पम्हलेस्सा सेसाणं णत्थि सेवं जंते ! जंते ! त्ति ॥ ४१ ॥ २४ ॥ जहा पम्हलेस्सा एवं सुक्कलेस्साए चत्तारि उद्देसगा कायव्वा णवरं मणुस्साणं गमओ जहा ओहियउद्देसएसु सेसं तं चेव एएसु उसु लेस्सासु चउव्वीसं उद्देसगा ओहिया चत्तारि सव्वे ते अट्ठावीसं उद्देसगा जवंति सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ ४१ ॥ २८ ॥ भवसिद्धियरासीजुम्मकडजुम्मणेरइयाणं भंते ! कओ उववज्जंति जहा ओहिया पढमगा चत्तारि उद्देसगा तहेव णिरवसेसं एए चत्तारि उद्देसगा सेवं भंते ! जंते ! त्ति ॥ ४१ ॥ ३२ ॥ कण्हलेस्सभवसिद्धियरासीजुम्मकडजुम्मणेरइयाणं जंते ! कओ उववज्जंति जहा कण्हलेस्साए चत्तारि उद्देसगा जवंति तहा इमेवि जवसिद्धियकण्हलेस्सेहिं चत्तारि उद्देसगा कायव्वा ॥४१॥ ३६ ॥ एवं णीललेस्सजवसिद्धिएहिं वि चत्तारि उद्देसगा ॥४१॥४० ॥ एवं काउलेस्सेहिं वि चत्तारि उद्देसगा ॥४१॥ ४४ ॥ तेउलेस्सेहिं वि चत्तारि उद्देसगा ओहिया सरिसा ॥४१ ॥ ४८ ॥ पम्हलेस्सेहि वि चत्तारि उद्देसगा ॥४१ ॥ ५२ ॥ सुक्कलेस्सेहिंवि चत्तारि उद्देसगा ओहियसरिसा एवं एएवि भवसिद्धिएहिं वि अट्ठावीसं उद्देसगा जवंति सेवं जंते ! जंते ! त्ति ॥ ४१ ॥ ५६ ॥ अजवसिद्धियरासीजुम्मकडजुम्मणेरइयाणं जंते ! कओ उववज्जंति जहा पढमो उद्देसओ णवरं मणुस्साणं णेरइयाय सरिसा भाणियव्वा सेसं तहेव सेवं जंते ! जंते ! त्ति, एवं चउसुवि जुम्मेसु चत्तारि उद्देसगा ॥६०॥ कण्हलेस्सा अजवसिद्धियरासीजुम्मणेरइयाणं जंते ! कओ उववज्जंति एवं चेव चत्तारि उद्देसगा ॥६४॥ एवं णीललेस्सअजवसिद्धिएहिवि चत्तारि उद्देसगा ॥६८॥ एवं काउलेस्सेहिं वि चत्तारि उद्देसगा ॥७२॥ एवं तेउलेस्सेहिंवि चत्तारि उद्देसगा ॥७६॥ पम्हलेस्सेहिंवि चत्तारि उद्देसगा ॥८०॥ सुक्कलेस्से अभवसिद्धिएहिं चत्तारि उद्देसगा एवं एएसु अट्ठावीसाएवि अजवसिद्धियउद्देसएसु मणुस्सा णेरइयगमेणं णेतव्वा, सेवं जंते ! जंते! त्ति । एवं एतेवि अट्ठावीसा उद्देसगा ॥ ४१ ॥ ८४ ॥ सम्मदिट्ठी रासीजुम्मकडजुम्मणेरइयाणं जंते ! कओ उववज्जंति एवं जहा पढमो उद्देसओ एवं चउसुवि जुम्मेसु चत्तारि उद्देसगा जवसिद्धियसरिसा कायव्वा, सेवं जंते ! जंते ! त्ति ॥८८॥ कण्हलेस्ससम्मदिट्ठी रासीजुम्मणेरइयाणं जंते ! कओ उववज्जंति, एएवि कण्हलेस्ससरिसा चत्तारि वि उद्देसगा कायव्वा एवं सम्मदिट्ठीसुवि जवसिद्धियसरिसा अट्ठावीसं उद्देसगा कायव्वा, सेवं जंते ! जंते ! त्ति जाव विहरइ ॥४१॥ ११२ ॥ मिच्छदिट्ठी रासीजुम्मकडजुम्मणेरइयाणं जंते ! कओ उववज्जंति एवं एत्थवि मिच्छादिट्ठी अभिलावेणं अजवसिद्धियसरिसा अट्ठावीसं उद्देसगा कायव्वा सेवं जंते ! जंते ! त्ति ॥४१ ॥ १४० ॥ कण्हपक्खियरासीजुम्मकडजुम्मणेरइयाणं जंते ! कओ उववज्जंति एवं अजवसिद्धियसरिसा अट्ठाविसं उद्देसगा कायव्वा, सेवं जंते ! जंते ! त्ति ॥४१॥ १६८॥ सुक्कपक्खियरासीजुम्मणेरइयाणं जंते ! कओ उववज्जंति एवं एत्थवि जवसिद्धियसरिसा अट्ठावीसं उद्देसगा जवंति एवं एएणं सव्वेवि छण्णउयं उद्देसगं सयं जवंति ॥ रासीजुम्मसयं सम्मत्तं ॥४१॥ १९६ ॥

(रासीजुम्मकडजुम्मनेरइयत्ति) राशियुग्मानां भेदभूतेन कृतयुग्मेन ये प्रमितास्ते राशियुग्मकृतयुग्मास्ते च ते नैरयिकाश्चेति समासोऽतस्ते "अणुसमयमित्यादि" पदत्रयमेकार्थम् ॥ (आयजसेणंति) आत्मनः सम्बन्धि यशो यशोहेतुत्वाद्यशः संयम आत्मयशस्तेन (आयजसं उवजीवतित्ति) आत्मयश आत्मसंयममुपजीवन्त्याश्रयन्ति विदधतीत्यर्थः । इह च सर्वेषामेवात्मयशसैवोत्पत्तिरुत्पत्तौ सर्वेषामप्यविरतत्वादिति । इह च शतपरिमाणमिदमाद्यानि द्वात्रिंशच्छतान्यविद्यमानावान्तरशतानि त्रयस्त्रिंशादिषु तु सप्तसु प्रत्येकमवान्तरशतानि द्वादश चत्वारिंशत्येकविंशतिरेकचत्वारिंशे तु नास्त्यवान्तरशतमेतेषां च सर्वेषां मीलनेऽष्टत्रिंशदधिकं शतानां शतं भवत्येवमुद्देशकपरिमाणमपि सर्वं शास्त्रमवलोक्यावसेयं तच्चैकोनविंशतिशतानि पञ्चविंशत्यधिकानीति । 'इह शतेषु कियत्स्वपि वृत्तिकां, विहितवानहमस्मि सुशङ्कितः । विवृतिचूर्णिगिरां विरहादिदं, कथमशङ्कमियर्त्यथवा पथि' ॥ १ ॥ इति एकचत्वारिंशं शतं वृत्तितः समाप्तम् ॥ भ० ४१ श० १९६ उ० ।

क्षुद्रयुग्मविशेषणेन नैरयिकादीनाम् ।

खुड्डागकडजुम्मणेरइयाणं जंते ! कओ उववज्जंति किं णेरइएहिंतो उववज्जंति तिरिक्ख० पुच्छा, गोयमा ! णो णेरइएहिंतो उववज्जंति एवं णेरइओ उववाओ जहा वक्कंतीए तहा जाणियव्वो, तेणं जंते ! जीवा एगसमएणं केवइया उववज्जंति ? गोयमा ! चत्तारि वा अट्ठ वा बारस वा सोलस वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा उववज्जंति तेणं भंते ! जीवा कहं उववज्जंति ? गोयमा ! से जहाणामए पवए पवमाणे अज्झवसाणे एवं जहा पंचवीसइमसए अट्ठमुद्देसए णेरइयाणं वत्तव्वया तहेव इहवि जाणियव्वा जाव आयप्पओगेणं उववज्जंति णो परप्पओगेणं उववज्जंति । रयणप्पजापुढविखुड्डागकडजुम्मणेरइयाणं जंते ! कओ उवव-

ज्जंति एवं जहा ओहियणेरइयाणं वत्तव्वया सचेव रयणप्पभाए वि जाणियव्वा जाव णो परप्पओगेणं उववज्जंते एवं सक्करप्पभाएवि एवं जाव अहेसत्तमाएवि । एवं उववाओ जहा वक्कंतीए असण्णी खलु पढमं दोच्चेव सरीसीवातईयपक्खी गाहा । एवं उववातेयव्वा सेसं तहेव । खुड्डागतेओगणेरइयाणं भंते ! कओ उववज्जंति किं णेरइएहिंतो उववातो जहा वक्कंतीए तेणं भंते ! जीवा एगसमएणं केवइया उववज्जंति ? गोयमा ! तिण्णि वा सत्त वा एक्कारस वा पण्णरस वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा उववज्जंति सेसं जहा कडजुम्मस्स । एवं जाव अहेसत्तमाए । खुड्डागदावरजुम्मणेरइयाणं भंते ! कओ उववज्जंति एवं जहेव खुड्डागकडजुम्मे णवरं परिमाणं दो वा छ वा दस वा चउद्दस वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा सेसं तं चेव । एवं जाव अहेसत्तमाए । खुड्डागकलिओगणेरइयाणं भंते ! कओ उववज्जंति एवं जहेव खुड्डागकडजुम्मे णवरं परिमाणं एक्को वा पंच वा णव वा तेरस वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा उववज्जंति सेसं तं चेव । एवं जाव अहेसत्तमाए । सेवं भंते ! भंते ! त्ति । जाव विहरइ इकतीसइमस्स पढमो ॥ ३१ ॥ १ ॥

(जहा वक्कंतीएत्ति) प्रज्ञापनाषष्ठपदे अर्थतश्चैवं तत् पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भ्यो गर्भजमनुष्येभ्यश्च नारका उत्पद्यन्त इति विशेषस्तु असण्णी खलु पढममित्यादि ॥ गाथाभ्यामवसेयः (अज्झवसाणत्ति) अनेन (अज्झवसाए निव्वत्तिएणं करणोववाएणंति) सूचितम् ॥ एकत्रिंशशते प्रथमः ॥ ३१ ॥ १ ॥

कण्हलेस्सखुड्डागकडजुम्मणेरइयाणं भंते ! कओ उववज्जंति एवं जहा ओहियगमो जाव णो परप्पओगेणं णवरं उववातो जह वक्कंतीए धूमप्पभपुढविणेरइयाणं सेसं तहेव धूमप्पभपुढविकण्हलेस्सखुड्डागकडजुम्मणेरइयाणं भंते ! कओ उववज्जंति एवं चेव णिरवसेसं । एवं तमाएवि एवं अहेसत्तमाएवि णवरं उववाओ सव्वत्थ जहा वक्कंतीए । कण्हलेस्सखुड्डागतेओगणेरइयाणं भंते ! कओ उववज्जंति एवं चेव णवरं तिण्णि वा सत्त एक्कारस वा वा पण्णरस वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा सेसं तहेव एवं जाव अहेसत्तमाएवि ॥ कण्हलेस्सखुड्डागदावरजुम्मणेरइयाणं भंते ! कओ उववज्जंति एवं चेव णवरं दो वा छ वा दस वा चउद्दस वा सेसं तं चेव । एवं धूमप्पभाए वि जाव अहे सत्तमाएवि कण्हलेस्सखुड्डागकलिओगणेरइयाणं भंते ! एवं चेव णवरं एक्को वा पंच वा णव वा तेरस वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा सेसं तं चेव । एवं धूमप्पभाए वि तमाए वि । अहेसत्तमाएवि सेवं भंते ! भंते ! त्ति एगतीसइमस्स बितिओ उद्देसो सम्मत्तो ॥

द्वितीयस्तु कृष्णलेश्याश्रयः सा च पञ्चमीषष्ठीसप्तमीष्वेव पृथिवीषु भवतीति कृत्वा सामान्यदण्डकस्तद्दण्डकत्रयं चात्र भवतीति (उववाओ जहा वक्कंतीए धूमप्पभपुढविनेरइयाणंति) इह कृष्णलेश्या प्रक्रान्ता सा च धूमप्रभायां भवतीति तत्र ये जीवा उत्पद्यन्ते तेषामेवोत्पादो वाच्यस्ते वा संज्ञिसरीसृपपक्षिसिंहवर्ज्जा इति ॥ भ० ३१ श० २ उ० ।

णीललेस्सखुड्डागकडजुम्मणेरइयाणं भंते ! कओ उववज्जंति एवं जहेव कण्हलेस्सखुड्डागकडजुम्मा, णवरं उववाओ जो वालुयप्पभाए सेसं तं चेव वालुयप्पभपुढविणीललेस्सखुड्डागकडजुम्म णेरइयाणं एवं पंकप्पभाएवि । एवं चउसुवि जुम्मेसु णवरं परिमाणं जाणियव्वं, परिमाणं जहा कण्हलेस्सउद्देसए सेसं तहेव सेवं भंते ! भंते ! त्ति एकतीसइमस्स ततिओ उद्देसो सम्मत्तो ॥ ३१ ॥ ३ ॥

तृतीयस्तु नीललेश्याश्रयः सा च तृतीया चतुर्थीपञ्चमीष्वेव पृथिवीषु भवतीति कृत्वा सामान्यदण्डकस्तद्दण्डकत्रयं चात्र भवतीति (उववाओ जो वालुयप्पभाएत्ति) इह नीललेश्या प्रक्रान्ता सा च वालुकाप्रभायां भवतीति तत्र ये जीवा उत्पद्यन्ते तेषामेवोत्पादो वाच्यः ते चासञ्ज्ञिसरीसृपवर्ज्जा इति (परिमाणं जाणियव्वंति) चतुरष्टद्वादशप्रभृतिकृतयुग्मादिस्वरूपं ज्ञातव्यमित्यर्थः ॥ ३१ ॥ ३ ।

काउलेस्सखुड्डागकडजुम्मणेरइयाणं भंते ! कओ उववज्जंति एवं जहेव कण्हलेस्सखुड्डागकडजुम्मे, णवरं उववाओ जो रयणप्पभाए सेसं तहेव । रयणप्पभपुढविकाउलेस्सखुड्डागकडजुम्मणेरइयाणं भंते! कओ उववज्जंति । एवं सक्करप्पभाएवि । एवं वालुयप्पभाएवि एवं चउसुवि जुम्मेसु णवरं परिमाणं जाणियव्वं परिमाणं जहा कण्हलेस्स उद्देसए सेसं तं चेव । सेवं भंते ! भंते ! त्ति

चतुर्थस्तु कापोतलेश्याश्रयः सा च प्रथमाद्वितीयातृतीयास्वेव पृथिवीष्विति कृत्वा सामान्यदण्डको रत्नप्रभादिदण्डकत्रयं चात्र सम्भवतीति (उववाओ जो रयणप्पभाएत्ति) सामान्यदण्डके रत्नप्रभावदुपपातो वाच्यः शेषं सूत्रसिद्धम् ॥ एकत्रिंशं शतं चूर्णितः समाप्तम ॥ ३१ ॥ ४ ॥

भवसिद्धियखुड्डागकडजुम्मणेरइयाणं भंते ! कओ उववज्जंति किं णेरइए एवं जहेव ओहिओ तहेव णिरवसेसं जाव णो परप्पओगेणं उववज्जंति रयणप्पभापुढविभवसिद्धियखुड्डागकडजुम्मणेरइयाणं भंते ! एवं चेव णिरवसेसं एवं जाव अहेसत्तमाए । एवं भवसिद्धियखुड्डागतेओगणेरइयावि । एवं जाव कलिओगेत्ति णवरं परिमाणं जाणियव्वं परिमाणं पुव्वं भणियं जहा पढमुद्देसए सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ ३१ ॥ ५ ॥ कण्हलेस्सभवसिद्धियखुड्डागकडजुम्मणेरइयाणं भंते! उववज्जंति । एवं जहेव ओहिओ कण्हलेस्सउद्देसए तहेव णिरवसेसं चउसु वि जुम्मेसु भाणियव्वो जाव अहेसत्तमपुढविकण्हलेस्सभवसिद्धियखुड्डागकलिओगणेरइयाणं भंते ! कओ उववज्जंति तहेव सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ ३१ ॥ ६ ॥ णीललेस्सभवसिद्धियचउसुवि जुम्मेसु तहेव भाणियव्वं जहा ओहियणीललेस्सउद्देसए सेवं भंते ! भंते ! त्ति । जाव विह-

Jain Education International — For Private & Personal Use Only — www.jainelibrary.org

रइ ॥ ३१ ॥ ७ ॥ काउलेस्सभवसिद्धियचउसुवि जुम्मेसु तहेव उववातेयव्वो जहेव ओहिए काउलेस्सउद्देसए सेवं भंते ! भंते ! त्ति जाव विहरइ ॥ ३१ ॥ ८ ॥ जहा भवसिद्धिएहिं चत्तारि उद्देसगा भणिया एवं अभवसिद्धिएहिं चत्तारि उद्देसगा भाणियव्वा जाव काउलेस्सउद्देसओत्ति ॥ सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ ३१ ॥ १२ ॥ एवं सम्मदिट्ठीहिं वि लेस्सासंजुत्तेहिं चत्तारि उद्देसगा कायव्वा णवरं सम्मदिट्ठी पढमबितिएसु दोसुवि उद्देसएसु अहेसत्तमपुढवीसु ण उववातेयव्वो सेसं तं चेव सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ ३१ ॥ १६ ॥ मिच्छादिट्ठीहिंवि चत्तारि उद्देसगा कायव्वा जहा भवसिद्धियाणं सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ ३१ ॥ २० ॥ एवं कण्हपक्खिएहिंवि लेस्सासंजुत्ता चत्तारि उद्देसगा कायव्वा जहेव भवसिद्धिएहिंवि सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ ३१ ॥ २४ ॥ सुक्कपक्खिएहिं एवं चेव चत्तारि उद्देसगा भाणियव्वा जाव वालुयप्पभापुढविकाउलेस्ससुक्कपक्खिए खुड्डागकलिओगणेरइयाणं भंते ! कओ उववज्जंति तहेव जाव णो परप्पओगेणं उववज्जंति सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ ३१ ॥ २८ ॥ सव्वेवि एए अट्ठावीसउद्देसगा उववायसयं सम्मत्तं ॥ ३१ ॥ २८ ॥

(१३) भव्यदेवादयः कुत उत्पद्यन्ते ।

भवियदव्वदेवाणं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति किं णेरइएहिंतो उववज्जंति तिरिक्खमणुस्सदेवेहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! णेरइएहिंतो उववज्जंति तिरि० मणु० देवेहिंतो उववज्जंति भेदो जहा वक्कंतीए सव्वेसु उववातेयव्वा जाव अणुत्तरोववाइयत्ति, णवरं असंखेज्जवासाउय अकम्मभूमिगअंतरदीवगसव्वट्ठसिद्धवज्जं जाव अपराजियदेवेहिंतोवि उववज्जंति । णरदेवाणं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति किं णेरइए पुच्छा ? गोयमा ! णेरइएहिंतोवि उववज्जंति णो तिरि० णो मणु० देवेहिंतोवि उववज्जंति । जइ णेरइएहिंतो उववज्जंति किं रयणप्पभापुढविणेरइएहिंतो उववज्जंति जाव अहेसत्तमाए पुढविए णेरइएहिंतो वि उववज्जंति ? गोयमा ! रयणप्पभापुढविणेरइएहिंतोवि उववज्जंति णो सक्कर० जाव णो अहेसत्तमपुढविणेरइएहिंतोवि उववज्जंति जइ देवेहिंतो उववज्जंति किं भवणवासिदेवेहिंतो उववज्जंति वाणमंतरजोइसियवेमाणियदेवेहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! भवणवासिदेवेहिंतो उववज्जंति वाणमंतर० एवं सव्वदेवेसु उववाएयव्वा वक्कंती भेदेणं जाव सव्वट्ठसिद्धत्ति ॥

(भेदोत्ति) " जइ णेरइएहिंतो उववज्जंति किं रयणप्पभापुढविनेरइएहिंतो " इत्यादिभेदो वाच्यः। (जहा वक्कंतीएत्ति) यथा प्रज्ञापनाषष्ठपदे ॥ नवरमित्यादि (असंखेज्जवासाओत्ति) असंख्यातवर्षायुष्ककर्मभूमिजाः पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चः मनुष्या असंख्यातवर्षायुषामकर्मभूमिजादीनां साक्षादेव मृत्वा नरादेवे- भ्यश्चोद्वृत्ता भव्यद्रव्यदेवा न भवन्ति भावदेवेष्वेव तेषामुत्पादात् सर्वार्थसिद्धकास्तु भव्यद्रव्यसिद्धा एव भवन्तीत्यत एतेभ्योऽन्ये सर्वे भव्यद्रव्यदेवतयोत्पादनीया इति ॥ भ० १२ श० ९ उ० ॥ (उत्पलजीवादीनामुपपातो वणस्सइ शब्दे)

धम्मदेवाणं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति किं णेरइएहिंतो एवं वक्कंती भेदेणं सव्वेसु उववाएयव्वा जाव सव्वट्ठसिद्धत्ति, णवरं तमा अहेसत्तमाए तेऊ वाऊ असंखेज्जवासाउय अकम्मभूमिगअंतरदीवगवज्जेसु । देवाधिदेवाणं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति किं णेरइएहिंतो उववज्जंति पुच्छा गोयमा ! णेरइएहिंतो उववज्जंति, णो तिरि० णो मणु० देवेहिंतो उववज्जंति जइ णेरइए० एवं तिसु पुढविसु उववज्जंति सेसाओ खोडेयव्वाओ जइ देवेहिंतो विमाणिएसु सव्वेसु उववज्जंति जाव सव्वट्ठसिद्धत्ति सेसा खोडेयव्वा । भावदेवाणं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति ? एवं जहा वक्कंतीए भवणवासीणं उववाओ तहा भाणियव्वं ॥

धर्मदेवसूत्रे नवरमित्यादि (तमत्ति) षष्ठपृथिवी तत उद्वृत्तानां चारित्रं नास्ति तथा अधःसप्तम्यास्तेजसो वायोरसंख्येयवर्षायुष्ककर्मभूमिजेभ्योऽकर्मभूमिजेभ्योऽन्तरद्वीपजेभ्यश्चोद्वृत्तानां मानुषत्वाभावाच्च चारित्रं ततश्च न धर्मदेवत्वमिति देवातिदेवसूत्रे (तिसु पुढवीसु उववज्जंतित्ति) तिसृभ्य पृथिवीभ्य उद्वृत्ता देवातिदेवा उत्पद्यन्ते (सेसाओ खोडेयव्वाओत्ति) शेषा पृथिव्यो निषेधयितव्या इत्यर्थः तासु उद्वृत्तानां देवातिदेवत्वस्याभावादिति " भावदेवाणमित्यादि " इह च बहुतरस्थानेभ्य उद्वृत्ता भवनवासितयोत्पद्यन्ते असञ्ज्ञिनामपि तेषूत्पादादत उक्तम् " जहावक्कंतीए भवणवासीणं उववाओ " इत्यादि ॥ भ० १२ श० ९ उ० ।

(१४) सतोऽसतो वा नैरयिकादय उत्पद्यन्ते ॥

सओ भंते ! णेरइया उववज्जंति असतो णेरइया उववज्जंति ? गंगेया ! सओ णेरइया उववज्जंति णो असतो णेरइया उववज्जंति एवं जाव वेमाणिया । सओ भंते ! णेरइया उव्वट्टंति असओ णेरइया उव्वट्टंति ? गंगेया ! सओ णेरइया उव्वट्टंति णो असओ णेरइया उव्वट्टंति एवं जाव वेमाणिया, णवरं जोइसियवेमाणिएसु चयंति भाणियव्वं । सओ भंते ! णेरइया उववज्जंति असओ णेरइया उववज्जंति सओ असुरकुमारा उववज्जंति एवं जाव सओ वेमाणिया उववज्जंति असओ वेमाणिया उववज्जंति, सओ णेरइया उव्वट्टंति असओ णेरइया उव्वट्टंति सओ असुरकुमारा उव्वट्टंति जाव सओ वेमाणिया चयंति असओ वेमाणिया चयंति ? गंगेया ! सओ णेरइया उववज्जंति णो असओ णेरइया उववज्जंति सओ असुरकुमारा उववज्जंति णो असओ असुरकुमारा उववज्जंति जाव सओ वेमाणिया उववज्जंति णो असओ वेमाणिया उववज्जंति सओ णेरइया उव्वट्टंति णो असओ णेरइया उव्वट्टंति जाव सओ वेमाणिया चयंति णो असओ वेमाणिया चयंति । से केण-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ सओ णेरइया उववज्जंति णो असओ णेरइया उववज्जंति। जाव सओ वेमाणिया चयंति णो असओ वेमाणिया चयंति से णूणं भे गंगेया ! पासेणं अरहा पुरिसादाणिएणं सासए लोए वुइए अणाइए अणवदग्गे जहा पंचमसए जाव जे लोक्कइ से लोए से तेणट्ठेणं गंगेया ! एवं वुच्चइ जाव सओ वेमाणिया चयंति णो असओ वेमाणिया चयंति । सयं भंते! एयं एवं जाणह उदाहु असयं असोच्चा एतेवं जाणह उदाहु सोच्चा सओ णेरइया उववज्जंति णो असओ णेरइया उववज्जंति जाव सओ वेमाणिया चयंति णो असओ वेमाणिया चयंति ? गंगेया ! सयं एते एवं जाणामि णो असयं असोच्चा एते एवं जाणामि णो सोच्चा सओ णेरइया उववज्जंति णो असओ णेरइया उववज्जंति जाव सओ वेमाणिया चयंति णो असओ वेमाणिया चयंति से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ तं चेव जाव णो असओ वेमाणिया चयंति ? गंगेया ! केवली णं पुरच्छिमेणं मियंपि जाणइ अमियंपि जाणइ दाहिणेणं एवं जहा सद्दुद्देसए जाव णिव्वुडे णाणे केवलिस्स से तेणट्ठेणं गंगेया ! एवं वुच्चइ तं चेव जाव णो असओ वेमाणिया चयंति ॥

अथ नारकादीनां प्रकारान्तरेणोत्पादोद्वर्तने निरूपयन्नाह "सओ भंते" इत्यादि ॥ तत्र च (सओ नेरइया उववज्जंतित्ति) सतो विद्यमाना द्रव्यार्थतया न हि सर्वथैवासत्किञ्चिदुत्पद्यते सत्त्वादेव खरविषाणवत् सत्वं च तेषां जीवद्रव्यापेक्षया नारकपर्यायापेक्षया वा तथा हि भाविनारकपर्यायापेक्षया द्रव्यतो नारकाः सतो नारका उत्पद्यन्ते नारकायुष्कोदयाद्वा भावनारका एव नारकत्वेनोत्पद्यन्त इति। अथवा (सउत्ति) विभक्तिविपरिणामात्सत्सु प्रागुत्पन्नेष्वन्ये समुत्पद्यन्ते नासत्सु लोकस्य शाश्वतत्वेन नारकादीनां सर्वदैव सद्भावादिति ॥ "से णूणं भे गंगेया" इत्यादि । अनेन च तत्सिद्धान्तेनैव स्वमतं पोषितं यतः पार्श्वनाथार्हता शाश्वतो लोका उक्तोऽतो लोकस्य शाश्वतत्वात्सन्त एव सत्स्वेव वा नारकादय उत्पद्यन्ते च्यवन्ते चेति साध्वेवोच्यत इति। अथ गाङ्गेयो भगवतोऽतिशायिनं ज्ञानसंपदं संभावयन् विकल्पयन्नाह । "सयं भंते ! इत्यादि । स्वयमात्मना लिङ्गानपेक्षमित्यर्थः (एयंति) वक्ष्यमाणप्रकारं वस्तु (असयंति) अस्वयं परतो लिङ्गत इत्यर्थः । तथा (असोच्चत्ति) अश्रुत्वा आगमानपेक्षम् (एतेयंति] एतदेवमित्यर्थः (सोच्चत्ति) पुरुषान्तरवचनं श्रुत्वा आगमत इत्यर्थः [सयं एतेवं जाणामित्ति) स्वयमेतदेवं जानामि पारमार्थिकप्रत्यक्षसाक्षात्कृतसमस्तवस्तुस्तोमस्वभावत्वान्मम ॥ भ० ए श० ३२ उ० ।

सयं भंते ! णेरइया णेरइएसु उववज्जंति असयं णेरइया णेरइएसु उववज्जंति ? गंगेया ! सयं णेरइया णेरइएसु उववज्जंति असयं णेरइया णेरइएसु उववज्जंति । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ जाव उववज्जंति ? गंगेया ! कम्मोदएणं कम्मगुरुयत्ताए कम्मभारियाए कम्मगुरुसंभारियत्ताए असुभाणं कम्माणं उदएणं असुभाणं कम्माणं विवागेणं असुभाणं कम्माणं फलविवागेणं सयं णेरइया णेरइएसु उववज्जंति से तेणट्ठेणं गंगेया ! जाव उववज्जंति। सयं भंते ! असुरकुमारा पुच्छा गंगेया ! सयं असुरकुमारा उववज्जंति णो असयं असुरकुमारा उववज्जंति । से केणट्ठेणं तं चेव जाव उववज्जंति ? गंगेया ! कम्मोदएणं कम्मोवसमेणं कम्मविगइए कम्मविसोहीए कम्मविसुद्धीए सुभाणं कम्माणं उदएणं सुभाणं कम्माणं विवागेणं सुभाणं कम्माणं फलविवागेणं सयं असुरकुमारा असुरकुमारत्ताए जाव उववज्जंति णो असयं असुरकुमारा जाव उववज्जंति से तेणट्ठेणं जाव उववज्जंति, एवं जाव थणियकुमारा । सयं भंते ! पुढविकाइया पुच्छा गंगेया ! सयं पुढवीकाइया उववज्जंति णो असयं जाव उववज्जंति से केणट्ठेणं जाव उववज्जंति ? गंगेया ! कम्मोदएणं कम्मगुरुयत्ताए कम्मभारियत्ताए कम्मगुरुयसंभारियत्ताए सुभासुभाणं कम्माणं उदएणं सुभासुभाणं कम्माणं विवागेणं सुभासुभाणं कम्माणं फलविवागेणं सयं पुढवीकाइया जाव उववज्जंति णो असयं पुढवीकाइया जाव उववज्जंति, से तेणट्ठेणं जाव उववज्जंति एवं जाव मणूसा वाणमंतरजोइसवेमाणिया जहा असुरकुमारा से तेणट्ठेणं गंगेया ! एवं वुच्चइ सयं वेमाणिया जाव उववज्जंति णो असयं वेमाणिया जाव उववज्जंति ॥

(सयं नेरइया नेरइएसु उववज्जंति) स्वयमेव नारका उत्पद्यन्ते नास्वयं नेश्वरपारतन्त्र्यादित्यर्थः यथा कैश्चिदुच्यते । "अज्ञो जन्तुरनीशोऽय-मात्मनः सुखदुःखयोः। ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्, स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वेति १ ईश्वरस्य हि कालादिकारणकलापव्यतिरिक्तस्य युक्तिभिर्विचार्यमाणस्याघटनादिति (कम्मोदएणंति) कर्मणामुदितत्वेन न च कर्मोदयमात्रेण नारकेषूत्पद्यते केवलिनामपि तस्य भावादत आह (कम्मगुरुयाएत्ति) कर्मणां गुरुकता महत्ता कर्मगुरुकता तया (कम्मभारियाएत्ति) भारोऽस्ति येषां तानि भारिकाणि तद्भावो भारिकता कर्मणां भारिकता कर्मभारिकता तया महदपि किञ्चिदल्पभारं दृष्टं तथाविधभारमपि च किञ्चिदमहदित्यत आह (कम्मगुरुसंभारियत्ताएत्ति) गुरोः सम्भारिकस्य च भावो गुरुसम्भारिकता गुरुता सम्भारिकता चेत्यर्थः । कर्मणां गुरुसम्भारिकता कर्मगुरुसम्भारिकता तयाऽतिप्रकर्षावस्थयेत्यर्थः । एतच्च त्रयं शुभकर्मापेक्षया स्यादत आह॥ "असुभाण" मित्यादि ॥ उदयप्रदेशतोऽपि स्यादत आह (विवागेणंति) विपाको यथा बद्धरसानुभूतिः स च मन्दोऽपि स्यादत आह (फलविवागेणंति) फलस्येवालाबुकादेः विपाको विपच्यमानता रसप्रकर्षावस्था फलविपाकस्तेनासुरकुमारसूत्रे (कम्मोदएणंति) असुरकुमारोचितः कर्मणामुदयेन। वाचनान्तरे तु (कम्मोवसमेणंति) दृश्यते तत्र चाशुभकर्मणामुपशमेन सामान्यतः (कम्मविगइएत्ति) कर्मणामशुभानां विगत्या विगमेन स्थितिमाश्रित्य (कम्मविसोहीएत्ति) रसमाश्रित्य (कम्मविसुद्धीएत्ति) प्रदेशापेक्षया एकार्था-

Jain Education International · For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्ते शब्दा इति पृथिवीकायिकसूत्रे (सुभासुभाणंति)शुभानां शुभवर्णगन्धादीनामशुभानां तेषामेकेन्द्रियजात्यादीनां वा । भ० ९ श० ३२ उ० ।

(१५) इदानीं षष्ठं द्वारमभिधित्सुराह । उद्वृत्य क गच्छन्ति ।

नेरइयाणं भंते ! अणंतरं उव्वट्टित्ता कहिं गच्छंति कहिं उववज्जंति किं नेरइएसु उववज्जंति तिरिक्खजोणिएसु मणुस्सेसु देवेसु उववज्जंति ? गोयमा ! नो नेरइएसु उववज्जंति तिरिक्खजोणिएसु उववज्जंति मणुस्सेसु उववज्जंति नो देवेसु उववज्जंति । जदि तिरिक्खजोणिएसु उववज्जंति किं एगिंदिय, जाव पंचिंदियतिरिक्खजोणिएसु उववज्जंति ? गोयमा ! नो एगिंदिएसु जाव नो चउरिंदिएसु उववज्जंति एवं जेहिंतो उववाओ भणिओ तेसु उव्वट्टणा वि भाणियव्वा नवरं सम्मुच्छिमेसु न उववज्जंति, एवं सव्वपुढवीसु भाणियव्वं नवरं अहेसत्तमाओ मणुस्सेसु न उववज्जंति असुरकुमाराणं भंते ! अणंतरं उव्वट्टित्ता कहिं गच्छंति कहिं उववज्जंति किं नेरइएसु उववज्जंति जाव देवेसु उववज्जंति गोयमा ! नो नेरइएसु तिरिक्खजोणिएसु मणुस्सेसु उववज्जंति नो देवेसु उववज्जंति । जदि तिरिक्खजोणिएसु उववज्जंति किं एगिंदिएसु जाव पंचिंदियतिरिक्खजोणिएसु उववज्जंति गोयमा ! एगिंदियतिरिक्खजोणिएसु उववज्जंति नो बेइंदिएसु जाव नो चउरिंदिएसु पंचिंदियतिरिक्खजोणिएसु उववज्जंति । जदि एगिंदिएसु उववज्जंति किं पुढवीकाइयएगिंदिएसु जाव वणस्सइकाइयएगिंदिएसु उववज्जंति ? गोयमा ! पुढवीकाइयएगिंदिएसुवि आउकाइयएगिंदिएसुवि उववज्जंति नो तेउकाइएसु नो वाउकाइएसु वणस्सइकाइएसु उववज्जंति गोयमा ! नो सुहुमपुढवीकाइएसु अपज्जत्तयबादरपुढवीकाइएसु उववज्जंति । जइ बादरपुढवीकाइएसु किं पज्जत्तगबादरपुढवीकाइएसु अपज्जत्तयबादरपुढवीकाइएसु उववज्जंति ? गोयमा ! पज्जत्तएसु उववज्जंति नो अपज्जत्तएसु एवं आउवणस्सईसु भाणियव्वा पंचिंदियतिरिक्खजोणियमणुस्सेसु य जहा नेरइयाणं उव्वट्टणा सम्मुच्छिमवज्जा तहा भाणियव्वा । एवं जाव थणियकुमारा । पुढवीकाइयाणं भंते ! अणंतरं उव्वट्टित्ता कहिं गच्छंति कहिं उववज्जंति किं नेरइएसु जाव देवेसु उववज्जंति ? गोयमा! नो नेरइएसु उववज्जंति तिरिक्खजोणिएसु मणुस्सेसु उववज्जंति नो देवेसु उववज्जंति । एवं जहा एतेसिं चेव उववाओ तहा उव्वट्टणावि देववज्जा भाणियव्वा । एवं आउवणस्सइबेइंदियतेइंदियचउरिंदियावि । एवं तेउवाउवि नवरं मणुस्सवज्जेसु उववज्जंति । पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं भंते! अणंतरं उव्वट्टित्ता कहिं गच्छंति कहिं उववज्जंति ? गोयमा ! नेरइएसु उववज्जंति जाव देवेसु उववज्जंति जइ नेरइएसु उववज्जंति किं रयणप्पभापुढवीनेरइएसु उववज्जंति जाव अहेसत्तमापुढवीनेरइएसु उववज्जंति ? गोयमा ! रयणप्पभापुढवीनेरइएसु उववज्जंति जाव अहेसत्तमपुढवीनेरइएसु उववज्जंति । जइ तिरिक्खजोणिएसु उववज्जंति किं एगिंदिएसु जाव पंचिंदिएसु ? गोयमा ! एगिंदिएसुवि उववज्जंति जाव पंचिंदिएसुवि उववज्जंति एवं जहा तेसिं चेव उववाओ उव्वट्टणावि भाणियव्वा तहेव नवरं असंखेज्जवासाउएसुवि एते उववज्जंति किं सम्मुच्छिममणुस्सेसु उववज्जंति मणुस्सेसु उववज्जंति गब्भवक्कंतियमणुस्सेसु उववज्जंति ? गोयमा ! दोहिंतोवि एवं जहा उववाओ भणिओ तहा उव्वट्टणावि भाणियव्वा नवरं अकम्मभूमिगअंतरदीवगअसंखेज्जवासाउएसु वि एते उववज्जंति त्ति भाणियव्वं, जदि देवेसु उववज्जंति किं भवणवईसु उववज्जंति जाव किं वेमाणिएसु उववज्जंति ? गोयमा ! सव्वेसु देवेसु चेव उववज्जंति । जदि भवणवईसु उववज्जंति असुरकुमारेसु जाव थणियकुमारेसु उववज्जंति ! गोयमा ! सव्वेसु चेव उववज्जंति एवं वाणमंतरजोइसियवेमाणिएसु निरंतरं उववज्जंति जाव सहस्सारोकप्पोत्ति । मणुस्साणं भंते ! अणंतरं उव्वट्टित्ता कहिं गच्छंति कहिं उववज्जंति नेरइएसु उववज्जंति जाव देवेसु उववज्जंति ? गोयमा ! नेरइएसु वि उववज्जंति जाव देवेसु वि उववज्जंति, एवं निरंतरं सव्वेसु ठाणेसु पुच्छा, गोयमा ! सव्वेसु ठाणेसु उववज्जंति न कहिं वि पडिसेहो कायव्वो । जाव सव्वट्ठसिद्धदेवेसु वि उववज्जंति अत्थेगइया सिज्झंति बुज्झंति मुच्चंति परिनिव्वायंति सव्वदुक्खाणमंतं करेंति वाणमंतरजोइसियवेमाणियसोहम्मीसाणा य जहा असुरकुमारा नवरं जोइसियाण य वेमाणियाण य चयंतीति अभिलावो कायव्वो । सणंकुमारदेवाणं पुच्छा, गोयमा ! जहा असुरकुमारा नवरं एगिंदिएसु न उववज्जंति, एवं जाव सहस्सारगदेवा । आणय जाव अणुत्तरोववाइया एवं चेव नवरं नो तिरिक्खजोणिएसु उववज्जंति, मणुस्सेसु पज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमिगगब्भवक्कंतियमणुस्सेसु उववज्जंति दारं ॥

पाठसिद्धं नवरमयमप्येषः संक्षेपार्थः । नैरयिकाणां स्वभावादुद्वृत्तानां गर्भजसंख्येयवर्षायुष्कतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्येषूत्पादः अधः सप्तमपृथिवीनारकाणां गर्भजसंख्येयवर्षायुष्कतिर्यक्पञ्चेन्द्रियेष्वेव असुरकुमारादिभवनव्यन्तरज्योतिष्कसौधर्मेशानदेवानां बादरपर्याप्तपृथिव्यब्वनस्पतिगर्भजसंख्येयवर्षायुष्कतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्येषु पृथिव्यब्वनस्पतिद्वित्रिचतुरिन्द्रियाणां तिर्यग्गतौ मनुष्यगतौ च तेजोवायूनां तिर्यग्गतावेव तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां नारकतिर्यग्मनुष्यदेवगतिषु नवरं वैमानिकेषु सहस्रारपर्यन्तेषु मनुष्याणां सर्वेष्वपि स्थानेषु सनत्कुमारादिदेवानां सहस्रारदेवपर्यन्तानां गर्भजसंख्येयवर्षायुष्कतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्येषु आनतादिदेवतानां गर्भजसंख्येयवर्षायुष्कमनुष्येष्वेवेति । गतं षष्ठं द्वारम ॥ प्रज्ञा० ६ पद ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(१६) भव्यद्रव्यदेवादयः कुत उत्पद्यन्ते ॥

भवियदव्वदेवाणं भंते ! अणंतरं उव्वट्टित्ता कहिं गच्छंति कहिं उववज्जंति किं णेरइएसु उववज्जंति जाव देवेसु उववज्जंति ? गोयमा ! णो णेरइएसु उववज्जंति णो तिरि० णो मणु० देवेसु उववज्जंति जइ देवेसु उववज्जंति सव्वदेवेसु उववज्जंति जाव सव्वट्ठसिद्धत्ति । णरदेवाणं भंते ! अणंतरं उव्वट्टित्ता पुच्छा गोयमा ! णेरइएसु उववज्जंति णो तिरि०णो मणु० णो देवेसु उववज्जंति जइ णेरइएसु उववज्जंति सत्तसुवि पुढवीसु उववज्जंति । धम्मदेवाणं भंते ! अणंतरं उव्वट्टित्ता पुच्छा गोयमा ! णो णेरइएसु उववज्जंति णो तिरि०णो मणु० देवेसु उववज्जंति जइ देवेसु उववज्जंति किं भवणवासि दे० पुच्छा, गोयमा ! णो भवणवासिदेवेसु उववज्जंति, णो वाणमंतरजोइसियवेमाणियदेवेसु उववज्जंति, सव्वेसु वेमाणिएसु उववज्जंति जाव सव्वट्ठसिद्धे उववज्जंति अत्थेगइया सिज्झंति अंतं करेंति । देवाहिदेवाणं भंते ! अणंतरं उव्वट्टित्ता कहिं गच्छंति कहिं उववज्जंति ? गोयमा ! सिज्झंति जाव अंतं करेंति । भावदेवाणं भंते ! अणंतरं उव्वट्टित्ता पुच्छा, जहा वक्कंतीए असुरकुमाराणं उव्वट्टणा तहा भाणियव्वा । भवियदव्वदेवाणं भंते ! भवियदव्वदेवेत्ति कालओ केवचिरं होइ ॥

अथ तेषामेवोद्वर्त्तनां प्ररूपयन्नाह-" भवियदव्वे " त्यादि ॥ इह च भविकद्रव्यदेवानां भाविदेवभवस्वभावत्वान्नारकादिभवत्रयनिषेधः (णेरइएसु उववज्जंतित्ति) अत्यक्तकामभोगा नरदेवा नैरयिकेषूत्पद्यन्ते, शेषत्रये तु तन्निषेधस्तत्र च यद्यपि केचिच्चक्रवर्त्तिनो देवेषूत्पद्यन्ते तथापि ते नरदेवत्वत्यागेन धर्मदेवत्वप्राप्ताविति न दोषः (जहा वक्कंतीए असुरकुमाराणं उव्वट्टणा तहा भाणियव्वत्ति) असुरकुमारा बहुषु जीवस्थानेषु गच्छन्तीति कृत्वा तैरतिदेशः कृतः असुरादयो हीशानान्ताः पृथिव्यादिष्वपि गच्छन्तीति ॥ भ०१२ श० ९ उ० ।

(१७) देवो महर्धिको यावन्महेशाख्ये विशरीरेषूपपद्येत ।

तेणं कालेणं तेणं समएणं जाव एवं वयासी देवेणं भंते ! महिड्डीए जाव महेसक्खे अणंतरं चयं चइत्ता विसरीरेसु नागेसु उववज्जेज्जा ? हंता गोयमा ! उववज्जेज्जा, से णं तत्थ अच्चियवंदियपूइयसक्कारियसम्माणिए दिव्वे सच्चे सच्चोवाए सण्णिहियपाडिहेरेयावि भवेज्जा ? हंता भवेज्जा । से णं भंते ! तओहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता सिज्झेज्जा बुज्झेज्जा जाव अंतं करेज्जा ? हंता सिज्झेज्जा जाव अंतं करेज्जा । देवेणं भंते ! महिड्डिए एवं चेव जाव विसरीरेसु मणीसु उववज्जेज्जा एवं चेव जहा नागाणं ॥

(विसरीरेसुत्ति) द्वे शरीरे येषां ते द्विशरीरास्तेषु ये हि नागशरीरं त्यक्त्वा मनुष्यशरीरमवाप्य सेत्स्यन्ति ते द्विशरीरा इति । (नागेसुत्ति सर्पेषु हस्तिषु वा (तत्थत्ति) नागजन्मनि यत्र वा क्षेत्रे जातः ॥ " अच्चियेत्यादि " इहार्चितादिपदानां पञ्चानां कर्मधारयस्तत्र चार्चितश्चन्दनादिना वन्दितः स्तुत्या पूजितः पुष्पादिना सत्कारितो वस्त्रादिना संमानितः प्रतिपत्तिविशेषेण (दिव्वेत्ति) प्रधानः । (सच्चेत्ति) स्वप्नादिप्रकारेण तदुपदिष्टस्यावितथत्वात् (सच्चोवाएत्ति) सत्यावपातः सफलसेव इत्यर्थः कुत एतदित्याह (सन्निहियपाडिहेरेति) सन्निहितमदूरवर्त्तिप्रातिहार्यं पूर्वसंगतिकादिदेवताकृतं प्रतिहारकर्म यस्य स तथा (मणीसुत्ति) पृथिवीकायविकारेषु ॥

देवेणं भंते ! महिड्डिए जाव विसरीरेसु रुक्खेसु उववज्जेज्जा एवं चेव णवरं इमं णाणत्तं जाव सण्णिहियपाडिहेरे लाउल्लोइयमहियावि भवेज्जा सेसं तं चेव जाव अंतं करेज्जा ॥

(लाउल्लोइयमहियत्ति) (लाइयंति) छगणादिना भूमिकायाः संमृष्टीकरणम् (उल्लोइयंति) सेटिकादिना कुड्यानां धवलनमेतेनैव द्वयेन महितो यः स तथा एतच्च विशेषणं वृक्षस्य पीठापेक्षया, विशिष्टवृक्षा हि बद्धपीठा भवन्तीति ॥

अह भंते गोणंगुलवसभे कुक्कुडवसभे मंडुक्कवसभे एएणं णिस्सीला णिव्वया णिग्गुणा णिम्मेरा णिप्पच्चक्खाणपोसहोववासा कालमासे कालं किच्चा इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए उक्कोसं सागरोवमट्ठिइयंसि णरगंसि णेरइयत्ताए उववज्जेज्जा समणे भगवं महावीरे वागरेइ उववज्जमाणे उववण्णेत्ति वत्तव्वंसिया अह भंते ! सीहे वग्घे जहा उस्सप्पिणी उद्देसए जाव परस्सरे एएसिं णिस्सीला एवं चेव जाव वत्तव्वंसिया अह भंते ! ढंके कंके पिलए मद्दूए सिखीए एए णं णिस्सीला सेसं तं चेव जाव वत्तव्वंसिया सेवं भंते ! भंते ! त्ति । जाव विहरइ दुवालसमसयस्स य अट्ठमो उद्देसो सम्मत्तो ॥ १२ ॥

(गोणंगुलवसभेत्ति) गोलाङ्गूलानां वानराणां मध्ये महान् स एव वा विदग्धो विदग्धपर्यायस्यावृषभशब्दस्य एवं कुक्कुटवृषभोऽपि एवं मण्डूकवृषभोऽपीति (निस्सीलात्ति] समाधानरहिताः (निव्वयेत्ति) अणुव्रतरहिताः (निगुणात्ति) गुणव्रतैः क्षमादिभिर्वा रहिताः " नेरइयत्ताएउववज्जेज्जा " इति प्रश्नः । इह च " उववज्जेज्जा " इत्येनदुत्तरं तस्य चासञ्जयमाशङ्कमानस्तत्परिहारमाह " समणे " इत्यादि अयमत्राभिप्रायः यत्र समये गोलाङ्गूलादयो न तत्र समये नारकास्ते अतः कथं ते नारकतयोत्पद्यन्त इति वक्तव्यं स्यात् ? अत्रोच्यते श्रमणो भगवान् महावीरो न तु जमाल्यादिरेवं व्याकरोति यदुत उत्पद्यमानमुत्पन्नमिति वक्तव्यं स्यात्क्रियाकालनिष्ठाकालयोरभेदात् अतस्ते गोलाङ्गूलप्रभृतयो नारकतयोत्पत्तुकामा नारका एवेति कृत्वा उत्पद्यन्ते (नेरइयत्ताए उववज्जेज्जत्ति) (उस्सप्पिणी उद्देसएत्ति सप्तमशतस्य षष्ठे इति द्वादशशतेऽष्टमः ॥ भ० १२ श० ८ उ० ॥

(१८) नैरयिकादयः कथमुपपद्यन्ते ।

रायगिहे जाव एवं वयासी णेरइयाणं भंते ! कहं उववज्जंति गोयमा ! से जहाणामए पवयमाणे अज्झवसाणणिव्वत्तिएणं करणोवाएणं सेयकाले तं ठाणं विप्पजहित्ता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुरिमं ठाणं उवसंपज्जित्ताणं विहरंति एवामेव ते वि जीवा पवत्रोवि पवयमाणा अज्झवसाणणिव्वत्तिएणं करणोवाएणं से य काले तं जवं विप्पजहित्ता पुरिसजवं उवसंपज्जित्ताणं विहरंति ।।

सप्तमोद्देशके संयता भेदत उक्तास्तद्विपक्षभूताश्चासंयता भवन्ति ते च नारकादयस्तेषां च यथोत्पादो भवति तथाष्टमोऽभिधीयत इत्येवं सम्बन्धस्यास्येदमादिसूत्रम् "रायगिहे" इत्यादि [पवएत्ति] प्लवक उत्प्लवनकारी (पवमाणेत्ति) प्लवमान उत्प्लुतिं कुर्वन् (अज्झवसाणनिव्वत्तिएणंति) उत्प्लोतव्यं मयेत्येवंरूपाऽध्यवसायनिर्वर्तितेन (करणोपायेणंति) उत्प्लवनलक्षणं यत्करणं क्रियाविशेषः स एवोपायः स्थानान्तरप्राप्तौ हेतुः करणोपायस्तेन (सेयकालेत्ति) एष्यति काले विहरतीति योगः किं कृत्वेत्याह (तं ठाणंति) यत्र स्थाने स्थितस्तत्स्थानं विप्रहाय प्लवनतस्त्यक्त्वा [पुरिमंति] पुरोवर्तिस्थानमुपसम्पद्य प्राप्य विहरतीति (एवामेवतेविजीवत्ति] दार्ष्टान्तिकयोजनार्थः किमुक्तं भवतीत्याह [पवओवि पवमाणत्ति अज्झवसाणनिव्वत्तिएणंति] तथाविधाध्यवसायनिर्वर्तितेन [करणोपायेणंति) क्रियते विविधावस्था जीवस्यानेन क्रियते वा तदिति करणं कर्म प्लवकक्रियाविशेषो वा करणं करणमिव करणं स्थानान्तरप्राप्तिहेतुता साधर्म्यात्कर्मैव तदेवोपायः करणोपायस्तेन [तं भवंति] मनुष्यादिभवं [पुरिमं भवंति] प्राप्तव्यनारकभवमित्यर्थः [अज्झवसाणजोगनिव्वत्तिएणंति] अध्यवसानं जीवपरिणामो योगश्च मनःप्रभृतिव्यापारस्ताभ्यां निर्वर्तितो यः स तथा तेन [करणोवाएणंति] करणोपायेन मिथ्यात्वादिना कर्मबन्धहेतुनेति ।

तेसि णं भंते जीवाणं कहं सीहागती कहं सीहे गतिविसए पएत्ते ? गोयमा ! से जहानामए केइ पुरिसे तरुणे बलवं एवं जहा चउद्दसमसए पढमुद्देसए जाव तिसमएणं वा विग्गहेणं उववज्जंति । तेसिणं जीवाणं तहा सीहागई तहा सीहे गतिविसए पएत्ते तेणं भंते ! जीवा कहं परजवियाउयं पकरेंति ? गोयमा ! अज्झवसाणणिव्वत्तिएणं करणोवाएणं एवं खलु ते जीवा परजवियाउयं पकरेंति । तेसिणं भंते ! जीवा कहं गती पयत्तइ ? गोयमा ! आउक्खएणं भवक्खएणं ठिइएणं एवं खलु ते सिणं जीवाणं गती पयत्तइ तेणं भंते ! जीवा किं आइड्डीए उववज्जंति परिड्डीए उववज्जंति गोयमा ! आइड्डीए उववज्जंति णो परिड्डीए उववज्जंति तेणं भंते ! जीवा किं आयकम्मुणा उववज्जंति परकम्मुणा उववज्जंति ? गोयमा ! आयकम्मुणा उववज्जंति णो परकम्मुणा उववज्जंति । तेणं भंते ! जीवा किं आयप्पओगेणं उववज्जंति परप्पओगेणं उववज्जंति ? गोयमा ! आयप्पओगेणं उववज्जंति णो परप्पओगेणं उववज्जंति। असुरकुमाराणं भंते ! कहं उववज्जंति जहा णेरइया । तहेव णिरवसेसं जाव णो परप्पओगेणं उववज्जंति एवं एगिंदियवज्जा जाव वेमाणिया एगिंदिया एवं चेव णवरं चउसमइओ विग्गहो सेसं तं चेव सेवं भंते ! भंते ! त्ति जाव विहरइ (पणवीसइमसयस्स अट्ठमो २५।८।) भवसिद्धियनेरइयाणं भंते ! कहं उववज्जंति ? गोयमा ! से जहानामए पवए पवमाणे अवसेसं तं चेव एवं जाव वेमाणिया सेवं भंते ! भंते ! त्ति (पणवीसइमसयस्स णवमो ।२५।९।) अभवसिद्धयणेरइयाणं भंते ! कहं उववज्जंति ? गोयमा ! से जहाणामए पवए पवमाणे अवसेसं तं चेव एवं जाव वेमाणिया सेवं भंते ! भंते ! त्ति (पणवीसइमसयस्स दसमो । २५ । १० ।) सम्मदिट्ठीणेरइयाणं भंते ! कहं उववज्जंति ? गोयमा ! से जहाणामए पवए पवमाणे अवसेसं तं चेव एवं एगिंदियवज्जं जाव वेमाणिए सेवं भंते ! भंते ! त्ति (पणवीसइमसयस्स एक्कारसमो ।२५।११।) मिच्छादिट्ठी णेरइयाणं भंते ! कहं उववज्जंति ? गोयमा ! से जहाणामए पवए पवमाणे अवसेसं तं चेव एवं जाव वेमाणिए सेवं भंते ! भंते ! त्ति जाव विहरइ। पणवीसइमसयस्स दुवालसमो।। भ० २५ श० १२ उ०।।

(उत्पलजीवादीनामुपपातो वणस्सइ शब्दे)

(१९) समुद्घातविशेषणैकेन्द्रियाणाम् ।।

अपज्जत्ता सुहुमपुढवीकाइयाणं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए पुरच्छिमिल्ले चरिमंते समोहए समोहणावेत्ता जे भविए इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए पच्चच्छिमिल्ले चरिमंते अपज्जत्ता सुहुमपुढवीकाइयत्ताए उववज्जित्तए, से णं भंते ! कइ समइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा ? गोयमा ! एगसमइएण वा दुसमइएण वा तिसमइएण वा विग्गहेणं उववज्जेज्जा। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ एगसमइएण वा दुसमइएण वा जाव उववज्जेज्जा एवं खलु गोयमा ! मए सत्तसेढीओ पएत्ताओ तं जहा उज्जुआयता सेढी एगओ वंका दुहओ वंका एगओ खुहा दुहओ खुहा । चक्कवाला अद्धचक्कवाला उज्जुआयया सेढीए उववज्जमाणे एगसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा १ । एगओ वंकाए सेढीए उववज्जमाणे दुसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा, दुहओ वंकाए सेढीए उववज्जमाणे तिसमइएणं विग्गहे उववज्जेज्जा से तेणट्ठेणं गोयमा! जाव उववज्जेज्जा २ । अपज्जत्ता सुहुमपुढवीकाइयाणं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए पुरच्छिमचरिमंते समोहए समोहणावेत्ता जे भविए इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए पच्चच्छिमिल्ले चरिमंते पज्जत्ता सुहुमपुढवीकाइयत्ताए उववज्जित्तए से णं भंते ! कइ समइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा ? गोयमा ! एगसमइएण वा दुसमइएण वा सेसं तं चेव जाव से तेणट्ठेणं जाव विग्गहेणं उववज्जेज्जा ।। २ ।। एवं अपज्जत्ता सुहुमपुढवीकाइओ पुरच्छिमिल्ले चरिमंते समोहणावेत्ता पच्चच्छिमिल्ले चरिमंते बादरपुढवीकाइएसु अपज्जत्तएसु उववाएयव्वा ।। ३ ।। ताहे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तेसु चेव पज्जत्तएसु ॥ ४ ॥ एवं आउक्काइएसु वि अपज्जत्तएसु उववातेयव्वा । ताहे तेसु चेव पज्जत्तएसु, एवं आउकाइएसु वि चत्तारि आलावगा सुहुमेहिं अपज्जत्तएहिं ! ताहे पज्जत्तएहिं २ बायरेहिं अपज्जत्तएहिं ३ ताहे पज्जत्तएहिं ४ उववातेयव्वो एवं चेव सुहुमतेउकाइएहिं वि अपज्जत्तएहिं ताहे पज्जत्तएहिं उववातेयव्वो। अपज्जत्ता सुहुमपुढवीकाइएणं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए पुरच्छिमिल्ले चरिमं ते समोहए समो० जे भविए मणुस्सखेत्ते अपज्जत्तबादरतेउकाइयत्ताए उववज्जित्तए सेणं भंते ! कइसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा सेसं तं चेव एवं पज्जत्ता बादरतेउकाइयत्ताए उववातेयव्वो वाउकाइएसु सुहुमबादरेसु जहा आउकाइएसु उववाओ तहा उववातेयव्वो एवं वणस्सइकाइएसुवि। पज्जत्ता सुहुमपुढवीकाइएणं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए एवं पज्जत्तसुहुमपुढवीकाइएसु वि पुरच्छिमिल्ले चरिमंते समोहणावेत्ता एए चेव कमेणं एएसु चेव वीससु ठाणेसु उववाएयव्वो जाव बादरवणस्सइकाइएसु पज्जत्तएसु वि ४० एवं अपज्जत्तए बादरपुढवीकाइओ वि । एवं पज्जत्तबादरपुढवीकाइओ वि । ८० । एवं आउकाइएसुवि चउसुवि गमएसु पुरच्छिमिल्ले चरिमंते समोहयाए चेव वत्तव्वया, एएसु चेव वीससु ठाणेसु उववाएयव्वो । १६० । सुहुमतेउकाइओवि अपज्जत्तओ पज्जत्तओ य एएसु चेव वीससु ठाणेसु उववातेयव्वो । २०० । अपज्जत्तबायरतेउकाएणं भंते ! मणुस्सखेत्ते समोहए समो० जे भविए इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए पच्चच्छिमिल्ले चरिमंते अपज्जत्तसुहुमपुढवीकाइयत्ताए उववज्जित्तए, से णं भंते ! कइ समइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा सेसं तहेव जाव से तेणट्ठेणं एवं पुढवीकाइएसु चउव्विहेसु वि उववातेयव्वो । एवं आउकाइएसु चउव्विहेसु तेउकाइएसु अपज्जत्तएसु पज्जत्तएसु य एवं चेव उववाएयव्वो । अपज्जत्ताबादरतेउकाइएणं भंते ! मणुस्सखेत्ते समोहए समो० जे भविए मणुस्सखेत्ते अपज्जत्ता बायरतेउकाइयत्ताए उववज्जित्तए सेणं भंते ! कतिसमयसेसं तं चेव एवं पज्जत्तबायरतेउकाइयत्ताए उववाएयव्वो । वाउकाइयत्ताए वणस्सइकाइयत्ताए जहा पुढवीकाइएसुवि । तहेव चउक्कएणं भेदेणं उववातेयव्वो, एवं पज्जत्ता बादरतेउकाइओ वि समयखेत्ते समोहणावेत्ता एएसु वीसइठाणेसु उववातेयव्वो जहेव अपज्जत्तओ उववातिओ एवं सव्वत्थ वि बादरतेउकाइया अपज्जत्तगा य पज्जत्तगा य समयखेत्ते उववातेयव्वो, समोहणावियव्वावि ।२४०। वाउकाइया ।३२०। वणस्सइकाइया य जहा पुढवीकाइया ।४००। तहेव चउक्कएणं भेदेणं उववातेयव्वो जाव पज्जत्ता बादरवणस्सइकाइयाणं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए पुरच्छिमिल्ले चरिमंते समोहए समो० जे भविए इमीसे रयणप्पभाए पच्चच्छिमिल्ले चरिमंते पज्जत्ताबादरवणस्सइकाइयत्ताए उववज्जित्तए सेणं भंते ! कतिसमयसेसं तहेव जाव से तेणट्ठेणं अपज्जत्ता सुहुमपुढवीकाइएणं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए पच्चच्छिमिल्ले चरिमंते समोहए समो०जे भविए इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए पुरच्छिमिल्ले चरिमंते अपज्जत्ता सुहुमपुढवीकाइयत्ताए उववज्जित्तए तेणं भंते ! कइसमइएणं सेसं तहेव णिरवसेसं एवं जहेव पुरच्छिमिल्ले चरिमंते सव्वपदेसुवि समोहया पच्चमिल्ले चरिमंते समयखेत्ते य उववातिए जे समयखेत्ते समोहया पच्चच्छिमिल्ले चरिमंते समयखेत्ते य उववाएयव्वा तेणेव गमएणं एवं एएणं दाहिणिल्ले चरिमंते समयखेत्ते य समोहयाणं उत्तरिल्ले चरिमंते समयखेत्ते य उववातो, एवं चेव उत्तरिल्ले चरिमंते समयखेत्ते य समोहियाणं दाहिणिल्ले चरिमंते समयखेत्ते य उववातेयव्वा, तेणेव गमएणं । अपज्जत्ता सुहुमपुढवीकाइएणं भंते ! सक्करप्पभाए पुढवीए पुरच्छिमिल्ले चरिमंते समोहए समो०जे भविए सक्करप्पभाए पुढवीए पच्चच्छिमिल्ले चरिमंते अपज्जत्ता सुहुमपुढवीकाइयत्ताए उववज्जेज्जा एवं जहेव रयणप्पभाए जाव से तेणट्ठेणं एवं एएणं कमेणं जाव पज्जत्तएसु सुहुमतेउकाइएसु अपज्जत्तएसु । सुहुमपुढवीकाइएणं भंते ! सक्करप्पभाए पुढवीए पुरच्छिमिल्ले चरिमंते समोहए समो० जे भविए समयखेत्ते अपज्जत्ता बायरतेउकाइयत्ताए उववज्जित्तए से णं भंते ! कइसमए पुच्छा, गोयमा ! दुसमइएण वा तिसमइएण वा विग्गहेणं उववज्जेज्जा । से केणट्ठेणं भंते ! पुच्छा एवं खलु गोयमा ! मए सत्त सेढीओ पण्णत्ताओ तं जहा उज्जुआयता जाव अद्धचक्कवाला । एगओ वंकाए सेढीए उववज्जमाणे दुसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा । दुहओ वंकाए सेढीए उववज्जमाणे तिसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा ! से तेणट्ठेणं एवं पज्जत्तएसुवि बादरतेउकाइएसु सेसं जहा रयणप्पभाए। जे वि बायरतेउकाइया अपज्जत्तगा य पज्जत्तगा य समयखेत्ते समोहया दोच्चाए पुढवीए पच्चच्छिमिल्ले चरिमंते पुढविकाइएसु चउव्विहेसु आउकाइएसु चउव्विहेसु तेउकाइएसु दुविहेसु वाउकाइएसु चउव्विहेसु वणस्सइकाइएसु चउव्विहेसु उववज्जइ ते वि एवं चेव दुसमइएण वा तिसमइएण वा विग्गहेणं उववातेयव्वा । बादरतेउकाइया अपज्जत्तगा य पज्जत्तगा य जाहे तेसु चेव उववज्जंति ताहे जहेव रयणप्पभाए तहेव एगसमइए दुसमइए तिसमइए विग्गहा भाणियव्वा, सेसं जहा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रयणप्पभाए तहेव णिरवसेसं जहा सक्करप्पभाए वत्तव्वया भणिया एवं जाव अहे सत्तमाए भाणियव्वा ॥

कइविहेत्यादि। इदं च लोकनाडीं प्रस्तार्य भावनीयम् । [एगसमइएणवत्ति] एकः समयो यत्रास्त्यसावेकसामयिकस्तेन । [विग्गहेणंति] विग्रहो वक्रं गतौ च तस्य सम्भवाद्गतिरेव विग्रहः। विशिष्टो वा ग्रहो विशिष्टस्थानप्राप्तिहेतुभूता गतिर्विग्रहस्तेन तत्र [उज्जुआयएत्ति] यदा मरणस्थानापेक्षयोत्पत्तिस्थानं समश्रेण्यां भवति तदा ऋज्वायता श्रेणिर्भवति तथा च गच्छतः एकसामयिकी गतिः स्यादित्यत उच्यते " एगसमइएणमित्यादि"यदा पुनर्मरणस्थानादुत्पत्तिस्थानमेकप्रतरे विश्रेण्यां वर्तते तदैकतो वक्रा श्रेणिः स्यात्समयद्वयेन चोत्पत्तिस्थानप्राप्तिः स्यादित्यत उच्यते "एगओ वंकाए सेढीए उववज्जमाणे दुसमइएणं विग्गहेणमित्यादि" यदा तु मरणस्थादुत्पत्तिस्थानमधस्तने वा प्रतरे विश्रेण्यां स्यात्तदा द्विवक्रा श्रेणिः स्यात्समयत्रयेण चोत्पत्तिस्थानावाप्तिः स्यादित्यत उच्यते " दुहओ वंकाए " इत्यादि एवं " आउकाइएसु वि चत्तारि आलावगा" इत्येतस्य विवरणं " सुहुमेहीत्यादि " बादरतेजस्कायिकसूत्रे रत्नप्रभाप्रक्रमेऽपि यदुक्तं [जे भविए मणुस्सखेत्ते त्ति] तद्बादरतेजसामन्यत्राभावात्तासम्भवादिति [वीसइ ठाणेसुत्ति] पृथिव्यादयः पञ्च सूक्ष्मबादरभेदाद् द्विधेति दश ते च प्रत्येकं पर्याप्तकापर्याप्तकभेदाद्विंशतिरिति इह चैकैकस्मिन् जीवस्थाने विंशतिर्गमा भवन्ति तदेवं पूर्वान्तगमानां चत्वारि शतान्येवं पश्चिमान्तादिगमानामपि ततश्चैवं रत्नप्रभाप्रकरणे सर्वाणि षोडश शतानि गमानामिति शर्कराप्रभाप्रकरणे बादरतेजस्कायिकसूत्रे " दुसमइएणं वेत्यादि " इह शर्कराप्रभापूर्वचरमान्तान्मनुष्यक्षेत्रे उत्पद्यमानस्य समश्रेणिर्नास्तीत्येगसमएणमितीह नोक्तम् 'दुसमएणमित्यादि' तु एकस्य वक्रस्य द्वयोर्वा सम्भवादुक्तमिति ॥

अथ सामान्येनाऽधःक्षेत्रमूर्ध्वक्षेत्रं वाऽऽश्रित्याह ।

अपज्जत्ता सुहुमपुढवीकाइएणं भंते! अहे लोयखेत्तणालीए बाहिरिल्ले खेत्ते समोहए समो० जे भविए उड्ढलोए खेत्तणालीए बाहिरिल्ले खेत्ते अपज्जत्ता सुहुमपुढवीकाइयत्ताए उववज्जित्तए सेणं भंते ! कइसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा? गोयमा! तिसमइएण वा चउसमइएण वा विग्गहेणं उववज्जेज्जा । से केणट्ठेणं एवं वुच्चइ तिसमइएण वा चउसमइएण वा विग्गहेणं उववज्जेज्जा ? गोयमा ! अपज्जत्ता सुहुमपुढवीकाइएणं अहोलोयखेत्तणालीए बाहिरिल्ले खेत्ते समोहए समोहणिज्जे जे भविए उड्ढलोयखेत्तणालीए बाहिरिल्ले खेत्ते अपज्जत्ता सुहुमपुढवीकाइयत्ताए एगपयरंसि अणुसेढी उववज्जित्तए ? सेणं तिसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा जे भविए विसेढीओ उववज्जित्तए तेणं चउसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा । से तेणट्ठेणं जाव उववज्जंति । एवं पज्जत्ता सुहुमपुढवीकाइयत्ताए वि एवं जाव पज्जत्ता सुहुमतेउक्काइयत्ताए वि ॥ अपज्जत्ता सुहुमपुढवीकाइएणं भंते ! अहोलोग जाव समोहणित्ता जे भविए समयखेत्ते अपज्जत्ता बादरतेउकाइयत्ताए उववज्जित्तए से णं भंते ! कइसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा ? गोयमा ! दुसमइएण वा तिसमइएण वा विग्गहेणं उववज्जेज्जा । से केणट्ठेणं भंते ! एवं खलु गोयमा ! मए सत्त सेढीओ पण्णत्ताओ तं जहा उज्जुआयता जाव अद्धचक्कवाला एगतो वंकाए सेढीए उववज्जमाणे दुसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा, दुहओ वंकाए सेढीए उववज्जमाणे तिसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा से तेणट्ठेणं एवं पज्जत्तएसु बायरतेउकाइएसु वि उववातेयव्वो । वाउकाइयवणस्सइकाइयत्ताए चउक्कएणं भेदेणं जहा आउकाइयत्ताए तहेव उववातेयव्वो २० । एवं जहा अपज्जत्ता सुहुमपुढविकाइयस्स गमओ भणिओ एवं पज्जत्ता सुहुमपुढवीकाइयस्स वि भाणियव्वो तहेव वीसाए ठाणेसु उववाएयव्वो । ४० । अहेलोयखेत्तणालीए बाहिरिल्ले खेत्ते समोहओ एवं बायरपुढवीकाइयस्सवि अपज्जत्तगस्स पज्जत्तगस्स य भाणियव्वं । एवं आउकाइयस्स चउव्विहस्सवि भाणियव्वं । सुहुमतेउकाइयस्स दुविहस्सवि एवं चेव अपज्जत्ता बादरतेउकाइएणं समयखेत्ते समोहए समोह० जे भविए उड्ढलोगखेत्तणालीए बाहिरिल्ले खेत्ते अपज्जत्ता सुहुमपुढविकाइयत्ताए उववज्जित्तए से णं भंते ! कइसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा ? गोयमा! दुसमइएण वा तिसमइएण वा चउसमइएण वा विग्गहेणं उववज्जेज्जा । से केणट्ठेणं अट्ठो जहेव रयणप्पभाए तहेव सत्तसेढीए । एवं जाव अपज्जत्ता बादरतेउकाइएणं भंते ! समयखेत्ते समोहए समो० जे भविए उड्ढलोगखेत्तणालीए बाहिरिल्ले खेत्ते अपज्जत्ता सुहुमतेउकाइयत्ताए उववज्जित्तए से णं भंते ! सेसं तं चेव । अपज्जत्ता बादरतेउकाइएणं भंते ! समयखेत्ते समोहए समो० जे भविए समयखेत्ते अपज्जत्ता बादरतेउकाइयत्ताए उववज्जित्तए से णं भंते ! कइसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा ? गोयमा ! एगसमइएण वा दुसमइएण वा तिसमइएण वा विग्गहेणं उववज्जेज्जा । से केणट्ठेणं भंते ! अट्ठो जहेव रयणप्पभाए तहेव सत्तसेढीए । एवं पज्जत्ता बादरतेउकाइयत्ताएवि । वाउकाइएसु य वणस्सइकाइएसु जहा पुढवीकाइएसु उववातिओ तहेव चउक्कएणं भेदेणं उववातेयव्वो । एवं पज्जत्ता बादरतेउकाइओवि । एएसु चेव ठाणेसु उववातेयव्वो । वाउकाइयवणस्सइकाइयाणं जहेव पुढवीकाइओ उववाइओ तहेव भाणियव्वो । अपज्जत्ता सुहुमपुढवीकाइएणं भंते ! एत्थवि लोगखेत्तणालीए बाहिरिल्ले खेत्ते समोहए समो० जे भविए अहेखेत्तणालीए बाहिरिल्ले खेत्ते अपज्जत्ता सुहुमपुढविकाइयत्ताए उववज्जिए से णं भंते ! कतिसमए? एवं उड्ढलोगखेत्तणालीए बाहिरिल्ले खेत्ते समोहयाणं अहेलोयखेत्त-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

णालीए बाहिरिल्ले खेत्ते उववज्जयाणं सो चेव गमओ णिरवसेसो भाणियव्वो जाव बायरवणस्सइकाइओ अपज्जत्तओ बायरवणस्सइकाइएसु अपज्जत्तएसु उववाइओ। अपज्जत्ता सुहुमपुढविकाइयाणं भंते ! लोगस्स पुरच्छिमिल्ले चरिमंते समोहए समो० जे भविए लोगस्स पुरच्छिमिल्ले चरिमंते अपज्जत्ता सुहुमपुढवीकाइयत्ताए उववज्जित्तए । से णं भंते ! कइसमइएणं विग्गहेणं उववज्जंति ? गोयमा ! एगसमइएण वा दुसमइएण वा तिसमइएण वा विग्गहेणं उववज्जेज्जा । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ एगसमइएण वा जाव उववज्जेज्जा ? एवं खलु ? गोयमा ! मए सत्तसेढीओ पण्णत्ताओ, तं जहा उज्जुआयता जाव अद्धचक्कवाला । उज्जुआयताए सेढीए उववज्जमाणे एगसमएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा । एगाओ वंकाए सेढीए उववज्जमाणे दुसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा । दुहओ वंकाए सेढीए उववज्जमाणे जे भविए एगपयरंसि अणुसेढी उववज्जित्तए सेणं तिसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा । जे भविए विसेढी उववज्जित्तए सेणं चउसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा से तेणट्ठेणं जाव उववज्जेज्जा । एवं अपज्जत्तसुहुमपुढवीकाइओ लोगस्स पुरच्छिमिल्ले चरिमंते समोहए लोगस्स पुरच्छिमिल्ले चेव चरिमंते अपज्जत्तएसु य सुहुमपुढवीकाइएसु सुहुमआउकाइएसु अपज्जत्तएसु पज्जत्तएसु सुहुमतेउकाइएसु अपज्जत्तएसु पज्जत्तएसु य सुहुमवाउकाइएसु य अपज्जत्तएसु पज्जत्तएसु य बादरवाउकाइएसु अपज्जत्तएसु य पज्जत्तएसु य सुहुमवणस्सइकाइएसु अपज्जत्तएसु पज्जत्तएसु य बारससु वि ठाणेसु एएणं चेव कमेणं भाणियव्वो, सुहुमपुढवीकाइओ पज्जत्तओ एवं चेव णिरवसेसे बारससु वि ठाणेसु उववातेयव्वो ।२४। एवं एएणं गमएणं जाव सुहुमवणस्सइकाइओ पज्जत्तओ । सुहुमवणस्सइकाइएसु पज्जत्तएसु चेव भाणियव्वो ! अपज्जत्ता सुहुमपुढवीकाइयाणं भंते ! लोगस्स पुरच्छिमिल्ले चरिमंते समोहए समोह० जे भविए लोगस्स दाहिणिल्ले चरिमंते अपज्जत्ता सुहुमपुढवीकाइएसु उववज्जित्तए से णं भंते ! कइ समइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा ? गोयमा ! दुसमइएण वा तिसमइएण वा चउसमइएण वा विग्गहेणं उववज्जंति । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ एवं खलु गोयमा ! मए सत्तसेढीओ पण्णत्ताओ, तं जहा उज्जुआयता जाव अद्धचक्कवाला । एगओ वंकाए सेढीए उववज्जमाणे दुसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा । दुहओ वंकाए सेढीए उववज्जमाणे जे भविए एगपयरंसि अणुसेढी उववज्जित्तए सेणं तिसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा । जे भविए विसेढीओ उववज्जित्तए सेणं चउसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा से तेणट्ठेणं गोयमा ! एएणं गमएणं पुरच्छिमिल्ले चरिमंते उववातेयव्वो जाव सुहुमवणस्सइकाइओ पज्जत्तसुहुमवणस्सइएसु चेव सव्वेसिं दुसमइओ तिसमइओ चउसमइओ विग्गहो भाणियव्वो । अपज्जत्तो सुहुमपुढवीकाइएणं भंते ! लोगस्स पुरच्छिमिल्ले चरिमंते समो० २ जे भविए लोगस्स पच्चच्छिमिल्ले चरिमंते अपज्जत्तसुहुमपुढवीकाइयत्ताए उववज्जित्तए सेणं भंते! कइसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा ? गोयमा ! एगसमइएण वा दुसमइएण वा तिसमइएण वा चउसमइएणं वा विग्गहेणं उववज्जेज्जा । से केणट्ठेणं एवं जहेव पुरच्छिमिल्ले चरिमंते समोहया पुरच्छिमिल्ले चेव चरिमंते उववातिया तहेव पुरच्छिमिल्ले चरिमंते समोहया पच्चच्छिमिल्ले चरिमंते उववातेयव्वा । सव्वे अपज्जत्ता सुहुमपुढवीकाइएणं भंते ! लोगस्स पुरच्छिमिल्ले चरिमंते समोहए समो० जे भविए लोगस्स उत्तरिल्ले चरिमंते अपज्जत्तसुहुमपुढवीकाइयत्ताए उव० सेणं भंते ! एवं जहा पुरच्छिमिल्ले चरिमंते समोहओ दाहिणिल्ले उववाइओ तहा पुरच्छिमिल्ले समोहओ उत्तरिल्ले चरिमंते उववाएयव्वो । अपज्जत्ता सुहुमपुढवीकाइयाणं भंते ! लोगस्स दाहिणिल्ले चरिमंते समोहओ जे भविए लोगस्स दाहिणिल्ले चरिमंते अपज्जत्ता सुहुमपुढवीकाइयत्ताए उववज्जित्तए एवं जहा पुरच्छिमिल्ले समोहओ पुरच्छिमिल्ले चेव उववातिओ तहेव दाहिणिल्ले समोहओ तहेव दाहिणिल्ले चेव उववाएयव्वो तहेव णिरवसेसं जाव सुहुमवणस्सइकाइओ पज्जत्तओ सुहुमवणस्सइकाइएसु चेव पज्जत्तएसु दाहिणिल्ले चरिमंते उववाइओ एवं दाहिणिल्ले समोहओ पच्चच्छिमिल्ले चरिमंते उववाएयव्वो, णवरं दुसमइए तिसमइए चउसमइओ विग्गहो सेसं तहेव दाहिणिल्ले समोहओ उत्तरिल्ले चरिमंते उववाएयव्वो जहेव सट्ठाणे तहेव एगसमइय दुसमइय तिसमइय चउसमइय विग्गहो पुरच्छिमिल्ले जहा पच्चच्छिमिल्ले तहेव दुसमइय तिसमइय पच्चच्छिमिल्ले चरिमंते समोहयाणं पच्चच्छिमिल्ले उववज्जमाणाणं जहा सट्ठाणे उत्तरिल्ले उववज्जमाणाणं एगसमइओ विग्गहो णत्थि सेसं तहेव । पुरच्छिमिल्ले जहा सट्ठाणे । दाहिणिल्ले एगसमइओ विग्गहो णत्थि सेसं तहेव उत्तरिल्ले समोहयाणं उत्तरिल्ले चेव उववज्जमाणाणं जहा सट्ठाणे उत्तरिल्ले समोहयाणं पुरच्छिमिल्ले उववज्जमाणाणं एवं चेव णवरं एगसमइओ विग्गहो णत्थि, उत्तरिल्ले समोहयाणं दाहिणिल्ले उववज्जमाणाणं जहा सट्ठाणे उत्तरिल्ले समोहयाणं पच्चच्छिमिल्ले उववज्जमाणाणं एगसमइओ विग्गहो णत्थि सेसं तहेव जाव सुहुमवणस्सइकाइओ पज्जत्तओ सुहुमवणस्सइकाइएसु पज्जत्तएसु चेव । भ० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

" अपज्जत्ता सुहुमेत्यादि" (अहेलोयखेत्तणालोपत्ति)। अधोलोकक्षत्रणे क्षेत्रे या नाडी त्रसनाडी सा ऽधोलोकक्षेत्रनाडी तस्या एवमूर्ध्वलोकक्षेत्रनाड्यपि (तिसमइएणवत्ति) अधोलोकक्षेत्रनाड्या बहिः पूर्वादिदिशि मृत्वा एकेन नाडीमध्ये प्रविष्टो द्वितीये समये ऊर्ध्वं गतस्तत एकप्रतरे पूर्वस्यां पश्चिमायां वा यदोत्पत्तिर्भवति तदा तु श्रेण्यां गत्वा तृतीयसमये उत्पद्यत इति। (चउसमइएणवत्ति) यदा नाड्या बहिर्वायव्यादिविदिशि मृतस्तदैकेन समयेन पश्चिमायामुत्तरस्यां वा गतो द्वितीयेन नाड्यां प्रविष्टस्तृतीये ऊर्ध्वं गतश्चतुर्थे तु श्रेण्यां गत्वा पूर्वादिदिश्युत्पद्यत इति। इदं च प्रायो वृत्तिमङ्गीकृत्योक्तमन्यथा पञ्चसामायिक्यपि गतिः सम्भवति यदाऽधोलोककोणादूर्ध्वलोककोण एवोत्पत्तव्यं भवतीति। भवन्ति चात्र गाथाः। " सुत्ते चउसमयाओ, नत्थि गईओ पराविणिद्दिट्ठा। जुज्जइ य पंचसमया, जीवस्स गई इहलोए ॥१॥ जो तमतमविदिसाए, समोहओ बंभलोगविदिसाए। उववज्जई गईए, सो नियमा पंचसमयाए ॥ २ ॥ उजुया य तेगवंका, दुहओ वंका गई विणिद्दिट्ठा। जुज्जति यति चउवंका, विनाम चउ पंच समयाए ॥३॥ उववाया भावाओ, न पंच समया ऽहवा न सत्तावि। भणिया जह चउसमया, महल्लबंधेन सत्ताविन्ति ॥ ४ ॥ " " अपज्जत्ता बायरतेउकाइएणमित्यादौ " (दुसमइएण वा तिसमइएण वा विग्गहेणं उववज्जेज्जत्ति) एतस्येयं भावना समयक्षेत्रादसावेकेन समयेनोर्ध्वं गतो द्वितीयेन तु नाड्या बहिर्दिग्व्यवस्थितमुत्पत्तिस्थानमिति। तथा समयक्षेत्रादेकेनोर्ध्वं याति द्वितीयेन तु नाड्या बहिः पूर्वादिदिशि तृतीयेन विदिग्व्यवस्थितमुत्पत्तिस्थानमिति। अथ लोकचरमान्तमाश्रित्याह " अपज्जत्ता सुहुमपुढवीकाईएणं भंते ! लोगस्सेत्यादि "। इह च लोकचरमान्ते बादराः पृथिवीकायिकाप्कायिकतेजोवनस्पतयो न सन्ति सूक्ष्मास्तु पञ्चापि सन्ति बादरवायुकायिकाश्चेति, पर्याप्तापर्याप्तभेदेन द्वादश स्थानान्यनुसर्तव्यानीति। इह च लोकस्य पूर्वचरमान्तात् पूर्वचरमान्ते उत्पद्यमानस्यैकसमयादिका चतुःसमयान्ता गतिः सम्भवत्यनुश्रेणिविश्रेणिसम्भवात्। भ० ३४ श० १ उ०।

[२०] पृथ्वीकायादीनां समवहत्य देवलोकेषूत्पादः ॥

पुढवीकाइएणं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए य सक्करप्पभाए य अंतरा समोहए समोहणित्ता जे भविए सोहम्मे कप्पे पुढवीकाइयत्ताए उववज्जित्तए से णं भंते ! किं पुव्विं उववज्जित्ता पच्छा आहारेज्जा पुव्विं आहारित्ता पच्छा उववज्जेज्जा ? गोयमा ! पुव्विं वा उववज्जित्ता एवं जहा सत्तरसमसए छट्ठुद्देसए जाव से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ पुव्विं वा उववज्जेज्जा णवरं तेहिं संपाउणिज्जा इमेहिं आहारो भण्णइ सेसं तं चेव। पुढवीकाइएणं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए सक्करप्पभाए पुढवीए अंतरा समोहए जे भविए ईसाणे कप्पे पुढवीकाइयत्ताए उववज्जित्तए। एवं चेव जाव ईसिप्पब्भाराए उववाएयव्वो। पुढवीकाइएणं भंते ! सक्करप्पभाए वालुयप्पभाए पुढवीए अंतरा समोहए समोहणित्ता जे भविए सोहम्मे जाव ईसिप्पभाराए। एवं एएणं कमेणं जाव तमाए अहेसत्तमाए पुढवीए अंतरा समोहए समोहणित्ता जे भविए सोहम्मे कप्पे जाव ईसिप्पब्भाराए उववाएयव्वो। पुढवीकाइएणं भंते ! सोहम्मीसाणं सणंकुमारमाहिंदाण य कप्पाणं अंतरा समोहए समोहइत्ता जे भविए इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए पुढवीकाइयत्ताए उववज्जित्तए सेणं भंते ! पुव्विं उववज्जित्ता पच्छा आहारेज्जा सेसं तं चेव जाव से तेणट्ठेणं जाव णिक्खेवओ। पुढवीकाइएणं भंते ! सोहम्मीसाणाणं सणंकुमारमाहिंदाण य कप्पाणं अंतरा समोहए समोहइत्ता जे भविए सक्करप्पभाए पुढवीए पुढवीकाइयत्ताए उववज्जित्तए। एवं चेव एवं जाव अहेसत्तमाए उववाएयव्वो। एवं सणंकुमारमाहिंदाणं बंभलोगस्स कप्पस्स अंतरा समोहए समोहइत्ता पुणरवि जाव अहेसत्तमाए उववाएयव्वो। एवं बंभलोगस्स लंतगस्स य कप्पस्स अंतरा समोहए पुणरवि जाव अहेसत्तमाए एवं लंतगस्स महासुक्कस्स कप्पस्स अंतरा समोहए पुणरवि जाव अहेसत्तमाए एवं महासुक्कस्स सहस्सारस्स य कप्पस्स अंतरा पुणरवि जाव अहेसत्तमाए, एवं सहस्सारस्स य आणयपाणयकप्पाणं अंतरा, पुणरवि जाव अहेसत्तमाए एवं आणयपाणयआरणअच्चुताण य कप्पाणं अंतरा, पुणरवि जाव अहेसत्तमाए एवं आरणअच्चुताणं। गेवेज्जगविमाणाण य अंतरा पुणरवि जाव अहे सत्तमाए एवं गेवेज्जगविमाणाणं अणुत्तरविमाणाण य अंतरा पुणरवि जाव अहेसत्तमाए एवं अणुत्तरविमाणाणं ईसिप्पभाराए य पुणरवि जाव अहेसत्तमाए उववाएयव्वो। आउकाइएणं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए य सक्करप्पभाए य पुढवीए अंतरा समोहए समोहइत्ता जे भविए सोहम्मे कप्पे आउकाइयत्ताए उववज्जित्तए सेसं जहा पुढवीकाइयस्स जाव से तेणट्ठेणं एवं पढमा दोच्चाणं अंतरा समोहओ जाव ईसिप्पभाराए उववाएयव्वो। एवं एएणं कमेणं जाव तमाए अहेसत्तमाए पुढवीए अंतरा समोहए समोहइत्ता जाव ईसिप्पभाराए उववाएयव्वो। आउकाइयत्ताए आउकाइयाएणं भंते ! सोहम्मीसाणाणं सणंकुमारमाहिंदाण य कप्पाणं अंतरा समोहए समोहइत्ता जे भविए इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए घणोदधिघणोदधिवलएसु आउकाइयत्ताए उववज्जित्तए सेसं तं चेव एवं एएहिं चेव अंतरे समोहइत्ताओ जाव अहेसत्तमाए पुढवीए घणोदधिघणोदधिवलएसु आउकाइयत्ताए उववाएयव्वो, एवं जाव अणुत्तरविमाणाणं ईसिप्पभाराए पुढवीए अंतरा समोहए जाव अहेसत्तमाए घणोदधिघणोदधिवलएसु उववाएयव्वो २ वाउकाइएणं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए सक्करप्पभाए पुढवीए अंतरा समोहए समोहइत्ता जे भविए सोहम्मे कप्पे वाउकाइयत्ताए उववज्जित्तए एवं जहा सत्तरसमसए वाउकाइयउद्देसएसु तहा इहवि णवरं अंतरेसु समोहणा नेयव्वा सेसं तं चेव जाव

अणुत्तरविमाणाणं ईसिप्पभाराए य पुढवीए अंतरा समोहए समोहइत्ता जे भविए घणवाततणुवातघणवातवलएसु वाउकाइयत्ताए उववज्जित्तए सेसं तं चेव जाव से तेणट्ठेणं जाव उववज्जेज्जा । सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ वीसइमस्स छट्ठो उद्देसो सम्मत्तो ॥ २० ॥ ६ ॥

पञ्चमे पुद्गलपरिणाम उक्तः षष्ठे तु पृथिव्यादिजीवपरिणामोऽभिधीयत इत्येवं सम्बद्धस्यास्येदमादिसूत्रम् " पुढवीत्यादि " (एवं जहा सत्तरसमसए छट्ठुद्देसेत्ति) । अनेन च यत्सूचितं तदिदं " पुव्विं वा उववज्जित्ता पच्छा आहारेज्जा पुव्विं वा आहारित्ता पच्छा उववज्जेज्जेत्यादि " । अस्य चायमर्थः—यो गेन्दुकसन्निभसमुद्घातगामी स पूर्वं समुत्पद्यते तत्र गच्छतीत्यर्थः पश्चादाहारयति शरीरप्रायोग्यान्पुद्गलान् गृह्णन् गृह्णातीत्यर्थः अत उच्यते (पुव्विं वा उववज्जित्ता पच्छा आहारेज्जत्ति) यः पुनरीलिकासन्निभसमुद्घातगामी स पूर्वमाहारयति उत्पत्तिक्षेत्रे प्रदेशप्रक्षेपणेनाहारं गृह्णातीति तत्समनन्तरञ्च प्राक्तनशरीरस्तु प्रदेशानुत्पत्तिक्षेत्रे संहरति अत उच्यते (पुव्विं आहारित्ता पच्छा उववज्जेज्जात्ति) विंशतितमशते षष्ठ उद्देशः ।

पुढवीकाइयाणं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए समोहए समोहइत्ता जे भविए सोहम्मे कप्पे पुढवीकाइयत्ताए उववज्जित्तए से भंते ! किं पुव्विं उववज्जित्ता पच्छा संपाउणेज्जा पुव्विं वा संपाउज्जित्ता पच्छा उववज्जेज्जा ? गोयमा ! पुव्विं वा उववज्जित्ता पच्छा संपाउणेज्जा पुव्विं वा संपाउणेत्ता पच्छा उववज्जेज्जा । से केणट्ठेणं जाव पच्छा उववज्जेज्जा ? गोयमा ! पुढवीकाइयाणं तओ समुग्घाया पण्णत्ता तं जहा वेयणासमुग्घाए कसायसमुग्घाए मारणांतियसमुग्घाए । मारणांतियसमुग्घाएणं समोहणमाणे देसेणं वा समोहणइ सव्वेण वा समोहणइ, देसेण समोहणमाणे पुव्विं संपाउणित्ता पच्छा उववज्जिज्जा सव्वेण समोहणमाणे पुव्विं उववज्जिज्जा पच्छा संपाउणेज्जा से तेणट्ठेणं जाव उववज्जेज्जा । पुढवीकाइयाणं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए जाव समोहए समोहएत्ता जे भविए ईसाणे कप्पे पुढवी एवं चेव ईसाणेवि । एवं अच्चुयगेवेज्जविमाणे अणुत्तरविमाणे ईसिप्पभाराए य एवं चेव पुढवीकाइयाणं भंते ! सक्करप्पभाए पुढवीए समोहए समोहएत्ता जे भविए सोहम्मे कप्पे पुढवीए एवं जहा रयणप्पभाए पुढवीकाइओ उववाइओ एवं सक्करप्पभाए पुढवीकाइओ उववाएयव्वो जाव ईसिप्पभाराए एवं जहा रयणप्पभाए वत्तव्वया भणिया, एवं जाव अहे सत्तमाए समोहए ईसिप्पभाराए उववाएयव्वो सेवं भंते ! भंते ! त्ति (सत्तरसमस्स छट्ठो ॥ १७ ॥ ६ ॥) पुढवीकाइएणं भंते ! सोहम्मे कप्पे समोहए समोहणित्ता जे भविए इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए पुढवीकाइयत्ताए उववज्जित्तए सेणं भंते ! किं सेसं तं चेव जहा रयणप्पभाए पुढवीकाइओ सव्वकप्पेसु जाव ईसिप्पभाराए ताव उववाइओ, एवं सोहम्मपुढविकाइओवि सत्तसु पुढवीसु उववाएयव्वो तहा जाव अहे सत्तमाए एवं जहा सोहम्मपुढवीकाइओ सव्वपुढवीसु उववाइओ एवं जाव ईसिप्पभारापुढवीकाइओ सव्वपुढवीसु उववाएयव्वो जाव अहेसत्तमाए सेवं भंते ! भंते ! त्ति (सत्तरसमस्स सत्तमो उद्देसो सम्मत्तो ॥ १७ ॥ ७ ॥) आउकाइएणं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए समोहए समोहइत्ता जे भविए सोहम्मे कप्पे आउकाइयत्ताए उववज्जित्तए एवं जहा पुढवीकाइओ तहा आउकाइओवि सव्वकप्पेसु जाव ईसिप्पभाराए तहेव उववाएयव्वो एवं जहा रयणप्पभा आउकाइओ उववाइओ तहा अहेसत्तमा पुढवी आउकाइओ उववाएयव्वो जाव ईसिप्पभाराए सेवं भंते ! भंते ! त्ति (सत्तरसमस्स अट्ठमो उद्देसो सम्मत्तो ॥ १७ ॥ ८ ॥) आउकाइएणं भंते ! सोहम्मे कप्पे समोहए समोहएत्ता जे भविए इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए घणोदधिवलएसु आउकाइयत्ताए उववज्जित्तए सेणं भंते ! सेसं तं चेव एवं जाव अहे सत्तमाए जहा सोहम्मआउकाइओ एवं जाव ईसिप्पभाए आउकाइओ जाव अहेसत्तमाए उववातेयव्वो सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ (सत्तरसमस्स य णवमो उद्देसो सम्मत्तो ॥ १७ ॥ ९ ॥) वाउकाइएणं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए जाव जे भविए सोहम्मे कप्पे वाउकाइयत्ताए उववज्जित्तए से णं जहा पुढवीकाइओ तहा वाउकाइओवि णवरं वाउकाइयाणं चत्तारि समुग्घाया पण्णत्ता तं जहा वेदणासमुग्घाए जाव वेउव्वियसमुग्घाए मारणांतियसमुग्घाएणं समोहणमाणे देसेण वा समोहए सेसं तं चेव जाव अहे सत्तमा समोहयाओ ईसिप्पभाराए उववाएयव्वो सेवं भंते ! भंते ! त्ति (सत्तरसमस्स य दसमो उद्देसो सम्मत्तो ॥ १७ ॥ १०) वाउकाइएणं भंते ! सोहम्मे कप्पे समोहए समोहएत्ता जे भविए इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए घणवाए तणुवाए घणवायवलएसु तणुवायवलएसु वाउकाइयत्ताए उववज्जित्तए सेणं भंते ! सेसं तं चेव एवं जहा सोहम्मकप्पवाउकाइओ सत्तसुवि पुढवीसु उववाइओ एवं जाव ईसिप्पभाए वाउकाइओ अहेसत्तमाए जाव उववाएयव्वो सेवं भंते ! भंते ! त्ति (सत्तरसमस्स एक्कारसमो उद्देसो सम्मत्तो ॥ १७ ॥ ११ ॥)

(समोहएत्ति) समवहतः कृतमारणान्तिकसमुद्घातः (उववज्जित्तित्ति) उत्पादक्षेत्रं गत्वा (संपाउणेज्जत्ति) पुद्गलग्रहणं कुर्यात् उत व्यत्यय इति प्रश्नः (गोयमा ! पुव्विंवा उववज्जित्ता पच्छा संपाउणेज्जत्ति) मारणान्तिकसमुद्घातान्निवृत्य यदा प्राक्तनशरीरस्य सर्वथा त्यागात् गेन्दुकगत्योत्पत्तिदेशं गच्छति तदोच्यते पूर्वमुत्पद्य पश्चात्सम्प्राप्नुयात् पुद्गलान् गृह्णीयात् आहारयेदित्यर्थः । (पुव्विं वा संपाउणित्ता पच्छा उववज्जंति) यदा मारणान्तिकसमुद्घातगत एव म्रियते ईलिकागत्योत्पादस्थानं याति तदोच्य-

Jain Education International   For Private & Personal Use Only   www.jainelibrary.org

ते पूर्वं सम्प्राप्य पुद्गलान् गृहीत्वा पश्चात् उत्पद्येत प्राक्तनशरीरस्थजीवप्रदेशसंहरणतः समस्तजीवप्रदेशैरुत्पत्तिक्षेत्रगतो भवेदिति भावः (देसेण वा समोहणइ सव्वेण वा समोहणइ त्ति) यदा मारणान्तिकसमुद्घातगतो म्रियते तदेलिकागत्योत्पत्तिदेशं प्राप्नोति, तत्र च जीवदेशस्य पूर्वदेह एव स्थितत्वात्, देशस्य चोत्पत्तिदेशे प्राप्तत्वात्, देशेन समवहन्तीत्युच्यते यदा तु मारणान्तिकसमुद्घातात्प्रतिनिवृत्तः सन् म्रियते तदा सर्वप्रदेशसंहरणतो गेन्दुकगत्योत्पत्तिदेशप्राप्तेः सर्वेण समवहत इत्युच्यते तत्र च देशेन समवहन्यमान ईलिकागत्या गच्छतीत्यर्थः पूर्वं सम्प्राप्य पुद्गलान् गृहीत्वा पश्चादुत्पद्यते, सर्वात्मनोत्पादक्षेत्रे आगच्छति (सव्वेण समोहणमाणे त्ति) गेन्दुकगत्या गच्छतीत्यर्थः पूर्वमुत्पद्य सर्वात्मनोत्पाददेशमासाद्य पश्चात् (संपाउणेज्जत्ति) पुद्गलग्रहणं कुर्यादिति। सप्तदशशते षष्ठः। १७। ६। शेषास्तु (७। ८। ९। १०। ११। सुगमा एव) भ०१७श०।

[२१] नैरयिकादयो नैरयिकादिषूपपद्यन्ते॥

नेरइयाणं भंते नेरइएसु उववज्जइ अनेरइए नेरइएसु उववज्जइ ? गोयमा ! नेरइए नेरइएसु उववज्जइ नो अनेरइए नेरइएसु उववज्जइ एवं जाव वेमाणियाणं॥

अस्य चायमभिसम्बन्धो द्वितीयोद्देशके नारकादीनां लेश्यापरिसंख्यानमल्पबहुत्वमर्द्धिकत्वं चोक्तमिह तु तेषामेव नारकादिजीवानां तास्ताः लेश्याः किमुपपातक्षेत्रोपपन्नानामेव भवन्ति उत विग्रहेऽपीत्यस्यार्थस्य प्रतिपादनार्थं प्राक् तावदन्यान्तरमाश्रित्य नारकादिव्यपदेशं पृच्छति "नेरइयाणं भंते ! नेरइएसु उववज्जइ अनेरइए नेरइएसु उववज्जइ" इति। इदं च प्रश्नसूत्रं सुगमं भगवानाह गौतम ! नैरयिको नैरयिकेषूत्पद्यते नो नैरयिकोऽनैरयिकेषु कथमिति चेदुच्यते-इह यस्मान्नारकादिभवोपग्राहकमायुरेव न शेषं तथा हि नारकायुष्युदयमागते नारकभवो भवति मनुष्यायुषि मानुषत्वं इत्यादि ततो नारकाद्यायुर्वेदनप्रथमसमय एव नारकादिव्यपदेशं लभते एतच्च ऋजुसूत्रनयदर्शनं तथा च नयविद्भिः ऋजुसूत्रनयनिरूपणं कुर्वद्भिरिदमुक्तम्। "पलालं न दहत्यग्नि-र्भिद्यते न घटः क्वचित्। नासिद्धे निष्क्रमोऽस्तीह, न च शून्यं प्रविश्यते॥ नारकव्यतिरिक्तश्च, नरके नोपपद्यते। नारकान्नारकश्चास्य, न कश्चिद्विप्रमुच्यते॥ २॥" इत्यादि [एवं जाव वेमाणिए इति] एवं नैरयिकोक्तप्रकारेण तावद्वक्तव्यं यावद्वैमानिको वैमानिकविषयं सूत्रं तच्च सुगमत्वात् स्वयं भावनीयम्॥

अधुना उद्वर्त्तनाविषयं नैरयिकेषु सूत्रमाह॥

नेरइयाणं भंते ! नेरइए हिंतो उववट्टइ अनेरइए नेरइएहिंतो उववट्टइ ? गोयमा ! नेरइए नेरइएहिंतो उववट्टइ न अनेरइएनेरइएहिंतो उववट्टइ एवं जाव वेमाणिए नवरं जोइसियवेमाणिएसु च यति अभिलावो कायव्वो॥

एतदपि ऋजुसूत्रनयदर्शनेन वेदितव्यं तथा हि परभवायुष्युदयमागते तत उद्वर्त्तते यद्भवायुश्च उदयमागतं तेन भवेन व्यपदेशो यथा नारकायुष्युदयमागते नरकभवे न नारक इति ततो नैरयिकेभ्यो नैरयिक एवोद्वर्त्तते तेन नैरयिक इति एवं चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण तावत्सूत्रं वक्तव्यं यावद्वैमानिकविषये च "चयइ" इत्यादि अभिलापः कर्त्तव्यस्तत्र उद्वर्त्तनस्य च्यवनमिति प्रसिद्धेः। तथा चाह "एवं जाव वेमाणिए नवरं" मित्यादि। अथ कृष्णलेश्याविषयमुत्पत्तौ सूत्रमाह।

से नूणं भंते ! कण्हलेसे नेरइए कण्हलेसेसु नेरइएसु उववज्जइ कण्हलेस्सेसु उववट्टइ जल्लेसे उववज्जइ तल्लेसे उववट्टइ ? हंता गोयमा ! कण्हलेसेसु नेरइएसु उववज्जइ कण्हलेसेसु उववट्टइ जल्लेसे उववज्जइ तल्लेसे उववट्टइ एवं नीललेसावि एवं काउलेसावि एवं असुरकुमाराणवि जाव थणियकुमारा णवरं तेउलेस्सा अब्भहिया॥

"से नूणं भंते" इत्यादि से शब्दोऽथशब्दार्थः स चेह प्रश्ने नूनं निश्चितमेतत् भदन्त ! कृष्णलेश्यो नैरयिकः कृष्णलेश्येषु नैरयिकेषु मध्ये उत्पद्यते। तेभ्यश्च कृष्णलेश्येभ्यो नैरयिकेभ्य उद्वर्त्तमानः कृष्णलेश्य एवोद्वर्त्तते एतदेव निश्चयदार्ढ्योत्पादनार्थं प्रकारान्तरेणाह। यल्लेश्य उत्पद्यते तल्लेश्य उद्वर्त्तते न लेश्यान्तरगत इति भगवानाह "हंता गोयमे" त्यादि हंतेत्यनुमतौ अनुमतमेतत् मम। गौतम! कण्हलेसेसु नेरइएसु इत्यादि। अथ कथं कृष्णलेश्यः सन् कृष्णलेश्येषु नैरयिकेषूत्पद्यते न लेश्यान्तरोपेतः उच्यते इह तिर्यक्पञ्चेन्द्रियो मनुष्योऽबद्धायुष्कतया नरकेषूत्पत्तुकामो यथाक्रमं तिर्यगायुषि मनुष्यायुषि च साकल्येनाक्षीणेऽन्तर्मुहूर्त्तशेषे यल्लेश्येषु नरकेषूत्पत्स्यते तद्गतलेश्या परिणमति ततस्तेनैवाप्रतिपतितेन परिणामेन नरकायुः प्रतिसंवेदयते तत उच्यते कृष्णलेश्यः कृष्णलेश्येषु नैरयिकेषूत्पद्यते न लेश्यान्तरयुक्तः। अथ कथं कृष्णलेश्य एवोद्वर्त्तते ? उच्यते देवनैरयिकाणां हि लेश्यापरिणाम आभवक्षयाद्भवति एतच्च प्रागेव प्रपञ्चत उपपादितमेवं नीललेश्याविषयं कापोतलेश्याविषयं च सूत्रं वक्तव्यमेवमसुरकुमारादीनामपि स्तनितकुमारावसानानां वक्तव्यं नवरं तेजोलेश्यासूत्रं तत्राभ्यधिकमभिधेयं तेजोलेश्याया अपि तेषां भावात्।

अधुना पृथिवीकायिकेषु कृष्णलेश्याविषयं सूत्रमाह॥

से नूणं भंते ! कण्हलेसे पुढवीकाइए कण्हलेसेसु पुढवीकाइएसु उववज्जइ कण्हलेसे उववट्टइ जल्लेसे उववज्जइ तल्लेसे उववट्टइ ? हंता गोयमा ! कण्हलेसे पुढविकाइए कण्हलेसेसु पुढविकाइएसु उववज्जइ, सिय कण्हलेसे उववट्टइ सिय नीललेसे उववट्टइ सिय काउलेसे उववट्टइ सिय जल्लेसे उववज्जइ सिय तल्लेसेसु उववट्टइ। एवं नीललेसाकाउलेसासु वि। से नूणं भंते ! तेउलेसे पुढविकाइए तेउलेस्सेसु पुढविकाइएसु उववज्जइ पुच्छा हंता गोयमा ! तेउलेस्से पुढविकाइए तेउलेसेसु पुढविकाइएसु उववज्जइ, सिय कण्हलेस्से उववट्टइ सिय नीललेसे उववट्टइ सिय काउलेसे उववट्टइ तेउलेसे उववज्जइ णो चेवणं तेउलेसे उववट्टइ। एवं आउकाइयवणस्सइकाइयावि। तेउवाऊ एवं चेव नवरं एएसिं तेउलेस्सा नत्थि। वितिचउरिंदिया एवं चेव तिसुवि लेसासु। पंचिंदियतिरिक्खजोणिया मणूसा जहा पुढविकाइया आदिल्लियासु तिसु लेसासु भणिया तहा छसु वि लेसासु भाणियव्वा नवरं छप्पिलेस्सा उच्चारेयव्वाओ। वाणमंतरा जहा असुरकुमारा से नूणं भंते ! तेउलेस्से जोइसिए तेउलेसेसु जोइसिएसु उववज्ज-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इ जहेव असुरकुमाराणं। एवं वेमाणियाण वि नवरं दोण्ह वि चयतीति अभिलावो । से नूणं भंते ! कण्हलेसे नीललेसे नेरइए कण्हलेसेसु नीललेसेसु काउलेसेसु नेरइएसु उववज्जइ कण्हलेसे नीललेसे काउलेसे उववट्टइ जल्लेसे उववज्जइ तल्लेसे उववट्टइ ? हंता गोयमा ! कण्हलेसे नीललेसे काउलेसे उववज्जइ जल्लेसे उववज्जइ तल्लेसे उववट्टइ से नूणं भंते ! कण्हलेसे जाव तेउलेसे असुरकुमारे कण्हलेसेसु जाव तेउलेसेसु असुरकुमारेसु उववज्जइ एवं जहेव नेरइए तहा असुरकुमारेवि जाव थणियकुमारेवि । से नूणं भंते ! कण्हलेसे जाव तेउलेस्से पुढविकाइए कण्हलेस्सेसु जाव तेउलेस्सेसु पुढविकाइएसु उववज्जइ, एवं पुच्छा जहा असुरकुमाराणं ? हंता गोयमा ! कण्हलेसे जाव तेउलेसे पुढविकाइए कण्हलेसेसु जाव तेउलेसेसु पुढविकाइएसु उववज्जइ सिय कण्हलेसे उववट्टइ सिय नीललेसे सिय काउलेस्से उववट्टइ सिय जल्लेसे उववज्जइ तल्लेसे उववट्टइ तेउलेसे उववज्जइ नो चेव णं तेउलेसे उववट्टइ । एवं आउकाइयवणस्सइकाइयावि भाणियव्वा । से नूणं भंते ! कण्हलेसे काउलेस्से नीललेसे तेउकाइए कण्हलेसेसु नीललेसेसु काउलेसेसु तेउकाइएसु उववज्जइ कण्हलेसे नीललेसे काउलेसेसु उववट्टइ जल्लेसे उववज्जइ तल्लेसे उववट्टइ ? हंता गोयमा ! कण्हनीलकाउलेसे तेउकाइए कण्हलेसेसु नीलकाउलेसेसु तेउकाइएसु उववज्जइ सिय कण्हलेसे उववट्टइ सिय नीललेसे सिय काउलेस्से उववट्टइ सिय जल्लेसे उववज्जइ तल्लेसे उववट्टइ एवं वाउकाइए बेइंदिय तेइंदिय चउरिंदियावि भाणियव्वा से नूणं भंते ! कण्हलेसे जाव सुक्कलेसे पंचिंदियतिरिक्खजोणिए कण्हलेसेसु जाव सुक्कलेस्सेसु पंचिंदियतिरिक्खजोणिएसु उववज्जइ पुच्छा हंता गोयमा ! कण्हलेसे जाव सुक्कलेसे पंचिंदियतिरिक्खजोणिए कण्हलेसेसु जाव सुक्कलेसेसु पंचिंदियतिरिक्खजोणिएसु सिय कण्हलेसे उववट्टइ जाव सिय सुक्कलेसे उववट्टइ सिय जल्लेसे उववज्जइ तल्लेसे उववट्टइ एवं मणूसेवि । वाणमंतरे असुरकुमारे जोइसियवेमाणिएवि एवं चेव नवरं जस्स जल्लेसा दोण्हवि चयणंति भाणियव्वा ॥

से नूणं भंते इत्यादि ॥ इह तिरश्चां मनुष्याणां च लेश्यापरिणाम आन्तर्मौहूर्तिकस्ततः कदाचित् तल्लेश्य उद्वर्तते कदाचिल्लेश्यान्तरपरिणतोऽप्युद्वर्तते एषः पुनर्नियमो यल्लेश्येषूत्पद्यते स नियमतस्तल्लेश्य एवोत्पद्यते "अंतमुहुत्तम्मिगए अंतमुहुत्तम्मि सेसए आओ। लेसाहिं परिणयाहिं, जीवा वच्चंति परलोयं" मितिवचनात् । तत उक्तम् । "गोयमा ! कण्हलेसे पुढविकाइए कण्हलेसेसु पुढविकाइएसु उववज्जइ सिय कण्हलेसे उववट्टइ इत्यादि" एवं नीललेश्याविषयं कापोतलेश्याविषयं च सूत्रं वक्तव्यम्। तथा भवनपतिव्यन्तरज्यौतिष्कसौधर्मेशानदेवाः तेजोलेश्यावन्तः स्वभावाच्च्युत्वा पृथिवीकायिकेषूत्पद्यन्ते । तदा कियत्कालमपर्याप्तावस्थायां तेषु तेजोलेश्याऽपि लभ्यते तत ऊर्ध्वं तु न भवति तथा भवस्वभावतया तेजोलेश्यायोग्यद्रव्यग्रहणाशक्यसम्भवात्ततस्तेजोलेश्यासूत्रमुक्तम् । "तेउलेसे उववज्जइ नो चेव णं तेउलेसे उववट्टइ इति" यथा च पृथिवीकायिकानां चत्वारि सूत्राण्युक्तानि तथा अप्कायिकवनस्पतिकायिकानामपि वक्तव्यानि तेषामप्यपर्याप्तावस्थायां तेजोलेश्यासम्भवात् तेजोवायुद्वित्रिचतुरिन्द्रियविषयाणि प्रत्येकं त्रीणि सूत्राणि वक्तव्यानि तेषां तेजोलेश्याया असम्भवात् ।। पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिका मनुष्याश्च यथा आद्यासु तिसृषु लेश्यासु पृथिवीकायिका उक्तास्तथा षट्स्वपि लेश्यासु वक्तव्याः षण्णामप्यन्यतमया लेश्यया तेषामुत्पत्तिसम्भवादुत्पत्तिगतैकैकलेश्याविषयं चोद्वर्त्तनायां षण्णां विकल्पानां सम्भवात् । सूत्रपाठश्चैवम् "से नूणं भंते कण्हलेस्से पंचिंदियतिरिक्खजोणिएत्यादि" एवं नीलकापोततेजःपद्मशुक्ललेश्याविषयाण्यपि सूत्राणि वक्तव्यानि "वाणमंतरा जहा असुरकुमारा" इति "जल्लेसे उववज्जइ तल्लेसे उववट्टइ। इति" वक्तव्या इति सर्वदेवानां लेश्यापरिणामस्य आभवक्षयाद्भावात् एवं लेश्यापरिसंख्यानां परिभाव्य ज्योतिष्कवैमानिकविषयाण्यपि सूत्राणि वक्तव्यानि नवरं तत्र चयतीत्यभिलपनीयं तदेवमेकैकलेश्याविषयाणि चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण नैरयिकादीनां सूत्राण्युक्तानि । तत्र कश्चिदाशङ्केत । प्रविरलैकैकनारकादिविषयमेतत् सूत्रकदम्बकं यदा तु बहवो भिन्नलेश्याकास्तस्यां गतावुत्पद्यन्ते तदान्यथापि वस्तुगतिर्भवेदेकैकगतधर्मापेक्षया समुदायधर्मस्य कचिदन्यथापि दर्शनात् ततस्तदा शङ्कापनोदाय येषां यावत्यो लेश्याः सम्भवन्ति तेषां युगपत्तावल्लेश्याविषयमेकैकं सूत्रमनन्तरोदितार्थमेव प्रतिपादयति "से नूणं भंते ! कण्हलेसे नीललेसे काउलेसे नेरइए कण्हलेसेसु नीललेसेसु काउलेसेसु नेरइएसु उववज्जइ" इत्यादि ॥ समस्तं सुगमम् ॥ प्रज्ञा० १७ पद ।

(२२) लेश्यावत्त्वेनोपपातः ।

जीवेणं भंते ! जे भविए नेरइएसु उववज्जित्तए से णं भंते ! किं लेस्सेसु उववज्जइ ? गोयमा ! जं लेसाइं दव्वाइं परियाइत्ता कालं करेइ तल्लेसेसु उववज्जइ तं जहा कण्हलेसेसु वा नीललेसेसु वा काउलेसेसु वा एवं जस्स जा लेसा सा तस्स भाणियव्वा जाव जीवेणं भंते ! जे भविए जोइसिएसु उववज्जित्तए पुच्छा ? गोयमा ! जल्लेसाइं दव्वाइं परियाइत्ता कालं करेइ तल्लेसेसु उववज्जइ तं जहा तेउलेस्सेसु । जीवेणं भंते ! जे भविए वेमाणिएसु उववज्जित्तए से णं भंते ! किं लेस्सेसु उववज्जइ ? गोयमा ! जल्लेस्साइं दव्वाइं परियाइत्ता कालं करेइ तल्लेसेसु उववज्जइ, तं जहा तेउलेसेसु वा पम्हलेसेसु वा सुक्कलेसेसु वा ।

जीवेणमित्यादि (जेभविएत्ति) योग्यः (किंलेसेसुत्ति) का कृष्णादीनामन्यतमा लेश्या येषां ते तथा तेषु किंलेश्येषु मध्ये (जल्लेसाइंति) या लेश्या येषां द्रव्याणां तानि यल्लेश्यानि यस्या लेश्यायाः सम्बन्धिनीत्यर्थः । (परियाइत्तात्ति) पर्यादाय परिगृह्य भावपरिणामेन कालं करोति म्रियते तल्लेश्येषु नारकेषूत्पद्यते भवन्ति चाऽत्र गाथाः ॥ "सव्वाहिं लेसाहिं पढमे समयम्मि परिणयाहिं तु । नो कस्स वि उववाओ, परे भवे अत्थि

जीवस्स ॥ १ ॥ सव्वाहिं लेसाहिं, चरमे समयम्मि परिणयाहिं तु । न वि कस्स वि उववाओ, परे भवे अत्थि जीयस्स ॥ २ ॥ अंतमुहुत्तम्मि गए, अंतमुहुत्तम्मि सेसए चेव । लेसाहिं परिणयाहिं, जीवा गच्छंति परलोयं" ।३। चतुर्विंशतिदएडकस्य शेषपदान्यतिदिशन्नाह ॥ एवमित्यादि (एवमिति) नारकसूत्राभिलापेनेत्यर्थः (जस्सत्ति) असुरकुमारादेर्या लेश्या कृष्णादिका सा लेश्या तस्याः सुरकुमारादेर्भणितव्येति नन्वेतावतैव विवक्षितार्थसिद्धेः किमर्थं भेदेनोक्तम् "जाव जीवेणं भंते !" इत्यादि ? उच्यते, दण्डकपर्यवसानसूत्रदर्शनार्थमेवं तर्हि वैमानिकसूत्रमेव वाच्यं स्यान्न तु ज्योतिष्कसूत्रमिति ? सत्यं किं तु ज्योतिष्कवैमानिकाः प्रशस्तलेश्या एव भवन्तीत्यस्यार्थस्य दर्शनार्थं तेषां भेदेनाभिधानं विचित्रत्वाद्वा सूत्रगतेरिति । भ० ३ श० ४ उ०।

(२३) नैरयिकः देशतः सर्वतो वा उपपद्यते ॥

नेरइएणं भंते ! नेरइएसु उववज्जमाणे किं देसेणं देसं उववज्जइ १ देसेणं सव्वं उववज्जइ २ सव्वेणं देसं उववज्जइ ३ सव्वेणं सव्वं उववज्जइ ४ ? गोयमा ! नो देसेणं देसं उववज्जइ १ नो देसेणं सव्वं उववज्जइ २ नो सव्वेणं देसं उववज्जइ ३ सव्वेणं सव्वं उववज्जइ ४ जहा नेरइए एवं जाव वेमाणिए १ नेरइएणं भंते ! नेरइएसु उववज्जमाणे किं देसेणं देसं आहारेइ देसेणं सव्वं आहारेइ सव्वेणं देसं आहारेइ सव्वेणं सव्वं आहारेइ ? गोयमा ! नो देसेणं देसं आहारेइ नो देसेणं सव्वं आहारेइ सव्वेणं वा देसं आहारेइ सव्वेण वा सव्वं आहारेइ एवं जाव वेमाणिए ।२। नेरइएणं भंते ! नेरइएहिंतो उववट्टमाणे किं देसेणं उववट्टइ जहा उववज्जमाणे तहेव उववट्टमाणेवि दंडगो भाणियव्वो ॥

(नेरइएणं भंते ! नेरइएसु उववज्जमाणेत्ति) ननूत्पद्यमान एव कथं नारक इति व्यपदिश्यतेऽनुत्पन्नत्वात्तिर्यगादिवत् इत्यत्रोच्यते उत्पद्यमान उत्पन्न एव तदायुष्कोदयादन्यथा तिर्यगाद्यायुष्काभावान्नारकायुष्कोदयेऽपि यदि नारको नासौ तदन्यः कोऽसाविति (किं देसेणं देसं उववज्जइत्ति) देशेन च देशं यदुत्पादनं प्रवृत्तं तद्देशेन देशं छान्दसत्वाच्चाव्ययीभावप्रतिरूपः समास एवमुत्तरत्रापि तत्र जीवः किं देशेन स्वकीयावयवेन न देशेन नारकावयविनोंऽशतयोत्पद्यते । अथवा देशेन देशमाश्रित्योत्पादयन्त्वेति शेषः एवमन्यत्रापि तथा (देसेण सव्वंति) देशेन च सर्वेण च यत्प्रवृत्तं तद्देशेन सर्वं तत्र देशेन स्वावयवेन सर्वतः सर्वात्मना नारकावयवितयोत्पद्यत इत्यर्थः । आहोस्वित्सर्वेण सर्वात्मना देशतो नारकांशतयोत्पद्यते अथवा सर्वेण सर्वात्मना सर्वतो नारकतयेति प्रश्नः । अत्रोत्तरम्-न देशेन देशतयोत्पद्यते यतो न परिणामिकारणावयवेन कार्यावयवो निर्वर्त्यते तन्तुना पटाप्रतिबद्धपटप्रदेशवत् । यथाहि पटदेशभूतेन तन्तुना पटाप्रतिबद्धः पटदेशो न निर्वर्त्यते तथा पूर्वावयविप्रतिबद्धेन तद्देशेनोत्तरावयविदेशो न निर्वर्त्यत इति भावः । तथा न देशेन सर्वतयोत्पद्यते अपरिपूर्णकारणत्वात्तन्तुना पट इवेति । तथा न सर्वेण देशतयोत्पद्यते सम्पूर्णपरिणामिकारणत्वात्समस्तघटकारणैर्घटैकदेशवत् सर्वेण तु सर्वं उत्पद्यते पूर्णकारणसमवायात घटवदिति चूर्णिव्याख्या । टीकाकारस्त्वेवमाह । किमवस्थित एव जीवो देशमपनीय यत्रोत्पत्तव्यं तत्र देशत उत्पद्यते अथवा देशेन सर्वत उत्पद्यते अथवा सर्वात्मना यत्रोत्पत्तव्यं तस्य देश उत्पद्यते अथवा सर्वात्मना सर्वत्रेति । एतेषु पाश्चात्यभङ्गौ ग्राह्यौ यतः सर्वेण समप्रदेशव्यापारेणेलिकागतौ यत्रोत्पत्तव्यं तस्य देश उत्पद्यते तद्देशेन उत्पत्तिस्थानदेशस्यैव व्याप्तत्वात् कन्दुकगतौ वा सर्वेण सर्वत्रोत्पद्यते विमुच्यैव पूर्वस्थानमिति । एतच्च टीकाकारव्याख्यानं वाचनान्तरविषयमिति ॥

नेरइयाणं भंते ! नेरइएहिंतो उववट्टमाणे किं देसेणं देसं आहारेइ तहेव जाव सव्वेणं वा देसं आहारेइ सव्वेणं वा सव्वं आहारेइ १ एवं जाव वेमाणिया ॥ ४ ॥ नेरइएणं भंते ! नेरइएसु उववन्ने किं देसेणं देसं उववन्ने एसो वि तहेव जाव सव्वेणं सव्वं उववन्ने जहा उववज्जमाणे उववट्टमाणे य चत्तारि दंडगा तहा उववन्ने उव्वट्टणे वि चत्तारि दंडगा भाणियव्वा सव्वेणं सव्वं उववन्ने सव्वेण वा देसं आहारेइ सव्वेणं सव्वं आहारेइ एएणं अभिलावेणं उववन्ने उव्वट्टेवि नेयव्वं । नेरइएणं भंते ! नेरइएसु उववज्जमाणे किं अद्धेणं अद्धं उववज्जइ अद्धेणं सव्वं उववज्जइ सव्वेणं अद्धं उववज्जइ सव्वेणं सव्वं उववज्जइ । जहा पढमिल्लेणं अट्ठ दंडगा तहा अद्धेण वि अट्ठ दंडगा भाणियव्वा, णवरं जहिं देसेणं देसं उववज्जइ तहिं अद्धेणं अद्धं उववज्जइत्ति भाणियव्वं एवं णाणत्तं एवं सव्वेवि सोलस दंडगा भाणियव्वा ॥

उत्पादे चाहारक इत्याहारसूत्रं तत्र देशेन देशमिति आत्मदेशेनाभ्यवहार्यद्रव्यदेशमित्येवं गमनीयम् उत्तरम् । (सव्वेण वा देसमाहारेइत्ति) उत्पत्त्यनन्तरसमयेषु सर्वात्मप्रदेशैराहारपुद्गलान् कांश्चिदादत्ते कांश्चिद्विमुञ्चति तप्ततापिकागततैलग्राहकविमोचकापूपवदत उच्यते देशमाहारयतीति (सव्वेण वा सव्वंति) सर्वात्मप्रदेशैरुत्पत्तिसमये आहारपुद्गलानादत्त एवं प्रथमतस्तैलभृततप्ततापिकाप्रथमसमयपतितापूपवदित्युच्यते । सर्वमाहारयतीति उत्पादस्तदाहारेण सह प्राग्दण्डकाभ्यामुक्तोऽथोत्पादप्रतिपक्षत्वाद्वर्तमानकालनिर्देशसाधर्म्याच्चोद्वर्तनादण्डकस्तदाहारदण्डकेन सह तदनन्तरञ्च नोद्वर्तनाऽनुत्पन्नस्य स्यादित्युत्पन्नतदाहारदण्डकावुत्पन्नप्रतिपक्षत्वाच्चोद्वृत्ततदाहारदण्डकाविति । पुस्तकान्तरे तु उत्पादतदाहारदण्डकानन्तरमुत्पादे सत्युत्पन्नः स्यादित्युत्पन्नतदाहारदण्डकौ ततस्तूत्पादप्रतिपक्षत्वादुद्वर्तनाया उद्वर्तनातदाहारदण्डकौ, उद्वर्तनायाञ्चोद्वृत्तः स्यादित्युद्वृत्ततदाहारदण्डकौ कण्ठ्याश्चैत इति एवं तावद्दष्टाभिर्दण्डकैर्देशसर्वाभ्यामुत्पादादिचिन्तितमथाष्टाभिरेवार्द्धसर्वाभ्यामुत्पादाद्येव चिन्तयन्नाह (जहा पढमिल्लेणंति) । यथा देशेन ननु देशस्यार्द्धस्य च को विशेषः उच्यते देशस्त्रिभागादिरनेकधाऽर्द्धं त्वेकधैवेति । भ० । (गर्भगतस्य मृत्वा नरकेषूत्पादो गब्भ शब्दे)

(२४) गर्भगतस्य मृत्वा देवेषूत्पादः ॥

जीवेणं भंते ! गब्भगए समाणे नेरइएसु उववज्जेज्जा ? गोयमा ! अत्थेगइए उववज्जेज्जा अत्थेगइए नो उववज्जे-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्जा से केणट्ठेणं ? गोयमा ! सेणं सन्नी पंचिंदिए सव्वाहिं पज्जत्तिएहिं पज्जत्तए वीरियलद्धीए वेउव्वियलद्धीए पराणीयं आगयं सोच्चा निसम्म पएसे निच्छुजइ, वेउव्विय-समुग्घाएणं समोहणइ समोहणइए चाउरंगिणीए सेणाए विउव्वइ विउव्वइत्ता चाउरंगिणीए सेणाए पराणीएणं सद्धिं संगामं संगामेइ सेणं जीवे अत्थकामए रज्जकामए भोगकामए कामकामए अत्थकंखिए रज्जकंखिए भोगकंखिए कामकंखिए अत्थपिवासिए रज्जपिवासिए भोगपिवासिए कामपिवासिए तच्चित्ते तम्मणे तल्लेस्से तदज्झवसिए तत्तिव्वज्झवसाणे तदट्ठोवउत्ते तदप्पियकरणे तब्भावणाभाविए एतंसि णं अंतरंसि कालं करेज्ज नेरइएसु उववज्जइ से तेणट्ठेणं गोयमा ! जाव अत्थेगइए नो उववज्जेज्जा ॥

गर्भे गतः सन् गृहीत्येति शेषः (पंचिंदिएत्ति) स गर्भो राजादिगर्भरूपः संज्ञित्वादिविशेषणानि च गर्भस्थस्यापि नरकप्रायोग्यकर्मबन्धसंभवाभिधायकतयोक्तानि वीर्यलब्ध्या वैक्रियलब्ध्या संग्रामयतीति योगः अथवा वीर्यलब्धिको वैक्रियलब्धिकश्च सन्निति परानीकं शत्रुसैन्यम् (सोच्चत्ति) आकर्ण्य निशम्य मनसाऽवधार्य (पएसे निच्छुभइत्ति) गर्भदेशाद्बहिः क्षिपति (समोहणइत्ति) समवहन्ति समवहतो भवति तथाविधपुद्गलग्रहणार्थं संग्रामे संग्रामयति युद्धं करोति (अत्थकामएइत्यादि) अर्थे द्रव्ये कामो वाञ्छामात्रं यस्यासावर्थकाम एवमन्यान्यपि विशेषणानि, नवरं राज्यं नृपत्वं भोगा गन्धरसस्पर्शाः कामौ शब्दरूपे काङ्क्षा गृद्धिरासक्तिरित्यर्थः । अर्थकाङ्क्षा संजाताऽस्येति अर्थकाङ्क्षितः । पिपासेव पिपासा प्राप्तेऽप्यर्थेऽतृप्तिः (तच्चित्तेत्ति) तत्रार्थादौ चित्तं सामान्योपयोगरूपं यस्यासौ तच्चित्तः [तम्मणेत्ति] तत्रैवार्थादौ मनो विशेषोपयोगरूपं यस्य स तन्मनाः [तल्लेसेत्ति] लेश्याऽऽत्मपरिणामविशेषः । [तदज्झवसिएत्ति] इहाध्यवसायोऽध्यवसितम् तत्र तच्चित्तादिभावयुक्तस्य तस्मिन्नर्थादावेवाध्यवसितं परिभोगक्रियासंपादनविषयमस्येति तदध्यवसितः [तत्तिव्वज्झवसाणेत्ति] तस्मिन्नेवार्थादौ तीव्रमारम्भकालादारभ्य प्रकर्षयायि अध्यवसानं प्रयत्नविशेषलक्षणं यस्य स तथा [तदट्ठोवउत्तेत्ति] तदर्थमर्थादिनिमित्तमुपयुक्तो ऽवहितस्तदर्थोपयुक्तः [तदप्पियकरणेत्ति] तस्मिन्नेवार्थादावर्पितान्याहितानि करणानीन्द्रियाणि कृतकारितानुमतिरूपाणि वा येन स तथा [तब्भावणाभाविएत्ति] असकृदनादिसंसारे तद्भावनयाऽर्थादिसंस्कारेण भावितो यः स तथा [एयंसिणं अंतरंसि त्ति] एतस्मिन् संग्रामकरणावसरे कालं मरणमिति ॥

जीवेणं भंते ! गब्भगए समाणे देवलोगेसु उववज्जेज्जा ? गोयमा अत्थेगइए उववज्जेज्जा अत्थेगइए नो उववज्जेज्जा से केणट्ठेणं ? गोयमा ! से णं सन्नी पंचिंदिए सव्वाहिं पज्जत्तीहिं पज्जत्तए तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा अंतिए एगमवि आरियं धम्मियं सुवयणं सोच्चा निसम्म तओ भवइ संवेगजायसड्ढे तिव्वधम्माणुरागरत्ते सेणं जीवे धम्मकामए पुण्णकामए सग्गकामए मोक्खकामए धम्मकंखिए पुण्णकंखिए सग्गकंखिए मोक्खकंखिये धम्मपिवासिए पुण्णपिवासिए सग्गपिवासिए मोक्खपिवासिए तच्चित्ते तम्मणे तल्लेसे तदज्झवसिए तदट्ठोवउत्ते तदप्पियकरणे तब्भावणाभाविए एयंसि णं अंतरंसि कालं करेज्जा देवलोएसु उववज्जइ से तेणट्ठेणं गोयमा ! ।

(तहारूवस्सत्ति) तथाविधस्य उचितस्येत्यर्थः श्रमणस्य साधोः वाशब्दो देवलोकोत्पादहेतुत्वम्प्रति श्रमणमाह । न वचनयोस्तुल्यत्वप्रकाशनार्थः (माहणस्सत्ति) मा हनेत्येवमादिशति स्वयं स्थूलप्राणातिपातादिनिवृत्तत्वाद्यः स माहनः । अथवा ब्राह्मणो ब्रह्मचर्यस्य देशतः सद्भावात् ब्राह्मणो देशविरतस्तस्य वा (अंतिएत्ति) समीपे एकमप्यास्तामनेकं आर्यमराद्यातं पापकर्मभ्य इत्यार्यम् । अत एव धार्मिकमिति (तओत्ति) तदनन्तरमेव (संवेगजायसड्ढेत्ति) संवेगेन भवभयेन जाता श्रद्धा श्रद्धानं धर्मादिषु यस्य स तथा (तिव्वधम्माणुरागरत्तेत्ति) तीव्रो यो धर्मानुरागो धर्मबहुमानस्तेन रक्त इव यः स तथा (धम्मकामएत्ति) धर्मः श्रुतचारित्रलक्षणः पुण्यं तत्फलभूतं शुभकर्मेति ॥ भ० १ श० ७ उ० । स्था० ॥ तं० ॥

(२५) कुतो देवा देवलोकेपूपपद्यन्ते ॥

तएणं ते समणोवासया थेराणं भगवंताणं अंतिए धम्मं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठ जाव हियया तिक्खुत्तो आयाहीणपयाहीणं करेंति करेइत्ता एवं वयासी संजमेणं भंते ! किं फले, तवेणं भंते ! किं फले ? तएणं थेरा भगवंतो ते समणोवासया एवं वयासी संजमेणं अज्जो अणण्हयफले तएणं ते समणोवासया थेरे भगवंते एवं वयासी जइणं भंते ! संजमे अणण्हफले तवे वोदाणफले किं पत्तियं भंते ! देवा देवलोएसु उववज्जंति ? तत्थणं कालियपुत्ते णामं अणगारे थेरे ते समणोवासए एवं वयासी पुव्वतवेणं अज्जो देवा देवलोएसु उववज्जंति तत्थ णं मेहिले-नामं थेरे ते समणोवासए एवं वयासी पुव्वसंजमेणं अज्जो देवा देवलोएसु उववज्जंति तत्थणं आणंदरक्खिए नामं थेरे ते समणोवासए एवं वयासी कम्मियाए अज्जो देवा देवलोएसु उववज्जंति तत्थ णं कासवे नामं थेरे ते समणोवासए एवं वयासी संगियाए अज्जो देवा देवलोएसु उववज्जंति पुव्वतवेणं पुव्वसंजमेणं कम्मियाए संगियाए अज्जो देवा देवलोएसु उववज्जंति सच्चेणं एस अट्ठे नो चेवणं आयभाववत्तव्वयाए ! तएणं ते समणोवासया थेरेहिं भगवंतेहिं इमाइं एयारूवाइं वागरणाइं वागरिया समाणा हट्ठतुट्ठा थेरे भगवंते वंदंति णमंसंति वंदइत्ता समंसइत्ता पसिणाइं पुच्छंति अट्ठाइं उवादियंति उट्ठाए उट्ठेंति थेरे भगवंते तिक्खुत्तो जाव वंदंति णमंसंति वंदइत्ता समंसित्ता थेराणं भगवंताणं अंतियाओ पुप्फवईयाओ चेइयाओ पडिनिक्खमंति पडिनिक्खमइत्ता जामेव दिसं पाउब्भूया तामेव दिसं पडिगया तएणं ते थेरा भगवंतो अण्णया कयाइं तुंगियाओ नयरीओ पुप्फवइयाओ चेइयाओ पडिनिग्गच्छंति पडिनि-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गच्छइत्ता बहिया जणवयविहारं विहरंति तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नामं नयरे जाव परिसापडिगया तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अंतेवासी इंदभूइणामं अणगारे जाव संखित्तविउलतेउलेस्से छट्ठं छट्ठेणं अनिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ तए णं से भगवं गोयमे छट्ठक्खमणपारणयंसि पढमाए पोरिसीए सज्झायं करेइ बीयाए पोरिसीए झाणं झियायइ तइयाए पोरिसीए अतुरियमचवलमसंभंते मुहपोत्तियं पडिलेहेइ पडिलेहेइत्ता भायणाइं वत्थाइं पडिलेहेइ पडिलेहेइत्ता भायणाइं पमज्जइ पमज्जइत्ता भायणाइं उग्गाहेइ उग्गाहेइत्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ णमंसइ वंदइत्ता णमंसइत्ता एवं वयासी इच्छामि णं भंते ! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे छट्ठक्खमणपारणयंमि रायगिहे नयरे उच्चनीयमज्झिमाइं कुलाइं घरसमुदाणस्स भिक्खायरियाए अडित्तए अहासुहं देवाणुप्पिया मा पडिबंधं तएणं भगवं गोयमे ! समणेणं भगवया महावीरेणं अब्भणुण्णाए समाणे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियाओ गुणसिलाओ चेइयाओ पडिनिक्खमइ पडिनिक्खमइत्ता अतुरियमचवलमसंभंते जुगमंतरपलोयणाए दिट्ठीए पुरओरियं सोहेमाणे सोहेमाणे जेणेव रायगिहे नयरे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता रायगिहे नयरे उच्चनीयमज्झिमाइं कुलाइं परघरसमुदाणस्स भिक्खायरियं अडइ तएणं से भगवं गोयमे रायगिहे नयरे जाव अडमाणे बहुजणसद्दं निसामेइ एवं खलु देवाणुप्पिया तुंगियाए नयरीए बहियापुप्फवईयाए चेइयाए पासावच्चिज्जा थेरा भगवंतो समणोवासएहिं इमाइं एयारूवाइं वागरणाइं पुच्छिया संजमेणं भंते ! किं फले, तवे किं फले ? तए णं थेरा भगवंतो समणोवासए एवं वयासी। संजमेणं अज्जो अणण्हयफले तवे वोदाणफले तं चेव जाव पुव्वतवेणं पुव्वसंजमेणं कम्मियाए संगियाए अज्जो देवा देवलोएसु उववज्जंति सच्चेणं एसमट्ठे णो चेव णं आयभाववत्तव्वयाए से कहमेयं मन्ने एवं ? तएणं भगवं गोयमे ! इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे जायसड्ढे जाव समुप्पन्नकोउहल्ले अहा पज्जत्तं समुदाणं गिण्हइ गिण्हइत्ता रायगिहाओ नयरीओ पडिनिक्खमइ अतुरिय जाव सोहेमाणे जेणेव गुणसिलए चेइए जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामंते गमणागमणाए पडिक्कमइ एसणमणेसणं आलोएइ भत्तपाणं पडिदंसेइ२त्ता समणं भगवं महावीरं जाव एवं वयासी एवं खलु भंते ! अहं तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे रायगिहे नगरे उच्चनीयमज्झिमाणि कुलाणि घरसमुदाणस्स भिक्खायरियाए अडमाणे बहुजणसद्दं निसामेइ एवं खलु देवाणुप्पिया तुंगियाए नगरीए बहिया पुप्फवईए चेइ पासावच्चिज्जा थेरा भगवंतो समणोवासएहिं इमाइं एयारूवाइं वागरणाइं पुच्छिया संजमेणं भंते ! किं फले, तवे किं फले ? तं चेव जाव सच्चेणं एसमट्ठे णो चेव णं आयभाववत्तव्वयाए तं पभूणं भंते ! थेरा भगवंतो तेसिं समणोवासयाणं इमाइं एयारूवाइं वागरणाइं वागरेत्तए । उदाहु अप्पभूसमियाणं भंते ! ते थेरा भगवंतो तेसिं समणोवासयाणं इमाइं एयारूवाइं वागरणाइं वागरेत्तए । उदाहु असमिया आउज्जियाणं भंते ! ते थेरा भगवंतो तेसिं समणोवासयाणं इमाइं एयारूवाइं वागरणाइं वागरित्तए। उदाहु अणाउज्जिया पालिउज्जियाणं भंते ! ते थेरा भगवंतो तेसिं समणोवासयाणं इमाइं एयारूवाइं वागरणाइं वागरेत्तए। उदाहु अणाउज्जिया पलिउज्जियाणं भंते ! थेरा भगवंतो तेसिं समणोवासयाणं इमाइं एयारूवाइं वागरणाइं वागरेत्तए उदाहु अपलिउज्जिया पुव्वतवेणं अज्जो ! देवा देवलोएसु उववज्जंति पुव्वसंजमेणं कम्मियाए संगियाए अज्जो देवा देवलोएसु उववज्जंति, सच्चेणं एसमट्ठे णो चेव णं आयभाववत्तव्वयाए पभूणं गोयमा ! ते थेरा भगवंतो तेसिं समणोवासयाणं इमाइं एयारूवाइं वागरणाइं वागरेत्तए णो अप्पभू तह चेव नेयव्वं अवसेसियं जाव पभूसमियं आउज्जियपालिउज्जिय जाव सच्चेणं एसमट्ठे णो चेव णं आयभाववत्तव्वयाए अहं पि णं गोयमा ! एवमाइक्खामि भासेमि पन्नवेमि परूवेमि पुव्वतवेणं देवा देवलोएसु उववज्जंति पुव्वसंजमेणं देवा देवलोएसु उववज्जंति कम्मियाए देवा देवलोएसु उववज्जंति संगियाए देवा देवलोएसु उववज्जंति पुव्वतवेणं पुव्वसंजमेणं कम्मियाए संगियाए अज्जो देवा देवलोएसु उववज्जंति । सच्चेणं एसमट्ठे णो चेव णं आयभाववत्तव्वयाए ॥

तएणं समणोवासया इत्यादि [अणण्हयफलेत्ति] न आश्रवोऽनाश्रव इति पाठोऽपि दृश्यते अनाश्रवो नवकर्मानुपादानं फलमस्येत्यनाश्रवफलः संयमः (वोदाणफलेत्ति) दाप्लवने अथवा दैपृशोधने इति वचनात् व्यवदानं पूर्वकृतकर्मवनगहनस्य लवनं प्राक्कृतकर्मकचवरशोधनं वा फलं यस्य तद्व्यवदानफलं तप इति । (किं पत्तियंति) कः प्रत्ययः कारणं यत्र तत्किम्प्रत्ययं निष्कारणमेव देवा देवलोकेषूत्पद्यन्ते तपःसंयमयोरुत्कर्षीत्या तदकारणत्वादित्यभिप्रायः (पुव्वतवेणंति) पूर्वतपःसरागावस्थाभावितपस्या वीतरागावस्थापेक्षया सरागावस्थायाः पूर्वकालभावित्वात् एवं संयमोऽपि अयथाख्यानचारित्रमित्यर्थः ततश्च सरागकृतेन संयमेन तपसा च देवत्वावाप्तिः रागांशस्य कर्मबन्धहेतुत्वात् (कम्मियापत्ति) कर्म विद्यते यस्यासौ कर्मी तद्भावस्तत्ता तया कर्मितया । अन्ये त्वाहुः । कर्मणां विकारः कार्मिका तया अक्षीणेन कर्मशेषेण देवत्वावाप्तिरित्यर्थः (संगियापत्ति) सङ्गो यस्यास्ति स सङ्गी तद्भावस्तत्ता तया संगितया इत्यादि·

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

षु सत्सङ्गी हि संयमादियुक्तोऽपि कर्म्म बध्नाति ततः सङ्गितया देवत्वावाप्तिरिति आह च"पुव्वतवसंजमो होति,रागिणो पच्छिमा अरागस्स । रागो संगो वुत्तो, संगाकम्मं भवो तेणं" ॥ १ ॥ सच्चेणमित्यादि ॥ सत्योऽयमर्थः कस्मादित्याह " नो चेवणमित्यादि " नैवात्मनाववक्तव्यतयाऽयमर्थः आत्मभाव एव स्वाभिप्राय एव न वस्तुतत्वं वक्तव्यो वाच्योऽभिमानाचेषां ते आत्मभाववक्तव्यास्तेषां भाव आत्मभाववक्तव्यता अहंमानिता तया न वयमहंमानितयैवं ब्रूमोऽपि तु परमार्थ एवायमेवंविध इति भावना (अतुरियंति) कायिकत्वराहितम् (अचवलंति) मानसचापलरहितम् (असंभंतेत्ति) असंभ्रान्तज्ञानः (घरसमुदाणस्स) गृहेषु समुदानं भैक्षं गृहसमुदानं तस्मै गृहसमुदानाय (भिक्खासमायारपत्ति) भिक्षासमाचारेण (जुगंतरपलोयणापत्ति) युगं यूपस्तत्प्रमाणमन्तरं स्वदेहदेशस्य दृष्टिपातदेशस्य च व्यवधानं प्रलोकयति या सा युगान्तरप्रलोकना तया दृष्ट्या (रियंति) ईर्यागमनं (सेकहमेयं मन्ने एवंति) अथ कथमेतत् स्थविरवचनं मन्ये इति वितर्कार्थो निपातः एवममुना प्रकारेणेति बहुजनवचनम् (पभूणंति) प्रभवः समर्थास्ते (समियाणंति) सम्यगिति प्रशंसार्थो निपातस्तेन सम्यक्ते व्याकर्तुं वर्त्तन्ते अविपर्यासास्त इत्यर्थः। समश्नन्तीति वा सम्यञ्चः समिता वा सम्यक् प्रवृत्तयः आमिता वाऽभ्यासवन्तः (आउज्जियत्ति) आयोगिकाः उपयोगवन्तो ज्ञानिन इत्यर्थः जानन्तीति भावः (पलिउज्जियत्ति) परि समन्तात् योगिकाः परिज्ञानिन इत्यर्थः परिजानन्तीति भावः । भ०२ श०५ उ० । "पुण्णपापाभावे सव्वहा अपरिक्खीणकम्मे पुमाभावे देवेसु केण हेउणा उववज्जंति" एवं चोदकेणोक्ते आचार्य्य आह । गाहा। "पुव्वतवसंजमा होति, रागिणो पच्छिमा अगारस्स । रागो वुत्तो संगो, संगाकम्मं भवो तेणं" । नि० चू०११ उ० (जीवेणं भंते ! जे भविए नेरइएसु उववज्जित्तए से णं भंते ! किं इह गए णेरइयाउयं पकरेइत्तिआउशब्दे उक्तम्) छावसुरकुमारो कोपपद्यते ॥

(२६) सहोपपन्नयोरसुरयोः शोभनाशोभनत्वम् ॥

दो भंते ! असुरकुमारा एगंसि असुरकुमारावासंसि असुरकुमारदेवत्ताए उववन्ना तत्थणं एगे असुरकुमारे देवे पासादीए दरसणिज्जे अभिरूवे पडिरूवे एगे असुरकुमारे देवे से णं णो पासादीए णो दरसणिज्जे णो अभिरूवे णो पडिरूवे सेकहमेयं भंते ! एवं ? गोयमा ! असुरकुमारा देवा दुविहा पन्नत्ता तं जहा वेउव्वियसरीरा य अवेउव्वियसरीरा य तत्थ णं जे से वेउव्वियसरीरे असुरकुमारे देवे से णं पासादीए जाव पडिरूवे तत्थ णं जे से अवेउव्वियसरीरे असुरकुमारे देवे से णं णो पासादीए जाव णो पडिरूवे से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ तत्थ णं जे से वेउव्वियसरीरे तं चेव जाव णो पडिरूवे ? गोयमा ! से जहाणामए इह मणुस्सलोगंसि दुवे पुरिसा भवंति एगे पुरिसे अलंकियविभूसिए एगे पुरिसे अणलंकियविभूसिए एएसिणं गोयमा ! दोएहं पुरिसाणं कयरे पुरिसे पासादीए कयरे पुरिसे णो पासादीए जाव णो पडिरूवे जे वा से पुरिसे अलंकियविभूसिए जे वा से पुरिसे अणलंकियविभूसिए ? भगवं ! तत्थ जे से पुरिसे अलंकियविभूसिए से णं पुरिसे पासादीए जाव पडिरूवे जे वा से पुरिसे अणलंकियविभूसिए से णं पुरिसे णो पासादीए जाव णो पडिरूवे से तेणट्ठेणं जाव णो पडिरूवे दो भंते ! णागकुमारा देवा एगंसि णागकुमारा वासंसि एवं चेव एवं जाव थणियकुमारा वाणमंतरजोइसियवेमाणिया एवं चेव ।

दो भंते ! इत्यादि [वेउव्वियसरीरेत्ति] विभूषितशरीराः अनन्तरमसुरकुमारादीनां विशेष उक्तोऽथ विशेषाधिकारादिदमाह

(२७) नैरयिकानैरयिकेषु उपपन्नास्तेषु कश्चिदल्पतरोऽपरो महावेदनतरः ॥

दो भंते णेरइया एगंसि णेरइया वासंसि णेरइयत्ताए उववन्ना तत्थ णं एगे णेरइए महाकम्मतराए चेव जाव महावेयणतराए चेव। एगे णेरइए अप्पकम्मतराए चेव जाव अप्पवेयणतराए चेव से कहमेयं भंते ! एवं ? गोयमा ! णेरइया दुविहा पन्नत्ता तं जहा मायी मिच्छदिट्ठी उववन्नगा य अमायी सम्मदिट्ठी उववन्नगा य तत्थ णं जे से मायी मिच्छदिट्ठी उववन्नए णेरइए से णं महाकम्मतराए चेव जाव महावेयणतराए चेव तत्थ णं जे से अमायी सम्मदिट्ठी उववन्नए णेरइए से णं अप्पकम्मतराए चेव अप्पवेयणतराए चेव दो भंते ! असुरकुमारा एवं चेव। एवं एगिंदियविगलिंदियवज्जं जाव वेमाणिया ॥

दो भंते ! नेरइयेत्यादि [महाकम्मतराए चेवत्ति] इह यावत्करणात् " महाकिरियतराए चेव महासवतराए चेवत्ति " इयं व्याख्या चास्य प्राग्वत् (एगिंदियविगलिंदियवज्जंति) इहैकेन्द्रियादिवर्जनमेतेषां मायिमिथ्यादृष्टित्वेनामायिसम्यग्दृष्टिविशेषणस्यायुज्यमानत्वादिति ।

(२८) प्रागनारकादिवक्तव्यतोक्ता ते चायुष्कप्रतिसंवेदनावन्त इति तेषां तां निरूपयन्नाह ॥

णेरइयाणं भंते ! अणंतरं उव्वट्टित्ता जे भविए पंचिंदियतिरिक्खजोणिएसु उववज्जित्तए से णं भंते ! कयरं आउयं पडिसंवेदेइ ? गोयमा ! णेरइयाउयं पडिसंवेदेइ पंचिंदियतिरिक्खजोणियाउए से पुरओ कडे चिट्ठइ। एवं मणुस्से वि णवरं मणुस्साउए से पुरओ कडे चिट्ठइ असुरकुमाराणं भंते ! अणंतरं उव्वट्टित्ता जे भविए पुढवीकाइएसु उववज्जित्तए पुच्छा गोयमा ! असुरकुमाराउयं पडिसंवेदेइ पुढवीकाइयाउए से पुरओ कडे चिट्ठइ एवं जो जहिं भविओ उववज्जित्तए तस्स तं पुरओ कडं चिट्ठंति तत्थ ठिओ तं पडिसंवेदेइ जाव वेमाणियाणं णवरं पुढवीकाइओ पुढवीकाइएसु उववज्जति पुढवीकाइयाउयं पडिसंवेदेइ अन्ने य से पुढवीकाइयाउए पुरओ कडे चिट्ठइ एवं जाव मणुस्सो सट्ठाणे उववातेयव्वो परट्ठाणे तहेव ॥

एतच्च व्यक्तमेव ॥ भ० १८ श० ५ उ० । (पूर्वमायुःसंवेदनतोक्ता अथ तद्विशेषवक्तव्यता विउव्वणा शब्दे)

(२९) रत्नप्रभायां सर्वे उपपन्नपूर्वाः ।

किं सव्वपाणा उववन्नपुव्वा ? हंता गोयमा ! असतिं अदुवा अणंतखुत्तो ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किं सव्वपाणा इत्यादि अस्य चैवं प्रयोगः । अस्यां रत्नप्रभायां त्रिंशन्नरकलक्षेषु किं सर्वे प्राणादय उत्पन्नपूर्वा अभवन् (असइंति) असकृदनेकशः इदं च वेलाद्वयादावपि स्यादतोऽत्यन्तबाहुल्यप्रतिपादनायाह (अदुवत्ति) अथवा (अणंतखुत्तोत्ति) अनन्तकृत्वोऽनन्तवारान् (भ० २ श० ३ उ०) "तएणं से महब्बले अणगारे धम्मघोसस्स अणगारस्स अंतिए सामाइयमाइयाइं चउद्दसपुव्वाइं अहिज्जइ" (इत्यादि ब्रह्मलोके महाबलस्योपपातः महब्बल शब्दे) इह च किल चतुर्दशपूर्वधरस्य जघन्यतोऽपि लान्तके उपपात उच्यते " जावंति लंतगाओ चोद्दसपुव्वी जहन्नउववाओत्ति " वचनादेतस्य च चतुर्दशपूर्वधरस्यापि यद् ब्रह्मलोके उपपात उक्तस्तत्केनापि मनाग्विस्मरणादिना प्रकारेण चतुर्दशपूर्वाणामुपरि पूर्णत्वादिति सम्भावयन्तीति भ० ११ श० ११ उ० । (गुणस्थानकेषूपपातो गुणट्ठाण शब्दे मार्गणास्थानकं जीवठाणकादिशब्देषु)

(३०) अविराधितश्रामण्यो देवलोकेषूपपद्यते ॥

अह भंते ! असंजयभवियदव्वदेवाणं अविराहियसंजमाणं विराहियसंजमाणं अविराहियसंजमासंजमाणं विराहियसंजमासंजमाणं असण्णीणं तावसाणं कंदप्पियाणं चरगपरिव्वायगाणं किव्विसियाणं तिरिच्छियाणं आजीवियाणं अभिओगियाणं सलिंगाणं दंसणवावण्णगाणं एएसिणं देवलोएसु उववज्जमाणाणं कस्स कहिं उववाए पण्णत्ते ? गोयमा ! असंजयभवियदव्वदेवाणं जहण्णेणं भवणवासीसु उक्कोसेणं उवरिम गेवेज्जएसु अविराहियसंजमाणं जहण्णेणं सोहम्मे कप्पे उक्कोसेणं सव्वट्ठसिद्धे विमाणे विराहियसंजमाणं जहण्णेणं भवणवासीसु उक्कोसेणं सोहम्मे कप्पे अविराहियसंजमासंजमाणं सोहम्मे कप्पे उक्कोसेणं अच्चुए कप्पे विराहियसंजमासंजमाणं जहण्णेणं भवणवासीसु उक्कोसेणं जोइसियासु असण्णीणं जहण्णेणं भवणवासीसु उक्कोसेणं वाणमंतरेसु अवसेसा सव्वे जहण्णेणं भवणवासीसु उक्कोसेणं वोच्छामि तावसाणं जोइसिएसु कंदप्पियाणं सोहम्मे कप्पे चरगपरिव्वायगाणं बंभलोए कप्पे किव्विसियाणं लंतगे कप्पे तिरिच्छियाणं सहस्सारे कप्पे आजीवियाणं अच्चुए कप्पे अभिओगियाणं अच्चुए कप्पे सलिंगाणं दंसणवावण्णगाणं उवरिमगेविज्जएसु ॥

अह भंतेत्यादि व्यक्तं नवरमथेति परप्रश्नार्थः (असंजयभवियदव्वदेवाणंति) इह प्रज्ञापनाटीका लिख्यते असंयताश्चारित्रपरिणामशून्या भव्या देवत्वयोग्या अत एव द्रव्यदेवाः । समासश्चैवम् । असंयताश्च ते भव्यद्रव्यदेवाश्चेति असंयतभव्यद्रव्यदेवास्तत्रैते असंयतसम्यग्दृष्टयः किलेत्येके यतः किलोक्तम् । " अणुव्वयमहव्वएहि य, बालतवोकामनिज्जराए य । देवाउयं णिबंधइ, सम्मद्दिट्ठी य जो जीवो " एतच्चायुक्तं यतोऽमीषामुत्कर्षेण उपरिमग्रैवेयकेषूपपात उक्तः सम्यग्दृष्टीनां तु देशविरतानामपि न तत्रासौ विद्यते देशविरतश्रावकाणामच्युतादूर्ध्वमगमनात् । नाप्येते निह्नवास्तेषामिहैव भेदेनाभिधानात् तस्मान्मिथ्यादृष्टय एवाऽभव्या भव्या वा असंयतभव्यद्रव्यदेवाः श्रमणगुणधारिणो निखिलसामाचार्यनुष्ठानयुक्ता द्रव्यलिङ्गधारिणो गृह्यन्ते ते ह्यखिलकेवलक्रियाप्रभावत एवोपरिमग्रैवेयकेषूत्पद्यन्त इति असंयताश्च ते सत्यप्यनुष्ठाने चारित्रपरिणामशून्यत्वात् । ननु कथं तेऽभव्याः भव्या वा श्रमणगुणधारिणो भवन्ति । अत्रोच्यते तेषां हि महामिथ्यादर्शनमोहप्रादुर्भावे सत्यपि चक्रवर्तिप्रभृत्यनेकभूपतिप्रवरपूजासत्कारसन्मानदानात् साधून् समवलोक्य तदर्थं प्रव्रज्याक्रियाकलापानुष्ठानं प्रति श्रद्धा जायते ततश्च यथोक्तक्रियाकारिण इति । तथा (अविराहियसंजमाणंति) प्रव्रज्याकालादारभ्याभग्नचारित्रपरिणामानां संज्वलनकषायसामर्थ्यात् प्रमत्तगुणस्थानकसामर्थ्याद्वा स्वल्पमायादिदोषसंभवेऽप्यनाचरितचरणोपघातानामित्यर्थः । तथा [विराहियसंजमाणंति] उक्तविपरीतानाम् [अविराहियसंजमासंजमाणंति] प्रतिपत्तिकालादारभ्याखण्डितदेशविरतिपरिणामानां श्रावकाणाम् (विराहियसंजमासंजमाणंति] उक्तव्यतिरेकिणाम् [असण्णीणंति) मनोलब्धिरहितानामकामनिर्जरावतां तथा (तावसाणंति) पतितपत्राद्युपभोगवतां बालतपस्विनां तथा (कंदप्पियाणंति] कन्दर्पः परिहासः स येषामस्ति तेन वा ये चरन्ति ते कन्दर्पिकाः कान्दर्पिका वा व्यवहारतश्चरणवन्त एव कन्दर्पकौत्कुच्यादिकारकाः । तथा हि गाथा– " कहकहकहस्स हसणं, कंदप्पो अणिहुया य उल्लावा । कंदप्पकहाकहणं, कंदप्पुवएस संसाया ॥ १ ॥ भुमनयणवयणदंसण–छेदेहिं करपायकन्नमाईहिं । तं तं करेइ जह जह, हसइ परो अत्तणा अहसं ॥ २ ॥ वाया कुक्कुइओ पुण, तं जंपइ जेण हस्सए अन्नो । नाणाविहजीवरुए, कुव्वइ मुहतूरए चेवेत्यादि ॥ ३ ॥ जो संजओ वि एयासु अप्पसत्थासु भावणं कुणइ । सो तव्विहेसु गच्छइ, सुरेसु भइओ चरणहीणोत्ति " ॥ ४ ॥ अतस्तेषां कन्दर्पिणाम् [चरगपरिव्वायगाणंति] चरकपरिव्राजका धाटिभैक्ष्योपजीविनस्त्रिदण्डिनः । अथवा चरकाः कच्छोटकादयः परिव्राजकास्तु कपिलमुनिसूनवोऽतस्तेषाम् [किव्विसियाणंति] किल्विषं पापं तदस्ति येषां ते किल्विषिकास्ते च व्यवहारतश्चरणवन्तोऽपि ज्ञानाद्यवर्णवादिनो यथोक्तम् " नाणस्स केवलीणं, धम्मायरियस्स संघसाहूणं । माई अवण्णवाई किव्विसियं भावणं कुणइत्ति " ॥ १ ॥ अतस्तेषां तथा [तिरिच्छियाणंति] तिरश्चां गवाश्वादीनां देशविरतिभाजाम् [आजीवियाणंति] शाखाविशेषाणां नाग्न्यधारिणां गोशालकशिष्याणामित्यन्ये । आजीवन्ति वा ये अविवेकिलोकतो लब्धिपूजाख्यात्यादिनिमित्तं तपश्चरणादीनि ते आजीविकास्तत्त्वेनाजीविका अतस्तेषां तथा [आभिओगियाणंति] अभियोजनं विद्यामन्त्रादिभिः परेषां वशीकरणादि अभियोगः स च द्विधा । यदाह– " दुविहो खलु अभिओगो, दव्वे भावे य होय नायव्वो । दव्वम्मि होइ जोगा, विज्जामंता य भावम्मि " त्ति ॥ १ ॥ सोऽस्ति येषां तेन वा चरन्ति ये ते ऽभियोगिका आभियोगिका वा ते च व्यवहारिणश्चरणवन्त एव मन्त्रादिप्रयोक्तारो यदाह–" कोउय भूइकम्मे, पसिणापसिणे निमित्तमाजीवी । इड्डिरससायगुरुओ, अहिओगं भावणं कुणइ " त्ति ॥ १ ॥ कौतुकं सौभाग्याद्यर्थं स्नपनकं भूतिकर्म ज्वरितादिभूतिदानं प्रश्नाप्रश्नं च स्वप्नविद्यादि [सलिंगाणंति] रजोहरणादिसाधुलिङ्गवतां किं विधानामित्याह [दंसणवावन्नगाणंति] दर्शनं सम्यक्त्वं व्यापन्नं भ्रष्टं येषां ते तथा तेषां निह्नवानामित्यर्थः [एएसिणं देवलोएसु उववज्जमाणाणंति] केन देवत्वादन्यत्रापि केचिदुत्पद्यन्त इति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रतिपादितम् " विराहियसंजमाणं जहन्नेणं भवणवईसु उक्कोसेणं सोहम्मे कप्पे " इह कश्चिदाह-विराधितसंयमानामुत्कर्षेण सौधर्मे कल्पे इति यदुक्तं तत्कथं घटते द्रौपद्यास्तु कुमारिकाभवे विराधितसंयमाया ईशानोत्पादश्रवणादित्यत्रोच्यते, तस्याः संयमविराधनोत्तरगुणविषया बकुशत्वमात्रकारिणी । न मूलगुणविराधनेति, सौधर्मोत्पादश्च विशिष्टतरसंयमविराधनायां स्यात्, यदि पुनर्विराधनमात्रमपि सौधर्मोत्पत्तिकारकं स्यात्तदा बकुशादीनामुत्तरगुणादिप्रतिसेवावतां कथमच्युतादिषूत्पत्तिः स्यात् कथंचिद्विराधकत्वात्तेषामिति [असन्नीणं जहन्नेणं भवणवासीसु उक्कोसेणं वाणमंतरेसुत्ति] इह यद्यपि चमरबलिसारमहियमित्यादिवचनादसुरादयो महर्द्धिकाः पलिओवममुक्कोसं वंतरियाणं ति " वचनाच्च व्यन्तरा अल्पर्द्धिकास्तथाप्यत एव वचनादवसीयते सन्ति व्यन्तरेभ्यः सकाशादल्पर्द्धयो भवनपतयः केचनेति असंज्ञी देवेषूत्पद्यत इत्युक्तम् । भ० १ श० २ उ० । उपसंपादने, " उववातो उवसंपज्जणं " नि० चू० ५ उ० ।

उववायकप्प-उपपातकल्प-पुं० पार्श्वस्थादिभिः सहासित्वा संविग्नविहारोपपतने, । पं० भा० ।

उववादकप्पमहुणा, वोच्छामि जहक्कमेणं तु ।
पंचहिँ ठाणेहिँ विवड्डि-ऊण संविग्गमइया जुत्तो ॥
अब्भुज्जतं विहारं, उवेइ उववायकप्पो सो ।
उववयणं उववाओ, पासत्थादी य पंचठाणा तु ॥
तेसु विविहं तु वड्डित्थो, वियड्डिओ होति णायव्वो ।
संवेगसमावण्णो, पच्छा उ उवेति उज्जयविहारं ॥
एस उववायकप्पो ॥ पं० भा० ।

पंचहिं ठाणेहिं सो पुण पासत्थाइहिं अत्थिऊण वियड्डिऊण विविधमनेकप्रकारं वा वर्तितुमित्यर्थः । सिद्धासंवेगजुत्तो संवेगसमासं एइ संवेगविहारं उपपतति उपसंपद्यते तत उपपातकल्पो भवति । एस उववायकप्पो । पं० चू० ॥

उववायकारि (ण्) उपपातकारिन्-पुं० आचार्यनिर्देशकारिणि, " उववायकारी य हरीमणे य " सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

उववायगइ-उपपातगति-स्त्री० उपपातरूपा उपपाताय वा गतिः। उत्पादाय गमने, उपपातरूपायां गतौ च । उपपादगतिस्तु त्रिविधा क्षेत्रभवनोभवभेदात् तत्र नारकतिर्यङ्नरदेवसिद्धानां यत्स्वक्षेत्रे उपपातायोत्पादाय गमनं सा क्षेत्रोपपातगतिः या च नारकादीनामेव स्वभवे उपपातरूपा गतिः सा भवोपपातगतिः यच्च सिद्धपुद्गलयोर्गमनमात्रं सा नोभवोपपातगतिः विहायोगतिस्तु स्पृशद्गत्यादिकानेकविधेति । भ० ८ श० ७ उ० ।

उववायय-उपपातज- पुं० उपपाताज्जात उपपातजः । देवनारकेषु, आचा० १ श्रु० १ अ० ॥

उपपातक- न० पातकसदृशे ततो न्यूनफलके पापभेदे, वाच०

उववायसज्जा-उपपातसज्जा- स्त्री० देवसज्जाभेदे, यस्यां समुत्पद्यते देवः । स्था० ५ ठा० । वर्णकोऽन्यत्र रा० । अत्र हीरविजयसूरिं प्रति पण्डितगुणविजयकृतप्रश्नो यथा सौधर्मादिषु देवानां प्रत्येकमुपपातशय्या विद्यते एकस्यामनेकेषामुपपातो वेति ? अत्र महर्द्धिकसुराणामुपपातशय्या भिन्ना अन्येषां तु अभिन्नापीति संभाव्यते तथाविधव्यक्ताक्षराणां दर्शनस्यास्मरणादिति । ही० ।

उववास-उपवास- पुं० उप वस् घञ् । उपेति सह उपावृत्तदोषस्य सतो गुणैराहारपरिहारादिरूपैर्यो वास उपवासः ।" उपावृत्तस्य दोषेभ्यः, सम्यग्वासो गुणैः सह । उपवासः स विज्ञेयो, न शरीरविशोषणमिति " ध० २ अधि० । आहारशरीरसत्कारादित्यागे, स० । औ० । अभक्तार्थकरणे, स्था० ३ ठा० (पोसहोववासशब्दे विधिर्वक्ष्यते) तपनोदयमारभ्य यामाष्टकमभोजनम् । उपवासः स विज्ञेयः प्रायश्चित्ते विधीयते । १ । उपावृत्तस्य पापेभ्यो, यश्च वासो गुणैः सह । उपवासः स विज्ञेयः सर्वभोगविवर्जितः । १ । " वाच० । तथा श्राद्धानामुपवासे तन्दुलधावनं रक्षानीरं च कल्पते न वेति प्रश्ने तेषामुपवासे प्रासुकमुष्णोदकं चेति पानीयद्वयं कल्पते तन्दुलधावनं रक्षाजलं प्रासुकं भवति परं श्राद्धानां न कल्पत इति (११६ प्र०) तथैकोनत्रिंशदधिकद्विशतषष्ठोच्चारकृतोऽस्ति परं शक्त्यभावे एकान्तरोपवासैः कर्तुं शुद्ध्यति न वेति प्रश्ने एकोनत्रिंशदधिकद्विशतं षष्ठा उच्चारितास्तदा षष्ठा एव कर्तुं शुद्ध्यन्ति (१२८ प्र०) तथाश्विनचैत्रास्वाध्यायमध्ये उपवासः क्रियते स विंशतिस्थानकमध्ये प्रक्षेप्तुं शुद्ध्यति न वेति प्रश्ने आश्विनचैत्रास्वाध्यायमध्ये सप्तम्यादौ दिनत्रयकृतोपवासो विंशतिस्थानकमध्ये प्रक्षेप्तुं न शुद्ध्यति (१२९ प्र०) श्रीविजयसेनसूरिसत्कपं० कनकविजयगणिकृतप्रश्नास्तदुत्तराणि च यथा षष्ठादौ प्रत्याख्याने भक्तद्वयकथनाधिक्यस्य किं प्रयोजनमिति प्रश्ने सामान्यतः सतां द्विवारं भोजनं लोकप्रथितमित्युपवासद्वयेन भोजनचतुष्टयं भोजनद्वयं च पारणोत्तरपारणयोरेकाशनपूर्वकं कार्यत इति (३९९ प्र०) तथा रोहिण्युपवासपञ्चम्याद्युपवासश्च कारणे सति मिलन्त्यां तिथौ क्रियते न वेति प्रश्ने कारणे सति मिलन्त्यां तिथौ क्रियते कार्यते चेति प्रवृत्तिर्दृश्यते कारणं विना तु यथाप्रमाणमेवेति बोध्यम् सं०प्र०३ उल्ला०४७७ प्र० । तथा जालोरसंघकृतप्रश्नोत्तराणि यथा त्रिविधोपवासप्रत्याख्यानमन्यप्रत्याख्यानं च कया रीत्या पार्यते इति प्रश्ने उपवासकीधूं त्रिविहारनमुक्कारसी पोरसी पुरिमड्ढादिक कीधूं पाणहारपच्चक्खाण फासिउं १ पालिउं २ सोहिउं ३ तीरिउं ४ किट्टिउं ५ आराहिउं ६ जं च नाराहिअं तस्स मिच्छामि दुक्कडं इत्युपवासप्रत्याख्यानपारणरीतिर्वृद्धपरंपरया ज्ञातव्या । अधुना केचन भाक्ता उपवासकीधूं त्रिविहार नमुक्कार सि पुरिमड्ढादिक कीधो चउव्विहारपच्चक्खाणफासिउं १ पालिउं २ सोहिउं ३ तीरिउं ४ किट्टिउं ५ आराहिउं ६ जं च नाराहिअं तस्स मिच्छामि दुक्कडं इत्यमपि पारयन्तो दृश्यन्ते तथा नमुक्कारसि पोरसि पुरमड्ढादिक कीधुं चउव्विहार एकासणु बिआसणु कीधूं त्रिविहार चउव्विहार पच्चक्खाण फासिउं १ पालिउं २ सोहिउं ३ तीरिउं ४ किट्टिउं ५ आराहिअं ६ जं च नाराहिअं तस्स मिच्छामि दुक्कडं इत्यन्यप्रत्याख्यानपारणरीतिरपि परंपरयैव ज्ञेयेति १ से० प्र० ४ उल्ला० १४४ प्र० ।

उववासतव-उपवासतपस्-न० आहारपरित्यागरूपे तपोभेदे, तथा प्रथमदिने एक उपवासः कृतो द्वितीयदिने द्वितीय इत्थं कृतं षष्ठतप आलोचनामध्ये समायाति नवा तथा प्रहरानन्तरं प्रत्याख्यात उपवास आलोचनामध्ये आयाति न वेति प्रश्ने यद्यपि संलग्नतया प्रत्याख्यातं षष्ठादितपस्तथा कालवेलाप्रत्याख्यातमुपवासतपश्च बहुफलदायि भवति तथापि विशाकलितभयोच्चारितं षष्ठादितपः कालातिक्रमेणोच्चारितमुपवासतपश्च सर्वथा लोचनामध्ये नायातीत्येकान्तो ज्ञातो नास्तीति से० प्र० ३ उल्ला० १३८ प्र० ।

उवविट्ठ-उपविष्ट- त्रि० उप-विश-क्त । सामीप्येन स्थिते, । जी० ३ प्रति० । सन्निषण्णे, ज्ञा० ३ अ० । " तेता उवविट्ठं समाणं सागरचंदो नारयं पुच्छइ " आ० म० प्र० ।

उवविणिग्गय-उपविनिर्गत- त्रि० निरन्तरविनिर्गते, औ०२प्र०।

उववूह (हा)-उपबृंह (हा) हण- न० दर्शनादिगुणवतां प्रशंसायाम, उत्त० २८ अ०। समानधार्मिकाणां क्षमणा वैयावृत्यादिसद्गुणप्रशंसनेन तत्सद्गुणवृद्धिकरणे, प्रव० ६ द्वा०॥

अत्रोदाहरणम्॥

"उववूहणाए उदाहरणं जहा। रायगिहे णयरे सेणिओ राया इओ य सक्को देवराया संमत्तं पसंसति। इओ य एगो देवो असद्दहंतो णयरबाहिं सेणियस्स निग्गयस्स चेल्लगरूवं काऊण अणिमिसे गिएहति। ताहे तं निवारेति पुणरवि अण्णत्थ संजती गुव्विणी पुरतो ठिता ताहे अपवरगं ठविऊण जहा ण को वि जाणइ तहा सूइगिहं कारवेति जं किंचि सूतिकामंतसयमेव करेइ ततो सो देवो संजइरूवं परिच्चयऊण दिव्वं देवरूवं दरिसेति भणति य सेणियसुलद्धं ते जम्मजीवियस्स फलं जेण ते पवयणतुवरि रिसीभत्ती भवतित्ति उववूहेऊण गओ एवं उववूहेतव्वा सोहम्मिया द० ३ अ०। व्य०॥ मिथ्योपबृंहणायां क्षपणं प्रशस्तोपबृंहाद्यकरणे आचामाम्लम्। जीत०।

उववूहण-उपबृंहण-न० अनुमोदने, "गितिसाहणमुववूहणह रिसाइपलोयणं चेव" इह प्राकृतत्वेन निरनुस्वारः पाठः। ततश्चोपबृंहणं तस्यानुमोदनं कार्यं यथा धन्यस्त्वं धर्माधिकारी इत्यादि। पंचा० २ विव०। प्रशंसायाम, "उववूहणात्ति वा पसंसंति वा सद्धाजणणत्ति वा सलाघणत्ति वा एगट्ठा" नि० चू० १ उ०(एतद्वक्तव्यता उववूहणविणय शब्दे)

उववूहण (णा) विणय-उपबृंहणविनय-पुं० उपबृंहणं नाम समानसाधार्मिकाणां क्षपणावैयावृत्यादिसद्गुणप्रशंसनेन तद्वृद्धिकरणं स एव विनयः। दर्शनाचारविनये, व्य० १ उ०। इदाणीं उववूहणत्ति दारं उववूहणत्ति वा पसंसंति वा सद्धाजणणंति वा सलाघणंति वा एगट्ठा॥

खमणे वेयावच्चे, विणए सज्झायमादिसंजुत्तं।
जो तं पसंसए य, स होति उववूहणाविणओ॥५७॥

(खमणित्ति) चउत्थं छट्ठं अट्ठमं दसमं दुवालसमं अद्धमासखमणं मास दुमास तिमास चउमास पंचमास छम्मासा सव्वंपि इत्तरं आवकहियं वा [वेयावच्चेत्ति] आयरियवेयावच्चे उवज्झायवेयावच्चे तवस्सिवेयावच्चे गिलाणवेयावच्चे कुलगणवेयावच्चे संघवाआइ असुहुसेहे वेयावच्चे दसम एयासिं पुरिसाणं कमेणं वेयावच्चं करेति। असणादिणा वत्थाइणा पीढफलगसेज्जा संथारगओ सह भेसज्जेण य [विणएत्ति] णाणविणओ दंसणविणओ चरित्तविणओ मणविणओ वयणविणओ कायविणओ उवयारियविणओ य। एत्तविणओ स वित्थरो भाणियव्वो। जहा दसवेयालिए [सज्झाएत्ति] वायणा पुच्छणा परियट्टणा अणुपेहा धम्मकहा य पंचविहो सज्झाओ। आदिसद्दाओ जे अण्णे तवभेयाओ मोयरिया ते घिप्पंति तहा खमादओ य गुणा जुत्तंति एतेहिं जहाभिहिएहिं गुणेहिं उववेयाजुत्तो भणति जो इति अणिद्दिट्ठसरूवो साहू घेप्पइ तं सहेण खमणादिगुणोववेयस्स गहणं पसंसते श्लाघयतीत्यर्थः [पसंसत्ति] पसंसाए णिद्देसो होइ भवति किं उववूहणाविणओ णिद्देसवयणमिसओ कम्मावणयणकारमित्यर्थः। उववूहणत्ति दारं गयं॥ नि० चू० १ उ०।

उववूहणिया-उपबृंहणीया- स्त्री० उपबृंहयतीति उपबृंहणीया उपबृंहणकर्त्र्याम, नि० चू० ७ उ०। (एतद्वक्तव्यता रायपिंड शब्दे)

उववूहणियापट्टय-उपबृंहणीयापट्टक- पुं० अमलो राज्ञः उपयोज्ये पट्टके, अमंतस्स रण्णो उववूहणियापट्टओत्ति वुत्तं भवति। नि० चू० ६ उ०।

उववूहिय-उपबृंहित-न० संमूर्च्छिते, अनुमते, आव० ३ अ०।

उववेय-उपपेत-त्रि० उप-अप-इत। इत्येतस्य च स्थाने निरुक्तिवशादुपपेतं भवतीति। युक्ते, भ०२श०१उ०। शकन्ध्वादिदर्शनाद्वकारलोपः। औ०। पृषोदरादय इत्यकारलोपः। रा०।

उपेत- त्रि० उप इत प्राकृतत्वाद् वर्णागमः स्था० ६ ठा०। नि०। ज्ञा०। युक्ते, स०। "पुप्फफलोववेयए वणसंडेणं" नि० चू० १ उ० 'परमहरिसोववेय' रा०। आ०म० प्र०। औ०। नि०चू०। उत्त०। "सरिसलावण्णरूवगुणोववेयाणं" रा०।

उपवेद- पुं० उपमितः वेदेन, वेदसदृशे आयुर्वेदादौ, वाच०।

उववेसण-उपवेशन- न० उप-विश् भावे ल्युट्। आसने, निवेशने, स्थापने च। वाच०। अधिकरणे ल्युट्। चर्मभेदे, यत्रार्शोरोगादिभिः कारणैरुपविश्यते। बृ० ३ उ०।

उवव्वय-उपव्रत-न० नियमे, हा०। नियमास्तु। अक्रोधो गुरुशुश्रूषा, शौचमाहारलाघवम्। अप्रमादश्चेति। द्वा० ८ द्वा०।

उवसंकमंत-उवसंक्रामत्- त्रि० सामीप्येन गच्छति, द० ५ अ०। भिक्षार्थं वासाय वा गच्छति, आचा० १ श्रु० ७ अ० ३ उ०।

उवसंकमित्ता-उपसंक्रम्य- अव्य०। उप सम् ल्यप्। उपगत्येत्यर्थे, "समणं भगवं महावीरं उवसंकमंति उवसंकमित्ता वंदंति" स्था०३ ठा०। उवसंकमित्ता चारं चरंति। सू० प्र० १ पाहु०॥

उवसंकमित्तु-उपसंक्रम्य-अव्य०उप सम् क्रम् ल्यप्। आसन्नीभूयेत्यर्थे, आचा० २ श्रु०। आसन्नतामेत्येत्यर्थे, "उवसंकमित्तुगाहावतीकूया आउसंतो समणा" आचा० १ श्रु० ७ अ० ३ उ०।

उवसंखा-उपसङ्ख्या- स्त्री० उप सामीप्येन सङ्ख्या उपसंख्या सम्यग्यथावस्थितार्थपरिज्ञाने, "अणोवसंखा इति ते उदाहु अ-हे समभासइ अम्ह एवं"। सूत्र०२ श्रु० १६ अ०।

उवसंत-उपशान्त-पुं० उप शम् क्त०। उपशमप्रधाने, सूत्र० २ श्रु० २ अ०। क्रोधादिजयादुपशान्ते, शीतीभूते, सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। क्रोधादिप्रमादरहिते, प्रव०२ द्वा०। क्रोधविपाकावगमेन (पं० व०) मनोवाक्कायविकाररहिते, ध० ३ अधि०। औ०। कषायानुदयादिन्द्रियनोइन्द्रियोपशमाद्वा (आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ०) उपशमयुक्ते, ज्ञ० १ श० ६ उ०। विष्कम्भितोदयमुपनीतमिथ्यात्वभावे च। शेषमिथ्यात्वमिश्रपुञ्जावाश्रित्य विष्कम्भितोदयं शुद्धपुञ्जमाश्रित्य पुनरपनीतमिथ्यात्वभावे, विशे०। आ०। सर्वथाऽभावमापन्ने, प्रज्ञा० १९ पद। उपशान्तमोहगुणस्थानके, पं० सं०। पञ्चदशे ऐरवतजे तीर्थकरे, प्रव० ७ द्वा०। तिचू०। नारकादीनां विशिष्टोद्गमाभावात् क्रोधभेदे, स्था० ४ ठा०।

उवसंतकसायवीयरागछउमत्थ-उपशान्तकषायवीतरागच्छद्मस्थ-पुं० छाद्यते केवलज्ञानं केवलदर्शनं चात्मनोऽनेनेति छद्म ज्ञानावरणदर्शनावरणमोहनीयान्तरायकर्मोदयः। सति तस्मिन् केवलस्यानुत्पादात् तदपगमानन्तरं चोत्पादात् छद्मनि तिष्ठतीति छद्मस्थः स च सरागोऽपि भवतीत्यतस्तद्व्यवच्छेदार्थं वीतरागग्रहणं वीतो विगतो रागो मायालोभकषायोदयरूपो यस्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स वीतरागः स चासौ छद्मस्थश्च वीतरागच्छद्मस्थः स च क्षीणकषायोऽपि भवति तस्यापि यथोक्तरागापगमात् अतस्तद्व्यवच्छेदार्थमुपशान्तकषायग्रहणं कषशिषेत्यादिदण्डकधातुर्हि सार्थः कषन्ति कष्यन्ति च परस्परमस्मिन् प्राणिन इति कषः संसारः कषमयन्ते गच्छन्त्येभिर्जन्तव इति कषायाः क्रोधादयः उपशान्ता उपशमिता विद्यमाना एव संक्रमणोद्वर्त्तनाऽपवर्त्तनादिकरणोदयायोग्यत्वेन व्यवस्थापिताः कषाया येन स उपशान्तकषायः । स चासौ वीतरागच्छद्मस्थः । प्रव० २२४ द्वा० । एकादशगुणस्थानोपगते, पं० सं० १ द्वा० । दर्श० ॥

उवसंतकसायवीयरागच्छउमत्थगुणट्ठाण–उपशान्तकषायवीतरागच्छद्मस्थगुणस्थान–न० एकादशे गुणस्थाने, तत्राविरतसम्यग्दृष्टेः प्रभृत्यनन्तानुबन्धिनः कषाया उपशान्ताः संभवन्ति उपशमश्रेण्यारम्भे ह्यनन्तानुबन्धिकषाया न विरतो देशविरतः प्रमत्तोऽप्रमत्तो वा स तूपशमय्य दर्शनमोहत्रितयमुपशमयति तदुपशमानन्तरं प्रमत्ताप्रमत्तगुणस्थानपरिवृत्तिशतानि कृत्वा ततोऽपूर्वकरणगुणस्थानोत्तरकालमनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थानोत्तरकालमनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थाने चारित्रमोहनीयस्य प्रथमं नपुंसकवेदमुपशमयति । ततः स्त्रीवेदक्रमो हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सारूपं युगपत्षट्कं ततः पुरुषवेदं ततो युगपदप्रत्याख्यानावरणप्रत्याख्यानावरणौ क्रोधौ ततः संज्वलनक्रोधं ततो युगपद् द्वितीयतृतीयौ मानौ ततः संज्वलनमानं ततो युगपद् द्वितीयतृतीयमाये ततः संज्वलनमायां ततो युगपद् द्वितीयतृतीयौ लोभौ ततः सूक्ष्मसंपरायगुणस्थाने संज्वलनलोभमुपशमयतीत्युपशमश्रेणिः । स्थापना चेयम् । विस्तरतस्तु उपशमश्रेणिः स्वोपज्ञशतकटीकायां व्याख्याता ततः परिभावनीया । तदेवमन्येष्वपि गुणस्थानकेषु क्वापि कियतामपि कषायाणामुपशान्तत्वसंभवात् उपशान्तकषायव्यपदेशः संभवत्यतस्तद्व्यवच्छेदार्थं वीतरागग्रहणम् । उपशान्तकषायवीतराग इत्येतावतापीष्टसिद्धौ छद्मस्थग्रहणं स्वरूपकथनार्थं व्यवच्छेद्याभावात् न ह्यच्छद्मस्थ उपशान्तकषायवीतरागः संभवति यस्य छद्मस्थग्रहणेन व्यवच्छेदः स्यादिति । अस्मिंश्च गुणस्थानेऽष्टाविंशतिरपि मोहनीयप्रकृतय उपशान्ता ज्ञातव्याः उपशान्तकषायश्च जघन्येनैकं समयं भवति उत्कर्षेण त्वन्तर्मुहूर्त्तं कालं यावत् तत ऊर्ध्वं नियमादसौ प्रतिपतति । प्रतिपातश्च द्वेधा भवक्षयेण अद्धाक्षयेण च । तत्र भवक्षयो म्रियमाणस्य अद्धाक्षय उपशान्ताद्धायां समाप्तायां अद्धाक्षयेण च प्रतिपतितं यथैवारूढस्तथैव प्रतिपतति यत्र २ बन्धोदयोदीरणा व्यवच्छिन्नास्तत्र २ प्रतिपतता सता ते आरभ्यन्त इति यावत् । प्रतिपतंश्च तावत्प्रतिपतति यावत्प्रमत्तगुणस्थानं कश्चित्तु ततोऽप्यधस्तनगुणस्थानकद्विकं याति कोऽपि सासादनभावमपि । यः पुनर्भवक्षयेण प्रतिपतति स प्रथमसमय एव सर्वाण्यपि बन्धनादीनि करणानि प्रवर्त्तयतीति विशेषः । कर्म० । इह यदि बद्धायुरुपशमश्रेणिं प्रतिपन्नः श्रेणिमध्यगतगुणस्थानवर्त्ती उपशान्तमोहो वा भूत्वा कालं करोतीति तदा नियमेनानुत्तरसुरेषूत्पद्यते श्रेणिप्रतिपतितस्य तु कालकरणेऽनियमः नानामतित्वेन नानास्थानगमनात् । अबद्धायुस्तां प्रतिपन्नः तदन्तर्मुहूर्त्तमुपशान्तमोहो भूत्वा नियमतः पुनरप्युदितकषायः कार्त्स्न्येन न श्रेणिप्रतिलोममावर्त्तेत । उक्तं च "बद्धाऊ पडिवन्नो, सेढिगतो वा पसंतमोहो वा । जइ कुणइ कोइ कालं, वच्चइ तो णुत्तरसुरेसु ॥ अनिबद्धाऊ होउ पसंतमोहो मुहुत्तमेत्तद्धं । उदितकसायो नियमा, नियत्तए सेढिपडिलोमं " आ०म०प्र० ॥

उवसंतकसायवीयरागदंसणारिय–उपशान्तकषायवीतरागदर्शनार्य–पुं० वीतरागदर्शनार्यभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

उवसंतखीणमोह– उपशान्तक्षीणमोह– पुं० उपशान्तः सर्वथानुदयावस्थः क्षीणश्च निर्जीर्णो मोहो मोहनीयं कर्म येषां ते तथा । उपशमक्षयावस्थमोहनीयकर्मके, पंचा० १६ विव० ।

उवसंतजीवि (ण्) उपशान्तजीविन्–पुं० उपशान्तोऽन्तर्वृत्त्या जीवतीत्येवं शील उपशान्तजीवी । अन्तर्वृत्त्यैव जीवामीत्यभिग्रहविशेषधारके, भ० ६ श० ३३ उ० ॥

उवसंतमोह-उपशान्तमोह-पुं० उपशान्तः सर्वथाऽनुदयावस्थो मोहो मोहनीयं कर्म यस्य स उपशान्तमोहः । उपशमवीतरागे, अयं च एकादशगुणस्थानमारूढः उपशमश्रेणिसमाप्तावन्तर्मुहूर्तं भवति ततः प्रच्यवते स० ॥ "उवसंतो मोहो नाम जस्स अट्ठावीस तिविहंपि मोहणिज्जकम्ममुवसंतं अणुमेत्तमवि ण वेदेति । सो य देसपरिवातेन वा नियमा पडिवतित्ति" ॥ आचू०४ अ० । अनुत्कटवेदमोहनीये, "अणुत्तरोववाइया उवसंतमोहा (उवसंतमोहत्ति) अनुत्कटवेदमोहनीयायाः परिचारणायाः कथञ्चिदप्यभावात् न तु सर्वथोपशान्तमोहाः उपशमश्रेणेस्तेषामभावात् ॥ भ० ५ श० ४ उ० । उपशान्त उपशमनीयो विद्यमान एव संक्रमणोद्वर्त्तनादिकरणायोग्यत्वेन व्यवस्थापितो मोहो मोहनीयं कर्म येन स उपशान्तमोहः । प्रव०९३ द्वा० ॥ उपशामकनिर्ग्रन्थे, ॥ आव० ४ अ० ।

उवसंतरय–उपशान्तरजस्– न० प्रशान्तरजसि, "उवसंतरयं करेह" रा० । जी० ॥ उपशान्तमपगतं रजः कालुष्यापादकं यस्य स तथा । रजोरहिते, "समंसि जोमे उवसंतरए सक्खमाणे से चिठति" ॥ आचा० १ श्रु० ५ अ ५ उ० ।

उवसंताहिगरणउल्लाससंजणणी-उपशान्ताधिकरणोल्लाससञ्जननी-स्त्री० उपशान्तस्योपशमं नीतस्याधिकरणस्य कलहस्य य उल्लासः प्रवर्तनं तस्य सञ्जननी समुत्पादयित्रीत्यर्थः । षड्वामप्रशस्तायां भाषायाम्, प्रव० २३३ द्वा० ।

उवसंति-उपशान्ति-स्त्री० उपशमे,आचा०१अ०। निवृत्तौ,वाच० ॥

उवसंधारिय–उपसंधारित–त्रि० संकलिते, " एत्तबुद्धीए तेण भणियं जति यतबुद्धीए तओ तेण उवसंधारियं सब्भावं च से कहियं " नि० चू० १ उ० ।

उवसंपज्जंत–उपसंपद्यमान–त्रि० उपसंपदं गृह्णति, व्य० १ उ० ।

उपसंपज्जसेणियापरिकम्म(ण्)–उपसंपच्छ्रेणिकापरिकर्मन्–न० दृष्टिवादान्तर्गतपरिकर्मभेदे, स० ॥

उवसंपज्जिउकाम-उवसंपत्तुकाम-त्रि०उपसंपदं जिघृक्षौ,वृ०१उ०॥

उवसंपज्जित्ता–उपसंपद्य–अव्य० उप-सम-पद्-ल्यप् । सामस्त्येनाङ्गीकृत्येत्यर्थे, ध० ३ अधि० । आश्रित्येत्यर्थे, स्था० ८ ठा० सूत्र० । उपा० । पा० । " उवसंपज्जित्ताणं विहरामि " उपसंपन्नो भूत्वा विहरामि वर्त्ते भ० ३ श० २ उ० ।

उवसंपन्न–उपसंपन्न–त्रि० उप-सम-पद्-क्त-प्राप्ते, मृते च । हेम० सामीप्येन प्रतिपन्ने, आव० ६ अ० । " उवसंपन्नो जं कारणं तु तं कारणं अपूरिंतो " ध० ३ अधि० ।

उवसंपया–उपसम्पद्–स्त्री० उप सामीप्येन संपादनं गमनमुप-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्पद् । इयन्तं कालं भवदन्तिके आसितव्यमित्येवंरूपे (ग० २ अधि०) ज्ञानाद्यर्थमुर्वन्तराश्रयणे, ध० ३ अधि० । पंचा० । भ० आ० म० द्वि० । त्वदीयोऽहमित्येवं श्रुताद्यर्थमन्यसत्ताभ्युपगमे, अनु० । सामीप्ये, प्रशंसायाम, अस्तित्वे, निष्पत्तौ, प्रतिपत्तौ च । पं० चू० "आयणे उवसंपया" अर्थने ज्ञानाद्यर्थं परस्य आचार्यस्य पार्श्वे अवस्थाय ज्ञानादिगुणार्जनमुपसंपदुच्यते । तस्याचार्यस्य समीपे अवस्थानाय स्वामिन् इयन्तं कालं भवतां समीपे मया स्थातव्यं गच्छान्तरे आचार्यान्तरे ज्ञानाद्यर्थमिति विज्ञप्तिपूर्वकं ज्ञानाद्यर्जनरूपा उपसंपत्सामाचारीति भावः ॥ उत्त० २६ अ० ।

(१) उपसंपदो भेदास्तत्र चारित्रगृहस्थोपसंपत्प्रतिपादनं च ।
(२) आचार्यादौ मृते अन्यत्रोपसंपत् । तत्र हानिवृद्ध्यादिपरीक्षणेन कर्तव्याकर्तव्यनिरूपणम् ।
(३) भिक्षोर्गणादपक्रम्य अन्यं गणमुपसंपद्य विहारः ।
(४) शैक्षेण सपरिच्छन्नेन रत्नाधिकस्योपसंपद्दातव्या ।
(५) सांभोगिकासांभोगिकयोः सह मिलितयोराचार्ययोः सामाचारी तत्रावग्रहश्च ।
(६) पार्श्वस्थादिविहारप्रतिमामुपसंपद्य विहारे कर्तव्यताविधिः ।
(७) भिक्षोर्गणादपक्रम्य अन्यं गणमुपसंपद्य विहरणे प्रकारान्तरप्रतिपादनम् ।
(८) गणावच्छेदकस्यान्यं गणमुपसंपद्य विहारः ।
(९) कुगुरौ सत्यन्यत्रोपसंपत् ।

(१) उपसंपद्भेदा यथा—

उपसम्पत् द्विधा साधुविषया गृहस्थविषया च ज्ञानादिहेतोर्यदपरं गणं गत्वोपसम्पद्यते सा साधुविषया । यत्पुनरवस्थाननिमित्तं गृहिणामनुज्ञापनं सा गृहस्थविषया सू० १ उ० । तत्रास्तां गृहस्थोपसंपत् साधूपसंपत् प्रोच्यते ।

तिविहा उवसंपया पन्नत्ता तंजहा आयरियत्ताए उवज्झायत्ताए गणित्ताए ॥

उपसंपत् ज्ञानाद्यर्थं भवदीयोऽहमित्यभ्युपगमः । तथा हि कश्चित् स्वाचार्यादिसंदिष्टः सम्यक् श्रुतग्रन्थानां दर्शनप्रभावकशास्त्राणां वा सूत्रार्थयोर्ग्रहणं स्थिरीकरणं विस्मृतसंधानार्थं तथा चारित्रविशेषभूताय वैयावृत्याय क्षमणाय वा संदिष्टमाचार्यान्तरं यदुपसंपद्यते । स्था० ३ ठा० । ध० । ज्ञानाद्युपसंपत्त्रिविधा ज्ञानादिभेदात्तथा चाह ।

उवसंपया य तिविहा, नाणे तह दंसणे चरित्ते य ।
दंसणनाणे तिविहा, दुविहा य चरित्तअट्ठाए ॥

उपसंपत् त्रिविधा तद्यथा ज्ञाने ज्ञानविषया एवं दर्शनविषया चारित्रविषया च । तत्र दर्शनज्ञानयोः संबन्धिनी त्रिविधा द्विविधा च चारित्रार्थायेति । तत्र यदुक्तं दर्शनज्ञानयोस्त्रिविधेति तत्प्रतिपादनार्थमाह ।

वत्तणा संधणा चेव, गहणे सुत्तत्थ तदुभए ।
वेयावच्चे खमणे, काले आवकहाई य ॥

वर्तना संधना चैव ग्रहणमित्येतत्त्रितयं (सुत्तत्थतदुभयत्ति) सूत्रार्थोभयविषयमवगन्तव्यमित्येतदर्थमुपसंपद्यते । तत्र वर्तना प्राग्गृहीतस्यैव सूत्रादेरस्थिरस्य गुणनमिति । सन्धना तस्यैव प्रदेशान्तरं विस्मृतस्यामलना योजना घटनेत्येकोऽर्थः । ग्रहणं पुनस्तस्यैव तत्प्रथमतया आदानम् एतत्त्रितयं सूत्रार्थोभयविषयं द्रष्टव्यमेवं ज्ञाने नव भेदा दर्शनप्रभावनीयशास्त्रविषया एत एव भेदा द्रष्टव्याः । अत्र च संदिष्टः संदिष्टस्यैवोपसंपद्यते इत्यादि चतुर्भङ्गिका । तत्र प्रथमो भङ्गः शुद्धः शेषास्त्वशुद्धाः । द्विविधा चारित्रार्थायेति यदुक्तं तदुपदर्शनायाह (वेयावच्चे इत्यादि) चारित्रोपसंपत् वैयावृत्यविषया क्षपणाविषया च । इयं कालतो यावत्कथिका च भवति चशब्दादित्वरा च । एतदुक्तं भवति चारित्रार्थमाचार्याय कश्चिद्वैयावृत्यकरत्वं प्रतिपद्यते स च काल इत्वरो यावत् काथिकश्च क्षपकोऽपि उपसंपद्यते द्विविधा इत्वरो यावत्कथिकश्चेति गाथासंक्षेपार्थः । सांप्रतमयमेवार्थो विशेषतः प्रतिपाद्यते । तत्रापि संदिष्टेन संदिष्टस्योपसंपद्दातव्येति मौलोऽयं गुणः । एतत्प्रभवत्वादुपसंपद इत्यतोऽमुमेवार्थमभिधित्सुराह ।

संदिट्ठो संदिट्ठस्स, चेव संपज्जए उ एमाई ।
चउभंगो एत्थं पुण, पढमो भंगो हवइ सुद्धो ॥

संदिष्टो गुरुणा अभिहितः संदिष्टस्यैवाचार्यस्य यथा अमुकस्य संपद्यस्व उपसंपदं प्रयच्छेत्यर्थः । एवमादिश्चतुर्भङ्गी तद्यथा संदिष्टस्य एष भङ्ग उक्तः । एवं संदिष्टोऽसंदिष्टस्यान्यस्याचार्यस्येति द्वितीयः । असंदिष्टः संदिष्टस्य न तावदिदानीं गन्तव्यं त्वयाऽमुकस्येति तृतीयः । असंदिष्टोऽसंदिष्टस्य न तावदिदानीं न वाऽमुकस्येति चतुर्थः । अत्र पुनः प्रथमो भङ्गो भवति शुद्धः पुनःशब्दस्य विशेषणार्थत्वात् । द्वितीयपदेनाव्यवच्छिन्नस्ति निमित्तमन्येऽपि द्रष्टव्याः ।

संप्रति वर्तनादिस्वरूपप्रतिपादनार्थमाह ।

अथिरस्स पुव्वगहियस्स, वत्तणा जं इहं थिरीकरणं ।
तस्सेव पएसंतरं, नट्ठस्सऽणुसंधणा घडणा ॥
गहणं तप्पढमतया, सुत्ते अत्थे य तदुभए चेव ।
अत्थगहणम्मि पायं, एस विही होइ नायव्वो ॥

पूर्वगृहीतस्य सूत्रादेरस्थिरस्य यदिह स्थिरीकरणं सा वर्तना तस्यैव सूत्रादेः प्रदेशान्तरनष्टस्य या घटना मीलनं साऽनुसंधना तत्प्रथमतया च सूत्रे षष्ठीसप्तम्योरर्थं प्रत्यभेदात् । सूत्रस्य एवमर्थस्य सूत्रार्थोभयस्य यदादानमिति शेषः । तद्ग्रहणमित्यादि । अर्थग्रहणे प्रायो बाहुल्येन एष वक्ष्यमाणलक्षणो विधिर्भवति ज्ञातव्यः । प्रायोग्रहणं सूत्रग्रहणेऽपि कश्चिद्भवत्येव धर्मार्जनादिरिति ज्ञापनार्थम् । (आ० म०) स चैवं योज्यते कर्तव्यमेव भवति कृतिकर्म वन्दनमिति एवं तावत् ज्ञानोपसंपद्विधिरुक्तो दर्शनोपसंपद्विधिरप्यनेनैवोक्तो द्रष्टव्यस्तुल्ययोगक्षेमत्वात् । तथा हि दर्शनप्रभावकशास्त्रपरिज्ञानार्थमेव दर्शनोपसंपदिति । संप्रति चारित्रोपसंपद्विधिमभिधित्सुराह ॥

दुविहा उ चरित्तम्मि, वेयावच्चे तहेव खमणे य ।
नियगच्छा अण्णम्मि उ, सीयणदोसाइणा होइ ॥

द्विविधा चारित्रविषया उपसंपत् तद्यथा वैयावृत्यविषया क्षपणविषया च । किमत्रोपसंपदा कार्यं स्वगच्छ एव तत् कस्मान्न क्रियते निजगच्छादन्यस्मिन् गमनं सीदनदोषादिना भवति आदिशब्दादन्यनावादिपरिग्रहः ।

इत्तरिया य विभासा, वेयावच्चे तहेव खमणे य ।
अविगिट्ठविगिट्ठम्मि य, गणिणा गच्छस्स पुच्छाए ॥

इह चारित्रार्थमाचार्यस्य कश्चिद् वैयावृत्यकरत्वं प्रतिपद्यते स च काल इत्वरो यावत् कथिकश्च भवति । आचार्यस्यापि वैयावृत्यकरोऽस्ति वा न वा । तत्रायं विधिर्यदि नास्ति ततोऽसावित्यत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एव । अथास्ति स द्विविध इत्वरो वा स्यात् यावत् कथिको वा आगन्तुकोऽप्येवं द्विभेद एव । तत्र यदि द्वावपि यावत्कथिकौ ततो यो लब्धिमान् स कार्यते इतरस्तूपाध्यायादिभ्यो दीयते । अथ द्वावपि लब्धियुक्तौ ततो वास्तव्य एव कार्यते इतरस्तूपाध्यायादिभ्यो दीयते । अथ नेच्छति ततो वास्तव्य एव प्रीतिपुरस्सरं तेभ्यो दीयते आगन्तुकस्तु कार्यते इति । अथ प्राक्तनोऽप्युपाध्यायादिभ्यो नेच्छति तत आगन्तुको विसर्ज्यते एव । अथ वास्तव्यो यावत्कथिक इत्वरस्त्वितर इत्यत्राप्येवमेव भेदाः कर्त्तव्या यावदागन्तुको विसृज्यते ततो वास्तव्य उपाध्यायादिभ्यो ऽनिच्छन्नपि प्रीत्या विश्राण्यते यदि सर्वथा नेच्छति ततो विसृज्यते आगन्तुकः । अथ वास्तव्यः खल्वित्वरः आगन्तुकस्तु यावत्कथिकस्ततो वास्तव्योऽवधिकालं यावदुपाध्यायादिभ्यो दीयते शेषं पूर्ववत् । अथ द्वावपीत्वरौ तत्राप्येक उपाध्यायादिभ्यो दीयते अन्यस्तु कार्यते शेषं पूर्ववत् । अन्यतमोऽवधिकालं यावद्ध्रियते इत्येवं यथाविधि विभाषा कार्या । उपाध्यायादिभ्य इत्यत्रादिशब्दात् स्थविरग्लानशैक्षकादिपरिग्रहः । उक्ता वैयावृत्त्योपसंपत् । संप्रति क्षपणोपसंपत् प्रतिपाद्यते (अविगिट्ठेत्यादि) कश्चित् क्षपणार्थमुपसंपद्यते स च क्षपको द्विधा इत्वरो यावत्कथिकश्च यावत्कथिक उत्तरकाले अनशनकर्ता इतरस्तु द्विधा विकृष्टक्षपकः खल्वाचार्येण पृच्छ्यते हा आयुष्मन् ! पारणके त्वं कीदृशो भवसि यद्यसावाह ग्लानोपमस्ततोऽसावभिधातव्योऽलं तव क्षपणेन स्वाध्यायवैयावृत्त्यकरणेन यत्नं कुरु इतरोऽपि पृष्टः सन् एवमेव प्रज्ञाप्यते । अन्ये तु व्याचक्षते विकृष्टक्षपकः पारणककाले ग्लानकल्पतामनुभवन्नपि इष्यते एव । यस्तु मासादिक्षपको यावत्कथिको वा स इष्यते एव तत्राप्याचार्येण गच्छः प्रष्टव्यो यश्चायं क्षपक 'उवसंपज्जत्ति' इति अनापृच्छ्य संगच्छते सामाचारीविराधना यतस्ते संदिष्टा अपि उपाधिप्रत्युपेक्षणादि तस्य न कुर्वन्ति । अथ पृष्टा ब्रुवते यथाऽस्माकमेकः क्षपकोऽस्त्येव तस्य क्षपणपरिसमाप्तावस्य करिष्यामस्ततोऽसौ ध्रियते अथ नेच्छन्ति ततस्त्याज्यते अथ गच्छस्तमप्यनुवर्तते ततोऽसाविष्यत एव तस्य च विधिना प्रतीच्छितस्य उद्वर्तनादि कार्यम् । यदा पुनः प्रमादतोऽनाभोगतो वा न कुर्वन्ति शिष्याः तदा आचार्येण वन्दनीया इत्यलं प्रसङ्गेन ।

संप्रति चारित्रोपसंपद्विधिविशेषप्रतिपादनार्थमाह ।

उवसंपन्नो जं का–रणं तु तं कारणं अपूरंतो ।
अहवा समाणियम्मि, सारणया वा विसग्गो वा ॥

यत्कारणं यन्निमित्तमुपसंपन्नस्तुशब्दादन्यत्वसामाचार्यन्तर्गतं किमपि गृहीतं तत्कारणं वैयावृत्त्यादि अपूरयन् अकुर्वन् यदा वर्तते इत्यध्याहारस्तदा किमित्याह (सारणया वा विसग्गो वा इति) तदाऽस्य सारणा चोदनं क्रियते अविनीतस्य पुनर्विसर्गो वा परित्यागः क्रियते । तथा नापूरयन्नेव यदा वर्तते तदा सारणा वा विसर्गो वा किं तु (अहवा समाणियम्मित्ति) अथवा समानीते परिसमाप्तिं नीते अभ्युपगतप्रयोजने सारणा च क्रियते यथा परिसमाप्तम् । ततो यदि ऊर्ध्वमपि इच्छति ततो भवति अथ नेच्छति सोऽवस्थातुं ततो विसर्गो वेति उक्ता चारित्रोपसंपत् । संप्रति गृहस्थोपसंपदुच्यते तत्रेयं साधूनां सामाचारी सर्वत्रैव साध्वादिषु वृक्षाद्यधोऽप्यनुज्ञाप्य स्थातव्यं यत आह ।

इत्तरियं पि न कप्पइ, अविदिन्नं खलु परोग्गहाईसु ।
चिट्ठितु निसीइत्तुं व, तइयव्वयरक्खणट्ठाए ॥

इत्वरमपि स्वल्पमपि कालमिति गम्यते न कल्पते अविदत्तं खलु परावग्रहादिषु आदिशब्दः परावग्रहोऽनेकभेदप्रख्यापकः किं न कल्पते इत्याह स्थातुं कायोत्सर्गं कर्तुं निसत्तमुपवेष्टुं किमित्यत आह (तइव्वयरक्खणट्ठाए) अदत्तादानविरत्याख्यतृतीयव्रतरक्षणार्थं तस्मात् भिक्षाटनादावपि व्याघातसंभवे क्वचित् स्थातुं शक्यमनुज्ञाप्य स्वामिनं विधिना स्थातव्यम् । अटव्यादिष्वपि विश्रमितुकामेन पूर्वस्थितमनुज्ञाप्य स्थातव्यं तदभावे देवतां यस्याः सोऽवग्रह इति । आ० म० द्वि० । आ० चू० ॥ पंचा० (अत्रालोचना आलोयणा शब्दे)

(२) आचार्यादौ मृते ऽन्यत्रोपसंपत् ।

गामाणुगामं दूइज्जमाणे भिक्खू जं पुरओ कट्टु विहरेज्जा से आहच्च विसंभेज्जा अत्थिया इत्थ केइ उवसंपज्जणारिहे कप्पइ से उवसंपज्जियव्वेसिया णत्थि इत्थ केइ अन्ने उवसंपज्जणारिहे अप्पए असमत्ते कप्पई से एगराइयाए पडिमाए जस्सं जस्सं दिसिं अन्नसाहम्मिया विहरंति तस्सं तस्सं दिसं उवलित्तए णो से कप्पइ तत्थ विहारपत्तियं वत्थए कप्पइ से कारणपत्तियं वत्थए तेंसि च णं करणंसि निट्ठियंसि य रोवइज्जा वसाहि अज्जो एगरायं वा दुरायं वा एवं से कप्पइ एगरायं वा दुरायं वा वत्थए णो कप्पइ एगराओ वा दुराओ वा परवत्थए जं तत्थ एगराओ वा दुराओ वा परं वसति सेसंतरा छेए वा परिहारे वा ॥

ग्रामानुग्रामं ग्रामेण (दूइज्जमाणे) गच्छन् एतावता ऋतुबद्धः कालो दर्शितो यं पुरतः कृत्वा प्रभुं कृत्वा इत्यर्थः । स नियमादाचार्य उपाध्यायो वा द्रष्टव्यो विहरति स आहच्च कदाचित् भुंजेज्जा शरीराद्विष्वग् भवेत् कालगतो भवेत् (अत्थियाइत्थ इत्यादि) अस्ति वाऽत्र समुदायेऽन्यः कश्चित् आचार्यादुपाध्यायाद्वा व्यतिरिक्तो गणी प्रवर्त्तकस्थविरो वृषभो वा उपसंपदनार्हस्तत उपसंपत्तव्यः । अथान्यो नास्ति कश्चिदशेषसंपदनार्हस्तर्हि स आत्मनः कल्पनासमाप्त इति (से) तस्य कल्पते । एकरात्रिक्या प्रतिमया यत्र वसति तत्रैकरात्राभिग्रहेण (जस्सं जस्समित्यादि) यस्यां यस्यां दिशि अन्ये साधर्मिका विहरन्ति तां तां दिशमुपगन्तुं न पुनः (से) तस्य कल्पते तत्रापान्तराले विहारप्रत्ययं वस्तुं कल्पते (से) तस्य कारणप्रत्ययं संघातादिकारणनिमित्तं वस्तुम् । तस्मिंश्च कारणे निष्ठिते यदि परो वदेत वस आर्य ! एकरात्रं द्विरात्रं वा एवं (से) तस्य कल्पते एकरात्रं वा द्विरात्रं वा वाशब्दात्त्रिरात्रं वा वस्तुं न (से) तस्य कल्पते एकरात्राद् द्विरात्राद्वा परं वस्तुम् यस्तत्र एकरात्रात् द्विरात्राद्वा परं वसति तत्र (से) तस्य स्वकृतादन्तराच्छेदः परिहारो वेति । अधुना निर्युक्तिविस्तरः । अत्रोपसंपदनार्ह इत्युक्तं सा चोपसंपद् द्विधा लौकिकी लोकोत्तरिकी च ते आह ।

लोगे य उत्तरम्मि य, उवसंपय लोगिगी उ रायाई ।
राया वि होइ दुविहो, सावेक्खो चेव निरवेक्खो ॥

उपसंपद् द्विधा लोके लोकोत्तरे च । तत्र लौकिकी राजादौ आदिशब्दात् युवराजादिपरिग्रहः । तथा च यदा राजा मृतो भवति तदा युवराजमुपसंपद्यन्ते तं राजानं स्थापयन्तीत्यर्थः । युवराजोऽन्यः स्थाप्यते स च राजा भवति । द्विविधः सापेक्षो निरपेक्षश्च । सहापेक्षया सापेक्षस्तद्विपरीतो निरपेक्षः । तथा च

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रजाः राजाऽऽयपेक्षः सन् जीवन्नेव युवराजं स्थापयति निरपेक्षस्तु नैव । अथ किं जीवन्नेव युवराजं स्थापयति तत आह ।

जुवराजम्मि उ ठविए, पया उ बंधंति आयतिं तत्थ ।
नेव य कालगयम्मि, खुज्भंति पडिवेसियनरिंदा ॥

युवराजे राज्ञा साक्षाद्ध्रियमाणेन स्थापिते प्रजास्तत्र आयतिमागामिकालविषयां महतीमास्थां बध्नन्ति नैव च सहसा कालगते राज्ञि प्रातिवेशिकनरेन्द्राः सीमान्तवर्तिनः प्रत्यन्तराजानः क्षुभ्यन्ति राज्यविलोडनाय संवलन्ति । उक्तः सापेक्षः ।

संप्रति निरपेक्षमाह ।

पच्छन्नरायतेणे, आयपरो दुविह होइ निक्खेवो ।
लोइयलोगुत्तरितो, लोगुत्तरवप्पियर वोच्छं ॥

निरपेक्षो नाम यः प्रजानां राज्यस्य चायतिं नोपेक्षते तस्मिन्कालगते स राजा मृतः प्रच्छन्नो ध्रियते यथा अतीव राजा शरीरवाधितो वर्तते स च तावत् ध्रियते यावदन्यो निवेश्यते । स च कदाचित्स्तेनोऽपि । तथा निक्षेपणं निक्षेपः स द्विविधो द्विप्रकारस्तद्यथा आत्मनः परतश्च । पुनरेकैको द्विधा लौकिको लोकोत्तरिकश्च । तत्र लोकोत्तरिकः स्थाप्यः पश्चाद्वक्ष्ये इत्यर्थः । इतरं लौकिकं प्रथमगाथापादोपक्षिप्तं वक्ष्ये । प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति

निरवेक्खे कालगते, भिन्नरहस्सा तिगिच्छअमच्चो य ।
अहिवास आसहिंडण, वज्भो तियमूलदेवो उ ॥

एको राजा निरपेक्षस्तस्य राज्ये मूलदेवश्चौरिकां करोति । स कदाचिदारक्षकैः प्राप्तो राज्ञः पार्श्वे नीतो राज्ञा च स्तेन इति कृत्वा वध्य आज्ञप्तः ततः राजा तत्क्षणमेव निजमावासस्थानमुपगतः । क्षणमात्रेण च सहसा कालगतः । तस्मिन्निरपेक्षे कालगते द्वौ भिन्नरहस्यौ राजा मृत इति रहस्यं द्वौ जानीतस्तद्यथा चिकित्सो वैद्योऽमात्यश्च राजा चानपत्यस्ततोऽश्वस्याधिवासना कृता सर्वत्र त्रिकचतुष्कचत्वरादिषु हिण्ड्यते कथं नाम राजलक्षणयुक्तं पुरुषं लभेमहि यं राजानं स्थापयाम इति मूलदेवश्च यो वध्य आज्ञापित स तेनावकाशेन नीयमानो वर्तते ।

आसस्स पट्टिदाणं, आणयणं हत्थचालणं अन्नो ।
अभिसेगभोइयपरिभव, तणजक्खनिवायणं आणा ॥

ततोऽश्वेन तस्य मूलदेवस्य वध्यतया नीयमानस्य पृष्ठं दत्तं । गाथायां स्त्रीत्वं प्राकृतत्वात् प्राकृते हि लिङ्गं व्यभिचारि ततो मूलदेवो यत्र राजा प्रच्छन्नो जवनिकान्तरितोऽवतिष्ठते तत्रानीतस्ततो वैद्यकुमारामात्याभ्यां जवनिकाभ्यन्तरस्थिताभ्यां राज्ञो हस्त उपरि मुखे नीत्वा चालित एतत् राज्ञो हस्तचालनं ततो वैद्यकुमाराभ्यामुक्तं कृता राज्ञाऽनुज्ञा यथा मूलदेवं राजानमभिषिञ्चत न शक्नोति वाचा वक्तुमिति ततो अभिषिक्तो मूलदेवो राज्ये नवरमसदृश इति कृत्वा केचिद्भोजिकाः परिभवमुत्पादयन्ति । न पुनः कुर्वन्ति । राजार्हं विनयं ततश्चिन्तयति मूलदेवो ममैते मूर्खतया परिभवं कुर्वन्ते परं किमिदानीमेते मूर्खतयैव कदाचित्स्वयमेव सभामण्डलं जल्पिष्यन्ति तदानीं शासयिष्यामि ततोऽन्यद्दिवसे आत्मनः शिरसि तृणशूकजातं कृत्वा आस्थानमण्डपिकायामुपविष्टः । ते च भोजिका मूर्खतया शनैः परस्परमुल्लपन्ति अद्यापि नन्वेष चौरत्वं न मुञ्चति अन्यथा कथमेतादृशस्य तृणशूकजातस्येदृशे भवने संभवो नूनं तृणगृहादिषु चौरिकानिमित्तमतिगतस्ततस्तृणशूकजातं शिरसि लग्नमिति एतच्चाकर्ण्य मूलदेवो रोषमुपागमत् ब्रूते च अस्ति कोऽपि नाम मच्चित्तानुकारी य एतान् शास्तीति । तत एवमुक्ते तत्पुण्यप्रभावतो राज्यदेवताधिष्ठितैर्निशितासिलताकैश्चित्रकर्मप्रतीहारैः केषांचित् शिरांसि लूनानि शेषाः कृतप्राञ्जलयः आज्ञामभ्युपगतवन्तः । तथा चाह (भोइयपरिभवेत्यादि) भोजिकाः परिभवं कृतवन्तोऽन्यदा मूलदेवः (तणत्ति) तृणानि शीर्षे कृतवान् ततस्तत्कोपावेशं दृष्ट्वा यक्षैरतिपातनं विनाशनं कृतम् । शेषैराज्ञा प्रतीच्छिता । एतदेव सविशेषमाह ।

जक्खनिवातियसेसा, सरणगया जेहिं तोसितो पुव्वं ।
ते कुव्वंती रन्नो, अत्ताण परे य निक्खिवणं ॥

यक्षनिपातितशेषाः शरणागता मूलदेवस्य शरणं प्रतिपन्नाः । यैश्च पूर्वं मूलदेवस्तोषितस्तै राज्ञ आत्मनः परस्य च निक्षेपमद्यप्रभृति युष्मदीया वयमेते चेति समर्पणं कुर्वन्ति । उक्तो निरपेक्षोऽनिरपेक्षश्च लोकोत्तरिको वक्तव्यस्तत्र प्रथमं सापेक्षमाह ।

पुव्वं आयतिबंधं, करेइ सावेक्ख गणहरे ठविए ।
अठविए पुव्वुत्ता, दोसा उ अणाहमादीया ॥

यो नामाचार्यः सापेक्षः स पूर्वमेव गणधरे स्थापिते साधूनामायतिबन्धं करोति यथाऽयं युष्माकमाचार्य इत्येतदाज्ञया वर्तितव्यमिति । अथ न पूर्वं गणधरं स्थापयति ततस्तस्मिन्नस्थापिते दोषाः पूर्वोक्ता अनाथादयः "अणाहमादीया" इत्यादिनाभिहिताः सिसादयो दोषा भवेयुः । उक्तो लोकोत्तरिकः सापेक्षः ।

संप्रति निरपेक्षमाह ।

आसुक्कारोवरए, अठविते गणहरे इमा मेरे ।
चिलिमिलिहत्थाणुन्ना, परिभवसुत्तत्थहावणया ॥

आशुकारेण शूलादिनोपरतः कालगत आशुकारोपरतस्तस्मिन् सत्याचार्ये अस्थापितेऽन्यस्मिन् गणधरे इयं वक्ष्यमाणा मर्यादा तामेवाह (चिलिमिलीत्यादि) आशुकारोपरत आचार्यो जवनिकान्तरितः प्रच्छन्नः कार्यो वक्तव्यं चाचार्याणामतीवाशुभं शरीरं वाचाऽपि वक्तुं न शक्नुवन्तीति । ततो यो गणधरपदार्हस्तं जवनिकाबहिः स्थापयित्वा सूरयो भण्यन्ते को गणधरः स्थाप्यतामेवं चोक्ता जवनिकाभ्यन्तरस्था गीतार्था आचार्यहस्तमुपर्युन्मुखं कृत्वा स्थाप्यमानगणधराभिमुखं दर्शयन्ति वदन्ति च गणधरत्वमेतस्यानुज्ञातं परं वाचा वक्तुं न शक्नुवन्ति एषा हस्तानुज्ञा न एतस्योपरि वासा निक्षिप्यन्ते । स्थापित एष गणधर इति पश्चात्कालगता आचार्या इति प्रकाश्यते (परिभवसुत्तत्थहावणया इति] ततो येऽभिनवस्थापितस्याचार्यस्य परिभवोत्पादनबुद्ध्या आचार्योचितं विनयं न कुर्वन्ति तेषां सूत्रमर्थं वा स हापयति न ददातीत्यर्थः । संप्रति " आयपरो दुविह होइ निक्खेवो लोइयलोउत्तरितो " इति व्याख्यानार्थमाह ।

दंडेण उ अणुसट्ठा, लोए लोगुत्तरे य अप्पाणं ।
उवनिक्खिवंति सो पुण, लोकिकलोगुत्तरे दुविहो ॥

लोके लोकोत्तरे च यथार्हं विनयमकुर्वन्तो । दण्डेनानुशिष्टा आत्मानमुपनिक्षिपन्ति तत्र लौकिको दण्डः पूर्वमुक्तो यो मूलदेवेन भोजिकानां केषांचित्कृतो लोकोत्तरिकः सूत्रार्थापहारणम् । इह नवे राज्ञीव नवे गणधरे स्थापिते निक्षेपरसो लोकस्य जायते तत्तत्फलाद्युपवर्ण्यते निक्षेपस्य फलं लोके परिपालनं लोकोत्तरज्ञानादीनामभिवृद्धिः स चोपनिक्षेपो द्विधा लौकिको लोकोत्तरिकश्च । पुनरेकैको द्विधा आत्मोपनिक्षेपः परोपनिक्षेपश्च । तत्र लौकिक आत्मनिक्षेपो ये प्रगल्भास्ते आत्मनैवात्मानं राज्ञ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपनिक्षिपन्ति तिष्ठन्ति च अरणोपपातकारकाः प्रपन्नशरणा ये पुनरप्रगल्भास्ते ये राज्ञो वल्लभास्तैरात्मानमुपनिक्षेपयन्ति । एष परोपनिक्षेपः । लोकोत्तरिक आत्मनिक्षेपो गच्छवर्तिनां साधूनां तथाहि ये गच्छे एव वर्तन्ते साधवस्ते आत्मानमात्मनैवाभिनवाचार्यस्योपनिक्षिपन्ति । परनिक्षेपः स्पर्द्धकगतानां ते हि समागताः स्पर्द्धकपतिना निक्षिप्यन्ते यथा एते अहं च युष्माकमिति । "इह मिथियाइय अप्पेक्खइ उवसंपज्जणारिहे" इत्यायुक्तम तत्र यद्यपि स गीतार्थस्तरुणः समर्थश्चेन्द्रियनोइन्द्रियाणां निग्रहं कर्तुं तथापि तेनान्यो गणो निश्रयितव्यो निश्रयश्च परप्रत्ययनिमित्तं तत्रापि निक्षेपः कर्तव्यः ।

अत्र लौकिको दृष्टान्तस्तमेवाह ।

जह कोइ वणितो उं, धूयं सेट्ठिस्स हत्थनिक्खवओ ।
दिसि जत्ताए गत्तो, कालगतो सो य सेट्ठी उ ॥

एको वणिक् तस्य गृहे मारिरुत्थिता । सर्वे गृहमुपच्छादितमेका दुहिता तिष्ठति परः स श्रेष्ठी निर्धन इति तां दुहितरं न परिणाययितुं समर्थस्ततो दिग्यात्रां कर्तुमिच्छति जानाति वै तस्याः कन्यकायाः स्वभावं यथा समर्थात्मानमेषा संरक्षितुं केवलमेका कन्यका महती गृहे तिष्ठन्ती दुष्टशीला लोकेन संजाव्येतेति मित्रश्रेष्ठिनो हस्ते तां निक्षिप्य मुक्त्वा वाणिज्येन दिग्यात्रां गतः । तस्यापि च मित्रश्रेष्ठिनो गृहे मारिरभूत् । ततः सोऽपि सकुटुम्बो विनाशमुपागमत् तथा चाह स च श्रेष्ठी कालगतः केवलमेका कन्यका स्थिता सा च मूलश्रेष्ठिदुहितुः सखी सा च सखी अप्यात्मानं संरक्षितुं क्षमा केवलं यशःप्रत्ययनिमित्तं राज्ञः समीपमुपस्थिता तथा चाह ।

सेट्ठिस्स तस्स धूया, वणियसुयं घेत्तु रणो समुवगया ।
अह यं एस सही मे, पालेयव्वा उ तुज्झेहिं ॥

तस्य मूलभूतस्य श्रेष्ठिनो दुहिता वणिक्सुतां मृतपितृवणिग्दुहितरं गृहीत्वा राज्ञः समुपगता समीपमुपगता पादेषु निपत्य विज्ञपयति यथा देव युष्माभिर्निजदुहितरो रक्ष्यन्ते तथा अहमेषेयं मे सखी युष्माभिःपालयितव्या आवयोरपि युष्मत्कन्यकात्वात् ।

इय होउ त्ति य जणियं, कण्णा अंतेउरम्मि तुट्ठेण ।
रण्णा परिकत्ता उ, भणिया वाहरिउ पालाउ ॥

इति एवं भवत्विति भणित्वा तुष्टेन राज्ञा ते द्वे अपि कन्यान्तःपुरे प्रक्षिप्ते भणिता च व्याहृत्य आकार्य (पालाओ) पालिका महत्तरिका किं भणितेत्यत आह ।

जह रक्खह मज्झ सुता, तहेव एया तो दोवि पालेह ।
ते एवि तेउ पालं, विसवियं विणीतकरणाए ॥

यथा रक्षथ मम सुताः कन्यकास्तथैव एते अपि द्वे मत्कन्यकास्ते पालयथ एवमुक्ते तयापि महत्तरिकया विनीतकरणया विज्ञप्तं देव एते अतिपालयामि । एवमुक्त्वा ते कन्यान्तःपुरं नीते । तत्र च मूलश्रेष्ठिदुहिता महत्तरिकां विज्ञपयति ।

जह कन्ना एयातो, रक्खह एमेव रक्खह ममं पि ।
जह चेव ममं रक्खह, तह रक्खह मम सहिं पि ॥

यथा एताः कन्या यूयं रक्षथ एवमेव मामपि रक्षथ । यथा च मां रक्षथ तथेमां मम सखीमपि रक्षथ ।

इय होउ अब्भुवगए, अह तासिं तत्थ संवसंतीणं ।
कालगया महत्तरिया, जा कुणती रक्खणं तासिं ॥

इत्येवं भवत्विति अभ्युपगते तासां तत्र संवसन्तीनामथ कियत्कालातिक्रमेण या रक्षणं तासां करोति सा महत्तरिका कालगता।

सविकारातो दट्ठुं, सेट्ठिसुया विण्णवेइ रायाणं ।
महतरियदाणनिग्गह, वणियागमए य विसज्जणं ॥

महत्तरिकाकालगमनानन्तरं ताः कन्यकाः सविकारा अभूवन् ततस्ताः सविकाराः दृष्ट्वा श्रेष्ठिसुता राजानं विज्ञपयति अन्यमहत्तरिकां प्रयच्छत दत्ता राज्ञा । तया च महत्तरिकया [निग्गहत्ति] कन्याः सविकारा उपलभ्य खरण्टिताः एवं तासां तिष्ठन्तीनां (वणियागमम्मि) स देशान्तरगतो वणिक् समागतः (विसज्जणमिति) राज्ञो विज्ञपनमकार्षीत् यथा देव ! नयामि निजपुत्रिकामिति ।

पूएऊण विसज्जण, सरिसकुलदाण दोण्ह वि भोगा ।
एमेव उत्तरम्मि वि, अवत्त राइंदिए उवमा ॥

ततः श्रेष्ठिकृतावि॰ सिकानन्तरं ते द्वे अपि पूजयित्वा राज्ञा विसृष्टे सदृशकुले दाने विवाहिते इत्यर्थः । ततस्तयोर्द्वयोरपि विपुला भोगा दत्ताः । एवमेव अनेनैव प्रकारेण उत्तरेऽपि लोकोत्तरेपि अव्यक्तस्य रात्रिंदिवैरुपमा । इयमत्र भावना । यदि तावल्लौकिका अपि यशः संरक्षणनिमित्तमात्मानमन्यत्रोपनिक्षिपन्ति ततः सुतरां लोकोत्तरिकैः साधुभिः संयमयशःसंरक्षणनिमित्तमात्मा ऽन्यगणे निक्षेप्तव्यः । स चाव्यक्तो वयसा ततो यावच्चिरहोरात्रैर्वयसा व्यक्तो भवति तावन्तं कालं तत्रान्यगणनिश्रायां तिष्ठति कथं पुनरात्मानं गणं वोपनिक्षिपति । तत आह ।

एते अहं च तुब्भं, वत्तीभूतो सयं तु धारेइ ।
जसपव्वयाउराला, मोक्खसुहं चेव उत्तरिए ॥

एते मदीयाः साधवोऽहं च युष्माकमेवं चोपनिक्षिप्य तावत्तत्र तिष्ठति यावत् व्यक्तो जायते ततो व्यक्तीभूतः सन् तस्मान्निर्गत्य स्वयमेव गणं धारयति एवं च कुर्वतस्तस्य फलमिह लोके उदारा यशःप्रत्यया अवदातं यशोऽवदातात्र लोके प्रत्ययाः संयमनैर्मल्यविषयाः । परलोके फलं मोक्षसुखमौत्तरिके लोकोत्तरिके उपनिक्षेपे । अथवा लौकिकस्य लोकोत्तरिकस्य च सापेक्षस्य पदस्थापनायोग्यविषयेयं परीक्षा ॥

सावेक्खं पुण पुव्वं, परिक्खए जह धणे उ सुण्हा उ ।
अणियययसहावयपरिहा-विय १ भुत्ता २ तच्चि ३ वुड्डा उ४ ॥

सापेक्षं पुनः पूर्वं परीक्षते साधून् यथा धनश्रेष्ठी स्नुषा अनियतस्वभावाः परीक्षितवान् कथमिति चेदुच्यते " रायगिहे नयरे धणो नाम सेट्ठी तस्स चत्तारि सुण्हा ता अन्नया तो चिंतेइ का मम सुण्हा घरं धुक्तिहिंत्ति ततो अन्नया तासि परिक्खणनिमित्तं सयणवग्गो णिमंतितो भोयणोत्तरं सयणसमक्खं सुण्हातो सद्दावेऊण पत्तेयं पत्तेयं पंच सालिकणा समप्पिया एएसु रक्खियव्वं करेह यदा मग्गेहामि तया दायव्वा ततो पढमाए बुद्धो एस न लज्जितो सयणसमक्खं पंच कणे स मप्पंतो न किंपि जाणइ जया मग्गिहिति तया अन्ने दायव्वा इति छड्डिया । बियियाए बुक्कुसेसाति छुक्का तइयाए, आभरणकरंडियाए सुरक्खिकया चउत्थीए ता उ य खेरोसु आरोविऊण विड्ढि नीया जाया । वरिससएणेण सयसहस्सा । पुणो वि सेट्ठिणा वरिसपणगानंतरं सयणवग्गं णिमंतेऊण भुत्तुत्तरं सयणसमक्खं ततो महावियातो ते मे पंच सालिकणे समप्पेह ततो पढमाए आणातो णाणातो अणेऊण समप्पियाः सेट्ठिया सव्वइमा-

विता जाणिया ते चेव इमे पंच सालिकणा किं वा अन्ने । तीए कहियं ते मए तया चेव उड्डिया पुण अन्ने आणीया एवं बिइया- ए वि नवरं तीए भुत्ता कहिया । तइयाए ते चेव आणीया भणि- यं आभरणकरंडियाए मए सुरक्खीकया । चउत्थीए भणियं नाय सगडाणि समप्पिज्जंतु जेण ते पंच सालिकणा आणिज्जं- ते । ततो सेट्ठिणा विम्हिएण पुच्छियं तीए कहियं जहावत्तं जाव जाया मूलसहस्सा तउपरि तुट्ठेण सेट्ठिणा भणियं एतीए मज्झ पंच सालिकणा अतीव वुड्ढिं नेइत्ति एसा मम घरस्स सा- मिणी । तइया भंडारक्खिया जीए भुत्ता सा महाणसवावारे निजोइया पढमा घरबाहिकम्मे । तथा चाह । प्रथमया परिहापि- ता द्वितीयया भुक्तास्तृतीयया तावन्मात्राः धृताश्चतुर्थ्या (वुड्ढित्ति) वर्द्धिताः । एष दृष्टान्तः संप्रति । दार्ष्टान्तिकयोजनामाह ।

ओमेसिवमतरंते य, उज्झिउं आगतो न खलु जोग्गो ।

किर्तिकम्मजारसिक्खा, दिएसु भुत्ता य भुत्ताए ॥

एवमाचार्येणापि परीक्षानिमित्तं साधुसमर्प्य देशदर्शने शिष्या नियोक्तव्यास्तत्र योऽवमे दुर्भिक्षेऽशिवे वा साधून् त्यक्त्वा अथ- वा येऽतरन्तोऽसहायास्तान्वा त्यक्त्वा समागतः स खलु न योग्यः येनापि कृतकर्मसुपात्रलेपनादिक्रियापारेषु भारे च पथ्युपकरण- वाहनेन भिक्षादिषु चात्मभुक्त्या भुक्ता उपयोगं नीताः साधवो न च सम्यक्पालिताः सोऽपि न योग्यः ।

न य उड्डिया न भुत्ता, नेव य परिहाविया न परिवुड्ढा ।

तातिएणं ते चेव उ, समीवपच्चाणिया गुरुणो ॥

तृतीयेन ये समर्पिताः साधवो गुरुणा ते न उज्झिता न दुर्भिक्षा- शिवादिषु परित्यक्ता नापि भुक्ताः केवलमात्मोपयोगं नीताः । नापि पुरुषासिप्रदानादिना परिहापिताः परिहानिं नीताः नाप्य- न्यान्यपरिव्राजनेन परिवर्द्धिताः किं तु तावन्त एव गुरुसमीपं प्रत्यानीताः । चतुर्थमाह ।

उवसंपाविय पव्वा-विया य अएणे य तेसि संगहिया ।

एरिसए देइ गणं, कामं तइयं पि पूएमो ॥

येन बहव उपसंपादिता उपसंपदं ग्राहिता बहवः परिव्राजि- ताश्च अन्येन च तेषामुपसंपादितानां परिव्राजितानां च संबन्धिनः संगृहीतास्तेऽपि उपसंपदं ग्राहयिष्यन्ते परिव्राजयिष्यन्ते चे- त्यर्थः । ईदृशे चतुर्थे ददाति गणमाचार्य एकान्तयोग्यत्वात् न केवलमेतस्मिन् किंतु काममतिशयेन तृतीयमपि पूजयामश्चतुर्था- ह्वाने तमपि योग्यं प्रशंसाम इत्यर्थः ।

तदात्मपरो निक्षेपयोजनामाह ।

तम्मि गणे अभिसित्ते, सेसगभिक्खूण अप्पनिक्खेवो ।

जे पुण फड्डगवतिया, आयपरे तेसि निक्खेवो ॥

एवं कालगते ठविए, सेसाणं आयनिक्खेवो ।

फड्डगवतियाणं तु, आयपरो तेसि निक्खेवो ॥

तस्मिन् चतुर्थे तदभावे तृतीये वा गणे पदे अभिषिक्ते शेषका- णां भिक्षूणां तद्गणान्तर्वर्तिनामात्मनिक्षेपो भवति । ये पुनः स्पर्द्ध- कपतयस्तेषामात्मनः परतश्च निक्षेपः स्पर्द्धकपतीनामात्मतस्तदा- श्रितानां परतः स्पर्द्धकपतिद्वारेण तेषामुपनिक्षेपभावात् । एव- मात्मपरोपनिक्षेपिकाऽगते दृष्टव्यस्तथा चाह (एवं ति) एवं नि- र्गमेकत्य सहसा कालगते पूर्वप्रकारेणान्यस्मिन् स्थापिते शेषाणां गणान्तर्वर्तिनामात्मनिक्षेपो भवति स्पर्द्धकपतिकानां त्वात्मनिक्षेपः स्पर्द्धकपतीनामात्मतस्तदाश्रितानां परतो निक्षेप इत्यर्थः ।

उवसंपज्जणअरिहे, अविज्जमाणम्मि होइ नातव्वं ।

गमणम्मि सुद्धासुद्धे, चउभंगो होति नायव्वो ॥

उपसंपदर्हे अविद्यमाने भवत्यन्यत्र गन्तव्यं तत्र च गमने शुद्धपदे संयोगतश्चतुर्भङ्गी भवतीति ज्ञातव्यम् । तद्यथा निर्गम- ने शुद्धो गमने च शुद्ध इति प्रथमः निर्गमने शुद्धो गमने अशुद्ध इति द्वितीयः । निर्गमने अशुद्धो गमने शुद्ध इति तृतीयः । निर्गम- ने अशुद्धो गमने चाशुद्ध इति चतुर्थः । गाथायां चउभंगो इति पुंस्त्वनिर्देशः प्राकृतत्वात् । तत्र प्रथमभङ्गव्याख्यानार्थमाह ।

असतीए वायगस्स, जं वा तत्थत्थि तम्मि गहियम्मि ।

संघाडो एगो वा, दायव्वो असति एगागी ॥

यः कालिकमुत्कालिकं दृष्टिवादं वा वाचयति स नास्ति तत- स्तस्य वाचकस्यासत्यभावे अथवा यत्तत्रास्ति श्रुतं तत्सर्वं गृही- तं ततस्तस्मिन् गृहीतेऽन्यसूत्रार्थमन्यत्र व्रजति तस्य च एकः संघाटो दातव्यः । असति संघाटकाभावे एकाकी व्रजेत् ।

अह सव्वेसिं तेसिं, नत्थि उ उवसंपयारिहो अन्नो ।

सव्वे घेत्तुं गमणं, जत्तियमेत्ता व इच्छंति ॥

अथ तेषां गच्छवर्तिनां साधूनां सर्वेषामन्य उपसंपदर्हो नास्ति ततः सर्वान् गृहीत्वा गमने कर्तव्यम् । अथ सर्वे गन्तुं नेच्छन्ति तर्हि यावन्मात्रा इच्छन्ति तावन्मात्रैः सह गन्तव्यमेष निर्गमशुद्ध उच्यते ।

एवं सुद्धे निग्गमे, वइयाइअपडिबज्जंतो ।

संविग्गमणोन्नेहिं, तेहिं वि य दायव्वो संघाडो ॥

एवं शुद्धे निर्गमे व्रजिकादिषु गोकुलादिष्वप्रतिबन्धमकुर्वन् गच्छेत् । तत्र यद्यपान्तराले संविग्नमनोज्ञाः सन्ति ततस्तैः सह मिलित्वा गन्तव्यं तैरपि च निर्गमनशुद्धत्वात् ज्ञानाद्युपसंपन्नि- मित्तं च चलितत्वादवश्यं संघाटो दातव्यः । अथ यदा एकं द्वौ वा दिवसौ संघाटो न भवति व्याकुलत्वात्तदा किं कर्त्तव्यमत आह ।

एगं च दो व दिवसे, संघाडत्थं स पडिच्छिज्जा ।

असती एगागी उ, जयणा उवहीं न उवहम्मे ॥

एकं द्वौ वा दिवसौ स संघाटार्थं प्रतीक्षेत असत्यभावे संघाट- स्य एकाकी व्रजेत् तत्र च यतना कर्त्तव्या सा च प्राक्कल्पाध्य- यनेऽभिहिता तत उपधिर्नोपहन्यते यतनया प्रवृत्तत्वात् । उप- संहारमाह ।

एसो पढमो भंगो, एवं सेसा कमेण जोएज्जा ।

आसतुज्ज य गाणं, गच्छे दारा य तत्थ इमे ॥

एषोऽनन्तरोदितः प्रथमो भङ्ग एवमुपदर्शितेन प्रकारेण शेषा अपि भङ्गकाः क्रमेण योक्तव्यास्तद्यथा निर्गमशुद्धः प्राग्वत् गम- नाशुद्धो व्रजिकादिषु प्रतिबन्धकारणात् निर्गमनाशुद्धो दोषार्की- र्णतया निर्गमनात् निर्गमनशुद्धो व्रजिकादिष्वप्रतिबन्धान्निर्गम- नाशुद्धो गमनाशुद्धश्च प्राग्वत् । अथ प्रथमभङ्गवर्त्ती प्रशस्यः कारणतो द्वितीयभङ्गवर्त्यपि एवं च गच्छता तेन ये आसन्ना उद्य- ता उद्यतविहारिणस्तेषां स्थाने गच्छेत्तत्र च गतस्य परीक्षादि- निमित्तमिमानि द्वाराणि भवन्ति तान्येवाह ।

उपसंपदर्हस्य गच्छस्य हानिवृद्धिपरीक्षणं तत्र

कल्प्याकल्प्यविधिः ॥

पारिक्खहाणि असती, आगमणं निग्गमो अगंविग्गे ।

निव्विसणजयणनिग्गह, दीहमद्धे पडिच्छंति ॥

परीक्षा (हाणीति) हानिवृद्धिविषया कर्तव्या यत्र ज्ञानादीनां हानिस्तत्र न वास्तव्यमन्यत्रवास्तव्यमिति भावः (असनित्ति) यस्य समीपं गच्छोपसंपन्नस्तस्मिन्सापेक्षे निरपेक्षे वा कालगतत्वेनासति योऽन्यः स्थापितस्तस्य सकाशे स्थातव्यं तस्मिन्नपि सीदति यावत्कुलादिस्थविराणामागमनं तावत्प्रतीक्षणीयं तैरपि प्रतिचोदने कृते सीदति निर्गमो विधेयः । गच्छता च संविग्नाभावे बहिर्वसतव्यमसंविग्ने निवेदना कर्त्तव्या । बहिर्वसत्यलाभे तेष्वप्यसंविग्नेषु नवरं यतना विधेया । तथा संविग्नेषु वा संवसनं निस्पृष्टमनुज्ञातमेकरात्रमुत्कर्षतस्त्रीणि दिनानि वर्षादिकारणतः पुनर्यतनया (वीहस्सरूमपि) प्रचुरमपि दीर्घकालं प्रतीक्षते । एष द्वारगाथासंक्षेपार्थः । सांप्रतमेनामेव विवरीषुः प्रथमतः परिच्छहाणित्ति द्वारमाह ।

पासत्थादिविरहितो, काहियमाईहिवावि दोसेहिं ।
संविग्गमपरितंतो, साहम्मि य वच्छलोज्जा उ ॥

अपान्तराले पार्श्वस्थादिविरहितः पार्श्वस्थादिसंसर्गिविप्रमुक्तः काथिकादिभिर्वा भावप्रधानोऽयं निर्देशः काथिकत्वादिभिर्वा दोषैर्विमुक्तस्तथाऽसंविग्नोऽपरिश्रान्तः सामाचार्यामिति गम्यते । तथा यः साधर्मिकवत्सलः प्रवचनलिङ्गसाधर्मिकवात्सल्यपरायणः सः ।

अब्भुज्जएसु ठाणं, परिच्छिउं हीयमाणए मोत्तुं ।
केसु पदेसु हाणी, वुड्ढी वा तं निसामेहि ॥

अभ्युद्यतानामुद्यतविहारिणां स्थानं परीक्ष्य गाथायां सप्तमी षष्ठ्यर्थे हीयमानकान्मुक्त्वा तिष्ठेत् । अथ केषु पदेषु हानिर्वृद्धिर्वा सूरिराह । तदेतत्कथ्यमानं निशामय । तदेवाह ।

तवनियमसंजमाणं, जहियं हाणी न कप्पते तत्थ ।
तिगवुड्ढी तिगसोही, पंचविसुद्धी सुसिक्खा य ॥

यत्र तपोनियमसंयमानां हानिस्तत्र न कल्पते वस्तुं यत्र पुनस्त्रिकवृद्धिर्ज्ञानदर्शनचारित्रवृद्धिर्यत्र च त्रिकस्याहारोपधिशय्यारूपस्य शोधिर्यत्र च पञ्चानां पार्श्वस्थादिस्थानानां विशुद्धिस्तेष्वप्रवर्त्तनं यत्र च सुशिक्षा ग्रहणे आसेवना च तत्र वास्तव्यम् ।

सांप्रतमेनामेव गाथां विवृणोति ॥

बारसविहे तवे उ, इंदिय नोइंदिए य नियमे उ ।
संजमसत्तरसविहो, हाणी जहि य तहिं न वसे ॥

यत्र द्वादशविधे तपसि इन्द्रियविषये च नियमे संयमे सप्तदशविधे हानिस्तत्र न वसेत् ।

तवनियमसंजमाणं, एएसिं चेव तिण्ह तिगवुड्ढी ।
नाणादीण व तिण्हं, तिगसुद्धी उग्गमादीणं ॥

एतेषामेव त्रयाणां तपोनियमसंयमानां वृद्धिस्त्रिकवृद्धिः । अथवा ज्ञानादीनां त्रयाणां वृद्धिस्त्रिकवृद्धिः । त्रयाणामुद्गमादीनामुपक्रमणमेतद्वाहारादीनां वा त्रयाणां शुद्धिस्त्रिकशुद्धिः ।

पासत्थे ओसन्ने, कुसीलसंसत्त तह अहाछंदे ।
एएहि जो विरहितो, पंचविसुद्धो हवइ सो उ ॥

पार्श्वस्थोऽवसन्नः कुशीलः संसक्तो यथाच्छन्द एते पञ्चापि प्राक् सप्रपञ्चं प्ररूपिता एतैः स्थानैर्यो विरहितः स पञ्चविशुद्धो भवति । पञ्चविशुद्धावेव प्रकारान्तरमाह ॥

पंच य महव्वयाइं, अहवा वि नाणदंसणचरित्तं ।
तव विणओ वि य पंच उ, पंचविहुवसंपया वावि ।

वाशब्दः प्रकारान्तरोपप्रदर्शने पञ्च महाव्रतानि अथवा ज्ञानं दर्शनं चारित्रं तपो विनय इति पञ्च । यदि वा पञ्चविधा ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवैयावृत्त्यभेदतः पञ्चप्रकारा उपसंपत् पञ्च तैः पञ्चभिर्विशुद्धः पञ्चविशुद्धः ॥ सुशिक्षामाह ।

सोभणसिक्ख सुसिक्खा, सा पुण आसेवणे य गहणे य ।
दुविहाए वि न हाणी, जत्थ उ कहियं निवासेउं ॥

शोभना शिक्षा सुशिक्षा सा द्विविधा तद्यथा आसेवने ग्रहणे च । आसेवने प्रत्युपेक्षणादेः सामाचार्या ग्रहणमागमस्य । एतस्यां द्विविधायामपि यत्र न हानिस्तत्र वासः कल्पते कर्तुम् ।

एएसु ठाणेसुं, सीयंते चोदंति आयरिया ।
हावेंति उदासीणा, न तं पसंसंति आयरिया ॥

एतेषु स्थानेषु तपःप्रभृतिषु स्वयमाचार्या हीयमाना न दृश्यन्ते शिष्यास्तु केचित्सीदन्ति तान् सीदतो यत्राचार्याश्चोदयन्ति तं गच्छं निवासयोग्यमन्या आचार्याः प्रशंसन्ति । यत्र पुनराचार्या उदासीना मध्यस्थाः सामाचारीं हापयन्त उपेक्षन्ते न तं प्रशंसन्त्याचार्याः नासौ गच्छ उपसंपादनीय इत्यर्थः ।

किं कारणमत आह ॥

आयरियउवज्झाया, नाणुण्णाया जिणेहिं सिप्पट्ठा ।
णाणे चरणे जोगा-वहा उ ते अणुण्णाया ॥

आचार्या उपाध्यायाश्च जिनैस्तीर्थकृद्भिर्न शिल्पार्थाः शिल्पशिक्षणनिमित्तमनुज्ञाताः । कैः कारणैः पुनरनुज्ञातास्तत आह । ज्ञाने चरणे च ये योगास्तेषामावहाः प्रापका यतो भविष्यन्ति ततस्ते अनुज्ञाता ज्ञानचरणस्फातिनिमित्तमनुज्ञाता इत्यर्थः । अपि चेदृशा आचार्योपाध्याया अनुज्ञाताः ।

नाणचरणे निउत्ता, जा पुव्वपरूविया चरणसेढी ।
सुहसीलठाणविजढे, निच्चं सिक्खावणाकुसला ॥

ज्ञाने एकग्रहणात् तज्जातीयस्य ग्रहणमिति न्यायाद्दर्शने चारित्रे च नियुक्ताः सततोद्यतास्तथा सुखशीलाः पार्श्वस्थादयः तेषां स्थानं यत्ते सेवन्ते तद्विजढे तद्रहिते या पूर्वं कल्पाध्ययने कृतिकर्मसूत्रे चरणश्रेणिः प्ररूपिता तस्यां स्थितास्तथा नित्यं सदा शिक्षापनायां ग्रहणशिक्षायामासेवनाशिक्षायां च ग्राहयितव्यायां कुशलाः समर्थाः ईदृशां समीपमुपगम्योपसंपत्तव्यम् । गतं परिच्छहाणित्ति द्वारम् । इदानीमसतित्ति द्वारमाह ।

जेण वि पडिच्छितो सो, कालगतो सो वि होइ आहच्च ।
सो वि य सावेक्खो वा, निरवेक्खो वा गुरू आसि ॥

येनापि स प्रतीच्छितो यस्य समीपे स शिष्यपरिवार उपसंपन्न इत्यर्थः सोऽपि (आहच्च) कदाचित्कालगतो भवेत् सोऽपि च गुरुः कालगतः सापेक्षो वा आसीन्निरपेक्षो वा । तत्र यः सापेक्षः सोऽमुं विधिं करोति ।

सावेक्खो सीसगणं, संगहकारेइ आणुपुव्वीए ।
पाडिच्छागगवेत्ति, एस वियाणे अह महल्लो ॥

सापेक्षः शिष्यगणं स्वदीक्षितशिष्यसमूहमभिनवस्थापितस्य संग्रहमानुपूर्व्यानुपूर्वीकथनेन कारयति । यथा पूर्वं सुधर्मस्वामी गणधर आसीत् । ततस्तच्छिष्यो जम्बूस्वामी तस्यापि शिष्यः प्रभव एवं तावद्यावत्संप्रति वयमहमपि च संप्रति महान् वृद्धीभूतस्ततोऽसौ योऽमुको गणधरः स्थापितो वर्तते तस्याज्ञां कुर्यात् वैनयिकादिकं च । तथा ज्ञानदर्शनादिप्रतीच्छादिनिमित्त-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मागताः प्रतीच्छागतास्तानपि ब्रूते एष मम स्थाने विज्ञायेत म-मैवैतस्य संप्रति वैनयिकादिकं कर्तव्यमित्यर्थः । अत्रैवाऽर्थे दृष्टान्तमाह ।

जह राया व कुमारं, रज्जे ठावेउमिच्छए जं तु ।
भडजोहे वेतित्तिगं, सेवह तुब्भे कुमारं ति ॥
अह पं अतीमहल्लो, तेसिं वित्ती उ तेण दावेइ ।
सो पुण परिच्छिऊणं, इमेण विहिणा उ ठावेइ ॥

यथा राजा यं कुमारं राज्ये स्थापयितुमिच्छति तं प्रति भटान् योधांश्च ब्रूते सांप्रतमयं महान् ततो यूयं सेवध्वममुकं कुमारमिति एवं तानुक्त्वा तेषां वृत्तिस्तेन कुमारेण दापयति येन ते तदनुरक्ता जायन्ते स पुनः कुमारोऽनेन वक्ष्यमाणेन विधिना परीक्ष्य राज्ये स्थाप्यते । तमेव विधिमाह ।

परमन्न भुंजसुणगा, छड्डणदंडेण वारणं वितिए ।
भुंजइ देइ य तइओ, तस्स उ दाणं न इयरेसिं ॥

राजा बहूनां कुमाराणां मध्ये कतरं कुमारं युवराजं स्थापयामीति विचिन्तयन् परीक्षानिमित्तं तान् सर्वान् कुमारान् शब्दापयित्वा तेषां पृथक् पृथक् स्थाले परमान्नं पायसं परिवेषयति परिवेष्य शृङ्खलाबद्धान् शुनकान् व्याघ्रकल्पान् कुमारान् प्रति मोचयति ते च शुनका वेगेन कुमारसमीपमागतास्तत्रैको राजपुत्रः शुनकभयेन पायसं परित्यज्य पलायितः द्वितीयो राजपुत्रो दण्डेन तेषां शुनकानां वारणं करोति भुङ्क्ते च न च किमपि तेभ्यो ददाति तृतीयः पुनः स्वयं भुङ्क्ते शुनकेभ्योऽपि च स्वस्थालात् परस्थालाच्च ददाति तस्य तृतीयस्य राजपुत्रस्य राज्यदानं नेतरयोर्द्वयोः । किं कारणमिति चेदत आह ।

परबलपेल्लिओ नासति, वितिओ दाणं न देइ उ भडाणं ।
न वि जुज्जंते ते उ, एए दोवी अणरिहाओ ॥

प्रथमो यदा परबलमागच्छति तदा तेन परबलेन प्रेरितः सन् राज्यमपहाय नश्यति । द्वितीयो न भटानां सुभटानां किमपि ददाति न च ते भटा दानमृते परबले समागते युध्यन्ते ततः समर्थस्यापि परबलेन प्रेरणमत एतौ द्वावपि राज्यस्यानर्हौ ॥

तइओ रक्खइ कोसं, देइ य भिच्चाण ते य जुज्झंति ।
पालेयव्वे अरिहा, रज्जं तो तस्स तं दिन्नं ॥

तृतीयः पुनः कुमारः कोशं भाण्डागारं रक्षति भृत्यानां सुभटानां ददाति ततस्ते भृत्याः परबले समागते युध्यन्ते ततः पराजग्नं परबलमपगच्छति तदपगतौ च स्वराज्यसौख्यमतः स पालयितव्ये राज्ये अर्ह इति तद्राज्यं राज्ञा तस्य दत्तं यथा भो लोका एष युवराजो युष्माभिरेव आसेवनीयः ॥

अभिसित्तो सट्ठाणं, अणुजाणे भडादिअहियदाणं च ।
वीसुम्मि य आयरिय, गच्छे वि तयाणुरूवं तु ॥

एवं तस्मिन् युवराजे स्थापिते यदा राजा कालगतो भवति तदा ते भटप्रभृतयस्तं युवराजं; राजानमभिषिञ्चन्ति अभिषिक्ते सति तस्मिन्सेवका उपस्थाप्य स्वं स्वमायोगस्थानं निवेदयन्ति ततः सोऽभिषिक्तो नवको राजा यस् यस्य पूर्वमायोगस्थानं तत्तस्मै अनुजानाति अधिकं च तेषां भटादीनां दानं द्विपदादिदानं ददाति । एष दृष्टान्तोऽयमर्थोपनयः । विष्वग्भूते शरीरे पृथग्भूते मृत इत्यर्थः । आचार्ये गच्छेऽपि तदनुरूपं तृतीयराज्यार्हकुमारानुरूपमाचार्यं स्थापयन्ति । इयमत्र भावना । आचार्येण द्रव्यादिषु शिष्याः परीक्षणीयाः । तत्र योऽशक्तिको भीरुः स राजप्रद्वेषादिषु समुत्पन्नेषु गणमपहाय नश्यतीति प्रथमकुमार इव गुरुपदस्यानर्हः । यः पुनरदाता सोऽदायकत्वेन संग्रहोपग्रहौ न करिष्यतीत्ययोग्यः । यस्त्वभीरुतया शुनकस्थानीयान्वादीपकान्वारयति दायकत्वेन च संग्रहोपग्रहौ करोति स योग्य इति गणधरपदे स्थापयितव्यः । तस्मिंश्च स्थापिते कालेन विष्वग्भूते आचार्ये साधवः कृतप्राञ्जलयस्तमुपतिष्ठन्ते उपस्थाप्य च यो यस्य पूर्वं नियोग आसीत् स तं तस्मै नवकाचार्याय कथयति । एतदेवाह ।

दुविहेणं संगहेणं, दव्वे संगिण्हए महाभागो ।
तो विअवेंति ते वि, तं चेव य ठाणयं अम्हं ॥

सोऽभिनवस्थापितो महाभागो गच्छं द्विविधेन संग्रहेण द्रव्यसंग्रहेण भावसंग्रहेण च तत्र द्रव्यसंग्रहेण वस्त्रपात्रादिना भावसंग्रहेण ज्ञानादिना संगृह्णाति एवं संगृह्णति तस्मिन् ततस्तेऽपि साधवः कृतप्राञ्जलयस्तं विज्ञपयन्ति यथा तदेव स्वं स्वं स्थानमस्माकं प्रयच्छन्त्विति । अथ किं किं तेषां स्थानमिति तत्स्थाननिरूपणार्थमाह ।

उवगरणवालवुड्ढा, खमगगिलाणे य धम्मकहिवादि ।
गुरुचिंतवायणा पे-सणेसु कितिकम्मकरणा य ॥

एको ब्रूते अहम् (उपकरणम्मि) उपकरणोत्पादक आसम् अन्योऽहं बालवृद्धानां वैयावृत्त्यकरोऽपरः क्षपकवैयावृत्त्यकरोऽन्यो ग्लाने इति ग्लानवैयावृत्त्यकरः । अपरो धर्मकथा धर्मकथाव्यापारनियुक्तः अन्यो वादी परवादिमथने नियुक्तः (गुरुचिंतम्मि) अपरो ब्रूते अहं गुरोर्यत्कर्तव्यं तत्र नियुक्तः (वायणम्मि) अपरोऽहं वाचनाचार्यत्वे नियुक्तः । अन्योऽहं प्रेषणे नियुक्तः अपरो ब्रूते अहं कृतिकर्मकरणे विश्रामणे ।

एएसुं ठाणेसुं, जो आसि समुज्जओ अठविओ वि ।
ठविओ वि य न विसीयइ, स ठाविउमलं खलु परेसिं ॥

एतेषु खलु उपकरणादिषु कृतकर्मपर्यवसानेषु स्थानेषु यः पूर्वमस्थापितोऽपि गणधरपदे समुद्यत आसीत् स गणधरपदे स्थापितोऽप्येतेषु स्थानेषु न विषीदति कृतकरणत्वात्स इत्थंभूत एतेषु स्थानेषु परान् गाथायां षष्ठी द्वितीयार्थे प्राकृतत्वात् यथा 'माषाणामश्नीयादित्यत्र' स्थापयितुमलम् ।

एवं ठितो ठवेइ, अप्पाण परस्स गो वि सो गावो ।
अठितो न ठवेइ परं, न य तं ठवियं चिरं होइ ॥

एवं पूर्वं गणधरपदे अस्थापित एतेषूपकरणादिस्थानेषु स्थितः सन् आत्मनः परस्य चैतेषु स्थापयति गोवृष इव गाः स्वस्थाने यः पुनः पूर्वमेतेषु स्थानेषु स्थितः स परमुपलक्षणमेतदात्मानं च न स्थापयति स्वयं तत्राभ्यासत्वात् न च तत्स्थापितं चिरं भवति । कस्मादिति चेदुच्यते । स यदाऽन्यान् उपकरणादिष्वनुद्यच्छतः शिक्षयति यथा सति बले किं यूयं स्वशक्त्या नोद्यच्छथानुद्यच्छन्तो हि वैयावृत्त्यफलात् भ्रंशथ । तदा ते चिन्तयेयुः यदि वैयावृत्त्यफलमभविष्यत् ततस्त्वमप्येतेषु स्थानेषूदयंस्यथा इति । अथवा वैयावृत्त्यफलं श्रद्दधानोऽपि पञ्जूरत्वेनैवं मन्येरन् एवं जानन्तो यूयं किं पूर्वं नावर्तिष्ध्वमिति । संप्रति गोवृष इव गा इति दृष्टान्तं भावयति ।

पउरतणपाणियाइं, रहियाइं खुद्दजंतूहिं ।
नेइ वि सो गोणीउ, जाणइ य उवट्ठकालं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वृषो बलीवर्दो गोधनानि प्रचुरतृणपानीयानि तथा क्षुद्रजन्तुभिः क्षुद्रप्राणिभी रहितानि नयति जानाति च । उपस्थानकालमत्यागमेवर्वां ज्ञात्वा च स्वस्थानमानयति एवमभिनवस्थापित आचार्यो गच्छं स्वस्वव्यापारे नियोजयन्परिपालयति ।

अत्रैव दृष्टान्तान्तरमाह ।

जह गयकुलसंभूतो, गिरिकंदरविसमकडयदुग्गेसु ।
परिवहति अपरितंतो, नियगसरीरुग्गवेदंते ॥

यथा गजकुलसंभूतोऽनेन जात्यतामाह गिरिकन्दरेषु गिरिगुहासु विषमकटकेषु विषमेषु गिरिपादेषु दुर्गेषु वा अपरिश्रान्तोऽश्रान्तः सन्निजशरीरोद्गतान् दन्तान्परिवहति ॥

इयपवयणभत्तिगतो, साहम्मिय वच्छलो असढभावो ।
परिवहइ साहुवग्गं, खेत्तविसमकालदुग्गेसु ॥

इति अनेन गजदृष्टान्तप्रकारेण प्रवचनभक्तिगतो गच्छवाहकत्वं प्रवचनभक्तिं मन्यमानः साधर्म्मिकवत्सलो लिङ्गप्रवचनाभ्यां ये साधर्म्मिकास्तद्वात्सल्यपरायणोऽशठभावोऽमायावी विषमेषु क्षेत्रेषु विषमेषु च कालेषु दुर्भिक्षमार्याद्युपद्रवप्रातसंकुलेषु दुर्गेषु च साधुवर्गं परिवहति तस्य समीपे स्थातव्यम् । गतमसतीति द्वारम् ।

इदानीमागमनद्वारमाह–

जत्थ पविट्ठो जइ तेसु, उज्जया होउ पच्छहा वेंति ।
सीसा आयरितो वा, परिहाणी तत्थिमा होइ ॥

यत्र गच्छे सशिष्यपरिवारः प्रविष्टः सन् सूत्रार्थानामागमनं करोति तत्र यदि ते साधवः पूर्वं सुष्ठु उद्यता भूत्वा पश्चात्सामाचारीं हापयन्ति आचार्यो वा पश्चात्परिहापयति । तत्र हानिरियं वक्ष्यमाणा भवति ज्ञातव्या । तामेवाह ॥

पडिलेहदियतुयट्टण–निक्खिवआयाणविनयसज्झाए ।
आलोयठवणमंडलि–भासागिहमत्तसेज्जतरे ॥

(पडिलेहिंत्ति) उपकरणं न प्रत्युपेक्षन्ते । तथा अग्लाना मार्गपरिश्रमरहिताश्च दिवा त्वग्वर्तनं कुर्वन्ति शेरते इत्यर्थः (निक्खिवत्ति) दण्डादिकं निक्षिपन्तः प्रत्युपेक्षन्ते न परिमार्जयन्ति दोषैर्वा दुष्टं प्रत्युपेक्षणं परिमार्जनं वा कुरुते (आयाणत्ति) दण्डादिकमाददाना न प्रत्युपेक्षन्ते न प्रमार्जयन्ति दुष्प्रत्युपेक्षणं दुष्प्रमार्जनं वा कुर्वन्ति । विनयं कृतकर्म्मलक्षणं वाचनादिषु न कुर्वन्ति (सज्झाएत्ति) स्वाध्यायो वा न क्रियते । मण्डलीसामाचारीं वा न कुर्वन्ति (आलोयत्ति) संखडीं शरीरं वा प्रलोकन्ते यदि वा आलोचना न क्रियते । अनालोचितं भुञ्जते इत्यर्थः (ठवणत्ति) स्थापना कुलानि विशन्ति स्थापितं वा गृह्णन्ति (मंडलित्ति) भोजनमण्डलीं सामाचारीं हापयन्ति (भासत्ति) भाषायामसमिता भाषन्ते एकग्रहणे तज्जातीयग्रहणमिति न्यायात् । शेषास्वपि समितिष्वसमिता (गिहिमत्तत्ति) गृहिमात्रकेषु पर्यङ्कादिष्वानीतं गृह्णन्ति (सेज्जयरेत्ति) शय्यातरपिण्डं भुञ्जते ॥

एमादी सीयंते, वसभा चोयंति चिट्ठति ठियम्मि ।
असती थेरा गमणं, अच्छति ताहे पडिच्छंतो ॥

एवमादिष्वादिशब्दात्क्रमादिपरिग्रहः । सीदतः साधून् गुरुं वा वृषभाश्चोदयन्ति शिक्षयन्ति । तत्र यदि चोदितः साधुवर्गो गुरुर्वा तिष्ठति ततस्तस्मिन् स्थिते सोऽपि सशिष्यपरिवार आगन्तुकस्तिष्ठति (असतीत्यादि) असति शिक्षायाः पुनः प्रत्यावर्तनस्य वा अभावो यदि ततो यावत्पाक्षिके चातुर्मासिके संवत्सरे वा कुलस्थविराणां वा गमनं भवति तावत्तत्प्रतीक्षमाण आस्ते तेषु च कुलादिस्थविरेषु समागतेषु निवेदयति तथाप्यतिष्ठत्सु ततो निर्गमनमेतदेव व्याचिख्यासुः प्रथमतो वृषभचोदनं सप्रायश्चित्तमाह ।

गुरुवसभगीयगीते, अचोदेंति गुरुगमादि जा लहुओ ।
सारेइ सारवेई, खरमउएहिं जहावत्थं ॥

वृषभः प्रतिपन्नगच्छभारः स्वयं सारयति शिक्षयति अथवा यो येनोपशाम्यति तं तेन सारापयति शिक्षापयति । कथमित्याह । आचार्योपाध्यायवृषभस्थविरभिक्षुकाणां मध्ये यथावस्तु वस्त्वनतिक्रमेण खरमृदुभिर्वचनैः सारयति सारापयति वा । किमुक्तं भवति यः खरेण साध्यस्तं खरेण खरण्टयति मृदुसाध्यं मृदुभिर्वचनैः सारयति अन्यथा प्रायश्चित्तं तदेव पूर्वोक्तेन निदर्शयति (गुरु इत्यादि) वृषभो गुरुमाचार्यमुपाध्यायं वा न प्रतिचोदयति तदा चतुर्गुरुकं वृषभो वृषभं न प्रतिचोदयति चतुर्लघु । वृषभो गीतार्थं न प्रतिचोदयति मासलघु । अक्षरयोजना त्वेवं गुरुवृषभगीतागीतान् चोदयन्ति । गुर्वादिचतुर्गुरुप्रभृतियावदन्ते लघुको मासः । अत्र पुनःसीदत्सु चत्वारो भङ्गास्तानेवाह ॥

गच्छो गणी न सीयइ, विई न गणीउ तइए न वि गच्छो ।
जत्थ गणी अवि सीयइ, सो पावतरो न उण गच्छो ॥

गच्छः सीदति गणी चेति प्रथमः । गच्छः सीदति न गणीति द्वितीयः । न गच्छः सीदति किं तु गणीति तृतीयः । न गच्छो नापि गणीति चतुर्थः । तथा चाह द्वितीये भङ्गे गणी न सीदति तृतीये न गच्छः चतुर्थे सीदनमधिकृत्य शून्य इति नोपात्तः । तत्राद्येषु त्रिषु भङ्गेषु मध्ये यत्र प्रथमे तृतीये वा गणी स पापतरो यत्र पुनर्गच्छः सीदति न गणी नासौ द्वितीयः पापतरः । किं कारणमिति चेदत आह ।

आयरिए जयमाणे, चोएउं जे सुहं हवइ गच्छो ।
तम्मि उ विसीयमाणे, चोयणमयरे कहं गेण्हे ॥

आचार्ये यतमाने गच्छः सुखेन चोदयितुं शक्यमानो भवेत् आचार्यस्य प्रतिभयाभावादतः प्रथमतृतीयौ भङ्गौ एतस्मिन्नाचार्ये पुनर्विषीदति चोदनां शिक्षामितरे साधवः कथं गृह्णीयुर्न च गृह्णीयुरिति भावः । आचार्यप्रतिभयाभावादतः प्रथमतृतीयौ भङ्गौ पापतरौ न द्वितीय इति ।

आसन्नठिएसु उज्जुएसु, जहति सहसा न तं गच्छं ।
मा दूसज्ज अदुट्ठे, दूरतरे चापणो सेज्जा ॥

यद्यपि नाम आसन्ने प्रदेशे उद्यतविहारिणः स्थिता विद्यन्ते तथापि तेष्वासन्नस्थितेषूद्यतेषु सहसा न तं गच्छं जहाति परित्यजति किं कारणमिति चेदत आह तन्मा अदुष्टान् दूषयेत गच्छम् । किमुक्तं भवति । ये न विषीदन्ति तेऽपि सीदत्साधुसंसर्गतो मा विषीदेयुरिति येऽपि सीदन्ति तेऽतिदूरतरं निर्गततरं प्रणश्येयुर्विषीदेयुः । तदेवं वृषभचोदनं भावितम्

इदानीं स्थविरागमनं भावयति ।

कुलथेरादी आगम–चोयणया जेसु विप्पमायंति ।
चोदयति तेसु ठाणं, अठिएसु उ निग्गमो भणितो ॥

वृषभशिक्षायाः प्रत्यावर्त्तनस्य वा अभावे पाक्षिके चातुर्मासिके सांवत्सरिके वा यावत् कुलस्थविराणां गणस्थविराणां संघस्थविराणां वा आगमस्तावत्प्रतीक्षते कुलस्थविरादीनां चागमे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तेषां निवेदना क्रियते ततस्ते स्थविरा येषु स्थानेषु ये विप्रमाद्यन्ति तेषु स्थानेषु वा न प्रतिचोदिताः। यदि स्थितेषु सत्सु स शिष्यपरिवारस्तत्रैव स्थानं करोति स्थितेन च तेन द्विविधाऽपि शिक्षा शिक्षणीया। अथ ते चोदिताः सन्तो न स्थितास्ततस्तेष्वस्थितेषु ततो गच्छति गच्छनिर्गमो भणितस्तीर्थकरगणधरैः गतमागमनद्वारम् । एतिले निर्गमद्वारमतस्तदेव भावयति ।

कप्पसमत्ते विहरइ, असमत्ते जत्थ हुंति आसन्ना ।
साहम्मि तहिं गच्छे, असतीए ताहि दूरं पि ॥

यदि आचारप्रकल्पः सूत्रतोऽर्थतश्च समाप्तो भवति ततस्तस्मिन् कल्पे आचारप्रकल्पे समाप्ते स्वयं यथाविहारक्रमं विहरति । अथ नाद्यापि समाप्त आचारप्रकल्पस्तर्हि तस्मिन्नसमाप्ते यस्यां दिशि आसन्ना अनन्तरक्षेत्रवर्त्तिनः साधर्म्मिकाः संविग्नसांभोगिकास्तत्र गच्छेत् । अथासन्ना न विद्यन्ते, तत आसन्नानामसत्यभावे दूरमपि गच्छेत् । कथं गच्छेदत आह ।

वइयादीए दोसे अ–संविग्गे यावि सो परिहरंतो ।
केउ असंविग्गा खलु, नइया दोसा मुणेयव्वा ॥

व्रजिकादीन् दोषान् व्रजिका गोकुलम् आदिशब्दात् स्वमातापितृपूर्वपरिचितपश्चात्परिचितकुलपरिग्रहस्तान् दोषान् इह व्रजिकादयः प्रतिबन्धदोषहेतुत्वाद्दोषा इत्युक्तास्तथा संविग्नांश्चापि स परिहरन् गच्छेत् । अथ के खल्वसंविग्नाः सूरिराह । नित्यादेया नित्यवास्यादयस्ते ज्ञातव्याः । तेषामपि इरणे प्रवेशादौ प्रायश्चित्तविधिमाह ।

निइयादीए अहच्छंदं, वज्जिए पविसदाणगहणे य ।
लहुगा भुंजणगुरुगा, संघाडे मासो जम णं ॥

इह मार्गे गच्छता अपान्तराले संविग्नसमनोज्ञानां वसतौ वस्तव्यं तदभावे नैत्यिकादीनां संविग्ने च अमनोज्ञानां निवेद्यान्यस्यां वसतौ स्थातव्यं यदि पुनर्नैत्यिको नित्यवासी आदिशब्दात्पार्श्वस्थादिपरिग्रहस्तस्मिन् नैत्यिकादिके यथाच्छन्दवर्जिते प्रविशति यदि वा तेभ्यः किमपि भक्तादिकं ददाति अथवा तेभ्यो गृह्णाति तदा प्रवेशे ग्रहणे दाने च प्रत्येकं चत्वारो लघुकाः। (भुंजणगुरुका इति) अथ तैः सह भुङ्क्ते तदा भोजने चत्वारो गुरुकाः। अथ नैत्यिकादिसंघाटं याचित्वा तेन सह हिण्डते ततः संघाटेन हिण्डने लघुको मासः (जंमणमिति) यच्च तेन संघाटकेन हिण्डमानोऽकल्पिकग्रहणतस्तदास्वादते न लाम्पट्यतः सेविष्यते तदपि च प्रायश्चित्तं प्राप्नोति । तदेवं यथाच्छन्दवर्जितो नैत्यिकादौ प्रवेशादिषु प्रायश्चित्तमुक्तमधुना यथाच्छन्दे तदाह

एए चेव य गुरुगा, पच्छित्ता होंति उ अहाच्छंदे ।
अणुमोएसुं मासो, भुंजणे होंति चउगुरुगा ॥

एतान्येव प्रायश्चित्तानि यथाच्छन्दे गुरुकाणि भवन्ति । तद्यथा प्रवेशे दाने ग्रहणे भोजने चत्वारो गुरुकाः। संघाटे गुरुको मासः अथामनोज्ञेषु संविग्नेषु प्रविशति तदा प्रवेशे दाने ग्रहणे भोजने चत्वारो गुरुकाः। संघाटे गुरुको मासः। अथामनोज्ञेषु संविग्नेषु प्रविशति तदा प्रवेशे दाने ग्रहणे च प्रत्येकं लघुको मासः। अथ तैः सह भुङ्क्ते तदा चत्वारो गुरुकाः संघाटे लघुको मासः। यत एवमसंविग्नेषु प्रायश्चित्तानि तस्मादेतान्परिहरेत् । अथ मार्गे संविग्ना न सन्ति ततः कारणवशतोऽसंविग्नेष्वपि गन्तव्यं पतितमिदानीमसंविग्नद्वारं तेषु च गत्वा यत्कर्तव्यं तदाह ।

संविग्गणंतरिया, पक्खि संघाडए असति एगो ।
साहम्मिएसु जयणा, तिन्नि दिणपडिच्छसज्झाए ॥

(सविग्गंति) संविग्नगुणैनैकेनान्तरिता व्यवहिताः संविग्नैकान्तरिता असंविग्नास्तेषु कारणवशतो गन्तव्यं तत्र च भिक्षां निवसनं च कुर्वतो यथा प्रथमोद्देशके परिहारिकस्य यतनोक्ता तथात्रापि द्रष्टव्या। तैरपि असंविग्नैर्यदि स एकाकी ततः एकाकिनः सतस्तस्य संघाटको दातव्यः । अथ योऽसौ द्वितीयको योग्यो दातव्यः सोऽन्यत्र प्रेषणेन गतो वर्त्तते ततस्ते शुश्रूषार्थे एकरात्रं द्विरात्रं त्रिरात्रं वा प्रतीक्षणीयः । तत एतेन कारणेनोत्कर्षतः त्रिरात्रमपि प्रतीक्षेत असति संघाटके एक एकाकी व्रजेत् तस्य च तथा व्रजतोऽपान्तराले यदि साधर्म्मिका भवन्ति ततस्तन्मध्ये गत्वा वस्तव्यम् । कारणं च निवेदितम् । कारणे तैः संघाटको दातव्यस्तदभावे ततो व्रजनीयमथ प्रतिपृच्छानिमित्तमेकं द्वे त्रीणि वा दिनानि यावत्प्रतीक्षापयेत् तत आह स्वाध्यायनिमित्तं प्रतिपृच्छानिमित्तमित्यर्थः उत्कर्षतस्त्रीणि दिनानि प्रतीक्षेत एषा साधर्म्मिकेषु यतना तदेवमसंविग्नद्वारमुक्तम् ।

इदानीं निवेदनाद्वारमाह ।

बहिगामघरे सन्नी, सो वा सागारिओ बहिं अंतो ।
ठाणनिसिज्जतुयट्टण–गहियागहिएण जागरणा ॥

संविग्नसमनोज्ञानामभावे ग्रामस्य बहिर्नैत्यिकादीनां निवेद्य तिष्ठति ग्रामस्य बहिः प्रत्यपायसंभवे ग्रामस्यान्तः शून्यगृहे तत्रापि निवेदना कर्तव्या । शून्यगृहस्याभावे संज्ञी श्रावकस्तस्य गृहे वस्तव्यम् । स वा संज्ञी श्रावकः सागारिकोऽगारिसहितः स्यात्तर्हि तस्य गृहस्य बहिरन्तर्वा या कुटी तत्र वस्तव्यम् । तस्याप्यभावे अमनोज्ञेषु संविग्नेषु वस्तव्यम् । तेषामप्यभावे नित्यकादिष्वसंविग्नेषु वसति । तत्रेयं यतना स्थानमूर्द्धस्थानं निषद्या उपवेशनम् त्वग्वर्त्तनं दीर्घकायप्रसारणं तेषु गृहीतेनागृहीतेन उपकरणेन जागरणं कर्त्तव्यम् । एष द्वारगाथासंक्षेपार्थः व्यासार्थं त्वभिधित्सुराह । प्रथमतो बहिर्ग्राममिति व्याख्यानयति ।

वसहीए समणुण्णासइ, गामबहिं ठाइ सो निवेदेइ ।
अनिवेदियम्मि लहु तु, आणाईविराहणा चेव ॥

समनोज्ञानां संविग्नानां वसतेरसत्यभावे ग्रामाद्बहिस्तिष्ठति न पुनर्नैत्यिकादिष्वसंविग्नेषु प्रवेष्टव्यं प्रागुक्तप्रायश्चित्तभावात्। स च बहिस्तिष्ठति तेषां नैत्यिकादीनां वा संविग्नानां वा अमनोज्ञानां निवेद्य कथयित्वा यदि पुनर्न निवेदयति ततोऽनिवेदिते प्रायश्चित्तं लघुको मासः। आज्ञादिविराधना आदिग्रहणादात्मविराधना संयमविराधना च परिगृह्यते । तथाहि इयं भगवदाज्ञा तेषां निवेद्य बहिर्वस्तव्यम् । अनिवेदनायामाज्ञालोपः ।

आत्मविराधनां संयमविराधनां चाह ।

गहणेण कहिंति, काहेण जं च पाविहिती तत्थ ।
तम्हा उ निवेएज्जा, जयणा एतेसिमाएउ ॥

अनिवेदने सति कदाचित् ग्लानो जायेत ग्लान्ये सति नास्माकं किमपि तेन निवेदितमिति क्रोधेन न किमपि ग्लाने कृत्यं करिष्यन्ति । गृहस्थाश्च तं तथाभूतं ग्लानं दृष्ट्वा तेषां नैत्यिकादीनां निवेदयेयुर्यथा युष्मदीयो ग्लानोऽसंग्राहको वर्तते ततस्ते ग्राममध्ये वा एषोऽस्मदीयो न भवति यदि भवेत्तदा अस्माकमुपाश्रये तिष्ठेत् निवेदयेद्वा । एवं यत्र ग्लानत्वेन वा आरक्षकादिग्रहणं तत्र यदर्थं प्राप्स्यति संयमविराधनात्मकमात्मविराधनात्मकं वा तत्सर्वमनिवेदनानिमित्तं तस्मात्तेषामनया वक्ष्यमाणया यतनया निवेदयेत् । तामेव यतनामाह ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तुब्भं अहेसि दारं, उस्सूरोत्ति जुताए एवं तु ।
न य नज्जइ सत्थो वि, चलिहिइ किं केत्तियं वेलं ॥

यदाहमागतस्तदा युष्माकमुपाश्रयद्वारं संकुचितमासीत् तत एवं मया विकल्पितमुत्सूरं वर्त्तते इति युतायां पृथग्भूतायां वसतावुषितः। अपि च न च ज्ञायते सार्थोऽपि किं कियतीं वेलां सप्तम्यर्थे स्यासौ द्वितीया कस्यां वेलायां चलिष्यति ततः पृथगुपाश्रये स्थितः। अथ स वेलायामागतस्तत इदं वदेत् ॥

साहुसगासे वसिउं, अतिप्पियं मज्झ किं करेमि त्ति ।
सत्थवसो हं भंते, गोसे मे वहेज्ज उदंतं ॥

साधुसकाशे साधुसमीपे च वस्तुं ममातिप्रियं परं भदन्त ! सार्थवशोऽहं ततः किं करोमि तस्मात् (गोसे मे वहेज्जह उदंतं) साधो ! प्रभाते मे उदन्तं वार्त्तां वहेत ।

एवं न उ दूरत्थे, अह बाहिं होज्ज पच्चवायाओ ।
ताहे सुण्णघरादिसु, वसातिनिवेदितुं तह चेव ॥

एवमनया यतनया निवेदितुं नैव ग्रामाद्बहिर्दूरं वसेत् किं तु ग्रामस्य समीपे वसेदथ बहिस्स्तेनादिकृताः प्रत्यपाया अनर्था भवेयुस्ततस्तथैव पूर्वोक्तप्रकारेणैव निवेद्य शून्यगृहादिषु वसतिमादिशब्दात् श्रावकगृहादिपरिग्रहः। एतदेव भावयति ।

अहु गुव्वासियसकवाड-निव्विले वसति सुसे ।
तस्सासइ सुण्णघरे, इत्थीरहिते वसेज्जा वा ॥

अधुना सांप्रतमुद्वासितमधुनोद्वासितं सकपाटं कपाटसहितमन्यथा स्तेनादिप्रवेशसंभवात् निर्विलं विलरहितमन्यथा सर्पादिसंभवात् निश्चलं न जराजीर्णतया पतितुं प्रवृत्तम् अमीषां च चतुर्णां पदानां षोडश भङ्गाः। तत्र प्रथमो भङ्गः शुद्धः शेषा अशुद्धास्तत आह इत्थम्भूते शून्ये गृहे वसति तस्य शून्यगृहस्यासत्यभावे सांहितगृहे श्रावकगृहे। सोऽपि श्रावको द्विधा संभवति सस्त्रीकः स्त्रीरहितो वा। तत्र स्त्रीरहिते वसेत्।

सहिए वा अंतोवहि, अंतोवीसु घरकुडीए वा ।
तस्सासति नइयादिसु वसेज्ज उ इमा य जयणाए ॥

स्त्रीरहितस्य श्रावकगृहस्याभावे सहिते वा स्त्रीसहिते वा श्रावकगृहे तस्य गृहस्यान्तर्बहिर्वा विविक्ते प्रदेशे वसेत् अन्यथा प्रायश्चित्तं चतुर्गुरु तस्याप्यभावे तस्य श्रावकस्य बहिरन्तः पृष्ठतः पार्श्वतो वा यदिवाऽन्तर्गृहस्य कुटी समस्ति तस्यां वसेत्। तस्यापि कुटीरकस्यासत्यभावे नैत्यिकादिष्वपिशब्दात् पार्श्वस्थादिपरिग्रहोऽनया वक्ष्यमाणया यतनया वसेत् एतावता मूलद्वारगाथोपन्यस्तं निवेदनाद्वारमगमत् ॥ यतनाद्वारमापतितमिदानीं तामेव यतनामाह ।

निइयादि उवधिभत्ते, सेज्जा सुद्धा य उत्तरं मूले ।
संजइरहिए काले, सज्झाए अभिक्खं च ॥

ये नैत्यिकादय उपधौ भक्ते शय्यायामुत्तरगुणैर्मूलगुणैर्वा शुद्धाः किमुक्तं भवति ! ये उत्तरगुणैर्मूलगुणैर्वा शुद्धां शय्यां गवेषयन्ति। शुद्धं भक्तं शुद्धमुपधिं तेषु वसेत् तत्रापि संयतीरहिते तदभावे संयतीसहितेऽपि । ताश्च संयत्यो द्विधा कालचारिण्योऽकालचारिण्यश्च। तत्र याः । पाक्षिकादिष्वागच्छन्ति ताः कालचारिण्यस्तद्व्यतिरेकेणागच्छन्त्योऽकालचारिण्यः स्वाध्यायनिमित्तमभीक्ष्णं चशब्दात् भक्तपानं दातुं ग्रहीतुं वा कन्दपार्थं वा । तत्राकालचारिणीषु महान्तो दोषाः कालचारिणीष्वल्पतरा इति संयतीरहिताभावे कालचारिणीभिः संयतीभिः सहिते वस्तव्यम । एतदेव सप्रपञ्चमभिधातुकाम आह।

सेज्जुवहिभत्तसुद्धे, संजइरहिए य भंगसोलसओ ।
संजइ अकालचारिणि, सहिए बहुदोसला वसही ॥

शय्याशुद्ध उपाधिशुद्धो भक्तशुद्धः संयतीरहित इति चतुर्षु पदेषु सप्रतिपक्षे पक्षाः षोडश। तद्यथा शय्याशुद्ध उपधिशुद्धो भक्तशुद्धः संयतीरहित इति प्रथमः। शय्याशुद्ध उपधिशुद्धो भक्तशुद्धः संयतीसहित इति द्वितीय इत्यादि प्रस्तारैश्चार्पणीयाः। एतेषु च षोडशसु भङ्गेषु मध्ये यत्र यत्र संयत्यस्तत्र कालचारिणीसहिते वस्तव्यं नाकालचारिणीभिर्यत आह संयतीभिरकालचारिणीभिः सहिता बहुदोषा वसतिरिति। आह पूर्वमुपधिभक्तशय्याशुद्धा इत्युक्तमिदानीं भङ्गचिन्तायां प्रथमतः शय्योपात्तं तत्र किं कारणमत आह ।

सागारितेणहिमवासदोसा, दुस्सोहिया तत्थ उ होइ सेज्जा ।
वत्थन्नपाणाणि व तत्थ ठिच्चा, गेण्हंति जोग्गाणुवभुंजते वा ॥

शय्यां विना मण्डल्यामुपविष्टायां सागारिकाः समापतन्ति उपधिग्रहणाय स्तेना वा निपतन्ति हिमप्रपाते वा संयमात्मविराधना दोषाः। तत्र तेषु शय्योपधिभक्तेषु मध्ये शय्या दुःशोधिता भवति । आहारोपधयः शुद्धाः सुखेन लभ्यन्ते महता कष्टेन पुनः शुद्धा वसतिरिति भावः। तथा तत्र शय्यायां स्थित्वा योग्यानि कल्पनीयानि वस्त्रान्नपानानि गृह्णन्त्युपभुञ्जते च। एतैः कारणैर्भङ्गचिन्तायां प्रथमतः शय्या कृता तथा ॥

आहारोवहिसेज्जा, उत्तरमूले असुद्धे य ।
अप्पतरदोसपुव्विं, असतीए महन्नदोसे वि ॥

आहारोपधिशय्याभिरुत्तरगुणविषये अशुद्धशुद्ध इति भङ्गेऽल्पतरा दोषा इत्यत आह प्रथमचिन्तायां ये षोडश भङ्गाः प्रागुक्तास्तेषु मध्ये पूर्वमल्पतरदोषे वस्तव्यं तस्यासत्यभावे महादोषेऽपि। अथ कस्मिन् भङ्गे अल्पतरदोषा इत्यत आह ।

पढमासति बिइयम्मि वि, तहियं पुण भाइ कालचारीसु ।
एमेव सेसएसु वि, उक्कमकरणं पि पूएमो ॥

सर्वेषां भङ्गानां मध्ये प्रथमभङ्ग सर्वाल्पतरदोषा इति तत्र वस्तव्यं प्रथमस्यासत्यभावे द्वितीयेऽपि तत्र पुनस्तिष्ठति कालचारिणीषु संयतीषु एवमेव शेषेष्वपि भङ्गेषु वसति। किमुक्तं भवति । येष्वप्यन्येषु भङ्गेषु संयतीसहितपदं तेष्वपि कालचारिणीभिः सहितेषु वस्तव्यं नाकालचारिणीभिरिति । तथा क्रमकरणमपि अकालचारिणीभिः सहितत्वमपि पूजयामः उपादेयतया प्रशंसयामः सर्वेषां भङ्गानां मध्ये कथमिति चेदुच्यते यस्मिन् भङ्गे शय्याभक्तोपधयः समुदिता भङ्गत एकाद्विका वा शुद्धास्तत्र यद्यकालचारिण्यो भक्तं पानं वा दत्त्वा गृहीत्वा तत्क्षणमेव व्रजन्ति न पुनरागच्छन्ति स्वाध्यायं वा कृत्वा सकाले गच्छन्ति तत्र स्थातव्यं प्रायो दोषाभावादिति ।

एतदेव स्पष्टतरमाह ॥

सेज्जं सोहे उवहिं, भत्तं सोहेइ संजतीरहितो ।
पढमो बितिओ संजइ-सहिओ तओ पुण कालचारीतो ॥

शय्यां शोधयति उपधिं शोधयति भक्तं शोधयति संयतीरहितश्चेति प्रथमो भङ्गः। द्वितीयः संयतीसहितस्ताः पुनः संयत्यः कालचारिण्यो यदि स्युस्तदा वस्तव्यमेवं शेषेष्वपि संयतीसहितेषु भङ्गेषु भावनीयम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अथाकालचारिण्यः कथं स्युरित्यत आह ॥

आयाणे कंदप्पे, विगाल उराक्षियं वसंतीणं ।
निययादी उद्दमहा, संजोए मोत्तहा छंदे ॥

भक्तपानादीनामादाने उपलक्षणमेतत् दाने च तथा कन्दर्पनिमित्तं कन्दर्पग्रहणमुपलक्षणं स्वाध्यायनिमित्तं च विकाले औराहिकमतिशयेन स्फारे प्रभूतवेलायामिति यावत् संयतीनामकालचारिणीत्वं द्रष्टव्यम् । एवं नैत्यिकादीनां यः षड् दशात्रा षोडशप्रकारः संयोगस्तत्र वस्तव्यं किं सर्वत्र नेत्याह मुक्त्वा यथाच्छन्दान्किमुक्तं भवति । तेषु सत्सु यथाच्छन्देषु न वस्तव्यं तदभावे तत्रापि वसेत् । संप्रत्येतेषु नैत्यिकादिषु संवासमधिकृत्य यतनामाह ।

गहियनिसियतुयट्टे वा, गहियागहिए य जग्गसुवणं वा ।
पासत्थादी एवं, नियए मोत्तुं अपरिभूते ॥

पार्श्वस्थादीनामुपाश्रयेषु (गहियत्ति) गृहीतोपकरणः स्थित ऊर्ध्वस्थितो वसेत् । यद्येवं स्थातुं न शक्नोति ततो गृहीतोपकरण एव निषण्णोपगतो जाग्रत्तिष्ठेत् तथाप्यशक्नुवन् गृहीतोपकरणस्त्वग्वृतो जाग्रदवतिष्ठेत् । अथ त्रिष्वप्येतेषु यदि कथमपि प्रचलाया आशङ्का तदा मा पात्रादिभङ्गः स्यादित्युपकरणं पार्श्वे निक्षिप्याऽगृहीतोपकरणो यथासमाधिस्थितो निषण्णस्त्वग्वृतो वा जाग्रत्तिष्ठेत् अथ जागरणं कर्तुं न शक्नोति तत आह स्वपन् वा गृहीतोपकरणोऽगृहीतोपकरणो वा यथा समाधि कुर्यात् । एवं यतना पार्श्वस्थादीनामुपाश्रयेषु द्रष्टव्या । नैत्यिके नित्यवास्युपाश्रये नित्यवासिपरिभुक्तान् प्रदेशान् मुक्त्वा अपरिभुक्ते प्रदेशे उपकरणं निक्षिप्य यथासमाधि जाग्रत्स्वपन्वा वसेत् ।

एमेव अहाच्छंदे, पडिहणणाउज्झाणअज्झयणकण्णा ।
ठाणट्ठितो वि निसामे, सुण आहरणं च गहिएणं ॥

एवमेव पार्श्वस्थादिगतेनैव प्रकारेण यथाच्छन्देऽपि यतना कर्तव्या । नवरं यदि शक्तिस्तर्हि तस्य प्रतिहननं कर्तव्यं यथा स स्वाग्रहं मुञ्चति । अथ न विद्यते तादृशी शक्तिस्तर्हि ध्यानं तथा ध्यायति यथा तद्वचो न शृणोति यदि वा [अज्झयणत्ति] यथाच्छन्दप्रज्ञापनाप्रतिश्रवणमध्ययनं परावर्तयति यथा स ब्रूते मा मां नाशयेति [कण्णत्ति] तस्य यथास्वच्छन्दं देशनां कुर्वतः कर्णौ निजौ स्थगयति येन देशनां न शृणोति दूरतरं वा तिष्ठति । अथ दूरतरस्थानस्थितोऽपि तद्देशनां निशमयति न च निद्रां समागच्छति ततः स यथाच्छन्दो वक्तव्यो यथा शृणु किमप्याहरणं ततो यत्तस्यापूर्वं तदाहरणं कथनीयम् [गहिएणंति] गृहीतेनात्मीयोपकरणेन । एतदेव युक्त्या द्रढयति ॥

जः कारणे निगमणं, दिट्ठं एमेव सेसगा चउरो ।
ओमे असंथरंते, आयारे वइयमादीहिं ॥

यथा कारणे कारणवशतो निगमनं निर्गतं दृष्टमेवमेव तथा कारणवशतः शेषाण्यपि चत्वारि द्वाराण्यसंविग्ने निवेदना यतना इत्येवमादीनि दृष्टानि यथा चाचारे आचारप्रकल्पे अवमे दुर्भिक्षे व्रजिकादिभिरपि आदिशब्दात्स्वशाल्यमनोज्ञासंविग्नपरिग्रहो व्रजेदित्युक्तमतः सोपपत्तिकेयं यतनेति सम्यक् श्रद्धेया । गतं यतनाद्वारम् ॥

अधुना निसृष्टद्वारमाह–

स मणुस्सेसु वि वासो, एगनिसि किमुत अक्खमो मसे ।
असढो पुण जयणाए, अच्छेज्ज चिरं पि उ इमेहिं ॥

स मनोज्ञेष्वपि अपान्तराले वास उत्सर्गत एकां निशामेकां रात्रिं कल्पते किमुत किं पुनरन्येष्वसांभोगिकेष्ववसने उपलक्षणमेतत् पार्श्वस्थादिषु वा । तत्र सुतरामेकरात्र्यधिकं न कल्पते कारणवशतः पुनरुत्कर्षतस्त्रीणि दिनानि वसेत् गतं निसृष्टद्वारम् । इदानीं " दोहवद्धं परिच्छतीत्ये " तद्व्याख्यानार्थमाह (असढो इत्यादि) अशठः पुनर्न केवलमुत्कर्षतस्त्रीणि दिनानि किं तु चिरमपि प्रभूतकालमप्येभिर्वक्ष्यमाणैः कारणैर्यतनया तिष्ठेत् । तान्येव कारणान्याह

वासं खंधारनदी, तेणासावयवसेण सत्थस्स ।
एएहिं कारणेहिं, अजयणजयणा य नायव्वा ॥

वर्षं पतति स्कन्धावारः कटकं तद्वा चलति नदी गिरिनदी पूर्णा वर्तते स्तेना अपान्तराले द्विविधा शरीरापहारिण उपकरणापहारिणश्च श्वापदाः सिंहादयः सार्थस्य वा वशेन गच्छति सार्थश्च चिरमपि तिष्ठन् वर्तते एतैः कारणैश्चिरमप्यपान्तराले तिष्ठति तत्रायतना यतना वा ज्ञातव्या । तत्र यदि यतना कृता तदा न प्रायश्चित्तविषयः । अथायतनामाचरितवान् तदा प्रायश्चित्तं लगति । उक्तः शुद्धस्याशुद्धगमनमिति द्वितीयो भङ्गः ।

संप्रति तृतीयचतुर्थभङ्गावाह ॥

दोसा उ ततियभंगे, गाणगणिया य गच्छभेदो य ।
सुयहाणी कायवहो, दोसि वि दोसा भवे चरिमे ॥

दोषौ द्वौ तृतीयभङ्गे अशुद्धस्य शुद्धगमनमित्येवंलक्षणे तद्यथा गाणगणिकता गणे गणे प्रविशतीत्येवं प्रवादलक्षणा तद्यथा गच्छभेदतश्च । तथाहि तस्मिन्निर्गच्छत्यन्येऽप्येवमेव निर्गच्छन्ति ततो आयते गणविनाशः । चरमेऽप्यशुद्धस्याशुद्धगमनमित्येवंरूपे भङ्गे द्वौ दोषौ अपिशब्दो भिन्नक्रमः स च यथास्थानं योजितः । श्रुतहानिः कायवधश्च निष्कारणं दोषबहुलतया यातो निर्गमने ह्यत्रापि नावकाश इति श्रुतहानिर्मार्गे च गतो ग्लानत्वादिभावतो वा कायवधः । तदेवं भावितमृतुबद्धविषयम् ॥

संप्रति वर्षावासविषयं सूत्रमाह ।

(सूत्रम्) वासावासे पज्जोसविए भिक्खू य जं पुरओ कट्टु विहरेज्जा से य आहच्च विसं भेज्जा अत्थि या इत्थ केइ उवसंपज्जणारिहे उवसंपज्जियव्वेसिया णत्थि वा इत्थ केइ अण्णे उवसंपज्जणारिहे तस्स य अप्पणो य से कप्पइ जाव छेदे वा परिहारे वा ॥

(वासावासेपज्जो इत्यादि) वर्षावासे पर्युषिते भिक्षुर्यं पुरतः कृत्वा विहरति आस्ते स कदाचित् विष्वग्भवेत् शरीरात्पृथग्भवेत् म्रियेत इत्यर्थः । अस्ति वान्यः कश्चिदुपसंपदनार्हः स उपसंपत्तव्यः । नास्ति वा तत्रान्यः कश्चिदुपसंपदनार्हस्तर्हि स आत्मनः कल्पे मा समाप्त इति (से) तस्य कल्पते एकरात्रिक्या प्रतिमया यत्र वसति तत्रैकरात्राभिग्रहणे (जण्णं जण्णमित्यादि) यस्यां यस्यां दिशि अन्ये साधर्मिका विहरन्ति तां तां दिशमुपशातुं न पुनः (से) तस्य कल्पते । तत्रापान्तराले विहारप्रत्ययं वस्तुं कल्पते (से) तस्य । तत्र कारणप्रत्ययं संघाटादिकारणनिमित्तं वस्तुं तस्मिंश्च कारणानिष्ठिते यदि परो वदेत् वस आर्य ! एकरात्रं द्विरात्रं वा वाशब्दात्त्रिरात्रं वा एवं (से) तस्य कल्पते एकरात्रं द्विरात्रं वा वाशब्दात्त्रिरात्रं वा वस्तुं नो (से) तस्य कल्पते एकरात्रात् द्विरात्राद्वा परं वस्तुम् । यत्तत्र एकरात्राद् द्विरात्राद्वा परं वसति ततः (से) तस्य स्वकृतादन्त-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

याच्छेदः परिहारो वा इति सूत्रार्थः । अत्र भाष्यप्रपञ्चः ।

एमेव य वासासु, भिक्खे वसहीए संकमणत्ते ।

एगाहचउत्थादी, असती अग्रस्य तत्थेव ॥

एवमेव ऋतुबद्धविषयस्तत्र तेनैव प्रकारेण वर्षासु सूत्रं भावनीयं नवरं भिक्षायां वसतौ शङ्कायाश्च नानात्वं तत्रान्यत्र गन्तव्यमेकाहेन चतुर्थनादिशब्दात् षष्ठेनाष्टमेन वा असत्यन्यत्र गमने तत्रैव वर्षारात्रः कर्त्तव्यः । एष द्वारगाथासंक्षेपार्थः । सांप्रतमेनामेव विवरीषुः प्रथमतः एवं शब्दं व्याख्यानयति ।

अपरिमाणे पिहब्भावे, एगत्ते अवधारणे ।

एवं सद्दो उ एएसिं, एगत्ते उ इहं भवे ॥

एवं शब्दोऽपरिमाणे पृथग्भावे एकत्वे अवधारणे । तत्रापरिमाणे यथा एवमन्येऽपीत्यादौ पृथग्भावे यथा घटात्पटः पृथक् एवमाकाशास्तिकायात् धर्म्मास्तिकायोऽपीति । एकत्वे यथाऽयमेतद्गुण एवमेषोऽपि अत्र ह्येवं शब्दस्तयोरेकरूपतामभिद्योतयति । अवधारणे यथा केनापि पृष्टमिदमित्थं भवति इतरः प्राह एवं इमित्थमेवेति भावः । एवमेवंशब्द एतेष्वर्थेषु वर्त्तते इह पुनरेकत्वे भवति वर्तते । एकत्ववृत्तिमेव भावयति ॥

एगत्तं उ उबद्धे, जहेव गमणं तु भंगचउरो य ।

तह चेव य वासासु,नवरि इमं तत्थ नाणत्तं ॥

तथैकत्वमेवं शब्दप्रकाश्यमित्थमृतुबद्धेऽन्यत्र गच्छान्तरे गमनं यथा च तत्र भङ्गाश्चत्वारः शुद्धस्य शुद्धगमनमित्येवमादयस्तथा चैव तेनैव प्रकारेण गमनं भङ्गचतुष्टयं च ज्ञातव्यम् । नवरं केवलमिदं तत्र वर्षासु भिक्षायां वसतौ शङ्कायां च नानात्वम् । तत्र भिक्षामधिकृत्याह ।

पउरन्नपाणगमणं, इहरा परे ताव एसणा घातो ।

खेत्तस्स य संकमणे, गुरुगा लहुगा य आभवणा ॥

यो गच्छः प्रचुरान्नपाने स्थितस्तत्र गन्तव्यम् । इतरथा यदि पुनरप्रचुरान्नपाने गच्छे प्रविशति ततस्ते असंस्तरन्त क्षुधा परिताप्यन्ते परितापनं चासहमानैरेषणाघातः क्रियते अनेषणीयमपि गृह्णीयुरित्यर्थः । अथासंस्तरन्तः क्षेत्रसंक्रमणं कुर्वन्ति तदा प्रावृषि क्षेत्रस्य संक्रमणे आरोपणाप्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः । वर्षारात्रे भाद्रपदाश्वयुग्मासद्वयलक्षणे चत्वारो लघुकाः । गतं भिक्षाद्वारम् । अधुना वसतिद्वारमाह ।

वारगजग्गणदोसा, सागारादी हवंति अन्नासु ।

तेणादिसंकलोए, भाविणमित्थं पवासंति ॥

यस्मिन् गच्छे वसतिः संकटा तत्र नोपसंपत्तव्यं यदि पुनरुपसंपद्यते तत इमे दोषाः । संकटायां हि वसतौ वसन्तस्ते वारकेण क्रमेण जागरणं कुर्युरेके जाग्रत्यन्ये स्वपन्ति तदनन्तरं ते जाग्रत्यन्ये स्वपन्ति । एवं क्रमेण जागरणेऽजीर्णत्वादयो दोषाः । अथान्यासु वसतिषु केचित्स्वपनाय व्रजन्ति तर्हि ये प्रागभिहिताः शय्यायां सागारिकादयो दोषास्ते ऽत्रापि भवन्ति गतं वसतिद्वारम् । इदानीं शङ्काद्वारमाह । भिक्षाया अभावतो वसतिसंकटत्वदोषतो वा तत्क्षेत्रसंक्रमणं कुर्वतस्तांश्च गच्छतो दृष्ट्वा लोकस्य स्तेनादिशङ्कोपजायते यथा न कल्पते साधूनां वर्षासु गमनं तन्नूनमेते हेरिकाः स्तेना वा साधुवेषेणाहिण्डन्ते । अथवा (भाविणमित्थं पवासंति त्ति)एतमर्थमुत्पातरूपं यदि वा न निष्पत्स्यते शस्यमित्येवंलक्षणं ततोऽनागता नश्यन्ति तस्माद्वयमपि यत्नं कुर्म्मः तदेवं प्रचुरान्नपाने संकटवसतिस्थिते च गच्छे प्रवेशे इमे दोषाः । तस्माद्ये प्रचुरान्नपानग्रामे स्थिता ये च सावकाशायां वसतौ तत्र संपत्तव्यं तत्र चानया यतनया गन्तव्यम् । तामेवाह ।

आसन्नखेत्त भाविय, खेत्तादपरोप्परं मिलंतेसु ।

जा अट्ठमं अभावे य, माणअडंतं बहू पासे ॥

ये आसन्ने अनन्तरे क्षेत्रे स्थिता गच्छास्तत्र गन्तव्यमसत्यनन्तरे क्षेत्रे ये परे क्षेत्रे स्थिता यैर्भिक्षादिनिमित्तमागच्छद्भिर्गच्छद्भिश्च परस्परं मिलद्भिर्गाथायां सप्तमी तृतीयार्थेऽपान्तराले पथि भाविता ग्रामास्तत्र गन्तव्यं तेषामप्यभावे दूरेऽपि गम्यते । तत्र पुनर्भिक्षामहिण्डमानो गच्छति । किं कारणमत आह । (माणअडंतं बहूपासे) मा इति वाक्यालङ्कारे भिक्षामटन्तं बहु लोकोऽभावितः पश्यत्विति कृत्वा ततोऽभक्तार्थेन यावत्प्राप्यते षष्ठेन वा अष्टमेन वा तत्र गन्तव्यम् । आह यद्यपि चतुर्थादिना गच्छति तथापि लोकः पश्यति । तत्र आह ॥

पायं न रीयइ जणो, वासे पडिवत्तिकोविदो जो य ।

असतो व वच्छेदूरे य, अच्चुए जाय जायंति ॥

प्रायः कर्पजनः क्षेत्राणां जलकर्दमाकुलतया शेषजनो मार्गस्थजलाविलत्वादिना दुर्गमतया वर्षे वर्षाकाले न रीयते न गच्छति । यश्चात्र प्रतिपत्तिकोविदः परप्रतिपादनकुशलस्तेन एवमादिषु विषयेऽनेकान्युत्तराणि जल्पितव्यानि एतावता " एगाहचउत्थादी " इत्यादिव्याख्यातमिदानीमसती अण्णत्थ तत्थेवेति व्याख्यानार्थमाह । " असतोवबद्धेत्यादि " पूर्वोक्तो विधिः सान्तरे वर्षेऽभिहितो यदि पुनरसकृत् अवबद्धं वा सततं वर्षं पतति यदि वा अतिदूरं गन्तव्यं नाष्टमेन प्राप्यते ततोऽसकृत् अवबद्धे वा वर्षे पतति दूरे गन्तव्यम् । तत्रैव वर्षारात्रं कृत्वा प्रभाते मेघकृतान्धकारापगमतः प्रभातकल्पे संवत्सरे याति ॥

(३) भिक्षुर्गणादपक्रम्येच्छेदन्यं गणमुपसंपद्य विहर्तुम् ॥

(सूत्रम्) भिक्खू गणाओ अवक्कम्म अन्नगणं उवसंपज्जित्ताणं विहरिज्जा तं च केइ साहम्मिया पासे ता वइज्जा क अज्जो उवसंपज्जित्ताणं विहरति जे तत्थ सव्वराइणिए ता वइज्जा अहं जे कप्पाइ जे य तत्थ बहुस्सुए तं वइज्जा जहा से भगवं वक्खति तस्स आणाउववाय वयणणिद्देसे चिट्ठिस्सामि ॥

भिक्षुर्गणादपक्रम्य विशिष्टसूत्रार्थनिमित्तमन्यगणमुपसंपद्य विहरेत् । तत्रोद्भामके भिक्षाचरप्रचुरे ग्रामे भिक्षार्थमटन्तं दृष्ट्वा कश्चित्साधर्म्मिको वदेत् कमार्यमुपसंपद्य त्वं विहरसि एवं पृष्टः सन् यस्तत्र सर्वरत्नाधिको गीतार्थ आचार्यस्तं वदेत् । तस्मिन्नुक्ते परिकल्पयति यमेष व्यपदिशति सोऽगीतार्थो नचायमगीतार्थनिश्रया विहरति ततो भूयः पृच्छति अथ भदन्त ! कस्य कल्पेन सूत्रे स्त्रीत्वं प्राकृतत्वात्कस्य निश्रया त्वं विहरसि एवमुक्ते यस्तत्र सर्वबहुश्रुतस्तं वदेत् तथा तस्य सर्वरत्नाधिकस्याचार्यस्यागीतार्थस्य यः शिष्यो गीतार्थः सूत्रार्थनिष्णातः समस्तस्यापि गच्छस्य तृप्तिकारी तन्निश्रयाऽहं विहरामीति वदेत् । यं वा स भगवानाख्याति यथैतस्याज्ञा त्वया कर्त्तव्या तस्याज्ञायामुपपाते समीपे वचननिर्देशे च आदेशप्रतीच्छायां स्थास्यामीति सूत्रसंक्षेपार्थः । अधुना भाष्यकृत्सूत्रं व्याख्यातुकामः प्रथमतः सूत्रविषयमुपदर्शयति ॥

एगावितो अगीतेहिं, गंतूण नजयणिस्सातो ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आगम्मसेससाहुण–सतो य साहू गओछत्थ ॥

कश्चिदगीतैरगीतार्थैराचार्यैः प्रव्राजितः सोऽन्यत्र गच्छे गत्वा उभयतः सूत्रतोऽर्थतश्च निर्मितोऽभवत् ततः स स्वगणे आगम्य शेषाणां गीतार्थानां साधूनां साधनं करोति सर्वानपि गीतार्थान् सूत्रार्थनिमित्तमितस्ततो विप्रसृतानाचार्यसमीपमानयति समानीय च तेषां सूत्रार्थान् पूरयति अन्यदा ततो गच्छात्कोऽपि साधुरन्यत्र गणान्तरे केनापि कार्येण गतः ।

तत्थ वि य असमाहुं, अट्टे त्ति अहेज्ज मा ण साहूणं ।

विंती मा पढ एवं, किं ति य अत्थो महो एवं ॥

तत्रापि च गणान्तरे अन्यं साधुमाचाराङ्गे "अट्टे लोए परिजिण्णे" इति सूत्रे अट्टे इति अधीयानं पठन्तं श्रुत्वा ब्रूते मा पठ । एवं स प्राह किमिति इतरो ब्रूते अर्थो न भवति विसंवदत्येवं यथा त्वं पठसि अस्मात् अट्टे इति द्विटकारको निर्देशोऽध्येतव्यः ।

अत्थो वि अत्थि एवं, आमं नमोकारमादिसव्वस्स ।

केरिस पुण अत्थो त्ति, वेती सुण सुत्तमट्ट त्ति ॥

अधीयानः पृच्छति अर्थोऽपि न तु सूत्रस्यास्ति । इतरः प्राह । आममेवं न केवलमस्य सूत्रस्यार्थोऽस्ति किं तु सर्वस्यापि नमस्कारादिकस्य सूत्रस्यास्ति एवमुक्तोऽध्येता पृच्छति कीदृशः पुनरस्य सूत्रस्यार्थ इति । इतरो ब्रूते शृणु प्रथमतो यथावस्थितं सूत्रं ततः पठति (अट्टे इति) "अट्टे लोए परिजिण्णे" इति एवं पठित्वा अस्य व्याख्यानमाह ।

अट्टे चउव्विहे खलु, दव्वेन वि मादि जत्थ तणकट्ठा ।

आवत्तंते पडिया, जह व सुवण्णादि आवट्टे ॥

अट्टः आर्तः खलु चतुर्विधस्तद्यथा नामार्तः स्थापनार्तो द्रव्यार्तो भावार्तः । तत्र नामस्थापने सुप्रतीते द्रव्यार्तोऽपि नोआगमतो ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तो यत्र नद्यादेः प्रदेशे तृणकाष्ठानि पतितानि आवर्तन्ते यत्र वा सुवर्णाद्यावर्तते स द्रष्टव्यः । आ सर्वतः परिभ्रमणेन ऋतानि गतानि यत्र यो वा स आर्त इति व्युत्पत्तेः

अहवा अत्तीभूतो, सचित्तादीहि होइ दव्वम्मि ।

भावं कोहादीहिं, अभिभूतो होति अट्टो उ ॥

अथवा सचित्तादिभिर्द्रव्यैरसंप्राप्तैः प्राप्तवियुक्तैर्वा य आर्तः स द्रव्यार्तः द्रव्यैरार्तो द्रव्यार्त इति व्युत्पत्तेः । क्रोधादिभिरभिभूतो नो आगमतो भावार्तः । तदेवमार्तशब्दार्थ उक्तः ।

संप्रति परिजीर्णशब्दार्थमाह ।

परिजिण्णो उ दरिद्दो, दव्वे धणरयणसारपरिहीणो ।

भावे नाणादीहिं, परिजिण्णो सव्वलोगा उ ॥

परिजीर्णोऽपि चतुर्विधस्तद्यथा नामपरिजीर्णः स्थापनापरिजीर्णो द्रव्यपरिजीर्णो भावपरिजीर्णश्च । तत्र नामस्थापने प्रतीते । द्रव्ये द्रव्यतः परिजीर्णो नो आगमतो ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तो धनरत्नसारपरिहीनो दरिद्रो भावे भावतः परिजीर्णो ज्ञानादिभिः परिहीन एव समस्तोऽपि लोकः ।

एवं पढे सो वेति, कस्स ते अहीयं ति ।

अमुगस्स त्ति सगासे, अहगं पी तत्थ वच्चामि ॥

एवमाचाराङ्गसूत्रस्यार्थे स्पष्टे कथिते स ब्रूते कुत्र भवता त्वया ऽधीतमिति । स प्राह अमुकस्य सकाशे समीपे । ततः सोऽध्येता चिन्तयति अहमपि तत्र व्रजामि एवं चिन्तयित्वा ।

सो तत्थ गतो भिज्जति, भिक्खितो सब्भंति एति उब्भामो ।

पुट्ठो सुत्तत्थं ते, सारेंति निस्साय कं विहरे ॥

स तत्र गतो गत्वा चाऽध्येति एतच्चिपयमधिकृतं सूत्रमधुना सूत्रव्याख्यामाह । सोऽधीयानोऽन्यदा तद्ग्रामे उद्भ्रामकभिक्षानिमित्तं गतस्तत्र केचिन्नगरधार्मिकाः केचिदन्यगच्छवर्तिनः साधवः सहाध्यायिनो मिलितास्तैः (सब्भंतिपदेहिति) सहाध्यायिभिः पृष्टास्ते तत्र सूत्रार्थं सारन्ति निवेदयन्ति तथा कं निश्राय आश्रित्य भवान् विहरति ।

अमुगं ति सो अगीतो, विहरइ कप्पेण गीयसिस्सस्स ।

अहमवि य तस्स कप्पा, जं वा भयवं उवदिसंति ॥

एवं पृष्टः सन् यस्तत्र सर्वरत्नाधिको गीतार्थ आचार्यस्तं कथयति यथा अमुकं निश्रायाहं विहरामि एतावता " जे तत्थ सव्वराइणि य ते वएज्जा " इति व्याख्यानम् । एवमुक्ते ते चिन्तयन्ति यमेव प्राह सोऽगीतो ऽगीतार्थस्ततो भूयः पृच्छन्ति कस्य कल्पेन कस्य गीतार्थस्य निश्रया भवान् विहरति एतेन " अह भंते कस्स कप्पाए" इति व्याख्यातम् । स प्राह सूत्रबहुश्रुततया गीतार्थस्तस्य शिष्यस्तस्य कल्पेन समस्तो गणो विहरति । अहमपि च तस्य कल्पात् विहरामि यं वा भगवन्त उपदिशन्ति यथाऽस्याज्ञा कर्तव्या तस्याज्ञोपयातवचननिर्देशेषु स्थास्यामि । एतेन "जं वा सो भयवं अक्खाति " इत्यादि व्यातम् । इदमेव स्पष्टं भावयति ।

रायणियस्स उ गणो, गीयत्थोमस्स विहरइ निस्साए ।

जो जेण होति महितो, तस्साणादी न हावेमि ॥

रात्निकस्य रत्नाधिकस्य गणोऽवमस्य गीतार्थस्य निश्रया विहरति अहमपि तन्निश्रया विहरामि । अपि च तस्मिन् गणे यो येन गुणेन तपःप्रवृत्तिना महितस्तस्याज्ञादि आज्ञां समीपगमनं वचननिर्देशं च न हापयामि सम्यक्करोमीति भावः । व्य० द्वि०४ उ० ।

(चरिकाप्रविष्टस्योपसंपद्विधिः 'चरियापविट्ठ' शब्दे वक्ष्यते)

४ शैक्षेण सपरिच्छदेन रत्नाधिकस्योपसंपद्दातव्या ।

(सूत्रम्) दो साहम्मिया एगतो विहरंति तं जहा सेहे रायणिए य तत्थ सेहतराए पलिच्छिन्ने रायणिए अपलिच्छन्ने तत्थ सेहतराएणं रातिणिए उवसंपज्जितव्वा भिक्खू ववहारवद्दलातिकप्पयं । १३ ।

द्वौ साधर्मिकौ समानगुरुकुलावेकतः सह तौ विहरतस्तद्यथा शैक्षो रात्निकश्च तत्र यः शैक्षकः स परिच्छन्नः परिवारोपेतः रात्निको रत्नाधिकोऽपरिच्छन्नः परिवाररहित इत्यर्थः तत्र शैक्षतरकेण रत्नाधिक उपसंपत्तव्यस्तथा शैक्षतरको रत्नाधिकस्य भिक्षामुपपातं विनयादिकं च कल्प्यं कल्पनीयं ददाति एष सूत्रसंक्षेपार्थः ।

अधुना भाष्यविस्तरः ।

साहम्मि पलिच्छिन्ने, उवसंपय दोण्ह वी पलिच्छन्ने ।

वोच्चत्थे मासलहुओ, कारणअसई सभावो वा ॥

तौ द्वावपि जनौ सहाध्यायिनौ स ब्रह्मचारिणौ तत्र यः शैक्षतरकः स परिच्छन्नो द्रव्यपरिच्छेदोपेतः परिवारसहित इत्यर्थः । भावपरिच्छेदेन पुनर्द्वयोरपि परिच्छेदोऽस्ति तत्र शैक्षे द्रव्यतः परिच्छन्ने सति तेन रत्नाधिकस्योपसंपद्दातव्या ततो जघन्यतः संघाटो रत्नाधिकस्य देय उत्कर्षतो बहवोऽपि दातव्याः । तथा शैक्षकेण रत्नाधिकस्य पुरत आलोचनीयं रत्नाधिकेन शैक्षकस्य पुरतोऽन्यथा (वोच्चत्थे) विपर्यासे द्वयोरपि प्रायश्चित्तं मा–

सङ्घ । तथा कारणे ग्लानादिलक्षणे व्यापृततया द्वावेव तौ अन्नाविंत्यसति सहायस्याभावे न दद्यादपि सहायं स्वनाचो या तस्यात्मीयकरणादिलक्षणस्ततो न ददाति सहायं किंवाविचिन्त्येन तस्य कृत्यं कारयति । एष द्वारगाथासंक्षेपार्थः ।

सांप्रतमेनामेव विवरीषुः प्रथमतः पूर्वार्द्धं विवृणोति ।

सज्झंति वासिणो दो वि, भावेण नियमतो जहणो ।
रायणिएउवसंपया, सेहतरगेण कायव्वा ॥

तौ द्वावपि सहाध्यायिनावेकस्य गुरोरन्तेवासिनौ द्वावपि भावेन ज्ञानादिना नियमतो नियमेन जघौ ज्ञानादिरूपनावपरिवारोपेताविव्यर्थः । द्रव्यपरिच्छेदेन पुनः शैक्षतरक एवोपेतस्तत्र शैक्षतरकेण रात्निको रत्नाधिकस्योपसंपत्कर्तव्या । " वोच्चत्थे मासलहुतो " इत्यस्य व्याख्यानार्थमाह ।

आलाइयम्मि सेहेण, तस्स वियमेइ पच्छ राइणितो ।
इति अकरणम्मि लहुगा, अवरोप्परगव्वतो लहुगा ॥

प्रथमतः शैक्षतरकेण रत्नाधिकस्य पुरतः आलोचनीयं तेनालोचिते पश्चाद्रत्नाधिकस्तस्य शैक्षकस्य पुरतो विकटयत्यालोचयति एतच्चैतौ न कुरुतस्तत इति एतस्याकरणे द्वयोरपि प्रत्येकं लघुको मासः प्रायश्चित्तम् (अवरोप्परगव्वतो लहुगा इति) यदि शैक्षतरको द्रव्यपरिच्छेदेनाहं परिच्छन्न इति गर्वतो रत्नाधिकस्य पुरतो नालोचयति तदा तस्यापि प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुकाः ।

एतदेवोपदेशद्वारेण स्पष्टयति ।

एगस्स उ परिवारो, बीइए रायणिय त्ति वादो य ।
इइ गव्वो न कायव्वो, दायव्वो चेव संघारो ॥

एकस्य परिवारोऽस्ति द्वितीये रात्निकत्ववादः रत्नाधिकोऽयमिति प्रवाद इति एवं रूपो गर्वो द्वाभ्यामपि न कर्त्तव्यः किं तु परस्परमालोचयितव्यमन्यथा चतुर्लघुकप्रायश्चित्तापत्तेर्दातव्यश्च शैक्षतरकेण जघन्यतोऽपि रत्नाधिकस्य संघाटः । संप्रति "जिक्खो वा पंत्रदत्ताणि कप्पायमि" त्येतदर्थमाह ।

पेहाजिक्खकितीओ, करेंति सो आवि ते पवाएति ।
न पहुव्वंते दोएह वि, गिलाणमादीसु च न देज्जा ॥

शैक्षतरस्य शिक्षा रत्नाधिकस्य संबन्धिनो वस्त्रादेः प्रेक्षां प्रति लेखनां कुर्वन्ति । तथा तद्योग्यां भिक्षामानयन्ति । कृतकर्म विनयो विश्रामणा तत्कुर्वन्ति किमुक्तं भवति यदाज्ञापयन्ति तत्कुर्वन्ति वाचनादिपरिश्रान्तस्य च विश्रामणामिति स चापि रत्नाधिकस्तान्प्रवाचयति सूत्रं पाठयत्यर्थं च श्रावयतीत्यर्थः । कारणे असती इत्यस्य व्याख्यानमाह (न पुहुव्वंते इत्यादि) ते शैक्षतरशिष्या ग्लानादिषु प्रयोजनेषु व्यापृतास्ततो न प्रभवन्ति न प्रपारयन्ति सहायं न दद्यात् । यदि वा द्वावेव तौ जनौ ततः किं दीयतामिति न दद्यात् ।

अधुना "सभावो वा" इत्यस्य व्याख्यानमाह ।

अत्तीकरेज्जा खलु जो विदिएणो, एसोवि मज्झंति महंतमाणी ।
न तस्स तं देइ बहिं तु नेउं, तत्थेव किच्चं पकरेंति जं से ॥

यो विर्तीर्णान्साधूनात्मीकुर्यात् यश्चैषोऽपि शिक्षाधिपतिः शैक्षतरको ममेति महामानी तस्य तान्साधून् बहिस्तस्मात् स्थानादन्यत्र विहारक्रमेण नेतुं न ददाति किं तु यत् (से) तस्य कृत्यं कारणीयं तत्रैव स्थितस्य तत् कुर्वन्ति अथवा

वारएण य से देइ, न य दावेइ वायणं ।
तहा वि जेदमिच्छंते, अविकारी उ कारए ॥

वारेण तस्य शुश्रूषकमेकैकं साधुं न युङ्क्ते न च तस्मात्साधूनां वाचनां दापयति मा स गणभेदं कार्षीरिति हेतोः । अथैवमपि दुःस्वभावतया गणभेदं करोति तत आह । तथापि क्रियमाणे गणभेदं कर्त्तुमिच्छति योऽविकारी दुर्भेदः साधुस्तेन तस्य कृत्यं कारयति [सूत्रं दो साहम्मिया इत्यादि] द्वौ साधर्मिकावेकतः संहतौ विहरतस्तद्यथा शैक्षो रत्नाधिकश्च । तत्र रात्निकः परिच्छन्नः परिवारोपेत इत्यर्थः । शैक्षतरकोऽपरिच्छन्नः परिवाररहितस्तत्र रात्निके रत्नाधिकस्येच्छा यदि प्रतिभासते शैक्षतरकमुपसंपद्यते अथ नेच्छा न प्रतिभासते तर्हि नोपसंपद्यते भिक्षामुपपातं च कल्प्यं यदीच्छा तर्हि ददाति अथादातुमिच्छा तर्हि न ददाति एष सूत्रसंक्षेपार्थः । अधुना भाष्यविस्तरः ।

रायणिय परिच्छन्ने, उवसंपपडिच्छओ य इच्छाए ।
सुत्तत्थकारणे पुण, परिच्छयं वेंति आयरिया ॥

रात्निके रत्नाधिके द्रव्यतः परिच्छन्ने परिवारोपेते स तेन शैक्षतरकस्य उपसंपत्परिच्छेदश्च इच्छया दातव्यः । इयमत्र भावना । स यदि शैक्षतरकोऽश्रमरत्नाधिकस्तुल्यश्रुतो गुरुरत्नाधिकेन सह ततः स रत्नाधिकश्चिन्तयति मा नूनमेतस्य भिक्षादिएकनव्याक्षेपेण च सूत्रार्थौ नश्येयुस्ततः संघाटं ददाति अथवा मा एष श्रमकुलवासी सहाध्यायी द्रव्यपरिच्छदेनापरिच्छदो भूयात्सहाध्यायस्तेनातिस्नेहतः संघाटं ददात्यालोचनां प्रयच्छति । अल्पश्रुतस्य परिच्छदमुपसंपदं वा न ददातीति । अथ स शैक्षतरको रत्नाधिकाद्बहुश्रुतस्तदा नियमत उपसंपत्तव्यः । परिच्छदश्च तस्य दातव्यस्तथा चाह सूत्रार्थे कारणात् सूत्रार्थौ गृहीतुकामः पुनराचार्या उपसंपद्यन्ते परिच्छदं च ददति । एतदेव स्पष्टयति ।

सुत्तत्थं जइ गेराहइ, तो से देइ परिच्छदं ।
गहिएवि देइ संघाडं, मा से नस्से य तं सुयं ॥

यदि स रत्नाधिकस्ततः सूत्रार्थं गृह्णाति ततः (से) तस्य ददाति परिच्छदं परिवारं गृहीतेऽपि सूत्रार्थे ददाति संघाटं कस्मादित्याह । मा (से) तस्य भिक्षाटनव्याक्षेपतः प्रतिलेखनाव्याक्षेपतश्च तत् श्रुतं नश्येदिति हेतोः ।

अबहुश्रुतायै तु न ददाति इत्येतद्भावयति ।

अबहुस्सुते न देंती, निरुवहते तरुणये य संघाडं ।
घेत्तूण जाव वच्चइ, तत्थ य गोणी य दिट्ठंतो ॥

अबहुश्रुतो निरुपहतपञ्चेन्द्रियस्तरुणकश्च तस्मिन् सत्स्वपि साधुषु संघाटं न ददाति सहायाश्च ददातीति भावः । यो वा गीतार्थोऽपि सन् प्रदात्तान् सहायान्विपरिणम्य गृहीत्वा व्रजति तस्यापि सत्स्वपि साधुषु सहायान्न ददाति तथा च तत्र दुष्टशीलतया गवां दृष्टान्तस्तमेव भावयति ।

साडगबद्धा गोणी, जह तं खेत्तं पलाति दुस्सीला ।
इय विप्परिणामेते, तम्मि न देज्जा सहाए य ॥

यथा कस्यापि गौः पलायिता ततः कथमपि लब्धा सती तेन शाटके बद्धा यथा शाटकबद्धा दुःशीला गौस्तं शाटकं गृहीत्वा पलायते इति एवममुना प्रकारेण यो विपरिणामयति सहायान् तस्मिन्विपरिणामयति सहायान्न दद्यात् ।

(५) सांभोगिकासांभोगिकयोः सहमिलितयोराचार्ययोः सामाचारीमाह ॥

(सूत्रम्) दो साहम्मिया एगतो विहरंति तं जहा से

हे य रायणिए य तत्थ रायणिए पलिच्छिन्ने सेहतराए अपलिच्छिन्ने रायणिए इच्छा सेहतरा य उवसंपज्जेज्जा । इच्छा नो उवसंपज्जेज्जा इच्छा भिक्खोववायं दलाति कप्पाग इच्छाए णो दलाति । २४ । दो भिक्खू णो एगतो विहरंति णोएहं कप्पति अन्नमन्नस्स उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए कप्पति एहं आहारातिणियाए अन्नमन्नं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए । २५ । एवं दो गणावच्छेया । २६ । दो आयरियउवज्झाया । २७ । बहवे भिक्खुणो णो सतो विहरंति णोएहं कप्पइ अण्णमण्णस्स उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए कप्पति एहं आहारातिणियाए अन्नमन्नं उवसंपज्जित्ताणं विहरंतिए २८ एवं बहवे गणावच्छेइया २९ बहवे आयरियउवज्झाया ३० भिक्खू णो बहवे गणावच्छेइया तहेव आयरियउवज्झाया एगतो विहरंति णो एहं कप्पति अण्णमन्ने उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए वासावासत्थए कप्पति पवितिणीए कप्पति पवितिणीए कप्पति एहं आहारायणिआए अन्नमन्नं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए हेमंतगिम्हेसु ॥३॥

(अत्र चतुर्विंशतितमसूत्रस्य व्याख्या ग्रन्थकृता न व्याख्यातेत्यस्माभिरपि न व्याख्यायते) एवं दो भिक्खू णो एगतो विहरंति इत्यादि सूत्रसप्तकं सुगमम् ।

अस्य संबन्धमाह ।

संखाहिगारा तुल्ला, धिगारियाए सल्लेसते जोगो ।
आयरियस्स व सिस्सा, भिक्खु अभिक्खू अहतिभिक्खू ॥

अनन्तरसूत्रे 'दो साहम्मिया' इत्यादिलक्षणो द्विकलक्षणा संख्याऽधिकृता अत्रापि सैव 'दो भिक्खुणो' इत्यादिवचनात्ततः संख्याधिकारात्तुल्याधिकारिता पूर्वसूत्रेण सहास्य सूत्रस्येत्येष क्षेत्राद्यसूत्रस्य योगः संबन्धः । अथवा पूर्वसूत्रे रत्नाधिकपदेनान्यये उपात्तः । आचार्यस्य च शिष्यो द्विधा भिक्षुरभिक्षुश्च । तत्र भिक्षुः प्रतीतोऽभिक्षुर्गणावच्छेदक उपाध्याय आचार्यो वा । तत आचार्यसूत्रात्प्रागुक्ताद्यानन्तरं भिक्षुसूत्रमुक्तम् ।

शेषसूत्रसंबन्धप्रतिपादनार्थमाह ।

एमेव सेसएसु वि, गुणपरिवड्ढी य ठाणसंभावे ।
बुप्पज्जिई खलु संखा, बहुपिंडो उ तेण परं ॥

एवमेव पूर्वोक्तप्रकारेणैव शेषयोरपि गणावच्छेदकाचार्यसूत्रयोः संबन्धस्तथा आचार्यस्य शिष्यो भिक्षुरभिक्षुश्च तत्र भिक्षुसूत्रमुक्तं तदनन्तरमभिक्षोर्गणावच्छेदकस्याचार्यस्य च सूत्रे । अथ गुणपरिवृद्ध्या स्थानलाभो भवति तथा हि भिक्षुर्गुणाधिकत्वेन गणावच्छेदकस्थानं लभते गणावच्छेदको गुणाधिकतया आचार्योपाध्यायस्थानमतो भिक्षुसूत्रानन्तरं क्रमेण गणावच्छेदकाचार्योपाध्यायसूत्रे तथा द्विप्रभृतिका खलु संख्या बहुका भवति ततो द्विसंख्यासूत्रत्रयानन्तरं बहुसंख्यासूत्रत्रयं बहूनां च परस्परमुपसंपन्नानां पिण्डो भवति तेन बहुसंख्यासूत्रत्रयात्परं पिण्डः पिण्डसूत्रमुक्तमिति एवमनेन संबन्धजातेनायातस्यास्य सूत्रसप्तकस्य व्याख्या । द्वौ भिक्षू एकत्र संहतौ विहरतो णोणमिति वाक्यालङ्कारे कल्पते अन्योन्यमुपसंपद्य विहर्तुं कल्पते । एहमिति पूर्ववत् यथा रत्नाधिकतया अन्योन्यमुपसंपद्य विहर्तुमेवं गणावच्छेदकसूत्रमाचार्योपाध्यायसूत्रं च भावनीयमेवं बहुसंख्यासूत्रत्रयं पिण्डसूत्रं चेति सूत्रसप्तकसंक्षेपार्थः ।

संप्रत्याद्यभिक्षुसूत्रव्याख्यानार्थमाह ।

संभोइयाण दोण्हं, खेत्तादी पेहकारणगयाणं ।
पंथे समागयाणं, भिक्खूण इमा भवे मेरा ॥

द्वावाचार्यावन्यस्मिन्नन्यस्मिन् क्षेत्रे स्थितौ तौ च परस्परं सांभोगिकौ तयोः सांभोगिकयोर्द्वयोराचार्ययोर्भिक्षवस्ताभ्यां प्रेषिताः क्षेत्रादिप्रेक्षाकारणगताः क्षेत्रप्रत्युपेक्षणार्थमादिशब्दादुपधिमार्गणार्थं वा गतास्ते च तथा गच्छन्तः पथि समागताः परस्परं मिलिताः । तेषां चैकेन यथा गन्तव्यमतस्तेषां क्षेत्रादिप्रेक्षाकारणगतानां पथि समागतानां भिक्षूणां या मर्यादा सामाचारी सा इयं वक्ष्यमाणा भवति । तामेवाह ।

भिक्खुस्स मासियं खलु, पलिउच्छण्णं च सेसगाणं तु ।
चउलहुग अपलिउच्छे, तम्हा उवसंपया तेसिं ॥

यौ द्वौ भिक्षू स्पर्द्धकपती तयोः शैक्षतरकेण रत्नाधिकस्य पुरतः आलोचयितव्यम् । तेनालोचिते पश्चात् रत्नाधिकेन शैक्षतरकस्य पुरत एवमकरणे भिक्षोः शैक्षरत्नाधिकस्य च प्रायश्चित्तं खलु मासिकं मासलघु "पलिच्छन्नाणं चेत्यादि" एतद्बहुसंख्याविशिष्टस्य भिक्षुसूत्रस्य व्याख्यानम् । परिच्छन्नानां जघन्यतोऽप्यात्मतृतीयानां शेषकाणां चात्मद्वितीयानां यथोक्तविध्यकरणे प्रायश्चित्तं मासलघु । तत्र यद्येकोऽपरिच्छन्नस्तर्हि तेनान्य आत्मद्वितीय आत्मतृतीयो वा उपसंपत्तव्यो नो चेदुपसंपद्यते तर्हि तस्मिन्नपरिच्छन्नेऽनुपसंपद्यमाने प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुकास्तं चोपसंपद्यमानं यो नोपसंपदा प्रतीच्छति तस्य मासलघु यत एवं तस्मात्परस्परमुपसंपत्तेषां भवति कर्तव्या । एतामेव निर्युक्तिगाथां भाष्यकृद् व्याचिख्यासुः प्रथमतो भिक्खुस्स मासियं खलिवत्येतद्व्याख्यानयति ।

दो भिक्खु अगीयत्था, गीया एको व होज्ज उ अगीतो ।
राइणियपलिच्छन्ने, पुव्वं इयरेसु लहु लहुगा ॥

द्वौ भिक्षू अगीतार्थौ यदि वा द्वावपि गीतार्थौ यदि वा द्वावपि गीतागीतार्थौ तयोः परस्परस्यालोचनमन्यथा प्रायश्चित्तं मासलघु । अथवा एको गीतार्थः तत्र रत्नाधिके परिच्छन्ने भावपरिच्छेदोपेते गीतार्थे इत्यर्थः पूर्वमालोचयितव्यं पश्चादितरेष्वगीतार्थेषु रत्नाधिकेन एवं चेत्ते न कुर्वते तर्हि रत्नाधिके प्रायश्चित्तं मासलघु । इतरेषां चत्वारो लघुकाः । एतामेव गाथां विवरीषुः प्रथमतो "दो भिक्खू अगीयत्था गीया" इत्येतद्विवृणोति ।

दोसु अगीयत्थेसुं, अहवा गीतेसु सेहतरो पुव्विं ।
जइ मा लोयइ लहुओ, न वियडेइ परो वि जइ पच्छा ॥

द्वयोर्भिक्ष्वोरगीतार्थयोरथवा गीतार्थयोर्मध्ये यदि शैक्षतरः पूर्वं रत्नाधिकस्य पुरतो नालोचयति तदा तस्य प्रायश्चित्तं लघुको मासः । इतरोऽपि रत्नाधिकोऽपि यदि पश्चात्तस्य शैक्षतरस्य पुरतो न विकटयति तदा तस्यापि प्रायश्चित्तं मासलघु । तत्र यदि द्वावप्यगीतार्थौ तदा परस्परस्य विहारालोचनैव केवला नापराधालोचनापि । अथ द्वावपि गीतार्थौ तदा परस्परविहारालोचना अपराधालोचना च । अथैको गीतार्थोऽपरश्चागीतार्थस्तत्रालोचनाविधिमाह ।

राइणिए गीयत्थे, राइणिए चेव वियडणा पुव्विं ।
देइ विहारवियडणं, पच्छा रा णितो सेहे ॥

यदि रत्नाधिको गीतार्थ इतरोऽगीतार्थस्तर्हि गीतार्थे रत्ना-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धिके सति रत्नाधिके एव पूर्वं शैक्षतरेण विहारविकटना अपराधविकटना च दातव्या तत्पश्चात् रत्नाधिकः शैक्षो शैक्षतरकस्य विहारविकटनां ददाति । अथ शैक्षतरको गीतार्थो रत्नाधिकस्त्वगीतार्थस्तत्राह ।

सेहतरगे वि पुव्वं, गीयत्थे दिज्जए पगासणया ।
पच्छा गीयत्थो वि हु, ददाति आलोयणमगीते ॥

यदि गीतार्थः शैक्षतरकस्तर्हि तस्मिन् गीतार्थे शैक्षतरकेऽपि पूर्वं रत्नाधिकेन प्रकाशना विहारविकटना अपराधविकटना चेत्यर्थः दीयते । पश्चात् गीतार्थोऽपि सन् स शैक्षतरको हु निश्चितमगीते रत्नाधिके आलोचनां विहारालोचनां ददाति न त्वपराधालोचनां कस्मादित्याह ।

अवराहविहारप्पगासणाउ, दोन्नि वि भवंति गीयत्थे ।
अवराहपये मुत्तुं, पगासणं होतु ऽगीयत्थे ॥

अपराधप्रकाशना विहारप्रकाशना च एते द्वे अपि प्रकाशने भवतो गीतार्थे । अगीतार्थे पुनरपराधपदं मुक्त्वा शेषस्य विहारस्य प्रकाशनं भवति विहारालोचना भवति नापराधालोचनेति भावः । अगीतार्थतया तस्यापराधालोचनानर्हत्वात् ।

संप्रत्युपसंहारमाह ।

भिक्खुस्सेगस्स गयं, पलिच्छन्नाणं इयाणि वोच्छामि ।
दव्वपलिच्छन्नाणं, जहन्नेणं अप्पतइयाणं ॥

"भिक्खुस्स मासियं खलु" इत्यनेन पदेन यदेकस्य भिक्षोर्वक्तुमुपक्रान्तं तद्गतं परिसमाप्तमिदानीं द्रव्यपरिच्छेदेन परिच्छन्नानां जघन्येनात्मतृतीयानां यद्वक्तव्यं तद्वक्ष्यामि । तदेवाह ।

तेसिं गीयत्थाणं, अगीतमिस्साण एस चेव विही ।
एत्तो सेसाणं पि य, वोच्छामि विहिं जहाकमसो ॥

तेषां परिच्छेदेन परिच्छन्नानां जघन्यत आत्मतृतीयानां बहूनां सर्वेषां गीतार्थानामथवा अगीतार्थानां यद्वा मिश्राणां केषांचिद्गीतार्थानां केषांचिदगीतार्थानामित्यर्थः । एष एवानन्तरो दितुगत आचार्याणामालोचनाविषयो विधिरवसातव्यो व्यतिरेके च प्रायश्चित्तमपि तथैव । अत ऊर्ध्वं शेषाणामपि विधिं यथाक्रमशो यथाक्रमेण वक्ष्यामि । तत्र शेषशब्दवाच्यानुपदर्शयति ।

सेसा ते नायव्वा, अप्पवितिया उ जे तहिं केई ।
गीयत्थमगीयत्थे, मीसे य विही उ सो चेव ॥

शेषा नाम ते भण्यन्ते यत्र तेषां बहूनां भिक्षूणां मध्ये केचिदात्मद्वितीयास्तस्मिन् शेषे गीतार्थे अगीतार्थे मिश्रे च स एव पूर्वोक्तो विधिरालोचनाविषयस्तद्व्यतिरेके प्रायश्चित्तविधिश्चावसातव्यः ॥

संप्रति चशब्दव्याख्यानमाह ।

संजोगा उ चसद्देण, अहिगया जइ एगो दो चेव ।
एगो जइ न वि दोण्हिं, उवगच्छे चउलहु तो से ॥

परिच्छन्नानां चेत्यत्र चशब्देन संयोगा अधिकृताः सूचिता इत्यर्थस्तानेवोपदर्शयति । तथा चेति भङ्गोपदर्शने एकत एको भिक्षुरपरतो द्वौ भिक्षू तत्रैकेनात्मद्वितीय उपसंपत्तव्यो यदि पुनरेको न द्वावुपगच्छति उपसंपद्यते तदा (से) तस्य प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुकाः ।

पच्छा इतरे एगं, जइ न उवगच्छे मासियं लहुयं ।
जत्थ वि एगो तिण्णि, न उवगमे तत्थ वी लहुगा ॥

एकस्मिन्नुपसंपन्ने पश्चादितरावप्युपसंपद्येते यदि पुनरेकं तावितरौ पश्चान्नोपगच्छेतां तदा तयोर्मासिकं प्रायश्चित्तं लघुकं । यत्रापि भङ्गे एकत एकोऽपरत्र त्रयस्तत्र यदि परस्परमुक्तप्रकारेण नोपगमस्तदा प्रायश्चित्तं लघुकाः । किमुक्तं भवति । यद्येकस्त्रीन्नोपगच्छति तदा तस्य प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुकास्तं चेदुपगच्छन्तं पश्चादितरे त्रयो नोपगच्छन्ति तर्हि तेषां प्रायश्चित्तं लघुको मासः ॥

एमेव अप्पवीतो, अप्पतइयं तु जइ न उवगच्छे ।
इयरेसिं मासलहुयं, एवमगीए य गीए य ॥

एवमेव अनेनैवानन्तरोदितेन प्रकारेणात्मद्वितीय आत्मतृतीयं यदि नोपगच्छति तदा तस्य प्रायश्चित्तं चतुर्लघु । इतरश्चेत्यनुपगच्छन्तं नोपगच्छेत्तदा तस्य मासिकं लघु इतरेषामेक आत्मतृतीयोऽपर आत्मचतुर्थ इत्येवमादीनां परस्परमनुपगमे प्रायश्चित्तं मासलघु । एवमुक्तप्रकारेणागीते अगीतार्थानां गीते गीतार्थानां च द्रष्टव्यम् ।

मिश्रानधिकृत्याह ।

मीसाण एगो गीतो, होंति अगीया उ दोण्णि तिण्णि वि वा ।
एवं उवसंपज्जे, ते उ अगीया इहरमासे ॥

मिश्राणां मध्ये एक एकाकी गीतो गीतार्थोऽपरे तु द्वौ त्रयो वा भवन्त्यगीता अगीतार्थाः तत्र तेऽगीता एकमुपसंपद्येरन् । इतरथा चेन्नोपसंपद्यन्ते तर्हि तेषां प्रायश्चित्तं लघुको मासः ।

सो वि य जइ न वि इयरे, तस्स वि मासो उ एव सव्वत्थ ।
उवसंपया उ तेसिं, भणिया अन्नोन्ननिस्साए ॥

सोऽपि चैको यदि तान् इतरानुपसंपद्यमानान् नोपसंपद्यते तदा तस्यापि प्रायश्चित्तं मासो लघु । एवमेक आत्मद्वितीयो गीतार्थोऽपर आत्मतृतीयआत्मचतुर्थ इत्यादौ सर्वत्र भावनीयमेवमन्योन्यनिश्रयाप्राक् द्वारगाथायां तेषामुपसंपद्भणिता उपदिष्टा ।

अण्णोण्णनिस्सियाणं, अगीयाणं पि उग्गहो तेसिं ।
गीयपरिग्गहियाणं, इच्छाए तेसिमो होइ ॥

अन्योन्यनिश्रितानां तेषामगीतानामपि गीतपरिगृहीतानामवग्रहो भवति । अवग्रहो नाम आभवनव्यवहारः स च द्विधा इच्छया सूत्रोक्तश्च । तत्रेच्छया तेषामयं वक्ष्यमाणो भवति तमेवाह ॥

इच्छियपडिच्छियाए, ण खेत्त वसही य दोण्ह वी लाभो ।
इच्छंतो न होइ उग्गहो, निक्कारणकारणे दोण्हं ॥

इच्छाया अवग्रहो नाम इच्छितप्रतीच्छितेन इच्छा संजाताऽस्येति इच्छितं प्रतीच्छा संजाता अस्येति प्रतीच्छितम् इच्छितं च तत् प्रतीच्छितं च इच्छितप्रतीच्छितम् । यथा आभवनव्यवहारस्थापना । यथा यत्पथि लभ्यते तदस्माकं यत् ग्रामे तत् युष्माकं यदि वा यत्सचित्तं तदस्माकं यदचित्तं तत् युष्माकम् । अथवा या स्त्री व्रतग्रहणार्थमुपतिष्ठति सा अस्माकं पुरुषो युष्माकम् यद्वा बालो युष्माकं वृद्धोऽस्माकम् अथवा यः सार्थेन सह व्रजतां लाभः सोऽस्माकमसार्थे युष्माकम् । यदि वा यो यल्लभते तत्तस्यैव एवं भूतेन इच्छितप्रतीच्छितेन य आभवनव्यवहारः स इच्छाया अवग्रहः । एष च प्रायः पथि गच्छतां भवति स्थानप्राप्तानां सूत्रोक्त आभवनव्यवहारस्ततस्तमुपदर्शयति । समकालं क्षेत्रे प्राप्तानामक्षेत्रे वा वसतिं प्राप्तानां द्वयानामपि लाभः साधारणः । अथ न क्षेत्रमक्षेत्रं वा वसतिं समकालं प्राप्ताः किं तु विषमकालं तत आह (इच्छंतो न होति इत्यादि) यदि निष्का-

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

रणं स्थिता इति पश्चात्प्राप्तास्तदा नास्ति तेषामवग्रहः किं तु पूर्वप्राप्तानामेव । अथ कारणेन केनापि ग्लानप्रतिजागरणादिना स्थितास्ततः पश्चात् प्राप्तास्तर्हि भवति द्वयानामपि साधारणोऽवग्रहः । एतदेव स्पष्टतरमुपदर्शयति ।

समगं पत्ताणं सा-हारणं तु दोएहं पि होति तं खेत्तं ।
विसमं पत्ताणं पुण, इमा उ तहिं मग्गणा होइ ॥

समकमेककालं प्राप्तानां द्वयानामपि तत् क्षेत्रं भवति साधारणं विषमं विषमकालं प्राप्तानां पुनरियं तत्र क्षेत्रे मार्गणा भवति । तामेव कुर्वन्नाह ।

पडियरए व गिलाणं, सयं गिलाणो उरे व मंदगती ।
अप्पत्तस्स वि एएहिं, उग्गहो दप्पतो नत्थि ॥

प्रतिचरति वा प्रतिजागर्ति ग्लानं यदि वा स्वयं ग्लान आतुरो वा यदि वा स्वभावान्मन्दगतिरेतैः कारणैरप्राप्तस्यापि समकालं पश्चात्प्राप्तस्यावग्रहो भवति दर्पतो निष्कारणं स्थितानां पुनरवग्रहो नास्ति ।

एमेव गणावच्छेए, पलिच्छएणाणं च सेसगाणं तु ।
पलिच्छन्ने ववहारो, दुविहो वायंतिओ नाम ॥

यथा भिक्षोरेकस्य बहूनां परिच्छन्नानां शेषकाणां चोक्तमेवमेव अनेनैव प्रकारेण एकस्मिन् गणावच्छेदे बहूनां परिच्छन्नानां जघन्यतोऽप्यात्मतृतीयानां शेषकाणां वशात आत्मद्वितीयानां तुशब्दादेकत एकोऽपरत आत्मद्वितीय इत्यादि संयोगगतानां च निरवशेषं वक्तव्यम् । तत्र परिच्छन्ने जातावेकवचनं परिच्छन्नानामुपलक्षणमेतत् परमुपसंपन्नानां चाभवनव्यवहारो द्विधा भवति । सूत्रोक्तो वागान्तिकश्च । वाचा अन्तः परिच्छेदो वागान्तस्तेन निर्वृत्तो वागान्तिकस्तत्र वागान्तिको नाम वक्ष्यमाणस्तमेवाह ।

पहि गामे चित्तमचित्तं, पुरिसं वा वाल्लवुड्ढसत्थादी ।
इच्छाए वा देती, जो जं लब्भे भवे नितितो ॥

यत् पथि मार्गे लभ्यं तदस्माकं यत ग्रामे तत् युष्माकम् । यदि वा यत्सचित्तं तत युष्माकमचित्तमस्माकम् । अथवा स्त्री युष्माकं पुरुषोऽस्माकम् । अथवा वृद्धो युष्माकं बालोऽस्माकम् । यदि वा (सत्थादी इति) सार्थे लभ्यं तत् युष्माकमसार्थेऽस्माकम् । अथवा इच्छया ददाति कथमित्याह-यो यल्लभते तत्तस्य भवति एष सूत्रोक्त आभवनव्यवहारः । द्वितीयो वागान्तिक आभवनव्यवहारः । क्षेत्रप्राप्तानामक्षेत्रे वा वसतिं प्राप्तानां यः सूत्रोक्त आभवनव्यवहारः स भिक्षूणामिव प्रतिपत्तव्यः स चाविशेषणार्थो यदि वा द्वावप्यगीतार्थपरिगृहीतौ गीतार्थनिश्रां प्रतिपन्नौ समकमेककालं प्राप्तौ ततस्तयोः साधारणं क्षेत्रमाभवति । सति विद्यमाने कार्ये ग्लाने प्रतिजागरणादिलक्षणे ये स्थिता अगीतार्था असमाप्ताश्च ततः समाप्तानां साधारणं क्षेत्रम् । ये पुनरगीतार्था अपि च पूर्वं प्राप्ता गीतार्थाः समाप्ताश्च निष्कारणं प्राक् स्थित्वा प्राप्तास्तदा असमाप्तानामप्यगीतार्थानाम । अपि च तत्क्षेत्रं पूर्वं प्राप्तत्वात् गीतार्थः समाप्तावपि च तस्य क्षेत्रस्य प्रभुर्निष्कारणं स्थित्वा पश्चात्प्राप्तत्वात् ॥

समगच्छकारणेणं, खेत्ते वसहीए दोएह वी लाभो ।
एगणिए होति उग्गहो, गीयत्थसमम्मि दोएहं पि ॥

समं समकमेककालं कारणेन पश्चाद्वा क्षेत्रे अक्षेत्रे वा वसतौ प्राप्तयोर्द्वयोरपि लाभः साधारणः । अत्र पुनर्यदि विशेषविवक्षा क्रियते तदा यो रत्नाधिकस्तस्मिन्नवग्रहो भवति । यद्यपि नाम द्वयोरपि साधारणो लाभस्तथापि यथा संघाटकेन भिक्षां हिण्डमानयो रत्नाधिकस्य लाभो भण्यते एवमिहापि रत्नाधिकस्यावग्रहः । अथैको गीतार्थः परोऽगीतार्थस्तत्र यदि रत्नाधिकोऽगीतार्थोऽवमरत्नाधिको गीतार्थस्ततोऽवमरत्नाधिकस्यावग्रहः । अथ द्वावपि समानार्थौ तत आह । समे गीतार्थे परस्मिन्समकं च प्राप्ते द्वयोरपि साधारणोऽवग्रहः । तदेवं द्विसंख्याकगणावच्छेदकसूत्रमिति भावितमेवं द्विसंख्याकाचार्योपाध्यायमपि भावनीयम् ॥

इदानीं बहुत्वसूत्राणि पिण्डसूत्रं चातिदेशत आह ।

एमेव बहूणं पि, पिंडे नवरोग्गहस्स उ विभागो ।
किं कतिविहो कस्स व कम्मि व, केवइयं वा भवे कालं ॥

एवमेव बहूनामपि भिक्षुप्रभृतीनां सूत्राणि भावनीयानि द्विकसूत्रापेक्षया बहुत्वसूत्राणामर्थतो नानात्वाभावात् पिण्डे पिण्डकसूत्रस्यापि स एवार्थो नवरमत्रावग्रहस्य विभागो वक्तव्यस्तमेवाह किं कतिविधः कस्य वा कस्मिन्वा कियन्तं कालं भवत्यवग्रहः । तत्र किमित्याद्यद्वारव्याख्यानार्थमाह ॥

किं उग्गहोति नणिओ, उग्गहो तिविहो उ होति चित्तादी ।
एकेको पंचविहो, देविंदादी मुणेयव्वो ॥

किमवग्रह इति भणिते पृष्टे सूरिराह । त्रिविधो भवत्यवग्रहश्चित्तादिः सचित्तोऽचित्तो मिश्रश्च । पुनरेकैकः कतिविध इति प्रश्नमुपजीव्याह स एकैकः पञ्चविधः पञ्चप्रकारो ज्ञातव्यः । कोऽसावित्याह देवेन्द्रादिः देवेन्द्रावग्रहो राजावग्रहो माण्डलिकावग्रहः शय्यातरावग्रहः साधर्मिकावग्रहश्च । गतं कतिविधद्वारम् । इदानीं कस्य न भवतीति प्रतिपादयति ॥

कस्स पुण उग्गहोत्ति, परपासंडीण उग्गहो नत्थि ।
निएहे सेत्ते संजति, अगीते गीत एके वा ॥

कस्य पुनरवग्रहो भवतीति शिष्यप्रश्नमाशङ्क्य प्रोच्यते परपाखण्डिनामवग्रहो नास्ति ये च निह्नवा ये च सत्रा याश्च संयत्यो गीतार्थैरपरिगृहीता ये चागीतार्था गीतार्थनिश्रामनुपपन्ना यश्च निष्कारणमेकाकी गीतार्थ एतेषां सर्वेषामप्यवग्रहो नास्ति ।

एतदेव सुव्यक्तमाह ।

असन्नाण बहूणं पि, गीतमगीताण उग्गहो नत्थि ।
सच्छंदियगीयाणं, असमत्त अणीस गीए वि ॥

अवसन्नानां बहूनामपि गीतार्थानामगीतार्थानां चावग्रहो नास्ति (सच्छंदियगीयाणत्ति) ये गीतार्था अपि स्वच्छन्दिकाः स्वच्छन्दतयैव एकाकिनो विहरन्ति तेषामपि नास्त्यवग्रहः । तथा ये असमाप्ता असमाप्तकल्पाः यस्य च समुदायस्य न विद्यते गीतोऽगीतार्थ ईशस्तेषामपि नास्त्यवग्रहः ।

एवं ता सावेक्खे, निरवेक्खाणं पि उग्गहो नत्थि ।
मुत्तूण अहालंदे, तत्थ वि जे गच्छपडिबद्धा ॥

एवं तावत्सापेक्षे जातावेकवचनं सापेक्षाणामुक्तमपेक्षाणामस्थविरकल्पिका निरपेक्षा जिनकल्पिकादयस्तेषामप्यवग्रहो नास्ति । किमविशेषेण सर्वेषां नेत्याह । मुक्त्वा यथालन्दान् तथापि गच्छप्रतिबद्धान् तेषामवग्रहो भवति गच्छप्रतिबद्धत्वादन्येषां तु सर्वेषामपि नास्ति ॥

आसन्नतरा जाणंति, संजया सो व जत्थ निग्गइ ।
ताहियं देंतुवदेसं, आयपरं ते न इच्छंति ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तेषां गच्छनिर्गतानां जिनकल्पिकादीनां यो व्रतग्रहणार्थमुपतिष्ठति तं ते न प्रव्राजयन्ति तथाकल्पत्वात्किं तु ये तत्रासन्नतराः संयताः स्थितास्तत्रोपदेशं ददति यथा अमुकानां समीपे गत्वा प्रव्रजेति । अथवा जानन्ति श्रुतबलतो ये दूरे स्थितास्तत्र स एष निस्तरिष्यति । तदेतत् ज्ञात्वा यत्र स निस्तरति तत्रोपदेशं प्रयच्छन्ति । परमार्थतः पुनस्ते आत्मपरमात्मगच्छपरगच्छविभागं नेच्छन्ति स्थविरकल्पादुत्तीर्णत्वात् ।

अगीयसमणसंजइ-गीयत्थपरिग्गहाण खेत्तं तु ।

अपरिग्गहाण गुरुगा, न लजति सीसे त्थ आयरिओ ॥

अगीतानामगीतार्थानां श्रमणानां संयतीनां च गीतार्थपरिग्रहाणां गीतार्थपरिगृहीतानां क्षेत्रमवग्रहो भवति । इयमत्र भावना । ये गीतार्था अपि साधवो गीतार्थपरिगृहीता विहरन्ति वा अपि संयत्यो गीतार्थपरिगृहीता वर्तन्ते तेषामवग्रहो भवति स च यदि साधवो यदि संयत्यो गीतार्थनिश्रामनुपगता अगीतार्था विहरन्ति तदा तेषामपरिग्रहाणां गीतार्थपरिग्रहरहितानां विहरतां प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुका इत्येषां च संयतीनां च गीतार्थापरिगृहीतानां यः परिव्राजक आचार्यः सोऽत्र शिष्यान् स्वीकृतान् न लभते परिगृहीततयैव तेषां वीक्षणात् ।

गीयत्थगते गुरुगा, असती एगागिए वि गीयत्थो ।

समोसरणे नत्थि उग्गहो, वसहीए उ मग्गए असंते ॥

ये ते स्वयं गीतार्था गीतार्थपरिग्रहरहिता वर्तन्ते यद्यन्यस्मिन् गीतार्थे आगते तस्योपसंपदं न प्रतिपद्यन्ते तदा तेषां प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः । अथान्यो गीतार्थ उपसंपदनार्हो नायातः कारणवशतश्च कथमप्येकाकी जातस्तस्य गीतार्थस्याशठस्य परिवाररहितस्यैकाकिनोऽपि क्षेत्रमाभवति । गतं कस्येति द्वारम् । इदानीं कस्मिन्वेति द्वारमधिकृत्याह । यत्र यावन्ति दिनानि संघस्य समवसरणं तत्र तावन्ति दिनान्यवग्रहो न भवति एवं जिनस्नानादिषु मिलितानां यावन्महिमा तावदवग्रहाभावः । एतत्सर्वं समवसरणे नास्त्यवग्रहः इत्यनेन सूचितमेवमक्षेत्रेऽवग्रहाभावः । अक्षेत्रेऽपि वसतौ मार्गणाऽवग्रहस्य भवति सा चैकमक्षेत्रे वसतिषु समकं स्थितानां साधारणं क्षेत्रं पश्चादागतानां तु न भवति ।

सेसं सकोसजोयणं, पुव्वजहियं तु जेण तस्सेव ।

समगोग्गहसाहारं, पच्छा गतो होइ उ अखेत्ती ॥

शेषं क्षेत्रमवग्रहो भवति । तच्च प्रमाणतः सक्रोशयोजनं क्रोशसहितगव्यूतद्विकमित्यर्थः तत्रापि येन पूर्वमवगृहीतं तस्यैव तत्क्षेत्रमाभवति न शेषस्य । अथ समकमेव तस्यावग्रहः कृतस्तत आह साधारणं तदा तेषां क्षेत्रम् । यस्तु पश्चादागतः स भवत्यक्षेत्री न तस्याभवति क्षेत्रमिति भावः ।

अण्णो गतो कहंतो, उवसंपण्णे तहिं च ते सव्वे ।

संकंतो उ व कहेंते, साहारणे तस्स जो भागो ॥

अन्यः कोऽप्याचार्यः कथयन् बहुश्रुतः पश्चादागतः ते च पूर्वस्थिताः सर्वेऽपि तस्मिन्नभ्यागते कथयत्युपसंपन्नास्तदा तस्मिन् कथयति सोऽवग्रहः संक्रान्तस्तस्याभाव्यं तत्क्षेत्रं जातमिति भावः । अथ समकप्राप्ततया साधारणे क्षेत्रे स्थितानां मध्ये एकः कश्चनापि तं पश्चादागतमन्यमाचार्यं बहुश्रुतमुपसंपन्नस्तदा यस्तस्य भागस्तं तत्र कथयति संक्रान्तः ।

निक्खित्तगणाणं वा, तेसिं वि य होइ तं तु खेत्तं तु ।

खेत्तभया वा कोई, माइट्ठाणेण सुण एत्तं ॥

यदि क्षेत्रवतां शिष्य आगन्तुकमाचार्यमुपसंपन्नो यदि वाचार्या गणं शिष्ये गीतार्थे निक्षिप्य तमुपसंपन्नास्तदा तेषामेव निक्षिप्तगणानां वाशब्दादुपसंपन्नतदेकशिष्याणां तत्क्षेत्रम् । किमुक्तं भवति यद्यस्तत्क्षेत्रात्सचित्तादिकमुत्पद्यते तत्तेषामेवाभवति यदागन्तुको न लभते कोऽपि पुनर्ममागन्तुकस्य पार्श्वे शृण्वतः क्षेत्रं यायादिति क्षेत्रभयादेवं वक्ष्यमाणप्रकारेण मातृस्थानेन शृणोति । तमेव प्रकारमाह ।

कुड्डेण चिलिमिलीए व, अंतरितो सुणइ कोइ माणेणं ।

अहवा चंकमणीयं, करेंतो पुच्छागमो तत्थ ॥

कुड्येन यदि वा चिलिमिलिन्या जवनिकान्तरितः सन् कोऽपि मानेन ममेदं क्षेत्रमाभवति तन्मा इह तावदुपसरत्विति क्षेत्रगर्वेण शृणोति । अथवा मानेनैव यथोक्तरूपेण चंक्रमणिकां कुर्वन् कोऽपि शृणोति तत्र यद्यपि स शृणोति तथापि तत्र पृच्छागमो भवति पृच्छा कर्त्तव्या भवति ततः पृच्छातोऽपि तस्य भवति क्षेत्रम् । अथ कतिभिः पृच्छाभिः कियन्तं कालं तस्याभवति क्षेत्रमित्याह ।

पुच्छाहिं तिहिं दिवसं, सत्तहिं पुच्छाहिं मासियं हरइ ।

अहवा दिवससमत्तो, इमो उ ते हिंसं आहिज्जंते ॥

तिसृभिः पृच्छाभिरेकं दिवसं यावत्तत्क्षेत्रं हरति पृच्छादिवसे यत्तस्मिन् क्षेत्रे सचित्तादिकमुत्पद्यते तत्कथयन् स लभते नेतर इति भावः । सप्तभिः पृच्छाभिः पुनर्मासिकं पृच्छादिवसादारभ्य मासं यावत्सचित्तादिकमपहरतः तदेवं 'खेत्तभया वा कोइ' इत्यादि गाथा पश्चार्द्धं व्याख्यातमिदानीं "निक्खित्तगणाणं चेत्यादि" पूर्वार्द्धं व्याख्यानयति । अथवा यो वक्ष्यमाणोऽन्यविशेषस्तस्मिन्नधीयानेऽध्यापयितरि । तमेवाह ।

जति निक्खिऊण गणं, उवसंपाएइ वा वि सीसं तु ।

ता तेसिं चिय खेत्तं, वाएंतो लाभ खेत्त बहिं ॥

यदि गीतार्थे गणं निक्षिप्य तमागन्तुकमुपसंपद्यते अथवा शिष्यं प्रेषयति तदा तेषामेव पूर्वस्थितानां तत्क्षेत्रमाभवति न तु वाचयतां वाचयति लाभस्तस्मात् क्षेत्राद्बहिः ।

अह वेती वायंतो, लाभेण नत्थि हंति वच्चामो ।

इहरेहि य सो रुद्धो, मा वच्चसु अम्ह साहारं ।

अथ ब्रूते वाचयन् यथा नोऽस्माकमिह नास्ति लाभ इति व्रजाम एवमुक्ते इतरैः पूर्वस्थितैः स रुद्धो यथा मा व्रजत यूयं युष्माकमस्माकं च साधारणं क्षेत्रमिति । अथ साधारणेऽपि क्षेत्रे स्थिता न संस्तरन्ति तत्र विधिमाह ।

निग्गमणे चउभंगो, निट्ठियसुहदुक्खयं जति करेंति ।

निट्ठियपहावितो वा, रुद्धो पच्छा य वाघातो ॥

अथ साधारणक्षेत्रे स्थितास्ते न संस्तरन्ति तर्हि निर्गन्तव्यं तत्र निर्गमने चतुर्भङ्गी वक्तव्या । गाथायां पुंस्त्वनिर्देशः प्राकृतत्वात् तथा यस्य श्रुतस्कन्धस्य निमित्तमुपसंपन्नास्तन्निष्ठितं तस्मिन्निष्ठिते समाप्ते भूयः क्षेत्रं साधारणं जातं तत्र यदि भूयः सुखदुःखतां कुर्वन्ति सुखदुःखनिमित्तमुपसंपदं प्रतिपद्यन्ते तथा निष्ठिते श्रुतस्कन्धे यः प्रधावितः पुनरपि प्रतीच्छकैः पश्चात् रुद्धो व्याघातो वाऽशिवादिभिः कारणैरुपजातस्तत्र यदाभाव्यं तद्वक्तव्यमिति द्वारगाथासमासार्थः । सांप्रतमेनामेव गाथां विवरीषुः प्रथमतो निर्गमनचतुर्भङ्गीमाह ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वत्थव्व निंति न उ जे, पाहुणा ते न इयरे वा ।
उभयं व नोभयं वा, चउभयणा होंति एवं तु ॥

यस्य ग्रामप्रधानस्य नगरप्रधानस्य वा नियोगेन तिष्ठन्ति साधवः स चतुर्धा । तद्यथा आगन्तुकभद्रको नामैको न वास्तव्यभद्रकः ।१। वास्तव्यभद्रको नामैको नागन्तुकभद्रकः । २ । आगन्तुकभद्रको वास्तव्यभद्रकश्च । ३ । नागन्तुकभद्रको नापि वास्तव्यभद्रकः ।४। एतच्चतुर्भङ्गीवशादधिकृताऽपि चतुर्भङ्गी जाता तद्यथा प्रथमभङ्गवशात् वास्तव्या निर्गच्छन्ति न प्राघूर्णिका नियोक्तुरागन्तुकभद्रकत्वात् । द्वितीयभङ्गवशात् प्राघूर्णिकाः निर्गच्छन्ति न इतरे द्वितीये भङ्गे नियोक्तुर्वास्तव्यभद्रकत्वाच्चतुर्थभङ्गवशात् उभयं प्राघूर्णिका वास्तव्याश्च निर्गच्छन्ति उभयानपि प्रति नियोक्तुरभद्रकत्वात्तृतीयभङ्गवशान्नोभयं वास्तव्याः प्राघूर्णिकाश्च निर्गच्छन्ति उभयानपि प्रति तस्य भद्रकत्वात् । एवममुना प्रकारेण चतुर्भजना चतुर्भङ्गी भवति । तत्र प्रथमं भङ्गमधिकृत्य विशेषमाह ।

आगंतुभद्दगम्मि, पुव्वठ्ठिया गंतु जइ पुणो एज्जा ।
तम्मि अपुण्णे मासे, संकामति पुव्वसिं खेत्तं ॥

आगन्तुकभद्रके नियोक्तरि ये पूर्वस्थितास्ते वक्ष्यमाणचतुर्भागाऽऽगमनया यतनया गच्छन्ति । तथाऽप्यसंस्तरणे सर्वात्मना गच्छन्ति तेन गत्वा यद्यपूर्ण एव मासे तस्मिन् क्षेत्रे पुनरागच्छेयुस्तदानीं तेषां प्रत्यागतानां क्षेत्रं संक्रामति तेषां तदाभाव्यं भवतीति भावः । कारणतो गत्वा पुनरपूर्ण एव मासे प्रत्यागमनात् । अथ साधारणमुभयेषां तत्क्षेत्रमासीत् " मा वच्चसु अम्ह साहारमिति " व्यवस्थाकरणात्तदा तेषां पुनः प्रत्यागतानां साधारण्येन क्षेत्रं संक्रामति ।

द्वितीयं भङ्गमधिकृत्याह ॥

वत्थव्वभद्दगम्मि, संघाडगभयण तह विओ अलंभो ।
आगंतुं वेंति तओ, अत्थितियो पवायगो नवरं ॥

वास्तव्यभद्रके नियोक्तरि तेषामागन्तुकानामसंस्तरतामियं यतना । वास्तव्या आगन्तुकैः सममेकैकेन संघाटेन भिक्षां हिण्डन्ते अथ तथाप्यलाभस्तर्हि निर्गच्छन्ति । तत्रेयं भङ्गचतुष्टयेन यतना । आगन्तुकानां चतुर्भागो निर्गच्छति न वास्तव्यानाम् ।१। वास्तव्यानां चतुर्भागो निर्गच्छति नागन्तुकानाम् ।२। वास्तव्यानामपि चतुर्भाग आगन्तुकानां च चतुर्भागः ।३। उभयेषामपि न चतुर्भागो गमने चतुर्थः ।४। स चात्र शून्यो गमनमन्तरेण संस्तरणात् । एवमप्यसंस्तरणेऽर्द्धाऽर्द्धगमने यतना प्रथमभङ्गेऽपि द्रष्टव्या । स चात्रापि पूर्वप्रकारेण शून्यः । अथैवमपि न संस्तरन्ति ततः आगन्तुकाः सर्वे निर्गच्छन्ति नवरमेकः प्रवाचकस्तिष्ठति येन वास्तव्यान्प्रवाचयति । अथ सोऽप्यसंस्तरेण स्वशिष्यैः सह गतस्ते च वास्तव्यास्तमुपसंपन्ना यदि " मा वच्चह साहारमिति " व्यवस्थाकरणात् उभयेषां साधारणं तत्क्षेत्रं ततो यदि गत्वा पुनरपूर्णे एव मासे तत्र क्षेत्रे प्रत्यागच्छन्ति तदा कृतायामुपसंपदि तेषामेव प्रत्यागतानां क्षेत्रमाभाव्यतया साधारणेन । सांप्रतमनयोरेव भङ्गयोराभवनव्यवहारशेष उच्यते । अत्र पतितं " नियठिसुहदुक्खयं अति करेंती " ति द्वारमस्य व्याख्यानार्थमाह ।

सुहदुक्खितो समत्त, वाएंतो निग्गएसु सीसेसु ।
वइज्जंतो विहता, निग्गयसीसो समत्तम्मि ॥

इदमुक्तमागन्तुकाः सर्वेऽपि निर्गच्छन्ति केवलमेव प्रवाचकोऽवतिष्ठते तत्र यदि निर्गतेषु शिष्येषु वाचयन् प्रवाचकः समाप्ते श्रुते सुखदुःखितः सुखदुःखनिमित्तमुपसंपदं ग्राहितस्तथा तस्य वाच्यस्याभवति तत् क्षेत्रम् । इदं द्वितीयभङ्गमधिकृत्योक्तम् । प्रथमभङ्गमधिकृत्याह । तथा वाच्यमानो निर्गतशिष्यः समाप्ते श्रुते स्कन्धः किमुक्तं भवति यदि वाच्यमानो निर्गतेषु शिष्येषु वाचनाग्रहणाय पश्चात् स्थितः समाप्ते श्रुतस्कन्धे वाचयता सुखदुःखनिमित्तमात्मोपसंपदं ग्राहितस्तदा वाचयत आभवति क्षेत्रम् ॥

दोण्ह वि विणिग्गएसुं, वाएंतो तत्थ खेत्तितो होइ ।
तम्मि पुण असमत्ते, समत्ते तस्सेव संकमति ॥

तद् द्वयोरपि शिष्येषु विनिर्गतेषु तावेव द्वौ केवलौ तिष्ठतस्तत्र यावदद्यापि तत् श्रुतं न समाप्यते तावत्तस्मिन् श्रुते असमाप्ते तत्र तयोर्द्वयोर्मध्ये वाचयन् क्षेत्रिको भवति समाप्ते पुनः श्रुतस्यैव पूर्वस्थितस्य तत्क्षेत्रं संक्रामति । अथ द्वावपि परस्परं सुखदुःखोपसंपदं प्रतिपन्नौ तदा साधारणं क्षेत्रमिति यो यल्लभते तस्य तदाभवतीति ।

संथरे दो वि नर्निति, बहवे उववाइया उ जइ सीसा ।
लाभो नत्थि महत्थि य, अहव समत्ते पधाविज्जा ॥

संस्तरे संस्तरणाद्द्वयेऽपि पूर्वस्थिता आगन्तुकाश्च न निर्गच्छन्ति । तैश्च पूर्वस्थितैर्यदि बहवः शिष्या उपपादिता उत्पादितास्तदा स आगन्तुको नास्ति मम लाभ इति विचिन्त्य प्रधावेत् गच्छेत् अथ ते निक्षिप्तगणास्तस्य समीपे वाचयन्ति तेषां शिष्यो वा तत्र आह । अथवा समाप्ते श्रुते प्रधावेत् संप्रति "निच्चियपहाविओ वा रुद्धो पच्छा य वाघातो" इत्येतद् व्याख्यानयति ॥

जइ वायगो समत्तो, निंति उ पडिच्छिएहिं रुंभेज्जा ।
असिवादिकारणे वा, तत्तो लाभो इमो होइ ॥

यदि समाप्ते श्रुते ततः क्षेत्राद् वाचको निर्गच्छन् प्रतीच्छिकै रुध्यते यथा मा निर्गच्छत यूयं वयमद्यापि वाचयिष्याम इति । यदि वा निर्गतो बहिरशिवादीनि कारणान्युपस्थितानि ततो व्याघात इति कृत्वा न निर्गच्छति तदा तस्मिन्प्रतीच्छिकैरवरोधनात् पश्चाद् व्याघाताद्वा अनिर्गच्छति तस्यायमायो लाभो भवति । तमेवाह ।

आयसमुत्थं लाभं, सीसपडिच्छएहिं सो लहइ ।
एवं छिण्णुववाए, अच्छिण्णे सीसागते दोण्हं ॥

स प्रातीच्छिकैर्गच्छन्नपरुद्धः सन् यच्च तस्य शिष्या यच्च तस्य प्रतीच्छिका वा लभन्ते तत्सार्वमात्मसमुत्थं शिष्यप्रातीच्छिकैर्वा समुत्पादितं लभते एवमानवनं छिन्ने समाप्ते उपपाते हेतौ श्रुतस्कन्धादौ श्रुते द्रष्टव्यम् । अच्छिन्ने असमाप्ते श्रुतस्कन्धादौ यदि तस्य पठत आचार्यस्य शिष्या ग्रामान्तरगताः प्रत्यागताः तस्य च शिष्यो नियमात् गीतार्थो यस्य गण आरोपितस्तदा द्वयोरपि लाभः साधारणो गीतार्थे शिष्ये निक्षिप्तगणतया पठतोऽप्याचार्यस्य पाठयिता गच्छन् तेन प्रतिबद्ध इति पाठयितुरप्याभवनात् ॥

एवं ता उउबद्धे, वासासु इमो विही हवति तत्थ ।
खेत्तपडिलेहगा उ, पयट्ठिया तेण अन्नत्थ ॥

एवं तावत् ऋतुबद्धे काले आभवनव्यवहारविधिरुक्तो वर्षासु वर्षाकाले पुनरयं वक्ष्यमाणो विधिर्भवति तमेवाह (तत्थेत्यादि)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वयोराचार्ययोः ऋतुबद्धे काले साधारणक्षेत्रस्थितयोरेकोऽपरस्यैकस्य पार्श्वे उपसंपदं गृहीतवान् वर्षारात्रश्च प्रत्यासन्नीभूतोऽन्यानि च क्षेत्राणि वर्षावासयोग्यानि तादृशानि प्रत्यासन्नानि न सन्ति ततः स उपसंपन्न आचार्यस्तत्रैति तस्मिन्नेव आषाढमासिके क्षेत्रे वर्षावासं स्थितस्तेन वाचनाचार्येणाऽन्यत्र वर्षावासयोग्यस्य क्षेत्रस्य प्रतिलेखकाः प्रवर्तन्ते तांश्च प्रवर्तयन्निदमवादीत् ।

जा तुज्झे पेहेहा, तावेतेसिं इमं तु सारेमि ।
तं च समं तेसिं वा, वासं च पवद्धमालग्गं ॥

यावत् यूयं क्षेत्रं प्रत्युपेक्ष्य समागच्छथ तावदेतेषामाचार्याणामिदं श्रुतस्कन्धादिकं सारयामि सूत्रतोऽर्थतश्च गमयामि तच्च श्रुतस्कन्धादिकं तेषां तथा अधीयानानां समाप्तमेतद्व्यवच्छिन्नमित्युच्यते । अत्रान्तरे च वर्षं प्रबन्धेन पतितुमालब्धं तेऽपि च क्षेत्रप्रत्युपेक्षकास्तत्रैव वर्षेण निरुद्धाः ।

निग्गंतूण न तीरइ, चउमासे तत्थ अत्तगत्ते ।
लाभे वोच्छिन्नेवं, कुव्वति गिलाणगस्स वि य ॥

यतः प्रबन्धेन वर्षं पतितुमारब्धं न च क्षेत्रप्रत्युपेक्षकाः समागच्छन् ततः समाप्तेऽपि श्रुते स वाचनाचार्यस्ततः क्षेत्रान्निर्गन्तुं न शक्नोति । अनिर्गतश्च तस्मिन् क्षेत्रे चतुरो वर्षारात्रमासान् यावदात्मगतमात्मसमुत्थं लाभं लभेत् द्वितीयोऽप्यात्मसमुत्थस्य लाभस्य स्वामी । एवं कुर्वति व्यवच्छिन्ने समाप्ते श्रुते अथवा "गिलाणगस्स वि य इति" समाप्ते श्रुते वाचनाचार्यो ग्लानोऽभवत् ततो गन्तुमशक्तस्यापि च ग्लानस्यैवाभवनव्यवहारो द्रष्टव्यः । उभयोरपि चतुरो वर्षावासानात्मसमुत्थो लाभ इत्यर्थः ।

अह पुण अत्थिमे सुए, ते आया बेंति मा य तुब्भं तु ।
अड्डो खेत्तं देमो, साहारणम्मि एसिं तु ॥

अथ तत् श्रुतस्कन्धादिकमद्यापि न समाप्तं ते च क्षेत्रप्रत्युपेक्षका आयातास्ततो वाचनाचार्या आपृच्छन्ति वयं निर्गच्छामः । तत इमे प्रतीच्छका आचार्यं ब्रुवते मा यूयं निर्गच्छत समाप्तेऽपि श्रुते युष्मदेकं वयं क्षेत्रं दास्यामः । एवमुक्ते तत् क्षेत्रमेतेषां द्वयानामपि साधारणं भवति । एष संस्तरणे विधिः । असंस्तरणमधिकृत्याह ।

असंथरण नित अनिंते, चउभंगो होइ तत्थ वि तहेव ।
एवं तो खेत्तेसुं, इणमन्ना मग्गणविहादी ॥

असंस्तरणे साधुषु निर्गच्छत्सु अनिर्गच्छत्सु चतुर्भङ्गी भवति । सा चैवं वास्तव्यानां चतुर्भङ्गादिना प्रकारेण साधवो निर्गच्छन्ति न वाचनाचार्याणामिति प्रथमः । वाचनाचार्याणां नेतरेषामिति द्वितीयः । उभयेषामिति तृतीयः । नोभयेषामिति चतुर्थः । तत्रापि चतुर्भङ्ग्यामपि तथैवाभवेत् व्यवहारः द्वयानामप्यात्मसमुत्थो लाभ इति भावस्तृतीयभङ्गे यद्येकतर एकतरस्य पार्श्वे साध्वजायत उपसंपद्यते तत उपसंपद्यमानलाभ इतरस्मिन्संक्रामति । अनुपसंपत्तौ च द्वयोरपि साधारणं क्षेत्रम् । एवं तावत् क्षेत्रे मार्गणा कृता । अथायमन्यो मार्गणविधिरादिशब्दात् दिग्धारणपरिग्रहः । गाथायां च स्त्रीत्वनिर्देशः प्राकृतत्वात्तमेव मार्गणाविध्यादिकमाह ।

अद्धाणादिसु नट्ठा, अणुवट्ठिया तहा उवट्ठविया ।
अगविट्ठा य गविट्ठा, निप्पन्ना धारणं दिसासु ॥

अध्वा मार्ग आदिशब्दादशिवमौदर्यादिनिमित्तनिर्गमनपरिग्रहस्तेष्वध्वादिषु नष्टाः साधवस्ते च द्विधा उपस्थापिता अनुपस्थापिताश्च एकैके द्विधा आचार्यस्य ते नेन गवेषिता अगवेषिताश्च तत्र ये निष्पन्ना उपस्थापितास्ते निष्पन्ना एव न तेषां दिग्धारणं कर्त्तव्यमितरेषां यथा भवनं धारणं दिक्षु अध्वादिषु नष्टा इत्युक्तम् । तत्र यैः कारणैस्ते नष्टाः साधवस्तान्यभिधित्सुराह ।

संजम महंत सत्थे, भिक्खायरिया गया व ते नट्ठा ।
सिग्घगती परिरएण व, आउरतेणादिये मुंच ॥

संभ्रमो वनद्वाग्निसंभ्रमादिकस्तद्वशात् गच्छात् स्फिटिता यदि वा महति सार्थे व्रजतां कोऽपि कुत्रापीति गच्छादपगतो यदि वा भिक्षाचर्यानिमित्तं सार्थादपसृत्य ग्रामिकापल्ल्यादिषु गतास्ततो नष्टाः अथवा सार्थः शीघ्रगतिस्ते च मन्दगतयस्ततः सार्थात् गच्छात् परिभ्रष्टाः (परिरएणवत्ति) यदि वा नद्यादिषु तरितव्यासु सार्थं ऋजुमार्गेणोत्तीर्णे इतरे साधवः परिरयेण गत्वा स्तोकपानीये समुत्तरन्ति चिन्तयन्ति च वयं सार्थे झटित्येव मिलिष्यामस्ते च तथा परिरयेण गच्छतः सार्थात् स्फिटिता अथवा आतुराः प्रथमद्वितीयपरीषहाभ्यां जितास्ते तथा आतुराः सन्तोऽशक्नुवन्तः सार्थात्परिभ्रष्टा स्तेनाश्चौरा आदिशब्दात्पररचक्रादिपरिग्रहस्तेषु स्तेनादिषु समापतत्सु भयेन पलायमाना गच्छादवस्फिटिता एवमध्वादिषु साधवो नष्टा भवन्ति ।

अत्र मार्गणाविधिं दिग्धारणविधिं चाह ।

गवेसऊ मा व कयव्वया जे, सव्वे न तेसिं तु दिसा पुरिल्ला ।
गवेसमाणो लभतेऽणुवट्ठे, अणादिया संगहिया उ जेणं ।

ये कृतव्रता उपस्थापिता इत्यर्थस्तान्प्रव्राजनाचार्यो गवेषयतु वा मा वा तथापि तेषां सैव दिक् पुरातनी यां प्रव्राजनाचार्योऽशठभावेन गवेषयति न च लभते तथापि तान् सुचिरेणापि कालेन लब्धान् स एव प्रव्राजनाचार्यो लभते (अणादिया संगहिया उ जेणामिति) ये पुनरनादृता अनादरपरेण गवेषितास्ते येन संगृहीतास्तस्यैव ते शिष्या इति स तेषामात्मीयां दिशं धारयति । अयमेव वृद्धोऽर्थोऽन्येनाचार्येण श्लोकेन बद्धस्तमेव श्लोकमाह ।

गवेसिए पुव्वदिसा, अगविट्ठए उ पच्छिमा ।
अणुवट्ठविए एवं, अभिधारंते उ इणमन्ना ॥

अनुपस्थापिते नष्टशिष्ये शिष्यवर्गे वा प्रव्राजनाचार्येण गवेषिते पूर्वदिक् प्रव्राजना दिग्भवति । अगवेषिते पश्चिमा दिक् येन संगृहीतास्तस्य दिग्भवतीत्यर्थः । एवमनुपस्थापिते मार्गणा भवति । यः पुनरन्यक्षेत्रगतानाचार्यानभिधारयन्व्रजति तत्रेयमन्या मार्गणा । तामेवाह ।

अभिधारेंतो वच्चति, वत्त अवत्तो व वत्त एगागी ।
जं लभति खेत्तवज्जं, अभिधारिज्जंति तं सव्वे ॥

यस्य क्षेत्रगतानाचार्यान् अभिधारयन् व्रजति व्यक्तोऽव्यक्तो वा गीतार्थोऽगीतार्थो वा इत्यर्थः । तत्र व्यक्त एकाकी व्रजन् यल्लभते तत्सर्वं क्षेत्रवर्ज क्षेत्रमेकाकिनो न भवतीति तत्प्रतिषेधः कृतः । अभिधार्यमाणे यस्य समीपे गन्तव्यं तस्मिन् भवति तदभिधारणस्थितेन तस्य लाभात् ॥

अव्वत्ते ससहाए, परखेत्त वज्जो लाभो दोण्हं पि ।
सव्वो सोमग्गिल्ले, जाव न निक्खिप्पए तत्थ ॥

अथाव्यक्तः ससहायस्तमभिधारयन् व्रजति तर्हि तस्मिन् अव्यक्ते ससहाये व्रजति यः परक्षेत्रवर्जो यस्मिन् क्षेत्रे ते अभिसंधार्यमाणा आचार्या वर्त्तन्ते तत्क्षेत्रवर्जस्तत्किल क्षेत्रं तेषामभिधार्यमाणाना माभाव्यमिति तत्प्रतिषेधः । यो द्वयोरपि लाभो

व्यक्तस्य सहायानां च लाभ इत्यर्थः । स सर्वः पूर्वस्याचार्यस्या- भवति स च तावद्यावत्तत्र न निक्षिप्यते ।

निक्खित्तनियत्ताणं, खेत्ते लाभो य होति वायंतो ।
तस्स वि य जा न नीतो, लाभो सोवी पवायंतो ॥

तमव्यक्तं तत्र निक्षिप्तं कृत्वा ये निवृत्ताः सहायास्तेषां क्षेत्रस्य पञ्चगव्यूतप्रमाणस्यान्तर्मध्ये यो लाभो भवति स वाचयत्याभवति तत्क्षेत्रे तस्य लाभस्य भावात् तस्यापि च निक्षिप्तस्य यावन्न निर्गच्छति तावद्यः कश्चनापि लाभः सोऽपि प्रवाचयति भवति । संप्रति यस्तत्र क्षेत्रस्थितः सन् गणं निक्षिप्योपसंपन्नस्तस्य यत्सर्वं न भणितं तदिदानीं सिंहावलोकन्यायेनाह ।

अहवा आयरिओ वि, निक्खित्तगणागतो उ आउत्थे ।
वायंतो देइ लाभं, जं खेत्ताता न ईसो त्ति ॥

अथवेति प्रकारान्तरे तच्च प्रकारान्तरमिदं पूर्वं शिष्यस्य व्यक्तस्याव्यक्तस्य चोक्तमिदानीमाचार्यस्य तत्क्षेत्रगतस्योच्यते आचार्योऽपि कश्चित् गीतार्थे शिष्ये निक्षिप्तगणो भूत्वा तत्रागतस्तत्रोपसंपन्नः सन् यत्स्वयं लभते तमात्मोत्थं लाभं वाचयति । तथा अथ तेन गणः स्वशिष्ये निक्षिप्तस्ततः स क्षेत्रस्याप्रभुरेवेति कुतस्तस्यात्मसमुत्थो लाभस्तत आह । यत् यस्मात्स क्षेत्रिकः क्षेत्रस्य प्रभुरासीत्तस्मान्न शक्यते वक्तुं तस्मिन् क्षेत्रे आत्मसमुत्थस्य लाभस्य न ईशः प्रभुरिति तदेवमुक्तो विधिः संयतानाम ।

अधुना संयतीनां विधिमतिदेशत आह ॥

आरब्भ सुत्ता सरमाणगन्ते, जा पिंडसुत्तं इणमं तिमन्तं ।
एमेव वच्चो खलु संजतीणं, वोच्छिन्नमीसेसु अयं विसेसो ॥

सरमाणकान् "आयरियउवज्झाए सरमाणे" इत्येवं रूपात्सूत्रादारभ्य यावदिदमन्तिमं पिण्डसूत्रमेतेषु सूत्रेषु यथा संयतानां विधिरुक्त एवमेव खलु संयतीनामपि गीतार्थपरिगृहीतानां वाच्यः । केवलं व्यवच्छिन्ने मिश्रे वाऽयं वक्ष्यमाणो विशेषस्तमेवाह ।

वोच्छिन्ने उ उवरए, गुरुम्मि गीयाए उग्गहो तासिं ।
दोण्ह बहूणं च पिंडए, कुलिव्वमन्नं जयाभिधारे ॥

व्यवच्छिन्नो नाम तासां गुरुरुपरतः कालं गत इत्यर्थः तस्मिन् गुरावुपरते यदि (कुलिव्वमन्नंति) कुलसत्कमन्यमाचार्यमभिधारयन्ति ततस्तासां द्वयोर्बहूनां वा पिण्डकेन समुदायेन स्थितानां गीतार्थानां संयतीनां पिण्डकेन व्यवस्थितानामपि नावग्रहः ।

मीसो उभयगणाव-च्छेओ तत्थ समणीण जो लाभो ।
सो खलु गणिणो नियमा, पुव्वट्ठिया जाव तत्थ से ॥

मिश्रो नाम उभयगणावच्छेदकस्तत्र उभयगणावच्छेदके सति यः श्रमणीनां संयतीनां लाभः स खलु नियमात् ये पूर्वस्थितास्तत्र गणिनो यावदन्ये न गच्छन्ति तावत्तस्य गणिनो वेदितव्यः सोऽन्येष्वाचार्येष्वागतेषु तेषामिति तदेवं कस्येति द्वारम् ।

संप्रति कियन्तं कालमवग्रह इति द्वारव्याख्यानार्थमाह ।

केयति काल उग्गहो, विविहो उउवड्डवासवुड्ढे य ॥
मासचउमासवासे, गेलण्णे सोलसुक्कोसा ॥

कियन्तं कालमवग्रह इति शिष्येण प्रश्ने कृते सूरिराह । द्विविधो भवति अवग्रहस्तद्यथा ऋतुबद्धे वर्षाकाले वृद्धवासे च । तत्र ऋतुबद्धे काले वत्सगेत एकं मासमवग्रहो वर्षे वर्षाकाले चतुरो मासान् ग्लानत्वमधिकृत्योत्कर्षतः षोडश मासान् अन्ये तु षोडश वर्षाणीत्याहुः । व्य० ४ उ० । (अत्र वृद्धावासमधिकृत्य यद्वक्तव्यं तद् वुड्ढावासशब्दे वक्ष्यते) [पार्श्वस्थविहारप्रतिमां प्रतिपद्य पुनरुपसंपद्येतेति पासत्थशब्दे वक्ष्यामि) अथाऽपि किञ्चिद् वक्ष्यामि तत्र ।

(६) पार्श्वस्थादिविहारप्रतिमामुपसंपद्य विहारे विधिमाह ॥

(सूत्रम्) भिक्खू अ गणाओ अवक्कम्म परपासंडपडिमं उवसंपज्जित्ताणं विहरिज्जा से य इच्छेज्जा दोच्चं पि तमेव उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए नत्थि णं तस्स तप्पइयं कइ च्छेदे वा परिहारे वा नन्नत्थ एगाए आलोयणाए । २१ ।

अथास्य सूत्रस्य कः संबन्ध इत्यत आह ।

दोसेण अवक्कंता, सव्वेणं चेव भावलिंगाओ ।
इति समुदिया उ सुत्ता, इणमन्नं देवतो वि गतो ॥

द्रव्यलिङ्गमधिकृत्य देशतोऽपक्रान्ता भावलिङ्गतो भावलिङ्गमधिकृत्य सर्वेण सर्वात्मनाऽपक्रान्ताः पार्श्वस्थादय इति । एवमर्थाभ्यन्तरसूत्राणि समुदितानि सम्यक्प्रतिपादितानि इदानीमधिकृतमन्यत्सूत्रं द्रव्यलिङ्गेन विगते वियुक्ते द्रव्यलिङ्गवियुक्तविषयमिति भावः । अनेन संबन्धेनायातस्यास्य व्याख्या । भिक्षुः प्राग्युक्तशब्दोऽनुक्तसमुच्चयार्थः । स चैतत् समुच्चिनोति रागद्वेषादिना कारणेन गणादपक्रम्य निर्गत्य परपाखण्डप्रतिमां परपाखण्डलिङ्गमुपसंपद्य विहरेत् विहृत्य च कारणे समाप्ते द्वितीयमपि वारं तमेव गणमुपपद्य विहर्तुमिच्छेत् तस्य तथोपसंपद्यमानस्य नास्ति कश्चिच्छेदो वा परिहारो वा । उपलक्षणमेतत् अन्यदपि प्रायश्चित्तं न किमप्यस्ति । कारणतः परलिङ्गप्रतिपत्तेः प्रतिपत्तावपि सम्यग्यतनाकरणात्किं सर्वथा न किमपि नेत्याह नान्यत्र एकाया आलोचनिकायाः अन्यत्र शब्दपरिवर्जनार्थो भीमार्जुनाभ्यामन्यत्र सर्वे योद्धार इत्यादिवत्ततोऽयमर्थ एकामालोचनां मुक्त्वा पुनर्भवत्येवेति भावः । एष सूत्रसंक्षेपार्थः ।

अधुना निर्युक्तिभाष्यविस्तरः ।

कंदप्पे परलिंगे, मूलं गुरुगा य गरुलपक्खम्मि ।
सुत्तं तु निच्चगादी, कालक्खेवोवगमणं वा ॥

यदि कन्दर्पे कन्दर्पनूत आहारगृद्ध्यादिकरणलक्षणतः परलिङ्गं करोति ततस्तस्मिन्परलिङ्गे कृते तस्य प्रायश्चित्तं मूलम् । अथ गरुडपाक्षिकं गरुडादिरूपं परलिङ्गं करोति तदा चत्वारो गुरुकाः । इत्यादिसूचनार्थः । अत्र पर आह । ननु सूत्रनिर्युक्त्योरनुपपत्तिः । तथा हि सूत्रेण परलिङ्गकरणमनुज्ञातं प्रायश्चित्तादानात् । निर्युक्तिकृता तु वारितं प्रायश्चित्तप्रदानात् । नैष दोषोऽभिप्रायापरिज्ञानात् । निर्युक्तिकृता हि कन्दर्पतः करणे प्रायश्चित्तमुक्तं सूत्रं पुनः कथमपि राज्ञि प्रद्विष्टे च यावत्सार्थो न लभ्यते तावत्कालक्षेपः क्रियतामिति । वा देशी वाशब्दो न केवलं विकल्पार्थोऽनुक्तसमुच्चयार्थश्च स चैतत्समुच्चिनोति न शक्यते सहसा विषयपरित्यागं कर्तुमिति यावत्प्रज्ञापना क्रियेत (गमनं वेति) गमनं वा अशिवादिकारणतोऽनार्यदेशमध्येन समुपस्थितं ततः एतैः कारणैर्यस्य राज्ञो ये पूज्या भिक्षुकादयः भिक्षुकाः शौद्धोदनीया आदिशब्दात्परिव्राजकपण्डरागादिपरिग्रहः । तल्लिङ्गं गृह्णीयादित्येतद्विषयमतो न कश्चिद्दोषः । एनामेव गाथां भाष्यकृद् व्याख्यानयति ॥

खंधे दुवार संजइ, गरुडद्धंसे य पट्टलिंगदुवे ।
लहुओ अलहुओ लहुया, तिसु चउगुरुदोसु मूलं तु ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इह पूर्वार्द्धोत्तरार्द्धपादानां यथासंख्येन योजना चैवं यदि कन्दर्पतो वस्त्रं गृहस्थ इव स्कन्धे करोति तदा तस्य प्रायश्चित्तं लघुको मासः (कुव्वरोति) गोपुच्छिकं करोति तदाऽपि लघुको मासः । संयतीप्रावरणकरणे चत्वारो लघुमासाः । गरुडादिपरलिङ्गकरणे चत्वारो गुरुका (अद्धं सेति) स्कन्धे दिगम्बरवद्यदि वस्त्रस्य करोति तदापि चत्वारो गुरुकाः (पट्टेति) यदि गृहस्थ इव कटिपट्टकं बध्नाति तदापि चत्वारो गुरुकाः (लिङ्गदुवे इति) लिङ्गद्विकं गृहिलिङ्गं परपाखण्डिलिङ्गं च तस्मिन् गृहिलिङ्गे परपाखण्डिलिङ्गे च कन्दर्पतः परिगृह्यमाणे प्रत्येकं प्रायश्चित्तं मूलम् । संप्रति " कालक्खेवो य गमणं वा " इत्येतद्व्याख्यानार्थमाह ।

असिवादिकारणेहिं, रायदुट्ठे व होज्ज परलिंगं ।
कालक्खेवनिमित्तं, पण्णवणट्ठा व गमणट्ठा ॥

अशिवं देवताकृत उपद्रवः आदिशब्दादवमौदर्यादिपरिग्रहः तेषु अशिवादिकारणेषु गाथायां तृतीया सप्तम्यर्थे प्राकृतत्वात्तथा द्वेषणं द्विष्टं राज्ञो द्विष्टं राजद्विष्टं राजद्वेष इत्यर्थः । तस्मिन्वासति परलिङ्गं ग्राह्यं भवति । किमर्थमिति चेदत आह । कालेत्यादि । यावत्सार्थो न लभ्यते तावत्स खलु परलिङ्गग्रहणेन कालक्षेपः क्रियतामित्येवं कालक्षेपनिमित्तमथवा न शक्यः खलु सहसा विषयः परित्यक्तुमिति यावद्राज्ञः प्रज्ञापना क्रियते तावद् गृह्यतां परलिङ्गमिति प्रज्ञापनार्थं यदि अशिवादिकारणेषु समुपस्थितेष्वनार्यदेशमध्ये गमनमुपजातं तत्रानार्यदेशमध्ये गमनं न परलिङ्गग्रहणमृते शक्यते कर्त्तुमिति गमनार्थं वा परलिङ्गग्रहणम् । अथ कस्य परलिङ्गं ग्राह्यमित्याशङ्क्य भिक्षुयादि इत्येतद्व्याख्यानयति ।

जं जस्स अच्चियं तस्स, पूयणिज्जं तवस्सिया लिंगं ।
खीरादिलद्धिजुत्ता, गमंति तं उवसमत्था ॥

यत् भिक्षुकादिगतं लिङ्गं यस्य राज्ञोऽर्चितं भावे क्तप्रत्ययो मान्य इत्यर्थः । तदर्चितमपि नावश्यं कस्याप्यनतिक्रमणीयं भवति । ततोऽनतिक्रमणीयताप्रतिपादनार्थमाह तस्य राज्ञो यत्पूजनीयमनतिक्रमणीयं तल्लिङ्गमाश्रितास्तल्लिङ्गं प्रतिपन्नाः उपशमसामर्थ्याः परलिङ्गग्रहणेनाच्छादितस्वस्वरूपाः तं राजानं गमयन्ति । कीदृशी उपशमयन्तीत्यत आह । क्षीरादिलब्धियुक्ताः क्षीरास्रवलब्धिसंपन्नाः आदिशब्दाद्विद्यामन्त्रयोगादिवशीकरणकुशलतायाः परिग्रहः ॥

कलासु सव्वासु सवित्थरासु, आगाढपण्णेसु य संथवेसु ।
जो जत्थ सत्तो तमणुं पविस्से, अव्वाहओ तस्स स एव पंथो ॥

कला द्वासप्ततिसंख्या लोकप्रसिद्धास्तासु कलासु सर्वास्वपि सविस्तरासु आगाढप्रश्नेषु वाऽत्यन्तदुर्भेदप्रश्नेषु परिचयेषु सत्सु यो राजा यत्र कलादिविशेषे सक्त आसक्तो भवति । किमुक्तं भवति तस्य राज्ञो यस्मिन् कलादिविशेषे अत्यन्तमभिष्वङ्गो भवति तमनुप्रवेशयेयुस्तं सम्यग् ज्ञात्वा राज्ञः पुरतः प्रवेदयेयुः प्रवेदयन्तश्च राजानमुपशमयन्ति । यत एव तस्य राज्ञ उपशमने अव्याहतः स्वपराविरोधी पन्था मार्ग उपाय इत्यर्थः । तत्र यदीत्थमुपशान्तो भवति तदा समीचीनमथ नोपशान्तस्तत एव कलादिविशेषं तावत्प्ररूपयन्ति यावत्सार्थो लभ्यते । सार्थे च लब्धे निर्गच्छन्ति । तथा चाह ।

अणुवसमंते निग्गमो, लिंगविवेगेण होइ आगाढे ।
देसंतरसंकमणं, भिक्खुगमादी कुलिंगेण ॥

अनुपशमयति राज्ञि उपशमं कुर्विति विवेध निर्गमो भवति । कथमित्याह । लिङ्गविवेकेन लिङ्गपरित्यागेन गृहस्थलिङ्गेनेत्यर्थः । अथ तथापि न मुञ्चति गाढकोपावेशात् (आगाढेत्ति) अत्यन्तप्रकोपतो गाढममोक्षणे भिक्षुकादिलिङ्गेन देशान्तरसंक्रमणं कर्तव्यम् । अशिवादौ वा कारणे समुपस्थिते देशान्तरगमनं क्व कर्तव्यम् । तत्र येन यथा गन्तव्यं स कीदृश इत्याह ।

आयरिया संकमणे, परिहरंति दिट्ठम्मि जा य पडिवत्ती ।
असतीए पविसणं, खुड्डियम्मि गिहयम्मि जा जयणा ॥

आर्येण देशेन संक्रमणं तस्मिन्स्वलिङ्गेन गन्तव्यमिति वाक्यशेषः आर्यसंक्रमग्रहणतो भङ्गचतुष्टयं सूचितं तद्यथा आर्यदेशे आर्यदेशमध्येन गमनमित्येको भङ्गः । आर्यदेशे अनार्यदेशमध्येनेति द्वितीयः । अनार्यदेशे आर्यदेशमध्येनेति तृतीयः । अनार्यदेशे अनार्यदेशमध्येनेति चतुर्थः । तत्र प्रथमभङ्गे अर्द्धषड्विंशतिजनपदमध्ये,द्वितीयभङ्गे देशे मालवनामकम्लेच्छदेशमध्येन,तृतीयभङ्गे यथा कुरुकविषये आनार्यविषये आर्यविषयमध्येन, चतुर्थभङ्गे पारसीकदेशे अनार्यदेशमध्येन । इह प्रथमभङ्गे ऽशिवादिकारणोपस्थितौ स्वलिङ्गेन गन्तव्यम् । द्वितीयतृतीयचतुर्थभङ्गे तु परलिङ्गेन । तत्र राज्ञि प्रद्विष्टे अशिवादिकारणे वा भिक्षुकादिलिङ्गेन गच्छन् उद्गमादीन् दोषान् तेषां च लिङ्गानामाश्रयस्थानानि परिहरति । तथा गच्छन् यदि केनापि क्वापि ग्रामनगरादौ दृष्टो भवेत्तर्हि दृष्टे सति तेन या तत्तनाधिकृतलिङ्गानुशासनप्रतिपत्तिसामाचारी सा कर्त्तव्या । किमुक्तं भवति । तत्सामाचारी वर्तितव्यमिति । अथ तदाश्रयस्थानपरिहारे न समुदानं लभ्यते ततोऽसति अविद्यमाने समुदाने प्रवेशनं तदाश्रयस्थानप्रवेशनं कर्त्तव्यम् । अथ यदि तेषां प्रत्ययोत्पादनार्थं बुद्धप्रतिमा स्तपानि वा वन्दनीयानि भवन्ति तदा जिनप्रतिमां मनसि संप्रधार्य वन्दितव्यानि । भिक्षायां च स्वयं गन्तव्यम् । अथ भिक्षा न लभ्यते ततो भिक्षुकैः सह भोक्तव्यम् । तत्र यदि पुद्गलं कन्दादिकं वा पतति तदा शरीरस्येदं ममानुपकारकं वैद्येन निवारितमिति प्रतिषेधयेत् । अथ कथमपि अनाभोगतस्तद्दोषभयतो वा गृहीतं भवेत् तदा तस्मिन् गृहीते या यतना सा कर्तव्या । किमुक्तं भवति । अल्पसागारिकं कथमप्यपसार्य विधिना परिष्ठापयेत् । एष गाथासंक्षेपार्थः ।

सांप्रतमेनामेव गाथां विवृणोति ।

आयरियदेसायरिय-लिंगसंकमे त्थ होइ चउभंगो ।
बितियचरमेसु अन्नं, असिवादिमतो करे अन्नं ॥

अशिवादिषु कारणेषु समुपस्थितेषु आर्यदेशे आर्यदेशमध्येन लिङ्गेन संक्रमो भवति । यन्मध्ये च यत्र च गन्तव्यं तयोरुभयोरपि देशयोरार्यत्वात् । अत्र च प्रागुक्तप्रकारेण चतुर्भङ्गी । गाथायां पुंस्त्वनिर्देशः प्राकृतत्वात् । तत्र द्वितीयतृतीयचरमेषु भङ्गेष्वशिवादिगतः सन् अन्यतः गृहस्थलिङ्गं यदि वा यस्य देशस्य मध्येन यत्र वा देशे गन्तव्यं तत्र येऽतिप्रसिद्धा भिक्षुकादयस्तल्लिङ्गं करोति ।

संप्रति परिहरतीति यदुक्तं तद्व्याख्यानयति ।

परिहरइ उग्गमादी-विहारठाणे य तेसि लिंगीणं ।
अपुव्वे मागमित्तो, आयरियचेतरोमं तु ॥

परिहरति उद्गमादीन् दोषान् । तथा तेषां लिङ्गिनां यानि विहारस्थानानि तानि च परिहरति । तत्र अपूर्वेषु स्थानेषु गतः सन्

यदि यल्लिङ्गं गृहीतं तदागमेषु कुशलो भवति तस्मा केनापि लिङ्गविरुद्धक इति ज्ञात्वा प्रतिगृह्णीतेति । आचार्ये विधिः ।

इयरेसिमागमेसुं, मा वायंतेसि लिंगीणं ।
अपुव्वे सागामित्तो, आयरियत्तंतरोमं तु ॥

अथेतरस्तेषामागमेष्वकुशलस्ततः स इदं करोति । तदेवाह ।

मोणेण जं च गहियं, तु कुक्कुमं उभयलिंगिअविरुद्धं ।
पज्जयहेउपणामे, जिणपडिमाओ मणे कुणति ॥

मौनेन वाचंयमत्वलक्षणेन क्रियां करोति मौनव्रतित्वमवलम्बत इत्यर्थः । यच्च विशिष्टसंप्रदायाद् गृहीतं कुक्कुटविद्यादिनाऽस्तत्प्रयोगलक्षणम् । उभयतोऽपि तत्रत्येषामपि साधुचर्यास्तेषां च लिङ्गिनामविरुद्धं तत्करोति । तथा समुदानासंभवे तेषामाश्रयेषु गतस्य सतस्तेषां प्रत्ययाऽहेतोः प्रत्ययोत्पादनार्थं बहुप्रतिमानां स्तूपानां वा प्रणामकरणीयतयोपस्थिते जिनप्रतिमां मनसि करोति । किमुक्तं भवति । जिनप्रतिमां मनसिकृत्य तेषां प्रणामं करोति

भावे ति पिंडवाधि-लद्धेण घेत्तुं च वच्चइ अपत्ते ।
कंदादिपुग्गलाण य, अकारगं एय पडिसेहो ॥

तथा आत्मानं जनेभ्यः पिण्डपातित्वेन भावयति । ततो भिक्षापरिभ्रमणेन जीवति । अथ त्वमौदर्ये दोषतः परिपूर्णो न भवति ततो दानशालायां भिक्षुकादिभिः सह पङ्क्त्या समुपविशति । ततः परिपाट्या परिवेषणे जाते सति (अपत्ते इति) अत्र प्राकृतत्वात् यकारलोपः अयःपात्रे तत् गृहीत्वा अन्यत्र विविक्ते प्रदेशे समुद्दिशति । अथान्यत्र गत्वा समुद्देशकरणे तेषां काचित् शङ्का संभाव्यते ततो भिक्षुकादिभिरेव स पङ्क्त्योपविष्टः सन् समुद्दिशति । तत्र यदि सचित्तं कन्दादिपुद्गलं वा मांसापरपर्यायं परिवेषकः परिवेषयति तदा ममेदमपकारकं वैद्येन प्रतिषिद्धमिति वदता तेषां कन्दादीनां पुद्गलस्य च प्रतिषेधः कर्त्तव्यः ।

अत्रैव पुद्गलविषये अपवादमाह ।

बितियपयं तु गिलाणे, निक्खेवं चंकमादि कुणमाणो ।
लोयं वा कुणमाणो, किइकम्मं वा सरीरादि ॥

द्वितीयपदमपवादपदं यदि भाण्डमात्रोपकरणानां निक्षेपमुपलक्षणमेतत् । आदानं प्रत्युपेक्षणादिकं च कुर्वन् तथा चङ्क्रमणादि आदिशब्दादुत्थानादिपरिग्रहः कुर्वन्यदि वा लोचं कुर्वन् अथवा कृतकर्म्म शरीरादेः कुर्वन्यदि ग्लानो भवति तदोपजीव्यं पुद्गलमिति । प्रस्तुतमनुसंधानमाह ।

अह पुण रुसेज्जाहीः, तो घेत्तु विगिंचए जहाविहिणा ।
एवं तु तहिं जयणं, कुज्जाही कारणागाढा ॥

अथ पुनः प्रागुक्तप्रकारेण कन्दादिपुद्गलानां प्रतिषेधे क्रियमाणे रुष्येयुरिति संभाव्येत तर्हि गृह्णीयात् गृहीत्वा च यथाविधिना यथोक्तेन विधिना विगिञ्च्यात् । तेन हस्तिबन्धनेनापसार्य सूत्रोक्तविधिना परिष्ठापयेत् । उपसंहारमाह ।

इति कारणेसु गहिते, परलिंगे तीरिए तहिं कज्जे ।
जयकारी सुज्झइ वियड-णाए इयरो जमावेज्जा ॥

इत्येवमुक्तेन प्रकारेण कारणेष्वशिवादिषु समुपस्थितेषु तीरिते च समाप्तिं नीते च कार्ये तत्र यो (जयकारीति) यतनाकारी यथोक्तरूपां यतनां कृतवान् स विकटनया आलोचनामात्रेण शुध्यति यतनया सर्वदोषाणामपहतत्वात् । इतरो नाम येन यतना न कृता स यत् यतनया प्रायश्चित्तमापद्यते तत्तस्मै दीयते ॥

(सूत्रम्) भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म ओवहावेज्जा से इच्छेज्जा दोच्चं पि तमेव गणं उवसंपज्जित्ता विहरित्तए णत्थि णं तस्स तप्पइयं केइ च्छेदे वा परिहारे वा णन्नत्थ एगाए सेहोवट्ठावणाए ॥

" भिक्खू य गणातो अवक्कम्म ओहावेज्जा से इच्छेज्जा" इत्यादि अस्य सूत्रस्य कः संबन्ध उच्यते ॥

एगयरलिंगविजढे, इइ सुत्ता वन्निया उ जे हेट्ठा ।
उभयजढे अयमन्नो, आरंभो होइ सुत्तस्स ॥

यान्यधस्तात्सूत्राणि पार्श्वस्थादिगतानि तानि एकतरलिङ्गविजढे एकतरलिङ्गपरित्यागे तथा हि पार्श्वस्थादिसूत्राणि भावलिङ्गपरित्यागविषयाणि परपाखण्डप्रतिमासूत्रं द्रव्यलिङ्गपरित्यागविषयमितिशब्दो हेतौ यतोऽधस्तनानि सूत्राण्यपरलिङ्गविषयाणि ततोऽयमन्य आरम्भः सूत्रस्य भवत्युभयजढे इति उभयलिङ्गपरित्यागविषयः प्रस्तावायातत्वात् एवमनेन संबन्धेनायातस्यास्य व्याख्या । भिक्षुर्गणादपक्रम्य निर्गत्य अवधावेत व्रतपर्यायादवाङ्मुखीभूय पराङ्मुखो भूत्वा गृहस्थपर्यायं प्रतिगच्छेत् द्वितीयमपि वारं तमेव गणमुपसंपद्य विहर्तुं (नत्थिणमित्यादि) णमिति खल्वर्थे निपातानामनेकार्थत्वात् । नास्ति खलु तस्य कश्चिदपि छेदः परिहारो वा किं सर्वथा न किमपि नेत्याह । नान्यत्र एकस्याः शैक्षिकोपस्थापनायाः किमुक्तं भवत्येका शैक्षिकोपस्थापनिका भवति मूलं भवतीत्यर्थः । एष सूत्रसंक्षेपार्थः । सांप्रतमेतदेव सूत्रं व्याचिख्यासुरपक्रमेदवधावेदिति भेदपर्यायैर्व्याख्यानयति ।

निग्गमनमवक्कमणं, निस्सरणपलायणं च एगट्ठा ।
लोटण लुटणपलोटण, ओधाणं चेव एगट्ठा ॥

निर्गमनमपक्रमणं निस्सरणं पलायनमित्येकार्थाः । लोटनं लुठनं प्रलोठनमवधावनमिति चैकार्थाः । तत्र लोटनमिति लुट विलोडने इत्यस्यैव प्रपूर्वस्य पर्यायशब्दैरप्यधिकृतशब्दार्थप्रतीतिरुपजायते तथा भेदपर्यायैर्व्याख्या इति वचनमप्यस्ति । ततस्तदुपन्यास इति ॥

अथ कैः कारणैरवधावनं कुर्यादित्यवधावनकारणान्याह ।

विसओदएण अहिकरण-भावत्तो व दुक्खसंज्जाए ।
इइ लिंगस्स विवेगं, कुज्ज पच्चक्खपारोक्खं ॥

विषयोदयेन अत्र विषयग्रहणेन विषयविषयो मोहः परिगृह्यते विषयेण विषयिणो लक्षणा ततोऽयमर्थः विषयविषयमोहोदयेन यदि वा केनापि सह अधिकरणभावतः अथ वा दुःखशय्यया चतुर्विधया त्याजित इति हेतोर्लिङ्गस्य प्रव्रज्याचिह्नस्य रजोहरणस्य विवेकं परित्यागं कुर्यात् । कथमित्याह साधूनां प्रत्यक्षं वा कुत्र कुर्यादित्याह ।

अंतो उवस्सए छ-डुणाउ बहिगामपासे वा ।
विइयं गिलाणलोए, कितिकम्मसरीरमादीसु ॥

उपाश्रयस्यान्तर्मध्ये लिङ्गस्य रजोहरणस्य परित्यागः क्रियते । यदि वा बहिरुपाश्रयात् अथवा ग्राममध्ये यदि वा ग्रामस्य पार्श्वे आसन्नप्रदेशे अथवा तत्रैवाचार्यस्य समीपे इदमवधावनकाले लिङ्गस्योज्झनम् । अपवादतोऽवधावनाभावेऽपि भवति तथा चाह द्वितीयपदमपवादपदं लिङ्गस्योज्झने ग्लानलोके ग्लानजने शरीरादिषु आदिशब्दादुच्चारपरिष्ठापनादिपरिग्रहस्तेषु कृतकर्म्मणि व्यापारे तथाहि ग्लानस्य शरीरे विश्रामणादिकमुच्चारादिपरि-

थापनादिकं वा कुर्वन् खरण्टनादिभयाल्लिङ्गस्य विविक्ते प्रदेशे मोचनं भवतीति। संप्रत्यवधावनेन लिङ्गस्योज्झने विधिविशेषमाह।

उवसामिए परेण व, सयं च समुट्ठिए उवट्ठवणा ।
तक्खणचिरकालेण व, दिट्ठंतो अक्खभंगेण ॥

उपाश्रयान्तः प्रभृतिषु येषु स्थानेषु रजोहरणं मुक्तं तेषु स्थानेषु तेभ्यः परस्मिन्वाऽन्यस्मिन् स्थाने उपशामिते परेणोपशमं नीते स्वयं वा तथाविधानुकूलकर्म्मोदयतः उपशमं गते ततः पुनरकरणतया तत्क्षणं लिङ्गोज्झनानन्तरं तत्कालं चिरेण वा दीर्घकालेन गुरुसमीपे समुपस्थिते नियमादुपस्थापना कर्तव्या नान्यथा प्रवेशनीयः । आह यदि तेन न किञ्चिदपि प्रतिसेवितं ततः कस्मादुपस्थाप्यते । अत्र सूरिराह । दृष्टान्तोऽत्राक्षभङ्गेन यथा शकटस्याक्षे भग्ने नियमादन्योऽक्षः क्रियते एवं साधोरपि भावाक्षे भग्ने पुनरुपस्थापनारूपो भावाक्ष आधीयते । अत्रोऽस्या पुनरपि परः प्राह ।

मूलगुणउत्तरगुणे, असेवमाणस्स तस्स अतियारं ।
तक्खण उवट्ठियस्स उ, किं कारणा दिज्जए मूलं ॥

मूलगुणे मूलगुणविषये उत्तरगुणे उत्तरगुणविषये किंचिदप्यतीचारं तस्याप्रतिसेवमानस्य कथमप्रतिसेवनेत्यत आह । तत्क्षणं लिङ्गोज्झनानन्तरं तत्काले अपुनःकरणतया समुत्थितस्य न भावाक्षो भग्न इति । किं कारणं तस्मै मूलं दीयते उपस्थापना क्रियते । सूरिराह ।

सेवउ मा उ वयाणं, अतियारं तहवि देति से मूलं ।
विगडासवा जलम्मि उ, कहन्नु नावा न वोडेज्जा ॥

व्रतानां प्राणातिपातविनिवृत्त्यादीनामतीचारं सेवतां वा मा वा तथापि (से) तस्य प्रवचनोपनिषद्वेदिनो मूलं ददाति भावतोऽसंवृताश्रवद्वारतया चारित्रभङ्गात् तत्रैव प्रतिवस्तूपमया भावनामाह (वियडासवेत्यादि) विकटानि अतिप्रकटानि स्थूराणीत्यर्थः आश्रवाणि जलप्रवेशस्थानानि यस्याः सा तथारूपा सती नौः कथं नु जले प्रक्षिप्ता न विमज्जेदिति भावः । आश्रवद्वाराणामतिप्रकटानामभावादेवं साधुरपि भावतोऽनिवारिताश्रवस्सन् शुभकर्म्मजले निमज्जतीति भवति तस्योपस्थापनार्हता । अत्रैव दृष्टान्तान्तरमाह ।

चोरिस्सामि त्ति मतिं, जो खलु संधाइ फेडए मुद्दं ।
अहियम्मि वि सो चोरा, एमेव इमं पि पासामो ॥

अहं चोरयिष्यामीति संधाय यः खलु मुद्रां स्फेटयति स यद्यपि तदानीमारक्षकैर्गृहीतत्वादिना कारणेन न किञ्चिदपहृतवान् तथापि तत्परिणामोपेतत्वादनपहृतेऽपि स चौरो भवति। एवमेव अनेनैव प्रकारेण इममपि पश्यामः । अचरितपरिणामोपेतत्वेनचरितत्वादुपस्थापनायोग्यं पश्याम इत्यर्थः । व्य० प्र० १ उ० ।

(७) गणादपक्रम्येच्छेदन्यं गणमुपसंपद्य विहर्तुमिति प्रकारान्तरेण प्रतिपादयति ।

(सूत्रम्) भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म इच्छेज्जा अन्नं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहारित्तए न मे कप्पइ अणपाज्जित्ता आयरियं वा उवज्झायं वा पवत्तिं वा थेरिं वा गणिं वा गणहरिं वा गणावच्छेइयं वा अन्नं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए कप्पइ से आपुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेइयं वा अन्नं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए ते य से विहरेज्जा एवं से कप्पइ अन्नं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए ते य से नो वितरेज्जा एवं से नो कप्पइ अन्नं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए ॥

एवमग्रेतनमपि सूत्राष्टकमुच्चारणीयम् । भिक्षुः सामान्यसाधुश्च शब्दान्निर्ग्रन्थी च गणादवक्रम्य निर्गत्य इच्छेदभिलषेदन्यं गणमुपसंपद्य विहर्तुं नो (से) तस्य भिक्षोः कल्पते नो आपृच्छ्याचार्यं वा उपाध्यायं वा प्रवर्तकं वा स्थविरं वा गणधरं वा गणावच्छेदकं वा अन्यं गणं वा उपसंपद्य विहर्तुं कल्पते (से) तस्य भिक्षोराचार्यं वा यावत्करणं दुपाध्यायं वा प्रवर्तिनं वा स्थविरं वा गणधरं वा गणावच्छेदकं वा आपृच्छ्यान्यं गणमुपसंपद्य विहर्तुं ते चाचार्यादय आपृष्टाः सन्तस्तस्यान्यगणगमनं वितरेयुरनुजानीयुस्तत एवं तस्य कल्पते अन्यं गणमुपसंपद्य विहर्तुं ते च तस्य न वितरेयुस्ततो नो कल्पते तस्यान्यं गणमुपसंपद्य विहर्तुमिति सूत्रार्थः ।

अथ निर्युक्तिविस्तरः ।

तिट्ठाणे अवक्कमणं, णाणट्ठा दंसणे चरित्तट्ठा ।
आपुच्छिऊण गमणं, जंतो य नियत्तते कोवि ॥

स्थानं कारणमित्येकोऽर्थस्ततस्त्रिभिः स्थानैः कारणैर्गच्छादपक्रमणं भवति ज्ञानार्थं दर्शनार्थं च। अथ निष्कारणमन्यं गणमुपसंपद्यते ततश्चतुर्गुरुकम् आज्ञादयश्च दोषाः । कारणेऽपि यदि गुरुमनापृच्छ्य गच्छति ततश्चतुर्गुरुकं तस्मादापृच्छ्य गन्तव्यम् । तत्र ज्ञानार्थं तावदभिधीयते यावदाचार्यसकाशे श्रुतमस्ति तावद्दोषमपि केनापि शिष्येणाधीतम् अस्ति च तस्यापरस्यापि श्रुतस्य ग्रहणे शक्तिस्ततोऽधिकश्रुतग्रहणार्थमाचार्यमापृच्छति आचार्येणापि स विसर्जयितव्यः तस्यैवमापृच्छ्य गच्छत इमे अभिचारा भवन्ति न परिहर्तव्याः । तत्र कश्चित् तेषामाचार्याणां कर्कशचर्यां श्रुत्वा भीतस्सन्निवर्तते यथा ॥

चिंतंतो, वइगादी, संखडि, पिसुगादि, अपडिसेहे य ।
परिसेहे, सत्तमपयं, गुरुपे सविए य सुद्धो य ॥

किं व्रजामि मा वेति चिन्तयन् व्रजति व्रजिकायां वा प्रतिबन्धं करोति आदिशब्दाद्दानश्राद्धादिषु दीर्घां गोचरचर्यां करोति । अप्राप्तं चादेशकालं प्रतीक्षते (संखडित्ति) संखड्यां प्रतिबध्यते (पिसुगाइति) पिशुकं मत्कुणादितया निवर्तते । अन्यत्र वा गच्छे गच्छति (अप्पडिसेहेत्ति) कश्चिदाचार्यः परममेधाविनमन्यत्र गच्छन्तं श्रुत्वा परिस्फुटवचसा तं न प्रतिषेधयति किं तु शिष्यान् व्यापारयति तस्मिन्नागते व्यञ्जनघोषशुद्धं पठनीयं येनासौ एव तिष्ठति एवं प्रतिषेधापनेऽपि अप्रतिषेधको लभ्यते । तेनैवं विपरिणामितः सन् तदीये गच्छे प्रविशति (परिसिट्ठेत्ति) पर्षद्वान् स उच्यते यः संविग्नायाः असंविग्नायाश्च पर्षदः संग्रहं करोति तस्य पार्श्वे तिष्ठतः (सत्तमपयं गुरुपेसविए अत्ति) तत्र संप्राप्तो ब्रवीति अहमाचार्यैः श्रुताध्ययननिमित्तं युष्मदन्तिके प्रेषितः । एतेषु भीतादिष्वष्टस्वपि पदेषु वक्ष्यमाणमीत्या प्रायश्चित्तम् । यस्तु भीतादिदोषविप्रमुक्तः समागतो ब्रवीति अहमाचार्यैर्विसर्जितो युष्मदन्तिके समागत इति स शुद्धो न प्रायश्चित्तभाक् ।

भीतादिपदेषु प्रायश्चित्तमाह ।

पणगं च भिन्नमासो, मासो लहुगा य संखडी गुरुगा ।

पिसुणादी मासलहू, उचरो लहुगा अपडिसेही ॥ १ ॥
परिसेहे चउलहुगा, गुरुवेसवियम्मि मासितं लहुगं ।
सेहेण समं गुरुगा, परिसेहे पविसमाणस्स ॥ २ ॥
पडिसेहगस्स लहुगा, परिसेहे ठव चरिमओ सुद्धो ।
तेसिं पि होंति गुरुगा, जं च अव्वं ण तं लजति ॥ ३ ॥

भीतस्य निवर्त्तमानस्य पञ्चकं चिन्तयतो भिन्नमासः व्रजिकादिषु प्रतिपद्यमानस्य मासलघु संखड्यां चतुर्गुरुकाः पिशुकादिभयान्निवर्तमानस्य मासलघु अप्रतिषेधकस्य पार्श्वे तिष्ठतश्चत्वारो लघुकाः पर्षद्वत आचार्यस्य सकाशे तिष्ठतश्चतुर्लघुकाः । गुरुभिः प्रेषितोऽहमिति भणिते लघुमासिकं शैक्षेण समं पर्षद्वतो गच्छे प्रविशतश्चतुर्गुरुकाः गृहीतोपकरणं तत्र प्रविशत उपधिनिष्पन्नं प्रतिषेधकस्य प्रतिषेधकत्वं कुर्वतश्चतुर्लघु पर्षद्वतः पर्षदं मीलयतः षट् लघुकाश्चरमो भीतादिदोषरहितः स शुद्धः । तेषामपि प्रतिषेधकादीनामाचार्याणां तं स्वगच्छे प्रवेशयतां चत्वारो गुरुकाः यच्च सचित्तमचित्तं वा शचनाचार्यस्तत् लभ्यं तत्ते किंचिदपि न लभन्ते यः पूर्वमभिधारितस्तस्यैवाचार्यस्य तदाभाव्यमिति भावः । अथ भीतादिपदानां क्रमेण व्याख्यानमाह ॥

संसाहगस्स सोउं, पडिपंथिगमादिगस्स वा भीओ ।
आयरणा तत्थ खरा, सयं व णाओ पडिणियत्तो ॥

संसाधको नाम दोलापकः पृष्ठतः कुतश्चिदागतो वा साधुः तन्मुखेन श्रुत्वा प्रतिपन्थिकः सन्मुखीनः साध्व्यादिस्तदादेर्वा मुखात् श्रुत्वा स्वयं वा ज्ञात्वा स्मृत्वा किमित्याह । आचरणाचार्यो तत्र स्वाचार्यस्य गच्छे खरा कर्कशा एवं श्रुत्वा ज्ञात्वा वा भीतः सन् यः प्रतिनिवृत्तस्तस्य पञ्चकं भवतीति शेषः । अथ चिन्तयतीति पदं व्याचष्टे ॥

पुव्वं चिंतेयव्वं, णिग्गतो चिंतेति किं करेमि त्ति ।
वच्चामि वियत्तामि व, तहिं व अण्णत्थ वा गच्छे ॥

पूर्वमेव यावन्न निर्गम्यते तावच्चिन्तयितव्यं यस्तु निर्गतश्चिन्तयति किं करोमि व्रजामि निवर्ते वा यद्वा तत्र वा अन्यत्र वा गच्छामीति स मासलघु प्रायश्चित्तं प्राप्नोतीति प्रक्रमः । व्रजिका संखडीद्वारद्वयमाह ।

उव्वत्तणमप्पत्ते, लहुओ खद्धस्स भुंजणे लहुगा ।
णिसट्टसुवणा लहुओ, संखडिगुरुगा य जं वण्णं ॥

व्रजिकां श्रुत्वा मार्गोद्वर्त्तनं करोति अप्राप्तां वा वेलां प्रतीक्षते लघुमासः । अथ खद्धं प्रभूतं तत्र भुङ्क्ते ततश्चतुर्लघुकं प्रचुरं भुक्त्वा अजीर्णभयेन निसृष्टं प्रकामं स्वपिति लघुमासः । संखड्यामप्राप्तकाले प्रतीक्षमाणस्य प्रभूतं गृह्णतो वा चतुर्गुरुकाः (जंवण्णंति) यच्च हस्तेन हस्तसंघट्टनं पादेन पादस्याक्रमणं शीर्षेण शीर्षस्याकुट्टनमित्यादिकमन्यदपि संखड्यां भवति तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् । अथ प्रतिषेधकद्वारमाह ।

अमुगत्थ अमुगो वचति, मेहावी तस्स कहणट्ठाए ।
पंथग्गामे व पहे, वसधि अह कोइ वावारे ॥
अभिलावसुद्ध पुच्छा, गेलेणं मा हु ते वि णासिज्जा ।
इति कहते लहुगा, जति सेहट्ठा ततो गुरुगा ॥

कश्चिदाचार्यो विशुद्धसूत्रार्थस्फुटविकटव्यञ्जनाभिलापी तेन च श्रुतममुकाचार्यान्तिके अमुको मेधावी साधुरमुकश्रुताध्ययनार्थं व्रजति ततोऽसौ मा मामतिक्रम्यान्यत्र गच्छेदिति कृत्वा तस्याकर्षणार्थमथानन्तरं शिष्यान् प्रतीच्छकांश्च व्यापारयतीत्याह (पंथग्गामे व पहेत्ति) यत्र पथि ग्रामे स भिक्षां करिष्यति मध्येन वा समेष्यति येन वा यथासमागमिष्यति यस्यां वा वसतौ स्थास्यति तेषु स्थानेषु गत्वा यूयमभिलापशुद्धं परिवर्त्तयन्त तिष्ठत यदा आगमनं भवति तदा ययसौ पृच्छेत् केन कारणेन यूयमिहागतास्ततो भवद्भिर्वक्तव्यमस्माकं वाचनाचार्या अभिलापशुद्धं पाठयन्ति । यदभिलापः कथंचिदन्यथा क्रियते तदा महदप्रीतिकं कुर्वन्ति भणन्ति च बालमध्ये बहूनां रोलेनाभिलापं मा विनाशयतेति ततस्तदादेशेन वयमत्र विजने परिवर्त्तयामः । एवमाकर्षणं कुर्वतश्चतुर्लघुकाः । अथ तेन वा गच्छता शैक्षकोऽपि कश्चस्तदर्थमेव शैक्षो मे भूयादिति कृत्वा आकर्षतं ततश्चतुर्गुरुकाः ।

अक्खरवंजणसुद्धं, मम पुच्छह तम्मि आगए संते ।
घोसेहि य परिसुद्धं, पुच्छह णिउणे य सुत्तत्थे ॥

स आचार्यः शिष्यान् प्रतीच्छिकान् वा भणति यदा युष्माकमभिलापशुद्धगुणतया रञ्जितः स उपाश्रयमागच्छति तदा तस्मिन्नागते अक्षरव्यञ्जनशुद्धं सूत्रं मां पृच्छत अक्षराणि प्रतीतानि व्यञ्जनशब्देनार्थाभिव्यञ्जकत्वादत्र पदमुच्यते । तैरक्षरैर्व्यञ्जनैश्च शुद्धं तथा घोषैश्चोदात्तादिभिः परिशुद्धं सूत्रं पठनीयम् । निपुणांश्च सूत्रार्थान् मां तदानीं पृच्छत एवमनया भङ्ग्या तमन्यत्र गच्छन्तं गच्छन्तं प्रतिषेधयति । गतं प्रतिषेधकद्वारम् ।

अथ परसिद्धद्वारमाह ॥

पाउयमपाउयघट्ट, पट्ठलो य खुरविविधवेसहरा ।
परिसेहस्स तु परिसा, थलिव व ण किंचि वारेति ॥

यः परिसिद्धः आचार्यः स संविग्नाया असंविग्नायाश्च पर्षदः संग्रहं करोति ततस्तस्य साधवः केचित्प्रावृताः केचिदप्रावृताः केचिद्घृष्टाः फेनादिना घृष्टसंघाः केचित् पृष्टाः तैलेन पृष्टशरीरा वा अपरे लोचलुञ्चितकेशा अन्ये क्षुरमुण्डिताः एवमादिविविधवेषधरा एतस्याः पर्षदः स्थली देवद्रोणी तस्यामिवाऽसौ न किंचिदपि वारयति ॥

तत्थ पवेसे लहुगा, सचित्ते चउगुरुं च आणादी ।
उवहीणिप्फण्णं पि य, अचित्तचित्ते य गिण्हंते ॥

तत्र पर्षद्वतो गच्छे प्रवेशं कुर्वतश्चतुर्लघु । अथ सचित्तेन शैक्षेण सार्द्धं प्रविशति ततश्चतुर्गुरवः आज्ञादयश्च दोषाः । अथाचित्तेन वस्त्रादिना सह प्रविशति तत उपधिनिष्पन्नं मिश्रसंयोगप्रायश्चित्तम् । तथा सचित्ताचित्तं ददतो गृह्णतश्चैवमेव प्रायश्चित्तम् । अथ पिशुकादिद्वारं चाह ।

ढिंकुणपिसुगादि तहिं, सोउं णाउं व सन्निवत्तंते ।
अमुगसुतत्थनिमित्तं, तुब्भम्मि गुरूहि पेसविओ ॥

ढिङ्कुणपिशुकदंशमशकादीन् शरीरोपद्रवकारिणस्तत्र श्रुत्वा ज्ञात्वा वा संनिवर्त्तमानस्य मासलघु तथा अमुकश्रुतार्थनिमित्तं गुरुभिर्युष्मदन्तिके प्रेषितोऽहमिति भणतो मासलघु । आहैवं भणतः को नाम दोषः । सूरिराह ।

आणाए जिणिंदाणं, ण हु बलियतराउ आयरियआणा ।
जिण आणाए परिभवो, एवं गव्वो अदिणितो य ॥

जिनेन्द्रैरेव भगवद्भिरुक्तं यथा निर्दोषेण विधिना सूत्रार्थनिमित्तं यः समागतस्तस्मै सूत्रार्थौ दातव्यौ न च जिनेन्द्राणामा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञायाः सकाशादाचार्याणामाज्ञा बलीयस्तराम् । अपि च एव-माचार्यानुवृत्त्या श्रुते दीयमाने जिनाज्ञायाः परिभवो भवति । तथा प्रेषयत उपसंपद्यमानस्य प्रतीच्छतश्च त्रयाणामपि गर्वो भवति । तीर्थकृतां श्रुतस्य चाविनयः कृतो भवति ततो गुरुभिः प्रेषितोऽहमिति न वक्तव्यम् । यस्तु भीतादिदोषविमुक्तोऽभिधारिताचार्यस्यान्तिके आयातः स शुद्धः ।

यस्तु प्रतिषेधकादीनां पार्श्वे तिष्ठति तत्र विधिमाह ।

अन्नं अभिधारेतुं, अप्पडिसेहपरिसिल्लमन्नं वा ।
पविसंत कुलादिगुरु, सचित्तादी व से होउ ॥
ते दो उवालभित्ता, अभिधारेज्जंति दंतिमं थेरा ।
घट्टणविआरणं ति य, पुच्छा विप्फालणेगट्ठी ॥

यः पुनरन्यमाचार्यमभिधार्य अप्रतिषेधकं वा पर्यङ्कन्तं वा अन्यं वा प्रविशति तस्य पार्श्वे उपसंपद्यते इत्यर्थः । तं यदि कुला-दिगुरवः कुलस्थविरा गणस्थविराः संघस्थविरा वा जानीयुस्ततो यत्तेनाचित्तं सचित्तं वा तस्याचार्यस्योपनीतं तत्तस्य सकाशा-त् हृत्वा तौ द्वावप्याचार्यप्रतीच्छकौ स्थविरा उपालभन्ते कस्मा-त् त्वया अयमात्मपार्श्वे स्थापितः कस्माद्वा त्वमन्यमभिधार्य स्थितः । एवमुपालभ्य तं प्रतीच्छकं घट्टयित्वा तत् सचित्तादिकं सर्वमभिधारितं तस्याचार्यस्य प्रयच्छन्ति तदन्तिके प्रेषयन्तीत्य-र्थः । अथ घट्टयित्वेति कोऽर्थ इत्याह घट्टनेति वा विचारणेति वा पृच्छेति वा विस्फालनेति वा एकार्थानि पदानि ।

तं घट्टेउ सचित्तं, एसा आरोवणा उ अविहीते ।
बितियपदमसंविग्गे, जयणाए कयंति तो सुद्धो ॥

तं प्रतीच्छकं घट्टयित्वा कमभिधार्य भवान् प्रस्थित आसीदि-ति पृष्ट्वा सचित्तादिकं तस्य अभिधारितस्य पार्श्वे स्थविराः प्रेषयन्तीति गम्यते (एसा आरोवणा उ अविहीए त्ति) या पूर्व-प्रतिषेधकत्वं पर्यङ्कीलनं वा कुर्वत आरोपणा भणिता सा अवि-धिनिष्पन्ना मन्तव्या विधिनाऽनुकरणं कुर्वाणस्य न प्रायश्चित्तम् । तथा चाह (बिइयपय इत्यादि) यमसाववधारयति स आचा-र्योऽसंविग्नः ततो द्वितीयपदे यतनया प्रतिषेधकत्वं कुर्यात् का पुनर्यतनेति चेदुच्यते । प्रथमं साधुस्तं भाणयति मा तत्र व्रज पश्चादात्मनाऽपि भणति पूर्वोक्तेन वा शिष्यादिव्यापारेण प्रयोगेण वारयेत् । एवं यतनया प्रतिषेधकत्वे कृतेऽपि शुद्धो निर्दोषः ।

अमुमेवार्थमाह ।

अभिधारेंते पास-त्थमादिणो तं वजति सुतं अत्थि ।
जे अपडिसेहदोसा, ते कुव्वंतो वि णिद्दोसो ॥

याननिधारयन्नसौ व्रजति ते आचार्याः पार्श्वस्थादिदोषदुष्टा यच्च श्रुतमसावभिलषति तद्यदि यस्य प्रतिषेधकस्यास्ति ततो ये अप्रतिषेधकत्वं कुर्वतो दोषाः शिष्यव्यापारणादयस्तान् कुर्व-न्नपि निर्दोषस्तदा मन्तव्यः ।

जं पुण सचित्तादी, तं तेसिं देति णो वि सयं गेण्हे ।
गितिए चित्त ण पेसे, जावइयं वा असंथरणे ॥

यत्पुनः सचित्तादिकं प्रतीच्छकेनागच्छता लब्धं तत्तेषामभि-धारिताचार्याणां ददाति न पुनः स्वयं गृह्णाति । द्वितीयपदे यद्व-स्त्रादिकमचित्तं तदशिवादिभिः कारणैः स्वयमलभमानो न प्रेष-येदपि । अथवा यावदुपयुज्यते तावद् गृहीत्वा शेषं तेषां समीपे प्रेषयेत् । असंस्तरणे वा सर्वमपि गृह्णीयात् सचित्तमप्यमुना कारणेन न प्रेषयेत् ।

नाऊण य वोच्छेयं, पुव्वगए कालियाणुओगे य ।
सयमेव दिसाबंधं, करेज्ज तासिं न पेसिज्जा ॥

यस्तेन शैक्ष आनीतः स परममेधावी तस्य च गच्छे नास्ति कोऽप्याचार्यपदयोग्यो यच्च तस्य पूर्वगतं कालिकश्रुतं वा सम-स्ति तस्यापरो गृहीता न प्राप्यते ततस्तयोर्व्यवच्छेदं ज्ञात्वा स्व-यमेव तस्यात्मीयं दिग्बन्धं कुर्यात् न तेषां प्रागभिधारितानां पार्श्वे प्रेषयेत् ।

अथ पर्यङ्कतोऽपवादमाह ।

असहा तो परिसिल्ल-त्तणं पि कुज्जा उ मंदधम्मे य ।
पप्प व कालक्खाणे, सचित्तादी तिगिण्हेज्जा ॥

असहाय एकाकी स आचार्यस्ततः संविग्नमसंविग्नं वा सहायं गृह्णीयात् शिष्या वा मन्दधर्माणो गुरूणां व्यापारं न वहन्ति ततो यं वा तं वा सहायं गृह्णतः पर्यङ्कत्वमपि कुर्यात् । श्राद्धा वा मन्दधर्माणो न वस्त्रपात्रादि प्रयच्छन्ति ततो लब्धिसंपन्नं शिष्यं यं वा तं परिगृह्णीयात् । दुर्भिक्षादिकं वा कालमध्वानं वा प्राप्य ये उपग्रहकारिणः शिष्यास्तान् संगृह्णीयात् । अथ योऽसौ प्रतीच्छको गच्छति तस्यापवादमाह ।

कालगयं सोऊणं, असिवादी तत्थ अंतरा वा वि ।
पडिसिद्धं परिसेहं, सुद्धो अन्नं व विसमाणो ॥

यमाचार्यमभिधार्य व्रजति तं कालगतं श्रुत्वा यद्वा यत्र गन्तुका-मस्तत्रान्तरा वा अशिवादीनि श्रुत्वा पर्यङ्कतः प्रतिषेधकस्य वा अन्यस्य वा पार्श्वे प्रविशेत् शुद्धः एतदविशेषितमुक्तम् । अथात्रै-व व्यक्ताव्यक्तविशेषं बिभणिषुराह ।

वच्चंतो वि य दुविहो, दत्तमदत्तस्स मग्गणा होति ।
वत्तम्मि खेत्तवज्जं, अवत्ते ण अप्पिओ जाव ॥

यः प्रतीच्छको व्रजति सोऽपि च द्विविधो व्यक्तोऽव्यक्तश्च तयोः सहायः किं दातव्यो न वेति मार्गणा कर्तव्या । तत्र व्यक्तस्य यः सचित्तो विलासः क्षेत्रवर्जं परक्षेत्रं मुक्त्वा भवति स सर्वोऽप्यभि-धारिताचार्यस्याभवति यः पुनरव्यक्तः स सहायैर्यावदद्यापि त-स्याचार्यस्यार्पितो न भवति तावत्परक्षेत्रं मुक्त्वा यत्ते सहाया लभन्ते तत्पूर्वाचार्यस्यैवाभवतीति संग्रहगाथासमासार्थः ।

अथैनामेव विवृणोति ।

सुतअव्वत्तो गीतो, वएण जो सोलसएह आरेणं ।
तव्विवरीओ वत्तो, वत्तमवत्ते य चउभंगो ॥

अव्यक्तो द्विधा श्रुतेन वयसा च । श्रुतेनाव्यक्तो गीतार्थो वयसा अव्यक्तस्तु षोडशानां वर्षाणामर्वाग्वर्तमानस्तद्विपरीतो व्यक्त उच्यते । अत्र च व्यक्ताव्यक्ताभ्यां चतुर्भङ्गी भवति । श्रुतेना-प्यव्यक्तो वयसाऽप्यव्यक्तः । १ । श्रुतेनाव्यक्तो वयसा व्यक्तः । २ । श्रुतेन व्यक्तो वयसा अव्यक्तः । ३ । श्रुतेनापि व्यक्तो वयसाऽपि व्य-क्तः । ४ । अस्य च सहायाः किं दीयन्ते उत न दीयन्ते इत्याह ।

वत्तस्स वि दायव्वा, अपुज्जमाणे सहा य किमु इयरे ।
खेत्तविवज्जं अच्चं- तिएसु जं लब्भति पुरिल्ले ॥

आचार्येण पूर्यमाणेषु साधुषु व्यक्तस्यापि सहाया दातव्याः किं पुनरितरस्याव्यक्तस्य तस्य सुतरां दातव्या इति भावः । तत्र सहाया द्विधा आत्यन्तिका अनात्यन्तिकाश्च । आत्यन्तिका नाम ये तेन सार्द्धं तत्रैवासितुकामाः ये तु तं तत्र मुक्त्वा प्रतिनिवर्त्सि-ष्यन्ते ते अनात्यन्तिकाः । तत्रात्यन्तिकेषु सहायेषु यदायन्तं

क्षेत्रविवर्जे परक्षेत्रं मुक्त्वा सचित्तादिकं लभते (तत्र पुरिल्लोत्ति) तस्याचार्यस्याभिमुखं व्रजति स पुरोवर्ती भण्यते अभिधारित इत्यर्थस्तस्य सर्वमपि सचित्तादिकमाभवति । परक्षेत्रेषु लब्धं क्षेत्रिकस्याभाव्यम् ।

जइ णेउं पत्तुमणा, नेंते मग्गिल्ले वत्तिपुरिमस्स ।
नियमव्वत्तसहाया-णं तु णियत्तत्ति जं सोयं ॥

अथ ते सहायास्तं तत्र नीत्वा आगन्तुकामा अनात्यन्तिका इत्यर्थस्ततो यत्ते सहाया लभन्ते तत्सर्वमपि (मग्गिल्लेत्ति) यस्य सकाशात्प्रस्थितास्तस्यात्मीयस्याचार्यस्याभवति (वत्तिपुरिमस्सत्ति) यत्पुनः स व्यक्तः स्वयमुत्पादयति यत्पुरिमस्य अभिधारितस्याभवति यः पुनरव्यक्तस्तस्य नियमेनैव सहाया दीयन्ते ते च सहाया यद्यात्यन्तिकास्तदा यदसौ ते च लभन्ते तदभिधारितस्याभाव्यम् । अथ तं तत्र नीत्वा निवर्तन्ते ततो यदसौ ते च परक्षेत्रं मुक्त्वा लभन्ते तत्सर्वं पूर्वाचार्यस्याभवति यावद्द्याप्यसौ नार्पितो भवति ।

वितियं अपुज्जयंते, न देज्ज वा तस्स सो सहाये तु ।
वइगादि अपडिवज्जं-तगस्स उवही विसुद्धो उ ॥

द्वितीयपदमत्र भवति अपूर्यमाणेषु साधुषु सहायान् साधून् तस्याचार्यो न दद्यात् स चात्मना श्रुतेन वयसा च व्यक्तस्तस्य व्रजिकादावप्रतिबध्यमानस्योपधिर्विशुद्धो भवति नोपहन्यते । अथ व्रजिकादिषु प्रतिबध्यते तत उपधेरुपघातो भवति ।

एगे तू वच्चंते, उग्गहवज्जं तु लभति सच्चित्तं ।
वच्चंति गिलाणा अं-तरा तु तादि मग्गणा होइ ॥

यो व्यक्त एकाकी व्रजति स यद्यन्यस्याचार्यस्य योऽवग्रहस्तद्वर्जिते अनवग्रहक्षेत्रे यत्किञ्चिल्लभते तत् सचित्तमभिधार्यमाणस्याभवति (वच्चंतइत्यादि) योऽसौ ज्ञानार्थं व्रजति स द्वौ त्रीन् वा आचार्यान् कदाचिदभिधारयेत् तेषां मध्ये यो मे अभिरोचिष्यते तस्यान्तिके उपसंपदं ग्रहीष्यामीति कृत्वाऽसावन्तरा ग्लानो जातस्तैश्चाचार्यैः श्रुतं यथाऽस्मानभिधार्य साधुरागच्छन् पथि ग्लानो जात इति तत्रेयमाभाव्याभाव्यमार्गणा भवति ॥

आयरिया दोन्नि गया, एक्के एक्कं च णागए गुरुगा ।
ण य लभती सच्चित्तं, कालगते विप्परिणए वा ॥

यदि तौ द्वावप्याचार्यावागतौ ततो यत्तेन लब्धं तदुभयोरपि साधारणम् । अथैकस्तयोरागत एकश्च द्वितीयो नागतस्ततोऽनागतस्य चतुर्गुरु यच्च सचित्तमचित्तं वा तदसौ न लभते । यस्तं गवेषयितुमागतस्तस्य सर्वमाभवति एवं त्र्यादिसंख्याकेष्वाचार्येष्वभिधारितेषु भावनीयम् । अथासौ ग्लानः कालं गतः तत्रापि यो गवेषयितुमागच्छति तस्यैवाभवति नेतरेषाम् । अथासौ विपरिणतस्ततो यस्य विपरिणतः स न लभते यत्पुनः सचित्तादिकमभिधार्यमाणे लब्धं पश्चाद्विपरिणतस्ततो यदविपरिणते भावे लब्धं तल्लभते विपरिणते भावे लब्धं न लभते ।

पंथसहायसमत्थो, धम्मं सोऊण पव्वयामि त्ति ।
खेत्ते य बाहि परिणए, वाताहके मग्गणाइणमो ॥

योऽसौ ज्ञानार्थं प्रस्थितस्तस्य पथि गच्छन् कश्चित् स्थिरदृढिवीताहतः समर्थः सहायो मिलितः स च तस्य पार्श्वे धर्मं श्रुत्वा प्रव्रजामीति परिणाममुपगतवान् स च परिणाममुपगतैः साधुभिरपरिगृहीते क्षेत्रे जातो भवेत् क्षेत्राद्वा बहिरिन्द्रस्थानादौ वा अपरिगृहीते वा क्षेत्रे ततस्तस्मिन् वाताहृते प्रव्रजितुं परिणते इयं मार्गणा भवति ॥

खेत्तम्मि खेत्तियस्स, खेत्तबहिं परिणए पुरिल्लस्स ।
अंतरपरिणयविप्परि-णएण एगा उ मग्गणता ॥

साधुपरिगृहीतक्षेत्रे प्रव्रज्यापरिणतः क्षेत्रिकस्याभवति । क्षेत्राद्बहिः परिणतस्तु (पुरिल्लस्सत्ति) तस्यैव साधोराभवति अपान्तराले स प्रव्रज्यायां परिणतो विपरिणतश्च भवति ततः क्षेत्रे च धर्मकथिकस्य रागद्वेषप्रतीत्याऽनेका मार्गणाः । तद्यथा यदि धर्मकथी ऋजुः भावात्कथयति तदा क्षेत्रे परिणतः क्षेत्रिकस्याभवति अक्षेत्रे परिणतो धर्मकथिकस्य । अथ विपरिणतेन येन कथयति यदा क्षेत्रान्निर्गतो भविष्यति तदा कथयिष्यामि न मे अधुना भवति एवं क्षेत्रनिर्गतस्य कथिते यदि परिणतस्तदा क्षेत्रिकस्याभवतीत्येवं विभाषा कर्तव्या ।

वीसज्जियम्मि एवं, अविसज्जिए चउलहुं च आणादी ।
तेसिं पि हुंति लहुगा, अविधिविही सा इमा होइ ॥

एवमेव विधिर्गुरुणा विसर्जिते शिष्ये मन्तव्यः । अथाविसर्जितो गच्छति तदा शिष्यस्य प्रतीच्छकस्य च चतुर्लघु । अथ विसर्जितो द्वितीयं वारमनापृच्छ्य गच्छति तदा मासलघु आज्ञादयश्च दोषाः । येषामपि समीपेऽसौ गच्छति तेषामप्यविधिनिर्गतं तं प्रतीच्छतां चत्वारो लघवः । सचित्तादिकं वा भाव्यं न लभन्ते एषोऽविधिरुक्तः । विधिः पुनरयं वक्ष्यमाणो भवति । स पुनराचार्य एभिः कारणैर्न विसर्जयति ।

परिवार पूयहेतुं, अविसज्जंते ममत्तदोसा वा ।
अणुलोमेण गमेज्जा, दुक्खं खु विमुंचियं गुरुणो ॥

आत्मनः परिवारनिमित्तं न विसर्जयति बहुभिर्वा परिवारितः पूजनीयो भविष्यामि मम शिष्योऽन्यस्य पार्श्वे गच्छतीति ममत्वदोषाद्वा न विसर्जयति एवमविसर्जयन्तं गुरुमनुलोमा अनुकूलैर्वचोभिर्गमयेत् कुत इत्याह । (दुक्खंखुत्ति) खलुरवधारणे गुरवो विमोक्तुं परमोपकारकारित्वात् न च ते यतस्ततो विमोक्तुं शक्या इति भावः । ततः प्रथमत एव विधिना गुरुमापृच्छ्य गन्तव्यम् । कः पुनर्विधिरिति चेदुच्यते ।

नाणम्मि तिन्नि पक्खा, आयरिय उवज्झाय सेसगाणं वा ।
एक्केकपंचदिवसे, अहवा पक्खेण एक्केकं ॥

ज्ञानार्थं गच्छता त्रीन् पक्षानापृच्छा कर्त्तव्या तत्र प्रथममाचार्यं पञ्चदिवसानापृच्छति यदि न विसर्जयति तत उपाध्यायं पञ्च दिवसानापृच्छेत् यदि सोऽपि न विसर्जयति तदा शेषाः साधवः पञ्च दिवसान् पृष्टव्या एवं एकः पक्षो गतस्ततो द्वितीयपक्षमेवाचार्योपाध्यायशेषसाधून् प्रत्येकमेकैकं पञ्चभिर्दिवसैः पृच्छति तृतीयमपि पक्षमेवं पृच्छति एवं त्रयः पक्षा भवन्ति । अथवा निरन्तरमेवाचार्यं एकं पक्षमापृच्छनीयस्तत उपाध्यायोऽप्येकं पक्षं गच्छसाधवोऽप्येकं पक्षम् । एवं च त्रयः पक्षाः एवमपि यदि न विसर्जयन्ति ततोऽविसर्जित एव गच्छति ।

एयविहमागतं तु, पडिच्छ अपडिच्छणे भवे लहुगा ।
अहवा इमेहिं आगम, एगादि पडिच्छतो गुरुगा ॥

एतेन विधिना आगतं प्रतीच्छकं प्रतीच्छेत् । अप्रतीच्छतश्चतुर्लघुका भवेयुः । अथामीभिरेकादिभिः कारणैरागतं प्रतीच्छति ततश्चतुर्गुरुकाः तान्येवैकादीनि कारणान्याह ।

Jain Education International — For Private & Personal Use Only — www.jainelibrary.org

एगे अपरिणते य, अप्पाहारे य थेरए ।
गिलाणे बहुरोगे य, पाहुडे मंदधम्मए ॥

एकाकिनमाचार्यं मुक्त्वा स समागतः । अथवा तस्याचार्यस्य पार्श्वे ये तिष्ठन्ति ते अपरिणता आहारवस्त्रपात्रशय्यास्थण्डिलानामकल्पिकास्तैः सहितमाचार्यं मुक्त्वा आगतः । अथवा स आचार्योऽधारस्तमेव पृष्ट्वा सूत्रार्थवाचनां ददाति स्थविरो वा स आचार्यः । यद्वा तदीये गच्छे कोऽपि साधुः स्थविरस्तस्य स एव वैयावृत्यकर्त्ता ग्लानो वा बहुरोगी वा स आचार्यः ग्लानोऽधुनोत्पन्नरोगः । बहुरोगिणामचिरकाद्वं बहुभिर्वा रोगैरभिभूतः । अथवा शिष्यास्तस्य मन्दधर्माणस्तस्यैव गुणेन सामाचारीमनुपालयन्ति एवंविधमाचार्यं परित्यज्यागतः (पाहुडेत्ति) गुरुणा समं प्राभृतं कलहं कृत्वा समागतः । अथवा प्राभृतकारिणः पार्श्वस्थादिकास्तस्य शिष्यास्तस्यैव गुणेनागतः ।

एयारिसं विउस्सज्ज, विप्पवासो ण कप्पती ।
सीसपडिच्छायरिए, पायच्छित्तं विहिज्जती ॥

एतादृशमाचार्यं व्युत्सृज्य विप्रवासो गमनं कर्तुं न कल्पते यदि गच्छति ततः शिष्यस्य प्रतीच्छकस्याचार्यस्य च त्रयाणामपि प्रायश्चित्तं विधीयते तत्रैकं ग्लानं वा मुक्त्वा शिष्यस्य प्रतीच्छकस्य वा समागतस्य चतुर्गुरुकाः यश्चाचार्यः प्रतीच्छति तस्यापि चतुर्गुरु । प्राभृते शिष्यप्रतीच्छकयोश्चतुर्गुरुकमेव । आचार्यस्य पञ्च रात्रिंदिवं छेदः । शेषेषु एतादिषु पदेषु शिष्यस्य चतुर्गुरु । प्रतीच्छकस्य चतुर्लघु आचार्यस्यापि शिष्यं प्रतीच्छत एतेषु चतुर्गुरु प्रतीच्छकप्रतीच्छकस्य चतुर्लघु । प्रतीच्छकं प्रतीच्छतश्चतुर्लघु । अथ ज्ञानार्थं त्रीन् पदानापृच्छनीयमित्यत्रापवादमाह ।

बिइयपदमसंविग्गे, संविग्गे चेव कारणागाढे ।
नाऊण तस्स भावं, कप्पति गमणं अणापुच्छा ॥

द्वितीयपदं तत्र भवति । आचार्यादिष्वसंविग्नीभूतेषु न पृच्छेदपि च संविग्नेष्वपि वा किंचिदागाढं चारित्रविनाशकारणं स्त्रीप्रभृतमात्मनः समुत्पन्नं ततोऽनापृच्छ्यापि च गच्छति तेषां वा गुरूणां स्वभावं ज्ञात्वा तेनोद्घृष्टाः सन्तः कथमपि विसर्जयिष्यन्तीति मत्वा अनापृच्छ्यापि गमनं कल्पते । अथाविसर्जितेन गन्तव्यमित्यपवदति ॥

अज्झयणं वोच्छिन्नं ति,तस्स य गहणम्मि अत्थि सामत्थं ।
ण वि वियरंति चिरेण वि, एतेण विसज्जितो गच्छे ॥

किमाप्यध्ययनं व्यवच्छिद्यते तस्य च तद्ग्रहणे सामर्थ्यमस्ति न च गुरवश्चिरेणापि वितरन्ति गन्तुमनुजानन्ते एतेन कारणेनाविसर्जितोऽपि गच्छेत् । अविधिना आगत आचार्येण न प्रतीच्छनीय इत्यस्यापवादमाह ।

नाऊण य वोच्छेदं, पुव्वगते कालियाणुओगे य ।
अविहि अणापुच्छागत, सुत्तत्थविजाणओ वोए ॥

पूर्वं गते कालिकश्रुते वा व्यवच्छेदं ज्ञात्वा अविधिना प्रव्रजिकादिप्रतिबन्धेनागतमनापृच्छ्यागतं वा सूत्रार्थज्ञापको वा येन कश्चिद्दोषः यत्नेन प्रतीच्छकेन शैक्षस्तस्याभिधारितस्यानाभाव्य आनीतः सन् गृहीतव्य इत्यपवदति ।

नाऊण य वोच्छेदं, पुव्वगये कालियाणुयोगे य ।
सुत्तत्थजाणगस्सा, कारणजाते दिसाबंधो ॥

पूर्वगते कालिकश्रुते वा व्यवच्छेदं ज्ञात्वा सूत्रार्थज्ञापकेन कारणजाते अनाभाव्यस्याप्यात्मीयो दिग्बन्धः कर्त्तव्यः । आह किमर्थमनिबद्धो न दाप्यते उच्यते अनिबद्धः स्वयमेव कदाचिद्गच्छन् पूर्वाचार्येण वा नीयेत कालदोषेण वा ममत्वाभावमालम्ब्य वाचयिष्यतीति दिग्बन्धोऽनुज्ञातः । इदमेव सविशेषमाह ॥

ससहाय अवत्तेणं, खेत्ते वि उवट्ठियं तु सच्चित्तं ।
दलियं णाउं बंधंति, उभयममत्तट्ठया तं वा ॥

अव्यक्तेन ससहायेन यः शैक्षो लब्धो यश्च परक्षेत्रेऽपि उपस्थितः सचित्तः स पूर्वाचार्यस्य क्षेत्रिकाणां वा यद्यप्याभाव्यस्तथापि तं दलिकं परममेधाविनमाचार्यपदयोग्यं ज्ञात्वा यद्यात्मीये गच्छे नाचार्यपदयोग्यः ततस्तस्यात्मीयां दिशं बध्नाति स्वशिष्यत्वेन स्थापयतीत्यर्थः । कुत इत्याह उभयस्य साधुसाध्वीवर्गस्य तत्र शैक्षो ममत्वमस्माकमयमित्येवं ममकारो भूयादिति कृत्वा । यद्वा स्वगच्छीयसाधूनां तस्य च शैक्षस्य परस्परं संमेलका वयमित्येवं ममत्वं भविष्यतीति बुद्ध्या तमात्मीयशिष्यत्वेन बध्नाति (तं व त्ति) यो वा प्रतीच्छक आयातस्तमपि ग्रहणाधारणासमर्थं च विज्ञाय स्वशिष्यं स्थापयति एवं शैक्षः प्रतीच्छको वा कारणे शिष्यतया निबद्धः सन् यदा निर्मातो भवति । तदा ॥

आयरिए कालगए, परियट्टइ तं गणो उ सो चेव ।
चोएति य अपढंते, इमा उ तह मग्गणा होइ ॥

आचार्ये कालगते सति गच्छस्य निबद्धाचार्यस्य च व्यवहारो भण्यते स स्वयमेव तं गणं परिवर्तयति स च गच्छो यदि श्रुतं न पठति ततस्तं अपठन्तं नोदयति यदि नोदिता अपि ते गच्छसाधवो न पठन्ति तत इयमाभवद्व्यवहारमार्गणा भवति ॥

साहारणं तु पढमे, बितिए खेत्तम्मि ततियसुहदुक्खे ।
अणिहज्जंते सीसे, सा एक्कारस विभागा ॥

कालगतस्याचार्यस्य प्रथमे वर्षे सचित्तादिकं साधारणं यदसौ प्रतीच्छकाचार्य उत्पादयति तत्तस्यैवाभवति । यदीतरे गच्छसाधव उत्पादयन्ति तत्तेषामेवाभवतीति भावः । द्वितीये वर्षे यत् क्षेत्रोपसंपन्नो लभते तत्तेऽपठन्तो लभन्ते । तृतीये वर्षे यत् सुखदुःखोपसंपन्नो लभते तत्ते लभन्ते । चतुर्थे वर्षे कालगताचार्यशिष्या अनधीयाना न किंचिल्लभन्ते । शेषा नाम येऽधीयते तेषामधीयानानां वक्ष्यमाणा एकादश विभागाः भवन्ति । शिष्यः पृच्छति क्षेत्रोपसंपन्नः सुखदुःखोपसंपन्नो वा किं लभते । सूरिराह ॥

खेत्तोवसंपयाए, बावीसं संथुया य मित्ता य ।
सुहदुक्खमित्तवज्जा, चउत्थए नालबद्धाई ॥

क्षेत्रोपसंपदा उपसंपन्नो द्वाविंशति अनन्तरपरम्परावल्लीबद्धान् मातापित्रादीन् जनान् लभते संस्तुतानि च पूर्वापश्चात्संस्तवसंबद्धानि प्रपौत्रश्वसुरादीनि मित्राणि च सह जातकादीनि लभते दृष्टाभाषितानि तु न लभते । सुखदुःखोपसंपन्नेषु एतान्येव मित्रवर्जानि लभते । चतुर्थस्तु एवंविधोपमः प्रक्रमप्रामाण्यात् श्रुतोपसंपन्नः स केवलान्येव द्वाविंशतिनालबद्धानि लभते अयं च प्रसङ्गेनोक्तः क्षेत्रोपसंपन्नसुखदुःखोपसंपन्नयोर्यदाभाव्यमुक्तं तत्ते शिष्या अनधीयाना द्वितीये तृतीये च वर्षे यथाक्रमं लभन्ते । चतुर्थे वर्षे सर्वमप्याचार्यस्याभवति न तेषाम् । ये तु शिष्या अधीयते तेषां विधिरुच्यते तस्य कालगताचार्यस्य चतुर्विधो गणो भवेत् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शिष्याः शिष्यिकाः प्रतीच्छकाः प्रतीच्छिकाश्चेति । एतेषां पूर्वोद्दिष्टपश्चादुद्दिष्टयोः संवत्सरसंख्ययैकादश गमा भवन्ति । पूर्वोद्दिष्टानां यत्तेनाचार्येण जीवता तेषां श्रुतमुद्दिष्टं यत्पुनस्तेन प्रतीच्छकाचार्येणोद्दिष्टं तत्पश्चादुद्दिष्टम् । तत्र विधिमाह ।

पुव्वुद्दिट्ठे तस्स, पच्छुद्दिट्ठे पवाययंतस्स ।
संवच्छरम्मि पढमे, पडिच्छिए जं तु सच्चित्तं ॥

यदाचार्येण जीवता प्रतीच्छकस्य पूर्वमेवोद्दिष्टं तदेव पठन् प्रथमे वर्षे यत् सचित्तमचित्तं वा स लभते तत्तस्य कालगताचार्यस्याभवति एष एको विभागः । अथ पश्चादुद्दिष्टं ततः प्रथमसंवत्सरे यत् सचित्तादिकं लभते तत्सर्वं प्रवाचयतः प्रतीच्छकस्याचार्यस्याभवति एष द्वितीयो विभागः ।

पुव्वं पच्छुद्दिट्ठे, पडिच्छए जं तु होइ सच्चित्तं ।
संवच्छरम्मि बितिए, तं सव्वं पवाययंतस्स ॥

प्रतीच्छकः पूर्वोद्दिष्टं पश्चादुद्दिष्टं वा पठन् यत्तस्य सचित्तादिकं तदा द्वितीये वर्षे सर्वमपि प्रवाचयतो भवति । एष तृतीयो विभागः । अथ पश्चाच्छिष्यस्याभिधीयते ।

पुव्वं पच्छुद्दिट्ठे, सेसम्मि उ जं तु होइ सच्चित्तं ।
संवच्छरम्मि पढमं, तं सव्वं गुरुस्स आभवइ ॥

शिष्यस्य कालगताचार्येण वा उद्दिष्टं भवेत् प्रतीच्छकाचार्येण वा तदसौ पठन् यत् सचित्तादिकं लभते तत्सर्वं प्रथमे संवत्सरे गुरोः कालगताचार्यस्याभवति एष चतुर्थो विभागः ।

पुव्वुद्दिट्ठं तस्स, पच्छुद्दिट्ठं पवाययंतस्स ।
संवच्छरम्मि बितिए, सीसम्मि उ जं तु सच्चित्तं ॥

शिष्यस्य पूर्वोद्दिष्टमधीयानस्य द्वितीयवर्षे सचित्तादिकं कालगताचार्यस्याभवतीति पञ्चमो विभागः पश्चादुद्दिष्टं पठतः शिष्यस्य सचित्तादिकं प्रवाचयत आभाव्यं भवतीति षष्ठो विभागः ।

पुव्वं पच्छुद्दिट्ठे, सीसम्मि उ जं तु होइ सच्चित्तं ।
संवच्छरम्मि ततिए, तं सव्वं पवाययंतस्स ॥

पूर्वोद्दिष्टं पश्चादुद्दिष्टं वा पठति शिष्ये सचित्तादिकं तृतीये वर्षे सर्वमपि प्रवाचयत आभवतीति सप्तमो विभागः ॥

पुव्वुद्दिट्ठे तस्स, पच्छुद्दिट्ठे पवाययंतस्स ॥
संवच्छरम्मि पढमे, सिस्सिणिए जं तु सच्चित्तं ॥

शिष्यिकायां पूर्वोद्दिष्टपठन्त्यां सचित्तादिकं तस्य कालगताचार्यस्य प्रथमे वर्षे आभाव्यमित्यष्टमो विभागः । पश्चादुद्दिष्टमधीयानायां प्रवाचयत आभाव्यं नवमो विभागः ॥

पुव्वं पच्छुद्दिट्ठे, सिस्सिणिए जं तु होइ य सच्चित्तं ।
संवच्छरम्मि बाए, तं सव्वं पवाययंतस्स ॥

पूर्वोद्दिष्टं पश्चादुद्दिष्टं वा पठन्त्यां शिष्यिकायां सचित्तादिलाभो द्वितीये वर्षे प्रवाचयत आभवतीति दशमो विभागः ।

पुव्वं पच्छुद्दिट्ठं, पडिच्छिगा जं तु होति सच्चित्तं ।
संवच्छरम्मि पढमे, तं सव्वं पवाययंतस्स ॥

पूर्वोद्दिष्टं पश्चादुद्दिष्टं वा पठन्त्यां प्रतीच्छिकायां प्रथम एव संवत्सरे सर्वमपि प्रवाचयत आभवति एष एकादशो विभागः । एक एव आदेश उक्तः । अथ द्वितीयमाह ॥

संवच्छराइ तिन्नि उ, सीसम्मि पडिच्छए उ तद्दिवसं ।
एवं कुले गणे य, संवच्छरे संघे य छम्मासो ॥

प्रतीच्छकाचार्यास्तेषां कुलसत्को गणसत्कः संघसत्को वा भवेत् तत्र यदि तत्सत्कः तदा त्रीन् संवत्सरान् शिष्याणां वाच्यमानानां सचित्तादिकं न गृह्णाति । यत्पुनः प्रतीच्छकास्तेषां वाच्यमानानां यस्मिन्नेव दिने आचार्यः कालगतस्तद्दिवसमेव गृह्णाति एवमेव कुलसत्के विधिरुक्तः । अथाऽसौ गणसत्कस्तत्संवत्सरं शिष्याणां सचित्तादिकं नापहरति यस्तु कुलसत्को गणसत्को वा न भवति स नियमात् संघसत्कः स च षण्मासान् शिष्याणां सचित्तादिकं न गृह्णाति । तेन च प्रतीच्छकाचार्येण तत्र गच्छे वर्षत्रयमवश्यं स्थातव्यम् । परतः पुनरिच्छा ।

तत्थेव य निम्माए, अणिग्गए निग्गए इमा मेरा ।
सकुले तिन्नि तियाइं, गणे दुगसंवच्छरं संघे ॥

तत्रैव प्रतीच्छकाचार्यसमीपे तस्मिन्ननिर्गते यदि कोऽपि गच्छे निर्मातस्तदा सुन्दरम् । अथ न निर्मातः स च वर्षत्रयात्परतो निर्गतस्ते वा गच्छीया एष सांप्रतमस्माकं सचित्तादिकं हरतीति कृत्वा ततो निर्गतस्तदा इयं मर्यादा सामाचारी (सकुलेइत्ति) स्वकुले स्वकीयकुलस्य समवायं कृत्वा कुलस्य कुलस्थविरस्य वा उपतिष्ठन्ते ततः कुलं तेषां वाचनाचार्यं ददाति वारकेण वा वाचयति । कियन्तं कालमित्याह (तिन्नितियत्ति) त्रयस्त्रिका भवन्ति । ततो नव वर्षाणि वाचयतीत्युक्तं भवति । यदा भवता निर्मातस्तदा सुन्दरम् । अथैकोऽपि न निर्मातस्ततः कुलं सचित्तादिकं गृह्णातीति कृत्वा गणमुपतिष्ठन्ते गणोऽपि द्वे वर्षे पाठयति न सचित्तादिकं हरति । यद्येवमपि निर्मातस्ततः संघमुपतिष्ठन्ते संघोऽपि वाचनाचार्यं ददाति स च संवत्सरं पाठयति एवं द्वादश वर्षाणि भवन्ति यद्येवमेकोऽपि निर्मातस्ततः पुनरपि कुलादिस्थविरेषु वा तेन क्रमेणोपतिष्ठन्ते तावन्तमेव कालं कुलादीनि यथाक्रमं पाठयन्ति न सचित्तादिकं हरन्ति एवमन्यान्यपि द्वादश वर्षाणि भवन्ति पूर्वद्वादशभिश्च मीलितानि जाता वर्षाणां चतुर्विंशतिः । यद्येतावता कालेन नैकोऽपि निर्मातस्तदा विहरन्तु अथ निर्मातस्ततो भूयोऽपि कुलगणसंघेऽपि तथैवोपतिष्ठन्ते तेऽपि च तथैव पाठयन्ति । एतान्यपि द्वादश वर्षाणि चतुर्विंशत्या मील्यन्ते जाता षट्त्रिंशत् यद्येवं षट्त्रिंशता वर्षैरेकोऽपि निर्मातस्ततो विहरन्तु । अथैकोऽपि न निर्मातः । कथमिति चेदुच्यते ।

ओमादिकरणेहिं च, दुम्मेहत्तेण वा न निम्माओ ।
काऊण कुलसमायं, कुलथेरे वा उवट्ठंति ॥

अवमादिकारणैरशिवादिभिः कारणैरनवरतमपरापरग्रामेषु पर्यटतां दुर्मेधतया वा नैकोऽपि निर्मातस्ततः कुलसमवायं कृत्वा कुलस्थविरान् वा सर्वेऽप्युपतिष्ठन्ते ततस्तैरुपसंपदं ग्राहयितव्याः कुत्र पुनरिति चेदुच्यते ।

पव्वज्जएगपक्खिय, उवसंपययं गहा सए ठाणे ।
छत्तीसातिक्कंते, उवसंपयए उवादाए ॥

यः प्रव्रज्यैकपाक्षिकस्तस्य पार्श्वे उपसंपदं ते कुलस्थविरा ग्राहयेयुः सा च उपसंपत् पञ्चधा वक्ष्यमाणरीत्या भवति तस्यां चोपसंपदि षट्त्रिंशद्वर्षातिक्रमे प्राप्तायां (सए ठाणेत्ति) विभक्तिव्यत्ययात् स्वकमात्मीयं स्थानमुपादाय गृहीत्वा तैरुपसंपत्तव्यमिदमेव भावयति ।

गुरुसज्झिलओमज्झ, तिउचउ गुरु गुरुस्स वा भत्तू ।
अहवा कुलिच्चतो उ, पव्वज्जा एगपक्खीओ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"गुरुमज्झिल्लको" गुरूणां सहाध्यायी पितृव्यस्थानीयः मज्झिल्लक आत्मनः स ब्रह्मचारी भ्रातृस्थानीयो गुरुगुरुः पितामहस्थानीयो गुरोः संबन्धी तं प्रासशिष्य आत्मनो भ्रातृव्यस्थानीय एते प्रव्रज्यैकपाक्षिका उच्यन्ते । अथवा कुलः समानकुलोद्भवः सोऽपि प्रव्रज्यैकः एतेषां समीपे यथाक्रममुपसंपत्तव्यम् ।

पव्वज्जाए सुएण य, चउभंगुव्वसंपया कमेणं तु ।
पुव्वाहि य वीसरिए, पढमासइ ततियभंगे उ ॥

इहैकपाक्षिकप्रव्रज्यया श्रुतेन च भवति । तत्र प्रव्रज्यैकपाक्षिकोऽनन्तरमुक्तः श्रुतैकपाक्षिको येन सहैकवाचनिकसूत्रम् । अत्र चतुर्भङ्गी । प्रव्रज्यैकपाक्षिकः श्रुतेन च १ प्रव्रज्यया न श्रुतेन २ श्रुतेन न प्रव्रज्यया ३ न प्रव्रज्यया न श्रुतेन ४ एतेषु चामुना क्रमेणोपसंपत्प्रतिपत्तव्या (पढमाइत्यादि) प्रथमतः प्रथमभङ्गे उपसंपत्तव्यं तदभावे तृतीये भङ्गे कुत इत्याह यतः पूर्वाधीतं श्रुतं स्मृतं सत्तेषु सुखेनैवाज्ञापयितुं शक्यते श्रुतैकपाक्षिकत्वात् ।

अथ पञ्चविधामुपसंपदमाह ।

सुयसुहदुक्खक्खेत्ते, मग्गे विणओवसंपयाए य ।
बावीसं संथुयं सं-दिट्ठभट्ठे य सव्वे य ॥

श्रुतोपसंपत् सुखदुःखोपसंपत् क्षेत्रोपसंपत् मार्गोपसंपत् विनयोपसंपत् एवं एषा पञ्चविधा उपसंपत् (वृ० ४ उ०) एतासु श्रुतग्रहणायान्यमाचार्यमुपसंपद्यमानस्य श्रुतोपसंपत् ३ मार्गे व्रजतो मम यौष्माकी निश्रेति मार्गोपसंपत् ४ विनयं कर्तुं गच्छान्तरमुपसंपद्यमानस्य विनयोपसंपत् ५ भाष्यकृताऽप्युक्तम् । "उपसंपयपंचविहा, सुयसुहदुक्खे य खित्तमग्गे य । विणओवसंपया वि य, पंचविहा होइ नायव्वा" एतासामन्यतरामुपसंपदं प्रथममावदानस्य विभागालोचना भवति विहारे कृते निरतिचारस्याप्यालोचना भवति।अयं भावः एकाहात्पञ्चाहाद्वा यदा सांभोगिकाः स्पर्द्धकपतयो गीतार्थाचार्या मिलन्ति तदा निरतिचारोऽप्यन्योन्यस्य विहारालोचनां स्वस्वविहारक्रमानुष्ठितप्रकाशरूपां ददातीति (जीत० पं०चू० पं० भा०) एतासूपसंपत्सु व्यवहारमाह (बावीस इत्यादि) श्रुतोपसंपदि द्वाविंशति नालबद्धानि लभ्यन्ते तद्यथा माता १ पिता २ भ्राता ३ भगिनी ४ पुत्रो ५ दुहिता ६ मातुर्माता ७ मातुःपिता ८ मातुर्भ्राता ९ मातुर्भगिनी १० एवं पितुर्माता ११ पितुःपिता १२ पितुर्भ्राता १३ पितुर्भगिनी १४ भ्रातृपुत्रो १५ भ्रातृदुहिता १६ भगिन्याः पुत्रः १७ भगिन्याः पुत्रिका १८ पुत्रस्य पुत्रः १९ पुत्रस्य पुत्रिका २० दुहितुः पुत्रः २१ दुहितुः पुत्रिका २२ चेति। एतानि द्वाविंशतिरपि श्रुतोपसंपदं प्रतिपन्नस्याभवन्ति । सुखदुःखोपसंपन्नास्तु एतां द्वाविंशतिमन्यांश्च पूर्वसंस्तुतपश्चात्संस्तुतान् प्रपौत्रश्वसुरादीन् लभते। क्षेत्रोपसंपन्नस्तु तान् सर्वानपि वयस्यांश्च लभते। मार्गोपसंपन्न एतान् सर्वानपि लभते। अपरं च ये केचित् दृष्टा भाषितास्तानपि प्राप्नोति। विनयोपसंपदं प्रतिपन्नस्तु सर्वानपि ज्ञाताज्ञातदृष्टादृष्टान् लभते नवरं विनयार्हस्य विनयं प्रयुङ्क्ते 'सएट्ठाणेत्ति' यदुक्तं तस्यायमर्थः । पञ्चविधाऽप्युपसंपत् तस्मिन् स्थाने प्रतिपत्तव्या। किमुक्तं भवति । श्रुतोपसंपदं प्रतिपित्सोर्यस्य पार्श्वे श्रुतमस्ति तत्तस्य स्वस्थानम् । सुखदुःखार्थिनः स्वस्थानं यत्र वैयावृत्यकराः सन्ति । क्षेत्रोपसंपदर्थिनो यदीये क्षेत्रे भक्तपानादिकमस्ति । मार्गोपसंपदर्थिनो यत्र मार्गज्ञः समस्ति । विनयोपसंपदर्थिनो यत्र विनयकरणं युज्यते एतानि स्वस्थानानि । अथवा स्वस्थानं नाम प्रव्रज्यया श्रुतेन च ये एकपाक्षिकास्तत्र प्रथमस्य समुपसंपत्तव्यम । पश्चात्कुलेन श्रुतेन चैकपाक्षिकस्य पार्श्वे । ततः श्रुतेन गणेन च एकपाक्षिकस्य समीपे ततः श्रुतेनैकपाक्षिकस्य समीपे ततः प्रव्रज्यैकपाक्षिकस्य सकाशे ततः प्रव्रज्यया श्रुतेन वा नैकपाक्षिकस्यापि पार्श्वे उपसंपत्प्रतिपत्तव्यम । आह । साधर्मिकवात्सल्याराधनार्थं सर्वेणाऽपि सर्वस्य श्रुताध्ययनादि कर्त्तव्यं ततः किमर्थं प्रथमं प्रव्रज्याकुलादि निरासन्नतरेषूपसंपद्यत इत्याह ।

सव्वस्स वि कायव्वं, निच्छयओ किं कुलं व अकुलं व ।
कालसभावममत्ते गारवलज्जादिकं हिंति ॥

निश्चयतः सर्वेण सर्वस्याप्यविशेषेण श्रुतवाचनादिकमात्मनो विपुलतरां निर्जरामभिलषता कर्त्तव्यम् । किं कुलमकुलं चेत्यादिनिवारणायाः परस्तुःषमालक्षणो यः कालस्तस्य यः स्वभावोऽनुभावस्तेनात्मीयोऽयमित्यादिकं यन्ममत्वं तच्च गुर्वादिविषयं गौरवं बहुमानबुद्धिर्या च तदीया लज्जा एतैः प्रेरिताः सुखेनैव करिष्यन्तीति कृत्वा प्रथमं प्रव्रज्यादिनिरासन्नतरेषूपसंपद्यन्ते गतं ज्ञानार्थं गमनम् ।

अथ दर्शनार्थं गमनमाह ।

कालियपुव्वगए वा, णिम्माओ जति य अत्थि सेसाति ।
दंसणदीवगहेउं, गच्छइ अहवा इमेहिं तु ॥

कालिकश्रुते पूर्वगते च यद्वा यस्मिन्काले श्रुतं प्रचरति तस्मिन् । अत्रार्थेन च यदा निर्मातो भवति यदि च तस्य ग्रहणधारणाशक्तिस्तथाविधा समस्ति तथाविधानि ततो दर्शनदीपकानि सम्यग्दर्शनज्ञानसहकारीणि यानि सम्मत्यादीनि शास्त्राणि तेषां हेतोरन्यं गणं गच्छति अथवा एभिः कारणैर्गच्छेत् ।

भिक्खूगा जहिं देसे, बोडिय थलिणिण्हएहिं संसग्गी ।
ते सं पण्णवयंति, असहमाणो विसाजिए गमणं ॥

यत्र देशे भिक्षुका बौद्धा बोटिका वा निह्नवा वा तेषां तत्र स्थली तत्र ते आचार्याः स्थितास्तैः सार्द्धमाचार्याणां संसर्गः प्रीतिरित्यर्थः ते च भिक्षुकादयः स्वसिद्धान्तं प्रज्ञापयन्ति स चाचार्यो दाक्षिण्येन तर्कग्रन्थाप्रवीणतया वा तूष्णीकस्तिष्ठति तं च तदीयां प्रज्ञापनामसहमानः कश्चिद् द्वितीयश्चिन्तयति अन्यं गणं गत्वा दर्शनप्रभावकानि शास्त्राणि पठामि येनामून् निरुत्तरान् करोमि एवं विचिन्त्य स तथैव गुरुनापृच्छ्य तैर्विसर्जितो गच्छति । इदमेव भावयति ।

लोए वि अपरिवादो, भिक्खुगमाई य गाढव मढिंति ।
विप्परिणामंति सेहा, अ भामिज्जंति सड्ढा य ॥

भिक्षुकादीनां स्वसिद्धान्तशिर बद्धाव्य प्ररूपयतामपि यदा सूरयो न किमपि ब्रुवते ततो लोके परिवादो जातः । एते श्वेतमुखा न किमपि जानते अमी तु सौगताः सर्वमेव ब्रुवन्ते । एवञ्च ते भिक्षुकादयः परिवादं श्रुत्वा गाढतरं जैनशासनं च मढयन्ति शैक्षाश्च विपरिणमन्ति श्राद्धाश्च रक्तपटोपासकैरपभ्राज्यन्ते एतैश्च ते भिक्षवो मदरशिरोमणयइवाकारिणो यद्यस्ति सामर्थ्यं ततो ऽस्माकमुत्तरं प्रयच्छन्तु । अथवा तैर्भिक्षुकादिभिः स्थलिकायामाचार्यस्यापि वराको निबद्धो वर्त्तते ।

सो रसगिद्धो व थलिए, परतित्थियतज्जणं असहमाणो ।
गमणं बहुस्स नेत्तं, आगमणं वादिपरिसाओ ॥

स आचार्यो रसगृद्धः स्निग्धमधुराहारलम्पटः सामर्थ्ये सत्यपि न किञ्चिदुत्तरं प्रयच्छति एवमादिकां परतीर्थिकतर्जनामसह-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मानः शिष्यः आचार्यं विधिना पृष्ट्वा निर्गतोऽन्यगणगमनं कृतवान् । तत्र च तर्कशास्त्राणि श्रुत्वा बहुश्रुतत्वं तस्य संजज्ञे । ततो भूयः स्वगच्छे आगमनम् । आगतेन च पूर्वमाचार्याः द्रष्टव्यास्ततोऽन्यस्यां वसतौ स्थित्वा या तत्र वादमार्गकुशला पर्षत् तां परिचितां कृत्वा राज्ञो महाजनस्य च पुरतः परतीर्थिकान् निष्पिष्टप्रश्नव्याकरणान् करोति ।

चोयपरायणकुविया, जति पडिसेहंति साहु लद्धं च ।
अह वि अणुगओ अम्हं, मासपवत्तं परिहवेह ॥

चोदे पराजापने कुपितः भन्तो यदि ते भिक्षुकादयः आचार्यस्य तं वादं प्रतिषेधन्ति ततः साधु सुन्दरं लब्धं वा प्रीष्टं जातमिति । अथ तत्र कोऽपि ब्रूयात् एतस्य को दोषश्चिरमनुगत एषोऽस्माकं मा पूर्वप्रवृत्तं दातव्यमस्य परिहापयत तत्र को विधिरित्याह ।

काऊण पद पणामं, छेदसुतस्स दलाह पडिपुच्छं ।
अन्नत्थ वसहिमगणं, तेसिं च णिवेदणं काउं ॥

गुरोः पदकमलप्रणामं कृत्वा वक्तव्यं छेदे श्रुतस्य प्रतिपृच्छां मम प्रयच्छत । अत्र चागीतार्थाः शृण्वन्ति ततोऽन्यस्यां वसतौ गच्छावः एवमुक्तोऽपि यदि तस्या वसतेर्न निर्गच्छति तत्राख्यायिकादिकथापनेन चिरं रात्रौ गुरवो जागरणं कारापणीयास्तेषां चाऽगीतार्थानां वयमाचार्यमेवं नेष्यामो भवद्भिर्बोधो न कर्त्तव्यः । इति निवेदनं कृत्वा गन्तव्यमिदमेव व्याचष्टे ।

सद्दं च हेतुसत्थं, अहिज्जिओ छेदसुत्तणट्ठं मे ।
तत्थ य मा सुत्तत्था, सुणिज्ज तो अन्नहिं वसिमो ॥

शब्दशास्त्रमिन्द्रादिकं हेतुशास्त्रं सम्मत्यादिकं शास्त्रमध्ययनस्य च्छेदसूत्रं निशीथादिकं सूत्रतोऽर्थतस्तदुभयतो वा मम नष्टं तस्य प्रतिपृच्छां मे प्रयच्छत । अत्र च वसतावश्रुतार्थाः शैक्षा अपरिणामका वा न शृणुयुरतोऽन्यस्यां वसतौ वसाम एवमन्यव्यपदेशेन निष्काशयति । अथ तस्या वसतेः शैक्षा निर्गन्तुं नेच्छति ततोऽयं विधिः ।

खित्तारक्खिणिवेयण, इयरे पुव्वं तु गाहिया समणा ।
जमाविओ सो अचिरं, जह णिज्जंतो ण चेतेति ॥

आरक्षिको दण्डपाशिकस्तस्य निवेदनं क्रियते (खित्तंति) अस्माकं क्षिप्तचित्तः साधुः समस्ति तं वयमर्द्धरात्रौ वैद्यसकाशे नेष्यामः स यदि नीयमानो ह्रियेऽहं ह्रियेऽहमित्यारटेत् ततो युष्माभिर्न किमपि भणनीयमितरे अगीतार्थाः श्रमणाः पूर्वमेव ग्राहिता कर्त्तव्याः वयमाचार्यमेनं नेष्यामो मा बोलं कुरुध्वम् । स चाचार्यश्चिरमाख्यायिकाः कथापयित्वा जागरितः सन् यदा निर्भरं सुप्तो भवति तदा नीयते यदा नीयमानो न किञ्चिच्चेतयति ।

णिण्हयसंसग्गीए, बहुसो भणं तु वेहसो कुणइ ।
तुह किंति वासि परिणाम, गतागतेणाणिओ विहिणा ॥

अथ निह्नवानां संसर्ग्याचार्यो न निर्गच्छति बहुशो भण्यमानोऽप्युपेक्षां कुरुते अथवा ब्रूयात् यदहं निह्नवसंसर्गं करोमि ततो भवतो दुःखयति व्रज त्वं यत्र गन्तव्यमेवं परिणामं गुरूणां ज्ञात्वा शिष्येण गतागतेनान्यं गणं गत्वा शास्त्राण्यधीत्य भूयः आगतेन निह्नवान् पराजित्याचार्यो विधिना अनन्तरोक्तेन निष्काशितः कर्तव्यः ।

एस विहिविसज्जिए, अविसज्जियलहुगदोसआणाई ।
तेसिं पि हुंति लहुगा, अविहिविही सो इमो होइ ॥

एष विधिर्गुरुणा विसर्जिते मन्तव्यः अविसर्जितस्य तु गच्छतश्चतुर्लघु दोषाश्चाज्ञादयः । तेषामपि प्रतीच्छतां चतुर्लघुकाः एषोऽविधिरुक्तोऽतोऽविधिना गन्तव्यं तथाऽयं विधिर्भवति ।

दंसणमत्थे पक्खो, आयरिय उवज्झाय सेसगाणं च ।
एक्केकपंचदिवसे, अहवा पक्खेण सव्वे वि ॥

दर्शनप्रभावकाणां शास्त्राणामर्थाय निर्गच्छत एकं पक्षमापृच्छना कालो भवति तद्यथा । आचार्यः पञ्च दिवसानापृच्छ्यते यदि न विसर्जयति तत उपाध्यायोऽपि पञ्च दिवसान् शेषसाधवोऽपि पञ्च दिवसान् अथवा पक्षेण सर्वेऽपि पृच्छ्यन्ते । किमुक्तं भवति दिने दिने किन्तु सर्वेऽपि पृच्छ्यन्ते यावत् पक्षः पूर्ण इति ।

एस विहि आगतं तु, पडिच्छअपडिच्छणा भवे लहुगा ।
अहवा इमेहिं आगम, एगादिपडिच्छए गुरुगा ॥
एगे अपरिणए य, अप्पाहारे य थेरए ।
गिलाणे बहुरोगी य, मंदधम्मे य पाहुडे ॥
एतारिसं विउस्सज्ज, विप्पवासो न कप्पई ।
सीसपडिच्छायरिए, पायच्छित्तं विहिज्जइ ॥
विइयपदमसंविग्गे, संविग्गे चेव कारणागाढे ।
नाऊण तस्स भावं, होइ उ गमणं अणापुच्छा ॥

गाथाचतुष्टयमपि गतार्थं गतं दर्शनार्थं गमनम् ।

अथ चारित्रार्थमाह ।

चारित्तट्ठ देसे (दुविहा) एसणादोसा य इत्थिदोसा य ।
गच्छंति य सीयंते, आयसमुत्थेहिं दोसेहिं ॥

चारित्रार्थं गमनं द्विधा देशदोषैरात्मसमुत्थदोषैश्च देशदोषा द्विविधा एषणा दोषाः स्त्रीदोषाश्च । आत्मसमुत्था अपि द्विधा गुरुदोषा गच्छदोषाश्च । तत्र गच्छो यद्यात्मसमुत्थैश्चक्रवालसामाचारीवितथकरणलक्षणैर्दोषैः सीदते तत्र पक्षमापृच्छ्यास्ते तत ऊर्ध्वं गच्छति । इदमेव व्याचष्टे ।

जिहिं यं एसणदोसा, पुरकम्माई ण तत्थ गंतव्वं ।
उदगपउरो व दोसो, अहिं व चारिगाइसंकिलो ॥

यत्र देशे पुरःकर्मादय एषणादोषाः भवेयुस्तत्र न गन्तव्यं यो वा उदकप्रचुरो देशः सिन्धुविषयवत् यो वा चारिकादिभिः परिव्राजिकाकापालिकी मदनिकादिभिर्बहुमोहादिभिराकीर्णो विषयस्तत्रापि न गन्तव्यम् । अथाशिवादिभिः कारणैस्तत्र गता भवेयुस्ततः

असिवाईहिं गता पुण, तक्कज्जसमाणिया तओ णिंति ।
आयरियमणिंते पुण, आपुच्छिउं अप्पणा णिंति ॥

अशिवादिभिर्दुर्भिक्षपरचक्रादिभिः कारणैस्तत्र गता अपि (तक्कज्जसमप्पियत्ति) प्राकृते पूर्वपदनिपातस्याभिमतत्वात् समापिततत्कार्याः संयमक्षेत्रे यदा अशिवादीनि स्फिटितानि भवन्तीति भावः । तदैते असंयमक्षेत्रान्निर्गच्छन्ति यद्याचार्याः केनापि प्रतिबन्धेन सीदन्तो न निर्गच्छेयुस्ततो ये एको द्वौ बहवो वा असीदन्तस्ते गुरुमापृच्छ्यात्मना निर्गच्छन्ति तत्र चाऽयं विधिः ।

दो मासे एसणाए, इत्थि वज्जेज्ज अट्ठ दिवसाई ।
गच्छम्मि होइ पक्खो, आयसमुत्थेगदिवसं तु ॥

एषणायामशुद्ध्यमानायां यतनया अनेषणीयमपि गृह्णन् द्वौ मासौ गुरुमापृच्छन् प्रतीक्षते । अथ स्त्री शय्याप्रभृतिका उपसर्गयति । यद्यात्मना शय्यातर्यादी स्त्रियां मध्यमिकायां वा मातिवे-

विमवयामतीवाभ्युपपन्न उभयं वा परस्परमभ्युपपन्नं ततो यदा आचार्यसंनिहितस्तदा तमापृच्छय गच्छति अथासंनिहितः संज्ञाभूम्यादौ गत आचार्यस्तदा एवमेवानापृच्छयागच्छति अपरं वा संनिहितस्यापि भणति मम वचनेन गुरूणामापृच्छनं निवेदनीयम् "एयविहिमागयंतु" गाहा 'एय अपरिणए य' गाहा "एया रिसं विउस्सज्ज " गाहा । इति गाथात्रयमपि गतार्थं नवैतैःकारणं येन न पृच्छेत ।

बितियपदमसंविग्गे, संविग्गे चेव कारणागाढे ।

नाऊण तस्स भावं, अप्पणए भावे अणापुच्छा ॥

द्वितीयपदमत्रोच्यते। आचार्यादिरसंविग्नो भवेत् अथवा संविग्नः परमहिवद्याद्विकमागाढकारणमवलम्ब्य न पृच्छेत । तस्य च गुरोर्भावमसुचिरेणापि न विसर्जयतीति लक्षणं ज्ञात्वा आत्मीयं च भावमहमिह तिष्ठन्नवश्यं विनश्यामीति ज्ञात्वा अनापृच्छ्यापि व्रजेत । अथ गुरोरभावे सीदतो विधिमाह ।

सज्झायरकप्पट्ठी, चरित्तठवणा अभिगया खरिया ।

सारूविओ गिहत्थो, सो वि उवाएण हरियव्वो ॥

शय्यातरस्य कल्पस्थिकायां आचार्येण चारित्रस्य स्थापना कृता तां प्रतिसेवत इति भावः तस्यां चारित्रस्थापनायां जातायां क्षुल्लिका वा काचिदभिगता जीवाद्यधिगमोपेताश्राविकेत्यर्थस्तस्यामाचार्योऽभ्युपपन्नः स च चारित्रवर्जितो वेषधारी भवेत् सारूपिको वा गृहस्थो वा तपलक्षणत्वात्सिद्धपुत्रको वा तत्र मुण्डितशिराः शुक्लवासःपरिधायी कच्छामबध्नन् अभार्यको भिक्षां हिण्डमानः सारूपिक उच्यते । यस्तु मुण्डः सशिखाको वा सभार्यकः ससिद्धपुत्रकः एवमेषामन्यतर उपायेन हर्त्तव्यः । कथमिति चेदुच्यते पूर्वं तावद्गुरवो ज्ञाप्यन्ते वयं युष्माभिर्विरहिता अनाथाः अतः । प्रसीद गच्छामोऽपरं क्षेत्रं परमुक्ते यदि नेच्छन्ति ततो यस्यां स प्रतिबद्धः सा प्रज्ञाप्यते एष बहूनां साधूनामाधारः एतेन विना गच्छस्य ज्ञानादीनां परिहाणिरतो मा नरकादिकं संसारमात्मनो वर्द्धय यदि सा इच्छति ततः सुन्दरमथ न तिष्ठति ततो विद्यामन्त्रादिभिरावर्त्यते । तदभावे केयथिका अपि तस्या दीयन्ते । गुरुश्च क्रमेण रात्रौ हर्त्तव्यः । एवं तावद्भिक्षुमङ्गीकृत्य विधिरुक्तः ।

(सूत्रम्) गणावच्छेइए जे गणादवक्कम्म इच्छिज्जा अन्नं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए कप्पति णो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा जाव अन्नं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए । कप्पइ णो आउच्छित्ता आयरियं वा जाव विहरित्तए य से वितरंति एवं से कप्पइ जाव विहरित्तए ते य से णो वितरंति एवं से णो कप्पइ जाव विहरित्तए २१ आयरिय उवज्झाए य गणाओ अवक्कम्म इच्छेज्जा अन्नं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए कप्पइ आयरिय आयरियस्स आयरियगणावच्छेइयस्स गणावच्छेइयस्स निक्खिवित्ता अन्नं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए उवज्झायत्तं णिक्खिवित्ता अन्नं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए । णो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा जाव अन्नं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए कप्पति से आपुच्छित्ता जाव विहरित्तए ते य से वितरंति एवं से कप्पति अन्नं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए ते से णो वियरंति । एवं से णो कप्पति । अन्नं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए । २२ ।

अस्य सूत्रद्वयस्य व्याख्या प्राग्वत् नवरं गणावच्छेदिकत्वमाचार्योपाध्यायत्वं च निक्षिप्य गन्तव्यमिति विशेषः। अथ भाष्यम्।

एमेव गणावच्छे, गणिआयरिए वि होइ एमेव ।

नवरं पुण णाणत्तं, ते नियमा हुंति वत्ताओ ॥

एवमेव भिक्षुवत् गणावच्छेदकस्य ज्ञानदर्शनचारित्रार्थमन्यं गणं गच्छतो विधिर्द्रष्टव्यः। गणिन उपाध्यायस्याचार्यस्य चैवमेव विधिः नवरं पुनरिदं नानात्वं नियमात्ते गणावच्छेदिकादयो व्यक्ता भवन्ति नो अव्यक्ताः ॥

एमेव गमो नियमा, निग्गंथीणं पि होइ नायव्वो ।

णाणट्ठ जो उ भेई, सचित्तं ण अप्पिणो जाव ॥

एष एव निक्षुसूत्रोक्तो गमो निर्ग्रन्थीनामप्यपरं गणमुपसंपद्यमानानां ज्ञातव्यः नवरं नियमेनैव ताः ससहायाः यः पुनर्ज्ञानार्थे न आचार्यिकां नयति स यावदद्यापि न वाचनाचार्यस्यार्पयति तावत्सचित्तादिकं तस्यैवाभवति अर्पितास्तु पुनर्वाचनाचार्यस्याभाव्यं कः पुनस्तां नयतीत्याह ।

पंचण्हं एगयरे, उग्गहवज्जं तु लभति सचित्तं ।

आपुच्छ अट्ठपक्खे, इत्थीसत्थेण संविग्गो ॥

पञ्चानामाचार्योपाध्यायप्रवर्त्तकस्थविरगणावच्छेदकानामेकतरः संयतीर्नयति तत्र च सचित्तादिकं परक्षेत्रावग्रहवर्जं स एव लभते निर्ग्रन्थी च ज्ञानार्थं व्रजन्ती अष्टौ पक्षानापृच्छति । तत्राचार्यमेकं पक्षमापृच्छति यदि न विसर्जयति तत उपाध्यायं वृषभं गच्छं चैवमेव पृच्छति संयतीवर्गेऽपि प्रवर्त्तिनी गणावच्छेदिकाभिषेकाशेवसाध्वीर्यथाक्रममेकैकं पक्षमापृच्छति। ताश्च स्त्रीसार्थेन समं संविग्नेन परिणतवयसा साधुना नेतव्याः ।

(सूत्रम्) भिक्खू गणाओ अवक्कम्म इच्छिज्जा अन्नं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए नो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा जाव अन्नं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ताणं कप्पइ से आपुच्छित्ता आयरियं वा जाव विहरित्ता ते य से वियरंति । एवं से कप्पइ जाव विहरित्तए । ते य से न वियरिज्जा एवं से नो कप्पइ जाव विहरित्तए जत्थुत्तरियं धम्मविणयं लभेज्जा । एवं से कप्पइ अन्नं गणं संभोगे पडियाए उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए जत्थुत्तरियं धम्मविणयं नो लभेज्जा एवं से नो कप्पइ अन्नं गणं जाव विहरित्तए ॥

अस्य व्याख्या प्राग्वत् नवरं सांभोगिकमण्डल्यां समुद्देशनादिरूपस्तत्प्रत्ययनिमित्तं " जत्थुत्तरियमित्यादि " यत्र उत्तरं प्रधानतरं धर्मविनयं स्मारणवारणादिरूपां धार्मिकीं शिक्षां लभेत एवं (से)तस्य कल्पते अन्यं गणमुपसंपद्य विहर्तुं यत्रोत्तरं धर्मविनयं नो लभेत एवं (से) तस्य नो कल्पते उपसंपद्य विहर्तुमिति सूत्रार्थः। अथ भाष्यम्।

संजोगो वि हु तिहि का-रणेहिं नाणट्ठदंसणचरित्ते ।

संकमणे चउभंगो, पढमो गच्छम्मि सीयंते ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सेनोगोऽपि त्रिभिः कारणैरिष्यते तद्यथा ज्ञानार्थं दर्शनार्थं चारित्रार्थं च। तत्र ज्ञानार्थं दर्शनार्थं च यस्योपसंपदं प्रतिपन्नस्त-स्मिन् सूत्रार्थदानादौ सीदति गणान्तरे संक्रमणे स एव विधेयः पूर्वसूत्रे भणितश्चारित्रार्थे तु यस्योपसंपन्नस्तत्र चरणकरणक्रियायां सीदति चतुर्भङ्गी भवति। गच्छः सीदति नाचार्यः। आचार्यः सीदति न गच्छः। गच्छोऽप्याचार्योऽपि सीदति।३। न गच्छो-नाचार्य इति। ४। अत्र प्रथमो भङ्गो गच्छे सीदति मन्तव्यस्तत्र च गुरुणा स्वयं वा गच्छस्य नोदना कर्त्तव्या कथं पुनः स गच्छः सीदेदित्याह।

पडिलेहादिपमिउवेक्खण,निक्खिवआदाणविणयसज्झाए।
आलोगठवणभत्त-ट्ठभासपरूलसेज्जातराईसु ॥

ते गच्छसाधवः प्रत्युपेक्षणां कालेन कुर्वन्ति न्यूनातिरिक्तादिदोषैर्विपर्यासेन वा प्रत्युपेक्षन्ते गुरुग्लानादीनां वा न प्रत्युपेक्षन्ते निष्कारणादिना वा वर्तयन्ति दण्डकादिकं निक्षिपन्त आददतो वा न प्रत्युपेक्षन्ते न वा प्रमार्जयन्ति दुष्प्रत्युपेक्षितं दुष्प्रमार्जितं वा कुर्वन्ति यथार्हं विनयं न प्रयुञ्जते। स्वाध्यायं सूत्रपौरुषीं वार्थपौरुषीं वा न कुर्वन्ति। अकाले अस्वाध्याये वा कुर्वन्ति पाक्षिकादिषु आलोचनां न प्रयच्छन्ति। अथवा आलोचयन्ति " णाणे दिसि पगासेण वा" इत्यादिकं सप्तविधमालोकं न प्रयुञ्जते संस्तरीं वा आलोकान्तः स्थापनाः कुड्यानि स्थापयन्ति भक्तार्थं मण्डल्यां समुद्देशनं न कुर्वन्ति गृहस्थभाषाभिर्भाषते सावद्यं वा भाषन्ते पटलकेऽप्यानीतं भुञ्जते। शय्यातरपिण्डं भुञ्जते आदिग्रहणेनो-द्गमाशुद्धं गृह्णन्ति। इतरेषु गच्छस्य सीदतो विधिमाह।

चोयावेई गुरुणा, विसीयमाणं गणं सयं वा वि ।
आयरियं सीअंतं, सयं गणेणं व चोयावे ॥

प्रथमभङ्गे सामाचार्यां विषीदन्तं गच्छं गुरुणा नोदयति। अथ वा स्वयमेव नोदयति। द्वितीयभङ्गे आचार्यं सीदन्तं स्वयं वा गणेन वा नोदयति।

दुन्नि वि विसीयमाणे, सयं व वा जे तहिं न सीयंति ।
ठाणं ठाणासज्जउ, अणुलोमाईहिं चोएंति ॥

तृतीयभङ्गे गच्छाचार्यौ द्वावपि सीदन्तौ स्वयमेव नोदयति ये वा तत्र न सीदन्ति तैर्नोदयति। किं बहुना स्थानं स्थानमासाद्य प्राप्यानुलोमादिभिर्वचोभिर्नोदयति। किमुक्तं भवति। आचार्योपाध्यायादिकं भिक्षुक्षुल्लकादिकं वा पुरुषवस्तु ज्ञात्वा यस्य यादृशी नोदना योग्या यो वा खरसाध्यो मृदुसाध्यः क्रूरोऽक्रूरो वा यथा नोदनां गृह्णाति तं तथा नोदयेत्।

जाणमाणे जणाविंते, अयाणमाणम्मि पक्खो उक्कोसो ।
लज्जए पंच तिन्नि व, तुह किंति विपरिणए विवेगो ॥

गच्छमाचार्यमुभयं वा सीदन्तं स्वयं भणेत् अन्यैश्च भाणयेत्ते यत्र न जानाति एते भण्यमाना अपि नोद्यमं करिष्यन्ति तत्रोत्कर्षतः पक्षमेकं तिष्ठति गुरुं पुनः सीदन्तं लज्जया गौरवेण वा जानन्नपि पञ्च त्रीन् वा दिवसान् अभणन्नपि गुरूम्। अथाभाष्यमाणो गच्छो गुरुरुभयं भणेत्। भवतः किं दुःखयति यदि वयं सीदामस्तर्हि वयमेव दुर्गतिं गमिष्यामः। एवं विधिना भावेनैव तेषां परिणतेर्विवेकस्ततः परित्यागो विधेयस्ततश्चान्यं गणं संक्रामति तत्र चतुर्भङ्गी संविग्नः संविग्नगणं संक्रामति१ संविग्नोऽसंविग्नम् २ असंविग्नः संविग्नम् ३ असंविग्नोऽसंविग्नम् ४ तत्र प्रथमो भङ्गस्तावदुच्यते।

संविग्गविहाराओ, संविग्गा दुन्नि एज्ज अन्नयरो ।
आलोइयम्मि सुद्धो, तिविहो उ विहि मग्गणा नवरिं ॥

संविग्नविहारात् संविग्नौ द्वौ अन्यतरौ गीतार्थोऽगीतार्थौ संविग्ने गच्छे समागच्छेतां स च गीतार्थोऽगीतार्थो वा यतो दिवसात् संविग्नेभ्यः स्फिटितस्तद्दिनादारभ्य सर्वमप्यालोचयति आलोचिते च शुद्धः। नवरं त्रिविधोपधेर्यथाकृतादिकस्य मार्गणा कर्त्तव्या। इदमेव व्याचष्टे।

गीयमगीतो गीते, अप्पडिबद्धे ण होइ उवघातो ।
अगीयत्थस्स वि एवं, जेण सुता ओहनिज्जुत्ती ॥

स संविग्नो गीतार्थोऽगीतार्थो वा। यदि गीतार्थो व्रजिकादिषु अप्रतिबद्धः आयातः तत उपधेरुपघातो न भवति तदा प्रायश्चित्तम्। अगीतार्थस्य येन जघन्यतः ओघनिर्युक्तिः श्रुता तस्याप्येवमेवाप्रतिबध्यमानस्य नोपधिरुपहन्यते।

गीयाण व मिस्साण व, जुएह वयंताण वइयमाईसु ।
पडिवज्जंताणं पि हु, उवहि तह गेण्ह चाउवणो ॥

द्वयोर्गीतार्थयोर्गीतार्थागीतार्थविमिश्रयोर्वा व्रजतोर्व्रजिकादिषु प्रतिबध्यमानयोरप्युपधिर्नोपहन्यते न वा आरोपणा प्रायश्चित्तं भवति। एवमेकोऽनेके वा विधिना समागता यत्प्रभृति गणान्निर्गतास्तत आरभ्यालोचनां ददन्ति। अथ त्रिविधोपधिमार्गणा...६।

आगंतु जहागमयं, वत्थव्व अहाकडस्स असईए ।
मेलिंति मज्झिमेहिं, मा गारव कारणमगीए ॥

तस्य गीतार्थस्यागीतार्थस्य वा त्रिविध उपधिर्भवेत्। तद्यथा यथाकृतोऽल्पपरिकर्मा सपरिकर्मा वा वास्तव्यानामप्येवमेव त्रिविध उपधिर्भवति। तत्र यथाकृतो यथाकृतेन मील्यते अल्पपरिकर्मा अल्पपरिकर्मणा सपरिकर्मा सपरिकर्मणा। अथ वास्तव्यानां यथाकृतो नास्ति तत आगन्तुकस्य यथाकृतं वास्तव्यमध्यमैरल्पपरिकर्मभिः सह मीलयन्ति किं कारणमिति चेदत आह। माऽसौ मीलितः सन् अगीतार्थस्य मदीय उपधिरुत्तमसांभोगिकः अतोऽहमेव सुन्दर इत्येवं गौरवकारणं भवेदिति।

गीयत्थे ण मिलिज्जइ, जो पुण गीओ वि गारवं कुणइ ।
तस्सुवही मेलिज्जइ, अहिगरणअपच्चओ इहरा ॥

गीतार्थो यद्यगौरवी ततस्तदीयो यथाकृतः प्रतिग्रहो वास्तव्ययथाकृताभावे ऽल्पपरिकर्मभिः सह न मीलयन्ति किं तु उत्तमसांभोगिकाः क्रियन्ते। यस्तु गीतार्थोऽपि गौरवं करोति तस्य कृते वास्तव्याल्पपरिकर्मभिः सह मील्यते किं कारणमिति चेदत आह (इहरत्ति) यदि यथाकृतपरिभोगेन परिशुध्यते तदा केनाप्यजानता अल्पपरिकर्मणा समं मेलितं दृष्ट्वा स गीतार्थोऽधिकरणमसंखडं कुर्यात् किमर्थं मदीय उत्कृष्टोपधिरमुकेन सह मीलित इति। अप्रत्ययो वा शैक्षाणां भवेत्। अयमेतेषां सकाशादुद्युक्ततरविहारी येनोपधिमुत्कृष्टं परिहृतं एते तु हीनतरा इति।

एवं खलु संविग्गा-संविग्गे संकमं करेमाणे ।
संविग्गासंविग्गे, संविग्गे वा वि संविग्गे ॥ ३ ॥

एवं खलु संविग्नस्य संविग्नेषु संक्रमं कुर्वाणस्य विधिरुक्तः। अथ संविग्नस्यासंविग्नेषु संक्रामतोऽसंविग्नस्य वा संविग्नेषु संक्रामतो विधिरुच्यते। तत्र संविग्नस्यासंविग्नसंक्रमणे तावदिमे दोषाः।

सीहगुहं वग्घगुहं, उदहिं व पलित्तं व जो पविसो ।

असिवं ओमोयरियं, धुवं से अप्पा परिच्चत्तो ॥

सिंहगुहां व्याघ्रगुहामुदधिं समुद्रं प्रदीप्तं वा नगराग्निकं यः प्रविशति अशिवमवमौदर्यं वा यत्र देशे तत्र यः प्रविशति तेन ध्रुवमात्मा परित्यक्तः ।

चरणकरणप्पहीणे, पासत्थे जो उ पविसए समणो ।
जतमाए य पहिउं, सो ठाणे परिच्चयइ तिष्मि ॥

एवं सिंहगुहादिस्थानीये चरणकरणप्रहीणे पार्श्वस्थे यः श्रमणो यतमानान्संविग्नान् प्रहाय परित्यज्य प्रविशति स मन्दधर्मा त्रीणि स्थानानि ज्ञानदर्शनचारित्ररूपाणि परित्यजति । अपि च सिंहगुहादिप्रवेशे एकमाविकं मरणं प्राप्नोति पार्श्वस्थेषु पुनः प्रविशन्ननेकानि मरणानि प्राप्नोति ।

एमेव अहाछंदे, कुसीलओसन्ननीयसंसत्ते ।
जं तिण्णि परिच्चयइ, नाणं तह दंसणचरित्तं ॥

एवमेव पार्श्वस्थवत् यथाच्छन्देषु कुशीलावसन्ननित्यवासिसंसक्तेषु च विशतो मन्तव्यम् । यच्च त्रीणि स्थानानि परित्यजतीत्युक्तं तज्ज्ञानं दर्शनञ्चारित्रं चेति द्रष्टव्यं गतो द्वितीयो भङ्गः ।

अथ तृतीयभङ्गमाह ।

पच्चण्हं एगयारे, संविग्गो संकमं करेमाणो ।
आलोइए विवेगो, दोसु असंविग्गसच्छंदो ॥

पार्श्वस्थावसन्नकुशीलसंसक्तयथाच्छन्दानामेकतरः संविग्नेषु संक्रमं कुर्वन् प्रथममालोचनां ददाति । तत आलोचितेऽविशुद्धोपधेर्विवेकं करोति स च यदि चारित्रार्थमुपसंपद्यते ततः प्रतीच्छनीयो यस्तु द्वयोर्ज्ञानदर्शनयोरर्थयोः संविग्न उपसंपद्यते तस्यास्वच्छन्दः स्वाभिप्रायो नासौ प्रतीच्छनीय इति भावः ।

पंचगतरे गीये, आरुवियवते जयंति एतम्मि ।
जं उवहिं उप्पाए, संभोइयसेसमुज्झंति ॥

तेषां पञ्चानां पार्श्वस्थादीनामेकतर आगच्छन् यदि गीतार्थो भवतः स्वयमेव महाव्रतान्युच्चार्यारोपितव्रतो यतमानो प्रतिकादावप्रतिषिध्यमानो मार्गे यमुपधिमुत्पादयति स सांभोगिकः (सेसमुज्झंतित्ति) यः प्राक्तन पार्श्वस्थोपधिरविशुद्धस्तं परिष्ठापयति यः पुनरगीतार्थस्य उपधिस्तस्य चिरंतनोऽभिनवोत्पादितो वा सर्वोऽपि परित्यज्यते ।

तेषु चाऽयमालोचनाविधिः ।

पासत्थाई मुंडिए, आलोयणा होइ दिक्खपभिई तु ।
संविग्गपुराणे पुण, जप्पभिइ चेव ओसन्नो ॥

यः पार्श्वस्थादिभिरेव मुण्डितः प्रव्राजितस्तस्य दीक्षादिनादारभ्यालोचना भवति यस्तु पूर्वं संविग्नः पश्चात्पार्श्वस्थो जातस्तस्य संविग्नपुराणस्य यत्प्रभृत्यवसन्नो जातस्तद्दिनादारभ्यालोचना भवति ।

(८) गणावच्छेदको गणादवक्रम्यैच्छेदन्यं गणमुपसंपद्य संभोगप्रतिक्रया विहर्तुम् ।

(सूत्रम्) गणावच्छेइए य गणादवक्कम्म इच्छेज्जा अण्णं गणं संभोगपरियाए उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए णो से कप्पइ गणावच्छेइत्तं अणिक्खिवित्ता संभोगपडियाए जाव विहरित्तए कप्पति । स गणावच्छेइयत्तं णिक्खिवित्ता जाव विहरित्तए णो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा जाव विहरित्तए कप्पति से आपुच्छित्ता आयरियं वा जाव विहरित्तए ते य से वितरंति एवं से कप्पइ अण्णं गणं संभोगपडियाए जाव विहरित्तए तया से नो विहरंति एवं से णो कप्पइ जाव विहरित्तए जत्थुत्तरियं धम्मविणयं लभेज्जा एवं से कप्पति अण्णं गणं स जाव विहरित्तए । जत्थुत्तरियं धम्मविणयं णो लभेज्जा एवं से णो कप्पति अण्णं गणं स जाव विहरित्तए जत्थुत्तरियं धम्मविणयं णो लभेज्ज एवं से णो कप्पति जाव विहरित्तए । आयरिय उवज्झाए य गणादवक्कम्म इच्छेज्जा अण्णं गणं संभोगपडियाए जाव विहरित्तए णो से कप्पइ आयरिय उवज्झाए य गणं लभेज्जा एवं से णो अवक्कम्म इच्छेज्जा अण्णं गणं संभोगपडियाए जाव विहरित्तए णो से कप्पइ । आयरियउवज्झायत्तं अणिक्खिवित्ता अण्णं गणं स जाव विहरित्तए कप्पति से आयरिय उवज्झायत्तं णिक्खिवित्ता जाव विहरित्ता णो से कप्पति अणापुच्छित्ता आयरियं वा जाव विहरित्तए कप्पइ से आपुच्छित्ता आयरियं वा जाव विहरित्तए । ते य से विहरंति । एवं से कप्पति जाव विहरित्तए ते य से णो विहरंति एवं से णो कप्पति जाव विहरित्तए जत्थुत्तरियं धम्मविणयं लभेज्जा एवं से कप्पइ जाव विहरित्तए जत्थुत्तरियं धम्मविणयं णो लभेज्जा एवं से नो कप्पति जाव विहरित्तए ।

अस्य सूत्रद्वयस्य व्याख्या पूर्ववत् । अथ भाष्यम् ।

एमेव गणावच्छेदिअ, गणिआयरिए वि होइ एमेव ।
णवरं पुण णाणत्तं, एते नियमेण गीयाओ ॥

एवमेव गणावच्छेदिकस्य तथा गणिन उपाध्यायस्य आचार्यस्य च सूत्रं मन्तव्यं नवरं पुनरत्र नानात्वं एते नियमात् गीतार्था भवन्ति नागीतार्थाः । बृ० ४ उ० । नि० चू० ।

(सूत्रम्) जे भिक्खू वुसियराइयाओ गणिओ अवुसाएइयं गणं संकमंतं वा साइज्जइ ॥ १५ ॥

वुसिरातिया गणातो, जे भिक्खू संकमे य अवुसिं वा ।
अवुसाराइगणं वा, सो पावति आणमादीणि ॥ ३८५ ॥

वुसिततो वुसिरातियं चउभंगो कायव्वो चउत्थभंगो अवत्थुं ते तियभंगे किं पडिसेहो आचार्य आह तत्थ णो पडिसेहो कारणे पुण पढमे भंगे उवसंपदं करेति सा य उवसंपया कालं पडुच्च तिविहा इमा ।

छम्मासे उवसंपदे, जहण्ण वारससमाउ मज्झिमिया ।
आवकहा उक्कोसो, पडिच्छसीसे तु जे जीवं ॥ ३५९ ॥

उवसंपदा गाहा जहण्णा मज्झिमा उक्कोसा जहण्णा छम्मासो मज्झिमा वारसवरिसे उक्कोसो जावज्जीवं एवं पडिच्छगस्स सिस्सस्स एगविहा चेव जावज्जीवं आयरियो ण मोत्तव्वो ।

छम्मासे य अपूरेंता, गुरुगा वारससमासु चउलहुगा ।
तेण परमासियत्तं, भणितं पुण आरतो कज्जे ॥ ३६० ॥

जेणं पडिच्छगेणं छम्मासिता उवसंपया कता सो जति छम्मासे अपूरेत्ता जाति तस्स चतुगुरुगा । जेण वारस वरिसा

कता तं अपूरेत्ता आइ चउलहुं । जेण जावज्जीवं उवसंपदा कता तस्स मासलहुं छम्मासाणं परेणं णिक्कारणे गच्छंतस्स मासलहुं । जेण बारससमा उवसंपदा कता तस्स वि छम्मासे अपूरेतस्स चउगुरुआ चेव बारससामातो परेण मासलहुं चेव जेण जावज्जीवे उवसंपदा कता तस्स छम्मासे अपूरेंतस्स चउगुरुगा चेव तस्सेव बारससमाओ अपूरेंतस्स चउलहुगा एस सोही गच्छतो णितस्स भणिता ॥ नि०चू० ७० १६ ॥

(९) कुगुरौ सत्यन्यत्रोपसम्पत्

से भयवं जया णं गणिणा गच्छे तिविहेण वोसिरिए विज्जा तया णं ते गच्छे आदरेज्जा जइ संविग्गभवित्ताणं जहु तं पच्छित्तमणुचरित्ताणं अन्नस्स गच्छाहिवइणो उवसंपज्जित्ता णं सम्मग्गमणुसरेज्जा तओ णं आयरिज्जा अहायं सच्छंदत्ताए तहेव चिट्ठे तओ णं चउविहस्सवि समणसंघस्स वज्जतं गच्छं णो आयरेज्जा । महा०–७ अ० ।

(सामायिकसंयतादयः सामायिकसंयतत्वादिकं जहतः किमुपसंपद्यत इति संजयशब्दे) (सामायिकार्थमन्यत्रोपसंपत्सामाइयशब्दे वक्ष्यते) (श्रुतमार्गसुखदुःखाद्युपसंपदमधिकृत्याऽऽभवद् व्यवहारः ववहारशब्दे वक्ष्यते)

उवसंपयाकप्प–उपसंपत्कल्प पुं० उपसंपद्विधौ,

उवसंपदा य कप्पं, एत्तो उ समासतो वोच्छं ॥
दुविहम्मि आगमम्मि उ, पन्नवणा चेव आयरणाता य ॥
पन्नवणगहणअणुपा–लणा य उवसंपदा होति ।
आगमहेउ उवसंपदाउ, स य आगमो जवे दुविहो ॥
सुत्तं अत्थो य तहा, पारगते तत्थ उवसंपा ।
दो आयरियप्पे–रग कत्थ तहिं कुज्जा ॥
जो निउणतरं जासति, अह निउणं दो विजासंति पं० जा०

इयाणिं उवसंपया कप्पो तत्थ गाहा दुविहम्मि सा दुविहा उवसंपया आगमनिमित्तं उवसंपज्जिज्जइ सुत्तनिमित्तं अत्थनिमित्तं वा अहवा ते आयरिया परूवेऊण सुत्तपयाणि उस्सगाववायसु गाढं जाणंति अहवा गाढतरं तत्थ आचरणा पडिलेहणाइसु अहवा ते पन्नवणं धम्मकहाए अक्खेवणाइसु धम्मपन्नवणं निरागं जाणंति तंपि किंचि सिक्खियव्वं धम्मकहिस्स वा गाहणा ते आयरिया गाहणाकुसला अणुयत्तत्ति वा ते आयरिया गिलाणाइसु कारणेसु अणुवाहेंति वा मूलगुणाइ एवं परूवणाइसंपन्नो उवसंपज्जियव्वो एयवइरित्तो न उवसंपज्जियव्वो जइ वि गीयत्थो होइ जे पुण असंविग्गाइयो उवसंपज्जइ परूवणाइसंपन्नंति काऊण गाहा वत्तणा संधणा वत्तणा नाम सुत्तस्स परियट्टणा अत्थस्स गुणणा संधणा सुत्तत्थाणं पच्चुच्चारणा गहणं अभिणवाणं सुत्तत्थाणं चेव गाहा ततिया जो सो उवसंपन्नं तओ सो गच्छं परिच्छइ सो वा गच्छेण परिच्छिज्जइ तयाओ निक्कारणे आमुंचति वच्चाइ चलणाणि वा निक्कारणे धुवंति मरवेंति वा य मज्जणाइ रूवाइ गहणनिक्खवणा भवइ माणेत्ति निक्खमणपवेसे आवासियनिसीहियाओ नत्थि सुत्तत्थतदुभयाणि वा न करेंति मोणेण इच्छंति पयाणि उवसंपज्जमाणो न कुज्जा गच्छे वा पयमाइ नत्थि पच्छा सारणया वा लिंसग्गो वा जइ वत्तछाइनिमित्तमुवसंपन्नो न वत्तइ न सेवइ अभिणवं वा न गेण्हइ सारिउं पच्छा विसग्गो जो पुण पासत्थाइ उवसंपज्जइ तत्थ गाहा सिरूं सीमुहं चरणकरणं गाहा सिरूं एमेव अहाछंदे सिरूं को पुण अरिहो कत्थ उवसंपज्जियव्वं

भत्तोवहि तत्थेमे चत्तारि गच्छा एगो भत्तपाणं देइ गिण्हइ वि । एगो देइ न गेण्हइ । एगो गेण्हइ न देइ । एगो न देइ न गेण्हइ । तत्थ पढमे उवसंपज्जियव्वं सेसा नाणुन्नाया बिइए लाभं न लभइ गिलाणाइसु कज्जेसु तइए भंगे गिलाणस्स से न कोइ किंचि करेइ अट्टवसट्टस्स मरणदोसा चउत्थो असेज्जएवं पढमे गुणा भत्तोवहिसयणासणाईसु गहणदाणे य इहगिलाणाइकज्जेसु अवरो परस्स एयाणि अत्थ कीरंति तत्थ अणुण्णायं गाहा सिरूं च जो पुण सुरूं आयरियं दुसइ कणयपुच्छियो असुयस्स आयरियस्स पासे ; कीस नट्ठिओ सि म पढओ वा भणइ तस्स असुओ नाम दोसो अप्पियसज्झायाइ जइ य से तस्स दोसा नत्थि ताहे तमावज्जइ जं दोसं भणइ जं च असुरूस्स मूले अवसंपज्जइ तं च तयं आवज्जइ । एवं ता उवसंपज्जइ । इयाणिं उवसंपयारिहो जइ असुरूं असुगो नाम पयस्स दोसो अविणियइ तं जइ पडिच्छइ ताहे छट्ठाणयाइ तट्ठाणमावज्जइ जं च असुरूं रागेण पडिच्छइ जे तस्स दोसा ते आवज्जइ चोसट्ठि तिट्ठाणो नाम नाणदरिसणचरित्ताणि केरिसो आयरियो अणरिहो उवसंपदं प्रति गाहा आहारे उच्यते जो आहारोवही उ अहं लभिस्सामीति संगहं करेइ पडिच्छमाणं च ततो लज्जामि अणरिहे वा तितिणियाइओ वा चेतियसट्ठीए वा आकड्ढिसमाकड्ढी काऊण वा वयति सो वि नोवसंपज्जियव्वो । जो पुण एगंतनिज्जरट्ठी पंचहिं ठाणेहिं वायहिं संगहोवग्गह अव्वोच्छित्ती नयट्ठयाए सो उवसंपज्जियव्वो । वायणारिहो वि नाणदंसण अहत्थि जावा जाणणट्ठयाए वा पढए सो वाएयव्वो तस्स पुण वाएंतस्स एयाणि चेव अहारोवहिमाईणि लभंति एए चेव ठाणा वायणाइ वि लभयंति रागेण वामघहारविजढो तित्थस्स अणुग्गमया इति कट्टु तस्स प्रकासं च जवति गणहारिस्स आहारो एस उवसंपयाकप्पो पं०चू०

उवसंपयसंकप्पो, सुगुरुसगासे गिही असुत्तत्थो ।
तदहिअगहणसमत्थो, अणुन्नाउ तेण संपज्जो ॥ ८६ ॥

उपसंपदानां संकल्पो व्यवस्था स्वगुरुसकाशे यथा संभवं गृहीतसूत्रार्थः सन्ततप्रथमतया तदधिकग्रहणसमर्थः प्राज्ञः सन् तु ज्ञातस्तेन गुरुणोपसंपद्यते विवक्षितसमीप इति गाथार्थः । तत्रापि ।

सप्परिणयपरिवारं, अप्परिवारं च णाणुजाणावे ।
गुरुमेसोवि सयं विअ, एतदजावे ण धारिज्जा ॥ ८७ ॥

सपरिणतपरिवारं शिक्षकप्रायपरिवारमपरिवारं चैकाकीप्रायं नानुज्ञापयेद्गुरुं शिष्योऽनेकदोषप्रसङ्गाद्दोषोऽपि गुरुः स्वयमेवैतदभावेपरिणतपरिवाराद्यभावे न धारयेद्विसर्जयेदिति गाथार्थः । तत्र

संदिट्ठो संदिट्ठस्स, अंतिए तत्थ मिह परिक्खाओ ।
साहुअपग्गे वाअणे, तिदुवरि गुरुसम्मए चागो ॥ ८८ ॥

संदिष्टः सन् गुरुणा संदिष्टस्य गुरोः समीपे उपसंपद्येतेति वाक्यशेषस्तत्र मिथः परस्परं परीक्षा भवति । तयोः साधूनामप्रमार्गे वादनं करोत्यागन्तुकः मिथ्यादुष्कृतादाने त्रयाणामुपरि गुरुकथनं तत्सम्मते शीलसतया त्यागः असम्मते निवासस्तेषामपि तं प्रत्ययमेव न्याय इति गाथार्थः ।

गुरुफरसाहिगकहणे, सुजोगओ अह निवेअणं विहिणा ।
सुअखंधाइउ निअमो, आहन्ववणुपालणा चेव ॥ ८९ ॥

गुरोरपि तं प्रति परुषाधिककथनं जीतं वर्तते सुयोगतः प्रतिपत्तिशुद्धौ सत्यामथानन्तरं निवेदनं गुरवे विधिना प्रवचनोक्तेनोपदिशेदित्यर्थः । तत्र श्रुतस्कन्धादौ नियम एतावन्तं कालं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यावदित्त्वेवमर्हदादिसाक्षिकी स्थापना कायोत्सर्गपूर्विकेत्यन्ये तज्जपनियमश्चाऽयमभाव्यानुपालना शिष्येण नालबद्धेनैव शिष्येण नालबद्धवल्लिव्यतिरिक्तादयं गुरुणाऽपि सम्यक्पालनीय इति गाथार्थः । इह प्रयोजनमाह ।

अस्सामित्तं पूआ, इअरो वेक्खाए जो अगुहभावो ।
परिणमइ सुअआहव्वा-दाणगहणं अओ चेव ॥ ७० ॥

अस्वामित्वं भवति निःसङ्गतेत्यर्थः तथा पूजा गुरोः कृता भवति इतरापेक्षया ऽनालंबद्धवल्लिनिवेदनेनेतरगुर्वपेक्षयेति भावः । तथा जीतमिति कल्पोऽयमेव एवं भगवता दृष्ट इति श्रुतभावादित्यनेन प्रकारेण शुभाशयोपपत्तेः परिणमति श्रुतं यथार्हतया चारित्रशुद्धिहेतुत्वेन शिष्यस्य नान्यथेत्याभाव्यादानं शिष्येण कर्त्तव्यं ग्रहणमत एव तस्य गुरुणाऽपि कर्त्तव्यं तदनुग्रहधियाऽलोभादिति गाथार्थः । पं० व० ७ द्वा० ।

उवसंहार-उपसंहार-पुं० उप-सम्-हृ-घञ्-समाप्तौ, स च ग्रन्थतात्पर्य्यावधारकलिङ्गभेदः " उपक्रमोपसंहारौ हेतुस्तात्पर्य्यनिर्णये " इत्युक्तेः तत्रोभयोरेव तद्धेतुत्वं न तु प्रत्येकस्य सङ्क्षेपे सम्यग् हरणे, श्रुतार्थस्यान्यत्रान्वयार्थमुपक्षेपे, यथा गुणोपसंहारः । वाच० ।

उवसग्ग-उपसर्ग-पुं० उप-सृज्-घञ्-उपसृज्यन्ते धातुसमीपे युज्यन्ते इत्युपसर्गाः । प्रश्न० ४ द्वा० । प्रश्नव्याकरणोक्तेषु, निपाताश्चादयो ज्ञेयाः प्रादयस्तूपसर्गकाः । " द्योतकत्वात् क्रियायोगे लोकादवगता इमे " इत्युक्तलक्षणेषु क्रियायोगे प्रादिषु, तेषां त्रिधा प्रवृत्तिः " धात्वर्थं बाधते कश्चित्कश्चित्तमनुवर्तते । तमेव विशिनष्टयन्य उपसर्गगतिस्त्रिधा । क्रमेणोदाहरणानि यथा आदत्ते प्रसूते प्रणमतीति । अपि च " उपसर्गेण धात्वर्थो, बलादन्यत्र नीयते । प्रहाराहारसंहार-विहारपरिहारवत् " प्रादयस्तूपसर्गा न सार्थकाः सार्थकाश्च चादयो निपाता वाचकत्वात् । " उपसर्गास्तु उभयेऽपि द्योतका इति मेनिरे " वाच० । पो वः । ८ । १ । २३१ । इति पस्य वः । प्रा० । उपसृज्यन्ते क्षिप्यन्त च्याव्यन्ते प्राणिनो धर्मादेर्येषु इत्युपसर्गाः । देवादिकृतोपद्रवेषु, स्था० १० ठा० । पंचा० । आ०म० । आ०चू० ।

(१) उपसर्गव्याख्या ।
(२) उपसर्गनिक्षेपः ।
(३) तत्कारिभेदादुपसर्गभेदाः ।
(४) उपसर्गसहनम् ।
(५) संयमस्य रूक्षत्वम् ।
(६) अनुकूलोपसर्गसहनम् ।

(१) अथोपसर्गान् व्याख्यातुमाह ।

उवसज्जणमुवसग्गो, तेण तओवसज्जए जम्हा ।

उपसर्जनमुपसर्गः । अथवा करणसाधनः उपसृज्यते संबध्यते पीडादिभिः सह जीवस्तेनेत्युपसर्गः । अथवा कर्मसाधनः उपसृज्यते संबध्यते तत्कोऽसावेव तदुपसर्गः । अथवा उपादानसाधनः ततस्तस्मादुपसर्गाज्जीवः उपसृज्यते संबध्यते पीडादिभिः सह यस्मात्ततः उपसर्गः । विशे० । उत्त० ।

(२) उपसर्गनिक्षेपो यथा ।

उवसग्गम्मि य छक्कं, दव्वे चेयणमचेयणं दुविहं ।
आगंतुगो य पीला-करो य जो सो उ उवसग्गो ॥ १ ॥

नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावभेदात् उपसर्गाः षोढा । तत्र नामस्थापने क्षुण्णत्वादनादृत्य द्रव्योपसर्गं दर्शयति । द्रव्ये द्रव्यविषये उपसर्गो द्विधा यतस्तद्द्रव्यमुपसर्गकर्तृ चेतनाचेतनभेदात् द्विविधम् । तत्र तिर्यङ्मनुष्यादयः स्वावयवाभिघातेन यदुपसर्गयन्ति स सचित्तद्रव्योपसर्गः स एव काष्ठादिभेतरस्तस्य भेदपर्यायैर्व्याख्यातः । तत्रोपसर्ग उपतापः शरीरपीडनोत्पादनमित्यादिपर्यायाः । भेदाश्च तिर्यङ्मनुष्योपसर्गादयः । नामादयश्च तत्र व्याख्यातु निर्युक्तिकृदेव गाथापश्चार्द्धेन दर्शयति । अपरस्माद्दिव्यादेरागच्छतीत्यागन्तुको योऽसावुपसर्गो भवति स च देहस्य संयमस्य वा पीडाकारीति ॥ १ ॥ क्षेत्रोपसर्गानाह ।

खेत्तं बहुओघपयं, कालो एगंतदुस्समादीओ ।
भावे कम्मब्भुदओ, सो दुविहो ओघुवक्कमिओ ॥ २ ॥

यस्मिन् क्षेत्रे बहून्योघतः सामान्येन पदानि क्रूरचौराद्युपसर्गस्थानानि भवन्ति तत्क्षेत्रं बह्वोघपदम् । पाठान्तरं वा बह्वोघभयं बहून्योघतो भयस्थानानि यत्र तत्तथा । तच्च लाभादिविषयादिकं क्षेत्रमिति । कालस्त्वेकान्तदुःषमादिः आदिग्रहणात् यो यस्मिन् क्षेत्रे दुःखोत्पादको ग्रीष्मादिः स गृह्यत इति । कर्मणां ज्ञानावरणादीनामभ्युदयो भावोपसर्ग इति । स च उपसर्गः सर्वोऽपि सामान्येन औघिकौपक्रमिकभेदात् द्वेधा । तत्रौघिकोऽशुभकर्मप्रकृतिजनितभावोपसर्गो भवति । औपक्रमिकस्तु दण्डकशाशस्त्रादिनाऽसातवेदनीयोदयापादक इति ॥ २ ॥

(३) तत्रौघिकौपक्रमिकयोरुपसर्गयोरौपक्रमिकमधिकृत्याह ।

ओवक्कमिओ संयम-विग्घकरे तत्थुवक्कमे पगयं ।
दव्वे चउव्विहो दे-व मणुयतिरिया य संवेतो ॥ ३ ॥

उपक्रमणमुपक्रमः । कर्मणामनुदयप्राप्तानामुदयप्रापणमित्यर्थः । एतच्च यद्द्रव्योपयोगात् येन वा द्रव्येणाऽसातवेदनीयाद्यशुभं कर्मोदीर्यते यदुदयाच्चाल्पसत्वस्य संयमविघातो भवति अत औपक्रमिक उपसर्गः संयमविघातकारीति । इह च यतीनां मोक्षं प्रति प्रवृत्तानां संयमो मोक्षाङ्गं वर्तते तस्य यो विघ्नहेतुः स एवाधिक्रियत इति दर्शयति । तत्रौघिकौपक्रमिकयोरौपक्रमिके प्रकृतं प्रस्तावस्तेनात्राधिकार इति यावत् । स च द्रव्ये द्रव्यविषयश्चिन्त्यमानश्चतुर्विधो भवति । तद्यथा दैविको मानुषस्तैरश्च आत्मसंवेदनश्चेति । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ।

चउव्विहा उवसग्गा पण्णत्ता तं जहा दिव्वा माणुसा तिरिक्खजोणिया आयसंचेयणिज्जा । दिव्वा उवसग्गा चउव्विहा पण्णत्ता तं जहा हासा पओसा वीमंसा पुढोवेमाया । माणुस्सा उवसग्गा चउव्विहा पण्णत्ता तं जहा हासा पओसा वीमंसा कुसीलपडिसेवणया । तिरिक्खजोणिया उवसग्गा चउव्विहा पण्णत्ता तं जहा भया पदोसा आहारहेउं अवच्चलेण सारक्खणया । आयसंचेयणिज्जा उवसग्गा चउव्विहा पण्णत्ता तं जहा घट्टणया पवडणया थंभणया लेसणया ।

सूत्रपञ्चकमाह कण्ठ्यश्चेदं नवरमुपसर्जनान्युपसृज्यते धर्मात्प्रच्याव्यते जन्तुभिरित्युपसर्गाः बाधाविशेषास्ते च कर्तृभेदाच्चतुर्विधाः । आह च " उवसज्जणमुवसग्गो तेण तओ उवसयज्जिए जम्हा । सो दिव्वमणुयतेरिच्छ आयसंवेयणा भेउत्ति ॥ १ ॥ आत्मना संवेद्यन्ते क्रियन्त इत्यात्मसंवेदनीयाः तत्र दिव्याः । (हासत्ति) हासाद्भवन्ति हाससंभूतत्वात् वा हासाः उपसर्गा एवमेवमन्यत्रापि । यथा भिक्षार्थं ग्रामान्तरप्रस्थितक्षुल्लकैर्व्यन्तर्या उपयाचितं प्रतिपन्नं यदीप्सितं लप्स्यामहे तदा तवोमेरिकादि

हास्याम इति लब्धे च मत्र तवेदमिति भणित्वा तदुपकेरकादि तैः स्वयमेव भक्षितं देवतया च हासेन तद्रूपमावृत्य क्षीकितमनागच्छत्सु क्षुल्लकेषु व्याकुले गच्छे निवेदितमाचार्याणां देवतया क्षुल्लकवृत्तम। ततो वृषभैरुण्डेरिकादि याचित्वा तस्यै दत्तं तया तु ते दर्शिता इति। प्रद्वेषाद्यथा सङ्गमको महावीरस्योपसर्गानकरोत्। विमर्शाद्यथा काचिद्देवकुलिकायां वर्षासूषित्वा साधुषु तदीय एवान्यः पश्चादागतस्तत्रोषितस्तच्च देवता किं स्वरूपीयमिति विमर्षादुपसर्गितवतीति। पृथग् विभिन्ना विविधा मात्रा हासादिवस्तुरूपा येषु ते पृथग्विमात्रा। अथवा पृथग् विविधा मात्रा विमात्रा तयेत्येतल्लुप्ततृतीयैकवचनं पदं द्रष्टव्यम्। तथा हि हासेन कृत्वा प्रद्वेषेण करोतीत्येवं संयोगः यथा संगमक एवं विमर्षेण कृत्वा प्रद्वेषेण कृतवानिति। तथा मानुषा हास्यात्— यथा गणिकादुहिता क्षुल्लकमुपसर्गितवती सा च तेन दण्डेन ताडिता विवादे च राज्ञः श्रीगृहदृष्टान्तो निवेदितस्तेनेति प्रद्वेषात् यथा गजसुकुमारः सोमिलब्राह्मणेन व्यपरोपितो विमर्षात् यथा चाणक्योक्तचन्द्रगुप्तेन धर्मपरीक्षार्थं लिङ्गिनोऽन्तःपुरे धर्ममाख्यापिता क्षोभिताश्च साधवस्तु क्षोभितुं न शक्ता इति। कुशीलमब्रह्म तस्य प्रतिषेवणं कुशीलप्रतिषेवणं तद्भावः कुशीलप्रतिषेवणता उपसर्गकुशीलस्य वा प्रतिषेवणं येषु ते कुशीलप्रतिषेवणकाः। अथवा कुशीलप्रतिषेवणयेति व्याख्येयं यथा संध्यायां वसत्यर्थं प्रोषितस्येर्ष्यालोर्गृहे प्रविष्टः साधुश्चतसृभिरीर्ष्यालुजायाभिर्देत्तावासः प्रत्येकं चतुरोऽपि यामानुपसर्गितो न च क्षुभितः। तथा तैरश्चो भयात् श्वादयो दशेयुः प्रद्वेषाच्चण्डकौशिको भगवन्तं दष्टवान् आहारहेतोः सिंहादयोऽपत्यलयनसंरक्षणाय काक्यादयः उपसर्गयेयुरिति। तथा आत्मसंवेदनीया घट्टनता घट्टनया वा यथाऽक्षिणि रजः पतितं ततस्तदक्षि हस्तेन मलितं दुःखितुमारब्धमथवा स्वयमेव अक्षिणि गले वा मांसाङ्कुरादि जातं घट्टयतीति प्रपतनात् प्रपतनया वा यथा अप्रयत्नेन संचरतः प्रपतनात् दुःखमुत्पद्यते स्तम्भनतस्तम्भनया वा यथा तावदुपविष्टः स्थितो यावत्सुप्तः पादादिस्तब्धो जातः श्लेषणता श्लेषणया वा यथा पादमाकुञ्च्य स्थितो वा तेन तथैव पादौ लगितौ इति। आत्मसञ्चने उदाहरणानि उपसर्गसहनात्कर्मक्षयो भवतीति। स्था० ४ ठा० ४ उ०।

सो दिव्वमणुयतेरि-च्छिया य संवेयणा भेओ।

स च देवेभ्यो भवो दिव्यो मनुष्येभ्यो भवो मानुषः तिर्यग्योनिभ्यो भवस्तैर्यग्योनः आत्मना संवेद्यत इत्यात्मवेदनीयः इत्येवं चतुर्भेद इति। केन पुनः कारणेन देवादिभ्य साधूनामुपसर्गा भवन्तीत्याह।

हासप्पओसवीमंसउ, विमायाए वा भवे दिव्वो।
एवं चिय माणुस्सो, कुसीलपडिसेवणचउत्थे॥
तिरिओ भयपओसा, हारावच्चाइ रक्खणत्थं वा।
घट्टणथंभणपवडण, लेसणओ आयसंवेओ॥

हासात्क्रीडातः अवज्ञातःपूर्वभवसंबन्धादिकृतप्रद्वेषाद्वा (वीमंसउत्ति) किमयं स्वप्रतिज्ञातश्चलति न वेति मीमांसातो विमर्षाद्दिव्य उपसर्गो भवेत्तथा (विमयाएत्ति) विविधा मात्रा विमात्रा तस्याः सकाशात्किमपि हास्यात्किमपि प्रद्वेषात्किंचिन्मीमांसातश्चेत्यर्थः। दिव्य उपसर्गो भवेदिति। एवं मानुष्योऽप्युपसर्गश्चतुर्विधो भवेत्केवलं (कुसीलपडिसेवणचउत्थेति) स्त्रीपण्डकलक्षणो यः कुशीलस्तत्प्रतिसेवनामार्थितः चतुर्थो भेदो द्रष्टव्यः। विमात्रापक्षस्यात्र हास्यादिष्वेवान्तर्भावविवक्षणादिति तिर्यङ् भयात्प्रद्वेषादाहारार्थमपत्यनीडगुहादिस्थानरक्षार्थमुपसर्गं कुर्यादिति। आत्मसंवेदनीयस्तूपसर्गो नेत्रपतितकणिकादिघट्टनादङ्गानां स्तम्भनात्स्तब्धताभावाद्गर्तादौ वा प्रपतनाद्विगुणितबाह्वाद्यङ्गानां वासनात्परस्परं श्लेषणाद्भवतीति सप्तचत्वारिंशद्गाथार्थः। विशे०॥

सांप्रतमेतेषामेव भेदमाह।

एकेको य चउव्विहो, अट्ठविहो वा वि सोलसविहो वा।
घट्टणजयणा य तेसिं, एत्तो वोच्छं य अहियारे॥४॥

एकैको दिव्यादिश्चतुर्विधश्चतुर्भेदः। तत्र दिव्यस्तावत् हास्यात् प्रद्वेषात् विमर्शात् पृथग्विमात्रातश्चेति। मानुषा अपि हास्यात् प्रद्वेषाद्विमर्शात् कुशीलप्रतिसेवनातश्च। तैरश्चा अपि चतुर्विधाः तद्यथा भयात्प्रद्वेषादाहारादपत्यसंरक्षणाच्च। आत्मसंवेदका अपि चतुर्विधाः घट्टनातो लेशनातोऽङ्गुल्यादवयवसंश्लेषरूपाया स्तम्भनातः प्रपाताच्चेति। यदि वा वातपित्तश्लेष्मसंनिपातजनितश्चतुर्धेति। स एव दिव्यादिश्चतुर्विधोऽनुकूलप्रतिकूलभेदात् अष्टधा भवति। स एव दिव्यादिः प्रत्येकं यश्चतुर्धा प्राग्दर्शितः स चतुर्णां चतुष्काणां मेलापकात् षोडशभेदो भवति। तेषां चोपसर्गाणां यथा घटना संबन्धप्राप्तिः प्राप्तानां चाधिसहनं प्रतियातना भवति तथाऽत ऊर्द्धमध्ययनेन वक्ष्यते इत्ययमत्रार्थाधिकार इति भावः। सूत्र० १ श्रु० ३ अ०। एतेषाञ्च सहनाऽवधिभूतः श्रीमन्महावीरो बोद्धव्यः। भावनोत्पादनार्थं पुनरेकैकशः परमगुरुपाः सम्यक्सहनादात्मकल्याणाः कथ्यन्ते। तथा चाह॥

देवेहिं कामदेवो, गिही विनयचाइउरगुणेहिं।
मत्तगयंदभुअंगम-रक्खसघोरट्टहासेहिं॥

देवस्येते देवा देवकृताश्च देवो भगवच्छ्रीमहावीरस्तत्कदशश्रावकान्तर्गतः गृह्यपि गृहस्थोऽपि न च नैव व्यथितश्चलितस्तपोगुणेभ्यः कथंभूतैर्मत्तगजेन्द्रभुजङ्गमराक्षसघोराट्टहासैः। तथाहि शक्रवर्णनाश्रद्धधानायासदेवनिर्मितैः कदर्थ्यमानेनापि न परित्यक्ता स्वप्रतिज्ञेति गाथार्थः। भावार्थः कथानकेभ्यः स्फुटीभविष्यति भगवओ महावीरस्स दस सावया अहेसितं। 'आनन्द कामदेवे, चुलणिपिया तह य सुरदेवे। चुल्लसए कुंडोलिय, सयालपुत्ते य महसयए। नंदिणीपियश्चेयइपिय, दस सावगाउ वीरेणं। मिच्छत्तमविमोइय, एए दढसावए सुवए'। दर्श०। (कथानकानि तत्तच्छब्दे वक्ष्यन्ते। आत्मसंवेदनीयोपसर्गोदाहरणन्तु स्वधियाऽभ्यूह्यम्) कल्प०। औ०। आव०। नि० चू०। जीत०। स्था०।

दिव्वे य जे उवसग्गे, तहा तिरिच्छमाणुस्से।
जे भिक्खू सहइ निच्चं, से न अत्थइ मण्डले॥ ५॥

यो भिक्षुर्दिव्यान् देवैः कृतान् तथा तैरश्चान् तिर्यग्भिः कृतान् तथा मानुष्यकान् मनुष्यैः कृतान् उपसर्गान् सम्यक् कषायाभावेन सहते स मण्डले संसारे न तिष्ठति। उत्त० ३१ अ०।

त्रिविधा उपसर्गाः।

तिविहे य उवसग्गे, दिव्वे माणुस्स तिरिक्खे य।
दिव्वे य पुव्वभणिए, माणुस्से आभिओगे य॥

त्रिविधः खलु परसमुत्थ उपसर्गस्तद्यथा दैवो मानुष्यकस्तैरश्चश्च। तत्र दैवो देवकृतः पूर्वमनन्तरसूत्रस्याधस्तात् भणितः। मानुष्यस्तु मनुष्यकृतः आभियोग्यो विद्याद्यभियोगजनितः॥ बृ० ६ उ०। आव०॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(४) सूत्रकृताङ्गस्य प्रथमश्रुतस्कन्धे तृतीयाऽध्ययने उपसर्गसहनं तत्र तावदुद्देशार्थाधिकारमधिकृत्याह ।

पढमम्मि य पडिलोमा, हुंती अणुलोमगा य बितियम्मि ।
तइए अज्झत्तविसी-दणं य परवादिवयणं च ॥ ५ ॥

प्रथमे उद्देशके प्रतिलोमाः प्रतिकूला उपसर्गाः प्रतिपाद्यन्त इति । तथा द्वितीये ज्ञातिकृताः स्वजनापादिता अनुलोमा अनुकूला इति । तथा तृतीये अध्यात्मविषीदनं परवादिवचनं चेत्ययमर्थाऽधिकार इति ॥

हेउसरिसेहिं अहेउएहिं, समयपडिएहिं णिउणेहिं ।
सीलखलियपण्णवणा, कया चउत्थम्मि उद्देसे ॥ ६ ॥

चतुर्थोद्देशके अयमर्थोऽधिकारः तद्यथा हेतुसदृशैर्हेत्वाभासैरन्यतीर्थिकैर्व्युद्ग्राहिताः प्रतारितास्तेषां शीलस्खलितानां व्यामोहितानां प्रज्ञापना यथाऽवस्थितार्थप्ररूपणा स्वसमयप्रतीतैर्निपुणभणितैर्हेतुभिः कृतेति । साम्प्रतं सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयं तच्चेदम् ॥

सूरं मण्णइ अप्पाणं, जाव जेयं न पस्सती ।
जुज्झंतं दढधम्माणं, सिसुपालो व महारहं ॥ १ ॥

कश्चिल्लघुप्रकृतिः संग्रामे समुपस्थिते शूरमात्मानं मन्यते । निस्तोयाम्बुद इवात्मश्लाघाप्रवणो वाग्भिर्विस्फूर्जन् गर्जति । न मत्कल्पः परानीके कश्चित्सुभटोऽस्तीत्येवं तावद्गर्जति यावत् पुरोऽवस्थितं प्रोद्यतासिं जेतारं न पश्यति । तथा चोक्तं । "तावद्गजः प्रस्रुतदानगण्डः करोत्यकालाम्बुदगर्जितानि । यावन्न सिंहस्य गुहास्थलीषु लाङ्गूलविस्फोटरवं शृणोति ॥ १ ॥ न दृष्टान्तमन्तरेण प्रायो लोकस्यार्थावगमो भवतीत्यतस्तदवगतये दृष्टान्तमाह । यथा माद्रीसुतः शिशुपालो वासुदेवदर्शनात्प्राक् आत्मश्लाघाप्रधानं गर्जितवान् पश्चाच्च युध्यमानं शस्त्राणि व्यापारयन्तं दृढः समर्थो धर्मः स्वभावः संग्रामाभङ्गरूपो यस्य स तथा तम् । महान् रथोऽस्येति महारथः स च प्रक्रमादत्र नारायणस्तं युध्यमानं दृष्ट्वा प्राग्गर्जनाप्रधानोऽपि क्षोभं गतः । एवमुत्तरत्र दार्ष्टान्तिकेऽपि योजनीयमिति । भावार्थस्तु कथानकादवसेयः (सूत्र०) (तच्च सिसुवालशब्दे वक्ष्यते)

साम्प्रतं सर्वजनप्रतीतं वार्तमानिकं दृष्टान्तमाह ।

पयाता सूरा रणसीसे, संगामम्मि उवट्ठिते ।
मायापुत्तं न याणाइ, जेएण परिविच्छए ॥ २ ॥

यथा वाग्भिर्विस्फूर्जन्तः प्रकर्षेण विकटपादपातं रणशिरसि संग्राममूर्धन्यग्रानीके याता गताः । के ते शूराः शूरंमन्याः सुभटाः ततः संग्रामे समुपस्थिते पतत्परानीकसुभटमुक्तहेतिसंघाते सति तत्र च सर्वस्याऽऽकुलीभूतत्वात् माता पुत्रं न जानाति कटीतो भ्रश्यन्तं स्तनन्धयमपि न सम्यक् प्रतिजागर्तीत्येवं मातापुत्रीये संग्रामे परानीकसुभटेन जेत्रा च शक्त्यादिभिः परि समन्तात् विविधमनेकप्रकारं क्षतो हतभिन्नो वा कश्चिदल्पसत्त्वो भङ्गमुपयाति दीनो भवतीति यावदिति । दार्ष्टान्तिकमाह ।

एवं सेहे वि अप्पुट्ठे, भिक्खायरिया अकोविए ।
सूरं मण्णति अप्पाणं, जाव लूहं न सेवए ॥ ३ ॥

एवमिति प्रक्रान्तपरामर्शार्थः । यथाऽसौ शूरंमन्य उत्कृष्टसिंहनादपूर्वकं संग्रामशिरस्युपस्थितः पश्चाज्जेतारं वासुदेवमन्यं वा युध्यमानं दृष्ट्वा दैन्यमुपयाति । एवं शिष्यकोऽभिनवप्रव्रजितः परीषहैरस्पृष्टोऽज्ञः किं प्रव्रज्यायां दुष्करमित्येवं गर्जन् भिक्षाचर्यायां भिक्षाटनेऽकोविदोऽनिपुणः उपलक्षणार्थत्वादन्यत्राऽपि साध्वाचारेऽभिनवप्रव्रजितत्वादप्रवीणः स एवंभूत आत्मानं तावच्छिशुपालवत् शूरं मन्यते यावज्जेतारमिव रूक्षं संयमकर्म संश्लेषकारणाभावात् न सेवते न भजत इति । तत्प्राप्तौ तु बहवो गुरुकर्माणोऽल्पसत्त्वा भङ्गमुपयान्ति ।

संयमस्य रूक्षत्वप्रतिपादनायाह ।

जया हेमंतमासम्मि, सीतं फुसइ (सवायगं) सव्वगं ।
तत्थ मंदा विसीयंति, रज्जहीणा वि खत्तिया ॥ ४ ॥

यदा कदाचित् हेमन्तमासे पौषादौ शीतं सहिमकणवातं स्पृशति लगति तत्र तस्मिन्नसह्ये शीतस्पर्शे लगति सति एके मन्दा जडा गुरुकर्माणो विषीदन्ति दैन्यभावमुपयान्ति राज्यहीना राज्यच्युताः यथा क्षत्रिया राजान इवेति ॥ ४ ॥ सूत्र० ३अ० १ उ० । उक्तः प्रथमोद्देशकः । साम्प्रतं द्वितीयः समारभ्यते । अस्य चायमभिसंबन्धः इहोपसर्गपरिज्ञाध्ययने उपसर्गाः प्रतिपादितास्ते चानुकूलाः प्रतिकूलाश्च । तत्र प्रथमोद्देशके प्रतिकूलाः प्रतिपादिता इह त्वनुकूलाः प्रतिपाद्यन्त इत्यनेन संबन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्यादिमं सूत्रम् ।

अहिमे सुहुमा संगा, भिक्खुणं जे दुरुत्तरा ।
जत्थ एगे विसीयंति, ण चयंति जवित्तए ॥ १ ॥

अथेत्यानन्तर्ये प्रतिकूलोपसर्गानन्तरमनुकूलाः प्रतिपाद्यन्त इत्यानन्तर्यार्थः । इमे त्वनन्तरमेवाभिधीयमानाः प्रत्यक्षासन्नवाचित्वादिदमभिधीयन्ते । ते च सूक्ष्माः प्रायश्चेतोविकारकारित्वेनान्तरा न प्रतिकूलोपसर्गा इव बाहुल्येन शरीरविकारकारित्वेन प्रकटतया बादरा इति । सङ्गाः मातापित्रादिसंबन्धाः । यएते भिक्षूणां साधूनामपि दुरुत्तरा दुर्लङ्घ्या दुरतिक्रमणीया इति । प्रायो जीवितविप्रकरैरपि प्रतिकूलोपसर्गैरुदीर्णैर्माध्यस्थ्यमवलम्बयितुं महापुरुषैः शक्यमेते त्वनुकूलोपसर्गास्तानप्युपायेन धर्माच्च्यावयन्त्यतोऽमी दुरुत्तरा इति । यत्र येषूपसर्गेषु सत्स्वेके अल्पसत्त्वाः सदनुष्ठानं प्रति विषीदन्ति शीतलविहारित्वं भजन्ते सर्वथा वा संयमं त्यजन्ति नैवात्मानं संयमानुष्ठानेन यापयितुं वर्तयितुं तस्मिन् व्यवस्थापयितुं शक्नुवन्ति समर्था भवन्तीति ॥ १ ॥

तानेव सूक्ष्मसङ्गान् दर्शयितुमाह ।

अप्पेगे नायओ दिस्स, रोयंति परिवारिया ।
पोसणे ताय पुट्ठोसि, कस्स ताय जहासि णे ॥ २ ॥

अपिः संभावने । एके तथाविधा ज्ञातयः स्वजना मातापित्रादयः प्रव्रजन्तं प्रव्रजितं वा दृष्ट्वोपलभ्य परिवार्य वेष्टयित्वा रुदन्ति रुदन्तो वा वदन्ति च दीनं यथा बाल्यात्प्रभृति त्वमस्माभिः पोषितो वृद्धानां पालको भविष्यतीति कृत्वा ततो धुनानोऽस्मानपि त्वं तात ! पुत्र ! पोषय पालय । कस्य कृते केन कारणेन कस्य वा बलेन ताताऽस्मान् त्यजसि माऽस्माकं भवन्तमन्तरेण कश्चित्त्राता विद्यत इति । किञ्च ।

पिया ते थेरओ तात, ससा ते खुड्डिया इमा ।
भायरो ते सगा तात, सोयरा किं जहासि णे ॥ ३ ॥
मायरं पियरं पोस, एवं लोगो भविस्सति ।
एवं खु लोइयं ताय, जे पालंति य मायरं ॥ ४ ॥

हे तात ! पुत्र ! पिता ते तव स्थविरो वृद्धः शतातीतः स्वसा च भगिनी तव क्षुल्लिका लघ्वी अप्राप्तयौवना इमा पुरोवर्तिनी प्रत्यक्षेति । तथा भ्रातरस्ते तव स्वका निजास्तात ! सोदरा एकोद-

राः किमित्यस्मान् परित्यजसीति ॥३॥ तथा (मायरमित्यादि) मातरं जननीं तथा पितरं जनयितारं पुषाण बिभृहि । एवं च कृते तवेह लोकः परलोकश्च भविष्यति । तातेदमेव लौकिकं लोकाचीर्णमयमेव लौकिकः पन्था यदुत वृद्धयोर्मातापित्रोः प्रतिपालनमिति तथा चोक्तम् । "गुरवो यत्र पूज्यते, यत्र धान्यं सुसंस्कृतम् । अदन्तकलहो यत्र, तत्र शक्र! वसाम्यहमिति" ४ अपिच

उत्तरा महुरुल्लावा, पुत्ता ते तात खुड्डया ।
णारिया ते णवा तात, मा सा अन्नं जणं गमे ॥

उत्तराः प्रधाना उत्तरा जाता वा मधुरो मनोज्ञ उल्लाप आलापो येषां ते तथाविधाः पुत्रास्ते तव तात! पुत्र! क्षुल्लका लघवः । तथा भार्या पत्नी ते नवा प्रत्यग्रयौवना अतिनवोढा वा माऽसौ त्वया परित्यक्ता सत्यन्यं जनं गच्छेदुन्मार्गयायिनी स्यादयं च महाजनापवाद इति । अपि च ।

एहि ताय घरं जामो, मा य कम्मं सहावयं ।
वितियं पि ताय पासामो, जामु ताव सयं गिहं ॥६॥

जानीमो वयं यथा त्वं कर्मभीरुस्तथाप्येहि आगच्छ गृहं यामो गच्छामः । मा त्वं किमपि सांप्रतं कर्म कृथाः । अपि तु तव कर्मण्युपस्थिते वयं सहायका भविष्यामः साहाय्यं करिष्यामः । एकवारं तावद् गृहकर्मभिर्भग्नस्त्वं तात! पुनरपि द्वितीयवारं पश्यामो द्रक्ष्यामो यदस्माभिः सहायैर्भवतो भविष्यतीत्यतो यामो गच्छामस्तावत् स्वकं गृहं कुर्वैतदस्मद्वचनमिति ॥ ६ ॥

गंतु ताय पुणो गच्छे, ण य तेणासमणो सिया ॥
अकामगं परक्कमं, को उ ते वारेउमरिहाति ॥७॥

तात! पुत्र! गत्वा गृहं स्वजनवर्गं दृष्ट्वा पुनरागन्तासि न च तेनैतावता गृहगमनमात्रेण चाश्रमणो भविष्यसि । (अकामगंति) अनिच्छन्तं गृहव्यापारेच्छारहितं पराक्रमन्तं स्वाभिप्रेतानुष्ठानं कुर्वाणं कस्त्वां भवन्तं वारयितुं निषेधयितुमर्हति योग्यो भवति । यदि वा (अकामगंति) वार्द्धकावस्थायां मदनेच्छाकामरहितं पराक्रमन्तं संयमानुष्ठानं प्रति कस्त्वामवसरप्राप्ते कर्मणि प्रवृत्तं धारयितुमर्हतीति । अन्यच्च ।

जं किंचि अणगं तात, तं पि सव्वं समीकतं ।
हिरण्णं ववहाराइ, तं पि दाहासु ते वयं ॥ ८ ॥

तात! पुत्र! यत्किमपि भवदीयमृणजातमासीत्तत्सर्वमस्माभिः सम्यग्विभज्य समीकृतं समभागेन व्यवस्थापितं यदिवोत्कटं सत् समीकृतं सुदेयत्वेन व्यवस्थापितं यच्च हिरण्यं द्रव्यजातं व्यवहारादावुपयुज्यते । आदिशब्दात् येन वा प्रकारेण तवोपयोगं यास्यति तदपि वयं दास्यामो निर्धनोऽहमिति मा कृथा भयमिति । ८ ।

उवसंहारार्थमाह ।

इच्चेव णं सुसेहंति, कालुणी य समुट्ठिया ।
विबद्धो नायसंगेहिं, ततो गारं पहावइ । ९ ।
जहा रुक्खं वणे जायं, मालूया पडिबंधइ ।
एवं णं पडिबंधंति, णातओ असमाहिणा । १० ।

णमिति वाक्यालङ्कारे । इत्येवं पूर्वोक्तया नीत्या मातापित्रादयः कारुणिकैर्वचोभिः करुणामुत्पादयन्तः स्वयं वा दैन्यमुपस्थितास्तं प्रव्रजितं प्रव्रजन्तं वा (सुसेहंतित्ति) सुष्ठु शिक्षयन्ति व्युद्ग्राहयन्ति । स चापरिणतधर्माऽल्पसत्त्वो गुरुकर्मा ज्ञातिसङ्गैर्विबद्धो मातापितृपुत्रकलत्रादिमोहितस्ततो गारं गृहं प्रतिधावति प्रव्रज्यां परित्यज्य गृहपाशमनुबध्नातीति । ९ । किञ्चान्यत् (जहारुक्खमित्यादि) यथा वृक्षं वने अटव्यां जातमुत्पन्नं मालूया वल्ली प्रतिबध्नाति वेष्टयत्येवं णमिति वाक्यालंकारे ज्ञातयः स्वजनास्तं यतिमसमाधिना प्रतिबध्नन्ति ते तत्कुर्वन्ति येनास्यासमाधिरुत्पद्यत इति । तथा चोक्तं । "अमित्तो मित्तवेसेण, कंठे घेत्तूण रोयइ । मा मित्त! सोगइं जाई, दो वि गच्छासु दुग्गइं" । १० । अपि च ।

विबद्धो नातिसंगेहिं, हत्थी वा वि नवग्गहे ।
पिट्ठतो परिसप्पंति, सुयगो व्व अदूरए । ११ ।

विविधं बद्धः परवशीकृतः विबद्धो ज्ञातिसङ्गैर्मातापित्रादिसंबन्धैस्ते च तस्य तस्मिन्नवसरे सर्वमनुकूलमनुतिष्ठन्तो धृतिमुत्पादयन्ति हस्तीवापि नवगृहे अभिनवग्रहणे धृत्युत्पादनार्थमिक्षुशकलादिभिरुपचर्यते । एवमसावपि सर्वानुकूलैरुपायैरुपचर्यते । दृष्टान्तान्तरमाह । यथाऽभिनवप्रसूता गौर्निजस्तनंधयस्यादूरगा समीपवर्तिनी सती पृष्ठतः परिसर्पत्येवं तेऽपि निजा उत्प्रव्रजितं पुनर्जातमिव मन्यमानाः पृष्ठतोऽनुसर्पन्ति तन्मार्गानुयायिनो भवन्तीत्यर्थः । ११ ।

सङ्गदोषदर्शनायाह ।

एते संगा मणूसाणं, पाताला व अतारिमा ।
कीवा जत्थ य किस्संति, नायसंगेहिं मुच्छिया ॥ १२ ॥

एते पूर्वोक्ताः सज्यन्त इति सङ्गाः मातृपित्रादिसंबन्धाः कर्मोपादानहेतवः मनुष्याणां पाताला इव समुद्रा इवाप्रतिष्ठितभूमितलत्वात् ते (अतारिमात्ति) दुस्तरा एवमेतेऽपि सङ्गा अल्पसत्त्वैर्दुःखेनातिलङ्घ्यन्ते । तत्र च येषु सङ्गेषु क्लीवा असमर्थाः क्लिश्यन्ति क्लेशमनुभवन्ति संसारान्तर्वर्तिनो भवन्तीत्यर्थः । किंभूताः ज्ञातिसङ्गैः पुत्रादिसंबन्धैर्मूर्च्छिता गृद्धा अध्युपपन्नाः सन्तो न पर्यालोचयन्त्यात्मानं संसारान्तर्वर्तिनमेवं क्लिश्यन्ति

अपि च ।

तं च भिक्खू परिन्नाय, सव्वे संगा महासवा ।
जीवियं नावकंखिज्जा, सोच्चा धम्ममणुत्तरं १३ ॥

तं च ज्ञातिसङ्गं संसारहेतुं भिक्षुर्ज्ञपरिज्ञया प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरेत् । किमिति यतः सर्वेऽपि केचन सङ्गास्ते महाश्रवा महान्ति कर्मण आश्रवद्वाराणि वर्तन्ते । ततोऽनुकूलैरुपसर्गैरुपस्थितैरसंयमजीवितं गृहावासपाशं नाभिकाङ्क्षेत नाभिलषेत् । प्रतिकूलैश्चोपसर्गैः सद्भिर्जीविताभिलाषी न भवेदसमञ्जसकारित्वेन नवजीवितं नाभिकाङ्क्षेत । किं कृत्वा श्रुत्वा निशम्यावगम्य कं धर्मं श्रुतचारित्राख्यम् । नास्योत्तरोऽस्तीत्यनुत्तरं प्रधानं मौनीन्द्रमित्यर्थः । अन्यच्च ।

अहिमे संति आवट्टा, कासवेणं पवेइया ।
बुद्धा जत्थ व सप्पंति, सीयंति अबुहा जहिं ॥ १४ ॥

अथेत्यधिकारान्तरदर्शनार्थः । पाठान्तरं वा (अहो इति) तच्च विस्मये । इमे इति प्रत्यक्षासन्नाः सर्वजनविदितत्वात् सन्ति विद्यन्ते वक्ष्यमाणा आवर्तयन्ति प्राणिनं भ्रामयन्तीत्यावर्तास्तत्र द्रव्यावर्ता नद्यादेर्भावावर्तास्तूत्कटमोहोदयापादितविषयाभिलाषसंपादकसंपत्प्रार्थनाविशेषा एते चावर्ताः काश्यपेन श्रीमन्महावीरवर्द्धमानस्वामिना उत्पन्नदिव्यज्ञानेनावेदिताः कथिताः प्रतिपादिताः । यत्र येषु सत्सु बुद्धा अवगततत्त्वा आवर्तविपाकवेदिनस्तेभ्योऽवसर्पन्ते अप्रमत्ततया तद्दूरगामिनो भवन्त्यबुधास्तु निर्विवेकतया ये ह्यवसीदन्त्यासक्तिं कुर्वन्तीति तानेवावर्तान् दर्शयितुमाह ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रायाणो रायमच्चा य, माहणा अदुव खत्तिया ।
निमंतयंति भोगेहिं, भिक्खूणं साहुजीविणं । १५ ।

राजानश्चक्रवर्त्यादयो राजामात्याश्च मन्त्री पुरोहितप्रभृतयस्तथा ब्राह्मणा अथवा क्षत्रिया इक्ष्वाकुवंशप्रभृतयः । एते सर्वेऽपि भोगैः शब्दादिविषयैर्निमन्त्रयन्ति भोगोपभोगं प्रत्यभ्युपगमं कारयन्ति कं भिक्षुकं (साहुजीविणमिति) साध्वाचारेण जीवितुं शीलमस्येति साधुजीविनमिति । यथा ब्रह्मदत्तचक्रवर्तिना नानाविधैर्भोगैश्चित्रसाधुरुपनिमन्त्रित इत्येवमन्येऽपि केनचित्संबन्धेन व्यवस्थिता यौवनरूपादिगुणोपेतं साधुं विषयोद्देशेनोपनिमन्त्रयेयुरिति । १५ ।

एतदेव दर्शयितुमाह ।

हत्थस्सरहजाणेहिं, विहारगमणेहि या ।
भुंज भोगे इमे सग्घे, महरिसी पूजयामु तं । १६ ।

हस्त्यश्वरथयानैस्तथा विहारगमनैः विहरणं क्रीडनं विहारस्तेन गमनान्युद्यानादौ क्रीडया गमनानीत्यर्थः । चशब्दादन्यैश्चेन्द्रियानुकूलैर्विषयैरुपनिमन्त्रयेयुस्तद्यथा भुंक्ष्व भोगान् शब्दादिविषयानिमानस्माभिर्ढौकितान् प्रत्यक्षासन्नान् श्लाघ्यान् प्रशस्तान् न निन्द्यान् महर्षे ! साधो ! वयं विषयोपकरणढौकनेन त्वां भवन्तं पूजयामः सत्कारयाम इति । १६ ।

किञ्चाऽन्यत् ।

वत्थगंधमलंकारं, इत्थीओ सयणाणि य ।
भुंजा इमाइं भोगाइं, आउसो पूजयामु तं । १७ ।

वस्त्रं चीनांशुकादि गन्धाः कोष्ठपुटपाकादयः वस्त्राणि च गन्धाश्च वस्त्रगन्धमिति समाहारद्वन्द्वः । तथा अलङ्कारं कटककेयूरादिकं तथा स्त्रियः प्रत्यग्रयौवनाः शयनानि च पर्यङ्कतूलीप्रच्छदपटोपधानयुक्तानि इमान् भोगानिन्द्रियमनोनुकूलानस्माभिर्ढौकितान् भुङ्क्ष्व तदुपभोगेन सफलीकुरु हे आयुष्मन् ! भवन्तं पूजयामः सत्कारयाम इति । १७ । अपि च ।

जो तुमे नियमो चिन्नो, भिक्खुभावम्मि सुव्वय ।
अगारमावसंतस्स, सव्वो संविज्जए तहा । १८ ।

यस्त्वया पूर्वं भिक्षुभावे प्रव्रज्यावसरे नियमो महाव्रतादिरूपश्चीर्णोऽनुष्ठितः इन्द्रियनोइन्द्रियोपशमगतेन हे सुव्रत ! स सांप्रतमप्यगारं गृहमावसतो गृहस्थभावं सम्यगनुपालयतो भवतस्तथैव विद्यत इति । न हि सुकृतस्यानुचीर्णस्य नाशोऽस्तीति भावः । १८ । किञ्च ।

चिरं दूइज्जमाणस्स, दोसो दाणिं कुतो तव ।
इच्चेव णं निमंतंति, नीवारेण व सूयरं । १९ ।

चिरं प्रभूतकालं संयमानुष्ठानेन (दूइज्जमाणस्सत्ति) विहरतः सत इदानीं साम्प्रतं दोषः कुतस्तव नैवास्तीति भावः । इत्येवं हस्त्यश्वरथादिभिर्वस्त्रगन्धालङ्कारादिभिश्च नानाविधैरुपभोगोपकरणैः करणभूतैः । णमिति वाक्यालङ्कारे । तं भिक्षुं साधुजीविनं निमन्त्रयन्ति भोगबुद्धिं कारयन्ति । दृष्टान्तं प्रदर्शयति । यथा नीवारेण व्रीहिविशेषकणदानेन सूकरं वराहं कूटके प्रवेशयन्त्येवं तमपि साधुमपि । १९ । अनन्तरोपन्यस्तवार्तोपसंहारार्थमाह ।

चोइया भिक्खचरिया, अचयंता जवित्तए ।
तत्थ मंदा विसीयंति, उज्जाणंसि व दुब्बला । २० ।

भिक्षूणां साधूनामुद्युक्तविहारिणां चर्या दशविधचक्रवालसामाचारी इच्छामिच्छेत्यादिका तया नोदिताः प्रेरिता यदि वा भिक्षुचर्यया करणभूतया सीदन्तश्चोदितास्तत्करणं प्रत्याचार्यादिकैः पौनःपुन्येन प्रेरितास्तच्चोदनामशक्नुवन्तः संयमानुष्ठानेनात्मानं यापयितुं वर्तयितुमसमर्थाः सन्तस्तत्र तस्मिन् संयमे मोक्षैकगमनहेतौ भवकोटिशतावाप्तेर्मन्दा जडा विषीदन्ति शीतलविहारिणो भवन्ति । तमेवाचिन्त्यचिन्तामणिकल्पं महापुरुषानुचीर्णं संयमं परित्यजन्ति । दृष्टान्तमाह । ऊर्ध्वयानमुद्यानं मार्गस्योन्नतो भाग उत्तुङ्गमित्यर्थः । तस्मिन् उद्यानशिरसि उत्क्षिप्तमहाभरा उक्षाणोऽतिदुर्बला यथाऽवसीदन्ति ग्रीवां पातयित्वा तिष्ठन्ति नोत्क्षिप्तभरनिर्वाहका भवन्तीत्येवं तेऽपि भावमन्दा उत्क्षिप्तपञ्चमहाव्रतभारं वोढुमसमर्थाः पूर्वोक्तभवावर्तैः पराभग्ना विषीदन्ति । २० । किञ्च ।

अचयंता व लूहेण, उवहाणेण तज्जिया ।
तत्थ मंदा विसीयंति, उज्जाणंसि जरग्गवा । २१ ।

रूक्षेण संयमेनात्मानं यापयितुमशक्नुवन्तस्तथोपधानेनानशनादिना सबाह्याभ्यन्तरेण तपसा तर्जिता बाधिताः सन्तस्तत्र संयमे मन्दा विषीदन्त्युद्यानशिरस्युत्तुङ्गमस्तके जीर्णो दुर्बलो गौरिव यूनोऽपि हि तत्रावसीदनं संभाव्यते किं पुनर्जरद्गवस्येति जीर्णग्रहणम् । एवमावर्तमन्तरेणापि धृतिसंहननोपेतस्य विवेकिनोऽप्यवसीदनं संभाव्यते किं पुनरावर्तैरुपसर्गितानां मन्दानामिति २१

सर्वोपसंहारमाह ।

एवं निमंतिए लद्धुं, मुच्छिया गिद्धइत्थीसु ।
अज्झोववन्ना कामेहिं, चोइजंता गया गिहं (तिबेमि)

एवं पूर्वोक्तया नीत्या विषयोपभोगोपकरणं दानपूर्वकं निमन्त्रणं विषयोपभोगं प्रति प्रार्थनं लब्ध्वा प्राप्य तेषु विषयोपकरणेषु हस्त्यश्वरथादिषु मूर्च्छिता अत्यन्तासक्तास्तथा स्त्रीषु गृद्धा दत्तावधाना रमणीरागमोहितास्तथा कामेषु इच्छामदनरूपेष्वध्युपपन्नाः कामगतचित्ताः संयमेऽवसीदन्तोऽपरेणोद्युक्तविहारिणा नोद्यमानाः संयमं प्रति प्रोत्सह्यमाना नोदनं सोढुमशक्नुवन्तः सन्तो गुरुकर्माणः प्रव्रज्यां परित्यज्याल्पसत्त्वा गृहं गता गृहस्थीभूताः इति परिसमाप्तौ ब्रवीमीति पूर्ववत् । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । आ० चू० आत्मविसीदनादयोऽन्यत्र (भिक्षाटनाय गतस्योपसर्गसहनं गोयरचरिया शब्दे)

(६) अनुकूलोपसर्गसहनम् ।

उट्ठियमणगारमेसणं, समणं ठाणठिअं तवस्सिणं ।
डहरा वुड्ढा य पत्थए, अविसुस्से ण य तं लभेज्जणो ॥१६॥

अगारं गृहं तदस्य नास्तीत्यनगारस्तमेवंभूतं संयमोत्थानेनैषणां प्रत्युत्थितं प्रवृत्तं श्राम्यतीति श्रमणस्तं तथा स्थानस्थितमुत्तरोत्तरविशिष्टसंयमस्थानाध्यासिनं तपस्विनं विशिष्टतपोनिष्टप्तदेहं तमेवंभूतमपि कदाचित् डहरा पुत्रनप्त्रादयो वृद्धाः पितृमात्रादयः उन्निष्क्रामयितुं प्रार्थयेयुर्याचेरंस्त एवमूचुर्भवता वयं प्रतिपाल्या न त्वामन्तरेणास्माकमेकः प्रतिपाल्य एवं भणन्तस्ते जना अपि शुष्येयुः श्रमं गच्छेयुर्न च तं साधुं विदितपरमार्थं लभेरन् नैवाऽऽत्मसात्कुर्युर्नैवाऽऽत्मवशगं विदध्युरिति ॥१६॥ किञ्च

जइ कालुणियाणि कासिया, जइ रोयंति य पुत्तकारणे ।
दवियं भिक्खुं समुट्ठियं, णो लब्भंति ण संठवित्तए ॥१७॥

यद्यपि ते मातापितृपुत्रकलत्रादयस्तदन्तिके समेत्य करुणाप्र-

धानामिं विलापप्रायाणि वचांस्यनुष्ठानानि वा कुर्युः । तथाहि । "णाह पिय कंत सामिय, अइवल्लह दुल्लहो सि भवणम्मि ॥ तुह विहरम्मि य निक्किव, सुण्णं सव्वं पि पडिहाइ" ॥ १ ॥ "सेणिगामो गोट्ठी, गणोव्व तं जत्थ होसि सण्णिहितो ॥ दिप्पइ सिरिएसु पुरिस, किं पुण नियमं घरद्दारं" ॥ २ ॥ तथा यदि (रोयंतियत्ति) रुदन्ति पुत्रकारणं सुतनिमित्तं कुलवर्धनमेकं सुतमुत्पाद्य पुनरेवं कर्तुमर्हसीति । एवं रुदन्तो यदि भणन्ति तं भिक्षुं रागद्वेषरहितत्वान्मुक्तियोग्यत्वाद्वा द्रव्यभूतं सम्यक् संयमोत्थानेनोत्थितं तथाऽपि साधुं न लप्स्यन्ते न शक्नुवन्ति प्रव्रज्यातो भ्रंशयितुं भावाच्च्यावयितुं नापि संस्थापयितुं गृहस्थभावेन द्रव्यलिङ्गाच्च्यावयितुमिति ॥ १७ ॥ अपि च ।

जइ वि य कामेहिं लाविया, जइ णं जाहिणबंधिओ घरं ।
जइ जीवितनावकंखए, णो लब्भंति ण संठवित्तए ॥ १८ ॥

यद्यपि ते निजास्तं साधुं संयमोत्थानेनोत्थितं कामैरिच्छामदनरूपैर्लावयन्ति उपनिमन्त्रयेयुरुपलोभयेयुरित्यर्थः । अनेनाऽनुकूलोऽपसर्गग्रहणम् । तथा यदि नयेयुर्बद्ध्वा गृहं णमिति वाक्यालङ्कारे । एवमनुकूलप्रतिकूलोपसर्गैरभिहतोऽपि साधुर्यदि जीवितं नाभिकाङ्क्षेत् यदि जीविताभिलाषी न भवेत् असंयमजीवितं वा नाऽभिनन्देत् ततस्ते निजास्तं साधुं (णो लब्भंतित्ति ।) न लभन्ते न प्राप्नुवन्ति आत्मसात्कर्तुं (ण संठवित्तएत्ति) नाऽपि गृहस्थभावेन संस्थापयितुमलमिति ॥ १८ ॥ किञ्च ।

सेहंति य णं ममाइणो, माया (पिया) ताय सुया य भारिया ।
पोसाहि ण पासओ तुमं, लोगपरंपि जहासि पोस णो ॥ १९ ॥

ते कदाचिन्मातापित्रादयस्तमभिनवप्रव्रजितं (सेहंतित्ति) शिक्षयन्ति णमिति वाक्यालङ्कारे (ममाइणोति) ममाऽयमित्येवं स्नेहालवः । कथं शिक्षयन्तीत्यत आह पश्य नोऽस्मानत्यन्तदुःखितांस्त्वदर्थे पोषकाभावाद्वा त्वं च यथावस्थितार्थपश्यकः सूक्ष्मदर्शी सश्रुतिक इत्यर्थः । अतो नोऽस्मान् पोषय प्रतिजागरणं कुरु अन्यथा प्रव्रज्याऽभ्युपगमेनेहलोकस्त्यक्तो भवताऽस्मत्प्रतिपालनपरित्यागेन च परलोकमपि त्वं त्यजसीति दुःखितनिजप्रतिपालनेन च पुण्यावाप्तिरेवेति । तथाहि । "या गतिः क्लेशदग्धानां गृहेषु गृहमेधिनाम् । बिभृतां पुत्रदारांस्तु, तां गतिं व्रज पुत्रकेति ॥ १९ ॥ एवं तैरुपसर्गिताः केचन कातराः कदाचित् यद्यत्कुर्युरित्याह ॥

अन्ने अन्नेहिं मुच्छिया, मोहं जंति णरा असंवुडा ॥
विसमं विसमेहिं गाहिया, ते पावेहिं पुणो पगब्भिया ॥ २० ॥

अन्ये केचनाऽल्पसत्त्वाः अन्यैर्मातापित्रादिभिर्मूर्च्छिता अध्युपपन्नाः सम्यग्दर्शनाद्व्यतिरेकेण सकलमपि शरीरादिकमन्यदित्यन्यग्रहणं ते एवम्भूताः असंवृता नराः संमोहं यान्ति सदनुष्ठाने मुह्यन्ति तथा संसारगमनैकहेतुभूतत्वात् । विषमोऽसंयमस्तं विषमैरसंयतैरुन्मार्गप्रवृत्तित्वेनापायाभीरुभिः रागद्वेषैर्वा अनादिभवाभ्यस्ततया दुरुच्छेद्यत्वेन विषमैर्ग्राहिता असंयमं प्रति वर्त्तिताः ते चैवंभूताः पापैः कर्मभिः पुनरपि प्रवृत्ताः प्रगल्भिताः धृष्टतां गताः पापकं कर्म कुर्वन्तोऽपि न लज्जन्त इति ॥ २० ॥

यत एवं ततः किं कर्तव्यमित्याह ।

तम्हा दविइक्खपंडिए, पावाओ विरते भिणिव्वुडे ।
पणए वीरे महाविहिं, सिद्धिपहं (णायगं) णेआउयं धुवं ॥

मातापित्रादिमूर्च्छिताः पापेषु कर्मसु प्रगल्भा भवन्ति तस्माद् द्रव्यभूतो भव्यो मुक्तिगमनयोग्यो रागद्वेषरहितो वा सन्नीक्षस्व तद्विपाकं पर्यालोच्य । पण्डितः सद्विवेकयुक्तः पापात् कर्मणोऽसदनुष्ठानरूपात् विरतो निवृत्तः क्रोधादिपरित्यागाच्छान्तीभूत इत्यर्थः । तथा प्रणताः प्रह्वीभूता वीराः कर्मविदारणसमर्था महावीथिं महामार्गं तमेव विशिनष्टि सिद्धिपथं ज्ञानादिमोक्षमार्गं तथा मोक्षे प्रतिनेतारं प्रापकं ध्रुवमव्यभिचारिणमित्येतदवगम्य स एव मार्गोऽनुष्ठेयो वा सदनुष्ठानप्रगल्भैर्भाव्यमिति ॥ २१ ॥

पुनरप्युपदेशदानपूर्वकमुपसंहरन्नाह ।

वेयालियमग्गमागओ, मणवयसाकाय (ण) संवुडो ।
चिच्चा वित्तं च णायओ, आरंभं च सुसंवुडे चरेज्जासि (त्तिबेमि)

कर्मणां विदारणमार्गगतो भूत्वा तं तथाभूतं मनोवाक्कायसंवृतः पुनस्त्यक्त्वा परित्यज्य वित्तं द्रव्यं तथा ज्ञातींश्च स्वजनांश्च तथा सावद्यारम्भं च सुष्ठु संवृत इन्द्रियैः संयमानुष्ठानं चरेदिति ब्रवीमीति पूर्ववत् । सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

त्रिविधोपसर्गाधिसहनमधिकृत्याह ।

तिरिया मणुया य दिव्वगा, उवसग्गा तिविहाहिया सिया ।
लोमादियं पि ण हरिसे, सुन्नागारगओ महामुणी ॥ १५ ॥

तैरश्चाः सिंहव्याघ्रादिकृतास्तथा मानुषा अनुकूलप्रतिकूलाः सत्कारपुरस्कारदण्डकशाताडनादिजनिताः । तथा (दिव्वगा-इति) व्यन्तरादिना हास्यप्रद्वेषादिजनिताः । एवं त्रिविधान प्युपसर्गानधिसहेत नोपसर्गैर्विकारं गच्छेत् । तदेव दर्शयति । लोमादिकमपि न हर्षेत् भयेन रोमोद्गममपि न कुर्यात् । यदि वा एवमुपसर्गास्त्रिविधा अपि (अहियासियत्ति) अधिसोढा भवन्ति । यदि रोमोद्गमादिकमपि न कुर्यात् । आदिग्रहणात् दृष्टिमुखविकारादिपरिग्रहः । शून्यागारगतः शून्यगृहव्यवस्थितस्य चोपलक्षणार्थत्वात् पितृवनादिस्थितो वा महामुनिर्जिनकल्पिकादिरिति ॥ १५ ॥ किञ्च ।

णो अभिकंखेज्ज जीवियं, नो वि य पूयणपत्थए सिया ।
अब्भत्थमुर्विति भेरवा, सुन्नागारगयस्स भिक्खुणो ॥ १६ ॥

स तैर्भैरवैरुपसर्गैरुदीर्णैस्तोतुद्यमानोऽपि जीवितं नाऽभिकाङ्क्षेत जीवितनिरपेक्षेणोपसर्गः सोढव्य इति भावः । न चोपसर्गसहनद्वारेण पूजाप्रार्थकः प्रकर्षाभिलाषी स्यात् भवेत् । एवं च जीवितपूजानिरपेक्षेणासकृत् सम्यक् सह्यमाना भैरवा भयानकाः शिवाः पिशाचादयोऽभ्यस्तभावं स्वात्मन उप सामीप्येन यन्ति गच्छन्ति तत्सहनाच्च भिक्षोः शून्यागारगतस्य नीराजितवारणस्येव शीतोष्णादिजनिता उपसर्गाः सुसहा एव भवन्तीति भावः । सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । "उवसग्गेहि पासित्ता आमोक्खाए परिवएज्जाए" उपसर्गाननुकूलप्रतिकूलान् सम्यगधिसह्यामोक्षाय मोक्षपर्यन्तं यावत् परि समन्ताद्व्रजेत् संयमानुष्ठानेन गच्छेत् । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० । ('उवसग्गगब्भहरणमिति' आश्चर्यभेदत्वोपसर्गनिरूपणम् अच्छेर शब्दे उक्तम्) रोगविकारे, शुभाशुभसूचके दिव्यादिविकाररूपे उत्पाते, वाच० ।

उवसग्गकप्पट्ठि–उपसर्गकल्पस्था–स्त्री० उपसर्ग एव कल्पस्था शय्यातरदुहितृकपिलचेल्लकानां लोभाच्छय्यातरकल्पस्थायामुपसर्गकरणे, "उवसग्गोति" उवसग्ग एव कप्पठी सेज्जायरधूआ कविलचेल्लगो लोभा सेज्जायरकप्पठीए उवसग्गं करोतीत्यर्थः १ नि०चू० १ उ० ।

उवसग्गतितिक्खा–उपसर्गतितिक्षा–स्त्री० उप सामीप्येन सर्जे-

नात् उपसृज्यते एभिरिति वा उपसर्गाः ते च दिव्यमानुषतैरश्चात्मसंवेदनभेदतश्चतुःप्रकाराः प्रत्येकमपि ते स्युश्चतुर्विधाः " हास्याद् द्वेषाद्विमर्शाच्च, तन्मिश्रत्वाच्च दैवतः । हास्याद्द्वेषाद् विमर्शाद्दुःशीलसङ्गाच्च मानुषाः ।२ तैरश्चास्तु भयक्रोधाहारापत्यादिरक्षणात् । घट्टनस्तम्भनश्लेष-प्रपाताद्यात्मवेदनाः । ३ यद्वा वातपित्तकफसन्निपातोद्भवा इति तेषां तितिक्षा सहनम । उपसर्गसहने ध० ३ अधि० । "अतीचारालोचनेन प्रायश्चित्तविधेयता । उपसर्गतितिक्षा च परीषहजयस्तथा " ध० ३ अधि० ।

उवसग्गपत्त- उपसर्गप्राप्त-त्रि० उपद्रवं प्राप्ते, स्था० ५ ठा० २ उ० ।

उपसर्गप्राप्तस्य ग्रहणं कल्पते ।

(सूत्रम्) उवसग्गपत्तभिक्खुं गिलायमाणं नो कप्पइ तस्स गणावच्छेदितस्स निज्जूहित्तए । अगिलाए करणिज्जं वेयावडियं जाव रोगातंकातो विप्पमुक्के ततो पच्छा तस्स अहालहुस्सगे नामं ववहारे पट्ठवियव्वे सिया इति ।

अथास्य सूत्रस्य कः संबन्धः ।

मोहेण पित्ततो वा, आयासंचेततो समक्खातो ।

एसो उ उवसग्गो, इमो उ अण्णो परसमुत्थो ॥

मोहेन मोहनीयोदयेन वेदोदयेनेत्यर्थः पित्ततो वा पित्तोदयेनेत्यर्थः । उन्मत्तः स आत्मसञ्चेतकः आत्मनैवात्मनो दुःखोत्पादकः समाख्यातः यच्चात्मैवात्मनो दुःखोत्पादनमेष आत्मसंचेतनीय उपसर्गः ततः पूर्वमात्मसंचेतनीयः उपसर्ग उक्तः एत उपसर्गाधिकारादयमन्यः 'परसमुत्थ उपसर्गोऽनेन प्रतिपाद्यते इत्यनेन संबन्धेनायातस्यास्य व्याख्या । सा च प्राग्वत् । तत्रोपसर्गप्रतिपादनार्थमाह ।

तिविहो य उवसग्गो, दिव्वो माणुस्सितो तिरिच्छो य ।

दिव्वो उ पुव्वभणितो, माणुसतिरिए अतो वुच्छं ॥

त्रिविधः खलु परसमुत्थ उपसर्गः । तद्यथा दैवो मानुषिकस्तैरश्चश्च तत्र दैवो देवकृतः पूर्वमनन्तरसूत्रस्याधस्ताद्भणितः । अतो मानुषं तैरश्चं च वक्ष्ये । प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति ।

विज्जाए मंतेण व, चुण्णेण व जोइतो अणप्पवसो ।

अणुसासणा लिहावण, खमए महुरा तिरिक्खादी ॥

विद्यया वा मन्त्रेण वा चूर्णेन वा योजितः संबन्धितः सन् कश्चिदनात्मवशो भूयात् तत्रानुशासनेति । यथा रूपसल्या विद्यादिप्रयोजितं तस्यानुशासनाऽपि क्रियते । तथा तपस्वी एव न वर्तते तावत्त्वं प्रतीदृशं कर्तुम् एवं करणे हि प्रभूतपापोपचयसंभव इत्यादि । अथैवमनुशासिताऽपि न विवर्तते तर्हि तस्यास्तं प्रति प्रतिविद्यया विद्वेषणमुत्पाद्यते । अथ सा नास्ति तादृशी प्रतिविद्या तर्हि (लिहावणत्ति) शून्येऽसागारिके विद्याप्रयोगतस्तस्य पुरत आलेखाप्यते । येन स तत् दृष्ट्वा तस्याः सागारिकमिदमनिर्वाणमिति जानानो विरागमुपपद्यते । एष मानुषिक उपसर्गः (खमगे महुरा इति) मथुरायां श्रमणीप्रवर्तितानां मानुष उपसर्गोऽभूत् तं क्षपको निवारितवान् । एषोऽपि मानुष उपसर्गः । तैरश्चमाह (तिरिक्खा इति) तिर्यञ्चो ग्रामेयका आरण्यका वा श्रमणादीनामुपसर्गान् कुर्वन्ति यथाशक्ति निराकर्तव्याः । सांप्रतमेतामेव गाथां विवरीषुराह ।

विज्जामंते चुण्णे, अभिजोइय वोहियादिगहिए वा ।

अणुसासणा लिहावण-महुरा खमगादि य बलेण ॥

विद्यामन्त्रेण चूर्णेन वा अभियोजितो बोधिकाः स्तेना म्लेच्छाः तच्छब्दात् म्लेच्छादिपरिग्रहस्तैर्वा गृहीते यया विद्यादि योजितं तस्याः प्रागुक्तप्रकारेणानुशासना क्रियते । तथा प्रतिविद्याप्रयोगतस्तं प्रति च द्वेषणमुत्पाद्यते । तस्याभावे पूर्वप्रकारेण लिखापनं कार्यते बोधिकादिगृहीते पुनः मथुराक्षपकादिरिव बलेन यथाशक्ति बोधिकादेर्निवारणं कर्तव्यं विद्याद्यभियोगमेव भेदतः प्रतिपादयति ।

विज्जादभिओगो पुण, दुविहो माणुस्सितो य दिव्वो य ।

तं पुण जाणंति कहं , जइ नामं गेण्हए तेसिं ॥

विद्यादिभिरभियोगोऽभियुज्यमानता पुनर्द्विविधो द्विप्रकारस्तथा मानुषिको दैवश्च । तत्र मनुष्येण कृतो मानुषिको देवश्चायं तेन कृतत्वाद्दैवः । तत्र देवकृतो विद्यादिभिरभियोग एष एव यत्तस्मिन् दूरस्थितेऽपि तत्प्रभावात्स तथारूप उन्मत्तो जायते । अथ तं विद्याद्यभियोगं दैवं मानुषिकं वा कथं जानन्ति सूरिराह । तयोर्देवमनुष्ययोर्मध्ये यस्य नाम गृह्णाति तत्कृतः स विद्याद्यभियोगो ज्ञेयः । साम्प्रतमणुसासणालिहावणेत्येतद्व्याख्यानयति ॥

अणुसासियम्मि य ठिए, विद्देसं देंति तह वि य अतिट्ठंते ।

जक्खीए कोवीणं, तस्स उ पुरओ लिहावेंति ॥

येन सामान्यतः स्त्रिया पुरुषेण वा विद्याद्यभियोजितं तस्यानुशासना क्रियते । अनुशासितेऽप्यतिष्ठति विद्याप्रयोगतस्तं विवक्षितं साधुं प्रति तस्य विद्याद्यभियोक्तुर्विद्वेषं ददत्युत्पादयन्ति यतवृषभाः । तथाऽपि च तस्मिन्नतिष्ठन्ति जहयाः शून्याः कौपीनं तस्य पुरतो विद्याप्रयोगतो लेखापयन्ति । येन स तद्दृष्ट्वा तस्या इदं सागारिकमिति जानतो विरज्यते । सम्प्रति विद्याप्रयोगे दृढादरताख्यापनार्थमाह ।

विसस्स विसमेवे य, ओसहं अग्गिमग्गिणो ।

मंतस्स पडिमंतो उ, दुज्जणस्स विवज्जणा ॥

विषस्यौषधं विषमेव अन्यथा विषानिवृत्तेः । एवमग्निभूतादियुक्तस्यौषधमग्निः, मन्त्रस्य प्रतिमन्त्रो, दुर्जनस्यौषधं विवर्जना तद्ग्रामनगरपरित्यागेन परित्यागः । ततो विद्याद्यभियोगसाधुसाधारणार्थं प्रतिविद्यादिप्रयोक्तव्यमिति ॥

जति पुण होज्ज गिलाणो,निरुज्झमाणो ततो तिगिच्छं से ।

संवरियमसंवरिया, उवालभंते निसिं वसभा ॥

यदि पुनर्विद्याद्यभियोजितस्तदभिमुखं गच्छन् निरुध्यमानो ग्लानो भवति ततः (से) तस्य साधोश्चिकित्सां संवृतां केनाऽप्यलक्ष्यमाणां कुर्वन्ति । तथा असंवृताजाया विद्याद्यभियोजितं तस्याःप्रत्यक्षीभूय निशि रात्रौ तामुपालभन्ते । भेषयन्ति च तावत् यावत् सा मुञ्चतीति ।

"खमएमहुरत्ति" अस्य व्याख्यानमाह ।

थूभमहेसड्ढिसमणी, बोहियहरणं च निवसुया जाव ।

मज्झेण य अक्कंदे, कयम्मि जुद्धेण मोएति ॥

महुराए नयरीए थूभो देवनिम्मितो तस्स महिमानिमित्तं सड्ढीतो समणीहिं समं निग्गया । तो रायपुत्तो य तत्थ अदूरे आयावेंतो चेट्ठइ ततो सड्ढी समणीतो बोहिएहिं गहियातो

तेणं आणीया ते वोढितं साहुं वट्टुं अक्कंदो कतो तत्तो रायपुत्तेण साहुणा जुरूं दारुण मोइयातो । अक्करगमनिका स्त्रियं पश्य महे महोत्सवे श्राद्धिकाः श्रमणीभिः सह निर्गतास्तासां बोधिकैश्चौरैरेकां नृपसुतश्च तत्रादूरे अतापयति । बोधिकैश्च तास्तस्य मध्येन नीयन्ते । ताभिश्च तं दृष्ट्वा आक्रन्दे कृते स युक्तेन स्तेनेभ्यस्ता मोचयति । उक्तो मानुषिकः उपसर्गः । संप्रति तैरश्चमाह ।

गामेणारण्णेण व, अभिजूयं संजयं तु तिरिएणं ।
अर्च्च पकंपिया वा, रक्खेज्ज अरक्खणे गुरुगा ॥

ग्रामेनारण्येन वा अभिभूतमापादितामिभवं संयतं च यदि वा लब्धं तद्भयात् स्तब्धीभूतं प्रकम्पितं वा तद्भयतः कथं कम्पमानशरीरं रक्षेत् । यदि पुनर्न रक्षति सत्यपि बले ततोऽरक्षणे प्रायश्चित्तं गुरुकाश्चत्वारो गुरुका मासाः । व्य० प्र० २ उ० ।

उवसग्गपरिण्णा-उपसर्गपरिज्ञा- स्त्री० "घरूणजयणा य तेसिं पत्तो वोच्छे य अहिगारो" तेषां उपसर्गशब्दप्रदर्शितषोडशविधानामुपसर्गाणां यथा घट्टना सम्बन्धप्राप्तिः प्राप्तानां चाऽधिसहनं प्रतियातना भवति तथाऽत ऊर्ध्वमध्ययनेन वक्ष्यत इत्ययमत्राधिकार इतीत्येवं लक्षणे सूत्रकृताङ्गस्य तृतीयेऽध्ययने, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । (यथा तत्र दर्शितं तथा दर्शितमुवसग्गशब्दे)

उवसग्गसह-उपसर्गसह- त्रि० दिव्याद्युपद्रवसोढरि, "वोसट्ठचत्तदेहो, उवसग्गसहो जहेव जिणकप्पा" पंचा० १८ विव० । [जिणकप्पशब्दे जिनकल्पिकस्य उपसर्गसहत्वं व्याख्यास्यामि] संप्रति ये व्युत्सृष्टग्रहणेनात्मसञ्चेतनीया गृहीतास्तानुपदर्शयति ।

घट्टणपवडणथंभण, लेसण चउहा उ आयसंचेया ।
ते पुण सन्निवयंती, वोसट्ठदारे न इहं तु ॥

चतुर्भिरात्मना सचिन्त्यन्ते ये ते इत्यात्मसंचेत्यास्तद्यथा घट्टनतः प्रपतनतस्तम्भनतः श्लेषणतश्च । तत्र घट्टनतो यथा चक्षुषि रजःप्रविष्टं तेन च चक्षुर्दुःखयितुमारब्धमथवा स्वयमेव चक्षुषि गलके वा किञ्चिच्चु खीलप्रभृति समुत्थितं घट्टयति । प्रपतनतो यथा मन्दप्रयत्नेन चङ्क्रम्यमाणप्रतिपततो दुःखाप्यते स्तम्भनेन यथा तावदुपविष्ट आस्ते यावत्पादसुप्तस्तब्धो जातः श्लेषणतो यथा पादं तावदाकुञ्च्यावस्थितो यावत्तत्र वातेन लग्नः अथवा नृत्तं शिक्षयामीति किंचिदङ्गमप्यतिशयेन नामितं तच्च तत्रैव लग्नमिति ते पुनरात्मसंचेतनीया व्युत्कृष्टद्वारे निपतन्ति न इह । " ते उप्पन्ने सम्मं, सहत्ति, खमइ त्ति, तितिक्खइ, अहियासे " इति चत्वार्यप्येकार्थिकानि पदानि । तत्र सम्यक् सहनमाह ।

मणवयणकायजोगेहिं, तहि उ दिव्वमादिए तिन्नि ।
सम्मं अहियासेइ, तत्थ उ सुण्हा पदिट्ठंतो ॥

त्रिभिर्मनोवाक्काययोगैः प्रत्येकं दिव्यादीन् त्रीनुपसर्गान् प्रत्येकं चतुर्भेदान् सम्यगध्यास्ते सहते तत्र सहनं द्विधा द्रव्यतो भावतश्च तत्र द्रव्यस्य हाने स्नुषाया दृष्टान्तस्तमेवाह ।

सासूससुरोसदेवर-भत्तारमादिमज्झिमगा ।
दोसादी य जहन्ना, जह सुण्हा सहियउवसग्गा ॥

श्वशुरः श्वश्रूश्चैतावुत्कृष्टौ पूज्यत्वाद्देवरभर्तृका मध्यमा दोसो जघन्या यथा तत्कृता उपसर्गाः स्नुषायाः सोढास्तथा साधुनाऽपि सोढव्याः इयमत्र भावना स्नुषया अपराधे कृते तां श्वशुरः श्वश्रूश्च हीलयति सा च हील्यमाना अतीव लज्जते यद्यपि तानि दुःखोत्पादनानि वचनानि दुरध्यासयानि तथाऽपि सा तानि सम्यगध्यास्ते चिन्तयति च न सम्यक् अध्यासिष्ये ततः कुलयाम अवध्वंसो भविष्यति स्नुषत्वारश्चापयास्यति देवरा अपि वोल्लुण्ठवचनानि भाषन्ते यद्यपि तेषां सा नो लज्जते तथाऽपि न तानुल्लुण्ठति किं तु सम्यक् तद्वचनान्यध्यास्ते दासा अपि तांस्तु षामुल्लुण्ठयन्ति तथाऽपि किं किं तेषां वचनान्यहं गणयामीत्यवगणनया सम्यगध्यास्ते न प्रतिवचनं ददाति । एतत्तुल्यसहनं यत्साधुर्द्वादशविधानप्युपसर्गान् कर्मविनिर्ज्जरणार्थं सम्यगध्यास्त एतदेवाह ।

सासुससुरोवमा खलु, दिव्वादिपरोवमा य मणुस्सा ।
दासत्थाणीतिरिया, तह सम्मसोहिया सोए ।

तथा वधूदृष्टान्तोक्तप्रकारेण श्वश्रूःश्वशुरोपमान् दिव्यान् उपसर्गान् देवरोपमान् मानुषान् उपसर्गान् दासस्थानीयान् तैरश्चान् उपसर्गान्सम्यगध्यास्ते ।

संप्रति दुविहे वेत्यस्य व्याख्यानार्थमाह ।

दुहा वेते समासेणं, सव्वे सामण्णकंटगा ।
विसयाणुलोमिया चेव, तहेव पडिलोमिया ॥

अस्य वा एते उपसर्गाः श्रामण्यस्य कण्टका इव श्रामण्यकण्टकाः सर्वे समासेन द्विधा प्रतिपादितास्तद्यथा विषयानुलोमिका इन्द्रियविषयानुलोमिका इन्द्रियविषयप्रतिलोमिकास्तानेव दर्शयति ।

वंदणसक्कारादी, अणुलोमा बंधवहणपडिलोमा ।
ते वि य खमता सव्वे, एत्थं रुक्खेण दिट्ठंतो ॥

वन्दनसत्कारादयोऽनुलोमाः बन्धवधप्रभृतयः प्रतिलोमास्तानपि सर्वान् क्षमते अत्र वृक्षेण दृष्टान्तस्तमेवाह ।

वासीचंदणकप्पे, जह रुक्खाइ य सुहदुहसमो उ ।
रागद्दोसविमुक्तो, सहई अणुलोमपडिलोमा ।

वासीचन्दनकल्पो यस्य स वासीचन्दनकल्पोऽथवा कल्पस्तुल्यवाची ततोऽयमर्थो वास्यां वास्यातक्षणे चन्दनेनानुलेपनेन कल्पस्तुल्यो वासीचन्दनकल्पो यथा वृक्षो भवति इत्येवममुना प्रकारेण रागद्वेषविमुक्तोऽत एव सुखदुःखसमोऽनुलोमप्रतिलोमान् उपसर्गान् सम्यक् सहते ॥ व्य० द्वि० ७ उ० ।

उवसग्गाभिउंजण-उपसर्गाभियोजन-न० उपसर्गा दिव्यादयस्तैरभियोजनम् उपसर्गाभियोजनम् । अभिभवकायोत्सर्गे, दिव्याद्यभिभूत एव महामुनिस्तदेवार्यं करोतीति हृदयम् । उपसर्गाणामभियोजनम् । सोढव्या भयोपसर्गास्तद्भयं न कार्यमित्येवंभूते कायोत्सर्गे, 'उवसग्गाभिउंजणे बीओ' आव० ४ अ० ।

उवसज्जण-उपसर्जन-न० उप० सृज० ल्युट् । देवाद्युपद्रवे, वाच० । अप्रधानभूते गौणे विशेषणे, विशे० ।

उवसत्त-उपसक्त-त्रि० विशेषेण सक्तिमति, उत्त० ३२ अ० ।

उवसद्द-उपशब्द-न० सुरतावस्थायां वलवलायमानादिषु, तं० ।

उवसम- उपशम-पुं० उपशान्तिरुपशमः । आ० । अपराधविधायिन्यपि कोपपरिवर्जने, स च कस्यचित्कषायपरिणतेः कटुकफलावलोकनाद्भवति । कस्यचित्पुनः प्रकृत्यैवेति । प्रव० १४८ द्वा० । आचा० । संस्था० । क्रोधादिनिग्रहे, आ० म० द्वि० । " उवसमेणहणे कोहं " उपशमेन क्षान्तिरूपेण द० ८ अ० । आचा० । माध्यस्थ्यपरिणामे, । आव० ६ अ० । शान्तावस्थाने, आव० १ अ० । इन्द्रियोपशमरूपे रागद्वेषाभावजनिते (सूत्र० २ श्रु० १ अ०) शमे, आचा० । स च द्वेधा द्रव्यभावभेदात्तत्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्रव्योपशमः कतकफलाद्याद्यादितः कलुषजलादेः भावोपशमस्तु ज्ञानादित्रयात् । तत्र यो येन ज्ञानेनोपशाम्यति स ज्ञानोपशमस्तद्यथा क्षेपण्याद्यन्यतरया धर्मकथया कश्चिदुपशाम्यतीत्यादि, दर्शनोपशमस्तु यो हि शुद्धेन सम्यग्दर्शनेनापरमुपशमयति यथा श्रेणिकेनाश्रद्दधानो देवः प्रतिबोधित इति दर्शनप्रभावकैर्वा सम्मत्यादिभिः कश्चिदुपशाम्यति । चारित्रोपशमस्तु क्रोधाद्युपशमो विनयनम्रतेति ।

पमाणमुवलब्भ हेच्चा उवसमं फारुसियं समादियंति

त्यक्त्वोपशमं तत्र केचन क्षुद्रका ज्ञानोदन्वतोऽप्याप्युपर्येव प्लवमानास्तमेवम्भूतमुपशमं त्यक्त्वा ज्ञानलवोत्तम्भितगर्वाध्माताः पारुष्यं परुषतां समाददति गृह्णन्ति तद्यथा परस्परगुणनिकायां मीमांसायां वा एकोऽपरमाह त्वत्र जानीषे न चैषां शब्दानामयमर्थो यो भवताऽभाणि । अपि च कश्चिदेव मादृशः शब्दार्थनिर्णयायालं न सर्वे इत्युक्तं च पृष्ठा गुरवः स्वयमपि परीक्षितं निश्चितं पुनरिदं न वादिनि च मल्लमुख्ये च मादृगेवाऽन्यतरं गच्छेत् द्वितीयस्त्वाह नन्वस्मदाचार्यो एवमाज्ञापयन्तीत्युक्ते पुनराह सोऽपि वा कुण्ठो बुद्धिविकलः किं जानीते त्वमपि च शुकवत्पाठितः निरुद्धापोह इत्यादीन्यन्यान्यपि दुर्गृहीतकतिचिदक्षरो महोपशमकारणं ज्ञानं विपरीततामापादयन् स्वौद्धत्यमाविष्कुर्वन् भाषते यत्कश्चन्यस्वेच्छाविचितानर्थविशेषान् क्रमेण विज्ञाय कृत्स्नं वाङ्मयमित इति खादत्यङ्गानि दर्पेण कीटकर्मीश्वराणां कुक्कुटशावकसमानवह्निभ्यः शास्त्राण्यपि हास्यकथां लघुतां वा क्षुल्लको नयतीत्यादि पाठान्तरं वा " हेच्चा उवसमं च एगे फारुसियं समारुहंति" त्यक्त्वोपशमथानन्तरं बहुश्रुतीऽनेताथके न सर्वे परुषतामाश्रयन्ते ततश्चाल्पाः शङ्किता वा तूष्णींभावं भजन्ते हुंकारशिरःकम्पनादिना वा प्रतिवचनं ददति १ श्रु० ६ अ० ४ उ० (कलहोपशमे गुणा अहिगरणशब्दे उक्ताः) विष्कम्भितोदयत्वे, उत्त० १ अ० । विपाकोदयविष्कम्भे, । न०। " उदयविघाय उवसमो " अनुदितस्योदयविघाने, विशे० । मोहनीयकर्मणोऽनन्तानुबन्ध्यादिभेदभिन्नस्योपमश्रेणिप्रतिपन्नस्य मोहनीयभेदाननन्तानुबन्ध्यादीनुपशमयति (इति) उदयाभावे, स्था० ६ ठा० ॥ मिथ्यात्वमोहनीये कर्मणि, उदीर्णे, क्षीणे , शेषस्यानुदयापादने , विशे० । क्षयोपशमादेभेदः । अथ प्रेरको जगति ननु क्षयोपशमोपशमयोः कः किल विशेषः । सूरिराह ननु उदीर्णे उदयप्राप्ते कर्मणि क्षीणे शेषे चानुदीर्णे उपशान्ते सति क्षयोपशमोऽभिधीयत इति । प्रेरकः प्राह ।

सो चेव ननूवसमो, उदए खीणम्मि सेसए समिए ।
सुहुमोदयता मीसे, ननूपसमिए विसेसो यं ॥

ननूपशमोऽप्ययमेव यः किमित्याह । यः उदिते कर्मणि क्षीणोऽनुदितेऽनुपशान्तो भवति अत्रोत्तरमाह । ननु मिश्रे क्षयोपशमे सूक्ष्मोदयता अस्ति प्रदेशोदयेन सत्कर्मवेदनमस्तीत्यर्थः । उपशमिते तु कर्मणि तदपि नास्तीत्ययमनयोर्विशेष इति एतदेवाह ।

वेएइ संतकम्मं, खओवसमिएसु नाणुभावं सो ।
उवसंतकसाओ पुण, वेएइ न संतकम्मं पि ॥

स क्षयोपशमावस्थाकषायवान् जीवः क्षयोपशमिकेष्वनन्तानुबन्ध्यादिषु तत्संबन्धि सत्कर्मानुभवति प्रदेशकर्म वेदयति न पुनरनुभावं विपाकतस्तु तान् वेदयतीत्यर्थः । उपशान्तकषायस्तु सत्कर्मापि न वेदयतीति क्षयोपशमोपशमयोर्विशेष इति । विशे० । पं० सं० । उपशान्तकषायवीतरागछद्मस्थगुणस्थापने, प्रव० २२४ द्वा० । उपशमश्रेणौ, कल्प० । पञ्चदशे दिवसे, चं० १० पाहु० । जो० । जं० । स० । विंशतितमे मुहूर्ते, जं० ७ वक्ष० । ओ० । कल्प० । तृष्णानाशे, रोगोपद्रवशान्तौ निवृत्तौ च । वाच० ।

उवसमग–उपशमक–पुं० उपशमश्रेण्यन्तर्गतेष्वपूर्वकरणादिषु, उपशान्तमोहान्तेषु, उपशमश्रेण्यां रूढेषु अपूर्वकरणानिवृत्तिबादरसूक्ष्मसंपरायेषु, पं० सं० २ द्वा० । स० ।

उवसमण–उपशमन–न० उप शम भावे-ल्युट्-उपशमार्थे, "उवसमणाए अहिगरणस्स अब्भुट्टा एवं भवति " स्था० ८ ठा० ।

उवसमणा–उपशमना–स्त्री० उदयोदीरणानिधत्तनिकाचनाकरणायोग्यत्वेन व्यवस्थाप्यते कर्म यया सा उपशमना । क० प्र० । पं० सं० । उदयोदीरणानिधत्तनिकाचनाकरणानामयोग्यत्वेन कर्मणोऽवस्थापने, उक्तं च " उव्वट्टणओवट्टणसंकमणाइं च तत्थ करणाइं इति" । अष्टानां करणानां षष्ठं करणमेतत् । स्था० ४ ठा० २ उ० । संप्रति उपशमनाप्रतिपादनार्थमाह । अवसरस्तत्र चैतेऽधिकाराः तद्यथा प्रथमं सम्यक्त्वोत्पादप्ररूपणा, सर्वविरतिलाभप्ररूपणा, अनन्तानुबन्धिविसंयोजना, दर्शनमोहनीयक्षपणा, दर्शनमोहनीयोपशमना, चारित्रमोहनीयोपशमना पुनः सप्रभेदेति । तत्र देशमुपशान्तमुपशमनाकरणम प्रभेदं सर्वात्मना व्याख्यातुमशक्यं ततो यदंशे व्याख्यातुमात्मनोऽशक्तिस्तदंशे तद्वेत्तृश्रोतृणामाचार्यो नमस्कारं चिकीर्षुराह ।

करणकया अकरणकया, चउव्विहा उवसमणा विईयाए ।
अकरणअणुइनाए, अणुओगधरे पणिवयामि ॥ ३१४ ॥

इह द्विविधा उपशमना करणकृता अकरणकृता च तत्र करणं क्रिया यथा प्रवृत्तिपूर्वकनिवृत्तिकरणसाध्यक्रिया विशेषः तेन कृता करणकृता तद्विपरीता अकरणकृता च या संसारिणां जीवानां गिरिनदीपाषाणवृत्ततादिभिः संभववत् प्रवृत्तादिकरणक्रियाविशेषमन्तरेणापि वेदनानुभवनादिभिः कारणैरुपशमनोपजायते सा अकरणकृतेत्यर्थः । इदं च करणकृताकरणकृतत्वरूपं द्वैविध्यं देशोपशमनाया एव द्रष्टव्यं न सर्वोपशमनाया करणकृताया वेति । अस्याश्चाकरणकृतोपशमनाया नामधेयद्वयं तद्यथा अकरणोपशमना अकृतोपशमना च तस्याश्च संप्रत्यनुयोगो व्यवच्छिन्नस्ततं आचार्यः स्वयं तस्यानुयोगमजानानस्तद्वेदिनृणां विशिष्टमतिप्रज्ञाकलिकचतुर्दशवेदिनां नमस्कारमाह । (बिईयाए इत्यादि) द्वितीया अकरणकृता तृतीयाया उपशमनाया एव द्रष्टव्यं न सर्वोपशमनानुकरणकृतेवेति । अस्याश्चाकरणकृतोपशमनाया अनुयोगधरान् प्रणिपतामि तेषु प्रतिपातं करोमि तस्मादिह करणकृतोपशमनाया अधिकारः साऽपि च द्विधा इति द्वैविध्यमेवाह ।

सव्वस्स य देसस्स य, करणुवसमणदुन्नि एकेका ।
सव्वस्स गुणपसत्था, देसस्स वि तासि विवरीआ ॥ ३१५ ॥

सा करणकृतोपशमना द्विविधा सर्वस्य विषये देशस्य विषये च सर्वविषया देशविषया चेत्यर्थः । एकैकस्याश्च द्वे द्वे नामधेये तद्यथा सर्वस्योपशमनाया गुणोपशमना प्रशस्तविहायोगतिशमना च । क० प्र० ।

देसुवसमणा सव्वाण, होइ सव्वोवसामणा मोहो ।
अपसत्थपसत्था जा, करणावसमणाए अहिगारो ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इह द्विधा उपशमना तद्यथा देशोपशमना सर्वोपशमना च । तत्र देशोपशमना सर्वेषामपि कर्मणां भवति । सर्वोपशमना तु मोहे मोहनीयस्यैव देशोपशमनायाश्चामून्येकार्थिकानि तद्यथा देशोपशमना अनुदयोपशमना अगुणोपशमना अप्रशस्तोपशमना च । सर्वोपशमनायास्त्वमूनि तद्यथा सर्वोपशमना उदयोपशमना गुणोपशमना प्रशस्तोपशमना च । तत्र देशोपशमना द्विधा कारणकृता कारणरहिता च । सर्वोपशमना तु कारणकृतैव कारणानि यथाप्रवृत्तापूर्वानिवृत्तिसंज्ञानि तैः कृता तद्विपरीता कारणरहिता या संसारिणां जीवानां गिरिनदीपाषाणवृत्ततादिसम्भववत् यथाप्रवृत्तादिकारणसाध्यक्रियाविशेषमन्तरेणापि वेदनानुभवनादिभिः कारणैरुपजायते । तस्याश्च संप्रत्यनुयोगव्यवच्छित्तिस्ते द्वे नृणामभावात् ततोऽप्रशस्ता च या करणोपशमना तयोराधिकारः प्रथमतः सर्वोपशमना वाच्या तत्र चैतेऽर्थाधिकारास्तद्यथा सम्यक्त्वोत्पादप्ररूपणा देशविरतिलाभप्ररूपणा सर्वविरतिलाभप्ररूपणा अनन्तानुबन्धिविसंयोजना दर्शनमोहनीयक्षपणा दर्शनमोहनीयोपशमना चारित्रमोहनीयोपशमा च । पं०सं० ।

तत्रादौ सम्यक्त्वोत्पादप्ररूपणार्थमाह ।

सव्वुवसमणा मोहस्सेव, तस्स सव्वुवसमकिरियाजोग्गो ।
पंचिंदिओ सन्नी, पज्जत्तो लद्धितिगजुत्तो ॥ ३१६ ॥
पुव्वं पि विसुज्झंतो, गंठिअसत्ताण इकमिय सोहिं ।
अन्नयरे सागारे, जोगे य विसुद्धिलेसासु ॥ ३१७ ॥
ठिइसत्तकम्म अंतो, कोडीकोडी करेत्तु सत्तण्हं ।
दुट्ठाणचउट्ठाणे, असुभसुभाणं च अणुभागं ॥ ३१८ ॥
बंधंतो धुवपगडी, भवपाउग्गा सुभा अणाऊ य ।
जोगवसायएसंको, उक्कोसं मज्झिमजहण्णं ॥ ३१९ ॥
ठिई य बंधद्धा पूरे, नवबंधपल्लसंखभागूणं ।
असुभाणसुभाणुभागं अणंतगुणहाणिवुड्ढीहिं । ३२० ।
करणं अहापवत्तं, अपुव्वकरणमनियट्टिकरणं च ।
अंतोमुहुत्तियाइं, उवसंतद्धं चउहिं कमेण । ३२१ ।

इह सर्वोपशमना मोहस्यैव मोहनीयस्यैव शेषाणां तु कर्मणां देशोपशमना तत्र तस्य मोहनीयस्य सर्वोपशमनाक्रियायोग्यः पञ्चेन्द्रियः संज्ञी सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्त इत्येवं लब्धित्रिकयुक्तः पञ्चेन्द्रियत्वसंज्ञित्वपर्याप्तित्वरूपाभिस्तिसृभिः लब्धिभिर्युक्तः अथवा उपशमलब्ध्युपशमश्रेणिश्रवणलब्धिकरणत्रयहेतुप्रकृष्टयोगलब्धिरूपत्रिकयुक्तः करणकालात् पूर्वमपि अन्तर्मुहूर्त्तकालं यावत् प्रतिसमयमनन्तगुणवृद्ध्यादिभिर्विशुध्यमानोऽवदायमानचित्तसन्ततिः ग्रन्थिकसत्त्वानामभव्यसिद्धकानां या विशोधिस्तामतिक्रम्य वर्त्तमानः ततोऽनन्तगुणविशुद्ध इत्यर्थः । तथा अन्यतरस्मिन् मतिश्रुतज्ञानाज्ञानविभङ्गज्ञानानामन्यतरस्मिन् साकारे साकारोपयोगे वाऽन्यतरस्मिन् मनोयोगे वाग्योगे काययोगे वा वर्त्तमानस्तिसृणां विशुद्धानां लेश्यानामन्यतमस्यां लेश्यायां जघन्येन तेजोलेश्यायां मध्यमपरिणामेन पद्मलेश्यायामुत्कृष्टपरिणामेन शुक्ललेश्यायां वर्तमानो जघन्येन तेजोलेश्या तथा आयुर्वर्जानां सप्तानां कर्मणां स्थितिसत्कर्मणः सागरोपमकोटाकोटीप्रमाणां कृत्वा अशुभानां कर्मणामनुभागं चतुःस्थानकं द्विस्थानकं करोति शुभानां च कर्मणां द्विस्थानकं सन्तं चतुःस्थानकं करोति ध्रुवतया प्रकृतीः पञ्चविधज्ञानावरणनवविधदर्शनावरणमिथ्यात्वषोडशकषायभयजुगुप्सातैजसकार्मणवर्णगन्धरसस्पर्शागुरुलघूपघातनिर्माणपञ्चविधान्तरायरूपाः सप्तचत्वारिंशत्संख्या बध्नन् परावर्त्तमानाः स्वस्वभवप्रायोग्याः प्रकृतीः शुभा एव बध्नाति ता अप्यायुर्वर्जाः अतीव विशुद्धपरिणामो हि नायुर्बन्धमारभत इति कृत्वा तद्वर्जनं भवप्रायोग्या इति वचनाच्चैतदवगन्तव्यम् । यदुत तिर्यङ्मनुष्यो वा प्रथमसम्यक्त्वमुत्पादयन् देवगतिप्रायोग्याः शुभाः प्रकृतीर्देवगतिदेवानुपूर्वीपञ्चेन्द्रियजातिवैक्रियशरीरवैक्रियाङ्गोपाङ्गसमचतुरस्रसंस्थानपराघातोच्छ्वासप्रशस्तविहायोगतित्रसादिदशकसातवेदनीयोच्चैर्गोत्ररूपा एकविंशतिसंख्या बध्नाति देवो नैरयिको वा प्रथमसमये सम्यक्त्वमुत्पादयन् मनुजगतौ प्रायोग्या मनुजगतिमनुजानुपूर्वीपञ्चेन्द्रियजातिसमचतुरस्रसंस्थानप्रथमसंहननौदारिकशरीरौदारिकाङ्गोपाङ्गपराघातोच्छ्वासप्रशस्तविहायोगतित्रसादिदशकसातवेदनीयोच्चैर्गोत्ररूपा द्वाविंशतिसंख्या न बध्नाति केवलं यदि सप्तमनरकपृथ्वीनारकः प्रथमस्य सम्यक्त्वमुत्पादयति ततः तिर्यग्गतितिर्यगानुपूर्वीनीचैर्गोत्राणि वक्तव्यानि शेषं तदेव तथा बध्यमानप्रकृतीनां स्थितिं बध्नाति अन्तः सागरोपमकोटाकोटीप्रमाणामेव नाधिकां योगवशाच्च प्रदेशाग्रमुत्कृष्टमध्यमजघन्यं च बध्नाति तथा हि जघन्ययोगे वर्त्तमानो जघन्यं प्रदेशाग्रं बध्नाति मध्यमे मध्यममुत्कृष्टे तूत्कृष्टमिति । स्थितिबन्धेऽपि चूर्णे सत्यन्यं स्थितिबन्धं प्राक्तनस्थितिबन्धापेक्षया पल्योपमसंख्येयभागन्यूनं करोति तस्मिन्नपि च परिपूर्णे सति अन्यं स्थितिबन्धं पल्योपमासंख्येयभागन्यूनं करोति एवमन्यमन्यं स्थितिबन्धपूर्वपूर्वापेक्षया पल्योपमासंख्येयभागन्यूनं करोति अशुभानां च प्रकृतीनां बध्यमानानामनुभागं द्विकस्थानकं बध्नाति तमपि प्रतिसमयमनन्तगुणहीनं शुभानां चतुःस्थानकं बध्नाति तमपि प्रतिसमयमनन्तगुणवृद्धिमेवमसौ कुर्वन् किं करोति इत्यत आह (करणमित्यादि) करणं यथाप्रवृत्तं करोति ततोऽनिवृत्तिकरणमिति परिणामविशेषकरणं " परिणामो सेत्ति " वचनप्रामाण्यात् एतानि च त्रीण्यपि करणानि च प्रत्येकमन्तर्मौहूर्त्तिकानि सर्वेषामपि करणानां कालोऽन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणस्ततोऽनेन क्रमेण चतुर्थीमुपशान्ताद्धां लभते साऽपि चान्तर्मुहूर्त्तिकी । क०प्र० ।

सम्प्रति करणानामेव स्वरूपमाविश्चिकीर्षुराह ॥

आइल्लेसुं दोसुं, जहन्न उक्कोसिया भवे सोही ।
जो पइसमयं अज्झव-साया लोगा असंखेज्जा ॥

आद्ययोर्द्वयोः करणयोर्यथाप्रवृत्तिनिवृत्त्याख्ययोर्जघन्या उत्कृष्टा च शुद्धिर्भवति यतो यस्मादाद्यद्वयोः करणयोः प्रतिसमयमध्यवसाया विशोधिरूपा नानाजीवापेक्षया असंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणास्ततः आद्ययोर्द्वयोः करणयोः प्रतिसमयं जघन्या उत्कृष्टा च विशोधिर्भवति । तासां विशोधयः एवम् । तथा प्रथमसमये विशोधयो नानाजीवापेक्षया असंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणास्ततो द्वितीयसमये विशेषाधिकास्ततोऽपि तृतीये समये विशेषाधिका एवं तावद्वाच्यं यावच्चरमसमय एवमपूर्वकरणेऽपि द्रष्टव्यमेते च विशोध्यध्यवसाया यथाप्रवृत्तापूर्वकरणयोः सम्बन्धिनः स्थाप्यमाना विषमचतुरस्रं क्षेत्रमावृण्वन्ते तयोरुपरि चानिवृत्तिकरणाध्यवसाया मुक्तावलीसंस्थिता स्थापना ।

१०००००००००००००००१६
८०००००००००००००२०
१०००००००००००१८
४०००००००००——पूर्वकरण
३०००००००००१४
२००००००००१२
१००००००५
०००७
००५

एतदेवाह ॥

पइसमयमणंतगुणा, सोही उड्ढमुही तिरिछा उ ।
छट्ठाणि य जीवाणं, तइए उड्ढमुहा उक्का ॥

त्रयाणामपि करणानां प्रतिसमयमूर्ध्वमुखा शुद्धिरनन्तगुणा वेदितव्या तद्यथा प्रथमसमयशुद्ध्यपेक्षया द्वितीयसमये शुद्धिरनन्तगुणा ततोऽपि तृतीयसमये अनन्तगुणा एवं यावदनिवृत्तिकरणचरमसमय आद्यद्वयोः शुद्धयोः करणयोस्तिर्यङ्मुखा शुद्धिः षट्स्थाना षट्स्थानपतिता तद्यथा प्रथमसमयगता शुद्धिः षट्स्थानविशिष्टा द्वितीयस्थानगता विशिष्टा एवं यावदपूर्वकरणचरमसमयः तृतीयेऽनिवृत्तिकरणे प्रतिसमयं सकलजीवापेक्षयाऽप्येकमेवाध्यवसायस्थानम् । तथाहि अनिवृत्तिकरणस्य प्रथमसमये वर्तन्ते ये च प्रवृत्ताः ये च वर्तिष्यन्ते तेषां सर्वेषामप्येकमेवाध्यवसायस्थानं द्वितीयसमयेऽपि वर्तन्ते ये च प्रवृत्ता ये च वर्तिष्यन्ते तेषामपि सर्वेषामेकमेवाध्यवसायस्थानं केवलं प्रथमसमयभाविविशोधिस्थानापेक्षया अनन्तगुणविशुद्धम् एवं तावद्वाच्यं यावत्तस्यानिवृत्तिकरणस्य च चरमसमयस्ततस्तृतीये करणे एकैकशोधिरूर्ध्वमुखरूपा न द्वितीया तिर्यङ्मुखा तत्र यथा प्रवृत्तिकरण एव ।

विशोधिविधितारतम्यमुपदर्शयन्नाह ॥

गंतुं संखेज्जंसं, अहापवत्तस्स हीण जा सोही ।
तीए य पढमसमये, अनंतगुणिया उ उक्कोसा ॥

यथा प्रवृत्तिकरणस्य संख्येयं भागं गत्वाऽन्तरसमये या जघन्या शुद्धिस्तस्याः सकाशात् प्रथमे समये उत्कृष्टा विशोधिरनन्तगुणा । इयमत्र भावना यथाप्रवृत्तिकरणस्य प्रथमसमये या सर्वजघन्या विशोधिः सा सर्वस्तोका ततो द्वितीये समये जघन्या विशोधिरनन्तगुणा एवं तावद्वाच्यं यावत् यथाप्रवृत्तिकरणस्य संख्येयो भागो गतो भवति ततः प्रथमसमये उत्कृष्टा विशोधिरनन्तगुणा ततो यतो जघन्यस्थानान्निवृत्तस्तस्योपरितना जघन्या विशोधिरनन्तगुणा ततोऽपि द्वितीयसमये उत्कृष्टा विशोधिरनन्तगुणा तत उपरि जघन्या विशोधिरनन्तगुणा एवमुपर्यधश्च एकैका विशोधिरनन्तगुणा तावद्वाच्या यावच्चरमसमये जघन्या विशोधिः । तथा चाह ।

एवं एकंतरिया, हेट्ठुवरिं जाव हीणपज्जंते ।
तत्तो उक्कोसाओ, उवरिंवरिं होयणंतगुणा ॥

एवं पूर्वोक्तप्रकारेण संख्येयभागात्परत आरभ्य अध उपरि च एकान्तरिता विशोधिरनन्तगुणा तावद्वाच्या यावद्धीनपर्यन्ता जघन्यविशोधिपर्यवसानं पल्योपमसंख्येयभागमात्राश्चोत्कृष्टा विशुद्धयोऽद्याप्यनुक्ताः सन्ति ततस्ताः उपरि उपरि अनन्तगुणा वक्तव्याः तदेवमुक्तं यथाप्रवृत्तिकरणम् ।

संप्रत्यपूर्वकरणस्य स्वरूपमाविष्किकीर्षुराह ।

जा उक्कोसा पढमे, तीसेणंता जहन्निया बीए ।
करणा तीए जेट्ठा, एवं जा सव्वकरणं पि ॥

प्रथमे यथाप्रवृत्तकरणे चरमसमये या उत्कृष्टा विशोधिस्तस्याः सकाशात् द्वितीये पूर्वाख्ये करणे प्रथमे समये जघन्या विशोधिरनन्तगुणा तस्या अपि सकाशात् प्रथमसमये एव ज्येष्ठा उत्कृष्टा विशोधिरनन्तगुणा ततो द्वितीये समये जघन्या विशोधिरनन्तगुणा । ततोऽपि तस्मिन्नेव तृतीये समये उत्कृष्टा विशोधिरनन्तगुणा । ततोऽपि द्वितीये जघन्या विशोधिरनन्तगुणा । ततोऽपि तस्मिन्नेव तृतीये समये उत्कृष्टा विशोधिरनन्तगुणा । एवं प्रतिसमयं तावद्वाच्यं यावत्सकलमपि करणं परिसमाप्यते ।

अपुव्वकरणसमयं, कुणइ अपुव्वे इमे य चत्तारि ।
ठिइघायं रसघायं, गुणसेढी बंधगद्धा य ॥

अपूर्वकरणेन समकं तस्मिन्नेव समये अपूर्वकरणे प्रविशति तस्मादेव समयादारभ्येत्यर्थः । इमान्वक्ष्यमाणांश्चतुरः पदार्थान् अपूर्वान् करोति अतीते काले न कदाचनापि पूर्वं कृताः । ततो न वा स्थितिघातं रसघातं गुणश्रेणिबन्धकालं च ।

तत्र प्रथमतः स्थितिघातः स्वरूपव्याचर्णनायाह ।

उक्कोसेणं बहुसा-गराणि इयरेण पल्लसंखेयं ।
ठियअग्गाओ घायइ, अंतमुहुत्तेण ठिइखंडं ॥

स्थितिसत्कर्मणोऽग्रिमभागादुत्कर्षेण प्रभूतानि सागरोपमाणि प्रभूतसागरोपमप्रमाणमितरेण जघन्येन पल्योपमासंख्येयभागमात्रं स्थितिखण्डमन्तर्मुहूर्तेन कालेन घातयति घातयित्वा च दलिकं याः स्थितीरधो न खण्डयिष्यति तत्र प्रक्षिपति ततः पुनरपि अधस्तात् पल्योपमासंख्येयभागमात्रस्थितिखण्डमन्तर्मुहूर्तेन कालेन घातयन् प्रागुक्तप्रकारेणैव च निक्षिपति एवमपूर्वकरणाद्धायाः प्रभूतानि स्थितिखण्डसहस्राणि व्यतिक्रामन्ति तथा च सति अपूर्वकरणस्य प्रथमे समये यत् स्थितिसत्कर्मासीत् तत्तस्यैव चरमसमये संख्येयगुणहीनं जातं तदेवमुक्तः स्थितिघातः ।

संप्रति रसघातप्रतिपादनार्थमाह ।

असुभाणं तं मुहुत्तेण, हणइ रसं कंडगं अणंतंसं ।
करणे ठिइखंडाणं, तम्मि उ रसकंडगसहस्सा ॥

स्थितिखण्डानां करणे उत्किरणे प्रवृत्तः सन् अशुभानां प्रकृतीनां रसकण्डकमनुभागकण्डकमनन्तानन्तविभागात्मकमन्तर्मुहूर्तेन विनाशयति किमुक्तं भवति अशुभप्रकृतीनां यत् अनुभागसत्कर्म्म तस्यानन्ततमभागान् मुक्त्वा शेषान् अनुभागभागान् सर्वानप्यन्तर्मुहूर्तेन कालेन विनाशयति ततः पुनरपि तस्य प्रागुक्तस्यानन्ततमस्य भागस्यानन्ततमं भागं मुक्त्वा शेषान् अनुभागभागान् सर्वानन्तर्मुहूर्तेन कालेन विनाशयति एवमनेकानि अनुभागखण्डसहस्राणि एकैकस्मिन् स्थितिखण्डे व्यतिक्रामन्ति तथा चाह (तम्मि उ रसकंडगसहस्सा) तस्मिन् स्थितिखण्डे एकैकस्मिन् रसकण्डकसहस्राणि गच्छन्ति स्थितिखण्डानां च सहस्रैरपूर्वकरणे परिसमाप्यते तदेवमुक्तो रसघातः ।

सम्प्रति गुणश्रेणिमाह ।

घाइयठिइदलियघेत्तुं, घेत्तुं असंखगुणणाए ।
साहियदुकरणकालं, उदयाओ एइ गुणसेढिं ॥

घातितायाः स्थितेः शुभध्यानदाहिकं गृहीत्वा उदयसमयादारभ्य प्रतिसमयमसंख्येयगुणवृद्ध्या क्षपयति तद्यथा उदयसमये स्तोकं द्वितीयसमये असंख्येयगुणं ततोऽपि तृतीये समये असंख्येयगुणम् । एवं तावद्वक्तव्यं यावत्सान्तिककरणद्वयकालो मनाक्

समधिका अपूर्वकरणानिवृत्तिकरणकालसमया एष प्रथमसमयगृहीतदलिकनिक्षेपविधिः एवं द्वितीयादिसमये गृहीतानामपि दलिकानां निक्षेपविधिरूह्यः । अन्यच्च गुणश्रेणिरचनार्थं प्रथमसमये यत् दलिकं गृह्यते ततः स्तोकं ततोऽपि द्वितीयसमये असंख्येयगुणं ततोऽपि तृतीये समये असंख्येयगुणमेवं तावद्वक्तव्यं यावद्गुणश्रेणिकरणचरमसमयः । अपूर्वकरणानिवृत्तिकरणसमयेषु वा उपरयतः क्रमशः हीयमानेषु गुणश्रेणिदलिकनिक्षेपः शेषे भवति उपरि च न वर्द्धते ।

करणाई अपुट्ठो, जो बंधो सो न होई जो ।
असो धधगउद्धा, सा उद्धिमा उद्धिगद्धाए ॥

अपूर्वकरणस्यादौ प्रथमसमये यो बन्धः प्रारब्धसंबन्धकाद्धा उच्यते कियन्तं कालं यावत् स प्रारब्धांशो बन्धो बन्धकाद्धा उच्यते अत आह यावदभव्यो बन्धो न भवति न प्रारभ्यते स प्रारब्धो बन्धो यावच्च समाप्तिं यातीत्यर्थः । सा च बन्धकाद्धा स्थितिकण्डकप्रचया स्थितिः घातकाले तुल्या इदमुक्तं भवति स्थितिघातस्थितिबन्धौ युगपदारभ्येते युगपदेव च निष्ठां यात इति ।

जा करणाइए ठिइ-करणं तेतीए होइ संखंसो ।
अनियट्टीकरणमओ, मुत्तावलिसंठियं कुणइ ॥

अपूर्वकरणस्यादौ प्रथमसमये या स्थितिः सा स्थितिघातसहस्रैः खण्डिता सती करणान्ते अपूर्वकरणस्य चरमसमये संख्येयांशो भवति संख्येयभागमात्रा भवति संख्येयगुणाहीना भवतीत्यर्थः । एतच्च प्रागपि प्रस्तावादुक्तं तदेवमुक्तमपूर्वकरणम् । संप्रत्यनिवृत्यकरणप्रतिपादनार्थमाह "अनियट्टीत्यादि" अन्तोऽपूर्वकरणं तदूर्ध्वमनिवृत्तिं करोत्यारभते तच्च कथंभूतमित्याह मुक्तावलीसंस्थितमनिवृत्तिकरणे हि अध्यवसायस्थानानि मुक्तावलीसंस्थितानि भवन्ति एतच्च प्रागेवोक्तं तत एतदपि अनिवृत्तिकरणमभेदात् मुक्तावलीसंस्थितमित्युक्तम् ॥

एवमनियट्टिकरणे, ठिइघाईणि होंति चउरो वि ।
संखेज्जंसे सेसे, पढमठिई अंतरभवे ॥

एवमपूर्वकरणक्रमेणानिवृत्तिकरणेऽपि स्थितिघातादयश्चत्वारोऽपि पदार्था भवन्ति प्रवर्तन्ते इत्थं या निवृत्तिकरणा द्वयोः संख्येयेषु भागेषु गतेषु सत्सु एकस्मिंश्च संख्येयगते भागे शेषे तिष्ठति अन्तर्मुहूर्तमात्रमधो मुक्त्वा मिथ्यात्वस्यान्तरकरणमन्तर्मुहूर्तप्रमाणं प्रथमस्थितेः किञ्चित्समधिकं भवति प्रथमस्थितिश्च ।

अंतमुहुत्तियमित्ताइं, दो वि निम्मवइ बंधगद्धाए ।
गुणसेढि संखभागं, अंतरकिरणेण उकिरइ ॥

प्रथमस्थितिमन्तरकरणं च एते द्वे अपि अन्तर्मुहूर्तप्रमाणे युगपत् निर्मापयति । तथा तत् अन्तरकरणं अभिनवस्थितिबन्धोद्धयानभिनवस्थितिबन्धकालप्रमाणेन कालेन करोति तथा ह्यन्तरकरणप्रथमसमयएवान्यस्थितिबन्धमिथ्यात्वमारभते स्थितिबन्धान्तरकरणे च युगपदेव परिसमापयति । तथा गुणश्रेणिसंबन्धिनः संख्येयभागाः प्रथमद्वितीयस्थित्याश्रितास्तिष्ठन्ति एका तु श्रेणिः संख्येयतमं भागमन्तरकरणादन्तरकरणेन सहोत्किरति विनाशयति ।

संप्रति अन्तरकरणस्य विधिमाह ।

अंतरकरणस्स विही, घेत्तुं घेत्तुं ठिई य मज्झाउ ।
दलियं पढमठिईए, विक्खिवइ तहा उवरिमाईए ॥

अन्तरकरणस्यायं विधिः यदुत अनन्तरकरणस्थितेर्मध्याद्दलिकं कर्म परमाण्वात्मकं गृहीत्वा गृहीत्वा प्रथमस्थितौ प्रक्षिपति तथा उपरितन्यां द्वितीयस्थितौ च एवं च प्रतिसमयं तावत्प्रक्षिपति यावदन्तरकरणदलिकं सकलमपि क्षीयते अन्तर्मुहूर्तेन च कालेन सकलदलिकक्षयः ।

इगदुगआवलिसेसा, नत्थि पढमाए उदीरणागालो ।
पढमठिइए उदीरण, वियाउए आगालो ॥

इह प्रथमस्थितौ वर्तमान उदीरणाप्रयोगेण यत् प्रथमस्थितेरेव दलिकं समाकृष्योदयसमये प्रक्षिपति सा उदीरणा । यत् पुनः द्वितीयस्थितेः सकाशात् उदीरणाप्रयोगेण समाकृष्योदये प्रक्षिपति स आगाल इति । उदीरणायाः एव विशेषप्रतिपत्त्यर्थमिदं द्वितीयं नाम पूर्वसूरिभिरावेदितम् । उदीरणायां च प्रथमस्थितिमनुभवन् तावत्तो यावदावलिकाद्विकं शेषं तिष्ठति तस्मिंश्च स्थितेः आगालो न भवति किं तु केवला उदीरणैव । असावप्युदीरणा तावत् प्रवर्तते यावदावलिका शेषा न भवति आवलिकायां शेषीभूतायामुदीरणा विनिवर्तते ततः केवलेन नवोदयेन आवलिकामनुभवति । अक्षरयोजना त्वेवम् । एकस्यामावलिकाशेषायां प्रथमस्थितौ यथासंख्यमुदीरणागालो न भवति । प्रथमस्थितेश्च सकाशात् यदि च आगच्छति सा उदीरणा द्वितीयायाश्च स्थितेः सकाशाद्यदागच्छति स आगाल इति ॥

आवलिमित्तं उदये-ण वेइउं ठाइ उवसमद्धाए ।
उवसमियं तत्थ भवे, सम्मत्तं मोक्खबीयं जं ॥

तत आवलिकामात्रं प्रथमस्थितिसत्कं केवलेनैवोदयेन वेदयित्वा अनुभूय उपशमाद्धायां तिष्ठति उपशमाद्धायां प्रविशति तस्यां चोपशमाद्धायां स्थितस्य सतः प्रथमसमये एवौपशमिकसम्यक्त्वं भवति तच्च मोक्षस्याभावात् ।

उपरिमठिइ अणुभागं, तं ति ता कुणइ चरमिमच्छुदए ।
देसघाएण सम्मं, इयरेणं मित्यमीसाइ ॥

प्रथमस्थितिचरमसमये मिथ्यात्वोदये वर्तमानो मिथ्यादृष्टिरुपरितनं स्थितिद्वितीयस्थितेः संबन्धिनां कर्मपरमाणूनामनुभागं त्रिधा करोति । अनुभागभेदेन त्रिधा द्वितीयस्थितिगतं मिथ्यात्वं दलिकं करोति इत्यर्थः । तथा शुद्धमविशुद्धं च तत्र शुद्धं सम्यक्त्वं तच्च देशघातिरसेन समन्वितं करोति । अर्द्धविशुद्धं सम्यग्मिथ्यात्वमविशुद्धं मिथ्यात्वम् । एते च इतरेण सर्वघातिना रसेन समन्विते च करोति । इहौपशमिकसम्यक्त्वलाभप्रथमसमयादेवारभ्य मिथ्यात्वस्य सम्यक्त्वं च गुणसंक्रमात्प्रवर्तते स चैवम् ।

सम्मे थोवो मीसे, असंखओ तस्स संखओ सम्मे ।
पइसमयं इइ खेवो, अंतमुहुत्ता उ विज्झाउ ॥

औपशमिकसम्यक्त्वलाभप्रथमसमये स्तोको दलिकनिक्षेपः सम्यक्त्वे ततो मिश्रे तस्मिन्नेव प्रथमसमये असंख्येयगुणस्ततोऽपि द्वितीये समये सम्यक्त्वे असंख्येयगुणः ततोऽपि तस्मिन्नेव द्वितीये सम्यग्मिथ्यात्वे असंख्येयगुणः इत्येवमुक्तेन प्रकारेण प्रतिसमयं क्षेपे सगुणसंक्रमरूपस्तावद्वक्तव्यो यावदन्तर्मुहूर्तं तदूर्ध्वं पुनः प्रागभिहितस्वरूपो विध्यातसंक्रमः प्रवर्तते ॥

गुणसंकमेण एसो, संकामो होइ सम्ममीसेसु ।
अंतरकरणम्मि ठिओ, कुणई जओ सप्पसत्थगुणो ॥

एष प्रागभिहितस्वरूपसंक्रमो मिथ्यात्वस्य सम्यग् मिश्रयो भवति गुणसंक्रमेणानन्तरोक्तस्वरूपः संक्रमो वेदितव्य ए-

स्यार्थः । यतोऽसावन्तरकरणे स्थितः सप्रशस्तगुणः सह प्रशस्तेन प्रशस्येन गुणेनोपशमिकसम्यक्त्वलक्षणेन वर्तते इति सप्रशस्तगुणः सन् संक्रमं करोति तस्मादन्तरकरणे स्थितस्य गुणसंक्रमः प्रवर्तते तल्लक्षणस्य संभवात् तथाहि गुणसंक्रमस्येदं लक्षणम् । अपूर्वकरणादारभ्य गुणानां बध्यमानानां प्रकृतीनां गुणसंक्रमः प्रवर्तते इति । तदुक्तम् "गुणसंकमो अबज्झंति गणे असुभाण पुव्वकरणादी " इति । अपूर्वकरणे च मिथ्यात्वस्य बन्धः प्रवर्तते तस्य वेद्यमानत्वात् अन्तरकरणे च तस्योदयाभावात् बन्धो न प्रवर्तते तत्र गुणसंक्रमः प्रवर्तते ।

गुणसंकमेण समए, ठितिठिइकंतिआउवज्जाणं ।
मिच्छत्तस्स उ इगिदुग, आवलिसेसाए पढमाए ॥

यावत्तेन गुणसंक्रमः प्रवर्तते तावदायुर्वर्जानां सप्तानां कर्मणां स्थितिघातो रसघातो गुणश्रेणिर्वा प्रवर्तते यदा गुणसंक्रमस्तिष्ठति निवर्तते तदा गुणसंक्रमेण समं तिस्रोऽपि स्थितिघातगुणश्रेणयस्तिष्ठन्ति तथा मिथ्यात्वस्य यावदेकावलिका प्रथमस्थितौ शेषीभूता न भवति तावत् स्थितिघातरसघातौ प्रवर्तेते आवलिकामात्रशेषीभूतायां तु प्रथमस्थितौ न भवतः तदा यावन्मिथ्यात्वस्य प्रथमस्थितिर्द्व्यावलिकाशेषा न भवति तावत् गुणश्रेणिरपि प्रवर्तते द्व्यावलिकाशेषायां तस्यां गुणश्रेणिर्न भवति उत्तरार्द्धस्य चाक्षरयोजना इति मिथ्यात्वस्य एकद्व्यावलिकाशेषायां प्रथमस्थितौ यथासंख्यं स्थितिघातरसघातौ गुणश्रेणिश्च तिष्ठन्तीति ।

उवसंतद्धा अंते, विहीय उक्कड्डियस्स दलियस्स ।
अज्झवसायविसेसा, सो एकस्सुदओ भवे तिसं ॥

उपशमाद्धाया औपशमिकसम्यक्त्वाद्धाया अन्ते पर्यन्ते किंचित्समधिकावलिकाशेषे वर्तमानस्त्रयाणामपि द्वितीयस्थितिगतानां सम्यक्त्वादिषु जातानां दलिकमध्यवसायविशेषेण समाकृष्यान्तरकरणे पर्यन्तावलिकायां प्रक्षिपति तत्र प्रथमसमये प्रभूतं द्वितीयसमये स्तोकं तृतीयसमये स्तोकतरमेवं तावद्वाच्यं यावदावलिकाचरमसमयः तानि चैवं दलिकानि क्षिप्यमाणानि गोपुच्छसंस्थानसंस्थितानि भवन्ति ततः आवलिकामात्रे अन्तरकरणस्य शेषे सति अध्यवसायविशेषादमीषां त्रयाणामेकतरस्य दलिकस्योदयो भवति । इदमुक्तं भवति यदि तदानीं शुभः परिणामस्तर्हि सम्यक्त्वदलिकस्योदयः । मध्यमश्चेत्परिणामस्तर्हि सम्यग्मिथ्यात्वदलिकस्येति जघन्यश्चेत्ततो मिथ्यात्वदलिकस्येति ।

आवलिया सेसाए, उवसमअद्धाए जाव इगिसमयं ।
असुभपरीणामत्तो, कोइ सासायणत्तं पि ॥

उपशान्ताद्धाया जघन्यतः समयशेषायामुत्कर्षतः षडावलिकाशेषायामशुभपरिणामतोऽनन्तानुबन्ध्याद्युदयलक्षणात् कश्चित् सास्वादनत्वमपि याति प्रतियाति स च नियमात्तदनन्तरं मिथ्यात्वमेव प्रतिपद्यते ।

सम्मत्तेणं समगं, सव्वं देसं च कोइ पडिवज्जे ।
उवसंतदंसणो सो, अंतरकरणट्ठिओ जाव ॥

सम्यक्त्वेनोपशमिकसम्यक्त्वेन समकोऽपि कश्चित् सर्वविरतिं देशविरतिं प्रतिपद्यते तदुक्तं शतकबृहच्चूर्णौ " उवसम्मदिट्ठी अन्तरकरणे ठिओ कोइ देसविरइंपि लभेइ कोइ पमत्तापमत्तभावंपि सम्मो य णो पुण न किं पि लभेइत्ति" उपशान्तदर्शनश्चौपशमिकसम्यग्दृष्टिश्च तावदवगन्तव्यौ यावदन्तरकरणे स्थितौ च तिष्ठेते इति तदेवं कृता सम्यक्त्वोत्पादप्ररूपणा । संप्रतिचारित्रमोहनीयस्योपशमनाभिधातव्या चारित्रमोहनीयस्य चोपशमको वेदकसम्यग्दृष्टिर्यतो देशविरतः सर्वविरतो वा प्रवर्त्तमानशुभपरिणामस्तथा चाह ।

वेयगसम्मद्दिट्ठी, सोही अद्धाए अजयमाईया ।
करणदुगेण उवसमं, चरित्तमोहस्स चिट्ठंति ॥

वेदकसम्यग्दृष्टयः क्षायोपशमिकसम्यक्त्वापरित्यक्तसंक्लिष्टविशोध्यद्धायां वर्तमाना अयतादयोऽविरतादयोऽविरतदेशविरतसर्वविरताश्चारित्रमोहनीयस्योपशमार्थं करणद्विकेन यथाप्रवृत्तापूर्वाख्येन यथायोग्यं चेष्टन्ते अनुत्तरा भवन्ति सूत्रे येन तु करणेन साक्षादुपशमका एव भवन्तीति करणद्विकेन चेष्टन्ते इत्युक्तम् ।

संप्रत्येतेषामेवाविरतादीनां लक्षणमाह ।

जाणणगहणणुपालण, विरओ विरई अविरय उभासिं ।
आइमकरणदुगेणं, पडिवज्जइ दोण्ह मन्नपरं ॥

विरते यत् ज्ञानं ग्रहणं पालनं च तैः कृत्वा विरतो भवति तत्र यस्त्रिविधं त्रिविधेन भवेद्विरतः स सर्वविरतः यस्तु एकादिना विरतः स देशविरतः ज्ञानग्रहणानुपालनरूपत्रयभङ्गव्यतिरेकेण चान्येषु भङ्गेषु वर्तमानो नियमादविरतः चरमेऽनुभङ्गे वर्तमानो देशविरतेर्देशविरतः स चानेकप्रकारस्तद्यथा कोऽप्येकाणुव्रती कोऽपि द्व्यणुव्रती एवं यावदुत्कर्षतः परिपूर्णद्वादशव्रतधारी प्रत्याख्यातसकलसावद्यकर्मा केवलमनुमतिमात्रसेवकः । अनुमतिरपि त्रिधा तद्यथा प्रतिसेवनानुमतिः प्रतिश्रवणानुमतिः संवासानुमतिश्च । तत्र यः स्वयं परैर्वा कृतं पापं श्लाघते सावद्यारम्भोपपन्नं वा अशनाद्युपभुङ्क्ते तस्य प्रतिसेवनानुमतिः । यदा तु पुत्रादिभिः कृतं पापं शृणोति श्रुत्वा चानुमनुते न प्रतिषेधति तदा प्रतिश्रवणानुमतिः । यदा पुनः सावद्यारम्भप्रवृत्तेषु पुत्रादिषु केवलं ममत्वमात्रयुक्तो भवति नान्यत् किञ्चित् प्रतिशृणोति श्लाघते वा तदा संवासानुमतिः तत्र संवासानुमतिमात्रमेव यः सेवते स चरमो देशविरतः । स चान्यसर्वश्रावकाणामुत्तमः यः पुनः सावद्यारम्भप्रवृत्तेषु पुत्रादिषु केवलं ममत्वमात्रयुक्तो भवति नान्यत् सानुमतेरपि विरतः स सर्वविरत उच्यते । अनयोश्च द्वयोर्देशविरतिसर्वविरत्योरन्यतरां विरतिमादिमेन यथाप्रवृत्तपूर्वाख्येन करणद्विकेन प्रतिपद्यते इह ह्यविरतः सन् यथोक्ते द्वे करणे करोति देशविरतिं सर्वविरतिं वा प्रतिपद्यते अथ देशविरतस्तर्हि विरतिमेव । अथ कस्माद्देशविरतिसर्वविरत्योर्लाभे तृतीयमनिवृत्तिकरणं न भवति इह करणकालात् प्रागप्यन्तर्मुहूर्तं कालं यावत् प्रतिसमयमनन्तगुणवृद्ध्या विशुद्ध्या प्रवर्तमानोऽशुभानां कर्मणामनुभागद्विस्थानकं करोतीत्यादि तदेव वक्तव्यं यावत् यथाप्रवृत्तं करणं तदपि च तथैव वक्तव्यं ततोऽपूर्वकरणं तदपि च तथैव नवरमिह गुणश्रेणिर्न वक्तव्या अपूर्वकरणाद्धायां च परिसमाप्तायामनन्तरसमये नियमाद्देशविरतिं सर्वविरतिं वा प्रतिपद्यते ततो निवृत्तिकरणं तृतीयमिह नावाप्यते ।

उदयावलिया उप्पिं, गुणसेढिं कुणइ सहचरित्तेण ।
अंतो असंखगुणणा-एताव य वट्टए कालं ॥

करणद्वयेन व्यतिक्रान्ते उदयावलिका उपरि सह चारित्रेण वा समकालं प्रतिसमयमसंख्येयगुणतया गुणश्रेणिमन्तर्मुहूर्तं कालं यावत् करोति कस्मादन्तर्मुहूर्तं कालं यावत् गुणश्रेणिं करोति परतोऽपि नेत्यत आह (ताव य वट्टए कालं) यतस्तावन्मात्रम-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न्तर्मुहूर्त्तं कालं यावदवश्यं वर्तते प्रवर्द्धमानपरिणामो भवति कोऽपि हीयमानपरिणामः ततो यदि प्रवर्द्धमानपरिणामो भवति सन् ऊर्द्धमपि गुणश्रेणिं प्रवर्द्धमानां करोति । अथ हीयमानपरिणामस्तर्हि हीयमानामवस्थितपरिणामश्चावस्थितस्वभावस्थां हीनपरिणामो वा देशविरते स्थितिघातरसघातौ न भवतः ।

परिणामपच्चएणं, गमागमं कुणइ करणरहिओ वि ।
आभोगनट्ठकरणो, करणे काऊण पावेइ ॥

परिणामप्रत्ययतः कथंचित्परिणामह्रासात्कारणात् देशविरतो विरतिं प्रतिपन्नः सर्वविरतो वा देशविरतिं गच्छति ततः स भूयोऽपि तां पूर्वप्रतिपन्नां सर्वविरतिं वा करणरहितोऽपि प्रतिपद्यते एवमकृतकरणेऽनेकशो गमागमं करोति यः पुनराभोगतः प्रतिपत्त्या नष्टकरणो देशविरतेः सर्वविरतेर्वा परिभ्रष्टो मिथ्यात्वं च गतः स भूयोऽपि जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तेन कालेन उत्कर्षतः प्रभूतेन कालेन पूर्वप्रतिपन्नामपि देशविरतिं सर्वविरतिं वा उक्तप्रकारेण करणेन कृत्वा करणद्वयस्य पुरस्सरमेव प्रतिपद्यते ॥

परिणामपच्चएणं, चउव्विहं होइ वड्ढई वावि ।
परिणामवड्ढयाए, गुणसेढिं तत्तियं कीरइ ॥

परिणामप्रत्ययेन परिणामात्कारणात् चतुर्विधः चत्वारः प्रकारो यथा भवति एवं हीयते वर्द्धते वा गुणश्रेणिरिति विभक्तिविपरिणामेन संबध्यते इदमुक्तं भवति यदि हीयमानपरिणामो भवति तर्हि तथा तथा परिणामहानिमध्ये कृतगुणश्रेणिः चतुर्द्धा हीयते तद्यथा कदाचिदसंख्येयभागेन कदाचित्संख्येयभागेन कदाचिदसंख्येयगुणेन कदाचित्संख्येयगुणेन । अथ परिणामः प्रतिसमयं प्रवर्द्धते तर्हि तत्परिणामानुसारेण गुणश्रेणिरप्युक्तप्रकारेण वर्द्धते यदि पुनरवस्थितपरिणामो भवति तर्हि तावन्मात्रामेव गुणश्रेणिमारचयति एषा चैव दलिकापेक्षया द्रष्टव्या । कालश्च पुनः सर्वदाऽपि तावन्मात्रेणैव यावच्च देशविरतिं सर्वविरतिं वा परिपालयति तावद्गुणश्रेणिमपि समये समये करोति । स्थापना चेयं तदेवमुक्तो देशविरतिसर्वविरतिलाभः ।

संप्रत्यनन्तानुबन्धिनाविसंयोजनमाभण्यते ॥

सम्मुप्पायणविहिणा, चउगइया सम्मदिट्ठिपज्जत्ता ।
संजोयणा विजोएंति, न भण पढमठिइं करेंति ॥

सम्यक्त्वोत्पादविधिना सम्यक्त्वोत्पादभणितकरणत्रयरूपेण प्रकारेण चतुर्गतिकाः सम्यग्दृष्टयो वेदकसम्यग्दृष्टयः पर्याप्तास्त अविरतसम्यग्दृष्टयश्चतुर्गतिका अपि देशविरतास्तिर्यग्गतिका वा मनुष्या वा सर्वविरतास्तु मनुष्याः संयोजनातोऽनन्तानुबन्धिनो वियोजयन्ति नाशयन्ति पुनरत्रान्तरकरणं कुर्वन्ति तदभावाच्च प्रथमस्थितिमपि न कुर्वन्ति अन्तरकरणस्य ह्यस्तना स्थितिरित्युच्यते । द्वितीया तु द्वितीया ततोऽन्तरकरणकारणाभावे प्रथमस्थितिमपि न कुर्वन्तीति ।

अत्रैव विशेषमाह ।

उवरिमगे करणदुगे, दलियं गुणसंकमेण तेसिं तु ।
मासेइ तइ पच्छा, अंतमुहुत्ता सभावत्थो ॥

उपरितनके द्विके अपूर्वकरणानिवृत्तिकरणाख्ये तेषामनन्तानुबन्धिनां दलिकं परमाण्वात्मकं गुणसंक्रमेणोज्ज्वलनासंक्रमस्तु विद्धेन नाशयति अनिवृत्तिकरणे च वर्तमानः सन् गुणसंक्रमानुविद्धेनोज्ज्वलनासंक्रमेण निरवशेषान् विनाशयति । किं त्वधस्तादावलिकामात्रं मुञ्चति तदपि च स्तिबुकसंक्रमेण वेद्यमानासु प्रकृतिषु संक्रमयति ततोऽन्तर्मुहूर्त्तात्परतोऽनिवृत्तिकरणपर्यवसाने शेषकर्म्मणामपि स्थितिघातरसगुणश्रेणयो न भवन्ति किं तु स्वभावस्थ एव भवति चतुर्विंशतिसत्कर्म्मा तदेवमुक्तानन्तानुबन्धिनाविसंयोजना । ये त्वाचार्या अनन्तानुबन्धिनामुपशमनामपि मन्यन्ते तन्मतेनोपशमनाविधिः षडशीतिवृत्तेः सप्ततिकावृत्तेर्वा अवसेयः ।

संप्रति दर्शनमोहनीयक्षपणाविधिमाह ।

दंसणखवणस्स रिहो, जिणकालीओ पुमट्ठवासुवरि ।
अणणासकमाकरणाइं, करइ गुणसंकमं तइयं ॥

दर्शनं मिथ्यात्वसम्यक्त्वरूपं तस्य क्षपणा तस्या अर्हो योग्यो जिनकालीयो जिनविरहेण कालसंभवी प्रथमसंभवी प्रथमसंहननी च दुर्गतिं मनुष्यगतौ वर्त्तमानो जीवो वर्षाष्टकस्योपरि वर्तमानोऽनन्तानुबन्धेन विसंयोजनक्रमेण यथाप्रवृत्तादीनि त्रीणि करणानि यथा गुणसंक्रमं च कृत्वा साकल्येन क्षपयति । इयमत्र भावना दर्शनमोहनीयक्षपणार्थमभ्युद्यतस्त्रीणि करोति तद्यथा यथाप्रवृत्तकरणमपूर्वकरणमनिवृत्तिकरणं वा एतानि च त्रीण्यपि करणानि प्रागेव वक्तव्यानि नवरं पूर्वकरणस्य प्रथमसमये एवं गुणसंक्रमेण मिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्वयोर्दलिकं सम्यक्त्वे प्रक्षेपयति उद्वलनासंक्रममपि तयोरेवमारभते । तद्यथा प्रथमस्थितिखण्डं बृहत्तरं घातयति ततो द्वितीयं विशेषहीनमेवं तावद्वक्तव्यं यावन्मिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्वयोः करोति ।

तक्करणाइ जं तं, तस्संते संखभागो होइ ॥

तत्करणादावपूर्वकारणादौ यत् स्थितिसत्कर्म्मासीत्तस्यैव करणस्यान्ते चरमसमये संख्येयभागमात्रं भवति ।

प्रथमसमयापेक्षया संख्येयगुणहीनं भवतीत्यर्थः ।

एवं ठिइबंधो वि य, पविसइ अनियट्टिकरणसमयम्मि ।
अपुव्वगुणसेढिठिइ–रसघायठिइबंधं च ॥

एवमनेन प्रकारेण स्थितिसत्कर्म्मन्यायेन स्थितिबन्धोऽपि वेदितव्यः अपूर्वकरणप्रथमसमये यावान् स्थितिबन्ध आसीत् तदपेक्षयाऽस्यैवापूर्वकरणस्य चरमसमये संख्येयगुणहीनो भवतीत्यर्थः । ततोऽनिवृत्तिकरणसमये प्रविशति तत्र च प्रविष्टः सन् प्रथमसमयादेवारभ्यापूर्वां गुणश्रेणिं अपूर्वं स्थितिघातं रसघातमपूर्वं च स्थितिबन्धमनुक्रममारभते ।

देसुवसमणनिकायण, निहत्तिरहियं च होइ तिगं ॥

अनिवृत्तिकरणप्रथमसमये एवं च देशोपशमना निकाचनानिधत्तिरहितं दर्शनत्रिकं भवति देशोपशमादीनां त्रयाणां करणानां मध्ये नैकमपि तदानीं दर्शनत्रिकस्य करणं प्रवर्तते इत्यर्थः । दर्शनमोहनीयत्रिकस्य च स्थितिसत्कर्म्मस्थितिघातादिभिर्घात्यमानसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्थितिसत्कर्म्मसमानं भवति । ततः स्थितिखण्डसहस्रपृथक्त्वे गते सति तु चतुरिन्द्रियस्थितिसत्कर्म्मसमानं ततोऽपि तावन्मात्रेषु गतेषु त्रीन्द्रियस्थितिसत्कर्म्मसमानं ततोऽपि तावन्मात्रेषु खण्डेषु गतेषु द्वीन्द्रियस्थितिसत्कर्म्मसमानं ततोऽपि तावन्मात्रेषु खण्डेषु गतेषु पल्योपमसंख्येयभागमात्रप्रमाणं भवति तदेवाह ।

कमसो असण्णिचउरिं–दियाण तुल्लं किइं संतं ।
ठिइखंडसहस्साइ, एक्केक्के अंतरम्मि गच्छंति ॥
पलिओवमसंखाणं, दंसणसंतं तओ भाणं ।

अनिवृत्तिकरणाद्धारभ्य क्रमशोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियचतुरिन्द्रियादि-

तुल्यं स्थितिसत्कर्म वक्तव्यम् । एकैकस्मिंश्चोत्तरे स्थितिखण्डसहस्राणि स्थितिघातसहस्राणि व्रजन्ति भावना प्रागेव कृता एवं पल्योपमसंख्येयभागमात्रदर्शनज्ञानमोहनीयतेति यावत् सत्कर्म्मणि जाते सति यच्छति संख्येयान् भागान् खण्डयति । इयमत्र भावना पल्योपमसंख्येयभागमात्रस्य स्थितिकर्म्मण एकसंख्येयभागं मुक्त्वा शेषानशेषानपि संख्येयान् भागान् त्रयाणामपि मिथ्यात्वादीनां विनाशयति ततः प्रागुक्तस्य संख्येयभागस्य एकसंख्येयभागं मुक्त्वा शेषानशेषानपि संख्येयान् भागान् विनाशयति एवं ते संख्येयभागाः खण्ड्यमाना सहस्रशोऽपि व्रजन्ति ततो मिथ्यात्वस्यासंख्येयान् भागान् खण्डयति सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वयोस्तु संख्येयान् भागान् ।

तत्तो बहु खंमंते, खंडइ उदयावलीरहियमिच्छत्तं ।
तत्तो असंखभागो, सत्तामीसाण खंमेइ ॥

ततोऽनेन विधिना स्थितिखण्डानां प्रभूतानामन्ते उदयावलिकारहितसकलमपि मिथ्यात्वं खण्डयति विनाशयति । तदानीं सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वयोर्दलिकं पल्योपमासंख्येयभागमात्रमवतिष्ठते अमूनि च स्थितिखण्डानि खण्ड्यमानानि मिथ्यात्वसम्यक्त्वानि सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वयोः प्रक्षिपति सम्यग्मिथ्यात्वसम्यक्त्वातिसम्यक्त्वानि सम्यक्त्वाधस्तात् स्वस्थाने इति तदपि च मिथ्यात्वदलिकमात्रं स्तिबुकसंक्रमेण सम्यक्त्वे प्रक्षिपति मिथ्यात्वस्यावलिकामात्रायां स्थितौ सत्यां तत ऊर्ध्वं सम्यक्त्वं सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वयोरसंख्येयान् भागान् खण्डयति एवं ते विशिष्येते ततस्तस्याप्यसंख्येयान् भागान् खण्डयति एकं मुञ्चति एवं कतिपयेषु स्थितिखण्डेषु गतेषु सम्यग्मिथ्यात्वमावलिकामात्रं जातं तदानीं च सम्यक्त्वस्य स्थितिसत्कर्म्म च एष्टिकप्रमाणं विद्यते स चाष्टवर्षप्रमाणसम्यक्त्वसत्कर्म तत्काले सकलप्रत्यूहापगमतो निश्चयनियमतो दर्शनमोहनीयस्य क्षपक उच्यते।

अंतमुहुत्तियखंमं, तत्तो उक्किरइ उदयसमयाउ ।
पक्खिवइ असंखगुणं, नाऊण गुणसेढिपरं हीणं ॥

ततो निश्चयनयमतेन क्षपकस्वभवनादूर्ध्वं सम्यक्त्वस्य स्थितिखण्डमन्तर्मुहूर्तप्रमाणमुत्किरति घातयति तद्दलिकमुदयसमयादारभ्य प्रक्षिपति तच्चेदमुदयसमये स्तोकं ज्ञात्वा द्वितीयसमये असंख्येयगुणं ततोऽपि तृतीये समये असंख्येयगुणम् । एवं तावद्वाच्यं यावत् गुणश्रेण्यशिरः तत ऊर्ध्वं विशेषहीनं शेषहीनस्तावत् यावच्चरमा स्थितिः ।

उक्किरइ असंखगुणं, जाव दुचरिमं ति अंतिमे खंमे ।
सेज्जंसो खंडेइ, गुणसेढीए तहा देइ ॥

ततो द्विस्थितिखण्डमन्तर्मुहूर्तप्रमाणं पूर्वस्मादसंख्येयगुणमुत्किरति खण्डयति प्रागुक्तप्रकारेण च उदयसमयादारभ्य निक्षिपति । एवं पूर्वस्मात् पूर्वेदसंख्येयगुणसंस्थितिखण्डमुत्किरति तावद्वाच्यो यावद्द्विचरिमं स्थितिखण्डं द्विचरिमाच्च स्थितिखण्डादन्तिमं स्थितिखण्डं संख्येयगुणं तस्मिंश्चान्तिमे स्थितिखण्डे खण्ड्यमाने संख्येयभागं गुणश्रेण्या खण्डयति अन्याश्च तदुपरितनीः संख्येयगुणाः स्थितीरुत्कीर्य तद्दलिकमुदयसमयादारभ्य संख्येयगुणतया प्रक्षिपति । तद्यथा उदयसमये स्तोकं ततो द्वितीयसमये असंख्येयगुणं ततोऽपि तृतीयसमये असंख्येयगुणम् । एवं तावद्वाच्यं यावद् गुणश्रेणिशिरः । अत ऊर्ध्वमुत्कीर्यमाणमेव दलिकं ततस्तत न प्रक्षिपति एवमेव स्थितिखण्डे उत्कीर्णे सति असौ क्षपकः कृतकरण उच्यते ।

कयकरणो तक्काले, कालं पि करेइ चउसु वि गईसु ।
वेइयसेसो सेढी; अन्नइए वा समारुहइ ॥

कृतकरणः सन् कश्चित्तत्कालमपि करोति कृत्वा च तत्कालं चतसृणां गतीनां गतावुत्पद्यते तदेवं प्रस्थापको मनुष्यो निस्सूचकेषु चतसृष्वपि गतिषु भवति । उक्तं च । "पट्ठवणा उ मणुस्सो निट्ठवणो होइ चउसु वि गईसु " यदि पुनस्तदानीं कालं न करोति तर्हि वेदितशेषोऽनुदितसम्यक्त्वशेषः क्षायिकसम्यग्दृष्टिः सन् अन्यतरां श्रेणिं क्षपकश्रेणिमुपशमश्रेणिं वा समारोहति वैमानिकेष्वेव बद्धायुष्क उपशमश्रेणिम् । अबद्धायुष्कस्तु क्षपकश्रेणिं चतुर्गतिबद्धायुष्कस्तु न कामपि श्रेणिमित्यर्थः । अथाप्येतत्क्षीणसप्तकः कतिथे भवे मोक्षमुपयातीत्युच्यते ।

तइये चउत्थे तम्मि व, भवम्मि सिज्झंति दंसणे खीणे ।
जं देवनिरय संखाउ, चरमदेहेसु ते होंति ॥

तृतीये चतुर्थे तस्मिन्वा भवे क्षीणे दर्शने दर्शनमोहनीये सिध्यन्ति जीवाः कुत इत्याह । यत् यस्मात्कारणात् क्षीणसप्तकदेवनारका संख्येयवर्षायुष्केषु भवन्ति उत्पद्यन्ते ते चरमदेहेषु वा भवन्ति चरमदेहा वा भवन्ति ततस्तृतीये चतुर्थे तस्मिंश्च भवे सिध्यन्तीत्युच्यते इयमत्र भावना देवगतौ बद्धायुष्कास्ते तत्प्रकृत्या यत्कृत्वा देवेषु मध्ये उत्पद्यन्ते ये तु नरकेषु बद्धायुष्कास्ते नरकेषु ततो देवेषु देवभवात्समागत्यैव मनुष्यो भूत्वा मोक्षं यातीति चतुर्थे भवे सिध्यन्तीत्यभिधीयते ये त्वबद्धायुष्काः सप्तकं क्षपयन्ति ते चरमदेहा उच्यन्ते न च सप्तकायानन्तरं क्षपकश्रेणिमेव प्रतिपद्यन्ते इति तस्मिन्नेव भवे सिध्यन्ति उक्ता दर्शनीयमोहनीयस्योपशमना । संप्रति दर्शनमोहनीयोपशमना भण्यते । सा च क्षीणसप्तकस्य वैमानिकेष्वेव बद्धायुष्कस्य भवति । अबद्धायुष्कस्तु क्षपकश्रेणिमारोहति यस्तु वेदकसम्यग्दृष्टिः स तूपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते सोऽनियतो बद्धायुष्को वासे च केषाञ्चिन्मतेनानन्तानुबन्धिनो विसंयोज्य चतुर्विंशति सप्तकर्म्मा सन् प्रतिपद्यते केषांचित्पुनर्मतेनोपशम्यापि ततो विसंयोजितानन्तानुबन्धिकषाय उपशमितानन्तानुबन्धिकषायो वा सन् दर्शनत्रितयमुपशमयति । तथा चाह ।

अहवा दंसणमोहं, पढमं उवसामइत्तु सामन्ने ।
ठिच्चा अणुइ पियाण, पढमठिई आवलीनियमा ॥
पढममुवसमुवसेसे, अंतमुहुत्ता उ तस्स विज्झा उ ।
संकेसाविगोवि पमत्त, इयरपमत्तत्तणं बहुसो ॥

अथवेति प्रकारान्तरे आदौ दर्शनमोहनीयं प्रथममुपशमय्यापि प्रतिपद्यते कथमुपशमय्योत्पद्यत इत्याह । श्रामण्ये संयमे स्थिता उपशमनाविधिश्च प्रागुक्तः करणत्रयानुगो वेदितव्यः । न तु उपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते । अथवा दर्शनमोहनीयं प्रथममुपशमय्यापि प्रतिपद्यते कथमुपशमय्योत्पद्यत इत्याह । श्रामण्ये संयमे स्थिता उपशमनाविधिश्च प्रागुक्तः करणत्रयानुगो वेदितव्यः नवरमन्तरकरणं कुर्वन् अनुदितयोर्मध्ये सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वयोःप्रथमस्थितिरावलिकामात्रा नियमाद्वेदितव्या सम्यक्त्वस्य चान्तर्मुहूर्तप्रमाणा उत्कीर्यमाणं च दलिकमन्तरेण त्रयाणामपि सम्यक्त्वान्तर्वर्ति प्रथमस्थितौ प्रक्षिपति शेषं प्रथमोपशमवत् प्रथमोपशमिकसम्यक्त्ववद्वेदितव्यं (अंतमुहुत्ता उ तस्सेत्यादि) बहुशो ऽन्तरकरणप्रदेशासमयादारभ्यान्तर्मुहूर्तेऽतिक्रान्ते गुणसंक्रमावसाने विध्यातसंक्रमस्तस्य सम्यक्त्वस्य भवति किमुक्तं भवति । वि-

ध्यातसंक्रमेण मिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्वयोर्दलिकं सम्यक्त्वं प्रविशतीति एवं दर्शनमोहनीयत्रितये उपशान्ते संक्लेशविशोधिवशात् प्रमत्तत्वमितरप्रमत्तत्वं बहुशोऽनेकशोऽनुभूय चारित्रमोहनीयोपशमनाय सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते इत्यर्थः ।

पुण तिन्नि उ करणाइं, करेइ तइयम्मि एत्थ पुण तेउ ।
अंतो कोमाकोमी, बंधं संतं च सत्तएहं ॥

चारित्रमोहनीयोपशमनार्थं पुनरपि त्रीणि यथाप्रवृत्तापूर्वानिवृत्ताख्यानि करणानि करोति करणवक्तव्यता प्राग्वद्दृष्टव्या केवलमत्र तृतीयकरणे भेदस्तमेव दर्शयति अतः कोटाकोटीनामबन्धसत्कर्मावसमानामायुर्वर्जानां करणं प्रथमसमये करोति तत्र यद्यपि प्रागुक्तेष्वपि करणेष्वेतेषां बन्धः सत्कर्मणां प्राप्यते तथाऽप्यत्र बन्धसत्कर्मणी तदपेक्षया संख्येयगुणहीने द्रष्टव्ये इति विशेषः । कर्मप्रकृतौ त्वत्र सत्कर्म त्रिसागरोपमकोटाकोटीप्रमाणमुक्तं बन्धस्त्वन्तःसागरोपमकोटाकोटीप्रमाणः तदुक्तम् । " अंतो कोमाकोडी, संतं अनियट्टि णो उ उदहीणं । ठिइखंडं उक्कोसं पि, तस्स पल्लस्स संखतमभागं " ।

ठिइखंडबहुसहस्से, एक्केकं जं भणिस्सामो ।

स्थितिखण्डमुत्कृष्टमपि पल्योपमसंख्येयभागमात्रं खण्डयति । तथा एतस्य प्राक्तनबन्धस्य पल्योपमसंख्येयभागमात्रं हापयित्वा अन्यं स्थितिबन्धं करोतीति शेषः । तत्र यद्यपि शतानामपि कर्मणां पल्योपमसंख्येयभागप्रमाणतया उक्तस्तथाऽपि एवं सत्कर्म द्रष्टव्यं तद्यथा नामगोत्रे सर्वस्तोके हीनस्थितिकत्वात् ततो ज्ञानावरणदर्शनावरणवेदनीयान्तरायाणि विशेषाधिकानि स्वस्थाने तु परस्परतुल्यानि ततोऽपि मोहनीयं विशेषाधिकस्थितिखण्डसहस्रेषु च बहुष्वतिक्रान्तेषु एकैकं यत्करोति तद्वयं भणिष्यामः । तदेवाह ।

करणस्स संखभागे, सेसे असन्निमाइयाणं ।
समो बंधो कामणं, पल्लवसेगतीसाणउदिवट्टं ॥

करणस्यानिवृत्तिकरणस्य संख्येयेषु भागेषु सत्सु एकस्मिन् शेषे असंज्ञिकादीनां समो बन्धः क्रमेण भवति सचैवमनिवृत्तिकरणस्य संख्येयेषु भागेषु गतेष्वेकस्मिन् अशेषे असंज्ञिपञ्चेन्द्रियबन्धतुल्यस्थितिबन्धो भवति तदनन्तरं स्थितिखण्डपृथक्त्वे गते सति चतुरिन्द्रियबन्धतुल्यस्थितिबन्धः ततो भूयोऽपि स्थितिखण्डपृथक्त्वे गते सति त्रीन्द्रियबन्धतुल्यस्थितिबन्धस्तत एवमेव द्वीन्द्रियबन्धतुल्यः ततोऽप्येवमेकैकेन्द्रियबन्धतुल्यस्ततोऽपि स्थितिबन्धसहस्रेषु गतेषु विंशतिकयोः विंशतिसागरोपमकोटीप्रमाणयोर्नामगोत्रयोरित्यर्थः । पल्योपममात्रं स्थितिबन्धो भवति त्रिंशत्कानां ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायवेदनीयानामर्द्धपल्योपममात्रः ।

मोहस्स दोन्नि पल्ला, संतो वि हु एवमेव अप्पबहू ।
पलियम्मि तम्मि बंधे, अन्नो संखेज्जगुणहीणो ॥

मोहनीयस्य द्वौ पल्योपमौ स्थितिबन्धः स्थितिसत्कर्मणि वाल्पबहुत्वं बन्धक्रमेण वक्तव्यं तद्य सर्वस्तोकं नामगोत्रयोः ततो ज्ञानावरणदर्शनावरणवेदनीयान्तरायाणां विशेषाधिकं मोहनीयस्य विशेषाधिकं तथा यस्य यस्य कर्मणो यदा यदा पल्योपमप्रमाणः स्थितिबन्धो भवति तस्य तस्य तदा तत्कालादारभ्यान्योऽन्यः स्थितिबन्धः संख्येयगुणहीनो भवति ततश्चेदानीं नामगोत्रयोः पल्योपमप्रमाणात् स्थितिबन्धादन्यः स्थितिबन्धस्संख्येयगुणहीनं करोति शेषाणां तु कर्मणां पल्योपमसंख्येयभागहीनं ततः ।

एवं तीसाए पुणो, पल्लमोहस्स होइ हु दिवहुं ।
एवं मोहे वहुं, सेसाणं पल्लसंखंसो ॥

एवमुक्तेन प्रकारेण स्थितिबन्धसहस्रेष्वतिक्रान्तेषु त्रिंशत्कानां ज्ञानावरणदर्शनावरणवेदनीयान्तरायाणां स्थितिबन्धः पल्योपमप्रमाणं करोति मोहनीयस्य तु सार्द्धपल्योपममात्रं ततो ज्ञानावरणीयादीनामन्यः स्थितिबन्धः संख्येयगुणहीनो भवति मोहनीयस्य तु संख्येयभागहीनः तत एवं पूर्वक्रमेण स्थितिबन्धसहस्रेष्वतिक्रान्तेष्वित्यर्थः मोहनीयस्य स्थितिबन्धः पल्योपमप्रमाणं भवति ततो मोहनीयस्याप्यन्यः स्थितिबन्धः संख्येयगुणहीनः प्रवर्तते तदानीं च शेषकर्मणां स्थितिबन्धः पल्योपमसंख्येयभागमात्रप्रमाणो वेदितव्यः ।

वीसगतीसगमोहाण, सकम्मं जह कमेण संखगुणं ।
पल्लअसंखेज्जंसो, नामगोयाण तो बंधो ।

विंशत्कत्रिंशत्कमोहानां सत्कर्म यथाक्रमं संख्येयगुणं वक्तव्यं तद्यथा सर्वस्तोकं नामगोत्रयोः सत्कर्म ततो ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायवेदनीयानां सगुणं स्वस्थाने तु परस्परं तुल्यम् । ततोऽपि मोहनीयस्य संख्येयगुणं मोहनीयस्य पल्योपममात्रे स्थितिबन्धे जाते सति नामगोत्रयोरन्यस्थितिबन्धो ऽसंख्येयगुणहीनो भवति पल्योपमासंख्येयभागमात्रो भवतीत्यर्थः । अत्र सत्कर्मापेक्षया अल्पबहुत्वं चिन्त्यते सर्वस्तोकनामगोत्रयोः सत्कर्म ततो ज्ञानावरणदर्शनावरणवेदनीयान्तरायाणामसंख्येयगुणं स्वस्थाने तु परस्परं तुल्यं ततोऽपि मोहनीयस्य संख्येयगुणं ततः ।

एवं सहस्साणंपि हु, एकपयारेण मोहनीयस्स ।
तीसगअसंखभागो, ठिइबंधो संत पंच भवे ॥

एवं पूर्वोक्तेन प्रकारेण स्थितिबन्धसहस्रेष्वतिक्रान्तेष्वित्यर्थः । ज्ञानावरणदर्शनावरणवेदनीयान्तरायाणां स्थितिबन्धोऽसंख्येयगुणहीनो भवति पल्योपमासंख्येयभागमात्रयोर्भवनादिति तात्पर्यार्थः इदानीं च सत्कर्मापेक्षया अल्पबहुत्वं चिन्त्यते सर्वस्तोकनामगोत्रयोः सत्कर्म ज्ञानावरणीयादीनां चतुर्णामसंख्येयगुणं स्वस्थाने तु परस्परं तुल्यं ततो मोहनीयस्य संख्येयगुणं ततः स्थितिबन्धसहस्रेषु गतेषु सत्सु एकप्रकारेण एकहेलयैव मोहनीयस्य पल्योपमासंख्येयभागमात्रो ज्ञानावरणीयादीनां चतुर्णामसंख्येयगुणं स्वस्थाने तु परस्परं तुल्यम् ।

वासगअसंखभागो, मोहपव्वाउघाइतइयस्स ।
वासाणंतउ होज्जइ, असंखभागम्मि वज्झंति ॥

ततः स्थितिबन्धसहस्रेषु गतेषु एकहेलयैव विंशतिकयोर्नामगोत्रयोरधस्तात् असंख्येयगुणहीनो मोहनीयस्य स्थितिबन्धो भवति । अत्र स्थितिबन्धमाश्रित्याल्पबहुत्वं चिन्त्यते सर्वस्तोको मोहनीयस्य स्थितिबन्धस्ततो नामगोत्रयोः संख्येयगुणः स्वस्थाने तु परस्परं तुल्यः । ततो ज्ञानावरणादीनां चतुर्णामसंख्येयगुणः स्वस्थाने तु परस्परं तुल्यः । स्थितिबन्धसहस्रेष्वतिक्रान्तेषु पश्चात् तृतीयस्य वेदनीयस्य घातानि ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायाणि अधोजातानि । अत्र स्थितिबन्धमाश्रित्याल्पबहुत्वं चिन्त्यते सर्वस्तोको मोहनीयस्य स्थितिबन्धः ततो नामगोत्रयोरसंख्येयगुणः । स्वस्थाने तु तयोः परस्परं तुल्यः ततोऽपि ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायाणामसंख्येयगुणः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वस्थाने तु परस्परं तुल्यः। ततोऽपि वेदनीयस्यासंख्येयगुणः। ततः स्थितिबन्धसहस्रेषु गतेषु सत्सु विंशतिकयोर्नामगोत्रयोरसंख्येयभागो जातानि ज्ञानावरणीयादीनि त्रीणि बध्यन्ते नामगोत्रापेक्षया ज्ञानावरणादीनां स्थितिबन्धोऽसंख्येयगुणहीनो भवतीत्यर्थः। अत्राल्पबहुत्वं सर्वस्तोको मोहनीयस्य स्थितिबन्धः ततो ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायाणामसंख्येयगुणः स्वस्थाने तु परस्परं तुल्यः ततोऽपि नामगोत्रयोरसंख्येयगुणः स्वस्थाने तु परस्परं तुल्यः । ततोऽपि वेदनीयस्यासंख्येयगुणः ।

असंखसमयबद्धा, णामुदीरणा होइ तम्मि कालम्मि ।
देसघाइरसत्तो, मणपज्जवअंतरायाणं ॥

यस्मिन्काले सर्वकर्मणां पल्योपमासंख्येयभागमात्रस्थितिबन्धो जातस्तस्मिन् काले असंख्येयसमयबद्धानामुदीरणा भवति कथमेतदवसीयते इति चेदुच्यते इह यदा पल्योपमासंख्येयभागमात्रं स्थितिबन्धं करोति तदा बध्यमानप्रकृतिस्थित्यपेक्षया याः समयादिहीनाः स्थितयस्ता एवोदीरणामुपगच्छन्ति नान्याः ताश्च चिरकालमबद्धा एव क्षीणशेषाः संभवन्तीत्यसंख्येयसमयबद्धानां तदानीमुदीरणा ततः स्थितिबन्धसहस्रेषु एतेषु देशघातिनः समनुभागं मनः पर्यवज्ञानावरणादीनामन्तराययोर्बध्नाति ॥

लोहादीणं पच्छा, जोग अचक्खुसुयाण तो चक्खा ।
परिभोगमईणं ते, विरयस्स असेढिगाथाई ॥

पश्चात्स्थितिबन्धसहस्रेष्वतिक्रान्तेषु लाभान्तरायावधिज्ञानावरणावधिदर्शनावरणानां देशघातिनं रसं बध्नाति ततोऽपि संख्येयेषु स्थितिबन्धसहस्रेष्वतीतेषु भोग्यान्तरायाचक्षुः कुदर्शनावरणश्रुतज्ञानावरणानां देशघातिनं रसं बध्नाति ततोऽपि स्थितिबन्धसहस्रेष्वतिक्रान्तेषु परिभोगान्तरायमतिज्ञानावरणयोर्देशघातिनं रसं बध्नाति ततोऽपि स्थितिबन्धसहस्रेषु वीर्यान्तरायस्य देशघाति न संबध्नाति एतेषामेवानन्तरोक्तानां कर्मणां श्रेणिगताः क्षपकोपशमश्रेणिरहिताः सर्वघातिनमेव रसं बध्नन्ति ।

संजमघाईण तओ, अंतरमुदउ जाण दोण्हं तु ।
वेयकसायन्नयरे, सोदयतुल्ला पढमठिई ॥

वीर्यान्तरायदेशघात्यनुभागबन्धानन्तरं संख्येयेषु स्थितिबन्धसहस्रेषु गतेषु सत्सु संयमघातिनामनन्तानुबन्धे वर्जानां द्वादशकषायाणां नवानां च नोकषायाणां सर्वसंख्यया एकविंशतिप्रकृतीनामनन्तरकरणं करोति तत्र चतुर्णां संज्वलनानामन्यतमस्य यस्य संज्वलनस्योदयो यस्य च त्रयाणां वेदानामन्यतमस्य वेदस्य तयोर्वेदकषायान्यतरयोः कर्मणोः प्रथमा स्थितिः स्वोदयकालप्रमाणा भवत्यन्येषां चैकादशकषायाणामष्टानां च नोकषायाणां प्रथमा स्थितिरावलिकामात्रा । संप्रति चतुर्णां संज्वलनानां त्रयाणां च वेदानां स्वोदयकालप्रमाणमाह—

थीअपुवोदयकालो, संखातगुणो उ पुरिसवेयस्स ।
तस्स हि विसेसअहिओ, कोहे तत्तो विजयकमसो ॥

स्त्रीवेदनपुंसकवेदयोरुदयकालः पुरुषवेदाद्युदयकालापेक्षया सर्वस्तोकः स्वस्थाने तु परस्परं तुल्यः ततः पुरुषवेदस्य उदयकालः संख्येयगुणस्तस्यापि पुरुषवेदस्योदयकालात् क्रोधस्योदयकालो विशेषाधिकस्ततोऽपि क्रोधोदयकालान्मानमायालोभानां यथाक्रमशो यथाक्रमेण विशेषाधिकस्तद्यथा संज्वलनक्रोधोदयकालात्संज्वलनमानस्य उदयकालो विशेषाधिकस्ततोऽपि संज्वलनमायाया विशेषाधिकस्ततोऽपि संज्वलनलोभस्य विशेषाधिकस्तत्र संज्वलनक्रोधेनोपशमश्रेणिं प्रतिपन्नस्य यावदप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणक्रोधोपशमो भवति तावत् संज्वलनक्रोधस्योदयः संज्वलनमानेनोपशमश्रेणिं प्रतिपन्नस्य यावदप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणमानोपशमो न भवति तावत्संज्वलनमानस्योदयः संज्वलनमायया चोपशमश्रेणिं प्रतिपन्नस्य यावदप्रत्याख्यानावरणमायोपशमो नोपजायते तावत्संज्वलनमायायाः उदयः संज्वलनलोभेनोपशमश्रेणिं प्रतिपन्नस्य यावदप्रत्याख्यानावरणलोभोपशमो न भवति तावद्बादरसंज्वलनलोभस्योदयस्ततः परं सूक्ष्मसंपरायाद्धा तदेवमन्तरकरणमुपरितनभागापेक्षया समस्थितिकम् । अधोभागापेक्षया चोत्कर्नीत्या विषमस्थितिकमिति ।

अंतरकरणेण समं, ठिइखंडगबंधगद्धनिप्पत्ती ।
अंतरकरणाणंतर, समये जायंति सत्तइमो ॥

अन्तरकरणेन समं समभित्यव्ययं ततोऽयमर्थः। अन्तरकरणेन समाना स्थितिखण्डस्य बन्धकाद्धायाश्च अभिनवबन्धाद्धायाश्च निष्पत्तिः। किमुक्तं भवति यावता कालेन स्थितिखण्डकं घातयति यद्वा अन्यस्थितिबन्धं करोति तावता कालेनान्तरकरणमपि करोति त्रीण्यप्येतानि युगपदारभते युगपन्निष्ठापयति अत्रान्तकरणकाले चानुभागखण्डसहस्राणि व्यतिक्रामन्ति अन्तरकरणसत्कदलिकस्य प्रक्षेपविधिरयं येषां कर्मणां तदानीं बन्ध उदयश्च विद्यते तेषामन्तरकरणसत्कं दलिकं प्रथमस्थितिद्वितीयस्थितिं च प्रक्षिपति यथा पुरुषवेदोदयारूढः पुरुषवेदस्य येषां तु कर्मणामुदय एव केवलो न बन्धस्तेषामन्तरकरणसत्कं दलिकं प्रथमस्थितावेव प्रक्षिपति न द्वितीयस्थितावपि । यथा स्त्रीवेदोदयारूढः स्त्रीवेदस्य येषां पुनरुदयो न विद्यते किं तु केवलो बन्ध एव तेषामन्तरकरणसत्कं दलिकं द्वितीयस्थितावेव प्रक्षिपति न प्रथमस्थितौ यथा संज्वलनक्रोधोदयारूढः शेषसंज्वलनानां तेषां पुनर्न बन्धो नाप्युदयः तेषामन्तरकरणसत्कं दलिकं परप्रकृतिषु यथा द्वितीयतृतीयकषायाणां तथा अन्तरकरणानन्तरसमये अन्तरकरणे कृते सति द्वितीये समये इत्यर्थः । इमे सप्त पदार्थाः युगपज्जायन्ते तानेवाह ।

एगट्ठाणाणुभागबं, स उदीरणा य संखेया ।
अपुव्वं संकमणं, लोभस्स असंकम्मे मोहे ॥
बद्धं बद्धं छाउ, आवलीसु उवरेयुईरणं ।
पइपरुं गवेउवसमणा, असंखगुणणाय जावंतं ॥

मोहे मोहनीयस्यानुभागबन्धो रसबन्धः एकस्थानकः उदीरणा संख्येयसमा संख्येयवर्षप्रमाणा चशब्दात्स्थितिबन्धः संख्येयवार्षिकः स च सर्वोऽपि पूर्वस्मात् संख्येयगुणहीनो भाव्यः। तथा मोहनीयस्य पुरुषवेदसंज्वलनचतुष्टयरूपरसस्य आनुपूर्व्या क्रमेणैव संक्रमो लोभस्य च संज्वलनलोभस्य वा संक्रमस्तथा 'बद्धं बद्धं' मित्यादि इह प्राक् बद्धं बद्धं कर्म बन्धावलिकायामतीतायामुदीरणामायातिस्म अन्तरकरणे तु कृते तदनन्तरसमयेषु यद्बध्यते कर्म तत् षडावलिकाकालमवस्थाप्योदीरणामायाति तथा पण्डकवेदस्य नपुंसकवेदस्योपशमना असंख्येयगुणतया तावद्भवति यावदन्त्यचरमसमया तथा हि नपुंसकवेदस्य प्रथमसमये स्तोकं प्रदेशाग्रमुपशमयति ततो द्विती-

यसमयश्च संख्येयगुण एवं प्रतिसमयं संख्येयगुणं तावद्वक्तव्यं यावच्चरमसमयः परप्रकृतिषु च प्रतिसमयमुपशमितदलिकापेक्षया असंख्येयगुणं तावत्संक्रमयति यावद् द्विचरमसमये पुनरुपशमस्यमानं दलिकं परप्रकृतिषु संक्रमेण दलिकापेक्षया असंख्येयगुणं ऽप्युक्तं नपुंसकवेदोपशमनारम्भप्रथमसमयादारभ्य सर्वकर्मणामावलिकापेक्षया सर्वस्तोका उदयसंख्येयगुणाः ।

अंतरकरणपविट्ठो, संखासंखं समोहइयराणं ।
बंधादुत्तरबंधा, एवं इत्थेइ संखंसो ॥

अन्तरकरणे प्रविष्टः सन् जीवः प्रथमसमय एव बन्धादुत्तरबन्धस्य संख्येयगुणा अन्तरकरणे विवक्षासंख्याः सन्तीत्यर्थः । यो हि यदपेक्षया संख्येयभागमात्रकल्पः स तदपेक्षया संख्येयगुणहीन एवेति मोहनीयवर्जानां तु शेषाणां कर्मणां बन्धादुत्तरबन्धमसंख्येयभागं करोति असंख्येयगुणहीनं करोतीत्यर्थः एवं नपुंसकवेदमुपशमयति तदुपशमनानन्तरं च स्थितिबन्धसहस्रेष्वतीतेष्वेवमनन्तरोक्तेन प्रकारेण स्त्रीवेदमुपशमयति स्त्रीवेदस्य च संख्येयतमे भागे उपशान्ते यद्भवति तदुपदर्शयन्नाह ।

उवसंते घाईणं, संखेज्जसमा परेण संखंसो ।
बंधो सत्त्तएहेव, संखेज्जवसंति उवसंते ॥

स्त्रीवेदस्य संख्येयतमे भागे उपशान्ते सति घातिनां घातिकर्मणां ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायाणां संख्येयसमाः संख्येयवर्षप्रमाणो बन्धः स्थितिबन्धो भवति (परेणत्ति) ततः संख्येयवर्षप्रमाणात् स्थितिबन्धव्यापारादन्यः संस्थितिबन्धघातिस्वरूपाणां पूर्वस्मात् संख्येयांशः संख्येयभागकल्पः संख्येयगुणहीन इत्यर्थः । तस्मादेव च संख्येयवर्षप्रमाणात् स्थितिबन्धादारभ्य देशघातिनां केवलज्ञानावरणकेवलदर्शनावरणवर्जानां ज्ञानावरणदर्शनावरणकर्मणां नैकस्थानकं बध्नाति तत एवं स्थितिबन्धसहस्रेषु गतेषु सत्सु त्रिधा वेद उपशान्तो भवति ततः स्त्रीवेद उपशान्ते शेषाणां नोकषायाणामेवं नपुंसकवेदोक्तेन प्रकारेण संख्येयतमे भागे उपशान्ते किमित्याह ।

नामगोयाण संखा, बंधावो सा असंखिया तइए ।
तो सव्वाण वि संखा, तत्तो संखेज्जगुणहीणा ॥

नामगोत्रयोः संख्येयाः समाः संख्येयवर्षप्रमाणो बन्धः स्थितिबन्धो भवति तृतीयस्य वेदनीयस्य कर्मणः स्थितिबन्धोऽसंख्येयानि वर्षाणि असंख्येयवर्षप्रमाण इत्यर्थः तस्मिंश्च स्थितिपूर्णे सत्यन्यः स्थितिबन्धो वेदनीयस्यापि संख्येयवर्षप्रमाणो भवति (ततोत्ति) ततस्तस्माद्वेदनीयसत्कसंख्येयवार्षिकस्थितिबन्धात्प्रभृति सर्वेषामपि कर्मणां स्थितिबन्धः संख्येयवार्षिकः प्रवर्तते स च पूर्वस्मात् पूर्वस्मादन्योऽन्यः प्रवर्तमानः संख्येयगुणहीनः प्रवर्तते इत्यर्थः ततः स्थितिबन्धसहस्रेषु गतेषु सत्स्वपि नोकषाय उपशान्तो भवति ।

जं समयं उवसंतं, छक्कं उदयट्ठिई य ता सेसा ।
पुरिसे समऊणावलि, दुगेण बद्धऽणुवसंतं ॥

यस्मिन् समये षट् नोकषाया उपशान्ता जलसिक्तदूषणं कुट्टितभूमि रजोलीवोपशमं नीतास्तदा पुरुषवेदस्य एका उदयस्थितिः समयमात्रा शेषा तदानीं च स्थितिबन्धः षोडश वर्षाणि तस्मिंश्च समये सा एका उदयस्थितिर्यच्च समयोनावलिकाद्विकेन कालेन बद्धमेतावदेवानुपशान्तं वर्तते शेषं सर्वमप्युपशान्तम् । इयमत्र भावना पुरुषवेदस्य प्रथमस्थितौ द्व्यावलिकाशेषायां प्रागुक्तस्वरूपायामेव व्यवच्छिद्यते उदीरणा तु भवति तस्मादेव च समयादारभ्य प्रधाननोकषायाणां सत्कं दलिकं पुरुषवेदेन संक्रमयति किं तु संज्वलनक्रोधादिषु यदा च पुरुषवेदस्य स्वका प्रागुक्ता एकाप्युदयस्थितिरतिक्रान्ता भवति तदाऽसौ वेदको भवति अवेदकाद्धायाश्च प्रथमसमये समयद्वयोनावलिकाद्विकेन कालेन यद्बद्धं तदेव केवलमुपशान्ते तिष्ठति शेषं सकलमपि नपुंसकवेदोक्तेन प्रकारेणोपशमितं तदपि च तावता कालेनोपशमयति एतदेवाह ॥

आगालेणं समगं, पडिगहिया फिट्टइ पुरिसवेयस्स ।
सोलसवासियबंधा, चरमो चरमेण उदएण ॥
तावइ कालेणं वि य, पुरिसं उवसामए अविएसो ।
बद्धो वत्तीससमा, संजलणियराण उ सहस्स ॥

यदा पुरुषवेदस्य प्रागुक्तस्वरूप आगालो व्यवच्छिद्यते तदा तेन समकं तत्कालमेव तस्य पुरुषवेदस्य पत इहता शेषदलिकसंक्रमाधारता स्फिटति अपगच्छति योऽपि च चरमः पर्यन्तेऽपि षोडशवार्षिक स्थितिबन्धः पुरुषवेदस्य सोऽपि चरमेण प्रथमस्थितिचरमसमयभाविना उदयेन सहापगच्छति यदा च पुरुषवेदस्य स्थितिबन्धः षोडशवार्षिकस्तदा संज्वलनानां संख्येयानि वर्षसहस्राणि स्थितिबन्धः यदपि च वेदकाद्धाप्रथमसमये समयोनावलिकाद्विकबद्धं पुरुषवेददलिकमस्ति तदपि वेदोदयरहितः सन् स उपशमको जीवस्तावतैव समयद्वयोनावलिकाद्विकप्रमाणेन कालेन पुरुषवेददलिकमुपशमयति द्वितीयसमये असंख्येयगुणं तृतीयसमये असंख्येयगुणमिदं तावद्वक्तव्यं यावत्काद्वयोनावलिकाद्विकचरमसमयः परप्रकृतिषु प्रतिसमयद्वयोनावलिकाद्विककालं यावद्यथाप्रवृत्तं संक्रमेण संक्रमयति तद्यया प्रथमसमये प्रचुरं द्वितीयसमये विशेषहीनं तृतीयसमयेऽपि विशेषहीनमेवं तावत् यावच्चरमसमयः ततः पुरुष उपशान्तस्तदानीं च संज्वलनानां द्वित्रिंशत्समा द्वात्रिंशद्वर्षप्रमाणः स्थितिबन्धः इतरेषां ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायनामगोत्राणां संख्येयानि वर्षसहस्राणि स्थितिबन्धः अवेदप्रथमसमयादारभ्य क्रोधत्रिकाप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणसंज्वलनरूपमुपशमयति । 'कोहतिगं आढवेइ उवसमिउं तिसुपभिगइणापगाचउय उदीरणा बंधो पिट्ठंति आवलीए सेसाए इति" । यस्मिन् समये पुरुषवेदस्यावेदकास्ततस्तस्मादेवैकप्रथमसमयादारभ्य क्रोधत्रिकाप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणसंज्वलनरूपं युगपदुपशमयितुमारभते उपशमनां च कुर्वतः प्रथमे स्थितिबन्धे पूर्णे सत्यन्यः स्थितिबन्धः संज्वलनानां सर्वसंख्येयभागहीनशेषाणां च संख्येयगुणहीनः शेषं स्थितिघातादि तथैव संज्वलनक्रोधस्य च प्रथमस्थिता समयानावलिकात्रिकशेषायां पतद्ग्रहतापगच्छति अप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणक्रोधदलिकं न तत्र प्रक्षिपति संज्वलनमानादावेति भावः । ततोऽद्धादलिकाशेषायां प्रथमस्थितौ संज्वलनक्रोधस्यागालो भवति । किं तदुदीरणा तावत्प्रवर्तते यावदेका आवदका आवलिका शेषा भवति उदीरणावलिकायाश्चरमसमये स्थितिबन्धश्चत्वारो मासाः शेषकर्मणां तु संख्येयानि वर्षसहस्राणि संज्वलनक्रोधस्य च बन्धोदयोदीरणाव्यवच्छेदास्तथा चाह एकस्यामावलिकायां शेषायामुदय उदीरणा बन्धश्च एते त्रयोऽपि पदाथा युगपत् स्फुटन्त्यपगच्छन्ति तदानीं चाप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणक्रोधानुपशयन्तो तदा चैकामावलिकासमयोनावलिकां द्विकबद्धञ्च दलिकं मुक्त्वा शेषमन्यत्सर्वं संज्वलनं क्रोधस्योपशान्तंसमयो-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नावलिकाद्विकबद्धं च दलिकपुरुषवेदोक्तेन प्रकारेणोपशमयति तथा चाह "सेसयं तु पुरिससमं, एवं सेसकसायावेय इति दुग णं आवलिय।" संज्वलनक्रोधस्य बन्धादौ व्यवच्छिन्ने शेषं पुरुषवेदं समं वक्तव्यम् । एवं क्रोधत्रिकोक्तेन प्रकारेण शेषानप्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणसंज्वलनमानमायालोभरूपान् कषायानुपशमयति याश्च शेषीभूता आवलिकास्ता उत्तरस्मिन् कषाये स्तिबुकेन स्तिबुकसंक्रमेणानुभवति । इयमत्र भावना संज्वलनक्रोधस्य बन्धादिव्यवच्छिन्ने या प्रथमस्थितिरेका आवलिका तिष्ठति तां स्तिबुकसंक्रमेण माने प्रक्षिप्य वेदनीयान् यदपि च समयोनावलिकाद्विकबद्धं सदस्ति तदपि तावता कालेनोपशमयति तद्यथा प्रथमसमये स्तोकमुपशमयति द्वितीये असंख्येयगुणं ततोऽपि तृतीयसमये असंख्येयगुणमेवं यावत्समयोनावलिकाद्विकचरमसमयः परप्रकृतिषु च समयोनावलिकाद्विककालं यावत् यथाप्रवृत्तं संक्रमेण पूर्ववत् संक्रमयति एवं संज्वलनक्रोधे सर्वात्मनोपशमयति यदेव संज्वलनक्रोधस्य बन्धादयः उदीरणाव्यवच्छिन्नास्तदेव संज्वलनमानस्य द्वितीयस्थितेः सकाशात् दलिकमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति निर्वेदयते च तत्रोदयसमये स्तोकं प्रक्षिपति द्वितीयस्थितावसंख्येयगुणं तृतीयस्थितावसंख्येयगुणमेवं तावत् यावत् प्रथमस्थितेश्चरमः समयः प्रथमस्थितिप्रथमसमये संज्वलनमानस्य स्थितिबन्धश्चत्वारो मासाः शेषाणां तु ज्ञानावरणीयादीनां संख्येयानि वर्षसहस्राणि तदानीमेव च त्रीनपि मानान् युगपदुपशमयितुमारभते संज्वलमानस्य च प्रथमस्थितौ समयोनावलिकात्रिकशेषमप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणमानदलिकं संज्वलनमाने प्रक्षिपति किं तु संज्वलनमायादौ आवलिकाद्विकशेषायां त्यागालो व्यवच्छिद्यते तत उदीरणैव केवला प्रवर्त्तते साऽपि तावत् यावदावलिकाचरमसमयः तत एका प्रथमस्थितेरावलिका शेषीभूता तिष्ठति तस्मिंश्च समये संज्वलनानां द्वौ मासौ स्थितिबन्धः कर्माशेषाणां तु संख्येयानि वर्षाणि तदानीं संज्वलनमानस्य बन्धोदयोदीरणा व्यवच्छिन्नाः । अप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणमानौ चोपशान्तौ तदानीं च संज्वलनमानस्य प्रथमस्थितिरेकामावलिकां समयोनावलिकाद्विकबद्धाश्च लता मुक्त्वा विशेषमन्यत्सर्वमुपशान्तं तदानीमेव च संज्वलनमानस्य प्रथमस्थितेरेकामावलिकां लोभमावलिकाद्विकबद्धाश्च लता मुक्त्वा विशेषमन्यत्सर्वमुपशान्तं तदानीमेव च संज्वलनमायायां द्वितीयस्थितेर्दलिकमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च पूर्वोक्तां संज्वलनमानस्य प्रथमस्थितिसत्कामेकामावलिकां स्तिबुकसंक्रमेण संज्वलनमायायां प्रक्षिपति समयोनावलिकाद्विकबद्धाश्च लताः पुरुषवेदोक्तक्रमेणोपशमयति संक्रमयन्ति च संज्वलनमायोदयप्रथमसमये च मायालोभयोर्द्वौ मासौ स्थितिबन्धः शेषकर्म्मणां तु संख्येयानि वर्षाणि तत्समयादेव चारभ्य तिस्रोऽपि माया युगपदुपशमयितुमारभते ततः संज्वलनमाया प्रथमस्थितौ समयोनावलिकाविशेषायामप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणमाया दलिकसंज्वलनमायायां न प्रक्षिपति किं तु संज्वलनलोभे आवलिकाविशेषायां त्यागालो व्यवच्छिद्यते तत उदीरणैव केवला प्रवर्तते साऽपि तावत् यावदावलिकाचरमसमयः तस्मिंश्च समये संज्वलनमायालोभयोः स्थितिबन्धयोरेको मासः शेषकर्म्मणां तु संख्येयानि वर्षाणि तदानीमेव च संज्वलनमायायां बन्धोदयोदीरणाव्यवच्छेदः अप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणमायोपशान्ते संज्वलनमायायाश्च प्रथमस्थितिसत्कामेकावलिकां समयोनावलिकां द्विकबद्धाश्च लता मुक्त्वा शेषमन्यत्सर्वमुपशान्तं ततो निरन्तरसमये संज्वलनलोभस्य द्वितीयस्थितेः सकाशात् दलिकमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च पूर्वोक्तां च मायायाः प्रथमस्थितिसत्कां समयावलिकां स्तिबुकसंक्रमेण संज्वलनलोभे संक्रमयति समयोनावलिकाद्विकबद्धाश्च लताः पुरुषवेदक्रमेणोपशमयति संक्रमयति च संज्वलनक्रोधादीनां सूक्ष्मोदयचरमसमये यावत्प्रमाणस्थितिबन्धोऽनन्तरमुक्तस्तावत्प्रमाणमत्र साक्षात्सूत्रकृत् संवादयति ।

चरिमुदयम्मि जहन्नो, बंधो दुगुणो उ होइ उवसमगे ।
तयणंतरपगईए, चउग्गुणोऽसेसु संखगुणो ॥

इह यः क्षपकश्रेण्या क्षपकस्य संज्वलनक्रोधादी स्वस्वचरमोदयकाले जघन्यः स्थितिबन्ध उक्तः स उपशमके द्विगुणो भवति तदनन्तरं प्रकृतेः पुनश्चतुर्गुणः अन्येषु तु संख्येयगुण इति ततोऽपि परस्याः प्रकृतेरष्टगुण इत्यर्थः । यथा क्षपकमधिकृत्य संज्वलनक्रोधस्य मासद्वयं जघन्यस्थितिबन्ध एको मासस्ततस्तस्य क्रोधचरमोदयकाले चतुर्मासप्रमाणो बन्धः प्रवर्त्तमानः स्वजघन्यबन्धापेक्षया चतुर्गुणो भवति ततोऽपि परा प्रकृतिर्माया स्यात् तदानीमष्टगुणो बन्धस्तस्या हि क्षपकमधिकृत्य स्वचरमोदयकाले जघन्यः स्थितिबन्धोऽर्द्धमासस्ततः क्रोधचरमोदयकाले चतुर्मासिको बन्धः प्रवर्त्तमानः स्वजघन्यबन्धापेक्षया अष्टगुणो भवति तथा मानस्य क्षपकमधिकृत्य जघन्यो बन्ध एको मासः स चोपशमके मन्दपरिणामत्वात् द्विमासप्रमाणो भवति मानस्य चानन्तरा प्रकृतिर्माया तस्यास्तदानीं चतुर्गुणः पक्षापेक्षया मासद्वयस्य चतुर्गुणत्वात् तथा मायायाः क्षपकमधिकृत्य जघन्यो बन्धः पक्षः पक्षः सर्वोपशमे मन्दपरिणामत्वात् चरमोदये मासप्रमाणप्रवर्तमानस्त्रिगुणो भवति शेषकर्म्मणां तु ज्ञानावरणीयादीनां सर्वत्रापि संख्येयवर्षप्रमाणः स्थितिबन्धः केवलं पूर्वस्मात् हीनो हीनतर इति । संप्रतिसंज्वलनलोभवक्तव्यतामाह ।

लोभस्स उ पढमठिई, बिइओ य कुणइ तिविभागं ।
दो पुग्गतनिक्खेवो, तइओ पुण किट्टिवेयद्धा ॥

लोभस्य द्वितीयस्थितेर्दलिकमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति सा त्रिभागा त्रिभागोपेता तद्यथा प्रथमो त्रिभागोऽश्वकर्णकरणाद्धासंज्ञः द्वितीयः किट्टिकरणाद्धासंज्ञः तयोश्च द्वयोरपि विभागयोर्दलिकनिक्षेपो भवति किमुक्तं भवति द्वितीयस्थितेर्दलिकमाकृष्य द्विभागप्रमाणां प्रथमां स्थितिं करोतीति । तृतीयः पुनः त्रिभागः किट्टिवेदनाद्धा संज्वलनलोभोदये चाश्वकर्णकरणाद्धायां वर्तमानः प्रथमसमय एव त्रीनपि लोभान् अप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणसंज्वलनरूपान् युगपदुपशमितुमारभते अन्यच्च यत्करोति प्रथमे अश्वकर्णकरणाद्धासंज्ञे विभागे तदाह ।

संतावऽभमाणग, सरूवगुप्फुडुगाणि जं कुणइ ।
सा अस्सकण्णकरण-द्धमति माकिट्टिकरणद्धा ॥

सन्ति विद्यमानानि यानि संक्रमितानि मायाकर्म्मदलिकानि पूर्वं बद्धसज्वलनलोभे दलिकानि वा तानि बध्यमानस्वरूपतस्तत्कालबध्यमानसंज्वलनलोभरूपतया किमुक्तं भवति तत्कालबध्यमानसंज्वलनलोभस्य द्विकानि चात्यन्तिरसानि यत्र करोति सा अश्वकर्णकरणाद्धा इयमत्र भावना अश्वकर्णकरणाद्धासंज्ञे प्रथमे त्रिभागे वर्तमानसंक्रमितमायादलिकेभ्यः संज्वलनलोभसत्केभ्यो वा पूर्वस्पर्द्धकेभ्यः प्रतिसमयं दलिकं गृहीत्वा तस्य चात्यन्तहीनरसतामापाद्य पूर्ण च प्रतिसमयं दलिकं गृह्णन् अपूर्वाणि स्पर्द्धकानि करोति आसंसारं हि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिभ्रमता न कदाचनापि बन्धमाश्रित्य ईदृशानि स्पर्द्धकानि कृतानि किं तु संप्रत्येव विशुद्धवशात्करोतीत्यर्थः । पूर्वाणि (स-ज्झंति) तथा रूपाणि वा पूर्वाणि स्पर्द्धकानि कुर्वतः संख्येयेषु स्थितिबन्धेषु गतेषु सत्सु अश्वकर्णकरणाद्धा व्यतिक्रामति ततो मध्यमा द्वितीयाद्धा प्रवर्तते तदानीं च संज्वलनलोभस्य स्थितिबन्धो दिनपृथक्त्वप्रमाणः शेषकर्मणां तु वर्षपृथक्त्वमानः किट्टिकरणाद्धायां च पूर्वस्पर्द्धकेभ्यश्च दलिकं गृहीत्वा प्रतिसमयमनन्ताः किट्टीः करोति । संप्रति किट्टिस्वरूपं प्रथमसमयोदये यावतीः किट्टीः करोति तदेव प्रतिपादयति ।

अपुव्वविसोहीए, अणुभागो णूणविभजणं किट्टी ।
पढमसमयम्मि रसफुड्ड–वग्गणा तं जागसमा ॥

अपूर्वया विशुद्ध्या अनुभागस्य फलस्य एकोत्तरवृद्धस्यापनयनेन हीनतरस्य यत् विभजनं सा किट्टिः किमुक्तं भवति पूर्वस्पर्द्धकेभ्यो ऽपूर्वस्पर्द्धकेभ्यश्च वर्गणा गृहीत्वा तासामनन्तगुणां हीनरसतामापाद्य वृहदन्तरलतया यदवस्थानं यथाऽऽसां वर्गणानाम-संकल्पनया अनुभागरसभागानां शतं व्युत्तरं द्व्युत्तरमेकोत्तरमासीत् तासामनुभागानां यथाक्रमं पञ्चविंशति पञ्चदशकं पञ्चकमिति ताः किट्टयस्ता एकस्मिन् रसस्पर्द्धके अनुभागस्पर्द्धके या अनन्ता वर्गणास्तासामनन्ततमे भागे यावत्यो वर्गणास्तावत्प्रमाणाः प्रथमसमये करोति ताश्चानन्तानुबन्धाः किं तु सर्वजघन्यानुभागस्पर्द्धकानुभागेन सदृशाः करोति न तु ततोऽपि हीनाः उच्यन्ते ततोऽपि हीनास्तथा चाह ।

सव्वजहन्नए फड्डग, अणंतगुणहाणिया उ तारसओ ।
पयसमयमसंखंसो, आइमसमया उ जायतो ॥

यत् सर्वजघन्यं रसस्पर्द्धकं ततोऽपि रसमधिकृत्य ताः किट्टीरनन्तगुणहानिका अनन्तगुणहीनाः करोति ता आदिमसमयात्परतः प्रतिसमयमसंख्येयांशान् प्रतिसमयं पूर्वस्मात् असंख्येयभागमात्राः किट्टीस्तावत्करोति यावदर्वाक्किट्टिकरणाद्धाचरमसमयः इयमत्र भावना प्रथमसमये प्रभूताः किट्टीः करोति द्वितीयसमये असंख्येयगुणहीना एवं तावद्वाच्यं यावत् किट्टिकरणाद्धाचरमसमयः ।

अणुसमयमसंखगुणं, दलियमणंतं स उ अणुभागो ।
सव्वेसु मंदरसमा–इयाण दलयंति सेसूणं ॥

अनुसमयं प्रतिसमयं दलिकमसंख्येयगुणं तद्यथा प्रथमसमये सकलकिट्टिगतं दलिकं सर्वस्तोकं ततोऽपि द्वितीयसमये कृतासु किट्टिष्वनन्तगुणहीनं ततोऽपि तृतीयसमये कृतासु किट्टीष्वनन्तगुणहीनम् एवं तावद्वाच्यं यावत्किट्टिकरणाद्धाचरमसमयः । तथा सर्वेषु मन्दरसादिकानां जघन्यरसप्रभृतीनां किट्टीनां दलिकं विशेषो न वक्तव्यं यावत्सर्वोत्कृष्टरसकिट्टिः । इयमत्र भावना सर्वेषु या निवर्त्तिताः किट्टयस्तासां मध्ये या मन्दरसास्तासां दलिकं सर्वप्रभूतं ततोऽनन्तरेणानुभागेनानन्तगुणेनाधिकायां द्वितीयायां किट्टौ दलिकं विशेषहीनं ततोऽप्यनन्तरेणानुभागेनानन्तगुणेनाधिकायां तृतीयस्यां किट्टौ विशेषहीनमेवमनन्तरानुभागाधिकासु किट्टिषु विशेषहीनं तावद्वक्तव्यं यावत् प्रथमसमयकृतानां किट्टीनां मध्ये सर्वोत्कृष्टरसा किट्टिरिति एवं सर्वेष्वपि समयेषु प्रत्येकं भावयितव्यम् ।

आइमसमयकयाणं, मंदाईणं रसो अणंतगुणो ।
सव्वुक्कस्स रसा वि हु, उवरिमसमयस्स णंतंसे ॥

आदिमसमयकृतानां प्रथमसमयकृतानां मन्दादीनां जघन्यरसादीनां रसो यथोत्तरमनन्तगुणो वक्तव्यस्तद्यथा प्रथमसमयकृतानां किट्टीनां मध्ये सर्वा मन्दानुभागा किट्टिः सा सर्वस्तोकानुभागा ततो द्वितीया अनन्तगुणानुभागा ततोऽपि तृतीया अनन्तगुणानुभागा एवं तावद्वाच्यं यावत्प्रथमसमयकृतानां किट्टीनां मध्ये सर्वोत्कृष्टानुभागा किट्टिरिति । एवं द्वितीयादिष्वपि समयेषु किट्टीनां प्ररूपणा कर्त्तव्या । तथा सर्वोत्कृष्टरसाऽपि सर्वोत्कृष्टानुभागाऽपि हु निश्चितमुपरितनसमयस्य सत्का पश्चात्समयभाविसर्वमन्दानुभागकिट्ट्यपेक्षयाऽनन्ततमे भागे वर्तते तद्यथा प्रथमसमयकृतानां किट्टीनां मध्ये या सर्वमन्दानुभागा किट्टी सा सर्वप्रभूतानुभागा ततो द्वितीयसमयकृतानां किट्टीनां मध्ये सर्वोत्कृष्टानुभागा किट्टिः साऽनन्तगुणहीना । तथा द्वितीयसमयकृतानां मध्ये या सर्वमन्दानुभागा किट्टिस्तदपेक्षया तृतीयसमयकृतानां किट्टीनां मध्ये सर्वोत्कृष्टानुभागाऽनन्तगुणहीना एवं तावद्वक्तव्यं यावच्चरमसमयः । संप्रत्यासामेव किट्टीनां परस्परं प्रदेशाल्पबहुत्वमुच्यते प्रथमसमयकृतानां किट्टीनां मध्ये या सर्वा बहुप्रदेशा किट्टिः सा स्तोकप्रदेशा ततो द्वितीयसमयकृतानां किट्टीनां मध्ये या सर्वाल्पप्रदेशा किट्टिः सा असंख्येयगुणप्रदेशा ततस्तृतीयसमयकृतानां किट्टीनां मध्ये या सर्वाल्पप्रदेशा सा असंख्येयगुणप्रदेशा एवं तावद्वक्तव्यं यावच्चरमसमयः ॥

किट्टीकरणद्धाए, तिसु आवलियासु समयहीणासु ।
ते पडिगहिया दोण्ह वि, सट्ठाणे उवसमज्झंति ॥

किट्टिकरणाद्धायास्तिसृष्वावलिकासु समयहीनासु पतद्ग्रहता न भवति अप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणे लोभदलिकं संज्वलनलोभे संक्रमयतीति भावः किं तु तयोर्द्वयोरप्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणलोभयोर्दलिकं स्वस्थान एव स्थितमुपशमं नयते आवलिकाशेषायां पुनः किट्टिकरणाद्धायां बादरसंज्वलनलोभस्यागालो न भवति किं तूदीरणैव साऽपि तावत् यावदावलिका । तथा किट्टिकरणाद्धायाः संख्येयेषु भागेषु गतेषु सत्सु संज्वलनलोभस्य स्थितिबन्धोऽन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणो ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायाणां दिनपृथक्त्वप्रमाणानां नामगोत्रयोर्वेदनीयानां प्रभूतवर्षसहस्रमानस्ततः किट्टिकरणाद्धायाश्चरमसमये संज्वलनलोभस्य स्थितिबन्धोऽन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणः केवलमिदमन्तर्मुहूर्तं स्तोकतरममवसेयं ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायाणामन्तरहोरात्रस्य नामगोत्रवेदनीयानां किंचिदूनवर्षद्वयप्रमाणः आगालव्यवच्छेदानन्तरखण्डा या उदीरणावलिका तस्याश्चरमसमये किट्टिकरणाद्धाचरमसमयस्तस्मिंश्च किट्टिकरणाद्धाचरमसमये यदभूत् तद् दिदक्षुराह ।

लोभस्स अणुवसंतं, किट्टी उदयावली य पुव्वत्तं ।
बायरगुणाए समगं, दोण्ह वि लोभसमुवसंता ॥

किट्टिकरणाद्धायाश्चरमसमये संज्वलनलोभस्य नुपशान्तमुहूर्ते यद् द्वितीयस्थितिगतं किट्टीकृतं दलिकं या च उदयावलिका किट्टीकरणाद्धायाः शेषीभूता यच्च पूर्वोक्तसमयोनावलिकाद्विकबद्धमित्यर्थः । शेषं सर्वमप्युपशान्तं तथा तस्मिन्नेव समये बादरगुणेन अनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थानकेन समकं द्वावप्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणलोभावुपशान्तौ किमुक्तं भवति । यस्मिन्नेव समये द्वावप्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानलोभावुपशान्तौ तस्मिन्नेव समयेऽनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थानकं व्यवच्छेद्यम्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपलक्षणमेतत् बादरसंज्वलनलोभोदयोदीरणा व्यवच्छेदाश्च ।

सेसद्धसेसतइए, दे तावइया किट्टिओ उ पढमठिई ।
वज्जयअसंखनागे, हिट्ठुवरिमुदीरए सेसा ॥

शेषार्द्धशेषं कालं तृतीये त्रिभागे इत्यर्थः सूक्ष्मसंपरायो भवति ताश्च प्राकृताः किट्टीर्द्वितीयस्थितेः सकाशात् कियतीः समाकृष्य प्रथमां स्थितिं तावतीं सूक्ष्मसंपरायाद्धातुल्यां करोति किट्टिकरणाद्धायामन्तिममावलिकामात्रं स्तिबुकसंक्रमेण संक्रमयन्ति तथा प्रतिसमयान्तिमसमयकृताः किट्टीर्वर्जयित्वा शेषसमयकृताः किट्टयः सूक्ष्मसंपरायाद्धायाः प्रथमसमये प्राय उदयमपगच्छन्ति (दिडेत्यादि) वर्षसमयकृतानां किट्टीनामधस्तादसंख्येयभागं प्रथमसमयकृतानां चोपरितनसंख्येयतमभागं वर्जयित्वा शेषाः किट्टीरुदीरयति ।

गेणहंतो य मुयन्ता, असंखनागं तु चरमसमयम्मि ।
उवसामियईयठिई, उवसंतं लभइ गुणट्ठाणं ॥

द्वितीयसमये उदयप्राप्तानां किट्टीनामसंख्येयभागं मुञ्चति उपशान्तत्वादुदयेन ददातीत्यर्थः । अपूर्वं वा संख्येयं भागमनुभावनार्थमुदीरणाकरणे गृह्णाति । एवं ग्रहणमोक्षौ कुर्वन् तावत् ज्ञातव्यो यावत् सूक्ष्मसंपरायाद्धायाश्चरमसमयद्वितीयस्थितिगतमपि दलिकं सूक्ष्मसंपरायाद्धाप्रथमसमयादारभ्य सकलमपि सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानकं कालं यावत् पूर्ववदुपशमयति समयोनावलिकाद्विकबद्धमपि दलिकं सूक्ष्मसंपरायाद्धायाश्चरमसमये ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायाणामान्तर्मौहूर्त्तिकः स्थितिबन्धो नामगोत्रयोः षोडशमुहूर्त्तप्रमाणो वेदनीयस्य चतुर्विंशतिमुहूर्त्तमानः तस्मिन्नेव चरमसमये द्वितीयस्थितिगतं सकलमपि मोहनीयमुपशान्तं तत एवमुपशमितद्वितीयस्थितिरनन्तरसमये उपशान्तमुपशान्ततमोरूपं गुणस्थानं लभते ।

अंतो मुहुत्तमेत्तस्स वि, संखेज्जा नागतुल्ला उ ।
गुणसेढी सव्वद्धं, तुल्ला य एसकालेहिं ॥

अन्तर्मुहूर्त्तमात्रं तत उपशान्तमोहगुणस्थानकं तस्याऽपि उपशान्तमोहगुणस्थानककालस्य संख्येयः संख्येयतमो भागस्तत्तुल्या गुणश्रेणीः करोति ताश्च गुणश्रेणीः सर्वा अपि सर्वमप्युपशान्तगुणस्थानकाद्धाया अनुप्रदेशापेक्षया कालापेक्षया च तुल्याः करोति अवस्थितपरिणामत्वात् ।

करणाय नोवसंतं, संकमणो वट्टणं सुदिट्ठितिगं ।
मोत्तूण विसेसेणं, परिवडइ जा पमत्तो त्ति ॥

मोहनीयस्य प्रकृतिजालमुपशान्तं सत् करणाय करणयोग्यं न भवति उदीरणानिधत्तिनिकाचितानां करणानामयोग्यं भवतीत्यर्थः संक्रमणापवर्तनं च दृष्टित्रिकसम्यक्त्वं सम्यग्मिथ्यात्वरूपशेषाणां मोहनीयप्रकृतीनां न भवति दृष्टित्रिके तु संक्रमणमपवर्त्तनं च भवति तत्र संक्रमो मिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्वयोः सम्यक्त्वम् अपवर्त्तनं तु त्रयाणामपि एवं क्रोधेन श्रेणिं प्रतिपन्नस्य उक्तं यदा तु मानेन श्रेणिं प्रतिपद्यते तदा मानं वेदमान एव प्रथमतो नपुंसकवेदोक्तक्रमेण क्रोधत्रिकमुपशमयति । ततः क्रोधोक्तप्रकारेण त्रिकशेषं तथैव यदा तु मायया श्रेणिं प्रतिपद्यते तदा मायां वेदयमान एव प्रथमतो नपुंसकवेदोक्तप्रकारेण क्रोधत्रिकं ततो मानत्रिकं ततः क्रोधोक्तप्रकारेण मायात्रिकं शेषं तथैव । यदा तु लोभेन श्रेणिं प्रतिपद्यते तदा लोभं वेदयमान एव प्रथमतो नपुंसकवेदोक्तप्रकारेण क्रोधत्रिकं ततो मानत्रिकं ततो मायात्रिकं तत उक्तप्रकारेण लोभत्रिकमिति । संप्रति प्रतिपात उच्यते सोऽपि द्विधा भवक्षयेण अद्धाक्षयेण च तत्र भवक्षयो म्रियमाणस्य अद्धाक्षय उपशान्ताद्धायोर्व्यवच्छेदः तत्र यो भवक्षयेण प्रतिपतति तस्य प्रथमसमय एव सर्वाण्यपि करणानि प्रवर्तन्ते च प्रथमसमये च यानि कर्माण्युदीर्यन्ते तान्युदयावलिकायां प्रवेशयन्ति यानि च मोहोदीरणामायानि तेषां दलिकान्युदयावलिकाया बहिर्गोपुच्छाकारसंस्थितानि विरचयति यः पुनरुपशान्तमोहगुणस्थानकाद्धापरिक्षयेण प्रतिपतति किमुक्तं भवति येनैव क्रमेण स्थितिघातादीन् कुर्वन्नारूढस्तेनैव क्रमेण पश्चानुपूर्व्या स्थितिघातादीन् कुर्वन् प्रतिपतति स च तावत् प्रतिपतति यावत् प्रमत्तसंयतगुणस्थानकम् ।

उक्किट्ठित्ता दलियं, पढमठिई कुण बिइयतिइहिंतो ।
उदयाइविसेसूणं, आवलिउप्पं असंखगुणं ॥

उपशान्तमोहगुणस्थानकात् प्रतिपतन्नक्रमेण संज्वलनलोभादीनि कर्माण्यनुभवति तद्यथा प्रथमतः संज्वलनलोभं ततो यत्र मायोदयव्यवच्छेदस्तत आरभ्य मायां ततो यत्र मानोदयव्यवच्छेदस्ततः प्रकृतिमानं ततो यत्र क्रोधोदयव्यवच्छेदस्तत आरभ्य क्रोधः । इत्थं च क्रमेणानुभवनार्थं तेषां द्वितीयस्थितेः सकाशात् दलिकमपकृष्य प्रथमस्थितिं करोति उदयादिषु च उदयसमयप्रभृतिषु असंख्येयगुणं ततोऽपि द्वितीयसमये असंख्येयगुणं ततोऽपि तृतीयसमये असंख्येयगुणमुदयवतीनामावक्तव्यं यावत् गुणश्रेणीशिरः तथा पुनरपि प्रागुक्तक्रमेण विशेषहीनो दलिकनिक्षेपः एतदेवाह ।

जावइया गुणसेढी, उदयवई तासु हीणगं परतो ।
उदयावतीमकाय, गुणसेढी कुणइ इयराणं ॥

या उदयवत्यस्तत्कालमुदयभाजस्तासां प्रकृतीनां यावती गुणश्रेणिर्यावत् गुणश्रेणीशिर इत्यर्थः तावदुदयावलिका उपरि प्रागुक्तक्रमेण संख्येयगुणं दलिकनिक्षेपं करोति ततः परतो हीनकं विशेषहीनमितरासामनुदयवतीनां प्रकृतीनामुदयावलिकायां दलिकनिक्षेपमकृत्वा इत्यर्थः तत उपरि संख्येयगुणतया दलिकनिक्षेपः स च तावत् गुणश्रेणीशिरस्ततः परतः पुनर्विशेषहीनः ।

संकम उदीरणाणं, नत्थि विसेसो एत्थ पुव्वुत्तो ।
जं जम्मिए वच्छिन्नं, जायए वा होइ तं तत्थं ॥

इह च उपशमश्रेण्यारोहे संक्रमे विशेष उक्तो यथाऽनुपूर्वीयं च संक्रमो नानाऽनुपूर्वी तथा च उदीरणायां विशेष उक्तो यथाबद्धं कर्म बन्धावलिकातीतमुदीरयति न बन्धावलिकामध्ये विशेषोऽशेषसमश्रेणिप्रतिपातेन न भवति किमुक्तं भवत्यपूर्व्योऽपि बद्धं च कर्म बन्धावलिकातिक्रान्तमुदीरयतीति तथा यद्यत्र स्थानं व्यवच्छिन्नमुपगतं वा संक्रमणं वा अपवर्तनं वा उदीरणं वा देशोपशमना वा निधत्तिनिकाचनं वा तत्तत्र स्थाने भवति तथा यत्र यत्र च स्थाने जातं स्थितिरसघातादि तत्र स्थाने तद्विधमेव भवतीति ।

वेइयमाणा संजलण, कालतो अहिगमो ह गुणसेढी ।
परिवत्तिकम्मा उदए, तुल्ला सेसट्ठिकम्मेहि ॥

मोहनीयस्य मोहनीयप्रकृतीनां गुणश्रेणिकालमधिकृत्य वेद्यमानानां संज्वलनकालादभ्यधिका प्रतिपतिता सती आरभ्यते समारोहकाले गुणश्रेण्यपेक्षया तुल्या तथा यस्य कषायस्योदय उपशमश्रेणिप्रतिपत्तिरासीत् तस्योदयप्राप्तस्य सतो गुणश्रेणिः प्रतिपतिता शेषकर्मा निःशेषकर्मांशास्तगुणाश्रेणिभिः सह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तुल्या क्रियते यथा कश्चित् संज्वलनक्रोधेन उपशमश्रेणिं प्रतिपन्नस्ततः श्रेणिं प्रतिपतन् तदा संज्वलनक्रोधमुदयेन प्राप्तवान् भवति ततः प्रभृतितः स्वगुणश्रेणिशेषकर्मभिः समाना भवति एवं मानमाययोरपि वाच्यं संज्वलनलोभेन पुनरुपशमश्रेणिं प्रतिपन्नस्य प्रतिपत्तिकाले प्रथमसमयादारभ्य संज्वलनलोभस्य गुणश्रेणिभिः सह तुल्या प्रवर्तते शेषकर्मणां तु यदारोहत उक्तं तदेव प्रतिपततोऽप्यन्यूनातिरिक्तं वेदितव्यम् ।

खवगुवसमगम्मि एव्व, ठाणे दुगुणो तहिं बंधे ।
अणुभागो णंतगुणो, अनुभागे सुभाण विवरीओ ॥

क्षपकस्य क्षपकश्रेणिमारोहतो यस्मिन् स्थाने यावान् स्थितिबन्धस्तस्मिन्नेव स्थाने उपशमश्रेणिमारोहतस्तावान् स्थितिबन्धो द्विगुणो भवति ततोऽपि तस्मिन्नेव स्थाने उपशमश्रेणितः प्रतिपततो द्विगुणो भवति क्षपकसत्कस्थितिबन्धापेक्षया चतुर्गुणो भवतीत्यर्थः । तथा क्षपकस्य यस्मिन् स्थाने अशुभप्रकृतीनां यावान् अनुभागो भवति तदपेक्षया तस्मिन् स्थाने तासामेव शुभप्रकृतीनामुपशमश्रेणीतः प्रतिपतितोऽनन्तगुणः (सुभाण विवरिओ त्ति) शुभानां पुनरनुभागो विपरीतो वाच्यः स चैव उपशमश्रेणीतः प्रतिपतितो यस्मिन्स्थाने शुभप्रकृतीनां यावाननुभागो भवति तदपेक्षया तस्मिन्स्थाने तासामेव शुभप्रकृतीनामुपशमकस्यानुभागोऽनन्तगुणस्ततोऽपि तस्मिन्नेव स्थाने तासामेव शुभप्रकृतीनां क्षपकस्यानन्तगुणः ।

परिवाडीए पडिओ, पमत्तइयरत्तणे बहुति किच्चा ।
देसजई सम्मो वा, सासणभावं वए कोई ॥

यथा परिपाट्या श्रेणिमारूढस्तथा परिपाट्या पतितः सन् तावदधो गच्छति यावत् प्रमत्तसंयतगुणस्थानकं ततः प्रमत्तत्वाप्रमत्तत्वे बहून्वारान् कृत्वा कश्चित् देशयतिर्भवति कोऽप्यविरतसम्यग्दृष्टिर्वा येषां मतेनानन्तानुबन्धेनानुपशमना न भवति तेषां मतेन कश्चित् सासादनमपि व्रजति ॥

उवसमसम्मत्तद्धा, अंतो आउक्खया धुवं देवो ।
जेण तिसु आउगेसु, बद्धेसु सा सेढिमारुहइ ॥

औपशमिकसम्यक्त्वाद्धायां वर्त्तमानो यदि कश्चिदायुःक्षयात् कालं करोति तर्हि ध्रुवमवश्यं देवो भवति येन यस्मात्कारणात् त्रिषु नारकतिर्यग्मनुष्यसंबन्धिष्वायुष्केषु श्रेणिमुपशमश्रेणिं नारोहति किं तु देवायुष्क एव बद्धे ततः कालं कृत्वा देव एव भवतीति ॥

सेढीपडिओ समो छ–ड्डावलीसासणे वि देवेसु ।
एगभवे दुक्खुत्तो, चरित्तमोहं उवसमेज्जा ॥

यस्मात्कारणात् देवायुर्वर्जेषु शेषेषु त्रिष्वायुःश्रेणिं नारोहति तस्मात्कारणात् श्रेणीतः पतितः सम उत्कर्षतः षडावलिकाकालं जघन्यतः समयमात्रं सासादनो भवति सोऽप्यवश्यं च्युत्वा देवेषु मध्ये समुत्पद्यते तथा एकस्मिन् भवे उत्कर्षतश्चारित्रमोहनीयं द्वौ वारानुपशमयति न तृतीयमपि वारं यस्तु द्वौ वारानुपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते स तस्मिन् भवे क्षपकश्रेणिं न प्रतिपद्यते यस्त्वेकवारमुपशमश्रेणिं प्रतिपन्नस्तस्य भवेदपि तस्मिन् भवे क्षपकश्रेणिः । एवं कार्मग्रन्थिकाभिप्रायः । आगमाभिप्रायेण त्वेकस्मिन् भवे एकामेव श्रेणिं न तु द्वितीयामपि तदुक्तं " अन्नयरसेढिवज्जं, एग भवेणेव सव्वाइं " । अन्यत्राप्युक्तं मोहोपशम एकस्मिन् भवे स्यादसन्ततः यस्मिन् भवे उपशमक्षयो मोहस्य

तत्र नेति एवं पुरुषवेदेनोपशमश्रेणिं प्रतिपन्नस्य विधिरुक्तः । संप्रति स्त्रीवेदेन नपुंसकवेदेन चोपशमश्रेणिं प्रतिपद्यमानस्य विधिमाह

दुचरिमसमये नियगा, वेयस्स इत्थी नपुंसगो संसं ।
समइत्तु सत्त पच्छा, किं तु नपुंसो कमारद्धे ॥

स्त्री नपुंसकस्य वेदेन सहान्योन्यं परस्परं वेदमुपशमयति किमुक्तं भवति स्त्री स्त्रीवेदमुपशमयति नपुंसकवेदं च नपुंसको नपुंसकवेदमुपशमयति स्त्रीवेदं चेति किं तु नपुंसकगते सति पूर्वक्रमेणारब्धे सत्युक्तप्रकारेणोपशमयति इह चोपशमनकरणे स्त्रिया नपुंसकस्य च निजकोदयस्य स्ववेदोदयस्य द्विचरमसमये एकेन्द्रियस्थितिं मुक्त्वा शेषं सर्वमुपशान्तमित्थं च शमयित्वा स्त्री नपुंसको वा पश्चात्सप्त पुरुषवेदादिकाः प्रकृतीरुपशमयति । इयमत्र भावना । इह स्त्री उपशमश्रेणिं प्रतिपन्ना सती प्रथमतो नपुंसकवेदमुपशमयति पश्चात् स्त्रीवेदं तच्च तावदुपशमयति यावत्स्वोदयस्य द्विचरमसमयस्तस्मिंश्च निजकोदयस्य द्विचरमसमये एकां चरमसमयमात्रामुदयस्थितिं च वर्जयित्वा शेषं सकलमपि स्त्रीवेदसत्कं दलिकमुपशमितं ततश्चरमसमये गते सति अवेदके सति पुरुषवेदहास्यादिषट्करूपाः सप्त प्रकृतीर्युगपदुपशमयितुमारभते शेषं पुरुषवेदेन च श्रेणिं प्रतिपन्नस्य द्रष्टव्यं तदा स्त्रीवेदेन पुरुषवेदेन वा उपशमश्रेणिं प्रतिपद्यमानो यस्मिन् स्थाने नपुंसकवेदमुपशमयति तद्दूरं यावन्नपुंसकवेदेन श्रेणिं प्रतिपन्नः सन् नपुंसकवेदमेव समुपशमयति तत ऊर्ध्वं नपुंसकवेदं युगपदुपशमयितुं लग्नः स च तावद्गतो यावन्नपुंसकवेदोदयो द्विचरमसमयः तस्मिंश्च स्त्रीवेद उपशान्तः नपुंसकवेदस्य च एका उदयमात्रा उदयमात्रस्थितिर्वर्तते शेषं सर्वमप्युपशान्तं तस्यामप्युदयस्थितावतिक्रान्तायामवेदको भवति ततः पुरुषवेदादिकाः सप्त प्रकृतीर्युगपदुपशमयतीति । तदेवमुक्ता सर्वोपशमना ।

संप्रति देशोपशमनामभिधातुकाम आह ।

मुलुत्तरकम्माणं, पगइठिइयाइ होइ चउभेया ।
देसकरणेहिं देसं, समइ जं देसुवसमाणो ॥

देशोपशमना मूलकर्मणां मूलप्रकृतीनामुत्तरकर्मणामुत्तरप्रकृतीनां प्रत्येकं प्रकृतिस्थित्यादिका प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशविषया चतुर्भेदा चतुर्विधा भवति इयमत्र भावना । देशोपशमना द्विधा तद्यथा मूलप्रकृतिविषया उत्तरप्रकृतिविषया च, एकैकाऽपि चतुर्भेदा तद्यथा प्रकृतिदेशोपशमना स्थितिदेशोपशमना अनुभागदेशोपशमना प्रदेशोपशमना च । अथ कस्माद्देशोपशमनेत्यभिधीयते अत आह । यत् यस्मात्कारणात् एकदेशभूताभ्यां यथाप्रवृत्तापूर्वकरणसंज्ञिताभ्यां करणाभ्यां प्रकृतिस्थित्यादीनां देशैकदेशं शमयत्यतो देशोपशमनाऽभिधीयते देशभूताभ्यां करणाभ्यामुपशाम्यतीति देशोपशमना । यदि वा देशस्य प्रकृत्यादीनामेकदेशस्योपशमना देशोपशमनेति व्युत्पत्तेः ॥ संप्रत्यस्या व्यवतात्पर्यविश्रान्तिमाह ।

उवसामियस्सुव्वट्टण–संकमकरणाइं होंति नन्नाइं ।
देसोवसामिय जम्हा, पुव्वो सव्वकम्माणं ॥

देशोपशमनया उपशमितस्य कर्मण उद्वर्तनसंक्रमलक्षणानि भवन्ति नान्यानि करणान्युदीरणाप्रवृत्तीनि एष देशोपशमनायाः सर्वोपशमनातो विशेषः । अनया वा देशोपशमनया मूलप्रकृतिमुत्तरप्रकृतिं वा उपशमयितुं प्रभुस्तावदवसेयो यावत् पूर्वैः पूर्वकरणस्थानकचरमसमयः । इयमत्र भावना अस्या देशोपशमनायाः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वामिनः सर्वेतिर्यञ्च एकद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियसंज्ञिनः सर्वे नारकाः सर्वे देवाः सर्वे मनुष्यास्ते च मनुष्यास्तावद्यावदपूर्वकरणान्तसमय इति एवा चैव देशोपशमना सर्वेषामपि कर्मणामवगन्तव्या न मोहनीयस्यैव केवलस्य। स्वामिविषयमेकं च विशेषमाह।

खवगो उवसमगो वा, पढमकसायाण दंसणतिगस्स।
देसोवसमगो सुमु-अपुव्वकरणंतगो जाव ॥

स देशोपशमनास्वामी देशोपशमकः प्रथमकषायाणां दर्शनत्रिकस्य च क्षपक उपशमको वा तावदवसेयो यावत्स्वस्वापूर्वकरणान्तगः। एतदुक्तं भवति। प्रथमकषायाणां विसंयोजना चतुर्गतिका अपि उपशमका मनुष्याः प्रतिपन्नसर्वविरतेर्यै दर्शनत्रिकस्य क्षपका मनुष्या अविरतसर्वविरता उपशमकाः सर्वविरतास्तावद्देशोपशमनाकारिणो यावत्स्वस्वापूर्वकरणचरमसमयो न परत इति। संप्रति साद्यादिप्ररूपणार्थमाह।

साइयमाइ चउद्धा, देसुवसमणा अणाइमंतीणं।
मूलुत्तरपगईणं, साइ अधुवोत्तरपगइयो वा ॥

अनादिमत्योऽनादिसत्ताकास्तासां देशोपशमना चतुर्धा चतुःप्रकारा तद्यथा सादिरनादिर्ध्रुवाऽध्रुवा च। तत्र मूलोत्तरप्रकृतीनामष्टानामपि अपूर्वकरणगुणस्थानकात्परतः सा देशोपशमना न प्रवर्त्तते ततः प्रतिपाते च भूयोऽपि प्रवर्त्तते इति सादिस्तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिर्ध्रुवा अभव्यानां त्वध्रुवा भाविता मूलोत्तरप्रकृतीनां साद्यादिरूपतया चतुर्विधा देशोपशमना। संप्रत्युत्तरप्रकृतीनामनादिसत्कानां सा भाव्यते तत्र वैक्रियसप्तकाहारकसप्तकमनुष्यद्विकदेवद्विकनारकद्विकसम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वोच्चैर्गोत्ररूपोद्वलनयोग्यावयोर्विंशतितीर्थकराश्चतुष्ट्यवर्जाः शेषास्त्रिंशदुत्तरशतसंख्याः प्रकृतयोऽनादिसत्ताकास्तासां मध्ये मिथ्यात्वानन्तानुबन्धिनां स्वस्वापूर्वकरणात्परतो देशोपशमना नोपजायते शेषकर्मणां त्वपूर्वकरणगुणस्थानकात् परतः स्थानात् च्यवमानस्य भूयोऽपि जायते इति सादिस्तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिर्ध्रुवाऽध्रुवा अभव्यभव्यापेक्षया यास्त्वध्रुवा अध्रुवसत्ताकाः प्रकृतयोऽनन्तरोक्ता अष्टविंशतिसंख्याकास्ता देशोपशमनामधिकृत्य साद्यध्रुवास्तासां देशोपशमना सादिरध्रुवा चेत्यर्थः। साद्यध्रुवता अध्रुवसत्तावदेव समवसेया।

संप्रति प्रकृतिस्थानानां साद्यादिप्ररूपणार्थमाह।

गोयाउयाणं दोण्हं, चउत्थछट्ठाण होइ सत्तण्हं।
साइयमाइ चउद्धा, सेसाणं एगठाणस्स ॥

इह गोत्रस्य देशोपशमनामधिकृत्य द्वे प्रकृतिस्थाने तद्यथा द्वे एका च तत्रानुद्वलितोच्चैर्गोत्रस्य द्वे उद्वलितोच्चैर्गोत्रस्यैका तथा आयुषोऽपि द्वे प्रकृतिस्थाने तद्यथा द्वे प्रकृती एका च। तत्र अबद्धपरभवायुष्कस्य एका बद्धपरभवायुषो द्वे एतेषां च चतुर्णामपि स्थानानां देशोपशमना सादिरध्रुवा च स्थानानामपि स्वयं साद्यध्रुवत्वात् तथा "चउत्थछट्ठाण होइ सत्तण्हमिति" तत्र यथासंख्येन पदयोजना तत्र चतुर्थं मोहनीयं तस्य देशोपशमनायोग्यानि षट् प्रकृतिस्थानानि तद्यथा एकविंशतिः चतुर्विंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिरष्टाविंशतिश्च शेषाणि पुनरनिवृत्तिबादरसंपराये प्राप्यन्ते इति देशोपशमनायोग्यानि भवन्ति। तत्राष्टाविंशतिस्थानं मिथ्यादृष्टिसास्वादनसम्यग्दृष्टिवेदकसम्यग्दृष्टीनां प्राप्यते सप्तविंशतिस्थानमुद्वलितसम्यक्त्वस्य सम्यग्मिथ्यादृष्टेर्वा षड्विंशतिस्थानमुद्वलितसम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वस्यानादिमिथ्यादृष्टेर्वा पञ्चविंशतिस्थानं षड्विंशतिसत्कर्मणो मिथ्यादृष्टेः सम्यक्त्वमुत्पादयतोऽपूर्वकरणात्परतो वेदितव्यं तस्य मिथ्यात्वदेशोपशमनाया अभावात् तथा अनन्तानुबन्धिनामुद्वलनेऽपूर्वकरणात्परतो वर्त्तमानस्य चतुर्विंशतिस्थानं चतुर्विंशतिसत्कर्मणो वा चतुर्विंशतिस्थानं क्षपितसप्तकस्य एकविंशतिस्थानम् अत्र षड्विंशतिलक्षणस्थानं मुक्त्वा शेषाणां पञ्चानामपि स्थानानां देशोपशमना साद्यध्रुवस्थानानामपि स्वयंकादाचित्कत्वात् षड्विंशतिस्थानस्य चतुर्धा तद्यथा सादिरनादिर्ध्रुवा अध्रुवा च। तत्रोद्वलितसम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वस्य सादिरनादिर्मिथ्यादृष्टेरनादिर्ध्रुवा अभव्यानां भव्यानान्त्वध्रुवा तथा षष्ठानामनन्तरस्य देशोपशमनायोग्यानि सप्त स्थानानि तद्यथा त्र्युत्तरशतं द्व्युत्तरशतं षण्णवतिः पञ्चनवतिः त्रिनवतिः चतुरशीतिर्द्व्यशीतिश्च तत्रादिमानि चत्वारि स्थानानि यावदपूर्वकरणगुणस्थानकचरमसमयस्तावद्वेदितव्यानि न परतः शेषाणि च त्रीणि त्रिनवतिचतुरशीतिद्व्यशीतिरूपाणि एकेन्द्रियादीनां भवन्ति न श्रेणिप्रतिपद्यमानानां शेषाणि तु स्थानानि अपूर्वकरणगुणस्थानकात्परतो लभ्यानि नार्वागिति न देशोपशमनायोग्यानि एतेष्वपि च स्थानेषु देशोपशमना साद्यध्रुवस्थानानामपि स्वयमनित्यत्वात् शेषाणां तु ज्ञानावरणदर्शनावरणवेदनान्तरायाणां देशोपशमनामधिकृत्यैकैकं प्रकृतिस्थानम्। तत्र ज्ञानावरणस्यान्तरायस्य च प्रत्येकं पञ्चप्रकृत्यात्मकं स्थानं दर्शनावरणस्य नवप्रकृत्यात्मकं तृतीयस्य द्विप्रकृत्यात्मकम्। एषां च देशोपशमना साद्यादिभेदाच्चतुर्धा चतुःप्रकारा तद्यथा सादिरनादिर्ध्रुवा अध्रुवा च। "साइयमाइचउद्धा सेसाणं एगठाणस्स" तत्रापूर्वकरणगुणस्थानकात्परतो न भवत्युपश्रेणितस्ततः शमप्रतिपाते च भूयोऽपि भवति। ततः सादिस्तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिः। ध्रुवाऽध्रुवा च भव्याभव्यापेक्षया। उक्ता प्रकृतिदेशोपशमना।

संप्रति स्थितिदेशोपशमनामाह।

उवसामणा ठिईओ, उक्कोसा संकमेण तुल्लाओ।
इयरा वि किं तु अभवे, उव्वलगे अपुव्वकरणसु ॥

स्थितिदेशोपशमना द्विविधा तद्यथा मूलप्रकृतिविषया उत्तरप्रकृतिविषया च एकैकाऽपि द्विधा तद्यथा उत्कृष्टा जघन्या च तत्र मूलप्रकृतीनामुत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिदेशोपशमना संक्रमेण तुल्या किमुक्तं भवति यः प्रागुत्कृष्टस्थितिसंक्रमस्वामी प्रतिपादितो यथा चोत्कृष्टस्थितिं संक्रमय्य साद्यादिप्ररूपणा तदेतत्सर्वमुत्कृष्टस्थितिदेशोपशमनायामपि वाच्यमितरा स्थितिर्जघन्यास्थितिदेशोपशमनासंक्रमेण तुल्या जघन्यस्थितिः संक्रमतुल्या किंचिदजघन्यमायोग्यजघन्यस्थितौ वर्त्तमानस्य द्रष्टव्या। तस्यैव प्रायः सर्वकर्मणामपि जघन्यायाः स्थितेः प्राप्यमाणत्वात् याश्च प्रकृतयोऽभव्यप्रायोग्यजघन्यस्थितिकास्ते भवन्ति तासामुद्वलकके अपूर्वकरणे वा जघन्यस्थितिदेशोपशमना वेदितव्या तत्रोद्वलनप्रायोग्याणां प्रकृतीनामन्तिमखण्डे पल्योपमसंख्येयभागमात्रे वर्त्तमाने तत्राप्याहारकसप्तकसम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वानामेकेन्द्रियस्यानेकेन्द्रियस्य च शेषप्रकृतीनां तूद्वलनयोग्यानां वैक्रियसप्तकदेवद्विकनारकमनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्ररूपाणामेकेन्द्रियस्यैव अन्यासामपूर्वकरणचरमसमये वर्त्तमानस्येति।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अणुनागपएसाणं, सुभाए जा पुव्वभिच्चइयराणं ।
उक्कोसियर अरूविय, एगेंदी देससमणाए ॥

अनुनागप्रदेशोपशमनाय यथाक्रममनुनागसंक्रमप्रदेशसंक्रमतुल्या इयमत्र भावना द्विविधा अनुभागदेशोपशमना तद्यथा जघन्या उत्कृष्टा च तत्र प्रथमं तावत् उत्कृष्टानुभागप्रदेशोपशमनाया अपि तत्र शुभप्रकृतीनां सम्यग्दृष्टिर्नवरं सातवेदनीययशःकीर्त्युच्चैर्नामगोत्राणामुत्कृष्टानुनागे संक्रमस्वामी अपूर्वकरणगुणस्थानकात्परतोऽपि भवति उत्कृष्टानुभागदेशोपशमनायाः पुनरुत्कर्षतोऽप्यपूर्वकरणगुणस्थानपर्यवसानः स्वामी इतरासामशुभानां प्रकृतीनामुत्कृष्टानुनागदेशोपशमना स्वामी च मिथ्यादृष्टिरवसेयः इतरस्या जघन्यानुनागोपशमनायास्तीर्थकरवर्जानां सर्वासामपि प्रकृतीनामभवसिद्धिप्रायोग्यजघन्यस्थितौ वर्त्तमान एकेन्द्रियस्वामी प्रतिपत्तव्यस्तीर्थकरनाम्नस्तु य एव जघन्यानुभागसंक्रमस्वामी स एव जघन्यानुनागदेशोपशमनाया अपि । प्रदेशोपशमनाऽपि द्विधा उत्कृष्टा जघन्या च । तत्रोत्कृष्टप्रदेशोपशमना उत्कृष्टप्रदेशसंक्रमतुल्या नवरं यथा कर्मणामपूर्वकरणात्परतोऽपि उत्कृष्टप्रदेशसंक्रमः प्राप्यते तेषामपूर्वकरणगुणस्थानचरमसमयं यावत् उत्कृष्टप्रदेशोपशमना वाच्या जघन्या प्रदेशोपशमना अभव्यप्रायोग्यजघन्यस्थितौ वर्त्तमानस्यैकेन्द्रियस्येति समाप्तमुपशमनाकरणं तदेवमुक्तमुपशमनाकरणम् । पं० सं० । आचा० (कर्मप्रकृतितो ग्रन्थोऽर्थतो नातिरिच्यते शब्दतस्तु भिन्नोऽपि न पृथगवस्थापितोऽभिधेयस्यैवोपादेयत्वात्)

उवसमप्पभव–उपशमप्रभव– त्रि० उपशम इन्द्रियनोइन्द्रियजयस्तस्मात्प्रभवो जन्मोत्पत्तिर्यस्याऽसौ उपशमप्रभवः इन्द्रियमनोनिग्रहलभ्ये, पा० "अहिरम्मो वत्थियस्स उवसमप्पभवस्स नवबंभचेरगुत्तस्स " उपशमप्रभवस्येन्द्रियमनोजयोत्पन्नस्य । ध० ३ अधि० ।

उवसमलद्धाइकलिय–उपशमलब्ध्यादिकलित– पुं० ३ त० उपशमलब्ध्युपकरणलब्धिस्थिरहस्तलब्धियुक्ते, "अविसाई परलोए उवसमलद्धाइकलिओ य " पं० व० ।

उवसमलद्धाइजुत्त–उपशमलब्ध्यादियुक्त– पुं० उपशमलब्धिः परमुपशमयितुं सामर्थ्यलक्षणाऽऽदिशब्दादुपकरणलब्धिः स्थिरहस्तलब्धिश्च गृह्यते ततस्ताभिश्च संयुक्तः संपन्नः । उपशमलब्ध्यादिकलिते, ध० ३ अधि० ।

उवसमलद्धि–उपशमलब्धि– स्त्री० परमुपशमयितुं सामर्थ्ये, ध० ३ अधि० । उपशमनाकरणसामर्थ्ये, " पञ्जसो लद्धितिगजुत्तो " लब्धित्रिकयुक्त उपशमलब्ध्युपशमश्रेणिश्रवणकरणलब्धिकरणत्रयहेतुप्रकृष्टयोगलब्धिरूपत्रिकयुक्तः क० प्र० ।

उवसमसार–उपशमसार– त्रि० उपशमप्रधाने, " से किमाहु भंते ! उवसमसारं खु सामन्नं " कर्म० ।

उवसमसेढि–उपशमश्रेणि– स्त्री० उपशमनाप्रकारे, उपशमश्रेणिं प्रकटयन्नाह ।

अणदंसनपुंसत्थी, वेयच्छक्कं च पुरिसवेयं च ।
दो दो एगंतरिए, सरिसे सरिसं उवसमेइ ॥ ९८ ॥

तत्र प्रथमतोऽनन्तानुबन्धिनामुपशमनाऽभिधीयते अविरतसम्यग्दृष्टिदेशविरतप्रमत्ताप्रमत्तानामन्यतमोऽन्यतमस्मिन् योगे वर्त्तमानस्तेजःपद्मशुक्ललेश्यानामन्यतमलेश्यायुक्तः साकारोपयोगोपयुक्तोऽन्तः सागरोपमकोटाकोटीस्थितिसत्कर्मा करणकालात्पूर्वमप्यन्तर्मुहूर्त्तकालं यावदवदायमानचित्तसन्तत्यपूर्वेकरणं तिष्ठति तथा च तिष्ठमानश्च परावर्त्तमानाः प्रकृतीः शुभा एव बध्नाति नाशुभाः । अशुभानां च प्रकृतीनामनुनागं चतुःस्थानकं सन्तं द्विस्थानकं करोति शुभानां च द्विस्थानकं सन्तं चतुःस्थानकं स्थितिबन्धेऽपि च पूर्णे सति अन्यं स्थितिबन्धं पूर्वपूर्वस्थितिबन्धापेक्षया पल्योपमासंख्येयभागहीनं करोति । इत्थं करणकालात्पूर्वमन्तर्मुहूर्त्तं कालं यावदवस्थाय ततो यथाक्रमं त्रीणि करणानि प्रत्येकमान्तर्मौहूर्त्तिकानि करोति । तद्यथा यथाप्रवृत्तिकरणम्, अपूर्वकरणम्, अनिवृत्तिकरणम् । चतुर्थी–तूपशान्ताद्धा । तत्र यथाप्रवृत्तिकरणे प्रविशन् प्रतिसमयमनन्तगुणवृद्ध्या विशुद्ध्या प्रविशति पूर्वोक्तं च शुभप्रकृतिबन्धादिकं तथैव तत्र कुरुते न च स्थितिघातं रसघातं गुणश्रेणिं गुणसंक्रमं वा करोति तद्योग्यविशुद्ध्यभावात् प्रतिसमयं नानाजीवापेक्षया असंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणान्यध्यवसायस्थानानि भवन्ति षट्स्थानपतितानि च । अन्यच्च प्रथमसमयापेक्षया द्वितीयसमयेऽध्यवसायस्थानानि विशेषाधिकानि ततोऽपि तृतीयसमये विशेषाधिकानि एवं तावद्वाच्यं यावद्यथाप्रवृत्तकरणसमयः एवमपूर्वकरणेऽपि द्रष्टव्यम् । अत एवैतानि स्थाप्यमानानि विषमचतुरस्रं क्षेत्रमास्तृणन्ति स्थापना चेयम् ।

१२०००००००००००१६
१००००००००००००१५
८०००००००००००१४
६००००००००००१३
४०८००००००११
३००००००९
२०००००७
१००००५

इह कल्पनया द्वौ पुरुषौ युगपत्करणं प्रतिपन्नौ विवक्ष्येते तत्रैकस्सर्वजघन्यया विशोधिश्रेण्या प्रतिपन्नः अपरस्तु सर्वोत्कृष्टया विशोधिश्रेण्या तत्र प्रथमजीवस्य प्रथमसमये जघन्या विशोधिः सर्वस्तोका ततो द्वितीयसमये जघन्या विशोधिरनन्तगुणा ततोऽपि तृतीयसमये जघन्या विशोधिरनन्तगुणा एवं तावद्वाच्यं यावद्यथाप्रवृत्तकरणाद्धाया संख्येयो भागो गतो भवति ततः संख्येये भागे गते सति चरमसमयजघन्यविशुद्धसकाशात्प्रथमसमये द्वितीयस्य जीवस्य उत्कृष्टा विशोधिरनन्तगुणा ततोऽपि यतो जघन्यविशुद्धिस्थानान्निवृत्तस्ततः उपरितनं जघन्यविशोधिस्थानमनन्तगुणं ततो द्वितीयसमये उत्कृष्टा विशुद्धिरनन्तगुणा ततः उपरितनं जघन्यं विशोधिस्थानमनन्तगुणं ततस्तृतीयसमये उत्कृष्टा विशुद्धिरनन्तगुणा । एवमुपर्यधश्च एकैकविशोधिस्थानमनन्तगुणतया द्वयोर्जीवयोस्तावन्नेयं यावद्यथाप्रवृत्तकरणस्य चरमसमये जघन्यं विशुद्धिस्थानं ततः शेषाणि उत्कृष्टानि यानि विशोधिस्थानानि अनुक्तानि तिष्ठन्ति तानि निरन्तरमनन्तगुणया वृद्ध्या तावन्नेतव्यानि यावच्चरमसमये उत्कृष्टं विशोधिस्थानम् । भणितं यथाप्रवृत्तिकरणम् । संप्रत्यपूर्वकरणमुच्यते । तत्रापूर्वकरणे प्रतिसमयमसंख्येयलोकाकाशप्रमाणानि अध्यवसायस्थानानि भवन्ति प्रतिसमयं च षट् स्थानपतितानि तत्र प्रथमसमये जघन्या विशोधिः सर्वस्तोका सा च यथाप्रवृत्तकरणचरमसमयसत्कोत्कृष्टविशोधिस्थानादनन्तगुणा ततः प्रथमसमय एवोत्कृष्टा विशोधिरनन्तगुणा ततोऽपि द्वितीयसमये जघन्या विशोधिरनन्तगुणा ततोऽपि तस्मिन्नेव द्वितीयसमये उत्कृष्टा विशोधिरनन्तगुणा ततोऽपि तृतीयसमये जघन्या विशो-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भिरनन्तगुणा एवं जघन्यमुत्कृष्टं च विशोधिस्थानमनन्तगुणया वृद्ध्या तावन्नेयं यावदपूर्वकरणस्य चरमसमये जघन्योत्कृष्टविशुद्धिरनन्तगुणा । स्थापना चेयम् ।

२५०००००००२६
२३००००००००२४
२१००००००२२
१९००००००२०
१७०००००१८

अस्मिंश्चापूर्वकरणे प्रविशन् स्थितिघातं रसघातं गुणश्रेणिं गुणसंक्रमणमपूर्वस्थितिबन्धं च युगपदारभते तत्र स्थितिघातो नाम-स्थितिसत्कर्मणोऽग्रिमभागादुत्कृष्टतः प्रभूतसागरोपम (शत) पृथक्त्वमात्रं जघन्यतः पल्योपमसंख्येयभागमात्रं स्थितिखण्डं खण्डयति तद्दलिकं चाऽधस्ताद्याः स्थितीर्न खण्डयिष्यति तत्र प्रक्षिपति अन्तर्मुहूर्तेन कालेन तत्र स्थितिखण्डमुत्कीर्यते खण्ड्यत इत्यर्थः ततः पुनरधस्तात्पल्योपमसंख्येयभागमात्रं स्थितिखण्डमन्तर्मुहूर्तेन कालेनोत्किरति पूर्वोक्तप्रकारेणैव च निक्षिपति एवमपूर्वकरणाद्धायां प्रभूतानि स्थितिखण्डसहस्राणि व्यतिक्रामन्ति तथा च सत्यपूर्वकरणस्य प्रथमसमये यत् स्थितिसत्कर्मासीत्तत्तस्यैव चरमसमये संख्येयगुणहीनम् । ज्ञातरसघातो नाम अशुभप्रकृतीनां यदनुभागं सत्कर्म तस्याऽनन्ततमभागं मुक्त्वा शेषाननुभागानन्तर्मुहूर्तेन कालेनाशेषानपि विनाशयति ततः पुनरपि तस्य प्रागुक्तस्यानन्ततमभागस्याऽनन्ततमं भागं मुक्त्वा शेषाननुभागानन्तर्मुहूर्तेन कालेन विनाशयति एवमनेकान्यनुभागखण्डसहस्राण्येकस्मिन् स्थितिखण्डे व्यतिक्रामन्ति तेषां च स्थितिखण्डानां सहस्रैरपूर्वकरणं परिसमाप्यते । गुणश्रेणीनामन्तर्मुहूर्तप्रमाणानां स्थितीनामुपरि याः स्थितयो वर्तन्ते तन्मध्याद्दलिकं गृहीत्वा उदयावलिकाया उपरितनीषु प्रतिसमयमसंख्येयगुणतया निक्षिपति तद्यथा प्रथमसमये स्तोकं द्वितीयसमयेऽसंख्येयगुणं तृतीयसमयेऽसंख्येयगुणम् । एवं तावन्नेयं यावदन्तर्मुहूर्तचरमसमयस्तच्चान्तर्मुहूर्तमपूर्वकरणानिवृत्तिकरणकालाभ्यां मनागतिरिक्तं वेदितव्यम् । एष प्रथमसमयगृहीतदलिकस्य निक्षेपविधिः । एवं द्वितीयादिसमयगृहीतानामपि दलिकानां निक्षेपो वक्तव्यः अन्यच्च गुणश्रेणिरचनाय प्रथमसमये यद्दलिकं गृह्यते तत् स्तोकं ततोऽपि द्वितीयसमयेऽसंख्येयगुणं ततोऽपि तृतीयसमयेऽसंख्येयगुणम् । एवं तावन्नेयं यावद् गुणश्रेणिकरणचरमसमयः अपूर्वकरणसमयेष्वनिवृत्तिकरणसमयेषु चानुभवतः क्रमशः क्षीयमाणेषु गुणश्रेणिदलिकनिक्षेपः शेषे भवति उपरि च न वर्धत इति । तथा गुणसंक्रमो नाम अपूर्वकरणस्य प्रथमसमये अनन्तानुबन्ध्यादीनामशुभप्रकृतीनां यद्दलिकं परप्रकृतिषु संक्रमयति तत्स्तोकं ततो द्वितीयसमये परप्रकृतिषु संक्रम्यमाणसमयमसंख्येयगुणं ततोऽपि तृतीयसमयेऽसंख्येयगुणम् एवं तावद् वक्तव्यं यावच्चरमसमयः । तथा अन्यस्थितिबन्धो नाम अपूर्वकरणस्य प्रथमसमयेऽन्य एवापूर्वः स्तोकः स्थितिबन्धः आरभ्यते स्थितिबन्धस्थितिघातौ युगपदेव च निष्ठां यातः एवमेते पञ्च पदार्था अपूर्वकरणे प्रवर्तन्ते व्याख्यातमपूर्वकरणम् । इदानीमनिवृत्तिकरणमुच्यते । अनिवृत्तिकरणं नाम यत्र प्रविष्टानां सर्वेषामपि तुल्यकालानामेकाध्यवसायस्थानम् । तथा हि अनिवृत्तिकरणस्य प्रथमसमये ये वर्तन्ते ये च वृत्ता ये च वर्तिष्यन्ते तेषां सर्वेषामप्येकरूपमेवाध्यवसायस्थानं द्वितीयसमयेऽपि ये वर्तन्ते ये च वृत्ता ये च वर्तिष्यन्ते तेषामपि सर्वेषामेकरूपमध्यवसायस्थानं नवरं प्रथमसमयभाविविशोधिस्थानापेक्षयाऽनन्तगुणम् । एवं तावद्वाच्यं यावदनिवृत्तिकरणचरमसमयः अत एवास्मिन् करणे प्रविष्टानां तुल्यकालानामसुमतां संबन्धिनामध्यवसायस्थानानां परस्परं निवृत्तिर्व्यावृत्तिर्न विद्यते इत्यनिवृत्तिकरणं नाम अस्मिंश्चानिवृत्तिकरणे यावन्तः समयास्तावन्त्यध्यवसायस्थानानि पूर्वस्मादनन्तगुणवृद्धानि एतानि च मुक्तावलीसंस्थानेन स्थापयितव्यानि । अत्रापि प्रथमसमयादेवारभ्य पूर्वोक्ताः पञ्च पदार्था युगपत्प्रवर्तन्ते अनिवृत्तिकरणाद्धायाश्च संख्येयेषु भागेषु गतेषु सत्सु एकस्मिन् भागेऽवतिष्ठमाने अनन्तानुबन्धिनामधस्तादावलिकामात्रं मुक्त्वा अन्तर्मुहूर्तप्रमाणमन्तरकरणमभिनवस्थितिबन्धाद्धासमेनान्तर्मुहूर्तप्रमाणेन कालेन करोति अन्तरकरणसत्कं च दलिकमुत्कीर्यमाणं प्रकृतिषु बध्यमानासु प्रक्षिपति प्रथमस्थितिगतं दलिकमावलिकामात्रं वेद्यमानानामुपरि प्रकृतिषु स्तिबुकसंक्रमेण संक्रमयति अन्तरकरणे कृते सति द्वितीयसमयेऽनन्तानुबन्धिनामुपरितनस्थितिदलिकमुपशमयितुमारभते । तद्यथा प्रथमसमये स्तोकमुपशमयति द्वितीयसमये संख्येयगुणं तृतीयसमयेऽसंख्येयगुणम् । एवं यावदन्तर्मुहूर्तकालम् तावता च कालेन साकल्यतोऽनन्तानुबन्धिन उपशमिता भवन्ति उपशमितानां यथा रेणुनिकरः सलिलबिन्दुनिवहैरभिषिच्याभिषिच्य द्रुघणादिभिर्निष्कुट्टितो निःस्पन्दो भवति तथा कर्मरेणुनिकरोऽपि विशोधिसलिलप्रवाहेण परिषिच्य परिषिच्यानिवृत्तिकरणरूपद्रुघणनिष्कुट्टितः संक्रमणोदयोदीरणानिधत्तिनिकाचनकरणानामयोग्यो भवति तदेवमेकेषामाचार्याणां मतेनानन्तानुबन्धिनामुपशमनाऽभिहिता । अन्ये त्वाचक्षते अनन्तानुबन्धिनामुपशमना न भवति किं तु विसंयोजनैव विसंयोजना क्षपणा सा चैवम् इह श्रेणिमप्रतिपद्यमाना अपि अविरता विरताश्च चतुर्गतिका अपि । तद्यथा नारका देवा अविरतसम्यग्दृष्टयः तिर्यञ्चोऽविरतसम्यग्दृष्टयो देशविरता वा मनुजा अविरतसम्यग्दृष्टयो देशविरताः सर्वविरता वा । अनन्तानुबन्धिनां विसंयोजनार्थं यथाप्रवृत्तादीनि त्रीणि करणानि कुर्वन्ति करणवक्तव्यता सर्वाऽपि प्राग्वत् नवरमिहानिवृत्तिकरणे प्रविष्टः सन् अन्तरकरणं न करोति ।

उक्तं च कर्मप्रकृतौ ।

चउगइया पज्जत्ता, तिन्नि वि संजोयणे विसंजोयेंति ।
करणेहिं तिहिं सहिया, नंतरकरणं उवसमो वा ॥

अस्याक्षरगमनिका चतुर्गतिका नारकतिर्यग्मनुष्यदेवाः सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्तास्त्रयोऽप्यविरतदेशविरतसर्वविरतास्तत्राविरतसम्यग्दृष्टयश्चतुर्गतिकाः देशविरतास्तिर्यञ्चो मनुष्या वा सर्वविरता मनुष्या एव संयोजनामनन्तानुबन्धिनो विसंयोजयन्ति विनाशयन्ति । किंविशिष्टाः सन्त इत्याह करणैस्त्रिभिर्यथाप्रवृत्तापूर्वकरणानिवृत्तिबादरैः सहिता नवरमिहान्तरकरणं न वक्तव्यम् । उपशमो वा उपशमश्चानन्तानुबन्धिनां न भवतीत्यर्थः । किं तु कर्मप्रकृत्यभिहितस्वरूपेणोद्वलनासंक्रमेणाधस्तादावलिकामात्रं मुक्त्वा उपरि निरवशेषाननन्तानुबन्धिनो विनाशयति आवलिकामात्रं तु स्तिबुकसंक्रमेण वेद्यमानासु प्रकृतिषु संक्रमयति । तदेवमुक्ता अनन्तानुबन्धिनां विसंयोजना । संप्रति दर्शनत्रिकस्योपशमना भण्यते । तत्र मिथ्यात्वस्योपशमना मिथ्यादृष्टेर्वेदकसम्यग्दृष्टेश्च सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वयोस्तु वेदकसम्यग्दृष्टेरेव तत्र मिथ्यादृष्टेर्मिथ्यात्वोपशमना प्रथमसम्यक्त्वमुत्पादयतः सा चैवं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पञ्चेन्द्रियसंज्ञी सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्तः करणकालात्पूर्वमप्यन्तर्मुहूर्त्तकालं प्रतिसमयमनन्तगुणवृद्ध्या विशुद्ध्या प्रवर्द्धमानोऽभव्यसिद्धिकविशुद्ध्यपेक्षयाऽनन्तगुणविशुद्धिको मतिश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानानामन्यतमस्मिन् साकारोपयोगे उपयुक्तोऽन्यतरस्मिन् योगे वर्त्तमानो जघन्यपरिणामेन तेजोलेश्यायां मध्यमपरिणामेन पद्मलेश्यायामुत्कृष्टपरिणामेन शुक्ललेश्यायां वर्त्तमानो मिथ्यादृष्टिश्चतुर्गतिकोऽन्तः सागरोपमकोटीकोटीस्थितिसत्कर्मा इत्यादि पूर्वोक्तं तावद्वाच्यं यावद्यथाप्रवृत्तिकरणमपूर्वकरणं च परिपूर्णं भवति नवरमिहापूर्वकरणे गुणसंक्रमो नो वक्तव्यः किंतु स्थितिघातरसघातस्थितिबन्धगुणश्रेणय एव वक्तव्याः । गुणश्रेणिदलिकरचनाप्युदयसमयादारभ्य वेदितव्या ततोऽनिवृत्तिकरणेऽप्येवमेव वक्तव्यम् अनिवृत्तिकरणाद्धायाश्च संख्येयेषु भागेषु गतेषु सत्सु एकस्मिन् संख्येयतमे भागेऽवतिष्ठमानेऽन्तर्मुहूर्त्तमात्रमधो मुक्त्वा मिथ्यात्वस्यान्तरकरणमन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणं प्रथमस्थितेः किंचित्समधिकं न्यूनं वाऽभिनवस्थितिबन्धाद्धा समेनान्तर्मुहूर्त्तेन कालेन करोति अन्तरकरणसत्कं च दलिकमुत्कीर्य प्रथमस्थितौ द्वितीयस्थितौ च प्रक्षिपति । प्रथमस्थितौ च वर्त्तमानोदीरणाप्रयोगेण यत्प्रथमस्थितिगतं दलिकं समाकृष्योदये प्रक्षिपति सा उदीरणा यत्पुनर्द्वितीयस्थितेः सकाशादुदीरणाप्रयोगेणैव दलिकं समाकृष्य उदये प्रक्षिपति सा उदीरणाऽपि पूर्वसूरिभिर्विशेषप्रतिपत्त्यर्थमागाल इत्युच्यते उदयोदीरणाभ्यां च प्रथमस्थितिमनुभवन् तावद्गतो यावदावलिकाद्विकं शेषं तिष्ठति तस्मिंश्च स्थिते आगालो व्यवच्छिद्यते तत उदीरणैव केवला प्रवर्तते साऽपि तावद्यावदावलिका शेषो न भवति आवलिकायां तु शेषीभूतायामुदीरणाऽपि निवर्तते ततः केवलेनैवोदयेनावलिकामात्रमनुभवति आवलिकामात्रचरमसमये च द्वितीयस्थितिगतं दलिकमनुभागभेदेन त्रिधा करोति तद्यथा सम्यक्त्वं सम्यग्मिथ्यात्वं मिथ्यात्वं चेति । उक्तं च कर्मप्रकृतिचूर्णौ "चरमसमयमिच्छद्दिट्ठी से काले उवसमं सम्मद्दिट्ठी होहिइ ताहे बिइयठिइं तिहाणुभागं करेइ तं जहा सम्मत्तं सम्मामिच्छत्तं मिच्छत्तं चेति" स्थापना चेयम् ००० ततोऽनन्तरसमये मिथ्यात्वस्योदयाभावादौपशमिकं सम्यक्त्वमवाप्नोति । उक्तं च कर्मप्रकृतौ । "मिच्छत्तुदए खीणे, लहए सम्मत्तमोवसमियं सो । लंभेण जस्स लब्भइ, आयहियमलद्धपुव्वं जं" अन्यत्राप्युक्तम् " जात्यन्धस्य यथा पुंस-श्चक्षुर्लाभे शुभोदये । सद्दर्शनं तथैवास्य, सम्यक्त्वे सति जायते" १ आनन्दो जायतेऽत्यन्तं, सात्त्विकोऽस्य महात्मनः । सद्व्याध्यपगमे यद्वद्-व्याधितस्य सदौषधात्" २ एष च प्रथमसम्यक्त्वलाभो मिथ्यात्वस्य सर्वोपशमनाद्भवति उक्तं च " सम्मत्तपढमलंभो, सव्वोवसमा " इति । सम्यक्त्वं चेदं प्रतिपद्यमानः कश्चिद्देशविरतिसहितं प्रतिपद्यते कश्चित्सर्वविरतिसहितम् उक्तं च पञ्चसंग्रहे " सम्मत्तेणं समगं, सव्वं देसं च कोइ पडिवज्जे" । बृहच्छतकचूर्णावप्युक्तम् "उवसमसम्मद्दिट्ठी अंतरकरणे ठिओ कोई देसविरइं पि लहेइ, कोइ पमत्तभावं पि सासायणो पुण न किं पि लहेइत्ति" [कर्म०] जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणोऽपि "उवसामगसेढीए, पट्ठवओ अप्पमत्तविरओ उ । पज्जवसाणे सो वा, होइ पमत्तो अविरओ वा ॥" "अन्ने भणंति अविरय-सपमत्तापमत्तविरयाणं । अन्नयरो पडिवज्जइ, दंसणसमणम्मि उ नियट्टी" द्वे अपि गतार्थे नवरमविरताद्यप्रमत्तानां मध्यादेकेनापि दर्शनसप्तके उपशमिते ततो (नियट्टित्ति) निवृत्तिबादरो भवति (विशे०) ततो देशविरतप्रमत्ताप्रमत्तसंयतेष्वपि मिथ्यात्वमुपशान्तं लभ्यते । संप्रति वेदकसम्यग्दृष्टेस्त्रयाणामपि दर्शनमोहनीयानामुपशमनाविधिरुच्यते । इह वेदकसम्यग्दृष्टिः संयमे वर्तमानः सन्नन्तर्मुहूर्त्तमात्रेण कालेन दर्शनत्रितयमुपशमयति उपशमयतश्च करणत्रिकादिविधिर्यथा कर्मप्रकृतिटीकायां तथा वेदितव्यः । एवमुपशान्तदर्शनमोहनीयत्रिकश्चारित्रमोहनीयमुपशमयितुकामः पुनरपि यथाप्रवृत्तादीनि त्रीणि करणानि करोति करणानां च स्वरूपं प्राग्वत् केवलमिह यथाप्रवृत्तकरणमप्रमत्तगुणस्थानके द्रष्टव्यं पूर्वकरणमपूर्वकरणगुणस्थानके अनिवृत्तिकरणमनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थानके अत्रापि स्थितिघातादयः पूर्ववदेव प्रवर्त्तन्ते नवरमिह सर्वासामशुभप्रकृतीनामबध्यमानानां गुणसंक्रमः प्रवर्तते इति वक्तव्यम् । अपूर्वकरणाद्धायाश्च संख्येयतमे भागे गते सति निद्राप्रचलयोर्बन्धव्यवच्छेदः ततः प्रभूतेषु स्थितिखण्डसहस्रेषु गतेषु सत्सु अपूर्वकरणाद्धायाश्च संख्येयतमो भागो गतो भवति एकोऽवशिष्यते अत्र चान्तरे देवगतिदेवानुपूर्वीपञ्चेन्द्रियजातिवैक्रियशरीरवैक्रियाङ्गोपाङ्गाऽऽहारकशरीराऽऽहारकाङ्गोपाङ्गतैजसकार्मण—समचतुरस्रवर्णचतुष्कागुरुलघूपघातपराघातोच्छ्वासत्रसबादरपर्याप्तप्रत्येकप्रशस्तविहायोगतिसुभगसुस्वरादेयनिर्माणतीर्थकरसंज्ञितानां त्रिंशतः प्रकृतीनां बन्धव्यवच्छेदः । ततः स्थितिखण्डपृथक्त्वे गते सति अपूर्वकरणाद्धायाश्चरमसमये हास्यरत्यरतिभयजुगुप्सानां बन्धव्यवच्छेदः । हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सानामुदयः सर्वकर्म्मणां देशोपशमनानिधत्तिनिकाचनाकरणव्यवच्छेदश्च ततोऽनन्तरसमये निवृत्तिकरणे प्रविशत्यपि स्थितिघातादीनि पूर्ववत्करोति ततोऽनिवृत्तिकरणाद्धायाः संख्येयेषु भागेषु सत्सु दर्शनसप्तके शेषाणामेकविंशतिमोहनीयप्रकृतीनामन्तरकरणं करोति तत्र चतुर्णां संज्वलनानामन्यतमस्य वेद्यमानस्य संज्वलनस्य त्रयाणां वेदानामन्यतमस्य वेदस्य प्रथमा स्थितिः स्वोदयकालप्रमाणा शेषाणां त्वेकादशकषायाणामष्टानां च नोकषायाणामावलिकामात्रं स्वोदयकालप्रमाणं च चतुर्णां संज्वलनानां त्रयाणां च वेदानामिदं स्त्रीवेदनपुंसकवेदयोरुदयकालः सर्वस्तोकः स्वस्थाने च परस्परं तुल्यः ततः पुरुषवेदस्य संख्येयगुणः ततः संज्वलनक्रोधस्य विशेषाधिकः ततः संज्वलनमानस्य विशेषाधिकः ततः संज्वलनमायाया विशेषाधिकः ततः संज्वलनलोभस्य विशेषाधिकः । इहानिवृत्तिकरणे बहु वक्तव्यं तत्तु ग्रन्थगौरवभयान्नोच्यते केवलं विशेषार्थिना कर्मप्रकृतिटीका निरीक्षितव्या । अन्तरकरणं च कृत्वा ततो नपुंसकवेदमन्तर्मुहूर्त्तमात्रेण उपशमयति ततोऽन्तर्मुहूर्तमात्रेण स्त्रीवेदं ततोऽन्तर्मुहूर्तमात्रेण हास्यादिषट्कं तस्मिंश्चोपशान्ते तस्मिन्नेव समये पुरुषवेदस्य बन्धोदयोदीरणाव्यवच्छेदः ततः समयोनावलिकाद्विकेन पुरुषवेदमुपशमयति ततो युगपदन्तर्मुहूर्त्तमात्रेणाप्रत्याख्यानावरणप्रत्याख्यानावरणक्रोधौ तदुपशान्तौ च तत्समयमेव संज्वलनक्रोधोदयोदीरणाव्यवच्छेदः ततः समयोनावलिकाद्विकेन संज्वलनक्रोधमुपशमयति ततोऽन्तर्मुहूर्त्तमात्रेणाप्रत्याख्यानावरणप्रत्याख्यानावरणमानौ युगपदुपशमयति तदुपशान्तौ च तत्समयमेव संज्वलनमानस्य बन्धोदयोदीरणाव्यवच्छेदः ततः समयोनावलिकाद्विकेन संज्वलनमानमुपशमयति ततो युगपदन्तर्मुहूर्त्तमात्रेण अप्रत्याख्यानावरणप्रत्याख्यानावरणमाये उपशमयति तदुपशान्तौ च तत्समयमेव संज्वलनमायाया बन्धोदयोदीरणाव्यवच्छेदः ततः समयोनावलिकाद्विकेन संज्वलनमायामुपशमयति ततो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

युगपदप्रत्याख्यानावरणप्रत्याख्यानावरणलोभावुपशमयति त-त्समयमेव संज्वलनलोभस्य बन्धोदयोदीरणाव्यवच्छेदः । ततः संज्वलनलोभमुपशमयंस्त्रिधा करोति द्वौ भागौ युगपदुपशमयति तृतीयभागं संख्येयखण्डानि करोति तान्यपि पृथक् पृथक् कालभेदेनोपशमयति पुनः संख्येयानां खण्डानां किट्टीकृत्य परपर्यायाणां चरमखण्डमसंख्येयानि खण्डानि सूक्ष्मकिट्टीकृत्य परपर्यायाणि करोति ततः समये २ एकैकं खण्डमुपशमयतीति । इह च दर्शनसप्तके उपशान्ते निवृत्तिबादरोऽभिधीयते तत ऊर्ध्वमनिवृत्तिबादरो यावल्लोभस्यासंख्येयान्तिमचरमखण्ड इति प्ररूपिता मोहनीयस्याष्टाविंशतिभेदभिन्नस्याप्युपशमना । संप्रति गाथार्थो विव्रियते । इहोपशमश्रेणिप्रारम्भको भवत्यप्रमत्तसंयत एव । अन्ये तु प्रतिपादयन्ति । अविरतदेशविरतप्रमत्ताप्रमत्तसंयतानामन्यतम इति श्रेणिपरिसमाप्तौ चाऽविरतदेशविरतप्रमत्ताप्रमत्तसंयतानामन्यतमो भवति । स च प्रथमं युगपत् (अणादि) अनन्तानुबन्धिनः क्रोधमानमायालोभानुपशमयति ततो 'दर्शनं दर्शनं' दर्शं मिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्वसम्यग्दर्शनं युगपदुपशमयति । ततोऽनुदीर्णमपि नपुंसकवेदं यदि पुरुषः प्रारम्भकस्ततः प्रथमं नपुंसकवेदं ततः पश्चात्स्त्रीवेदं ततः षट्कं हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सालक्षणं ततः पुरुषवेदम् अथ स्त्री प्रारम्भिका ततः प्रथमं नपुंसकवेदं ततः पुरुषवेदं ततः षट्कं ततः स्त्रीवेदमिति । अथ नपुंसकवेद एव प्रारम्भकस्ततोऽसावनुदीर्णमपि प्रथमं स्त्रीवेदमुपशमयति ततः पुरुषवेदं ततः षट्कं ततो नपुंसकवेदमिति । पुनश्च द्वौ द्वौ क्रोधाद्यानेकान्तरितौ संज्वलनविशेषक्रोधाद्यन्तरितौ सदृशौ तुल्यावुपशमयति । अयमर्थः । अप्रत्याख्यानावरणप्रत्याख्यानावरणक्रोधौ सदृशौ क्रोधत्वेन युगपदुपशमयति ततः संज्वलनक्रोधमेकाकिनं ततोऽप्रत्याख्यानावरणप्रत्याख्यानावरणमानौ युगपदुपशमयति ततः संज्वलनमानं ततोऽप्रत्याख्यानावरणप्रत्याख्यानावरणमाये युगपदुपशमयति ततः संज्वलनमायां ततोऽप्रत्याख्यानावरणप्रत्याख्यानावरणलोभौ युगपदुपशमयति ततः संज्वलनलोभमिति । स्थापना चेयम्

संज्वलनलोभः	अप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानक्रोधः
अप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानलोभः ।	पुरुषवेदः
संज्वलनमाया	हास्यादिषट्कः
अप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानमाया ।	स्त्रीवेदः
संज्वलनमानः ।	नपुंसकवेदः
अप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानमानः	मिथ्यात्वमिश्रसम्यक्त्वम्
अप्रत्याख्यानसंज्वलनक्रोधः	अनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभः

ननु संज्वलनादीनां युक्त उपशमोऽनन्तानुबन्धिनां तु दर्शनप्रभावेनोपशमितत्वान्न युज्यते न दर्शनप्रतिपत्तौ तेषां क्षयोपशमादिह चोपशमादित्यविरोध इति । आह क्षयोपशमोपशमयोः कः प्रतिविशेष उच्यते । क्षयोपशमो ह्युदीर्णस्य क्षयोऽनुदीर्णस्य च विपाकानुभवापेक्षयोपशमः प्रदेशानुभवतस्तूदयोऽस्त्येव उपशमे तु प्रदेशानुभवोऽपि नास्तीति । यदाह भाष्यपीयूषपाथोधिः " वेएइ संतकम्मं,खओवसमिएत्थ नाणुभावं सो । उवसंतकम्मओ पुण, वेएइ न संतकम्मंपि " अन्यत्राप्युक्तम् ।

" उवसंतकम्मं जं न, तउ कढेइ न देइ उदएवि ।
न य गमयइ परपगइं, न चेव उ कड्डए तं तु " ।

अस्या अक्षरगमनिका सर्वोपशमेन यदुपशान्तं मोहनीयकर्मान्यस्य सर्वोपशमायोगात् "सव्वोवसमो मोहस्स चेवेति" वचनात् न तदपकर्षति न तदपवर्तनाकरणेन स्थितिरसाभ्यां हीनं करोतीत्यर्थः । अपिशब्दस्य भिन्नक्रमत्वान्नाप्युदये तद्ददाति नापि तद्वेदयतीत्यर्थः । उपलक्षणात्तदविनाभाविन्यामुदीरणायामपि न ददातीत्यपि मन्तव्यम् । न च बध्यमानसजातीयरूपां परप्रकृतिं संक्रमकरणेन गमयति संक्रमयति । न च तत्कर्मोपशान्तं सदुत्कर्षयत्युद्वर्तनाकरणेन स्थितिरसाभ्यां वृद्धिं नयति निधत्तिनिकाचनायास्तु प्रागपूर्वकरणकाल एव निवृत्तत्वान्नेहोपशान्तत्वेन तन्निषेधः क्रियते इति । आह संयतस्यानन्तानुबन्धिनामुदयो निषिद्धस्तत्कथमुपशम इत्युच्यते स ह्यनुभागकर्माङ्गीकृत्य न तु प्रदेशकर्मेति तथा चाभ्यधायि परमगुरुणा "जीवेणं भंते ! सयंकडं कम्मं वेएइ अत्थेगइयं नो वेएइ । से केणट्ठेणं पुच्छा दुविहे कम्मे पन्नत्ते तं जहा पएसकम्मे य अणुभागकम्मे य । तत्थ णं जं पएसकम्मं तं नियमा वेएइ तत्थ णं जं अणुभागकम्मं तं अत्थेगइयं वेएइ अत्थेगइयं नो वेएइ " इत्यादि ततश्च प्रदेशकर्मण्यभावोदयस्येहोपशमो द्रष्टव्यः । आह यद्येवं संयतस्यानन्तानुबन्ध्युदयतः कथं दर्शनविघातो न भवतीत्युच्यते प्रदेशकर्मणो मन्दानुभावत्वात् । तथा कस्यचिदनुभागकर्मानुभागोऽपि नात्यन्तमपकाराय भवन्नुपलभ्यते यथा संपूर्णमत्यादिचतुर्ज्ञानिनस्तदावरणोदय इति । ततः सूक्ष्मलोभचरमकिट्टयुपशमे संज्वलनलोभ उपशान्तो भवति तत्समयमेव च ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्कान्तरायपञ्चकयशःकीर्त्युच्चैर्गोत्राणां बन्धव्यवच्छेदस्ततोऽनन्तरसमयेऽसावुपशान्तकषायो भवति स च जघन्येनैकं समयमात्रमुत्कर्षेण त्वन्तर्मुहूर्त्तं कालं यावत् तत ऊर्ध्वं नियमादसौ प्रतिपतति । प्रतिपातश्च द्विधा भवक्षयेण अद्धाक्षयेण च तत्र भवक्षयो म्रियमाणस्य अद्धाक्षय उपशान्ताद्धायां समाप्तायाम् । अद्धाक्षयेण च प्रतिपतन् यथैवारूढस्तथैव प्रतिपतति । यत्र यत्र बन्धोदयोदीरणाव्यवच्छिन्नास्तत्र तत्र पतता सता ते आरभ्यन्त इति यावत् प्रतिपतितश्च तावत्प्रतिपतति यावत्प्रमत्तसंयतगुणस्थानकम् । कश्चित्पुनस्ततोऽप्यधस्तनं गुणस्थानकद्वयं याति कोऽपि सास्वादनभावमपि । यः पुनर्भवक्षयेण प्रतिपतति स प्रथमसमय एव सर्वाण्यपि बन्धनादीनि करणानि प्रवर्तयतीति शेषः । उत्कर्षतश्चैकस्मिन् भवे द्वौ वारावुपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते यश्च द्वौ वारावुपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते तस्य नियमात्तस्मिन् भवे क्षपकश्रेण्यभावः । यः पुनरेकं वारं प्रतिपद्यते तस्य क्षपकश्रेणिर्भवेदपि उक्तं च सप्ततिकाचूर्णौ "जो दुवारे उवसमसेढिं पडिवज्जइ तस्स नियमा तम्मि भवे खवगसेढी नत्थि जो इक्कसिं उवसमसेढिं पडिवज्जइ तस्स खवगसेढी हुज्जति" एष कार्मग्रन्थिकाभिप्रायः । सिद्धान्ताभिप्रायेण त्वेक-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्मिन् भवे एकामेव श्रेणिं प्रतिपद्यते उक्तं च कल्पाध्ययने "एव अप्परिवडिए, सम्मत्ते देवमणुयजम्मेसु । अन्नयरसेढिवज्जं, एग भवेणं च सव्वाइं" सर्वाणि सम्यक्त्वदेशविरत्यादीनि । अन्यत्राप्युक्तम् । "मोहोपशम एकस्मिन् भवे द्विः स्यादसन्ततः । यस्मिन् भवे तूपशमः क्षयो मोहस्य तत्र नेति" । तदेवमभिहिता सप्रपञ्चमुपशमश्रेणिः । कर्म० । विशे० । वृ० । आचा० । आ० म० प्र० । क० प्र० । पं० सं० । (उवसमण।ऽधिकारेऽप्युपशमश्रेणिवक्तव्यता ज्ञेया इतः संयोज्या)

उवसामइत्तु–उपशमय्य अव्य० उप–शम् ल्यप् । उपशमं नीत्वेत्यर्थे, "उवसामइत्तु च उहा अंतमुहुत्तं भिऊणं बहुकालं" पं० सं०

उवसामग–उपशामक–पुं० उपशान्तमोहे, आव० ४ अ० ।

उवसामिय–उपशामित–त्रि० उपशमं नीते, "उवसामिए परेण य" उपशामिते परेणोपशमं नीते । व्य० १ उ० । उपशमं माहिते, व्य० ६ उ० ।

उवसामेमाण–उपशमयत्–त्रि० उपशमं कारयति, शुद्धयन्तराधिष्ठितं समयप्रसिद्धविधिनोपशमयति, स्था० ६ ठा० ।

उवसुद्ध–उपशुद्ध–त्रि० उप सामीप्येन शुद्धम् । निर्दोषे, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

उवसोभिय–उपशोभित–त्रि० सामस्त्येन शोभिते, । आ० म० प्र० । रा० । "कविसीसएहिं उवसोभिए" रा० । 'हारद्धहारउवसोभिए" । रा० । समारचितकेशत्वादिना जनितशोभिते, ज्ञा० ९ अ० ॥

उवसोहिय–उपशोधित–त्रि० निर्मलीकृते, ज्ञा० १ अ० ।

उवस्तिद–उपस्थित–त्रि० उप–स्था–क्त । स्थर्थयोस्तः ८ । ४ । २९० । इति स्थस्थाने सकाराक्रान्तस्तकारः । समीपस्थिते, प्रा०

उवस्सय–उपाश्रय–पुं० उपाश्रीयते सेव्यते संयमात्मपालनायेत्युपाश्रयः । स्था० ५ ठा० । उपाश्रीयते भज्यते शीतादित्राणार्थं यः स उपाश्रयः। वसतौ, स्था० ३ ठा० । आचा० । ज्ञा० ।

उपाश्रयनिक्षेपः ॥

नामं ठवणा दविए, भावे य उवस्सओ मुणेयव्वो ।
एएसिं नाणत्तं, वोच्छामि अहाणुपुव्वीए ॥

नामोपाश्रयः स्थापनोपाश्रयः द्रव्योपाश्रयः भावोपाश्रयश्चेत्युपाश्रयश्चतुर्धा मन्तव्यः । एतेषामुपाश्रयाणां नानात्वविशेषमहमानुपूर्व्या वक्ष्यामि । तत्र नामस्थापने सुज्ञत्वादनादृत्य द्रव्यभावोपाश्रयौ प्रतिपादयति ।

दव्वम्मि उ उवस्सओ, कीरइ कडवुरयमेव सुत्तम्मि ।
भावम्मि निसिद्धे जं, एसु दव्वम्मि इयरेसु ॥

द्रव्यं तु द्रव्यविषयं पुनरुपाश्रयो यः संयतार्थं क्रियते क्रियमाणे वर्तते कृतो वा परमथापि न संयतेभ्यो वितीर्यते । यो गृहस्थैरात्मार्थं निष्पादितः परं यत्र संयता मासकल्पं वा (वर्षाणि) उषित्वा अन्यत्र गताः सांप्रतमुपाश्रयः शून्यास्तिष्ठति एष द्रव्योपाश्रयः । भावोपाश्रयो नाम यः संयतेभ्यो निसृष्टः प्रदत्तैः परिभुज्यमान इत्यर्थः । यः पुनरितरेषां पार्श्वस्थादीनां सृष्टः सोऽपि द्रव्योपाश्रयो विज्ञेयः । आह च बृहद्भाष्यकृत् "जो समणट्ठाए कतो, बुच्छा वा आसि जत्थ समणाओ । अहवा दव्वउवस्सओ, पासत्थाईपरिग्गहिओ" बृ० २ उ० । (उपाश्रयस्य सर्वो विषयो वसतिशब्दे वक्ष्यते) कर्मणि अच् आश्रयणीये, भावे अच् । आश्रये, वाच० ।

उवस्सयअसंकिलेस–उपाश्रयासंक्लेश–पुं० उपाश्रयविषये असंक्लेशे असंक्लेशभेदे, स्था० १० ठा० ।

उवस्सयसंकिलेस–उपाश्रयसंक्लेश–पुं० उपाश्रयो वसतिस्तद्विषयः संक्लेशः । संक्लेशभेदे, स्था० १० ठा० ।

उवस्सा–उपश्रा–स्त्री० द्वेषे, व्य० १ उ० ।

उवस्सिय–उपाश्रित–त्रि० उपाश्रा नाम द्वेषः स जातोऽस्येति उपाश्रितः । द्वेषवति, व्य० १ उ० । अङ्गीकृते, वैयावृत्यकरत्वादिना प्रत्यासन्नतरे, उप–आ–श्रि० भावे–क्त–द्वेषे, शिष्यप्रतीच्छककुलाद्यपेक्षायाम्, स्था० ५ ठा० ।

उवहड–उपहृत–त्रि० उप–हृ–क्त–उपढौकिते, उपहाररूपेण दत्ते च । उपहिते भोजनस्थाने, ढौकिते, भक्ते, ।

तिविहे उवहडे पन्नत्ते तं जहा फलिहे उवहडे सुद्धोवहडे संसट्ठोवहडे ॥

त्रिविधमुपहृतं प्रज्ञप्तं तद्यथा सिद्धोपहृतं फलितोपहृतं संसृष्टोपहृतं च । स्था० ३ ठा० । अमीषां पदानां व्याख्यानं भाष्यकृत्करिष्यति । अधुना भाष्यप्रपञ्चः ।

सुद्धे संसट्ठे य, फलितोवहडे य तिविहमेक्केकं ।
तिन्नगदुगमा तिन्नि य, तिगसंजोगे भवे एको ॥

उपहृतशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते त्रिविधमुपहृतं सूत्रेऽभिहितं तद्यथा शुद्धोपहृतं संसृष्टोपहृतं फलितोपहृतं च । एकैकं पुनस्त्रिविधं यदवगृह्णाति यच्च संहरति यच्चाऽऽस्ये प्रक्षिपति एतदनन्तरसूत्रे वक्ष्यते । अत्रैकैकसंयोगे त्रयो भङ्गास्तद्यथा । शुद्धोपहृतं वा गृह्णाति १ फलितोपहृतं गृह्णाति २ संसृष्टोपहृतं गृह्णाति ३ द्विकसंयोगेऽपि त्रयस्तद्यथा शुद्धोपहृतं फलितोपहृतं च १ । शुद्धोपहृतं संसृष्टोपहृतम् । २ । फलितोपहृतं संसृष्टोपहृतं च । ३ । त्रिकसंयोगे एकः । शुद्धोपहृतं फलितोपहृतं संसृष्टोपहृतं च गृह्णाति । सर्वसंख्यया सप्त भङ्गाः । एतेषामेकतममभिगृह्णात्यभिग्रही ।

संप्रति शुद्धादिपदानामर्थमाचष्टे ।

सुद्धं तु अलेवकडं, अहवणसुद्धोदणो भवे सुद्धं ।
संसट्ठं आदत्तं, लेवाणमलेवगं चेव ।
फलियं पहेणयादी, वंजणभक्खेहि वा विरइयं तु ।
भोत्तुं मणसोपहियं, पंचमपिंडेसणा एसा ॥

यत् अलेपकृतं काञ्जिकेन पानीयेन वा सम्मिश्रीकृतं तच्छुद्धम् । अथवा शुद्धोदनो व्यञ्जनरहितो भवति । शुद्धं तदपि नियमादलेपकृतम् । संसृष्टं नाम भोक्तुकामेन तद् गृहीतम् । किमुक्तं भवति । यत् स्थाले परिवेषितं तत्र ग्रहणाय हस्तः क्षिप्तो न तावदद्यापि मुखे प्रक्षिपति । अत्रान्तरे साधुरागतो भिक्षार्थं ततः लेपकृतमलेपकृतं वा संसृष्टमित्युच्यते । फलितं नाम यद् व्यञ्जनैर्भक्ष्यैर्वा नानाप्रकारैर्विरचितं पहेणकादि प्रहेणकं लाभनकमादिशब्दात्सरजस्कानां दानाय कल्पितं परिगृह्यते । उपहृतशब्दस्यार्थमाह । यत्र भोक्तुमनस उपहृतं तदुपहृतमित्युच्यते एषा च पञ्चमी पिण्डैषणा ।

सुद्धग्गहणेणं पुण, होइ चउत्थी वि एसणा गहिया ।
संसट्ठे उ विभासा, फलियनियमा उ लेवकडं ॥

शुद्धग्रहणेन चतुर्थ्यप्येषणा अल्पलेपकृता नामिका गृहीता द्रष्टव्या । संसृष्टे विभाषा । कदाचिल्लेपकृतं कदाचिन्नेति । फलितं तु

नियमाल्लेपकृतमेवेति । व्य० द्वि० ए उ० (अत्रान्यदपि किञ्चिद्वक्तव्यं तदुग्गाहियशब्दतो बोध्यम्)

उवहणंत–उपघ्नत्–त्रि० विध्वंसयति, प्र० १ श्रु०५ अ० ।

उवहणण–उपहनन–न० चारित्रस्य विराधने, । स्था० १० ठा० ।

उवहत्थ–सम् आ–रच्–धा० चुरा–पर–समारचने, समारचेरुवहत्थसारवसमारकेलायाः ८ । ४ । ९५ इति समारचेरुवहत्था देशः । उवहत्थइ सारवइ समारअइ समारचयति । प्रा० ।

उवहय–उपहत–त्रि० उप–हन्–क्त–तिरस्कृते, विनाशिते, वाच० । ज्ञा० । उपघातपण्डके, पं० भा० । पं० चू० । उत्पातग्रस्ते, अशुद्धद्रव्यसंयोगेन अशुद्धे, अभिभूते च वाच० ॥

उवहयजोणि–उपहतयोनि–स्त्री० गर्भग्रहणसमर्थायाम्, "अणुवहयजोणि इत्थिया" गर्भं गृह्णातीत्यर्थः" । नि० चू० १ उ० ।

उवहयजाव–उपहतभाव–त्रि० दुष्टतादिभिर्दोषैरुपहतो भावः परिणामो यस्य । दुष्टतया परिणते, बृ० ४ उ० ।

उवहयमइविन्नाण–उपहतमतिविज्ञान–त्रि० मतिः स्वाभाविकी विज्ञानं च गुरूपदेशजं मतिविज्ञाने ते उपहते दूषिते यस्य स उपहतमतिविज्ञानः । तत्त्वातत्त्वव्यतिकरविवेकविकले, बृ० १ उ० ।

उवहयमणसंकप्प–उपहतमनःसंकल्प–त्रि० उपहतोऽस्वच्छतया मनःसंकल्पो यस्य स तथा । मलीमसचित्तवृत्तौ, । सूत्र० २ श्रु० २ अ० । उपहतो ध्वस्तो मनसः संकल्पो दर्पहर्षादिप्रभवो विकल्पो यस्य स तथा । विध्वस्तमनःसंकल्पे, " किण्हं देवाणुप्पिया उवहयमणसंकप्पा जाव झियायह" भ० ३ श० २ उ० ।

उवहरंत–उपहरत्–त्रि० पूजयति, धातवोऽर्थान्तरेऽपि । ८ । ४ । ५८ । इति उपहरतिः पूजार्थे, प्रा० । विनिवेशयति, ज्ञा० १४ अ० ।

उवहरिंसु–उपहृतवत्–त्रि० उपनीतवति, "अमणुन्नाइं मे सद्दाइं जाव उवहरिंसु" स्था० ६ ठा० ।

उवहसिय–उपहसित–न० उप–हस्–भावे–क्त० उपहासे, निन्दासूचके हासभेदे, वाच० । हास्यचेष्टाकरणे, तं० ।

उवहाजोग–उपधायोग–पुं० मायाप्रयोजने, "गुर्वनुज्ञोपधायोगोवृत्त्युपायसमर्थनम्" उपधायोग इति । उपधा माया तस्या योगः प्रयोजनं सा च तत्तत्प्रकारैः सर्वथा परैरनुपलक्ष्यमाणैः प्रयोज्या । ते च प्रकारा इत्थं धर्मबिन्दौ प्रोक्तास्तद्यथा । दुःस्वप्नादिकथनमिति दुःस्वप्नस्य खरोष्ट्रमहिषाद्यारोहणादिदर्शनरूपस्य । आदिशब्दात् मातृमण्डलादिविपरीतालोकनादिपरिग्रहः । तस्य कथनं गुर्वादेर्निवेदनमिति । ध० २ अधि० ।

उवहाण–उपधान–न० उपधीयते शिरोऽत्र उप–धा–आधारे ल्युट् । हंसरोमादिपूर्णे उच्छीर्षके, बृ० ४ उ० । "पुप्फाइपुप्फं सिरोवहाण गुहाणगं" नि० चू० १२ उ० । कर्मणि घञ् । प्रणये, हेम० विशेषेण प्रणये, विश्वः । भावे. ल्युट्. समीपस्थाने, न० । करणे ल्युट्–उपधानसाधने, मन्त्रे, पुं० वाच० । मोक्षंप्रत्युपसामीप्येन दधातीति उपधानम् । अनशनादिके तपसि, सूत्र० १ श्रु० ९ अ० १ उ० । स्था० । आव० । पं० व० । उप समीपे धीयते क्रियते सूत्रादिकं येन तपसा तदुपधानम् । प्रव० ६ द्वा० । उपदधाति पुष्टिं नयति अनेनेत्युपधानम् । व्य० प्र० १ उ० । अङ्गोपाङ्गानां सिद्धान्तानां पठनाराधनार्थमाचाम्लोपवासनिर्विकृत्यादिलक्षणे तपोविशेषे, उत्त० ११ अ० । उपधीयते उपष्टभ्यते श्रुतमनेनेति उपधानम् । चारित्रोपष्टम्भनहेतौ श्रुतविषये उपचारे, पंचा० ए विव० । स्था० । द० । दशा० । विनयबहुमानादर्थां चतुर्भङ्गेणोपदधातीति उपधानम् । तपसि, ग० १ अधि० । ध० । उपधाननिक्षेपचिकीर्षयाऽऽह ।

नामं ठवणुवहाणं, दव्वे भावे य होइ नायव्वं ।

एमेव य सुत्तस्स वि, निक्खेवो चउव्विहो होइ ।२६८॥

नामोपधानं स्थापनोपधानं द्रव्योपधानं भावोपधानं च । श्रुतस्याप्येवमेव चतुर्धा निक्षेपस्तत्र द्रव्यश्रुतमनुपयुक्तस्य यच्छ्रुतं द्रव्यार्थं वा यच्छ्रुतं कुप्रावचनिकश्रुतानि चेति । द्रव्यश्रुतं भावश्रुतं त्वङ्गानङ्गप्रविष्टश्रुतविषयोपयोगस्तत्र सुगमनामस्थापनाच्युदासेन द्रव्याद्युपधानप्रतिपादनायाह ॥

दव्वुवहाणं सयणे, भावुवहाणं तवो चरित्तस्स ।

तम्हा उ नाणदंसण, तवचरणेणाहिगारं तु ॥ २९९ ॥

उप सामीप्येन धीयते व्यवस्थाप्यत इत्युपधानम् । द्रव्यभूतमुपधानं द्रव्योपधानं तत्पुनः शय्यादौ सुखशयनार्थं शिरोऽवष्टम्भवस्तु । भावोपधानमिति भावस्योपधानं भावोपधानं तत्पुनर्ज्ञानदर्शनचारित्राणि तपोवासबाह्याभ्यन्तरं तेन हि चारित्रपरिणतभावस्योपष्टम्भनं क्रियते यत एवं तस्मात् ज्ञानदर्शनतपश्चरणैरिहाधिकृतमिति गाथार्थः । किं पुनः कारणं चारित्रोपष्टम्भकतया तपो भावोपधानमुच्यत इत्याह ।

जह खलु मइलं वत्थं, सुज्झइ उदगाइएहिं दव्वेहिं ।

एवं भावुवहाणे–णसुज्झए कम्ममट्ठविहं ॥ ३०० ॥

यथेत्युदाहरणोपन्यासार्थः यथैतत्तथाऽन्यदपि द्रष्टव्यमित्यर्थः । खलु शब्दो वाक्यालंकारे यथा मलिनं वस्त्रमुदकादिभिर्द्रव्यैः शुद्धिमुपयात्येवं जीवस्यापि भावोपधानभूतेन स बाह्याभ्यन्तरेण तपसा अष्टप्रकारं कर्म्म शुद्धिमुपयातीत्यस्य च कर्मक्षयहेतोस्तपस उपधानश्रुतत्वेनात्रोपात्तस्य तत्त्वभेदपर्यायैर्व्याख्येति कृत्वा पर्यायदर्शनायाह । यदि वा तपोनुष्ठानेनापादिता अवधूननादयः कर्मापगमविशेषाः सम्भवन्तीत्यतस्तान् दर्शयितुमाह ।

ओहूणणधुवणनासण–विणासणज्झवणखवणसोहिकरणं ।

छेयण भेयण फेडण, मडुणं धुणणं च कम्माणं ॥

तत्रावधूननमपूर्वकरणेन कर्मग्रन्थेर्भेदापादनं तच्च तपोऽन्यतरभेदसामर्थ्याद्भवतीत्येषा क्रिया शेषेष्वप्येकादशसु पदेष्वायोज्या तथा धूननं भिन्नग्रन्थेरनिवृत्तिकरणेन सम्यक्त्वावस्थानम् । तथा नाशनं कर्मप्रकृतेः स्तिबुकसंक्रमेण प्रकृत्यन्तरगमनम् । तथा विनाशनं शैलेश्यवस्थायां सामस्त्येन कर्माभावापादनम् । तथा ध्यापनमुपशमश्रेण्यां कर्मानुदयलक्षणविध्यापनम् । तथा क्षपणमप्रत्याख्यानादिप्रक्रमेण क्षपकश्रेण्यां मोहाद्यभावापादनम् । तथा शुद्धिकरमित्यनन्तानुबन्धिक्षयप्रक्रमेण क्षायिकसम्यक्त्वापादनम् । तथा छेदनमुत्तरोत्तरशुभाध्यवसायारोहणात् स्थितिन्हासजननम् । तथा भेदनं बादरसम्परायाणां संज्वलनलोभस्य खण्डशो विधानम् । तथा (फेडणंति) अपनयनं चतुःस्थानिकादीनामशुभप्रकृतीनां रसतद्द्व्यादिस्थानापादनम् । तथा दहनं केवलिसमुद्घातध्यानाग्निना वेदनीयस्य भस्मसात्करणं शेषस्य च दग्धरज्जुतुल्यत्वापादानम् । तथा धावनं शुभाध्यवसायान्मिथ्यात्वपुद्गलानां सम्यक्त्वभावसंजननमिति । आचा० १ श्रु० ९ अ० १ उ० ।

तं दव्वे भावे य, दव्व उवहाणगादि भाव इमं ।

दोग्गइपडणधरणी, उवहाणं जत्थ जं सुत्ते ॥
आगाढमणागाढे, गुरुलहुयाणादि सगडपिता ॥ १५ ॥
दुट्ठा गती दुग्गा वा गती दुग्गति दुःखं वा जंसि विज्जति गतीए एसा गई दुग्गती विषमेत्यर्थः । कुत्सिता वा गतिर्दुर्गतिः अणभिलासियत्थे दुस्सद्दो जहा दुब्भगो सा य नरगगती तिरियगती वा । पतणं पातः तीए दुग्गतीए पतन्तमप्पाणं जेण धरेति तं उवहाणं भवति तं च जत्थ जत्थ त्ति एस सुत्तवीप्सा जत्थ उद्देसगे जत्थ अज्झयणे जत्थ सुयक्खंधे जत्थ अंगे कालुक्कालियअंगाणंगेसु नेया अमिति जं उवहाणं णिव्वितिताादि तं तत्थ तत्थ सुत्ते श्रुते कायव्वमिति पक्कमे संभवति । आगाढेत्ति जं च उद्देसगादीसुत्तं भणियं तं सव्वं समासओ दुविहं भवति । आगाढं अणागाढं वा तं च आगाढसुयं भगवतिमाइ अणागाढं आयारमाति । आगाढं उवधाणं कायव्वं अणागाढे अणागाढं जो पुण विवज्जासं करेति तस्स पच्छित्तं भवति आगाढे वा अणागाढे वा आणा अणवत्थमिच्छत्तविराहणा य भवति एत्थ दिट्ठंतो असगडपिया को सो असगडताते। अप्पती भवत्ति । गंगातीरे एगो आयरिओ वायणापरिस्संतो सज्झाए वि असज्झायं घोसेति एवं णाणंतरायं काऊण देवलोगं गओ तओ चुओ आभीरकुले पच्चायाओ भोगे भुञ्जति धूया य से आया अतीव रूववती ते पव्वंतिया गोयरियाए हिंडन्ति तस्स य सगडं पुरतो वच्चति सा य से धूता सगडस्स तुंडे ठिता तीसे य दरिसणत्थं तरुणेहिं सगडाणि उप्पहेण पेरियाणि भग्गाणि य तो से दरिसेण लोगेण णामं कतं असगडाए पिआ असगडपिया तस्स तं चेव वेरग्गं जातं दारियं दाउं पव्वइतो पढिओ जाव चाउरंगि जं असंखए उद्दिट्ठे तण्णाणावरणं उदिण्णं पढंतस्स नट्ठाति छट्ठेण अणुण्णव इति भणिए भणति एयस्स को जोगो आयरिया भणन्ति जाव णछाति ताव आयंबिलं तहा पढति बारसविज्जा बारसहिं वरिसेहिं आयंबिलं करेंतेणं पढिया तं च से णाणावरणं खीणं एवं सम्मं आगाढजोगो अणागाढजोगो वा अणुपालेयव्वोति उवहाणेत्ति दारं गयं । नि० चू० १ उ० । द० । व्य० ।

एव तु समणुचिण्णं, वीरवरेणं महाणुभावेणं ।
जं अणुचरित्तु धीरा, सिवमउलं जंति निव्वाणं ॥ ३०२ ॥
एवमुक्तविधिना भावोपधानं ज्ञानादितपो वा वीरवर्द्धमानस्वामिना स्वतोऽनुष्ठितमतोऽन्येनापि मुमुक्षुणैतदनुष्ठेयमिति निर्युक्तिगाथार्थः समाप्तः । आचा० १ श्रु० ९ अ० १ उ० (तत्र अनिश्रितं कर्त्तव्यमिति अणिस्सिओवहाणशब्दे उक्तम्)

पञ्चमङ्गलस्योपधानकर्तव्यतामाह ।

एएसिं अट्ठण्हं पि पयाणं गोयमा जे केइ अणोवहाणेणं सुपसत्थं नाणमहीयंति । अज्झावयति वा अहीयंति वा अज्झावयंतेइ वा समणुजाणंति तेणं महापावकम्मे महती सुपसत्थनाणस्सासायण पकुव्वंति । से भयवं जइ एव ता किं पंचमंगलस्स ण उवहाणं कायव्वं गोयमा ! पढमं नाणं तओ दया एय सव्वजगज्जीवपाणभूयसत्ताणं अत्तसमदरिसित्तं सव्वजगज्जीवपाणभूयसत्ताणं अत्तसमं दंसणाओ य तेसिं चेव संघट्टणपरियावणकिलावणोद्दावणाइं दुक्खपायणभयविवज्जाणं ततो अणासवाउ य संवुडा सव्वदारत्तं संवुडा सव्वदारत्तेणं च दमोपसमो तओ य समसत्तुमित्तपक्खयाए य अरागदोसत्तं तओ य अकोहया अमाणया अमायया अलोभया अकोहमाणमायालोभयाए य अकसायत्तं तओ य सम्मत्तं सम्मत्ताओ य जीवाइपयत्थपरिन्नाणं तओ सव्वत्थ अप्पडिबद्धा तं णेयं अन्नाणमोहमिच्छत्तक्खयं तओ विवेगो विवेगाओ हेयउवाएयवत्थुवियालणे गंतव्वाबद्धलक्खत्तं तओ य अहियपरिच्चाओ हियायरेण य अच्चंतमज्झजमो । तओ य परमपवित्तुत्तमखंतादिदसविह अहिंसालक्खणं धम्माणुट्ठाणिक्ककरणकारवणासत्तचित्तया । तओ य खंतादिदसविहअहिंसालक्खणधम्माणुट्ठाणिक्ककरणकारवणासत्तचित्तयाए य संवुत्तमा खंती सव्वुत्तमम्मि उ तं सव्वुत्तमं अज्जविभावितं सव्वुत्तमं सव्वज्झंतरं सव्वसंगपरिच्चागं सव्वुत्तमं सव्वब्भंतरदुवालसविहं अच्चंतघोरवीरुग्गकट्ठतवचरणाणुट्ठाणाभिरमणं सव्वुत्तमं सत्तरसविहकसिणसंजमाणुट्ठाणपरिपालनेकबद्धलक्खत्तं सव्वुत्तमं सव्वगिरगंठकाहियं अणुगूहियबलवीरियपुरिसक्कारपरक्कमपरितोलणं च सव्वुत्तमुत्तमसज्झाणसलिलेणं पावकम्मसमलेवपक्खालणंति । सव्वुत्तमुत्तमं आकिंचणं सव्वुत्तममुत्तमं परमपवित्तुत्तमसव्वभावभावंतररहियणं सुद्धसव्वदोसविप्पमुक्कणवगुत्तीसणाहअट्ठारसपरिहारट्ठारपरिवेढियसुद्धुद्धरघोरबंभवयधारणंति तओ एएसिं चेव सव्वुत्तमा खंती मद्दवअज्जवमुत्ती तवसंजमसव्वसोयआकिंचणसुद्धुद्धरबंभवयधारणं समुट्ठाणेणं च सव्वसमारंभविवज्जणं तओ वि य पुढविदगागणिवाउवणस्सइबिति चउपंचेंदियाणि तहेव अजीवकायसंरंभसमारंभारंभाणं च मणोवइकायतिएणं तिविहं तिविहेणं सोइंदियादिसंवरणआहारादिसण्णाविप्पजढताए वोसिरणं तओ य अट्ठारससीलंगसहस्सधारणेणं च अखलियअखंडियअमिलियअविराहियसुट्ठुसग्गुग्गयरविचित्ताभिग्गहनिव्वाहणं तं उयसुरमणुयतिरिच्छोईरियघोरपरीसहोवसग्गाहियासणं समकरणेणं तओ य आहारायाइपडिमासु महापयतंतओ निप्पडिकम्मसरीरया निप्पडिकम्मसरीरमत्ताए य सुक्कज्झाणे निप्पकंपत्तणं तओ य अणाइभवपरंपरसंचियअसेसकम्मट्ठए सिक्खयं अणंतनाणदंसणधारित्त चउगइभववारिगउनिफरुं सव्वदुक्खविमोक्खं मोक्खगमणं च तत्थ अनिट्ठजम्मजरामरणाणिट्ठसंपया उगिट्ठविओ य संतावुव्वेगआयसज्झायज्झाणमहवाहिवेयणारोगसोगदारिद्ददुक्खभयवेमणस्स तं तओ य एगंतियं अच्चंतियं शिवमयलमक्खयं धुवं परमसासयं निरंतरं सव्वुत्तमसोक्खंति ता सव्वमेवेयं नाणाउ पवत्तेज्जा ता गोयमा ! एगं-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तियं अव्वंतियपरमसासयधुवनिरंतरसव्वुत्तमसोक्खकंखुणा पढमपरमेव तावायरेणं सामाइयमाइलोगविंदुसारपज्जवसाणं दुवालसंगं सुयनाणं कालं विणयादिजहुत्तविहिणोवहाणाणं हिंसादीयं च तिविहं तिविहेणं परिवज्जेंतेण य सरवंजणमत्ताविंदुपयक्खराणूणगं पयच्छेदघोसबद्धयाणुपुव्विपुव्वाणुपुव्विअणाणुपुव्वीए सुविसुद्धं आचारिकायएण एगत्तेणेण सुविसेयं तं च गोयमा ! अणिहणोरंमुविच्छिन्नचरमो हिमिय सुंदरवग्गहं सयलसोक्खपरमहेउभूयं च तस्स य सयलसोक्खहेउभूयाओ न इट्ठदेवया नमुक्कारविरहिए केइ पारं गच्छेज्जा इट्ठदेवयाणं च नमुक्कारं पंचमंगलमेव गोयमा ! णो णमन्नंति ता णियमओ पंचमंगलस्सेव पढमं ताव विणओवहाणं कायव्वंति । से भयवं कइए विहीए पंचमंगलस्स णं वि णं उवहाणं कायव्वं गोयमा ! इमाए विहीए पंचमंगलस्स णं वि णं उवहाणं कायव्वं तंजहा सुपसत्थे चेव सोहणतिहिकरणमुहुत्तनक्खत्तजोगलग्गससीबलविप्पमुक्कजायाईमणा संकेण संजायसव्वसंवेगसुतिव्वतरमहंतुल्लसंतसुहज्झवसायाणुगयजत्ती बहुमाणपुव्वं णिणियाणदुवालसभत्तट्ठिएणं चेइयालए जंतुविरहिओ गोयमा ! से जत्तिभरनिब्भरद्धुसियससीसरोमावलीपप्फुल्लनयणसयवत्तपसंतसामाथिरदिट्ठी णवणवसंवेगसमुच्छलंतसंजायबहलघणनिरंतरअचिंतपरमसुहपरिणामविसेसुल्लसियसजीववीरियाणुसमयविवड्ढंतपमोयसुविसुद्धसुनिम्मलविमलथिरदढयरंतकरणेणं खितिणिहियजाणुणिसियउत्तमंगकरकमलमउलसोहंजलिपुडेणं सिरिउसभाइपवरवरधम्मातित्थयरपडिमा बिंबविणिवेसियनयणमाणसमग्गतग्गयज्झवसाणं समयदढचरित्तादिगुणसंपउववेया गुरुसद्दत्थणुट्ठाणकरणेकबद्धलक्खतवाहियगुरुवयणविणिग्गयं विणयादिबहुमाणपरिओसाणुकंपोवलद्धं अणेगसोगसंतावुव्वेगमहवाहिवेयणाघोरदुक्खदारिद्दकिलेसरोगजम्मजरामरणगब्भनिवासाइदुट्ठसावगगाहभीमभवोदहितरंडगभूयं इणमो सयलागममज्झवत्तगस्स मिच्छत्तदोसोवहयविसिट्ठबुद्धी परिकप्पिय उ भाणियं अघडमाणअसेसहेउदिट्ठंतजुत्तीविद्धंसणिक्कपच्चलपोढस्स पंचमंगलमहासुयक्खधस्स पंचज्झयणेगचूलापरिक्खित्तस्स पवरपवणदेवयाहिट्ठियस्सातिपदपरिच्छिन्नेगालावगस्स तक्खरपरिमाणं अणंतगमपज्जवत्थपसाहगं सव्वमहामंतपवरवज्जाणं परमवीयभूयं नमो अरिहंताणंति । पढमज्झयणं अहिज्जेयव्वं । तद्दियहे य आयंबिलेणं पारेयव्वं तहेव य बीयदिणे अणेगाइसयगुणसंपउववेयं अणंतरजणियत्थपसाहगं अणंतरं तेणेव कमेणं दुपरिच्छिन्ने गालावगपंचक्खरपरिमाणं नमो सिद्धाणंति बीयमज्झयणं अहिज्जेयव्वं । तद्दियहे य आयंबिलेण पारेयव्वं । एवं अणंतरजणिएण व कम्मेणं अणंतरतुच्छपसाहगंति पदं परिच्छिन्ने गालावगसत्तक्खरपरिमाणं । णमो आयरियाणंति तइयमज्झयणं आयंबिलेणं अहिज्जेयव्वं । तहा य अणंतरतुच्छपसाहगतिपयपरिच्छिन्ने गालावगसत्तक्खरपरिमाणं नमो उवज्झायाणंति चउत्थमज्झयणं अहिज्जेयव्वं । तद्दियहे य आयंबिलेणं पारेयव्वं । नमो लोए सव्वसाहूणंति पंचमज्झयणं पंचमदिणे आयंबिलेण तहेव तमत्थाणुगामियं एक्कारसपयपरिच्छिन्नतियलावगतित्तीसक्खरपरिमाणं "एसो पंचनमोक्कारो सव्वपावप्पणासणो । मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं हवइ मंगलमिति" चूलंति छसत्तट्ठमदिणे तेणेव कम्मविभागेण आयंबिलेहिं अहिज्जेयव्वं । एवमेवं पि च मंगलमहासुयक्खंधं सरवन्नयरेहियं पयक्खरबिंदुमत्ताविसुद्धं गुरुगुणोववेयगुरूवइट्ठं कसिणमहिज्जित्ताणं तहा कायव्वं जहा पुव्वाणुपुव्वीए पच्छाणुपुव्वीए अणाणुपुव्वीए जीहग्गो तरेज्जा तओ तेणेवाणंतरजणियतिहिकरणमुहुत्तनक्खत्तजोगलग्गससीबलजंतुविरहिओगासवेलाइया लग्गई कम्मेणं अट्ठमभत्तेणं समणुजाणाविऊणं गोयमा ! महया पबंधेण सुपरिफुडं णिउणं असंदिद्धं सुत्तत्थं अणेगहा सोऊणावधारेयव्वं एयाए विहीए पंचमंगलस्स णं गोयमा ! विणउवहाणे कायव्वो (महा०) से भयवं सुदुक्करं । पंचमंगलमहासुयक्खंधस्स वि णं उवहाणं पन्नत्तं महती य एसा णियंतणा कहं वा लेहं कज्जई गोयमा ! जेणं केई ण इच्छेज्जा एयं नियंतणं अविणिणं चेव पंचमंगलाई सुयनाणं महिज्जणे अज्झावेई वा अज्झावयमाणस्स वा अणुन्नं वा पयाइ से णं ण भवेज्जा पियधम्मेण हवेज्जा दढधम्मेण भवेज्जा भत्तीजुए हीलिज्जा सुत्तं हीलिज्जा अत्थं हीलिज्जा सुत्तत्थउभए हीलिज्जा गुरुजणं हीलिज्जा सुत्तत्थोभए जेणेव गुरुं सेणं आसाएज्जा अतीताणागयवट्टमाणे तित्थयरे आसाइज्जा आयरियउवज्झायसाहुणो जेणं आसाइज्जा सुयणाणमरिहंतसिद्धसाहु से तस्स णं सुदीसुयालमणंतसंसारसागरमाहिंडेमाणस्स तासु तासु संवुडवियडासु चुलसीइलक्खपरिसंखणासु सीओसिणमिस्सजोणीसु तमिस्संधयारदुग्गंधामिज्जविलीणखारमुत्तोज्झभंजपडहत्थवसुजलुयपूयदुद्दिणविविचिरुहिरचिक्खल्लदुद्दंसणजंबालपंकवीभत्थघोरगब्भवासेसु कढकढकढेंतचलचलचलस्स टलटलटलस्स रज्जंतसंपिंडियंगमंगस्स सुइयरं नियंतणा जेऊणं एयंविहं फासेज्जा । नो णं मणयंपि अइयरेज्जा । महा० ३ अ० ।

श्रीहीरविजयसूरिं प्रति उपधानमालारोपणयोः किं फलमुद्दिश्य कर्त्तव्यता यत्र च साऽभिहिता तदपि शास्त्रं व्यक्त्या प्रसाद्यमिति प्रश्नः उत्तरमुपधानमालारोपणयोः किं फलमुद्दिश्य कर्तव्य-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ता यत्र च साऽभिहिताऽस्तीत्यत्र उपधानवहनं श्रुताराधननिमित्तं मालारोपणं तु तपस उद्यापनार्थं महानिशीथादिशास्त्रे उक्तमस्ति । श्रीहीरविजयं प्रति जिनदासगणिकृतप्रश्नो यथा । तथाऽऽश्विनचैत्रमासास्वाध्यायिके सप्तम्यष्टमीनवमीदिनत्रयमुपधानमध्ये आयाति न वा तथाऽश्विनचैत्रमासास्वाध्यायिकदिनत्रयमुपधानतपोविशेषेषु लेख्यका नायातीति शेष्यम् । गुणविजयगणिकृतप्रश्नो यथा । उपधानवाहिनः श्राद्धादेरकालसंज्ञायां जलशौचादिविधिः किं निशायामपि स्यान्न वेति । अत्रोत्तरम् स्वकीयादिनानीतेनोष्णोदकेन शौचादिविधानं युक्तिमदिति । जेसलमेरुसंघकृतप्रश्नो यथा । तथा केनचिदुपासकेन चत्वार्युपधानान्युद्व्रढानि भवन्ति तन्मध्ये प्रथमोपधानस्य द्वादशवर्षातिक्रमे प्रथममेवोपधानं पुनरुद्वाह्य स मालां परिदधाति उत चत्वार्यपीति । उत्तरम् । प्रथमोपधानस्य द्वादशवर्षातिक्रमे पुनस्तस्मिन्नुद्वढे माला परिहिता शुद्ध्यति । अथ यदि मनः स्थाने तिष्ठति तदा चत्वार्यपि पुनरुद्वाह्य मालां परिदधाति ॥ १ ॥ तथा उपधाने वाह्यमाने तपोदिने यदि कल्याणकतिथिरायाति तदा तेनैवोपवासेन सरति उतान्याऽधिकः ततो विलोक्यते इति प्रश्ने उत्तरम् उपधानतपोदिनान्तः कल्याणकतिथ्यागमने नियन्त्रिततपस्तया तेनैवोपवासेन सरति । १२ । द्वीपबन्दिरकृतप्रश्नो यथा । तथोपधानपूर्णीभवनानन्तरं तपोवासरे उत्तरितुं कल्पते नवेति ? अत्रोत्तरम् । उपधानपूर्णीभवनानन्तरं तपोवासरे नोत्तीर्यते तथाविधकारणे गीतार्थाज्ञापूर्वकमुत्तरणे एकान्तेन निषेधो ज्ञातो नास्तीति । तथोपधानवाचनानमस्कारं विना दीयते उत तत्पूर्विकेति ? उपधानवाचनां श्रीविजयदानसूरयो नमस्कारं विनैव दत्तवन्तो वयमपि तथैव दद्म इति । २७ । तथोपधानवाचना पारणादिने दीयते न वा ? तथोपधानवाचना प्रातः संध्यायां च दीयते न वा इति ? उपधानवाचना तपोवासरे पारणादिने वा दत्ता शुद्ध्यति तथोपधानवाचना आचामाम्लैकाशनकरणानन्तरं संध्यायामपि दत्ता शुद्ध्यति परं प्रतिदिनक्रियमाणसंध्यासमयक्रियां पश्चात् क्रियते । २८ । तथा चतुर्मासकमध्ये मालारोपणनन्दी कुतः प्रभृति विधीयते इति ? चातुर्मासकमध्ये तुरीयव्रतमालारोपणनन्दी विजयदशम्यनन्तरं भवती द्वादशव्रतनन्दी त्वर्वागपि भवन्ती दृश्यते इति । २९ । तथोपधानमध्ये आर्द्रशाकभक्षणं कल्पते न वा ? तथा विलेपनमस्तकतैलप्रक्षेपादिकं कल्पते न वेति ? उपधानमध्ये सांप्रतमार्द्रशाकभक्षणे रीतिर्नास्ति तथा विलेपनमस्तकतैलक्षेपादिकं यतिपार्श्वे न वाञ्छति अन्यः कश्चिद्यदि भक्तिं करोति तदा निषेधो नास्ति । ३० । तथा श्रावकश्राविकाणां नन्दीसूत्रश्रवणं " नाणं पंचविहं पन्नत्तं " इत्यादिरूपं नमस्कारत्रयरूपं वा क्रियते न वा ? श्रावकश्राविकाणां नन्दीसूत्रं नमस्कारत्रयरूपं श्राव्यते इति । ३१ ।

तथोपधानवाचनां श्राद्धाः श्राद्ध्यश्च कर्ध्वस्थानेन शृण्वन्त्युपविश्य वेति ? उपधानवाचनां श्राद्ध्य कर्ध्वस्थिता शृण्वन्ति श्राद्धास्तु चैत्यवन्दनमुद्रयेति । ३२ । ही० ३ प्र० । जावेच्युद्-प्राप्तौ, सम्म० । तथा पौषधकरणात् पूर्वं स्वाध्यायः कृतो देवाश्च वन्दितास्तदा पश्चात्पौषधकरणे उपधानप्रवेशे वा पुनरपि स्वाध्यायदेववन्दनादि करणीयं नवेति प्रश्नः पौषधकरणात्पूर्वं स्वाध्यायदेववन्दनादिकृतं स्यात्तदा पश्चादपि तेनैव सरतीति (सेन० २ उल्ला० २८ प्र०) सामायिकाध्ययनादीनां कान्युपधानानि धामस्थानी परस्यानुयोजने किं प्रतिबन्धः प्रदीयत इति प्रश्नः । अत्रोत्तरं महानिशीथादौ चैत्यवन्दनसूत्राणामेवोपधानान्युक्तानि सन्ति न तु सामायिकाध्ययनादीनां यत्रोपधानमन्तराऽपि सामायिकादीनां पठनं तत्र जीवद्व्यवहारः संप्रदायश्च प्रमाणं यदुक्तं श्रावकाः पञ्चनमस्कारादिकियत्सूत्राणि विमुच्य शेषं सामायिकादिषड्जीवनिकान्तं सूत्रमुपधानमन्तरेण यत्पठन्ति यच्चाकृतोपधानतपसोऽपि प्रथमं नमस्कारादिस्तत्र जीवद्व्यवहारस्संप्रदायश्च प्रमाणमिति संभाव्यत इति विचारामृतसंग्रहे श्राद्धप्रतिक्रमणविचाररूपे षष्ठद्वारे इति (प्रश्न० २८) तथा मौक्षविधिनोपधानवहने श्राद्धया अस्वाध्याय दिनत्रयसत्कं तपः प्रवेदनं च लेख्यके समायाति न वेति प्रसाद्यं पूर्वं तु तपो न यातीति श्रुतमस्तीति प्रश्नः । अत्रोत्तरम् अस्वाध्यायदिनत्रयसत्कं तपः प्रवेदनं च न यातीति वृद्धवादोऽत एव षोडशदिने वाचना प्रदीयमानाऽस्ति वाचनानन्तरं च प्रवेदनरहितं पौषधत्रयं कार्यत इति (प्रश्न० ३४) तथोपधानचतुष्टयस्य मालारोपणस्य चान्तरकालः कियानिति प्रश्नः । अत्रोत्तरम् । मुख्यवृत्त्या प्रथमोपधानप्रवेशानन्तरं द्वादशवर्षातिक्रमे तच्चतुष्टयं गच्छति तेन ततोऽर्वागेव मालारोपणं विधेयमिति । श्येन० १ उल्ला० ७२ प्रश्न० । तथा षष्ठोपधानप्रवेशे अद्यदिन एव मालापरिधापने प्रथमां वाचनां दत्त्वा मालापरिधाप्यत उत पूर्वं तत्तपसि मालापरिधानानन्तरमाद्यवाचना दीयत इति प्रश्नः । अत्रोत्तरं षष्ठोपधानप्रवेशाद्यदिने प्रवेदनकं प्रवेद्य प्रथमां वाचनां दत्त्वा समुद्देशादिक्रियां कारयित्वा माला परिधाप्यत इति । श्येन० २ उल्ला० ८३ प्रश्न० । तथा श्रावकाणामुपधानवहनं विना नमस्कारादिपठनं शुद्ध्यति न वेति प्रश्नः । अत्रोत्तरम् तथा यतीनां योगवहनं विना सिद्धान्तवाचनपाठनादि न शुद्ध्यति तथोपधानतपोऽन्तरा श्राद्धानामपि नमस्कारादिसूत्रपठनगणनादि न शुध्यति यदुक्तं महानिशीथे " सेभयवं सुदुक्करं पंचमंगलमहासुअखंधस्स विणओवहाणं पन्नत्तं एसा निअंतणा कहं वा लेहिकिज्जइ गोयमा ! जेणं केणइ न इच्छेज्जा एयं नियंतणं अविणओवहाणेण पंच मंगलाइसु अन्नाणमहिज्जई अज्झावेइ वा अज्झावयमाणस्स वा अणुन्नपयाइ से णं न भवेज्जापि अधम्मे न हवेज्जा दढधम्मे न हवेज्जा भत्तिज्जुए हीलिज्जा अत्थं हीलिज्जा सुत्तत्थोभए हीलेज्जा गुरुजेणं हीलिज्जा सुत्तं जाव हीलिज्जा सुत्तं हीलिज्जा सुत्तत्थोभए हीलिज्जा गुरु जेणं हीलिज्जा सेणं आसाएज्जा अतीताणागयवट्टमाणे तित्थयरे आसाएज्जा आयरिअं उवज्झायसाहुणो जेणं आसाएज्जा सुअनाणमरिहंतसिद्धसाहु सेत्तस्स णं अणंतसंसारसागरमाहिंडेमाणस्स तासु तासु संवुडविअडासु (६ प्र०) चुलसीलक्खपरिसंकडासु सीओसणमिस्स जोणीसु सुइरनिअंतणा ' इति ' परं येन प्राग् नमस्कारादिसूत्राण्यधीतानि तेनापि यथायोगं निर्विलम्बमेवपधानानि विधिनाऽवश्यं वहन्ति यानि संप्रति तु द्रव्यक्षेत्रकालाद्यपेक्षया लाभालाभं विभाव्याचरणयोपधानतपो विनाऽपि नमस्कारादिसूत्रपाठादि गणनं कार्यमाणं दृश्यते आचरणायाश्च लक्षणमिदं कल्पभाष्ये उपदेशपदे च यथा "असढेण समाइन्नं, जं कत्थ य केणई असावज्जं । न निवारिअमन्नेहिं, बहुमणुमयमेअमायरिअं" । । १ । आचरणा च जिनाज्ञा समानैव यद्भणितं भाष्यादौ " असढाइन्नाणवज्जं, गीअत्थ अवारिअंतिमज्झत्था । आयरणा वि हु आणत्ति, वयणओ सुबहुमन्नंति १ इति ध्येयम् (६ प्रश्न०) तथा गुरुसमीपे उपाश्रयनादिक्रियां कुर्वतः श्राद्धादेरन्तराले स्थापनाया गुरोश्चान्तराले पञ्चेन्द्रियगमने दूषणं भवति न वेति प्रश्नः । अत्रोत्तरम् दूषणं भवतीति (१७ प्रश्न०) तथा तृतीयाद्युपधानेषु सप्तक्षमाश्रमणानि दाप्यन्ते तत् कुत्र विधिः पत्रेऽस्तीति प्रश्नः । अत्रोत्तरं तृतीयाद्युपधानेषु तद्विधिदर्शकपत्रादौ सप्तक्षमाश्रमणदानवि-

धानं न दृश्यते तथापि श्रीपरमगुरूणामनुशिष्टिरस्ति यतोऽग्रे मालाधापनसमये तेषां समुद्देशानुज्ञयोर्विधीयमानत्वादुद्देशोऽपि कर्त्तव्य इति तत्सत्क्रमाश्रमणानि देयानीति (२८ प्रश्न०) तथा कृषिकस्कोपधानवहनानन्तरं षण्मासमध्ये मालापरिधापनं शुध्यति किं वा षण्मासानन्तरमिति प्रश्नः अत्रोत्तरं तद्वहनानन्तरं षण्मासमध्य एव मालापरिधापनं शुद्ध्यतीत्येकान्तो ज्ञातो नास्ति परं त्वरितं परिधाप्यते तदा वरमिति (११० प्रश्न०) तथाऽक्रियाख्योपधाने उच्चरितपञ्चमीतपसां षष्ठदिने पञ्चमीसमेति तदा पञ्चम्युपवासं कृत्वा सप्तमदिन आचाम्लं करोति किं वा षष्ठं करोतीति प्रश्नः । अत्रोत्तरम् सप्तमदिने उपवासस्यावश्यककरणीयत्वेन षष्ठं करोति शक्त्यभावे तदनुसारेणैवोपधानप्रवेशं करोति (१३४ प्रश्न०) तथोपधानोत्तरणादिनस्य प्राक् दिने योगोत्तरणदिनवत्तप एव कृतं विलोक्यते किं वा एकाशनकपारणकेऽप्युत्तरितुं कल्पते न वेति प्रश्नः । अत्रोत्तरमाह एकाशनादिपारणकेऽप्युत्तारयितुं कल्पते न तु योगादिवत्तपोनियम इति (१६४ प्रश्न०) तथा पण्डितकनकविजयगणिकृतप्रश्नस्तदुत्तरं च यथा वृद्धविध्युपधानवाहकस्य कृतचतुर्विधाहारोपवासस्य संध्याप्रत्याख्यानवेलायां संध्याप्रत्याख्यानं गुरुसमक्षं कर्त्तव्यं न वेति प्रश्नः । अत्रोत्तरम् प्रातः कृतचतुर्विधाहारोपवासस्य संध्यायामुपधानक्रियाकरणवेलायां पश्चात्प्रत्याख्यानं कृतं विलोक्यते उपधानमन्तरा तु संध्यायां तत्स्मरणं विलोक्यते परं पुनः प्रत्याख्यानकरणविशेषो ज्ञातो नास्तीति (२७६ प्र०) तथाऽष्टपूर्वार्धैरेक उपवास इत्यादिगणनया गणितं तपस्तृतीयपञ्चमोपधानमध्य आयाति न वेति प्रश्नः । अत्रोत्तरम् पञ्चमङ्गलमहाश्रुतस्कन्धः १ प्रतिक्रमणश्रुतस्कन्धः २ शक्रस्तवाध्ययनं ३ चैत्यस्तवाध्ययनं ४ नामस्तवाध्ययनं ५ श्रुतस्तवसिद्धस्तवाध्ययनं चेति ६ षडुपधानानि तत्र चतुर्थषष्ठे विना चत्वार्युपधानानि मूलविधिनापरविधिना वोह्यमानानि सन्ति तत्रापरविधावष्टभिः पुरिमार्धैरेक उपवास इत्यादिगणना भवति तत्तु मूलविधौ प्रयोजनाभावाच्चतुर्थषष्ठयोर्मूलविधिनैवोह्यमानत्वात्तद्गणना ऽप्रयोजनास्तीति (१७६ प्रश्न०) तथैकादशोत्तराध्ययनचतुर्दशसहस्यां १३१ पत्रे " जोगवं उवहाणवं " इति द्वयमपि शिष्यस्योक्तमस्ति तत्कथं शिष्यस्य श्राद्धस्य च कार्यत इति प्रश्नः । अत्रोत्तरम् योगमनोवचनकायसम्बन्धिन उपधानं तपोविशेष एतद् द्वयमपि मुनीनामियोक्तमस्ति श्राद्धानामुपधानोद्वाहनं तु महानिशीथाक्षरप्रामाण्यादेवेति (१८६ प्रश्न०) अथ पण्डितकान्हर्षिगणिकृतप्रश्नास्तदुत्तराणि च यथा उपधानवाहिश्राद्धश्राद्धीनां कल्पदिनपञ्चकमध्ये उत्तरितुं कल्पते न वेति प्रश्नः । अत्रोत्तरम् महत्कारणं विना उत्तरितुं न कल्पते यदि च तथाविधकारणे उत्तरति तदारम्भवर्जनं करोतीति (२०६ प्रश्न०) तथोपधानाऽवाहिनां पञ्चमङ्गलमहाश्रुतस्कन्धपाठेऽधिनायामनन्तसंसारावाप्तिः फलं तदाश्रित्य किमादिश्यते इति प्रश्नः । अत्रोत्तरम् उपधानावहनेऽनन्तसंसारिता महानिशीथे उक्ता परं तत्सूत्रमुत्सर्गतया श्रितं तेन यो नास्तिकस्सन्नुपधानं वोढुं निरपेक्षस्तस्य सेति ज्ञेयम् (३३७ प्रश्न०) तथा अष्टाविंशतिदिनोपधाने पञ्चत्रिंशद्दिनोपधाने च मूलविधिना वहमाने कति दिनानि भवन्ति तथा तदुपधानद्वयात्कतिदिनेषु न्यूनेषूत्तार्यते इति प्रश्नः । अत्रोत्तरम् मूलविधिना तद्वये वहमाने दिनन्यूनाधिक्यं ज्ञातं नास्ति तथा तदुपधाने न्यूनदिनेषु महत्कारणे सपूर्ण तपसि जाते उत्तारवन्तो दृश्यन्ते परं दिनसंख्या ज्ञाता नास्तीति (४४१ प्रश्न०) तथा कोऽप्युपधानचतुष्कमुद्वाह्य मालां परिदधाति तस्य समुद्देशानुज्ञावस्थायामवशिष्टोपधानयोर्नाम गृह्यते नवेति प्रश्नः । अत्रोत्तरम् षण्णामप्युपधानानां समुद्देशानुज्ञयोर्नाम गृह्यते द्वयोरुद्देशस्य च पुरतोऽपि भवने न दोष इति वृद्धसंप्रदायः (४१८ प्रश्न०) तथोपधानतपसि पूर्णे जाते शेषप्रवेदनेषु दिनवृद्धिर्भवति नवेति प्रश्नः । अत्रोत्तरम् उपधानशेषप्रवेदनेषु दिनवृद्धिर्भवति (४२६ प्रश्न०) तथोपधाने पात्रीपरावर्त्तनं शुध्यति न वेति प्रश्नः । अत्रोत्तरम् तथाविधप्रकारेण तत्प्रत्याख्यानं शुद्ध्यति (ह्येन० ३ उल्ला० ४२८ प्रश्न०) तथोपधानवाचनाऽन्तर्गृहीतुं विस्मृता सा सायं क्रियाकरणानन्तरं गृह्यतेऽथवा द्वितीयदिने यदि द्वितीयदिने तदा स वासरः कस्यां वाचनायां गण्यते इति प्रश्नः । अत्रोत्तरं प्रातरुपधानवाचना लातुं विस्मृता सा संध्यायां क्रियाकरणादर्वाग् गृह्यते तथाऽपि यदि स्मृता तदा द्वितीयेऽह्नि प्रवेदनादर्वाग् गृह्यते स वासरस्त्वप्रेतनवाचनामध्ये गण्यत इति । ह्येन० ४ उल्ला० १२६ प्रश्न० ।

उवहाणपडिमा–उपधानप्रतिमा– स्त्री० उपधानं तपस्तद्विषया प्रतिमा । प्रतिमाभेदे, स्था० २ ठा० । तपोविषयेऽभिग्रहे, औ० ।

उवहाणवं–उपधानवत्–पुं० उपधानं तपस्तद्विद्यते यस्याऽसौ उपधानवान् । तपोनिष्टप्तदेहे, उपधीयते उपष्टभ्यते श्रुतमनेनेति उपधानम् । श्रुतविषयोपचारवति, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । स्था० । उपधानमङ्गोपाङ्गादीनां सिद्धान्तानां पाठनाराधनार्थमाचाम्लोपवासनिर्विकृत्यादिलक्षणं तपोविशेषः स विद्यते यस्य स उपधानवान् । सिद्धान्ताराधनतपोयुक्ते, " वसे गुरुकुले णिच्चं, जोगवं उवहाणवं । पियंकारे पियंवाई, स सिक्खं लद्धुमरहई " उत्त० ११ अ० । सूत्र० ॥

उवहाणवीरिय–उपधानवीर्य–पुं० उपधानं तपस्तत् यथाशक्त्या वीर्य्यं यस्य स भवत्युपधानवीर्य्यः । सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । तपस्यनिगूहितबलवीर्य्ये, " धम्मट्ठी उवहाणवीरिए " सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

उवहाणसुय–उपधानश्रुत–न० महावीरासेवितस्योपधानस्य तपसः प्रतिपादकं श्रुतं ग्रन्थः उपधानश्रुतम् । अष्टमे नवमे वा आचाराङ्गस्य ब्रह्मचर्य्याध्ययने, स्था० ६ ठा० । प्रश्न० । आव० । स० । अथोपधानश्रुतस्य प्रतिपाद्यं महावीरस्वामिकृतं तप उपदर्श्यते ।

अहासुयं वदिस्सामि जहा से समणे भगवं उट्ठाय संखाए तंसि हेमंते अहुणा पव्वइए रीइत्था णो चेविमेण वत्थेण पिहिस्सामि तंसि हेमंते से पारए आवकहाए एयं खु आणुधम्मियं तस्स ॥ १ ॥

(अहासुयं वदिस्सामीत्यादि) आर्यः सुधर्मस्वामी जम्बूस्वामिने पृष्टत्वात् कथयति यथाश्रुतं यथासूत्रं वा वदिष्यामि तद्यथा असौ श्रमणो भगवान् वीरवर्द्धमानस्वाम्युत्थायोद्यतविहारं प्रतिपद्य सर्वालङ्कारं परित्यज्य पञ्चमुष्टिकं लोचं विधायैकेन देवदूष्येणेन्द्रक्षिप्तेन युक्तः कृतसामायिकप्रतिज्ञः आविर्भूतमनःपर्यायज्ञानाष्टप्रकारकर्म्मक्षयार्थं तीर्थप्रवर्त्तनार्थं चोत्थाय संख्याय ज्ञात्वा तस्मिन् हेमन्ते मार्गशीर्षदशम्यां प्राचीनगामिन्यां छायायां प्रव्रज्याग्रहणसमनन्तरमेव रीयते स्म विजहार । तथा च क्षत्रकुण्डग्रामान्मुहूर्त्ते शेषे दिवसे कूर्म्मारग्राममाप । तत्र च

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगवानित आरभ्य नानाविधाभिग्रहोपेतो घोरान् परीषहोपसर्गानभिसहमानो महासत्वतया म्लेच्छानप्युपशमं नयन् द्वादश वर्षाणि साधिकानि छद्मस्थो मौनव्रती तपश्चचार । अत्र च सामायिकारोपणसमनन्तरमेव सुरपतिना भगवदुपरि देवदूष्यवस्त्रं चिक्षिपे । तद्भगवताऽपि निःसङ्गाभिप्रायेणैव धर्म्मोपकरणमृते न धर्म्मोऽनुष्ठातुं मुमुक्षुभिरपरैः शक्यत इति कारणापेक्षया मध्यस्थवृत्तिना तथैवावधारितं न पुनस्तस्य तदुपभोगेच्छाऽस्तीत्येतद्दर्शयितुमाह "णो चेव इमेण" इत्यादिश्लोकः नचैवाहमनेन वस्त्रेण हेमन्ते तेनात्मानं पिधास्यामि स्थगयिष्यामि तस्मिन् हेमन्ते तद्वा वस्त्रं त्वक्त्राणं करिष्यामि लज्जाप्रच्छादनं वा विधास्यामि किम्भूतोऽसावितीति दर्शयति । स भगवान् प्रतिज्ञायाः परीषहाणां संसारस्य वा पारं गच्छतीति पारगः कियन्तं कालमिति दर्शयति । यावत्कथं यावज्जीवमित्यर्थः किमर्थं पुनरसौ बिभर्तीति चेद्दर्शयति खुरवधारणे स च भिन्नक्रमः । एतद्वस्त्रावधारणं तस्य भगवतोऽनु पश्चात् धार्मिकमनुधार्म्मिकमेवेत्यपरैरपि तीर्थकृद्भिः समाचीर्णमित्यर्थस्तथा चागमः "सेवेमि ये अतीता जे य पडुप्पन्ना जे य आगमेस्सा अरहंता भगवन्तो जे य पव्वइंसु जे पव्वयंति जे य पव्वइस्संति सव्वे ते सोवहीधम्मो देसियव्वेत्ति" तथा भगवतः प्रव्रजतो ये दिव्या सुगन्धिपटवासा आसंस्तद्गन्धाकृष्टाश्च भ्रमरादयः समागत्य शरीरमुपतापयन्तीत्येतद्दर्शयितुमाह ।

चत्तारि साहिए मासे, बहवे पाणजाइया आगम्म ।
अभिरुज्झ कायं विहरिंसु, आरूसिया णं तत्थ हिंसंसु ।२।

"चत्तारि इत्यादि" श्लोकः चतुरः साधिकान्मासान्बहवः प्राणिजातयो भ्रमरादिकाः समागत्यारुह्य च कायं शरीरं विजह्रुः काये प्रविचारं चक्रुः । तथा मांसशोणितार्थतया आरुह्य तत्र काये णमिति वाक्यालंकारे जिंहिसुः । इतश्चेतश्च विलुम्पन्ति स्मेत्यर्थः । कियन्मात्रं कालं तत् देवदूष्यं भगवति स्थितमित्येतद्दर्शयितुमाह ।

संवच्छरं साहियं मासं, जत्थ रिक्कासि वत्थगं भगवं ।
अचेले तत्तो चाई, तं वोसज्ज वत्थमणगारे । ३ ।

संवत्सर इत्यादिकं रूपकं तदिन्द्रोपहितं वस्त्रं संवत्सरमेकं साधिकञ्च मासं (जत्यरिक्कासित्ति) यत्र त्यक्तवान् भगवांस्तत्र स्थितकल्प इति कृत्वा तावदूर्ध्वं तद्वस्त्रत्यागात् त्यागी व्युत्सृज्य च तदनगारो भगवानचेलोऽभूदिति । तच्च सुवर्णवालुकानदीपूराहृतकण्टकावलग्नं धिग्जातिना गृहीतमिति । किञ्च ।

अदु पोरिसिं तिरियभित्तिं, चक्खुमासज्ज अंतसो ज्झाति ।
अह चक्खु भीता सहिया, ते हंता हंता बहवे कंदिंसु ॥४॥

अथानन्तर्ये पुरुषप्रमाणा पौरुषी आत्मपरिमाणा वीथी तां गच्छन् ध्यायतीर्यासमितो गच्छति । तदेव चात्र ध्यानं यदीर्यासमितस्यागमनमिति भावः । किम्भूतां तां तिर्यग्भित्तिं शकटोद्धिवदादौ संकुटामग्रतो विस्तीर्णामित्यर्थः । कथं ध्यायति चक्षुरासज्य चक्षुर्दत्वा अन्तर्मध्ये दत्तावधानो भूत्वेति । तं तथा दीव्यमानं दृष्ट्वा कदाचिदव्यक्तवयसः कुमारादय उपसर्गयेयुरिति दर्शयति । अथानन्तर्ये चक्षुः शब्दोऽत्र दर्शनपर्यायो दर्शनादेव भीता दर्शनभीताः सहिता मिलितास्ते बहवो डिम्भादयः पांसुमुष्ट्यादिभिर्हत्वा हत्वा चक्रन्दुः पश्यत यूयं नाग्न्या मुण्डितस्तथाकोऽयं कुतोऽयं किमितो याऽयमित्येवं हलबोलं चक्रुरिति । किञ्च ।

सयणेहिं विमिस्सेहिं, इत्थिओ से तत्थ परिणाय ।
सागारियं ण सेवेइ, ति से सयं पवेसिया ज्झाइ ॥ ५ ॥

शय्यन्ते येष्विति शयनानि वसतयः तेषु कुतश्चिन्निमित्तादिति मिश्रेषु गृहस्थतीर्थिकैस्तत्र व्यवस्थितः सन् यदि स्त्रीभिः प्रार्थ्यते ततस्ताः शुभमार्गार्गला इति ज्ञात्वा ज्ञपरिज्ञया प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरन् सागारिकं मैथुनं न सेवते शून्येषु च भावमैथुनं न सेवते इत्येवं स भगवान् स्वयमात्मना वैराग्यमार्गायात्मानं प्रवेश्य धर्मध्यानं शुक्लध्यानं वा ध्यायति । तथा ।

जे केइ इमे अगारत्था, मीसीभावं पहाय सेज्झाति ।
पुट्ठो वि णाभिभासिंसु, गच्छति णाइवत्तती अंजु ॥६ ॥

ये केचन इमे अगारं गृहं तत्र तिष्ठन्तीत्यगारस्थाः गृहस्थास्तैर्मिश्रीभावमुपगतोऽपि द्रव्यतो भावतश्च तं मिश्रीभावं प्रहाय त्यक्त्वा स भगवान् धर्म्मध्यानं ध्यायति । तथा कुतश्चिन्निमित्तात् गृहस्थैः पृष्टो वा न वक्ति स्वकार्याय गच्छत्येव न तैरुक्तो मोक्षपथमतिवर्तते ध्यानं वा (अंजुत्ति) । ऋजुः ऋजोः संयमस्यानुष्ठानात् । नागार्जुनीयास्तु पठन्ति "पुट्ठो व से अपुट्ठो वा णो अणुण्णाइयापावगं" कण्ठ्यम । किञ्च ॥

णो सुकरमेतमेगेसिं, णाभिभासे अभिवायमाणो ।
हतपुव्वो तत्थ दंडेहिं, लूसियपुव्वो अप्पपुण्णेहिं ॥ ७ ॥

नैतद्वक्ष्यमाणमुक्तं वा एकेषामन्येषां सुकरमेव नान्यैः प्राकृतपुरुषैः कर्तुमक्षम् । किं तत्तेन कृतमिति दर्शयति । अभिवादयता नाभिभाषते नाप्यनभिवादयद्भ्यः कुप्यति नापि प्रतिकूलोपसर्गैरन्यथाभावं याति दण्डैर्हतपूर्वस्तत्रानार्यदेशादौ पर्यटंस्तथा लूषितपूर्वो हिंसितपूर्वः केशलुञ्चनादिभिरपुण्यैरनार्यैः पापाचारैरिति । किञ्च ॥

फरुसाइं दुतितिक्खाइं, अइयच्च मुणी परक्कममाणे ।
आघायणट्टगीयाइं, दंडजुज्झाइं मुट्ठिजुज्झाइं ॥ ८ ॥

परुषाणि कर्कशानि वा दुष्टानि तानि वा परैर्दुःखेन तितिक्ष्यन्त इति दुस्तितिक्षाणि तान्यतिगत्याविगणय्य मुनिर्भगवान्विदितजगत्स्वभावः पराक्रममाणः सम्यक् तितिक्षते तथा आख्यातानि च तानि नृत्तगीतानि च आख्यातनृत्तगीतानि तान्युद्दिश्य न कामुकं विदधाति नापि दण्डयुद्धमुष्टियुद्धान्याकर्ण्य विस्मयोत्फुल्ललोचन उद्धर्षितरोमकूपो भवति ।

गढिए मिहो कहासु, समयम्मि णायपुत्तो विसोगो ।
अदक्खु एताइ सो उरालाइं, गच्छति णायपुत्ते असरणाए ॥ ९ ॥

ग्रथितो वा बद्धो मिथोऽन्योन्यं कथासु स्वैरः कथासु समये वा कश्चिद्वद्धस्तं स्त्रीद्वयं वा परस्परकथायां गृद्धिमपेक्ष्य तस्मिन्नवसरे ज्ञातपुत्रो भगवान् विशोको विगतहर्षश्च तान् मिथः कथावद्धान्मध्यस्थोऽद्राक्षीत् । एतान्यन्यानि वाऽनुकूलप्रतिकूलानि परीषहोपसर्गरूपाण्युराळानि दुष्प्रधृष्याणि दुःखान्यस्मरन् गच्छति संयमानुष्ठाने पराक्रमते ज्ञाताः क्षत्रियास्तेषां पुत्रोऽपत्यं ज्ञातपुत्रः वीरवर्द्धमानस्वामी स भगवान्नैतद्दुःस्मरणाय गच्छति पराक्रमत इति सम्बन्धः यदि वा शरणं गृहं नात्र शरणमस्तीत्यशरणः संयमस्तस्मै अशरणाय पराक्रमत इति । तथा हि किमत्र चित्रं यद्भगवानपरिमितबलपराक्रमः प्रतिज्ञामन्दरमारूढः पराक्रमते स भगवानप्रव्रजितोऽपि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रासुकाहारानुवर्त्यासीत् । श्रूयते च किल पञ्चत्वमुपगते मातापितरि समाप्तप्रतिज्ञोऽभूत् । ततः प्रविव्राजिषुः ज्ञातिभिरभिहितो यथा हि भगवन्मा कृथाः क्षतिक्षारावसेचनमित्येवमभिहितेन भगवताऽवधिना ज्ञायि यथा मय्यस्मिन्नवसरे प्रव्रजति सति बहवो नष्टचित्ता विगतासवश्च स्युरित्यवधार्य तानुवाच कियन्तं कालं पुनरत्र मया स्थातव्यमिति । त ऊचुः संवत्सरद्वयेनाऽस्माकं शोकापगमो भावीति भट्टारकोऽप्योमित्युवाच । किं त्वाऽऽहारादिकं मया स्वेच्छया कार्यं नेच्छाविघाताय भवद्भिरुपस्थातव्यं तैरपि यथाकथंचिदार्ये ! तिष्ठत्विति तैः सर्वं तथैव प्रतिपेदे । ततो भगवांस्तद्वचनमनुवर्त्यात्मीयश्च निष्क्रमणावसरमवगम्य संसारासारतां विज्ञाय तीर्थप्रवर्तनायोद्यत इति दर्शयितुमाह ॥

अवि साहिए दुवे वासे, सीतोदगं अभुच्चा णिक्खंते ।
एगत्तगए पिहियच्चे, से अभिणायदंसणे संते ॥१०॥
पुढविं च आउकायं च, तेउकायं च वाउकायं च ।
पणगाइं बीयहरियाइं, तसकायं सव्वसो णच्चा ॥११॥
एयाइं संति पडिलेहे, चित्तमत्ताइं से अभिण्णाय ।
परिवज्जियाण विहरित्था, इति संखाय से महावीरे ॥१२॥

अपि साधिके द्वे वर्षे शीतोदकमभुक्त्वा अनभ्यवहृत्यापीत्वेत्यर्थः अपरा अपि पादधावनादिकाः प्रासुकेनैव प्रकृत्या ततो निष्क्रान्तो यथा च प्राणातिपातं परिहृतवानेवं शेषव्रतान्यपि पालितवानिति । तथा एकत्वमिति तत एकत्वभावनाभावितान्तःकरणः पिहिता स्थगितार्चा क्रोधज्वाला येन स तथा । यदि वा पिहितार्चो गुप्ततनुः स भगवांश्छद्मस्थकालेऽभिज्ञातदर्शनः सम्यक्त्वभावतया भावितः शान्त इन्द्रियनोइन्द्रियैः स एवंभूतो भगवान् गृहवासेऽपि सावद्यारम्भत्यागी किं पुनः प्रव्रज्यायामिति दर्शयितुमाह " पुढविं च इत्यादि एयाइं इत्यादि " श्लोकद्वयस्याप्ययमर्थः । एतानि पृथिव्यादीनि चित्तमन्त्यभिज्ञाय तदारम्भं परिवर्ज्य विहरति स्म क्रियाकारकसंबन्धस्तत्र पृथ्वीसूक्ष्मबादरभेदेन द्विधा सूक्ष्मा सर्वगा बादराऽपि श्लक्ष्णकठिनभेदेन द्विधैव । तत्र श्लक्ष्णा शुक्लादिपञ्चवर्णा कठिना तु पृथिवी शर्करावालुकाषट्त्रिंशद्भेदा शस्त्रपरिज्ञानुसारेण द्रष्टव्या । अप्कायोऽपि सूक्ष्मबादरभेदात् द्विधा । तत्र सूक्ष्मः सर्वगो बादरस्तु शुद्धोदकादिभेदेन पञ्चधा । तेजःकायोऽपि पूर्ववन्नवरं बादरोऽङ्गारादि पञ्चधा । वायुरपि तथैव नवरं बादर उत्कलिकादिभेदेन पञ्चधा । वनस्पतिरपि सूक्ष्मबादरभेदेन द्विधा । तत्र सूक्ष्मः सर्वगो बादरोऽप्यग्रमूलस्कन्धपर्वबीजसंमूर्च्छनभेदात्सामान्यतः षोढा पुनर्द्विधा प्रत्येकः साधारणश्च । तत्र प्रत्येको वृक्षगुच्छादिभेदात् द्वादशधा साधारणस्त्वनेकविध इति । स एवं भेदभिन्नोऽपि वनस्पतिः सूक्ष्मस्य सर्वगतत्वादतीन्द्रियत्वाच्च तद्व्युदासेन बादरो भेदत्वेन संगृहीतस्तद्यथा पनकग्रहणेन बीजाङ्कुरभावरहितस्य पनकादेरुल्यादिविशेषापन्नस्य ग्रहणं बीजग्रहणेन त्वग्रबीजादेरुपादानं हरितशब्देन शेषस्येत्येतानि पृथिव्यादीनि भूतानि सन्ति विद्यन्त इत्येवं प्रत्युपेक्ष्य तथा (चित्तमंति) सचित्तान्यभिज्ञाय ज्ञात्वा इत्येतत्संख्ययाऽवगम्य स भगवान्महावीरस्तदारम्भं परिवर्ज्य विहृतवानिति पृथिवीकायादीनां जन्तूनां त्रसस्थावरत्वेन भेदमुपदर्श्य सांप्रतमपरस्परतोऽनुगमनमप्यस्तीत्येतद्दर्शयितुमाह ॥

अदु थावरा य तसत्ताए, तसजीवा य थावरत्ताए ।
अदु वा सव्वजोणिया सत्ता, कम्मुणा कप्पिया पुढो बाला ॥१३॥
भगवं च एवमन्नेसिं, सोवहिए हु लुप्पती बाले ।
कम्मं च सव्वसो णच्चा, तं पडियाइक्खपावगं भगवं ॥१४॥
दुविहं समेच्च मेहावी, किरियमक्खायमणेलिसं णाणी ।
आयाण सोय मतिवाय, सोयं जोगं च सव्वसो णच्चा ॥१५॥

अथानन्तर्ये स्थावराः पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयस्ते त्रसतया द्वीन्द्रियादितया विपरिणमन्ते कर्मवशाद्गच्छन्ति चशब्द उत्तरापेक्षया समुच्चयार्थस्तथा त्रसजीवाश्च कृम्यादयः स्थावरतया पृथिव्यादित्वेन कर्मनिघ्नाः समुत्पद्यन्ते । तथा चान्यत्राप्युक्तम् "अयण्णं भंते ! जीवे पुढविकाइयत्ताए उववण्णपुव्वे हंता गोयमा ! असइं अदु वा अणंतखुत्तो जाव उववण्णपुव्वेत्ति" अथवा सर्वा योनय उत्पत्तिस्थानानि येषां सत्त्वानां ते सर्वयोनिकाः सत्त्वाः सर्वगतिभाजस्ते च बाला रागद्वेषाकलिताः स्वकृतेन कर्मणा पृथक्तया सर्वयोनिमुक्तेन च कल्पिता व्यवस्थापिता इति । तथा चोक्तं- " णत्थि किर सो पएसो लोए वालग्गकोडिमेत्तो वि । जम्मणमरणाबाहा अणेगसो जत्थ णवि पत्ता" अपि च । रङ्गभूमिर्न सा काचिच्छुद्धा जगति विद्यते । विचित्रैः कर्मनेपथ्यैर्यत्र सत्त्वैर्न नाटित " मित्यादि । किञ्च (भगवं च इत्यादि) भगवांश्च वीरवर्द्धमानस्वाम्येवमवगम्य ज्ञातवान् सह उपाधिना वर्तत इति सोपधिकः द्रव्यभावोपधियुक्तः हुरवधारणे लुप्यत एव कर्मणः क्लेशमनुभवत्येवाज्ञो बाल इति । यदि वा हुर्हेतौ यस्मात् सोपधिकः कर्मणा लुप्यते बालस्तस्मात्कर्म सर्वशो ज्ञात्वा तत्कर्मप्रत्याख्यातवांस्तदुपादानं च पापकर्मानुष्ठानं भगवान् वर्द्धमानस्वामीति । किञ्च (दुविहं इत्यादि) द्वे द्विधे प्रकारावस्येति द्विविधं किं तत्कर्म तच्चेर्याप्रत्ययं सांपरायिकञ्च तद् द्विविधमपि समेत्य ज्ञात्वा मेधावी सर्वभावज्ञः क्रियां संयमानुष्ठानरूपां कर्मोच्छेत्रीमनीदृशीमनन्यसदृशीमाख्यातवान् किम्भूतो ज्ञानी केवलज्ञानवानित्यर्थः । किं वा परमाख्यातवानिति दर्शयति आदीयते कर्मानेनेत्यादानं दुष्प्रणिहितमिन्द्रियमादानञ्च श्रोतश्च आदानश्रोतस्तज्ज्ञात्वा तथाऽतिपातश्रोतश्चोपलक्षणार्थत्वादस्य मृषावादादिकमपि ज्ञात्वा तथा योगश्च मनोवाक्कायलक्षणं दुष्प्रणिहितं सर्वशः सर्वप्रकारैः कर्मबन्धायेति ज्ञात्वा श्रोतःक्रियासंयमलक्षणमाख्यातवानिति संबन्धः । किञ्च ।

अतिवातियं अणाउट्टिं, सत्तमण्णेसिं अकरणयाए ।
जस्सित्थि उ परिण्णाया, सव्वकम्मावहा उ से अदक्खु ॥१६॥

आकुट्टिर्हिंसा न आकुट्टिरनाकुट्टिरहिंसेत्यर्थः । किंभूतामतिक्रान्तां पातकादतिपातका निर्दोषा तामाश्रित्य स्वतोऽन्येषां वा करणतया व्यापारतया प्रवृत्त इति । तथा यस्याः स्त्रियाः स्वरूपतस्तद्विपाकतश्च परिज्ञाता भवन्ति । सर्वं कर्मावहन्तीति सर्वकर्मावहाः सर्वपापोपादानभूताः स एवाद्राक्षीत्स एव यथाऽवस्थितं संसारस्वभावं ज्ञातवान् । एतदुक्तं भवति । स्त्रीस्वभावपरिज्ञानेन तत्परिहारेण च स भगवान् परमार्थदर्श्यभूदिति । मूलगुणानाख्यायोत्तरगुणप्रचिकटयिषयाह ॥

अहागडं ण से सेवे, सव्वसो कम्मुणा अदक्खू ।
यं किंचि पावगं भगवं, तं अकुव्वं वियडं भुंजित्था ॥१७॥

यथा येन प्रकारेण पृष्टाऽपृष्टा वा कृतं यथाकृतमाधाकर्मादिनाऽसौ सेवते किमिति । यतः सर्वैः प्रकारैस्तदासेवनेन कर्मणाऽष्टप्रकारेण बन्धमद्राक्षीत् दृष्टवानन्यदप्येवं जातीयकं न

सेवते इति दर्शयति । यत्किञ्चित्पापकं पापोपादानकारणं तद्भगवाननकुर्वन्विकटं प्रासुकमभुङ्क्त उपभुक्तवान् । किञ्च

णो सेवती य परवत्थं, परपाए वि से ण भुंजित्था ।
परिवज्जियाण ड माणं, गच्छति संखडिं असरणाए ॥१८॥

नासेवते च नोपभुङ्क्ते च परवस्त्रं प्रधानं वस्त्रं परस्य वा वस्त्रं परवस्त्रं नासेवते । तथा परपात्रेऽप्यसौ नो भुङ्क्ते तथा परिव्रज्यापमानमवगणय्य गच्छत्यसावाहाराय संस्क्रियन्ते प्राणिनोऽस्यामिति संखडिस्तामाहारपाकस्थानभूतामशरणाय शरणमनाश्रयमाणोऽदीनमनस्ककल्प इति कृत्वा परीषहविजयार्थं गच्छतीति । किञ्च

मायण्णे असणपाणस्स, णाणुगिद्धे रसेसु अपडिन्ने ।
अच्छिं पि णोपमज्जिज्जा, णो वि कंडूयए मुणी गायं ॥१९॥

आहारस्य मात्रां जानातीति मात्रज्ञः कस्याश्यत इत्यशनं शाल्योदनादि पीयत इति पानं द्राक्षापानकादि तस्य च । तथा नानुगृद्धो रसेषु विकृतिषु भगवतो हि गृहस्थभावेऽपि रसेषु गृद्धिर्नासीत् । किं पुनः प्रव्रजितस्येति । तथा रसेष्वेव ग्रहणं प्रत्यप्रतिज्ञो यथा मयाऽद्य सिंहकेसरामोदका एव ग्राह्या इत्येवंरूपप्रतिज्ञारहितोऽन्यत्र कुल्माषादौ सप्रतिज्ञ एव । तथा अक्ष्यपि रजःकणकाद्यपनयनाय नो प्रमार्जयेन्नापि च गात्रं मुनिरसौ कण्डूयते काष्ठादिना गात्रस्य कण्डूत्यपनोदं न विधत्त इति । किञ्च ।

अप्पं तिरियं पेहाए, अप्पं पिट्ठउ पेहाए ।
अप्पं बुइए पडिभाणी, पंथपेही चरेजते माणे ॥ २० ॥

अल्पशब्दोऽभावे वर्त्तते अल्पं तिर्यक् तिरश्चीनं गच्छन् प्रेक्षते तथाऽल्पं पृष्ठतः स्थित्वोत्प्रेक्षते तथा मार्गादिः केनचित्पृष्टः सन्नसाधुप्रतिभाषी सन्नल्पं ब्रूते मौनेन गच्छत्येव केवलमिति दर्शयति पथिप्रेक्षी चरेच्चरेद्यतमानः प्राणिविषये यत्नवानिति । किञ्च

सिसरंसि अद्धपडिवन्ने, तं वोसिरिज्ज वत्थमणगारे ।
पसारेतु बाहुं परक्कमे, णो अवलंबियाण खंधंसि ॥ २१ ॥

अर्द्धप्रतिपन्ने शिशिरे सति तद्देवदूष्यवस्त्रं व्युत्सृज्यानगारो भगवान् प्रसार्य बाहुं पराक्रमते । न तु पुनः शीतार्दितः सन् संकोचयति नापि स्कन्धौ बाहं व्यतितिष्ठतीति । सांप्रतमुपसंजिहीर्षुराह ॥

एस विही अणुक्कंते, माहणेण मइमया ।
बहुसो अपडिन्नेण, भगवता एवं रीयंति त्ति बेमि ॥

एष चर्याविधिरनन्तरोक्तोऽन्वाक्रान्तोऽनुचीर्णः (माहणेत्ति) श्रीवर्द्धमानस्वामिना मतिमता विदितवेद्येन बहुशोऽनेकप्रकारमप्रतिज्ञेनानिदानेन भगवता ऐश्वर्यादिगुणोपेतेन एवमनेन यथा भगवदनुचीर्णेनान्ये मुमुक्षवोऽशेषकर्मक्षयाय साधवो रीयन्ते गच्छन्तीति । इत्यधिकारपरिसमाप्तौ ब्रवीमीति पूर्ववदुपधानश्रुताध्ययनस्य प्रथमोद्देशक इति उक्तः प्रथमोद्देशकः । सांप्रतं द्वितीय आरभ्यते । अस्य चायमभिसंबन्ध इहानन्तरोद्देशके भगवतश्चर्याऽभिहिता । तत्र चावश्यं कदाचिद्यथाऽवसत्या भाव्यमतस्तत्प्रतिपादनायायमुद्देशकः प्रतन्यते इत्यनेन संबन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्यादिसूत्रम् ॥

चरियासणाइं सेज्जाओ, एगतियाओ ज ओम्मइत्ताओ ।
आइक्खताइं सयणासणाइं, जाइं सेवित्थ से महावीरे ॥

चर्यायामवश्यंभावितया यानि शय्यासनान्यभिहितानि सामर्थ्यायातानि शयनासनानि शय्याफलकादीन्याचक्ष्वेति सुधर्मस्वामी जम्बूनाम्नाऽभिहितो यानि सेवितवान्महावीरो वर्द्धमानस्वामीत्ययञ्च श्लोकश्चिरन्तनटीकाकारेण न व्याख्यातः । तत्र किं सुगमत्वादुताभावात् सूत्रपुस्तकेषु तु दृश्यते तदभिप्रायं च वयं न विद्म इति प्रश्नवति प्रतिवचनमाह (आवेसण इत्यादि) भगवतो ह्याहाराभिग्रहवत्प्रतिमाव्यतिरेकेण प्रायशो न शय्याऽभिग्रह आसीत् नवरं यत्रैव चरमपौरुषी भवति तत्रैवानुज्ञाप्य स्थितवान् । तद्दर्शयति ॥

आवेसणसभापवासु, पणियसालासु एगया वासो ।
अदुवा पलियट्ठाणेसु, पलालपुंजेसु एगदा वासो ॥२॥

आ समन्ताद्विशन्ति यत्र तदावेशनं शून्यगृहं सभा नाम ग्रामनगरादीनां तद्वासिलोकाच्छायिकार्थमागन्तुकशयनार्थं च कुड्याद्याकृतिः क्रियते । प्रपा उदकस्थानम् आवेशनं च सभा च प्रपा चेत्यावेशनसभाप्रपास्तासु । तथा पण्यशालासु हट्टेषु एकदा कदाचिद्वासो भगवतोऽथवा (पलियंति) कर्म्म तस्य स्थानं कर्म्मस्थानम् । अयस्कारवर्द्धकिकुड्यादिकम् । तथा पलालपुञ्जेषु मञ्चोपरिव्यवस्थितेष्वधो न पुनस्तेष्वधः सुषिरत्वादेति । किञ्च ॥

आगंतारे आरा-मागारे णगरे वि एगदा वासो ।
सुमसाणे सुण्णगारे वा, रुक्खमूले वि एगदा वासो ॥ ३॥

प्रसङ्गायाता आगत्य वा यत्र तिष्ठति तदागन्तारं तत्पुनर्ग्रामान्नगराद्बहिःस्थानं तत्र यथा आरामे आगारं गृहमारामागारं तत्र वा तथा नगरे वा एकदा वासस्तथा श्मशाने शून्यागारे वा आवेशनशून्यागारयोर्भेदः स कुड्याकुड्यकृतो वृक्षमूले वा एकदा वासः किञ्च ॥

एतेहिं मुणी सयणेहिं, समणे आसि पतेरसवासे ।
राइंदियं पि जयमाणे, अप्पमत्ते समाहिए झाति ॥४॥

एतेषु पूर्वोक्तेषु शयनेषु वसतिषु स मुनिर्जगत्त्रयवेत्ता ऋतुबद्धे वर्षासु वा श्रमणस्तपस्युद्युक्तः समना वासीत्निश्चलमना इत्यर्थः । कियन्तं कालं यावदिति दर्शयति (पतेरसवासंत्ति) प्रकर्षेण त्रयोदश वर्षं यावत्समस्तं रात्रिन्दिवमपि यतमानः संयमानुष्ठान उद्युक्तवांस्तथा अप्रमत्तो निद्रादिप्रमादरहितविस्रोतसिकारहितो धर्म्मध्यानं शुक्लध्यानं वा ध्यायतीति । किञ्च ।

णिद्दं पि णो पगामाए, सेवइ य भगवं उट्ठाए ।
जग्गावति य अप्पाणं, इसिं साति य अपडिन्ने ॥ ५ ॥

निद्रामप्यसावपरप्रमादरहितो न प्रकामतः सेवते तथा च किल भगवतो द्वादशसु संवत्सरेषु मध्येऽस्थिकग्रामे व्यन्तरोपसर्गान्ते कायोत्सर्गव्यवस्थितस्यैवान्तर्मुहूर्त्तं यावत् स्वप्नदर्शनाभ्यासितः सकृन्निद्राप्रमाद आसीत्ततोऽपि चोत्थायात्मानं जागरयति कुशलानुष्ठाने प्रवर्तयति । यत्रापीषच्छय्यासीत्तत्राप्यप्रतिज्ञः प्रतिज्ञारहितो न तत्रापि स्वापाभ्युपगमपूर्वकं शयीत इत्यर्थः । किञ्च ।

संबुज्झमाणे पुणरवि, आसंसु भगवं उट्ठाए ।
णिक्खम्म एगया राओ, बहिं चंकमित्ता मुहुत्तगं ॥६॥

स मुनिर्निद्राप्रमादादुत्थितचित्तः संबुध्यमानः संसारपातायायं प्रमाद इत्येवमवगच्छन् पुनरप्रमत्तो भगवान् संयमोत्थानेनोत्थाय यदि तत्रान्तर्व्यवस्थितस्य कुतश्चिन्निद्राप्रमादः स्यात् तत-

स्तस्मान्निष्क्रम्यैकदा शीतकालरात्र्यादौ बहिश्चङ्क्रम्य मुहूर्त्तमात्रं निद्राप्रमादापनयनार्थं ध्याने स्थितवानिति । किञ्च ।

सयणेहिं तस्सुवस्सग्गा, भीमा आसी अणेगरूवा ।
संसप्पगा य जे पाणा, अदुवा पक्खिणो उवचरंति ॥७॥

शय्यते स्थीयते उत्कुटुकासनादिभिर्येष्विति शयनान्याश्रयस्थानानि तेषु तैर्वा तस्य भगवत उपसर्गा भीमा भयानका आसन्ननेकरूपाश्च शीतोष्णादिरूपतया अनुकूलप्रतिकूलरूपतया वा । तथा संसर्पन्तीति संसर्पकाः शून्यगृहादावहिनकुलादयो ये प्राणिन उपचरन्त्युप सामीप्येन मांसादिकमश्नन्त्यथवा श्मशानादौ पक्षिणो गृध्रादय उपचरन्तीति वर्त्तते । किञ्च ।

अदुवा कुचरा उवचरंति, गामरक्खा य सत्ति हत्था य ।
अदु गामिया उवसग्गा, इत्थी एगतिया पुरिसो वा ॥८॥

अथानन्तरं कुत्सितं चरन्तीति कुचराश्चौरपारदारिकादयस्ते च क्वचिच्छून्यगृहादावुपचरन्त्युपसर्गयन्ति । तथा ग्रामरक्षकादयश्च त्रिकचत्वरादिव्यवस्थितं शक्तिकुन्तादिहस्ता उपचरन्तीति । अथ ग्रामिका ग्रामधर्म्माश्रिता उपसर्गा एकाकिनः स्युस्तथाहि काचित्स्त्री रूपदर्शनाध्युपपन्ना उपसर्गयेत्पुरुषो वेति । किञ्च ॥

इहलोइयाइं परलोइयाइं, भीमाइं अणेगरूवाइं ।
अविसुब्भिदुब्भिगंधाइं, सद्दाइं अणेगरूवाइं ॥ ९ ॥
अहियासए सयासमिते, फासाइं विरूवरूवाइं ।
अरतिं रतिं अभिभूय, रीयति माहणे अबहुवाई ॥१०॥

इह लोके भवा ऐहिलौकिका मनुष्यकृताः के ते स्पर्शा दुःखविशेषा दिव्यास्तैरश्चाश्च पारलौकिकास्तानुपसर्गापादितान् दुःखविशेषानध्यासयत्यधिसहते । यदि वा इहैव जन्मनि ये दुःखयन्ति दण्डप्रहारादयःप्रतिकूलोपसर्गास्त ऐहलौकिकास्तद्विपर्ययाश्च पारलौकिका भीमा भयानका अनेकरूपा नानाप्रकारास्तानेव दर्शयति सुरभिगन्धयः स्रक्चन्दनादयो दुर्गन्धाः कुथितकलेवरादयस्तथा शब्दाश्चानेकरूपा वीणावेणुमृदङ्गादिजनितास्तथा । क्रमेलकारटितायुत्थापितास्तांश्चाविकृतमना अध्यासयत्यधिसहते । सदा सर्वकालं सम्यगितः समितः पञ्चभिर्युक्तस्तथा स्पर्शान् दुःखविशेषानरतिं संयमे रतिं चोपभोगाभिष्वङ्गे अभिभूय तिरस्कृत्य रीयते संयमानुष्ठाने व्रजति (माहणत्ति) पूर्ववत् । तथोभयभाषी एकद्विव्याकरणं कश्चिन्निमित्ते कृतवानिति भावः । किञ्च ॥

स जणेहिं तत्थ पुच्छिसु, एगचरा वि एगदाराओ ।
अव्वाहिते कसाइत्था, पेहमाणे समाहिं अपडिन्ने ॥११॥

स भगवानर्द्धत्रयोदशपक्षाधिकाः समा एकाकी विचरंस्तत्र शून्यगृहादौ व्यवस्थितः सन् जनैर्लोकैः पृष्टस्तद्यथा को भगवान् किमत्र स्थितः इत्येवं पृष्टोऽपि तूष्णींभावमभजत । तथा उपपत्त्याद्या अपि एकचरा एकाकिन एकदा कदाचिद्रात्राविह वा पप्रच्छुरव्याकृते च भगवता कषायितास्ततोऽज्ञानावृतहृदयो दण्डमुष्ट्यादिना ताडनतोऽनार्यत्वमाचरन्ति भगवांस्तु समाधिं प्रेक्षमाणो धर्म्मध्यानोपगतचित्तः सन् सम्यक् तितिक्षते । किंभूतोऽप्रतिज्ञो नास्य वैरनिर्यातनप्रतिज्ञा विद्यत इत्यप्रतिज्ञः । कथं ते पप्रच्छुरिति दर्शयितुमाह ॥

अयमंतरंसि को एत्थं, अहमंसो त्ति भिक्खु आहट्टु ।
अयमुत्तमे से धम्मे, तुसिणीए सकसाइए झाति ॥१२॥

अयमन्तर्म्मध्ये कोऽत्र व्यवस्थित एवं सङ्केतागता दुश्चारिणः पृच्छन्ति कर्मकरादयो वा तत्र नित्यवासिनो दुष्प्रणिहितमानसाः पृच्छन्ति तत्र चैवं पृच्छतामेषां भगवांस्तूष्णींभावमेव भजते । कश्चिद्बहुतरदोषापनयनाय जल्पत्यपि कथमिति दर्शयति । अहं भिक्षुरस्मीत्येवमुक्ते यदि तेऽवधीरयन्ति ततस्तिष्ठत्येवाभिप्रेतार्थव्याघातात्कषायिता महान्धाः । सांप्रतेक्षितया एवं ब्रूयुर्यथा तूर्णमस्मात् स्थानान्निर्गच्छ ततो भगवानपीयत्ताऽवग्रह इति कृत्वा निर्गच्छत्येव भगवान् किन्तु सोऽयमुत्तमप्रधानो धर्म्म आचार इति कृत्वा सकषायितेति तस्मिन् गृहस्थे तूष्णींभावव्यवस्थितेयद्धीविष्यतया ध्यायत्येव न ध्यानात् प्रच्यवते । किञ्च

जं सिप्पेगे पवेवंति, सिसिरे मारुए पवायंते ।
तं सिप्पेगे अणगारा, हिमवाए णिवायमेसंति ॥ १३ ॥

यस्मिन् शिशिरादावप्येके त्वत्राणाभावतया प्रवेपन्ते दन्तवीणादिसमन्विताः कम्पन्ते यदि वा प्रवेदयन्ति शीतजनितं दुःखस्पर्शमनुभवन्ति आर्त्तध्यानवशगा भवन्तीत्यर्थः । तस्मिंश्च शिशिरे हिमकणिनि मारुते च प्रवाति सत्येके न सर्वेऽनगारास्तीर्थिकप्रव्रजिता हिमवाते सति शीतपीडितास्तदपनोदाय पावकं प्रज्वालयन्त्यङ्गारशकटिकामन्वेषयन्ति प्रावरिकं याचन्ते । यदि वाऽनगारा इति पार्श्वनाथप्रव्रजिता गच्छवासिन एव शीतार्दिता निवातमेषयन्ति घंघशालादिवसतीर्वातायनादिरहिताः प्रार्थयन्ति । किञ्च ।

संघाडिओ पविसिस्सामो, एहा य समादहमाणा ।
पिहिता वा सक्खामो, अतिदुक्खहिमगसंफासा ॥ १४ ॥

इह संघाटीशब्देन शीतापनोदक्षमं कल्पद्वयं त्रयं वा गृह्यते ताः सङ्घाटीः शीतार्दिता वयं प्रवेक्ष्याम एवं शीतार्दिता अनगारा अपि विदधति तीर्थिकप्रव्रजिताः । तथा समिधः काष्ठानीति यावदेताश्च समादहन्तः शीतस्पर्शं सोढुं शक्ष्यामस्तथा सङ्घाट्या वाऽभिहिताः स्थगिताः कम्बलाद्यावृतशरीरा इति । किमर्थमेतत्कुर्वन्तीति दर्शयति । यतो अतिदुःखमेतदतिदुःसहमेतद्भूत हिमसंस्पर्शाः शीतस्पर्शवेदना दुःखेन सह्यन्त इति यावत् । तदेवम्भूते शिशिरे यथोक्तानुष्ठानवत्सु वा स्वयूथ्यान्तरेष्वनगारेषु यद्भगवान् व्यधात्तद्दर्शयितुमाह ॥

तंसि भगवं अपडिन्ने, अधो वियडे अहियासए ।
दविए णिक्खम्म एगदा राओ, ठाए भगवं समियाए ॥१५॥

तस्मिन्नेवंभूते शिशिरे हिमवाते शीतस्पर्शे च सर्वंकषे भगवानैश्वर्यादिगुणोपेतस्तं शीतस्पर्शमध्यासयत्यधिसहते । किंभूतोऽप्रतिज्ञो न विद्यते निवातवसतिप्रार्थनादिका प्रतिज्ञा यस्य स तथा क्वाध्यासयत्यधो विकटे अधः कुड्यादिरहिते अभ्रेऽप्युपरि तदभावे चेति पुनरपि विशिनष्टि रागद्वेषविरहाद् द्रव्यभूतः कर्मग्रन्थिद्रावणाद्वा द्रवः संयमः स विद्यते यस्यासौ द्रविकः स च तथाऽध्यासयत् यथाऽत्यन्तं शीतेन बाध्यते ततस्तस्मात्स्थानान्निष्क्रम्य बहिरेकदा रात्रौ मुहूर्त्तमात्रं स्थित्वा पुनः प्रविश्य स भगवान् समितया सम्यग्वा समतया वा व्यवस्थितस्तं शीतस्पर्शं रासभदृष्टान्तेन सोढुं शक्त इत्यधिसहत इति । एतद्देवोद्देशकार्थमुपसञ्जिहीर्षुराह ।

एस विही अणुक्कंतो, माहणेणं मईमया ।
बहुसो अपडिन्नेणं, भगवया एवं रीयंते त्तिबेमि ॥ १६ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एस विही इत्याद्यनन्तरोद्देशकवन्नेयमिति इति ब्रवीमीतिशब्दः पूर्ववदुपधानश्रुतस्य द्वितीयोद्देशकः समाप्तः । उक्तो द्वितीयोद्देशकः । सांप्रतं तृतीय आरभ्यते । अस्य चायमभिसंबन्ध इहानन्तरोद्देशके भगवतः शय्याः प्रतिपादितास्तासु व्यवस्थितेन ये यथोपसर्गाः परीषहाश्च सोढास्तत्प्रतिपादनार्थमिदमुपक्रम्यते । इत्यनेन संबन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्यादिसूत्रम् ।

तणफासे सीयफासे य, तेउफासे य दंसमसगे य ।
अहियासए सया समिए, फासाइं विरूवरूवाइं ॥ १ ॥

तृणानां कुशादीनां स्पर्शास्तृणस्पर्शास्तथा शीतस्पर्श उष्णस्पर्शश्चातपनादिकाले आसन् । यदि वा गच्छतः किल भगवतस्तेजःकाय एवासीत्तथा दंशमशकादयश्च एतांस्तृणस्पर्शान्विरूपान्नानाभूतान् भगवानध्यासयति सम्यगितः सम्यग्भावं गतः समितिभिः समितो वेति । किञ्च ।

अह दुच्चरलाढचारी, वज्जभूमिं च सुब्भभूमिं च ।
पंतं सेज्जं सेविंसु, आसणगाइं चेव पंताइं ॥ २ ॥

अथानन्तर्ये दुःखेन चर्यतेऽस्मिन्निति दुश्चरः स चासौ लाढश्च जनपदविशेषो दुश्चरलाढस्तं चीर्णवान्विहृतवान् । स च द्विरूपो वज्रभूमिः शुभ्रभूमिः श्वभ्रादिरूपमपि विहृतवांस्तत्र च प्रान्तां शय्यां वसतिं शून्यगृहादिकामनेकोपद्रवोपद्रुतां सेवितवांस्तथा प्रान्तानि वासनानि पांशूत्करशर्करालोष्टाद्युपचितानि काष्ठानि च दुर्घटितान्यासेवितवानिति । किञ्च ।

लाढेहिं तस्सुवसग्गा, बहवे जाणवया लूसिंसु ।
अह लूहदेसिए भत्ते, कुक्कुरा तत्थ हिंसिंसु णिवइंसु ॥ ३ ॥

लाढा नाम जनपदविशेषास्तेषु च द्विरूपेष्वपि लाढेषु तस्य भगवतो बहव उपसर्गाः प्रायशः प्रतिकूला आक्रोशाश्च भक्षणादयश्च आसंस्तानेव दर्शयति जनपदे भवा जानपदा अनार्यचारिणो लोकास्ते भगवन्तं लूषितवन्तो दन्तभक्षणोल्मुकदारुप्रहारादिभिर्जिहिंसुः । अथ शब्दोऽपि शब्दार्थे स चैवं द्रष्टव्यो भक्तमपि तत्र रूक्षदेश्यं रूक्षकल्पमन्तप्रान्तमिति यावत्ते चानार्थतया प्रकृतिक्रोधनाः कार्पासाद्यभावत्वाच्च तृणप्रावरणाः सन्तो भगवति विरूपमाचरन्ति । तथा तत्र कुक्कुराः श्वानस्ते जिहिंसुरुपरि निपेतुरिति । किञ्च ॥

अप्पे जणे णिवारेइ, लूसणए सुणए दंसमाणे ।
छुछु करिंति आहंतुं, समणं कुक्करा दसंतु त्ति ॥ ४ ॥

अल्पः स्तोकः स जनो यदि परं सहस्राणामेको यदि वा नास्त्येवासाविति यस्तान् शुनो लूषकान् दशतो निवारयति निषेधयत्यपि तु दण्डप्रहारादिभिर्भगवन्तं हत्वा तत्प्रेरणायासीत् छु छु कुर्वन्ति कथं नु नामैनं श्रमणं कुक्कुराः श्वानो दशन्तु भक्षयन्तु तत्रैवंविधे जनपदे भगवान् षण्मासावधिं कालं स्थितवानिति किञ्च ।

एलिक्खए जणे भुज्जो, बहवे वज्जभूमिं फरुसा ।
लट्ठिं गहाय णालीयं, समणा तत्थ एवं विहरिंसु ॥ ५ ॥

ईदृक्षः पूर्वोक्तस्वभावो यत्र जनस्तं तथाभूतं जनपदं भगवान् भूयः पौनःपुन्येन विहृतवांस्तस्यां च वज्रभूमौ बहवो जनाः परुषाशिनो रूक्षाशितया च प्रकृतिक्रोधनास्ततो यतिरूपमुपलभ्य कदर्थयन्ति ततस्तत्रान्ये श्रमणाः शाक्यादयो यष्टिं देहप्रमाणां चतुरङ्गुलाधिकप्रमाणां वा नालिकां गृहीत्वा श्वादिनिषेधनाय विजह्रुरिति । किञ्च ॥

एवं तत्थ विहरंता, पुट्ठपुव्वा अहेसि सुणएहिं ।
संलुंचमाणा सुणएहिं, दुच्चराणि तत्थ लाढेहिं ॥ ६ ॥

यष्ट्यादिकया सामग्र्या श्रमणा विहरन्तः स्पृष्टपूर्वा आरब्धपूर्वाः श्वभिरासंलुच्यमाना इतश्चेतश्च भक्ष्यमाणाः श्वभिरासन् दुर्निवारत्वात्तेषां तत्र तेषु लाढेष्वार्यलोकानां दुःखेन चर्यन्त इति दुश्चरान् ग्रामादीनिति । तदेवं भूतेष्वपि लाढेषु कथं भगवान् विहृतवानिति दर्शयितुमाह ।

णिहाय दंडं पाणेहिं तं, कायं वोसज्ज मणगारे ।
अह गामकंटए भगवं, ते हियासए अभिसमेच्च ॥ ७ ॥

प्राणिषु यो दण्डनाद्दण्डो मनोवाक्कायादिस्तं भगवान्निधाय त्यक्त्वा तथा तच्छरीरमप्यनगारो व्युत्सृज्याथ ग्रामकण्टकान्नीचजनरूक्षालापानपि भगवांस्तां सम्यक्करणतया निर्जरामभिसमेत्य ज्ञात्वाऽध्यासयत्यधिसहते कथमधिसहत इति दृष्टान्तद्वारेण दर्शयितुमाह ।

णाओ संगामसीसे वा, पारए तत्थ से महावीरे ।
एवं पि तत्थ लाढेहिं, अलद्धपुव्वो वि एगदा गामो ॥ ८ ॥

नागो हस्ती यथाऽसौ संग्राममूर्द्धनि परानीकं जित्वा तत्पारगो भवत्येवं भगवानपि महावीरस्तत्र लाढेषु परीषहानीकं विजित्य पारगोऽभूत् । किञ्च तत्र लाढेषु विरलत्वात् ग्रामाणां क्वचिदेकदा वासायालब्धपूर्वो ग्रामोऽपि भगवता । किञ्च ।

उवसंकमंतं अपडिण्णं, गामंतियं पि अप्पत्तं ।
पडिणिक्खमित्तु लूसिंसु, एतातो परं पलेहि त्ति ॥ ९ ॥

उपसंक्रामन्तं भिक्षायै वासाय वा गच्छन्तं किम्भूतमप्रतिज्ञं नियतनिवासादिप्रतिज्ञारहितं ग्रामान्तिकं प्राप्तमप्राप्तमपि तस्मात् ग्रामात्प्रतिनिर्गत्य ते जना भगवन्तमलूषिषुरेतच्चोचुरितोऽपि स्थानात्परं दूरतरं स्थानं पर्येहि गच्छेति । किञ्च ।

हयपुव्वो तत्थ दंडेणं, अहवा मुट्ठिणा अह कुंतादिफलेणं ।
अह लेलुणा कवालेणं, हंता हंता बहवे कंदिंसु ॥ १० ॥

तत्र ग्रामादेर्बहिर्व्यवस्थितः पूर्वं हतो हतपूर्वः । केन दण्डेनाथवा मुष्टिनाऽथवा कुन्तादिफलेनाथवा लेष्टुना कपालेन घटखर्परादिना हत्वा हत्वा बहवोऽनार्याश्चक्रन्दुः पश्यत यूयं किम्भूतोऽयमित्येवं कलकलञ्चक्रुः । किञ्च ।

मंसूणि छिन्नपुव्वाइं, उट्ठंभिया एगदा कायं ।
परीसहाइं लुंचिंसु, अहवा पंसुणा उवकरिंसु ॥ ११ ॥

मांसानि च तत्र भगवतश्छिन्नपूर्वाणि एकदा कायमवष्टभ्याक्रम्य नानाप्रकाराः प्रतिकूलपरीषहाश्च भगवन्तमलुञ्चिषुरथवा पांशुना अवकीर्णवन्त इति । किञ्च

उच्चालइय णिहणिंसु, अहवा आसणाउ खलइंसु ।
वोसट्ठकाए पणतासी, दुक्खसहे भगवं अपडिण्णे ॥ १२ ॥

भगवन्तमूर्ध्वमुत्क्षिप्य भूमौ निहतवन्तः क्षिप्तवन्तोऽथवाऽऽसनात् गोदोहिकोत्कुटुकासनवीरासनादिकात् स्खलितवन्तो निपातितवन्तो भगवांस्तु पुनर्व्युत्सृष्टकायः परीषहोपसर्गकृतं दुःखं सहत इति दुःखसहो भगवान् नास्य दुःखविचिकित्सा प्रतिज्ञा विद्यत इति अप्रतिज्ञः । कथं दुःखसहो भगवान् इत्येतद्दृष्टान्तद्वारेण दर्शयितुमाह ।

सूरो संगामसीसे वा, संवुडे तत्थ से महावीरे ।
पडिसेवमाणे फरुसाइं, अचले भगवं रीइत्था ॥ १३ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यथा हि संग्रामशिरसि शूरोऽक्षोभ्यः परैः कुन्तादिभिर्भिद्यमानोऽपि वर्म्मणा संवृताङ्गो न भङ्गमुपयातीत्येवं स भगवान्महावीरस्तत्र लाढादिजनपदे परीषहानीकतुद्यमानोऽपि प्रतिसेवमानश्च परुषान् दुःखविशेषान् मेरुरिवाचलो निष्प्रकम्पो धृत्या संभृताङ्गो भगवान् रीयते स्म ज्ञानदर्शनचारित्रात्मको मोक्षाध्वनि पराक्रमते स्मेति । उद्देशकार्थमुपसंजिहीर्षुराह ॥

एस विही अणुक्कंतो, माहणेणं मईमया ।

बहुसो अप्पडिसेणं, जगवता एवं रीयंति त्तिबेमि ॥१४॥

"एसविही" इत्यादि पूर्ववत् उपधानश्रुताध्ययनस्य तृतीयोद्देशकः परिसमाप्त इति उक्तस्तृतीयोद्देशकः । सांप्रतं चतुर्थ आरभ्यते । अस्य चायमभिसंबन्धः । इहानन्तरोद्देशके भगवतः परीषहोपसर्गातिसहनं प्रतिपादितं तदिहापि रोगातङ्कपीडां चिकित्साव्युदासेन सम्यगधिसहते तदुत्पत्तौ च नितरां तपश्चरणायोद्यच्छतीत्येतत्प्रतिपाद्यते तदनेन संबन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्यादिसूत्रम् ।

ओमोदरियं चा एइ त-अपुट्ठे वि जगवं रोगेहिं ।

पुट्ठो विसे अपुट्ठो वा से, णो सेसाइज्जति ते इत्थं ॥१॥

अपि शीतोष्णदंशमशकाक्रोशताडनाद्याःशक्याः परीषहाः सोढुं न पुनरवमोदरता भगवांस्तु पुना रोगैरस्पृष्टोऽपि वातादिक्षोभभावेऽप्यवमौदर्यं न्यूनोदरतां शक्नोति कर्तुं लोको हि रोगैरभिद्रुतः संस्तदुपशमनायावमोदरतां विधत्ते । भगवांस्तु तदभावेऽपि विधत्त इत्यपिशब्दार्थः । अथवा स्पृष्टोऽपि कासश्वासादिभिर्द्रव्यरोगैरपिशब्दात् स्पृष्टोऽप्यसद्वेदनीयादिभिर्द्रव्यरोगैर्न्यूनोदरतां करोति । अथ किं द्रव्यरोगातङ्का भगवतो न प्रादुष्यन्ति येन भावरोगैः स्पृष्ट इत्युक्तं तदुच्यते भगवतो हि न प्राकृतस्येव देहजाः कासश्वासादयो भवन्त्यागन्तुकास्तु शस्त्रप्रहारजा भवेयुरित्येतदेव दर्शयति । स च भगवान् स्पृष्टो वा श्वभक्षणादिभिरस्पृष्टो वा कासादिभिर्नासौ चिकित्सामभिलषति न द्रव्यौषधाद्युपयोगतः पीडोपशमं प्रार्थयतीत्येतदेव दर्शयितुमाह ।

संसोहणं च वमणं च, गायब्जंगणं च सिणाणं च ।

संबाहणं च ण से कप्पइ, दंतपक्खालणं परिसाय ॥२॥

गात्रस्य सम्यक् शोधनं विरेचनं निःश्रोतादिभिस्तथा वमनं मदनफलादिभिश्चशब्द उत्तरपदसमुच्चयार्थो गात्राभ्यङ्गनञ्च सहस्रपाकतैलादिभिः स्नानञ्चोद्वर्तनादिभिः संबाधनञ्च हस्तपादादिभिस्तस्य भगवतो न कल्पते । तथा सर्वमेव शरीरमशुद्ध्यात्मकमित्येवं परिज्ञाय ज्ञात्वा दन्तकाष्ठादिभिर्दन्तप्रक्षालनञ्च न कल्पत इति । किञ्च ।

विरए य गामधम्मेहिं, रीयमाणे अबहुवाई ।

सिसिरंसि एगदा जगवं, छायाए जाति आसी य ॥३॥

विरतो निवृत्तः केभ्यो ग्रामधर्मेभ्यो यथास्वमिन्द्रियाणां शब्दादिभ्यो विषयेभ्यो रीयते संयमानुष्ठाने पराक्रमते (माहणेत्ति) भगवान् किंभूतोऽसावबहुवादी सकृद् व्याकरणभावात् बहुशब्दोपादानमन्यथा ह्यवादीत्येवं ब्रूयात्तथैकदा शिशिरसमये स भगवांश्छायायां धर्म्मशुक्लध्यानध्याय्यासीदिति । किञ्च

आयावइ य गिम्हाणं, अत्यात्ति उक्कुडुए अभितावे ।

अह जाव इत्थ लूहेणं, ओयणमंथुकुम्मासेणं ॥ ४ ॥

सुब्व्यत्ययेन सप्तम्यर्थे षष्ठी । ग्रीष्मेष्वातापयति कथमिति तिष्ठत्युत्कुटुकासनोऽभितापं तापाभिमुखमिति । अथानन्तर्यं धर्म्माधारं देहं यापयति स्म रूक्षेण स्नेहरहितेन केन ओदनमन्थुकुल्माषेण ओदनञ्च कोद्रवौदनादि मन्थु बदरचूर्णादिकं कुल्माषाश्च माषविशेषा एवोत्तरापथे धान्यविशेषभूताः पर्युषितमाषाः वा सिद्धमाषा वा ओदनमन्थुकुल्माषमिति समाहारद्वन्द्वः । तेनात्मानं यापयतीति सबन्ध इत्येतदेव कालावधिविशेषणतो दर्शयितुमाह ॥

एयाणि तिण्णि पडिसेवे, अट्ठमासे अज्जावए जगवं ।

अपि इत्थं एगया भगवं,अद्धमासं अदुवा मासं पि ॥५॥

एतान्योदनादीन्यनन्तरोक्तानि प्रतिसेवते तानि च समाहारद्वन्द्वेन तिरोहितावयवसमुदायप्रधानेन निर्देशात्कस्यचिन्मन्दबुद्धेः स्याशङ्का यथा त्रीण्यपि समुदितानि प्रतिसेवत इत्यतस्तद्व्युदासाय त्रीणीत्यनया संख्यया निर्देश इति त्रीणि समस्तानि व्यस्तानि वा यथालाभं प्रतिसेवित इति । कियन्तं कालमिति दर्शयत्यष्टौ मासानृतुबद्धसंज्ञकानात्मानमयापयदर्तितवान् भगवानिति । तथा पानमप्यर्द्धमासं भगवानपीतवानपि च ॥

वि साहिए दुवे मासे, छ प्पि मासे अदुवा विहरित्था ।

रात्तवरायं अपडिण्णे, अन्नगिलायंते गया भुंजे ॥ ६ ॥

मासद्वयमपि साधिकमथवा षडपि मासान् साधिकान् भगवान् पानकमपीत्वाऽपि रात्रोपरात्रमित्यहर्निशं विहृतवान् । किंभूतोऽप्रतिज्ञः पानाभ्युपगमरहित इत्यर्थस्तथा (अन्नगिलायंति) पर्युषितं तदेकदा भुक्तवानिति । किञ्च ।

अदुवा अट्ठमेणं दसमेणं, छट्ठेणमेगया भुंजे ।

दुवालसमेण एगया भुंजे,पेहमाणे समाहिं अपडिण्णे ॥७॥

षष्ठेनैकदा भुङ्क्ते तथा नामैकस्मिन्नहन्येकभक्तं विधाय पुनर्दिनद्वयमभुक्त्वा चतुर्थेऽहन्येकभक्तमपि विधत्ते ततश्चाद्यन्तयोरेकभक्तदिनयोर्भक्तद्वयं मध्यदिवसयोश्च भक्तचतुष्टयमित्येवं षण्णां भक्तानां परित्यागात् षष्ठं भवत्येवं दिनादिवृद्ध्याऽष्टमाद्यायोज्यमिति अथवा अष्टमेन दशमेनाथवा द्वादशमेनैकदा कदाचिद् भुक्तवान् समाधिं शरीरसमाधानं प्रेक्षमाणः पर्यालोचयन् पुनर्भगवतः कथञ्चिद्दौर्म्मनस्यमुत्पद्यते । तथा अप्रतिज्ञो ऽनिदान इति । किञ्च ।

णच्चा से महावीरे, णो वि य पावगं सयमकासी ।

अन्नेहिं वि ण कारित्था,कीरंतं पि णाणुजाणित्था ॥८॥

ज्ञात्वा हेयोपादेयं स महावीरः कर्म्मप्रेरणसहिष्णुर्नापि च पापकर्म्म स्वयमकार्षीन्न चान्यैरकारयन्न च क्रियमाणमपरैरनुज्ञातवानिति । किञ्च ।

गामं पविस्स णगरं वा, घासमेसे कडं परट्ठाए ।

सुविसुद्धमेसिया जगवं, आयतजोगताए सेवित्था ९ ॥

ग्रामं नगरं वा प्रविश्य भगवान् ग्रासमन्वेषयेत्परार्थं यत् कृतमित्युद्गमदोषरहितं तथा सुविशुद्धमुत्पादनादोषरहितं तथैषणादोषपरिहारेणैषित्वाऽन्वेष्य भगवानायतः संयतो योगो मनोवाक्कायलक्षण आयतश्चासौ योगश्चायतयोगो ज्ञानचतुष्टयेन सम्यग्योगप्रणिधानमायतयोगस्य भाव आयतयोगता तया सम्यगाहारं शुद्धं ग्रासैषणा दोषपरिहारेण सेवितवानिति ।

अदुवा य सा दिगिंछित्ता, जे अन्ने रसेसिणो सत्ता ।

घासेसणाए चिट्ठंति, सययं णिवत्तिते य पेहाए ॥१०॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अथ भिक्षां पर्यटतो भगवतः पथि वायसाः काका (दिगिंछित्ति) बुभुक्षा तथा आर्ता ये चान्ये रसैषिणः पानार्थिनः कपोतपारावतादयः सत्वाः। तथा ग्रासैषणार्थमन्वेषणार्थञ्च ये तिष्ठन्ति तान् सततमनवरतं निपतितान् भूमौ प्रेक्ष्य दृष्ट्वा तेषां वृत्त्यव्यवच्छेदं वर्जयन् मन्दमाहारार्थी पराक्रमते। किञ्च॥

अदु माहणं च समणं वा, गामपिंडोलगं च अतिहिं वा।
सोवागमूसियारिं वा, कुक्करं वा चिट्ठियं वा पुरओ ॥११॥
वित्तिच्छेदं वज्जंतो, तेसप्पत्तियं परिहारंतो।
मंदं परिकमे भगवं, अहिंसमाणो घासमेसित्था ॥ १२॥

अथ ब्राह्मणं लाभार्थमुपस्थितं दृष्ट्वा तथा श्रमणं शाक्याजीवकपरिव्राट्तापसनिर्ग्रन्थानामन्यतमं ग्रामपिण्डोलक इति भिक्षयोदरभरणार्थं ग्राममाश्रितस्तुन्दपरिमृजो द्रमक इति तथाऽतिथिं वा आगन्तुकं तथा श्वपाकं चाण्डालं मार्ज्जारं वा कुक्करं वाऽपि श्वानं विविधं स्थितं पुरतोऽग्रतः समुपलभ्य तेषां वृत्तिच्छेदं वर्ज्जयन्मनसो दुष्प्रणिधानञ्च वर्जयन्मन्दमनास्तेषां त्रासमकुर्वन् भगवान् पराक्रमते। तथाऽपरांश्च कुन्थुकादीन् जन्तून् अहिंसन् ग्रासमन्वेषितवानिति। किञ्च।

अविसुइयं च सुक्कं वा, सीयपिंडं पुराणकुम्मासं।
अदु बक्कसं पुलागं वा, लद्धे पिंडे अलद्धए दविए ॥१३॥

" सूइयंति " दध्यादिना भक्तमार्द्रीकृतमपि तथाभूतं शुष्कं वा वल्लचनकादि शीतपिण्डं वा पर्युषितभक्तं तथा पुराणं कुल्माषं वा बहुदिवससिद्धस्थितकुल्माषं (बक्कसंति) चिरन्तनधान्यौदनं यदि वा पुरातनं सत् कुपिण्डं बहुदिवससम्भृतगोरसगोधूममण्डकञ्चेति तथा पुलाकं जवनिष्पादितं तदेवंभूतं पिण्डमवाप्य रागद्वेषविरहाद्रविको भगवांस्तथाऽन्यस्मिन्नपि पिण्डे लब्धे अलब्धे वा द्रविक एव भगवानिति। तथा हि लब्धे पर्याप्ते शोभने वा नोत्कर्षं याति नाप्यलब्धे अपर्याप्ते अशोभने वात्मानमाहारं दातारं वा जुगुप्सति। किञ्च॥

अवि झाति से महावीरे, आसणत्थे अकुक्कुए झाणं।
उड्ढं अहे तिरियं च, लोए झायती समाहिमपडिन्ने ॥१४॥

तस्मिंस्तथाभूत आहारे लब्ध उपभुक्ते अलब्धे वाऽपि ध्यायति स महावीरो दुष्प्रणिधानादिना नापध्यानं विधत्ते किमवस्थो ध्यायतीति दर्शयत्यासनस्थ उत्कुटुकागोदोहिकावीरासनाद्यवस्थोऽकौत्कुच ईषन्मुखविकारादिरहितो ध्यानं धर्म्मशुक्लयोरन्यतरदारोहति किं पुनस्तत्र ध्येयं ध्यायतीति दर्शयितुमाह। ऊर्द्धमधस्तिर्यक् लोकस्य ये जीवपरमाण्वादिका भावा व्यवस्थितास्तान् द्रव्यपर्यायनित्यानित्यादिरूपतया ध्यायति। तथा समाधिमन्तःकरणशुद्धिञ्च प्रेक्षमाणोऽप्रतिज्ञो ध्यायतीति। किञ्च॥

अकसाई विगतगेहिय, सद्दरूवेसु अमुच्छिए झाए।
छउमत्थो वि परक्कम–माणो ण पमायं सयं पि कुव्वित्था ॥१५॥

न कषायी तदुदयापादितभ्रुकुट्यादिकार्याभावात्। तथा विगता गृद्धिर्गार्द्ध्यं यस्यासौ विगतगृद्धिः तथा शब्दरूपादिष्विन्द्रियार्थेष्वमूर्च्छितो ध्यायति मनोऽनुकूलेषु न रागमुपयाति नापीतरेषु द्वेषवशगोऽभूदिति। तथा छद्मनि ज्ञानदर्शनावरणमोहनीयान्तरायात्मके तिष्ठतीति छद्मस्थ इत्येवं भूतोऽपि विविधमनेकप्रकारं सदनुष्ठाने पराक्रममाणो न प्रमादं कषायादिकं सकृदपि कृतवानिति। किञ्च।

सयमेव अभिसमागम्म, आययजोगमायसोहीए।
अभिनिव्वुडे अमाइल्ले, आवकहं भगवं समितासी ॥१६॥

स्वयमेवात्मना तत्वमभिसमागत्य विदितसंसारस्वभावः स्वयं बुद्धः सन् तीर्थप्रवर्तनायोद्यतवांस्तथा चोक्तम्। 'आदित्याद्यैर्विबुधगण इमं विस्मरन्त्यां त्रिलोक्या-मास्कन्दन्तं पदमनुपमं यच्छिवं त्वामुवाच। तीर्थं नाथ लघु भवभयच्छेदि तूर्णं विधत्स्वेत्येतद्वाक्यं त्वदवगतये नाकिमुख्यानियोग' इत्यादि कथं तीर्थप्रवर्तनायोद्यत इति दर्शयत्यात्मशुद्ध्या कर्मक्षयोपशमक्षयलक्षणया आयतयोगं सुप्रणिहितमनोवाक्कायात्मकं विधाय विषयकषायाद्युपशमादिभिर्निर्वृतः शीतीभूतः तथा ऽमायावी मायारहित उपलक्षणार्थत्वादस्याऽक्रोधाद्यपि द्रष्टव्यं यावत्कथमिति यावज्जीवं भगवान् पञ्चभिः समितिभिः समितस्तथा तिसृभिर्गुप्तिभिर्गुप्तश्चासीदिति। श्रुतस्कन्धाध्ययनोद्देशकार्थमुपसंजिहीर्षुराह।

एस विही अणुक्कंते, माहणेणं मईमया।
बहुसो अपडिन्नेणं, भगवया एवं रीयंते त्ति बेमि ॥
ओहाणं सुयं सम्मत्तं ॥

एषोऽनन्तरोक्तः शस्त्रपरिज्ञादेरारभ्य योऽभिहितः सोऽनुक्रान्तोऽनुष्ठित आसेवनापरिज्ञया सेवितः केन श्रीवर्द्धमानस्वामिना मतिमता ज्ञानचतुष्टयान्वितेन बहुशोऽनेकशोऽप्रतिज्ञेनानिदानेन भगवतैश्वर्यादिगुणोपेतेनातोऽपरोऽपि मुमुक्षुरनेनैव भगवदाचीर्णेन मोक्षप्रगुणेन यथा आत्महितमाचरन् रीयते पराक्रमते इतिरधिकारपरिसमाप्तौ ब्रवीमीति सुधर्म्मस्वामी जम्बूस्वामिने कथयति सोऽहं ब्रवीमि येन मया भगवद्वदनारविन्दादर्थजातं निर्यातमवधारितमिति उक्तोऽनुगमः। आचा० १ श्रु० ६ अ०।

उवहाणाइयार–उपधानातिचार– पुं० आचाराम्लादितपसा योगविधानरूपस्योपधानस्याऽकरणे, जीत० ॥

उवहार–उपहार–पुं० उप-हृ-घञ्–उपढौकने, उपायने, कर्मणि-घञ्। उपढौकनीये, उपायनद्रव्ये, उपगतः हारम् अत्या० स०। हारसमीपस्थे तदुपशोभके द्रव्ये, वाच०। उप-हृ-भावे-घञ्। विस्तारणे, " पहासमुदओ वहारेहिं सव्वओ भेया दीवयंतं " कल्प०। (मातृग्रामस्य मैथुनप्रतिज्ञयोपहारसंपादनं मेहुणशब्दे)

उवहारणया–उपधारणता–स्त्री० अविच्युतिस्मृतिवासनाविषयीकरणे, " सुयाणं धम्माणं उवहारणयाए अब्भुट्ठेयव्वं भवइ " स्था० ६ ठा० ॥

उवहारिय–उपधारित–त्रि० अवधारिते, सूत्र० २ श्रु०।

उवहास–उपहास–पुं० उप-हस्-भावे-घञ्। निन्दासूचके हासे, " अरे मए समं मा कारेसु उवहासं " पा०।

उवहि–उपधि– पुं० उपधीयते संगृह्यते इत्युपधिः। द्रव्यतो हिरण्यादौ, भावतो मायायाम्, आचा० १ श्रु० ४ अ० १ उ०। सूत्र०। उपधीयते ढौक्यते दुर्गतिं प्रत्यात्मा येनासावुपधिः मायायाम्, अष्टप्रकारे वा कर्मणि, सूत्र० १ श्रु० २ अ०। प्रश्न०। स०। छद्मे, अमर०। उप-धा-भावे-कि-अन्यस्थास्थितस्य वस्तुनोऽन्यथाप्रकाशरूपे, व्यापारे आधारे-कि-रथचक्रे, हेम०। उपधीयते येनाऽसावुपधिः। वञ्चनीयसमीपगमनहेतौ भावे, भ० १२ श० ५ उ०। उपधिश्छद्ममायेत्यनर्थान्तरम्। द० १ अ०। उपधीयते जीवतो दुर्गतौ स्थाप्यते ऽनेनायतव्यापारितेनेत्युपधिः। आतु०। उप सामीप्येन संयमं दधाति पोषयति चेत्युपधिः। ध० ३ अ०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपघ्धातीत्युपधिः। वस्त्रपात्राद्यनेकविधे परिग्रहे, द० १ अ० प्रश्न०। स्था०। कल्पादौ, ध० ३ अ०। स०। प्रज्ञा०। स्था०।

(१) उपधेर्भेदाः।
(२) भेदेन सविस्तरतः प्रतिपादनम्।
(३) द्वारसंग्रहः।
(४) जिनकल्पिकानां स्थविरकल्पिकानां चोपधिः।
(५) जिनकल्पिकानां (स्थविरकल्पिकानां) गच्छवासिनां चोपधेरुत्कृष्टविभागप्रमाणम्।
(६) आर्यिकाणामुपधिप्रमाणम्।
(७) औपग्रहिकोपधेरुत्कृष्टादिभेदाः।
(८) औपग्रहिकोपधयः।
(९) उपधिन्यूनाधिक्ये प्रायश्चित्तम्।
(१०) प्रथमसमवसरणे उपधिग्रहणम्।
(११) प्रथमं प्रव्रजत उपधिः।
(१२) प्रव्रज्यां गृह्णत्या निर्ग्रन्थ्या उपधिः।
(१३) रात्रौ विकाले वोपधिग्रहणम्।
(१४) भिक्षणाय गतस्य भिक्षोरुपनिमन्त्रणा।
(१५) भिक्षार्थं गतस्योपकरणपतने विधिः।
(१६) स्थविराणां ग्रहणयोग्या उपधयः।
(१७) निर्ग्रन्थीभ्य उपकरणदाने निर्ग्रन्थीनामागमनपथे उपकरणानि स्थापयितव्यानि।
(१८) पात्रबन्धादिप्रमाणं, उपधिविषयोऽवग्रहः, तीर्थकृतां सोपधित्वं, पादप्रोञ्छनं याचित्वा प्रत्यर्पणम्, उपधीनां धावनं, परिष्ठापनं, प्रत्युपेक्षणं च, प्रलम्बग्रहणे क उपधिर्ग्राह्य इत्यादि स्वस्वस्थाने।
(१९) उपकरणप्रयोजनं विहारशब्दे ऋतुबद्धे वस्त्रग्रहणं वत्थयाचनविधिश्च वत्थशब्दे भिक्षाचर्यायां क उपधिर्नेतव्य इत्येषणा विहारादिशब्देषु उपधेरवश्यकरणीयत्वं वोदियशब्दे मध्यमतीर्थकृतां महामूल्यानि वासः आदीनीत्यचेलशब्दे धर्मोपकरणे परिग्रहदोषो नेति परिग्गहशब्दे विलोकनीयम्)

(१) त्रिविध उपधिः।

तिविहा उवही पएणत्ता? तंजहा कम्मोवही सरीरोवही बाहिरभंडमत्तोवही। एवं असुरकुमाराणं भाणियव्वं। एवं एगिंदिय नेरइयवज्जं जाव वेमाणियाणं॥

कर्मैवोपधिः कर्मोपधिः एवं शरीरोपधिः। बाह्यं शरीरबहिर्वर्त्ति भाण्डानि च भाजनानि मृण्मयानि मात्राणि मात्रायुक्तानि कांस्यादिभाजनानि भोजनोपकरणमित्यर्थः। भाण्डमात्राणि तान्येवोपधिर्भाण्डमात्रोपधिरथवा भाण्डं वस्त्रावरणादि तदेव मात्रा परिच्छेदः सैवोपधिरिति ततो बाह्यशब्दस्य कर्मधारय इति चतुर्विंशतिदण्डकचिन्तायामसुरादीनां त्रयोऽपि वाच्याः। नारकैकेन्द्रियवर्जास्तेषामुपकरणस्याभावात् द्वीन्द्रियादीनान्तूपकरणं दृश्यते। एवं केषाञ्चिदिति। अत एवाह। एवमित्यादि।

अहवा तिविहा उवही पएणत्ता? तंजहा सचित्ते अचित्ते मीसए। एवं नेरइयाणं निरंतरं जाव वेमाणियाणं॥

(अहवेत्यादि) सचित्तोपधिर्यथा शैलभाजनमचित्तोपधिर्वस्त्रादिः मिश्रः परिणतप्रायं शैलभाजनमेवेति। दण्डकचिन्ता सुगमा। नवरं सचित्तोपधिर्नारकाणां शरीरमचेतनं उत्पत्तिस्थानमिश्रः शरीरमेवोच्छ्वासादिपुद्गलयुक्तं तेषां सचेतनाचेतनत्वेन मिश्रत्वस्य विवक्षणादिति। एवमेव शेषाणामप्यूह्यमिति। स्था० ३ ठा०। नि० चू०। तत्वभेदपर्यायैर्व्याख्येति पर्यायान् प्रतिपादयन्नाह। "उवहीउवग्गहे सं-गहे य तह य वग्गहे चेव। भंडग उवगरणे वि य, करणे वि य हुंति एगट्ठा" सर्वेषां व्याख्यात्रैवोपरि [ओघनिर्युक्तौ] द्रष्टव्या॥

[२] इदानीं भेदतः प्रतिपादयन्नाह।

ओहे उवग्गहम्मि य, दुविहो उवही उ होइ नायव्वो।
एक्केको वि य दुविहो, गणणापमाणओ चेव॥

उपधिर्द्विविधः ओघोपधिरवग्रहोपधिश्चेति। एवं द्विविधा विज्ञेयः। इदानीं स एवैकैको द्विविधः कथं गणनाप्रमाणेन प्रमाणतश्च तत एतदुक्तं भवति ओघोपधेः गणनाप्रमाणेन तथा प्रमाणप्रमाणेन च द्वैविध्यम्। अवग्रहोपधेरपि ग्रहणाप्रमाणेन प्रमाणप्रमाणेन भवेद् द्वैविध्यम्। तत्र ओघोपधिर्नित्यमेव यो गृह्यते अवग्रहोपधिस्तु कारणे आपन्ने संयमार्थयोगैर्गृह्यते सोऽवग्रहोपधिरिति। ओघोपधिगणनाप्रमाणमेकद्व्यादिभेदं वक्तव्यं प्रमाणप्रमाणं च वक्तव्यं दीर्घपृथुतया। तथा अवग्रहोपधेरपि एकद्व्यादिप्रमाणं प्रमाणप्रमाणं च दीर्घपृथुत्वद्वारेण वक्तव्यमिति (ओ०) (ओहोवधेत्ति) ओहः संक्षेपः स्तोकः लिङ्गकारकोऽवश्यं ग्राह्यः। "उवग्गहोवही" उत्पत्तिकं कारणमपेक्ष्य संयमोपकरण इति गृह्यते एस संखेवतो दुविधो वही। उवग्गहिओ तिविधो जहएणो मज्झिमो उक्कोसो उवहीगणप्पमाणेण पमाणपमाणेण य जुत्तो भवति इमं गणणप्पमाणं।

बारस चोद्दस पणवीस, उ य ओघोवधी मुणेयव्वो।
जिणकप्पो थेराण य, अज्जाणं चेव कप्पम्मि॥

बारसविहो चोद्दसविधो पणवीसविहो ओहोवही एयं गणप्पमाणं यथासंख्यं जिणाण थेराण अज्जाण य। कल्पशब्दोऽपि प्रत्येकं योज्यः।

ओघोवधी जिणाणं, थेराणोहे उवग्गहो चेव।
ओहोवधिमज्जाणं, उवग्गहिओ अणा तव्वो॥

जिणाणं एगविहो ओहोवधी भवति थेराण अज्जाण य ओहिओ उवग्गहिओ य दुविधो भवति। नि० चू० २ उ०। प्रव० जीत०।

(३) द्वारसंग्रहः अथ प्रमाणादिस्वरूपनिरूपणाय द्वारगाथामाह

दव्वप्पमाणअइरे-गहणे परिकम्मविभूसणामुच्छाए।
उवहिस्स पमाणजिणं, थेरं अहक्कमं वोच्छं॥

इह द्रव्यं वस्त्रं तस्य प्रमाणं गणनया प्रमाणेन च द्विविधं वक्तव्यम्। अतिरिक्ते हीने वा वस्त्रे दोषा अभिधातव्याः परिकर्मणं सीवनमित्येकोऽर्थः तन्निरूपयितव्यम्। (विभूसणयत्ति) विभूषणार्थं यदि वस्त्रं क्षालयति वा रञ्जति वा घर्षति वा संप्रमार्ष्टि वा तदा प्रायश्चित्तं भवतीति कर्त्तव्यम्। मूर्च्छया यदि वस्त्रं न परिभुङ्क्ते तदाऽपि प्रायश्चित्तं वक्तव्यम्। तत्र प्रथमद्वारे तावदुपधेः प्रमाणं जिनकल्पिकस्थविरकल्पिकानाङ्गीकृत्य यथाक्रममहं वक्ष्ये। प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयितुं जिनकल्पिकानामुपधिगणनां प्रमाणतो निरूपयति। वृ० ३ उ०।

(४) जिनकल्पिकानामुपधिमाह।

जिणकप्पिया उ दुविधा, पाणीपाता पडिग्गहधरा य।
पाउरणमपाउरणा, एक्केका ते भवे दुविधा॥

जिणकप्पिया दुविधा भवन्ति पाणिपात्रभोजिनः प्रतिग्रहधा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रिणश्च । पक्केक्का छुविधा दव्वा सपाउरणा इयरे य जिणकप्पे उवहीविभागो इमो ॥

दुगतिगचतूक्कं, पणगं णवदसएगदसगं ।

एते अट्ठ विकप्पा, जिणकप्पे होंति उवहिस्स ॥

पाणिपडिग्गहियस्स पाउरणवज्जियस्स जहण्णोवही दुविधो रयहरणं मुहपोत्तिया य । तस्स य सपाउरणस्स एगकप्पग्गहणे दसविधो दुकप्पग्गहणे एकारसविधो तिकप्पग्गहणे पंचविहो पडिग्गहधारिस्स अपाउरणस्स मुहपोत्तियरओहरणपादणिज्जोगसहितो णवविहो जहण्णओ तस्स कप्पग्गहणे दसविधो दुकप्पग्गहणे एक्कारसविधो तिकप्पग्गहणे बारसविधो य उक्कं कंठं ॥

अहवा दुगं च णवगं, उवकरणे होंति दोण्णि तु विकप्पा ।

पाउरणवज्जिताणं, विसुद्धजिणकप्पियाणं तु ॥

जे पाउरणवज्जिया ते विसुद्धजिणकप्पिया भवंति तेसिं दुविध एव भवति दुविधो णवविधो वा । नि०चू०२उ० । पं० भा० ।

अथा विशुद्धजिनकल्पिकानामाह ।

पत्तं पत्ताबंधो, पायट्ठवणं च पायकेसरिया ।

पडलाइ रयत्ताणं, गोच्छओ पायनिज्जोगे ॥

तिन्नेव य पच्छागा, रयहरणं चेव होइ मुहपोत्ति ।

एसो दुवालसविहो, उवही जिणकप्पियाणं तु ॥

पात्रं प्रतिग्रहपात्रं बन्धो येन वस्त्रखण्डेन चतुरस्रेण पात्रकं धार्यते पात्रस्थापनं कम्बलमयं तत्र पात्रकं स्थाप्यते पात्रकेसरिका यत्राश्च प्रतिपद्यन्ति । पटलकानि यानि भिक्षां पर्यटद्भिः पात्रोपरि स्थाप्यन्ते रजस्त्राणं पात्रवेष्टनकं गोच्छकः कम्बलमयो यः पात्रकोपरि दीयते । एष सप्तविधः पात्रनिर्योगः पात्रपरिकरत्व उपकरणकलाप इत्यर्थः । तथा त्रय एव न चतुःपञ्चप्रभृतयः क एते इत्याह । प्रच्छादकाः प्रावरणरूपाः कल्पाः । द्वौ सौत्रिकावेकश्चौर्णामय इत्यर्थः । रजोहरणं प्रतीतम् । चः समुच्चये । एव शब्दः पादपूरणे । मुखसंपोत्तिका प्रसिद्धा । एष द्वादशविध उपधिर्जिनकल्पिकानां मन्तव्यः । तुशब्दो विशेषणे स चैतद्विशिनष्टि । जिनकल्पिका द्विविधाः । पाणिपात्राः प्रतिग्रहधारिणश्च । पुनरेकैके द्विधा अप्रावरणाः सप्रावरणाश्च । तत्राप्रावरणानां पाणिपात्राणि रजोहरणमुखवस्त्रिकारूपो द्विविध उपधिः । सप्रावरणानां तु त्रिविधो वा चतुर्विधो वा पञ्चविधो वा । तत्र त्रिविधा रजोहरणं मुखवस्त्रिका एकः कल्पः । सौत्रिकः चतुर्विधः स एवौर्णिकः कल्पसहितः पञ्चविधः चतुर्विधः । द्वितीयः सौत्रिककल्पसहितः प्रतिग्रहधारिणां प्रावरणवर्जितानां नवविध उपधिः । तद्यथा पात्रं १ पात्रकबन्धः २ पात्रस्थापनं ३ पात्रकेसरिका ४ पटलकानि ५ रजस्त्राणं ६ गोच्छकः ७ रजोहरणं ८ मुखवस्त्रिका ९ चेति । ये तु प्रावरणसहितास्तेषामत्रैव नवविधे एककल्पप्रक्षेपे दशविधः । कल्पद्वयप्रक्षेपे एकादशभेदाः कल्पत्रयप्रक्षेपे तु द्वादशविधस्तदेवमुत्कर्षतो जिनकल्पिकानां द्वादशविध उपधिः संभवति । एष तुशब्दसूचितो विशेषणार्थः । एकग्रहणे तज्जातीयानां सर्वेषां ग्रहणमिति न्यायात् अन्येऽपि ये गच्छनिर्गतास्तेषां यथायोगमिदमेवोपकरणप्रमाणमवसातव्यम् ।

अथ स्थविरकल्पिकानङ्गीकृत्याह ।

एए चेव दुवालस–मत्तगअइरेगचोलपट्टो य ।

एसो उ चउदसविहो, उवही पुण थेरकप्पम्मि ॥

एत एव अनन्तरोक्ता द्वादशोपधिभेदाः । अपरं चातिरिक्तं मात्रकं चोलपट्टकश्च एष चतुर्दशविध उपधिः स्थविरकल्पे भवति ।

अनन्तरोक्तमेवार्थमुपसंहरन्नाह ।

जिणा बारसरूवाई, थेरा चउदसरूविणो ।

ओहेण उवहिमिच्छंति, अओ उड्ढं उवग्गहो ॥

जिना जिनकल्पिकाश्चोपकरणानां द्वादश रूपाणि धारयन्तीति शेषः । स्थविरास्तु चतुर्दशरूपिणः उपकरणचतुर्दशधारिण इत्यर्थः । एवमोघेन सामान्येनोपधिमिच्छन्ति तीर्थकराः ओघोपधिमित्यर्थः । अत ऊर्ध्वमतिरिक्तो दण्डकचिलिमिकादिस्थविरकल्पिकानां सर्वोऽप्युपग्रहोपधिर्मन्तव्यः ।

(४) अथ जिनकल्पिकानामुपधेरुत्कृष्टादिविभागं प्रमाणयन्नाह ।

चत्तारि उक्कोसा मज्झिम–जहन्नगा वि चत्तारि ।

कप्पाणं तु पमाणं, संडासो दो कुरंटओ ॥

जिनकल्पिकानां चत्वार्युपकरणानि उत्कानि भवन्ति त्रयः कल्पाः प्रतिग्रहश्चेति मध्यमजघन्यान्यपि प्रत्येकं चत्वारि । तत्र पटलकानि रजस्त्राणं रजोहरणं पात्रकबन्धश्चेति मध्यमानि । मुखवस्त्रिका पात्रकेसरिका पात्रस्थापनं गोच्छकश्चेति जघन्यानि । एतेषां च ये कल्पास्तेषां सन्दंशकः कुरण्टकौ द्वौ विहस्तौ दीर्घत्वेन प्रमाणं भवति विस्तरतस्तु सर्वे हस्तमेकम् । अथवा ॥

अन्नो वि य आएसो, संडासो सत्थिएण वन्ने य ।

जं खंभियं दट्ठूंतं, छम्मासे दुब्बलं इयरं ॥

अन्यो वा देशः प्रकारादेश इत्यादि संदंशः स्वस्तिकश्च । तत्र जिनकल्पिकस्योत्कुटुकनिविष्टस्य जातु संदंशकादारभ्य पुरः पृष्ठं च छादयित्वा स्कन्धोपरि यावता न प्राप्यते एतावत्सदीयकल्पस्य दैर्घ्यप्रमाणम् । अयं च संदंशक उच्यते । तथा तस्यैव कल्पस्य द्वावपि पूर्वोक्तकर्णौ हस्ताभ्यां गृहीत्वा द्वे अपि बाहुशीर्षे यावत्प्राप्येते तद्यथा दक्षिणेन हस्तेन वामं बाहुशीर्षं वामेन दक्षिणमेव द्वयोरपि कलाचिकयोर्हृदये यो विन्यासविशेषः स स्वस्तिकाकार इति कृत्वा स्वस्तिक उच्यते । एतत्पृथुत्वप्रमाणयुक्तं च यदि च तत्परिभुज्यमानं षण्मासान् यावद् ध्रियते तदा देशं दृढमिति ज्ञात्वा गृह्णाति इतरथाम षण्मासानपि यावन्न निर्वाहकमं तं दुर्बलमिति कृत्वा न गृह्णाति । अथ किमर्थमसौ स्वस्तिकं करोतीत्याह ।

संडासछिड्डेण हिमादिएत्ति,गुत्ता अगुत्ता वि य तस्स सेज्जा

हत्थेहि सामो त्रिवडेहि घेत्तुं, वत्थस्स कोणेमुवईव जाति ॥

तस्य जिनकल्पिकस्य शय्यागुप्ता अगुप्ता वा भवेत् । ततः संदंशकच्छिद्रेण हिमादिकं शीतवातसर्पादिकमेत्यागच्छति । ततस्तस्य रक्षणार्थं स्वस्तिककृताभ्यां स्वस्तिकाकारनिवेशिताभ्यां द्वावपि वस्त्रस्य कोणौ गृहीत्वा उत्कुटुक एव स स्वपिति वा ध्यायति वा । तत्र प्रायेण धर्मजागरिकया जागर्ति परं केचिदाचार्या ब्रुवते उत्कुटक एव तृतीययामे क्षणमात्रं स्वपितीति । बृ० ३ उ० प्रव० । ध० । नि०चू० । इदानीं स जिनकल्पिकोपधिः स्थविरकल्पिकोपधिश्च सर्व एव नवविधो भवति तस्य च मध्ये कानिचिदुत्कृष्टानि अङ्गानि कानिचित् जघन्यानि कानिचित् मध्यमानि । तत्र जिनकल्पिकानां तावत्प्रतिपादनायाह ।

तिन्नेव य पच्छागा, पडिग्गहो चेव होइ उक्कोसो ।

गुच्छगपत्तट्ठवणं, मुहणंतगकेसरिजहन्नो ॥ ७४ ॥

त्रयः प्रच्छादककल्पा इत्यर्थः प्रतिग्रहश्चेति एष जिनकल्पिकावधिमध्ये उत्कृष्ट उपधिः प्रधानश्चतुर्विधोऽपि अत्रामूनि प्रधानानि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भवतीत्यर्थः । गोच्छकः पात्रकस्थापनं (मुहणन्तकं)मुखवस्त्रिका पात्रमुखवस्त्रिका चेत्येष जिनकल्पिकावधिमध्ये जघन्यः । अप्रधानश्चतुर्विधः उपधिरिति । पात्रकबन्धपटलानि रजस्त्राणो रजोहरणमित्येष चतुर्विधोऽप्युपधिर्जिनकल्पिकावधिमध्ये मध्यमोपधिना प्रधानेनाप्यप्रधान इति । उक्तो जिनकल्पिकानामुत्कृष्टजघन्यमध्यमोऽवधिरिति । ओघ० । गच्छवासिनां कल्पप्रमाणमाह ।

कप्पा आयपमाणा, अड्ढाइज्जा उ वित्थडा हत्था ।
एवं मज्झिममाणं, उक्कोसं होंति चत्तारि ॥

कल्पा आत्मप्रमाणाः सार्द्धहस्तत्रयप्रमाणायामा अर्द्धतृता यावद् हस्ता विस्तृताः पृथुला विधेयाः । एतन्मध्यमं मानं प्रमाणं भवति । उत्कर्षतो दैर्घ्येण चत्वारो हस्ताः । एतदादेशद्वयं मन्तव्यम् ।

अत्रैव कारणमाह ।

संकुचिय तरुण आय-प्पमाणसुवणे न सीयसंफासे ।
दुहओ पेल्लणथेरे, थेणुव्विय पाणाइरक्खी य ॥

यस्तरुणो बलवान् संकुचितपादः स्वप्तुं शक्नोति तस्य तथा स्वपमेव शीतस्पर्शो न भवति अतस्तस्यात्मप्रमाणाः कल्पोऽनुज्ञातः । यस्तु स्थविरो वयस्यो वृद्धः स क्षीणबलत्वान्न शक्नोति संकुचितपादः शयितुं अतस्तस्यानुग्रहार्थं दैर्घ्येण आत्मप्रमाणादूर्ध्वं षड्गुलानि विस्तरतोऽप्यर्द्धतृतीयहस्तप्रमाणादभ्यधिकानि षडङ्गुलानि विधीयन्ते एवं विधीयमाने गुणमुपदर्शयति (दुहओ पेल्लण त्ति) शिरःपादान्तलक्षणद्वयोरपि पार्श्वयोर्यत्कल्पस्य प्रेरणमाक्रमणं तेन स्थविरस्य शीतं न भवति । अनुचितोऽभावितशैक्ष इत्यर्थः । तस्यापि स्वप्नविधावनभिज्ञस्य कल्पप्रमाणमेव ज्ञातव्यम् । अपि च एवं प्राणिनां रक्षा कृता भवति न मण्डूकप्लुत्या कीटिकादयः प्राणिनः प्रविशन्तीति भावः । आदिशब्दाद्दीर्घजातीयादयोऽपि न प्रविशन्ति तेनात्मनोऽपि रक्षा कृता भवति । बृ० ३ उ० । (पात्रकबन्धादीनां प्रमाणनिरूपणमन्यत्र स्वस्थाने) इदानीं स्थविरकल्पिकानां प्रतिपादयति । तत्रापि प्रथमं ।

मध्यमावधिप्रतिपादयन्नाह ।

पडलाइ रयत्ताणं, पत्तमबंधो तहेव रयहरणं ।
मत्तो य पट्टगो वि य, पेराणं छव्विहो नवरिं ॥ ८५ ॥

पटलानि रजस्त्राणं पात्रकबन्धश्च चोलपट्टकश्च रजोहरणं मात्रकं चेत्येषः स्थविरावधिमध्ये षड्विधो मध्यमावधिर्नोत्कृष्टो नापि जघन्य इति । पात्रकं प्रच्छादनकल्पत्रयम् । एष चतुर्विधोऽपि उत्कृष्टः प्रधानः स्थविरकल्पिकावधिर्मध्ये पात्रस्थापनकं पात्रकेसरिका गोच्छको मुखवस्त्रिका एष जघन्योऽवधिः । स्थविरकल्पिकावधिर्मध्ये चतुर्विधोऽपि । ओ० । इह स्थविरकल्पिकानां त्रयः प्रच्छादका भवन्तीति पूर्वमुक्तं तदिदानीं स्फुटयन्नाह ।

जो वि तिवत्थवत्थो, एगेण अासवगो व संथरई ।
न हु ते खिंसंति परं, सव्वेण वि तिन्नि घेत्तव्वा ॥

योऽपि साधुस्त्रिवस्त्रो द्विवस्त्रो वा संस्तरति त्रिभिर्द्वाभ्यां वा कल्पैरित्यर्थः । सौत्रान् द्वौ वा कल्पान् परिभुङ्क्ते योऽप्येकेन कल्पेन संस्तरति स एकमपि कल्पं न गृह्णातु परं न हि ते स्वल्पतरवस्त्रा अचेलका वा परमन्यमधिकतरवस्त्रं खिंसन्ति कुत इति चेदुच्यते सर्वेणापि स्थविरकल्पकेन तत्र त्रयः कल्पा नियमाद् गृहीतव्याः यद्यपि शीतपरीषहसहिष्णुतया कश्चिदेकेनापि केनापि कल्पेनाप्रावृतः संस्तरति तथाऽपि भगवतामाज्ञामनुवर्तमानः सोऽपि त्रीन् कल्पान् गृह्णाति किमर्थं पुनरीदृशी भगवतामाज्ञा उच्यते ।

अप्पं असंथरंतो, निवारिओ होइ तीहि वत्थेहिं ।
गिण्हंति गुरू विदिन्ने, पगासपडिलेहणे सत्त ॥

आत्मशरीरं स शीतादिना संस्तरति त्रिभिर्वस्त्रैर्निवारितो भवति । तथा चात्र विशेषचूर्णिलिखितो भावार्थः । "उस्सग्गेण तहेव पाउरियव्वं जाहे न संथरइ ताहे एक्कं कप्पं पाउणइ जाहे तेण वि न संथरेज्जा ताहे विइयंपि पाउणिज्जा । जइ नाम तहावि न संथरेज्जा ताहे तइयं पि पाउणिज्जा । जइ नाम तहवि न संथरेज्जा ताहे तिन्नि घिच्छड्डेऊण बाहिं पडिमाए ठाए ताव अत्थइ जाव सीएण न सहइ वि तो पच्छा तम्मि निवेसइ । जइ तत्थ न संथरेज्जा ताहे अंतोपडिमं ठाइ । तत्थ झाणोवगओ चिट्ठइ जइ न संथरइ ताहे तम्मि चेव निवेसइ एवं पि जइ न संथरे ताहे एक्कं कप्पं गिण्हेज्जा जाहे तेण वि न संथरेइ ताहे विइयं ततो तइयं तत्थ से अईवसायं भवइ । एवं अप्पा तीहिं वत्थेहिं निवारिओ हवइ त्ति " अथ तानि परिजीर्णानि तेन त्रिभिः शीतं निवारयितुं पार्यते तत आह । गुरुभिराचार्यैर्वितीर्णानि प्रकाशप्रत्युपेक्षणानि जीर्णत्वाच्चौरहरणं यानि सप्त वस्त्राणि उत्कृष्टतो गृह्णाति । इदमेव स्पष्टयति ।

तिन्नि कसिणे जहन्ने, पंच य दढदुब्बलाई गेण्हे ।
आसज्जपरिजुत्ताई, एयं उक्कोसगं गहणं ॥

कृष्णानि नाम घनमसृणानि यैरन्तरितः सविता न दृश्यते ईदृशानि त्रीणि वस्त्राणि जघन्यतो गृह्णीयात् । यानि तु दृढदुर्बलानि तानि पञ्च गृह्णीयात् । यानि परिजीर्णानि तानि सप्त एतदुत्कृष्टं ग्रहणं मन्तव्यम् । बृ० ३ उ० ।

उवगरणं पि धारेज्जा, जेण न रागस्स होइ उप्पत्ती ।
लोगम्मि य परिवाओ, विहिणा य पमाणजुत्तं तु ॥ ६६ ॥

उपकरणमपि वस्त्रपात्रादि धारयेत्किंविशिष्टमित्याह । येन न रागस्य भवत्युत्पत्तिस्तदुत्कर्षाभावात्मना एष लोके च परिवादः खिंसा येन न भवति विधिनाऽवयवतया प्रत्युपेक्षणादिना धारयेत्प्रमाणयुक्तं च न न्यूनाधिकमिति गाथार्थः (पं० व०) अत्रेदमवधेयं स्थविरकल्पिकानां प्रच्छादकत्रिकादिधारणं यत्पूर्वमुक्तं ततः सामान्यापेक्षया विशेषापेक्षया त्वधिकधारणेऽप्यदोषः । ध० ३ अधि० । कीदृशं पुनरुपधिं भिक्षुर्धारयतीत्याह ।

भिन्नं गणणाजुत्तं, पमाणइंगालधूमपरिसुद्धं ।
उवहिं धारइ भिक्खू, जो गणचित्तं न चिंतेइ ॥

भिन्नं नाम सदृशं सकत्रं वा वस्त्रं भवति गणनायुक्तं गणनाप्रमाणोपेतं प्रमाणेन च यथोक्तदैर्घ्यविस्तरविषयमानेन युक्तमित्यनुवर्तते । तथाऽङ्गारधूम्याभ्यां परि समन्तात् शुद्धं विरहितमेवं विधमुपधिं स भिक्षुर्धारयेद् यो गणचिन्तां न चिन्तयति सामान्यसाधुरिति भावः । यस्तु गणचिन्तकस्तस्य न प्रतिनियतमुपधिप्रमाणम् । तथा चाह ।

गणचिंतगस्स एत्तो, उक्कोसो मज्झिमो जहन्नो य ।
सव्वो वि हे य उवही, उवग्गहकरो महाजणस्स ॥

गणचिन्तको गणावच्छेदकादिस्तत्प्रासो यावदुत्कृष्टो मध्यमो जघन्यश्च । सर्वोऽप्यौघिक औपग्राहिकश्चोपधिर्महाजनस्योपग्रहं करोति । इदमेव भावयति ।

आलंबणे विसुद्धे, दुगुणो चउगुणो वा वि ।
सव्वो वि होइ उवग्गह-करो महाजणस्स ॥

आलम्बनं द्विधा द्रव्यतो गर्तादौ निमज्जतो रज्ज्वादि भावतः संसारगर्तायां निपततां ज्ञानादि इह पुनर्यत्र क्षेत्रे काले वा दुर्लभं वस्त्रं तदादिकमालम्बनं गृह्यते तत्र विशुद्धे प्रशस्ते सति द्विगुणो वा चतुर्गुणो वा औपग्रहिकश्चोपधिः सर्वोऽपि महाजनस्य गच्छस्योपग्रहकरो भविष्यतीति कृत्वा गणचिन्तकस्य परिग्रहे भवतीति । गतं प्रमाणद्वारम् ।

(६) आर्यिकाणामुपधिप्रमाणम् ।

पत्तं पत्ताबंधो, पायट्ठवणं च पायकेसरिया ।
पडिलाइं रयत्ताणं, गुच्छओ पायनिज्जोगो ॥
तिन्नेव य पच्छागा, रयहरणं चेव होइ मुहपोत्ती ।
तत्तो पमत्तए खलु, चोद्दसमे कमढए होति ॥
उग्गहणंतगपट्टो, अद्धोरुअ चलणिआ य बोधव्वा ।
अब्भिंतरबाहिणिय-सणी य तह कंचुए चेव ॥
ओकच्छिय वेगकच्छिय, संघाडी चेव खंधकरणी य ।
ओहोवधिम्मि एते, अज्जाणं पण्णवीसं तु ॥

पात्रकादिश्चयोदशेऽपि करणानि साधूनामिव द्रष्टव्यानि । चतुर्दश तु चोलपट्टकस्थाने तासां कमठकं भवति । तच्चाप्येकमयमेकैकं संयतीनां निजदेहप्रमाणेन विज्ञेयम् । तथा अवग्रहानन्तकं १५ पट्टम् १६ अर्द्धोरुकं १७ चलनिका च १८ बोधव्या । अभ्यन्तरनिवसनी १९ बहिर्निवसनी २० तथा कञ्चुकश्चैव २१ औपकक्षिकी २२ वैकक्षिकी २३ संघाटी २४ स्कन्धकरणी २५ एवमेतान्योघोपधौ आर्यिकाणां पञ्चविंशतिरुपकरणानि भवन्ति । अथैतान्येव विवृणोति ।

उग्गहणंतओ नावा, गुज्झदेसरक्खणट्ठाए ।
सो यप्पमाणो तणुओ, घणमसिणो देहमासज्ज ॥

इहावग्रह इति योनिद्वारस्य सामयिकी संज्ञा तस्यानन्तकं वस्त्रमवग्रहानन्तकं पुंस्त्वं प्राकृतत्वात् तच्च नौनिभं मध्यभागे विशालं पर्यन्तभागयोस्तु तनुकं गुह्यदेशरक्षार्थं क्रियते । तच्च गणनयैकं अन्तर्बीजपातसंरक्षणार्थं च घनं घनवस्त्रेण पुरुषसमानकर्कशस्पर्शपरिहरणार्थं च मसृणं मसृणवस्त्रेण क्रियते प्रमाणे न च देहं स्त्रीशरीरमासाद्य तद्विधीयते देहो हि कस्याश्चित्तनुः कस्याश्चित् स्थूलः । ततस्तदनुसारेण विधेयमित्यर्थः ।

पट्टो वि होइ एक्को, देहपमाणेण सो उ भइयव्वो ।
छादंतोग्गहणंतं, कडिबद्धो मल्लकच्छो वा ॥

पट्टोऽपि गणनयैको भवति स च पर्यन्तभागवर्तिबन्धकबन्धः पृथुत्वेन चतुरङ्गुलप्रमाणः समतिरिक्तो वा दीर्घेण तु स्त्रीकटीप्रमाणः स च देहप्रमाणेन भक्तव्यः पृथुलकटीभागाया दीर्घः संकीर्णकटीभागायास्तु ह्रस्व इत्यर्थः । स चावग्रहानन्तकमुभयान्तयोराच्छादयन् कटीबद्धः सन् मल्लकच्छावज्जायते ।

अद्धोरुगो उ दो वि, गिण्हिउं छादए कडीभागं ।
जाणुप्पमाणचलणी, असिव्विया लंखियाए व ॥

अर्द्धोरुकोऽपि तौ द्वावपि अवग्रहानन्तकपट्टावुपरिष्टाद् गृहीत्वा सर्वकटीभागमाच्छादयति । स च मल्लचलनाकृतिः केवलमुपरि ऊरुद्वये च कशाबद्धः चलनिकाऽप्येवमेव । नवरमधो जानुप्रमाणा अस्यूतलंखिका परिधिर्भवति वंशाग्रनर्तकी चलनकवत् मन्तव्या ।

अंतोनियंसणी पुण, लीणतरा जाव अद्धजंघातो ।
बाहिरखुल्लगपमाणा, कडी य दोरेण पडिबद्धा ॥

अन्तर्निवसनी पुनरुपरि कटीभागादारभ्याधोऽर्द्धजङ्घा यावद्भवति सा च परिधानकाले लीनतरा परिधीयते मा भूदनावृता जनोपहास्येति बहिर्निवसनी पुनरुपरि कटीभागादारभ्याधः खुलकप्रमाणा चरणगुल्फं यावदित्यर्थः कट्यां च दवरकेण प्रतिबद्ध इदमधः शरीरस्य षड्विधमुपकरणमुक्तम् । अथार्द्धकायोपयोगिकञ्चुकादिकं व्याख्याति ।

छादितिअणुक्कुयिते उरोरुहे, कंचुओ असिव्वितओ ।
एमेव य ओकच्छी, सा णवरं दाहिणे पासे ॥

दैर्घ्यमाश्रित्य स्वहस्तेनार्द्धतृतीयहस्तप्रमाणः पृथुत्वेन तु हस्तमानोऽसीवित उभयतः कसाबद्धः कञ्चुकः क्रियते स चोरोरुहौ छादयति किमुक्तौ च ढुक्के चितौ श्लथौ गाढपरिधाने हि विविक्तविभागौ भवेताम् कक्षायाः समीपमुपकक्षं तत्र भवा औपकक्षिकी अध्यात्मादित्वादिकण्प्रत्ययः एवमेव च कञ्चुकवत्तस्या अपि स्वरूपं वक्तव्यं सा नवरं दक्षिणपार्श्वे समचतुरस्रा हस्तेन सार्द्धहस्तप्रमाणा उरो भागं पृष्ठं च प्रच्छादयन्ती वामस्कन्धे वामपार्श्वे च वीटकबद्धा परिधीयते ।

वेगच्छिया उ पट्टो, कंचुकमुक्कच्छियं च छादेति ।
संघाडीओ चउरो, तत्थ दुहत्था उ वसधीए ॥
दुन्नि तिहत्थायामा, भिक्खट्ठाएगउच्चारे ।
ओसरणे चउहत्थाम, निसन्नपच्छाइणी मसिणो ॥

औपकक्षिकी विपरीता वैकक्षिकीनामकः पट्टः कञ्चुकमौपकक्षिकीं च छादयन् वामपार्श्वे परिधीयते तथा उपरि परिभोग्या संघाटिकाश्चतस्रो भवन्ति । एका द्विहस्ता द्वे त्रिहस्ते एका च चतुर्हस्ता दैर्घ्येण चतस्रोऽपि साऽपि सार्द्धहस्तत्रयप्रमाणा चतुर्हस्ता वा मन्तव्या तत्र हि द्विहस्ता द्विहस्तविस्तृता संघाटिका वसत्यां परिधीयते न तां विहाय प्रकटदेहया कदाऽपि भवितव्यमिति भावः । ये च द्वित्रिहस्तायामे त्रिहस्तविस्तृते तयोर्मध्ये एका भिक्षार्थं गच्छन्त्या प्राव्रियते एका उच्चारभूमिं व्रजन्त्या तथा समवसरणे व्याख्यानश्रवणादौ गच्छन्ती चतुर्हस्तां प्रावृणोति सा च प्राक्तनसंघाटीभ्यो बृहत्तरप्रमाणा अनिषण्णप्रच्छादनार्थं क्रियते यतो न तत्र संयतीभिरुपवेष्टव्यं किन्तूर्द्ध्वे स्थित्वा ताभिरनुयोगश्रवणादि विधेयं ततस्तथा स्कन्धादारभ्य पादौ यावद्वपुः प्रच्छाद्य तिष्ठन्ति एताश्च पूर्वप्रावृतवेषप्रच्छादनार्थं प्रवचनवर्णप्रभावनार्थं च मसृणाः क्रियन्ते चतस्रोऽपि च गणनाप्रमाणेनैकमेव रूपं गण्यते युगपत्परिभोगाभावात् ।

खंधकरणी चउहत्था, वित्थरा वायविहुतरक्खट्ठा ।
खुज्जकरणी उ कीरति, रूववतीणं कुरुडहेउं ॥

स्कन्धकरणी चतुर्हस्तविस्तरा समचतुरस्रा प्रावरणस्य वातविधुतरक्षणार्थं चतुष्पला स्कन्धे कृत्वा प्राव्रियते रूपवतीनां च संयतीनां कुरूपहेतोः कुब्जकरण्यपि क्रियते पृष्ठदेशे संवलिताऔपकक्षिकी वैकक्षिकीनिबद्धा तया विरूपतापादनीयं कुरूपं विधीयत इति भावः । उपसंहरन्नाह ।

संघाडिमेतरो वा, सव्वो वेसो समासओ उवधी ।
पासगबद्धमझुसिरो, जं वाइणंतगं णेयं ॥

सर्वोऽप्येषोऽनन्तर उपधिः समासतो द्विधा संघातिमः इतरश्च

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

छिद्यादिखण्डानां मीलनेन निष्पन्नः संघातिमः । इतरस्तद्विपरीतोऽसंघातिमः । अयं च पाशकबद्धः कशाबद्धः तथा यश्चाशुषिरो गृहिसं|वनिकारहितः प्रतिष्ठानवर्जितो वा यश्चात्र रूप्यकेशकाद्यतो वेषेषु संविग्नगीतार्थैः पूर्वसूरिभिराचीर्णं तत्सर्वमपि ज्ञेयं सम्यगुपादेयतया मन्तव्यम् ।

अथ जिनकल्पिकादीनामुपधेरुत्कृष्टादिविभागमाह ।

उक्कोसओ जिणाणं, चउव्विहो मज्झिमो वि य तहेव ।
जहन्नो चउव्विहो खलु, पत्तो थेराण वोच्छामि ॥

त्रयः कल्पाः प्रतिग्रहश्चेति जिनकल्पिकानामुत्कृष्टश्चतुर्विधः । एवं मध्यमोऽपि रजोहरणपटलकपात्रकबन्धरजस्त्राणभेदाच्चतुर्विधो जघन्योऽपि मुखपोत्तिका पात्रकेसरिका गोच्छकपात्रकस्थापनकभेदाच्चतुर्विधः ।

(७) औपग्रहिकोपधेरुत्कृष्टादिभेदाः ।

उक्कोसो थेराणं, चउव्विहो छव्विहो य मज्झिमओ ।
जहन्नो चउव्विहो खलु, पत्तो अज्जाण वोच्छामि ॥

उत्कृष्टो जघन्यश्च जिनकल्पिकानामिव द्रष्टव्यो नवरं मध्यमः षड्विध इत्थं रजोहरणं पटलकानि पात्रकबन्धो रजस्त्राणं मात्रकं कम्बलपट्टकश्चेति ।

उक्कोसो अट्ठविहो, मज्झिमओ होइ तेरसविहो उ ।
जहन्नो चउव्विहो खलु, पत्तो उ उवग्गहं वोच्छं ॥

आचार्याणामुत्कृष्ट उपधिरष्टविधः त्रयः कल्पा ३ प्रतिग्रहः ४ अभ्यन्तरनिवसना ५ बहिर्निवसना ६ संघाटिका ७ स्कन्धकरणी ८ चेति । मध्यमस्त्रयोदशविधो भवति तद्यथा रजोहरणं १ पटलकानि २ पात्रकबन्धः ३ रजस्त्राणं ४ मात्रकं ५ कमठकम् ६ अवग्रहानन्तकं ७ पट्टः ८ अर्द्धोरुकम् ९ कञ्चुकी १० वलनिका ११ औपकक्षिकी १२ विकक्षिकी १३ चेति । जघन्यश्चतुर्विधो मुखपोत्तिका गोच्छकः पात्रस्थापनं चेति । अत ऊर्द्धमतिरिक्तो यः उपधिः स उपग्रहोपधिरुच्यते । तमपि जघन्यादिविभागनिरूपणेनाहं वक्ष्ये । वृ० ३ उ० ।

(८) तावदौपग्रहिकोपधिमाह ।

पीढगनिसिज्जदंडग–पमज्जणी घट्टए डगलमाई ।
पिप्पलगसूइनहरणि–सोहणगदुगं जहन्नो उ ॥ ३४ ॥

पीठकं काष्ठच्छगणात्मकं लोकसिद्धमानं स्नेहवत्यां वसतौ वर्षाकाले वा ध्रियत इत्यौपग्राहिकं संयतीनां त्याग इत्यागतसाधुनिमित्तमिति निषद्या पादपुञ्छनं प्रसिद्धप्रमाणं जिनकल्पिकादीनां न भवति निषीदनाभावात् दण्डकोऽप्येवमेव नवरं निवारणाभावात् एवं प्रमार्जनी वसतेर्दण्डकपुञ्छनाभिधाना एवं घट्टकः पात्रमुखादिकरणाय पिप्पलकः क्षुरप्रः लोहमयः । सूची सीवनादिनिमित्तं वेण्वादिमयी नखहरणी प्रतीता लोहमय्येव शोधनकद्वयं कर्णशोधनकदन्तशोधनकाभिधानं लोहमयादि जघन्यतरश्चायं जघन्यः औपग्रहिकः खलूपधिरिति गाथार्थः ।

एनमेव मध्यममभिधातुमाह ।

वासत्ताणे पणगं, चिलिमिणिपणगं दुगं च संथारे ।
दंडाइ पणगं पुण, मत्तगतिगपायलेहणिआ ॥ ३५ ॥

वर्षात्राणविषयं पञ्चकं तद्यथा कम्बलमयसूत्रमयतालपत्रमयपलाशपत्रकुटशीर्षकं छत्रकं चेति लोकसिद्धमानानीति । तथा चिलिमिलीपञ्चकं तद्यथा कम्बलमयी सूत्रमयी वालमयी दण्डमयी कडगमयीति प्रमाणमस्याः गच्छापेक्षया सागारिकप्रच्छादनाय तदावरणाभिकैवेयमिति संस्तारद्वयं च शुषिराशुषिरभेदभिन्नं तृणादिकृतस्तु शुषिरस्तदन्यकृतस्त्वशुषिर इति । तथा दण्डादिपञ्चकं पुनस्तद्यथा दण्डको विदण्डकः यष्टिर्वियष्टिर्नालिका चेति । मात्रकत्रितयं तद्यथा । कायकमात्रकं संज्ञामात्रकं खेलमात्रकमिति । तथा पादलेखनी काष्ठमयी कर्दमापनयिनीति गाथार्थः । पं० व० ।

संथारुत्तरपट्टो, अड्ढाइज्जा उ आयया हत्था ।
दोण्हं पि य वित्थारो, हत्थो चउरंगुलं चेव ॥४६॥

संस्तारकः तथा उत्तरपट्टकश्च एतौ द्वावपि एकैकमर्द्धतृतीयहस्तौ दैर्घ्येण प्रमाणतो भवति तथा द्वयोरप्यनयोर्विस्तारो हस्तचतुरङ्गुलं भवतीति आह किं पुनरेभिः प्रयोजनं संस्तारकादिभिः पट्टकैरुच्यते ।

पाणाइरेणुसंर–क्खणट्ठया होंति पट्टगा चउरो ।
छप्पइयरक्खणट्ठा, तत्थुवरिं खोम्मियं कुज्जा ॥४७॥

प्राणिरेणुसंरक्षणार्थं पट्टका गृह्यन्ते । प्राणिनः पृथिव्यादयो रेणुश्च स्वशरीरे लगति अतस्तद्रक्षणार्थं पट्टकग्रहणं ते चत्वारो भवन्तीति द्वौ संस्तारकपट्टकयुक्तावेव तृतीयो रजोहरणबाह्यनिषद्यापट्टकः पूर्वोक्त एव चतुर्थः । खोमिय एवाभ्यान्तरः निषद्यापट्टको वक्ष्यमाण एव एते चत्वारोऽपि प्राणिनः संरक्षणार्थं गृह्यन्ते । तत्र षट्पदासंरक्षणार्थं तस्य कम्बलो संस्तारकसंघर्षेण षट्पदा न विराध्यन्ते इति । इदानीं अभ्यन्तरक्षोमनिषद्याप्रमाणप्रतिपादनायाह ।

रयहरणपट्टमेत्ता, अदसागा किं चि वा समतिरेगा ।
इक्कगुणा उ निसिज्जा, हत्थपमाणा सपच्छागा ॥४८॥

रजोहरणपट्टकोऽभिधीयते यत्र दशिकालग्नाः तत्प्रमाणा अदशा दशिका तद्रहिता क्षौमा रजोहरणाभ्यन्तरे निषद्या भवति । (किं चि वासमतिरेगेत्ति) किञ्चिन्मात्रेण वा समधिका तस्य रजोहरणपट्टकस्य भवतीति (एकगुणत्ति) एकैव सा निषद्या भवति हस्तप्रमाणा च प्रथुत्वेन भवति (सपच्छागात्ति) सह बाह्यया निषद्यया हस्तप्रमाणा भवतीति । एतदुक्तं भवति बाह्याऽपि निषद्या हस्तमात्रैव ।

वासोवग्गहिओ पुण, दुगणो उवही उ वासकप्पाई ।
आयासंयमहेऊ, एक्कगुणो सेसओ होइ ॥ ४९ ॥

वर्षासु वर्षाकाले औपग्रहिकः उपधिर्द्विगुणो भवति कश्चासावसौ वर्षाकल्पादिः आदिग्रहणात् पटलानि "जो व हिंडइ तस्स तिम्मइ सो सो दुगुणो होति एगोलि त्तो पुणो अन्नो घेप्पइ" स च वर्षाकल्पादिर्द्विगुणो भवति आत्मसंरक्षणार्थं च तत्रात्मसंरक्षणाद्यपि एकगुणा एव कल्पादयो भवन्ति ततश्च "तेहिंति तेहिं पोट्टसूलेणं मरति संजमरक्खणट्ठं जइ एगं चेव कप्पं अट्टमइ्लो उ ठेउं नीसरइ ततो तस्स कप्पस्स जं पाणियं पडइत्ति तस्स तेणं आतुक्काओ विणासिज्जइ" शेषस्तूपधिः एकगुण एव भवति न द्विगुण इति । किञ्च ।

जं पुण सपमाणाओ, ईसिं हीणाहियं व लंभेज्जा ।
उभयं पि अहाकडयं, न संधणा तस्स छेओ वा ॥५०॥

यत्पुनः कल्पादि उपकरणं स्वप्रमाणादीषद्धीनमधिकं वा लभ्यते उभयमिति "ओहियस्स उवाहिस्स उवग्गहियस्स वा" यदि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

च्छनयं तदेव हीनमधिकं वा लब्धं सत् 'आधाकम्मयगं' पश्चात्कृत-महपरिकर्म यल्लभ्यते तस्य न संधना क्रियते हीनस्य तथा छेदनः क्रियते अधिकस्य । किं च ।

दंडए लट्ठिया चेव, चम्मए चम्मकोसए ।
चम्मच्छेयणपट्टे, चिलिमिली धारए गुरू ॥ ५१ ॥

अयमपर औपग्रहिकोपधिः साधोः साध्व्याश्च भवति दण्डकश्च भवति दण्डकश्च यष्टिश्च चशब्दाद्वियष्टिश्चेति । अयं सर्वेषा-मेवमेव पृथक् पृथक् औपग्रहिकः । अयमपर एव औपग्रहिकः कश्चासौ (चम्मपत्ति) चर्म्म कृत्तिश्चर्मकरिया चर्मकोसकः "जत्थ न हणाइ वज्झंति" तथा चर्मच्छेदः बर्धपट्टिका । यदि च चर्मच्छेदनकं पिप्पलकादि । तथा (पट्टेत्ति) योगपट्टकः चिलिमिली चेति । एतैश्चर्म्मादिभिर्गुरोरौग्राहिकोपधिर्भवति ।

जं चन्न एवमाई, तवसंजमसाहयं जइजणस्स ।
ओहो इरेगगहियं, उवग्गहियं तं वियाणाहि ॥

यच्चान्यद्वस्तु एवमादि उपानहादि तपःसंयमयोः साधकं यतिजनस्य ओघोपधेरतिरिक्तं गृहीतमौपग्रहिकं तद्विजानीहि । ओ० । (यष्ट्यादिलक्षणमन्यत्र)

चम्मतियं पट्टदुगं, नायव्वो मज्झिमो उवहि एसो ।
अज्जाण वारगो पुण, मज्झिमो होइ अइरित्तो ॥

चर्म्मत्रिकं वर्ध्रनलिकाकृतिरूपम् तथा पट्टद्वयं संस्तरपट्टचोलपट्टलक्षणं ज्ञातव्यो मध्यम उपधिरेषः । औपग्रहिक आर्याणां वारकः पुनः सागारिकोदकनिमित्तमध्यमोपधावुक्तलक्षणो भवत्यतिरिक्तः नित्यं जनमध्य एव तासां वासादिति गाथार्थः । एतदेवोत्कृष्ट-मभिधातुमाह ।

अक्खा संथारो वा, एगमणेगंगिओ अ उक्कोसो ।
पोत्थगपणगं फलगं, उक्कोसोवग्गहो सव्वो ॥ ३७ ॥

अक्षाश्चन्दनकादयः संस्तारकश्च किं विशिष्ट इत्याह । एकाङ्गिकोऽनेकाङ्गिकश्च फलकं कम्बिमयादिः उत्कृष्टस्वरूपेण । तथा पुस्तकपञ्चकं तद्यथा गण्डिकापुस्तकः छिवाडीपुस्तकः कच्छपीपुस्तकः मुष्टिपुस्तकः संपुटकश्चेति । तथा फलकं पट्टिका समवसरणफलकं वा उत्कृष्ट इति प्रक्रान्तापेक्षया औपग्रहिक उपधेः सर्व इत्यक्षादिः सर्व एवेति गाथार्थः । अनयोरौघिकोपग्रहिकयोरेवोपधिद्वयोरपि विशेषलक्षणमभिधातुमाह ।

ओहेण जस्स गहणं, भोगो पुण कारणा स ओहोहि ।
जस्स उ दुगं पि नियमा, कारणओ सो उवग्गहिओ ॥ ३८ ॥

ओघेन सामान्येन भोगे अभोगे वा यस्य पात्रादेर्ग्रहणमादानं भोगः पुनः कारणान्निमित्तेनैव भिक्षाटनादिना स ओघोपधिरभिधीयते । यस्य तु पीठकादेर्द्वयमपि ग्रहणं भोगश्चेत्येतन्नियमात्कारणतो निमित्तेन स्रोतादिना स पीठकादिः औपग्रहिकः कादाचित्कप्रयोजननिवृत्त इति गाथार्थः । अस्यैव गुणकारितामाह ।

मुच्छारहिआणेवं, सम्मचरणस्स साहगो भणिओ ।
जुत्तीए ईहा पुण, दोसा इत्थं पि आणाइ ॥ ३९ ॥

मूर्च्छारहितानामभिष्वङ्गवर्जितानां यतीनामेव द्विविधोऽपि पात्रपीठकादिरूप उपधिः सम्यगधिकरणरक्षाहेतुत्वेन चरणस्य साधको भणितः तीर्थकरगणधरैर्युक्त्येति । मानभोगयतनया इतरथा पुनरयुक्त्या यथोक्तमानभोगाभावे दोषाः । अत्राप्युपधौ गृह्यमाणे भुज्यमाने वा आज्ञादय इति गाथार्थः ॥ पं० व० । (प-तेषामन्येषां चोपकरणानां प्रयोजनं विहार शब्दे चारित्रार्थमनेकान्तगमने प्रस्ताव्यमाणे स्पष्टीभविष्यति) ।

(९) अतिरिक्तोपग्रहणेन प्रायश्चित्तम् ।

दुविहप्पमाणातिरेगे मुत्तादेसेण तेण लहुगाओ ।
मज्झिमगं पुण उवहिं, पकुव्व मासो जवे लहुओ ॥

द्विविधं द्विप्रकारं गणनाप्रमाणभेदाच्चप्रमाणं ततोऽतिरिक्ते उपधौ तत्रादेशेन चतुर्लघुका भवन्ति यत उक्तं निशीथसूत्रे "जे भिक्खू गणणाइरित्तं वा पमाणाइरित्तं वा उवहिं धरेइ से अवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं उग्घाइयं" वृ० १ उ० ॥

ऊणातिरित्तधरणे, चउरो मासा हवंति उग्घाया ।
आणाइणो य दोसा, संघट्टणमादि पलिमंथो ॥

गणनया प्रमाणेन च ऊनस्यातिरिक्तस्य वा उपकरणस्य धरणे प्रायश्चित्तं चत्वारो मासाः उद्घाता लघवः आज्ञादयश्च दोषास्तथा यत्र परिकर्म्मणां कुर्वन् तज्जातान् प्राणान्संघट्टयति आदिशब्दात्परितापयति अपद्रावयति च ततस्तन्निमित्तमपि तस्य प्रायश्चित्तं तथा प्रतिदेवसमुभयकालं पात्राणि अन्यच्चातिरिक्तमुपकरणं प्रत्युपेक्षमाणस्य परिमन्थः सूत्रार्थव्याघातः । तस्मात् गणनया प्रमाणेन सूत्रोक्तमुपकरणं धारयितव्यम् व्य० द्वि० ८ उ० । ओ. ।

१० प्रथमसमवसरणे उपधिग्रहणम् । (तत्र नो कल्पते इति वत्थशब्दे प्राविष्यते) वर्षासु अतिरिक्तोपकरणग्रहणकारणमुपदर्शयितुं दृष्टान्तमाह ।

दव्वोवक्खरणेहा, दियाण तह वा कडुयभंडाणं ।
वासारत्ते कुडुंबी, अतिरेगं संचयं कुणइ ॥

द्रव्यं हिरण्यादि उपस्करः सूर्पादिः स्नेहो घृतं तैलं वा आदिशब्दादेरण्डादितैलपरिग्रहः । क्षारो वल्लुलादिः लवणं वा कटुकं शुण्ठीपिप्पल्यादि भाण्डानि घटपिठरादीनि । अथवा कटुकभाण्डं वेसणमथवा हिङ्गुप्रभृतिजातं । एतेषां द्रव्योपस्करादीनां कुटुम्ब्यपि वर्षारात्रे अतिरिक्तसञ्चयं करोति किं कारणमिति चेदुच्यते ।

वणिया ण संचरंती, हट्टा ण हवंति कम्मपरिहाणी ।
गेलन्नाए देसुव, किं काहिति अग्गहिते पुव्विं ॥

वर्षाकाले वणिजो ग्रामेषु क्रयविक्रयार्थं न सञ्चरन्ति । पत्तनेष्वपि वर्षाबर्द्दलवशेन हट्टा न भवन्ति । अपि च यदि कुटुम्बी द्रव्योपस्करादीनामतिरिक्तं सञ्चयं न कुर्यात् तत उत्पन्ने प्रयोजने क्रयविक्रयार्थं तेनापणवीथ्यां गन्तव्यं ततश्च हलकर्षणप्रभृतीनां कर्मसंयोगानां परिहाणिर्भवति ग्लानत्वे वा संजाते आदेशेषु वा प्राघूर्णिकेषु आगतेषु अतिरिक्तसञ्चये पूर्वमगृहीते किं पथ्यभोजनप्राघूर्णकभक्त्यादिकं करिष्यति ॥

तह अन्नतित्थिगा वि य, जारिसो से संचयं कुणंति ।
इह पुण छण्हं विराहणा, पढमम्मि य जे भणियदोसा ॥

तथेति दृष्टान्तान्तरोपन्यासे अन्यतीर्थिका अपि सरजस्कादयो यादृशो यस्य येनोपकरणेन प्रयोजनमित्यर्थः (से) तस्यातिरिक्तं सञ्चयं वर्षासु करोति । यथा सरजस्का रक्षाया दकसैलकारिकामृत्तिकाया बोटिकगणलक्षणयोरित्यादि । इहेति अस्मिन् पुनर्येन शासते यद्यतिरिक्तमुपकरणं न गृह्णन्ति ततः षण्णां जीवनिकायानां विराधना भवति । अथातिरिक्तोपकरणाभावाद्वर्षासूपधिं गृह्णन्ति ततो ये प्रथमे समवसरणे उपकरणं गृह्णतो दोषा भणितास्तान् प्राप्नुवन्ति । कथं पुनः षण्णां कायानां विराधना भवतीत्युच्यते ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रयहरणेणोल्लाणं, पमज्जणफरुससालपुढवीए ।

गामंतरिंतगलणे, पुढवी उदगं च दुविहं तु ॥

(फरुससालत्ति) कुम्भकारशाला तस्यां वर्षासु स्थितानां द्वितीयरजोहरणाभावे यद्वर्षेणार्द्रीभूतं रजोहरणं तेनैव प्रमार्जने पृथिवीकायस्य विराधना ग्रामान्तरं भिक्षाचर्यादिकार्येण (इंतत्ति) गच्छत आगच्छतो अन्तरा आषाढतरं वर्षितुमारब्धे मलिनरजोहरणे परिगलति पृथिवीं द्विविधं च भूमान्तरिक्षभेदाद् द्विप्रकारमुदकं विराधयति ।

अहवा अंतीकूए, उदगं पुण उपतावणे अगणिं ।

उल्लंऽगबंधतसा, ठाणाइसु केण व पमज्जे ॥

अथवा द्वितीयरजोहरणाभावे यदार्द्रं रजोहरणं शोषयति ततोऽवग्रहात् स्फिटयति । अथ न शोष्यते ततोऽम्लीभवति एवमम्लीभूते तस्मिन् उदकं विराध्यते । पनकश्च संमूर्च्छति अथैतद्दोषपरिहारार्थमग्निं तापयति ततोऽग्निविराधना अथार्द्रेण प्रमार्जयति ततो दशिकान्तेऽप्युल्लण्डका मुइंगोलकाः प्रतिबध्यन्ते तेषु प्रतिबद्धेषु यद्विप्रमार्जनं करोति तत आत्मविराधना । अथ न प्रमार्जयति ततः संयमविराधना । स्थाननिषदनादिषु वा केन प्रमार्जयतु ।

एमेव सेसगम्मि, संजमदोसा उ भिक्खणिज्जाए ।

चोलनिसज्जा उल्ल-अजीरगेलन्नमायाए ॥

एवमेव वर्षाकल्पादावपि शेषोपकरणे भिक्षानिर्योगे च पटलकपात्रबन्धरूपे द्विगुणं अगृहीते संयमदोषाः षट्कायविराधनालक्षणे रजोहरणवद्वक्तव्याः । चोलपट्टे रजोहरणनिषद्यायां यावद्विगुणायामगृह्यमाणायां बहिर्गतानां वर्षेणार्द्रीभावे संजाते नित्यपरिभोगेन भक्तं न जीर्यते । अजीर्यमाणे भक्ते ग्लानत्वं भवति । ततश्चात्मविराधना परितापमहादुःखादि । किंच ।

अद्धाण णिग्गतादी, परिता वा अहव णट्ठगहणम्मि ।

जं च समवसरणम्मि, अगहणे जं च परिभोगे ॥

द्विप्रादयिद्वयात्वा अध्वनो निर्गता आदिशब्दादशिवादिकारणानिर्गता वा ये परीताः परिमितोपकरणा अथवा (नट्ठत्ति) नष्टोपकरणा हारितोपधय इत्यर्थः (गहणम्मित्ति) प्रत्यनीकेन वा उपधेर्ग्रहणे कृते विविक्ता आगच्छेयुः एतेषामागतानामतिरिक्तोपकरणभावाद्युपग्रहणं न करोति तत उपधिनिष्पन्नं प्रायश्चित्तम् अथ तदर्थं नूतनमुपधिं गृह्णन्ति ततोऽप्युपधिनिष्पन्नम् अथ प्रथमे समवसरणे उपकरणग्रहणे दोषजालं तत्प्राप्नुवन्ति । अथ न गृह्णन्ति तत उपकरणं विना यत्तृणादिपरिभोगे दूषणकदम्बकं तदासादयन्ति । अमुमेवार्थं व्याख्याग्रन्थेन स्पष्टयति ।

अद्धाण णिग्गयादीण-मदाते होति उपधिणिप्फन्नं ।

जं ते अणेसणगिं, मेवेदं वत्थणा जं च ॥

अध्वनिर्गतादीनामतिरिक्ताभावे उपकरणं यदि न प्रयच्छन्ति तत उपधिनिष्पन्नं भवति प्रायश्चित्तमिति शेषः । तत्र जघन्येपञ्चकं मध्यमे मासलघुकमुत्कृष्टे चतुर्लघवः । ते च अध्वादिनिर्गता अनेषणीयोपकरणमपि वा यदासेवन्ते तन्निष्पन्नमप्रयच्छतां प्रायश्चित्तम् । अथात्मीयमुपकरणं तेषां प्रयच्छन्ति तत आत्मपरिहाणिः । यच्चात्मना तृणादि सेवनं कुर्वन्ति तन्निष्पन्नम् । किं पुनः प्रथमसमवसरणे वस्त्रग्रहणे दोषा इत्याह ॥

अत्तट्ठपरट्ठा वा, ओमरणं गेण्हमाण पणगस्स ।

दाउं परिभोग छप्पति-चउलहं उड्डाहगेलन्ने ॥

अथात्मनो वा परेषां वा अध्वनिर्गतादीनामर्थाय प्रथमसमवसरणे उपधिं गृह्णन्ति तत आधाकर्मादयः पञ्चदशोद्गमदोषा भवन्ति आत्मोपधिमध्वनिर्गतादीनां दत्वा तमेवैकं प्रत्ययतारं नित्यं परिभुञ्जानस्य षट्पदिका संमूर्च्छति तासु चान्नपानमध्ये पतितासु भक्षितासु (चउलहंति) जलोदरो भवति एकप्रत्ययतारेण वा द्रोणराशिप्रावृतेन शुष्कस्य जीर्यति अजीर्यति च ग्लानत्वमुपजायते

तम्हा उ गेण्हियव्वं, बितियपदम्मि जइ ण गेण्हेज्ज ।

अद्धाणे गेलन्ने, अहवा वि भवेज्ज असतीए ॥

यत एवं तस्मात् कारणादात्मनो द्विगुणप्रत्ययतारादतिरिक्तं ग्रहीतव्यं द्वितीयपदं यथा न गृह्णीयुस्तथाऽभिधीयते अध्वनि वहमानानां ग्लानत्वे वा द्विविधायामसत्तायां वा वर्त्तमानाना मग्रहणं भवेदिदमेव व्याख्याति ॥

कालेण चिंदिएणं, या वरिसा मंतरेण वाघाते ।

गेलन्ने वा न परे, दुविधा पुण होति असतीओ ॥

ग्रीष्मस्य चरमे मासि केचिदध्वनि प्रतिपन्नाश्चिन्तितवन्तश्च यावदाषाढपूर्णिमा नायाति तावदेव तावत्कालेन वर्षाक्षेत्रं प्राप्स्यामः । अन्तरा च नद्यादिव्याघातो भवेत् अत आषाढपूर्णिमाकाले अतिक्रान्ते प्राप्ते ततो द्विगुणोऽतिरिक्तो वा उपधिर्न गृहीतः अथवा आत्मनो ग्लानत्वेन परस्य वा ग्लानस्य व्यापृततया नातिरिक्तो गृहीतः । असत्ता पुनर्द्विविधा भवति सदसत्ता असदसत्ता च सदसत्तायामनेषणीयं लभ्यते । अथवा बहवः साधवो वस्त्रग्रहणस्याकल्पिका एव कल्पिकाः । अतः सर्वेषां योग्यो अतिरिक्तः पथि गृहीतुं न पार्यते । असदसत्ता तु मार्गितमपि न लभ्यते एतैः कारणैः पूर्वमतिरिक्तोपधौ अगृहीतेऽपि शुद्धाः ।

गहिए अगहिए वा, अप्पत्ताणं तु होति अतिगमणं ।

उवही संथारगपाद-पुंछणादीण गहणट्ठा ॥

एवं गृहीतेऽगृहीते वा वर्षावासप्रायोग्ये उपधौ कालमप्राप्तानामाषाढपूर्णिमाया अर्वाक् पञ्चभिर्दिवसैर्वर्षाक्षेत्रे अतिगमनं प्रवेशो भवति । किमर्थमित्याह उपधिर्वर्षाकल्पादिकः । संस्तारकः काष्ठमयः कम्बिकामयो वा पादप्रोञ्छनं रजोहरणम् आदिशब्दात् तृणडगलादिपरिग्रहः एतेषां ग्रहणार्थमप्राप्ते काले प्रवेष्टव्यम् । इदमेव व्यक्तीकरोति ।

कालेण अपत्ताणं, पत्ताणं खेतओ गहणं ।

वासाजोग्गोवधिणो, खेत्तम्मि उ डगलमादीणि ॥

कालतो नियमादप्राप्तानां क्षेत्रतः प्राप्तानां वा वर्षावासयोग्यपटलकपात्रबन्धादेरुपधेर्ग्रहणं भवति एतेन चरमभङ्गः सूचितो कालतः प्राप्तैरप्राप्तैर्वा क्षेत्रतो नियमात्प्राप्तैर्डगलादीनि गृहीतव्यानि अनेन तु द्वितीयतृतीयभङ्गौ गृहीताविति । तान्येव डगलादीनि दर्शयति ।

डगलसरक्खकुडमुह, मत्तगतिगलेवपादलेहणिया ।

संथारपीढफलगा, णिज्जोगो चेव दुगुणो उ ॥

डगलका लोष्टादिमयानि डगलानि पुनः प्रोञ्छनार्थं गृह्यन्ते सरजस्कः क्षारसंज्ञा खेलादिविसर्जनार्थं कुडमुखं घटकण्ठकस्तत्र ग्लानयोग्यमौषधं कायिकी मात्रकं वा स्थाप्यते । मात्रकत्रिकं खेलमात्रकं कायिकीमात्रकं संज्ञामात्रकं चेति । लेपः प्रतीतः प्रच्छिद्रभाजनसंस्थापनार्थम् । पादलेखनिका वर्षासु कर्दमनिर्लेपना-

र्थम् । संस्तारकः परिशाटी वेति द्विविध उभयोपशमनार्थं जीवादिरक्षणार्थं च गृह्यते पीठं वगणादिमयमुपवेशनार्थं फलकश्च एकपट्टादिमयः शमनोपयोगी पात्रसत्कश्च नियोगः । प्रस्रवणादौ त्रिगुण एतानि सर्वाण्यपि तदानीं गृह्यन्ते । अथ शिष्यः प्रश्नयति ।

चत्तारि समोसरणे, मासा किं कप्पती ण कप्पति वा ।
कारणिग पंचरत्ता, सव्वेसिं मल्लगादीणं ॥

आषाढपूर्णिमाऽनन्तरं ये चत्वारः प्रथमसमवसरणे मासास्तेषु ग्रहीतुं कल्पते न वा । सूरिराह उत्सर्गतो न कल्पते द्वितीयपदे क्षेत्रस्याप्राप्ता अध्वनिर्गता वा आषाढपूर्णिमायां प्राप्तास्ततः संस्ताराद्युपधिं डगलादीनि च पञ्चरात्रिंदिवानि गृह्णन्ति पर्युषणाकल्पं च रजन्यामाकर्षन्ति । ततः पञ्चम्यां पर्युषणं कुर्वन्ति । अथ पूर्वोक्तकारणात्पञ्चम्यामेव ते प्राप्तास्ततः पञ्चरात्रं तथैव संस्तारकमल्लकादीनि गृह्णन्ति दशम्यां पर्युषणयन्ति । विशेषं चूर्णिकृत्पुनराह " तं खेत्ताणं पत्ते आसाढपुण्णिमाए चेव ठिया तेहि य उवही न गहिओ संथारगाइ ताहे जाव पंच रत्तं ताव गेण्हंति एका पंचदिवसे पज्जोसणाकप्पं कहंति दसमीए एस कारणेणं कप्पइ पंचरत्तं अह पंचमीए पत्ता तहेव य वरत्तगावकुंतीति " एवं सर्वेषां मल्लकादीनामुपकरणानामर्थाय कानि पञ्चरात्रिंदिवानि प्रवर्द्धमानानि तावन्मन्तव्यानि यावद्भाद्रपदशुद्धपञ्चम्यां गृहीतेऽगृहीते वा डगलमल्लकादौ नियमात्पर्युषणं विधेयम् "तेसिं तत्थ ठिआणं पडिलहुवइच्चारणादीसु लेवाईण अगहणे लहुगा पुव्विआ गहिते वा " तेषां साधूनां तत्र वर्षाक्षेत्रे स्थितानामियं सामाचारी सभाप्रपाऽऽरामदेवकुलशून्यगृहादिषु यद्वस्त्रमुज्झितं पथिकादिभिः परित्यक्तं तत्प्रत्युपेक्षन्ते यदा किल कार्यमुत्पत्स्यते तदा ग्रहीष्यन्ते तदभावे चरणादिषु प्रत्युपेक्षन्ते वर्षासु यदि लेपमादिशब्दात्पात्रं वा वस्त्रं वा गृह्णन्ति ततश्चतुर्लघुकाः पूर्वं चालेपादीनि यदि न गृहीतानि तदाऽपि चतुर्लघु । इदमेव व्याख्याति ।

वासाण एस कप्पो, सव्वतो चेव जाउ सक्कोसं ।
परिभुत्तं विप्पइसं, वाघातट्ठा परिक्खंति ॥

(वासाणत्ति) विभक्तिव्यत्ययाद्वर्षासु तिष्ठतामेष कल्पः समाचारी सर्वतः सक्रोशं यावद्यत्कार्पटिकैः परिभुक्तं विप्रकीर्णं पूर्वं परिभुज्य ततोऽकिञ्चित्करमिति मत्वा परिष्ठापितं ततस्तिष्ठन्त एव व्याघातार्थं निरीक्षन्ते । कः पुनर्व्याघात इति चेदुच्यते ।

अद्धाण णिग्गतादी, ज्ञामियवूढे व सेह परिज्जुण्णे ।
आगंतु वाहिपुव्विं, दिट्ठं असण्णिसण्णीसु ॥

अध्वनिर्गतादयः साधवः आगच्छेयुः आत्मीयो वा उपधिध्यामितो दग्धो भवेत् उदकेन वा व्यूढः शैक्षो वा अवश्यप्रव्राजनीयः पुराणादिरुपस्थितः परिजीर्णो वा उपधिरेतैः कारणैरागन्तुकेषु तालावरादिषु पूर्वं मार्गयन्ति ततः क्षेत्राद्बहिरसंज्ञिषु पूर्वं दृष्टं गृह्णन्ति । अथेदमेव विभावयिषुरागन्तुकानागन्तुकान् व्याख्याति ।

तालायरे य धारे, वाणियखंधारसेणसंवट्टे ।
लाउडिग वइग सेवग, जामाउगं पंथिगादीसुं ॥

तालावरा नटनर्त्तकवर्द्धादयो (धारेत्ति) देवछत्रधारकाः वणिजो वाणिज्यकाः राजबिम्बसहितं स्वचक्रं परचक्रं वा स्कन्धावार उच्यते राजबिम्बविरहिता सेना चौरधाटीभयेन बहवो ग्रामनायका अधिष्ठातारः एकत्र स्थिताः संवर्त्तः लाकुटिका उद्भरा व्रजिका गोकुलिका सेवकाश्चारभट्टकाः जामातृकाः प्रसिद्धाः पथिका ये बहवः स्वं देशं प्रति प्रस्थिताः एवमादिषु पूर्वं मार्गयन्ति कथमित्याह ।

आगंतुकेसु पुव्विं, गवेसए चारणादिसुं वाहिं ।
पच्छा जे सग्गामं, तालावरादिणो यंति ॥

(बाहिंति) सक्रोशयोजनान्तर्वर्त्तिष्वन्तरपल्लिकासहितेषु बाह्यग्रामेषु ये आगन्तुकाश्चारणादयस्तेषु पूर्वं गवेषयन्ति । पश्चात् बाह्यग्रामेषु चारणादीनामभावे ये तालावरादयः स्वग्राममायान्ति तेषु गवेषयितव्यम् । कथमेतेषु वस्त्रसंभव इत्याह ।

लद्धूण णवे इतरे, समणाणं देज्ज सेवजामादी ।
चारणधारवणीयं, पडंति इयरे उ सड्ढितरा ॥

सेवका जामातृका नवानि वस्त्राणि लब्ध्वा इतराणि पुराणानि श्रमणानां दद्युः । चारणानां (धारत्ति) देवछत्रधारिणां राजादयः प्रसादतो वस्त्राणि प्रयच्छन्ति तानि पुराणानि वा ते साधूनां दद्युः (वणीयंति) वाणिज्यकं वणिजः पतन्ति । इतरे तु पथिकादयः श्राद्धाः श्रावका भवेयुः बहिर्ग्रामे स्वग्रामेऽप्युपचारणादीनामभावे विधिमाह ।

बहिरंतसण्णिसण्णिसु, जं दिट्ठं तेसु वा जमदिट्ठं ।
केई दुहउवलंभि, सुगहिते सण्णीसु दिट्ठितरे ॥

क्षेत्राभ्यन्तरे प्रतिवृषभग्रामेषु ये असंज्ञिनस्तेषु पूर्वं दृष्टं वस्त्रं मार्गयन्ति तदभावे बहिर्ग्रामेऽप्येवं संज्ञिषु पूर्वं दृष्टं तदभावे अन्तर्मूलग्रामे असंज्ञिषु पूर्वं दृष्टं तदसत्त्वे मूलग्राम एव संज्ञिषु यत्पूर्वमदृष्टं तदभावे मूलग्राम एवासंज्ञिषु पूर्वमदृष्टं वस्त्रं मार्गयन्ति केचिदाचार्या इत्थं ब्रुवते । द्वयोरपि बहिरन्तर्लक्षणयोः स्थानयोः प्रथमसंज्ञिषु गृहीते सति ततो बहिरन्तर्वर्त्तिष्वेव संज्ञिषु यथा कर्मदृष्टमितरत्वात् दृष्टं गृह्णातीति किं पुनः कारणं पूर्वं दृष्टं प्रथमं गृह्यते उच्यते तत्र हि पूर्वप्रत्युपेक्षितत्वेनाधाकर्मोदय उत्क्षेपनिक्षेपादयश्च दोषा परिहृता भवन्ति ॥

कोई तत्थ वणिज्जा, बाहिं खित्तस्स कप्पती गहणं ।
गंतुं ता पडिसिद्धं, कारणगमणे बहुगुणं तु ॥

कश्चिन्नोदकस्तत्रेति अनन्तरोक्तव्याख्याने इदं भणेत् यदि पूर्वं प्रतिवृषभग्रामेऽप्युद्ग्रहीतव्यं ततो मूलग्रामे एवं तर्हि दूरत्वात् । क्षेत्राद्बहिर्ग्रहणं सुभगं कल्पते । गुरुराह क्षेत्राद्बहिर्वर्षासु गन्तुमपि तावत्प्रतिषिद्धं किं पुनर्वस्त्रग्रहणम् । अथ कारणे वर्षासु क्षेत्राद्बहिर्गमनं करोति तत्र गतश्च वर्षाकल्पादिना निमन्त्र्यते तदा संयमस्य बहुगुणमिति कृत्वा तदपि ग्रहीतव्यम् । इदमेव व्याचिख्यासुः प्रथमतः परवचनं व्याख्याति ।

एवं नाम कप्पति, जं दूरे तेण बाहि गिण्हंतु ।
एवं भणंति गुरुगाण, गमणे गुरुगा व लहुगा वा ॥

यत् दूरे ग्रामाद्बहिर्वस्त्रं तद्यदि प्रथमं कल्पते तत एवं नाम क्षेत्राद्बहिः सुतरां प्रथमतरं गृह्णन्तु सूरिराह एवं भणतो भवन्त्यश्चतुर्गुरुकाः । अथ क्षेत्राद्बहिर्गच्छति ततो गुरुका वा लघुका वा प्रायश्चित्तं तत्र नव प्रावृषि चत्वारो गुरवः शेषे वर्षाकाले चत्वारो लघवः । कारणगमने बहुगुणमिति व्याचष्टे ॥

संबंधभाविएसु, कप्पति जायणं कज्जे ।
जुत्तेसु वासकप्पं, गेण्हति जं बहुगुणं वसं ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यानि साधर्म्मिकसंबन्धेन संबद्धानि परस्परं गमनागमनजाति-मानि च क्षेत्राणि तेषु वर्षासु कल्पते साधर्म्मिकाणामुदन्तवहनार्थं चत्वारि पञ्च योजनानि यावत् गन्तुं वस्तुं वा एवं कार्ये गतस्यापान्तराले वर्षत्राणेन कश्चिदभिमन्त्रणं कुर्यात् तस्य च प्राक्तनो वर्षत्राणः परिजीर्णस्ततश्च वर्षत्राणं घनमसृणमभिनवं च ततो वर्षासु बहुगुणमिति कृत्वा गृह्णाति । कारणतोऽन्यदपि पटलकादिकं घनमसृणादिगुणोपेतमाचार्यप्रायोग्यं वा यद्वस्त्रं लभ्यते तदपि भूयान् गुणोऽत्र गृहीते भविष्यतीति कृत्वा गृह्यते एवं कारणगमनं ग्रहणं चोभयमपि दृष्टम् । कारणाभावे तु न कल्पते गन्तुं गृहीतुं वा । अथ गृह्णाति ततोऽमून् षोडश दोषान् । प्राप्नोति

आहाकम्मुद्देसिय, पूतीकम्मे य मीसजायाए ।
ठवणा पाहुडियाए, पादोकरकीतपामिच्चे ॥
परियट्टिए अतिहडे उ, उब्भिन्नमालाहडे य ।
अच्छिज्जे अणिसिट्ठे, धोते रत्ते य घट्टे य ॥

आधाकर्म्म १ औद्देशिकं २ पूतिकर्म ३ मिश्रजातं ४ स्थापना ५ प्राभृतिका ६ प्रादुष्करणं ७ क्रीतं ८ प्रामित्यं ९ परिवर्त्तितम् १० हृत्याहृतम् ११ उद्भिन्नं १२ मालाहृतम् १३ आच्छेद्यम् १४ अनिसृष्टं चेति १५ पञ्चदश दोषाः (धोयरत्तेयघट्टेयत्ति) साधूनामर्थाय मलिनवस्त्रं धौतं गौरवं कृतमित्यर्थः । एवं रक्तं प्रदत्तरागं घृष्टं मसृणं पाषाणादिना उत्तेजितमेते त्रयोऽप्येक एव दोष इति ।

एते सव्वे दोसा, पढमोसमोसरेणवज्जिता होंति ।
जिणदिट्ठेहिं अगहिता, जो गेण्हति तेहि सो पुट्ठो

एते सर्वेऽप्याधाकर्म्मादयो दोषाः प्रथमे समवसरणे वस्त्रादिकं गृह्णता न वर्जिता भवन्ति । अथ पूर्वं दर्प्पतो न गृहीतमुपकरणं ततः प्रथमे समवसरणे यो गृह्णाति सोऽपि जिनैस्तीर्थकरैर्ये दृष्टाः कर्मबन्धदोषास्तैः स्पृष्टो मन्तव्यः । भावतस्तेन दोषाणामङ्गीकृतत्वात् ।

पढमम्मि समवसरणे, जो वतियं पत्तचीवरं गहियं ।
सव्वं वोसरियव्वं, पायच्छित्तं च वोढव्वं ॥

प्रथमे समवसरणे दर्पतो यावत् पात्रचीवरं गृहितं तावत्सर्वमपि व्युत्स्रष्टव्यं प्रायश्चित्तं च गुरुप्रदत्तं यथोक्तं वोढव्यम् । अथ वा कार्ये समुत्पन्ने यत्पात्रं वा चीवरं चारणादिषु गृहीतं तत्सर्वं कृते कार्ये परिष्ठापनीयम् । अपरिणामकप्रत्ययनिमित्तं च यथालघीयः प्रायश्चित्तं वोढव्यम् ।

सज्झायट्ठा दप्पेण, वावि जाणंतए वि पच्छित्तं ।
कारणगहियं तु विधूय, धरेत गीए ण उ ज्जाति ॥

स्वाध्यायार्थं दर्पेण वा यदि " बहिअंतसखिसु जं दिट्ठं तेसु चव जमादिट्ठं " इत्यादिकं क्रममुल्लङ्घ्य गृहीतं तत्र जानतोऽपि गीतार्थस्यापि प्रायश्चित्तम् । यत्तु कारणे क्रमेण विधिना गृहीतं तद्यदि सर्वेऽपि विदो गीतार्थास्तं धारयन्ति अथागीतार्थनिश्रास्ततोऽन्यस्मिन्नुपकरणे लब्धे न त्युज्यन्ति । बृ० ३ उ० नि० चू० । कल्प० (ऋतुबद्धे वस्त्रग्रहणं वत्थ शब्दे)

(११) प्रथमं प्रव्रजत उपधिग्रहणम् ।

(सूत्रम्) निग्गंथस्स य तप्पढमयाए संपव्वयमाणस्स कप्पइ रयहरणगोच्छयपडिहिं कसिणेहिं वत्थेहिं अयाए संपव्वइत्तए से पुव्वोवट्ठिए सिया एवं से नो कप्पइ रयहरणपडिग्गहगोच्छए मायाए तिहिं य कसिणेहिं वत्थेहिं आयाए संपव्वइत्तए कप्पइ से अहापरिग्गहियाइं वत्थाइं गहाय आयाए संपव्वइत्तए ।

अथास्य सूत्रस्य कः संबन्ध इत्याह ।

णिग्गंथिचेलग्गहणं, भणियं समणाण वोच्छामि ।
निक्खंते वाहुत्तं, निक्खममाणे इमं सुत्तं ॥

निर्ग्रन्थीविषयं चेलग्रहणं भणितम् । इदानीं श्रमणानां यथा वस्त्रं गृहीतुं कल्पते तथाऽभिधीयते । यद्वा निष्क्रान्तो दीक्षितस्तद्विषयं वस्त्रग्रहणमुक्तमिदं तु निष्क्रामयति दीक्षामददाने वस्त्रग्रहणाभिधायकं सूत्रमारभ्यते अनेन संबन्धेनायातस्यास्य व्याख्या निर्ग्रन्थस्य तत्प्रथमतया समिति सम्यक् प्रकर्षेण पुनरभङ्गीकारलक्षणेन व्रजतो गृहवासाभिनिष्क्रमतः संप्रव्रजतः कल्पते । रजोहरणमोद्धके प्रतिग्रहमादाय त्रिभिः कृत्स्नैर्वस्त्रैरात्मना संप्रव्रजितुम् । इह रजोहरणग्रहणेन मध्यमोपाधिगोच्छकग्रहणेन जघन्योपधिः प्रतिग्रहग्रहणेनोत्कृष्टोपधिः सर्वो गृहीतस्ततोऽयमर्थः जघन्यमध्यमोत्कृष्टोपधिनिष्पन्ना ये त्रयः कारनाः प्रतिपूर्णा दक्षपात्रे प्रत्ययतारास्तैरात्मना सहितैः प्रव्रज्या ग्रहीतुं कल्पते (सेयति) चशब्दार्थे । अथासौ प्रव्रज्यां प्रतिपन्नः पूर्वमुपस्थितो दीक्षितः स्यात् ततो नो कल्पते (से) तस्य पूर्वोपस्थितस्य रजोहरणगोच्छकप्रतिग्रहमादाय त्रिभिः कृत्स्नैरात्मना संप्रव्रजितुं किंतु कल्पते (से) तस्य यथा परिगृहीतानि क्रीतकृतादिदोषरहितानि वस्त्राणि गृहीत्वा आत्मना संप्रव्रजितुमिति सूत्रसमासार्थः । अथ विस्तरार्थोऽभिधीयते । आह न तावद्द्रव्यं प्रव्रजति ततः कथं निर्ग्रन्थः । उच्यते द्रव्यत एको भावतो द्वितीयः द्रव्यतोऽपि भावतोऽपि अपरो न द्रव्यतो न भावतः । तत्र द्रव्यतो निर्ग्रन्थः स उच्यते यो लिङ्गसहितो द्रव्यलिङ्गयुक्तो निःशङ्कः सम्यग्भावति भावतः प्रव्रजतीत्यर्थः । यस्तु प्रव्रज्यायामभिमुखो न तावदद्यापि प्रव्रजति कारणेन वा यः साधुः परलिङ्गे वर्तते स द्वितीयो द्वितीयभङ्गवर्ती यस्तु उदयसहितो द्रव्यभावलिङ्गयुक्तः स तृतीयः उभयथापि निर्ग्रन्थ इति भावः । उभयविमुक्ते तु द्रव्यभावलिङ्गरहिते गृहस्थादौ चरमश्चतुर्थो भङ्गो भवति । अत्राचार्यो देवस्य मानुष्यस्य सहवासलक्षणं दृष्टान्तं कर्तुकाम प्रथमतः सिद्धान्तं प्रज्ञापयति ।

चउधा खलु संवासो, देवासुररक्खसे मणुस्से य ।
अणोसकामणेण य, संजोगा सोलस हवंति ॥

देवसंवासः असुरसंवासो राक्षससंवासो मनुजसंवासश्चेति संवासश्चतुर्धा । अत्र चान्योन्यकाम्यया षोडश संयोगा भवन्ति । तद्यथा देवो देव्या सार्द्धं संवसति १ देवोऽसुर्या सार्द्धम् २ देवो राक्षस्या सार्द्धम् ३ देवो मानुष्या सार्द्धम् ४ असुरो देव्या समं संवसति ५ असुरोऽसुर्या ६ असुरो मानुष्या ७ असुरो राक्षस्या ८ राक्षसो देव्या ९ राक्षसोऽसुर्या १० राक्षसो मानुष्या ११ राक्षसो राक्षस्या १२ मनुष्यो देव्या १३ मनुष्योऽसुर्या १४ मनुष्यो राक्षस्या १५ मनुष्यो मानुष्या १६ चेति । अत्र देवशब्देन वैमानिको ज्योतिष्को वा । असुरशब्देन तु सामान्यतो व्यन्तरः परिगृह्यते । अधस्तने च षोडश भङ्गान् चतुर्षु भङ्गेष्ववतारयन्नाह ।

अहवा देवछवीणं, संवासे एत्थ होंति चउभंगो ।
पव्वज्जाभिमुहंतर, गुज्झगउभामिया वासे ॥

अथवेति प्रकारान्तरद्योतकः । देवच्छविमतोः संवासे चतुर्भङ्गी भवति । देवो देव्या सार्द्धं संवसति । १ । देवच्छविमत्या सा-

र्म्म् २ उविमान् देव्या सार्द्धम् ३ उविमान् उविमला ४ अत्र दे-वशब्देन सामर्थ्यतो भवनपत्यादिनिकायचतुष्टयाद्यन्तरवर्ती गृ-ह्यते उविमांश्च मनुष्य उच्यते अत एतेषु चतुर्षु भङ्गेषु पूर्वोक्ताः षोडशापि भङ्गा अन्तर्भूता एवं सिद्धान्तं प्रज्ञाप्य प्रस्तुतार्थसाधकं दृष्टान्तमाह 'पव्वज्जा' इत्यादि । एकः कश्चित्तरुणः प्रव्रज्याभिमुखो गुरूणां पार्श्वे प्रस्थितः अन्तरा कस्मिंश्चिद्ग्रामे एकस्यास्तरुण्या गृहे वासार्थमुपगम्य द्वारमूले सुप्तः सा च तरुणी उद्भ्रामिका कुशीला गुह्यकः कश्चिद्यक्षस्तया उद्भ्रामिकया सह रात्रौ वासं कृत्वा प्रभाते स्वस्थानं गच्छति एवं दिवसे दिवसे करोति । तस्मिंश्च दिवसे यक्षो नोपागमत द्वितीये दिवसे कोऽपि सद्वि-द्योच धात्री चौर्यं कर्तुकामस्तस्मिन्नेव ग्रामे तस्या एव तरुण्या गृहे तथैव मूले प्रसुप्तः । यक्षश्च तद्दिवसमागतः ।

बितियणिसाए पुच्छा, एत्थ जती आसि तेण मित अम्हो ।
जतिवेसो यं चोरो, जो अज्ज तुहं वसति दारे ॥

यस्मिन् दिवसे यक्षोऽनायातस्ततो यो द्वितीयो दिवसस्तत्र निशायामागतस्य यक्षस्य पार्श्वे पृच्छा कृता कल्ये किं नागतोऽसि यक्षः प्राह । अत्र कल्ये यतिरासीत् । तेन कारणेनाहमत्र नायातः । अपि च साधुसंबन्धिना तेजसैव तमुल्लङ्घ्य गन्तुं न शक्यते सा प्राह किमेवं मृषा भाषसे अयमपि तावदन्यः साधुर्द्वारमूले सुप्-तिष्ठति । अत एवमुल्लङ्घ्य कथमद्यागतोऽसीति । यक्षः प्राह एष चारित्रं प्रति विपरिणतश्चौर्यं कर्तुकामः । अतो यतिवेषेण चौरोऽयं मन्तव्यः यस्तवाद्य द्वारे वसतीति । तदेवमनेन दृष्टा-न्तेन प्रव्रज्यायामभिमुखः प्रव्रजित एवोच्यते । उक्तं च नैश्चयिक-नयवक्तव्यतामङ्गीकृत्य भगवत्याम् "नेरइए णं भंते नेरइएसु उववज्जइ अनेरइए ? गोयमा ! नेरइएसु उववज्जइ नो अनेरइएसु उववज्जइ " ॥

अथ रजोहरणादिपदानि व्याचष्टे ॥

रयहरणे विमज्झिमो, गुच्छग्गहणे जहण्णगग्गहणं ।
पडिग्गहगहणं गहणं, उक्कोसओ होइ उवहिस्स ॥

रजोहरणग्रहणेन विमध्यमोपधिर्गृहीतो गुच्छकग्रहणेन जघन्यो-पधिग्रहणं भवति प्रतिग्रहग्रहणेन चोत्कृष्टस्योपधेर्ग्रहणं मन्तव्यम् ।

पडिपुण्णा पडुयारा, कसिणग्गहणेण अप्पणो तिण्णि ।
पुव्विं उवट्ठितो पुण, जो पुव्वं दिक्खितो आसी ॥

कृत्स्नवस्त्रग्रहणेनेदमुक्तं भवति । तेन प्रव्रजता आत्मनो योग्या-स्त्रयः प्रत्यवताराः प्रतिपूर्णा ग्रहीतव्याः पूर्वमुपस्थितः पुनः स उच्यते यः पूर्वदीक्षित आसीत् एष सूत्रार्थः । अथ निर्युक्तिविस्तरः ।

सोऊण कोइ धम्मं, उवसंतो परिणओ य पव्वज्जं ।
पुच्छति पूयं आयरिय उव-ज्झायपवत्तिसंघाडिए चेव ॥

इह कश्चिद्यथारूपाणां स्थविराणामन्तिके धर्मं श्रुत्वा उपशान्तः प्रतिषेकः प्रव्रज्यायां च परिणतः आचार्यान् पृच्छति आदिशत क्षमाश्रमणाः किं मया कर्त्तव्यम् । सूरयस्तस्य सारसंपदं ज्ञात्वा ब्रुवते (पूयंति) चैत्यानां विपुलां पूजां कुरु श्रमणसंघस्य च वस्त्रा-दिभिः प्रतिलाभनं कुरु । एवमुक्ते स तथैव चैत्यानां श्रमणसंघस्य च पूजां करोति । अथ श्रमणसङ्घं न पूजयितुमीशस्तत आचार्य-स्योपाध्यायस्य प्रवर्त्तिनः संघाटकसाधोश्च वस्त्रादिभिः पूजा विधातव्या । इदमेव भावयति ॥

णंतगघतगुलगोरस, फासुपडिलाभणं समणसंघे ।
असति गणिवायगाणं, तदसति सव्वस्स गच्छस्स ॥

स प्रविव्रजिषुः श्रमणसङ्घस्य सकलस्यापि प्रासुकैः शुद्धैर्वस्त्रघृ-तगुडगोरसादिभिर्द्रव्यैः प्रतिलाभनं करोति । अथ नास्त्येताव-त्सारं ततो ये गणिन आचार्या ये च वाचका उपाध्यायास्तेषां सर्वेषामपि करोति । अथ नास्त्येतावती शक्तिस्ततो यस्मिन् गच्छेऽसौ प्रव्रजिष्यति तस्य सर्वस्यापि प्रतिलाभनं विधत्ते ॥

तदसति पुव्वत्ताणं, चउण्ह सीसतिय तेसि वावारो ।
हाणी जा तिण्णि सयं, तदभावे गुरुउ सव्वं पि ॥

तस्या अपि सकलगच्छपूजाक्षमायाः सामग्र्या अभावे ये पूर्व-माचार्या ये च वाचका उपाध्यायास्तेषां सर्वेषामपि करोति आ-चार्योपाध्यायप्रवर्तिसंघाटकसाधुलक्षणाश्चत्वार एकास्तेषां पूजां करोति । तेषां चाचार्यादीनां व्यापारोऽर्थकथनादिस्तस्य पुरतः शिष्यते कथ्यते यथा आचार्योऽर्थं व्याख्यानयति उपाध्यायः सूत्रं वाचयति प्रवर्तते यः स संयमादौ प्रवृत्तिं कारयति संघाटकः सा-धुभिर्भिक्षाविचारभूम्यादौ गच्छतां साहाय्यं विधत्ते अत एषां पूजा विधेयेति । अथ नास्त्येतावती शक्तिस्ततो यतो यथामाहात्म्यं प्रथममाचार्योपाध्याययोस्तथाप्यशक्तौ केवलस्यैवाचार्यस्य पूजां करोति । एवमप्यशक्तौ स्वयमात्मनो योग्यान् त्रीन् प्रत्यवतारान् तदभावे एकमपि प्रत्यवतारमादाय प्रव्रजति । अथ नास्ति तस्यै-कोऽपि प्रत्यवतारस्ततः सर्वमपि पात्रनिर्योगादिकं तस्य गुरवः प्रयच्छन्ति । अथास्य विद्यमानविभवस्येत्क्रमकोटिदोषैर्विशोधि-कोटिदोषैर्वान्यविशुद्धानि वस्त्राणि प्रयच्छतो ग्रहीतुं कल्पन्ते नवेति चिन्तां चिकीर्षुराह ॥

अप्पणो कीतकडं वा, आहाकम्मं व घेतु आगमणं ।
संजोए चेव तधा, अणिद्दिट्ठे मग्गणा हुंति ॥

स गृहस्थशैक्ष आत्मनो योग्यं वस्त्रपात्रादि क्रीतकृतं वस्त्वाधा-कर्म वा गृहीत्वा गुरूणामन्तिके दीक्षाग्रहणायागमनं कुर्यात् । अत्र क्रीतकृतग्रहणेन विशोधिकोटिदोषा गृहीताः । अमीषां च दोषाणामनिर्दिष्टे उपलक्षणत्वान्निर्दिष्टे वा ये संयोगा भङ्गकास्ते षां मार्गणा कर्त्तव्या भवतीति द्वारगाथासमासार्थः ।

सांप्रतमेनामेव विवृणोति ।

कीयम्मि अणिद्दिट्ठे, तेणोग्गहियम्मि सेलगो कप्पे ।
निद्दिट्ठम्मि ण कप्पति, अहव विसेसो इमो तत्थ ॥

क्रीतकृतं द्विधा निर्दिष्टमनिर्दिष्टं च । निर्दिष्टं नाम वस्त्रपात्रादिकं क्रीणीत इत्थमुद्देशं करोति अमूनि मम भविष्यन्ति अमूनि सा-धूनां दास्यामि तद्विपरीतमनिर्दिष्टम् । एवमन्येष्वपि दोषेषु भा-वना कर्त्तव्या तत्र यानि वस्त्राणि तेनानिर्दिष्टानि क्रीतानि तेषां म-ध्ये यत्तस्याभिरुचितं वस्त्रजातं तेनावगृहीते सति शेषाणि साधूनां कल्पन्ते निर्दिष्टे तु साधूनामर्थाय यत् क्रीतं तत् किमपि न क-ल्पते । अथवा तत्र निर्दिष्टेऽयं विशेषो ऽभिधीयते ।

मउभंतिगाए गिण्हह, अहं तुज्झव्वए परिघित्थं ।
सेहेहिं तिं व वत्थं, तदभावे विगिंचंति ॥

मदीयानि मया आत्मार्थे क्रीतानि वस्त्राणि यूयं गृह्णीथ अहं तु युष्मदीयानि युष्मदर्थे मयैव क्रीतानि वस्त्राणि परिगृहीष्ये एवं तेनोक्ते तान्यात्मार्थक्रीतानि कल्पन्ते । अथवा स ब्रूयात् यावत् युष्मदर्थमेतानि क्रीतानि इत ऊर्ध्वं यत् जानीथ तत् कु-रुथ ततस्तान्निर्दिष्टं वस्त्रप्रत्यवताराः शैक्षस्यानुपस्थापितस्य प्रय-च्छन्ति । अथ नास्ति शैक्षो वा परं किमहं साधुर्न भवामि यदे-वमेतानि मम दीयन्ते इति कृत्वा नेच्छति ततस्तानि (विगिं-

वंति) परिष्ठापयन्ति । एवं परिष्ठाप्यमानेषु स शैक्षो ब्रूयात् ।

एतं पि मा उज्झह देह मज्झं, मज्झव्वगा गेएहह एक दो वा ।
अत्तट्ठिए होति कदायि सव्वे, सव्वे वि कप्पंत वि सोधएसा ॥

एतमपि वस्त्रप्रत्यवतारमकल्पनीयतया मा उज्झत किं तु मह्यं प्रयच्छत मदीयप्रत्यवतारान् चैकं द्वौ वा यूयं गृह्णीत । अथ तेन बहवः प्रत्यवताराः क्रीतास्ततः को विधिरित्याह यान् प्रत्यवतारान् एकं वा द्वौ वा त्रीन् वा स दाता आत्मार्थयति स त्रीन् वा कदाचिदात्मार्थं करोति तदा सर्वेऽपि कल्पन्ते एष विशोधिकोटिविषयो विधिरुक्तः । अथाविशोधिकोटिविषयं तमेवाह ॥

उग्गमकोडीए वि हु, संछोभे तथ्थ होति अनिद्दिट्ठे ।
इयरम्मि विसंछोभो, जइ सेहो सयं जाणइ ॥

उद्गमकोटिर्नाम आधाकर्मादयोऽविशोधिकोटयो दोषास्तेष्वपि यदि निर्दिष्टमिदं साधूनां दास्यामि इदं मम भविष्यतीति निर्देशमन्तरेण वस्त्रादि क्रीतं तत्र कल्पते (संछोभे होइ अनिद्दिट्ठ त्ति) अनिर्दिष्टेऽपि यद्येषां दाता ब्रूयात् यैर्यूयं निमन्त्रिता यदि तानि नेच्छथ तत इमानि मत्परिगृहीतानि गृह्णीत यानि युष्माभिः प्रतिषिद्धानि तानि मम भविष्यन्ति एवमसौ संछोभं प्रक्षेपकं कृत्वा यदि ददाति तर्हि सर्वाण्यपि कल्पन्ते (इतरम्मि विसंछोभो त्ति) इतरन्नाम निर्दिष्टं तथाऽपि संछोभो यदि स्यात्ततः कल्पते । संछोभः पुनरयं यथाऽसौ गृहस्थशैक्षः स्वयमन्येनानुपदिष्ट आत्मनैवेत्थं भणति ।

उक्कोसगा व दुक्खं व, वज्जिया केसितो हमि विधेव ।
इति संछोभं तेहिं, वदंति निद्दिट्ठगेसुं पि ॥

यानि वस्त्राणि मया युष्मदर्थं कारितानि उत्कृष्टानि बहुमूल्यानि ततः कथं परित्यजन्ति दुःखं वा महता प्रयासेन वाऽपि तानि अतः क्लेशितः क्लेशं प्रापितोऽहं वृथैवामीभिः युष्माकमनुपकरणात् अतो मदीयानि यूयं गृह्णीथ युष्मदीयानि च मम भवन्तु । इत्येवं तत्र निर्दिष्टेष्वपि संयतनिमित्तं निर्दिश्य कृतेष्वपि संछोभं कल्पनीयताकारणं वदन्ति तीर्थकरादयः । संयतनिर्दिष्टान्यपि कल्पन्त इति भावः । अत्र मतान्तरमुपन्यस्य दूषयन्नाह ।

जा संजयणिद्दिट्ठा, संछोभम्मि वि न कप्पते केई ।
तं तु ण जुज्जइ जम्हा, दिज्जति सेहस्स अविसुद्धं ॥

या अविशोधिकोटिः संयताय निर्दिष्टा साधून्निर्दिश्य कृता सा संछोभे कृतेऽपि न कल्पते एवं केचिदाचार्या ब्रुवते तत्तु न युज्यते यस्मात् शैक्षितस्यानुपस्थापितस्याविशुद्धमनेषणीयं वस्त्रपात्रादि दीयते इत्यत्रैव चतुर्थोद्देशके वक्ष्यति तत्र शैक्षयोग्यमविशुद्धं साधुभिः परिगृहीतं भवति अतो ज्ञायते अविशोधिकोटिदोषैर्दुष्टमपि वस्त्रादिकं संछोभे कृते कल्पते । किंचान्यत् ॥

जह अप्पट्ठा कम्मं, परिभुत्तं कप्पते य इतरेसिं ।
एमेव य अम्हाणं, परिगहियं वि कप्पते इयरेसिं ॥

यथा गृहस्थेनात्मनोऽर्थायाधाकर्म कृतं तदितरेषां संयतानां परिभोक्तुं कल्पते । इत्यमुनैव ज्ञापकेनास्माकमपि स शैक्षो गृहस्थ एवेति कृत्वा तेन परिगृहीतं ममेदमिति बुद्ध्या स्वीकृतमितरदपि संयतनिर्दिष्टमपि कल्पते । इतरेषां साधूनां ये पुनराचार्या अविशोधिकोटिनिर्दिष्टं संछोभेऽपि कृते नेच्छन्ति । ते इदं कारणमुपवर्णयन्ति ॥

सहस्साणुवादिणा तेण, णिद्दिट्ठे केइ ण इच्छंति ।
अणिद्दिट्ठे पुण छोभं, वदंति परिफग्गु मंतव्वं ॥

यथा सहस्रानुपाति विषं भक्ष्यमाणं सहस्रान्तरितमपि पुरुषं मारयति । एवमाधाकर्माद्युपभुज्यमानं सहस्रान्तरितमपि साधुं संयमजीविताद् व्यपनयति न सहस्रानुपातिविषज्ञातेन केचिदाचार्याः साधुनिमित्तं निर्दिष्टे संछोभेऽपि कृते नेच्छन्ति अनिर्दिष्टे पुनः छोभं कृत्वा ददानस्य कल्पनीयं वदन्ति । एतदेव परिफल्गु निस्सारं मन्तव्यम् । कथमित्याह ॥

एवं पि सप्पइरमीसेण, परिसरग तेण फग्गुमिच्छामो ।
दुविधं पि ततो गहियं, कप्पाविरतणावउसातं ॥

यत्ते आचार्यदेशीया इति निर्दिष्टे संछोभे कृते कल्पनीयं ब्रुवते एतदपि स्वगृहपतिमिश्रेण सदृशं तेन कारणेन परिफल्गु वयमिच्छामः तदीयानि प्रायेण होतदपि स्वगृहपतिमिति कृत्वा अकल्पनीयं प्राप्नोति तच्चानिष्टं ततो द्विविधमपि निर्दिष्टानिर्दिष्टभेदाद् द्विप्रकारमपि तेन शैक्षेण संछोभकारणेनात्मीकृतमात्मीकृतं सत्कल्पते । तथा चाऽत्र रत्नाकरयो मेरुर्हीधरो ज्ञातदृष्टान्तः । तथा हि तत्र प्रक्षिप्तं तृणादिकमपि सुवर्णीभवति एवं शैक्षगृहस्थेन परिगृहीतं सर्वमपि कल्पनीयं भवति । अपि च ॥

जहडकडं चरिमाणं, पडिसिद्धं तं हि मज्झिमा गहियं, ।
पडिवएपंचजामे, कप्पति तेसिं तहायोसिं ॥

यथा चरमतीर्थवर्तिनां पञ्चयामिकानां साधूनामर्थाय किमपि वस्त्रं वा पात्रं वा कृतं तच्च तैः प्रतिषिद्धं न गृहीतं मध्यमैस्तु पार्श्वनाथतीर्थवर्तिभिश्चतुर्यामिकैस्तत्प्रतिगृहीतं ते चतुर्यामिकाः पञ्चयामधर्मप्रतिपन्नास्ततस्तद्वस्त्रादिकं तेषामन्येषामपि पञ्चयामिकानां परिभोक्तुं कल्पते । एवमत्रापि साधूनामर्थाय कृतं तैः प्रतिषिद्धं शैक्षगृहस्थेनात्मार्थकृतं तदीयमानं कल्पते ।

अथ संयोगद्वारं व्याख्याति ॥

उग्गमविसोधिकोटी, दुगादिसंजोगओ बहू वत्थं ।
पत्तगमीसिगासु य, णिद्दिट्ठा तह अणिद्दिट्ठा ॥

इहोद्गमकोटिभेदा आधाकर्ममिश्रजातादयस्तेषां द्विकादिसंयोगतो द्विकत्रिकचतुष्कादिसंयोगनिष्पन्ना बहवोऽत्र भङ्गका भवन्ति । ते च सुगमतया स्वयमभ्यूह्य मन्तव्याः । एवं विशोधिकोटिभेदानामपि क्रीतकृतादीनां द्विकादिसंयोगनिष्पन्नाः तथैव बहवो भङ्गकाः । एते च प्रत्येकं भङ्गका उच्यन्ते । एतेषामेवोद्गमकोटिभेदानां च परस्परं द्विकादिसंयोगनिष्पन्ना एवमेव बहवो भङ्गका भवन्ति । ते च मिश्रभङ्गका भण्यन्ते । सर्वेऽप्येते द्विधा निर्दिष्टा अनिर्दिष्टाश्च एतासु प्रत्येकमिश्रासु भङ्गपङ्क्तिषु कल्प्याकल्प्यविभागाः प्रागुक्तप्रकारेणावसातव्याः । अथ वक्ष्यमाणार्थसंबन्धनाय प्रस्तावनां करोति ।

वत्था व पत्ता व परे वि हुज्जा, दव्वंपि कुज्जा णिवणे सयंपि ।
णिज्जुत्तजंकं व रयोहरादि, कोई किणे कुत्तियआवणातो ॥

वस्त्राणि वा पात्राणि वा प्रायो गृहेऽपि भवेयुः । यत्तु निर्युक्तभाण्डं पात्रनिर्योगोपकरणं वाशब्दस्य व्यवहितसंबन्धतया रजोहरणादिकं वा यदन्यत्र दुर्लभमुपकरणं तत् कश्चित्पुनः बुद्धिमान् साधूनां समीपे दृष्ट्वा तदनुसारेण स्वयमपि कुर्यात् । कश्चित्तदेव कुत्रिकापणात् क्रीणीयात् । वृ० ३ उ० । (कुत्रिकापणवक्तव्यता स्वस्थान एव) अथ सप्त नियोगान् व्याचष्टे ।

तिन्नि य अप्पट्ठती, चत्तारि य पूयणारिहे देति ।
दिंतस्स य घित्तव्वो, सेहस्स विगिंचणं वावि ॥

सप्त निर्योगान् गृहीत्वा प्रव्रजतोऽयं गुणस्तेषां सप्तानां मध्यात् त्रीन् स शैक्ष आत्मनोऽर्थाय गृह्णातीत्यर्थः । चतुरश्च निर्योगान् पूजनार्हाणामाचार्योपाध्यायप्रवर्त्तिसंघाटकसाधूनां प्रयच्छति तस्य चैवं प्रयच्छतो यद्यसौ निर्योगः शुद्धस्ततो ग्रहीतव्यः । अथाशुद्धस्ततः शैक्षस्य दातव्यः । शैक्षस्याभावे 'विगिंचनं' परिष्ठापनं तस्य क्रियते । एवं तस्य त्रीन्निर्योगान् गृहीत्वा प्रव्रजितस्य यद्भवति तद्दर्शयति ।

सज्झाए पलिमंथो, पडिलेहणिया य सो हवइ खिन्नो ।
एगा व देति तहि तं, दोन्नि य से अप्पणो हुंति ॥

तस्य त्रीन्निर्योगानुभयकालं प्रत्युपेक्षमाणस्य महान् स्वाध्यायविपरिमन्थो भवति । तया च महत्या प्रत्युपेक्षतया स खिन्नः परिश्रान्तो भवति तत एवं निर्विण्णः सन् एकं निर्योगं सूरीणां ददाति प्रदत्ते च तस्मिन् तस्य द्वौ निर्योगावात्मनः सत्कायां भवतः । एवमप्यसौ द्वाभ्यां निर्योगाभ्यां नैव साधुभ्योऽन्यादृश इव दृश्यते । ततः ।

निग्गमणे बहुभंडो, कत्तो कतरो व वाणिओ एइ ।
बितियं पि देति तहिं, सा भंते दुल्लहं होज्जा ॥

मासकल्पे पूर्णे ततः क्षेत्रान्निर्गच्छतां मध्ये स एवैको बहुभण्डोबहूपकरणो दृश्यते । ततो लोकस्तमुद्दिश्य ब्रूते । अहो कुतः कतरो वा अयं वणिज एवमुपस्करसंभारितः समुपैति । एवमुपहासमाकर्ण्य स द्वितीयमपि निर्योगं गुरूणां ददाति । तत्र गुरुभिर्वक्तव्यं हेभदन्त ! आर्ये मा ते तव भूयो दुर्लभमुपकरणं भवेत् अत आत्मपार्श्वे एव तावद्धारय । स प्राह ।

भारेण खंधे च कडी य बाहा, पीलिज्जए णिस्ससए य उड्ढं ।
तेणे य ओधीणमभिद्दवेज्जा, ण एत्तिया इति ममोवजोगं ॥

मम मार्गे गच्छतो द्वयोर्महान् भारो भवति तेन स्कन्धः कटी बाहावगाढतरं पीड्यन्ते । ततश्चेत्थमूर्ध्वनिश्वासेनाकुलो भवामीत्यर्थः । स्तेनाश्च मामुपकरणमभिन्नं दृष्ट्वा उपधिकारणादभिद्रवेयुः । एतावन्ति च वस्त्रपात्राणि ममोपभोगं नायान्ति । यच्च भगवद्भिरुक्तं मा भूयो दुर्लभं भवेत् । तत्रोच्यते ॥

जं होहि ति बहुगाणं, इम्म धम्मचरणं पवत्ताणं ।
तं होहिति अम्हं पि, तुम्हेहिं समं पवन्नाणं ॥

यदि युष्माकं बहूनामस्मिन् भागवते शासने धर्मचरणं प्रपन्नानामुपकरणं भविष्यति तदस्माकमपि युष्माभिः समं हीनकमानां चारित्रं प्रपन्नानां भविष्यति एष तत्प्रथमतया प्रव्रजतो विधिरुक्तः । अथ पूर्वोपस्थितविषयं तमेवाह ॥

सट्ठो वीरणसट्टए, अब्भुट्ठाणं पुणो अजाणंते ।
कतकारितं व कीतं, जाणंते अधापरिग्गहिते ॥

यश्चारित्रं परित्यज्य गृहवासमुपगतस्तस्य कथं पुनरपि प्रव्रज्यायामभ्युत्थानसिद्धिः संजाता अत्र वीरणसट्टकदृष्टान्तो वक्तव्यः । एवं तस्य पुनरभ्युत्थानं भवति स च द्विधा जानानोऽजानानश्च यः कल्प्याकल्प्यविभागं जानाति स जानानस्तद्विपरीतोऽजानानः । अगीतार्थ इत्यर्थः (अजानन्ति) भूयः प्रव्रज्यायामभ्युत्तिष्ठमाने कृतं वा कारितं वा क्रीतं वा दानं वा तं पूर्वोक्तविधिना कल्पते यस्तु जानानस्य यथा परिगृहीतानि शुद्धान्येव ग्रहीतुं कल्पन्ते न कृतकारितादीनि । अथ वीरणसट्टकदृष्टान्तमाह ॥

जह सो वीरणसढओ, णईतीररुहो जलस्स वेगेण ।
थोवं थोवं खणता, पक्खित्तो भूमिणिहितमूलो वि ॥

यथा स कश्चिद्विपाकितो वीरणसढको वीरणानां तृणविशेषाणां स्तम्बो नद्यास्तीरे रोहति स्म जायते स्मेति नदीतीररुहो नद्याःप्रत्यासन्नतया जलस्य वेगेन स्तोकं स्तोकं खनता भूमिकानिहितमूलजालोऽप्यचिरादेव श्रोतसि प्रक्षिप्तः । ततश्च श्रोतसा प्रवाहयित्वा समुद्रं प्रापित इति भावः । एष दृष्टान्तः । अयमर्थोपनयः ।

णियमसियं दिट्ठेहिं, साधूहिं जहरिहं समणुण्णातो ।
उण्हे उण्हतरेहि य, चालिज्जति बद्धमूलो वि ॥

कश्चित्पश्चात्कृतः सिद्धपुत्रकादिवेषेण साधूनामागमनभूते क्वचिद् ग्रामे गृहवासमध्यास्य तिष्ठन् यत्तत्र मासकल्पं वर्षाकल्पं वा स्थिताः साधवो ये (वागमित्ति) तत्र गच्छन्त आगता वा द्वित्राणि दिनानि तिष्ठन्ति तैर्दृष्टैरदृष्टैश्च साधुभिर्यथार्हं यथायोग्यं समनुज्ञातः सन् उष्णैरुष्णतरैश्च वचनैरुदकवेगस्थानीयैरनेकशः प्रेर्यमाणः कलत्रादिसपरिग्रहः विस्तरेण बद्धमूलोऽपि चाल्यते । गृहवासं त्याजयित्वा संयमरूपे श्रोतसि प्रक्षिप्य गच्छरत्नाकरं प्राप्यत इति भावः ।

अथ जानानाजानानविषयविधिविभागमाह ।

कप्पाकप्पविसेसो, अणधीए जो उ संजमा चलिओ ।
पुव्वगमो तस्स भवे, जाणंते जाइ सुद्धाइ ॥

वस्त्रपात्रादिविषये कल्प्याकल्प्यविशेषे अनधीते सति यः संयमाच्चलितस्तस्य पूर्वः प्राक्तनो नाम प्रकारो भवति यथा शैक्षगृहस्थस्योक्तः । यस्तु कल्प्याकल्प्यविधिं जानाति तस्य सर्वाणि शुद्धान्येव ग्रहीतुं कल्पन्ते न क्रीतादिदोषदुष्टानि । बृ० ३ उ० ।

(११) निर्ग्रन्थ्याः प्रव्रज्यां गृह्णन्त्या उपधिः ।

(सूत्रम्) निग्गंथीए णं तप्पढमयाए संपव्वयमाणी कप्पइ रयहरणं गोच्छपडिग्गहमायाए चउहिं कसिणेहिं वत्थेहिं आयाए संपव्वइत्तए कप्पइ से अहापरिग्गहिएहिं वत्थेहिं आयाए संपव्वइत्ता ।

अस्य व्याख्या प्राग्वत् नवरं निर्ग्रन्थ्याश्चतुर्भिः प्रत्यवतारैः सहितायाः प्रव्रजितुं कल्पते इति विशेषः । अथ भाष्यम् ।

एमेव गमो णियमा, णिग्गंथीणं पि होइ नायव्वो ।
जाणंतीणं कप्पति, घेत्तुं जे आधापरिग्गहितो ॥

एष एव गमो निर्ग्रन्थीनामपि भवति ज्ञातव्यः । सा च पूर्वोपस्थिता स्यादित्यत्र सूत्रे तासां कल्प्याकल्प्यविभागं जानतीनां यानि यथापरिग्रहीतानि कल्पन्ते ग्रहीतुम् (जे) इति वाक्यालङ्कारे ।

समणीणं णाणत्तं, णिज्जोगा तासिं अप्पणो जोग्गा ।
चउरो पंच व सेसा, आयरियादीण अट्ठाए ॥

निर्ग्रन्थेभ्यः सकाशात् श्रमणीनामिदं नानात्वं विशेष उच्यते तासां प्रव्रजन्तीनामात्मनो योग्याश्चत्वारो निर्योगा भवन्ति शेषास्तु आचार्यादीनामर्थाय चत्वारो वा पञ्च वा । तत्र यदा चत्वारस्तदा एकमाचार्यस्य द्वितीयं प्रवर्तिन्यास्तृतीयं गणावच्छेदिन्याः चतुर्थं संघाटकसाध्व्याः प्रयच्छति । यदा पञ्च तदा तथैवाचार्यादीनां पञ्चमः पुनरुपाध्यायस्य योग्य इति चूर्णिकाभिप्रायः । बृहद्भाष्यकारः पुनराह । चत्तारि अप्पणो से, चउरं पंच बहव सेसगा हुंति । आयरिओवज्झाए, पवत्तिणीभिसे य संघाडे ॥ पंचेए अभिओगा अभिओगा वज्जहुंति चत्तारित्ति" ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(१३) रात्रौ विकाले चोपधिग्रहणम् ।

(सूत्रम्)नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा वियाले वा वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा पडिग्गहित्तए

अथास्य सूत्रस्य कः संबन्ध इत्याह ।

जह सेज्जाणाहारो, वत्थादेसे व साययसंगादि ।
ये दिट्ठवत्थग्गहणं, कुज्जा उ निसि अतो सुत्तं ॥

यथा शय्यां वसतिं, कृत्वा रात्रौ ग्रहीतुं कल्पते एवमेव वस्त्रादिकमपि कल्पयिष्यते इत्यतिप्रसङ्गाद्दिवादृष्टस्य वस्त्रस्य निशि रात्रौ ग्रहणं मा कुर्यादित्यत इदं सूत्रमारभ्यते इत्यनेन संबन्धेनायातस्यास्य व्याख्या नो कल्पते निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां वा रात्रौ वा विकाले वा वस्त्रं वा प्रतिग्रहं वा कम्बलं वा पादप्रोञ्छनं वा प्रतिग्रहीतुमिति सूत्राक्षरगमनिका ।

अथ भाष्यविस्तरः

रत्तो वत्थग्गहणे, चउरो मासा हवंति उग्घाया ।
आणाइणो य दोसा, आवज्जणसंकणा जाव ॥

रात्रौ वस्त्रग्रहणे मासा उद्घाताः प्रायश्चित्तम् आज्ञादयश्च दोषाः । तथा रात्रौ भक्तग्रहणेऽपि तथैव वक्तव्याः ।

विइयं विही।विवित्ता, पडिसत्थाई समित्त रयणाए ।
ते य पराचिय सत्था, वच्चिहिंति तु जए व एको वा ॥

द्वितीयपदमत्रोच्यते (विहित्ति) अध्वनि विविक्ता मुषिताः सन्तः प्रतिसार्थादिकं समेत्य प्राप्य रजन्यामपि वस्त्रप्रतिग्रहादिकं गृह्णन्ति तत्रापि कथमित्याह तावुभावपि सार्थौ प्रागेव प्रातरेवानुकूलसूर्ये चलिष्यतः एको वा अन्यतरः सार्थप्रतिसार्थयोर्मध्ये चलिष्यतीति मत्वा रात्रावपि ग्रहणं कुर्वन्ति । अत एवोत्सर्गपदे अध्वा गन्तुमेव न कल्प्यते यत्रैते दोषा उत्पद्यन्ते तथा चाह ।

उदरेसु भिक्खु अद्धाए, पव्वज्जणं तु दप्पेण ।
लहुगा पुण सुद्धपदे, जं वा आवज्जई जत्थ ॥

व्याख्यातार्था द्वितीयपदमाह ।

नाणट्ठदंसणट्ठा, चरित्तट्ठा एवमाइ गंतव्वं ।
उवगरणपुव्वपडिले–हिएण सत्थेण गंतव्वं ॥

इयमपि गतार्था ।

सत्थे वि वत्थमाणे, असंजए संजए य तदुभए ।
मग्गंते जयणाणं, छिन्नं पि हु कप्पई घेत्तुं ॥

ज्ञानाद्यर्थमध्वानं प्रतिपन्नानामपान्तराले चतुर्विधाः स्तेना भवेयुः एके असंयतप्रान्ताः १ अन्ये संयतप्रान्ताः २ अपरे तदुभयप्रान्ताः ३ अन्ये तदुभयभद्रकाः ४ तत्रासंयतप्रान्तैः स्तेनैः सार्धं विद्यमाने मनुष्यगणे त एव साधूनां पार्श्वाद्वस्त्राणि मार्गयन्ति यतनया दानं कर्तव्यं प्रत्यर्प्यमाणं च छिन्नमपि तदेव वस्त्रं ग्रहीतुं कल्पते नान्यदिति संग्रहगाथासमासार्थः । अथैनामेव विवरीषुराह ॥

संजयभद्दा गिहिभद्दगा य, पंतोभये उभयभद्दा य ।
तेणा होंति चउद्धा, विगिंचणा सुव्वजईणं ॥

एके स्तेनाः संयतभद्रकाः परं गृहस्थप्रान्ताः एके गृहस्थभद्रकाः परं संयतप्रान्ताः अन्ये उभयेषामपि प्रान्ताः अपरे उभयेषामपि भद्रकाः एवं स्तेनाश्चतुर्विधा भवन्ति । अत्र च द्वितीयतृतीययोर्द्वयोर्भङ्गयोर्यतीनां विवेचनं वस्त्रेभ्यः पृथक्करणं भवति । अथ यत्र संयता न विविक्तास्तत्र विधिमाह ।

जइ देंति जाइयाजा–इया य न वि देंति लहुगगुरुगा य ।
सागरदाणं गमणं, गहणं तस्सेव वत्थस्स ॥

साधवो यद्ययाचिताः सन्तो वस्त्राणि गृहिणां प्रयच्छन्ति तदा चतुर्लघु । अथ याचिताः सन्तो न प्रयच्छन्ति तदा चत्वारो गुरवः । अतः सागारिकं प्रातिहारिकं भणित्वा प्रयच्छन्ति यथा भवद्भिः प्रत्यर्पणीयमिदमस्माकं यद्यर्वाग् वर्तमाना गृहं वा गता अन्यद्वस्त्रं लभध्वे गमनं नाम येषां गृहस्थानां तद्वस्त्रं प्रदत्तं ते यद्यनेन पथा गच्छन्ति ततः साधुभिरपि तेनैव गन्तव्यं यद्यन्येन व्रजन्ति ततश्चतुर्लघु यदा ते अध्वनो निर्गता भवन्ति तदा छिन्नस्यापि तस्यैव वस्त्रस्य ग्रहणं कर्त्तव्यं नान्यस्य । ततः पुनर्वस्त्रं कीदृशं दातव्यमित्याह ।

दंडपरिहारवज्जं, चोलपट्टदलपत्तबंधवज्जं च ।
परिजुण्णाणं दाणं, उड्डाहपओसपरिहरणा ॥

महती जीर्णकम्बलिका दण्डपरिहार उच्यते तद्वर्जं चोलपट्टपडलकपात्रबन्धवर्ज्यानि यानि शेषाणि परिजीर्णवस्त्राणि तेषामुड्डाहप्रद्वेषपरिहरणार्थं दानं कर्त्तव्यम् । उड्डाहो नाम अहो अमीषामनुकम्पा ये विविक्तानामप्यस्माकं चीवराणि न प्रयच्छन्ति प्रद्वेषो नामाप्रीतिकं तद्वशात्तेषां तापनादयो दोषास्तत्परिहरणार्थं दातव्यम् (छिन्नंपित्ति) योऽयमपि शब्दस्तत्सूचितमेवमपरमाह ।

धोवस्स व रत्तस्स व, गहणं गिण्हम्मि चउलहुगा ।
तं चेव घेत्तुं धोउं, परिभुंजे जुण्णमुब्भेज्जा ॥

यदि तैर्गृहस्थैस्तद्वस्त्रं धौतं वा रक्तं वा तथाऽपि तस्यैव ग्रहणं कर्त्तव्यम् । अथ साधुप्रायोग्यं न कृतमिति मत्वा न गृह्णन्ति अन्यस्य वा ग्रहणं कुर्वन्ति तदा चतुर्लघुकः । अतस्तदेव वस्त्रं गृहीत्वा क्षारादिना धावित्वा साधुप्रयोग्यं कृत्वा परिभुञ्जते । अथातीवजीर्णं तत उज्झेयुः परिष्ठापयेयुरित्यर्थः । गतः प्रथमो भङ्गः । अथ गृहस्थभद्रकाः संयतप्रान्ता इति द्वितीयो भङ्गो भाव्यते तत्र भूयश्चतुर्भङ्गी संयत्यो विविक्ता न संयताः १ संयता विविक्ता न संयत्यः २ संयत्यो विविक्ताः संयता अपि विविक्ताः ३ न संयत्यो नापि संयता विविक्ताः ४ अत्र विधिमभिधित्सुराह ।

सट्ठाणे अणुकंपा, संजयपडिहारिए निसिद्धो य ।
असई अतदुभये वा, जयणा पडिसत्थमाईसु ॥

यत्र संयता गृहिणश्च विविक्ता न संयत्यस्तत्र संयतीनां सुस्थाने साधवः तत्रानुकम्पां कर्त्तव्याः । साधूनां वस्त्रं दातव्यमित्यर्थः । साधुभिरपि तत्प्रातिहारिकं ग्राह्यम् । यत्र संयत्यो गृहस्थाश्च मुषिता न संयतास्तत्र साधूनां संयत्यः स्वस्थाने तासां वस्त्रदानेनानुकम्पां कर्त्तव्याः तच्च निसृष्टं निजं दातव्यं न प्रातिहारिकं ग्राह्यम (असईत्ति) अथात्मनोऽप्याधिकमुपकरणं नास्ति ततः प्रातिहारिकमपि दातव्यं तदुभयं साधुसाध्वीवर्गः तस्य विविक्तस्य वस्त्राभावे प्रतिसार्थादिषु यतना वस्त्रान्वेषणविषया कर्त्तव्येति संग्रहगाथासमासार्थः ।

अथैनामेव विवृणोति ।

न विवित्ता जत्थ मुणी, समणी य गिहा जत्थ अदुट्ठा ।
सट्ठाणाणुकंप तहिं, समणुत्तियरा स वि तहेव ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यत्र मुनयो न विविक्ताः श्रमण्यश्च गृहिणश्च यत्र (उच्छूढत्ति) मुषिताः तत्र स्वस्थाने संयतीवर्गे अनुकम्पा कर्त्तव्या । ताश्च संयत्यो द्विविधाः संविग्ना असंविग्नाश्च यदि वस्त्राणि सन्ति ततः सर्वासामपि दातव्यानि अथ न सन्ति तावन्ति वस्त्राणि ततः संविग्नसंयतीनां देयानि ता अपि द्विविधाः समनोज्ञाः सांभोगिन्य इतराश्चासांभोगिन्यः । यदि पूर्यन्ते ततो द्वयोरपि वर्गयोस्तथैव दातव्यानि । अथ न पूर्यन्ते ततः स्वस्थाने दातव्यानि समनोज्ञानामित्यर्थः अपिशब्दात् या धृतिदुर्बलास्ताः संविग्नाः असंविग्ना वा स्थविरास्तरुण्यो वा भवन्तु नियमात्तासां दातव्यम्। यत्र साधवो विविक्तास्तत्रेयं यतना ॥

लिंगट्ठभिक्खसीए, गिण्हंति पडिहारियमेएसु ।
अमणुन्नियरगिहिसुं, जं लद्धं तंनिजं देंति ॥

लिङ्गार्थं तावदवश्यं रजोहरणमुखवस्त्रिके गृहीतव्ये भिक्षार्थं तु पात्रकबन्धपटलकादि शीतत्राणार्थं तु प्रावरणादि एतत्सर्वमपि प्रातिहारिकमेतेषु गृह्णन्ति । तद्यथा अमनोज्ञा असांभोगिका इतरे पार्श्वस्थादयो गृहिणः प्रतीताः । अथैषु न प्राप्यते ततः संयतीनामपि हस्तात्प्रातिहारिकं ग्राह्यं तत्रचोलपट्टकादिकं यदा लब्धं भवति तदा तन्निजं तत्सदृशं प्रातिहारिकं ददति प्रत्यर्पयन्ति । इह द्वितीयभङ्गे व्याख्यायमाने प्रथमतृतीयचतुर्थभङ्गा अपि लेशतः स्पृष्टा अवगन्तव्याः । गतो द्वितीयभङ्गः । अथ तृतीयं भङ्गं व्याख्यानयति ॥

उच्छूढ वि तदुभये, सपक्खपरपक्खतदुभयं होइ ।
अहवा वि समणसमणी, समणुन्नियरेसु एमेव ॥

तदुभये वा उच्छूढे मुषिते सत्येवमेव यतना ज्ञातव्या । अथ तदुभयमिति किमुच्यते इत्याह । स्वपक्षाः संयताः परपक्षा गृहस्थाः । अथवा तदुभयं नाम श्रमणाः श्रमण्यश्च । यद्वा तदुभयं समनोज्ञा अमनोज्ञाश्च । यदि वा संविग्ना असंविग्नाश्चेति तदुभयम् तत्र मुषिते सति विधिमाह ॥

अमणुन्नेतरगिहिसं-जईसु असइ पडिसत्थपल्लीसु ।
तिण्हट्ठाए गहणं, पडिहारिय एतरे चेव ॥

अमनोज्ञा असांभोगिका इतरे पार्श्वस्थादयो गृहिणः संयत्यश्च प्रतीताः एतेषु विविक्ततया वस्त्राभावे प्रतिसार्थे वा पल्ल्यां वा पञ्चकपरिहाण्या मार्गयितव्यम् । संयतीनां तु नास्ति पञ्चकपरिहाणिर्यदेव लभ्यते तदेव गृहीत्वा गात्राच्छादनं ताभिः कर्त्तव्यं तच्च वस्त्रं त्रयाणां लिङ्गभिक्षाशीतत्राणानामर्थाय प्रातिहारिकं वा इतरद्वा निसृष्टं ग्राह्यम् ।

एवं तु दिया गहणं, अहवा रत्तिं मिलेज्ज पडिसत्थो ।
गीएसु रत्तिगहणं, मीसेसु इमा तहिं जयणा ॥

एवं दिवा ग्रहणमभिहितम् । अथवा रात्रौ प्रतिसार्थो मिलेत् तत्र च यदि सर्वेऽपि गीतार्थास्ततो रात्रावेव गृह्णन्ति अगीतार्थमिश्रास्ततस्तेषु मिश्रेष्वियं यतना । तामेवाह ।

वत्थेण व पाएण व, णिमंतए व अत्थमिए ।
आइच्चे उदिते य, गहणं गीयत्थसंविग्गे ॥

प्रतिसार्थे कश्चिच्छ्राद्धश्राद्धादिरनुद्गते वा अस्तमिते वा सूर्ये वस्त्रेण वा पात्रेण वा निमन्त्रयेत् तत्र यदि सार्थो रात्रावेव चलितुकामस्तदा गीतार्था गुरूनालोचयन्ति उदिते सूर्ये वस्त्रग्रहणं कृत्वा समायाताः एवं गीतार्थाः संविग्ना गृह्णन्ति । अथ प्रतिसार्थे पल्ल्यां वा लभ्यते न च सार्थादिकं दृश्यते ततः किमित्याह ।

खंडे पत्ते तह द-ब्भचीवरे तह य हत्थपिहणं तु ।
अद्धाणे विवित्ताणं, आगाढं सेसणागाढं ॥

चर्मखण्डानि संयतीनां परिधानाय दातव्यानि । तदभावे शाकादिपत्राणि तदप्राप्तौ दर्भचीवरं घनं ग्रन्थयित्वा समर्प्पयन्ति सर्वथा परिधानाभावे हस्तेनापि गुह्यदेशस्य पिधानं कर्त्तव्यम् । एवमध्वनि विविक्तानामागाढं कारणं मन्तव्यं शेषं तु सर्वमप्युपकरणाभावे अनागाढम् ।

असंजई य निग्गया खुड्ड-गाइ पेसंति चउसु वग्गेसु ।
अप्पाहिं निवगारं, साहुं च वियारमाइगयं ॥

प्रतिसार्थपल्ल्यादौ वस्त्राणामभावेऽप्राप्तौ अध्वनो निर्गता उद्यानं प्राप्ताः सन्तः क्षुल्लिकादिविवर्जितं ग्रामं नगरं वा चत्वारः संयतसंयतीश्रावकश्राविकालक्षणा ये वर्गास्तेषु तेषां समीपे प्रेषयन्ति । यद्वा सांभोगिकाः संयता इत्येको वर्गः अन्यसांभोगिका इति द्वितीयः । सांभोगिकाः संयत्य इति तृतीयः अन्यसांभोगिका इति चतुर्थः । एतेषां वा समीपे प्रेषयन्ति । अथ नास्ति क्षुल्लकः क्षुल्लिका वा ततो यस्ततो ग्रामान्नगराद्वा अगारो गृहस्थः समायातः यो वा साधुर्विचारभूम्यादावागतस्तम् (अप्पाहिंति) संदिशन्ति यथा साधुसाध्वीप्रभृतीनां सांभोगिकसंयतादीनां वा भवता कथयितव्यं साधवः साध्व्यश्च बहिरुद्याने स्थिताः सन्ति ते चाध्वनि स्तेनैर्विविक्ताः अतस्तेषां योग्यानि चीवराणि प्रेषणीयानि । अत्र चायं विधिः संयतैः संयतानां वस्त्राणि दातव्यानि । संयतीनां तु संयतीभिः । अथ तत्र संयताः संयत्यो वा न सन्ति तदा श्रावकाः श्राविका वा प्रयच्छन्ति । यत्र तु संयत्यः संयता वा संयतीनां प्रयच्छन्ति तत्र विधिमाह ।

खुड्डी थेराणप्पे, आलोगितरी ठवित्तु पविसंति ।
ते वि य घेत्तुमइगया, समणुन्न जढे जयंते व ॥

क्षुल्लिका उद्यानं गत्वा स्थविरसाधूनां वस्त्राण्यर्पयन्ति । अथ न सन्ति क्षुल्लिकाः तत इतरा मध्यमास्तरुण्यो वा गत्वा स्थविराणामालोके स्थापयित्वा भूयोऽपि ग्रामं प्रविशन्ति । यत्र संयतेन संयतीनां दातव्यं तत्र क्षुल्लकाः स्थविरसाध्वीनामर्पयन्ति क्षुल्लकाभावे शेषा अपि साधवः स्थविराया आलोके स्थापयन्ति तेऽपि च संयताः संयतीदत्तानि वस्त्राणि गृहीत्वा प्रावृत्य नगरमनिर्गताः प्रविष्टाः सन्त आत्मयोग्यमुपकरणमुत्पाद्य संयतीसत्कवस्त्राणि प्रत्यर्पयन्ति एवं मनोज्ञेषु विधिरुक्तः (समणुन्नजढे जयंते वत्ति) यत्र ते मनोज्ञाः सांभोगिका न भवन्ति तत्रैवं वक्ष्यमाणनीत्या यतन्ते ॥

अद्धाण निग्गयाई, संविग्गा सन्निपुव्विह असाणी ।
संजई एसणमाई, असंविग्गा दोन्नि वा वग्गा ॥

अध्वनो निर्गता यत्र ग्रामादौ प्राप्तास्तत्रेमे भवेयुः संविग्नविहारिणः अनेनेहान्यसांभोगिका गृह्यन्ते । संज्ञिनः श्रमणास्ते द्विविधाः संविग्नभाविता असंविग्नभाविताश्च । संविग्नोऽपि द्विधा आभिग्रहिकमिथ्यादृष्टिभेदात् (संजई इत्ति) अमनोज्ञसंयताः संविग्नानामपि द्वौ वर्गौ तद्यथा साधुवर्गः साध्वीवर्गश्च । अत्र विधिरुच्यते (एसणमाईत्ति) संज्ञिप्रभृतिषु शुद्धं वस्त्रमप्राप्नुवन्तः पञ्चकपरिहाणिक्रमेणैषणादोषेषु यतन्त इति ।

अथैतदेव सविस्तरं व्याख्यानयति ॥

संविग्गतरं भाविय, सन्नीमिच्छा उ गाढणागाढे ।
असंविग्गभिग्गाहरणं, पाउंजेसुं विसं हीला ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संज्ञिनो द्विविधाः संविग्नभाविता इतरभाविताश्च मिथ्यादृष्टयोऽपि द्विविधाः आगाढा अनागाढाश्च । तत्र प्रथमं संविग्नभावितेषु संज्ञिषु तदप्राप्तावनागाढमिथ्यादृष्टिषु शुद्धं वस्त्रमन्वेषणीयम् । असंविग्नभावितेषु आगाढमिथ्यादृष्टिषु च न गृह्णन्ति कुत इत्याह। असंविग्नभाविता मृगाहरणं लुब्धदृष्टान्तं चेतसि प्रणिधानसाधूनामकल्प्यं प्रयच्छन्ति ये त्वाभिग्रहिका मिथ्यादृष्टयस्ते साधुद्वेषानप्रद्विषतो विषं प्रयुञ्जीरन् हीलां वा कुर्युः अहो अदत्तादाना अमी वराका इत्थं विनश्यन्ति इत्यादि । अथ नागाढमिथ्यादृष्टिषु शुद्धं न प्राप्यते ततः किं विधेयमित्याह ॥

असंविग्गभाविएसुं, अगाढेसुं जयंति पणगादी ।
उवएसो संघाडग, पुव्वगहियं च अवसेसं ॥

असंविग्नभावितेषु उद्गमादिदोषशुद्धं यद्वस्त्रं तद्ग्रहीतव्यं तदभावे अगाढमिथ्यादृष्टिष्वपि यद्यात्मप्रवचनोपघातो न स्यात् अथ तेष्वपि शुद्धं न प्राप्यते ततः संविग्नभावितादिष्वेव पञ्चकादिपरिहाण्या तावत् यतन्ते यावद्भिन्नमासं प्राप्ता भवन्ति ततोऽन्यसांभोगिकैर्येषु कुरुते तेषु दत्तोपदेशेषु याचितव्यं तथाऽप्यप्राप्तौ तेषां संघाटकेन एवमप्यलाभे तेषामेव यत् पूर्वं गृहीतं वस्त्रादि तद् ग्रहीतव्यम् । अमुमेवार्थं विधिविशेषज्ञापनाय पुनरप्याह ॥

उवएसो संघाडग, तेसिं अट्ठाए पुव्वगहियं तु ।
अभिनव पुराणसुद्धं, उत्तरमूले सयं वावि ॥

अन्यसांभोगिकोपदेशेन प्रथमतः पर्यटन्ति ततस्तदीयसंघाटकेन तथाऽप्यप्राप्ता तेषामर्थायान्यसांभोगिकाः पर्यटन्ति तथाऽपि यदि न लभ्यते ततस्तेषामेव यत्पूर्वगृहीतवस्त्रं तद्ग्रहीतव्यं तच्चाभिनवं वा स्यात् पुराणं वा । पूर्वमभिनवं पश्चात्पुराणमपि गृह्यते तदपि यदुत्तरगुणमूलगुणशुद्धं तत उपादेयं नान्यथा अथापि न प्राप्यते ततो यः कृतकरणो भवति तं तच्च एवमेव वक्तव्यम् एतच्च यथाऽवसरमुत्तरत्र भावयिष्यते तदेवमन्यसांभोगिकानामपि पूर्वं गृहीतं यदा न प्राप्यते तदा मासलघुकादारभ्य तावद्यतन्ते यावच्चतुर्लघुकं प्राप्ताः ततः किं कर्तव्यमित्याह ।

उवएसो संघाडग, पुव्व गहियं न नियमाईणं ।
अभिनव पुराणसुद्धं-पुव्वमजुत्तं पि परिजुत्तं ।

चतुर्लघुप्राप्तमित्यववासिपार्श्वस्थादीनामुपदेशेन वस्त्रमुत्पादयन्ति तदभावे तेषामेव संघाटकेन तथाऽप्यलाभे यत्तेषां पूर्वगृहीतं मूलोत्तरगुणशुद्धम् अभिनवमपरिभुक्तं तत्प्रथमतो ग्रहीतव्यं ततः परिभुक्तमपि तदप्राप्तौ पुराणमपि मूलोत्तरगुणशुद्धमपरिभुक्तं ततः परिभुक्तमपि ग्राह्यम् । इह निशीथचूर्ण्यभिप्रायेणास्यैव कल्पस्य विशेषचूर्ण्यभिप्रायेण वाऽन्यसांभोगिकात् यावन्नास्ति पञ्चकपरिहाणिः किं तु ततः ऊर्ध्वं पञ्चकहान्या यतित्वा यदा मासलघुप्राप्तास्तदा पार्श्वस्थादीनामुपदेशानिमान् गृह्णन्तीति द्वयोश्चूर्ण्योरभिप्रायः परमेतच्चूर्णिकृता भिन्नमासप्राप्तान्यसांभोगिकानां चतुर्लघु प्राप्तास्तत्पार्श्वस्थादीनामुपदेशादिना वस्त्रग्रहणे यतन्ते इति प्रतिपादितमतस्तद्गुरोधेनास्माभिरपि तथैव व्याख्यातमित्यवगन्तव्यम् ।

यथोक्तमप्यर्थं विशेषज्ञापनार्थं भूयोऽप्याह ।

उत्तरमूले सुद्धे, नवे पुराणे चउक्कभयणेवं ।
परिकम्मण परिभोगे, न होंति दोसा अभिनवम्मि ॥

मूलगुणशुद्धमप्युत्तरगुणशुद्धम् १ न मूलगुणशुद्धमुत्तरगुणशुद्धमपि २ मूलगुणशुद्धं नोत्तरगुणशुद्धम् ३ न मूलगुणशुद्धं नोत्तरगुणशुद्धं ४ एतेषु चतुर्षु भङ्गेषु प्रत्येकं नवपुराणपदविषयं यद्भङ्गचतुष्कं तस्य भजना सा च यथाक्रममेवं कर्तव्या यत्तावन्मूलोत्तरगुणविशुद्धं तत्प्रथमतो नवमपरिभुक्तं ग्रहीतव्यं तदभावे नवं परिभुक्तं तदभावे पुराणं परिभुक्तमेवं द्वितीयतृतीयचतुर्थेष्वपि भङ्गेषु चत्वारश्चत्वारो विकल्पाः यथाक्रमं चैते आसेवितव्याः कुत इत्याह । परिकर्मणा दोषा अविधिसीवनादयः परिदोषाश्च मलिनीभूतप्रक्षालितसुगन्धिगन्धभावितत्वादयोऽभिनवे अपरिभुक्ते च वस्त्रे न भवन्ति । अथ पार्श्वस्थादिष्वपि न प्राप्यते ततोऽमनोज्ञसंयतीनामप्युपदेशेन गृह्णन्ति एवां वा अर्थाय ताः पर्यटन्ति पूर्वगृहीतं वा तासां ग्रहीतव्यं तदभावे असंविग्नसंयतीनामप्युपदेशादिना गृह्णन्ति ।

अथैवमपि न प्राप्यते ततः किं कर्तव्यमित्याह ।

असई य लिंगकरणं, पन्नवणट्ठा सयं च गहणट्ठा ।
आगाढे कारणम्मि, जहेव हंसाइणो गहणं ॥

एवमप्यसत्यलभ्यमाने शाक्यादिवेषेण तदीयोपासकानां यतिभ्यो वस्त्रदापनाय प्रज्ञापनार्थं स्वयं वा ग्रहणं वस्त्रस्योत्पादनं कर्तव्यं किं बहुना ईदृशे आगाढे कारणे यथैव हंसतैलादेरननुज्ञापितस्यापि ग्रहणं दृष्टं तथैव वस्त्रस्यापि तथाऽप्यलाभे सूत्रं मार्गयित्वा अन्यैर्वाययति तदभावे स्वयमेवाल्पसागारिके वयति अथ सूत्रं न लभ्यते । ततः को विधिरित्याह ।

सेडयरुए पिंजियए, पेलुग्गहणे य लहुगदप्पेणं ।
भवकाले हि विसिट्ठा, करेण अकमेण ते चेव ॥

सेरुगो नाम कर्पासः स एव लोडितः सन् बीजरहितो रुतं तदेव रुतं पिञ्जनिकया ताडितं पिञ्जितं तदेव पूणिकया वहितं पेलुरिति भण्यते । एतेषां यदि दर्पेण ग्रहणं करोति तदा चत्वारो लघुकाः तपःकालाभ्यां विशिष्टास्तत्र सेरुके उभयगुरुकाः रुते तपोगुरुकाः पिञ्जिते कालगुरुकाः पेलुके द्वाभ्यां लघुकाः कारणे पुनः प्रथमपेलुकं पश्चात् पिञ्जितं ततो रुतं ततः सेरुकमपि गृह्णाति । अथाक्रमेण गृह्णाति ततस्त एव चत्वारो लघुकाः सेरुकं च त्रिवर्षातीतं विध्वयोनिकमवग्रहीतुं कल्पते न सचित्तम् ।

कडयोगि एकओ वा, असईए नालवद्धसहिओ वा ।
मिच्छाए उवगरणं, उभओ पक्खस्स पाउग्गं ॥

कृतयोगी नाम यो गृहवासे कर्त्तनं कृतवान् स गच्छस्य वस्त्राभावे एकको वा नालबद्धसंयतीसहितो वा विजने भूभागे कर्त्तनं वयनं च कृत्वा उभयपक्षस्य संयतसंयतीलक्षणस्य प्रायोग्यमुपकरणं परिभुञ्जते ततः किमित्याह ।

अगीयत्थेसु गिंचे, जहलाभं सुलभवहिंवेत्ते ।
सुपरिच्छत्तं उ वहंति, अन्नाने तं चेव धारेंति ॥

यद्यगीतार्थास्ततस्तेषु सुलभोपधिकेषु गताः सन्तो यथालाभं यद्वस्त्रं लभन्ते तत्सदृशमपरं स्यूतवस्त्रं विवेचयन्ति परिष्ठापयन्तीत्यर्थः । अगीतार्थप्रत्ययनिमित्तं च यथालघुप्रायश्चित्तं वहन्ति । अथापरं न लभ्यते ततस्तदेव स्वयं स्यूतं वस्त्रं धारयन्ति । अथ सर्वेऽपि गीतार्थास्ततोऽपरस्य लाभे प्राकृतं परित्यजन्ति वा न वा न कोऽपि नियमः । अथ "गणनिग्गयाई" इत्यत्र योऽयमादिशब्दस्तस्य फलमुपदर्शयन्नाह ।

एमेव य वासिमासम्मि वि, जामियओ महियवूढपरिजुन्ने ।
पुव्वुट्ठिए व सत्थे, मम इत्थं जए वावि ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न केवलमध्वनि विविक्तानामेष विधिः किन्तु ग्रामादौ वसिमे पथि वसतां यत्रोपधिरग्निकायेन ध्मापितो दग्धः अवमौदर्ये वा विक्रीतः चौरैर्वा हृतः वर्षासु वा पानीयपूरेण वा व्यूढपरिजीर्णो वा पुराणतया दुर्बलीभूतो विवक्षितं कार्यं कर्तुमसमर्थः तत्राप्येषमेवानन्तरोक्तो विधिर्मन्तव्यः । अत्र चापरो विशेष उपदर्श्यते यत्र ग्रामे साधवः स्थिताः सन्ति तत्र सार्थः कश्चिदागतः स च आदित्योदयात्पूर्वमेवोत्थितः उच्चलितुमारब्धो वर्त्तते यत्र च गतस्य तस्य रविरुदेष्यति तत्र गच्छता अपान्तराले च स्तेनादिभयं स्तेनैर्वा साधवो दग्धाद्युपधयस्तं सार्थं नक्तं रात्रौ प्रायः प्राग्ये प्रभाते अनुद्गते एव सूर्ये अग्रतश्चलितुकामाः अतो रात्रावेव यथोक्तनीत्या वस्त्रादि गृह्णीयुः ।

(सूत्रम्) अन्नत्थ एगा य हरिया हडिया एसा विय परिजुत्ता वा धन्ना वा मट्ठा वा संपधूमिया वा ॥

अस्य संबन्धमाह ।

सुत्तेण चेव जोगो, हरियाहडि कप्पए निसि घित्तुं ।

हरिऊण य आहडिया, बूढा हरिएसु वा हडु ।

सूत्रेणैव सूत्रस्य योगः संबन्धोऽस्ति अनन्तरसूत्रे रात्रौ वस्त्रादिकं ग्रहीतुं कल्पते इत्युक्तम् । अत्र तु या व्याहृता हृतिका सा निशि रात्रौ ग्रहीतुं कल्पते इति प्रतिपाद्यते अनेन संबन्धेनायातस्यास्य व्याख्या । न कल्पते रात्रौ वस्त्रं ग्रहीतुमिति प्रतिषेधोऽन्यत्रैकस्या हृताहृतिकाया हरिताहृतिकाया वा तत्र पूर्वं हृतं पश्चादाहृतमानीतं वस्त्रं हृताहृतं तदेव हृताहृतिका स्वार्थे क प्रत्ययः । अनिवर्तन्ते स्वार्थिकप्रत्ययप्रकृतिलिङ्गवचनानीति वचनादत्र रूढितः स्त्रीलिङ्गनिर्देशः । एवं हरितेषु वनस्पतिषु आहृतं हरिताहृतं वस्त्रं तदेव हरिताहृतिका साऽपि च परिभुक्ता परिधानादौ व्यापारिता धौता अप्कायेन प्रक्षालिता रक्ता विचित्रवर्णकैरुपरञ्जिता घृष्टा घट्टकादिना घट्टिता मृष्टा सुकुमारीकृता संप्रधूमिता धूपद्रव्येण समं ततः प्रकर्षेण धूपिता वाशब्दः सर्वोऽपि विकल्पार्थः । एवंविधाऽपि सा स्वीकर्त्तव्या पुनरसाधुप्रायोग्या कृतेति कृत्वा परिहर्त्तव्येति सूत्रार्थः । अथ भाष्यम् । "हरिऊण य" इत्यादि पश्चार्द्धं स्तेनैः पूर्वं हृता पश्चात्क्रमागतमानीतं तदेव हृताहृतिकेत्युच्यते । यद्वा हृतेषु प्रक्षिप्ता या सा हरिताहृतिका । सा पुनः कथं भवतीत्याह ।

अद्धाणमणद्धाणे, व विवित्ताणं तु होज्ज आहडिया ।

अविहम्मि संति खेये, विहम्मगच्छे सइ गुणेसु ॥

अध्वनि अनध्वनि वा विविक्तानां हृताहृतिकाः संभवन्ति तत्र (अविहे) अनध्वनि मासकल्पेन विहरन्तो क्षेमं निरुपद्रवमादौ च सति सत्सु विद्यमानेषु ज्ञानादिगुणेषु विहमध्वानं न गच्छेत् न प्रविशेत् । तथा चाह ।

उद्धद्धरेसु भिक्खे, अद्धाणपवत्तणं तु दप्पेण ।

लहुगा पुण सुद्धपए, जं वा आवज्जई जत्थ ॥

नाणट्ठदंसणट्ठा, चरित्तट्ठा एवमाइ गंतव्वं ।

उवगरणपुव्वपडिले-हिएण सत्थेण गंतव्वं ॥

गाथाद्वयमपि प्राग् व्याख्यातम् । तत्राध्वनि प्रविशतां विधिमाह

अद्धाण पविसमाणा, गुरुं पवाइंति ते गता पुरतो ।

अह तत्थ पवाईंत, चाउम्मासा भवे गुरुगा ॥

अध्वानं प्रविशन्तः प्रथममेव गुरुमाचार्यं प्रवादयन्ति गुरुप्रवादमुत्थापयन्तीत्यर्थः । तथा ते अस्माकमाचार्याः पुरतः पूर्वमेवान्येन सार्थेन सह गताः अत एव वयं त्वरामहे कथं नाम तेषां समीपं क्षिप्रमेव प्राप्नुयामः । अथ तत्राध्वनि प्रविशन्त एवं न प्रवादयन्ति ततश्चतुर्मासा गुरुकाः प्रायश्चित्तम् ।

गुरुनारक्खणहेउं, तम्हा थेरो उ गणधरो होइ ।

विहरइ य गणाहिवई, अद्धाणे होइ भिक्खुस्स ।

गणधराकारधारकः क्रियत इत्यर्थः । यस्तु गणाधिपतिः सोऽध्वनि मार्गे स्वयं भिक्षुभावेन सामान्यसाधुवेषेण विरहति कुत इति चेदुच्यते कदाचिदध्वनि साधवः स्तेनकैर्विविक्ताः क्रियेरन् ततस्ते स्तेनकाश्चिन्तयेयुः ।

हयनायगा न काहिंति, उत्तरं राउले गणे वावि ।

अम्हं आहिवइस्स व, नायगमित्ताइएहिं वा ॥

हतो नायक आचार्यो येषां ते हतनायकास्तथाभूताः सन्तः ते राजकुले वा गणे वा गत्वा न किमप्युत्तरमुपकरणापहार प्रत्यात्मकं करिष्यन्ति अस्वामिकतया निराशीभूतत्वात् । तथाऽस्माकं योऽधिपतिस्तस्य वा तदीया वा ये ज्ञातकाः स्वजना यानि मित्राणि तत्प्रति नाम तेषामन्तिके गतास्तैः पृष्टाः सन्तो न किमप्युत्तरं प्रदास्यन्ति आचार्यस्यैव तदानीमभावेनाप्रगल्भत्वादिति भावः । तस्मादाचार्यमेवोपद्रावयाम इति विचिन्त्य तथैव कुर्युः ततो यथोक्तनीत्या गुरवः प्रवादयितव्याः ततः स्तेनाः चतुर्विधाः ।

संजयपंता य तहा, गिहिभद्दा चेव साहुभद्दा य ।

तदुभयभद्दा पंता, संजयभद्देसु आहडिया ॥

एके संयतप्रान्ताः गृहस्थभद्रकाः । अन्ये साधूनां भद्रकाः गृहस्थप्रान्ताः । अपरे तदुभयभद्रकाः अपरे तदुभयप्रान्ताः । अत्र ये संयतभद्रकास्तेषु हृताहृतिका भवेत् हृत्वाऽपि तयोर्वस्त्रमर्पयेयुरित्यर्थः ।

सत्थे विविच्चमाणा, अहिवई भद्दओ व पंतो वा ।

दट्ठूण निवारइ, वत्थं गहियं च पेसेइ ॥

सार्थे स्तेनैर्विविच्यमाने मुष्यमाणे साधवोऽपि विविच्येरन् तत्र योऽधिपतिः चौरसेनाधिपतिः स साधूनां भद्रको वा स्यात् प्रान्तो वा यदि भद्रकस्तदा साधून् विविच्यमानान् दृष्ट्वा निवारणं करोति मैतेषां वस्त्राण्यपहरतेति । अथासौ तत्रासंनिहितस्तेनैर्गृहीतं तदुपकरणं भूयोऽपि प्रेषयति । अमून्येव गाथावयवान्याचष्टे ।

छिन्नदसं सिव्वणीहिं व, नाउ य सेउ वा लज्जिताणं ।

ते चेव तक्करे भ-इओ अंतिए पेसेइ ॥

चौरसेनाधिपतिः साधूनामुपधिं नीतमुपढौकितं दृष्ट्वा छिन्नदशाकत्वेन साधुसंबन्धिनीभिः सीवनीभिः सीवितत्वेन वा साधूनां सत्कमेतद्वस्त्रमिति ज्ञात्वा तान् तस्करानुलभते आः पापा विनष्टाः स्थ यूयं देयं महात्मनां वस्त्राण्यपहृतानीत्यादि एवमुपालभ्य भूयोऽपि तस्योपधेः साधूनामर्पणार्थं तानेव तस्करान् साधूनामन्तिके प्रेषयति ॥

वीसत्थमप्पिणंते, भएण छड्डित्तु केइ वच्चंति ।

विहिया पासवण लुमि, उवस्सए दिट्ठम्मि जा जयणा ॥

स्तेना द्विधा आक्रान्तिका अनाक्रान्तिकास्ते कुतोऽपि न विभ्यति अत एव ते चौरसेनापतिना वस्त्रप्रत्यर्पणार्थं प्रेषिताः सन्तो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विश्वस्ताः निर्भयादिव त एव आनीयवस्त्रं संयतानामर्पयन्ति अनाकान्तिकास्तु भयेन मा केनाप्यारक्षिकादिना ग्रहीष्यामह इति परिज्ञाय रात्रावानीयोपाश्रयाद्बहिः प्रश्रवणभूमावुपाश्रयमध्ये वस्त्रं प्रक्षिप्य व्रजन्ति पलायन्ते तस्मिन् वस्त्रे दृष्टे सति या वक्ष्यमाणा यतना सा करणीया। तामेवाह ॥

गीयमगीया अविगीय-पच्चयट्ठा करिंति वीसुं तु ।
जइ संजइ वि तहियं, विगिंचिया तासिं वि तहेव ॥

यदि सर्वेऽपि गीतार्थास्ततस्तदुपकरणं मौलोपकरणेन सह मीलयित्वा यथास्वरुचि परिभुञ्जते । अथ ते केचिद् गीतार्थाः केचिदगीतार्था अविगीतप्रत्ययार्थं हृताहृतिकोपकरणं विष्वक् पृथक् स्थापयन्ति ते ह्यगीतार्था एवं चिन्तयेयुः एष स्तेनप्रयर्पित उपधिस्तावदुपहतेन च सह मिश्रितस्ततोऽप्युपहत एव अतस्तेषां प्रत्ययार्थं हृताहृतिकोपकरणं विष्वक् पृथक् स्थापयन्ति। अथ संयत्योऽपि विविक्तास्ततस्तासामप्युपकरणं तथैव पृथक् कुर्वन्ति ।

जो वि य तेसिं उवही, अहागडो प्पो य सपरिकम्मो य ।
तं पि य करिंति वीसुं, मा अविगीयाइ भंडे वा ॥

योऽपि च तेषां साधूनां यथाकृतोऽल्पपरिकर्मा सपरिकर्मा वोपधिस्तमप्यविष्वक् परस्परं कुर्वन्तोऽविगीतार्थाः परस्परं भण्डयेयुः कलहं कुर्युः यथा किमिति त्वदीयैर्मदीयोपकृतोपधिः सपरिकर्मणा सह मीलित इत्यादि एवं तावद्भक्ते सेनापतौ विधिरभिहितः । अथ प्रान्तविषयं विधिमाह ॥

पंतोवहिम्मि लुद्धो, आयरिए इच्छए विवाएउं ।
कयकरणे करण वा, आगाढे किसो सयं भणइ ॥

प्रान्तश्चौरसेनापतिरुपधावुपकरणे लुब्धः सन् आचार्यान् व्यापादयितुमिच्छति ततो यस्तत्र कृतकरणो धर्मकथालब्धिमान् धनुर्वेदकृताभ्यासो वा स तत्र कारणं करोति धर्मकथादिना स्वभुजबलप्रकटनेन वा तं शमयतीत्यर्थः । अथवा ईदृशे आगाढे कार्ये यः कृशो दुर्बलदेहः स स्वयमात्मनैवात्मानमाचार्यं भणति। एतामेव गाथां भावयति ।

को तुब्भं आयरिओ, एवं परिपुच्छियम्मि अच्छाणे ।
को कहयइ आयरियं, लग्गइ गुरुए य चउमासे ॥

प्रान्तः सेनापतिं पृच्छति को युष्माकं मध्ये आचार्यः एवमध्वनि गच्छतां परिपृष्टे सति यः कश्चिदाचार्यं निर्दार्य कथयति स लगति प्राप्नोति चतुरो मासान् गुरुकानिति । किं तर्हि वक्तव्यमित्याह

सत्थेणमेण गया, एहिंति य मग्गतो सुगुरु अज्जं ।
सत्थिल्लं एव पुच्छह, हयं पलायं वसाहिंति ॥

येऽस्माकं गुरवस्ते अन्येन सार्थेन सह प्रागेव गता मार्गतो वा पृष्ठतस्ते एष्यन्ति । यदि वा न प्रतीतिर्भवतां ततः सार्थिकान् पृच्छत । यद्वा हतोऽसावस्माकमाचार्यः पलायितो वा वयं सांप्रतमनाथा वर्तामहे एवं कथयन्ति ॥

जो वा दुब्बलदेहो, जुंगियदेहो असच्चवक्को वा ।
गुरु मिल एएसिं अहं, न य मि पगब्भो गुरुगणेहिं ॥

अथवा यो दुर्बलदेहो विकलाङ्गः यो वा असत्यवाक्योऽसमञ्जसप्रलापी स सेनापतिं प्रति वक्ति अहं किलैतेषां सर्वेषामपि गुरुः परं न च नैवाऽस्म्यहं प्रगल्भः संपूर्णो गुरुगुणैः शरीरसंपदादिभिर्वा

हीणो वा अभिजूतो, खंजकुणीकाणओ व हं जातो ।

मा मे वहेह सीसे, जं इच्छह तं कुणह मज्झं ॥

व्याधिना रोगेणाहमतीवाऽभिभूतोऽस्मि खञ्जः पादविकलः कुणिः पाणिविकलः काणश्चक्षुर्विकल ईदृशो वा अहं जातोऽस्मि अतो मा मदीयान् शिष्यान् वधध्वं यन्मारणादिकं कर्तुमिच्छथ तन्ममैव कुरुध्वं यतः ॥

इहरा वि मरिउमिच्छं, संति सिस्साण देह मा हणह ।
मम मारगत्तणमिणं, जं किरइ मुंचह सुते मे ॥

इतरथाऽपि तावदहं मर्तुमिच्छामि ततो मदीयशिष्याणां शान्ति प्रयच्छत मा पुनर्यथास्वरुचि हन्त विनाशयत यतो यदिदं मम मारणं भवद्भिः क्रियते तन्मृतस्यैव मारकत्वं भवति अतो मुञ्चत मदीयान् शिष्यान् सुतान् । अपि च ॥

एयं पि अंत जाणह, रिसिवज्झा जइ न सुंदरा होइ ।
इह य परत्थ य लोए, मुंचेतणुलोमिया एवं ॥

जो भद्रा एतदपि तावद्यूयं जानीथ यथा ऋषिहत्या विधीयमाना इह च परत्र च लोके सुन्दरा न भवति एवमनुलोमिताः प्रज्ञापिताः सन्तस्ते तस्कराः साधून् मुञ्चन्ति । अथैवमपि न मुञ्चेरन् ततः किं कर्तव्यमित्याह ॥

धम्मकही चुण्णेहि व, मंतनिमित्तेण वा वि विज्जाए ।
नित्थारेइ बलेण व, अप्पाणं चेव गच्छं च ॥

यो धर्मकथालब्धिमान् धर्मकथया तं सेनापतिमुपशमयति चूर्णैर्वा मन्त्रेण वा विद्यया वा निमित्तेन वा पातयेत् यो वा धनुर्वेदादौ कृतपरिश्रमः स निजबलेन सेनापतिं निर्जित्यात्मानं गच्छं च निस्तारयति । अथ एषामेकमपि न विद्यते ततः ॥

वोसज्जिया व तेणं, पंथफिडिए व हिंडमाणे वा ।
गंतुं तेण पल्लिं, धम्मकहाईहिं पन्नवणे ॥

तेन सेनापतिनोपधिमपहृत्य साधवो विसर्जिता मुक्ता इत्यर्थः । मुक्ताश्च ये तदुपधिं न गवेषयन्ति ततश्चतुर्लघुकाः ततः स्तेनपल्लीं गत्वा गवेषयितव्य उपधिः गच्छता वाऽप्यन्तराले यदि कोऽपि प्रश्नयेत् कुतो भवन्त इहागता ततो वक्तव्यमेते मार्गात्परिभ्रष्टा हिण्डमाना वा विहारक्रमेण विहरन्त एव वयमिह संप्राप्ताः ततः स्तेनपल्लीं गत्वा धर्मकथादिभिः सेनापतेः प्रज्ञापना कर्तव्या । अर्थेदमेव भावयति ॥

जइ भद्दं अहियं, नाउं भद्दे वसति तं पल्लिं ।
फिडिया मुसिय पंथं, भणंति पुट्ठा कहा पल्लिं ॥

स्तेनपल्लीं गच्छद्भिः प्रथमत एवैतद् ज्ञातव्यं किमत्र सेनापतिर्भद्रकोऽभद्रको वा यदि भद्रकस्ततस्तां पल्लीं प्रविशन्ति। अथाभद्रकस्ततो मा प्रान्तापतापद्रावणादीनि कार्षीदिति कृत्वा न तत्र गन्तव्यम् । अथ गच्छन्ति ततश्चत्वारो गुरवः । अथ कोऽप्युपशमनायोत्सहते ततस्तं गृहीत्वा गन्तव्यं गच्छन्तश्च कुतः किमर्थं भवन्त इहायाताः अत्र कुत्र वा व्रजिष्यथ इति पृष्ठा भणन्ति पन्थस्फिटिताः परिभ्रष्टा वयमिह पल्ल्यामाराहान्वेषणं कुर्महे ।

मुसियत्ति पुच्छमाणं, को पुच्छइ किं च अम्ह मुसियव्वं ।
अहियं भणंति पुव्विं, अणिच्छे सज्झायगादीहिं ॥

किं मुषिता यूयमिति पृच्छन्तं ब्रुवते । को नामास्मान् पृच्छति किं वा निर्ग्रन्थानामस्माकं मुषितव्यं ततश्च स्तेनपल्लीं गत्वा यस्तत्र सेनाया अधिपतिस्तं पूर्वं प्रथमतो भणन्ति । धर्मकथादिना प्रज्ञापयन्ति प्रज्ञापितश्च यदा व्यापृतस्ततो वक्तव्यमस्माकमुपधिं प्रयच्छेत्यादिना सेनापतिरुपशमयितव्यः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपसंतो सेणावइ, उवगरणं देइ वा दवावेइ।
गीयत्थे हि य गहणं, तं वीसुं व सीकरणं॥

उपशान्तः सन् सेनापतिः स्वयमेवोपकरणं ददाति स्वमानुषैर्वा दापयति ते सर्वे गीतार्थास्तत उपकरणं मिश्रयन्ति वा न वा। अथागीतार्थमिश्रास्ततो गीतार्थैस्तस्योपकरणस्य ग्रहणं कर्त्तव्यम्। यच्च संयतासंयतानामुपकरणं तद्विष्वक् विधेयम्। अथ सेनापतिर्ब्रूयात्।

सत्थे बद्दू विवित्तो, गिएहह जं जत्थ पेच्छह अडंता।
इहइं पडिपल्लीसु य, रुसेह विइओ जओ हं सो॥

सार्थोऽस्मन्मानुषैर्बहु प्रभूतो विविक्तः अतो न ज्ञायते कस्य कुत्र वस्त्रादिकमस्तीति ततो गृह्णीत यूयं स्वकीयमुपकरणं यद्यत्र पर्यटन्तः पश्यथ ततः साधुभिर्वक्तव्यं यद्येवं ततः स्वमानुषमस्माभिः सह वर्जयत ततस्तदीयमानुषेण सह गच्छन्ति। स च ब्रूते इहास्यामेव पल्ल्यां प्रतिपल्लीषु वा यद्यद्भवतामुपकरणं तत्तद् (रुसेहत्ति) देशीवचनत्वात् गवेषत अहं भवतां द्वितीयोऽस्मीति ततो यद्यत्र पश्यन्ति तत्तन्मानुषादिभिः प्रज्ञाप्य गृह्णन्ति।

अह तत्र न जातो जह, एएसिं पि पावइ न हत्थं।
तह कुणिमो मोसमेणं, कुणंति पावा अह इमेसु॥

अस्माकं तावदयं मोषो मुषितवस्त्रादिलक्षणो न जातः अतो यथैतेषामपि हस्तं न प्राप्नोति तथा वयमेनं मोषं कुर्महे इति विचिन्त्य केचित्पापाः स्तेनकास्तथेति चिन्तानन्तरमेतेषु प्रक्षिपन्ति। तद्यथा।

पुढवीआउकाए, अवगडणाससइतसेसु साहरइ।
सुत्तत्थजाणएणं, अप्पाबहुयं तु नायव्वं॥

पृथिवीकाये वा अप्काये वा अगडे वा गर्तायामित्यर्थः। वनस्पतिषु वा त्रसेषु वा संहरन्ति निक्षिपन्तीति यावत्। गाथायामेकवचननिर्देशः प्राकृतत्वात् एतेषु निक्षिप्तममीषां ग्रहीतुं न कल्पते इति बुद्ध्या। अत्र च सूत्रार्थः येन गीतार्थेन पृथिव्यादिनिक्षिप्ते तत्रोपकरणे स्वल्पतरमेवाधिकरणमगृह्यमाणेषु बहुतरमसंयतपरिभोगाप्कायप्रक्षालनादिक्रमेणाल्पबहुत्वं ज्ञातव्यं ज्ञात्वा च ग्रहीतव्यं तद्वस्त्रम्। अथ न गृह्णाति ततश्चतुर्लघुका अनवस्था चैवं भवति। भूयोऽपि हृत्वा ते वा अन्ये वा एवमेव पृथिव्यादिषु निक्षिपन्तीति भावः। अथ " सावि य परिभुत्ता वा " इत्यादिसूत्रावयवं विवृणोति।

हरियाहरिया सुविहिय, पंचवन्ना वि कप्पई घेत्तुं।
परिभुत्तमपरिभुत्ता, अप्पाबहुगं वियाणित्ता॥

हे सुविहित! हृताहृतिका यद्यपि स्तेनकैः पञ्चवर्णा कृता तथापि ग्रहीतुं कल्पते तथा परिभुक्ता अपरिभुक्ता वा उपलक्षणत्वाद्धौता घृष्टा मृष्टा संप्रमिता वा भवतु परं तथाऽप्यल्पबहुत्वं विज्ञाय स्वीकर्त्तव्यैव न परिहर्त्तव्या।

आधत्ते विक्कीए, परिभुत्ते तस्स चेव गहणं तु।
अन्नस्स गिएहणंत-स्स चेव जयणाए हिंमंति॥

स्तेनकैस्तद्वस्त्रमाधत्तं ग्रहणके मुक्तं भवेत् विक्रीतं वा परिभुक्तं वा ततस्ते ब्रूयुः वयमन्यद्वस्त्रं प्रयच्छाम इति ततो वक्तव्यं तदेवास्माकं प्रयच्छत नान्येन प्रयोजनमिति भणित्वा तदेव ग्रहीतव्यं यदि न लभते ततोऽनवस्थाप्रसङ्गनिवारणार्थमन्यस्यापि ग्रहणं कुर्वन्ति तत्र यदि संस्तरति ततः परिष्ठापयितव्यम् असंस्तरे तु परिभोक्तव्यम्। तथा तस्यैव सेनापतेर्मानुषैः सह वस्त्रान्वेषणाय यतनया हिण्डन्ते पर्यटन्ति। इदमेव भावयति॥

अन्नं च देइ उवहिं, सा वि य नातो तहेव अन्नातो।
सुद्धस्स होइ गहणं, असुद्धि घेत्तुं परिट्ठवणा॥

अथासौ सेनापतिरन्यमन्यसाधुसंबन्धिनमुपधिं ददाति ततः स उपधिर्ज्ञातो वा स्यात् संविग्नासंविग्नसंबन्धितया उपलक्षितः अज्ञातो वा तद्विपरीतः तत्र यः शुद्धो विधिपरिकर्मितो यथोक्तप्रमाणोपेतश्च स संविग्नसंबन्धी तं गृहीत्वा तेषामेव संविग्नानामर्पयन्ति। अथ ते देशान्तरं गतास्ततो यदि संस्तरन्ति ततः परिष्ठापयन्ति। अथ न संस्तरन्ति ततः परिभुञ्जते। यः पुनरशुद्ध एतद्विपरीतः सोऽसंविग्नानां संबन्धी तमप्यनवस्थाऽधिकरणपरिहरणार्थं गृहीत्वा पश्चात्परिष्ठापयन्ति। इदमेव व्याचष्टे।

तं सिव्वणीहि नाउं, पमाणहीणाहियं विरंगं वा।
इतरोवहिं पि गिएहइ, मा अहिगरणं पसंगो वा॥

तदुपकरणमविधिसीवनिकाभिः सीवितं प्रमाणतश्च हीनाधिकं विरङ्गं विचित्रवर्णकरक्तमेवंविधं दृष्ट्वा ज्ञातव्यं यथैव इतरेषामसंविग्नानामुपधिस्तमपि ज्ञात्वा गृह्णन्त्येव कुत इत्याह मा तस्मिन्नगृह्यमाणे अधिकरणे असंयतपरिभोगादिना प्रसङ्गो वा भूयोऽप्युपकरणहरणलक्षणो भवत्विति कृत्वा।

अंतरस्स व पल्लीए, जयणा गमणं तु गहण तह चेव।
गामाणुगामियम्मि य, गहिए गमणे य तं जाणियं।

अथान्यस्य सेनापतेः पल्ल्या तस्योपकरणस्यार्द्धं नीतं भवेत् ततस्तत्रापि यतनया गमनं ग्रहणं तथैवानुशिष्टिधर्मकथादिना विधेयम्। एवमध्वनि विविक्तानां विधिरुक्तः। ग्रामानुग्रामिकेऽपि विहारे मासकल्पं विधिं कुर्वन्तो यदा विविक्ता भवन्ति तदा गृहीते स्वहस्तचटिते (गहणेत्ति) गृह्यमाणे चोपकरणे उपधिपृथक्करणादि धर्मकथादिकं च यत् पूर्वं भणितं तदेवात्रापि द्रष्टव्यम्। इदमेव व्याचिख्यासुराह।

तत्थेव आणावेइ, तं तु पेसेइ वा जहिं भट्ठो।
सत्थेण कप्पियारं, त देइ जो णं तहिं नेइ।

यद्युपकरणमन्यस्यां पल्ल्यां नीतं तदा यदि मूलपल्लीपतिर्नेतुकस्तत उपकरणं तत्रैवात्मनो मूले तत्पल्लीवास्तव्यमानुषैरानाययति। अथवा तमात्मीयं मनुष्यं तत्र प्रेषयति यत्रासावन्यस्य सेनापतेः पल्ल्यामुपधिर्वर्तते। अथासौ न समर्थः स्वसमीपे आनाययितुं ततः सार्थेन सह तस्यां पल्ल्यां गन्तव्यम्। अथ सार्थो न प्राप्यते ततो मूलपतेर्मानुषो मार्गयितव्यः स च कल्पितारं मार्गदर्शयितारं स्वमनुष्यं ददाति यस्तत्र पल्ल्यां साधूनां नयति॥

अणुसिट्ठाई तत्थ वि, काउ सपल्लिं इतरीसुं वा।
घेत्तुं सत्थेण व यं, उवयंति अह जइए जयणा॥

तत्रापि पल्ल्यामनुशिष्टिधर्मकथादिप्रायोग्यं कृत्वा गृहीत्वा च स्वकीयमुपकरणं जातं यदि ततः सार्थो न लभ्यते ततस्तेनैव मनुष्येण सह स्वपल्ल्यामागच्छन्ति मूलपल्ल्यामित्यर्थः। तत्र चागत्य सार्थेन सह जनपदमुपयान्ति। अथ तस्याः पल्ल्याः सकाशादितरासां जनपदप्रत्यन्तपल्लीनां सार्थो यदि लभ्यते ततो मुक्तोपकरणं नीतं भवेत् ततस्तदर्थं तत्र गत्वा तच्च गृहीत्वा ततः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सार्थेन सार्द्धं जनपदमुपयान्ति । अथैष जडकस्ततोऽन्यपल्लीपतौ यतना भणिता ।

फडुगपइए पंते, भणंति सेणावई तेहिं ।
एते उत्तरमार्ग–वियाइ जा पच्छिमा राया ॥

इह मूलपल्लीं मुक्त्वा या अन्याः पल्ल्यस्तासामधिपतयो मूलपल्लीपतिवशवर्तिनः स्पर्द्धकपतय उच्यन्ते तेषामेकतरेण साधवो विविक्ताः स च प्रकृत्यैव प्रान्तस्ततस्तस्मिन् प्रान्ते बहुशोऽपि मार्गिते उपकरणमप्रयच्छति मूलसेनापतिं भणन्ति धर्मकथादिना प्रज्ञापयन्ति स च प्रज्ञापितः सन् दापयति । अथ सोऽपि प्रान्तस्ततो यः कोऽपि मारुम्बिकभिक्षुममडम्बाधिपतिः स प्रज्ञाप्यते तत उत्तरोत्तरं तावन्नेतव्यं यावत्पश्चिमः सर्वान्तिमो राजा तमपि प्रज्ञाप्योपकरणं गृहीतव्यमिति भावः । अथ प्रमादाद्युपगतो न मार्गयति न वा धौतरक्ताधिकमसंयतप्रायोग्यमिति कृत्वा च गृह्णाति ततश्चतुर्लघवः ।

वसिमे वि विवित्ताणं, एमेव य वीसुकरणमादी य ।
वोसिरणे चउलहुगा, जं आहिगरणं वहाणा य ॥

न केवलमध्वनि विविक्तानां किं तु वसिमेऽपि जनपदे विविक्तानामुपकरणविष्वक्करणादीनि कार्याण्येवमेव मन्तव्यानि यस्तु स्वोपकरणं व्युत्सृजति को नामात्मानमायासयिष्यतीति कृत्वा न गवेषयतीति भावस्तस्य चत्वारो लघवः यच्चाधिकरणमप्कायप्रक्षालनादि याचते तेनोपकरणेन विना सूत्रार्थयोः संयमयोगानां चापरिहाणिस्तन्निष्पन्नमपि प्रायश्चित्तं यत एवमतः सर्वप्रयत्नेन गवेषणीयम् । बृ० १ उ० ।

(१४) भिक्षणाय गतं भिक्षुमुपनिमन्त्रयेत् ।

(सूत्रम्) निग्गंथं च णं गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुपविट्ठं केइ वत्थेण वा पडिग्गहेण वा कंबलेण वा पायपुंछणेण वा उवनिमंतिज्जा कप्पइ से सागारकडं गहाय आयरियपायमूले वंदित्ता दोच्चं पि उग्गहं अणुन्नविए ॥

अस्य सूत्रस्य संबन्धमाह ।

अविरुद्धे भिक्खगतं, कोइ निमंतेज्ज वत्थेहिं ।
कारणविरुद्धचारी, विगिंचिते वावि गेण्हेज्जा ॥

अविरुद्धे विरुद्धराज्यरहिते ग्रामादौ विरुद्धराज्यचारी स्तेनादिभिर्विविक्तो मुषितः सन् वस्त्राणि गृह्णीयात् अतो वस्त्रग्रहणविधिः प्रतिपाद्यते ।

अहवा लोइय तेणं, निवसमइक्कम्म पच्छिम भणितं ।
दोच्चमणणुन्नवेउं, उत्तरियं वत्थभोगादी ॥

अथवा नृपसमानमतिक्रम्य विरुद्धराज्यसंक्रमणे लौकिकस्तैन्यमिदमनन्तरसूत्रे भणितम् । अथ द्वितीयं वारमवग्रहमाचार्यसमीपे अननुज्ञाप्य तदा वस्त्रपरिभोगमादिशब्दात् धारणं वा करोति तदा लोकोत्तरिकस्तैन्यं भवतीति प्रतिपाद्यते । एभिः संबन्धैरायातस्यास्य व्याख्या निर्ग्रन्थपूर्वोक्तशब्दार्थं चशब्दोऽर्थान्तरोपन्यासे णमिति वाक्यालङ्कारे गृहस्य पतिः स्वामी गृहपतिस्तस्य कुलं गृहपिण्डपातप्रतिज्ञया पिण्ड ओदनादिस्तस्य पातपात्रं प्रविष्टस्तत्प्रतिज्ञया तत्प्रत्ययमनुप्रविष्टः कश्चिदुपासकादिर्वस्त्रेण वा प्रतिग्रहेण वा कम्बलेन वा पादप्रोञ्छनेन वा उपनिमन्त्रयेत् वस्त्रं लौकिकमिह गृह्यते प्रतिग्रहः पात्रकं कम्बलमौर्णिककल्पः पादप्रोञ्छनशब्देन तु पात्रके सरिकाप्रभृतिकः पात्रनिर्योगः प्रोञ्छनशब्देन तु रजोहरणमुच्यते । आह च चूर्णिकृत् । " पायप्रोञ्छणेण पायभंडयं गहियं पुंछणं रयहरणंति " एतैरुप समीपे आगत्य निमन्त्रयेत् उपनिमन्त्रितस्य च (से) तस्य निर्ग्रन्थस्य साकारकृतमाचार्यसत्कमेतद्वस्त्रं न मम अतो यस्यैव मदीय आत्मनो वा परिभोगिष्यते तस्यैतद्भविष्यतीत्येवं सविकल्पवचनव्यथितं स गृहीत्वा ततः आचार्यपादमूले तद्वस्त्रं स्थापयित्वा यदि तस्यैव साधोः प्रयच्छन्ति तदा द्वितीयमप्यवग्रहम् । एकस्तावद् गृहस्थादवग्रहोऽनुज्ञापितः द्वितीयं पुनराचार्यपादमूलादवग्रहमनुज्ञाप्य धारणापरिभोगरूपं द्विविधपरिहारं तस्य वस्त्रस्य परिहर्तुं धातूनामनेकार्थत्वादाचरितुं कल्पते इति सूत्रसंक्षेपार्थः । बृ० १ उ० । (एतद्विस्तरार्थ एव वस्त्रयाचनविधौ वत्थशब्दे वक्ष्यते) (उपधिविषयोऽवग्रहः उग्गहशब्दे उक्तः)

(१५) भिक्षार्थं गतस्योपकरणपतने विधिमाह ॥

(सूत्रम्) निग्गंथस्स णं गाहावतिकुलं पिंडवायपडियाए अणुपविट्ठस्स अहालहुस्सए उवकरणजाए परिभट्ठे सिया तं च केइ साहम्मिया पासेज्जा कप्पति णं सागारकडं गाहाय जत्थेव त अण्णमण्णं पासेज्जा तत्थेव तमाणावाहे बहु फासुए थंडिल्ले परिट्ठवेयव्वेसिया ॥

निर्ग्रन्थस्य णमिति वाक्यालङ्कारे गृहपतिकुलं ("पिंडवायपडियाए इति") पिण्डं भक्तपानं वा पातयिष्यामीति बुद्ध्या यथा सहोक्तं " सुत्तं पगरंतु निग्गओ " आनेष्यामीति बुद्ध्या निर्गत इत्यर्थः । अनुप्रविष्टस्य यथालघुकमेकान्तलघुकं जघन्यं मध्यमं वा इत्यर्थः । उपकरणजातं परिभ्रष्टं पतितं स्यात्तच्च कश्चित्साधर्म्मिकः पश्येत्कल्पते (से) तस्यासागारकृतं नाम यस्यैवेदमुपकरणं तस्यैवेदं देयमिति बुद्ध्या गृहीत्वा यत्रैवान्यमन्यं साधर्म्मिकं पश्येत्तत्रैव एवं वदेत् इदं भो आर्य ! किं परिज्ञातं ततस्तस्यैव प्रतिनिर्यातव्यं समर्पणीयं स्यात्किमुक्तं भवति यदि तस्य सत्कं तर्हि तस्मै दीयते । अथ ब्रूयादमुकस्य सत्कं यदा तस्येति स च वदेत् न परिज्ञातं न कोऽपि न जानातीति भावः तर्हि तदात्मना परिभुञ्जीत न अन्यस्य दर्शयेत्किन्त्वेकान्ते बहुप्रासुके स्थण्डिले परिष्ठापयितव्यं स्यात् । " एवं निग्गंथस्स णं बहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा निक्खंतस्से " त्याद्यपि सूत्रं भावनीयम् । तथा निर्ग्रन्थस्य णमिति प्राग्वत् ग्रामानुग्रामं "अदूरइज्जइगामाणुग्गामं दूइज्जमाणस्सेत्ति" विहरतोऽन्यतरत् उपकरणजातं परिभ्रष्टं स्यात्तच्च कश्चित्साधर्म्मिकः पश्येत्कल्पते (से) तस्य सागारकृतं गृहीत्वा दूरमप्यध्वानं परिवोढुं "जत्थेवेत्यादि " प्राग्वत् एष सूत्रत्रयसंक्षेपार्थः । संप्रति भाष्यकृत् यथालघुस्वकग्रहणं तृतीयसूत्रगतमन्यतरग्रहणं व्याख्यानयति ।

दुविहो य अहालहुतो, जहन्नतो मज्झिमो य उवहीओ ।
अन्नयरग्गहणेण उ, घेप्पइ तिविहो उ उवहीओ ॥

यथालघु स्वक उपधिर्द्विविधो भवति जघन्यो मध्यमश्च अन्यतरग्रहणेन तु त्रिविधोऽप्युपधिः परिगृह्यते । तदेवं कृता विषमपदव्याख्या भाष्यकृता । संप्रति निर्युक्तिविस्तरः ।

अंतो परिट्ठवंते, बहिया व वियारमादिसु लहुगो ।
अन्नयरं उवगरणं, दिट्ठं संका न घेप्पंति ॥
किं हुज्ज परिट्ठावियं, पम्हुट्ठा वा त्ति तो न गेण्हंति ।
किं एयस्सन्नस्स व, संकिज्जइ गेण्हमाणो वि ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्तर्ग्रामादीनां मध्ये बहिर्विचारभूमौ वा परिष्ठापयति वि-स्मरति " पम्हुठुंति वा परिठवियंति वा पराठुमिति " वचनात् प्रायश्चित्तं लघुको मासः । कस्मादीदृशं प्रमादं करोतीति हेतोः कः पुनर्दोषो यतो विस्मृतमत आह । अन्यतरत् ज-घन्यं मध्यममुत्कृष्टं वा उपकरणं दृष्टं ततो जाता शङ्का ततश्च न केनापि ग्रहीष्यन्ति । शङ्कामेव स्पष्टतरां भावयति । (किं दोच्चेत्यादि) साधवस्तदन्यतरत् उपकरणमन्तर्बहिर्वा दृष्ट्वा शङ्कन्ते किमेतत् परिष्ठापितमुत कस्यापि विस्मृतं भवेत् एवं शङ्कमानास्तदुपकरणं विस्मृतं न गृह्णन्ति यतो गृह्णत्यपि जनैः शङ्क्यते तथाहि तत् पतितं गृह्णन्तं संयतं कोऽपि दृष्ट्वा शङ्केत किमेतस्य अन्यस्य वा । किमुक्तं भवति । किमात्मीयं पतितं गृह्णाति किं वा परकीयं कस्यापि दानार्थमेवं शङ्कासंभवे तस्य प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुकाः । अथ निःशङ्कितं परेषां स्यात्तदा चतुर्गुरुकम् । एवं शङ्कासंभवतो न गृह्णन्ति तस्मिंश्चागृह्य-माणे इमे दोषाः ।

थिग्गल छिद्दा पोत्ते, वालगचीराइएहिं अहिगरणं ।
बहुदोसतमा कप्पा, परिहाणी जा विणा तं च ॥

तत्पतितं यथालघु स्वकरणं गृहस्थैर्दृष्टं ततस्ते तत् गृहीत्वा अन्यस्य छिद्ररूपतो वस्त्रस्य थिग्गलकं कुर्वन्ति तथा प्रक्षाल्य पोतकानि पट्टिकापट्टिकादिरूपाणि कुर्युर्यदि वा उत्तानशा-यिनां बालकानां योग्यानि चीवराणि विदधीरन् इत्येवमादिभिः प्रकारैर्यथालघु स्वकस्योपकरणस्याग्रहणे अधिकरणं यदा तु पतिताः कल्पा न गृह्यन्ते तदा ते बहुदोषतमाः प्रभूततमं तेष्व-धिकरणमिति भावः । तच्च उपकरणं याचमानस्य परिहाणिःसूत्रा-र्थयोः ये च तृणग्रहणाग्निसेवनाद्यो दोषास्तेऽपि प्रसजन्ति ।

एते अण्णे य बहू, जम्हा दोसा तहिं पसज्जंति ।
आसन्ने अंतो वा, तम्हा उच्चारहिं न वोसिरए ॥

एते अनन्तरोदिता अन्ये च यस्माद्बहवो दोषास्तत्र पतिते प्रसजन्ति तस्मात् ग्रामादीनां बहिरासन्ने प्रदेशे अन्तर्वा तमु-पधिं व्युत्सृजेत् विस्मरणतः पातयेत् । अधुना यः शङ्कातः शङ्कमानो वा न गृह्णाति तं प्रत्युपदेशमाह ।

निस्संकियं तु नाउं, विच्चुयमेयंति ताहे घेत्तव्वं ।
संकादिदोसविजढा, नाउं अप्पेंति जस्स तयं ॥

यदा एतदुपकरणं कस्यापि विच्युतं विस्मरणतः पतितमिति तदा नियमतो ग्रहीतव्यं गृहीत्वा च शङ्कादिदोषरहितानामवि-षये कस्यापि शङ्का स्यादित्यादिदोषवर्जिता यस्य तदुपकरणं तस्य ज्ञात्वा समर्पयन्ति । एतच्च पद्विषये कर्त्तव्यं तानाह ।

समणुन्ने इयराणं, वा संजईसंजयाणं वा ।
इयरे उ अणुवदेसो, गहियं पुण घेप्पए तेहिं ॥

समनोज्ञानां सांभोगिकानामितरासामसांभोगिकानां संयतीनां संयतानां वा सत्कमुपकरणं पतितं गृहीत्वा यस्य सत्कं तस्य दातव्यमितरे तु पार्श्वस्थादयस्तेषामनुपदेशस्तेषां सत्कं पतितं गृहीत्वा यस्य सत्कं तस्मै देयमिति नास्माकमुपदेशोऽधिकरण-प्रसक्तेस्तैः पुनः पार्श्वस्थादिभिः संविग्नानां विहारिणामेतदुपक-रणमिति ज्ञात्वा यत्पतितं गृहीतं तदानीतं पुनर्गृह्यते ।

अत्रैव द्वितीयपदमाह ।

बिइयपदे न गेण्हेज्जा, विवचियजुगुंछिए असंविग्गे ।
तुच्छमपओयणं वा, अगेण्हंता होय पच्छित्ती ॥

द्वितीयपदे अपवादपदे न गृह्णीयात् पतितं विवञ्चितं परिष्ठा-पितमिति कृत्वा जुगुप्सितमशुचिस्थानपतितमिति वा कृत्वा अ-संविग्नानां वा एतदुपकरणमिति ज्ञात्वा तथा तुच्छं दुःखपोत्ति-कादि तदपि कुथितत्वादिना कारणेनाप्रयोजनमगृह्णतो भवति प्रायश्चित्तम् । सांप्रतमेनामेव गाथां विवृणोति ॥

अंतो विसगलजुत्तं, विवंचियं तं च दट्ठु नो गिण्हे ।
असुइट्ठाणे वि चुतं, बहुधा वालादिछन्नं वा ॥

अन्तर्ग्रामादीनां मध्ये विशकलं खण्डखण्डीकृतं ओदि विवे-चितं परिष्ठापितमिति ज्ञातव्यं यच्च दृष्ट्वा न गृह्णीयात् । तथा अ-शुचिस्थानेऽपि च्युतं बहुधा वा व्यालादिभिश्च प्रभूतिभिश्छन्नं न गृह्णीयात् ॥

हीणाहियप्पमाणं, चित्तलं विरंगभंगी य ।
एएहिं कारणेहि य, नाऊणं तं विवज्जंति ॥

हीनं चाधिकं च हीनाधिकं तत्प्रमाणं यत्र तत् क्वचिद्धीनं क्वचि-दधिकमित्यर्थः । तच्च सीवनिकया चित्रलं चित्रं सीवनिकावि-चित्रलं रक्तेन रागद्रव्येण भक्तिर्विच्छित्तिर्यत्र तद्विरङ्गभाङ्गि तद् दृष्ट्वा एतैः कारणैरयमसंविग्नानामुपधिरिति ज्ञात्वा विवर्जयन्ति ॥

एमेव य बीयपदे, जं तो उच्चरिट्ठविज्जइ इमेहिं ।
तुच्छो अतिजुण्णो वा, सुण्णे वा विविंचेज्जा ॥

एवमेव अनेनैव प्रकारेण परिष्ठाप्यमाणैर्ग्रामादीनामन्तर्द्वितीयपदेन परिष्ठापयेत् । पतितं न गृह्णीयात् । कैरित्याह तुच्छो मु-खपोत्तिकापादप्रोञ्छनादिकः कुथितत्वादिना अकिञ्चित्करो यदि वा अतिजीर्णो हस्तेन गृह्यमाणोऽनेकधा विशरारुर्जायते शून्ये वा विविक्ते प्रदेशे पतितो यत्र विस्मरणासंभवः । ततः एतैः कारणैः परिष्ठापित एष उपधिरिति कृत्वा विविच्य न गृह्णीयादिति भावः ।

एमेव य बहिया वि, वियारभूमीए होज्ज तं घेत्तु ।
तस्स वि उ एस गमो, हाइ य णेओ निरवसेसो ॥

एवमेव अनेनैव प्रकारेण ग्रामादीनां बहिरपि विचारभूमौ पति-तं भवेत् । तस्याप्येष प्रधानन्तरोदितो गमः प्रकारो निरवशेषो ज्ञेयो ज्ञातव्यो भवति । तदेवं सूत्रद्वयं भावितम् ॥

अधुना तृतीयसूत्रभावनार्थमाह ॥

गामो खलु पुव्वुत्तो, दूइज्जंते उ दोवि दुविहाणे ।
अन्नतरग्गहणेणं, दुविहो होइ उवहीओ ॥

ग्रामः खलु पूर्वमुक्तस्तस्मादनुकूलोऽन्यो ग्रामोऽनुग्रामः ग्रामश्चा-नुग्रामश्च ग्रामानुग्रामं समाहारत्वादेकवचनं तत् दूयमानस्य गच्छ-तस्तस्मिन् गच्छति द्विविधा ऋतुबद्धे काले गन्तव्यम् । तथा पादाभ्यामिति आभ्यां भाभ्यां प्रभ्या । संप्रति निर्युक्तिविस्तरः ॥

पंथे उवस्सए वा, पासवणुच्चारइयंते वा ।
पक्खुसते एएहिं, तम्हा मोत्तूणिमे ठाणा ॥

तत् उपकरणं पथि व्रजतः कथमपि पतत् ग्रामानुग्रामं वा गच्छन् यत्रोपाश्रये उषितस्तत्र विस्मरणतः पतितं भवेत् विश्रा-म्यतो वा क्वचित्पतितं स्यात् उच्चारं प्रश्रवणं वा कुर्वतः स्यात्प-तितं आचमतो वा विस्मृतमेतैः कारणैर्विस्मरणः पतनसंभव-स्ततो येषु विश्राम्यत उच्चारं प्रश्रवणं वा कुर्वतो दोषा भवन्ति तानीमानि स्थानानि वर्जयेत । तान्येवाह ॥

पंथे व समणाविसणादि, तो मासो होइ लहुओ उ ।
आगतरसंठाणे, लहुगा आणादिणो दोसा ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पथि यदि विश्राम्यति निवसति वा आदिशब्दात् ऊर्द्धस्थितो वा तिष्ठति सुप्तो वा उच्चारं प्रश्रवणं वा व्युत्सृजति तदा सर्वत्र असमाचारीति निष्पन्नं प्रायश्चित्तं मासलघु । यदि पुनरागन्तृणां स्थाने सभाऽऽदौ विश्रमणादि करोति तदा सर्वत्र प्रत्येकं चत्वारो लघुकाः आज्ञादयश्च दोषाः ।

संप्रति पथि विश्रमणादौ दोषानाह ।

मिच्छत्त अन्नपंथे, धूली उक्खिणण उवहिणासो ।
ते चेव य सविसेसा, संकादिविविचमाणे वि ॥

स साधुः पथि विश्राम्यति धिग्जातीयाश्चान्ये जातिमदावलिप्तास्तेन पथा समागता भवेयुस्ततः स साधुः चिन्तयेत् । मा मन्निमित्तमेते उद्वर्त्तमाना हरितकायादिविराधनां कार्षुरिति स साधुः पथि उत्थाय अन्यत्र तिष्ठेत् तत्र च इमे दोषा जानन्त्येतत् श्रमणवादिन आत्मनः सारमतोऽयमस्मान् दृष्ट्वोद्वृत्त इति तथा साधूनां धिग्जातीयानां पथि दत्ते त एव तेषामपि गुरवो धिग्जातीयाः प्रधानाश्च एतच्चाभिनवधर्म्माणः श्रुत्वा दृष्ट्वा च मिथ्यात्वं प्रतिपद्येरन् तथा (अन्नपंथेत्ति) तं साधुं पथि स्थितं दृष्ट्वा पथिका उद्वृत्य व्रजन्ति ते चोद्वर्तमाना हरितकायादीनां विराधनां कुर्वन्ति । तथा केचित्तं पथि स्थितं दृष्ट्वा ब्रुवते अहो निर्लज्जाः श्रमणाः पन्थानं रुध्वा स्थिताः तच्च श्रुत्वा कोऽप्यसहमानः कलहं कुर्यात् ततो युद्धे समापतिते भाजने भेदोऽनागाढादिः परितापना च स्यात् । तथा पादनिक्षेपेण धूल्या उत्खननं भवति तेन च उपधेर्विनाशो मलिनत्वभावात् । ते एवानन्तरोदिता दोषाः सविशेषाः शङ्कादयो विचिकित्साऽपि उच्चारादिना तथा हि उच्चारादि पथि कुर्वतो लोकस्य शङ्कोपजायते किमनेन गुदं निर्लेपितमुत नेति आदिशब्दात्किमेष स्तेनकः किं वा श्रमणोऽभिचारको हेरिको वा इत्यादिपरिग्रहः एष द्वारगाथासंक्षेपार्थः । सांप्रतमेनामेव गाथां विवरीषुः प्रथमतो मिथ्यात्वद्वारं विवृणोति ।

पंथे न ठाइयव्वं, बहवो दोसा तहिं पसज्जंति ।
अब्भुट्ठियम्मि गुरुगा, जं वा आवज्जती जुत्तो ॥

पथि साधुना विश्रमणनिमित्तं न स्थातव्यं यतस्तत्र बहवो दोषाः प्रसजन्ति तानेवाह । साधुना धिग्जातीयानां पथि प्रदत्ते अभ्युत्थिता एते अभ्युत्थानमेतेषां कृतमिति लोकप्रतिपत्तौ तस्य प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः यच्च स्वयं दृष्ट्वा यतो वा श्रुत्वा मिथ्यात्वमापद्यते अभिनवधर्म्मा मिथ्यादृष्टिर्वा गाढतरं मिथ्यात्वमधिगच्छति तन्निष्पन्नं च तस्य प्रायश्चित्तं धिग्जातीयानां चात्मबहुमानसंभवस्तथा चाह ।

जाणंति अप्पणो सारं, एते समणवादिणो ।
सारमेएसि लोगो य-मप्पणो न वियाणई ॥

ये आत्मानं श्रमणमिति वदन्ति ते आत्मनः सारं परमार्थतत्वं जानन्ति यथाऽस्मत्त्वमेते गरीयांस इति यस्त्वेतेषामयं लोकः संसारमर्थतत्वमात्मनो न विजानाति अविदितपरमार्थत्वात् । गतं मिथ्यात्वद्वारम् ।

अधुना अन्यपथद्वारमाह ।

अन्नपहेण वयंते, काया सो चेव वा नवे पंथे ।
अचियत्त असंखडादी, भायणविराहणा चेव ॥

तं साधुं पथि स्थितं दृष्ट्वा पान्था अन्येन पथा व्रजन्ति तथा च सति काया हरितकायादयो विराध्यन्ते । तथा स एव नवति पन्थास्ततो महान् प्रवर्तनादोषः तथा पथि स्थितं दृष्ट्वा कस्यापि (अचियत्ति) अप्रीतिरुपजायते ततः स ब्रूते अहो मुण्डः पन्थानं रुध्वा स्थितस्तस्य श्रुत्वा कोऽप्यसहमानोऽसंखडं कलहं कुर्यात् आदिशब्दात् युद्धमपि तथा च सति भाजनविराधना आदिशब्दादनागाढादिपरितापना भावतः शरीरविराधना च । संप्रति "धूली उक्खणण उवहि विणासो इति" व्याख्यानयति ।

सरक्खधुली चेयणे, पत्थिवाणं विणासणा ।
अचित्तरेणुमइलम्मि, दोसा होंति अधोव्वगे ॥

सह रजसा श्लक्ष्णधूलिरूपेण वर्त्तते इति सरजस्कः स चासौ धूलिश्च तस्याश्चैतन्यस्तस्यां चेतनायामित्यर्थः पादनिक्षेपेण उत्खनेन शरीरादिसंस्पर्शतः पार्थिवानां पृथिवीकायानां विनाशनं भवेत् । अथ सोऽचित्तो रेणुस्तर्हि तेनाचित्तेन रेणुना मलिने उपधौ यदि प्रक्षालयति तथाऽपि दोषः । प्राणविराधनापत्तेर्वा कुशत्वसंभवाच्च अप्रक्षालनेऽपि दोषाः प्रवचनहीलनाद्यापत्तेः । अन्यच्च ।

वेगाविद्धो तुरंगादी, सहसा दुक्खनिग्गहा ।
परम्मुहं मुहं किच्चा, पहि ठाणं पणोल्लए ॥

वेगाविद्धा वेगेनागच्छन्तस्तुरङ्गादय आदिशब्दाद्बलीवर्दानामपि परिग्रहः । सहसा दुःखेन निगृह्यन्ते निवार्यन्ते इति दुःखनिग्रहा निवारयितुमशक्या इति भावस्ततः शरीरविराधना भाजनविराधना च । तथा केचित्प्रान्ताः पराङ्मुखं मुखं कृत्वा पथि स्थितं साधुं प्रणुदेयुर्गाथायामेकवचनं प्राकृतत्वात्प्राकृते हि वचनव्यत्ययो भवति । किं च ।

पम्हुट्ठमवि अन्नत्थ, जइट्ठा कोति पेच्छति ।
पंथं उ परिपम्हुट्ठं, खिप्पं गेण्हति अद्धगा ॥

पथो ऽन्यत्र विस्मरणतः पतितमपि प्रेक्ष्यते पथि पुनः अध्वगा परिभ्रष्टं क्षिप्रं गृह्णन्ति तस्मात्पथि न विश्रमितव्यम् ।

एवं ठितोवविट्ठे, सविसेसतरा भवंति उप्पिवणे ।
दोसा निद्दपमायं, गते य उवहिं हरंति त्तो ॥

एवममुना प्रकारेण स्थिते ऊर्द्धस्थानेनावतिष्ठमाने तथा उपविष्टमाने वक्तव्यानि चात्र शयाने सविशेषतरा दोषा भवन्ति । तथाहि पूर्वोक्तास्तावत्तथैव द्रष्टव्याः । अन्यच्च शयाने कथमपि निद्राप्रमादं गते उपधिमन्ये पथिकादयो हरन्ति तस्मात्पथि न शयितव्यमिति । संप्रति " चेव य सविसेसा संकादिविविंचमाणे वी " त्येतद्व्याख्यानार्थमाह ॥

उच्चारं पासवणं, अणुपंथे चेव आयरंतस्स ।
लहुगो य दो य मासो, चाउम्मासो सवित्थारो ॥

उच्चारं प्रश्रवणं वाऽध्वगानामनुकूले पथि अवतरतः समाचारीनिष्पन्नं प्रायश्चित्तं लघुको भवति मासः । अथ तथोच्चारं प्रश्रवणं वा कुर्वन्तमवलोक्य केचिदन्यं पन्थानं कुर्वन्ति तत्र चत्वारो मासा लघुकाः (सवित्थारोत्ति) यच्च स्त्र्यादिभिः सह संघट्टनादि प्राप्नोति तन्निष्पन्नमपि तस्य प्रायश्चित्तमिति भावः । तथा ।

कुडुावणमन्नपडो, दवासतिय छुब्भिगंधक इसप्पे ।
तेणो त्ति व संकेज्जा, आदियणे चेव उड्डाहो ॥

कोऽपि स एव राजकुलामात्यः प्रान्तः श्रमणमुच्चारं पथि कुर्वन्तं दृष्ट्वा कोपात्तमेव श्रमणमास्कन्द्य तमुच्चारं उड्डापयेत् अपरेऽन्यः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पन्थाः क्रियेत तत्र चोक्तं प्रायश्चित्तम्। तथा पथि ऽर्वीभावे दुरभिगन्धः उच्चारस्तत्रापि प्रवचनोड्डाहस्तथा कोऽपि कलुषात्मा शङ्केत स्तेनक इति उपलक्षणमेतत् हेरिकोऽभिचारिको वा इत्यपि शङ्केत तत आदाने ग्रहणे प्रवचनस्य उड्डाहः तस्मात्पथि विश्रामणादि न कर्तव्यम् ॥

अत्रैवापवादमाह ॥

अच्छेय व दूरपहे, असहू भारेण खेदियप्पा वा ।
छन्ने व मोत्तुं पहं, गामसमीवे य छन्ने वा ॥

अतिशयेनातप उष्णं तपति वृक्षाश्च पथि दूरे वर्तन्ते यथासन्नपल्लीमार्गे प्रतिपन्नानामेक एवाध्वनि विश्रमणहेतुरेक एव वृक्षोऽन्यत्र सर्वत्राकाशं तेन कारणेन पथ्यपि वृक्षस्याधस्तात् विश्राम्येत । असहो नाम नातिदूरे वृक्षाः सन्ति परं तत्र गन्तुं न शक्नोति ततः सोऽपि पथि वृक्षस्याधो विश्रमणं कुर्यात्। अथवा उपधिभारेण खेदितात्मा अतिशयेन परिश्रान्तस्ततः पथ उद्वर्तितुं न शक्नोतीति पथ्येव विश्रामयति । तदेवं पथ उभयोः पार्श्वयोर्दूरेण वृक्षसंभवे द्वितीयपदमुक्तमिदानीं समन्ततो वृक्षच्छन्ने प्रतिपादयति । (छन्ने व मोत्तुं पहंत्ति) पन्था उभयोः पार्श्वयोर्वृक्षैश्छन्नस्तत्र वा विभाषायां यदि निर्भयं ततः पन्थानं मुक्त्वाऽन्यत्र विश्रमणादि करोति ।अथ भयं तदा पथ्येवेति एतद् दूरेऽभिहितम्। ग्रामसमीपे पुनर्निर्भयमिति वृक्षैश्छन्नस्तत्र वा विभाषायां यदि निर्भयं ततः पन्थानं मुक्त्वाऽयन्त्र विश्रमणार्थं पथ उत्कृत्य विश्रमणादि करोति । ग्रामसमीपे यस्य तस्य वृक्षादेर्देवकुलादेश्छाया-संभवात्तेन पुनः साधुना पथः कियद् दूरे उद्वर्तितव्यमत आह ।

पंथे ठितो न पेच्छइ, परिहरिया पुव्ववासिया दोसा ।
बिइयपए असतीए, जयणाए वट्टणादीणि ॥

तावति दूरे उत्कृत्य स्थातव्यं यत्र पथिकः पथा व्रजन् पथि ऊर्द्धस्थितो वा साधुमुत्कृत्तं न पश्यति। एवं च पूर्ववर्णिता दोषाः समस्ता अपि परिहृताः । द्वितीये पदे अत एवापवादपदे पुनरुद्वर्त्तने असति उद्वर्तनाभावे पथ्यपि यतनया वक्ष्यमाणया स्थानादीनि करोति स च तथा कुर्वन् तीर्थकराज्ञया प्रवृत्ते शुद्ध इति।

सांप्रतमुद्वर्त्तनाभावं यतनां चाह ।

संकडहरियच्छाया, असति य गहितोवही ठितो पेच्छे ।
उट्ठेइ व अप्पत्ते, सहसा पत्ते ततो पिट्ठं ॥

संकटो नाम पन्थाः स उच्यते यो वा घोरपान्तराले तत्रोद्वर्त्तनस्यासंभवः । अस्य वा चतसृष्वपि दिक्षु समन्ततो हरितकायः। अथवा पन्थानमतिरिच्यान्यत्र सर्वथा छाया न विद्यते । ततः एतैः कारणैरुद्वर्तनासंभवे पथ्येव गृहीतोपकरणो मुहूर्तमात्रमूर्द्धस्थितो मार्ग एव छायायां विश्राम्येत । यदा तु पथिकानागच्छतः पश्यति तदा तेषु तं प्रदेशमप्राप्तेष्वेव उत्तिष्ठति तथा ते जानन्ति पूर्वमेव उत्थित इति । अथ सहसैव ते पथिका अदृष्टा एव संप्राप्तास्तदा तेषां पृष्ठं दत्वा उत्तिष्ठति यथा ते जानन्ति यथैष आत्मव्यापारेणोत्थित इति एवं मिथ्यात्वदोषाः परिहृता भवन्ति ।

भुंजण पाणुच्चारे, जयणं तत्थ कुव्वति ।
उग्गाहडा उ जे दोसा, पुव्वं तेसु जतो भवे ॥

भोजने पाने उच्चारे च यतनां तत्र पथि करोति कथमित्याह । उद्गाहता ये पूर्वे दोषास्तेषु यतो भवेत् यथा ते न भवन्ति तथा यतेतेति भावः ।

गंतव्वपलोएउं, अकरणिलहुतो उ दोस आणादी ।
पम्हुट्ठो वा सहे, लहुतो आणादिणो चेव ॥

विश्रम्य उच्चारं प्रश्रवणं वा कृत्वा यदा गन्तव्यं भवति तदा सिंहावलोकनेन पश्चादवलोक्य गन्तव्यम् । यदि पुनरवलोकनं न करोति तदा प्रायश्चित्तं तस्य लघुको मासः। अधिकरणदोषाश्च प्रागुक्ताः कथमपि विस्मरणतः पतन्ति सम्भवन्ति । आज्ञाभङ्गादयश्च दोषाः । तथा यदि कथमपि विस्मरतः पतितं स्यात् ततस्तद्ग्रहणाय प्रतिनिवर्तितव्यम् । यदि मन्यते किं तेनेति व्युत्सृजति तदा मासलघुकमाज्ञाभङ्गादयश्च दोषाः एतदेवाह ।

पम्हुट्ठे गंतव्वं, अगमणे लहुगो य दोसआणादी ।
निक्कारणम्मि तिन्नि उ, पोरिसीकारणे सुद्धो ॥

कथमपि विस्मरणतः पतिते सिंहावलोकनेन च दृष्टे नियमतस्तदानयनाय पश्चात् गन्तव्यम् ।अगमने प्रायश्चित्तं लघुको मासः । अधिकरणदोषाश्च प्रागुक्ता आज्ञादयश्च । तथा निष्कारणमिति कारणस्याभावे निष्कारणमस्मिन् यदि नास्ति निवर्तमानस्य प्रत्यपाय इत्यर्थस्तदा अवश्यं निवर्तितव्यम् । (तिन्नि उत्ति) यदि प्रथमायां पौरुष्यां विस्मरणतः पतितं चरमायां च पौरुष्यां स्मृतं तत्र यदि निष्प्रत्यपायमन्तरा च वासोऽस्ति यदा निवृत्य गृहीत्वा आनेतव्यमथ सूर्यास्तमयवेलायां स्मृतं यथा अमुकमेव विस्मरणतः पतितमिति तदा आद्यान् त्रीन् यामान् उषित्वा चतुर्थे यामे प्रतिनिवृत्यानेतव्यं प्रत्यपायाभावे कारणे तु प्रत्यपायलक्षणेऽनिवर्त्तमानोऽपि संशुद्धः । एतदेव भावयति ॥

चरमाए वि नियत्तइ, जइ वासो अत्थि अंतरा वसिमे ।
तिन्नि वि जामे वसिउं, नियत्तइ निरच्चये चरमे ॥

प्रथमायां पौरुष्यां विस्मरणतः पतिते तदानयनाय चरमायामपि पौरुष्यां निवर्तते यदि च तेषामन्तरा वासोऽस्ति। अथ चरमायां दिनपौरुष्यां पतति तदा रात्रेस्त्रीन् यामानुषित्वा चरमे यामे निरत्यये प्रत्यपायाभावतो निर्भयो निवर्त्तते ॥

कारणे सुद्धो इति व्याख्यानार्थमाह ॥

दूरं सो वि य तुच्छो, सावयतेणानदी व वासं वा ।
इच्चाइकारणेहिं, करेंति उस्सग्गमो तस्स ॥

दूरमतिशयेन गतानां स्मरणपथमवतीर्णः पतित उपधिः सोऽपि वा उपधिरतिशयेन तुच्छः । मुखपोत्तिकादिरूपोऽतिशयजीर्णश्चेति भावः। अथवा अपान्तराले व्याघ्रादीनि श्वापदानि स्तेना वा शरीरापहारिण उपकरणापहारिणो वा नदी वाऽपान्तराले वर्षा वा पतति आदिशब्दात् म्लेच्छभयं वा अशिवं वेत्यादिपरिग्रहः इत्यादिभिः कारणैस्तस्य विस्मरणतः पतितस्योपकरणस्य उत्सर्गं "वोसिरामिति" त्रिभणनपूर्वकं परित्यागं करोति एवं करणे अधिकरणादयो न भवन्ति ॥

एवं ता पम्हुट्ठो, जेसिं तेसिं विही भवे एसो ।
जे पुण अन्ने पेच्छे, तेसि तु इमो विही होइ ॥

एवमुक्तेन प्रकारेण तावत् येषामुपधिर्विस्मरणतः पतितस्तेषामेषोऽनन्तरोदितो विधिर्भवति ये पुनरन्ये साधर्मिका प्रेक्षन्ते तेषामयं वक्ष्यमाणो विधिर्भवति । तमेवाह ॥

दट्ठुं अगिण्हणे लहुगो, दुविहो उवही उ नायमन्नातो ।
दुविहा नायमणाया, संविग्ग तहा असंविग्गा ॥

द्विविध उपधिरौघिक औपग्राहिकश्च । तस्य द्वितयस्यापि पति-

तस्य दृष्ट्वा अग्रहणे प्रायश्चित्तं लघुको मासो ये च पूर्वमुक्ता अधिकरणाद्यो दोषास्तेऽपि तस्य प्रसजन्ति स चोपधिर्भूयो द्विधा ज्ञातोऽज्ञातश्च। तत्र ज्ञातो नाम येषां स उपधिस्तेषां ज्ञायते अज्ञातो नाम यो न ज्ञायते यथा अमुकस्य संबन्धीति । ते ज्ञाता द्विविधाः संविग्ना असंविग्नाश्च ॥

मुत्तूण असंविग्गे, संविग्गाणं तु नयणजयणाए ।
दो वग्गा संविग्गे, छब्भंगा नायमण्णाए ॥

मुक्त्वा असंविग्नान् किमुक्तं भवति यो ज्ञायते असंविग्नानामेष उपधिः स न नीयते यस्तु संविग्नानां तत्र द्वौ वर्गौ तद्यथा संयताः संयत्यश्च तत्र संविग्ने एकस्मिन्वर्गे षड्भङ्गा ज्ञाते भवन्ति अज्ञाते च वक्ष्यमाणो विधिः । तत्र षड्भङ्गानुपदर्शयति ।

सयमेव अप्पं पेसेइ,अप्पाहे वा वि एव सग्गामे ।
परगामे वि य एवं, संजतिवग्गे वि छब्भंगा ॥

यदि ते संयताः संविग्ना इति ज्ञातास्तदा स्वयं वा गन्तुं नयति अन्यस्य वा हस्ते प्रेषयति संदेशयति वा यथा मया स उपधिर्विस्मरणतः पतितो लब्ध इति । एवं स्वग्रामे त्रयो भङ्गाः परग्रामेऽपि स्थितानामेते एव त्रयः प्रकाराः एवं षड्भङ्गाः संयतानामेवं संयतीवर्गेऽपि षड्भङ्गास्तदेवं ज्ञातविषये विधिरुक्तः । संप्रत्यज्ञातविषयं विधिमाह ।

एहाणादिणा य घोसेण, सोउं गमणं च पेसणप्पाहे ।
पम्हुट्ठे वोसट्ठे, अप्पबहुअसंघरंतम्मि ॥

यो न ज्ञायते कस्याप्येष उपधिरिति स परिज्ञाननिमित्तं स्नानादिसमवसरणे घोष्यते घोषणं च श्रुत्वा केनापि कथिते येषां स उपधिस्तत्र स्वयं वा गन्तुं नयति अन्यस्य वा हस्ते प्रेषयति । संदेशयति वा । तथा (पम्हुट्ठे) विस्मरणतः पतिते व्युत्सृष्टे परित्यक्ते येनानीतस्तस्मिन्नसंस्तरति अल्पबहु परिज्ञाय परिभोगोऽनुज्ञातः । एतदेव व्याख्यानयति ।

कामं विम्हुट्ठाणे, वत्तं पुण जावतो इमम्हेहिं ।
इति वेंते समणुम्मे, इच्छाकज्जेसु सेसेसुं ॥

येषां स उपधिर्विस्मरणतः पतितस्तेषामन्तिकमानीयते नीत्वा चेदं भण्यते यथाऽयं युष्मद्विस्मरणतः पतितोऽस्माभिश्चानीतस्ततो गृह्यतामिति एवमुक्ते ते प्राहुः कामं नोऽस्माकं विस्मरणतः पतितमिदमुपकरणं परं भवत इदमस्माभिस्त्यक्तं त्रिविधं त्रिविधेन व्युत्सृजितमिति भावः । एवं ब्रुवति उपधिस्ते यदि संभोगिकास्तेन च विना संस्तरन्ति तर्हि स येषां सत्कस्तैः परिष्ठापयन्ति । "एतेन इच्छाकज्जेसु इति" व्याख्यातम् । संप्रति "सेसेसुत्ति" व्याख्यायते । शेषा असांभोगिकास्तेष्वपि कार्येष्वित्थं इयमत्र भावना अन्यसांभोगिकैरानीते तैश्च प्रतिषेधे यदि यैरानीतस्ते तेन विना संस्तरन्ति अन्यश्चोपाधिर्दुर्लभो न लभ्यते वा तदा तैः समनुज्ञातं परिभुञ्जते एतावता " अप्पबहुसंथरंतम्मि " व्याख्यातम् । तदेवं संविग्नानां विधिः ।

इदानीमसंविग्नानामुपधिविधिरुच्यते ।

पक्खिगापक्खिगा चेव, हवंति इयरे दुहा ।
संविग्गपक्खिगे णेंति, इयरेसिं न गेण्हति ।

इतरे असंविग्ना द्विविधास्तद्यथा पाक्षिका अपाक्षिकाश्च संविग्नपाक्षिका असंविग्नपाक्षिकाश्च इत्यर्थः । तत्र यः संविग्नपाक्षिकः संविग्नपाक्षिकस्य संबन्धी उपधिस्तं स्वयं वा नयति अन्यस्य वा हस्ते प्रेषयति संदेशयति वा यस्त्वितरेषामसंविग्नानामुपधिस्तं पतितं दृष्ट्वा न गृह्णाति ।

अत्रैवापवादमाह ।

इयरे वि होज्ज गहणं, आसंकाए अणज्जमाणम्मि ।
किह पुण होज्जा संका, इमाहि उ कारणेहिं तु ॥

इतरस्मिन्नप्यसंविग्नपाक्षिकसंबन्धिन्युपधावसंग्नपाक्षिकसंबन्धित्वेनाज्ञायमाने आशङ्कया ग्रहणं भवेत् । सूरिराह वक्ष्यमाणैः कारणैः तान्येवाह ।

एहाणादिसमोसरणे, अहव समावत्तितो गयाणेगा ।
संविग्गमसंविग्गा, इति संका गेण्हते पडियं ॥

जिनप्रतिमास्नानदर्शननिमित्तमादिशब्दात् संघप्रयोजनेन वा केनापि समवसरणे मेलापके यदि वा एवमेव समापत्तितो गताः पुरतोऽनेके संविग्ना असंविग्नाश्च तेषां गच्छतां कस्याप्युपधिर्विस्मरणतः पतितः स न ज्ञायते सम्यक् किं संविग्नानां केवलं स्यादसंविग्नानामपीति तं पतितं गृह्णाति ।

संविग्गपुराणोवहि, अहवा विहिसीवणा समावत्ती ।
होज्ज व असीविता च्चिय, इति आसंकाए गहणं तु ॥

अथ पुराणसंविग्नोपधेः किमुक्तं भवति येषां सत्क उपधिः पतितस्ते पूर्वं संविग्ना आसीरन् पश्चादसंविग्नीभूताः स चोपधिः पूर्वं संविग्नसीवनेन सीवितः। अथवा संविग्नैरपि समापत्त्या विधिसीवनिकया सीवितो यदि वा असीवित एव संभवेत्ततस्तं दृष्ट्वा आशङ्का भवति किं संविग्नानामुतासंविग्नानां तत आशङ्कया ग्रहणं भवति।

संप्रति ग्रहणानन्तरविधिशेषमाह ।

तं पुण परदेसगते, नाउं भुंजति अहव वज्जंति ।
अन्ने उ परिठवणा, कारणजोगा व गीएसु ॥

तमुपधिं गृहीत्वा येषां संविग्नानां सत्क उपधिस्ते परदेशं गताः ततस्तान्परदेशं गतान् ज्ञात्वा कारणे समापतिते परिभुञ्जते अथवा कारणाभावे परिष्ठापयन्ति । एवं कारणैरसंविग्नानामपि पतितमुपधिं गृह्णानो न प्रायश्चित्तभाग्भवति। अथ येषां सत्क उपधिः पतितो गृहीतस्ते संविग्ना अप्यन्ये असांभोगिकास्तेषां देशान्तरगतानामुपधिं गृहीत्वा निष्कारणे परिष्ठापयन्ति (कारणत्ति) यदि ते सर्वे गीतार्था न च तेषामुपधिरस्ति यदि वा तादृश उपधिरन्यो दुर्लभस्तदा एवं कारणे परिभुञ्जते। अथ ते अगीतार्थमिश्रास्तदा परिष्ठाप्यन्ते प्रज्ञाप्य वा गीतार्थान्परिभुञ्जते एतश्चान्यसांभोगिकसत्कतया परिज्ञायते । द्रव्यपरिज्ञाने प्रागुक्त एव विधिः ।

बिइये पदे न गेण्हेज्जा, संविग्गाणं पि एहि कज्जेहिं ।
आसंकाए य नज्जइ, संविग्गाण च इयरेसिं ॥

द्वितीयपदे अपवादपदे संविग्नानामपि पतितमुपधिमभिर्वक्ष्यमाणैः कार्यैः कारणैर्न गृह्णीयात् । तान्येवाह न ज्ञायते किमेष संविग्नानामुत इतरेषामसंविग्नानामित्याशङ्कया पतितं न गृह्णाति तथा॥

असिवगहियं व सोउं, ते वा भव व होज्ज जइ गहियं।
ओमेण अन्नदेसं, व गंतुकामा न गेण्हेज्जा ॥

येषां स उपधिस्ते अशिवगृहीता येन दृष्टः स नेति प्रथमो १ भङ्गः यैर्दृष्टस्ते अशिवगृहीता येषां सत्कस्तेन गृहीता इति द्वितीयः २ उभयं गृहीतमिति तृतीयः ३ उभयमपि न गृहीतमिति चतुर्थो ४ भ-

ङ्गः तत्र चतुर्थे भङ्गे अपवादमधिकृत्य शून्यो न भवति तत्रापवाद इति भावः । तत्र प्रथमभङ्गे न गृह्णाति अशिवोपहतत्वात् द्वितीयेऽपि न गृह्णाति तदानीं तस्य तैरग्रहणादशिवोपहतत्वात् तृतीये भङ्गे सदृशे अशिवे कारणे गृह्णाति विसदृशे सोमसुखादिलक्षणे गृह्णाति यदि वा अवमौदर्येण देशान्तरं गन्तुकामा न गृह्णीयुः ॥

अह पुण गहियं पुव्वं, न य दिट्ठं जस्स विच्चुय ० तु ।
उवहावियनदेसं, इमिणा विहिणा विगिंचिज्जा ॥

अथ पुनर्गृहीतं पूर्वमुपकरणं न च स दृष्टो यस्य सत्कं तदुपकरणं विच्युतं विस्मरणतः पतितं यस्मात् (उवहावियन्नदेसंति) अथ पुनर्गृहीतमुपकरणं न च स दृष्टो यस्य सत्कं तदुपवेगेन धाविताः प्रधाविता अन्यं देशं गतास्ततः अनेन वक्ष्यमाणेन विधिना विवेचयेत् परिष्ठापयेत् । तमेव विधिमाह ॥

दुविहा जायमजाया, जाया अभियोग तह असुद्धा य ।
अभियोगादी भेत्तुं, इयरं पुण अक्खयं चेव ॥

सा परिष्ठापनिका द्विविधा जाता अजाता च तत्र जाता नाम अभियोगकृता विषकृता च तत्राभियोगो वशीकरणम् । अथवा जाता अशुद्धा सा द्विविधा मूलगुणाशुद्धा उत्तरगुणाशुद्धा च । तत्र जाता अभियोगकृता विकृता वा मूलगुणाशुद्धा उत्तरगुणाशुद्धा वा सा भेत्तुं भेत्तुं वा कर्तव्या । इतरत् पुनरुपकरणमभियोगादिदोषरहितमकृतं चैव परिष्ठापयितव्यम् । अत्र परः प्रश्नं करोति

पहनिग्गया इयाणिं, विजाणणट्ठाइ तत्थ चोदेइ ।
तेसिं सुद्धिनिमित्तं, कीरइ विधि इमं तु तहिं ॥

पथि निर्गताः आदिशब्दादशिवादिभिः कारणैर्निर्गताः परिगृह्यन्ते तेषां शुद्धिनिमित्तं यदत्र प्रागुक्ते विधौ प्रतिपादिते परः असहमानश्चोदयति प्रश्नयति पथिनिर्गतादीनां पथिनिर्गता मार्गप्रतिपन्नास्तेषां परिष्ठापितमिदमिति विज्ञानार्थं तत्रेदं वक्ष्यमाणं चिह्नं क्रियतामिति । तदेवाह ।

एगा दो तिन्नि वन्नी, वत्थे कीरंति पत्तचीराणि ।
सुज्झंतु चोदगेणं, इति उदिते बेति आयरितो ॥

मूलगुणैरशुद्धे वस्त्रे एकावग्रिरेकं वस्त्रं कृत्वा तत् परिष्ठाप्यते मूलगुणैरशुद्धे पात्रे एकं चीवरमेकं प्रस्तरं क्षिप्त्वा तत्परिष्ठाप्यतामुत्तरगुणैरशुद्धे शुद्धे वा क्रियेतां पात्रे द्वे चीवरखण्डे द्वौ वा प्रस्तरौ क्षिप्येयाताम् । मूलगुणैरुत्तरगुणैश्च शुद्धे वस्त्रे त्रीणि चक्राणि क्रियेरन् । पात्रे त्रीणि चीवराणि त्रयो वा प्रस्तराः क्षिप्येरन् इति । अमुना प्रकारेण चोदकेनोक्ते आचार्यो ब्रवीति । किं तदित्याह ।

सुद्धमसुद्धं एवं, होति असुद्धं च सुद्धवायुवसं ।
तेण तिदुगेगगंठी, वत्थे पत्तम्मि रेहो उ ॥

एवं युष्मदुक्तप्रकारेण चक्रकरणे वातवशात् शुद्धमपि चक्रैकद्विकभङ्गतोऽशुद्धं भवति । अशुद्धमपि वातवशेन चक्रत्रिकभावतः शुद्धं भवति । पात्रमपि वातवशेन एकद्विकचीवरापगमे शुद्धं भवति । अशुद्धमपि वातवशेनान्यागन्तुकचीवरखण्डसमागमे शुद्धं तस्मादयं विधिस्तत्र कर्तव्यः । मूलोत्तरगुणशुद्धे वस्त्रे त्रयो ग्रन्थयः कर्तव्याः पात्रे तिस्रो रेखाः उत्तरगुणैरशुद्धे वस्त्रे द्वौ ग्रन्थी पात्रे द्वे रेखे मूलगुणैरशुद्धे वस्त्रे एको ग्रन्थिः पात्रे एका रेखा ।

अद्धाणनिग्गयादी, उवएमा एएण पेसणं वावि ।
अविकोविते अप्पणमं, दड्ढे भिन्ने विवित्ते य ।

अध्वनि मार्गे निर्गता अध्वनिर्गता आदिशब्दात् अशिवादिभिर्वा कारणैर्निर्गताः परिगृह्यन्ते तेषामुपकरणे दग्धे वह्निना भस्मीकृते भिन्ने वा विविक्ते वा विस्मरणतः पतिते वास्तव्यास्तान् अध्वनिर्गतादीन् ब्रुवते अस्माकमुद्धरितानि वस्त्राणि न सन्ति केवलमस्माभिरमुकप्रदेशे परिष्ठापितानि वर्तन्ते तान्यानीय गृह्णीथ एवमुक्ते तेऽपि प्राघूर्णका ये गीतार्थास्तान् प्रेषयन्ति वास्तव्या अपि च तेषां चिह्नानि उपदिशन्ति यथा गर्तसमीपे गिरिसमीपे तरुसमीपे कूपसमीपे इत्यादि (आणयणमिति) अथैवं चिह्ने कथितेऽपि स्थानं न जानन्ति यदि वा न ते वास्तव्या ज्ञानादिप्रयोजनैर्व्यावृतास्ततः स्वयमानीय प्रयच्छन्ति (पेसणं वा विति) अथवा वास्तव्याः प्राघूर्णकानां देशकं ददति यथा अमुकप्रदेशे वस्त्रादि परिष्ठापितमस्ति तदमीषां दर्शय अपि शब्दात् यदि ज्ञानादिप्रयोजनैर्न व्यावृतास्तदा परिष्ठापिताभावे अन्यत् याचित्वा प्रयच्छन्ति (अवि कोविए अप्पणामिति) आनीते परिष्ठापिते कोऽप्यकोविदो गीतार्थं उपहतमिति कृत्वा नेच्छति तत्र प्राघूर्णकैर्वास्तव्यैर्वा तस्यात्मीयं वस्त्रं पात्रं वा दत्वा इतरत्स्वयं ग्रहीतव्यम् । अथ तदपि कश्चिदगीतार्थतया न गृह्णीयात्तर्हि तत् आनीतं पुनः परिष्ठाप्यते एष गाथासंक्षेपार्थः ।

सांप्रतमेनामेव विवरीषुराह ।

अद्धाण निग्गयादी, नाउ परित्तोवही विवित्ते वा ।
संपट्टगभंडधारी, पेसंती ते वियाणंतो ॥

अध्वनिर्गतादीन् आदिशब्दादशिवादिकारणनिर्गतपरिग्रहस्तान् परीतोपधीन् परिमितोपधीन् विविक्तान्वा विविक्तोपधीन्वा विस्मरणतः पतितोपधीनित्यर्थः । उपलक्षणमेतत् दग्धोपधीन्वास्तव्या ज्ञात्वा कथंभूता वास्तव्या इत्याह । संपाट्टकभाण्डधारिणो नाम यावन्मात्रमुपकरणमुपपद्यते तावन्मात्रं धरन्ति शेषं परिष्ठापयन्ति । ततस्तान् तथाभूतान् दृष्ट्वा ब्रुवते अस्माकमुद्धरितानि वस्त्राणि न सन्ति किं त्वस्माभिरमुकप्रदेशे परिष्ठापितानि वर्तन्ते तानि गत्वा प्रतिगृह्णीतेति एवमुक्ते तथाऽपि प्राघूर्णका जानन्त गीतार्थान्प्रेषयन्ति कथमित्याह ।

गड्डागिरितरुमादी.ण, काउं चिंधाणि तत्थ पेसंति ।
अविययवेट्ठा सयं वा, आणं तव्वं व मग्गंति ॥

अत्र प्राघूर्णकाः प्रेषिता न वास्तव्या गर्तगिरितर्वादीनि चिह्नानि कृत्वा प्रेषयन्ति यदि वा ज्ञानादिभिरव्यापृताः स्वयमानयन्ति परिष्ठापिताभावे अन्यद्वा मार्गयन्ति । सांप्रत"मविकोविए अप्पणगमिति" व्याख्यानयति ।

नीयम्मि य उवगरणे, उवहयमेयं न इच्छई कोई ।
अविकोविय अप्पणगं, अणिच्छमाणे विविंचंति ॥

नीतेऽप्युपकरणे कश्चिदकोविद उपहतमेतदिति कृत्वा नेच्छेत तस्मिन्नकोविदे आत्मीयं वस्त्रादि समर्प्यते । अथ तदपि नेच्छति तदा परिष्ठापितमानीतं पुनर्विविञ्चन्ति परिष्ठापयन्ति ।

असतीए अप्पणा वि, झामियहियवूढपडियमादीसु ।
सुज्झति कयप्पयन्नो, मग्गेण्हं असढभावो ॥

येन पूर्वं तत् परिष्ठापितं तस्य पश्चादुपधिः कथमपि प्रदीपनकेन दग्धः हृतो वा तस्करैः पानीयेन वा नद्यादिप्लवेन प्लावितः व्रजतो वा कथमपि विस्मरणतः पतितः । आदिशब्दात्प्रत्यनीकेन वा केनापि वस्त्राणि फाडितानि पात्राणि अनेकधा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भिक्षानि ततो ध्यामितहृतव्यूढपतितादिषूपकरणानि याचनीयानि तेषामप्यसत्यभावे कृतप्रयत्नस्तदेव पूर्वपरिष्ठापितं स्वयं गृह्णात्यशठभाव इति कृत्वा शुद्धः । व्य० द्वि० ८ उ० । (भिक्षाचर्यायां क उपधिर्नेतव्य इत्येसणाविहारादिशब्देषु)

(१६) स्थविराणां ग्रहीतव्या उपधयः ॥

(सूत्रम्) थेराणं थेरभूमिं पत्ताणं कप्पति दंमए वा १ भंमए वा २ छत्तगं वा ३ मत्तगं वा ४ लट्ठियाए वा ५ भिसि वा ६ चेलं वा ७ चेलचिलिमिलिया वा ८ चम्मए वा ९ चम्मकोसं वा १० चम्मपलिच्छेयणाए वा ११ अविरहिए उ वा सेठवेत्ता गाहावतिकुलं भत्तए वा पाणाए वा पविसित्तए वा निक्खमित्तए वा कप्पति से सं नियट्टचारिस्स दोच्चं पि उग्गहं अणुणवित्ता परिहारं परिहरित्तए वा ॥ ५ ॥

स्थविराणां जरसा जीर्णानां स्थविरभूमिं प्राप्तानां सूत्रार्थतदुभयोपेतानामित्यर्थः । कल्पते दण्डं विदण्डादि भेदभिन्नं भण्डकमनेकविधानि उपकरणानि छत्रकं प्रतीतं मात्रकमुच्चारादिसत्कं लष्टिका दण्डविशेषः । चेलं कल्पादि चर्म्म तलिकादिरूपं चर्म्मपरिच्छेदनकं बन्ध्वा एतान् अविरहिते अवकाशे स्थापयित्वा गृहपतिकुलं पिण्डपातप्रतिपाताय प्रवेष्टुं वा निष्क्रमितुं वा कल्पते सन्निवृत्तचराणां भिक्षाचर्यातः प्रत्यागतानां स्थविराणां द्वितीयमपि वारमवग्रहमनुज्ञाप्य परिहर्तुं धारणया परिभोगेन चेत्येष सूत्राक्षरमात्रार्थः । विशेषव्याख्या तु भाष्यकृता क्रियते । तत्र यानि पदानि व्याख्येयानि तानि दर्शयति ॥

दंम विदंमे लट्ठी, विमुद्धिचम्मे य चम्मकोसा य ।
चम्मस्स य जे छेया, थेरा वि जे य जराजुण्णा ॥

दण्डो विदण्डः यष्टिर्वियष्टिः चर्म्म चर्म्मकोशः चर्म्मणश्च ये छेदास्ते चर्म्मपरिच्छेदनकास्ते च व्याख्येयास्तत्र प्रथमतःस्थविरपदमाचष्टे । स्थविरा अपि च ये जराजीर्णास्ते द्रष्टव्याः ॥

आयवताणनिमित्तं, छत्तं दंमस्स कारणं वुत्तं ।
कम्हा ठवेइ पुच्छा, संदिग्धधरो अ दुग्गट्ठा ॥

आतप उष्णेन परितापना तस्य त्राणार्थं छत्रकं गृह्णाति दण्डस्य उपलक्षणमेतत् विदण्डादीनां ग्रहणे कारणं पूर्वनिशीथे कल्पे च भणितम् । अथ कस्माद्दण्डं स्थापयति एषा पृच्छा अत्रोत्तरं दण्डको दीर्घः स्थविरश्च ततः तं दुर्गे व्याघ्रादिपरिवारणनिमित्तं परिवहति ॥

संप्रति भाण्डादिव्याख्यानार्थमाह ॥

भंडं परिग्गहो खलु, उच्चारादी य मत्तगा तिन्नि ।
अहवा भंमग्गहणे, अणेगविहं भंडगं गहियं ॥

भाण्डकः खलु पतद्ग्रह उच्यते उच्चारादौ च आदिशब्दात् प्रश्रवणे श्लेष्मणि चेति परिग्रहस्त्रीणि मात्रकाणि भवन्ति तद्यथा उच्चारमात्रकं प्रश्रवणमात्रकं श्लेष्ममात्रकं चेति । अथवा भाण्डकग्रहणेनानेकविधं भाण्डकं गृहीतं द्रष्टव्यम् ॥

चेलग्गहणे कप्पा, तसथावरजीवदेहनिप्पन्ना ।
दोरग इयरा व चिलिमिलि, चम्मतलिगा व कत्तिव्वा ॥

चेलग्रहणेन त्रसस्थावरजीवशरीरनिष्पन्ना और्णिकसौत्रिकरूपा इत्यर्थः कल्पाः परिगृह्यन्ते चिलिमिलिर्नाम जवनिका सा दवरकमयी इतरा वा द्रष्टव्या चर्म्ममयतलिका उपानत् कृत्तिर्वा औपग्रहिकोपग्रहणविशेषरूपाः ॥

अंगुट्ठअवरफाणू, नह कोसच्छेयणं तु जे वच्छा ।
ते छिन्नसंधणट्ठा, दुखंमसंधाणहेउं वा ॥

चर्म्ममयः कोशः चर्म्मकोशः सोऽङ्गुष्ठस्य यदि वा (अवरफाणू) पार्ष्णिका तस्याः परिरक्षणाय ध्रियते । अथवा नखरदनादेरौपग्रहिकोपकरणविशेषस्य चर्म्ममयः कोशश्चर्म्मकोशः ये तु वर्द्धास्ते चर्म्मपरिच्छेदनकमित्युच्यन्ते । ते च छिन्नसंधानार्थमथवा द्विखण्डसंधानहेतोर्ध्रियन्ते । तदेवं विषमपदानि व्याख्यातानि ॥

संप्रति दण्डाद्युपकरणस्थापनाचिन्तां चिकीर्षुराह ॥

जइ य ठवेइ असुण्णे, न य वेइ देज्ज अत्थ ओहाणं ।
लहुगो सुण्णे लहुगा, हियम्मि जं जत्थ यावति उ ॥

यदि चाशून्ये अविरहिते प्रदेशे दण्डाद्युपकरणं स्थापयति न च कस्यापि संमुखमेवं ब्रूते अत्र दद्यादवधानमुपयोगमिति तदा तस्य प्रायश्चित्तं लघुको मासः । अथ शून्ये स्थापयति तदा चत्वारो लघुकास्तथा शून्ये मुक्ते स्तेनैश्चापहृते यत्र यत्र जघन्ये मध्यमे उत्कृष्टे वा उपकरणे प्रायश्चित्तमुक्तं तत्प्राप्नोति ।

अत्र परस्याशङ्कामाह ॥

एवं सुत्तं अफलं, जणियं कप्पतित्ति थेरस्स ।
भण्णति सुत्तनिवातो, अतीमहल्लस्स थेरस्स ॥

चोदकः प्राह यद्येवमशून्ये च प्रदेशे उपकरणे दोषस्तर्हि तत्सूत्रमफलमविषयं यदुक्तं कल्पते अविरहिते अवकाशे स्थापयित्वेत्यादि । सूरिराह भण्यते अत्रोत्तरं दीयते अस्य सूत्रस्य निपातोऽतिमहतोऽतिशयेन गरीयसः ।

गच्छाणुकंपणिज्जा, जेण ठवेऊण कारणेणं तु ।
हिंमइ जुण्णमहल्लो, तं सुण वोच्छं समासेणं ॥

सोऽतिवृद्धो महान् गच्छस्यानुकम्पनीयं परं येन कारणेन स जीर्णो महान् एकाकीभूतोऽविरहिते प्रदेशे उपकरणं स्थापयित्वा भिक्षां हिण्डते तत्कारणं समासेन वक्ष्ये तच्च वक्ष्यमाणं शृणु प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति ।

सो पुण गच्छेण समं, गंतूण अजंगमो न वा एइ ।
गच्छाणुकंपणिज्जो, हिंडइ थेरो पयत्तेण ॥

स पुनरजंगमो गच्छेन समं गन्तुं न शक्नोति ततः स गच्छस्यानुकम्पनीय इति कृत्वा स्थविरो वक्ष्यमाणेन प्रयत्नेन यतनया हिण्डते तमेव प्रयत्नमाह ।

अतक्कियउवहिणा उ, थेरा भणिया अलोभणिज्जेण ।
संकमणे पट्ठवणं, पुरतो समगं व जयणाए ॥

यमुपधिं न कोऽपि तर्कयति विशेषतः परिभावयति तेनातर्कणीयेनोपधिना अत एवालोचनीयेन लोभगोचरतामतिक्रान्तेन परिधाप्य मासकल्पप्रायोग्यस्य वर्षावासप्रायोग्यस्य वा क्षेत्रस्य संक्रमेण कर्त्तव्ये आचार्येण ते स्थविरा अतिमहान्तो भणिताः पुरतः समकं वा यतनया चलयता तत्र यदि प्रतिभासते तर्हि पुरतोऽग्रे साधुभिः सह तस्य प्रस्थापनं क्रियते । अथ न शक्नोति पुरतो गन्तुं तदा समकं नीयते कथमित्याह । यतनया तामेव यतनामाह ।

संघाडग एगेण व, समगं गेण्हंति सभए ते उवहिं ।
कितिकम्म दवं पदमा, करेंति तेसिं असति एगो ॥

यदि गच्छेन समं व्रजति ततः सुन्दरमेव सकलस्यापि गच्छस्य तत्साहाय्यकरणात् । अथ समकं गन्तुं न शक्नोति तदा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साधुसंघाटकेन समं साधुसंघाटकस्याभावे एकेन वा साधुना समं व्रजति तत्र यौ सहायौ दत्तौ तौ तस्योपकरणं गृहीतः परिवहतः । यदा तु चौरभयेन सभयं स्थानं तदा समस्तमपि उपधिकल्पादिलक्षणं गृहीतो गृहीत्वा स्थविरो यथाजातः कृत्वा अग्रे क्रियते ततः सभयस्थानलङ्घने कृतिकर्मविश्रामणां तस्य कुरुतः कृत्वा द्रवं पानीयञ्च समर्पयतः । तदनन्तरं प्रथमालिकां कारयतः । तयोर्द्वयोः साध्वोरभावे एकः समस्तं प्रागुक्तं करोति ।

जइ गच्छेज्जाहि गणो, पुरतो पंथे य सो फिडिज्जाहि ।
तत्थ उ ठवेज्ज एगं, रिक्खं पडिपंथगप्पाह ॥

अथैकोऽपि सहायो न विद्यते तदा स्थविर एकाक्यपि पुरतः प्रवर्त्यते । तत्र यदि सार्थादिवशतस्त्वरितं गच्छन् स गणपुरतो गच्छेत् यदि वा पथि परिरयादिना स स्फिटितो भवेत्तत्र एकं साधुं रिक्तमुपकरणरहितं स्थापयते । अथ तत्र शरीरापहारिस्तेनभयं दुष्टव्याघ्रादिश्वापदभयं वा ततः स मोक्तुं न शक्यते तर्हि अग्रेतनस्थानात्प्रतिनिवर्त्तमानं पथिकमप्याह इति संदेशापयेत । यथाऽग्रे साधुसमुदायो व्रजन्नास्ते तस्मात्त्वरितमागन्तव्यमिति ।

संप्रति यथा स स्फिटितो भवति तथा प्रदर्शयति–

सारिक्खकरिसणीए, अहवा वातेण हुज्ज पुट्ठो उ ।
एवं फिडितो हुज्जा, अहवा वीपरिरएणं तु ।
कालगए व सहाए, फिडितो अहवा वि संजमो हुज्जा ।
पढमापिडितो वएण व, गामपविट्ठो व जो हुज्जा ॥

पथि गच्छतो मार्गद्वयं तत्र येन पथा गच्छो गतस्तस्मादन्यस्मिन्पथि केचित्साधुसदृशाः पुरतो गच्छन्तो दृष्टास्ततः साधव एते गच्छन्तीति सादृश्यकर्षिण्या मित्या विप्रलब्धः सन् तेन पथा गच्छेत् अथवा अपान्तराले स वातेन स्पृष्टः स्यात् । ततो गन्तुं न शक्नोति एवममुना प्रकारेण स्फिटितो भवेत् । अथवा तथाविधमहागर्त्तया पर्वतस्य नद्या वा परिरयेण स स्थविरो व्रजन् गच्छन् स्फिटितः स्यात् । यदि वा यस्तस्य सहायो दत्तः स कालगत इति स्फिटित एकाकी संजातः । अथवा संभ्रमे वा त्वरितं सार्थेन सह पलायमाने गच्छे स्थविरः शनैर्व्रजन् गच्छन् स्फिटितो भूयात् । यदि वा प्रथमेन क्षुत्परीषहेण पीडितः सन् यः स्थविरो ग्रामं भिक्षां वा प्रविष्टो भवेत् गच्छश्च स्तेनादिभयेन सार्थेन समं त्वरितं व्रजति स गच्छात्स्फिटितो भूयात् ।

एएहिँ कारणेहिं, फिडितो जो अट्ठमं तु काऊण ।
अणुहिंडंतो मग्गइ, इतरे वि य तं विमग्गंति ॥

एतैरनन्तरोदितैः कारणैर्यो गच्छात्स्फिटितः सोऽष्टमं षष्ठं चतुर्थं वा कृत्वा भिक्षामटन् गच्छं मार्गयति अन्वेषयति इतरेऽपि च गच्छसाधवस्तं स्थविरं विमार्गयन्ति । अथ ते गच्छसाधवः सार्थेन समं व्रजन्तो यदि सार्थं मुञ्चन्ति तदा स्तैनैरपि हीयन्ते वनदावेन वा दह्यन्ते क्षुधेन वा श्वापदेन केनापि गृह्यन्ते ततो गवेषयितुं न शक्नुवन्ति तर्हि स्थविरेणावश्यमुक्तप्रकारेण मार्गणा कर्त्तव्या ।

अह पुण न संथरेज्जा, तो गहितेणेव हिंडते भिक्खं ।
जइ न तरेज्जाहि ततो, ठवेज्ज ताहिं असुन्नम्मि ॥

यदि चतुर्थेन षष्ठेनाष्टमेन वा गवेषणं कर्त्तुं न संस्तरेत् ततस्तदा तदुपकरणमशून्ये प्रदेशे स्थापयेत् । तत्रापि यानि वर्जनीयानि स्थानानि तानि प्रदर्शयति ।

अह पुण ठविज्ज एहिं, सुन्नगिकम्मगुंछिएसुं वा ।
नाणुन्नवेज्ज दीहं, बहुलुंजइ तत्थ पच्छित्तं ॥
तिसु लहुग देसु लहुगो, खद्धाइयणे य चउलहू होंति ।
चउगुरु समखंडीए, अप्पत्तपडिच्छमाणस्स ॥

अत्राद्यगाथापदानां द्वितीयगाथोक्तप्रायश्चित्तैः सह यथासंख्येन योजना सा चैवमथ पुनः स्थापयेदेषु वक्ष्यमाणेषु स्थानेषु गाथायां तृतीया सप्तम्यर्थे ततः प्रायश्चित्तसंभवस्तत्र यदि शून्ये स्थापयति ततश्चतुर्लघु अग्निकर्म्मिकायामपि शालायां स्थापने चतुर्लघुका अग्निना यदि कथमप्युकरणस्य दाहस्तदा तन्निष्पन्नमपि प्रायश्चित्तं जुगुप्सितगृहेषु स्थापयति चतुर्लघु तस्मादेतानि वर्जयित्वा वक्ष्यमाणेषु स्थानेषु स्थापयेत् यत्र स्थापयति ते अनुज्ञापयितव्या अननुज्ञापने मासलघु दीर्घां भिक्षाचर्यां कुर्वति मासलघु बहु भुञ्जाति प्रायश्चित्तं चत्वारो लघवो भवन्ति (खद्धाइयणेइत्ति) खद्धस्य प्रचुरस्य अदने भक्षणे सतीत्यर्थः । तथा अप्राप्तां संखडीं प्रतीक्षमाणस्य प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः ।

संप्रति येषु स्थानेषु स्थापयेत्तानि दर्शयति ।

असति य सुमणुन्नाणं, सव्वोवहिणा व अइएसुं वा ।
देसकसिणं व घेत्तुं, हिंडइ मइ लंज आलोए ॥

यदि सुमनोज्ञाः सन्ति तर्हि तेषूपकरणं स्थापयितव्यं तेषामसत्यभावे अमनोज्ञानामपि असांभोगिकानामप्युपाश्रये स्थापयेत् यदि वा सर्वेणाऽप्युपधिना गृहीतो न हिण्डते यदि शक्तिरस्ति अशक्तौ पार्श्वे स्थापयति यदि वा यथा भद्रकेषु गृहे स्थापयति (देसकसिणे व घेत्तुमिति) समस्तस्योपधेर्देशभूतानि यानि कृत्स्नानि परिपूर्णानि कल्पादीनि तानि गृहीत्वा भिक्षामटति अशक्तौ तान्यपि मुक्त्वा परिभ्रमति तत्र सति क्षाजे तेषु गृहेषु भिक्षामटाति अटन् उपकरणं पश्यति ॥

असति य अविरहियम्मि, णिचिकादीण अंतिए ठवए ।
देज्जह ओहाणंति, जाव अभिक्खं परिब्भमामि ॥

असति अविद्यमाने भावे अविरहिते प्रदेशे नैत्यकादीनां नैत्यिको ध्रुवकर्म्मिको लोहकारादिरादिशब्दात् मणिकारशंखकारादिपरिग्रहस्तेषामन्तिके स्थापयेत् ब्रूते च दद्याद्स्योपकरणस्यावधानं यावदहं भिक्षां परिभ्रमामि ॥

ठवेति गणयंतो वा, समक्खं तेसि बंधिउं ।
आगतो रक्खिया जोत्ति, तेण तुब्भेच्चिया इमे ॥

तेषां ध्रुवकार्म्मिकप्रभृतीनां समक्षं गणयन् बध्वा स्थापयति वा शब्दः स्थापनाविषयप्रकारान्तरसूचने आगतश्च सन् द्वितीयमपि वारमवग्रहमनुज्ञापयति । कथमित्याह भो इत्यामन्त्रणे युष्माभी रक्षितान्यमूनि तेन युष्मदीयानीमानि मां गृह्णन्तमनुजानीत ॥

दट्ठूण व अन्नट्ठा गंठिं, केण मुक्को त्ति पुच्छति ।
रहियं किं घरं आसी, को परो व इहागतो ॥

इह यदा तेषां समक्षमुपकरणं बध्वा स्थापयति तदा साभिज्ञानं ग्रन्थिं बध्नाति । ततः आगतः सन् तं प्रलोकयति । मा केनाप्युन्मुच्य किंचित् हृतं स्यात्तत्र यदि तथैव ग्रन्थिं पश्यति ततः पूर्वोक्तप्रकारेण द्वितीयमवग्रहमनुज्ञापयति । अथ ग्रन्थिमन्यथा पश्यति ततो ब्रूते केनायं ग्रन्थिरुन्मुक्तश्छोटित इति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पृच्छति । तथा किमिति क्षेपे रहितं शून्यं गृहमासीत् को वा अपर इह समागत इति ।

नत्थि वत्थुं सुगंभीरं, तं मे दावेह मा चिरा ।
न दिट्ठो वा कहं पत्तो, तणओ उवओ इह ॥

ममोपकरणमध्ये यद्वस्तु सुगम्भीरमतिशोभनं तन्नास्ति तद्दर्शय तद्वस्तु मा चिरकालं कुरु । अथ न गृहीतं मया नापि कोऽप्यागच्छद् इत्यस्तत आह तदद्दष्टो वा कथमत्रागच्छत् स्तेनक (उवयति) उत्परकः अवश्य दृष्टः स्वयं वा गृहीतमिति भावः ॥

धम्मो कहिज्ज तेसिं, धम्मट्ठाए व दिन्नमन्नेहिं ।
तुब्भारिसेहि एयं, तुज्झेसु य पच्चतो अम्हं ॥

धर्मस्तेषां ध्रुवकर्मिकप्रभृतीनां कथ्यते । कथयित्वा च पर्यन्ते संघाटकमानीयमिदमुच्यते धर्मार्थमेव युष्मादृशैरन्यैरेतत् उपकरणं मह्यं दत्तं युष्मासु च विषये अस्माकमतीव प्रत्ययो विश्वासस्ततः किमित्याह ।

तो णवियं णेपत्थं, दिज्जउ तं सावया इमं अम्हं ।
जइ देंतो रमणिज्जं, अदेंति ताहे इमं भणति ॥

यत एवं तस्मात् श्रावका यन्नोऽस्माकमत्र स्थापितं तदिदमस्माकं दीयतामेवमुक्ते यदि ददति ततो रमणीयं सुन्दरम् । अथ न ददति ततोऽददतस्तान् इदं वक्ष्यमाणं भणति । तदेवाह ।

थेर त्ति काउं कुरु मा अवन्नं, संती सहाया बहवो ममन्ने ।
जे उग्गमेस्संति ममेयमोसं, खित्ताइ नाउं इति ते अदेंते ॥

स्थविर इति कृत्वा मा ममावज्ञां कार्षुर्यतः सन्ति ममान्ये बहवः सहाया ये क्षेत्रादि ज्ञात्वा क्षेत्रकालादिकमवबुद्ध्य ममैतत् मासमुद्गमयिष्यन्ति इति एतत् तान् अददतः प्रति ब्रूते ।

उवहिप्पडिबंधेण, सो एवं अत्थए तहिं थेरो ।
आयरियपायमूला, संघाडेगो व अह पत्तो ॥

उपधिप्रतिबन्धेन स स्थविरस्तत्र एवमुक्तप्रकारेण अर्थयति तावत् यावदाचार्यपादमूलात् संघाटक एको वा साधुः समागच्छति । अथ सोऽपि प्राप्तः तर्हि यत्तैः कर्त्तव्यं तदुपदर्शयति ।

ते वि य मग्गंति ततो, अदत्ते साहेंति भोइयाईणं ।
एवं तु उत्तरुत्तर, जा राया अह व जा दिन्नं ॥

तेऽपि आचार्यपादे मूलादागताः साधवस्तान् ध्रुवकर्मिकादीन्मार्गयन्ति याचन्ते ततो यदि न ददति तर्हि तान् अददतो भोजिकादीनां नगरप्रधानपुरुषादीनां साधयन्ति कथयन्ति । अथ तत्रापि न किमप्यनुशासनं तर्हि ततोऽपि बृहतां बृहतां बृहत्तराणां कथनीयम् । एवमुत्तरोत्तरस्य कथनं तावत् यावत् राजा अथवा यावद्दत्तं भवति तावत्कथनीयम् ।

अह पुण अक्खयचिट्ठे, ताहे दोच्चोग्गहं अणुन्नवए ।
तुब्भच्चयं इमं ति य, जेणं ने रक्खियं तुमए ॥

अथ पुनस्तत् उपकरणमक्षतं तिष्ठति तदा द्वितीयमवग्रहमनुज्ञापयति यथा इदं समस्तमप्युपकरणं युष्मदीयं येनेदं युष्माभी रक्षितं तस्मान्मां गृह्णन्तमनुजानीतेति एतावता 'कप्पति णहं सन्नियट्टचाराणं दोच्चंपि उग्गहं अणुन्नवित्तेति' व्याख्यातम् ।

घत्तूरहिं सुन्नघरम्मि भुंजे, खिन्नो व तत्थेव य छन्नदेसे ।
असो सतो भुंजइ कच्चगेऊ, सव्वो वि उंनाए करेतु कप्पं ॥

गृहीत्वा उपधिं शून्यगृहे गत्वा भुङ्क्ते । अथ मार्गपरिश्रमेण भिक्षाटनेन च खिन्नः परिश्रान्तस्तर्हि तत्रैव छन्ने आवृते प्रदेशे भुङ्क्ते । अथ छन्नप्रदेशो नास्ति तर्हि (कच्चगे व दुगे) सर्वं भाजनाद्यावृत्य भाजनस्य च कल्पं कृत्वा भुङ्क्ते ।

मज्झे दवं पिबन्तो, भुत्ते वा तेहि वा दवावेति ।
नेच्छे वा मोयसए, एमेव य कच्चए डहरे ॥

मध्ये भोजनमध्यभागे किञ्चित् भुङ्क्ते इत्यर्थः । द्रवं पिबन् पातुकामो वा भुङ्क्ते वा परिपूर्णस्तैरेव गृहस्थैर्दापयति मात्रकात्पानीयमपवर्त्तापयति अपवर्त्यापि द्वाभ्यां हस्ताभ्यामञ्जलिं कृत्वा पिबति तथा यदि क्षुल्लके नववटुके न सर्वं भक्तं माति तदा यः पानीयविषये विधिरुक्तः स एवात्रापि द्रष्टव्यस्तथा एवमेव अनेनैव प्रकारेण डहरे क्षुल्लके तत्र द्रष्टव्यम् ।

अप्पडिबज्झंतगमो, इयरे वि गवेसए पयत्तेण ।
एमेव अवुड्ढस्स वि, नवरं गहिएण अडणं तु ॥

एवं यतनां कुर्वतो व्रजिकादिष्वप्रतिबध्यमानस्य प्रतिबन्धमकुर्वतो गमो गमनं गच्छे भवति । इतरेऽपि च गच्छसाधवस्तं स्थविरं प्रयत्नेन गवेषयन्ति गाथायामेकवचनं प्राकृतत्वात् । योऽप्यवृद्धः कारणतः कथमप्येकाकी भवेत्तस्याप्येवमेवानेनैव प्रकारेण यतना द्रष्टव्या नवरं भिक्षार्थमटनं गृहीतेनोपकरणेन तस्य द्रष्टव्यम् । व्य० द्वि० ८ उ० । (तीर्थकृतां सोपधित्वं तित्थयरशब्दे) (उपधेरवश्यधारणीयत्वं बोटिकशब्दे) (मध्यमतीर्थकरसाधवो महामूल्यान्यपि वासआदीनि भुञ्जत इत्यचेलगशब्दे दर्शितम्) (पादप्रोञ्छनकादीन् याचित्वा प्रत्यर्पणं पादपुंछणकादिशब्देषु) (उपधीनां धावनं धोवणशब्दे)

(१७) निर्ग्रन्थीनामागमनपथे उपकरणानि स्थापयति ॥

(सूत्रम्) जे भिक्खू णिग्गंथीणं आगमणं पहंसि दंडगं वा लट्ठियं वा रयहरणं वा मुहपोत्तिं वा अण्णयरं वा उवगरणजायं ठवेइ ठवित्तं वा साइज्जइ ॥ १६ ॥

जेण पहेणपक्खियादिसु आगच्छंति तम्मि पहे दंडो वा जुगप्पमाणो लट्ठी आयप्पमाणा अण्णतरग्गहणा ओहियं उवग्गहियं वा णिक्खिवति तम्मि पहे मुंचति तस्स मासलहुं आणादिया य दोसा कहं उवकरणस्स णिक्खेवसंभवो उच्यते ।

णिसिएंते य ठवेज्जा, पडिलेहंतो व भत्तपाणं तु ।
संथारलोयकितिकम्म, कत्तितभावाअणो भोगा । २२१ ।

णिसियंतो रयहरणं मुंचति भत्तपाणाति वा पडिलेहंतो संथारगं बंधंतो वा लोयं वा करेंतो कितिकम्मं विस्सामणं वा करेंतो मत्ताए वा कत्तितावण मुंचति अणाभोगेण वा एतेहिं कारणेहिं रओहरणादि मुंचेज्जा ॥

निग्गंथीणागमणं, पत्तेज्जो य भिक्खु णिक्खिवे ।
कइतवेणं अण्णतरेण गुरुगा लहुगो तरे आणा ॥२२२॥
पडिपुच्छदाणगहणे, संलावणुरागहासखेड्डे य ।
भिक्खकथादिराधणा, दट्ठूण व भावसंबंधा ॥ २२३ ॥

कतितवेणं मेहुणट्ठस्स चउगुरुगं इतरं अकेतवं अणाभोगो अणाभोगेण मुंचति । मासलहुं आणादिया य दोसा भवंति इमा चरित्तविराहणा पडिपुच्छणा पढमा पुच्छा वितिया पडिपुच्छा तस्सिमं वक्खाणं ।

कस्सेयं ति य पुच्छा, मम्मिति का तूण किं भुतं वितिया ।
वित्तं ण मे सधीणं, पक्खित्ते दट्ठु एज्जंति ॥ २२४ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रयोहरणादि कति संजतो घेत्तूण पुच्छति कस्सेयं ति रयोह-रणं साहू भणति ममेयंति काऊण मया कृते साधुना इत्यर्थः। अहवा साहूणं ति पढमपुच्छा किं सुयविति पच्छा एस परिपुच्छा दट्ठव्वा ततो साहू भणति विसं ण मे सहीणंति ण मे वा संवट्टती वित्तं कस्माद्धेतोः पच्छीए तुमं आगच्छमाणी दिट्ठा सा भणति।

किं च मए अट्ठो मे, आमं णणु दाणिहं तुह सहीणं।

संपत्ती होतु कत्ता, चत्ता तु एक्कतरो जणितो य॥२२५॥

साहू भणति आमं अनुमतार्थे सा भणति ननु आमन्त्रणार्थे इयाणिं तुह सहीणा आयत्तेत्यर्थः। ततियपुच्छा गता सं-पत्ती सागारिया सेवणा चउत्थपुच्छसंजतो करेति संजतिता पडिपुच्छति गयं इदाणिं दरोग्गहणेत्ति भणिओ य।

हंदं गेण्हह सुज्झं, दातूण साहरति सुज्झो तु।

तुज्झं घेत्तुं व पुणो, मुंचति जा पुणो देति॥ २२६॥

हंदेत्यामन्त्रणे संजतो हत्थं पसारेऊण सुज्झो पडिसाहरेति भणति य तुज्झेव भवतु अहवा सो संजतो तीए हत्थाओ घे-त्तूण पुणो मुंचति कस्माद्धेतोः जा पुणो देति जेण द्वितीयं वारं मम देति देंतीए य पुणो हत्थफासो भविस्सति तस्माद्धेतोः इदाणिं संलावो साहू भणति धारेयव्वं।

धारेतव्वं जातं, जात पउमदलकोमलतलेहिं।

हत्थेहिं परिग्गहितं, इतिहासणिरागसंबंधा॥२२७॥

इतिहासमेतत् इतिहासतो अणुरागो भवति ततो य परोप्परं भावसंबंधो इयाणिं " अणुरागोत्ति " गाहा।

संलावादणुरागो, अणुरत्तावेति जो मए दिण्णं।

इतरो वि य पभिणतो, कस्स व जीवेण जीवामो॥२२८॥

संलावा अणुरागो भवति इदाणिं हासखेड्डेयात्ति संजाती अ-णुरत्तावेह भे मए दिण्णं भे इति भवतः इतरो साहू भणति जं पि मम जीवियं तं पि तुज्झायत्तं तेण तुज्झ वपण जीवि-एण जीवामो।

एवं परोप्परस्स, जावणुबंधेण होंति मे दोसा।

पडिसेवणगमणादी, गेण्हणादिट्ठेसु संकादी॥२२९॥

पडिसेवणा चउत्थस्स एगतरस्स दोण्हं वा गमणं तु णिक्ख-मणं आदिसद्दातो सलिंगट्ठितो वा अणायारं सेवति संजतो वावि तिण्णि वत्तिणा वा संजय उदिण्णमोहावला वा गेण्हेज्ज अहवा खयरकम्मिएहिं गेण्हणं हासाखेड्डं वा करेंताणि सागा-रियेण दिट्ठाणि संकिते चउगुरुं णिस्संकिते मूलं अहवा दिट्ठे घाडिय मोतियातिपसंगो।

बंभव्वए विराधण, उड्डादीए हि होति जम्हा उ।

णिग्गंथीणागमणे, पम्हट्ठं उण णिक्खिवे उवधिं॥२३०॥

वितियपदमणाभोगे, पडिताए हुज्ज संजमेगतरे।

आसण्णे दूरे वा, णिवेदजतणाए अप्पणं ति॥२३१॥

पम्हट्ठं णाम विसरियं एगतरसंभमो सावयगणिआ उ मा-ति सो संजयाणं उवही वसहीए आसण्णे वा पडितो दूरे वा जति असण्णोति णिवेदेंति अह दूरतो धत्तुं जयणाए अप्पणिति॥

आसण्णे साहंती, दूरे पडितं तु थेरिगाणेति।

संणिक्खिवंति पुरतो, गुरुणा इमि पमज्जत्ता॥ २३२॥

(सूत्रम्) वसहीए जइ आसण्णे पडियंतो ण गेण्हंति णि-यत्तिउं थेरिया गुरुणा साहंति अह दूरे पडियंतो थेरिया गि-ण्हंति तरुणी वि घेत्तुं थेरिया ण समप्पेंति ता थेरिया संज-यत्तसहिमागंतुं पमज्जित्ता भूमिगुरुणं पुरतो णिक्खवेंति एसो अप्पिणे जयणा भणिया॥

एतत्सूत्रस्य व्याख्या सुगमत्वाद् ग्रन्थकृता न व्याख्याता। (उपधेः परिष्ठापना स्वस्थाने) उपधिप्रत्युपेक्षणं व्याख्यातमेव (प्रल-म्बग्रहणे क उपधिर्ग्राह्य इति पलम्बशब्दे) (धर्मोपकरणे परिग्र-हदोषो नेति परिग्गहशब्दे)

उवहिअसंकिलेस–उपध्यसंक्लेश–पुं० उपधिविषयोऽसंक्लेशः उपध्यसंक्लेशः असंक्लेशभेदे, स्था० १० ठा०॥

उवहिकप्प–उपधिकल्प–पुं० उपधिधारणसामाचार्याम्,।

एसो चरित्तकप्पो, एत्तो वोच्छामि उवहिकप्पं तु।

सो पुण पुव्वाभिहितो, उवहिओवग्गहे चेव॥

जो तु विसेसो एत्थं, तं णवरि इह अहं पवक्खामि।

मुच्छुग्गमादिएहिं, वारेयव्वो जहाकमसो।

फासुयमफासुए य, विजाणयअजाणए ओहो॥

ओहो बहुवग्गाहिते, वारणा कस्स केचिरं।

जदि फासुवही करणे, गहिओ उ जाणए ण तो धारेज्ज।

जुण्हो अज्जुण्हो वि हु, अट्ठकुंड वुच्चति हु॥

फासुगो अजाणएण, कारणगहिओ धरिज्जते ताव।

जावण्णो उप्पण्णो, ताहे तु विगिंचए तं तु।

अह पुण अफासुओ तु, जाणगगहिओ तु कारणे होज्ज।

जदि गीतत्था सव्वे, तो धारेती तु जा जिण्हो॥

अगीतविमिस्सेहिं, आणुपभ्रमितं विगिंचंति।

अहपुण अफासुओ तु, कारणगहिओ अगीतेणं॥

उप्पण्णे अण्णम्मि, विगिंचती तु सो ताहे।

एवं चतुभंगेणं, वारणता वा परिहवणा॥

सो पुण दुविहो उवही, वत्थं पातं च होति बोद्धव्वं॥

वत्थं तु बहुविहाणं, पाता पुण दो अणुण्णाता॥

ता बीतं पंचण्हं, किण्ह वि एगो परिग्गहो होति।

तो दो एक्केक्कस्स तु, भण्हति न पहुच्चए एवं॥

तो चतुतिण्ह दुवेण्हं, अहवा एक्केक तस्स एक्केक्कं।

भ्रमति पाहुणगादिसु, ताहे किं काहितेकेणं॥

अप्पापरोप्पवयणं, जीवाणिकाया य चत्तहोतव्वं।

चारित्तगदिट्ठंतो, तम्हा दो दो तु घेत्तव्वो॥

इयाणिं उवहिकप्पो उवहिं उग्गमाइसुद्धो धारेयव्वो। गाहासि-द्धमेव। उग्गमाइपत्तं पत्ताबंधो। गाहासिद्धमेव तिण्हयपच्छ-गा गाहासिद्धमेव। एस जिणकप्पो थेरकप्पो एए चेव दुयाल-समेइए गाहा। पंचसमाए गाहा कोसए गाहा सिद्धं। जं च दुवग्गहकरं गाहासिद्धं। गाहा। फासुय अफासुए य वावि उवही पुणो जो गहिओ भवइ सो केच्चिरं धारेयव्वो जो फासुओ उवही सो जाणगा वा होतु अजाणगा वा ताव परिभुंजंति जाव जुत्तो जाव रुंधिऊणं अछण वि किज्जइ आयरिउवज्झाया नियमा जा-

ण गाहा। अह फासुओ जाणगा यकारणे गहिओ तहावि ताव परिज्जुज्जइ जाव त्ररइ अह अफासुओ अयाणगा य कारणे गहिओ ताहे उप्पन्ने फासुए इयरो परिठविज्जइ एवं चउभंगो धरणे वा परिठ्ठवणा वा। चोयग आह । गाहा । एगेण किमेगो पादो जाव पंचएह वि सयाणं एगो पडिग्गहओ अहवा दोएहं तिएहं चउएहं वा पडिग्गहओ एगो न पहुप्पइ तो दो दो एगस्स पडिग्गहउ मत्तओ य दिज्जइ उच्यते अद्धाण पाहुणगाइसु कारणाइसु कहं धरंति तु जइ पहुगाण एगमेगो पडिग्गहओ एव य भणंतस्स चउगुरु । अप्पापवयणं जीवनिकाया परिचत्ता वा रत्तयदिट्ठंतेण सव्वेण वि दोएिह गिएिहयव्वा मत्तओ पडिग्गहओ य किं कारणं जेण गच्छो सकारणो वा लद्धुहसेहपाहुणयाइसु । आह जइ नियमा दो दो धरिज्जंति जिणकप्पियाणं किं निमित्तं एगओ पडिग्गहओ । गाहा । संगहिय उच्यते । सो भगवानसंगहियकुच्छी जोयणं पि गच्छइ सन्नाहो जसकारी य पवयणस्स जेण अपसो भवइ तं न करेइ अप्पाहारो सो भगवं तत्ते अओकजल्ले वि विद्धंसइ तस्साहारो सरीरए अपडिबद्धो न य आसणे वोसिरइ उच्चाराइ न य आचाराावि विच्छिण्णे थंडिले पडिग्गहं एगपासे ठवेऊण एएहिं कारणेहिं तस्स एगो पडिग्गहो । गाहा । तेहिं जइ वत्थाणि दाणि कइहिं वत्थेहिं पडिपुव्वउसग्गेण तिहिं जया पुण तिहिं न संथरेज्जा तो अइरेगाणि धरेज्जंति । आह नणु पमाणाइरेगे दोसा उच्यते । सबालवुड्ढाओ लोगत्थो सहकारणेण सकारणे तेसिं बहुएहिं कज्जं अण्णओ य मग्गतो सेहाइ कारणेसु न लज्जइ ताहे परिभ्रत्ता सेहादयो पच्छा वोच्छेयकरो भवइ सपक्खस्स तित्थस्स वुत्तं भवइ । गाहा । जइ एए वियप्पहुणे जइ आहारोवहिसेज्जासु विप्पहूणाणं नाणदंसणचरित्ताणं तवनियमसंजमसज्झायमाईणं निप्पत्ती होज्जा तेण आहाराइ आइग्गहणेण उसहाइणं व को उवग्गहं कुज्जा । गाहा। जम्मि परिग्गहियं जत्थ पुण परिगिज्झमाणे तस्स थावराणं उवघातो पवत्तेज्जा पुरेज्जा पुरेकम्म उदउल्लाइसु तं न घेप्पइ महिए वा पच्छे कमाइधरे ते वा पडिलेहणाइभएण पडिलेहेइ भएण माईरिहित्ति सो परिग्गहो भवइ उवहिम्मि घेप्पंते गहिए धरिज्जंते वा एए दोसा न भवंति सो परिग्गहो निद्दोसो त्ति अपरिग्गहो चेव । गाहा । आहारोवहिं किं निमित्तं भगवया तित्थं पवत्तियं उच्यते । न वि भगवता उपहाराइनिमित्तं तित्थं पवत्तियं नाणदरिसणचरित्तनिमित्तं तवसंजमाईणं निव्वाणसाहणं पडिविद्धिकारणं तित्थं पवत्तियं । गाहा । नाणचरणहोराइणि नाणाइणं गुणकारगाणित्ति तेणाणुग्गहायं तेसु पुण णाणाइसु ठियस्स पूयावि इच्छिज्जइ जहा गणहारिस्सुक्को साहारोवाहिसाइणं एस उवहिकप्पो । पं० चू० ॥

अहुणा हु उवहिकप्पं, गुरूवदेसेण वोच्छामि ।
उवगेण्हति उवकारं, करेइ उवहीयते व उवही तु ॥
किं कारणं तु उवही, देसीए भणती सुणसु ।
जीवाणणुग्गहट्ठा, एवं खलु वणिहतो (इहं) तित्थे ॥
काऊण णुग्गहपदं, पडिणीयपदे अभावो तु ।
रसकादणुकेयट्ठा, अगणीमादीण चेव रक्खट्ठा ॥
असहू णणुकंपा य, तउवहिगहणं जिणा यंति ।
आह जदणुग्गहट्ठा, वत्थादीगहणदेसियं समये ॥
तो असहणं कण्हा, थीपरिभोगो णणुण्णातो ।
भणति पावेत्ति कम्हि व, कम्हि व पुण होति अप्पावित्तीओ ॥
संजम पडीनियत्ता–मेहुणमादीण णाणुण्हा ।
णाणाचरणठिताणं, उवग्गहं कुणति णाणचरणाणं ॥
आहार उवहि सेज्जा, तेण उ उवहित्तणं बेंति ।
जस्स पुणो वहिगहिता, उवघातकरी तु तस्स उवघाता ।
कह उवघाय करेंती, अइरित्तगहो य मुच्छाए ॥
संथरमाणो गेण्हति, अतिरित्तं उवहि जो भवे समणो ।
वण्हादिजुत्ते मुच्छति, दव्वहारे वुवस्से वा ॥
एतेसु अणिट्ठेसु य, जो दुस्सति सो करेति उवघातं ।
णाणादीणं तिण्हं, तम्हा ते वज्जए हेतू ॥
जो जत्थ जदा भहियं, उवहीधरिभोगओ अणुण्णाओ ।
सो तत्थ अणतिचारो, अणुण्हाते चरणभेदे ॥
जह सिंधूओ कप्पा, ओराला उणिहया अणुण्णाता ।
पिसियादीण य गहणं, खीरादीणं चणुण्णाता ॥
अतिहिमदेसे य तहा, कारणियगताण सिसिरकालम्मि ।
परिभुंजंताण य कों, तवादिचरणे अणुवघातो ॥
झाणविसयादिएसुं, एतेसिं चेव भोत्तु पडिसेहो ।
पडिसिद्धे परिभोगं, कुणमाणे भंजती चरणं ॥
णाणं पि तु सो भिंदइ, उवदेसं जेण ण कुणति ।
तस्स जं णाणुपुव्वं, दंसणभेदो वि तो तेणं ॥
णिवादिक्खितमतरंता–दिएसु होति परिभोगा ।
समणुण्णाओ कसिणा–दियाण इहरा अणुवभोगो पं० भा० ।

इयाणिं उवहिकप्पो गाहा जीवाणुग्गहओवही किं निमित्तं धारिज्जइ याइ उच्यते जीवाणुग्गहहेऊ रसाएणं सा रक्खणणिमित्तं एयम्मि तित्थेवं निओ उवही असहुत्तणेण य वत्थाईण गहणं। आह जइ असहुत्तणेण वत्थाइगहणं तेण अविरइयाओ कम्हा नोवभुंजइ उच्यते कचित्प्रवृत्तिः कचिदप्रवृत्तिरित्यादि । संयमप्रत्यनीकानि मैथुनादीनि अतस्तेषामभावो भवति आचरितव्ये गाहा। नाणावरणे किमुक्तं भवत्युपधिरिति उच्यते ज्ञानदर्शनचारित्राणामुपकारं कुरुते उपग्रहं करोतीत्यर्थः । उवही आहारेज्जा उपदव्यतोऽवधिरित्यपदिश्यते गाहा जस्सओ जो पुण संथरमाणो वि अइरित्तं उवहिं धरेइ तस्स स एव उवहिनिमित्तो उवघाओ भवइ कारणेण वा आहारे वि रसहेउं वा भुंजइ रागद्दोसेहिं वा एयस्सोवघाओ भवइ । गाहा जो जत्थ उवही पुण जो जत्थ जया जम्मि खेत्ते अणुन्हाओ जहा सिद्धए उक्कोसयाणिणं तयाणं जम्मि वा काले अणुन्हातो हेमन्तकाले वासे वा तेणोवहिणा नाणाइ आयारो न भवइ जो पुण खेत्तकालेसु अणणुन्हाओ । गाहा जो जत्थ उवही धरिज्जइ सो उवघाओ । एस उवहिकप्पो । पं० चू० ॥

उवहिकय–उपधिकृत–त्रि० उपाधिनिष्पन्ने, "परिहारियं अदितो गिहणी उवधीकतं तु पच्छित्तं" नि०चू० १ उ० ।

उवहिपच्चक्खाण–उपधिप्रत्याख्यान–न० उपधिरुपकरणं तस्य रजोहरणमुखवस्त्रिकाव्यतिरिक्तस्य प्रत्याख्यानं न मयाऽसौ गृहीतव्य इत्येवंरूपा निवृत्तिरुपधिप्रत्याख्यानम् । रजोहरण-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुखवस्त्रिकां विहायाऽन्योपधिपरिहारे तत्फलं यथा ।

उवहिपच्चक्खाणेणं भंते ! किं जणयइ उवहिपच्चक्खाणेणं अपलिमंथं जणयइ निरुवहिएणं जीवे निक्कंखे उवहिमंतरेण य न संकिलिस्सइ ॥

हे भदन्त ! उपधिप्रत्याख्यानेन रजोहरणमुखवस्त्रिकापात्राद्व्यतिरिक्तस्य उपधेः प्रत्याख्यानेन उपधित्यागेन जीवः किं उपार्जयति गुरुराह हेशिष्य ! उपधिप्रत्याख्यानेन अपरिमन्थं जनयति परिमन्थः स्वाध्यायव्याघातः न परिमन्थोऽपरिमन्थः स्वाध्यायादौ निरालस्यं जनयति । पुनर्निरुपधिको निष्परिग्रहो जीवो निष्काङ्क्षो भवति वस्त्रादौ अभिलाषरहितः स्यादित्यर्थः तादृशो हि उपधिमन्तरेण उपधिं विना न संक्लिश्यते क्लेशं न प्राप्नोति सपरिग्रहो क्लेशं प्राप्नोतीति भावः । (उत्त०) निष्क्रान्त उपधिर्निरुपधिस्स एव निरुपधिको जीवो निष्काङ्क्षो वस्त्राद्यभिलाषरहितः सन्नेतच्च पदं क्वचिदेव दृश्यते उपधिमन्तरेण चास्य भिक्षुकमत्वान्न संक्लिश्यते न च मानसं शारीरं वा क्लेशमाप्नोति उक्तं हि " तस्स णं भिक्खुस्स णो एवं भवति परिजुण्णे मे वत्थे सूई जाइस्सामि संधिस्सामि उक्किसिस्सामितुं निस्सामि वा कासिसामि इत्यादि" उत्त०२८ अ० ।

उवहिप्पहाण–उपधिप्रधान–त्रि० उपधिर्माया तत्प्रधानः । कूटकपटशते, "कति न वि याहिं उवहिप्पहाणाहिं" सूत्र०१ श्रु०४ अ०

उवहिय–उपहित–त्रि० उप-धा-क्त-निहिते, अर्पिते, समीपस्थापिते, आरोपिते, उपाधिसङ्कते, उपलक्षिते, वाच० । भावे-क्तः संस्तारकादेरुपढौकने, न० नि० चू० २० उ० ॥

उवहियविहि–उपहितविधि–पुं० उपग्रहभेदे, उपहितविधिर्नाम यदाऽऽचार्यैर्वितीर्णे तदाऽऽचार्याननुज्ञाप्य अन्येषां साधूनां तदन्तरेण विसूरयतां ददाति । अन्ये तु व्याचक्षते यद्यस्य गुरुभिर्दत्तं तत्तस्योपनयतीत्येष उपहितविधिः व्य० ३ उ० ।

उवहिवहावण–उपधिवाहन–न० वस्त्रपात्रादेरुपधेरन्येन नयने,

(सूत्रम्) जे भिक्खू अन्नउत्थिएण वा गारत्थिएण वा उवहिं वहावेइ वहावंतं वा साइज्जइ । ४७ । जे भिक्खू णात्तंसए असणं वा ४ दियइ देयंतं वा साइज्जइ ॥४८॥

जे भिक्खू उवकरणं, वहाविगिहि अहव अण्ण तित्थाणं ।

आहारं वा देज्जा, परुच तं आणमादीणि ॥ २२४ ॥

ममेस उवकरणं वहइत्ति पडुच्च आहारं देज्जा तस्स चउलहुं आणादिया य इमे दोसा ।

पाडेज्ज व भिंदेज्ज व, मलगंधावं न उप्पति य नासो ।

अत्थंफले ठवेज्जा, हरेज्ज वासोव अण्णो वा ॥ २२५ ॥

से गिहत्थो अन्नतित्थिओ वा उवकरणं पमेज्ज भायणं वा भिंदेज्ज मलिणे दुगंधे वा उवकरणे अन्नं वा देज्ज उप्पतियाओ वा उड्डेज्ज वा मारेज्ज वा अहवा सो अयगोलो अथंफिडे पुढविपरियाविसु ठवेज्ज अहवा तस्स भारेण आयविराहणा हवेज्ज तत्थ परितावणादी जं च पच्छा उसहमेसज्जाणि वा करेंतो विराधेति तन्निप्फण्णं च से पच्छित्तं तं उवकरणं सो वा हरेज्ज अणुवत्तसस्स वा अण्णो हरेज्ज किं च जो तं पडुच्च असणादी देज्जा तस्स चउलहुं ।

मुच्छलियत्तं साहू, पायाणं तस्स भोयणं मूलं ।

दगपातो वि पियणे, दुगुञ्छवमणे उ उड्डाहो ॥ २२६ ॥

भगवता गोयमेण महावीरवद्धमाणसामी पुच्छितो एतेसि णं भंते बालाणं किं बलियत्तं से य भगवया वागरिय छुप्पलियत्तं सेयं वलियत्तं अस्सेयंतस्स य बलियत्तणस्स मूलं अह सो य साहूसमीवे आहारं आहारेत्ता बहूणि अधिकरणाणि करेज्ज गदं वा पियइज्ज अयमेज्ज वा जुत्तो वा दुग्गंछाए वमेज्जा रुयुप्पातो वा स हवेज्ज संजएहिं परिसं किं पि मे दिण्णं जेण एगो जाओ एवं रिज्झहो मरेज्ज वा सव्वत्थ पच्छाकम्मो फासुएण देसे मासलहुं अफासुएण देसे सव्वे चउलहुं तम्हा गिहत्थो अन्नउत्थिओ वा ण वाहेज्ज वा ण वा असणादी दायव्वं भवे कारणं जेण च हावेज्ज वा असणादि वा देज्जा ॥

असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व गेलण्णे ।

देसुट्ठाणे अपरि–क्कमेतहावेज्ज देज्जा वा ॥ २२७ ॥

असिवकारणे ओमे वा रायदुट्ठे वा बोहिगादिभए वा रज्जंतो अप्पणो असमत्था वाहवेज्ज वा तन्निमित्तं असणादि देज्ज गिलाणो वहावेज्ज वा गिलाणट्ठा वा गमंते देसुट्ठाणे वा अपरिक्कमो गिहिणा वहावेज्ज देज्ज वा आहारं । नि० चू० १२ उ० ।

उवहिविउस्सग्ग–उपधिव्युत्सर्ग–पुं० उपधित्यागरूपे द्रव्यव्युत्सर्गे, औ० ॥

उवहिसंकिलेस–उपधिसंक्लेश–पुं० उपधीयते उपष्टभ्यते संयमः संयमिशरीरं वा येन स उपधिः वस्त्रादिस्तद्विषयः संक्लेशः उपधिसंक्लेशः । संक्लेशभेदे, स्था० १ ठा० ।

उवहिसंभोग–उपधिसम्भोग–पुं० उपधेः परिकर्म परिभोगं वा कुर्वन् संभोग्यो विसंभोग्यश्चेति । संभोगभेदे, उक्तं च "एगं च दो वि तिन्नि च, आउट्टं तस्स होइ मिच्छत्तं" आलोचयत इत्यर्थः । "आउट्टंते वि तओ, परेण तिण्हं वि संभोगोत्ति" स०

उवहुंजंत–उपभुञ्जान–त्रि० उपभोगं कुर्वाणे, प्रा० ॥

उवाइणावित्तए–उपानाययितुम्–अव्य० संप्रापयितुमित्यर्थे, " पच्छिमं पोरिसिं उवाइणावित्तए " बृ० ४ उ० । अतिक्रमयितुमित्यर्थे, कल्प० । उपादाययितुम् ग्राहयितुमित्यर्थे, ज्ञा० १२ अ० ।

उवाइणावित्ता–उपादाप्य–अव्य० उप-आ-दा-ल्युट् । प्राप्येत्यर्थे, "पच्छिमं पोरिसिं उवाइणावित्ता आहारमाहारेइ" ज्ञ० ७ श० १ उ० ।

उवाइणित्तए–उपयाचितुम्–अव्य० उपयाच्ञां कर्तुमित्यर्थे, विपा० ७ अ० ॥

उपादातुम्–अव्य० गृहीतुं प्रवेष्टुमित्यर्थे, स्था० ३ ठा० ।

उवाइय–उपयाचित–त्रि० उपयाच्यते मृग्यतेऽस्मै यत्तत् उपयाचितम् । ईप्सिते, "उवाइयं उववाइत्तए" उपयाचितुमीप्सितं वस्तु याचितुं प्रार्थयितुम् । ज्ञा० ३ अ० । वि० । नासिक्यपुरस्थदेवाधिष्ठितमहादुर्गब्रह्मगिरिस्थितप्रासादपातके स्वनामख्याते महति क्षत्रियजात्यवरे, ती०

उवाएज्ज–उपादेय–त्रि० उप०आ० दा-कर्मणि-यत् । गृहीतव्ये, अनु० । जं० । विशे० ।

उवागम–उपागम–पुं०स्वीकारे, समीपगमने, वाच० । उपागमने, स्थाने, आचा० २ श्रु० ।

उवागय–उपागत–त्रि० उप-आ-गम्-क्त-स्वयमुपस्थिते, अभ्युपगते च । वाच० "तत्थागासमुवागए" उत्त० २३ अ० । सूत्र० । जं० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उवाणह–उपानह–स्त्री० चर्मपादुकायाम्, औ० । सूत्र० । "ते गिच्छयाणहाग्राए, समारंभं च जोइणो" उपानहौ पादयोरनावरिते पादयोरिति साभिप्रायकं सन्धापत्कल्पपरिहारार्थम्" द.३ अ.

अथ उपानहोर्दोषप्रदर्शनार्थमिदमाह ।

गव्वो णिम्मद्दवता, णिरवेक्खो निद्दतो णिरंतरता ।
भूताणं उवघाओ, कसिणे चम्मम्मि छद्दोसा ॥

उपानहोः पिनद्धयोर्गर्वो निर्मार्दवता च भवेत् । जीवेषु निरपेक्षो निर्दयश्चासौ भवति निरन्तरता निरन्तरं भूमिस्पर्शनाद् भूतानां तु प्राणिनामुपघातश्च उपजायते एवं कृत्स्ने चर्मणि षट् दोषा भवन्तीति द्वारगाथा ।

सांप्रतमेनामेव प्रतिपदं विवृणोति ॥

आसगतो हत्थिगतो, गव्विज्जइ भूमितोइ कमणीओ ।
पादो उ समाउक्को, कमणाउ खरो अवि य भारो ॥

अश्वगतादश्वारूढात् हस्तिगतः पुरुषो यथा गर्वायते एवं भूमिगतात् गर्वं करोति । अहो अहं सोपानत्को व्रजामीति । तथा पादः स्वभावेनैव समार्दवस्ततः स न तथा जीवोपघातं करोति यथा क्रमणिकाः खराः कर्कशस्पर्शा जीवोपघातं कुर्वन्ति । अपि च भारस्तासां महान् भवति । ततस्तदाक्रान्ता बहवो जीवा विनाशमाप्नुवते । निरपेक्षद्वारमाह ॥

कंटाई पेहंतो, जीवे वि हु सो तहेव पेहिज्जा ।
अत्थि महंति य कमणी, णावेक्खइ कंटए ण जिए ॥

अनुपानत्को गच्छन् कण्टकादीन् मार्गे प्रेक्षमाणो जीवानपि तथैवासौ प्रेक्षते सोपानत्कस्तु गच्छन् विद्येते मम क्रामणिके इति कृत्वा निरपायत्वादात्मनो न कण्टकादिकमपेक्षते ततश्चासौ जीवेष्वपि निरपेक्षो भवति । अथ निर्दयद्वारमाह ॥

पुव्वं अदया भूए–सु होंति बंधति कमेसु तो कमणी ।
जायति हु तदब्भासा, सुदयालुस्सा वि णिद्दयया ॥

पूर्वं तावददया निर्दयत्वं भूतेषु मनसि संजातं भवति ततः क्रमयोः क्रमणिके बध्नाति तदभ्यासाच्च सुदयालोरपि प्रायो निर्दयतैव भवति । निरन्तरद्वारमाह ॥

अवि यं व सुज्ज पादेण, पेल्लितो अंतरंगुलगतो वा ।
मुच्चेज्ज कुलिंगादी–ण य कमणीपेल्लितो जियति ॥

कुशब्दस्यासदर्थवाचकतया असंपूर्णानि लिङ्गानि इन्द्रियाणि यस्यासौ कुलिङ्गी विकलेन्द्रियः स आदिशब्दान्मण्डूक्यादिश्च अनुपानत्कस्य पादेन प्रेरितोऽपीति संभावनायां संभाव्यते अयमर्थो यदाक्रमकुब्जं पादतलमध्ये गतस्तदा अथवा अन्तराङ्गुलमङ्गुलीनामङ्गुष्ठस्य वाऽपान्तरालं तत्र वा गतः सन् मुच्येत न म्रियेत । सोपानत्कस्य तु निरन्तरभूमिस्पर्शिनीभिः क्रमणीभिः प्रेरित आक्रान्तो न जीवति अवश्यं मरणं प्राप्नोतीत्यर्थः ।

भूतोपघातद्वारमाह ॥

कह भूयाणुवघातो, ण होहिती पगतिपेलवतणूणं ।
सभराहिपेल्लियाणं, कक्खडफासाहि कमणीहिं ॥

कथं केन प्रकारेण भूतानां प्राणिनां प्रकृत्या स्वभावेनैव पेलवतनूनामल्पशरीराणां सभाराभिः पुरुषभाराक्रान्ताभिः कर्कशस्पर्शाभिः क्रमणीभिः प्रेरितानामुपघातो न भविष्यति भविष्यत्येवेत्यर्थः । यत एते दोषाः अतः क्रमणिका न परिधातव्याः । कारणे तु प्राप्ते परिदध्यादपि । किं पुनस्तत्कारणमित्याह ॥

विह अतरासहुसंभम–कोट्ठारिसचक्खुदुब्बले बाले ।
अज्जा कारणजाते, कसिणग्गहणं अणुन्नायं ॥

विहं अध्वा अतरो ग्लानः असहिष्णुर्नाम राजादिदीक्षितः । सुकुमारपादः संभ्रमश्चौरश्वापदादिसंक्षोभः कुष्ठरोगी अर्शोरोगी चक्षुषा दुर्बलः कश्चिद्भवति बालो वा यदि यत्र तत्र पादौ निक्षिपति । आर्या वा अध्वानं नीयन्ते कारणजातं वा कुलगणसङ्घविषयमुपस्थितम् । एतेषु कृत्स्नस्य चर्मणो ग्रहणमनुज्ञातमिति द्वारगाथासमासार्थः । अथैनामेव विवृणोति ॥

कंटाहिसीयरक्खट्ठ, ता विहे खलु समाहि जा गहणं ।
ओसहपाणगिलाणे, अहुणुट्ठियते सयद्धा वा ॥

(विहे) अध्वनि प्रतिपद्यमाने कण्टकस्याहेर्वा अस्य च रक्षार्थमङ्गुलिकोशिकं खल्लुकादि वा गृह्णन्ति । किं बहुना खलु समाधिं कृत्वा यावदर्द्धजङ्घयोरपि ग्रहणम् । तथा ग्लान औषधपानं कृत्वा वैद्योपदेशेन पृथिव्यां पदं न स्थापयति । अधुनोत्थितो वा ग्लानः क्रमयोः क्रमणिके आविध्यति शीतानुभावेन भक्तं न जरिष्यतीति कृत्वा ग्लानस्य वा भेषजार्थं त्वरितं ग्रामान्तरं गन्तव्यं ततः क्रमणिका पिनद्धव्या ।

अरिसिल्लस्स व अरिसा, मा खुब्भे तेण बंधते कमणी ।
असहुमवंतो हरणं, पादो पट्टो नु गिरिदेसा ।

अर्शोवतः पादतलदौर्बल्यादर्शांसि मा क्षुभ्येरन्निति कृत्वा क्रमणिके असौ बध्नाति । असहिष्णुर्नाम मार्गे गच्छन्नुपानद्भिर्विना गन्तुं न शक्नोति यदि गच्छति ततः पादाभ्यां रुधिरं परिगलति । अत्रावन्तीसुकुमारोदाहरणं भवति तच्चावश्यकाद्विज्ञेयम् । स क्रमणिके बध्नीयात् उदकाग्निस्तेनश्वापदादौ वा संभ्रमे क्रमणिकाः परिभोक्तव्याः । गिरिदेशे वा पर्यटतः कस्यापि पादतलं घृष्टं तत उपानहौ पिनह्य पर्यटति ।

कुट्ठिस्स सक्करादी–हिं वावि भिन्नो कमो मधूला वा ।
बालो असंफुरो पुण, अज्जा विहं दोव्व पासादी ॥

कुष्ठिनः संबन्धी शोणितपूयेन भिन्नः स्फटितक्रमः शर्कराकण्टकादिस्तदादिभिराक्रान्तो महतीं पीडामुपजनयति मधूला वा पादगण्डं कस्यापि समजनि ततः क्रमणिके बध्नाति । बालो वा कश्चिदसंस्फुरोऽसंवृतो यत्र तत्र पादं मुञ्चन् कण्टकादिभिरुपद्रूयते अतोऽसौ क्रमणीके परिधाप्यते । आर्या वा विधमध्वानं नेतव्यास्तत्र च (दोव्वात्ति) चौरादिभयं ततो भूपभाः क्रमणिकां पिनह्य पन्थानं मुक्त्वा पार्श्वस्थिताः गच्छन्ति आदिशब्दात्सर्वाणि वा तत्रोत्पथेन व्रजन्ति । यो वा चक्षुषा दुर्बलः स वैद्योपदेशेनोपानहौ पिनह्यति । यतः पादयोरभ्यङ्गतोपानद्बन्धनादि परिकर्म यत्क्रियते तच्चक्षुष उपकाराय परिणमते । यत उक्तं " दन्तानामञ्जनं श्रेष्ठं कर्णानां दन्तधावनम् । शिरोभ्यङ्गश्च पादानां पादाभ्यङ्गश्च चक्षुषोः " कारणजातद्वारमाह ।

कुलमाइकज्जदंडिय, पासादी तुरियधावणट्ठा वा ।
कारणजाते व से, सागारमसागरे जतणा ॥

कुलादिषु कुलगणसङ्घविषयेषु कार्येषु दण्डिकावलगनार्थं पार्श्वस्थितैरादिशब्दात्पुरः पृष्ठतो वा गच्छद्भिस्त्वरितं धावनार्थे कारणजाते वाऽन्यस्मिन् आगाढे समुत्पन्ने उपानहः परिभोक्तव्याः । तत्र च सागारिकासागारिकविषया यतना । यत्र सा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गारिकदोषो नास्ति तत्र नास्ति यतनाक्रमः। यत्र पुनः सागारिका उड्डाहं कुर्वन्ति तत्र ग्रामादिषु क्रमणिका अपनीय प्रविशन्तीति भावः। एवमध्वादिषु कारणेषु कृत्स्नचर्मणो ऽप्राप्ते विधिमाह।

पंचविहम्मि वि कसिणे, किण्हगहणं तु पढमतो कुज्जा।
किण्हम्मि असंतम्मि, विवएणकसिणं तहिं कुज्जा ॥

पञ्चविधे वर्णे कृष्णे प्रथमतः कृष्णवर्णग्रहणं कुर्यात्। ततः कृष्णे वर्णकृष्णे असति अलभ्यमाने लोहितादिवर्णकृष्णमपि गृह्णीयात् तच्च कृष्णं तैलादिभिर्विवर्णं विरूपवर्णं कुर्यात्। यथा लोको नोड्डाहं कुरुते। आत्मनो वा तत्र न रागो भवति।

किण्हं पि गिण्हमाणे, सुसिरग्गहणं तु वज्जए साहू।
बहुबंधणकसिणं पुण, वज्जेयव्वं पयत्तेण ॥

कृष्णं वर्णकृष्णमपि गृह्णन् शुषिरग्रहणं साधुः प्रयत्नतो वर्जयेत् अत्र पाठान्तरम्। "कसिणं पि गिण्हमाणेत्ति" कृत्स्नं प्रमाणकृत्स्नं वा द्वितीयपदे गृह्णातु। शुषिरग्रहणं साधुर्वर्जयेत् यत्तु बहुबन्धनकृष्णं तत्प्रयत्नतो वर्जयितव्यम्। अथ किं तद्बन्धनमित्याशङ्क्याह।

दोरेहि व वद्धेहि व, दुविहं तिविहं च बंधणं तस्स।
अणुमोदणकारावण, पुव्वकतम्मि अधिकारो ॥

दवरकैर्वा वर्ध्रैर्द्विविधं वा बन्धनं तस्य चर्मणो भवति। द्वौ वा त्रयो वा बन्धा दातव्या इत्यर्थः। एवं विधं बन्धनं कृत्स्नमनुज्ञातं ततश्चतुरादिबहुबन्धनबद्धं तथा कृत्स्नमकृत्स्नं वा चर्म साधुना स्वयं न कर्त्तव्यम्। अन्येन न कारयितव्यम् अन्यस्य कुर्वतो नानुमोदना कर्त्तव्या किं तु यत्पूर्वमेव गृहस्थैर्यथाभावेन कृतं तस्मिन्नधिकारः प्रयोजनं तस्य ग्रहणं कर्त्तव्यमिति भावः। अथ द्वौ त्रयो वा बन्धाः कुत्र भवन्तीत्युच्यते।

खलुए एगो बंधो, एगो पंचंगुलीए दो बंधा।
चउरंगुले वि ततितो, वितिओ अंगुट्ठए होइ ॥

खलुके घुण्टके एको वर्ध्रबन्धो भवति। एकस्तु द्वितीयो बन्धः पञ्चाङ्गुलस्य चतसृणामङ्गुलीनामङ्गुष्ठस्य चेत्यर्थः। एतौ द्वौ बन्धौ मन्तव्यौ यदा तु त्रयो बन्धा भवन्ति तदा खलुके एकः अङ्गुष्ठे द्वितीयः चतसृणामङ्गुलीनां तृतीयः।

अथ स्वयंकरणादिषु प्रायश्चित्तमाह।

सयकरणे चउलहुगा, परकरणे मासियं अणुग्घायं।
अणुमोदणे य लहुओ, तत्थ वि आणादिणो दोसा ॥

स्वयं यदि चर्म करोति तदा चतुर्लघवः। अथ परेण कारयति तदा मासिकमनुद्घातं मासगुरुकमित्यर्थः। अनुमोदनायां मासलघु। तत्रापि स्वयंकरणादौ आज्ञादयो दोषा उड्डाहश्च भवति। तथाहि तं संयतं स्वयमेव चर्म कुर्वाणं दृष्ट्वा लोको ब्रवीति। अहो चर्मकरोऽयमिति। अथ पूर्वकृतं न लभ्यते ततोऽनुमोदनया गृह्णीयात् कथमिति चेदुच्यते। यदि कोऽपि ब्रूयात् अहं ते उपानहौ करोमि ततः प्रतिशृणुयात् तूष्णीको वा तिष्ठेत्। अथानुमोदनया न प्राप्यते ततोऽन्येन कारयेत्। एवमप्यलाभे ऽप्यात्मना यतनया कुर्यात् बृ० ३ उ०।

अत्र प्रायश्चित्तम्।

सोवाहणो परिसक्किज्जा उवट्ठावणं उवाहणाओ ण पडिगाहिज्जा खवण तारिसेणं संविहाणेग उवाहणाओ ण परिभुंजेज्जा खवणं। महा० ७ अ० ॥

उवातिक्कम्म-उपातिक्रम्य-अव्य० उप सामीप्येनातिक्रम्य अतिलङ्घयत्यर्थे, "उवातिकम्म अह भिक्खू जाणेज्जा" आचा०२ श्रु०३ अ०। सम्यक् परिहृत्येऽर्थे, आचा० २ श्रु० १ अ० ११ उ०।

उवातिणिवेत्ता-उपनीय-अव्य० अतिवाह्येत्यर्थे. "उवातिणिवेत्ता तत्थेव भुज्जो भुज्जो संवसति" आचा०२ श्रु०२ अ०२ उ०।

उवादाण-उपादान-न० उप० आ० दा० ल्युट्। ग्रहणे, स्वादात्मनोऽप्युपादानात् सा० द० स्वस्वविषयेभ्य इन्द्रियाणां निवारणरूपे प्रत्याहारे, कर्मणि-ल्युट् कार्य्यजननार्थमुपादीयमाने कार्य्यान्विते कारणे, यथा घटे मृत्पिण्डमुपादानमात्मा कर्त्ता ज्ञानादि कार्यं तत्र स्वसत्ता उपादानम् अष्ट०। विशे०। आ० म० द्वि०। नं०। तच्च सर्वदा कार्य्येष्वनुगतम् "असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्। शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्य्यम्" इति साङ्ख्याः। नैयायिकैस्तु उपादानकारणं समवायिकारणतया व्यवह्रियते साङ्ख्यमतसिद्धे आध्यात्मिकतुष्टिभेदे, वाच० (एतन्निराकरणमन्यत्र)

उवादाय-उपादाय-अव्य०उप-आ-दा-ल्यप्। गृहीत्वेत्यर्थे, "उवसंपज्जुवादाय" बृ०४ उ०। "णेया उयं सुयक्खायं, उवादाय समीहए" सूत्र० १ श्रु० ७ अ०।

उवादिय-उपादित-त्रि० अद् भक्षणे इत्येतस्मात् उपपूर्वात्क्तिप्रत्ययस्तत्र बहुलं छन्दसीतीडागमः। उपभुक्ते, आचा० १ श्रु० २ अ०।

उवादीयमाण-उपादीयमान- त्रि० उपादीयन्ते कर्मणा बध्यन्ते इत्यर्थः। जीवनिकायवधप्रवृत्ते, "एत्थं पि जाणे उवादीयमाणा जे आयरेण रमंति" आचा० २ श्रु०।

उवाय-उपाय- पुं० उप-अय्-भावे-घञ्। उपगमे, उपायतेऽर्थो ऽनेन करणे घञ्। अप्रतिहतज्ञानकरणे, ज्ञा०१ अ०। हेतौ, "एगं च दोसं च तहेव मोहं, उद्धत्तुकामेण समूलजालं। जे जे उवाया पडिवज्जियव्वा, ते कित्तइस्सामि अहाणुपुव्विं" उत्त० ३२ अ०। विशे०। "प्रयोग उपाय इत्यनर्थान्तरम्" आ० चू०१ अ०। "सुत्तादुवायरक्खणं" उपायः सम्यक्त्वाणुव्रताणुव्रतादिप्रतिपत्तावभ्युत्थानादिलक्षणे हेतुराह च "अब्भुट्ठाणे विणए परक्कमे साहु सेवणाए अ। सम्मद्दंसणलंभो, विरयाविरई य एए य" अथवा जातिस्मरणादितीर्थकरलक्षणः यदाह "सह सम्मुइ आए अ परवागरणेणं अन्नेसिं वा सोच्चा" अथवा प्रथमद्वितीयकषायक्षयोपशमः इति। ध० २ अधि०। "उवायकुसलेण" उपायो नाम तथा कथमपि करोति यथा तेषां वन्दनकमददान एव शरीरवार्त्तां गवेषयति न च तथा क्रियमाणे तेषामप्रीतिकमुपजायते प्रत्युत चेतसि ते चिन्तयन्ति अहो एते स्वयं तपस्विनोऽपि एवमस्मासु स्निह्यन्ति। बृ० ३ उ०। "उपायेन च यच्छक्यं न तच्छक्यं पराक्रमैः" हितो० राज्ञां रिपुनिराकरणहेतुषु सामादिषु च। वाच०। उप सामीप्येन विवक्षितवस्तुनोऽविकलज्ञानहेतुत्वाद् वस्तुतो लाभ एवोपायः। अभिलषितवस्त्ववाप्तये व्यापारविशेषे, दश० १ अ०। उपेयं प्रति पुरुषव्यापारादिकायां साधनसामग्र्याम्, स यत्र द्रव्यादावुपेयेऽस्तीत्यभिधीयते यथैतेषु द्रव्यादिविशेषेषु साधनीयेषु अस्त्युपायो विवक्षितद्रव्यादिविशेषवत्। उपादेयता चास्य यत्राभिधीयते तदाहरणमुपाय इति तस्मिन्नाहरणभेदे, स्था० ४ ठा० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

असावपि चतुर्विध एव तथा चाह ।

एमेव चउविगप्पो, होइ उवाओ वि तत्थ दव्वम्मि ।
धाउव्वाओ पढमो, लंगलकुलिएहि खेत्तं तु ॥ ६१ ॥

एवमेव यथा ऽपायः किं च चतुर्विकल्पश्चतुर्भेदः भवत्युपायोऽपि तद्यथा द्रव्योपायः क्षेत्रोपायः कालोपायः भावोपायश्च । तत्र द्रव्य इति द्वारपरामर्शः द्रव्योपाये विचार्ये धातुवादः सुवर्णपातनोत्कर्षलक्षणः द्रव्योपायः प्रथम इति । लौकिके लोकोत्तरे त्वचित्ती पटलादिप्रयोगतः प्रासुकोदककरणम् । क्षेत्रोपायस्तु लाङ्गलादिना क्षेत्रोपक्रमणे भवति अत एव लाङ्गलकुलिकाभ्यां क्षेत्रमुपक्रम्यत इति गम्यते । ततश्च लाङ्गलकुलिके तदुपायो लौकिकः । लोकोत्तरस्तु विधिना प्रातरशनाद्यर्थमटनादिना क्षेत्रभावनम् । अन्ये तु योनिप्राभृतयोगतः काञ्चनपातनोत्कर्षलक्षणमेव सङ्गप्रयोजनादौ द्रव्योपायं व्याचक्षते विद्यादिभिश्च दुस्तराधितरणलक्षणम् । क्षेत्रोपायमित्यत्र च प्रथमग्रहणपदार्थोऽतिरिच्यमान इवाभाति । पाठान्तरम् वा धाउव्वाओ भणितो त्ति" अत्र कथञ्चिदविरोधत एवेति गाथार्थः ।

कालो य नालियाईहिं, होइ भावम्मि पंडिओ अभओ ।
चोरस्स कए नट्टिं, वड्डकुमारिं परिकहेइ ॥ ६२ ॥

कालश्च नालिकादिभिर्ज्ञायत इति शेषः । नालिका घटिका आदिशब्दाच्छङ्क्वादिपरिग्रहः । ततश्च नालिकादयः कालोपायो लौकिकः । लोकोत्तरस्तु सूत्रपरावर्तनादिभिस्तथा भवति । भावे चेति द्वारपरामर्शात्भावोपाये विचार्ये निदर्शनं क इत्याह । पण्डितो विद्वानभयोऽभयकुमारस्तथा चाह चोरनिमित्तं नर्तकीं वृद्धकुमारीं किम् । त्रिकालगोचरसूत्रप्रदर्शनार्थमाह । परिकथयति । ततश्च यथा तेनोपायतश्चौरभावो विज्ञातः एवं शिक्षकादीनां तेन विधिनापायत एव भावो ज्ञातव्य इति गाथार्थः । दश० १ अ० । सोऽपि द्रव्यादिभिश्चतुर्धैव तत्र द्रव्यस्य सुवर्णादेः प्रासुकोदकादेर्वा द्रव्यमेव वा उपायो द्रव्योपाय एतत्साधनमेतदुपादेयतासाधनं वा हरणमपि तथोच्यते तत्प्रयोगश्चैवम् अस्ति सुवर्णादिभूपाय उपायेनैव वा सुवर्णादौ प्रवर्तितव्यं तथाविधधातुवादसिद्धादिवदिति । एवं क्षेत्रोपायः क्षेत्रपरिकर्मणोपायो यथा अस्त्यस्य क्षेत्रस्य क्षेत्रीकरणोपायो लाङ्गलादिस्तथाविधसाधुविधव्यापारो वा तेनैव वा प्रवर्तितव्यमत्र तथाविधान्यक्षेत्रवदिति । एवं कालोपायः कालज्ञानोपायो यथास्ति कालस्य ज्ञानोपायः धान्यादेरिव जानीहि वा कालं घटिकाछायादिनोपायेन तथाभूतगणितज्ञवदिति । एवं भावोपायो यथाऽभावज्ञाने उपायोऽस्ति भावश्चोपायतो जानीहि वृहत्कुमारिकाकथाकथनेन विज्ञातचौरादिभावाभयकुमारवदिति ॥ स्था. ४ ठा. । नवरं " भावोवाए " उदाहरणम् । " रायगिहिं णाम णयरं तत्थ सेणिओ राया सो भज्जाए भणिओ जहा मम एगखंभं पासायं करेहि । तेण वड्डइणो आणत्ता गत्ता कट्ठं छिंदित्ता तेहिं अरुवीए सलक्खणो सरलो महइ महालओ दुमो दिट्ठो धूवो दिण्णो जेण स परिग्गहिओ रुक्खो सो दरिसावेउ अप्पाणं तो णं ण छिंदामो त्ति अह ण देइ दरिसावं तो छिंदामो त्ति ताहे तेण रुक्खवासिणा वाणमंतरेण अभयस्स दरिसावो दिण्णो । अहं एगखंभं पासायं करेमि । सव्वोउयं च आरामं करेमि सव्ववणजाइउवेयं मा छिंदहत्ति । एवं तेण कओ पासाओ । अन्नया एगाए मायंगीए अकाले अंबयाण दोहलो । सा भत्तारं भणइ मम अंबयाणि आणेहि । तदा अकालो अंबयाणं तेण ओणामणीए विज्जाए डालं ओणामिय अंबयाणि गहिआणि । पुणो अ उण्णामणीए ओणामियं । पभाए रन्ना दिट्ठं । पयं ण दीसइ । को एस मणूसो अतिगओ जस्स एसा एरिसी सत्ति त्ति सो मम अंतेउरं पि धरिसेहिति त्ति कालं अनयं सद्दावेऊण भणइ । सत्तरत्तस्स अब्भंतरे जइ चोरं णाणेसि तो णत्थि ते जीविअं । ताहे अभओ गवेसिउं आढत्तो णवरं एगम्मि पएसे गोज्झो रमिउं कामो मिलिओ लोगो तत्थ गओ अभओ भणति जाव गोज्झो मंडेइ अप्पाणं ताव ममेगं अक्खाणगं सुणेह । जहा कहं पि णयरे एगो दारिद्दसिट्ठी परिवसति । तस्स धूया वड्डकुमारी अईव रूविणी य वरणिमित्तं कामदेवं अच्चेइ । सा य एगम्मि आरामे चोरिय पुप्फाणि उच्चिणंती आरामिएण दिट्ठा कयत्थिउमाढत्ता । तीए सो भणिओ । मा मई कुमारिं विणासेहि । तवावि भयणी भाणिज्जीओ अत्थि । तेण भणिआ एक्का एव बलाए मुयामि जइ णवरं जम्मि दिवसे परिणिज्जसि तद्दिवसं चेव भत्तारेण अणुग्घाडिया समाणी मम सयासं एहिसि तो मुयामि । तीए भणिओ । एवं हवउत्ति । तेण विसज्जिआ । अन्नया परिणीआ जाहे अपवरकं पवेसिआ ताहे भत्तारस्स सब्भावं कहेई । विसज्जिया वच्चई । पट्ठिआ आरामं अंतरा य चोरेहि गहिता तेसिं पि स भावो कहिओ मुक्का गच्छंतीए अंतरा रक्खसो दिट्ठो जो छण्हं मासाणं आहारेइ तेण गहिया कहिए मुक्का गया आरामियसगासं तेण दिट्ठा सो संभंतो भणइ । कहमागयासि । तीए भणिअं मया कओ सो पुव्वि समओ । सो भणइ । कहं भत्तारेण मुक्का ताहे तस्स तं सव्वं कहिअं अहो सच्चपइन्ना एसा महिलत्ति । एत्तिएहिं मुक्का किहाहं दुहामित्ति । तेण विमुक्का पडियंती अ गया सव्वेसिं तेसिं मज्झेणं । आगता तेहिं सव्वेहिं मुक्का । भत्तारसगासं अणहसमग्गा गया । ताहे अभओ तं जणं पुच्छई । अक्खह एत्थ केण दुक्करं कयं । ताहे इस्सालुया भणंति भत्तारेणं छुहालुया भणंति रक्खसेणं । पारदारिया भणंति मालागारेणं । हरिएसेण भणिअं चोरेहिं । पच्छा सो गहिओ जहा एस चोरो त्ति । एतावत्प्रकृतोपयोगि । जहा अभएण तस्स (चोरस्स) उवाएण भावो णाओ एवमिह वि सेहाणमुवट्ठायं तयाणं उवाएण गीयत्थेण विपरिणामादिणा भावो जाणिअव्वोत्ति । किं एए पव्वावणिज्जा न वेत्ति । पव्वाविएसु वि तेसु मुंडावणाइसु एसेव विभासा य । तदुक्तम् । " पव्वाविओ सिय त्ति अ, मुंडावेउं न कप्पइ " इत्यादि । कहाणयसंहारो पुण चोरो सेणिअस्स उवणीओ । पुच्छिएण सब्भाओ कहिओ ताहे रन्ना भणियं । जइ नवरं एयाओ विज्जाओ देहि तो न मारेमि । देमि त्ति अब्भुवगए आसणे ठिओ पढइ । नट्ठाई राया भणई किं नट्ठाई । ताहे मायंगो भणई जहा अविणएणं पढसि । अहं भूमीए तुमं आसणे णीयतरे उवविट्ठो । ठिया तो सिद्धाओ य विज्जाओ त्ति " । कृतं प्रसङ्गेन । एवं तावल्लौकिकमर्थाश्रितं चरणकरणानुयोगं चाधिकृत्योक्ता द्रव्योपायादयः । दश० १ अ० । तथाहि किल राजगृहनगरस्वामिनः श्रेणिकराजस्य पुत्रोऽभयकुमाराभिधानो देवताप्रसादोपलब्धः सर्वर्तुकफलादिसमृद्धारामस्थाम्रफलानामकालाम्रफलदोहदवच्चाण्डालीदोहदपूरणार्थं चाण्डालचौरेणापहरणे कृते चोरपरिज्ञानार्थं नाट्यदर्शननिमित्तमिलितबहुजनमध्ये वृद्धकुमारिकाकथामचकथत्तथाहि काचित् वृद्धकुमारिकावाञ्छितवरलाभाय कामदेवपूजार्थमारामे पुष्पाणि चोरयन्ती आरामपतिना गृहीता सद्भावकथने विवाहितया गत्या त्वयाऽहं भुक्तया मत्पार्श्वे समागन्तव्यमिति तदभ्युपगमं कारयित्वा

मुक्ता । ततः कदाचिद्विवाहिता सती पतिमापृच्छ्य रात्रावाराम-पतिपार्श्वे गच्छन्ती चौरराक्षसाभ्यां गृहीता सद्भावकथने प्रति-निवृत्तया भवत्पार्श्वे आगन्तव्यमिति कृताऽभ्युपगमा मुक्ता । आ-रामे गता आरामिकेण सत्यप्रतिज्ञेत्यखण्डितशीला विसर्जिता इतराभ्यामपि तथैव विसर्जिता पतिसमीपमागतेति । ततो ऽभ्रो लोकाः पत्यादीनां मध्ये को दुष्करकारक इति चासौ प्रपच्छ । तत ईर्ष्यालुप्रभृतयः पत्यादीन् दुष्करकारकत्वेनाभिदधुः । चौर-चाण्डालास्तु चौरानिति ततोऽसावनेनोपायेन ज्ञात्वमुपलक्ष्य चोर इति कृत्वा स तं बन्धयामासेति स्था० ४ ठा० ३ उ० । दृष्टान्ते, "उवाओ सो साधम्मेण य विधम्मेण य " आ० चू० १ अधि० ।

उवायकारि (ण्) उपायकारिन्–त्रि० आचार्ये निर्देशकारि-णि, " उवायकारी य हरीमणे य एगंतदिट्ठी य अमाइरूवे " सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

उवायकिरिया–उपायक्रिया–स्त्री० भावक्रियाभेदे, उपायक्रिया हि घटादिकं द्रव्यं येनोपायेन क्रियते तद्यथा मृत्खननमर्दनच-क्रारोपणदण्डचक्रसलिलकुम्भकारव्यापारैर्यावद्भिरुपायैः सा सर्वाऽप्युपायक्रिया सूत्र० २ श्रु०२ अ०

उवायग–उपायक–पुं० उपायचिन्तके, विशे० ।

उवायतो–उपायतस्–अव्य० उपायेनेत्यर्थे, "उपायतो मोहनि-न्द्रा " ध० १ अधि० ।

उवायरक्खण–उपायरक्षण–न० उपायेन रक्षणे, "सुत्तादुवाय-रक्खण–गहणपयत्तविसया मुणेयव्वा " ध० २ अधि० ।

उवायविचय–उपायविचय–पुं० सुष्ठु मनोवाक्कायव्यापारविशे-षाणां स्वीकरणमुपायः स कथं नु मे स्यादिति संकल्पप्रबन्धे, सम्म० ।

उवालंभ–उपालम्भ–पुं० उपालम्भनमुपालम्भः भङ्ग्यैव वि-चित्रभणने, दशा० १ अ० । भङ्ग्यन्तरेणानुशासने, स्था० ४ ठा० "तिविहे उवालंभे पण्णत्ते तं जहा आओवालंभे परोवालंभे तदुभ-योवालंभे " उपालम्भ इयमेवानौचित्यप्रवृत्तिप्रतिपादनगर्भो स चात्मनो यथा " चोल्लगादिदिट्ठंतेण, दुलहं लहिऊण माणुसं जम्मं । जं न कुणसि जिणधम्मं, अप्पा किं वैरिओ तुज्झ त्ति ॥ १ ॥ " परोपालम्भो यथा " उत्तमकुलसंभूओ, उत्तमगुरुदिक्खिओ तुमं वच्छ । उत्तमणाणगुणड्ढो, कहं सहस्सा ववसितो एवंति ॥ १ ॥ तदुभयोपालम्भो यथा " एगस्स कए नियजी–वियस्स बहुया-उ जीवकोडीओ । दुक्खे ठवंति जे के वि ताण किं सासयं जीयं ति ॥ १ ॥ " एवमित्यादिना पूर्वोक्तातिदेशो व्याख्यातः एवमात्रा-कारघटना यथैवोपक्रमे आत्मपरतदुभयैरथ आलापका उक्ता एवमेकैकस्मिन् वैयावृत्त्यादिसूत्रे ते त्रयस्त्रयो वाच्या इति । स्था० ३ ठा० । नि० चू० ॥

संप्रत्यात्मोपालम्भोल्लिखं दर्शयति ।

तुमए चेव कयमिणं, न सुद्धगारिस्स दिज्जए दंडो ।
इह मुक्को वि न मुच्चइ, परत्थ अह हो उवालंभो ॥

त्वयैव स्वयं कृतमिदं प्रायश्चित्तस्थानं तस्मान्न कस्याप्युपरि-अन्यथाभावः कल्पनीयः । न खलु शुद्धकारिणो लोकेऽपि दण्डो दीयते । किं च यदि इह भवे कथमप्याचार्येणैवमेव मुच्यते । तथा इह भवे मुक्तोऽपि परत्र परलोके न मुच्यते । तस्मादा-पन्नं प्रायश्चित्तमवश्यं गुणवृद्ध्या कर्त्तव्यमिति । अह एष भव-त्युपालम्भः एष आत्मोपालम्भः । एतदनुसारेण परोपालम्भः । उभयोपालम्भोऽपि भावनीयः व्य० प्र०१ न० । उपालम्भो यत्रा-ऽभिधीयते तादृशे आहरणतद्देशभेदे, स्था० ४ ठा० ।

अधुनोपालम्भद्वारावितक्रयाऽऽह ॥

उवलंभम्मि मिगावइ, नाहियवाईवि एव वत्तव्वे ।
नत्थि त्ति कुविन्नाणं, आयाभावे मइ अजुत्तं ॥ ७५ ॥

उपालम्भे प्रतिपाद्ये मृगावतिदेव्योदाहरणम् । एतच्च " ज-हा आवस्सए दव्वपरंपराए भणियं तहेव दट्ठव्वं जाव पव्वइत्ता अज्जचंदणाए सिस्सिणी दिण्णा अन्नया भगवं विहरमाणो कोसंबीए समोसरिओ चंदादिच्चा सविमाणे-हिं वंदणा आगया चउपोरुसीयं समोसरणं काउं अत्थ-मणकाले पडिगता ततो मिगावती संभंता अयि वियालिक-तंति भणिऊणं साहुणीसहिया जाव अज्जचंदणासगासं गता ताव अंधयारयं जातं अज्जचंदणापमुहाहिं साहुणीहिं ताव पडिक्कंतं ताहे सा मिगावती अज्जचंदणाए उवालब्भति जहा एवं णाम तुमं उत्तमकुलप्पसूया होइऊण एवं करेसि अहो न लट्ठयं । ताहे पणमिऊण पाएसु पडिआ परमेण वि-णएण खामेति खमह मे एगमवराहं णाहं पुणो एवं करेहा-मित्ति । अज्जचंदणा य किल तं समरसंथारोवगता पसुत्ता इयरीए वि परमसंवेगताए केवलनाणं समुप्पन्नं परमं च अंध-यारं वट्टइ सप्पो य तेणंतरेण आगच्छति पव्वत्तिणीए य हत्थो लंबमाणो तीए उप्पाडिओ पडिबुद्धाय अज्जचंदणा पु-च्छिता किमेवं सा भणति दीहजातीओ कहं तुमं जाणसि किं कोइ अतिसओ अत्थित्ति पडिवाति अपडिवाइत्ति पुच्छि-या । सा भणइ अपडिवाइत्ति तओ सामिया लोगलोगुत्तरसा-हरणमेयं एवं खमायंतो सीसो उवालंभेतव्वोत्ति उदाहरणदे-शता पूर्ववत् योजनीयेत्येवं तावच्चरणकरणानुयोगमधिकृत्य व्याख्यातमुपालम्भद्वारमधुना द्रव्यानुयोगमधिकृत्य व्याख्या-यते नास्तिकवाद्यपि चार्वाकोऽपि जीवनास्तित्वप्रतिपादक इ-त्यर्थः एवं वक्तव्योऽभिधातव्यः नास्ति न विद्यते कः प्रकर-णाज्जीव इति एवंभूतं कुविज्ञानं जीवसत्ताप्रतिषेधावभासी-त्यर्थः । आत्माभावे सति न युक्तमात्मधर्मत्वात् ज्ञानस्येति भावना । भूतधर्मता पुनरस्य धर्म्यननुरूपत्वादेव न युक्ता तत्समुदायकार्यताऽपि प्रत्येकं भावाभावविकल्पद्वारेण तिर-स्कर्त्तव्येति गाथार्थः । अमुमेवार्थमुपसंहरन्नाह ।

अत्थि त्ति जा वियक्का, अहवा नत्थि त्ति जं कुविन्नाणं ।
अच्चंताभावे पो–ग्गलस्स एयं चिय न जुत्तं ॥ ७६ ॥

अस्ति जीव इति एवम्भूता या वितर्का अथवा नास्ति न वि-द्यते इति एवम्भूतं यत्कुविज्ञानं लोकोत्तरापकारि अत्यन्ता-भावे पुद्गलस्य जीवस्य इदमेव न युक्तमिदमेवान्याय्यं भावना-पूर्ववदिति गाथार्थः। उदाहरणदेशता नास्तिकस्य परलोकादि-प्रतिषेधवादिनो जीवसाधनाद्भावनीयेति । गतमुपालम्भद्वार-म् । दश० १ अ० । " एवं खलु जंबू समणेणं भगवया महा-वीरेणं आदिगरेणं तित्थगरेणं जाव संपत्तेणं अप्पोवालंभनि-मित्तं पढमस्स णायज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्तेत्ति बेमि इति ज्ञाताप्रथमाध्ययने उक्त आत्मोपालम्भः ज्ञा० १ अ० । निन्दा-पूर्वकतिरस्कारे, वाच० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उवालंभंत–उपालम्भमान–त्रि० उपालम्भं कुर्वाणे, प्रा० ।

उवालद्ध–उपालब्ध–त्रि० उप-आ-लभ-क्त तिरस्कारेण निन्दिते, वाच० । "उवालद्धो य सो सिवो वंभणो" नि० चू० १ उ० ।

उवासं–अवकाश–पुं० स्थाने, नि० चू० १७ उ० । उवासादिसु–सेहो ममत्तपडिसेवणं उवासो आदी जेसिं ताणि उवासादीणि ताणि संथारउवस्स कुलगामणगरदेसरज्जं नि० चू० १ उ० ।

उवासंतर–अवकाशान्तर– न० वातस्कन्धानामधस्तादाकाशेषु, स्था० २ ठा० । "सत्त उवासंतराणं पएसुणं सत्तसु उवासंतरेसु सत्त तणुवाया पइट्ठिया स्था० ७ ठा० । आकाशविशेषे, अवकाशरूपान्तराले भ० भ० १ श० ६ उ० । अवकाशान्तरं नाम समुक्रयोर्द्वयोर्मध्यमिति । ध० ७ उ० । " सत्तमे उवासंतरे " प्रथमद्वितीयपृथिव्योर्यदन्तरालमाकाशखण्डं तत्प्रथमं तदपेक्षया सप्तमं भ० १२ श० ५ उ० ।

उवासग–उपासक– त्रि० उपासते सेवन्ते साधूनित्युपासकाः । श्रावकेषु, उत्त० २ अ० । आव० । नं० । स्था० । स० । "उवासगो दुविहो वती अवती वा अवती सो परदंसणं संपण्णो एक्केको पुणो दुविहो णायगो अणायगो वा " नि० चू० ११ उ० । सेवके, उपासनाकर्त्तरि शूद्रे, पुं० स्त्री० वाच० ॥

उवासगदसा–उपाशकदशा–स्त्री० ब०व० उपासकाः श्रावकास्तद्गताणुव्रतादिक्रियाकलापप्रतिबद्धा दशा अध्ययनानि उपासकदशाः । नं० । पा० । स० । सप्तमाङ्गे, बहुवचनान्तमेतत् ग्रन्थनाम आसां च सम्बन्धाभिधेयप्रयोजनानि नामान्वर्थसामर्थ्येनैव प्रतिपादितान्यवगन्तव्यानि । तथा हि उपासकानुष्ठानमिहाभिधेयं तदवगमश्च श्रोतृणामनन्तरप्रयोजनं शास्त्रकृतां तु तत्प्रतिबोधनमेव तत्परम्परप्रयोजनं तूभयेषामप्यपवर्गप्राप्तिरिति । सम्बन्धस्तु द्विधा शास्त्रेष्वभिधीयते उपायोपेयभावलक्षणो गुरुपर्वक्रमलक्षणश्च तत्रोपायोपेयभावलक्षणः शास्त्रनामान्वर्थसामर्थ्येनैवासामभिहितस्तथाहीदं शास्त्रमुपाय एतत्साध्योपासकानुष्ठानावगमश्चोपेयमित्युपायोपेयभावलक्षणः सम्बन्धः ॥

गुरुपर्वक्रमलक्षणं तु सम्बन्धं साक्षाद्दर्शयन्नाह ।

तेणं कालेणं तेणं समएणं चंपा णामं णयरी होत्था । वण्णओ । पुण्णभद्दे चेइए । वण्णओ । तेणं कालेणं तेणं समएणं अज्जसुहम्मे समोसरिए जाव जंबू पज्जुवासमाणे एवं वयासी । जइ णं भंते ! समणेणं भगवया महावीरेणं जाव संपत्तेणं छट्ठस्स अंगस्स णायाधम्मकहाणं अयमट्ठे पण्णत्ते ? सत्तमस्स णं भंते ! अंगस्स उवासगदसाणं । समणेणं जाव संपत्तेणं । के अट्ठे पण्णत्ते एवं खलु जंबू समणस्स भगवओ महावीरस्स जाव संपत्तेणं सत्तमस्स अंगस्स उवासगदसाणं दस अज्झयणा पन्नत्ता । तं जहा आणंदे १ कामदेवे य २ गाहावइचुलणीपिया ३ सुरादेवे ४ चुल्लसयए ५ गाहावइकुंडकोलिए ६ सद्दालपुत्ते ७ महासयए ८ नंदिणीपिया ९ सालेइणीपिया १० जइ णं भंते ! समणेणं जाव संपत्तेणं सत्तमस्स अंगस्स उवासगदसाणं । दस अज्झयणा पण्णत्ता ? ॥

"तेणं कालेणं तेणं समएणमित्यादि" सर्वं चेदं ज्ञाताधर्मकथाङ्गप्रथमाध्ययनविवरणानुसारेणानुगमनीयं नवरम् "आणंदेत्यादि" रूपकं तत्रानन्दाभिधानोपासकवक्तव्यताप्रतिबद्धमध्ययनमानन्द एवाभिधीयते एवं सर्वत्र उपा० १ अ० ।

एवं खलु जंबू समणेणं जाव संपत्तेणं सत्तमस्स अंगस्स उवासगदसाणं दसमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते उवासगदसाओ सम्मत्ता उवासगदसाणं सत्तमस्स अंगस्स एगो सुयखंधो दस अज्झयणा दससु चेव दिवसेसु उद्दिसंति । खलु जंबूइत्यादि उपाशकदशानिगमनवाक्यमध्ये यमिति तथा पुस्तकान्तरे संग्रहगाथा उपलभ्यन्ते ताश्चेमा " वाणियगामे चंपा, दुवे वणारसीए नयरीए ४ आलंभिया य ५ पुरवरि, कंपिल्लपुरं च बोधव्वं । १ । पोलासं रायगिहं, सावत्थीए पुरीए दोन्नि भवे । एए उवासगाणं, नयरा खलु हुंति बोद्धव्वा । २ । सिवनंद १ भद्द २ सामा, ३ धण ४ बहुला ५ पुस्स ६ अग्गिमित्ता य ७ । रेवइ ८ अस्सिणि ९ तह फग्गुणा य १० भज्जाण णामाइं ३ ॥ ओहिण्णाण १ पिसाए २ माया ३ वाहि ४ धण ५ उत्तरिज्जे य ६ । भज्जा य सुव्वया ७ दुव्वया ८ निरुवसग्गया दोन्नि १० ॥ ४ । अरुणे १ अरुणाभे २ खलु, अरुणप्पह ३ अरुणकंत ४ सिट्ठे य ५ । अरुणज्झए य छट्ठे, ६, भूय ७ वडिंसे ८ गवे ९ कीले" १० । ५ । शिष्टादिनामान्यरुणपदपूर्वाणि द्रष्टव्यानि । अरुणशिष्टमित्यादि एताश्च पूर्वोक्तानुसारेणावसेयाः यदिह न व्याख्यातं तत्सर्वं ज्ञाताधर्मकथाव्याख्यानमुपयुक्तेन निरूप्यावसेयमिति । "सर्वस्यापि स्वकीयं वचनमभिमतं प्रायसः स्याज्जनस्य, यत्तु स्वस्यापि सम्यग्न हि विहितरुचिः स्यात् कथं तत्परेषाम् । चित्तोल्लासात्कुतश्चित्तदपि निगदितं किंचिदेवं मयैतत् , युक्तं यच्चात्र तस्य ग्रहममलधियः कुर्वतां प्रीतये मे " समाप्तमुपासकदशाविवरणं समाप्तं सप्तमाङ्गम् ॥ उपा० १० अ० ।

उपाशकदशानां विषयाः ।

से किं तं उवासगदसाओ उवासगदसासु णं उवासयाणं णगराइं उज्जाणाइं चेइआइं वनखंडा रायाणो अम्मापियरो समोसरणाइं धम्मायरिया धम्मकहाओ इहलोइयपरलोइयइड्ढिविसेसा उवासयाणं सीलव्वयवेरमणगुणपच्चक्खाणपोसहोववासपडिवज्जियाओ सुयपरिग्गहा तवोवहाणाइं पडिमाओ उवसग्गा संलेहणाओ भत्तपच्चक्खाणाइं पाओवगमणाइं देवलोगगमणाइं सुकुलपच्चाया पुणो बोहिलाभो अंतकिरियाओ आघविज्जंति ॥

(उपासकदसासु णंति) उपासकानां नगराणि उद्यानानि चैत्यानि वनखण्डा राजानः अम्बापितरौ समवसरणानि धर्माचार्या धर्मकथा ऐहलौकिकपारलौकिका ऋद्धिविशेषा उपासकानाञ्च शीलव्रतविरमणगुणप्रत्याख्यानपौषधोपवासप्रतिपादनतास्तत्र शीलव्रतान्यणुव्रतानि विरमणानि रागादिविरतयः गुणा गुणव्रतानि प्रत्याख्यानानि नमस्कारसहितादीनि पौषधमष्टम्यादिपर्वदिनं तत्रोपवसनमाहारशरीरसत्कारादित्यागः पौषधोपवासः ततो द्वन्द्वे सत्येतेषां प्रतिपादनताप्रतिपत्तय इति विग्रहः श्रुतपरिग्रहस्तप उपधानानि च प्रतीतानि (पडिमाओत्ति) एकादश उपासकप्रतिमाः कायोत्सर्गा वा उपसर्गा देवादिकृतोपद्रवः संलेखना भक्तपानप्रत्याख्यानानि पादपोपगमनानि देवलोकगमनानि सुकुले प्रत्यायाति पुनर्बोधिलाभोऽन्तक्रिया आख्यायन्ते पूर्वोक्तमेव ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अतो विशेषत आह ।

उवासगदसासु णं उवासयाणं रिद्धिविसेसा परिसा-वित्थरधम्मसवणाणि बोहिलाभो अभिगमणं सम्मत्तविसुद्धया थिरत्तं मूलगुणउत्तरगुणाइयारा ठिइविसेसा बहुविसेसा पडिमा अभिग्गहग्गहणउवसग्गाहियासणाणिरुवसग्गा तवोयचित्ता सीलव्वयगुणवेरमणपच्चक्खाणपोसहोववासा अपच्छिममारणंतिया य संलेहणाभोसणाहिं अप्पाणं जह य जावइत्ता बहूणि भत्ताणि अणसणाए छेअइत्ता उववसा कप्पवरविमाणुत्तमेसु जहा अणुभवंति सुरवरविमाणवरपोंडरीएसु सोक्खाइं अणोवमाइं कमेण भुत्तूण उत्तमाइं तओ आउक्खए चुआ समाणा जह जिणमयम्मि बोहिं लद्धूण य संजमुत्तमं तमरओघविप्पमुक्का वेंति जह अक्खयसव्वदुक्खमोक्खं एते अन्ने य एवमाइ उवासयदसासु णं परित्ता वायणा संखेज्जा अणुओगदारा जाव संखेज्जाओ संगहणीओ से णं अंगट्ठयाए सत्तमे अंगे एगे सुयक्खंधे दस अज्झयणा दस उद्देसणकाला दस समुद्देसणकाला संखेज्जाइं पयसयसहस्साइं पयग्गेणं पण्णत्तो संखेज्जाइं अक्खराइं जाव एवं चरणकरणपरूवणा आघविज्जंति सेत्तं उवासगदसाओ ॥ ७ ॥

उवासगेत्यादि तत्र ऋद्धिविशेषा अनेककोटीसंख्याऽऽढ्यादिसम्पद्विशेषाः तथा परिषदः परिवारविशेषाः यथा मातापितृपुत्रादिकाः अभ्यन्तरपरिषत् दासीदासमित्रादिका बाह्यपरिषदिति विस्तरधर्म्मश्रवणानि महावीरसन्निधौ ततो बोधिलाभोऽभिगमः सम्यक्त्वस्य विशुद्धता स्थिरत्वं सम्यक्त्वशुद्धिरेव मूलगुणोत्तरगुणा अणुव्रतादयः अतिचारस्तेषामेव वधबन्धादितः खण्डनानि स्थितिविशेषाश्चोपासकपर्यायस्य कालमानभेदाः बहुविशेषाः प्रतिमाः प्रभूतभेदाः सम्यग्दर्शनादिप्रतिमाः अभिग्रहग्रहणानि तेषामेव च पालनानि उपसर्गाधिसंहनानि निरुपसर्गे चोपसर्गाभावश्चेत्यर्थः । तपांसि च चित्राणि शीलव्रतादयोऽनन्तरोक्तरूपा अपश्चिमाः पश्चात्कालभाविन्यः अकारस्त्वमङ्गलपरिहारार्थः । मरणरूपे अन्ते भवा मारणान्तिक्यः आत्मशरीरस्य जीवस्य च संलेखनाः तपसा रोगादिजयेन च कृशीकरणानि आत्मनः संलेखनाः ततः पदत्रयस्य कर्मधारयस्तासां (ज्झोसणं ति) जोषणाः सेवनाः करणानीत्यर्थः ताभिरपश्चिममारणान्तिकात्मसंलेखनाजोषणाभिरात्मानं यथा च भावयित्वा बहूनि भक्तानि अनशनतया च निर्भोजनतया छेदयित्वा व्यवच्छेद्य उपपन्ना मृत्वेति गम्यते । केषु कल्पवरेषु यानि विमानोत्तमानि तेषु यथाऽनुभवन्ति सुरवरविमानानि वरपुण्डरीकाणि यानि तेषु कानि सौख्यान्यनुपमानि क्रमेण भुक्त्वोत्तमानि ततः आयुःक्षयेण च्युताः सन्तो यथा जिनमते बोधिं लब्ध्वा इति विशेषः । यथा च संयमोत्तमप्रधानं संयमं तमोरजओघविप्रमुक्ता अज्ञानकर्म्मप्रवाहविमुक्ता उपयन्ति । यथा अक्षयमपुनरावृत्तिकं सर्वदुःखमोक्षं कर्म्मक्षयमित्यर्थस्तथोपासकदशास्वाख्यायन्त इति प्रक्रमः । एते चान्ये चेत्यादि प्राग्वत्नवरं "संखेज्जाइं पयसहस्साइं पयग्गेणं ति" किलैकादशलक्षाणि द्विपञ्चाशच्च सहस्राणि पदानामिति ॥७॥ सम० । यावच्छब्देन "संखेज्जा वेढा संखिज्जा सिलोगा संखिज्जाओ निज्जुत्तीओ संखिज्जाओ संगहणीओ संखिज्जाओ पडिवत्तीओ" नं० ।

उवासगपडिमा–उपासकप्रतिमा–स्त्री० उपासकाः श्रावकास्तेषां प्रतिमाः प्रतिज्ञा अभिग्रहविशेषाः उपासकप्रतिमाः । उत्त० २ अ० । स० । श्रावकोचिताभिग्रहविशेषरूपेषु सुदर्शनादिषु, उपा० १ अ० । ध० । ग० । तथैकादशप्रतिमायां श्राद्धः सामायिको "जाव नियमं वा जाव पडिमं वा" कथमुच्चरते । तथा पञ्चम्यादिप्रतिमास्वष्टम्यादितिथिषु रात्रौ कायोत्सर्गकरणवदेकादश्यां प्रतिमायां कायोत्सर्गं करोति न वेति प्रश्नः । उत्तरम् एकादशप्रतिमायां श्रावकेण सामायिके "जाव पडिमं पज्जुवासेमित्ति" पाठो भणनीयस्तथा कायोत्सर्गोऽपि करणीयः । सेन० ३ उ० ३७ प्र० । श्रावकधर्म्माधिकारात्तदुचितभावस्तद्विशेषमुपासकप्रतिमालक्षणमभिधित्सुर्मङ्गलाद्यभिधानायाह ।

नमिऊण महावीरं, भवहियट्ठाय लेसओ किं पि ।

वोच्छं समणोवासग–पडिमाणं सुत्तमग्गेण ॥ १ ॥

नत्वा प्रणम्य महावीरं वर्द्धमानजिनं भव्यानां शुभजीवानां हितं पथ्यं स एवार्थः पदार्थः प्रयोजनं वा भव्यहितार्थस्तस्मै भव्यहितार्थाय अन्योपकारायेत्यनेन च परोपकारस्य मुमुक्षूणामादेयतां दर्शयति । लेशतः संक्षेपेणाल्पग्रन्थतयेत्यर्थः । अल्पग्रन्थेनापि क्वचित्समस्तमभिधेयमुच्यत इत्यत आह । किमपि स्तोकमभिधेयजातं न समस्तमपीत्यर्थः वक्ष्ये भणिष्यामि । श्रमणोपासकप्रतिमानां श्रावकाभिग्रहविशेषाणां संबन्धिनां पुनर्भिक्षुप्रतिमानां श्रावकधर्माधिकारात्कथमित्याह सूत्रमार्गेण दशाश्रुतस्कन्धाभिधानागमपथेनानेन श्रुतविशेषावलम्बनत्वात्प्रकरणस्यास्य प्रामाण्यमावेदितमिति गाथार्थः पंचा० १० विव० ।

अथ कियत्यः किमादिकाश्च ता इत्याशङ्कायामाह ।

एक्कारस उवासगपडिमा उ पण्णत्ता तं जहा दंसणसावए कयव्वयकम्मे सामाइअकडे पोसहोववासनिरए दिया बंभयारी रत्तिपरिमाणकडे दिआ वि राओ वि बंभयारी असिणाई वि अब्भोई मोलिकडे सचित्तपरिण्णाए आरंभपरिण्णाए पेसपरिण्णाए उद्दिट्ठभत्तपरिण्णाए समणभूए आविभवइ समणाउसो ॥

तत्र दर्शनं सम्यक्त्वं तत्प्रतिपन्नः श्रावको दर्शनश्रावकः इह प्रतिमानां प्रक्रान्तत्वेऽपि प्रतिमाप्रतिमावतोरभेदोपचारात्प्रतिमावतो निर्देशः कृतः एवमुत्तरपदेष्वपि । अयमत्र श्रावको दर्शनश्रावकः इह च प्रतिमानां प्रक्रान्तत्वेऽपि प्रतिमाभावार्थः सम्यग्दर्शनस्य शङ्कादिशल्यरहितस्याणुव्रतादिगुणविकलस्यायमभ्युपगमः सा प्रतिमा प्रथमेति । तथा कृतमनुष्ठितं व्रतानां कर्म तच्चाणुव्रतं ज्ञानवाञ्छाप्रतिपत्तिलक्षणं येन प्रतिपन्नदर्शनेन स कृतव्रतकर्मा प्रतिपन्नाणुव्रतादिरिति भावः इतीयं द्वितीया । तथा सामायिकं सावद्ययोगपरिवर्जननिरवद्ययोगोपसेवनस्वभावं कृतं विहितं देशतो येन स सामायिककृतः आहिताग्न्यादिदर्शनात्कान्तस्योत्तरपदत्वं तदेवं प्रतिपन्नपौषधस्य दर्शनव्रतोपेतस्य प्रतिदिनमुभयसंख्यं सामायिककरणं मासत्रयं यावदिति तृतीया प्रतिमेति । तथा पोषं पुष्टिं कुशलधर्माणां धत्ते यदाहारत्यागादिकमनुष्ठानं तत्पौषधं तेनोपवसनमवस्थानमहोरात्रं यावदिति पौषधोपवास इति । अथवा पौषधं पर्वदिनमष्टम्यादि तत्रोपवास उक्तार्थः पौषधोपवास इति । इयं व्युत्पत्तिरेव प्रवृत्तिस्तस्य शब्दस्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आहारशरीरसत्काराब्रह्मचर्यव्यापारपरिवर्जनेष्विति। तत्र पौषधोपवासे निरत आसक्तः पौषधोपवासनिरतः स एवंविधस्य श्रावकस्य चतुर्थी प्रतिमेति प्रक्रमः। अयमत्र भावः पूर्वप्रतिमात्रयोपेतोऽष्टमी चतुर्दश्यमावस्यापौर्णमासीष्वाहारपौषधादिचतुर्विधं पौषधं प्रतिपद्यमानस्य चतुरो मासान् यावच्चतुर्थी प्रतिमा भवतीति। तथा पञ्चमीप्रतिमायामष्टम्यादिषु पर्वस्वेकरात्रिकप्रतिमाकारी भवत्येतदर्थं च सूत्रमधिकृतसूत्रपुस्तकेषु न दृश्यते दशादिषु पुनरुपलभ्यते इति तदर्थं उपदर्शितः। तथा शेषदिनेषु दिवा ब्रह्मचारी (रत्तीति) रात्रौ किमत आह । परिमाणं स्त्रीणां तद्भोगानां वा प्रमाणं कृतं येन स परिमाणकृत इति। अयमत्र भावो दर्शनव्रतसामायिकाष्टम्यादिपौषधोपेतस्य पर्वस्वेकरात्रिकप्रतिमाकारिणः शेषदिनेषु दिवा ब्रह्मचारिणो रात्रौ ब्रह्मपरिमाणकृतोऽस्नातस्यारात्रिभोजिनः अबद्धकच्छस्य पञ्च मासान् यावत्पञ्चमी प्रतिमा भवतीति। उक्तंच " अट्ठमि चउद्दसीसु पडिमट्ठा एगराईय " पश्चार्द्धम् ॥

असिणाणवियडभोई, मउलियडो दिवसबंभयारी य।
रत्तिं परिमाणकडो, पडिमा वज्जेदिसुज्झेसुत्ति ॥ ५ ॥

तथा दिवाऽपि रात्रावपि ब्रह्मचारी (असिणा इत्ति) अस्नायी स्नानपरिवर्जकः क्वचित्पठ्यते (अनिसाइत्ति) न निशायामत्तीत्यनिशादी (वियडभोईत्ति) विकटे प्रकटप्रकाशे दिवा न रात्रावित्यर्थः दिवाऽपि अप्रकाशे देशे न भुङ्क्ते अशनाद्यभ्यवहरतीति विकटभोजी (मउलिकडेत्ति) अबद्धपरिधानकच्छ इत्यर्थः। षष्ठी प्रतिमेति प्रकृतम् । अयमत्र भावः प्रतिमापञ्चकोक्तानुष्ठानयुक्तस्य ब्रह्मचारिणः षण्मासान् यावत्षष्ठी प्रतिमा भवतीति। तथा सचित्त इति सचेतनाहारपरिज्ञानः तत्स्वरूपादिप्रतिज्ञानात्प्रत्याख्यातो येन स सचित्ताहारपरिज्ञातः श्रावकः सप्तमी प्रतिमेति प्रकृतम्। इयमत्र भावना पूर्वोक्तप्रतिमाषट्कानुष्ठानयुक्तस्य प्रासुकाहारस्य सप्त मासान् यावत्सप्तमी प्रतिमा भवतीति तथा आरम्भः पृथिव्याद्युपमर्दनलक्षणः परिज्ञातस्तथैव प्रत्याख्यातो येनासावारम्भपरिज्ञातः श्रावकोऽष्टमी प्रतिमेति। इह भावना समस्तपूर्वोक्तानुष्ठानयुक्तस्यारम्भवर्जनमष्टौ मासान् यावदष्टमी प्रतिमेति। तथा प्रेष्या आरम्भेषु व्यापारणीयाः परिज्ञातास्तथैव प्रत्याख्याता येन स प्रेष्यपरिज्ञातः श्रावको नवमीति। भावार्थश्चेह पूर्वोक्तानुष्ठायिनः आरम्भं परैरप्यकारयतो नव मासान् यावन्नवमी प्रतिमेति। तथा उद्दिष्टं तमेव श्रावकमुद्दिश्य कृतं भक्तमोदनादि उद्दिष्टभक्तं तत्परिज्ञातं येनासावुद्दिष्टभक्तपरिज्ञातः प्रतिमेति प्रकृतम् । इहायं भावार्थः। पूर्वोदितगुणयुक्तस्याधाकर्मिकभोजनपरिहारवतः क्षुरमुण्डितशिरसः शिखावतो वा केनापि किंचिद् गृहव्यतिकरे पृष्टस्य तज्ज्ञाने सति जानामीत्यज्ञाने च सति न जानामीति ब्रुवाणस्य दश मासान् यावदेवंविधविहारस्य दशमी प्रतिमेति । तथा श्रमणेति निर्ग्रन्थस्तद्वदनुष्ठानकरणात् स श्रमणभूतः साधुकल्प इत्यर्थः। चकारः समुच्चये अपिः संभावने भवति श्रावक इति प्रकृतं हे श्रवण ! हेआयुष्मन् ! इति सुधर्मस्वामिना जम्बूस्वामिनमामन्त्र्येतोक्तमित्येकादशीति । इह चेयं भावना पूर्वोक्तसमग्रगुणोपेतस्य क्षुरमुण्डस्य कृतलोचस्य वा गृहीतसाधुनेपथ्यस्य ईर्यासमित्यादिकं साधुधर्ममनुपालयतो भिक्षार्थं गृहिकुलप्रवेशे सति श्रमणोपासकाय प्रतिमाप्रतिपन्नाय भिक्षां दत्तेति भाषमाणस्य कस्त्वमिति कस्मिंश्चित्पृच्छति प्रतिपन्नश्रमणोपासकोऽहमिति ब्रुवाणस्यैकादशमासान् यावदेकादशी प्रतिमा भवतीति। पुस्तकान्तरे त्वेवं वाचना " दंसणसावए प्रथमा । कयव्वयकम्मे द्वितीया । कयसामाइए तृतीया । पोसहोववासनिरए चतुर्थी । राइभत्तपरिन्नाए पंचमी । सचित्तपरिन्नाए षष्ठी । दिया बंभयारी राओ परिमाणकडे सप्तमी । दिया वि राओ वि बंभयारी । असिणाणए यावि भवति वोसट्ठकेसरोमनहे अष्टमी । आरंभपरिन्नाए नवमी । उद्दिट्ठभत्तवज्जए दशमी । समणभूए यावि भवइत्ति समणाउसो एकादशीति । क्वचित्तु आरम्भपरिज्ञात इति नवमी । प्रेष्यारम्भपरिज्ञात इति दशमी । उद्दिष्टभक्तवर्जकः श्रमणभूतश्चैकादशीति । सम० । पंचा० ॥

तएणं से आणंदे समणस्स भगवओ अंतिअं पढमं उवासगपडिमं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ । पढमं उवासगपडिमं अहासुत्तं ५ सम्मं काएणं फासेइ । जाव आराहएइ । तएणं से आणंदे समणे । दोच्चं उवासगपडिमं चउत्थं पंचमं छट्ठं सत्तमं अट्ठमं नवमं दशमं एक्कारसमं जाव आराहेइ ॥

(पढमंति) एकादशानामाद्यामुपासकप्रतिमाश्रावकोचिताभिग्रहविशेषरूपामुपसंपद्य विहरति तस्याश्चेदं स्वरूपम् " संकादिसल्लविरहिअ, सम्मद्दंसणजुओ जो जंतू । सेसगुणविप्पमुक्को, एसा खलु होइ पढमाओ । " सम्यग्दर्शनप्रतिपत्तिश्चास्य पूर्वमप्यासीत् केवलमिह शङ्कादिदोषराजाभियोगाद्यपवादवर्जितत्वेन तथाविधसम्यग्दर्शनाचारविशेषपालनाभ्युपगमेन च प्रतिमात्वं संभाव्यते कथमन्यथाऽसावेकमासप्रथमायाः पालनेन द्वौ मासौ द्वितीयायाः पालनेन एवं यावदेकादश मासानेकादश्याः पालनेन पञ्चसार्द्धानि वर्षाणि पूरितवानित्यर्थः। तथा वक्ष्यतीति न चायमर्थो दशाश्रुतस्कन्धादावुपलभ्यते श्रूयमाणप्ररूपणायास्त्वस्याः प्रतिपादनात् (अहासुत्तंति) सूत्रानतिक्रमेण यथाकल्पं प्रतिमाचारानतिक्रमेण यथा मार्गं क्षायोपशमिकभावानतिक्रमेण (अहातच्चंति) यथातत्त्वं दर्शनप्रतिमेति शब्दस्यान्वर्थानतिक्रमेण (फासेइत्ति) स्पृशति प्रतिपत्तिकाले विधिना प्रतिपत्तेः (पालेत्ति) सततोपयोगप्रतिजागरेण रक्षति (सोहइत्ति) शोभयति गुरुपूजापुरस्सरं पारणककरणेन शोधयति वा निरतिचारतया (तिरइत्ति) पूर्णेऽपि कालावधावनुबन्धात्यागात् (कीर्तयेत्ति) तत्समाप्तावेवमिदं चेहादिमध्यावसानेषु कर्तव्यं मया तत् कृतमिति कीर्तनात् आराधयति एभिरेव प्रकारैः संपूर्णैः निष्ठां नयतीति उपा० १ उ० ।

सुयं मे आउसंतेणं भगवया एवमक्खायं इह खलु थेरेहिं भगवंतेहिं इक्कारस उवासगपडिमा पण्णत्ताओ कतराओ खलु ताओ इमाओ खलु तं जहा अकिरियावादी यावि भवति णो हियवादी णो हियपण्णे णो हियदिट्ठी णोसमावादी णो णितियावादी ण संति परलोगवादी णत्थि इहलोए णत्थि परलोए णत्थि माता णत्थि पिता णत्थि अरहंता णत्थि चक्कवट्टी णत्थि बलदेवा णत्थि वासुदेवा णत्थि णरया णत्थि णेरइया णत्थि सुकडदुक्कडाणं फलवित्तिविसेसे णो सुचिण्णा कम्मा सुचिन्नफला भवंति णो दुचिण्णा कम्मा दुचिण्णफला भवंति । अफले कल्लाणपावए णो पच्चायंति जीवा णत्थि णिरया णत्थि सिद्धी से एवं वादी एवं पण्णे एवं दिट्ठी एवं छंदरा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गन्निणिविट्ठे आवि भवति से अन्नवइ महिच्छे महारंभे महा-
परिग्गहे अहम्मिए अहम्माणुए अधम्मसेवी अधम्मक्खाई
अधम्मरागी अधम्मपलोई अधम्मजीवी अधम्मपज्जाणं अ-
धम्मसीलसमुदाचारे अधम्माणं चेव वित्तिं कप्पेमाणे विहरइ ।
हण छिंद भिंद विकत्तए लोहियपाणी चंमा रुद्दा खुद्दा साह-
स्सिया उक्कंचणवंचणामायाणियडिकूडकवडसातिसंपयो-
गबहुला दुस्सीला दुचरिया दुरणुणेया दुव्वदा दुप्पडिया
णंदा निस्सीले णिग्घाए निग्गुणे निम्मारे निम्मेरे निप्पच्च-
क्खाणपोसहोववासे असाहू सव्वातो पाणाइवायाउ अपडि-
विरए जावज्जीवाए एवं जाव सव्वाओ कोहाओ सव्वाओ
माणाओ सव्वातो मायातो सव्वातो लोभातो सव्वातो
पेज्जातो दोसातो कलहातो अब्भक्खातो पेसुन्नपरपरिवा-
दातो अरतिरइमायामोसातो मिच्छादंसणसल्लातो अपडि-
विरए जावज्जीवाए सव्वतो कसायदंतकट्ठण्हाणमद्दणविले-
वणसद्दफरिसरसरूवगंधमल्लालंकारातो अप्पडिविरया जाव-
ज्जीवाए सव्वातो सगडरहजाणजुग गिल्लिथिल्लिसीया-
संदमाणियजंपणासणजाणवाहणभोयणपवित्थरविधीतो
अपडिविरता जावज्जीवाए असमक्खियकारी सव्वाओ
आसहत्थिगोमहिसदासीदासकम्मकरपोरुसातो अपडि-
विरता जावज्जीवाए सव्वतो कयविक्कयमासद्धमासरू-
वगसंववहारातो अपडिविरता जावज्जीवाए सव्वाहिरण्ण-
सुवण्णधणधन्नमणिमोत्तियसंखसिलप्पवालातो अपडिविरता
जावज्जीवाए सव्वतो कूडतुलकूडमाणातो अप्पडिविरता स-
व्वातो आरंभसमारंभातो अप्पडिविरता सव्वातो करण-
कारावणातो अप्पडिविरता सव्वातो पयणपयावणातो अ-
प्पडिविरता सव्वातो कुट्टणपिट्टणातो तज्जणतालणवंधवध-
परिकिलेसातो अप्पडिविरता जावज्जीवाए जेयावन्ने तहप्प-
गारा सावज्जा अबोहिया कम्मतो कज्जंति परपाणपा-
रिआवणकडा कज्जंति ततो वि य अप्पडिविरता जावज्जी-
वाए से जहा णामए केइ पुरिसे कलममसूरतिलमुग्गमासनि-
प्फावकुलत्थआलिसंदजवएवमादिएहिं अयते कूरे मिच्छा-
दंडं पउंजइ एवमेव तहप्पगारे पुरिसज्जाते तित्तिरवट्टगलाव-
कपोतकपिंजलमियमहिसवराहगाहगोगोहकुम्मसिरी-
सवादिएहिं अयते कूरे मिच्छादंडं पउंजइ ॥ जावि य से
बाहिरिया परिया परिसा भवंति दासेति वा पेसेति वा भ-
तएइ वा भाइल्लेति वा कम्मारएति वा भोगपुरिसेति वा
तेसिं पि य णं अन्नयरगंसि अहालघुसयंसि अवराधंसि
सयमेव गरुयं दंडं वत्तेति तं जहा इमं दंडेह इमं मुंडेह इमं
तालेह इमं अंदुबंधणं करेह इमं नियलबंधणं करेह इमं चा
रगबंधणं करेह इमं हत्थच्छिण्णं करेह इमं पायच्छिन्नं करेह
इमं कण्णच्छिन्नं करेह इमं नक० इमं उट्ठ० इमं सीसच्छिन्नयं
करेह इमं मुख० इमं वेच्छे उ इमं हिययउप्पाडियं करेह ।
एवं नयणदसणवयणजिब्भुप्पाडितं करेह । इमं उल-
म्बितं करेह । इमं घंसियतयं इमं घोलितयं इमं सूलाकाय-
तयं इमं सूलाभिन्नं इमं खारवत्तियं करेह । इमं दब्भव-
त्तियं० इमं सीहपुच्छितयं० इमं वसभपुच्छितयं० इमं कड-
ग्गिदड्ढयं करेह । इमं काकिणिमंसखावि० (खादि) तं करेह ।
इमं भत्तपाणनिरुद्धयं० इमं जावज्जीवबंधणं करेह । इमं
अन्नतरेण असुभेण मारेह जा वि य से अब्भिंतरिया प-
रिसा भवंति तं जहा मातातेति वा भगिणित्ति वा भज्जाति
वा धूयाति वा सुण्हाति वा तेसिं पि य णं अन्नयरंसि
अहालहुसंसि अवराहंसि सयमेव गरुयं दंडवत्तेत्ति
सीतोदगवियडंसि कायंतो बोलित्ता भवति उसिणोदगविय-
डेण कायं उसिंचित्ता भवति अगणिकाएणं कायं उड्डहित्ता
भवति । जोत्तेण वा वेत्तेण वा नेत्तेण वा कसेण वा छि-
वाडीए वा पासाइं उद्दालित्ता भवति । दंडेण वा अट्ठीए
वा मुट्ठीए वा लेलूए वा कवालेण वा कायं आउडेत्ता भ-
वति तहप्पगारे पुरिसज्जाते संवसमाणे दुम्मणा भवंति
तहप्पगारे पुरिसज्जाते दंडमासी दंडगुरुए दंडपुरक्खडे अ-
हिते अस्सिं लोयंसि अहिए परलोयंसि ते दुक्खे निमोयंति
एवं कूरे तिप्पंति पिट्टेति परितप्पंति ते दुक्खणसोयणज्जूर-
णतिप्पणपिट्टणपरितप्पणवधबंधपरिकिलेसातो अपडिवि-
रता भवंति । एतामेव ते इत्थिकामभोगेहिं मुच्छिता गिद्धा
गढिता अज्झोववन्ना जाव वासाइं चउपंचमाइं छद्दसमा-
णि वा अप्पतरो वा भुज्जतरो वा कालं भुंजित्ता भोगभो-
गाइं पसवित्ता वेरायतणाइं संचिणित्ता बहूइं पावाइं कम्माइं
उसन्नसंभारकडेणकम्मुणा से जधा नामते अयगोलेत्ति वा से-
लगोलेत्ति वा उदयंसि पक्खित्ते समाणे उदगतलमतिवतित्ता
अहे धरणितलपतिट्ठाणे भवति । एवामेव तहप्पगारे पुरिस-
ज्जाते वहुले धुन्नबहुले पंकबहुले वेरबहुले दंभनियडिअसा-
यबहुले अयसबहुले अप्पत्तियबहुले उस्सन्नतसपाणघाती
कालमासे कालं किच्चा धरणितलमतिवतित्ता अहे नरगत-
लपतिट्ठाणे भवति तेणं णरगा अंतो वट्टा बाहिं चउरंसा अहे
खुरप्पसंठाणसंठिता निच्चंधकारतमसा ववगयगहचंदसूरन-
क्खत्तजोतिसपहा मेयवसामंसरुहिरपूयपडलचिक्खल्लालि-
त्ताणुलेवणतला असुई भीमा परमदुब्भिगंधा काऊअग-
णिवण्णाभा कक्खडफासा दुरहियासा असुभा नरगा अ-
सुभा नरयस्स वेदणातो नो चेव णं नरएसु नेरइया निद्दाय-
यंतीति वा सत्ति वा रतिं वा धितिं वा इयं वा उवलभंति
तेणं तत्थ उज्जलं विउलं पगाढं कक्कसं कडुयं चंडं रुक्खं दु-
ग्गं तिव्वं दुरहियासं नरए सु नेरइया नरयवेयणं पच्चणुभ-

वमाणा विहरंति से जधा रुक्खेमिया पव्वतायगजाते मूलच्छिन्ने अग्गे गरुए जातो निच्चं जतो दुग्गं जतो विसमंततो पवरुंति एवामेव तहप्पगारे पुरिसज्जाते गब्भातो गब्भं जम्मातो जम्मं मारातो मारं दुक्खातो दुक्खं दाहिणगामिए नेरइए कण्हपक्खिते आगमेसाणदुल्लभबोधिते यावि भवति से तं अकिरियावादी यावि भवति तं जहा आहियवादी आहियपन्ने आहियदिट्ठी सम्मावादी निइवादी संति परलोगवादी अत्थि इह लोगे अत्थि परलोगे अत्थि माता अत्थि पिया अत्थि अरहंता अत्थि चक्कवट्टी अत्थि बलदेवा अत्थि वासुदेवा अत्थि सुकडदुक्कडाणं फलवित्तिविसेसे सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णफला भवंति दुचिण्णा कम्मा दुचिण्णफला भवंति। सफले कल्लाणे पावए पच्चायंति जीवा अत्थि नेरइया देवा सिद्धी से एवं वादी एवं पन्ने एवं दिट्ठीच्छंदरागमतिनिविट्ठे आविभवति से भवति महिच्छे जाव उत्तरगामिए नेरइएसु पक्खिवत्तआगमेसाणं सुलभा बोधिया वि भवति से तं किरियावादसव्वधम्मरुची यावि भवति। तस्स बहूइं सीलव्वयगुणवेरमणपच्चक्खाणपोसहोववासाइं सम्मं पट्ठवितपुव्वाइं भवति पढमा उवासगपडिमा।

(अकिरियवाइत्ति) ननु प्रतिमाधिकारे तु पूर्वं दर्शनप्रतिमास्ति दर्शनं च सम्यक्त्वं तदेव पूर्वं वक्तुमुचितं किमर्थं तर्हि पूर्वं मिथ्यात्वप्ररूपणमनुपयोगित्वात्। उच्यते मिथ्यादर्शनं खलु सम्यग्दर्शनप्रतिपक्षभूतं तदपि ज्ञातुमुचितं जायते तद्विपक्षतया ज्ञातं तावत्सम्यक्त्वे दार्ढ्यं भवति पूर्वं सर्वजीवानां मिथ्यात्वमेव पश्चात्केषांचित्सम्यक्त्वमतः पूर्वं मिथ्यादर्शनमेवोचितं वक्तुमिति। तद् द्विविधं तद्यथा आभिग्राहिकमनाभिग्राहिकं चाभिग्राहिको नाम कुदर्शनग्रहो यथा नास्ति जीवोऽनित्यो वा जीवः नास्ति वा परलोक इत्यादिरूपः अनाभिग्राहिकमसंज्ञिनामपि केषांचित् तथाविधज्ञानविकलानां यतो भव्या अपि केचनाक्रियावादिनोऽभव्याश्चापि भव्योऽक्रियावादी नियमात् कृष्णपाक्षिक एतल्लक्षणमेवमाहुः 'जेसिमवड्ढो पुग्गलपरियट्टो चेव होइ संसारो। ते सुक्कपक्खिया खलु इयरे पुण कण्हपक्खिया॥१॥' इति। क्रियावादी च नियमाद्भव्य एव शुक्लपाक्षिकश्च। यतः "अंतो पुग्गलपरियट्टस्स णियमा सिज्झिहित्ति" सम्यग्दृष्टिर्मिथ्यादृष्टिर्वा भवेत् अतो युक्तमादौ तन्निर्देशकरणमिति। तत्र क्रिया अस्तीत्येवंरूपा तां वक्तुं शीलमस्येति क्रियावादी तद्विपरीतस्त्वक्रियावादी यतः ये त्वक्रियावादिनस्ते अस्तीति क्रियाविशिष्टमात्मानं नेच्छन्त्येव एवंविधो भवति चापिशब्दावनुक्तार्थसंग्राहकौ द्रष्टव्यौ। स पुनः कथंभूतो भवतीति दर्शयति (णाहियावादित्ति) नास्तिकवादादयो नास्त्यात्मा एवं वदनशीलो नास्तिकवादी एवं (नाहियपन्नेत्ति) नास्तिकप्रज्ञः प्रज्ञा हेयोपादेयरूपा तां नास्तीत्येवं वदनशीलो नास्तिकप्रज्ञः। प्रतिज्ञा वा निश्चयरूपोऽभ्युपगम एवं (नाहियदिट्ठित्ति) दृष्टिर्दर्शनं स्वमतमिति भावः (नो सम्मावादित्ति) न सम्यग्वादी मिथ्यादृष्टिरित्यर्थः ये यथावस्थितं भणन्ति ते सम्यग्वादिनः तद्विपरीतास्तु मिथ्यावादिनः (णो णितित्ति यावत्) नित्यो मोक्षो यत्र गतानां पुनरागमनादि नास्ति नित्यतयावस्थितिर्यत्रास्ति तन्निषेधवादी। अथवा नियतमनुष्ठानं (णंसंति) परलोकाः स्वर्गनरकादयः तद्वादी स पुनरित्थं नास्ति वदति यथा नास्तीह लोकः इहेति अयं प्रत्यक्षः सोऽपि नास्ति यद् दृश्यते तत् भ्रान्तमन्यथा प्रतिभासते तथाभूतसमुदायेन जीवादिकमस्ति तच्च वस्तुतया प्रतिभास इति भ्रान्तिः। नास्ति परलोकः कोऽर्थः परो नाम सुखदुःखोत्कृष्टभावसंयुक्तः सोऽपि नास्ति (णत्थि माता णत्थि पिता) इति कण्ठ्यं तन्निषेधमेवं ते कुर्वन्ति योऽयं मातृपितृव्यपदेशः स जनकत्वे कृतो जनकत्वाच्च यूकाकृमिगण्डोलकास्तथाश्रित्य स स्यान्न चैवं तस्मान्न वास्तवो मातृपितृव्यवहार इति (णत्थि अरहंतत्ति) अर्हन्तस्तीर्थकराः शेषपदत्रयं व्यक्तं (नरयत्ति) नरान् उपलक्षणत्वात्तिरश्चोऽपि तथाविधपापकारिणः कायन्ति आह्वयन्तीति नरकाः सीमन्तकादयः (णेरयियत्ति) निर्गतं अयमिष्टफलं कर्म येभ्यस्तेषु भवा नैरयिकाः "णत्थि सुकडेत्यादि" नास्ति सुकृतदुष्कृतयोः फलवृत्तिविशेषः सुकृतं तपःप्रभृति दुष्कृतं जीवहिंसादि "नो सुचिन्नेत्यादि" न सुचीर्णानि सुष्ठ्वाचरितानि कर्माणि सुचीर्णफलानि इष्टफलसाधकानि भवन्ति एवमितरदपि नवरं व्यत्ययः अफले इत्यादि अयमात्मा अफलः फलवर्जितः केत्याह कल्याणपापकवस्तुनि (णो पच्चायंतित्ति) न प्रत्यायान्ति जीवा गत्यन्तरसंचारेणेत्यर्थः (णत्थि णिरयादि) अत्रादिशब्दोपादानात् नारकास्तैरश्चा नरा देवाश्चत्वारो ग्राह्याः (णत्थि सिद्धित्ति) नास्ति न विद्यते सिद्धिर्नाम ईषत्प्राग्भारा मुक्तिक्षेत्रं यावत् सेति स एवंवादी अनन्तरोक्तप्रकारवादी कथकः 'एवं दिट्ठीति' पूर्ववत् एवं (छंदरागत्ति) छन्दः स्वाभिप्रायः रागो नाम स्नेहरागादिकस्तत्राभिनिविष्टमत्यर्पितदृष्टिर्भवति (सेयत्ति) सो भवति अनन्तरवक्ष्यमाणस्वरूपो यथा " महिच्छे " इत्यादि महती राज्यविभवपरिवारादिसर्वातिशायिनीच्छान्तःकरणप्रवृत्तिर्यस्य स महेच्छः तथा महानारम्भो वहनोष्ट्रमण्डलिकानां गन्त्रीप्रवाहकृषिपशुपोषणादिको यस्य स महारम्भः यश्चैवंभूतः स महापरिग्रहः धनधान्यद्विपदचतुष्पदवास्तुक्षेत्रादिपरिग्रहवान् कचिदप्यनिवृत्तः अत एव धर्मेण चरतीति धार्मिकः न धार्मिकोऽधार्मिकः। तत्र सामान्यतोऽप्यधार्मिकः स्यादत आह (धम्माणुगत्ति) धर्मं श्रुतचारित्ररूपमनुगच्छतीति धर्मानुगः। यद्वा धर्मे उक्तलक्षणेऽनुमोदनं यस्य सो धर्मानुगस्तद्विपरीतस्तु अधर्मानुगः। तथा (अधम्मसेवीत्ति) अधर्ममेव सेवितुं शीलमस्येत्यधर्मसेवी। तथा (अहम्मिट्ठेत्ति) धर्मः श्रुतरूप एवेष्टो वल्लभः पूजितो यस्य स धर्मिष्ठः। अथवा धर्मिणामिष्टः। अथवा धर्मिष्ठः अतिशयेन धर्मी धर्मिष्ठः तन्निषेधादधर्मिष्ठः अधर्मिष्ठो वा यद्वा अधर्मिष्ठो निस्त्रिंशकर्मकारित्वादधर्मबहुलः अत एव (अहम्मक्खाईति) न धर्ममाख्यातीत्येवं शीलोऽधर्माख्यायी। अथवा न धर्माख्यायी अथवा अधर्मात् आख्यातिर्यस्य स अधर्माख्यातिः। तथा अधर्मरागी अधर्मे एव रागो यस्य सोऽधर्मरागी। तथा (अहम्मपलोइत्ति) न धर्ममुपादेयतया प्रलोकयति यः सोऽधर्मप्रलोकी (अहम्मजीवित्ति) अधर्मेण जीवति प्राणान् धारयतीति अधर्मजीवी। तथा (अहम्मपलज्जणेत्ति) न धर्मे प्ररज्यति आसजति यः सोऽधर्मप्ररञ्जनः। यद्वा अधर्मप्रायणीयेषु धर्मेषु प्रकर्षेण रज्यत इत्यधर्मरक्तः रलयोरैक्यमिति रस्य स्थाने लकारोऽत्र कृत इति। "क्वचिदधम्मपज्जणे" इति पाठः तत्राधर्मं प्रकर्षेण जनयति उत्पादयति लोकानुपयातीति अधर्मप्रजनः। तथा अधर्मशीलेति अधर्मशीलो ऽधर्मस्वभावः। तथाऽधर्मात्मकः समु-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ह्याचारो यत्किञ्चनानुष्ठानं यस्य भवति स अधर्मशीलसमुदाचारो न धर्मात्किमपि भवति तस्यैवाभावादित्येवम् । तथा (अधम्मेण चेवत्ति) अधर्मेण चारित्रश्रुतविरुद्धरूपेण वृत्तिं जीविकां कल्पयन् कुर्वाणो विहरत्यास्ते । यद्वा अधर्म्मेण सावद्यानुष्ठानेन दहनाङ्कननिर्लाञ्छनादिकेन कर्मणा वृत्तिर्वर्तनं कल्पयन् कुर्वाणो विहरतीति कालमतिवाहयति । यद्वा अधर्मेणैव वृत्तिं सर्वजन्तूनां यापनां कल्पयन् इति । पापानुष्ठानमेव लेशतो दर्शयितुमाह "हणेत्यादि" स्वत एव हननादिकाः क्रियाः कुर्वाणोऽपरेषामप्येवमात्मकमुपदेशं ददाति । तत्र हननं दण्डादिभिस्तस्कारयति तथा छिन्धि कर्णादिकं भिन्धि शूलादिना विकर्तकः प्राणिनामजिनाय नेता अत एव लोहितपाणिर्मारयित्वा हस्तयोरप्यप्रक्षालनात् अत एव पापः पापकर्मकारित्वात् । चण्डस्तीव्रकोपावेशात् । रौद्रो निस्त्रिंशकर्मकारित्वात् । क्षुद्रः क्षुद्रकर्मकारित्वात् । साहसिकः सहसा अविमृश्यैव पापकर्मणि प्रवृत्तत्वात् । स्वत एव परलोकभयाभावात् असमीक्षितकारी अनालोचितपापकारीति भावः । तथा वञ्चं च वञ्चनं प्रतारणं तद्यथा अभयकुमारः प्रद्योतगणिकाभिर्धार्मिकवञ्चनया वञ्चितः मायावञ्चनबुद्धिः प्रायो वणिजामिव । निकृतिस्तु वकवृत्त्या कुक्कुटादिकरणेन दम्भप्रधानवणिक्श्रोत्रियसाध्वाकारेण परवञ्चनार्थं मङ्गलकर्तकानामिवावस्थानं देशभाषानेपथ्यादिविपर्ययकरणम् । कूटमनेकेषां मृगादीनां ग्रहणाय नानाविधप्रयोगकरणम् । अथवा कूटं कार्षापणं तुलाप्रस्थादेः परवञ्चनार्थं न्यूनाधिककरणं कपटं यथाऽऽषाढभूतिना नटेन वा परवेषपरावृत्त्याचार्योपाध्यायसंघाटकात्मार्थं चत्वारो मोदका अवाप्ताः । एतैरुत्कञ्चनादिभिः सहातिशयेन संप्रयोगो योगः तेन बहुलं यदि वा सातिशयेन द्रव्येण कस्तूरिकादीनामपरस्य द्रव्यस्य संप्रयोगः सातिसंप्रयोगः तेन बहुलोऽतिप्रभूतः । उक्तं च सूत्रकृताङ्गचूर्णिकृता "सो होइ साइजोगो, दव्वं जत्थादि अन्नदव्वेसु । दोसगुणवयणेसु य, अत्थविसंवायणं कुणइ ॥१॥" इति संप्रयोगबहुलः । अपरे तु व्याख्यानयन्ति उक्तं च न नाम उक्तो वा निकृतिर्वचनप्रच्छादनकर्मसातिरविजृम्भ एतत्संप्रयोगबहुलः शेषं तथैव । एते चोत्कञ्चनादयो मायापर्यायाः यथेन्द्रशब्दस्य शक्रपुरन्दरादयः । पुनः किंभूताः (दुस्सीलेत्ति) दुष्टं शीलं स्वभावो यस्य स दुःशीलः दुष्परिचयश्चिरमुपचरितोऽपि क्षिप्रं विसंवदति । दुःखानुनेयो दारुणस्वभाव इत्यर्थः । तथा (दुव्वए) दुष्टानि वृत्तानि यस्य स तथा यथा मांसभक्षणव्रतकालसमाप्तौ प्रभूततरसत्त्वोपघातेन मांसप्रधानमन्यदपि नक्तभोजनादिकं तस्य दुष्टव्रतमिति । तथाऽन्यस्मिन् जन्मान्तरेऽहं मधुमद्यमांसादिकमभ्यवहरिष्यामीत्येवमज्ञानान्धो जन्मान्तरविधिद्वारेण स निदानमेव च तं गृह्णाति । तथा दुःखेन प्रत्यानन्द्यत इति दुष्प्रत्यानन्द्यः इदमुक्तं भवति तैरानन्दितेनापरेण केनाचित् प्रत्युपकारहेतुना गत्वाऽभ्माता दुःखेन प्रत्यानन्द्यते । यदि वा सत्युपकारे प्रत्युपकारजीर्णैर्वानन्दति प्रत्युत शठतया उपकारे दोषमेवोत्पादयति । तथा चोक्तं "प्रतिकर्तुमशक्तिष्ठा नराः पूर्वोपकारिणाम् । दोषमुत्पाद्य गच्छन्ति मद्गूनामिव वायसा इति" । तथा निश्शीलो ब्रह्मचर्यपरिणामाभावात् । *निर्व्रतो हिंसादिविरत्यभावात् । निर्गुणो हितकारित्वादि* गुणाभावात् । निर्मर्यादिः परस्त्रीपरदारादिमर्यादाविलोपित्वात् । तथा अविद्यमानपौरुष्यादिप्रत्याख्यानसत्पर्वदिनोपवासश्चेत्यर्थः । यत एवमतः साधुपापकर्मकारित्वात् । तथा यावत्प्राणधारणेन सर्वस्मात्प्राणातिपातादप्रतिविरतो लोकनिन्दनीयादपि ब्राह्मणघातादेरविरत इति सर्वग्रहणम् । एवं पूर्वोक्तप्रकारेण यावत् करणात् "सव्वातो मुसावायातो अपडिविरया इत्यादि" पदकदम्बकपरिग्रहः । तत्र सर्वस्मादपि कूटसाक्ष्यादेरप्रतिविरत इति । तथा सर्वस्मात् स्त्रीवालादेः परद्रव्यादपहरणादविरतः । तथा सर्वस्मात्परस्त्रीगमनादेर्मैथुनादविरतः एवं सर्वस्मात्परिग्रहाद्योनिपोषकादप्यविरतः । एवं सर्वेभ्यः क्रोधमानमायालोभेभ्योऽप्यविरतस्तथा प्रेमद्वेषकलहाभ्याख्यानपैशुन्यपरपरिवादारतिरतिमायामृषामिथ्यादर्शनशल्यादिभ्योऽसदनुष्ठानेभ्यो यावज्जीवः प्रतिविरतो भवतीति तत्र प्रेमानभिव्यक्तमायालोभस्वभावमभिष्वङ्गमात्रं प्रेम । द्वेषोऽनभिव्यक्तक्रोधमानस्वरूपाप्रीतिमात्रं द्वेषः, । कलहो राटिः अभ्याख्यानमसद्दोषारोपणम्, । पैशून्यं प्रच्छन्नमसद्दोषाविष्करणम्, । परपरिवादो विप्रकीर्णं परेषां गुणदोषवचनम् । अरतिरती अरतिर्मोहनीयोदयाच्चित्तोद्वेगः तत्पुना रतिर्विषयेषु मोहनीयोदयाच्चित्ताभिरतिः अरतिरती माया तृतीयकषायद्वितीयाश्रवयोः संयोगः अनेन च सर्वसंयोगा उपलक्षिताः । अथवा वेषान्तरकरणेन वा यत्परवञ्चनं तन्माया । मृषेति मिथ्यादर्शनं शल्यमिव विविधव्यथानिबन्धनत्वान्मिथ्यादर्शनशल्यमिति । तथा सर्वस्मात् स्नानोद्वर्तनाभ्यञ्जनवर्णककषायद्रव्यसंयुक्ततया विलेपनशब्दस्पर्शरसरूपगन्धमाल्यालङ्कारात् कामाङ्गात् मोहजनितादप्रतिविरतो यावज्जीवमिति । अत्र स्नानादयः शब्दाः प्रसिद्धाः नवरं वर्णकग्रहणेन वर्णविशेषापादकलोध्रादिकं परिगृह्यते । ननु पूर्वं तावत् अभ्यङ्गः पश्चात् उन्मर्दनं युज्यते पश्चाच्च स्नानं ततः कथमादौ स्नानोपन्यासः उच्यते यद्यपि अनुक्रम एवमेव परं कोऽपि कदाचिदभ्यङ्गमन्तराऽपि स्नानं कुर्वन् पृष्ठिसंवाहनादि कारयति तेन न व्यत्ययो दोषावह इति । गन्धाः कोष्टपुटादयः माल्यानि ग्रथितदामानि अलङ्काराः केयूरादयः तथा सर्वतः शकटरथादेर्यानविशेषादिप्रविस्तरविधिपरिकररूपात् परिग्रहादप्रतिविरत इति । इह च शकटरथादिकमेव यानं शकटरथयानं युग्यपुरुषोत्क्षिप्तमाकाशयानं (गिल्लित्ति) पुरुषद्वयोत्क्षिप्ता गिल्लिका (थिल्लित्ति) वेगसरादिद्वयविनिर्मितो यानविशेषस्तथा (सीयत्ति) शिविका विलाटानां यत् अड्डपल्लाणं रूढं तदन्यविषयेषु पिल्लिरित्युच्यते यद्वा तथा शिविका नाम कूटाकाराच्छादितो जम्पानविशेषः । तथा (संदमाणियत्ति) शिविका विशेष एव पुरुषायामप्रमाणो जम्पानानि पर्यङ्कादीनि आसनानि गद्दिकादीनि यानानि वाहनानि च पूर्वोक्तान्तःपातीन्येव वेदितव्यानि । अथवा यानानि नौकादीनि वाहनानि वेसरादीनि भोजनमोहनादिरूपं प्रविस्तरो नाम गृहोपस्कार इति तथा अश्वहस्त्यादिपदानि व्यक्तानि नवरं दास आमरणं क्रयक्रीतः । कर्मकरो लोकहितादिकर्मकरः । पौरुषं पदातिसमूहः । तेभ्योऽप्यप्रतिविरतो यावज्जीवायेति । एतदेवमन्यस्मादपि वस्त्रादेः परिग्रहादुपकरणभूतादविरतस्तथा सर्वतः क्रयविक्रयाभ्यां करणभूताभ्यां यो मासकार्धमासकरूपकार्षापणादिभिः पण्यविनिमयात्मकः संव्यवहारस्तस्मादप्यविरतो यावज्जीवायेति । तथा सर्वस्मात्सर्वतः हिरण्यसुवर्णधनधान्यमणिमौक्तिकशङ्खशिलाप्रवालेभ्योऽप्यप्रतिविरतो यावज्जीवायेति । तत्र *हिरण्यं रूप्यमघटितस्वर्णं* मित्येक सुवर्णं घटितं धनं गणिमादि चतुर्धा तद्यथा " गणिमं जाई फलपूगफलाइ धरिमं तु कुंकुमगुडाई । मज्जं चोप्पडलोणाइ रयणवत्थाइ परिच्छिज्जं ॥ १ ॥ धान्यं चतुर्विंशतिधा यवशाल्यादि मणयो वैडूर्यचिन्तामणिप्रभृत-

यो, मौक्तिकानि, प्रतीतानि, शङ्खा दक्षिणावर्त्तादयः, शिलाप्रवालानि विद्रुमाणि, । अन्ये त्वाहुः । शिला राजपट्टादिरूपाः प्रवालं विद्रुममेतेभ्योऽप्यप्रतिविरतो जावज्जीवायेति । तथा कूटमानाद्विरतस्तथा सर्वतः सर्वस्मात् आरम्भसमारम्भात् तत्रेमौ द्वावपि त्रिप्रकारौ तद्यथा मानसिकवाचिककायिकभेदात् तत्र मानसिको मन्त्रादिध्यानं परमारणे हेतोः प्रथमः तथा समारम्भः परपीडाकरोच्चाटनादिनिबन्धनध्यानं वाचिको यथा आरम्भः परव्यापादनक्षमक्षुद्रविद्यादिपरावर्त्तनासंकल्पसूचको ध्वनिरेव । समारम्भः परपरितापकरमन्त्रादिपरावर्त्तनम् । कायिको यथा आरम्भोऽभिघाताय यष्टिमुष्ट्यादिकरणं समारम्भः परितापकरो मुष्ट्या अभिघातः । तथा सर्वतः कृषिपाशुपाल्यादेर्यत्स्वतः करणं अन्येन च यत्किञ्चित् कारयति तस्मादविरतः उपलक्षणमनुमतेरप्येतत् तथा पचनपाचनतोऽप्यप्रतिविरतः । तथा सर्वतस्सर्वस्मात् कुट्टनपिट्टनतर्जनताडनया यः परिक्लेशः प्राणिनां तस्मादप्यप्रतिविरतः । सांप्रतमुपसंहरति ये चान्ये तथा प्रकाराः परपीडाकारिणः सावद्याः कर्मसमारम्भा अबोधिका बोध्यभावकारिणस्तथा परप्राणपरितापनकरा गोग्रहबन्दीग्रहग्रामघातात्मका येऽनार्यैः क्रूरकर्मभिः क्रियन्ते ततोऽप्रतिविरता यावज्जीवमिति । पुनरन्यथा बहुप्रकारमाधाकर्मिकपदं प्रतिपिपादयिषुराह "सेजहाणामए इत्यादि" तद्यथेत्युपदर्शनार्थम् । नामशब्दः संभावनायां संभाव्यतेऽस्मिन्विचित्रे संसारे केचनैवंभूताः पुरुषाः ये कलमसूरतिलमुद्गमाषनिष्पावकुलत्थाऽऽलिसिन्दकसन्तानानुपरिमन्थकादिषु पचनपाचनादिक्रियया स्वपरार्थमयतः अयत्न वचननिक्षेपः । तत्र कला वृत्तचनकाः मसूराश्चनकाः । तिलमुद्गमाषाः प्रतीताः । निष्पावा वल्लाः कुलत्थाः चपलकसदृशाश्चिप्पिटका भवन्ति । आलिसिन्दकाः सतानानुपरिमन्थकाः क्रूरो मिथ्यादण्डस्तं प्रयुञ्जति मिथ्यैवानपराधिष्वेव दोषमारोप्य दण्डो मिथ्यादण्डस्तं विदधाति । तथा एवमेव प्रयोजनं विनैव तथा प्रकारः पुरुषो निष्करुणो जीवोपघातनिरतः तित्तिरवर्तकलावककपोतककपिञ्जलमृगमहिषवराहगोगोणकूर्मसरीसृपेषु जीवनप्रियेषु प्राणिष्वयतः क्रूरकर्मा मिथ्यादण्डं प्रयुञ्जति तस्य च क्रूरबुद्धेर्यथा राजा तथा प्रजा इति प्रवादात् परिवारोऽपि तथाभूत एव तेषु प्राणिष्वयतः क्रूरकर्मा मिथ्यामतिरिति । तथा दर्शयितुमाह । (जा विया से इत्यादि) पापिनी च तस्य बाह्या पर्षद्भवति । तद्यथा दासः स्वदासीसुतः प्रेष्यो हि प्रेषणयोग्यो भृत्यादिश्यो भृतको वेतनेनोदकाद्यानयनविधायी । तथा भागिको यः षष्ठांशादिलाभेन कृष्यादौ व्याप्रियते । कर्मकरः प्रतीतः । तथा नायकश्चितः कश्चिद्भोगपरस्तदेवं ते दासादयोऽन्यस्य लघावप्यपराधे गुरुतरं दण्डं प्रयुञ्जन्ति प्रयोजयन्ति च । स च नायकस्तेषां दासादीनां बाह्यपर्षद्भूतानामन्यस्मिन् यथा लघावप्यपराधे शब्दाश्रवणादिके गुरुतरं दण्डं वक्ष्यमाणं प्रयुङ्क्ते तद्यथा इमं दासं प्रेष्यादिकं सर्वस्वापहारेण दण्डय तमित्यादिपाठसिद्धं नवरम् । (अघुडवाडुचंधणंति) अघुद्या बाहुबन्धनं निगडानि प्रतीतानि हडिरिति काष्ठघोटकः चारको बन्दीप्रभृतीनामवस्थानार्थं गृहविशेषः इमं निगडयुगलेन संकोचितं संकोचकरणेन ह्रस्वीकुरुत मोटितमङ्गभङ्गेन मुखे मध्यवेधः शरीरस्यासिप्रभृतिकेन (विच्छेडचि) अस्य सूत्रस्याकारेण छेदनं जीवत एव हृदयोत्पाटनं हृदयमध्यमांसकर्त्तनम् । (ओलंबितंति) अवलम्बितं कूपपर्वतनदीप्रभृतिषु लम्बितं वृक्षादिषु घर्षितं करीषादिना घोलितं रसनिष्कासनार्थं मामूयत् शूलाप्रोतं शूलिकारोपितं गुदे प्रोता सती शूली मुखे निर्गच्छति शूलाभिन्नं मध्ये विध्यते क्षारान्तिकं नाम शस्त्रेण छित्वा लवणक्षारादिभिः सिच्यते दर्भवर्तितं दर्भेण शरीरविकर्त्तनं सिंहपुच्छे बन्धनं कटाग्निदग्धं कटान्तर्वेष्टयित्वाऽग्निना दह्यते काकनिमांसानि कर्त्तयित्वा खाद्यते अभ्यन्तरेण भक्तपानविधं भिममन्यतरेणाशुभेन कुत्सितमारेण व्यापादयत यूयम् । याऽपि च क्रूरकर्मवतोऽभ्यन्तरा पर्षद् भवति तद्यथा नाम कश्चित्पुरुषः प्रभुकल्पो मातापितृसुहृत्स्वजनादिभिः सार्द्धं परिवसंस्तेषां च मातापित्रादीनामन्यतमेनानाभोगतया यथाकथञ्चिल्लघुतमेऽप्यपराधे वाचिके दुर्वचनादिके तथा कायिके हस्तपादादिसंघट्टनरूपे कृते सति स्वयमेवात्मना क्रोधाध्मातो गुरुतरं दण्डं दुःखोत्पादकं वर्त्तयति करोति । तद्यथा शीतोदकविकटे प्रभूते शीते वा शिशिरादौ तस्यापराधकर्तुः कायमधो बोलयिता भवति । तथोष्णोदकविकटेन कायं शरीरमपसिञ्चयिता भवति । तत्र विकटग्रहणादुष्णतैलेन काञ्जिकादिना वा कायमुपतापयिता भवति । तथाऽग्निकायोल्मुकेन तप्तायसा वा कायमुपदाहयिता भवति । तथा योत्रेण वा वेत्रेण वा खड्गेन वा नेत्रोवृक्षविशेषस्तेन त्वचा वल्कल तथा वाऽन्यतमेन वा दवरकेण ताडनतस्तस्याल्पापराधकर्तुः शरीरपार्श्वाणि उद्दालयितुं भवति चर्माणि लुम्पयितुं भवति । तथा दण्डयष्ट्यादिना वा अस्थ्ना वा सेलुना वा लोष्ठेन वा मुष्ट्या वा कपालेन वा अपरेण वा कायं शरीरमाकुट्टयिता उपताडयिता भवति अत्यर्थं कुट्टयिता वा तदेवमल्पापराधिन्यपि महाक्रोधदण्डं वर्तयति तथाप्रकारे पुरुषजाते एकत्र वसति तत्सहवासिनो मातापित्रादयो दुर्मनसस्तदनिष्टाशङ्कया भवन्ति मार्जारदर्शने मूषिकावत् तस्मिंश्च प्रवसिते देशान्तरं गच्छति गते वा तत्सहवासिनो हि सुमनसो भवन्ति त एवं यथा मार्जारे प्रवसिते मूषका विश्वस्ताः सुखेन विचरन्ति एवं तस्मिन् प्रवासिते पौराः प्रातिवेश्मिकाः स्वजनादिकाः सर्वे वाऽन्यो लोको विश्वस्तः स्वकर्मानुष्ठायी भवति । तथा प्रकारश्च पुरुषजातोऽल्पेऽप्यपराधे महान्तं दण्डं कल्पयतीति । एतदेव दर्शयितुमाह । तथा प्रकारः सदण्डो भृशं दण्डेनामर्षी लोकोऽपि भणति तथा अमुको वराको राज्ञा कारागारे क्षिप्तो दण्डित इत्यर्थः दण्डपासीति वा पाठस्तत्र दण्डस्य पार्श्वे दण्डपार्श्वे तद्विद्यते यस्यासौ दण्डपार्श्वः स्वल्पतया स्तोकापराधेऽपि कुप्यति दण्डं च पातयति तमप्यतिगुरुकमिति दर्शयितुमाह । दण्डगुरुको यस्य च दण्डो महान् भवत्यसौ दण्डेन गुरुर्भवति । तथा दण्डपुरस्कृतः सदा पुरस्कृतदण्ड इत्यर्थः स चैवंभूतः स्वस्य परत्राऽत्रास्मिंल्लोकेऽस्मिन्नेव जन्मन्यहितः प्राणिनामहितदण्डोपादानात् । तथा परस्मिन्नपि जन्मन्यसावहितस्तच्छीलतया चासौ येषाञ्चिदेव येन केनचिन्निमित्ते मनसाऽन्येषां दुःखमुत्पादयति तथा नानाविधैरुपायैस्तेषां शोकमुत्पादयति शोकयतीत्येवं झूरयति गर्हति तृप्यति सुखाच्च्यावयत्यात्मानं परांश्च । तथा स वराकोऽपुष्टधर्मा सदानुष्ठानैः स्वतः पीड्यते परांश्च पीडयति । तथा स पापेन कर्मणा परितप्यते दह्यते परांश्च स तापयति । तदेवमसावसद्दण्डी सन् दुःखेन शोकेन झूरणतर्पणपीडनो हि प्राणिनां बहुप्रकारपीडोत्पादकतया वधबन्धपरिक्लेशादप्रतिविरतो भवति स च विषयासक्ततयैतत्करोति तद्दर्शयितुमाह "एवमेवेत्यादि" एवमेव पूर्वोक्तस्वभाव एव स निष्कृपो निरनुक्रोशो बाह्याभ्यन्तरपर्षदोरपि कर्षणात्सावकर्त्तनदण्डपातनस्वभावः । स्त्रीप्रधानाः कामाः स्त्रीकामाः यदि वा स्त्रीषु मदनकामाविषयभूतासु कामेषु च शब्दादिच्छाकामेषु

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूर्च्छितः गृद्धो ग्रथितः अध्युपपन्नः एते च शक्रपुरंदरादिवत्पर्यायाः कथञ्चिद्भेदं वाऽऽश्रित्य व्याख्येयाः । एतच्च स्त्रीपुंशब्दादिषु च प्रवर्त्तनं प्रायः प्राणिबहुस्पृष्टप्रकारादिभिर्बहुस्पृष्टनिधत्तनिकाचनावस्थानि विधाय तेन च संभारकृतेन कर्म्मणा प्रेर्यमाणस्तत्र कर्मगुरुर्नरकतलप्रतिष्ठानो भवतीति । अस्मिन्नेवार्थे सर्वलोकप्रतीतं दृष्टान्तमाह (से जहा णामए इत्यादि) तद्यथा नामायोगोलकोऽयःपिण्डः शिलागोलको वृत्ताश्मशकलं वोदके प्रक्षिप्तः सन् सलिलतलमतिवर्त्यातिलङ्घ्याधोधरणितलप्रतिष्ठानो भवति । अधुना दार्ष्टान्तिकमाह । "एवमेवेत्यादि " यथाऽसावयोगोलको वृत्तत्वात् शीघ्रमेवाधो यात्येवमेव तथा प्रकारः पुरुजातस्तमेव लेशतो दर्शयति वज्रवद् वज्रं गुरुत्वात् कर्म तद्बहुलस्तत्प्रचुरो वध्यमानकर्मगुरुरित्यर्थः । तथा धूयत इति धूतं प्राग्बद्धं कर्म तत्प्रचुरः पुनः सामान्येनाह (पंकबहुलेत्ति) पङ्कं पापं तद्बहुलस्तथा तदेव कारणतो दर्शयितुमाह । वैरबहुलो वैरानुबन्धप्रचुरस्तथाऽप्यतियन्ति मनसो दुष्प्रणिधानं तत्प्रधानस्तथा दम्भो मायया परवञ्चनं तदुत्कटः । तथा निकृतिर्मायावेषभाषापरावृत्तिच्छद्मना परद्रोहबुद्धिस्तन्मयः । तथा (सातिबहुल इति) सातिशयेन द्रव्येण परस्य हीनगुणस्य द्रव्यस्य संयोगः सातिस्तद्बहुलस्तत्करणप्रचुरस्तथा क्वचित् आसायणबहुलेति पाठः तत्राशातना पूर्वोक्तार्था पाठसिद्धा तथा बहुलोऽतिप्रचुरत्वादश्लाघ्योऽसद्वृत्ततया निन्द्यः । कया रत्नप्रभादिकायास्तलमतिनिष्ठाति । परापकारभूतानि कर्म्माण्यनुष्ठानानि विधत्ते तेषु तेषु च कर्म्मसु करचरणच्छेदनादिष्वयशोभाग् भवति स एवंभूतः पुरुषः (कालमासेत्ति) स्वायुषः क्षये कालं कृत्वा पृथिव्याः रत्नप्रभादिकायास्तलमतिवर्त्य योजनसहस्रपरिमाणमतिलङ्घ्य नरकतलप्रतिष्ठानोऽसौ भवति । नरकस्वरूपप्ररूपणयाह । " तेणमित्यादि " णमिति वाक्यालङ्कारे ते नरकाः सीमन्तादयः बाहुल्यमङ्गीकृत्यान्तर्मध्यभागे वृत्ताकाराः बहिर्भागे चतुरस्राकाराः इदं च पीठोपरिवर्तिनं मध्यभागमधिकृत्योच्यते सकलपीठाद्यपेक्षया त्वावलिकाप्रविष्टा वृत्तात्र्यस्रचतुरस्रसंस्थानाः पुष्पावकीर्णास्तु नानासंस्थानाः प्रतिपत्तव्याः (अहे खुरप्पसंठाणसंठियाइत्ति) अधोभूमितले क्षुरप्रस्येव प्रहरणविशेषस्य यत्संस्थानमाकारविशेषस्तीक्ष्णतालक्षणस्तेन संस्थितास्तथा हि तेषु नरकावासेषु भूमितले मसृणत्वाभावतः शर्कराप्रचुरे भूभागे पादेषु न्यस्यमानेषु शर्करामात्रसंस्पर्शेऽपि क्षुरप्रेणेव पादाः कृत्यन्ते (निच्चंधयारतमसा इत्ति) तमसा नित्यान्धकाराः उद्योताभावतो यत्तमस्तदिह तम उच्यते तेन तमसा नित्यं सर्वकालमन्धकाराः तत्राप्यपवरकादिष्वपि नामान्धकारोऽस्ति केवलं बहिः सूर्यप्रकाशे मन्दतमो भवति नरकेषु तीर्थकरजन्मदीक्षादिकालव्यतिरेकेणान्यदा सर्वकालमपि उद्योतलेशस्याभावतो जात्यन्धस्येव मेघच्छन्नकालार्धरात्र इव चातीव बहलतरो वर्तते तत उक्तं तमसा नित्यान्धकाराः तमश्च तत्र सदाऽवस्थितमुद्योतकराणामसंभवात् । तथा चाह । "ववगयगहचंदसूरनक्खत्तजोइसियपहा" व्यपगतः परिभ्रष्टो ग्रहचन्द्रसूर्यनक्षत्ररूपाणामुपलक्षणमेतत् ताराख्याणां च ज्योतिष्काणां पन्था मार्गो येभ्यस्ते व्यपगतग्रहचन्द्रसूर्यनक्षत्रज्योतिष्कपथाः तथा पुनरप्यनिष्टोपादानार्थं तेषामेव विशेषणमाह । "मेयवसेत्यादि" दुष्कृतकर्मकारिणां तेषां दुःखोत्पादनायैवंभूता भवन्ति । तद्यथा स्वभावसंपन्नैर्मेदोवसामांसरुधिरपूयादीनां पटलानि समूहास्तैर्लीनानि पिच्छिलीकृतान्यनुलेपनप्रधानानि येषां ते तथा अथवा मेदोवसामांसरुधिरपूतिपटलैर्दिग्धानि [illegible] स्तेन लिप्तमुपदिग्धमनुलेपनेन सततालिप्तस्य पुनः पुनरुपलेपनेन तलं भूमिका येषां ते मेदोवसालिप्तरुधिरमांसचिक्कणलिप्तानुलेपनतलाः अत एवाऽशुचयो विष्ठासृक्क्लेदप्रधानत्वात् अत एवंविधाः कुथितमांसादिकल्पकर्दमविलिप्तत्वात् क्वचित् ' बीभच्छा ' इति पाठः तत्र बीभत्सा दर्शनेऽप्यतिजुगुप्सोत्पत्तेः । एवं परमदुरभिगन्धाः कुथितगोमायुकलेवरादप्यसह्यगन्धकाः । (अगणिवण्णाभा इति) लोहे धम्यमाने याद्दक्पोतो बहुकृष्णरूपायोवर्णः । किमुक्तं भवति याद्दशी बहुकृष्णवर्णरूपा अग्निज्वाला निर्गच्छतीति ताद्दशी आभा आकारो येषां ते कपोताग्निवर्णाभाः धम्यमानलोहाग्निज्वालाकल्पा इति भावः । तारकोत्पत्तिस्थानातिरेकेणान्यत्र सर्वेऽप्युष्णरूपत्वात् एतच्च षष्ठसप्तमपृथिवीवर्जमवसेयम् । यत उक्तम् । "छट्ठसत्तमीसुणं काऊअगणिवण्णाभा न भवंति " एताद्दशास्ते रूपतः । स्पर्शतस्तु कर्कशाः कठिना वज्रकण्टकासिपत्रस्येव स्पर्शो येषां ते । तथा अत एव (दुरहियासा इति) दुःखेनाध्यासन्ते सह्यन्ते इति दुरध्यासाः किमिति यतस्ते नरकाः पञ्चानामपीन्द्रियार्थानामशोभनत्वादशुभाः तत्र सत्वानामशुभकर्मकारिणामुग्रदण्डपातिनां वज्रप्रचुराणां तीव्रा अतितिव्रा अतिदुःसहा वेदनाः शरीराः प्रादुर्भवन्ति तथा च वेदनया अभिभूतस्तेषु नरकेषु ते नारका नैवाक्षिनिमेषमपि कालं निद्रायन्ते नाप्युपविष्टाद्यवस्थामक्षिसंकोचरूपामीषन्निद्रामवाप्नुवन्ति । श्रुतं विशेषज्ञानरूपं रतिं चित्ताभिरतिरूपां धृतिं विशिष्टसत्वरूपां मतिं वैशेषबुद्धिरूपां नोपलभन्ते न ह्येवंभूतवेदनापीडितस्य निद्रादिलाभो भवतीति दर्शयति तामुज्ज्वलां तीव्रामनुभवेनोत्कटाम् । (तितुलंति) त्रीनपि मनःप्रभृतिकान् तुलयति जयति तित्रितुला तां कञ्चिद्विपुलामित्युच्यते तत्र सकलकायव्यापकत्वाद्विपुलाम् । (पगाढंति) प्रकर्षवर्तिना (कक्कसंति) कर्कशद्रव्यमिव कर्कशां दृढामित्यर्थः (कडुयंति) कटुकां नागरादिवत् सकटुकामनिष्टामेव (चंडंति) चण्डां रौद्राम् (तिव्वंति) तीव्रां निकनिम्बादिद्रव्यमिव तीव्राम् (दुक्खंति) दुःखहेतुकाम् (दुग्गंति) कष्टसाध्याम् (दुरहियासंति) दुरधिसह्यां वेदयन्तो विचरन्ति । अयं तावदयोगोलकपाषाणदृष्टान्तः शीघ्रमधोनिमज्जनाप्रतिपादकः प्रदर्शितोऽधुना शीघ्रपातार्थप्रतिपादकमेवापरं दृष्टान्तमधिकृत्याह " से जहाणामए इत्यादि " तद्यथा नाम कश्चिद्वृक्षः पर्वताग्रे जातो मूले छिन्नः शीघ्रं यथा निम्नं पतत्येवमसावप्यसाधुकर्मकारी तत्कर्म वातेरितः शीघ्रमेव नरके पतति ततो नरकादप्युद्वृत्तो गर्भाद्गर्भमवश्यं याति । एवं जन्मतो जन्म मरणान्मरणं नरकान्नरकं दुःखाद् दुःखं दुःखात् शरीरमानसोद्भवात् दुःखं समाप्नोति (दाहिणगामित्ति) दक्षिणस्यां दिशि गमनशीलो दक्षिणगामुकः । इदमुक्तं भवति यो हि क्रूरकर्मकारी साधुनिन्दापरायणः सदाननिषेधकस्स दक्षिणगामुको भवति दाक्षिण्यासेषु नारकतिर्यङ्मनुष्यामरेषु उत्पद्यते तादृग्भूतश्चायमतो दक्षिणगामुक इत्युक्तम् । इदमेवाह (णेरइएत्यादि) नरकेषु भवो नारकः कृष्णपक्षोऽस्यास्तीति कृष्णपाक्षिकस्तथाऽऽगामिनि काले नरकादुद्वृत्तो दुर्लभबोधिकश्चायं च बाहुल्येन भवति । इदमुक्तं भवति दिक्षु मध्ये दक्षिणा दिगप्रशस्ता गतिषु नरकगतिः पक्षतः कृष्णपक्षस्तदस्य विषयान्धस्येन्द्रियामुकृतप्रवर्तिनः परलोकनिःस्पृहमतेः साधुप्रद्वेषिणो दानान्तरायविधायिनो दिशमप्रशस्तां प्राप्नोति एवमन्यदपि यादृगप्रशस्तं तिर्यग्भत्यादिकमबोधिलाभादिकं च-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तयोऽज्ञनीयमस्येति न तस्य किञ्चित्त्राणं भवति । एवं मिथ्यात्वयुक्तजीववर्णनमुक्त्वा यदा कदाचित् सम्यक्त्वमाप्नोति तदा यादृशः स्यात् तथाह (सेत्तमित्यादि) स क्रियावादी वाऽपि भवति यथा पूर्वं व्याख्यातं तथोत्तरत्रापि व्यत्ययेन व्याख्येयम् । एवं यदा स आस्तिको भवति तदा स सम्यग्दृष्टिर्भवति यावदुत्तरगामुकः शुक्लपाक्षिको देवादिषु उत्पद्यते आगामिनि काले च सुलभधर्मप्रतिपत्तिर्भवति स क्रियावादी सत्यधर्मरुचिश्चापि भवति सद्भ्यो हितः स चासौ धर्मः क्षान्त्यादिकस्तद्रुचिरित्यर्थः । क्वचित् " सव्वधम्मरुइत्ति " पाठः । तत्र धर्मः स्वभाव इत्यनर्थान्तरं जीवाजीवयोर्यस्य तद्रूपस्य गतिःस्थित्यवगाहनात्मिका । अथवा सर्वे धर्माः आज्ञाग्राह्याः हेतुग्राह्याश्च तान् श्रद्धत्ते सम्यक्तया मन्यते परं तस्य णमिति वाक्यालंकारे (बहूइं सीलव्वयेत्यादि) शीलव्रतान्यणुव्रतानि गुणव्रतानि विरमणानि औचित्येन रागादिनिवृत्तयः प्रत्याख्यानानि पौरुष्यादीनि पौषध अवश्यतया पर्वदिनानुष्ठानं तत्रोपवासोऽवस्थानं पौषधोपवासः एषां द्वन्द्व एते नो निषेधे सम्यग् यथा भवन्ति तथा प्रस्थापिता भवन्ति न स्वचेतसि नियततया कर्त्तव्यत्वेन व्यवस्थापिता भवन्ति । एवमनुना प्रकारेण दर्शनश्रावको भवति । दर्शनं नाम सम्यक्त्वं तदाश्रित्य श्रावको भवति । ननु तथाविधविरतिं विना कथं श्रावको भवति उच्यते वस्तुव्रतान्यपि न सम्यक्त्वं विना भवन्ति यतः " नत्थि चरित्तं सम्मत्तविहूणं " इत्यादि वचनात् । सम्यक्त्वं व्रतमेव अथवा सम्यक्त्वं तु पञ्चसंवरद्वाराणामाद्यं संवरद्वारं ततः सम्यक्त्वे श्रावको भवत्येवेति नात्र संशयः । इदं च सम्यक्त्वश्रद्धानरूपा प्रथमा आद्या उपाशकप्रतिमा दशा० ६अ० । आ० चू० ।

अथ दर्शनप्रतिमास्वरूपनिरूपणायाह । दारं दंसणओ अविच्छेदः शुभानुबन्धः सोऽस्यास्तीति शुभानुबन्धी । तथा निरतिचारः शङ्काकाङ्क्षादिदर्शनातिक्रमरहित इति तदेवमितो ग्रन्थात् दर्शनप्रतिपत्तिमात्रं निरतिचारसम्यक्त्वरूद्धाद्यवधिकं प्रतिमेत्यवसीयते । उपासकदशासु पुनरानन्दादीनां प्रतिमाकारिश्रावकाणां पूर्वं प्रतिपन्नदर्शनव्रतानां प्रतिमैकादशकस्य प्रतिपत्तिर्वर्णिता तत्प्रमाणं च सार्द्धं वर्षपञ्चकमित्यतोऽनुमीयते दर्शनप्रतिपत्तिमात्रादतिरिक्तस्वभावा सा तदतिरेकश्चेह राजाभियोगाद्याकारषट्कवर्जनं यथावत्समग्रदर्शनाचारपालनादिभिः संभाव्यते कालमानं चास्यामेको मासो यत एकादिकयैकोत्तरया वृद्ध्यैकादशसु प्रतिमासु यथोक्तं कालमानं भवतीति गाथार्थः । अथ दशाश्रुतस्कन्धादिषु प्रतिमाशब्दोऽभिग्रहार्थो व्याख्यातः । इह पुनः कस्मात्तद्व्याख्यानत्यागेन शरीरार्थो व्याख्यात इत्याशङ्क्याह ।

बोंदी य एत्थ पडिमा, विसिट्ठगुणजीवलोगओ भणिया ।
ता एरिसगुणजोगा, होउ सोक्खावणत्थि त्ति ॥ ७ ॥

बोन्दिश्च तनुः पुनरत्र प्रकरणे ग्रन्थान्तरे त्वभिग्रहः प्रतिमा प्रतिमेति शब्देन भणितोक्ता किमर्थमिति चेदुच्यते विशिष्टगुणः संसाराजिनन्दिसत्त्वापेक्षया मार्गादिसुखादिः स चासौ जीवलोकश्च सत्त्वलोको विशिष्टगुणजीवलोकस्तस्मात्सकाशात् शुभसुप्रशस्त एव संदर्शनप्रतिमावानिति ख्यापनार्थमेतत्प्रतिपादनायेति । कुतः पुनः स शुभ इत्याह । तयेदृशगुणयोगात् तया बोन्द्या हेतुभूतया य ईदृशगुणयोगः प्रागुक्तदर्शनप्रतिमागुणसंबन्धस्तस्मात्तदृशगुणयोगादित्येतस्य संस्कृतस्य च स्थाने "ता एरिसगुणयोगा" इति प्राकृतं न विरुद्धमेवंविधप्रयोगाणामनेकशो दर्शनादिति । इदमुक्तं भवति । आस्तिक्यगुरुदेववैयावृत्त्यानयमादिभिर्गुणैर्गुणिलोकात् शुभतरः प्रतिमागुणवांस्तत्सूचकाय क्रियारूपास्तदभिव्यञ्जकाश्च वर्तन्ते ततस्तेषां तदभिव्यक्तेश्च बोन्दिहेतुकत्वात् बोन्दिमतः प्रतिमावतः प्राधान्यमिति ख्यापनाय बोन्दीप्रतिमेत्युक्तमिति गाथार्थः । एवं तावद्दर्शनप्रतिमाशब्दस्याभिधेयमभिधाय शेषप्रतिमासु तदतिदेशं व्रतप्रतिमास्वरूपं चाह ।

एवं वयमाईसु वि, दट्ठव्वमिणं ति णवरमेत्थ वया ।
घेप्पं नणुव्वया खलु, थूलगपाणवहविरयादी ॥ ८ ॥

एवमनेनैव प्रकारेण दर्शनप्रतिमोक्तेन व्रतादिष्वपि व्रतसामायिकप्रभृतिषु सर्वप्रतिमासु न केवलं दर्शनप्रतिमायामेव द्रष्टव्यमवसेयम । इदं च प्रतिमाशब्दस्याभिधेयमितिशब्दो वाक्यार्थसमाप्तौ एवमतिदेशद्वारेण सामान्यतो व्रतादिप्रतिमां व्याख्याय विशेषव्याख्यानार्थमाह । नवरं केवलमत्र व्रतप्रतिमायां व्रतान्यभिग्रहाः (घेप्पंति त्ति) गृह्यन्ते आद्रियन्ते अणुव्रतानि खलु देशमूलगुणा एव खल्ववधारणे किं स्वरूपाणि तानीत्याह स्थूलकप्राणवधविरत्यादीनि असूक्ष्मसत्त्वहिंसाविरमणप्रभृतीनीत्यादिशब्दात् स्थूलकमृषावादविरत्यादिपरिग्रह इति गाथार्थः । अथ तानि यदा भवन्ति तत्स्वरूपाणि चेत्येतद्दर्शनार्थमाह ।

सम्मत्तोवरि ते सेस–कम्मुणो अवगए पुहत्तम्मि ।
पलियाणं होंति णियमा, सुहा य परिणामरूवाउ ॥ ९ ॥

सम्यक्त्वोपरि सम्यक्त्वलाभकालस्योर्ध्वं ते इति तान्यणुव्रतानि शेषकर्मणः सम्यक्त्वलाभकाले यत् क्षपितं तदपेक्षया शेषस्य देशोनसागरोपमकोटाकोटीप्रमाणस्य मोहनीयादिकर्मस्थितिबन्धलक्षणस्यापगते क्षीणे पृथक्त्वे द्विप्रभृतिकेन चान्ते संख्याविशेषे केषामित्याह । पल्यानां पल्योपमानां भवन्ति जायन्ते नियमादवश्यतया । तथा शुभात्मपरिणामरूपाणि तु प्रशस्तजीवाध्यवसायस्वभावान्येव क्षायोपशमिकत्वादिति गाथार्थः ।

तेषां शुभात्मपरिणामस्वरूपत्वादेव यत्स्यात्तदाह ।

बंधादि असक्किरिया, संतेसु इमेसु पहवइ ण पायं ।
अणुकंपधम्मसवणा–दिया उ पहवति विसेसेण ॥ १० ॥

बन्धादिर्बन्धविच्छेदप्रभृतिरसत्क्रिया अशोभना चेष्टा प्रतिव्रतमतिचारपञ्चकरूपा सत्सु विद्यमानेष्वणुव्रतेषु प्रभवति जायते । न चैवं प्रायो बाहुल्येन प्रमादादिना कदाचित्स्यादप्रीतिः प्रायोग्रहणमनुकम्पाधर्मश्रवणादिकानुजीवदयाधर्मशास्त्राकर्णनप्रभृतिका पुनः क्रियेति प्रकृतं प्रभवति जायते । विशेषेण सुतरां दर्शनप्रतिमापेक्षया व्रतमात्रापेक्षया चेति । तदेवं व्रतप्रतिमा निरतिचारपञ्चाणुव्रतपालनरूपा उपासकदशाभिप्रायेण चार्थापत्तेर्लभ्यते मासद्वयमानेनातोऽन्यत्र व्रतमात्रमेवेति गाथार्थः । पंचा० १० विव० ।

सांप्रतं द्वितीयप्रतिमास्वरूपमुच्यते ।

अहावरा दोच्चा उवासगपडिमा सव्वधम्मरुईया वि भवति तस्स णं बहूइं सीलव्वयगुणव्वयवेरमणपोसहोववासाइं पट्ठविताइं भवंति से णं सामाइयदेसावकासियं णो सम्मं पालित्ता भवति दोच्चा उवासगपडिमा ॥ २ ॥

अथेत्यानन्तर्ये अपरा अन्या उपासकेत्यादि व्यक्तं शीलव्रतादीनि च प्रस्थापितानि भवन्ति एतावता विरतिमान् भवति परं स न सामायिकं देशावकाशिकं च सम्यग्यथा भवत्यतिचाररहि-

सं तथा अनुपालयिता भवति इति द्वितीया श्रावकप्रतिमा दशा० ६ अ० आ०। चू०। द्वितीया व्रतप्रतिमा इदं चास्याः स्वरूपम्। "दंसणपडिमाजुत्तो, पालंतो णुव्वए निरइयारे। अणुकंपाइ गुणजुत्तो, जीवो इह होइ वयपडिमा" उपा० १ अ०। पंचा०।

अथ तृतीयामुपासकप्रतिमामाह।

अहावरा तच्चा उवासगपडिमा सव्वधम्मरुचिया वि भवति तस्स णं बहूणं सीलव्वयगुणवेरमणपच्चक्खाणपोसहोववासाइं सम्मं पट्ठवियाइं भवंति से णं सामायिकं देसावकासियं सम्मं अणुपालित्ता भवति से णं चाउद्दसअट्ठमिउद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु पडिपुण्णं पोसहो नो सम्मं अणुपालित्ता भवति तच्चा उवासगपडिमा ॥

अथापरा तृतीया सुगमा नवरं तस्य बहूनि व्रतादीनि प्रस्थापितानि आत्मनि निवेशितानि भवन्ति (सेणंति) स णमिति वाक्यालंकारे "चाउद्दसीत्यादि" चतुर्दशी प्रसिद्धा पर्वतिथित्वेन तथैवाष्टमी पर्वत्वेन प्रख्याता (उद्दिट्ठत्ति) उद्दिष्टा अमावस्या पौर्णमासी पूर्णो मासो यस्यां सा पूर्णमासी तासु एवंभूतासु धर्मतिथिषु प्रतिपूर्णं यः पोषधो व्रताभिग्रहविशेषस्तं प्रतिपूर्णमाहारशरीरसंस्काराब्रह्मचर्याव्यापाररूपं पोषधं नानुपालयिता भवति। इति तृतीया उपासकप्रतिमा दशा० ६ अ०। आ० चू० (तच्चंति) तृतीयां सामायिकप्रतिमां तत्स्वरूपमिदम्। "वरदंसणवयजुत्तो, सामइयं कुणइ जो उ संझासु। उक्कोसेण तिमासं, एसा सामइयप्पडिमा"।

सामायिकशब्दार्थमाह ।

सावज्जजोगपरिव-ज्जणादिरूवं तु होइ विण्णेयं।
सामाइयमित्तिरियं, गिहिणो परमं गुणट्ठाणं ॥ ११ ॥

सावद्ययोगपरिवर्जनादिरूपं सपापव्यापारपरिहारनिरवद्ययोगासेवास्वभावं तुशब्दः पुनरर्थो भवति स्याद्विज्ञेयमवसेयं सामायिकं प्रागुक्तनिरुक्तमित्वरः स्तोकः कालो यत्रास्ति तदित्वरिकं मुहूर्त्तादिप्रमाणं गृहिणः श्रावकस्य परमं प्रधानं शेषगुणस्थानापेक्षया गुणस्थानं देशचारित्रविशेषो गुणाश्रयो वेति गाथार्थः।

परमगुणस्थानमेवास्य समर्थयन्नाह।

सामाइयम्मि उ कए, समणो इव सावओ जतो भणितो।
बहुसो विहाणस्स य, तम्हा एयं बहुसगुणं ॥ १२ ॥

सामायिके एव समभावरूपे न तु व्रतान्तरे तुशब्दोऽवधारणार्थः। कृते प्रतिपन्ने सति श्रमण इव साधुतुल्यः सिद्धिसुखपरमसाधनभूतसमभावसाधर्म्याद्यतो यस्मात्कारणाद्भणितोऽभिहितस्तथा बहुशोऽनेकशो विधानं वा सेवनं वाऽस्य सामायिकस्य भणितं निर्युक्तिकृता। तथा हि "सामाइयम्मि उ कए, समणो इव सावओ हवइ जम्हा। एएण कारणेणं, बहुसो सामाइयं कुज्जा" तस्मात्कारणादेतत्सामायिकं यथोक्तगुणं प्रागभिहितगुणं परमं गुणस्थानमित्यर्थं इति गाथार्थः। अत्र सामायिके सति यन्न भवति यच्च भवति तद्दर्शयन्नाह।

मणदुप्पणिहाणादी, ण होंति एयम्मि भावओ संते।
सइनायावट्ठियकारि, या य सामण्णबीयंति ॥ १३ ॥

मनोदुष्प्रणिधानादीनि मनोदुष्प्रणिधानवचनदुष्प्रणिधानकायदुष्प्रणिधानानि प्रथमप्रकरणोक्तरूपाणि न भवन्ति न जायन्ते एतस्मिन् सामायिके भावतो भावेन न तु द्रव्यतः सति विद्यमाने तथा स्मृतिभावसामायिकं प्रति कृताकृतादिविषयस्मरणसद्भावस्तथाऽवस्थितसामायिककरणनिषेधरूपो भवतीति प्रकृतम्। च शब्दः समुच्चये कस्मादेवमित्याह। श्रामण्यबीजं श्रमणभावहेतुरिति कृत्वा यत् श्रमणभावस्य परमसामायिकरूपस्य बीजं तत्कथं मनोदुष्प्रणिधानादियुक्तं भवति कारणानुरूपत्वात्कार्यस्येति। यद्यप्येषा सामायिकप्रतिमा एतस्य प्रकरणस्य दशाश्रुतस्कन्धस्य वाऽभिप्रायेणानियतकालमाना तथाऽप्यावश्यकचूर्ण्यभिप्रायेणोपासकदशाभिप्रायेण च प्रतिदिनमुभयसन्ध्यं सामायिककरणतामासत्रयमानोत्कर्षेण द्रष्टव्या जघन्यतस्तु सर्वा अप्येकाहादिमाना इति। एतच्चाग्रे वक्ष्यत इति गाथार्थः। उक्ता सामायिकप्रतिमा पंचा० १० विव० ॥

अथापरा चतुर्थी उपासकप्रतिमा ॥

अधावरा चउत्था उवासगपडिमा सव्वधम्मरुईया वि भवति तस्स णं बहूइं सीलव्वया जाव सम्मं पट्ठवियाइं भवंति से णं सामाईयं देसावगासियं सम्मं अणुपालेत्ता भवति से णं चउद्दसट्ठं जाव सम्मं पोसहं अणुपालेत्ता भवति से णं एगराईयं उवासगपडिमं नो सम्मं अणुपालित्ता भवति चउत्था उवासगपडिमा ॥

यस्मिन् दिने उपवासो भवति तस्मिन् दिने वा रात्रौ प्रतिमां प्रतिपद्यते न च स तां शक्नोति कर्तुमिति चतुर्थी। दशा० ६ अ०। आ० चू० (चउत्थंति) चतुर्थी पोषधप्रतिमैवंरूपा "पुव्वोदियपडिमजुओ, पालइ जो पोसहं तु संपुण्णं। अट्ठमिचउद्दसीसु, चउरो मासा चउत्थी सा॥" उपा० १ अ०। अधुना पोषधप्रतिमावसरस्तत्र च पोषधमेव स्वरूपतो दर्शयन्नाह ॥

पोसेइ कुसलधम्मे, जं ता हारादिचागणुट्ठाणं।
इह पोसहो त्ति भण्णति, विहिणा जिणभासिएणेव ।१४।

पोषयति पुष्णाति कुशलधर्मान् शुभसमाचारान् प्राणातिपातविरमणादीन् यद्यस्मात्तत्तस्मादाहारादित्यागानुष्ठानं भोजनदेहसत्काराब्रह्मव्यापारपरिहारकरणमिह प्रक्रमे पोषध इत्येवं भण्यते अभिधीयते पोषं धत्ते पुष्णाति वा धर्मानिति निरुक्तात्कथं यदाहारादित्यागानुष्ठानमित्याह विधिना विधानेन यथाकथञ्चित्किंभूतेन जिनभाषितेनैव सर्वज्ञोक्तेनैव स्वमतिविकल्पितेन विधानं च प्रथमप्रकरणे एवोक्तमिति न पुनर्भण्यते इति गाथार्थः।

अथ पोषधं तत्वतो निरूप्य भेदतस्तन्निरूपयन्नाह ॥

आहारपोसहो खलु, सक्कारपोसहो चेव।
बंभव्वावारेसु य, एयगया धम्मवुड्ढि त्ति ॥ १५ ॥

आहारपोषधः प्रागुक्तस्वरूपः खलुर्वाक्यालंकारे शरीरसत्कारपोषधः पूर्वोक्तस्वरूप एव। चैवशब्दः समुच्चयार्थः ब्रह्मव्यापारयोश्चेति एतद्विषयश्च पोषधो भवति ब्रह्मचर्यपोषधो व्यापारपोषधश्चेत्यर्थः। आहारादिपोषध इति कोऽर्थ उच्यते एतद्गता आहारादित्यागसमाश्रिता धर्मवृद्धिर्धर्मपुष्टिः पोषं धत्त इति व्युत्पादनादितिशब्दो वाक्यार्थसमाप्ताविति गाथार्थः।

इह यद्वर्जयत्यसौ तदाह।

अप्पडि दुप्पडिलेहिय-सेज्जासंथारमाइवज्जे त्ति।
सम्म च अणणुपालण-माहारादीसु एयम्मि ॥ १६ ॥

'अप्पडित्ति' पदावयवे पदसमुदायोपचाराद् 'अप्पडिलेहियात्ति' द्रष्टव्यं ततश्च अप्रत्युपेक्षितदुष्प्रत्युपेक्षितशय्यासंस्तारकादि वर्ज-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यति परिहरतीत्य प्रत्युपेक्षितमनिरीक्षितं दुष्प्रत्युपेक्षितं दुर्निरीक्षितं शय्या शयनं तदर्थः संस्तारकः कम्बल्यादिरूपः अथवा शय्या वसतिः सर्वाङ्गीणशयनं वा संस्तारकश्च ततो द्वयुतर इति समाहारद्वन्द्वात् शय्यासंस्तारकः । आदिशब्दादप्रमार्जितदुष्प्रमार्जितशय्यासंस्तारकमप्रत्युपेक्षितदुष्प्रत्युपेक्षितोच्चारप्रस्रवणभूमिमप्रमार्जितदुष्प्रमार्जितोच्चारप्रस्रवणभूमिं चेति सम्यग् यथागमं चाननुपालनमवधावनभोजनाद्यौत्सुक्यादिभिराहारादिष्विति । सप्तम्याः षष्ठ्यर्थत्वात् आहारशरीरसत्कारब्रह्मचर्याव्यापारपोषधानामेतस्मिन्निति पोषधे वर्जयतीति प्रकृतमिति । तदेवमियं पोषधप्रतिमा ग्रन्थान्तराभिप्रायेणाष्टम्यादिपर्वसु संपूर्णपोषधानुपालनारूपोत्कर्षतश्चतुर्मासप्रमाणा भवतीति गाथार्थः

अथ पञ्चमी ।

आहावरा पंचमा उवासगपडिमा सव्वधम्मरुइया वि भवति तस्स णं बहुइं सील जाव सम्मं पडिलेहित्ताइं भवति से णं चाउद्दसिं तहेव से णं एगराईयं उवासगपडिमं सम्मं अणुपालित्ता भवति सेणं असिणाणविपडभोई मउलियडे दिया बंभचारी रत्तिं परिमाणकडे से णं एतारूवेणं विहारेणं विहरमाणे जहन्नेणं एगाहं वा दुयाहं वा तियाहं वा उक्कोसेणं पंचमासे विहरेज्जा पंचमा उवासगपडिमा ॥

सव्वधम्मेत्यादि व्यक्तम् (असिणाणेत्ति) न स्नाति स्नानं न करोति (वियडभोइत्ति) प्रकाशभोजी न रात्रौ भुङ्क्ते अप्रकाशे वा यतो ये दोषाः पिपीलिकाद्युपघातरूपाः रात्रौ भवन्ति त एवान्धकारभोजने इति प्रवादः तेन प्रकाशभोजी भवति (मउलिकडेत्ति) परिधानवाससो वलद्वयकटीप्रदेशेनावलम्बयति । अग्रे पृष्ठे च उन्मुक्तकच्छो भवतीत्यर्थः यावन्मासपञ्चमं तत्परिसमाप्यते तावद्दिवा ब्रह्मचारी (से णमित्यादि) स इत्यनिर्दिष्टनामा एतद्रूपेण विहारेण प्रतिमाचरणरूपेण विचरन् एकाहमेकदिवसं वाशब्दः परापरभेदसूचकः एवं द्व्यहं त्र्यहं उत्कर्षतो यावत्पञ्चमासास्तावद्विहरति तत्रैकाहं यदि अङ्गीकृत्य प्रतिकारं कुर्यात् असामर्थ्याद्वा अन्तराले एव त्यजेत् कोऽपि तत उक्तमेकाहं चेत्यादि इतरथा तु सम्पूर्णोऽपि भवति पूर्वोक्तः प्रतिमाचतुष्टयस्याचारोऽपि द्रष्टव्यः दिवा रात्रौ च ब्रह्मचारी भवति एवमुत्तरत्रापि पूर्ववत् प्रतिमाचारोऽपि वाच्य इति पञ्चम्युपासकप्रतिमा । क्वचित् " अहासुत्त" इत्यादि पाठस्तत्र(अहासुत्ता इति)सामान्यसूत्रानतिक्रमेण (अहाकप्पा इति) प्रतिमाकल्पानतिक्रमेण कल्पे वस्त्वनतिक्रमेण वा (अहामग्गो इति) ज्ञानादिमोक्षमार्गानतिक्रमेण क्षायोपशमिकभावानतिक्रमेण वा (अहातच्चा इति) यथा तत्त्वं तत्त्वानतिक्रमेण पञ्चमासिकी श्रावकप्रतिमा इति शब्दार्थानतिलङ्घनेनेत्यर्थः(जहा सम्मंइति) समभावानतिक्रमेण (फासेंति) न मनोरथमात्रेण (फासेइत्ति) उचितकाले विधिना ग्रहणात् (पालेइत्ति) असकृदुपयोगेन प्रतिजागरणात् शोधयति वा अतिचारपङ्कप्रक्षालनात् (तीरेइ) पूर्णेऽपि तदवधौ तत्कृत्यपरिमाणपूरणात् (किट्टइत्ति) कीर्तयति पारणकदिने इदं चेदं चैतस्याः कृत्यं तच्च मया कृतमित्येवं कीर्तनात् । (अणुपालेइत्ति) तत्समाप्तौ तदनुमोदनात् किमुक्तं भवतीत्याह आज्ञया आराधयतीति पञ्चम्युपासकप्रतिमा । दशा० ६ अ० । आ० चू० । (पंचमंति) पञ्चमीं प्रतिमां प्रतिमां कायोत्सर्गप्रतिमामित्यर्थः । स्वरूपं चास्याः " सम्माणुव्वयगुणवयसिक्खावयं वा थिरो य नाणी य । अट्ठमिचउद्दसीपडिमाए एगराईयं । (असिणाणवियडभोई) अस्नानोऽरात्रिभोजी चेत्यर्थः (मउलिकडो) मुक्तकच्छ इत्यर्थः । दिवसबंभयारियं राइपरिमाणकडो पडिमावज्जेसु दियहेसुज्झायपडिमाइठिओ तिलोयपुज्जे जियकसाये निग्गोसपच्चणीयं अन्नं वा पंच जामासा " उपा० १ अ० ।

अथ प्रतिमाप्रतिमास्वरूपमाह ।

सम्ममणुव्वयगुणवय–सिक्खावयवं थिरो य णाणी य ।
अट्ठमिचउद्दसीसुं, पडिमंठा एगरातीयं ॥ १७ ॥

सम्यक्त्वमणुव्रतगुणव्रतशिक्षाव्रतपदानि प्रतीतानि यस्य सन्ति स तद्वान् पूर्वोक्तप्रतिमाचतुष्कयुक्त इत्यर्थः । सोऽपि स्थिरोऽविचलसत्त्व इतरो हि तद्विराधको भवति यतः सा (पडिमा) रात्रौ चतुष्पदादौ च विधीयते तत्र चोपसर्गाः संभवन्तीति ज्ञानी च ज्ञाता प्रतिमाकल्पादेरज्ञानो हि सर्वत्राप्ययोग्यः किं पुनरस्यामिति चशब्दः समुच्चयार्थो ऽष्टमीचतुर्दश्योः प्रतीतयोः उपलक्षणत्वादस्य पोषधदिवसेष्विति इयं प्रमाणकायोत्सर्गं वा करोतीत्यर्थः । किं प्रमाणमित्याह । एका रात्रिः परिमाणमस्या इत्येकरात्रिकी सर्वरात्रिकी प्रासा प्रतिमाप्रतिमा भवतीति शेष इति गाथार्थः । शेषदिनेषु यादृशोऽसौ भवति तद्दर्शयितुमाह ।

असिणाणवियडभोई, मउलियडो दियसबंभयारी य ।
रत्तिं परिमाणकडो, पडिमावज्जेसु दियहेसु ॥ १८ ॥

अस्नानो अविद्यमानस्नानः विकटे प्रकटे दिवसे न रात्राविति यावद् भोक्तुं शीलमस्येति विकटभोजी चतुर्विधाहाररात्रिभोजनवर्जकः । ततः पूर्वपदेन सह कर्म्मधारयः । तथा मौलिकृतः अबद्धकच्छस्तथा दिवसे ब्रह्म चरतीत्येवंशीलो दिवसब्रह्मचारी चशब्दः समुच्चये तथा (रत्तिमिति) विभक्तिपरिणामाद्रात्रौ रजन्यां परिमाणकृतः मैथुनसेवनं प्रति कृतयोषिद्भोगपरिमाणःकदेत्याह प्रतिमावर्जेष्वपर्वस्वित्यर्थो दिवसेषु दिनेषूक्तव्याख्यानसंवादिनी चेयं गाथा यदुक्तम् " असिणाण वियडभोई, पगासभोइत्ति जं भणियं होई । दिवसेउ न त्ति भुंजे, मउलियकडो कच्छमविराधं " कच्छानारोपयतीत्यर्थः । इति गाथार्थः ।

अथ यत् कायोत्सर्गस्थितश्चिन्तयति तदाह ।

झायइ पडिमाए ठिओ, तिलोगपुज्जे जिणे जियकसाए ।
णियदोसपच्चणीयं, अन्नं वा पंचजा मासा ॥ १९ ॥

ध्यायति चिन्तयति प्रतिमायां कायोत्सर्गस्थितोऽवस्थितस्त्रिलोकपूज्यान् भुवनत्रयार्चनीयान् जिनानर्हतो जितकषायाभिराकृतक्रोधादिभावान् तथा निजदोषप्रत्यनीकं स्वकीयरागादिदूषणप्रतिपक्षं कामनिन्दादिकमन्यजनापेक्षयाऽपरम् । वाशब्दो विकल्पार्थः किंप्रमाणेयं पञ्चमी प्रतिमा स्यादित्याह पञ्च यावन्मासानेवोत्कर्षेण भवतीति गाथार्थः । उक्ता पञ्चमी । पंचा० १० विव० ।

अथ षष्ठीं प्रतिमामाह ।

सव्वधम्म जाव सणं एगराईयं उवासगपडिमाणुपालेत्ता भवति से णं असिणाणए वियडभोई मउलियकडे दिया वा राओ वा बंभचारी सचित्ताहारे से परिण्णाते न भवति से णं एतारूवेणं विहारेणं विहरमाणे जहन्नेणं एगाहं वा दुयाहं वा तियाहं वा उक्कोसेणं छम्मासे विहरेज्जा छट्ठा उवासगपडिमा ॥ ६ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शेषं व्यक्तं रात्रिभोजनाडुपरतो भवति (रत्तो रातंति) रात्रौ दिवा ब्रह्मचर्ययुक्तो भवति 'सचित्ताहारे इत्यादि' सचित्ताः सचेतना जीवसहिता इति यावत् परिज्ञया आहारितः सन् कर्मबन्धकारणत्वेन परं प्रत्याख्यानपरिज्ञया प्रत्याख्यातः 'एतारूपेण' पूर्ववत् एवमुत्तरोत्तरप्रतिमासु मासा वाच्या यथासंख्यं मासा इति षष्ठी। दशा० ६ अ०। आ० चू०। षष्ठी अब्रह्मवर्जनप्रतिमा तत्स्वरूपं चैवम्।

पुव्वोइय गुणजुत्तो, विसेसओ विजियमोहणिज्जो य।
वज्जइ अबंभमेगं-तओ उ रायं पि थिरचित्तो ॥ २० ॥

पूर्वोदितगुणयुक्तः प्रागुक्ता ये स्नानविकटभोजनादयः सम्यक्त्वव्रतसामायिकपोषधप्रतिमाख्या वा ये गुणास्तैर्युक्तः पूर्वोदितगुणयुक्तत्वं च नास्यामेवापि तु सर्वासु व्रतादिप्रतिमासु दृश्यं दशादिषु तथोक्तत्वात् विशेषतो विशेषेण पञ्चमप्रतिमापेक्षया विजितमोहनीयो निराकृतकामोदयश्चशब्दः समुच्चये श्रावक इति गम्यते किमित्याह वर्जयति परिहरति अब्रह्ममैथुनमेकान्ततस्तु सर्वथैव (राइं पित्ति) सर्वरजनीमप्यास्तां सर्वदिनं षष्ठप्रतिमास्थित इति शेषः। अयमेव च पञ्चम्याः षष्ठ्याश्च प्रतिमाया विशेष इति स्थिरचित्तोऽप्रकम्पमानसः सन्निति गाथार्थः

अथ स्थिरचित्तोपायानाह।

सिंगारकहाविरओ, इत्थीए समं रहम्मि णो ठाइ।
चयइ य अतिप्पसंगं, तहा विभूसं च उक्कोसं ॥ १२ ॥

शृङ्गारकथाविरतः कामकथानिवृत्तः तथा स्त्रिया योषिता समं सह रहस्येकान्ते नो तिष्ठति नास्ते रहः स्थानस्य चित्तविप्लुतिनिमित्तत्वाद्यतो लौकिका अप्याहुः ''मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा नो विविक्तासनो भवेत्। बलवानिन्द्रियग्रामः पण्डितोऽप्यत्र मुह्यति'' तथा त्यजति वर्जयति चातिप्रसङ्गमतिपरिचयं स्त्रिया सममिति वर्तते यतः ''वशीकुर्वन्ति ये लोका मृगान् दर्शनतन्तुना। संसर्गवागुराश्लिष्टे, कोऽप्याधाः किन्न कुर्वते'' तथेति वाक्यान्तरोपक्षेपार्थः। विभूषां स्वशरीरसत्कारमलङ्काराङ्गदादिभिश्चःसमुच्चये उत्कर्षामुत्कृष्टां त्यजतीति वर्तते उत्कर्षग्रहणाच्छरीरस्थितिमात्रानुगां करोत्यपीति गाथार्थः॥

इहैव कालमानमाह॥

एवं जा छम्मासा, एसो हि गतो इहरहा दिट्ठं।
जावज्जीवं पि इमं, वज्जइ एयम्मि लोगम्मि ॥ २२ ॥

एवमुक्तनीत्या शृङ्गारकथाविरमणादिलक्षणया (जा इति) यावत् षण्मासान् कालपरिमाणविशेषानुत्कर्षतो वर्जयत्यब्रह्मेति वर्तते एष श्रावकोऽधिकृतस्तु षष्ठप्रतिमाप्रतिपन्न एव। अवधारणफलमाह। इतरथा अन्यथा षष्ठप्रतिमाप्रतिपन्नकादन्यत्रेत्यर्थः। दृष्टमवलोकितं किं तदित्याह। यावज्जीवमप्याजन्मापि आस्तां षण्मासान् यावदिदमब्रह्म वर्जयति परिहरतीत्येतत्क दृष्टमित्याह। एतस्मिन् प्रत्यक्षलोके श्रावकलोक इति गाथार्थः। यत्कुर्वाणस्य षष्ठी भवति तदुक्तम्। पंचा० १० विव०। उपा०।

अथ सप्तमीमुपासकप्रतिमामाह।

सव्वधम्म जाव रातो व राइं बम्हयारी सचित्ताहारे परिण्णाते भवति आरंभे अपरिण्णाए भवति से णं एतारूवेणं विहारेणं विहरमाणे जहण्णेणं एगाहं वा दुयाहं वा तियाहं वा उक्कोसेणं सत्तमासे विहरेज्जा। सत्तमा उवासगपडिमा।

अथापरा सप्तमी नवरं परिज्ञातः प्रत्याख्यात आरम्भश्चापरिज्ञातो भवति करणकारापणानुमोदनत्रिविधेनापि करणेन। दशा० ६ अ०। आ०चू०

अथ यत्कुर्वतः सप्तमी भवति तद्दर्शयन्नाह।

सच्चित्तं आहारं, वज्जइ असणादियं णिरवसेसं।
असणे चाउलोविग-चणगादी सव्वहा सम्मं ॥ २३ ॥

सचित्तं विद्यमानचैतन्यमाहारं भोजनं वर्जयति परिहरते। अशनादिकमशनप्रभृतिकं चतुर्भेदं निरवशेषं सर्वं सप्तमप्रतिमास्थित इति शेषः। तत्राशने आहारविशेषे विषयभूते तन्दुलोविकचणकादि प्रतीतमादिशब्दान्मिलादिपरिग्रहः। कार्ये वर्जयतीत्याह। सर्वथा अपक्वदुष्पक्वौषध्यादिवर्जनत इत्यर्थः सम्यग्भावशुद्धेति गाथार्थः। तथा।

पाणे आउकायं, सच्चित्तरससंजुअं तहणं पि।
पंचोदुंबरिकक्कंभि-गाइ य तह खाइमे सव्वं ॥ २४ ॥

पाने पानकाहारे अप्कायमप्रासुकोदकं सचित्तरससंयुतं तत्कालपतितत्वेन सचेतनलवणादिरसोन्मिश्रं तथेति समुच्चये अन्यदप्यप्कायादपरमपि काञ्जिकादिपानकाहारं वर्जयति न केवलमप्कायमेवेति। तथा पञ्चानामुदुम्बराणामुदुम्बरसमानधर्माणां समाहारः पञ्चोदुम्बरी सा च स्वरूपेण त्रसकायिकैश्च सचेतना भवतीति पञ्चोदुम्बरी च कर्कटिकाश्च चिर्भिटिका आदिर्यस्य खादिमस्य तत्तथा। चः समुच्चये तथेति वाक्यान्तरोपक्षेपार्थः स च गाथोत्तरार्द्धस्यादौ दृश्यः खादिमे आहारविशेषे विषयभूते सर्वं समस्तं सचित्तं वर्जयतीति प्रकृतमिति गाथार्थः।

दंतवणं तंबोलं, हरेडगादी य साइमे सेसं।
सेसपयसमाउत्तो, जा मासा सत्त विहिपुव्वं ॥२५॥

दन्तधावनं दशनकाष्ठं ताम्बूलं प्रतीतं हरीतक्यादि च पथ्याप्रभृति च स्वादिमे स्वादिमाहारविषये अशेषं सर्वं सचित्तं वर्जयतीति प्रकृतम्। किंभूतः सन्नित्याह शेषपदसमायुक्तो दर्शनादिगुणयुक्तः कियन्तं कालं वर्जयतीत्याह यावन्मासान् कालविशेषान् सप्तोत्कृष्टतो विधिपूर्वकमागमिकन्यायपुरस्सरं न तु यदृच्छयेति गाथार्थः। उक्ता सप्तमीति। पंचा० १० विव०। उपा०।

अथाष्टमीमुपासकप्रतिमामाह।

अट्ठमा उवासगपडिमा सव्वधम्मरुई आ वि भवति जाव दियाओ वा रायं बंभचारी सचित्ताहारे से परिण्णाए भवति आरंभे से परिण्णाए भवति पेस्सारंभा अपरिण्णाए भवति से णं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणे जाव एगाहं वा दुगाहं वा तिगाहं वा उक्कोसेणं अट्ठमासे विहरेज्जा। ८। इमा उवासगपडिमा॥

अष्टम्यां स्वयंकरणमाश्रित्यारम्भः परिज्ञातो भवति प्रेष्यारम्भोऽप्यपामादेशदानतः कारापणाश्च निवृत्त इत्यष्टमी। दशा० ६ अ०। आ० चू०। अष्टमी स्वयमारम्भवर्जनप्रतिमा।

अथ यथा वर्तमानस्याष्टमी भवति तथा दर्शयन्नाह॥

वज्जइ सयमारंभं, सावज्जं कारवेइ पेसेहिं।
पुव्वप्पओगओ चिय, वित्तिणिमित्तं सिढिलभावो॥२६॥

वर्जयति परिहरति स्वयमात्मना स्वयंकरणत इत्यर्थः। आरम्भं व्यापारं सावद्यं सपापं कृष्यादिकमित्यर्थः। स्वयमिति वच-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नात् यदापन्नं तदाह कारयति विधापयति प्रेष्यैरादेशकारिभिः कथमित्याह । पूर्वप्रयोगेण एव प्रवृत्तव्यापार एव नापूर्वव्यापारनियोजनत इत्यर्थः किमित्याह । वृत्तिनिमित्तं जीविकार्थम् । किंभूतः सन्नित्याह शिथिलभावः प्रेष्यप्रयोगतोऽप्यारम्भेष्वतीव्रपरिणाम इति गाथार्थः । नन्वारम्भेषु प्रेष्यप्रयोजने सति स्वयमप्रवर्तमानस्य को गुणो जीवघातस्य तदवस्थत्वादित्याशङ्क्याह ॥

निग्घिणतेगंतेणं, एवं वि हु होइ चेव परिचत्ताए ।
एइहमेत्तो वि इमो, वज्जिज्जंतो हियकरो उ । २७ ॥

निर्घृणता निर्दयता एकान्तेन सर्वथैव स्वयमारम्भेण कुर्वतः परैश्च कारयतो या स्यात्सा एवमप्युक्तनीत्याऽपि स्वयं वर्जनमात्रलक्षणया आस्तामुभयवर्जनतः । हुशब्दोऽलङ्कारे भवति चैव स्यादेव परित्यक्ता परिहृता । नन्वात्मारम्भोऽल्प एकत्वादात्मनः परतस्तु बहुतमः परेषां च बहुत्वात्तत्रश्च बहुतमारम्भाश्रयणेनाल्पतरारम्भवर्जने के गुणं पुष्णातीत्याशङ्क्याह (एइहमेत्तो वित्ति) इयन्मात्रोऽपि स्वयंकरणमात्रत्वेनाल्पोऽप्यास्तां बहुतमः (इमोत्ति) अयमारम्भो वर्ज्यमानस्त्यज्यमानो हितकरः कल्याणकर एव महाव्याधेः स्तोकक्षयवदिति गाथार्थः ।

कस्य कथमयं भवतीत्याह ॥

भवत्तसाणा वीरिय-संफासणभावतो णिओगेण ।
पुव्वोइयगुणजुत्तो, नावज्जति अट्ठ जा मासा २८ ॥

भव्यस्य योग्यस्य सत्त्वविशेषस्य आज्ञा आप्तवचनमष्टमप्रतिमायां स्वयमारम्भो वर्जनीय इत्येवंरूपम वीर्यं जीवसामर्थ्यं स्वयमारम्भपरित्यागविषयं तयोः संस्पर्शनमाराधनं तद्रूपो यो भावोऽध्यवसायस्तस्य वा यो भावः सत्ता स तथा तस्मादाज्ञावीर्यसंस्पर्शनभावान्नियोगेन नियमेन हितकरो भवतीति पूर्वेण योगः । अथ किंविधः सन् कियन्तं वा कालमष्टम्यां स्वयमारम्भं वर्जयतीत्याह । पूर्वोदितगुणयुक्तः प्रागुक्तदर्शनादिगुणान्वितस्तावद्वर्जयति परिहरत्यष्टौ यावन्मासानुत्कृष्टत इति गाथार्थः । उक्ताऽष्टमी प्रतिमा पंचा० १० विव० । उपा० ।

अथ नवमीमुपासकप्रतिमामाह ।

अहावरा णवमा उवासगपडिमा सव्वधम्मरुईया वि भवति जाव दिया वा राओ वा बंभचारी सचित्ताहारे से परिणाए भवति पेस्सारंभे परिणाए भवति से णं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणेणं जाव एगाहं वा दुगाहं वा तिगाहं वा उक्कोसेणं नव मासे विहरेज्जा नवमा उवासगपडिमा ॥

नवम्यां तु कारणारम्भः प्रेष्यादिभ्यः स परिज्ञातो भवति उद्दिष्टभक्तं तु न परिज्ञातं भवति उद्दिष्टं नाम तदुद्देशेन यत्कृतं तदुद्दिष्टमित्युच्यते इति नवमा । दशा० ६ अ० । आ० चू० । (नवमंति) नवमीं भृतकं प्रेष्यारम्भवर्जनप्रतिमा सा चेयं "पेसेहिवि आरंभं, सावज्जं कारवेइ णो गरुयं । पुव्वो इयगुणजुत्तो, नवमा सा जाव विहिणाओ " उपा० १ अ० ।

यत्करणान्नवमी भवति तदाह ॥

पेसेहि वि आरंभं, सावज्जं कारवेइ णो गुरुयं ।
अत्थी संतुट्ठो वा, सो पुण होति विसेओ ॥ २९ ॥

प्रेष्यैरपि कर्मकरैरप्यास्तां स्वयमारब्धं व्यापारं सावद्यं सपापं कारयति विधापयति नो नैव गुरुकं महत्कृष्यादिकमित्यर्थः । अनेनासन्दापनादिव्यापाराणामतिघ्नानामनिषेधमाह । इह नवमप्रतिमायामित्येष इत्यः एतद्वर्जनेन च कीदृशः समर्थो भवतीत्याह अर्थी अर्थवानीश्वर इत्यर्थः । सन्तुष्टो वाऽनीश्वरोऽप्यतिसंतोषवान् । वाशब्दो विकल्पार्थः एव प्रेष्यारम्भवर्जकः । पुनः शब्दो विशेषणार्थस्तेन यः कश्चिदपि भवति स्याद्विज्ञेयो ज्ञातव्य इति गाथार्थः ॥

णिक्खित्तभरो पायं, पुत्तादिसु अहव से सपरिवारे ।
थोवममत्तो य तहा, सव्वत्थवि परिणओ नवरं ॥ ३० ॥

निक्षिप्तभरो न्यस्तकुटुम्बादिकार्यभारः प्रायो बाहुल्येन पुत्रादिषु योग्यसुतभ्रातृप्रभृतिषु अथवेति विकल्पार्थः शेषपरिवारे पुत्रादिव्यतिरिक्तपरिजने कर्मकरादौ तथेति वाक्यान्तरत्वद्योतकोऽत्र द्रष्टव्यः स्तोकममत्वोऽल्पाभिष्वङ्गश्चशब्दः समुच्चये तथेति योजितमेव सर्वत्रापि सर्वस्मिन्नपि धनधान्यादिपरिग्रहे न तु कचिदेव अयं चैवंभूत उत्तमबुद्धिरपि स्यादत आह परिणतबुद्धिर्नवरं केवलमिति गाथार्थः ।

लोगववहारविरओ, बहुसो संवेगभावियमई य ।
पुव्वोदियगुणजुत्तो, णवमासा जाव विहिणा उ ॥ ३१ ॥

लोकव्यवहारविरतो लोकयात्रानिवृत्तस्तथा बहुशो अनेकशः संवेगभावितमतिश्च मोक्षाभिलाषवासितबुद्धिस्तथा पूर्वोदितगुणयुक्तो दर्शनादिगुणान्वितो नव मासान् यावदुत्कर्षतो विधिना त्यागमविधानेनैवेति गाथार्थः पंचा० १० विव० । उपा० ।

अथ दशमीमुपासकप्रतिमामाह ।

अहावरा दसमा पडिमा सव्वधम्मरुईया वि भवति से णं खुरमुंडए वा सिहाधारए वा तस्स णं आभट्ठस्स वा समाभट्ठस्स कप्पति दु वि भासातो भासित्तए जधा जाणं वा जाणं अजाणं वा अजाणं से णं एतारूवेणं विहारेणं विहरमाणे जहन्नेणं एगाहं वा दुयाहं वा तियाहं उक्कोसेणं दस मास विहरेज्जा दसमा उवासगपडिमा ॥

दशम्यां तु उद्दिष्टभक्तं तेन परिज्ञातं भवति स च क्षुरमुण्डो वा शिखाधारको वा भवति यथा परिव्राजकाः शिखामात्रं धरन्ति तथाऽयमपीति तदा तं प्रति पुत्रादयः तन्मुक्तं किंचिद्वस्तु जानानाः पृच्छन्ति किं कृतं तद्वस्तु तदा तेन कथमुत्तरयितव्यास्तदेतदाह । (आभट्ठस्स) आ ईषत् "भट्ठस्सति" देशीवचनात् भषितस्य प्रत्युत्तरं देयास्तेन पृष्टस्य पुनः पुनर्वा भाषितस्य कल्पेते युज्येते द्वे भाषे भाषितुं वक्तुमिति । तद्यथा यदि जानाति तदा वदति अहं जानामि यतस्तेषामकथने अप्रीतिवशादात्मकृतादयोऽपि दोषाः शङ्कादयो वा दोषा यथा ते ज्ञास्यन्ति अनेनैव तद्व्याक्षि भक्षितं येन मुखं वक्षितं तेन जानामीति वदति । अपरा तु यदि न जानाति तदा वदति नाहं जानामि एते द्वे भाषितुं कल्पेते इति दशमी प्रतिमा । दशा० ६ अ० ।

दशमी उद्दिष्टभक्तवर्जनप्रतिमा सा चैवम् ।

उद्दिट्ठकडं भत्तं पि, वज्जती किमु य से समारंभं ।
सो होइ उ खुरमुंडो, सिहलिं वा धारती कोइ ॥ ३२ ॥

उद्दिष्टमुद्देशस्तेन कृतं विहितमुद्दिष्टकृतं तदर्थं संस्कृतमित्यर्थः तद्भक्तमपि भोजनमपि वर्जयति परिहरति किमुक्तं भवति किं पुनः सुतरामित्यर्थः शेषं दुष्परिहार्यमत्कारम्भव्यतिरिक्तमारम्भं सावद्ययोगं दशमप्रतिमायां वर्तमानः श्रावकः इति शेषः (सो होइत्ति) स पुनर्दशमप्रतिमावर्ती भवति स्यात् क्षुरमुण्डः क्षुरमुण्डित-

शिराः (सिहलित्ति) शिखा तां वाशब्दो विकल्पार्थः धारयति चिनर्ति कश्चित्कोऽपीति गाथार्थः ।

जं णिहियमत्थजायं, पुट्ठो णियएहिं णवर सो तत्थ ।
अह जाणइ तो साहे, अह ण वि तो बेइ ण वि जाणे ॥३३॥

यन्निहितं यन्निक्षिप्तं भूम्यादावर्थजातं द्रव्यप्रकारः तद्दर्शीति शेषः । पृष्टः प्रश्नितो निजकैः स्वकीयैः पुत्रादिभिर्नवरं केवलं स श्रावक इति शेषस्तत्र दशमप्रतिमायां प्रश्ने वा यदि जानाति स्मरति (तो त्ति) तदा साधयति कथयत्यकथने वृत्तिच्छेदप्राप्तेः । अथ यदि न नैव जानातीति वर्तते (तो त्ति) तदा ब्रूते वक्ति किं तदित्याह नापि नैव जाने स्मरामीति नान्यत् किमपि तस्य गृहकृत्यं कर्तुं कल्पत इति भाव इति गाथार्थः ।

जतिपज्जुवासणपरो, सुहुमपयत्थेसु णिच्चतल्लिच्छो ।
पुव्वोदियगुणजुत्तो, दस मासा कालमासेण ॥ ३४ ॥

यतिपर्युपासनापरः साधुसेवापरायणः सूक्ष्मपदार्थेषु निपुणमतिसमधिगम्येषु भावेषु जीवादिषु तेष्वेव लिप्सा लब्धुमिच्छा यस्य स तल्लिप्सः स नित्यं नितान्तं तल्लिप्सो नित्यतल्लिप्सः । तथा पूर्वोदितगुणयुक्तो दर्शनादिप्रतिमानवकान्वितः कियन्तं कालं यावदित्याह । दश मासान् यावत् कालमानेन कालप्रमाणापेक्षयेत्यर्थः । कालमासेनेति क्वचित् दृश्यते तत्र प्राकृतभाषापेक्षया मासशब्दस्य काल्धान्यसुवर्णादिषु वृत्तिदर्शनाद्व्यवच्छेदार्थमुच्यते कालमासेनेति गाथार्थः । उक्ता दशमी । पंचा० १० विव० । उपा० । आ० चू० ।

अथैकादशीं प्रतिमामाह ।

अहावरा एक्कारसमा उवासगपडिमा सव्वधम्म जाव उद्दिट्ठभत्ते से परिणाते भवति से णं खुरमुंडए वा लुत्तसिरए वा गहितायारभंडगनेवत्था जे इमे समणाणं निग्गंथाणं धम्मे तं सम्मं काएणं फासेमाणे पालेमाणे पुरतो जुगमायाए पेहमाणे दट्ठूण तसे पाणे उद्धट्टु पायं रीएज्जा वि तिरिच्छं वा पातं कट्टु रीएज्जा सति परक्कमे संजतामेव परक्कमे जाणो उज्जुयं गच्छेज्जा केवलं से णायाए पेज्जबंधणे अवोच्छिन्ने भवति एवं से कप्पति नायवीथिं ति तए तत्थ से पुव्वागमणेणं पच्छाउत्ते चाउलोदणे पच्छाउत्ते भिलिंगसूवे कप्पति से चाउलोदणे पडिगाहित्तए णो से कप्पति भिलिंगसूवे पडिगाहित्तए तत्थ णं से पुव्वागमणेणं पुव्वाउत्ते भिलिंगसूवे पच्छाउत्ते चाउलोदणे कप्पति से भिलिंगसूवे पडिगाहित्तए नो से कप्पति चाउलोदणे पडि तत्थ से पुव्वागमणे दो वि पुव्वाउत्ताइं कप्पति से दो वि पडिगाहित्तए तत्थ से पच्छागमणेणं दो वि पच्छाउत्ताइं णो से कप्पति दो वि पडिगाहित्तए जे से तत्थ पुव्वागमणेणं पुव्वउत्ते से से कप्पति पडिगाहित्तए जे से तत्थ पुव्वागमणेणं पच्छाउत्ते से से णो कप्पति पडिगाहित्तए तस्स णं गंथातिकुलं पिंडवातपडियाए अणुपविट्ठस्स कप्पति एवं वदित्तए समणोवासगस्स पडिमापडिवन्नस्स भिक्खं दलयह तं वैतारूवेणं विहारेणं विहरमाणं केइ पासेत्ता वदेज्जा केइ आउसो तुमं वत्तव्वे सिया समणोवासए पडिवज्जित्तए अहमंसीति वत्तव्वं सिया से णं एतारूवेणं विहारेणं विहरमाणे जहन्नेणं एगाहं वा दुयाहं वा तियाहं वा उक्कोसेणं एक्कारस मासे विहरेज्जा एक्कारस उवासगपडिमा ॥

अहावरेत्यादि व्यक्तं लुञ्चितशिरस्को लुञ्चितशिरोजो वा शिरसि जाताः शिरोजाः (गहियाइत्ति) गृहीतानि आचारपालनार्थं भाण्डकानि उपकरणानि पात्ररजोहरणमुखवस्त्रिकादीनि नेपथ्यं साधुवेषस्तथाप्रकारवस्त्रादिप्रावरणं ततो द्वन्द्वः तथा (जारिसेत्ति) यादृशः श्रमणानां निर्ग्रन्थानां बाह्याभ्यन्तरग्रन्थरहितानां धर्मः क्षान्त्यादिकः प्रज्ञप्तः तादृशमिति अध्याहार्यं तं धर्मं सम्यग् यथा भवति कायेन न तु मनोरथमात्रेण स्पर्शयन् पालयन् यथाचारं (पुरओत्ति) पुरतोऽग्रतो युग्मात्रया शरीरप्रमाणया शकटोर्द्धिसंस्थितया दृष्ट्येति वाक्यशेषः प्रेक्षमाणः प्रकर्षेण पश्यन् भूभागं तत्र (दट्ठूणत्ति) दृष्ट्वा त्रस्यन्तीति त्रसा द्वीन्द्रियादयस्तान् । प्राणान् धरन्तीति प्राणा जीवाः पतङ्गादयः तान् (उद्धट्टुंति) पादमुद्धृत्याग्रतलेन पादपातप्रदेशं व्यतिक्रम्य गच्छेत् एवं संहृत्य शरीराभिमुखमाक्षिप्य पादं विवक्षितपादपातप्रदेशादारत एव विन्यस्य उत्क्षिप्तवान् भागपार्ष्णिकया गच्छेत् तथा तिरश्चीनं वा पादं कृत्वा गच्छेत् । अयं चान्यमार्गाभावे विधिः । सति त्वन्यस्मिन् गमनमार्गे तेनैव पराक्रमेत गच्छेत् ऋजुनेत्येवं सर्वं साध्वनुगमेन सर्वं तेन त्यक्तं केवलं (णायाए त्ति) ज्ञातीयं स्वजातिविषयं मातृपितृभ्रातृप्रभृतिविषयं प्रेमबन्धनमव्यवच्छिन्नमत्रोटितं भवति एवमित्यादि एवमनन्तरवक्ष्यमाणप्रकारेण (से) तस्य प्रतिमाधरस्य कल्पते युज्यते आहारग्रहकाले (नायवीथिंत्ति) ज्ञातयः स्वगोत्रजास्तेषां वीथी गृहपङ्क्तिस्तत्र गन्तुं "एत्थण" मित्यग्रान्तरे तस्य (पुव्वागमणेणंति) प्राकृतत्वात्पदव्यत्ययः आगमनात्पूर्वकालमथवा पूर्वं प्रतिमाधर आगतः पश्चाद्दायका राद्धुं प्रवृत्ताः इति पूर्वागमनेन हेतुना पूर्वायुक्तस्तन्दुलोदनः कल्पते उपलक्षणं चैतत् सर्वौदनानाम् । (पच्छाउत्ते भिलंगसूवे त्ति) पश्चादायुक्तो भिलिङ्गसूपो न कल्पते तत्र पूर्वायुक्तः प्रतिमाधरागमने पूर्वमेव स्वार्थं गृहस्थैः पक्तुमारब्धः प्रतिमाधरे वा गते यः पक्तुमारब्धः स पश्चादायुक्तः स च न कल्पते उद्गमादिदोषसंभवात् पूर्वायुक्तस्तु कल्पते तदभावात् । भिलिङ्गसूपो मसूरादिदालिः शेषं कण्ठ्यम् । "तस्स णमिति" वाक्यालंकारे गृहपतिकुलं पिण्डपातप्रतिज्ञया अनुप्रविष्टस्य न कल्पते युज्यते एवं वक्तुं किं तदित्याह 'समणोवासगस्सेत्यादि' श्रमणोपासकस्य प्रतिमाप्रतिपन्नस्य भिक्षां दद्ध्वं न पुनर्यथा साधवो गत्वा धर्मलाभमिति वदन्ति तथा स वदति एनां च प्रतिमां प्रतिपन्नस्य भिक्षां दद्ध्वमित्यपि न वदति अतो वस्तुतः प्रतिमां विना न भिक्षामार्गणमुचितं सूत्ररीत्येति 'तं चेत्यादि' तं च श्रमणोपासकं प्रतिपन्नमेतद्रूपेण विहारेण विचरन्तं दृष्ट्वा कश्चिन्निर्दिश्य वदेत् केयं त्वद्वृत्तिः किमाचारप्रतिपन्न आयुष्मन्नित्यामन्त्रणवचनं त्वमिति भवान् वक्तव्यः स्यात् तदा स वदति 'समणोवासए इत्यादि' व्यक्तम् । निर्वचनवाक्यमत्रापि पञ्चमप्रतिमाधिकारोक्तानि पदानि "सम्मं काएण फासत्ति" इत्यादीनि द्रष्टव्यानि शेष

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पाठसिद्धम । इत्येकादशोपासकप्रतिमा षष्ठमध्ययनं च समाप्तम् । दशा० ६ अ० । आ० चू० ।

एकादशी श्रमणभूतप्रतिमा तत्स्वरूपं चैतत् ।

खुरमुंडो लोएण व, रयहरणं उग्गहं व घेत्तूण ।

समणब्भूओ विहरइ, धम्मं काएण फासतो ॥ ३५ ॥

क्षुरेण क्षुरेण मुण्डो मुण्डितः क्षुरमुण्डो लोचेन वा हस्तलुञ्चनेन वा मुण्डः सन् रजोहरणं पादप्रोञ्छनमवग्रहं च पतद्ग्रहं चोपलक्षणं चैतत्साधूपकरणस्य सर्वस्य गृहीत्वाऽऽदाय श्रमणभूतः साधुकल्पः सकलसाधुसमाचारासेवनेन विहरति गृहान्निर्गत्य ग्रामादिषु विचरति साधुवत् धर्मं चारित्रधर्मं समितिगुप्त्यादिकं कायेन देहेन न मनोमात्रेण स्पृशन् पालयन्नेकादश्यां प्रतिमायामिति शेष इति गाथार्थः ।

ममकारेऽवोच्छिण्णे, वच्चति सण्णायपल्लि दट्ठुं जे ।

तत्थ वि जहेव साहू, गेण्हति फासुंतु आहारं ॥ ३६ ॥

ममेत्यस्य करणं ममकारस्तत्राऽव्यवच्छिन्ने अनपगते सत्यनेन स्वजनदर्शनार्थित्वकरणमुक्तं सज्ञाता स्वज्ञातयस्तेषां पल्ली संनिवेशस्तां सज्ञातपल्लीं द्रष्टुं दर्शनाय सज्ञातानीति गम्यते जे इति पादपूरणे निपातः । तत्रापि सज्ञातपल्लीव्रजनेऽप्यास्तामन्यत्र यथैव यद्वदेव साधुः संयतस्तथैवेति शेषः गृह्णात्यादत्ते प्रासुकं तु प्रगतासुकमेवाचेतनमेवोपलक्षणत्वाच्चैषणीयं आहारमशनादिकमिति सज्ञातपल्लिग्रहणेन चेदं दर्शयति प्रेमाव्यवच्छेदात्तत्र गमनेऽपि तस्य न दोषस्तथा ज्ञातयः स्नेहादनेषणीयं भक्तादि कुर्वन्त्याग्रहकरणेन च तद्ग्राहयितुमिच्छन्त्यनुवर्तनीयाश्च ते प्रायो भवन्तीति तद्ग्रहणे संभाव्यते तथापि तदसौ न गृह्णातीति गाथार्थः । सज्ञातपल्लीगमन एव तस्य कल्प्याकल्प्यविधिमाह ॥

पुव्वाउत्तं कप्पति, पच्छाउत्तं तु ण खलु एयस्स ।

ओदणभिलिंगसूवा-दिसव्वमाहारजायं तु ॥ ३७ ॥

पूर्वं तदागमनकालात् प्राक् आयुक्तं रन्धनस्थाल्यादौ प्रक्षिप्तं पूर्वायुक्तं स्वार्थमेव रान्धुमारब्धमित्यर्थः । कल्पते ग्रहणयोग्यं भवति पश्चादायुक्तं तु तदागमनकालादनन्तरमायुक्तं पुनर्न खलु नैव एतस्यैकादशप्रतिमास्थश्रावकस्य कल्पत इति वर्तते । गृहस्थानामधिकृतश्रावकार्थमधिकृतौदनादिकरणसंकल्पसंभवात्तिकं तदित्याह । ओदनश्च कूरं भिलिङ्गसूपश्च मसूरादयद्विदलधान्यपाकविशेष आदिर्यस्य तत्तथा तत्सर्वमपि निरवशेषमप्याहारजातमन्यवदायसामान्यं तुशब्दोऽपिशब्दार्थस्तस्य च प्रयोगो दर्शित एवेति गाथार्थः ॥

अथैतस्याः कालमानमाह ॥

एवं उक्कोसेणं, एक्कारस मास जाव विहरेइ ।

एगाहा पियरेणं, एवं सव्वत्थ पाएणं ॥ ३८ ॥

एवमुक्तेन प्रकारेण क्षुरमुण्डादिना एकादश मासान् यावद्विहरति मासकल्पादिना विहारेण एकाहादि एकाहोरात्रप्रभृति आदिशब्दात् द्व्यहत्र्यहादि यावद्विहरतीति प्रकृतम् । इतरेण जघन्येनेत्यर्थः । इह च पूर्वप्रतिमासु जघन्यं कालमानं नोक्तमतस्तदतिदेशात् आह । एवमनेनैव प्रकारेण जघन्यमानमेकाहादीत्यर्थः । एतच्च मरणे वा प्रव्रजितत्वे वा सति संभवति नान्यथा सर्वत्र सर्वप्रतिमासु प्रायेण बाहुल्येन प्रायोग्रहणादन्तर्मुहूर्तादिसद्भावो दर्शित इति गाथार्थः । इह चोत्तरासु षट्स्वावश्यकचूर्ण्यो प्रकारान्तरमपि दृश्यते । तथाहि रात्रिभक्तपरिज्ञा पञ्चमी, सचित्ताहारपरिज्ञा इति षष्ठी, दिया बंभचारी राओ परिमाणकडेति सप्तमी, दिया वि राओ वि बंभयारी असिणाणए वोसट्ठकेसमंसुरोमनहेत्ति अष्टमी, सारंभपरिण्णाए त्ति नवमी, पेस्सारंभपरिण्णाए त्ति दशमी, उद्दिट्ठभत्तविवज्जए समणभूएत्ति एकादशीति । तदेवं प्रतिमानुष्ठानमुपासकस्य । पंचा० १० विव० । 'एक्कारसहिं उवासगपडिमाहिं' उपासकाः श्रावकास्तेषां प्रतिमाः प्रतिज्ञा दर्शनादिगुणयुक्ताः कार्या इत्यर्थः । आव० ४ अ० । ग० । एकादशोपासकानां श्रावकाणां प्रतिमाः प्रतिपत्तिविशेषाः दर्शनव्रतसामायिकादिविषयाः प्रतिपाद्यन्ते यत्र तत्तथैवोच्यते इति । आचारदशानां षष्ठेऽध्ययने. स्था० १० ठा० । प्रथमायां श्राद्धप्रतिमायां दर्शनिद्विजादिभिक्षुकाणामन्नादि दातुं कल्पते न वा ॥१॥ तथा कुलगुरुसंबन्धेन समागतानां दर्शन्यादीनामपि ॥ २ ॥ अन्यच्च नवमप्रतिमादिषु देशावकाशिकं कर्त्तुं युज्यते न वा॥३॥ तथा कैश्चिल्लिखितविधौ दशमप्रतिमायां कर्पूरवासादिभिर्जिनानां पूजा कर्त्तव्येति लिखितमस्ति तद्विषये कियतीः प्रतिमा यावच्चन्दनपुष्पादिभिः पूजा क्रियते।षु च कर्पूरवासादिभिः कस्यां च नेति।४। (उत्तरम्) प्रथमश्राद्धप्रतिमायां दर्शनिद्विजादिभ्योऽनुकम्पादिना अन्नादि दातुं कल्पते न तु गुरुबुद्ध्येति तत्त्वम् ॥ १ ॥ एवं कुलगुरुतादिसंबन्धेनागतानां लिङ्गिनां दातुं कल्पते ॥ २ ॥ नवमप्रतिमादिषु देशावकाशिकस्याकरणमेव प्रतिभाति ॥ ३ ॥ तथा प्रतिमाधरश्रावकाणां सप्तमप्रतिमा यावच्चन्दनपुष्पादिभिरर्हद्वन्दनमौचित्यमञ्चति । ललितविस्तरापञ्जिकाभिप्रायेण नत्वष्टम्यादिषु । कर्पूरादिपूजा तु अष्टम्यादिष्वपि नानुचितेति ज्ञायते तेषां निरवद्यत्वादिति । अक्षराणि तु ग्रन्थस्थाने नोपलभ्यन्ते इति । एकादश्यां च साधुवदेवेति बोध्यम् । ४ । ही० ।

उवासण–उपासन–न० उपास्यन्ते भूयः क्षिप्यन्ते शरा यत्र उपअस्–विक्षेपे, आधारे–ल्युट् । शरक्षेपशिक्षार्थे शराभ्यासे, अमरः । उप–आस्–भावे–ल्युट् चिन्तने, मनने, वाच० । सेवने. ध० २ अधि० । तं च परिव्वायगो बहुहिं उवासणेहिं इच्छं नि० चू० । १उ० । "सुस्सूसमाणो उवासेज्जा, सुप्पन्नं सुतवस्सियं" सूत्र०१श्रु. ९अ.।

उवासणा–उपासना–स्त्री० श्मश्रुकर्त्तनादिरूपे नापितकर्मणि, तच्च ऋषभदेवकाले एव जातं पूर्वमनवस्थितनखरोमाणस्तथा कालमहात्म्यतः प्राणिनोऽभवन्निति किञ्च भगवत्काल एव नखरोमाद्यतिरेकेण प्रवर्द्धितुं आरब्धानि न पूर्वमिति । गुरुराजादीनां पर्युपासनायाम्, आ० म० प्र० । तदुक्तं निर्युक्तिकृता "उवासणाणाम सुकम्ममाईया गुरुरायाईणं वा उवासणा पज्जुवासणाया" । आ० म० प्र० । आ. चू. (उसहशब्दे स्पष्टीभविष्यत्येतत्)

उवासमाण–उपासीन–त्रि० उपासनं विदधाने, स्था० ६ ठा०

उवासीय–उपोषितवत्–त्रि० कृतोपवासे, "नवकिरचाउम्मासे, छक्किर दो मासिए उवासीय" आ० म० द्वि० ।

उवाह–अवगाह–धा–भ्वा–आत्म० प० । अवगाहने, अवात् गाहेर्वाहः ८ । ४ । ४ । अवात्परस्य गाहेर्वाह इत्यादेशो वा । उवाहइ ओगाहइ अवगाहते । प्रा० ।

उवाहणा–उपानह–स्त्री०उप–नह–क्विप्–उपसर्गदीर्घः । चर्मपादुकायाम, । "छत्तोवाहणसंजुत्ते, धारत्तत्तत्थपरिहिए" भ० २ श० १ उ० "अणुवाहणाय समणा मज्झे चउवाहणा हुं तु" आव० १ अ० । अनुपानत्काश्च श्रमणाः मम चोपानहौ भवत इति। आ० म० प्र० ।

उवाहि–उपाधि–पुं०उपाधीयते इति उपाधिरूच्यते हिरण्या-

वी जावतोऽप्रकारे कर्मणि, उपाधीयते व्यपदिश्यते येनेत्युपाधिः । आचा० १ श्रु० ३ अ० । कर्मजनिते विशेषणे, ।

किमत्थि उवाही पासगस्स णत्थि विज्जइ णत्थि त्ति बेमि

किं प्रश्ने अस्ति विद्यते कोऽसावुपाधिः कर्मजनितं विशेषणं तद्यथा नारकस्तिर्यग्योनिः सुखी दुःखी सुभगो दुर्भगः पर्याप्तकोऽपर्याप्तक इत्यादि आहोस्विन्न विद्यते इति परमतमाशङ्क्य न कचुः पश्य कस्य सम्यग्वादादिकमर्थं पूर्वापरं पश्यतीति पश्यः स एव पश्यकस्तस्य कर्मजनितोपाधिर्न इत्येतदनुसारेणाहमपि ब्रवीमि न स्वमनीषिकयेति आचा० १श्रु०४अ०४उ० । उपाख्यानमुपाधिः । सन्निधौ, भ० १ श० १ उ० । अन्यथा स्थितस्य वस्तुनोऽन्यथाप्रकाशनरूपे कपटे, उपाधीयते स्वधर्मोऽनेन करणे-घा-किः । स्वसामीप्यादिनाऽन्यस्मिन् स्वधर्मारोपसाधने विशेषणभेदे, उपलक्षणरूपे विशेषणे च । कुटुम्बव्यापृते, उपाधीयते नाम समीपे कर्मणि के । उपनामनि, यथा भट्टाचार्यमिश्रादयः। उपाधीयते मनोऽत्र आधारे किः । धर्मचिन्तायाम्, व्यभिचारोन्नायके न्यायमतसिद्धे पदार्थभेदे च । उपाधिः साध्यत्वाभिमतव्यापकत्वे सति साधनत्वाभिमताव्यापकः । वाच० ॥

उवाहिसुद्ध-उपाधिशुद्ध- आर्य्यदेशसमुत्पन्नादिविशेषणशुद्धे, "ता धम्माणं गीओ, उवाहिसुद्धाण देइ पव्वज्जं" पं० व० ॥

उविइत्ता-अवनह्य- अव्य० विच्छिद्येत्यर्थे, "आयतियं २ संतो पविग्गहगस्स उविइत्ता धम्मपन्नत्ता" व्य० १ उ० ॥

उविंद-उपेन्द्र-पुं० उपगत इन्द्रम् कृष्णे, अत्या. समा० सुखिनो विषयात्मा नेन्द्रोपेन्द्रादयो रहः । उपेन्द्रः कृष्णः । अष्ट० । "राजाऽधिराजस्तत्रासीदुपेन्द्रोऽपीन्द्रवद् भुवि । सदा नवं सुमनसां, चित्रमोदमदस्तथा" आव० १ अ० । तत्रैति द्वारवत्याम् ।

उविंदवज्जा-उपेन्द्रवज्रा- स्त्री० "उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ" इति वृ० र० उक्ते एकादशाक्षरपादके छन्दोभेदे, । अस्याश्च इन्द्रवज्रया संमेलने उपजातिर्भवति । वाच० ॥

उविक्खेव-उद्विक्षेप-पुं० बालोत्पाटने, मुण्डनमिति लोकोक्तिप्रसिद्धेऽर्थे, तं० ॥

उविग्ग-उद्विग्न- त्रि० उद्वेगवति, स्था० ४ ठा० ।

उ(ओ)वील-अपवीड-न० शेखरे, वि० ६ अ० । अवपीडनं परेषामित्यवपीडः । अष्टादशो गौणादत्तादाने, प्रश्न० १ श्रु० ३ अ० ॥

उवीलण-अवपीडन- न० निष्पीडने, विपा० ७ अ० ।

उवीला-अपपीडा-स्त्री० वेदनायाम्, "अप्पेते उवीलं दलैंति" अवपीडं शेखरं मस्तके तस्यारोपण व अपपीडांवा वेदनां दयन्ति विपा० ६ अ० ।

उवीलेमाण- (उप) अवपीडयत्- त्रि० वेदनामुत्पादयति, "उवीलेमाणे विधम्ममाणे तज्जमाणे" विपा० ३ अ० ।

उवूहेत्ता-अनुवृंहयितृ- त्रि० परेण स्वस्य क्रियमाणस्य पूजादेरनुमोदयितरि, तद्गाये हर्षकारिणि, "पूयासक्कारमए उवूहेत्ता भवइ" स्था० ७ ठा० ।

उवेच्च-उपेत्य-अव्य० उप-इ- ल्यप् । प्राप्येत्यर्थे, "उवेच्च सुरेण उवेति मोक्खं" सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ॥

उवेय-उपेत- त्रि० उप-इण-क्त । उपगते, समीपगते, सेवाविधर्मेण प्राप्ते, वाच० । युक्ते, स० । संथा० । पंचू० । आव० । "पणुव्वफल्लोवेए" उत्त० ७ अ० । वि० । समन्विते च । सं० ।

उपेय- त्रि० उप-इण्-यत् । उपायसाध्ये प्राप्तव्ये उपगम्ये, अभिव्यगम्ये च । वाच० । उपेयाभावे उपायासिद्धिः विशे० । स्था० ।

उवेल्ल-प्र-सृ- धा० प्रसरणे, "प्रसरेः पयल्लोवेल्लौ" ८ । ४ । ७७ । इति प्रसरतेरुवेल्लादेशः उवेल्लइ प्रा० ॥

उवेहमाण-उपेक्षमाण- त्रि० अवगच्छति, "अणइ लोगमुवेहमाणे इति कम्मं परिण्णाय सव्वसो से ण हिंसति" आचा० । १ श्रु० ४ अ० । अकुर्वति, आचा० १ श्रु० ३ अ० । अपर्यालोचयति, "उवेहाए उवेहमाणे अणुवूहमाणं बूया उवेहाहि समियाए प्रचति" आगमपरिकर्मितमतित्वाद्यथावस्थितपदार्थस्वभावदर्शितया सम्यगसम्यगिति सुत्प्रेक्षमाणः पर्यालोचयत्परमुत्प्रेक्षमाणं गड्डरिकायूथप्रवाहप्रवृत्तं वा गतानुगतिकन्यायानुसारिणं शङ्कया वा प्रधावन्तं ब्रूयाद्यथोत्प्रेक्षस्व पर्यालोचय सम्यग्भावेन माध्यस्थ्यमवलम्ब्य किमेतदर्हदुक्तं जीवादितत्त्वं यदाभियर्त्याहोस्विन्नेत्यक्षिणी निमील्य चिन्तयेति भावः । यदि चोत्प्रेक्षमाणः संयममुत्पाद्येनेक्षमाणः संयमे तद्यदप्यनु प्रेक्षमाणं ब्रूयाद्यथा सम्यग्ज्ञानापक्षः संयममुत्प्रेक्षस्व संयमे उद्योगं कुरु । आचा० १ श्रु० ५ अ० ५ उ० । "उवेहमाणे कुसलेहिं संवसे" उपेक्षमाणः परीषहोपसर्गान् सहमान इष्टानिष्टविषये चोपेक्षमाणो माध्यस्थ्यमवलम्बमानः कुशलैर्गीतार्थैः सह संवसेत् आचा० २ श्रु० । उदासीने, उवेहमाणा णाइकमई" ॥ उपेक्षमाणा इति उपेक्षा द्विविधा व्यापारोपेक्षा अव्यापारोपेक्षा च । तत्र व्यापारोपेक्षया तमुपेक्षमाणास्तद्विषयायां भेदनबन्धनादिकायां समयप्रसिद्धक्रियायां व्याप्रियमाणा इत्यर्थः । अव्यापारोपेक्षया च मृतकस्वजनादिभिस्तं सत्क्रियमाणमुपेक्षमाणास्तत्रोदासीना इत्यर्थः स्था० ६ ठा० ।

उवेहा-उपेक्षा-स्त्री० उप-ईक्ष्-अ- अवधीरणे, माध्यस्थ्ये, पो० ४ विव० । द्वा० । आरोपणे, अष्ट० । विशेषणे, षो० १३ विव० । परदोषोपेक्षणमुपेक्षा परेषां दोषा अविनयादयः प्रतिकर्तुमशक्यास्तेषामुपेक्षाऽवधीरणमुपेक्षा । सम्भवत्प्रतीकारेषु दोषेषु, नोपेक्षा विधेया षो० ४ विव० । "उवेहेणं बहिया य लोयं" (उवेहेति) योऽयमनन्तरं प्रतिपादितः पाषण्डिलोकः एनं धर्माद्बहिर्व्यवस्थितमुपेक्षस्व तदनुष्ठानं मानुमंस्थाः । चशब्दोऽनुक्तसमुच्चयार्थस्तदुपदेशमभिगमनपर्युपासनदानसंस्तवनादिकं च मा कृथा इति आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । (यः पाषण्डिलोकोपेक्षकः स कं गुणमवाप्नुयादिति सम्मत्तशब्दे वक्ष्यते सति कलहे उपेक्षा कर्त्तव्येत्यहिगरण शब्दे उक्तम्)

उवेहाअसंजम-उपेक्षाऽसंयम-पुं० असंयमयोगेषु व्यापारणरूपे संयमयोगेष्वव्यापारणलक्षणे वाऽसंयमभेदे, स० ।

उवेहाए-उपेक्ष्य-अव्य० उप-ईक्ष्-ल्यप्-पर्यालोच्येत्यर्थे, आचा० १ श्रु० ३ अ० । ज्ञात्वेत्यर्थे, "लोगविसं ण उवेहाए" उपेक्ष्य ज्ञात्वा ज्ञपरिज्ञया ज्ञात्वा प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरेत् आचा० १ श्रु० ५ अ० ।

उवेहासंजम-उपेक्षासंयम-पुं० संयमभेदे, इदानीमुपेक्षासंयम उच्यते सा चोपेक्षा द्विविधा कथं प्रतिव्यापारोपेक्षा गृहस्थव्यापारोपेक्षा च । तत्र यथासंख्यं चोदनाचोदनविषया । संयतस्य चोदनविषया व्यापारोपेक्षा । एतदुक्तं भवति साधुं विषीदन्तं दृष्ट्वा संयमव्यापारेषु चोदयतः संयमव्यापारोपेक्षा ईक्ष दर्शने उप समीपेन ईक्षा उपेक्षा । गृहस्थस्य च व्यापारो-

पेक्षा गृहस्थमधिकरणव्यापारेषु प्रवृत्तं दृष्ट्वा अधिकरणव्यापारेषु प्रवृत्तं चोदयतः गृहस्थव्यापारोपेक्षा उच्यते । उपेक्षाशब्दश्चाऽवधारणायां वर्तते । ओ० । सू० ।

उव्वक-उत्पक-पुं० क्रोडाविकल्पे, प्रविश्य कियत्कालं भूत्वा ततो निष्काशिते "उत्सिणोदगम्भीरउव्वको" व्य० १ उ० ।

उव्वट्टंत-उद्वर्तयत्-त्रि० उद्वर्तनं कुर्वति. " उव्वोलंतं उव्वट्टंतं वा साइज्जइ " नि० चू० १६ उ० ।

उव्वट्टण-उद्वर्तन-न० उद्-वृत्-भावे-ल्युट् । चालने, "उव्वट्टणे समन्येइ रमए वा वि । सू० २ उ० । सुरभिचूर्णादिना (ग० ३ अधि०) कल्कलोध्रादिना (सू० १ अ०) पिष्टिकादिना वा मलोत्तारणे, सं० । (साधूनामुद्वर्तननिषेधोऽणायारशब्दे उक्तः) उद्वर्तने प्रमादाचरितं तथा । उद्वर्तनं संस्कृतचूर्णादिभिः उद्वर्तनिकाश्च न भस्मनि निक्षिप्तास्ततस्ताः कीटिकाकुलाः श्वादिभिर्भक्ष्यन्ते पादैर्वा मृद्यन्ते ध० २ अधि० । उत्कर्षैः स्नेहाद्यपहारार्थे व्यापारे च । उद्वर्त्यतेऽनेन, उद्-वृत्-णिच् करणे ल्युट् । शरीरनिर्मलीकरणद्रव्यादौ, वाच० । ज्ञा० । कर्मपरमाणूनां ह्रस्वस्थितिकालतामपगमस्य दीर्घस्थितिकालतया व्यवस्थापने, पं० सं० । मयोद्देशस्योपकरणेन परिवर्तने, ज्ञा० अ० ३ वामपार्श्वेन सुप्तस्य दक्षिणपार्श्वेन वर्तने च । आव० ४ अ० ।

उव्वट्टणा-उद्वर्तना-स्त्री० उद्वर्तनमेवोद्वर्तना । तत्प्रथमतया वामपार्श्वेन सुप्तस्य दक्षिणपार्श्वेन वर्तने, "इच्छामि पडिक्कमिओ पगामसिज्जाए निगामसिज्जाए उव्वट्टणाए परियट्टणाए " आव० ४ अ० । उद्वर्त्यते प्राबल्येन प्रवृत्तीक्रियेते स्थित्यनुभागौ यया वीर्यविशेषपरिणत्या असौ उद्वर्तना । पं० सं० । उद्वर्त्यते प्राबल्येन प्रवृत्तीक्रियते स्थित्यादि यया जीववीर्यविशेषपरिणत्या सा उद्वर्तना स्थित्यनुभागयोर्बृहत्करणरूपे तृतीये करणे, क० प्र० । विशे० । अथ स्थित्यनुभागविषया उद्वर्तना व्याख्यायते ।

उदयावलिबज्झाणं, ठिईण उव्वट्टणा उ ठिइविसया ।
सोक्कोस अबाहाओ, जा वावलि होइ अतित्थवणा ॥

उद्वर्तना स्थितिविषया भवति । उदयावलिकाबाह्यानां स्थितीनामुदयावलिकादिसकलकरणायोग्येति न तदा स्थितीनां प्रतिषेधः किं सर्वासामप्युदयावलिकाबाह्यानां स्थितीनामुद्वर्तना नेत्याह । स्वोत्कृष्टया अबाधायाः स्थितयस्तासामुद्वर्तना एषा स्वोत्कृष्टा अबाधाप्रमाणा उत्कृष्टा अतिस्थापना । अतिस्थापना नाम उत्कृष्टा तदा अतिह्रस्वा ह्रस्वतरा अतिस्थापना । तावत् यावज्जघन्या अबाधा ततोऽपि जघन्या अतिस्थापना भवति । आवलिका आवलिकाप्रमाणा इयमत्र भावना वक्ष्यमाणप्रकृतयो यती अबाधा तया तुल्या अबाधादीनां या पूर्वबद्धप्रकृतीनां या स्थितिः सा नोद्वर्तते सा उत्पद्य ततः स्थानादूर्ध्वं वक्ष्यमाणप्रकृतेरबाधाया उपरितनैः क्षिप्यते अबाधाकालान्तःप्रविष्टत्वात् यासु पुनरबाधाया उपरितनी सा स्थितिःपर्यन्तमुद्वर्तयते तदेवमबाधान्तःप्रविष्टाः सर्वा अपि स्थितय उद्वर्त्य उद्वर्तनामधिकृत्य अतिक्रमणीया भवन्ति तथा यस्तौ यैवोत्कृष्टा अबाधा स्थिता सैव उत्कृष्टा अतिस्थापना समयोना उत्कृष्टा अबाधासमयोना उत्कृष्टा अतिस्थापना द्विसमयोना उत्कृष्टा अबाधा द्विसमयोना उत्कृष्टा अतिस्थापना । एवं समयसमयादन्या अतिस्थापना तावद्वक्तव्या यावज्जघन्या अबाधा अन्तर्मुहूर्तप्रमाणा ततोऽपि जघन्यतरा अतिस्थापना आवलिकामात्रं तत्र उदयावलिकालक्षणमवसेयं न ह्युदयावलिकान्तर्गताः स्थितय उद्वर्तिताः " उव्वट्टणाविहिए उदयावलियाए बाहिरं ठिईण " मिति वचनात् । ननु यदा वा बन्धे सत्युद्वर्तना प्रवर्तिष्यत " अबंधा उव्वट्टइ " इति वचनात् तत उदयावलिकागताः स्थितयोऽबाधान्तर्गतत्वेन नोद्वर्तिष्यन्ते किमुदयावलिकाप्रतिषेधेन तदयुक्तमभिप्रायापरिज्ञानात् अबाधान्तर्गताः स्थितयो नोद्वर्तन्ते इति । किमुक्तं भवति अबाधान्तर्गताः स्थितयः स्वस्थानादुत्पाद्य अबाधाया मध्ये पुनस्तासां वक्ष्यमाणक्रमेणोद्वर्तनानिक्षेपौ प्रवर्तमानौ न विरुध्येते तत उदयावलिकान्तर्गता अपि उद्वर्तनामाप्नुवन्तीति प्रतिषिध्यन्ते ।

संप्रति निक्षेपप्ररूपणार्थमाह ।

इच्छियठिइठाणाओ, आवलियं लंघिऊण तद्दलियं ।
सव्वेसु वि निक्खिप्पइ, ठिइठाणेसु उवरिमेसु ॥

ईप्सितस्थितिस्थानात् यतः स्थितिस्थानमुद्वर्तते तत ऊर्ध्वमित्यर्थः । आवलिकां लङ्घयित्वा अतिक्रम्य तद्दलिकमुद्वर्त्यमानस्थितिदलिकं सर्वेष्वपि उपरितनेषु स्थितिस्थानेषु निक्षिप्यते एष निक्षेपविधिः । संप्रति निक्षेपविषयप्रमाणनिरूपणार्थमाह ।

आवलिय असंखभागाई, जाव कम्मट्ठिइ त्ति निक्खेवो ।
समउत्तरालियाए, साबाहाए भवे ऊणो ॥

इह निक्षेपविषयो द्विधा जघन्य उत्कृष्टश्च । तत्रावलिकाया असंख्येयभागमात्रासु स्थितिषु यः कर्मदलिकनिक्षेपः स जघन्यस्तथा हि सर्वोत्कृष्टात् स्थित्यग्रादध आवलिकाऽऽवलिकाया असंख्येयं च भागं भवतीत्यधस्तनीया स्थितिस्तस्या दलिकमतिस्थापनावलिकामात्रमतिक्रम्योपरितनाधिकाया असंख्येयभागभाविनीषु निक्षिप्यते नावलिकाया मध्येऽपि तथा स्वाभाव्यात् ततोऽसावेतावान् जघन्ये दलिके निक्षेपविषयः । एवं सति आवलिकाया असंख्येयतमे भागे नाधिकासु आवलिकामात्रासु स्थितिषु उद्वर्तनं भवतीति सिद्धम् । तथा च सत्युत्कृष्टस्थितिबन्धे उद्वर्तनायोग्याः स्थितयो बन्धावलिकामबाधामुपरितनीं चावलिकामसंख्येयभागाधिकां मुक्त्वा शेषा एव द्रष्टव्याः तथा हि बन्धावलिकान्तर्गतं सकलकरणयोग्यमिति कृत्वा बन्धावलिकान्तर्गताः स्थितयो नोद्वर्तन्ते अबाधान्तर्गता अपि नोद्वर्तनायोग्यास्तासामतिस्थापनात्वेन प्राक् प्रतिपादितत्वात् संख्येयभागाधिकमात्रभाविन्यश्च उपरितन्यः स्थितयः प्रागुक्तयुक्तेरेव नोद्वर्तनायोग्याः संप्रत्युत्कृष्टो निक्षेपविषयश्चिन्त्यते 'आयकम्मट्ठि' इत्यादि । इयमत्र भावना यदा आवलिकाऽऽवलिका संख्येयभागमध्यवर्तिनी द्वितीया अधस्तनस्थितिरुद्वर्त्यते तदा समयाधिकावलिकाया असंख्येयभागो निक्षेपविषयः यदा तु तृतीया स्थितिरुद्वर्त्यते तदा द्विसमयाधिकः । एवं समयवृद्ध्या तावद्दलिकनिक्षेपविषयो यावदुत्कृष्टो भवति स च कियान् भवतीति चेदुच्यते समयाधिकावलिका अबाधया वा हीना सर्वकर्मस्थितिः तथा ह्यबाधोपरिस्थितीनामुद्वर्तना भवति तथा प्यबाधया उपरितने स्थितिस्थाने उद्वर्त्यमाने अबाधाया उपरि दलिकनिक्षेपो भवति न अबाधामध्ये उद्वर्त्यमानदलिकस्य उद्वर्त्यमानस्थितेरूर्ध्वं निक्षेपात् तत्राप्युद्वर्त्यमानस्थितेरुपरि आवलिकामात्राः स्थितीरतिक्रम्योपरितनीषु सर्वासु दलिकनिक्षेपणं भवति ततः स्थापनावलिकामुद्वर्त्यमानां स्थितिं समयमात्रमबाधां वर्जयित्वा शेषाः सर्वा अपि कर्मस्थितिरुत्कृष्टो दलिकनिक्षेपविषयः । तथा चाह ।

आबाहोवरिठाणा, दलियं पडुच्च परमनिक्खेवो ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वरिउव्वट्टणताणं, पढमच्चाई जाइ य जहन्नो ॥

अबाधाया उपरितनं यत् स्थितिस्थानं तद्विकं प्रतीत्य उद्वर्तनाकरणे परम उत्कृष्टो निक्षेपो भवति परमं तु स्थितिस्थानं यदमात्परं नोद्वर्तते तदधिकृत्य जघन्यो दलिकनिक्षेपः ।
संप्रति यावन्मात्राः स्थितय उद्वर्तनयोग्यास्ताः प्रतिपादयति ।

उक्किट्ठे निइबंधे, बंधावलिया अबाहमेत्तं च ।
निक्खेवं च जहन्नं, ता मोत्तुं उव्वट्टए सेसं ॥

उत्कृष्टे स्थितिबन्धे क्रियमाणे बन्धावलिकामबाधामात्रं निक्षेपं च जघन्यम् । इह जघन्यनिक्षेपग्रहणात् सर्वोपरितनी आवलिका आसंख्येयभागाधिका गृह्यते ततस्तां च मुक्त्वा शेषं सर्वमपि स्थितिजातमुद्वर्तते भावना चैतद्विषया प्रागेव कृता । एष निर्व्याघाते विधिः । व्याघाते पुनरयम् ।

निव्वाघाए एवं, वाघाओ संतकम्मनिइबंधो ।
आवलिअसंखभागो, जा वलिओ तत्थ अइत्थवणा ॥

एवं पूर्वोक्तेन प्रकारेण दलिकनिक्षेपो निर्व्याघाते व्याघाताभावे द्रष्टव्यः व्याघाते पुनरन्यथा । अथ कोऽसौ व्याघात इत्याह । व्याघातः प्राक्तनस्थितिसत्कर्मापेक्षया अन्धिकाभिनवकर्मबन्धरूपा तत्रातिस्थापना आवलिकाया असंख्येयतमो भागः स च प्रवर्तमानस्तावद्वर्धते यावदावलिका । इयमत्र भावना । प्राक्तनसत्कर्मापेक्षया यदा समयादिनाऽभ्यधिको योऽभिनवकर्मबन्धस्य व्याघात इत्यभिप्रेतस्तन्नामा स्थापना आवलिका जघन्याया असंख्येयभागमात्रा । तथा हि प्राक्तनसत्कर्मस्थितेः सकाशात् समयमात्रेणाभ्यधिकेऽभिनवकर्मबन्धे सति प्राक्तनसत्कर्मणोऽग्र्यथा द्विचरमा वा स्थितिर्नोद्वर्तते । एवं यावदावलिका जघन्याया असंख्येयभागमात्रा अन्यस्याश्चावलिकाया असंख्येयतमो भाग इति । एवं समयद्वयेन समयत्रयेण यावदावलिकाया असंख्येयतमेनापि भागेनाधिके अभिनवकर्मबन्धे द्रष्टव्यम् । यदा पुनर्द्वाभ्यामावलिकासंख्येयतमाभ्यां भागाभ्यामधिकोऽभिनवकर्मबन्ध उपजायते तदा प्राक्तनसत्कर्मणोऽन्त्यस्थितिरुद्वर्तते उद्वर्त्य च आवलिकायाः प्रथमं संख्येयतमं भागमतिक्रम्य द्वितीयेऽसंख्येयतमे भागे निक्षिप्यते एतौ अतिस्थापनानिक्षेपौ जघन्यौ । यदा पुनः समयाभ्यधिकाभ्यां द्वाभ्यामावलिकाया असंख्येयतमाभ्यां भागाभ्यामधिकाभिनवकर्मबन्धस्तदा आवलिकायाः प्रथममसंख्येयतमं भागं समयाधिकमतिक्रम्य असंख्येयतमे भागे निक्षिप्यते एवमभिनवकर्मबन्धस्य समयादिवृद्धौ अतिस्थापना प्रवर्द्धते सा च तावत् यावदावलिका परिपूर्णा भवति । निक्षेपस्तु सर्वत्रापि तावन्मात्र एव भवति तत ऊर्ध्वं पुनरपि नवकर्मनिक्षेप एव केवलो वर्धते । एतदेवाह ।

आवलि दोसंखंसा, जइ वड्ढइ अहिणवो उ निइबंधो ।
उव्वट्टंतो चरिमा, एवं जा वलिय अइत्थवणा ॥
अइत्थवणा वलियाए, पुण्णाए वड्ढंति निक्खेवो ।

यदा प्राक्तनस्थितिसत्कर्मापेक्षया अभिनवस्थितिबन्धो वर्द्धते द्वावलिकाया असंख्येयांशो यतस्तौ भागौ ततः प्राक्तनस्थितिसत्कर्मणोऽन्त्या स्थितिरुद्वर्तते । उद्वर्त्य चावलिकायाः प्रथमसंख्येयतमं भागमतिक्रम्य द्वितीये असंख्येयतमे भागे निक्षिपति एतावता स्थापनानिक्षेपौ जघन्यौ ततोऽभिनवकर्मबन्धस्य समयादिवृद्ध्यातिस्थापना वर्द्धते तावत् यावदावलिका परिपूर्णा भवति निक्षेपस्तु तत्र सर्वत्रापि तावन्मात्र एव अतिस्थापनावलिकायां परिपूर्णायां निक्षेपो वर्द्धते इति शब्दः अहंकर्तव्यतापरिसमाप्तिसूचको यावत्कालेन नवकर्मबन्धः प्राक्तनस्थितिसत्कर्मणः सकाशात् द्वाभ्यामावलिकासंख्येयतमाभ्यां भागाभ्यामधिको न भवति तावत् प्राक्तनस्थितिसत्कर्मणः अग्रम स्थितेरध आवलिकामसंख्येयभागाधिकामतिक्रम्योपरितने आवलिकाया असंख्येयतमे भागे निक्षिपति । यदा तु द्वितीयसमयस्तनीं स्थितिमुद्वर्तयति तदा समयाधिके असंख्येयतमे भागे निक्षिपति एवं प्रकारेण द्रष्टव्यम् । संप्रत्यल्पबहुत्वमुच्यते या जघन्या अतिस्थापना यश्च जघन्यो निक्षेप एतौ द्वावपि सर्वस्तोकौ परस्परं वा तुल्यौ एतौ द्वावप्यावलिकासत्कासंख्येयतमभागप्रमाणौ ताभ्यामसंख्येयगुणा उत्कृष्टा अतिस्थापना तस्या उत्कृष्टाबाधारूपत्वात् ततोऽप्युत्कृष्टो निक्षेपोऽसंख्येयगुणो यतोऽसौ समयाधिकावलिकया साबाधया हीना सकर्मस्थितिः ततोऽपि सर्वकर्मस्थितिर्विशेषाधिका पं० सं० । क० प्र० ।

अथानुभागोद्वर्तनामाह ।

चरमं नो वट्टिज्जइ, जा ठाणंताणि फड्डगाणि तउ ।
उस्सक्कियउव्वट्टइ, उदयावट्टणा एवं ॥

चरमं स्पर्द्धकं नोद्वर्तयते नापि द्विचरमं नापि त्रिचरमम् एतावता तावद्वाच्यं यावच्चरमान् स्पर्द्धकानधोऽनन्तानि स्पर्द्धकानि नोद्वर्तयते किं तु तस्य चतुष्कस्याधस्ताद्वर्तीनि यानि स्पर्द्धकानि समयमात्रस्थितिगतानि तान्युद्वर्तयति तानि चोद्वर्त्य आवलिकामात्रस्थितिगतानि अनन्तानि स्पर्द्धकानि अतिक्रम्योपरितने द्वे आवलिकासत्कासंख्येयभागमात्रगतेषु स्पर्द्धकेषु निक्षिपति । यथा पुनरधोऽवतीर्य द्वितीयसमयमात्रस्थितिगतानि स्पर्द्धकानि उद्वर्तयति तथा आवलिकामात्रस्थितिगतानि स्पर्द्धकानि अतिक्रम्य उपरितनेषु समयाधिकावलिकासत्कासंख्येयभागमात्रगतेषु स्पर्द्धकेषु निक्षिपति एवं यथा यथा अधोऽवतरति तथा तथा निक्षेपो वर्द्धते अतिस्थापना पुनः पुनः सर्वत्रापि आवलिकामात्रस्थितिगतान्येव स्पर्द्धकानि । कियान् पुनरुत्कृष्टो निक्षेपविषय इति चेदुच्यते बन्धावलिकायामतीतायां समयाधिकावलिकामात्रगतानि स्पर्द्धकानि व्यतिरिच्य शेषाणि सर्वाण्यपि निक्षेपविषयः । संप्रत्यत्रैवाल्पबहुत्वं चिन्त्यते सर्वस्तोको जघन्यनिक्षेपः तस्यावलिकासत्कासंख्येयभागगतस्पर्द्धकमात्रविषयत्वात् ततोऽतिस्थापना अनन्तगुणा निक्षेपविषयस्पर्द्धकेभ्य आवलिकामात्रस्थितिगतानां स्पर्द्धकानामनन्तगुणत्वात् । एवं सर्वत्राप्यनन्तगुणता स्पर्द्धकापेक्षया द्रष्टव्या तत उत्कृष्टो निक्षेपोऽनन्तगुणः ततोऽपि सर्वो भागो विशेषाधिकः । तदेवमुक्ता अनुभागोद्वर्तना । पं० सं० (कर्मप्रकृतौ तु " एव उव्वट्टणा३ उ " एवं चतुर्थपादः । अयमिहानुपयुक्तो व्याख्यातोऽपि गाथाएतये प्रदर्शितः) उद्वर्तनमुद्वर्तना । तत्कायान्निर्गमे मरणे , " दोण्हं उव्वट्टणा पन्नत्ता तं जहा नेरइयाणं चेव भवणवासीणं चेव " उद्वर्तना नैरयिकभवनवासिनामेवैवं व्यपदिश्यते अन्येषां तु मरणमेवेति । स्था० २ ठा० । (उद्वर्तनायाः सर्वा वक्तव्यता उपपातशब्दे दर्शिता यथा सान्तरं निरन्तरं चोद्वर्तन्ते इति सतोऽसतो वा नैरयिकविषयानुवृत्तेः तीर्थकृत्त्वादिलाभः इति च अंतकिरिया शब्दे उक्तम्)

खुड्डागकडजुम्मणेरइयाणं भंते ! अणंतरं उव्वट्टित्ता कहिं उववज्जंति किं णेरइएसु उववज्जंति तिरिक्खजोणिएसु

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उववज्जंति उव्वट्टणा जहा वक्कंतीए तेणं भंते ! जीवा एगसमएणं केवइया उव्वट्टंति गोयमा ! चत्तारि वा अट्ठ वा बारस वा सोलस वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा उव्वट्टंति तेणं भंते ! जीवा कहं उव्वट्टंति ? गोयमा ! से जहाणामए पवए एवं तहेव एवं सो चेव गमओ जाव आयप्पओगेणं उव्वट्टंति णो परप्पओगेणं उव्वट्टंति रयणप्पभपुढविखुड्डागकडजुम्म एवं रयणप्पभाए वि एवं जाव अहेसत्तमाए वि । एवं खुड्डागतेओगे खुड्डागदावरजुम्मे खुड्डागकलिओगे णवरं परिमाणं जाणियव्वं सेसं तं चेव सेवं भंते ! भंतेत्ति (३१ श० ३१ उ०) कण्हलेस्सकडजुम्मे णेरइया एवं एएणं कमेणं जहेव उववायसए अट्ठावीसं उद्देसगा भणिया तहेव उव्वट्टणासए वि अट्ठावीसं उद्देसगा जाणियव्वा णिरवसेसा णवरं उव्वट्टंति त्ति अभिलावो भाणियव्वो सेसं तं चेव सेवं भंते ! भंते ! त्ति जाव विहरइ ॥ उव्वट्टणासयं सम्मत्तं ॥ ३२॥ भ० ३१ श० ३२ उ० ।

उव्वट्टणासंकम-उद्वर्तनासंक्रम-पुं० उम्मानप्रकृतीनां बन्धे, 'आवेत्ता उव्वट्टइ' पं० सं०। स्तोकस्य रसस्य प्रभूतीकरणे, पं० सं०।

उव्वट्टित्ता-उद्वर्त्य-अव्य० उद्वर्तनं कृत्वेत्यर्थे, स्था० ३ ठा० ॥

उवट्टिय-उद्वर्तित-त्रि० पिष्टकादिना कृतोद्वर्तने. "अब्भंगिय संबाहिय उव्वट्टियमज्जियं च से आणं" पिं० । तस्याच्च्याविते, "उवट्टिया पओसं, छोज्ज कम्मामओ य सेज्जंते" था अभिनवस्थापिता सती धात्री उद्वर्तिता धात्रीत्वाच्च्याविता । पिं० । कृतोद्वर्तनाके, "णरगा उवट्टिया अधण्णा ते वि य दीसंति" प्रश्न० १ द्वा० । ततो वि उव्वट्टिया समाणा पुणो वि पवज्जंति" प्रश्न० ३ द्वा० । "आउक्खएण उव्वट्टिया समाणा" प्रश्न० १ द्वा०।

उव्वड्ढ-उद्वृद्ध-त्रि० उद्वृद्धिमपगते, "अमुगो पव्वंतराया उव्वड्ढा कणउज्जंता पुरिसा कूरसेढे उवणेतु" । आ० म० द्वि० ।

उव्वत्त-उद्वृत्त-त्रि० कृतोद्वर्तने, "मच्छुव्वत्तं" मत्स्योद्वृत्तमेकं चक्षित्वा मत्स्यवद् वृत्तं द्वितीयं साधुं द्वितीयपार्श्वेन रेचकावर्तेन परावर्तते आ० चू० ३ अ० ।

उव्वत्तण-उद्वर्तन-न० एकपार्श्वादन्यपार्श्वाभिमने, ध० ३ अधि० । "उत्ताणयस्स पासल्लियकरणं उव्वत्तण" । नि० चू० ४ उ० । उद्वर्तनं नाम तस्या उत्तानायाः पार्श्वतः करणम् । वृ० ३ उ० । ऊर्ध्वं वर्तने, "उव्वत्तणनिल्लेवणवीहंते अणिओगे" ऊर्ध्वं वर्तनं यद्साधु वर्तते । ओ० । शरीरपरिचेष्टाकारिषु निर्यामकेषु, प्रव० ७१ द्वा० ।

उव्वर-देशी-धर्मार्थे, दे० ना० ।

उव्वहण-उद्वहन-न० उत्तोल्य वहनम् । उत्तोल्य स्कन्धादिना वहने, विवाहे च । वाच० । जीविकाभावेनात्मनो धारणे, स० ।

उव्वा-उद्-वा-धा० स्वा० प० अक० सेट् " स्वरादनतो वा " ८ । ४ । २३९ । अकारान्तवर्जितात्स्वरान्ताद्धातोरन्तेऽकारागमो वा भवति इत्यकारागमो वा । उव्वाइ उव्वाअइ उद्वाति । प्रा० । " उद्वाते रोहुम्मावसु आः ८ । ४ । ११ इत्यादेशे कृते ओरुम्माइ वसुआइ उव्वाइ प्रा० धर्मार्थे, दे० ना० ।

उव्वाणि-उर्वाग्नि-पुं० वडवानले, अष्ट० ।

उव्वात-उद्वात-पुं० परिश्रान्ते, " अलद्धाणे उव्वाता भिक्खोवहिसाणएण परिणीए " वृ० १ उ० । " उव्वातो विनसं तिगई लु अतिक्कमे गुरुगा " उद्वातः परिश्रान्त इति वृत्या मुद्रः । व्य० १ उ० । अतिपरिश्रान्ते, " हिंडंतो उव्वातो सुत्तत्थाणं च गच्छपरिहाणी " व्य० ४ उ० ।

उव्वाह-देशी-धर्मार्थे, दे० ना० ।

उव्वाहिज्जमाण-उद्वाध्यमान-त्रि० प्राबल्येन बाध्यमाने, " उच्चारपासवणेणं उव्वाहिज्जमाणे " आचा० २ श्रु० । प्राबल्येन मोहोदयात्पीड्यमाने. "उव्वाहिज्जमाणे गामधम्मेहिं" आचा० १ श्रु० ५ अ० ।

उव्विग्ग-उद्विग्न-त्रि० उद्-विज-कर्तरि-क्त-सर्वत्र लवरामवन्द्रे ८ । २ । ७९ । इति लोपः प्रा० । आनन्दरहस्यागमानसे, प्र० ३ श० १ उ०। भीते, "जम्ममच्चुभउव्विग्गा दुक्खस्संतगवेसिणो " उत्त० १४ अ० । " मरणभयप्पणा णिव्वासजणगाणं " प्रश्न० १ द्वा० । उद्वेगवति, " उव्विग्गा अप्पुया असरणा मरणोवासं उवेंति " प्रश्न० ३ द्वा०। पराङ्मुखचित्ते, तेणं नरकेसु नारका णिच्चं तसिया णिच्चं उव्विग्गा" प्रज्ञा० २ पद । यथोक्तदुःखानुभवतस्तत्कृतवासपराङ्मुखचित्ताः जी० ३ प्रति० ॥

उव्विग्गया-उद्विग्नता-स्त्री० इष्टवियोगादिनिमित्तकसहजत्यागेच्छायाम्, जवाद्युद्विग्नताद्युक्तौ, द्वा० २१ द्वा० ।

उव्विय-उद्विज्-धा० उद्वेगे, उद्विजः ८ । ४ । २६ उद्विजेरन्त्यस्य वो भवति । उव्विवइ उद्विजते प्रा० ।

उव्विह-उद्विह- पुं० श्रावस्तानामाजीविकोपासकानां तृतीये , भ० ८ श० ५ उ० ।

उव्विहंत-उद्विजहत्-त्रि० ऊर्ध्वं क्षिपति, भ० ७ श० १४ उ० । उत्पतति च । किमपरं मणसा वि उव्विहत्ता इति ज्ञा० १७ अ० ।

उव्विहमाण-उद्विजहत्-त्रि० उद्विजहति, ज० १ श० ७ उ० ।

उव्विहिय-उद्व्यूह्य-अव्य० उत्क्षिप्येत्यर्थे, भ० १३ श० ७ उ० ।

उव्वीढ-उद्व्यूढ-त्रि० ईर्वोद्व्यूढे ८ । १ । १२० । इति उद्व्यूढशब्दे कृत ईत्वं वा । उव्वीढं उव्वूढं । उत्प्रेरिते, प्रा० ।

उव्वीलय-अपव्रीडक-पुं० लज्जया अतिचारान् गोपायन्तमुपदेशविशेषैरपव्रीडयति . विगतलज्जं करोतीति अपव्रीडकः । पंचा० १५ विव० । स्था० । लज्जयाऽतिचारान् गोपायन्तं विचित्रवचनैर्विलज्जीकृत्य सम्यगालोचनाकारयितरि, आलोचनाप्रतीच्छके, प्र० २५ श० ७ उ० । अयं ह्यालोचकस्यात्यन्तमुपकारको भवतीति ध० २ अधि० । अभिहितं च "ववहारं ववहरं आगममाई उ सुणइ पंचविहा । ओवीलुवणूहंतं जह आलोएइ तं सव्वं" स्था० ८ ठा० ।

उव्वीलेमाण-अवपीडयत्-त्रि० बाधयति, "पंथकोट्टेहिय उवीलेमाणे २ विहिंसेमाणे २ विहरइ" वि० १ श्रु० १ अ० पा०।

उव्वुड्डणिवुड्डय-उन्मग्ननिमग्नत्व-न. कर्ध्वाधो जलगमने, उपचारात्सातासातपरितापने, "सातस्स असातस्स य, परितावणमयं उव्वुड्डणिवुड्डयं करेति" सातमुन्मग्नत्वमिव असातपरितापनं निमग्नत्वमिवेति । प्रश्न० ३ द्वा० ।

उव्वूढ-उद्व्यूढ-न० उद्-वि-ऊह-क्त ईर्वोद्व्यूढे ८ । १ । १२०। इति कृत इत्वाजावे रूपम् । उत्प्रेरिते, प्रा० ।

उव्वेग-उद्वेग-पुं० उद्-विज-भव-कृत्वम् । शोके, देवानामुद्वेगः ।

तिहिं ठाणेहिं देवे उव्वेगमागच्छेज्जा तंजहा अहो णं मए इमाओ एयारूवाओ दिव्वाओ देविड्ढीओ दिव्वाओ देवजुईओ दिव्वाओ देवाणुभावाओ पत्ताओ लद्धाओ अभिसमण्णागयाओ चवियव्वं भविस्सइ १ अहो णं मए माउओयं पिउसुक्कं तं तदुभयसंसिट्ठं तप्पढमयाए आहारो आहारेयव्वो भविस्सइ २ अहो णं मए कलमलजंबालाए असुईए उव्वेयणिज्जाए भीमाए गब्भवसहीए वसियव्वं भविस्सइ ॥ ३ ॥

(उव्वेगंति) उद्वेगं शोकं मयेतच्च्यवनीयं भविष्यतीत्येकं तथा मातुरोज आर्तवं पितुः शुक्रं तत्तथाविधं किमपि विलीनानामतिविलीनं तयोरोजःशुक्रयोरुभयं द्वयं तदुभयं तच्च तत् संसृष्टं संश्लिष्टं वा चेति परस्परमेकीभूतमित्यर्थः । तदुभयसंसृष्टं तदुभयसंश्लिष्टं वा एवलक्षणो य आहारस्तस्य गर्भवासकालस्य प्रथमता तत्प्रथमता तस्यां प्रथमसमय इत्यर्थः । स आहर्तव्योऽभ्यवहार्यो भविष्यतीति द्वितीयम् । तथा कलमलो जठरद्रव्यसमूहः स एव जम्बालः कर्दमो यस्यां सा तथा तस्यामत एवाशुचिकायामुद्वेजनीयायामुद्वेगकारिण्यां भीमायाम्भयानिकायां गर्भ एव वसतिस्तस्यां वस्तव्यमिति तृतीयम् । स्था० ३ ठा० ३ उ० । निर्वेदे, अनु० । इष्टवियोगादिजन्ये चित्तव्याकुलत्वे, भ० ३ श० ६ उ० । जीवा० । चित्तदोषे, तत्र द्वेषादुद्वेगो यथा ।

स्थितस्यैव स उद्वेगो, योगद्वेषात्ततः क्रिया ।
राजविष्टिसमाजन्म–बाधिते योगिनां कुले ॥१४॥

(स्थितस्यैवेति) स्थितस्यैवाप्रवृत्तस्यैव स क्रम उद्वेग उच्यते ततस्तस्मादनादरजनिताद्योगद्वेषात्क्रिया परवशादिनिमित्ता प्रवृत्तिः राजविष्टिसमा नृपनियुक्तानुष्ठानतुल्या योगिनां श्रीमतां श्राद्धानां कुले जन्म बाधते प्रतिबध्नाति अनादरेण योगक्रियाया योगिकुलजन्मबाधकत्वनियमात् द्वा० १८ द्वा० । तदुक्तम् ।

उद्वेगे विद्वेषा–द्विष्टिसमं करणमस्य पापेन ।
योगिकुलजन्मबाधक–मलमेतत्तद्विदामिष्टम् ॥

'उद्वेग इत्यादि' उद्वेगे चित्तदोषे विद्वेषाद्योगविषयात् विष्टिसमं राजविष्टिकल्पं करणमस्य योगस्य पापेन हेतुभूतेन एतच्चैवंविधं करणं योगिनां कुले जन्म तस्य बाधकमनेन योगिकुलजन्मापि जन्मान्तरे न लभ्यत इति कृत्वा योगिकुलजन्मबाधकमलमत्यर्थमेतत्तद्विदामिष्टं योगविदामभिमतम् । षो० १४ विव० । व्याकुलचित्ततायाम्, विरहजन्ये दुःखोद्गमे भये च । उद्गतो वेगो यस्मात् । निश्चले, स्तिमिते, शीघ्रगामिनि च वाच० ।

उव्वेढ–उद्वेष्ट–धा० भ्वा० आ० सक सेट्–पृथक्करणे, बोदः ८ । ४ । २२ । उदः परस्य वेष्टेरन्त्यस्य ल्लो वा भवति इति ल्लत्वाभावे रूपम् उव्वेल्लइ उव्वेढइ उद्वेष्टते । प्रा० । "उव्वेढेज्ज वा णिव्वेढेज्ज वा उप्पोसं वा करेज्जा" उद्वेष्टयेत् पृथक्कुर्यात् आचा० २ श्रु० ।

उव्वेढण–उद्वेष्टन–न० उद्-वेष्ट-ल्युट्-हस्तपादयोर्बन्धने, उपश्लेषे च । पृथक्करणे, उन्मुक्तबन्धने, त्रि० वाच० । आचा० २ श्रु० ।

उव्वेयणग–उद्वेजनक–त्रि० उद्विज्यते उद्विग्नैर्भूयते यस्मिन् स उद्वेजनकः । भयानके, उद्वेगकारिणि, " उव्वेयणयं जाईमरणं नरएसु वेयणाओ य " आतु० । उद्वेगहेतुत्वाच्चिरवकाङ्क्षे प्राणबन्धे, प्रश्न० १ द्वा० ।

उव्वेयणिज्ज–उद्वेजनीय–त्रि० उद्- विज्-अनीयर्-कर्त्तरि । उद्वेगकारिणि, " असुईए उव्वेयणिज्जाए भीमाए गब्भवसहीए वसियव्वं भविस्सइ " स्था० ३ ठा० ।

उव्वेल्ल–उद्वेष्ट–धा० भ्वा० सक० आत्म० । बोदः । ८ । ४ । २२ । उदः परस्य वेष्टेरन्त्यस्य वा ल्लः उव्वेल्लइ उव्वेढइ उद्वेष्टते । प्रा० ।

उव्वेल्लिय–उद्वेष्टित–त्रि० उत्सारिते, "उव्वेल्लिए मुज्झमयस्स तो साहाहिं " बृ० ३ उ० ॥

उव्वेव–उद्वेग–पुं० उद् विज्-घञ्-कुत्वम् । उद्विग्ने ८ । ४ । २६ इति अन्त्यस्य वा वः । चित्तव्याकुलत्वे, प्रा० ।

उसक्कण–अवष्वष्कण–न० उत्पालने, "णपणं जलणं जालणं उसक्कणंति एगट्ठा " नि० चू० १ उ० । "अग्गमाणिधयाणं उक्कणा भण्णति" नि० चू० १ उ० ॥

उसड्ड–उत्सृत–त्रि० उच्च, " उसड्डा उसड्ड खुड्डगा " राय० ।

उसण–उषण–न० उष-क्युन् मरिचे, पिप्पलीमूले च शुण्ठ्यां चव्यिके पिप्पल्याञ्च स्त्री० उसन्न शब्दो देशीवचनो बाहुल्यवचनो यथा " उसणसायं वेयणं वेयंति " कर्म० ॥ प्रायः इत्यर्थे, । जं० २ वक्ष० । प्रवाहेणेत्यर्थे, त० ।

उसण्णदोस–उषणदोष–पुं० उषणेन बाहुल्येन अनुपरतत्वेन दोषो ऽनृतादानसंरक्षणानामन्यतमः । रुद्रध्यानस्य लक्षणभेदे, औ० ।

उसभ (ह)–अ (ह) षभ–पुं० ऋषभशब्दस्य द्विधा व्याख्या सामान्यतो विशेषतश्च । तत्र सामान्यतो यथा ऋषति गच्छति परमपदमिति ऋषभः । उदृत्वादौ ८ । १ । ३१ । इत्युत्वे उसहो वृषभ इत्यपि । वर्षति सिञ्चति देशनाजलेन दुःखाग्निना दग्धं जगदिति अस्यान्वर्थः । ऋषभे वा वा ८ । १ । ३३ । इति वृषभे ऋतो वेन सह उद् वा भवति । उसहो वसभो प्रा० । धर्म० । वृषेण धर्मेण भातीति वृषभः जं० २ वक्ष० । वृषभ उद्वहने एष आगमिको धातुः समग्रसंयमभारोद्वहनाद् वृषभः आ० म० द्वि० । वृषभ उद्वहने उव्यूढं तेन भगवता जगत्संसारः समग्रं तेन ऋषभ इति सर्व एव भगवन्तो जगदुद्वहन्ति "अतुलं नाणदंसणचरित्तं वा एयं सामण्णं " एषा सामान्यत ऋषभशब्दस्य व्युत्पत्तिः । आचू० २ अ० । एवञ्च सर्वेऽप्यर्हन्त ऋषभा वृषभा वा इत्युच्यन्ते तेन ऊर्वोर्वृषभ लाञ्छनत्वेन मातुश्चतुर्दशस्वप्नेषु प्रथमं वृषभदर्शनेन च ऋषभो वृषभो वेति जं० २ वक्ष० ।

ऊरूसु उसभलंछणउसभं सुमिणेण उसभजिणो जेण ।
भगवतो दोसु वि ऊरूसु उसभा उप्पराहुत्ता लंछणभूया जेणं च मरुदेवीए भगवतीए चोद्दसण्हं महासुमिणाणं पढमं उसभो सुमिणे दिट्ठो तेण तस्स उसभ त्ति नाम कयं सेसतित्थयराणं मायरो पढमं गयं पासंति ततो वसभं ।

ऊरुगर्भनिका त्वेवं यतो भगवत ऊर्वोर्वृषभवदूर्ध्वमुखं लाञ्छनं मरुदेवी च भगवती स्वप्ने प्रथममृषभं दृष्टवती तेन भगवान् ऋषभजिनः । आ० म० द्वि० । अवसर्पिण्यां प्रथमे तीर्थकरे, प्रव० ७ द्वा० । अनु० ।

(१) ऋषभस्वामिनः पूर्वभवचरित्रम् ।
(२) ऋषभस्वामिनस्तीर्थकरत्वहेतवः ।
(३) ऋषभस्वामिनो जन्म तन्महोत्सवश्च ।
(४) ऋषभस्वामिनो नाम ।
(५) ऋषभस्वामिनो वृद्धिः ।
(६) ऋषभस्वामिनो जातिस्मरणम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(७) ऋषभस्वामिनो विवाहः ।
(८) ऋषभस्वामिनो ऽपत्यानि ।
(९) ऋषभस्वामिनो नीतिव्यवस्था ।
(१०) ऋषभस्वामिनो राज्याभिषेकः ।
(११) ऋषभस्वामिनो राज्यसंग्रहः ।
(१२) ऋषभस्वामिनो लोकस्थितिनिबन्धनं शिल्पादिशिक्षणं च ।
(१३) ऋषभस्वामिनो वासः ।
(१४) ऋषभस्वामिपुत्रराज्याभिषेकः ।
(१५) ऋषभस्वामिनो दीक्षाकल्याणकम् ।
(१६) ऋषभस्वामिनश्चीवरधारित्वकालमानम् ।
(१७) ऋषभस्वामिनो भिक्षाकालमानम् ।
(१८) ऋषभस्वामिनः श्रेयांसेन प्रथमभिक्षाकथनम् ।
(१९) ऋषभस्वामिनः श्रामण्यानन्तरं प्रवर्तनप्रकारः ।
(२०) ऋषभस्वामिनः छद्मस्थावस्थावर्णनम् ।
(२१) ऋषभस्वामिनः केवलोत्पत्त्यनन्तरं धर्मकथनम् ।
(२२) ऋषभस्वामिनो वन्दनार्थं मरुदेव्या सह भरतगमनम् भरतदिग्विजयश्च ।
(२३) ब्राह्मणानामुत्पत्तिप्रकारः तीर्थकरचक्रदेव वासुदेवाश्च भविष्यन्ति न वेत्यादिप्रश्नकदम्बकञ्च ।
(२४) ऋषभस्वामिनः सङ्घसंख्या ।
(२५) ऋषभस्वामिनः श्रमणवर्णनम् ।
(२६) ऋषभस्वामिनः केवलज्ञानोत्पत्त्यनन्तरं भव्यानां कियता कालेन सिद्धिगमनं प्रवृत्तं कियन्तं कालं यावदनुवृत्तम् ।
(२७) ऋषभस्वामिनो जन्मकल्याणकादिनक्षत्राणि ।
(२८) ऋषभस्वामिनः शरीरसंपत्-शरीरप्रमाणं कौमारे राज्ये गृहित्वे च यावान् कालस्तन्मानं च ।
(२९) ऋषभस्वामिनो निर्वाणगमनं देवकृत्यवर्णनं च ।
(३०) चितानन्तरं शक्रकृत्यवर्णनम् ।
(३१) इक्ष्वाकूणामपरा चितिका भरतकारिता ।

(१) अथ श्रीऋषभदेवचरित्रं तत्र प्रथमतः पूर्वभवचरित्रमाह ।

नाभी विणयभूमी, मरुदेवी उत्तरा असाढा य ।
राया य वयरनाहो, विमाणसव्वट्ठसिद्धाओ ॥ ९६ ॥
धणमिहुणसुरमहब्बल-ललियंगयवयरजंघमिहुणे अ ।
सोहम्म विज्ज अच्चुअ, चक्की सव्वट्ठउसभे अ ॥ ९७ ॥
धणसत्थवाहघोसण-जइगमणं अडवि वासठाणं च ।
बहुवोलीणे वासे, चिंता घयदाणमासि तया ॥ ९८ ॥
उत्तरकुरुसोहम्मे, महाविदेहे महाबलो राया ।
ईसाणे ललियंगो, महाविदेहे वयरजंघो ॥ ९९ ॥
उत्तरकुरुसोहम्मे, विदेहि तेगिच्छियस्स तत्थ सुओ ।
रायसुअसिट्ठिमच्चा-सत्थाहसुया वयस्सा से ॥ १०० ॥

अथवा प्रतिपादितः कुलकरवंश इदानीं प्राक् सूचितेक्ष्वाकुवंशः प्रतिपाद्यते । स च ऋषभनाथप्रभव इत्यतस्तद्वक्तव्यताऽभिधित्सयाऽऽह । नाभीगाहा । ९६ । गमनिका इयम् । निर्युक्तिगाथा प्रभूतार्थप्रतिपादिका अस्यां च प्रतिपदं क्रियाध्याहारः कार्यः । स चेत्थं नाभिरिति नाभिर्नाम कुलकरो बभूव । विनीता भूमीति तस्य विनीतभूमौ प्रायः अवस्थानमासीत् । मरुदेवीति तस्य भार्या राजा च प्राग्भवे वैरनाभः सन् प्रव्रज्यां गृहीत्वा तीर्थकरनामगोत्रं कर्म बध्वा मृत्वा सर्वार्थसिद्धिमवाप्य ततस्तस्या मरुदेव्यास्तस्यां विनीतभूमौ सर्वार्थसिद्धाद्विमानादवतीर्य ऋषभनाथः संजातः तस्योत्तराषाढनक्षत्रमासीदिति गाथार्थः । ९६ । इदानीं यः प्राग्भवे वैरनाभो यथा च तेन सम्यक्त्वमवाप्तं यावतो वा भवाननवाप्तसम्यक्त्वः संसारं पर्यटितः यथा च तेन तीर्थकरनामगोत्रं कर्म बद्धमित्ययमर्थमभिधित्सुराह । धणगाहा । ९७ । ९८ । उत्तरगाहा । ९९ । उत्तरकुरुगाहा ॥ १०० ॥ अस्या अप्युत्कलसम्बन्धा पद उङ्कया तावत् यावत् 'पढमेण पच्छिमेण गाहा' किन्तु यथावसरमसम्मोहनिमित्तमुपन्यासं करिष्यामः । प्रथमगाथागमनिका । धनः सार्थवाहो घोषणं योनिगमनमटवी वर्षावासं च बहवो ह्रीने वर्षे चिन्ता घृतदानमासीत्तदा । ९७ । द्वितीयगाथा गमनिका । उत्तरकुरौ सौधर्मे महाविदेहे महाबलो राजा ईशाने ललियङ्गो महाविदेहे च वैरजङ्घ इयमन्यकर्तृकी गाथा सोपयोगा च । ९८ । तृतीयगाथागमनिका उत्तरकुरौ सौधर्मे महाविदेहे चिकित्सकस्य तत्र सुतः राजसुतश्रेष्ठ्यमात्यसार्थवाहसुता वयस्याः(से) तस्य । आसां भावार्थः कथानकादवसेयः प्रतिपदं चानुरूपक्रियाध्याहारः कार्यः इति । यथा धनो नामसार्थवाह आसीत् स हि देशान्तरङ्गन्तुमना घोषणां कारितवानित्यादि कथानकम् आव० १ अ० ॥

द्वीपोऽस्ति जम्बूद्वीपोऽत्र, सदा यः परिरभ्यते ।
लवणोदधिना निरायत-मिलवल्लहरीभुजैः ॥ १ ॥
विदेहे पश्चिमास्यस्थे, क्षितिमण्डलमण्डनम् ।
क्षितिप्रतिष्ठितं नाम, नगरं सुप्रतिष्ठितम् ॥ २ ॥
प्रियंकरकरस्तत्र, राजा राजेव विश्रुतः ।
शुचिः कुवलयोल्लासी, प्रसन्नचन्द्रनामकः ॥ ३ ॥
आसीत्तत्र धनः सार्थ-वाहः पितृगृहं श्रियः ।
स षष्टिभिशाली संख्य-क्रयाणकमहाकरः ॥ ४ ॥
क्रयाणकानि संगृह्य, वाणिज्यार्थं कृतोद्यमः ।
सोऽपरेद्युर्गन्तुकामो, वसन्तपुरपत्तनम् ॥ ५ ॥
सर्वलोकोपकाराय, सार्थवाहो धनस्तदा ।
आघोषयत्पुरे कृत्स्ने, भेरीवादनपूर्वकम् ॥ ६ ॥
यो मया सममभ्येति, तस्य सर्वमहं ददे ।
क्रयाणान्यक्रयाणस्या-ऽवाहनानां च वाहनम् ॥ ७ ॥
सहायमसहायस्या-शम्बलानां च शम्बलम् ।
दस्युभ्यः श्वापदादिभ्य-स्त्रास्येऽहं पथि बन्धुवत् ॥ ८ ॥
अन्नैः पानैस्तथा वस्त्रैः, पात्रैरौषधभेषजैः ।
विसूरयति यो येन, सर्वं यच्छामि तस्य तत् ॥ ९ ॥
तत् श्रुत्वा वणिजोऽनेके, संवहन्ति स्म सत्वरम् ।
व्यवहर्तुं परे भोक्तुं, दरिद्रद्रमकादयः ॥ १० ॥
प्रस्थानं सुमुहूर्तेऽथ, सार्थवाहो विनिर्ममे ।
प्राक्किमङ्गलसंसूचि-विहितानेकमङ्गलः ॥ ११ ॥
अत्रान्तरे धर्मघोषा-ऽऽचार्यः सूर्य इवापरः ।
पादैः पवित्रयन् भूमिं, दीप्यमानस्तपस्त्विषा ॥ १२ ॥
तमागच्छन्तमालोक्य, सद्यश्चानन्दकारकम् ।
सार्थवाहो नमस्कृत्य, प्रस्फुटत्कटको द्विधा ॥ १३ ॥
उपवेश्यासने प्राक्षीद्-गुरोर्गमनकारणम् ।
वसन्तपुरमेष्याम-स्त्वया सहेति तेऽभ्यधुः ॥ १४ ॥
श्रुत्वा तान् सार्थपो भक्त्या, सूदानिति समादिशत् ।
सम्पादयतान्नपानाद्य-मेषामिःशेषमन्वहम् ॥ १५ ॥
आचार्या अपि तस्याचख्युः, शुद्धिमाहारगोचराम् ।
तदा च कोऽपि पक्वाम्र-स्थालं तस्योपनीतवान् ॥ १६ ॥

सार्थवाहोऽवदत्पूज्या, विधायानुग्रहम्परम् ।
स्त्यानीभूतसुधाभानि, गृह्णीतामूण्यमूनि मे ॥ १७ ॥
सार्थपैतानि कल्पन्ते, नाशक्योपहतानि नः
धनोऽवादीद् व्रतं पूज्या-यौष्माकमतिदुष्करम् ॥ १८ ॥
कल्प्यमन्नादि वः सर्वं, पूज्याः सम्पादयिष्यते ।
प्रातः प्रयाणमस्मांत-स्तदागत्यात्र तिष्ठत ॥ १६ ॥
चक्रे प्रयाणं सार्थेशो, गुरवोऽपि सहाचलन् ।
सञ्जातेषु प्रयाणेषु, ततः कतिपयेष्वपि ॥ २० ॥
उज्जृम्भे तदा ग्रीष्मः, कालः कलितयौवनः ।
स्वकीयेनोष्मणा ज्वाला-जिह्वामप्यवहेलयन् ॥ २१ ॥
नृपस्येव निदाघस्य, महायोध इवार्यमा ।
करैः शरैरिवाशेषान्, जनानाहन्त्यरीनिव ॥ २२ ॥
तदा तापादिवोष्णांशु-स्तृष्णातिशयविह्वलः ।
पिबन् करसहस्रेण, जलस्थानान्यशोषयत् ॥ २३ ॥
प्रस्वेदप्लुतसर्वाङ्ग-स्तदा धातुमयो जनः ।
ग्रीष्मनाग्निध्मध्मानाद्, द्रवरूप इवाजवत् ॥ २४ ॥
निदाघदहनोत्तप्त-वालुका वसुमत्यपि ।
भ्राष्ट्रीभूताध्वगान् जन्तून्, पचते चणकानिव ॥ २५ ॥
सत्येवंविधे काले, यान्तः कान्तारमापतन् ।
प्रावृट्कालक्रमापाल-स्तत्राध्वनि रुरोध तान् ॥ २६ ॥
सेनान्यस्तस्य गर्जन्तः, पर्जन्याः श्याममूर्त्तयः ।
पुरस्कृतेन्द्रधन्वान-स्तडिद्दण्डासिधेनवः ॥ २७ ॥
वारिधाराशरासारै-रुपर्युपरिपातिभिः ।
नश्यतोऽपि जनान् घ्नन्ति, कृतधर्मानभिज्ञवत् ॥२८॥ (युग्मम्)
कोऽपि श्रेयांसि वासांसि, पर्यधत्त न तद्भयात् ।
श्रीमन्तोऽपि जरद्वस्त्रा, संचरन्ति पुरेऽपि हि ॥ २९ ॥
मार्गास्तदा जलैर्लब्ध-प्रसरैरवहाः कृताः ।
गन्तुं कोऽपि न शक्नोति, पदात् पदमपि क्वचित् ॥ ३० ॥
प्राज्यस्वर्णश्रियो मत्ता-स्तदानीं निम्नगा अपि ।
लोकात्सर्वस्वमादाय, ह्रदेषु प्रक्षिपन्त्यथा ॥ ३१ ॥
स्थाने स्थाने ग्राहयन्ति, लोकेभ्यो वहका अपि ।
धर्मरक्षा धनमिव, तास्कैरातश्चञ्चलात् ॥ ३२ ॥
पादमाकृष्य पङ्कस्तु, तदश्च इव दुर्दमः ।
क्षिप्रं पातयते भूमौ, प्रधानमपि मानुषम् ॥ ३३ ॥
ईदृश्यब्दागमे याते, प्रारम्भेऽप्यतिभैरवे ।
दुर्गान्मार्गान् धनो ज्ञात्वा, तत्रैवावासमादधे ॥ ३४ ॥
कृत्वोटजान् जनोऽप्यस्था-द्वेश्मनीव निजे सुखम् ।
गुरूटजेऽस्थुराचार्या, माणिभद्रोपदर्शिते ॥ ३५ ॥
प्राप्तोत्कर्षासु वर्षासु, निष्ठिते भोजने नृणाम् ।
कन्दमूलफलाशित्वं, तापसानामिवाभवत् ॥ ३६ ॥
दुःखिताः साधवस्तत्र, कथञ्चित्कस्यचिद् गृहे ।
चेल्लभन्तेऽनवद्यानि, फलान्याददते तदा ॥ ३७ ॥
एवं व्रजति काले च, स्तोकशेषे तपात्यये ।
निशायाः पश्चिमे यामे, चिन्ता सार्थपतेरभूत् ॥ ३८ ॥
दुःखितः कोऽस्ति मे सार्थे, स्मृतं सन्ति मुनीश्वराः ।
ते हि कन्दादि नाश्नन्ति, निरवद्याशभोजिनः ॥ ३९ ॥
तस्य तच्चिन्तयैकोऽपि, यामोऽगात् शतयामताम् ।
सार्थपः प्रातरायासीन्-मुनीनामाश्रये धनः ॥ ४० ॥
ददर्श विस्मितः साधून्, विविधासनसंस्थितान् ।
अध्ययाध्यापनपरान्, सुहितान् जिमितानिव ॥ ४१ ॥

वन्दित्वा तान् गुरून् भक्त्या, विधत्ते स्म स्वगर्हणाम् ।
पूज्याः सह मया नीताः, कृता सारापि न क्वचित् ॥ ४२ ॥
तदहं निष्फलो जज्ञे, ऽवकेशिरिव पादपः ।
क्षमध्वं मेऽपराधं तत्, यूयं सर्वसहा यतः ॥ ४३ ॥
ऊचे गुरुस्ते साहाय्यात्, क्रमेण वयमागताः ।
दत्तं त्वयैव नः सर्व-मधृतिं भद्र ! मा कृथाः ॥ ४४ ॥
सोऽवदद्वन्दनं धूप-मपि सद्गन्धबन्धुरम् ।
अगुरुर्दह्यमानोऽपि, सदोद्गिरति सौरभम् ॥४५॥
पुनरूचे ध्रुवं पूज्या, अमृतेनैव निर्मिताः ।
अमन्तोषा समन्तोषा, यूयं समदृशस्ततः ॥४६॥
न्यमन्त्रयदथो पूज्यान्, साधून् प्रेषयताधुना ।
यच्छामि प्रासुकाहार-माधारं देहवेश्मनः ॥४७॥
ययौ स्वावासमित्युक्त्वा, पश्चात्प्रैषि मुनिद्वयम् ।
तदर्हमन्यद्ग्राह्य-मपश्यन् किञ्चनापि सः ॥४८॥
स्त्यानीभूतं घृतं दृष्ट्वा, स्माहेदं गृह्यतां प्रभो ! ।
साधुः शुद्धमिति ज्ञात्वा, पतद्ग्रहमधारयत् ॥४९॥
हिमस्त्यानं प्राज्यमाज्यं, निर्मलं निर्मलात्मकः ।
स्वयं यथेष्टं दत्ते स्मा-नन्यसामान्यभावतः ॥५०॥
स्वयं ददत्तदा दानं, बीजं मोक्षमहातरोः ।
तीर्थकृत्कर्मोचलनं, सम्यग्दर्शनमासदत् ॥५१॥ संग्रहमाह
" धणसत्थवाहघोसण, जइगमणं अडवि वासु ठाणं च ।
बहुवोलीणे वासे, चिंतापयदाणमासि तया" ॥५२॥
धन्यंमन्यो धनोऽनंसीद्, धनान्ते तन्मुनिद्वयम् ।
तदप्यात्माशिषं दत्वा, धनायागाभिजाश्रयम् ॥ ५३ ॥
रजन्यामथ सार्थेशो, गुरूनन्तुमुपागमत् ।
गुरवो धर्ममादिक्षन्, मोक्षसोपानपद्धतिम् ॥ ५४ ॥
गुरूपदेशपीयुष-प्रवाहेण प्रसर्पता ।
पूरितं सार्थपस्याभू-न्मानसं मानसोपमम् ॥ ५५ ॥
गुरून्नत्वा महासत्वान्, भावनां भावयन्नथ ।
कृतार्थं मन्यमानः स्वं, सौवं धाम जगाम सः ॥ ५६ ॥
लब्धाधिकारप्राप्तोऽथ, शरत्कालो महीतले ।
यदच्युताः पलायन्त, वारिदाः सपरिच्छदाः ॥ ५७ ॥
सरितः पदेषु लग्ना, वहन्ति निरहंकृताः ।
जीवनाशं प्रणेशुश्च, मार्गरोधकृतो वहाः ॥ ५८ ॥
वक्त्रः पुरुफोद पङ्कस्य, स्वामिनो विरहे सति ।
कमलान्युल्लसन्ति स्म, गते वैरिणि वारिदे ॥ ५९ ॥
मेघागमे निलीयास्था-दधुनार्कः प्रकटयभूत् ।
नाप्रस्तावं स्फुरत्यत्र, तेजस्तेजस्विनामपि ॥ ६० ॥
सार्थवाहश्चचालाथ, गुरवोऽपि सहाचलन् ।
महाटवीं समुत्तीर्णा, दुष्करं किं महीयसाम् ॥ ६१ ॥
अनुज्ञाप्याथ सार्थेशं, गुरवो ययुरन्यतः ।
सार्थवाहः पुनर्गच्छन्, वसन्तपुरमासदत् ॥६२॥
क्रयविक्रयमाधाय, दिनैः कतिपयैर्धनः ।
प्रत्यावृत्यागमद्भूरि-लाभः स्वं नगरं पुनः ॥ ६३ ॥
चिरं प्रपाल्य सम्यक्त्वं, पूर्णायुः शुद्धभावनः ।
इहोत्तरकुरुक्षेत्रे, सविपद्योदपद्यत ॥ ६४ ॥
धनजीवो युग्मधर्मा, तत्र वैषयिकं सुखम् ।
आस्वाद्य पुण्यशेषेण, सौधर्मे त्रिदशोऽभवत् ॥६५॥
ततश्च्युतो धनजीवो, विदेहार्द्धे सपश्चिमे ।
विजये गन्धिलावत्यां, वैताढ्यगिरिमूर्द्धनि ॥ ६६ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गन्धारख्ये जनपदे, पुरे गन्धसमृद्धके ।
राज्ञः शतबलस्याभू-च्चन्द्रकान्ता तनूद्भवः ॥ ६७ ॥
महाबलो धर्मस्यात्मा, महाबल इवापरः ।
वर्द्धमानः क्रमात्प्राप, यौवनं केलिभाजनम् ॥ ६८ ॥
कन्यां विनयवत्याख्यां, भूभुजा पर्यणाय्यत ।
राज्ये तमथ संस्थाप्य, स्वयं राजाऽग्रहीद्व्रतम् ॥ ६९ ॥
सद्यः सोऽथ महाराजो, दुरमात्यप्रतारितः ।
यथेष्टं चेष्टते धर्म-विमुखो विषयोन्मुखः ॥ ७० ॥
प्रमादमदिरामत्तो, निरर्गलशिरोमणिः ।
कृत्याकृत्यमजानानः, शिक्षाहीनो वनेऽभवत् ॥ ७१ ॥
सङ्गीतकेऽन्यदा जाय-माने मन्त्रिमतल्लिका ।
स्वयं बुद्धः प्रबोधाय, भूभुजः प्रोचिवानिति ॥ ७२ ॥
सर्वं गीतं विलपितं, सर्वं नाट्यं विडम्बना ।
सर्वेऽप्याभरणा भाराः, कामाः सर्वेऽपि दुःखदाः ॥ ७३ ॥
सम्भिन्नमतिरूचे तं, किमप्रस्तावमुच्यते ।
वीणायां वाद्यमानायां, वेदोद्गारो न रोचते ॥ ७४ ॥
स्वयम्बुद्धस्तमाह स्म, नाऽहितोऽस्मि प्रभुं प्रति ।
ऐहिकस्यैव वक्ताऽसि, नामुष्मिकविधौ पुनः ॥ ७५ ॥
देव ! कारणमत्रास्ति, यत्त्वामभिदधेऽधुना ।
अद्योद्याने मयाऽदर्शि, चारणश्रमणद्वयम् ॥ ७६ ॥
तत्समीपे मयाऽप्रच्छि, कियदायुर्महीशितुः ।
तेनाख्यायि मासमेकं, ततो भीतोऽभ्यधामिदम् ॥७७॥
राजोचेऽमात्य ! सुप्तोऽहं, साधु जागरितस्त्वया ।
तदानीमेव सङ्गीतं, विससर्ज भयद्रुतः ॥ ७८ ॥
कथयामात्य ! को धर्मः, कर्तव्योऽल्पीयसाऽऽयुषा ।
लग्ने प्रदीपने विष्वक्, कः कूपखननोद्यमः ॥ ७९ ॥
मन्त्र्यूचे देव ! मा भैषी-र्दिनमेकमपि व्रतम् ।
न स्याद्यद्यपवर्गाय, स्वर्गाय स्यान्न संशयः ॥ ८० ॥
ततो राज्ये निजं पुत्र-मभिषिच्यानुशिष्य च ।
सप्तक्षेत्र्यां धनं प्राज्य-मुप्त्वा मुक्त्वा परिग्रहम् ॥८१ ॥
ततः प्रव्रज्य राजर्षि-र्द्वाविंशतिदिनानि सः ।
कृत्वाऽनशनमीशाने, विमाने श्रीप्रभाभिधे ॥८२॥
ललिताङ्गाभिधो जज्ञे, शक्रसामानिकः सुरः ।
देवी स्वयंप्रभा तस्य, तत्र दिव्यप्रभा प्रिया ॥ ८३ ॥
क्रीडतोरपृथक्त्वेन, मनसोरिव देहयोः ।
तयोः कालो ययौ भूयां-श्च्युताऽन्येद्युः स्वयंप्रभा ॥ ८४ ॥
मुमूर्च्छ ललिताङ्गोऽपि, वज्रेणेवाभिताडितः ।
मनोभिरामरामाया, विगमे कस्य नासुखम् ॥८५॥
मूर्च्छान्ते विललापोच्चै-र्मुक्तकण्ठं रुरोद च ।
अज्ञानस्त्रीव शोकार्तः, शोकमाविश्चकार सः ॥८६॥
स्वयंबुद्धोऽपि तन्मन्त्री, पश्चादादाय संयमम् ।
ईशानेऽजनि पूर्णायुः, सोऽपि शक्रसमः सुरः ॥ ८७ ॥
सोऽवधेः स्वामिनं मत्वा, ललिताङ्गमुपागमत् ।
प्राग्वत्प्राबोधयत्कर्मा-ख्यानैः शोकापनोदवित् ॥ ८८ ॥
उपयुज्यावधिं ज्ञात्वा, पुनस्तं स्माह मा मुह ।
भाविनी भवतो जाया, मया ज्ञाताऽस्ति तत् शृणु ॥ ८९ ॥
द्वीपेऽत्र धातकीखण्डे, प्राग्विदेहावनावभूत् ।
नन्दिग्रामे गृहपति-र्नागिलोऽतीव दुर्गतः ॥ ९० ॥
नागश्रीस्तस्य भार्यासू-त्कन्याः षट् जनितास्तया ।
प्रायेण हि दरिद्राः स्यु-र्बहुकन्या बहुक्षुधः ॥ ९१ ॥
तत्प्रियाऽऽसीत्पुनर्गुर्वी, नागिलोऽथ व्यचिन्तयत् ।
स्याद्यद्यस्याः सुतैवातो, यास्याम्यूर्ध्वमुखः क्वचित् ॥ ९२ ॥
जाता सुताऽथ तान्यः स, राक्षसीव इवानशत् ।
नागश्रीर्दुःखिता दुःस्था, तस्या नामापि न व्यधात् ॥ ९३ ॥
लोकैर्निर्नामिकेत्युक्ता, दुर्भागा दुःखसेवधिः ।
परगेहेषु दुष्कर्म-करणाज्जीवति स्म सा ॥ ९४ ॥
अथान्यदाऽर्यामिभ्यानां, हस्तेष्वालोक्य मोदकान् ।
ययाचे मातरं साऽपि, मातोचे पुत्रि ! मोदकान् ॥ ९५ ॥
गतोऽस्त्यानेतुं त्वद्धेतो-स्त्वज्जन्मन्येव ते पिता ।
शैलादम्बरतिलका-त्तावद्दारूण्युपानय ॥ ९६ ॥
दह्यमानतया मातुः, कालकूटकिरा गिरा ।
रज्जुमादाय याति स्म, मुञ्चन्त्यश्रूणि तं गिरिम् ॥ ९७ ॥
युगन्धरमुनिस्तत्र, तदा केवलमासदत् ।
व्यन्तरैर्महिमा चक्रे, लोकास्तं नन्तुमाययुः ॥ ९८ ॥
निर्नामिकाऽपि तत्रागा-त्केवली धर्ममादिशत् ।
निर्नामिका गुरूनूचे, प्रभोऽहं कथमीदृशी ॥ ९९ ॥
गुरुः स्माह पुरा धर्म-स्त्वया नाकारि तत्फलम् ।
ततोऽधुनाऽपि तम्भद्रे ! कुरु स्या येन सौख्यभाक् ॥ १०० ॥
सम्यक्त्वं गृहिधर्मं च, साऽथ गुर्वन्तिकेऽग्रहीत् ।
साधर्मिकीति लोकैना-नुगृहीता सुखं स्थिता ॥ १०१ ॥
तेपे तपांसि भूयांसि, स्यात्कर्मप्रश्रयो यतः ।
युगन्धरगुरोः पार्श्वे, साऽस्त्यात्तानशनाऽधुना ॥ १०२ ॥
ततो मन्त्रिगिरा तस्याः, स सुरः स्वमदर्शयत् ।
निदानं सा व्यधात्तत्र, दृष्ट्वा स्यामस्य पत्न्यहम् ॥ ३ ॥
मृत्वा सा तस्य भार्याऽभू-द्देवी स्वयं प्रभाभिधा ।
नवीभूतामिवायातां, तां रेमेऽथ स पूर्ववत् ॥ ४ ॥
कियत्यपि गते काले, ललिताङ्गस्ततश्च्युतः ।
जम्बूद्वीपे प्राग्विदेहा-ऽन्यन्ते सीतोत्तरे तटे ॥ ५ ॥
विजये पुष्कलावत्यां, लोहार्गलमहापुरे ।
सुवर्णजङ्घनृपभी-र्वज्रजङ्घः सुतोऽभवत् ॥ ६ ॥
स्वयंप्रभाऽप्यथ च्युत्वा, विजयेऽत्रैव सा भवत् ।
चक्रिणः पुण्डरीकिण्यां, वज्रसेनस्य पुत्रिका ॥ ७ ॥
यौवने चन्द्रशालास्था, श्रीमती सुस्थितस्य सा ।
उद्याने केवलोत्पत्तौ, विलोक्यागच्छतः सुरान् ॥ ८ ॥
जातजातिस्मृतिर्दध्यौ, ललिताङ्गः क्व मे पतिः ।
तदज्ञानात्तदप्राप्तौ, मौनमेवास्तु मेऽधुना ॥ ९ ॥
कृतैरप्युपचारौघैः, सा मुमोच न मूकताम् ।
धात्र्या पृष्टा रहः प्राह, पटमालिख्य चार्पयत् ॥ १० ॥
चक्रिणो वज्रसेनस्य, वर्षग्रन्थौ नृपागमे ।
तं पटं पण्डिता धात्री, धृत्वा राजपथे स्थिता ॥ ११ ॥
तत्रागाद्वज्रजङ्घोऽपि, तं दृष्ट्वा जातिमस्मरत् ।
वभाचेदं चरित्रं मे-ऽलिखन्नूनं स्वयंप्रभा ॥ १२ ॥
अभिज्ञानानि सर्वाणि, पण्डितायां अपूरयत् ।
श्रीमत्यै साऽथ गत्वाऽख्य-त्तदैव मुमुदे च सा ॥ १३ ॥
पितुर्व्यज्ञपयत्तच्च, श्रीमती पण्डितामुखात् ।
पिताऽपि तत्क्षणाद्वज्र-जङ्घमाजूहवत्ततः ॥ १४ ॥
ऊचे राजा वज्रजङ्घ ! तव प्राग्भवपत्न्यसौ ।
अस्मिन्नपि भवे ते स्या-दिति तां पर्यणाययत् ॥ १५ ॥
सह श्रियैव श्रीमत्या, वज्रजङ्घो मुकुन्दवत् ।
जगाम राज्ञाऽनुज्ञातो, लोहार्गलपुरं निजम् ॥ १६ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वर्णजङ्घस्ततो राज्ये, वज्रजङ्घं न्यवेशयत् ।
स्वयं संयमसाम्राज्यं-प्रपेदे निर्वृतिस्पृहः ॥ १७ ॥
वज्रजङ्घश्चिरं राज्यं, श्रीमत्या सह निर्ममे ।
इच्छावथ सुतं राज्ये, कृत्वा श्वः प्रव्रजिष्यते ॥ १८ ॥
राज्योत्सुकः सुतस्ताव-त्पित्रोर्व्यापादनाकृते ।
विषधूमं न्यधाद्रात्रौ, सुप्तयोस्तेन तौ मृतौ ॥ १९ ॥
"उत्तरकुरुसोहम्मे, महाविदेहे महब्बलो राया ।
ईसाणे ललियंगो, महाविदेहे वइरजंघे " ॥ १ ॥ (अन्यकर्तृ)
तत्रयोत्तरकुरुषु, तौ द्वौ युगलधर्मिणौ ।
भुक्त्वा भोगांस्ततो जातौ, सौधर्मे सुहृदौ सुरौ ॥ २० ॥
वज्रजङ्घस्य जीवोऽथ, भुक्त्वा भोगांस्ततश्च्युतः ।
जम्बूद्वीपे विदेहेषु, पुरे क्षितिप्रतिष्ठिते ॥ २१ ॥
वैद्यस्य सुविधेः सूनु-र्जीवानन्दाभिधोऽभवत् ।
तद्दिने सोऽभवत्पुत्र-श्चत्वारस्तादृशोऽपरे ॥ २२ ॥
प्रसन्नचन्द्रभूपाल-पुत्रो नाम्ना महीधरः ।
सुबुद्धिनामा तनयः, सुनासीरस्य मन्त्रिणः ॥ २३ ॥
धनदश्रेष्ठिसूनु-र्गुणाकर इति स्मृतः ।
पूर्णभद्राभिधः सार्थ-पतिसागरनन्दनः ॥ २४ ॥
जायन्ते स्म सुपामात्य-श्रेष्ठिसार्थपनन्दनाः ।
समं ववृधिरे सर्वे, समञ्च जगृहुः कलाः ॥ २५ ॥
श्रीमत्या अपि जीवोऽथ, च्युत्वा तत्रैव पत्तने ।
सुनुरीश्वरदत्तस्य, श्रेष्ठिनः केशवाभिधः ॥ २६ ॥
तत्सुताः सहवासाद्यैः, षडप्यद् सुहृदोऽभवन् ।
पितेव वैद्यकं जीवा-नन्दोऽपि स्वपितुर्मुखात् ॥ २७ ॥
सदैव रममाणास्ते, परस्पराऽवियोगिनः ।
कदाचित्कस्यचिद्गेहे, गोष्ठ्या तिष्ठन्ति नित्यशः ॥ २८ ॥
अन्यदा वैद्यपुत्रस्य, जीवानन्दस्य वेश्मनि ।
सर्वेषां तिष्ठतां तेषां, साधुर्भिक्षाकृतेऽभ्यगात् ॥ २९ ॥
अगाद् राजसूनुस्तं, परिहासेन किञ्चन ।
अस्ति व्याध्यौषधज्ञानं, केवलं नास्ति ते कृपा ॥ ३० ॥
वेश्येव द्रव्यदृष्टिस्त्वं, यत्साधुं न चिकित्ससि ।
जीवानन्दो वदन्मित्र! सामग्री नौषधस्य मे ॥ ३१ ॥
ओषधेषु लक्षपाकं, तैलमस्त्येकमेव मे ।
गोशीर्षचन्दनं रत्न-कम्बलं चेति नो वशे ॥ ३२ ॥
चान्दनं काम्बलं मूल्यं, पञ्चाप्याददाय ते गृहात् ।
प्रययुर्विपणिश्रेण्यां, स्वस्थानं मुनिरप्यगात् ॥ ३३ ॥
वणिजं वृद्धमेकं ते, स्माहुर्मूल्यादिता ननु ।
गोशीर्षचन्दनं रत्न-कम्बलं च प्रयच्छ नः ॥ ३४ ॥
सोऽवक्कि कार्यमाभ्यां व-स्तेऽप्यूचुः साधुवैद्यकम् ।
दृष्ट्वी वृद्धो युवानोऽमी, धर्मकर्मविधित्सवः ॥ ३५ ॥
वृद्धः करोमि किमाह-मतस्तानाह स प्रधीः ।
गोशीर्षकम्बलौ गृह्ण-न्त्वस्तु श्रेयोऽत्र मे फलम् ॥ ३६ ॥
तौ समर्प्य स धर्मेण, धर्मात्मा श्रेष्ठिपुङ्गवः ।
व्रतं संगृह्य कर्माणि, निगृह्य च शिवं ययौ ॥ ३७ ॥ आ० क०॥

अमुमेवार्थमुपसंहरन् गाथाद्वयमाह ।

विज्जसुअस्स य गेहे, किमिकुट्ठोवहुअं जइं दट्ठुं ।
बिंतिअ ते विज्जसुअं, करेहि एअस्स तेगिच्छं ।
तिल्लं तेगिच्छिसुओ, कंबलगं चंदणं च वाणिअओ ।
दाउं अभिनिक्खंतो, तेणेव भवेण अंतगडो ॥

गमनिका । वैद्यसुतस्य च गेहे कृमिकुष्ठोपद्रुतं यतिं दृष्ट्वा वदन्ति च ते वैद्यसुतं,कुरु अस्य चिकित्सां तैल चिकित्सकसुतः कम्बलकं चन्दनं वणिग्दत्त्वा अभिनिष्क्रान्तस्तेनैव भवेन अन्तकृतः । भावार्थः स्पष्ट एव क्वचित् क्रियाध्याहारः स्वबुद्ध्या कार्य इति गाथाद्वयार्थः । आव०१ अ० "उसभेणं अरहा कोसलिए कोहम्म पुव्वी होत्था" उसभेण अरहा कोसलिए पुव्वभवे वक्कवट्टी होत्था " स० ।

कथानकशेषमुच्यते ।

वरूप्यौषधसामग्री, कृत्वाऽमुंर्मुनिसंनिधौ ।
अनुज्ञाप्य मुनीन्द्रं तं, चिकित्सामारभन्त ते ॥ ३८ ॥
मुनेः सर्वाङ्गमभ्यङ्गं, तेन तैलेन ते व्यधुः ।
तद्वीर्येण तदाक्रान्तः, साधुर्भिन्नमनोऽभवत् ॥ ३९ ॥
आकुलास्तेन तैलेन, कृमयो निर्ययुर्बहिः ।
जीवानन्दस्ततो रत्न-कम्बलेन समावृणोत् ॥ ४० ॥
सर्वेऽपि कृमयो लग्नाः, शीतत्वाद्रत्नकम्बले ।
वैद्यस्ततोऽक्षिपत्सर्वान्, कृमींस्तान् गोशवोपरि ॥ ४१ ॥
साधुमाश्वास्य गोशीर्ष-चन्दनेनाथ सोऽलिपत् ।
आद्याभ्यङ्गेन कृमय-स्त्वग्गता निर्गता मुनेः ॥ ४२ ॥
द्वितीयेऽभ्यङ्गे मांसस्था-स्तृतीये चास्थिसंस्थिताः ।
कृमयो निर्ययुः सर्वे, मन्त्राकृष्टा इवाऽहयः ॥ ४३ ॥
संरोहिण्यौषधेः साधुं, स्वर्णकान्तिमथाकरोत् ।
विजहार ततः साधु-र्मैत्रीकृतवपुः स तैः ॥ ४४ ॥
रत्नकम्बलगोशीर्ष-चन्दनस्य च विक्रयात् ।
चैत्यं ते कारयामासु-र्मेरुशृङ्गमिवोन्नतम् ॥ ४५ ॥
कृत्वा द्रव्यस्तवं तेऽथ, भावस्तवचिकीर्षवः ।
सुसाधुसन्निधौ दीक्षां, षडप्यादाय धीधनाः ॥ ४६ ॥
चिरं चारित्रमाचर्य, निरतीचारसुन्दरम् ।
मृत्वा षडपि तेऽभूव-न्नच्युते त्रिदशोत्तमाः ॥ ४७ ॥
जम्बूद्वीपाभिधे द्वीपे, विदेहार्धे च पूर्वतः ।
विजये पुष्कलावत्यां, नगरी पुण्डरीकिणी ॥ ४८ ॥
वज्रसेनो नृपस्तत्र, धारिणी तस्य वल्लभा ।
तेष्वच्युतच्युताः पञ्च, तत्पुत्राः क्रमशोऽभवन् ॥ ४९ ॥
चतुर्दशमहास्वप्न-सूचितः प्रथमोऽङ्गजः ।
वज्रनाभाख्यया ख्यातो, वैद्यस्यात्मा विविक्तधीः ॥ ५० ॥
बाहुर्नृपसुतस्यात्मा, सुबाहुर्मन्त्रिसन्ततेः ।
आत्मा पीठो महापीठः श्रेष्ठिसार्थेशपुत्रयोः ॥ ५१ ॥
केशवस्य च जीवोऽभू-त्सुयशा राजपुत्रकः ।
आश्रितो वज्रनाभस्य, शैशवादपि सोऽभवत् ॥ ५२ ॥
ते वर्द्धन्ते स्म षडपि, षड्गुणा इव देहिनः ।
कलाचार्यात्कलाः सर्वे, स्पर्द्धयैवाधिजग्मिरे धिया ॥ ५३ ॥
लोकान्तिकैरथेत्युक्ते, स्वामिंस्तीर्थं प्रवर्तय ।
वज्रसेनस्ततो राज्ये, वज्रनाभं न्यवेशयत् ॥ ५४ ॥
स्वयं सांवत्सरं दानं, दत्त्वा संयममग्रहीत् ।
तुर्यं ज्ञानं तदा भर्तुः, साङ्केतिकमिवाभवत् ॥ ५५ ॥
राजा भ्रातृंश्चतुरोऽपि, लोकपालानिवाकरोत् ।
राजपुत्रं सुयशसं, सारथ्ये च न्यवेशयत् ॥ ५६ ॥
वज्रसेनजिनस्याभू-त्केवलज्ञानमेकतः ।
अन्यतश्चक्रशालाया-मुत्पन्नं चक्रमायुधम् ॥ ५७ ॥
भगवन्तं ततोऽभ्यर्च्य, चक्रं चानुप्रपूज्य च ।
साधयामास षट्खण्डां, पृथ्वीं देशैकदेशवत्स्वयम् ॥ ५८ ॥

चक्रं च चक्रवर्तित्वा-भिषेकोऽस्याखिलैर्नृपैः ।
अपालयच्चिरं राज्य-मेकच्छत्रममहीतले ॥ ५६ ॥
अन्यदा समवासार्षी-द्वज्रसेनजिनेश्वरः ।
व्याख्याममधरितद्वाक्यो, श्रुत्वा चक्रधरद्योऽप्युधन् ॥ ६० ॥
पुत्रं निवेश्य राज्ये स्वे, वज्रनाभः ससारथिः ।
चतुर्भिर्भ्रातृभिः सार्द्धं, प्रवव्राजान्तिके प्रभोः ॥ ६१ ॥
प्राप्तकालं वज्रसेन-स्तीर्थकृन्निर्वृतिं ययौ ।
वज्रनाभो द्वादशाङ्गी, परे चैकादशाङ्गिनः ॥ ६२ ॥
बाहुः साधुसम्बशल्या, भक्तपानान्यपूरयत् ।
सुबाहुः सर्वसाधूना--मङ्गविश्रामणां व्यधात् ॥ ६३ ॥
साधू पीठमहापीठौ, रहः स्वाध्यायकारिणौ ।
बाहुं सुबाहुमाचार्यो, श्लोकः सर्वश्च शंसति ॥ ६४ ॥
धन्यावेतौ महासत्त्वौ, वैयावृत्यं सुदुष्करम् ।
कुरुतः कुरुते कोऽन्यः, कष्टमाङ्गिकमीदृशम् ॥ ६५ ॥
इतरौ कुरुतोऽप्रीति-मावां स्वाध्यायिनावपि ।
न कोऽपि श्लाघते यद्वा, वज्रनकर्म चर्म च ॥ ६६ ॥
राजर्षिर्वज्रनाभोऽथ, विंशत्या स्थानकैस्तदा ।
तीर्थकरनामगोत्रं, कर्माबध्नान्महामनाः ॥ ६७ ॥ आ० क० ॥

२ तीर्थकरत्वहेतुसंग्रहार्थं गाथाचतुष्टयमाह ।

साहुं तिगिच्छऊणं, सामन्नं देवलोगगमणं च ।
पुंडरिगिणिए उ चुआ, तओ सुआ वइरसेणस्स ॥
पढमित्थ वइरनाहो, बाहुसुबाहू अ पढमईपीढो ।
तेसिं पिआ तित्थयरो, निक्खंता ते वि तत्थेव ॥
पढमो चउद्दसपुव्वी, सेसा इक्कारसंग वो चउरो ।
विइओ वेयावच्चं, किइकम्म तईयओकासी ॥
भोगफलं बाहुबलं, पसंसणा जिट्ठइअरउचिअत्तं ।
पढमो तित्थयरत्तं, वीसहिं ठाणेहिं कासीअ ॥

आसामक्षरगमनिका साधुं चिकित्सयित्वा श्रामण्यं देवलोके गमनञ्च पोण्डरीकिण्याञ्च च्युतः सुता वैरसेनस्य जाता इति वाक्यशेषः । प्रथमोऽत्र वइरनाभो बाहुसुबाहू च पीठमहापीठौ तेषां पिता तीर्थकरो निष्क्रान्तास्तेऽपि तत्रैव पितुः सकाश इत्यर्थः । प्रथमश्चतुर्दशपूर्वी शेषा एकादशाङ्गविदश्चत्वारः तेषां चतुर्णां बाहुप्रभृतीनां मध्ये द्वितीयो वैयावृत्यं कृतिकर्म्म तृतीयोऽकार्षीत् भोगफलं बाहुबलप्रशंसनाज्ज्येष्ठया इतरयोश्चितत्वं प्रथमस्तीर्थकरत्वं विंशतिभिः स्थानैरकार्षीत् । भावार्थस्तूक्त एव क्रियाध्याहारोऽपि स्वबुद्ध्या कार्य इह विस्तभयान्नोक्त इति गाथाचतुष्टयार्थः । आव० १ अ० । [तीर्थकज्जन्मनिबन्धनकारणानि तित्थयरशब्दे]

एतैः स्थानैर्वज्रनाभ--स्तीर्थकृत्कर्मबद्धवान् ।
साधुजनकादिदानेन, बाहुश्चक्रभृतः श्रियम् ॥ १ ॥
बाहुर्बलं सुबाहुश्च, साधुविश्रामणाद्व्यधात् ।
इतरौ तु तेन माया-कर्मणा स्त्रीत्वमर्जतः ॥ २ ॥
ततः पूर्णायुषः कालं, कृत्वा पञ्चापि साधवः ।
षष्ठश्च सुयशाः सर्वे, सर्वार्थसिद्धिमैयरुः ॥ ३ ॥
जम्बूद्वीपाभिधे द्वीपे, भरतार्द्धे च दक्षिणे ।
गङ्गासिन्धुसरिन्मध्य--खण्डे कल्पद्रुमाङ्किते ॥ ४ ॥
इहावसर्पिणीकाले, सुषमादुःषमारके ।
कुलकृत्सप्तमो नाभि-र्मरुदेवा प्रियो ऽभवत् ॥ ५ ॥
पूर्वलक्षेषु चतुरा-शीतौ शेषेषु सत्स्विह ।
स नवाशीतिपक्षेषू-त्तराषाढायुते विधौ ॥ ६ ॥
आषाढे मासि कृष्णेऽपि--चतुर्थेऽह्नि सुनिर्मले ।
जीवो युगादिदेवस्य, च्युत्वा सर्वार्थसिद्धितः ॥ ७ ॥
देव्याः श्रीमरुदेवायाः, सरोवर इवोदरे ।
ज्ञानत्रयपवित्रात्माऽवततार मरालवत् ॥ ८ ॥
त्रैलोक्येऽपि तदैवासी--द्दङ्गिनां जयसङ्गिनाम् ।
उद्योतः कोऽप्यनिर्वाच्यः, सुखञ्च क्षणमद्भुतम् ॥ ९ ॥
स्वप्नेष्वत्युत्तमाः स्वप्ना, वर्णराशौ स्वरा इव ।
निद्राणया तदा देव्या, ददृशन्ते स्म चतुर्दश ॥ १० ॥
वृषभः १ कुञ्जरः २ सिंहः ३ पद्मवासाऽभिषेचनम् ४ ।
पुष्पदाम ५ शशी ६ सूर्यः ७ पूर्णकुम्भः ८ सितध्वजः ९ । ११ ।
पद्माकरः १० पयोराशि ११ र्विमानं कल्पवासिनाम् । १२
रत्नोच्चयं १३ शिखी चेति १४ प्रविशन्तो मुखाम्बुजे । १२ ।
तानाख्याति स्म सा नाभे--र्निद्राछेदे प्रमोदभाक् ।
अत्युत्तमसुतप्राप्तिं, तस्याः सोऽपि न्यवेदयत् ॥ १३ ॥
तदैव युगपत्सर्वेऽप्यागत्य चलितासनाः ।
स्वप्नपाठकवद्देव्याः, शक्राः स्वप्नार्थमभ्यधुः ॥ १४ ॥
देवि त्वदङ्गजस्यैते, महास्वप्नाश्चतुर्दश ।
चतुर्दशरज्जुमिते, लोके स्वामित्वशंसिनाम् ॥ १५ ॥
चतुर्दशानां पूर्वाणा-मयमेव जगत्प्रभुः ।
उपदेक्ष्यति हेमात-मातृकां बीजसन्निभाम् ॥ १६ ॥
चतुर्दश पूर्वधराः, शिष्याश्चैतस्य भाविनः ।
तथा चतुर्दशचतु-र्दशकानेष वक्ष्यति ॥ १७ ॥
एवं स्वप्नार्थमावेद्य, सर्वेऽपि त्रिदशाधिपाः ।
स्थानं निजनिजं जग्मु-र्विसृष्टा इव सेवकाः ॥ १८ ॥
तमिन्द्राख्यातमाकर्ण्य, स्वप्नार्थं देव्यमोदत ।
नाभिरप्यभजत्प्रीतिं, कस्येष्टाप्त्या मुदे न वा ॥ १९ ॥ आ० क० ।

अमुमेवार्थमुपसंहरन्नाह ।

उववाओ सव्वट्ठे, सव्वेसिं पढमओ चुओ उसभो ।
रिक्खेणासाढाहिं, असाढ बहुले चउत्थीए ॥

गमनिका । उपपातः सर्वार्थे सर्वेषां संजातस्ततश्चायुष्कपरिक्षये सति प्रथमश्च्युतो ऋषभ ऋषभेण नक्षत्रेण आषाढाभिः आषाढबहुले चतुर्थ्यामिति गाथार्थः । इदानीं तद्वक्तव्यताभिधित्सयैनां द्वारगाथामाह निर्युक्तिकारः ।

जम्मणे नामवुड्ढीअ, जाइस्सरणे इ अ ।
वीवाहे अ अवच्चे अ--भिसेए रज्जसंगहे ॥

गमनिका (जम्मण इति) जन्मविषयो विधिर्वक्तव्यः वक्ष्यति च " चित्तबहुलट्ठमीए " इत्यादि (नाम इति) नामविषयो विधिर्वक्तव्यः । वक्ष्यति च " देसूणगं च इत्यादि " (वुड्ढीयत्ति) वृद्धिश्च भगवतो वाच्या वक्ष्यति च "अह सो वड्ढइ भगवं इत्यादि " (जाइसरणेश्यत्ति) जातिस्मरणे च विधिर्वक्तव्यः । वक्ष्यति च " जाइस्सरोयमित्यादि " (वीवाहेयत्ति) विवाहे च विधिर्वक्तव्यः । वक्ष्यति च 'भोगसमुत्थमित्यादि' (अवच्चेत्ति) अपत्येषु क्रमो वाच्यः वक्ष्यति च " तोभरहबंभिसुन्दरी इत्यादि"(अभिसेगित्ति) राज्याभिषेके विधिर्वाच्यः। वक्ष्यति च "आभोएउं सक्को उवागओ इत्यादि" (रज्जसंगहेत्ति) राज्यसंगृहे विधिर्वाच्यः वक्ष्यति च "आसाहत्थीगावो इत्यादि" अयं समुदायार्थः । अवयवार्थन्तु प्रतिद्वारं यथावसरं वक्ष्यामः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

[३]तत्र प्रथमद्वारावयवार्थाभिधित्सयाजन्म तन्महोत्सवं चाह।

चित्तबहुलट्ठमीए, जाओ उसभो असाढनक्खत्ते ।
जम्मणमहो अ सव्वो, नेयव्वो जाव घोसणं ॥

गमनिका । चैत्रस्य बहुलाष्टम्यां जात ऋषभः आषाढनक्षत्रे जन्ममहश्च सर्वो नेतव्यो यावद् घोसणमिति गाथार्थः ।

भावार्थः कथातो ज्ञेयः सा चेयम् ।

क्रमात्पूर्णेष्वथाहःसु, चैत्रे कृष्णाष्टमीतिथौ ।
निशीथे सुषुवे सूनुं, देवीयुगलधर्मिणम् ॥१॥
अचेतना अपि दिशः-स्तदानीं मुदिता इव ।
प्रसेदुः किं पुनर्वच्मि, लोकानां चेतनावताम् ॥२॥
वायवोऽपि सुखस्पर्शा, मन्दं मन्दं ववुस्तदा ।
क्ष्मामुर्वीक्षितमीशन्तं, प्रेक्षमाणा इव प्रभुम् ॥३॥
उद्योतस्त्रिजगत्यासी-द्दध्वान दिवि दुन्दुभिः ।
नारका अप्यमोदन्त, भूरप्युच्छ्वासमासदत् ॥४॥
"अथदन्तसेलहिट्ठा, अट्ठ अहो लोगवासिणीदेवी ।
नन्दणवणकूडेसुं, अट्ठय तह उड्ढलोगाओ" ॥१॥
दिक्कुमार्योऽष्टाधोलोक-वासिन्यः कम्पितासनाः ।
अर्हज्जन्मावधेर्ज्ञात्वा-ऽभ्येयुस्तत्सूतिवेश्मनि ॥५॥
भोगङ्करा भोगवती, सुभोगा भोगमालिनी ।
सुवत्सा वत्समित्रा च, पुष्पमाला त्वनन्दिता ॥ ६ ॥
नत्वा प्रभुं तदम्बाञ्चे-शाने सूतिगृहं व्यधुः ।
संवर्तेनाशोधयत्क्ष्मा-मायोजनमितो गृहात् ॥ ७ ॥
मेघंकरा मेघवती, सुमेघा मेघमालिनी ।
तोयधारा विचित्रा च, वारिषेणा बलाहिका ॥ ८ ॥
अष्टोर्ध्वलोकादेत्यैता, नत्वार्हन्तं समातृकम् ।
तत्र गन्धाम्बुपुष्पौघ-वर्षं हर्षाद्वितेनिरे ॥९॥
अथ नन्दोत्तरानन्दे, आनन्दा नन्दिवर्द्धने ।
विजया वैजयन्ती च, जयन्ती चापराजिता ॥१०॥
अष्टाप्यभ्येत्य पौरस्त्य-रुचकाद्रेस्तदाद्रिमाः ।
जिनं जिनाम्बाञ्चत्वाऽस्थुः, प्राच्यां दर्पणपाणयः ॥११॥
समाहारा सुप्रदत्ता, सुप्रबुद्धा यशोधरा ।
लक्ष्मीवती शेषवती, चित्रगुप्ता वसुंधरा ॥ २॥
अपाच्यरुचकाद्रेश्चा-ऽऽत्य देवं समातृकम् ।
प्रणम्य दक्षिणेनैता-स्तस्थुर्भृङ्गारपाणयः ॥१३॥
इलादेवी सुरादेवी, पृथिवी पद्मवत्यपि ।
एकनासा नवमिका, भद्रा सीतेति नामतः ॥१४॥
प्रत्यग्रुचकशैलाद्-ऽऽत्य व्यजनपाणयः ।
स्वामिनं मरुदेवीञ्च, नत्वाऽस्थुः पश्चिमेन तु ॥१५॥
अलम्बुषा मितकेशी, पुण्डरीका च वारुणी ।
हासा सर्वप्रभा श्रीर्ह्री-रष्टोदग्रुचकाद्रितः ॥ १६ ॥
तत्रागत्य जिनं जैनीं, जननीं चात्तचामराः ।
प्रणिपत्योत्तरेणासा-ञ्चक्रिरे मोदमेदुराः ॥ १७ ॥
शतेरा चित्रकनका, त्रिशा सौत्रामणी तथा ।
दीपहस्ता विदिक्ष्वेत्या-स्थुर्विदिग्रुचकाद्रितः ॥ १८ ॥
रुचकद्वीपतोऽप्येयु-श्चतस्रो दिक्कुमारिकाः ।
रूपा रूपासिका चापि, सुरूपा रूपकावती ॥१९॥
प्रकल्प्य भगवन्नालं, चतुरङ्गुलनिर्जितम् ।
खनित्वा विवरं तत्र, नालमिक्षिप्य तं ततः ॥२०॥
वैडूर्यरत्नैरापूर्य, बबन्धुर्हरितालयाः ।
पीठं तस्योपरितले, ततोऽर्हज्जन्मगेहतः ॥२१॥
पूर्वस्याञ्च दक्षिणस्या-मुत्तरस्यां विचक्रिरे ।
ताभिश्च त्रीणि कदली-गृहाणि स्वर्विमानवत् ॥ २२॥
प्रत्येकमेषां मध्ये च, सिंहासनविभूषितम् ।
विचक्रिरे चतुःशालं, स्वर्णरत्नमणीमयम् ॥ २३ ॥
आ दक्षिणचतुःशाले, जिनं न्यस्य कराञ्जलौ ।
निन्युस्तन्मातरञ्चाद्य-चेटीवद्दत्तबाहवः ॥ २४ ॥
सिंहासने निवेश्योभा-वभ्यानभ्यङ्गः सुगन्धिना ।
ता लक्षपाकतैलेन, अरसंवाहिका इव ॥ २५ ॥
आमन्दानन्दनिस्यन्द-प्रमोदितदृशो भृशम् ।
उभावुद्वर्तयामासु-र्दिव्येनोद्वर्तनेन ताः ॥ २६ ॥
नीत्वा ताः प्राक् चतुःशाले, न्यस्य सिंहासने च तौ ।
स्नपयामासुरम्भोभिः, स्वमनोभिरिवामलैः ॥ २७ ॥
गन्धकाषायवासोभि-स्तदङ्गान्यमृजन्नथ ।
गोशीर्षचन्दनरसै-रर्चयामासुरद्भुताः ॥ २८ ॥
तान्यामामोचयामासु-र्देवदूष्ये च वाससी ।
विद्युदुद्योतसदृश्चि, ताश्चित्राभरणानि च ॥ २९ ॥
अथोत्तरचतुःशाले, नीत्वा सिंहासनोपरि ।
न्यषीदयन् भगवन्तं, भगवन्मातरञ्च ताः ॥ ३० ॥
गोशीर्षचन्दनैधांसि, प्राक् क्षुद्रहिमवद्गिरेः ।
ताः समानययामासु-रमरैराभियोगिकैः ॥ ३१ ॥
उत्पाद्यारणिदारुभ्यां, वह्निमह्नाय तास्ततः ।
होमं वितेनुर्गोशीर्ष-चन्दनैरेधसात्कृतैः ॥ ३२ ॥
रक्षापोट्टलिका बद्ध्वा, तयोरथ जिनान्तिके ।
पर्वतायुर्भवेत्युक्त्वा, स्फालयन्नश्मगोलकौ ॥ ३३ ॥
सूतिकाभवने तस्मिन्, मरुदेवीं विभुं च ताः ।
शय्यागतौ विधायाऽस्थु-र्गायन्त्यो मङ्गलान्यथ ॥ ३४ ॥ आ०क०

संग्रहमाह ।

तेणं कालेणं तेणं समएणं उसभेणं अरहा कोसलिए चउ उत्तरासाढे अभीइपंचमे होत्था ॥ २०४ ॥ तं उत्तरासाढाहिं चुए चइत्ता गब्भवक्कंते जाव अभीइणा परिनिव्वुए ॥ २०५ ॥ तेणं कालेणं तेणं समएणं उसभेणं अरहा कोसलिए जे से गिम्हाणं चउत्थे मासे सत्तमे पक्खे आसाढबहुले तस्स णं आसाढबहुलस्स चउत्थीपक्खेणं सव्वट्ठसिद्धाओ महाविमाणाओ तित्तीसं सागरोवमट्ठितीयाओ अणंतरं चइत्ता इहेव जम्बुद्दीवे दीवे भारहे वासे इक्खागभूमिए नाभिकुलगरस्स मरुदेवाए भारियाए । पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि आहारवक्कंतिए जाव गब्भए वक्कंते । २०६ । उसभेणं अरहा कोसलिए तिन्नाणोवगए या वि होत्था चइस्सामि त्ति जाणइ जाव सुविणे पासइ तं । गय सहगाहा "सव्वं तहेव नवरं, पढमं उसभमुहेणं अइंतं । पासइ सेसाउगयं, नाभिकुलगरस्स साहेइ" सुविणपाढगा नत्थि नाभिकुलगरो सयमेव वागरेइ । २०७ । तेणं कालेणं तेणं समएणं उसभेणं अरहा कोसलिए जे से गिम्हाणं पढमे मासे पढमे पक्खे चित्तबहुले तस्स णं चित्तबहुलस्स अट्ठमीपक्खेणं नवण्हं मासाणं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बहुपडिपुन्नाणं अद्धट्ठमाणराइंदियाणं जाव आसाढाहिं नक्खत्तेणं जोगमुवागएणं आरोग्गारोग्गं दारयं पयाया ।२०८।

अथास्यामवसर्पिण्यां प्रथमधर्मप्रवर्तकत्वेन । परमोपकारित्वात्किञ्चिद्विस्तरतः श्रीऋषभदेवचरित्रं प्रस्तौति । 'तेणमित्यादितः अभीइ पंच मेहुत्थरि' पर्यन्तं तत्र (कोसलियाए) कोशलायामयोध्यायां भवः कौशलिकः ॥ २०४ ॥ तंजहेत्यादितः "परिनिव्वुए" पर्यन्तं सुगमम् ॥२०५॥ तेणमित्यादितो गब्भत्ताए वक्कंतेति पर्यन्तं सुगमम् ॥ २०६ ॥ उसभेणमित्यादितः सयमेव चागरे इति पर्यन्तं तत्र मरुदेवा प्रथमं सुखेन (अहंतंति) प्रविशन्तं वृषभं पश्यति शेषास्तु जिनजनन्यः प्रथमं गजं पश्यन्ति वीरमाता तु सिंहमद्राक्षीद् ॥२०७॥ तेणमित्यादितो दारगं पयायत्ति पर्यन्तं प्राग्वत् ॥ २०८ ॥ कल्प० । अस्य संग्रहमाह ।

संवट्टमेहमायं–सगा य भिंगारतालयंटा य ।

चामरजोईरक्खं, करिंति एवं कुमारीओ ॥११६॥

संवर्तकमेघमुक्तप्रयोजनं किं कुर्वन्ति आदर्शकांश्च गृहीत्वा तिष्ठन्ति भृङ्गारांस्तालवृन्तांश्चेति तथा चामरं ज्योतीरक्षां कुर्वन्ति एतत्सर्वं दिक्कुमार्य इति गाथार्थः ॥ ११६ ॥ आव० १ अ० ।

ततः सिंहासनं शाक्रं, चचाल ऽचलनिश्चलम् ।

अवधिं प्रयुज्य ज्ञात्वा, जन्मादिमजिनेशितुः ॥ ३५ ॥

सद्यः स्वर्गाद्विमानेन, पालकेनेत्य देवराट् ।

जिनेन्द्रं च जिनाम्बां च, त्रिः प्रादक्षिणयत्ततः ॥ ३६ ॥

वन्दित्वा नमस्यित्वा चे–त्येवं देवेश्वरोऽवदत् ।

नमोऽस्तु ते रत्नकुक्षि–धारिके विश्वदीपिके ॥ ३७ ॥

अहं शक्रोऽस्मि देवेन्द्रः, कल्पादाद्याद्दिहागमम् ।

प्रभोर्युगादिदेवस्य, करिष्ये जननोत्सवम् ॥ ३८ ॥

भेतव्यं देवि ! तन्नैवे–त्युक्त्वाऽवस्वापिनीं ददौ ।

कृत्वा जिनप्रतिबिम्बं, जिनाम्बासंनिधौ न्यधात् ॥ ३९ ॥

भगवन्तं तीर्थकरं, गृहीत्वा करसंपुटे ।

विचक्रे पञ्चधा रूपं, सर्वश्रेयोऽर्थिकः स्वयम् ॥ ४० ॥

एको गृहीततीर्थेशः, पार्श्वे द्वावात्तचामरौ ।

एको गृहीतातपत्र, एको वज्रधरः पुनः ॥ ४१ ॥

शक्रराजस्ततश्चातु–र्निकायिकसुरान्वितः ।

शीघ्रं सुमेरुशैलेन्द्र, वनं येनैव पण्डकम् ॥ ४२ ॥

मेरुचूलादक्षिणेना–तिपाण्डुकम्बला शिला ।

सिंहासनं चाभिषेके, तेनैवोपैति देवराट् ॥ ४३ ॥

तत्र सिंहासने पूर्वा–ऽभिमुखो च निषीदति ।

द्वात्रिंशदपि देवेन्द्राः, स्वामिपादान्तमैयरुः ॥ ४४ ॥

अच्युतेन्द्रस्तत्र पूर्वं, विदधात्यभिषेचनम् ।

ततोऽनुपरिपाटीतो, यावच्छक्रोऽभिषिक्तवान् ॥ ४५ ॥

ततश्च चमरादीन्द्रा, यावच्चन्द्रार्यमादयः ।

एवं जन्माऽभिषेकस्यो–त्सवं निर्वर्त्य देवराट् ॥ ४६ ॥

हर्षप्रकर्षोत्सवेऽसौ, प्राग्वत्सर्वामरान्वितः ।

तीर्थनाथमुपादाय–सद्यः प्रत्यागमत्क्षणात् ॥ ४७ ॥

प्रतिसंहृत्य तीर्थेश–प्रतिबिम्बं सपद्यपि ।

तत्र मातुः सन्निधाने, भगवन्तमतिष्ठिपत् ॥ ४८ ॥

संहृत्यावस्वापिनीं च, दिव्यं क्षौमयुगं ततः ।

दिव्यं कुण्डलयुग्मं च, विमोच्योच्छीर्षके प्रभोः ॥ ४९ ॥

श्रीदामगण्डमुल्लोचे, स्वामिनो रत्नदामयुक् ।

व्यवलम्बमानान्तः–स्वर्णकन्दुकमादधे ॥ ५० ॥

येन स्वामी तीर्थकरो, निर्निमेषविलोचनः ।

पश्यन् सुखं सुखेनैव, रममाणोऽस्ति निर्वृतः ॥ ५१ ॥

ततो वैश्रवणः शक्र–वचनात्तत्क्षणादपि ।

द्वात्रिंशद्धिरण्यकोटीः, सुवर्णस्य च तावतीः ॥ ५२ ॥

द्वात्रिंशत्तु नन्दासना–न्यथ भद्रासनान्यपि ।

रूपयौवनलावण्य–सौभाग्यप्रमुखान् गुणान् ॥ ५३ ॥

न्यधात्तीर्थाधिनाथस्य, जन्मवेश्मनिवासिषु ।

अथाभियोगिकैर्देवै–र्महानादेन देवराट् ॥ ५४ ॥

घोषयामास शृण्वन्तु, भवन्तः सर्व एव हि ।

भवनवासिनो देवा, ज्योतिष्का व्यन्तरास्तथा ॥ ५५ ॥

देवा वैमानिका देव्यः, कृत्वा सावहितं मनः ।

यो देवानुप्रियः कश्चि–त्स्वामिनस्त्रिजगत्पतेः ॥ ५६ ॥

त्रिजगत्पतिमातुश्च, करिष्यत्यशुभं मनः ।

सप्तधार्जमञ्जरीव, शिरस्तस्य स्फुटिष्यति ॥ ५७ ॥

चातुर्निकायिका देवा, एवं जन्मोत्सवं प्रभोः ।

नन्दीश्वरेऽष्टाहिकां च, कृत्वा जग्मुर्यथागतम् ॥५८॥ आ० क० ।

(४) नामद्वारमाह ।

देसूणगं च वरिसं, सक्कागमणं च वंसठवणा य ।

आहारमंगुलीए, ठवंति देवा मणुन्नं तु ॥ १ ॥

सक्को वंसट्ठवणा, इक्खु अगू तेण हुंति इक्खागा ।

जं च जहा जम्मि वए, जुग्गं कासीअ तं सव्वं ॥ २ ॥

देशोने च वर्षे भगवतो जातस्य तावत् पुनः शक्रागमनं च संजातं तेन वंशस्थापना च कृता भगवत इति साऽयं ऋषभनाथः । अस्य ऋषभजस्य गृहवासे असंस्कृत आसीदाहार इति । किं च सर्वे तीर्थकरा एव बालभावे वर्तमानाः न स्तन्योपयोगं कुर्वन्ति किन्त्वाहाराभिलाषे सति स्वामेवाङ्गुलिं वदने प्रक्षिपन्ति तस्यां चाहारमङ्गुल्यां नानारससमायुक्तं स्थापयन्ति देवा मनोज्ञं मनोऽनुकूलमेवमतिक्रान्तबालभावास्त्वग्निपक्वमेव गृह्णन्ति । ऋषभनाथस्तु प्रव्रज्यामप्रतिपन्नो देवोपनीतमेवाहारमुपभुक्तवानित्यभिहितमानुषङ्गिकमिति गाथार्थः ॥११०॥ प्रकृतमुच्यते । मादेवेन्द्रेण वंशस्थापना च कृतेत्यभिहितं सा किं यथाकथञ्चित्कृता आहोस्वित् प्रवृत्तिनिमित्तपूर्विकेति । उच्यते प्रवृत्तिनिमित्तपूर्विका न यादृच्छिकी कथम् (आव० १ अ०) शक्रः सौधर्मेन्द्रो वंशस्थापने प्रस्तुते इक्षुं गृहीत्वा आगतः । अक अग कुटिलायां गतौ अनेकार्थत्वाद्धातूनाम् अक धातोरौणादिके उक् प्रत्यये अकुशब्दोऽभिलाषार्थः । ततः स्वामी इक्षोः । आकुमाऽभिलाषेण करं प्रासारयत् शक्र आर्पयत् तेन कारणेन भवन्ति इक्ष्वाकुवंशभवा ऐक्ष्वाकाः । आ० क० । जं० । ऐक्ष्वाका ऋषभनाथवंशजा इति एवं पञ्चमस्तु यथा येन प्रकारेण यस्मिन् वयसि योग्यं शक्रः कृतवांश्च तत्सर्वमिति । पश्चार्द्धं पाठान्तरं वा ।

तालफलाहयभगिणी, होहियत्ति सारवणा ॥

तालफलाहतभगिनी भविष्यति पत्नीति । 'सारवणा' किल भगवतो नन्दायाश्च तुल्यवयःख्यापनार्थमेवं पाठ इति । तत्रैव तालफलाहतभगिनी भगवतो बालभाव एव मिथुनकैर्नाभेः सकाशमानीता । तेन च भविष्यति ऋषभपत्नीति । 'सारवणा' संगोपना कृतेति । तथा चानन्तरं वक्ष्यति नन्दायाः "सुमंगलासहिओत्ति " अन्ये तु प्रतिपादयन्ति सर्वेयं जन्मद्वारवक्तव्यता द्वारगाथापि किलैवं पठ्यते "जंमणे य विवद्धीयत्ति " अलं प्रसङ्गेन आव० १ अ० । आ० क० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नाभिस्स णं कुलगरस्स मरुदेवाए भारियाए कुच्छिंसि एत्थ णं उसहे णामं अरहा कोसलिए पढमराया पढमजिणे पढमकेवली पढमतित्थंकरे पढमधम्मवरचक्कवट्टी समुप्पज्जित्था ॥ नाम्ना कोशलायामयोध्यायां भवः कौशलिकः भाविनि भूतवदुपचार इति न्यायादेतद्विशेषणम् अयोध्यास्थापनाया ऋषभदेवराज्यस्थापनासमये कृतत्वात् तद्व्यक्तिस्तु भरतक्षेत्रनामान्वर्थकथनावसरे । "धणवइमतिनिम्माया" एतत्सूत्रव्याख्यायां दर्शयिष्यते । अर्हन्तश्च पार्श्वनाथादय इतः केचिदनङ्गीकृतराजधर्मकाः अपि स्युरित्यसौ केन । क्रमेणार्हत्त्वादित्याह प्रथमो राजा इहावसर्पिण्यां नाभिकुलकरादियुग्मिमनुजः शक्रेण च प्रथममभिषिक्तत्वात् । प्रथमजिनः प्रथमो रागादीनां जेता । यद्वा प्रथमो मनःपर्यवज्ञानात् राज्यत्यागादनन्तरं द्रव्यतो भावतश्च साधुवद्वर्तित्वेन अत्रावसर्पिण्यामस्यैव भगवतः प्रथमतस्तद्भवनात् जिनत्वं चावधिमनःपर्यवकेवलज्ञानिनां स्थानाङ्गे सुप्रसिद्धम् । अवधिजिनत्वेऽनुव्याख्यायमानेऽक्रमबद्धसूत्रमिति केवलिजिनत्वे चोत्तरग्रन्थेन सह पौनरुक्त्यमिति व्याख्यानासङ्गतिः । श्रोतॄणां प्रतिज्ञा तेन प्रथमकेवली आद्यः सर्वज्ञः । केवलित्वे च तीर्थकृन्नामोदयो भवतीत्याह प्रथमतीर्थकरः आद्यश्चतुर्वर्णसङ्घस्थापकः । उदिततीर्थकृन्नामा च कीदृशः स्यादिति प्रथमो धर्मवरो धर्मप्रधानश्चक्रवर्ती यथा चक्रवर्ती सर्वत्राप्रतिहतवीर्येण चक्रेण वर्तते तथा सोऽपीति भावः । समुत्पद्येत समुत्पन्नवानित्यर्थः । जं० २ वक्ष० (जम्बूद्वीपप्रज्ञप्त्युक्तः तित्थयर शब्दे वक्ष्यते)

तं चेव सव्वं जाव देवा देवीओ य वसुहारवासिंसु सेसं तहेव चारगसोहणमाणुम्माणवद्धणउस्सुक्कमाइयं ठिइवडियजूयवज्जं सव्वं भाणियव्वं ॥२०९॥

"तं चेव सव्वमित्यादितो ठिइवडियजूयवज्जं सव्वं भाणियव्वंति" यावत् । तत्र देवलोकच्युतोऽद्भुतरूपोऽनेकदेवदेवीपरिवृतः सकलगुणैस्तेभ्यो युगलमनुष्येभ्यः परमोत्कृष्टः क्रमेण प्रवर्द्धमानः सन्नाहाराभिलाषे सुरसंचारितामृतरससरसामङ्गुलिं मुखे प्रक्षिपति । एवमन्येऽपि तीर्थकरा बाल्येऽवगन्तव्याः बाल्यातिक्रमे पुनरग्निपक्वाहारभोजिनः ऋषभस्तु प्रव्रज्यां यावत्सुरानीतोत्तरकुरुकल्पद्रुमफलान्यास्वादितवान् । अथ संजातकिञ्चिदूनवर्षे भगवति प्रथमजिनवंशस्थापनं शक्रः स्वजीतमिति विचिन्त्य कथं रिक्तपाणिः स्वामिसमीपं यामीति महतीमिक्षुयष्टिमादाय नाभिकुलकराङ्कस्थस्य प्रभोरग्रे तस्थौ दृष्ट्वा चेक्षुयष्टिं हृष्टवदनेन स्वामिना करे प्रसारिते इक्षुं भक्षयसीति भणित्वा तां दत्त्वा इक्ष्वभिलाषात्स्वामिनो वंश इक्ष्वाकुनामाऽभवत् । गोत्रमपि अस्य एतत्पूर्वजानामिक्ष्वभिलाषात्काश्यपनामेति शक्रो वंशस्थापनां कृतवान् । अथ किञ्चिद्युगलं मातापितृभ्यां तालवृक्षाऽधो मुक्तं तस्मादेतत्तालफलेन पुरुषो व्यापादितः । प्रथमोऽयमकालमृत्युः । अथ सा कन्या मातापित्रोः स्वर्गतयोः एकाकिन्येव वने विचचार । दृष्ट्वा च तां सुन्दरीं युगलिकनरा नाभिकुलकराय न्यवेदयन् । नाभिरपि शिष्येयं सुनन्दानाम्नी ऋषभपत्नी भविष्यतीति सकललोकज्ञापनपुरस्सरं तां जग्राह । ततः सुनन्दासुमङ्गलाभ्यां सह प्रवर्द्धमानो भगवान् यौवनमनुप्राप्तः इन्द्रोऽपि प्रथमजिनविवाहकृत्यमस्माकं जीतमिति अनेकदेवदेवीकोटिपरिवारपरिवृतः समागत्य स्वामिनो वरकृत्यं स्वयमेव कृतवान् वधूकृत्यं च द्वयोरपि कन्ययोर्देव्य इति । ततस्ताभ्यां विषयोपभोगैर्भगवतः षट्लक्षपूर्वेषु गतेषु भरतब्राह्मीरूपं युगलं सुमङ्गला । बाहुबलिसुन्दरीरूपं युगलं च सुनन्दा प्रसुषुवे । तदनु चैकोनपञ्चाशत्पुत्रयुगलानि क्रमात् सुमङ्गला प्रसूतवती । २०९ ।

उसभेणं अरहा कोसलिए तस्स णं पंच नामधेज्जा एवमाहिज्जंति तं जहा उसभे इ वा १ पढमराया इ वा २ पढमभिक्खायरे इ वा ३ पढमजिणे इ वा ४ पढमतित्थंकरे इ वा ५ ॥२१०॥

"उसभेणं अरहा कोसलिए इत्यादितः पढमतित्थंकरेइवेति" पर्यन्तं तत्र इकारः सर्वत्र वाक्यालङ्कारे (पढमरायत्ति) प्रथमराजा चैवम् । २१० । कल्प० । ति० । आ०चू० ।

अथ यथा भगवान् वयः प्रतिपन्नवान् तथाऽऽह ।

तओ णं उसभे अरहा सो कोसलिए दक्खे दक्खपइन्ने पडिरूवे अल्लीणे भद्दए विणीए । कल्प० ।

(५) इदानीं वृद्धिद्वारमधिकृत्याह ।

अह वड्ढइ सो भयवं, दियलोगचुओ अणुवमसिरीओ ।
देवगणसंपरिवुडो, नंदाइसुमंगलासहिओ ॥११९॥
असिअसिरोअ सुनयणो, बिंबुट्ठो धवलदंतपंतीओ ।
वरपउमगब्भगोरो, फुल्लुप्पलगंधनीसासो ॥ १२० ॥

प्रथमगाथानिगदसिद्धैव द्वितीयगाथागमनिका । न सिता असिताः कृष्णा इत्यर्थः । शिरसि जाताः शिरोजाः केशाः असिताः शिरोजा यस्य स तथाविधः । शोभने नयने यस्यासौ सुनयनः । बिम्बं गोल्हाफलं बिम्बवदोष्ठौ यस्यासौ बिम्बोष्ठः । धवला दन्तपङ्क्तिर्यस्य स धवलदन्तपङ्क्तिकः । वरपद्मगर्भवद्गौरः । फुल्लोत्पलगन्धवन्निःश्वासो यस्येति गाथार्थः । १२० । आव० १ अ०

(६) इदानीं जातिस्मरद्वारावयवार्थं तु विवरीषुराह ।

जाईसरो अ भयवं, अप्परिवडिएहिं तिहिं उ नाणेहिं ।
कंतीइ अ बुद्धीइ अ, अब्भहिओ तेहिं मणुएहिं ॥ २१ ॥

गमनिका । जातिस्मरश्च भगवान् ! अप्रतिपतितैरेव त्रिभिर्ज्ञानैर्मतिश्रुतावधिभिः । अवधिज्ञानं हि देवलौकिकमेवाप्रच्युतं भगवतो भवति तथा च कान्त्या च बुद्ध्या अभ्यधिकस्तेभ्यो मिथुनकमनुष्येभ्य इति गाथार्थः ।

(७) इदानीं विवाहद्वारव्याचिख्यासयेदमाह ।

पढमो अकालमच्चू, तहिं तालफलेण दारओ पहओ ।
कन्ना य कुलगरेणं, सिट्ठे गहिया उसभपत्ती ॥२२॥

भगवतो देशोनवर्षकाल एव किञ्चिन्मिथुनकं संजातापत्यमिथुनकं तालवृक्षाधो विमुच्य निःसंशयं क्रीडागृहकमगमत् तस्माच्च तालवृक्षात्पवनप्रेरितमेकं तालफलमपतत् तेन दारको व्यापादितः । तदपि मिथुनकं तां दारिकां संवर्द्धयित्वा प्रतनु कषायं मृत्वा सुरलोकमुत्पन्नं सा चोद्यानदेवतेवोत्कृष्टरूपा एकाकिन्येव वने विचचार । दृष्ट्वा च तां त्रिदशवधूसमानरूपां मिथुनकनराः विस्मयोत्फुल्लनयनाः नाभिकुलकराय न्यवेदयन् । शिष्टेश्च तैः कन्या कुलकरेण गृहीता ऋषभपत्नी भविष्यतीति कन्येति गाथार्थः ॥ भावार्थः कथानकादवसेयः स चायम्

प्रगुणीकुरु कल्याणि–भूयिष्ठं जीवणकुङ्कुमम् ।
सीमन्तिनीनां सीमन्तं, परिपूर्तीकृते चिरात् ॥ २५ ॥
त्वं वयस्ये प्रशस्यानि, पुष्पदामान्युपानय ।
विचित्ररचनास्मुग्धे !, मुकुटाञ्चिकटीकुरु ॥ २६ ॥
चतुष्कान् पूरय हारि, मुक्ताक्षोदेन सुन्दरि ! ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वेधन्तः कुरु हेकार्मे, धेनुगोमयगोमुखम् ॥ २७ ॥
निवेशयाऽत्र तन्वाङ्गि ! सत्वरं वरमञ्चिके ।
पविशः शतपत्राङ्गि ! त्वं चेहानय पादुकाः ॥ २८ ॥
कार्यान्तरं च हित्वा त्वं, कस्तूरीं सखि ! वर्तय ।
येन पुत्र्योः कपोलेषु लिख्यते पत्रवल्लरी ॥ २९ ॥
कुन्तले ! कुन्तलोत्पला-वाविष्कुरु वधूकृते ।
मङ्गल्यधवलान् यूयं, हे सख्यो दत्तसत्तमान् ॥ ३० ॥
आमे किमसि निद्रालु--स्तन्द्रालुरसि किं स्तुषे ! ॥
किमङ्गभङ्गं मृद्वाङ्गि, त्वं करोषि शयालुवत् ॥ ३१ ॥
चस्तरीं विस्तरीं मुञ्च, चतुरे किमनादरा ।
सानन्दा स्पन्दसे किं न, सखि ! मन्दायसे कथम् ॥ ३२ ॥
लग्नमत्यन्तमासन्नं, नवस्यः किं न जानते ॥
तद्विदानोमनास्था--स्त्वरध्वं स्वस्वकर्मसु ॥३३॥ (कुलकम्)
माद्यादिमात्रक इव, स्थित्वा काश्चिद्दिवः स्त्रियः ।
रजसात्प्रारम्भन्ते स्म, कर्म वैवाहिकं ततः ॥ ३४ ॥
तत्रोपवेशयामासुः, श्रीसुनन्दासुमङ्गले ।
काश्चित्स्वर्णासने ऽन्यङ्क्तुं, स्नुषे कन्यके इव ॥ ३५ ॥
गीयमानेषु योषाभि--र्धवलेषु कलस्वनम् ।
सुगन्धितैलैः सर्वाङ्ग-मभ्यञ्जयानञ्जुरञ्जसा ॥ ३६ ॥
ते अथोद्वर्तयामासु--र्नतयन्त्यो वपुर्लताम् ।
पिष्टिकाभिः सुपिष्टाभिः, कोमलैः करपल्लवैः ॥ ३७ ॥
प्रतिष्ठिपद्यैकान्ते, नूनं प्रवरमञ्चिके ।
अभिषेकुरतिप्रीत्यो, रुक्मपीठे इवोज्ज्वले ॥ ३८ ॥
तयोश्चतुर्षु कोणेषु, न्यधुर्वर्णकपूयकान् ।
क्रमितुं मन्मथस्येव प्रथमं पद्मण्डकान् ॥ ३९ ॥
ततः कौसुम्भवासांसि, परिधाप्य च तत्क्षणात् ।
तयोर्निवेशयन्ति स्म, कन्यके ते सुरस्त्रियः ॥ ४० ॥
नवस्वङ्केषु तिलकान्, प्रदेशिन्यः सभर्तृकाः ।
तयोश्चकुर्नवनिधी-निव कन्दर्पचक्रिणः ॥ ४१ ॥
आत्वसंवास्पृशत सन्या--सव्यत्वेनैतयोर्मिथः ।
कौसुम्भैस्तन्तुभिस्तर्कु-संपर्किभिरथापराः ॥ ४२ ॥
ते एवं कर्मके वाले, सुरनार्यो निचिक्षिपुः ।
आस्थानां ते क्षणं तत्र, नानाकेलिकुतूहलैः ॥ ४३ ॥
तत्रैव तास्तयोर्वेगा-दुद्वर्णकमपि व्यधुः ।
विविम्नाः प्राक्तनेनैव, पूर्वरूढिरियं यतः ॥ ४४ ॥
स्नानविष्टरमभ्यास्य, स्नपयामासुराशु ते ।
हिरण्मयघटाम्भोभिः, सुखदैरमृतैरिव ॥ ४५ ॥
अथ प्रमार्जयामासु-रङ्गयष्टिं मृगीदृशोः ।
आदर्शमिव तत्सख्यः, सुखस्पर्शेन वाससा ॥४६ ॥
तयोः स्नानजलैरार्द्र-केशपाशमवेष्टयन् ।
मसृणैरंशुकोद्देशै-रुत्तेजितकृपाणवत् ॥ ४७॥
आहवास्ताततो वारि, विप्रुषस्तत्सखीजनः ।
करादिव करीन्द्रस्य, शीकरासारमातपः ॥ ४८ ॥
धूपायन्तिस्म धूपेन, स्निग्धकेश्योः सुगन्धिना ।
ईषदार्द्रं केशपाशं, धौतानीवांशुकानि ताः ॥ ४९ ॥
तत्पादान् पल्लवाताम्रा-नपि लाक्षारसेन ताः ।
अमण्डयन् धियेवेति, रक्तं रक्तेन युज्यताम् ॥ ५० ॥
सर्वाङ्गमङ्गरागेण, तन्वङ्ग्योर्व्यलिपन्त ताः ।
रविबिम्बातपेनेव, काञ्चनाचलमेखले ॥ ५१ ॥
तत्कपोलतले ताभि-र्लिखिता पत्रवल्लरी ।
प्रसर्पद्दानलेखेव, मायतः कामकुम्भिनः ॥ ५२ ॥
अथाञ्जनेन तन्नेत्र-द्वयं ताभिरभूष्यत ।
शादेन्दिरकुलेनेव, नीलेन्दीवरकाननम् ॥ ५३ ॥
तयोर्ललाटपट्टान्त-श्चान्दनं चन्द्रकं व्यधुः ।
आसितुः स्मरराजस्य, विमलां यष्टिकामिव ॥ ५४ ॥
तयोर्धम्मिल्लमुद्धम्मिल्ल-मुल्लसन्माल्यगर्भितम् ।
निषङ्गमिव कामस्य, पूरितं कुसुमेषुभिः ॥ ५५ ॥
अथ ताभ्यां कुमारीभ्यां, भूतानीवेन्दुरश्मिभिः ।
वासांसि वासयामासुः, पारिणेत्राणि तास्ततः ॥ ५६ ॥
तयोररत्नमुकुटं, चञ्चच्चन्द्रकराजितम् ।
रुक्मपङ्केरुहोत्तंस-व्योमगङ्गाविडम्बनम् ॥ ५७ ॥
नेत्रैः कर्णान्तविश्रान्तै-र्वतंसे सत्यपि स्वयम् ।
अन्यमारोपयामासुः, पुनरुक्ता भया इव ॥ ५८ ॥
कर्णयोर्मणिताटङ्कौ, निःक्षिपन्ति स्म तास्तयोः ।
द्विद्विरूपाविवार्केन्दू, विवाहं द्रष्टुमागतौ ॥ ५९ ॥
निवेश्यते स्म देवीभि-स्तयोर्मुक्तासरो हृदि ।
परिवस्यमित्रास्येन्दु- मभितस्तारकागणः ॥ ६० ॥
केयूरे भुजयोर्न्यस्ते, इन्द्रनीलमये तयोः ।
पञ्चबाणस्य बाणानां, शाणे इव निशाणने ॥ ६१ ॥
निहितं काञ्चने रत्नं, राजनीति धिया किल ।
विन्यस्यते स्म तत्पाणौ, सुरीभिर्मणिकङ्कणे ॥ ६२ ॥
अङ्गुलीषु तयोः क्षिप्ता-श्चारुहीरकमुद्रिकाः ।
दोर्लतायाः फलानीव, परिपाकारुणान्यथ ॥ ६३ ॥
तद्वा श्रोणौ च सञ्जाता, तयोश्चन्द्राश्ममेखला ।
गुरुनाभिसरस्तीरे, हंसावलिरिवोज्ज्वला ॥ ६४ ॥
मञ्जीराणि तयोर्न्यस्यन्, झणत्कारीणि पादयोः ।
मरालानाह्वयन्तीव, गतिं स्पर्द्धयितुं मदात् ॥ ६५ ॥
अथोत्पाट्यामरीभ्यां ते, दिव्यभूषणभूषिते ।
आसिते कौतुकागारे, मूर्ते श्रीणिश्रियाविव ॥ ६६ ॥
विवाहाकल्पमाधातुं, विद्वांसो वज्रिणा विभुः ।
भोगकर्मास्ति लोके च, स्थितिर्देश्ये यमन्यत ॥ ६७ ॥
ततश्च कल्पिताकल्पः, कृतमाङ्गल्यमज्जनः ।
विहिताशेषकृत्यश्च, कृत्यविद्भिर्यथाविधि ॥ ६८ ॥
चान्दनैरसनिस्यन्दैः कृतदेहविलेपना ।
विच्छुरितः पुण्यलक्ष्मी, कटाक्षैरिव सर्वतः ॥ ६९ ॥
वसानः पारिनेत्राणि, शुचीनि सिचयानि च ।
जिनेन्द्रोऽपि शरन्मेघा-कीर्णस्वर्णाचलोपमः ॥ ७० ॥
सौधमध्यादरिश्रीभृ-त्कन्दरादिव केसरी ।
निर्जगाम गुणग्राम-द्रुमारामसहोदरः ॥ ७१ ॥
अथाधिरुह्य जात्याश्व-मुच्चैःश्रवसमिन्द्रवत् ।
संक्रान्तैः पश्यतां नेत्रैः, सहस्रेक्षणतां वहन् ॥ ७२ ॥
मायूरेणातपत्रेण, स्वर्णकुम्भोपशोभिना ।
प्रावृषेण्यघनेनेवा-नीयमानस्तडित्वता ॥ ७३ ॥
शुभ्राभ्यां चामराभ्यां च, वीज्यमानो मुहुर्मुहुः ।
साम्राज्यकमलालीला-कमलाभ्यामिवाभितः ॥ ७४ ॥
तूर्यनादेन रोदस्यो-रुदरम्भरिणा ततः ॥
निर्घोषेणेव घण्टायाः, सुघोषायाः प्रसर्पता ॥ ७५ ॥
श्रव्यं श्रवणपूरं च, गायद्भिः कलगीतिकाः ।
रक्तकण्ठैः कृतोत्कण्ठैः, कलकण्ठैरिवाङ्गिनाम् ॥ ७६ ॥
नृत्यद्भिरप्सरोवृन्दै-र्नानाभरणधारिभिः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनिलान्दोलितैः कल्प—शाखिशाखागणैरिव ॥ ७७ ॥
उत्तम्भितभुजैर्भट्टैः-पठ्यमानगुणोत्करः ।
वशानीकृतहस्ताग्रै-र्गजेन्द्रैरिव कुञ्जरैः ॥ ७८ ॥
उत्तार्यमाणलवणो, देवीभिः पक्षयोर्द्वयोः ॥
पृष्ठे बिम्बीफलोष्ठीभि-र्गीयमानैरुलूलुभिः ॥ ७९ ॥
शुभोदर्कत्वपिशुनैः, शकुनैरानुकूलिकैः ।
अभ्यगान्मण्डपद्वारं, भगवान् शुभगं जनैः ॥ ८० ॥
तत्रावरुह्याथ विष्णु-र्वैतः सर्वतादिव ।
अस्थितः स्थितिनिष्णातः, क्षणमेकमनुत्सुकः ॥ ८१ ॥
अथ प्रगुणयामासु-र्दधिदूर्वादिभाजनम् ।
मन्थानमुशलादींश्च, मङ्गल्यानखिलानपि ॥ ८२ ॥
श्रूयमाणश्रुतिकटु-स्फुटल्लवणनिःस्वनम् ।
शरावसंपुटं काचि-न्मुमोच द्वारि सानलम् ॥ ८३ ॥
अथोन्द्रदं पट्टयुगं, सन्ध्यारागमिवारुणम् ।
परिधायाग्रतः काचि-दर्घदानोद्यताऽभवत् ॥ ८४ ॥
अहाय जगदर्घ्याय, सुभ्रु ! देह्यर्घमर्घदे ।
स्फीतं यश इवामुष्य, नवनीतं समुच्छ्रय ॥ ८५ ॥
उद्वेष्टय वचोवीची-शिशिरं चान्दनं रसम् ।
दधि चैतद्गुणग्राम-धवलं क्षिप्रमुत्क्षिप ॥ ८६ ॥
समुन्मीलन्महानील-रत्नाङ्कुरसहोदरम् ।
द्रागेव शाड्वलां दूर्वां, सुवासिनि ! समुद्धर ॥ ८७ ॥
नन्वेष शेषभोगीन्द्र-भोगोपमभुजद्वयः ।
वरस्ते तोरणद्वारि, त्रिजगज्जैत्रविक्रमः ॥ ८८ ॥
ऊर्ध्वः समस्ति सर्वाङ्ग-मुत्तरीयांशुकावृतः ।
शारदिन्दुरिवोत्तुङ्ग, ज्योत्स्नाजातजटालितः ॥ ८९ ॥
भृशं पुष्यन्ति पुष्पाणि, वातेनोद्भाति चान्दनम् ।
तद्द्वारि सुचिरं श्वश्रु, वरं माधरमाधर ॥ ९० ॥
इत्येवं धवलान् श्वश्रूः, शृण्वाना श्रुतिपायनैः ।
स्वामिने दत्तवत्यर्घ-मनर्घगुणशालिने ॥ ९१ ॥
धृत्वान्तर्वामहस्तेन, विश्वाग्रे च दक्षिणम् ।
युगवैशाखमुशलै-श्चक्रे च प्रोक्षणक्षणम् ॥ ९२ ॥
मनोरथमिवारीणा-मथो लवणसंपुटम् ।
भगवान् सव्यपादेन, दलयामास लीलया ॥ ९३ ॥
स्कन्धे पट्टाञ्चलेनाथ, समाकृष्य जगत्प्रभुः ।
नीतः श्वश्र्वा वधूपान्त-मासां चक्रेऽथ शक्रवत् ॥ ९४ ॥
मदनस्य फलं ग्राह्य-मित्यस्य किल सूचकम् ।
मदनस्य फलं पाणौ, बद्धं वध्वोर्वरस्य च ॥ ९५ ॥
जीवत् मातापितृश्वश्रू-श्वशुराः सधवाङ्गनाः ।
हस्ताक्षेपं ददौ पित्रा, वधूवरयोः पाणिपङ्कजे ॥ ९६ ॥
अथाम्भोधिपयःपाथ्यां, मुक्तलग्नघटीनिजे ।
जाते सति सहस्रांशु-बिम्बे बिम्बीफलद्युति ॥ ९७ ॥
श्रुत्वा भाजनशब्दं च, सावधानस्ततो हरिः ।
योजयामास तत्कालं, वधूवरकरान्मिथः ॥ ९८ ॥
अथान्योऽन्यस्य पश्यन्तो, विस्फारितविलोचनाः ।
निमेषमप्यकुर्वाणा, अन्तरायभयादिव ॥ ९९ ॥
रेजिरे ते तदा तत्र, तारामेलककारिणः ।
विशन्त इव चक्षोऽन्त-र्मिथस्तारासु संक्रमात् ॥ १०० ॥
उच्चैः कौतुकधवलान्, जगुर्वध्वाः सखीतमाः ।
नर्मकर्मणि चातुर्यं, बिभ्राणास्तत्र केलयः ॥ १ ॥
वधूवरस्य सुत्रामा, बरूथानञ्चलं मिथः ।
तेषां मनांसि बोजाद-मनुरागः परस्परम् ॥ २ ॥
कौतुकागारतो वेद्या-मथानिन्ये वधूवरम् ।
अवियोजितहस्ताग्र-मामोचितपटाञ्चलम् ॥ ३ ॥
त्रायस्त्रिंशसुरः कोऽपि, चक्रे वेद्यामथानलम् ।
व्यधाद् धूमं समित्क्षेपाद्, धूमपाताय कन्ययोः ॥ ४ ॥
कंसारश्च सलवणमाज्यः, पक्वस्तेनैव नाकिना ।
ताभ्यां प्रभुस्तद्द्वयी ते-नात्स्यत स्वस्वपाणिना ॥ ५ ॥
अथोर्मिमङ्गलाचारे, दीयमानेऽङ्गनाजनैः ।
रभसोल्लसितैरङ्ग-र्वैगुण्यमिव लम्भितैः ॥ ६ ॥
मेरुं सरोहिणीज्योत्स्ना-ञ्जवस्तत्राभितोऽनलम् ।
स्वाम्यभ्राम्यद्युतस्ताभ्या-मामङ्गलचतुष्टयम् ॥ ७॥
अथ इयालकदेशीयः, कश्चिन्मङ्गलवर्तने ।
स्वामिनं चरणाङ्गुष्ठे, नीचे भूयोऽन्यधारयत् ॥ ८ ॥
यथेच्छं भगवांस्तस्मै, स्वर्णरत्नान्यदात्तदा ।
महान्तो ह्यक्लिश्नानां, ददते यत्र तत्र हि ॥ ९ ॥
कृतेषु पाणिमोक्षादि-कृत्येषु निखिलेष्वपि ।
सुमङ्गलासुनन्दाभ्यां, सहारूढो हयं प्रभुः ॥ १० ॥
स्फीतावगीतसंगीत-मुखरीकृतदिङ्मुखः ।
प्रत्यग्रतोरणद्वार-मायया निजवेश्मनः ॥ ११ ॥
घोटकं कूर्दयामासु-श्चिरं तत्र वधूवरम् ।
हर्षोत्कर्षेण कुर्वाणा, देवा जयजयारवम् ॥ १२ ॥
लता इव समीरेण, प्रमोदेन प्रणोदिताः ।
पौलोम्याद्याश्च ननृतु-र्गीतपूर्णमनोरथाः ॥ १३ ॥
प्रविवेश ततः स्वामी, स्वसौधे कृतमङ्गलः ।
विवाहोत्साहसौन्दर्य-रञ्जितत्रिजगज्जनः ॥ १४ ॥
शुष्कनीलफलस्वादु-र्नानापक्वान्नपेशला ।
शालिसूपघृतप्राज्य-प्रलेह्यव्यञ्जनाकुला ॥ १५ ॥
मिथो जेमनवाराभू-द्भूरिगौरवसुन्दरा ।
ताम्बूलांशुकदानाद्यैः, सम्माननमथाभवत् ॥ १६ ॥
पूर्णपात्रप्रवेशादि-विवाहोत्सववृद्धिभिः ।
स्वामिनः पितरौ तत्र, मुमुदातेतरां तदा ॥ १७ ॥
कृतकृत्योऽथ शक्रादि-देवदेवीगणोऽखिलः ।
प्रणिपत्य प्रभोः पादान्, स्थानं निजनिजं ययौ ॥१८॥ आ० क०।

अमुमेवार्थमाह ।

भोगसमत्थं नाउं, वरकम्मं कासि देविंदो ।
दुण्हं वरमहिलाणं, बहुकम्मं कासि देवीओ ॥

भगवाँश्च तेन कन्याद्वयेन सार्द्धं विहरन् यौवनमनुप्राप्तः । अत्रान्तरे देवराजस्य चिन्ता जायाकृत्यमेतदतीतप्रत्युत्पन्नानागतानां शक्राणां प्रथमतीर्थकराणां विवाहकर्म क्रिय इति संचिन्त्यानेकत्रिदशवधूवृन्दसमन्वितोऽवतीर्णवानित्यवतीर्य च जगधतः स्वयमेव वरकर्म चकार । पत्न्योरपि देव्यो वधूकर्मेति । अमुमेवार्थमुपसंहरन्नाह (भोगगाहा) गमनिका । भोगसमर्थं ज्ञात्वा वरकर्म तस्य कृतवान् देवेन्द्रः द्वयोर्वरमहिलयोर्वधूकर्म कृतवत्यो देव्य इति गाथार्थः । भावार्थस्तूक्त एव ॥१२३॥

(८) अथापत्यद्वारम् ।

छप्पुव्वसयसहस्सा, पुव्विं जायस्स जिणवरिंदस्स ।
तो भरहबंभिसुंदरि, बाहुबली सुंदरी चेव ॥ १२४ ॥
देवीसुमंगलाए, भरहो बंभी अमिहुणगं जायं ।
देवीइ सुनंदाए, बाहुबली सुंदरी चेव ॥ १२५ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(अणुत्थगाहा ") निगदसिद्धैवेयं नवरमनुत्तरविमानादवतीर्य सुमङ्गलायाः पुनः बाहुपीठश्च भरतब्राह्मीमिथुनकं जातं तथा सुबाहुर्महापीठश्च सुनन्दायाः बाहुबली सुन्दरीमिथुनकमिति । १२४ । अमुमेवार्थं प्रतिपादयन्नाह मूलभाष्यकारः (देवीगाहा १२५) सुगमत्वान्न विव्रियते आह । किमेतावन्त्येव भगवतोऽपत्यानि उत नेति । उच्यते ।

अउणापन्नं जुअले, पुत्ताण सुमंगला पुणो पसवे ।
नीईणमइक्कमणे, निवेअणं उसभसामिस्स ॥ १२६ ॥

गमनिका । एकोनपञ्चाशतयुग्मानि पुत्राणां सुमङ्गला पुनः प्रसूतवती । अत्रान्तरे प्राग्निरूपितानां हक्कारादिप्रवृत्तीनां दण्डनीतीनां ते लोकाः प्रचुरतरकषायसंभवात् अतिक्रमणं कृतवन्तः । ततश्च नीतीनामतिक्रमणे सति तल्लोका अभ्यधिकज्ञानादिगुणसमन्वितं भगवन्तं विज्ञाय निवेदनं कथनमृषभस्वामिने आदितीर्थकराय कृतवन्त इति क्रियाऽयं गाथार्थः ।

एवं निवेदिते सति भगवानाह ।

राया करेइ दंडं, सिट्ठे ते बिंति अम्ह विमहो उ ।
मगह य कुलगरं सो, बेइ उसभो अ भे राया ॥ १२७ ॥

गमनिका । मिथुनकैर्निवेदिते सति भगवानाह । नीत्यतिक्रमणकारिणां राजा सर्वनरेश्वरः करोति दण्डं स चामात्यारक्षिकादिबलयुक्तः कृताभिषेकः अनतिक्रमणीयाज्ञश्च भवति । एवं शिष्टे कथिते सति भगवता ते मिथुनका ब्रुवते भणन्ति अस्माकमपि राजा भवतु वर्तमानकालनिर्देशः खल्वन्यास्ववसर्पिणीषु प्रायः समानन्यायप्रदर्शनार्थः । त्रिकालगोचरसूत्रप्रदर्शनार्थो वा । अथवा प्राकृतशैल्या छान्दसत्वाच्च (बिंतीति) उक्तवन्तः । भगवानाह यद्येवं (मग्गहयकुलगरंति) याचध्वं कुलकरं राजानं स च कुलकरस्तैर्याचितः सन् (बेसेति) पूर्ववदुक्तवान् ऋषभो (भे) भवतां राजेति गाथार्थः । ततश्च ते मिथुनका राज्याभिषेकनिर्वर्तनार्थमुदकानयनाय पद्मिनीसरो गतवन्तः । अत्रान्तरे देवराजस्य खल्वासनकम्पो बभूव विभाषा पूर्ववत् यावदिहागत्याभिषेकं कृतवानिति ।

(१०) ऋषभस्वामिनो राज्याभिषेकः ।

आभोएउं सक्को, उवागओ तस्स कुणइ अभिसेअं ।
मउडाइ अलंकारं, नरिंदजोगं च से कुणइ ॥ १२८ ॥

गमनिका आभोगयित्वा उपयोगपूर्वकेनावधिना विज्ञाय शक्रो देवराज उपागतस्तस्य भगवतः करोति अभिषेकम् । राज्याभिषेकमिति । तथा मुकुटाद्यलङ्कारं च आदिशब्दात्कटककुण्डलकेयूरादिपरिग्रहः । चशब्दस्य व्यवहितः संबन्धो नरेन्द्रयोग्यं (से) तस्य करोति अत्रापि वर्तमानकालनिर्देशप्रयोजनं पूर्ववदवसेयम् । पाठान्तरम् "आभोएउं सक्को, आगंतुं तस्स कासि अभिसेयं । मउडादि अलंकारं, नरिंदजोगं च से कासी " भावार्थः पूर्ववदेवेति गाथार्थः । अत्रान्तरे ते मिथुनकनरास्तस्मात्पद्मसरसः खलु नलिनीपत्रैरुदकमादाय भगवत्समीपमागत्य तं चालंकृतविभूषितं दृष्ट्वा विस्मयोत्फुल्लनयनाः किंकर्तव्यताव्याकुलीकृतचेतसः कियन्तमपि कालं स्थित्वा भगवत्पादयोः तदुदकं निक्षिप्तवन्त इति तानेवंविधक्रियोपेतान् दृष्ट्वा देवराडचिन्तयत् अहो खलु विनीता एते पुरुषा इति वैश्रमणं यक्षराजमाज्ञापितवानिह द्वादशयोजनदीर्घां नवयोजनविष्कम्भां विनीतां नगरीं निष्पादयेति । स चाज्ञासमनन्तरमेव दिव्यभवनप्राकारमालोपशोभितां नगरीं चक्रे ।

अमुमेवार्थमुपसंहरन्नाह ।

भिसिणीपत्तेहि घरं, उदयं घित्तुं छुहंति पाएसु ।
साहु विणीया पुरिसा, विणीअनयरी अह निविट्ठा ॥ १२९ ॥

गमनिका बिसिनीपत्रैरुदकं गृहीत्वा छुभन्तीति प्रक्षिपन्ति वर्तमाननिर्देशः प्राग्वत् पादयोरुपरि । देवराडभिहितवान् । साधु विनीताः पुरुषाः विनीतनगरी अथ निविष्टेति गाथार्थः । १२९ ।

(११) सांप्रतं राज्यसंग्रहद्वारमभिधित्सयाऽऽह ।

आसा हत्थी गावो, गहिया एए य रज्जसंगहनिमित्तं ।
घित्तूण एवमाई, चउव्विहं संगहं कुणइ ॥ १३० ॥

गमनिका अश्वा हस्तिनो गाव एतानि चतुष्पदानि तदा गृहीतानि भगवता राज्ये संग्रहः तन्निमित्तं गृहीत्वा एवमादिचतुष्पदजातमसौ भगवान् चतुर्विधं वक्ष्यमाणलक्षणं संग्रहणं करोति । वर्तमाननिर्देशप्रयोजनं पूर्ववत् । पाठान्तरं वा चतुर्विधं संग्रहं " कासी " इत्ययं गाथार्थः ॥ १३० ॥ स चायम् ।

उग्गा भोगा रायन्न खत्तिया संगहो भवे चउहा ।
आरक्खिगुरुवयंसा, सेसा जे खत्तिया ते उ ॥ १३१ ॥

स चायम् । उग्गाहगाहा । गमनिका उग्रा भोगा राजन्याः क्षत्रिया एवं समुदायरूपः संग्रहो भवेच्चतुर्धा । एतेषामेव यथासंख्यं स्वरूपमाह । (आरक्खेत्यादि) आरक्षका उग्रदण्डकारित्वात् उग्रा गुर्विति गुरुस्थानीया भोगाः वयस्या इति राजन्याः समानवयस इति कृत्वा वयस्याः शेषा उक्तव्यतिरिक्ता ये क्षत्रियास्ते तुशब्दः पुनश्शब्दार्थस्ते पुनः क्षत्रिया इति गाथार्थः ।

(१२) लोकस्थितिनिबन्धनप्रतिपादनाय गाथाचतुष्टयमाह ।

आहारे सिप्पकम्मे, मामणा य विभूसणा ।
लेहे गणिए अ रूवे अ, लक्खणे माणपोयए ॥ १३२ ॥
ववहारे नीइजुद्धे अ, ईसत्थे अ उवासणा ।
तिगिच्छा अत्थसत्थे अ, बंधे घाए अ मारणा ॥ १३३ ॥
जत्तूसवसमवाए, मंगले कोउए इअ ।
वत्थे गंधे अ मल्ले अ, अलंकारे तहेव य ॥ १३४ ॥
चोलोवणविवाहे अ, दत्तिया मडयपूयणा ।
झावणा थूभसद्दे अ, छेलावणयपुच्छणा ॥ १३५ ॥

एताश्चतस्रोऽपि द्वारगाथाः । एताश्च भाष्यकारः प्रतिद्वारं व्याख्यास्यत्येव तथाप्यक्षरगमनिकामात्रमुच्यते तत्रापि प्रथमगाथामधिकृत्याह । तत्राहार इति आहारविषयो विधिर्वक्तव्यः कथं कल्पतरुफलाहारासावः संवृत्तः कथं वा पक्वाहारः संवृत्त इति तथा शिल्प इति शिल्पविषयो विधिर्वक्तव्यः । कुतः कथं कियन्ति वा शिल्पान्युपजातानीति । कर्मणीति कर्मविषयो विधिर्वाच्यः यथा कृषिवाणिज्यादिकर्म संजातमिति तथाग्निरनुत्पन्नः संजातमिति । चः समुच्चये (मामणेत्ति) ममीकारार्थे देशीवचनम् । ततश्च परिग्रहममीकारो वक्तव्यः स च तत्काल एव प्रवृत्तः चः पूर्ववत् । विभूषणं विभूषणा मण्डनमित्यर्थः । सा वक्तव्या सा च भगवतः प्रथमं देवेन्द्रैः कृता पश्चाल्लोकेऽपि प्रवृत्ता । लेख इति लेखनं लेखः लिपिविधानमित्यर्थः । तद्विषयो विधिर्वक्तव्यः तच्च जिनेन ब्राह्म्या दक्षिणकरेण प्रदर्शितमिति । गणितविषयो विधिर्वाच्यः एवमन्यत्रापि क्रिया योज्या । गणितं संख्यानं तच्च भगवता सुन्दर्या वामकरेणोपदिष्टमिति । चः समुच्चये

रूपं काष्ठकर्मादि तच्च भगवतो भरतस्य कथितमिति । चः पूर्ववत् । लक्षणं पुरुषलक्षणादि तच्च भगवतैव बाहुबलिनः कथितमिति । मानमिति मानोन्मानावमानगणिमप्रतिमानां लक्षणम् । (पोत इति) पोतिस्थः प्रोतं वा अनयोर्मानप्रोतयोर्विधिर्वाच्यः । तत्र मानं द्विधा धान्यमानं रसमानं च । तत्र धान्यमानमुक्तम् । "दो असती पसती इत्यादि" रसमानं "चउसट्ठिया बत्तीसिया एवमादि" २ उन्मानं येनोन्मीयते यद्वोन्मीयते तद्यथा कर्ष इत्यादि । अवमानं येनावमीयते तद्यथा हस्तेन वा दण्डेन वा हस्तो वेत्यादि । ३ । गणिमं यद्गण्यते एकादिसंख्येति । प्रतिमानं गुञ्जादि एतत् सर्वं तदा प्रवृत्तमिति । पोता अपि तदैव प्रवृत्ताः । तथा प्रकर्षेण उतनं प्रोतः मुक्ताफलादीनां प्रोतनं तदैव प्रवृत्तमिति । प्रथमद्वारगाथासमासार्थः ॥ ३२ ॥ द्वितीयगाथागमनिका (ववहारेत्ति) व्यवहारविषयो विधिर्वाच्यः राजकुलकरणभाषाप्रतिपादनादिलक्षणो व्यवहारः स च तदा प्रवृत्तो लोकानां प्रायः स्वस्वभावापगमात् (णीतित्ति) नीतौ विधिर्वक्तव्यः । नीतिर्हक्कारादिलक्षणा सामाद्युपायलक्षणा वा तदैव जातेति (जुद्धेयत्ति) युद्धविषयो विधिर्वाच्यः । तत्र युद्धं बाहुयुद्धादिकं लावकादीनां वा तदैवेति (ईसत्थेयत्ति) प्राकृतशैल्या वकारलोपात् इषुशास्त्रं धनुर्वेदस्तद्विषयो विधिर्वाच्य इति तदपि तदैव राजधर्मे सति जातमथवा एकारान्तत्वात्सर्वेऽत्र प्रथमान्ताः एव द्रष्टव्याः । व्यवहार इति व्यवहारस्तदा जात एवं सर्वत्र योज्यम् । यथा " कयरे आगच्छइ दित्तरूवेत्यादि " (उवासणेत्ति) उपासना नापितकर्म तदपि तदैव जातं प्रागनवस्थितनखलोमान एव प्राणिन आसन्निति गुरुनरेन्द्रादीनां चोपासनेति । चिकित्सा रोगहरणलक्षणा सा तदैव जाता । एवं सर्वत्र क्रियाध्याहारः कार्यः । (अत्थसत्थेयत्ति) अर्थशास्त्रं (बंधे घाते य मारणेयत्ति) बन्धो निगडादिजन्यः । घातो दण्डादिताडना । जीविताद् व्यपरोपणं मारणेति सर्वाणि तदैव जातानीति द्वितीयद्वारगाथासमासार्थः ॥३३॥ तृतीयगाथागमनिका । एकारान्ताः प्रथमाद्वितीयान्ताः प्राकृते भवन्त्येव तत्र ये ज्ञानादिपूजारूपाः उत्सवाः शक्रोत्सवादयः समवायाः गोष्ठ्यादिमेलकाः एते तदा प्रवृत्ताः मङ्गलानि स्वस्तिकसिद्धार्थकादीनि कौतुकानि रक्षादीनि मङ्गलानि च कौतुकानि चेति समासः (मंगलेत्ति) एकारोऽलाक्षणिको मुखसुखोच्चारणार्थः । एतानि भगवतः प्राग् देवैः कृतानि पुनस्तदैव लोके प्रवृत्तानि । तथा वस्त्रं चीनांशुकादि गन्धः कोष्ठपुटादिलक्षणः । माल्यं पुष्पदाम । अलङ्कारः केशभूषणादिलक्षणः एतान्यपि वस्त्रादीनि तदैव जातानीति तृतीयद्वारगाथासमासार्थः । चतुर्थगाथागमनिका तत्र(चूलेति)बालानां चूडाकर्म तेषामेव कालग्रहणार्थं नयनमुपनयनं धर्मश्रवणनिमित्तं वा साधुसकाशं नयनमुपनयनम् । विवाहः प्रतीत एव एते चूडादयस्तदा प्रवृत्ताः ॥ ३४ ॥ दत्ता च कन्या पित्रादिना परिणीयत इति तत्तदैव संजातम् । भिक्षादानं वा मृतकस्य पूजा नाम मरुदेव्यास्तदैव प्रथमसिद्ध इति कृत्वा देवैः कृतेति लोके च रूढा । अध्ययना अग्निसंस्कारः स च भगवतो निर्वाणप्राप्तस्य प्रथमं त्रिदशैः कृतः पश्चाल्लोकेऽपि संजातः । भगवदादिदग्धस्थानेषु स्तूपास्तदैव कृताः लोके च प्रवृत्ताः शब्दश्च रुदितशब्दो भगवत्यपवर्गं गते सति भरतदुःखमसाधारणं ज्ञात्वा शक्रेण कृतो लोकेऽपि रूढ एव । "छेलावणकं" इति देशीवचनमुत्कृष्टबालक्रीडापनसेंटिकाद्यर्थवाचकमिति । तथा प्रच्छनं प्रच्छना सा इंखिणिकादिलक्षणा इंखिणिकां कर्णमूले घण्टिकां चालयन्ति पुनर्येऽन्ये खट्वागस्य कर्णे कथयन्ति किमपि प्रष्टुर्विवक्षितमिति । अथवा निमित्तादिपृच्छा सुखशयनादिपृच्छा चेति चतुर्थद्वारगाथासमासार्थः ॥ ३५ ॥ आव० १ अ० । इदानीं प्रथमद्वारावयवार्थाभिधित्सया मूलभाष्यकृदाह ॥

आसी कंदाहारा, मूलाहारा य पत्तहारा य ।
पुप्फफलभोइणो वि य, जइआ किर कुलगरो उसहो ।

गमनिका । मूलाहाराश्च आसन् कन्दाहाराः पत्राहाराश्च पुष्पफलभोजिनोऽपि च कदा यदा किल कुलकर ऋषभः । भावार्थः स्पष्ट एव नवरं ते मिथुनका नरा एवंभूता आसन् किलशब्दस्तु परोक्षाप्तागमवादसंसूचक इति गाथार्थः । तथा ।

आसी अ इक्खुभोई, इक्खागा तेण खत्तिया हुंति ।
सणसत्तरसं धन्नं, आम ओमं च भुंजीआ ॥

गमनिका । आसंश्च इक्षुभोजिन इक्ष्वाकवस्तेन क्षत्रिया भवन्ति । तथा सणः सप्तदशो यस्य तत्सणसप्तदशं धान्यं शाल्यादि आममपक्वम् (ओमं) न्यूनं च (भुंजीया इति) भुक्तवन्त इति गाथार्थः । १३७ । तथापि कालदोषात्तदपि न जीर्णवत्ततश्च भगवन्तं पृष्टवन्तः । भगवांश्चाह हस्ताभ्यां घृष्ट्वाऽऽहारयध्वमिति ॥

अमुमेवार्थं प्रतिपादयन्नाह भाष्यकृत् ।

ओमप्पाहारंता, अजीरमाणम्मि ते जिणमुविंति ।
हत्थेहि घंसिऊणं, आहारेहंति ते भणिया ॥ ३८ ॥

गमनिका । अवममप्याहारयन्तः । अजीर्यमाणे ते मिथुनका जिनं प्रथमतीर्थकरमुपयान्ति । पूर्वावसर्पिणीस्थितिप्रदर्शनार्थं वर्तमाननिर्देशो भगवता च हस्ताभ्यां घृष्ट्वा आहारयध्वमिति ते भणिताः सन्तः किं कुर्वन्ति ।

आसी य पाणिघंसी, तिम्मिअ तंदुलपवालपुडभोई ।
हत्थतलपुडाहारा, जइआ किर कुलगरो उसभो ॥ ३९ ॥

आसंश्च ते मिथुनका भगवदुपदेशात्पाणिभ्यां घर्षं शीलं येषां ते पाणिघर्षिणः । एतदुक्तं भवति । ता एवौषधीः हस्ताभ्यां घृष्ट्वा त्वचं चापनीय भुक्तवन्तः । एवमपि कालदोषात् कियत्यपि गते काले ता अपि न जीर्णवत्यः । पुनर्भगवदुपदेशात एव तीमिततन्दुलप्रवालपुटभोजिनो बभूवुः । तीमिततन्दुलान् प्रवालपुटे भोक्तुं शीलं येषां ते तथाविधाः । तन्दुलशब्देनौषध्य एवोच्यन्ते । पुनः कियताऽपि कालेन गच्छता अजीर्णदोषादेव भगवदुपदेशेन हस्ततलपुटाहारा आसन् । हस्ततलपुटेषु आहारो विहितो येषामिति समासः । हस्ततलपुटेषु कियन्तमपि कालमौषधीः स्थापयित्वोपभुक्तवन्त इत्यर्थः । तथा कक्षासु स्वेदयित्वेति यदा किल कुलकर ऋषभशब्दः परोक्षाप्तागमवादसंसूचकस्तदा ते मिथुनका एवं भूता आसन्निति गाथार्थः । ३६ । पुनरभिहितप्रकारा द्व्यादिसंयोगैराहारितवन्तस्तद्यथा पाणिभ्यां घृष्ट्वा पत्रपुटेषु च मुहूर्तं तीमित्वा तथा हस्ताभ्यां घृष्ट्वा हस्तपुटेषु च मुहूर्तं धृत्वा पुनर्हस्ताभ्यां घृष्ट्वा कक्षास्वेदं च कृत्वा पुनस्तीमित्वा हस्तपुटेषु च मुहूर्तं धृत्वेत्यादिभङ्गकयोजनां केचित्प्रदर्शयन्ति । घृष्ट्वा एवं विहाय तथायुक्तं त्वगपनयनमन्तरेण तीमिनस्यापि हस्तपुटधृतस्य सौकुमार्यत्वानुपपत्तेः श्लक्ष्णत्वाभावाद्वा अदोष इति । द्वितीययोजना पुनर्हस्ताभ्यां घृष्ट्वा पत्रपुटेषु तीमित्वा हस्तपुटेषु च मुहूर्तं धृत्वेति । तृतीययोजना पुनर्हस्ताभ्यां घृष्ट्वा पत्रपुटेषु तीमित्वा हस्तपुटेषु धृत्वा कक्षासु स्वेदयित्वेति ।

अमुमेवार्थमुपसंहरन्नाह ।

घंसेऊणं तिम्मणा, घंसणतिम्मणपवालपुडन्नोई ।

घंसियनिम्मपवाले, हत्थउडे कक्खसेए अ ॥ ४० ॥

भावार्थ उक्त एव नवरमुक्तार्थाक्षरयोजना। घृष्ट्वा तीमितं कृतवन्त इत्यनेन प्रागभिहितप्रत्येकपक्षाक्षेपः कृतो वेदितव्यः । घृष्ट्वा प्रवालपुटतीमितभोजिन इत्यनेन द्वितीययोजनाक्षेपः । घृष्टेति घृष्ट्वा तीमनं प्रवाल इति प्रवाले तीमित्वा हस्तपुटेषु कियन्तमपि कालं विधाय भुक्तवन्त इति वाक्यशेषः इत्यनेन तृतीययोजनाक्षेपः । तथा कक्षास्वेदे च कृते सति भुक्तवन्तः इत्यनेनानन्तराभिहितत्रययुक्तेन चतुर्भङ्गकयोजनाक्षेप इति गाथार्थः। अत्रान्तरे ।

अगणिस्स य उठ्ठाणं, दुमघंसा दट्टु भीअपरिगहणं ।

पासेसु परिच्छिंदह, गिएहह पागं तओ कुएहह ॥ ४१ ॥

आह सर्वं तीमनादि ते मिथुनकास्तीर्थंकरोपदेशात्कृतवन्तः स च भगवान् जातिस्मरः सन् किमित्यग्न्युत्पादोपदेशं न दत्तवानित्युच्यते तदा कालस्यैकान्तस्निग्धत्वात् असत्यपि यत्ने वस्तूत्पत्तेरिति स च भगवान् विजानाति न ह्येकान्तस्निग्धरूक्षयोः कालयोर्वह्न्युत्पादः किं त्वनतिस्निग्धरूक्षकाल इत्यतो नादिष्टवानिति तेषां च चतुर्भङ्गविकल्पितमप्याहारं कालदोषान्न जीर्णवत् इत्यस्मिन् प्रस्तावे अग्नेरुत्थानं संवृत्तमिति । कुतः द्रुमघर्षोत्तं (द्रुमघर्षोत्थित) प्रवृद्धज्वालावलीसनाथं भूमौ तृणादि दहन्तं दृष्ट्वा अपूर्वरत्नबुद्ध्या ग्रहणं प्रति प्रवृत्तवन्तः दह्यमानास्तु भीतपरिकथनमृषभाय कृतवन्तः इति । भीतानां परिकथनं भीतपरिकथनम्। भीत्या वा परिकथनं भीतिपरिकथनं पाठान्तरमिति । भगवानाह पार्श्वेष्वादि सुगमं ते हि अजानाना बह्वावेवौषधीः प्रक्षिप्तवन्तः ताश्च दाहमापुः पुनस्ते भगवतो हस्तिकन्धगतस्य निवेदयन्ति । स हि स्वयमेवौषधीर्भक्षयतीति । भगवानाह न तत्राभिरोहितानां प्रक्षेपः॥४१॥ इत्थं तावत्प्रथमं कुम्भकारशिल्पमुत्पन्नममुमेवार्थमुपसंहरन्नाह ।

पक्खेवदहणमोसहि, कहणं निग्गमणहत्थिसीसम्मि ।

पयणारंभपवित्ता, ताहे कासी य ते मणुआ ॥ ४२ ॥

मिंठेण हत्थिसीसे, मट्टियपिंडं गहाय कुम्भगं तु ।

निव्वत्तेतिअ तह आइ-जिणोवइट्ठेण मग्गेण ॥ ४३ ॥

निव्वत्तिए समाणे, जणाई राया तओ बहुजणस्स ।

एवइआ भे कुव्वह, पयट्ठिअं पढमसिप्पं तु ॥ ४४ ॥

भावार्थ उक्त एव किं तु क्रियाध्याहारकरणेनाक्षरगमनिका स्वबुद्ध्या कार्या । यथा प्रक्षेपं कृतवतो दहनमौषधीनां बभूवेत्यादि उक्तमाहारद्वारम् । आव०१ अ० ।

शिल्पद्वारावयवार्थाभिधित्सयाऽऽह ।

पंचेव य सिप्पाइं, घडलोहे चित्तणंतकासवए ।

एक्केक्कस्स य एत्तो, वीसं वीसं भवे भेया ॥ ४५ ॥

पञ्चैव मूलभूतानि शिल्पानि । तद्यथा (घडलोहे चित्तणंतकासवएति) तत्र घट इति कुम्भकारशिल्पस्योपलक्षणं (लोहेत्ति) लोहकारशिल्पस्य (चित्तेत्ति) चित्रकारशिल्पस्य " णंतमिति " देशीवचनं वस्त्रवाचकं ततोऽनेन वस्त्रशिल्पस्य ग्रहणं काश्यप इति नापितशिल्पस्य । इयमत्र भावना । कल्पवृक्षेषु परिहीयमानेषु भगवता घटोत्पादनिमित्तं

वस्त्रशिल्पमुत्पादितं तदनन्तरं गृहाकारेष्वपि कल्पद्रुमेषु हानिमुपगच्छत्सु गृहकरणनिमित्तं लोहकारादिशिल्पमुत्पादितं पश्चात्प्राणिनां कालदोषान्नखरोमाणि अपि वर्द्धितुं प्रवृत्तानीति नापितशिल्पोत्पादना । गृहाण्यपि च चित्ररहितानि विशोभानि भान्तीति चित्रकारशिल्पोत्पादना कुम्भकारशिल्पोत्पादकारणं प्रागेव भावितम् । " एक्केक्कस्स येत्यादि " एभ्यः पञ्चभ्य एकैकस्य विंशतिर्विंशतिर्भेदाः अभूवन्निति सर्वसंख्यया तदा शिल्पशतस्योत्पत्तिरभवदिति ॥ ४५ ॥

संप्रति कर्ममामणाविभूषणाद्वारप्रतिपादनार्थमाह।

कम्मं किसिवाणिज्जा-इ मामणा जा परिग्गहे ममता।

पुव्वं देवेहिं कया, विभूसणा मंडणा गुरुणो ॥ ४६ ॥

कर्म नाम कृषिवाणिज्यादि । तच्चाग्न्युत्पत्ते संजातमिति (मामणेत्ति) ममीकारार्थे देशीवचनमेतत् । ततो योऽपरिग्रहे ममता सा मामणा ज्ञातव्या सा च तत्काल एव प्रवृत्तेति । तथा विभूषणा मण्डना सा च पूर्वं देवेन्द्रैर्गुरोर्भगवतः आदितीर्थकृतः कृता पश्चाल्लोकेऽपि प्रवृत्तेति ।

संप्रति लेखगणितरूपद्वारद्वयप्रतिपादनार्थमाह ।

लेहं लिवीविहाणं, जिणेण बंभीए दाहिणकरेण ।

गणियं संखाणं सुं-दरीए वामेण उवइट्ठं ॥ ४७ ॥

लेखनं लेखो नाम सूत्रे नपुंसकता प्राकृतत्वाल्लिपिविधानं तच्च जिनेन भगवता ऋषभस्वामिना ब्राह्म्या दक्षिणकरेण प्रदर्शितमत एव तदादित आरभ्य वाच्यते। गणितं नाम एकद्वित्र्यादिसंख्यानं तच्च भगवता सुन्दर्या वामकरेणोपदिष्टमत एव तत्पर्यन्तादारभ्य गण्यते । अधुना रूपलक्षणमानरूपद्वारत्रयप्रतिपादनार्थमाह ।

भरहस्स रूवकम्मं, नराइलक्खणमहोइयं बलिणो ।

माणुम्माणुवमाणं, पमाणग णिमा य वत्थूणं ॥४८॥

रूपं नाम काष्ठकर्म पुस्तककर्मेत्येवमादि । तच्च भगवता भरतस्योपदिष्टम् । तथा नरादिलक्षणं पुरुषलक्षणादि तच्च । अथ भरतस्य काष्ठकर्माद्युपदेशानन्तरं भगवता बाहुबलिन उदितं कथितम् । तथा मानं नाम वस्तूनां मानोन्मानावमानप्रमाणगणितानि तत्र मानं द्विधा धान्यमानं रसमानं च । धान्यमानम् " दो असतीओ पसई दो य पसईओ सेइया चत्तारि सेइया कुलवो चत्तारि कुलवो पत्थओ " इत्यादि । रसमानं " चउसट्ठिया चउतिसिया सोलसिया " इत्यादि । उन्मानं येनोन्मीयते तच्च तुलागतं कर्षः पलमित्यादि । अवमानं येनावमीयते तद्यथा हस्तो दण्डो युगमित्यादि । प्रमाणं प्रतिमानं तच्च सुवर्णपरिमाणहेतुः गुञ्जादि गणिमं यदेकादिसंख्यया परिच्छिद्यते । यत्तु गणितं तत्प्रागेव पृथग्द्वारतयाऽभिहितमेतत्पञ्चप्रकारमपि मानं भगवति राज्यमनुशासति भगवदुपदेशेन प्रवृत्तमिति (पोयए)इति द्वारगाथायां यदुक्तं तस्य संस्कारः प्रोतकमिति । पोलक इति वा । तथाचाह ।

मणियाई दोराइसु, पोता तह सागरम्मि वहणाई ।

ववहारो लेहवणं, कज्जपरिच्छेयणत्थं वा ॥ ४९ ॥

ये मणिकादयः आदिशब्दान्मुक्ताफलादिपरिग्रहः । दवरकादिषु लोकेन प्रोताः क्रियन्ते तदेतत्प्रकर्षेण कतनं तदा प्रवृत्तम् । अथवा पोता नाम सागरे समुद्रे प्रवहणानि तान्यपि तदैव प्रवृत्तानि । तथा व्यवहारो नाम विसंवादे सति राजकुलकरणे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गत्वा निजनिजनाथालेखापनलक्षणः कार्यपरिच्छेदनार्थं वा पणमुक्तिलक्षणः स उभयरूपोऽपि तदा प्रवृत्तः कालदोषतो लोकानां प्रायः स्वस्वभावापगमात् ।

अधुना नीतियुद्धरूपं द्वारद्वयमभिधित्सुराह ।

नीई हक्काराई, सत्तविहा अहव सामभेयाई ।
जुद्धाइँ बाहुजुद्धाइ, यइ वट्टयाईणं च ॥ ५० ॥

नीतिर्हक्कारादिलक्षणा सप्तविधा । तद्यथा हक्कारो मक्कारो धिक्कारः परिभाषणा मण्डलीबन्धश्चारके प्रक्षेपो महापराधे छविच्छेद इति । एषा सप्तविधापि नीतिस्तदा विमलवाहनकुलकरादारभ्य भरतकालं पर्यन्तं कृत्वा यथायोगं प्रवृत्ता । तथा च वक्ष्यति " किंचिच्च भरहकाले " इत्यादि । अथवा नीतिर्नाम सामभेदादिका चतुष्प्रकारा । तद्यथा सामभेदो दण्डः उपप्रदानमिति एषा चतुर्विधाऽपि भगवत्काले समुत्पन्नेति । तथा युद्धानि नाम बाहुयुद्धादीनि । यदि वा वर्तकादीनां तानि उभयान्यपि तदा प्रवृत्तानि ।

सांप्रतमिषुशास्त्रोपासनारूपं द्वारद्वयमाह ।

ईसत्थं धणुवेदो, उवासणा मंसुकम्ममाईया ।
गुरुरायाईणं वा, उवासणापज्जुवासणया ॥ ५१ ॥

इषुशास्त्रं नाम धनुर्वेदः स च राजधर्मे सति प्रावर्तत उपासना नाम श्मश्रुकर्तनादिरूपं नापितकर्म तदपि तदैव जातं पूर्वं ह्यनवस्थितनखरोमाणस्तथा कालमाहात्म्यतः प्राणिनोऽभवन्निति । एषा च शिल्पान्तर्गततया प्रागभिहिताऽपि पुनः पृथग्द्वारतयोपन्यस्ता भगवत्काल एव नखरोमाण्यतिरेकेण प्रवर्द्धितुं लग्नानि तत्पूर्वमिति ख्यापनार्थम् । यदि वा उपासना नाम गुरुराजादीनां पर्युपासना सापि तदैव प्रवृत्ता । अधुना चिकित्सार्थशास्त्रबन्धघातरूपद्वारचतुष्टयप्रतिपादनार्थमाह ।

रोगहरणं तिगिच्छा, अत्थागमसत्थमत्थसत्थाति ।
निगलाइजमो बंधो, घातो दंडादिताडणया ॥ ५२ ॥

चिकित्सा नाम रोगापहारक्रिया साऽपि तदैव भगवदुपदेशात्प्रवृत्ता । अर्थागमनिमित्तं शास्त्रमर्थशास्त्रम् । बन्धो निगडादिभिर्यमः संयमनं घातो दण्डादिभिस्ताडना । एतेऽपि अर्थशास्त्रबन्धघातास्तत्काले यथायोगं प्रवृत्ताः ।

अधुना मारणयज्ञोत्सवरूपद्वारत्रयप्रतिपादनार्थमाह ।

मारणया जीववहो, जण्णानागाइयाण पूयातो ।
इंदाइमहापूया, पइनियया ऊसवा होंति ॥ ५३ ॥

मारणं जीववधो जीवस्य जीविताद् व्यपरोपणं तच्च भरतेश्वरकाले समुत्पन्नम् । यज्ञा नागादीनां पूजाः उत्सवाः प्रायः प्रतिनियताः वर्षमध्ये प्रतिनियतदिवसभाविनः इन्द्रादिमहापूजास्त्वनियतकालभाविन्य इति महोत्सवानां प्रतिविशेषः । एतेऽपि तत्काले प्रवृत्ताः ।

संप्रति समवायमङ्गलरूपद्वारद्वयमभिधित्सुराह ।

समवाओ गोट्ठीणं, गामाईणं व संपसारो वा ।
तह मंगलाइसोत्थिय, सुवण्णसिद्धत्थगाईणि ॥ ५४ ॥

समवायो नाम गोष्ठिनां मेलापकः । यदि वा ग्रामादीनामादिशब्दात् खेटकाटनगरादिपरिग्रहः । स एकीभावेन किमप्युद्दिश्य एकत्र मीलनं संप्रसारः समवायः । किमुक्तं भवति ग्रामादिजनानां किंचित्प्रयोजनमुद्दिश्य यदेकत्र मीलनं स वा समवाय इति । तथा मङ्गलानि नाम स्वस्तिकसुवर्णसिद्धार्थकादीनि पूर्वं देवैर्भगवतो मङ्गलबुद्ध्या प्रयुक्तानि ततो लोकेऽपि तथा प्रवृत्तानि ।

संप्रति कौतुकादिद्वारपञ्चकमाह ।

पुव्वं कयाइं पहुणो, सुरेहिं रक्खादिकोउयाइं च ।
तह वत्थगंधमल्ला–लंकारकेसभूसाइ ॥ ५५ ॥
तं दट्ठूण पवत्तो, लंकारे उ जणो असेसो वि ।

पूर्वं प्रभुतो भगवतः ऋषभस्वामिनः सुरैः कृतानि कौतुकानि रक्षादीनि ततो लोकेऽपि तानि जातानि । तथा वस्त्रं चीनांशुकादिभेदभिन्नं गन्धः कुष्ठपुटादिलक्षणः माल्यं पुष्पदाम । एतानि तदैव जातानि । अलङ्कारः केशभूषादिः तं चालङ्कारं भगवतो देवैः कृतं दृष्ट्वा अवशेषोऽपि स्वं स्वमलंकर्तुं प्रवृत्तः ।

संप्रति चूलाद्वारमाह ॥

विहिणा चूलाकम्मं, बालाणं चोलयं नाम ॥ ५६ ॥

चूडा नाम विधिना शुभनक्षत्रतिथिमुहूर्तादौ धवलमङ्गलैर्देवतापूजास्वजनभोजनादिलक्षणेन बालानां चूडाकर्म तदपि तदा प्रवृत्तम् ।

संप्रत्युपनयनद्वारमाह ।

उवनयणं तु कलाणं, गुरुमूले साहुणो तवोकम्मं ।
घेत्तुं हवंति सड्ढा, केई दिक्खं पवज्जंति ॥ ५७ ॥

उपनयनं नाम तेषामेव बालानां कलानां ग्रहणाय गुरोः कलाचार्यस्य मूले समीपे नयनम् । यदि वा धर्मश्रवणनिमित्तं साधोः सकाशं नयनमुपनयनं तस्माच्च साधोर्धर्मं गृहीत्वा केचित् श्राद्धा भवन्त्यपरे लघुकर्माणो दीक्षां प्रपद्यन्ते । एतच्चोभयमपि तदा प्रवृत्तम् ।

अधुना विवाहद्वारं दत्तिद्वारमाह ।

दट्ठुं कयं विवाहं, जिणस्स लोगो वि काउमारद्धो ।
गुरुदत्तिया य कन्ना, परिणिज्जंते ततो पायं ॥ ५८ ॥
दाउत्तव्व दाणमुसभं, दित्तं दट्ठुं जणम्मि वि पयत्तं ।
जिणभिक्खादाणं पि य, दट्ठुं भिक्खा पवत्ताओ ॥ ५९ ॥

जिनस्य भगवत ऋषभस्वामिनो कृतं विवाहं दृष्ट्वा लोकोऽपि स्वापत्यानां विवाहं कर्तुमारब्धवान् ॥ गतं विवाहद्वारम् । दत्तिद्वारमाह । भगवता युगलधर्मव्यवच्छेदाय भरतेन सह जाता ब्राह्मी बाहुबलिने दत्ता बाहुबलिना सह जाता सुन्दरी भरताय इति दृष्ट्वा तत आरभ्य प्रायो लोकेऽपि कन्या पित्रादिना दत्ता सती परिणीयते इति प्रवृत्तम् । अथवा दत्तिर्नाम दानं तच्च भगवन्तमृषभस्वामिनं सांवत्सरिकं दानं ददतं दृष्ट्वा लोकेऽपि प्रवृत्तम् । यदि वा दत्तिर्नाम भिक्षादानं तच्च जिनस्य भिक्षादानं श्रेयांसेन कृतं दृष्ट्वा लोकेऽपि भिक्षा प्रवृत्ता । लोका अपि भिक्षां दातुं प्रवृत्ता इति भावः ।

अधुना मृतकपूजाध्मापनास्तूपशब्दद्वाराण्याह ।

मडयं मयस्स देहो, तं मरुदेवीए पढमसिद्धो त्ति ।
देवेहिं पुरा महियं, झावणया अग्गिसक्कारो ॥ ६० ॥
सो जिणदेहाईणं, देवेहिं कतो चितासु थूभा य ।
सद्दो य रुण्णसद्दो, लोगो वि ततो तहा य कतो ॥ ६१ ॥

मृतकं नाम मृतस्य देहस्तच्च मृतकं मरुदेव्याः प्रथमसिद्ध इति कृत्वा देवैः पुरा महितं पूजितम् । तत आरभ्य लोकेऽपि मृतकपूजा प्रसिद्धिं गता । ध्मापना नामाग्निसंस्कारः स च भगवतो निर्वाणप्राप्तस्यान्येषां च साधूनामिक्ष्वाकूनामितरेषां

च प्रथमं त्रिदशैः कृतः पश्चाल्लोकेऽपि संजातः। तथा भगवद्देहादिदग्धस्थानेषु भरतेन स्तूपाः कृताः ततो लोकेऽपि तत आरभ्य मृतकदाहस्थानेषु स्तूपाः प्रावर्तन्त । तथा शब्दो नाम रुदितशब्दः स च भगवत्यपवर्गं गते भरतदुःखमसाधारणमवबुध्य तदपसरणाय शक्रेण कृतस्ततो लोकेऽपि ततः कालादारभ्य रुदितशब्दः प्रवृत्तास्तथा चाह लोकोऽपि। तथा भरतवत् शक्रवत् वा रुदितशब्दं प्रवृत्तः कर्तुमारब्धवान् ।

संप्रति छेलापनकद्वारं पृच्छाद्वारं चाह ।

छेलावणमुक्किट्ठाइ, बालकीलावणं च सेंटाइ ।
इंखिणियादिरुयं वा, पुच्छा पुण किं कहिं कज्जं ॥६२॥
अहव निमित्ताईणं सुह-सइ याइ सुहदुक्खपुच्छा वा ।
इच्चेवमाइयाई, उप्पन्नं उसभकालम्मि ॥ ६३॥

छेलापनकमिति देशीवचनं तच्चानेकार्थं तथाचाह। "उक्किट्ठाइ इत्यादि" उत्कर्षे नाम हर्षवशादुत्कर्षेण नर्दनमादिशब्दात् सिंहनादितादिपरिग्रहः । यदि वा बालक्रीडनं छेलापनकम् । अथवा शेंटितादि । तथा प्रच्छनं पृच्छा सा इंखिणिकादिरुदितलक्षणा । इंखिणिका हि कर्णमूले घण्टिकां चालयन्ति ततो यक्षाः स्वल्यागम्य तासां कर्णेषु किमपि प्रष्टुर्विवक्षितं कथयन्ति । आदिशब्दात् इंखिणिकासदृशपरिग्रहः । अथवा किं कार्यं कथं वा कार्यमित्येवं लक्षणा या लोके प्रसिद्धा पृच्छा सा प्रच्छना । यदि वा निमित्तादीनामादिशब्दात्स्वप्नफलाफलादिपरिग्रहः । पृच्छा प्रच्छना । अथवा सुखशयितादिरूपा सुखदुःखपृच्छा प्रच्छना इत्येवमादितया सर्वमुत्पन्नमृषभस्वामिकाले । उपलक्षणमेतत् । किञ्चिद्भरतकाले किञ्चित्कुलकरकाले च । तथाचाह ।

किंचिच्च भरहकाले, कुलगरकाले वि किंचि उप्पन्नं ।
पहुणा उ देसियाइं, सव्वकला सिप्पकम्माइं ॥६४॥

किञ्चिन्निगडादिभिर्घात इत्यादिभरतकालोत्पन्नं किंचिद्धक्कारितं कुलकरकालेऽप्युत्पन्नं प्रभुणा तु भगवता ऋषभस्वामिना सर्वा गणितप्रभृतयः कलाः सर्वाणि घटशिल्पप्रभृतीनि शिल्पानि सर्वाणि च कृष्यादीनि कर्माणि देशितानि। आ० म० प्र० । आव० ।

(१३) श्रीऋषभदेवस्य वासः ।

उसभे णं उसभे अरिहा कोसलिए वीसं पुव्वसयसहस्साइं कुमारवासमज्झे वसइ वसइत्ता तेवट्ठिं पुव्वसयसहस्साइं महारायवासमज्झे वसइ तेवट्ठिं पुव्वसयसहस्साइं महारायवासमज्झे वसमाणे लेहाइआओ गणिअप्पहाणाओ सउणरुअपज्जवसाणाओ बावत्तरिं कलाओ चोसट्ठिं महिलागुणे सिप्पसयं च कम्माणं तिन्नि वि पयाहिआए उवदिसइ त्ति ॥

ततो जन्मकल्याणकानन्तरमित्यर्थः । ऋषभोऽर्हन् कौशलिकः विंशतिं पूर्वशतसहस्राणि पूर्वलक्षाणि भावप्रधानत्वान्निर्देशस्य कुमारत्वेनाकृताभिषेकराजसुतत्वेन वासोऽवस्थानं तन्मध्ये वसति । "कुमारवासमज्झावसइ" इति पाठे तु कुमारवासमध्यावसति आश्रयतीत्यर्थः । उषित्वा च त्रिषष्टिपूर्वलक्षाणि अत्रापि भावप्रधानो निर्देश इति महाराजत्वेन साम्राज्येन वासोऽवस्थानं तन्मध्ये वसति । तत्र वसतश्च कथं प्रजा उपचक्रे इत्याह " तेवट्ठिं इत्यादि " त्रिषष्टिं पूर्वलक्षाणि यावन्महाराजवासमध्ये वसन् लिपिविधानादिका गणितमङ्कविद्या धर्मकर्मव्यवस्थितौ बहुप्रकारत्वात् प्रधाना यासु ताः । शकुनरुतं पक्षिभाषितं पर्यवसाने प्रान्ते यासां तास्तथा द्वासप्ततिकलाः कलनानि कलाविज्ञानानीत्यर्थस्ताः कलनीयभेदात् द्वासप्ततिः अर्थात् प्रायः पुरुषोपयोगिनीः । चतुःषष्टिं महिलागुणान् स्त्रीगुणान् कर्मणां जीवनोपायानां मध्ये शिल्पशतं च विज्ञानशतं च कुम्भकारशिल्पादिकं त्रीण्यप्येतानि वस्तूनि प्रजाहिताय लोकोपकारायोपदिशति । अपिशब्दः एकोपदेशकपुरुषतासूचनार्थः । वर्तमाननिर्देशश्चात्र सर्वेषामाद्यतीर्थकराणामयमेवोपदेशविधिरिति ज्ञापनार्थम् । यद्यपि कृषिवाणिज्यादयो बहवो जीवनोपायास्तथापि ते पाश्चात्यकाले प्रावर्तन्त । भगवता तु शिल्पशतमेवोपदिष्टमत एवाचार्योपदेशजं शिल्पमनाचार्योपदेशं तु कर्मेति शिल्पकर्मणोर्विशेषमामनन्तीति । श्रीहेमसूरिकृतादिदेवचरित्रे तु । " तृणहारकाष्ठहार-कृषिवाणिज्यकान्यपि । कर्माण्यासूत्रयामास, लोकानां जीविकाकृते ॥ १ ॥ " इत्युक्तमस्ति तदाशयेन तु " कम्माणमित्यत्र " द्वितीयार्थे षष्ठी ज्ञेया । तथा च कर्माणि जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदात् त्रीण्यप्युपदिशति इत्यपि व्याख्येयम् । शिल्पशतं च पृथगेवोपदिशति इति ज्ञेयमिति जं० २ वक्ष० । (अथात्र सूत्रसंक्षेपतः प्रोक्ता विस्तरस्तु राजप्रश्नीयादर्शेषु दृश्यमाना द्वासप्ततिकलास्ताश्च कलाशब्दे दर्शयिष्यन्ते) शिल्पशतं चेदं कुम्भकृल्लोहकृच्चित्रतन्तुवायनापितकृतानि पञ्च मूलशिल्पानि तानि च प्रत्येकं विंशतिभेदानीति । तथाऽऽचार्यम् " पंचेव य सिप्पाइं, घडलोहचित्तणंतकासए । इक्किक्कस्स य पत्तो, वीसं वीसं भवे भेआ ॥ १ ॥ " इति। नन्वत्रैषां पञ्च मूलशिल्पानामुत्पत्तौ किं निमित्तमित्युच्यते युग्मिनामामौषध्योदरे मन्दाग्नितया अपच्यमाने हुतभुजि प्रक्षिप्यमाने तु समकालमेव दह्यमाने युगलिकनरैर्विज्ञप्तेन हस्तिस्कन्धारूढेन भगवता प्रथमं घटशिल्पमुपदर्शितं क्रियाः शस्त्रपाणाय एव कुर्वन्त्यः प्रजा रक्षेयुरिति लोहशिल्पं, चित्राङ्गेषु कल्पद्रुमेषु हीयमानेषु चित्रकृच्छिल्पं, वल्कलपं द्रुमेषु हीयमानेषु तन्तुवायशिल्पं,बहुले युग्मिधर्मे पूर्वभववर्धिष्णु रोमनखं मा मनुजान्दुःखयिति नापितशिल्पमिति । श्रीहेमाचार्यकृतऋषभचरित्रे तु गृहादिनिर्मित्सवर्धकयस्काराद्युग्मरूपं द्वितीयं शिल्पमुक्तं शेषं तत्तथैवेति । ननु प्रोच्यसत्कर्माण एवार्हन्तो भगवन्तः समुत्पन्नव्याधिप्रतीकारकल्पस्याधिपरिग्रहं कुर्वते नेतरस्ततः किमसौ निरवद्यैकरुचिर्भगवान् सावद्यानुसंबन्धिकलाद्युपदर्शने प्रवृत्ते ? उच्यते समयानुभावतो वृत्तिहीनेषु दीनेषु मनुजेषु दुःस्थविभाव्यसंजातकरुणैकरसत्वात् । समुत्पन्नविधित्सितस्तो हि नान्यरससापेक्षो प्रवर्तीति वीर इव द्विजस्य चीवरदाने । अथैवं तर्हि कथमधिकल्पिप्सोस्तस्य सति सकर्मेऽमुके शक्लकदानं सत्यं जगयतश्चतुर्हानधारकत्वेन तस्य तावन्मात्रस्यैव लाभस्यावधारणेनाधिकयोगस्य क्षेमानिर्वाहकत्वदर्शनात् । कथमन्यथा भगवद्दशस्थवस्त्रच्छकलग्रहणेऽपि तद्दुच्छरित्कृतार्क विभाजकस्तन्तुवायः समजायत । किं च फलाद्युपायेन प्राप्तसुखवृत्तिकस्य चौर्यादिव्यसनाशक्तिरपि न स्यात् । ननु भवतु नामोक्तसुखहेतोर्जगद्भर्तुः कलाद्युपदर्शकत्वं परं राजधर्मप्रवर्तकत्वं कथमुचितमुच्यते । शिष्टानुग्रहाय दुष्टनिग्रहाय धर्मस्थितिसंग्रहाय च । ते च राज्यस्थितिनिश्रयाः सम्यक्प्रवर्तमानाः क्रमेण परेषां महापुरुषमार्गोपदर्शकतया चौर्यादिव्यसननिवर्तनतो नारकातिथ्यनिवारकतया ऐहिकामुष्मिकसुखसाधकतया च प्रशस्ता एवेति ।

महापुरुषप्रवृत्तिरपि सर्वत्र परार्थत्वसाधकतावहुगुणाल्पदोष-कार्यकारणविचारणापूर्विकैवेति । युगादौ जगद्व्यवस्था प्रधर्मेणैव पार्थिवेन विधेयेति । ज्ञातमपीति स्थानाङ्गपञ्चमाध्ययनेऽपि " धम्मणं चरमाणस्स पंचणिस्सा ठाणा पण्णत्ता तं ज०। छक्काया १ गणो २ राया ३ गाहावई ४ सरीरं" ५ मित्यावश्यकवृत्तौ राज्ञो निश्रामाश्रित्य राजा नरपतिस्तस्य धर्मसहायत्वं दुष्टेभ्यः साधुरक्षणादित्युक्तमस्तीति परमकरुणापरीतचेतसः परमधर्मप्रवर्तकस्य ज्ञानत्रययुक्तस्य भगवतो राजधर्मप्रवर्तकत्वे न काप्यनौचिती चेतसि चिन्तनीया युक्त्युपपन्नत्वात् तद्विस्तरस्तु जिनभवनपञ्चाशकसूत्रवृत्त्योर्यतनाद्वारे व्यक्त्या दर्शितोऽस्तीति तत एवावसेयो ग्रन्थगौरवभयादत्र न लिख्यते इति । एतेन " राज्यं हि नरकान्तं स्याद् यदि राजा न धार्मिकः " इत्युक्तिरपि दृढबद्धमूला न कम्पत इति । किं चात्र तृतीयारकप्रान्ते राज्यस्थित्युत्पादे धर्मस्थित्युत्पादः पञ्चमारकप्रान्ते " वसुअरहीसंघधम्मो, पुव्वण्हे छिज्जही अगणिसंघं । निवविमलवाहणसुहुम-मतिनयधम्ममज्झण्हे " १ इति वचनात् धर्मस्थितिविच्छेदे राज्यस्थितिविच्छेद इत्यपि राज्यस्थितिहेतुत्वाभिव्यञ्जकमेवेति सर्वं सुस्थमित्यलं विस्तरेणेति। जं० २ वक्ष० । कल्प० । स० ।

(१४) पुत्राणां राज्याभिषेकस्तदनु च भगवान् किं चक्रे इत्याह ।

उवदिसित्ता पुत्तसयं, रज्जसए अभिसिंचइ ।

उपदिश्य कलादिकं पुत्रशतं भरतबाहुबलिप्रमुखं कोशलातक्षशिलादिराज्यशते अभिषिञ्चति स्थापयति । अत्र शङ्कादिप्रभञ्जनावसानानि भरताद्यनवति भ्रातृनामानि अन्तर्वाच्यादिषु सुप्रसिद्धानीति न लिखितानि देशनामानि बहून्यप्रतीतानीति। जं २ वक्ष० । कल्पसुबोधिकाकारेण तु दर्शितानि । नन्दननामानि तानि चेमानि । भरतः । १ । बाहुबलिः । २ । शङ्कः ३ विश्वकर्मा ४ विमलः ५ सुलक्षणः ६ अमलः ७ चित्राङ्गः ८ ख्यातकीर्तिः ९ वरदत्तः १० सागरः ११ यशोधरः १२ अमरः १३ रथवरः १४ कामदेवः १५ ध्रुवः १६ वत्सः १७ नन्दः १८ सुरः १९ सुनन्दः २० कुरुः २१ अङ्गः २२ वङ्गः २३ कोशलः २४ वीरः २५ कलिङ्गः २६ मागधः २७ विदेहः २८ संगमः २९ दशार्णः ३० गम्भीरः ३१ वसुवर्मा ३२ सुवर्मा ३३ राष्ट्रः ३४ सुराष्ट्रः ३५ बुद्धिकरः ३६ विविधकरः ३७ सुयशाः ३८ यशःकीर्तिः ३९ यशस्करः ४० कीर्तिकरः ४१ सूरणः ४२ ब्रह्मसेनः ४३ विक्रान्तः ४४ नरोत्तमः ४५ पुरुषोत्तमः ४६ चन्द्रसेनः ४७ महासेनः ४८ नभस्सेनः ४९ भानुः ५० सुकान्तः ५१ पुष्पयुतः ५२ श्रीधरः ५३ दुर्धर्षः ५४ सुसुमारः ५५ दुर्जयः ५६ अजेयमानः ५७ सुधर्मा ५८ धर्मसेनः ५९ आनन्दनः ६० आनन्दः ६१ नन्दः ६२ अपराजितः ६३ विश्वसेनः ६४ हरिषेणः ६५ जयः ६६ विजयः ६७ विजयन्तः ६८ प्रभाकरः ६९ अरिदमनः ७० मानः ७१ महाबाहुः ७२ दीर्घबाहुः ७३ मेघः ७४ सुघोषः ७५ विश्वः ७६ वराहः ७७ सुसेनः ७८ सेनापतिः ७९ कपिलः ८० शैलविचारी ८१ अरिञ्जयः ८२ कुञ्जरबलः ८३ जयदेवः ८४ नागदत्तः ८५ काश्यपः ८६ बलः ८७ धीरः ८८ शुभमतिः ८९ सुमतिः ९० पद्मनाभः ९१ सिंहः ९२ सुजातिः ९३ संजयः ९४ सुनामः ९५ नरदेवः ९६ चित्तहरः ९७ सुरवरः ९८ दृढरथः ९९ प्रभञ्जनः १००॥ इति । राज्यदेशनामानि तु अङ्गः १ । वङ्गः २ । कलिङ्गः ३ । गौरः ४ । गौरः ५ । कर्णाटकः । ६ कार्णाटः ७ । लाटः ८ सौराष्ट्रः ९ काश्मीरः १० सौवीरः ११ आभीरः १२ चीनः १३ महाचीनः । १४ गूर्जरः १५ वङ्गलः ॥ १६ श्रीमालः १७ नेपालः १८ जहालः १९ कौशलः २० मालवः २१ सिंहलः २२ मरुस्थलादीनि २३ ज्ञेयानि लब्धवर्णैः कल्प० । (राज्यादिप्रधानस्य किं फलमित्यन्यत्र)

(१५) अथ भगवतो दीक्षाकल्याणकमाह ।

अभिसिंचित्ता तेसीइं पुव्वसयसहस्साइं महारायवासमज्झे वसइ वसइत्ता जे से गिम्हाणं पढमे मासे पढमे पक्खे चित्तबहुले तस्स णं चित्तबहुलस्स णवमीपक्खे णं दिवसस्स पच्छिमे भागे चइत्ता हिरण्णं चइत्ता सुवण्णं चइत्ता कोसं कोट्ठागारं चइत्ता बलं चइत्ता वाहणं चइत्ता पुरं चइत्ता अंतेउरं चइत्ता विउलधणकणगरयणमणिमोत्तियसंखसिलप्पवालरत्तरयणसंतसारसावइएज्जं विच्छड्डयित्ता विगोवइत्ता दाणं दाइ आणं परिजाएत्ता सुदंसणाए सीए सीआए स देवमणुआसुराए परिसाए समणुगम्ममाणमग्गे संखिअचक्किअणंगलिअमुहमंगलिअपूसमाणवद्धमाणगआइक्खगलंखमंखघंटिअगणेहिं ताहिं इट्ठाहिं कंताहिं पीयाहिं मणुण्णाहिं मणामाहिं उरालाहिं कल्लाणाहिं धण्णाहिं मंगल्लाहिं सस्सिरीआहिं हिययगमणिज्जाहिं हिययपल्हायणिज्जाइं कण्णमणनिव्वुइकराहिं अपुणरुत्ताहिं सद्दसइआहिं वग्गुहिं अणवरयं अभिणंदंताय अभिथुणंताय एवं वयासी जय जय नंदा जय जय भद्दा धम्मेणं अभीए परीसहोवग्गाणं खंतिखमे जयजेरवाणं धम्मे ते अविग्घं भवउ तिकट्टु अभिणंदंति य अभिथुणंति य तए णं उसभे अरहा कोसलिए णयणमालासहस्सेहिं पिच्छिज्जमाणे २ एवं जाव णिग्गच्छइ जहा उववाइए जाव आउलबोलबहुलं णभंकरे ते विणीआए रायहाणीए मज्झं मज्झेणं णिग्गच्छइ आसिअसंमज्जिअसितसुत्तसुइकपुष्फोवयाकरे कलिअं सिद्धत्थवणविउलरायमग्गं करेमाणे हयगयरहपहकरेमाणे पाइक्कचडकरेण य मंदं २ उद्धतरेणुयं करेमाणे २ जेणेव सिद्धत्थवणे उज्जाणे जेणेव असोगवरपायवे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता असोगवरपायवस्स अहेसीअं ठावेइ ठावेइत्ता सीआओ पच्चोरुहइ पच्चोरुहइत्ता सयमेवाभरणालंकारं मुअइ मुअइत्ता सयमेव चउहिं अट्ठाहिं मुट्ठिहिं लोअं करेइ करेइत्ता छट्ठेणं भत्तेणं अपाणएणं आसाढाहिं णक्खत्तेणं जोगमुवागएणं उग्गाणं भोगाणं राइआणं खत्तिआणं चउहिं सहस्सेहिं सद्धिं एगं देवदूसमादाय मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारिअं पव्वइए ॥

अभिषिच्य अशीतिं पूर्वलक्षाणि महान् रागो लौल्यं यत्र स चासौ वासश्च महारागवासो गृहवासस्तन्मध्ये वसति गृहपर्याये तिष्ठतीत्यर्थः । यद्यपि प्रागुक्तव्याधिप्रतीकारन्यायेनैव तीर्थकृतां गृहवासे प्रवर्तनं तथाऽपि सामान्यतः स यथोक्त एवेति न दोषः । यद्वा महान् अरागोऽलौल्यं यत्र स चासौ वासश्चेति योजनीयं यतो भगवदपेक्षया स एवंविध एवेति एतेन " ते वहिं

पुव्वसयसहस्साइं महारायवासमज्के वसइ " इति पूर्वग्रन्थविरोधो नेति उषित्वा (जे सेत्ति) य. स (गिह्माणंति) आर्षे ग्रीष्मशब्दः स्त्रीलिङ्गबहुवचनान्तश्च ततो ग्रीष्मस्येत्यर्थः प्रथमो मासो यथा ग्रीष्माणामवयवे समुदायोपचारादुष्णकालमासानां मध्ये प्रथमो मासः प्रथमः पक्षश्चैत्रबहुलश्चाऽन्धकारपक्षस्तस्य नवम्यास्तिथेः पक्षो रोद्धो यस्य तिथिमेलपातादिषु दर्शनात् तिथिपाते तत्कृत्यस्याष्टम्यामेव क्रियमाणत्वात् स नवमीपक्षोऽष्टमीदिवसस्तत्रानेन व्याख्यानेन "चित्तबहुलट्ठमीए" इत्यागमविरोधात् । वाचनान्तरेण वा नवमीपक्षो नवमो दिवसः दिवस्याष्टमीदिवसस्य मध्यन्दिवादुत्तरकाले यद्यपि दिवसशब्दस्याहोरात्रवाचकत्वमन्यत्र प्रसिद्धं तथाऽप्यत्र प्रस्तावाद्दिवसे गतो रजनीरञ्जनिः इत्यादाविव सूर्यचारविशिष्टकालविशेषग्रहणमन्यथा दिवसपाश्चात्यभागस्यानुपपत्तेः । त्यक्त्वा हिरण्यमघटितसुवर्णं रजतं वा सुवर्णं घटितं हैमं देम वा कोशं भाण्डागारं कोष्ठागारं धान्याश्रयगृहं बलं चतुरङ्गवाहनं वेसरादि पुरान्तः पुरञ्यक्के विपुलं धनं गवादि कनकं सुवर्णं येऽन्यस्सल्लक्षणेऽन्यस्तानि रत्नानि मणयश्च प्राग्वत् मौक्तिकानि शुक्त्याकाशादिप्रभवानि शङ्खाश्च दक्षिणावर्ताः ततः पूर्वपदेन कर्मधारयः शिलाः पट्टादिरूपाः प्रवालानि विद्रुमाणि रक्तरत्नानि पद्मरागाः पृथग्ग्रहणमेषां प्राधान्यख्यापनार्थमुक्तस्वरूपं यत्ससारं सारातिसारं स्वापतेयं द्रव्यं त्यक्त्वा ममत्वत्यागेन विच्छर्द्य पुनर्ममत्वाकरणेन । कुतो ममत्वत्याग इत्याह । विगोप्यं जुगुप्सनीयमेतत् अस्थिरत्वादिति कथनेन कथं च निश्चात्यजनमित्याह । दायकानां गोत्रिकानां दायधनविभागं परिभाज्य विभागशो दत्त्वा तदाऽवनौ नाथपान्थादियाचकानामभावाद्गोत्रिकग्रहणं तेऽपि च भगवत्प्रेरिता निर्ममाः सन्तः शेषमात्रं जगृहुः । इदमेव हि जगद्गुरोर्जीतं यदिच्छावधि दानं दीयते तेषां च इयतैव इच्छापूर्तिः । ननु यदीच्छावधिकं प्रभोर्दानं तर्हि पद्युगीनो जन एकदिनदेयं संवत्सरदेयं वा एक एव जिघृक्षेत् इच्छाया अपरिमितत्वात् । सत्यं प्रभुप्रभावेणैतादृशेच्छाया असंभवात् । सुदर्शनानाम्न्यां शिबिकायामारूढमिति गम्यं किं विशिष्टं भगवन्तं सदेवमनुजासुरया स्वर्गभूपातालवासिजनसहितया पर्षदा समुदायेन समनुगम्यमानम् अग्रे अग्रतनभागे शाङ्खिकादयोऽभिनन्दयन्तोऽभिष्टुवन्तश्च एवं वक्ष्यमाणमवादिषुरित्यन्वयः । तत्र शाङ्खिकाश्चन्दनगर्भशङ्खहस्ता माङ्गल्यकारिणः शङ्खध्मा वा चाक्रिकाश्च चक्रभ्रामकाः कुम्भकारतैलिकादयो वा लाङ्गलिका गलावलम्बितसुवर्णादिमयहलधारिणो भट्टविशेषाः । मुखमाङ्गलिकाश्चाटुकारिणः पुष्पमाणा वा । मागधा वर्द्धमानकाः स्कन्धारोपितनराः आख्यापकाः शुभाशुभकथकाः लङ्खा वंशाग्रखेलकाः मङ्खाश्चित्रफलकहस्ता भिक्षाका गौरीपुत्रा इति रूढाः । घाण्टिका घण्टावादकास्तेषां गणाः सूत्रे च आर्षत्वाद् प्रथमार्थे तृतीया यथाश्रुतव्याख्याने च शाङ्खिकादिगणैः परिवृतमिति पदं कुलमहत्तरा इति पदं चान्वययोजनार्थमध्याहार्यं स्यात् । साध्याहारव्याख्यातोऽनध्याहारव्याख्याऽऽघवमिति पञ्चमाङ्गे जमालिचरित्रे निष्क्रमणमहवर्णेन शाङ्खिकादीनां प्रथमान्ततया निर्देश एतस्यैवाशयस्य सूचकः । यदि च प्रायः सूत्राणि सोपस्काराणि भवन्तीति न्यायोऽनुश्रियते तदा साध्याहारव्याख्यानेऽप्यदोषः ताभिर्विवक्षिताभिरित्यर्थः । वाग्भिरभिनन्दयन्तश्चाभिष्टुवन्तश्चेति योजना । विवक्षितत्वमेवाह । इष्यन्ते स्मेतीष्टास्ताभिः प्रयोजनवशादिष्टमपि किंचित्स्वरूपतः कान्तं स्यादकान्तं चेत्यत आह कान्ताभिः कमनीयशब्दाभिः प्रियाभिः प्रियार्थाभिः मनसा ज्ञायन्ते सुन्दरतया यास्ता मनोज्ञा भावतः सुन्दरा इत्यर्थस्ताभिर्मनसा अम्यन्ते गम्यन्ते पुनः पुनः याः सुन्दरत्वातिशयात्ताः मनोमास्ताभिरुदाराभिः शब्दतोऽर्थतश्च कल्याणाभिसूचिकाभिः । शिवाभिर्निरुपद्रवाभिः शब्दार्थदूषणोज्झिताभिरित्यर्थः धन्याभिर्धनलम्भिकाभिः माङ्गल्याभिः मङ्गलेऽनर्थप्रतिघाते साध्वीभिः सश्रीकाभिः । अनुप्रासाद्यलङ्कारोपेतत्वात् सशोभाभिः । हृदयगमनीयाभिः अर्थप्राकट्यचातुरीसन्निधानात् सुबोधाभिः । हृदयप्रह्लादनीयाभिः हृदयगतकोपशोकादिग्रन्थिविद्रावणीभिः भवत्यत्र कर्तर्यनट् प्रत्ययः कर्णमनसोर्निर्वृत्तिकरीभिः अपुनरुक्ताभिरिति च स्पष्टमर्थशतानि यासु सन्ति ता अर्थशतिकास्ताभिः अथवाऽर्थानामिष्टकार्याणां शतानि यास्वन्यस्ता अर्थशतास्ता एवार्थशतिकाः स्वार्थे कप्रत्ययस्ताभिर्वाग्भिर्गीर्भिरेकार्थिकानि वा प्राय इष्टादीनि वाग्विशेषणानीति । अनवरतं विश्रामाभावात् अभिनन्दयन्तश्च जयजयेत्यादिभणनसमृद्धिमन्तं भगवन्तमाचक्षाणाः अभिष्टुवन्तश्च भगवन्तमेवमवादिषुरिति । किमवादिषुरित्याह । जयजयेति भक्तिसंभ्रमे द्विर्वचनं नन्दति समृद्धो भवतीति नन्दः तस्यामन्त्रणमिदमिह च दीर्घत्वं प्राकृतत्वात् । अथवा जयत्वं जगत्समृद्धिकरत्वाज्जय जय भद्रेति प्राग्वत् । नवरं भद्रः कल्याणवान् कल्याणकारी वा कथं शोभते स्मेत्याह । धर्मेण करणभूतेन न त्वभिमानलज्जादिना अभितो भवपरीषहोपसर्गेभ्यः । प्राकृतत्वात्पञ्चम्यर्थे षष्ठी परीषहोपसर्गाणां जेता भवेत्यर्थः । तथा क्षान्त्या न त्वसामर्थ्यादिना क्षमः सोढा भव भयमाकस्मिकं भैरवं सिंहादिसमुत्थं तयोः प्राकृतत्वात् पदव्यत्यये भैरवभयानां वा भयङ्करभयानां क्षान्ता भवेत्यर्थः । नानावक्तॄणां नानाविधवाग्भागीति न पूर्वविशेषणान्तःपातेन पौनरुक्त्यं धर्मे प्रस्तुते चारित्रधर्मे अविघ्नं विघ्नाभावस्ते तव भवतु इति कृत्वा धातूनामनेकार्थत्वादुपचार्य पुनःपुनरभिनन्दयन्ति वाचाऽभिष्टुवन्ति चेति । अथ येन प्रकारेण निर्गच्छति तमेवाह । " तए णमित्यादि " ततस्तदनन्तरमृषभोऽर्हन् कौशलिको नयनमालासहस्रैः श्रेणिस्थितभगवद्दिदृक्षमाणनागरनेत्रवृन्दैः प्रेक्ष्यमाणः पुनः पुनरवलोक्यमानः । आभीक्ष्ण्याद् द्विर्वचनमेवं सर्वत्र एवं तावद्वक्तव्यं यावन्निर्गच्छति यथौपपातिके यथा प्रथमोपाङ्गे च पाठो भम्भासारसूत्रस्य निर्गमगम उक्तस्तथाऽत्र वाच्यो वाचनान्तरेण यावदाकुलबोलबहुनभः कुर्वन्निति पूर्यन्त इति । तत्र च यो विशेषस्तमाह । विनीताया राजधान्या मध्यं मध्येन भागेन इत्यर्थः । निर्गच्छति सुखं सुखेनेत्यादिवन्मध्यं मध्येनेति निपातः । औपपातिकगमश्चायं "हिययमालासहस्सेहिं अभिणंदिज्जमाणे २ मणोमालासहस्सेहिं विच्छिप्पमाणे २ वयणमालासहस्सेहिं अभिथुव्वमाणे २ कांतिरूवसोहग्गगुणेहिं पिच्छिज्जमाणे २ अंगुलिमालासहस्सेहिं दाइज्जमाणे २ दाहिणहत्थेणं बहूणं णरणारिसहस्साणं अंजलिमालासहस्साइं पडिच्छमाणे २ मंजुमंजुणा घोसेण आपडिपुच्छमाणे २ भवणपतिसहस्साइं समइच्छमाणे २ तंतीतलतालतुडियगीयवाइयरवेण महुरेण य मणहरेण जयसद्दुग्घोसविसएणं मंजुणा घोसेणं पडिबुज्झमाणे कंदरगिरिविवरकुहरगिरिवरपासा उद्धघणभवणदेवकुलसिंघाडगतिगचउक्कचच्चरआरामुज्जाणकाणणसहापवापदेसभागे पडिसुंआसयसंकुलं करेंति हयहेसिअहत्थिगुलगुलाइअरहघणघणाइसद्दमीसिएणं महया कलकलरवेण जणस्स महुरेण पूरयंते सुगंधवरकुसुमचुण्णउव्विद्धवासरेणुकविलं नभं करेंति कालागरुकुंदुरुक्कतुरुक्कधूवनिवहेण जीवलोगमिव वासयंते समंत-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उक्खत्तिअचक्कवालं पउरजणवालवुड्ढपमुइअतुरीअपहाविअ-विउलत्ति " आउलपदमारभ्य निर्गच्छति पदपर्यन्तं तु सूत्रे साक्षादेवास्ति। अत्र व्याख्या हृदयमालासहस्रैर्जनमनःसमूहैरभिनन्द्यमानः २ समृद्धिमुपनीयमानो जयजीवानन्देत्याद्याशीर्वादेन मनोरथमालासहस्रैरेतस्यैवाज्ञापरा भवाम इत्यादिजनविकल्पैर्विशेषेण स्पृश्यमानः २ इत्यर्थः । वदनमालासहस्रैर्वचनमालासहस्रैर्वा अभिष्टूयमानः २ कान्त्यादिगुणैर्हेतुभिः प्रार्थ्यमानः २ भर्तृतया स्वामितया वा स्त्रीपुरुषजनैरभिलष्यमाणः २ दक्षिणहस्तेन बहूनां नरनारीसहस्राणामञ्जलिमालासंयुतकरमुद्राविशेषवृन्दानि प्रतीच्छन् २ गृह्णन् २ किमुक्तं भवति त्रैलोक्यनाथेनापि प्रभुणा पौराणामस्माकमञ्जलिरूपा भक्तिर्मनस्यवतारितेति दक्षिणहस्तदर्शनम् । तथा महाप्रमोदाय भवतीति कुर्वन् मञ्जुमञ्जुनातिकोमलेन घोषेण स्वरेण प्रतिपृच्छन् २ प्रश्नयन् प्रणमतां स्वरूपादिवार्ताभवनानां विनीता नगरी गृहाणां पङ्क्त्या समश्रेणिस्थित्या सहस्राणि न तु पुष्पावकीर्णस्थित्या समतिक्रामन् २ तन्त्रीतलतालाः प्रसिद्धाः त्रुटितानि शेषवाद्यानि तेषां वादितं वादनं प्राकृतत्वात्पदव्यत्ययः गीतं च तयोः रवेण । यद्वा तन्त्र्यादीनां त्रुटितान्तानां गीते गीतमध्ये यद्वादितं वादनं तेन यो रवः शब्दस्तेन मधुरेण मनोहरेण तथा जयशब्दस्य उद्घोषः उद्घोषणं विशदं स्पष्टतया प्रतिभासमानं यत्र तेन मञ्जुमञ्जुना घोषेण पौरजनरवेण च प्रतिबुद्ध्यमानः २ सावधानीभवन् कन्दराणि दर्यः गिरीणां विवरकुहराणि गुहापर्वतान्तराणि च गिरिवराः प्रधानपर्वताः प्रासादाः सप्तभूमिकादयः ऊर्ध्वघनभवनानि ऊर्ध्वविस्तृतगृहाणि देवकुलानि प्रतीतानि शृङ्गाटकं त्रिकोणस्थानं त्रिकं यत्र रथ्यात्रयं मिलति चतुष्कं यत्र रथ्याचतुष्टयं चत्वरं बहुमार्गी आरामाः पुष्पजातिप्रधानवनखण्डाः उद्यानानि पुष्पादिमद्वृक्षयुक्तानि काननानि नगरासन्नानि सभा आस्थायिकाः प्रपा जलदानस्थानमेतेषां ये प्रदेशरूपा भागास्तान् तत्र प्रदेशा लघुतरा भागा देशास्तु लघवः प्रतिश्रुताः प्रतिशब्दास्तेषां शतसहस्राणि लक्षास्तैः संकुलान् कुर्वन् अत्र बहुवचनार्थे एकवचनं प्राकृतत्वात् हयानां हेषितेन हेषारवरूपेण हस्तिनां गुलगुलायितेन गुलगुलायितरूपेण रथानां घनघनायितेन घणघणायितरूपेण शब्देन मिश्रितेन जनस्य महता कलकलरवेण आनन्दशब्दस्वान्मधुरेणाकारेण पूरयन् २ अत्र नभ इति उत्तरग्रन्थवर्तिना पदेन योगः सुगन्धानां वरकुसुमानां च उद्वेध ऊर्ध्वं गतो वासरेणुर्वासकरजस्तेन कपिलं नभः कुर्वन् कालागुरुः कुन्दुरुक्कश्चीडाभिधं द्रव्यं तुरुष्कं सिह्लकं धूपश्च दशाङ्गादिर्गन्धद्रव्यसंयोगजः एषां निवहेन जीवलोकं वासयन्निव अत्रोत्प्रेक्षा तु जीवलोकवासनस्यावास्तवत्वेन सर्वतः क्षुभितानि ताश्च तथा ससंभ्रमाणि चक्रवालानि जनमण्डलानि यत्र निर्गमे तद्यथा भवतीत्येवं निर्गच्छतीति। प्रचुरजनाश्च अथवा पौरजनाश्च बालवृद्धाश्च ये प्रमुदितास्त्वरितप्रधाविताश्च शीघ्रं गच्छन्तस्तेषां व्याकुलाकुलानां यो बोलः शब्दः स बहुलो यत्र तत्तथा एवं भूतं नभः कुर्वन् विशेषणानां व्यस्ततया निपातः प्राकृतत्वादिति निर्गत्य च यत्रागच्छति तदाह । आसी इत्यादि आसिक्तमीषत्सिक्तं गन्धोदकानि प्रमार्जितं कचवरशोधनेन सिक्तं तेनैव विशेषतोऽत एव शुचिकं पवित्रं पुष्पैर्य उपचारः पूजा तेन कलितं युक्तमिदं च विशेषणं प्रमार्जितासिक्तशुचिकमित्येवं दृश्यं प्रमार्जिताद्यनन्तरजातित्वाच्छुचिकत्वस्य एवंविधसिद्धार्थवनविपुलराजमार्गं कुर्वन् तथा हयगजरथानां (पइकरत्ति) देशीशब्दोऽयं समूहवाची तेन हयादिसेनयेत्यर्थः । तथा पदातीनां च टंकारेण वृन्देन च मन्दं च यथा भवति तथा क्रियाविशेषणं यथा हयादिसेना पाश्चात्यसमेति तथा बहुतरबहुतमकमित्यर्थः । उद्धतरेणुकमूर्ध्वगतरजस्कं कुर्वन् यत्रैव सिद्धार्थवनमुद्यानं यत्रैवाशोकवरपादपस्तत्रैवोपागच्छतीति उपागत्य यत्करोति तदाह उपागत्याशोकवरपादपस्याधः शिबिकां स्थापयति स्थापयित्वा च शिबिकायाः प्रत्यारोहति अवतरतीत्यर्थः। प्रत्यवरुह्य च स्वयमेवाभरणालङ्कारान् तत्राभरणानि मुकुटानि अलङ्कारान् वस्त्रादीन् सूत्रे एकवचनं प्राकृतत्वात् आभरणानि च अलङ्काराश्चेति समाहारद्वन्द्वकरणाद्वा अवमुञ्चति त्यजति कुलमहत्तरिकायां हंसलक्षणपटे अवमुच्य च स्वयमेव चतसृभिः (अट्टाहिंति) मुष्टिभिः करणभूताभिर्लुञ्चनीयकेशानां पञ्चमभागलुञ्चिकाभिरित्यर्थः लोचं करोति अपराङ्गालङ्कारादिमोचनपूर्वकमेव शिरोऽलङ्कारादिमोचनं विधिक्रमायेति पर्यन्ते मस्तकालङ्कारकेशविमोचनं तीर्थकृतः पञ्चमुष्टिकलोचसंभवेऽपि अस्य भगवतश्चतुर्मुष्टिकलोचगोचरः श्रीहेमाचार्यकृतऋषभदेवचरित्राभिप्रायोऽयं प्रथममेकया मुष्ट्या श्मश्रुकूर्चयोः लोचे तिसृभिश्च शिरोलोचे कृते एकां मुष्टिमवशिष्यमाणां पवनान्दोलितां कनकावदातयोः प्रभुस्कन्धयोरुपरि लुठन्तीं मरकतोपमानमाबिभ्रतीं परमरमणीयां वीक्ष्य प्रमोदमानेन शक्रेण भगवन्मय्यनुग्रहं विधाय ध्रियतामेवमित्थमेवेति विज्ञप्ते भगवताऽपि सा तथैव रक्षितेति न ह्येकान्तभक्तानां याञ्चामनुग्रहीतारः खण्डयन्तीत्येवेदानीमपि श्रीऋषभमूर्तौ स्कन्धोपरि वल्लरिकाः क्रियन्ते इति लुञ्चिताश्च केशाः शक्रेण हंसलक्षणपटे क्षीरोदधौ क्षिप्ता इति । षष्ठेन भक्तेन उपवासत्रयरूपेण अपानके चतुर्विधाहारेण आषाढाभिरित्यत्र " ते लुग्वे " त्यनेन उत्तरापदलोपे उत्तराषाढाभिर्वचनवैषम्यमार्षत्वात् नक्षत्रेण योगमुपागतेनार्थाच्चन्द्रेणेति गम्यम् । उग्राणामनेनैव प्रभुणा आरक्षकत्वेन नियुक्तानां भोगानां गुरुत्वेन व्यवहृतानां राजन्यानां क्षत्रियाणां शेषप्रकृतितया विकल्पितानां चतुर्भिः पुरुषसहस्रैः सार्द्धमेते च बन्धुभिः सुहृद्भिः भरतेन च निषिद्धा अपि कृतज्ञत्वेन स्वाम्युपकारं स्मरन्तः स्वामिविरहभीरवो वान्ताम्न इव राज्यसुखे विमुखा यत्स्वामिनाऽनुष्ठेयं तदस्माभिरपीतिकृतनिश्चयाः स्वामिनमनुगच्छन्ति स्म । एकं देवदूष्यं शक्रेण वामस्कन्धे क्षिप्तमित्यार्पितमुपादाय न तु रजोहरणादिकं लिङ्गं कल्पातीतत्वाज्जिनेन्द्राणाम् । मुण्डो द्रव्यतः शिरःकूर्चलोचेन भावतः कोपाद्यपासनेन भूत्वा अगारात् गृहवासान्निष्क्रम्येति गम्यमनगारितामप्राहीत्। गृही असंयतस्तत्प्रतिषेधादनगारी संयतस्तद्भावस्तत्ता तां साधुतामित्यर्थः । प्रव्रजितः प्रगतः प्राप्तः इति यावत् । अथ वा विभक्तिपरिणामादनगारितया निर्ग्रन्थतया प्रव्रजितः प्रव्रज्यां प्रतिपन्नः। जं० २ वक्ष०।

अत्रैव वक्तव्यशेषं चूर्णिकृदाह ।

" से य उसभे कोसलिए पढमराया पढमनिक्खायरिए पढमतित्थयरे वीसं पुव्वसयसहस्साइं कुमारवासे वसित्ता तेवट्ठिं पुव्वसयसहस्साइं रज्जमणुपालेमाणे लेहाइयातो सउणरुतपज्जवसाणातो बावत्तरिं कलातो चोसट्ठिं महिलागुणे सिप्पसयं सयमेव तिन्नि पयाहियट्ठाए उवदिसइ उवदिसित्ता पुत्तसयं रज्जे सए अभिसिंचइ ततो लोगंतिएहिं देवेहिं जीयम्मि तिकट्टु संबोहिए संवच्छरियं दाणं दाऊण भरहं विणीयाए बाहुबलिं बहलीए कच्छमहाकच्छाणं सहस्सपरिवारा भयवया सह अणु-

पव्वइया अन्ने भणंति एए वि कच्छमहाकच्छे रज्जे ठवेइ ठवेइत्ता चेत्तबहुलट्ठमीए दिवसस्स पच्छिमे भागे सुदंसणाए सिवियाए सदेवमणुयासुराए परिसाए समणुगम्ममाणे विणीयाए रायहाणीए मज्झं मज्झेणं निग्गच्छमाणे जेणेव सिद्धत्थवणे जेणेव असोगवरपायवे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता असोगवरपायवस्स हेट्ठा भयवया सयमेव कतो चउमुट्ठिओ लोचो पंचमुट्ठिग्गहणेहिं भगवतो कणगावदाते सरीरे अंजणरेहाओ इव रेहंतीओ सक्को उवलभिऊणं भणिया इतो भयवं पयातो एवमेव चिट्ठंतु तहेव वियातो तेण भगवतो चउमुट्ठिओ लोओ । लोयं काऊण छट्ठेण भत्तेण अपाणएणं आसाढानक्खत्तेणं उग्गाणं भोगाणं रायण्णाणं खत्तियाणं चउहिं सहस्सेहिं सद्धिं तेसिं पंचमुट्ठितो लोचो आसि । एगं देवदूसमादाय पव्वइतो । सव्वतित्थयरा विणयं सामइयं करेमाणा एवं भणंति करेमि सामाइयं सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं जाव वोसिरामि भदंत इति न भणंति तथा कल्पत्वादत ऊर्ध्वमेतदेवोपसंहरन्नाहेत्यादिवक्तव्यम् । एवं भगवं कयसामाइओ नाणाभिग्गहं परमं घोरं घेत्तूण वोसट्ठचत्तदेहो विहरइ भगवं अरहा उसभे कोसलिए साहियं संवच्छरं चीवरधारी होत्था । एवं जाव विहरइ । ताहे पुव्वभणियप्पगारेण दुवे कच्छमहाकच्छाणं पुत्ता णमिविणमिनो उवट्ठिया भयवं विणवंति जहा भयवं अम्हं तुम्हेहिं संविभागो ण केवइ वत्थुणा कतो त्ति ततो ते सन्नद्धबद्धकवया करवालवग्गहत्थाओ लग्गंति विणवंति यति सज्झं ताव तुब्भेहिं सव्वेसिं तोगा दिन्ना ता अम्ह वि देह एवं तिसज्झं विण्णवंताणं मोलग्गंताणय कालो वच्चइ । अन्नया धरणो नागकुमारिंदो भयवतो वंदतो आगतो इमेहि य विन्नवियं ततो सो ते तहा जायमाणे भवइ भो सुणह भयवं चत्तसंगो गयरोसतोसो सरीरे वि निम्ममत्तो अकिंचणो परमजोगी निरुद्धासवो कमलपत्तनिरुवलेवचित्तो मा एयं जायह अहं तु भगवतो भत्तीए मा तुब्भं सामिसेवा अफला होउत्ति काउं पढियसिद्धाइं अडयालीसं विज्जासहस्साइं देमि ताण इमातो चत्तारि महाविज्जातो । तं जहा । गोरी गंधारी रोहिणी पन्नत्ती तं गच्छह तुब्भे विज्जारिद्धीए सऊणं जणवयं उज्जलोभेऊण दाहिणिल्लाए उत्तरिल्लाए विज्जाहरसेढीए गगणवल्लहपामोक्खे रहनेउरचक्कवालपामोक्खे य पण्णासं सट्ठिं च विज्जाहरनगरे निवेसिऊणं विहरह । ते वि तं लद्धमाणत्तियं पाडिच्छिऊण लद्धपसाया कामियं पुप्फगविमाणं विउव्विऊणं भगवं तित्थयरं नागरायं च वंदिऊण पुप्फगविमाणमारुढा कच्छमहाकच्छाणं भगवप्पसायं उवदंसेमाणा विणीयनगरिमतिगम्म भरहस्स रण्णो तमत्थं निवेइत्ता सयणं परियणं च गहाय वेयड्ढे उत्तरसेढीए विनमीसट्ठिं नगराइं गगणवल्लभपमुहाइं निवेसइ नमी दाहिणसेढीए रहनेउरचक्कवालाईणि पण्णासं नगराणि निवेसइ । जइ जतो जणवयातो नीया मणुया तेसिं तन्नामा वेयड्ढे जणवया जाया । विज्जाहराणं च एगेगस्स अट्ठट्ठनिकाया सव्वे मिलिया सोलस ते पि इमे गोरीणं विज्जाणं मणुया गोरिया १ मणूणं मणुया २ गंधारीणं गंधारा ३ माणवीणं माणवा ४ केसिगाणं केसिगा ५ भूमितुंडिगाणं भूमितुंडिगा । ६। ७ । मूलवीरियाणं मूलवीरिया ८ संकुकाणं संकुका ९ कालीणं कालिया १० समकाणं समका ११ मायंगीणं मायंगा । १२ पव्वईणं पव्वया १३ वंसालयाणं वंसालया १४ पंसुमूलियाणं पंसुमूलिया । १५ रुक्खमूलियाणं रुक्खमूलिया १६ एवं ते नमिविनमीसोलसविज्जाहरनिकाए ठविऊणं देवा इव विज्जाबलेण गगणवासिणो सयणपरियणसहिया मणुयदेवभोए भुंजंति । पुरेसु भगवतो उसभसामिस्स रज्जमणुपालेमाणस्स वयपडिमा ठविया विज्जाहिवइणो य धरणस्स नागरायस्स । (आ० म० प्र०) चतुर्भिः सहस्रैः समन्वित इत्युक्तम् । तत्र तेषां दीक्षां किं भगवान् प्रदत्तवान् उत नेति तत्राह ।

चउरो य सहस्सीओ, लोयं काऊण अप्पणा चेव ।
जं एस जहा काही, तं तह अम्हे वि काहामो ॥

चत्वारि सहस्राणि सूत्रे स्त्रीत्वं प्राकृतत्वात् लोचमात्मनैव पञ्चमुष्टिकं कृत्वा इत्थं प्रतिज्ञां कृतवन्तो यत्क्रियानुष्ठानमेष भगवान् यथा येन प्रकारेण करिष्यति तत्तथा (अम्हे वि) वयमपि करिष्याम इति । भगवानपि भुवनगुरुत्वात्स्वयमेव सामायिकं प्रतिपद्य विजहार । तथा चाह " उसभो वरवसभगई, घेत्तूण अभिग्गहं परमघोरं । वोसट्ठचत्तदेहो, विहरइ गामाणुगामं तु " ॥

(१६) अथ भगवतश्चीवरधारित्वकालमाह ।

उसभेणं अरहा कोसलिए संवच्छरं साहियं चीवरधारी होत्था तेणं परं अचेलए ॥

ऋषभोऽर्हन् कौशलिकः साधिकं समासमित्यर्थः (संवच्छरं) वर्षं यावद्वस्त्रधारी अभवत्ततः परमचेलकः । अत्रायं केचन लिपिप्रमादादावृत्तिविदमधिकमित्याहुरेतराददरक्षचूर्णिगतश्रीऋषभदेववस्त्रप्याधिकारे अयमेवालापको दृष्टव्यः । जं० २ वक्ष० ।

अथ भगवतो विहारमाह ।

उसभो वरवसभगई, घेत्तूण अभिग्गहं परमघोरं ।
वोसट्ठचत्तदेहो, विहरइ गामाणुगामं तु ॥

ऋषभो वरवृषभगतिरभिग्रहं परमघोरं परमः परमसुखहेतुत्वात् घोरः प्राकृतपुरुषैः कर्तुमशक्यत्वात् व्युत्सृष्टत्यक्तदेहो ग्रामानुग्रामं विहरति । व्युत्सृष्टो निष्प्रतिकर्मशरीरतया तथा चोक्तम् । " अच्छि पि नोपमज्जिज्ज नो वि य कंडूइ यामुणी गायं " इत्युक्तः खलु उपसर्गसहिष्णुतया स एवं भगवान् तैरात्मीयैः परिवृतो विजहार न तदा अद्यापि भिक्षादानं प्रवर्तते लोकस्य परिपूर्णत्वेनार्थित्वाभावात्तथा चाह ।

न वि ताव जणो जाणइ,का भिक्खा केरिसा य भिक्खयरा ।
ते भिक्खमलभमाणा, वणमज्झे तावसा जाता ॥

नापि तावज्जनो जानाति यथा का भिक्षा कीदृशा वा भिक्षाचरा इति ततस्ते भगवत्परिवारभूता भिक्षामलभमानाः क्षुत्परीषहार्त्ताः भगवतो मौनव्रतावस्थितादुपदेशमनाकर्णयन्तः कच्छमहाकच्छावेवमुक्तवन्तः । अस्माकमनाथानां भवन्तौ नेतारावतः कियन्तं कालमस्माभिरेवं क्षुत्पिपासोपगतैरासितव्यं तावाहतुः वयमपि तावन्न विद्मः यदि भगवाननागतमेव पृष्टोऽभवत् किमस्माभिः कर्त्तव्यं किं वा नेति ततः शोभनं भवेत् । इदानीं त्वेतावदुच्यते भरतलज्जया गृहगमनमयुक्तमाहारमन्तरेण चासितुं न शक्यते ततो वन वासो नः श्रेयान् तत्रोपवासरताः परिशटितपरिणतपत्राद्युपभोगिनो भगवन्तमेव ध्यायन्तस्तिष्ठाम इत्येवं संप्रधार्य सर्वसम्मतेनैवं गङ्गानदीदक्षिणकूलेषु रम्येषु वनेषु वल्कलचीवरधारिणः फलाद्याहारसंवृत्तास्तथा चाह । वनमध्ये तापसा जातास्तयोश्च कच्छमहाकच्छयोः सुतौ नमिविनमी पितुरनुरागात्ताभ्यां सह विहृतवन्तौ तौ च वनाश्रयकाले तातस्यामुक्तौ दारुणः कल्पिदानीमस्माभिर्वनवासोऽधिरङ्गीकृत-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ध्वयात यूयं स्वगृहाणि। यदि वा भगवन्तमेवमुपसर्पत स चानुकम्पया अभिलषितफलदो भविष्यति तावपि च पित्रोः प्रणामं कृत्वा पित्रादेशं तथैव कृतवन्तौ भगवत्समीपमागत्य च प्रतिमास्थिते भगवति जलाशयेभ्यो नलिनीपत्रैरुदकमानीय सर्वतो जलप्रवर्षणं कृत्वा आजानोच्छ्रायप्रमाणसुगन्धि कुसुमप्रकरं च कृत्वा अवनतोत्तमाङ्गक्षितिनिहितजानुकरतलौ प्रतिदिवसं त्रिसन्ध्यं राज्यसंविभागप्रदानेन भगवन्तं विज्ञप्य पुनस्तदुभयपार्श्वे खड्गव्यग्रहस्तौ तस्थतुः । तथा चाह ।

नमिविनमीणं जयणा, नागिंदो वेज्जदाणवेयड्ढे ।
उत्तरदाहिणसेढी, सट्ठिपन्नासनगराइं ॥

नमिविनम्योर्याचना नागेन्द्रो भगवद्वन्दनायागतस्तेन विद्यादानमनुष्ठितं वैताढ्ये पर्वते उत्तरदक्षिणश्रेण्योर्यथाक्रमं षष्टिपञ्चाशन्नगराणि निवेशितानि । भावार्थः कथानकादवसेयः । तच्चेदम् ।

एवं जयवं कयसा–माइओ जाव नागरायस्स ।
जयवं अदीणमनसो, संवच्छरमणसिओ विहरमाणो ॥
कन्नाहिं निमंतिज्जइ, वत्थाभरणासणेहिं च ॥

भगवानपि अदीनमना निष्प्रकम्पचित्तः संवत्सरं वर्षं न अशितोऽनशितो विहरन् भिक्षाप्रदानानभिज्ञेन लोकेनाभ्यर्हितत्वात् कन्याभिर्निमन्त्र्यते वस्त्राणि पट्टदेवाङ्गादीनि आभरणानि कटककेयूरादीनि आसनानि सिंहासनानि तैश्च निमन्त्र्यते वर्तमाननिर्देशप्रयोजनं प्राग्वत् ।
(१७)अथैवं विहरता भगवता कियत्कालेन भिक्षा लब्धेत्यत आह।

संवच्छरेण भिक्खा, लद्धा उसभेण लोगनाहेण ।
सेसेहिं बीयदिवसे, लद्धाओ पढमभिक्खाओ ॥

संवत्सरेण भिक्षा ऋषभेण लोकनाथेन प्रथमतीर्थकृता लब्धा शेषैरजितजिनादिभिर्द्वितीयदिवसे प्रथमभिक्षा लब्धा ।

संप्रति यद्यस्य पारणकमासीत्तदभिधित्सुराह ॥

उसभस्स उ पारणए, इक्खुरसो आसि लोगनाहस्स ।
सेसाणं परमन्नं, अमियरसरसोवमं आसी ॥

ऋषभस्य लोकनाथस्य पारणके इक्षुरस आसीत् शेषाणामजितस्वाम्यादीनां परमान्नं पायसममृतरसेन रसस्योपमा यत्र तदमृतरसरसोपममासीत् ।

तीर्थकृतां प्रथमपारणके यद्वृत्तं तदभिधित्सुराह ।

घुट्ठ च अहो दाणं, दिव्वाणि य आहयाणि तूराणि ।
देवा य संनिवइया, वसुहारा चेव वुट्ठा य ।

देवैराकाशस्थैर्घुष्टं यथा अहो दानमिति। अहो शब्दो विस्मये अहो दानमहो दानमस्यायमर्थः । एवं हि दीयते एवं दत्तं भवतीति । तथा दिव्यानि तूराणि त्रिदशैराहतानि देवाश्च तद्देश सन्निपतिता वसुधारानिपातार्थमाकाशे जृम्भका देवाः समागतास्ततो वसुधारा वृष्टा द्रव्यवृष्टिरभूदित्यर्थः। एवं सामान्येन पारणककालभाव्युक्तमिदानीं यत्र यथा च यस्माद्तीर्थकरस्य पारणकमासीत्तदभिधित्सुराह ।

गयपुरसेज्जंसिक्खु-रसदाण वसुहारपीढगुरुपूया ।
तक्खसिलायलगमणं, बाहुबलिनिवेयणं चेव ॥

अस्या भावार्थः कथानकादवसेयस्तच्चेदम् (आ० म० प्र०)

आकरस्सर्ववस्तूनां, देशोऽस्ति कुरुनामकः ।
समुद्र इव रत्नानां, गुणानामिव सज्जनः ॥ १ ॥
पुरं गजपुरं तत्र, क्रूरद्विजमदोर्मिभिः ।
तदेव नर्मदा जज्ञे, नूनं या दृश्यतेऽधुना ॥ २ ॥
तत्र बाहुबलेः पुत्रः, सोमयस्सोमप्रभो नृपः ।
चित्रं पद्माहितानन्दः, सूरस्तीव्रप्रतापवान् ॥ ३ ॥
श्रेयांसस्तनयस्तस्य, यौवराज्यपदास्पदम् ।
क्रीडयत्यपि विश्वश्री-कोशान्तर्यद्यशः शिशुः ॥ ४ ॥
स स्वप्ने मन्दरं शैलं, श्यामवर्णं निरैक्षत ।
तदैवामृतकुम्भेना-भ्यषिञ्चत् शुशुभेऽधिकम् ॥ ५ ॥
राज्ञा दृष्टो भटः स्वप्ने, युध्यमानः सहारिभिः ।
श्रेयांसकृतसाहाय्यो, भगवान् सोऽपि तद्बलम् ॥ ६ ॥
श्रेष्ठी सुबुद्धिरद्राक्षी-त्स्वप्ने सूर्यमरश्मिकम् ।
श्रेयांसोऽशौ न्यधाद्रश्मी-स्ततस्स द्विगुणं बभौ ॥ ७ ॥
राजस्थानेऽथ मिलिताः, सर्वे स्वप्नान्यवेदयन् ।
असंजात्याः परं स्वप्न-फलमायाति तन्मतौ ॥ ८ ॥
श्रेयांसस्य महालाभो, भावीत्युक्त्वा महीपतिः ।
आस्थानीतः समुत्तस्थौ, श्रेयांसोऽपि ययौ गृहम् ॥ ९ ॥
तत्र वातायनासीनः, प्रभुमायान्तमैक्षत ।
सोऽथ दध्यौ मयेदृक्, नेपथ्यं क्वाप्यदृश्यत ॥ १० ॥
पितामहस्य मे यादृक्, जातिस्मृतिरथाभवत् ।
प्राग्भवश्रुतमज्ञासीद्, दृष्ट्वा सस्मार चाखिलम् ॥ ११ ॥
तत्रेक्षुरसकुम्भं को-ऽप्यानयत्प्राभृतेऽस्य च ।
तमेव कुम्भमादायो-पस्थितः स प्रभुं प्रति ॥ १२ ॥
प्रभुणाऽपि शुध्यतीति, पाणिपात्रं प्रसारितम् ।
रसः सर्वोऽपि निक्षिप्तः, प्रभुरच्छिद्रपाणिकः ॥ १३ ॥
न ऊर्ध्वे बिन्दुरपि, शिखाभिरिव वर्द्धते ।
स्वामी शुभाश्रिमस्तेन, वर्षान्ते पारणं व्यधात् ॥ १४ ॥
प्रादुर्भूतानि दिव्यानि, वसुधाराऽपतद्गृहे ।
चेलोत्क्षेपः कृतो देवै-र्देवदुन्दुभयो हताः ॥ १५ ॥
पञ्चवर्णा पुष्पवृष्टि-र्वृष्टिर्गन्धोदकस्य च ।
अहो दानमहो दान-मुद्घोष्यरवैः सुरैः ॥ १६ ॥
तद्देवागमनं वीक्ष्य, श्रेयांसगृहमाययुः ।
लोकाः सर्वेऽपि राजानो-ऽन्ये च ते च तपस्विनः ॥ १७ ॥
श्रेयांसोऽचीकथदथ, भिक्षेदृग् दीयते जनाः ! ।
सुगतिर्लभ्यतेऽमुत्र, दत्ते चैषां सुचेतसाम् ॥ १८ ॥
सर्वेऽपि तमथ प्रोचु-र्ज्ञातमेतत्कथं त्वया ।
यथा भगवतो भिक्षा, दीयतेऽन्नजलादिका ॥ १९ ॥
श्रेयांसः स्माह विज्ञातं, जातिस्मरणतो मया ।
अष्टौ भवान् भगवता, सहाहं भ्रान्तवान् यतः ॥ २० ॥
पृष्टस्तैः कथयामास, प्राग्वदेव भवाष्टकम् । आ० क० ॥

(१८) ऋषभस्वामिनः श्रेयांसेन भवाष्टककथनम् ॥

" अट्ठभवग्गहणाणि वसुदेवहिंडीए तहा विन्नाणा सुत्तत्थं संखेवतो भण्णइ सेज्जंसो भणइ । इओ य छट्ठभवे उत्तरकुरुए अहं मिहुणा इत्थिया भयवं मिहुणपुरिसो आसि । ततो वयं तम्मि देवलोकजूए दसविहकप्परुक्खप्पभावसंपज्जमाणभोगोवभोगा कइयाइ । उत्तरकुरुइहतीरदेसे असोगपादवच्छायाए वेरुलियमणिसिलायले पवणायसरिसफासे सुहनिसण्णा अत्थामो । देवो य तम्मि हरए मज्जिउं उप्पइतो गगणदेसेण। ततो तेण नियगप्पभाए पभासियाओ दसदिसाओ ततो सो मिहुणपुरिसो तं तारिसं पस्समाणो किं वि चिंतेऊण मोहं उवगतो कहमवि लद्धसण्णो भणइ । हा सयंपभे ! कत्थासि देहि मे पडिवयणं

तं च तस्स वयणं सोऊण इत्थिया वि कयमन्ने मए सयंपभाभिहाणं अणुजूय पुव्वंति चिंतेमाणो तहेव मोहमुवगया । पच्चागयचेयणा भणइ । अहो अज्ज अहं सयंपभाजीवे तुज्झेहिं नामं गहियं ति ततो पुरिसो परं तुट्ठिमुव्वहंतो भणइ अज्जे कहेहिं कहं तुमं सयंपभा । ततो सा भणइ कहेमि जं सुयमणुसुयं च अत्थि ईसाणो कप्पो तस्स मज्झदेसातो उत्तरपुरच्छिमे दिसीभागे सिरिप्पभं नाम विमाणं तत्थ ललियंगतो नाम देवो अहिवई । तस्स सयंपभा अग्गमहिसी बहुमया आसिमा अहं तस्स य देवस्स तीए सह दिव्वविसयसुहसागरगयस्स बहुकालो दिवसो इव गतो । कया चिंतावरो पमलायमल्लदामो अहो दिठिज्झायमाणो मए सारिसाए विण्णविता । देव ! कीस विमणो दीससि । को ते माणसो संतावो । ततो सो देवो भणई । मए पुव्वभवे तवो थोवो कतो ततो अहं तुब्भेहिं विप्पजुज्झीहामित्ति परो संतावो ततो अम्हेहिं पुणरवि पुच्छितो । कहेह कहं तुब्भेहिं थोवो तपो कतो । ततो भणति जंबुद्दीवे दीवे अवरविदेहे गंधिलावइविजए गंधमायणवक्खारगिरिवरासण्णवेयड्ढपव्वए गंधारा नाम जणवओ । तत्थ समिद्धजणासेवियं गंधसमिद्धं नाम नयरं । तत्थ राया जणवयहितो सयबलस्स रण्णो नत्तुओ अइबलस्स सुतो महाबलो नाम । सो अहंपिउपियामहपरंपरागयं रज्जसिरिं अणुभवामि । मम य बालमित्तो खत्तियकुमारो सयंबुद्धो नाम सो य जिणसासणभावियमई बिइतो संभिन्नसोतो सो पुण मंती बहुसु कज्जेसु पुच्छणिज्जो परं नाहियवाई एवं तेहिं समं रज्जमणुपालेमाणो समं इत्थिए बहुम्मि काले । कया वि गीयपडिरत्तो नच्चमाणि नट्टियं पस्सामि सयंबुद्धेण विण्णवितो देव ! "सव्वं गीयं विलवियं सव्वं नट्टं विडंबणा । सव्वा आभरणा भारा कामा पुण दुहावहा" ता परलोगहिए चित्तं निवेसियव्वं असासयं जीवियं अहितो विसयपडिबंधो । ततो मए भणियं कहं गीयं सवणामयं विलासे कहं नयणुज्जुयं नट्टं विडंबणा कहं वा देहविभूसणाणि आभरणाणि भागे लोगसारभूया पोइकरा कामा कहं दुहावहा । ततो संभिन्नेण सयंबुद्धेण भणियं । सुणइ सामी पसन्नचित्ता जहा गीयं विलावो जहा काइ वि इत्थिया पव्विइयपइगा पइणो सुमरमाणी तस्स समागममभिलसंती भत्तुणो गुणे विकप्पेमाणी पदोसे पच्चूसे य विलवमाणी चिट्ठइ । जहा वा को वि भिच्चो पहुस्स कुवियस्स पसायणानिमित्तं दासभावे अप्पाणं ठवेऊण पणतो आणि वयणाणि भासइ ताणि विलावो तहा इत्थी पुरिसो वा सरागमणोणाणिलासी कुवियपसायणानिमित्तं घा जाता कायमणवाइयातो किरियातो पउंजइ ताओ कुसलनिबद्धाओ गीयंतिए वुच्चइ तं पुण सामी चिंतेइ किं विलावपक्खे वट्टइ न वा इति । नट्टं जहा विडंबणा तथा भन्नइ । इत्थी पुरिसो वा जक्खाइट्ठो पीयमज्जो वा जातो कायविक्खेवकिरिया तो दंसेइ सा विडंबणा एवं । जा इत्थी पुरिसो वा पहुणो परितोसणनिमित्तं पिउसज्जणनियडविहिमणुसरंतो जे पाणिपायसिरनयणाधराई सा जस्स वि परमत्थतो विडंबणा । इयाणि आभरणाणि भारो भाविज्जइ । कोइ पुरिसो सामिणो नियोगेण पेडागयाणि मउडाईणि आभरणाणि वहेज्जा जहा सो अवस्सं भारेण पीडिज्जइ एवं जो परविम्हयानिमित्तं ताणि चेव आभरणाणि जोगेसु सरीरट्ठाणेसु सन्निवेसियाणि वहइ सो वि भारेण पीडिज्जइ नवरं सो रागेण भारं न गणइ । कामा पुण एवं दुहावहा जहा सद्दमुच्छितो मिगो, रूवमुच्छितो पयंगो, गंधमुच्छितो महुयरो, रसमुच्छितो मच्छो, फरिसमुच्छितो गइंदो, वहबंधणमारणाणि पावइ । एवं जीवा वि सोइंदिया इव सगया सद्दाइसंरक्खणपरा तव्विरोधकारिसु पदुट्ठीएसु कलुसहियया इह लोगे वि मारणादीणि पावेंति परलोगे नरगाइदुक्खभायणं ततो दुहावहा कामा । एवं भणंतो सयंबुद्धो मए भणितो नूणं तुमं मम अहितोसि जो मं संसइयपरलोयसुहेण लोभंतो संपइ सुहं च भिंदतो दुहे पाडेतुमिच्छसि । ततो संभिन्नसोएण भणितो सामि ! सयंबुद्धो जहा जंबुको मच्छकंखी मंसपेसिं चइत्ता णं मच्छं पइ धावितो मच्छो जले निमग्गो मंसपेसी सउणियाए गहियत्ति निरासो जातो तहा संदिद्धपरलोयसुहासाए दिट्ठं सुहं परिच्चयंतो उभयो विमुक्को सोयहिइ । सयंबुद्धो भणइ जं तुमं तुच्छकसुहमोहिनो भणसि को तं सवेयणोपमाणं करेइ को कुसलजणपसंसियं रयणं सुहागयं कायम्मि पसत्तो न इच्छइ तं केरिसं मन्नसि । तं संभिन्नसोयधीरा सरीरं चिरबाहेण मणिव्वयाइ जाणिऊण कामभोगे परिच्चज्ज तवसि संजमे य निव्वाणसुहकारणे जुत्तंति । संभिन्नसोयो भणइ सयंबुद्ध ! मरणं होहिसि किं सक्का पढममेव मुसाणे ठाइउं नूणं तुमं टिट्टिभीसरिसो । जहा टिट्टिभी गगणपडणसंकिया धरेउकामा उड्ढपाया सुवइ तहा तुमं मरणं करि होहित्ति अइपयत्तकारी संपइकालियं सुहं परिच्चाय अणागयकालियं सुहं पत्थेसि नणु एते मरणसमए परलोगहियमायरिस्सामो । सयंबुद्धेण भणियं मुरू ! जुद्धे संपलग्गे कुंजरतुरगदमणं कज्जसाहगं न हवइ । न वा गेहे पज्जलिते कूवखणणं कज्जकरं । जइ पुण दमणं खणणं वा पुव्वकयं होंतं तो परबलमद्दणं जलणविज्झावणं च सुहेण होंतं । एवं जो ऊणागयमेव परलोगहिए न उज्जमइ सो उक्कमंतेसु पाणेसु परमदुक्खाभिभूतो किह परलोगमणुट्ठेहिति । एत्थ सुणेहि वियक्खणकहियं उवएसं । कोइ किल हत्थी जरापरिणतो गिम्हकाले कंचि गिरिनइं समुत्तरंतो विसमे तीरे पडितो सो सरीरगरुयत्तणेण दुब्बलत्तेण य उट्ठेउमसत्तो तत्थेव कालगतो सो अपाणदेसे सियालेण परिक्खइतो तेण मग्गेण एगो वायसो अतिगतो उदरं च उवजीवंतो चिट्ठइ उण्हेण य रुज्झमाणे कलेवरे सो पएसो संकुचितो वायसो तुट्ठो अहो निराबाहं जायं पाउसकाले य तं गयकलेवरं गिरिनईपूरेण वुज्झमाणं महानयं सो य पडियं समुद्दमतिगयं । तत्थ मच्छमगरेहिं छिन्नं ततो जलपूरियातो कलेवरातो वायसो निग्गतो तीरं अपस्समाणो तत्थेव निहणमुवगतो जइ पुण अणागयमेव निग्गतो होंतो तो दीहकालं सच्छंदप्पयारं विविहाणि य मंसादगाणि य आहारेंतो । एयस्स दिट्ठंतस्स अयमुवसंहारो । जहा वायसो तहा संसारिणो सत्ता, जहा हत्थिकलेवरप्पवेसो तहा मणुस्सबोंदिलाभो, जहा कलेवरब्भंतरे मंसमुदगं च तहा विसयसंपत्ती, जहा मग्गनिरोधो तहा तब्भवपडिबंधो, जहा उदकसोयविच्छोभो तहा मरणकालो जहा विवरानिग्गमो तहा परभवसंकमो । तं जाणाहि संभिन्नसो य सो जो तुच्छए निस्सारे थोवकालिए कामभोगे परिच्चइऊण तवसंजमुज्जोगं करेइ सो सुगइगतो न सोइहिइ जो पुण विसएसु गिद्धो मरणसमयमुदिक्खइ सो सरीरभेए अगहियपाहेओ चिरं दुही होहिइ तं मा जंबुक इव तुच्छकप्पणामेत्तसुहपडिबद्धो विउलकालियं सुहमवमन्नसु । संभिन्नसोएण भणिअं । को सो जंबुकदिट्ठंतो । सयंबुद्धेण भणियं सुणाहि । कोइ किर वणयरो वणे संचरमाणो विसमे पएसे ठितो दिट्ठो एगो गइंदो । सो एगेण कंडेण आहतो निट्ठुरं मम्मप्पदे–

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ससगाकंडूयणहारेण पढितो परंतेण एगो महाकाओ सप्पो अक्कमितो अहनिग्गतो अत्थइ ततो पडियं गयं जाणिऊण सजीवं धणुमवकिरिय परेसु गहाय दंतमोत्तियगईदं संलयमाणो तेण सप्पेण खइतो मतो । ततो एगेण जंबुगेण परिब्भमंतेण सो हत्थी सो य मणुस्सो दिट्ठो । भीरुत्तणयेण अवसरितो मंसलोलुयाए पुणो अल्लीयइ । ततो निज्जीवंति निस्संसयो मुणिऊण तुट्ठो अवलोएइ चिंतेइ य हत्थी जावज्जीवयं भत्तं मणुस्सो पण्णो य कंचि कालं होहिइ । जीवाबंधणं ताव खाएमि त्ति तुट्ठो मंदबुद्धी धणुकोडीए भिन्नपडिबंधाए तालुदोसभिन्नो मतो । जइ सो पुण अप्पसारं तुच्छंति जीवाबंधणं परिहरिऊण हत्थी मणुस्सोरगकलेवरेसु लग्गंतो ताणि य अन्नाणि चिरं खायंतो । एवं तुमं पि जाणाहि । जो माणुससोक्खपडिबद्धो परलोगसाहणनिरवेक्खो सो जंबुको इव विणस्सिहिइ जं पि सामी तुब्भे भणह । संदिट्ठो परलोगो इति तं पि न जुत्तं जतो तुब्भे मए सह कुमारकाले नंदणं उज्जाणमुवगया तत्थ एगो देवो आगासातो उवेइ तं दट्ठूण अम्हे अवसरिया देवो य दिव्वाए गतीए खणेण अम्ह समीवं पत्तो । भणिया य अम्हे तेणं अहो महाबल ! अहं तव पियामहो सयंबलो रज्जसिरिं पयहिऊण विसवितो लंतगे कप्पे अहिवई जातो । ता तुब्भे वि मा पमायह । भावह अप्पाणं जिणवयणेणं ततो सुगइगामिणो भविस्सह । एवं वोत्तूण देवो गतो । तं जइ सामि तुब्भे सुमरह तत्थो अत्थि परलोगो त्ति । सद्दहह । मया भणियं सुमरामि सयं ततो लद्धावगासो सयंबुद्धो भणइ सुणह सामि ! पुव्ववुत्तंतं । तुब्भं पुव्वजो कुरुचंदो नाम राया आसी तस्स य देवी कुरुमई हरिचंदो कुमारो सो य राया नत्थिकवाई बहूणं सत्ताणं वहाय समुट्ठितो निस्सीलो निव्वतो एवं तस्स बहु कालो अतीतो मरणकालो अस्सायवेयणीयबहुलयाए नरगपडिरूवगो पोग्गलपरिणामो संवुत्तो गीयं सुइमहुरं अक्कोसंति मन्नइ मणोहराणि रूवाणि विकतानि पासति खीरं खंडसक्करोवणीयं पूइं मन्नइ चंदणाणुलेवणं मुंमुरं वेएइ हंसतूलमउफासं कंटकिसाहासत्थयं पडिसेवइ तस्स तहाविहमसुभकम्मोदयातो विवरीयभावं जाणिऊण कुरुमई देवी हरिचंदेण सह पच्छन्नं पडियरइ । एवं सो कुरुचंदो राया परमदुक्खितो कालगतो तस्स नीहरणं काऊण सजणवयं गंधसमिद्धं नाएणं पालेइ पिउणो य तहाभूयं मरणमणुचिंतियस्स एवं मती समुप्पन्ना । अत्थि सुकयदुक्कयफलं ति ततो अणेण एगो खत्तियकुमारो बालवयंसो सुबुद्धी संदिट्ठो । भद्द ! तुमं पंडियजणोवइट्ठं धम्मकहं पइदिणं मे कहेसु एसा चेव ते सेव त्ति । ततो सो एवं निउत्तो जं जं धम्मसंसियं वयणं सुणेइ तं तं राइणो निवेएइ राया सद्दहइ तहेव पडिवज्जइ । कयाइं च नगरस्स नाइदूरे तहारूवस्स साहुणो केवलनाणुप्पत्तिमहिमं काउं देवा उवागया एवं सुबुद्धिणा खत्तियकुमारेण जाणिऊण हरिचंदस्स रण्णो निवेइयं । सो वि देवागमणविम्हितो तुरियं पवरतुरंगारूढो साहुसमीवमागतो वंदिऊण विणएण निसण्णो केवलिमुहविणिग्गयं वयणामयं सुणेइ । सोऊण संसारमोक्खसरूवं अत्थि परभवसंकमो त्ति निस्संकियं जायए पुच्छइ । भयवं ! मम पिया कं गइं गतो । भगवया भणियं हरिचंद ! तव पिया अनिवारियपावासवो बहूणं सत्तावणं पीडाकरो पावकम्मगरुयत्ताए इह य विवरीयविसयोवभोगं पाविऊण अहे सत्तमपुढवीए नेरइओ जातो । सो तत्थ परमनिव्विसहं निरुवमं निप्पडियारं दुक्खमणुभवइ । ततो कम्मविवागं पिउणा सोऊण हरिचंदो राया संसारभयभीतो वंदिऊण केवलनाणिं सनगरमइगतो ततो पुत्तस्स रायसिरिं समप्पेऊण सुबुद्धिं संदिसइ । तुमं मम पुत्तस्स उवएसं देज्जासि त्ति । तेण विण्णवितो सामि ! अहं केवलिणो वयणं सोऊण सह तुब्भेहिं न करेमि तवं तो मए न सुयं परमत्थतो केवलिवयणं तम्हा अहं पि तुब्भेहिं समं पव्वइस्सामि । जं पुण उवदेसो दायव्वो त्ति संदिसह तं मम पुत्तो काहिइ । ततो राया पुत्तं संदिसइ तुमे सुबुद्धिसुयोवएसो कायव्वो । ततो पलित्तगिरिकंदरातो सीहो इव राया विणिग्गतो पव्वइतो केवलिसमीवे सह सुबुद्धिणा । ततो परमसंवेग्गो सज्झायपसत्थचिंतणपरो परिक्खवियकिलेसजालो समुप्पन्नकेवलनाणदंसणो परिनिव्वतो तस्स हरिचंदस्स रायरिसिणो वंसे संखाईएसु नरवईसु धम्मपरायणेसु अतिक्कंतेसु तुब्भे संपयं सामी । अहं पुण सुबुद्धिवंसे तं एस अम्हं नियोगो बहुसु पुरिसपरंपरागतो धम्मदेसणाहिगारो जं पुण एत्थ मया अकंडे विण्णविया तं कारणं सुणह । अज्ज अहं नंदणवणं गतो आसी तत्थ मए दुवे चारणसमणा दिट्ठा आइच्चजसे अमियतेओ य । ते य वंदिऊण पुच्छिया भयवं महाबलस्स रण्णो केवइयमाउयं चिट्ठइ तेहिं कहियं मासो सेसो ततो संभंतो आगतो एस परमत्थो । ततो जं जाणह से यं तमकालहीणं करेह त्ति । एवं सयंबुद्धवयणं सोऊण अहं धम्माभिमुहो जाओ । आउपरिक्खयसवणे य आभट्ठियभायणमिव सलिलपूरिज्जमाणमेव सुण्णहिययो भीतो सहसा उट्ठितो कयंजली सयंबुद्धं सरणमुवगतो वयस्स ! किमियाणिं माससेसजीवितो परलोगहियं करेस्सामि । तेण समासासितो सोम्म ! दिवसो वि बहुओ परिचत्तसव्वसावज्जस्स किमंग ! पुण मासो ततो तस्स वयणेण पुत्तसंकामियपयापालणव्वावारो गतो सिद्धाययणं कतो भत्तपच्चक्खातो सयंबुद्धोवदिट्ठजिणमहिमासंपायणनिरतो सुमणसो संथारगसमणो जातो निरंतरं च संसारस्स अणिव्वयवेरग्गजणणिं धम्मकहं च सुणमाणो समाहिपत्तो कालगतो इहागतो । एवं मए थोवो तवो चिण्णो त्ति एयं च अज्ज मम सपरिवारा य ललियंगएण देवेण कहियं । इच्छंतरे ईसाणदेवसयसमीवातो दढधम्मो नामदेवो आगतो भणइ अहो ललियंगय ईसाणदेवराया नंदीसरदीवं जिणमहिमं काउं वच्चइत्ति गच्छामि अहंपि त्ति सो गतो ततो अज्ज ललियंगदेवसहिता इंदाणत्ताए अवस्सगमणं होहित्ति इयाणिं चेव वच्चामि त्ति गयामो खणेण नंदीसरदीवं कया जिणायणेसु महिमा । ततो तिरियलोए सासयचेइयाण पूयं तित्थयरवंदणं च कुणमाणो चुतो ललियंगतो ततो अहं परमसोगमिडज्झमाणा विवसा सपरिवारा गया सिरिप्पभं विमाणं । ततो सयंबुद्धदेवो आगतो परिगलमाणसरीरसोभं संदट्ठूण भणइ सयंपभे पच्चासन्नो ते चवणकालो तो जिणमहिमं करेहि जेण भवंतरे वि बोहिलाभो भवइत्ति । ततो हं तस्स वयणेण पुणरवि नंदिस्सरदीवे समयक्खेत्ते य कयजिणवंदणपूया चुत्ता समाणा । जंबुदीवे दीवे पुव्वविदेहे पुक्खलावइविजए पुंडरिगिणीए नगरीए वइरसेणचक्कवट्टिस्स गुणवतीए देवीए दुहिया सिरिमई नाम जाया । धाईजणपरिग्गहिया सुहेण वड्ढिया कलातो गहियातो अन्नया कयाइ पदोसे सव्वतोभद्दगं पासायमभिरूढा पस्सामि नगरबाहिं देवसंपायं । ततो मए देवजाइसु मरियासु मरिऊण य दुक्खेणाहयपरिचारिगाहिं जलकणगासित्ता पच्चागयवेयणा चिंतेमि । कत्थ मे पिया ललियंगतो देवो त्ति तेण प

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विणा किं अणेण आलवेणं ति मूकत्तणं पवन्ना परियणो भणइ इमी से वाया जंभगेहिं निरुद्धा ततो तिगिच्छगेहिं होममंतरक्खाविहाणेहिं कतो महंतो पयत्तो अहं पि मूकत्तणं न मुयामि। परिचारियाणं पुण लहिऊण माणत्तिं देमि। अन्नया पमयवणगयं ममं पंडिया नाम अम्मधाई विरहे भणइ। अहं ते धाई तो मे कहेहि सब्भूयं। ततो मया भणियं अम्मो अत्थि कारणं जेणाहं मूयत्तणं पवन्ना ततो सा तुट्ठा भणइ पुत्ति ! साहसु मे कारणं ततो जहा भणसि तहा चेट्ठिस्सामि। ततो मया भणिया सुणाहि। अत्थि धायकीखंडे दीवे पुव्वविदेहे मंगलावइविजए नंदिग्गामो नाम सन्निवेसो तत्थ अहं इतो तइयभवे दरिद्दकुले सुलक्खणसुमंगलाईणं अहं भगिणीणं कणिट्ठा जाया कयं च मे अम्मापिऊहिं नामं ततो निन्नामियत्ति पसिद्धिं गया। से कम्मपडिबद्धा य जीवामि। अन्नया कयाइ ऊसवे इब्भगडिंभाणि नाणाविहभक्खहत्थगयाणि सगिहेहिंतो निग्गयाणि पासम्भिताणि दट्ठूण मए माया जाइया अम्मे देहि मे मोयगं अन्नं वा भक्खं जेण डिंभेहिं समं रमामित्ति। तीए रुट्ठाए आहया निच्छूढा य गिहातो कतो ते इहं भक्खा वच्चसु अंबरतिलकं पव्वयं तत्थ फलाणि खायसु मरसु वत्ति। ततो रोयंती निग्गया दिट्ठो मया जणो अंबरतिलगाभिमुहं वच्चंतो गया तेण सहिया दिट्ठो मया सिहरकरेहिं गगणतलमिव मिणिउं समुज्जुत्तो अंबरतिलको नाम पव्वतो तत्थ जणो फलाणि गेण्हइ मए वि य पक्कपडियाणि साहूणि भक्खियाणि रमणिज्जयाए य गिरिवरस्स सह जणेण संचरमाणी सद्दं सुइमणोहरं सुणामि सद्दमणुसरंती गया पदेसं दिट्ठा जुगंधरा नाम आयरिया विविहनियमधरचउद्दसपुव्वी चउनाणोवगया तत्थ बहवो समागया देवा मणुया य तेसिं बंधमोक्खविहाणं कहेंति। अहं पि पाएसु णिवडिऊण एगदेसे निसण्णा धम्मकहं सुणामि पुच्छिया मए भयवं अत्थि मम मतो को वि दुक्खिओ जीवो जीवलोगे। ततो तेहिं भगवंतेहिं भणियं निन्नामिए तुहं सद्दा सुहासुहा सुइपहमागच्छंति रूवाणि वि सुंदरमंगुलाणि पाससि गंधे सुभासुभे अग्घायसि रसे वि मणुण्णामणुण्णे आसाएसि फासे वि इट्ठाणिट्ठे पडिसंवेदेसि। अत्थि य तो सीउण्हछुहाणं पडिकारो निद्दं सुहागयं सेविसि तमसि जोए पगासेण कज्जं कुणसि नरए पुण नेरइयाणं निच्चमसुभा सद्दरूवरसगंधफासा निप्पडियाराणि य परमदारुणाणि सीउण्हाणि तहा छुहापिवासातो य न य खणं पि निद्दासुहं तेसिं। ते य निब्बंधयारेसु चिट्ठमाणा दुक्खसयाणि विवसा अणुहवमाणा बहुं कालं गमंति। तिरिया वि सपक्खपरपक्खजाणियाणि दुक्खाणि सीउण्हखुहापिवासादीयाणि य अणुहवंति। तव पुण साहारणं सुहदुक्खं केवलमन्नेसिं रिद्धिं पस्समाणा दुहियमप्पाणं तक्केसि। ततो मए पणयाए जइ भणइ तहत्ति पडिस्सुयं। तत्थ य धम्मं सोऊण केइ पव्वइया केइ गिहिवासजोग्गाइं सीलव्वयाइं पडिवन्ना। ततो मए विन्नवियं भयवं जस्स नियमस्स पालणे हं सत्ता तं मे उवइसह। ततो मे तेहिं पंचअणुव्वयाइं उवदिट्ठाणि परितुट्ठा वंदिऊण जणेण सह नंदिग्गाममागता पालेमि ताणि अणुव्वयाणि परियायसती चउत्थछट्ठट्ठमेहिं खमामि। एवं काले गते कयभत्तपच्चक्खाणा पतो देवं परमदंसणीयं पस्सामि सो भणइ निन्नामिगे चिंतेहि होमि एयस्स भारियत्ति। ततो देवी मे भविस्ससि मया सह दिव्वे भोगे भुंजसि। एवं वोत्तूण अदंसणं गतो अहमवि परितोसवसविसप्पमाणहियया देवदंसणेण हरिसज देवत्तंति चिंतेऊण समाहीए कालगया ईसाणे कप्पे सिरिप्पभविमाणे ललियंगयस्स देवस्स अग्गमहिसी सयंपभा नाम जाया। ओहिणाणोवयोगविन्नाय देवभवकारणा जहा एस ललियंगो अहुणोववन्नो समाणो नियपरियणं पभाविंतो देवीसु मज्झे सयं पभाए देवीए अज्झोववन्नो सा आउक्खए चुया देवो य लवितमाढतो सयंबुद्धो य महाबले कालगए गहियसामन्नो चिरकालं संजमं परिपालिऊण समाहिपत्तो कालगतो इहेव ईसाणे कप्पे इंदसामाणितो जातो तेण वि ललंतो संबोहितो भणितो य। जहा धायइसंडे दीवे अवरविदेहे नंदिग्गामे निन्नामिगा कयभत्तपच्चक्खाणा चिट्ठइ तं नियदंसणेण पलोभेहि जेण कयनियाणा ते अग्गमहिसी सयंपभा जायइ। ततो अणेण नियदंसणेण पलोभिया कयनियाणा इह मागयत्ति सहरिसं सहललियंगएणं सहिया निरुस्सुका बहुकालं अणुहवामि देवो य सो ललियंगतो आउक्खएण चुतो अम्मो न जाणामि कत्थ गतो। अहमवि तस्स वियोगदुहिया चुत्ता समाणी इहमागया। देवुज्जोयदरिसणेण समुप्पन्नजाईस्सरणा तं देवं य मणसा परिवहंती मूयत्तणं पवन्ना। किं तेण विणा कएण संलावेण त्ति एस परमत्थो। तं सोऊण अम्मधाई ममं भणति। पुत्ति ! सुट्ठु ते कहियं एयं पुण पुव्वभवचरियं पडिलेहिज्जउ ततो अहं हिंडावेहामि सो य ललियंगतो जइ मणुस्सेसु आयातो होहिइ तो सचरियं दट्ठूण जाइं सुमरिहिइ तेण य सह निव्वुया विसयसुहमणुभवेसु। ततो साञ्जितो पडो ततो विविहवन्नाहिं वट्टिगाहिं दोहिं वि जणीहिं पढमं तत्थ नंदिग्गामो लिहितो ततो अंबरतिलगगिरियरसंसियकुसुमिया सोगतरुतलसंनिसन्ना गुरवो देवमेहुणगं च वंदणागयं ईसाणो कप्पो सिरिप्पभं विमाणं सदेवमिहुणं महाबलो राया सयंबुद्धसंभिन्नसोयसहितो निन्नामिगा य तवसोसियसरीरा सव्वत्थ ललियंगयसयंपभाणं नामाणि लेहियाणि। ततो निप्फन्ने पडे धातीपट्टगं गहेऊण धायइसंडदीवं वच्चामित्ति गयणेण य निवत्ता पुच्छिया मया कीस अम्मो लहुं नियत्तासि सा भणइ पुत्ति ! सुणह कारणं इह अम्ह सामिणो तव पिउणो वरिसवद्धावणनिमित्तं विजयवासिणो बहुगा रायाणो समागया तं जइ इहेव तव हिययदइतो होहिइ तो लक्खेमेवेति चिंतिऊण नियत्ता। जइ एत्थ न होहिइ तो परिमग्गणं करेस्सामि गया भणिया सुट्ठु कयंति। ततो बीयदिवसे पडं गहाय अवरण्हे आगया पसन्नमुही भणइ पुत्ति ! निव्वुया होह दिट्ठो मया ते ललियंगतो पुच्छिया मया अम्मो साहसु कहंति। सा भणति पुत्ति ! मया रायमग्गे पसारितो पडो पडं केइ आगमकुसला आगमं पमाणं करेता पसंसंति जे अकुसला ते वन्नरूवाईणि पसंसंति तत्थ दुम्मरिसणरायसुतो दुहंतो कुमारो सपरिवारो आगतो सो मुहुत्तमेत्तं पासिऊण मुच्छितो पडितो खणेण आसत्थो मणुस्सेहिं पुच्छितो सामि ! किं मुच्छितो। सो भणइ नियचरियं पडयलिहियं दट्ठूण जाती मए सुमरिया अहं ललियंगतो देवो आसि सयंपभा मे देवी मया पुच्छितो पुत्त ! साहसु को एसो संनिवेसो। भणइ पुंडरिगिणी नगरी पव्वयं मेरुं कहइ अणगारो को वि एस साहू वीसरियं से नामं कप्पं सोहम्मं साहइ महाबलो राया को वि एसो मंतिसहितो त्ति जंपइ। निन्नामिगं का वि एसा तवस्सिणी न याणं से नामंति ततो विप्पावणा एसो त्ति मुणिऊण मया भणितो पुत्त संवदति सव्वं जं पुण वीसरियं तेण किं सव्वं तुमं ललियंगतो सा पुण ते सयंपभा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धायइसंडे दीवे नंदिग्गामे कम्मदोसेण पंगुलिया जाया । समरिया नियजाती ततो लोए आगमकुसलाए तव मग्गणहेतुं नियचरियं लिहियं । मम धायइसंडे गयाए परो समप्पिय कहिओ नियवुत्तंतो ततो मए तीसे अणुकंपाए तव परिमग्गणं कयंता पुत्त ! एहि नेमिधायइसंडं संतोसेहि नियदंसणेणं पंगुलियं एवं भणिए उवहसिता मित्तेहिं गम्मउत्तो सिज्जइत्तो पंगुलिया । ततो सो अहो गाढं काऊण अवक्कंतो मुहुत्तमेत्तेण लोहग्गलाओ धणो नाम कुमारो लंघणवत्रणादिसु अतीव समत्थोत्ति संजायवइरजंघोत्ति वीयालिहाणो आगतो पडं दट्ठूण मं भणइ । केणेयं लिहियं चित्तं मया भणियं ! किं निमित्तं पुच्छसि सो भणइ मम एयं चरियं अहं ललियंगतो नामासि सयंपभा मे देवी असंसयं तीए लिहियं जइ वा अन्नेणं वि तीए उवएसेणंति तक्केमि ततो मए पुच्छितो जइ ते चरियं साहसु को एस संनिवेसो । सो भणइ नंदिग्गामो एसो पव्वतो अंबरतिलको जुगंधरा आयरिया एसा खमणकिलंता निन्नामिया महब्बलो राया सयंबुद्धसंभिन्नसोएहि सह लिहितो एस ईसाणो कप्पो सिरिप्पभं विमाणं एवं सव्वं सपच्चयं कहियं । ततो मए भणितो जा एसा सिरिमती कुमारी तो तपिउणाए दुहिया सा सयंपभा तेण रण्णो निवेएमि जेण सा ते भवइ । एवं सोऊण सो समणसो गतो अहं कयकज्जा आगया ता गच्छामि पुत्ति ! रण्णो निवेएमि जेण ते पि सयं कामो भवइ । गया रायसमीवं सद्दाविया अहं रण्णा माउसहिया गया रायसमीवं रायाए कहितो वसुमइ ! जो सिरिमईए ललियंगतो देवो आसि तं जहा अहं जाणं न तहा सिरिमई अत्थि । अवरविदेहे सलिलावइविजए वीयसोगा नाम नगरी जियसत्तू राया तस्स मणोहरी केकई दुवे देवीओ । तासिं जइक्कमं अयलो विभीसणो य पुत्ता बलदेववासुदेवा पिउणो सुघरते विजयद्धं भुंजंति । मणोहरी बलदेवमाया कम्मि काले पुत्तमापुच्छति अयल ! अणुन्नया मे भत्तुणो सिरी पुत्तसिरी य संपइ पव्वयामि करेमि परलोगहियं विसज्जेहि मंति सो नेहेण न विसज्जेइ निब्बंधे कए भणइ अम्मो जइ ते निच्छतो ता देवलोगं गया मं वसणपडियं पडिबोहिज्जासि तीए पडिवन्नं पव्वइया । परमधिइबलेण अहीयाणि एक्कारस अंगाणि वरिसकोडी तवमणुचरिऊण अपडिवडियवेरग्गा समाहीए कालगया लंतगे कप्पे देवो जातो ताव मं जाण बलदेववासुदेवा य बहुकालं समुदिता भोगे भुंजंति । कयाइ निग्गइ अणुजत्तं आसेहिं अवहिया अरवि पविसिया दूरं गंतूण आसाविवन्ना विभीसणो कालगतो अयलो नेहेण न जाणइ ! परिस्समेण मुच्छितो एसो नेमिसाययाणि बलगहणानि अहं च लंतगकप्पगतो पुत्तसिणेहेण संगरं सुमरिऊण खणेणागतो विभीसणरूवं विउव्विऊण अयलो भणितो भाय ! अहं विज्जाहरेहिं समं जुज्झिउं गतो ते मए पसाहिया तुज्झे पुण अंतरं जाणिऊणं केण वि मम रूवेण मोहिया । ता छड्डेहि एयं कलेवरं सक्कारेसु अग्गिणा ततो सक्कारेऊण स नगरमागया । पूइज्जमाणा जणेण सगिहं पविट्ठा एक्कासणनिसण्णा विया ततो मया मणोहरीरूवं दंसियं संभंतो अयलो भणइ अम्मो ! तुब्भेत्थ कतो त्ति ततो मए पव्वयाकालो संगरो य कहितो विभीसणमरणं च । अहं लंतगातो इह गतो तं च पडिबोहणनिमित्तं अणिच्चं मणुयरिद्धिं जाणिऊण करेहि परलोगहियं । एयं वोत्तूण गता अहं सगं कप्पं । अयलो वि पुत्तसंकामियरज्जसिरी निव्विण्णकामभोगो पव्वइतो तवमणुचरिऊण ललियंगतो देवो जातो अहं पुण तं सदेवीगं जाहे जाहे सुमरामि ताहे ताहे लंतगं कप्पं नेमि सो सागरोवमस्स सत्तलवमागे देवसुहं भोत्तूण चुत्तो तत्थ तो उववन्नो । तं पि ललियंगयं एस मे पुत्तो जत्थ तिलामि एयस्स कमेण गया सत्तरसलिलयंगतो सो अट्ठारसमो एसो वि मे पुत्तसिणेहेण बहुसो लंतगं कप्पं नीतो तं जाणामि सिरिमईए भत्ता ललियंगतो जातो वइरजंघो त्ति आणत्तो कंचुकी सद्दावेह वइरजंघं सद्दावितो आगतो दिट्ठो मया परितोसवियसियच्छीए अच्छेरयभूतो पणतो राइणो भणितो राइणा पुत्त ! वइरजंघ पुव्वभवसयंपभं सिरिमइं ति अवलोइया तेण अहं कलहंसेणेव कमलिणी विहिणा पाणिग्गहितो दिण्णं ताएण विपुलं धणं परिचारिगा तो य विसज्जियाणि अम्हेणयाणि लोहग्गलं भुंजामो निरुवसग्गं भोगे । वइरसेणो वि राया लोगंतियदेवपडिबोहितो संवच्छरियं दाणं दाऊण पोक्खलपालस्स नियपुत्तस्स रज्जं दाऊण नियगसुएहिं नरवरेहिं सहितो पव्वइतो । उप्पन्नकेवलणाणो धम्मं दिसइ । मम वि कालेण पुत्तो जातो सो सुहेण वड्ढितो कयाइ पोक्खलपालस्स केइ सामंता विसंवइया । ततो तेण अम्हं पेसियं एउ वइरजंघो सिरिमई य अम्हे पुत्तं नगरे ठवेऊणं विउलेण खंधावारेण पत्थिया सरवणस्स मज्झेणं जाणजणेण पंथो पडिसिद्धो । जहा दिट्ठिविसो सरवणे सप्पो चिट्ठइ तो न जाइ तेण पहेण गंतुं ति । ततो तं सरवणं परिहरंता कमेण पत्ता पुंडरिगिणिं सुहं च तेहिं वइरजंघागमणे ततो ते संकिया सेवामागया अम्हे वि पोक्खलपालेण रण्णा पूइऊण विसज्जिया पत्थिया सनगरं । भणइ य जणो सरवणुज्जाणमज्झेण गंतव्वं जतो तत्थ ठियस्स साहुणो केवलनाणमुप्पन्नं । ततो देवाओ वइया देवुज्जोएण पभिइयं विसं सप्पो निव्विसो जातो । ततो अम्हे कमेण पत्ता सरवणं तत्थ आवासिया दिट्ठा नियभायरो मए सागरसेणमुणिसेणा सगणा वंदिया भत्तिबहुमाणेणं पडिलाभिया असणपाणखाइमसाइमेण । ततो अम्हे ते गुणे अणुमोयंता कया अम्हे वि निस्संगा सामन्ने विहरिस्सामो । रागमग्गमोत्तिण्णा पत्ता कमेण सनगरं पुत्तेण अम्हं विहरकाले भिच्चवग्गो दाणमाणेहिं रंजितो वासघरे वि स धूमो पउंजितो अम्हे वि विसज्जियपरियणा वासहरं रयणीए पविट्ठा । धूमधूसियधातू कालगया इहागया उत्तरकुराए त्ति । तं जाणामि अज्ज ! जा निन्नामिगा सा सयंपभा जा सिरिमई सा अहं । जो सो महब्बलो राया सो य ललियंगतो देवो जो य वइरजंघो राया ते तुब्भे एवं जीवं से नामं गहियं सा अहं सयंपभा हंते सामिणो भणियं । अज्ज देवुज्जोएण जाइं संभरिऊण मए एवं चिंतयं देवभवे वट्ठामि ततो सयंपभा आलद्धा तं सव्वमेयं कहियंति परितुट्ठमाणसाणि पुव्वभवसुमरणपज्जलियसिणेहाणि तिण्णि पलिओवमाइं जीविऊणं कालगयाणि सोहम्मे कप्पे देवा जाया । तत्थ चिरराणापीति आसि पलितोवमट्ठिइं पालेऊण चुया जुम्मावइविजए पहंकराए नगरीए सामी सुविहिविज्जणपुत्तो केसवो नाम जातो । अहं पुण सेट्ठिसुतो तत्थ विणिअभिग्गो सिणेहो तत्थेव नगरे रायसुता मंतिसुतो सेट्ठिसुतो सत्थवाहसुतो य तेहिं विसयमती जाया कयाइ साहू मइण्णा किमिकुट्ठे । गहितो पडियरिओ एयं जहा पुव्वं जाव समहीए कालगया अच्चुए कप्पे इंदसमाणा देवा जाया ततो वि इकजए इहता केसवो वइरसेणस्स रण्णो मंगलादेई देवीए धारिणी वीसनामाए पुत्तो जातो वइरनामो रायसुयाई कमेण क-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

णगनाभरूपनाभपीठमहापीढा जाया । कणगनाभरूपनाभा बीयनामेण बाहुसुबाहू अह पुण नगरे तत्थेव रायसुतो जातो बालो चेव वइरनाभसमल्लीणो सारही सुजसो नाम वइरनाभेण सममणुपव्वइतो भगवया य वइरसेणेण वइरनाभो भरहे पढमतित्थयरो उसभो नाम आदिट्ठो कणगनाभो चक्कवट्टी भरहो इति सेसं जहा पुव्वं जाव सव्वट्ठे देवा जाया ततो चुया इहागया मया य वइरसेणतित्थयरो परिसेण नेवत्थेण दिट्ठोत्ति य पियामहलिंगदरिसणेण पोराणतो जाईतो सरियातो विन्नायं च अन्नपाणाइ दायव्वं तवस्सीणं । तेसिं च तिण्हि वि सुविणाणमेतदेव फलं जं भयवतो भिक्खा दिन्ना । एयं च कहं सोऊण नरवइमाईहिं पहट्ठमाणसेहिं सेज्जंसो पूजितो " आ० म० प्र० ॥

स्वप्नानां च फलमिदं, यत्प्रभुः प्रतिलाभितः ॥ २२ ॥
तदाकर्ण्य जनः सर्वः, श्रेयांसमभिनन्द्य च ।
अमन्दानन्दमेदस्वी, स्थाने निजनिजं ययौ ॥ २३ ॥
श्रेयांसोऽपि प्रभुर्यत्रा-वस्थितः प्रतिलाभितः ।
रत्नपीठं व्यधात्तत्र-माऽसौ चुः क्रम्यतां जनैः ॥ २४ ॥
तच्च त्रिसंध्यमानर्च, लोकोऽप्राक्षीदिदं हि किम् ।
श्रेयांसः कथयामास, युगादिजिनमण्डलम् ॥ २५ ॥
लोकेनापि ततो यत्र, यत्र श्रीभगवान् स्थितः ।
तत्र तत्र कृतं पीठं, सूर्यपीठं क्रमादभूत् ॥ २६ ॥ आ० क० ।

प्रस्तुतमाह ।

तक्खसिलायलगमणं, बाहुबलिनिवेअणं चेव ।

अक्षरगमनिका क्रियाध्याहारतः कार्या । तथा गजपुरं नाम नगरमासीत् श्रेयांसस्तत्र राजा तेनेक्षुरसदानं भगवन्तमधिकृत्य प्रवर्तितम् । तत्रार्द्धत्रयोदशहिरण्यकोटीपरिमाणा वसुधारा निपातिता । पीठमिति श्रेयांसेन यत्र भगवता पारितं तत्र तत्पादयोर्मा कश्चिदाक्रमणं करिष्यतीति भक्त्या रत्नमयं पीठं कारितं गुरुपूजेति तदर्च्चनं चक्रे । अत्रान्तरे भगवतः तक्षशिलातलगमनं बभूव भगवतः प्रवृत्तिनियुक्तपुरुषैर्बाहुबलिनिवेदनं कृतमित्यक्षरगमनिका । एवमन्यासामपि संग्रहगाथानां स्वबुद्ध्या गमनिका कार्येति गाथार्थः । आ० म० प्र० ।

अथ पुनः कथाशेषमुच्यते ॥

ज्ञात्वा स्वामिनमायान्तं, हर्षोत्कर्षेण पूरितः ।
अचिन्तयद्बाहुबलिः, स्वसर्वर्द्ध्या प्रभोः पदौ ॥ १ ॥
वंद्यामित्यागतस्तत्र, यावत्प्रातः स नागरः ।
विजहार प्रभुस्ताव-द्वायुवन्मुनयोऽममाः ॥ २ ॥
अदृष्ट्वा स्वामिनं बाहु-र्विनिर्माय धृतिं पराम् ।
यत्रास्थाद्भगवांस्तत्र, धर्मचक्रं मणीमयम् ॥ ३ ॥
अष्टयोजनविस्तार-मेकयोजनमुच्छ्रितम् ।
सहस्रारं सहस्रांशो-रिव बिम्बं न्यवेशयत् ॥ ४ ॥
पूजयामास पुष्पैस्त-च्चक्रे चाष्टाह्निकोत्सवम् ।
संस्थाप्य पूजकांस्तत्र, ययौ बाहुर्निजां पुरीम् ॥ ५ ॥
ततश्च विहरन् स्वामी, समीरण इवास्पृहः ।
यवनाडम्बइल्लादि-म्लेच्छदेशेषु मौनभाक् ॥ ६ ॥
उपसर्गैरसन्तुष्टः, सहमानः परीषहान् । आ० क० ॥

(१७) श्रामण्यानन्तरं कथं प्रभुः प्रवृत्ते इत्याह ॥

जप्पभिइं च णं उसभे अरहा कोसलिए मुंडे भवित्ताणं अगाराओ अणगारिअं पव्वइए तप्पभिइं च णं उसभे अरहा कोसलिए णिच्चं वोसट्ठकाए चित्तदेहे जे केइ उवसग्गा उप्पज्जंति तं दिव्वा वा जाव पडिलोमा वा तत्थ पडिलोमा वेत्तेण वा जाव कसेण वा काए आउट्टेज्जा अणुलोमा वंदेज्ज वा जाव पज्जुवासेज्ज वा ते सव्वे सम्मं सहइ जाव अहियासेज्जई ॥

यतः प्रभृति ऋषभोऽर्हन् कौशलिकः प्रव्रजितस्ततः प्रभृति नित्यं व्युत्सृष्टकायः गृहकर्मवर्जनात् त्यक्तदेहः परीषहादिसहनात् ये केचिदुपसर्गा उत्पद्यन्ते तद्यथा दिव्या देवकृताः वाशब्दः समुच्चये यावत् करणात् " माणुसा वा तिरिक्खजोणिआ वा इति" पदग्रहः प्रतिलोमाः प्रतिकूलतया वेद्यमाना अनुलोमाः अनुकूलतया वेद्यमानाः वा शब्दः पूर्ववत् । तत्र प्रतिलोमा वेत्रेण जलवंशेन यावच्छब्दात् "तयाए वा छियाए वा लयाए वा" इति । तत्र तपयाऽसनादिकया छिवया श्लक्ष्णया लोहकुश्यया लतया कम्बया कशेण चर्मदण्डेन वाशब्दः प्राग्वत् । कश्चिद्दुष्टात्मा काये विभक्तेः कारकाणांत्याधारविवक्षायां सप्तमी । आकुट्टयेत् ताडयेदित्यर्थः । अनुलोमास्तु " वंदेज्ज वा यावत्करणात् पूएज्जा वा सक्कारेज्जा वा सम्माणेज्जा वा कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं इति" वन्देत वा स्तुतिकरणेन पूजयेद्वा पुष्पादिभिः सत्कुर्याद्वा वस्त्रादिभिः सम्मानयेद्वा अभ्युत्थानादिभिः कल्याणं भद्रकारित्वात् मङ्गलमनर्थप्रतिघातत्वात् देवतामिष्टदेवतामिव चैत्यमिष्टदेवताप्रतिमामिव पर्युपासीत वा सेवेतेति तान् प्रतिलोमानुलोमभेदभिन्नान् उपसर्गान् सम्यक् सहते भयाभावेन यावत्करणात् खमइ तितिक्खइत्ति क्षमते क्रोधाभावेन तितिक्षते दैन्यावलम्बनेन अध्यासयति अविचलकायतयेति ।

अथ भगवतः श्रमणावस्थां वर्णयन्नाह ॥

तए णं से भगवं समणे जाए इरिआसमिए जाव पारिट्ठावणिआसमिए मणसमिए वयसमिए कायसमिए मणगुत्ते वयगुत्ते कायगुत्ते जाव गुत्तबंभयारी अकोहे अमाणे अमाए अलोहे संते पसंते उवसंते परिणिव्वुडे छिन्नसोए निरुवलेवे संखमिव निरंजणे जच्चकणगं व जायरूवे आदरिसप इव पागडभावे कुम्मो इव गुत्तिदिए पुक्खरपत्तमिव निरुवलेवे गगणमिव निरालंबणे अणिले इव णिरालए चंदो इव सोमदंसणे सूरो तेयंसि विहग इव अपडिबद्धगामी सागरो इव गंभीरे मंदरो इव अकंपे पुढवि इव सव्वफासविसहे जीवो विव अप्पडिहयगई णत्थि णं तस्स भगवंतस्स कत्थइ पडिबंधे से पडिबंधे चउव्विहे भवति तंजहा दव्वओ खित्तओ कालओ भावओ । दव्वओ इह खलु माया मे पिया मे भाया मे भगिणी मे जाव संगंथसंथुआ मे हिरण्णं मे सुवण्णं मे जाव उवगरणं मे अहवा से समासओ सच्चित्ते वा अचित्ते वा मीसए वा दव्वजाए एवं तस्स ण भवइ खित्तओ गामे वा णगरे वा अरण्णे वा खेत्ते वा खले वा गिहे वा अंगणे वा एवं तस्स ण भवइ कालओ थोवे वा लवे वा मुहुत्ते वा अहोरत्ते वा पक्खे वा मासे वा उऊ वा अयणे वा संवच्छरे वा अन्नयरे वा दीहकालपडिबंधे एवं तस्स ण भवइ भावओ कोहे वा जाव लोहे वा भए वा हासे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वा एवं तस्स णं भवइ । से णं भगवं वासावासवज्जं हेमंतगिम्हासु गामे एगराइए णगरे पंचराइए ववगयहाससोगअरइरइभयपरित्तासे णिम्ममे णिरहंकारे लहुभूए अगंथे वासी तच्छणे अदुट्ठे चंदणाणुलेवणे अरत्ते लेट्ठुम्मि कंचणम्मि अ समे । इह लोए परलोए अ अपडिबद्धे जीवियमरणे निरवकंखे संसारगामी कम्मसंगणिग्घायणट्ठाए अब्भुट्ठिए विहरइ । तस्स णं भगवंतस्स एतेणं विहारेणं विहरमाणस्स एगे वाससहस्से विइक्कंते समाणे पुरिमतालस्स नगरस्स बहिआ सगडमुहंसि उज्जाणंसि णग्गोहवरपायवस्स अहे झाणंतरिआए वट्टमाणस्स फग्गुणबहुलस्स एक्कारसीए पुव्वण्हकालसमयंसि अट्ठमेणं भत्तेणं अपाणएणं उत्तरासाढाणक्खत्तेणं जोगमुवागएणं अणुत्तरेणं नाणेणं जाव चरित्तेणं अणुत्तरेणं तवेणं बलेणं वीरिएणं आलएणं विहारेणं भावणाए खंतीए गुत्तीए मुत्तीए तुट्ठीए अज्जवेणं मद्दवेणं लाघवेणं सुचरिअसोवचिअफलनिव्वाणमग्गेणं अप्पाणं भावेमाणस्स अणंते अणुत्तरे णिव्वाघाए णिरावरणे कसिणे पडिपुण्णे केवलवरनाणदंसणे समुप्पण्णे जिणे जाए केवली सव्वन्नू सव्वदरिसी । स णेरइअतिरिअनरामरस्स लोगस्स पज्जवे जाणइ पासइ तं जहा आगइं गइं ठिइं उववायं भुत्तं कडं पडिसेविअं आवीकम्मं रहोकम्मं तं तं कालं मणवयकाए जोगे एवमादी जीवाण वि सव्वभावे अजीवाण वि सव्वभावे मोक्खमग्गस्स विसुद्धतराए भावे जाणमाणे पासमाणे एस खलु मोक्खमग्गे मम अण्णेसिं च जीवाणं हियसुहणिस्सेसकरे सव्वदुक्खविमोक्खणे परमसुहसमाणणे भविस्सइ ॥

अथ कथं नु भगवान् विहरति स्मेत्याह (सेणमित्यादि) स भगवान् वर्षासु प्रावृट्काले वासोऽवस्थानं तद्वर्ज वर्जनेनेत्यर्थः । हेमन्ताः शीतकालमासाः ग्रीष्मा उष्णकालमासास्तेषु ग्रामेऽल्पीयसि सन्निवेशे एका रात्रिर्वासमानतया यस्य स एकरात्रिकः एकदिनवासीत्यर्थः । नगरे गरीयसि सन्निवेशे पञ्च रात्रयो वासमानतया यस्य स तथा पञ्चदिनवासीति भावः । यथा दिनशब्दोऽहोरात्रवाची तथा रात्रिशब्दोऽप्यहोरात्रवाचीति । ननु तर्हि दिनशब्द एव कथं नोपात्त उच्यते । निशाविहारस्यासंयमहेतुत्वेन चतुर्ज्ञानिनोऽपि तीर्थङ्करा अवगृहीतायां वसतावेवावासिषुः वत्स्यन्ति वसन्तीति वृद्धाम्नायः । व्यपगतहास्यशोकारतिरतिभयपरित्रासः । तत्रारतिर्मानसौत्सुक्यमुद्वेगफलकं रतिस्तद्भावः । परित्रास आकस्मिकं भयं शेषं व्यक्तम् । निर्गतो ममेति शब्दो यस्मात् स तथा । किमुक्तं भवति ममेति ममेत्यभिमानो नास्तीति षष्ठ्येकवचनान्तस्यास्मच्छब्दस्यानुकरणशब्दत्वान्ममेत्यस्य साधुता । निरहङ्कारः अहमिति करणमहङ्कारः स निर्गतो यस्मात् स तथा लघुभूत ऊर्द्ध्वगतिकत्वात् । अत एवाग्रन्थो बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहरहितः । वास्या सूत्रधारदारुविशेषेण यत्तक्षणं त्वचोत्खननं तत्राद्विष्टोऽद्वेषवान् । चन्दनानुलेपनेऽरक्तोऽरागत्वात् । लेष्टौ दृषदि काञ्चने च समः उपेक्षणीयत्वेनोभयत्र साम्यभाक् । इह लोके वर्त्तमाने भवे मनुष्यलोके परलोके देवभवादौ तत्राऽप्रतिबद्धस्तत्रत्यसुखनिष्पिपासित्वात् जीवितमरणयोर्निरवकाङ्क्षमिन्द्रनरेन्द्रादिपूजाप्राप्तौ जीविते दुर्विषहपरीषहाप्तौ च मरणे निःस्पृहः । संसारपारगामीति व्यक्तम् । कर्मणां सङ्गोऽनादिकालीनो जीवप्रदेशैः सह संबन्धस्तस्य निर्घातनं विश्लेषणं तदर्थमभ्युत्थित उद्यतो विहरति । अथ ज्ञानकल्याणकवर्णनायाह (तस्सणमित्यादि) तस्य भगवतः एतेनानन्तरोक्तेन विहारेण विहरत एकस्मिन् वर्षसहस्रे व्यतिक्रान्ते सति पुरिमतालस्य नगरबहिः शकटमुखे उद्याने न्यग्रोधवरपादपस्याधो ध्यानान्तरिकेति । अन्तस्य विच्छेदस्य करणमन्तरिका स्त्रीलिङ्गशब्दः अथवा अन्तरमेवान्तर्यं भेषजादित्वात् स्वार्थे यणप्रत्ययस्ततः स्त्रीत्वविवक्षायां ङीषि प्रत्यये आन्तरी आन्तर्येवान्तरिका आरब्धध्यानस्य समाप्तिरपूर्वस्यानारम्भणमित्यर्थः । अतस्तस्यां वर्त्तमानस्य कोऽर्थः पृथक्त्ववितर्कं सविचारम् १ एकत्ववितर्कमविचारम् २ सूक्ष्मक्रियमनिवर्त्ति ३ समुच्छिन्नक्रियमप्रतिपाति ४ इति चतुश्चरणात्मकस्य शुक्लध्यानस्य चरणद्वये ध्याने चरमचरणद्वयमप्रतिपन्नस्येति योगनिरोधरूपध्यानस्य चतुर्दशगुणस्थानवर्त्तिनि केवलिन्येव संभवात् । फाल्गुनबहुलस्यैकादश्यां पूर्वाह्णकालरूपो यः समयोऽवसरस्तस्मिन् अष्टमेन भक्तेनागमभाषयोपवासत्रयलक्षणेनापानकेन जलवर्जितेनोत्तराषाढानक्षत्रे चन्द्रेण सहेति गम्यं योगमुपागते सति । उभयत्र णं वाक्यालङ्कारे । अथ वा आर्षत्वात्सप्तम्यर्थे तृतीया अनुत्तरेणेति क्षपकश्रेणिप्रतिपन्नत्वेन केवलासन्नत्वेन परमविशुद्धिपदप्राप्तत्वेन न विद्यते उत्तरं प्रधानमग्रवर्त्ति वा छाद्मस्थिकज्ञानं यस्मात्तत्तथा तेन ज्ञानेन तत्त्वावबोधरूपेण एवं यावच्छब्दात् दर्शनेन क्षायिकभावापन्नेन सम्यक्त्वेन चारित्रेण विरतिपरिणामरूपेण क्षायिकभावापन्नेनैव तपसेति व्यक्तम् । बलेन संहननोत्थप्राणेन वीर्येण मानसोत्साहेन आलयेन निर्दोषवसत्या विहारेण गोचरचर्यादिहिण्डनलक्षणेन भावनया महाव्रतसंबन्धिन्या मनोगुप्त्यादिरूपतया पदार्थानामनित्यत्वादिचिन्तनरूपया वा क्षान्त्या क्रोधनिग्रहेण गुप्त्या प्राग्व्याख्यातस्वरूपया मुक्त्या निर्लोभतया तुष्ट्या इच्छानिवृत्त्या आर्जवेन मायानिग्रहेण मार्दवेन माननिग्रहेण लाघवेन क्रियासु दक्षभावेन क्रियोक्तप्रत्यभिधानात् सोपचितं सोपचयं पुष्टमिति यावत् एतादृशेन समुत्पन्नोऽयमित्यन्वयः । एवमनन्तमविनाशित्वात् अनुत्तरं सर्वोत्तमत्वात्, निर्व्याघातं कटकुड्यादिभिरप्रतिहतत्वात् निरावरणं क्षायिकत्वात् कृत्स्नं सकलार्थग्राहकत्वात् प्रतिपूर्णं सकलस्वांशकलितत्वात् पूर्णचन्द्रवत् । केवलमसहायं " णट्ठम्मि उ छाउमत्थिए णाणे" इति वचनात् परं प्रधानं ज्ञानं च दर्शनं समाहारद्वन्द्वे एकवद्भावः ततः पूर्वपदाभ्यां कर्मधारयः । तत्र सामान्यविशेषोभयात्मके ज्ञेयवस्तुनि ज्ञानं विशेषावबोधरूपं दर्शनं सामान्यावबोधरूपमिति । अत्रायमाशयः दूरादेव तालतमालादिकं तरुनिकरं विशिष्टव्यक्तिरूपतयाऽनवधारितमवलोकयतः पुरुषस्य सामान्येन वृक्षमात्रप्रतीतिजनकं यदपरिस्फुटं किमपि रूपं चकास्ति तद्दर्शनं निर्विशेषं विशेषाणामग्रहो दर्शनमिति वचनात् । पुनस्तस्यैव प्रत्यासीदतस्तालतमालादिव्यक्तिरूपतयाऽवधारितं तमेव तरुसमूहमुपश्यतो विशिष्टव्यक्तिप्रतीतिजनकं परिस्फुटं रूपमाभाति तज्ज्ञानम् । ननु भवतु नाम इत्थमनुभवसिद्धे ज्ञाने छद्मस्थानां विशेषग्राहकता दर्शने च सामान्यग्राहकता परं केवलिनो ज्ञानक्षणे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सामान्यांशग्रहणाद्दर्शनेन विशेषांशग्रहणाभावाद् द्वयोरपि सर्वार्थविषयत्वं विरुध्यति उच्यते ज्ञानक्षणे हि केवलिनां ज्ञाने यावद्विशेषान् गृह्णति सति सामान्यं प्रतिभातमेवाशेषराशिरूपत्वात् सामान्यस्य । दर्शनक्षणे च दर्शने सामान्यं गृह्णाति सति यावद् विशेषाः प्रतिभाता एव विशेषानालिङ्गितस्य सामान्यस्याभावात् अत एव निर्विशेषं विशेषाणामग्रहो दर्शनमित्युक्तमनन्तरोक्तग्रन्थे एकार्थः । ज्ञानप्रधानभावेन विशेषा गौणभावेन सामान्या दर्शनं प्रधानभावेन सामान्यं गौणभावेन इति विशेषः । समुत्पन्नसम्यक्त्वक्षायिकत्वेनावरणदेशस्याप्यभावात् । उत्पन्नकेवलस्य यद्भगवतः स्वरूपं तत् प्रकटयति (जिणे जाए इत्यादि) जिनो रागादिजेता । केवलं श्रुतज्ञानाद्यसहायकं ज्ञानमस्यास्तीति केवली अत एव सर्वतो विशेषांशपुरस्कारेण ज्ञाता सर्वज्ञाता सर्वदर्शी सामान्यांशपुरस्कारेण । नन्वर्हतां केवलज्ञानकेवलदर्शनावरणयोः क्षीणमोहान्तसमय एव क्षीणत्वेन युगपदुत्पत्तिकत्वे उपयोगस्वभावात् क्रमप्रवृत्तौ च सिद्धायां " सव्वन्नू सव्वदरिसि " इति सूत्रं यथा ज्ञानप्राथम्यसूचकमुपन्यस्तम् तथा " सव्वदरिसी सव्वन्नू " इत्येवं दर्शनप्राथम्यसूचकं किं न तुल्यन्यायत्वात् नैवं "सव्वाउ लद्धीओ, सागरोवउत्तस्स उववज्जंति णो अणागारोवउत्तस्स " इत्यागमादुत्पत्तिक्रमेण सर्वदा जिनानां प्रथमे समये ज्ञानं ततो द्वितीये दर्शनं भवतीति ज्ञापनार्थत्वादित्थमुपन्यासस्येति छद्मस्थानां प्रथमे समये दर्शनं द्वितीये ज्ञानमिति प्रसङ्गाद्बोध्यम् उक्तविशेषणाद् द्वयमेव विशिनष्टि सनैरयिकतिर्यग्नरामरस्य लोकस्य पञ्चास्तिकायात्मकक्षेत्रखण्डस्य उपलक्षणादलोकस्यापि नभःप्रदेशमात्रात्मकक्षेत्रविशेषस्य पर्यायान् क्रमभाविस्वरूपविशेषान् जानाति केवलज्ञानेन पश्यति केवलदर्शनेन पर्यायानित्युक्ते द्रव्यमपि ग्राह्यम् । न हि पर्याया द्रव्यवियुता भवेयुर्द्रव्यं वा पर्यायवियुतं तेनाधेयमाधारमाक्षिपतीति अन्यथा आधेयत्वस्यैवानुपपत्तेः यथाकाशस्य न हि आकाशः क्वाप्यवतिष्ठते तस्याधारमात्ररूपस्यैव सिद्धान्ते भणनात् । अथवा सामान्यत उक्तपर्यायाणां ज्ञाने व्यक्त्या निरूपयन्नाह । तद्यथा आगतिं यतः स्थानादागच्छन्ति विवक्षितस्थानं जीवाः गतिं यत्र मृत्वोत्पद्यन्ते स्थितिं कायस्थितिभवस्थितिरूपां च्यवनं देवलोकाद्देवानाम् मनुष्यतिर्यक्ष्ववतरणम् । उपपातं देवनारकजन्मस्थानं भुक्तमशनादि कृतं चौर्यादि प्रतिसेवितं मैथुनादि आविःकर्म प्रकटकार्यं कर्म प्रच्छन्नकृतं तं तं (कालंति) प्राकृतत्वात् सप्तम्यर्थे द्वितीया तस्मिन् २ काले वर्त्तमानायां त्रिविधान् मनोवचःकायान् योगान् करणत्रयव्यापारान् एवमादीन् जीवानामपि सर्वभावान् जीवधर्मानित्यर्थः । अजीवानामपि सर्वभावान् मोक्षमार्गस्य रत्नत्रयस्य विशुद्धतरकान् प्रकर्षकोटीप्राप्तान् कर्मक्षयहेतून् भावान् ज्ञानाचारादीन् जानन् पश्यन् विहरतीति गम्यम् । कथं च जानन् पश्यन् विचरतीत्याह एषोऽनन्तरवक्ष्यमाणो धर्मः श्रुतचारित्ररूपो मोक्षमार्गः सिद्धिसाधकत्वेन समुद्देशकस्यान्येषां च श्रोतॄणां हितं कल्याणं पथ्यमोजनवदित्यर्थः । सुखमनुकूलवेद्यं पिपासोः शीतलजलपानवत् निःश्रेयसं मोक्षस्तत्करः उक्तानां हितादीनां कारक इति । सर्वदुःखविमोक्षण इति व्यक्तं परमसुखमात्यन्तिकसुखं समापयतीति व्युत्पत्तिवशात्परमसुखसमाननः "समापःसमानः" इति प्राकृतसूत्रेण समानादेशेऽनटि प्रत्यये रूपसिद्धिः । निःश्रेयसेत्यत्र यकारलोपः प्राकृतत्वात् भविष्यतीति ॥ जं० २ वक्ष० ॥ आ० म० प्र० ।

(२१) अथ उत्पन्नकेवलज्ञानो भगवान् यथा धर्मं प्रादुश्चकार तथाह ।

तते णं से भगवं समणाणं णिग्गंथाणं णिग्गंथीण य पंचमहव्वयाइं सभावणगाइं छच जीवणिकाए धम्मं देसमाणे विहरति तं जहा पुढविकाए जाव णागमेणं पंचमहव्वयाइं सभावणगाइं भाणिअव्वाइं ॥

ततः स भगवान् श्रमणानां निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां च पञ्चमहाव्रतानि सर्वप्राणातिपातविरमणादीनि सभावनाकानि ईर्यासमित्यादिस्वभावेनोपेतानि षट् च जीवनिकायान् पृथिव्यादित्रसान्तान् इत्येवंरूपं धर्ममुपदिशन् विहरतीति संबन्धः । तत्र धर्मे प्रक्रान्तेऽपि षड्जीवनिकायकथनमुपक्रान्तं तज्जीवपरिज्ञानमन्तरेण व्रतपालनासंभव इति ज्ञापनार्थम् । नन्वनियमः प्रथमव्रते संभवेत् मृषावादविरमणादीनां तु भाषाविभागादिज्ञानाधीनत्वात् न संभवेदित्युच्यते शेषव्रतानामपि प्राणातिपातविरमणव्रतस्य रक्षकत्वेन नियुक्तत्वात् महावृक्षस्य वृक्षवत् तथा हि मृषाभाषामभाषमाणो ह्यभ्याख्यानादिविरतो न कुलवध्वादीन् अदत्तमनाददानो धनस्वामिनं सचित्तजलफलादिकं च मैथुनविरतो नवबहुपञ्चेन्द्रियादीन् परिग्रहविरतः शुक्तिकस्तूरीमृगादींश्च नातिपातयेदिति । अथैतदेव किंचिद्व्यक्त्या विवृणोति तद्यथा पृथिवीकायिकान् जीवान् उपदिशन् विहरतीति संबन्धः । ज्ञापकार्थकत्वेन सूत्रप्रवृत्तेर्देशग्रहणात्पूर्णोऽप्यालापको वाच्यः स चायं "आउकाइए तेउकाइए वाउकाइए वणस्सइकाइए तसकाइएत्ति" इत्यलम् तथा पञ्चमहाव्रतानि सभावनाकानि भावनागमेन श्रीआचाराङ्गद्वितीयश्रुतस्कन्धगतभावनाख्याध्ययनगतपाठेन भणितव्यानि अत्र च सूत्रे यदुद्देशे प्रथमं "पंचमहव्वयाइं" इत्याद्युक्तं निर्देशे तु व्यत्ययेन "तं जहा पुढविकाइए" इत्यादि तत्कथमिति नाशङ्कनीयम् । यतः पश्चादुद्दिष्टानामपि षड्जीवनिकायानां प्रस्तरतो बाह्य स्वल्पवक्तव्यतया प्रथमं प्ररूपणाया युक्त्युपपन्नत्वात् सूचीकटाहन्यायोऽत्रानुसरणीयो विचित्रा सूत्राणां कृतिराचार्यस्येति न्यायेन वा स्वत एवेति ज्ञेयम् । ननु गृहिधर्मसंविग्नपाक्षिकधर्मावपि भगवता देशनीयौ मोक्षाङ्गत्वात् यदुक्तम् । "सावज्जजोगपरिव-ज्जणा उ सव्वुत्तमो जइधम्मो । बीओ सावगधम्मो, तइओ संविग्गपक्खपहो ॥ १ ॥ " इति तत्कथमत्र तौ नोक्तौ उच्यते सर्वसावद्यवर्जकत्वेन देशनायां यतिधर्मस्य प्रथमं देशनीयत्वादत्यासन्नमोक्षपथत्वात् श्रमणसंघस्य प्रथमं व्यवस्थापनीयत्वाच्च प्राधान्यख्यापनार्थं प्रथममुपन्यासस्ततो व्याख्यानो विशेषार्थप्रतिपत्तिरिति न्यायादेतत्पुरस्कृतौ तावपि धर्मौ भगवता प्ररूपिताविति ज्ञेयम् । भगवत्प्ररूपणामन्तरेणाऽन्येषां तत्तद्ग्रन्थेषु तयोः प्ररूपणानुपपत्तेरित्यलं प्रसङ्गेनेति । जं० २ वक्ष० ॥

उसभेणं अरहा कोसलिएणं इमीसे उसप्पिणीए नवहिं सागरोवमकोडाकोडीहिं वीइकंताहिं तित्थे पवत्तिए । स्था० १० ठा० ॥

उज्जाणपुरिमताले, पुरीविणीयाइ तत्थ नाणवरं ।
चक्कुप्पयायभरहे, निवेयणं चेव दोण्हं पि ॥

तथा तस्मिन्नेवाहनि भरतनृपतेरायुधशालायां चक्रोत्पादश्च बभूव (भरहे निवेयणं चेव दोण्हंपित्ति) भरताय निवेदनं च द्वयोरपि ज्ञानरत्नचक्ररत्नयोः तन्नियुक्तपुरुषैः कृतमित्यध्याहार इति

गाथार्थः। अत्रान्तरे भरतश्चिन्तयामास पूजा तावद् द्वयोरपि कार्या। कस्य प्रथमं कर्तुं युज्यते। किं चक्ररत्नस्य उत तातस्येति तत्र

तातम्मि पूइए चक्क-पूइयं पूअणारिहो ताओ ।

इह लोइयं तु चक्कं, परलोअसुखावहो ताओ ॥२४॥

ताते त्रैलोक्यगुरौ पूजिते सति चक्रं पूजितमेव तत्पूजानिबन्धनत्वाच्चक्रस्य। तथा पूजामर्हतीति पूजार्हस्तातो वर्तते देवेन्द्रादितुल्यत्वात्। तथा इह लौकिकं चक्रं तुरेवकारार्थः स चावधारणे किमवधारयति। ऐहिकमेव चक्रं सांसारिकसुखहेतुत्वात् परलोकसुखावहस्तातः शिवसुखहेतुत्वादिति गाथार्थः । तस्मातिष्ठतु तावच्चक्रं तातस्य पूजा कर्तुं युज्यत इति संप्रधार्य तत्पूजाकरणसंदेशव्यापृतो बभूव॥ इदानीं कथानकम् "भरहो सव्वड्डीए भगवंतं वंदं चपयट्टो। मरुदेवी सामिणी य भगवंते पव्वइए भरहरज्जसिरिं पासिऊण भणिया इयो मम पुत्तस्स एरिसी रज्जसिरी आसि संपयं सो खुहापिवासापरिगओ नग्गओ हिंडइत्ति। उव्वेयं करिया इयो भरहस्स तित्थगरविभूइं वन्नेतस्स विस्सपत्तिज्जिया इयो पुत्तसोगेण य किलेसब्भामंतचक्खुं जायं भवंती पत्तो भरहेण गइंतेण विन्नत्ता। अम्मो एहि जेण भगवओ विभूतिं दंसेमि ताहे भरहो हत्थिखंधे पुरओ काऊण निग्गओ। समोसरणदेसे य गयणतलं सुरसमूहेण विमाणारूढेणोवरंतेण विरायंतधयवडं पहयदेवदुंदुहिनिनायापूरियदिसामंडलं पासिऊण भरहो भणिया ईओ पेच्छ जइ एरिसी रिद्धी मम कोडिसयसहस्सभागेण वि । ततो तीए भगवओ उच्छवा इत्थ तं पासंतीए चेव केवलमुप्पन्नं। अन्ने भणंति भगवओ धम्मकहासद्दं सुणेंतीए तक्खणं च तिकट्टुमाउयं। ततो सिद्धा । इह भरहे ओसप्पिणीए पढमसिद्धोत्ति काऊण देवेहिं पूजा कया सरीरं च खीरोए छूढं। भगवं च समोसरणमज्झत्थो सदेवमणुयासुराए सहाए धम्मं कहेइ । तत्थ उसभसेणो नाम भरहपुत्तो पुव्वभवबद्धगणहरनामगुत्तो जायसंवेगो पव्वइओ बंभी य पव्वइया। भरहो सावगो जाओ। सुंदरी पव्वयंती भरहेण इत्थीरयणं भविस्सइत्ति रुद्धा सा वि साविया जाया। एस चउव्विहो समणसंघो । ते य तावसा भगवओ नाणमुप्पन्नं ति कच्छसुकच्छवज्जा भगवओ सगासमागंतूण भवणवतिवाणमंतरजोइसियवेमाणियदेवागिंखं परिसं दट्ठूण भगवओ सगासे पव्वइया एत्थ समोसरणे मरीचिमाइया बहवे कुमारा पव्वइया आ० म० प्र० ।

(२२) सांप्रतमभिहितार्थसंग्रहपरमिदं गाथाचतुष्टयमाह।

सहमरुदेवीइ निग्गओ-कहणं पव्वज्जमुसभसेणस्स ।

बंभीमरीइदिक्खा, सुंदरिओरोहसु अदिक्खा ॥२५॥

पंच य पुत्तसयाइं, भरहस्स य सत्तनत्तुअसयाइं ।

सयएहं पव्वइआ, तम्मि कुमारा समोसरणे ॥ २६ ॥

भवणवइवाणमंतर-जोइसवासी विमाणवासी अ ।

सव्विड्ढिसपरिसा का-सी नाऊणुप्पया महिमं ॥२७ ॥

दट्ठूण कीरमाणिं, महिमं देवेहिं खत्तिओ मरिई ।

संमत्तलद्धबुद्धी, धम्मं सोऊण पव्वइओ ॥ २८ ॥

कथनं धर्मकथा परिगृह्यते। मरुदेव्यै भगवद्विभूतिकथनम्। तथा नप्तृशतानीति पौत्रकशतानि । तथा " सयएहमिति " देशीवचनं युगपदर्थाभिधायकं त्वरिताभिधायकं चेति । मरीचिरिरिति जातमात्रो मरीचि मुक्तवानित्यतो मरीचिमान् मरीचिरभेदोपचारान्मतुब्लोपाद्वेति । अस्य च प्रकृतोपयोगित्वात् कुमारसामान्याभिधाने सत्यपि भेदेनोपन्यासः । सम्यक्त्वेन लब्धा प्राप्ता बुद्धिर्यस्य स तथाविधः शेषं सुगममिति गाथाचतुष्टयार्थः। आ० म० प्र०। आव० १ अ० । (भरतविजयवक्तव्यता भरहशब्दे)भगवद्वन्दनार्थं सह मरुदेव्या निर्गतः (कहणं) भगवद्विभूतिकथनं ऋषभसेनस्य पुण्डरीकापरनाम्नः प्रव्रज्या ब्राह्मयादिदीक्षा सुन्दर्या अवरोधार्थं धारणं (सयएहं) समकालं सामान्येन कुमारदीक्षाभिधानेऽपि मरीचेर्विशेषेणाभिधानं प्रकृतोपयोगित्वात् (सम्मत्तलद्धबुद्धित्ति)लब्धा सम्यक्त्वबुद्धिर्येन स लब्धसम्यक्त्वबुद्धिः शेषं स्पष्टम्। अथ भरतः किं चकारेत्याह "अथोत्थाय प्रभोः पूजां, विधाय भरतेश्वरः। चकार चक्ररत्नस्या-ष्टाह्निकामहिमोत्सवम्" (आ०क०)वारसवासाणि महारायाभिसेओ वुत्तो रायणो विसज्जिया ताहे नियय-वग्गं सरिउमारद्धो ताहे दाइज्जंति सव्वे निपल्लया एवं परिवाडी ए सुंदरी दाइया सा पंडुल्लुगितमुही सा य जद्दिवसं रुद्धा तद्दिवसमारब्भ आयंबिलाणि करेति तं पासित्ता रुट्ठो ते कुडुंबिए भणइ। किं मम नत्थि भोयणं जं एसा य रिसीरूवेण जाया वेज्जा वा नत्थि तेहिं सिट्ठं जहा आयंबिलाणि करेइ ताहे तस्स तस्सोवरिं पयणुओ रागो जाओ। सा य भणिया जइ रुच्चति तो मए समं भोगे भुंजाहि ण वि तो पव्वयाहि त्ति। ताहे पाएसु पडिया विसज्जिया पव्वइया । अन्नया भरहो तेसिं भाउयाणं दूयं पट्ठवेइ। जहा मम रज्जं आयणह ते भणंति अम्हं वि रज्जं ताएण दिन्नं तुब्भं वि एतु ताव ताओ पुच्छिज्जिहित्ति। जं भणिहि त्ति तं करिहामो तेण समएण भगवं अट्ठावयमागओ विहरमाणो एत्थ सव्वे समोसरिया कुमारा ताहे भणंति तुब्भेहिं दिण्णानि रज्जाइं हरति भाया तो किं करेमो किं जुज्झामो उदाहु आयणामो ताहे सामी भोगेसु नियत्तावेमाणो तेसिं धम्मं कहेइ न मुत्तिसरिसं सुहमत्थि ताहे इंगालदाहकदिट्ठंतं कहेइ । " जहा एगो इंगालदाहओ एगं भाणं पाणियस्स भरेऊणं गओ तं तेण उदगं निट्ठवियं उवरिं आइच्चो पासे अग्गी पुणो परिस्समो दारुगाणि कुट्टितस्स घरं गतो पाणियं पीयं। मुच्छितो सुमिणं पासइ। एवं असब्भावपट्ठवणा कूवतलागनदीदहसमुद्दा य सव्वे पीया। न य छिज्जइ तण्हा। ताहे अन्नम्मि जिन्नकूवे तणपुलियं गहाय उस्सिंचइ। जं पडियसेसं तं जीहाए लिहइ एवं तुब्भेहिं वि अणुत्तरा सव्वलोगे सव्वपुरिसा सव्वदुसिकेः अणुभूया तह वि तत्ति न गया। एवं वेयालियं नाम अज्झयणं भासइ संबुज्झह किन्न बुज्झह । एवं अट्ठाणउई वि तेहिं अट्ठाणउई कुमारा पव्वइयत्ति कोइ पढमिल्लुएण संबुद्धो कोइ बितिएण कोइ ततिएण। जाहे ते पव्वइया " आ० म० प्र० ।

अमुमेवार्थमुपसंहरन्नाह।

मागहमाई विजओ, सुंदरिपव्वज्जबारसाभिसेओ ।

आणवण भाउआणं, समुसरणे पुच्छदिट्ठंतो ॥

मागधमादौ यस्य स मागधादिः कोऽसौ विजयो भरतेन कृत इति पुनरागतेन सुन्दर्यवस्थिता दृष्टा क्षीणत्वान्मुक्ता चेति द्वादश वर्षाण्यभिषेकः कृतो भरताय आज्ञापनं भ्रातॄणां चकार तेऽपि च समवसरणे भगवन्त पृच्छन्तः पृष्टवन्तः भगवता चाङ्गारदाहकदृष्टान्तो गदित इति गाथाक्षरार्थः॥ आ० म प्र०॥

एवं षष्टिसहस्राब्दा, सर्वं निर्जित्य भारतम् ॥ ३० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राजधान्यां विनीतायां, प्रत्यगाद्भरतेश्वरः ।
महाराज्याभिषेको भू-त्तत्र द्वादशवार्षिकः ॥ ३१ ॥
सर्वान् विसृज्य नृपाला-नारेभे स्वजनेक्षणम् ।
दर्श्यमानेष्वथ स्वेषु, सुन्दरी दर्शिता यदा ॥ ३२ ॥
दृष्ट्वा पाण्डुमुखीं क्षामां, क्रुद्धः कौटुम्बिकानवक् ।
अस्ति मे भोजनं किं न, रूपेणेयं यदीदृशी ॥ ३३ ॥
वैद्यो वा नास्ति शिष्टं तैः, सर्वमप्यस्ति ते प्रभो ! ।
परं व्रतायाचाम्लैः, कटकाद्यदिनात् स्थिता ॥ ३४ ॥
अथ विज्ञाय तद्भावं, मुदितो भरताधिपः ।
श्रुत्वा च समवसृतं, प्रभुमष्टापदाचले ॥ ३५ ॥
चिरादुत्कण्ठितस्तत्र, ततो गत्वा यमी मुदा ।
प्रभुं प्रणम्य सुन्दर्यै, दापयामास संयमम् ॥ ३६ ॥
अथ प्रत्यागतोऽयोध्यां, नगरीं भरतेश्वरः ।
व्यज्ञप्यत युधागार-नियुक्तेनैत्य केनचित् ॥ ३७ ॥
चक्रं न चक्रशालाया-मद्यापि विशति प्रभो ! ।
विना त्वदाज्ञां कुर्वत्सु, राज्यानि तव बन्धुषु ॥ ३८ ॥
चक्रवर्ती ततः सद्यो, दूतैस्तानूचिवानदः ।
राज्येष्वस्ति यदीच्छा व-स्तत्सेवा क्रियतां मम ॥ ३९ ॥
प्रत्यूचिरेऽष्टानवतिः, कुमारास्तानहंयवः ।
राज्यं तातेन दत्तं न-स्तत्किं भरतसेवया ॥ ४० ॥
यूयं व्रजत हे दूता ! वयं त्वत्स्वामिना सह ।
तातं पृष्ट्वा करिष्यामः, सख्यं वाऽसख्यमेव वा ॥ ४१ ॥
ततस्तेऽष्टापदे गत्वा, प्रभुं नत्वाऽवदन्निदः ।
राज्यं तावत्त्वया दत्तं, भ्राता हरति तद्वयम् ॥ ४२ ॥
युध्यामहे किमथवा, तदाज्ञामनुमन्महे ।
धर्मं तेषामथार्योऽवक्, भोगेभ्यस्तान्न्यवर्त्तयत् ॥ ४३ ॥
निःश्रेयससमं सौख्यं, संसारे क्वापि नास्त्यहो ।
अङ्गारदाहकस्यात्र, दृष्टान्तं शृणुताधुना ॥ ४४ ॥
इहैकोऽङ्गारकृद्यातो, गृहीत्वाम्भोघटं वने ।
पीतं तेनाम्बु तत्सर्वं, तृष्णयार्त्तेन कृत्स्नतः ॥ ४५ ॥
उपर्यादित्यतापेन, पार्श्वेऽग्नेर्ज्वलनात्तथा ।
काष्ठकुट्टनखेदाच्च, पीडितस्तृष्णया पुनः ॥ ४६ ॥
सोऽथ गाढं गतो मूर्छां, सुप्तः स्वप्ने तदा जलम् ।
सर्वं गेहसरः कूप-नदीह्रदसमुद्भवम् ॥ ४७ ॥
सर्वं पपौ परं तस्य, तृष्णा छिन्ना तथाऽपि न ।
ततो मरौ जीर्णकूपे, गृहीत्वा तृणपूलकम् ॥ ४८ ॥
तेनाहृतं पयःशेषं, पतिताहेढि जिह्वया ।
न छिन्ना या समुद्रान्ते, सा तृट् छेत्स्यति तेन किम् ॥ ४९ ॥
अन्वभूवन् भवन्तोऽपि, सुखं भवसुखावधि ।
विमाने सर्वार्थसिद्धे, तृप्तिस्तदपि नाभवत् ॥ ५० ॥
ततो वैतालिकं नामा-ध्ययनं स्वाम्यभाषत ।
बुध्यध्वं किं न बुध्यध्व-मित्यष्टानवतिध्रुवाः ॥ ५१ ॥
कोऽपि प्रथमया बुद्धः, कश्चनापि द्वितीयया ।
बुद्धाः सर्वेऽपि सर्वाभिः, कुमाराः प्राव्रजंस्तदा ॥ ५२ ॥
ज्ञात्वा चरेभ्यस्तद्वृत्तं, भरतो भरताधिभूः ।
तेजांसीवांशुरग्नीनां, तेषां राज्यान्यपाहरत् ॥ ५३ ॥
विज्ञाय लघुबन्धूनां, तद्राज्यहरणं तदा ।
आयान्तं भारतं दूत-मूचे बाहुबली बली ॥ ५४ ॥
अथ तृप्तिर्न ते भर्त्तु-र्वृहत्कुक्षिरिवैष कः ।
बन्धूनामपि राज्यान्या-च्छिनत्ति स्मातिलोभतः ॥ ५५ ॥
मदीयमपि किं तद्व-द्राज्यमेष जिहीर्षति ।
मरिचान्यप्यधीर्वाञ्छ-त्यत्तुं चणकलीलया ॥ ५६ ॥
आयातोऽहं तद्द्वेषोऽस्मि, राज्याय त्वं प्रभुं युधि ।
इत्युक्त्वा दूतमुत्सृज्य, बाहुबल्यप्यपेणयत् ॥ ५७ ॥
ज्ञात्वाऽऽयान्तं च भरतं, सर्वौघेण तमभ्यगात् ।
ततस्तद्बलयोरासी-त्संग्रामो द्वादशाब्दकः ॥ ५८ ॥
अथ बाहुबलिः स्माह, किमेतैः कीटकुट्टनैः ।
आवयोरेव वैरं-मावयोरेव यद्रणः ॥ ५९ ॥
अथाङ्गाङ्गिरणे देव-प्रार्थनात्स्वीकृते शुभे ।
दृग्युद्धं प्रथमं चक्रे, भरतस्तत्र निर्जितः ॥ ६० ॥
एवं वाग्युद्ध-मुष्टीमुष्टि-दण्डादण्डिरणैर्जितः ।
भरतोऽचिन्तयच्चक्री, एष चक्र्यस्म्यहं न किम् ॥ ६१ ॥
तस्यैवं खिन्नचित्तस्य, चक्रं देवतयाऽर्पितम् ।
सगर्वस्तेन सोऽधावत्, हन्तुं बाहुबलिं प्रति ॥ ६२ ॥
तमायान्तं समालोक्या-चिन्तयद्बाहुबल्यपि ।
एनं सचक्रमप्येक-मुष्टिघातेन चूर्णये ॥ ६३ ॥
किं पुनः कामभोगानां, तुच्छानां कारणे मम ।
भ्रातुर्ज्येष्ठप्रतिज्ञस्य, वधः कर्त्तुं न युज्यते ॥ ६४ ॥
भव्यं मे भ्रातृभिश्चक्रे, तत्करोम्यहमप्यतः ।
अथोचेऽधर्मयुद्धेच्छो ! धिक्ते भरत ! पौरुषम् ॥ ६५ ॥
अलं भोगैर्ममेत्युक्त्वा, तदैव व्रतमाददे ।
भरतस्तनयं बाहो, राज्ये सोमप्रभं न्यधात् ॥ ६६ ॥
अग्रे केवलिनः सन्ति, तातोपान्ते ममानुजाः ।
ततोऽहमपि यास्यामि, संजाते तत्र केवले ॥ ६७ ॥
तत्रैवास्थात्प्रतिमये-त्युपलस्तम्भनिश्चलः ।
पादयोर्जातवल्मीको, लतापहुतविग्रहः ॥ ६८ ॥
वत्सरान्ते बोधकालं, ज्ञात्वा ब्राह्मी च सुन्दरी ।
स्वामिना प्रेषिते गत्वा, दृष्ट्वा तं वल्लिवेष्टितम् ॥ ६९ ॥
नत्वोचतुरिदं बन्धो, हस्तिनोऽवतराधुना ।
द्विस्त्रिर्वचनमित्युक्त्वा, गते साध्व्यौ यथा गतम् ॥ ७० ॥
बाहुर्दध्यौ क्व हस्ती मे, मृषा चैते न जल्पतः ।
हुं ज्ञातं मानहस्त्यस्ति, को मानो मे विवेकिनः ॥ ७१ ॥
तद्यामि स्वामिनं वन्दे, तान् स्वभ्रातॄन् मुनीनपि ।
उत्क्षिप्ते चरणे जातं, केवलज्ञानमुज्ज्वलम् ॥ ७२ ॥
ततो गत्वा प्रभुं प्रेक्ष्य, तस्थौ केवलिपर्षदि ।
भरतः कुरुते राज्यं, मरीचिः श्रुतवानभूत् ॥ ७३ ॥ आ० क० ।

अथ किमभूदित्याह अन्यदा ।

बाहुबलिकोवकरणं, निवेअणं चक्किदेवया कहणं ।
नाहम्मेणं तुज्झे, दिक्खा पडिमायइत्तायं ॥ ३१ ॥
पढमं दिट्ठीजुद्धं, वायाजुद्धं तहेव बाहाहिं ।
मुट्ठीहि य दंडेहि य, सव्वत्थ विजिप्पए भरहो ॥ ३२ ॥
सो एव जिप्पमाणो, विहुरो अ नरवई विचिंतेइ ।
किं मन्नि एस चक्की, जहि दाणिं दुब्बलो अहयं ॥ ३३ ॥
ताहे चक्कं मणसी, करेइ पत्ते अ चक्करयणम्मि ।
बाहुबलिणा य भणिअं, धिरत्थु रज्जस्स नो तुज्झं ॥ ३४ ॥
चिंतेइ अ सो मज्झं, सहोयरा पुव्वदिक्खिया नाणी ।
अह य केवली होउं, वच्चेहामी तिओ पडिमं ॥ ३५ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संवच्छरेण भूअं, अमूढलक्खो उ पेसए अरहा ।
हत्थीओ ओअर त्ति अ, वुत्ते चिंता पए नाणं ॥ ३६ ॥
उप्पन्ननाणरयणा, तिन्नपइन्नो जिणस्स पामूले ।
गंतुं तित्थं नमिउं, केवलिपरिसाइ आसीणो ॥ ३७ ॥
काऊण एगछत्तं, भरहो वि अ भुंजए विउलभोए ।
मरिई वि सामिपासे, विहरइ तवसंजमसमग्गो ॥ ३८ ॥
सामाइअमाईअं, इक्कारसमाउ जाव अंगाओ ।
उज्जुत्तो भत्तिगओ, अहिज्जिओ सो गुरुसगासे ॥ ३९ ॥

भरतसंदेशाकर्णने सति बाहुबलिनः कोपकरणं तन्निवेदनं च-क्रवर्तिभरताय दूतेन कृतं (देवयत्ति) युद्धे जीयमानेन किमयं चक्रवर्ती न त्वहमिति चिन्तिते । देवता आगतेति (कहणंति) बाहुबलिना परिणामदारुणान् भोगान् पर्यालोच्य कथनं कृतमलं मे राज्येनेति । तथा चाह । नाधर्मेण युध्यामीति । दीक्षा तेन गृहीता अनुत्पन्नज्ञानः कथमहं ज्यायान् लघीयसो द्रक्ष्यामीत्य-भिधानात् प्रतिमा अङ्गीकृता प्रतिज्ञा च कृता । नास्मादनुत्पन्न-ज्ञानो यास्यामीति निर्युक्तिगाथा । शेषास्तु भाष्यगाथाः । तयोश्च भरतबाहुबलिनोः प्रथमं दृष्टियुद्धं, पुनर्वाग्युद्धं, तथैव बाहुभ्यां मुष्टिभिश्च दण्डैश्च सर्वत्रापि सर्वेषु जीयते भरतः । स एवं जीयमानो विधुरोऽथ नरपतिर्विचिन्तितवान् अर्हन्नादितीर्थकरः हस्तिनः अवतर इति चोक्ते चिन्ता तस्य जाता यामीति संप्रधा-र्य (पए) इति पदोत्क्षेपे ज्ञानमुत्पन्नमिति । उत्पन्नज्ञानस्तीर्णप्र-तिज्ञो जिनस्य पादमूले गत्वा केवलिपर्षदं गत्वा तीर्थं नत्वा आ-सीनः । अत्रान्तरे कृत्वा एकच्छत्रं भुवनमिति वाक्यशेषः भरतोऽपि च भुङ्क्ते विपुलभोगान् । मरीचिरपि स्वामिपार्श्वे विहरति तपःसं-यमसमग्रः स च सामायिकादिकमेकादशाङ्गं यावत् । उद्युक्तः क्रियायां भक्तिगतो भगवति श्रुते वा अधीतवान् । स गुरुसकाश इत्युपन्यस्तगाथार्थः ।

अह अन्नया कयाई, गिम्हे उण्हेण परिगयसरीरो ।
अण्हाणएण चइओ, इमं कुलिंगं विचिंतेइ ॥ ४० ॥

गमनिका । अथेत्यानन्तर्ये कदाचिदेकस्मिन् काले ग्रीष्मे उष्णेन परि-गतशरीरः । अस्नानेनेत्यस्नानपरीषहेण त्याजितः संयमात् पत-त्कुलिङ्गं वक्ष्यमाणं विचिन्तयतीति गाथार्थः ।

मेरुगिरीसमभारे, न हुमि समत्थो मुहुत्तमवि वोढुं ।
सामन्नए गुणे गुण-रहिओ संसारमणुकंखी ॥ ४१ ॥

कान् श्रमणानामेते श्रमणाः के ते गुणाः विशिष्टक्षान्त्यादयस्तान् कुतो यतो धृत्यादिगुणरहितोऽहं संसारानुकाङ्क्षीति गाथार्थः । ततश्च किं मम युज्यते । गृहस्थत्वं तावदनुचितं श्रमणगुणानु-पालनमप्यशक्यम् ॥

एवमणुचिंतयंतस्स, तस्स निययां मई समुप्पन्ना ।
लद्धो मए उवाओ, जाया मे सासया बुद्धी ॥ ४२ ॥

एवमुक्तेन प्रकारेणानुचिन्तयतस्तस्य निजा मतिः समुत्पन्ना न परोपदेशेन स होवं चिन्तयामास । लब्धो मया वर्तमानकालो-चितः सदुपायो जाता मम शाश्वती बुद्धिः शाश्वतीत्याकालिकी प्रायो निरवद्यजीविकाहेतुत्वादिति गाथार्थः ॥

यदुक्तमिदं कुलिङ्गमचिन्तयत् तत्प्रदर्शनायाह ।

समणा तिदंडविरया, भगवंतो निहुअसंकुचिअगत्ता ।
अजिइंदिअदंडस्स, ओहो उ तिदंडं ममं चिन्हं ॥ ४३ ॥

गमनिका । श्रमणा मनोवाक्कायलक्षणात्रिदण्डविरताः ऐश्व-र्यादिभगयोगाद्भगवन्तः निभृतान्यन्तःकरणाशुभव्यापारपरित्या-गात् संकुचितान्यशुभकायव्यापारपरित्यागादङ्गानि येषां ते त-थोच्यन्ते अहं तु नैवंविधो यतः अजितेन्द्रियेत्यादि न जितानी-न्द्रियाणि चक्षुरादीनि दण्डाश्च मनोवाक्कायलक्षणा येन स त-थोच्यते । तस्याजितेन्द्रियदण्डस्य तु त्रिदण्डं मम चिह्नम-विस्मरणार्थमिति ॥

लोइंदियमुंडा सं-जया उ अहं यं खुरेण ससिहाओ ।
थूलगपाणि वहाओ, विरमणं मे सया होउ ॥ ४४ ॥

मुण्डो हि द्विधा भवति द्रव्यतो भावतश्च । तत्रैते श्र-मणा द्रव्यभावमुण्डाः कथं लोचनेन्द्रियैश्च मुण्डाः संयताः सन्ति अहं पुनर्नेन्द्रियमुण्डो यतः अतोऽहं द्रव्यमुण्डतया तस्मादहं क्षुरेण मुण्डः सशिखश्च भवामि । तथा सर्वप्राणिवधविरताः श्रमणा वर्तन्ते अहं तु नैवंविधो यतः अतः स्थूलप्राणातिपा-ताद्विरमणं मे सदा भवत्विति गाथार्थः ॥

निक्किंचणा य समणा, अकिंचणा मज्झ किंचणं होउ ।
सीलसुगंधा समणा, अहयं सीलेण दुग्गंधो ॥ ४५ ॥

गमनिका । निर्गतं किंचनं हिरण्यादि येभ्यस्ते निष्किञ्च-नाश्च श्रमणास्तथाऽविद्यमानं किंचनमल्पमपि येषां ते अकिञ्चना जिनकल्पिकादयः अहं तु नैवंविधो यतो मार्गा-विस्मृत्यर्थं मम किंचन भवतु पवित्रिकादि । तथा शीलेन शोभना गन्धो येषां ते तथाविधाः । अहं तु शीलेन दुर्गन्धः अतो गन्धच-न्दनग्रहणं मे युक्तमिति गाथार्थः ।

ववगयमोहा समणा, मोहच्छन्नस्स छत्तयं होउ ।
अणुवाहणा य समणा, मज्झं च उवाहणा हुंतु ॥ ४६ ॥

गमनिका । व्यपगतो मोहो येषां ते व्यपगतमोहाः श्रमणाः अहं तु नेत्थं यतः अतो मोहाच्छादितस्य छत्रकं भवतु अनुपानत्काश्च श्रमणाः मम चोपानही भवतामिति गाथाक्षरार्थः ॥

सुक्कंबरा य समणा, निरंबरा मज्झ धाउरत्ताइं ।
हुंतु इमे वत्थाइं, अरिहोमि कसायकलुसमई ॥ ४७ ॥

गमनिका । शुक्लाम्बराः श्रमणास्तथा निर्गतमम्बरं येभ्यस्ते नि-रम्बरा जिनकल्पिकादयः (मज्झत्ति) मम च एते श्रमणा इत्य-नेन तत्कालोत्पन्नतापसश्रमणव्युदासः धातुरक्तानि भवन्तु मम वस्त्राणि किमित्यहो योग्योऽस्मि तेषामेव कषायैः कलुषा मतिर्य-स्यासावहं कषायकलुषमतिरिति गाथार्थः ॥

वज्जंति वज्जभीरुओ, बहुजीवसमाउलं जलारंभं ।
होउ मम परिमिएणं, जलेण एहाणं च पियणं च ॥ ४८ ॥

गमनिका वर्ज्जयन्त्यवद्यभीरवो बहुजीवावद्यभीरवो बहुजीव-समाकुलं जलारम्भं तत्रैव वनस्पतेरवस्थानात् । अवद्यं पापं अहं तु नेत्थं यतः अतो भवतु मे परिमितेन जलेन स्नानं च पानं चेति गाथार्थः ।

एवं सो रुइअमई, निहगमइविगप्पिअं इमं लिंगं ।
तद्धियहेउसु जुत्तं, परिवज्जं पवत्तेइ ॥ ४९ ॥

स्थूलमृषावादादिनिवृत्तः एवमसौ रुचिता मतिर्यस्य असौ रु-चितमतिः अतो निजमत्या विकल्पितं निजमतिविकल्पितमिदं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लिङ्गं विशिष्टम् । तस्य हितास्तद्धिताः तद्धिताश्च हेतवश्चेति समासः तैः १ष्टु युक्त स्त्रिग्धमित्यर्थः । परिव्राजमिदं पारिव्राजं प्रवर्तयति शास्त्रकारवचनात् वर्तमाननिर्देशोऽप्यविरुद्ध एव पाठान्तरं वा (पारिव्वज्जं ततो कारिंसि) पारिव्राजं ततः कृतवानिति गाथार्थः ॥ भगवता च सह विजहार । तं च साधुमध्ये विजातीयं दृष्ट्वा कौतुकाल्लोकः पृष्टवान् । तथा चाह ।

अह तं पागमरूवं, दट्ठुं पुच्छेइ बहुजणो धम्मं ।

कहेइ जईणं तो सो, वियालणे तस्स परिकहणा ॥५०॥

गमनिका । अथ तं प्रकटरूपं विजातीयत्वात् दृष्ट्वा पृच्छति बहुजनो धर्म्मं कथयति यतीनां संबन्धिभूतं क्षान्त्यादिलक्षणं ततोऽसाविति लोका भणन्ति यद्ययं श्रेष्ठो भवता किं नाङ्गीकृत इति विचारेण तस्य परि समन्तात्कथना परिकथना श्रमणास्त्रिदण्डविरता इत्यादिलक्षणा पृच्छतीति त्रिकालगोचरस्तत्र प्रदर्शनार्थत्वादेवं निर्देशः । पाठान्तरम् । "अह तं पागररूवं, दट्ठुं पुच्छिंसु बहुजणो धम्मं । कहती सुजतीणं सो, वियालणे तस्स परिकहणा " प्रवर्तत इति गाथार्थः । आ० म० प्र० । आव० १ अ० ।

(२३) ब्राह्मणानामुत्पत्तिप्रकारमाह ।

धम्मकहा अक्खित्ते, उवट्ठिए देइ सामिणो सीसे ।

गामनगराई विह-रइ सो सामिणा सद्धं ॥५१॥

धर्म्मकथाक्षिप्तान् उपस्थितान् ददाति भगवतः शिष्यान् ग्रामनगरादीन् विहरति स स्वामिना सार्द्धम् । भावार्थः सुगम इत्थं निर्देशप्रयोजनं पूर्ववद्ग्रन्थकारवचनत्वाद्वा अदोष इति गाथार्थः ॥ अन्यदा भगवान्विहरमाणोऽष्टापदमनुप्राप्तवांस्तत्र स समवसृतः भरतोऽपि भ्रातृप्रव्रज्याकर्णनात्संजातमनस्तापोऽधृतिं चक्रे । कदाचिद्भोगान् दीयमानान् पुनरपि गृह्णन्तीत्यालोच्य भगवत्समीपं चागम्य निमन्त्रयंश्च तान् भोगैर्निराकृतश्च चिन्तयामास । एतेषामेवेदानीं परित्यक्तसङ्गानामाहारदानेनापि तावद्धर्मानुष्ठानं करोमीति पञ्चभिः शकटशतैर्विचित्रमाहारमानाय्योपनिमन्त्र्य आधाकर्म्माहृतं च न कल्पते यतीनामिति प्रतिषिद्धेऽकृतकारितेनान्येन निमन्त्रितवान् राजपिण्डोऽप्यकल्पनीय इति प्रतिषिद्धः सर्वप्रकारैरहं भगवता परित्यक्त इति सुतरामुन्माथितो बभूव । तमुन्माथितं विज्ञाय देवराट् तच्छोकोपशान्तये भगवन्तमवग्रहं पप्रच्छ । कतिविधोऽवग्रह इति भगवानाह । पञ्चविधोऽवग्रहस्तद्यथा । देवेन्द्रावग्रहो राजावग्रहो गृहपत्यवग्रहः सागारिकावग्रहः साधर्मिकावग्रहश्च । राजावग्रहो भरताधिपो गृह्यते । गृहपतिर्म्माण्डलिको राजा । सागारिकः शय्यातरः साधर्मिकः संयत इत्येतेषां चोत्तरोत्तरेण पूर्वः पूर्वो बाधितो द्रष्टव्य इति । यथा राजावग्रहेण देवेन्द्रावग्रहो बाधित इत्यादिप्ररूपिते देवराडहं भगवन् ! य एते श्रमणा मदीयावग्रहे विहरन्ति तेषां मयाऽवग्रहोऽनुज्ञात इत्येवमभिधायाभिवन्द्य च भगवन्तं तस्थौ । भरतोऽपि चिन्तयदहमपि स्वकीयमवग्रहमनुजानामीत्येतावताऽपि नः कृतार्थता भवतु भगवत्समीपेऽनुज्ञातावग्रहः शक्रं पृष्टवान् भक्तपानमिदमानीतमनेन किं कार्यमिति देवराडाह । गुणोत्तरान् पूजयस्व सोऽचिन्तयत् के मम साधुव्यतिरेकेण जात्यादिभिरुत्तराः पर्यालोचयता ज्ञातं श्रावका विरता विरतत्वाद्गुणोत्तरास्तेभ्यो दत्तमिति । पुनर्भरतो देवेन्द्ररूपं भास्वरमाकृतिमत् दृष्ट्वा पृष्टवान् किं यूयमेवंभूतेन रूपेण देवलोके तिष्ठत उत नेति देवराडाह नेति । तन्मानुषैर्द्रष्टुमपि न पार्यते भास्वरत्वात् । पुनरप्याह भरतस्तस्याकृतिमात्रेणास्माकं कौतुकं तन्निदर्श्यताम् । देवराज आह । त्वमुत्तमपुरुष इति कृत्वैकमङ्गावयवं दर्शयामीत्यभिधाय योग्यालङ्कारविभूषितामङ्गुलीमत्यन्तभास्वरामदर्शयत् । दृष्ट्वा च तां भरतोऽतीव मुमुदे शक्राङ्गुलीं च स्थापयित्वा महिमामष्टाहिकां चक्रे । ततः प्रभृति शक्रोत्सवः प्रवृत्त इति । भरतश्च श्रावकानाहूयोक्तवान् । भवद्भिः प्रतिदिनं मदीयं भोक्तव्यं कृष्यादि च न कार्यं स्वाध्यायपरैरासितव्यं भुक्ते च मदीयगृहद्वारासन्नव्यवस्थितैर्वक्तव्यम् । जितो भवान् वर्द्धते भयं तस्मान्माहनेति । ते तथैव कृतवन्तः । भरतश्च रतिसागरावगाढत्वात्प्रमत्तत्वात्तच्छब्दाकर्णनोत्तरकालमेव केनाहं जित इति । आम ज्ञातं कषायैस्तेभ्य एव वर्द्धते भयमित्यालोचनापूर्वकं संवेगं यातवानिति । अत्रान्तरे लोकबाहुल्यात् सूपकाराः पाकं कर्तुमशक्नुवन्तो भरताय निवेदितवन्तः नेह ज्ञायते कः श्रावकः को वा नेतीति लोकस्य प्रचुरत्वात् । आह भरतः पृच्छापूर्वकं देयमिति । ततस्तान् पृष्टवन्तस्ते को भवान् श्रावकाणां कति व्रतानि स आह श्रावकाणां न सन्ति व्रतानि किं त्वस्माकं पञ्चाणुव्रतानि । कति शिक्षाव्रतानि ते उक्तवन्तः सप्त शिक्षाव्रतानि । य एवंभूतास्ते राज्ञो निवेदिताः स च काकणीरत्नेन तान् लाञ्छितवान् । पुनः षण्मासेन ये योग्या भवन्ति तानपि लाञ्छितवान् षण्मासकालादनुयोगं कृतवानेवं ब्राह्मणाः संजाता इति । ते च स्वसुतान् साधुभ्यो दत्तवन्तस्ते च प्रव्रज्यां जगृहुः । परीषहभीरवस्तु श्रावका एवासन्निति । इयं च भरतराज्यस्थितिः । आदित्ययशसस्तु काकणीरत्नं नासीत् । सुवर्णमयानि यज्ञोपवीतानि कृतवान्महायशःप्रभृतयस्तु केचन रूप्यमयानि केचन विचित्रपट्टसूत्रमयानीत्येवं यज्ञोपवीतप्रसिद्धिः ।

अमुमेवार्थं समुसरणेत्यादिगाथया प्रतिपादयति ।

समुसरणभत्तउग्गह-अंगुलिझयसक्कसावया अहिया ।

जेया वड्डइ कागिणि-लंछणअणुसज्जणा अट्ठ ॥ ५२ ॥

गमनिका । समवसरणं भगवतोऽष्टापदे बभूवासीत् । भक्तं भरतेनानीतं तदग्रहणोन्माथिते सति भरते देवेशो भगवन्तमवग्रहं पृष्टवान् भगवांश्च तस्मै प्रतिपादितवान् (अंगुलिझयत्ति) भरतनृपतिना देवलोकनिवासिरूपपृच्छायां कृतायामिन्द्रेणाङ्गुलिर्दर्शिता । तत एवारभ्य ध्वजोत्सवः प्रवृत्तः (सक्कत्ति) भरतनृपतिना किमनेनाहारेण कार्यमिति पृष्टः शक्रोऽभिहितवान् । त्वदधिकेभ्यो दीयतामिति पर्यालोचयता ज्ञातं श्रावका अधिका इति (जेया वड्डइत्ति) प्राकृतशैल्या जितो भवान् वर्द्धते भयं भुक्त्वोत्तरकालं च ते उक्तवन्तः (कागणिलंछणत्ति) प्रचुरत्वात् काकणीरत्नेन लाञ्छनं चिह्नं तेषां कृतमासीत् (अणुसज्जण अट्ठत्ति) अष्टौ पुरुषान् यावदयं धर्म्मः प्रवृत्तः अधो वा तीर्थकरान् यावदिति गाथार्थः । अत ऊर्द्ध्वं मिथ्यात्वमुपगता इति ।

राया आइच्चजसे, महाजसे अइबले अ बलभद्दे ।

बलवीरियकत्तविरिए, जलविरिए दंडविरिए अ ॥५३॥

अस्या भावार्थः सुगम एवेति गाथार्थः ।

एएहिं अद्धभरहं, सयलं भुत्तं सिरेण धरिओ अ ।

जिणसत्तिओ अमउडो, सेसेहिं चाइओ वोढुं ५४ ॥

गमनिका । एभिरर्द्धभरतं सकलं भुक्तं शिरसा धृतश्च । कोऽसावित्याह । प्रवरो जिनेन्द्रमुकुटो देवेन्द्रोपनीतः शेषैर्नरपतिभिर्न शकितो वोढुं महाप्रमाणत्वादिति गाथार्थः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अस्सावगपडिसेहो, छट्ठे अ मासि अणुओगो ।
कालेण य मिच्छत्तं, जिणंतरे साहुवुच्छेओ ॥ ५५ ॥

गमनिका अश्रावकाणां प्रतिषेधः कृतः कर्दमपि षष्ठे मासेऽनुयोगो बभूव । अनुयोगः परीक्षा कालेन गच्छता मिथ्यात्वमुपगता । कदा नवमजिनान्तरे किमिति यतस्तत्र साधुव्यवच्छेद आसीदिति गाथार्थः ।

साम्प्रतमुक्तार्थप्रतिपादनापरसंग्रहगाथामाह ।

दाणं च माहणाणं, वेया कासी अ पुच्छ निव्वाणं ।
कुंडाथूभजिणघरे, भरहो कविलस्स दिक्खा य ॥ ५६ ॥

दानं च माहनानां लोको दातुं प्रवृत्तो भरतपूजितत्वात् (वेया कासी य त्ति) आयान् वेदान् कृतवांश्च भरत एव तत्स्वाध्यायनिमित्तमिति । तीर्थंकरस्तुतिरूपान् श्रावकधर्मप्रतिपादकांश्च । आचार्यास्तु पश्चात्सुलसा याज्ञवल्क्यादिभिः कृता इति (पुच्छत्ति) भरतो भगवन्तमष्टापदसमवसृतमेव पृष्टवान् यादृग्भूता यूयमेवंविधाः तीर्थकृतः कियन्तः खल्विह भविष्यन्तीत्यादि (निव्वाणं ति) भगवानष्टापदे निर्वाणं प्राप्तो देवैरग्निकुण्डानि कृतानि स्तूपाः कृताः जिनगृहं भरतश्चकार कपिलो मरीचिसकाशे निष्क्रान्तो भरतस्य दीक्षा च संवृत्तेति समुदायार्थः । अवयवार्थ उच्यते । आद्यावयवद्वयं व्याख्यातमेव । पृच्छावयवार्थं " पुणरवि य" गाथेत्यादिनाऽऽह ॥

पुणरवि अ समोसरणे, पुच्छा अ जिणं तु चक्किणो भरहे ।
अप्पुट्ठो अ दसारे, तित्थयरो को इहं भरहे ॥ ५७ ॥

गमनिका पुनरपि च समवसरणे पृष्टवांश्च जिनं तु चक्रवर्ती भरतश्चक्रवर्तिन इत्युपलक्षणं तीर्थकृतश्चेति भरतविशेषणं वा चक्री भरतस्तीर्थकरादीन् पृष्टवान् । पाठान्तरं वा " पुच्छी य जिणे य चक्किणो भरहे " पृष्टवान् जिनांश्चक्रवर्तिनश्च भरतः चशब्दस्य व्यवहितः संबन्धः भगवानपि तान् कथितवान् तथा अपृष्टश्च दशारान् तथा तीर्थकरः क इह भरतेऽस्यां परिषदीति पृष्टवान् भगवानपि मरीचिं कथितवानिति गाथाक्षरार्थः । तथा चाह । निर्युक्तिकारः ॥

जिणचक्किदसाराणं, वन्नपमाणाइँ नामगुत्ताइं ।
आउपुरमाइपियरो,परियायगइं च साही य ॥ ५८ ॥

गमनिका जिनचक्रवर्तिवासुदेवानामित्यर्थः । वर्णप्रमाणानि तथा नामगोत्राणि तथा आयुः पुराणि मातापितरौ यथासंभवं पर्याये गतिं च । चशब्दाज्जिनानामन्तराणि च पृष्टवानिति द्वारगाथासमासार्थः । अवयवार्थं तु वक्ष्यामः ॥

जारिसया लोगगुरुओ, भरहे वासम्मि केवली तुब्भे ।
एरिसया कइ अन्ने, ताया होहिंति तित्थयरा ॥ ५९ ॥

यादृशा लोकगुरवो भारते वर्षे केवलिनो यूयमीदृशाः कियन्तोऽन्येऽपि तात ! भविष्यन्ति तीर्थकरा इति गाथार्थः ॥

अह भणइ जिणवरिंदो, भरहे वासम्मि जारिसो उ अहं ।
एरिसया तेवीसं, अन्ने होहिंति तित्थयरा ॥ ६० ॥
होही अजिओ संभव-मभिनंदणसुमइसुप्पभसुपासो ।
ससिपुप्फदंतसीयल-सिज्जंसो वासुपुज्जो अ ॥ ६१ ॥
विमलमणंत य धम्मो. संती कुंथू अरो अ मल्ली अ ।
मुणिसुव्वयनमिनेमी, पासो तह वद्धमाणो अ ॥६२॥

अह भणइ नरवरिंदो, भरहे वासम्मि जारिसो उ अहं ।
एरिसया कइ अन्ने, ताया होहिंति रायाणो ॥ ६३ ॥

गमनिका अथ भणति नरवरेन्द्रो भरतः भारते वर्षे यादृशस्त्वहं तादृशाः कत्यन्ये तात ! भविष्यन्ति राजान इति गाथार्थः ॥

अह भणइ जिणवरिंदो, जारिसओ तं नरिंदसद्दूलो ।
एरिसया इक्कारस, अन्ने होहिंति रायाणो ॥ ६४ ॥
होही सगरो मघवं, सणंकुमारो अ रायसद्दूलो ।
संती कुंथू अ अरो, हवइ सुभूमो अकोरव्वो ॥ ६५ ॥
नवमो अ महापउमो, हरिसेणो चेव रायसद्दूलो ।
जयनामो अ नरवई, बारसमो बंभदत्तो अ ॥ ६६ ॥
होहिंति वासुदेवा, नव अन्ने नीलपीअकोसिज्जा ।
हलमुसलचक्कजोही, सतालगरुडज्झया दो दो ॥ ६७ ॥

अथ भणति जिनवरेन्द्रो यादृशस्त्वं नरेन्द्रशार्दूलः सिंहपर्यायः ईदृशाः एकादश अन्ये भविष्यन्ति राजानस्ते चैते । (होहिंति) गाथाद्वयं निगदसिद्धमेव यदुक्तमपृष्टश्च दशारान् कथितवान् । तदभिधित्सयाह भाष्यकारः (होहिंति) भविष्यन्ति वासुदेवा नव बलदेवाश्चानुक्ता अप्यत्र तत्सहचरत्वात् द्रष्टव्याः यतो वक्ष्यति " स तालगरुलज्झया दो दो " ते च सर्वे बलदेवा वासुदेवा यथासंख्यं नीलानि पीतानि च कौशेयानि वस्त्राणि येषां ते तथाविधाः । यथासंख्यमेवाह हलमुशलचक्रयोधिनः । हलमुशलयोधिनो बलदेवाः चक्रयोधिनो वासुदेवा इति । सतालगरुडध्वजाभ्यां वर्तन्त इति सतालगरुडध्वजाः एते च भगवन्तो युगपद् द्वौ द्वौ भविष्यतः । बलदेववासुदेवाविति गाथार्थः । आ०म०प्र०। आव० १ अ० ।

"तित्थगरो को इहं भरहेत्ति" तद्व्याचिख्यासयाऽऽह ।

अह भणइ नरवरिंदो, ताय इमीसित्तियाइ परिसाए ।
अन्नो वि को वि होही,भरहे वासम्मि तित्थयरो ॥४१॥

अत्रान्तरे अथ भणति नरवरेन्द्रः तात ! अस्याः एतावत्याः परिषदः अन्योऽपि कश्चिद्भविष्यति तीर्थकरः अस्मिन् भारते वर्षे भावार्थस्तु सुगम एवेति गाथार्थः ॥

तत्थ मरीई नामं, आइपरिव्वायगो उसभनत्ता ।
सज्झायज्झाणजुत्तो, एगंते झायइ महप्पा ॥ ४२॥

गमनिका तत्र भगवतः प्रत्यासन्नभूभागे मरीचिनामा आदौ परिव्राजक आदिपरिव्राजकः प्रवर्तकत्वात् ऋषभनप्ता पौत्रक इत्यर्थः । स्वाध्याय एव ध्यानं तेन युक्तः एकान्ते ध्यायति महात्मेति गाथार्थः । भरतपृष्टो भगवान् तं मरीचिं दर्शयति ।

तं दाएइ जिणिंदो, एव नरिंदेण पुच्छिओ संतो ।
धम्मवरचक्कवट्टी, अपच्छिमो वीरनामुत्ति ॥४३॥

जिनेन्द्रः एवं नरेन्द्रेण पृष्टः सन् धर्मवरचक्रवर्ती अपश्चिमो वीरनामा भविष्यतीति गाथार्थः ॥

आइगरदसाराणं, तिविट्ठु नामेण पोअणाहिवई ।
पियमित्तचक्कवट्टी, मूआइविदेहवासम्मि ॥ ४४॥

गमनिका आदिकरः (दसाराणंति) पृष्टनामा पोतना नाम नगरी । तस्या अधिपतिर्भविष्यतीति क्रिया । तथा प्रियमित्रनामा चक्रवर्ती मूकायां नगर्यां (विदेहवासम्मित्ति) महाविदेहे भविष्यतीति गाथार्थः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तं वयणं सोऊणं, राया अंचियतणूरुहसरीरो ।
अभिवंदिऊण पिअरं, मरीइ अभिवंदओ जाइ ॥४५॥

गमनिका । तद्वचनं तीर्थकरवदनविनिर्गतं श्रुत्वा राजा अञ्चितानि तनूरुहाणि शरीरे यस्य स तथाविधः अभिवन्द्य पितरं तीर्थकरं मरीचिम् " अभिवंदओ " इत्यभिवन्दको याति । पाठान्तरं वा । " मरीइं अभिवंदिउं जाइ त्ति " मरीचिं याति किमर्थमभिवन्दितुमभिवन्दनायेत्यर्थः यातीति वर्तमानकालनिर्देशस्त्रिकालगोचरत्वप्रदर्शनार्थ इति गाथार्थः ।

सो विणएण उवगओ, काऊण पयाहिणं च तिक्खुत्तो ।
वंदइ अभित्थुणंतो, इमाहिं महुराहिं वग्गूहिं ॥४६॥
लाभा हु ते सुलद्धा, जंसि तुमं धम्मचक्कवट्टीणं ।
होहिसि दसचउदसमो, अपच्छिमो वीरनामु त्ति ॥
आइगरदसाराणं, तिविट्ठना० (४४)—॥४८॥

स भरतो विनयेन करणभूतेन मरीचिसकाशमुपगतः सन् कृत्वा प्रदक्षिणां च (तिक्खुत्तो त्ति) त्रिःकृत्वस्तिस्रो वारा इत्यर्थः वन्दते अभिष्टुते एताभिर्मधुराभिर्वाग्भिर्योगिभिरिति गाथार्थः । (लाभेत्ति) गमनिका लाभा अभ्युदयप्राप्तिविशेषा हुकारो निपातः स चैवकारार्थः । तस्य व्यवहितः संबन्धः तव सुलब्धा एव यस्मात् त्वं धर्मचक्रवर्तिनां भविष्यति दशचतुर्दशः चतुर्विंशतितम इत्यर्थः । अपश्चिमो वीरनामेति गाथार्थः । (आइगरदत्ति) व्याख्या पूर्ववत्सेया एकान्तप्रदर्शनानुरञ्जितहृदयो भावितीर्थकरभक्त्या च तमभिवन्दनायोद्यते भरत एवाह ॥

न वि ते पारिव्वज्जं, वंदामि अहं इमं च ते जम्मं ।
जं होहिसि तित्थयरो, अपच्छिमो तेण वंदामि ॥४९॥

गमनिका नापि च परिव्राजामिदं पारिव्राज्यं वन्दामि अहमिदं च ते जन्म किं तु यद्भविष्यति तीर्थकरः अपश्चिमस्तेन वन्दामीति गाथार्थः ।

एव एहं थोऊणं, काऊण पयाहिणं च तिक्खुत्तो ।
आपुच्छिऊण पियरं, विणीयनयरिं अह पविट्ठो ५० ॥

एवं स्तुत्वा एहमिति निपातः पूरणार्थो वर्तते कृत्वा प्रदक्षिणां च त्रिःकृत्वः आपृच्छ्य पितरं ऋषभदेवं विनीतनगरीमयोध्यामथानन्तरं प्रविष्टो भरत इति गाथार्थः । अत्रान्तरे ।

तं वयणं सोऊणं, तिवइं अप्फोडिऊण तिक्खुत्तो ।
अब्भहियजायहरिसो, तत्थ मरीई इमं भणइ ॥ ५१ ॥

गमनिका । तस्य भरतस्य वचनं तद्वचनं श्रुत्वा तत्र मरीचिः इदं भणतीति योगः । कथमित्यत आह । त्रिपदीं दत्त्वा रङ्गमध्यगतमल्लवत् । तथा आस्फोट्य त्रिःकृत्वः तिस्रो वारा इत्यर्थः । किं विशिष्टः संस्तत आह । अभ्यधिको जातो हर्षो यस्येति समासः तत्र स्थाने मरीचिरिदं वक्ष्यमाणलक्षणं भणति । वर्तमाननिर्देशप्रयोजनं प्राग्वदिति गाथार्थः ।

जइ वासुदेवपढमो, मूआइविदेहचक्कवट्टित्तं ।
चरमो तित्थयराणं, होउ अलं इति य मज्भ ॥ ५२ ॥

गमनिका यदि वासुदेवः प्रथमोऽहं मूकायां विदेहे चक्रवर्तित्वं प्राप्स्यामि । तथा चरमः पश्चिमस्तीर्थकराणां भविष्यामि एवं तर्हि भवतु एतावन्मम एतावतैव कृतार्थ इत्यर्थः । अलं पर्याप्तमन्येनेति ॥

अह यं च दसाराणं, पिया य मे चक्कवट्टिवंसस्स ।
अज्जो तित्थयराणं, अहो कुलं उत्तमं मज्झ ॥ ५३ ॥

गमनिका । अहमेव चशब्दस्यैवकारार्थत्वात् किं दशाराणं प्रथमो भविष्यामीति वाक्यशेषः । पिता च मे मम चक्रवर्तिवंशस्य प्रथम इति क्रियाध्याहारः । तथा आर्यकः पितामहः स तीर्थकराणां प्रथमः यत एवमत अहो विस्मये कुलमुत्तमं ममेति गाथार्थः । आव० १ अ० । आ० म० प्र० ।

(२४) अथाऽवन्ध्यशक्तिवचनगुणप्रीतिगुरुस्य प्रभुपरिकरभूतस्य सङ्घस्य सङ्ख्यामाह ।

उसभस्स णं अरहओ कोसलिअस्स चउरासी गणहरा होत्था । उसभस्स णं अरहओ कोसलिअस्स उसभसेणपामोक्खाओ चुलसीइं समणसाहस्सीओ उक्कोसिआ समणसंपया होत्था । उसहस्स णं बंभीसुंदरीपामोक्खाओ तिण्णि अज्जिआसयसाहस्सीओ उक्कोसिअज्जिआसंपया होत्था । उसभस्स णं सेजंसपामोक्खाओ तिण्णि समणोवासगसयसाहस्सीओ पंचसयसाहस्सीओ उक्कोसिआ समणोवासगसंपया होत्था । उसभस्स णं सुभद्दापामोक्खाओ पंचसमणोवासिआसयसाहस्सीओ चउप्पण्णं च सहस्सा उक्कोसिआ समणोवासिआसंपया होत्था । उसभस्स णं अरहउकोसलिअस्स अजिणाणं जिणसंकासाणं सव्वक्खरसण्णिवाईणं जिणो विव अवितहं वागरमाणाणं चत्तारि चउद्दसपुव्वीसहस्सा अद्धट्ठमायसया उक्कोसिआ चउद्दसपुव्वी संपया होत्था । उसभस्स णं णवओहिणाणिसहस्सा उक्कोसिआ संपया होत्था । उसभस्स णं वीसं जिणसहस्सा वीसं वेउव्विअसहस्सा सया उक्कोसिआ चउद्दसपुव्वी संपया होत्था । उसभस्स णं णवहिणाणिसहस्सा उक्कोसिआ संपया होत्था । उसभस्स णं वीसं जिणसहस्सा वीसं वेउव्वसया उक्कोसिया आवारस्स विउलमइसहस्सा छच्च सया पण्णासा वारसवाइसहस्सा छच्च सया पण्णासा उसभस्स णं गइकल्लाणाणं ठिइकल्लाणाणं आगमेसिभद्दाणं वा वीसअणुत्तरोववाइआणं सहस्सा णव य सया उक्कोसिया उसभस्स णं वीसं समणसहस्सा सिद्धा चत्तालीसं अज्जिआसहस्सा सिद्धा सट्ठि अंतेवासीसहस्सा सिद्धा ॥

सुगमं नवरं "जस्स जावइआ गणहरा तस्स तावइआ गणा" इति वचनाद्गणाः सूत्रे साक्षादनिर्दिष्टा अपि तावन्त एव बोध्याः । कचिच्चाप्रस्तुतसूत्रादर्शे "चउरासीति गणा गणहरा होत्था" इत्यपि पाठो दृश्यते तत्र चतुरशीतिपदस्योभयत्र योजनेन व्याख्या सुबोधैवेति । गणश्चैकवाचनाचारयतिसमुदायस्तं धरन्तीति गणधराः वाचनादिभिर्गणादिसंगाहकत्वेन गणाधारभूता इति भावः (होत्था इति) अभवन् (उसभस्सणमित्यादि) ऋषभसेनप्रमुखानि चतुरशीतिः श्रमणसहस्राणि एष उत्कर्ष उत्कृष्टभागस्तत्र जाता औत्कर्षिका "प्रत्यये-लीवां" इत्यनेन लीविकल्पे रूपसिद्धिः । ऋषभस्य श्रमणसंपदभवत् । अत्र वाक्यान्तरत्वेन श्रमणशब्दस्य न पौनरुक्त्यमेवं सर्वत्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

योज्यम् "उसहस्स णमित्यादि" प्रायः कण्ठ्यानि नवरं चतुर्दशपूर्विसूत्रे अजिनानां जिनसङ्काशानां (सव्वक्खरसन्निवाईणंति) सर्वेषामक्षराणामकारादीनां सन्निपाता द्व्यादिसंयोगा अनन्तत्वादनन्ता अपि ज्ञेयतया विद्यन्ते येषां ते तथा । जिनतुल्यत्वे हेतुमाह " जिणो विव अवितहमित्यादि " जिन इवावितथं यथार्थं व्यागृणतां व्याकुर्वाणानां केवलिश्रुतकेवलिनोः प्रज्ञापनायां तुल्यत्वात् । चत्वारि सहस्राणि अर्द्धाष्टमानि च शतानि एषा औत्कर्षिकी चतुर्दशपूर्विसंपदभवत् (विउव्विअत्ति) वैक्रियलब्धिमन्तः शेषं स्पष्टम् । विपुलमतयो मनःपर्यवज्ञानविशेषवन्तः द्वादशविपुलमतिसहस्राणि अधिकारात्तेषामेव षट्शतानि पञ्चाशच्चेत्येवं सर्वत्र योज्यम् । वादिनो वादिलब्धिमन्तः परप्रवादकनिग्रहसमर्थाः (उसभस्स णमित्यादि) देवगतिरूपायां कल्याणं येषां प्रायःसातोदयत्वात्तेषां तथा स्थितौ देवायूरूपायां कल्याणं येषां ते तथा अप्रविचारसुखस्वामिकत्वात् । आगामिष्यद्भद्रं येषामागामिभवे सेत्स्यमानत्वात् ते तथा तेषामनुत्तरोपपातिकानां पञ्चानुत्तरभवसत्तमदेवविशेषाणां द्वाविंशतिसहस्राणि नवशतानि " उसभस्सणमित्यादि " सुगमं नवरं श्रमणार्यिकासंख्याद्वयमीलने अन्तेवासिसंख्या संपद्यते ।

(२५) अथ भगवतः श्रमणवर्णकसूत्रमाह ।

उसभस्स णं बहवे अंतेवासी अणगारा भगवंतो अप्पेगइया मासपरियाया जहा उववाइए सव्वो अणगारवण्णओ जाव उड्ढंजाणु अहोसिरज्झाणकोट्ठोवगया संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणा विहरंति ॥

अर्हतः ऋषभस्य बहवो अन्तेवासिनः शिष्यास्ते च गृहिणोऽपि स्युरित्यनगाराः भगवन्तः पूज्याः अपिः समुच्चये एकका एके अन्ये केचिदपीत्यर्थः । मासं यावत् पर्यायश्चारित्रपालनं येषां ते तथा । यथोपपातिके सर्वोऽनगारवर्णकस्तथाऽत्रापि वाच्यः । कियद्यावदित्याह ऊर्ध्वं जानुनी येषां ते ऊर्ध्वजानवः शुद्धपृथिव्यासनवर्जनादौपग्रहिकनिषद्याया अभावाच्चोत्कुटुकासना इत्यर्थः । अधःशिरसोऽधोमुखा नोर्ध्वं तिर्यग्वा विक्षिप्तदृष्टयः ध्यानरूपो यः कोष्ठः कुसूलस्तमुपगतास्तत्र प्रविष्टाः यथा हि कोष्ठके धान्यं प्रक्षिप्तं न विप्रसृतं भवति एवं तेऽनगारा विषयेष्वपि प्रसृतेन्द्रिया न स्युरिति । संयमेन संवररूपेण तपसाऽनशनादिना समुच्चयार्थो गम्यः । संयमतपोग्रहणं चानयोः प्रधानमोक्षाङ्गत्वख्यापनार्थं प्रधानत्वं च संयमनवकर्मानुपादानहेतुत्वेन तपसश्च पुराणकर्मनिर्जरणहेतुत्वेन भवति चाभिनवकर्मानुपादानात् पुराणकर्मक्षपणाच्च सकलकर्मक्षयलक्षणो मोक्ष इति आत्मानं भावयन्तो विहरन्ति तिष्ठन्तीत्यर्थः । अत्र यावत्पदसंग्राह्यः "अप्पेगइआ दो मासपरिआया " इत्यादिकः औपपातिकग्रन्थो विस्तरभयान्न लिखित इत्यवसेयम् ।

(२६) अथ ऋषभस्वामिनः केवलोत्पत्त्यनन्तरं भव्यानां कियता कालेन सिद्धिगमनं प्रवृत्तं कियन्तं कालं यावदनुवृत्तं चेत्याह ॥

अरहओ णं उसभस्स दुविहा अंतकरभूमी होत्था तं जहा जुगंतकरभूमी जाव असंखेज्जाइं पुरिसजुगाइं परिआयंतकरभूमी अंतोमुहुत्तपरिआए अंतमकासी ॥

ऋषभस्य द्विविधा अन्तं भवस्य कुर्वन्तीति अन्तकरा मुक्तिगामिनस्तेषां भूमिः कालः कालस्य चाधारत्वेन कारणत्वाद्भूमित्वेन व्यपदेशः तद्यथा युगानि पञ्चवर्षमानानि कालविशेषाः लोकप्रसिद्धानि वा कृतयुगादीनि तानि च क्रमवर्त्तीनि तत्साधर्म्याद्ये क्रमवर्त्तिनो गुरुशिष्यादिरूपाःपुरुषास्तेऽपि साध्यावसानलक्षणयाऽभेदप्रतिपत्त्या युगानि पट्टपद्धतिपुरुषा इत्यर्थस्तैः प्रमितान्तकरभूमिर्युगान्तकरभूमिरिति पर्यायस्तीर्थकृतः केवलित्वकालस्तदपेक्षयान्तकरभूमिः कोऽर्थः ऋषभस्य इयति केवलपर्यायकालेऽतिक्रान्ते मुक्तिगमनं प्रवृत्तमिति तत्र युगान्तकरभूमिर्यावदसंख्यातानि पुरुषाः पट्टाधिरूढास्ते युगानि पूर्वोक्तयुक्त्या पुरुषयुगानि समर्थपदत्वात् समासः । नैरन्तर्ये द्वितीया । ऋषभात्प्रभृति श्रीअजितदेवतीर्थं यावत् । श्रीऋषभपट्टपरम्परारूढा असंख्याताः सिद्धाः न तावन्तं कालं मुक्तिगमनविरह इत्यर्थः । यस्तु आदित्ययशःप्रभृतीनां ऋषभदेववंशजानां नृपाणां चतुर्दशलक्षप्रमितानां क्रमेण प्रथमतः सिद्धिगमनं तत एकस्य सर्वार्थसिद्धप्रस्तटगमनमित्याद्यनेकरीत्या अजितजिनपितरं मर्यादीकृत्य नन्दीसूत्रवृत्तिचूर्णिसिद्धदण्डिकादिषु सर्वार्थसिद्धप्रस्तटगमनव्यवहितः सिद्धिगम उक्तः स कोशलापट्टपतीन् प्रतिपत्त्यावसातव्योऽयं पुण्डरीकगणधरादीन् प्रतीत्येति विशेषस्तथा पर्यायान्तकरभूमिरेषा अन्तर्मुहूर्तं यावत् केवलज्ञानस्य पर्यायो यस्य स तथा एवंविधे ऋषभे सति अन्तं भवान्तमकार्षीदकरोन्न वा कश्चिदपीति । यतो भगवदम्बा मरुदेवी प्रथमसिद्धा सा तु भगवत्केवलोत्पत्त्यनन्तरमन्तर्मुहूर्त्तेनैव सिद्धेति ॥

(२७) अथ जन्मकल्याणकादिनक्षत्राण्याह ॥

उसभेणं अरहा कोसलिए पंच उत्तरासाढे अभीइछट्ठे होत्था तं जहा उत्तरासाढाहिं चुए चइत्ता गब्भं वक्कंते उत्तरासाढाहिं जाए उत्तरासाढाहिं रायाभिसेअं पत्ते उत्तरासाढाहिं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारिअं पव्वइए । उत्तरासाढाहिं अणंते जाव समुप्पण्णे अभीइणा परिणिव्वुए ॥

ऋषभोऽर्हन् पञ्चसु च्यवनजन्मराज्याभिषेकदीक्षाज्ञानलक्षणेषु वस्तुषु उत्तराषाढानक्षत्रं चन्द्रेण भुज्यमानं यस्य स तथा । अभिजिन्नक्षत्रं षष्ठे निर्वाणलक्षणे वस्तुनि यस्य स यद्वा अभिजिति नक्षत्रे षष्ठं निर्वाणलक्षणं वस्तु यस्य स तथा उक्तमेवार्थं भावयति । तद्यथा उत्तराषाढाभिर्युतेन चन्द्रेणेति शेषः । सूत्रे बहुवचनं प्राकृतशैल्या एवमग्रेऽपि च्युतः सर्वार्थसिद्धनाम्नो महाविमानान्निर्गत इत्यर्थः । च्युत्वा गर्भव्युत्क्रान्तमरुदेव्याः कुक्षाववतीर्णवानित्यर्थः । १ । जातो गर्भवासाभिनिष्क्रान्तः । २ । राज्याभिषेकं प्राप्तः । ३ । मुण्डो भूत्वा अगारं मुक्त्वा अनगारितां साधुतां प्रव्रजितः प्राप्त इत्यर्थः । पञ्चमी चात्र ल्यब्लोपजन्या ।४। अनन्तरं यावत् केवलज्ञानं समुत्पन्नम् ।५। यावत्पदसंग्रहः पूर्ववत् अभिजिता युते चन्द्रे परिनिर्वृतः सिद्धिगतः । ननु अस्मादेव विभागसूत्रबलादादिदेवस्य षट्कल्याणकाः समापद्यमाना दुर्निवारा इति चेन्न तदेव हि कल्याणकं यत्रासनप्रकम्पप्रयुक्तावधयः सकलसुरासुरेन्द्रा जातमिति विविधित्सवो युगपत्ससंभ्रमा उपतिष्ठन्ते न ह्ययं षष्ठकल्याणकत्वेन भवता निरूप्यमाणो राज्याभिषेकस्तादृशस्तेन वीरस्य गर्भापहार इव नायं कल्याणकः अनन्तरोक्तलक्षणायोगात् । न च तर्हि निरर्थकमस्य कल्याणकाधिकारे पठनमिति वाच्यं प्रथमतीर्थेशराज्याभिषेकस्य जातमिति शक्रेण क्रियमाणस्य देवकार्यत्वलक्षणसाधर्म्येण समाननक्षत्रजाततया च प्रसङ्गेन तत्पठनस्यापि सार्थकत्वात् तेन समाननक्षत्रजातत्वे सत्यपि कल्याणकत्वाभावेनानियतवक्तव्यतया क-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विद्याज्याभिषेकस्याकथनेऽपि न दोषः । अत एव श्रुतस्कन्धाष्टमाध्ययने पर्युषणाकल्पेन श्रीभद्रबाहुस्वामिपादाः "तेणं समएणं उसभे अरहा कोसलिए चउ उत्तरासाढे अभिइ पंचमे होत्था " इति पञ्चकल्याणकनक्षत्रप्रतिपादकमेव सूत्रं बबन्धिरे न तु राज्याभिषेकनक्षत्राभिधायकमपीति । न च प्रस्तुतव्याख्यानस्यानागमिकत्वं भावनीयम् आचाराङ्गभावनाध्ययने श्रीवीरकल्याणसूत्रस्यैव व्याख्यातत्वात् ।

(२८) अथ भगवतः शरीरसंपदं शरीरप्रमाणं च वर्णयन्नाह ।

उसभेणं अरहा कोसलिए वज्जरिसहनारायसंघयणे समचउरंससंठाणसंठिए पंचधणुसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं होत्था ॥

उसभेणमित्यादि कण्ठ्यम् ।

अथ भगवतः ऋषभस्य कौमारे राज्ये गृहित्वे च यावान् कालः प्रागुक्तस्तं संग्रहरूपतयाऽभिधातुमाह ।

उसभेणं अरहा वीसं पुव्वसयसहस्साइं कुमारवासमज्झे वसित्ता तेवट्ठिं पुव्वसयसहस्साइं रज्जवासमज्झे वसित्ता तेसिइं पुव्वसयसहस्साइं अगारवासमज्झे वसित्ता मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारिअं पव्वइए उसभेणं अरहा एगं वाससहस्सं छउमत्थपरिआयं पाउणित्ता एगं पुव्वसयसहस्सं वाससहस्सूणं केवलिपरिआयं पाउणित्ता एगं पुव्वसयसहस्सं बहुपडिपुण्णं सामण्णपरिआयं पाउणित्ता चउरासीइं पुव्वसहस्साइं सव्वाउअं पालइ पालइत्ता जे से हेमंताणं तच्च मासे पंचमे पक्खे माहबहुले तस्स णं माहबहुलस्स तेरसीपक्खेणं दसहिं अणगारसहस्सेहिं सद्धिं संपरिवुडे अट्ठावयसेलसिहरंसि चोद्दसमेणं भत्तेणं अपाणएणं संपलिअं संणिसण्णे पुव्वण्हकालसमयंसि अभिइणा णक्खत्तेणं जोगमुवागएणं सुसमदूसमाए एगूणणवइए पक्खेहिं सेसेहिं कालगए वीइक्कंते जाव सव्वदुक्खप्पहीणे ॥

'उसभेणमित्यादि' व्यक्तमथ छाद्मस्थ्यादिपर्यायाभिधानपुरस्सरं निर्वाणकल्याणकमाह । (उसभेणं इत्यादि) ऋषभोऽर्हन् एकं वर्षसहस्रं छद्मस्थपर्यायं प्राप्य पूरयित्वेत्यर्थः । एकं पूर्वलक्षं वर्षसहस्रोनं केवलिपर्यायं प्राप्य एकं पूर्वलक्षं बहुप्रतिपूर्णं देशेनापि न्यूनमिति यावत् श्रामण्यपर्यायं प्राप्य चतुरशीतिपूर्वलक्षाणि सर्वायुः पालयित्वा उपभुज्य हेमन्तानां शीतकालमासानां मध्ये यस्तृतीयो मासः पञ्चमः पक्षो माघबहुलो माघमासकृष्णपक्षः तस्य माघबहुलस्य त्रयोदशीपक्षे त्रयोदशीदिने विभक्तिव्यत्ययः प्राकृतत्वात् दशभिरनगारसहस्रैः सार्द्धं संपरिवृतः अष्टापदशैलशिखरे चतुर्दशेन भक्तेनोपवासषट्केनापानकेन पानीयाहाररहितेन संपर्यङ्कनिषण्णः सम्यक् पर्यङ्केन पद्मासनेन निषण्ण उपविष्टः न तु ऊर्द्ध्वदमादिरिति भावः । पूर्वाह्णकालसमये अभिजिता नक्षत्रेण योगमुपागतेनार्थाच्चन्द्रेण सुषमदुःषमायामेकोननवत्या पक्षेषु शेषेषु अत्रापि विभक्तिव्यत्ययः पूर्ववत् प्राकृतत्वात् । सप्तम्यर्थे तृतीया कालं गतो मरणधर्म्मं प्राप्तः व्यतिक्रान्तः संसारात् । यावच्छब्दात् "समुज्जाए छिन्नजाइजरामरणबंधणे सिद्धे बुद्धे मुत्ते अंतगडे परिनिव्वुडे इति" संग्रहः । तत्र सम्यगपुनरावृत्त्या ऊर्द्ध्वलोकाग्रलक्षणं स्थानं यातः प्राप्तो न पुनः सुगतादिवदवतारी यतस्तद्वचः "ज्ञानिनो धर्मतीर्थस्य, कर्त्तारः परमं पदम् । गत्वा गच्छन्ति भूयोऽपि, भवतीर्थनिकारतः ॥ १ ॥" इति छिन्नं जात्यादीनां बन्धनं हेतुभूतं कर्म्म येन स तथा । सिद्धो निष्ठितार्थः बुद्धो ज्ञाततत्त्वः । मुक्तो भवोपग्राहिकर्मांशेभ्यः अन्तकृत् सर्वदुःखानां परिनिर्वृतः समन्ताच्छीतीभूतः कर्मकृतसकलसन्तापविरहात् सर्वाणि शारीरादीनि दुःखानि प्रहीणानि यस्य स तथा । जं० २ वक्ष० । आ० म० प्र० । स० ॥

उसभेणं अरहा कोसलिए इमीसे उसप्पिणीए ततियाए सुसमदुस्समाए समए पच्छिमे भागे एगूणणउए अद्धमासेहिं सेसेहिं कालगए जाव सव्वदुक्खप्पहीणोसम० ॥ २६ ॥

(२६) इदानीं निर्वाणद्वारावयवार्थाभिधित्सयाऽऽह ।

अह भगवं भवमहणो, पुव्वाण अणूणगं सयसहस्सं ।
आणुपुव्विं विहरिऊणं, पत्तो अट्ठावयं सेलं ॥ ५४ ॥
अट्ठावयम्मि सेले, चउदसभत्तेण सो महरिसीणं ।
दसहिं सहस्सेहिं समं, निव्वाणमणुत्तरं पत्तो ॥ ५५ ॥

गमनिका । अथ भगवान् भवमथनः पूर्वाणामन्यूनं शतसहस्रमानुपूर्व्या विहृत्य प्राप्तोऽष्टापदं शैलं भावार्थः सुगम एवेति गाथार्थः । अष्टापदगाहा गमनिका । अष्टापदशैले चतुर्दशभक्तेन स महर्षीणां दशभिः सहस्रैः समं निर्वाणमनुत्तरं प्राप्तः अस्या अपि भावार्थः सुगम एव । नवरं चतुर्दशभक्तं षड्रात्रोपवासः भगवन्तं चाष्टापदप्राप्तमपवर्गजिगमिषुं श्रुत्वा भरतो दुःखसंतप्तमानसः पद्भ्यामेवाष्टापदं ययौ । देवा अपि भगवन्तं मोक्षजिगमिषुं ज्ञात्वाऽष्टापदशैलं दिव्यविमानारूढाः खल्वागतवन्तः । उक्तं च । भगवति मोक्षगमनायोद्यते "जाव य देवावासो, जाव य अट्ठावओ नगवरिंदो । देवेहिं देवीहि य, अविरहियं संचरंतेहिं" तत्र भगवान् त्रिदशनरेन्द्रैः स्तूयमानो मोक्षं गत इति गाथार्थः ॥

अथ भगवति निर्वृते यद्देवकृत्यं तदाह ॥

जं समयं च णं उसभे अरहा कोसलिए कालगए वीइक्कंते समुज्जाए छिण्णजाइजरामरणबंधणे सिद्धे बुद्धे जाव सव्वदुक्खप्पहीणे तं समयं च णं सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो आसणे चलिए तएणं से सक्के देविंदे देवराया आसणं चलिअं पासइ पासित्ता ओहिं पउंजइ पउंजइत्ता भयवं तित्थयरं ओहिणा आभोएइ आभोएइत्ता एवं वयासी परिणिव्वुए खलु जंबुद्दीवे दीवे भरहे वासे उसहे अरहा कोसलिए एवं जीअमेअं तीअपच्चुप्पण्णमणागयाणं सक्काणं देविंदाणं देवराईणं तित्थगराणं परिणिव्वाणमहिमं करेत्तए तं गच्छामि णं अहं पि भगवतो तित्थगरस्स परिणिव्वाणमहिमं करेमि तिकट्टु वंदइ णमंसइ वंदइत्ता णमंसइत्ता चउरासीईए सामाणिअसाहस्सीहिं तायत्तीसए तायत्तीसएहिं चउहिं लोगपालेहिं जाव चउहिं चउरासीईहिं आयरक्खदेवसाहस्सीहिं अण्णेहिं अ बहूहिं सोहम्मकप्पवासीहिं वेमाणिएहिं देवेहिं देवीहिं अ सद्धिं संपरिवुडे ताए उक्किट्ठाए जाव तिरिअमसंखेज्जाणं दीवसमुद्दाणं मज्झं मज्झेणं जेणेव अट्ठावए पव्वए भगवओ तित्थगरस्स सरीरए तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता विमणे णिराणंदे अंसुपुण्णणयणे तित्थय-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सरीरयं तिक्खुत्तो आयाहीणं पयाहीणं करेइ करेइत्ता णच्चासणे णाइदूरे सुस्सूसमाणे जाव पज्जुवासइ तेणं कालेणं तेणं समएणं ईसाणे देविंदे देवराया उत्तरड्ढलोगाहिवई अट्ठावीसविमाणसयसहस्साहिवई सूलपाणी वसहवाहणे सुरिंदे अयरंवरवत्थधरे जाव विउलाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरइ । तएणं तस्स ईसाणस्स देविंदस्स देवरन्नो आसणे चलइ । तएणं से ईसाणे जाव देवराया आसणं चलिअं पासइ पासइत्ता ओहिं पउंजइ पउंजइत्ता भगवं तित्थगरं ओहिणा आभोएइ आभोएत्ता जहा सक्के निअगपरिवारेणं आणेअव्वा जाव पज्जुवासइ । एवं सव्वे देविंदा जाव अच्चुए णिअगपरिवारेणं आणेअव्वा एवं जाव भवणवासीणं इंदा वाणमंतराणं सोलस जोइसिआणं दोण्णि निअगपरिवारा णेअव्वा । तएणं सक्के देविंदे देवराया ते बहवे भवणवइवाणमंतरजोइसवेमाणिए देवे एवं वयासी खिप्पामेव भो देवाणुप्पिआ णंदणवणाओ सरसाइं गोसीसवरचंदणकट्ठाइं साहरइ साहरइत्ता तओ चिइगाओ रएह एगं भगवओ तित्थगरस्स एगं गणधराणं एगं अवसेसाणं अणगाराणं तएणं ते भवणवइ जाव वेमाणिया देवा णंदणवणाओ सरसाइं गोसीसवरचंदणकट्ठाइं साहरंति साहरंतित्ता तओ चिइगाओ रएहंति एगं भगवओ तित्थगरस्स एगं गणहराणं अवसेसाणं अणगाराणं से सक्के देविंदे देवराया आभिओगे देवे सद्दावेइ सद्दावेइत्ता एवं वयासी खिप्पामेव भो देवाणुप्पिआ खीरोदगसमुद्दाओ खीरोदगं साहरत्ति तएणं ते आभिओगा देवा खीरोदगं साहरंति ।

(जं समयं चणमित्यादि) यस्मिन् समये सप्तम्यर्थे द्वितीया एवं तच्छब्दवाक्येऽपि अवधिना ज्ञानेनाभोगयति उपयुनक्ति शेषं सुगममुपयुज्य एवमवादीत् किमित्याह । परिनिर्वृतः खल्विति वाक्यालङ्कारे जम्बूद्वीपे भारते वर्षे ऋषभोऽर्हन् कौशलिकस्तत्तस्माद्धेतोः जीतं कल्पः आचार एतद्वक्ष्यमाणं वर्तते अतीतप्रत्युत्पन्नानागतानामतीतवर्तमानानागतानां शक्राणामासनविशेषाधिष्ठातॄणां देवानां मध्ये इन्द्राणां परमैश्वर्ययुक्तानां देवेषु राज्ञां कान्त्यादिगुणैरधिकं राजमानानां तीर्थकराणां परिनिर्वाणमहिमां कर्तुं तद्गच्छामि । णमिति प्राग्वत् अहमपि भगवतस्तीर्थकरस्य परिनिर्वाणमहिमां करोमीति कृत्वा भगवन्तं निर्वृतं वन्दते स्तुतिं करोति नमस्यति प्रणमति । यच्च जीवरहितमपि तीर्थकरशरीरमिन्द्रवन्द्यं तदिन्द्रस्य सम्यग्दृष्टित्वेन नामस्थापनाद्रव्यभावार्हतां वन्दनीयत्वेन श्रद्धानादिति तत्त्वम् । वन्दित्वा नत्वा च किं शक्रे इत्याह (चउरासीई इत्यादि) चतुरशीत्या सामानिकानां प्रभुत्वमन्तरेण वपुर्विभवद्युतिस्थित्यादिभिः शक्रतुल्यानां सहस्रैस्त्रयस्त्रिंशता त्रयस्त्रिंशकैर्गुरुस्थानीयैर्देवैश्चतुर्भिर्लोकपालैः सोमयमवरुणकुबेरसंज्ञैः यावत्पदात् " अट्ठहिं अग्गमहिसीहिं सपरिवाराहिं तिहिं परिसाहिं सत्तहिं अणिआहिं सत्तहिं अणिआहिवईहिं" अत्र व्याख्या अग्रमहिष्योऽष्टौ पद्मा १ शिवा २ शची ३ अञ्जू ४ अमला ५ अप्सरा ६ नवमिका ७ रोहिणी ८ एताभिः षोडशसहस्रदेवदेवीपरिवारयुताभिः तिसृभिः पर्षद्भिर्बाह्यमध्याभ्यन्तररूपाभिः सप्तभिरनीकैर्हय १ गज २ रथ ३ सुभट ४ वृषभ ५ गन्धर्व ६ नाट्य ७ रूपैः सप्तभिरनीकानामधिपतिभिः चतसृभिश्चतुरशीतिभिश्चतुर्दिशं प्रत्येकं चतुरशीतिसहस्राङ्गरक्षकसद्भावात् षट्त्रिंशत्सहस्राधिकलक्षत्रयप्रमितैरङ्गरक्षकदेवसहस्रैरन्यैश्च बहुभिः सौधर्मकल्पवासिभिर्देवैर्देवीभिश्च सार्द्धं संपरिवृतस्तया देवजनप्रसिद्धया उत्कृष्टया प्रशस्तविहायोगतिषूत्कृष्टतमत्वात् यावत्पदात् "तुरिआए चवलाए चंडाए जयणाए उद्धुआए सिग्घाए दिव्वाए देवगईए वीईवयमाणे २त्ति" अत्र व्याख्या त्वरितया मानसौत्सुक्यात् चपलया कायतः चण्डया क्रोधाविष्टयेव भीमसंवेदनात् । जवनया परमोत्कृष्टवेगत्वात् । अत्र च समयप्रसिद्धाश्चण्डादिगतयो न ग्राह्याः । तासां प्रतिक्रमं संख्यातयोजनप्रमाणक्षेत्रातिक्रमणात् तेनैतानि पदानि देवगतिविशेषणतया योज्यानि देवास्तु तथा भवस्वभावादचिन्त्यसामर्थ्यतोऽत्यन्तशीघ्रा एव चलन्तीति अन्यथा जिनजन्मादिषु महिमानिमित्तं तत्रैव क्षणेऽत्यन्तदूरकल्पादिभ्यः सुराः कथमागच्छेयुरिति । उद्धुतया उद्धतस्य दिगन्तव्यापिनो रजस इव या गतिः सा तया अत एव निरन्तरं शीघ्रत्वयोगाच्छीघ्रया दिव्यया देवोचितया देवगत्या व्यतिव्रजन् २ संभ्रमे द्विर्वचनं तिर्यगसंख्येयानां द्वीपसमुद्राणां मध्यं मध्येन मध्यभागेन यत्रैवाष्टापदः पर्वतः यत्रैव भगवतस्तीर्थकरस्य शरीरकं तत्रैवोपागच्छति । अत्र सर्वत्रातीतनिर्देशे कर्तव्ये वर्तमाननिर्देशस्त्रिकालभाविष्वपि तीर्थकरेष्वेतन्न्यायप्रदर्शनार्थ इति न हि निर्हेतुका ग्रन्थकाराणां प्रवृत्तिरिति । उपागत्य च तत्र यत् करोति तदाह (उवागच्छित्ता इत्यादि) उपागत्य विमनाः शोकाकुलमनाः अश्रुपूर्णनयनस्तीर्थकरशरीरकं त्रिःकृत्वः आदक्षिणप्रदक्षिणं करोतीति प्राग्वत् । नात्यासन्ने नातिदूरे शुश्रूषन्निव तस्मिन्नप्यवसरे भक्त्याविष्टतया भगवद्वचनश्रवणेच्छाया अनिवृत्तेर्यावत् पदात् " णमंसमाणे अभिमुहे विणएणं पंजलिउडे पज्जुवासइत्ति" परिग्रहः । अत्र व्याख्या नमस्यन् पञ्चाङ्गप्रणामादिना अभि भगवन्तं लक्षीकृत्य मुखं यस्य स तथा । विनयेनान्तरबहुमानेन प्राञ्जलीकृत इति प्राग्वत् । पर्युपास्ते सेवते इति । अथ द्वितीयेन्द्रवक्तव्यतामाह (तेणं कालेणमित्यादि) सर्वं स्पष्टं नवरम् अरजांसि निर्मलानि यान्यम्बरवस्त्राणि स्वच्छतया आकाशकल्पानि वसनानि धरतीति । यावत् करणात् " आलइअमालमउडे णवहेमचारुचित्तचंचलकुंडलविलिहिज्जमाणगंडे महिड्ढीए महज्जुईए महब्बले महायसे महाणुभावे महासुक्खे भासुरबोंदी पलंबवणमालधरे ईसाणकप्पे ईसाणवडेंसए विमाणे सुहम्माए सभाए ईसाणंसि सिंहासणंसि से णं अट्ठावीसाए विमाणावाससयसाहस्सीणं असीईए सामाणिअसाहस्सीणं तायत्तीसाए तायत्तीसगाणं चउण्हं लोगपालाणं अट्ठण्हं अग्गमहिसीणं सपरिवाराणं तिण्हं परिसाणं सत्तण्हं अणीआणं सत्तण्हं अणीआहिवईणं चउण्हं असीईणं आयरक्खदेवसाहस्सीणं अन्नेसिं च ईसाणकप्पवासीणं देवाणं देवीण य आहेवच्चं पोरेवच्चं सामित्तं भट्टित्तं महत्तरगत्तं आणा ईसरसेणावच्चं कारेमाणे पालेमाणे महया हयनट्टगीयवाइअ तंतीतलतालतुडिअघणमुइंगपडुपडहवाइअरवेण इति " संग्रहः । सर्वं स्पष्टं नवरम् आलिङ्गितौ यथास्थानं स्थापितौ मालामुकुटौ येन स तथा । नवाभ्यामिव हेम-

मयाख्यां चारुख्यां चित्रकूटाख्यां चञ्चलाख्यामितस्ततश्चलन्तीं कुण्डलाख्यां विक्षिप्यमानौ गल्लौ यस्य स तथेति (तएणमित्यादि) यथा शक्रः सौधर्मेन्द्रो निजकपरिवारेण सह तथा भणितव्य ईशानेन्द्रः यावत्पर्युपास्ते इत्यन्तं वाच्य इत्यर्थः । (एवं सव्वे इत्यादि) एवं शक्रन्यायेन सर्वेदेवेन्द्रा वैमानिकाः अत एव यावदच्युत इत्युत्तरसूत्रं संवदति । निजकपरिवारेणात्मीयात्मीयसामानिकादिपरिवारेण सहानेतव्या भगवच्छरीरान्तिकं प्रापणीया ग्रन्थवाचकेनेत्यर्थः । ग्रन्थापेक्षया चेदं सूत्रं योजनीयमेवं वैमानिकप्रकारेण यावद्भवनवासिनां दक्षिणोत्तरभवनपतीनामिन्द्रा विंशतिरित्यर्थः । अत्र यावच्छब्दो न गर्भगतसंग्रहसूचकः संग्राह्यपदाभावात् किं तु सजातीयभवनपतिसूचकः वाणमन्तराणां व्यन्तराणां षोडशेन्द्राः कालादयः । ननु स्थानाङ्गादिषु द्वात्रिंशद्व्यन्तरेन्द्रा अभिहिताः इह तु कथं षोडश उच्यन्ते मूलभेदभूतास्तु षोडश महर्द्धिकाः कालादय उपात्तास्तदवान्तरभेदभूतास्तु षोडश अणपन्नीन्द्रादयोऽल्पर्द्धिकत्वान्नेह विवक्षिताः अस्ति ह्येषाऽपि सूत्रकृत्प्रवृत्तिवैचित्री यदन्यत्र प्रसिद्धा अपि भावाः कुतश्चिदाशयविशेषात् स्वसूत्रे सूत्रकारो न निबध्नाति यथा प्रतिवासुदेवाः अन्यत्रावश्यकनिर्युक्त्यादिषूत्तमपुरुषत्वेन प्रसिद्धा अपि चतुर्थाङ्गे चतुःपञ्चाशत्तमसमवाये नोक्ताः । "भरहेरवएसु णं वासेसु एगमेगाए उस्सप्पिणीए चउवण्णं २ उप्पज्जिंसु ३ तं चउवीसं तित्थयरा बारस चक्कवट्टी णव बलदेवा णव वासुदेवा" इतिपरमुपलक्षणात्तेऽपि ग्राह्याः । ज्योतिष्काणां द्वौ चन्द्रसूर्यौ जात्याश्रयणात् व्यक्त्या तु तेऽसंख्याताः निजकपरिवाराः सहवर्तिस्वपरिकरा नेतव्याः । ततः शक्रः किं करोतीत्याह (तएणमित्यादि) ततः शक्रो देवेन्द्रो देवराजस्तान् बहून् भवनपत्यादीन् देवानेवमवादीत् क्षिप्रमेव निर्विलम्बमेव भो ! देवानांप्रिया ! देवान् स्वस्वामिनोऽनुकूलाचरणेनानुप्रीणन्तीति देवानुप्रिया नन्दनवनात् सरसानि स्निग्धानि न तु रूक्षाणि गोशीर्षं नाम्ना वरचन्दनं तस्य काष्ठानि संहरत प्रापयत संहृत्य च तिस्रश्चितिका रचयत । एकां भगवतस्तीर्थकरस्य एकां गणधराणामेकामवशेषाणामनगाराणामिति (तएणमित्यादि) स्पष्टम् । अत्रायमावश्यकचूर्ण्याद्युक्तश्चितारचनादिविभागः । नन्दनवनानीतचन्दनदारुभिर्भगवतः प्राच्यां वृत्तां चितां गणधराणामपाच्यां त्र्यस्रां शेषसाधूनां प्रतीच्यां चतुरस्रां सुराश्चक्रुरिति । नन्वावश्यकादाविक्ष्वाकूणां द्वितीया चितोक्ता इह तु गणधराणां कथमिति उच्यते । अत्र प्रधानतया गणधराणामुपादानेऽप्युपलक्षणाद् गणधरप्रभृतीनामिक्ष्वाकूणां द्वितीया चिता ज्ञेयेति न काऽप्याशङ्का । जं० २ वक्ष० । अत्रान्तरे च देवाः सर्वे एवाष्टापदमागताश्चितिकाकृतिरिति ॥ ते तिस्रश्चिताः वृत्तत्र्यस्रचतुरस्राकृतीः कृतवन्त इति । एकां पूर्वेण अपरां दक्षिणेन तृतीयामपरेणेति । तत्र पूर्वा तीर्थकृतः दक्षिणा इक्ष्वाकूणामपरा शेषाणामिति । ततोऽग्निकुमारा वदनैः स्वग्निं प्रक्षिप्तवन्तः एत एव निबन्धनाल्लोके " अग्निमुखा वै देवा " इति प्रसिद्धम् । वायुकुमारास्तु वातमुक्तवन्त इति । मांसशोणिते च ध्यामिते सति मेघकुमाराः सुरभिणा क्षीरोदजलेन निर्वापितवन्तः (स कथेति) सकथा हनुरुच्यते । तत्र दक्षिणां हनुमां भगवतः संबन्धिनीं शक्रो जग्राह वामामीशानः अधस्त्यदक्षिणां पुनश्चमरः अधस्त्योत्तरां तु बलिः । अवशेषास्तु त्रिदशाः । शेषाङ्गानि गृहीतवन्तः नरेश्वरादयस्तु भस्म गृहीतवन्तः । शेषा लोकास्तु तद्भस्मना पुण्ड्रकाणि चक्रुः तत एव च प्रसिद्धिमभ्युपगतानि स्तूपानि जिनगृहं चेति । भरतो भगवत्समुद्दिश्य वर्द्धकिरत्नेन योजनायामं त्रिगव्यूतोच्छ्रितं सिंहनिषद्यायतनं कारितवान् निजवर्णप्रमाणयुक्ताश्चतुर्विंशतिर्जिनानां स्वस्वपरिवारयुक्तास्तीर्थकरप्रतिमास्तथा भ्रातृशतप्रतिमाः आत्मप्रतिमां च स्तूपशतं च मा कश्चिदाक्रमणं करिष्यतीति तत्रैकं भगवतः शेषाण्येकोनशतस्य भ्रातृणामिति । तथा लोहमयान् यन्त्रपुरुषांस्तद्द्वारपालांश्चकार दण्डरत्नेनाष्टापदं च सर्वत्र छिन्नवान् योजने योजनेऽष्टौ पदानि कृतवान् । सगरसुतैस्तु वंशानुरागतया परिखां कृत्वा गङ्गाऽवतारिता तथा ग्रन्थान्तरतो विज्ञेयमिति । याचकास्तेनाहिताग्नयः इत्यस्य व्याख्या देवैर्भगवत्सकथादौ गृहीते सति श्रावका देवानतिशयभक्त्या याचितवन्तः देवा अपि तेषां प्रचुरत्वान्महता यत्नेन याचनाभिहता आहुः । अहो याचका इति । तत एव याचका रूढाः ततः अग्निं गृहीत्वा स्थापितवन्तस्तेन कारणेनाहिताग्नयः इति तत एव च प्रसिद्धास्तेषां चाग्नीनां परस्परतः कुण्डसंक्रान्तावयं विधिर्भगवतः संबन्धिभूतः सर्वकुण्डेषु सञ्चरति । इक्ष्वाकुकुण्डाग्निस्तु शेषकुण्डाग्नौ सञ्चरति । न भगवत्कुण्डाग्नाविति शेषानगारकुण्डाग्नेस्तु नान्यत्र संक्रम इति गाथार्थः । आ० म० प्र० ।

(३०) ततश्चिताऽनन्तरं शक्रः किं करोतीत्याह ।

तए णं से सक्के देविंदे देवराया तित्थगरसरीरगं खीरोदगेणं ण्हाणेत्ति ण्हाणेत्ता सरसेणं गोसीसवरचंदणेणं अणुलिंपइ अणुलिंपइत्ता हंसलक्खणं पडसाडयं णिअंसेइ णिअंसेइत्ता सव्वालंकारविभूसिअं करेंति । तए णं ते भवणवई जाव वेमाणिआ गणहरसरीरगाइं अणगारसरीरगाइं पि खीरोदगेणं ण्हावेंति ण्हावेंतित्ता सरसेणं गोसीसवरचंदणेणं अणुलिंपंति अणुलिंपंतित्ता अहताइं दिव्वाइं देवदूसजुअलाइं णिअंसंति णिअंसंतित्ता सव्वालंकारविभूसिआइं करेंति तए णं से सक्के देविंदे देवराया ते बहवे भवणवई जाव वेमाणिए देवे एवं वयासी । खिप्पामेव भो देवाणुप्पिआ ! ईहामिगउसभतुरयजाव वणलयभत्तिचित्ताओ तओ सिविआओ विउव्वह एगं भगवओ तित्थगरस्स एगं गणहराणं एगं अवसेसाणं अणगाराणं । तए णं बहवे भवणवई जाव वेमाणिआ तओ सिविआओ विउव्वंति एगं भगवओ तित्थगरस्स एगं गणहराणं एगं अवसेसाणं अणगाराणं तए णं से सक्के देविंदे देवराया विमणे णिराणंदे अंसुपुण्णणयणे भगवओ तित्थगरस्स विणट्ठजम्मजरामरणस्स सरीरगं सीअं आरुहेइ आरुहेइत्ता चिइगाए ठवेइ तए णं ते बहवे भवणवई जाव वेमाणिआ देवा गणहराणं अणगाराणं य विणट्ठजम्मजरामरणाणं सरीरगाइं सीअं आरुहेंति आरुहेंतित्ता चिइगाए ठवेंति । तए णं से सक्के देविंदे देवराया अग्गिकुमारे देवे सद्दावेइ सद्दावेइत्ता एवं वयासी खिप्पामेव भो देवाणुप्पिआ ! तित्थगरचिइगाए जाव अणगारचिइगाए अ अगणिकायं विउव्वह विउव्वहइत्ता एअमाणत्तिअं पच्चप्पिणह । तए णं ते अग्गिकुमारा देवा विमणा णिराणंदा अंसुपुण्णणयणा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तित्थगरचिइगाए जाव अणगारचिइगाए अ अगणिकायं विउव्वंति ॥

तएणमित्यादि स्पष्टम् क्षीरोदकसंहरणानन्तरं स शक्रः किं करोतीति दर्शयति (तएणमित्यादि) ततः शक्रस्तीर्थकरशरीरकं क्षीरोदकेन स्नपयति स्नपयित्वा गोशीर्षवरचन्दनेनानुलिम्पति अनुलिप्य हंसलक्षणो हंसविशदत्वात् शाटको वस्त्रमात्रं स च पृथुलः पट्ट इत्यभिधीयते । तं हंसनामकं पटशाटकं निवासयति परिधापयतीत्यर्थः । परिधाप्य च सर्वालङ्कारविभूषितं करोति (तएणमित्यादि) ततस्ते भवनपत्यादयो देवा गणधराणामनगाराणां च शरीराणि तथैव चक्रुः अहतान्यखण्डितानि दिव्यानि वर्याणि देवदूष्ययुगलानि निवासयन्ति शेषं व्यक्तम् (तएणमित्यादि) ततः शक्रो भवनपत्यादीनेवमवादीत् क्षिप्रमेव भो देवानुप्रिया ! ईहामृगादिभक्तिचित्रास्तिस्रः शिविका विकुर्वत विकुर्व इति सौत्रो धातुस्तस्माद्रूपसिद्धिः शेषं स्पष्टम् । (तएणमित्यादि) ततः शक्रो भगवच्छरीरं शिविकायामारोहयति महर्द्ध्या च चितिकास्थाने नीत्वा चितिकायां स्थापयति शेषं स्पष्टम् (तएणमित्यादि) स्पष्टम् (तएणमित्यादि) ततः स शक्रोऽग्निकुमारान् शब्दापयति आमन्त्रयति शब्दापयित्वा एवमवादीत् भो अग्निकुमारा ! देवास्तीर्थकरचितिकायां गणधरचितिकायामनगारचितिकायां चाग्निकायं विकुर्वत विकुर्वित्वा एतामाज्ञप्तिकामाज्ञां प्रत्यर्पयत । शेषं व्यक्तम् (तएणं अग्गिकुमारा देवा इत्यादि) व्याख्यातप्रायमेव (तएणं से सक्के इत्यादि) एतत् सूत्रद्वयमपि व्यक्तम् उज्ज्वालयत दीपयत तीर्थकरशरीरकं यावदनगारशरीरकाणि च ध्यामयत स्ववर्णत्याजनेन वर्णान्तरमापादयत अग्निसंस्कृतानि कुरुतेति । (तएणमित्यादि) ततः स शक्रो भवनपत्यादिदेवानेवमवादीत् भो देवानुप्रियाः ! तीर्थकरचितिकायां यावदनगारचितिकायां च अगुरुं तुरुक्कं सिह्लकं घृतं मधु च एतानि द्रव्याणि कुम्भाग्रशोऽनेककुम्भपरिमाणानि भाराग्रशोऽनेकविंशतितुलापरिमाणानि । अथवा पुरुषोत्क्षेपणीयो भारः सोऽग्रं परिमाणं येषां ते भाराग्रास्ते बहुशो भाराग्रशः संहरतेति प्राग्वत् । अथ मांसादिषु ध्यामितेषु अस्थिष्ववशिष्टेषु शक्रः किं चक्रे इत्याह " तएणमित्यादि " स्पष्टं नवरं क्षीरोदकेन क्षीरसमुद्रानीतजलेन निर्वापयत विध्मापयतेत्यर्थः । अथास्थिवक्तव्यतामाह " तएणमित्यादि " तत्रश्चितिकानिर्वापणादनु भगवतस्तीर्थकरस्योपरितनं दक्षिणं सक्थि दाढामित्यर्थः । शक्रो गृह्णाति ऊर्ध्वलोकवासित्वात् दक्षिणश्रेणिपतित्वाच्च । बलिः दाक्षिणात्यासुरेभ्यः सकाशाद् वी इति विशिष्टं रोचनं दीपनं दीप्तिरिति यावत् येषामस्तीति वैरोचनाः स्वार्थेऽण् उदीच्याः सुराः दाक्षिणात्येभ्यः उत्तराणामधिकपुण्यप्रकृतिकत्वात् तेषामिन्द्रः एवं वैरोचनराजोऽपि अधस्तनं वामं सक्थि गृह्णाति अधोलोकवासित्वादुत्तरश्रेण्यधिपत्वाच्च अवशेषा भवनपतयो वल्करणात् व्यन्तरा ज्योतिष्काश्च ग्राह्या वैमानिका देवा यथाऽर्हं यथा महर्द्धिकम् । अवशेषाणि अङ्गानि भुजाद्यस्थीनि उपाङ्गानि अङ्गसमीपवर्तीनि अङ्गुल्याद्यस्थीनि गृह्णातीति योगः । अयं भावः सनत्कुमाराद्यष्टाविंशतिरिन्द्रा अवशिष्टान् द्वाविंशतिदन्तान् अन्येऽवशिष्टा इन्द्रा अङ्गोपाङ्गास्थीनीति । ननु देवानां तद्ग्रहणे क आशय इत्याह । केचिज्जिनभक्त्या जिने निर्वृते जिनसक्थि जिनवदाराध्यमिति केचिज्जीतमिति पुरातनैरिदमाचीर्णमित्यस्माभिरपीदं कर्तव्यमिति केऽपि धर्मः एषयमिति कृत्वा । अत्र ग्रन्थान्तरप्रसिद्धोऽयमपि हेतुः "पुत्रंति अपडदिअहं, अह कोइ पराजयं जइ करेज्जा । तो परकाक्खिकता उ, सङ्खिवेण करेंति निक्कस्वं " १ । सौधर्मेन्द्रेशानेन्द्रयोः परस्परं सवैरयोस्तद्व्यवधानेन वैरोपशमोऽपि इत्यादिको ज्ञेयस्तद्यथा व्याख्यातो विशेषार्थप्रतिपत्तिरतो विद्याधरनराश्रितास्तस्मशेषामिव गृह्णन्ति सर्वोपद्रवविद्रावणमिति कृत्वा आस्तां त्रिजगदाराध्यानां तीर्थकृतां योगभृच्चक्रवर्तिनामपि देवाः सक्थिग्रहणं कुर्वन्तीति । अथ तत्र विद्याधरादिभिरहंपूर्विकया भस्मनि गृहीते अस्तातायामेव गर्तायां जातायां मा भूत्तत्र पामरजनकृताशातनाप्रसङ्गः सातत्येन तीर्थप्रवृत्तिश्च भूयादिति स्तूपविधिमाह (तएणमित्यादि) सर्वं स्पष्टं नवरं सर्वात्मना रत्नमयानन्तर्वेदिरपि रत्नखचितान् (महत्ति) महतोऽतिविस्तीर्णान् आप्रत्ययः स्वार्थिकः प्राकृतप्रभवः त्रीन् चैत्यस्तूपान् चैत्याश्चित्ताह्लादकाः स्तूपाश्चैत्यस्तूपास्तान् कुरुत । चितात्रयस्थितिष्वित्यर्थः आज्ञाकरणसूत्रे ततस्ते बहवो भवनपत्यादयो देवास्तथैव कुर्वन्ति । ननु यथाऽऽज्ञाकरणसूत्रे यावत् करणेन सूत्रकृतो लाघवसूचा तथा पूर्वसूत्रेऽपि कथं न लाघवचिन्ता कृता उच्यते विचित्रत्वात् सूत्रप्रवृत्तेरिति (तएणमित्यादि) ततस्ते बहवो भवनपत्यादयो देवास्तेषु स्तूपेषु यथोचितं तीर्थकरस्य परिनिर्वाणमहिमां कुर्वन्ति कृत्वा च यत्रैवाकाशखण्डे नन्दीश्वरवरो द्वीपस्तत्रैवोपागच्छन्ति तत स शक्रः पौरस्त्याञ्जनकपर्वते अष्टाह्निकामष्टानामह्नां दिवसानां समाहारोऽष्टाहं तदस्ति यस्यां महिमायां सा अष्टाह्निका तां महामहिमां करोति । ततः शक्रस्य चत्वारो लोकपालाः सोमयमवरुणवैश्रमणनामानस्तत्पार्श्ववर्तिषु चतुर्षु दधिमुखकपर्वतेषु अष्टाह्निकां महामहिमां कुर्वन्ति न चात्र नन्दीश्वरवरादिशब्दानां कोऽन्वर्थ इत्युच्यते नन्द्याः एतत्पुष्करिणीप्रमुखपदार्थसमुद्भूता समृद्धा ईश्वरः स्फीतिमान्नन्दीश्वरस्य एवामनुष्यद्वीपापेक्षया बहुतरसिद्धायतनादिसमुद्भावेन वरो नन्दीश्वरवरः । तथा अञ्जनरत्नमयत्वादञ्जनास्ततः स्वार्थे कप्रत्ययः । यद्वा कृष्णवर्णत्वेनाञ्जनतुल्या इत्यञ्जनकाः उपमाने कप्रत्ययः । तथा दधिवदुज्ज्वलवर्णं मुखं शिखरं रजतमयत्वाद् येषां ते तथा बहुव्रीहौ कप्रत्ययः । अथेशानेन्द्रस्य नन्दीश्वरावतारवक्तव्यमाह (ईसाणेत्ति) ईशानो देवेन्द्र उत्तराहे अञ्जनके अष्टाह्निकां तस्य लोकपाला उत्तराहाञ्जनकस्य परिवारकेषु चतुर्षु दधिमुखकेषु अष्टाह्निकां चमरश्च दाक्षिणात्याञ्जनके तस्य लोकपाला दधिमुखकपर्वतेषु बलीन्द्रः पाश्चात्याञ्जनके तस्य लोकपाला दधिमुखकेषु ततस्ते बहवो भवनपत्यादयो देवा अष्टाह्निकाः महामहिमामहोत्सवभूताः कुर्वन्तीति । बहुवचनं चात्राष्टाह्निकानां सौधर्मेन्द्रादिभिः पृथक् पृथक् क्रियमाणत्वात् (करित्ता इत्यादि) अष्टाह्निका महामहिमाः कृत्वा यत्रैव लोकदेशे स्वानि स्वानि स्वसंबन्धीनि विमानानि यत्रैव स्वानि स्वानि भवनानि वासप्रासादा यत्रैव स्वाः स्वाः सभाः सुधर्माः यत्रैव स्वकाः स्वकाः स्वस्वसंबन्धिनो माणवकनामानश्चैत्यस्तम्भाश्चैत्यशब्दार्थः प्राग्वत् तत्रैवोपागच्छन्ति उपागत्य च वज्रमयेषु गोलवृत्तसमुद्गकेषु भाजनविशेषेषु जिनसक्थीनि प्रक्षिपन्तीति । सक्थिपदमुपलक्षणपरं तेन दशनाद्यपि यथार्हं प्रक्षिपन्तीति । अथ ज्ञाताधर्मकथाङ्गोक्तमल्लिनाथनिर्वाणसम्बन्धि जिनसक्थीन्यपूजन् भूषनजिनसक्थि च तत्र प्राक्षिपन्निति ज्ञेयं प्रक्षिप्य च अग्र्यैः प्रत्यग्रैर्वरैर्माल्यैश्च गन्धैश्चार्चयन्ति अर्चयित्वा च विपुलान् भोगोचितान् भोगान् भुञ्जाना विहरन्त्यासत इति । अत्राह परः ननु चारित्रादिगुणविकलस्य भगवच्छरीरस्य पूजा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नादिकं पूर्वमपि समान्तर्भणमिव बाधते तदनु इदं जिनसक्थ्यादिपूजनं कृते क्वार इव सुतरां बाधते नैवं वादीः नामस्थापनाद्रव्यजिनानां भावजिनस्यैव वन्दनीयत्वात्, तदा भगवच्छरीरस्य च द्रव्यजिनरूपत्वात् सक्थ्यादीनां च तदवयवत्वाद् भावजिनाद्भेदेन वन्दनीयत्वमेव अन्यथा गर्भतयोत्पन्नमात्रस्य भगवतः "समणे जगवं महावीरे" इत्याद्यभिलापेन सूत्रकृतां सूत्ररचना शक्राणां शक्रस्तवप्रयोगादिकं च नौचितीमञ्चेदिति । अत एव जिनसक्थ्याद्याशातनाभीरवो हि देवास्तत्र कामसेवनादौ न प्रवर्तन्ते इति जं० २ वक्ष० ।

(३१) अथेक्ष्वाकूणां द्वितीयां चितिकां वर्णयति ॥

थूभसयभाउआणं, चउवीसं चेव जिणहरे कासी ।
सव्वजिणाणं पडिमा, वण्णपमाणेहिं निअगेहिं ॥

स्तूपशतं भ्रातृणां भरतः कारितवानिति । तथा चतुर्विंशतिश्चैव जिनगृहे जिनायतने (कासित्ति) कृतवान् का इत्याह । सर्वजिनानां प्रतिमा वर्णप्रमाणैर्निजैरात्मीयैरिति गाथार्थः । आ० म० प्र० । श्रीऋषभदेवेन सार्द्धं यैर्दशसहस्रमुनिभिर्भक्तं प्रत्याख्यातं ते कियता कालेन सिद्धास्सन्तीति प्रश्ने ऋषभदेवेन सार्द्धं दशसहस्रमुनयोऽभिजिन्नक्षत्रे सिद्धास्सन्तीत्येतदक्षराणि वसुदेवहिण्ड्यादौ वर्तन्ते इति बोध्यम् । श्वेन ४ उल्ला० ३१ प्र० । परिवेष्टनपट्टे, प्रव० २१६ द्वा० । जी० । " वइरसंघयणे " लोहादिमयपट्टबद्धकाष्ठसम्पुटोपमसामर्थ्यान्वितत्वादृषभसंहननः ॥ भ० १ श० १ उ० । उत्त० । वृषभे, जी० ३ प्रति । रा० । जं० । औ० । अनु० । ज्ञा० । ओषधिभेदे, कर्णच्छिद्रे, कुम्भीरपुच्छे, मेदि० । पर्वतभेदे च धरणि० । वराहपुच्छे, हेम० । "नाभिमूलात् यदा वर्ण, उत्थितः कुरुते ध्वनिम् । वृषभस्येव निर्वाति, हेलया ऋषभः स्मृतः" इति सङ्गीतशास्त्रोक्ते स्वरभेदे, राजकर्तव्ये, वाच० कात्यायनगोत्रायाः शिवानाम्न्याः कन्यकायाः पितरि, तत्कथा ब्रह्मदत्तहिण्ड्यां दर्शिता तत एवाऽवधार्या । उत्त० १ अ० । ऋषभकूटाधिपदेवे च । स्था० ८ ठा० ।

उसभ-(ह) कंठ-ऋषभकण्ठ-पुं० ६ त० वृषभस्य कण्ठे, वृषभकण्ठप्रमाणे रत्नविशेषे, रा० " उसभकंठाण अट्ठसयं " जी० ३ प्रति० ।

उसभकूड-ऋषभकूट-न० जम्बूद्वीपे उत्तरार्द्धभरते वर्षे स्वनामख्याते पर्वते, ॥

कहि णं भंते ! जंबुद्दीवे दीवे उत्तरभरहे वासे उसभकूडे णामं पव्वए पण्णत्ते गोअमा ! गंगाकुंडस्स पच्चत्थिमेणं सिंधुकुंडस्स पुरत्थिमेणं चुल्लहिमवंतस्स वासहरपव्वयस्स दाहिणिल्ले णितंबे एत्थ णं जंबुद्दीवे दीवे उत्तरड्ढे भरहे वासे उसहकूडे णामं पव्वए पण्णत्ते अट्ठजोअणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं दो जोअणाइं उव्वेहेणं मूले अट्ठजोअणाइं विक्खंभेणं मज्झे छ जोअणाइं विक्खंभेणं उवरिं च चत्तारि जोअणाइं विक्खंभेणं मूले साइरेगाइं पणवीसं जोअणाइं परिक्खेवेणं मज्झे साइरेगाइं अट्ठारसजोअणाइं परिक्खेवेणं उवरिं साइरेगाइं दुवालसजोअणाइं परिक्खेवेणं (पाठान्तरं) मूले बारसजोअणाइं विक्खंभेणं मज्झे अट्ठ जोअणाइं विक्खंभेणं उप्पिं चत्तारि जोअणाइं विक्खंभेणं मूले साइरेगाइं सत्ततीसं जोअणाइं परिक्खेवेणं मज्झे साइरेगाइं पणवीसं जोअणाइं परिक्खेवेणं उप्पिं साइरेगाइं बारसजोअणाइं परिक्खेवेणं मूले विच्छिण्णे मज्झे संखित्ते उप्पिं तणुए गोपुच्छसंठाणसंठिए सव्वजंबूणयामए अच्छे सण्हे जाव पडिरूवे से णं एगाए पउमवरवेइआए तहेव जाव भवणं कोसं आयामेणं अद्धकोसं विक्खंभेणं देसूणं कोसं उड्ढं उच्चत्तेणं अट्ठो तहेव उप्पलाणि पउमाणि जाव उसभे अ एत्थ देवे महिड्ढिए जाव दाहिणेणं रायहाणी तहेव मंदरस्स पव्वयस्स जहा विजयस्स अविसेसियं ॥

क्व भदन्त ! जम्बूद्वीपे द्वीपे उत्तरार्द्धभरते वर्षे ऋषभकूटो नाम्ना पर्वतः प्रज्ञप्तः भगवानाह गौतम ! गङ्गाकुण्डस्य यत्र हिमवतो गङ्गा निपतति तद्गङ्गाकुण्डं तस्य पश्चिमायां यत्र तु सिन्धुर्निपतति सिन्धुकुण्डं तस्य पूर्वस्यां क्षुल्लहिमवतो वर्षधरस्य दाक्षिणात्यनितम्बे सामीप्यकसप्तम्या नितम्बासन्ने इत्यर्थः । अत्र प्रदेशे जम्बूद्वीपे द्वीपे उत्तरार्द्धभरते वर्षे ऋषभकूटो नाम्ना पर्वतः प्रज्ञप्तः अष्टयोजनान्यूर्ध्वोच्चत्वेन द्वे योजने उद्वेधेन भूमिप्रवेशेन उच्चत्वचतुर्थांशस्य भूम्यवगाढत्वात् अष्टानां चतुर्थांशे द्वयोरेव लाभात् । मूलमध्यान्तेषु क्रमादष्ट षट् चत्वारि योजनानि विष्कम्भेन विस्तारेण उपलक्षणत्वादायामेनापि समवृत्तस्यायामविष्कम्भयोस्तुल्यत्वादिति । तथा मूलमध्यान्तेषु पञ्चविंशतिरष्टादश द्वादश च योजनानि सातिरेकाणि परिक्षेपेण परिधिना । अथास्य पाठान्तरं वाचनाभेदस्तत्कृतं परिमाणान्तरमाह । मूले द्वादश योजनानि विष्कम्भेन मध्येऽष्टयोजनानि तूपरि चत्वारि योजनानि विष्कम्भेन अत्रापि विष्कम्भायामतः साधिकत्रिगुणं मूलमध्यान्तपरिधिमानं सूत्रोक्तं सुबोधम् । अत्रापरः एकस्य वस्तुनो विष्कम्भादिपरिमाणे द्वैरूप्यासंभवेन प्रस्तुतग्रन्थस्यासातिशयस्थविरप्रणीतत्वेन कथं नान्यतरनिर्णयः यदेकस्यापि ऋषभकूटपर्वतस्य मूलादावष्टादियोजनविस्तृतत्वादि पुनस्तत्रैवास्य द्वादशादियोजनविस्तृतत्वादीति सत्यं जिनभट्टारकाणां सर्वेषां क्षायिकज्ञानवतामेकमेव मतं मूलतः पश्चात्तु कालान्तरेण विस्मृत्यादिनाऽयं वाचनाभेदः ॥ यदुक्तं श्रीमलयगिरिसूरिभिर्ज्योतिष्करण्डवृत्तौ " इह स्कन्दिलाचार्यप्रवृत्तौ दुःषमानुभावतो दुर्भिक्षप्रवृत्त्या साधूनां पठनगुणनादिकं सर्वमप्यनेशत् । ततो दुर्भिक्षातिक्रमे सुभिक्षप्रवृत्तौ द्वयोः सङ्घमेलापकोऽभवत् तद्यथा एको वलभ्यामेको मथुरायां तत्र च सूत्रार्थसंघटने परस्परं वाचनाभेदो जातः विस्मृतयोर्हि सूत्रार्थयोः स्मृत्वा स्मृत्वा संघटने भवत्यवश्यं वाचनाभेद इत्यादि ततोऽत्रापि दुष्करोऽन्यतरनिर्णयः द्वयोः पक्षयोरुपस्थितयोरनतिशायिज्ञानिभिरनभिनिविष्टमतिभिः प्रवचनाशातनाभीरुभिः पुण्यपुरुषैरिति न काचिदनुपपत्तिः । किं च सैद्धान्तिकशिरोमणिपूज्यश्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणप्रणीतक्षेत्रसमाससूत्रे उत्तरमतमेवं दर्शितं यथा "सव्वे वि उसहकूडा, उव्विद्धा अट्ठ जोअणे हुंति । बारस अट्ठ य चउरो, मूले मज्झुवरि विच्छिण्णा ॥१॥ मूले विच्छिण्णे इत्यादि शेषवर्णकः प्राग्वत् । अथास्य पद्मवरवेदिकाद्याह । (से णं एगाए इत्यादि) स ऋषभकूटाद्रिरेकया पद्मवरवेदिकया तथैवेति । यथा सिद्धायतनकूटवर्णकः प्रागुक्तस्तथाऽत्रापि वक्तव्य इत्यर्थः कियत्पर्यन्त इत्याह । यावद्भगवत ऋषभाख्यदेवस्थानं स चायं "एगेण य वणसंडेणं सव्वओ समंता संप-

रिक्खित्ते उसहकूडस्स णं उप्पिं बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते से जहा णामए आलिंगपुक्खरेइ वा जाव वाणमंतरा जाव विहरंति तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभागे महं एगे भवणे पण्णत्ते" इति अत्र व्याख्या पूर्ववत् । भवनमानं साक्षादेव सूत्रे दर्शयति । क्रोशमायामेनार्द्धक्रोशं विष्कम्भेन देशोनक्रोशं चत्वारिंशदधिकचतुर्दशधनुःशतरूपमूर्द्धोच्चत्वेन । यद्यपि भवनायामापेक्षया किञ्चिन्न्यूनोच्छ्रायमानं भवति प्रासादस्तु आयामद्विगुणोच्छ्राय इति श्रीज्ञाताधर्मकथाङ्गवृत्त्यादौ भवनप्रासादयोर्विशेषो दृश्यते तथाऽप्यत्र तयोरेकार्थकत्वं ज्ञेयम् । श्रीमलयगिरिसूरिभिः क्षेत्रसमासवृत्तौ एतेषां ऋषभकूटानामुपरि प्रत्येकमेकैकः प्रासादावतंसकः ते च प्रासादाः प्रत्येकमेकं क्रोशमायामतोऽर्द्धक्रोशं विष्कम्भतो देशोनं क्रोशमुच्चैस्त्वेनेत्यत्रोक्तं भवनतुल्यप्रमाणतया ऋषभकूटेषु प्रासादानामभिधानादिति । अथो नामान्वर्थं ऋषभकूटस्य तथैवेति यथा जीवाभिगमादौ यमकादीनां पर्वतानामुक्तस्तथाऽत्रापि औचित्येन वक्तव्यः तदभिलापसूत्रं तु उत्पलानीत्यादिना सूचितं तदनुसारेणेदं " सेकेणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ उसहकूडपव्वए २ गोयमा ! उसहकूडपव्वए खुड्डासु खुड्डियासु वावीसु पुक्खरिणीसु जाव विलपंतीसु बहूइं उप्पलाइं पउमाइं जाव सहस्सपत्ताइं उसहकूडप्पभाइं उसहकूडवण्णाइं उसहकूडवण्णाभाइं इति " अत्र व्याख्या प्रश्नसूत्रं सुगमम् । उत्तरसूत्रे ऋषभकूटपर्वते क्षुल्लासु क्षुल्लिकासु वापीषु पुष्करिणीषु यावद्विलपङ्क्तिषु बहून्युत्पलानि पद्मानि यावत्सहस्रपत्राणि ऋषभकूटप्रभाणि ऋषभकूटाकाराणि ऋषभकूटवर्णानि तथा ऋषभकूटवर्णस्येव आभा प्रतिभासो येषां तानि ऋषभकूटवर्णाभानि ततस्तानि तदाकारत्वात्तद्वर्णत्वात्तद्वर्णसादृश्याच्च ऋषभकूटानीति प्रसिद्धानि तद्योगादेव पर्वतोऽपि ऋषभकूटः । उभयेषामपि नाम्नामनादिकालप्रवृत्तोऽयं व्यवहार इति नेतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गः एवमन्यत्रापि परिभावनीयम् । प्रकारान्तरेणापि नामनिमित्तमाह " उसभे अ एत्थ देवे " इत्यादि ऋषभश्चात्र देवो महर्द्धिकः अत्र यावत्करणात् " महज्जुईए जाव उसहकूडस्स उसहाए रायहाणीए अण्णेसिं च बहूणं देवाण य देवीण य आहेवच्चं जाव दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरइ से एएणट्ठेणं एवं वुच्चइ उसहकूडपव्वए २" इति पर्यन्तः सूत्रपाठो ज्ञेयः । अत्र व्याख्या प्राग्वत् " दाहिणेणं " इत्यादि राजधानी ऋषभदेवस्य ऋषभा नाम्नी मन्दरस्य पर्वतस्य दक्षिणतस्तथैव वाच्या यथा विजया देवस्य प्रागुक्ता अविशेषितं विशेषरहितं क्रियाविशेषणमेतत् । अस्या विजयायाः राजधान्याश्च नामतोऽन्तरं तच्चास्मिन् ग्रन्थे इति भावः । जं० ४ वक्ष० ॥

जंबुमंदरपुरच्छिमेणं सीयाए महाणईए उत्तरेणं अट्ठ उसभकूडा पण्णत्ता ॥

अष्टौ ऋषभकूटपर्वता अष्टास्वपि विजयेषु सद्भावात् ते च वर्षधरपर्वतप्रत्यासन्ना म्लेच्छखण्डत्रयमध्यखण्डवर्त्तिनः सर्वविजयभरतैरावतेषु भवन्ति तत्प्रमाणं चेदम् । "सव्वे वि उसहकूडा, उव्विद्धा अट्ठ जोयणा होंति । बारस अट्ठ य चउरो, मूले मज्झुवरि वित्थिण्ण " त्ति ॥ १ ॥

उसभ(ह)कूडदेव-ऋषभकूटदेव-पुं० ऋषभकूटनिवासिनि देवे, "जंबुमंदरपुरच्छिमेणं सीयाए महाणईए अट्ठ उसभकूडदेवा पण्णत्ता " स्था० ८ ठा० ।

उसभ(ह)णाराय-ऋषभनाराच-न० यत्र कीलिकारहितं संहननं तदृषभनाराचम् । द्वितीये संहनने, पं० सं० । क० । स्था० ।

उसभणाह-ऋषभनाथ-पुं० श्रीऋषभदेवे, आ० म० प्र० ।

उसभ(ह)दत्त-ऋषभदत्त- पुं० ब्राह्मणकुण्डग्रामवास्तव्ये कोडालसगोत्रे स्वनामख्याते ब्राह्मणवर्य्ये, आचा० २ श्रु० । आव० । कल्प० (यस्य देवानन्दानाम्न्या भार्यायाः कुक्षौ प्रथमं श्रीवीरजिनः पुत्रत्वेनोपपन्नस्ततो हरिणेगमेषिणा संकर्षितस्त्रिशलायां सिद्धार्थनरेन्द्रमहिष्यां संजज्ञे इति वीरशब्दे स्पष्टीभविष्यति) तस्य शेषवक्तव्यता चैवम् ॥

तेणं कालेणं तेणं समएणं माहणकुंडग्गामे णामं णयरे होत्था वण्णओ बहुसालए चेइए वण्णओ तत्थ णं माहणकुंडग्गामे णयरे उसभदत्ते णामं माहणे परिवसइ । अड्ढे दित्ते वित्ते जाव अपरिभूए रिउव्वेय जउव्वेय सामवेय अथव्वणवेय जहा खंदओ जाव अण्णेसु य बहुसु य बंभण्णएसु य नएसु परिनिट्ठिए समणोवासए अभिगयजीवाजीवे उवलद्धपुण्णपावे जाव अप्पाणं भावेमाणे विहरइ ॥

तेणमित्यादि सुगमम् (अड्ढेत्ति) समृद्धः (दित्तेत्ति) दीप्तस्तेजस्वी दृप्तो वा दर्पवान् । (वित्तेत्ति) प्रसिद्धो यावत्करणात् "विच्छिण्णविउलभवणसयणासणजाणवाहणे " इत्यादि दृश्यम् ॥ भ० ९ श० ३३ उ० ॥

तस्स णं उसभदत्तस्स माहणस्स देवाणंदा णामं माहणी होत्था सुकुमालपाणिपाया जाव पियदंसणा सुरूवा समणोवासिया अभिगयजीवाजीवा उवलद्धपुण्णपावा जाव विहरइ । तेणं कालेणं तेणं समएणं सामी समोसढे परिसा पज्जुवासइ तए णं से उसभदत्ते माहणे इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे हट्ठ जाव हियए जेणेव देवाणंदा माहणी तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता देवाणंदा माहणिं एवं वयासी एवं खलु देवाणुप्पिया समणे भगवं महावीरे आदिगरे जाव सव्वण्णू सव्वदरिसी आगासगएणं चक्केणं जाव सुहं सुहेणं विहरमाणे बहुसालए चेइए अहापडिरूवं उग्गहं जाव विहरइ तं महप्फलं खलु देवाणुप्पिए तहारूवाणं अरहंताणं भगवंताणं णामगोयस्स वि सवणयाए किमंग पुण अभिगमणवंदणणमंसणपडिपुच्छणपज्जुवासणयाए एगस्स वि आरियस्स धम्मियस्स सुवयणस्स सवणयाए किमंग ! पुण विपुलस्स अट्ठस्स गहणयाए तं गच्छामो णं देवाणुप्पिए समणं भगवं महावीरं वंदामो णमंसामो जाव पज्जुवासामो एयं णो इह भवे परभवे य हियाए सुहाए खमाए आणुगामियत्ताए भविस्सइ तए णं सा देवाणंदा माहणी उसभदत्तेणं माहणेणं एवं वुत्ता समाणी हट्ठ जाव हियया करयल जाव कट्टु उसभदत्तस्स माहणस्स एयमट्ठं विणएणं पडिसुणेइ ॥

(हियाएत्ति) हिताय पथ्यान्नवत् (सुहाएत्ति) सुखाय शर्म्मणे (खमाएत्ति) क्षमत्वाय सङ्गतत्वायेत्यर्थः (आणुगामिय-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्ताए त्ति) आनुगामिकत्वाय शुभानुबन्धायेत्यर्थः (हट्ठ) इह यावत्करणादेवं दृश्यं (हट्ठतुट्ठचित्तमाणंदिया) हृष्टं तुष्टमत्यर्थं तुष्टं हृष्टं वा विस्मितं तुष्टं च तोषवच्चित्तं यत्र तत्तथा । तद्यथा भवत्येवमानन्दिता ईषन्मुखसौम्यतादिभावैः समृद्धिमुपगता ततश्च नन्दिता समृद्धतरतामुपगता (पीइमणा) प्रीतिः प्रीणनमाप्यायनं मनसि यस्याः सा प्रीतिमनाः (परमसोमणस्सिया) परमसौमनस्यं सुष्ठु समनस्कता संजाता यस्याः सा परमसौमनस्यिता (हरिसवसविसप्पमाणहियया) हर्षवशेन विसर्पद्विस्तारयायि हृदयं यस्याः सा तथा ।

तए णं से उसभदत्ते माहणे कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ सद्दावेइत्ता एवं वयासी खिप्पामेव भो ! देवाणुप्पिया ! लहुकरणजुत्तजोइयसमखुरवालिहाणसमलिहियसिंगेहिं जंबूणयमयकलावजुत्तपरिविसिट्ठेहिं रययमयघंटसुत्तरज्जुपवरकंचणणत्थपग्गहोग्गहियएहिं णीलुप्पलकयामेलएहिं पवरगोणजुवाणएहिं णाणामणिमयघंटियाजालपरिगतसुजातजुगजुत्तरज्जुयजुगपसत्थसुविरचियनिम्मियपवरलक्खणोववेयं धम्मियं जाणप्पवरं जुत्तामेव उवट्ठवेह मम एयमाणत्तियं पच्चप्पिणह । तए णं से कोडुंबियपुरिसा उसभदत्तेणं माहणेणं एवं वुत्ता समाणा हट्ठ जाव हियया करयल जाव एवं सामी तहत्ता आणाए विणएणं वयणं जाव पडिसुणेत्ता खिप्पामेव लहुकरणजुत्त जाव धम्मियं जाणप्पवरं जुत्तामेव उवट्ठवेत्ता जाव तमाणत्तियं पच्चप्पिणंति तए णं से उसभदत्ते माहणे ण्हाए जाव अप्पमहग्घाभरणालंकियसरीरे सयाओ गिहाओ पडिणिक्खमइ पडिणिक्खमइत्ता जेणेव बाहिरिया उवट्ठाणसाला जेणेव धम्मिए जाणप्पवरे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता धम्मियं जाणप्पवरं दुरूढे ।

(लहुकरणजुत्तजोइए इत्यादि) लघुकरणं शीघ्रक्रियादक्षत्वं तेन युक्तौ यौगिकौ च प्रशस्तयोगवन्तौ प्रशस्तसदृशरूपत्वाद्यौ तौ तथा समाः खुरा इव प्रतीताः (वालिहाणत्ति) वालिधाने च पुच्छौ ययोस्तौ तथा समानि लिखितान्युल्लिखितानि शृङ्गाणि ययोस्तौ तथा ततः कर्मधारयोऽतस्ताभ्यां लघुकरणयुक्तयौगिकसमखुरवालिधानसमलिखितशृङ्गकाभ्यां गोयुवभ्यां युक्तमेव यानप्रवरमुपस्थापयतेति सम्बन्धः । पुनः किंभूताभ्यामित्याह । जाम्बूनदमयौ सुवर्णनिर्वृतौ यौ कलापौ कण्ठाभरणविशेषौ ताभ्यां युक्तौ प्रतिविशिष्टकौ च प्रधानौ जवादिभिर्यौ तौ तथा ताभ्यां जाम्बूनदमयकलापयुक्तप्रतिविशिष्टकाभ्यां रजतमय्यौ रूप्यविकारे घण्टे ययोस्तौ तथा सूत्ररज्जुके कार्पासिकसूत्रदवरकमय्यौ वरकाञ्चने प्रवरसुवर्णमण्डितत्वेन प्रधानसुवर्णे ये नस्ते नासिकारज्जू तयोः प्रग्रहेण रश्मिना अवगृहीतकौ बद्धौ यौ तौ तथा ततः कर्मधारयोऽतस्ताभ्यां रजतमयघण्टसूत्ररज्जुकवरकाञ्चननस्ताप्रग्रहावगृहीतकाभ्यां नीलोत्पलैर्जलजविशेषैः कृतो विहितः । (आमेलत्ति) आपीडः शेखरो ययोस्तौ ताभ्यां नीलोत्पलकृतापीडकाभ्याम् (पवरगोणजुवाणएहिंति) प्रवरगोयुवभ्यां नानामणिरत्नानां सत्कं यद्घण्टिकाप्रधानं जालं जालकं तेन परिगतं परिक्षिप्तं यत्तत्तथा सुजातं सुजातदारुमयं यद्युगं यूपस्तत्सुजातयुगं तच्च योक्त्ररज्जुकायुगञ्च योक्त्राभिधानरज्जुकायुगं सुजातयुगयोक्त्ररज्जुकायुगे ते प्रशस्ते अतिशुभे सुविरचिते सुघटिते निर्मिते निवेशिते यत्र तत् सुजातयुगयोक्त्ररज्जुकायुगप्रशस्तसुविरचितनिर्मितम् (एवमित्यादि) एवं स्वामिन् (तथेति) आज्ञया इत्येवं ब्रुवाण इत्यर्थः । विनयेनाञ्जलिकरणादिना ।

तए णं सा देवाणंदा माहणी अंतो अंतेउरंसि ण्हाया कयबलिकम्मा कयकोउयमंगलपायच्छित्ता किं ते वरपादपत्तनेउरमणिमेहलाहाररइयउचियकडयखुड्डुगएगावलीकंठसुत्तउरत्थगेवेज्जसोणिसुत्तगणाणामणिरयणभूसणविराइयंगी चीणंसुयवत्थपवरपरिहिया दुगुल्लसुकुमालउत्तरिज्जा सव्वोउयसुरभिकुसुमवरियसिरया वरचंदणवंदिया वराभूसणभूसियंगी कालागुरुधूमधूविया सिरिसमाणवेसा जाव अप्पमहग्घाभरणालंकियसरीरा बहूहिं खुज्जाहिं चिलाइयाहिं वामणियाहिं वडहियाहिं बब्बरियाहिं बउसियाहिं इसिगणियाहिं वारुगणियाहिं जोणियाहिं पल्हवियाहिं ल्हासियाहिं लउसियाहिं आरवीहिं दमिलाहिं सिंघलीहिं पुलिंदीहिं पक्कणीहिं बहलीहिं मुरंडीहिं सवरीहिं पारसीहिं णाणादेसीविदेसपरिपिंडियाहिं सदेसनेवत्थगहियवेसाहिं इंगियचिंतियपत्थियवियाणियाहिं कुसलाहिं विणीयाहिं चेडियाचक्कवालवरिसधरथेरकंचुइज्जमहत्तरगविंदपरिक्खित्ता जाव अंतेउराओ णिग्गच्छइ णिग्गच्छइत्ता जेणेव बाहिरिया उवट्ठाणसाला जेणेव धम्मिए जाणप्पवरे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता जाव धम्मियं जाणप्पवरं दुरूढा ।

(तएणं सा देवाणंदामाहणीत्यादि) । इह च स्थाने वाचनान्तरे देवानन्दावर्णक एवं दृश्यते (अंतो अंतेउरंसि ण्हाया) अन्तर्मध्येऽन्तःपुरस्य स्नाता अनेन च कुलीनाः स्त्रियः प्रच्छन्नाः स्नान्तीति दर्शितम् । (कयबलिकम्मा) गृहदेवताः प्रतीत्य (कयकोउयमंगलपायच्छित्ता) कृतानि कौतुकमङ्गलान्येव प्रायश्चित्तान्यवश्यं कार्यत्वाद्यया सा तथा तत्र कौतुकानि मषीतिलकादीनि मङ्गलानि सिद्धार्थकदूर्वादीनि (किं ते) किञ्चान्यत् (वरपादपत्तनेउरमणिमेहलाहाररइयउचियकडयखुड्डुयएगावलीकंठसुत्तउरत्थगेवेज्जसोणिसुत्तगनाणामणिरयणभूसणविराइयंगी) वराभ्यां पादप्राप्तनूपुराभ्यां मणिमेखलया हारेण च रचितैः रतिदैर्वा सुखदोचितैर्युक्तैः कटकैश्च (खुड्डुगत्ति) अङ्गुलीयकैश्च एकावल्या च विचित्रमणिमय्या कण्ठसूत्रेण च उरःस्थेन च रूढिगम्येन ग्रैवेयकेण च प्रतीतेन उरःस्थग्रैवेयकेण वा श्रोणिसूत्रकेण च कटीसूत्रेण नानामणिरत्नानां भूषणैश्च विराजितमङ्गं शरीरं यस्याः सा तथा (चीणंसुयवत्थपवरपरिहिया) चीनांशुकं नाम यद्वस्त्राणां मध्ये प्रवरं तत्परिहितं निवसनीकृतं यया सा तथा (दुगुल्लसुकुमालउत्तरिज्जा) दुकूलो वृक्षविशेषस्तद्वल्कलाज्जातं दुकूलं वस्त्रविशेषस्तत्सुकुमारमुत्तरीयमुपरिकायाच्छादनं यस्याः सा तथा (सव्वोउयसुरभिकुसुमवरियसिरया) सर्वर्तुकसुरभिकुसुमैर्वृत्ता वेष्टिताः शिरोजा यस्याः सा तथा (वरचंदणवंदिया) वरचन्दनं वन्दितं ललाटे निवेशितं यया सा तथा (वराभरणभूसियंगीति) व्यक्तम् । (कालागुरुधूमधूविया) इत्यपि व्य-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कम् । (सिरिसमाणवेसा) श्रीदेवता तया समाननेपथ्या इतः प्रकृतवाचनानुश्रियते (खुज्जाहिंति) कुब्जिकाभिर्वक्रजङ्घाभिरित्यर्थः (चिलाइयाहिंति) चिलातदेशोत्पन्नाभिः यावत्करणादिदं दृश्यम् (वामणियाहिं) ह्रस्वशरीराभिः (वडभियाहिं) मडहकोष्ठाभिः (बब्बरियाहिं पओसियाहिं इसिगणियाहिं थासगणियाहिं जोणियाहिं पल्हवियाहिं ल्हासियाहिं लओसियाहिं आरबीहिं दमिलाहिं सिंहलीहिं पुलिंदीहिं पक्कणीहिं बहलीहिं मुरुंडीहिं सबरीहिं पारसीहिं नाणादेसीविदेसपरिपिंडियाहिं) नानादेशीभ्यो बहुविधजनपदेभ्यो विदेशे तद्देशापेक्षया देशान्तरे परिपिण्डिता यास्तास्तथा (सदेसनेवत्थगहियवेसाहिं) स्वदेशनेपथ्यमिव गृहीतो वेषो यकाभिस्तास्तथा ताभिः (इंगियचिंतियपत्थियवियाणियाहिं) इङ्गितेन नयनादिचेष्टया चिन्तितञ्च परेण प्रार्थितं चाभिलषितं विजानन्ति यास्तास्तथा ताभिः (कुसलाहिं विणीयाहिं) युक्ता इति गम्यते (चेडियाचक्कवालवरिसधरथेरकंचुइज्जमहत्तरयविंदपरिक्खित्ता) चेटीचक्रवालेनार्थात्स्वदेशसम्भवेन वर्षधराणां वर्द्धितकरणेन नपुंसकीकृतानामन्तःपुरमहल्लकानाम् । (थेरकंचुइज्ज त्ति) स्थविरकञ्चुकिनामन्तःपुरप्रयोजननिवेदकानां प्रतीहाराणां वा महत्तरकाणां चान्तःपुरकार्यचिन्तकानां वृन्देन परिक्षिप्ता या सा तथा । इदं च सर्वं वाचनान्तरे साक्षादेवास्ति ॥

तए णं से उसभदत्ते माहणे देवाणंदामाहणीए सद्धिं धम्मियं जाणप्पवरं दुरूढमाणे णियगपरियालसंपरिवुडे माहणकुंडग्गामं णयरं मज्झं मज्झेणं णिग्गच्छइ निग्गच्छइत्ता जेणेव बहुसालए चेइए तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता छत्ताइए तित्थकराइसए पासइ पासइत्ता धम्मियं जाणप्पवरं ठवेइ ठवेइत्ता धम्मियाओ जाणप्पवराओ पच्चोरुहइ पच्चोरुहइत्ता समणं भगवं महावीरं पंचविहेणं अभिगमेणं अभिसमागच्छइ तं सचित्ताणं दव्वाणं विउसरणयाए एवं जहा बिइए सए जाव तिविहाए पज्जुवासणयाए पज्जुवासइ । तए णं सा देवाणंदा माहणी धम्मियाओ जाणप्पवराओ पच्चोरुभइ पच्चोरुभइत्ता बहूहिं खुज्जाहिं जाव महत्तरगपरिक्खित्ता समणं भगवं महावीरं पंचविहेणं अभिगमेणं अभिसमागच्छइ तं सचित्ताणं दव्वाणं विउसरणयाए अचित्ताणं दव्वाणं विमोयणयाए विणओणयाए गायलट्ठीए चक्खुप्फासे अंजलिपग्गहेणं मणसो एगत्तीभावकरणेणं जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ करेइत्ता वंदइ णमंसइ वंदित्ता णमंसित्ता उसभदत्तं माहणं पुरओ कट्टु ठिया चेव सपरिवारा सुस्सूसमाणी णमंसमाणी अभिमुहा विणएणं पंजलिउडा पज्जुवासइ ॥

(सचित्ताणं दव्वाणं विओसरणयाएत्ति) पुष्पताम्बूलादिद्रव्याणां व्युत्सर्जनतया त्यागेनेत्यर्थः (अचित्ताणं दव्वाणं अविमोयणयाएत्ति) वस्त्रादीनामत्यागेनेत्यर्थः (मणसो एगत्तीभावकरणेणंति) अनेकस्य सत एकतालक्षणभावकरणेन (ठियाचेवत्ति) उर्द्धस्थानस्थितैव अनुपविष्टेत्यर्थः ।

तए णं सा देवाणंदा माहणी आगयपण्हया पप्फुयलोयणा संवरियवलियबाहा कंचुकयपरिक्खित्तिया धाराहतकलंबपुप्फगं पिव समुस्ससियरोमकूवा समणं भगवं महावीरं अणिमिसाए दिट्ठाए देहमाणी २ चिट्ठइ भंतेति ! भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदइ णमंसइ वंदित्ता णमंसित्ता एवं वयासी किं णं भंते ! एसा देवाणंदा माहणी आगयपण्हया तं चेव जाव रोमकूवा देवाणुप्पिए अणिमिसाए दिट्ठीए देहमाणी २ चिट्ठइ गोयमादि समणे भगवं महावीरे भगवं गोयमं एवं वयासी एवं खलु गोयमा ! देवाणंदा माहणी मम अम्मगा अहं णं देवाणंदाए माहणीए अत्तए तए णं सा देवाणंदा माहणी तेणं पुव्वपुत्तसिणेहाणुरागेणं आगयपण्हया जाव समुस्ससियरोमकूवा ममं अणिमिसाए दिट्ठीए देहमाणी २ चिट्ठइ तए णं समणे भगवं महावीरे उसभदत्तस्स माहणस्स देवाणंदाए माहणीए तीसयं महइ महालियाए इसिपरिसाए जाव परिसा पडिगया तए णं से उसभदत्ते माहणे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं धम्मं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठे उट्ठाए उट्ठेइ उट्ठेइत्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो जाव णमंसित्ता एवं वयासी एयमेयं भंते ! तहमेयं भंते ! जहा खंदओ जाव से जहेयं तुब्भे वदह त्तिकट्टु उत्तरपुरच्छिमं दिसीभागं अवक्कमइ अवक्कमइत्ता सयमेव आभरणमल्लालंकारं ओमुयइ ओमुयइत्ता सयमेव पंचमुट्ठियं लोयं करेइ करेइत्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं जाव णमंसित्ता एवं वयासी आलित्तेणं भंते ! लोए पलित्तेणं भंते ! लोए जराए मरणेण य एवं एएणं कमेणं जहा खंदओ तहेव पव्वइए जाव सामाइयमाइयाइं एक्कारस अंगाइं अहिज्जइ जाव बहूहिं चउत्थछट्ठट्ठमदसम जाव विचित्तेहिं तवोकम्मेहिं अप्पाणं भावेमाणे बहूइं वासाइं सामण्णपरियागं पाउणइ पाउणइत्ता मासियाए संलेहणाए अत्ताणं झूसेइ झूसित्ता सट्ठिं भत्ताइं अणसणाइं छेदेइ छेदेइत्ता जस्स ट्ठाए कीरइ नग्गभावे जाव तमट्ठं आराहेत्ता जाव सव्वदुक्खप्पहीणे तए णं सा देवाणंदा माहणी समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठा समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं जाव णमंसित्ता एवं वयासी एवमेयं भंते ! तहमेयं भंते ! एवं जहा उसभदत्तो तहेव जाव धम्ममाइक्खइ तए णं समणे भगवं महावीरे देवाणंदा माहणिं सयमेव पव्वावेइ पव्वावेइत्ता सयमेव अज्जचंदणाए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अज्जाए सीसिणित्ताए दलयति २त्ता तए णं सा अज्जचंदणा अज्जा देवाणंदा माहणिं सयमेव मुंडावेइ२त्ता सयमेव सेहावेइ२त्ता एवं जहा उसभदत्ततेमहेव अज्जचंदणाए अज्जाए इमं एयाणुरूवं धम्मियं उवदेसं सम्मं पडिवज्जइ२त्ता तमाणाए तह गच्छइ २त्ता जाव संजमेणं संजमइ। तए णं सा देवाणंदा अज्जा अज्जचंदणाए अज्जाए अंतियं सामाइयमाइयाइं एक्कारस अंगाइं अहिज्जइ सेसं तं चेव जाव सव्वदुक्खप्पहीणा॥ (आगयपण्हयत्ति) आयातप्रस्नवा पुत्रस्नेहादागतस्तनदुग्धस्तन्येत्यर्थः (पप्पुयलोयणा) प्रप्लुतलोचना पुत्रदर्शनप्रवर्तितानन्दजलेन (संवरियवलयबाहा) संवृतौ हर्षातिरेकादतिस्थूरीभवन्तौ निषिद्धौ वलयैः कटकैर्बाहू भुजौ यस्याः सा तथा। (कंचुयपरिक्खित्तिया) कञ्चुको वारबाणः परिक्षिप्तो विक्षिप्तो विस्तारितो हर्षातिरेकस्थूरीभूतशरीरतया यया सा तथा (धाराहयकलंबपुप्फगमिवसमुस्ससियरोमकूवा) मेघधाराभ्याहतकदम्बपुष्पमिव समुच्छ्वसितानि रोमाणि कूपेषु रोमरन्ध्रेषु यस्याः सा तथा (पेहमाणत्ति) प्रेक्षमाणा आनीक्ष्ण्ये चात्र द्विरुक्तिः (भंतेत्ति) भदन्त ! इत्येवमामन्त्रणवचसाऽऽमन्त्र्येत्यर्थः गोयम ! इति) एवमामन्त्र्येत्यर्थः। अथवा गौतम इति नामोच्चारणम (अयीति) आमन्त्रणार्थे निपातो हे भो इत्यादिवत् (अत्तएत्ति) आत्मजः पुत्रः (पुव्वपुत्तसिणेहाणुरागेणंति) पूर्वं प्रथमगर्भाधानकालसम्भवो यः पुत्रस्नेहलक्षणोऽनुरागः स पूर्वपुत्रस्नेहानुरागस्तेन (महइमहालियाए) महती चासावतिमहती चेति महातिमहती तस्यै आलप्रत्ययश्चेह प्राकृतप्रभवः (इसिपरिसाएत्ति) पश्यन्तीति ऋषयो ज्ञानिनस्तद्रूपा पर्षत्परिवार ऋषिपर्षत्तस्यै यावत्करणादिदं दृश्यम्- "मुणिपरिसाए जइपरिसाए अणेगसयाए अणेगसयविंदपरिवाराए इत्यादि" तत्र मुनयो वाचंयमा यतयस्तु धर्मक्रियासु प्रयतमानाः अनेकानि शतानि यस्याः सा तथा तस्यै अनेकशतप्रमाणानि वृन्दानि परिवारो यस्याः सा तथा तस्यै (तए णं सा अज्जचंदणा अज्जेत्यादि) इह च देवानन्दाया भगवता प्रव्राजनकरणेऽपि यदार्यचन्दनया पुनस्तत्करणं तत्तस्यैवानवगतावगमकरणादिना विशेषाधानमित्यवगन्तव्यमिति (तमाणाएत्ति) तदाज्ञया आर्यचन्दनाज्ञया। भ० ए श० ३३ उ०। विपाकदशानां तृतीयदुःखविपाकोक्तसुजातकुमारस्य पूर्वभवे जीवे च। "उसुयारणयरे उसभदत्ते गाहावई" वि० ४ अ० ॥

उसभ (ह) पुर-ऋषभपुर- न० राजगृहनगरप्रस्थापकराजपूर्वजेन प्रस्थापिते पुरभेदे, "तत्थ वसभो चसतो अण्णेहिं परद्धो पडिगिरिणो अच्छति न तीरति अण्णेहिं वसतेहिं पराइणेतुं" आ० चू० ४ अ०। आव०। "क्षीणवास्तुनि तत्रापि, चरन्तं वृषभं वने। दृष्ट्वाऽन्याजय्यमृषभं, पुरं तत्र न्यधात्पुनः ॥" आ० म०। आ० क०। यत्र जीवप्रादेशिकाख्या द्वितीयनिह्नवा उत्पन्नास्तस्मिन् नगरे, विशे०। आ० क०। स्था०। "उसहपुरे णयरे थूभकरंडउज्जाणे" विपा० २ श्रु० २ अ०।

उसभ (ह) पुरी-ऋषभपुरी-स्त्री० जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पूर्वतः शीतोदाया महानद्या दक्षिणतःस्थे राजधानीभेदे, स्था० ८ ठा०।

उसभ (ह) सेण-ऋषभसेन- पुं० भगवत ऋषभदेवस्य प्रथमगणधरे, "उसभसेणो नाम भरहस्स रण्णो पुत्तो सो धम्मं सोऊण पव्वइतो तेण तिहिं पुच्छाहिं गहिताइं उप्पण्णे विगते धुवे" आ० चू० १ अ०। कल्प०। स०। (अस्य ऋषभशब्दे वक्तव्यतोक्ता) "आइगरपुरिमताले पव्वत्तिया उसभसेणस्स" नं० ॥

उसा-उषा- स्त्री० ओषत्यन्धकारम्-उष्-क-- प्रातरादिसन्ध्यासु, "तेजःपरिहानिरुषा, भानोरर्द्धोदयं यावत्" बृहत्संहितोक्ते काले, नक्षत्रप्रकाशयः काल उषा तेन पञ्चाशद्घटिकोत्तरमारभ्य सूर्य्योदयपर्य्यन्तः। स कालः ब्राह्ममुहूर्ते उषाकाले यात्राशस्ता अन्धकारेण सन्तापकारिण्यां रात्रौ, मेदि०। उषा रात्रौ, ततः कश्चित् गौरादित्वाद् ङीप् स्त्री० । गव्याम, हेम०। स्थाल्याम, रमानाथः। प्रातःकाले, अव्य० मेदि०। अव्ययत्वात् ततो भवार्थे टयुल्तुट् च उषातनः। तद्भवे, त्रि० स्त्रियां ङीप्। वाच० ॥

उसिचित्ता-अपासिञ्चयितृ- त्रि० उपतापयितरि, "उसिणोदगवियरेण कायं उसिंचित्ता भवति" उष्णोदकविकटेन कायं शरीरमपसिञ्चयिता भवति। तत्र विकटग्रहणादुष्णतैलेन काञ्जिकादिना कायमुपतापयिता भवति दशा० ३ अ० ॥

उसिक्क-मुच्-धा० तुदा० सक० अनि० मुचेश्छड्डावहेडमेल्लोसिक्करे अवणिलुञ्छधंसाडाः ८। ४। ९१। इति मुचेरुसिक्कादेशः। उसिक्कइ मुअइ मुञ्चति। प्रा० ।

उसिक्कया-अपष्वष्क्य-अव्य० प्रष्वष्क्येत्यर्थे, आचा० २ श्रु०।

उसिण-उष्ण-पुं०न० ओषति दहति जन्तूनित्युष्णम् उत्त० १ अ०। आहारपरिपाकादिकारणे वह्न्याद्यनुगते स्पर्शभेदे, अनु०। स्था० (उष्णानेकधा सीउण्हशब्दे वक्ष्यते) उष्णयुक्ते, त्रि० अमरः। उष्णस्पर्शपरिमाणे, 'उसिणं वेयणं वेदंति' उष्णां वेदनां वेदयन्ते उष्णस्पर्शपरिणामां उष्णा प्रज्ञा० ८ पद०। उष्णा प्रथमादिषु उष्णस्पर्शजनिता वेदना। स्था० १० ठा०। "उसिणपरितावेहिं भिसु" आ० चू० १ अ०।

उसिणजोणिय-उष्णयोनिक-पुं० उष्णमेव योनिर्येषान्ते उष्णयोनिकाः। उष्णोत्पन्नेषु जीवेषु, । भ० ७ श० २ उ०।

उसिणपरि (री) सह-उष्णपरि (री) षह-पुं० परिषहेत्यस्यैणादिकनवप्रत्ययान्तस्य उष्णं निदाघादितापात्मकं तदेव परीषहः। परीषहभेदे, उत्त० २ अ०। सूत्र० । तद्वक्तव्यता (परीसहप्रकरणे उक्ता)

उसिणभूय-उष्णीभूत- त्रि० अस्वाभाविकमौष्ण्यं प्राप्ते, "उसिणे उसिणब्भूए यावि होत्था" भ० ३ श० २ उ०। अनन्तरपि नरकगतजाड्यापगमाज्जातोत्साहे, जी० ३ प्रति० १ उ०।

उसिणोदग-उष्णोदक-न० स्वभावत एव क्वचिन्निर्झरादावुष्णपरिणामेऽप्कायभेदे, जी० १ प्रति०। प्रज्ञा०। क्वथितोदके, "उसिणोदगं तत्तफासुयं पडिगाहेज्ज संजए" द० ८ अ०। तच्च त्रिर्निर्दण्डोत्कलितमावृतं यदुष्णोदकम् प्रव० १३५ द्वा०। पिं०। कल्प०।

उसिणोदगतत्तभोइ (ण्)-उष्णोदकतप्तभोजिन्-पुं० त्रिदण्डोद्वृत्तोष्णोदकभोजिनि, ॥

उसिणोदगतत्तभोइणो, धम्मट्ठियस्स मुणिस्स हीमतो।
संसग्गि असाहुराइहिं, असमाही उ तहागयस्स वि ॥१८॥

(उसिणोदगेत्यादि) मुनेरुष्णोदकतप्तभोजिनः त्रिदण्डोद्वृत्तोष्णोदकभोजिनः। यदि वा उष्णं सन्न शीतीकुर्यादिति तप्तग्रहणम्। तथा श्रुतचारित्राख्ये धर्मे स्थितस्य (हीमतोत्ति) हीरसं-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यमं प्रति लज्जा तद्वतोऽसंयमजुगुप्सावत इत्यर्थः । तस्यैवंभूतस्य मुने राजादिभिः सार्द्धं यः संसर्गः संबन्धोऽसावसाधुरनर्थोदयहेतुत्वात्तथा गतस्यापि यथोक्तानुष्ठायिनोऽपि राजादिसंसर्गवशादसमाधिरेवापध्यानमेव स्यात् न कदाचित् स्वाध्यायादिकं भवेदिति ॥ १८ ॥

उसिणोदगनियम--उष्णोदकनिकट--न० अप्रासुके त्रिदण्डोत्कृते पश्चाद् वा सचित्तीभूते उष्णोदके, आचा०२ श्रु०१अ०६ उ०

उसि(ण्ह)सिण--उष्णोष्ण-- त्रि० अत्युष्णे, प्रश्न० १ द्वा० ॥

उसिय--उषित-- त्रि० वस्-इण्-क्त-व्यवस्थिते, "उसिया वि इत्थियासेसु पुरिसा " सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । वस-क्त पर्युषिते, कृतवासे, च । उष दाहे-क्त । दग्धे, मेदि०। क्षरिते, धरणिः । भावे क्त । वासे, न० वाच० । आचा० २ श्रु० ।

उसि(स्सि)(ऊसि)य--उच्छ्रित--त्रि० ऊर्ध्वं नीते, ज्ञा० १ अ० । ऊर्ध्वे कृते, उत्त० २२ अ०। प्रख्याते, सूत्र० २ श्रु० ७ अ०। ज्ञा०। प्रज्ञा० उत्सृत--त्रि० प्रवृद्धतया सर्वासु दिक्षु प्रसृते, चं० प्र० २ पाहु०। विपा० । लम्बमाने, " मुत्तजालंतरूसियहेमजालगवक्खं " रा० ।

उसियफलिह--उच्छ्रितस्फटिक-- त्रि० उच्छ्रितं प्रख्यातं स्फटिकवन्निर्मलं यशो यस्याऽसौ उच्छ्रितस्फटिकः । प्रख्यातनिर्मलयशसि, सूत्र० २ श्रु० ७ अ० । उच्छ्रितानि स्फटिकानीव स्फटिकानि अन्तःकरणानि येषां ते तथा । शुक्लान्तःकरणेषु, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

उसीणर--उशीनर--पुं० वृष्णिवंशोद्भवे क्षत्रियभेदे, "उशीनरश्च विक्रान्तो, वृष्णयस्ते प्रकीर्तिताः" पौरवे नृपभेदे, "उशीनरं च धर्मज्ञं, तितिक्षुञ्च महाबलम् । हरिवंशे कपोतार्थे स्वशरीरमांसदानं प्रसिद्धम् वाच० । त्रिशङ्कुपुत्रे सुताराख्देव्याः पतौ, ती० ।

उसीर--उ(षी)शीर--पुं० न० वश-ईरन् किच्च वीरणमूले सूत्र० १ श्रु० ४ अ० । ज्ञा० । जी० । आ० म० प्र० । रा० । प्रश्न० । चं० । आचा० । कल्प० । तस्य गुणाः "उशीरं पाचनं शीतं, स्तम्भनं लघु तिक्तकम् । मधुरं ज्वरहृद्वान्तिमदनुत्कफपित्तनुत् । तृष्णार्तिविषवीसर्पदाहकृच्छ्रव्रणापहम् । भावप्र० ।

उसु--इषु--पुं० इष्यते हिंस्यते अनेन इष-उ-ह्रस्वश्च । शरे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । प्रतोदे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ०२उ० । शरपत्रफलादिसमुदाये, "अहेणं से उसू" भ० ५ श० ६ उ० । कामस्य पञ्चबाणत्वात्तदुपलक्षिता पञ्चसंख्यान्विते वृत्तक्षेत्रान्तर्गते जीवावधिपरिधिपर्यन्तकृतसरलरेखायां च । वाच० ॥

तत्र इषोरानयनाय करणमाह ।

धणुवग्गाओ नियमा, जीवावग्गं विसोहइत्ताणं ।
सेसस्स छट्ठभागे, जं मूलं तं उसू होइ ॥

नियमादवश्यतया धनुःपृष्ठवर्गात् जीवावर्गं विशोध्यापनीय शेषस्य षड्भागे षड्भिर्भागे हृते यन्मूलमागच्छति तदिषुरिषुपरिमाणं भवति तत्र भरतक्षेत्रस्य धनुःपृष्ठवर्गः सप्तकः षट्को द्विकोऽष्टौ च शून्याः । तस्मात् जीवावर्गः सप्तकः पञ्चकः षट्कोऽष्टौ शून्यानि । ७५६००००००० तस्य षड्भिर्भागे हृते जात एककोऽष्टौ शून्यानि १००००००००एतस्य वर्गमूलनयने लब्धानि दशसहस्राणि कलानां तासामेकोनविंशत्या भागे हृते लब्धानि योजनानां पञ्चशतानि षड्विंशत्यधिकानि षट् कलाः एतावान् भरतक्षेत्रस्येषुः । एवं सर्वेषामपि क्षेत्राणामिषव आनेतव्याः । ज्यो० १० पाहु० ।

उसुकाल--उसुकाल--पुं० देशी० उदूखले, नि० चू० १३ उ० ।

उसुग--इषुक--पुं० इषु-स्थूला कन् शरप्रकारे, वाच० । इषुकाकारे, आभरणे, तिलके च । " उसुगाइएहिं मंडेहिं भावयं अहयणं विभूसेमि " पिं० ।

उसुचोइय--इषुचोदित--त्रि० शराभिघातप्रेरिते, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

उसुमट्टिया--इषुमृत्तिका-- स्त्री० मुञ्जादिभिः सह कुट्टितमृत्तिकायाम्,"सा इसियाइपिट्टिवत होति उसुमट्टिया य तत्विमरसा । सरसछल्लीइसिगित्ति तस्सेव उवरि तस्स छल्ली सा य मुंजो दब्भो वा एते चिप्पितत्तिकुट्टिया पुणो मट्टियाए सह कुट्टिज्जंति एसा उसुमट्टिया कुसुमट्टिया वा" नि०चू०१८ उ० ।

उसुयार--इषुकार--पुं० इषुं करोति-कृ-अण् । बाणकारके शिल्पिभेदे, वाच० ।

अस्य निक्षेपः ।

उसुयारे निक्खेवो, चउव्विहो दुविहो होइ दव्वम्मि ।
आगम नोआगमओ, नोआगमतो य सो तिविहो ॥३९४॥
जाणगसरीरभविए, तव्वइरित्ते य से पुणो तिविहो ।
एगभवियबद्धाऊ, अभिमुहओ नामगोए य ॥३९५॥
उसुयारनामगोयं, वेदंतो भावओ य उसुयारो ।
तत्तो समुट्ठियमिणं, उसुयारिज्जंति अज्झयणं ॥३९६॥

गाथात्रयं स्पष्टमेव नवरमिषुकाराभिलापेन नेयं तथा यदिषुकारात्समुत्थितं तत्तस्मै प्रायो हितमेव भवतीति इषुकाराय हितमिषुकारीयमुच्यते प्राधान्याच्च राज्ञा निर्देशोऽन्यथा षड्भ्योऽप्येतत्समुत्थानं तुल्यमेवेति ।

संप्रति कोऽयमिषुकार इति तद्वक्तव्यतामाह निर्युक्तिकृत् ।

पुव्वभवे संघडिया उ, संपीया अन्नमन्नमणुरत्ता ।
भोत्तूण भोगभोगे, निग्गंथा पव्वए समणा ॥३९७॥
काऊण य सामन्नं, पउमगुम्मे विमाणे उववन्ना ।
पलिओवमाइं चउरो, ठिई उ उक्कोसया तेसिं ॥३९८॥
तत्तो य चुया संता, कुरुजणवयपुरम्मि उसुयारे ।
छ वि जणा उववन्ना, चरिमसरीरा विगयमोहा ॥३९९॥
राया उसुयारो य, कमलावइ देवि अग्गमहिसी से ।
भिगुनामे य पुरोहिए, वासिट्ठी भारिया तस्स ॥४००॥
उसुयारपुरे नयरे, उसुयारपुरोहिओ उ अणवच्चो ।
पुत्तस्स कए बहुसो, परितप्पंतो उ उग्गमाचि ॥ १ ॥
काऊण समणरूवं, तहियं देवो पुरोहिओ भणइ ।
होहिंति तुज्झ पुत्ता, दोन्नि जणा देवलोगचुया ॥ २ ॥
तेहि य पव्वइयव्वं, जहा य न करेह अंतरायए ।
ते पव्वइया संतो, बोहेहिंती जणं बहुगं च ॥ ३ ॥
तं वयणं सोऊणं, नगराओ निंति ते वयग्गामं ।
वड्ढंति य ते जहियं, गाहंति य णं असब्भावं ॥ ४ ॥
एए समणा धुत्ता, पेयपिसायपोरुसादा य ।
मा तेसिं अल्लियह, मा भे पुत्ता विणासिज्जा ॥ ५ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इट्ठूण तहिं समणे, जाइं पोराणियं च सरिऊण ।
बाहिं तम्मापियरो, उसुयारं रायपत्तिं च ॥ ६ ॥
सामेसरा य राया, भिगू य वासिट्ठरायपत्तिं ।
वंभणी दारगा चेव, छप्पंए परिनिव्वुया ॥ ७ ॥

आसामक्षरार्थः स्पष्ट एव नवरं (संघाडियत्ति) सम्यग् घटिताः परस्परं स्नेहेन संबद्धा वयस्या इति यावत् तेऽपि कदाचिद्भिन्नभिन्नतान्तरप्रीतयोऽपि दाक्षिण्यजनलज्जातस्तथा स्युरत आह । संप्रीताः सम्यगान्तरप्रीतिभाजस्तथाऽन्योन्यमनुरक्ता अतिशयख्यापनफलत्वादस्यात्यन्तस्नेहभाजः । अथवा (संघाडियत्ति) देशीपदमप्युत्पन्नमेव । मित्रानिधायि प्रीतिर्बाह्यानुरागः स्वभावतः प्रतिबन्धः पठ्यते च (घडियात्ति घटिता मिलितास्तथा (भोगभोगेत्ति) भोक्तुं योग्या ये भोग्या भोगास्तान् भोग्यभोगान् भोगभोगान्वाऽतिशायिनो भोगान्याठान्तरतः कामभोगान्वा (णिग्गंथापव्वए समणत्ति) निर्ग्रन्थास्त्यक्तग्रन्थाः प्राव्रजन् प्रव्रज्यां गृहीतवन्तस्ततश्च श्रमणतपस्विनोऽपि अभूवन्निति शेषः [कुयग्गावित्ति] देशीपदं प्रक्रमाच्च्युत्वा द्वावपि दम्पती तथा अन्तरायं चिह्नं (एहेत्ति) अनयोस्तथा (णितित्ति) नियोमयाधिक्येन गच्छन्ति कं व्रजग्रामं गोकुलप्रायग्रामं प्रत्यन्तग्राममित्यर्थः (गाहेति असब्भावंति) ग्राहयतो ऽसद्भावमसन्तमसुन्दरं चाथ साधुभिर्नत्वादिलक्षणं प्रेता भूताः पिशाचाः पिशाचनिकायोत्पन्नाः पौरुषादाश्च प्रस्तावतः पुरुषसंबन्धिमांसभक्षका राक्षसा इति यावत् (तेसिति) सूत्रत्वात्तान् श्रमणान् [अल्लियइत्ति] आलीयेतामाश्रयेताम् । किमित्यत आह मा [भे] भवन्तौ पुत्रौ विनश्येतामिति । अत्र चेषुकारमिति राज्यकालनाम्ना सीमन्धरश्चेति मौलिकनाम्ना इति संभावयाम इति गाथैकादशार्थयथार्थः भावार्थस्तु संप्रदायादवसेयः स चायं 'जे ते दोन्नि गोवदारया साहु अणुकंपाए लद्धसम्मत्ता कालं काऊण देवलोगे उववन्ना ते तओ देवलोगाओ चइउ खिइपइट्ठियणयरे इब्भकुले दो वि भायरो जाया । तत्थ तेसिं अन्ने वि चत्तारि इब्भदारगा वयंसया जाया तत्थ वि भोगे भुंजिउं तहारूवाणं थेराणं अंतिए धम्मं सोऊण पव्वइया सुचिरकालं संजमं अणुपालेऊण भत्तपच्चक्खाणं कालं काऊण सोहम्मे कप्पे पउमगुम्मविमाणे छ वि जणा चउपलिओवमट्ठिइया देवा उववन्ना । तत्थ जे ते गोवयजीवा ते चइऊण कुरुजणवए इसुयारपुरे एगो इसुयारो णाम राया जाओ बीओ तस्सेव महादेवी कमलावती नामं संवुत्ता तइओ तस्स चेव राइणो भिगू नाम पुरोहिओ संवुत्तो चउत्थो तस्स चेव पुरोहियस्स भारिया संवुत्ता । वसिट्ठगोत्तेण जसा नाम सो य भिगू अणवच्चो गाढं तप्पए अवच्चनिमित्तं उवाइणए देवयाणि पुच्छइ नेमित्तिए । ते य दो वि पुव्वभवगोवा देवभवे वट्टमाणा ओहिणा जाणिउं जहा अम्हे एयस्स भिगुस्स पुरोहियस्स पुत्ता भविस्सामो तओ समणरूवं काऊण उवागया भिगुसमीवं भिगुणा संभारियाए य वंदिया सुहासणत्था य धम्मं कहेंति दोहिं वि सावगवयाणि गहियाणि । पुरोहिएण भणइ भगवं अम्हं अवच्चं होज्जति साहूहिं भणइ भविस्संति दुवे दारगा ते य डहरगा चेव पव्वइस्संति तेसिं तुब्भेहिं वाघाओ न कायव्वो पव्वयंताणं तेसु बहुजणं संबोहिस्संति भणिऊण पडिगया देवा कालन्तरेण य चइऊण य तस्स पुरोहियस्स भारियाए वासिट्ठीए दुवे उदरे पच्चायाया । तओ सो पुरोहिओ सभारिओ णयरविणिग्गओ पच्चंतगामे ठिओ व

तत्थेव सा माहणी पसूया दारगा जाया तओ मा पव्वइस्संतित्ति का मायावित्तेहिं वुग्गाहिज्जंति जहा एए पव्वइयगा डिंकरूवाइं घेत्तुं मारेंति पच्छा तेसिं मंसं खायंति तं मा तुब्भे कयाइं एएसिं अल्लिइस्सह । अन्नया ते तम्मि गामे रमंता बाहिं निग्गया । इओ य अद्धाणपडिवन्नया साहू आगच्छंति तओ ते दारगा साहुं दट्ठूण भयभीया पलायंता एगम्मि वडपायवे आरूढा साहुणो समावत्तीए गहियभत्तपाणा तम्मि चेव वडपायवस्स हिट्ठे ठिया मुहुत्तं च वीसमिऊणं भुंजिउं पयत्ता ते वडारूढा पासेंति साभावियं भत्तपाणं णत्थि मंसंति । तओ चिंतिउं पयत्ता कत्थ अम्हेहिं एयारिसाणि रूवाणि दिट्ठपुव्वाणि त्ति जाइं संभरिया संबुद्धा साहुणो वंदिउं गया अम्मापिउसमीवं मायापियरं संबोहिऊण सह मायापितेण पव्वइया देवी संबुद्धा देवीए राया संबोहिओ ताणि वि पव्वइयाणि । एवं ताणि छ वि केवलनाणं पाविऊण निव्वाणमुवगयाणि त्ति" । इह तु सूत्रोक्तस्यार्थस्याभिधानं प्रसङ्गत इत्यदोषः । उक्तो नाम निष्पन्ननिक्षेपः ।

संप्रति सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारणीयं तच्चेदम् ॥

देवा भवित्ताण पुरे भवम्मि, केई चुया एगविमाणवासी ।
पुरे पुराणे उसुयारणामे, खाए समिद्धे सुरलोयरम्मे ॥ १ ॥
सकम्मसेसेण पुराकएणं, कुलेसु दग्गेसु य ते पसूया ।
निव्विण्णसंसारभया जहाय, जिणिंदमग्गं सरणं पवन्ना ॥ २ ॥

देवाः सुरा भूत्वोत्पद्य पुरे (भवम्मित्ति) अनन्तरातीतजन्मनि केचिदुक्तरूपनिर्दिश्यमानाश्च ते च्युताः एकस्मिन् पद्मगुल्मनाम्नि विमाने वसन्तीत्येवंशीला एकविमानवासिनः पुरे नगरे पुराणे चिरन्तने इषुकारनाम्नि ख्याते प्रथिते समृद्धे ऋद्धिमत्यत एव सुरलोकरम्ये देवलोकवद्रमणीये ते च किं सर्वथोपभुक्तपुण्या एव नेत्याह । स्वमात्मीयं कर्म पुण्यप्रकृतिलक्षणं तस्य शेषमुद्धरितं स्वकर्मशेषस्तेन लक्ष्यते पुराकृतेन पूर्वजन्मान्तरोपार्जितेन कुलेष्वन्वयेषु उदारेषु उच्चेषु च पूरणे त इति ये देवा भूत्वा च्युताः प्रसूता उत्पन्नाः (निव्विण्णत्ति) आर्षत्वान्निर्विण्णा उद्विग्नाः कुतः संसारभयात् यान्ति परित्यज्य भोगादीनिति गम्यते । किमित्याह जिनेन्द्रमार्गं तीर्थकृद्दर्शितं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मकं मुक्तिपथं शरणमपायरक्षाक्षममाश्रयं प्रपन्ना अभ्युपगता इत्यध्ययनार्थसूचनम् ।

कश्च किं रूपः सन् जिनेन्द्रमार्गं प्रतिपन्न इत्याह ।

पुमत्तमागम्म कुमार दो वी, पुरोहिओ तस्स जसा य पत्ती ।
विसालकित्ती य तहेसुयारो, रायत्थ देवी कमलावई य ॥ ३ ॥

पुंस्त्वं पुरुषत्वमागम्य प्राप्य कुमारावकृतपाणिग्रहणौ द्वौ अपि पूर्णौ सुलभबोधिकत्वेन प्राधान्यख्यापनार्थं चाऽनयोः पूर्वमुपादानं पुरोहितस्तृतीयः तस्य जसा च नाम्ना पत्नी चतुर्थी विशालकीर्तिश्च विस्तीर्णयशाश्च तथेति इषुकारो नाम राजा पञ्चमः अत्र तस्मिन् भवे देवीति प्रधानपत्नी प्रक्रमात्तस्यैव राज्ञः कमलावती च नाम्ना षष्ठ इति सूत्रत्रयार्थः । संप्रति यथैतेषु जिनेन्द्रमार्गप्रतिपत्तिः कुमारयोर्जाता तथा दर्शयितुमाह ।

जाईजरामच्चुभयाभिभूया, बहिं विहाराभिनिविट्ठचित्ता ।
संसारचक्कस्स विमोक्खणट्ठा, दट्ठूण ते कामगुणे विरत्ता ॥ ४ ॥
पियपुत्तगा दोन्नि वि माहणस्स, सकम्मसीलस्स पुरोहियस्स ।
सरित्तु पोराणिय तत्थ जाइं, तहा सुचिण्णं तवसंजमं च ॥ ५ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जातिर्जन्म जरा विस्रसा मृत्युः प्राणत्यागलक्षणस्तेभ्यो भयं साध्वसं तेनाभिभूतौ बाधितौ जातिजरामृत्युभयाभिभूतौ पाठान्तरतश्च जातिजरामृत्युभयाभिभूते सत्यर्थात्संसारिजने बहिः संसाराद्विहारः स चार्थान्मोक्षस्तस्मिन्नभिनिविष्टं बद्धाग्रहं चित्तमन्तःकरणं ययोस्तौ तथा संसारश्चक्रमिव चक्रं भ्रमणोपलक्षितत्वात्संसारचक्रं तस्य विमोक्षणार्थं परित्यागनिमित्तं दृष्ट्वा निरीक्ष्य साधूनिति शेषः यद्वा दृष्ट्वेति प्रेक्ष्य मुक्तिपरिपन्थिनोऽमी कामगुणा इति पर्यालोच्य तावनन्तरोक्तौ (कामगुणेत्ति) सुब्व्यत्ययात् कामगुणेभ्यः शब्दादिभ्यो विषयसप्तमी वा विरक्तौ प्राग्बद्धाभूतौ प्रियौ वल्लभौ तौ च तौ पुत्राविव पुत्रकौ च प्रियपुत्रौ द्वावपि नैक एव इत्यपि शब्दार्थौ माहनस्य ब्राह्मणस्य स्वकर्मशीलस्य यजनयाजनादिस्वक्रियानुष्ठाननिरतस्य पुरोहितस्य शान्तिकर्तुः (सुमरितुत्ति) स्मृत्वा (पोराणयत्ति) सूत्रत्वात् पुराणमेव पौराणिकीं चिरंतनीं तत्रेति सन्निवेशे कुमारभावे वा वर्तमानाविति शेषः जातिजन्म तथा (सुचिण्णंति) सुचीर्णं सुचरितं वा निदानादिनाऽनुपहतत्वात् तपोऽनशनादि प्राकृतत्वाद्बिन्दुलोपः संयमं च तपःसंयममिति समाहारद्वन्द्वो वाऽत्र कामगुणविरक्तिरेव जिनेन्द्रमार्गप्रतिपत्तिरिति सूत्रद्वयार्थः ॥

ततस्तौ किमकार्ष्टामित्याह ॥

ते कामभोगेसु असज्जमाणा, माणुस्सएसुं जे यावि दिव्वा ।
मोक्खाभिकंखी अभिजायसड्ढा,तायं उवागम्म इमं उदाहु ।६।

तौ पुरोहितपुत्रौ कामभोगेषूक्तरूपेषु (असज्जमाणत्ति) असंयतौ सङ्गमकुर्वन्तौ मानुष्यकेषु मनुजसंबन्धिषु ये चापि दिव्या देवसंबन्धिनः कामभोगास्तेषु चेति प्रक्रमः मोक्षाभिकाङ्क्षिणौ मुक्त्यभिलाषिणावभिजातश्रद्धावुत्पन्नतत्त्वरुची तातं पितरमुपागम्येदं वक्ष्यमाणं (उदाहुत्ति) उदाहरतां तयोर्हि साधुदर्शनानन्तरं क्व अस्माभिरित्थंभूतानि रूपाणि पुराऽपि दृष्टानीति चिन्तयतोर्जातिस्मरणमुत्पन्नं ततो जातवैराग्यौ प्रव्रज्याभिमुखावात्मसुत्कर्षीकरणाय तयोश्च प्रतिबोधोत्पादनाय वक्ष्यमाणमुक्तवन्तावितिं सूत्रार्थः ।

यच्च तावुक्तवन्तौ तदाह ।

असासयं दट्ठु इमं विहारं, बहुअंतरायं ण य दीहमाउं ।
तम्हा गिहम्मी न रई लहामो, आमंतयामो चरिसामो मोणं ॥

अशाश्वतमनित्यं दृष्ट्वेमं प्रत्यक्षं विहरणं विहारं मनुष्यत्वेनावस्थानमित्यर्थः । भण्यते हि (जोगाहं दुज्जमाणे विहरामित्ति) किंनित्यमेवमत आह । बहवः प्रभूता अन्तराया विघ्ना व्याध्यादयो यस्य तद्बह्वन्तरायं बह्वन्तरायमपि दीर्घत्वावस्थायि स्यादित्याह । न च नैव दीर्घं दीर्घकालस्थित्यायुर्जीवितं संप्रति पल्योपमाद्यायुष्कतायाऽप्यभावात् यत एवं सर्वमनित्यं तस्मात् (गिहम्मित्ति) गृहे वेश्मनि न रतिं धृतिं (लभामोत्ति) लभामहे प्राप्नुवः अतश्चामन्त्रयावः पृच्छाव आवां यथा चरिष्यावः आसेविष्यावहे मौनं मुनिभावं संयममिति सूत्रार्थः ।

एवं च ताभ्यामुक्ते ।

अह तायगो तत्थ मुणीण तेसिं,तवस्स वाघायकरं वयासी ।
इमं वयं वेयविओ वयंति, जहा ण होई असुयाण लोगो ।८।
अहिज्ज वेए परिविस्स विप्पे, पुत्ते परिट्ठप्प गिहंसि जाया ।
भुच्चाण भोगे सह इत्थियाहिं,आरण्णगा होहिमुणी पसत्था ॥

अथानन्तरं तावत् सन्तानं करोति पालयति च सर्वापद्भ्य इति तातः स एव तातकस्तत्र तस्मिन्निवेशेऽवसरे वा मुन्योर्भावतः प्रतिपन्नमुनिभावयोः तयोः कुमारयोस्तपसोऽनशनादेरुपलक्षणत्वाच्छेषसत्कर्मानुष्ठानस्य च व्याघातकरं बाधाविधायिवचनमिति शेषः (वयासित्ति) अवादीत् यदवादीत्तदाहेमां वाचं वेदविदो वदन्ति प्रतिपादयन्ति यथा न भवति जायते असुतानामविद्यमानपुत्राणां लोकः न पिता पिण्डप्रदानाद्यभावे गत्याद्यभावात् तथा वेदवचः अपुत्रस्य लोका न सन्ति तथाऽन्यैरप्युक्तं "पुत्रेण जायते लोक" इत्येषा वैदिकी श्रुतिः । "अथ पुत्रस्य पुत्रेण, स्वर्गलोके महीयते" तथा "अपुत्रस्य गतिर्नास्ति, स्वर्गो नैव च नैव च । गृहिधर्ममनुष्ठाय, तेन स्वर्गं गमिष्यति" यत एवं तस्मादधीत्य पठित्वा वेदानृग्वेदादीन् परिवेष्य भोजयित्वा विप्रान् ब्राह्मणान् तथा पुत्रान् प्रतिष्ठाप्य कन्याकलत्रग्रहणादिना गृहस्थधर्मे निवेश्य कीदृशः पुत्रान् गृहे जातास्तु गृहीतप्रतिपन्नकादीन्यान्तर च पुत्रान्परिष्ठाप्य स्वामित्वे निवेश्य गृहे [जायात्ति] गृहे जातौ पुत्रौ भुक्त्वा णमिति वाक्यालङ्कारे भोगान् शब्दादीन् सह स्त्रीभिर्नारीभिस्ततोऽरण्ये भवौ आरण्यौ "आरण्याण्णो वक्तव्य इति ण प्रत्ययः" आरण्यावेवारण्यकावारण्यकव्रतधारिणौ [होहित्ति] भवतः संपद्येथां युवां मुनी तपस्विनौ प्रशस्तौ श्लाघ्यावित्थमेव ब्रह्मचर्याद्याश्रमव्यवस्थानादुक्तं हि "ब्रह्मचारी गृहस्थश्च, वाणप्रस्थो यतिस्तथेति" इह चाधीत्य वेदानित्यनेन ब्रह्मचर्याश्रम उक्तः परिवेष्येत्यादिना च गृहाश्रम आरण्यकावित्यनेन च वाणप्रस्थाश्रमः मुनिग्रहणेन च यत्याश्रम इति सूत्रद्वयार्थः ।

इत्थं तेनोक्तौ कुमारकौ यदकार्ष्टां तदाह ॥

सोअग्गिणा आयगुणिंधणेणं,मोहाणिला पज्जलणाहिएणं
संतत्तभावं परितप्पमाणं, लोलुप्पमाणं बहुहा बहुं च ॥१०॥
पुरोहियं तक्कमसो णुणंतं, णिमंतयंतं च सुए धणेणं ।
जहक्कमं कामगुणेहिं चेव, कुमारगा ते पसमिक्ख वक्कं ॥११॥
वेया अहीया ण हवंति ताणं,
भुत्ता दिया णिंति तमं तमेणं ।
जाया य पुत्ता ण भवंति ताणं,
को णाम ते अणुमन्नेज्ज एयं ॥ १२ ॥
खणमत्तसोक्खा बहुकालदुक्खा,
पकामदुक्खा अणिकामसोक्खा ।
संसारमोक्खस्स विपक्खभूया,
खाणी अणत्थाण उ कामभोगा ॥ १३ ॥
परिव्वयंते अणियत्तकामे, अहो य राओ परितप्पमाणे ।
अन्नप्पमत्ते धणमेसमाणे,पप्पोति मच्चुं पुरिसो जरं च ।१४।
इमं च मे अत्थि इमं च नत्थि, इमं च मे किच्च इमं अकिच्चं
तं एवमेवं लालुप्पमाणे, हरा हरंति त्ति कहं पमाए ।१५।

सुतवियोगसंभावनाजनितं मनोदुःखमिह शोकः स चाग्निरिव शोकाग्निस्तेन आत्मनो गुणा आत्मगुणाः कर्मक्षयोपशमादसमुद्भूताः सम्यग्दर्शनादयस्त इन्धनं दाह्यतया यस्य स तथा तेनादिकालसहचरितत्वेन रागादयो वात्मगुणास्ते इन्धनमुद्दीपकतया यस्य स तथा तेन । मोहो मूढता अज्ञानमिति यावत् सोऽनिल इव मोहानिलस्तस्मादधिकं महानगरदाहादिभ्योऽप्यनल्पं प्रज्वलनं प्रकर्षेण दीपनमस्येति अधिकप्रज्वलनो यद्वा प्रज्वलने-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भाविक इत्यत्रान्यत्रेह तथा यद्येतेन पूर्वत्र प्राकृतत्वादाधिकशब्दस्य परनिपातस्तथा समिति समन्तात्सप्त इव तप्तोऽनिर्वृतत्वेन भावोऽन्तःकरणमस्येति सन्तप्तभावस्तमत एव च परितप्यमानं समन्ताद्दह्यमानमर्थाच्छरीरे तद्दाहस्यापि शोकावेशत उत्पत्तेर्लोलुप्यमानं तद्वियोगशङ्कावशोत्पन्नदुःखपरशुभिरतिशयेन हृदि छिद्यमानम् । वृद्धास्तु व्याचक्षते [लोलुप्पमाणंति] लोलुप्यमानं " जरणपोसअकुलसंताणस्सु य तुब्भ भविस्सइत्ति " बहुधा अनेकप्रकारं बहु च प्रभूतं यथा भवत्येवं लोलुप्यमानं चेति संबन्धः । पुरोहितं पुरो वसन्तमिति प्रक्रान्तं (कमसोत्ति) क्रमेण परिपाट्या तु नयन्तः स्वाभिप्रायेण प्रज्ञापयन्तं निमन्त्रयन्तं च भोगैरुपच्छन्दयन्तं सुतौ पुत्रौ धनेन द्रव्येण यथाक्रमं क्रमानतिक्रमेण कामगुणैरभिलषणीयशब्दादिविषयैः पाठान्तरतः कामगुणेषु वा चः समुच्चये एवेति पूरणे कुमारकौ तावनन्तरप्रक्रान्तौ प्रसमीक्ष्य प्रकर्षेण ज्ञानाच्छादितमतिमालोच्य वाक्यं वक्ष्यमाणमुक्तवन्ताविति गम्यते । किं तदित्याह । वेदा ऋग्वेदादयोऽधीताः पठिता न भवन्ति जायन्ते त्राणं शरणं तदध्ययनमात्रतो दुर्गतिपतनरक्षणासिद्धेः । उक्तं हि तैरपि " अकारणमधीयानो, ब्राह्मणस्तु युधिष्ठिर! । दुष्कलेनाप्यधीयन्ते, शीलं तु मम रोचते " तथा " शिल्पमध्ययनं नाम, वृत्तं ब्राह्मणलक्षणम् । वृत्तस्थं ब्राह्मणं प्राहु-र्नेतरान् वेदजीवकान् " तथा (भुज्जुत्ति) अन्तर्भावितण्यर्थत्वाद्भोजिता द्विजा ब्राह्मणा नयन्ति प्रापयन्ति तमो रूपत्वात्तमो नरकस्तमसा ज्ञानेन यद्वा तमसोऽपि यत्तमस्तस्मिन्नतिरौद्ररौरवादिनरके णमिति वाक्यालङ्कारे ते हि भोजिता कुमार्गप्ररूपणपशुवधादावेव कर्मोपचयनिबन्धने असद्व्यापारे प्रवर्तन्त इति तत्प्रवर्तनतस्तद्भोजनस्य नरकगतिहेतुत्वमेवानेन च तेषां निस्तारकत्वं दूरापास्तमित्यर्थादुक्तम् । तथा जाताश्चोत्पन्नाः पुत्राः सुता न भवन्ति त्राणं शरणं नरकादिकुगतौ निपततामिति गम्यते । उक्तं हि तन्मतानुसारिभिरपि "यदि पुत्राद्भवेत्स्वर्गो, दानधर्मो न विद्यते । मुषितस्तत्र लोकोऽयं, दानधर्मो, निरर्थकः । बहुपुत्रा दुली गोधा, ताम्रचूडस्तथैव च । तेषां च प्रथमं स्वर्गः, पश्चाल्लोको गमिष्यति " यतश्चैवं ततः को नाम न कश्चित्संभाव्यते यस्ते तव अनुमन्येत शोभनमिदमित्यनुजानीयात्स विवेक इति गम्यते । एतदनन्तरमुक्तं वेदाध्ययनादित्रितयमिति भुक्त्वा भोगानिति चतुर्थोपदेशप्रतिवचनमाह । क्षणमात्रं सौख्यं येषु ते तथा बहुकालं नरकादिषु दुःखं शारीरं मानसं च येभ्यस्ते तथाविधाः कदाचित् स्वल्पकालमपि सुखमतिशायि स्यात् दुःखं त्वन्यथेति स्वल्पकालमपि तद्बहुकालभाविनोऽपि दुःखस्योपहन्तृ स्यादत आह । प्रकाममतिशयेन दुःखं येभ्यस्ते तथा अनिकामसौख्या अप्रकृष्टसुखाः । ईदृशेऽप्यायतौ शुभफलाः स्युरत आह । संसारमोक्षो विश्लेषः संसारमोक्षो निर्वृतिरित्यर्थः तस्य विपक्षभूतास्तत्प्रतिबन्धकतयाऽत्यन्तप्रतिकूलाः किमित्येवंविधास्त इत्याह । खानिरिव खनिराकरोऽनर्थानामिहपरत्राच दुःखायासिरूपाणां तुशब्दोऽवधारणे भिन्नक्रमश्च ततः खानिरेव क एवंविधाः कामभोगा उक्तरूपाः । अनर्थत्वमेव स्पष्टयितुमाह । परिव्रजन् विषयसुखलाभार्थमितस्ततो भ्राम्यन् न निवृत्तकामोऽनुपरतेच्छः सन् (अहो य राय-त्ति) आर्षत्वात्सस्य च भिन्नक्रमत्वादह्नि रात्रौ च अहर्निशमिति यावत् परितप्यमानस्तदवाप्तौ समन्ताच्चिन्ताग्निना दह्यमानः अन्ये सुहृदः स्वजनादयोऽथवाऽन्नं भोजनं तदर्थं प्रमत्तस्तत्कृत्यसक्तचेता अन्यप्रमत्तः अन्नप्रमत्तो वा धनं वित्तम् (एसमाणित्ति) एषयन् विविधोपायैर्गवेषयमाणः [पप्पोतित्ति] प्राप्नोति मृत्युं प्राणत्यागं कोऽसौ पुरुषो जरां च वयोहानिलक्षणां किं च इदं च मे मम अस्ति रजतरूप्यादि इदं च नास्ति पद्मरागादि इदं च मे मम कृत्यं कर्तव्यं गृहप्राकारादि इदमकृत्यं प्रारब्धमपि वणिज्यादिना न कर्तुमुचितं तमिति पुरुषमेवमेव वृथैव लोलुप्यमानमत्यर्थं व्यक्तवाचा वदन्ति हरन्त्यपनयन्ति आयुरिति हरादिरजन्यादयो व्याधिविशेषा वा हरन्ति जन्मान्तरं नयन्ति इत्युपसंहर्तुमाह । इतीत्यस्माद्धेतोः कथं केन प्रकारेण प्रमादो ऽद्यमः प्रक्रमाद्धर्मे कर्तुमुचित इति शेष इति सूत्रषट्कार्थः ।

संप्रति तौ धनादिर्लोभयितुं पुरोहितः प्राह ।

धणं पभूयं सह इत्थियाहिं, सयणा तहा कामगुणा पकामा ।
तवं कए तप्पइ जस्स लोगो, तं सव्वसाहीणमिहेव तुब्भं १६

धनं द्रव्यं प्रभूतं प्रचुरं सह स्त्रीभिः समं नारीभिः स्वजनाः पितृपितृव्यादयः तथा कामगुणाः शब्दादयः [पगामत्ति] प्रकामा अतिशायिनस्तपः कष्टानुष्ठानं कृते निमित्तं तप्यते अनुतिष्ठति यस्य धनादेर्लोको जनस्तत्सर्वमशेषं स्वाधीनमात्मायत्तमिहैवास्मिन्नेव गृहे [तुब्भंति] सूत्रत्वाद्युवयोर्यद्यपि तयोः स्त्रियस्तदा न सन्ति तथाऽपि तद्वास्तियोग्यताऽस्तीति तासामभिधानमिति सूत्रार्थः ।

तत्र हेतुः ।

धणेण किं धम्मधुराहिगारे,
सयणेहिं वा कामगुणेहि चेव ।
समणा भविस्साम गुणोघधारी,
बहिंविहारा अभिगम्म भिक्खं ॥ १७ ॥

धनेन द्रव्येण किं न किञ्चिदपीत्यर्थः । धर्म एवातिसात्त्विकैरुह्यमानतया धूरिव धूर्धर्मधुरा तदधिकारे तत्प्रस्तावे स्वजनेन वा कामगुणैश्चैव तथा च वेदेऽप्युक्तम् । " न प्रजया न धनेन न त्यागेनैके नामृतत्वमानशु " रित्यादि ततः श्रमणौ तपस्विनौ भविष्यावो गुणौघं सम्यग्दर्शनादिगुणसमूहं धारयतः इत्येवंशीलौ गुणौघधारिणौ बहिर्ग्रामनगरादिभ्यो बहिर्वर्तित्वाद् द्रव्यतो भावतश्च क्वचिदप्यप्रतिबद्धत्वात् विहारो विहरणं ययोस्तौ बहिर्विहारावप्रतिबद्धविहाराविति यावत् अभिगम्याश्रित्य भिक्षां शुद्धोञ्छतामेवाहारयन्ताविति भाव इति सूत्रार्थः । आत्माऽस्तित्वमूलत्वात्सकलधर्मानुष्ठानस्येति तन्निराकरणायाह पुरोहितः ।

जहा य अग्गी अरणी यसंतो, खीरे घयं तिल्लमहा तिलेसु ।
एमेव जाया सरीरम्मि सत्ता, समुच्छई णासइ णावचिट्ठे १८

यथेत्यौपम्ये चशब्दोऽवधारणे यथैवाग्निर्वैश्वानरो [अरणीति] अरणितोऽग्निमन्थनकाष्ठादसन्नविद्यमान एव संमूर्च्छति तथा क्षीरे घृतं तैलमथ तिलेषु एवमेव हे जातौ पुत्रौ [सरीरम्मित्ति] शरीरे काये सत्त्वाः प्राणिनः [संमुच्छइत्ति] संमूर्च्छयन्ति पूर्वमसन्त एव शरीराकारपरिणतभूतसमुदायत उत्पद्यन्ते तथा चाहुः पृथिव्यप्तेजोवायुरिति तत्त्वानि एतेभ्यश्चैतन्यं मद्याङ्गेभ्यो मदशक्तिवत् तथा [णासइत्ति] नश्यन्त्यभ्रपटलवत्प्रलयमुपयान्ति [नावचिट्ठित्ति] न पुनरवतिष्ठन्ते शरीरनाशे सति क्षणमप्यवस्थितिभाजो भवन्ति । यद्वा शरीरे सत्यप्यमी सत्त्वा न सन्ति नावतिष्ठन्ते जलबुद्बुदवज्जीवाः अत्र च प्रत्यक्षतोऽनुपलम्भ एव प्रमाणं न ह्यमी शरीरे शरीरव्यतिरिक्तो वा भवान्तर-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रतीः प्रत्यक्षेण उपलभ्यत इति नास्ति शशविषाणवदिति भाव इति सूत्रार्थः । कुमारकावाहतुः ।

णो इंदियग्गिज्झ अमुत्तभावा,
अमुत्तभावो वि य होइ निच्चो ।
अज्झत्थहेउं नियतस्स बंधो,
संसारहेउं च वयंति बंधं ॥ १६ ॥

नो इति निषेधे इन्द्रियैः श्रोत्रादिभिर्ग्राह्यः सत्त्व इति प्रक्रमात्सत्वादयमिन्द्रियग्राह्य इत्याशङ्क्याह । अमूर्तभावादिन्द्रियग्राह्यरूपाद्यभावात् अयमाशयः यदिन्द्रियग्राह्यं सन्नोपलभ्यते तदसदिति निश्चीयते यथा प्रदेशविशेषे घटो यत्तु नग्राह्यमेव न भवति न तस्यानुपलम्भेऽप्यभावनिश्चयः पिशाचादिवत्तद्विषयानुपलम्भस्य संशयहेतुत्वात् । न च साधकप्रमाणाभावात्संशयविषयतैवास्त्विति वाच्यं तत्साधकस्यानुमानस्य सद्भावात् तथा ह्यस्त्यात्मा अहं पश्यामि जिघ्रामीत्याद्यनुगतप्रत्ययान्यथानुपपत्तेरात्माभावे हीन्द्रियाण्येव द्रष्टॄणि स्युस्तेषु च परस्परं भिन्नेष्वहं पश्यामि जिघ्रामीत्यादिरनुगतोऽहमिति प्रत्ययोऽनेकेष्विव प्रतिपत्तृषु न स्यात् । उक्तं हि । "अहं शृणोमि पश्यामि, जिघ्राम्यास्वादयामि च । चेतयाम्यध्यवस्यामि, बुध्यामीत्येवमस्ति सः" ॥१॥ वृद्धास्तु व्याचक्षते अमूर्तत्वान्नोइन्द्रियग्राह्यो नोइन्द्रियं च मनो मनसश्चात्मैवातः स्वप्रत्यक्ष एवायमात्मा कस्मादुच्यते त्रैकाल्यकार्यव्यपदेशात् तद्यथा ॥ कृतवानहं करोम्यहं करिष्याम्यहम्, उक्तवानहं ब्रवीम्यहं वक्ष्याम्यहं, ज्ञातवानहं जानेऽहं ज्ञास्येऽहमिति । योऽयं त्रिकालकार्यव्यपदेशहेतुरहं प्रत्ययो नायमानुमानिको न चागमिकः किं तर्हि प्रत्यक्षकृत एवमनेनैव आत्मानं प्रतिपद्यस्व नायमनात्मके घटादावुपलभ्यत इति । तथा अमूर्तभावादपि च भवति नित्यः तथा हि यद्द्रव्यत्वे सत्यमूर्तं तन्नित्यं यथा व्योम अमूर्तश्चायं द्रव्यत्वे सत्येवं विनाशानवस्थाने प्रत्युक्ते । न चैवममूर्तत्वादेव तस्य बन्धासंभवे वा सर्वस्य सर्वदा तत्प्रसङ्ग इति वाच्यं यतः "अज्झत्थहेउं नियतस्स बंधे" अध्यात्मशब्देन आत्मस्था मिथ्यात्वादय इहोच्यन्ते तत्तद्धेतुस्तन्निमित्तः परस्थहेतुकत्वेऽतिप्रसङ्गादिदोषसंभवात् नियतो निश्चितो न संदिग्धो अन्यथात्वस्यान्यथानुपपत्तेरस्य जन्तोर्बन्धः कर्मभिः संश्लेषो यथा ह्यमूर्तस्यापि व्योम्नो मूर्तैरपि घटादिभिः संबन्ध एवमस्याप्यमूर्तस्यापि मूर्तैरपि कर्मभिरसौ न विरुध्यते । तथा चाह "अरूपं हि यथाकाशं, रूपद्रव्यादिभाजनम्" तथा रूपी जीवोऽपि कर्मादिभाजनमिति मिथ्यात्वादिहेतुत्वाच्च न सर्वदा तत्प्रसङ्ग इत्यदोषः । एवं हि येषामेव मिथ्यात्वादितद्धेतुसंभवस्तेषामेवासौ न तु तद्विरहितानां सिद्धानामपि । तथा संसारश्चतुर्गतिपर्यटनरूपस्तद्धेतुं च तत्कारणं वदन्ति बन्धं कर्मबन्धम् । एतेनामूर्तत्वाद् व्योम्न इव निष्क्रियत्वमपि निराकृतमिति सूत्रार्थः । यत एवमस्त्यात्मा नित्योऽत एव च भवान्तरयायी तस्य च बन्धो बन्धादेव मोक्ष इत्यतः ।

जहा वयं धम्ममयाणमाणा, पावं पुरा कम्ममकासि मोहा ।
ओरुज्झमाणा परिरक्खयंता, तं नेव भुज्जो वि समायरामो ॥

यथा येन प्रकारेण वयं धर्मं सम्यग्दर्शनादिकमजानाना अनुबुध्यमाना पापं पापहेतुं पुरा पूर्वं कर्म क्रियाम् [अकासित्ति] अकार्ष्म कृतवन्तो मोहात्तत्त्वानवबोधात् अवरुध्यमाना गृहान्निर्गममलभमानाः परिरक्ष्यमाणा अनुजीविभिरनुपाल्यमानाः [तदिति] पापकर्म [नेवत्ति] नैव भूयोऽपि पुनरपि समाचरामोऽनुतिष्ठामो यतः संप्रत्युपलब्धधर्माणावाभ्यामिदमेतत्तत्त्वमिति भावः । सर्वत्र च । "अस्मदो द्वयोश्च" १ । २ । ५९ इति द्वित्वेऽपि बहुवचनमिति सूत्रार्थः ॥

अब्भाहयम्मि लोगम्मि, सव्वओ परियारिए ।
अमोहाहिं पडंतीहिं, गिहंसि न रइं लभे ॥ २१ ॥

अभ्याहते आभिमुख्येन पीडिते लोके जने सर्वतः सर्वासु दिक्षु परिवारिते परिवेष्टितेऽमोघाभिरवन्ध्यप्रहरणोपमाभिः पतन्तीभिरागच्छन्तीभिः [गिहंसित्ति] गृहे तस्य चोपलक्षणत्वात् गृहवासे न रतिमासक्तिं लभामि लभामहे । यथा हि वागुरया परिवेष्टितो मृगोऽमोघैश्च प्रहरणैर्व्याधेनाभ्याहतो न रतिं लभते एवमावामपीति सूत्रार्थः

भृगुराह ।

केण अब्भाहओ लोगो, केण वा परियारिओ ।
का वा अमोहा वुत्ता, जाया चिंतावरो हुमि ॥ २२ ॥

केन व्याधतुल्येनाभ्याहतो लोकः केन वा वागुरास्थानीयेन परिवारितः का वा अमोघा अमोघप्रहरणोपमा अभ्याहतिः क्रियां प्रति करणतयोक्ता जातौ ! पुत्रौ ! चिन्तापरो [हुमित्ति] भवामि ततो ममावेद्यतामयमर्थ इति भाव इति सूत्रार्थः ।

तावाहतुः

मच्चुणाऽब्भाहओ लोगो, जराए परियारिओ ।
अमोहा रयणी वुत्ता, एवं ताय वियाणह ॥ २३ ॥

मृत्युनान्तकेनाभ्याहतो लोकस्तस्य सर्वत्राप्रतिहतप्रसरत्वात् जरया परिवारितः तस्या एव तदाभिघातयोग्यतापादनपटीयस्त्वात् (अमोहारयणित्ति) रजन्य उक्ता दिवसाविनाभावित्वात् तासां दिवसाश्च तत्पतने अवश्यंभावी जनस्याभिघातः एवं तात ! विजानीतावगच्छतेति सूत्रार्थः । किं च ।

जा जा वच्चइ रयणी, ण सा पडिनियत्तई ।
अधम्मं कुणमाणस्स, अफला होंति राइओ ॥ २४ ॥
जा जा वच्चइ रयणी, ण सा पडिणियत्तइ ।
धम्मं च कुणमाणस्स, सफला जंति राइओ ॥ २५ ॥

या या (वच्चइत्ति) व्रजति रजनी रात्रिरुपलक्षणत्वाद्दिनं च न सा प्रतिनिवर्तते पुनरागच्छति तदागमने हि सदैव एकैका जन्मरात्रिः स्यात्ततो न निशाया मरणरात्रिः प्रादुःष्यात् ततश्चाधर्मं कुर्वतो जन्तोरिति गम्यते अफला यान्ति रात्रयोऽधर्मे निबन्धनं च गृहस्थत्वे आयुषोऽनित्यत्वादधर्मकरणे तस्य निष्फलत्वात्तत्परित्याग एव श्रेयानिति भावः । इत्थं व्यतिरेकद्वारेण प्रव्रज्याप्रतिपत्तिहेतुत्वमभिधाय तमेवान्वयद्वारेणाह । (जाजेत्यादि) पूर्ववत् नवरं (धम्मं चत्ति) चशब्दः पुनरर्थे धर्मं पुनः कुर्वतः सफला धर्मलक्षणफलोपार्जनतो न च व्रतप्रतिपत्तिं विना धर्म इत्यतो व्रतं प्रतिपत्स्यावहे इत्यभिप्राय इति सूत्रद्वयार्थः ।

इत्थं कुमारवचनादाविर्भूतसम्यक्त्वस्तद्वचनमेव पुरस्कुर्वन् भृगुराह ॥

एगओ संवसित्ताणं, दुहओ सम्मत्तसंजुया ।
पच्छा जाया गमिस्सामो, भिक्खमाणा कुले कुले ॥ २६ ॥

एकत एकस्मिन् स्थाने समुष्य संदेयोस्सित्वा (दुहउत्ति) उभय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

च द्वयं च द्वये आवां युवां च व्यक्त्यपेक्षया बहुवचनं पुरुषप्राधान्याच्च पुँल्लिङ्गता सम्यक्त्वेन संयुताः सहिता उपलक्षणत्वाद्विरत्या च पश्चाद्यौवनावस्थोत्तरकालं कोऽर्थः पश्चिमे वयसि जातौ ! पुत्रौ ! गमिष्यामो व्रजिष्यामो वयं ग्रामनगरादिषु मासकल्पेन क्रमेणेति शेषोऽर्थाच्च प्रव्रज्यां प्रतिपद्य भिक्षमाणा याचमानाः पिण्डादिकमिति गम्यते क कुले कुले गृहे गृहे न त्वेकस्मिन्नेव वेश्मनि । किमुक्तं भवत्यज्ञातोञ्छवृत्त्येति सूत्रार्थः ।

कुमारावाहतुः ।

जस्सत्थि मच्चुणा सक्खं, जस्स वत्थि पलायणं ।
जो जाणइ न मरिस्सामि, सो हु कंखे सुए सिया ।२७।
अज्जे व धम्मं पडिवज्जयामो,
जहिं पवन्ना ण पुणब्भवामो ।
अणागयं नेव य अत्थि किंचि,
सद्धाखमं णो विणइत्तु रागं ॥ २८ ॥

यस्येत्यनिर्दिष्टस्वरूपस्यास्ति विद्यते मृत्युना कृतान्तेन सख्यं मित्रत्वं, यस्य चास्ति पलायनं मृत्योरिति प्रक्रमः । तथा यो (जाणत्ति) जानीते यथाऽहं न मरिष्यामि [सो हु कंखेसुए सियत्ति] स एव काङ्क्षति प्रार्थयते श्व आगामिनि दिने स्यादिदमिति गम्यते न च कस्यचित् मृत्युना सह सख्यं ततो वा पलायनं तदभावज्ञानं वा अतोऽद्यैव धर्मं प्रक्रमाद्यति धर्मं [पडिवज्जयामोत्ति] प्रतिपद्यामहे । तमेव फलोपदर्शनद्वारेण विशिनष्टि [जहेत्ति] आर्षत्वाद्यं धर्मं प्रपन्ना आश्रिताः [न पुणब्भवामोत्ति] न पुनर्भविष्यामो न पुनर्जन्मानुभविष्यामस्तन्निबन्धनभूतकर्मापगमाज्जरामरणाद्यभावोपलक्षणं चैतत् कथमनागतमप्राप्तं नैव चास्ति किञ्चिदतिमनोरममपि विषयसौख्याद्यनादौ संसारे सर्वस्य प्राप्तपूर्वत्वात्ततो न तदर्थमपि गृहावस्थानं युक्तमिति भावः । यद्वा ऽनागतमागतिविरहितं नैव चास्ति किंचित् किं तु सर्वमागतिमदेव जरामरणादिग्रसनजातं ध्रुवं भावित्वादस्य ध्रुवस्थानम् । यद्वा अनागतं यत्र मृत्योरागतिर्नास्ति तन्न किंचित् स्थानमस्ति यतश्चैवमतः श्रद्धाऽभिलाषः क्षमं युक्तमिह लोकपरलोकयोः श्रेयःप्राप्तिनिमित्तमनुष्ठानं कर्तुमिति शेषः [णोहत्ति] नो अस्माकं विनयोपसादाद्यकं रागं स्वजनाभिष्वङ्गलक्षणं तत्वतो हि कः कस्य स्वजनो न वा स्वजन इति । उक्तं च । " अयणं भंते जीवस्स मामाइत्ताए धूयत्ताए सुण्हत्ताए भज्जत्ताए स हि सयणसंबंधसंथुयत्ताए उववन्नपुव्वे हंता गोयमा ! असतिं अदुवा अणंतखुत्तोत्ति " सूत्रद्वयार्थः । ततस्तयोर्वचनमाकर्ण्य पुरोहित उत्पन्नव्रतग्रहणपरिणामो ब्राह्मणीं धर्मविघ्नकारिणीं मत्वेदमाह ॥

पहीणपुत्तस्स हु नत्थि वासो,
वासिट्ठि ! भिक्खायरियाए कालो ।
साहाहि रुक्खो लहई समाहिं,
छिण्णाहि साहाहि तमेव खाणुं ॥ २९ ॥
पंखाविहीणो व्व जहेव पक्खी,
भिच्चविहीणो व्व रणे नरिंदो ।
विवन्नसारो वणिओ व्व पोते,
पहीणपुत्तो मि तहा अहं पि ॥ ३० ॥

प्रहीणौ प्रभ्रष्टौ पुत्रौ यस्मात्स प्रहीणपुत्रः । अथवा प्राकृते पूर्वापरनिपातस्यातन्त्रत्वात्पुत्राभ्यां प्रहीणस्त्यक्तः पुत्रप्रहीणस्तस्य हुः पूरणे नास्ति न विद्यते वासोऽवस्थानं मम गृह इति गम्यते वाशिष्ठि ! वशिष्ठगोत्रोद्भवे ! गौरवख्यापनार्थं गोत्राभिधानं तच्च कथं नु नाम धर्माभिमुख्यमस्याः स्यादिति भिक्षाचर्याया भिक्षाटनस्योपलक्षणं चैतद्व्रतग्रहणस्य कालः प्रस्तावो वर्तत इति शेषः । किमित्येवमत आह । शाखाभिः प्रतीताभिर्वृक्षो द्रुमो लभते प्राप्नोति समाधिं स्वास्थ्यं छिन्नाभिर्द्विधाकृताभिः शाखाभिस्तमेव वृक्षं यस्ताभिः समाधिमवाप्तवान् [खाणुं ति] स्थाणुं जनो व्यपदिशतीति उपस्कारः । यथा हि तास्तस्य शोभासंरक्षणसहायकृत्यकरणादिना समाधिहेतव एवं ममाप्येतौ सुतावतस्तद्विरहितोऽहमपि स्थाणुकल्प एवेति किं ममैवंविधस्य स्वपरयोः किञ्चिदुपकारकमनर्थभूतमेव गृहवासेनेत्यभिप्रायः । किं च पक्षाभ्यां पतत्राभ्यां विहीनो विरहितः पक्षविहीनो वा दृष्टान्तान्तरसमुच्चये यथेहास्मिन् लोके पक्षी विहङ्गमः पलायितुमप्यशक्त इति मार्जारादिभिरभिभूयते यथा भृत्याः पदातयस्तद्विहीनो वा प्राग्वद्रणे संग्रामे नरेन्द्रो राजा शत्रुजनपराजयस्थानमेव जायते यथा विपन्नो विनष्टसारो हिरण्यरत्नादिरस्येति विपन्नसारो वणिक् सांयात्रिको वेति प्राग्वत् पोते प्रवहणे भिन्न इति गम्यते नावाप् न च परत इत्युदधिमध्यवर्ती विषीदति पुत्रप्रहीणोऽस्मि तथा अहमपि कोऽर्थः पक्षतुल्यार्थसहायभूताभ्यां विरहितोऽहमप्येवंविध एवेति सूत्रद्वयार्थः ॥

वाशिष्ठ्याह ।

सुसंभिया कामगुणा इमेते, संपिंडिया अग्गरसा पभूया ।
भुंजामु ता कामगुणे पकामं, पच्छा गमिस्सामो पहाणमग्गं ॥

सुष्ठु अतिशयेन संभृताः संस्कृताः सुसंभृताः के ते कामगुणा वेणुवीणाकलितकाकलीगीतादय इमे इति स्वगृहवर्तिनस्तान् प्रत्यक्षतया निर्दिशति ते तत्र तथा संपिण्डिताः सम्यक् पुञ्जीकृताः (अग्गरसात्ति) चशब्दस्य गम्यमानत्वात् अग्र्या रसाश्च प्रधाना मधुरादयश्च प्रभूताः प्रचुराः कामगुणान्तर्गतत्वेऽपि रसानां पृथगुपादानमतिगृद्धिहेतुत्वाच्छब्दादिष्वपि चैषामेव प्रवर्तकत्वात् । कामगुणविशेषणं वा अग्र्या रसास्त एव शृङ्गारादयो वा येषु ते तथा । वृद्धास्त्वाहुः रसानां सुखानामग्रं रसाग्रं ये कामगुणाः सूत्रे च प्राकृतत्वादग्रशब्दस्य पूर्वनिपातः (भोजामोत्ति) भुञ्ज्महि ततस्माद्यस्मादमी सुसंभृतादिविशेषणविशिष्टाः स्वाधीनाः सन्ति कामगुणास्तद्रूपान् प्रकाममतिशयेन ततो भुक्तभोगौ पश्चादिति वृद्धावस्थायां गमिष्यावः प्रतिपत्स्यावहे प्रधानमार्गं महापुरुषसेवितं प्रव्रज्यारूपं मुक्तिपथमिति सूत्रार्थः ।

पुरोहितः प्राह ।

भुत्ता रसा भोइ जहाति णे वओ,
ण जीवियट्ठा पयहामि भोए ।
लाभं अलाभं च सुहं च दुक्खं,
संचिक्खमाणो चरिस्सामि मोणं ॥

भुक्ताः सेविता रसा मधुरादय उपलक्षणत्वाच्छेषकामगुणाश्च यद्वा रसा इह सामान्येनैवास्वाद्यमानत्वाद्भोगा भण्यन्ते । (भोइत्ति) हे भवति ! आमन्त्रणवचनमेतत् जहाति त्यजति न इत्यस्मान् वयः शरीरावस्था कालकृताऽभ्यते सा चेहाभिमतक्रियाकरणक्षमा गृह्यते ततश्च यदुक्तं पश्चादनेकशो भोगा वयश्चाभिमतक्रियाकरणक्षमं जहाति तद्यौवनं त्यजति च

ततो यावन्नैतत्त्यजति तावद्दीक्षां प्रतिपद्यामहे इत्यभिप्रायस्ततः किं वयःस्थैर्यार्थं दीक्षां प्रतिपद्यसे उच्यते केश्चिद्दीक्षा वयःस्थैर्यादिविधायिनी त्याशङ्कयाह नेति निषेधे जीवितमसंयमजीवितमुपक्रमणत्वाद्वयश्च तदर्थं प्रजहामि प्रकर्षेण त्यजामि भोगान् शब्दान् किं तु लाभमभिमतवस्त्वयाप्तिरूपमलाभं च तदभावरूपं सुखमभिलषणीयविषयसंभोगजं चस्य भिन्नक्रमत्वात् दुःखं च बाधाऽऽत्मकं (संचिक्खमाणोत्ति) समतया ईक्षमाणः पश्यन् किमुक्तं भवति लाभालाभयोस्तथा सुखदुःखयोरुपलक्षणत्वाज्जीवितमरणादीनां च समतामेव भावयन्नरिष्यामि यासे- विष्ये किं तत् मौनं मुनिभावं ततो मुक्त्यर्थमेव मम दीक्षाप्रतिपत्तिरिति भाव इति सूत्रार्थः । यासिष्ठयाह ।

मा हू तुमे सोयरियाण संहर,
जिष्णो व हंसो पडिसोयगामी ।
भुंजाहि भोगाइँ मए समाणं,
दुक्खं खु भिक्खायरियाविहारो ॥ ३३ ॥

मा इति निषेधे हुरिति वाक्यालंकारे त्वं सोदरे शयिताः सोदर्याः सोदराय इति यः प्रत्ययः ते च समानकुक्षिभवा भ्रातरस्तेषामुपलक्षणत्वाच्छेषस्वजनानां भोगानां च (संभरित्ति) अस्मार्षीः क इव (जिष्णो व हंसोत्ति) इव शब्दस्य भिन्नक्रमत्वात् जीर्णो वयोहानिमुपगतो हंस इव प्रधानपक्षीव प्रतिकूलः स्रोतः प्रतिस्रोतस्तद्गामी सन् किमुक्तं भवति यथाऽसौ नदीस्रोतस्यतिकष्टं प्रतिकूलगमनमारभ्यापि तदशक्तः पुनरनुस्रोत एवानुधावत्येवं भवानपि दुस्तरं संयमभारं वोढुमसमर्थः पुनः सहोदरान् स्वः भोगान् वा स्मरिष्यति तदिदमेवास्तु भुङ्क्ष्व भोगान्मया (समाणंति) सुखदुःखहेतु (खु इति) खलु निश्चितं भिक्षाचर्या भिक्षाटनं विहारो ग्रामादिष्वप्रतिबद्धविहारो दीक्षोपलक्षणं चैतदिति सूत्रार्थः ।

पुरोहित आह ।

जहा य भोई तणुयं भुजंगे, निम्मोयणं हेच्च पलेइ मुत्तो ।
एमेय जाया पयहंति भोए, तेऽहं कहं नाणुगमिस्सएगो ।३४।
छिंदित्तु जालं अबलं वरोहिया, मच्छा जहा कामगुणे पहाय ।
धोरेयसीला तवसा उदारा,धीरा हु भिक्खायरियं चरंति ३५

यथा च हे भवति ! पठ्यते चाहे भोगिनि तनुः शरीरं तत्र जातां तनुजां भुजंगमः सर्पो निर्मोचनीयं निर्मोकं हित्वा पर्येति समन्तात् गच्छति मुक्त इति निरपेक्षो नाभिष्वक्त इत्यर्थः (समेतित्ति) एवमेतौ पठ्यते च (इमेतित्ति) अत्र च तथेति गम्यते तत्तश्चेमौ ते तव जातौ पुत्रौ प्रजहीतः प्रकर्षेण त्यजतो भोगान् ततः किमित्याह तौ भोगांस्त्यजन्तौ जातौ अहं कथम् नानुगमिष्यामि प्रव्रज्याग्रहणेनानुसरिष्याम्येको द्वितीयो यदि तावदनयोः कुमारकयोरपीयान् विवेको यन्निर्मोकवदत्यन्तसहचरितानपि भोगान् भुजङ्गवत् त्यजतस्ततः किमिति भुक्तभोगोऽप्यहमेनान्न त्यजामि किं वा ममासहायस्य गृहवासेनेति भावः । तथा छित्वा द्विधा कृत्वा तीक्ष्णपुच्छादिना जालमानायमबलमिव जीर्णत्वादिना निःसारमिव वर्ष्यो रोहीति गच्यते । रोहिता रोहितजातीया मत्स्या मीनाश्चरन्तीति संबन्धः । यथेति दृष्टान्तोपदर्शने चशब्दोऽत्र नित्यसंबन्धात्तथेति गम्यते ततस्तथा जालप्रायान् कामगुणान् प्रहाय परित्यज्य धुरि वहन्ति धौरेयास्तेषामिव शीलं समुत्क्षिप्तभारवाहितालक्षणं स्वभावो येषां ते धौरेयशीलास्तपसाऽनशनादिनोदाराः प्रधाना धीराः सत्त्ववन्त हुरिति यस्माद्भिक्षाचर्यां चरन्त्यासेवन्ते अतग्रहणोपलक्षणमेतत्तोऽहमपीत्थं व्रतमेव ग्रहीष्य इति भावः इति सूत्रद्वयार्थः ॥

इत्थं तत्प्रतिबोधिता ब्राह्मण्याह ।

नहेव कोंचा समइक्कमंता, तयाणि जालाणि दलित्तु हंसा ।
पलेंति पुत्ता य पई यमज्झं, तेऽहं कहं नाणुगमिस्सइक्का ३६

नभसीवाकाश इव क्रौञ्चाः पक्षिविशेषाः समतिक्रामन्तस्तान् तान् देशानुल्लङ्घयन्तस्ततानि विस्तीर्णानि जालानि बन्धनविशेषरूपाण्यात्मनोऽनर्थहेतून्दलित्वा (हंसत्ति) चशब्दस्य गम्यमानत्वाद्धंसाश्च पलेंतित्ति) परियन्ति समन्ताद् गच्छन्ति पुत्रौ च सुतौ च पतिश्च भर्त्ता मम संबन्धिनो गम्यमानत्वात्ते जालोपमविषयाभिष्वङ्गं भित्त्वा नभः कल्पे निरुपलेपतया संयमाध्वनि तानि संयमस्थानान्यतिक्रामन्तस्तानहं कथं नानुगमिष्याम्येका सती किं त्वनुगमिष्याम्येव । एवंविधं वचनं हि स्त्रीणां पतिः पुत्रो वा गतिरिति । यदि वा जालानि भित्त्वेति हंसानामेव संबध्यते । समतिक्रामन्तः स्थानान्तरेण गच्छन्त इति तु क्रौञ्चोदाहरणमजातकलत्रादिबन्धनसुतापेक्षं हंसोदाहरणं तु तद्विपरीतपत्यपेक्षमिति भावनीयमिति सूत्रार्थः । इत्थं चतुर्णामप्येकवाक्यतायां प्रव्रज्याप्रतिपत्तौ यद्भूत्तदाह ।

पुरोहियं तं ससुयं सदारं, सोच्चाभिनिक्खंत पहाय भोगे ।
कुडुंबसारं विउलुत्तमं तं, रायं अभिक्खं समुवाय देवी ।३७।
वंतासी पुरिसो रायं, न सो होइ पसंसितो ।
माहणेणं परिच्चत्तं, धणं आइउमिच्छसि ॥ ३८ ॥
सव्वं जगं जइ तुहं, सव्वं वावि धणं भवे ।
सव्वं पि ते अपज्जत्तं, नो वा ताणाइ ते तव ॥ ३९ ॥
मरिहसि रायं जया तया वा, मणोरमे कामगुणे पहाय ।
एक्को हु धम्मो नरदेवयाणं, न विज्जए अन्नमिहेह किंचि४०

पुरोहितं पुरो वसन्तमिति च भृगुनामानं सपुत्रं पुत्रद्वयान्वितं सदारं सपत्नीकं श्रुत्वाऽऽकर्ण्य अभिनिष्क्रम्य गृहान्निर्गत्य प्रहाय प्रकर्षेण त्यक्त्वा भोगान् शब्दादीन् प्रव्रजितमिति गम्यते । कुटुम्बसारं धनधान्यादि विपुलं च विस्तीर्णतया उत्तमं च प्रधानतया विपुलोत्तमं (यदिति) यत्पुरोहितेन त्यक्तं गृहीतमिति शेषः (रायं) राजानं नृपतिमभीक्ष्णं पुनः पुनः समुवाच सम्यगुक्तवती देवी कमलावती नाम तदग्रमहिषी । किमुक्तवतीत्याह वान्तमुद्गीर्णमशितुं भोक्तुं शीलमस्येति वान्ताशी पुरुषः पुमान् य इति गम्यते राजन् ! नृपते ! स न प्रशंसितः श्लाघितो विद्वद्भिरिति शेषः । स्यादेतत्कथमहं वान्ताशीत्यत आह । ब्राह्मणेन परित्यक्तं परिहृतं धनं द्रव्यमादातुं अहीतुमिच्छसि परिहृतं धनं हि गृहीतोज्झितत्वाद्वान्तमिव ततस्तदादातुमिच्छंस्त्वमपि वान्ताशीव न चेदमुचितं भवादृशामित्यभिप्रायः । तथा कान्ता नीयते राजन् ! वान्ताशी यः स प्रशस्यो न भवत्यतो ब्राह्मणेन परित्यक्तं धनमादातुमिच्छसि न चैतच्छुचत उचितं यतस्त्वमप्येवं वान्ताशितया अश्लाघ्य एव भविष्यसीति सूत्रार्थः । किं च सर्वं निरवशेषं जगद् भुवनं यदीदिति संबन्धो यदीत्यस्यायमर्थो न संभवत्येवैतत्कथञ्चित्संभवे वा (तुहंति) तव सर्वं वापि धनं रजतरूप्यादिद्रव्यं भवेद्यदि तथेतीहापि योज्यते तथा सर्वमपि ते तव पर्याप्तमसमर्थमिच्छापरिपूर्त्तिं प्रतीति शेषः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आकाशसमत्वेन तस्या अपर्यवसितत्वात्तथा नैव त्राणाय जरामरणाद्यपनोदाय तदिति सर्व्वं जगद्धनं वा तवेति ते । इह च पुनः पुनः सर्व्वशब्दस्य युष्मदस्मदोश्चोपादानं भिन्नवाक्यत्वाद पुनरुक्तमिति भावनीयं पूर्वेण गर्हितत्वमनेन चानुपकारितां पुरोहितधनादानग्रहणहेतुमादर्श्य संप्रत्यनित्यतां तद्धेतुमाह । मरिष्यसि प्राणांस्त्यक्ष्यसि राजन् ! नृप ! यदा तदा वा यस्मिंस्तस्मिन्वा काले अवश्यमेव मर्त्तव्यम् " जातस्य हि ध्रुवं मृत्यु " रित्युक्तं हि " कश्चित्तावत्त्वया दृष्टः, श्रुतो वा शङ्कितोऽपि वा । क्षितौ वा यदि वा स्वर्गे, यो जातो न मरिष्यति " तथापि च कदाचिदनिश्चितवस्तु भावायैव मरिष्यामीत्यत आह । मनोरमान्चित्ताह्लादकान् कामगुणाननुरूपान् प्रहाय प्रकर्षेण त्यक्त्वा त्वमेकाक्येव मरिष्यसि न किञ्चिदन्यस्त्वया सह यास्यतीत्यभिप्रायः । तथा एक (हु त्ति) एव एवाद्वितीय एव धर्म्मः सम्यग्दर्शनादिरूपो नरदेव ! नृप ! त्राणं शरणमापत्परिरक्षणाक्षमं न विद्यते नास्त्यन्यदपरमिह इहेति चेत्यभिधानं अंधमस्थापनार्थं किञ्चिदिति स्वजनधनादिकं यदि वा इहेति लोके इहेत्यस्मिन् मृत्यौ धर्मे एवैकस्त्राणं मुक्तिहेतुत्वेन नान्यत् किञ्चिदतः स एवानुष्ठेय इति सूत्रचतुष्टयार्थः ।

यतश्च धर्म्मादृते नान्यत्त्राणमतो ।

नाहं रमे पक्खिणि पंजरे वा,
संताणछिन्ना चरिसामि मोणं ।
अकिंचणा उज्जुकडा निरामिसा,
परिग्गहारंभनियत्तदोसा ॥ ४१ ॥
दवग्गिणा जहा रणे, डज्झमाणेसु जंतुसु ।
अन्ने सत्ता पमोयंति, रागदोसवसंगया ॥ ४२ ॥
एवमेवं वयं मूढा, कामभोगेसु मुच्छिया ।
डज्झमाणं न बुज्झामो, रागदोसग्गिणा जयं ॥ ४३ ॥
भोगे भोच्चा वमित्ता य, लहुभूयविहारिणो ।
आमोयमाणा गच्छंति, दिया कामकमा इव ॥ ४४ ॥
इमे य बद्धा फंदंति, मम हत्थज्जमागया ।
वयं च सत्ता कामेसु, भविस्सामो जहा इमे ॥ ४५ ॥
सामिसं कुललं दिस्सा, वज्झमाणं निरामिसं ।
आमिसं सव्वमुज्झित्ता, विहरिस्सामो निरामिसा ॥ ४६ ॥
गिद्धोवमेइ नच्चा णं, कामे संसारवड्ढणे ।
उरगो सुवण्णपासे वा, संकमाणो तणुं चरे ॥ ४७ ॥
णागो व्व बंधणं छित्ता, अप्पणो वसहिं वए ।
इति पच्छं महारायं, उसुयारि त्ति मे सुयं ॥ ४८ ॥

नेति निषेधे अहमित्यात्मनिर्देशो रमे इति रतिमवाप्नोमि [पक्खिणी पंजरे व त्ति] वाशब्द औपम्ये भिन्नक्रमश्च ततः पक्षिणीव शाकुनिकेव शारिकादिः पञ्जरे प्रतीत एव । किमुक्तं भवति यथाऽसौ दुःखोत्पादिनि पञ्जरे न रतिं प्राप्नोत्येवमहमपि जरामरणाद्युपद्रवविधुरे भवपञ्जरे न रमे । अतश्छिन्नसन्ताना प्रक्रमात् विनाशितस्नेहसन्ततिः सती छिन्नशब्दस्य सूत्रे परनिपातः प्राग्वत् चरिष्याम्यनुष्ठास्यामि मौनं मुनिभावम् । न विद्यमानं किञ्चन द्रव्यतो हिरण्यादि भावतः कषायादिरूपमस्या इत्यकिञ्चना अत एव ऋजु मायाविरहितं कृतमनुष्ठितमस्या इति ऋजुकृता । कथं चैवंभूतेत्याह । निष्क्रान्ता आमिषाद् गृद्धिहेतोरभिलषिताद्विषयादेर्निर्गतं वा आमिषमस्या इति निरामिषा (परिग्गहारंभनियत्तदोसे त्ति) प्राकृतत्वात् पूर्वपरनिपातोऽतन्त्रमिति परिग्रहारम्भदोषा अभिष्वङ्गनिस्त्रिंशताद्यस्तेभ्यो निवृत्तोपरता परिग्रहारम्भदोषनिवृत्ता । यद्वा परिग्रहारम्भनिवृत्ता अत एव चादोषा विकृतिविरहिता । अनयोर्विशेषणसमासः । अपरं च दावाग्निना दावानलेन यथाऽरण्ये वने दह्यमानेषु भस्मसात्क्रियमाणेषु जन्तुषु प्राणिष्वन्येऽपरे सत्वाः प्राणिनो विवेकिनः प्रमोदन्ति प्रकर्षेण हृष्यन्ते । किमित्येवंविधास्त इत्याह । रागद्वेषयोर्वशा आयत्ततां रागद्वेषवशास्तं गताः प्राप्ताः (एवमेवं ति) विन्दोरलाक्षणिकत्वादेवमेव त्ति वयं (मूढ त्ति) मूढानि मोहवशगा निकामभोगेषूक्तरूपेषु (मुच्छिया त्ति) मूर्च्छितानि गृद्धानि दह्यमानमिव दह्यमानं न बुध्यामहे नावगच्छामो रागद्वेषाग्निरिव रागद्वेषाग्निस्तेन किं तज्जगत्प्राणिसमूहं यो हि सविवेको रागादिमांश्च न भवति स दावानलेन दह्यमानानन्यसत्वानवलोक्याहमप्येवमनेन दहनीय इति तद्रक्षणोपायतत्पर एव भवति न तु प्रमादवशगः सन् प्रमोदते । यस्त्वत्यन्तमज्ञो रागादिमांश्च स आयतिमचिन्तयन् हृष्यति न तु तदुपशमोपाये प्रवर्त्तते ततो वयमपि भोगपरित्यागादेवं विधा एवेति भावः । ये त्वेवंविधा न भवन्ति ते किं कुर्वन्तीत्याह भोगान् मनोज्ञशब्दादीन् (भोच्चेति) भुक्त्वाऽऽसेव्य पुनरवसरकाले वान्त्वा चापहाय विपाकदारुणतावलोक्य लघुर्वायुस्तद्वद्भूतं भवनमेषां लघुभूताः कोऽर्थो वायूपमास्तथाविधाः सन्तो विहरन्तीत्येवंशीला लघुभूतविहारिणोऽप्रतिबद्धविहारिण इत्यर्थः । यद्वा लघुभूतः संयमस्तेन विहर्तुं शीलं येषां ते तथा आ समन्तान्मोदमाना हृष्यन्त आमोदमानास्तथाविधा गुणेनेति गम्यते । गच्छन्ति विवक्षितस्थानमिति शेषः । क इव (दिया कामकमाइ वत्ति) इवशब्दो भिन्नक्रमस्ततो द्विजा इव कामोऽभिलाषस्तेन क्रामन्तीति कामक्रमाः यथा पक्षिणः स्वेच्छया यत्र यत्राभिलाषस्तत्र तत्रामोदमाना गच्छन्ते एवमेतेऽप्यनभिष्वङ्गस्य परतन्त्रताहेतोरभावाद्यत्र यत्र संयमयात्रानिर्वहणं तत्र तत्र यान्तीत्याशयः । पुनर्वहिरवस्थां निराकुर्वन्तीत्याह इमे इत्यनुभूयमानतया प्रत्यक्षाः शब्दादयश्च समुच्चये बद्धा नियन्त्रिता अनेकधोपायै रक्षिता इत्यर्थः एते किमित्याह । स्पन्दन्त इव स्पन्दन्ते अस्थितिधर्म्मतया ये । कीदृशा इत्याह (मम हत्थज्जमागया त्ति) ममेत्यात्मनिर्देशः उपलक्षणत्वात्तव च हस्तं करमार्ष्यत्वाद्वा आगताः प्राप्ताः कोऽर्थः स्ववशा आत्मनोऽङ्गतां दर्शयतुमाह । (वयं च सत्त त्ति) वयं पुनः शक्तानि संबन्धान्यभिष्वङ्गवन्तीत्यर्थः अबहुत्वेऽप्यस्मदो द्वयोश्चेति बहुवचनं कामेष्वभिलषणीयशब्दादिषु एवंविधेष्वपि चामीष्वभिष्वङ्ग इति मोहविलसितमिति भावः । यद्वा इमे च चेति चशब्दाद्वयं च स्पन्दामहे इव स्पन्दामहे आयुषश्चञ्चलतया परलोकगमनाय शेषं तथैव यत एवमतो भविष्यामो यथेमे पुरोहितादयः । किमुक्तं भवति यथाऽमी निरभिष्वङ्गत्वमवलोक्यन्ते परित्यक्तास्तथा वयमपि त्यक्ष्याम इति । स्यादेतदस्थिरत्वेऽपि सुखहेतुत्वात् किमित्यमी स्पन्दन्ते इत्याह । सह मिषेण पिशितरूपेण वर्तत इति सामिषस्तं कललमिह गृध्रशकुनिकं वा दृष्ट्वाऽवलोक्य बाध्यमानं पीड्यमानं पक्षान्तरैरिति गम्यते निरामिषमामिषविरहितमन्यथाभूतं दृष्ट्वेति गम्यते आमिषमभिष्वङ्गहेतुं धान्यादि सर्व्वं निरवशेषमुज्झित्वा त्यक्त्वा (विहरिस्सामो त्ति) विहरिष्याम्यप्रतिबद्धविहारितया चरिष्यामीत्यर्थः । निरामिषा परित्यक्ताभिष्वङ्गहेतुः उक्तानुवादे

नोपदेष्टुमाह गृध्रेण उपमा येषान्ते गृध्रोपमास्तानुकन्यायेन तुः समुच्चये भिन्नक्रमश्च योक्ष्यते ज्ञात्वाऽवबुध्य णामिति प्राग्वत् कान् प्रक्रमाद्विषयामिषवतो लोकान् कामांश्च विषयांश्च संसारवर्द्धनान् संसारवृद्धिहेतून् ज्ञात्वेति संबन्धः । अथवा कामयन्त इति कामा इति व्युत्पत्त्या कामयोगाद्यत्यन्तगृद्धिख्यापनार्थं कामा विषयिण एवोक्ता अतस्तान् गृध्रोपमान् संसारवर्द्धकांश्च ज्ञात्वा किमित्याह (उरगो व्व सुवण्णपासेव्व) इवशब्दस्य भिन्नक्रमत्वादार्षत्वाच्चोरग इव भुजग इव सौपर्णेयपार्श्वे गरुडसमीपे शङ्कमानो भयत्रस्तमिति स्तोकं मन्दयतनयेति यावत् । चरेः क्रियासु प्रवर्त्तेथाः । अस्यायमाशयो यथा सौपर्णेयोपमैर्विषयैर्न बाध्यते तथा संयममासेवस्व । ततश्च किमित्याह (नागोव्व) अर्थः स्पष्टः आशयश्चायं यथा नागो बन्धनं वरत्राएरूकादि छित्त्वा द्विधा विहायात्मनो वसतिं विन्ध्याटवीं व्रजत्येवं त्वमपि कर्मबन्धनमुपहत्यात्मनो वसतिं कर्मविगतः शुद्धो यत्रात्मावतिष्ठते सा च मुक्तिरेव तां व्रजेरनेन दीक्षायाः प्रसङ्गतः फलमुक्तम् । एवं चोपदिश्य निगमयितुमाह । एतद् यन्मयोक्तं पथ्यं हितं महाराज ! प्रशस्यनृपते ! इषुकारनामन् ! एतच्च न मया स्वमनीषिकयैवोच्यते किं त्वित्येतन्मया श्रुतमवधारितं साधुसकाशादिति गम्यते इति सूत्राष्टकार्थः । एवं च तद्वचनमाकर्ण्य प्रतिबुद्धो नृपस्ततश्च यत्तौ द्वावपि चक्रतुस्तदाह ।

चइत्ता विउलं रज्जं, कामभोगे य दुच्चए ।
निव्विसया निरामिसा, निन्नेहा निप्परिग्गहा ॥ ४९ ॥
सम्मं धम्मं वियाणित्ता, चिच्चा कामगुणे वरे ।
तवं पगिज्झऽहक्खायं, घोरं घोरपरक्कमा ॥ ५० ॥

त्यक्त्वाऽपहाय विपुलं विस्तीर्णं राष्ट्रं मण्डलं पाठान्तरतो राज्यं वा कामभोगांश्चोक्तरूपान् दुस्त्यजान् दुष्परिहारान्निर्विषयौ शब्दादिविषयविरहितावत एव निरामिषौ । यद्वा विषयो देशस्तद्विरहितौ राष्ट्रपरित्यागतः कामभोगत्यागतश्च निरामिषावभिष्वङ्गहेतुविरहितौ कुतः पुनरेवंविधौ यतो निःस्नेहौ निष्प्रतिबन्धौ निष्परिग्रहौ क्वचिदविद्यमानस्वीकारौ सम्यगविपरीतं धर्मं श्रुतचारित्ररूपकं विज्ञाय विशेषतोऽवबुध्य (चिच्च त्ति) त्यक्त्वा कामगुणान् शब्दादीन् वरान् प्रधानान् पूर्वविशेषणैर्गतार्थत्वेऽपि पुनरभिधानमतिशयख्यापकं तपोऽनशनादि प्रगृह्याभ्युपगम्य यथाख्यातं येन प्रकारेण तीर्थकरादिभिः कथितं घोरमत्यन्तदुरनुचरं घोरः कर्मवैरिणः प्रति रौद्रः पराक्रमो धर्मानुष्ठानविषयसामर्थ्यात्मको ययोस्तौ । तथा देवीनृपौ तथैव कृतवन्ताविति शेष इति सूत्रद्वयार्थः ॥

संप्रति समस्तोपसंहारमाह ।

एवं ते कमसो बुद्धा, सव्वे धम्मपरायणा ।
जम्ममच्चुभयोव्विग्गा, दुक्खस्संतगवेसिणो ॥ ५१ ॥
सासणे विगयमोहाणं, पुव्विं भावणभाविया ।
अचिरेणेव कालेन, दुक्खस्संतमुवागया ॥ ५२ ॥
राया सह देवीए, माहणो य पुरोहिओ ।
माहणी दारगा चेव, सव्वे ते परिनिव्वुडे त्ति बेमि ॥ ५३ ॥

एवममुना प्रकारेण तान्यनन्तरमुक्तरूपाणि षडपि क्रमशोऽभिहितपरिपाट्या बुद्धान्यवगततत्त्वानि सर्वाण्यशेषाणि धर्मपरायणानि धर्मैकनिष्ठानि पठ्यते च (धम्मपरंपरा त्ति) परम्परया धर्मो येषां तानि परम्पराधर्माणि प्राकृतत्वाच्च परंपराशब्दस्य परनिपातस्तथाहि साधुदर्शनात् कुमारकयोः कुमारकवचनाच्च पित्रोस्तद्वचनालोकनात् कमलादेव्यास्ततोऽपि च राज्ञ इति परम्परयैव धर्मप्राप्तिर्जन्ममृत्युभयेभ्यः उक्तरूपेभ्य एवोद्विग्नानि त्रस्तानीति जन्ममृत्युभयोद्विग्नानि दुःखस्यासातस्यान्तः पर्यन्तस्तद्गवेषकाणि तदन्वेषकाणि सापेक्षस्यापि समासो यथा देवदत्तस्य गुरुकुलमिति । पुनस्तद्वक्तव्यतामेवाह । शासने दर्शने विगतमोहानामर्हतामन्यजन्मनि भावनयाऽभ्यासरूपया भावितानि वासितानि भावनाभावितानि । यद्वा भाविता भावना यैस्तानि भावितभावनानि पूर्वोत्तरनिपातस्यातन्त्रत्वात एवाचिरेणैव स्वल्पेनैव कालेन दुःखस्यान्तं मोक्षमुपगतानि प्राप्तानि । सर्वत्र च प्राकृतत्वात् पुंल्लिङ्गनिर्देशः । मन्दमतिस्मरणायाध्ययनार्थमुपसंहर्त्तुमाह । राजेषुकारः सह देव्या कमलावत्या ब्राह्मणश्च पुरोहितो भृगुनामा ब्राह्मणी तत्पत्नी यौ च दारकौ तत्पुत्रौ चेति पूर्ववत् सर्वाणि तानि परिनिर्वृतानि कर्माग्न्युपशमतः शीतीभूतानि मुक्तिं गतानीति यावत् सूत्रत्रयार्थः । इति परिसमाप्तौ ब्रवीमीति पूर्ववत् । उक्तोऽनुगमः । उत्त० १४ अ० । स्वनामख्याते नगरभेदे, "उसुयारे णयरे उसभदत्ते गाहावई" विपा० १ श्रु० १ अ० ।

उसुयारपव्वय-इषुकारपर्वत-पुं० धातकीखण्डविभागकारिणि पर्वते, "दो उसुयारपव्वया" इषुकारौ दक्षिणोत्तरयोर्दिशोर्धातकीखण्डविभागकारिणाविति । स्था० २ ठा० ३ उ० । "समयक्खेत्ते चत्तारि उसुकारा" इषुकारा धातकीखण्डपुष्करार्द्धयोः पूर्वोत्तरविभागकारिणश्चत्वारः स० । स्था० ।

उसुयारिज्ज-इषुकारीय-न० "उसुयार णाम गोयं, वेदंतो भावओ य उसुयारो । तत्तो समुट्ठियमिणं, उसुयारिज्जंति अज्झयणं" यदिषुकारात् समुत्थितं तत्तस्मै प्रायो हितमेव भवतीति इषुकाराय हितमिषुकारीयमुच्यते । प्राधान्याच्च राज्ञो निर्देशोऽन्यथा षड्भ्योऽप्येतत्समुत्थानं तुल्यमेवेति । चतुर्दशे उत्तराध्ययने, उत्त० १४ अ० । स० ।

उसुयाल-देशी०-न० उदूखले, " उसुयालंसि वा कामजलंसि वा " आचा० २ श्रु० ।

उसुवक्खकिरिओवम-इषुपक्षक्रियोपम-त्रि० शरशल्यक्रियासदृशे, " अतः समाधिरव्यक्त, इषुपक्षक्रियोपमः " । द्वा० २१ द्वा० ।

उसूलग-उसूलक-पुं० खातिकायां परबलपातार्थमुपरिच्छादितगर्तायाम् " उसूलगसयग्घीओ " उत्त० ९ अ० ।

उस्स (ण्) (ऊ)ष्मन्-त्रि० उष् आधारे मनिन् वा न्हस्वः । श्मोः संयोगे सोऽग्रीष्मे ८ । ४ । ७८ । इति षस्थाने सकारो मागध्याम् । ग्रीष्मर्त्तौ, प्रा० ।

उस्स-अवश्याय-पुं० स्नेहे, " अप्पहरियेसु अप्पुस्सेसु " वृ० ४ उ० । नि० चू० ।

उस्र-पुं० वसन्ति रसा अत्र-वस् रक्-निपातनात्र सत्वम् । किरणे, सूर्यकिरणानां बहुलाकर्षकत्वेन रसवत्त्वात्तथात्वम् । वृषे, सुरभ्याम, लतायाम, पृथिव्याम, स्त्री० । वाच० ।

उस्संकलिय-उत्संकलित-त्रि० निसृष्टे, आचा० २ श्रु० ।

उस्सक्कइत्ता उत्ष्वष्क्य-अव्य० उत्सृत्येत्यर्थे, स्थानान्तरतोऽसुकीभूयेति यावत् । स्था० ६ ठा० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उस्सक्कण-उत्ष्वष्कण-न० स्वयोगप्रवृत्तकालावधेरूर्ध्वं पुरतः ष्वष्कणमारम्भकरणमुत्ष्वष्कणम् । ध०३ अधि०। स्वयोगप्रवृत्ते- र्नियतकालावधिपरतः करणे, । यथा काचिन्मरुकादिप्रार्थ- नया रुदन्तं बालमाश्वासयति यदुत मा रोदीः समीपगृहागतो मुनिरस्मद्गृहे आयास्यति तदा तदर्थमुत्थिताऽहं तथापि दा- स्यामीति । ततश्च साध्यागते तस्य भिक्षादानायोत्थिता बा- लस्यापि ददातीति उत्ष्वष्कणम् । ध०३अधि० (पाहुडिया श- ब्दे स्पष्टीभविष्यति) " उस्सक्कणं अहिसक्कणं परमुद्दोलंकिए अरोवा वि नायत्तपरेण जुओ अह नावाभिगद्दो नाम अवस- र्पन् " । ध० १ अधि० ।

उस्सक्काविइत्ता-अपसर्प्य-अव्य० अपसृतं कृत्वेत्यर्थे, " उस्स- क्काविइत्ता " विवादे प्रतिपन्थिनं केनापि व्याजेनापसर्प्यापसृतं कृत्वा पुनरवसरमवाप्य विवदते स्था ६ ठा० ।

उस्सग्ग-उत्सर्ग-पुं० सृज विसर्गे उत्पूर्वात् सृजेर्घञ् । उज्झने, आव० ५ अ० । अस्य निक्षेपः ।

नामं १ ठवणा २ दविए, ३ खित्त ४ काले ५ तहेव भावे य ६

एसो उस्सग्गस्स तु, निक्खवो छव्विहो होइ ॥ ३६ ॥

अर्थमधिकृत्य निगदसिद्धा विशेषार्थं तु प्रतिद्वारं प्रपञ्चेन व- क्ष्यामः । तत्रापि नामस्थापने गतार्थे ।

द्रव्योत्सर्गादिरभिधित्सया पुनराह ॥

दव्वुज्झणा उ जं जेण, जत्थ अवकिरइ दव्वभूओ वा ।

जं जत्थ वा वि खित्ते, जं जच्चिर जम्मि वा काले ॥३७॥

वितिरित्तो दव्वुस्सग्गो अकिंचिक्करं सदोसं च कत्तुं जो जं द- व्वं छड्डेति तत्थ अकिंचिकरं जहा भिक्खं निक्खजायणं सदोसं जहा विसकलमभियोगकलं वा एवमादि । अहवा जेण दव्वेण जत्थ वा दव्वे दव्वभूतो छड्डेति एस दव्वुस्सग्गो जहा भरहादी- हिं चक्कवट्टीहिं भारहं वासं पव्वयंतेहिं छड्डितं । जो वा जं खेत्तयं चयति जम्मि वा खेत्ते चयति किंचि जम्मि वा खेत्ते उस्सग्गो व- णिज्जति एवमादिको उस्सग्गो जो जं कालं उज्झति । जहा उज्झातो वसंतो मेहणो ण वाहत्ति छड्डितो वा सिग्गे एवमादि। अहवा खित्तकाले पप्प ण रीयिज्जति वासारत्ते वा ण विहरिज्ज- ति । जच्चिरं व कालं उस्सग्गे जम्मि काले उस्सग्गो वणिज्जति । [आ० चू० ५ अ०] द्रव्योज्झना तु द्रव्योत्सर्गः स्वयं (जंति) यद्द्रव्यमनेषणीयमवकिरतीति योगः [अवकीरइत्ति] उ- त्सृजति (जेणेत्ति) येन करणभूतेन पात्रादिनोत्सृजति [जत्थत्ति] यत्र द्रव्ये व्युत्सृजति द्रव्यभूतो वा अनुपयुक्तो वा उत्सृजति एष द्रव्योत्सर्गोऽभिधीयते । द्वारं क्षेत्रोत्सर्गं उच्यते [जं जत्थ वा- वि खेत्तेत्ति] यत् क्षेत्रमूषणदेशादुत्सृजति यत्र वाऽपि क्षेत्रे उत्स- र्गो व्यावर्ण्यते एष क्षेत्रोत्सर्गः। कालोत्सर्ग उच्यते [जं जच्चिर ज- म्मि वा कालेत्ति] यं कालमुत्सृजति यथा भोजनमधिकृत्य रजनि साधवः [जच्चिरं वत्ति] यावन्तं कालमुत्सर्गो यस्मिन् वा काले उत्सर्गो वर्ण्यते एष कालोत्सर्ग इति गाथार्थः । आव० ५ अ० ।

भावोत्सर्गान् प्रतिपादयन्नाह ॥

भावे पसत्थमिअरं, जेण व भावेण अवकिरइ जं तु ।

अस्संजमं पसत्थे, अपसत्थे संजमं चयई ॥ ३८ ॥

एवमादिणो आगमतो उस्सग्गो पसत्थो अपसत्थो अन्नाणादीणं जातिमदादीण य अप्पसत्थो णाणादीण उज्झणा जेण वा भावेण चयति एवमादि [आ० चू०] भाव इति द्वारपरामर्शो भावोत्सर्गो द्विधा प्रशस्तं शोभनं वस्त्वधिकृत्य [इतरत्ति] अप्रशस्तमशोभनं तथा येन वा भावेन उत्सर्जनीयवस्तुगतेन खरादिना अवकिरति जं तु उत्सृजति यत्तत्र भावेनोत्सर्ग इति तृतीयासमासः तत्रासंयमं प्रशस्ते भावोत्सर्गे त्यजति अप्रशस्ते तु संयमं त्यजतीति गाथार्थः। यदुक्तं येन वा भावेनोत्सृजति तत्प्रकटयन्नाह ।

खरफरुसाइसचेअणं-मचअणं दुरभिगंधविरसाई ।

दव्वि अमवि चयइ दोसेणं,जेणं भावुज्झणा सा उ ॥ ३९ ॥

खरपरुषादि सचेतनं खरं कठिनं परुषं दुर्भाषिणोपनीतमचे- तनं दुरभिगन्धविरसादि यद्द्रव्यमपि त्यजति दोषेण येन खरादि- ना वा भावोज्झना सा उक्ता येनोत्सर्ग इति गाथार्थः । ३९ गतं मूलद्वारगाथायामुत्सर्गमधिकृत्य निक्षेपद्वारम् ॥

अधुनैकार्थिकान्युच्यते ॥

उस्सग्ग १ विउस्सरणा, २

उज्झणा य ३ अवकिरण ४ छड्डण ५ विवेगो ६ ।

वज्जण ७ चयण ८ मुअणा ९,

परिसाडण १० साडणा चेव ११ ॥ ४० ॥

उत्सर्गः व्युत्सर्जना उज्झना च अवकिरणं छर्दनं विवेकः वर्जनं त्य- जनम् उन्मोचना परिशातना शातना चैवेति गाथार्थः।आव०५अ० उत्सर्जनीयस्य त्यागरूपे आभ्यन्तरतपोभेदे, तद्भेदः स द्वि- विधो बाह्य आभ्यन्तरश्च।तत्र बाह्यो द्वादशविधेभ्यस्योपधेरति- रिक्तस्यानेषणीयस्य संसक्तस्यान्नपानादेर्वा त्यागः। आभ्यन्तरः कषायाणां मृत्युकाले शरीरस्य च त्यागः। ननु उत्सर्गप्रायश्चि- त्तमध्य एवोक्तस्तत्किं पुनरत्र भणनेन सत्यं सोऽतिचारविशु- द्ध्यर्थमुक्तः अयं तु सामान्येन निर्जरार्थ इत्यपौनरुक्त्यम् ।प्रव० ६द्वा०। ध०। स०। नं० ।पञ्चा०। यथा भामेत्युक्ते सत्यभामेति ग- म्यते तथाऽत्राप्येकदेशेन समुदायावगमात् कायोत्सर्गे, प्रव०१ द्वा० । (काउस्सग्गशब्देऽस्येवक्तव्यता) " उस्सग्गंति " ई- र्यापथतिमित्तं पञ्चविंशत्युच्छ्वासप्रमाणं कायोत्सर्गं करोति । ओ० । सामान्योक्तौ, ध० २ अधि० । दर्श० । सामान्योक्तो वि- धिरुत्सर्गः यथा त्रिविधं त्रिविधेन प्राणातिपातविरतिः । दर्श०। पञ्चा० । इह विधित्सितस्य वस्तुनः कारणनिरपेक्षं सामान्य- स्वरूपमुत्सर्ग उच्यते। बृ० ४ उ०। अभिप्रेतवस्तुस्वरूपनिर्वाच्यं कारणनिरपेक्षमुत्सर्गः । नि० चू० ११ उ० । "उस्सग्गो ओहो" उस्सग्गो पडिसेहो । नि० चू० १ उ० । अथोत्सर्गापवादयो- र्बाध्यविचारः। अथ योऽयं " न हिंस्यात्सर्वाभूतानी " त्यादिना हिंसानिषेधः औत्सर्गिको मार्गः सामान्यतो विधिरित्यर्थः वेद- विहिता तु हिंसाऽपवादपदं विशेषतो विधिरित्यर्थः। ततश्चाप- वादेनोत्सर्गस्य बाधितत्वान्न श्रौती हिंसाविधिर्दोषायोत्सर्गा- पवादयोरपवादो विधिर्बलीयानिति न्यायात् । भवतामपि हि न खल्वेकान्तेन हिंसानिषेधः तत्तत्कारणे जाते पृथिव्यादिप्र- तिसेवनानामनुज्ञानात् ग्लानाद्यसंस्तरे आधाकर्मादिग्रहणभ- णनाच्च । अपवादपदं च याज्ञिकी हिंसा देवतादिप्रीतेः पुष्टाल- म्बनत्वादिति परमाशङ्क्य स्तुतिकार आह नोत्सृष्टमित्यादि अन्यार्थमिति मध्यवर्ति पदं डमरुकमणिन्यायेनोभयत्रापि संब- न्धनीयम् । अन्यार्थमुत्सृष्टमन्यस्मै कार्याय प्रयुक्तमुत्सर्गवाक्य- मन्यार्थप्रयुक्तेन वाक्येन नापोद्यते नापवादगोचरीक्रियते यमे- वार्थमाश्रित्यापवादोऽपि प्रवर्तते तयोर्निम्नोन्नतादिव्यवहारव- त्परस्परसापेक्षत्वेनैकार्थसाधनविषयत्वात् यथा जैनानां संय-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मपरिपालनार्थं नवकोटिविशुद्धाहारग्रहणमुत्सर्गस्तथाविधद्रव्यक्षेत्रकालभावापत्सु च निपतितस्य गत्यन्तराभावे पञ्चकापरिहाण्या यतनयाऽनेषणीयादिग्रहणमपवादः सोऽपि च संयमपरिपालनार्थमेव । न च मरणैकशरणस्य गत्यन्तराभावोऽसिद्ध इति वाच्यं " सव्वत्थ संजमं सं-जमाउ अप्पाणमेव रक्खिज्जा । मुच्चइ अइवायाओ, पुणो विसोही नया विरई " इत्यागमात् तथा आयुर्वेदेऽपि यमेवैकं रोगमधिकृत्य कस्यांश्चिदवस्थायां किञ्चिद्वस्त्वपथ्यं तदेवावस्थान्तरे तत्रैव रोगे पथ्यमुपपद्यते हिंसावस्था देशकालाद्यपेक्षया "यस्यामकार्यं कार्यं स्यात्कर्म कार्यं तु वर्जयेत् " इति वचनात् यथा बलवदादेर्ज्वरिणो लङ्घनं क्षीणधातोस्तु तद्विपर्यय एवं देशाद्यपेक्षया ज्वरिणोऽपि दधिपानादि योज्यम् । तथा च वैद्याः "कालाविरोधि निर्दिष्टं,ज्वरादौ लङ्घनं हितम् । ऋतेऽनिलश्रमक्रोध-शोककामकृतज्वरात् " एवं च यः पूर्वमपथ्यपरिहारो यश्च तत्रैवावस्थान्तरे तस्यैव परिभोगः स खलु उभयोरपि तस्यैव रोगस्य शमनार्थ इति सिद्धमेकविषयत्वमुत्सर्गापवादयोरिति । भवतां चोत्सर्गोऽपवादश्चान्यार्थः । " न हिंस्यात्सर्वभूतानी " त्युत्सर्गो हि दुर्गतिगतिनिषेधार्थः अपवादस्तु वैदिकहिंसाविधिर्देवताऽतिथिपितृप्रीतिसंपादनार्थः अतश्च परस्परनिरपेक्षत्वे कथमुत्सर्गोऽपवादेन बाध्यते तुल्यबलयोर्विरोध इति न्यायात् भिन्नार्थत्वेऽपि तेन तद्बाधनेऽतिप्रसङ्गात् । न च वाच्यं वैदिकहिंसाविधिरपि स्वर्गहेतुतया दुर्गतिनिषेधार्थ एवेति तस्योक्तयुक्त्या स्वर्गहेतुत्वनिर्लोठनात् तमन्तरेणापि च प्रकारान्तरैरपि तत्सिद्धिभावाद्गत्यन्तराभावे ह्यपवादे पक्षकक्षीकारः । स्या० । संप्रति किमुत्सर्गा अल्पं उतापवादास्तथा उत्सर्गोऽपवादो वा स्वस्थाने श्रेयान् बलवांश्च । परस्थाने बलवानपि श्रेयांश्च इत्याह । (सूत्रम्) "नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा आमे ताल पलंबे अभिन्ने पडिगाहित्तए अववाइयं जहा कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा पक्के तालपलंबे भिन्ने वा पडिगाहित्तए " अथवा त्रिविधं सूत्रमुत्सर्गसूत्रमपवादसूत्रमुत्सर्गापवादसूत्रं च । तत्रौत्सर्गिकमापवादिकं चोक्तमुत्सर्गापवादसूत्रं पुनरिदम् । नो कप्पइ निग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा अन्नमन्नस्स मोयं आदित्तए वा आयमित्तए वा अन्नत्थगाढेहिं रोगायंकेहिं,, अथवा चतुर्विधं सूत्रमौत्सर्गिकमापवादिकमुत्सर्गापवादमपवादौत्सर्गिकं तत्राद्यानि त्रीण्युक्तानि चतुर्थमपवादौत्सर्गिकमिदं यथा " चम्मं मंसं च दलाहि मा अट्ठियाणं " आह उत्सर्ग इत्यपवाद इति वा कोऽर्थ उच्यते ॥

उज्जयसग्गुस्सग्गो, अववाओ तस्स चेव पडिवक्खो ।
उस्सग्गा वि निवतियं, धरेइ सालंबमववाओ ।

उद्यतः सर्गोऽविहार उत्सर्गस्तस्य चोत्सर्गस्य प्रतिपक्षोऽपवादः कथमिति चेदत आह उत्सर्गाद्दमौदर्यादिषु विनिपतितं प्रच्युतं ज्ञानादिसालम्बमपवादो धारयति । ननु स उत्सर्गोऽपवादं गतः सन् कथं न भग्नव्रतो भवति उच्यते ।

धावंतो उव्वाओ, मग्गन्नू किं न गच्छइ कमेणं ।
किं वा मउई किरिया, न कीरए असहुओ तिक्खं ॥

सर्वोऽप्यस्माकं प्रयासो मोक्षसाधननिमित्तं स च मोक्षं तथा साधयति नेतरत् दृष्टान्तोऽयं यथा कोऽपि पाटलिपुत्रं गच्छन् धावन् उद्वातः श्रान्तो भवति तथा न क्रमेण स्वभावगत्या मार्गज्ञः सन् गच्छति गच्छत्येवेति भावः केवलं चिरेण तत्पाटलिपुत्रमवाप्नोति यदि पुनः श्रान्तोऽपि धावति तदा अपान्तराल एव म्रियते एवमशक्त्यपवादी तादृशे कार्येऽपवादमप्रतिपद्यमानो विनश्यति । किं च रोगिणस्तीक्ष्णां क्रियामसहमानस्य मृद्वी क्रिया न क्रियते क्रियत एवेत्यर्थः यथैतदेवमशक्त्युत्सर्गात्परिभ्रष्टस्यापवादगमनम् । ननु किमुत्सर्गादपवादप्रसिद्धिरुतापवादादुत्सर्गस्य तत्र आह ।

उन्नयमविक्खनिन्नय,पसिद्धि उन्नयस्स निन्नाउ ।
इय अन्नुन्नपसिद्धा, उस्सग्गववायगा तुल्ला ॥

यथोन्नतमपेक्ष्य निम्नस्य प्रसिद्धिर्निम्नाच्चोन्नतस्य प्रसिद्धिरित्येवमन्योऽन्यप्रसिद्धावुत्सर्गादपवादोऽपवादादुत्सर्गः प्रसिद्ध इति द्वावप्युत्सर्गापवादौ तुल्यौ । तदेवमुत्सर्गापवादद्वारमुक्तम् । इदानीमल्पद्वारमुच्यते । शिष्यः पृच्छति भगवन् किमुत्सर्गा अल्पे उतापवादा उच्यते तुल्या यत आह ।

जावइया उस्सग्गा, तावइया चेव हुंति अववाया ।
जावइया अववाया, उस्सग्गा तत्तिया चेव ॥

यावन्त उत्सर्गास्तावन्तोऽपवादाः यावन्तोऽपवादास्तावन्त उत्सर्गाः कथमिति चेदुच्यते सर्वस्यापि प्रतिषेधस्यानुज्ञाभावात् द्वयेऽपि तुल्याः । संप्रति सेयबलवंते इति द्वारद्वयं व्याचिख्यासुराह ।

सट्ठाणे सट्ठाणे, सेयावलिणो व हुंति खलु एए ।
सट्ठाणपरट्ठाणे, एहुंति वत्थूण निप्फन्ना ॥

शिष्यः पृच्छति किमुत्सर्गः श्रेयान् बलवांश्च उतापवादः । सूरिराह । एते खलु उत्सर्गा अपवादाश्च स्वस्वस्थाने श्रेयांसो बलिन इव भवन्ति । परस्थानेऽश्रेयांसो दुर्बलाश्च । अथ किं स्वस्थानं किं वा परस्थानमत आह । स्वस्थानपरस्थाने वस्तुनो निष्पन्ने । अथ वस्त्वेव न जानामि किं तद्वस्त्विति । उच्यते पुरुषो वस्तु तथा चाह ।

संथरओ सट्ठाणं, उस्सग्गो असहुणो परट्ठाणं ।
इय सट्ठाण परं वा, न होइ व वत्थू विणा किंचि ॥

संस्तरतो निस्तरत उत्सर्गः स्वस्थानमपवादः परस्थानमसहस्यासमर्थस्य यः संस्तरीतुं न शक्नोति तस्यापवादः स्वस्थानमुत्सर्गः परस्थानमिति एवममुना प्रकारेण पुरुषलक्षणं वस्तु विना न किंचित् स्वस्थानं परस्थानं वा किं तु पुरुषो वस्तु संस्तरति नवेत्यतः पुरुषात् स्वस्थानं परस्थानं वा निष्पद्यते तत उक्तं प्राक् स्वस्थानपरस्थाने वस्तुनो निष्पन्ने गतं सूत्रद्वारम् । बृ० १ उ० । प्रकीर्णकथायाम्, "उस्सग्गो पइन्नकहा अववाओ णिच्छयकहा" नि०चू०५उ० । अपानवायोर्व्यापारे, विष्ठोत्सर्गत्यागे, दाने, समासौ, मतोत्सर्गः वार्षिकवेदपाठसमाप्तौ च वाच० ।

उस्सग्गट्ठिइ—उत्सर्गस्थिति—स्त्री० उत्सर्गस्थाने, " उस्सग्गट्ठिइसुद्धं जह दव्वं विवज्जयं लभइ " नि० चू० १६ उ० ।

उस्सग्गववाइयकुसल—उत्सर्गापवादिककुशल—पुं० उत्सर्गे च अपवादे भवमापवादिकं च तस्मिन् कुशलः । उत्सर्गापवादविषयविभागवेदिनि, दर्श० । अपवादे भवमापवादिकं तस्मिन्नुत्सर्गापवादिके कुशला विषयविभागवेदिन इत्यर्थः । ते ह्युत्सर्गापवादवेदितया समयानुरूपप्रवर्तमाना लोभगृहप्रस्तसिंहकेसरिकक्षपकसाधोरकालेऽपि दानदातृश्रावकवन्निर्जराभाजो जायन्त इति । दर्श० ॥

उस्सग्गववाय—उत्सर्गापवाद—पुं० द्वि० व० इतरेतरद्वन्द्वः । सामान्योक्तविशेषोक्तविध्योः, "उस्सग्गववायाणं वियाणगा सेवगा" उत्सर्गापवादयोः सामान्योक्तविशेषोक्तविध्योर्विज्ञापकाः । पञ्चा०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

११ विव०। "उस्सग्गाववायाणं विसयविभागम्मि दक्खाणं । बहु वयणेण दुवयणमिति " प्राकृतलक्षणवशादुत्सर्गापवादयोः सामान्योक्तविशेषोक्तलक्षणयोः विषयविभागे गोचरविच्छित्तौ दक्षाणां छेकानाम् । जीवा० १ अधि० । (पादप्रोञ्छनस्यौत्सर्गिकत्वापवादिकत्वविचारः पायपुंछणशब्दे)

उस्सग्गववायकुसल–उत्सर्गापवादकुशल–पुं० सामान्योक्तो विधिरुत्सर्गः यथा त्रिविधं त्रिविधेन प्राणातिपातविरतिर्विशेषोक्तो विधिरपवादः यथा " पुढवाइसु आसेवा, उप्पण्णे कारणम्मि जयणाए। मिगरहियस्स ठियस्स, अववाओ होइ नायव्वो" । तत्र कुशलः दर्श० । प्रवचनकुशलभेदे, । सांप्रतमुत्सर्गापवादकुशलाभिधानौ तृतीयचतुर्थभेदौ युगपदभिधित्सुर्गाथोत्तरार्द्धमाह

उस्सग्गववायाणं, विसयविभागं वियाणाइ ॥ ५३ ॥

उत्सर्गापवादयोर्जिनप्रवचनप्रतीतयोर्विषयविभागं करणाकरणप्रस्तावं विशेषेण जानाति अवगच्छति । अयमत्राभिप्रायः नोत्सर्गमेव केवलमालम्बते नाप्यपवादमेव प्रमाणीकरोति किं तर्हि वलपुरश्रावकसमुदायवत् तयोरवसरमवबुध्यते । उक्तं च । "न यमाविक्खनिखस्स, पसिद्धि उभयस्स इयराओ । इय अन्नुन्नपसिद्धा, उस्सग्गववायगा तुल्ला "ज्ञात्वा च यथाऽवसरं तयोर्विषये स्वल्पव्ययां बहुलाभां प्रवृत्तिमातनोतीति ध० र० ।(अचलपुरशब्दे तद्वक्तव्यतोक्ता)

उस्सग्गववायधम्मता–उत्सर्गापवादधर्मता–स्त्री० प्रतिषेधानुज्ञालक्षणतायाम्, । "कामं सव्वपदेसु वि, उस्सग्गववायधम्मता जुत्ता । मोत्तुं मेहुणभावं, ण विणा तं रागदोसेहिं । उस्सग्गो पडिसेहो अववातो अणुण्णाधम्मतालक्खणता जुत्ता जुज्जते घटत इत्यर्थः । " नि० चू० १ उ० ।

उस्सग्गसुत्त–उत्सर्गसूत्र–न० औत्सर्गिकार्थप्रतिपादके सूत्रभेदे, बृ० १ उ० । [सुत्तशब्दे इदं व्याख्यास्यते]

उस्सग्गिय–औत्सर्गिक–त्रि० उत्सर्गं सामान्यविधिमर्हति ठञ् सामान्यविधियोग्ये, स्त्रियां ङीप् वाच० ।

उस्सण्ण–उत्सन्न–त्रि० उद्–सद्–क्त–अनुत्साहोत्सन्नोत्सन्ने ८।१।१४ इत्युत्सन्नपर्युदासाच्छादेरत उत्वम् प्रा० उच्छिन्ने, नष्टे च । वाच० । वसन्तपुरवास्तव्यः, कश्चिदुत्सन्नवंशकः । देशान्तरं व्रजन् सोऽथ, चम्पोऽगाद् भौतपल्लिकाम् । आ० क० ।

उस्सण्ण–देशी०–बाहुल्ये, " उस्सण्णं देयासायं वेयणं वेदेंति उस्सण्णं बाहुल्येन प्रायेणेत्यर्थः । कर्म० । व्य० । " उसण्णमंसाहारा० भ० ७ श० ७ उ० । एकान्ते, " उस्सण्णदुक्खलक्खणसंजुया " नि० चू० ३ उ० । उस्सण्णं नाम कोतिआवारं वहति प्रमितमित्यर्थः । अहणं स च लोगो आयरति । नि० चू० १० उ० ।

उस्सण्णदोस–उत्सन्नदोष–पुं० उत्सन्नमनुपरतं बाहुल्येन प्रवर्त्तत इत्युत्सन्नदोषः। रौद्रध्यानस्य प्रथमे लिङ्गे, आव० ४ अ० ।

उस्सप्पिणी–उत्सर्पिणी–स्त्री० उत्सर्पन्ति शुभा भावा अस्यामित्युत्सर्पिणी ज्यो० २ पाहु० । उत्सर्पति वर्द्धते अरकापेक्षया वर्द्धयति वा क्रमेण पुद्गलादीन् भावानित्युत्सर्पिणी । जं० २ वक्ष० । भ० । दशसागरोपमकोटाकोटीपरिमाणे, शुभभाववर्द्धकेऽशुभभावहानिकारके कालभेदे, आ० म० प्र० । अनु० । विशे० । दससागरोवमकोडाकोडीओ कालो उस्सप्पिणीए स्था० १० ठा० । आ० म० द्वि० । जं० । उत्सर्पिण्यां च क्रमेण शुभा भावा अनन्तगुणतया परिवर्द्धन्ते अशुभाश्च हानिमुपगच्छन्तीति ज्यो० २ पाहु० ।

अत्र षडरकाः ।

उस्सप्पिणी कालेणं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते गोयमा ! छव्विहे पण्णत्ते ? तं जहा दुस्समदुस्समाकाले १ जाव सुसमसुसमाकाले ॥

एवमुत्सर्पिणीसूत्रमपि भाव्यं परं षडपि काला व्यत्ययेन भाव्या यथाऽवसर्पिण्यां षष्ठः कालो दुःषमाख्यः स एवात्र प्रथमो यावत् सुषमसुषमाकालः षष्ठ इति । जं० २ वक्ष० । स्था० । भ० । आ० चू० (सुषमसुषमादीनां वर्णकः ओसप्पिणीशब्दे वक्ष्यते) एवमत्रापि ज्ञेयः केवलमरकविपर्ययः कर्तव्यः । "ओसप्पिणीए एसो कालविभागो जिणेहिं निद्दिट्ठो एसो च्चिय पडिलोमं विन्नेओ उस्सप्पिणीए वि" तं० । य एवं प्रागवसर्पिण्यां सुषमसुषमादयः कालविभागा उक्ता एत एवोत्सर्पिण्यामपि भवन्ति ज्ञातव्याः नवरं विभागेषु परिपाटिः प्रातिलोमेन ज्ञातव्या तद्यथा प्रथमः कालविभागो दुःषमदुःषमा द्वितीयो दुःषमा, तृतीयो दुःषमसुषमा, चतुर्थः सुषमदुःषमा, पञ्चमः सुषमा, षष्ठः सुषमसुषमेति (ज्यो० २ पाहु०) सांप्रतं प्रागुद्दिष्टामुत्सर्पिणीं निरूपयितुकामस्तत्प्रतिपादनपूर्वकं ततः प्रथमारकस्वरूपमाह ॥

तीसे णं समाए इक्कवीसमाए वाससहस्सेहिं काले वीइक्कंते आगमीसाए उस्सप्पिणीए सावणबहुलपाडिवए बालवकरणंसि अभीइणक्खत्ते चोद्दसपढमसमये अणंतेहिं वण्णपज्जवेहिं जाव अणंतगुणपरिवुड्ढीए परिवड्ढमाणे परिवुड्ढमाणे एत्थ णं दूसमदूसमा णामं समा काले पडिवज्जिस्सइ समणाउसो। तीसे णं भंते ! समाए भरहस्स वासस्स केरिसए आगारभावपडोआरे भविस्सइ गोअमा ! काले भविस्सइ हाहाभूए भंभाभूए एवं सो चेव दूसमदूसमावेढओ णेअव्वो ॥

तस्यां समायामवसर्पिण्यां दुःषमानाम्न्यामेकविंशत्या वर्षसहस्रैः प्रमिते काले व्यतिक्रान्ते आगमिष्यन्त्यामुत्सर्पिण्यां श्रावणमासस्य बहुलप्रतिपदि कृष्णप्रतिपदि पूर्वावसर्पिण्याः आषाढपूर्णिमापर्यन्तसमये पर्यवसानत्वात् बालवनाम्नि करणे कृष्णप्रतिपत्तिथ्यादिमार्द्धेऽस्यैव सद्भावात् । अभीजिन्नक्षत्रे चन्द्रेण योगमुपागते चतुर्दशानां कालविशेषाणां प्रथमसमये प्रारम्भक्षणेऽनन्तैर्वर्णपर्यवैर्यावदनन्तगुणपरिवृद्ध्या परिवर्द्धमानः । अत्रान्तरे दुःषमदुःषमानाम्ना समः कालः प्रतिपत्स्यते हे श्रमण ! आयुष्मन् ! इति वर्णादीनां वृद्धिश्च येनैव क्रमेण पूर्वमवसर्पिण्यरकेषु हानिरुक्ता तथैवात्र वाच्या चतुर्दशकालविशेषा पुनः निःश्वासोच्छ्वासादा गण्यते समयस्य निर्विभागकालत्वेनाद्यन्तव्यवहाराभावादावलिकायाश्चाव्यवहार्यत्वेनोपेक्षा । तत्र निःश्वासः उच्छ्वासो वा १ प्राणः २ स्तोकः ३ लवः ४ मुहूर्त्तः ५ अहोरात्रं ६ पक्षः ७ मासः ८ ऋतुः ९ अयनं १० संवत्सरं ११ युगं १२ करणं १३ नक्षत्रम् १४ इति एतेषां चतुर्दशानां मध्ये पञ्चसूत्रसत्कानुक्तानामपरेषां चोपलक्षणं संगृहीतानां प्रथमसमये कोऽर्थः य एव हि एतेषां चतुर्दशानां कालविशेषाणां प्रथमः समयः स एवोत्सर्पिणीप्रथमारकप्रथमसमयः । अवसर्पिणीसत्कानामेषां द्वितीयाऽऽषाढपौर्णमासीचरमसमयः एवं पर्यवसा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मात इदमुक्तं भवति अवसर्पिण्यादौ महाकाले प्रथमतः प्रवर्त्तमाने सर्वेऽपि तदवान्तरभूताः कालविशेषाः प्रथमत एव युगपत् प्रवर्त्तन्ते तदनु स्वस्वप्रमाणसमाप्तौ समाप्नुवन्ति तथैव पुनः प्रवर्त्तन्ते पुनः परिसमाप्नुवन्ति यावन्महाकालपरिसमाप्तिरिति । यद्यपि ग्रन्थान्तरे ऋतोराषाढादित्वेन कथनादुत्सर्पिण्याश्च श्रावणादित्वे अस्य प्रथमसमयो न संगच्छते ऋतुत्रिकस्य गतत्वात् तथापि प्रावृट् श्रावणादिर्वर्षारात्रोऽश्वयुजादिः शरन्मार्गशीर्षादिर्हेमन्तो माघादिर्वसन्तश्चैत्रादिर्ग्रीष्मो ज्येष्ठादिर्भगवतीवृत्तिवचनात् श्रावणादित्वपक्षाश्रयणेन समाधेयमिति न दोषः । किंचेदं सूत्रं गम्भीरग्रन्थान्तरे च व्यक्तानुपलभ्यमानभावार्थं कण्ठेनान्यथाप्यागमाविरोधेन मध्यस्थैर्बहुश्रुतैः परिभावनीयमिति । अथात्र कालस्वरूपं पृच्छति "तीसेणमित्यादि" सर्वं सुगमं नवरं दुष्षमदुष्षमायाःअवसर्पिणीषष्ठारकस्य वेष्टको वर्णको नेतव्यः प्रापणीयस्तन्मानत्वादस्याः गतः उत्सर्पिण्याः प्रथमोऽरः

अथ द्वितीयारकस्वरूपं वर्णयति ।

तीसे णं समाए एकवीसाए वाससहस्सेहिं काले वीइक्कंते अणंतेहिं वण्णपज्जवेहिं जाव अणंतगुणपरिवुड्ढीए परिवुड्ढेमाणे परिवुड्ढेमाणे एत्थ णं दूसमा णामं समा काले पडिवज्जिस्सइ समणाउसो ॥

तीसेणमित्यादि सर्वं सुगमं नवरमुत्सर्पिण्या द्वितीयारक इत्यर्थः

अथाऽवसर्पिणीदुष्षमातोऽस्या विशेषमाह ।

ते णं काले णं ते णं समए णं पुक्खलसंवट्टए णामं महामेहे पाउब्भविस्सइ भरहप्पमाणमित्ते आयामेणं तदणुरूवं च णं विक्खंभबाहल्लेणं तए णं से पुक्खले संवट्टए महामेहे खिप्पामेव पतणतणाइस्सइ खिप्पामेव पतणतणाइत्ता खिप्पामेव पविज्जुआइस्सइ खिप्पामेव पविज्जुआइत्ता खिप्पामेव जुगमुसलमुट्ठिप्पमाणमित्ताहिं धाराहिं ओघमेघं सत्तरत्तं वासं वासिस्सइ जे णं भरहस्स वासस्स भूमिभागं इंगालभूअं मुम्मुरभूअं छारीभूअं तत्तकवेल्लुगभूअं तत्तसमजोइभूतं णिव्वाविस्सइ तंसि च णं पुक्खलसंवट्टगंसि महामेहंसि सत्तरत्तं णिवतितंसि समाणंसि एत्थ णं खीरमेहे णामं महामेहे पाउब्भविस्सइ भरहप्पमाणमेत्ते आयामेणं तदणुरूवं च णं विक्खंभबाहल्लेणं तए णं से खीरमेहे णामं महामेहे खिप्पामेव पतणतणाइस्सइ जाव खिप्पामेव जुगमुसलमुट्ठि जाव सत्तरत्तं वासं वासिस्सइ । जे णं भरहेवासस्स भूमीए वण्णं गंधं रसं फासं च जणइस्सइ तंसि च णं खीरमेहंसि सत्तरत्तं णिवतितंसि समाणंसि इत्थणं घयमेहे णामं महामेहे पाउब्भविस्सइ । भरहप्पमाणमेत्ते आयामेणं तदणुरूवं च णं विक्खंभबाहल्लेणं तए णं से घयमेहे महामेहे खिप्पामेव पतणतणाइस्सइ जाव वासं वासिस्सइ । जे णं भरहस्स वासस्स भूमीए सिणेहभावं जणइस्सइ तंसि च णं घयमेहंसि सत्तरत्तं णिवतितंसि समाणंसि एत्थ णं अयमेहे णामं महामेहे पाउब्भविस्सइ भरहप्पमाणमित्ते आयामेणं जाव वासं वासिस्सइ भरहे वासे रुक्खगुच्छगुम्मलयवल्लितणपव्वयहरितगओसहिपवालंकुरमाईए तस्स वणप्फइकाइए जणइस्सइ तंसि च णं अमयमेहंसि सत्तरत्तं णिवत्तितंसि समाणंसि एत्थ णं रसमेहे णामं महामेहे पाउब्भविस्सइ । भरहप्पमाणमित्ते आयामेणं जाव वासं वासिस्सइ जे णं तेसिं बहूणं रुक्खगुच्छगुम्मलयवल्लितणपव्वयहरितओसहिपवालंकुरमादीणं तित्तकडुअकसायअंबिलमहुरे पंचविहे रसविसेसे जणइस्सइ तए णं भरहे वासे भविस्सइ परूढरुक्खगुच्छगुम्मलयावल्लीतणपव्वयहरिअओसहिए उपचिअतयपत्तपवालंकुरपुप्फफलसमुइए सुहोवभोगे आविभविस्सइ ।

'ते णमित्यादि' तस्मिन् काले उत्सर्पिण्यां द्वितीयारकलक्षणे तस्मिन् समये तस्यैव प्रथमसमये पुष्कलं सर्वमशुभानुभावरूपं भरतभूरौक्ष्यदाहिकं प्रशस्तोदकेन संवर्त्तयति नाशयतीति पुष्कलसंवर्तकः स च पर्जन्यप्रभृतिमेघत्रयापेक्षया महान् मेघो दशवर्षसहस्रावधि एकेन वर्षणेन भूमेर्भावकत्वात् महामेघः प्रादुर्भविष्यति प्रकटीभविष्यति भरतक्षेत्रप्रमाणेन साधिकैकसप्ततिचतुःशताधिकचतुर्दशयोजनसहस्ररूपेण मात्रा प्रमाणं यस्य स तथा । केनायामेन दीर्घभावेन । अयं भावः पूर्वसमुद्रादारभ्य पश्चिमसमुद्रं यावत् बार्दलकं व्याप्तं भविष्यतीत्यर्थः तदनुरूपश्च तस्य भरतक्षेत्रस्याऽनुरूपः सदृशः सूत्रे च लिङ्गव्यत्ययः प्राकृतत्वात् क्रियाविशेषणं वा केनेत्याह विष्कम्भबाहल्येन अत्र समाहारद्वन्द्ववशादेकवद्भावः कोऽर्थः यावान् व्यासो भरतक्षेत्रस्य इषुस्थाने पञ्चशतयोजनानि षड्विंशतिर्योजनानि षट्कला योजनैकोनविंशतिभागरूपास्तदतिरिक्तस्थाने तु अनियततया तथाऽस्यापि विष्कम्भः बाहल्यं तु यावता जलभारेण यावद्गगाढभरतक्षेत्रतप्तभूमिमार्द्रीकृत्य तापः उपशाम्यते तावज्जलदनिष्पन्नमेव ग्राह्यमिति । अथ स प्रादुर्भूतः सन् यत्करिष्यति तदाह "तएणमित्यादि" ततश्च स पुष्कलसंवर्तकमेघः क्षिप्रमेवाल्पकाल एव 'पतणतणाइस्सत्ति' अनुकरणवचनमेतत् प्रकर्षेण स्तनितं करिष्यति गर्जिष्यतीत्यर्थः । तथा च कृत्वा 'पविज्जुत्ताइस्सत्ति' प्रकर्षेण विद्युतं करिष्यति तथा च कृत्वा क्षिप्रमेव युगं रथावयवविशेषः मुसलं प्रतीतं मुष्टिः पिण्डिताङ्गुलिकः पाणिः येषां यत् प्रमाणमायामबाहल्यादिभिस्तेन मात्रा यासां ताभिः इयता प्रमाणेन दीर्घाभिःस्थूलाभिरित्यर्थः धाराभिः ओघेन सामान्येन सर्वत्र निर्विशेषेण मेघो यत्र तं तथाविधं सप्ताहोरात्रान् वर्षं वर्षिष्यति वर्षां करिष्यतीत्यर्थः । जे णमिति पूर्ववत् भरतस्य वर्षस्य क्षेत्रस्य भूमिभागमङ्गारभूतं मुर्मुरभूतं क्षारिकभूतं तप्तकवेल्लुकभूतं तप्तसमज्योतिर्भूतं निर्वापयिष्यति स पुष्करसंवर्तको महामेघः । अथ द्वितीयमेघवक्तव्यमाह । तंसि च णमित्यादि तस्मिंश्च चशब्दो वाक्यान्तरप्रारम्भार्थः पुष्कलसंवर्तके महामेघे सप्तरात्रं यावन्निपतिते सति निर्भरं वृष्टे सति । अत्रान्तरे क्षीरमेघो नाम महामेघः प्रादुर्भविष्यति शेषं भरतेत्यादि प्राग्वत् । अथ स प्रादुर्भवन् किं करिष्यतीत्याह 'तएणमित्यादि' अत्र वासिस्सइ पर्यन्तं प्राग्वत् यो मेघो भरतस्य वर्षस्य भूम्या वर्णं गन्धं रसं स्पर्शं च जनयिष्यति । अत्र वर्णादयः शुभा एव ग्राह्याः येभ्यो लोकोऽनुकूलं वेदयते अशुभवर्णादयः प्राक्कालानुभावे जनिता वर्तन्त एवेति ननु यदि शुभवर्णादीन् जनयति तदा तरुपत्रादिषु नीलो वर्णो जम्बूफलादिषु कृष्णः मरिचादिषु कटुको रसः का-

रवेल्लादिषु तिक्तः चणकादिषु रूक्षः स्पर्शः सुवर्णादिषु गुरुः कर्कशादिषु खरः इत्यादयोऽशुभवर्णादयः कथं संभवेयुरित्युच्यते अशुभपरिणामा अप्येते अनुकूलवेद्यतया शुभा एव यथा मरिचादिगतः कटुकरसादिः प्रतिकूलवेद्यतया शुभा अप्यशुभा एव यथा कुष्ठादिगतः श्वेतवर्णादिरिति । अथ तृतीयमेघवक्तव्यमाह "तंसि इत्यादि" तस्मिन् क्षीरमेघे सप्तरात्रं निपतिते सति अत्रान्तरे घृतवत् स्निग्धो मेघो घृतमेघो नाम्ना महामेघः प्रादुर्भविष्यतीत्यादि सर्वं प्राग्वत् । अथ स प्रादुर्भूतः किं करिष्यतीत्याह (तएणमित्यादि) सर्वं प्राग्वत् नवरं यो घृतमेघो भरतभूमेः स्नेहभावं स्निग्धतां जनयिष्यतीति । अथ चतुर्थमेघवक्तव्यमाह "तंसि इत्यादि" तस्मिंश्च घृतमेघे सप्तरात्रं निपतिते सति अत्र प्रस्तावे अमृतमेघो यथार्थनामा महामेघः प्रादुर्भविष्यति यो वर्षिष्यति इति पर्यन्तं पूर्ववत् । यो मेघो भरते वर्षे वृक्षा गुच्छा गुल्मा लता वल्ल्यः तृणानि प्रतीतानि पर्वजा इक्ष्वादयः हरितानि दूर्वादीनि औषधयः शाल्यादयः प्रवाला पल्लवाः अङ्कुराः शाल्यादिबीजसूचयः इत्यादीन् तृणवनस्पतिकायिकान् बादरवनस्पतिकायिकान् जनयिष्यतीति । अथ पञ्चममेघस्वरूपवक्तव्यमाह "तंसि च णमित्यादि" व्यक्तं परं रसजनको मेघो रसमेघः यो रसमेघस्तेषाममृतमेघोत्पन्नानां बहूनां वृक्षाद्यङ्कुरान्तानां वनस्पतीनां तिक्तो निम्बादिगतः कटुको मरिचादिगतः कषायो बिभीतकामलकादिगतः अम्लोऽम्लकाद्याश्रितः मधुरः शर्कराद्याश्रितः एतान् पञ्चविधान् रसविशेषान् जनयिष्यति । लवणरसस्य मधुरादिसंसर्गत्वादेतद्भेदेन विवक्षणात् संभाव्यते तत्र तत्र माधुर्यादिसंसर्गः सर्वरसानां लवणप्रक्षेप एव स्वादुत्वोत्पत्तेः तेन पृथग् निर्देशः ॥ एषां च पञ्चानां मेघानां क्रमेणेदं प्रयोजनसूत्रमुक्तमपि स्पष्टीकरणाय पुनर्लिख्यते । आद्यस्य भरतभूमेर्दाहोपशमः द्वितीयस्य तस्या एव शुभवर्णगन्धादिजनकत्वं तृतीयस्य तस्या एव स्निग्धताजनकत्वम् । न चात्र क्षीरमेघेनैव शुभवर्णगन्धरसस्पर्शसंपत्तौ भूमिस्निग्धतासंपत्तिरिति वाच्यं स्निग्धताधिक्यसंपादकत्वात्तस्य न हि यादृशी घृते स्निग्धता तादृशी क्षीरे दृश्यत इत्यनुभव एवात्र साक्षी । चतुर्थस्य तस्यां वनस्पतिजनकत्वं पञ्चमस्य वनस्पतिषु स्वस्वयोग्यरसविशेषजनकत्वं यद्यप्यमृतमेघतो वनस्पतिसंभवे वर्णादिसंपत्तौ तत्सहचारित्वात् रसस्य संपत्तिस्तस्मादेव युक्तिमती तथाऽपि स्वस्वयोग्यरसविशेषान् संपादयितुं रसमेघ एव प्रभुरिति तदा च यादृशं भरतं तादृशं तथा चाह । 'तए णं भरहे वासे' इत्यादि तत उक्तस्वरूपपञ्चमेघवर्षणानन्तरं णमिति पूर्ववत् । भरतं वर्षं भविष्यति कीदृशमित्याह । प्ररूढा रूढा वृक्षा गुच्छा गुल्मा लता वल्ल्यस्तृणानि पर्वजा हरितौषधयश्च यत्र तत्तथा । अत्र समासे कप्रत्ययः एतेन वनस्पतिसत्ताऽभिहिता । उपचितानि पुष्टिमुपगतानि त्वक्पत्रप्रवालपल्लवाङ्कुरपुष्पफलानि समुदितानि सम्यक् प्रकारेण उदयं प्राप्तानि यत्र तत्तथा क्तान्तस्य परनिपातः प्राकृतत्वात् । एतेन वनस्पतिषु पुष्पफलान्ता रीतिर्दर्शिता । अत एव सुखोपभोग्यं सुखेनासेवनीयं भविष्यति अत्र वाक्यान्तरयोजनार्थमुपात्तस्य भविष्यति पदस्य न पौनरुक्त्यं भावनीयमिति ।

अथ तत्कालीना मनुजास्तादृशं भरतं
दृष्ट्वा यत् करिष्यन्ति तदाह ।

तए णं ते मणुआ भरहं वासं परूढरुक्खगुच्छगुम्मलयवल्लितणपव्वयहरिअओसहीअं उवचिअतयपत्तपवालपल्लवं-कुरपुप्फफलसमुइअं सुहोवभोगं जायं चावि पासिहिंति पासित्ता बिलेहिंतो णिद्धाइस्संति णिद्धाइत्ता हट्ठतुट्ठा अन्नमन्नं सद्दाविस्संति सद्दाविस्संतित्ता एवं वदिस्संति जातं णं देवाणुप्पिआ भरहे वासे परूढरुक्खगुच्छगुम्मलयवल्लितणपव्वयहरिअ जाव सुहोवभोगं जेणं देवाणुप्पिया अम्हं केइ अज्जप्पभिई असुभं कुणिमं आहारिस्सइ से णं अणेगाहिं छायाहिं वज्जणिज्जे तिकट्टु संठिइं ठवेस्संति ठवेस्संतित्ता भरहे वासे सुहं सुहेण अभिरममाणा अभिरममाणा विहरिस्संति ॥

'तएणमित्यादि' ततस्ते मनुजा भरतवर्षं यावत् सुखोपभोग्यं चापि द्रक्ष्यन्ति दृष्ट्वा विलोक्य निर्द्धाविष्यन्ति निर्गमिष्यन्ति निर्धाव्य दृष्ट्वा आनन्दितास्तुष्टाः सन्तोषमुपगताः पश्चात्कर्मधारयः । अन्योन्यं शब्दायिष्यन्ति शब्दायित्वा च एवं वदिष्यन्तीति । अथ ते किं वदिष्यन्तीत्याह । "जातं णमित्यादि" जातं भो ! देवानुप्रिया ! भरतं वर्षं प्ररूढवृक्षं यावत्सुखोपभोग्यं तस्माद्भो ! देवानुप्रिया ! अस्माकमस्मज्जातीयानां कश्चिदद्य प्रभृति अशुभं कुणिमं मांसमाहारमाहारयिष्यति स पुरुषोऽनेकाभिश्छायाभिः इत्थं भावे तृतीया सहभोजनादिपङ्क्तिनिषण्णा याश्छायाः शरीरसंबन्धिन्यस्ताभिर्वर्जनीयः । अयमर्थः आस्तां तेषामस्पृश्यानां शरीरस्पर्शः तच्छरीरच्छायास्पर्शोऽपि वर्जनीयः क्वचिद् 'वज्जे' इति सूत्रपाठे तु वर्ज्यो वर्जनीय इत्यर्थ इति कृत्वा संस्थितिं मर्यादां स्थापयिष्यन्ति स्थापयित्वा च भरतवर्षे सुखं सुखेनाभिरममाणा अभिरममाणा सुखेन क्रीडन्तः क्रीडन्तो विहरिष्यन्ति प्रवर्तिष्यन्त इति ॥

अथ भरतभूमिस्वरूपं पृच्छति ।

से णं भंते ! समाए भरहस्स वासस्स केरिसए आयारभावपडोआरे भविस्सइ गोयमा ! बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे भविस्सइ जाव कत्तिमेहिं चेव अकत्तिमेहिं चेव । तेसि णं भंते ! समाए मणुआणं केरिसए आयारभावपडोआरे भविस्सइ गोअमा ! तेसि णं मणुआणं छव्विहे संघयणे छव्विहे संठाणे बहूईओ रयणीओ उद्धं उच्चत्तेणं जहण्णेणं अंतो मुहुत्तं उक्कोसेणं साइरेगं वाससयं आउअं पालेहिंति पालेहितित्ता अप्पेगइआ णिरयगामी जाव अप्पेगइआ देवगामी ण सिज्झंति ।

'तीसे णमित्यादि' सर्वं पूर्ववत् ननु कृत्रिममण्यादिकरणं तदातीनमनुजानामसंभवि शिल्पोपदेशकाचार्याभावादुच्यते द्वितीयारे पुरादिनिवेशराजनीतिव्यवहारादिकृज्जातिस्मारकादि पुरुषविशेषद्वारा वा क्षेत्राधिष्ठायकदेवप्रयोगेण वा कालानुभावजनितनैपुण्येन वा तस्य सुसंभवत्वात् कथमन्यथाऽत्रैव ग्रन्थे प्रस्तुतारकमाश्रित्य पुष्करसंवर्तकादिपञ्चमहामेघवृष्ट्यनन्तरं वृक्षादिभिरौषध्यादिभिश्च भारायां संजातायां भरतभूम्यां तत्कालीनमनुजा बिलेभ्यो निर्गत्य मांसादिभक्षणनियममर्यादां विधास्यन्ति तल्लोपकं च पङ्क्तिबहिः करिष्यन्तीत्यर्थाभिधायकं प्रागुक्तं सूत्रं संगच्छत इति । अथ मनुजस्वरूपमाह । 'तीसेणमित्यादि' सर्वं अवसर्पिणीदुष्षमारकमनुजस्वरूपवद्भावनीयं नवरं (सिज्झंति) सकलकर्मक्षयलक्षणां सिद्धिं न प्राप्नुवन्ति चरणधर्माभावत्वात् । अत्र भविष्यन्निर्देशप्रामेऽवर्तमाननिर्देशः प्र-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वैयुक्तिः समभियेयः इत्युत्सर्पिण्यां द्वितीयारके "तीसे णं समाए एक्कवीसाए वास इत्यादि" तस्यां समायां दुष्षमानाम्न्यामेकविंशत्या वर्षसहस्रैः काले व्यतिक्रान्ते अनन्तैर्वर्णपर्यवैर्यावत् परिवर्द्धमानः । अत्रावसरे दुष्षमसुषमा नाम्ना समः कालः उत्सर्पिणीतृतीयारकः प्रतिपत्स्यते हे श्रमणेत्यादि प्राग्वत् । तीसेणमित्यादि सर्वं प्राग्वत् । अवसर्पिणीचतुर्थारकसदृशत्वमुत्सर्पिणीतृतीयारकस्येति तत् सादृश्यं प्रकटयन्नाह । तीसेणमित्यादि प्रायः प्राग्व्याख्यातार्थम् । तीर्थकरास्त्रयोविंशतिः पद्मनाभादयश्चतुर्विंशतिमस्य भद्रकृन्नाम्नश्चतुर्थारके उत्पत्स्यमानत्वात् एकादश चक्रवर्तिनो भरतादयो वीरचरित्रे तु दीर्घदन्तादयः द्वादशस्यारिष्टनाम्नश्चतुर्थारके एव भाविवात् । नव बलदेवा जयन्तादयः नव वासुदेवा आनन्दादयः समुत्पत्स्यन्ते यत्तु तिलकादयः प्रतिविष्णवो वा नेहोक्तास्तत्र पूर्वोक्त एव हेतुरवसातव्यः । गतस्तृतीयार उत्सर्पिण्याः ॥

अथ चतुर्थः ।

तीसे णं समाए एक्कवीसाए वाससहस्से काले वीइक्कंते अणंतेहिं वण्णपज्जवेहिं जाव परिवड्ढमाणे परिवड्ढमाणे एत्थ णं दुस्समसुसमा णामं समा काले पडिवज्जिस्सइ समणाउसो । तीसे णं भंते ! समाए भरहस्स वासस्स केरिसए आयारभावपडोआरे भविस्सइ गोअमा ! बहुसमरमणिज्जे जाव अकत्तिमेहिं चेव तेसि णं भंते ! मणुआणं केरिसए आयारभावपडोयारे भविस्सइ गोअमा तेसि णं मणुआणं छव्विहे संघयणे छव्विहे संठाणे बहूइं धणूहिं उड्ढं उच्चत्तेणं जहणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं पुव्वकोडीआउं अयालिहिंति अयालिहिंतित्ता अप्पेगइआ णिरयगामी जाव अंतं करेहिंति । तीसे णं समाए तओ वंसा समुप्पज्जिस्संति तं जहा तित्थगरवंसे चक्कवट्टिवंसे दसारवंसे । तीसे णं समाए तेवीसं तित्थगरा एक्कारस चक्कवट्टी णव बलदेवा णव वासुदेवा समुप्पज्जिस्संति ॥

'तीसे णमित्यादि' तस्यां समायां सागरोपमकोटाकोट्या द्विचत्वारिंशता वर्षसहस्रैरनियता कालव्यतिक्रान्ते अनन्तैर्वर्णपर्यवैर्यावद्वर्द्धमानोऽत्र प्रस्तावे सुषमदुष्षमा नाम्ना समः कालः उत्सर्पिणीचतुर्थारकलक्षणः प्रतिपत्स्यते ।

अथ पञ्चमषष्ठावतिदेशत आह ।

तीसे णं समाए सागरोवमकोडीए वा पालीसाए वाससहस्सेहिं ऊणिआए काले वीइक्कंता अणंतेहिं वण्णपज्जवेहिं जाव अणंतगुणपरिवुड्ढीए परिवुड्ढमाणे परिवुड्ढमाणे एत्थ णं सुसमदूसमा णामं समा काले पडिवज्जिस्सइ समणाउसो । सा णं समा तिहा विभज्जिस्सइ पढमे तिभागे मज्झिमे तिभागे पच्छिमे तिभागे । तीसे णं भंते ! समाए पढमे तिभाए भरहस्स वासस्स केरिसए आयारभावपडोआरे भविस्सइ गोयमा ! बहुसमरमणिज्जे जाव भविस्सइ । मणुआणं जाव उसप्पिणीए पच्छिमे तिभागे वत्तव्वया सा भाणिअव्वा कुलगरवज्जा उसभसामिवज्जा । अण्णे पढंति तीसे णं समाए पढमे तिभाए इमे पणारस कुलगरा समुप्पज्जिस्संति तं जहा सुमई जाव उसभे सेसं तं चेव दंडणीइओ पडिलोमाओ णेअव्वाओ । तीसे णं समाए पढमे तिभाए रायधम्मे जाव धम्मचरणे अ वोच्छिज्जिस्सइ । तीसे णं समाए मज्झिमपच्छिमेसु तिभागेसु जाव पढममज्झिमेसु वत्तव्वया उसप्पिणी एसा भाणिअव्वा सुसमा तहेव सुसमसुसमा वि तहेव जाव छव्विहा मणुस्सा अणुसज्जिस्संति जाव सणिचारी ॥

सुषमा पञ्चमकालक्षणः कालस्तथैवाऽवसर्पिणीद्वितीयारकवदिति । सुषमसुषमा षष्ठारकः सोऽपि तथैव अवसर्पिणीप्रथमारकसदृश इत्यर्थः । कियत्पर्यन्तमत्र ज्ञेयमित्याह यावत् षड्विधा मनुष्या अनुसंदधन्ति संतत्या अनुवर्तिष्यन्ते यावच्छनैश्चारिणः । यावत् पदात् पद्मगन्धादयः पूर्वोक्ता अत्र ग्राह्याः गतौ पञ्चमषष्ठौ तद्गमने चोत्सर्पिणी गता तस्यां च गतायामवसर्पिण्युत्सर्पिणीरूपं कालचक्रमपि गतम् जं० २ वक्ष० ।

एवं उड्ढे अरए उस्सप्पिणीए समत्ते वि पढमे अरए एआ चेव वत्तव्वया तम्मि बोलीणे बीयारयपारंभे मत्ताइं पंचमहाजारहे वासे वासिस्संति कमेणं तं जहा पढमो पुक्खरावत्तो तावं निव्वावेहिइ बीओ खीरोदो वण्णकारी तइओ घओदओ नेहकारओ चउत्थो अभिओदओ ओसहिकरो पंचमो रसोदओ भूमीए सस्सजणणो तेय विलवासिणो पइसमयं वड्ढमाणसरीराउ पुढइविसुइं दडूण विलेहिंतो निस्सरंति धन्नं फलाइं भुंजंता मंसाहारं निवारइस्संति तओ मज्झदोससुत्तकुलगरा भविस्संति तत्थ पढमो विमलवाहणो बीओ सुदामो तइओ संगओ चउत्थो सुपासो पंचमो दत्तो छट्ठो सुमुहो सत्तमो सम्मुची जाइसमरणेणं विमलवाहणेणं विमलवाहणो नगराइं निवेसं काहीं अग्गिम्मि उप्पन्ने अन्नं पाणगं सिप्पाइं कलाउ लोगववहारं च सव्वं पवत्तेहि तइओ गुणनवइपक्खसमज्झिए हिए उस्सप्पिणीअरयदुगे वइक्कंते पुंडवद्धणदेसे सयदारे पुरे संमुइनरवइणे भद्दाए देवीए चउद्दसमहासुमिणसूइओ सेणियरायजीवो रयणप्पभाए लोलुयच्चयपच्चुडाओ चुलसीइं वाससहस्साइं आउं पालित्ता उव्वट्टो समाणो कुच्छिंसि पुत्तत्ताए उववज्जिहिइ वासुप्पमाणलंछणआउणिगब्भावहारवज्जं पंचकल्लाणयाणं मासतिहिं नक्खत्ताणि जहा मम तहेव भविस्संति नवरं नामेणं पउमनाहो देवसेणो विमलवाहणो अ । तओ बीयतित्थयरो सुपासजीवो सूरदेवो तइओ उदाइजीवो सुपासो चउत्थो पोट्टिलजीवो सयंपभो पंचमो दयओजीवाओ सव्वाणुभूई छट्ठो कित्तियजीवो देवसुओ सत्तमो संखजीवोदयो अट्ठमो आणंदजीवो पेढालो नवमो सुनंदा जीवो पोट्टिलो दसमो सयगजीवो सयकित्ती एक्कारसमो देवइजीवो मुणिसुव्वओ बारसमो कसजीवो अममा ते-

रसमो सव्वइजीवो निकसाओ चउद्दसमो बलदेवजीवो निप्पुलाओ पन्नरसो सुलसाजीवो निम्ममो सोलसमो रोहणीजीवो चित्तगुत्तो केइ पुण भणंति कक्किपुत्तो दत्त-मानो पन्नरसउत्ति उत्तरे विक्कमवरिसे सेत्तुंजे उद्धारं कारित्ता जिणभवणमंडियं च वसुहं काउं अजियतित्थयरनामो सग्गं गंतुं चित्तगुत्तो नाम जिणवरो होहिंति । इत्थ य बहुस्सुअसंसयं पमाणं सत्तरसो रेवइजीवो समाही अट्ठारसो सयालिजीवो संवरो एगूणवीसो दीवायणजीवो जसोहरो वीसइमो कण्हजीवो विजओ एकवीसो नारयजीवो मल्लो वावीसयमो अंबडजीवो देवो तेवीसयमो अमरजीवो अणंतवीरिओ चउवीसयमो सायं बुद्धजीवो भद्दकरो अंतरालाइं पच्छाणुपुव्वीए जहा वद्धमाणजिणाणं जाविचक्कवट्टिणो दुवालस होहिंति तं जहा दीहदंतो १ गूढदंतो २ सिरिचंदो ३ सिरिभूई ४ सिरिसोमो ५ पउमो ६ नायगो ७ महापउमो ८ विमलो ९ अमलवाहणो १० विलो ११ अरिट्ठो १२ अ । नव भाविवासुदेवा तं जहा नन्दो १ नन्दिमित्तो २ सुन्दरबाहुः ३ महाबाहू ४ अइबलो ५ महाबलो ६ बलभद्दो ७ दुविट्ठो ८ तिविट्ठो ९ ९ । नव जाविपडिवासुदेवा जहा तिलओ १ लोहजंघो २ वइरजंघो ३ केसरी ४ बली ५ पहाए ६ अपराजिओ ७ भीमो ८ सुग्गीवो ९ नव जाविबलदेवा तं जहा जयंतो १ अजिओ २ धम्मो ३ सुप्पभो ४ सुदंसणो ५ आणंदो ६ नंदणो ७ पउमो ८ संकरिसणो ९ य । इगसट्ठीसलागा पुरिसा उस्सप्पिणीए तइए अरए जाविस्संति अपच्छिम जणचक्कवट्टिणो जहाखिच्चलत्ये अरए होहिंति तओ दसमगाई कप्परुक्खा उप्पिं जहिं ति अट्ठारसकोडाकोडीओ सागरोवमाणं निरंतरं जुगलधम्मो भविस्सइत्ति ३१ ती० ।

एगमगाए उसप्पिणीए पढमबीयाओ समाओ बायालीसं वाससहस्साइं कालेणं पन्नत्ता ॥

(पढमबीयाउत्ति) एकान्तदुष्षमा दुःषमा चेति ॥४२॥ त्रिचत्वारिंशत्स्थानकेऽपि किंचिल्लिख्यते [कम्मविवागज्झयणाणि] कर्मणः पुण्यपापात्मकस्य विपाकस्य फलं तत्प्रतिपादकान्यध्ययनानि कर्मविपाकाध्ययनानि एतानि च एकादशाङ्गद्वितीयाङ्गयोः सम्भाव्यन्त इति"जंबूदीवस्सणमित्यादि" जम्बूद्वीपपौरस्त्यान्ताद्गोस्तुनपर्वतो द्विचत्वारिंशद्योजनानां सहस्राणि तद्विष्कम्भश्च सहस्रं तदधिकाया हाविंशतेरल्पत्वेनाविवक्षणादेवं त्रिचत्वारिंशत्सहस्राणि भवन्तीति एवं [चउद्दिसिंपित्ति] चतुर्दिगन्तर्भावेन चतस्रो दिश उक्ता अन्यथा एवं (तिद्दिसिंपित्ति) वाच्यं स्यात् तत्र वैवमालापाः"जंबूद्दीवस्स णं दीवस्स दाहिणिल्लाओ वेइअंताओ लवणस्स णं समुद्दस्स दाहिणिल्ले चरिमंते दगसीमे णं पव्वए तेयालीसं जोयणसहस्साइं अबाहाए अंतरे पन्नत्ते" एवमन्यत्सूत्रद्वयं नवरं पश्चिमायां संखा आवासपर्वत उत्तरस्यामुदकसीम इति ॥४३॥ चतुश्चत्वारिंशत्स्थानकेऽपि किंचिल्लिख्यते चतुश्चत्वारिंशत

(इसिभासियत्ति) ऋषिभाषिताध्ययनानि कालिकश्रुतविशेषभूतानि (दियालोयचुयाभासियत्ति) देवलोकच्युतैः ऋषीभूतैराभाषितानि देवलोकच्युताभासितानि । क्वचित्पाठः देवलोयचुयाणं बायालीसं इसिभासियज्झयणा पन्नत्ता (पुरिसजुगाइंति) पुरुषाः शिष्यप्रशिष्यादिक्रमव्यवस्थिता युगानीव कालविशेषा इव क्रमसाधर्म्यात्पुरुषयुगानि (अणुपिट्ठित्ति) आनुपूर्व्या (अणुबंधंति) पाठान्तरे तृतीयादर्शनादनुबन्धेन सातत्येन सिद्धानि जानंति करणेन बुद्धाइं सव्वदुक्खप्पहीणा इति द्वयम् । स० टी० समवायाङ्के प्रतिवासुदेवेषु बलीस्थाने महाभीम इति ।

अहवा तिविहा उस्सप्पिणी पन्नत्ता तं जहा उक्कोसा मज्झिमा जहन्ना एवं छप्पि य समाओ भाणियव्वाओ जाव दुसमदुसमा तिविहा उस्सप्पिणी पन्नत्ता तं जहा उक्कोसा मज्झिमा जहन्ना । एवं छप्पि य समाओ भाणियव्वाओ जाव सुसमसुसमा ॥

उत्सर्पिण्यां दुष्षमदुष्षमादि तद्भेदानां चोक्तविपर्य्ययेणोत्कृष्टत्वं योज्यमिति । षष्ठेऽरके चस्त्कृष्टा चतुर्षु मध्यमा प्रथमे जघन्या ॥ स्था० ३ ठा० १ उ० ।

उस्सप्पिणीगंडिया–उत्सर्पिणीगण्डिका– स्त्री० उत्सर्पिणीविषयैकवक्तव्यतार्थाधिकारानुगतायां गण्डिकायाम्, स० ॥

उस्सप्पिणीसमय–उत्सर्पिणीसमय– पुं० उत्सर्पिणीशब्देनावसर्पिण्युपलक्ष्यते दिनग्रहणेन रात्र्युपलक्षणवत् तयोः समयाः परमनिकृष्टाः कालविशेषाः उत्सर्पिणीसमयाः । अवसर्पिण्युत्सर्पिण्योः समयेषु, कर्म० ॥

उस्सय–उच्छ्रय– पुं० शरीरे, आचा० ५ अ० । स्वभावोन्नतत्वे तद्रूपे पञ्चचत्वारिंशत्तमे गौणाहिंसाऽहिंसेऽर्थे, प्रश्न० २ श्रु० १ अ० । ज्योतिषाङ्के, " उच्छ्रायेण गुणितं चितेः फलम्" वाच० ।

उस्सयण–उच्छ्राय– पुं० यस्मिन्सति ऊर्ध्वं श्रयति जात्यादिना दर्पाध्मातः पुरुष उत्तानी भवति स उच्छ्रायः । माने, " थंडिलुस्सयणाणि य " जात्यादीनामेतत्स्थानानां बहुत्वात् तत्कार्यस्यापि मानस्य बहुत्वमतो बहुवचनम् । छान्दसत्वान्नपुंसकलिङ्गता । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ॥

उस्सव–उत्सव– पुं० उद्-सू-अप् । आनन्दजनकव्यापारे, शक्रोत्सवादौ, प्रश्न० २ श्रु० ५ द्वा० । इन्द्रमहादौ, आ० चू० १ अ० ॥

उस्सविय–उच्छ्राय्य– अव्य० ऊर्ध्वं व्यवस्थाप्येत्यर्थे, " अवहट्टु उस्सविय दुरहेज्जा " आचा० २ श्रु० १ अ० । " आमंतिय उस्सविय भिक्खु आयसा निमंतंति " संस्थाप्योच्चावचैर्विभ्रमजनकैरालापैर्विश्रम्भे पातयित्वा सूत्र० १ श्रु० ४ अ० ॥

उस्ससिय–उच्छ्वसित– त्रि० उच्छ्वसिते, उत्त० २० अ० ॥

उस्ससियरोमकूव–उच्छ्वसितरोमकूप– पुं० साधोर्दर्शनाद् बाष्पश्रवणाद्उच्छ्वसितरोमकूपे, उत्त० २० अ० ॥

उस्ससेज्जमाण–उच्छ्वस्यमान– त्रि० उच्छ्वसिते क्रियमाणे " उच्छ्वस्ससेज्जमाणे वा अच्छिन्ने पुमाक्षे चट्टेज्जा " उच्छ्वस्यमान उच्छ्वासवायुपूरकः " स्था० १० ठा० ॥

उस्सा–अवश्याय– पुं० कृपाजले, (स्था० ४ ठा०) यो गगनात्पतति । कल्प० । धेनुपर्याये, देशी० ॥

उस्सायचारण–अवश्यायचारण– पुं० अवश्यायमवष्टभ्यात्काय-

ओघपौरुषमजनयति गतिमसकृत् कुर्वाणे चारणभेदे, प्रव. ६० द्वा. ।
उस्सारकप्प–उत्सारकल्प– पुं० यत्रैकस्मिन् दिने बहुदिवसयोग्यसूत्रस्य वाचना दीयते तस्मिन्, आ० चू० १ अ० ॥

उत्सारकल्पस्य दोषादिवक्तव्यता । अथानुषङ्गिकमुत्सारकल्पिकद्वारमभिधित्सुः प्रस्तावनामाह ॥

चोयगपुच्छा उस्सार–कप्पिओ नत्थि तस्स किह नामं ।
उस्सारे चउगुरुगा, तत्थ वि आणाइणो दोसा ॥

कल्पिकद्वारे व्याख्याते सति लब्धावकाशो नोदकः पृच्छां करोति भगवन्नमीषां कल्पिकानां मध्ये किमित्युत्सारकल्पिको नाभ्यधत्त । सूरिराह नास्त्युत्सारकल्पिक इति । भूयोऽपि परः प्राह । यद्युत्सारकल्पिको नास्ति ततः कथं तस्य नाम श्रूयते गुरुराह यद्यप्युत्सारकल्पो नास्त्याख्यायते तथाऽपि न कल्पते उत्सारयितुं यद्युत्सारयति तदा चत्वारो गुरुकास्तत्राप्याज्ञादयो दोषा द्रष्टव्याः । तानेवाह ।

आणाणवत्थमिच्छा–विराहणा संजमे य जोगे य ।
अप्पा परो पवयणं, जीवनिकाया परिच्चत्ता ॥

आज्ञा भगवतां तीर्थकृतामुत्सारकल्पकृता न कृता भवति तमाचार्यमुत्सारयन्तं दृष्ट्वा अन्येऽप्याचार्या उत्सारयिष्यन्ति मदीया अन्यदीया वा शिष्या विवक्षितशिष्यस्पर्द्धानुबन्धादुत्सारयिष्यन्ति वेत्यनवस्था । मिथ्यात्वं वा प्रतिपन्ना अभिनवधर्माणः सत्वा व्रजेयुः । विराधना संयमे च संयमविषया योगे च योगविषया भवति । तथा तेनोत्सारकेण आत्मा स्वजीवः पर उत्सारकल्पविषयः शिष्यः प्रवचनं तीर्थं जीवनिकायाः पृथिव्यादयः एतानि परित्यक्तानि भवन्तीति द्वारगाथासमासार्थः । सांप्रतमेनामेव विवरीषुः राज्ञाऽनवस्थे क्षुल्लकवादनादस्य मिथ्यात्वं दर्शयितुं दृष्टान्तमाह ।

पुव्वगलियउस्सार–वायए आगए पडिमिलिंति ।
पडिलेहपुग्गलिं दि य, बहुजणओजाजणा तित्थे ॥

तत्र तावत्प्रथमं कथानकमुच्यते । इह पुरा केचिदाचार्याः पूर्वान्तर्गतसूत्रार्थधारकतया लब्धवाचकनामधेयाः सर्वज्ञशासनसरसीरुहविकाशनैकसहस्ररश्मयः प्रावृषेण्यपयोमुच इव सरसदेशनाधाराप्रनिपाते महीमण्डलमेकार्णवधर्मैकमाधाना गन्धहस्तिन इव कलयूथेन सातिशयगुणवता निजशिष्यवर्गेण परिकलिता एकं कंचिद्ग्राममुपागमन् । तत्र चाधिगतजीवाजीवादिविशेषणविशिष्टा बहवः श्रमणोपासकाः परिवसन्ति । ते च गुरूणामागमनमाकर्ण्य प्रमोदमेदुरमानसाः स्वस्वपरिवारपरिवृताः सर्वेऽप्यागम्य तदीयं पादारविन्दमभिवन्द्य योजितकरकुड्मला यथावत्पुरतः आसाञ्चक्रिरे । ततः सूरिभिरपि रचिता यथोचिता धर्मदेशना । तदाकर्णनेन संजातसंवेगसुधासिन्धौ नान्तरमलः सकलोऽपि श्रावकलोको गतः परमपरितोषपरवशः सूरीणां गुणग्रामोपवर्णनं कुर्वन् स्वं स्वं स्थानम्, तैश्च वाचकनभोमणिभिस्तत्रायातैः प्रतिहतः खद्योतपोतकल्पानामन्ययूथिनां प्रज्ञाप्रसरः । ततो न शक्नुवन्ति तेऽन्ययूथिका आचार्याणां व्याख्यानादिभिर्गुणैर्जायमानं निरुपमानं महिमानं द्रष्टुमिति संभूय सर्वेऽप्युपमाचार्यं वादे पराजित्य तृणादपि लघूकरिष्याम इत्येकवाक्यतया चेतसि व्यवस्थाप्य समाजग्मुः सूरीणामन्तिकम् । सूरिभिरपि निष्प्रतिमप्रतिभाप्राग्भारमतनववादलब्धिसंपन्नैर्निपुणहेतुदृष्टान्तोपन्यासपुरस्सरं मध्ये विद्वज्जनसभं कृतास्ते निष्पृष्टप्रश्नव्याकरणाः । ततः समुच्छलितः पारमेश्वरप्रवचनगोचरः कीर्तिकोलाहलः प्रादुर्भूतः परतीर्थिकानामपि परमः पराभवः निमग्नः प्रमोदपीयूषपयोनिधावस्तोकः श्रमणोपासकलोकः संपादिता सपदि विशेषतस्तेन महती तीर्थस्य प्रभावना । ततस्ते वाचकाः कियन्तमपि कालमलङ्कृतं ग्रामं प्रबोध्य मिथ्यात्वनिद्राविद्रावणचैतन्यं भव्यजन्तुजातमन्यत्र कुत्राऽपि व्यहार्षुः तेषु च दिनकरवदन्यत्र प्रतापसहमोमुद्वहमानेषु परतीर्थिका उलूका इवासप्रसरतया घोरघूत्कारकल्पं प्रवचनावर्णवादं कर्तुमारब्धाः । वदन्ति च श्रावकान् प्रति भोः श्वेताम्बरोपासकाः ! यद्यस्ति भवतां कोऽपि कण्ठमूलमुखो वादी स प्रयच्छतु सांप्रतमस्माकं वादमिति । श्रावकैरुक्तम् । अहो विस्मृतमधुनैव भवतां भवान्तरानुभूतमिव तस्मादशमवश्यानमपि लाघवं यदेवमनात्मज्ञा असमञ्जसं प्रलपत भवत्वेवं तथाऽप्यायान्तु तावत्केचिद्वाचका वा गणिनो वा पश्चाच्च भणिष्यन्ति भवन्तः तत्करिष्याम इति । अथैकदा कदाचिन्निजपाण्डित्यातिमानेन तु भुवनमपि तृणवन्मन्यमानस्तुमुलतारकण्ठस्वरेण वाचस्पतिमपि मूकमाकल्पयन् समागतः कतिपयशिष्यकलितः औत्सारकल्पिकवाचकः । ततः प्रमुदिताः श्रावकाः गताः अन्ययूथिकानामभ्यर्णे निवेदितं तत्पुरतः युष्माभिस्तदानीमस्माकं समीपे वादः प्रार्थित आसीत् । अस्माभिश्च भणितमभूत् यदा वाचका अत्रागमिष्यन्ति तदा सर्वमपि युष्मदभिप्रेतं विधास्याम इति तदिदानीमागताः सन्ति वाचकाः कुरुत तैः सह वादगोष्ठीं पूरयत स्वप्रतिज्ञामित्यभिधाय गताः श्रावकाः स्वस्वस्थानम् । तैश्चान्ययूथिकैः प्राचीनपराजयप्रभवभयभ्रान्तैरेकः प्रच्छन्नवेषधारी प्रत्युपेक्षकः किं सहृदयः शास्त्रपरिकर्मितमतिर्वाग्मी वाचकः किं वा नेति ज्ञानाय प्रेषितः स चागम्योत्सारकल्पिकवाचकं प्रश्नयति परमाणुपुद्गलस्य कतीन्द्रियाणि भवन्तीति ततः स एवं पृष्टः सन् किंचिन्मात्रपरिचरितप्राहितया यथोक्तार्थप्रभिचारिविचारबहिर्भूतत्वात् चिन्तयति यः परमाणुपुद्गलः एकस्माल्लोकचरमान्तादपरं लोकचरमान्तमेकेनैव समयेन गच्छति स निश्चितं पञ्चेन्द्रियः कुतोऽन्यस्यैवंविधा गमनार्थलब्धिरित्यभिसन्धाय प्रतिवचनमभिधत्ते भद्र ! परमाणुपुद्गलस्य पञ्चापीन्द्रियाणि भवन्ति तत एवंविधं निर्वचनमवधार्य स पुरुषः प्रत्यावृत्य गतः अन्ययूथिकानां संनिधौ कथितं सर्वमपि स्वरूपं तदग्रतस्ततः चिन्तितं स्वचेतसि तैर्नूनमयं शारदवारिद इव बहिरेव केवलं गर्जति अन्तस्तुच्छ एवेति विमृश्य समागतः संभूय भूयांसं लोकमीलं कृत्वा वाचकान्तिकं क्षुभितोऽसौ स्वतुच्छतया तावन्तं समुदायमवलोक्य सञ्जातः स्वेदबिन्दुसुर्वाकितशरीरः आक्षिप्तः साटोपमन्यतीर्थिको आहितो यथाऽभिमतं पक्षविशेषं न शक्नोति निर्वोढुं प्रगल्भितो दुस्तराणि प्रश्नोत्तराणि न जानीते लेशतोऽपि प्रतिवक्तुं ततः कृतो मिथ्यादृष्टिभिर्जितं जितमस्माभिरित्युत्कृष्टकलकलः प्रादुर्भूतं प्रवचनमालिन्यं मुकुलितानि श्रमणोपासकवदनकमलानि विप्रतिपन्ना यथा भद्रकादय इति । अथ गाथाक्षरार्थः पूर्वं केश्चिद्वाचकैरन्ययूथिका (गलिअत्ति) मानमर्दनेन गर्दितस्तत उत्सारवाचके आगते सति प्रतिमर्दयन्ति प्रत्यापृच्छ्या मानमर्दनं कुर्वन्ति कथमित्याह " पडिलेह " इत्यादि तैरन्यतीर्थिकैः प्रत्युपेक्षकः पुरुषः प्रेषितस्ततः स आगत्य पृष्टवान् पुद्गलस्य परमाणोः कतीन्द्रियाणि तेन प्रत्युक्तं पञ्चेति । ततस्तैर्बहुजनमध्ये स वाचको वादे निरुत्तरीकृतः एवमपभ्राजना लाघवं तीर्थस्य प्र-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वति तत्र चारित्रवधर्मणां चेतसि विकल्प उपजायते यदि नाम वाचकोऽप्येनं न शक्नोति निर्वचनमर्पयितुं तन्नूनमेतेषां तीर्थकरैरेव न सम्यग्वस्तुतत्त्वं परिज्ञातमन्यथा कथमेष एवंविधे अर्थ व्यामुह्यते इति विपरिणामतो मिथ्यात्वगमनं भवेत् । भावितं मिथ्यात्वद्वारम् ।

अथ संयमविराधनां भावयति ।

जीवाजीवे न मुणइ, अलियभया कहेइ दगमिगाई ।
करणे अविवचासं, करेइ आगाढणागाढे ॥

जीवाश्चाजीवाश्च जीवाजीवास्तानसौ वाचनामात्ररूपेणोत्सारकल्पेनानुयोगमवगाह्यमानो विविक्तेन न मुणति न जानीते तत्परिज्ञानाभावाच्च कुतः संयमसद्भावस्तदुक्तं परमर्षिभिः । " जो जीवे वि न याणइ, अजीवे वि न जाणइ । जीवाजीवे अजाणंतो, कह सो नाहिइ संजमं " तथा अलीकमत्यन्तभयादुदकमृगादीन् कथयति किमुक्तं भवति स उत्सारकल्पिकपल्लवमात्रग्राहितया सत्यमेव भाषितव्यं नासत्यमिति कृत्वा उदकार्थिनां नदीतडागादौ पानीयमस्ति नास्ति वेति पृच्छतामलीकं मा भूदिति कृत्वा विद्यते नद्यादौ जलमिति कथयति तथा प्रस्थितानां च व्याधानां इह मृगयूथं न वेति पृच्छतामलीकभयादेव दृष्टमिति प्रयच्छति आदिशब्दात् शूकरादिपरिग्रहः न पुनर्जानीते यथा । " सच्चा वि सा न वत्तव्वा जओ पावस्स आगमो त्ति " ततः स जलगतसूक्ष्मजन्तुजातस्य मृगादीनां वा यद् व्यपरोपणं ते करिष्यन्ति तत्सर्वमुत्सारकल्पकारकः प्राप्नोति । तथा करणे चारित्रे उत्सर्गापवादविधिमजानन् विपर्यासं करोति तद्यथा आगाढे ज्ञानादिकार्ये अनागाढं विधिः कृत्वा परिभ्रमणादिलक्षणमनागाढे वा आगाढं सद्यः प्रतिसेवनात्मकं करोति । एषा सर्वाऽपि संयमविराधना ॥

अथ योगविराधनामाह ।

तुरियं नाहिज्जंते, नेव चिरं जोगजंति ता हेउ ते ।
लद्धो महंतसद्दो त्ति, केई पासाइ गेण्हंति ॥
कमजोगं न विजाणइ, विगईओ का य कत्थ जोगम्मि ।
अण्णस्स वि देंति तहा, परंपरा घंटदिट्ठंतो ॥

अनुज्ञातोऽस्माकं गुरुभिः सकलोऽपि श्रुतस्कन्धः ततः किमनेन पठितेन कार्यमिति कृत्वा ते शिष्यास्त्वरितं शीघ्रं नाधीयन्ते नैव च ते चिरं योगैः श्रुताध्ययननिबन्धनतपोविशेषैः यन्त्रिता नियमिता भवन्ति एकाहेनापि प्रभूतसूत्रार्थं वाचनानुज्ञाप्रदानात् । तथा लब्धोऽस्माभिर्गणिरयं वाचकोऽयमिति महान् शब्दस्ततः कुतो हेतोर्वयमद्याचार्यसन्निधौ निष्फलं तिष्ठाम इति परिभाव्य केचिद्गुरुचरणपर्युपासनापरिभग्नाः पार्श्वानि गृह्णन्ति पार्श्वतो ग्रामेषु यथास्वेच्छं विहरन्तीति भावः [कमजोगमिति] योगक्रमं नापि नैव जानन्ति यथा अस्मिन् योगे एतावन्त्याचाम्लानि इयन्ति निर्विकृतिकानि इत्थं चादुद्देशादयः क्रियन्ते तथा विकृतयः काः कुत्र योगे कल्पन्ते न वेत्येवमपि न जानाति यथा कल्पिकाकल्पिकनिशीथादियोगेषु न विसृज्यन्ते काश्चनापि विकृतयः व्याख्याप्रज्ञप्तियोगेषु पुनरवगाहिमविकृतिर्विसृज्यते दृष्टिवादयोगेषु तु नादकः तथा चाह स एव कल्पाध्ययनस्य चूर्णिकृत् । " जहा कप्पियाकप्पियनिसीहाईणं विगईओ न विसज्जिज्जंति । पन्नत्तीए ओगाहिमगविगई विसज्जिज्जइ दिट्ठीवाए मोदगो त्ति " । निशीथचूर्णिकृत्पुनराह "जोगो दुविहो आगाढो अणागाढो वा आगाढतरा जम्मि जोगे जयणा सो आगाढो यथा भगवतीत्यादि । इतरो अणागाढो यथा उत्तराध्ययनादि । आगाढे ओगाहिमगवज्जाओ नव विगईओ वज्जिज्जंति दसमा य भगवईमहाकप्पसुए एक्को परं मोदकाविगई कप्पइ सेसा आगाढेसु सव्वविगईओ न कप्पंति अणागाढे पुण दस वि विगईओ भइयाओ उ जाओ गुरुअणुण्णाए न कप्पंति त्ति " एवंविधां योगव्यवस्थामजानन् यदाऽसौ विराधयति सा योगविराधना । तथा (अन्नस्स वि दिति तह त्ति) ते उत्सारकल्पिका अन्यस्यापि स्वशिष्यादेः तथा चोत्सारकल्पेनैव वाचनां प्रयच्छन्ति सोऽप्यपरेषां तथैवेत्येवमुत्सारकल्पे प्रवाहतः क्रियमाणे परम्परया सूत्रार्थव्यवच्छेदः प्राप्नोति घण्टादृष्टान्तश्चात्र वक्तव्यः । तमेवोपनययुक्तं गाथात्रयेणाह ।

उच्छुकरणोवकुडुग, एडणं घंटासियालनासणया ।
विगमाई पुच्छपरं-पराए नासंत जा सीहो ॥
परियरिउं सीहेणं, स हओ आसालिया मिगगणा य ।
इय कइ वयाइ जाणइ, पयाण एढालिच्छुगुस्सारी ॥
किं पि त्ति अम्ह उद्धी, पढं तुस्सारणे अवोच्छत्तं ।
गीतामसणखरंटण-पच्छित्तं कारिया चेव ॥

अत्र कथानकम् । एगस्स महावइयस्स उच्छुवाडो बहुसहओ निप्फओ तं सियाला पइसरित्ता खायंति । ताहे सो उच्छुसामी सियालगहणनिमित्तं तस्स उच्छुवाडस्स परिपेरंतेसु चउदिसिं खाइयं खणावेइ तत्थ एगो सियालो पडिओ सो वराओ गिहित्ता कण्णे पुच्छं च कप्पित्ता दीवियचम्मेण वेढित्ता घंटं आबंधित्ता विसज्जिओ नासंतो सियालेहिं दिट्ठो तओ ते सियाला अम्हारिसो त्ति काउं भएण पलाया तो विगेहिं दिट्ठा पुच्छिया किं नासह त्ति तेहिं कहियं अपुव्वं सरेकरेमाणो किं पि अपुव्वं भूयं एत्ति । ते वि भएण पलायंता तरच्छेहिं दिट्ठा पुच्छिया तेहिं कहियं किं पि किर एत्ति सिग्घं नासह ते पलायंता चित्तएहिं दिट्ठा पुच्छिया कहियं किं पि किर एत्ति तुरियं पलायह ते वि पलायंता सीहेण पुच्छिया कहियं तेहिं सीहो चिंतेइ मो पासियव्वेण ओवाहणाओ मुयामि गवेसामि ताव तेण सणियं पडियरियत्ता सियालो चिट्ठओ घंटासियालो कोसि आओ लीकयामो त्ति रोसेणं तेण सियालादयो मिया आसमो भोयइ हओ सो वराओ मए दीवियं चम्मो एसो घंटासीयलो केण वि अवराहेण इत्थं तहा कओ एस दिट्ठंतो । अयमत्थो वसओ जस्स त उस्सारिज्जति सो जावतिएहिं दिवसेहिं जोगो समप्पइ तावति दिवसे कति वयाणं आलावगाणं किंचि पुत्तफासियम्मि खित्ता पच्चत्तं गंतूण गच्छागच्छित्तणं करेंति अन्नेसिं च उस्सारेंति ते वि उस्सारा पत्ता पत्तेयं गच्छपागट्टित्तणेणं ठीइत्ता सिस्साणं पडिच्छयाण य उस्सारकप्पं करेंति । अम्हे किर सुत्तत्थाणं अवोच्छित्ति करेमो तत्थ जो सो पमिल्लुगउस्सारी सो जहा ते सियाला तस्स घंटासियालस्स अकिंचि घंटासद्दं च जाणंति तओ ण को एस किं वा एयस्स गहणस्स गहणकस्स वा एस सद्दो एवं सो पढमिल्लुगुस्सारी किंचि वि जाणइ न सव्वं सब्भावं जो एयस्स पासे उस्सारकप्पं करेंति सो कइ वि आलावए जाणेत्ति न पुण अत्थं सो सिस्सेहिं पुच्छिओ भणति किं पि केरिसो वि अत्थि एयस्स अत्थो सेसा कतिवए वि आलावए न कहेंति ते सिस्सेहिं पुच्छिज्जंता भणंति ण याणामो पुण किंपि एवं तस्स तुब्भे जोगं वहह । एवं ते अप्पाणं च परं च नासंता विहरंति । अह अन्नया गीयत्था

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आयरिया आगया तेहिं ते उवालद्धा गच्छाय अचिठ्ठत्ता गच्छेसु य पवेसिया सव्वे जहा एते दोसा तम्हा न उस्सारेयव्वा कप्पिया ते अविस्संति जे एवं निहोसिहिंति। गाथात्रयस्याप्यक्षरगमनिका त्वेवं क्रियते । यत्र तदिक्षुकरणमिक्षुवाटस्तस्य रक्षणार्थम् वराको गताख्यानिकेत्यर्थः साख्यानिका तत्र क्रोष्टुः शृगालस्य पतनं ततो गृहपतिना गलके घण्टां बध्वा मुक्तस्य दर्शनं शृगालानां नाशनं ततो वृकादीनां पृच्छा ततः सर्वेऽपि परम्परया नश्यन्ति यावत् सिंहः समागतस्तेन प्रतिजागर्य निरूप्य स घण्टाशृगालो हतः । शेषा मृगगणाः शृगालवृकादय आश्वासिताः । अयं दृष्टान्तः । अथ दार्ष्टान्तिकयोजनामाह " इयकश्चयाइ इत्यादि " इत्यमुनैव प्रकारेण प्रथमिल्लुकोत्सारी शिष्यः कतिपयानि सूत्रालापकरूपाणि किञ्चिन्मात्रसूत्रस्पर्शकनिर्युक्तिमिश्रितानि जानीते अस्य च समीपे योऽन्योऽधीते स कतिपयान् सूत्रालापकान् जानीते न पुनरर्थं तस्यापि पार्श्वे यः पठति स सूत्रालापकानपि नावबोधति । अन्येन पृष्टः प्रतिजानति अस्ति किमप्येतदङ्गोपाङ्गादिकं श्रुतं तद् यूयमेतस्य योगमुद्वहतेति । एते च दुरधीतविद्यत्वात्प्रायः प्रत्यन्तग्रामं पर्यायं लभन्ते । यत उक्तम् । "पाएण खीणदव्वा, भणियपरछा कयावए हाय। पच्चंतं सेवंती, पुरिसा दुरहीयवज्जाया" । अतः प्रत्यन्तं गत्वा सूत्रार्थयोरुत्सारणं कुर्वन्ति वदन्ति च वयं सूत्रार्थयोरव्यवच्छित्तिं कर्म इति अन्यदा च यत्र प्रत्यन्तग्रामे गीतार्थानामागमनं तदुत्सारकल्पिकानां खरण्टनं यथा भोः किमेवं सूत्रार्थयोः परिपाटिपाठनं परित्यज्य सकलश्रुतधर्मधूमकेतुकल्पमुत्सारकल्पमाचरन्तः आत्मानं च परं च नाशयतेत्यादि । ततश्च गच्छाश्चावशिष्यते तेषामपुनःकरणेन प्रतिक्रान्तानां प्रायश्चित्तं दत्तम् [किचिय त्ति] कियन्त एतादृशा गीतार्था भविष्यन्ति य एवं शिक्षयिष्यन्ति तस्मात्प्रथमत एव नोत्सारणीयम् भाविता सप्रपञ्चं योगविराधना। अथात्मा परश्च परित्यक्त इति पदद्वयं व्याचष्टे ।

अप्पत्ताण उ दिंतेण, अप्पओ इह परस्स वि य चत्ते ।
सो वि अ हु तेण चत्तो, जं न पढइ तेण गव्वेणं ॥

अप्राप्तानामयोग्यानां यद्वा अप्राप्तानां विवक्षितानुयोगभूमिमनुपागतानां श्रुतं ददतोत्सारकल्पकृता आत्मा इह परत्रापि चत्यक्तस्तत्रेह तद्वाचनादानसमुद्भूतापयशः वादादिना परत्र बोधिदुर्लभत्वादिना तथा सोऽपि शिष्यो हु निश्चितं तेनाचार्येण परित्यक्तो यत् तेन गणिवाचकत्वादिगर्वेणाधिष्ठितः सन् पठति पठनाभावे हि कुतो यथावच्चरणपरिपालनम् । किं च-

अज्जस्स हीलणा ल-ज्जणा य गारविअकारणमणज्जे ।
आयरिए परिवाओ, वोच्छेदो सुत्तस्स तित्थस्स ॥

आर्यः सुजनः सुमानुष इत्येकोऽर्थः । तस्य यथावदागमार्थबोधविकलस्य वाचकनाम्ना हीलना भवति । अहो हीलेयं मम यदहं वाचकेत्यभिधीये तथा (लज्जणत्ति) वाचकमिश्रा अयमालापकः सिद्धान्ते विद्यते को वा अस्यालापकस्यार्थ इति केनापि पृष्टस्य व्याकरणं दातुमशक्नुवतो भृशं लज्जा भवति ततश्च श्याममदनकुञ्जाकुनकनकसदृशतया विमनायमानोऽवतिष्ठते अनार्ये अनार्यस्य पुनस्तदेव गौरव्यकारणं गर्वनिबन्धनं जायते अहो वयमेव निस्तुलप्रतिष्ठापात्रं जगति वर्त्तामहे यदेवं वाचकपदवीमध्यारोहाम इति इत्थं परः परित्यक्तो मन्तव्य एव । आचार्ये च परिवादो भवति तथाहि स बहुश्रुताचार्यपार्श्वादुत्सारकल्पं कारयित्वा गतः क्वापि नगरादौ पृष्टश्च कैश्चिच्छिष्यैः किमर्थस्य पदं यावत् न किंचित् अयं जानीते ततस्ते ब्रुवते येषेव सूत्रार्थमपरिज्ञाय अयमस्मिन्नेव आचार्यपदभाजनमकारि तेऽप्याचार्या एवंविधा भविष्यन्तीत्यात्मा परित्यक्तः । तथा प्रवचनमपि तेनाचार्येण परित्यक्तं कथमित्याह श्रुतस्योत्सारकल्पवशादनधीयमानस्य व्यवच्छेदः प्राप्नोति श्रुते च व्यवच्छिद्यमाने ज्ञानाभावे च दर्शनचारित्रयोरप्यभावात्तीर्थस्यापि व्यवच्छेदः प्राप्नोति । यदि नाम तीर्थं व्यवच्छिद्यते ततः को दोष इत्याह ।

पवयणवोच्छेयवट्ट-माणो जिणवयणबाहिरमईओ ।
बंधइ कम्मरयमलं, जरमरणमणंतयं घोरं ॥

प्रवचनं तीर्थं तस्य व्यवच्छेदे हेतुरूपतया वर्तमानः कथंभूतोऽसावित्याह । जिनवचनबाह्यमतिकः सर्वज्ञशासनबहिर्मुखशेमुषीको न खलु वनीदृशस्य प्रवचनव्यवच्छेदं कर्तुं मतिरुत्सहते स एवंभूतो बध्नाति कर्मरजोमलं रजःशब्देन बद्धावस्थं मलशब्देन निकाचितावस्थं कर्म परिगृह्यते रजश्च मलश्चेति रजोमलं कर्मैव रजोमलं कर्मरजोमलं निकाचिताऽनिकाचितावस्थं कर्म यथाध्यवसायस्थानमनुबध्नातीत्यर्थः । कथंभूतमनन्तानि जरामरणानि यस्मात् तदनन्तजरामरणं गाथायां प्राकृतत्वादनन्तशब्दस्य परनिपातः । घोरं रौद्रं शारीरमानसदुःखोपनिपातनिबन्धनत्वात् इति तथा षड्जीवनिकायानप्यगीतार्थतयाऽसौ विराधयतीति जीवनिकाया अपि तेनोत्सारकेण परित्यक्ता अवसातव्याः । यत एते दोषास्ततो नोत्सारणीयम् ॥

अथ क्रमेणवाधीयमाने सूत्रे के गुणा उच्यन्ते ।

आणा विकोवणाणुओग-
बुज्झण उवओगनिज्जरागहणं ।
गुरुवासमजोगसुस्सू-
सणा य कमसो अहिज्जंते ॥

क्रमशः क्रमेणाधीयमाने अध्याप्यमाने च सन्ति एते गुणास्तद्यथा आज्ञा तीर्थकृतां शिष्येणाचार्येण चाराधिता भवति [विकोवणत्ति) योगोद्वहनविधौ गच्छसामाचार्यां च विकोपना व्युत्पादना च शिष्यस्य कृता भवति ततश्च स्वयं सामाचारीवैतथ्यं न करोति अपरान् कुर्वतो निवारयति । तथा गच्छमध्ये द्वितीयपौरुष्यामनुयोगः प्रवर्तते तदाकर्णनान्मन्दबुद्धेरपि बोधनं जीवाजीवादितत्त्वेषु प्रबुद्धता संपद्यते बुद्ध्यमानस्य च श्रुते निरन्तरमुपयोगो जायते निरन्तरोपयुक्तस्य च महती निर्जरा प्रतिसमयसंख्येयभवोपात्तकर्मपरमाणुपटलापगमाद्युक्तं च । " कम्ममसंखेज्जभवं, खवेइ अणुसमयमेव आउत्तो । अन्नयरम्मि वि जोगे सज्झायं मा विसेसेणं " नित्योपयुक्तस्य च शीघ्रं सूत्रार्थयोर्ग्रहणं भवति तथा हि गुरुवासेन गुरुकुलवासेन सार्द्धं योगः संबन्धो भवति अन्यथा क्रमेण सूत्रार्थाध्ययनायोगात् । यद्वा पदद्वयमिदं पार्थक्येन व्याख्यायते गुरूणामन्तिके वासो गुरुवासः स सेवितो भवति योगाश्च विधिवदाराधिता भवन्ति । आचार्यादीनां शुश्रूषा विनयवैयावृत्यादिना कृता भवति । यत एते गुणास्ततः क्रमेणैवाध्येतव्यः । उपसंहरन्नाह—

इअ दोसगुणे नाउं, उक्कमकमओ अहिज्जमाणाणं ।
उज्जयविसेसविहिन्नू , को वचणमन्नुवेज्जाहि ॥

इतिशब्दः एवमर्थे एवमुक्तमतः क्रमतश्चाधीयानानामुपक्रमणत्वादध्यापयतां च यथाक्रमं दोषान् गुणांश्च ज्ञात्वोभयविशे-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

षविभिहः क्रमाध्ययनगुणदोषविभागविधिवेदी आचार्यः शिष्यो वा को नामोत्सारकल्पस्य करणेन कारापणेन वा आत्मनो वचनमभ्युपेयादङ्गीकुर्यात न कश्चिदित्यर्थः । यतश्चैवमतोऽनुपयोगित्वान्नास्त्युत्सारकल्पिक इति । बृ० १ उ० । पं० चू० ॥

कारणेऽस्तीति निश्चाययन्पुनरपि परः प्राह ।

जइ नत्थि कप्पो नामं, असइ हु अत्थे न होइ अभिहाणं ।
तम्हा तस्स पसिद्धी, अभिहाणपसिद्धिओ सिद्धा ॥

यदि नास्त्युत्सारकल्पिकस्ततः कुतोऽस्य नामाभिधानमिदमायातं न कुतश्चिदित्यर्थः । अनेन प्रतिज्ञातार्थः सूचितः । कुत इत्याह । असत्यविद्यमानेऽर्थे अभिधेये हुशब्दस्य हेत्वर्थवाचकत्वात यस्मान्न भवत्यभिधानं किं तु सत्येवेति अनेन च हेत्वर्थ उपात्तः । यतश्चैवं तस्मात्तस्यार्थस्य प्रसिद्धिरभिधानप्रसिद्धित एव सिद्धा प्रतिष्ठितेति निगमनार्थः । दृष्टान्तोपनयौ स्वयमेवाऽभ्यूह्य वाच्योऽत्र प्रयोगः । अस्त्युत्सारकल्पिकः अभिधानवत्त्वात घटादिवत् यद्यदभिधानवत् तत्तदस्ति यथा घटपटादि अभिधानवच्चेदं तस्मादस्तीति । इत्थं परेण स्वपक्षे समर्थिते सति प्रतिविधीयते भो भद्र ! शृणु प्रमाणानिकोऽनैकान्तिकोऽयं भवता हेतुरुपन्यस्तस्तथा चाह ।

जइ सव्वं वि य नामं, सअत्थगं होज्ज तो भवे दोसा ।
जम्हा स अत्थगत्ते, जजिवं तम्हा अणेगंतो ॥

यदि सर्वमपि नाम सार्थकं भवेत ततो भवेदस्माकं दोषः । उत्सारकल्पिकस्यास्तित्वापत्तिलक्षणो यस्मात्पुनः सार्थकत्वे नाम भक्तं विकल्पितं स्यात सार्थकं स्यान्निरर्थकमिति भावः । तत्र सार्थकं जीवाजीवादिकं निरर्थकं खरविषाणाकाशकुसुमकूर्मरोमवन्ध्यापुत्रादिकं यत एवं तस्मादनेकान्तोऽयं यदसद्भूतेऽर्थे न भवत्यभिधानम् ! इदमत्र तात्पर्यम् । अभिधानस्य वा भावाभावयोरपि सद्भावादभिधानवत्त्वलक्षणो हेतुर्यथा उत्सारकल्पिकस्याऽस्तित्वं साधयति तथा नास्तित्वमपि साधयति उभयत्रापि साधारणत्वात् अतः साधारणरूपोऽनैकान्तिकदोषदुष्टोऽयं हेतुरिति । इत्थं व्यभिचारिपक्षतया विलक्षीभूतः परः परित्यज्य यदृच्छाजल्पमाचार्यवचनमेव प्रमाणीकुर्वन्निदमाह । भगवन्नभ्युपगतं मयाऽनन्तरोक्तयुक्तितोऽभिधानस्य सार्थकत्वमनर्थकत्वं चेति । यदिदमुत्सारकल्पिकाभिधानं सार्थकमाहोस्विन्निरर्थकमिति विवर्तते संशयावर्तगर्तीयमस्माकं चेतस्तदिदानीमुद्ध्रियतां निजवाग्वरत्रयेति । उच्यते ।

निक्कारणम्मि नामं पि, निच्छिमो इच्छिमो अकज्जम्मि ।
उस्सारकप्पियस्स उ, चोअगसुणु कारणं तं तु ॥

धन्य ! निष्कारणे कारणाभावे नामापि नेच्छामो वयं किं पुनरर्थं कार्ये प्रयोजने प्राप्ते इच्छाम उत्सारकल्पिकेनाप्यर्थमपि तत्तु कारणं हे नोदक ! शृणु निशामय । तत्र निष्ठुर तावत् कारणं कर्तुरधीनाः सर्वा अपि क्रिया इति ज्ञापनार्थं प्रथमतः उत्सारकमाह ।

आयारादिट्ठिवायत्थं, जाणए पुरिसकारणविहिन्नू ।
संविग्गपरित्तंतं, अरिहइ उस्सारणं काउ ॥

आचारः प्रथममङ्गं दृष्टिवादश्चरमं तयोरर्थं जानातीत्याचारदृष्ट्यर्थः । इहाचारदृष्टिवादग्रहणं वक्ष्यमाणकारणैरनयोरेवोत्सारणीयत्वात । इत्येवमर्थम (पुरिसकारणविहिन्नू इति) पुरुषकारणविधिज्ञो नाम किमयं पुरुष उत्सारकल्पमर्हति न वा येन कारणेनोत्सार्यते तदस्ति न वेत्येवंविधविधिवेदी । तथा संविग्नो मोक्षाभिलाषी अपरितान्तः सूत्रार्थग्रहणायामहोरात्रमप्यपरिश्रान्तः एवंविध उत्सारणं कर्तुमर्हति एवं गुणोपेत एवोत्सारकल्पं करोतीत्यर्थः ॥

अथ यस्योत्सारकल्पः क्रियते तस्य गुणानाह ।

अभिगए पडिबद्धे, संविग्गे अ सलद्धिए ।
अवट्ठिए य मेहावी, पडिबुज्झी जोअकारए ॥

अभिगतः प्रतिबद्धसंविग्नश्च सलब्धिकः अवस्थितश्च मेधावी प्रतिबोधी । योगकारकः ईदृग्गुणोपेतः उत्सारकल्पयोग्य इति निर्युक्तिश्लोकसमासार्थः ॥

अथैनमेव विवृणोति ॥

सम्मत्तम्मि अभिगओ, विजाणओ वा वि अब्भुवगओ वा ।
सज्झाए अ पडिबद्धे, गुरुसु निप्पच्चएसुं वा ॥

सम्यक्त्वे आभिमुख्येन गतः प्रविष्टः सोऽभिगत उच्यते यो वा जीवादिपदार्थानां विज्ञापको विशेषेण ज्ञाता सोऽभिगतः । यद्वा योऽभ्युपगतो यावज्जीवं मया गुरुपादमूलं न मोक्तव्यमिति कृताभ्युपगमः सोऽभिगतः । यः पुनः स्वाध्याये परावर्तनानुप्रेक्षादौ सततमायुक्तो गुरुषु वा स्थिरममत्वानुबन्धः निष्कैतवेषु वा संबन्धिषु प्रव्रज्याप्रतिपन्नेषु संजातप्रेमस्थेमा एष त्रिविधोऽपि प्रतिबद्ध उच्यते ॥

संविग्गो दुव्वम्मि उ, भावे मूलुत्तरेसु उज्जयंतो ।
लद्धी आहाराइसु, अणुओगे धम्मकहणे य ॥

संविग्नो द्विधा । द्रव्यतो भावतश्च । द्रव्ये द्रव्यसंविग्नो मृगः स एव सर्वतोऽपि चकितत्वात । भावे भावसंविग्नो मूलोत्तरेषु तु मूलगुणोत्तरगुणेषु पुनर्यतमानः उद्यमं संदधानः साधुर्मन्तव्यः स एव संसारापायचकितत्वात् । तथा लब्धिराहारादिषूत्पादयितव्येष्वनुयोगे दातव्ये धर्मकथने च विधेये यः स सलब्धिक इति ।

लिंगविहारे वट्ठिओ, मेरा मेहावि गहणओ भइओ ।
पडिबुज्झइ जं कत्थइ, कुणइ अजोगं तदट्ठस्स ॥

अवस्थितो द्विधा लिङ्गे विहारे च । लिङ्गावस्थितः स्वलिङ्गं न परित्यजति विहारावस्थितः संविग्नविहारं विहाय न पार्श्वस्थादिविहारमाद्रियते । मेधावी द्विधा ग्रहणमेधावी मर्यादामेधावी च उभावपि वक्ष्यमाणस्वरूपौ तत्र मर्यादामेधाविनः उत्सारकल्पः क्रियते स पुनर्ग्रहणे मेधावी वा स्यादमेधावी वा । द्विविधस्यापि कारणविशेषे उत्सार्यत इति ग्रहणतो मेधावी भक्तो विकल्पितः । तथा यत्कथ्यते अभिधीयते तत्सर्वं यः प्रतिबुध्यते स प्रतिबोद्धुं शीलमस्येति प्रतिबोधी यत्तस्य तत्र उत्सार्यते तदर्थस्य ग्रहणे योगं व्यापारं यः करोति कदाचित्प्रमाद्यति स योगकारक इति तदेवं व्याख्याता " अभिगए-" इत्यादिगाथा ।

अथोत्सारकल्पिकस्यैवापराचार्यपरिपाट्या गुणानाह ।

अभिगयथिरसंविग्गो, गुरुअणुई जोगकारए चेव ।
दुम्महगलद्धीए, पडिबुज्झी परिणयविणीए ॥
आपरिवयणवाई, अणुकूले धम्मसड्ढिए चेव ॥
एयारिसे महाभागे, उस्सारं काउमरिहइ ॥

अभिगतः प्रतिबुद्धः स्थिरः सम्यग्दर्शनादक्षोभ्यः संविग्नः को गुर्दमोची निष्ठुरं निर्भर्त्सितोऽपि गुरूणाममोचनशीलः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

योगकारकः पूर्ववत् । दुर्मेधा अपि यः सलब्धिकः परिपकबुद्धिः परिणामको विनीतः अभ्युत्थानादिविनययोगतः आचार्यवर्णवादी गुरूणां गुणोत्कीर्तनकारी अनुकूलः आचार्याणामन्येषां वा पूज्यानां वैयावृत्त्यादिना हितकारी धर्मे तपःसंयमात्मके चारित्रधर्मे आद्धिकः श्रद्धावान् एतादृश एवंविधगुणोपेतो महाभागः शिष्यः उत्सारं कर्तुमर्हति उत्सारकल्पस्य योग्यो भवतीत्यर्थः ।

अनीदृशानुत्सारयितुः प्रायश्चित्तमाह ।

अणभिगयमाइयाणं, उस्सारिंतस्स चउगुरू होंति ।
उग्गहणम्मि वि गुरुगा, कालमसज्झाय वक्खेवे ॥

आदेशद्वयेनापि ये गुणा उक्तास्तद्विपरीता ये अनभिगतादयस्तद्यथा अनभिगतः अप्रतिबद्धः असंविग्नः अलब्धिकः अनयास्थितः अमर्यादोऽमेधावी अप्रतिबोद्धा अयोगकारकः अपरिणतः अविनीतः आचार्यावर्णवादी अननुकूलः अधर्मश्रद्धालुः एतेषामुत्सारयतः उत्सारकल्पं कुर्वतः आचार्यस्य प्रत्येकं चतुर्गुरवः प्रायश्चित्तम् । (उग्गहणम्मि वि गुरुगत्ति) सूत्रमर्थं वा झगित्यवावगृह्णातीत्यवग्रहणः नन्द्यादिभ्योऽन इति कर्तर्यनट्प्रत्ययः ग्रहणमेधावीत्यर्थः । तस्य यदि निष्कारणमुत्सारयति तदापि चत्वारो गुरुकाः । अथ किमर्थं मेधाविनो नोत्सार्यन्ते उच्यते यतोऽसौ प्रज्ञावत्त्वादेवानुपूर्व्येव पाठ्यमानो झगित्येव विवक्षितमुत्सारणीयं श्रुतं प्राप्स्यति ततः को नाम तस्योत्सारकल्पकरणेऽभ्यधिको गुणः। अथवा (उग्गहणम्मि वि त्ति) यस्याचारान्तर्गतवस्त्रैषणाध्ययनस्योपक्रमणनिमित्तमुत्सार्यते तस्य यद्यप्युत्सारकल्पसमकालमेव सर्वमपि सूत्रमर्थं वा अवगृह्णाति अपिशब्दान्मन्दमेधस्तया यद्यपि नावगृह्णाति तथाप्यवग्रहणे अनवग्रहणे वाऽकालोऽस्वाध्यायिकं व्याक्षेपश्च न कर्तव्यः यदि करोति तदा चत्वारो गुरुकाः । एतच्चाकालादिकमुपरिष्टाद्भावयिष्यते । अथवा (उग्गहणम्मि वि गुरुगत्ति) अन्यथा व्याख्यायते योऽवग्रहणे समर्थ उत्तममेधावी अपिशब्दः संभावनायां किं संभावयति यावन्मात्रं सूत्रं तस्योद्दिश्यते तावदशेषमप्यर्थेन युक्तमवगृह्णाति यो वा वैरस्वामिवत् पदानुसारिप्रतिभो भूयस्तरमप्यनुसरति तस्योत्सारणीयम् । अथ नोत्सारयति तदा चतुर्गुरुकाः तत्रापि यावदुत्सारकल्पः क्रियते तावदकालोऽस्वाध्यायिकं व्याक्षेपश्च न कर्तव्यः यदि करोति तदापि चतुर्गुरुकाः ।

अथोत्सारकल्पकरणे यत् प्राक् कारणं संन्यासिकीकृतं तद्दर्शयति ॥

गच्छो अ अलद्धीओ, ओमाणं चेव अणहिसहाय ।
गिहिणो उ मंदधम्मा, सुद्धं च गवेसए उवहिं ॥

कस्याप्याचार्यस्य गच्छः सर्वोऽपि वस्त्रपात्रशय्योत्पादने अलब्धिकः तत्र च क्षेत्रे स्वपक्षतः परपक्षतो वा अवमानं विद्यते ते च साधवोऽनधिसहाः शीतादिपरीषहान् सोढुमसमर्थाः गृहस्थाश्च मन्दधर्माणः तुच्छधर्मश्रद्धकाः अप्रज्ञापिताः सन्तो न वस्त्रादि प्रयच्छन्ति शुद्धं चोपधिं साधवो गवेषयेयुरिति भगवतामुपदेशः स च दुर्लभत्वात् यादृशेन साधुना न लभ्यते अत ईदृशे कार्ये लब्धिवान् दुर्मेधा अप्युत्सारकल्पं कृत्वा वस्त्रैषणाध्ययनमुद्दिश्य काल्पिकः क्रियते ततश्च कल्पिकीकृतः सन् किं करोति इत्याह ।

हिंडउ गीयसहाओ, सलद्धिआ उवहणंति से लद्धिं ।
तो एकओ वि हिंडइ, आयरुस्सारियसुत्तत्थो ॥

गीतसहायो गीतार्थसाधुसहितो वस्त्राद्युत्पादनार्थं हिण्डताम् । अथ गीतार्थास्तस्य लब्धिमुपघ्नन्ति तत एककोऽप्यसहायोऽप्याचारोत्सारितसूत्रार्थः आचारान्तर्गतवस्त्रैषणादिसूत्रार्थमुत्सारकल्पकरणेन ग्राहितः सन् हिण्डते । ननु च किं कोऽपि कस्यापि लाभान्तरायकर्मक्षयोपशमसमुत्थां लब्धिमुपहन्ति येनैवमुच्यते ते गीतार्थास्तस्योपलब्धिमुपघ्नन्ति इत्यत आह ॥

भिक्खू विहतणुवद्दल—अभागधेज्जो जहिं तहिं न पडे ।
दुग्गतिगमाइभेदे, पडइ तहिं तत्थ सो नत्थि ॥

" कोइ किर परं वसईओ सत्थो अडविं पवन्नो, तत्थ य एगो रत्तपडो निब्भग्गसिरसेहरो पंचण्ह वि सयाणं पुढे उवहणइ सो असत्थो तण्हाए पारद्धो दूरे अ अब्भवद्दलयं वासइ तंसि उवरिं न पडइ ते दुहा तिण्हा इयरो रत्तपडो पुव्विल्ले णं मज्झे मेलिओ सव्वत्थ पडइ जत्थ सा तत्थ न पडइ जाव निव्वेडिओ एक्कओ जाओ जत्थ सो तत्थ पडइ एवं एयारिसा परस्स पुत्ते उवहणंति " अथ गाथाक्षरार्थः भिक्षुरेकः सार्थेन सार्द्धं विहमध्वानं प्रविष्ट इति शेषः । ततस्तृष्णया सार्थः प्रारब्धः वार्दलं च वर्षितुमारब्धं यत्र येषां मध्ये सोऽभागधेयो यो भिक्षुस्तत्र वर्षं न पतति ततो द्विकत्रिकादिना द्विधा त्रिधादिना प्रकारेण सार्थस्य भेदः कृतस्तस्मिंश्च कृते यत्र स भिक्षुर्नास्ति तत्र सर्वत्र वर्षं पतति तस्योपरि न पततीत्येयं दृष्टान्तः । अथार्थोपनयः यथा स भिक्षुः पञ्चविंशतिकस्यापि सार्थस्य पुण्यान्युपहतवानेवमन्येऽप्येवंविधाः परेषां लब्धिमतामपि स्वस्वकर्मक्षयोपशमसमुत्थां लब्धिमुपघ्नन्तीति ।

अथासौ कथं च वस्त्राण्युत्पादयतीत्युच्यते ॥

भिक्खं वा वि अडंतो, बिइआ पढमा य अहव सव्वासु ।
सहिओ व असहिओ वा, उप्पायवायजावे वा ॥

भिक्षामटन् वस्त्राण्युत्पादयति वाशब्दो वक्ष्यमाणपक्षापेक्षायां विभाषायामपिशब्दः संभावनायां संभाव्यते । अयमपि प्रकार इति । अथ न शक्नोति युगपत् भिक्षामप्यटितुं वस्त्राण्युत्पादयितुं व्यतिक्रामति वा वेला भैक्षस्य वस्त्राण्युत्पादयतः । भिक्षां वाऽटद्भिर्न प्राप्यन्ते वस्त्राणीत्यादिना कारणेन द्वितीयायां पौरुष्यामनुयोगग्रहणं हापयित्वा वस्त्राण्युत्पादयेत् । अथ तदा न लभते बह्वी वा हिण्डिः कर्तव्या ततः प्रथमायामप्युत्पादयेत् । अथ बहवो गृहस्था द्रष्टव्या महता च कष्टेन ते श्राद्धाः ग्राह्यन्ते ततः द्वयोरपि पौरुष्योः सर्वासु वा पौरुषीषु पर्यटति । यद्यपरे गीतार्थास्तस्य लब्धिं नोपघ्नन्ति तदा स तैः सहितोऽप्युत्पादयेद्वा वस्त्राणि प्रभावयेद्वा दानधर्मं गृहिणां पुरतो यथा ईदृशः साधूनां धर्मो न कल्पतेऽमीषां भगवतामुद्गमोत्पादनैषणादोषदुष्टं पिण्डशय्यावस्त्रपात्रचतुष्टयं गृहीतुं तदमीषां वस्त्रादावनुपयोज्यमानो महती कर्मनिर्जरेत्यादि । अथ ते गीतार्थास्तस्य लब्धिमुपहन्युस्ततस्तैरसहितोऽप्येकाकी उत्पादयितुं वा प्रभावयितुं वा प्रभुर्न कश्चिद्दोषः । इत्थं तावद्वस्त्रादीनां कल्पिको भवत्विति कृत्वा यथा आचारः उत्सार्यते तथा प्रतिपादितम् ।

अथ दृष्टिवादी येन कारणेनोत्सार्यते तत्प्रतिपादयति ।

कालियसुआणुओगम्मि, गंडियाणं समोयरणहेउं ।
उस्सारिंति सुविहिया, भूयवायं न अन्नेणं ॥

इह यो धर्मकथालब्धिसंपन्नः परमद्यापि स्वल्पपर्यायत्वात् दृष्टिवादं पठितुमप्राप्तस्तस्य कालिकश्रुतानुयोगेन धर्मकथां कुर्वाणस्य गण्डिकाः कुलकरतीर्थकरगण्डिकादयो दृष्टिवादान्तर्गता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपयुज्यन्त इति तासां गणिकानां कालिकश्रुतानुयोगे समवतारणहेतोरुद्देशसमुद्देशादिविधिना न कल्पते तासामध्ययनादिकमिति कृत्वा सुविहिताः शोभनाविहितानुष्ठाना आचार्या भूतवादं दृष्टिवादमुत्सारयन्ति तान्येव वाचको भूयादित्यादिना कारणेन। अथ "कालमसज्झायवक्खेवेत्ति" यत्प्राक् पदत्रयमुक्तं तत्राद्यं पदद्वयं तावद्विवृणोति।

सज्झायमसज्झाए, सुद्धासुद्धे व तारिसे काले।
दो दो अ अणोएसुं, एसुं तू अंतिमं एक्कं ॥
एगंतरमायंबिल-विगईए रक्खियं पि वज्जंति।
जावइअं य अहिज्जइ, तावइअं उद्दिसे केइ ॥

तस्योत्सारकल्पे क्रियमाणे स्वाध्यायिके अस्वाध्यायिके वा शुद्धे अशुद्धे वा काले विवक्षितश्रुतमुद्दिशेत् सर्व वाक्यं सावधारणं भवतीति न्यायादुद्दिशेदेव न व्याघातं कुर्यात। केन विधिनेत्यन आह (दो दो अ अणोएसुंति) ओजःशब्देन विषयमुच्यते तद्विपरीतः अनोजाः समा द्विचतुःषडादय उद्देशका यत्राध्ययने तत्रानोजस्सु उद्देशकेषु दिने दिने द्वौ द्वौ उद्देशकावुद्दिशेत्। कथमिति चेदुच्यते प्रथमायां पौरुष्यां प्रथममुद्देशकमुद्दिश्य च द्वितीय उद्दिश्यते द्वितीयमुत्तयोरप्युद्देशकयोस्तस्यानुयोगो दीयते ततश्चरमपौरुष्यां प्रथममुद्देशकमनुज्ञाय द्वितीयोद्देशकः समुद्दिश्यतेऽनुज्ञायते चेति चूर्णिलिखिता सामाचारी। तथा (ओजस्सत्ति) पञ्चसप्तादिसंख्याकेषु विषमेषूद्देशकमेकमेवोद्दिशेत्। यथा शस्त्रपरिज्ञाध्ययने तथाहि तत्र सप्तोद्देशकास्तेषु च त्रिभिर्दिवसैः षडुद्देशकानुद्दिश्य चतुर्थे दिवसे एकपयाव्शिष्यमाणसप्तम उद्देशक उद्दिश्यते स च प्रथमपौरुष्यामुद्दिश्य चरमायामनुज्ञायते तथैकान्तरमेकदिवसान्तरितमाचाम्लमसौ करोति एकस्मिन् दिवसे आचाम्लमपरस्मिन् निर्विकृतिकं करोतीति भावः। तथा विकृत्यां रक्षितमपि सर्वाण्टतमप्यसौ वर्जयति केचित्पुनराचार्या ब्रुवते यावत् यत्परिमाणं श्रुतमसावधीते तावदुद्दिशेत् यदि मेधावितया द्वे त्रीणि चत्वारि भूरितराणि वा अध्ययनान्यागमयति ततस्तानि सर्वाण्युद्दिश्यन्ते न कश्चिद्दोष इति भावः। व्याख्यातं " कालमसज्झायत्ति " पदद्वयम्।

अथ "अवक्खेवेति" पदं विवृण्वन्नाह।

आहारे उवकरणे, पडिलेहणलेवखित्तपडिलेहो।
अप्पाहारो परिहा-रगो अ जह अप्पनिद्दो अ ॥

तस्योत्सारकल्पे कर्तुमारब्धे आहारग्रहणे उपकरणस्य प्रत्युपेक्षणे लेपग्रहणे क्षेत्रप्रत्युपेक्षणायां च व्याक्षेपो न कर्त्तव्यः। अल्पाहारश्च यथा स भवति तथा कार्यं परिहारः संज्ञा एककायिकी तयोः स्वल्पता अल्पाहारतो भवति यथा वाऽसावल्पनिद्रो भवति तत्कर्तव्यमित्येषा संग्रहगाथा ॥

अथैनामेव प्रतिपदं विवृणोति।

हिंडाविंति न वा णं, अहवा अभट्ठया न सो अडइ।
एहिंति वसे उवहिं, पेहेई व सो अनेसिं ॥

णमिति। तमुत्सारकल्पिकमाचार्या भिक्षां न हिण्डापयन्ति वाशब्दस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वात् संस्तरणे सतीति द्रष्टव्यं यदि पुनरसंस्तरणं तदा 'अहवेति' संस्तरणस्य प्रकारान्तरताद्योतकः अन्यार्थमन्येषामाचार्यग्लानबालवृद्धादीनामर्थाय नासावुत्सारकल्पिकः पर्यटति यावन्मात्रमाहारमात्मना भुङ्क्ते तावन्मात्रमेवानयतीत्यर्थः। तथा प्रेक्षन्ते वा प्रत्युपेक्षन्ते स तस्योत्सारकल्पिकस्योपधिं विशेषसाधवः स वा उत्सारकल्पिको नान्येषामाचार्यक्षपकादीनामुपधिं प्रत्युपेक्षते सर्वत्र मा भूदध्ययनव्याघात इति योज्यम्।

एमेव लेवगहणं, लिंपइ वा अप्पणो न अन्नस्स।
खेत्तं व न पेहावे, न याचिते सोवहिं पेहे ॥

एवमेव लेपग्रहणमुपलक्षणत्वात् लेपनमपि पात्रस्य तस्य निमित्तमन्यैः साधुभिः कर्तव्यम्। अथ शेषसाधवः कुतोऽपि हेतोरव्यग्रिकास्तत स आत्मन एव पात्राणि लिम्पति नान्यस्य साधोः। क्षेत्रं च तं न प्रेक्षापयेत् क्षेत्रप्रत्युपेक्षणार्थं तं न प्रहिणुयादित्यर्थः। न चाप्यसावुत्सारकल्पिकस्तेषां क्षेत्रप्रत्युपेक्षकाणामुपधिं प्रत्युपेक्षेत।

दिंति पणीयाहारं, न य बहुगं मा हु जग्गतो जिन्नं।
मोआइ निसग्गेसुं, बहुसो मा होज्ज पलिमंथो ॥

प्रणीतं स्निग्धमधुरमाहारं परमान्नं शर्करादिकं तस्य गुरवः प्रयच्छन्ति सुखेनैवाहर्निशमपि दृष्टिवादादिसूत्रार्थान् प्रेक्षानिमित्तमिति भावः। तमपि प्रणीतं न च नैव बहुकं किं तु स्वल्पं कुत इत्याह मा भूत्सूत्रार्थनिमित्तं रजन्यामपि जाग्रतोऽजीर्णमिति रूक्षाहारभोजिनश्च बहुशो मात्रमोकादिनिसर्गेषु प्रश्रवणसंज्ञादिकव्युत्सर्गेषु विधीयमानेषु परिमन्थः सूत्रार्थव्याघातो मा भूदिति कृत्वा प्रणीतं दीयते। अल्पा च निद्रा स्वल्पप्रणीताहारभोजिनो भवतीत्यल्पनिद्राद्वारमपि व्याख्यातमवसातव्यम्। इत्थमुत्सारकल्पे समापिते सति विवक्षितं वस्त्रोत्पादनादिकार्यं पूर्वोक्तविधिना कार्यते तदेवं व्याख्यातमानुषङ्गिकमुत्सारकल्पिकद्वारम्। बृ० १ उ०।

उस्सारग–उत्सारक–पुं०। उत्सारकल्पार्हे, बृ० १ उ०। (तल्लक्षणमुत्सारकप्पशब्देऽनन्तरमेव दर्शितम्) द्वारपाले, हेम० तेन हि प्रत्युद्वारतो जना दूरीक्रियन्ते इति तस्य तथात्वम्। अपसारके, वाच० ॥

उस्सारण–उत्सारण–न० उद्–सृ–णिच्। ल्युट्। दूरीकरणे स्थानान्तरनयने, अपसारके, चालने, वाच०। उत्सारकल्पकरणे, " अरिहइ उस्सारणं काउं " बृ० १ उ०।

उस्सारित–उत्सारयत्–त्रि० उत्सारकल्पं कुर्वति, बृ० १ उ०।

उस्सारिय–उत्सारित– त्रि० उद्–सृ–णिच्–क्त–दूरीकृते चालिते, वाच०। पातिते, " सहसा उस्सारिओ य नावाए " संथा०

उस्सास–उच्छ्वास–पुं० ऊर्ध्वं प्रबलः श्वासः उच्छ्वासः। आव० ५ अ०। उच्छ्वासने, प्रश्न० ३ श्रु० १ अ०। "समयं उस्सासनीसासो"। प्रज्ञा० १ पद। प्रज्ञापनासप्तमोच्छ्वासपदोक्तवक्तव्यता ऽऽन शब्दे उक्ता) (समोच्छ्वासनिश्श्वासप्रश्नः समशब्दे)

उस्सासग–उच्छ्वासक–पुं० उच्छ्वसन्तीत्युच्छ्वासकाः। उच्छ्वासपर्याप्तिपर्याप्तकेषु नैरयिकादिवैमानिकान्तेषु जीवेषु, स्था० २ ठा० २ उ०। उच्छ्वासयति वर्द्धयतीति उच्छ्वासः स एवोच्छ्वासकः जीवितादेर्वर्द्धके, " जीवितस्साए "। जीवितोच्छ्वासकः जीवितमस्माकमुच्छ्वासयति वर्द्धयतीति जीवितोच्छ्वासः स एव जीवितोच्छ्वासकः। ज्ञा० १ अ० ॥

उस्सिओदग–उच्छ्रितोदक– त्रि० ६ ब० ऊर्ध्वं वृद्धिगतजले, ' लवणेणं समुद्दे उस्सिओदए ' उच्छ्रितोदकः ऊर्ध्वं वृद्धिगतजलः सातिरेकषोडशयोजनसहस्राणि। भ० ६ श० ८ उ० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उस्सिओसिय-उत्सृतोत्सृत- पुं० द्रव्यतः ऊर्ध्वस्थानस्थे भावतो धर्मशुक्लाध्यायिनि, तादृशावस्थस्य कायोत्सर्गे च। आव०५अ० (काउस्सग्गशब्दे स्पष्टीभविष्यति)

उस्सिंघण-उत्सिङ्घन-न०वायूपयोगभेदे, आचा०१श्रु०१अ०५उ०।

उस्सिंचइत-उत्सिञ्चत्- त्रि० उत्सेचनं कुर्वति, "उस्सिंगाइणा घारंचिडसु एगअण्णयरेण कडाइणा उस्सिंचणं उस्सिंचति "। नि० चू० १८ उ० । आचा० ॥

उस्सिंचण-उत्सेचन-न० ऊर्ध्वं सेचनमुत्सेचनम्। कूपादेः कोशादिनोत्क्षेपणे । आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । उद्-सिच्-करणे-ल्युट् । उत्सेचनोपकरणे काष्ठादौ, आचा० २ श्रु० । उत्क्रम्य आधारमतिक्रम्य सेचनमुत्सेचनम् । आधारातिक्रमेण सेचने, वाच० ।

उस्सिंचमाण-उत्सिञ्चत्- त्रि० आक्षिपति, । ' भिक्खुपडियाए उस्सिंचमाणे णिस्सिंचमाणे वा' । आचा० २ श्रु० १ अ० ६ उ० ।

उस्सिंचिय-उत्सिञ्च्य-अव्य० उत्सेचनं कृत्वेत्यर्थे, 'उस्सिंचियाणं उप्पत्तियाणं गिण्हाहि '। आचा० २ श्रु० ।

उस्सिक-उत्क्षिप्-धा० तुदा-सक-ऊर्ध्वे क्षेपे, उत्क्षिपेर्गुलुगुञ्छोत्थंघाल्लत्थोभुत्तोस्सिकहक्खुप्पाः ।८।४।१४३। इति उस्सिक्कादेशः । उस्सिकइ । उक्खिवइ । उत्क्षिपति । प्रा० ॥

उस्सिट्ठ-उत्सृष्ट-त्रि० उत्सर्गविषयीकृते सूत्रे, सद्धेतुनोत्सृष्टमपि क्वचिदपोद्यते । द्वा० २ द्वा० । त्यक्ते, दत्ते च । वाच० ।

उस्सिण्ण-उत्स्विन्न-न० उण्डेरकादौ, सू० १ उ० ।

उस्सिय-उत्सृत-त्रि० । ऊर्ध्वीकृते, आ०म० प्र० । द्रव्यतः ऊर्ध्वस्थानस्थे भावतः ध्यानचतुष्टयरहिते कृष्णादिलेश्यां गते परिणामे, तादृशावस्थस्य कायोत्सर्गे च, आव० ५ अ० (काउस्सग्गशब्दे स्पष्टीभविष्यति)

उच्छ्रिक-त्रि० उत्कटे, " बंभचेराइं उस्सिताइ भवंति " सू० प्र० १८ पाहु० ।

उस्त्रिक-पुं० उक्ष अल्पार्थे स्वार्थे वा ठन् (घ) अल्पवाहके जीर्णवृषभे, अल्पक्षीरस्राविण्यां गव्याम्, स्त्री० । वाच० ।

उस्सियणिसण्णय-उत्सृतनिषण्णक-पुं० द्रव्यत ऊर्ध्वस्थानस्थे भावतः आर्तरौद्रध्यातरि तादृशावस्थस्य कायोत्सर्गे च । " अट्टं रुद्दं च दुवे, झायइ झाणाइ जो ठिओ संतो। एसो काउस्सग्गो,दव्वुसितो भावउ णिसण्णो" आव० ५ अ० (काउस्सग्गशब्दे स्पष्टीभविष्यति)

उस्सुक्क-उच्छुल्क-त्रि० उन्मुक्तं शुल्कं विक्रेतव्यभाण्डं प्रतिराजदेयं द्रव्यं यस्याः सा तथा । यस्मिंस्तत्तथा तस्मिन् । जं० ३ वक्ष० । भ० । कल्प० । अविद्यमानशुल्कग्रहणे, विपा० १ श्रु० ३ अ० । अर्थाभावे, अव्य० " उस्सुक्कं वियरइ " ज्ञा० ८ अ० । उत्कण्ठायाम्, इच्छामात्रे, वाच० । इतराभिलापातिरेके, षो० ३ विव० । " औत्सुक्यमात्रमवसादयति प्रतिष्ठां, क्लिश्नाति लब्धपरिपालनवृत्तिरेव । नातिश्रमापगमनाय यथा श्रमाय, राज्यं स्वहस्तधृतदण्डमिवातपघ्नम् " अष्ट० १ अष्ट०

उस्सुकविणिवित्ति-औत्सुक्यविनिवृत्ति- स्त्री० अभिलाषव्यावृत्तौ, आ० ।

उस्सुक्कावइत्ता-उत्सुकय्य-अव्य० उत्सुकीकृत्येत्यर्थे, " उस्सुक्कावइत्ता" विवादे, परमुत्सुकीकृत्य तव्यावसरो जयार्थी विवदत स्था० ६ ठा० ।

उस्सुत्त-उत्सूत्र-त्रि० सूत्रादूर्ध्वमुत्तीर्णं परिभ्रष्टमित्यर्थः । प्रव० १ द्वा० । सूत्रोत्तीर्णे, व्य० ३ उ० । " उस्सुत्तमणुवइट्ठं " उत्सूत्रं नाम यत्तीर्थकरादिभिरनुपदिष्टम् । व्य० १ उ० । " उस्सुत्तं सुत्ताइवेयं " " उस्सुत्तमणुवइट्ठं " नि० चू० ११ उ० । " उस्सुत्तमायरंतो उस्सुत्तं चेव पन्नवेमाणे " इति यथा छन्दो लक्षणम् । आव० ३ अ० । आ० चू० । ऊर्ध्वं सूत्रादुत्क्रान्तः उत्सूत्रः । सूत्रमतिक्रम्य कृते, " उस्सुत्तो उम्मग्गो ध० २ अधि० । सूत्रातिक्रान्ते, पञ्चा० १४ विव० । सूत्ररहिते, " उस्सुत्तो खलु न विज्जते अत्थो " व्य० ५ उ० । संथा० । सूत्रानुक्ते, सूत्रानुक्ते, आव० ४ अ० । " उस्सुत्ता पुण बाहइ समइविगप्प सुद्धवित्तियमेणं " प्रति० । तथोत्सूत्रप्ररूपका महाव्रतपालनतपश्चरणादिकां क्रियां कुर्वन्तः कर्मलघुका जायन्ति नवेति प्रश्ने उत्सूत्रप्ररूपका महाव्रतपालनादिक्रियासहिता निह्नवाद्यथ उत्कर्षतो नवमग्रैवेयकं यावद्यान्ति तेन महाव्रतपालनादिक्रियावतां तज्जन्यं शुभं फलं भवतु परं तेषां कर्मणां लघुकता गुरुकता च सर्वविद्वेद्येति । १८ प्र० ॥

उस्सुत्तपरूवणा-उत्सूत्रप्ररूपणा- स्त्री० सूत्रानुपदिष्टार्थप्रज्ञापनायाम्, व्य० १ उ० । नि० चू० । (सा च यथाच्छन्दस इति यथाच्छन्दसशब्दे) (अहाछन्दशब्दे उक्ता) मवरमुत्सूत्रभाषणफलम् । मरीचिना एव मम योग्यः शिष्य इति विचिन्त्य उक्तम् । "कविला इत्थं पि इहयं पि" कविल ! जैनेऽपि धर्मोऽस्ति मम मार्गेऽपि विद्यते तच्छ्रुत्वा च कपिलस्तत्पार्श्वे प्रव्रजितः मरीचिरपि अनेन उत्सूत्रवचनेन कोटाकोटिसागरप्रमाणं संसारमुपार्जयामास । यत्तु किरणावलीकारेण प्रोक्तं "कपिला इत्थं पि इहयं पि त्ति वचनम् " उत्सूत्रमिश्रितमिति । तदुत्सूत्रभाषिणां नियमादनन्त एव संसार इति स्वमतस्वारसिकतया ज्ञेयम् इदं हि तन्मतं ये उत्सूत्रभाषिणस्तेषां नियमादनन्त एव संसारः स्यात् । यदि च इदं मरीचिवचनमुत्सूत्रमित्युच्यते तदा अस्यापि अनन्तसंसारः प्रसज्यते न त्वसौ संपत्तिस्तदिदमुत्सूत्रमिति । तच्चायुक्तम् । उत्सूत्रभाषिणः नियमात् अनन्त एव संसार इति नियमाभावात् । श्रीभगवत्यादिबहुग्रन्थानुसारेण उत्सूत्रभाषितशिरोमणिजमालिनिह्नवस्यापि परिमितभवस्य दर्शनात् स चोत्सूत्रमिश्रकथनेऽपि अस्य मरीचिवचनस्य उत्सूत्रत्वमपगच्छति विषमिश्रितान्नस्य विषत्वमिवेत्यलं प्रसङ्गेन । कल्प० ।

उस्सुय-उत्सुक-त्रि० उत्सुवति षु-प्रेरणे मितद्वादित्वात् उकन् इष्टार्थोद्यमे कालक्षेपासहिष्णौ, इष्टार्थोद्युक्ते, च । " अणुस्सुओ उराले सुज्जयमाणो परिव्वय" सूत्र० १ श्रु० १० अ० । अल्पोत्सुकोऽविमनस्कः । आचा० २ श्रु० ।

उस्सुयत्त-उत्सुकत्व-न० पीडोत्पत्तौ यदि म्रियेऽहं तदा वरमित्येवमादिरूपे औत्सुक्ये, आतु० ।

छद्मस्थ एव उत्सुकायते न केवली ।

छउमत्थे णं भंते ! मणूसे हसेज्ज वा उस्सुयाएज्ज वा ! हंता हसेज्ज वा उस्सुयाएज्ज वा जहा णं भंते ! छउमत्थे मणूसे हसेज्ज वा उस्सुआएज्ज वा तहा णं केवली किं हसेज्ज वा उस्सुयाएज्ज वा ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे से केणट्ठेणं जाव नो णं तहा केवली हसेज्ज वा उस्सुआ-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एज्ज वा ? गोयमा । जस्सं जीवा चरित्तमोहणिज्जकम्मस्स उदएणं हसंति वा उस्सुयायंति वा से णं केवलिस्स नत्थि से तेणट्ठेणं जाव नो णं तहा केवली हसेज्ज वा उस्सुयाएज्ज वा । भ० ५ श० ४ उ० ।

उस्सुयभूय-उत्सुकीभूत-त्रि० तत्प्रवर्जिते, सू० १ उ० । "उस्सुयभूएणं अप्पाणेणं" आचा० २ श्रु० ।

उस्सेइम-उत्स्वेदिम-न० उत्स्वेदेन निर्वृत्तमुत्स्वेदिमम् । येन व्रीह्यादिपिष्टं सुराद्यर्थमुत्स्वेद्यते [स्था० ३ ठा०] तादृशे पिष्टोत्स्वेदनार्थमुदके, आचा० २ श्रु० । पिष्टभृतहस्तादिक्षालनजले, कल्प० । "तं उसिणं चेव पाणयं जं सीतोदगेण चेव संसित्तियं उस्सेइमस्स इमं वक्खाणं" ॥

सीतोदगम्मि छुब्भति, दीवगमादी उ से इमं पिट्ठं ।
संसेइमं पुण तिला-सिग्गा छुब्भंति जत्थुदए ॥ ६२ ॥

मरहट्ठविसए उस्सेइ आदीवगा सीओदगे छुब्भंति उस्सेइमे उदाहरणं जहा पिट्ठं । अहवा पिट्ठस्स उस्सेज्जमाणस्स हेट्ठा जं पाणियं तं उस्सेइमं पच्छद्धं गतार्थम् ॥

पढमुस्सेतिसमुदयं, अकप्पकप्पं च होति केसिं चि ।
तं तु ण दुज्जति जम्हा, उसिणं वीसंति जा दएणो ॥ ६ ॥

तं दीवगादि उस्सेति मा एक्कं पि पाणिए दोसु वि तिसु वा णिक्खिवज्जंति तत्थ वितियततिआ य सव्वेसिं वेअकप्पा पढमं पाणियं तं पि अकप्पं चेव केसिं चि आयारियाणं कप्पं तं ण घरूति कम्हा जम्हा उसिणोदगमवि अणुवत्ते दंडेमि संभवति तं पुण कहिं उस्सेति मे सुव्वदेसु अचित्तं भविष्यतीत्यर्थः । नि० चू० १७ उ० ॥

उस्सेतिमपिट्ठादी, तिलाति मीसेति मतिनायव्वं ।
कंकडुगादि उवक्खड, अतिपक्करसं तु पलियाम ॥ २१ ॥

उस्सेतिमं णाम जहा पिट्ठं पुढविकायभायणं आउकायस्स भरेता मीसए अद्दहिज्जंति सुहं सेवत्थेणं उहाडिज्जति ताहे पिढपयणयं रोट्टस्स भरेता ताहे तीसे थालीए जलभरियाए उवरि ठविज्जति ताहे अहोछिड्डेणं तं पि ओसिज्जति हेट्ठा हु तं वा ठविज्जति । नि०चू० १५ उ० ।

उस्सेग-उत्सेक-पुं० उद्-सिच्-घञ्-गर्वे, उद्रेके, उद्धृत्य बहिःसेचने, च । वाच० । न सुखदुःखयोरुत्सेकविषादौ विधेयौ आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

उस्सेह-उत्सेध-पुं० उत्सेधति कारणमतिक्रम्य वर्द्धते उत्-सिध गत्याम-अच् । देहे तस्य शुक्रशोणितरूपसूक्ष्मकारणातिक्रमेण वर्द्धनात्तथात्वम् । वाच० । उच्छ्राये, स्था० १० ठा० । जं० । कर्त्तरि-अच्-उच्चे, त्रि० वाच० । शिखरे, "रययमए उस्सेहे" रजतमय उत्सेधः शिखरमाह च जीवाभिगममूलटीकाकारः "कूटो माडभागः । उच्छ्रयः शिखरमिति । शिखरमत्र माडभागस्य संबन्धि द्रष्टव्यम् । तद् द्वारस्य तस्य प्रागेवोक्तत्वात् । जीवा० ३ प्रति० ।

उस्सेहंगुल-उत्सेधाङ्गुल-न० उत्सेधः "अणंताणं सुहुमपरमाणुपोग्गलाणमित्यादि" क्रमेणोच्छ्रयो वृद्धिनयनं तस्माज्जातमङ्गुलमुत्सेधाङ्गुलम् । अथवा उत्सेधो नारकादिशरीराणामुच्चैस्त्वं तत्स्वरूपनिर्णयार्थमङ्गुलमुत्सेधाङ्गुलम् । अङ्गुलप्रमाणभेदे, अनु० (तद्भेदः अंगुलशब्दे उक्तः)

उहार-उहार-पुं० मत्स्यविशेषे, स किल नावमधस्तले जलस्य नयति । सू० ४ उ० ।

उहट्टु-उद्धृत्य-अव्य० उपरिकृत्वेत्यर्थे, "उहट्टुउहट्टु णिक्खिवे सिया" आचा० २ श्रु० ७ अ० ।

———:****:———

इति श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपागच्छीय-कलिकालसर्वज्ञ-
श्रीमद्भट्टारक-जैनश्वेताम्बराचार्य श्रीश्री १००८
श्री विजयराजेन्द्रसूरिविरचिते अभि-
धानराजेन्द्रे उकारादिशब्द-
सङ्कलनं समाप्तम् ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऊकार

ऊ—ऊ-अव्य० वेञ्-क्विप्-संबोधने, वाक्यारम्भे, दयायां, रक्षायां च । मेदि० । अवसाने, वितर्के, वञ्चनायां, व्यसरे निषेधे, एका० । प्राकृतेऽपि । ऊ गर्हाऽऽक्षेपविस्मयसूचने । ८ । २ । ९९ । ऊ इति गर्हादिषु प्रयोक्तव्यम । गर्हा । ऊ णिल्लज्ज ! प्रक्रान्तस्य वाक्यस्य विपर्यासाशङ्कया विनिवर्तनलक्षण आक्षेपः । ऊ किं मए भणिअं । विस्मये ऊ कह मुणिणा अह आ । सूचने ऊ केण न विण्णाअं । प्रा० ।

ऊ—पुं० अवति रक्षति । अव-क्विप्-ऊठ्-ऊठ्-महादेवे, चन्द्रे, वाच० । तोये, तोयधौ, धरणीधरे, रक्षणकृति, पुरुषे, राजपुत्रके, उपकारे, अपाकृते, कश्चिदर्थे, गले, मङ्गलकुम्भे, दैवे, वणिजरक्षणे च । "ऊकारो रजनीनाथे, पुरुषे राजपुत्रके । उपकारेऽपाकृते च, कश्चिदर्थे प्रवर्तते । ४ गले मङ्गलकुम्भे च दैवे वणिजरक्षणे" । एका० ।

ऊआस—उपवास— पुं० उप वस्-घञ् । ऊच्चोपे । ८ । १ । ७३ । इति उपेत्य स्थाने ऊत् । अभोजने, प्रा० ।

ऊज्झाय—उपाध्याय— पुं० । प्राकृते ऊच्चोपे । ८ । १ । ७३ । इति उपेत्यस्य स्थाने ऊत् । पाठयितरि, प्रा० ।

ऊण—ऊन— त्रि० ऊन- हानौ-अच्-स्वप्रमाणाद्धीने, स्था० ४ ठा० । अधमे, स्था० ६ ठा० । स्वतोऽधमे, सूत्र० २ श्रु० ७ अ० असंपूर्णे, ऊनार्थशब्दयोगे तृतीया एकेनोनः । ऊनार्थकशब्देन वा तृतीया । माषेण ऊनः माषोनः । वाच० । व्यञ्जनाभिलापावश्यकैरसंपूर्णे अष्टाविंशे वन्दनकदोषे, ध० ३ अधि० । "वयणकरेण हि ऊणं जहण्णकालव्वसेसेहिं" । अष्टाविंशदोषमाह-वचनैरालापकैः करणैर्वा अवनतित्रिरावर्तकैर्यून हीनं यद्वन्दते यद्वा कश्चिदत्युत्सुकतया जघन्येनैव कालेन वन्दनं समापयति शेषैर्वा साधुभिर्वन्दिते सति पश्चाद्वन्दते तन्मूलं नाम वन्दनकम । वृ० ३ उ० । अक्षरमात्रापदादिभिर्हेतूदाहरणाभ्यां वा हीनरूपे सूत्रदोषे, यथा अनित्यः शब्दो घटवदिति हेतूनम् । अनित्यः शब्दः कृतकत्वादिति उदाहरणहीनमित्यादि विशे० । अनु० । आ० म० द्वि० ।

ऊणत्त—ऊनत्व—न० हीनत्वे, " ऊणत्तं न कयाइवि इमाणसंखं इमं तु अहिगिच्च " दर्श० ।

ऊणसयभाग—ऊनशतभाग—पुं० ऊनश्चासौ शतभागश्चोनशतभागः । शतभागेऽप्यपूर्यमाणे, । आव० ३ अ० ।

ऊणाइरित्तमिच्छादंसणवत्तिय —ऊनातिरिक्तमिथ्यादर्शनप्रत्यय—त्रि० ऊनं स्वप्रमाणाद्धीनमतिरिक्तं ततोऽधिकमात्मादि वस्तु तद्विषयं मिथ्यादर्शनं तदेव प्रत्ययो यस्य सः । ऊनातिरिक्तमिथ्यादर्शनप्रत्ययवति, । तथा हि कोऽपि मिथ्यादृष्टिरात्मानं शरीरव्यापकमपि अङ्गुष्ठपर्वमात्रं यवमात्रं श्यामाकतन्दुलमात्रं चेति हीनतया चेति तथाऽन्यः पञ्चधनुःशतिकं सर्वव्यापकं चेत्यधिकतयाऽभिमन्यते । स्था० २ ठा० ।

ऊणिय—ऊनित—त्रि० ऊनीभूते, "वावाशीसं वासाइं ऊणिया-ए" जं० २ वक्ष० ।

ऊणोयर—ऊनोदर—न० क-स-ऊने उदरे, प्रव० ६ द्वा० । ऊनमवममुदरं यस्य स ऊनोदरः । ध० ३ अधि० । स्तोकाऽऽहाराभ्यवहारादपूर्णोदरे, पञ्चा० १८ विव० ।

ऊणोयरिया—ऊनोदरिका—(ता) स्त्री० ऊनमुदरमूनोदरं तस्य करणं भावे-वुञ्-ऊनोदरिका । प्रव० ६ द्वा० । ऊनमवममुदरं यस्य स ऊनोदरस्तस्य भाव ऊनोदरता । व्युत्पत्तिरेवेयमस्य प्रवृत्तिस्तूनतामात्रे । बाह्यतपोभेदे, ध० ३ अधि० । स० । पञ्चा० । ऊनोदरिका ऊणोयरिया इति अवमोदरिका ओमोयरिया इति च समानार्थका इति तद्भेदानाह ।

से किं तं ओमोदरिया ओमोदरिया दुविहा पन्नत्ता तं जहा दव्वोमोयरिया य भावोमोयरिया य भ० २५ श० ७ उ० ।

सा द्विधा द्रव्यतो भावतश्च । प्रव० ६ द्वा० । अथवा ।

ओमोयरियं पंचहा, समासेण विहाहियं ।
दव्वओ खित्तकालेणं, भावेणं पज्जवेहि य ॥ १४ ॥

अवममूनमुदरं यस्मिन् तत् अवमोदरं तत्र भवमवमोदरिकं तत्तपः समासेन संक्षेपेण पञ्चधा व्याख्यातं द्रव्यतो द्रव्येण क्षेत्रेण कालेन भावेन च पुनः पर्यायैः । उत्त० ३० अ० ।

तत्र द्रव्यतोऽवमोदरिकामाह—

से किं तं दव्वोमोयरिया य दव्वोमोयरिया दुविहा पण्णत्ता तं जहा उवगरणदव्वोमोयरिया य भत्तपाणदव्वोमोयरिया य । से किं तं उवगरणदव्वोमोयरिया उवगरणदव्वोमोयरिया । एगे वत्थे एगे पादे वियत्तोवगरणसाइज्जणया सेत्तं उवगरणदव्वोमोयरिया । भ० २५ श० ७ उ० ॥

द्रव्यत उपकरणभक्तपानविषया तत्र उपकरणविषयोनोदरिका जिनकल्पिकादीनां न तदभ्यासपरायणानां वा बोद्धव्या न पुनरन्येषां तेषां समुपध्यभावे समग्रसंयमपालनाभावात् । अथवा अन्येषामप्यतिरिक्तोपकरणाग्रहणतो भवत्येवोनोदरता ।

यदुक्तम् ।

जं वट्टइ उवगारे, उवगरणं तं च होइ उवगरणं ।
अइरित्तं अहिगरणं, अजओ य जयं परिहरंतो " इति ।

(परिहरंतोत्ति) आसेवमानः परिहारोऽपरिभोग इति वचनात् । ततोऽयतश्च यत्परिभुञ्जानो भवतीत्यर्थः । प्रव० ६ द्वा० । ध० । ग० ।

से किं तं भत्तपाणदव्वोमोयरिया भत्तपाण दव्वोमोयरिया अट्ठकुक्कुडिअंडगप्पमाणमेत्ते कवले आहारं आहारेमाणे अप्पाहारे दुवालस जहा सत्तमसए पढमुद्देसए (भ. २५ श. ७ उ.) तद्यथा अट्ठकुक्कुडिअंडगप्पमाणमेत्ते कवले आहारमाहारेमाणे अवड्ढोमोयरिया सोलस कुक्कुडिअंडगप्पमाणमेत्ते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कवले आहारमाहारेमाणे दुभागपत्ते चउव्वीसं कुक्कुडिअंडगप्पमाणे जाव आहारेमाणे ओमोयरिया बत्तीसं कुक्कुडिअंडगप्पमाणमेत्ते कवले आहारमाहारेमाणे पमाणपत्ते एक्को एकेण वि घासेण ऊणगं आहारमाहारेमाणे समणे णिग्गंथे नो पकामरसभोइत्ति वत्तव्वंसिया (भ० ७ श० १ उ०) सेत्तं भत्तपाणदव्वोमोयरिया सेत्तं दव्वोमोयरिया भ० २५ श० ७ उ० ॥

भक्तपानोनोदरिका पुनरात्मीयात्मीयाहारमानपरित्यागतो विज्ञाय आहारमानं च " बत्तीसं किर कवला, आहारो कुच्छिपूरओ भणिओ । पुरिसस्स महिलियाए, अट्ठावीसं भवे कवला । कवलस्स य परिमाणं, कुक्कुडिअंडगप्पमाणमेत्तं तु । जं वा अविगिय वयणो, वयणं मिच्छु-त्तिअवीसंतो " इत्यादि । सा च अल्पाहारादिभेदतः पञ्चविधा भवति । यदाहुः ।

अप्पाहारअवड्ढा, दुभागपत्ता तहेव किं चूणा ।
अट्ठ दुवालस सोलस, चउवीस तहेक्कतीसा य ।

अयमत्र भावार्थः । अल्पाहारोनोदरिका नाम एककवलादारभ्य यावदष्टौ कवला इति अत्र चैककवलमाना जघन्या अष्टकवलमाना पुनरुत्कृष्टा द्व्यादिकवलमानभेदा मध्यमा एवं नवभ्यः कवलेभ्यः आरभ्य यावद् द्वादश कवलास्तावदपार्द्धोनोदरिका अत्रापि नव कवला जघन्या द्वादश कवलोत्कृष्टा शेषा तु मध्यमा । एवं त्रयोदशभ्य आरभ्य यावत् षोडश कवलास्तावद्विभागोनोदरिका जघन्यादिभेदत्रयभावना पूर्ववत् एवं सप्तदशभ्यो यावच्चतुर्विंशतिकवलास्तावत्प्राप्तोनोदरिका एवं पञ्चविंशतेरारभ्य यावदेकत्रिंशत्कवलास्तावत्किञ्चिदूनोदरिका जघन्यादिभेदत्रयं पूर्ववत् भावनीयम् । एवमनेनानुसारेण पानेऽपि भणनीया तथा स्त्रीणामप्येवं पुरुषानुसारेण द्रष्टव्या । प्रव० ६ द्वा० ।

विशेषव्याख्या ।

अट्ठकुक्कुडिअंडगप्पमाणमित्ते कवले आहारं आहारेमाणे णिग्गंथे अप्पाहारे दुवालसकुक्कुडिअंडगप्पमाणमित्ते कवले आहारं आहारेमाणे अवड्ढोमोयरिया सोलस कुक्कुडिअंडगप्पमाणमित्ते कवले आहारं आहारेमाणे दुभागपत्ते चउव्वीसं कुक्कुडिअंडगप्पमाणमित्ते कवले आहारं आहारेमाणे ओमोदरियातिवत्तव्वंसिया बत्तीसं कुक्कुडिअंडगप्पमाणमित्ते कवले आहारं आहारेमाणे समणे णिग्गंथे पमाणपत्ते इतो एकेणवि कवलेणं ऊणगआहारं आहारेमाणे समणे णिग्गंथे णो पगामरसभोगीति वत्तव्वंसिया ॥ १२ ॥

अस्य संबन्धप्रतिपादनार्थमाह ॥

लक्खणमतिरित्तं, अइरेगो वि खलु कप्पते उवट्ठी ।
इइ आहारेमाणं, अतिप्पमाणे बहू दोसा ॥

अतिरेकोऽपि खलु कल्पते उपधिरित्युच्यमाने लक्षणमतिप्रसक्तं ततो मा कोऽपि प्रसङ्गेनाहारमप्यतिप्रमाणं कुर्यादिति हेतोराहारमानमधिकृतसूत्रेणोच्यते यतोऽतिप्रमाणं गृह्णमाणे आहारे बहवो दोषाः " हापउज्ज व वामेउज्ज व इत्यादि " रूपाः ॥

प्रकारान्तरेण संबन्धमाह ॥

अहवा विप्पडिग्गहगे, भत्तं गेण्हंति तस्स किं माणं ।
जं जं उवग्गहे वा, चरणस्स तगं तगं भणइ ॥

अथवेति प्रकारान्तरोपदर्शनेन अपिशब्दः संबन्धस्यैव समुच्चये पूर्वसूत्रेण प्रतिग्रहक उक्तः तस्मिंश्च प्रतिग्रहके साधवो भक्तं गृह्णन्ति तस्य भक्तस्य किं प्रमाणमित्यनेन प्रमाणमभिधीयते । अथवा किं संबन्धेन यत् चरणस्य चारित्रस्योपग्रहे वर्त्तते तत्तत्सूत्रकारो वदति । अनेन संबन्धेनायातस्यास्य व्याख्या । अष्टौ कुक्कुट्यण्डकप्रमाणमात्रान् कवलान् आहारमाहारयन् निर्ग्रन्थोऽल्पाहारो भण्यते द्वादश कुक्कुट्यण्डकप्रमाणमात्रान्कवलानाहारमाहारयन् अपार्द्धावमौदर्यः द्वात्रिंशत् कुक्कुट्यण्डकप्रमाणमात्रान्कवलानाहारमाहारयन् किञ्चिदूनावमौदर्यः द्वात्रिंशत् कुक्कुट्यण्डकप्रमाणमात्रान्कवलानाहारमाहारयन् श्रमणो निर्ग्रन्थः प्रमाणप्राप्तः । इत एकेनापि कवलेन ऊनमाहारमाहारयन् श्रमणो निर्ग्रन्थो न प्रकामभोजीति वक्तव्यः स्यात् । एष सूत्राक्षरार्थः ॥

अथ भाष्यप्रपञ्चमाह ॥

नियआहारस्स सया, बत्तीसइमे उ जो भवे भागो ।
तं कुक्कुडिप्पमाणं, नायव्वं बुद्धिमंतेहिं ॥

निजकस्याहारस्य सदा यो द्वात्रिंशत्तमो भवति भागस्तत्कुक्कुटीप्रमाणं पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् । कुक्कुट्यण्डकप्रमाणं ज्ञातव्यं बुद्धिमद्भिः ॥

अत्रैव व्याख्यानान्तरमाह ॥

कुच्छिय कुडी य कुक्कुडि-सरीरगं अंडगं मुहं तीए ।
जायइ देहस्स जओ, पुव्वं वयणं ततो सेसं ॥

कुत्सिता कुटी कुक्कुटीशरीरमित्यर्थः । तस्याः शरीररूपायाः कुक्कुट्या अण्डकमिवाण्डकं मुखं केन पुनः कारणेनाण्डकं मुखमुच्यते । तत आह यत् यस्मात् चित्रकर्मणि गर्भे उत्पाते वा पूर्वं देहस्य वदनं मुखं निष्पद्यते पश्चाच्छेषं ततः प्रथमभावितया मुखमण्डकमुच्यते ।

थलकुक्कुडिप्पमाणं, जं वा नायासिए मुहे खिवति ।
अयमन्नो वि विगप्पो, कुक्कुडिअंडं न वा कवले ॥

इह कवलप्रक्षेपणाय मुखे विडम्बिते यदाकाशं भवति तत्स्थलं भण्यते । स्थलमेव कुक्कुट्यण्डकं स्थलकुक्कुट्यण्डकं तस्य प्रमाणं यदि नायासिते मुखे कवलं प्रक्षिपति । किमुक्तं भवति यावत्प्रमाणमात्रेण कवलेन मुखे प्रक्षिप्यमाणेन मुखं न विकृतं भवति तत्स्थलकुक्कुट्यण्डकप्रमाणम् । गाथायामण्डकशब्दलोपः प्राकृतत्वात् । अयमन्यः कुक्कुट्यण्डकोपमे कवले विकल्पः । अयमन्योऽर्थः कुक्कुट्यण्डकप्रमाणमात्रशब्दस्येत्यर्थः । एतेन कवलमात्रेणादिना संख्या द्रष्टव्या । तदेवं कृता विषमपदव्याख्या भाष्यकृता ।

संप्रति निर्युक्तिविस्तरः ।

अट्ठ त्ति आणिऊणं, छम्मासा हावए उ बत्तीसा ।
नामं चोदगवयणं, पामाए होति दिट्ठंता ॥

अष्टाविति भणित्वा यावदवमौदर्यं तावदेतस्मिन्नन्तरे मध्यं भणितमसंस्तरतः पुनः द्वात्रिंशत्कं प्रमाणं भणितमुत्सर्गः । पुनरयमुपदेशः षण्मासादारभ्य तावत् हापयेत् यावत् द्वात्रिंशत्कवलाः । इयमत्र भावना । यदि योगानां न हानिरुपजायते तदा षण्मासान् उपवासं कृत्वा पारणके एकं सिक्थमाहारयेत् । अथ तेन न संस्तरति ततः पारणके द्वे सिक्थे आहारयेत् । एवमेकैकसिक्थपरिवृद्ध्या तावन्नेयं यावदेकं लम्बनं कवल-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मित्यर्थः। तेनाप्यसंस्तरणे कवलपरिवृद्धिर्विकल्प्या। सा च तावत् यावदेकत्रिंशत्कवलाः षण्मासमुपवासकर्तुमशक्नुवन् एकेन दिवसेनोनं षण्मासक्षपणं कृत्वा एवमेव सिक्थकवलपरिवृद्ध्या पारणकं कुर्यात् । एवमेकावहान्या षण्मासक्षपणं तावत् वक्तव्यं यावच्चतुर्थं कृत्वा पूर्वप्रकारेण सिक्थककवलपरिवर्द्धनेन पारणकं परिभावयेत्। अथ न संस्तरति ततो दिने दिने भुक्त्वा मात्राप्येवमेव सिक्थादारभ्य यावत् द्वात्रिंशत् कवला इति। अत्र चोदकवचनं यद्येवमष्टावित्यादिसूत्रोपनिबद्धं नाममात्रं वचनमात्रमाचार्य आह । सिद्धिप्रासादनिर्मापणाय योगानां संधारणनिमित्तमेतन्मध्यमुपात्तं सूत्रेण ततो न कश्चिद्दोषस्तथा चात्र प्रासादो भवति दृष्टान्तः। स चाग्रे भावयिष्यते।

संप्रति यदुक्तं " छम्मासा होयते उ बत्तीसा " इति तद्भावनार्थमाह ।

छम्मासखवणंतम्मि, सित्थमेगादि लंवणं ।
ततो लंवणवड्ढी जा–बेकतीससमसंथरे ॥
एक्कमेक्कं तु हावेत्ता, दिणं पुव्वकमेण उ ।
दिणे दिणे उ सित्थादी, पाव जुत्तामसंथरे ॥

षण्मासक्षपणान्ते सिक्थमेकमादिशब्दात् असंस्तरणे द्वे त्रीणि चत्वारि इत्यादिपरिग्रहोऽश्रान्तच्छुक्तमवमे संस्तरणे च सिक्थपरिवृद्धिस्तावत्कर्तव्या यावदवमकवलो भवति । तेनाप्यसंस्तरणे द्वात्रिंशदपि द्रष्टव्याः परमेतत्कस्याऽपि कदाचित् अन्यथा प्रकामभोजित्वदोषप्रसक्तेर्यत आह । " एतो एगेण वि कवलेण ऊणगमाहारेमाणे समणे णिग्गंथे पगामरसभोइत्ति वत्तव्वं सिया " इह प्रकामग्रहणेन निकाममपि सूचितमतो द्वे अपि व्याख्यानयति ।

पगामं होइ बत्तीसा, निकामं होइ निच्चसो ।
दुयवि जहया ते उ, गिद्धी हवति वज्जिया ॥

द्वात्रिंशत्कवलाः प्रकामं भवति त एव यन्नित्यशः सर्वकालं भुज्यते तन्निकामम् । एते द्वे अपि द्वात्रिंशत्कवलेभ्यः एकेनापि कवलेनोनमाहारमाहारयतो ऽपरिक्के गृद्धिश्च वर्जिते भवति ।
" अधुनावमोयणमिति " व्याख्यानार्थमाह ।

अप्पावड्ढ दुभागो–मदेसणं नाममेत्तगं नाम ।
एइ दिणमेयतीसं, आहारेउ त्ति जं भणह ॥

यदि नाम प्रतिदिनमेकत्रिंशमपि कवलानाहारापयेदिति भणथ यूयं प्रतिपादयथ तर्हि यत् अल्पार्द्धद्विभागावमौदर्यदेशनं तन्नाममात्रकमेकत्रिंशतोऽपि कवलानां प्रतिदिवसमाहारानुज्ञानात् ।

आचार्य आह ।

भणति अप्पाहारा–दओ समत्थस्स अभिग्गहविसेसा ।
चंदायणादयो विव, सुत्तनिवातो पगामम्मि ॥

भण्यते उत्तरं दीयते अल्पाहारादयः समर्थस्य सतोऽभिग्रहविशेषाश्चान्द्रायणादय इव । सूत्रनिपातः पुनरन्तिमोऽसमर्थस्य प्रकामनिकामनिषेधपर इत्यदोषः । ये चाल्पाहारादयोऽभिग्रहविशेषास्ते बहूनां संयतसंयतीनां साधारणार्थं तथा चाह ।

अप्पाहारग्गहणं, जण य आवस्सयाण परिहाणी ।
न वि जायइ तम्मत्तं, आहारेयव्वे तयं नियमा ।

अल्पाहारग्रहणमल्पार्द्धाद्युपलक्षणं तत इदमल्पार्द्धाद्याहारग्रहणमेतत् ज्ञापयति सिद्धिप्रासादनिर्मापणाय व्यापार्यमाणानामावश्यकानां योगानां यावन्मात्रेणाहारेण परिहानिर्नोपजायते तावन्मात्रं तमभिग्रहविशेषमभिगृह्याहारयितव्यम् ।

अत्रैव दृष्टान्तमभिधित्सुराह ।

दिट्ठंतो (अ) मच्चेणं, पासादेणं तु रायसंदिट्ठे ।
दव्वे खेत्ते काले, भावे ण य संकिलेसेइ ॥

इयं गाथाक्षरयोजना । भावार्थस्तु केनापि राज्ञा अमात्य आज्ञप्तः शीघ्रं प्रासादः कारयितव्यः स चामात्यो द्रव्ये लुब्धस्तान् कर्मकरान् द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च संक्लेशयति कथमित्याह ।

अलोणेण य छुकयं, सुक्खं नो पगामं दव्वतो ।
खेत्ताणुचियं उण्हे, काले उस्सूरभोयणं ॥
भावे न देति विस्सामं, निट्ठुरेहिं य खिसइ ।
जेयं वित्तिं च नो देइ, नट्ठा अकयदंडणा ॥

द्रव्यतोऽलवणसंस्कृतं विशिष्टसंस्काररहितं शुष्कं वातादिना शोषं नीतं वल्लचनकादि तदपि न प्रकामं न परिपूर्णं ददाति । क्षेत्रतो यत्तस्मिन् क्षेत्रे अनुचितं भक्तं वा पानं वा तद्ददाति । तथा उष्णे कर्म कारयति काले उत्सूरे भोजनं दापयति भावतो न ददाति विश्रामम्। निष्ठुरैश्च वचनैः खिसयति। जितामपि च कर्मकरतो भव्यामपि वृत्तिं मूल्यं न ददाति। एवं च सति ते कर्मकराः प्रासादमकृत्वापि नष्टाः पलायिताः स्थितः प्रासादोऽकृतो राज्ञा चैतज्ज्ञातं ततोऽमात्यस्य दारुणा कृता अमात्यपदाच्च्यावयित्वा तस्य सर्वस्वापहरणं कृतमिति। एष दृष्टान्तः ।

सांप्रतमुपनयमाह ॥

अकरणे य पसायस्स उ, जह सो मच्चो उ दंडितो रण्णा ।
एमेव य आयरिए, उवणयणं होति कायव्वं ॥

यथा प्रासादस्याकरणे सोऽमात्यो राज्ञा दण्डित एवमेवाचार्ये उपनयनं भवति कर्तव्यं तथैव राजस्थानीयेन तीर्थकरेण अमात्यस्थानीयस्याचार्यस्य सिद्धिप्रासादसाधनार्थमादेशो दत्तः । स च कर्मकरस्थानीयानां साधूनां द्रव्यादिषु तत्करोति। यथा ते सर्वे पलायन्ते । तथा चाह ।

कज्जम्मि वि नो विगतिं, भत्तं न तं च पज्जत्तं ।
खेत्तं खलु खेत्तादी, कुवसहि उज्झामगे चेव ॥
तइयाए देंति काले, ओमे कुस्सग्गवादिगो निच्चं ।
संगहउवग्गहे वि य, न कुणइ भावे पयंडो य ॥

द्रव्यतः कार्येऽपि समापतिते विकृतिं घृतादिकां न ददाति । भक्तमपि प्रान्तं दापयति । तदपि च न पर्याप्तम् । क्षेत्रतः खलु क्षेत्रादीन् प्रेषयति खलु क्षेत्रं नाम यत्र तु किमपि प्रायोग्यं लभ्यते आदिशब्दाद्यत्र स्वपक्षतः परपक्षतो वाऽपभ्राजना तदादिपरिग्रहः । कुवसतौ वा स्थापयति उज्झामके वा ग्रामे सदा तदा वा प्रेषयति कालतः सदैव तृतीयायां भोजनं ददाति । अवमेऽपि दुर्भिक्षेऽप्युत्सर्गवादिको नित्यं भावतः संग्रहं ज्ञानादिभिरुपग्रहं वस्त्रपात्रादिभिर्न करोति । प्रचण्डश्च प्रकोपनशीलः ॥

लोए लोउत्तरे चेव, दो वि एए असाहगा ।
विवरीयत्ति वणो सिद्धी, अन्ने दो वि व साहगा ॥

लोके लोकोत्तरेऽपि च एतावनन्तरोक्तौ द्वावप्यसाधकौ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्रव्यतो भावतश्च प्रासादस्य विपरीतवर्तिनः पुनरुक्तयथापि सिद्धिरिति कृत्वा अन्यौ द्वावपि द्रव्यतो भावतश्च प्रासादस्य साधकौ ॥

सिद्धी पासायवडिं-सगस्स करणं चउव्विहं होइ ।
दव्वे खेत्ते काले, भावे य न संकिलेसेइ ॥

सिद्धिः प्रासादावतंसककरणं चतुर्विधं भवति तद्यथा द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च । ततो गीतार्थो द्रव्यादिषु साधून् न संक्लेशयति ॥

एवं तु निम्मवंति, ते वि अचिरेण सिद्धिपासाया ।
तेसिं पि इमो उ विही, आहारेयव्वए होति ॥

एवं द्रव्यादिषु संक्लेशाकरणतस्ते साधवोऽचिरेण स्तोकेन कालेन सिद्धिप्रासादं निर्मापयन्ति तेषामपि सिद्धिप्रासादनिर्मापकानामाहारयितव्ये अयं वक्ष्यमाणो विधिस्तमेवाह ॥

अद्धमसणस्स सव्वं, जणस्स कुज्जा दवस्स दो भागे ।
वायपवियारणट्ठा, छब्भागं ऊणगं कुज्जा ॥

अर्द्धमुदरस्य दधितक्रतेमनादिसहितस्याशनस्य योग्यं कुर्यात् द्वौ भागौ द्रव्यस्य पानीयस्य योग्यौ षष्ठं तु भागं वातप्रविचरणार्थमूनकं कुर्यात् । इयमत्र भावना । उदरस्य षड् भागाः कल्प्यन्ते तत्र त्रयो भागा अशनस्य सव्यञ्जनस्य द्वौ भागौ पानीयस्य षष्ठो वातप्रविचरणाय । एतच्च साधारणे प्रावृट्काले चत्वारो भागाः । सव्यञ्जनस्याशनस्य पञ्चमः षष्ठो वातप्रविचरणाय । उष्णकाले द्वौ भागावशनस्य सव्यञ्जनस्य त्रयः पानीयस्य षष्ठो वातप्रविचरणायेति ।

एसो आहारविही, जह भणितो सव्वभावदंसीहिं ।
धम्मावस्सगजोगा, जेण न हीयंति तं कुज्जा ॥

एष आहारविधिर्यथा सर्वभावदर्शिभिः सर्वज्ञैर्भणिता येन च प्रकारेण धर्मनिमित्ता अवश्यकर्तव्या योगा न हीयन्ते तं कुर्यात्साध्विति । व्य० द्वि० ८ उ० ।

अथ क्षेत्रावमौदर्यमाह ।

गामे नगरे तहा य, रायहाणि निगमे य आगरपल्ली ।
खेडे कव्वडदोणमुह-पट्टणमडंबसंबाहे ॥ १६ ॥
आसमपए विहारे, सन्निवेसे समायघोसे य ।
थलसेणाखंधारे, सत्थे संवट्टकोट्टे य ॥ १७ ॥
वाडेसु व रत्थासु य, घरेसु वा एवमित्तियं खित्तं ।
कप्पइ उ एवमाइ, एवं खित्तेणओ भवे ॥ १८ ॥

तिसृभिर्गाथाभिः कुलकम् । एवमिति अमुना प्रकारेण इदश्यप्रकारेण एतावन्मितप्रमाणं क्षेत्रं पर्यटितुं मम वर्तते इति एवमादिर्गृहशालादिपरिग्रहः । अथ एतावत्प्रमाणं भिक्षार्थं भ्रमितव्यमिति निर्द्धारणं क्षेत्रेण अवमौदर्यं भवेत् । तदेव भिक्षाभ्रमणक्षेत्रमाह । कुत्र कुत्र भिक्षार्थं साधुर्भ्रमति ग्रामे गुणान् ग्रसतीति ग्रामस्तस्मिन् ग्रामे । अथवा ग्रसति सहते अष्टादशविधं करम् इति ग्रामस्तस्मिन् । अथवा कण्टकवाटकावृतो जनानां निवासो ग्रामस्तस्मिन् ग्रामे । पुनर्नगरे नाऽत्र कराः सन्ति इति नगरं तस्मिन् । तथा राजधान्यां राजा धीयते यस्यां सा राजधानी तस्यां राजधान्यां राजपीठस्थाने निगमे प्रभूतवणिग्निवासे आकरः स्वर्णाद्युत्पत्तिस्थानं तस्मिन् आकरे पल्ली वृक्षवंशादिगहनाश्रिता प्रान्तजनस्थानं तस्यां पल्ल्याम् । खेटं धूलिप्रकारपरिक्षिप्तं तस्मिन् खेटे । पुनः कर्वटं कुनगरं द्रोणमुखं जलस्थलनिर्गमप्रवेशं तत् भृगुकच्छादिकम् । पत्तनं तु यत्र सर्वदिग्भ्यो जनाः पतन्ति आगच्छन्ति इति पत्तनम् । अथवा पत्तनं रत्नखानिरिति लक्षणं तदपि द्विविधं जलमध्यवर्ति स्थलमध्यवर्ति च । मडम्बं यस्य सर्वदिक्षु सार्द्धतृतीययोजनान्तर्ग्रामो न स्यात् तत्र । तथा संबाधः प्रभूतचातुर्वर्ण्यनिवासः कर्वटशब्दादारभ्य संबाधशब्दं यावद् द्वन्द्वः समासः कर्तव्यः । कर्वटश्च द्रोणमुखं च पत्तनं च मडम्बं च संबाधश्च कर्वटद्रोणमुखपत्तनमडम्बसंबाधास्तेषां समाहारः कर्वटद्रोणमुखपत्तनमडम्बसंबाधं तस्मिन् कर्वटद्रोणमुखपत्तनमडम्बसंबाधे एतेषु स्थानेषु इत्यर्थः (१६) पुनः कुत्र कुत्र इत्याह । आश्रमपदे तापसाश्रमोपलक्षिते स्थाने विहारे देवगृहे पुनः सन्निवेशे यात्रार्थसमागतजनावासे समाजः परिषत् घोषः आभीरपल्ली समाजश्च घोषश्च समाजघोषं तस्मिन् समाजघोषे । स्थलं च सेना च स्कन्धावारश्च स्थलसेनास्कन्धावारं तस्मिन् स्थलसेनास्कन्धावारे । तत्र स्थलं उच्चभूमिभागः सेना चतुरङ्गकटकसमूहः स्कन्धावारः कटकोत्तरणनिवासः सार्थः वाणिकभूतां समूहः प्रतीत एव तत्र संवर्तो भयत्रस्तजनसमवायः कोट्टो दुर्गः संवर्तश्च कोट्टश्च संवर्तकोट्टं तस्मिन् संवर्तकोट्टे (१७) पुनर्वाटेषु वृत्त्यादिपरिक्षिप्तगृहसमूहेषु रथ्यासु सेरिकासु च गृहेषु प्रसिद्धेषु च एतेषु च स्थानेषु अवमौदर्यं कृतं क्षेत्रतो भवति । अथ पुनः प्रकारान्तरेण क्षेत्रावमौदर्यमाह ।

पेडा य अद्धपेडा, गोमुत्तियपतंगवीहिया चेव ।
संबुक्कावट्टा य, गंतुं पच्चागया छट्ठा ॥ १९ ॥

षड्विधा क्षेत्रावमोदरिका वर्तते पेटा पेटाकारा चतुष्कोणा पेटाकारेण गोचर्यां कृत्वा अवमोदरीकरणमेवमर्द्धपेटाकारेण गोचरीकरणं गोमूत्रिकाकारेण पतङ्गवीथिका पतङ्गः शलभस्तस्य वीथिका उड्डयनं पतङ्गवीथिका अनियता निश्चयरहिता शलभोड्डयनसदृशीत्यर्थः । पुनः शम्बूकावर्तः शम्बूकः शङ्खस्तद्वदावर्तो भ्रमणं यस्यां सा शम्बूकावर्ता साऽपि द्विविधा अभ्यन्तरशम्बूका बहिःशम्बूका च । शङ्खनाभिरूपक्षेत्रे मध्याद्बहिर्गम्यते सा अभ्यन्तरशम्बूकावर्ता विपरीता बाह्यात् मध्ये आगमनरूपा बहिःशम्बूकावर्ता पञ्चमी । पुनः षष्ठी आयतं गन्तुं प्रत्यागमाऽऽख्येया आदित एव आयतं सरलं गत्वा यस्यां प्रत्यागमो भवति सा षष्ठी ज्ञेया इत्यर्थः । एतासां भिक्षाचर्याणामपि अवमौदर्यत्वं ज्ञेयं यतो हि अवमोदर्यार्थमेव ईदृक्प्रकारेणैव साधुराहारार्थं भ्रमति तस्मान्नात्र दोषः ॥ १९ ॥

दिवसस्स पोरिसीणं, चउण्हं पि जत्तिओ भवे कालो ।
एवं चरमाणो खलु, कालोमाणं मुणेयव्वो ॥ २० ॥

दिवसस्य चतसृणां पौरुषीणां प्रहराणां यावद् घटिकाचतुष्टयादिकोऽभिग्रहविषयः कालो भवति एवममुना प्रकारेण कालेन चरमाण इति गोचर्यां चरतः साधोः खलु निश्चयेन कालावम इति कालेन अवमं कालावमं मन्तव्यः ॥

पुनः कालावमौदर्यमेव प्रकारान्तरेणाह ॥

अहवा तइयपोरिसीए, ऊणाए घासमेसंते ।
चउभागूणाए वा, एवं कालेणओ भवे ॥ २१ ॥

अथवा तृतीयायां पौरुष्यामूनायां किञ्चिद्धीनायां ग्रासमाहारमेषयन् गवेषणां कुर्वन् वा अथवा चतुर्भागेन ऊनायां तृतीयपौरु-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भ्यां भिक्षा चर्या साधोरुक्तास्ति कालेन अवमोदर्यं भवेत् । उत्त० ३ अ० ॥

अथ भावावमोदर्यमाह ॥

से किं तं भावोमोयरिया ? अणेगविहा पण्णत्ता ? तं जहा अप्पकोहे जाव अप्पलोभे अप्पसद्दे अप्पझंझे अप्पतुमं तुमे सेत्तं भावोमोयरिया सेत्तं ऊनोमोयरिया ॥

अल्पक्रोधः पुरुषः अवमोदरिका भवत्यभेदोपचारादिति (अप्पसद्देत्ति) अल्पशब्दो रात्र्यादावसंयतजागरणभयात् (अप्पझंझेत्ति) इह झञ्झा विप्रकीर्णा कोपविशेषाद्वचनपद्धतिः स्वल्पाल्पीयसी । "झंझा अणत्थ य बहुप्पला विसं अप्पतुमं तुमेति" तुमतुमो हृदयस्थः कोपविशेष एव । भ० २५ श० ७ उ० । भावादूनोदरिका क्रोधादिपरित्यागो यत्र तत्कम् । "कोहाईणमणुदिणं, चाओ जिणवयणभावणाओ य । भावेणोणोदरिया, पन्नत्ता वीयरागेहिं ॥" प्रव० ६ द्वा० । द० । ग० । स्था० औ०॥

इत्थी वा पुरिसो वा, अलंकिओ वा णलंकिओ वा वि ।
अन्नयरवयत्थो वा, अन्नयरेणं च वत्थेणं ॥ २२ ॥
अन्नेणं विसेसेणं, वन्नेणं भावमणुमुयंते उ ।
एवं चरमाणो खलु, भावोवमाणं मुणेयव्वं ॥ २३ ॥

युग्मम् एवमनुना प्रकारेण चरमाणः इति प्राकृतत्वाच्चरमाणस्य भिक्षायां भ्रममाणस्य साधोः खलु निश्चयेन (भावोवमाणं इति) भावोऽवमत्वं भावावमोदर्यं (मुणितव्यं) ज्ञेयमित्यर्थः । भावेन अवमोदर्यं भावावमोदर्यं कोऽर्थः । यदा कश्चित्साधुरिति चिन्तयति अद्य कश्चिद्दाता भावमेतादृशं स्वरूपम् (अणुमुयंते इति) अनुन्मुञ्चन् अत्यजन् एतादृशस्वरूपं भजन् मह्यम् आहारं दास्यति तदाऽहं ग्रहीष्यामि नान्यथेति भावः । को दाता कीदृशं च भावमत्यजन् तदाह (इत्थी) स्त्री वा पुरुषो वा अलंकृतः आभरणादिसहितोऽथवाऽनलंकृतोऽलङ्कारै रहितः (अन्नयरवयत्थो) अन्यतरवयस्थो बालतरुणस्थविरादिकानां त्रयाणां वयसां मध्ये अन्यतरस्मिन् एकस्मिन् वयसि स्थितः। अन्यतरेण पट्टकूलादिवस्त्रेण उपलक्षितः । २२ । अन्येन विशेषेण कुपितप्रहसितादिनाऽवस्थाभेदेन उपलक्षितः वर्णेन श्वेतरक्तादिना उपलक्षितः भावं पर्यायमुक्तरूपमलङ्कारादिकम (अणुमुयंते) अनुन्मुञ्चन् एतादृशः सन् मह्यं आहारं दास्यति तदा ग्रहीष्यामि इत्यभिग्रहधारणेन भावावमोदर्यं ज्ञेयम् ॥

अथ पर्यायावमोदर्यमाह ।

दव्वे खित्ते काले, भावम्मि आहिया उ जे भावा ।
एएहिं ओमचरओ, पज्जवचरओ भवे भिक्खू ॥ २४ ॥

द्रव्ये अशनपानादौ क्षेत्रे पूर्वोक्ते ग्रामनगरादौ काले पौरुष्यादौ भावे स्त्र्यादौ आख्याताः कथिता ये भावाः पर्यायास्तैः सर्वैरपि द्रव्यादिपर्यायैः अवममवमोदर्यं चरति सेवति यः सोऽवमचरो भिक्षुः पर्यवचरको भवेत् । पर्यायावमोदर्यचरको भवतीत्यर्थः । एकसिक्थकाद्यल्पाहारेण द्रव्यतोऽवमोदर्यं स्यादेव परं ग्रामादौ क्षेत्रतः पौरुष्यादौ कालतः स्त्रीपुरुषादिषु भावतः कथमवमोदर्यं स्यात् उत्तरं क्षेत्रकालभावादिष्वपि विशिष्टाऽभिग्रहवशादवमोदर्यं स्यादेव । इह पुनः पर्यायग्रहणेन पर्यवप्राधान्यविवक्षया पर्यवावमोदर्यं ज्ञेयम् । २४ । उत्त० ३० अ० ।

ऊधारिता-अवधारयितृ-त्रि० निश्चितं धर्त्तरि, " अभिक्खणं अभिक्खणं ऊधारिता " । अभीक्ष्णमवधारयिता । शङ्कितस्यान्यस्य निःशङ्कितस्यैवमेवायमित्येवं वक्ता । अथवा अवहारयिता परगुणानामपहारकारी यथा तथा दासादिकमपि परं भणति दासचोरस्त्वमित्याद्येकादशमसमाधिस्थानम् । दशा० १ अ० ।

ऊमिणण-अवमान-न० । लोकशास्त्रप्रसिद्धे प्रोक्षणके, " चउण्हं कमिणणं अहिगासु नत्थि उ विरोहो " ध० २ अधि० ।

ऊरण-ऊरण-पुं० अरभ्रे, रा० । मेषे, विशे० ।

ऊरस-औरस-पुं० उरसा वर्तत इति औरसः । बलवति बाहुबलिनीव पुत्रभेदे, स्था० १० ठा० ।

ऊरुघंटा-ऊरुघण्टा-स्त्री० जङ्घाघण्टायाम्, ज्ञा० १८ अ० ।

ऊरुयावल-ऊरुकावल-पुं० ऊरुकयोरावलनमूरुकावलः । शारीरदण्डभेदे, । प्रश्न० १ सं० ३ द्वा० ।

ऊरुयाल-ऊरुदार-पुं०ऊर्वोर्जङ्घयोर्दारो दारणा ज्वालो वा ज्वालनं यः स तथा । शारीरदण्डभेदे, प्रश्न० १ सं० ३ द्वा० ।

ऊस-उस्र-पुं० वसन्ति रसा अत्र वस-रक्-नि-न पत्वम् रस्रोपे " लुप्तयवशषसां दीर्घः । ८ । १ । ४३ । इति सुसाधःस्थरेफस्य सकारस्यादेः स्वरस्य दीर्घः । किरणे, प्रा० ।

ऊष-पुं० ऊष रुजायाम्, क०। पांशुक्षारे, दृ० ५ अ०। ऊषरादिक्षेत्रोद्भवे लवणिमनि, लवणसंमिश्ररजोविशेषे, पिं० । यवक्षारे ऊषरं क्षेत्रम् प्रज्ञा० १ पद । जीवा०। मानुषनगप्रथमकूटस्वदूर्यदूपरं क्षेत्रम् पल्योपमस्थितिके नागदेवे, द्वी० । कर्णरन्ध्रे चन्दनाढ्यौ, तत्र चन्दनाढ्योर्विरहितापकत्वात्कर्णच्छिद्रस्य अल्पजलादिप्रवेशेनोद्वेगहेतुत्वात् क्षारमृत्तिकाया मलापहारकत्वात्तथात्वमिति भेदः । ऊषति अन्धकारं मेचकं वा । प्रभाते, रेतसि, न० तस्य क्षारत्वात्तीक्ष्णत्वाद्गुणत्वाच्च तथात्वम् । क्षारमृत्तिकायाम्,स्त्री० वाच०।

ऊसट्ठ-उत्सृष्ट-न० उद् सृज्-क्त- । उत्सर्जने, उच्चारादेस्त्यागे, आचा० २ श्रु० ।

ऊसढ-उत्सृत- त्रि० उच्चे, जी० ३ प्रति० । जं० । उत्कृष्टे, व्य० ६ उ०। " ऊसढाति वा गब्भियाति वा" आचा०२ श्रु० । "वन्नाइ उयमूसढमित्याद्युक्ते शुभवर्णगन्धादियुक्ते प्रव०२द्वा०। दशा०। आचा० । "रसियं रसियं ऊसढं ऊसढं मणुमं मणुमं " सम० ।

ऊसण-उषण-न० उष-ल्युट् मरिचौ, पिप्पलीमूले, शुण्ठ्यां, च। चित्रके, पुं० । पिप्पल्यां, चव्ये च स्त्री० । मरीच्यादीनां जिह्वोत्तेजकतया तथात्वम् वाच० ।

ऊसण्हसण्हिया--उच्छ्लक्ष्णश्लक्ष्णिका---स्त्री० । उत् प्राबल्येन श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका अनन्तेषु परमाणुषु, अनन्तैः परमाणुभिरेकस्या उच्छ्लक्ष्णश्लक्ष्णिकाया अभिधानात् ॥ प्रव० २५४ द्वा० । " अणंताणं परमाणुपोग्गलाणं समुदयसमितिसमागमेणं सा एगा उसण्हसणिया' अनन्तानां व्यवहारिकपरमाणुपुद्गलानां समुदयाश्चाद्विसमुदयास्तेषां समितयो मिलनानि तासां समागमपरिणामवशादेकीभवनं समुदयसमितिः समागमस्तेन या परिमाणमात्रेति गम्यते । सा एका अत्यन्तं श्लक्ष्णश्लक्ष्णा सैव श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका । उत्प्राबल्येन श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका उच्छ्लक्ष्णश्लक्ष्णिकाः भ० ६ श० ७ उ० ।

ऊसत्त-उत्सक्त-त्रि० ऊर्द्ध सक्त उत्सक्तः । उल्लोचतले उपरिसंबद्धे, " आसत्तो सत्त विउलवट्टवग्घारियमल्लदामकलावं " आ० म० प्र०।

ऊसर-ऊषर-न० ऊष मत्वर्थीयो रः ऊषं क्षारमृत्तिकां राति द-

हति क-त्वा । क्षारमृत्तिकायुक्ते देशे, यस्मिन्नुप्तं वीजं न प्ररोहति । यत्र तृणादेरसम्भवः । आ० । प्र० । यो० ।

ऊसरण-उत्सरण-न० उद्-सृ-ल्युट् । अनुत्साहोत्सन्नेत्सच्छे ८।१।१४। इति त्स परस्यादेरुत ऊत् प्रा० । आरोहणे, " थाणू मरणं तओ समुप्पयणं " विशे० ।

ऊसरदेस-ऊपरदेश- पुं० ऊषरविभागे, आ० ॥

ऊसल-उल्लस-उद्-लस्-धा० उल्लासे, उल्लसो ऊसलोसुम्भ णिल्लसपुलआअगुञ्जोल्लारोआः । ८ । ४ । २०२ । इत्युल्लसेरूसलादेशः । ऊसलइ उल्लसइ उल्लसति । प्रा० ॥

ऊसव-उत्सव-उद्-सू-अप् अनुत्साहोत्सन्ने त्स च्छे । ८।१।१४ इत्यादेरुत ऊत्वम् । प्रा० । आनन्दजनकव्यापारे,"उसवो अरथ जत्तपाणं विसिट्ठं ऊसवाविजाति"नि०चू०१६उ०। इंदाय महा पायं पञ्जनियया ऊसवा कुति"ऊसवाः प्रायः प्रतिनियता वर्षमध्ये प्रतिनियतदिवसभाविन इन्द्रादिमहाः एते च भरतकाले प्रवृत्ताः "अन्नया कयाइं ऊसवे इन्दजगमियाइं" आ०म०प्र०।"ऊसवे जहा पगंति पव्वतियवक्खे आभीराणि ताणि साहूण पासे धम्मं सुणंति ताहे देवलोगे वण्णंति पवं ते सिं अत्थधम्मे बुद्धी । अन्नया कयाइ इंदमहे वा अन्नम्मि वा ऊसवे नगरिं गयाणि आरिसा बारवती तत्थलोगं पेच्छंति मंडियपसाहियसुगंधविविलेवयत्थं ताणि तं दट्ठूण भणंति । एस देवलोगो जो सो तया साहूहिं वण्णिओ पत्ताहे जइ वच्चामो तं सुंदरतरं करेमो जेण अम्ह वि देवलोगे उववज्जामो । ताहे ताणि गंतूण साहूण साहिंति जो तुब्भेहिं अम्हं कहिओ देवलोगो सो पच्चक्खो अम्हेहिं दिट्ठो । साहू भणंति न तारिसो देवलोगो अतो अणारिसो अणंतगुणो तत्तो ताणि अब्भहियजायविम्हयाणि पव्वइयाणि । एवं ऊसवेण सामायरिओ।आ०म० द्वि० । (पार्श्वस्थनामुत्सवा अन्यत्र)

ऊसवकज्ज-उत्सववर्ज्य-- न० उत्सवाभावे, " ऊसवकज्जकयाइ वि, लहुओ लहुया अभिक्खगहणम्मि " व्य० १ उ० ॥

ऊसविय-उच्छ्राय्य- अव्य० ऊर्ध्वं कृत्वेत्यर्थे, " तणाइं ऊसविय अमणिणिसिरंति " तृणानि कुशवीकादीनि पौनःपुन्येनोर्ध्वस्थानि कृत्वा सूत्र० २ श्रु० २ अ० ॥

उच्छ्रित- त्रि० ऊर्ध्वीकृते, ज्ञा० ८ अ० । आ० म० प्र० ॥

उच्छूसित त्रि० ऊर्ध्वीकृते, ज्ञा० ८ अ० ॥

ऊसवियरोमकूव-उच्छ्रितरोमकूप-- त्रि० उच्छ्रितानि रोमाणि कूपेषु तदन्धेषु यस्य स तथा जातरोमाञ्चे, भ० ११ श० ११ उ० कल्प० " ऊसवियरोमकूवा उद्दिय अणगारे णिद्दाए दिट्ठा " आ० म० द्वि० ॥

ऊससण-उच्छ्वसन-- त्रि० उच्छ्वसितं कुर्वति, " ऊससमाणे नीससमाणे वा कासमाणे वा जायमाणे वा " आचा० २ श्रु० ॥

ऊससिय-उच्छ्वसित-न०उच्छ्वसनमुच्छ्वसितं भावे निष्ठा क्तप्रत्ययः अनक्षरश्रुतभेदे, नं० । आ० म० प्र० । विशे० । ऊर्ध्वं प्रबलं श्वसितमुच्छ्वसितम् । ऊर्ध्वश्वासग्रहणे , " अग्नत्थ ऊससिएणं " अन्यत्रोच्छ्वसितात् ऊर्ध्वश्वासग्रहणात् । उत् ऊर्ध्वं प्रबलं वा श्वसितमुच्छ्वसितमिति व्युत्पत्तेः । ध० २ अधि० । आव० ।

ऊसर-उच्छ्वसितृ-त्रि० शीलार्थे तृन्-तत्स्थाने, । शीलाद्यर्थस्येरः ८।२।१४५। इति तृन इरादेशः । उच्छ्वसनशीले, प्रा० ।

ऊसारिय-उत्सारित-त्रि० प्रलम्बीकृते, ज्ञा० १८ अ० ।

ऊसास-उच्छ्वास-पुं० उत् ऊर्ध्वं श्वास उच्छ्वासः । आ० चू० ४ अ० । अनुत्साहोत्सन्ने त्सच्छे ८।१।१४ । इतिच्छपरस्य उत ऊत् । प्रा० । ऊर्ध्वगमनस्वभावे श्वासे, जो० १ पाहु० । अहोरात्रादिषूच्छ्वाससमानम् इह अहोरात्रे मासे वर्षे वर्षशते चोच्छ्वासपरिमाणमेवं पूर्वसूरिभिः संकलितम् । "एगं च सयसहस्सं, ऊसासाणं तु तेरस सहस्सा । नउयसयमम्गहिया, दिवसनिसि होंति विन्नेया । मासचियऊसासा, लक्खा तेत्तीससहस्स पणनऊइं । सत्त य सयाइं नाएसु, कहियाइं पुव्वसूरिहिं । चत्तारि उ कोडी उ, लक्खा सत्ते व होंति नायव्वा । अडयालीससहस्सा, वारिसिया होंति वरिसेणं " जीवा० ३ प्रति० । संख्येयावलिकात्मके काले, " संखेज्जा आवलियाओ ऊसासो " किल षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयेनावलिकानां क्षुल्लकभवग्रहणं भवति तानि च सप्तदश सातिरेकाणि उच्छ्वासनिःश्वासकालः । एवञ्च सङ्ख्याताः आवलिका उच्छ्वासकालो भवति भ० ६ श० ७ उ० । अनु० । कर्म० (एकेन्द्रियादीनामुच्छ्वासवक्तव्यता आण शब्दे उक्ता) उत्पवने, मरणे, " छेदण ऊसास आणाहियासे य " बृ० १ उ० ।

ऊसासग-उच्छ्वासक-पुं० उच्छ्वसितीत्युच्छ्वासकः । आनपर्याप्तिपरिनिष्पन्ने, विशे० । आ०म०द्वि० ।

ऊसासणाम-उच्छ्वासनामन्-न० यदुदयवशादात्मन उच्छ्वासनिःश्वासलब्धिरुपजायते तस्मिन्नामकर्मभेदे, कर्म० । प्रव० । आ० । पं०सं० । "ऊससणलद्धिजुत्तो,हवेइ ऊसासणामवसा" उच्छ्वासनामवशादुच्छ्वासनामकर्मोदयेन उच्छ्वसनलब्धियुक्तो भवति उच्छ्वासनिःश्वासलब्धितो जायते । यदुदयादुच्छ्वसनलब्धिरात्मनो भवति स उच्छ्वासनाम सर्वलब्धीनां क्षायोपशमिकत्वादौदयिकी लब्धिर्न संभवतीति चेत् नैतदस्ति वैक्रियाहारकलब्धीनामौदयिकीनामपि संभवाद्वीर्यान्तरायक्षायोपशमैरपि चात्र निमित्तीभवतीति सत्यप्यौदयिकत्वे क्षायोपशमिकव्यपदेशोऽपि न विरुध्यते । कर्म० ।

ऊसासणिरोह-उच्छ्वासनिरोध-पुं० बालमरणसाधके प्राणनिरोधे, व्य० १० उ० ।

ऊसासणीसास-उच्छ्वासनिःश्वास-पुं० उच्छ्वासेन सह निःश्वासः प्राणसञ्ज्ञके कालभेदे, " एगे ऊसासनीसासे एस पाणुत्ति वुच्चइ " भ० ६ श० ७ उ० ।

ऊसासद्धा-उच्छ्वासाद्धा-स्त्री० उच्छ्वासप्रमितकालविशेषे, भ० ६ श० ७ उ० ।

ऊसासपज्जत्ति-उच्छ्वासपर्याप्ति-स्त्री० पर्याप्तिभेदे, यया पुनरुच्छ्वासप्रायोग्यवर्गणा दलिकमादायोच्छ्वासरूपतया परिणमय्यालम्ब्य च मुञ्चति सा उच्छ्वासपर्याप्तिः । कर्म० ।

ऊसित्त-उत्सिक्त-न० उत्सेचनमुत्सिक्तम् भावे क्तः । अनुत्साहोत्सन्नेत्सच्छे ८ । १ । १४ । इति उत ऊत् प्रा० । सौवीरस्य उत्सेचने, बृ० २ उ० । किट्टमुत्सिक्तं ग्राह्यम् ।

अथोत्सिक्तपदं भावयति ।

समणत्थमपरपासंमे, जावंतिय अप्पणो य मुत्तणं ।

उड्ढो नत्थि त्ति कप्पो, उस्सिंचणामो जयट्ठाए ॥

काञ्जिकस्य सौवीरिणीतो यत्किञ्चकाशनं तदुत्सिक्तं तच्च पञ्चधा श्रमणार्थं साधूनामर्थायेत्यर्थः । स्वगृहपतितमिश्रं २ पाष-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पिशामिश्रं ३ यावदर्थिकमिश्रम् ४ आत्मार्थकृतम् ५ । एतान् पञ्चभेदान् मुक्त्वा अपरः षष्ठो विकल्पो नास्ति यदर्थमुत्सेचनं भवेत् । अत्र चात्मार्थे यद् गृहिनिरुत्सिक्तं तदेव ग्रहीतुं कल्पते न शेषाणीति । दूषिताऽऽयनपुंसकभेदे, " दूसी दुविहो ऊसितो जो सावच्चो ऊसित्तो जो अणवच्चो " पं० भा० ।

ऊसिय–उच्छ्रित–त्रि० उद्–श्रि–क्त । उन्नते, कल्प० । औ० । ज्ञा० । उच्चैः कृते, उत्त० २२ अ० । उच्चे, विपा० १ श्रु० ६ अ० । ऊर्ध्वीकृते, औ० । उत्तुङ्गे, कल्प० । प्रख्याते, सूत्र० २ श्रु० ७ अ० । पङ्कजले, अतिलङ्घ्य परिव्यवस्थिते, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । प्रासादादौ वास्तुभेदे, नि०चू०१उ० "ऊसियं जं उच्छ्रयेण कयं " आ० चू० ४ अ० । आव० ।

उत्सृत–त्रि० प्रबलतया सर्वासु दिक्षु प्रसृते, चं० १७ पाहु० । स० । लम्बमाने, मुत्तजालतरुसियहेमजालसमावक्कं " रा० ।

ऊसियज्झय–उच्छ्रितध्वज–पुं० ऊर्ध्वीकृतजयपताकायाम्, विपा० १ श्रु० २ अ० ।

ऊसियपभाग–उच्छ्रितपताक–त्रि० ऊर्ध्वीकृतपताकायुक्ते, "जहा पभितादे ऊसियपभागं णयरं कयं " आ० म० द्वि० । " ऊसियपभागगगणतलमणुलिहंता " रा० ।

ऊसियफलिह–उच्छ्रि (स्सृ) तस्फटिक (परिघ)–पुं० उच्छ्रितं स्फटिकमिव स्फटिकमन्तःकरणं यस्य स तथा । मौनीन्द्रप्रवचनावाप्तपरितुष्टमनसि, इति वृद्धव्याख्या केचित्त्वाहुः उच्छ्रितः अर्गला स्थानादपनीय ऊर्ध्वीकृतो न तिरश्चीनः कपाटपश्चाद्भागादपनीत इत्यर्थः । उत्सृतो वाऽपगतः परिघोऽर्गला गृहद्वारे यस्यासौ उत्सृतपरिघः । उच्छ्रितपरिघो वा औदार्यातिरेकादतिशयदानदायित्वेन भिक्षुकप्रवेशार्थमनर्गलितगृहद्वारे, "ऊसियफलिहे अवंगुयदुवारे चियत्तंते उरपरघरप्पवेसे " ज्ञा० ५ अ० । दशा० । औ० ।

ऊसुअ–उत्सुक–त्रि० उद्गताः शुकाः यस्मात्सः । अनुत्साहोत्सन्नेत्सच्छे ८ । १ । १४ इति उत्र आगस्यादेरत ऊत्वम्, ॥ उत्कण्ठायुक्ते, प्रा० ।

ऊसुम्भ–उल्लस–धा० भ्वा–पर–अक–सेट्–उल्लासे, उल्लसेरूसलोसुम्भणिल्लसपुलआअंगुञ्जोल्लारोआः ८।४।२०१ इत्युल्लसेरूसुम्भादेशः ऊसुंभइ उल्लसइ उल्लसति प्रा० ।

ऊह–ऊह–पुं० ऊह–घञ् । पृथिव्यादिसम्बन्धिन्यामोघमात्रसंज्ञायाम्, विशे० । मन्दमन्दप्रकाशे स्थाणुपुरुषोचितदेशे किमयं स्थाणुरुत पुरुष इत्येवमात्मके तर्के, सूत्र० २ श्रु० ४ अ० बुद्धिगुणभेदे, स च विज्ञातमर्थमवलम्ब्यान्येषु तथाविधेषु व्याप्त्या वितर्कणम् (ध० १ अधि०) स्वरूपप्रतिपादनं स तर्कः कीर्त्यते ऊह इति च संज्ञान्तरं लभते र० ३ परि० । (तत्प्रामाण्यादिनिरूपणं तर्कशब्दे) चतुरशीतिमूहाङ्गशतसहस्रेषु, जो० २ पाहु० ॥ आगमाविरोधिना तर्केण आगमार्थस्य संशयपूर्वपक्षनिवारणपूर्वकोत्तरपक्षव्यवस्थापनेन निर्णयरूपे परीक्षणे, अनन्वितार्थकविभक्त्यादिकल्पने पदान्तरेण आकाङ्क्षापूरणार्थेऽध्याहारे, सांख्योक्ते ताराख्ये भेदे, आरोपे, समूहे च । वाच० ।

ऊहंग–ऊहाङ्ग–न० चतुरशीतिमहाऽरूरूशतसहस्रेषु, जो० २ पाहु० ॥

ऊहा–ऊहा–स्त्री–ऊह–अ० स्त्रीत्वात् टाप् । अध्याहारे, वाच० । वितर्कात्मिकायां तर्कबुद्धौ, उत्त० ३ अ० । आ० म० द्वि० ॥

ऊहापन्नत्त–ऊहाप्रज्ञप्त–त्रि० तर्कबुद्ध्या प्रणीते, " ऊहापन्नत्तं घोरियसियभूअत्तराहिं इमं " आ० म० द्वि० ।

इति श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपागच्छीय–कलिकालसर्वज्ञ–
श्रीमद्भट्टारक–जैनश्वेताम्बराचार्य श्रीश्री १००८ श्री
विजयराजेन्द्रसूरिविरचिते अभिधानराजेन्द्रे
ऊकारादिशब्दसङ्कलनं समाप्तं–
समाप्तश्चायं द्वितीयो भागः ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

॥ श्री ॥

इति श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपागच्छीय-
कलिकाल-सर्वज्ञ-श्रीमद्भट्टारक
जैनश्वेताम्बराचार्य श्रीश्री
१००८ श्रीविजयराजेन्द्र-
सूरिविरचिते अभिधान
राजेन्द्रे शब्दसङ्कलने

द्वितीयो भागः समाप्तः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आभार-प्रदर्शनम् ।

सुविहितसूरिकुलतिलकायमान–सकलजैनागमपारदृश्व–आबालब्रह्मचारी–जङ्गमयुगप्रधान–प्रातःस्मरणीय–परमयोगिराज–क्रियाशुद्धयुपकारक–श्री सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय—सितपटाचार्य–जगत्पूज्य–गुरुदेव–भट्टारक श्री १००८ प्रभु श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराजने 'श्रीअभिधानराजेन्द्र' प्राकृत मागधी महाकोश का सङ्कलनकार्य मरुधरदेशीय श्रीसियाणा नगर में संवत् १९४६ के आश्विनशुक्लद्वितीया के दिन शुभ लग्न में आरम्भ किया । इस महान् संकलनकार्य में समय समय पर कोशकर्त्ता के मुख्य पट्टधर शिष्य-श्रीमद्धनचन्द्रसूरीजी महाराजने भी आपको बहुत सहायता दी । इस प्रकार करीब साढे चौदह वर्ष के अविश्रान्त परिश्रम के फलस्वरूप में यह प्राकृत बृहत्कोष संवत् १९६० चैत्र—शुक्ला १३ बुधवार के दिन श्री सूर्यपुर (सूरत—गुजरात) में बनकर परिपूर्ण (तैयार) हुआ ।

ग्वालियर रियासत के राजगढ (मालवा) में गुरुनिर्वाणोत्सव के दरमियान संवत् १९६३ पोष-शुक्ला १३ के दिन महातपस्वी—मुनि श्रीरूपविजयजी, मुनिश्रीदीपविजयजी, मुनिश्रीयतीन्द्रविजयजी, आदि सुयोग्य मुनि महाराजाओं की अध्यक्षता में मालवदेशीय-छोटे बडे ग्राम-नगरों के प्रतिष्ठित-सद्गृहस्थों की सामाजिक मिटिंग में सर्वानुमत से यह प्रस्ताव पास हुआ कि-मर्हुम-गुरुदेव के निर्माण किये हुए 'अभिधानराजेन्द्र' प्राकृत मागधी महाकोश का जैन जैनेतर समानरूप से लाभ प्राप्त कर सकें, इस लिये इसको अवश्य छपाना चाहिये, और इसके छपाने के लिये रतलाम (मालवा) में सेठ जसुजी चतुर्भुजजीत्-मिश्रीमलजी मथुरालालजी, रूपचंदजी रखबदासजीत्-जागीरथजी, बीसाजी जवरचंदजीत्-प्यारचंदजी और गोमाजी गंभीरचंदजीत्-निहालचंदजी, आदि प्रतिष्ठित सद्गृहस्थों की देख-रेख में श्रीअभिधानराजेन्द्र-कार्यालय और 'श्रीजैनप्रभाकरप्रिंटिंग प्रेस स्वतन्त्र खोलना चाहिये । कोष के संशोधन और कार्यालय के प्रबन्ध का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समस्त--जार मर्हुम--गुरुदेव के सुयोग्य--शिष्य मुनिश्रीदीपविजयजी (श्रीमद्विजयभूपेन्द्रसूरिजी) और मुनिश्रीयतीन्द्रविजयजी को सोंपा जाय। बस, प्रस्ताव पास होने के बाद सं० १९६४ श्रावणसुदि ५ के दिन उक्त कोश को छपाने के लिये रतलाम में उपर्युक्त कार्यालय और प्रेस खोला गया और उक्त दोनों पूज्य--मुनिराजों की देख--रेख से कोश क्रमशः छपना शुरू हुआ, जो सं० १९८१ चैत्र--वदि ५ गुरुवार के दिन संपूर्ण छप जाने की सफलता को प्राप्त हुआ।

इस महान् कोश के मुद्रणकार्य में कुवादिमतमतंगजमदभञ्जनकेसरी--कलिकालसिद्धान्तशिरोमणि--प्रातःस्मरणीय—आचार्य--श्रीमद्धनचन्द्रसूरिजी महाराज, उपाध्याय--श्रीमन्मोहनविजयजी महाराज, सच्चारित्री--मुनिश्रीटीकमविजयजी महाराज, पूर्णगुरुदेवसेवाहेवाक--मुनिश्रीहुकुमविजयजी महाराज, सत्क्रियावान्--महातपस्वी--मुनिश्रीरूपविजयजी महाराज, साहित्यविशारद--विद्याभूषण-श्रीमद्विजयभूपेन्द्रसूरिजी महाराज, व्याख्यानवाचस्पत्युपाध्याय-मुनिश्रीयतीन्द्रविजयजी महाराज, ज्ञानी ध्यानी मौनी महातपस्वी-मुनिश्रीहिम्मतविजयजी, मुनिश्री--लक्ष्मीविजयजी, मुनिश्री--गुलाबविजयजी, मुनिश्री--हर्षविजयजी, मुनिश्री--हंसविजयजी, मुनिश्री—अमृतविजयजी, आदि मुनिवरोंने अपने अपने विहार के दरमियान समय समय पर श्रीसंघ को उपदेश दे दे कर तन, मन और धन से पूर्ण सहायता पहोंचाई, और स्वयं भी अनेक भाँति परिश्रम उठाया है, अतएव उक्त मुनिवरों का कार्यालय आभारी है।

जिन जिन ग्राम-नगरों के सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय-श्रीसंघ ने इस महान् कोषाङ्कन-कार्य में आर्थिक-सहायता प्रदान की है, उनकी शुभ-सुवर्णाक्षरी नामावली इस प्रकार है—

श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छीय श्रीसंघ-मालवा—

श्रीसंघ-रतलाम।	श्रीसंघ-बाँगरोद।	श्रीसंघ-राजगढ़।
,, जावरा।	,, बारोदा-बड़ा।	,, झाबुआ।

श्रीसंघ-बड़नगर।	श्रीसंघ-सरसी।	श्रीसंघ-झकणावदा।
,, खाचरोद।	,, सुंजाखेड़ी।	,, कूकसी।
,, मन्दसोर।	,, खरसोद-बड़ी।	,, आलीराजपुर।
,, सीतामऊ।	,, चीरोला-बड़ा।	,, रींगनोद।
,, निम्बाहेड़ा।	,, मकरावन।	,, राणापुर।
,, इन्दौर।	,, बरड़िया।	,, पारां।
,, उज्जैन।	,, (भाट)पचलाना।	,, टांडा।
,, महेन्द्पुर।	,, पटलावदिया।	,, बाग।
,, नयागाम।	,, पिपलोदा।	,, खवासा।
,, नीमच-सिटी।	,, दशाई।	,, रंभापुर।
,, संजीत।	,, बड़ी-कड़ोद।	,, अमला।
,, नारायणगढ़।	,, धामणदा।	,, बोरी।
,, बरड़ावदा।	,, राजोद।	,, नानपुर।

श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छीयसंघ-गुजरात—

श्रीसंघ-अहमदाबाद।	श्रीसंघ-थिरपुर (थराद)।	श्रीसंघ-डीसा।
,, वीरमगाम।	,, वाव।	,, दूधवा।
,, सूरत।	,, भोरोल।	,, बात्यम।
,, साणंद।	,, धानेरा।	,, वासण।
,, बम्बई।	,, धोराजी।	,, जामनगर।
,, पालनपुर।	,, डुवा।	,, खंभात।

श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छीय-संघ-मारवाड़—

श्रीसंघ-जोधपुर।	श्रीसंघ-भीनमाल।	श्रीसंघ-शिवगंज।
,, आहोर।	,, सांचोर।	,, कोरटा।
,, जालोर।	,, बागरा।	,, फतापुरा।
,, भेंसवाड़ा।	,, धानपुर।	,, जोगापुरा।
,, रमणिया।	,, आकोली।	,, भारुंदा।
,, मांकलेसर।	,, साथू।	,, पोमावा।
,, देवावस।	,, सियाणा।	,, बीजापुर।
,, विशनगढ़।	,, काणोदर।	,, वाली।
,, मांडवला।	,, देलंदर।	,, खिमेल।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रीसंघ-गोल ।	श्रीसंघ-मंडवारिया ।	श्रीसंघ-सांडेराव ।
,, साहेला ।	,, बलदूट ।	,, खुड़ाला ।
,, आलासण ।	,, जावाल ।	,, राणी ।
,, रेवतड़ा ।	,, सिरोही ।	,, खिमाड़ा ।
,, धाणसा ।	,, सिरोड़ी ।	,, कोशीलाव ।
,, बाकरा ।	,, हरजी ।	,, पावा ।
,, मोदरा ।	,, गुडाबालोतरा ।	,, एंदला का गुड़ा ।
,, थलवाड़ ।	,, भूति ।	,, चाँणोद ।
,, मेंगलवा ।	,, तखतगढ ।	,, डूडसी ।
,, सूराणा ।	,, सेदरिया ।	,, थाँवला ।
,, दाधाल ।	,, गोवाडा ।	,, जोयला ।
,, धनारी ।	,, भावरी ।	,, काचोली ।

इनके सिवाय दूसरे भी कई गाँवो के संघों के तरफ से मदद मिली है, उन सभी का कार्यालय शुद्धान्तःकरण से पूर्ण आभारी है ।

श्रीअभिधानराजेन्द्रकार्यालय.

रतलाम (मालवा)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org